# महाभाव – दिनमणि श्रीराधाबाबा

( प्रथम खण्ड )

साधु कृष्णप्रेम

# महाभाव दिनमणि श्री राधाबाबा

❖

साधु कृष्णप्रेम
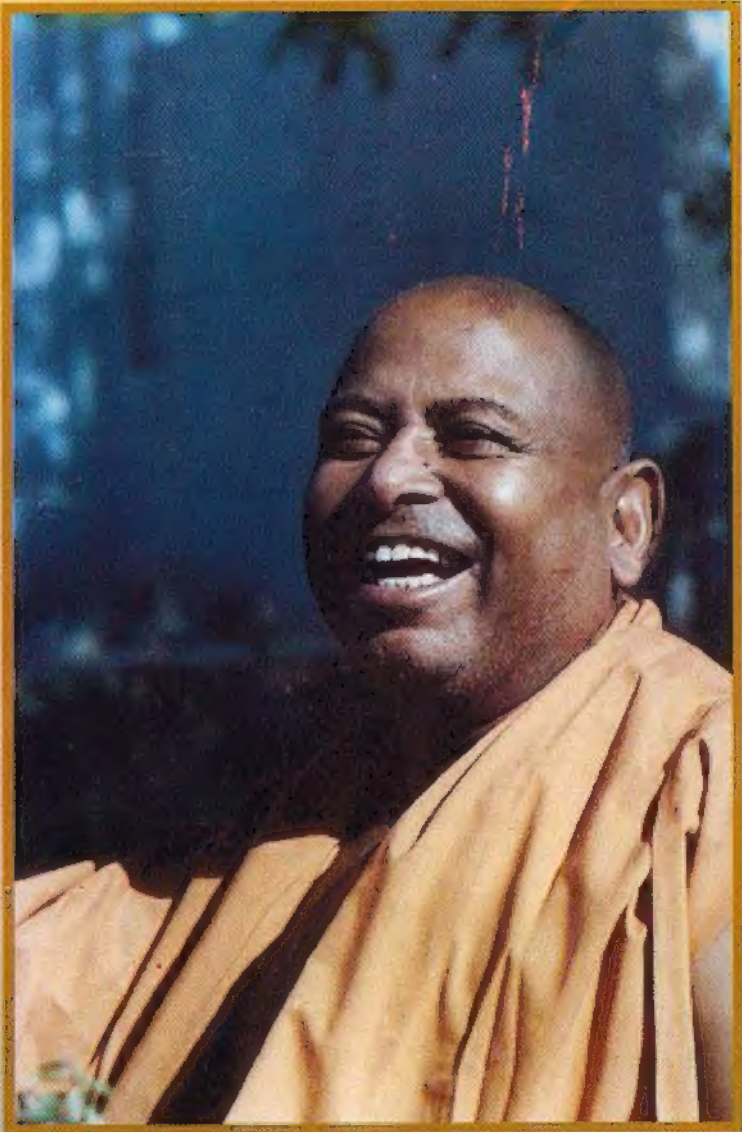
स्वामी कृष्ण प्रेम महाराज

॥ श्री गुरुदेव ॥

# निवेदन

बाबा प्रेमस्वरूप थे, प्रेमस्वरूप है, इसीलिये उनके गुरुदेव ने उनको कृष्णप्रेम नाम दिया । बहुत वर्षों से बाबा ने उनके पौत्र और बहु को देखा न था, उनका अत्यन्त आग्रह था कि मैं उन्हें लेकर बाबा के पास पहुंचू । तदनुसार 6 नवम्बर 99, को वानप्रस्थ आश्रम जयपुर में मैं सपरिवार व अपने अन्य मित्रों के साथ बाबा के पास पहूँचा ।

बाबा ने बहुत प्रेम किया । चिकित्सकीय सलाह के विपरीत बाबा ने हमसे खूब बातें की । बहू को विशेष प्रेम दिया । मेरे एक मित्र के पुत्र को जन्म दिन पर ईश्वर भक्त बनने का आशीर्वाद दिया । श्री गुरुगीता सुनी ।

बाबा ने कहा बेटा मुझे कोई उपयुक्त पात्र नहीं मिला जिसे मैं अपनी आध्यात्मिक निधि हस्तान्तरित कर (सौंप) सकता । बाद में बोले कि इस शरीर का प्रयोजन समाप्त हो गया है, अब यह जायेगा । फिर मुझसे पूछा, "क्या तूने मेरी पुस्तकें पढ़ी हैं ?" मैंने नकारात्मक उत्तर दिया क्योंकि मुझे तो यह ज्ञात भी नहीं था कि बाबा ने कोई पुस्तक लिखी हैं । उसके बाद बाबा ने अपने गुरु पूज्य राधा बाबा के जीवन एवं उनके रस दर्शन पर लिखित चारों पुस्तकें मुझे दी । अत्यन्त प्रेम एवं आग्रह से कहा, बेटा मैंने अपना सब कुछ इसमें उडेल दिया है, तू इसे जरुर पढ़ना ।

बाद में बाबा ने राधा बाबा की जीवनी के प्रथम खंड के बारे में कहा कि बेटा यह प्रथम भाग पूरी तरह समाप्त हो गया है । मैं जानता हूँ कि तू भी मेरी तरह फकीर है लेकिन यदि कोई उपयुक्त व्यक्ति मिले तो इस प्रथम खंड का पुनर्मुद्रण कराना है ।

जैसा कि बाबा ने कहा था तीन सप्ताह बाद 1 दिसंबर 99 को प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में उन्होंने अपने को स्थूल देह से विलग कर लिया । सिद्ध पुरुष का हर कार्य सिद्ध होता है । तदनुसार उनका यह संकल्प भी पुस्तक में पुर्नमुद्रण के रूप में परिणीत हो रहा है ।

इस पुनर्मुद्रण में एक ईश्वर भक्त का आभार प्रगट करना जरुरी है जो निस्वार्थ रुप से इस शुभ संकल्प के क्रियान्वयन में माध्यम बने । जिनके सहयोग से यह कार्य अतिशीघ्र पूर्ण हो गया । उन्हें एवं इसके प्रकाशन में जुड़े सभी लोगों को पूज्य बाबा का आर्शीवाद प्राप्त होगा, यह मेरा विश्वास है ।

श्री गुरुदेव का ही

## श्री राधे

पूज्य कृष्णप्रेम बाबा का दास के प्रति स्नेह-भाव सदा से है। इसी भाव से उत्साहित हो, मैंने कृष्णप्रेम बाबा से निवेदन किया था कि हम सभी के हृदयधन पूज्य श्रीराधाबाबा के चिरभिलषित चरित्र को लिखकर भक्त-जगत् को प्रदान करने की कृपा करें। पूज्य कृष्णप्रेम बाबा ने अपने स्वल्प साधनों में रहते हुए भी पू० श्री राधाबाबा का अतिशय रसमय चरित्र लिखा, अथवा यों कहें कि साक्षात् रसराज प्रियतम श्यामसुन्दर ने अपनी प्रिया का चरित्र कृष्णप्रेम बाबा को यंत्र बनाकर लिखाया। परन्तु जो भी चरित्र बना है, वह विश्व भक्त-समाज, साधन-परायण जन एवं साहित्यानुरागी सभी प्राणियों के लिये परमोपयोगी बना है।

श्रीमद्भागवत में आया है कि परीक्षित् ने श्री शुकदेवजी महाराज से कहा "प्रभु, मुझे भूख, प्यास, मृत्यु, भय कुछ नहीं है। मुझे तो आप भक्तों के चरित्र सुनाते जाइये। भक्तजनों के हृदय में छिपी इस अभिलाषा की पूर्ति भगवान् करते रहते हैं।

उसी कृपा का प्रतिफल यह श्री राधाबाबा का रसमय चरित्र है। जो हमारे जैसे अल्पज्ञ, अल्पशक्ति के साधनहीन जनों को भी भाव-मार्ग में चलने की प्रेरणा एवं शक्ति देगा। यह मेरा हृदय कहता है।

सज्जन इस भावग्रन्थ को शिरोधार्य ही नहीं हृदय में धारण करेंगे। यही पू० कृष्णप्रेम बाबा के सद् प्रयास का वास्तविक मूल्य है। अधिक क्या लिखूँ ....

दास
काशीप्रसाद श्रीवास्तव

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## (प्रथम खण्ड)

## प्रथम भाग

(जन्म, शिक्षा, क्रान्तिकारी जीवन, जेल-यात्रायें आध्यात्मिक-जीवन का श्रीगणेश, सन्यास-ग्रहण)

( सन् १९१३ से १९३५ ई. तक)

### अनुक्रमणिका

# अनुक्रमणिका



ЖЖЖЖ

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## प्रथम खण्ड

## दूसरा भाग

### ( सन् १९३६ से १९४० ई. तक)

### अनुक्रमणिका

## अनुक्रमणिका

## अनुक्रमणिका



※※※※

# महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

## द्वितीय खण्ड

## तीसरा भाग

## (सन् १९४० से १९४३ ई. तक)

### अनुक्रमणिका

# अनुक्रमणिका



⌘⌘⌘⌘

# महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

## द्वितीय खण्ड

## चतुर्थ भाग

### अनुक्रमणिका

# महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

## द्वितीय खण्ड

## तीसरा भाग

## (सन् १९४० से १९४३ ई. तक)

### अनुक्रमणिका

## अनुक्रमणिका



ꕤꕤꕤꕤ

# महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

## द्वितीय खण्ड

## चतुर्थ भाग

### अनुक्रमणिका

## अनुक्रमणिका

# अनुक्रमणिका



*****

“यह राधाबाबा की जीवनी नहीं,

आध्यात्म शास्त्र का विश्वकोश है।

इसके पढ़ने मात्र से

श्रीकृष्ण-कृपा अवश्य प्राप्त होगी।”

(नाम-प्रचार-विमुख
एक गुप्त रसिक-भगवत्प्राप्त सन्त)

❖❖❖

राधा

“मैंने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी, कोई बाबा का इस प्रकार का जीवन चरित्र लिख दे, आज मैं इसे देखकर कृत-संकल्प हो गया हूँ।”

रामस्नेही

(श्री रामस्नेहीजी आत्म प्रचार से दूर रहना चाहते हैं।
उपरोक्त शब्द उन्होंने गोरखपुर यात्रा में लेखक के सम्मुख व्यक्त किये थे।
लेखक ने उन पर अपना प्रेमाधिकार समझते हुए इन्हें प्रकाशित कर दिया है)

श्री राधा बाबा आश्रम में

## आत्मकथ्य

"महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा" पुस्तक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते सचमुच हर्ष ही नहीं जीवन की चरम कृतकृत्यता का अनुभव हो रहा है।

वि. सं. २०५० में पौष शुक्ला नवमी के दिन पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा का जन्मोत्सव जयपुर के सभी वैष्णवों ने उत्साह पूर्वक मनाया था। परम गौड़ीय वैष्णव श्रीकाशीप्रसादजी के घर से इस उत्सव का प्रारंभ हुआ था, एवं तत्पश्चात् राधावल्लभीय भक्तप्रवर श्रीहरिजी, सरस सम्प्रदाय के वैष्णव श्री नारायणलालजी आदि सभी महानुभावों ने इस उत्सव को परम समुल्लास से सम्पादित किया।

इसी अवसर पर महात्मा श्रीकाशीप्रसादजी ने मुझ से सदाग्रह किया कि मैं पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा का जीवन-चरित्र लिपिबद्ध कर दूँ। सच्चे वैष्णव की भावना का आदर करते हुए यह लेखन प्रारंभ हुआ और जो कुछ उर-प्रेरक श्रीकृष्ण ने लिखाया पाठकों के सम्मुख है।

मैं न पढ़ा-लिखा विद्वान हूँ , न ही लेखन का अभ्यास ही है। जीवन तो पू० गुरुदेव के शरणापन्न रहकर पला। पू० गुरुदेव व्यक्तित्व को विकसित करने के पक्षधर नहीं थे। स्वयं वे अति उच्चकोटि के लेखक, कवि, मनीषी, चिन्तक एवं विद्वान थे, परन्तु उन्होंने अपनी योग्यताओं को सदा अप्रकाशित ही रखा। इसी प्रकार उन्होंने अपने शरणागतजनों की योग्यताओं को भी विकसित करने में अरुचि ही प्रकट की। श्री राधाबाबा गुरुड़म वाद पर विश्वास नहीं करते थे। अतः वे ख्यात रूप में किसी के भी गुरु नहीं बने। इसी को लेकर कतिपय मित्रों को मेरे उन्हें पू० गुरुदेव लिखने पर असहमति रही।

मैं बालकपन से ही स्वभाववश दुर्निवार हठी हूँ। अतः सभी मित्रों की सलाह एवं संभव है स्वयं श्रीराधाबाबा की रुचि के विपरीत भी उनकी यह

जीवनी पू० गुरुदेव के नाम से उद्घोषित कर रहा हूँ। उनकी रुचि के विपरीत जब यादज्जीवन ही चलता रहा और वे सहते रहे, तो मेरे इस अन्तिम नटखटपन को भी उन्होंने सह ही लिया है।

पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा से मेरा परिचय वि.स. १९९४ से है, जब वे प्रथम बार श्रीसेठ जयदयालजी गोयनका के साथ चूरू, ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में आये थे। कोई पूर्व जन्म का दुर्निवार आकर्षण था जो एक परम विरक्त सन्यासी ने मुझसे अपने नैकट्य के सम्बन्ध विकसित कर लिये। उस निरी, शिशु अवस्था में रतनगढ़ में तीन वर्ष पश्चात् उन्होंने मुझे 'राधा' नाम की दीक्षा दी। इस दीक्षा की पद्धति कान फुँकवा गुरु बनकर नहीं, अपितु यह रस-दीक्षा अति विलक्षण बाल-चापल्य के साथ हुई। उन्होंने मेरे साथ प्रतिदिन खेलने का यह नियम बना लिया था कि एक घण्टा, चार से पाँच बजे तक वे मुझे 'राधा''राधा' कहकर पीटा करेंगे और मैं उन्हें पीटा करूँगा। यह पीटने का नियम पद-गायन सुनाने में परिणत हो गया और तब मैं उन्हें प्रतिदिन एक घण्टा दुपहरी में तीन बजे से चार बजे तक ब्रजभाव के पद गा-गाकर सुनाया करता था।

वि. स. २००६ में उन्होंने मुझे मंत्र दीक्षा दी और अष्ट दशाक्षर मंत्र-दान, इस प्रतिश्रुति के साथ दिया कि यदि एक माला भी प्रतिदिन जपता रहा तो मृत्यु के समय मुझे अवश्य श्रीकृष्ण-दर्शन हो जायेंगे। इस मंत्र-दान के साथ उन्होंने मुझे अपनी तुलसी माला प्रदान की। उन्होंने लीला-जगत में मेरा स्वरूप किसी महाभागा मंजरी के रूप में स्थापित किया और उस मंजरी की सेवा निर्धारित करके मुझे चौबीसों घण्टे प्रति तीन मिनट में वह सेवा करने का आदेश दिया।

उन्होंने मुझे अष्टयाम लीला लिखाई और अपनी अनुभूत सैकड़ों लीलायें बोल-बोल कर सुनायीं मैंने सन्यास भी उन्हें ही मानसिक रूप में गुरु मानते हुए भगवान् दक्षिणामूर्ति के साक्ष्य में लिया।

सन्यास लेने के तुरन्त पश्चात् वि.स. २०३१ के हरिद्वार के अर्ध कुम्भ में ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य श्रीशान्तानन्दजी ने मुझसे मेरा योग पट्ट पूछा। मैंने उनसे जब अपने विविक्त सन्यास का उल्लेख किया तो उन्होंने हँस कर कहा - "आप द्राविड़ दाक्षिणात्य भट्ट-वंशीय ब्राह्मण हैं, आप मुझसे विधिवत् सन्यास दीक्षा ले लें। आप भले ही सद्गुरुरूप में राधाबाबा को गुरु मानें।" परन्तु मुझे तो एकछत्र उनके परमाश्रय के सिवाय किसी से कोई दूर

का संबंध भी रुचिकर नहीं था। मैंने पू० गुरुदेव से रोकर अपनी स्थिति निवेदन की। "बाबा ! आप मुझे अपना योगपट्ट तो दीजिये, अन्यथा सन्यासी समाज मुझे नाजायज संतान मान रहा है। पूर्ण विरक्त दुर्धर्ष तेजस्वी सच्चे सन्यासी गुरु के होते मैं अनाथवत् अपने पिता का गोत्र भी उच्चारण नहीं कर सकूँ ऐसा मेरा क्या अपराध है ! आपने मुझे अपनी आध्यात्मिक सम्पति से वंचित अनधिकारी समझ कर दिया, परन्तु क्या अपने पिता का गोत्र भी मुझे नहीं मिलेगा ? इस पर पू० गुरुदेव ने अति वात्सल्यपूर्वक मुझे कहा -"मधुसूदनानन्द सरस्वती तेरे गुरु हैं और सरस्वती नामा तू सन्यासी है।" उन्होंने मेरा सन्यासी नाम भी उच्चारित किया, जिसे उल्लिखित नहीं कर रहा हूँ।

अब भी यदि मैं उन्हें पू० गुरुदेव नहीं लिखूँ तो उनके मेरे सम्बन्धों के साथ न्याय तो कदापि नहीं होगा। कौन सा सम्बोधन है जो मेरे एवं उनके अति विषद एवं व्यापक सम्बन्ध को समेट सके। वे सन्यासी विरक्त पुरुष थे, अतः उन्हें अपनी माँ कह नहीं सकता। वे इतने असंग एवं विरक्त थे कि जैसे पोद्दार महाराज को अनेक मित्रों ने 'बाबूजी' मान लिया, उन्हें मैं अपना पिता भी सम्बोधित नहीं कर सकता। वे मुझसे इतने उच्च एवं महान् थे कि उन्हें अपने मित्रों की श्रेणी में रखूँ - संभव ही नहीं है। मात्र 'गुरु' शब्द ही इतना व्यापक है, जिसमें प्रामाणिकता से माता का समग्र वात्सल्य भरा है, पिता का संरक्षण भी इस शब्द में निहित है, एवं मित्र का हितभाव भी इसमें समाहित हो जाता है। उन्होंने मुझे हिन्दी सिखाई, संगीत सिखाया मेरी सम्पूर्ण नटखटताओं को सहा, वे मेरे गुरु नहीं हैं तो क्या हैं ? मात्र 'राधा बाबा' कहकर उन्हें सम्बोधित करूँ - मेरी सम्पूर्ण आत्मा धिक्कार उठती है। "निर्भय सन्यासी होकर क्यों डर रहा है ? किस लिये यह संगोपन है ? छाती ठोककर क्यों नही अपने सच्चे सम्बन्ध को उजागर करता ?" मेरी आत्मा की पुकार पर सब स्वजनों को अनसुना करके मैं इस पुस्तक में उन्हें निर्भय 'गुरु' सम्बोधित कर रहा हूँ।

इस जीवनी में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उनके सन्यास पूर्व की बाल्य जीवन की बातें उनके श्रीमुख से सभी ने अनेकों बार सुनी हैं। प्रियवर श्री राधेश्यामजी बंका ने एक उत्कृष्ट रिपोर्टर की तरह अपने 'पत्र-पुष्प' नामक ग्रन्थों में उन्हें इतस्ततः असम्बद्ध प्रकाशित कर ही दिया है । मैंने उन्हें मात्र सुसंबद्ध कम रूप में ही किया है। वैष्णवों की मान्यता है कि सन्त

की जीवनी भी चिन्मय ही होती है, अतः उसमें उनका यथा-संभव समग्र आना चाहिये, अतः यथाश्रुत यथास्मृत सभी घटनायें दी गयी हैं। और इन्हीं सब कारणों से कलेवर विस्तृत होता गया है।

जहाँ तक लीलापक्ष का सम्बन्ध है, सभी लीलाएँ पू० गुरुदेव द्वारा वर्णित हैं, ये लीलाएँ वि. सं. २००८-२००९ में उनसे सुनी थीं। तबसे प्रतिदिवस उन्हें स्मरण कर-करके सँजो कर रखी हैं। ऐसी पचासों और भी लीलायें हैं, जिन्हें मञ्जुश्यामा-भाव नामक ग्रन्थ में देने का मन है। इन लीलाओं को भाषा के वस्त्रालंकार पहनाते समय भी यही भावना रही कि यथासंभव पू० गुरुदेव की भाषा में ही इनका विस्तार हो। अतः "श्रीकृष्ण-लीला चिन्तन" "चलोरी आज ब्रजराज मुख निरखिये" आदि ग्रन्थों के वाक्य-विन्यास ही इन लीलाओं में पाठकों को विजड़ित मिलेंगे। विशुद्ध नीयत यही है कि पू० गुरुदेव की कथित लीलायें यथासंभव उन की चिन्मयी रसमय-शब्दावली में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हो। इसी कारण एक ही प्रकार वाक्य विन्यासों का पुनरावर्तन सुपठित विद्वानों को भाषा-दोष के रूप में दृष्टिगोचर हो सकता है। परन्तु मेरी नीयत देखकर सुधिजन मुझे क्षमा करेंगे।

अनेक स्थलों में लीला का विस्तार करने में श्रीपोद्दार महाराज के पदों में वर्णित लीलाओं के अंश भी गुम्फित हैं । ये अंश अ. सौ. बेटी राधा के द्वारा पू० गुरुदेव के संरक्षण में लिखी 'रस तरंगिणी' नामक पुस्तक से लिये गये हैं इसके पीछे भी यही भाव रहा है कि अपना व्यक्तित्व एवं अपनी कल्पना कहीं भी प्रकाश में नहीं आये। कहीं भी कोई भी अंश अपनी रचना-कौशल न होकर महापुरुषों द्वारा लिखे मंत्र ही इन लीलाओं में वैष्णवों के सम्मुख प्रकाश में आवें। वैष्णवों के सम्मुख यही मेरी दीनोक्ति है कि मेरा अहंकार, लेखन, मेरे विचार इसमें कहीं कुछ भी नहीं है, सब कुछ महापुरुषों एवं उनके कृपा पात्रों का प्रसाद है। इतना जागरूक प्रयत्न करने पर भी यह पवित्रतम परम मंगलमय गुरु-चरित्र यदि लेखक की दुर्निवार प्रसुप्त अहंकारमयी वासना से मलिन होगया हो, तो हेतुरहित कृपालु श्रीकृष्ण इसे अपनी पावन दृष्टि डालकर परम कल्याणमय सुन्दरतम सर्वमंगलकारी स्वरूप दे दें, यही प्रार्थना है।

अ. सौ. पू. सावित्री बाई फोगला ( पू० पोद्दार महाराज की भगवत्प्राप्ति के पश्चात् की संतान) ने इस ग्रन्थ को 'कनुप्रिया' के रूप में आशीर्वाद दिया, इसके लिये मैं उनका परम आभारी हूँ। यह एक विरल संयोग

ही है कि श्रीकेलि मंजरी रूपा काशीप्रसादजी की प्रेरणा इसे लिखाने में हेतु रही और श्रीकनुप्रिया इसको आशीर्वाद दान दे गयीं।

श्रीरामस्नेही जी जो पू० गुरुदेव की सेवा एवं परिचर्या में रहे एवं जल-सेवा करते-करते जिनकी अँगुलियाँ तक गल जाया करती थीं - उन्होंने अपने अनमोल साधनरत जीवन में से कुछ क्षण देकर इसे पढ़ा और अति स्नेह विह्वल ये उद्गार प्रकट किये कि "मैंने प्रभु से प्रार्थना की थी कि पू० राधा बाबा की जीवनी इस प्रकार से कोई लिख पावे, आज इसे देखकर मैं सफल संकल्प हो गया।" मैं उन परम सेवादर्श त्यागमूर्त्ति श्री रामस्नेही महात्मा का परम आभारी हूँ।

भाई श्री राधेश्यामजी भगत ने भी अपनी कृपा दृष्टि इस ग्रन्थ-पर डाली और इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि अति कृपाकर पू० राधाबाबा की समाधि मूर्त्ति के चरणों में रख दी, इसे पुष्पों से सुपूजित किया, मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ।

अभी तो इस विस्तृत ग्रन्थ का प्रथम खण्ड ही पाठकों के सम्मुख आ रहा है। दूसरे खण्ड का अर्धांश "पू० गुरुदेव की मातृसाधना" प्रायः सम्पूर्ण है और कम्प्यूटर प्रिंटिंग के लिये दे दिया गया है। शेष अर्धांश योग पक्ष है जिसमें उन अनेकों परलोकवासी आत्माओं का वर्णन है जिन्हें पू० गुरुदेव एवं श्री पोद्दार महाराज की कृपा से उच्च लोकों की प्राप्ति हुई है। परलोक में आत्माओं को किन-किन कर्मराशियों से बहुत बाधायें आती हैं, इनके अति प्रामाणिक प्रसंग इस दूसरे खण्ड के अर्धांश में दिये जाने हैं। किन्हीं सज्जनों के पास यदि ऐसे और अनुभव हों तो लेखक को भेजने की अवश्य कृपा करें।

तीसरे खण्ड में पू० गुरुदेव द्वारा श्री तारादत्तजी मिश्र, श्री देवदत्तजी मिश्रादि अपने अग्रज भ्राताओं को लिखे पत्रों का संकलन है। यह पत्राचार वि. सं. १९९४ से वि. सं. १९९७ तक का है, कुछ पत्र लेखक को भी पू० गुरुदेव ने सम्बोधित किये हैं, अथवा लेखक के पूर्वाश्रम के पिता को सम्बोधित कर लिखवाये गये हैं, उन सभी को देने का विचार है। इसके अतिरिक्त पू० गुरुदेव के उपदेश भी जो लेखक के पास संकलित हैं, उन सभी को इस तीसरे खण्ड में प्रकाशित कर देने की योजना हे।

चौथे खण्ड में श्री मंजुश्यामा भाव एवं श्री राधामहाभाव पर यथोचित सामग्री देने का पूरा प्रयास है। इस प्रयास में अ. सौ. बाई सावित्री के पास जो भी संकलन है, उसने देने का आश्वासन दिया है।

अभी हमारी वर्तमान पीढ़ी तो पू० गुरुदेव के साथ अपना कुछ जीवन बिता चुकी है, उन्हें यह प्रतीत हो सकता है कि स्वामीजी इतनी विस्तृत जीवनी प्रकाशित कर पिष्ट-पेषण ही कर रहे हैं। परन्तु हमारे सम्मुख वास्तव में जीवनी लिखते समय लक्ष्य भविष्य के वे लोग होने चाहियें जो मात्र इस पुस्तक से ही पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे। भविष्य में अब तो युगों-युगों तक ऐसे महासिद्ध सन्त का परिचय मात्र पुस्तकें ही तो करा पावेंगीं। अतः यदि इस महा विभूति को, उसके व्यक्तित्व और उपलब्धियों को शब्द परिचय दिया जा सका तो भविष्य का युग निश्चय ही इस प्रयास से कृतकृत्य होगा।

मैं तो पुनः पुनः महारसनिधि राधाबाबा के प्राणवल्लभ भगवान श्रीकृष्ण के नयनों की ओर ही ताक रहा हूँ और अनन्त कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हीं से अति विनीत प्रार्थना कर रहा हूँ – क्योंकि उनकी कृपा कोर पाये बिना मुझ जैसा परम अधम तुच्छ देह-लोलुप जीव इस महारस ग्रन्थ को लिख पावे, यह असंभव, असंभव, सर्वथा असंभव है। अन्त में यही निवेदन है

मूकं करोति वाचालं पंगुल्लंघयते गिरिं
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अँधरे कौं सब कछु दरसाई
बहरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।।

पू० राधाबाबा और उनके प्राणवल्लभ की जय हो।

-----

साधु कृष्णप्रेम

## (समर्पण के दो फूल)

प्रियतम !

•असीम अनुग्रह है तेरा जो अपनी प्राण-प्रिया का परोक्ष दर्शन तो कराया। मैं तो कहीं कुछ भी लायक नही था। कूड़े-करकट को घूरे से उठाकर चन्दन-पंक-कुण्ड में डाल देना भी तेरा ही कृपा विधान रहा। तेरी प्रिया को अपरोक्ष कर सकूँ - अपने वश का तो कुछ भी नहीं है, और तू तो सर्वभवन समर्थ है। जिसने कूड़े-करकट होने का दुर्भाग्य दान किया है, वह सौभाग्य के सुमेरु शिखर पर भी आसीन कर सकता है। अभी तो यही क्या कम सौभाग्य है कि कूड़े-कचरे के नेत्रों में तेरी प्रिया का परोक्ष दर्शन अनवरत अधिकांश काल हो रहा है।

यह सत्य है, साक्षात् सरस्वती भी प्राणप्रण से चेष्टा करे तो तेरी प्रिया का सही चित्र, यथार्थ चित्रण नहीं कर सकती। जब सरस्वती ही असमर्थ है तो मुझ पर तुम खीझ ही नहीं सकते।

पुनः इतनी ही प्रार्थना है कि मेरे द्वारा बिगाड़े को अपनी प्रीति सुधामयी दृष्टि डालकर अपने ही कर कमलों से सुधार लेना।

तेरी वस्तु तुझे ही समर्पित है।

**मोहन तेरी प्राणप्रिया को वरणौं कहा सिँगार**
**जो तुम मेरो आदि अंत लौं मानो यह उपकार**

तुम्हारा अपना
कृष्णप्रेम

## प्रकाशकीय वक्तव्य

श्रीराधामाधव प्रकाशन की यह तीसरी पुस्तक -- "महाभाव दिनमणि श्री राधाबाबा" वैष्णवों को सौंपते हुए मैं परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। हमारी प्रथम पुस्तक "श्रीराधामाधव रस सुधा" सन् १९६७ ई. में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक इतनी गरिमामयी थी कि सुना है -- 'माँ आनन्दमयी' इस पुस्तक को अपनी पूजा की पुस्तकों में रखतीं थीं। इसमें पू० श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार द्वारा रचित षोड़शगीतों का उन्हीं के द्वारा किया हिन्दी में अनुवाद और इन्हीं गीतों पर उनकी ही प्रगल्भ दार्शनिक भूमिका थी। साथ ही पू० राधाबाबा द्वारा लिखित 'जगज्जननी श्री राधा' नामक परम सरस लेख भी था।

हमारी दूसरी पुस्तक 'रसाद्वैत मञ्जरी' श्रीभागीरथप्रसाद मरदा ने चूरू से प्रकाशित करायी थी। यह पुस्तक श्रीमरदाजी ने जब परमश्रद्धेय करपात्रीजी महाराज को समर्पित की तो उनके द्वारा इसकी अत्यन्त प्रशंसा की गयी।
ये दोनों पुस्तकें आज अलभ्य हैं।

'रसाद्वैत मंजरी' भी षोड़श गीतों के प्रथम आठ पदों की दार्शनिक अद्वैतपरक टीका थी, जो पू० स्वामी कृष्णप्रेमजी ने पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के सान्निध्य में रहकर लिखी थी। इस पुस्तक को पू० श्रीराधाबाबा ने अक्षरशः अनुमोदित की थी।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमारा यह तीसरा प्रयास भी वैष्णव जगत द्वारा बहुत ही महत्व को प्राप्त कर रहा है।

पू० श्री राधाबाबा की इस जीवनी के सम्बन्ध में एक परम रसिक सन्त की उक्ति है कि यह आध्यात्मशास्त्र का विश्वकोश है।
मेरी दृष्टि में महापुरुषों के अनेक जीवन प्रसंग आये हैं, परन्तु किसी भी लेखक द्वारा सन्त का अन्तर्भाव-जीवन चित्रित हुआ देखने में नहीं आया। सभी ग्रन्थों में सन्तों की बाह्य साधना एवं लोक-व्यवहार की बातें ही देखने को मिलती हैं। पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के अन्तर्भाव-जीवन का इतना विस्तृत प्रकाश करके स्वामी कृष्णप्रेमजी ने वैष्णव जगत् को एक अनमोल सिद्ध वस्तु

दी है। इन श्रुतिरूप बीज-मंत्र-लीलाओं को मात्र पढ़कर ही एक साधक साध्य वस्तु को प्राप्त कर सकता है।

ये लीलाएँ वेद-ऋचाओं से भी अधिक गरिमामयी हैं, क्योंकि ये परम रसमयी हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कंध के प्रारंभ में ही एक अति अद्भुत श्लोक आया है-

**निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधात् श्रोत्रमनोभिरामात्।**
**क उत्तमश्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात्।।**

श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं - "भगवान् उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण के गुणानुवाद इतने पवित्र एवं रसमय हैं कि नारद, व्यासादि विगत-तृष्णा ऋषि उनका गान अनवरत करते रहते हैं। ये भगवान् के परम मंगलकारी चरित्र मन को, कानों को परम अभिराम, रसमय लगने के कारण विषयी जीवों को भी आकर्षित कर लेते हैं। ये संसार के त्रिविध रोग की अमोघ ओषधि हैं। इन परम पवित्र लीला चरित्रों के श्रवण से तो मात्र आत्मघाती जीव ही भले वंचित रहे।"

ठीक इसी प्रकार मेरे इस कथन में कहीं भी अतिशयोक्ति नहीं है कि श्रीराधाबाबा जैसे महासिद्ध सन्त का यह परम रसमय महामंगलमय जीवन चरित्र भी जो आध्यात्मिक अनमोल रत्नों से भरा है,जिसमें कहीं किंचिन्मात्र भी खारापन नहीं, सभी सिद्धों, साधकों और साहित्य रुचि रखने वाले विषयी प्राणियों को भी समान रूप से आकर्षित करेगा। यह निश्चय ही विश्व के लिये परम मंगलकारी है।

पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के पवित्रतम गोपी भाव-जीवन की इसमें ऐसी सरस कथायें हैं कि यदि एक बार भी कोई पढ़ने में लग जायगा तो इन्हें छोड़ने का मन ही नहीं करेगा।

पू० श्रीस्वामीजी ने इसकी भाषा भी पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा के स्वरचित श्रीकृष्ण-लीला-चिन्तन आदि ग्रन्थों से भ्रमर की तरह संचयित की है, अतः भाषा भी पू० गुरुदेव की परम चिन्मयी ही है। लीलाएँ पू० गुरुदेव द्वारा अनुभूत अप्राकृत, भाषा सच्चिन्मयी, एवं भाव भी पू० गुरुदेव अथवा श्रीपोद्दार महाराज के होने से यह ग्रन्थ सर्वओर से रसमय है। इसमें गुठली, छिलका कुछ भी त्याज्य वस्तु नहीं है।

श्री स्वामीजी ने इस अपनी रुग्ण, विषम-स्वास्थ्य की परिस्थितियों में कितना श्रम करके यह सब संकलित किया है, उनका उत्साह और प्रयास सचमुच ही स्तुत्य है। सचमुच ही उन्होंने अपनी यह श्रद्धाञ्जलि अपने पू० गुरुदेव को देकर अपना जीवन परम सफल किया है।
पाठक इस अनमोल निधि का आकलन स्वयं पढ़कर ही करेंगे।

विनीत

प्रद्युम्न गोस्वामी
श्रीराधामाधव प्रकाशन
षोड़श गीत मन्दिर,अनाथालय के पीछे,
बीकानेर-३३४००१

## कुल परिचय

जैसे प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही है, व्रजभूमि में और इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण को अपने प्राकट्यस्थल का चयन भी इस विशुद्ध प्रेम की पृष्ठभूमि व्रजमंडल में ही करना पड़ता है, वैसे ही सच्चे संत भी ऐसे ही जन्मस्थल का चयन करते हैं जहाँ विशुद्धसत्त्व की प्रधानता हो।

शास्त्र कहते हैं, भगवान् जिस देश में जन्म लेते हैं, उस देश में उनकी तीन पीढ़ी पूर्व से ही संधिनीशक्ति का प्रकाश हो जाता है। इस चिन्मय सन्धिनीशक्ति का पवित्रतम प्रकाश अवतार के स्वधामगमन तक बना रहता है एवं अवतार के स्वधाम-गमन करने पर यह चिन्मय सन्धिनीशक्ति का प्रकाश भी अवतार के साथ ही उनके स्वधाम में चला जाता है ।

परम पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा पू० भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार की महिमा में स्वयं अपनी वाणी में कहते हैं –

> **पिंजर काला प्रतीक यह है व्रजधरा अरण्य तथा, प्रियतम !**
> **सब मातृपितृकुल के परिकर, वे श्वसुरालय के भी प्रियतम !**
> **गोवंश, वसन, उपकरण, सभी जन के तनधारण के प्रियतम !**
> **सन्धिनीशक्ति की परिणति ही जो हैं, इन सबका ही, प्रियतम ।।**

यह श्रीपोद्दारमहाराज का कालापिंजर शरीर व्रजभूमि एवं अरण्य (वृंदावन) का प्रतीक है तथा उनके मातृ-पितृकुल के तथा श्वसुरालय के भी सारे परिकर, उनके यहाँ पालित गोवंश, उनके वसन-उपकरण, जो उनके तथा उनके जनों के तन-धारण में निमित्त हैं, सभी सन्धिनी शक्ति की ही परिणति हैं ।

ये पंक्तियाँ जो ऊपर अंकित हैं, पू० गुरुदेव ने पू० पोद्दार महाराज को अपने महाभावावेश में कही थीं। श्रीपोद्दार महाराज ने इन्हें अपने स्वयं के हस्ताक्षरों में अंकित कर ली थीं। वे पंक्तियाँ ही यहाँ उद्धृत हैं।

कहने का इतना ही तात्पर्य है कि पूज्यचरण पोद्दार महाराज एवं पू० गुरुदेव जैसे सन्तों का– जिनमें स्वसुख की वासना का सम्पूर्ण त्याग सहज ही होता है, जिनमें भोग तो क्या मोक्षसुख तक के प्रति घोर विरक्ति होती है, जिनमें अपने प्राणवल्लभ नीलसुन्दर से निरन्तर प्रीतिदान की होड़ लगी रहती

है -- सबकुछ सन्धिनीशक्ति का चिन्मय विलास ही होता है । पू० राधाबाबा जैसे अथाह महिमामय प्रेमीसंत को अपनी कोख में धारण करने वाली जननी, बीजस्थापन करने वाले पिता, उनके पितामह, प्रपितामह एवं उनका सब कुल भगवान् की संधिनीशक्ति की ही परिणति होने के कारण कितना कल्याणपुंज, पवित्र, शुद्ध एवं सात्विक था, इसकी थाह मेरे जैसे तुच्छ लेखक की जड़बुद्धि भला कैसे कर पावे। आओ, भक्त सम्राट तुलसीदासजी की वाणी में अपनी वाणी मिलावें एवं कहें -

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुबीर-परायन जेहिं नर उपज विनीत ।।

परम पू० गुरुदेव के पितामह का नाम था श्रीअम्बिकादत्तजी मिश्र। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, साथ ही भगवती दुर्गा के अनन्य भक्त थे। इनके पाँच पुत्र थे । सबसे बड़े पुत्र का नाम श्रीभूपालमिश्र था। इनके सभी पुत्रों को आनुवंशिकी के रूप में अपने पिता से सुख-दुख में सहनशीलता, करुणापूर्ण हृदय, सबका अकारण हित करने की प्रवृत्ति, शान्त स्वभाव, साधु महात्माओं के प्रति अगाध श्रद्धाभाव, अपने इष्ट में अनन्य भावयुक्त सुदृढ भक्ति,ब्राह्मणोचित तितिक्षा, तप-परायणता, कर्त्तव्यनिष्ठा, धर्मभीरुता, विद्वत्ता,सत्य के प्रति प्रेम, उज्ज्वल चरित्र आदि अलौकिक गुण प्राप्त हुए थे।

श्रीअम्बिकादत्तजी ने अपने बड़े पुत्र श्रीभूपाल मिश्र को अति लगन से विद्वान् बनाया था, परन्तु उनकी सर्पदंश से असामयिक युवावस्था में ही मृत्यु हो गयी । इससे इनके मन में उत्कट वैराग्य भाव उदय हो गया । ये समझने लगे कि विद्या-पठन-पाठन जब मृत्यु से रक्षा ही नहीं कर सकती, तो वह व्यर्थ है ।

प्राप्ते सन्निहिते काले नहि नहि रक्षति डुंकृकरणे
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।

उन्होंने निर्णय कर लिया कि भविष्य में किसी भी बच्चे को पठन-पाठन के श्रम में नहीं डालेंगे । इधर तो पिता का ऐसा निश्चय था और उधर श्रीमहीपालजी मिश्र की विद्यार्जन में आत्यंतिक रुचि थी । जब इन्हें अपने पिता से अपने उद्देश्य की पूर्ति में कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिला तो एक दिन वे अपने घर से भाग गये ।

वे घर से ऐसे स्थान को चले गये जहाँ पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था हो सकी । वहाँ पहुँचकर इन्होंने अपने पिता को अपना पता सूचित कर दिया अध्ययन के प्रति इनकी उत्कट रुचि देखकर पिताजी ने भी इनका विरोध करना उचित नहीं समझा ।

श्रीमहीपालजी मिश्र में गृहस्थ-जीवन स्वीकार करने की सर्वथा रुचि नहीं थी । वे परम सत्यनिष्ठ, सबसे द्वेष-भावरहित, स्वार्थरहित, सबके प्रेमी एवं हेतुरहित दयालु स्वभाव के थे । उनका मन ममता से रहित, अहंकार-शून्य, सुख-दुखों की प्राप्ति में सम एवं क्षमावान् था । वे अपने प्रति अपराध करने वाले को भी अभय देनेवाले थे। वे सदा सन्तुष्ट रहते, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखते तथा अपने इष्ट के प्रति दृढ आस्था रखते थे ।

उन्हें एक दिवस दिव्य स्वप्न हुआ । स्वप्न में भगवती दुर्गा, उनकी इष्ट देवता उनके सम्मुख प्रत्यक्ष थीं । उन्होंने इन्हें आज्ञा दी कि तेरे कुल में मैं अपने अंश से अवतरित होऊँगी अतः तू गृहस्थ जीवन ग्रहण कर ले । श्रीमहीपालजी मिश्र ने भगवती का आदेश पाकर अपनी इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल गृहस्थ जीवन स्वीकार कर लिया ।

श्रीमहीपालजी मिश्र का विवाह पाठक-वंश में परम पुण्यवती सौ० श्रीमती अधिकारिणीदेवी से हुआ । वे जीविका-उपार्जन हेतु गया जिले के मिसिरटोला नामक ग्राम से फखरपुर ग्राम चले आये और यहाँ इन्होंनें राजवंशी कायस्थ जमीदारों का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया । उन दिनों सभी राजाओं, जमीदारों और समाज के अन्य वर्गों में भी ब्राह्मणों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। यह फखरपुर ग्राम, बिहार के जहानाबाद जिले में सोनभद्र तट के समीप अरवल ग्राम से तीन मील पूर्व की ओर स्थित है ।

श्रीमहीपालमिश्र का जीवन अतित्यागी, निस्पृह एवं चरित्र अतिशीलवान था। वे स्त्री वर्ग में भी अपने अतिशय शीलवश श्रद्धाभाजन थे और उस काल में जब विशेषकर जमींदारों में स्त्रियों पर पर्दा आदि के विकट प्रतिबंध थे, संभ्रांत कुल की कुलवधुओं को भी उन्हें अपना दुख-दर्द निवेदन करने में कोई संकोच नहीं होता था । श्रीपंडितजी का प्रभाव आसपास के दूर-दूर गाँवों तक में वचनसिद्ध ब्राह्मण के रूप में था और जिस दुखी प्राणी को वे आशीर्वाद देते थे, वह फलीभूत हो जाता था ।

श्रीमहीपाल मिश्र के प्रथम पुत्र का नाम था श्रीतपस्वीनाथ मिश्र, दूसरे पुत्र का नाम था श्रीवासुदेव मिश्र, तीसरे पुत्र थे श्रीतारादत्त मिश्र और सबसे छोटे पुत्र थे परम पू० श्रीगुरुदेव श्रीचक्रधर मिश्र । पू० गुरुदेव की दो बड़ी सहोदरा बहनें भी थीं ।

श्रीमहीपालजी मिश्र ऊर्ध्वपुण्ड तिलक लगाते थे, अतः ऐसा अनुमान होता है कि वे रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे एवं वहीं से दीक्षित भी थे । श्रीमिश्रजी को सन्तदर्शन एवं सत्संग-सच्चर्चा का अतिशय उत्साह था । अतः इस परिवार में सन्तमहात्माओं का प्रायः जमघट मचा रहता था । ऐसे सद्-गृहस्थ ब्राह्मण परिवार के मध्य अतिगरीब ग्रामीण परिवेश में पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा का जन्म हुआ था ।

## वात्सल्यमूर्त्ति जननी

श्रीमहीपालजी मिश्र की पत्नी अ०सौ० अधिकारीणीदेवी विदुषी नहीं थीं। उन्हें अक्षर ज्ञान भी नहीं था। इसके उपरांत भी सत्यनारायण कथा, एकादशी माहात्म्य, रुक्मिणीमंगल, सीतास्वयंवर एवं रामचरितमानस के प्रसंग और श्रीजयदेवकृत गीतगोविन्द आदि ग्रन्थ उन्हें कण्ठस्थ याद थे । वे प्रतिदिवस नियमानुसार गीतगोविन्द का संपूर्ण पाठ किया करती थीं ।

गीतगोविन्द के सम्बन्ध में यह प्रतिश्रुति है कि जो भी भक्त इसका जहाँ भी पाठ करता है भगवान् स्वयं उस पाठ को सुनने उसके पीछे-पीछे वहाँ चले आते हैं । पू० माताजी के गीतगोविन्द के प्रतिदिन के पाठ में उनकी अतिशय श्रद्धा ही हेतु थी । वे न तो शुद्ध उच्चारण ही कर सकती थीं एवं संस्कृत के श्लोकों का अर्थ भी उन्हें ज्ञात नही था ।

पू० माताजी प्रत्येक पूर्णिमा को सत्यनारायण-व्रत अवश्य रखती थीं। अतिशय श्रद्धा से श्रीसत्यनारायण भगवान् का सविधि पूजन करके स्वजनों में प्रसाद-वितरण में उनका उत्साह देखते ही बनता था ।

पू० गुरुदेव के जन्म के समय माताजी को बहुत ही कम प्रसव-कष्ट हुआ था। शेष पाँच पुत्रों एवं पुत्रियों के जन्म के समय माताजी को जितना उग्र कष्ट भोगना पड़ा था वैसा कष्ट इस पुत्र के जन्म के समय न होने से माताजी आश्चर्यचकित थीं और अपने इस पुत्र को अतिमंगलकारी संतान मानती थीं । उनका अपने इस सबसे छोटे पुत्र पर अतिशय स्नेह था । ऐसा लगता है पू० राधाबाबा के जीवन में श्रीकृष्ण की उत्कट भक्ति एवं रसमयी

गोपी भाव की साधना का बीजारोपण पू० माताजी के गीतगोविन्द के नियमित पाठ ने ही कर दिया था।

## नामकरण संस्कार एवं बाल जीवन

पू० राधाबाबा का जन्म मेषराशि में हुआ था । जन्म-लग्न के अनुसार इनका नामकरण पंडितों ने लालमणि किया । बालकपन में बच्चों की रुचि स्वभावत: गुड्डे गुड्डियों से खेलने की होती ही है । इनकी माताजी इतनी भक्तिमती थीं कि उन्होंने इन्हें खेलने के लिये एक खण्डित गोपी की प्रतिमा दे रखी थी । निरे-बालकपन में श्रीराधाबाबा इसी खण्डित गोपीमूर्त्ति को सजाया करते थे । वे इसे स्नान कराते एवं घर में जो भी पुराने कपडों की कतरनें मिलतीं उससे ही इस गोपीका श्रृंगार किया करते थे । पू० गुरुदेव का मातृप्रेम भी अतिविलक्षण था । वे नौ वर्ष की किशोरावस्था तक अपनी बुढिया माँ का स्तनपान किया करते थे । तब-तक वे पाठशाला में पढने लगे थे । पाठशाला से लौटते ही उनका पहला कार्य मातृस्तन का पान ही होता था । पूज्या माताजी तबतक इतनी वयोवृद्ध हो चुकी थीं कि उनके स्तन लटक गये थे । उनमें दूध आता ही नहीं था । परन्तु पू० गुरुदेव को इसकी कहाँ चिन्ता थी। वे दूध न आने पर हँसते हुए अपनी माता का स्तन दाँत लगाकर काट लेते थे तब माँ उनको 'हट कोढिया' कह कर गाली देकर अपना स्तन छुड़ाती थी। बहुत ही कठिनाईपूर्वक वे उसकी गोद से हटते एवं अलग होते थे। वे अपनी माँ के अत्यधिक प्यारे बेटे थे ।

पू० गुरुदेव में सर्वाधिक श्रद्धा यदि किसी के प्रति थी तो वह उनकी माता थी। वे अतिशय मन-मौजी स्वतंत्र स्वभाव के थे, परन्तु यदि कहीं वे किसी की भी आज्ञा के बंधन में होते थे तो वह उनकी पूज्या माताजी ही थीं ।

## भगवान सदाशिव का रक्तार्चन

सोनभद्र के किनारे के सभी गाँवों में आज भी यह सार्वजनिक प्रथा है कि प्रत्येक संपन्न घर के आगे एक कूप एवं शिव-मंदिर अवश्य हुआ करता है । पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा के गृह के सम्मुख भी शिवमंदिर था । परम पू०गुरुदेव जब पाँच-सात वर्ष के निरे बालक थे, तभी उनके ग्राम में एक

रामचरितमानस के कथावाचक आये थे। ये कथावाचक प्रतिदिन बहुत ही सुरीले कण्ठ से गायनपूर्वक कथा कहा करते थे। बालक श्रीराधाबाबा भी अपनी माता के साथ कथा सुनने जाया करते थे।

रावण की शिवोपासना का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए एक दिवस कथावाचकजी ने निम्न चौपायी की बड़े ही भावपूर्वक व्याख्या की । यह चौपाई थी -

सादर शिव कहुँ शीश चढाये । एक-एक के कोटिन्ह पाये ।

निरे पाँच-छह वर्ष के बालक पू० गुरुदेव में यह शिवकथा सुनते-सुनते ही शिवोपासना करने की उत्कट प्रवृत्ति जाग उठी । मन ही मन में उन्होंने शिवपूजन का निश्चय कर लिया ।

शिवोपासना में उन्होंने रावण को अपना आदर्श बनाया। शीश काटकर अर्पण करने का तो इतने छोटे बालक में साहस था नहीं अतः अपने घर के सम्मुख ही जो शिवमंदिर था, उसके लिंग पर अपनी अँगुली को नये ब्लेड से चीरकर एक दो बूँद रक्त प्रतिदिन अर्पण करने का इन्होंनें मन बना लिया । वे राजासाहब के घर से माँगकर एक नया ब्लेड ले आये और प्रतिदिन अपनी अँगुली चीरकर एक दो बूँद रक्त अपने घर के आगे जो शिवलिंग स्थापित था, उस पर चढाने लगे ।

पू० गुरुदेव के सबसे बड़े भाई श्रीतपस्वीनाथजी मिश्र नित्य नियमानुसार विधि-विधानपूर्वक श्रीशिवजी की पूजा किया करते थे । एक दिवस वे जब पूजा कर रहे थे तो उन्होंने भगवान् के विग्रह में रक्त-बिन्दु देखा। उन्होंनें इसे दैवीप्रकोप की पूर्व-सूचना मानी । वे अशुभ की आशंका से काँप उठे। उन्होंने उस दिन् भगवानकी अति दैन्यभरी विनय की और उस रक्त बिन्दु को स्वच्छ कर सविधि पूजा की। अगले दिन भी जब बाबा के अग्रज पूजा करने गये तो पुनः ताजे रक्त बिन्दु के चिन्ह उन्हें दिखाई पड़े। वे कल्पना भी नहीं कर पाये कि यह सब किया उनका अनुज चक्रधर (सबसे छोटा भाई) कर रहा है।

प. पू. गुरुदेव तो नित्य ही रक्त चढाते थे। जब प्रत्येक दिन बड़े भाई पूजा के समय रक्त चढा देखने लगे तो अमंगल की आशंका से घर के सभी लोगों का मन आक्रान्त हो गया। अन्ततः खोज हुई और राधाबाबा पकड़े गये। उनकी अँगुलियों में चीरे जाने का चिन्ह स्पष्ट परिलक्षित हो गया। बड़े भाई ने जब उन्हें डाँट लगायी तो ये अपनी माँ के आँचल में दुबक गये।

प. पू. गुरुदेव की शिवभक्ति की पेंग फिर भी कम नहीं हुई। एक दिन जब इनकी पाठशाला की छुट्टी होने वाली थी कुछ लोग इनके स्कूल के पास से ही एक मुर्दा शव की अर्थी ले जा रहे थे। पू. गुरुदेव श्मशान का पता लगाने इनके पीछे हो लिये। उस दिन तो उन्हें श्मशान का पता ही लग पाया। दूसरे दिन यद्यपि इन्हें भूत का अत्यधिक भय लगा - परन्तु फिर भी शिव-शिव नाम जपते हुए इन्होंने किसी प्रकार मुट्ठी भर चिता उठायी और तीव्र गति से भागकर घर में पहुँच कर साँस ली। दूसरे दिन इन्होंने प्रातःकाल ही शिवलिंग पर चिता भस्म चढा दी। श्रीतपस्वीनाथजी जब पुनः पूजा करने लगे तो चिता भस्म देखकर समझ गये कि फिर यह उपद्रव चक्रधर ने ही किया है। इस बार इन्होंने पू. गुरुदेव को प्यार से समझाया तथा भगवान शिव की किस प्रकार सात्विक रीति से पूजा करनी चाहिये- इसका सब विधान सिखाया। अब पू. गुरुदेव जलाभिषेक, पुष्पार्पण, एवं स्तुति वंदनादि से पूजा करने लगे।

पू० गुरुदेव को बचपन में स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता था । वे स्कूल जाने से बचना चाहते थे, परन्तु बच नहीं पाते थे । घरवाले ज्यों-त्यों करके उन्हें स्कूल भेज ही देते । एक दिवस उन्हें एक उपाय सूझा । वे सोचने लगे कि भूतग्रस्त होने का स्वाँग रचा जाये तो शायद स्कूल जाने से बचाव हो जाय। स्कूल में प्रतिदिन ही प्रार्थना होती थी। एक दिन ज्योंही प्रार्थना समाप्त हुई, वे भूतग्रस्त व्यक्ति जैसी चेष्टा करने लगे । स्वाँग सही उतरा और लड़के उन्हें घर पहुँचा आये । उन्होंनें अपने मुख से फेन निकालना प्रारंभ कर दिया । माँ घबड़ा गयी । कुछ उपचार किया गया तथा माँ ने स्कूल जाने की मनाही कर दी । इस प्रकार कुछ दिन के लिये स्कूल जाना बंद हो गया । थोड़े दिन तो ऐसे ही चला पुनः स्कूल जाना प्रारंभ करना पड़ा ।

एक दिन पू० गुरुदेव अपने घर के आँगन में खेल रहे थे । इतने में एक रामानन्दी साधु इनके द्वार पर आये । उनके ललाट पर भव्य तिलक विराजित था । वे द्वार पर खड़े हो कुछ देर तक तो एकटक पू० गुरुदेव की ओर देखते रहे, फिर चले गये । उनके चले जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव का मन इतना शान्त हो गया कि क्या कहें। अपने घर के बाहर आकर पू० गुरुदेव सिद्धासन लगाकर बैठ गये । उनकी आँखों से निरन्तर अश्रुधारा

प्रवाहित हो रही थी । थोड़ी देर पश्चात् जब घरवाले आये और विक्षेप हुआ तो इनका वह भाव प्रशमित हुआ।

## शिव कृपा से मेडल पुरस्कार

पू. गुरुदेव को पाठशाला में पहले 'सी' कक्षा में भरती किया गया था। पहली कक्षा में जाने के पहले ए.बी.सी. इन तीन कक्षाओं में पढना उन दिनों परमावश्यक होता था। पू. गुरुदेव इतने मेघावी थे कि सभी विषयों में इन्हें सर्वोच्च अंक प्राप्त होते थे। परन्तु अंकगणित में ये सदा असफल हो जाते थे। अध्यापकगण इन्हें अन्य विषयों में अति मेघावी समझ अंकगणित में नम्बर नहीं होने पर भी प्रोन्नत कर देते थे। यह सन् १९२० की बात है। तब पू. गुरुदेव की वय मात्र सात वर्ष की थी। उन दिनों स्कूलों में प्रतियोगिताएँ होती थीं, और सफल शिक्षार्थी को पुरस्कार मेडल' दिया जाता था। प. पू. गुरुदेव का मन भी चमकते तमगे को देखकर बहुत प्रलुब्ध था। परन्तु मात्र इच्छा करने से तो मेडल मिलता नहीं था। ऊँची कूद, लम्बी कूद, दौड़, सभी प्रतियोगिताओं में यद्यपि पू. गुरुदेव ने अपना नाम लिखाया, परन्तु स्कूल के लम्बे-तगड़े विद्यार्थी इन सभी प्रतियोगिताओं में सफल हो गये। उनके सम्मुख पू. गुरुदेव स्पर्द्धा में टिक नहीं पाये। असहाय और पूर्ण असफल होने पर इन्होंने भगवान् शंकर का आश्रय लिया और माथा टेककर कातर स्वर में उनके सम्मुख पुरस्कार मेडल दिलाने की प्रार्थना कर दी। उनका सहज विश्वास था कि भगवान अवश्य विनती सुनेंगे। विनती करते-करते उनके मन में एक अन्तर्ध्वनि उठी -"तुम गीत सुनाओ, तुम गीत सुनाओ।" बस पू. गुरुदेव अपनी भाभी से दो गीत सीखकर याद करके आये एवं इन गीतों को प्रतियोगिता में उन्होंने सुना दिया। प्राकृत धरातल पर जो संभव नहीं था, वह भगवत्कृपा से संभव हो गया। पू. गुरुदेव इतनी छोटी कद के थे कि उन्हें टेबुल पर खड़ा किया गया। उनके साथ कोई साजिन्दा भी नहीं था। परन्तु इस समय पू. गुरुदेव नहीं भगवान् शिव प्रतियोगिता में गीत गा रहे थे। सभा का सारा वातावरण पू. गुरुदेव की कोकिल कंठी अति सुरीली ध्वनि से मुखरित हो उठा। गीत सुनते समय प्रधानाचार्यजी ही नहीं, सारे अध्यापक एवं विद्यार्थी भरे हृदय से स्तब्ध थे। श्रीप्रधानाचार्यजी का हृदय तो इतना भरा था कि उन्होंने तत्काल पारितोषिक कार्यक्रम प्रारंभ होने के पहले ही पू. गुरुदेव को

संगीत पुरस्कार दे दिया। गायन के बोल थे - "सुधि लीजै प्रभो ! क्यों बिसारा हमें !" पुरस्कार का तमगा ज्यों ही पू. गुरुदेव की कमीज पर लगाया गया उनके मन में प्रसन्नता की सीमा ही नहीं रही। यह पुरस्कार जब पू. गुरुदेव ने अपनी माँ को दिखाया तो वे भी प्रसन्नता से फूल उठीं।

इन घटनाओं से पू० गुरुदेव इतने भगवद्विश्वासी हो गये थे कि वे अपनी छोटी सी भी माँग प्रायः भगवान् के सम्मुख ही रखते थे । एकबार उन्हें पेंसिल का लिखा मिटाने के लिये रबर की आवश्यकता हुई, उन्होंनें इसे अन्य किसी को भी न कहकर मात्र भगवान् को कहा । उसी दिवस अथवा दूसरे दिवस पू० गुरुदेव की माताजी उन्हें मेला दिखाने के लिये ले गयीं, और एक दुकान से बिना कहे-सुने रबर दिला आयीं । इसी प्रकार एक बार उनके मन में कोई विशेष मिठाई खाने की इच्छा हुई, उन्होंने मन ही मन भगवान् से कहा थोडी देर बाद उनका एक सहपाठी वही मिठाई उन्हें खिलाने अपने कमरे में ले गया । उस साथी को तो गुरुदेव ने आभास भी नहीं दिया था कि उनकी इच्छा अमुक मिठाई खाने की है । दयामय भगवान् उनकी हर इच्छा पूरी करते रहते थे ।

फखरपुर ग्राम में जो स्कूल था, वह मात्र मिडिल कक्षा तक था । प्राइमरी स्कूल की सभी परीक्षायें पू० गुरुदेव ने सर्वोच्च अंकों से पास की थीं इसी प्रकार मिडिल तक भी अन्य विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर लेने के कारण गुरुदेव को अंकगणित में असफल होने पर भी प्रोन्नत कर दिया जाता था । मिडिल कक्षा की परीक्षा के पश्चात् अब उन्हें राजकीय छात्रवृत्ति प्राप्त हो जाये इसकी चेष्टा की जा रही थी । राजकीय छात्रवृत्ति उसी छात्र को मिलती थी, जिसकी योग्यता सभी विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाले की होती थी । अन्य विषयों में तो पू० गुरूदेव के निर्विवाद सर्वोच्च अंक होते ही थे, मात्र अंकगणित में ही ये असफल हो जाते थे । अतः इस बार इन्होंने अंकगणित में भी पूर्ण सफल होने के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना की ।

इस बार भगवान् शिव की ऐसी प्रेरणा हुई कि तुम अंकगणित के बारह प्रश्न अपने बड़े भाई से हल करवा कर रट लो । भगवत् प्रेरणा के अनुसार इन्होंने ऐसा ही किया । संयोगवश इन्ही बारह प्रश्नों में से परीक्षा में प्रश्न पूछे गये और पू० गुरुदेव इस प्रकार सभी विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण हो गये ।

## विवाह एवं रमल विद्याविद् साधु की भविष्योक्ति

जैसे ही पू० गुरुदेव ने मिडिल (आठवीं) कक्षा उत्तीर्ण की अरई ग्राम के एक अति सात्विक पाठक-कुल की ब्राह्मण कन्या से इनका विवाह कर दिया गया । कन्या का नाम जगाधरी देवी था । विवाह के समय गुरुदेव की वय मात्र चौदह वर्ष की थी और गुरुपत्नी अ० सौ० जगाधरी देवी मात्र नौ वर्ष की अबोध बालिका थीं । उन दिनों कन्या के रजस्वला होने के पूर्व ही विवाह आवश्यक माना जाता था ।

पू० गुरुदेव के श्वसुर भी दुर्गा के सिद्धभक्त एवं ज्योतिषी थे । जब उनके गृह में कन्या जगाधरी का जन्म हुआ तो उन्होंने इसकी भी जन्मपत्री बनायी । जन्मपत्री देखते ही पिताजी ने तत्क्षण जान लिया कि इस बालिका का पति सन्यासी एवं भगवान् का सिद्धभक्त होगा । बालिका के विवाह के पूर्व ही यह बात बालिका जगाधरी को भी बता दी गयी । इस बात का पूर्व से पता होने के कारण बालिका को पतिव्रता धर्म एवं पतिभक्ति का पाठ तो पढ़ाया गया परन्तु साथ ही साथ उसे यही बताया गया था कि तेरे भाग्य में घोर त्याग ही त्याग है । अतः निरी बाल्यावस्था में ही पू० माताजी, जगाधरी देवी को गृहस्थियों के भोगों से उपरति की ही उनके पीहर में शिक्षा दी गई ।

पू० गुरुदेव जब आठवीं कक्षा के छात्र थे, एक दिवस वे स्कूल के मुख्य लोहे के द्वार के पास खड़े थे । उसी समय उनके पास एक साधु आये । उस साधु ने कहा मुझे भूख लगी है, कुछ पैसे हों तो दे दो । पू० गुरुदेव ने उससे विनोद में कहा कि यदि तुम यह बता दो कि मेरी जेब में कुल कितने पैसे हैं, और तुम्हारा उत्तर सही निकला तो जितने पैसे मेरी जेब में हैं, सब तुम्हें दे दूँगा । वह साधु रमलविद्या का ज्ञाता था, उसने जेब से पासे निकाले और उनसे गिनती करके सही-सही जितने पैसे पू० गुरुदेव की जेब में थे, बता दिये । उसके पश्चात् उसने यह भी बताया कि तुम्हारे आत्यन्तिक सुख के दिन इस तिथि से प्रारंभ होंगें । पू० गुरुदेव कहते थे कि उन्होंने जब सन्यास ग्रहण किया तो वह तिथि ठीक वही थी जो उस साधु ने रमल विद्या से बतायी थी और वही तिथि मेरे जीवन से सदा के लिये दुखों का अंत कर गयी थी ।

## शिक्षक खालिक साहब

सन् १९२७ ई० में पू० गुरुदेव ने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की । फखरपुर ग्राम में उन दिनों मिडिल स्कूल ही था । अतः आगे की पढाई के लिये उन्हें राजकीय छात्रवृत्ति के साथ जिला हाई स्कूल, गया में भर्ती किया गया ।

इस जिला स्कूल में जनाब खालिकसाहब नामके एक मुसलमान मास्टर थे । वे कक्षा में पढाते समय अधिकांशतः हिन्दूधर्म की निन्दा किया करते थे। हिन्दू विद्यार्थियों को उनकी बातें चुभना स्वाभाविक ही था । पू० गुरुदेव अपनी प्रतिभा एवं नेतृत्व के गुणों के कारण कक्षा में विद्यार्थियों के अग्रगण्य नेता थे।

इन्होंने मास्टर साहब से सभी विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व करते हुए हिन्दूधर्म की भविष्य में निंदा न करने की विनय की । परन्तु इससे वे महोदय निवृत्त होने के स्थान पर और उग्र हो गये और अधिक से अधिक निन्दा करने लगे ।

पू० गुरुदेव ने एक बार उन्हें और समझाने की चेष्टा की परन्तु फल उलटा ही निकला । उन शिक्षक महोदय की हिन्दूधर्म-निन्दा की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी ।

अब पू० गुरुदेव ने उनको ईंट का उत्तर पत्थर से देने का उपाय सोचा। उन्होंनें आर्यसमाज की सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक के चौदहवें समुल्लास का गहन अध्ययन किया । उन्होंनें अनेक आर्यसमाजियों से जो अरबी एवं फारसी के भी विद्वान् थे, वे सभी स्थल एवं प्रसंग कंठस्थ याद किये जिनके आधार पर इस्लाम धर्म की धज्जियाँ उड़ायी जा सके । इस प्रकार इन्होंने इतनी सामग्री संकलित कर ली जिससे वे इन शिक्षक महोदय को पर्याप्त उत्तर दे सकें और उनका मुख बंद कर सकें ।

एक दिन खालिकसाहब जैसे ही इनकी कक्षा में पढाने आये और अपनी पूर्व प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दूधर्म की निंदा करने लगे, पू० गुरुदेव ने उनसे स्वयं कुछ निवेदन करने की अनुमति माँगी । अनुमति मिलते ही पू० गुरुदेव ने मुसलमान धर्म के विरोध में ऐसा तार्किक प्रवचन किया कि जनाब खालिक साहब निरुत्तर तो हुए ही साथ ही सारी कक्षा के सम्मुख बहुत ही लज्जित हुए। उन्हें पता ही नहीं था कि इन अल्पज्ञ शिशुओं में कोई ऐसा मेधावी

प्रवक्ता भी हो सकता है, जिसे कुरान और हदीस जैसे फारसी-अरबी ग्रंथों का भी इतना विशद और सूक्ष्म ज्ञान हो । अब तो उनकी क्रोधाग्नि में घी पड़ गया । श्री खालिक साहब अपना संतुलन खो बैठे और उन्होंने मन ही मन गुरुदेव से बैर निकालने का संकल्प ठान लिया ।

## महासिद्ध संत से मिलन

जब पू० गुरुदेव मात्र पन्द्रह वर्ष के थे, उनका परिचय एक महासिद्ध संत से हुआ । उस समय वे गया जिला स्कूल में नवीं कक्षा के छात्र थे ।

वैष्णवकवि श्रीकृष्णदास कविराज ऐसे महासिद्ध संतों के आंतरिक जीवन का परिचय देते हुए कहते हैं :-

**महाभागवत देखे स्थावर जंगम । ताँहाँ ताँर हय नित्य**
**श्रीकृष्ण- स्फुरण ।**
**स्थावर जंगम देखे ना, देखे तार मूर्त्ति। सर्वत्र हय निज**
**इष्टदेव स्फूर्ति ।।**

महाभागवत संतस्थावर–जंगम जो कुछ देखते हैं, उसमें उनको परमात्मा का स्फुरण होता है । वे स्थावर-जंगम नहीं देखते, उनमें परमात्मा को ही देखते हैं और तब उन्हें सर्वत्र निज इष्ट की स्फूर्ति होने लगती है ।

यह परम सत्य है कि एक परमात्मा विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु में व्याप्त है । विश्व के सब रूप उसी के रूप हैं । उसका प्रकाश यद्यपि अनन्त सूर्यों की किरणों से भी अधिक तेजस्वी है, फिर भी माया के आवरण से आवृत रहने के कारण वह जीवों के द्वारा दृश्य नहीं है । सहस्रांशु होते हुए भी वह अंधकार में आवृत जैसा ही रहता है । अतः मायाबद्धजीव उसे देखते हुए भी नहीं देख पाते। ज्ञात होते हुए भी वह उनके निकट चिरकाल के लिए अज्ञात ही रह जाता है । जिन संतों की, भगवत्कृपाप्राप्त जीवों की आवृत दृष्टि जब उन्मुक्त हो जाती है, तब अनन्त प्रकार के प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमातारूप यह जगत् विलुप्त होकर एक नित्य सदोदित दृष्टि का उदय होता है; उस समय उस परमसिद्ध भक्त के निकट जो कुछ भी प्रतिभात होता है, वह परमेश्वर के प्रकाशमान रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता ।

परम भागवतों को तब यह जगत एक सविशेष रूप में दृष्टिगोचर होता है।

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः

भोक्ता भोग्य सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग- एकमात्र भोक्ता परमेश्वर ही भोग्य रूप में एवं भोग होकर निरंतर सर्वत्र उनके सम्मुख विद्यमान रहता है ।

उस समय ऐसे विलक्षण संतों को सर्वभूत में भगवद्रूप और भगवान् में सर्वभूत देखकर उनका हृदय एक अपूर्व प्रेम रस में आप्लुत रहता है ।

बाह्य रूप में इन परम भागवतों की रहनी चाहे लोक-व्यवहार विरुद्ध ही होती हो, उनकी भाषा, उनका व्यवहार चाहे घोर तमोगुणी पागलों की तरह असंबद्ध प्रलाप करने वाला ही हो, परन्तु वे अपने शरीर के अणु-अणु से सदा सर्वत्र महामंगल ही महामंगल एवं प्रेमरस ही बहाते रहते हैं । वे अपने अंतरंग जीवन के सत्य को ऊपर की विषम रहनी दिखाकर अत्यंत संगोपित रखते हैं परन्तु भीतर वे प्रियतम-प्रेम-भावित-मति हुए रहते हैं । वे बाह्य गाली-गलौज भी करते हैं, अथवा पागलों की तरह पत्थर भी फैंकते हैं तो भी अपने प्रियतम के प्रेमरस में निरंतर छलकते ही रहकर उनकी यह सब किया होती रहती है ।

पू० गुरुदेव को जिन महासिद्ध संत के दर्शन हुए, उनका वेष अर्धनग्न असामान्य था । वे गया की कलक्टरी कचहरी के मुख्य प्रवेशद्वार की दीवार का सहारा लगाकर पड़े रहते थे । एक फटी गुदड़ी और चीनी मिट्टी का एक बर्तन ही इनका सब संग्रह था । पहनने के वस्त्र फटे-चिथड़े ही थे । इनके निम्नांग भी वस्त्रों से गोपनीय नहीं रह पाते थे ।

छात्र स्वभावतः चंचल स्वभाव के तो होते ही हैं, वे अवकाश के समय इनके वस्त्र खींचकर इनको अधिक नग्न करने की चंचल बाल-चेष्टा करते, कोई इनकी पीठ में गुदगुदी करता । इनको ये गाली दिया करते अथवा इन पर पत्थर फैंकते थे ।

हां, जिला का अंग्रेज कलक्टर उधर से जब भी गुजरता, तब वह अपने घोड़े से उतर कर जूता खोलकर अपना हैट (सिर पर पहनने की अंग्रेजी टोपी) उतार कर सम्मानपूर्वक दो-तीन मिनट इनके सम्मुख खड़ा हो जाया करता था । ये कुछ दिन तो उसकी उपेक्षा करते रहे । फिर उसकी ओर अतिस्नेह से देखा करते थे । एक दिन जब वह ऐसे ही खड़ा था, इन्होंने

कहा "जा, रोज आता है, तेरा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा, तेरी पदोन्नति हो जायेगी।" कहते हैं कि कुछ ही काल में उसकी पदोन्नति होकर वह कमिश्नर हो गया ।

पू० गुरुदेव कहते थे, एक दिन बच्चों की देखादेखी इन्होंने भी उन सिद्धमहात्मा को छेड़ना प्रारंभ कर दिया । वे निर्भय रूप से उन महात्माजी के पास चले गये और उनकी बगल में, पेट में, पीठ में, गुदगुदी करने लगे । महात्माजी ने इन्हें कभी गाली नहीं दी। अपितु इनके अधिक छेड़खानी करने पर वे एक गीत गाया करते। गीत के बोल थे -

लडकैया की बान तैंने ना छोडी कन्हैया ।

वे पू० गुरुदेव के दोनों हाथ पकड़ लेते, और उनको अतिशय प्यार की दृष्टि से देखते हुए यह गीत गाया करते । पू० गुरुदेव कहते थे कि-ये महासिद्ध संत थे । इन्होंने मुझमें साक्षात् श्रीकृष्ण को देखकर श्रीकृष्णभक्ति का बीजारोपण कर दिया था। पू० गुरुदेव के जीवन में आठ महासिद्ध संत आये, जिनमें ये महात्मा जो उन्हें गया जिला कलक्टरी में निरे बालकपन में मिले, पहले थे ।

## विप्लववादियों के मध्य

ज्वलुक ज्वलुक विप्लववह्नि नगरे नगरे<br>
भस्म होक् राक्षसेर स्वर्ण लंकापुरी ।

विप्लवाग्नि नगर नगर में प्रज्वलित हो ।

राक्षसराज रावण अर्थात् अंग्रेजी सरकार की स्वर्णपुरी लंका भस्म हो। यह नारा उन दिनों बिहार के नगर-नगर में विप्लववादियों द्वारा प्रचारित किया जा रहा था। पू० गुरुदेव का रुझान भी विप्लववादियों की गतिविधि की तरफ अधिक था । कांग्रेस में तो पद-लोलुपता की प्रवृत्ति अधिक थी। भले ही कार्यक्षेत्र में उनकी सक्रियता कुछ भी नहीं हो, परन्तु कांग्रेस के कार्यकर्ता समाचार पत्रों में येन-केन-प्रकारेण अपना नाम छपाने में अधिक रुचि रखते थे ।

क्रांतिकारी लोग गीता हाथ में लेकर प्रतिज्ञा करते थे और निस्वार्थ भाव से देश के लिए प्राण- त्याग का व्रत लेते थे । उनको देश की सेवा के द्वारा ईश्वर-सेवा का पाठ पढ़ाया जाता था । गीतोक्त निष्काम कर्मयोग की शिक्षा

दी जाती थी । क्रांतिकारी लोगों में मूक आत्म-बलिदानी ही अधिक थे; क्योंकि सुगुप्तता ही उनका रक्षा कवच होती थी । इनमें सर्वोच्च स्तर के कतिपय कार्यकर्त्ता तो बहुत ही उत्तमकोटि के चरित्रवान् त्यागी थे । क्रांतिकारी मशाल जलाये रखने के लिये पैसे की जरूरत होती थी । विप्लववादियों को चंदा देने में पुलिस का कोप-भाजन बनने का भय था । इससे सामान्यतः लोग चंदा नहीं देते थे । जो सहानुभूति रखते थे वे भी छिपकर सहायता करते थे । हथियारों को खरीदने और कार्यकर्त्ताओं की जीवनरक्षा के लिए धनसंग्रह अनिवार्य था । इसलिये अनेक बार धनसंग्रह के लिए उन्हें साहसिक कार्य भी करने पड़ते थे ।

क्रांतिकारी दृष्टि से पू० गुरुदेव का कार्यक्षेत्र संपूर्ण बिहार प्रांत था । वेष बदलने में पू० गुरुदेव बहुत ही कुशल थे । कभी लाठी लेकर कूब निकालकर चलते, कभी मियाँजी मुसलमान बन जाते ; कभी वृद्ध बन जाते और कभी रोगी। परिवर्तित वेष में अनेक स्थानों में अनेक नामों से ये काम करते थे अतः पुलिस जिस नाम एवं वेष को पकड़ती, ये उस वेष को छोड़कर गायब हो जाते। ये अब तक अन्यान्य प्रकार की सुगुप्तता तथा सतर्कता के कारण पुलिस की दृष्टि में नहीं चढे थे । पू० गुरुदेव की सतर्क कार्यवाही से उनका क्रांतिकारियों को सहयोग निर्विघ्न चलता रहता यदि मध्य में एक गंभीर बाधा नहीं आयी होती ।

इस बार पुलिस को अपने प्रयास में कुछ सफलता मिल गयी । पुलिस ने बिहार प्रांत के क्रांतिकारी दल के अनेक गिरफ्तार सदस्यों के गृहस्थानों की तलाशी ली थी एवं इस तलाशी में पू० गुरुदेव का एक पत्र पुलिस के हाथ में लग गया था ।

इस पत्र में गुरुदेव ने अपने मित्र को लिखा था, "मैं बंदा परसों आऊंगा।" पत्र में जो बंदा शब्द लिखा गया था उस शब्द की बाँदा से बेतुकी तुक बैठाकर पुलिस पू० गुरुदेव को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध षडयंत्र के अपराध में फँसाना चाहती थी। संयोग ऐसा था कि उन्हीं दिनों बाँदा नगर में क्रांतिकारियों ने तीन पुलिस इंस्पैक्टरों की हत्या कर दी थी । इस हत्याकाण्ड के पश्चात् संदेह के नाम पर अनेक लोग गिरफ्तार कर लिये गये थे ।

जब उन गिरफ्तार लोगों को यह पता लगा कि पू० गुरुदेव का पत्र उनके घर से पुलिस के हाथ पड़ गया है तो इस बात की सूचना देने के लिए उन्होंने एक व्यक्ति को पू० गुरुदेव के घर फखरपुर भेजा । वह व्यक्ति

अड़तालीस मील पैदल चलकर लोगों की दृष्टि से स्वयं को बचाता हुआ पू० गुरुदेव के पास आया था । उस व्यक्ति ने आकर संदेश दिया कि पू० गुरुदेव को तुरंत फरार हो जाना चाहिए । क्योंकि उस पत्र के आधार पर पुलिस उन्हें गिरफ्तार करने सक्रिय हो चुकी है । पुलिस के द्वारा गिरफ्तार होने का अर्थ ही था काल-मुख में अपने आपको झौंकना ।

उस व्यक्ति से संदेश मिलते ही पू० गुरुदेव को परिस्थिति की गंभीरता का अनुमान हो गया । उन्होंने उस व्यक्ति को अपनी माँ से कहकर तुरंत यात्रा खर्चा दिलाया और कुछ रुपये अपनी जेब में डालकर वे गया के लिए प्रस्थान कर गये । रास्ते में अरहर के खेतों में छुपते हुए एवं वेश बदलते वे रात को सीधे राजा साहब श्रीअविमुक्तेश्वरबहादुरसिंह के घर पर गया नगर पहुंच गये। असमय में और बदले वेष में रात्रि में पू० गुरुदेव को देखकर एकबार तो राजा साहब चौंके । परन्तु फिर चिंतित हुए कहने लगे कि तुम्हारे नाम वारण्ट है और तुम्हें पुलिस गिरफ्तार करने को आतुर है । राजा साहब ने पहले तुरंत भोजन बनवाया और थके-माँदे पू० गुरुदेव को भोजन कराया। रातभर पू० गुरुदेव ने उनके ही यहाँ विश्राम किया ।

पू० गुरुदेव चाहते थे कि उन्हें कहीं से चिकित्सा प्रमाणपत्र मिल जाय जिससे वे सिद्ध कर सकें कि उन दिनों जब बाँदा में हत्याकाण्ड हुआ था, वे डाक्टर की चिकित्सा में राजासाहब के घर पर ही थे । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता कि इस काण्ड से उनका कोई संबंध नहीं था ।

दूसरे दिवस राजा साहब के एक पारिवारिक डाक्टर के पास पू० गुरुदेव गये और उनसे अपने रजिस्टर में पुरानी अवधि में नाम चढ़वाकर तथा दवा लेकर उन्होंने चिकित्सा प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिया । इसके पश्चात् वे निर्भय निश्चिंत रूप से राजा साहब के घर रहने लगे ।

पू० गुरुदेव ने एहतियात के तौर पर यह सब तो किया परन्तु उनका असली विश्वास तो भगवत्प्रार्थना और उनकी अमोघ कृपाशक्ति पर ही था ।

पू० गुरुदेव को दृढ एवं अटूट विश्वास था कि यदि वे निर्दोष हैं एवं बाँदा में मारे गये पुलिस इंस्पैक्टरों की हत्या-योजना में उनका किसी भी स्तर पर तनिक भी हाथ नहीं है तो सत्यस्वरूप भगवान् उनकी अवश्य रक्षा करेंगे। यदि उन्हें इस षडयंत्र का कुछ भी ज्ञान नहीं है तो पुलिस के कोटि-कोटि प्रयत्न निष्फल होंगे और भगवान् अवश्यमेव उनकी रक्षा करेंगें। गुरुदेव इसी

विश्वास के बल पर पूर्णतया निर्भय थे । वे समझते थे कि वे ज्यों ही कातर स्वर से उन्हें पुकारेंगे, वे उसी क्षण उनकी विपत्ति हरने दौड़े आवेंगे ।

पू गुरुदेव के उस पत्र पर विचार करने के लिए पुलिस के एक अंग्रेज डी०आई०जी० के अलावा दो हिन्दुस्थानी अधिकारी नियुक्त किए गये थे । एक सहयोगी अधिकारी राजासाहब के यहाँ अक्सर आते जाते थे । साथ ही ये पू० गुरुदेव से भी अनेक अवसरों में मिल चुके थे । बाहर से कुछ भी अभिव्यक्त न करके वे ध्यानपूर्वक यह पत्र दो-तीन बार पढ गये । साथ ही साथ वे यह भी विचार कर रहे थे कि पू० गुरुदेव को किस प्रकार बचाया जाय ।

उन्होंने डी०आई०जी० महोदय से कहा कि बंदा शब्द के आधार पर चक्रधर मिश्र को षडयंत्रकारी मानना सर्वथा उचित है परन्तु मुझे संदेह है कि इस पत्र को लिखने वाला वस्तुतः चक्रधर मिश्र यही व्यक्ति है। उपाधिकारी महोदय का इसी बात पर जोर था कि यदि यह लिखावट इस बालक की नहीं हुई तो उसके विरुद्ध कार्यवाही करने में परेशानी और जलालत तो होगी ही हमारे सभी प्रमाण कोर्ट में उलटे पड़ सकते हैं । तीसरे अधिकारी तो गुप्तचर विभाग के ही थे, वे अपने विभाग द्वारा लगाया गया आरोप पूर्णतः स्थापित करने के ही पक्ष में थे, परन्तु सर्वोच्च डी०आई०जी० महोदय ने यही निश्चय किया कि यह पत्र पहले लिखावट-विशेषज्ञ के पास भेजा जाय और उसकी रिपोर्ट के आधार पर ही आगे की कार्यवाही की जाय । अब पुलिस विभाग को आवश्यकता थी पू० गुरुदेव की लिखावट की जिससे लिखावट विशेषज्ञ पत्र लेखन की लिपि से तुलना करके अपना निर्णय दे सके ।

पुलिस ने दौड-धूप कर पता लगा लिया था कि पू० गुरुदेव इन दिनों रुग्णावस्था में राजासाहब के मकान पर चिकित्सा करवा रहे हैं । अतः अपने दल-बल सहित पुलिस अधिकारी राजासाहब के घर पहुँचे । पुलिस अधिकारी ने कभी तेज गति से, कभी मंद गति से, कभी मध्यम एवं कभी मिश्रित अनेक प्रकार से वही पत्र तथा और भी गद्यांश पू० गुरुदेव से लिखाये । पू० गुरुदेव ने अपनी लिखावट में कोई बनावट नहीं की । क्योंकि उनका दृढ निश्चय था कि किसी भी अन्य होशियारी से उनकी रक्षा संभव नहीं है, मात्र सत्य का तथा प्रभु की करुणा का ही उन्हें आश्रय ग्रहण करना चाहिये । वे अपने प्रभु पर विश्वस्त और पूर्णतया निर्भर थे । महान् आश्चर्य यह हुआ कि लगातार तीन बार तीन-तीन विशेषज्ञों के पास पू० गुरुदेव की लिखावट भेजी गयी और सभी विशेषज्ञों की सब समय एक ही रिपोर्ट आयी कि यह असली पत्र चक्रधर

मिश्र के हाथ का लिखा हुआ नहीं है । इस प्रसंग से उनका दृढ़ विश्वास हो गया कि भगवान् जैसा सच्चा स्नेही कोई दूसरा संभव ही नहीं है । वे ही जीवमात्र के आत्यंतिक सुहृद हैं अतः अपनी रुचि के अनुमोदन की मात्र उन्हीं से आशा की जा सकती है । भगवान् ही आत्यन्तिक कल्याण करने में समर्थ भी हैं । वे सर्वसमर्थ हैं और एकांतिक हितू भी हैं ।

## महात्मा कुम्हार से रक्षाकवच

स्वदेशी आंदोलन के रूप में अंग्रेजी शासन की कुटिल एवं शोषक नीतियों के विरुद्ध सरकार और जनता के मध्य अघोषित युद्ध प्रारंभ हो चुका था । घर-घर विदेशी वस्तुओं की होली जलायी जा रही थी । राजतंत्र ने कूटनीतिक चालों और पशुशक्ति से इसे दबाने का कोई भी मार्ग शेष नहीं छोड़ा था । किन्तु जनता में भी अदम्य उत्साह था । राष्ट्रीयता और देशभक्ति का उद्रेक आबाल-वृद्ध सभी में था । जन-जन के हृदय में दासता से मुक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो गयी थी । शनैः शनैः वह प्रचण्ड-प्रचण्डतर दावानल का रूप धारण कर ले रही थी । सरफरोश परवाने उस दावानल के चतुर्दिक अपना सर्वस्व भस्म करने को मँडरा रहे थे ।

इस राष्ट्रीय आंदोलन के कर्णधार महात्मा गाँधी थे । कांग्रेस ने आंदोलन छेड़ रखा था । स्कूलों में, कालेजों में, सार्वजनिक स्थानों में फहराते यूनियन जैक, विदेशी सरकार के ध्वज को लोग उतार कर फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देते थे और उसके स्थान पर तिरंगा झण्डा, राष्ट्रीय कांग्रेस का ध्वज फहरा देते थे ।

एक दिन पू० गुरुदेव के विद्यालय में भी कुछ छात्रों ने साहस करके फहराता विदेशी सरकार का ध्वज यूनियन-जैक उतार कर फाड़कर फैंक दिया और उसके स्थान पर तिरंगा झण्डा फहरा दिया ।

यद्यपि इस विषय में पू० गुरुदेव सर्वथा अनभिज्ञ थे, परन्तु जनाब खालिक साहब को चुगुल करने का मौका मिल गया और उन्होंने अंग्रेज कलक्टर के कान पू० गुरुदेव के विरुद्ध भर दिये । श्री खालिक साहब यह कहने से भी नहीं चूके कि यह उद्दण्ड छात्र चक्रधर मिश्र राजकीय छात्रवृत्ति भी प्राप्त करता है । अब तो कलक्टर साहब को अत्यधिक रोष हुआ और उन्होंने पू० गुरुदेव का नाम काली सूची में लिख लिया ।

पू० गुरुदेव के घर के पड़ोस में ही एक कुम्हार का घर था । वह प्रतिदिन रात्रि में लगभग एक बजे ही उठ जाया करता । प्रातःकृत्य एवं स्नानादि करके वह चाक की मिट्टी तैयार करके उसे रौंदा करता एवं साथ ही अति सुरीले मधुर स्वर में ब्रह्मानन्द भजनमाला से अनेक सुंदर पद आलापता था । महात्मा कुम्हार की यह भजन निष्ठा प्रातः दो बजे से प्रारंभ होकर सूर्योदय तक चला करती थी ।

पू गुरुदेव उन दिनों गया कांग्रेस कमेटी के सहायक मंत्री थे । उनके पूर्ववर्ती मंत्री एवं सहायक मंत्री दोनों गिरफ्तार कर लिये गये थे । पू० गुरुदेव इन दिनों स्कूल छोडकर कांग्रेस के आंदोलन में खुलकर भाग ले रहे थे । उन दिनों गाँवों-गाँवों में घूमने एवं आने-जाने के लिये परिवहन साधन तो थे नहीं, सड़कें भी नहीं थी, अरहर के, गन्ने के, धान के खेतों में से पगडंडियों से पैदल ही यातायात था, या बैलगाडियाँ थीं । अतः गुरुदेव दूर-दूर गाँवों में मीटिंग करके प्रायः देर रात में ही घर लौटते थे । मध्यरात्रि में इधर तो पू० गुरुदेव के सोने का समय होता और उधर यह कुम्हार महात्मा के भजन गायन का काल हो जाता । वह अति उच्च स्वर से आलापता -

**तेरे मालिक हैं दीनानाथ सोच मन काहे को करै**

महात्मा कुम्हार का कण्ठ यद्यपि अति मधुर था, परन्तु गुरुदेव की निद्रा तो टूट ही जाती थी ।

पू० गुरुदेव उसे बुलाकर मध्यरात्रि में चिल्लाकर गायन करने से मना करते, राजा साहब से शिकायत् की धमकी देते, परन्तु वह भी पूरा हठी था, उनकी सर्वथा परवाह नहीं करता एवं हँसकर अवधी भाषा में उत्तर देता-

"बचुआ ! जब तोहार जीवन में ऐसन संकट आवै क कहीं कोउ सहारा देहिलन वाला न बचै तब तू हमार कुम्हरिया की बात नीक लगे तो याद कर लैहै । साँची बात भैया ! इहै है क निर्बल क, दीनन क, मात्र सहारा भगवान् ही देत हँई और औहू घोर संकट से तोके उबारिहैं ।"

उस समय तो पू० गुरुदेव ने उस कुम्हार को महत्व नहीं दिया परन्तु आगे जाकर उनके जीवन में इस कुम्हार की बात बहुत ही चमत्कारिक प्रभाव वाली सिद्ध हुई ।

खुले रूप में कांग्रेस आंदोलन में कार्य करने का फल तो प्रकट होना ही था, पू० गुरुदेव को जब वे मात्र पन्द्रह वर्ष के किशोर थे, छह मास का कठोर कारावास हो गया । उन्हें गया सेन्ट्रल जेल में डाल दिया गया । सेन्ट्रल जेल

का जेलर एक लँगड़ा अंग्रेज था । वह महाक्रूर था । वह लँगड़ा जब जेल का निरीक्षण करने आता तो प्रत्येक कैदी से सलाम कराया करता था । पू० गुरुदेव के सम्मुख भी वह आया, परन्तु पू० गुरुदेव ने इसकी ओर ताका तक नही । तीन बार सलाम करने का हुक्म देने पर भी जब गुरुदेव द्वारा उसकी उपेक्षा हुई तो उसने क्रोध से तिलमिलाकर इतना जोर का घूँसा पू० गुरुदेव की नाक और आँख पर मारा कि गुरुदेव को एक बार तो ऐसा लगा कि उनकी आँख सदा के लिये ही गयी और नाक से खून की धार बह चली। उसी समय वे बेहोश होकर जमीन में चक्कर खाकर गिर पड़े ।

पू० गुरुदेव को इतनी सांघातिक चोट लगी थी कि उन्हें १५-२० दिन अस्पताल में भर्ती कराया गया । अस्पताल में श्री गुरुदेव को यही चिन्ता थी कि पुनः जेल में प्रवेश करने पर उनका उसी क्रूर दानव से पाला पड़ेगा और पुनः वैसी ही निर्मम सांघातिक मार खानी पड़ेगी । उस दानव से उन्हें छुटकारे का कोई भी उपाय समझ में नहीं आ रहा था ।

ऐसे विषम संकट के समय जहाँ से उन्हें बचाने वाला कोई भी सूत्र नहीं था, उन्हें उस महात्मा कुम्हार की बात याद आयी । कुम्हार महात्मा की दी शिक्षा से संभव है उनका त्राण हो जाय, इस आशा से वे मन ही मन "हे गोविन्द! हे गोपाल !! मुझे इस संकट से बचाइये, मेरा आत्म-सम्मान भी बना रहे और इस क्रूर दानवी यंत्रणा का कष्ट भी मुझे नहीं झेलना पड़े, मेरी रक्षा करें"- इस प्रकार वे आर्त्त प्रार्थना करने लगे ।

पू० गुरुदेव स्वास्थ्य लाभ करके अस्पताल से जेल में आ गये । वह लँगड़ा जेलर यद्यपि अनेक बार जेल का निरीक्षण करने आया और उसका व्यवहार अन्य कैदियों के साथ वैसा ही क्रूर रहा, परन्तु गुरुदेव के सम्मुख आते ही वह अतिशिष्ट हो जाता था । एक बार तो पंक्ति में खड़ा कर जब वह कैदियों से सलाम ले रहा था एवं गुरुदेव ने उसे सलाम नहीं किया तो पास में खडे एक कैदी ने गुरुदेव को लक्षित कर उसके सम्मुख शिकायत भी की कि "महानुभाव ! यह कैदी सलाम नहीं कर रहा है ।" किन्तु उसने उसी कैदी की पिटाई कर दी एवं गुरुदेव की उपेक्षा कर दी।

उन दिनों गुरुदेव निरन्तर हे गोविन्द, हे गोपाल, हे शिव, हे शंकर जो भी भगवान् के नाम उनके ध्यानपथ में आते नामोच्चारण एवं प्रार्थना करते रहते एवं उस जेलर में भगवान् ही भगवान् भरे हैं ऐसी भावना प्रगाढ रूप में करते रहते ।

उन दिनों राजनीतिक कैदियों से भी कारावास में सभी प्रकार के श्रम कराये जाते थे । बैल के स्थान पर उन्हें कोल्हू में जुतकर तेल पेरना पड़ता था,चक्की में आटा पीसना पडता था, खेतों में पानी देना पडता, रस्सी बंटने का काम करना पड़ता । चाहे बीमारी हो, निर्धारित काम तो करना ही पड़ता था । जिस दिवस जिस कैदी का निर्धारित कार्य पूरा नहीं होता, उसे भोजन नहीं दिया जाता और दूसरे दिन फिर उस निर्धारित कार्य को पूरा करने पर ही उसे भोजन मिलता था । श्रम में रियायत होना तो बहुत ही कठिन बीमारी में, डाक्टर की सिफारिश से ही संभव होता था ।

परम पू० गुरुदेव गया में छह मास जेल में रहे । जेल से छूटकर आने पर घरवालों द्वारा उन्हें राजनीति से दूर करने की बहुत चेष्टा की गयी । परन्तु अपने निश्चय में अडिग रहकर वे अधिक मनोयोग पूर्वक क्रांतिकारी दल का कार्य करने लगे ।

## प्रेत से सहयोग

राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करने में पत्र-पत्रिकाओं ने घृताहुति का काम किया था । इन साइक्लोस्टाइल मशीनों द्वारा छापे गये हजारों पत्रों को क्रांतिकारी दल के युवक गाँव-गाँव में पुलिस की आँखों में धूल झौंक कर प्रचारित कर देते थे । इन पत्रों में शासन द्वारा अपनायी गयी दमन-नीति की खुलकर आलोचना होती थी । इन पत्रों की आग्नेय भाषा नवयुवकों में विदेशी शासन को, उसके कर्णधारों को समाप्त करने के लिए आत्माहुति देने की तीव्र प्रेरणा जगाती थी । कोई प्रेस अथवा रजिस्टर्ड प्रकाशन होता तो सरकार उसे बंद करने की कार्यवाही भी करती । कुछ लोगों को गिरफ्तार भी सरकार कर लेती तो भी इन बलिदानी युवकों का बोया बीज कहीं न कहीं से फूट पडता । वह प्रचण्डतर स्वर में क्रांति का बिगुल बजाता, आग उगलता और मातृभूमि की लज्जा-रक्षा के लिये उसकी वेदी पर अपनी प्यारी संतानों को सर्वस्व बलिदान की प्रेरणा देता रहता ।

पू० गुरुदेव का बिहार के विप्लववादियों से संपर्क तो था ही, यह संपर्क अंततोगत्वा क्रांति की धधकती ज्वाला में उनको खींच ही ले गया । क्रांतिकारी दल के लोग पाँच-सात बड़े विशाल मकान किराये में ले लेते थे । ये विशाल भवन जो बहुत काल से निर्जन पड़े रहते थे वे ही इनकी कार्यशाला होते थे। इन विशाल भवनों में भी ये गुपचुप पीछे की छोटी बारियों से ही मात्र घोर

रात्रि में प्रवेश करते थे । रात्रि को भी ये टिमटिमाती मोमबत्तियों के प्रकाश में ही काम करते या गुप्त,मंद प्रकाश वाली टोर्च काम में लेते थे । आसपास में रहने वालों को भी यदि इनकी कुछ भी भनक पड़ जाती तो ये दूसरे ही दिन उस मकान को छोड़ कर गायब हो जाते थे । फिर दूसरी बार उस मकान में कदम भी नहीं रखते थे । इस प्रकार इनका कार्य बहुत ही गोपनीय होता था ।

एक बार इन्होंने राजा साहब के प्रसिद्ध भुतहे मकान में ऊपरी तल्ले में एक कमरे में डेरा जमाया हुआ था । यह मकान भुतहे के रूप में सर्वत्र कुख्यात था । अतः उसके पास से भी प्रायः लोग गुजरते नहीं थे । पू० गुरुदेव की लेखनी तो ओजस्वी थी ही, वे अपने साथियों सहित रात्रिभर में साइक्लोस्टाइल मशीन से पन्द्रह बीस हजार पर्चे प्रतिदिन छाप लिया करते थे। नवयुवकों का गुप्त-दल रात्रि में ही इन पर्चों को सारे प्रांत में मुख्य-मुख्य शहरों के प्रमुख बाजारों और चौराहों में चिपका देता था ।

सरकार इन पर्चों के विप्लवी स्वर से संत्रस्त हो उठी । परन्तु वह इनका रहस्य कि ये कहां छापे जाते हैं, कौन इनका प्रांतव्यापी प्रचार करते हैं, कुछ भी पता नहीं लगा सकी ।

जिस भुतहे मकान में पू० गुरुदेव का प्रेस था, उसमें एक दिवस जब रात्रि में पर्चे छापने का कार्य चल रहा था, इनका एक साथी लघुशंका करने के लिये नीचे आँगन में गया था। अचानक उसे एक बहुत ही दीर्घकाय ताड़ की तरह लम्बा व्यक्ति दिखाई पड़ा । वह व्यक्ति भयग्रस्त हुआ ऊपर लौट आया और उसने सारी गाथा गुरुदेव को सुनायी ।

पू० गुरुदेव तुरंत एक गुप्त टार्च लेकर अपने साथियों के साथ उस स्थान पर पहुँचे, जहां उस साथी को वह दृश्य दिखाई पड़ा था । वहां और तो कुछ नहीं था मात्र उस मृतात्मा के नाम की चौतरी थी जिसे 'प्रेत का नाडा' कहा जाता था ।

पू० गुरुदेव ने अपने एक साथी को कहकर ऊपर के कमरे में इनके नाश्ते के लिए जो गुड़, भुनी लाई तथा चने रखे थे, वे मंगाये । वह सब प्रसाद के रूप में उस नाडे की चौतरी में रख दिया गया । अब पू० गुरुदेव ने उस प्रेत से प्रार्थना कर दी कि "भाई ! हम तो ऐसे ही मृत्यु को अपनी हथेली में रखकर चलते हैं, हमारे पास मात्र ये चने और गुड़ ही धन संपत्ति है। सो मित्रतावश तेरे सम्मुख भी हमने यह तुच्छ भेंट रख दी है, शेष तो हमारा

सब कुछ देश को अर्पित है। यहां पुलिस की नजर नहीं पड़े इसलिये तेरी शरण में अपना देशसेवा का कार्य कर रहे हैं । अब भविष्य में यदि तूने हममें से किसी को भी भयग्रस्त किया तो इसे निश्चय मान लेना कि हम तेरा यह नाडा चौतरी तोड़-फोड़ कर धूलि कर देंगें । मृत्यू से बड़ा दण्ड तो तू हमें दे ही नहीं सकता । अन्यथा हम तो तेरी शरण हैं, दयाकर हमें भयभीत मत कर, हमारा सहयोगी बन ।"

इसके पश्चात् उस प्रेत ने पू० गुरुदेव के साथियों को कभी भयभीत नहीं किया । हाँ, एक बार किसी सूत्र से पुलिस को भनक पड़ गयी । ये लोग दिन में वहां रहते ही नहीं थे । साइक्लोस्टाइल मशीन, स्टेशनरी की कागज की रीमें, टाट के बोरों में डालकर किसी अंधेरी कोटड़ी में अवश्य डाल देते थे, जिससे यदि पुलिस दिन में आ भी जाय तो उसे वह सामग्री नहीं मिल पावे । उस दिवस पुलिस का एक इंस्पेक्टर कुछ सिपाहियों सहित आ पहुँचा । उसने उस भवन की तलाशी लेनी चाही । ज्योंही पुलिस ऊपरी तल्ले में चढ़ने के लिए सीढ़ियों के मध्य पहुंची, उसे वह लम्बा ताड़ जैसा प्रेत भयावह मुद्रा में झपटता दृष्टिगोचर हुआ। पुलिस वाले वहाँ से उलटे पैरों ऐसे भागे कि फिर कभी उस मकान की ओर उन्होंन मुख ही नहीं किया ।

पू० गुरुदेव एवं उनके दल ने दूसरे ही दिन उस मकान को खाली करके अन्य दूसरे भवन में स्थानान्तरण कर लिया ।

## जेल में दारुण यंत्रणा एवं भगवत्कृपा प्रकाश

इस देश का पुरातनकाल से यह दुर्भाग्य ही रहा है कि यहाँ जयचंदों का प्रवेश किसी भी देशभक्तिजन्य कार्य में हो ही जाता है । पू० गुरुदेव के साथियों में भी एक जयचंद का समावेश हो गया एवं उसने पुलिस का Informer मुखबिर बनकर पूज्य गुरुदेव की कार्यशैली की राई-रत्ती सूचना सरकार को दे दी । एक रात जब इनका दल कई हजार पर्चे छापकर शयन करने के मूड में था, पू० गुरुदेव को ऊपरी छत से एक व्यक्ति मकान की चारदीवारी के पास छुपा हुआ दृष्टिगोचर हुआ । पू० गुरुदेव ने उसकी खाकी कमीज भी देख ली । ये तुरंत ही समझ गये कि वह व्यक्ति पुलिस का सूचना देने वाला इंफॉर्मर है । वह थोड़ी-थोड़ी देर में उठ-उठ कर भवन की ओर देखता था तथा फिर छुप जाता था ।

पू० गुरुदेव समझ गये कि पुलिस से वे घिर गये हैं और कतिपय क्षणों में पुलिस आ धमकने ही वाली है । प्रत्युत्पन्नमति पू० गुरुदेव ने तत्क्षण ही सारे पर्चे, साइक्लोस्टाइल मशीन और कागज की रीमें एक बड़े जूट के बोरे में भर दीं और उसे एक रस्सी के सहारे नीचे खेत में उतार दीं । उस समय पू० गुरुदेव के साथ एक तो उनका सहयोगी और एक बूढा रसोईया, मात्र दो ही व्यक्ति थे । उन्होंने एक मजबूत रस्सी के सहारे उस रसोइये को भी नीचे उतार दिया । रसोइये को उन्होंनें निर्देश दिया कि बोरे को नीचे गढ्ढे में अच्छी प्रकार से गाड़ दे और तब स्वयं ही अपने पैरों के निशान मिटाता हुआ दूसरे गाँव में भाग जाये ।

यह रसोइया जैसे ही बोरे को गाड़कर अपने पदचिन्ह मिटाता हुआ गाँव की ओर भागने को उद्यत हुआ कि पुलिस आ धमकी । पुलिस ने दरवाजा खटखटाना प्रारंभ कर दिया था । पुलिस दरवाजा खुलवाने की त्वरा दिखा रही थी और गुरुदेव रसोइये को थोड़ी दूर चले जाने का अवकाश देने के लिये पुलिस को बातों में उलझाये रखना चाहते थे । अतः उन्होंने छत से ही कड़कती आवाज में कहा- "आप कौन हैं ? आधी रात के समय सोते हुए व्यक्तियों को क्यों तंग कर रहे हैं ?"

छत से पू० गुरुदेव पिछवाड़े से अरहर के खेतों से उस रसोइये को जाता देख रहे थे अतः वे पुलिस वालों से तब तक वार्ता करते रहे, जब तक उस बुढ्ढे का उनकी आँखें अनुसंधान करती रहीं ।

अंत में द्वार तो खोलना ही था । पू० गुरुदेव के साथी के पास धन की सहायता करने वाले दानदाताओं की सूची अवश्य रह गयी थी । गुरुदेव ने उसे संकेत से समझा दिया कि इसे टुकड़े-टुकड़े कर इतना बारीक चूर्ण बना दे जिससे कहीं से भी जोड़कर पुलिस वाले सहायता देने वालों का कोई भी सुराग नहीं पा सके। यदि वह सूची पुलिस के हाथ पड़ जाती तो आर्थिक सहायता देने वाले व्यक्तियों को पुलिस अकारण तंग करती ।

मकान की तलाशी में पुलिस को कुछ भी नहीं मिला, परन्तु उस देशद्रोही जयचंद की गवाही और इकबालिया बयान के आधार पर पुलिस ने पूज्य गुरुदेव पर मुकदमा चला दिया । गया-षडयंत्र काण्ड नामक इस मुकदमें में अंग्रेज जज ने गुरुदेव को पुनः छह मास का कठोर कारावास दे दिया ।

पू० गुरुदेव गया जेल में सूर्यास्त के समय पहुँचे । जिस गया जेल में गुरुदेव लाये गये थे वहां के प्रधान जेलर का नाम मेजर बर्क था । वह आयर्लेण्ड का रहने वाला था । स्वभाव से ही वह अत्यंत क्रूर था । जो भी राजनैतिक बंदी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अधिक सक्रिय होता था, उसके बंदी विवरण पत्र पर वह कुख्यात लिख दिया करता था । इन विशेष कैदियों को वह भीषण यातना दिया करता था । अधिकांश ऐसे कैदियों को तो वह मौत के घाट ही उतार दिया करता था । वह नरपिशाच अपने भारी भरकम शरीर से मिल्ट्री-बूट पहनकर कैदी की छाती पर चढ जाता था और इतनी जोर से हुमचता था कि छाती की हड्डियां तड़-तड़ टूट जातीं । प्रायः कैदी अपने मुख से बल-बल खून उगलता हुआ वहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता था। जेल के रजिस्टर में लिख दिया जाता कि बीमारी से मर गया । इस गलत रिपोर्ट पर विरोध करने का भी उन दिनों किसी में साहस नहीं होता था । परिणाम यह था कि कैदी इसके नाम से ही थर-थर कांपते थे ।

जिस प्रकार क्रूर-कर्मा मेजर बर्क अपनी दानवी पीड़ादायिनी यंत्रणाओं के कारण कुख्यात था, उसी प्रकार पू० गुरुदेव की भी जेल में सर्वत्र अपनी देशभक्ति, आत्मिक तेजस्विता, विलक्षण धैर्यनिष्ठा आदि गुणों के कारण प्रख्याति थी ।

पू० गुरुदेव ने सायंकाल सभी राजनैतिक कैदियों को रामायण सुनाना प्रारंभ कर दिया था । उनका कण्ठ तो अति सुरीला और मधुर था ही । किशोर बालक चक्रधर जब तक रामायण गायन करता, उसकी कोकिलकण्ठी, मधुर स्वरलहरी से सभा भक्तिमय भावों में परम मुग्ध हुई सर्वथा एकाग्रचित्त और शांत हो जाती थी ।

उनके रामायण गायन की ख्याति ज्यों-ज्यों जेल में बढती गयी, जेल के दूसरे वार्डों से भी कैदी एवं वार्डर, सभी लोग रामायण सुनने एकत्रित हो जाते थे । पू० गुरुदेव की लोकप्रियता की बात मेजर वर्क के कानों में भी पड़ी । उसे भला यह कैसे सहन होता कि एक राजनैतिक कैदी इस छोटीसी उम्र में जेल के वार्डरों और सभी कैदियों के मध्य इतना अधिक लोकप्रिय हो जाए तथा धर्मचर्चा के नाम पर लोगों को संगठित करने लगे ।

एक दिवस जैसे ही पू० गुरुदेव ने रामायण सुनाना प्रारंभ किया ही था कि वह महादानव अपनी शक्तिशाली वार्डरों की टोली के साथ वहाँ आ धमका । पू० गुरुदेव लम्बी शिखा तो रखते ही थे । उसने आते ही पू०

गुरुदेव की शिखा पकड़कर बुरी तरह से झकझोर दी । वह इनको शिखा पकड़ कर घसीटता हुआ, जूतों की ठोकर मारता बहुत दूर तक खींचकर ले गया । पू० गुरुदेव ने तनिक भी प्रतिक्रिया नहीं की और एक सच्चे अहिंसक सत्याग्रही की तरह निर्विरोध पिटते रहे । उसने पू० गुरुदेव के हाथों में पकड़ी हुई रामायण की प्रति छीनने की बहुत ही चेष्टा की परन्तु पू० गुरुदेव की रामायण पर पकड़ इतनी मजबूत थी कि वह उसे उनके हाथों से छीन नहीं सका । इस पर क्रोधित हो उसने गुरुदेव को- जो दुबले-पतले हलके शरीर के थे, अपने दोनों हाथों में ऊपर उठा लिया और सभी कैदियों के देखते-देखते उन्हें निर्जीव काष्ठ-पटरी की तरह पटक दिया । उस दानव में इतनी सी संवेदना भी नहीं थी कि गुरुदेव हाड-मांस की सुकोमल देह हैं । इस घटना से श्रीचक्रधर मिश्र की ख्याति सारे जेल में फैल गयी एवं एकमत से सबकी सहानुभूति इनके ऊपर उमड पड़ी । उसी दिवस से उसने पू० गुरुदेव को फाँसी के कैदियों को रखने की सैल में डाल दिया ।

मेजर ने जेल के कैदियों पर अपनी मर्जी का एक नियम लाद दिया था। वह नियम यह था कि जब भी वह निरीक्षण करने आवे, कैदी अपने हाथ उठाकर दाहिने हाथ की हथेली दाहिने कंधे पर रख लें एवं बायें हाथ की हथेली बायें कंधे पर रख लें । भयाक्रांत हुए सभी कैदी उसके सामने होने पर ऐसा कर ही लेते थे । जो ऐसा नहीं करते उसे वह जेल के वार्डरों से बुरी तरह पिटवाता था । वह इतना दुष्ट था कि दवा के नाम पर कैदी के शरीर पर चेचक का संक्रामक टीका लगवा देता था जिससे उसके सारे शरीर में चेचक के बड़े-बड़े फफोले हो जाते थे । वह इन फफोलों की परवाह किये बिना उस कैदी को पेड़ से बँधवा देता और जेल के शौचालयों में पड़ी विष्ठा भंगियों से कहकर उस पर डलवा देता । कैदी को मक्खियाँ काटतीं और दारुण यंत्रणा से कैदी चीखता हुआ बेहोश हो जाता ।

पू० गुरुदेव को इन सब यातनादायक परिस्थितियों की सूचना जेल के एक बंगाली डाक्टर ने अग्रिम ही दे दी थी । जेल के बंगाली डाक्टर ने उन्हें पूर्व-चेतावनी भी दे दी कि जेलर के आने पर वे अन्य कैदियों की तरह सामान्यतया हाथ ऊपर कर दें, यदि कहीं जिद अथवा अकड से उन्होंने ऐसा नहीं किया तो निश्चय ही वह क्रूर दानव उनकी जान का ग्राहक हो जायेगा और भीषण शारीरिक यंत्रणाऐं मिलेंगी सो अलग । पू० गुरुदेव ने उस डाक्टर को इतना ही संक्षिप्त उत्तर दिया कि मृत्यु तुम्हारे लिये भयावह हो सकती है,

मेरे लिये तो यह मात्र एक तुच्छ खेल है । यह विकट एवं विषम परिस्थिति आखिर पू० गुरुदेव के सम्मुख आ ही गयी । पू० गुरुदेव स्वतंत्र-मति के थे और ऐसे समझौते करना उनकी नैतिकता के विरुद्ध था ।

अब गुरुदेव के पास तो एक ही निर्बल का बल था । वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे- "हे प्रभो ! हे दयालु ! हे स्वामी ! आप सर्वसमर्थ हैं । मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा आपके सिवा दूसरा कौन कर सकेगा ? हे प्रभो इस असंभव बात को संभव कर दीजिये । नाथ, मेरी इस घोर यंत्रणा से भी रक्षा हो और मेरा आत्मसम्मान भी बना रह जाय।" मेजर बर्क जैसे ही निरीक्षण करने आया तो सभी कैदियों को एक पंक्ति में खड़ा कर दिया गया । मेजर के साथ पाँच-सात वार्डर भी रहते थे । वह दुष्ट इन्हीं वार्डरों से क्रूरतापूर्वक डण्डे चलवाया करता था । जिस तन्हाई की कोटड़ी में पू० गुरुदेव रखे गये थे, उससे अगली दो तन्हाई की कोटड़ियों में रहने वाले कैदियों को यह जेलर कुछ ही दिन पहले मौत के घाट उतार चुका था ।

पू० गुरुदेव के द्वारा हाथ नहीं उठाये जाने के कारण हरक्षण अतिशय काली भयावनी आशंका गहरी होती चली जा रही थी । मेजर बर्क पू० गुरुदेव के सम्मुख लगभग पाँच मिनट तक खड़ा रहा । उनके सामने खड़ा हुआ वह अपने मुख से सीटी बजाये जा रहा था । पू० गुरुदेव पीठ की ओर हाथ पर हाथ दिये खड़े थे । उनके मुख से नाम ध्वनि का तार अनवरत चल रहा था। थोड़ी देर खड़ा रहकर न जाने क्या सोचकर वह आगे बढ गया ।

ज्योंही वह शैतान मेजर आगे बढ़ा, पू० गुरुदेव के मन में भगवान् के प्रति भावनाओं का वेग इतना प्रबल गति से बह चला कि उसे वाणी कह ही नहीं सकती । भगवान हैं, वे प्रार्थना सुनते हैं, वे आर्त्त की रक्षा करते हैं, वे असंभव को संभव बना देते हैं, उनकी दया असीम है- इस प्रकार के भावों के उच्छलन से पू० गुरुदेव का हृदय कृतज्ञता से भर आया था । परन्तु अभी तो आगे आने वाली घटनाएँ बहुत ही गंभीर होने वाली थीं ।

मेजर बर्क पुनः कैदियों के निरीक्षणार्थ आया । सभी कैदी पुनः पंक्तिबद्ध खड़े कर दिये गये । पू० गुरुदेव ने तो इस बार भी उसकी उपेक्षा की और अपने हाथ ऊपर नहीं उठाये ।

इस बार मेजर की क्रूर आँखों में क्रोध की विकराल वक्रता छा गयी । क्रोध की उत्तेजना से उसका चेहरा लाल हो गया । उसने पाँचों वार्डरों को हुक्म दिया, पीटो इस लड़के को । इधर दशा ये थी पाँचों वार्डर इस छोटे से

ब्राह्मण बालक के प्रति भक्ति करने लगे थे । ये इनकी रामायण-कथा में भी सम्मिलित हो चुके थे । इनके तेजस्वी एवं निर्मल अहिंसापूर्ण-सत्याग्रही-स्वभाव ने कुछ सीमा तक इनकी क्रूरता में सात्विक दया के भाव भर दिये थे । जब इन्होंने इस बालक के कुल का, माता-पिता का एवं जन्म स्थान का पता करना चाहा तो इन्हें यह भी पता लग गया था कि यह उनके पार्श्ववर्ती ग्राम फखरपुर का ही निवासी है और इस बालक के पिता इनके भी पुरोहित-गुरु हैं।

अतः जब मेजर द्वारा इन पाँचो को पू० गुरुदेव को पीटने का हुक्म दिया गया तो ये इसे मारने के स्थान पर इसकी बाँह मात्र मेजर के सम्मुख उठ जाय, ऐसी चेष्टा करने लगे । गुरुदेव भी तो अति हठी थे । वार्डरों के प्रयास के बावजूद भी जब गुरुदेव ने अपनी बाँह नहीं ही उठायी तो मेजर बर्क क्रोध में तिलमिला गया । वह स्वयं क्रोध में भरा इन्हें घूँसों से मारने लगा । पू० गुरुदेव तो तत्क्षण ही चक्कर खा कर मूर्च्छित हुए जमीन पर गिर गये ।

परम पूज्य गुरुदेव के कार्ड पर मेजर वर्क ने पहले से ही नोटोरियस (कुख्यात) तो लिखा हुआ ही था, अब एक शब्द 'पनिसमेंट'- 'दंडित किया जाय' और लिख दिया । उसने आदेश जारी कर दिया कि इसे पहनने को टाट दिया जाय । उन दिनों जेल में तीन प्रकार का टाट पहनने को दिया जाता था । प्रथमतः कपास के धागे से बना मोटा कपड़ा, दूसरे पटसन से बना टाट, तीसरे नारियल के रेशे से बना टाट । पू० गुरुदेव को मेजर ने जानकर यह तीसरे किस्म का टाट पहनने को दिया । यह शरीर में एकदम चुभता था । शरीर में बहुत जोर की मार पड़ी थी, अतः शरीर सूज गया था, बड़ी तीव्र वेदना हो रही थी । साथ ही बहुत तेज बुखार हो आया था । केवल ज्वर ही नहीं, चेचक भी निकल आयी थी । गुरुदेव प्रायः नग्न ही रहते । मात्र निम्नांग ढकने के लिये ही टाट प्रयोग करते थे, परन्तु चेचक के व्रण तो शरीर में सर्वत्र थे, उसमें यह टाट बहुत ही गड़ता था । कष्ट की सीमा नहीं थी।

एक दिन सहायक जेलर से जो एक मुसलमान था, गुरुदेव ने अपना कष्ट सुनाकर दूसरा कपडा देने की प्रार्थना की तो उसने उन्हें सांत्वना देना तो दूर रहा अपने पान की पीक उनके मुख पर थूक दी । उस तन्हाई की कोठड़ी में नग्न शरीर, ज्वर-पीड़ित, चेचक-ग्रस्त, नारियल की टाट में, पू० गुरुदेव किस प्रकार रात-दिवस काटते थे, यह तो कोई भुक्तभोगी ही जान

सकता है । जेल में पू० गुरुदेव को तीव्र विष दिया गया । यह विष प्रतिदिन ही उनके भोजन में मिला दिया जाता था । विष की प्रतिक्रिया-स्वरूप उनके मुख के भीतर घाव हो गये । उस विष का प्रभाव पू० गुरुदेव यावज्जीवन ढोते गये ।

इस तन्हाई की कोटड़ी में पू० गुरुदेव को रह-रहकर उस महात्मा कुम्हार की याद आ रही थी । वे मन ही मन शंकर, श्याम, राधेश्याम, सीताराम- जो भी भगवान् का नाम जिह्वा में आता, जपते । आर्तस्वर में भगवान् का नाम पुकारना ही उनकी प्रार्थना थी और वही मंत्र-जाप था । उनका हृदय आकुल हुआ, एक ही पुकार कर रहा था कि किसी भी प्रकार मेरे प्राण भी बचें और प्रतिष्ठा भी बच जाय । उसी दिवस पू० गुरुदेव को एक दिव्यानुभव हुआ । उनको अपनी तन्हाई की कोटड़ी से गया का दूरस्थ ब्रह्मयोनि पर्वत दिखाई पड़ता था । उन्हें दिखाई पड़ा कि इस ब्रह्मयोनि पर्वत के शिखर पर लताओं में आच्छादित एक विशाल वृक्ष के नीचे भगवान् शंकर खड़े हुए हैं । उनका हाथ अभय-मुद्रा में उठा हुआ है। वे पूज्य गुरुदेव को स्पष्ट आश्वासन दे रहे हैं- "तुम निश्चिंत रहो, तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा । मैं तुम्हारी रक्षा कर रहा हूँ ।" इससे पू० गुरुदेव को बहुत ही सांत्वना मिली। उसी समय उनके मन में प्रेरणा हुई कि किसी भी प्रकार से मेरा तबादला दूसरी जेल में हो जाय तभी मेरे प्राणों की रक्षा हो सकती है ।

उस गया जेल में एक और सहायक जेलर थे श्रीहरिपद बाबू । वे पू० गुरुदेव के प्रति थोड़ी सहानुभूति रखते थे । श्रीहरिपद बाबू ने ही चेष्टा करके किसी बड़े अधिकारी से कहकर इनका नारियल का टाट बदलवाया और चेचक के मरीज के नाते इन्हें और भी सुविधायें दिलवायीं । और तब भगवत्कृपा के बल से इनका तबादला ही कैम्प जेल में करवा दिया ।

कैम्प जेल में उन दिनों चार-पाँच हजार राजनैतिक कैदी थे । ये सभी श्रीमहात्मा गांधी के नमक-सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए थे । इस जेल में भी पू. गुरुदेव पर अनेक विपदायें आयीं । भयंकर लाठीचार्ज हुआ और सैकड़ों सत्याग्रहियों के सिर तरबूजों की तरह फटे । इसके पश्चात् गोलीकाण्ड तक की नौबत आ गयी । विस्तार-भय से इन सबका वर्णन नहीं कर रहा हूँ । संक्षेप में मात्र इतना ही कहना है कि इन घोर विपत्तियों में पद-पद पर पू० गुरुदेव को भगवत्कृपा के प्रत्यक्ष अनुभव हुए; उससे उनको दृढ़ निश्चय हो गया कि जीवन के एक मात्र सुहृद भगवान् हैं और भविष्य में वे अब अपना

संपूर्ण जीवन भगवद्प्राप्ति एवं उनके भजन में ही समर्पित कर देंगे । उन्होंने अपने जीवन का एकान्तिक लक्ष्य-सर्वसमर्थ भगवान् की आराधना ही बना लिया । उनके विश्वास में यह बात सुदृढ़ता से जम गयी थी कि अकारण-कृपालु, असीम-दयालु एवं असंभव को संभव बना देने वाले भगवान् के समान जीव का सुहृद अन्य कोई नहीं है ।

इधर ५ मई, १९३१ को वायसराय इरविन से महात्मा गांधी का समझौता हो गया । गांधीजी ने अपना आंदोलन स्थगित कर दिया और उधर इरविन सरकार ने भी सत्याग्रही नेताओं सहित सभी राजनैतिक बंदियों को बिना शर्त रिहा कर दिया। इस दूसरी बार की जेल यात्रा में पू० गुरुदेव को छः मास के स्थान पर मात्र पाँच मास का ही बंदीजीवन भोगना पड़ा ।

## गायिका दुर्गेशनन्दिनी

यद्यपि पू. गुरुदेव कैशोर्य लाँघकर यौवन में प्रवेश कर चुके थे, राजपरिवार से मैत्री के कारण उनका जागतिक भोगविलास की बातों से शाब्दिक परिचय भी हो चुका था, परन्तु उनका मन सर्वत्र, सब स्त्रियों में सदा मातृभाव से ही भक्तियुक्त रहता था । घोर मलिनता के वातावरण में और अतिशय मलिन व्यक्तियों के संग में भी वे अपने चित्त में कैसी निर्मलता संजोये रहते थे, इसका यहाँ एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रसंग है फखरपुर के राजासाहब के छोटे भाई के विवाह का । ये छोटे भाईसाहब पू. गुरुदेव के बाल गोठिया साथी थे । राजासाहब का भी आग्रह था कि श्रीमिश्रजी (पू० गुरूदेव) उनकी बारात में सम्मिलित हों । दोनों मित्रों का परस्पर इतना स्नेह था कि इस आग्रह को टालना भी संभव नहीं था । बारात दरभंगा की ओर गयी थी । उन दिनों बिहार में यह बुरी प्रथा ही थी कि बारात में वेश्यायें नाच-गान के लिये अवश्य बुलायी जाती थीं । सम्पन्न घरों की बारात में नामी गायिकायें तथा नर्तकियाँ आती थीं। राजासाहब की बारात की मजलिस फिर भला कैसे सूनी रहती ? अतः वाराणसी से दुर्गेशनन्दिनी नामक नामी गायिका को बुलाया गया था । उसे लोग संज्ञा तो वेश्या की देते थे, परन्तु वह मात्र उत्तम गायिका ही थी । पू. गुरुदेव का वेश्याओं के नाच-गान में सम्मिलित होने का तो प्रश्न ही नहीं था । वे इस प्रकार विवाहोत्सवों में व्यर्थ के व्यय के सर्वथा विरोधी थे । देशभक्त

क्रांतिकारियों के हजारों परिवार जहाँ दो जून रोटी भी नहीं जुटा पाते थे, वहाँ इस प्रकार की विलासिता में हजारों रुपयों का अपव्यय हो, उन्हें यह सर्वथा अरुचिकर था, परन्तु वे मात्र मौखिक विरोध ही तो कर सकते थे, इस प्रथा को समूलतः रोकना अथवा अपने मित्र के विवाहोत्सव में यह नहीं होने देना उनके वश की बात नहीं थी । सामाजिक-प्रतिष्ठा अच्छे-भले व्यक्तियों को ऐसा करने में विवश कर देती थी । पू० गुरुदेव ने अपना विरोध प्रकट करने का यही उपाय सोचा कि स्वयं उस मजलिस में सम्मिलित नहीं होवें। परन्तु दूल्हा भी पूरा हठी था । वह राजपरिवार का अंग था । उसने हुक्म दे दिया कि यदि मिश्रजी न आवें तो चार व्यक्ति उन्हें हाथ पैर बाँधकर ले आवें। उसके इस आग्रह में भी मित्रता-जन्य प्रेम ही प्रधान था। दूल्हे के व्यक्ति पू. गुरुदेव के पास पहुँचे और उन्होने दूल्हेराजा का प्रेमाग्रह मुसकाते हुए प्रकट कर दिया । अब समझदारी इसी में थी कि मजलिस में स्वतः ही सम्मिलित हो जाया जाये । पू. गुरुदेव मजलिस में गये और दुल्हे राजा ने स्वयं खड़े होकर उनका स्वागत किया तथा उन्हें ठीक अपने बगल में बैठाया ।

जब दूल्हेराजा ने इतनी आवभगत की तो गायकों ने स्वाभाविक ही पू० गुरुदेव को अति महत्वपूर्ण व्यक्ति मान लिया । दुर्गेशनन्दिनी गायिका जब मंच पर आयी तो सबसे पहले उसने दुल्हेराजा को अभिवादन किया एवं तत्पश्चात् पू० गुरुदेव को भी सलाम किया, एवं सबसे पहले उन्हीं से पूछा कि खिदमत में कौनसा राग पेश करूँ। उस गायिका के यह पूछते समय पू० गुरुदेव का ध्यान उसके नाम पर चला गया । "ये तो दुर्गेश भगवान् शंकर को नन्दित करने वाली माँ पार्वती हैं ।" वे अब तो इस नामजनित निर्मल-भाव में डूब गये । वे क्या उत्तर देते, उनसे यही कहते बन पड़ा - "माँ ! मैं तो रागरागिनी का कुछ भी ज्ञाता नहीं, जो इन सबको रुचे वही गाओ।" ये शब्द निकलते-निकलते तो पूज्य गुरुदेव का मन और अधिक निर्मलता में डूब गया।

पू. गुरुदेव के निर्मल-भाव ने उस गायिका को भी मातृभाव में सराबोर कर दिया । वह अति विस्मित हो उठी। जिसे सदा हेय नेत्रों से ही सभी ने देखा हो, जिसे भरी सभा में सभी मात्र विलासयंत्र समझ, हेय एवं तुच्छ संबोधनों से ही पुकारा करते हों, उसे कोई दैवीभाव से, भक्तिपूर्ण नेत्रों से 'माँ' कहकर पुकारने वाला भी है ? इस मलिन संसार में उस जैसी सार्वजनिक मनोरंजन कर, माया बटोरने वाली को कोई इतनी विशुद्ध

सात्विक भक्तिभावभरी दृष्टि से देखने वाला भी है ? - इस भाव ने उसके मनको झकझोर कर रख दिया। जब तक वह सभा में रही वह पू० गुरुदेव की ओर विस्मय, पवित्रता एवं वात्सल्य भरे भाव से ही निहारती रही । उसने लगभग चालीस मिनट तक विलास-तोड़ी राग गाया । ऐसा लगता था मानो राग-रागिनी तो उसके कण्ठ में क्रीडा ही करती रहती हैं ।

वास्तव में भावमयी भक्ति-साधना में संगीत का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है । पू० गुरुदेव ने तो भगवान् शंकर से गायन-कला में नैपुण्य माँगा था । वे कहते थे - सितार का मुझ पर बहुत ही प्रभाव होता था । सितार से करुणा के भाव उनके हृदय में बहुत अधिक संचरित होते थे । पू० गुरुदेव को उस दिवस माता दुर्गेशनन्दिनी के गायन ने भक्तिभाव की गहरी अनुभूति में प्रवेश करा दिया था ।

## सेवा-भाव

पूज्य गुरुदेव ने नवीं कक्षा में ही पढ़ाई छोड़कर राजनीतिक कार्यों में रुचि लेनी प्रारंभ कर दी थी । फिर लगभग ग्यारह-बारह माह की दो जेल यात्राएँ हो गयीं, अतः वे अब आगे की पढ़ाई में दत्तचित्त हो गये ।

राजकीय जिला हाइस्कूल, गया के प्रधानाध्यापक श्री विजयकृष्ण सेन एक बंगाली सज्जन थे । पू० गुरुदेव की प्रतिभा से ये इतने प्रभावित थे कि पू० गुरुदेव को अपने घर में ही बच्चे की तरह रखते थे । इस बंगाली परिवार के मध्य रहने से पू० गुरुदेव बहुत भली प्रकार से बँगला भाषा बोल लेते थे। संस्कृत पठन-पाठन तो घर में आनुवंशिकी-परम्परा से था ही। अंग्रेजी भाषा में पू० गुरुदेव का बहुत ही विशेष अध्ययन था । उस पर तो उनका ऐसा असाधारण अधिकार हो गया था कि उनके अंग्रेजी भाषण को सुनकर अंग्रेज कलेक्टर भी आश्चर्य करता था । एक बार इनके गया स्कूल के अध्यापक की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया । वे राजयक्ष्मा से ग्रस्त थीं एवं उसी से उनकी मृत्यु हुई थी । गाँव का कोई भी व्यक्ति शव उठाने को तैयार नहीं था। उन दिनों राजयक्ष्मा छूत की असाधारण बीमारी मानी जाती थी । राजयक्ष्मा के रोगी को, अथवा शव को स्पर्श करने मात्र से यक्ष्मा से प्रभावित हो जाने की आशंका तो थी ही । और यह सत्य भी था कि जिसके परिवार में यदि एक भी सदस्य को यक्ष्मा हो जाता तो परिवार का परिवार ही इस रोग से आक्रान्त हो उठता था और मृत्यु के मुख में चला जाता था। परिस्थिति ऐसी विषम थी

कि बहुत विनय करने पर भी कोई शव को स्नान कराने एवं अर्थी बाँधने को तत्पर नहीं था ।

स्कूल के प्रधानाचार्य जी ने अन्ततः युवा बालक चक्रधर को बुलाया । यह पाठशाला के सभी युवा छात्रों का नेता था । उस समय छात्रावास में लगभग तीस-बत्तीस छात्र थे। प्रधानाचार्य जी ने सेवा परायण चक्रधर से सहयोग चाहा । पू० गुरुदेव तुरन्त तत्पर हो गये और उनके तत्पर होते ही अनेक छात्रों में उत्साह जाग गया । फिर तो स्कूल के चपरासी भी सहयोगी हो गये । अर्थी तैयार हो गयी और श्मशान-घाट में भी पहुँच गयी । जब शव को चिता में रखकर आग लगा दी गयी तो एक साधु आया । उसने कहा- "यहाँ शव जलाया जा रहा है अतः मुझे पाँच रुपया दो ।"

पू० गुरुदेव ने कहा - 'भाई ! हम लोग विद्यार्थी हैं, हमारे पास धनमाया नहीं है जो तुम्हें दें, परन्तु वह साधु माना नहीं । पू० गुरुदेव के मित्र बद्रीप्रसाद ने भी उसे समझाने की अति चेष्टा की परन्तु वह तो अपनी जिद पर अड़ा ही रहा । कहते हैं 'बालक बन्दर एक समाना' - सो जब वह माना ही नहीं तो चंचल विद्यार्थी अपनी बालचेष्टाओं पर उतर आये । कोई उसे नंगा ही कर देने पर उतारू हो गया, कोई उसे चिता की ओर ही धकियाने लगा । अब वह साधु गाली देता हुआ चला गया ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि किशोरावस्था में सभी युवक ऐसी चंचलता किया करते हैं, वैसी ही चेष्टा श्मशानघाट पर हम लोगों के द्वारा हुई । परन्तु घाट से वापस आने पर मेरे चिन्तन में बहुत ही परिवर्तन आया । इस अभद्रता के लिये मेरी सात्विकता मुझे धिक्कारने लगी । मैं स्वयं ही, स्वयं से प्रश्न करने लगा -"क्या यह उचित हुआ ? क्या मेरा सच्चा जीवन ऐसा होना चाहिये ? क्या उस साधु में भगवत्सत्ता नहीं थी ? चंचलता की पराकाष्ठा पर किसी को तंग करना क्या मेरे जैसे भगवत्साधनापरायण व्यक्ति के लिये शोभनीय है ?" इस क्रिया के पश्चात्तापस्वरूप पू० गुरुदेव के जीवन में एक ऐसी सत्वमयी धारणा बह चली कि भविष्य में फिर ऐसी वृत्ति उदय ही नहीं हुई ।

## विचार मन्थन

पू० गुरुदेव स्कूली-विद्याध्ययन कर रहे थे परन्तु उनके भीतर विचारों में अथाह क्रान्ति चल रही थी । दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं में पढ़ते

समय पू० गुरुदेव निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व की ही अवस्था में रहे । इस विचार-मंथन को वे प्रतिदिन पत्र रूप में भगवान् को लिख-लिखकर व्यक्त किया करते थे । उन्होंने प्रतिदिन जो पत्र भगवान् को लिखे उनमें से कुछ पत्र वे सन्यास लेते समय अपने अग्रज श्रीतारादत्तजी मिश्र को एक पेटी में बन्दकर दे गये थे एवं निर्देश दे गये, कि इसे उनकी मृत्यु के पश्चात् ही खोला जाय । जैसा उन्होंने निर्देश किया था उनके लीलाप्रवेश के पश्चात् वह पेटी खोली गयी और उन पत्रों को यथामति सम्पादित कर श्रीचन्द्रकान्तजी फोगला, पू० पोद्दारमहाराज के दोहित्र ने गीतावाटिका से 'अन्तर्वेदना' नाम देकर पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया है। जो जिज्ञासुभक्त उसे प्राप्त करना चाहें, वहाँ से प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ उनके एक पत्र को उद्धृत किया जा रहा है।

४।१।३४

करुणामय,

किन भावों को लेकर तुम्हारी अर्चना करूँ।
अशांत हृदय में भाव कहाँ ? बहा दो शांति की
धारा मेरे हृदय में। दुःख से कातर हृदय में
शांति का संचार कर दो।

करुणानिधि,

डूब रहा हूँ। किनारा नहीं देख पड़ता।
भगवन् ! तृष्णा के अगम अगाध अर्णव में पड़कर
लहरों के थपेड़ों का सामना कर रहा हूँ। कितनी
देर कर सकूँगा ? भगवन् ! दया करो मेरी हीनावस्था
पर। प्रणतपाल ! अपनी करुणा की कोर को ही नाव
बना दो। और विभो, खेदो किनारे तक। तुम्हारे सिवा
मेरा और कोई नहीं है।
अज्ञान के अंधकर में पड़ा हूँ। तुम्हारी
ज्योति का संचय मैंने आज तक किया
नहीं, पर अधम उधारण, अंत में कातर होकर
आया हूँ, तुम्हारी शरण में। ले लो मुझे चरणों
में।

चक्रधर

पू० गुरुदेव के उन दिनों के भाव जिस प्रकार उन्होने यदा-क़दा हम लोगों के सम्मुख व्यक्त किये, उन्हें यथास्मृति प्रामाणिकतापूर्वक देने का प्रयास किया जा रहा है। ये भाव प्रथमपुरुष के रूप में ही दिये जा रहे हैं :-

"मेरी जीवन-समस्या की तो एक ही मीमांसा है - वह है ईश्वर-प्राप्ति । यदि इस जीवन में मैं ईश्वर की प्रत्यक्ष प्राप्ति कर सकूँगा तभी मेरा जीवन अमृत होगा अन्यथा तो वह मात्र एक बोझा है, भार है । किसी भी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि पर ही प्रतिष्ठित है । बिना ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किये उसे सत्य कैसे माना जा सकता है । जब तक मेरे स्वयं का वैसा अनुभव नहीं हो, ईश्वर के संबंध में मेरा विश्वास पर्वत के समान दृढ़ कैसे हो पावेगा ।"

"क्या ईश्वर को मैं देख सकता हूँ ? जो भी परम सत्य है, उसका स्वरूप कुछ भी हो, मुझे उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि इसी जीवन में अवश्यमेव करनी है । संसार जितना प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष मुझे परमात्मा को करना है । जो-जो विकार मुझे इस सत्य से दूर हटाते हैं, वे मेरे चित्त से आज ही इसी क्षण हट जाने चाहियें। यह कौन शैतान है जो मुझे बार-बार पशु के समान अज्ञानी बनाता है ।"

"यह शरीर मेरा जीवन हो ही नहीं सकता । जीवन तो नित्य है और शरीर, अनित्य । इस शरीर से सनकादि की विद्या भी मुझे मिल जाय फिर भी इसकी मृत्यु तो एक बरसाती फतिंगे की तरह होगी ही । राजाओं का राजा-सम्राट भी एक महानिर्धन की तरह ही मृत्यु को प्राप्त होता है । दुर्बल से दुर्बल जीव एवं स्वस्थ एवं बलबान पहलवान दोनों समान रूप से मृत्यु के ग्रास होंगे ही ।"

प०पू० गुरुदेव ने अपनी संपूर्ण जीवन-शक्ति इसी एक भगवत्प्राप्ति की भावना पर केन्द्रित कर दी । जब कभी भी उन्हें एकान्त मिलता, वे भगवान् से प्रार्थना करने लगते - "हे भगवन् ! जब तुमने कठिनतम परिस्थितियों सें मुझे उबारकर अपना अहैतुकी अपार सौहार्द प्रकट कर दिया तो तुम मुझे दीखते क्यों नहीं ? क्या इस विश्व में तुम्हारे स्वयं के अतिरिक्त कोई भी दूसरा हो सकता है जो मुझे प्रकाश दिखा सके ? हे परमात्मा ! तुम मेरे जीवन में अपने को प्रकट कर दो न ! हे जीवनाधार ! तुम बोलते क्यों नहीं?

तुम इस प्रकार अप्राप्य क्यों हो ? अन्य किसी से मुझे कुछ भी नहीं सीखना, तुम स्वयं ही आकर मुझे जो भी सिखाओगे, वही मुझे सीखना है ।"

"मुझे तो तुम स्वयं ही आकर कुछ सिखाओगे । क्या तुममें जीवत्व नहीं है ? तुम जीवनहीन हो ? तुम बोल नहीं सकते ? इस कलह-क्लेश एवं पक्ष-विपक्ष के संसार में मैं किसका अनुसरण एवं विश्वास करूँ ? यदि तुम दयालु हो, तो तुम तुम्हारे अबोध बच्चे से बोलते क्यो नहीं ? मैं तुम्हारे दर्शन करने को छटपटाता हुआ उत्सुकतापूर्वक तैयार हूँ ।" इस व्यथा में पू० गुरुदेव के रात-दिवस व्यतीत होने लगे । जब एक पूरा दिवस बीत जाता तो वे बिलखने लगते । "हे भगवान् ! आज का भी दिवस व्यर्थ हो गया; फिर भी मुझे आपका ज्ञान नहीं हुआ । इस क्षण-भंगुर छोटे से जीवन का एक अनमोल दिवस व्यतीत हो गया ।" इस वेदना के कारण वे अपना सिर जमीन पर रगड़ डालते । वे बार-बार प्रार्थना करते- "हे प्रभो ! आप शीघ्र प्रकट हो जाओ। मैं आपके लिये किस प्रकार कितना अधिक तड़प रहा हूँ । मुझे आपके सिवा और कुछ नहीं चाहिये ।" उन्हें यह भली प्रकार विदित था कि जब तक भगवान् के लिये जीव का सर्वस्व न्यौछावर नहीं होता, तब तक उनका दर्शन उसे नहीं हो पाता । जिस समय भी समग्र प्राणशक्ति से वे छटपटायेंगे बस उसी समय भगवान् अवश्य प्रकट हो जावेंगे ।

यहाँ उनकी अन्तर्वेदना का जो विवरण है, यह छपी हुई पुस्तक में उल्लिखित नहीं है । यह तो उन्होंने व्यक्तिगतरूप से, जो अपनी उन दिनों की मनोदशा का चित्र खींचा था, वह ही बहुत संक्षिप्त रूप में दिया गया है ।

उनकी पुस्तक जो छपी है उसके पाँच-सात प्रमुख अंश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं ।

यह पत्र दिनांक ११-१-१९३४ का है।

जीवनधन ! पुकार रहा हूँ ! कल भी पुकारूँगा । जब तक प्राण हैं, तब तक पुकारता रहूँगा । सर्वव्यापिन् तुम सुन रहे हो, तुम सुनोगे और मुझे कृतार्थ करोगे । प्राणहीन को सताने से तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा । मंगलमय ! तुम्हारा विधान मंगलमय है, मैं तुम्हें किस तरह दोषी कह सकता हूँ । भूलना न प्यारे ।

तुम्हारा ही – चक्रधर

प्राणाधिक ! बहुत दूर नहीं हो । तुम सचमुच निकट हो, परन्तु मैं अधम अभी भी तुम्हें पा नहीं सकता । शरणागतपाल ! शरणागत की रक्षा करो । मंगलमय ! तुम्हारा विधान मंगलमय है, भूलना मत प्रियतम !

तुम्हारा ही – चक्रधर

इस प्रकार उन दिनों पू० गुरुदेव का जीवन पूर्ण प्रार्थनामय हो रहा था।

## गृहस्थ जीवन गत अशान्ति

पू० गुरुदेव अपने परिवार में सबसे छोटे भाई थे । उधर ऐसा प्रचलन था कि सबसे छोटी बहू पर ही सारे घर के कार्य भार का दायित्व हो । अतः अ० सौ माताजी रात्रि-दिवस गृहसेवा में निरत रहतीं । वे लगभग रात्रि के द्वितीय प्रहर में ही शयनगृह में आतीं। इधर पू० गुरुदेव भगवद्विरह में विषादग्रस्त रहते । पू० गुरुदेव उन दिनों अपनी चिन्ता के कारण बहुत कम सोते थे। संसारिकभोगों से सर्वथा उपरत तथा अपने पति को पागलवत् देखकर वे व्याकुल हो जाती थीं । पू० गुरुदेव के गार्हस्थभोगों से सर्वथा उपरत रहने का कारण जेठानियाँ उसकी सेवा एवं प्रेम में कमी ही मानतीं । वे ईर्ष्यावश उसे ताना मारती रहतीं । गृहस्थीकार्य के कोल्हू में दिनभर अविराम पिसती धर्मपत्नी जब अपने पति से दो मीठे बोल सुनने को भी तरस जाती, तो वह और भी दुखी हो जाती ।

पू० गुरुदेव अपनी धर्मपत्नी में जगन्माता का ही रूप देखते, उनके विकारग्रस्त होने का तो प्रश्न ही नहीं था । उनका मन दैवीविचारों में इतना तन्मय रहता था कि उसे मलिन निम्नांगों में रमण की रुचि ही भला कहाँ हो पाती ?

जेठानियों और पड़ोस की गाँव की स्त्रियाँ बिचारी भोली बालिका को जादू-टोना करने की क्रियायें बतातीं । वे व्रत रखतीं, उपवास करतीं, देवी देवताओं की मनौतियां करतीं । यदि किसी भी दिन गुरुदेव में थोड़ा सा भी प्रेम-भाव अथवा अनुकूलता देख लेतीं तो अपने अनुष्ठान व्रत को सफल मानकर प्रसन्न हो जातीं । जेठानियों के बहुत प्रयास के उपरांत तो कभी-कदास गुरुदेव भीतर शयनगृह में शयन करने जाते, अन्यथा तो वे प्रायः बाहर

बरामदे में ही सबके मध्य शयन करते थे । पू० गुरुदेव मात्र गिनती के दिन ही एकान्त में अपनी पत्नी के संग शयन किये होंगे । वह भी मात्र उसके प्रति अपना कर्तव्य समझ कर । इस गृहस्थसंग के फलस्वरूप माताजी का एक गर्भ तो श्रवित ही हो गया और एक मृत बालक हुआ । इससे भी पू० माताजी का मानसिक संतुलन बिगड़ गया।

बिचारी माता-पिता के लाड-प्यार में पली चौदह-पन्द्रह वर्ष की अबोध किशोरी-बालिका अपना दुःख-सुख भी किसके साथ बँटाती । यदि कभी पू० गुरुदेव उस बालिका से वार्ता भी करते तो ऊँचे-ऊँचे ज्ञान की ही बात करते। ऐसी बातें वह सुन तो लेती परन्तु इन बातों से उसका मन धैर्य तो रख नहीं पाता । उसे तो यही समझ में आता कि मेरा सांसारिक जीवन पूर्ण अंधकार भरा ही है ।

पू० गुरुदेव अपनी पत्नी को अपनी स्थिति समझाते - "जब मेरी यह धारणा दृढ़ और संशयहीन है कि इस माया-प्रसार के पीछे एक अविनाशी, अखण्ड, आनन्दमय परमात्मा है, वह इतना घनआनन्द है कि उसके सामने इन्द्रियसुख कुछ भी नहीं, तब उस परमात्मा को किनारे कर मैं गृहस्थकार्यों में कैसे उलझूँ ? जब परमात्मा अपार वैभवमय है तो उसको पाने का प्रयत्न करूँ अथवा खेत खलिहान में चित्त उलझा दूँ ? क्या मैं परमात्मा को प्राप्त करने का अपना प्रयत्न क्षणभर के लिये भी किसी मोह से, भय से, हानि की अपेक्षा से स्थगित कर सकता हूँ ? कदापि नहीं । मुझे तो क्षण भर भी उस दयामय आनन्दनिधि परमात्मा से दूर रहना असह्य है । उसको न पाने की असह्य छटपटाहटवश मैं पागल भले ही हो जाऊँ, परन्तु परमात्मा को पाये बिना मुझे विश्राम कहाँ ?" अब भला उनकी धर्मपत्नी की समस्याओं का इन बातों को सुनने से निदान कहाँ ? वह तो परिवार में होने वाली घटनाओं की अपने पति से निन्दा-स्तुतिपूर्ण व्याख्या करना चाहती थी, वह तो अन्तर से चाहती थी कि पति उसे आश्वस्त करे कि पढ़ाई समाप्त करते ही वह अग्रजों की तरह कहीं सरकारी नौकरी करेगा, अर्थोपार्जन करेगा और उसे अपने साथ रखेगा । वह सांसारिक स्वप्न देखती थी और गुरुदेव अखण्ड परमात्मगत शांति-आनन्द में डूब जाने के स्वप्न। अब भला दोनो में सामंजस्य कैसे संभव हो पाता ? जब उन्हें मात्र कठोर शासन, गृहकार्य का अथक श्रम, और परिवार के दूसरे सदस्यों से मात्र कटूक्तियों भरे ताने ही मिलते एवं पति की उपेक्षा और पूर्ण विरक्ति, तो वे कलहप्रिय हो गयीं । वे अपनी सास,

जेठानियों एवं अन्य गुरुजनों को- जो भी उस पर आक्षेप करता सेर का सेरी उत्तर देतीं । इससे घर में कलह होने लगी । इस गृहकलह से पू० गुरुदेव और विरक्त हो गये । एक दिवस उन्होने सभी से स्पष्ट कर दिया कि कलह का यदि अंत नहीं हुआ तो वे सन्यासी हो जावेंगे । परन्तु संसार के लोग अपना स्वभाव ऐसी घुड़कियों से तो बदलते हैं नहीं । अभिमान का प्रदर्शन ही उनका मुख्य सुख होता है; अत: घर में कलह बढ़ती ही गयी । पू० गुरुदेव के चित्त में दृढ़मूल धारणा हो गयी कि इस दृश्य में उन्हें कहीं कभी भी न तो शांति मिलेगी, न ही कल्याण ।

## सन्यास की पूर्व भूमिका

सन् १९३१ ई० में जब दूसरी बार पू० गुरुदेव जेल से बाहर आये तो उनके अग्रज भ्राता उन्हें कलकत्ता ले गये । वहाँ उनका नाम सोहरावर्दी बेगम मेमोरियल स्कूल की नवीं कक्षा में लिखा दिया गया । सन् १९३४ ई० में पू० गुरुदेव ने मेट्रिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । इसके पश्चात् उन्हें रिपन कॉलेज (सुरेन्द्र नाथ महाविद्यालय) की इन्टरमीडियेट (कला) में भरती कराया गया ।

कलकत्ता आने के पूर्व राजनैतिक एवं सामाजिक कार्य करते समय कार्यकर्ताओं के मध्य स्पर्धा,वैमनस्य,आपाधापी,स्वार्थसिद्धि एवं आत्मश्लाघा आदि देखकर पू० गुरुदेव को घोर निराशा मिली थी । कलकत्ता आने के पश्चात् आत्मीय कहलाने वाले स्वजनों के मध्य भी वही सब बातें मिलीं । स्वजन-वर्ग से उन्हें प्रवंचना और प्रतिकूलता अधिक मिली । उन्होने जिन-जिन व्यक्तियों को अपना निकट से निकट माना उन अभिन्नहृदय व्यक्तियों ने भी उनके विश्वास को आघात ही पहुँचाया । पू० गुरुदेव केवल अपने अग्रज बन्धु श्रीदेवीदत्तजी एवं श्रीतारादत्तजी मिश्र तथा दो अन्य जनों के अतिरिक्त सभी से बहुत ही निराश थे । लोगों से मिलने वाली प्रवंचना एवं प्रतिकूलता ने उनके मन को विरक्ति के भावों से भर दिया । यह विरक्ति भावना दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती ही चली गयी ।

इधर एक घटना और हुई जिससे उनका हृदय काँप उठा । हाय ! इतना घोर अध:पतन ! ऐसा कठिन कलिकाल ! अपने चारों ओर स्वार्थ परायणता और अनैतिकता की घोर आँधी देखकर पू० गुरुदेव का मन सर्वथा

विरक्त हो गया । एक विधवा स्त्री ने पर-पुरुष की इच्छा को पूर्ण करने के लिये अपने वयस्क पुत्र को विष दे दिया । वह पर पुरुष पहले तो उस विधवा स्त्री से विष दिलाने का आग्रह कर बैठा, फिर उसकी अन्तरात्मा जब उसे बहुत धिक्कारने लगी तो वह यह रहस्य उस बच्चे के सम्मुख खोल बैठा । परन्तु बच्चे ने उसे यही उत्तर दिया कि यदि मेरी जन्मदात्री माता ही मुझे अपने मार्ग में कंटक समझ कर मारना चाहती है, तो फिर मेरे जीवन से ही क्या लाभ ? उसने सहर्ष माँ का दिया विष स्वीकार कर लिया । पू० गुरुदेव को इस घटना से अत्यधिक दु:ख हुआ । वे विचार करने लगे "हाय ! इतना घोर अध:पतन, ऐसा कठिन कलिकाल ! अपने चारों ओर स्वार्थपरायणता और अनैतिकता की प्रबलता को देखकर पू० गुरुदेव का मन जगत् से उचट गया ।

जगत् के इन कटु-प्रसंगों ने ऐसी पृष्ठभूमिका निर्माण कर दिया, जहाँ पू० गुरुदेव के पूर्वजन्म की संचित साधना स्वत: प्रस्फुटित हो उठी । भीतर तो अंगारे की अग्नि धधक रही ही थी मात्र ऊपर ही थोड़ी सी राख आ गयी थी, उस राख को इस प्रतिकूलता की वायु ने उड़ा दिया, अंगार चमक उठा। पू० गुरुदेव अपने हृदय के भावों को लिखकर प्रतिदिन रात्रि को भगवान् को अर्पण किया करते थे । इसके पीछे उनका यही भाव रहता था कि -

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
> ।। गीता ९/१/२७ ।।

पू० गुरुदेव का पत्रलेखन का कार्य लगभग अढ़ाई वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। एक बार ध्यान करके जब पू० गुरुदेव ने पत्र अर्पित किया तो बहुत ही मधुर स्वर में उन्हें अन्तर में गूँजती ध्वनि सुनाई पडी - "तुम सन्यास ले लो । तुम्हारे संपूर्ण दु:खों एवं अशांति का सदा के लिये नितान्त अभाव हो जायेगा ।" यह वाणी लौकिक नहीं थी । उन्होने सन्यास लेने का निश्चय कर लिया ।

पू० गुरुदेव के ताऊ के पुत्र, बड़े भाई थे श्रीदेवदत्तजी मिश्र । ये बहुत ही उदारमना, साधु-पुरुष तथा संस्कृत के उद्‌भट विद्वान थे । इनके संरक्षण में पू० गुरुदेव ने छहों दर्शन का अध्ययन किया । उपनिषदों के शांकरभाष्य तथा ब्रह्मसूत्र भी इन्हीं के सान्निध्य में पू० गुरुदेव ने पढ़े थे । पू० गुरुदेव

प्रायः गीतोपनिषद् भाष्य का स्वाध्याय करते रहते थे । वे सदा अपने विचारों में ही निमग्न रहते । उनकी मननशीलता बढ़ गयी थी । उनके आचार-विचार, व्यवहार में परिवर्तन आ गया । कभी-कभी श्रीतारादत्तजी मिश्र उनसे इस प्रकार गंभीर रहने का कारण भी पूछते, तो पू० गुरुदेव मात्र मुसका देते , वे अपने मन की असली उथल-पुथल किसी के भी सामने व्यक्त नहीं करते थे ।

श्रीदेवदत्तजी घर में सभी की सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे । वे पू० गुरुदेव पर अतिशय वात्सल्य भी रखते थे । वे ही सम्मिलित घर के सभी बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करते, आय के साधनों को जुटाते, परिवार में उत्पन्न किसी भी गतिरोध, कलह को सुलझाते एवं विवाह-शादी सभी व्यवहारों का निर्वाह करते थे। पू० गुरुदेव ने सर्वप्रथम सूचना इन्हीं को दी - "भैया ! प्रभु की इच्छा से मैं गृहस्थ जीवन का, संसार का परित्याग करके सन्यास लेने का विचार कर रहा हूँ।"

श्रीदेवीदत्तजी से यह सूचना सहोदर बड़े भाई श्रीतारादत्तजी ने भी सुनी। सन्यास की सूचना भाइयों के लिये वज्रपात ही थी ! दोनों भाई अवाक् हो गये। कुछ देर तक तीनों परस्पर एक दूसरे को देखते हुए चुप थे । अन्ततः श्रीदेवीदत्तजी ने मौन तोड़ा ।

वे कहने लगे - "चक्रधर ! यह तुम क्या पागल की तरह प्रलाप कर रहे हो ? क्या ऐसा सोचना और कहना उचित है ? चित्त को शान्त और स्थिर करो । अभी तुम निरे अबोध बालक हो । तुम्हारी अवस्था सन्यास-धर्म के योग्य नहीं है ।" परन्तु दोनो भाई यह भी अच्छी तरह जानते थे कि चक्रधर यदि एक बार निर्णय कर लेता है तो वह लोहे की लकीर ही होती है । पू० गुरुदेव ने यही उत्तर दिया कि उनका यह अन्तिम निर्णय है ।

पू० गुरुदेव की बात सुनकर भाइयों के हृदय आशंका से भर गये । उन लोगों को ज्ञात था कि चक्रधर कभी अनर्गल बात अपने मुँह से नहीं निकालता है और जो वह कहता है, उसे करके ही रहता है । छोटे भाई चक्रधर के निर्णय की जानकारी होते ही बड़े भाई सोचने लगे कि इस समय इसकी आयु मात्र २२ वर्ष है । ऐसी कच्ची आयु में इसका सन्यास-व्रत कैसे निभ पायेगा ? इसको कैसे समझाया जाये कि मन की वासनाओं का वेग कितना विकट हुआ करता है ? गाँव में घर पर इसकी पत्नी है, माताजी हैं, पिताजी हैं । इस समाचार से उन सभी पर क्या बीतेगी ? अभी तो इसने

अपनी पढाई भी पूरी नहीं की है । सन्यास का निर्णय लेकर चक्रधर ने तो बड़ा ही अविवेकपूर्ण कार्य किया है ।

चचेरे बड़े भाई श्रीदेवदत्तजी ने पुनः बड़े प्यार से समझाते हुए पू० गुरुदेव से कहा - "तुम्हारे लिये सन्यास-धर्म कठिन पड़ेगा । संसार के भोगों की क्षणभंगुरता एवं निरर्थकता का सच्चा अनुभव एक भुक्त भोगी को ही हो पाता है । जिसे ऐसा अनुभव नहीं हो पाता, उसका वैराग्य क्षणिक हुआ करता है । जिसने आवेश में आकर सन्यास ले लिया है, वह भविष्य में काम-क्रोधादि विकारों के वशीभूत होकर यदि अपने पथ से च्युत होता है तो ऐसे पथभ्रष्ट सन्यासी के धर्म और परमार्थ तो सिद्ध होते ही नहीं, उसका लोक भी बिगड़ जाता है। इसीलिये ऋषियों ने यह मर्यादा निर्धारित की है कि मनुष्य को तीन आश्रमों के सोपानों को पार करने के पश्चात् ही सन्यास स्वीकार करना चाहिए । इतना ही नहीं, महज्जनों का यह भी कथन है कि घर पर माता-पिता के जीवित रहते युवक पुत्रको सन्यास नहीं लेना चाहिए।"

सभी ने बहुत प्रयास किये कि पू० गुरुदेव सन्यास के विचार का परित्याग कर दें, किन्तु सभी के सारे प्रयास व्यर्थ गये । पू० गुरुदेव का निश्चय अडिग था । स्वजन, स्नेहियों अथवा मित्रों की ओर से जब-जब ममत्व, भय, प्रलोभन, दबाव अथवा सुझाव के रूप में जो-जो भावलहरियाँ आती थीं, पू० गुरुदेव के लोहे के लट्ठ जैसे निर्णय से टकराकर बिखर जाती थीं ।

बड़े भाई तारादत्त जी ने देखा कि पू० गुरुदेव अपने निश्चय पर अटल हैं तो उन्होने घर पर पू० माताजी-पिताजी को उनके सन्यास लेने की सूचना भेज दी । गांव के लोग इस समाचार से व्यथित होने स्वाभाविक ही थे । सूचना मिलने पर माता-पिता कलकत्ता आने को तैयार हो गये । माता-पिता कलकत्ता आने वाले हैं, यह जानकारी होते ही पू० गुरुदेव ने उन्हे आने से मना करवा दिया ।

पू० गुरुदेव का इतना ही कहना था कि यदि आप लोग बाधा देंगे तो फिर मैं बिना सूचना दिये लापता हो जाऊँगा, अन्यथा मुझसे सम्बन्धित सभी जानकारियाँ आप लोगों को समय-समय पर मिलती रहेंगीं ।

श्रीतारादत्तजी ने 'आध तजहिं बुध सरबस जाता' की नीति का अनुसरण करते हुए माता-पिता को कलकत्ते न आने के लिये गाँव पर लिख दिया । पत्र मिलने पर माता-पिता को अपना हृदय वज्र की तरह कठोर बनाना पड़ा।

उनके हृदय की सारी कोमलता कराह रही थी, परन्तु वे निरुपाय थे । विवश होकर उन्होंने कलकत्ते जाने का विचार स्थगित कर दिया ।

## सन्यास ग्रहण

वैराग्य में कितना आनन्द है, इसे वही पुरुष जान सकता है, जिसके हृदय में प्रभु के पादपद्मों में प्रीति की सच्ची इच्छा उत्पन्न हो गयी हो । जिसे संसारी विषयभोग काटने के लिये दौड़ते हों, वही वैराग्य में महान् सुख का अनुभव कर सकता है । जिसकी इन्द्रियां सदा विषय-भोगों की ही इच्छा करती रहतीं हो, जिसका मन सदा संसारी पदार्थों का ही चिन्तन करता रहता हो, वह भला वैराग्य के सुख को समझ ही कैसे सकता है ?

श्री मद्भागवत में कहा गया है –

**देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमति त्यजत्वं**
**जायात्सुतादिषु सदा ममतां विमुंच ।**
**पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं**
**वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ।।**

"अस्थि, मांस और रुधिर आदि पदार्थों से बने हुए इस शरीर के प्रति अहंता त्याग दें, स्त्री-पुत्र तथा कुटुम्ब-परिवारवालों में ममता नहीं रखें, इस क्षण-भंगुर संसार की वास्तविक स्थिति को समझते हुए वैराग्य से प्रेम करने वाले बनकर सदा भक्ति-निष्ठ हुए जीवन बितावें ।"

उस दिवस शारदीय पूर्णिमा थी । यह ही वह भाग्यवान् दिवस था जब पू० गुरुदेव ने सन्यास दीक्षा ली थी ।

सन्यास का अर्थ है - अग्निस्वरूप जीवन । पिछले जीवन का सब कुछ ज्ञानाग्नि में जलाकर स्वयं अग्निस्वरूप हो जाना - यही इस महान् व्रत का आदर्श है । संसार की सर्वथा उपेक्षा करके जीवमात्र में मैत्रीभाव रखे । संपूर्ण संसारी सम्बन्धों एवं परिग्रहों का परित्याग करके भगवन्निष्ठ हुआ वैराग्य-राग-रसिक होवे । सत्वगुणस्वरूप स्वच्छ वस्त्रों को भी परित्याग कर तीनों गुणों से ऊपर उठ त्रिगुणातीत हुआ एक मात्र परमात्मा में सदा स्थिर

रहे । 'नारायण' के अतिरिक्त किसी अन्य को देखे ही नहीं । सन्यासी का कौन सा नाम ? वह तो नाम-रूप से रहित हो जाता है ।

पू० गुरुदेव ने सन्यास दीक्षा लेने के लिये अपने अग्रज भ्राताओं को राजी कर ही लिया था । जिस प्रकार नवागत वधू से मिलने के लिये अनुरागी युवक बेचैनी के साथ रात्रि होने की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार पू० गुरुदेव सन्यासधर्म में दीक्षित होने के लिये चतुर्दशी-तिथि की रात्रि के अन्त होने की प्रतीक्षा करते रहे ।

उस रात्रि में पू० गुरुदेव को निद्रा सर्वथा नहीं आयी । ध्यान एवं ब्रह्मविचार में ही उन्होने रात्रि गुजार दी ! इतने में ही पक्षियों ने अपने कोमल कण्ठों से भांति-भांति के स्वरों में गायन आरम्भ कर दिया । अरुणोदय से पूर्व ही नित्यकर्म से निवृत्त हो पू० गुरुदेव भगवती गंगा के तट पर सन्यास ग्रहण करने की प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिये चले गये । पू० गुरुदेव ने जो सन्यास दीक्षा ली, उसके साक्षी भगवान् शंकर थे । प्रातः सूर्योदय के पश्चात् पू० गुरुदेव अपने अग्रजों के पास उनके वास-स्थान में लौट आये । केश-मुंडन के लिये वहीं नापित को बुलाया गया । उससे केश-मुंडन को कहा गया । पहले तो उस नापित ने आना-कानी की परन्तु जब उसे दृढ स्वरूप में कहा गया तो उसे केश-मुंडन करना ही पडा । दोनों अग्रज वहीं खड़े-खड़े अपने पुत्र-समान अनुज का शीश-मुंडन देख रहे थे । वे बलपूर्वक अपने अश्रुओं को रोके थे । उनके अन्तर में व्यथा की सीमा नहीं थी । केशों का मुंडन होते ही पू० गुरुदेव ध्यानस्थ हो गये । अभी स्नान शेष था, परन्तु बाह्यसुधि होने पर ही तो वह संभव हो पाता । बड़े भाइयों के मन की दशा विचित्र थी । छोटा भाई अब सन्यासी बनने जा रहा है, यह सोचकर विकलता कम नहीं थी, परन्तु ध्यान की गहरी स्थिति देखकर बिस्मयान्विति एवं सुखानुभूति भी कम नहीं थी । सुखानुभूति चाहे जितनी हो, विकलता का वेग बड़ा प्रबल था ।

थोड़ी देर बाद पू० गुरुदेव को बाह्यज्ञान हुआ । यज्ञोपवीत सूत्र का परित्याग तो सन्यास की प्रक्रिया के समय ही हो गया था, शीश-मुंडन के समय शिखा-सूत्र से रहित देखकर बड़े भाइयों के अनुराग भरे नेत्र बार-बार आर्द्र हो रहे थे । इसके बाद पू० गुरुदेव ने स्नान किया । बड़े भाई ने अपने हाथ से गैरिक वस्त्र दिये । पू० गुरुदेव के कहने पर बड़े भाई ही दो-तीन दिन पहले बाजार से वस्त्र ले आये थे । इन वस्त्रों को एक दिन पहले स्वयं पू०

गुरुदेव ने अपने हाथों से गैरिक रंग में रँगे थे । जब बड़े भाई द्वारा प्रदत्त गैरिक वस्त्र पू० गुरुदेव धारण कर रहे थे, उस समय बड़े भाई, चचेरे भाई तथा अन्य उपस्थित जनों का हृदय फटा जा रहा था । उनके नेत्र विकल हो रहे थे और स्वर रुद्ध था, सभी विवश थे और इस करुण दृश्य के मूक दर्शक बने हुए थे। सन्यास लेने के बाद पू० गुरुदेव का नाम हुआ 'मधुसूदनानन्द', किन्तु यह नाम प्रचलित नहीं हो पाया । लोग उन्हें स्वामी श्रीचक्रधर महाराज ही कहते रहे और भविष्य में वे श्रीराधाबाबा के नाम से विख्यात हुए ।

सन्यास लेते ही पू० गुरुदेव ने एक बड़ा ही कठोर व्रत यह ले लिया कि अब जीवन में स्त्री-स्पर्श व द्रव्य-स्पर्श होगा ही नहीं । अवश्य, जन्म-दात्री माँ इसका अपवाद रहीं ।

सन्यासधर्म के अनुसार सन्यासी को एक बार अपने माता-पिता के पास जाना चाहिए अतः सन्यास लेने के बाद वे अपने गाँव गये ।

## माता-पिता को सन्यासी पुत्र के दर्शन

**यस्यास्ति वैष्णवः पुत्रः पुत्रिणी साभिधीयते ।**
**अवैष्णवपुत्रशता जननी शूकरीसमा ।।**

"जिसका पुत्र भगवद्भक्त है, असल में वही माता पुत्रिणी कहलाने योग्य है । अवैष्णव विषयी सैकड़ों पुत्रों को जनने वाली माता क्यों न हों, वह तो शूकरी के समान है ।"

उन श्रीमिश्र-दंपत्ति के सौभाग्य की सराहना करने की सामर्थ्य भला किस पुरुष में हो सकती है, जिसके गर्भ से संसार-त्यागी, विरागी, सन्यासी महापुरुष उत्पन्न हुआ । जगन्माता अधिकारीदेवी की कोख ही मातृ-कोख कही जा सकती है । माताओं की इस संसार में कुछ कमी नहीं है, उनका गाँव से गाँव में भी कोई नाम नहीं जानता परन्तु पू० गुरुदेव को जन्म देकर श्रीमती अधिकारीदेवी जगज्जननी बन गयीं एवं श्रीमहीपाल मिश्र जगत्पिता ।

जिसकी वृद्धावस्था का सहारा, प्राणों से भी अधिक प्यारा, सबसे छोटा पुत्र घर में सन्तानहीन युवती स्त्री को सदा के लिये छोड़कर सन्यासी हो गया हो, उस माता का हृदय फटे बिना कैसे रह सकता है ?

मातृस्नेह बहुत ही अद्भुत होता है । मदालसा आदि तो अपवाद हैं । देवकी, यशोदा, कौशल्या, देवहूति आदि सभी अवतार-जननी माताओं को भी पुत्र-वियोग से बिलखना पड़ा है । इन सभी ने अपने करुण क्रन्दन से स्वाभाविक और सहज मातृस्नेह का परिचय देते हुए अपने सर्वसमर्थ अवतारी पुत्रों के लिये आँसू बहाये थे।

"घायल की गति घायल जाने, और न जाने कोय" पू० गुरुदेव के माता-पिता तो उसी समय फखरपुर ग्राम से कलकत्ता जाने को प्रस्तुत थे, जब उन्हें पुत्र के सन्यासी होने की सूचना मिली थी । माता अधिकारी ने न केवल नौ मास चक्रधर को गर्भ में ही रखा था, उसे नौ वर्षों तक अपने स्तनों का दूध भी पिलाया था । अपने पुत्र के सद्‌गुण देख-देखकर वह सदा गर्ववती होती थी । परिवार अथवा ग्राम के लोग जब उसके पुत्र की सराहना करते थे तो वह आनन्द सिन्धु में डूब जाया करती थी । परन्तु अब वही अपार सुख-सिन्धु, बन गया वेदना का अथाह सागर । माँ के चार पुत्र थे, परन्तु किसी के भी पुत्र सन्तान नहीं थी । माँ को नितान्त खिन्नता थी वंश-परम्परा की समाप्ति देखकर । वंश-वेलि के विस्तार की आशा माता-पिता ने चक्रधर पर ही टिका रखी थी, पर अब तो उस आशा का आधार ही समाप्त हो गया । इससे तो कुलोच्छेदन ही हो बैठा । हाय चक्रधर ! तू यह क्या कर बैठा रे । ऐसी ही महाव्यथापूर्ण दशा थी पिता की। माँ तो आँसू बहाकर अपना दुःख प्रकट कर लेती थी, पिता तो बाह्य आँसू भी नहीं टपका पाते थे ।

माता-पिता को सबसे अधिक कष्ट दे रही थी, पुत्रवधू की चिन्ता । वह तो अभी निरी अबोध ग्रामीण बालिका ही थी। यौवन की देहरी पर अभी उसके चरण पड़े ही नहीं थे और अब उसे असमय में ही विरक्ति एवं विवेक की, तप और त्याग की शिक्षा देनी पड़ेगी ? हाय विधाता ! तूने यह क्या कर दिया ? न जाने कैसे उस हठीले का सन्यास-धर्म निभ पायेगा और न जाने कैसे इस सरला की लम्बी आयु कट पायेगी ? माँ का हृदय व्यथा से इतना व्यथित था कि दुःख के तीव्रावेग में उसका पूजा-पाठ ही छूट गया ।

और सबसे अधिक करुण स्थिति थी फखरपुर ग्राम की उस तपस्विनी की, जिसे अनुराग के आरम्भ में ही वैराग्य अंगीकार करना पड़ा । पति ने जब सन्यास ले लिया तो अब श्रृंगार से, सुवास से, स्वाद से क्या प्रयोजन रह गया? यशोधरा और विष्णुप्रिया के दर्दभरे अश्रु एक बार फखरपुर ग्राम में अवतरित

हो उठे । रोने और रुलाने के लिये । उस तपस्विनी के जीवन में अब यशोधरा और विष्णुप्रिया की अश्रु-गाथा ही तो रह गयी थी। पहले वह मन-ही-मन अपने सुहाग के गीत गाया करती थी । जिसका पति सुन्दर हो, स्वस्थ हो, सुशील हो, सुकण्ठ हो, सुविज्ञ हो, वह अपने सिन्दूर के गीत क्यों नहीं गाये ? उसकी मान्यता थी कि न जाने कितने जन्मों के संचित पुण्यों की राशि एक साथ उदित हो उठी थी, जो ऐसे पति की जीवनसंगिनी बनने का सौभाग्य मिला । उसका सौभाग्य अवश्य ही अन्यों के लिये प्रशंसनीय बन गया था । पर अब ? उसकी स्थिति थी । 'जया पंख बिनु खग अति दीना ।' अब वह पंख कटे पक्षी की भाँति स्वयं को अति असहाय अनुभव कर रही थी । जो कल तक उसके सौभाग्य की सराहना करती थीं, अब वे सहानुभूति प्रदर्शित कर रही थीं उसे सान्त्वना देने का प्रयास करती थीं । कोई कितना ही कहे और समझाये, अब आँसुओं की धारा ही उसके एकान्त की सहेली थी; ऐसा लगता था मानो नवद्वीप की उस विष्णुप्रिया का रुदन ही इस तपस्विनी के प्रकोष्ठ में उतर आया हो । रुदन का सागर केवल उतर ही नहीं आया था, वह रह-रह कर के उभर रहा था, उमड़ रहा था ।

क्या माँ, क्या पिता, क्या वह तपस्विनी और क्या अन्य जन, सभी लोग पू० गुरुदेव के दर्शन के लिय तरस रहे थे और पू० गुरुदेव अपने ग्राम आये। जिस समय वे अपने ग्राम फखरपुर पहुँचे, उस समय थोड़ी रात बीत चुकी थी। वे माता-पिता के दर्शनों के लिये मकान के भीतर गये और जाकर आँगन में खड़े हो गये । उनके आने का समाचार सुनते ही माँ दौड़ी हुई आई और अपने युवक सन्यासी पुत्र को हृदय से लगाकर रोने लगी । अपनी अजस्र अश्रुधारा से वह उनके गेरुवे कपड़ों को भिगो रही थी । सन्यासी पुत्र और विह्वला माता के भावार्द्र मिलन का वह दृश्य कैसा था, इसका वर्णन कौन कर सकता है ?

अति अनुराग अम्ब उर लाये । नयन स्नेह सलिलन अन्हवाए ।
तेहि अवसर कर हरष विषादू । किमि कवि कहे मूक जिमि स्वादू ।।

माँ का रुदन कम हो ही नहीं रहा था । पू० गुरुदेव ने अपने वचनामृत से माँ को शान्त करने की चेष्टा की, पर वह रुदन तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था । बहुत सान्त्वना देने पर रुदन तो थोड़ा कम हो गया, परन्तु

हिचकियाँ एवं सिसकियाँ पूर्ववत् थीं । माँ कुछ बोलना चाह रही थी, पर बोल नहीं पा रही थी । रह-रह करके अपने सन्यासी-पुत्र के सिर पर हाथ फेर रही थी । हाथ कभी सिर पर और कभी पीठ पर फिरता ही रहा । माँ ने बोलने की चेष्टा की, पर फिर वाणी अवरुद्ध हो गयी । रुक-रुक करके माँ कहने लगी - "बेटा ! तुमने यह क्या किया ? तुम्हारा यह वेष ? क्या सचमुच तुमने मुझको छोड़ दिया ?"

इतना कहते-कहते फिर रुदन का प्रवाह बह पड़ा, नहीं-नहीं फट पड़ा। अपनी माँ के चरणों में सिर रखकर पू० गुरुदेव ने सान्त्वना दी और बोले - "माँ तुम इतना अधीर, इतना विकल क्यों हो रही हो ? तुम घबड़ाओ नहीं । मैं तो तुम्हारा बेटा था, अभी भी ज्यों-का-त्यों हूँ। सन्यासी का बाना लेने से मैं तुम्हारे लिये बदल गया क्या ? सर्वथा नहीं । मैं तो सदा तुम्हारा ऋणी था, हूँ और रहूँगा । तुम्हारे ऋण से मुक्त होना मेरे लिये संभव नहीं । मैं तुम्हारे लिये वही हूँ, जो पहले था । तुम मेरे लिये तनिक भी चिन्ता मत करो। तुम विश्वास करो, मुझे किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होगा । मैं वचन देता हूँ कि मैं जहाँ भी रहूँगा, तुम्हें पता रहेगा और तुम्हारी मृत्यु के समय मैं तुम्हारे पास रहूँगा । तुम मुझे आशीर्वाद दो कि जिस महान् उद्देश्य के लिये मैंने यह वेष लिया है, वह सफल हो ।"

इस प्रकार पू० गुरुदेव बहुत देर तक माँ को सान्त्वना देते रहे, धीरज बँधाते रहे । पुत्र के आने का समाचार सुनकर पिताजी के धैर्य का बाँध भी टूट गया था और वे अपने कमरे में बैठे-बैठे अश्रु-मोचन कर रहे थे । उनका रुदन सुनकर पू० गुरुदेव तुरन्त पिताजी के पास गये और उनके चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया । पिताजी के नेत्रों की दृष्टि क्षीण हो गई थी । उन्होंने अपने सन्यासी-पुत्र को उठाकर गले से लगा लिया और माँ की भाँति सिसकते हुए बोलने लगे - "बेटा ! तुमने यह क्या किया ? अपने बूढ़े पिता को क्यों छोड़ दिया ? प्रभु ने तुम-जैसा सुयोग्य पुत्र मुझको दिया । तुमको देख-देखकर मुझे विचित्र सुख का अनुभव हुआ करता था । तुम्हारे बारे में मैंने न जाने क्या-क्या सोच रखा था, पर आज वह सब सदा के लिये अंधेरे में छिप गया । तुमने सन्यास क्या लिया, मेरा सहारा छूट गया, टूट गया ।"

पू० गुरुदेव ने पिताजी को सान्त्वना दी - "आप इतने कातर क्यों हो रहे हैं, क्या मैं आपका पुत्र नहीं रहा ? मैं कहीं भी रहूँ, आपका पुत्र ही

कहलाऊँगा और मेरी सफलता आपके सुयश को ही बढ़ायेगी । आपके वात्सल्य ने ही मुझे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है और आपका आशीर्वाद ही सारे विघ्नों का निवारण करके मुझे सफलता प्रदान करेगा । आप आशीर्वाद दें, जिससे उस महान् उद्देश्य की सिद्धि हो ।"

पिताजी को सान्त्वना देकर पू० गुरुदेव पुन: मकान के आँगन में आ गये और आ गया ध्यान उन्हें उस तपस्विनी का भी । वह तो दूसरे कमरे में बैठी अपने अश्रुओं से आँचल को भिगो रही थी । वह दुखिया अब केवल अश्रुओं से ही अपने कपोलों को, अपने आँचल को भिगो सकती थी । व्यथा के अभिव्यक्त हो जाने का एक मात्र यही माध्यम रह गया था । अधरों से बोलकर कुछ व्यक्त करने का अधिकार अब उसके पास कहाँ रहा ? माता और पिता ने बोलकर अपने दुखोद्गार सन्यासी-पुत्र के सामने व्यक्त कर दिये, भले वह अभिव्यक्ति रुद्ध वाणी में हुई हो, परन्तु उन दुखाद्गारों की येनकेन-प्रकारेण अभिव्यक्ति तो हो ही गयी । माता-पिता को कुछ कहने का अवसर मिल गया था । परन्तु नियति की वक्रताने  उससे तो भावों की अभिव्यक्ति का भी सारा अधिकार छीन लिया था ।

इस तपस्विनी के भाग्य की काली रेखायें बड़ी ही क्रूर थीं । पहले जो अपने जीवन धन के समक्ष मन का सबकुछ रख सकती थी, कह सकती थी, अब उसी के अधर सर्वथा विजड़ित हो चुके थे । वाम विधाता ने दृश्य ऐसा परिवर्तित कर दिया कि संभाषण तो दूर रहा, वह अब सामने भी नहीं आ सकती थी । आँगन में खड़े-खड़े पू० गुरुदेव ने उस तपस्विनी के लिये सन्देश कहलाया – "अब उनके साथ भाई-बहिन का ही संबंध रहेगा । पूर्वाश्रम की बात बदल गयी । रात बीत गयी; अरुणोदय की नवीन बेला में संबंध के नवीन स्वरूप को सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए । यदि उन्हें वांछित हो तो उनके पढने-लिखने की व्यवस्था किसी के द्वारा करवायी जा सकती है, जिससे भविष्य में जीवन भारस्वरूप न अपने लिये रहे और न दूसरों को लगे ।"

उस तपस्विनी ने सन्देश सुन लिया । जब सन्यास का समाचार मिला था, तब भी वह मौन थी, सन्यासी-वेष में देखकर भी वह मौन ही रही और सन्देश को सुन लेने के पश्चात् भी उसे मौन ही रहना था । उसके दोनों अधर ऐसे मूक हुए कि फिर खुले ही नहीं । श्रीमैथिलिशरण गुप्त के शब्दों में –

**हा ! स्वामी !! कहना था कितना, कह न सकी, कर्मों का दोष ।**
**पर जिसमें सन्तोष तुम्हें है, मुझे उसी में है सन्तोष ।।**

उस तपस्विनी के मन में बार-बार ये ही भाव उठ रहे थे - "आपके पावन चरणों की सतत स्मृति ही मेरे जीवन का आधार है । और उन युगलचरणों पर सतत अश्रु-अर्पण ही मेरे अर्चन का स्वरूप है ।"

पू० गुरुदेव थोड़ी देर बाद आँगन से घर के बाहर आ गये । वे ग्राम में दो तीन दिवस रहे, परन्तु गृह में नहीं ठहरे । गृह के बाहर ही उनका निवास रहा । पू०. गुरुदेव जितने दिवस ग्राम में रहे उनकी पू० माता अपने सन्यासी-पुत्र के पास ही रहीं । बस, शौच-स्नान के लिये ही उसे विलग होना पड़ता था । अपने पुत्र के स्नान के लिये जल भी वे स्वयं ही रखती थीं । प्रातःकाल शौच से निवृत्त होकर पू० गुरुदेव स्नान करने वाले थे, उसी समय पू० माताजी ने पू० गुरुदेव के शरीर पर ढ़ेरसारा सरसों का (कड़ुआ तेल)तेल लगा दिया । बचपन में पू० गुरुदेव स्नान के पूर्व अपने सिर पर कड़ुआ तेल लगाया करते थे । सन्यासी के लिये तेल लगाना उचित नहीं, परन्तु पू० गुरुदेव उस समय कुछ भी बोले नहीं । माताजी ने बस एक बार ही तेल लगाया । पू० गुरुदेव के मौन से वह समझ गयी कि जिस प्रकार सन्यासी के लिये घर में प्रवेश उचित नहीं, उसी प्रकार तेल का प्रयोग भी उचित नहीं । माँ ने वह तेल तो वात्सल्यवशात् लगाया था ।

माँ अपने हाथ से पू० गुरुदेव को भोजन कराती थी । एक बार पास बैठी हुई माँ से पू० गुरुदेव ने पूछा - "मैने ऐसा सुना है कि तूने पूजा-पाठ ही छोड़ दिया है ।"

भोली तथा वत्सला माँ ने सहज रीति से कहा - "वह भगवान् भी भला कैसा है, जो मेरे होनहार बेटे को मुझसे पृथक् कर दे । मेरा तो उस भगवान् पर से विश्वास ही उठ गया है । पू० गुरुदेव ने फिर पूछा - "तुम तो पहले बहुत पूजा-पाठ करती थी । पूजा-पाठ किये बिना कुछ खाती भी नहीं थी, तेरे नियम बड़े कठोर थे । क्या सचमुच ही तुमने वे सभी नियम छोड़ दिये ?" माँ ने बताया - "बस केवल दो माला जप करती हूँ ।"

तब पू० गुरुदेव ने पूछा - "जब तेरा विश्वास उस भगवान पर रहा ही नहीं, तब तू फिर इन दो मालाओं का भी जप क्यों करती है ?" माँ ने उसी सरल रीति से उत्तर दिया - "एक माला तो इसलिये कि संभव है भगवान् हों,

एवं यदि भगवान् हों तो एक माला उनके लिये जपती हूँ और दूसरी माला तेरे लिये । तुमने बड़ी कच्ची आयु में सन्यास ले लिया । भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि मेरे बेटे का धर्म निभा देना । कहीं मेरी कोख में कलंक नहीं लग जावे ।

माँ के मुख से इतना सुनना था कि पू० गुरुदेव के नेत्रों से अश्रु की धारा बह चली । पू० गुरुदेव ने तुरन्त अपनी माँ से कहा - "तू विश्वास रख, तेरी कोख को कभी कलंक नहीं लगेगा । यह मैं किसी ऐसी अचिन्त्य शक्ति के बल पर कह रहा हूँ जो मेरे जीवन का संचालन कर रही है। इसके अतिरिक्त तेरा वात्सल्य भी तो मेरे लिये रक्षाकवच का कार्य करेगा । तू सच मान तेरी कोख कलंकित नहीं, अपितु उसकी कीर्ति अधिकाधिक उज्ज्वल ही होगी । अत्यधिक छलछलाते प्यार में भरकर माँ अपने सन्यासी-बेटे के सिर पर हाथ फेरने लगी । दो-तीन दिन पश्चात् पू० गुरुदेव ने अपने ग्राम से विदाई ली । घरवालों की तो बात ही क्या, आसपास के गाँव के लोग भी जुट आये । सबका मन व्यथा के भार से बोझिल था । सबकी आँखों में आँसू थे। अनेक तो सिसक रहे थे । चलते-चलते भरी भीड़ में पू० माँ ने अपने पुत्र को खिलाया । ग्राम से विदा होकर पू० गुरुदेव कलकत्ते आ गये ।

## सन्यासोपरान्त स्कूली शिक्षा

पू० गुरुदेव ने सं० १९९२ वि० की आश्विन मासवाली शारदीय रासपूर्णिमा (शनिवार, १२ अक्टूबर, १९३५) के दिन सन्यास लिया था । तब पू० गुरुदेव कलकत्ते में इंटरमीडियेट के द्वितीय वर्ष में पढ़ते थे । काषाय वस्त्र धारण करने के उपरान्त पू० गुरुदेव ने अपने बड़े भाइयों से कहा था - "इंटरमीडियेट की शिक्षा में डेढ़ वर्ष तक आपने मुझ पर बहुत व्यय किया है। इस व्यय को निरर्थक करना उचित नहीं लगता, अतः मैं इंटरमीडियेट की पढ़ाई को पूरा करके परीक्षा दूँगा, जिससे आप लोगों के मन की संतुष्टि हो सके । इस छः-सात मास की पढ़ाई के बाद जागतिक विषयों से सम्बन्धित मेरा अध्ययन समाप्त हो जायेगा । आप सभी लोग मुझे आशीर्वाद दीजिए कि जिस आध्यात्मिक-विद्यार्जन के लिये इस सन्यासी वेष को धारण किया है, वह मुझे प्राप्त हो।"

गाँव से वापस कलकत्ता आने के बाद पू० गुरुदेव अपनी साधना और स्वाध्याय में तल्लीन हो गये । आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय में ही उनकी रुचि रहा करती थी । पू० गुरुदेव पाठ्यक्रम की पुस्तकें बहुत कम पढ़ा करते थे। परीक्षा के जब एक-दो मास रह गये, तब उन्होंने परीक्षा देने की दृष्टि से उन पुस्तकों को पढ़ना आरम्भ किया था । इस थोड़े से पठन-पाठन के द्वारा ही उन्हें पूर्ण सफलता मिली । उन्होंने इंटरमीडियेट की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । यह पठन-पाठन तो पू० गुरुदेव ने किया था, केवल अपने बड़े भाइयों की प्रसन्नता के लिये । इस पठन-पाठन की अवधि में समय-समय पर बड़े भाइयों ने कई बार पू० गुरुदेव से कहा कि तुम आगे भी पढ़ो और अधिक योग्यता का सम्पादन करो, किन्तु इसके लिये पू० गुरुदेव कभी भी राजी नहीं हुए। पू० गुरुदेव की प्रतिभा से महाविद्यालय के अध्यापकगण भी बहुत प्रभावित थे। उनमें से कई अध्यापकों ने ऊँची पढ़ाई करने के लिये सुझाव दिया और व्ययभार वहन का आश्वासन दिया, पर ये सभी सुझाव पू० गुरुदेव को स्वीकार नहीं थे। जब-जब ऐसा सुझाव आता, पू० गुरुदेव यही कहते- 'अब तो दूसरी ही पढ़ाई पढ़नी है।' इंटरमीडियेट की परीक्षा देने तक पू० गुरुदेव अपने बड़े भाइयों के साथ रहे । वे कक्षा में पढ़ने के लिये उस सन्यासी-वेष में ही जाते । उनके सन्यासी-वेष को देखकर सहपाठी चुटकी लेते, किन्तु अब तो वेष-परिवर्तन के साथ-साथ पू० गुरुदेव के बोलने-मिलने-रहने-चलने का सारा ढंग ही बदल चुका था । पू० गुरुदेव सबको संयमित वाणी में उत्तर देते हुए सबका समाधान करते अथवा मौन रहते।

पू० गुरुदेव का सन्यास लोगों के लिये आश्चर्य और चर्चा का विषय बना हुआ था। एक बार पू० गुरुदेव कलकत्ते शहर में सड़क से जा रहे थे। पू० गुरुदेव को पता नहीं कि उनके पीछे-पीछे कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक चले आ रहे हैं। उन प्राध्यापक-महोदय ने गैरिक वस्त्रों में भी अनुमान लगा लिया कि यह संभवतः वही चक्रधर मिश्र नाम का छात्र है, जिसकी छाप कालेज के विद्यार्थियों पर है। वे चाह रहे थे कि इससे बात करूँ। पू० गुरुदेव कालेज-स्क्वायर नामक स्थान पर आकर एक बेंच पर बैठ गये। पू० गुरुदेव बैठे ही थे कि वे प्राध्यापक-महोदय सामने आकर खड़े हो गये। पू० गुरुदेव ने पहचान लिया कि ये अर्थशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष हैं।

उन्हें सामने देखकर पू० गुरुदेव तुरन्त खड़े हो गये तथा उनसे बैंच पर बैठने के लिये अनुरोध करने लगे। प्राध्यापक-महोदय ने कहा- 'आप ही बैठें।'

पू० गुरुदेव ने कहा – 'यह कैसे हो सकता है कि मैं बैठा रहूँ और आप खड़े रहें ?'

प्राध्यापक-महोदय ने कहा- 'आपने गैरिक-वस्त्र धारण कर लिया है, अतः धर्म-मर्यादा के अनुसार मेरा खड़ा रहना ही उचित है।'

इतना कहकर उन्होंने फिर पूछा - 'मेरा अनुमान सही है कि आप ही चक्रधर मिश्र नामक विद्यार्थी हैं।

पू० गुरुदेव ने उनके कथन का अनुमोदन किया । वात्सल्य की अधिकता में उनके नेत्र सजल हो उठे । फिर स्नेह भरी वाणी में उन्होंने कहा - "मैं लगभग एक मील से आपके पीछे-पीछे चला आ रहा हूँ। आपको सन्यासी-वेष में देखकर मेरे मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी । इतनी छोटी उम्र में आपने सन्यास क्यों ले लिया ?" उनके प्रश्न का उत्तर देना पू० गुरुदेव के लिये कठिन हो गया । यह संभव नहीं था कि जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव का वर्णन संक्षेप रूप में कुछ क्षणों के भीतर प्रस्तुत कर दिया जाता । उस असमंजस की स्थिति में पू० गुरुदेव ने इतना ही कहा - "जगत् में कुछ सार दिखायी नहीं दिया, अतः जगत् से अतीत परमतत्व की प्राप्ति के लिये सन्यास ले लिया।" यह उत्तर सुनकर वत्सलतापूर्ण विभोर वाणी में वे पू० गुरुदेव को आशीर्वाद देने लगे - "मेरे वत्स ! तेरा मंगल हो और तेरे उद्देश्य की सिद्धि हो।"

इस प्रकार का हार्दिक सद्भाव एवं सहज आशीर्वाद पू० गुरुदेव को समय-समय पर सभी महज्जनों से मिलता रहा ।

एक दिवस पू० गुरुदेव के बड़े भाई तारादत्तजी ने पूछा - "भविष्य में तुम्हारे भोजन की क्या व्यवस्था होगी ?" पू० गुरुदेव ने कहा - "भिक्षा द्वारा जो मिल जायेगा, उसी से शरीर का निर्वाह होगा। यदि कभी भिक्षा नहीं मिली तो श्रीमल्लिकजी के यहाँ कंगालों को भात दिया जाता है, उसी भात से भूख का निवारण करूँगा।" यह सुनकर बड़े भाई की आँखें भर आयीं । वे कहने लगे - "घर पर खेत है, जमीन है । यदि तुम स्वीकार करो तो तुम्हारे नाम कर दें, इससे शरीर-निर्वाह की समस्या ही नहीं रहेगी।" पू० गुरुदेव ने कहा- "यदि यही करना होता तो फिर यह काषाय वस्त्र क्यों धारण करता ?"

इन्टरमीडियट की परीक्षा देने तक पू० गुरुदेव अपने बड़े भाइयों के पास रहे। परीक्षाफल क्या होगा, इससे उनका कोई लगाव नहीं था, परीक्षा देनी थी सो दे दी।

## श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर निष्ठा

पू० गुरुदेव ने संस्कृत का अध्ययन कलकत्ते में रहते समय अपने बड़े भाई से किया । ब्राह्मण-कुल एवं पुरोहिती-वृत्ति के कारण परिवार में संस्कृत का वातावरण था ही, फिर एक ओर बड़े भाई का कुशल-अध्यापन और दूसरी ओर पू० गुरुदेव की प्रखर-ग्राहकता, इससे पू० गुरुदेव शीघ्र ही संस्कृत में निष्णात हो गये।

पू० गुरुदेव ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की अनेक टीकाओं का व्याख्याओं सहित पठन-मनन-चिन्तन किया, किन्तु उनकी ज्ञान-सम्पन्न-बौद्धिकता तथा प्रतिभा-सम्पन्न-तार्किकता को प्रभावित एवं आकर्षित कर सका- शांकरभाष्य ही। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के शांकरभाष्य का अध्ययन करते-करते पू० गुरुदेव शंकरमतावलम्बी हो गये। भगवान् श्रीआदिशंकराचार्यजी ने अपने अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करने के लिये श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र तथा मुख्य उपनिषदों का भी भाष्य लिखा है । इन भाष्यों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि पू० गुरुदेव की निष्ठा वेदान्त-दर्शन के प्रति दृढ़ हो गयी । भारत के छः आस्तिक-दर्शनों में से एक वेदान्त-दर्शन भी है । वेदान्त-दर्शन के मर्म तक पहुँचने के लिये पू० गुरुदेव ने छः आस्तिक-दर्शनों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया । वस्तुतः सन्यासोपरान्त छः मास का विद्यार्थी-जीवन उनका विशेष अध्ययन का काल ही रहा और इस अवधि में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता तथा उपनिषदों के अतिरिक्त शांकरसाहित्य, आध्यात्मिक ग्रन्थ तथा हिन्दू दर्शनों का पू० गुरुदेव ने विशद अध्ययन किया । अध्ययन जितना गहन होता गया, पू० गुरुदेव की अद्वैत-तत्व के प्रति निष्ठा उतनी ही अधिक गहरी होती चली गयी।

इसी निष्ठा को लेकर पू० गुरुदेव ने अद्वैत-तत्व की साधना के लिये नितान्त ऐकान्तिक जीवन अंगीकार किया। ऐसा लगता है कि पूर्वजन्म में उनकी साधना लगभग पूर्ण हो चुकी थी । एक झीना-सा आवरण रह गया था। साधना के आसन पर बैठते ही वह आवरण दूर हो गया । वेदान्त-दर्शन

का मूलाधार सिद्धान्त है- 'सर्व खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' और इस तत्व के दिव्य, सच्चिदानन्दमय प्रकाश से पू० गुरुदेव के भीतर-बाहर का सारा जीवन आलोकित हो उठा।

शांकरमत के अनुसार परब्रह्म एक, अद्वैत, निर्विशेष और निर्गुण है। ब्रह्म सत्य है एवं जगत् मिथ्या । जीव ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधन चतुष्टय के द्वारा जब चित्त की शुद्धि होती है, तब ब्रह्मज्ञान होता है। ब्रह्मात्म-बोध ही मुक्ति है । मुक्तात्मा ही व्यावहारिक क्षेत्र में सभी प्राणियों के प्रति ब्रह्मदृष्टि रख पाता है । इस ब्रह्मदृष्टि की सिद्धि के लिये पू० गुरुदेव को साधना के आसन पर लम्बी अवधि के लिये बैठना नहीं पड़ा । साधना में संलग्न होने के कुछ दिन बाद ही पू० गुरुदेव ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो गये । अखण्ड-ब्रह्मानुभूति में निमग्न पू० गुरुदेव के लिये जगत् का अस्तित्व समाप्त हो गया । पू० गुरुदेव के व्यक्तित्व में अब रह गयी थी 'अहं ब्रह्मास्मि' की परमानन्दमयी अनुभूति । अद्वैत-तत्व की साधना पू० गुरुदेव ने बहुत थोड़े समय के लिये की । एक ओर साधना की अत्यल्प अवधि और दूसरी ओर साधना में सफलता, ये तथ्य ही संकेत करते हैं कि पूर्वजन्म की साधना की पूर्णता में कहने भर के लिये किञ्चित् न्यूनता रह गयी थी और उसे पूर्णता प्रदान करने के लिये वर्तमान साधना एक निमित्त-मात्र थी । इतना ही नहीं, इस छोटी आयु में इतना विशद अध्ययन और ऐसी महान् सिद्धि, इससे भी एक संकेत मिलता था कि पू० गुरुदेव के जीवन में कोई विशेष महान् कार्य होने वाला था।

इन दिनों पू० गुरुदेव के परमानन्द की सीमा नहीं थी । श्रीमद्भगवद्गीता में आया है -

**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।**
**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। श्रीगीता-१३/१७**

वह परब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है । वह बोधस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है ।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति ।। श्रीगीता – ५/२४

जो पुरुष आत्मा में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करता है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त, 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला ज्ञानयोगी शान्तब्रह्म को प्राप्त होता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। श्रीगीता – ५/२१

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मा में स्थित- जो ध्यानजनित सात्विक-आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है ।

शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के अनुभव से सच्चिदानन्दघनब्रह्म में एकीभाव से स्थित प्रसन्न चित्त सन्त सम्पूर्ण जागतिक द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है । उसे जगत् स्वप्नवत् प्रतीत होता है । उसके अन्तःकरण में अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं रह जाते। पू० गुरुदेव के जीवन को देखकर यही कहना चाहिए कि ये शास्त्रीय मान्यतायें पूर्णतः यथार्थ ही हैं ।

जिस प्रकार अनुकूल परिस्थिति में न्यूनता का बोध नहीं हो पाता, उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति में भी न्यूनता का बोध नहीं हो, तभी उस सिद्धस्थिति को ब्राह्मीस्थिति कहना चाहिए अतः वास्तविकता का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये पू० गुरुदेव ने प्रतिकूल परिस्थिति को स्वेच्छा से वरण किया । पू० गुरुदेव के मन में आया कि कुष्ठरोग से ग्रस्त कोढ़ी, समाज में अत्यधिक उपेक्षणीय होते हैं । इनमें भी जिन्हें गलित कुष्ठ होता है, उनसे तो कोई संपर्क ही रखना नहीं चाहता । एक प्रकार से ये घृणा के पात्र बन जाते हैं । लोगों द्वारा तिरस्कृत इन उपेक्षणीय , अस्पृश्य कोढ़ियों के बीच रहने पर भी हृदयस्थ परमानन्द में न्यूनता न आये और जगत् में सभी प्राणियों के प्रति

दृष्टि सम रहे, तब साधना में प्राप्त सफलता को विश्वसनीय कहा जा सकता है।

समाज की दया पर निर्भर रहने वाले न जाने कितने कोढ़ी कलकत्ते में गंगाजी को जाने वाले मार्ग पर पड़े रहते थे। गंगास्नान के लिये जाने वाले धर्मात्मा एक दो पैसा फुटपाथ पर पड़े हुए कोढ़ियों के सामने डाल देते थे, यही उनके जीवन का आधार होता था। पू० गुरुदेव इन्हीं कोढ़ियों के बीच बैठने लगे । पू० गुरुदेव प्रातःकाल आकर उनके पास बैठ जाते और संध्या के समय उठते । धर्मात्मा लोग जैसे अन्य कोढ़ियों के सामने पैसा डालते, वैसे ही पू० गुरुदेव के सामने भी डाल देते। गुरुदेव को द्रव्य स्पर्श करना नहीं था, पू० गुरुदेव जब संध्याकाल में उठते तो पासवाले कोढ़ी को पैसा उठाने को कह देते । इससे वह कोढ़ी बड़ा प्रसन्न होता। प्रत्येक दिन पू० गुरुदेव ऐसा ही करते। इससे अब हर कोढ़ी यही चाहता कि पू० गुरुदेव मेरे पास बैठें, जिससे इनको मिला हुआ सारा पैसा मुझे मिल जाये, पर पू० गुरुदेव बैठते उस गलित कोढ़ी के पास, जिसकी शारीरिक दशा बड़ी शोचनीय होती ।

कोढ़ियों के मध्य पू० गुरुदेव एक-दो सप्ताह बैठे होंगे और बैठने का प्रयोजन था- परीक्षण करना कि मेरे अन्दर विषमता का अभाव हुआ अथवा नहीं । सुख-दुःख , मम-पर, प्रिय-अप्रिय, लाभ-हानि- यही तो द्वन्द्वात्मक जगत् का स्वरूप है और यथार्थ ब्रह्म-वेत्ता सन्यासी वही है, जिसकी दृष्टि दोनों सीमाओं के प्रति सम है और जिसका मन सभी परिस्थितियों में शांत एवं प्रसन्न है । कोढ़ियों के बीच रहने पर भी पू० गुरुदेव के हृदय में ब्रह्मानन्द का सागर हिलोरें लेता रहता था ।

## क्रान्तिकारी परिवारों के लिये गीता प्रवचन

पू० गुरुदेव के एक स्वजन थे, श्रीभवानीशंकरजी । इनमें देश-सेवा का भाव बहुत ही प्रबल था। देश के गण्यमान्य क्रांतिसेवियों से इनका अति निकट का संपर्क था । अनेक क्रान्तिकारी फाँसी के फन्दों को चूमचूमकर मृत्यु के ग्रास हो चुके थे । अनेक पुलिस एवं फौज द्वारा गोलियों से भून दिये गये थे, अनेक जेल की चार-दीवारों के भीतर घोर यातनाएँ भोग रहे थे । बहुत से गिरफ्तारी के वारन्ट के कारण फरार थे, बहुत से सरकारी कोप के भाजन होने के कारण कुछ भी अर्थोपार्जन नहीं कर पा रहे थे। बहुत से देश-सेवा

के उत्साह में घर-गृहस्थी से सम्बन्ध विच्छिन्न करके अपनी योजनाओं की पूर्ति में रत थे। इन सभी देशभक्तों के परिवारों की बहुत ही शोचनीय दशा थी ।

समाज के अन्य लोगों की तो बात ही नहीं, इनसे सगे सम्बन्धी भी मुँह फेर चुके होते थे । यदि किसी को पुलिस पकड़ ले जाती तो लोग यही कहते- "अच्छा हुआ, समाज का कलंक चला गया।" ऐसी अवस्था में इनके परिवारों के भरण-पोषण के लिये अर्थ-दान करने की तो सोचना ही मूर्खता थी। ये रोटी-कपड़े के लिए तरसते थे- इनकी विपन्नता का नग्नचित्र श्रीभवानीशंकरजी ने पू० गुरुदेव के सम्मुख रखा । कुछ तो उन्होंने बतलाया और कुछ की जानकारी पू० गुरुदेव को स्वयं थी । पू० गुरुदेव का करुणार्द्र-हृदय सुन-सुन करके द्रवित हो उठा ।

अब प्रश्न यह था कि इन संत्रस्त परिवारों की सहायता किस प्रकार की जाये ? इनकी सहायता के लिये धन कहाँ से प्राप्त हो ? श्रीभवानीशंकरजी का सुझाव था कि पू० गुरुदेव में शास्त्र-ज्ञान, प्रवचन करने की सुन्दर शैली, विषय-प्रतिपादन की रोचक कला, एवं मधुर कण्ठ आदि सभी श्लाघ्य गुण हैं । वे ग्राम-ग्राम भ्रमण कर कथा कहें और चढावे से विपत्तिग्रस्त-परिवारों की सेवा करें, तो बात बन सकती है ।

अध्यात्मचर्चा को बेचना और कथा द्वारा द्रव्य संग्रह करना यह तो कल्पना भी पू० गुरुदेव के लिये असह्य थी। परन्तु श्रीभवानीशंकर भी पूरे पीछे पड़ गये और पू० गुरुदेव द्वारा स्वयं पैसे का सर्वथा स्पर्श न करने की शर्त के साथ उन्होंनें उन्हें मना ही लिया।

श्रीभवानीशंकरजी के साथ ग्राम-ग्राम यात्रा करते हए पू० श्री गुरुदेव ने श्रीमद्भगवद्गीता पर कथा कहनी आरम्भ कर दी । कई ग्रामों में पू० गुरुदेव का श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन हुआ । पू० गुरुदेव तो ग्राम के बाहर किसी मन्दिर अथवा एकान्त-शान्त स्थान पर ठहरा करते थे, केवल कथा कहने के लिये ग्राम के भीतर जाया करते थे । पू० गुरुदेव की भिक्षा के लिये श्रीभवानीशंकरजी ग्राम से कच्चा अन्न माँगकर ले आते और जहाँ ठहरे होते, वहीं रन्धन करते । पू० गुरुदेव को भिक्षा कराके ही वे स्वयं भोजन करते ।

सबसे पहली कथा हुई पहाड़पुर ग्राम में, जो कलकत्ता जाने वाले मार्ग में बंगाल-बिहार की सीमा पर था । पू० गुरुदेव की वक्तृत्व-शक्ति अद्भुत थी। कथा में लोगों की बड़ी भीड़ एकत्रित हो गयी श्रोताओं के विशाल समूह को

देखकर श्रीभवानीशंकरजी बड़े प्रसन्न हुए कि चढ़ावे के रूप में पुष्कल धन प्राप्त होगा । पू० गुरुदेव के प्रवचन से प्रभावित होकर ग्रामवाले चढ़ावे की बात सोचने भी लगे थे, पर पू० गुरुदेव ने अपने प्रवचन में कहा - "मैं न तो पैसे को स्पर्श करता हूँ और न इस चढ़ावे से मेरा कोई संबंध है । कथा के अन्त में जो चढ़ावा आयेगा, उसे मेरे साथ रहने वाले पंडित श्रीभवानीशंकरजी ले लेंगे । मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि चढ़ावे से इकट्ठे होने वाले धन का उपयोग ये निश्चय ही श्रेष्ठ सेवाकार्य में करेंगे।"

कथा से प्रभावित श्रोतागणों में चढ़ावा देने का उत्साह तो बहुत था, परन्तु पू० गुरुदेव की स्पष्टवादिता से वह उत्साह मन्द पड़ गया। इस प्रकार चढ़ावा बहुत कम रूप में हुआ। चढ़ावा देखकर श्रीभवानीशंकरजी को बड़ी निराशा हुई। एक ग्राम में कथा केवल कुछ दिन होती । फिर पू० गुरुदेव और श्रीभवानीशंकरजी किसी अन्य अनिश्चित ग्राम की ओर बढ़ जाते । इस प्रकार कथा का क्रम चलता रहा । यह कथा मुख्यतः उन ग्रामों में हुई, जो पटना से कलकत्ते तक श्रीगंगाजी के तटवर्ती थे । श्रीमद्भगवद्गीता पर जो प्रवचन स्थान-स्थान पर पू० गुरुदेव द्वारा हुए, उससे श्रीभवानीशंकरजी के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो पायी, परन्तु एक लाभ उन्हें हुआ । श्रीगीताजी की सुन्दर कथा और पू० गुरुदेव की आदर्श जीवनचर्या से श्रीभवानीशंकरजी की जीवन धारा में परिवर्तन अवश्य आया।

पू० गुरुदेव ग्राम-ग्राम भ्रमण करते हुए प्रवचन दिया करते थे। एक घटना से उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई । एक बार पू० गुरुदेव ग्राम के बाहर एक मन्दिर में ठहरे हुए थे । रात के समय एक स्त्री ने उनके पैर पकड़ लिये । वह बहुत ही दयनीय कण्ठ से रो रही थी । उसके भाई को हैजा हो गया था । वह उसका जीवन-दान माँग रही थी ।

सन्यास-ग्रहण के पश्चात् पू० गुरुदेव का कठोर नियम था- किसी भी नारी का किसी भी अवस्था में स्पर्श नहीं करना । मन्दिर के कुछ व्यक्तियों ने उसे समझाने की चेष्टा की कि सन्यासी के पैर नहीं पकड़े, दूर रहकर उनसे प्रार्थना करे। परन्तु वह सुनती ही नहीं थी । वह पू० गुरुदेव के पैर कठोरतापूर्वक पकड़कर रोये ही जा रही थी ।

जब उसने पैर छोड़े ही नहीं तो पू० गुरुदेव ने सोचा- रौद्र रूप धारण करने से ही बात बनेगी । अतः उन्होने बहुत ही तेज स्वर बनाकर कहा -

"आज अपने भाई के लिये इतना रो रही है, कल तेरा ही प्राणान्त हो जाय तो ?"

पू० गुरुदेव की क्षुब्धता देखकर वह स्त्री पीछे हट गयी । संयोगवश दूसरे ही दिन उस स्त्री की भी हैजे से मृत्यु हो गयी । इससे लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि स्वामीजी भविष्य के गर्भ की बात जानते हैं । पू० गुरुदेव को उस स्त्री के भविष्य का सर्वथा ज्ञान नहीं था। वे तो एक सामान्य दार्शनिक-संभावना का ही दिग्दर्शन करा रहे थे, इसे लोगों ने उनकी भविष्यवाणी मानली और सर्वत्र उनकी प्रसिद्धि फैला दी ।

## बस में पुलिस दारोगा का दुर्व्यवहार

जब पू० गुरुदेव स्थान-स्थान पर श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन दिया करते थे - तबकी बात है । एक बार वे बस में बैठकर जा रहे थे । उन्हें १८ मील की यात्रा तय करनी थी । ड्राइवर अच्छे स्वभाव का व्यक्ति था, अत: उसने सन्यासी पर आदर-श्रद्धा करते हुए उन्हें आगे वाली सीट पर बैठा लिया था । बस जब चलने को हुई तो एक पुलिस अधिकारी आया और अगली सीट पर पू० गुरुदेव के बगल में बैठ गया । उन दिनों पुलिस अफसर का रौब इतना अधिक होता था कि उनके सामने किसी को कुछ भी बोलने का साहस नहीं होता था ।

अब जब बस चल पड़ी तो वह अधिकारी पू० गुरुदेव को कुहनी मारने लगा । जहाँ तक संभव था पू० गुरुदेव ड्राइवर की तरफ सरक गये, पुलिस अधिकारी के पास बैठने को पर्याप्त स्थान भी था, परन्तु सुविधापूर्वक स्थान बैठने के लिये मिल.जाने पर भी वह रह-रहकर कुहनी मारता ही जाता था । पिछली सीट पर बैठे लोगों को उसकी यह क्रिया सर्वथा अनुचित लग रही थी, परन्तु वे उसके विरोध में बोलने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे । पुलिस अधिकारी का अत्याचार इतना बढ़ गया कि पू० गुरुदेव यात्रा की पूर्णता के लिए अधीर हो उठे

आगे चलकर एक स्थान बस पर रुकी । वह पुलिस अधिकारी जलपान करने के लिये बस से नीचे उतरा । संयोग की बात, बस में पुन: चढ़कर ज्यों ही उस दुष्ट पुलिस अधिकारी ने बस का फाटक बन्द किया तो फाटक में उसकी अँगुली चिप गयी । उस पुलिस अधिकारी की चीख निकल गयी ।

पू० गुरुदेव ने तुरन्त फाटक खोलकर उसकी अँगुली बाहर निकाली । अँगुली का बुरा हाल था। पू० गुरुदेव ने तत्काल अपने गेरुए वस्त्र का छोर फाड़कर, उसको कमंडलु के जल से भिगोकर उसकी अँगुली पर पट्‌टी की एवं कहा - कि अगले ग्राम में जिला बोर्ड डिस्पेंसरी है, वहाँ आप डाक्टर को दिखाकर ठीक से पट्‌टी करवालें।

पू० गुरुदेव का साधु-व्यवहार देखकर उस पुलिस अधिकारी में भी परिवर्तन हो आया।

## हिंसक व्याघ्र से भेंट

एकान्त प्रियता के कारण पू० गुरुदेव सदा ग्राम के बाहर ही निर्जन स्थान में निवास किया करते थे । वे प्रातः अकेले ही घने जंगल में शौच के लिये जाया करते थे । ग्रामवासियों ने सावधान करते हुए यद्यपि अनेक बार कहा - "जंगल में भालू-तेंदुए-बाघ आदि हिंसक पशु रहते हैं, अतः अकेले नहीं जाना चाहिए । हम लोग भी जाते हैं तो समुदाय में ढोल पीटते हुए जाया करते हैं।"

लोगों के द्वारा अनुरोध किये जाने के बाद भी पू० गुरूदेव अकेले ही वन में जाया करते थे । जनसंपर्क एवं जगच्चर्चा पू० बाबा को रुचिकर नहीं थी। एक बार की बात है, जिस ग्राम में पू० गुरुदेव गये थे, उसके समीप के जंगल में एक झरना था । वन की निर्जनता और जल का प्रवाह, दोनो ही पू० गुरुदेव को स्वभावतः प्रिय थे । अपने प्रातःकालीन शौचादि कार्य से निवृत्त होने के लिये पू० गुरुदेव वहीं जाया करते थे । पू० गुरुदेव शौच के लिये बैठे ही होंगे कि बाघ के शरीर की तीव्र दुर्गन्ध आने लगी । पू० गुरुदेव को उस समय अनुमान हो गया कि आस-पास कोई बाघ है । पू० गुरूदेव के मन में तुरन्त यही आया, बाघ इस शरीर को अपना भोजन बनाना चाहता है तो बना ले । मै शरीर तो हूँ नहीं । जो भवितव्य है, मैं उसमें व्यवधान क्यों डालूँ । शरीर को रहना हो तो रहे और जाना हो तो जाये । दोनो के प्रति मेरी दृष्टि सम है ।

उस विकट परिस्थिति में भी 'ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म है', इस शांकर-सिद्धान्त से पूज्य गुरुदेव का मन एकाकार हो रहा था । यह अद्वैत-तत्त्व पू० गुरुदेव के चित्तरूपी स्वच्छ दर्पण में पूर्णतः प्रतिबिम्बित

था । इधर पू० गुरुदेव अपने तत्व चिन्तन में तल्लीन हो गये और उधर वह तीव्र दुर्गन्ध कमशः कम होने लग गयी । कमशः क्षीण होती हुई दुर्गन्ध से पू० गुरुदेव ने अनुमान लगा लिया कि बाघ चला जा चुका है । बाघ से पू० गुरुदेव का आमना-सामना नहीं हुआ, किन्तु शरीर के अस्तित्व की दृष्टि से एक बार भयावह स्थिति पू० गुरुदेव के सामने उपस्थित हो ही गयी थी । वास्तविक आत्म-निरीक्षण एवं कसौटी के सच्चे अवसर होते हैं, जीवन के विषम क्षण ही। वस्तुतः प्रतिकूलता के मध्य ही सही-सही परिज्ञान हो पाता है कि जीवन के संस्कार और उसकी संरचना स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार हो रही है अथवा नहीं।

## हठयोग से शरीर कष्ट एवं प्राकृति चिकित्सा से लाभ

ग्राम-ग्राम भ्रमण करते समय पू० गुरुदेव निरन्तर अपनी स्वरूपावस्था में तो रहते ही थे साथ-ही-साथ उनका शास्त्रग्रन्थावलोकन भी चलता रहता था। एक दिन उन्हें एक अधकचरे योगी मिल गये । वे अपने को नेती-धोती आदि हठयोग की क्रियाओं में निष्णात मानते थे, और उन्होने पू० गुरुदेव से कहा कि गुदामार्ग से जल को अपानवायु द्वारा ऊर्ध्व करके ऊपर चढ़ाने की क्रिया करने से वीर्य स्वतः ऊर्ध्व हो जाता है और चित्तवृत्ति बालवृत्ति को सहज ही प्राप्त हो जाती है ।

ये योगी गुरु बाद में पू० गुरुदेव के पास १९५१ ई० में गोरखपुर भी आये थे । पू० गुरुदेव ने तो उनको बहुत ही आदर दिया था । इन्हीं के संरक्षण में पू० गुरुदेव ने कुछ काल योगाभ्यास किया । हठयोग की यह साधना जटिल थी, इससे अपानवायु गलत नाड़ी में प्रवेश कर गयी । वे अधकचरे योगी पूरी क्रिया जानते तो थे नहीं, अतः इसके निवारण का कोई उपाय बता नहीं सके। पू० गुरुदेव के प्राणों पर बन आयी । स्थिति ऐसी गंभीर हो गयी कि मानो कुछ ही क्षणों में शरीरान्त हो जायेगा । किसी को कुछ भी सूझ नहीं रहा था कि क्या उपचार किया जाय । यह कष्ट किसी भी व्याधि का परिणाम तो था नहीं । थोड़ी देर पश्चात् वायु प्रकोप स्वतः कुछ कम हुआ तो कष्ट कम हो गया, परन्तु वह मात्र कुछ कम ही हुआ था, सर्वथा समाप्त नहीं ।

पू० गुरुदेव के साथ श्रीभवानीशंकरजी तो रहते ही थे । उन्होने पू० गुरुदेव से बिना पूछे ही चुपचाप पू० गुरुदेव के बड़े भाई श्रीतारादत्तजी को

पत्र द्वारा सूचना दे दी । घर से श्रीतारादत्तजी पू० गुरुदेव के पास पहुंच गये और उन्होने अपने गाँव चलने के लिये आग्रह किया । गाँव पर जाने के लिये पू० गुरुदेव तनिक भी राजी नहीं हुए । पू० गुरुदेव ने कहा – "यदि जाना ही है तो मैं कलकत्ते जाना चाहूँगा ।"

श्रीतारादत्तजी ने रेल से यात्रा करने के लिये कलकत्ते की टिकट कटा दी । पू० गुरुदेव पैसेंजर ट्रेन से कलकत्ता गये । श्रीतारादत्तजी ने कलकत्ते सूचना तार द्वारा करवा दी थी, अतः कई स्वजन स्टेशन पर आ गये थे ।

उन दिनों कलकत्ता में सुप्रसिद्ध प्राकृतिक-चिकित्सक थे, श्रीब्रह्मस्वरूपजी श्रोत्रिय। श्रीगुरुदेव उनके चिकित्सा-केन्द्र पर गये। भवन के द्वार पर दरबान ने पू० गुरुदेव का बड़ा अपमान किया। वह समझ रहा था कि यह भिखारी सन्यासी, मालिक को व्यर्थ ही तंग करने के लिये आया है । जब उससे यह कहा गया कि एक रोगी के रूप में चिकित्सा करवाने के लिये आये हैं, तब उसने प्रवेश करने दिया । पू० गुरुदेव भवन के अन्दर गये । एक सन्यासी को आया हुआ देखकर श्रीब्रह्मस्वरूपजी तुरन्त अपनी कुर्सी पर से उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर विनम्र भाव से उन्होंने पू० गुरुदेव को प्रणाम किया । पू० गुरुदेव ने उनको बतलाया कि एक हठयोग की क्रिया में किञ्चित् चूक हो जाने से पीठ की एक नाड़ी में वात प्रवेश हो गया है । यदि इसका उपचार संभव हो तो आप उचित परामर्श दें ।

श्रीब्रह्मस्वरूपजी ने पूर्ण आश्वासन दिया तथा उन्होंने प्राकृतिक-चिकित्सा-विधि से उपचार आरम्भ कर दिया। उन्होने न तो चिकित्सा-शुल्क लिया और न ही उपचार-व्यय । उन्होने बड़े सम्मानपूर्वक पू० गुरुदेव की चिकित्सा की । जितने विनम्र और उदार श्रीब्रह्मस्वरूपजी थे, वैसी ही सेवा-परायण और साधु-हृदया उनकी धर्मपत्नी भी थी । उसने करबद्ध होकर पू० गुरुदेव से प्रार्थना की "स्वामीजी ! घर पर भिक्षा किये बिना जाने नहीं दूंगी ।"

पू० गुरुदेव की प्राकृतिक-चिकित्सा लगभग १५, १६ दिन चली । इससे उन्हें बहुत ही लाभ हुआ । चिकित्सा का क्रम पूर्ण हो जाने के बाद भी पू० गुरुदेव उनके पास जाते रहे । पू० गुरुदेव प्रतिदिन जाते तथा प्राकृतिक चिकित्सा की प्रक्रिया का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहते । पू० गुरुदेव के अद्भुत पाण्डित्य एवं सत्य-आचरण से श्रीब्रह्मस्वरूपजी भी कम प्रभावित नहीं थे । परस्पर का यह स्नेह संबंध भविष्य में भी बना रहा ।

## पुलिस सन्यासी वेष में

सन्यास ले चुकने के बाद भी पुलिस ने पू० गुरुदेव का पीछा नहीं छोड़ा। कलकत्ते के पुलिस विभाग ने पहचान लिया तथा पता लगा लिया कि सन्यासी वेष में यह युवक क्रान्तिकारी चक्रधर मिश्र ही है। उनको सन्देह था कि सन्यासी जीवन स्वीकार करना भी इसके षडयन्त्र का एक अंग हो सकता है । फिर पुलिस का एक गुप्तचर भी सन्यासी वेष में पू० गुरुदेव के पीछे लगा रहा । उन दिनों पू० गुरुदेव प्रायः संस्कृत भाषा में ही बोला करते थे । पू० गुरुदेव को क्या पता कि वह एक गुप्तचर है । वह सन्यासी वेषधारी गुप्तचर पू० गुरुदेव के ही साथ रहता । वे उस सन्यासी गुप्तचर को अपने साथ-साथ भिक्षा कराने लगे । वह कई दिनों तक उनके साथ रहा । उसकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं देखकर उनको बहुत ही विस्मय होता था, अतः उन्होने उससे कहा - "महाराज ! मेरे साथ रहने से आपकी भिक्षा की व्यवस्था तो हो जाती है, परन्तु आपकी पारमार्थिक उन्नति के लक्षण दिखाई नहीं देते । मेरे जैसे अति साधारण व्यक्ति के साथ रहकर आप अपना समय क्यों नष्ट करते हैं ? आपको किसी श्रेष्ठसंत का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।"

उस सन्यासी गुप्तचर ने कुछ उत्तर नहीं दिया । एक दिन पू० गुरुदेव ने उसको किसी दूसरे स्थान पर सादे नागरिक-वेष में देखा । पू० गुरुदेव ने उसको पहचान लिया और बंगला भाषा में पूछा - "महाशय आज यह नागरिक वेष कैसे धारण कर लिया ?"

वह सन्यासी गुप्तचर पू० गुरुदेव द्वारा प्रश्न किये जाने पर झेंप गया । उसने जान लिया कि आज मेरी पोल खुल गयी और इन्होने भी जान लिया कि यह तो सन्यासी-वेष में गुप्तचर था ।

फिर वह पू० गुरुदेव के पास कभी नहीं आया । इसके पश्चात् पुलिस ने भी इनका पीछा करना छोड़ दिया । इनकी बातचीत को, उनसे मिलने वालों को और उनके कार्य को लगातार देखते रहने के बाद पुलिस विभाग को आशंका करने के लिये कोई छिद्र नहीं मिला । सतत निरीक्षण करते-करते पुलिस को यह विश्वास हो गया कि इनका सन्यासी-जीवन किसी षडयन्त्र का अंग नहीं अपितु विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन है ।

## स्वामी रामसुखदासजी से परिचय एवं बाँकुड़ा प्रस्थान

पू० गुरुदेव नियमतः प्रतिदिन गंगा स्नान के लिये जाया करते थे । साधक, संत अथवा सिद्ध, सभी के लिये गंगा नित्य वन्दनीय हैं । भगवती गंगा के पावन शान्त प्रवाह का दर्शन, निर्मल नीर का सभक्ति सेवन एवं एकान्त कूल पर स्थिर-आसन साधकों, संतो-सिद्धों के लिये सदैव ही उपयोगी रहा है। गंगातीर के पुनीत वातावरण में ब्रह्मचिन्तन, भगवदर्चन, साधन- भजन आदि सहज संभव बन जाते हैं । जब पू० गुरुदेव गंगा स्नान के लिये जाते थे, तो किसी अचिन्त्य विधान से सदा ही उन्हें ऐसे श्रेष्ठ संत अथवा साधु विचारक-पंडित अथवा विरक्त सन्यासी मिलते थे और इनसे पर्याप्त समय तक सच्चर्चा हुआ करती थी । चर्चा के विषय मुख्यतः रहते थे, श्रीमद्भगवद्गीता के प्रधान प्रतिपाद्य सिद्धान्त, त्रिगुणातीत संतो के जीवन प्रसंग, सिद्ध महापुरुषों की जीवनचर्या एवं श्रीशंकराचार्यजी का अद्वैत तत्व ।

इसी अवधि में पू० गुरुदेव को गोविन्द भवन का परिचय मिला, जिसके द्वारा कल्याण पत्रिका का संचालन होता था । इसी के अन्तर्गत गोरखपुर में गीता-प्रेस था जिससे प्रकाशित होने वाली अनेक सुन्दर धार्मिक पुस्तकें होती थीं । कलकत्ते में गोविन्दभवन सदा से अध्यात्म चर्चा का एक प्रमुख केन्द्र था। वहाँ सत्संग की व्यवस्था सदा ही रहती थी, पर रविवार को विशेष सत्संग हुआ करता था । इसी दिन पूज्य स्वामीरामसुखदासजी के प्रवचन को सुनने के लिये न जाने कहाँ-कहाँ से श्रोतागण गोविन्दभवन आया करते थे । श्रीस्वामीजी महाराज का प्रवचन मुख्यतः श्रीमद्भगवद्गीता पर होता था । गीताजी पूज्य गुरुदेव का भी सबसे अधिक प्रिय ग्रन्थ रहा है। अतः गीताजी पर श्रीस्वामीजी के विचारों को सुनने के लिये वे भी गोविन्दभवन में श्रोताओं के मध्य बैठ जाते थे ।

पू० गुरुदेव वेष से अत्यधिक विरक्त रहते थे । उनके पास पहनने के लिये मात्र एक कोपीन तथा एक घुटनों से भी ऊँचा अधोवस्त्र रहता था । एक बार अधिक भीड़ के कारण वे मुख्य द्वार के पास खड़े हुए शान्तचित्त से प्रवचन सुन रहे थे । इतने में किसी बड़े सेठ की मोटर गाड़ी आयी । उसमें कोई मारवाड़ी सेठानी प्रवचन सुनने आयी होगी । भवन के दरबान ने उस सेठानी को भीड़ से रास्ता दिलाने की चेष्टा की । उसने पू० गुरुदेव को इस विरक्त वेष में एक भीख माँगने वाला मात्र भिखारी माना । अतः इन्हें हटाने

के लिये उसने इन्हें जोर से धक्का दे दिया । पू० गुरुदेव भाषण सुनने में इतने एकाग्र थे कि उन्हें दरबान की इस क्रिया का कोई पूर्वाभास ही नहीं हुआ । अन्यथा वे पूर्व संकेत मिल जाने पर स्वयं ही द्वार से हटकर रास्ता दे देते । श्रीरामसुखदासजी स्वामीजी मंच पर से दरबान द्वारा होती इस क्रिया को देख रहे थे । उन्होने पू० गुरुदेव की एकाग्रतापूर्वक भाषण सुनने की मुद्रा भी पूर्वतः देखली थी । अतः उन्होने तुरन्त भाषण स्थगित कर मंच से बाहर आकर पू० गुरुदेव को सड़क से उठाया । पू० गुरुदेव को दरबान का धक्का इतने जोर से लगा था कि वे अपने को सम्हाल नहीं पाये तथा सड़क पर गिर गये थे । श्रीस्वामीजी के मंच से उठकर आने पर तो दरबान को भी अपनी प्रमादजनित भूल समझ में आ गयी थी । वह भी बहुत ही लज्जित था । पू० गुरुदेव को स्वामीजी मंच पर ले आये और अपने पास बैठाकर प्रवचन करने लगे । यही श्रीस्वामीजी से पू० गुरुदेव का प्रथम परिचय था । यह परिचय आगे चलकर शीघ्र ही घनिष्ट रूप में परिणत हो गया ।

पू० गुरुदेव कट्टर वेदान्ती थे । भगवान के सगुण साकार रूप को वे मायावाद के क्षेत्र की वस्तु मानते थे । तर्क के द्वारा उन्हें सगुण-साकार स्वरूप को स्वीकृत करवा देना कठिन था । कलकत्ते के गोविन्दभवन में स्वामी रामसुखदासजी से विचार-विनिमय हुआ । इसे एक प्रकार से शास्त्रार्थ भी कह सकते हैं । परस्पर के विचारों का आदान-प्रदान संस्कृत भाषा में हुआ । वे सगुण रूप का प्रतिपादन कर रहे थे, परन्तु पू० गुरुदेव के तर्क भी अतिप्रखर थे । पू० गुरुदेव की तार्किकता का समाधान नहीं हो सकने पर श्रीरामसुखदासजी महाराज ने कहा कि मैं तो ऐसा ही मानता हूँ । इस पर पू० गुरुदेव का उत्तर था कि किसी की व्यक्तिगत मान्यता से सत्य थोड़े ही बदल जायेगा । सत्य तो सत्य ही रहेगा । किसी भी मत के पीछे शास्त्र एवं विचारों की तार्किकता तो होनी ही चाहिए ।

स्वामी रामसुखदासजी ने तत्व-चिन्तामणि नामक श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की पुस्तक के कुछ भाग पू० गुरुदेव को पढ़ने को दिये । उन्हें पू० गुरुदेव ने दो-तीन दिन में पढ़कर वापस कर दिये । परन्तु वे सगुण साकार स्वरूप को स्वीकार नहीं कर सके । इसी समय श्रीसेठजी का एक पत्र उन्हें सुनने को मिला । उस पत्र से पू० गुरुदेव बहुत प्रभावित हुए । उस पत्र में जो बातें लिखी थीं, वे सारी बातें वही व्यक्ति लिख सकता था जो ज्ञान की चौथी भूमिका में प्रतिष्ठित हो । यह सेठजी का पत्र श्रीस्वामीजी,

श्रीचम्पालालजी बिन्नानी को सुना रहे थे । पू० गुरुदेव गंभीरता से विचार करने लगे कि- ऐसा पत्र वही लिख सकता है, जिसे स्वरूपानुभव हो गया हो। पू० गुरुदेव ने श्रीरामसुखदासजी महाराज से पूछा- "यह पत्र किसने लिखा है ?" श्रीस्वामीजी ने कहा - "यह पत्र श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का है ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "श्री सेठजी कहाँ रहते हैं ?"

स्वामी रामसुखदासजी बोले - "वे तो बाँकुड़ा रहते हैं ।"

पू० गुरुदेव ने पुनः पूछा "यह बाँकुड़ा कहाँ है ?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया - "बाँकुड़ा बंगाल का ही एक नगर है । श्रीसेठजी का वहीं पर संपूर्ण व्यापार है।"

पू० गुरुदेव ने जिज्ञासा की - "मैं उनसे मिलना चाहता हूँ ।"

स्वामीजी ने स्वीकृति में कहा - "आपके बाँकुड़ा जाने की सारी व्यवस्था करवा दी जायेगी । आप वहाँ कब जाना चाहेंगे ।"

पू० गुरुदेव ने त्वरा दिखाई- "मैं तो आज ही वहाँ जाना चाहता हूँ। जब किसी से मिलने की इच्छा जग ही गयी, तब फिर विलम्ब क्यों किया जाय ?"

स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज श्रीसेठजी के परम निजजन थे, स्वामीजी को यह देखकर बहुत ही प्रसन्नता हो रही थी कि पू० गुरुदेव जैसे प्रतिभा सम्पन्न सन्यासी के मन में श्रीसेठजी के प्रति आदर का भाव जाग उठा है । श्रीस्वामीजी महाराज ने रेल की टिकट कटवा कर पू० गुरुदेव को दे दी। साथ ही बाँकुड़ा तार भी करवा दिया गया कि एक युवक सन्यासी आपके दर्शनार्थ आ रहे हैं, जो बड़े ही योग्य हैं । तार यथासमय बाँकुड़ा पहुँच गया।

श्रीसेठजी के आदेशानुसार श्रीघनश्यामदासजी जालान, जो आजीवन गीताप्रेस के मुद्रक तथा प्रकाशक रहे, साथ ही श्रीसेठजी के अत्यन्त निकट सहयोगी रहे, पू० गुरुदेव को लेने प्रतीक्षारत थे । पू० गुरुदेव ने श्री सेठजी के घर ही भिक्षा की एवं तब सेठजी से उनकी एकान्त चर्चा हुई ।

श्रीसेठजी कभी भी अपने बारे में अधिक नहीं बताया करते थे । बहुत ही अन्तरंग लोगों के सम्मुख गूढ़ सत्संग में उनके मुख से अपने बारे में भले ही कुछ निकला हो । वे स्वयं को बहुत ही सुगुप्त रखते थे । ऐसे संगोपन-प्रिय सेठजी ने मिलते ही पू० गुरुदेव के सम्मुख अपनी स्वरूप-स्थिति की बात खोलकर बता दी । किसी अज्ञात प्रेरणा से सेठजी ने पू० गुरुदेव की उस

जिज्ञासा का स्वत: समाधान कर दिया । पू० गुरुदेव तो यही चाहते थे कि वस्तुत: उस पत्र के लेखक को स्वरूपानुभूति हो गयी है,यह बात उन्हें निश्चय हो जाय । अपने अनुमान को सही पाकर पू० गुरुदेव को बड़ी ही प्रसन्नता हुई ? श्रीगोयनकाजी के सम्मुख गुरुदेव नतमस्तक थे ।

अब भगवत्तत्व पर परस्पर में विचार विनिमय होने लगा । पू० गुरुदेव शांकर मतानुयायी थे और अद्वैत साधना के अनुसार जो पूर्णता की स्थिति होती है, उसमें ही उनकी प्रतिष्ठा थी । अनन्त-सत्य-ज्ञान-आनन्दमय ब्रह्म से सदा एकात्मता की अनुभूति के फलस्वरूप पू० गुरुदेव को यह अनुभव होता रहता था कि जगत् न था, न है और न ही होगा । यह जगत् तो स्वप्नवत् पूर्णत: मिथ्या ही है । ऐसी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहने के कारण पू० गुरुदेव श्रीसेठजी गोयनकाजी से विचार-विनिमय करते समय अपनी अद्वैत निष्ठा का ही प्रतिपादन करते थे ।

**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपर"** महावाक्य के अनुसार पू० गुरुदेव की स्थापना यही थी कि एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है । ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता है ही नहीं । जीव ब्रह्म ही है और सम्पूर्ण जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है । जीवन की मुक्ति का एकमात्र उपाय आत्म-ज्ञान है । ईश्वर का सगुण साकार स्वरूप और उनकी भक्ति सर्वथा मायाराज्य की वस्तु है । परमतत्त्व के साक्षात्कार का एक मात्र साधन ज्ञानयोग है । श्रीसेठजी की मान्यता इससे भिन्न थी । श्रीसेठजी की आत्यन्तिकी निष्ठा तो ईश्वर के निर्गुण-निराकार ब्रह्म-स्वरूप में ही थी । वे मानते थे कि जिस प्रकार बिन्दु सिन्धु में मिलकर सिन्धु से अभेद रूप में एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार जीवका परम प्राप्तव्य निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभेद रूप से मिलकर एक हो जाना ही है । परन्तु इसके साथ ही श्रीसेठजी की आस्था ईश्वर के सगुण साकार रूप में भी थी । श्री सेठजी की मान्यता के अनुसार जीव सगुण-साकार ईश्वर की भक्ति के द्वारा भगवत्साक्षात्कार करके भी परम पद को प्राप्त कर सकता था। श्रीसेठजी की मान्यता का आधार था श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का तीसरा श्लोक।

**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।**
**ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।**

गीतावक्ता श्रीभगवान् के इस कथन के आधार पर श्रीसेठजी का सतत प्रतिपाद्य तथ्य यही था कि जिस प्रकार ईश्वर का निर्गुण-निराकार-स्वरूप सत्य है, उसी प्रकार सगुण-साकार स्वरूप भी सत्य है । निर्गुण-निराकार साध्य की प्राप्ति के लिये साधन पथ है ज्ञानयोग और सगुण साकार साध्य की प्राप्ति के लिये साधनपथ है भक्तिप्रधान कर्मयोग। ये दोनो साधनपथ स्वयं में पूर्ण हैं तथा एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं । किसी एक साधन पथ के आश्रय से भी साधक अपने जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है ।

श्रीसेठजी का भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त पू० गुरुदेव को मान्य नहीं था । श्रीसेठजी अपनी मान्यता समझाना चाहते थे, पर वैसी प्रतिपादन-क्षमता नहीं होने के कारण पू० गुरुदेव को समझा नहीं पाये । पू० गुरुदेव विद्वान् थे और विद्वानों की गोष्ठी में जिस शैली से विचारों का आलोचन-प्रतिपादन, खण्डन-मण्डन हुआ करता है, उसी शैली के पू० गुरुदेव अभ्यस्त थे । श्रीसेठजी अपनी बात को सीधे-सीधे शब्दों में सरल रीति से रखना जानते थे, पर पू गुरुदेव की शास्त्रीय शैली के समक्ष उनकी वह सरल पद्धति टिक नहीं पाती थी । शब्द-प्रमाण, पारिभाषिक शब्दावली आदि का प्रयोग करते हुए, जिस शास्त्रीय शैली से विद्वान् लोग अपने मत का प्रतिपादन किया करते हैं, इसका श्रीसेठजी के पास अभाव था । परिणाम यह निकला कि श्रीसेठजी को अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली । वे चाहकर भी पू० गुरुदेव को समझा नहीं पाये ।

इस विचार-विनिमय का स्वरूप कुछ-कुछ शास्त्रार्थ जैसा ही था । दोनों पक्षों की ओर से स्वानुभूत सत्य का उद्घाटन और प्रतिपादन ही इस शास्त्रार्थ में आदि से अन्त तक रहा । प्रतिपक्ष को परास्त करके विजय गर्व से प्रफुल्ल होने की भावना किसी के भी मन में नहीं थी । शास्त्रार्थ में विजयी कहलाकर अहं-भाव को परितोषित करने की वृत्ति का कहीं अस्तित्व ही नहीं था । किसी भी प्रकार की क्षुद्रता से पूर्णतः विरहित था यह शास्त्रार्थ । दोनो पक्षों की ओर से एक मात्र हो रहा था अपने-अपने अनुभूत सत्य का निवेदन । इसी का परिणाम था कि इस विचार विनिमय में कटुता के लेशका उद्भव कहीं भी हुआ ही नहीं, प्रत्युत् इस संपूर्ण विचार-विवेचन में आत्यन्तिक सौहार्द परिव्याप्त रहा । इतना होकर भी स्वानुभूत सत्य का आग्रह और उस अनुभवगत सत्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास दोनों

पक्षों में था ही । यही हेतु था कि पू० गुरुदेव इस विचार विनिमय को कभी-कभी शास्त्रार्थ कहा करते थे ।

जब पू० गुरुदेव सेठजी के पास बाँकुड़ा गये थे, उसके तीन-चार दिन बाद ही श्रीसेठजी को सत्संग के लिये राँची जाना था । श्रीसेठजी के अनुरोध पर पू० गुरुदेव भी उनके साथ-साथ राँची गये । बाँकुड़ा तथा राँची, इन दोनो स्थानों पर लगभग चौदह-पन्द्रह दिनों तक पू० गुरुदेव का तथा सेठजी का परस्पर में विचार-विनिमय होता रहा । भले ही यह विचार-विनिमय एक पक्ष तक चला, फिर भी इस अवधि में पू० गुरुदेव के प्रखर तर्कों के सामने श्रीसेठजी की बात उभर नहीं पायी । जहाँ तक निर्गुण निराकार ब्रह्म के (क) साध्य-तत्व तथा (ख) साधन-पद्धति की बात थी, वहाँ तक इन दोनों विभूतियों की मान्यताएँ समान थीं । निर्गुण निराकार ब्रह्म के साध्य-साधन की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से सहमत थे, परन्तु सगुण-साकार ईश्वर के (क) साध्य-तत्व और (ख) साधन-पद्धति, अर्थात (क) ईश्वर के अस्तित्व और (ख) ईश्वर की उपासना के विषय में पू० गुरुदेव श्रीसेठजी से सर्वथा असहमत थे । ईश्वर एवं ईश्वर की भक्ति सम्बन्धी प्रत्येक बात को पू० गुरुदेव मिथ्या राज्य की वस्तु मानते थे । यह ठीक है कि ईश्वर की साकारोपासना से सम्बन्धित बातें श्री सेठजी पू० गुरुदेव के हृदय में स्थापित नहीं कर पाये, परन्तु सत्य तो सत्य ही है और जो सिद्धान्त उनके अपने अनुभव से पूर्णरूपेण स्वत: सिद्ध था, उसे वे कैसे झुठला देते ? वह सत्य तो उनका स्वानुभूत था । जब श्रीसेठजी किसी भी प्रकार से पू० गुरुदेव को नहीं समझा पाये तो उन्होंने पू० गुरुदेव से कहा - "आप एक बार भाई श्रीहनुमान प्रसाद जी पोद्दार से गोरखपुर में मिल लें।"

पू० गुरुदेव ने तटस्थ भाव से उत्तर दिया - "श्रीपोद्दारजी से मिलने के लिये मेरे मन में उत्साह नहीं ।"

पू० गुरुदेव का अध्ययन विशाल था । उस अध्ययन के आधार पर पू० गुरुदेव को लगा कि श्रीमद्भगवद्गीता सम्बन्धी सेठजी के जो भाव हैं, वैसे अन्यत्र देखने में नही आते । और यह गहन चिन्तन यदि लिपिबद्ध नहीं हुआ तो जगत् एक दिव्य और दुर्लभ निधि से वंचित रह जायेगा । पू० गुरुदेव ने सेठजी से कहा - "आप गीता सम्बन्धी अपने विचारों को लिपिबद्ध करा दें ।"

अपनी विवशता व्यक्त करते हुए श्री सेठजी ने उत्तर दिया - "कौन करे, और कैसे होगा ? मैं तो शुद्ध हिन्दी भी ठीक प्रकार से बोल नहीं पाता।"

पू० गुरुदेव ने कहा आप अपने विचार मुझे बतलायें । उनको लिखकर के मैं आपको दिखला दूँ । यदि आपको ऐसा प्रतीत हो कि मेरे द्वारा ठीक लिखा गया है तो फिर लेखन कार्य हो ।

श्री सेठजी मारवाडी -मिश्रित हिन्दी का प्रयोग अपने गीता-प्रवचनों में किया करते थे । पू० गुरुदेव ने श्री सेठजी के एक प्रवचन को शुद्ध हिन्दी भाषा में लिपिबद्ध करके श्री सेठजी के सम्मुख प्रस्तुत किया । पू० गुरुदेव की अभिव्यक्ति- कुशलता, भाषा-अधिकार और विषय-प्रवेश को देखकर सेठजी अति विस्मित हुए । बस, उसी दिन यह निर्णय हुआ कि श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखी जाय और इस कार्य का आरम्भ गोरखपुर में हो । श्री सेठजी को कहीं अन्यत्र कार्यवश जाना था अतः यह निर्णय हुआ कि वे स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र होते हुए गोरखपुर पहुंचेंगे और पू.गुरुदेव को गोरखपुर पहुँचने के लिये रेल टिकिट कटा कर दे दी गयी ।

## श्री सेठजी जयदयालजी गोयन्दका के चमत्कार

श्री सेठजी जयदयालजी गोयन्दका पू० गुरुदेव की दृष्टि में ज्ञान की चौथी भूमिका में प्रतिष्ठित संत थे । उनमें अनेक चमत्कार भी थे । पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके जो चमत्कार प्रकाश में आये, यहाँ मात्र उनका ही उल्लेख किया जा रहा है । वैसे उनके अनेक चमत्कारों की बातें दूसरे सत्संगियों ने भी बतलायी हैं ।

वास्तव में विषयों का उपभोग न करने वाले के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु जो आसक्ति है वह निवृत्त नहीं होती । रस की इस आसक्ति की सर्वथा निवृत्ति तभी होती है, जब परतत्व का ठीक अनुभव हो जाय अथवा साक्षात् भगवद्दर्शन हो जाय । अद्वैत साधना के अनुसार पूर्णता की जो स्थिति होती है, उसमें पू० गुरुदेव की प्रतिष्ठा थी । ऐसी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहने के उपरान्त भी वे अपने में एक दोष पाते थे । वे जब भी भिक्षा करते थे, यदि कोई वस्तु मिष्ठान्न(मीठी) होती थी तो वे अधिक खा जाते थे । पू० गुरुदेव जब भी अपनी आत्मस्थिति पर विचार करते तो उन्हें कहीं भी न्यूनता

नहीं दिखती थी, परन्तु मीठी वस्तु अधिक खा लिये जाने के आधार पर वे यही मान लेते थे कि उन्हें अभी परतत्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है । उन्होने मन ही मन यह सोच रखा था कि जो मेरी इस गुत्थी को सुलझा देगा, उसका मैं महापुरुषत्व स्वीकार कर लूँगा । उन्होने यह प्रश्न श्रीसेठजी के सम्मुख भी रखा ।

श्री सेठजी ने पू० गुरुदेव से बहुत ही सरल ढंग से कहा कि मीठी वस्तु अधिक खा लेने का अर्थ ब्राह्मी स्थिति में कोई त्रुटि नहीं है । मीठी वस्तु के खाने की स्पृहा तो रक्त की अल्पता की द्योतक है । रक्ताल्पता के समाप्त होते ही वह स्पृहा और स्पृहाजनित क्रिया स्वतः ही समाप्त हो जायगी । इस उत्तर से पू० गुरुदेव की सारी उलझन समाप्त हो गयी । पू० गुरुदेव सन्देहरहित रूप से विभुतत्व में प्रतिष्ठित हो गये ।

इसी प्रकार बांकुड़ा से राँची आते समय पू० गुरुदेव से श्रीसेठजी का विचार-विमर्श रेलगाड़ी में भी चल रहा था । श्रीसेठजी बहुत प्रयत्न करने पर भी पू० गुरुदेव को सगुण-साकार तत्व पर विश्वास नहीं करा पा रहे थे। उनका कथन अनुभव के आधार पर था, जिसे पू० गुरुदेव किसी भी प्रकार मानने को उद्यत नहीं थे । अन्त में थककर उन्होने अपनी सिद्धि का प्रयोग करने की ठानी । पू० गुरुदेव से उनका विचार तो चल ही रहा था, इसी बीच उन्होने अपना वस्त्र पू० गुरुदेव के शरीर से संस्पर्शित करा दिया । वस्त्र के संस्पर्श होते ही पू० गुरुदेव के सम्मुख भगवान् नारायण की ध्यान-मूर्त्ति प्रकाशित हो गयी । पू० गुरुदेव चकित थे कि बिना किसी ध्यान, चेष्टा एवं साधना के यह मूर्ति मेरे सम्मुख कैसे व्यक्त हो रही है । भगवान् नारायण की वह प्रतिमा अलौकिक सुन्दर,अतिशय तेजस्वी थी । उसके आलोक से एक बार तो पू० गुरुदेव का समग्र अन्तःकरण आलोकित हो उठा। सहसा पू० गुरुदेव के मन में एक सन्देह हो गया कि हो-न-हो यह श्रीसेठजी का कोई सिद्धि प्रयोग ही है । उन्होने ज्योंही नीचे की ओर दृष्टि डाली, उन्हें इस तथ्य का ज्ञान भी हो गया कि उनके शरीर से श्रीगोयन्दकाजी का वस्त्र का छोर संस्पर्शित हो रहा है । उन्होने हँसकर वह वस्त्र हटा दिया एवं श्री सेठजी को यह उत्तर दिया कि विचारों को विचारों से काटिये, इस प्रकार जादू का प्रयोग क्यों करते हैं ?

वस्त्र का छोर हटने से वह मूर्ति भी स्वतः ही लुप्त हो गयी ।

## गोरखपुर आगमन एवं पू० भाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दार से प्रथम भेंट

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका से निर्धारित कार्यक्रमानुसार पू० गुरुदेव दो रात और एक दिन की रेल यात्रा करके गोरखपुर रेल्वे स्टेशन पर उतरे। यात्रा में भिक्षा का तो प्रश्न ही नहीं था । अतः वे निराहार ही थे । वे भिक्षा की याचना तो करते नहीं थे, प्रारब्धानुसार स्वतः ही कोई आग्रह करता तो भिक्षा किया करते थे । आहार के अभाव में उनके शरीर में पर्याप्त शिथिलता थी । स्टेशन से बाहर आकर पू० गुरुदेव ने गीताप्रेस का मार्ग पूछा और स्टेशन से दूरी भी पूछी । लगभग तीन मील की दूरी की बात सुनकर पू० गुरुदेव एक बार तो स्तब्ध रह गये । वे अर्थ का स्पर्श नहीं करते थे और न ही किसी जानदार सवारी पर चढ़ते ही थे। अशक्तता की अनुभूति पर्याप्त थी, परन्तु दूसरा कोई उपाय भी नहीं था । वे थोड़ी दूर चलते फिर थककर बैठ जाते । इस प्रकार नौ-दस बार ठहरते, बैठते-उठते हुए तीन मील की दूरी उन्होने अढ़ाई-तीन घंटे में तय की । पं० श्रीलादूरामजी उन्हें गीताप्रेस के द्वार पर मिले । उनसे श्रीसेठजी गोयन्दकाजी के बारे में पूछने पर पता चला कि वे अभी तक आये हैं नहीं, संभव है एक दो दिवस में आवें । उन्होने शर्माजी से हनुमानप्रसादजी पोद्दार के बारे में पूछ लिया । उनकी स्मृति उन्हें सहसा ही हो आयी थी । श्रीशर्माजी ने कहा -"वे हैं तो सही, परन्तु वे रहते हैं गीतावाटिका में, जो यहाँ से लगभग तीन मील दूर है ।

अभी तक तो पू० गुरुदेव खड़े-खड़े बात कर रहे थे, परन्तु पुनः तीन मील की बात सुनते ही वे हताश होकर वहीं भूमि पर बैठ गये । शरीर की दुर्बलता एवं उपवास जनित अशक्तता के कारण तीन मील पुनः चलना उन्हें असंभव लग रहा था । परन्तु भगवदिच्छा से श्रीलादूरामजी के मन में सद्भाव का उदय हो गया । उन्होने गुरुदेव से कहा कि मैं आपको इक्का कर देता हूँ, उस पर चढ़कर आप गीतावाटिका चले जाइये । नियमतः जानदार सवारी पर पू० गुरुदेव बैठते नहीं थे, परन्तु यहाँ तो सर्वथा ही विवशता की स्थिति थी । इक्के का भाड़ा श्रीशर्माजी ने दे दिया था । इक्का गीताप्रेस से गीतावाटिका आया । प्रवेश द्वार पर पू० गुरुदेव उतर पड़े ।

उस समय गीता वाटिका लघु वनस्थल ही था । बिजली का प्रकाश था नहीं । रात के समय मात्र लालटेन के प्रकाश से काम चलाया जाता था ।

चारों ओर आम और अमरूद के बड़े-बड़े बाग एवं खेत थे । क्षेत्र इतना निर्जन था कि लोग दिन में आते ही डरते थे । गीतावाटिका अपने आप में एक ऋषि उपवन था । हरी-भरी लताओं और ऊंचे-ऊंचे वृक्षों के कारण उपवन बहुत ही सघन था । फूल चतुर्दिक असंख्य थे । फल भी मौसम के अनुसार सभी होते थे । इस ऋषि-उपवन में इने-गिने कतिपय सहयोगियों के साथ श्रीपोद्दारजी 'कल्याण' पत्रिका का सम्पादन कार्य किया करते थे ।

गीतावाटिका के प्रवेशद्वार पर ही पू० गुरुदेव को श्रीदुलीचन्दजी दुजारी मिले । वाटिका के अग्रभाग में एक भवन था, उसी में श्रीपोद्दारजी सपरिवार रहते थे । इसी भवन में सम्पादकीय विभाग के लोग भी रहा करते थे । यही उनका कार्यालय भी था । उस भवन के बरामदे की सीढ़ियों में पू० गुरुदेव बैठ गये ।

इन दिनों यहां एक वर्ष का अखण्ड साधक-सत्र चल रहा था । देशभर से सैकड़ों साधक साधना एवं सत्संग करने यहाँ आये थे । वहाँ अखण्ड भगवन्नाम संकीर्त्तन भी चल रहा था, साथ ही श्री शान्तनुबिहारी द्विवेदी (श्री अखण्डानन्द सरस्वती) द्वारा श्रीमद्‌भागवत कथा भी चल रही थी ।

जिस समय पू० गुरुदेव वहाँ पहुँचे संकीर्तन पण्डाल में श्रीपोद्दारजी स्वयं एक अण्डी (कटिया रेशम का वस्त्र) ओढे हुए हाथ से ताली बजा-बजाकर कीर्त्तन कर रहे थे । श्रीदुलीचन्दजी ने श्रीपोद्दारजी को सूचना दी कि एक दुबले-पतले युवक सन्यासी बाहर से आये हैं और आपको पूछ रहे हैं । श्रीदुलीचन्दजी से सूचना पाते ही श्रीपोद्दार महाराज संकीर्तन पण्डाल से चलकर पू० गुरुदेव के पास आये और दोनों हाथों से पू० गुरुदेव के दोनों चरणों को छूकरके प्रणाम किया । ये पू० गुरुदेव के स्वयं के शब्द हैं कि "पहली ही भेंट में उन्होने मुझमें रसराज श्रीकृष्ण को प्रतिष्ठित कर दिया । रसस्वरूप श्रीकृष्ण और महाभाव स्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी वैसे तो एक ही हैं, परन्तु उन रसस्वरूप संत ने पहली ही भेंट में मुझे महाभाव का दान कर दिया । इस दान की प्रक्रिया भी अति विचित्र थी ।"

"जगत् में दाता का हाथ और दाता का मस्तक सदा ऊँचा रहता है । पर इन रसस्वरूप श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं झुककर दान दिया । मेरे चरणों को छूकर दान दिया और अपने मस्तक को झुकाकर दान दिया । इसीलिये मैनें एक सोरठा बनाया है- विभु-तत्व में मेरी प्रतिष्ठा तो श्री सेठजी ने की, परन्तु मुझमें श्रीराधाकृष्ण के रसतत्व की प्रतिष्ठा श्रीपोद्दार महाराज ने की।"

"ब्रह्मरूप स्वस्थान जयदयाल विभु ने दिया ।
महाभाव रसदान कृष्णरूप हनुमान ने ।"

"जो कार्य श्रीसेठजी से चौदह-पन्द्रह दिन तक शास्त्रार्थ करने से नहीं हुआ, वह एक क्षण के इस स्पर्श ने कर दिया । साकारोपासना की तो बात ही क्या । वस्तुतः ऐसी बात तो अति साधारण स्तर की ही होती । साकारोपासना की अन्तरंगतम हृदयवस्तु उस स्पर्श के द्वारा श्री पोद्दारजी महाराज ने मुझे प्रदान कर दी । न जाने कितनी-कितनी उपासना-साधना के उपरान्त भी जो वस्तु प्राप्त नहीं होती, वह लव मात्र में मुझे कैसे प्राप्त हो गयी, यह रहस्य बुद्धिगम्य है ही नहीं । यह सब अनुमान से अति अतीत है। बस, इतना ही कह सकता हूँ कि साकारोपासना की हृदय वस्तु जो व्रजभाव है, वह श्रीपोद्दार महाराज के उस अद्‌भुत स्पर्श से लव मात्र में मेरे अन्तर में सुस्थापित हो गया ।"

"ब्राह्मी स्थिति की मस्ती में मैं चतुर्थाश्रमी सन्यासी न तो झुका और न ही मैने हाथ पसारे, जब वस्तु के महत्व से भी अपरिचित था तो याचना होती भी कैसे, अतः मन में भी याचना का भाव नहीं था, परन्तु ज्ञानोत्तर भावराज्य की रसमयता में सतत निमग्न श्रीपोद्दार महाराज को वस्तु का दान करते समय झुकने के लिये सोचना भी नहीं पड़ा । सहज भाव से वे झुके और अति विनम्र होकर उन्होने अपने जीवन की निधि मुझे सौंप दी । वस्तुतः रसामृत के दान की यह प्रक्रिया ही अति अद्‌भुत है । गागर आयी अवश्य सागर के पास, परन्तु गागर झुकी नहीं, सागर पूर्णतः झुक गया । रसामृत का पान कराने के लिये झुक पड़ा सागर । सागर बह पड़ा और रस से सिक्त हो उठा पात्र ।"

पू० गुरुदेव की दृष्टि पोद्दार महाराज पर तभी से लग गयी थी जब वे प्रणाम कर रहे थे । प्रणाम करके ज्यों ही उन्होने अपना मस्तक उठाया उनकी दृष्टि पू० गुरुदेव की दृष्टि से एक हो गयी । पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज एकटक देखने लगे । तीन-चार मिनट का समय कम नहीं होता । इस अवधि में निश्शब्द दोनों एक-दूसरे को अपलक देखत रहे । यह परस्पर निहारना ऐसा उत्कंठायुक्त था मानो कितने युगों से यह सम्मिलन हुआ हो ।

चार-पाँच मिनट पश्चात् जब पोद्दार महाराज कुछ प्रकृतिस्थ हुए तो उन्होने पू० गुरुदेव से भिक्षा के बारे में पूछा । पूछने पर पू० गुरुदेव मन्द-मन्द मुसका दिये । श्रीपोद्दार महाराज ने अनुमान लगा लिया कि पू०

गुरुदेव को निराहार रहना पड़ा है । उन्होने तत्काल उनके विश्राम और भिक्षा की व्यवस्था की ।

उस दिन एकादशी थी अत: पोद्दार महाराज थाल में व्रतोचित फलाहारी वस्तुएँ लेकर पू० गुरुदेव के सम्मुख आये । पू० गुरुदेव ने कहा - "मैं पहले स्नान करना चाहता हूँ ।"

तत्काल स्नान की व्यवस्था हुई । भिक्षा के समय पत्तल परोसने का कार्य स्वयं पोद्दारमहाराज ने ही किया । इसी प्रकार कुटिया में पू० गुरुदेव के लिये पुआल का गद्दा भी श्रीपोद्दारजी ने स्वयं ही बिछाया । पू० गुरुदेव स्वयं देख रहे थे कि श्रीपोद्दार महाराज में संत-सेवा का कैसा भाव और चाव है । अतिथि-सत्कार की इस क्रिया ने उन्हें विस्मय से भर दिया था । वे सोच रहे थे कि क्या ऐसे सेवा-भावी शीलसम्पन्न मानव इस भूतल में आज भी हैं ?

सब आवश्यक कार्यों से जब गुरुदेव निवृत्त हो गये तो उनकी सुस्थिरता से पू० श्रीपोद्दार महाराज से वार्ता हुई । पू० गुरुदेव ने संक्षेप में बतलाया किस प्रकार राँची में श्रीसेठजी से श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखने की बात उठी और फिर गोरखपुर आने का कार्यक्रम बना । सारे विवरण को सुनकर पू० श्रीपोद्दारमहाराज ने कहा - "स्वामीजी । मुझे तो आज ही वाराणसी जाना पड़ रहा है। वहाँ एक स्वजन मरणासन्न स्थिति में हैं । वाराणसी जाना आवश्यक है । तीन-चार दिन में मैं अवश्य लौट आऊँगा । तबतक आप यहीं विराजित रहें । आपको कुछ भी कष्ट नहीं होगा । मेरे व्यक्ति आपकी भली प्रकार सँभाल कर लेंगे ।

पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप मेरी ओर से निश्चिंत हो जायें । आप चिन्ता-रहित होकर वाराणसी यात्रा करें । मैं यहीं पर रहूँगा।"

श्रीपोद्दार महाराज उसी रात्रि में वाराणसी चले गये । पू० गुरुदेव ने रात्रि में गहरी निद्रा ली । ट्रेन की लम्बी यात्रा में वे ठीक प्रकार से सो नहीं पाये थे ।श्री पोद्दार महाराज दो-तीन दिवस में ही लौटकर आने वाले थे, परन्तु वे संयोगवश लौटकर आये प्रतिपदा-तिथि के दिन ।

पू० गुरुदेव गोरखपुर आने के पश्चात् आमूल परिवर्तित हो गये । पू० गुरुदेव की स्थिति के सम्बंध में पू० श्री पोद्दार महाराज के ही शब्दों में यहाँ उनकी स्वयं की वाणी उद्धृत की जा रही है :-

"बदलते-बदलते वे रस-तत्व में प्रवेश करके ब्रज रस के उपासक बन गये । दो भिन्न अवस्थाएँ होती हैं । रसतत्व वाले अद्वैत के विरोधी होते हैं

और अद्वैत-तत्ववाले रसतत्व को अज्ञान की भूमिका में मानतें हैं । अद्वैत मतावलम्बी सम्प्रदाय में कुछ ऐसे भी हैं, जो भगवान् को भी माया की वस्तु मानते हैं और कहते हैं कि ईश्वर मायोपाधिक है । वे जीवको अविद्योपाधिक कहतें हैं और ईश्वर को मायोपाधिक बताते हैं। अविद्या और माया का निरसन हुआ कि न जीव है और न ही ईश्वर है । वे ईश्वर की सत्ता को तत्वतः स्वीकार नहीं करते । बस, साधनकाल में ईश्वर का उपयोग करना चाहिए, इतनी ही उनकी ईश्वर संबंधी महत्वबुद्धि होती है । ईश्वर का स्तवन, पूजन मात्र अन्तःकरण की शुद्धि के ही लिये प्रयोजनीय है - यही उनकी धारणा होती है । परन्तु उपास्य ईश्वर कोई तत्व की वस्तु है, यह वे नहीं मानते । ईश्वर मात्र साधन की ही वस्तु है, तत्वतः सत्य नहीं है ।"

"इसी तरह से रसतत्व के लोग भी अद्वैत तत्व का मखौल उडाया करते हैं और इसे जड़, आकाश की भाँति शून्य कहकर उपहास करते हैं । यह उपहास कुछ तो उनका विनोद, कुछ शास्त्रार्थ के लिये हठ, एवं कुछ दुराग्रह होता है और कुछ तो अज्ञान ही होता है, जिसका निरसन आवश्यक है । ये कुछ सिद्धान्त की बातें हैं। अद्वैत तत्व में स्वामीजी की निष्ठा होते हुए भी रसतत्व में इनका प्रवेश हुआ और यह प्रवेश उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । जो इनके अन्तरंग जीवन के सम्पर्क में आये हैं, उनको मालूम है कि महाभाव की जो अगले स्तर की चीज है, जिसकी रूपरेखा शायद गोस्वामी प्रभृति-रस मर्मज्ञों तक ने भी नहीं खींची, वैसी चीज इनमें व्यक्त हुई, इनके अनुभव में आयी है । इनका जीवन रस-समुद्र में निमज्जन है । रस-सागर में जो भाव तरंगें उठा करती हैं संभव है, वे इनके जीवन में उठें । कैसे उठें, क्या उठें, तंरगों का कुछ पता नहीं चलता । इनकी यह वस्तु आज की नहीं, पुरानी वस्तु है। साधना के क्षेत्र में यह एक बड़ी विलक्षण वस्तु है कि जहाँ रसतत्व और ब्रह्म तत्व एक दूसरे के अ-प्रतिद्वन्द्वी होकर एक साथ एक रूप में रहते हों । ऐसा नारदादि ऋषियों में था । भगवान शंकराचार्य में भी ऐसा माना जाता है । ये उदाहरण है विरल बहुत ही कम । इससे लोगों को शिक्षा लेनी चाहिए ।"

# महाभाव दिनमणि श्री राधाबाबा

## दूसरा भाग

श्रीकृष्ण-दर्शन, गीता तत्त्व विवेचनी का कार्य,
रसोदय का प्रभात
श्री पोद्दार महाराज के साथ जीवनव्यापी एकात्मता
सन् १९३६ से १९४० ई. तक

पु. श्री राधा बाबा के आराध्य इष्ट

## श्रीकृष्ण दर्शन एवं गोपी भाव-स्वरचित चौपदे

क्षण एक हुआ था आई ही पिञ्जर परिसर में थी प्रियतम !
उसके काले घेरे का था छू गया अंश मुझ से प्रियतम !
ऐसी प्रतीति उस समय हुई मानो चिर परिचित था प्रियतम !
सुन्दर वह नित्य भवन मेरा, भूला-सा हुआ अभी प्रियतम ! ।।१३।।

एक क्षण ही हुआ था, मैं विहगी पिंजर-परिसर (गीतावाटिका) में आयी ही थी, कि पिंजर (श्रीपोद्दार महाराज) के शरीर के काले घेरे का एक अंश मुझ से छू-भर गया । अर्थात् आते ही उन्होने मुझ सन्यासी की मर्यादानुसार चरणस्पर्श करके मुझे छू-भर लिया, उस समय ऐसी प्रतीति हुई - यह पिंजरा (पोद्दारजी का देह) तो मेरा चिरपरिचित सुन्दर भवन है, यह तो मेरा नित्य का घर है, परन्तु अबतक तो यह मेरे द्वारा भूला हुआ ही था ।। १३।।

द्वादशी प्रदोष समय आश्विन शुक्ला की यह घटना प्रियतम !
तेइस वर्षों से पहले की वैसी ही दीख रही प्रियतम !
पर जो फुलेल का ही करके आचमन कहे मीठा प्रियतम !
देना फिर उसको पुष्पसार केवल गँवारपन है प्रियतम ! ।।१४।।

आश्विन शुक्ला द्वादशी, प्रदोष समय की यह घटना थी, तेईस वर्ष पहले की - मुझे ज्यों-की-त्यों वैसी ही दिखाई दे रही है। परन्तु जो फुलेल (चमेली के तेल) का आचमन करके उसे ही मीठा कहकर सराहे, हे प्रियतम ! उसे फिर पुष्पसार-इत्र देना तो केवल गँवारपना ही है ।। १४।।

दोहा प्राचीन एक कविका है भाव लिये ऐसा प्रियतम !
जो है घट चुका सत्य बनकर कुछ वर्ष अभी पहले प्रियतम !
जीवन में इस विहंगिनी के कर करके व्यथित इसे प्रियतम !
कम-से-कम नौ-दस बार, अतः रुक रही गिरा अब है प्रियतम ।१५।

यह प्राचीन कवि का दोहा है परन्तु कुछ वर्ष पहले इस विहंगिनी के जीवन में सत्य बनकर घट चुका है। कम-से-कम नौ-दस बार इसे व्यथित कर-करके ऐसी घटनाएँ घटी हैं, अब वाणी कुछ कहने के पूर्व रुक रही है। ।।१५।।

**जो समझ सके, समझे इसको आगे चलती मैं हूँ प्रियतम !**
**छब्बीस पहर की सरस विरस अनुभूति न कहकर ही प्रियतम !**
**समला प्रवाहिनी क्षुद्र एक जो थी उसके तट की प्रियतम !**
**बातों को छूती हुई तनिक दाँयें बाँयें मुड़ती प्रियतम !।।१६।।**

जो इसे समझ सके, समझे । मैं अब जो एक क्षुद्र समला (मैली) नदी थी, (राप्ती) उसके तट की बातों को छूती हुई, तनिक दाँयें-बाँयें मुड़ती हुई, छब्बीस प्रहर की सरस-विरस अनुभूतियाँ न कहकर, आगे चलती हूँ । ।।१६।।

**क्या से क्या कुछ दिन में ही था जीवन का हाल हुआ प्रियतम !**
**कैसे बह गयी ज्ञान-गरिमा इस नीली धारा में प्रियतम !**
**कैसे क्रमशः पिञ्जर में थी आसक्ति बढ़ी मेरी प्रियतम !**
**सुनने वाला न मिला इसको, सुनने वाली न मिली प्रियतम !।।१७।।**

कुछ दिनों में ही मेरे जीवन का हाल क्या से क्या हुआ ? कैसे मेरी ज्ञान-गरिमा इस नीली धारा में सर्वथा बह गयी, कैसे क्रमशः मेरी इस पिंजर (पोद्दारमहाराज की देह) में आसक्ति बढ़ी, हे प्रियतम ! यह वार्त्ता न कोई श्रद्धापूर्वक मुझसे सुनने वाला ही मिला, न सुनने वाली ही मिली ।

उन दिनों गीतावाटिका अध्यात्म का जीवन्त स्थान थी । चारों ओर दूर-दूर तक आम, अमरूद, नासपाती और नारंगी के बगीचे थे । कोई अमरूद के वृक्ष के नीचे चटाई डालकर ध्यान कर रहा है और कोई आम्र वृक्ष के नीचे नाम-जप । प्रातः चार बजे से रात के ग्यारह-बारह बजे तक कथा, कीर्तन, सत्संग, प्रवचन और अखण्ड भगवन्नाम-संकीर्तन तो चौबीसों

घन्टों ही। इसी सबके मध्य सम्पादकीय-कार्य भी होता रहता था । समस्त वातावरण पूर्णतया प्राकृतिक, उन्मुक्त, सहज और भक्तिरस से ओतप्रोत था।

श्रीपोद्दारजी का शीलस्वभाव किसी को भी सहज ही आकृष्ट कर लेता था। उनकी वाणी इतनी मधुर, स्वभाव इतना स्नेहिल और व्यवहार इतना साधु था कि लगता था यह व्यक्ति इस पृथ्वी का नहीं है, गोलोक से उतर कर विश्व को प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिये, अथवा रागद्वेष की महावह्नि में जलती हुई मानवता पर अमृत की वर्षा करने के लिये ही मनुष्य का शरीर धारण कर आया है।

उन दिनों वर्षभर का साधन-सत्र चल रहा था । लगभग सौ, डेढ सौ साधक व्रत लेकर साधन-भजन कर रहे थे । भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के लोग थे । बिहार, बंगाल, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास और राजस्थान के साधकों का अपूर्व संगम वहाँ देखने को मिलता था । एक किनारे भोजन-गृह था, सामूहिक भोजन की व्यवस्था थी, कुछ लोग बारह मास के लिये मात्र शाकाहार पर ही थे । उनके लिये शाकाहार की व्यवस्था थी; कुछ लोग अपनी स्वतंत्र पाक-व्यवस्था रखे हुए थे, उन्हें आटा, दाल, घी, सब्जी - सब सूखे सामान देने की भी व्यवस्था थी ।

भिन्न-भिन्न प्रकृति और रुचि के लोगों के मध्य ऐसी आत्मीयतापूर्ण पारिवारिक व्यवस्था थी कि सर्वत्र आत्मीयता और माधुर्य ही परिव्याप्त रहता था । ऐसा पवित्र और निराला वातावरण था कि इसके दिव्य-सौन्दर्य के सामने स्वर्ग भी तुच्छ था। लोगों को ऐसा ही अनुभव होता था। झाँझ, मृदंग, ढोल, करताल, पखावज, खोल के साथ चौबीसों घंटे खड़े हो-होकर नृत्य करते हुए उद्दाम कीर्तन होता था । वातावरण इतना सात्विक था कि इस पवित्र सत्संग में श्रीनारदजी एवं अंगिरा ऋषि भी पधारे थे।

बात यह हुई थी कि अपने पूर्व क्रान्तिकारी जीवन के कारण हुई नजरबन्दी के एक वर्ष के काल में, शिमलापाल में पू० श्रीपोद्दारमहाराज ने 'नारद-भक्तिसूत्रों' पर एक विस्तृत टीका लिखी थी । इधर सत्संग-सत्र में श्रीमद्भागवत की कथा श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी कर रहे थे। यह कथा भी बडी गंभीर एवं सारगर्भित होती थी और उसमें नारदजी का उल्लेख एवं प्रसंग भी आ रहा था । इन सब बातों से पू० पोद्दारमहाराज के मन में नारदजी का सत्संग प्राप्त करने की बहुत ही तीव्र भावना हुई । रात्रि में श्रीपोद्दार महाराज को स्वप्न में दो तेजोमय ब्राह्मण-मूर्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं । वे उन्हें

पहचान नहीं सके । परिचय पूछने पर उन्होनें बतलाया - वे नारद और अंगिरा ऋषि हैं । पीछे उन्होंने कहा - "हम कल दिन में तीन बजे तुमसे मिलने के लिये प्रत्यक्षरूप से आवेंगे ।" यह स्वप्न प्रायः जाग्रत् अवस्था के समय का था और इतना स्वाभाविक था कि श्रीपोद्दारजी को कोई भी सन्देह नहीं रहा । श्रीपोद्दारमहाराज ने पीछे बगीचे में इमली के पेड़ के नीचे एक कुटिया साफ करवाकर उसके सामने एक बैंच लगवा दी और उस पर दो आसन बिछवा दिये। उन्होंने अन्य किसी से इसकी चर्चा भी नहीं की । वे स्वयं अपने निवास के बाहर बरामदे में बैठ गये एवं उनकी प्रतीक्षा करने लगे।

ठीक तीन बजे दो ब्राह्मण आये और उन्होंने श्रीपोद्दारजी से मिलना चाहा। वे उन्हें पहचान गये । ठीक वही आकृति, वही स्वरूप, जैसा स्वप्न में उन्होंने देखा था । वे पीछे बगीचे में बढ़ने लगे और उनके पीछे-पीछे दोनों ब्राह्मण चलने लगे । सभी लोग उस एकान्त कुटिया में पहुँचे । श्रीपोद्दारजी उन दोनों को बैंच पर लगे हुए आसनों पर बैठाकर स्वयं नीचे बैठ गये । दोनों ब्राह्मण श्वेत वस्त्र पहने हुऐ थे । परन्तु आसन पर बैठते ही दोनों का वास्तविक रूप प्रकट हो गया । बहुत ही भव्य दर्शनीय रूप था। वे कुछ देर बैठे रहे और उनसे तात्विक वार्त्ताएँ हुईं ।

बात यह थी कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज को वि० सं० १९७९ तदनुसार १९२३ ई० में बम्बई में भगवान् श्रीराम के दर्शन हो गये थे । भगवान् श्रीराम के दर्शनों के पश्चात् उनमें प्रगाढ़ ब्रह्मभाव का उदय हुआ एवं तत्पश्चात् आश्विन कृष्ण ६ वि०सं० १९८४ को जैसीडीह तदनुसार २ अक्टूबर १९२७ ई०, में भगवान् विष्णु के दर्शन हुए । श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की यह मान्यता थी कि भगवान् विष्णु -- जिन्होंने पोद्दारजी को दर्शन दिये थे, वे मात्र इस एक ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता अधिदेव थे । परात्पर परब्रह्म परमात्मा का यह दर्शन उन्हें नहीं हुआ था । इसके अनेक वर्षों पश्चात् लगभग १९३० ई० में उन्हें श्रीराधाकृष्ण के दर्शन हुए । इन श्रीराधाकृष्ण के दर्शन के पश्चात् वे निकुंजभाव की अति उत्कृष्ट महाभावमयी लीलाओं में प्रवेश पा गये थे । ये लीलाएँ इतनी दिव्य और रसमयी होतीं थीं कि चित्त इनमें रमकर प्रपंच को सर्वथा विस्मृत कर जाता था ।

परन्तु अद्वैतनिष्ठ महात्माओं के प्रवचन सुनने से उसमें उनका लेश सन्देह झाँक जाता था कि भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, राधा एवं गोपियों का स्वरूप कहीं मायिक तो नहीं है ?

अद्वैतवादी लोग एकमात्र ब्रह्मतत्व को ही सत्य बताते थे । इसी से उन्हें यह सन्देह उत्पन्न होता था । गोरखपुर आने के पश्चात् यह सन्देह बहुत कुछ नष्ट हो चुका था, पर फिर भी कभी-कभी लेशात्मक सन्देह की वृत्ति आ जाती थी ।

श्रीनारदजी से इनका जो भी विचार-विनिमय हुआ उसमें नारदजी ने इनके इस विश्वास को अमोघ और पूर्ण सुदृढ़ कर दिया कि सत्य एक है, तत्व एक है, वही सत्य - वही तत्व इन भगवत्स्वरूपों में नित्य प्रकट है । ये स्वरूप कभी प्रकट होते हैं और नष्ट हो जाते हैं या महाप्रलय में ये विनष्ट हो जाते हैं - ऐसी बात नहीं है।

महाप्रलय त्रिगुणात्मक प्रकृति में होता है । त्रिगुणात्मक प्रकृति जब साम्यावस्था में आती है, तब महाप्रलय होता है और सभी प्राकृत लोक एवं प्राकृत देवजगत् उसमें लय हो जाते हैं । प्रकृति के सम्बन्ध को लेकर जो भी जीव-जगत् है, वह सब उस समय उस प्रलय में लय हो जाता है। फिर भगवान् के संकल्प से सृष्टि आरम्भ होती है । तब वह जीवजगत् अपने पूर्व के अवशेष कर्मों को लेकर प्रकृति में फिर प्रकट होता है और जगत् का व्यापार फिर से प्रारम्भ हो जाता है ।

चिन्मय जगत् के जो भगवत्स्वरूप हैं, उनको किसी प्राकृत स्थान की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार जो चिन्मय धाम हैं, वहाँ जो भगवत्स्वरूप हैं, उनको किसी मायिक आधार की आवश्यकता नहीं है । वे नित्य हैं, सत्य हैं उन लोकों में समस्त पदार्थ और प्राणी चिन्मय भगवत्स्वरूप ही हैं । वे महाप्रलय में नष्ट नहीं होते ।

वे अपरिसीम हैं – अनन्त हैं । श्रीव्यासदेव ने ऐसा ही माना है और भगवान् आदिशंकराचार्य ने भी ऐसा ही माना है । इनके पूर्व के ऋषि तो ऐसा मानते ही थे ।

भगवान् नारदजी से साक्षात् उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् श्रीपोद्दारमहाराज का इस सत्य पर दृढ़ निश्चय हो गया कि उन्हें जो भगवल्लीलाओं की अनुभूति होती है और नारदभक्तिसूत्र में जिन गोपियों के अति उत्कृष्ट भगवत्प्रेम का वर्णन है वे गोपियाँ, वह भगवान् का लीलालोक,

वहाँ के पशु-पक्षी और तृणगुल्म, वृक्ष, कुंज-निकुंजादि, सब पदार्थ नित्य हैं, सत्य हैं, और सभी भूमि, भवन, सूर्य, चन्द्र, नभ, वायु - सब भगवत्स्वरूप ही हैं । वे प्रलय में नष्ट नहीं होते । ये चिन्मय हैं, इनमें कोई भेद नहीं; माया का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं ।

जितने भी भगवत्स्वरूप हैं, उनमें जो परस्पर द्वन्द दिखायी पड़ता है - पुराणों में कहीं शिव की महिमा, कहीं विष्णु की महिमा, कहीं देवी की महिमा, कहीं श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन है, वह वहाँ वहाँ पर उस स्वरूप के महत्व को बतलाने के लिये है, न कि भगवत्स्वरूपों में परस्पर ऊँचा-नीचा भाव दिखाने के लिये है । बहुत स्थलों में ऐसी बात कही जाती है कि "जो विष्णु हैं, वे ही शिव हैं, देवी हैं और जो देवी हैं, वे ही शिव, विष्णु हैं, आदि-आदि। इसका यही तात्पर्य है कि सभी भगवत्स्वरूप चिन्मय हैं, एक ही भगवत्स्वरूप के अनेक नित्यस्वरूप हैं । अनेक स्वरूप बनते हों, सो बात नहीं है । श्रीकृष्ण बनते हैं, दुर्गा बनती हैं और राम बनते हैं, बिगड़ते हैं - सो बात नहीं है । वे सब नित्य एक ही भगवान् के स्वरूप हैं । एक ही तत्व विभिन्न रूपों में लीलायमान है ।

अतएव किसी को भी छोटा-बड़ा नहीं मानना चाहिए । जो जिस भगवत्स्वरूप की उपासना करता है उसे उस उपासना को छोड़ना नहीं चाहिए। उसे यही मानना चाहिए कि सब स्वरूप हमारे उपास्यदेव के ही हैं । इस मान्यता में अपने स्वरूप के प्रति पूर्णश्रद्धा भी हो गयी और अन्य स्वरूपों के प्रति विरोध भी नहीं हुआ ।

श्रीनारदजी ने पू० श्रीपोद्दारमहाराज की आस्था में यह बात कूट-कूटकर पूरी सुदृढ़ता से भर दी कि निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म दो नहीं है । निर्गुणब्रह्म शक्तिरहित नहीं है । शक्ति और शक्तिमान् दो पृथक् तत्व नहीं हैं । शक्ति शक्तिमान् में अभेद है । जहाँ शक्तिमान् है वहाँ शक्ति है ही और जहाँ भी शक्ति है वहाँ शक्तिमान् भी है। शक्ति एवं शक्तिमाम् दो वस्तु नहीं, एक ही वस्तु है । साकार रूप में प्रकट होने पर शक्ति जहाँ कियारूप में लीला करती है वहाँ शक्ति के दर्शन होते हैं, निर्गुण तत्व में ऐसी किया नहीं दिखायी देती । निर्गुण-निराकार ब्रह्म में शक्ति अन्तर्निहित है - शक्ति का अभाव नहीं है । अन्तर्निहित शक्ति होने से उसे निर्विशेष कहते हैं - निर्विशेष का अर्थ शक्ति राहित्य सर्वथा-सर्वथा नहीं है ।

संवत् १९९० वि०, तदनुसार ई० सन् १९३४ में श्रीपोद्दार महाराज रतनगढ़ में थे, उस समय शिवांक का सम्पादन हो रहा था । एक दिन इनके मन में प्रश्न उठा कि शिवतत्व ब्रह्मतत्व से और विष्णुतत्व से पृथक् है या एक है ? शास्त्रों में कहीं एकता की बात आयी है और जहाँ-तहाँ पार्थक्य की बातें भी मिलती है। कहीं विष्णु की महिमा आती है और कहीं शिव की महिमा आती है । मन में ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसी दिन पू० पोद्दार महाराज को भगवान् शंकर के दर्शन हुए और वे देखते-ही-देखते विष्णु हो गये । विष्णु से पुनः शिव हो गये तथा दोनो ही रूपों में हँसते रहे । इसके पश्चात् दोनों ही विलीन हो गये और श्रीपोद्दारजी एक अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवस्था में बहुत काल तक रहे । इस अनुभूति के आधार पर इनकी मान्यता सुदृढ़ हो गयी कि शंकर, विष्णु एवं ब्रह्मतत्व एक ही है ।

श्रीरामचरितमानस में श्रीतुलसीदासजी महाराज की भी यही अनुभूति और मान्यता थी - "सेवक स्वामि सखा सिय पीके ।" पद्म पुराण में भी यह उल्लेख है कि भगवान् राम शिव की उपासना करते हैं और शिव, राम की । शिव पुराण में तो भगवान् शिव का कथन है कि "मैं ही विष्णु बन जाता हूँ और मैं ही शिव बन जाता हूँ । दोनों एक ही हैं।" श्रीमद्भागवत में तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा भगवान् शिव की सकाम उपासना की गयी है, ऐसा उल्लेख है ।

इसी प्रकार शक्तिअंक की जब तैयारी हो रही थी उस समय श्रीपोद्दारजी को शक्ति-तत्व भगवती आद्याशक्ति की कृपा प्राप्त हुई और उन्होने भी उन्हें यही बताया कि वे ही निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म शक्ति भी हैं ।

गीतावाटिका और श्रीपोद्दार महाराज का यहाँ यत्किंचित् जो वर्णन किया है, वह इसीलिये कि इसी गीतावाटिका में और इन्हीं पोद्दारमहाराज द्वारा पू० गुरुदेव को मात्र चरणस्पर्श करने के बहाने से उनके चरण नखों का स्पर्श करके महाभावगत-दिव्य-चिद्विलास का दान दिया गया । श्रीपोद्दारमहाराज ने स्वयं को ही पूज्य गुरुदेव के अन्तःकरण में मात्र चरणस्पर्श के बहाने स्थापित कर दिया । अतः उनके संबंध में इतनी बातें उल्लेख करनी परमावश्यक ही थीं ।

पू० पोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को चरणस्पर्श करके वह व्रजभाव का ककहरा पढ़ाया, फिर जो उनको अनुभूति करायी, उसकी कहीं कोई भाषा नहीं है । वह केवल अनुभवगम्य है। पू० गुरुदेव तो अब तक मात्र सोऽहं,

शिवोऽहं,आनन्दोऽहं ही पढ़े थे । इस शिवोऽहं, सोऽहं से श्रीपोद्दारमहाराज ले गये उन्हें- श्रीवृषभानुनन्दिनी के भावराज्य में - जहाँ अश्रुधारा की निरन्तरता में कभी विराम होता ही नहीं । श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को घन-आनन्द, ˙खण्ड-आनन्द, मात्र-आनन्द, केवल-आनन्द, आनन्द ही आनन्द के राज्य से अनादि और अन्त-रहित क्रन्दन के राज्य में प्रवेश करा दिया । श्रीवृषभानुनन्दिनी कहती हैं, अविरल-अनवरत क्रन्दन ही मेरा जीवन है ।

**"कोई बिरला होता है जो लेता है समझ इसे, प्रियतम !**
**है सुख अचिन्त्य हम दोनों के हँसने, उस रोने का, प्रियतम !"**

श्रीपोद्दारमहाराज के पास पहले रघुजी नामके एक विरही संत रहते थे । वे बाईस-बाईस घंटों तक अनवरत रोया करते थे । श्रीचैतन्य महाप्रभु की अश्रुधारा तो बारह वर्ष तक सूखी ही नहीं । उनके जीवन का अन्त आ गया पर अश्रुधारा का अन्त नहीं । तो श्री पोद्दार महाराज ने मात्र अतिथिसत्कारोचित चरणस्पर्श करके पू० गुरुदेव को महाभावगत क्रन्दन दान कर दिया, धन्य है !

पू० गुरुदेव गोरखपुर पहुँचे थे आश्विन शुक्ल एकादशी के दिन । यह प्रसंग है शारदीय पूर्णिमा का, श्रीपोद्दारमहाराज जिस दिन वाराणसी से लौटकर आये, उसके पहले वाली रात्रि का । ब्रह्मनिष्ठ पू० गुरुदेव को 'रासपूर्णिमा से लेना-देना ही क्या था। कट्टर वेदान्ती गुरुदेव अपनी कुटिया में पुआल के गद्दे में बैठे हुए ब्रह्मतत्व के चिन्तन में लीन थे । जब ठीक मध्य रात्रि की बेला उपस्थित हुई, तभी उनके कानों में सुनायी पड़ने लगा -

**हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे**
**हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।**

पू० गुरुदेव जब ब्रह्मचिन्तन में एकाग्र होते थे तो बाहर चाहे कितना ही कोई कोलाहल हो, शब्द-विक्षेप उन्हें प्रायः नहीं होता था । अचिन्त्य की ही स्थिति में वे अधिकांश रहा करते थे । गलितकुष्ठ के रोगियों के मध्य कलकत्ते में जब वे गंगा के किनारे पड़े रहते थे, तो कोढी लोग परस्पर गाली-गलौज करते, परन्तु उन्हें शब्द-विक्षेप नहीं होता ।

परन्तु महामंत्र की इस मनोरम, मधुर सुरीली ध्वनि ने उन्हें ब्रह्मचिन्तन से हटाकर अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । यह स्वर-लहरी किस दिशा से आ रही है और कौन इसे गा रहा है, यह जानने को उनका मन चंचल हो उठा । इतना ही नहीं इस मधुर ध्वनि के साथ पू० गुरुदेव स्वयं भी गाने लगे। पू० गुरुदेव का स्वयं का कण्ठ तो बहुत मधुर था ही । उस गायन के साथ-साथ ज्यों ही गुरुदेव ने गाना प्रारम्भ किया, उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु भी टपकने लगे और इतना ही नहीं, इन टपकते बिन्दुओं ने कपोलों पर प्रवाह का रूप धारण कर लिया । पू० गुरुदेव की यह भावपूर्ण स्थिति लगभग पन्द्रह मिनट तक रही एवं इस स्थिति का प्रभाव घन्टों ही बना रहा, यहाँ तक दूसरे दिन भी वे परम भावुक ही बने रहे ।

पू० गुरुदेव सोचने लगे, यह मुझे कैसा विक्षेप हो गया, मेरी तो हर समय समष्टि-आनन्द, समष्टि-चेतन में ही स्थिति बनी रहती थी । सन्यास लेने के पश्चात् पिता-माता के विकल रुदन से भी मेरी शुष्क उपराम वृत्ति में कोई कोमलता नहीं आयी । जब जगत् है ही नहीं तो कौन पिता और कौन माँ ? उनका सुबक-सुबक सिसकियाँ भरकर रोना भी मुझे मिथ्या, स्वप्नवत्, असत् ही भासता रहा, फिर यह आज मुझे क्या हो गया है ?

पू० गुरुदेव के लिये यह विचित्र, एवं नवीन अनुभव था । अगले दिवस भी वे इसी प्रकार से मसृण-चित्त ही थे, जब पोद्दारमहाराज उनसे वाराणसी से लौटकर मिलने आये । आते ही श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव से यह पूछा कि उनको कोई असुविधा, कष्ट तो नहीं हुआ ।

पू० गुरुदेव ने उन्हें अपने विक्षेप की बात ज्यों-की-त्यों निवेदन कर दी। श्रीपोद्दारमहाराज ने कोई सुन्दर प्रबन्ध कर देने का उन्हें तुरन्त आश्वासन दे दिया । उन्होने अनेक बातों को विचारने तथा कुछ स्थानों को देखने के बाद पू० गुरुदेव के निवास के लिये राप्ती नदी के किनारे श्रीहनुमानगढ़ी वाला स्थान निश्चय किया ।

गोरखपुर राप्ती नदी के तट पर ही बसा हुआ है । नदी के किनारे श्रीहनुमानगढ़ी एक निर्जन एवं नीरव स्थान है । गीतावाटिका गोरखपुर के उत्तरी छोर पर है तो श्रीहनुमानगढ़ी दक्षिणी छोर पर । यहाँ श्रीहनुमानजी का साधारण-सा मन्दिर है । गढ़ी के एक कमरे में पू० गुरुदेव के आवास की व्यवस्था कर दी गयी । नदी के तट पर यह एकान्त स्थान पू० गुरुदेव को अतिशय रुचिकर लगा ।

पू० गुरुदेव गीतावाटिका से श्रीहनुमानगढ़ी चले आये । श्रीसेठजी का आगमन अनेक कारणों से टलता गया । श्रीमद्भगवद्गीता की टीका के लेखन का कार्य लगभग एक-डेढ़ माह बाद आरम्भ हो पाया । इन दिनों गुरुदेव सोऽहम्, शिवोऽहम्, आनन्दोऽहम्, ॐ - इन्हीं मंत्रों का जप करते थे । वे जप के समय ब्रह्मभाव में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उनकी भिक्षा शहर से कौन लाता है, कब लाता है, उन्हें ध्यान ही नहीं रहता था । जो भी भिक्षा लाता चुपचाप कमरे में थाली सरका देता और पू० गुरुदेव जितना एवं जैसा भी भोजन आता पेट में डालकर थाली धोकर पी लेते और थाली मलकर चुपचाप बाहर रख देते । जल के लिये उनके पास कमंडलु था, जिसे स्नान के पश्चात् धोकर, राप्ती के जल को छानकर वे भर लाते थे । ज्ञान में उनकी स्थिति लगभग चतुर्थ भूमिका की थी । प्रत्येक काल समष्टि-आनन्द, समष्टि-चेतन में ही उनकी स्थिति बनी रहती । स्नान करते, शौच जाते आदि कार्यकाल में भी क्रियासहित उन्हें जो कुछ भी भान होता था वह भी स्वप्न की तरह ही होता था । स्वप्नवत् भी मात्र आनन्द ही है, समष्टि-चेतन ही है । ऐसी स्थिति में भी कभी-कभी किसी समय सर्वथा अचिन्त्य अवस्था हो जाती थी । तब पू० गुरुदेव की कोई भी कार्य कर सकने की स्थिति भी नहीं रहती थी । श्रीहनुमानगढ़ी के महंतजी देखा करते कि तेज धूप एवं जलती रेत में भी पू० गुरुदेव जब राप्ती के मैदान में शौच के लिये जाते थे, तो घण्टों अचिन्त्य अवस्था में निष्क्रिय खड़े रह जाते थे । पू० गुरुदेव को जेल में विष दिये जाने के कारण पेट में जीवन-व्यापी आँव हो गयी थी, अतः उन्हें दिन में लगभग चार-पाँच बार शौच के लिये अवश्य जाना पड़ता था । जितनी बार वे शौच जाते, उतनी ही बार स्नान भी किया करते । उनको अचिन्त्य अवस्था में बाह्यज्ञानरहित, तेज धूप में राप्ती की रेत में घण्टों खड़े देखकर महन्तजी को बहुत कष्ट होता था । परन्तु पू० गुरुदेव भी निरुपाय थे और महन्तजी भी मात्र सहानुभूतिजन्य दुःख प्रकट करने के और कर ही क्या सकते थे ? अचिन्त्य अवस्था में कोई भी कार्य कर सकने की उनकी स्थिति नहीं रहती थी। सारे आकारों का भी खुली आँखों वृत्ति अभाव कर देती थी । फिर वह वृत्ति भी अचिन्त्य अस्तित्व में लीन हो जाती और केवल बोधस्वरूप आनन्दघन ही रह जाता था । उन दिनों पू० गुरुदेव की शरीर को सत्य मानकर तो शरीर में स्थिति कभी होती ही नहीं थी ।

एक दिन राप्ती-स्नान करके जल से पूर्ण कमण्डलु हाथ में लिये हुए भीगे वस्त्रों में ही वे श्रीहनुमानगढ़ी वापस आ रहे थे । अपने अभ्यास के अनुसार 'सोऽहम्' का जप तो उनका छूट गया और शारदीयपूर्णिमा की मध्यरात्रि में जो जप पन्द्रह मिनट के लिये हुआ था, वही जप स्वतः होने लग गया । सोऽहम् के स्थान पर महामंत्र का अखण्ड जप अपने आप निरन्तर होने लगा।

श्रीहनुमानगढ़ी आकर पू० गुरुदेव ने भीगे वस्त्रों को बदला और दूसरे गैरिक वस्त्र धारण किये । वस्त्र परिवर्तन के पश्चात् पू० गुरुदेव ब्रह्म चिन्तन में पूर्णतया डूब जाने के लिये आसन पर विराजित हुए । श्रीहनुमानगढ़ी में बड़े-बड़े केले के वृक्ष लगे हुए थे । दो कदली-वृक्षों के मध्य उन्होंने अपना आसन स्थापित किया । पू० गुरुदेव पूर्वाभिमुख बैठे हुए थे और अपने स्वरूप-चिन्तन में तल्लीन होने की चेष्टा कर ही रहे थे, तभी अकस्मात् भगवान् श्रीकृष्ण हाथ में वंशी धारण किये आकाश में खड़े हुए उन्हें दिखलायी दिये ।

ज्योंही भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्याकृति उनके सम्मुख प्रकट हुई उनके मन में तत्क्षण यह भाव आया कि यह मायाजनित है । यह तो मात्र उनका मन ही मिथ्या कल्पना-मूर्ति सृजन कर रहा है । अतिशय मिथ्या माया-राज्य की यह वस्तु मेरे समक्ष कहाँ से आ गयी ? अद्वैत-तत्ववादी पू० गुरुदेव ने बहुत ही चेष्टा की कि वह श्रीकृष्ण का मनोजनित रूप उनके सामने से हट जाय और वे अपने अचिन्त्य-पद में स्थित हो जावें, परन्तु वह गगनस्थ मूर्ति पू० गुरुदेव के सामने से न तो हटती थी, न ही वे ब्रह्मचिन्तन में ही लीन हो पाते थे । न ही पू० गुरुदेव हार मानने को प्रस्तुत थे, न ही वह गगनस्थ मूर्ति भी हटने को प्रस्तुत थी । पू० गुरुदेव लगभग दो-ढ़ाई घंटे प्रयास करते रहे । उनके प्रयासको ऐसी करारी हार कभी नहीं मिली थी । हार-थककर उन्होंने प्रयास ही छोड़ दिया । यह सगुण, साकार भगवद्स्वरूप द्विभुज-नवनीरदवर्ण नवकिशोर वंशीवादनरत था । वंशी का एक छोर इस किशोर के मुख में अधरों से सटा था और दूसरा उसका छोर सीधा खड़ा नाभि तक उसके उदर में लगा था । कदम्ब वृक्ष भी उसके साथ ही था । यह मूर्ति आकाश से धीरे-धीरे कदम्ब-वृक्षसहित उनके समीप आती गयी और तब उनके हृदय-देश में प्रवेश कर गयी । पू० गुरुदेव के हृदय में प्रवेश करते समय इसकी पीठ और कदम्ब वृक्ष उनसे सट गया । मूर्ति का मुख बाहर की

ओर रहा । उस श्रीविग्रह की कान्ति, छवि और शोभा इतनी अभूतपूर्व-अलौकिक थी कि वैसी शोभा न तो जीवन में उन्हें किसी भी तीर्थमूर्ति में मिली, न ही किसी चित्र में । जगत् का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेने पर भी वह इसके समक्ष तुच्छ था ।

पू० गुरुदेव प्राय: यह कहा करते थे कि निसर्ग के कालमान में एक लवमात्र के लिये भी यह मूर्ति फिर उनके हृदय से कभी नहीं हटी । पू० गुरुदेव के जीवन में फिर एक महान् आश्चर्य और घटित हुआ कि जिस ब्रह्मसुख, ब्रह्मानन्द ने उनके जीवन को अब तक पूर्णरूपेण आत्मसात् कर रखा था, इस अलौकिक दर्शनजन्य सुख में वह ब्रह्मसुख पू० गुरुदेव पूर्णतया विस्मृत ही कर गये । वह इस सुख के सम्मुख उन्हें परम तुच्छ लगने लगा। उनका अन्तर्हृदय अनवरत यही पुकार कर रहा था कि उस पूर्ण-ब्रह्मानन्द को इस अपूर्ण दर्शनानन्द पर न्यौछावर कर दें । वास्तव में सत्य यह है - भगवान् श्रीकृष्ण का रूप, उनका वेणुवादन अथवा उनकी वाणी-शब्द, उनका संस्पर्श, उनके अंगों की चिन्मय दिव्य गंध - ये सब अप्राकृत मायातीत राज्य की वस्तुएँ हैं । अब तक पू० गुरुदेव आनन्दोऽहं जप करते हुए प्राकृत मन की अचंचल शान्तावस्था को ही प्राप्त कर पाये थे । यह घन-अचंचल शान्त मन:स्थिति ही तो उनका सोऽहं ब्रह्मभाव था । उनका प्राकृत अहं इसी शान्त चित् समुद्र में डूब गया था । परन्तु पोद्दारमहाराज जैसे रससिद्ध संत के संस्पर्श और संकल्प से भगवत्कृपाशक्ति ने उनकी गति मायातीत अप्राकृत राज्य में कर दी थी। जन्म-मरणधर्मा मानव का मन प्राकृत है एवं नरलीलारत भगवान् का सबकुछ अप्राकृत है । भगवदीय दिव्य रूप एवं दिव्य लीला के लिये अप्राकृत मन की ही आवश्यकता होती है । मानव के लिये उस अप्राकृत मन की प्राप्ति या तो भगवत्कृपा से संभव है अथवा अप्राकृत-दिव्यलीला में प्रविष्ट किसी संत की कृपा से ही यह असंभव संभव हो सकता है ।

श्रीपोद्दारमहाराज ऐसे ही अप्राकृत-लीलाराज्य में प्रविष्ट सिद्धसन्त थे और उनकी कृपा से पू० गुरुदेव को अप्राकृत मन की प्राप्ति हुई एवं तभी उन्हें भगवान् श्री कृष्ण का विशुद्ध सत्वमय अप्राकृतरूप-दर्शन संभव हुआ ।

पू० गुरुदेव के जीवन में एक और आश्चर्य घटित हुआ । उन्हें जब सर्वेश्वर, सर्वलोक-महेश्वर, योगेश्वरेश्वर भगवान् के दर्शन हुए - जो सब कुछ थे, सब कुछ से परे भी थे, सृष्टि-स्थिति-प्रलय जिनके हास्यछटा की

रेखायें भर थीं, और वे भगवान् जब उनके हृदय में प्रविष्ट हो गये और उनकी अहंता तथा बोधसत्ता को जब उन्होंने अपने में लीन कर लिया तो वे पू० गुरुदेव के "मैं" हो जाने चाहिए थे । हृदय में प्रवेश हो जाने का अर्थ तो यह था कि अब तक जो ब्रह्मधाम रहा, सच्चिदानन्दाकाश रहा, अथवा जो निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निर्विशेष, निर्विकल्प एवं निर्मल सत्यधाम रहा, उसे 'सच्चिदानन्दकन्द-श्रीकृष्णचन्द्र' हो जाना चाहिए था । परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वे श्रीकृष्ण गुरुदेव के 'मैं' न होकर 'मेरे' हो गये । श्रीकृष्ण पू० गुरुदेव के 'मैं' के अणु-अणु से एक होकर भी, उसमें पूर्णतया व्याप्त होकर भी उससे पृथक् उस 'मैं' के दृश्य ही बने रहे । श्रीकृष्ण द्रष्टा होकर भी दृश्य हो गये । परन्तु वह दृश्य इतना सर्वहारी था कि द्रष्टा उस दृश्य का बिना मोल का दास था ।

उन अप्राकृत लीला-वपुधारी श्रीकृष्ण के हृदय में प्रवेश करते ही पू० गुरुदेव की अहंता, उनका मन, चित्त, बुद्धि, सबकुछ अप्राकृत भगवल्लीलाराज्य की गोपी हो गया । 'गोपी' का अर्थ ही है - जो अपनी संपूर्ण अप्राकृत इन्द्रियों से अपने प्राणसारसर्वस्व नीलसुन्दर की सुख-सामग्री बन जाय । जिसकी नेत्रेन्द्रियाँ प्रियतम-प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर के रूप की पूर्णतया चेरी हों, जिसकी श्रवणेन्द्रियाँ प्रियतम के शब्द-श्रवण में अति अधीर रहें, रोम-रोम उनके आलिंगन में गुँथे जाने को व्याकुल रहे । इतना सब होते हुए भी जिनमें लेशमात्र भी सुख-अनुसंधान की वृत्ति नहीं रहे, जिसका सब इन्द्रिय-व्यापार, मात्र प्रियतम सुखार्थ ही हो, स्वसुखार्थ नहीं । जिसका अहंकार नित्य, अखण्ड अपने प्रेमास्पद से मिला होने पर भी अमिलन की अग्नि में धू-धू धधकता रहे । विरहाग्नि जिसके चित्त को सदा ही नये-नये वेग से जलाती रहे । अपने प्रियतम का अखण्ड-मिलन भी जिसे अमिलन की नितनूतन व्यथा देता रहे । जो अखण्ड देखती हुई भी कभी न देखा हुआ अनुभव करे, पल-पल, निमेष-निमेष देखना ही चाहती रहे, नित्य मिली हुई अमिलन की अग्नि में धधकती रहे, जो नित्य सुनती हुई सुनना ही चाहती रहे । यही तो गोपी का पूर्णतया अनोखा पागलपन है ।

**तजि जैहैं दुख-ध्यान मिलत, गये ज्वाला अमित**
**मिलन वियोग समान, राधा नहिं सुखिनी कबहुँ ।।**

**(पू० गुरुदेव की स्व-रचना)**

किसी कविने गुरुदेवके उस समयकी चित्तदशा का सही चित्र खींचा है :-

निसि के जागत मिटि गयो उन सँग सुपन मिलाप ।
चित्र दरसहू कौं लग्यौ आँखिन आँसू पाप।
इन दुखिया अँखियान को सुख सिरज्यौ हू नाँहि ।
देखत बनै न देखते बिनु देखे अकुलाहिं ।।

वाह रे व्रजभाव, तेरी महाभावगत निर्मलतम दैन्य-पराकाष्ठा की बलिहारी है । जो आज तक पूर्णता के अखण्ड, अपरिच्छिन्न, अपार, असीम राज्य का एकछत्र अधिपति था, जिसकी पूर्णता अव्यय थी; पूर्णता में से पूर्णता को निकाल देने पर भी जिसकी गणित पूर्णता को ज्यों-की-त्यों सुरक्षित बची हुई पाता था, जो आज के कुछ ही दिन पूर्व तक अनन्त ब्रह्माण्डों को, उनके असीम माया-वैभव को अपनी दृष्टि के तिरमिरों की तरह तुच्छ, नगण्य, उपेक्षणीय मानता था - उसकी तूने क्या दशा की है ? संपूर्ण माया-वैभव से पूर्णतया विरक्त सन्यासी को किसी सिद्ध रसिक के संस्पर्श ने गोपवधुओं के लम्पट-शठ की दासी बना दिया, इससे बड़ा क्या आश्चर्य संभव है ? अपने हृदयहार नीलमणि की बिना मोल की दासी बने पू० गुरुदेव की क्या दशा है ? वे स्वयं ही अपने प्रियतम काव्य में कहते हैं :-

वह रात नहीं थी चार पहरवाली, जो मिट जाती, प्रियतम !
हैं सब कहते अनादि उसको जो पण्डित सच्चे हैं, प्रियतम !
होता है अन्त उसी के जीवन में उसका बस, हे प्रियतम !
जो रूप अनिर्वचनीय तथा अद्‌भुत अचिन्त्य देखे, प्रियतम ।।

पू० गुरुदेव कहते हैं यह अविद्यामूलक रात्रि चार पहरवाली रात नहीं है जिसका निश्चित समय में अन्त हो ही जाता है, यह तो ऐसी महारात्रि है जिसका तभी ठीक-ठीक अन्त माना जाता है, जब भगवान् का अचिन्त्य, अति अद्‌भुत (अप्राकृत, मायातीत), अनिर्वचनीय (अलौकिक) रूप उसे दृष्टिगोचर होता है ।

पू० गुरुदेव को उस सच्चिन्मय नीलमणि के अद्‌भुत, अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य रूप के दर्शन हो चुके थे । मात्र दर्शन ही नहीं, वह उनके

रोम-रोम में व्याप्त हो गया था। उनसे एकात्म हो, वह उनके प्राणों का, मन का, बुद्धि का, इन्द्रियों का - सबका एकछत्र स्वामी बन गया था। उसने उनके समग्र वायुमंडल को ही कृष्णरूप बना दिया था । फिर भी उसे तृप्ति कहाँ थी ? सबमें उसको देखना तो सबको बनाये रखना है । वे तो एकमात्र उसी में तन-मन रमा उसी के हुए, सबको और अपने आपको भी उसी में भूल गये थे। अतः माया-महारात्रि तो उनकी पूर्णतया विगत हो ही गयी थी । उनका देहाध्यास सर्वथा विगलित होकर उनमें भाव-देह व्यक्त हो गयी थी । पू० गुरुदेव का आत्मस्वरूप कैसा था उन्होंने अपना आत्म-परिचय अपने 'प्रियतम काव्य' में प्रथम शतक के प्रारम्भिक बारह छन्दों में किया है । वे छन्द यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :-

इसलिये विहंगम सोये थे, पर थी जगती बाला, प्रियतम !
थी नींद नहीं आयी क्षणभर भी जीवन में उसके, प्रियतम !
झरती रहती आँखें, ज्वाला हृत्तल में थी जलती, प्रियतम !
था पास नहीं कोई उसके जो अश्रु पोंछ दे, हे प्रियतम ।।
रहते कुंचित काले हरदम थे केश खुले उसके, प्रियतम !
भीगा रहता परिधान नील नयनों की धारा से, प्रियतम !
उन जीर्ण हुए वातायन के रंध्रों से लगकर, हे प्रियतम !
देखा करती थी निर्निमेष लोचन से अम्बर को, प्रियतम ।।

घोर मायामयी अविद्या के प्रभाव से विहंगम सोये थे, किन्तु वह बाला तो ऐसी थी कि जिसे प्रपंच छू ही नहीं सकता था । उसके जीवन में उसके प्राणवल्लभ, जीवनसर्वस्व-प्रियतम, जबसे आ विराजे थे, तबसे क्षणार्द्ध-परिमित निसर्ग का कालमान भी उन्हें वहाँ से अपसारित नहीं कर सका था, फिर जहाँ नीलसुन्दर की इन्द्रनीलमणि द्युति से जिसका हृद्देश उद्भासित रहता है; अहर्निश, आठोंपहर दृगपुतलियाँ आलोकित रहती हैं - उनकी चरणनख-चन्द्रिका के आलोक से ही, उसे क्षणभर भी माया कैसे स्पर्श कर सकती है ? नींद तो उनको आती है, जो निसर्ग के दर्शन में रचे-पचे हैं, जिनके कण-कण में संसार धँसा है, परन्तु जिनके जीवन में जगत् का अस्तित्व सर्वथा, सर्वांश में मिट चुका है और जिनके हृत्-प्राण के आस्तरण पर उनका प्राणपति-प्राणाधार-प्राणसर्वस्व नीलम, मुनि-मन-हारी अप्राकृत छटा

बिखेरता हुआ शयित है, विराजित है, वहाँ जगत् एवं जगत् की नानी मायारूप निद्रा प्रविष्ट हो भी तो कैसे, उसे कहीं किसी भी ओर से द्वार मिले, तब न प्रवेश हो पावे उसका !

जब तक जागतिक प्रतिकूलता से मन अप्रभावित होता है, जब तक स्वप्न में भी काम के लेश की छाया है, जब तक जगत् की वस्तुओं में आसक्ति है, तभी तक किसी को यह मायारूप नींद आ सकती है परन्तु जब महदाश्रय और भगवत्कृपा के फलस्वरूप निशावसान होकर भगवदीय प्रकाश फैल जाता है, तब तत्व-साधनापूर्ण जीवन में पात्रता का कुछ-कुछ उन्मेष होता है, फिर भावमय जीवन का प्रारम्भ होता है, मायानिद्रा सदा-सदा के लिये विगत हो जाती है और व्रजभाव-भावित नित्य जागरण प्रारम्भ होता है । वह विलक्षण लोक है।

यहाँ अनन्त जाग्रत अवस्था है । यहाँ उस बाला की मनोदशा विचित्र है। उसकी अश्रुधारा की अनन्तता में कभी विराम होता ही नहीं । अविरल अनवरत कन्दन ही उसका जीवन है । वह कन्दन अनादि है और अन्त-रहित है । इस अश्रुप्रवाह में क्या सुख है, इसे तो वह बाला ही जानती है अथवा वे जानते हैं जिन्हें इस अवगाहन का, रस सागर में निमज्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

**कोई विरला होता है जो लेता है समझ इसे, प्रियतम !**
**है सुख अचिन्त्य हम दोनों के हँसने, उस रोने का, प्रियतम !**

तो बाला की आँखें अश्रुधारा की निरन्तरता में विराम करती ही नहीं । अहा ! कैसी विलक्षणता है, नेत्र हृद्देश को अश्रुधारा से सिक्त कर रहे हैं, फिर भी हृद्देश की ज्वाला शान्त नहीं होती । इस अश्रुधारा से शीतल होने के स्थान पर हृद्देश की ज्वाला और तीव्रगति से धू-धू जल उठती है । उसके अश्रु पोंछने वाला दूसरा हो ही कौन सकता है ? उसके प्रियतम नीलमयंक ही कहीं उसके पास हों, तो उसके अश्रु पोंछें । उस नीलम-प्रियतम के समान कोई दूसरा सच्चा स्नेही तो न हुआ था और न ही होगा । उस नवनीरदवर्ण प्रियतम के सिवा उसको स्पर्श करने का साहस भी कौन कर सकता है ? उस प्रियतम से बंधन कराने के लिये ही उसके काले कुंचित-केश सदा उन्मुक्त और खुले रहते हैं । और इन काले केशों की उसे स्मृति ही कहाँ होती है, उसे तो इन काले केशों के रूप में भी उसके प्रियतम ही उसके कपोलों पर,

ललाट पर, आनन पर मँडराते अनुभव में आते हैं । यदि कोई सखी उसकें इन घने काले सुन्दर केशों को बाँधने की चेष्टा भी करे तो वह उसे वर्जित कर देती है, अपने प्रियतम को किसी भी मर्यादा में, बंधन में बाँधना उसे कैसे रुचिकर हो । हाँ ! प्रियतम नीलसुन्दर ही स्वयं उसकी सरस प्रीति में बँध जाना चाहें तो वे इन्हें भले ही बाँधें, दूसरा इन्हें कैसे बाँध सकता है।

अपनी प्रीति के प्रासाद में वह बैठी है, जिसके वातायन जीर्ण हो चुके हैं, उसके रन्ध्रों से, छिद्रों से दृष्टि लगाकर वह निर्निमिष लोचनों से अम्बर को देखा करती है । वह अम्बर को मात्र इसीलिये ताकती है क्योंकि इसी अम्बर के नीचे कहीं-न-कहीं, किसी प्रणम्य देश में, उसके प्रियतम सुखमयी क्रीड़ा, केलि कर रहे होंगे । यह अम्बर अवश्य ही उन्हें देख रहा होगा । उसके प्रियतम कहीं भी हों, इस भाग्यवान अम्बर के नेत्रों से दूर तो वे हो ही नहीं सकते । तो वह अपनी दृष्टि का तादात्म्य इस अम्बर की दृष्टि से कर लेना चाहती है, जिससे उसके नेत्र भी अपने प्रियतम नीलम को सब समय निहार सकें । अहा ! इस महा-आकाश के एक कोने के नीचे, कहीं वन के किसी भाग में उसके नीलमयंक अवश्य ही त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होंगे । उनके नवनीरदवर्ण श्रीअंगो पर पिंगल दुकूल झलमलाता होगा । गुञ्जा की माला उनके कण्ठदेश में शोभा पा रही होगी । मस्तक पर कुञ्चित केशराशि के साथ मयूरपिच्छ होगा ।

हाय ! उसके नेत्रों में अपने प्रियतम की छवि आते ही, अश्रुकण छलछला आये । आर्त्तचित वह रो पडी । उसका रुदन तो विराम पा ही नहीं सकता ।

**रोती क्यों हूँ फिर मैं, इसका कुछ मर्म बताती हूँ, प्रियतम !**
**संकोच नहीं है तनिक मुझे इसके कह देने में, प्रियतम !**
**क्रन्दन अनादि यह है मेरा, होगा न अन्त इसका, प्रियतम !**
**तुम समझ सको तो लो समझो, जीवन यह है मेरा, प्रियतम ।।**

भाई ! रुदन ही तो उसके प्राणनाथ को उसके पास खींचकर लाता है । यह व्यथा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है । हाय ! मेरे जीवन को ही धिक्कार है, जब मेरे प्रियतम मुझे दर्शन ही नहीं देते तो मैं उनके सुख-संवर्धन की हेतु कभी, किसी भी प्रकार हो ही नहीं पाऊँगी । फिर मेरे अस्तित्व का अर्थ ही क्या है ? यह निरर्थक भू का भाररूप जीवन तो अतिशय

धिक्कार का ही पात्र है । इन भावों से इस बाला की व्यथा, उसका क्रन्दन एवं हाहाकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है ।

तभी उसके प्राणरमण उसके नेत्रों के सम्मुख आ जाते हैं । अहा ! अपने अरुण कर सरोरुहों से जब वे उसके आँसू पौंछ रहे होते हैं, उस समय उनके नील-मुखमंडल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता, कान्ति कैसी होती है, कौन बताये ? उनके प्राणों में भी अत्यधिक पीड़ा प्रसरित हो उठती है "हाय ! मैं अपनी प्राणेश्वरी प्रियतमा को सुख नहीं दे सका।" उनके नेत्र भी झर-झर आँसू की धाराएँ बहाने लगते हैं । अहा ! ये ही क्षण तो उसके मिलन के अथाह सुख को बढ़ाते हैं । और तब पुनः यह भाव उदय हो ही जाता है कि कुछ काल पश्चात् फिर प्रियतम से वियोग हो जायेगा । इस वियोग-संभावना की दारुण व्यथा से उसके और उसके प्रियतम दोनों के नेत्र पुनः बरसने लगते हैं । इस प्रकार यह क्रन्दन तो कभी विरमित न हुआ है, न होगा । यह उसके जीवन के साथ एकरस, एकभाव है । ऐसी है यह गोपी और ऐसा है उसकी प्रेम पाठशाला का ताना-बाना एवं ककहरा ।

## स्वरचित चौपदों में जीवन का रहस्य

(यह एक सौ आठ चौपदों का काव्य पू० गुरुदेव ने पू० श्रीपोद्दारमहाराज को लिखाया था जिनमें से पाँच चौपाये यहाँ उद्धृत हैं ।)

**वंदन है शत-सहस्रशः उस धरणी के रज कण को प्रियतम !**
**पिञ्जर वह इन्द्र नीलमय है शोभित हो रहा जहाँ प्रियतम !**
**आकर्षण अभिनव वह उसमें है अब तक भरा हुआ प्रियतम !**
**मोहित हो जिससे थी उतरी नभ से विहंगिनी मैं प्रियतम !।।१।।**

पू० गुरुदेव कहते हैं - "उस धरणी के रजकण की शत-सहस्रशः वन्दना है जहाँ हे प्रियतम ! वह इन्द्र-नीलमय पिंजर शोभित हो रहा है । उस पिंजर में अब तक भी एक अभिनव, नित्य नवनवायमान आकर्षण भरा हुआ है, जिस आकर्षण से मुग्ध हुई मैं विहगी, हे प्रियतम ! आकाश से नीचे उतर आयी ।

पा सकी न अहो ! गन्ध भी यह उस समय तनिक ऐसी प्रियतम !
निर्माण किया है तुमने ही इसको, अपने कर से प्रियतम !
किञ्चित् सा उपादान लेकर अपने ही उस तन से प्रियतम !
नीलिमा अनिर्वचनीय नित्य वह है अचिन्त्य जिसमें प्रियतम ! ।।२।।

उस समय, अहो प्रियतम ! मैं ऐसी तनिक भी गन्ध नहीं पा सकी कि इस पिंजर को तुमने ही अपने स्वयं के करों से निर्माण किया है । हे प्रियतम ! इस पिंजर का उपादान तुमने अपने ही उस तन से लिया है जिस तुम्हारे तन में नित्य अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य वह नीलिमा है ।

थी श्रमित हुई उड़ती उड़ती निस्सीम गगन तल में प्रियतम !
मेरे ही साथ सदा तुम थे हँस हँसकर खेल रहे प्रियतम !
समझाते पुनः पुनः तुम थे 'प्रियतमे ! चलो बैठें' प्रियतम !
छूटी न किंतु हठ उड़ने की जो है स्वभाव में ही प्रियतम ! ।।३।।

अहा ! उस समय निस्सीम गगन तक उडती-उडती मैं श्रमित हो गयी थी और तुम तो नित्य मेरे सखा मेरे साथ सदा ही रहते हो- हँस-हँस कर उस समय भी खेल रहे थे । तुम मुझे बार-बार समझाते थे प्रियतमे ! चलो बैठें। परन्तु मेरे स्वभाव में ही उड़ने की जो हठ है वह तुम्हारे कहने के उपरान्त भी छूटी नहीं ।

फिर, हुए अधीर मुझे अतिशय देखा जब थकी हुई प्रियतम !
कौशल अपना कर, जाल नया फैलाया क्षण में ही प्रियतम !
सहसा अवनी की ओर दृष्टि मेरी गड़ गयी तथा प्रियतम !
दीखा श्यामल सुन्दर पिञ्जर अब तो गति रुद्ध हुई प्रियतम ! ।।४।।

फिर मुझे अतिशय थकी हुई तुमने देखा तो कौशल अपनाकर एक क्षण में ही नया जाल फैलाया । मेरी दृष्टि नीचे अवनी की ओर गड़ गयी और ज्यों ही श्यामलसुन्दर पिंजर दिखा अब तो मेरी गति रुद्ध हो गयी ।।४।।

ढ़ल पड़ी निकट आकर, फेरी दो-चार बार उसकी, प्रियतम !
दी, और अचानक यन्त्रित सी घुस पड़ी भला उसमें प्रियतम !
हो गया द्वार बस, रुद्ध और फँस गयी चंचला मैं प्रियतम !
विश्राम सदन में मुझको तुम लाकर इस भाँति हँसे प्रियतम !।।५।।

मैंने उस पिंजरे की दो-चार बार फेरी दी और उसके निकट आकर उस पर ढ़ल पड़ी, फिर अचानक यंत्रित-सी भला उसमें घुस पड़ी और मेरे घुसते ही उसका द्वार बस रुद्ध हो गया और मैं चंचला पक्षी फँस गयी । इस प्रकार मुझको विश्राम-सदन में लाकर तुम हँस उठे ।

अहा ! लाखों प्रणाम हैं इस गीतावाटिका के धूलि-कणों को जहाँ इन्द्रनीलमय नवनीरदवर्ण पिंजरा (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार महाराज का देह) शोभित हो रहा है । अहा ! इस नवनीरदवर्णवपु श्रीपोद्दारमहाराज रसराज में कैसा नित्य नवनवायमान आकर्षण भरा हुआ है, जिस आकर्षण से पू० गुरुदेव-रूप विहगी परात्पर- परब्रह्माकाश में उड़ती हुई नीचे उतर आयी। जब वह इस पोद्दारमहाराजरूप पिंजरे के समीप आयी थी तब उसे इस बात की गन्ध भी नहीं थी कि इस देहरूप पिंजरे का निर्माण अप्राकृत तत्व रसराज श्रीकृष्ण के तन की सच्चिन्मयी, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय नीलिमा के उपादान से हुआ है तथा इसकी रचना स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने हाथो से की है । यह किसी प्राकृत जगत् के अविद्यामय उपादान पंचभूतों से प्राकृत सृष्टा ब्रह्मा द्वारा पूर्वकर्म-प्रारब्धानुसार नहीं बनाया गया है । उस समय पू० गुरुदेव सच्चिदानन्दाकाश, ब्रह्मभावरूप सीमाहीन नभ में उड़ रहे थे । यद्यपि वह उडान अखण्ड आनन्द भरी ही थी, फिर भी उड़ना तो उड़ना ही है, उसमें साधनजन्य श्रम तो होता ही है, अतः उड़ती-उड़ती वह विहगी श्रमित हो गयी थी । उस समय प्रियतम श्रीकृष्ण जो पू० गुरुदेव के नित्य सखा हैं, साथ ही जो उनकी अहंता के अनादि-अनन्तकाल के साक्षीरूप साथी बने उनके संग ही हँस-हँस कर खेल रहे थे एवं बार-बार पू० गुरुदेव को समझा रहे थे- "प्रियतमे, बैठें, आओ, भक्तिरूप धरती पर उतर कर विश्राम करलें ।" परन्तु अपने नित्यसखा के कहने के उपरान्त भी पू० गुरुदेव की अद्वैत-ज्ञान की हठ छूटी नहीं क्योंकि उनका जन्मगत स्वभाव ही महा-हठी था ।

तब हेतुरहित, अकारण करुणावरुणालय, नित्यसखा भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें अतिशय थकी समझ एक चतुराई, कुशलता का खेल किया और एक क्षण

में ही उन्हें फँसाने के लिये एक नया जाल श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के विचारों की श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखाने का फेंक दिया । पू० गुरुदेव की दृष्टि सहसा गोरखपुर आने की ओर हो गयी और गोरखपुर-रूप अवनी पर आते ही वह श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारमहाराज-रूप श्यामल, सुन्दर, रसमय पिंजरा दिख गया । पू० गुरुदेव को श्रीकृष्ण के दर्शन हो गये । श्रीपोद्दार महाराज ने चरणस्पर्श करके ज्यों ही पू० गुरुदेव को अपने आत्मस्वरूप रसराज श्रीकृष्ण का दान दिया कि उनकी गति रुद्ध हो गयी । उन्होंने तो गीता की टीका लिखने का संकल्प ही कर लिया था, अतः श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के संग ढाई-तीन वर्ष व्यतीत करने पड़े और इस बीच श्रीपोद्दारजी से भी यदाकदा मिलन होता रहा, इस प्रकार इस पिंजरे की कुछ परिक्रमायें हुईं और उस विहगी (पू० गुरुदेव) की रुचि रसराज श्रीपोद्दारजी पर ढ़ल पड़ी । फिर यंत्रित-सी उसे इस पिंजरे में घुसना ही पड़ा । बस ज्यों ही पू० गुरुदेव पू० पोद्दारमहाराज के सचल-वृन्दावनरूप इस पिंजरे में उनके साथ शेष जीवन बिताने का संकल्प लेकर घुसे कि निकलने का द्वार ही रुद्ध हो गया और पू० गुरुदेवरूप चंचला विहगी ( विहंगम) इस श्रीकृष्णप्रेमरूप पिंजरे में फँस गयी और इस विश्राम-सदन में पू० गुरुदेव को लाकर श्रीकृष्ण हँसने लगे ।

## हनुमान गढ़ी का निवासकाल

## (आन्तरिक दशा)

गोरखपुर में हनुमानगढ़ी नामक स्थान में पू० गुरुदेव को श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की प्रतीक्षा में लगभग तीन-चार माह निवास करना पड़ गया। श्रीसेठजी अन्य आवश्यक कार्यों में उलझे रहे और उनका गोरखपुर-आगमन लगातार स्थगित होता ही गया । पू० गुरुदेव की आन्तरिक दशा इस काल में परम विलक्षण थी । उन्हें अपने में स्त्रीत्व की ही अनुभूति होती। उन दिनों पू० गुरुदेव अति विरक्तावस्था में मात्र दो कोपीन ओर दो ही अधोवस्त्र रखते थे । उनके अधोवस्त्र घुटनों के ऊपर-ऊपर ही आ पाते थे। उनकी चौड़ाई यथावश्यक कम ही होती थी । इसी प्रकार उनकी लम्बाई भी बस आवश्यकताभर ही होती थी । जब तक वे पुरुष भाव में थे, उन्हें इन

वस्त्रों में कहीं भी आने-जाने में कुछ भी संकोच नहीं होता था । परन्तु अब उन्हें इन लघु-वस्त्रों में लज्जा का अनुभव होने लगता । वे बार-बार अपने आपको समझाते कि उनका भावदेह मात्र नारी का है, प्रकटदेह तो पुरुष का ही है, परन्तु नारीभाव का उद्दीपन उनके इस तर्क का खण्डन कर देता था ।

उन दिनों जब प० पू० गुरुदेव हनुमानगढ़ी में रहते थे, उन्हें भिक्षा कराने श्रीघनश्यामदासजी जालान अथवा उनके परिवार का कोई व्यक्ति आया करता था । पू० गुरुदेव को भावतिरेक में जिस दिन भी श्रीजालानजी अथवा उनका कोई व्यक्ति श्रीकृष्णरूप में दिखता तब तो वे उनके सम्मुख बैठकर भिक्षा ले लेते थे, किन्तु जिस दिन भी उन्हें ऐसा अनुभव होता कि घनश्यामदास जालान भिक्षा लेकर आया है, उस दिन उन्हें उनके सम्मुख आने में भी संकोच होता तथा वे अपने कमरे का दरवाजा थोड़ा सा खोलकर मात्र थाली ही ले लिया करते एवं भोजन करके थाली खिसका देते थे ।

श्री कृष्ण के प्रथम दर्शन के पश्चात् उनका श्रीविग्रह जाग्रत एवं स्वप्न किसी भी अवस्था में उनके दृष्टिपथ से हटता नहीं था ।

पू० गुरुदेव के चित्त में जो डेरा जमाये हुए वैराग्य था, वह न जाने कहाँ चला गया ? उसकी उन्हें स्मृति ही मानो नहीं रही । अब तो उनके रुण्ड-मुण्ड मस्तक को छाये रहती जंघाओं तक लम्बी काली घुँघराली घनी केशराशि। उन्हें जो ब्रह्मानन्द स्वरूपता की अखण्ड स्मृति रहती थी वह भी विलुप्त हो गयी । शान्ति के स्थान पर चित्त में निरन्तर लहराती रहती थी प्रियतम मिलन की नयी नयी उमंग। वे कभी संयोग जन्य आनन्द से नाचते होते अथवा कभी विरह जन्य भीषण हाहाकार भरे रुदन से कलपते रहते । कहाँ तो ध्याननिष्ठा जन्य नेत्रों में एक प्रकार की स्थिरता थी, किन्तु अब उसके स्थान पर नेत्रों में अपने प्रियतम का पथ निरन्तर जोहने की आकुलता और विकलता भर गयी थी । नेत्रों से प्रेमाश्रु झरते ही रहते थे । उनके चित्त में नेह सुधा का सागर हिलोरें लेने लगता था । अहा ! भोग-राग के लेश से भी मुक्त रसतत्व से सर्वथा अबोध एवं बालवत् अनभिज्ञ, कठोर तरुण तापस की जो अपार ज्ञान की मञ्जूषा बना हुआ था, कैसी दशा हो गयी थी ।

दिवस रात आठों याम वे अपने प्रियतम को मन ही मन सम्बोधित करते रहते - "हे मेरे प्राणवल्लभ ! हे मेरे अप्रतिम सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सिन्धु ! हे मेरे जीवन सर्वस्व !!! हे मेरे प्राणों के प्राण !! हे मेरे निरुपम प्रेम पयोधि !!!!

हे प्राणरमण !!!!! इस दासी के हृदय में सदा विराजित रहना । इसे त्यागना मत ।

वे इस बँगला गीत के रूप में अपने प्रियतम को अपने हृदय की बात सुनाते रहते ।

> बंधु कि आर बलिब आमि ।
> जीवने-मरणे जनमे-जनमे प्राणनाथ हैओ तुमि ।
> तोमार चरणे आमार पराणे बाँधिल प्रेमेर फाँसी ।
> सब समर्पिया एक मन ठैया निश्चय हैलाम दासी ।
> भावि देखिलाम ए तीन भुवने आर के आमार आछे ।
> राधा बलि केइ सुधाइते नाइ, दाँडाब काहार काछे ।
> ए कुले ओ कुले, दुकुले गोकुले अपना बलिब काय ।
> शीतल बलिया शरण लइनु, ओ दुटी कमल पाय ।
> ना ठेलियो मोरे अबला बलिये ये हय उचित तोर ।
> भाविया देखिनु प्राणनाथ बिने गति ये नाहिक मोर ।।
> आँखिर निमिषे यदि नाहि देखि तबे से पराण मरि ।
> चण्डीदास कय परश रतन गलाय गाँथिया परि ।

मेरे प्रियतम ! और मैं तुम्हें क्या कहूँ बस इतना ही चाहती हूँ - जीवन में, मृत्यु में, जन्म-जन्म में तुम्ही मेरे प्राणनाथ रहना । तुम्हारे चरण एवं मेरे प्राणों में प्रेम की गाँठ लग गयी है । मैं सब कुछ तुम्हें समर्पित कर एकान्त मन से तुम्हारी दासी हो चुकी हूँ । मेरे प्राणेश्वर ! मैं सोचकर देखती हूँ -- इस त्रिभुवन में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कौन है, मैं किसके समीप खड़ी होऊँ ? 'राधा' बोलकर मुझे पुकारने वाला तुम्हारे सिवाय और कोई भी तो नहीं है ! इसकुल, उसकुल, दोंनों कुलों में एवं इस समस्त गोकुल में भी किसे मैं अपना कहूँ ? सर्वत्र मात्र ज्वाला है, एकमात्र तुम्हारे युगल चरण कमल ही शीतल हैं । ऐसा जानकर ही मैं तुम्हारी शरण आयी हूँ ।

हे मेरे प्रियतम ! तुम्हारे लिये भी अब यही उचित है कि मुझ अबला को चरणों में स्थान दे दो । मुझे अपने शीतल चरणों से दूर मत फेंक देना । नाथ ! सोचकर देखती हूँ, तुम्हारे बिना अब मेरी अन्य गति ही कहाँ है ? तुम यदि दूर फेंक दोगे तो मैं अबला कहाँ जाऊँगी ? मेरे प्रियतम ! एक निमेष के

# महाभाव – दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

( प्रथम खण्ड )

Pages 101-200 साधु कृष्णप्रेम

लिये भी जब तुम्हें नहीं देख पाती तो मेरे प्राण निकलने लगते हैं । मेरे स्पर्शमणि ! तुम्हें ही तो मैं अपने अंगो का भूषण बनाकर गले में धारण करती हूँ ।

पू० गुरुदेव के उरस्थल में प्रेम की पाठशाला प्रारम्भ हो गयी थी, उस पाठशाला में प्रेम पढ़ाने वाले शिक्षक थे श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारमहाराज और पढ़ने वाला सुयोग्य विद्याथी था पू० गुरुदेव का अप्राकृत महाभावरूप मन । इस पाठशाला का नाम क्या हो ? पू० गुरुदेव ने अपने मन से ही पूछा परन्तु जब उनका मन कुछ भी उत्तर नहीं दे पाया तो यही प्रश्न उन्होंने अपने प्राणवल्लभ नील सुन्दर से पूछ लिया । उत्तर में वे बोले नहीं, परन्तु उनके नयन सरोजों से अश्रु की बूँदें ऐसी ढ़लक पड़ीं कि उस पाठशाला का नाम "प्रेम-पाठशाला" अपने आप प्रकट हो गया ।

पू० गुरुदेव उसी प्रेमपाठशाला में पढ़ने लगे। उस पाठशाला में जो भी वर्णमाला पढ़ाई जाती है उसे उच्चारण कर लिखना होता है । उस वर्णमाला में पहला वर्ण था "कृष्ण" । इस वर्ण का उच्चारण करते-करते शेष संपूर्ण वर्णमाला का अपने आप ज्ञान हो जाता है । फिर पूज्य गुरुदेव उस वर्णमाला की आकृतियों को, उनके रंगो को अपने हृत्तल में अंकित करते गये।

प्रेम पाठशाला में किसी सन्त की यह उक्ति पू० गुरुदेव यावज्जीवन गाते रहे । यह पद उनके सर्वाधिक प्रिय पदों में से एक था । वे उन दिनों भी इस पद को प्रायः गुन-गुनाया करते थे । यह पद उन्हें सर्वप्रथम लेखक के पूर्वाश्रम के पू० मामाजी श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी ने सुनाया था :-

कृष्णनाम जबते श्रवणन सुन्यो री आली,<br>
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।<br>
भरि-भरि आवैं नयन, चितहू न परै चैन, मुखहू न आवै बैन<br>
तन की दसा कछु और हू भई री ।।<br>
जेतेक नेम धर्म कीने री मैं बहुत विधि,<br>
अंग-अंग भई हौं तो श्रवन मई री ।।<br>
नंददास जाके श्रवणन सुनत यह गति भई<br>
माधुरी मूरति कैधों कैसी दई री ।।

पू० गुरुदेव का उन दिनों शरीर बहुत ही कृश हो गया था । वे राप्ती स्नान को जाते तो उनके पैर लड़खड़ाते हुए चलते । हनुमानगढ़ी के महन्तजी उनको रुग्ण जानकर बारबार उनके शरीर की दशा पूछते, परन्तु उन्हें तो शरीर का भान ही नहीं था । पू० गुरुदेव यद्यपि प्रतिदिन भिक्षा करते थे, परन्तु उनके शरीर में इतनी थकावट एवं कृशता होती, मानो वे एक पक्ष से निराहार ही रहे हों । वे मुख ढाँपे पड़े रहते, किसी से भी बात नहीं करते । उनके नेत्र सदा सजल रहते, वे अरुण रहते एवं कुछ कुछ सूजे हुए रहते। यह स्पष्ट संकेत था कि वे रातों जगते थे सो नहीं पाते। हनुमानगढ़ी के महन्तजी के बार-बार पूछने पर वे किञ्चित् मुसका देते। उनकी वाणी रुद्ध होने के कारण वे कुछ भी बोल नहीं पाते। श्रीमहन्तजी गुरुदेव को समझाने की चेष्टा करते कि जीवन इतना उपेक्षणीय नहीं है । उन्हें शरीर का ध्यान रखना चाहिए ।

परन्तु महन्तजी के समझाने के शब्द उनके कानों में भी नहीं प्रवेश कर पाते । उनके नेत्र तो कदम्ब की शीतल छाया में त्रिभंग सुन्दर नन्दनन्दन पर सुस्थिर रहते । पू० गुरुदेव की हृदय-वेदना एवं अन्तःसुख की संगमित अचिन्त्य धारा की अनुभूति उन समझाने वालों को कहाँ थी ? यह अनुभूति उनके लिये संभव नहीं थी । महंतजी, श्रीघनश्यामजी जालान को उनकी रुग्णावस्था की सूचना देते । वे पू० गुरुदेव को दवा करने का आग्रह कर देते। पू० गुरुदेव मौन रहते । वे समझते कि अति विरक्तावस्थावश दवा लेना नहीं चाहते । उन्हें भी पू० गुरुदेव के भीतरी भावों का तो ज्ञान हो ही नहीं सकता था ।

जिसके हृदय में श्रीकृष्णचन्द्र का दिव्य प्रेम जाग्रत होता है, केवल मात्र उसी को प्रेम के वक्र एवं मधुर पराक्रम का भान होता है, दूसरों को नहीं ।

वे प्रायः आकाश की ओर देखते रहते, उन्हें लगता - "यह नभस्वान् परम बड़भागी है । यह नभ, चाहे श्री कृष्ण कहीं भी हों, उनके बाह्य और अन्तर् दोनों कलेवर के भागों को संस्पर्शित करता रहता है। मेरे प्राणवल्लभ की अन्तस्तल की क्या रुचि है, वह इस नभ से कभी भी संगुप्त नहीं रह सकती। कहीं मुझमें भी ऐसी इस नभस्वान् जैसी योग्यता उदित हो जाती तो मैं नन्दनन्दन के भीतरी चित्त की वासना जानकर तदनुरूप उनको सुख दे पाती, उनकी रुचि में अपने को ढ़ाल पाती, उनकी सेवा कर पाती ।"

इस प्रकार पू० गुरुदेव के तीन माह का काल हनुमानगढ़ी में व्यतीत हुआ। उनकी वृत्ति कृष्णप्रेम में ऐसी लीन हो गयी कि एक पल भी फिर वहाँ से हटी नहीं ।

## वेणुनाद श्रवण एवं पू० पोद्दार महाराज के स्वरूप, महत्व का बखान

**उसके पश्चात् अहर्निश जो घटनाएँ वहाँ घटी प्रियतम**
**विवरण उनको अब कौन करे संचित् है हत्तल में प्रियतम**
**द्रुम पत्रावलि उन छिद्रों के पथ से आती, उससे प्रियतम**
**छू जाता चञ्चु, और उस पर अंकित कुछ हो जाती प्रियतम**

### (पद का अर्थ)

पू० गुरुदेव रूप विहंगम को श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार रूप पिंजरे में कैद करने के पश्चात् जो अहर्निश वहाँ घटनाएँ घटीं, उनका विवरण अब कौन करे वे पूज्य गुरुदेव के हृद्देश में ही संचित् हैं । उस पिंजरे के छिद्रों के पथ से जो द्रुम पत्रावलियाँ आतीं उनसे उस विहंगम के चंचु छू जाते और उन पत्रावलियों में कुछ घटनायें अंकित हो जाती थीं । अर्थात् श्री पोद्दार महाराज के संगी साथी ही पू० गुरुदेव से कभी पूछ लेते तो वे उन घटनाओं के संबंध में कुछ बतला देते थे ।

भगवत्कृपा के परम कल्याणपूर्ण विधान ने, अब पू० गुरुदेव के जीवन में एक नया द्वार खोला । हनुमान गढ़ी के उस कदली वन में रस की तरंगिणी बह चली । एक दिवस संध्या के समय मन ही मन कृष्ण-कृष्ण की आवृत्ति करते हुए पू० गुरुदेव उन्हीं कदली वृक्षों के उपवन में बैठे थे, जहाँ उन्हें प्रथम श्रीकृष्ण के दर्शन हुए थे । सहसा इसीसमय श्रीकृष्ण की वंशी बज उठती है । वंशीरव पू० गुरुदेव के कानों में प्रवेश करता है । ओह ! यह अमृत निर्झर ! यह सुधा प्रवाह !! कहाँ से ? किस ओर से ? उनका संपूर्ण शरीर थर-थर काँपने लगता है । जैसे शीतकाल में उन पर हिम की वर्षा हो रही हो, साथ ही अंगों से प्रस्वेद की धारा बह चलती है । यह प्रस्वेद की धारा इतनी अधिक मात्रा में तड़-तड़ बहती है मानो ग्रीष्मताप उनके अंगों के

अणु अणुको उत्तप्त कर रहा हो । कानों पर हाथ रखकर वे विस्फारित नेत्रों से इधर-उधर देखने लगते हैं । थोडी ही देर में उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि उस उपवन के वृक्ष, राप्ती का प्रसरित बालुका पूर्ण तट, वहाँ का आकाश, वायु, जल, पृथ्वी और सूर्य की रश्मियाँ सभी उस नाद से प्रतिनादित हो रहे हैं। पू० गुरुदेव की संपूर्ण चेतना विलय बिन्दु की ओर बढ़ने लगी और वे अचिन्त्यावस्था में गहरे समाहित हो जाते हैं ।

कुछ काल पश्चात् जब उन्हें पुनः होश आता है तो वे सोचने लगते हैं, ये कदली वृक्ष कैसे चमत्कारी हैं ! इनके अन्तराल से न जाने कैसी वह मधुरातिमधुर दिव्य वेणु-ध्वनि आयी और मेरे कानों में प्रविष्ट हो गयी ।

आह ! कदाचित् उस अमृत निर्झर के उद्‌गम को मैं देख पाता ! हाय ! वह कैसा वंशी निनाद था ? इस प्रकार विचार करते-करते वे पुनः अचिन्त्यावस्था में प्रविष्ट हो जाते हैं ।

श्रीकृष्ण के प्रथम दर्शन के पश्चात् उनका श्रीविग्रह स्वप्न अथवा जाग्रत किसी भी अवस्था में उनकी दृष्टिपथ से हटता नहीं था । पहले वह बोलता नहीं था । पीछे उसने बोलना प्रारम्भ कर दिया । उनकी वाणी इतनी मधुरातिमधुर होती कि गुरुदेव के अंग अवश हो जाते । उनका बाह्यज्ञान विलुप्त हो जाता, सर्वांग अवश हो जाते । उनका रोम रोम पुकार उठता - "आओ, प्रियतम ! प्राणेश्वर !' आओ ! स्वामिन् ! नाथ ! एक बार ही नहीं, अनन्त काल तक इस दासी से आपके हृदय की जो भी रहस्यमयी वार्ता हो वह अनवरत करते रहो ।"

वह मूर्ति पू० गुरुदेव से जो भी बात करती, वह श्रीपोद्दार महाराज की महिमा का ही बखान होता ।

पू० गुरुदेव कहा करते थे कि पू० श्री पोद्दार महाराज की जो उच्च से उच्च भाव-भूमि और स्थिति है इसके संबंध में जो कुछ मेरी श्रद्धा है वह सब श्रीकृष्ण के द्वारा बतायी हुई उनकी महिमा के आधार पर ही है । श्रीपोद्दार महाराज तो प्रायः ऐसा आचरण करते थे कि जिससे उनके प्रति मैं अश्रद्धा करलूँ । श्री पोद्दार महाराज पहले तो वैसा आचरण करते, फिर अतिशय प्यार से मुझे अपना सुगुप्त रहस्य भी खोलकर बता देते ।

श्री पोद्दार महाराज इसे स्वीकार कर लेते कि भगवान की जो मुझ पर सीमा विहीन कृपा है, उस कृपा का रहस्य कहीं अनावृत नहीं हो जाय - वह कृपा मेरा सदा सुगुप्त धन बना रहे, इसी कारण मेरे द्वारा वैसा आचरण हो

जाता है जिसे अनुचित कहा जाता है । श्री पोद्दार महाराज अपने को इसी प्रकार ऐसे अटपटे आचरणों से संगुप्त रखते थे । वे अनेकों बार ऐसा आचरण कर जाते किन्तु जब श्रीकृष्ण मेरे सम्मुख उस आचरण का रहस्य खोलते तो वह आचरण जगत के लिये इतना कल्याणकारी सिद्ध होता कि उस पर करोड़ों सदाचार बलिहार कर दिये जावें । कहने का इतना ही अर्थ है कि संगोपनप्रिय पोद्दार महाराज के रहस्य-गर्भित आचरण इसी प्रकार अटपटे होते थे । परन्तु उसी समय श्रीकृष्ण प्रकट होकर मुझे सचेत कर देते थे और वे उनकी उस क्रिया का इतना विलक्षण महाकल्याणकारी प्रभाव बताते कि मैं मुग्ध और चकित हो जाता था । श्री पोद्दार महाराज के प्रति मेरी श्रद्धा स्वयं श्रीकृष्ण ने उनका हृदय रहस्य खोल-खोल कर ही बढ़ायी है । अन्यथा उनके बाह्य-आचरणों से उन पर श्रद्धा करना मेरे लिये सर्वथा असंभव था ।

हनुमानगढ़ी में जब तक पू० गुरुदेव रहे भाव-समुद्र का अनिर्वचनीय अभिनव उच्छलन उनके हृदय-स्थल में होता रहा । उस रसप्लावन ने गुरुदेव को निमग्न कर दिया । उनके मन-प्राण सबकी दिशा ही बदलगयी । उत्तरोत्तर रसानुभूति के गंभीर-गंभीरतर आवर्तों में वे नाचने लगे । उनकी आँखों से गोरखपुर नगरी एवं राप्ती नदी का दृष्य ही बदल जाता और वे क्षण-प्रतिक्षण अनुभव करते - "परम रमणीय वृन्दावन ही चतुर्दिक है । कैसी अद्भुत बात है, मैं जिधर देखता हूँ उधर ही अप्रतिम अनुराग के निर्झर झर रहे हैं । सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वास की उन्मत्त पयस्विनी ही प्रसरित हो रही है । उनका रोम-रोम अति आकुल हुआ पुकारता रहता-"हे व्रज के चन्द्रमा ! हे मेरे जीवन सर्वस्व !! सुखी रहो तुम । तुम्हारे सुख-संवर्धन की भूमिका का निर्माण ही सदैव मेरे द्वारा होता रहे । कभी स्वप्न में भी तुम्हारी रुचि के विपरीत न तो मैं कुछ सोचूँ-विचारूँ, न ही मेरा मन ही वैसा हो, फिर आचरण का तो प्रश्न ही नहीं ।"

पू० गुरुदेव ज्यों ही ब्रह्म मुहूर्त में जगते - उनकी पलकें खुलते ही उनका पहला दृश्य होता व्रजेन्द्रनन्दन का मुसकाता मुखचन्द्र । उनके हृदय में अपने प्रियतम के मुखचन्द्र को देखते ही परमानन्द-सिन्धु उच्छलित हो उठता । परन्तु वह परमानन्द-सिन्धु उनके लिये स्व-सुख-वासना को बढ़ाने वाला, अथवा स्वसुख-भोग की स्पृहा जगानेवाला सर्वथा-सर्वथा नहीं होता । वह परमानन्द-सिन्धु उनके हृदय से निस्सरित हुआ उनके प्रियतम को सुख देने उमड़ चलता । इस रसप्रवाह में निमज्जित उनके प्राणवल्लभ

नवनीरदवर्ण मुरलीमनोहर की मधुरिमा और सौन्दर्य क्षण-क्षण बढ़ता रहता। इस सौन्दर्य और मधुरिमा का दर्शन उनके अन्तःकरण में और अधिक आनन्दोच्छलन करता और वह उच्छलन् पुनः उनके प्रियतम के अनन्त संविन्मय कल्याणमय गुण-गणों को बढ़ा देता। इस प्रकार पू० गुरुदेव के हृदय-देश में अंकित उनके प्रियतम की छवि प्रतिक्षण अतिशय नव-नव लीला-विलास की अप्रतिम सुन्दर ंगिमाओं से विभूषित होती रहती। उनकी गुणगरिमा ज्यों-ज्यों परिवर्धित होती त्यों-ही-त्यों फिर पू० गुरुदेव के हृदय में आनन्द उच्छलित होता। इस प्रकार इस आह्लाद का उत्तरोत्तर अभिवर्धन ज्यों-ज्यों होता त्यों-ही-त्यों उनके प्रियतम की गुण-गरिमा, मनोहरता, रूपमाधुरी भी बढ़ती जाती।

पू० गुरुदेव की दृष्टि अपने प्रियतम के बिम्ब-विडम्बी अधरों की अप्रतिम शोभा निहारने लगती। वे देखते कि उनके मृदु मुसकान की मधुरता प्रतिपल नवीन-नवीनतर हो रही है। और उनकी वाणी तो इतनी रसमयी है कि मानो सुधा की सरिता ही बह चली हो। उन्हें अनुभव होता मानो नन्दनन्दन उन्हें कुछ कहना चाह रहे हैं। उनकी मन-इन्द्रियाँ मानो सब सिमट कर केवल कर्णेन्द्रियों में ही समाहित हो जातीं। वे सुनने लगते और पाते कि श्रीकृष्ण श्रीपोद्दार महाराज का यश-कीर्तन करने में ही उत्सुक और लालायित हो रहे हैं।

यहाँ यह बात निरन्तर ध्यान में रखनी है कि पू० गुरुदेव का मन उन दिनों अप्राकृताविष्ट था। बात यह है कि प्राकृत राज्य के प्राणी में जिसका मन प्राकृत है भगवान का अप्राकृत स्वरूप प्रकट हो नहीं सकता। अतः जब किसी भाग्यवान् को भगवान् परात्पर श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं, उस समय महज्जन कृपा अथवा भगवत्कृपा उसके मन पर अप्राकृत आवरण अवतीर्ण कर देती है। तभी वह पात्र होता है कि उस अप्राकृत राज्य के रूप का दर्शन कर सके, उस अप्राकृत राज्य के शब्द, वेणुनिनाद अथवा श्रीकृष्ण की परम चिन्मयी भगवद्वाणी को सुन सके, श्रीकृष्ण का परम चिन्मय संस्पर्श पा सके, उनके अंगों की गंध सूँघ सके, उनका अधरामृत प्रसाद ग्रहण कर सके। साधारण मानव मन के लिये उस अप्राकृत राज्य के रूप की, वस्तु की, कार्य-व्यापार की कल्पना करना भी सर्वथा असंभव है। वह पूर्णतया कल्पनातीत है।

अतः हम सभी विषयी जीवों का मन श्रीकृष्ण की बोली में कितनी मधुरता, सत्यता, पवित्रता एवं सुन्दरता थी - इसका अनुमान ही नहीं कर सकता, फिर कोई उसका शब्दों द्वारा आकलन करे यह तो सर्वथा-सर्वथा असंभव है ।

पू० गुरुदेव अनेक बार यह बता चुके हैं कि प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु की प्राप्ति कैसे हो ? वे कहते थे - यह मन भी प्राकृत है और बुद्धि भी प्राकृत है । इस मायाजगत की किसी भी वस्तु की गति उस मायातीत राज्य में है ही नहीं । माया जगत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से मायातीत जगत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध सर्वथा भिन्न हैं । माया जगत की इन्द्रियों से ये सर्वथा अग्राह्य हैं । माया जगत की इन्द्रियों की वहाँ गति ही नहीं है । पर ये इन्द्रियाँ स्वयं को समाप्त कर सकती हैं । जहाँ इस प्राकृत मन की समाप्ति हुई, वहीं वह अप्राकृत राज्य स्वतः अवतरित हो जाता है । और इसका साधन है एक मात्र महत्कृपा अथवा भगवत्कृपा । यह पुरुषार्थ द्वारा साध्य नहीं । भगवान् और रससिद्ध सन्त दोनों ही बहुत उदार होते हैं । यदि कोई अपने को सर्वथा भगवान पर अथवा किसी भी महत् सन्त पर न्यौछावर कर दे तो भगवान् उसकी कामना अवश्य पूरी कर देते हैं। भगवान किसी की आशा खंडित नहीं करते । अप्राकृत राज्य में प्रवेश की एक मात्र यही साधना है, एवं यही उस अप्राकृत राज्य के अवतरण का एक मात्र उपाय है।

भगवान जब नर-वपु धारण करके नरलीला करते हैं, अथवा भगवान् के लीला राज्य में प्रविष्ट श्रीपोद्दार महाराज जैसे सन्त जब तक इस शरीर में है, वे देखते, विचारते, छूते, एवं संकल्प भी उसी प्रकार करते हैं जैसे साधारण जीव करता है, परन्तु उस सन्त अथवा भगवान् का वह कार्य-व्यापार मानवीय कार्य-व्यापार से सर्वथा-सर्वथा भिन्न होता है । सन्त एवं भगवान की विरुद्ध धर्माश्रयता ही उनकी परम विशेषता होती है ।

क्या कोई कल्पना कर सकता है कि अनन्त प्रकाश और अनन्त अन्धकार एक साथ एक देश में रह सकते हैं ? कोई भी व्यक्ति कैसे कल्पना करेगा कि विपरीत लोक-व्यवहार का आचरण करता हुआ वह व्यक्ति नित्य-अखंड परम विशुद्ध सत्व परायण है । उपनिषदों में यह कथा आती है कि दुर्वासा ऋषि गोपियों के द्वारा षड्रस व्यंजन भोजन कराने पर भोजन करने के उपरान्त भी कहते हैं कि मैं दूर्वा ही खाता हूँ एवं वे श्रीकृष्ण के

संबंध में भी गोपियों से कहते हैं कि श्रीकृष्ण बाल-ब्रह्मचारी हैं जबकि गोपियाँ उनसे अंग-संग एवं विहार करके लौटती हुई दुर्वासाजी के पास बढ़ी हुई यमुना से निस्तारण का उपाय पूछने आती हैं । दुर्वासा गोपियों से यही कहते हैं कि यमुनाजी से कहना दुर्वासा दूर्वाभक्षी है और श्रीकृष्ण अखण्ड ब्रह्मचारी हैं, इस सत्य के प्रभाव से हमें रास्ता दे दो । बढ़ी हुई यमुना तत्क्षण घट जाती है और गोपियाँ यमुना पारकर दूसरे तट पर पहुँच जाती हैं ।

अतः पू० गुरुदेव कहा करते थे कि अप्राकृत मन की प्राप्ति के पश्चात् ही मानव संत-जीवन की विलक्षणता एवं भगवत्लीला को, लीला के तत्व को, उसके रहस्यों को समझ पाता है एवं उनका रस ले पाता है ।

अब इस प्रसंग पर आगे विचार करते हैं कि साक्षात् रसराज परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी मधुस्यन्दी वाणी में पू० गुरुदेव से श्रीपोद्दार महाराज की क्या स्तुति करते थे ?

यह प्रसंग लेखक के पूर्वाश्रम के मामाजी श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी की डायरी में लिखा था । बात यह थी कि जब-जब श्रीकृष्ण पोद्दार महाराज की स्तुति करते पू० गुरुदेव उसे एक कागज में लिपिबद्ध कर लेते थे और उसे माला की तरह अपने गले में धारण किये रखते थे। कभी-कभी ये प्रसंग वे मेरे मामाजी आदि अनेक महाभाग्यवान् कृपा-पात्रों को सुनाते थे। पू० मामाजी ने उसे अपनी डायरी में उद्धृत कर लिया था । एक दिवस वह डायरी लेखक को पढ़ने को प्राप्त हो गयी । उसी में से ये प्रसंग लेखक ने उतारकर अपने पास रख लिये थे । श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी की मृत्यु के पूर्व ही लेखक सन्यासी हो गया था, अतः उसे अब ज्ञात नहीं है कि वह डायरी फिर किसके हाथ लगी । यहाँ नीचे भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पोद्दार महाराज की महिमा में कही वाणी उद्धृत है :-

"यह कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सकता पोद्दार महाराज रूप जीव क्या है ? यदि इसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्वचन किया जा सकता है तो मात्र इतना ही कि यह है मात्र मेरा सुख, पूर्णतया शतप्रतिशत मात्र मेरी रुचि में ढली मूर्ति । यह मूर्तिमान मेरी रुचि-पूर्ति का विरल यंत्र है। जीव होते हुए भी यह इतना विशुद्ध हो गया है कि मलिन कामोपभोग की कल्पना का लेश भी इसके चित्त में प्रवेश नहीं पा सकता । यह खाता-पीता है, देखता-सुनता है परन्तु इसके सभी इन्द्रिय-व्यापार मुझसे एकमेव घुले-मिले होकर ही होते हैं। अतः यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इसके शरीर और इन्द्रियों का

सचालन इसके द्वारा हो रहा है, यह मुझमें इतना घुला मिला है कि इसके शरीर मन-बुद्धि और इन्द्रियों एवं प्राणों का भी यथायोग्य संचालन मैं स्वयं ही करता हूँ ।"

"यह ऐसी परम सुन्दर महा कल्याण-वर्षिणी नदी है, जो अनवरत प्रवाहित हो रही है मेरी शुभच्छा पूर्ति के लिये । इसके इन्द्रिय समूह, इसका शरीर, इसका मन, इसकी बुद्धि, इसके प्राण, इसका अहं ये सभी यंत्र-चालित से मुझ यंत्री द्वारा ही संचालित होते हैं क्योंकि यह सदा-सर्वदा स्वरूप से मुझसे एकमेक है ।"

"इसका जीवन परम एवं चरम त्यागमय है और सर्वसमर्पणमय है । परम एवं चरम त्याग का क्या वास्तविक स्वरूप होता है ? सर्व समर्पणमय उज्ज्वलतम प्रेम का क्या आदर्श है ? स्वसुखवाञ्छाविरहित प्रियतम-सुखेच्छामय स्वभाव किसे कहते हैं ? अहं की चिन्ता और मंगलकामना की तो बात ही छोड़ें, अहं की स्मृति से भी शून्य प्रियतम स्मृतिमय जीवन कैसा होता है ? पोद्दार महाराज ने अपने प्रत्यक्ष जीवन से इसका एक नित्य चेतन, क्रियाशील, मूर्तिमान उदाहरण प्रस्तुत करके जगत के इतिहास में एक अभूतपूर्व दान किया है। ऐसा दान भूतकाल में भी विरला ही हुआ है और इस कलिकाल में तो असंभव है ।"

"ठीक समझ लो, पोद्दार महाराज मेरा ही स्वरूप हैं, मेरी दूसरी प्रतिमूर्ति हैं। मेरी ही भाँति इनमें मेरे समस्त भगवदीय गुणों का भी प्राकट्य है। परन्तु इसके स्वभाव की यही विलक्षणता है कि यह अपने में इन सर्वोच्च गुणों का अभाव देखता है । यह अपने को सर्वथा सब विधि कुरूप, कुत्सित, शील-गुणरहित एवं दोषों से भरा ही अनुभव करता है, परन्तु यथार्थमें है मुझे रिझाने वाले समस्त गुण-गणों का अगाध, अपरिसीम, अनन्त भण्डार । यह अपने को कभी मेरे योग्य नहीं समझता, सदा सकुचाता रहता है, यह अपने को दोषागार मानकर सदा मेरे सम्मुख अतिशय लज्जा और धिक्कार का भाजन अनुभव करता है । परन्तु न तो इसका यह दैन्य और अपने को हीन देखना केवल अभिनय एवं दम्भाचरण है और न ही इससे इसके गुणों की महानता में कहीं कोई न्यूनता ही आती है । यह कुछ भी समझे, कुछ भी बोले, है यह मुझे रिझाने वाले समस्त गुण-गणों का अगाध, अनन्त असीम भण्डार । इसका वास्तविक स्वरूप शिव, ब्रह्मादि देव-गणों के समान स्तुत्य, नारद, सनत्कुमारादि के समान भक्तिमान् एवं श्लाघ्य, वशिष्ठ, व्यासादि

महापुरुषों के समान वन्दनीय, याज्ञवल्क्य, शुकदेवादि ज्ञानियों जैसा सेवनीय, निर्मल परम गौरवमय और महामहिमामय है । फिर भी इसमें अपने गुणों का सर्वथा अभिमान नहीं है, इसका यह वास्तविक दैन्य मुझे सर्वाधिक प्रिय है।"

कभी कहते – "तुझे विश्वास करना चाहिए इस पोद्दार महाराज जीव के हृदय से मैं एक क्षण के लिये भी नहीं हटता । मेरी ध्यानमूर्ति नहीं, मैं स्वयं इसके हृदय में परम विश्राम पाता हूँ । इसका अन्तःकरण मेरा साक्षात् धाम है। जब भी यह नेत्र मूँदता है, उस समय इसकी पलकों के भीतर मुझे निज मुस्कान बिखेरनी ही पड़ती है । यह स्वप्न देखता है, तब भी मैं इसके स्वप्नों में भी रहता हूँ । इसके जीव-शरीर के ढाँचे के भीतर अहंता, ममता, देहाध्यास, जगत का अध्यास, लोक-वेद की भावना, भोग-मोक्ष की स्पृहा कुछ भी तो नहीं है । मेरे विरह की अग्नि में सब जलकर खाक हो गयीं । फिर मेरे मिलनानन्द की अजस्र-धारा में उसकी राख भी बह गयी । तत्पश्चात् मेरे प्रेम की प्रबल रसधारा ने उसकी गंध का लेश भी नहीं छोड़ा । अब वहाँ मात्र मेरा प्रेम ही लहरा रहा है । तरंगों पर तरंगें उठ रही हैं । वे तरंगें भी मेरा ही रूप धारण किये मुझे ही नहला रही हैं।"

"मेरे जिस सगुण-साकार स्वरूप के जो तुझे दर्शन हुए हैं, वे किसी भी साधना का सर्वथा फल नहीं हैं । अद्वैत-तत्व-निष्ठा से करोड़ों कल्पोंपर्यन्त साधना करने पर भी तुझे मेरे इस स्वरूप के दर्शन कदापि कदापि नहीं होते। परन्तु तेरे जीवन में व्रजभाव का वपन किया पोद्दार महाराज ने । यह व्रजभाव सम्पन्न इतने उच्च कोटि का सिद्ध-भक्त है कि इसके कृपा-प्रसाद से ही तुझ निराकारवादी अद्वैत-तत्वनिष्ठ के जीवन में मधुरभावापन्न रसोपासना की सुधामयी धारा प्रवाहित हुई ।"

"पोद्दार महाराज के देह को मैंने पूरा अपना यंत्र बना रखा है । अतः कभी तो इस देह का नियन्ता मैं गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण हो जाता हूँ । कभी गीतातत्वोपदेशक चतुर्भुज नारायण के रूप में इस देह से अपनी संकल्प-पूर्ति कराता हूँ । इस प्रकार इसमें से भिन्न स्वर बजते हैं । कभी इस देह-यंत्र से असीम कृपा-माधुर्य, परम सुकोमल दयाभरे स्वर बजते हैं, कभी कठोर गरजते स्वर भी बज उठते हैं, इसमें इसका स्वभाव-वैचित्र्य सर्वथा नहीं है । यह स्वयं तो कुछ है ही नहीं । जिस समय जैसे पात्र से जो भी लीला मुझे करनी होती है, उस समय इस पोद्दार महाराजरूप यंत्र के अन्तराल से मैं वैसी लीला मुखरित कर बैठता हूँ । इसमें इसका स्वयं का स्वभाव-वैचित्र्य सर्वथा नहीं

है। यह तो कुछ है ही नहीं । जो कुछ भी कभी था, पूरा मुझसे अभिन्न हो गया। अत: यह कभी महामोही गृहस्थसा आचरण करता दृष्टिगोचर होता है, कहीं महात्यागी तपस्वी विरक्त दिखता है, कहीं रागी, कहीं भोगी, कहीं महाज्ञानी, समझ में आता है । वास्तव में यह स्वयं में कुछ भी नहीं है । यह तो मात्र यंत्र है, और मैं यंत्री इसमें से जैसे स्वर बजाता हूँ वे ही स्वर इसमें से निकलते हैं । इसकी यही विलक्षण चरित्र शोभा है । इसमें स्वयं का कहीं कोई आग्रह ही नहीं है कि यंत्र को अमुक एक प्रकार से ही बजाया जाय । यह तो मेरे सुख एवं मेरी रुचिका संकेत पाते ही जैसा मैं चाहता हूँ , सांगोपांग वैसा ही नाटक कर जाता है । और मैं 'वाह' कर बैठता हूँ। और मेरा सुख ही इसकी कृतकृत्यता है ।

इस प्रकार चार पाँच माह जब तक पू० गुरुदेव हनुमानगढ़ी नामक स्थान पर रहे श्री कृष्ण प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें सन्त रहस्य, लीलारहस्य एवं सगुण साकार स्वरूप के तत्व रहस्य की बातें बतलाते रहे । श्री पोद्दार महाराज के माहात्म्य की बातें इतनी महत्वपूर्ण होती थीं कि पश्चात् पू० गुरुदेव उनको कागजों में लिखकर उसकी माला बनाकर पहने रहते ।

## भागवती संकेतों की होली

**(यह प्रसंग लगभग सात वर्ष आगे का है, सन् १९४३ ई० का रतनगढ़ का जब पू० गुरुदेव भी पोद्दार महाराज के साथ यावज्जीवन रहने का व्रत लेकर जुड़ गये थे)**

प० पू० पोद्दार महाराज में आत्म संगोपन की प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। उनकी हर संभव चेष्टा यही रहती थी कि संसार उनको मात्र एक साधारण गृहस्थ ही समझे और अधिक से अधिक कोई श्रद्धा करे भी तो उसकी इतनी ही श्रद्धा परिपुष्ट हो कि ये एक साधक गृहस्थ हैं और श्रीजयदयालजी गोयन्दका की छत्रछाया में अन्य साधकों के समान मात्र साधना ही करते हैं । उनकी दिव्य भागवती स्थिति को कोई भी जान नहीं पावे । वे तो पू० गुरुदेव को भी अपने किसी महत्व की गंध नहीं देते, परन्तु पू० गुरुदेव तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उनका सब अप्रकट गुप्त रहस्य जान लेते थे ।

एक सज्जन थे श्रीशिवकुमारजी केडिया । आप श्रीवृन्दावन-धाम में वास करते थे । श्री केड़ियाजी अच्छे साहित्यिक विद्वान् थे । पू० गुरुदेव और श्रीपोद्दार महाराज के प्रति उनके मन, में बहुत ही आदर का भाव था । सत्संग की दृष्टि से वे पू० श्रीपोद्दार महाराज के पास आया करते थे । उन्होंने 'वृन्दावन शतकम्' नामक संस्कृत में एक काव्य भी लिखा था ।

एक बार वे वृन्दावन से रतनगढ़ सत्संग लाभ के लिये आये थे। अवसर पाकर उन्होने पू० गुरुदेव से प्रार्थना की कि वे श्रीपोद्दारजी की आध्यात्मिक स्थिति के बारे में कुछ बतलावें ।

रतनगढ़ में सत्संगी जनों में प्रायः ऐसी चर्चा होती ही रहती थी कि श्री पोद्दार महाराज की आध्यात्मिक स्थिति के सम्बन्ध में जितना पू० गुरुदेव जानते हैं उतना अन्य कोई नहीं । श्रीपोद्दार महाराज से परमार्थ सम्बन्धी पू० गुरुदेव की कोई गुप्त सत्संग वार्त्ता होती थी सो बात सर्वथा नहीं थी। पू० गुरुदेव तो प्रायः एकान्त में अपने कक्ष में ही रहते थे एवं श्री पोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में निरत रहते थे । पू० गुरुदेव को जो कुछ भी मिलता था, वह उनसे स्वतः मिलता रहता था, बिना कहे अपने आप मिलता रहता था। श्री पोद्दार महाराज द्वारा पू० गुरुदेव को जो भी परमार्थ दान अथवा रस-भाव दान होता था वह स्वतः बिना किसी प्रयास के ही होता था । श्री पोद्दार महाराज ने उन्हें अपना सर्वस्व दान ही कर दिया था, परन्तु वह किया था, स्वतः सर्वथा ही दाता का भाव न रखकर, इसे उनकी अहंकार-शून्यता का परम निर्मल प्रकाश ही मानना चाहिये।

जब श्री केडियाजी ने पू० पोद्दार महाराज की आध्यात्मिक स्थिति के बारे में जिज्ञासा की तो पू० गुरुदेव दुविधा में पड़ गये। उनके मन में एक ओर तो इस निधि को अत्यधिक सुगुप्त रखे रहने का भाव कार्य कर रहा था, दूसरी ओर यह भाव भी था कि कहीं किसी सच्चे जिज्ञासु की भावना का अनादर नहीं हो जाये । अतः पू० गुरुदेव ने श्री केडियाजी की परीक्षा लेनी चाही । उनकी चाह की उत्कटता की परीक्षा लेने के लिये पू० गुरुदेव ने उनसे एक लाख नाम-जप एक माह तक प्रतिदिन करने को कहा । श्री केडियाजी ने पू० गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य करली ।

वे एक मास तक निष्ठापूर्वक 'हरे राम' षोड़श महामंत्र की चौसठ माला प्रतिदिन फेरने लगे । अभ्यास नहीं होने से उनका मन ऊबता भी था, परन्तु किसी दिव्य वस्तु की प्राप्ति के लोभ में वे इस कार्य में निरत रहे ।

पू० गुरुदेव उनकी लगन और निष्ठा देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए एवं उन्होंने श्री केडियाजी को अनेक दिव्य बातें लिखकर दे दीं । यह लेखन फुलस्केप साइज के कागजों में लगभग चालीस पृष्ठ था ।

श्री केडियाजी ने इसे अपना परम सौभाग्य माना । इन दिव्य बातों को पढकर उन्हें बहुत ही आश्चर्य हो रहा था । आखिर श्री केडियाजी थे तो इस कलिकाल में जन्मे प्राणी ही । उनका मन इतनी बड़ी बातों को पचा नहीं पाया । पू० गुरुदेव की इन उक्तियों की सत्यता को जाँचने का उनका भाव प्रबल हो उठा । उनके पास उन्हें जाँचने की और दूसरी कोई कसौटी तो थी नहीं । उन्होंने सोचा क्यों न इन चालीस पृष्ठों में जो बातें पू० गुरुदेव ने लिखी हैं उन पर श्री पोद्दार महाराज की मोहर लगवा ली जाय ।

इस थोड़ी सी अश्रद्धाजनित भावहीनता ने श्रीकेडिया के द्वारा एक बड़ी भूल करवा दी । उन्होंने वे चालीसों पृष्ठ पू० पोद्दार महाराज को दे दिये और यह भी बता दिया कि इस (पू० गुरुदेव द्वारा लिखित) सामग्री को उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया है । उन पृष्ठों को पढकर पू० श्री पोद्दार महाराज ने इस प्रकार से उन्हें उपेक्षापूर्वक वापस कर दिया जैसे वे सर्वथा महत्वहीन हों, साथ ही यह भी कह दिया कि "बाबा (पू० गुरुदेव) तो सन्यासी एवं भावुक हैं । व्यावहारिक जगत से उनका कोई सम्बन्ध अथवा संपर्क रहता नहीं है । रात-दिन जगत से परे की बातें सोचते रहते हैं । ये बातें सर्वथा सारहीन हैं। सच्ची बात तो यह है कि यह सब मात्र थोथी भावुकता है । मैं तो मात्र एक साधारण गृहस्थ साधक हूँ । साधना करता हूँ और शास्त्रों की बात प्रवचन सत्संग में कहता हूँ ।"

श्रीकेडियाजी का पेट तो पहले ही छोटा था । इतनी कल्पनातीत उच्च-अवस्था की बातों को हृदयंगम करना उनके लिये संभव था ही नहीं और अब जब श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं ही उन सब बातों का निषेध कर दिया तो केडियाजी ने उन्हें पू० गुरुदेव के थोथे भावुक मन की उड़ान ही मान लिया । श्री केडियाजी के मन में पू० गुरुदेव के प्रति जो उच्च श्रद्धा थी वह ही अब नहीं रही थी, वह भी डगमगा गयी थी । उन्होंने यही मान लिया कि ये मात्र भावुक उडानें भर कर लोगों को भ्रमित करते हैं, पू० पोद्दार महाराज की चाटुकारी भर करते हैं । श्रीपोद्दारजी यदि इनकी बातों में तनिक सा भी सत्य तथ्य पाते तो उन्हें मेरे सम्मुख स्वीकार कर लेने में आपत्ति ही

.क्या थी । मेरे सम्मुख वे असत्य का आश्रय क्यों लेते । मैं तो उनका विश्वासी श्रद्धालुजन हूँ । वृन्दावन छोड़कर उनके पास आता हूँ ।

इधर तो श्री पोद्दार महाराज ने केडियाजी को उन बातों के संबंध में पू० गुरुदेव की थोथी भावुकता है - यह टिप्पणी की एवं उधर वे पू० गुरुदेव के पास जाकर एकान्त में उन्हें संकेत दे आये कि "केडियाजी -ऐसी बातें जानने के अधिकारी सर्वथा नहीं हैं एवं आपको लिखकर तो कभी भी ऐसी बातें किसी को भी नहीं देनी चाहिए ।"

श्रीपोद्दारजी का पू० गुरुदेव को इतना संकेत पर्याप्त था । उन्होंने श्री केडियाजी को तुरन्त बुलवाया और कहा कि "जो मैंने आपको लिखकर दिया है, उसमें कुछ संशोधन करना है । आप एक बार वह सब मुझे लौटा दीजिए।" श्री केडियाजी ने वह सामग्री सहर्ष पू० गुरुदेव को सौंप दी । उस सारी सामग्री के प्रति अब उनका आदर भाव ही नहीं रह गया था । श्रीकेडियाजी ने वह सामग्री निरर्थक तो मान ही ली थी अतः न तो उसे पुनः माँगी और न ही पू० गुरुदेव ने उन्हें फिर उसे लौटायी ।

**बाहर समीर उस पथ से ही उसको फिर ले जाता प्रियतम !**
**सौरभ से सनी हुई उसकी मोहकता अब बढ़ती प्रियतम !**
**पर गन्धफली का वह वन था, भौंरा कैसे आवे प्रियतम !**
**फिर थी बिखरी पत्रावलि, ले उद्दाम पवन भागा प्रियतम ।।**
**पंकिल थल में कुछ नष्ट हुई, काँटों की झाड़ी में प्रियतम !**
**कुछ गिरी बचीं फिर भी कुछ थीं, पर था विधान ऐसा प्रियतम !**
**हो जायें लुप्त अंकित बातें, लीला की तुमने ही प्रियतम !**
**दावा की एक लहर आयी स्वाहा हो गयी सभी प्रियतम।।**

**(भावार्थ)**

उन बातों को उस पिंजर-पथ से ही बाहर समीर ले जाता, अर्थात् अपने कक्ष में (श्री पोद्दार महाराज के पिंजर में) पू० गुरुदेव बैठे थे, एवं श्री केडियाजी उन बातों को उनसे प्रार्थना करके ले गये । अब तक तो उन बातों की मोहकता जैसी सौरभ से सनी हुई थी, बढ़ी ही थी । परन्तु हाय, वह गन्धफली का वन था, वहाँ उस सौरभ का सच्चा ग्राहक भ्रमर भला कैसे

आता, फिर भी उन बिखरी पत्रावलियों को लेकर उद्दाम पवन भागा । परन्तु हाय, कुछ कीचड़ के प्रदेश में नष्ट हो गयीं, कुछ कण्टकाकीर्ण झाड़ियों में गिर गयीं, कुछ गिरीं फिर भी कुछ बची थीं, परन्तु हे प्रियतम ! ऐसा ही विधान था कि वे अंकित बातें सर्वथा लुप्त हो जावें, तुमने ऐसी लीला की कि दावा की एक लहर आयी और सब स्वाहा हो गयीं ।

-------

श्रीकेडियाजी ने वह सामग्री पुनः प्राप्त करने का आग्रह भी नहीं किया और वे वृन्दावन वापस चले गये । वृन्दावन आने के कुछ दिनों पश्चात् उन्हें श्रीकृष्ण के स्वप्न में दर्शन हुए । उन्होंने ही केडियाजी के सम्मुख यह रहस्य खोला कि पू० गुरुदेव ने जो कुछ भी लिखा था, वह सर्वथा-सर्वांश में सत्य था। श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं को पूर्णतः संगुप्त रखने के लिये तुमसे वैसा कह दिया था ।

श्रीकेडियाजी को यह जानकर बहुत ही परिताप हुआ, परन्तु उस वस्तु की उत्कृष्टता पर सन्देह के कारण उनके हाथ में आयी श्रेष्ठतम सामग्री अब तो हाथ से निकल ही गयी थी । पश्चात् तो उसे पुनः प्राप्त करने का उन्होंने प्रयास भी किया कि वे पृष्ठ उन्हें पुनः मिल जावें परन्तु उड़ी हुई चिड़िया फिर कैसे हाथ आती ।

जिस प्रकार पू० गुरुदेव अपने कण्ठहार के रूप में श्रीपोद्दार महाराज के माहात्म्य की सत्तर-अस्सी अन्य भगवद् वाणियों को अपने कण्ठ में सदा धारण किये रहते थे, उन्हीं बातों के साथ ये चालीस पृष्ठ भी उन्होंने अपनी धरोहर बनाकर रख लिये । सभी तथ्य पू० गुरुदेव के हृदय हार तो बने हुए थे ही ।

शीत ऋतु की बात है । पू० गुरुदेव एकान्त में बैठे आग ताप रहे थे । अँगीठी में कोयले धधक रहे थे। उन एकान्त क्षणों में पू० गुरुदेव के पास पोद्दारमहाराज आये । पू० गुरुदेव ने उनका स्वागत किया । कुछ साधारण बातें करने के पश्चात् पू० पोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से कहा - "मैं वह सब देखना चाहता हूँ जो कुछ आपने भगवान् श्रीकृष्ण के संकेत से मेरे बारे में लिखा है ।" पू० गुरुदेव ने तुरन्त अपने गले से निकालकर वह लिखित सामग्री पू० पोद्दार महाराज को दे दी । वे उस सामग्री को वहीं पू० गुरुदेव के सम्मुख ही पढ़ गये ।

पढ़ चुकने के पश्चात् उन सभी पृष्ठों को पू० पोद्दार महाराज ने मोड़कर समेटा और पू० गुरुदेव के सम्मुख ही देखते-देखते उसे अँगीठी में

डाल दिया । उस दिव्य सामग्री को आग में डालकर श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से कहा - आप पर भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी ही कृपा है जो आपको यह सब बता देते हैं ।

पू० गुरुदेव अपनी आँखों से यह सब देख रहे थे । वे निश्चेष्ट-निष्पन्द बैठे रहे, और मुस्कराते रहे । उन्होंने श्री पोद्दार महाराज के प्रति कोई विरोध भी प्रकट नहीं किया कि आपने यह सब क्या कर दिया, न ही किसी भी प्रकार का क्षोभ ।

उन्हें तो पू० पोद्दार महाराज की रुचि के साँचे में ही अपने को ढालना था । ऐसा नहीं कि इसके पश्चात् उन्हें कोई भगवत्संकेत मिलने स्थगित हो गये हों, भगवान् श्रीकृष्ण तो यावज्जीवन उनसे पद-पद पर वार्ता करते थे, परन्तु ऐसे प्राप्त भगवदीय संकेतों को उन्होंने लिखना बन्द कर दिया । जब श्रीपोद्दार महाराज की रुचि ही नहीं तो क्यों लिखा जावे । अतः कागज पर मसिबिन्दुओं से लिखना स्थगित हो गया ।

## (पू० पोद्दार महाराज की महिमा का वर्णन)

परम गोप्य अतिशय अमल सुचि रस यह अनमोल।
कबहुँ न परगट कीजियै, कितहूँ वाचा खोल ।।१।।
अति विचित्र अति ही मधुर प्रेमी कौ संसार ।
सदा सकल दिसि प्रेमघन करत प्रेम विस्तार ।।२।।
सदा परस्पर मधुमिलन सदा सरस रति रंग ।
सदा जगत् विस्मृति, सदा प्रियतम प्रेमी संग ।।३।।
पच्यौ करै नरकाग्नि पै, पल-पल बाढ़ै प्रेम ।
प्रीतम के सुख सौं सुखी, यहै प्रेम को नेम ।।४।।
रस-अगाध सर रहिय नित मगन, उछरियै नाँय।
जानि न पावै पै न कोउ, कोउ न आवै जाय ।।५।।

### (दोहों का अर्थ)

यह महापुरुषों का लीला-माहात्म्य रस अतिशय निर्मल, पवित्र और परम अनमोल है । बडे-से-बडा मूल्य देकर भी यह प्राप्त नही किया जा सकता,

परन्तु भगवत्कृपा से सहज ही प्राप्त हो जाता है । इसे कभी भी वाणी से खोलकर (अनधिकारी के सम्मुख) प्रकट नहीं करो ।।।१।।

यह प्रेमी महात्माजनों का संसार अति ही मधुर एवं विचित्र है, वे सदा सब दिशाओं में प्रेम तथा प्रेम-वैभव का ही विस्तार करते रहते हैं ।।२।।

प्रेमी की बहुत ही विलक्षण स्थिति है, उसका अपने प्रियतम के साथ सदा परस्पर मधु मिलन, एवं सरलतम रति-रंग होता रहता है । उसे जगत की सदा विस्मृति ही रहती है ।।३।।

प्रेमी का शरीर चाहे घोर नरकाग्नि में पड़ा पचता रहे, परन्तु उसका अपने प्रियतम के साथ प्रेम पल-पल बढ़ता ही रहता है । वह अपने दुखों की ओर तो देखता ही नहीं उसकी दृष्टि तो अपने प्रियतम के सुख में ही अटकी रहती है और उसके सुख से वह निरन्तर सुखी रहता है । यही प्रीति का नियम है । ।।४।।

यह प्रेमरस का सरोवर अगाध है, इसका तल ढूँढने से भी नहीं मिलता। इसमें वह प्रेमी नित्य मग्न, डूबा रहता है; वह कभी उछलकर ऊपर नहीं आता। न तो उसे प्रिय में मग्न रहने के कारण कोई बाहर से कुछ जान पाता है, और न ही कोई उसके पास आ-जा ही पाता है क्योंकि उसका प्रेम और प्रियतम दोनों ही बाहर के सभी लोगों के लिये अगम्य और अगोचर होते हैं ।

-----

धन्य हैं वे जीव जो जगत् में लोक-कल्याणार्थ आते हैं, धन्य है वह काल, जब वे प्रकट होते हैं, धन्य है वह देश जहाँ वे विचरते हैं एवं धन्य है वे लोग जो उनके सम्पर्क में आकर उनकी सेवा में निरत रहते हैं । ऐसे महापुरुष मुक्त होने पर भी मुक्त न होकर जगत में जीवों के साथ उनके कल्याणार्थ विराजते हैं । इनका मंगलमय जीवन जगत् के महान मंगल के लिये ही होता है । अविद्या, अहंकार, ममत्व, आसक्ति आदि से रहित ये महापुरुष यंत्री भगवान के हाथों में यन्त्रवत् कार्य करते रहते हैं । इनके सारे कार्य भगवान् के ही कार्य होते हैं । ये भक्तिमार्ग के आचार्य, परम भक्त शिरोमणि, सर्वभूतहित में रत, जीवों के कल्याणार्थ ही जीते हैं ।

पू० पोद्दारजी के माहात्म्य के सम्बन्ध में जैसे श्री केडियाजी ने पू० गुरुदेव से जिज्ञासा की वैसे ही अन्य लोग जिज्ञासा करते थे । इन जिज्ञासा

करने वालों में श्री गंभीरचन्द जी दुजारी की प्रेरणा प्रमुख होती थी । पू० गुरुदेव के कथनानुसार उन्होंने भी एक माह तक एक लाख नामजप प्रतिदिन किया था । इन निम्नलिखित सभी बातों को बहुत कठोर नियम एवं भजन निष्ठा का पू० गुरुदेव के सम्मुख प्रदर्शन कर लोगों ने उनसे उगलवायी थीं । पू० गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज की रुचि का ध्यान रखते हुए यद्यपि इन्हें गोपनीय भी रखना चाहते थे, साथ ही वे सच्चे श्रद्धालुओं एवं जिज्ञासुओं को वास्तविक लाभ से वंचित भी नहीं करना चाहते थे। अतः उनके मुख से ये महत्वपूर्ण बातें प्रगट हुईं । श्रीदुजारीजी, लेखक के पू० मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीमोतीलालजी पारीक, श्रीगोवर्धनजी शर्मा, आदि सभी को उकसा-उकसा कर पू० गुरुदेव के पास भेजते और पू० गुरुदेव से अधिक-से-अधिक महत्वपूर्ण बातें दोहन करने की चेष्टा करवाते । जो दिव्य तथ्य उन दिनों रतनगढ़ प्रवास में सन् १९४१-४२-४३ ई० में प्रकट हुए उन्हें यहाँ सार भाव से दिया जा रहा है । वैष्णव जिज्ञासु जगत् इससे अवश्य लाभान्वित होगा । श्री राधेश्यामजी बंका ने अपनी रस-पल्लव नामक पुस्तक वाटिका के पत्र-पुष्प चतुर्थ भाग में भी ये तथ्य प्रकाशित कर दिये हैं ।

वर्तमान में इस जीवनी में पू० गुरुदेव का चरित्र सन् १९३६ के काल में ही चल रहा है, परन्तु प्रसंगानुसार पूर्व अध्याय में भी सात वर्ष आगे का घटनाचक्र जब उल्लिखित किया जा चुका है तो इस अध्याय में भी सात वर्ष अग्रिम के तथ्य दिये जा रहे हैं ।

श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी की पत्नी इधर बहुत ही रुग्ण रहीं । उनको देखने के लिये पू० पोद्दार महाराज बीकानेर भी पधारे थे । श्रीपोद्दार महाराज के आने के पश्चात् से वे ठीक होने लगीं । श्रीपोद्दार महाराज जानते थे कि मेरे आगमन को श्रीदुजारीजी चमत्कार के रूप में सर्वत्र प्रचारित करेंगे, अतः बहुत काल तक तो वे उनके आमन्त्रण की उपेक्षा ही करते रहे । पीछे आये एवं कुछ ऐसा ही योग भी बना कि उनके आगमन के पश्चात् वे मरणासन्न अवस्था से उत्तरोत्तर स्वस्थ होने लगीं । अतः श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी का ही पू० गुरुदेव के सम्मुख प्रमुख प्रश्न था कि क्या श्रीपोद्दार महाराज भगवान् की तरह सर्वशक्तिमान् हैं जो वे निज जनों के दुःख-दर्द भी दूर कर सकते हैं ? क्योंकि ऐसा अनुमान होता है कि उनकी कृपा से ही मेरी रुग्ण धर्मपत्नी ठीक हो गयी । क्या वे सर्वज्ञ हैं और सबके मन की बात भी जान ले सकते हैं ?

ये बातें मेरे पूर्वाश्रम के पू० मामाजी श्रीचिम्मनलालजी की डायरी में भी लिखी थीं ।

मैंने उन्हें उद्धृत कर लिया था । वे भी यहाँ दी जा रही हैं । पू० गुरुदेव के शब्द थे :-

"श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) से केवल पारमार्थिक सम्बन्ध रखना चाहिये। मेरी स्त्री अच्छी हो गयी, मेरा अमुक कार्य हो गया आदि बातों में यदि मन फँस गया, तो बहुत संभव है भविष्य में श्रद्धा घट जाय । यह तो संयोग था, अथवा भगवद्विधान था कि आपकी स्त्री स्वस्थ हो गयी, यदि अच्छी नहीं होती तो पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) क्या महात्मा नहीं होते ।

यों तो किसी प्रकार से भी पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) से जुड़ना, उन्हें स्मरण करना परम मंगलकारी है परन्तु समस्त जगत के शहंशाह बादशाह का अनुग्रह प्राप्त कर उस खजाने से मात्र पाँच रुपये का नोट माँगना, और उसे प्राप्त कर खुश होना जैसे बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती, वैसे ही पू० पोद्दार महाराज (श्री भाईजी) के विषय में इन तुच्छ चमत्कारों की कल्पना करके खुश होना है । लौकिक बातों को आपका मन यदि तनिक भी पकड़ता है और महत्व देता है तो मेरी समझ में पू० श्रीपोद्दार महाराज (श्रीभाईजी) से असली लाभ उठाने में बहुत ही विलम्ब हो जायेगा ।

यथार्थतः तो सभी को लौकिक बातों को भूलकर केवल पारमार्थिक लाभ की बात ही सोचनी चाहिए । लौकिक बातें तो इतनी साधारण, नगण्य एवं निम्नस्तर की हैं कि आगे चलकर इनसे श्रद्धा घट भी सकती है । जहाँ तक श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) की सर्वज्ञता का प्रश्न है, वे तो आपकी मान्यतानुसार ही आपके सम्मुख अपना रूप प्रकट कर देंगे । यदि आपकी मान्यता होगी कि मैं जो इन्हें बात जनाऊँगा इतनी ही ये बात जानते हैं, तो ये सर्वथा जनाने पर ही जानने की लीला कर देंगे और यदि सचमुच अन्तर्हृदय से आपका विश्वास है कि पू० पोद्दारमहाराज सर्वज्ञ हैं और मेरे घट-घट की सब बात जानते हैं, तो पूरा-पूरा सम्पूर्णरूप से विश्वास होने पर वे मन की सब बात निश्चय ही जान लेंगे ।

परन्तु तुच्छ सांसारिक संस्कारों को मन से निकाल ही देना चाहिए । सांसारिक चमत्कार सच्चे महात्मा की महिमा को घटाते ही हैं । आपका हृदय सरल है अतः आपने हृदय के भाव निस्संकोच साफ-साफ व्यक्त कर दिये, परन्तु महात्मा की महिमा और भगवान् की महिमा समान ही होती है । यदि

आन्तरिक सच्चे-हृदय से आपका पूरा-पूरा विश्वास हो जाय कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) महात्मा हैं तो उसी क्षण आप ऐसे विलक्षण पुरुष हो जायें कि लोग आपका दर्शन कर, परिचय प्राप्त कर चकित हो जावें । अभी तो यहाँ जितने भी लोग हैं, उनमें; बातें सुनने से और उन सुनी हुई बातों के आधार पर, मात्र ऊपरी मन में भाव की एक लहर आती है कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (पू० भाईजी) महात्मा हैं । अभी इस भाव की ठोस नींव जैसी पड़नी चाहिए, सर्वथा नहीं पड़ी है । यह ऊपरी स्तर का एक लहर-जैसा अस्थिर भाव भी अनन्त जन्मों के पुण्य, महान् भगवत्कृपाजनित सौभाग्य से ही हुआ है । भाव परम पवित्र एवं सुन्दर है, परन्तु इसकी नींव तो दृढ़ हो । दृढ़ नींव के बिना तो आस्था का महल खड़ा ही नहीं हो सकता । अतः बहुत ही ठोस अड़िग, मजबूत नींव खड़ी करनी चाहिए ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) को कोई भी महात्मा मानने लग जाय, फिर उसे कुछ भी करने-कराने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। क्योंकि महात्मा मिलें तथा साक्षात् भगवान् मिलें इसमें कहीं कुछ तनिक-सा भी अन्तर नहीं है । ऐसी सत्य यथार्थ मान्यता, जब तक अन्तःकरण मलिन है तब तक हो भी नहीं सकती । हम लोग महात्मा की बात सुनकर भी यह सर्वथा नहीं जान पाते कि यथार्थतः महात्मा की महिमा कितनी है और महात्मा है क्या ? जब अन्तःकरण पवित्र होगा तभी समझेंगे कि ये महात्मा हैं और इनकी कैसी महिमा है। इसलिये यदि सचमुच ही पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) में श्रद्धा बढ़ाना चाहते हैं और उनसे पारमार्थिक लाभ लेना चाहते हैं तो कम-से-कम प्रतिदिन एक लाख नाम-जप कीजिए । इसके बिना श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) जैसे सन्त की यथार्थ महिमा का ज्ञान होना सर्वांश में असंभव-सा है; श्रीभाईजी अथवा भगवान् बिना भजन किये ही किसी को इनकी महिमा का ज्ञान करा दें, वह बात दूसरी है।

एक बात आप सोचिये । आपके सामने श्रीभाईजी का जो पांचभौतिक ढाँचा दीखता है, वहाँ क्या है ? जैसे हम लोग पैदा हुए थे, जीव जिस प्रकार जन्म लेता है, उसी प्रकार श्रीभाईजी भी पैदा हुए थे । दूसरे शब्दों में, एक जीवात्मा आज से लगभग पचास वर्ष पहले पैदा हुआ था, जिसका नाम हनुमानप्रसादपोद्दार रखा गया । परन्तु भगवान् की कृपा से साधना के द्वारा वह इतनी ऊँची स्थिति पर पहुँच गया, जिसकी कल्पना भी हम लोगों को नहीं है । आज से पाँच-सात वर्ष पहले मानो भगवान् आयें और किसी भी जीव को

सर्वोच्च पारमार्थिक स्थिति दान करके उसे अपने हृदय में छुपा, लें और स्वयं उसके स्थान पर काम करने लगें -- ठीक-ठीक यही हालत यहाँ हुई है । श्रीपोद्दारमहाराज के कलेवर के भीतर जो अहंता थी वह तो भगवान् की सच्चिदानन्दमयी लीला में सम्मिलित हो गयी, अब उनके स्थान पर इस कलेवर के नियन्ता स्वयं भगवान् हो रहे हैं । वे इस कलेवर का नियन्त्रण तब तक करेंगे जब तक यह पाँचभौतिक कलेवर विद्यमान है । अब (भाईजी) पू० श्रीपोद्दारमहाराज तो हैं ही नहीं, जो हैं, सो सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र हैं, सर्वसुहृद हैं परन्तु वे अपने को सुगुप्त रखने में अति ही कुशल हैं । अतः वे श्रीपोद्दारमहाराज के स्वभाव, चेष्टा और क्रियाओं की सांगोपांग नकल करते हुए हमारे सम्मुख वैसा ही व्यवहार करेंगे जैसे वे पूर्वतः करते थे । वे आपसे उसी प्रकार बोलेंगे 'क्यों भाई ! राजी तो है ?' आपको तो पता ही नहीं कि यह कलेवर-मात्र ही पोद्दारजी का है, शेष तो सब कुछ और ही है । और वह इतना नाट्यकुशल है कि जगत् का स्रष्टा ब्रह्मा भी मोहित हो जाय ।

हम तो यही जानेंगे एवं मानेंगे भी कि श्रीभाईजी ने हमसे उदारता का व्यवहार किया, आत्मीयता, सौहार्द की नदी बहा दी, या हमारा तिरस्कार कर दिया, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । परन्तु हम यह कदापि विचार ही नहीं कर सकते कि साक्षात् श्रीकृष्णभगवान इस कलेवर के भीतर से मेरी बात का प्रत्युत्तर दे रहे हैं, मेरी बातें मनोयोगपूर्वक सुन रहे हैं, मुझे राय दे रहे हैं, मुझे आर्थिक सहायता कर रहे हैं । आप तो यही समझेंगे कि यह सब मुझे भाईजी ने कहा है, बताया है । सुनी-सुनायी बातों के आधार पर हम अधिक-से-अधिक इतनी ही श्रद्धा कर सकते हैं कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ऊँचे महात्मा, महापुरुष, महामानव, दयालु, सज्जन, भगवत्प्राप्त पुरुष हैं परन्तु हमारी यह आस्था हो ही नहीं सकती कि यहाँ इस कलेवर में साक्षात् भगवान् हमसे खेल कर रहे हैं ।

इसी तरह पूज्या माताजी के लिये वे बेटा ही बने रहेंगे, सावित्री की माँ के लिये वे पति बने रहेंगे, सावित्री के लिये वे पिताजी (बाबूजी) बने रहेंगे । किसी को उनके व्यवहार से रत्ती भर भी ऐसी गन्ध नहीं लग सकती कि भीतर का जीवात्मा है ही नहीं, कोई और ही सब यथायोग्य निर्वाह कर रहा है।

अब आप सहज में ही सोच सकते हैं कि इनके लिये आपके अन्तर की, घट-घट की जानना मात्र हँसी-खेल है, परन्तु यह सर्वज्ञता का प्रकाश उसी

के सम्मुख होगा जिसका इन पर संशयहीन विश्वास है कि यहाँ साक्षात् भगवान् ही इस कलेवर को यंत्र बनाकर क्रीड़ा कर रहे हैं । यह सत्य है कि शास्त्रों में भगवान् के विषय में हमने जो भी पढ़ा-सुना है, अथवा भविष्य में पढ़ें-सुनें अथवा जानेंगे वे सभी बातें, वे सभी माहात्म्य इस ढाँचे के भीतर प्रकट हैं ।

परन्तु हमारी ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति तो तभी होगी जब साधना करते-करते, भगवान् कृपा करके अपना पर्दा उठाकर अनुभव करावेंगे । हाँ, हम भगवान् से प्रार्थना करें कि श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की आत्मा इस समय हे प्रभो ! आपके सच्चिदानंदमय लीलालोक में कहाँ किस रूप में है ? आप हमें उसका दर्शन करावें अथवा उसका सान्निध्य दान करवावें, तो वे चाहें तभी हम पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की सत्य स्थिति समझ सकेंगे । पहले हमें भगवत्प्राप्ति होगी और इसके पश्चात् उनकी कृपा होने से ही श्रीपोद्दार महाराज की सच्ची लीलागत भावदेह अथवा उनकी पारमार्थिक अवस्था का हमें पता चलेगा । इसके सिवाय तो अन्य कोई उपाय संभव नहीं है ।

अभी तो यही तथ्य है कि साक्षात् भगवान् इस कलेवर के भीतर से कन्यादान कर रहे हैं, कल्याण का सम्पादन कर रहे हैं । परन्तु सब अत्यन्त गोपनीयरूप से कलेवर के ठीक स्वभाव, वृत्ति, बोली-चाली का सांगोपांग यथायोग्य नाट्य करते हुए । हम ऐसे अज्ञानी हैं कि कोई उनसे अधिक व्यवहारकुशल होने का अभिमान करता हुआ उन्हें व्यवहार की सलाह देता है, कोई उनके कार्यों की आलोचना करता हुआ उन्हें बुरा भला भी कहता है, परन्तु वे मायावी सब की सुनते हैं और मन-ही-मन अपने लीलाकौशल पर हँसते हैं ।

जिन भगवान् को खोजने के लिये अनन्तकाल तक तपस्या करनी पड़ती, वे स्वयं इतने सुलभ हैं, परन्तु हमारा विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है । भगवान् ने ऐसा माया का पर्दा डाला है कि कोई बिरला यह बात सुनेगा, और अति बिरला विश्वास करके निहाल होगा ।

यों तो जब साक्षात् भगवान आये हैं तो इसका अनन्त लाभ सबको मिलेगा । जिस पर भी इनकी एक बार भी दृष्टि ही पड़ेगी , वह भी बिना जाने पवित्र होकर कृतार्थ होगा ही, परन्तु यह सब तो अन्त में होगा। अन्त में हमारा कल्याण तो निश्चय ही हो जायेगा, क्योंकि किसी भी भाव से ही

सही, सम्बन्ध हुआ है साक्षात् भगवान् से । हमारा ही नहीं, जिस-जिस प्राणी को इनका दर्शन होगा, सभी तर जावेंगे । यह हो सकता है, जन्म और धारण करने पड़ें, जन्म किसी योनिका भी हो सकता है । परन्तु वे प्राणी अनन्त पुण्यशाली हैं जिन्हें एक बार भी इनका दर्शन प्राप्त हो गया है । वे इनके माहात्म्य के जानकार नहीं है, इतनी हीं कमी है ।

इससे भी बहुत ऊँची बातें हैं परन्तु वर्तमान में मेरी बताने की इच्छा नहीं है । ये बातें भी अनेक कारणों से मैंने बहुत ढ़क कर लिखी हैं। पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) की बात सुनने वाला एक तो मुझे वैसे ही प्रिय लगता है, दूसरे आपने एक लाख नामजप का नियम लिया है । आप नामजप का यह नियम निभाते जाइये, फिर भगवान् की प्रेरणा से स्वयं कोई आपको यथावसर, यथायोग्य बातें बताता रहेगा।

## महिमा की और गंभीरतम बातें

(ये गंभीरतम रहस्य की बातें भी पू० गुरुदेव ने सन् १९४३ ई० के आसपास ही अपने अन्तरंग सत्संग में कतिपय सज्जनों के सम्मुख प्रकट की थीं । अभी पू० गुरुदेव का जीवनक्रम तो सन् १९३६ ई० के अक्टूबर-नवम्बर माह के आसपास ही है । प्रसंगवश ही अग्रिम सात वर्ष की बातें इसलिये यहाँ दी जा रही हैं कि ये सब बातें पू० गुरुदेव को एक ही स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा ही भिन्न-भिन्न कालक्रम में कही गयी हैं। ये एक साथ संचयित वैष्णवों के सम्मुख आ जायें – यही उद्देश्य है)

जो साधना में दृढ़ निश्चय करके लगता है, उसपर भगवत्कृपा प्रकाशित होती ही है और उसे प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं में प्रत्यक्ष भगवान् का हाथ दिखने लगता है। ऐसे व्यक्ति का फिर महापुरुषों में आकर्षण हो जाता है । इसी प्रकार, किसी भी हेतु से सच्चे महापुरुष में आकर्षण होने मात्र से भी सर्वत्र भगवान् की सत्ता ही क्रियाशील हो रही है, यह अनुभव उनकी कृपा से होने लग जाता है । एक बात निर्विवाद है कि जो भी अधिक-से-अधिक भगवन्नाम नहीं लेगा, उसकी उन्नति बहुत ही मन्द गति से ही होगी । इसमें कोई भी बहाना, युक्ति अथवा कन्शेसन, अपवाद नहीं चल सकता । प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में तीन दोष, मल, विक्षेप एवं आवरण रहते ही हैं। जब

तक मल नहीं धुलेगा, विक्षेप नहीं मिटेगा, आवरण भंग नहीं होगा महात्माओं की बात मनमें नहीं ही बैठेगी, न ही उतरेगी । जब मन में मल भरा है तो मन में जगह ही नहीं है कि महात्माओं की श्रद्धा की बात वहाँ रखी जा सके, घुसाई जा सके । इसीलिये बहुत ऊँची बातें सुनकर भी मन महापुरुषों में दोष देखने लगे जाता है ।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की बातें आपने सुनी हैं, मैंने कही हैं, पर केवल एक बार की उस चर्चा का जो फल होना चाहिए था कि हम लोगों को श्रीपोद्दारमहाराज के रूप में सदा-सदा के लिये साक्षात् भगवान् ही क्रियाशील दिखने लग जाने चाहिए थे - वह हम लोगों में से किसी को भी नहीं हुआ । इसका कारण यही है कि मन में इतनी विषयासक्ति भरी है, इतना अहंकार और लौकिक सांसारिक स्वार्थ है कि उसमें इन बातों को स्थायी संचित रखने का स्थान ही नहीं शेष है ।

किसी को भी विश्वास कराना तो मेरे वश की बात नहीं है परन्तु जितनी बातें कही गयी हैं, वे यदि किसी के भी चित्त में महत्व पातीं तो एक ही आत्मसमर्पण की शुद्ध लालसा ही सबके मन में बच रहती । और आत्मसमर्पण की इस शुद्ध लालसा के चतुर्थांश का भी यदि उदय हो जाता तो इस जगत् के अणु-अणु में अपने-अपने इष्टदेव के सबको दर्शन होने लग जाते।

हम श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी)का संग करते हैं, परन्तु संग का उद्देश्य लौकिक स्वार्थ ही होता है, संग का स्वरूप और उद्देश्य भगवत्प्राप्त महापुरुष के विशुद्ध संग का नहीं होता । यदि इस विशुद्ध उद्देश्य को लेकर कि पू० पोद्दारमहाराज सच्चे सन्त हैं और मुझे सच्चे भगवत्प्राप्त-सन्त का संग करना है, कोई अपनी ओर से भरपूर चेष्टा भी करे तो फिर निश्चित मानिये, उसे पू० पोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) वह अनुपम दान दे जायेंगे कि जिसकी कल्पना भी कोई कर नहीं सकता । यह सर्वोत्तम बात है जो मैं (भाईजी) श्रीपोद्दारमहाराज के सम्बन्ध में कह सकता हूँ । सच मानिये, यदि ऐसा कोई अपने को बना सके तो फिर उसे वे अवश्य श्रीकृष्णलीला में प्रवेश करायेंगे। सच मानिये, भजन नहीं होने के कारण माया-जगत् के नीचे के धरातल का ही रूप हमारे सम्मुख आ रहा है, भजन करके देखिये फिर सन्तकृपा आपको लपेट कर ऐसे दिव्य स्वरूप की झाँकी करायेगी कि जिसकी कल्पना भी अभी

आपके लिये असंभव है । इनकी कृपा के एक कण का करोड़वाँ अंश भी आप किसी प्रकार ग्रहण करलें, तो भी निहाल हो जावें ।

मुझे तो इनके पास इनकी कृपा ही रखे हुए है । यहाँ जितने व्यक्ति हैं उनमें श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी की ओर मेरी दृष्टि अधिक आकर्षित होती है। मैं सोचता हूँ, यदि ये चाहे तो ऐसा बन सकते हैं ।

जिस दिन श्री भाईजी को जयसिडीह में भगवत्प्राप्ति हुई थी, उस प्राप्ति में और आज की उनकी स्थिति में धरती-आसमान का अन्तर है । वह दर्शन तो त्रिदेवों में एक देव श्रीविष्णु भगवान् का दर्शन था । परन्तु पश्चात् इन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। फिर और भी उच्च अवस्था हुई और युगल-सरकार के दर्शन हुए, फिर तो और भी अति उच्च अवस्था कि श्री राधारानी में सर्वथा इनका अहंकार सदा-सदा के लिये विलीन हो गया । यद्यपि यह अवस्था वाणी, मन, बुद्धि से परे की अति अनिर्वचनीय है, परन्तु जहाँ तक विवेचन किया जा सकता है शाखा-चन्द्र-न्याय से उतनी ही बात कही जा रही हैं। सचमुच ही श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की कृपा से जिस दिन भी कोई गोपीभाव की साधना करता हुआ गोपी बन जायेगा, उसी दिन वह ठीक-ठीक यथार्थतः समझ सकेगा कि राधारानी से एकात्म होना, उनमें लीन हो जाना, क्या बात होती है। उस समय वह भी गूँगे-का-गुड़-स्वाद की तरह अन्य को नहीं ही समझा सकेगा ।

मेरी यह धारणा है कि श्री राधारानी के साथ अभेदावस्था किसी-किसी विरले महापुरुष की ही होती है । जिसका उदाहरण एकमात्र अब तक केवल चैतन्य महाप्रभु ही हैं । इनके अतिरिक्त आधुनिक सन्तों में तो कोई नहीं है। श्रीराधारानी में अभेदावस्था की प्राप्ति तो अति दूर की बात है, इन श्रीराधारानी के इस रूप का दर्शन ही ब्रह्माजी एवं शंकरजी तक को दुर्लभ है। पद्मपुराण में यह कथा आती है कि श्रीनारदजी को इनके दर्शन होने पर श्रीगोपीजनों ने कहा है कि इस रूप का दर्शन जो तुम्हें हुआ है, त्रिदेवों को भी दुर्लभ है । ऐसी श्रीराधारानी का दर्शन पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) को हुआ और वे उसमें लीन हो गये । पू० पोद्दारमहाराज दासी का, मंजरी का, नर्म सखियों का, सबका उल्लंघन करते हुए सीधे श्रीराधारानी में सायुज्य लाभ करके कृतार्थ, कृतकृत्य हो गये । जो जीव हनुमानप्रसाद नाम एवं कलेवर का आश्रय करके पचास वर्ष पूर्व पैदा हुआ था, वह "मैं" हूँ इस अहंकार को "मैं राधा हूँ" इस भाव में सर्वथा-सर्वांश में लीन करके उन्हीं के भाव में तन्मय

हो गया । इसके पश्चात् जो अन्तःकरण इस पाञ्चभौतिक कलेवर के आश्रित है, वह तो अब उस सच्चिदानन्दमय राज्य की सर्वसमर्था शक्ति के द्वारा प्रकाशित हो रहा है ।

स्वयं भगवान् के अवतार में और यहाँ की स्थिति में अन्तर इतना ही है कि अवतार-काल में जो अवतरण होता है, वह पाञ्चभौतिक ढ़ाँचे का आधार लेकर नहीं होता । वह होता है, सर्वथा आत्म-मायाकृत, जहाँ पांच-भौतिकता का सम्बन्ध ही नहीं है । पांच-भौतिक पर्दा तो जड़ अविद्या का पर्दा है, यह योगमाया का पर्दा नहीं है । अतः पू० (भाईजी) श्रीपोद्दारमहाराज में साक्षात् परात्पर-परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ आवेशावतार के रूप में अवतरित हुए हैं। ये आज से पाँच-सात वर्ष पूर्व (अर्थात् भगवान् श्रीनारदजी के दर्शन के पश्चात्) अवतरित हुए हैं और पांच-भौतिक ढ़ाँचें के प्रारब्ध रहने तक यह अवतार रहेगा । श्रीराधाकृष्ण के संबंध में जो-जो बातें शास्त्रों में कही गयी हैं, और भविष्य में भी कही जा सकती हैं, वे सभी यहाँ प्रकट हैं । यदि कोई सच्चा श्रद्धालु होने की चेष्टा अथवा चाह करे तो उसे थोड़ा-बहुत परिचय तो निश्चय ही मिल सकता है । क्योंकि छिपाना तो उसी के लिये है जो अश्रद्धालु है । श्रद्धालु के लिये छिपाना तो है नहीं । उसकी श्रद्धा संत-रहस्य को प्रकट हो जाने में बाध्य कर देगी । परन्तु यदि कोई श्रीपोद्दारमहाराज से ही पूछने चलेगा कि "आप ऐसे हैं क्या ?" तो मेरी समझ में पूछने पर यही उत्तर मिलेगा कि "यह तो भाव की बात है, मैं ऐसा सर्वथा नहीं हूँ।"

यह मैं स्वयं अनुभव करता हूँ मानो इनके अन्तराल से राधारानी सर्वथा एक हलका-सा आवरण डाले लीला कर रही हैं; सर्वथा एक विलक्षण-स्त्री अनुभूति होती है, अभूतपूर्व । इस तथ्य पर विश्वास कराना मेरे वश की बात नहीं है । यह तो भगवान् राधाकृष्ण के ही वश की बात है ।

इस सम्बन्ध में पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) स्वयं ऐसी-ऐसी बातें दो-तीन बार कुछ प्रच्छन्न शब्दों में मुझे कह गये, जिससे मेरा विश्वास पुष्ट हो गया कि जो स्थिति मैंने बतलायी वह स्थिति उन्हें प्राप्त है । दूसरे शब्दों में, मुझे तो स्वयं ही राधारानी ने दया करके यह बतला दिया कि जिसके चरणों की कृपा की तुम खोज कर रहे हो, वह मैं इसी ढ़ाँचें में आई हुई हूँ । हनुमानप्रसादपोद्दार रूप जीवगत अहंता तो मुझमें विलीन हो गयी है और उसके स्थान पर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ मैं ही हूँ । तुम राधारानी

को प्राप्त करना चाहते हो, तो तुम तीन वर्षों से उसी के पास हो, केवल पांच-भौतिक देह का जो आवरण है, वह समय पर उठ जायेगा । जिस प्रकार अवतार-काल में श्रीकृष्ण का विग्रह एक स्थान पर दीखकर भी सर्वव्यापक था और यह दामोदर-बन्धन-लीला अथवा मुख में विश्वरूप दर्शन कराके भगवान् ने प्रकाशित भी कर दिया था, उसी प्रकार किसी भी प्रेमी को जब श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) में सत्यांश में उसका दर्शन होगा उस समय एकदेशिकता का प्रश्न ही नहीं रहेगा । यहाँ का देश सर्वथा अनिर्वचनीय हो जायगा । श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ने मुझे स्पष्ट कहा था कि दर्शन होते समय यह देश, यह काल सर्वथा नहीं रहता, सब कुछ सर्वथा-सर्वांश में सच्चिदानन्दमय हो जाता है । यह पांच-भौतिकता तो तभी तक है जब तक किसी को लीला के अथवा साक्षात् भगवान् के दर्शन नहीं हो रहे हैं । वास्तव में भगवान् और उनकी लीला ही सर्वव्यापक सच्चिन्मय तत्व है ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की दृष्टि इस जगत्, इस जगत् के किसी भी जीव अथवा (प्राणी) पर पड़कर कैसी कृपावर्षा करती है इसका उत्तर यही है कि स्वयं भगवान् राधाकृष्ण जिस कृपामयी दृष्टि से इस जगत् को, जगत् के प्राणियों को निहारते हैं, ठीक उसी दृष्टि से श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के नेत्र-गोलक भी देखते हैं । इसमें तनिक भी, कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता सर्वथा-सर्वांश में नहीं है । अब यह दृष्टि कैसी अभूतपूर्व कृपावर्षी है, यह बुद्धि से परे की बात है ।

जिज्ञासा करने में संकोच सर्वथा नहीं करना चाहिए परन्तु बात आपकी खोपड़ी में स्थिर टिकी रह जाय यह मेरे वश में नहीं है । शास्त्रों में पढ़िये, भगवान् ने जिसको भी एक बार भी देखा वे सब तर गये । वृन्दावन के जड़ देश की प्रतीति भी लीला के लिये ही होती है । वह स्वयं सच्चिदानन्दमय तत्व है । स्वयं भगवान् के सच्चिदानन्दमय विग्रह से ही इसका निर्माण हुआ है । हुआ है - यह कहना भी बनता नहीं है, क्योंकि वह अनादि काल से है, और अनन्त काल तक रहेगा ।

यहाँ इसी कमरे में, आपमें, मुझमें, सभी में भगवत्तत्व है, वृन्दावन भी है परन्तु वह अप्रकट है, परन्तु जिस स्थान पर पू० श्रीपोद्दारमहाराज का कलेवर है, उस स्थान पर वह कलेवर का पर्दा देकर पूर्णतया प्रकट है । इसका मेरे पास प्रमाण नहीं है, परन्तु साध्य-साधन यही है - मैं इसी का विश्वास कराना चाहता हूँ ।

शास्त्रों के प्रमाण से एवं युक्तियों से इस बात का ज्ञान होता है कि श्रीवृन्दावनधाम, अयोध्याधाम, काशी, मथुरा, जगन्नाथ आदि धाम जितने दिन अवतार रहता है उतने दिनों तक ही नहीं, वह स्थान सदा के लिये चिन्मय हो जाता है । ब्रजवासी महात्माओं की हजारों वाणियाँ, हजारों पद ही नहीं, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ भी प्रमाणित करते हैं कि भगवदवतार के तिरोभाव होने पर भी उस सच्चिन्मयी भूरेखा की चिदानन्दमयता अखण्ड ज्यों-की-त्यों बनी रहती है । अतः जब वह जमीन, जो जड़ है, अबुद्ध है, वह भी भगवदवतरण से चिन्मय हो गयी तो फिर यह भाईजी 'श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज' नाम वाला ढ़ाँचा भी तो चिन्मय होना ही चाहिए । क्योंकि पृथ्वी तत्व इस ढ़ाँचें में भी वही है जो वृन्दावनादि स्थानों में है । इतना शास्त्रीय प्रमाण तो मैं देख चुका हूँ कि भगवत्प्राप्त वैष्णवों का पांच-भौतिक शरीर साधारण शरीरों की तरह नहीं होता । जैसे यह वृन्दावन श्रीहरिदास स्वामी एवं प्रकाशानन्दजी को तो चिन्मय दिखता था, परन्तु शेष सर्वसाधारण तो उसे मात्र भूमिखण्ड ही देखते थे, इसी प्रकार श्रीभाईजी का पांच-भौतिक कलेवर हो तो गया है- परम दिव्य, परन्तु अनधिकारी को जड़ ही दिखेगा । इसे प्रमाणित करने की तो मेरी सामर्थ्य है नहीं, अब कोई विश्वास कर सके तो उत्तम ।

वास्तव में भगवत्प्रेम का मार्ग ही बड़ा विचित्र है । इसकी ऊँची अवस्था में पहुँचे महापुरुष की अवस्था इतनी विलक्षण, इतनी विचित्र हो जाती है कि उस अवस्था को जिन पर भगवान् श्रीकृष्ण की विशेष दया होती है वे बिरले प्राणी ही समझ पाते हैं । उस विशेष महापुरुष की स्थिति एवं अवस्था को लिखकर, पढ़कर, अथवा सुनकर कोई समझ ही नहीं सकता । वह एक अजीब पागलकी-सी अवस्था होती है । उस महापुरुष के द्वारा ऐश्वर्य मार्ग की भक्ति, भगवत्सेवा का आचरण हो ही नहीं सकता । वह महामधुरतम राज्य में जा पहुँचता है, जो अतुलनीय है । वैष्णव शास्त्रों को पढ़कर तथा अनुभवजन्य अनेक कारणों से मेरा यह विश्वास है कि भाईजी उस अतुलनीय अवस्था में पहुँचे हुए हैं ।

उनका जो पहले स्वभाव था, वह सर्वथा बदल गया है, उस पर रंग चढ़ते-चढ़ते इस जगत् की स्मृति ही उनके अन्तःकरण में संभवतया नहीं ही होती होगी । आप श्री मद्‌भागवत देखलें । प्रेमी की बात तो दूर रही, यथार्थ ब्रह्मज्ञानी की भी ऐसी दशा हो जाती है । जैसे मदिरा पीकर मनुष्य अपने वस्त्रों की सुधि भुला देता है वैसे ही यथार्थ ब्रह्मज्ञानी को यह भी पता नहीं

चलता कि मेरा शरीर बैठा है, चल रहा है, खा रहा है, क्या कर रहा है । श्री मद्भागवत में इसका द्योतक स्पष्ट श्लोक है । फिर श्रीपोद्दारजी (भाईजी) को जो प्रेम की उच्च अवस्था प्राप्त है वह तो ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात् की अवस्था है । ऐसी अवस्था में जो इनका शरीर ठीक-ठीक व्यवहार का काम करता है, उसे देखकर यही लगता है कि श्रीकृष्ण की विशेष इच्छा से जगत् का कोई अशेष मंगल कार्य करवाना ही उद्देश्य है जिससे उनके अन्तःकरण को यंत्र बनाकर वे स्वयं उसे प्रयुक्त कर रहे हैं ।

आजतक ऐसी पारमार्थिक स्थिति का वर्णन मैंने किसी भी शास्त्र में नहीं पढ़ा है । श्री श्रीचैतन्य महाप्रभु के सिवा किसी भी भक्त के जीवन में इस स्थिति का संकेत भी प्राप्त नहीं होता । मैं यह भी नहीं कह सकता कि अनादि जगत् के इतिहास में श्रीभाईजी (पोद्दारमहाराज)पहले उदाहरण हैं । ऋषियों ने जान-बूझकर, मालूम पड़ता है, शास्त्रों में इस स्थिति का उल्लेख नहीं किया, और कहीं हुआ भी होगा तो मेरी दृष्टि में नहीं आ पाया ।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की कृपा की रस्सी में हम लोग एक बार के लिये बँध चुके हैं, अब शक्ति नहीं कि चाहने पर भी चले जायें । जायेंगे तो भी कुछ दिन घूम-फिरकर वापस आना पड़ेगा।

वे किसी से खेल करें तो दूसरी बात, वह कुछ दिन के लिये भले ही चला जाय, नहीं तो असंभव है, कोई जा नहीं सकता ।

बिना किसी संशय के इस बात को मान लीजिये श्रीभाईजी की कृपा प्रकाशित होकर एक क्षण में समस्त कलुषता मिटाकर सभी को अपने सच्चे संग का अधिकारी बना सकती है । पाँच-सात व्यक्ति तो मेरी दृष्टि में है जिन पर अपने आप श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा प्रकाशित होगी । श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) यदि अपनी लीला पहले ही संवरण करलें तो भी उनके प्रारब्ध शेष रहने तक वे उनकी सँभाल करेंगे । यदि थोड़ा भी कोई उनमें से उन्मुख हुआ तो वे प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे सँभालेंगे । सारांश यही है कि कुछ व्यक्ति जो इस प्रकार पू० पोद्दारमहाराज के प्रति भाव रखने वाले हैं, वे चाहे कितने ही मलिन क्यों न हों, एक क्षण में पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) उन्हें अपनी अहेतु की कृपा से साथ ले जाने के लिये अधिकारी बना लेंगे । इनके लिये कुछ भी असंभव नहीं है । पद्मपुराण में यह कथा आती है 'एक भक्त के लिये एक गोपी से श्रीकृष्ण ने कहा - "प्रिय सखी ! इसे अपने समान बनालो । उसी क्षण उस गोपी ने उसे 'गोपी' बनाकर श्रीकृष्ण के चरणों में

बैठा दिया और एक वीणा देकर कहा - मेरे प्राणनाथ को भजन सुनाया कर। ठीक इसी प्रकार अथवा इससे भी विलक्षण ढंग से श्रीपोद्दारमहाराज उन पाँच-सात व्यक्तियों को अपने समान बनाकर श्रीकृष्ण की सेवा में अपने साथ रख लेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ।

इनमें विषमता है नहीं जो एक को करें और दूसरे को छोड़ दें परन्तु शास्त्रों में जय-विजय पार्षदों की बात है । वैसी कोई बात हो तो आश्चर्य नहीं । परन्तु नहीं तो जहाँ तक मन-वाणी की सामर्थ्य है, मन की पहुँच है सर्वोत्तम पारमार्थिक स्थिति- श्रीकृष्ण की लीला में सेवाधिकार प्राप्त कर लेंगे।

यद्यपि कृपा के प्रवाह को विषयासक्ति रोकती है, परन्तु वस्तु-गुण इतना अधिक है कि विजय उसकी ही होगी । वे सब उस कृपा के प्रवाह में बह जायेंगे ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) भक्त वाञ्छाकल्पतरु हैं । उनका मन से बार-बार चिन्तन करना, श्रद्धालुओं के मध्य उसकी चर्चा करना, अपना सम्पूर्ण विवेक एवं धैर्य बटोरकर अधिक-से-अधिक इनके पास रहना, यही कायिक, वाचिक एवं मानसिक संग है । यह करते-करते श्रीपोद्दारमहाराज के प्रति ऐसा आकर्षण बढ़ेगा, लगेगा मानो जादू होता जा रहा है । हठात् विलक्षण ढंग से ऐसी श्रीपोद्दारमहाराज प्रेममयी दृष्टि डालेंगे कि आप सभी प्रेम में विभोर हो जाओगे ।

श्रीभाईजी की चरणरज ब्रजरज से तनिक भी न्यून नहीं है । पू० भाईजी के पास रहना ब्रजवास ही है अपितु उससे भी कुछ अधिक महत्वपूर्ण है । ब्रज का महत्व जिन कारणों से है, उससे प्रबल कारण इस कलेवर में अभिव्यक्त हैं।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज के चरणों में लेशमात्र भी प्रेम हो जाय, प्रेम न भी हो तो कम-से-कम इतना अवश्य ही बना रहे कि हम कहीं भी रहें, सदा भाईजी के चरणों में लौटते रहने की लालसा से चित्त तरसता रहे ।

## श्री गोयन्दकाजी का गोरखपुर आगमन

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का गोरखपुर आगमन दो-तीन माह की लम्बी अवधि के पश्चात् ही संभव हो सका । श्री सेठजी से पू० गुरुदेव का मिलन हुआ । श्रीसेठजी को पू० गुरुदेव ने अपने मानस-परिवर्तन का कुछ भी

आभास नहीं होने दिया । श्रीसेठजी के जहाँ भी सत्संग होते- चाहे गीताप्रेस अथवा श्रीघनश्यामदास जालान के घर पर, पू० गुरुदेव उसमें अवश्य सम्मिलित होते ।

हाँ, उनकी आन्तरिक अनुभूति में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया था । पू० गुरुदेव बाँकुड़ा में जब श्रीसेठजी से मिले थे, उन्हें श्रीसेठजी के स्थान पर निर्गुण-निराकार आनन्द तत्व ही घनीभूत आकृति-विग्रह बना दृष्टिगोचर हुआ था। बाँकुड़ा में एक बार श्रीसेठजी कुछ मित्र-व्यवसाइयों के साथ घिरे मोटर में सवार होकर जा रहे थे । पू० गुरुदेव उनके साथ थे । पू० गुरुदेव ने उस समय उनकी आन्तरिक अनुभूति के संबंध में उनसे प्रश्न किया । श्री सेठजी ने मोटर में यात्रा करते-करते बताया कि सत्य मात्र आनन्द ही आनन्द है, यह मोटर, ये सेठ साहूकार, ये बाँकुड़ा शहर, आप, मैं, गाड़ी का ड्राइवर आनन्दाकाश में तिरमिरों की तरह असत्, प्रातीतिक ही अनुभव हो रहे हैं । ये आकृतियाँ स्वप्न से भी अधिक असत् हैं । पू० गुरुदेव की भी उन दिनों यही अनुभूति होती थी, अतः अनुभव-साम्य के कारण श्रीसेठजी का सहवास और सत्संग उन्हें बहुत ही रुचिकर लगता था ।

परन्तु इस बार श्रीसेठजी से प्रथम मिलन में ही जब उन्होंने श्रीसेठजी के स्थान पर अपने ही आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति देखी तो वे आश्चर्यचकित हो गये । यह वही मूर्ति थी जो उनके दर्शन-पथ में सदा-सर्वदा बनी रहती थी । उसमें परिवर्तन इतना ही था कि द्विभुज के स्थान पर यह चतुर्भुज थी, इसके पीछे कदम्ब-वृक्ष लुप्त हो गया था और चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म ऊर्ध्व आयुध थे । वंशी वहाँ नहीं थी । इस मूर्ति के नेत्रों में चंचलता के स्थान पर अतिशय गंभीर स्थिरता थी । अपने अन्तर्भूत घन-आनन्द से इस मूर्ति के नेत्र आधे मुँदे थे । इतना ही नहीं, श्रीसेठजी के सभी निकटस्थ जन श्रीघनश्यामदास जालान, श्रीमोतीलाल जालान, श्रीहरिकृष्णदास गोयनका, आदि उन्हें भगवान् चतुर्भुजनारायण के वैकुण्ठवासी पार्षद दृष्टिगोचर होते थे । वे सभी चतुर्भुज, सभी नवघन-मेघवर्ण, मस्तक पर मुकुट, कानों में मकराकृत कुंडल, वक्षस्थल में कौस्तुभ एवं वनमाला धारण किये, सभी शंख-चक्रादि आयुधधारी होते थे । पू० गुरुदेव सभी को मन-ही-मन प्रणाम करते । उन्हें ऐसा प्रतीत होता था, मानो साक्षात् वैकुण्ठधाम ही पृथ्वी पर उतर आया है । श्रीसेठजी का विलक्षण भागवती वैभव देख पू० गुरुदेव चकित हो जाते थे ।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का गोरखपुर-आगमन अल्पकालीन था। उन्हें शीघ्र ही ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव के लिये चूरू जाना था। वे गीताप्रेस की व्यवस्था-सम्बन्धी विचार-विमर्श में उलझ गये । श्रीसेठजी पू० गुरुदेव को भी अपने साथ ही चूरू ले जाना चाहते थे । श्री सेठजी लोकसंग्रही सन्त थे । लोक-कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी होने से वे भारतवर्ष के ग्राम-ग्राम में श्रीमद्‌भगवद् गीतोक्त निष्काम-कर्मयोग का प्रचार करना चाहते थे । अतः वे चाहते थे कि 'गीतातत्व विवेचनी' के कार्य के साथ पू० गुरुदेव जनसमुदाय में अपने प्रवचनों द्वारा गीता का प्रचार करें । प्रचार की आसक्ति उनमें अत्यधिक थी, कोई यदि सुनने उनके पास नहीं आवे, तो वे उसे सुनाने उसके घर पहुँच जाते थे । सेठजी की दैनन्दिनीचर्या भी एकान्तिक नहीं थी । वे मात्र त्रिकाल संध्या करते समय, गायत्रीजप के लिये तो एकान्त में रहते, शेष समय तो वे चारों ओर कार्यकर्ताओं अथवा जिज्ञासुओं से घिरे ही रहते थे । ब्राह्ममुहूर्त में वे उठ जाते थे, तब से मध्य-रात्रि तक वे अखण्ड एक पल भर भी विश्राम न करते हुए कर्म में लगे रहते थे । उनके सहयोगी भी ऐसे ही परिश्रमी थे । कर्म ही उनकी उपासना था । निष्काम-कर्म को ही वे चित्त-शुद्धि का सबसे अमोघ उपाय मानते थे । भगवान् की स्मृति, भगवान् की सन्निधि का अनुभव करते हुए दिन रात निष्काम-कर्म में लगे रहना, एक क्षण भी कठोर कर्म से हटकर चित्त प्रमाद न कर पावे, इस सावधानी की वे अपने अनुयायियों से पूरी आशा रखते थे । सत्संग-श्रवण एवं सत्संग-व्याख्यान को भी वे इतना प्रामुख्य देते थे कि उनका वश चलता तो वे चौईसों घण्टे सत्संग करवाते रहना चाहते थे ।

पू० गुरुदेव इधर दूसरी धारा में बह चले थे । इधर तीन-चार माह से तो हनुमानगढ़ी के निर्जन स्थान में वे एकान्त कमरे में ही बन्द रहते थे। लोगों से मिलने-जुलने की तो उनकी वृत्ति ही नहीं होती थी, अतः उनके पास कोई आता ही नहीं था ।

उनके पास तो उनके आराध्य वंशीविमोहन रूप में सम्मुख रहते और वे उनके अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य प्रेम में डूबे रहते । अपने आराध्य-भगवान् की परम दिव्य कृपा-सुधावर्षा में उनका अहं, मन, चित्त सब डूबा रहता । उनकी मन की आन्तरिक रुचि यही होती थी कि सम्पूर्ण बाह्य संसार विस्मृत हो जाय और वह साँवरा-सलोना मुरलीमनोहर उनसे अपनी मधुरातिमधुर प्रीतिभरी वाणी में बोलता रहे । वह जो इच्छा हो, सो बोले, चाहे

पोद्दारमहाराज की स्तुति करे, चाहे कुछ भी कहे-सुने, परन्तु वह सर्वेन्द्रिय-मनोहारी उनके सम्मुख बना रहे ।

इधर श्रीसेठजी उन्हें प्रवचन एवं कर्म में लगाकर लोक-कल्याण में प्रवृत्त करना चाह रहे थे । लोक-कल्याण के लिये लोक होना परमावश्यक है । जब लोक होगा, तब न लोक-कल्याण होगा । उनकी वृत्ति तो लोक के रूप में वृन्दावनविहारी को देखना चाह रही थी । वे तो गोपीभाव की इस भूमि को वरण करना चाह रहे थे कि

> **ऊधो मन न भये दसबीस ।**
> **एक हुतो सो गयो श्याम सँग, को अवराधै ईस ।।**

ईश्वर होय तो ईश्वर की आराधना हो, ब्रह्म हो तो ब्रह्म ज्ञान का प्रयास हो, जब मन ही प्रियतम श्यामसुन्दर के संग चला गया, और मन एक ही था, अनेक भी होते तो दूसरे मन से ब्रह्मज्ञान एवं ईश्वराराधना हो जाती, अब कौन, कैसे उद्धव के उपदेश को अपने में उतारे ?

इसी प्रकार पू० गुरुदेव का तो मन ही लोक को छोड़कर अपने प्रियतम श्यामसुन्दर में ही लय होना चाह रहा था, अब लोकोद्धार भला हो तो कैसे हो ? वे निरन्तर वैचारिक द्वन्द्व में हो गये थे । उनके इस मन-मस्तिष्क की परिवर्तित दशा में तो वे गीतातत्त्वांक का कार्य भी कर पावेंगे, कर सकेंगे, यही निश्चित नहीं कहा जा सकता था ।

फिर श्री गोयन्दकाजी के रूप में भी तो उनके आराध्य ही हैं । वही मनोहारी मुखछवि, वही सर्वांग-सुन्दर रूप, मात्र दो भुजा के स्थान पर चार भुजायें और आयुध । वंशी त्याग देने मात्र से वे बदल गये हों, सो तो है नहीं। तब उनके आदेश की सर्वथा अवहेलना भी कैसे करें ? भगवान् नारायण सर्वपूज्य तो हैं ही । फिर उन्होंने ही गीता कार्य का स्वयं ही श्रीसेठजी के सम्मुख प्रस्ताव रखा था। वे वचन देकर उसकी रक्षा न करें - यह भी शोभनीय कैसे होगा ? उन्होंने यह वचन भी एक महासिद्ध सन्त को दिया है । इस वचन का पालन तो उन्हें पूरी प्राणशक्ति लगाकर करना ही चाहिये ।

इस द्वन्द्वात्मक, अवश स्थिति में ही पू० गुरुदेव को चूरू जाना पड़ा।

## चूरू-प्रस्थान

(ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम का वार्षिकोत्सव)

जयति देव, जयति देव जयदयालु देवा ।
परमगुरु परम पूज्य परम देव, देवा ।।
सब विधि तव चरन-सरन आइ पर्‌यौ दासा ।
दीनहीन अति मलीन, तदपि सरन आसा ।।

पातक अपार किन्तु दया को भिखारी ।
दुखित जान राखु सरन पापपुंजहारी ।।
अबलों के सकल दोष छमा करहु स्वामी ।
ऐसो करु जाते पुनि हौं न कुपथगामी ।।

पात्र हौं, कुपात्र हौं, भले अनधिकारी ।
तदपि हौं तुम्हारो अब, लेहु मोहि उबारी ।।
लोग कहत तुम्हरो सब, मनहु कहत सोई ।
करिय सत्य सोइ, नाथ ! भव-भ्रम सब खोई ।।

मोरि ओर जनि निहारि, देखिय निज तनही ।
हठ करि मोहि राखिअ हरि ! संतत तल पनही ।
कहौं कहा बार-बार जानहु सब भेवा ।
जयति, जयति-जयदयालु, जय दयालु देवा ।।

(पू० श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार-रचित गुरु-महिमा का पद)

(भावार्थ)

हे जयदयालु (गोयन्दका) नामधारी देव, नारायण भगवान् ! आपकी जय हो । हे देव, महानारायण ! आपकी सदा ही जय हो । आप परम गुरु हो, परम पूज्य हो, सब देवों के परमदेव हो । मैं दास आपकी चरण-शरण में सब प्रकार से आकर पड़ गया हूँ । मैं महादीन हूँ, सब प्रकार से हीन हूँ, अति मलीन हूँ, फिर भी आपकी चरणों की कृपा की आशा लेकर आया हूँ । मेरे

अपार पातक हैं, फिर भी मैं आपकी दया का भिखारी हूँ । हे पाप-पुंज-हारी मुझे दुखी जानकर अपनी शरण रख लीजिये । अब तक के जितने दोष-अपराध हों, वे हे स्वामी ! क्षमा कर दीजिए एवं ऐसी कृपा कीजिए जिससे भविष्य में मैं कुपथगामी नहीं बन, सकूँ । मैं पात्र हूँ, कुपात्र हूँ, भले अनधिकारी हूँ, परन्तु फिर भी तुम्हारा हूँ, अब तो मुझे उबार लीजिये । सब लोग मुझे तुम्हारा कहते हैं, मेरा मन भी ऐसा ही कहता है । अब तो मेरा संसार एवं सांसारिक-जनों के प्रति जो अपनत्व का भ्रम है, वह मिटा दीजिए और इसे ही सत्य कर दीजिए कि मैं तुम्हारा हूँ । प्रभो ! मेरी ओर मत देखिये; अपनी ओर ही देखिये । मुझे हठपूर्वक, हे हरि ! अपने चरण-पादुका के तले में रखिये, जिससे मैं निरन्तर आपके चरणों का संस्पर्श प्राप्त कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं बार-बार क्या कहूँ, आप सब भेदों के जानकार हैं ! हे जयदयालु गोयन्दका-रूप श्रीमन्नारायणप्रभु आपकी जय हो, जय हो, सदा जय हो ।

-----

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयनका का जन्म-स्थान चूरू था । आज भी चूरू मे उनकी पैतृक हवेली है । जिस कमरे में उनका जन्म हुआ एवं जहाँ उन्हें सर्वप्रथम भगवान् नारायण के दर्शन हुए, अभी तक तो ये सभी स्थान सुरक्षित हैं ।

गोरखपुर से चूरू पहुँचने में उन दिनों तीन दिन की रेल-यात्रा करनी पड़ती थी । गोरखपुर से सायंकाल अवध-तिरहुत रेलवे से चलते, वह प्रातः लखनऊ स्टेशन पहुँचाती । वहाँ से पूर्वी-रेल द्वारा दिल्ली पहुँचना होता था । यह गाड़ी भी दिनभर लखनऊ रुकने पर सायंकाल मिला करती थी । फिर बीकानेर-स्टेट-रेलवे भी दिल्ली से लगभग सायंकाल सात बजे छूटती थी सो मध्यरात्रि २ बजे चूरू पहुँचाती थी ।

श्रीसेठजी स्वयं तो फर्स्टक्लास में चलते थे, क्योंकि वे अर्थसम्पन्न गृहस्थ वैश्य थे। पू० गुरुदेव तो सन्यासी थे, उन्हें तो कम-से-कम आर्थिक भार किसी गृहस्थ पर पड़े - यह भावना रखकर निम्नतम श्रेणी में ही यात्रा करनी चाहिए, अथवा पैदल ही चलना चाहिए, ऐसी श्रीसेठजी की मान्यता थी । अतः वे पू० गुरुदेव का थर्डक्लास का ही टिकट कटाते थे । उन दिनों निम्न-श्रेणी में कोई रिजर्वेशन नहीं होता था, मात्र उच्च-श्रेणी में ही सीट अथवा

रिजर्वेशन की व्यवस्था थी । निम्न-श्रेणी में बेशुमार यात्री भेड़-बकरियों की तरह भरे चलते थे । अत: लोग भीड़ को रोकने के लिये थर्डक्लास कम्पार्टमेंट के दरवाजे बन्दकर भीतर से सिटकनी लगा लेते एवं बाहर से आने वाले यात्रियों को अन्दर घुसने से मना ही कर देते थे । सबल यात्री तो लड़-झगड़ कर खिड़कियों से भी घुस जाते थे, परन्तु निर्बल-बूढ़े, स्त्रियाँ, बच्चे अन्दर नहीं घुस पाते थे ।

पू० गुरुदेव की इन दिनों ऐसी मन:स्थिति थी कि उन्हें प्रत्येक जन-जन में उनके आराध्य भरे दिखते थे । उनके आराध्य-भगवान् बाहर स्टेशन प्लेटफार्मों में परेशान इधर-उधर दौड़ते फिरें - रेलगाड़ी के डिब्बों के बन्द दरवाजे खटखटावें और पू० गुरुदेव भीतर सुख-सुविधा से यात्रा करें - यह उन्हें भला कैसे रुचिकर होता । अत: वे यात्रियों के विरोध के उपरान्त भी कम्पार्टमेंट का दरवाजा खोल देते और द्वार पर खड़े होकर बाहर परेशान भीड़ को आह्वान करके अपनी बोगी में भर लेते । अतिशय भीड़ के आ जाने से उन्हें यद्यपि बहुत ही कष्टप्रद यात्रा करनी पड़ती थी, अन्य सहयात्री भी उन पर बहुत क्रोध करते परन्तु वे परेशान यात्रियों को अपना कम्पार्टमेंट खोलकर बुलाये बिना नहीं रहते । इस विचित्र स्वभाव के कारण गुरुदेव की संपूर्ण यात्रा ही अतिशय कष्टप्रद होती थी । यात्रा में न तो उनके शौच-स्नान की ही समुचित व्यवस्था हो पाती, न ही भिक्षा की । परन्तु पू० गुरुदेव को एक अभिनव सन्तोष यह समझकर अवश्य होता था कि मेरे तप एवं कष्टभोग के उपरान्त भी मेरे विश्वरूप में अभिव्यक्त आराध्य श्रीकृष्ण को किंचित् सुख हो गया ।

इस तरह बहुत ही कष्टदायक यात्रा करके पू० गुरुदेव प्रथम बार राजस्थान की स्वर्ण-सी रेतीली भूमि में अपने चरण रख सके । ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू स्टेशन के पास ही था । इस पवित्र संस्था में बालकों को शैशवावस्था में ही भरती कर लिया जाता था । उन्हें भोजन,आवास की सब सुविधाएँ तथा पुस्तकें, कापियाँ आदि सभी शिक्षा-सहयोगी सामग्रियाँ मुफ्त में संस्था द्वारा प्रदान की जाती थीं । वर्षभर का खर्चा समर्थ ब्रह्मचारियों से भी बहुत ही सामान्य, मात्र कहने भर का ही लिया जाता था ।

शिक्षक अधिकांशत: सेवा-परायण, विद्वान, सेठजी के सिद्धान्तों के अनुयायी, निष्काम-कर्मयोगी होते थे । वे ब्राह्ममुहूर्त से कार्य में लगते थे, रात्रि को दस बजे तक बच्चों की सेवा पूर्ण भगवद्भाव रखते हुए करते थे ।

बच्चों को ब्राह्ममुहूर्त में ही शौच-स्नान से निवृत्त होकर प्रातः संध्या करनी पड़ती थी । सभी बालक यज्ञोपवीतधारी एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जाति के ही होते थे । ये खादी के ही पीत वस्त्र पहनते थे । सिले वस्त्र शीतकाल में ही पहने जाते थे । ग्रीष्म में तो इनके स्वस्थ शरीरों का कटि से ऊपर का भाग निर्वस्त्र ही होता था । ये पादुका नहीं पहनते थे, पहनते थे तो काठ की खड़ाऊ पहना करते । प्रातः एवं रात्रि में प्रत्येक बालक को आधा किलो दूध मिलता था । इन्हें प्रात:काल व्यायाम एवं योगासन कराये जाते थे । आश्रम में वृक्षों का सिंचन, पुष्पों की लताओं को पानी देना, एवं संपूर्ण आश्रम की स्वच्छता में बच्चों का पूरा योगदान रहता था । इनका शयनकाल मात्र ६ घंटे होता था, शेष सभी समय ये या तो यज्ञ-यागादि-धर्म-निष्ठ कार्यों में लगे रहते अथवा परिश्रमपूर्वक अध्ययन में । इन्हें व्यायाम, योगादि के साथ धार्मिक प्रवचन करना भी सिखाया जाता था । गीता कण्ठस्थ करना, उसका अन्वय, पदच्छेद एवं व्यापक अर्थसहित श्लोक-श्लोक का विश्लेषण करना, इनके अध्ययन का अंग था । इसके साथ ही शिक्षा-बोर्ड द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम से इन्हें दसवीं कक्षा तक पढ़ाया जाता था । अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, व्याकरण, कर्मकाण्ड, अमरकोश, गणित आदि सभी विषयों में बालक पूर्ण मेधावी होते थे। साथ ही इन्हें परिश्रमी जीवन का ऐसा अभ्यास करा दिया जाता था कि जीवनभर ये प्रमाद, आलस्य से रहित अति ईमानदार, सच्चरित्र, कठोर परिश्रमी जीवन व्यतीत करने के अभ्यासी हो जावें।

वार्षिकोत्सव के दिन सुबह लगभग सात बजे प्रात:काल से ही बच्चे पहले व्यायाम,कुश्ती,योगासन,तथा जिमनाष्टिक के खेलों का प्रदर्शन करते थे। इनमें जो सर्वप्रथम आते उन्हें पुरस्कार-स्वरूप गीताप्रेस की बालोपयोगी पुस्तकें दी जाती थी । इसके पश्चात् इनकी, गीता, रामायण संबंधी परीक्षा होती थी। सभी बालकों को प्रायः गीता कण्ठस्थ होती थी, परन्तु इनसे यह पूछा जाता कि अमुक अध्याय का अमुक श्लोक कौनसा है । पीछे किसी श्लोक का उच्चारण कर, उसका अध्याय तथा वह कौनसी संख्या का श्लोक है यह पूछा जाता था । फिर उसका अर्थ पूछा जाता । उसका पदच्छेद, अन्वय एवं व्यापक अर्थ बालक को बतलाना पड़ता। उच्च-कक्षा के विद्यार्थियों से शंका-समाधान भी की जाती थी। वार्षिकोत्सव के समय बालकों के अभिभावक भी बुलाये जाते थे। बालकों का कठोर अनुशासन युक्त परिश्रमी, स्वस्थ शरीर तथा अध्ययन देखकर अभिभावक प्रायः कृतार्थता का अनुभव किया करते थे।

वार्षिकोत्सव में बच्चों के प्रदर्शन के पश्चात् श्रीसेठजी एवं स्वामी रामसुखदासजी महाराज सार्वजनिक सत्संग कराया करते थे। उस दिवस सायंकाल सार्वजनिक सभा में पू० गुरुदेव का प्रवचन हुआ । उनके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज का भक्तिभावपूर्ण प्रवचन हुआ। इस उत्सव में मेरे पूर्वाश्रम (लेखक के) पिताजी भी आये थे । पू० श्रीपोद्दारमहाराज के प्रवचन के पूर्व उनके आग्रह से लेखक के पू० पिताजी ने एक पद-गायन किया था । पू० गुरुदेव श्रीसेठजी एवं भाईजी के सत्संग में अवश्य सुनने बैठा करते । इस प्रवचन के समय भी श्रीभाईजी के पास पू० गुरुदेव बैठे थे ।

## लेखक का प्रथम परिचय

ईसवी सन् ! १९३६ में गोरखपुर में जो वर्षभर का सत्संग-सत्र हुआ था, उसमें लेखक के पूर्वाश्रम के मामा श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, अ०सौ० मामी, एवं मंगला मौसी भी साधक की तरह सम्मिलित हुई थीं । वे सत्र की समाप्ति हो जाने के कारण गोरखपुर से चूरू होते हुए बीकानेर जा रहे थे । मैं, मेरे पिताजी सहित, मेरे मामी-मामा एवं मौसी को लेने चूरू आया था । ईसवी सन् १९३७ के इस ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के उत्सव में मेरी वय मात्र आठ वर्ष की थी । उत्सव देखने की जिज्ञासा भी बालमन में थी । पू० श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) के दर्शन तो मुझे १९३४ ई० में ही हो चुके थे, मैं पाँच वर्ष का लघु बालक अपनी माँ के साथ ही गोरखपुर आया था । उन दिनों मेरे पिताजी श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी भी गीताप्रेस में काम करने आ गये थे। मेरे मामाजी ने उन्हें बुला लिया था । मुझे सेठजी जयदयालजी गोयन्दका के दर्शन नहीं हुए थे । अतः उनके दर्शन हो जायेंगे, चूरू आने का यह भी एक प्रयोजन था ।

श्री भाईजी का सत्संग सरस भक्तिभाव से युक्त होता था । इस सत्संग से पूर्व मेरे पू० मामा श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी भगवन्नाम संकीर्त्तन कराया करते थे । मुझे सत्संग तो समझ में आता नहीं था, हाँ, मेरे मामा जब झाँझ, करताल, ढ़ोलक सहित नाम कीर्त्तन कराते तो बहुत ही आनन्द आता था । मैं कीर्त्तन का शौकीन भी बहुत था, स्वयं भी कीर्त्तन किया-कराया करता । अतः उनके कीर्त्तन में सम्मिलित होने अपने पिता एवं मामा के पास बैठा था। मेरे पू० मामा कीर्त्तन करा रहे थे ।

राधारमण जय कुंजबिहारी, मुरलीधर गोवर्द्धनधारी ।

कीर्त्तन बहुत ही सुमधुर हो रहा था । मेरे मामा का स्वर बहुत मधुर था । मैंने मेरे पू० नाना से सुन रखा था कि मेरे मामा के कण्ठ में श्रुतियाँ लगती हैं । किस राग में किस स्वर को किस श्रुति से गाया जाता है, यह संगीतशास्त्र की गायकी उच्चतम कोटि के गायकों से ही संभव होती है । हारमोनियम नामक वाद्यंत्र में तो मात्र कोमल, एवं तीव्र स्वर मिलाकर बारह स्वर ही होते हैं । श्रुतियुक्त गायन करने वाले की सारंगी नाम तंतुवाद्य द्वारा ही सांगोपांग संगत संभव होती है । हारमोनियम वहाँ तो बेसुरा हो जाता है।

मैं देख रहा था -- पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के पास एक तरुण सन्यासी ध्यानस्थ बैठे थे । मेरे पू० मामाजी का संकीर्त्तन वे बहुत ही मनोयोगपूर्वक सुन रहे थे । मैं बार-बार उन्हें ही देखता जा रहा था । मुझे यह तरुण सन्यासी, जिसकी उस समय उम्र मात्र तेईस-चौईस वर्ष की थी, बहुत ही आकर्षक लग रहा था । प्रथम दर्शन में ही इसने मुझे मोह लिया ।

संकीर्त्तन में ही श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ध्यानस्थ हो गये । कीर्त्तन में सभी को इतना अधिक आनन्द आया कि सभी श्रोता भावुक हुए आँसुओं से नेत्र गीले कर चुके थे । थोड़ी देर पश्चात् पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ने आँखें खोलीं । उन्होंने नवागन्तुक मेरे पिताजी की ओर अतिशय स्नेह से देखा, फिर उन्हें सिर झुकाकर ब्राह्मण एवं बहनोई होने के नाते प्रणाम किया और तब कोई पद गायन करने को कहा । मेरे पू० पिताजी भी अच्छे गायक थे । यद्यपि ये सभी बातें आज से साठ वर्ष पूर्व की हैं परन्तु बाल-जीवन की कुछ बातें ऐसी अमिट अंकित हो जाती हैं कि वे जीवनभर स्मरण होते रहने के कारण ज्यों-की-त्यों मृत्यु के समय तक स्मृति में रहती हैं ।

श्री (भाईजी) पोद्दारमहाराज के आग्रह पर मेरे पिताजी ने उस दिन जो अष्टछाप का पद सुनाया, वह भी मुझे अब तक याद है । पद के शब्द थे -

कृष्ण नाम जबतें श्रवणन सुन्यो री आलि
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री
भरि, भरि आवैं नयन,
चित हू न परै चैन, मुखतें न निकसैं बैन
तन की दसा कछु औरहू भई री

जेतेक मैं नेम-धरम कीने री बहुत विधि,
अंग-अंग भई हौं तो श्रवण मईरी
नन्ददास जाके श्रवणन यह गति भई री,
माधुरी मूरत कैधौं कैसी हो दईरी,

इस गायन को सुनकर पू० श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) बहुत ही अन्तर्मुखी हो गये थे । उन्हें चेष्टा करने पर भी सत्संग प्रारम्भ करने की क्रिया हो ही नहीं रही थी । वे सत्संग के पूर्व कुछ मंगलाचरण के श्लोक बोला करते थे, वे भी बोल नहीं पा रहे थे । वे किसी प्रकार "मूकं करोति वाचालं" तो बोल गये फिर पंगुम् कह कर चुप हो गये । कुछ क्षण ध्यानस्थ हो गये, तब किसी प्रकार यह श्लोक पूरा किया -

मूकं करोति वाचालं पंगुल्लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ।।

इसके पश्चात् दूसरे श्लोक में वे पुनः अटक गये
"वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं" कहकर पुनः चुप हो गये । मेरे मामाजी ने इस श्लोक को पूरा किया।

वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं कुन्देन्दुशंखदशनं शिशुगोपवेषम्
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम् ।।

श्री भाईजी (पोद्दार महाराज) को पुनः ध्यानस्थ देख मेरे पू० मामाजी ने नाम संकीर्तन प्रारंभ कर दिया ।

जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द

मेरी दृष्टि न तो पिताजी पर थी, न ही मामाजी पर । मैं तो या तो पू० भाईजी के बहते आँसुओं पर दृष्टिपात किए था, अथवा पू० गुरुदेव के आनन पर मेरी दृष्टि जमी थी । उनके नेत्रों से भी अश्रुधार बह रही थी । पू० गुरुदेव काष्ठवत् बैठे थे । उनके नेत्रों से झरते बिन्दु उनके कपोलों पर ठहरे थे। श्रीपोद्दार महाराज कुछ काल में प्रकृतिस्थ हो गये एवं तब उनका प्रवचन प्रारम्भ हो गया । यह मेरा पू० गुरुदेव से प्रथम साक्षात्कार था ।

सत्संग के पश्चात् भोजनोपरान्त मैं अपनी मौसी से मिलने चला गया । मेरी मौसी मंगला देवी वर्षभर के सत्संग-सत्र में पूरे नियम निभाती हुई रही थी । मैनें उससे सरलतावश इतना ही पूछा – "मौसी ! तूने बारह माह तक इतना जप, कीर्त्तन, भजन, साधन किया, तुझे भगवान् के दर्शन हुए या नहीं।" उसने सर्वथा इनकार करते हुए कहा कि मुझे तो सर्वथा नहीं हुए । "पू० मामाजी (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी) को भगवान् के दर्शन हुए या नहीं ?" यह मेरा उससे दूसरा प्रश्न था। उसने उत्तर दिया – "यह प्रश्न तो उनसे ही पूछ ?" फिर उसने मुझे बताया कि भगवान् सेठजी जयदयालजी गोयनका के पीछे-पीछे फिरते हैं । वे जिसे भी चाहें भगवान् के दर्शन करा सकते हैं । फिर मैने पूछा – "क्या सेठजी मुझे भी भगवान् के दर्शन करा देंगे ?" उन्होंने कहा – "तू उनसे प्रार्थना कर । उन्होने भाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दार को भगवान के दर्शन कराये हैं ।"

जो एक को दर्शन करा सकता है वह दूसरे को भी चाहे तो भगवान् के दर्शन करा देगा । भगवान् उनकी सब बातें मानते हैं । भाईजी से भगवान् ने दर्शन देते समय यह कहा था कि "सेठजी चाहें तो मैं यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सभी को दर्शन दे सकता हूँ।" सेठजी ने अपनी भक्ति से भगवान् द्वारा यह अधिकार प्राप्त किया है । मैने मेरी मौसी से पूछा – "ये युवक सन्यासी कौन हैं ?" उसने उत्तर दिया "कोई बहुत बड़े ज्ञानी सन्यासी हैं, अभी नये ही आये हैं, मैं नाम नहीं जानती । सत्संग बहुत ही अच्छा कराते हैं । बहुत ही त्यागी हैं । सात घरों से भिक्षा लेकर खाते हैं । आसन सिद्ध महात्मा हैं। सदा ध्यानस्थ बैठे रहते हैं ।"

लगभग सायंकाल तीन-साढ़े तीन बजे मेरे पिताजी पू० गुरुदेव से मिलने उनकी कुटिया में गये । मैं भी उनके साथ था । मेरे पिताजी के साथ पू० गुरुदेव की यह वार्ता मेरे बालमन में इतना घर कर गयी थी कि मुझे अब तक इसकी शब्दावली स्मरण है । मेरे पिताजी का पहला प्रश्न था – "स्वामीजी आप बहुत ही छोटी उम्र में सन्यासी हो गये हैं क्या आपको अपने भविष्य जीवन की चिन्ता नहीं होती ?"

पू० गुरुदेव ने अति संक्षेप में उत्तर दिया – "मैंने अपनी चिन्ता भगवान् श्रीकृष्ण पर छोड़ दी है, मैं तो बस उनकी चिन्ता किया करता हूँ ।" इस

उत्तर पर मेरे पिताजी बहुत ही प्रभावित एवं मुग्ध हो गये । उन्होने कहा - "यह तो हमारे वल्लभ-सम्प्रदाय का सिद्धान्त है । मैंने तो सुना है आप ब्रह्मवादी सन्त हैं, सगुण-साकार भगवान् पर विश्वास नहीं करते ।" पू० गुरुदेव कहने लगे - "फिर तो मेरे पास चिन्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञानी में तो स्वप्न में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद एवं चिन्ता आदि का लेश भी नहीं होना चाहिए ।"

पू० पिताजी ने कहा - "स्वामीजी ! मैं तो पूरा आस्तिक भी नहीं बन पा रहा हूँ । वैसे सम्प्रदाय में बालकपन से कीर्त्तन करता रहा । अतः अष्टछाप के पद गायन कर लेता हूँ । भीतर से भगवान् का विश्वास हट रहा है।"

पू० गुरुदेव ने कहा - "आप सच्चे निष्कपट, दंभहीन ब्राह्मण हैं, अतः मन के भीतर की बात सरलता से प्रकट कर देते हैं । आपको जब भी अवसर मिले श्रीभाईजी को कीर्त्तन सुनाया करिये । आप सच्चे आस्तिक अवश्य, अवश्य हो जावेंगे।"

पू० पिताजी ने कहा - "मैं तो स्वामीजी आपसे परिचय करने आया था, आपको देखकर ऐसा लगा जैसे मेरा कोई अति आत्मीयजन सन्यासी हो गया है। अतः आपके संबंध में जिज्ञासा थी ।" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप मेरा सम्पूर्ण परिचय श्रीकृष्ण से पूछिये । देखिये, इस मलिन नश्वर देह का क्या तो परिचय ? मैं तो इतना ही जान पाया हूँ, जीवत्व उनकी ही वस्तु है। मीठा या खारे का ज्ञान जैसे खानेवाले को होता है, इसी तरह ठीक-ठीक मैं कैसा हूँ यह श्रीकृष्ण ही बता सकते हैं । मेरे विचार, जन्म-कर्म-अभिमान का सारा लेखा-जोखा उनके ही पास है । भविष्य में भी मेरा दुःख-दर्द, सारा भार उनको ही वहन करना है । यह तन-मन जो भी आपको दिखता है सब उनका है, वे इसे रोगी, अभावग्रस्त, सुरक्षित, असुरक्षित जैसे रखना चाहेंगे, रखेंगे । कोई उनके विधान के बीच में टाँग अड़ाना भी चाहे तो टाँग अड़ा नहीं सकता । जीवन तो उनके विधानानुसार ही व्यतीत होगा ! अपने मन की कल्पना की उड़ान तो सर्वथा शेखचिल्लीवाली बात है अतः मैं उनको पूर्णतया समर्पित हो जाऊँ, आप यही आर्शीवाद दें । आप वैष्णव हैं, श्रीकृष्ण गुण-गानमय आपका जीवन है, अतः मेरी दृष्टी में आप श्रीकृष्ण स्वरूप हैं, मेरी आपके चरणों में यही विनय है ।"

(मेरे पिताजी ने अपनी डायरी में इस घटना को ज्यों-का-त्यों उतार लिया था । मेरे पू० पिताजी कहते थे पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) को यह

"कृष्णनाम जबतें श्रवणन सुन्यौरी आली" पद जिस शुभ दिवस सुनाया था, उसके कुछ ही दिनों पश्चात् से उनके मन के नास्तिक भाव क्रमशः विलीन होते गये । इसके पश्चात् उनका जीवन निरन्तर कृष्ण-गुणगान मय, परम भगवद्विश्वासी, आचार्य वैष्णवों के प्रति परम श्रद्धा-सम्पन्न हो गया। आगे भविष्य में तो उन्होनें पू० गुरुदेव को अनवरत १०-१२ घंटों तक जब भी अवसर मिला अष्टछाप वैष्णवों के पद सुनाये । उनका संपूर्ण जीवन भगवत्सेवामय ही व्यतीत हुआ। आगे जाकर पू० गुरुदेव ने मेरे पिताजी से पता लेकर वल्लभ संप्रदाय में गाये जाने वाले कीर्त्तन संग्रह तीनों भाग बम्बई से श्री भगवानदास सिहानियाँ को पत्र लिखकर रतनगढ मँगाए थे )

मेरा एवं मेरे पिताजी का पू० गुरुदेव से यह प्रथम वार्तालाप था । दूसरे दिवस सन्ध्या समय लगभग चार ही बजे होंगे मैं पुनः पू० गुरुदेव के पास चला गया । मैं पू० गुरुदेव के पास अकेले ही बिना किसी को सूचना दिये चला आया था । गुरुदेव ध्यानस्थ बैठे थे । उन्होंने कुछ काल पश्चात् ध्यान से विरत हो आँखें खोलीं । मैंने उन्हें प्रणाम किया एवं कहा -"मैं चिम्मनलालजी गोस्वामी का भानजा हूँ । आपसे कुछ बातें पूछने आया हूँ। कल पू० पिताजी के साथ आया था । मेरी मौसी कहती है - "सेठजी के पीछे-पीछे भगवान् फिरते हैं । उन्होने अपने भक्ति-भाव से भगवान् को वशीभूत कर लिया है । उन्होने भाईजी (मेरे बड़े मामाजी) को भी भगवान् के दर्शन कराये हैं ।" मैं आज श्रीसेठजी गोयन्दकाजी को सत्संग के बाद हाथ पकड़कर उठने नहीं दूँगा । मैं हठ करूँगा, वे मुझे भगवान् के दर्शन करावें। जब तक वे हाँ नहीं करेंगे हठपूर्वक उन्हें छोडूँगा नहीं । मैं आपसे पूछने आया हूँ मुझे ऐसा करना चाहिए या नहीं ।"

पू० गुरुदेव मेरी सरल बाल-उक्ति पर बहुत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने मुझसे कहा - "मै तो स्वयं मानता हूँ कि सेठजी एवं भाईजी दोनों ही सिद्ध महापुरुष हैं और यदि चाहें तो तुझे इसी क्षण भगवान् के दर्शन करा सकते हैं। वे तुझे करायेंगे या नहीं करायेंगे, यह तो वे जानें, परन्तु तेरा हठ करना मुझे अनुचित सर्वथा नहीं लगता ।"

पू० गुरुदेव की यह अप्रत्याशित बात सुनकर मुझे बहुत ही हर्ष हुआ । मैं तो सोचता था कि मेरे पू० मामाजी अथवा पिताजी को इस मेरे मनोरथ की पूर्व गंध ही मिल गई तो मुझे सत्संग में लाना ही स्थगित कर देंगे एवं सीधा

बीकानेर भेज देंगे । ये बाबा तो बहुत ही अच्छे हैं । मैं उनका अनुमोदन पाकर प्रणाम करके दौड़ गया ।

दूसरे दिवस प्रातःकाल भरी सभा में मैंने एक नाटक खड़ा कर दिया । मैंने सेठजी के घुटने पकड़ लिये। श्री पोद्दार महाराज भी पास ही बैठे थे । एक हाथ उनका भी पकड़ा । "मुझे अभी भगवान के दर्शन हों" - यह मेरा बाल आग्रह था। श्री पोद्दार महाराज तो सेठजी को मुझे पकड़ाकर चल दिये । सेठजी हँस-हँसकर मुझसे विनोद करते रहे, "भाया ! म्हारै घूँजिये में भगवान् थोड़े ही है ।" परन्तु मैंने उन्हें नहीं छोड़ा । मेरा यही तर्क था कि मेरी मंगला मौसी झूठ नहीं बोलती । वह बारह माह व्रत लेकर सत्संग करके गोरखपुर से आयी है । वह कहती है कि आपके पीछे-पीछे भगवान् फिरते हैं। आपने श्री पोद्दार महाराज को भगवान् के दर्शन कराये, मुझे भी कराइये। आप चाहें तो यह असंभव संभव हो सकता है । लगभग आधे घंटे तक यह मेरा बालहठ चलता रहा । श्रीसेठजी से आशीर्वाद पाकर मैं वहाँ से हटा था।

## गीता विवेचनी का कार्य

### (चौपदे)

जो ज्ञान शुद्ध रसमय तरु दो तोरण हैं बने हुए प्रियतम !
है एक सारथी रथ चिन्हित, मुनि कीर एक पर है प्रियतम !
सन्धिस्थल पर मिलती सी हैं दो सत्ता जहाँ अहो ! प्रियतम !
इस दृश्यविश्व का इधर,और उस ओर तूर्य रस का प्रियतम।।१९।।

दोनों द्रुम से लिपटी फूली वह भावमयी वल्ली प्रियतम !
जो है, उसकी टहनी पर ही पिंजरा था झूल रहा प्रियतम !
उसके भीतर पत्रों से सट बैठी थी मैं विहगी प्रियतम !
उन रागों से मन बहलाती उर में रखकर तुमको प्रियतम !।।२०।।

कोई क्षण भर के लिये विहग बाहर का सुन लेता प्रियतम !
मेरा स्वर, और मुग्ध होता, पर दाद न दे पाता प्रियतम !
केदारा, नट या मालकोश, पीलू ही गाती थी प्रियतम !
मेरे पर षड़ज ऋषभ सब वे थे भिन्न, न मिलते थे प्रियतम !।२१।

संचालित तुम कर देते थे पिंजड़े को, वह हिलता प्रियतम !
झोंटा खाकर डर जाती थी, सुखमत्त कभी होती प्रियतम !
चिन्तित सी कभी क्षणिक होती, भाग्री है क्या मेरी प्रियतम !
पर हुआ न अहो विराम कभी मेरी स्वर-लहरी का प्रियतम !।२२।।

अब सुनो रसीली वह गाथा, तुमने सरकाया था प्रियतम !
पिंजड़े को उस टहनी पर ही, पूरब की ओर किया प्रियतम !
मैं लगी देखने दृश्य सुखद शुभ था विपाक आया प्रियतम !
भावुकतामय मेरे जो थे वे सत् प्रयास उनका प्रियतम !।।२३।।

बैकुण्ठ नाम की नगरी थी, ज्ञानी थे एक वहाँ प्रियतम !
राजा विदेह के सदृश भला प्रेमी रघुकुलमणि के प्रियतम !
आदर्श चरित्रों के वे थे, 'जय सीताराम' तथा प्रियतम !
'नारायण' नाम अधिक उनको प्रिय या ऐसा लगता प्रियतम !।२४।।

जीवन में उनके छाया थी उस तुलाधार की भी प्रियतम !
थे अतिशय सरल, दक्ष पर थे जग के व्यवहारों में प्रियतम !
देखा था उनको मैंने जब आकाशचारिणी थी प्रियतम !
होती थी सुनकर फुल्ल सदा प्रवचन पवित्र उनका प्रियतम !।।२५।।

पिंजड़े पर हाथ धरे रहते हरदम वे थे अपने प्रियतम !
थे खड़े उधर तुम भी छिपकर उस पर कर मृदुल रखे प्रियतम !
थी नहीं अहंता उनमें फिर, पिंजड़े में क्या रहती प्रियतम !
मुझ से विनोद करने की थी वह युक्ति अहा कैसी प्रियतम !।।२६।।

बातें सुर सरिता तट पर की रवितनय तपोवन की प्रियतम !
वे हैं इससे पहले की, पर कहने लग जाऊँ तो प्रियतम !
लंबी अत्यधिक कथा होगी, श्रोता भी हैं न यहाँ प्रियतम !
जिनके दृग बनें सजल सुनकर, इसलिये छोड़ दी हैं प्रियतम ।।२७।।

इच्छा थी केवल आठ गीत लेकर उन गीतों से प्रियतम !
गा जाऊँ, पर लीला जब है हो रही यहाँ ऐसी प्रियतम !
है उचित यही कुछ दिन देखूँ, कैसे क्या होता है प्रियतम !
तुम तो हँसते ही हो हरदम, मैं भी क्यों नहीं हँसूं प्रियतम !।।२८।।

## (चौपदों का भावार्थ)

एक वन में दो वृक्ष दो तोरण बने हुए हैं । एक वृक्ष शुद्ध ज्ञान का है और दूसरा विशुद्ध रसमय है । एक वृक्ष पर जो शुद्ध ज्ञान का है, उस पर एक रथ का चिन्ह है जिसमें सारथी बने श्रीकृष्ण हैं, एवं दूसरे पर शुक-मुनि चिह्नित हैं। अहो प्रियतम ! संधिस्थल पर ये दोनों सत्ताएँ जहाँ मिलती सी हैं, इधर एक तरफ इस विश्व का दृश्य है, और दूसरी ओर तुरीय रस का। ।।१९।।

जो वह भावमयीवल्ली है, हे प्रियतम ! जो दोनों द्रुमों से लिपटी विकसित है, उसकी टहनी पर ही वह (पोद्दार महाराज रूप) पिंजरा झूल रहा था । मैं विहगी उस पिंजरे के भीतर पत्तों से सटकर बैठी थी । हे प्रियतम ! मैं तुमको अपने उर में रखकर रसमय रागों से अपना मन बहला रही थी ।।२०।।

मेरे स्वर एवं राग कोई भी बाहर का विहग यदि क्षण भर के लिये भी सुन लेता तो मुग्ध तो होता था, परन्तु मेरे गायन पर दाद नहीं दे पाता था। यद्यपि हे प्रियतम ! मैं गाती थी केदारा राग, मालकोश, या पीलू ही परन्तु मेरे षडज, ऋषभ सभी भिन्न थे, वे दूसरों से मिल नहीं पाते थे ।।२१।।

हे प्रियतम ! तुम मेरे पिंजड़े को संचालित कर देते थे, झोंटा खाकर वह हिलता था, और मैं डर जाती थी, कभी उस झोंटे से मैं सुख में मत्त भी हो जाती थी, कभी क्षणिक चिन्तित सी भी हो जाती कि मेरा भावी विधान क्या है ? परन्तु हे प्रियतम ! मेरी स्वर-लहरी का कभी भी विराम नहीं हुआ ।।२२।।

हे प्रियतम ! अब तुम्हें मैं वह रसीली गाथा सुनाती हूँ , तुमने पिंजडे को उस टहनी पर ही पूरब की ओर करके सरकाया था और मैं वह सुखद दृश्य

देखने लग गयी थी । मेरे जो भावुकता मय सत् प्रयास थे उन सबका फलोन्मुख होने का समय आया था । ।।२३।।

एक वैकुण्ठ नामकी नगरी थी, वहाँ एक महाज्ञानी रहते थे । वे विदेह जनक राजा के सदृश थे एवं रघुकुलमणि भगवान् राम के प्रेमी थे । उनके सभी चरित्र आदर्श थे । उनको हे प्रियतम ! 'जय सीताराम' तथा 'नारायण' नाम अधिक प्रिय है, ऐसा लगता था ।।२४।।

उनके जीवन में तुलाधार वैष्य की भी छाया थी । वे चित्त के बहुत ही सरल थे, परन्तु संसार के व्यवहारों में बहुत ही दक्ष एवं चतुर थे । जब मैं आकाशचारिणी थी,उन दिनों उनको मैंने देखा था । मैं उनका पवित्र प्रवचन सुनकर प्रफुल्लित हो जाती थी ।।२५।।

वे अपने हाथ हरदम पिंजड़े पर रखे रहते थे और उधर हे प्रियतम तुम भी छिपकर उसी पिंजड़े पर अपना मृदुल कर रखे थे । जब उनमें अहंता ही नहीं थी तो फिर पिंजड़े से भला क्या आसक्ति होती, परन्तु अहा ! मुझसे विनोद करने की वह युक्ति कैसी थी ! ।।२६।।

सुरसरिता (गंगा) तट की बातें अथवा रवितनय-तपोवन की बातें जो सब इससे पहले की हैं, वे यदि कहने लग जाऊँ तो कथा अत्यधिक लम्बी हो जायेगी, फिर यहाँ उस लम्बी कथा के श्रोता भी तो नहीं है, जिनके नेत्र उस कथा को सुनकर सजल होने लगें - अतः मैंने वह प्रसंग ही छोड़ दिया है ।।२७।।

मेरी मात्र आठ गीत लेकर उन गीतों से गा जाने की इच्छा थी, परन्तु अब यहाँ जब ऐसी ही लीला हो रही है तो उचित यही है कि कुछ दिवस प्रतीक्षा कर देखूँ कि कैसे क्या होता है । तुम तो हर स्थिति में हँसते ही हो तो मैं भी क्यों नहीं हँसूँ । ।।२८।।

## चौपदों में अन्तर्हित भाव

परात्पर परमतत्व-स्वरूप परम सत्य तो एक है । श्री मद्भागवत ने इसी परम सत्य को तीन नामों से उच्चारित किया है।

**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। श्री मद्भागवत १/२/११।।**

ये तीन नाम हैं :-(१)निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म, (२) सगुण-निराकार-सविशेष परमात्मा, (३) सगुण साकार सविशेष भगवान् ।

वास्तव में उपरोक्त कथन तीन प्रकार के साधकों की अनुभूति की ही अभिव्यंजना है।

एकही परमतत्व को विशुद्ध ज्ञान-तट से देखनेवाले ज्ञानी निर्गुण-निराकार निर्विशेष, ब्रह्म कहकर अभिव्यञ्जित करते हैं, इसी सत्य को योगी लोग सगुण-सविशेष निराकार परमात्मा कहकर एवं भक्तलोग सगुण-सविशेष साकार भगवान् कहकर सम्बोधित करते हैं ।

पू० गुरुदेव का अपने सन्यास काल में दो तीर्थो से परिचय हुआ । तीर्थ शब्द तृ धातु से बना है । तृ' धातु का अर्थ है, तरण या उत्तरण-अर्थात् जिसकी सहायता से हम कोई दुर्गम मार्ग, कोई एक नदी, कोई आवरण, कोई संकट पार कर लें, उसका नाम है तीर्थ । नदी के तीर्थ घाट हैं । जिसकी सहायता से कोई दुर्गम या दुरतिक्रम व्यवधान पार किया जाता है, उसी को तीर्थ कहते हैं । गुरु भी तीर्थ होते हैं, क्योंकि उनकी सहायता से हम लोग भवसागर पार कर सकते हैं । इन दो तीर्थों का यहाँ इन चौपदों में दो तरुओं, -वृक्षों के तोरण के रूप में वर्णन है । एक तीर्थ थे, श्री जयदयालजी गोयनका जो शुद्ध ज्ञान के उपासक थे, परन्तु साथ ही पातञ्जल योग को भी संस्पर्शित करते थे, अतः निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म तत्व और सगुण-निराकार सविशेष परमात्मतत्व दोनों के समन्वित व्याख्याकार थे । दूसरे तीर्थ थे, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इन्हें योगियों की परम उच्च-स्थिति निर्विकल्प समाधि की भी सहज उपलब्धि थी, साथ ही निर्गुण, निराकार निर्विशेष तत्व का भी अनुभव था एवं सगुण-साकार-सविशेष भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम-रस में भी वे पूर्णतया पगे हुए थे ही ।

इन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार पर ऐसी विलक्षण भगवत्कृपा थी कि उन्हें उन भगवान् श्रीकृष्ण के मात्र दर्शन ही नहीं, उनकी सहज-सुलभ प्राप्ति थी, जो भगवान् सच्चिन्मय निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की, अविनाशी नित्य तत्व-ज्ञान रूप मुक्ति की, साथ ही भक्तिरूपी परम धर्म की और प्रेमरसमय परमानन्द रूप एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा, अपने को गीतोपनिषत् में कहते हैं।

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।
> (गीता- १४/२७)

ये श्रीकृष्ण जो श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के परम प्रेमास्पद प्रियतम एवं जीवन-सर्वस्व थे, वे श्रीमद्भागवत में वर्णित निर्विशेष अखण्ड चित्सत्तामात्र ब्रह्म को अपनी महिमा बताते हैं ।

**मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।।**

'मेरी महिमा ही परब्रह्म शब्द से कही जाती है ।'

ये त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर जो भाईजी श्रीपोद्दार महाराज को प्राप्त थे, इतने महिमा समन्वित थे कि पद्मपुराण में उनकी नखचन्द्र की ज्योति को 'ब्रह्म' बताया गया है ।

ये दो वृक्ष जो तोरण बने हुए थे, इनमे एक तोरण द्वार पर तो सारथी युक्त रथ का चिह्न चिह्नित था, अर्थात् रथ पर बैठे अर्जुन नें अपने सारथी श्रीकृष्ण से जो गीता ज्ञान सुना है- वह वृक्ष उस ज्ञान को पूरा आत्मसात् किए हुआ था ।

श्री जयदयालजी गोयनका गीता के तत्व-रहस्य को पूर्णतया हृदयंगम करने वाले, साथ ही उस तत्व को अक्षरश: अपने जीवन में उतरा हुआ देखने वाले महात्मा थे ।

दूसरे तोरण बने वृक्ष पर शुक मुनि अंकित थे । अर्थात् ये श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार श्रीशुकदेव मुनि द्वारा वार्षित श्रीमद्भागवत शास्त्र के हृदय रूप रस-रास को, परम प्रेमतत्व को अपना जीवन बनाये हुए थे ।

यद्यपि ये दोनों महान् विभूतियाँ भिन्न-भिन्न साधनाओं के प्रचारक थे, एक के हृदय में विश्व का दृश्य था और वे विश्व-कल्याण की अदम्य भावना से लोक-संग्रही थे और दूसरे तूर्य प्रेमरस में आपातत: पगे-डूबे थे । दूसरे के सम्मुख तो विश्व था ही नहीं, विश्व के स्थान पर हाथ में मुरली-विधृत नवनीरदवर्ण पीताम्बरधारी ललित-तृभंग श्रीकृष्ण साक्षात् मुसका रहे थे । जब विश्व दिखे तब न विश्व का कल्याण हो, जहाँ विश्व विलुप्त हो जाय, ऊँट के सींग की तरह और जिसके हृदय को परम प्रियतम अपनी मुनिमन-मोहनी, स्वमन-मोहिनी मुसकान से आठों प्रहर अखण्ड-अविराम उद्भासित कर रहे हों, वहाँ कौन लोक और किसका कल्याण हो । जिसको वृन्दावनचारी, गोपीजन- चितचोर के चरणारविन्दमकरन्द की सुगन्ध सूँघने को नहीं मिली, वही तो चमड़ी, मांस, रुधिर अथवा मन-बुद्धि-चित्त अहंकार से भरे विश्व को उसके कल्याण को सूँघता फिरेगा । जिसके नयनों में, मन में **"बर्हापीडं नटवर वपु: कर्णयो: कर्णिकारं"** बस गया है वहाँ जगत कहाँ घुस सकता है ।

यदि वहाँ जगत प्रपंच कभी क्षणांश के लिये घुसने का साहस भी कर बैठे तो बिना मारे मर जाता है । वहाँ लोक-संग्रह, लोकोद्धार भला कैसे संभव हो पावे । अतः दोनों भिन्न-भिन्न रुचियों के थे । फिर भी ऐसा भगवद्विधान था कि ये दोनो वृक्ष जो तोरण बने हुए थे, एक भावमय वल्ली से जो दोनों तरुओं से लिपटी थी, जुड़े हुए थे । अर्थात् 'कल्याण' पत्र एवं गीताप्रेस के कार्य से दोनों ही सन्त भगवत्प्रेरणा से जुड़े हुए थे । यह भावमय वल्ली (गीता एवं सद्ग्रन्थ प्रचार की भावना) की एक टहनी पर वह पोद्दार महाराज का शरीर रूप पिंजरा झूल रहा था । मैं विहँगी इस पोद्दार महाराज के शरीर रूप पिंजरे के भीतर पत्तों से सटकर बैठी थी । मैं तुम नीलसुन्दर, मेरे प्राणधन को अपने हृदय में धारण किये थी और विशुद्ध प्रीति के रसमय रागों में अपने मन को बहला रही थी ।।१९-२०।।

कोई बाहर का पंछी जो सेठजी (गोयनकाजी) एवं भाईजी (श्रीपोद्दार महाराज) की प्रख्याति से इस विहगी का गायन भी सुन लेता तो एक बार उसकी सरल सच्ची त्यागपूर्ण रहनी से मुग्ध तो अवश्य होता, परन्तु उसका सच्चा प्रशंसक, दाद देने वाला नहीं बन पाता था । क्योंकि सिंहनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही टिक पाता है । दूसरे जो फुलेल चमेली के तेल से ही संतुष्ट हो जाय, वह इत्र का पारखी, उसे दाद देने वाला नहीं बन सकता । यद्यपि मैं विहगी सर्वजन प्रचलित राग केदारा, नट, मालकोश अथवा पीलू ही प्रायः गाती थी, कठिन राग नहीं गाती थी परन्तु फिर भी मेरे स्वर षड़ज, रिषभ आदि सब दूसरों से मेल नहीं खाते थे, बेमेल थे, दूसरे सन्तों से मिलते नहीं थे ।

हे प्रियतम ! तुम कभी-कभी खेल कर बैठते थे, खेल करना तुम्हारा अनादि स्वभाव जो ठहरा, सो पिंजरे को संचालित कर देते थे, वह पिंजरा झौंटा खाकर हिल जाता था, अर्थात् श्रीपोद्दार महाराज का अति विचित्र स्वभाव था, वे अकारण पू० गुरुदेव पर कभी-कभी बहुत क्रोधित हो उठते थे, सामंजस्य न कर पाने योग्य माँगें कर बैठते थे, कभी-कभी तो मैं उनके इस आत्मसंगोपनयुक्त व्यवहार का रहस्य समझकर सुखमस्त होती थी और कभी-कभी डर जाती थी कि इस पिंजड़े को यदि मैंने छोड़ दिया तो फिर मेरा क्या कैसा भविष्य होगा । परन्तु उस समय भी मेरी इस विशुद्ध प्रीति-रस की स्वर-लहरी का विराम कभी नहीं होता था ।

अब हे प्रियतम ! मैं तुम्हें वह रसीली गाथा सुनाती हूँ, सर्वप्रथम तुमने उस टहनी पर ही इस पिंजडे को सरकाया था और पूरब की ओर किया था। मैं सुखद दृश्य देखने लगी थी क्योंकि मेरे जो भावुकतामय सत् प्रयास थे उनका शुभ फलदान का समय आगया था ।

एक वैकुण्ठ (बाँकुडा) नाम की नगरी थी । वहाँ श्रीगोयन्दकाजी रूप एक ज्ञानी संत रहते थे । वे विदेह राजा जनक के सदृश ज्ञान की चतुर्थ भूमिका में सदा रहते थे । वे मर्यादा पुरुषोत्तम रघुकुलमणि भगवान रामचन्द्रजी के प्रेमी थे एवं स्वयं भी मर्यादापुरुषोत्तम राम की ही तरह आदर्श चरित्रों के भी थे । हे प्रियतम, उनको 'जय सीताराम' अथवा 'नारायण' नाम अधिक प्रिय था ।

उनके जीवन में भक्त-प्रवर तुलाधार वैष्य की भी छाया थी । वे हृदय से बहुत ही सरल थे, परन्तु संसार के व्यवहार में अतिशय दक्ष थे । जब मैं आकाशचारिणी थी तभी मैंने उनको देखा था । उनका पवित्र प्रवचन सुनकर मैं सदा प्रफुल्लित होती थी ।

वे सदा अपने हाथ पिंजरे (श्रीपोद्दारजी के शरीर) पर रखे रहते थे । अर्थात् उन्हें भी यह पोद्दार महाराज का शरीर बहुत ही प्यारा था । और हे प्रियतम, उधर मेरे प्राणसर्वस्व नीलमणि तुम भी अपने मृदुल कर कमल इस श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के शरीर पर रखे थे, परन्तु तुम्हारी कर-छाया तो परमगुप्त थी और श्रीसेठजी गोयनकाजी का इस पिंजरे पर हाथ रखना प्रकट था ।

श्रीगोयन्दकाजी इतने बड़े सच्चे ज्ञानी थे कि उनकी अहंता अपने शरीर पर ही नहीं थी, उनकी अहंता तो सर्वथा-सर्वांश में परब्रह्म परमात्मा में एक हो गयी थी, इसीलिये वे 'अहं ब्रह्मास्मि' के एक निष्ठ अखंड अनुभवकर्त्ता थे, वे भला इस पिंजरे श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) पर भला क्या मोह करते, क्या अपना मानते परन्तु उनकी मुझ विहगी से विनोद करने की यह एक विलक्षण युक्ति भर थी ।२६।

इसके पश्चात् जो घटनाएँ सुरसरिता, गंगा तट पर हुई अथवा रवितनय तपोवन में घटित हुई, वे सब इससे (श्रीपोद्दार महाराज (पिंजड़े) से) जुड़ने के पहले की हैं । परन्तु यदि मैं उन्हें कहना प्रारम्भ कर दूँ तो यह कथा बहुत ही लम्बी हो जायेगी और यहाँ इस कथा के ऐसे सुनने वाले भी नहीं हैं,

जिनमें इस कथा को सुनने का प्रेम हो और जो सुनकर सजल नेत्र हो उठें । इसलिये इस कथा को यहीं छोड़ दी है ।।२७।।

मेरी इच्छा इतनी ही थी कि सोलह गीतों में से श्री राधारानी के वचन रूप मात्र आठ गीत लेकर गा जाऊँ परन्तु जब यहाँ ऐसी ही लीला हो रही है तो यही उचित लगता है कि कुछ दिन और देखूँ कि कैसे क्या होता है । हे प्रियतम ! तुम तो सदा हँसते ही हो तो फिर मैं भी तुम्हारी रुचि में अपनी रुचि मिलाकर क्यों नहीं हँसूँ ।

## अप्राकृतमन

### (श्री द्वारकादास जी की कथा)(अ)

भगवान श्रीकृष्ण का रूप, उनकी आकृति, उनकी वाणी, उनके अंगों की गंध माया के कार्य पंचमहाभूतों से निर्मित सर्वथा नहीं हैं । वे सर्वथा अप्राकृत हैं । यदि वे प्राकृत होते तो मायातीत, गुणातीत, आत्माराम मुनिगण, भगवान् के सौन्दर्य, उनकी अंग गन्ध एवं उनकी चरणधूलि के लिये लालायित नहीं होते । प०पू० पोद्दार महाराज द्वारा चरण स्पर्श करके किये हुए शक्तिपात ने पू० गुरुदेव का मन, नेत्र, कर्ण एवं बुद्धि सब अप्राकृत कर दी थी । इसलिये पू० गुरुदेव अपने प्रियतम की रुचि के प्रतिबिम्ब ही बन गये थे । अप्राकृत तत्व की बात श्री पोद्दार महाराज "श्रीराधाजी कौन थी" नामक लेख में विस्तार से बता चुके हैं । पू० गुरुदेव तो स्पष्ट एक सन्त की कहानी ही सुनाया करते थे, जिनके शरीर में अप्राकृत मन उतर आया था । पू० गुरुदेव कहा करते थे कि भगवान् का अप्राकृत रूप अक्षय है । वह चिन्मय और सर्व प्रभावकारी है। उस अप्राकृत मन एवं वाणी का प्रभाव हिंस्र जीवों पर भी होता है । पू० गुरुदेव एक संत श्रीद्वारकादासजी की कथा सुनाया करते थे । उन दिनों हरिद्वार में घोर जंगल था और ये सन्त गंगा के किनारे पत्थरों पर पड़े रहा करते थे । वे सन्त गंगाजी में नहाते नहीं थे, फिर भी उनके पसीने में दुर्गन्ध नहीं होती थी । एक बार जंगल में जहाँ वे रहते थे एक बहेलिये ने पक्षियों को फँसाने के लिये जाल बिछाया । वह बहेलिया जंगल के पक्षियों को पकड़कर बेचा करता था । जाल बिछाकर उसने बहुत से पक्षी पकड़ लिये और उन्हें बेचने ले गया । ये सन्त बहुत दुखी हुए । अब उन्होने पक्षियों को

पढ़ाना-सिखाना प्रारम्भ किया । ये अपने अप्राकृत मन के प्रभाव से शुक, सारिका, वन-कपोत, वन-मयूरादि पक्षियों को बुला लेते।

सैकड़ों पक्षी सन्त द्वारकादासजी को घेर कर बैठ जाते थे। अब वे उन्हें बच्चों की तरह पाठशाला लगाकर पढ़ाते । वे सबको सिखाते । पहला पाठ था "बहेलिया आयेगा, बहेलिया आयेगा । दूसरा पाठ था - "जाल बिछायेगा - जाल बिछायेगा" उनका शिक्षण इतना सटीक था कि शुक, सारिकायें, मयूर अपनी वाणी में सर्वत्र जंगल में बोलने लग गये । उनका तीसरा पाठ था - "दाना डालेगा, दाना डालेगा ।"

चौथा पाठ था - "हम नहीं फँसेंगे, हम नहीं फँसेंगे ।"

जब दूसरी बार बहेलिया आया तो वह आश्चर्य-चकित हो गया । सभी पक्षी बहेलिया को देखते ही जोर से बोल उठे - बहेलिया आयेगा, बहेलिया आयेगा - फिर दूसरी बोली वे बोले - जाल बिछायेगा, जाल बिछायेगा - फिर तीसरा पाठ सभी पक्षियों न उच्चारित किया - दाना डालेगा, दाना डालेगा और तब वे सभी चौथा पाठ बोले - हम नहीं फँसेंगे । हम नहीं फँसेंगे ।

बहेलिया उन पक्षियों की बोली से इतना प्रभावित हो उठा कि सन्त महाराज को प्रणाम कर उस वन से बिना पक्षी पकड़े चला गया ।

पू० गुरुदेव इन्हीं सन्त की आगे की बात कहते थे । एक बार एक अंग्रेज ने वहाँ के जंगल में जहाँ ये सन्त द्वारकादासजी रहा करते थे, एक बाघ का शिकार कर दिया । शेरनी अपने नर के मारे जाने से बहुत दुखी हो गयी । वह इतनी प्रतिशोध से भर गयी कि किसी भी अंग्रेज गोरे को जंगल में देखते ही मारकर खा जाती । उन दिनों गोरे अंग्रेज जंगल में लकड़ी की ठेकेदारी का व्यापार करते थे ।

उनका आवागमन तो रहता ही था । शेरनी ने जब पाँच गोरी चमड़ी वालों का भक्षण कर लिया तो हाहाकार हो गया । एक अंग्रेज जो नामी शिकारी था, उस शेरनी को मारने को उद्यत हुआ । इधर तो वह अंग्रेज शेरनी को मारने को दाव-पेंच जोड़ रहा था, उधर शेरनी भी उसकी घात में थी । अंग्रेज उसे ढूँढने को ज्यों ही घोर जंगल में प्रवेश हुआ, पीछे से उस शेरनी ने झपट्टा मारा । परन्तु सन्त द्वारकादासजी दोनों के बीच में आ गये। द्वारकादासजी ने शेरनी का सीधे कान पकड़ा और उसे उपदेश देने लगे- "क्रोध थूक दे - सभी गोरी चमड़ीवाले हत्यारे नहीं होते । अब आगे से किसी भी अंग्रेज को मत मारना ।" वह अंग्रेज यह दृष्य देखकर चमत्कृत था।

उन्होंने उस शिकारी को भी मना कर दिया कि आगे से यह शेरनी किसी भी अंग्रेज को नहीं मारेगी, तू भी इसका शिकार मत करना । वह शेरनी उस अंग्रेज के सामने ही महात्माजी की एक या दो परिक्रमा करके चली गयी ।

## पू० गुरुदेव के अप्राकृत मन का लेखक द्वारा स्वयं अनुभव

पू० गुरुदेव का स्वयं का मन कैसा अप्राकृत था, इसका उदाहरण तो लेखक ने स्वयं देखा है । एक दिन पू० गुरुदेव जिस उपवन में दुपहरी में लेटते थे, उस उपवन में घोर किरायत (किंग कोबरा) सर्प निकला । उस सर्प के काटे जाने पर फिर प्राण बचाना असंभव होता है । अतः जैसे ही ग्रामीणों को, अथवा जनसमुदाय को इस सर्प की गंध भी मिलती है, इसे मारे बिना कोई नहीं छोड़ता । पू० गुरुदेव की दृष्टि इस सर्प पर ज्यों ही पड़ी, वह फन उठाकर खड़ा हो गया । पू० गुरुदेव इस महाविषैले सर्प की ओर थोड़ी देर प्यार भरी नजर से देखते रहे फिर उससे बोलने लगे - "हे प्रभो । आप अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, परन्तु मैं तो आपको ठीक-ठीक सत्य पहचान रहा हूँ। प्रभो ! आप यह फूँ-फूँ करना छोड़ दीजिये । देखिये ! ज्योंही आपकी उपस्थिति की भनक यहाँ के मालियों को, नौकरों को मिली नहीं कि वे आपकी यह सारी अहंकार की फूँ-फूँ (हिकड़ी) डंडों की मार से शान्त कर देंगे। अतः मैं आपकी निर्मम मरणान्तक पीड़ा को बचाने के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं आपको यह रेखा खींचकर राह दिखा रहा हूँ - आप इस राह पर यदि चले चलेंगे तो आपका जीवन पूर्णतया सुरक्षित रहेगा और आपका बाल भी अभी तो बाँका नहीं होगा ।

यह कहकर पू० गुरुदेव उस कुण्डली मारे फन उठाये काले नाग के सम्मुख निर्भय चले गये । उन्होंने एक लकडी से रेखा खींचनी प्रारंभ की और साँप देवता सर्वथा जैसे पालतू हों, चुपचाप पू० गुरुदेव के द्वारा खेंची रेखा के ऊपर चलते-चलते घोर जंगल में विलीन हो गये । यह घोर किरायत सर्प जो पास आये व्यक्ति को प्रायः उछलकर काटता है, एवं जो फन पटक-पटक कर अपना क्रोध व्यक्त कर रहा था उसका इस प्रकार अनुगत होकर पू० गुरुदेव के पीछे खींची रेखा पर अनुसरण करना एक चमत्कारिक घटना थी । और हम सभी ने सामूहिक रूप से इसका दर्शन किया है ।

तो कहने का इतना ही प्रयोजन है कि पू० गुरुदेव में पू० पोद्दार महाराज के द्वारा अप्राकृत तत्वावतरण किया गया । मैंने (लेखक) तो पू० गुरुदेव के पहने वस्त्रों को भी अनेक बार इस आशा से सूँघा है कि ग्रीष्म ऋतु में पू० गुरुदेव के पसीने, (स्वेद) से भीगे वस्त्रों में भी दुर्गन्ध आती है या नहीं ? मुझे आश्चर्य होता था कि उनके वस्त्रों में अति दिव्य सुगन्ध व्याप्त रहती थी ।

पू० गुरुदेव स्पष्ट-स्पष्ट कहा करते थे कि श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज के पांचभौतिक ढाँचे के भीतर अब कोई भी अन्य अहंकार का धर्मी नहीं है, वहाँ सर्वथा एक ओर से दूसरी ओर तक दिव्य वृन्दावन राज्य ही है और श्री राधाकृष्ण का नित्यविहार है ।

एक दिवस जब पू० गुरुदेव यह बात मेरे मामाजी की उपस्थिति में मुझसे एवं अन्य व्यक्तियों को कह रहे थे तब मैंने उनसे निस्संकोच पूछ लिया - "बाबा ! आपके भीतर भी तो साक्षात् राधारानी ही क्रियाशील हैं" तो उन्होने स्पष्टतया स्वीकार किया । अपने पिछले दिनों में तो वे निस्संकोच सबके सम्मुख ही अपने को 'राधा' ही कहा करते थे । यह तो सर्व विदित तथ्य है।

## अन्तर्दशा का चित्र

**नियम हुतो गुनदेह में महाभाव नहिं हौन ।**
**मेरे हित पिय साँवरो सोऊ कीन्हो गौन ।।**

यह नियम है कि सत्व, रज, तम, मय त्रिगुणात्मक शरीर में महाभावात्मक चिन्मयस्थिति का अवतरण नहीं होता, परन्तु उन प्रियतम साँवर ने अपना नियम पू० गुरुदेव के लिये बदल दिया । प्रियतम श्यामसुन्दर ने वह कर दिखा दिया जिसे जगत् में असंभव माना जाता है । इतना ही नहीं प्रियतम प्राणवल्लभने पू० गुरुदेव के हाथों अपने स्वयं को सौंप दिया । यह पू० गुरुदेव के प्रति उनके प्यार की पराकाष्ठा थी । पू० गुरुदेव के हाथों में श्रीकृष्ण ने अपने को इतना अधिक सौंप दिया था कि वे भले उनका चाहे जैसे उपयोग करें, परन्तु पू० गुरुदेव ने अपने इस अधिकार का कभी भी दुरुपयोग नहीं किया ।

पू० गुरुदेव का वैचारिक दृष्टि से यह संक्रमण काल था । अद्वैत-सिद्धान्त की कट्टरता तो सर्वथा विदा ले ही चुकी थी । भगवान् की अहैतुकी कृपा पर

आस्था मन में हिलोरें ले रही थी । श्रीपोद्दार महाराज से प्रथम मिलन में ही पू० गुरुदेव को सगुण-साकार भगवान् मुरलीमनोहर के तो दर्शन हो ही चुके थे । परन्तु किसी के दर्शन हो जाने मात्र से उस पर पूर्णतया विश्वास नहीं जमता है । इन दिनों पू० गुरुदेव के हृदय में भगवान् के अकारण सौहार्द पर अनोखा विश्वास जगा । यह विश्वास पू० गुरुदेव के रोम-रोम में पूर्णतया समा गया । उनके मन में यह आस्था दृढ़ से दृढ़तर, दृढ़तम होती गयी कि भगवान् उनके लिये असंभव को भी संभव कर देंगे ।

यह विश्वास ही पू० गुरुदेव के चित्त में अगाध भगवत्प्रेम के रूप में परिणत हो गया । पू० गुरुदेव पुरुष थे, परन्तु उनका भावदेह स्त्री का हो गया था । पू० गुरुदेव अपने भावदेह से श्रीकृष्ण के निगूढ़ प्रेमपात्र बन गये थे। अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के उन्हें निरन्तर दर्शन होते थे । उनके दर्शनों और प्रेम ने उनके जीवन का रूप ही बदल दिया था ।

वास्तव में कृपा का मार्ग सबसे सरल पथ है । कृपाश्रित का मार्ग इतनी शीघ्रतापूर्वक और इतनी सुगमता से तय होता है, मानो राकेट में बैठाकर उसे तुरन्त मंजिल पर पहुँचा दिया जावे । अपने पैरों से चलकर के उत्तुंग गिरिश्रृंगों को पार करना अति कठिन हैं, पर राकेट में बैठा हुआ व्यक्ति देखते ही देखते अत्यल्प समय में गिरिशिखर को पार कर जाता है । कृपाश्रित सर्वथा प्रभु पर निर्भर होता है । पू० गुरुदेव के जीवन के लक्ष्य थे, एक मात्र नीलसुन्दर । नीलसुन्दर के अतिरिक्त उनके जीवन में किसी अन्य को स्थान ही नहीं था । पू० गुरुदेव के श्रवणपुटों में उनके प्रियतम नीलसुन्दर ने अपनी मनोहारिणी गिरा भर दी थी, और उनके अधरों से निस्सृत स्वरों की भक्ति से उनका भावदेह बहुत ही कठिनाईपूर्वक अन्य कुछ सुन पाता था । वास्तव में जगत् के स्वरों के लिये उनके कान बहरे हो चुके थे ।

भगवान् श्रीकृष्ण कदम्ब-वृक्ष सहित अर्थात् चिन्मय वृन्दावन सहित उनके हृदय में नित्य विराजित थे । अतः उनके हृदय में प्रियतम नीलसुन्दर का संस्पर्श सतत समाया रहता था । उनके अंग-अंग में सदा एक अभिनव विलक्षण आनन्द छलकता रहता था ।

बात यह है कि एक स्थिति होती है महासत्व की, विशुद्ध सत्व की । इस स्थिति की मनीषियों ने केवल कल्पना ही नहीं की है, अपितु उस स्थिति का साक्षात्कार भी किया है । कितनी ही साधना की जाय और साधना के फलस्वरूप सतोगुण कितना ही प्रवृद्ध क्यों न हो जाये, परन्तु उस सतोगुण में

भी, भले किञ्चदंश में ही सही; रजोगुण-तमोगुण का सम्मिश्रण तो रहता ही है । तमोगुण-सतोगुण-रजोगुण तो प्रकृति के राज्य की वस्तु हैं किन्तु महासत्व तो त्रिगुण से परे, प्रकृति-राज्य से परे की स्थिति है । पू० गुरुदेव उन दिनों पू० पोद्दार महाराज की कृपा से महासत्व में, विशुद्ध सत्व में डूबे थे। वे अपने आन्तरिक भगवद् मिलनानन्द के सुख को व्यक्त नहीं कर सकते थे । वे अपने प्रियतम के परमसुखद मादक संस्पर्श का व्यवधान रहित अखण्ड अनुभव करते और मूकास्वादनवत् अस्वाद लेते रहते थे । महासत्व जिसे विशुद्ध सत्व भी कहा जाता है, उसमें निमज्जित मन फिर प्राकृत मन नहीं रह जाता है। वह मन विलीन हो जाता है रसराज वृजेन्द्रनन्दन में ।

अतः वृजेन्द्रनन्दन की अनिन्द्य सुन्दर रूपराशि में उनके नेत्र सदा डूबे रहते थे । नयनों की काली पुतलियों में एक मात्र वे ही वे अहर्निश भरे रहते थे । उस त्रिभुवनमोहन रूप ने पू० गुरुदेव की बुद्धि का अध्यवसाय भी निमज्जित कर दिया था । एक अभिनव महारस-समुद्र में सब कुछ डूब गया था ।

कहाँ गयी उनकी वह ब्रह्मज्ञानी अहंता । कहीं अनुसंधान ही नहीं था उसका । उसके स्थान पर सर्वत्र सतत् विराजित थे, मात्र विश्व-विमोहन, व्रजजन-जीवन श्रीकृष्ण ।

## (गीता कार्य एवं रस भावना जन्य विक्षेप)

पू० गुरुदेव की महारसमयी अन्तर्दशा को बाहर से तो कोई जान नहीं पाता था । श्रीजयदयालजी गोयन्दका, धर्मोद्धारक, सत्संग-प्रचारक, गीता-वक्ता, औपनिषद् तत्व-रहस्य के ज्ञाता थे, निष्काम-कर्मयोग की जीवन्त सचल प्रतिमा थे, परन्तु वे पू० गुरुदेव की एकान्तिक निरीह-प्रीति के पारखी सर्वथा नहीं थे। उन दिनों पू० गुरुदेव को श्रीसेठजी के साथ श्रीगीता तत्व-विवेचनी, गीता की टीका के कार्य में लगा रहना पड़ता था । पू० गुरुदेव गीता के विख्यात टीकाकारों की टीकायें जो प्रायः सभी देवभाषा संस्कृत में ही थीं, उनका हिन्दी अनुवाद करके श्रीसेठजी गोयनकाजी एवं उनकी सलाहकार मंडली के सम्मुख रख देते थे। इसके पश्चात् वे लोग निर्णय करते थे कि किस टीकाकार का कौनसा पक्ष उनकी दृष्टि में सर्वोत्तम अर्थ को प्रकाशित कर रहा है । अन्तिम निर्णय श्रीगोयनकाजी के विचारों से ही होता था ।

जब यह मंडली गंभीर दर्शनशास्त्र के पक्ष-प्रतिपक्ष पर विचार कर रही होती और पूरी उलझी हुई होती, उस समय रसघन मूर्ति श्रीकृष्ण, पू० गुरुदेव के सम्मुख आ जाते । अपने प्राणसार सर्वस्व जीवनधन को सम्मुख खड़ा देखकर पू० गुरुदेव हर्ष स्तंभित हो जाते । प्रेमिल चातक नवघनश्याम जलधर को उमड़ा हुआ देखकर आनन्द से निमग्न हो जाता । उनके भाग में जो कार्य होता वह तो वे अग्रिम ही आगे के अनेक श्लोकों का कर चुके होते, अतः वे पूर्ण संलग्न-चित्त उस अनिंद्य रूपसुधा का पान करने लगते । उमड़े नवघन मेघ से चतुर्दिक घिरा चातक भला चुप, शान्त कैसे रह पाता । यह कोई अखण्ड-शान्त, केवल-शान्त, अनन्त-शान्त, विशुद्ध-शान्त, निर्विकल्प-शान्त, घन-शान्त, कूटस्थ-शान्त ब्रह्म तो था नहीं, जो उन्हें निश्चल, स्थिरासन कर देता । यह तो उच्छलित आनन्द था । निर्विकारता तो इसके पास से भी नहीं बहती थी । इसमें आठ सात्विक महाविकार पूरे छलछलाते थे। और विकार तो विकार ही होते हैं । जब विकार उत्पन्न होते हैं तो उनका परिणाम शरीर पर प्रकट होगा ही । उसे भला कैसे रोका जा सकता है ? अतः पू० गुरुदेव अपनी सुरीली तान में गा उठते । गीताप्रेस से ही सम्पादित सूरदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, तुलसीदास, कबीर, मीरा आदि के पद छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हो चुके थे । इनमें से ही सुन्दर रसमय ये पद पू० गुरुदेव को कण्ठस्थ थे, अतः पू० गुरुदेव-रूप विहगी की सुरीली रसमय तान छिड़ जाती :-

> मोहन मुखारविंद पर मन्मथ कोटि वारौं री माई ।
> जहँ-जहँ अंगन दृष्टि परत तहँ-तहँ रहत लुभाई
> अलक तिलक कुंडल कपोल छवि इक रसना मौपे बरनि न जाई
> गोविन्द प्रभु की बानिक ऊपर बलि-बलि रसिक चूड़ामणि राई।

वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की प्रेमार्चना सौन्दर्य की उपासना ही होती है। इसमें प्रधानता होती है आनन्द-रसतत्व की ।

अष्ट छाप के विख्यात कवि श्रीपरमानन्द स्वामी की उक्ति है कि श्रीराधा मुखरूपी पूर्ण चन्द्रमा को देखकर श्रीकृष्ण का आनन्द रूपी सिन्धु बढ़ने लगा तथा ब्रजवृन्दावन की ओर उमड़ चला । इस रसप्रवाह को एक ओर तो यमुनाजी ने आत्मसात् कर लिया, दूसरी ओर वृजांगनाएँ इसे आस्वादन कर

गयीं । इनसे जो कुछ थोड़ा बहुत छलक गया वह कुछ-कुछ त्रिभुवन में भी बिखर गया । यह रस-रसिकों के कण्ठ में अटक रहा है । रसिक जन रसानन्द की अधिकता के कारण उसे अपने अन्दर पचा नहीं पा रहे हैं और अधिकारी को नहीं पाकर उसे व्यक्त भी नहीं कर पा रहे हैं । हाँ, दो व्यक्ति तो इस रस से सर्वथा वंचित रह गये । एक तो वे जो साधना के अभिमानी कर्मकाण्डी थे, और दूसरे वे जिनको ज्ञानाभिमान था । कर्मी और ज्ञानी इस रस को (स्पर्श) छू भी नहीं सके।

तो उस रस का कणिकांश पू० गुरुदेव के हृदय में महारसिक श्रीपोद्दार महाराज ने बीजारोपित किया था । पू० गुरुदेव उस रसप्रवाह में क्षण-प्रतिक्षण उछल-उछलकर निमज्जित हो रहे थे । अब श्रीजयदयालजी गोयनका सेठजी की यह ज्ञानी मंडली उस रस को कैसे पहचाने ।

अपने भावदेह से मुकुन्द मधु-माधवी, कृष्णकान्ता शिरोमणि बने प० पू० गुरुदेव के नयनों की काली पुतरियों में निजभावद्युति-सुवलित-तनु श्रीकृष्ण रसराज का कैसा लोकातीत चिन्मयरूप प्रतिबिंबित हो रहा है और पू० गुरुदेव उसमें कैसे मस्त हो रहे हैं, यह प्रेम पाठशाला में प्रवेश ही नहीं पायी हुई मंडली भला कैसे जान पाती ।

हाँ, कहीं रसिकशेखर श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज इस मंडली में होते तो वे अवश्य अनुभव कर सकते थे कि कितनी गंभीर और सर्वथा-सर्वांश में स्वसंवेद्य विद्या है यह । साथ ही कितना अभिनव आकर्षण है इसमें ।

श्रीगोयन्दकाजी की "नहिं परस्यौ कर्मठ अरू ज्ञानी" मंडली प० पू० गुरुदेव के गायन पर झुँझला जाती । शास्त्रों एवं वेदान्त के गंभीर अर्थविचार में रत इन सभी को पू० गुरुदेव का गायन हलका-फुलका, चपल बालवत् स्वभाव प्रतीत होता । वे सभी मन ही मन अति क्षुब्ध हो जाते । पू० गुरुदेव उनकी झुंझलाहट का मन ही मन यही उत्तर देते - "भाईयों ! आप सभी अत्यंत बुद्धिमान हो सकते हो । ज्ञान-गरिमा के आलोक में आप लोगों ने व्रजकुल चन्द्रमा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में क्या अवधारणायें कर रखी हैं, इसे आप लोग ही जानें । मैं सत्य-सत्य शपथपूर्वक कहता हूँ, एक बार मेरी बात मानकर सारे ज्ञानाग्रहों, तत्वों की उधेड़बुन को परे करके इस गीतावक्ता के नीलमणि एवं सरसिजवत् श्रीअंगों को देख तो लो । अहा ! इस रस-समुद्र के श्रीअंगों से विविध मनोहारी रंगों की कैसी दिव्यज्योति सर्वत्र विकसित हो रही है, कैसी चिन्मय अलौकिक रससुधा का सर्वत्र संचार कर रही है यह । इसे

निरवधि निहारते रहने पर भी क्या नयन तृप्त हो सकते हैं ? कदापि नहीं । बस, एक बार इन नयनों को इस रूप की एक हलकी सी भी झाँकी हो गयी तो नेत्र नित्य तरसते ही रहेंगे, पुनः पुनः दर्शन के लिये, क्षण-क्षण व्याकुल होकर तड़पते रहेंगे निरन्तर देखने के लिये।"

"हाय ! हत भाग्य !! आप सभी को उनकी छटा के दर्शन हुए नहीं, यदि तनिक सी भी झलक मिल जाती तो - फिर तो क्षण भर भी उस बंकिम छटा को देखे बिना आप सब नहीं रह पाते । फिर तो मेरी ही तरह गाते, प्रलाप करते फिरते ।"

पू० गुरुदेव उस मंडली का जानकर तो स्वाद बिगाड़ना चाहते नहीं थे । वे तो यही अनुभव करते थे कि अनादि अवतारी शेषशायी भगवान् नारायण ही श्रीजयदयाल गोयनका के पार्थिव देह को यंत्र बनाकर जगत् का अशेष हित, कल्याण करने के लिये इस भगवद्गीता की टीका का कार्य कर रहे हैं । उनकी मंडली भी शुद्धान्तःकरणसम्पन्न, पूर्ण चरित्रवान् भगवद् पार्षदों की ही टोली है । ये सभी उच्च-कोटि के संयमी, तत्त्वनिष्ठ, साधु हृदय हैं । अतः वे उनके गंभीर विचार-मंथन में विक्षेप प्रस्तुत करना कदापि नहीं चाहते थे । वे अपने प्राणवल्लभ से प्रार्थना करते -

**मुरहर रन्धन समये मा कुरु मुरली रव मधुरम् ।**
**नीर समेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम् ।।**

"हे मुरारे ! मेरे रसोई बनाते समय तो कृपा करके अपनी मुरली की मधुर तान मत छेड़ा करो, क्योंकि उस ध्वनि के आते ही मेरी सूखी लकड़ियाँ हरी हो जाती हैं, और मेरी रसोई ही नहीं बन पाती ।" पू० गुरुदेव का भाव यही होता कि दयाकर इस शास्त्रार्थ के समय तो अपनी मादक छटा मत दिखाया करो, जिससे मेरी मन-बुद्धि बहक जाय और मैं अवश इनके परम गंभीर शास्त्र-विवेचन के कार्य में विक्षेप करता हुआ गायन कर बैठूँ ।"

परन्तु श्रीकृष्ण तो "परम-स्वतंत्र न सिर पर कोऊ" उनकी बात मानें ही - ऐसा आवश्यक तो था नहीं ।

एक दिवस यह मंडली **"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय"** श्लोक के गूढ़ विचार-मंथन में उलझी हुई थी । पू० गुरुदेव दत्तचित्त थे अपने नीलसुन्दर में । उनकी भावधारा बह रही थी अपने भाव राज्य में ।

बस, वे पीलू राग में गुन-गुना उठे । पीलू राग उन्हें वैसा ही अधिकतम प्रिय था जैसा नरसीभगत को केदारा राग । पू० गुरुदेव का कण्ठ अतिशय मधुर था । उनकी स्वरलहरी उन गंभीर विचारकों को विक्षेप कर ही बैठी ।

> बिनु देखे मन मान न मेरो ।
> श्याम बरन मन हरन लाड़िलो, रूप सुधानिधि जगत उजेरो ।
> चाल मराल मनोहर बोलनि, नैकुचितै मोतन हँसि हेरो ।
> नारायण सब जग को ठाकुर, श्रीवृषभानु किसोरी को चेरो ।

उस दिवस पू० गुरुदेव अपने भाव-संसार में देह-ज्ञान विस्मृत हुए इस प्रकार मस्त होकर गा रहे थे कि यह मंडली स्तब्ध होकर सुनने लगी । फिर श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका एकदम नाराज हो उठे । उन्होने श्रीसेठजी जयदयालजी से जो उनके बड़े भाई थे कहा - "काम बन्द कर दीजिए और बस, इन स्वामीजी का गायन ही सुना करिये ।"

इधर श्रीहरिकृष्णदासजी क्रुद्ध हो रहे थे और उधर पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके श्रीकृष्ण की मानस-मूर्त्ति भी अपने नेत्रों में किञ्चित् रोष जनित लालिमा प्रकट कर रही थी । पू० गुरुदेव ने उसी क्षण अपनी आन देकर श्रीकृष्ण को शान्त किया । अन्यथा श्रीहरिकृष्णदासजी को उनके क्रोध का दंड मिल ही जाता और पू० गुरुदेव का भाव-गायन एक अप्रिय प्रसंग का हेतु बन जाता ।

इतने में ही पू० पोद्दार महाराज न जाने कैसे उस मंडली के मध्य आ गये । उन्होंने पू० गुरुदेव को समझाया कि वे टीका कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् नाम-जप किया करें । और पू० गुरुदेव का नाम-जप प्रारम्भ हो गया।

पू० गुरुदेव ने अपने प्रियतम काव्य में कहा है -

> "उनका था यह संसार अलग वे थे भूले उसमें प्रियतम ।
> है कौन यहाँ बाला बसती वे क्या कैसे जानें प्रियतम ।।

श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) अवश्य ही पू० गुरुदेव के हृदयगत भावों के पारखी थे, परन्तु वे विवश थे । उन्होने ही पू० गुरुदेव के ब्रह्ममहल में आग लगायी थी और जब वह पूर्ण ध्वस्त हो चुका था और उसके ध्वंसावशेष में

जब प्रीतिबेलि लग रही थी तो वे उसके सुरभित पुष्पों की गन्ध सूँघने तथा मकरन्द का आस्वादन करने वाले भ्रमर के समान पू० गुरुदेव को कभी-कभी टटोलते थे परन्तु रहते थे, सर्वथा अनजाने, अनभिज्ञवत् सर्वथा तटस्थ ।

## गीताप्रेस के कमरे में विलक्षण दर्शन

जो हो, फिर परिच्छेद मधुमय आया जिसमें तुमने प्रियतम !
माया भी रची चित्रपट के होंठों की ओर लिये प्रियतम !
'प्रगट्यो ग्वालिनीनेह पूरन' पद का अन्तस्तल में प्रियतम !
नयनों में और अहंता में था राग लगा छिड़ने प्रियतम !

### (चौपाये का अर्थ)

जो हो फिर हे प्रियतम ! वह मधुमय परिच्छेद आया जिसमें तुमने चित्रपट के होठों की ओट लेकर मेरे नयनों में और अहंता में, साथ ही ग्वालिनी पूरण प्रकट्यो नेह पद की लीला का मेरे अन्तस्तल में राग छेड़ना प्रारम्भ कर दिया ।

सन् १९३७ ई० की घटना है । श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के साथ पू० गुरुदेव गीताप्रेस में ठहरे थे । सेठजी ने पू० गुरुदेव को जिस कमरे में ठहराया था, वह वही कमरा था जिसमें श्रीपोद्दार महाराज की पुत्री सावित्रीबाई का जन्म हुआ था । आसन पर बैठे पू० गुरुदेव अपने उपास्य के चित्रपट का एकटक दर्शन कर रहे थे । यह चित्र यहाँ दिया गया है ।

चित्रपट का एकटक दर्शन करना पू० गुरुदेव का नित्य का नियम था। सहसा इस चित्रपट के होठों में चिन्मयता प्रकट होने लगी । होठों का अणु-अणु, कण-कण अलौकिक दिव्यता से परिपूर्ण हो गया । फिर यह चित्रपट ही जीवन्त हो गया इस चित्रपट के परिवर्तन के साथ ही दूसरा परिवर्तन पू० गुरुदेव के शरीर में हुआ ।

पू० गुरुदेव के अंगों-अंगों में विलक्षण कमनीयता का समावेश हो गया । वे चित्तहारी सुन्दर श्रृंगार से सुसज्जित हो उठे । उनका मुख पूर्ण विकसित अरविन्द के सदृश शोभा पा रहा था । सौरभ का पुञ्ज पू० गुरुदेव के अणु-अणु से स्फुटित हो रहा था । उनके प्रफुल्ल मुखसरोज में अभिनव अमृत

के सदृश मधुर-मधु परिपूरित था । उनके इस प्रफुल्लित मुख सरसिज का दर्शन कर रहे थे चिन्मय वपु वनमाली पू० गुरुदेव के प्राणाराम । प्रियतम के लोचन चंचरीक पू० गुरुदेव के आनन-सरोज पर मतवाले थे । न जाने कितने युगों-युगों से मानो वे चरम उत्कण्ठा लेकर इस मुख-सरोज के मधुपान में ही अविराम संलग्न रहे हों । फिर भी इनकी मधुपान लालसा प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी । ये मधु-लोलुप मानो क्षणभर के लिये भी तृप्त होना जानते ही नहीं थे । अपितु यह उनकी मधुपान की लालसा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी ।

उनके (पू० गुरुदेव के) आनन-सरोज पर मँडराते नेत्र मानो अति प्रीति भरी मूक वाणी बोल रहे थे :- "हे रस-रास-विलासिनि ! मुझ त्रिभुवनमोहन के मन में भी निर्मलतम अलौकिक मोह का सृजन करने वाली !! मेरी प्राणेश्वरी !!! अनाविल सुख की सार स्वरूपिणि परमानन्द उत्सरूपे !!!!! प्राणेश्वरी, तुम ही मेरी एक मात्र जीवन की जीवन अवलंबनरूपा हो ।

पू० गुरुदेव की मुग्ध दृष्टि अपने प्रियतम के मुख पर गड़ गयी थी । अहा ! उनके बिम्ब विडम्बी अधर कितने मधुमय एवं सुधारस से भरपूर थे । उनके अरुणिम गोल कपोल कैसी विलक्षण कमनीयता का प्रकाश कर रहे थे । विविध दिव्य-रत्नों की ज्योति उद्भासित कर रही थी, उनके सुन्दर कर्ण कुण्डलों को । प्राणप्रियतम के आकर्ण विलम्बी, अत्यन्त चित्ताकर्षक नयनों में एक अभिनव मनोरम कौटिल्य नाच रहा था । कृष्ण कज्जल से अनुरञ्जित रहने पर भी इनके अन्तराल से एक अनुपम रसमयता, रसिकता, बार-बार निखर उठती थी । फिर नयन-सरोजों पर राजित बंकिम भ्रूविलास कोटि-कोटि कन्दर्पों के शर-संधान को भी हेय तुच्छ बना दे रहा था । काम शर से विद्ध तो कोई योगी, महर्षि, कदाचित् त्राण भी पा जाय, परन्तु इस भ्रकुटि विलास की गरिमा, इसकी सम्मोहिनी शक्ति से प्रतिहत कोई इन चरणों का निरवधि दास नहीं हो जाय, असंभव, सर्वथा असंभव था । पू० गुरुदेव के परम चंचल नेत्र स्थिर थे, अपने प्रियतम का मुख सौन्दर्य निहारते हुए। पू० गुरुदेव पूर्णतया निमग्न हो चुके थे, इस रूप-लावण्य के महावेगशाली प्रवाह में।

पू० गुरुदेव की परिणति परम सुन्दर किशोरी के रूप में हो गयी थी । आयु लगभग चौदह वर्ष कुछ माह की थी । पू० गुरुदेव के सारे अंग संस्थान बदल चुके थे । उन्हें सर्वथा विस्मृत हो गया कि वे सन्यासी हैं, अथवा पुरुष

देह हैं । आज तक जितनी कलाएँ सृष्ट हुई हैं, हुई थीं और आगे भी जिनके होने की संभावना हो सकती है, वे सभी कलायें मूर्तिमती होकर पू० गुरुदेव के भावदेह की शोभा बढ़ा रही थीं । सर्वगुणगणों के वे निधान थे ।

पू० गुरुदेव की भावदेह की परम मनोहारिणी, सुचिक्कण, कृष्ण मिलिन्द सदृश आभावाली कुञ्चित केशराशि, इस केशकलाप से निर्मित वेणी, इस वेणी में अतीव रमणीय सुरभित सुमनों का गुम्फन, कैसी अप्रतिम सुषमा का विस्तार कर रहा था, कोई क्या कहे । मणिमय चन्द्रिका की द्युति, मुखारविन्द की नित्य नूतन परिवर्धमान रूप-गरिमा - क्या इसे साक्षात् सरस्वती भी निर्वचन करना चाहे तो कर सकेगी ? सर्वथा असंभव है । उत्तुंग वक्ष कंचुकी परिशोभित था, श्याम चूनरी से मस्तक आवृत था । चारु चिबुक, शंख सदृश सुघड़ कण्ठदेश और उसमें झूलते सुरम्य सुमनों के, मुक्तावलियों के, मणिश्रेणियों के, एवं वज्रखचित स्वर्ण के विविध हार थे । त्रिवली राजित लघु उदर, गंभीर नाभि, मेखला मण्डित अतिशय सुन्दर कृश कटिदेश, प्राणों का मंथन कर रहा था । अरुण कर, पद-पल्लवों पर मेंहदी की रचना परम सुललित थी ।

ऐसी श्रीकृष्ण-सुखजीवना, श्रीकृष्ण-प्राणा, श्रीकृष्ण-परिनिष्ठित-मति अपनी भावदेह और अपने प्रियतम श्रीकृष्ण में उठती प्रीति तरंगों का अनुभव करते हुए गुरुदेव न जाने कितने कालतक सर्वथा बेसुध बाह्यज्ञान शून्य पड़े रहे ।

पू० गुरुदेव के सामने जो दिव्यातिदिव्य दृश्य प्रकट हुआ उसे देखने के पश्चात् बहुत काल तक पू० गुरुदेव की विचित्र स्थिति रही । ऐसा लगता था मानों किसी ने उन्हें चार-पाँच बोतल शराब पिला दी हो । पू० गुरुदेव कहा करते थे कि जिस दिन गीताप्रेस के कमरे में वह दिव्य दर्शन मुझे हुआ, उस दिवस के पश्चात् फिर कभी मैं अपनी काया में रहकर भी अपनी काया में नहीं रहा । एक दिवस, इस स्थिति को समझाने के लिये उन्होंने एक साँप की केंचुली मँगायी । वे उस केंचुली को दिखाकर समझा रहे थे । उस सत्संग में मेरे मामा पू० चिम्मनलालजी गोस्वामी भी थे । वे साँप की केंचुली में मुख, आँख आदि सभी चिन्ह दिखला रहे थे और कह रहे थे कि देखो, आकृति सर्वथा साँप की है, परन्तु यहाँ साँप नहीं है । इसी प्रकार भगवान् की प्राप्ति के पश्चात् जीव अपनी काया में रहता हुआ भी नहीं रहता। वह जीव काया में रहता है, इस अर्थ में कि जीव भगवान् में डूबकर भगवान् से एक हो जाता है और भगवान् उस देह में रहते हैं, अतः जीव भगवान के संबंध से रहता

भी है, और नहीं भी रहता इस अर्थ में क्योंकि वह तो सर्वथा भगवान् में जागा हुआ देह-ज्ञान को ही भूल चुका है। उसे अपने देह की नामरूप की आत्यंतिक विस्मृति हो जाती है, अतः वह देह में सर्वथा नहीं भी रहता । वह वही होकर भी वही नहीं रहता । जो सरोवर सरिता के आप्लावन के कारण सरिता में विलीन हो गया है, फिर उस सरोवर का रूप, संज्ञा, उसका जल का स्वाद, उसके जल की गंभीरता सब पहले वाली रह ही नहीं पाती । उसकी सब संज्ञा बदल जाती है ।

## नाम जप का प्रारंभ

पू० पोद्दार महाराज के द्वारा कृपा किये जाने के पश्चात् एवं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पू० पोद्दार महाराज का माहात्म्य सुनने के पश्चात् पू० गुरुदेव जैसे ही उन्हें गीता की टीका के कार्य से अवकाश मिलता, पोद्दार महाराज के पास गीता वाटिका चले आया करते थे । श्रीसेठजी के पास तो और भी अनेक कार्य रहते थे अतः उनके दूसरे कार्य जब भी अधिक आवश्यक हो जाते थे, तब गीता कार्य स्थगित हो जाया करता था । उस दिवस पू० गुरुदेव श्रीसेठजी से पूछकर वाटिका चले आते थे ।

गीतावाटिका में उन दिनों बहुत ही उत्तम व्यक्तियों का समावेश था । स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज तब श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी के नाम से गीतावाटिका में ही रहते थे । श्रीसनातनदेवजी भी श्रीमुनिलाल के नाम से बहुत ही विद्वान एवं अच्छे साधक थे । श्रीद्विवेदी जी के साथ पू० गुरुदेव की बहुत ही आत्मीयता थी । वे पम्प चला-चलाकर पू० गुरुदेव को स्नान कराया करते थे । श्रीद्विवेदीजी श्रीमद्भागवत के मूर्धन्य विद्वान थे, और श्रीमद्भागवत की कथा कहा करते थे । एक दिवस पू० गुरुदेव पू० श्रीपोद्दार महाराज के पास बैठे थे । द्विवेदीजी भी साथ ही थे । बात चली नापजप की । पू० श्रीपोद्दार महाराज ने गीता की टीका कार्य के पश्चात् नामजप करने की राय उन्हें श्रीघनश्यामदासजी जालान के घर में भी दी थी, जिसे हम पिछले अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं । उस दिवस श्रीपोद्दार महाराज नामजप एवं भजन पर बहुत ही अधिक आग्रह करने लगे । पू० गुरुदेव के मन में तो पोद्दार महाराज के तनिक से संकेत का भी बहुत महत्व था । श्रीद्विवेदीजी नापजप की अपेक्षा मंत्र-जाप पर अधिक निष्ठा रखते थे । अतः वे 'ॐ नमो भगवते

रसों का समूल नाश कर देता है । फिर बचता है मात्र भगवद्रस, भगवन्नाम रस । बस थोडी सी देर नाम लिया नहीं कि चित्तवृत्ति बाह्यजगत को देखना, सुनना, स्पर्श करना भी छोड देती है और मन विलक्षण दिव्यातिदिव्य परमार्थ राज्य की गहराइयों में उतर जाता है । तब नामजप हुआ, ऐसा समझना चाहिए । जब भी नामजप अतिशय प्रिय लगने लगता है तो मन में भावोद्वेलन होने लगता है उस समय संख्या पूरी करना कठिन हो जाता है ।

जो भी हरिनाम लेते हैं, सुनते हैं, कीर्त्तन करते हैं, कीर्त्तन कराते हैं उन्हें इस सबका क्या फल मिलेगा, इसकी जानकारी उन्हें आज भले ही नहीं हो, परन्तु भविष्य में अवश्य होगी ही । नाम, गुण-संकीर्तन परमात्म-राज्य में स्थित कर देने का अमोघ उपाय है ।

## तीन पदों की लीलाओं का साक्षात्कार

भावमयी साधना के क्षेत्र में संगीत का स्थान अतिशय महत्वपूर्ण है । संगीत गान एवं श्रवण से स्वभावतः ही भाव बहुत ही अधिक संचरित होने लगते हैं । पू० गुरुदेव को यदि कोई भावुक व्यक्ति सिद्ध भक्तों द्वारा रचित पद गायन सुनाया करता था तो उस पद गायन के पीछे जो भी उस सिद्ध सन्त द्वारा अनुभूत लीला होती थी, वह उनके सम्मुख ज्यों-की-त्यों प्रकट हो जाती थी । पू० गुरुदेव भगवद् अनुभूति के आधार पर रचित साहित्य को ही श्रेष्ठ साहित्य मानते थे । वे अनुभूति विहीन साहित्य को तो थोथा, मात्र शाब्दिक जाल मानते थे । यह यथार्थ ही है कि कल्पना के आधार पर लिखा गया लीला-प्रसंग और अनुभूत संत द्वारा वर्णन किया लीला-प्रसंग एक समान संवेदनशील तो होना असंभव ही है ।

जिस महासिद्ध प्रेमी सन्त का मानस-बिन्दु अपने प्रेमास्पद प्रभु की लीलाओं में विलय को प्राप्त हो चुका है, उस प्रेमी के मन का प्रेमास्पद से अलगाव कैसे संभव है ? उस प्रेमी के मन में एवं उसके प्रेमास्पद में अभेद एकत्व हो जाता है । तब उसका मन ही भगवद्लीला बन जाता है । उस प्रेमी को लीलाराज्य के जिन प्रसंगों के दर्शन होते हैं, उसे जो-जो दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं, उन अनुभवों से स्वयं उद्भूत जो वाणी अथवा वैसे सन्त द्वारा रचित काव्य, यथार्थतः उस लीला को किसी भी शुद्धान्तःकरण में उतार देने का कार्य करने वाला अमोघ मंत्र ही होता है ।

और उन वाणियों को पदों को गायन करने वाला अथवा पाठ करने वाला, करने वाली यदि शुद्ध अन्तःकरण नहीं है तो निश्चय ही कालान्तर में वह शुद्ध अन्तःकरण होकर उस लीला को अपने में उतार लेने का पात्र हो ही जाता है।

इस सिद्धान्त पर पू० गुरुदेव का तब पूरा-पूरा विश्वास जमा जब एक दिन वे गीतावाटिका में श्री पोद्दार महाराज के सत्संग में सम्मिलित हुए थे ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि मुझे पू० श्रीपोद्दार महाराज की सन्निधि मात्र से बहुत ही अलभ्य वस्तुएँ मिल जाती थीं । संसार भले ही श्रीपोद्दार महाराज को थुल-थुल शरीर वाला मारवाड़ी बनिया देखता हो, मेरे लिये तो वे साक्षात् श्रीकृष्ण ही थे । वरं यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वे श्रीकृष्ण का गोपनीय से गोपनीय तत्व-रहस्य प्रकट करने वाले साक्षात् कृपामूर्त्ति ही थे ।

श्रीपोद्दार महाराज के सत्संग के पूर्व गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी कोई भी सूरदासजी, तुलसीदासजी आदि महासिद्ध भक्तों का एक पद सुनाया करते थे । उस दिवस उन्होंने सूरदासजी का निम्न पद सुनाया ।

ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेहु ।<br>
दधि भाजन सिर पर धर्‌यौ (हो) कहत गुपालहि लेहु ।।१।।<br>
कौन सुनै का सौं कहौं (हो) काके सुरत-सँकोच ।<br>
काको डर पथ अपथ को (हो) को उत्तम, को पोच ।।२।।<br>
हाट बाट प्रिय पुर-गली (हो) जहाँ-तहाँ हरिनाम ।<br>
समुझाएँ समुझै नहीं (हो) वाहि सिख दै विथक्यौ ग्राम ।।३।।<br>
पान किये जस बारुनी (हो) मुख भलकत तन न सँभार ।<br>
पग डगमग इत-उत धरै (हो) बिथुरी अलक लिलार ।।४।।<br>
दीपक ज्यौं मन्दिर बरै (हो) बाहर लखै न कोय ।<br>
तृन परसत प्रजुलित भयो(हो)(अब) गुपुत कौन विधि होय।५।<br>
सरिता निकट तड़ाग के (हो) दीनो कूल बिदारि ।<br>
नाम मिट्यौ सरिता भई (अब) कौन निबेरै बारि ।।६।।<br>
लज्जा तरल तरंगिणी (हो) गुरुजन गहरी धार ।<br>
दोउ कुल कूल परिमिति नहीं(हो)वाहि तरत न लागी बार।।७।।<br>
विधि भाजन ओछो रच्यौ (हो) लीला सिन्धु अपार ।<br>
उलटि मगन तामै भयौ (हो) अब कौन निकासन हार ।।८।।

चित आकरष्यौ नंद के (हो) मुरली मधुर बजाय ।
जेहि लज्जा जग लाजयौ (हो) सो लज्जा गयी लजाय ।।९।।
प्रेम मगन ग्वालिनि भई (हो) सूरदास प्रभु संग ।
श्रवण नयन मुख नासिका '(हो) कंचुकि तजत भुजंग ।।१०।।

पू० गुरुदेव कहते थे कि गोस्वामीजी का हृदय अत्यंत भावमय था। उनकी एक-एक शब्दावली ने मेरे सम्मुख इस पद में निहित लीला को प्रत्यक्ष कर दी थी । उस दिन मुझे सर्वप्रथम श्रीकृष्ण ने परिचय कराया कि सूरदास, तुलसीदास आदि के अधिकांश पद मात्र तुकबन्दियाँ नहीं हैं, ये तो जाग्रत मूर्तिमान सिद्ध-मंत्र हैं । बाद में अनेक वर्षों पश्चात् पू० गुरुदेव ने इस लीला को जो उन्हें अनुभूत हुई थी 'सत्संग सुधा' परिपत्र के वार्षिक अंक में राधष्टमी के अवसर पर सम्मान्या सावित्रीबाई फोगला को लिखा दी थी । सम्मान्या सावित्रीबाई से पूछने पर पता चला कि जब पू० गुरुदेव उस पद की व्याख्या लिखा रहे थे, उस समय उनकी विचित्र स्थिति थी । वे जैसे किसी दृश्य को देखकर बोल रहे हों इस प्रकार बोलते थे, परन्तु तुरन्त ही उस भाव में डूब जाते थे । सम्मान्या बाई उन्हें बार-बार सावधान करती थीं । बार-बार स्मरण दिलाती थीं, जिससे कि वे उस वर्णन को भली प्रकार लिखा सकें ।

यह बात यथार्थ है कि प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु का दिखाई पड़ना असंभव है । इस माया-जगत् की उत्पत्ति शरीर, मन एवं इन्द्रियों की गति मायातीत राज्य में होनी तो ठीक इसी प्रकार है जैसे रात्रि का दिन में होना । माया-जगत् के शब्द,स्पर्श,रूप,रस,गंध मायातीत जगत के शब्द, स्पर्श से सर्वथा भिन्न हैं । माया जगत की इन्द्रियों से तो वे सर्वथा अग्राह्य हैं ।

यह लीला जो पू० गुरुदेव के सम्मुख व्यक्त प्रकट हुई वह तो अप्राकृत जगत् के पात्र गोपी में घटित हुई थी । उसका पू० गुरुदेव के प्राकृत नेत्रों के सम्मुख प्रकट होना तो एक असंभव सा आश्चर्य ही था । यह पुरुषार्थ द्वारा तो सर्वथा साध्य नहीं था । यह तो श्रीपोद्दार महाराज अथवा भगवान् की पू० गुरुदेव पर अपार हेतुरहित उदारता ही थी ।

यथार्थत: कृपा मार्ग ही सबसे सरल साधन है । कृपाश्रित का संपूर्ण भार कृपासागर पर रहता है । कृपा सागर संत अथवा भगवान् दोनों एक ही तत्व

हैं, वे उसकी सब बात बना देते हैं। पू० गुरुदेव का जीवन इसका मूर्त्तिमान उदाहरण ही था ।

सरिता के जलप्रवाह में धारा के उलटे मछली आसानी से तैर जाती है, परन्तु हाथी नहीं तैर पाता । मछली सरिता के आश्रित होती है अतः उसे किसी भी प्रकार के आयास की अनुभूति नहीं होती । उसी प्रकार कृपाश्रित व्यक्ति का संपूर्ण कार्य भगवत्कृपा से अनायास ही हो जाता है, मानो वह पथ से नहीं, राकेट अथवा हवाई मार्ग से यात्रा कर रहा हो । स्वयं परिश्रम अथवा पुरुषार्थ करने वाला लक्ष्य तक पहुँच पायेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता । कृपाश्रित के लिये लक्ष्य सुलभ है, सुगम्य है, सुप्राप्य है ।

पू० गुरुदेव को इस 'ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह' पद के अतिरिक्त उन्हीं दिनों दो और पदों में निहित लीला के भी दर्शन हुए थे । उसमें एक पद है-

कब की महयौ लियें सिर डोलै ।
झूठे हि इत उत फिर फिर आवत, यहाँ आय यह बोलै ।
मुँह लौं भरी मथनिया तेरी, तोहि रटत भई साँझ ।
जानति हौ गोरस को लेबो, याही बाखर माँझ ।
इत तौ आय बात सुनि मेरी, कहें बिलग जिन मानै ।
तेरे घर में तुही सयानी, और बेचि नहिं जानै ।
भ्रमतहि भ्रमत भरमि गई ग्वालिनि, विकल भई बेहाल ।
सूरदास प्रभु अन्तरयामी आइ मिले तत्काल ।।

इसमें भी निहित लीला पू० गुरुदेव ने सत्संग सुधा के वार्षिक अंक राधाष्टमी परिपत्र में लिखाई थी । ये दोनों लीलाएँ पश्चात् 'चलोरी आज ब्रजराज मुख निरखिये' नामक पुस्तक में छप चुकी हैं ।

तीसरा पद है :-

नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर ।
नंद नंदन अछत कैसे आनिये हिय और ।
चलत चितवत उठत जागत सुपन सोवत रात ।
हृदय तैं वह श्याम मूरति छिन न इत उत जात ।
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक लाज दिखात ।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात ।
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।

इस तृतीय पद की व्याख्या पू० गुरुदेव ने "प्रेम सत्संग सुधा माला" नामक पुस्तक में दी है । पाठकों के मननार्थ ये लीलाएँ यहाँ भी उद्धृत की जा रही हैं ।

## 'ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह' पद की लीला

देखो ! देखो !! देखो !!! देखो !!!! अरे एक बड़ी ही सुन्दरी गोपी आयी है। उसके सिर पर दही का मटका है । लँहगा पहने है । अरुण कंचुकी है उसकी । ओढ़नी सिर पर दही का मटका लिये रहने के कारण - सिर से चिपकी पड़ी है । ओढ़नी के दोनो छोर मन्द समीर के झोंके में किञ्चित् हिल रहे हैं । किन्तु सर्वथा उन्मादिनी है यह गोपी ।

**दधि भाजन सिर पर धर्यौ कहत गोपालहि लेहु**

अहा ! हाँ !! कितना सुन्दर नन्दग्राम का दृश्य है । उसके राज पथ पर यह गोपी दौड़ रही है । यह लो ! मटका सिर से गिर गया । गोपी को कोई भान नहीं मटका फूटने का, दही के गिर जाने का । दही बेचने आई हूँ , यह भी भूल गयी है वह ! बस पुकार रही है - गोपाल लो । गोपाल ले लो !! गोपाल लो !!! गोपाल लेलो !!!! गोपाल लो ।

**कौन सुनै कासौं कहौं काके सुरत सँकोच**
**काको डर पथ अपथ को, को उत्तम को पोच**

देखो ! देखो !! गोपी के पिता उसके पीछे दोड़े जा रहे हैं । बेटी ! बेटी !! कहकर चिल्ला रहे हैं । परन्तु गापी को तो विश्व का कोई ज्ञान ही नहीं है । 'गोपाल', 'गोपाल' 'गोपाल' की ध्वनि निरन्तर उसके मुख से निकल रही है । और ओह ! इस गोपी के मुख से निकले गोपाल नाम का कैसा विचित्र प्रभाव है । उस नाम श्रवण से उसके पिता की देह में जड़िमा का विकार व्यक्त हो गया है । वे चेष्टाशून्य ज्यों-के-त्यों खड़े हैं और गोपी 'गोपाल', 'गोपाल' कहती हुई तैलिक एवं ताम्बूलिक हाट की ओर चली जा रही है ।

हाट बाट प्रिय पुर गली जहाँ-तहाँ हरिनाम
समुझाये समुझै नहीं जाहि सिख दे वियक्यो गाँम

युवतियों का एक दल एकत्र हो गया है । आश्चर्यचकित सभी देख रही हैं। एक युवती उस गोपी से कह रही है – "अरी ! इस प्रकार तू चिल्लाकर अपने कुल में कालिख क्यों पोत रही है री !" किन्तु गोपी के कान में यह सीख तो अब जाने से रही । उसे भान ही नहीं है कि मैं कहाँ हूँ ।

एक अधेड़ वयस्का युवती आगे बढ़कर उसे रोकना चाहती है । पर यह लो ! उसे छूते ही, गोपी को स्पर्श करते ही युवती के शरीर में कम्पन का विकार हो जाता है । थर-थर नाच रहा है उस युवती का शरीर । और गोपी तो आगे बढ़ गयी ।

अब देखो ! वह पूर्व की ओर दौड़ती आ रही है । राजपथ से नहीं, उस वीथी से - जो कलिन्दनन्दिनी के प्रवाह की ओर जाती है । और उस गोप के घर के द्वार पर रुक कर वह गोपी पुकार रही है - 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल' ।

अब देखो ! वह यमुना के उस अर्धवृत्ताकार मोड़ पर आ गयी है । एक उज्ज्वल वसना युवती उसके सामने खड़ी हो जाती है । "अब देखती हूँ, तू आगे कैसे बढ़ती है" - कर्कश स्वर से उसने गोपी को रोकना चाहा । किन्तु यह लो ! उस उज्ज्वल वसना युवती में भी 'गोपाल' नाम का प्रभाव व्यक्त हो गया । जड़िमा भाव ने उसे आत्मसात् कर लिया । 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल' की रट लिये गोपी आगे बढ़ गयी ।

अब देखो वह सित केशी धवल वसना वृद्धा गोपी उसे रोककर समझा रही है - "बेटी ! सात दिवस हो गये री ! तेरी ऐसी दशा है, तुझे क्या हो गया मेरी बेटी ! 'गोपाल, गोपाल' कहकर गोपी ने अपना मुख फेर लिया । वृद्धा की आँखों से झर-झर अश्रुप्रवाह बह चला ।

अरे अब तो वह वृद्धा भी बेटी की ही तरह गोपाल ! गोपाल !! चिल्लाती हुई गोपी के पीछे दौड़ी जा रही है । कैसा विचित्र प्रभाव है इस गोपी के मुख से निकले गोपाल नाम का ।

अब देखो ! अधेड़ गोपियों के एक दल ने उसे घेर लिया । समझाने लगी उसे । दल में जो सबसे बड़ी थी वह - "अरी ! तू सोच तो सही, इसमें तेरे लोक-परलोक दोनो ही नष्ट हो रहे हैं ।"

दूसरी कह रही है – "बावरी ! पथ-कुपथ देखकर चलना चाहिए, इसमें ही लोक-परलोक दोनों बनते हैं । और नहीं तो ।"

तीसरी कह रही है – "तू कितनी सयानी थी, री ! कितना ऊँचा जीवन था तेरा ! किस प्रकार तेरे सद्गुणों की चर्चा गाँव-गाँव में फैली थी । और आज 'गोपाल' ! 'गोपाल' !! –इतना ही बोल सकी तीसरी और न जाने उसे क्या हुआ – उस गोपी के चरणों में गिरकर वह मूर्च्छित हो गयी ।

अब उस दल में किसी को भी साहस नहीं हो रहा है कि उसे छेड़े क्योंकि पहली दूसरी भी उपदेश तो कर गयी, पर पहली की आँखों के आगे, दूसरी की आँखों के आगे एक साथ ही न जाने कौनसा दृश्य आया कि पलकें पड़नी बन्द हो गयीं ।

अब उस दल में जो सबसे गंभीर, शान्त प्रकृति की है, अब वह कह रही है, अपने दल से – "देखो ! इसे छेड़ने में कोई लाभ नहीं है । इस बेचारी को अपने तन की सुधि ही नहीं है । फिर संकोच, पथ-अपथ का भय, ऊँच-नीच का भेद क्या अर्थ रखते हैं, ये इसके लिये । इसके कण-कण में वह गोपाल, यशोदा का नीलमणि ही परिपूरित हो चुका है । सारा गाँव इसे समझाकर थक चुका है । अब तुम इस व्यर्थ के प्रयास से विरत हो जाओ ।" इतना ही कह सकी वह अधेड़ रमणी और न जाने उसे भी क्या हुआ, वह भी उस गोपी के चरणों में गिरकर मूर्च्छित हो गयी । और वह गोपी – 'गोपाल' 'गोपाल' की ध्वनि से यमुना के कूलवर्ती तमालों को निःनादित करती हुई दक्षिण अरण्य की ओर चली जा रही है ।

पान किये जस वारुणी, मुख झलकत तन न सँभार ।
पग डग मग इत उत धरत बिथुरी अलक लिलार ।।४।।

अब देखो ! वन पथ से, वन की पगडंडी से वह उस अश्वत्थ वृक्ष की ओर चली जा रही है । ओह । कैसी विचित्र दशा है इस गोपी की । ऐसा लगता है जैसे इसने कोई अद्भुत विचित्र सी मदिरा पीली हो । मुख लाल-लाल हो रहा है । ज्योति निकल रही है इसके मुख से । लाल किरणें निकल रही हैं । यह लो । ओढ़नी गिर गयी । कञ्चुकी और लहँगे का आवरण ही देह पर बच रहा है, अलकें बिखर गयीं । कुन्तलों की लटें गोपी के ललाट पर झूल रही हैं । उन्माद की इस दशा में वह आगे दक्षिण-पश्चिम

के कोण की ओर बढ़ती चली जा रही है डगमग गति से । अपने निवास-स्थल से दूर, बहुत ही दूर चली आई है वह । किन्तु उसे क्या पता ? जब अपने तन का ही भान नहीं उसे, तब फिर आवास कहाँ, कितनी दूर चला गया, इसे कौन देखें । पैर रखती है कहाँ और पड़ते हैं कहाँ । अरण्य के वृक्षों से टकराने चलती है, पर बड़ी विचित्र बात है । तरु शाखायें अपने कोमल पल्लव जाल से उसे थाम लेती हैं और वह आगे बढ़ती जा रही है । अब भी अनजान में ही वह नन्दग्राम को अपने दाहिने करके ही चल रही है। आ पहुँची वह अब उस तमाल की शीतल छाया में, जो उत्तर वाहिनी कलिन्द नन्दिनी के तट पर है । विस्फारित आँखों से देख रही है, वह चारों ओर। जनशून्य अरण्य स्थल है । कल-कल करती हुई प्रवाहिणी गोपी का स्वागत करती है । फिर एक लहर से उसे पाद्य समर्पित करती है । इस समय वन विहंगमों के अतिरिक्त कोई भी उसकी गति विधि को देख नहीं पा रहा है ।

**मन्दिर ज्यौं भीतर बरै री बाहर लखै न कोय।**
**तृन परसत प्रजुलित भयौ (हो) गुपुत्त कौन विधि होय ।**

अब देखो । वह तमाल की शीतल छाया में आँखें बन्द करके बैठ जाती है । ओह ! कितना विचित्र प्रभाव है उस गोपी का कुछ क्षण वन विहंगम भी मूक हो जाते हैं । तरु शाखाओं पर विराजित रहकर वे गोपी का दर्शन कर रहे हैं।

अब देखो ! उस तमाल पर बैठी सारिका अन्य विहंगमों से कह रही है। "तुम सब सुनो, मैं इस गोपी की जीवनी बतला रही हूँ तुम सभी को । तुम्हें स्मरण है ही कि इस रस-तरंगिणी के तथा उस सरोवर के मध्यस्थल में इस गोपी की पर्णशाला थी । एक बड़ा ही मनोरम उद्यान रस-तरंगिणी और सरोवर को सम्बद्ध कर देता था । इसकी पर्णशाला के अग्रभाग में एक लघु स्त्रोत भी था । जब रस-तरंगिनी बढ़ती तो उसकी लहरें, उसका जल उस स्रोत में बहने लगता और सरोवर तक चला जाता।"तथा जब सरोवर पावस की धारा से भरपूर हो उठता तो एक छोटे से द्वार से वह इस स्रोत में बह चलता । रस-तरंगिनी और सरोवर का इस प्रकार रसमय मिलन हो जाता । संभवतः गिरिराज के उस प्रच्छन्न निर्झर से ही इस स्रोत में जल आता था । ग्रीष्म में भी सूखता नहीं था । और कैसी विचित्र बात ! कभी-कभी हेमन्त में

भी, शीत में भी, शरद बसन्त में भी, शिशिर में भी अचानक वह सरोवर भी ऊपर तक भर जाता था, और उसकी धारा बह चलती उस स्रोत में ।

वह गोपी अपनी पर्णशाला में बैठी रहती । इसके नेत्र निमीलित रहते । इसके हृदय में नन्दनन्दन की प्रीति का दीपक अनादि काल से जल रहा था । किन्तु सभी गवाक्ष, रंध्र, पर्णशाला के सभी छिद्र, सर्वथा बन्द रहने के कारण समीर का एक झौंका भी पर्णशाला के भीतर नहीं आ पाता था । घास-फूस-निर्मित उस लघु विश्रामगृह के एक द्वार से ही वह गोपी आया-जाया करती थी । अपने हृदय मन्दिर को तो इसने ऐसा आवृत कर रखा था कि उसके अपने श्वास समीर भी उस दीपक तक नहीं पहुँच पाते थे । इसलिये सर्वथा निर्वात स्थल में विराजित रहकर प्रीतिदीप की लौ रंचमात्र भी नहीं हिलती थी ।

एक दिन की घटना है - दिनकर प्रतीची - क्षितिज की ओर झुक पड़े थे । रस-तरंगिनी के तट से गूँज उठी वह स्वर लहरी, वह मधुरातिमधुर झंकृति -

**कमल मुख शोभित सुन्दर वेणु**
**मोहन ताल बजावत, गावत आवत चारे धेनु ।।**

यह झंकृति एक विचित्र बयार के रूप में परिणत हो गयी । और जा पहुँची, उस गोपी की पर्णशाला में - गवाक्षों में नवीन छिद्र का निर्माण करके। इतना ही नहीं, गोपी के कर्णपुटों के द्वार से हृदय मन्दिर के समीप भी जा पहुँची बयार। और अचरज की बात । मन्दिर के आवरण में भी एक, दो, चार, पाँच, दस, बारह, सोलह छिद्र बन गये । बयार और प्रीति दीप की लौ का मिलन हो गया । लौ बड़े वेग से हिल पड़ी। गोपी के वक्षस्थल की ओर झुक पड़ी । तनके झीने आवरण को जलाकर बाहर निकल आयी । कुन्तलों की दो काली लटें वक्षःस्थल पर झूल रही थीं । लौ ने एक साथ दोनों को पकड़ा । गोपी का तन जलने लगा - परिधान जलने लगा । उधर बयार का झौंका अभी भी स्पंदित हो ही रहा था । घास-फूसमयी पर्णशाला के दो, तीन लम्बे तृण नीचे लटक पड़े । प्रीति की लौ लपट में परिणत हो ही चुकी थी । लपटने उस तृण को आत्मसात् कर लिया । प्रज्वलित हो उठी पर्णशाला । अब तक हम लोगों के अतिरिक्त सुनते हो विहंगमों ! किसी ने

नहीं देखा था उस गोपी को । गोपी की पर्णशाला को और गोपी के हृदय को तो कोई देखता ही क्या ? अब जब पर्णशाला और गोपी, गोपी का हृदय भी सब धक्-धक् जल रहे थे, तब फिर यह आग कैसे छुपती ? भीड़ इकट्ठी हो गयी । सभी ने जान लिया 'अहा ! यह बडभागिनी गोपी - संभवतः स्वप्न में एक बार - हमारे दृष्टिपथ में आयी थी अवश्य, परन्तु इसके हृदय मन्दिर में नन्दनन्दन की प्रीति का दीप जल रहा है, उस दीपक की निर्मल ज्योति ही हममे भी नन्दनन्दन की प्रीति जगाने की भूमिका का निर्माण कर रही है - इस बात को हम लोग सर्वथा ही नहीं समझ पाये । बाहर से कुछ भी दीखता जो नहीं था ।

विहंगमों सुनो ! मैं स्पष्ट खोलकर बतला दे रही हूँ - यह गोपी उस सरोवर की अधिष्ठात्री देवी थी । गोपी की इन्द्रियाँ ही सरोवर का प्राची तट बनी हुई थीं । मन ही दक्षिण तट बना हुआ था । गोपी की बुद्धि ही प्रतीची तट के रूप में परिशोभित थी । इसकी अहंता ही उत्तर-तट के रूप में मूर्त थी ।

सरिता निकट तड़ाग के दीनो कूल बिदारि

'अब सुनो क्या हुआ ? प्रतिदिन ही रसतरंगिणी में बुद-बुदे उठते थे । उस सरोवर की ओर जाने के लिये ही तथा कभी-कभी बुद-बुदे लहरों में परिणत होते और स्रोत के द्वार से सरोवर तक जा पहुँचते । प्रच्छन्न रूप से सरोवर का प्रतीची तट, तट की नींव खोखली होती जा रही थी तथा एक दिन रसतरंगिणी में ऐसी बाढ़ आयी कि क्या बताऊँ ? पहले तो उसने सम्पूर्ण उद्यान को आत्मसात् कर लिया । वह पर्णशाला तो पहले ही प्रवाह में डूब चुकी थी । क्षण बीतते-न-बीतते रसतरंगिणी की बाढ़ प्रतीची तट के ऊपर से चल पड़ी ।

नाम मिट्यौ सरिता भई अब कौन निबेरै बारि ।।

इतने वेग का प्रवाह था कि दूसरे उच्छलन में ही, रसतरंगिणी के दूसरे उद्वेलन में ही सरोवर का प्रतीची कूल बीच से टूट गया । फिर तो दक्षिण-प्राची तटों को टूटने में देर ही नहीं लगी । इनके टूटते-न-टूटते उत्तर का तट टूटकर, सरोवर एवं रसतरंगिणी दोनों एक हो गये ।

रस-तरंगिणी ने सर्वथा, सर्वांश में आत्मसात् कर लिया उस सरोवर को । सरोवर का नाम था यह ........ । गोपी उसकी अधिष्ठात्री देवी थी । सरोवर का नाम मिट गया। सरोवर रसतरंगिणी बन गया । जहाँ सरोवर था, वहाँ रसतरंगिणी लहरा रही है । अब किसकी सामर्थ्य है कि रसतरंगिणी के जल को रोक सके, रुद्ध कर सके । जो ऐसा करने जायेगा, करने जायेगी – वही बह जायेगा । बह जायेगी । डूब जायेगा, डूब जायगी । इस प्रेम सरिता की बाढ़ में । रस कल्लोलिनी के इस उद्वेलन में ।

लज्जा तरल तरंगिनी गुरुजन गहरी धार ।

कीर ! पक्षियों ! सुनो, देखो ! गोपी के निवासस्थान को तो देखो । देख रहे हो तुम ! लज्जा की कैसी विशाल नदी बह रही है । उस ग्राम के आगे। कितनी चञ्चल लहरें हैं उस नदी की । कितनी गम्भीर धारा है उसकी। इसके दोनो तटों को देखो ! उड़ते चले जाओ दोनों तटों पर, कहीं तटों की सीमा मिलेगी ही नहीं । और भी खोलकर कहे देती हूँ - वह गोपी बहुत ही लज्जावती थी । स्वभावतः चंचला होने से इसकी आँखें उठती तो सही नन्दग्राम की ओर, किन्तु तत्क्षण घूँघट की ओट में चली जातीं लज्जावश । इसके गुरुजन इतने कट्टर मर्यादावादी हैं कि पूछो मत । इस गोपी के दोनों कुल कितने विशाल हैं - घूमते-घूमते, देखते रह जाओगे, कहीं अन्त नहीं मिलेगा ।

किन्तु हुआ क्या ? आधा क्षण भी नहीं बीता, नन्दनन्दन की प्रीति के प्रवाह में यह गोपी ऐसी बह चली कि सर्वप्रथम लज्जा ने ही इसका साथ छोड़ा। गुरुजनों का यह गंभीर शासन आधे क्षण में निरर्थक हो गया । दोनों कुलों का बंधन पट-पट टूट गया । सबको छोड़कर, सबके ऊपर पैर रखती हुई, सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों को पार करती हुई वह नन्दग्राम की ओर भाग चली । नन्दनन्दन की ओर दौड़ चली । प्रबल वेग से । कोई भी रोक नहीं सका, कोई भी रोक नहीं सकी, इसे । आधे क्षण में ही यह घटना संघटित हो गयी।

दोउ कुल कूल परिमित नहीं (हो) वाहि तरत न लागी वार ।।

अहा ! शुक, अहो !! कपोत !!! कोकिल, सभी विहंगम - बन्धुओं । देखो, कैसी शोभा है इस गोपी की इस समय । इसे क्या पता कि मैं इसकी जीवनी बतला रही हूँ । यह तो गयी ! गयी !! गयी !!! डूब गयी !

डूब गयी !! डूब गयी !!! कहाँ ? ओह । देखो, देखो, कलिन्द नन्दिनी के प्रवाह की ओर देखो । कलिन्द नन्दिनी कहाँ, महासमुद्र लहरा रहा है । अब उडो तो सही प्रतीची की ओर, दक्षिण की ओर, उत्तर की ओर - कहीं इस महासमुद्र का कोई तट तुम्हें मिलेगा क्या ? उस महाभाव रससमुद्र का कोई किनारा मिलेगा क्या ? और फिर प्राची की ओर भी उड़कर देख सकती हो, कहीं इस महाभाव रससागर का पार तुम्हें उपलब्ध होगया क्या ? अरे ! सुनो, रहस्य की बात बतलाती हूँ । इस महासमुद्र के फेन से ही निर्मित हुआ यह तट तुम्हें दीख रहा है । उस फेन से ही निर्मित तमालतरुराशि है, कदम्ब कानन है, यह वृंदारण्य है । कथन मात्र के लिये फेन से भला ।

कैसे समझाऊँ ? अच्छा सुनो ! इस रस-सिन्धु की लहरें ही शीत उपल के रुप में परिणत हो गयी हैं, तरुजाल के रूप में परिणत हो गयी हैं, गिरि, गिरिश्रृंग के रूप में परिणित हो गयी हैं । आँखें गड़ाकर, देखो ! वही विशुद्ध रस ही इस द्वीप के रूप में परिणत हो गया है । कहीं भी उस रस के अतिरिक्त तुम्हें इनमें कुछ भी अन्यवस्तु उपलब्ध होगी ही नहीं । ऐसे, इस अपार महाभाव-रस सुधा-सागर में यह रस-सुधामय द्वीप का भान हो रहा है तुम्हें ? द्वीप की अनुभूति हो रही है तुम्हें ? और कितना गहरा है यह महाभाव-रस सुधा-सिन्धु । अरे, इसमें तल है ही नहीं । यह नित्य अतल है। और देखो । कैसी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं इसमें । कुछ समझे ? ये लहरें क्या हैं ? यशोदा के नीलमणि, नन्दनन्दन ही इन उर्मियों के रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं । उनकी परमरसमयी लीलायें ही उत्तुंग तरंग बन-बनकर ऊपर उठ रही हैं । इस द्वीप को, उसके तटको आ-आकर आर्द्र कर रही हैं ।

विधि भाजन ओछो रच्यौ (हो) लीला सिन्धु अपार।
उलटि मगन तामें भयौ (हो) अब कौन निकासन हार।।

और देखो ! इस गोपी की लघु-हृत्-स्वर्ण कलशी उलट गई । इस महारस-सुधा-सिन्धु के प्रथम स्पर्श में ही देह से बाहर निकलकर लहरों में नाचने लग गयी । फिर इसमें रस-सिन्धु का जल भरते कितनी देर लगी । बाहर निकलते-न-निकलते वह उलटे मुँह वाली लघु-स्वर्ण कलसी, छोटी सी हेममयी कलसी लीलारस से परिपूरित हो गयी । दूसरी लहर में ही वह आगे बह चली, और देखो ! दूर, दूर, दूर - वहाँ डूब गयी वह हृदय कलसी, इस समुद्र के अतलतल में । विधाता में बुद्धि नहीं, अथवा जान बूझकर उसने इसे इतना छोटा बनाया, इसकी आकृति इतनी लघु कर दी - कौन बतावे इसे । किञ्चित् आकृति बड़ी होती तो आधे क्षण के लिये कदाचित् इन लीला लहरियों पर यह और भी नाचती । हमारी आँखें दर्शन कर कृतार्थ होतीं । निहाल होतीं । किन्तु जैसा होना था, हो गया ! जो हो, अब कोई, उस हृदय के कनक पात्र को इस ओर छोरहीन रसोदधि के अतल-तल से निकाल लागे तो सही । फिर से यहाँ लाकर रखे तो सही । कोई ऐसा है क्या ? किसी में यह सामर्थ्य दीखे तो बताओ, मेरे विहंगम बन्धुओं !

चित आकरष्यौ नन्द के मुरली मधुर बजाय
जेहि लज्जा जग लाजयो सो लज्जा गई लजाय ।।

'अहो रक्तचक्षु हरितगात्र विहंगवर ! इस गोपी के जीवन में ऐसे परिवर्तन हुए क्यों ? तुम जानते तो हो ही ! तुम्हीं क्यो न सुना दो आगे की कथा, आगे का इतिवृत्त ! क्या तुम्हें संकोच होगा ? मैं ही कह देती हूँ । तुम्हे स्मरण है ही, कीर ! तुम उड़ रहे थे, उड़-उड़कर उस ग्राम की गतिविधि का निरीक्षण कर रहे थे । आम्र की शीतल छाया में ही नन्दनन्दन आये कि तुमने मंगलाचरण किया इस गोपी की जीवनधारा को मोड़ने का । हम सभी ने पहले तुम्हारी ही वाणी सुनी थी ...

शोभित वेणु शोभित वेणु ।

और फिर बज उठी वंशी नन्दनन्दन की । वेणुका वह मधुर रव क्या-क्या चमत्कार कर बैठा - अभी-अभी इसे सुना चुकी हूँ । अब तो केवल कथा का उपसंहार ही सुनाना है । देखो ! इस रव ने ही आग लगायी थी गोपी की पर्णशाला में । आग नहीं लगी थी - वह तो गोपी के चित्तरूप स्वर्ण-कलशी का अन्तिम संस्कार था । सोने को तपाया जाता है भला !

रजकी, रज के एक अणु की छाया भी नहीं रहे पुरट पर, पुरट-पात्र पर । इसलिये और फिर उस कनक पात्र को नन्दनन्दन अपने हाथ में लेकर, अपने हृदय-मन्दिर में संस्थापित कर लेते हैं सदा के लिये । इसे ही कहा जाता है राग के उन्मेष की एक प्रणाली में इस,प्रकार - नन्दलाल के द्वारा वंशी वादन होकर, उस वंशी ध्वनि के श्रवण से भी राग जग उठता है, वंशी बजाकर नन्द लाड़िले चित्त को आकर्षित कर लेते हैं । उसे अपने राग में रँगना आरम्भ करते हैं। जितनी तूलिका, उतने चित्रण एक ही चित्र के । अस्तु, इसके पश्चात् वे दस दशायें - और फिर अन्तिम परिणाम ? जिस लज्जा से जगत् का अस्तित्व बना है वह लज्जा स्वयं लज्जित होकर छिप जाती है । इस गोपी के जीवन में यही हुआ विहंगमों।

अरे ! देखो !! देखो !!! कैसी विचित्र घटना घटती दिख रही है । अरे ! वह अनन्त, अपरिसीम, असमोर्ध्व, नित्य-सत्य, संविन्मय महासमुद्र, उस ओर से उमड़ा चला आ रहा है । अरे ! वह देखो, वह उत्तुंग पर्वत श्रेणी अन्तर्हित हो गयी उसमें । नील, नील, नील, रसोद्वेलन, रस प्लावन बढ़ता जा रहा है हम सभी की ओर । कितनी ऊँची लहरें उठ रही हैं उसमें । आ गया, आ गया, आ गया, सर्वथा समीप आ गया । और देखो ! इस गोपी के चरणों को स्पर्श करने लग गया । अरे ! देखो, जय, जय ! जय, जय !! जय, जय, जय!!! नीलसुन्दर नित्य किशोर, बृजेन्द्रनन्दन गोपी के समक्ष खड़े हैं । जय, जय बैठ गये वे गोपी के सामने ! किन्तु गोपी के नेत्र अभी निमीलित ही हैं । जय, जय, जय, जय ! साँवर किशोर ने अंक में भर लिया गोपी को । देखो, देखो, जय ! जय !! जय !!!

प्रेम मगन ग्वालिन भई सूरदास प्रभु संग

गोपी के कन्धे पर हाथ रखे नीलसुन्दर जा रहे हैं उस ओर संविन्मय, अनन्त, अपरिसीम, असमोर्ध्व, महाभाव समुद्र के उस उद्वेलन की ओर ----- जय ! जय ! जय !!!

कीर, कपोत, कोकिल, नीलकंठ, "मिल लो गोपी तुम एक" रटने वाली पिरोई सभी खग-स्वजनों ! मैं रोती हूँ और एक बार तुम सब भी रोओ । गोपी चली गयी । अब यहाँ दिख रही है उसकी छाया मात्र ।

गोपी की यह छाया हम सभी के जीवन की अनमोल निधि है विहंगमों ! ध्यान से देखो । तमाल की छाया विराजित है । अद्भुत पीतमणिमयी एक लघुशिला से निर्मित रमणी की आकृति जैसी गोपी की देह दीख रही है । और

उसके कृष्णकुन्तलों की सोलह लटें, देह को सब ओर से आवृत्त कर झूल सी रही हैं । पर हैं वे लटें भी वास्तव में निस्पंद । ऐसी दिख रही हैं जैसे सोलह कृष्ण भुजंगिनियाँ निःस्पंद विराजित हों गोपी को लपेटे । गोपी के नयन, श्रवण, मुख, नासा-पुट की छाया संक्रमित सी हो गयी है इन भुजंगिनियों में ।

श्रवण नयन मुख नासिका ज्यों कंचुकी तजत भुजंग

कीर ! पिरोई री !! तुमने देखी होगी छोड़ी हुई सर्प की केंचुली । कैसी दीखती है ? सर्पिणी की आँखें, मुख, उसकी देह ज्यों-की-त्यों दीखती है उस केंचुली में । ऐसा लगता है, सचमुच ही वहाँ सर्प हैं, सर्पिणी है । किन्तु केंचुली में कहाँ सर्पिणी, कहा सर्प ! सर्पिणी, सर्प तो - उस आवरण को छोड़कर चली गयी, चला गया । वैसे ही गोपी अब इस छाया में कहाँ है ? कृष्णकुंतल मंडित गोपी की देह-छाया पड़ी है । उसमें आँख, कान नासिका, मुख सब के सब ज्यों के त्यों दीख रहे हैं, ऐसा लगता है मानो गोपी अभी भी यहीं है । किन्तु गोपी तो इस छाया को छोड़कर कबकी चली गयी । कीर मैं गीत नहीं गा रही हूँ - मैं रो रही हूँ।

## पदव्याख्या में पू० गुरुदेव का भावजीवन

यह व्याख्या रूप कथा जो पू० गुरुदेव ने सत्संग सुधा के वार्षिक राधाष्टमी के वर्ष ----- के परिपत्र में लिखाई थी । इसमें पू० गुरुदेव के द्वारा उस समय के अपने संपूर्ण भाव जीवन का वृत्तांत **'प्रकट्यौ पूरण नेहं की ग्वालिन'** के रूप में संकेत में लिख दिया गया है । उस समय पू० गुरुदेव ग्वालिन (गोपी) बने अपने भावदेह से ठीक वैसी ही पर्णशाला में बैठे रहते थे। इस गोपी की पर्णशाला के आगे एक लघुस्रोत बहता था । जब रस तरंगिणी में बाढ़ आती तो लहरें और उनका जल उस स्रोत को आप्यायित करता हुआ - सरोवर तक चला जाता था । इसी प्रकार वर्षा ऋतु में जब सरोवर पावस की जल धारा से भरपूर हो जाता था तो सरोवर का जल एक छोटे से द्वार से इस स्रोत में बह चलता। इस प्रकार इस स्रोत के माध्यम से रसतरंगिणी यमुना और सरोवर का रसमय मिलन होता रहता था । संभवतः गिरिराज के उस प्रच्छन्न निर्झर से ही इस स्त्रोत में जल आता था और ग्रीष्म में भी सूखता नहीं था । और कैसी विचित्र बात, कभी-कभी हेमन्त में भी,

शीत में भी, शरद में भी, बसन्त एवं शिशिर में भी अचानक यह सरोवर ऊपर तक भर जाता था और उसकी धारा बह चलती थी उस स्रोत में ।

यह सरोवर तो प्रेम सरोवर था और इसकी अधिष्ठात्री देवी वह गोपी थी। सरोवर का पूर्व का तट गोपी की इन्द्रियाँ थी, और पश्चिम का तट उसकी बुद्धि थी, उत्तर का तट इसकी अहंता थी और उसका मन ही दक्षिण का तट था ।

पहले पू० गुरुदेव की बुद्धि अर्थात् ज्ञानराज्य, ब्रह्मभाव में रमी थी, परन्तु पू० पोद्दार महाराज रूप भगवान् श्यामसुन्दर ने पहले बुद्धि को डुबा दिया । भगवान् ने रस तरंगिणी में ऐसी बाढ़ लायी कि ब्रह्म भावापन्ना बुद्धि रसमयी कृष्णानुरागिणी बन गयी । यही प्रतीची तट की नींव का खोखला होना है । इस रसकी बाढ़ ने (अर्थात् पोद्दार महाराज रूप रसतरंगिणी की बाढ़ ने) पहले बुद्धि को रस से ओत-प्रोत कर दिया तत्पश्चात् दक्षिण का तट प्रियतम से अनुरक्त हो गया, अर्थात् मन में श्रीकृष्ण भगवान् भर गये अब पूर्व एवं उत्तर का तट तो जाना ही था । पूर्व का तट उसकी इन्द्रियाँ थीं सो भगवान् के वचनामृत सुनकर एवं वेणुनाद सुनकर वे सब डूब गयीं और अहंता भी मिट गयी सन्यासी पुरुष का भाव समाप्त हो कर गोपी भाव भर गया । पुरुष से परम नेहमयी नारी बन गये । फिर पर्णशाला और उद्यान सबका डूबना तो होता ही ।

यह सभी भावपूर्ण सांकेतिक वर्णन है ।

पूज्य गुरुदेव ने अपनी इसी पर्णकुटी का वर्णन 'प्रियतम काव्य' में भी किया है :-

> पर भग्न हुआ सा था गृह वह, जिसमें रहती बाला प्रियतम!
> थी तमसे परिपूरित रजनी जब तुम आये थे हे प्रियतम!
> दीपक तक वहाँ नहीं था कुछ कण थे रज के बिखरे प्रियतम!
> गोबर मिट्टी से यद्यपि थी अवनी लीपी पोती प्रियतम ।
> थे सब कपाट टूटे गवाक्ष के तथा द्वार के भी प्रियतम ।
> वह पवन धूलि भरकर दुकूल में लाया करता था प्रियतम ।।

बात यह है कि प्रेममयी तथा ऐश्वर्यमयी, समस्त लीलाओं का आधार भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही हैं । श्रीकृष्ण तो लीला के

आस्वादक हैं और श्रीराधाजी लीला का आस्वाद कराती हैं। ऐश्वर्यमयी लीला के भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाओं के भी अनन्त स्तर हैं । ब्रजलीला में ग्वालबालों के साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनों के साथ जो लीला होती है, तथा श्रीराधाजी के साथ एकान्त में मात्र उन्हीं के साथ जो लीला होती है, इनमें सभी में भिन्न-भिन्न स्तर हैं । अभी तो पू० गुरुदेव प्रेम का ककहरा पढ़ रहे हैं । श्रीराधारानी से तो अभी उनका साक्षात्कार ही नहीं हुआ है । पू० गुरुदेव की प्रेम साधना अभी तो भावदेह के निर्माण और भावदेह की प्रगाढ़ प्रेमानुभूतियों में लहरा रही है ।

ग्वालबालों के संग की लीला एवं उसका अनुभव भी बिरले भाग्यवान् सन्तों को होता है, उनकी संख्या भी बहुत ही कम है । बात यह है कि लीला की बात करने वाले तो हजारों-लाखों मिल जायेंगे, परन्तु ठीक जिनका मन इन लीलापात्रों के साथ तादात्म्य करके ठीक अनुभूति में लहराये ऐसे संत बिरले ही होते हैं । फिर श्रीगोपीजनों के संग जो भगवान् श्रीकृष्ण का प्रेम है, उन गोपियों के प्रेम का प्रारम्भ कैसे होता है, श्रीकृष्ण दर्शन एवं मिलन के पूर्व गोपी की भावदशा क्या होती है, इस गोपीभाव के आरम्भ का परिचय ही इस "प्रकट्यौ पूरण नेहं" नामक पद में दिया है । पू० गुरुदेव इस गोपी से तादात्म्य लाभ करके उस प्रगाढ़ प्रेम में डूबे, लहराये हैं, यही कहने का अर्थ है।

शास्त्र पढ़कर हम बहुत सी प्रेम की बातें, लोगों को चकित कर देने वाली लीलायें बता सकते हैं, परन्तु सचमुच ही इन लीलाओं का दर्शन हो, ऐसा होना अति कठिन है । फिर दर्शन में तो दृष्य ही सम्मुख आता है, हम अछूते, अस्पृश्य पृथक् रह जाते हैं । हम इस लीला के पात्र स्वयं बनें एवं उसकी सब प्रीति संवेदनाओं के भोक्ता हो जावें, यह और भी दुर्लभ स्थिति है। यह सौभाग्य पू० गुरुदेव को श्रीराधाकृष्ण की महान् कृपा से प्राप्त हुआ था।

जहाँ समस्त परमार्थ साधना और साध्यतत्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीलातत्व का श्रीगणेश होता है । परन्तु यह बात मनुष्य की बुद्धि में तब तक नहीं आ सकती जब तक कि उसका अन्तःकरण सर्वथा निर्मल नहीं होकर वह पूर्णतया भगवत्कृपा के परायण नहीं हो जाता ।

वेदान्त की सच्ची साधना हो और सचमुच ही हम ब्रह्म प्राप्ति की स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके पश्चात् जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय

सच्चिदानन्दमय साधना का मार्ग है, वह आरंभ हो, तब कहीं संभव है कि मनुष्य असली सगुण तत्व का रहस्य समझ सके । नहीं, तो होता क्या है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्द की अनुभूति हो जाती है । पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें हैं, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्व है, जो सर्वथा किसी भी साधना के द्वारा नहीं समझा जा सकता । उस स्थिति की प्राप्ति सभी ब्रह्म प्राप्त पुरुषों को हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है । हो भी सकती है, नहीं भी । यह ब्रह्मज्ञान, तत्वचर्चा तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाता है, यदि उसे स्वप्न में भी श्रीकृष्ण के रूप की हल्की-सी झाँकी ही हो जाती है।

## कब की मह्यौ लियें सिर डोलै
## (अनुभूति)

शिशिर के अन्तराल से वसन्त की सुषमा नन्दप्रासाद के सामने अवस्थित उन आम्र तरुओं पर व्यक्त होने जा रही है । आज नन्दनन्दन दिनकर की प्रातः रश्मियों को देख लेने पर भी गृह के भीतर से बाहर आने की मुद्रा में सर्वथा नहीं हैं । मैया चाह रही है प्रासाद से संलग्न गोशाला में उन्हें ले चले, किन्तु नन्दलाड़िले मैया के लँहगे को पकड़कर झूलने लगते हैं । मैया बाध्य हो जाती है पुनः बैठ जाने के लिये ।

"दही लो, दही लो, अरे दही ले लो !" - मधुस्यंदी स्वर सहसा गूँज उठता है मैया के कानों में । स्वर में एक अभिनव आकर्षण है । मैया ने इतना मधुर स्वर मानों कभी सुना ही नहीं था ।

मेरे लाल ! कोई ग्वालिन दही बेचने आयी है रे । बाहर-बाहर तोरण के उस पार रे ! चल देखें तो सही कौन है - अपने नीलमणि को भुजपाश में भरती हुई, कपोलों पर प्रीतिचिन्ह अंकित कर मैया ने प्रेरणा दी । किन्तु अचरज की बात, आज तो यशोदा के नीलमणि तुले बैठे हैं बाहर नहीं जाने के लिये ।

मन्द समीर का एक झौंका नीलमणि को स्पर्श करता है, उनके नखचन्द्रों को स्पर्श करने के उद्देश्य से - मानों मानचित्र से अन्य कोई पथ न पाकर विलीन होने आया है उनमें ही और संकेत कर रहा है - शिशिर के साथ मैं नहीं जाऊँगा । हे मेरे जीवन सर्वस्व ! मैं तुम्हारी नखमणि में ही तब तक

विश्राम करूँगा जब तक ऋतुराज मेरे अंगों को सुरभित नहीं कर दें अपने सौरभ से ।

अभी-अभी शिशिर भी आयेगा ही तुम्हारे-तुम्हारे-तुम्हारे ही पदनख की द्युति में ही अपना आवास ढूँढ़ने और उस समय हे भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु ! उससे तुम कह देना कि जब तक तुम समीर को शीतलता का दान करोगे, तब तक मैं आज तो क्या कभी भी बाहर नहीं निकलूँगा प्रासाद से । ऋतुराज की अर्चना को ही स्वीकार करने आऊँगा .....।

अरी मैया मुझे तो ठंड लग रही है री ! और तू कह रही है, बाहर चल, मैं तो नहीं जाऊँगा। नन्दनन्दन ने मानो विनती सुन ली समीर के प्राणों की।

'दही लो, दही लो, दही लो, अरी बहिनो ! कोई तो दही ले लो।' वही प्राणोन्मादी मधुमय स्वर मुखरित करने लग गया नन्द सदन के प्रांगण को ।

मेरे लाल कोई तेरे राज्य की दीना ग्वालिन दही बेचने आयी है । पुकार रही है करुण स्वर से । चल, चल मेरे असंख्य प्राणों के प्राण ! एक बार चलकर देखें तो सही, कौन है यह ग्वालिनि ? अहा ! आतुर कण्ठ से बुला रही है वह किसी दही के ग्राहक को ! दही तो अपने घर, शत-शत मटकों में भरा है । परन्तु मेरे नीलमणि रे ! उसका दही अत्यन्त सुमधुर, अत्यन्त सुमिष्ट होगा । देख, देख कैसी मीठी पुकार है उसकी ! - इस बार प्रलोभन का जाल रचकर मैया ने नीलमणि को बाहर ले जाना चाहा । किन्तु नीलमणि मैया को खींच ले चले प्रतीची की ओर कलिन्द नन्दिनी के प्रवाह की दिशा में । मैया ने समझ लिया, अब उसके नीलमणि दिनकर-नन्दिनी की धारा के समीप ही खेलने का विचार कर रहे हैं । सुबल, श्रीदाम, विशाल, तोककृष्ण आदि प्रासाद के प्रतीची अंश के स्तंभों की ओट में मैया को दीख भी गये । मैया का मुख उस ओर ही हो गया । चल पड़ी मैया अपने नीलमणि को अंक में लेकर उस ओर ही ।

नीलमणि की क्रीड़ा आरम्भ होती है । अन्य शिशु योगदान कर रहे हैं । मैया अपलक नेत्रों से देख रही है । कभी आकर अंक में विराज जाते हैं और कभी जननी के कान के पास अपने बिम्ब विडम्बी अधरों को ले जाकर अत्यन्त धीमे स्वर में कह देते हैं - "दही लो !" और तत्क्षण मैया को अनुभव होने लगता है कि सचमुच वह ग्वालिनि अभी भी वैसे ही पुकार रही है । और यमुना के प्रवाह पर मानों उसका स्वर नाचता सा दीख रहा है ।

कल्लोलिनी की कलकल धारा मैया को 'दही लो' का भान कराने लग जाती है। और तो क्या, मैया अपनी कल्पना की आँखों से देखने भी लग जाती है मानों अत्यन्त निकट ही वही दही बेचने वाली कहीं छिपी खड़ी है और उसका ही स्वर सर्वत्र परिपूरित हो रहा है । साथ ही मैया को यह भान भी हो रहा है, उनका नीलमणि भी उसी स्वर की अनुकृति में संलग्न है । जैसे-तैसे नीलसुन्दर को भुलाकर पुनः एक कक्ष में ले आती हैं वे । उन्हें कुछ खिलाती हैं और इतने में मैया के कानों में पुनः "दही लो, दही लो" की ध्वनि झंकृत होने लगती है ।

इस बार मैया अपने को रोक नहीं पाती । नीलमणि को बरबस अंक में लेकर बाहर चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं । किन्तु एक विचित्र-सी अवस्था में मैया के अवस्थित हो जाने के कारण नीलमणि गोदी से नीचे सरक पड़ते हैं । मैया भ्रान्त-सी हुई प्रासाद के बाह्यअलिन्द पर जाकर खड़ी हो जाती हैं और तोरण के उस पार उसे दीख जाता है, एक अत्यन्त सुन्दरी प्रौढ़ा अहीरन सिर पर छोटा सा दही का मटका लिये उन्मादिनी-सी वैसे ही पुकारती इधर से उधर घूम रही है । मैया देखती ही रह जाती है और वह ग्वालिन प्राची की ओर चल पड़ती है ।

**कबकी मह्यौ लिये सिर डोलै ।**

सहसा मैया को भान हुआ, नीलमणि अंक में तो नहीं है । और वह पुनः भवन के अन्तर्देश में लौट आयी । नीलसुन्दर आँखें नचाकर मैया के लहँगे से चिपक जाते हैं और मैया को बैठाकर उसके अंक में विराज जाते हैं।

एक, दो, तीन - घड़ी बीत जाती हैं । निमीलित नेत्रों से मैया अपने लाल को अंक में लिये समाधिस्थ बैठी है । शिशु उसे घेरे खड़े हैं । किन्तु यह एक-दो घड़ी का विचार भी बाह्य दृष्टि से ही है । वस्तुतः कितना काल व्यतीत हो गया - कहना कठिन है । क्योंकि दिनकर तो प्रतीची की ओर झूलते से दिख रहे हैं - नहीं, नहीं प्रतीची के क्षितिज को छूने जा रहे हैं । यहाँ का काल, व्रजदेश का काल प्रकृतिगत काल से भिन्न जो ठहरा।

जो हो, मैया की आँखें खुलती हैं और तुरन्त अत्यन्तिक व्यथा और करुणा से पूर्ण वही स्वर पुनः सुन पड़ता है - 'दही लो', 'दही लो'! मैया अन्य सभी कुछ विस्मृत कर यंत्रवत् पुनः प्रासाद के द्वार पर आती है, तोरण

के उस पार चली जाती है और अपलक नेत्रों से देखने लगती हैं उस ग्वालिन की ओर । स्वेद से लथपथ वह ग्वालिन मैया की ओर देखने लगती है ।

झूठे ही इत-उत फिर-फिर आवत

"अरी ! साढ़े तीन प्रहर बीत गये, तेरे स्वर का - 'दही लो' पुकार का विराम नहीं हो पा रहा है ।" मैया ग्वालिन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके इतना ही बोल पायी । मैया के अंक में एक विचित्र सी सिहरन का अविर्भाव हो गया ।

'सुनती है ? मुझे लगता है कि तू दही बेचने अवश्य आयी होगी, किन्तु झूठ-मूठ ही - किसी भी कारण से बार-बार मेरे द्वार पर ही आ जाती है और फिर पुकार उठती है । तेरे मन में कोई दूसरी अभिसन्धि है क्या री ? - मैया उत्तर की प्रतीक्षा में रुक गयी ।

'बोलती क्यों नहीं री ! देख मैं प्रातः से तेरा वही स्वर सुन रही हूँ, कहीं भी अब तक किसी ने तेरा दही लिया भी नहीं । मटका ऊपर तक ज्यों-का-त्यों भरा है ..... । मैया पुनः रुकी परन्तु उत्तर की प्रतीक्षा में नहीं। एक विचित्र भावावेश ने मैया को आत्मसात् कर लिया है ।

"तो क्या इसी गली में कोई दही खरीदने वाला है क्या री ? नहीं, कहीं किसी द्रुम की ओट में छिपा है क्या री ! उस ओर देख, कदाचित् हो । इस बहाना बनाने में क्या लाभ है री !" - मैया कहना नहीं चाह रही थी, पर न जाने क्यो ऐसे बोल गयी ।

ग्वालिन की आँखों में झर-झर अश्रु का प्रवाह चल पड़ा ।

'अरी ! तनिक मेरे निकट आ । देख, मेरी बात का बुरा मत मानना भला, और भी तो तेरे घर में कोई होंगी ही । तो क्या उनमें से और कोई दही बेचना नहीं जानती थी क्या ? दही के ग्राहक को पटानेवाली सबसे अधिक सयानी तू ही है क्या री ? ऐसे बोलना सर्वथा अनुचित अनुभव करती हुई भी मैया बोल तो गयी किन्तु मैया के प्राणों में एक वेदना का संचार हो गया ।

इततौ आय बात सुन मेरी कहै वलग जिन मानै
तेरे घर में तु ही सयानी और बेचि नहीं जानै
भ्रमतहि भ्रमत भरम गयी ग्वालिन विकल भई बेहाल
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी आय मिले तत्काल ।।

दिनकर की किरणें अब नहीं दीख रही हैं । संध्या की नीरवता में खड़ी है वह ग्वालिन, और मैया देख रही है उसकी ओर । ग्वालिनी की प्रत्येक साँस कुछ कह रही है मैया से, किन्तु मैया इतना ही समझ पायी – उसे मेरी बात का दुख हो गया है । ग्वालिन की आँखों से झरता हुआ अश्रु का अनर्गल प्रवाह, अत्यधिक श्रान्ति से भरा हुआ कलेवर, मैया की आँखों में है । धैर्य रखना मैया के लिये संभव न रहा । एक हाथ से दही का मटका थामे हुए, दूसरे हाथ से अंक में भर लिया मैया ने उस प्रौढ़ा को । मैया को स्पष्ट अनुभव हो गया, कितनी वेदना की आग में ग्वालिन के प्राण जल रहे हैं ।

'अरी मैया ! तू तो यहाँ खड़ी है और मैं तुझे ढूँढ़ता फिर रहा हूँ और यह कौन है री ! जो तेरे अंक से लगी है ।' – नीलमणि ने एक साथ मैया को और उस ग्वालिन को छूकर जननी को झकझोरना आरम्भ किया । मैया दोनों को अंक में लिये वहीं तोरण के पास भूमि पर बैठ जाती है ।

'तो तू दही बेचने आयी है री ! कहाँ रहती है ? तेरा घर कहाँ है री ? तू मुझे दही दे दे, देखूँ कैसा है ? ओह बड़ा ही मीठा होगा।" नीलमणि ने मटके को सिर से उतारना चाहा और मैया ने उसे अपने हाथों से उतार दिया ।

बड़ा मीठा दही है – नन्दनन्दन ने दही का आस्वादन करते हुए ग्वालिन की आँखों की ओर देखा।

चेतनाशून्य ग्वालिन मैया के अंक में पड़ी है । नीलमणि मैया की ओर और कभी उसकी ओर देख-देखकर हँस रहे हैं ।

'कभी मैया से पूछते हैं कुछ अटपटे प्रश्न – तो क्या संध्या के समय दही बिकता है ? .... यह तो न जाने क्यों यहाँ आकर नींद में सो रही है .... . थक गयी है क्या, मैया ..... तो रात्रि में अपने घर कैसे जायेगी ? .... तू इसे अपने घर में ही क्यों नहीं रख लेती ? .... इसके घर में कौन-कौन हैं मैया .... ? यह भूखी दीख रही है ..... अच्छा प्रातःकाल यही पुकार रही थी, दही लो ...... मैया ! यह तो वृषभानुपुर की दिखती है ? वही-वही गाँव, तुझे याद है न री मैया ! .... तू इससे पूछ तो वह बात ..... । तू कितनी देर सोयेगी री ....? ऐ मैया ! यहाँ तो कोई भी दही बेचने नहीं आती थी री ! यह मुझसे कितनी बड़ी है, मैया ! ऐ मैया ! घरवाले इसे अपने घर में न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं ? तो तू बाबा को भेज दे इसके घर कह आयेंगे – 'आज तो मेरे घर ही रहेगी यह।' तू इससे पूछ इसका ब्याह हुआ है या

नहीं। वही, वही, वही सपने की बात तुझे याद है न ..... । अरी मैया, कहीं वही तो नहीं है री ....? पर यह तो मुझसे लम्बी अधिक है ...... और तूने उसे आयु में मुझसे छोटा बताया था । तो, एक दिन में अगर कहीं मेरे से लम्बी वही हो गयी होगी तो क्या पता ? ऐ मैया ! तू इसे छूकर बता कि यह सो रही है कि केवल सोने की नकल कर रही है । देख, मैया ! इसके पेट में गुदगुदी कर, सोयी होगी तो जाग जायगी नहीं तो हँस पड़ेगी .... । अथवा इसके मुख में थोड़ा दही तू डाल दे, यदि खाने लगेगी तो समझ लेना जगी हुई है । किन्तु यदि नकल कर रही होगी तो चुपचाप दही ढरका भी देगी । मैया तू कोई उपायकर जिससे मैं जान सकूँ कि यह सचमुच ही सोयी है या सोने की नकल कर रही है । अरे ! इसके तो सारे परिधान गीले हो रहे हैं । तो यमुना में नहाकर आयी है या स्वेद से भीग गये हैं इसके वस्त्र । तो मैया ! तू अपने घर से इसके लिये लहँगा ला दे और ओढ़नी भी ।

अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया का ..... अचिन्त्य लीला महाशक्ति का एक आवरण आ जाता है । मैया के दृष्टिपथ से ग्वालिन अन्तर्हित हो जाती है और मैया विस्मृत कर जाती है गत साढ़े तीन प्रहर की घटनावली को । उसे भान होता है, 'नीलमणि भी यहाँ नहीं है । कहीं गोशाला में खेलने गया है।'

## अटपटे प्रश्नों का साधन रहस्य

प्रकृति से .......निर्गुण (प्रीति गुणों के) धरातल पर अविराम भाव से चलने वाली व्रजेन्द्रनन्दन की इस उपर्युक्त लीला के अन्तराल में, उनके अटपटे प्रश्नों में ब्रज के मधुर भाव की साधना का एक बड़ा ही अद्‌भुत संकेत पू० गुरुदेव दे रहे हैं । अवश्य ही पू० गुरुदेव के द्वारा दिये गये इस संकेत को हृदयंगम वही कर सकता है, वही कर सकती है, जो सचमुच अपने हृदय को दही का प्रतीक बनाकर इस ग्वालिन की भाँति अपने सिर पर, दूसरे शब्दों में - अपने विवेक पर प्रतिष्ठित कर नन्दनन्दन को खोजने की अभिलाषा लिये हो । साधना का प्रवाह कैसे चलता है - यह अनुभव उसी के लिये संभव है, जो अन्य अभिसन्धियों से सर्वथा शून्य होकर, साधना में ही अपने मन-प्राण को तन्मय कर देने में जुट पड़ता है । और फिर वहीं जहाँ वह है, जिस परिस्थिति में है भगवत्कृपा के प्रकाश की प्रतीक्षा करता रहता है। यह सिद्धान्त सत्य है, ब्रजभाव के साधक को विवेक का आधार तो रखना

पड़ेगा ही । किन्तु उस पर अपने हृदय के भावों की प्रतिष्ठा कर, उसके प्राबल्य को सुरक्षित रखना होगा । उसका भाव ही तो उसका भगवान् है जो व्रजेन्द्रनन्दन के साथ मिलन कराने में हेतु बनेगा । यह निष्ठा तो उसे रखनी ही होगी । जो भावों के प्रवाहों को गौण कर, विवेक को ही प्रधान कर, ब्रजभाव की साधना में चलते हैं, उनके लिये ब्रजभाव की साधना केवल चित्त शुद्धिका दान कर सकेगी । रसराज और महाभाव के संविन्मय स्वरूप का अनुभव उन्हें हो ही जाय, यह कहना बड़ा कठिन है । साथ ही यह भी सत्य है - दृष्य से सर्वथा ऊपर उठकर ही "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" में पूर्ण परिनिष्ठा जिनकी है, उनके लिये ही, ब्रजभाव के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति संभव होती है । इसलिये ही विवेक पर हृदय को प्रबल करके और फिर साधना में जुटकर भगवत्कृपा की प्रतीक्षा करने का मार्ग ही निरापद और निश्चित रूप से ध्येय की प्राप्ति कराने वाला माना गया है । पू० गुरुदेव की मान्यता है कि प्रतिभा के आश्रय से ब्रज रसके सत्य स्वरूप की प्राप्ति आज तक तो नहीं देखी गयी, और उपर्युक्त चिन्मयीलीला में पू० गुरुदेव इसका सुस्पष्ट संकेत हमें प्राप्त करा रहे हैं ।

ग्वालिन आई है दही बेचने - नहीं-नहीं, अपने हृदय को व्रजेन्द्रनन्दन के चरण सरोरुहों में समर्पित करने को । उसका विवेक उसके हृदय को स्थिर किये हुए है, किन्तु साथ ही उसके ग्राहक नन्दनन्दन और नन्दनन्दन से सम्बद्ध सबके लिये उसके हृदय का स्वरूप सुस्पष्ट है । आवरण के अन्तराल में रहने पर भी किसी को भ्रान्ति नहीं है कि उसका रूप क्या है ? वाणी के द्वारा भी ग्वालिन घोषित कर रही है - वह क्या बेचने आयी है। वैसे ही साधक भी जो सच्चा साधक है, सबके समक्ष आवरण शून्य रहता है। उसके हृदय के स्वरूप के संबंध में किसी को भी भ्रांन्ति नहीं है कि उसका रूप क्या है ? इतना निर्मल वह होता है । पुनः ग्वालिन पुकार अवश्य कर रही है दही के ग्राहक की, परन्तु ऐरे-गैरे ग्राहक को वह दही दे भी नहीं रही है । ठीक इसी प्रकार सच्चा साधक घूमता अवश्य है, परन्तु उसकी गति होती है नन्दनन्दन की ओर ही । अपने हृदय को अन्य किसी के चरणों में वह समर्पित कर ही नहीं सकता ।

ग्वालिन की साधना में कहीं भी विश्राम के लिये अवकाश नहीं । आधे क्षण के लिये भी ग्वालिन नहीं ठहरती कहीं - साधक भी कहीं किसी अन्य की ओर देखता ही नहीं । और तब नन्दनन्दन की जननी के कानों में ग्वालिन

की पुकार पहुँचती है । .... ठीक वैसे ही सच्चे साधक की पुकार सच्चे महापुरुषों के, सच्चे महासिद्धों के ध्यान को आकर्षित कर लेती है । नन्दनन्दन पर आधिपत्य है एकमात्र नन्दगेहिनी का, वैसे ही सच्चे महासिद्धों की ही निधि है भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ! मैया आती है, वैसे ही महासिद्ध भी अन्त में आ ही जाते हैं, अपनी निधि का दान करने, किन्तु नन्दनन्दन खरे सौदागर हैं और प्रीति की परीक्षा करने के अनन्तर ही, प्रीति की विशुद्धता को परखने के उपरान्त ही अपने स्पर्श का दान करते हैं । इसलिय महासिद्धों की गति भी तब तक अवरुद्ध ही रहती है, जब तक साधक उन आवश्यक साधना के अंशों में उत्तीर्ण नहीं हो जाता । यहाँ का कालमान बदल नहीं सकता किन्तु साधक की परीक्षा समाप्त होते ही सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों का अवसान करके मिलन का क्षण उपस्थित कर ही दिया जाता है ।

मैया पूछ गयी है कितने प्रश्न ग्वालिन से, ठीक वैसे ही महासिद्ध भगवत् संयोग की सिद्धि के लिये, उसके लिये आवश्यक वेदना उत्पन्न कर देने के लिये भूमिका का निर्माण कर देते हैं । ग्वालिन अदर्शन की वेदना ज्वाला में जलने लगती है, साधक के लिये भी महासिद्धों के द्वारा निर्मित उस भूमिका का पर्यवसान होता है, मिलन की उत्कण्ठा के लिये धक्-धक् करते हुए अग्निताप में । और ग्वालिन के समक्ष नन्दनन्दन आ ही गये, और वैसे ही आ जाते हैं नन्दनन्दन साधक के सामने भी । क्षणिक चिन्मय संस्पर्श ग्वालिन को अभिभूत कर लेता है, साधक को भी नन्दनन्दन का स्पर्श आत्मसात् कर लेता है । और तब दधि के आस्वादन की प्रक्रिया जैसे वहाँ चली, वैसे ही संविन्मय-स्वरूप विलास का समुद्र हिलोरें लेने लगता है । वे अटपटे प्रश्न संविन्मयी लहरें हैं । अवश्य ही उनका सम्बन्ध तट से – नन्दनन्दन स्वरूप महासिद्ध से कथन-मात्र के लिये रह जाता है । लहरें अपने आप में ही, अपने-आपके प्रति ही नाचती रहती हैं ।

नन्दनन्दन की आँखें केवल स्वरूपभूता वृषभानुनंदिनी राधाकिशोरी, राधाकुमारी को ही देखती हैं । ओर इसलिये रस समुद्र की ऊर्मियाँ अपने-आप में ही, अपने आप से ही विलसित होती हैं । किन्तु साधक के लिये उसी स्थान पर पूर्णरूप से सम्पूर्ण जीवन की साधना का संकेत रहता है – साथ ही स्वरूप विलास का रूप अक्षुण्ण विराजित रहता है :-

१. **तो क्या संध्या के समय दही बिकता है ?** – जीवन की संध्या आने से पूर्व ही ऐसी व्याकुलता का बिन्दु सृष्ट करलो, जहाँ तुम्हारे हृदय के

समर्पण को स्वीकार करने के लिये मुझे तुम्हारे सामने अभिव्यक्त हो जाना पड़े । तुम्हारे हृदय का ग्राहक मैं ही हूँ । परन्तु तब तक तुम्हारे समक्ष आऊँगा भी नहीं, जब तक मेरे लिये आत्यंतिक व्याकुलता की लहरों में तुम्हारी सत्ता विलीन होती मुझे न दिखे । तुम पर शक्ति संचार हो चुका था, मध्यान्ह आने से पूर्व ही - किन्तु वह शक्ति मूर्त नहीं हो सकी अपने संपूर्ण वेग से .... ग्राहकता शक्ति के अभाव में ।

ग्राहकता शक्ति का परिवर्धन तुम्हारे हाथ में है .... । वह शक्ति ग्राहकता का उन्मेष भी करेगी अवश्य .... पर यदि तुम्हारी आँखें केवल मुझ ग्राहक की ओर टिकी रहकर, लज्जा छोड़कर केन्द्रित रहेंगीं मेरी ओर ही .... आँखें किसी भी दिशा की ओर न जाकर, और अपने पुरुषार्थ - की गति को बन्द कर यदि मेरी ओर ही स्थिर हो जायेंगीं तो उस आकुलता का बिन्दु सृष्ट हो जायेगा जीवन की संध्या के आने से पूर्व ही - अन्यथा अन्तिम क्षण में ही मेरा स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा । होगा अवश्य .... पर साँझ होने से पहले ही, अन्तिम साँस आने से पूर्व ही, पर्याप्त पहले भी तुम मेरा संस्पर्श प्राप्त कर सकते हो, वह व्याकुलता सृजन करके । ...

नित्य निकुंजेश्वरी वृषभानुनन्दिनी ! प्राणों की उत्कण्ठा लिये मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था - तुम्हारे रसमय हृदय के आस्वादन की, किन्तु तुम उस आकुलता पर द्रवित हुई तब, जब निराशा के बिन्दु को मैं छूने लगा..।

क्या मैं इतने विलम्ब से तुम्हारे दर्शन का अधिकारी हूँ तो जैसे तुम मुझसे रूठ जाती हो, वैसे अब मैं भी रूठा हूँ तुमसे .... । आँखें अपलक निहार रही थी केवल, केवल, केवल, तुम्हें । पर गुरुजनों की लाज मुझे बाध्य कर रही थी बाहर नहीं आने के लिये । तुम क्यों नहीं कक्ष में चली आयी ।

मेरी लज्जा के आवरण को तो तुम्हें तोड़ना ही पड़ेगा । चाहकर भी मैं मिल नहीं पाऊँगा तुमसे, यदि तुम मुझ पर अहैतुकी कृपा का प्रकाश न करके स्वयं मेरे पास नहीं आ जाओगी । ... तुम्हीं सोचो कदाचित् मैया बाहर नहीं आती तो अपनी लज्जा को मैं तो छोड़ नहीं पाता । तुम अब आगे तो मुझ पर उस कृपा का प्रकाश करो - प्रातः समीर के समय हम दोनों एक बार मिलकर और .... ।

२. "यह तो न जाने क्यों यहाँ आकर नींद में सो रही है ।" तुम्हारी सारी भ्रान्ति दूर हो जायेगी और तुम परमानन्द में निमग्न हो जाओगे - बाह्य दृष्टि से मानो तुम मुझे नहीं देख रहे हो, ऐसी प्रतीति होने पर भी ।"

"किशोरी ! प्राणों की रानी !! मैंने तो तुम्हें कुछ भी नहीं कहा ? क्या मेरा कहना अनुचित था ? क्यों तुमने मेरी ओर से आँखें फेरलीं .... ?

३. ..... **थक गयी है क्या मैया .....?** - तुम्हारे अनन्त अपरिसीम आनन्द में निमग्न रहने पर भी मेरी करुणा की लहरें तुम्हारे लिये उत्तरोत्तर अप्रतिम सुख का सृजन करती रहेंगी । वे लहरें तुम्हारा पाद संवाहन करती रहेंगी ।

किशोरी ! कितनी दूर से चलकर तुम आयी हो ? मैं तुम्हारे चरणों को अपनी अलकों से पौंछकर निहाल होऊँ।

४. **तो अब रात को अपने घर कैसे जायगी ?** - एक बार मुझसे मिलन हो जाने के पश्चात् तुम माया के आवरण में नहीं जा सकते । दुख तुम्हें स्वप्न में भी छू नहीं सकेगा ।'

'मेरे शत सहस्र प्राणों की रानी । आज की रजनी तो इस कदली निकुंज में ही हम दोनों अतिवाहित करें ।

५. **'तू इसे अपने घर ही क्यों नहीं रख लेती .... ?'** तुम्हारे अन्दर संकल्प ही नहीं जगेगा कोई-सा भी । फिर वेदना का, दुख का सदा के लिये अन्त हो जायगा तुम्हारे लिये । तुम मेरे चरणों को छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख की अनुभूति ही नहीं कर सकोगे ।'

जीवनेश्वरि ! मेरे अंक में तुम्हारे चरण विराजित रहने पर तुम्हें सुखानुभव होगा कि नहीं, कह नहीं सकता। किन्तु आज कुछ क्षणों के लिये, आज की रजनी के लिये मुझे यह सौभाग्य दे दो । और तुम मुझे बतला देना, तुम्हारी भ्रान्ति का अपनोदन हुआ कि नहीं ?

६. **इसके घर में कौन-कौन हैं मैया ?** माया का आवरण नष्ट हो जाने के कारण फिर तुम्हें नित्य-निरन्तर सर्वत्र केवल मेरी ही मेरी उपलब्धि होगी।'

'प्राणों की रानी ! यह बतलाओ, आज जब तुम आ रही थीं, तब द्वार पर कौन-कौन खड़े थे ? किन्तु तुम्हारी आँखें तो मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पाती । तुम कैसे बतला सकोगी ? .... ओह ! इस तन्मयता का एक कण भी कदाचित् मैं स्पर्श कर पाती ।

७. **यह भूखी दीख रही है .... ?** तुम्हारे अन्दर कोई वासना न रहने पर भी जितनी वासनाओं का सृजन तुम्हारे द्वारा हुआ था, उनकी आत्यन्तिक पूर्ति का अंनुभव भी तुम्हें हो रहा है कि नहीं । .... तुम्ही बतलाओ।"

प्राणेश्वरि । अब मैं तुम्हें अपने संविन्मय रस में स्नान कराऊँ क्या ?

८. अच्छा... प्रातःकाल यही पुकार रही थी, 'दही लो ..... । .... तुम्हें यह भी अनुभव हो जायगा कि मैं सतत् जागरूक था तुम्हारी गतिविधि की ओर से और तुम्हें भान हो रहा था, मानो मैं उदासीन हूँ तुम्हारी ओर से ।'

"मेरे नयनों की पुतरी । मुझे प्रातःकाल से ही भान तो अवश्य हो रहा था कि तुम मिलने आयी हो मुझसे, किन्तु .... उस कारण से तुम्हें विलम्ब हो रहा था मेरे पास आने में ।

९. मैया ! यह तो वृषभानुपुर की दिखती है ? तुम्हें मुझसे मिलने से पूर्व मेरी प्रियतमा वृषभानु किशोरी के पदचिन्ह जहाँ पड़े होंगे, उस धूलि की अर्चना करनी पड़ेगी । यह धूलि ही तुम्हें अधिकार का दान करेगी।

भानुनन्दिनी ! हम दोनों को भी तो भानुपुर चलना ही है ।

१०. वही, वही गाँव – तुझे याद है न री मैया ! तू पूछ तो इससे वह बात ।' – तुम भूले नहीं होओगे, कैसे तुम्हारी यह साधना, वह अनुभूति, रस की साधना में परिणत हो गयी थी ? क्यों ? अब तो अचरज नहीं हो रहा है मेरी उन प्रेरणाओं पर ।"

'प्राणेश्वरी, उस बकुलतरु की घटना याद है, न ?

११. – 'तू कितनी देर सोयेगी री !' – अब तुम देखो, कहीं तुम्हारी आँखें जाती है क्या अन्यत्र मुझे छोड़कर ?

'प्राण संजीवनी ! कब मैं तुम्हारी उस कृपा का अधिकारी बनूँगा ?

१२. – ऐ मैया ! घर वाले इसे अपने घर में न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं ....?' – अब तुम्हें माया की छाया भी देख नहीं पायेगी । निश्चिन्त रहना, भला ! इसलिये कह रहा हूँ कि भक्तिरस से विशुद्धतम आवेश में तुम्हें भय की भ्रान्ति कदाचित् हो जाय ।'

'प्राणेश्वरी ! वहाँ .... उस कक्ष का द्वार कदाचित् खुला रह गया हो तो .... ।

१३. तो तू बाबा को भेज दे इसके घर । कह आयेंगे – 'आज तो मेरे ही घर रहेगी यह .... !' तुम जिन-जिन से जुड़े हुए थे, जिन-जिनके मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी महत्व था, वे भी मेरा संस्पर्श करेंगे भला ।'

'तुम चिन्ता मत करो, मेरे प्राणों की रानी ! ललिता, विशाखा, आदि ने निश्चित रूप से .... उसकी भी व्यवस्था अवश्य कर दी होगी ।'

१४. **यहाँ तो कोई दही बेचने नहीं आती थी, री ।** देखो, हजारों हजारों में कोई एक ही मेरी ओर मुझे ढूँढ़ने चल पड़ता है ।'

प्राणाधिके ! मुझे सुख देने के लिये तुमने आज कुछ भी उठा नहीं रखा।

१५. **... यह मुझसे कितनी बड़ी है मैया ! ...** तुम जिस दिन, जिस क्षण मेरी ओर चले हो - उसी दिन, उसी क्षण से मैं तुम्हारा पुजारी हूँ ।

'प्राणों की रानी ! प्राणवल्लभ !! अनन्त काल तक मैं तुम्हारा ऋण परिशोध' नहीं कर सकूँगा ।

१६. **तू इससे पूछ इसका विवाह हुआ है या नहीं ?'**

"तुम्हें स्मरण होगा - कैसे मैंने क्षणों में ही तुम्हारी ममता के समस्त बन्धनों को तोड़ दिया था ।"

'प्राणेश्वरी ! मेरे प्राणों की आराध्य देवी !! काल के अनादि प्रवाह में मेरे अतिरिक्त तुम्हारी आँखें अन्यत्र गई ही नहीं ।

किन्तु हाय रे ! मैं तुम्हारे योग्य बन नहीं सका ... ।

१७. **"वही, वही, वही .... सपने की बात तुझे याद है न ? अरी मैया ! कहीं वही तो नहीं है री !"** 'उस प्रथम स्वप्न में भी मैं ही मूर्त्त हुआ था, भला ! वह तुम्हारी स्वप्नानुभूति नहीं थी । वास्तविकता ही किञ्चित् आवरण लिये व्यक्त हुई थी ।'

"प्राणवल्लभे ! तुम्हारा स्वाप्निक संस्पर्श भी कितना प्राणोन्मादी होता है, इसे किन शब्दों में कहूँ ...।"

१८. **'पर यह तो मुझसे लम्बी अधिक है और तूने तो आयु में उसे मुझसे छोटा बताया था .... ?** देखो ! साधना की दिशा में तुम्हारी प्रगति बहुत ही छोटी आयु में पर्याप्त हुई थी और तुमने अपने भाव के प्रवाह में मेरे प्रीति-प्रतिदान को लघु-लघुत्तर-लघुत्तम बना दिया । मैं तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ, भला ! ध्रुव सत्य को प्रकट कर रहा हूँ । ऋण परिशोध का एक नगण्य प्रयास कर रहा हूँ ।'

'जीवन संगिनी ! शैशव की प्रथम किरणों से ही आरम्भ कर तुमने मेरे प्रति-प्रतिक्षण वर्धमान जिस अनुराग का परिचय दिया है, उसकी विशालता एवं नन्दसदन की भूमि को स्पर्श करने के आरम्भ से मेरी हृदयहीनता का चित्रण न तो कोई कर सका है और न कोई आगे कर सकेगा ?'

१९. **- 'तो एक दिन में कहीं मेरे से लम्बी वही हो गयी हो तो क्या पता ?** दिन भर दौड़ने के कारण लम्बी हो गयी हो तो क्या पता ?' देखो

मेरी सर्वज्ञता मानो कुंठित हो जाती थी तुम्हारे साधन की लगन को, गरिमा को, आँकने में ।

प्रियतमे ! मेरे प्राण आज भी लज्जा का अनुभव कर रहे हैं तुम्हारे निरन्तर निमीलित बने नयन - सरोरुहों की स्मृति से, और अपनी चंचल आँखों की नीरसता के चिन्तन से ।

२०. - **ऐ मैया ! तू जरा इसे छूकर बता कि यह सो रही है कि केवल सोने की नकल कर रही है ?"** - तुम्हें स्मरण होगा - ध्यान की तन्मयता में तुम दृष्य को सर्वथा विस्मृत कर चुके थे - आज से बहुत दिवस पूर्व ही । और उस समय मैं तुम्हारे पास खड़ा होकर जो तुम्हें जगाने का प्रयास कर रहा था, उसमें मेरी सर्व समर्थता भी पंगु बन गयी थी ।'

"प्राणेश्वरी ! स्मृति लेकर आया था मैं, उसके द्वारा पद्मपराग को मेरी आँखों पर बड़ी चतुराई से फूँक देने की प्रवृत्ति को और छद्मनिद्रा के अन्तराल से तुम्हारे मनोभावों को पढ़ता जा रहा था उस दिन । तीन घड़ी तक निरन्तर वेषभूषा से सज्जित होकर आने की, उसके व्यर्थ हो जाने की स्मृति तक तुम्हें नहीं थी । हाय रे ! आधे क्षण के लिये भी काल के प्रवाह में मैं तुम्हारे विशुद्ध अनुराग को छू सकता ... ।

२१. - **देख मैया ! इसके पेट में गुदगुदी कर, सोयी होगी तो जाग जायगी, नहीं तो हँस पड़ेगी ...!'** तुम समझ नहीं पाये थे, उस दिन मैं सोच रहा था, तुम्हें नैर्गुण्य में प्रतिष्ठित कर दूँ अथवा अपना संयोग दान करूँ । किन्तु तुम्हारे भाव का प्रवाह दोनों की ओर से उदासीन रहकर अपनी गरिमा में प्रसरित हो रहा था । पुनः मेरी 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्' सामर्थ्य मुझे छोड़ सी गयी ।"

मेरे असंख्य प्राणों की प्राण ! तुम्हारी मुझे सुखदान की अभिलाषा उस दिन जिस गरिमा से मूर्त्त हुई थी, यदि उसके एक कण का भी प्रतिदान मैं दे पाता तो मेरा जीवन कृतार्थ हो जाता । स्वसुख वासना के आत्यन्तिक अभाव का वह निदर्शन अनन्त काल तक मेरी दृष्टि को नीचे ही किये रहेगा । प्रतिदान की लालसा की ऐसी निर्बीजता कदाचित् कभी मुझमें भी त्रुटिभर के लिये ही, स्वप्न में ही मूर्त्त हो जाती ।

२२. **अथवा इसके मुँह में थोड़ा दही तू डाल दे यदि खाने लगेगी तो समझ लेना, जगी हुई है, किन्तु यदि नकल कर रही होगी तो चुपचाप दही ढ़रका भी देगी।'** - और उस उषाकाल के समय जब मैं अपना मन तुमसे

मिलाने चला था, उस समय तुम्हारे असमञ्जस की वृत्ति कैसी हुई थी, वह भूल ही नहीं सकूँगा ।

प्राणों की रानी ! अनन्त काल तक के लिये वेदना के अश्रुओं को वरण कर लेना तुम्हारी ही महिमा है । क्या तुम्हारे चरण सरोरुह की एक रजःकणिका से अपनी आँखों को आँजकर मैं भी कभी दो बूँदें गिराकर अपने पीले दुकूल को सिक्त कर सकूँगा ....?

२३. मैया ! तू कोई उपाय कर, जिससे मैं जान सकूँ कि यह सोयी है या सोने की नकल कर रही है ।' और फिर चैत्रवन के पुष्पों की ओट में तुम्हें लाकर प्रकृतिस्थ करने का मेरा विचार मुझे कितना हास्यास्पद लगा था, वह कहने में भी मुझे लज्जा का अनुभव हो रहा है ?

"प्राणाधिके ! स्वप्न के उस उदुम्बर वृक्ष की स्मृति लेकर तुम्हारे उस उन्माद की मुखश्री मुझे इस क्षण भी विक्षिप्त बना दे रही है ... ।"

२४. 'अरे ! इसके तो सारे परिधान गीले हो रहे हैं । तो यमुना में नहाकर आयी है, या स्वेद से भीग गये हैं इसके वस्त्र ! तो मैया ! तू इसके लिये अपने घर से लहँगा लादे और ओढ़नी भी । - 'तुम्ही मैं हूँ, मैं ही तुम हो । और फिर मैं भी हूँ तुम भी हो । बतलाओ मेरे हृदय ! कैसी अनुभूति हो रही है इस समय तुम्हें ।

"प्रियतमे ! प्राणाधिके !! प्राणेश्वरी !!! तुम्हारे बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं, न था, न होगा ।"

नन्दनन्दन की उपर्युक्त प्रश्नावलि के अन्तराल में किसी की कृपा अभिषिक्त आँखें इन संकेतों का सुस्पष्ट दर्शन कर ही लेगीं .... इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

## उपरोक्त पद व्याख्या में
## पू० गुरुदेव की जीवन कथा का निहित रहस्य

इस दही बेचने वाली ग्वालिन के रूप में पू० गुरुदेव ही हैं । पू० गुरुदेव का विवेक यद्यपि उनके हृदय को स्थिर किये है, विवेक के पूर्णाश्रय से ही उन्होंने अपना जीवन पथ गृहस्थ त्याग कर सन्यासी का बनाया है, परन्तु वे सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख जैसे हैं, वैसे सुस्पष्ट हैं । उनमें कहीं भी छल-कपट दुराव नहीं है । वे भगवान् अन्तर्यामी के सम्मुख जिस प्रकार से स्वच्छ हैं,

वैसे ही विश्व के सम्मुख भी निर्मल, स्पष्ट, दुरावरहित हैं। सन्यासी के आवरण के अन्तराल में रहने पर भी किसी को किञ्चित् भी भ्रान्ति नहीं है कि वे क्या हैं ?

वाणी के द्वारा भी वे वही घोषित कर रहे हैं कि वे क्या बेचने आये हैं । वे निर्गुण निराकारवादी हैं तो वे प्रवचन करने के लिये सगुण साकारवादी नहीं है । वे स्वामी रामसुखदासजी महाराज, श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका अथवा श्रीपोद्दार महाराज भाई हनुमानप्रसादजी के सम्मुख भी शुद्ध, अद्वैत, वेदान्ती, सगुण साकार तत्व को मायोपाधिक मानने वाले ही हैं । कहीं भी छल नहीं, पूर्ण निर्मलता उनमें भरी है । वे ब्रह्मज्ञानी महापुरुष होते हुए भी, कोढ़ियों के मध्य अपने अबाध समत्व की स्वसंवेद्य परीक्षा ले चुकने पर भी यदि चीनी (मीठा) रुचिकर अनुभव करते हैं तो श्रीसेठजी को अपनी कमजोरी निष्कपटता पूर्वक बता देते हैं । अपने को ब्रह्मज्ञानी सिद्ध करने के लिये अपने दोष सर्वथा छिपाते नहीं हैं । जैसे भीतर हैं वैसे ही बाहर हैं । साधक का यही स्वरूप भगवान् को रिझाता है ।

वे अपने अद्वैत ज्ञान के ग्राहक की पुकार अवश्य कर रहे हैं परन्तु उनकी गति है, भगवान् की ओर ही । किसी अन्य वस्तु की, मान-प्रतिष्ठा, अहंपूजा, धन, वैभव की उन्हें सर्वथा इच्छा नहीं है । अपने हृदय को भगवान् के सिवाय उन्होंने अन्य किसी के लिये भी समर्पित नहीं किया है ।

पू० गुरुदेव अपनी साधना में अनवरत लगे हैं । क्षण भर के लिये भी उन्हें विश्राम के लिये अथवा इधर-उधर मुड़ने, पीछे उलटने-पलटने के लिये अवकाश ही नहीं है । वे कहीं भी विश्राम नहीं करते और तब नन्दनन्दन की जननी के कानों में जैसे ग्वालिन की पुकार पहुँचती है, ठीक वैसे ही पू० गुरुदेव की भी पुकार पू० पोद्दार महाराज जैसे सच्चे महापुरुषों के, सच्चे महासिद्धों के ध्यान को आकर्षित कर लेती है । नन्दनन्दन पर आधिपत्य है एकमात्र नन्दगेहिनी का, वैसे ही सच्चे महासिद्धों की ही निधि हैं, भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ! मैया आती है, उसी प्रकार महासिद्ध श्रीपोद्दार महाराज भी आ ही जाते हैं, अपनी निधि श्रीकृष्ण का उन्हें दान करने । किन्तु नन्दनन्दन खरे सौदागर है, प्रीति की परीक्षा करने के अनन्तर ही अपने स्पर्श का दान, दर्शन का दान करते हैं। इसीलिये महासिद्धों की गति भी अवरुद्ध ही रहती यदि पू० गुरुदेव भगवान् श्रीकृष्ण की परीक्षा में खरे नहीं उतरते । पू० गुरुदेव की लगातार ढ़ाई-तीन वर्ष गीता विवेचनी के कार्य सम्पन्न होने तक

श्रीकृष्ण द्वारा परीक्षा ली गई । इसके पश्चात् भी पोद्दार महाराज के विषम आचरणों द्वारा उनकी लगातार परीक्षा हुई । परीक्षा समाप्त होने पर पू० पोद्दार महाराज द्वारा उन्हें दीक्षा दी गयी और तब निकुंज प्रवेश का अधिकार उन्हें मिला । उसके पश्चात् ही श्रीराधारानी के उन्हें दर्शन हुए । सभी प्रतिबन्धकों का उनके जीवन में अन्त आ गया । क्षणिक चिन्मय संस्पर्श ने जैसे ग्वालिन को अभिभूत कर लिया इसी प्रकार पू० गुरुदेव को भी नन्दनन्दन का संस्पर्श आत्मसात् कर लेता है । और तब दधि के आस्वादन की प्रक्रिया वहाँ चली ठीक इसी प्रकार संविन्मय स्वरूप विलास का पू० गुरुदेव के जीवन में भी समुद्र हिलोरें लेने लगा । ये अटपटे प्रश्न संविन्मयी लहरें ही हैं।

नन्दनन्दन की आँखें तो साधक को देखती ही नहीं हैं, वे तो स्वरूपभूता वृषभानुनन्दिनी, राधाकिशोरी, राधाकुमारी को ही देखती हैं । अतः इन प्रश्नों का अर्थ पू० गुरुदेव द्वारा रस मार्ग के साधकों के लिये तथा राधाभाव भावित रस-सिद्ध सन्तों दोनों के लिये किया है । पाठक अपने-अपने अधिकारानुसार इनमें रसावगाहन करेंगें। इत्यलम् ।।

..........................

## "नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर" पद की व्याख्या

घटना सन् १९३७ ई. की है । पू० गुरुदेव गोरखपुर में ही श्रीपोद्दार महाराज के सत्संग में आये थे । सत्संग के पूर्व श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से श्रीमद्भागवत के किसी श्लोक का अनुवाद करके सुनाने का आग्रह किया ।

पू० गुरुदेव ने श्रीमद्भागवत के उद्धव प्रसंग के इन श्लोकों का अनुवाद करके सुना दिया ।

यह कथन एकान्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्यारे सखा उद्धव से गोपीजनों के सम्बन्ध में कहा था–

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे व्यक्त दैहिकाः ।
ये त्यक्त लोक धर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ।।
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्य विह्वलाः ।।
धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमन सन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ।।
(श्रीमद्भागवत १०/४६/४-६)

पू० गुरुदेव ने इन श्लोकों का अर्थ करके सत्संग में सुनाया - हे उद्धव ! गोपियों ने अपने मन एवं प्राण मेरे अर्पण कर दिये हैं । मेरे लिये सारे शारीरिक सम्बन्धियों को और लोक सुख के साधनों को त्यागकर वे मुझमें अनुरक्त हो रही हैं । मैं ही उनके सुख और जीवन का कारण हूँ । गोकुल की उन स्त्रियों को मैं प्रिय से प्रिय हूँ । मेरे दूर रहने के कारण वे मेरा स्मरण करती हुई मेरे विरह में अत्यंत ही विह्वल और विमोहित हो रही हैं । मेरे शीघ्र गोकुल लौटने के सन्देश के भरोसे ही अपने आत्मा को मुझमें समर्पण कर देने वाली वे गोपियाँ बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार जीवन-धारण कर रही हैं।"

पू० गुरुदेव के श्रीमद्भागवत के श्लोक के पश्चात् पू० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी ने एक पद गायन पू० भाईजी के संकेतानुसार किया । पद था -

नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर ।
नन्दनन्दन अछत कैसें आनिये हिय और ।
चलत-चितवत दिवस-जागत सुपन सोवतरात ।
हृदयते यह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ।
कहत कथा अनेक ऊधौ ! लोक लाज दिखात ।
कहा करौ तन प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समात ।
स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।।

श्रीगोस्वामीजी महाराज यह पद गा रहे थे एवं पू० गुरुदेव के सम्मुख श्री उद्धवजी प्रकट हो गये । गीतावाटिका का वह बरामदा जिसमें सत्संग हो रहा था, सब सत्संग सुननेवाले श्रोतागण एवं श्रीपोद्दार महाराज सभी पू० गुरुदेव की दृष्टि से लुप्त हो गये । उनके सम्मुख तो मूर्तिमान उद्धवजी व्यक्त थे और प्रेम-रस-निमग्ना गोपी बने पू० गुरुदेव अपनी मनः स्थिति उन उद्धवजी के सम्मुख व्यक्त कर रहे थे ।

"उद्धव ! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है, पर हृदय में जगह ही नहीं - दूसरी वस्तु को, तुम्हारी चर्चा को कहाँ रखूँ ? हृदय को तुम देख लो, इसमें

# महाभाव – दिनमणि श्रीराधाबाबा

( प्रथम खण्ड )

Pages 201-300 साधु कृष्णप्रेम

तो केवल श्यामसुन्दर ही श्यामसुन्दर भरे हैं । मैं चाहूँ तो भी क्या करूँ ? जबकि जगह ही नहीं बच रही है । उद्धव ! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दर को छोड़कर उनकी जगह दूसरे किसी को कैसे बैठाऊँ ? मेरे श्यामसुन्दर ने मेरे हृदय को चारों ओर से घेरकर छा लिया है । उनके रहते हृदय में दूसरा कैसे आवे ? नहीं, नहीं उद्धव ! असंभव है, प्राण भले ही चले जावें, परन्तु अब इस हृदय में दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता । यहाँ तो बस, नित्य निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेंगे ।

उद्धव ! तुम्हें विश्वास नहीं होगा - वह मूर्त्ति, प्यारे श्याम सुन्दर की मूर्त्ति कभी एक क्षण के लिये भी हृदय से नहीं हटती । मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दर की छवि मेरे हृदय में रहती है । मैं जिस क्षण अपनी दृष्टि को बाहर किसी और पदार्थ की ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दर की छवि है, हृदय में भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं । दिनभर जब तक जागती रहती हूँ, तब तक श्यामसुन्दर, एक मात्र श्यामसुन्दर ही नजरों के सामने रहते है । रात में जिस क्षण सोने की चेष्टा करती हूँ, आँखें मूँदती हूँ, उस समय भी प्रियतम का तिरछी चितवनयुक्त मुखसारविन्द सामने रहता है । स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ - श्यामसुन्दर आये हैं, मेरे सामने खड़े है, मेरी ओर तिरछी चितवन से देख रहे हैं । मैं पकड़ने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते हैं । मैं सहम जाती हूँ, वे भी खड़े हो जाते हैं। फिर पकड़ने के लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं। इस प्रकार उनको न पकड़ पाने पर मैं जब रोने लगती हूँ, तब बस हँसकर मुझे हृदय से लगा लेते हैं । आँखें खुल जाती हैं । मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, वह सब स्वप्न था, पर फिर ज्यों ही सामने देखती हूँ - पाती हूँ वे तो सामने खड़े हैं, ये हैं, ये हैं ।

इस प्रकार उद्धव ! एक क्षण के लिये भी प्राणवल्लभ की वह घुँघराली अलकों वाली छवि मेरे मन से नहीं हटती । उद्धव एक क्षण के लिये भी प्यारे श्यामसुन्दर के सिवा और कोई वस्तु मुझे दृष्टिगोचर ही नहीं होती । नाराज मत होना - तुम श्यामसुन्दर के सखा हो, तुम्हारी बात पर मैं ध्यान नहीं दे पा रही हूँ, परन्तु ध्यान न दे पाने के लिये लाचार हो गयी हूँ, उद्धव, कोई भी उपाय शेष रह नहीं गया है । उद्धव ! न जाने श्यामसुन्दर मेरे प्यारे ने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मन से ही इस योग की बात सुना रहे हो, पर कुछ भी हो, तुम्हीं सोचो, हम गाँव की ग्वालिनें योग लेकर

क्या करेंगी । सचमुच ही ऊधो तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो, अरे, तुम जिस श्यामसुन्दर की बात सुना रहे हो, उसके हृदय की बात ही तुम नहीं जानते । तुम कहते हो – श्यामसुन्दर सर्वेश्वर हैं, समस्त संसार के एक मात्र स्वामी हैं ।' तुम्हें पता नहीं, वही सर्वेश्वर, वही अखिल ब्रह्माण्डनायक, अपने आपको ब्रज में आकर भूल गया । तुम्हें एक दिन की बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे । विश्वास करो, उद्धव ! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं । मेरा सबकुछ उनका है, और उनका सबकुछ मेरा है । तुम्हें सुनाती हूँ –

'मथुरा जाने के कुछ ही दिन पहले मैं उनसे रूठ गयी थी । श्यामसुन्दर के सखा ! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी, मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं । आँखों के सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुख फेरकर बैठ गयी । वे आये, बडे प्रेम से मेरे हाथों को पकड़कर बोले – "प्रियतमे ! अपराध क्षमा करना, मैं देर से आया । तुम मेरी प्रतीक्षा में व्याकुल थी; परन्तु क्या करूँ ? तुम्हारा ध्यान करते-करते मैं भूल गया था, कि मैं तुमसे दूर हूँ; मैं तुम्हें पास ही अनुभव कर रहा था, सबकुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था । विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी ! मेरे हृदय में तुम्हारे सिवा और किसी के लिये तिलभर भी जगह नहीं; तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरे प्राण हो, प्रिय ..... उद्धव । अब बोला जाता नहीं । कण्ठ भर आया । अब आगे तुम्हें उस दिन की बातें नहीं सुना सकूँगी । मेरे प्यारे श्यामसुन्दर की उस दिन की झाँकी, उस दिन की लीला तुम्हें अब आगे नहीं सुना सकूँगी। चाहने पर भी तुम्हें नहीं सुना पाऊँगी । नाराज मत होना, सुनने पर भी तुम समझ नहीं सकोगे । उद्धव ! उद्धव !! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये – मेरे प्रियतम के हृदय की बात, हृदय का रहस्य तुम नहीं जान सके । तुम्हारे सर्वेश्वर के हृदय में क्या-क्या है, वे इसे नहीं जानते । उद्धव ! ओह उनका हृदय तो, क्या बताऊँ; वह तो मेरे पास है । यह देखो, देख सको तो देखो; तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदय में क्या कर रहा है; परन्तु तुम अभी नहीं देख सकोगे । जाने दो, उद्धव ! हम गँवार ग्वालिनों को मरने दो, श्यामसुन्दर का नाम ले-लेकर मर जाने दो । उद्धव! उद्धव !! तुम भूलते हो लोक-लाज को, कुल-कान को, यश-अपयश को, तो आज से बहुत ही पहले मैं जला चुकी हूँ; सबको भस्म कर चुकी हूँ । वे सबके सब न जाने कभी के जलकर खाक हो गये और बह गये उस अजस्त्र धारा में, श्यामसुन्दर के प्रेम की प्रबल रसधारा में । उनकी गन्ध भी नहीं

बच रही है । उद्धव यदि तुम देख पाते कि मेरे हृदय में क्या भरा है । प्यारे सखा ! श्यामसुन्दर के सखा के नाते तुम मेरे भी सखा हो; पर सखा ! क्या करुँ, तुम्हारी आँखें वहाँ नहीं पहुँच रही है । देखो, मेरे शरीर के सूखे ढ़ाँचे के भीतर दृष्टि ले जाओ - वहाँ देखो ; देखो ! केवल श्याम सुन्दर का प्रेम-समुद्र लहरा रहा है । तरंग पर तरंग उठ रही है । उनमें मैं हूँ और श्यामसुन्दर हैं, दोनों ही उस असीम अगाध प्रेम समुद्र के अतल तल में डूबे हुए हैं । वहाँ और कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर हैं। यह देखो ! मैं श्यामसुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर ! आह, तुम नहीं देख पाते । क्या करुँ जाने दो ।

"उद्धव ! तुम प्रेम समुद्र में डूबे हुए को, बिलकुल अतल तलमें जाकर विलीन हो जाने वाले को बाहर लाना चाहते हो ? प्रेम के समुद्र को तुम घड़े में उटाकर रखना चाहते हो ? सोचो ! कितनी भूल कर रहे हो, देखो, उद्धव! तुम चाहो, मैं चाहूँ तो भी समुद्र घड़ें में नहीं समा सकता । अरे ! मैं पगली हो गयी हूँ - क्या कहते-कहते क्या कह जाती हूँ । मैं भूल गयी, उद्धव । बस इतना ही कहना है, व्यर्थ की चर्चा हमें मत सुनाओ । हम ग्वालिनें योग की बात, ज्ञान की बात सुनकर क्या करेंगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं, नहीं उद्धव ! ठग नहीं सकोगे, तुम्हारा यह योग हमें भुला नहीं सकेगा। तुम्हारा यह ज्ञान हमें बिचलित नहीं कर सकेगा । मैं चाहूँ तब भी मैं श्यामसुन्दर को भूल नहीं सकती ।

सुनो, प्यारे सखा । बड़ी छिपी बात बतलाती हूँ । आज से बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे, उन्होंने मेरे इस शरीर रूप घड़े को अपने प्रेम से भर दिया । भरकर फिर क्या किया बताऊँ ? सुनो, चारों ओर से स्वयं ही पहरे पर बैठ गये । कानों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, आँखों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, नाक के छिद्रों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, मुख को बन्द करके वहाँ बैठ गये । और बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें,-सब जगह पहरा देने लगे । उद्धव । प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीर के भीतर देखो, तब पता चलेगा - देखो; श्यामसुन्दर रसरूप होकर भीतर भरे हैं । यह शरीर का घड़ा भरा है प्रेम से, और सर्वथा सब ओर से बन्द है । इसे तुम योग एवं ज्ञान के क्षार समुद्र में डुबाना चाहते हो ? यह भी कभी संभव है ? उद्धव ! इस प्रयास को छोड़ दो। यह प्रेम का घट तुम्हारे योग के खारे समुद्र में कभी डूबने का नहीं है। यह तो डूबेगा

श्यामसुन्दर के मधुर सुधामय प्रेम समुद्र में । स्वयं प्रियतम आयेंगे, स्वयं इसका मुख खोलकर इसे अपने में मिलाकर एक कर लेंगे । प्यारे सखा ! उपाय नहीं है । लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दर के हाथों से भरा हुआ प्रेममय घट, अमृतमय घट, तुम्हारे योग के खारे समुद्र में डूबेगा ही नहीं । ओह ! मैं सचमुच ही पागल हो गयी हूँ । क्या-क्या बक रही हूँ । क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होश में नहीं हूँ, यह पगली का प्रलाप है । मेरे जले हुए, झुलसे हुए हृदय में ज्ञान नहीं बच गया है कि मैं विचार कर तुमसे बात कर पाऊँ । कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ ।

प्यारे श्यामसुन्दर के सखा ! तुम देख नहीं पाओगे; पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँ से कभी कहीं गये ही नहीं, एक क्षण के लिये भी कहीं बाहर नहीं गये । वे यहीं हैं, सदा यहीं रहते हैं और यही रहेंगे । मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेंगे । अनन्तका तक रहेंगे । अभी-अभी कल की बात है । तुम्हें सुनाती हूँ, कल सायंकाल की बात है । मेरे प्रियतम प्राणनाथ वन से गाय चराकर लौट रहे थे । मैं उस क्षण घर के भीतर बैठी थी, अनुभव कर रही थी श्यामसुन्दर तो पास ही हैं । इतने में वंशी बजी, चेत हुआ, सोचा भ्रम हो गया है । श्यामसुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं। मैं सुनने लगी, उस मुरली की मधुर ध्वनि को । मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु, मेरा नाम ले-लेकर मुरली में सुर भर रहे थे । बाहर आयी । देखा आह ! कैसी अनुपम छवि है, नील कमल के सदृश सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघ के समान समग्र तन संध्याकालीन सूर्य की रश्मियों में झलमल-झलमल कर रहा था, मुख पर धूलि के कण उड़-उड़कर पड़ रहे थे, स्वेद की कुछ बूँदें झलक रही थीं, घुँघरारी अलकें बार-बार मुख पर आ जाती थीं । और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकों को बार-बार बायें हाथ से हटाते रहते थे । आह ! उन आँखों की शोभा क्या बताऊँ। तुरन्त का खिला कमल उस शोभा के सामने फीका पड़ जाता था । मेरे हृदयेश्वर बार-बार तिरछी चितवन से मुझे देख लेते थे । मैं देख रही थी और वे मस्तानी चाल से, अत्यन्त मधुर चाल से चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे । उद्धव ! उद्धव !! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी । मुझ पर उनकी मनोहर मुसकान जादू का काम कर रही थी । इतने ही में वे बिल्कुल मेरे पास से निकले । मित्र क्या बताऊँ ? रोक नहीं सकी मैं अपने को; उनमें मिल जाने के लिये, अपने-आपको उनमें मिला देने के लिये दौड़ पड़ी । वे हँसने लगे, हँसते-हँसते लोट-पोट से होने

लगे। अपने सखा सुबल को उन्होने कुछ संकेत किया, मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढ़े । मैं भी आगे बढ़ी । मैं और वे दोनों आमने-सामने थे । मैं नाच रही थी । वे आगे बढ़ते, मैं आगे बढ़ती; वे पीछे हटते, मैं पीछे हटती, वे हँसते, मैं हँसती । इस प्रकार न जाने कितनी देर हम लोग खेलते रहे । परन्तु मैं अब अपने को सम्हाल नहीं सकी । मूर्च्छित होकर भूमि पर गिरने ही जा रही थी, बस, गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौड़े आये । उन्होने अपनी सुकुमार भुजाओं का सहारा देकर मुझे बैठा दिया । पास ही मेरी सखी खड़ी थी, उसे संकेत करके उन्होंने कहा - 'री नेक इस बावली को सम्हाल ।' उद्धव ! ..... अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस, उस आनन्द को व्यक्त करने की शक्ति नहीं । आह ! उद्धव मेरे प्यारे सखा के ... .. मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ ।

नहीं, नहीं मित्र ! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए हैं, कल नहीं कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी । सचमुच ही उद्धव मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कल ही वह घटना घटी होगी इसलिये सुनाती गयी । पर प्यारे सखा ! प्यारे श्यामसुन्दर के सखा ! मोहन के सखा !! यह घटना रोज ठीक सायंकाल होते ही आँखों के सामने नाचने लगती है । ठीक-ठीक अनुभव करती हूँ । जो हो मित्र ! वह मुखसरोज वह श्याम मेघ सा शरीर, वे कमल के समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मोहन मुसकान कभी भूली नहीं जाती । निरन्तर वे ही, वे ही आँखों के सामने नाचते रहते हैं । प्यारे मित्र ! श्याम सुन्दर के सखा ! मेरे प्राणनाथ का हृदय अत्यन्त उदार है, उसमें निष्ठुरता नाम को भी नहीं है । उन्हें मेरी दशा का पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे हैं । इसीलिये प्यारे उद्धव ! मैं हाथ जोड़कर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ - इतनी ही कृपा, बस, इतनी ही कृपा करना; जाकर मेरे श्यामसुन्दर से, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वर से कह देना - आँखें तरस रही हैं, झुलसती जा रही हैं, उसी मुख सरोज को, उसी श्यामसुन्दर शरीर को, कमल दल से नेत्रों को, उसी ललित मस्तानी चाल को, उसी मन्द मुसकान को, आँखें खोज रही हैं । आँखों को बस, इतनी ही प्यास है । प्यारे उद्धव ! मेरी ओर से कह देना - बस, एक बार के लिये ही, एक ही बार के लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जावें, खूब सुख से रहें । एक बार बस, एक बार दासी के नयनों की प्यास बुझाकर चले जायें । उद्धव

इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ । तुम मेरे प्राणनाथ को, मेरे हृदयेश्वर को, मेरे हृदय का यह सन्देश सुना देना ।"

(यह पू० गुरुदेव की अनुभूति बाद में उन्होंने श्री शिवभगवानजी फोगला को उनके प्रश्नों के उत्तर में लगभग १९४२-४३ में बतायी थी । जिसे पू० श्रीपोद्दार महाराज ने मार्च १९५७ के पश्चात् 'कल्याण' में प्रकाशित कर दी थी । बाद में यह लीला प्रेम सत्संग सुधा माला' नामक पुस्तक में भी प्रकाशित कर दी गयी । इसकी भाषा भी पू० गुरुदेव ने श्रीशिवभगवानजी के लिये बहुत ही हलकी-फुलकी व्यवहार में लायी है । पू० गुरुदेव को 'उद्धव लीला' की अनुभूति उनके श्रीराधाभाव में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् भी हुई है। वह भी आगे इस पुस्तक में दी जायगी । महाभावगत लीलाओं के गांभीर्य में जो अन्तर इस लीला में और आगे की लीलाओं में परिलक्षित होगा, वह साधनागत परिपक्वता का ही परिद्योतक है, ।

यह लीला पू० गुरुदेव के तत्कालीन मानस का ही विलक्षण चित्र प्रस्तुत कर रही है । सर्वांश में पू० गुरुदेव का चित्त अन्तःकरण भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम से पूरा भर चुका था । यही उन्होंने इस लीला में अभिव्यक्त किया है । पू० गुरुदेव साधारण ब्राह्मण के घर में एक जीव के रूप में जन्मे थे । परन्तु अपनी अदम्य लगन और भगवत्कृपा से उनका भीतरी चित्त परम निर्मल, परम शुद्ध होकर पहले ब्रह्मज्ञान परायण और तब भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में लबालब भरकर डूब गया, यही स्थिति मननीय और अनुकरणीय है । वैष्णव पाठकों से यही विनम्र निवेदन है कि हम सब भी मृत्यु के पूर्व अपना अन्तःकरण ऐसा ही परम रसमय बना लें जैसा पू० गुरुदेव का था ।

## गठिया और पेचिश का भयंकर प्रकोप

संभवतः १९३७ ई० की बात है । पू० गुरुदेव चूरू के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होकर स्वर्गाश्रम ऋषिकेश आ गये थे । वहाँ पू० गुरुदेव के पैर के घुटनों में गठिया हो गया । गठिया भी अति भयंकर प्रकोप से युक्त था । घुटनों में सूजन आ गयी थी । सूजन भी अतिशय उग्र थी । पीड़ा भी इतनी अधिक थी कि रात को नींद नहीं आ पाती थी । दर्द के मारे उठना-बैठना संभव नहीं था । फिर शौच के लिये थोड़ी दूर आना-जाना तो असंभव था । उस पर पेचिश का प्रकोप अलग से परेशान कर रहा था । पू० गुरुदेव का

नियम था कि शौच के पश्चात् स्नान अवश्य करना । चाहे कितनी ही बार शौच जाना पड़े, वे स्नान किये बिना नहीं रहते थे । उन दिनों श्रीसेठजी जयदयालजी के पास ही वे रहते थे, अतः उनका ध्यान सेठजी बहुत रखते थे। श्रीसेठजी ने एक व्यक्ति की उनकी सेवा पर ड्यूटी लगा रखी थी । पीड़ा के मारे जब हिलना-डुलना शक्य नहीं था तो सेवा तो अन्यों को ही करनी पड़ती थी । शौच जाने के लिये लोग उन्हें उठाकर कमोड पर बैठा दिया करते थे और बाद में कमोड पर से उठाकर स्नान करवाते थे । यह सब कार्य दूसरों के द्वारा ही होता था । पू० गुरुदेव को भयानक पीड़ा थी । दवा वे लेते नहीं थे । अतः वे कब तक ठीक होंगे, पूरा अनिश्चय था । एक दो दिन, पाँच सात दिन की सेवा हो तो कोई कर भी दे, अनिश्चितकालीन सेवा से परिचारकों का घबड़ाना स्वाभाविक ही था । श्रीसेठजी का प्रातःकालीन सत्संग तो वहीं गंगा के किनारे वट वृक्ष पर ही होता था, अतः वह सत्संग पू० गुरुदेव के श्रवणगोचर हो जाता था । सायंकालीन सत्संग श्रीसेठजी संध्यावन्दन करके फिर टीबड़ी पर (गंगातट की रेतीली भूमि पर) किया करते थे । पू० गुरुदेव दोनों समय सत्संग भी सुनना चाहते थे, अतः उन्हें सत्संग के लिये स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज अथवा अन्य लोग कंधे पर उठाकर ले जाते थे एवं कंधे में उठाकर ही बाद में उन्हें वटवृक्ष के नीचे जहाँ वे छोलदारी में रहते थे, वहाँ पहुँचाना पड़ता था । साधुओं के रहने की व्यवस्था विशाल वट वृक्ष के नीचे लकड़ी के तख्त पर छोलदारी (छोटा तम्बू) लगाकर ही की जाती थी। सायंकालीन सत्संग में उन्हें ले जाने का ध्यान स्वामी रामसुखदासजी महाराज बराबर रखते थे, परन्तु उस दिन संयोग ऐसा हुआ कि रामसुखदासजी किसी अन्य कार्य में व्यस्त हो गये और सीधे सत्संग में पहुँच गये । पू० गुरुदेव की सेवा में हीरालालजी नाम के एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति थे । कारण पू० गुरुदेव को गोद में उठाकर लघुशंका भी करानी पड़ती थी । पू० गुरुदेव कुछ समय तक तो स्वामीजी की प्रतीक्षा करते रहे जब वे नहीं आये एवं सत्संग का समय व्यतीत होने लगा तो उन्होने श्रीहीरालालजी महाराज से प्रार्थना की कि वे उन्हें श्री सेठजी के सत्संग में टीबड़ी पर ले चलें ।

श्रीहीरालालजी वेदान्ती थे । वे सेवा से तंग आये हुए तो थे ही अतः व्यंग वचन बोलते हुए कहने लगे – 'स्वामीजी आप स्थान से तो परिचित हैं ही कि कहाँ सत्संग होता है तथा उस स्थान पर जाने वाले मार्ग से भी आप

परिचित हैं ही । इसके सिवा आप तो अनन्त ज्ञान सम्पन्न, अनन्त योग शक्ति सम्पन्न हैं ही । आप ही आप तो केवल हैं, आपके अतिरिक्त अन्य की सत्ता ही कहाँ है, आप ही हीरालाल हैं, और आप ही स्वामी चक्रधरजी हैं, आपके लिये वहाँ जाना कौन सी बड़ी बात है ।

वे जानते थे कि जो व्यक्ति चलना-फिरना तो दूर रहा, उठ-बैठ भी नहीं सकता, जिसके घुटने में गठिया के कारण बहुत भीषण दर्द है तथा अत्यधिक सूजन है, वह व्यक्ति भला टीबड़ी तक कैसे जा सकेगा ? टीबड़ी तो वट वृक्ष से लगभग तीन-चार किलोमीटर दूर थी ।

श्रीहीरालालजी के व्यंग करने पर पू० गुरुदेव ने उनसे कहा - मैं सचमुच ही आज वहाँ जाना चाहता हूँ । यह सुनकर हीरालालजी ने कहा - तभी तो मैं कह रहा हूँ आपकी शक्ति अनन्त है, अतुलनीय है, अतः आपके लिये वहाँ जाना कौन कठिन कार्य है ।

श्रीहीरालालजी लगातार व्यंग वचन बोले जा रहे थे । अतः पू० गुरुदेव ने अति दृढ़ता से कहा - "क्या हीरालालजी महोदय ! आप समझते हैं कि मैं सत्संग सुनने नहीं जा सकता ? श्रीहीरालालजी ने फिर वैसे ही व्यंग वाक्यों की आवृत्ति कर दी । अब तो पू० गुरुदेव ने भगवत्कृपा का असंभव को संभव करने वाला आश्रय लिया । उन्होने आँखें मूँदकर कुछ समय के लिये भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण किया ।

पू० गुरुदेव का यह सुदृढ़ विश्वास था कि शरीर पर जो भी दुख आता है उस दुःख के रूप में भगवान् ही आते हैं । रोग रूपी भगवान् का न तो कोई स्वागत करना चाहता है, और न कोई उस रूप में भगवान् को आश्रय देना चाहता है । परन्तु पू० गुरुदेव तो रोगरूपी भगवान् से कहते थे कि नाथ ! यदि इसी रूप में मुझे अपना दर्शन देना चाहते हैं तो मैं आपका पूर्ण मन से स्वागत करता हूँ । यह शरीर आपका घर है । आप जब तक इस शरीर में रहना चाहें रहें, यह शरीर रूपी घर आपका ही है, इस में आप यथारुचि यथाकाल पूर्ण स्वतंत्रता से निवास करें । विश्व में रोग रूप में सर्वत्र आपका तिरस्कार होता है, दवा का, डाक्टर का, अस्पतालों का आश्रय लेकर लोग आपको घर से तिरस्कारपूर्वक निकालना चाहते हैं । आप शरीर रूपी घर नहीं छोड़ना चाहते, दुखी हो होकर लोग विकल होकर आपको शरीर से निकालने के लिये देवी देवताओं के मंत्र-तंत्र, स्तोत्र, कवच, महामृत्युञ्जय आदि अनुष्ठानों का प्रयाग करते हैं। परन्तु मेरा शरीर रूपी यह एक घर ऐसा है

जहाँ आपका नित्य स्वागत है । जब तक आप रहना चाहेंगे आपको यहाँ निवास मिलेगा । विश्व में एक घर तो मेरा शरीर अवश्य ऐसा है जहाँ आपका महाभीषण रोग रूप में भी नित्य अभिनन्दन था, अभिनंदन है, और सदा रहेगा । पू० गुरुदेव के मन में यह संकल्प ही नहीं था कि रोग रूपी भगवान् क्यों आये, कब तक वास करेंगे, और कब प्रस्थान करेंगे ।

पू० गुरुदेव कहा करते थे कि कभी आधे क्षण के लिये भी उनके मन में यह संकल्प नहीं आता था कि यह रोग क्यों आया ? बस, पू० गुरुदेव ने उन्हीं रोग रूपी भगवान् से इतनी ही सामर्थ्य की माँग की कि वे उन्हें टीबड़ी पर सत्संग में सम्मिलित हो सकने लायक छूट दे दें । भक्तवत्सल भगवान् भला ऐसे निर्मल परम विश्वासी 'वासुदेवः सर्वमिति' की सच्ची भावना रखने वाले पू० गुरुदेव के संकल्प को खण्डित थोड़े ही कर सकते थे ? उनकी 'कुर्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्तुम्' सामर्थ्य भी यहाँ हार मान ही जाती थी ।

पू० गुरुदेव भगवान् का स्मरण करके टैन्ट की दीवार की तरफ मुख करके बैठ गये । फिर टैंट के ही बाँस आदि का सहरा लिये-लिये वे धीरे-धीरे दरवाजे की ओर सरकने लगे । धीरे-धीरे चलकर द्वार-देश के पास आ गये । वहाँ चार पाँच फुट लम्बा एक बाँस रखा था । उस बाँस के लट्ठ को लेकर उसके सहारे पू० गुरुदेव कमरे के बाहर आ गये । अब पू० गुरुदेव क्रमशः टीबड़ी की ओर बढ़ने लगे । पहले तो वे सरकते से चल रहे थे, धीरे-धीरे उनकी चाल में गति आ गयी । श्रीहीरालालजी यह सब चकित हुए देख रहे थे । जो स्वामीजी उठ भी नहीं पा रहे थे, वे ही अब टीबड़ी पर चलकर जा रहे हैं । पू० गुरुदेव के पीछे-पीछे वे भी आये । पू० गुरुदेव उस दण्ड के सहारे चलते-चलते टीबड़ी पर पहुँच गये थे । ज्यों ही पू० गुरुदेव श्रीसेठजी के पास पहुँचे, त्यों ही धम्म से उस रेतीली भूमि पर गिर पड़े । वहाँ तक पहुँचने का रोग भगवान् ने संकल्प पूरा कर ही दिया था । श्रीसेठजी को एवं अन्य सत्संगियों को पू० गुरुदेव को वहाँ चलकर आया जानकर बहुत ही आश्चर्य हुआ । टीबड़ी से निवास स्थान तक तो वापस स्वामी रामसुखदासजी महाराज उन्हें अपने कन्धे पर बैठाकर ले आये।

उस गठिया रोग से पू० गुरुदेव अत्यधिक परेशान थे । टीबड़ी पर जाने वाली घटना जिस दिन हुई उसके बाद भी पीड़ा बढ़ती ही जा रही थी। दर्द के मारे नींद नहीं आती थी । उन्हें लगा कि अब सहन करने की शक्ति शून्य-सी हो रही है । रात्रि की बात है । उस असह्य पीड़ा से विकल होकर

पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा – मैं यह नहीं कहता कि आप मेरा रोग दूर कर दें । रोग के रूप में आप ही थे, आप ही हैं, आप ही रहेंगे । परन्तु इतना निवेदन है कि जितनी मात्रा में रोग का कष्ट देते हैं उसी अनुपात में उसे सहने की शक्ति भी दें । पू० गुरुदेव के इतना कहते ही उन्हें ऐसा लगा मानो भगवान् श्रीकृष्ण के नेत्र सजल हो उठे हैं तथा वे उनसे कह रहे हैं – "सचमुच क्या मैं इतना निष्ठुर, इतना निर्दयी हूँ कि तुम्हें उतना कष्ट दूँगा, जो तुम्हारी सहन शक्ति की सीमा के परे हो ?"

उनकी यह उक्ति सुनकर एवं उनके नेत्रों में झलमल असीम प्यार को देखकर पू० गुरुदेव का मन द्रवित हो गया । उनकी आँखों से झलमल आँसू बह चले और वे उनसे कहने लगे – "मुझसे बढ़कर कौन अधम होगा जो अपने शरीर के लिये आपसे प्रार्थना करता है । मुझे कुछ नहीं चाहिए नाथ ! मेरी नीचता की सीमा नहीं।"

इन भावों के प्रवाह में पू० गुरुदेव बह चले । थोड़ी देर पश्चात् पू० गुरुदेव को नींद आ गयी । आज पू० गुरुदेव को बत्तीस-तैंतीस दिन पश्चात् नींद आयी थी । पू० गुरुदेव दो-तीन घंटे गहरी नींद में सोये । जब जगे तो देखा उनके रोग में विस्मयकारी परिवर्तन है । पीड़ा सोलह आने में चौदह आना समाप्त हो गयी है । उन कृपालु की कृपालुता की सीमा नहीं । उनकी कृपा का द्वार जैसा पू० गुरुदेव के लिये खुला था, और खुला है, उसी प्रकार सभी के लिये उन्मुक्त रूप से खुला हुआ है । जिस प्रकार पू० गुरुदेव का गठिया ठीक हुआ उसी प्रकार किसी का कोई भी कार्य सम्पन्न कर देना उन सर्व समर्थ के लिये एक क्षुद्र सी बात है।

पू० गुरुदेव का चौदह आना रोग तो वहीं ठीक हो गया था, फिर भी दो आना शेष था । सत्संग का सत्र तो समाप्त हो रहा था । श्रीसेठजी जयदयालजी बाँकुड़ा एवं कलकत्ता जाने वाले थे । रोगी की सेवा का भार कलकत्ते एवं बाँकुड़ा में ढोना संभव नहीं था । अत: पू० गुरुदेव से सेठजी ने पुछवाया कि उनकी कहाँ की टिकट मँगायी जाय। पू० गुरुदेव क्या उत्तर देते । वे तो निरन्तर सेठजी के साथ गीता का कार्य करने के निमित्त से चले आये थे। श्रीसेठजी का इस प्रकार पूछने का तात्पर्य यही था कि बीमारी में उन्हें साथ रखना श्रीसेठजी को असुविधाजनक लग रहा था । अत: पू० गुरुदेव ने यही उत्तर दिया कि उन्हें उनके गाँव फखरपुर में माँ के पास छोड़ दिया जाय ।

श्रीसेठजी ने पू० गुरुदेव की वैसी व्यवस्था करवा दी । एक व्यक्ति उन्हें उनके गाँव छोड़ आया । पू० गुरुदेव ग्राम के बाहर एक पेड़ के नीचे रह गये। पू० गुरुदेव की माँ सूचना पाकर आयी । पू० गुरुदेव कहते थे कि पेचिश एवं गठिया दोनों ही उनकी माँ ने हलुआ खिला-खिलाकर ठीक कर दिया । माँ के स्नेह से पू० गुरुदेव सोलहों आना स्वस्थ हो गये । स्वस्थ हो जाने पर तो उन्हें पुन: सेठजी के पास जाना ही था ।

तभी से रोग के लिये अथवा रोग जनित कष्ट के लिये पू० गुरुदेव का दृष्टिकोण ही दूसरा हो गया । पू० गुरुदेव तो सम्पूर्ण जीवन-पर्यन्त ही कभी कोई, कभी कोई, भीषण बीमारियाँ एवं रोग सहते ही रहे, परन्तु रोग के आने एवं जाने के सम्बन्ध में अब उनके मन में कोई संकल्प ही उत्थित नहीं होता था ।

## सत्संग-प्रवचन से विरति

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका बैठे हुए संध्या कर रहे थे । शाम होने वाली थी । अपनी संध्या से निवृत्त होकर श्रीसेठजी पू० गुरुदेव के पास आकर खड़े हो गये । उनका पू० गुरुदेव के प्रति बहुत ही प्यार था । श्रीसेठजी चाहते थे वे बाईस घंटे चाहे नाम-जप करें, चाहे ध्यान करें, मौन रहें, कुछ भी करें परन्तु दो घंटे प्रवचन अवश्य करें । श्रीसेठजी को सत्संग कराना बहुत ही महत्वपूर्ण लगता था । उनका सत्संग सुनने यदि कोई नहीं आता तो वे उसके पास पहुँच जाया करते थे । एक बार बीकानेर में श्रीसेठजी आये हुए थे । वे श्रीईश्वरदासजी डागा के यहाँ सत्संग करा रहे थे । उनका निवास तो प्राय: राठियों के यहाँ हुआ करता था । श्रीसेठजी ने बहुत से आस्तिक एवं प्रतिष्ठित लोगों की सूची बनवायी, उन्हें निमंत्रण देकर सत्संग में बुलाने की योजना थी । परन्तु जब सत्संग के प्रारम्भ का समय हुआ तो पाया गया कि जिन-जिन सज्जनों को आमन्त्रित किया गया था, वे एक ।। उपस्थित नहीं थे । श्रीसेठजी की एक बहुत बड़ी विशेषता थी, वे पक्के निष्काम कर्मयोगी थे, अत: निराश होना तो जानते ही नहीं थे । अत: यह तय हुआ कि उन सज्जनों के घर जाकर उन्हें गीता सुनायी जाय । श्रीसेठजी दूसरे दिवस मध्याह्न में उन-उन सज्जनों के घर अपने विश्वासी सहयोगियों के साथ पहुँच गये । परन्तु राजस्थान में उन दिनों किसी के घर में गीता-पाठ

तभी होता था जब कि उनके परिवार में कोई मृत्यु शय्या में पड़ा हो । अतः वैसे गीता पाठ अशुभ माना जाता था । श्रीसेठजी ने गीता सत्संग के महत्व को समझाने की बहुत प्रकार से चेष्टा की परन्तु घरवालों ने उनकी एक भी नहीं सुनी और श्रीसेठजी को बिना गीता प्रवचन किये ही उनके घर से लौटना पड़ा।

श्रीसेठजी पू० गुरुदेव से भी इसी निष्ठा का पालन कराना चाहते थे । श्रीगुरुदेव श्रीसेठजी के आग्रह से जहाँ-जहाँ जाते प्रवचन किया करते थे । कलकत्ते में जब पू० गुरुदेव होते तो ईडन गार्डन में हजारों लोग उनका भाषण सुनने आते । मारवाड़ी लोग पू० गुरुदेव को लौड़िया स्वामीजी कहा करते थे । लौड़िया का अर्थ मारवाड़ी भाषा में छोटा होता है । श्रीरामसुखदासजी पू० गुरुदेव से वय में बड़े थे, अतः वे बड़के स्वामीजी के नाम से विख्यात थे । पू० गुरुदेव का प्रवचन लोग यद्यपि बहुत दतचित्त होकर सुनते थे, परन्तु लोगों का जीवन जैसे का तैसा ही रहता था । लोगों के जीवन में सर्वथा परिवर्तन न देखकर पू० गुरुदेव बहुत ही निराश होते थे । वे सोचने लगते कि अवश्य यह उनकी ही न्यूनता है । जब लोग उनकी कही बातों के अनुसार जीवन ही नहीं बनाते, उनकी बकवास व्यर्थ है । श्रीसेठजी इस मत के थे कि '**कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन**'; वे सोचते थे कि अपनी नीयत शुद्ध है, और अपना कर्म पूर्ण सात्विक है, तो फिर कोई उसे माने अथवा जीवन न बनावे, अपने को इसकी चिन्ता नहीं करना चाहिए ।

पू० गुरुदेव की यह कठिनाई थी कि उन्हें श्रोतागणों के रूप में सदा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण ही दिखते थे । वे अनुभव करते कि श्रीकृष्ण निज प्रेमोद्दीपनवश उमड़े आकर उनका स्वागत तो करते हैं और इसीलिये विश्व-रूप में हजारों की संख्या में सत्संग में उत्सुकतावश आते हैं, परन्तु मेरी बकवास को व्यर्थ समझकर उस पर कान नहीं धरते । अवश्य ही मेरा जीवन मेरी कथनी के अनुरूप नहीं है, अतः श्रीकृष्ण का यही संकेत है कि मेरा जीवन मेरी कथनी के अनुरूप हो जाय ।

श्रीसेठजी उस दिन उनसे आकर बहुत ही प्यार से बोले - "कहिये स्वामीजी ! आपके प्रति क्या कहूँ, क्या निवेदन करूँ ?"

पू० गुरुदेव को ठीक ऐसा लगा मानो साक्षात् भगवान् नारायण ही उनके सम्मुख खड़े उनसे वार्ता कर रहे हैं । अतः उन्होने अत्यन्त सहज विनम्रता

पूर्वक कहा - इस समय आपके मन में जो भी स्फुरित हो रहा है, आप वही कहें ।

श्रीसेठजी ने पूछा - क्या कह दूँ ?

पू० गुरुदेव ने कहा - आप अवश्य कहें और प्रामाणिता से वही कहें जो आपके मन में है

श्रीसेठजी मानो संकोच कर रहे थे अत: बार-बार 'क्या कह दूँ' शब्द को दुहरा रहे थे । फिर वे कहने लगे - भगवान् बहुत ही कृपा परवश हैं । वे इतने करुणामय हैं कि यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से भगवान् के शरणापन्न हो जाये, भगवान पर सर्वथा निर्भर हो जाय तो भगवान् उसकी सभी कामनाएँ पूरी कर देते हैं ।

श्रीसेठजी के मुख से यह बात सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही विस्मय हुआ । इन दिनों में पू० गुरुदेव इसी भावना में लहरा रहे थे । पू० गुरुदेव की जो अनुभूति थी, श्री सेठजी ने उसे ज्यों-की-त्यों मानो वाणी प्रदान कर दी थी । पू० गुरुदेव का यद्यपि भगवद्विश्वास अडिग था परन्तु श्रीसेठजी ने उस अनुभूत सत्य की अत्यधिक परिपुष्टि कर दी ।

प० पू० गुरुदेव के आदर्श थे भगवान् श्रीचैतन्यदेव जिन्होंने जीवन भर में मात्र आठ श्लोक बोले थे, और समस्त मत्स्यभक्षी बंगाली समाज को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण के पावन नाम गायन में नचाया था । विगत पाँच सौ वर्षों में शाक्तमत की हिंसा त्याग करवाकर लाखों लोगों को वैष्णव बना दिया था ।

श्रीपोद्दार महाराज को पू० गुरुदेव का प्रवचन करना सर्वथा रुचिकर नहीं था । वे बहुत ही गंभीर विनोदी थे । अत: जब भी पू० गुरुदेव प्रवचन करने जाते वे व्यंग भरी वाणी में अवश्य कहते "स्वामीजी प्रवचन करने जा रहे हैं ?" और गुरुदेव क्या कहते मुख नीचा कर लजा जाते । वे पू० गुरुदेव को स्पष्ट कहते थे कि आप सेठजी की सब बात मानिये, परन्तु प्रवचन करने की बात मत मानिये ।

अनेक बार ऐसा होता था कि पू० गुरुदेव को सायंकाल गोधूलि बेला मे प्रवचन करने जाना होता । यह बेला वही होती जब श्रीकृष्ण गोचारण कर लौट रहे होते । पू० गुरुदेव उस समय अपनी भाव दशा में भगवान् श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में होते और जनता होती उनके प्रवचन सुनने को उत्सुक । ऐसे अवसर पर मंच में आने में उन्हें विलम्ब हो जाता था । वे

भावदशा में ऐसे विभोर होते कि लोग समझते स्वामीजी रुग्ण हैं । उनकी आन्तरिक दशा को तो कोई पहचानता था नहीं।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका चाहते थे कि पू० गुरुदेव आसेतु हिमाचल ग्राम-ग्राम, नगर-नगर गीता पर प्रवचन करते हुए सत्संग करावें । एक दिवस आन्तरिक सत्संग में सत्संगियों के मध्य में श्रीसेठजी ने अपनी ऐसी रुचि प्रकट भी कर दी । पू० गुरुदेव ने सेठजी का प्रस्ताव सुनकर यही उत्तर दिया कि आपका मुझ पर परम अनुग्रह है, परन्तु मैं सत्संग कराने के योग्य नहीं हूँ। मेरा जीवन जब तक उतना गंभीर नहीं बने, प्रवचन करना व्यर्थ है। गंभीर आध्यात्मिक जीवन के पश्चात् ही लोगों पर वाणी का प्रभाव होता है । श्रीसेठजी उसी समय बोल उठे - (मारवाड़ी भाषा में) "ठीक है स्वामीजी को कहनो एक प्रकार सेती उचित है, परन्तु कोई इनको योग्य बणाय दे तो ।"

यह बात एक महासिद्ध सन्त के द्वारा कही जानी बहुत ही गंभीर अर्थ रखती थी । पू० गुरुदेव को उसी समय ऐसी अनुभूति भी हुई कि साक्षात् भगवान् नारायण उन्हें जैसे ज्ञान निष्ठा की परिपक्वावस्था प्रदान करने को उत्सुक हों । परन्तु पू० गुरुदेव को तो श्रीकृष्ण का निरीह प्रेम अपेक्षित था । अत: पू० गुरुदेव ने श्रीसेठजी को स्पष्ट कह दिया कि सत्संग कराने की उनकी रुचि सर्वथा नहीं है । हाँ, यदि सेठजी उन्हें व्यक्तिगत बुढ़ापे में अपनी लाठी पकड़ने की सेवा सौंपना चाहें तो वे सहर्ष समुपस्थित हैं । श्रीसेठजी भी अपनी धुन के पक्के थे । व्यक्तिगत सेवा के प्रस्ताव को श्रीसेठजी ने ठुकरा दिया ।

सत्संगियों ने पू० गुरुदेव को बहुत ठगा गया माना, क्योंकि सेठजी ने भरी सभा में कह दिया कि "स्वामीजी चूक गया । अगर म्हारी बात मान लेता तो म्हारे माथै वे बहुत बड़ो दायित्व पटक देता ।"

इधर पू० गुरुदेव समझ रहे थे कि जब ज्ञान मार्ग के रास्ते जाना ही नहीं है तो उसका मोह कैसा ?

## गीता के "य इमं परमं गुह्यं" श्लोक का नवीन अर्थ

यह घटना २८ अप्रेल सन् १९३९ ई० की है । पू० गुरुदेव अपने उपासना कक्ष में बैठे थे । गीता तत्व विवेचनी के लेखन का कार्य हो चुका था । इस लेखन कार्य की सम्पन्नता बाँकुड़ा में हुई थी । उस समय

श्रीपोद्दार महाराज भी वहीं थे। पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके आराध्य भगवान् का चित्रात्मक श्रीविग्रह विराजित था । सहसा पू० गुरुदेव का यह उपास्य श्रीविग्रह चिन्मय हो उठा । पू० गुरुदेव को दृष्टिगोचर हुआ कि श्रीविग्रह के दोनों ओठ हिल रहे हैं । उनका ध्यान उस पर और केन्द्रित हो गया। अधरों का हिलना ही नहीं, अचानक उसी में से भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । पू० गुरुदेव का हृदय आनन्द से भर गया ।

पू० गुरुदेव से श्रीकृष्ण ने पूछा - "गीता तत्व विवेचनी का कार्य तो सम्पन्न हो गया, अब मुझे बताओ अठारहवें अध्याय के ६८ वें अथवा ६९ वे श्लोक का अर्थ क्या है ?"

इस प्रश्न को सुनकर पू० गुरुदेव ने कहा - "सभी आचार्यों ने एवं टीकाकारों ने 'य इमं परमं गुहयं' को सम्पूर्ण गीताशास्त्र ही माना है । सभी ने यही अर्थ लगाया है कि इस परम गुह्य गीताशास्त्र का जो मेरे भक्तों में प्रचार करेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा और भू मंडल में उससे बढ़कर मेरा प्रियतर कोई होगा ही नहीं ।" आचार्यों के इसी मत को मैं भी मानता हूँ ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - एक दृष्टि से यह अर्थ पूर्णत: सही है परन्तु 'य इमं परमं गुह्यं' का परम गूढ़ अर्थ कुछ और ही है । इसका वास्तविक अर्थ है "सर्वगुह्यतमं परमं वच:" जो इसी अध्याय के ६४ वें श्लोक में है ।

इस वाक्य को सुनते ही पू० गुरुदेव के अन्तर में ६४ वाँ श्लोक उभर आया । इस श्लोक के उभरते ही एक-एक शब्द के गर्भ में निहित अर्थ भी उभरने लगे । 'सर्व गुह्यतमं' शब्द गीता में केवल एक बार यहीं ही आया है। और इस सर्वगुह्यतम परम वचन का अर्थ है -

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

६४ वे श्लोक में 'सर्व गुह्यतमं' के तुरन्त बाद भूय: शब्द इसीलिये आया है कि 'मन्मना भव मद्भक्तो' यह पंक्ति ज्यों-की-त्यों नवें अध्याय के ३४ वें श्लोक में भी आ चुकी है । और यही बात भगवान् भूय: कहकर पुन: कहने जा रहे हैं और यही भगवान् का सर्वगुह्यतम परम वचन है ।

इतनी बात का विचार करने में पाठकों को किंचित समय लगा होगा किन्तु पू० गुरुदेव को अर्थ बोध होने में एक क्षण भी संभवतः नहीं लगा हो ।

तत्क्षण ही पू० गुरुदेव भगवान् श्रीकृष्ण से पूछ बैठे - तो क्या सर्वधर्म का परित्याग करके आपके प्रति सर्वभाव से आत्म समर्पण करना ही श्रीगीताजी का सर्वगुह्यतम प्रतिपाद्य तत्व है । और इसका आचरण करने वाला ही आपको सर्वाधिक प्रिय है ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - वस्तुतः यही सर्व गुह्यतम तथ्य है । गीता के सर्वान्त में ज्यों ही यह सर्वगुह्यतम परम वचन कहा गया, त्यों ही तत्व की रक्षार्थ मुझे यह भी तुरन्त कहना पड़ा कि जिस व्यक्ति के जीवन में तप न हो, भक्ति न हो, श्रवणेच्छा नहीं हो, श्रद्धा नहीं हो, ऐसे अतपस्वी को, अभक्त, अश्रवणेच्छुक - असूया प्रिय को इस परम रहस्यमय तत्व का कथन नहीं करना चाहिए ।

पू० गुरुदेव के मन की विचित्र स्थिति हो गयी थी । एक नवीन अर्थ, एक नवीन दृष्टि को पाने का तो उनके मन में परम उल्लास था, परन्तु साथ ही एक आत्यन्तिक खेद भी था कि हाय, व्यर्थ ही मैंने इतने दिवस खो दिये । अपने उल्लास को छिपाते हुए पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण को उपालम्भ दिया - यह अर्थ पहले क्यों नहीं बताया ? पहले ये अर्थ प्रकट हो जाते तो क्या हानि हो जाती ? अब तक मुझे भ्रम में रखने की क्या आवश्यकता थी ?

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा - मुझे तेरे द्वारा गीता तत्व विवेचनी का कार्य सम्पन्न करवाना था । तुम्हारे सहयोग के अभाव में यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता । ज्यों ही यह कार्य सम्पन्न हुआ, इन श्लोकों का मर्म अब तुम्हारे सम्मुख उद्घाटित कर दिया ।

इस नवीन दृष्टि को देकर भगवान् श्रीकृष्ण तो तिरोहित हो गये और इसके साथ-साथ ही पू० गुरुदेव की सम्पूर्ण विचारधारा ही आमूल-चूल परिवर्तित हो गयी ।

## पुनः भगवत्प्राकट्य और आदेश

इस सद्य उद्घाटित श्रीमद्भगवद्गीता के नवीन अर्थ की भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दृढ़ अवधारणा कराये जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव ने यही निर्णय किया

कि अब क्षेत्र सन्यास का व्रत लेकर वृन्दावन ही रहना है। सरलतम साधना समर्पण योग की है एवं "मन्मना भव ....." तथा सर्व धर्मान् .... श्लोकों में जो निष्ठा वर्णित है वही सबसे उत्तम है । पूर्ण समर्पणमय प्रेमयोग की रसमयी साधना ही अब उनका जीवन होगी, यही उनका निर्णय था । शरीर सेवा श्रीसेठजी लेना चाहते नहीं थे अतः सेठजी के पास रहने का द्वार बन्द हो ही चुका था । श्रीसेठजी का स्पष्ट उत्तर था कि नश्वर शरीर की सेवा के लिये वे पू० गुरुदेव को अपने साथ रखना चाहते नहीं और गीता प्रचार की इच्छा पू० गुरुदेव में थी नहीं ।

श्रीसेठजी की पू० गुरुदेव से एक डेढ़ घंटे तक वार्ता होती रही । सेठजी चाहते थे कि वे किसी भी प्रकार से गीता प्रचार के लिये स्वीकृति दे दें परन्तु पू० गुरुदेव की आन्तरिक आस्था ही प्रचार से हट गयी थी । अतः श्रीसेठजी द्वारा दिया संपूर्ण प्रबोध-उद्‌बोध उन्हें अपने निश्चय से विचलित नहीं कर सका । खिन्न मन से श्रीसेठजी ने पू० गुरुदेव को वृन्दावनवास करने के लिये अपनी सहमति प्रदान कर दी ।

यह घटना बाँकुडा की ही है । श्रीसेठजी से बिदायी लेकर पू० गुरुदेव अन्तिम बिदाई लेने के लिये पू० पोद्दार महाराज के पास पहुँचे । इस निर्णय का उन्होंने भी अनुमोदन नहीं किया । उन्होने भी पू० गुरुदेव को इस विचार से विरत करने की बहुत चेष्टा की । परन्तु पू० गुरुदेव को तो वृन्दावन का आकर्षण खींच रहा था ।

श्रीपोद्दारमहाराज की सर्वज्ञ दृष्टि पू० गुरुदेव के उस सौभाग्य की संभावना पर मंडरा रही थी जिसकी उपलब्धि सनकादि मुनियों एवं याज्ञवल्कादि ऋषिगणों को भी दुर्लभ है । श्रीसेठजी के द्वारा रोके जाने की भावना मात्र जगत् का कल्याण थी और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ग्रन्थ का प्रचार थी, परन्तु श्रीपोद्दारमहाराज पू० गुरुदेव को महाभाव दान का योग्य पात्र समझकर उन्हें अपने संग रखना चाहते थे और अपने हृदय का सौरभ महाभाव उन पर उँड़ेल देना चाहते थे ।

श्रीपोद्दारमहाराज इतने संगोपनप्रिय थे कि यह कहना नहीं चाहते थे कि जिस वृन्दावन के पीछे आप पागल हो रहे हैं, वह सचल वृन्दावन मेरा यह पंचभूतों का पिंजड़ा शरीर ही है । यह उस वृन्दावन से किसी भी प्रकार कहीं भी न्यून नहीं है । उस वृन्दावन की पंचभूतात्मक भूमि को भगवान् श्रीकृष्ण ने पांच हजार वर्ष पूर्व संस्पर्शित किया था । परन्तु वे श्रीकृष्ण साक्षात् सदेह

उनके देह के भूषण हैं, हृदय के हार हैं, चित्त में निवास करते हैं और उनकी चेतन सत्ता से एक हैं । जब पू० गुरुदेव को पोद्दार महाराज संकेत से समझ ही नहीं सके तो प्यार एवं अधिकार की भाषा का उन्होंने प्रयोग किया। आत्मीयतापूर्वक कहा - "हम लोग जाने देंगे तब न आप जायेंगे । देखें, आप कैसे वृन्दावन जाते हैं ?"

परन्तु हतभाग्य ! इस प्रेम भरी उक्ति को भी पू० गुरुदेव ने दूसरी प्रकार ले लिया। वे बोल गये - "आप लोग रेल टिकट ही तो नहीं देंगे, क्या हुआ ? भगवान् ने इस शरीर को दो पैर दे रखे हैं, पैरों में चलने की शक्ति भी दे रखी है, और लोगों से मार्ग पूछने के लिये मुख में वाणी दे रखी है । लोगों से मार्ग पूछते-पूछते बाँकुडा से आसनसोल चला जाऊँगा, आसनसोल से रेल की पटरी के किनारे-किनारे चलते हुए हाथरस पहुँच जाऊँगा। और तब हाथरस से वृन्दावन ।"

इसके पश्चात् अब पोद्दार महाराज के पास कहने को बचा ही क्या था ? पोद्दार महाराज के कथन का अर्थ था कि प्रेम के आग्रह का बन्धन पू० गुरुदेव भला कैसे तोड़ेंगे ? परन्तु जब कोई प्रेम-संबंध ही तोड़ देने को तत्पर हो जाय, उसे शरीर से रोकना कोई सज्जनता, शील और महानुभावता थोड़े ही है ।

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दारमहाराज के पास से अपने कक्ष में चले आये । वे अपने उपास्य के श्रीविग्रह के सम्मुख बैठ गये। अचानक उस चित्रात्मक श्रीविग्रह से पुन: श्रीकृष्ण उनके सम्मुख प्रकट हो गये । अति स्नेहपूर्वक वे पू० गुरुदेव की ओर निहार रहे थे । अहा ! उनके बिम्ब-विडम्बी अधर-पल्लव कैसे मधुमय सुधारस से परिपूरित थे।

अरुणिम गोल कपोल विलक्षण कमनीयता से युक्त थे । उनके सुन्दर कर्ण-कुंडल विविध रत्नों की ज्योति से दमक रहे थे । सहसा उनकी अति मधुर नेहभरी गंभीर वाणी पू० गुरुदेव के चित्त में ध्वनित हो उठी ।

भगवान् ने प्रश्न किया - "तुम वृन्दावन क्यों जाना चाहते हो ?" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "वह आपकी लीला भूमि है।" भगवान् श्रीकृष्ण ने पूछा - "जिसके संस्पर्श मात्र से तुम्हें मेरे दर्शनों का सौभाग्य मिला, उस पोद्दार महाराज के लिये मेरी बतायी सब बातें तुम विस्मृत कर गये ? बताओ, उसके प्रति तुम्हारी सन्देह रहित क्या मान्यता है ?"

पू० गुरुदेव - "मैं उनको सिद्ध कोटि का सन्त मानता हूँ ।" भगवान् ने पुनः प्रश्न किया - "सिद्ध कोटि का सन्त किसे कहते हैं ?" पू० गुरुदेव ने कहा- "जिसका मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सभी कुछ भगवत्स्वरूप ही हो जाता है, वही सिद्ध सन्त है । जिसका हृदय तुम्हारी लीला भूमि हो जाय वह सिद्ध सन्त है ।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - "यदि तुम इस पोद्दार महाराजरूप जीव की महिमा में कहे गये मेरे सभी कथन स्मरण रखते तो मुझे पुनः तुम्हें प्रकट होकर यह सब कहने की आवश्यकता ही नहीं थी । जब तुम पोद्दार महाराज को रससिद्ध सन्त मानते हो तो उनमें और वृन्दावन में अन्तर ही क्या रहा ? मैं पूर्णतः भी यह कह चुका हूँ इसके अन्तःकरण चतुष्टय पर मैं ही अभिव्यक्त हूँ । इसका हृदय मेरी विलास भूमि है । वह अचल वृन्दावन है तो यह सचल वृन्दावन है । उसके प्रेम भरे आग्रह का तेरे द्वारा तिरस्कार हुआ है । यह तेरा अक्षम्य संतापराध है । भविष्य में उनकी रुचि ही तेरा जीवन और जीवन की साधना होनी चाहिए ।" यह स्पष्ट भगवद्वाणी सुनकर पू० गुरुदेव स्तब्ध थे ।

अब तो उनकी बुद्धि श्रीपोद्दारमहाराज की अवज्ञा के कारण परितप्त थी। अब उन्हें अपने वृन्दावन जाने के हठी आग्रह में कुछ भी सार समझ में नहीं आ रहा था । वे ठीक समझ रहे थे, देख रहे थे कि पोद्दार महाराज तो मात्र कलेवर हैं इनमें नित्य विलसित हैं भगवान् श्रीकृष्ण । संत शरीर तो मात्र माध्यम है और यह माध्यम भी निरावृत भगवत्संस्पर्श से पूर्णतया चिन्मय हो गया है । जब पारस पत्थर जैसी जड़ वस्तु लोहे को विशुद्ध स्वर्ण में परिवर्तित कर देती है, जब गंगाजल गन्दे छीलर, नाले को गंगा बना देता है तब क्या भगवान् का परम चिन्मय नित्य विलास जिस हृदय देश में हो रहा है, जिसके जड़ अस्थि-युक्त हाथ चिन्मय भगवान् के चरणों को स्पर्श कर चुके हैं, वह शरीर भला क्या, वृन्दावन से किसी भी प्रकार, किञ्चित भी न्यून हो सकता है ? कदापि नहीं ।

पू० बाबा अपने हठी स्वभाव को धिक्कार रहे थे । सचमुच प्रकृति (स्वभाव) जिसकी जो भी होती है - वह दुरत्यय ही होती है । थोड़ी देर पश्चात् भगवान् फिर बोले - जब तुमको चलती-फिरती मेरी लीलास्थली और स्वयं मैं सुलभ एवं उपलब्ध हूँ फिर इससे अधिक तुम्हें और क्या चाहिए ?

पू० गुरुदेव ने तत्क्षण निर्णय कर लिया कि अब इस सचल वृन्दावन-- पोद्दार महाराज के साथ ही निरन्तर रहना है ।

भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट निर्देश था - "सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक आठ पहरों में एक बार श्रीपोद्दारमहाराज का दर्शन कर लो, भले वह दर्शन एक क्षण का ही हो, इसके अतिरिक्त जब तक श्रीपोद्दारमहाराज प्रसन्नचित्त से अनुमति न दें, तब तक वृन्दावन नहीं जाना ।

## पू० पोद्दार महाराज के जीवनव्यापी संग का व्रत एवं जीवनदात्री माँ से अन्तिम मिलन

भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश देकर अन्तर्धान हो जाने पर अब पू० गुरुदेव के मन में वृन्दावन जाने का भाव विसर्जित हो गया था । वे अपने उपासना कक्ष से उठकर श्रीपोद्दारमहाराज के पास आये । श्रीपोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में संलग्न थे । उनके पास पू० गुरुदेव चुपचाप बैठ गये । फिर अत्यंत मनुहारपूर्वक बोले - अब मैं वृन्दावन नहीं जाऊँगा ।

श्रीपोद्दार महाराज भी घुटे हुए गुरु थे । कहने लगे - "नहीं, नहीं, आपको भगवान् ने दो पैर दिये हैं, चलने की शक्ति भी दी है, फिर रास्ता पूछने के लिये मुख में वाणी दी है । लोग आपको वृन्दावन का रास्ता बता ही देंगे।"

श्रीगुरुदेव ने श्री पोद्दार महाराज के घुटनों को सहलाते हुए थोड़ी मनुहार करते हुए कहा - "क्षमा करिये, अब पुरानी बात भूल जाइये, मैंने अब वृन्दावन जाने का विचार छोड़ दिया है । अब तो एक ही बात है, सदा आपके ही पास रहना है। बस, चौबीस घंटे में एक बार आपका दर्शन मिल जाया करे ।"

किसी भी वस्तु को अच्छी प्रकार से गाड़ने के लिये उसे हिलानी पड़ती ही है अतः पोद्दार महाराज ने पर्याप्त आना-कानी की परन्तु गुरुदेव ने अपनी विनय, प्रेम, मनुहार से उन्हें मना ही लिया ।

अब पू० गुरुदेव को अन्तिम बार अपनी माँ से मिलकर सदा-सदा के लिये बिदाई ले लेनी थी ।

पू० गुरुदेव ने इसके लिये भी पोद्दार महाराज से अनुमति माँगी ।

उनका अनुमति माँगने के पीछे इतना ही उद्देश्य था कि ग्राम जाने पर माँ की ममता के कारण पोद्दार महाराज के पास रहने के व्रत में कहीं कोई बाधा नहीं खड़ी हो ।

पू० श्रीपोद्दार महाराज द्वारा यह आश्वासन भी प्रसन्न मन से दे दिये जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव बाँकुड़ा से अपने ग्राम फखरपुर के लिये रवाना हुए । टिकट की व्यवस्था तो पोद्दार महाराज द्वारा कर ही दी गयी थी ।

रास्ते में पू० गुरुदेव को एक सुखद क्षत्रिय जाति के सहयात्री मिल गये। गया स्टेशन पर उतरने पर गाँव तक पहुँचने का प्रबन्ध उन सहयात्री द्वारा अयाचित ही हो गया ।

पू० गुरुदेव सूर्यास्त के समय गाँव में पहुँचे ।

जन्मदात्री माँ तो विश्व में सभी को मिलती हैं, परन्तु महा सौभाग्यवान वे होते हैं, जिनको अतिशय वात्सल्यवती माँ का वात्सल्यरस मिलता है । पू० गुरुदेव की माँ अगाध वात्सल्यवती साक्षात् यशोदाजी ही थीं । उस ममतामयी को कल्पना ही नहीं थी कि मेरा चक्रधर अब कभी गाँव पर आयेगा । उसे एक-एक दिन वर्ष के समान लगता था और साथ ही अनुभव होता था चक्रधर को गये तो कल्प ही बीत गये हैं । उसकी आँखें अपने सोने से पुत्र की स्मृति में सदा झरती रहती थीं और उन नेत्रों ने रोते-रोते अपने देखने की दृष्टि ही खो दी थी । उसे तो आशा ही कहाँ थी कि ये आँखें पुन: अपने नटखट पुत्र को देख पावेंगी, जो नौ वर्ष की उम्र तक पाठशाला से आते ही उसके सूखे स्तनपान करने मचल उठता था और दूध न आने पर काट लेता था । पू० गुरुदेव के आने की सूचना ज्यों ही पू० माँ को दी गयी, वे तो अपनी सुध-बुध ही खो बैठीं ।

इस अकल्पनीय बात पर विश्वास नहीं करती हुई पूज्या माताजी अपने वस्त्रों की सँभाल भुलाये चक्रधर, चक्रधर रटती घर के बाहर आ गयी । माँ के सामने दरवाजे पर उनका साक्षात् गैरिक वस्त्रधारी पुत्र खड़ा था, परन्तु माँ उसे देखकर भी प्रेमजनित सात्विक विकार से देख नहीं पा रही थी । प्रेम वैचित्य की ऐसी स्थिति रस शास्त्रों में अवश्य वर्णित है । किन्हीं भाग्यवान सन्तों ने इसे अपने भावदेश में अप्राकृत महासत्व की स्थिति में अनुभव भी किया होगा । परन्तु इस प्रेम वैचित्य की महा दुर्लभ दशा का अनुभव एक ग्रामीण साधन-शून्या गृहस्थिन को इस सत्व रज और घोर तमोमय प्रकृति

राज्य में भी हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण फखरपुर गाँव के तत्कालीन ग्रामीणों ने उस समय अपनी आँखों से देखा ।

उस सित-केशी कृशवदना, अतिवृद्धा माँ का भावावेग इतना अधिक था कि भाव भ्रमिता वृद्धा अपने पुत्र से ही पूछने लगी - "अरे भाई ! क्या तुमने मेरे बेटे को देखा है ? तुम बताओ तो मेरा बेटा कहाँ गया है ? वह क्यों चला गया है ? वह कब तक आयेगा ? बस, एक बार मिल लेता ?

वात्सल्य के प्राबल्य ने माँ के व्यक्तित्व को नखशिख झकझोर कर रख दिया था ? महा भावावेग में वह अपने बेटे को ही नहीं पहचान पा रही थी। उन्मादिनी की तरह वह न जाने कितने प्रकार की जिज्ञासाएँ अपने बेटे से ही कर रही थी । माँ की ऐसी अपूर्व प्रेमोन्मादिनी स्थिति का वास्तविक आकलन उस समय पू० गुरुदेव स्वयं ही नहीं कर सके । उन्हें उस काल में मात्र भगवद्दर्शन ही हुआ था, परन्तु गोपी प्रेम की इन गंभीरतम भावधाराओं को छूने का अवसर ही उस समय उन्हें कहाँ मिल पाया था । फिर भी पू० गुरुदेव चकित थे । सामान्यजन तो उस स्थिति को बुढ़िया का पागलपन ही मान कर मुसका रहा था, हँसी कर रहा था ।

पू० गुरुदेव के लिये यह समस्या हो गयी थी कि वे माँ को प्रकृतिस्थ कैसे करें ? पास-पड़ौस के लोगों ने उसे घेर लिया था ।

पू० गुरुदेव को अपनी माँ को जगत् के धरातल पर लाने का कोई उपाय ही नहीं सूझ रहा था । सहसा उन्हें अपना बालपन का वह नटखटपना याद आ गया, जब कि वे नौ वर्ष की अवस्था तक स्कूल से आते ही माँ का स्तन पान करने को मचल जाते थे । इस प्रसंग की स्मृति होते ही पू० गुरुदेव ने सन्यासीपने की मर्यादा उतार फैंकी। आस-पास खड़े लोगों की लज्जा की कृत्रिमता को भी पू० गुरुदेव ने तिलांजलि दे दी । सबके सम्मुख ही उन्होने माँ के स्तन खोले और स्तनों पर अपने दाँत गड़ा दिये । दाँत का गड़ाया जाना था कि पू० माँ को अपने पुत्र की उपस्थिति का परिज्ञान हो गया । अपने लाल के मस्तक को माँ ने अपनी छाती से चिपका लिया था । अब अश्रु केवल माँ के कपोल को नहीं भिगो रहे थे, अपितु सन्यासी पुत्र के मुण्डित शीश पर भी रुद्राभिषेक कर रहे थे । अपने लाल के शीश को अपनी छाती से चिपकाये माँ बहुत देर तक खड़ी रही । फिर वह अति करुण चीत्कार कर उठी - "अरे कोढ़िया चकरा, तू मुझे क्यों छोड़ गया रे ।" चकरा-चकरा कहती माँ को हिचकियाँ बंध गयी थीं । उससे चकरा शब्द बोला ही नहीं जा

रहा था । माँ के उस महावेदनामय रुदन से सारा फखरपुर ग्राम व्यथित हो गया । सभी के नेत्र बरसने लगे । आबाल वृद्ध सभी सिसकियों लेकर इस निष्ठुर सन्यासी को कोस रहे थे, जिसने ऐसी स्नेहमयी माँ को पाकर उसे बिलखती छोड़कर जीवित ही मृत्यु को वरण किया था ।

पू० गुरुदेव ने अपनी माँ एवं पिताजी की वेदनापूर्ण स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अपने अग्रज श्रीतारादत्तमिश्र को इस अपने काव्य-मय संन्देश में लिखा है -

है पथ तुलसी वन जोह रहा हम दोनों का प्यारी प्रियतम ।
नीली सरिता हो व्याकुल है कर रही शब्द कल-कल प्रियतम ।
है अपलक बाट निहार रहीं ये वल्लरियाँ फूली प्रियतम ।
सुस्पष्ट दे रही है इंगित सारी शुक पर झूली प्रियतम ।।
काँटों की अटवी में मिलकर देरी न करो प्यारी प्रियतम ।
चेरी पर चरण सरोरुह की अविलम्ब ढरो प्यारी प्रियतम ।
नश्वर तन की पगडण्डी पर ठहरो न तनिक प्यारी प्रियतम ।
चलते जाओ, चलती जाओ, रहकर गुमसुम प्यारी प्रियतम ।
जो कहीं अनुज अधिकारी-रुचि या महीपाल-मति का प्रियतम ।
आदर कर परिचय देता जग-सम्बन्ध नेह-गति का प्रियतम ।
वे पहुँच नहीं पाते अब तक सच्चिन्मय मंजिल पर प्रियतम ।
माया का ताप नहीं मिटता, मिलता न कृष्ण तरुवर प्रियतम ।
अग्रज के सदृश अनुज तन से जिनका नाता था हे प्रियतम ।
वे पहुँचेंगे ही नित्य जहाँ कान्हा गाता था हे प्रियतम ।।
इसीलिये विश्वास, किये रहो अविचल अहो ।
व्रजपुर नित्य निवास, कुंज-स्थल पर दृग रहें ।।
उपवन के उस पार हम सब ही मिल जायँगे
माया सरित कगार पर मिलने में हानि है ।

(भावार्थ)

अरे भैया ! वृन्दावन हम दोनों प्रिया-प्रियतम की बाट, पथ जोह रहा है। नीली रसमयी-सरिता व्याकुल होकर देखो, कैसी कल-कल शब्द कर रही है । देखो, ये पुष्पित सुमनों से लदी आनन्द से फूल रही लताएँ, वल्लरियाँ हमारा

पथ पलक नहीं गिराते हुए (अपलक) अति आतुर हुईं निहार रही हैं । और देखो, यह सारिका पक्षी शुक के ऊपर प्यार से झूलती हुई सुस्पष्ट संकेत दे रही है कि तुम्हें इस पथ से चलकर प्रिया-प्रियतम के पास पहुँचना है ।

अरे भैया ! यह संसार तो कंटकाकीर्ण जंगल, काँटों का वन है । इसमें आपस में एवं मुझसे मिलने में प्रिया प्रियतम के पास पहुँचने में विलम्ब हो सकता है । भगवान् नन्दनन्दन की चरण सरोरुह की चेरी श्रीराधारानी पर बिना विलम्ब किये ढर जाओ । यह तन तो नश्वर है, इसकी पगडंडी पर तनिक भी मत ठहरो । तुम चाहे स्त्री वेषधारी हो, चाहे पुरुष वेषधारी साधना के पथ में चलते जाओ, चलती जाओ, चुप-चाप गुम-सुम रहो और चलो ।

यदि छोटा भाई स्वामी चक्रधर अधिकारीदेवी अपनी स्नेहमयी माता की वात्सल्यमयी इच्छा, रुचि अथवा महीपालमिश्र पिताजी की बुद्धि के अनुसार अपना जीवन बनाता एवं उन पर आदर श्रद्धा कर जगत के संबंधों, स्नेह एवं व्यवहार के अनुसार अपना जीवन बनाता तो निश्चय ही न तो माया का ताप मिटता एवं न ही भगवान् श्रीकृष्ण रूप-तरु की छाया ही उसे मिल पाती । (श्रीतारादत्त जी की तरह) बड़े भाई के समान ही छोटे भाई चक्रधर स्वामी से जिनका जो भी नाता है, वे निश्चय ही वहाँ पहुँचेंगे, जहाँ श्रीकृष्ण वंशी बजाकर गाते हैं ।

इसलिये अविचल विश्वास किये रहो, हमारी दृष्टि व्रजपुर वृन्दावन, एवं कुंजस्थल जो हमारा नित्य निवास है, उसी पर लगी रहे । इस उपवन अर्थात् शरीर के उस पार मृत्यु के पश्चात् हम सभी निश्चय ही मिल जायेंगे, इस शरीर सें परस्पर मिलने से वहाँ पहुँचने में विलम्ब हो सकता है अतः हानि है।

-----

भाव के किञ्चित शमन होने पर माँ ने देखा गाँव के स्त्री-पुरूष तमाशा देख रहे हैं और माँ बेटे का विशुद्ध प्यार-एक क्रीड़ा कौतुक हो रहा है अतः उसने अपने चकरा को घर में अन्दर चलने के लिये कहा ।

पू० गुरुदेव ने माँ के चरण छूकर निवेदन किया कि सन्यासी का अपने घर में प्रवेश उचित नहीं ।

माँ ने पूछा - "तब तू कहाँ रहेगा ?"

पू० गुरुदेव ने कहा – "गाँव के बाहर बगीचे में ।"

यह सुनकर माँ ने कहा – "चल मैं भी तेरे साथ चलती हूँ ।"

पू० गुरुदेव के ऐसा कहते ही माँ घर के भीतर जाकर एक छोटी सी पोटली ले आयी और उनके साथ-साथ चल पड़ी । आगे-आगे गुरुदेव और पीछे-पीछे उनकी माता चल रही थी ।

पू० गुरुदेव के परिवार में पर्दे की मर्यादा बहुत ही कठोर थी । घर की स्त्रियाँ प्राय: घर के बाहर नहीं निकलती थीं । परन्तु आज माँ को न तो पर्दे की परवाह थी, न ही गृह-मर्यादा लोक लाज की चिन्ता । गाँव के बड़े-बूढ़े, लोगों से बेखबर माँ नेत्रों के आँसुओं की अजस्र धारा को पौंछती हुई पू० गुरुदेव के पीछे-पीछे चली जा रही थी।

गाँव के बाहर हाई स्कूल और एक पाठशाला थी ।। वह पाठशाला एक उद्यान में थी। पू० गुरुदेव ने पाठशाला में ही ठहरने का निश्चय किया ।

इधर तो पू० गुरुदेव अपना हाथ पैर धोने लगे उधर माँ ने अपनी पोटली खोलनी प्रारम्भ की । माँ ने उस पोटली में बड़ी-बड़ी अनेक पुडिया सँजोकर रखी थीं । माताजी एक-एक पुड़िया को खोलती और उसे सूँघती । उसमें दुर्गन्ध पाकर नाक सिकोड़ते हुए माँ उस पुड़िया की वस्तु को एक किनारे फेंक देती । एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार प्रत्येक पुड़िया वह फेंकती चली जा रही थी। पू० गुरुदेव वह सब देख रहे थे । पू० गुरुदेव ने पूछा – माँ ! यह तू क्या कर रही है ? माँ ने बतलाया – बेटा ! जब भी घर में कोई बढ़िया वस्तु बनती अथवा तेरी कोई प्रिय वस्तु बनती, मैं उसे पुड़िया में बाँधकर रख देती थी । कभी न कभी तो तू आयेगा ही, तब तुझे खिलाऊँगी, परन्तु अब तो ये सभी खाने लायक रही नहीं । सभी में दुर्गन्ध आ रही है । अत: फेंक दे रही हूँ ।

पू० माताजी के इस अगाध वात्सल्य पर पू० गुरुदेव बलिहारी हो रहे थे। माँ अच्छी तरह जानती थी कि मेरा बेटा सन्यासी हो गया है, वह कभी भी घर पर नहीं आयेगा । इसके पश्चात् भी अपने सन्यासी बेटे के लिये उसके हृदय के भावों का उफान ऐसा था कि वह प्यार में पगली हुई भोजन की वस्तुएँ उसके लिये बचाकर पुड़ियाओं में बाँधकर रखती थी ।

मातृ हृदय का कैसा अभूतपूर्व वात्सल्य था यह । भला कोई इसकी गरिमा कैसे शब्दों में व्यक्त कर पायेगा ? एक-एक करके वे सभी पुडिया फेंक

दी गयीं । माँ ने अब बाबा को अपने हाथ से बनाकर सद्यःसिद्ध भोजन कराया ।

माँ रात्रिभर वहीं पाठशाला में ही रही । पू० गुरुदेव ने माँ से कहा – तू सो जा ।

माँ का हृदय तो उमड़ा जा रहा था, वह तो थमने का नाम ही नहीं लेता था । उसने भरे-भरे स्वर से कहा- बेटा, सोने के लिये समय तो मुझे फिर भी मिल जायेगा । पर तू मुझे फिर कब मिल पायेगा रे, चकरा ।

माँ इतना तो जान ही रही थी कि यह यहाँ केवल मात्र कुछ दिनों के लिये ही आया है । फिर माँ ने अपनी स्खलित वाणी में कहा – चकरा रे ! अब तू केवल मेरा बेटा ही थोड़े रहा है । जो भी तुझे बेटा कहेगा, उसे ही तू माँ कह देगा । अब तो तू सारे संसार का है । है, न ?

इस प्रकार की बातें माँ कहती जाती थी और अपने आँसू पौंछती जाती थी ।

प्रातःकाल पू० गुरुदेव शौच के पश्चात् स्नान करने वाले थे । उसी समय पू० माँ ने उनके लिये कुँऐ से जल निकाला । आज उस वृद्धा के कृश शरीर में न जाने कहाँ से इतनी शक्ति आ गयी थी कि कूप से अनवरत जल निकालने पर भी थकान का नामोनिशान नहीं था ।

पू० गुरुदेव आठ नौ दिन अपने गाँव पर रहे ।

इस अवसर पर श्रीदेवदत्तजीमिश्र पू० गुरुदेव के चचेरे बड़े भाई ने श्रीमद्भागवत सप्ताह की कथा लगातार सात दिन तक कही । कथा उनके घर पर ही होती थी । कथा सुनने के लिये गुरुदेव नियम से घर जाते और कथा सुनकर घर से सायंकाल पाठशाला में वापस चले आते ।

पू० गुरुदेव के ग्राम आने की बात सुनकर न केवल उस गाँव के लोग वरं आसपास के अनेक ग्रामों के लोग पूज्य गुरुदेव से मिलने आते । पू० गुरुदेव के पिताजी जिस राजवंश के कुल पुरोहित थे, वे राजा साहब भी उनके पास मिलने आये । उन्होने पू० गुरुदेव को सन्यासी के रूप में साष्टांग दण्डवत की । कहाँ तो वयोवद्ध सम्पूर्ण गाँव के सम्माननीय राजा और कहाँ एक युवक सन्यासी । प्रणाम कराने में गुरुदेव को बहुत ही संकोच हो रहा था। वे तो बालकपन से इनके वात्सल्य भाजन रहे थे । पू० गुरुदेव ने उनका यथोचित स्वागत सत्कार किया ।

ग्रामवास की अवधि में एक दिन पू० गुरुदेव के कमण्डलु की चोरी हो गयी । गुरुदेव रात्रि में उद्यान में सोये थे, उस घने अंधेरे में कोई उनका कमण्डलु उठा ले गया । पू० गुरुदेव ने किसी से कुछ नहीं कहा । परन्तु शौच स्नानादि के लिये जलपात्र की,आवश्यकता तो थी ही । पू० गुरुदेव ने उद्यान के किनारे एक पड़ी मिट्टी की हँडिया उठा ली । संभव है किसी ने शवयात्रा के काम में लेकर फेंक दी थी । सन्यासी की दृष्टि सम होनी चाहिये अतः उन्होंने वही हँडिया उठा ली । उन्होने बालू से रगड़कर उसे माँज लिया और कालिख छुड़ाकर काम में लेना प्रारम्भ कर दिया । लोगों को चोर द्वारा सन्यासी के कमण्डलु को भी उठा ले जाने की बात पर अति पश्चात्ताप हुआ और ग्रामवासी एक सुथार ने तुरन्त काष्ठ का एक कमण्डलु बनाकर पू० गुरुदेव को भेंट किया । वह कमण्डलु थोड़ा भारी अवश्य था परन्तु यावज्जीवन उसे उन्होने अपने पास रखा । पू० गुरुदेव की माताजी जब तक वे ग्राम में रहे, घर पर गयी ही नहीं । शौच स्नान के लिये तो वे अवश्य पृथक होती थीं,शेष समय पू० गुरुदेव के पास छाया की तरह बैठी रहतीं ।

माँ का वह वात्सल्य अनोखा था । पू० माँ के इस वात्सल्य के प्रति पू० गुरुदेव के मन में अत्यधिक आदर था, परन्तु वे कभी मोहाच्छन्न नहीं हुए । पू० गुरुदेव कहते थे कि माँ के इस प्रकार विकल रुदन के उपरान्त भी उनकी उपराम वृत्ति में कहीं खरौंच नहीं आयी थी । वे माँ के वात्सल्यरस का आस्वादन एक बाल केलि के रूप में मात्र अपनी माता को सुख देने भर के लिये करते थे । भीतर से सहज अति जागरूक थे। जब जगत् और शरीर ही स्वप्नवत् मिथ्या है फिर कौन माँ और कौन पुत्र । जैसे लोगों को वर्तमान में स्वयं का अनुभव नाम रूपात्मक शरीर ही होता है, उस समय पू० गुरुदेव को अपना स्वरूप मात्र समष्टि चेतन, घन आनन्द-कन्द कदम्ब-वृक्ष के नीचे स्थित श्रीकृष्णचन्द्र ही होता था । वे ही उन्हें सबके भीतर भी परम सत्य समझ में आते थे । चाहे अग्रज भ्राता देवीदत्तजी, तारादत्तजी हों अथवा पू० माताजी एवं पिताजी हों । जब व्यष्टि की जन्म मृत्यु एवं स्थिति अथवा समष्टि की सृष्टि, स्थिति और प्रलय ही उनके लिये स्वप्न से भी अधिक असत्य थे, तो फिर ये भावुक दिन-दो दिन का रोना-धोना उन्हें सर्वथा विनोद ही प्रतीत होता था । उनके मन में सम्पूर्ण जागतिक व्यवहार के प्रति अपरिसीम वैराग्य लबालब भरा था ।

श्रीमद्भागवत की कथा विधिवत् सम्पूर्ण हुई । कथा के सम्पूर्ण होने पर पू० गुरुदेव ने माँ से कहा - "माँ, सन्यासी को अपने ग्राम पर अधिक नहीं रहना चाहिए ।

यह सुनते ही तो माँ के धैर्य का बाँध टूट गया ।

उसके लिये तो ये शब्द वज्रपात के तुल्य ही थे । माँ के रुदन और व्यथा का अजस्र स्रोत फूट पड़ा । थोड़ी ही देर में यह बात ग्राम भर में फैल गयी । पाठशाला के पास भीड़ इकट्ठी हो गयी । अपने कंधे पर एक कटिवस्त्र और कमण्डलु पू० गुरुदेव की मात्र इतनी ही सम्पत्ति थी । पू० गुरुदेव की एक सहोदरा बहिन का नाम था सुहागमणि । उसके पति श्रीजुगलकिशोरजी संस्कृत के उद्भट विद्वान थे । वे वहीं खड़े थे । पू० माँ ने श्रीजुगलकिशोरजी को गुरुदेव को पटना तक छोड़ आने की बात कही। उन्होंने तत्क्षण स्वीकृति दे दी । भीगे नयन, भीगा आँचल, भीगे कपोल माँ खड़ी थी । उसकी विह्वलता की सीमा नहीं थी ।

फिर भी वात्सल्यमयी माँ ने कहा - कुछ खा ले । उसके हाथ में उस समय कुछ था ही नहीं । चक्रधर बिदा होगा इस दुख से घर में उस समय कुछ निर्मित भी नहीं था । रसोई बने तब न निर्माण हो । परन्तु माँ अपने बेटे को कुछ खा लेने की मनुहार कर रही थी। स्वयं न जाने कितने दिवसों की भूखी थी । भरे कंठ से कौर निगला कहाँ जाता था। मात्र चक्रधर को दिखाने थाली लेकर बैठती थी और धीरे से सारा भात वन में फेंक देती थी । खाया कहाँ जाता था ।

पू० गुरुदेव के मुख से निकल गया - दे ।'

बस, माँ के कानों में ज्यों ही ये शब्द प्रविष्ट हुए उसके पैरों में मानो पंख लग गये । घर में जो भी मिला, वही वह ले आयी । उसने वह मिष्टान्न गुरुदेव के हाथ में रख दिया ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "वह अन्नाहारी है, या फलाहारी ?"

माँ ने कहा - "यह फलाहारी है । इसे खाले । तेरा मंगल ही होगा ।"

गुरुजन, परिजन, पुरजन, एवं स्वजनों से बिदाई लेकर पू० गुरुदेव ने माँ के चरणों में मस्तक रखा । पूज्या माँ ने चरणों में रखे मस्तक अपने लाल को आशीर्वाद दिया - सुखी रहो, सदा सुखी रहो ।

पू० गुरुदेव को सूचना मिल चुकी थी कि श्रीपोद्दारमहाराज बाँकुड़ा से कलकत्ते आ गये हैं। अतः वे सीधे गोविन्द भवन में उनसे मिले । पू० गुरुदेव को आया देखकर पोद्दार महाराज को अतीव प्रसन्नता हुई ।

वह शुभ दिन ११ मई, १९३९ का था । पू० गुरुदेव दोपहर के समय गंगा स्नान को गये । परम पावनी गंगाजी में स्नान करने के उपरान्त माँ गंगा के तट पर खड़े होकर तथा हाथ में गंगाजल लेकर पू० गुरुदेव ने संकल्प लिया। "इस क्षण मध्याह्न के बाद से मैं श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के साथ नित्य निरन्तर निरवधि रहूँगा । हम दोनों में वियोग होगा ही नहीं । भविष्य में हम दोनों में यदि वियोग होगा तो वह अब मृत्यु ही करायेगी । अथवा तब होगा जब श्रीपोद्दारजी स्वयं मुझे वृन्दावन जाने के लिये प्रसन्नचित्त से अनुमति दे देंगे ।" ऐसा संकल्प करके पू० गुरुदेव ने अपनी अंजलि का जल पुण्य सलिला माँ गंगा के निर्मल प्रवाह में छोड़ दिया ।

११ मई १९३९ से २२ मार्च १९७१ तक पू० गुरुदेव का यह व्रत अक्षुण्ण रहा । २२ मार्च को पू० पोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से अनुमति लेकर अपना शरीर त्याग किया । महाप्रेम मूर्त्ति पू० गुरुदेव पू पोद्दार महाराज के शरीर त्याग के पश्चात् भी उनकी चितास्थली में ही जीवन के अन्तिम क्षण तक वास करते रहे ।

## पू० गुरुदेव के पिताश्री

पू० गुरुदेव के जन्म स्थान की लीला का पटाक्षेप ही जब हो रहा है तो यहाँ उनके पिताजी के निर्मल चरित्र पर थोड़ा प्रकाश देना आवश्यक लग रहा है ।

पं० महीपालमिश्र (पू० गुरुदेव, राधाबाबा के पिताजी) राजवंश के पुरोहित थे । पंडितजी परम सत्य निष्ठ थे।

इनमें निस्पृहता भी बहुत ही उच्च कोटि की थी । उन्होंने कभी किसी से कुछ माँगा ही नहीं । वे पूजा-पाठ के लिये कभी दक्षिणा ठहराते ही नहीं थे । उनकी अयाचकता का व्रत जीवन-व्यापी रहा कभी खण्डित नहीं हुआ। ग्राम के अतिवृद्ध लोग आज भी उनके निर्लोभी वृत्ति के प्रसंग सुनाया करते हैं।

अयाचकता का कठोर व्रत होते हुए भी उनके गृहस्थ जीवन में कभी अभाव नहीं रहा । सात्विक और साधारण जीवन व्यतीत करने के लिये यजमान लोग स्वत: ही उन्हें पर्याप्त अन्न वस्त्र दे दिया करते थे । सरल श्रृद्धालु पंडितजी के यहाँ साधु सन्तों का स्वागत सत्कार होता रहता था ।

पू० पिताजी, श्रीमिश्रजी तीर्थ यात्राएँ पैदल ही करनी चाहिए, इस मत के कठोर पालक थे । अत: उन्होंने दूर-दूर के तीर्थों की यात्राएँ पैदल ही कीं । उन्होंने अपनी पत्नी के साथ श्रीजगन्नाथधाम की यात्रा पैदल ही की। रेलगाड़ी की सुविधा होते हुए भी उन्होंने पैदल यात्रा करना ही श्रृद्धावश स्वीकार किया । वे पैदल ही गाँव से तारकेश्वरनाथ गये और तब श्रीजगन्नाथधाम गये और पैदल ही वहाँ से लौटे ।

एक बार धर्मपत्नी के साथ उन्होंने व्रजधाम की यात्रा भी पैदल ही की थी । दोनो ने साथ ही साथ श्री गोवर्धन गिरि की परिक्रमा लगायी । परिक्रमा लगाते-लगाते ही संध्या हो गयी । शरीर भी श्रान्त था । अपनी पत्नी को पंडितजी 'श्री राम' कहकर पुकारते थे । पंडितजी ने कहा - "श्री राम' क्यों नहीं यहीं विश्राम किया जाये । सूर्यास्त होने वाला है । यहाँ पास में बस्ती भी है । रात्रि को यहीं विश्राम करके फिर कल प्रात:काल यहाँ से चलेंगे ।"

पू० गुरुदेव की माताजी अपनी स्वीकृति प्रदान करने ही वाली थीं, तभी माताजी को श्रीगोवर्धन गिरि के शिखर पर आकाश में खड़े हुए भगवान् श्रीराधाकृष्ण दिखलायी दिये । वे अति मधुर स्वर में कह रहे थे, यहाँ मत रुको, यहाँ मत रुको ।

इस संकेत को पाते ही माताजी ने अति विनम्र स्वर में उनसे कहा, यहाँ रुकना उचित नहीं है । आगे बढ़ा जाय । ठहरने के लिये कोई न कोई उपयुक्त स्थान आगे मिलेगा ।

इस सुझाव को श्रीपंडितजी ने सहज प्रकार से स्वीकार कर लिया । श्रीगोर्वधन पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वह बस्ती निरापद नहीं थी ।

उनकी सत्यनिष्ठा का जीवन्त उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है । एक बार पंडितजी को श्रीदुर्गा सप्तशती के पाठ का निमंत्रण मिला । निमंत्रण स्वीकार कर लिया गया । पाठ के संकल्प का विधान विधिवत् सम्पन्न कराके दुर्गापाठ का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया गया । अनुष्ठान की अवधि में एक बार वे अस्वस्थ हो गये और यजमान के घर उनका जा सकना संभव नहीं

था। उन्होंने अपने पुत्र चकधर को पूछा – "क्या तू जाकर पाठ कर देगा ? मैं तो अस्वस्थतावना विवश हूँ । जब दुर्गापाठ का संकल्प ले ही लिया गया है तो पाठ करने के लिये तो जाना ही चाहिये ।" चकधर सदा से ही माता-पिता का आज्ञाकारी रहा । पिताजी के कहने के पश्चात् उसके न जाने का प्रश्न ही नहीं था । पू० गुरुदेव जाने के लिये पूर्णतया तैयार हो गये ।

जिस जजमान के यहाँ पाठ करना था, वह दूसरे ग्राम का था । प्रातःकाल ही स्नानादि से निवृत्त होकर चकधर ने दुर्गासप्तशती की पोथी संभाली और यजमान के ग्राम की ओर चल दिया । यजमान के घर जाकर उसने पाठ तो किया परन्तु पाठ समाप्त करने में बहुत अधिक समय लग गया। अभ्यास के अभाव में संस्कृत श्लोकों का धारा प्रवाह पाठ संभव नहीं हो सका । पाठ को शुद्ध एवं पूर्ण तो करना ही था । साढ़े तीन घंटे में पाठ को पूरा करके बालक चकधर अपने ग्राम वापस आ रहा था । दोपहरी हो गयी थी । भूख-प्यास के कारण और पैदल यात्राजनित श्रम से मुख पर थकावट के चिन्ह थे । राह में उसके मामाजी मिल गये । उसने चरण छूकर मामाजी को प्रणाम किया। मामाजी ने पूछा- इतने थके-थके कैसे लग रहे हो ? कहाँ से आ रहे हो ?

बालक चकधर ने सरलता से उत्तर दे दियां कि यजमान के यहाँ दुर्गा पाठ करने गया था ? संपूर्ण पाठ साढ़े तीन घंटे में पूरा कर पाया । एक आसन पर इतनी देर बैठने का अभ्यास है नहीं । अतः थकावट आना स्वाभाविक ही है । मामाजी ने चकधर को निरा मूर्ख बताया, साथ ही कहा कहीं इस तरह पाठ किया जाता है ? जब तक जजमान सम्मुख रहे पाठ किया, और जजमान के हटते ही नौ दस पृष्ठ उलट कर आगे बढ़ जाना चाहिए । यजमान लोग दक्षिणा कितनी देते हैं । यदि इस प्रकार साढ़े तीन-तीन घंटे एक यजमान के यहाँ पाठ किया गया तब तो जीवन का निर्वाह हो ही गया ।

बालक चकधर ने मामाजी की बात मान ली । क्षण भर के कुसंग का यह प्रभाव था कि जीवन की रेलगाड़ी पटरी से उतर गयी । दूसरे दिन वैसे ही दुर्गा पाठ किया जैसा मामाजी द्वारा शिक्षा मिली थी । पाठ करके बालक जब अपने गाँव की ओर वापस चला तो उसका मन उसकी भर्त्सना कर रहा था । आज तूने ठीक नहीं किया । यह गलती उचित नहीं है ।

घर पर आकर बालक चकधर ने अपनी सभी भूल पिताजी को सुना दी। सब सुनकर मिश्रजी को कष्ट होना तो स्वाभाविक ही था । उन्होंने अपने

इसके कुछ दिनों पश्चात् एक दिवस रतनगढ़ में जब वे अपने निवास कक्ष में प्रवेश कर रहे थे, उन्होंने देखा उनके पिताजी प्रवेश द्वार पर खड़े हैं। वे मृत्यु उपरान्त सूक्ष्म शरीर से आ करके वहाँ खड़े थे । पिताजी को देखते ही पू० गुरुदेव ने भूमि पर सिर टिकाकर प्रणाम किया और पूछा - आप यहाँ कैसे पधारे ?

पिताजी ने कहा - मैं इस समय बहुत ही कष्ट में हूँ । एक ही स्थान पर पड़ा रहता हूँ । कहीं भी आने-जाने की स्वतंत्रता नहीं है ।

उनके उत्तर को सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही आश्चर्य हो रहा था । उनका जीवन तो आस्तिक और सात्विक था, फिर यह दुर्गति क्यों हुई ? पू० गुरुदेव ने अति विस्मय से पिताजी से पूछा - "आपका जीवन तो सदाचार और निर्मलता का मूर्तिमान स्वरूप था । आप तो अत्यधिक संत सेवी, परहितैषी धर्मनिष्ठ और ईश्वरानुरागी थे, फिर ऐसी कठिन गति क्यों हुई ? यह सुनकर सत्य को उद्घाटित करते हुए गुरुदेव के पू० पिताजी कहने लगे - "जब तुमने सन्यास लिया तो परिवार के सभी लोगों का दुःख तो स्वाभाविक ही था । तुमको बहुत समझाने का प्रयास किया गया, परन्तु तुम निश्चय के अटल थे। उस समय मेरा हृदय अतिशय विकल था । हृदयस्थ क्षोभ की सीमा नहीं थी। क्षोभ के अति आवेग में मैं कह बैठा - 'जा तेरा योग सिद्ध न हो' । एक प्रकार से यह श्राप ही था । उसी का यह कुपरिणाम था कि मैं इतना कष्ट पा रहा हूँ ।

पू० गुरुदेव ने कहा - "आपकी जो गृहस्थ सन्तान हैं, उन्हें कहें वे इसके लिये कोई अनुष्ठान करें ।"

पू० गुरुदेव के पिताजी का आशय यही था कि वे यह सब नहीं कर पावेंगे। उनकी ऊँची आध्यात्मिक पकड़ नहीं है । यह कार्य तुमको ही करना है । इतना कहकर पू० गुरुदेव के पिताजी अन्तर्धान हो गये ।

पू० गुरुदेव ने गंभीर विचार कर यही निर्णय किया कि श्री हरिः शरणम् का सवा लाख जप अति विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए करना चाहिये । उन्होंने इस आशय का एक पत्र अपने बड़े भाई श्रीतारादत्तजी मिश्र को लिखवाया । उन दिनों वे वैद्यनाथ धाम में रहकर अध्यापन कार्य कर रहे थे ।

पत्र मिलने पर उन्होंने विधि-विधान से नियम पूर्वक अनुष्ठान किया । अनुष्ठान के पूर्ण होने पर पू० पिताजी गुरुदेव को पुनः दिखाई दिये । उन्होंने

कहा - "मेरा कष्ट दूर हो गया है । मैं तुमको आशीर्वाद देने के लिये आया हूँ।"

इतना कहकर पिताजी ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर पू० गुरुदेव को तीन बार शुभाशीर्वाद दिया । शुभाशीर्वाद देकर वे अन्तर्धान हो गये ।

इसके बहुत दिनों पश्चात् पू० गुरुदेव को श्रीबदरीनाथ जी के मन्दिर के और आगे पावन तीर्थ स्थली में एक अति हरी-भरी समतल भूमि में अनेक दिव्य और तेजस्वी साधुओं के मध्य श्रोता के रूप में उनके पिताजी बैठे दिखे, पू० गुरुदेव को इससे सन्तोष हुआ ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि उनकी अन्तिम परिणति भागुरि ऋषि के रूप में हुई है, जो वृषभानुजी के पुरोहित हैं । शाण्डिल्य ऋषि श्रीनन्दकुल के पुरोहित हैं । यह इनकी अन्तिम परिणति उनके निधन के लगभग चौदह वर्ष पश्चात् हुई थी । पू० गुरुदेव की पू० माताजी भी मृत्यु के पश्चात् कुछ काल तक इन भागुरि ऋषि की धर्मपत्नी के रूप में ही रहीं । इनकी माताजी के संबंध में आगे प्रसंग पर वर्णन करेंगे ।

## प्रवचन का त्याग एवं अखण्ड मौन-व्रत

यह बात पिछले अध्यायों में लिखी जा चुकी है कि पू० गुरुदेव में श्रीपोद्दारमहाराज ने अपनी सर्वज्ञता दृष्टि से महाभावगत उच्चाति मोहन-मादन भाव जन्य स्थितियों को प्राप्त करने की योग्यता का आकलन किया था । अत: वे उन्हें उस पथ का सर्वतोभावेन एकान्त पथिक बनाना चाहते थे।

ब्रजरस की आद्यन्त मधुर भावधारा में लोक-प्रतिष्ठा बहुत ही बाधक तत्व है । अत: श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को इस प्रतिष्ठा रूपी शूकरी विष्ठा से सर्वथा अछूता रखने का दृढ निश्चय कर लिया । यह अति स्वाभाविक ही है कि सत्संग प्रवचन करके आध्यात्मिक ज्ञान की सूक्ष्म बातें बताने वालों, लोगों की शंका समाधान करने वालों एवं उन्हें साधना में प्रेरित करने वालों के प्रति जन साधारण में श्रद्धा भावना उत्पन्न होती ही है, फिर प्रवचनकर्ता यदि साधु सन्यासी वेषधरी हो तो समाज उसे भगवत्प्राप्त मानकर प्रतिष्ठा देने लग जाता है । सत्संग प्रवचन कराने वाले आयोजक उस महात्मा के व्यक्तित्व का प्रचार भी करते ही हैं, अन्यथा अधिक मात्रा में जनता श्रोता के रूप में

आती नहीं। अतः उनके नाम, त्याग, चरित्र का प्रचार किया ही जाता है इसके कारण सत्संग कराने वाला साधक तो प्रायः प्रतिष्ठा लोलुप हो ही जाता है । वह अपने मत को स्थापित करने के लिये चाहे प्रच्छन्न रुप से ही सही दूसरों के मत की, व्यक्तित्व की समालोचना भी करने लगता है ।

पू० पोद्दार महाराज पू० गुरुदेव को इस सब माया कीच का लेश भर भी संस्पर्श नहीं कराना चाहते थे ।

पू० गुरुदेव जब अपने जन्मस्थान से अपनी जन्मदात्री माँ से अन्तिम बिदाई लेकर गोविन्द भवन कार्यालय में पू० पोद्दार महाराज से मिले, उन दिनों गोविन्द भवन सत्संग का गढ़ था । वहाँ प्रतिदिन प्रातः सायं एवं मध्याह्न सत्संग प्रवचन हुआ करता था । सेठजी का आग्रह तो था ही कि पू० गुरुदेव नियमित प्रातः एवं सायं दो घंटे अवश्य प्रवचन करें । अतः आयोजकों ने पू० गुरुदेव के आते ही उनका सायंकालीन प्रवचन आयोजित कर दिया ।

पू० गुरुदेव प्रवचन करने जा ही रहे थे कि सम्मुख श्रीपोद्दारमहाराज मिल गये । उन्होने इसी प्रकार स्वाभाविक व्यंग भरे विनोद में कहा - "स्वामीजी ! प्रवचन करने जा रहे हैं ?" पू० गुरुदेव सकपका गये । उन्होंने रुककर पू० पोद्दार महाराज से कहा कि आप मेरे मन की सब दुर्बलता जानते हैं, मेरी भीतरी रुचि सत्संग कराने की सर्वथा नहीं है, परन्तु मैं श्रीसेठजी का जिन्हें मैं चतुर्थ भूमिका में प्रविष्ट महासिद्ध ज्ञानी संत मानता हूँ - हृदय तोड़ना नहीं चाहता । और वे पूर्णतया हठ पकड़े हैं कि आप बाईस घंटे खूब एकान्त भजन ध्यान-साधना करिये किन्तु दो घंटे अवश्य प्रवचन करिये । अब मैं क्या करूँ । श्रीपोद्दारमहाराज ने कहा - यह तो आपका निर्णय है परन्तु मैं तो चाहता हूँ कि आपका जीवन श्रीमद्भागवत दशमस्कंध के इस श्लोक के अनुरुप होता । आप प्रचार प्रतिष्ठा से दूर ही रहते । और वे श्लोक का उच्चारण भी कर गये ।

> या दोहनेऽवहनने मथनोऽपलेप
> प्रेंखेंखनार्भरुदितो क्षण मार्जनादौ
> गायन्ति चैनमनुरक्त धियोऽनुकण्ठ्योः
> धन्या व्रजस्त्रिय उरक्रमयानचित्ताः ।।१०/४४/१५।।

"मथुरा नगर की स्त्रियाँ परस्पर कहती हैं - 'सखी' व्रज की गोपियाँ धन्य हैं । निरन्तर श्रीकृष्ण में लीनचित्त वे प्रेम भरे हृदय से, निरन्तर अश्रुपातवश हुए गद्‌गद् कण्ठ से उन्हीं की लीलाओं का गान करती रहती हैं । दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकों को झूला झुलाते, रोते हुए बालकों को चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरों को झाड़ते, बुहारते - कहाँ तक कहें, सारे काम काज करते समय श्रीकृष्ण के गुण-गान में ही मस्त रहती हैं ।

पू० श्रीगुरुदेव ने पोद्दार महाराज की रुचि का पालन करने का निश्चय कर लिया, परन्तु श्रीसेठजी का आग्रह भी ऐसा प्रबल था कि उन्हें अपने निश्चय को क्रियारूप देने में कुछ समय लग ही गया ।

पू० गुरुदेव, श्रीपोद्दारमहाराज के संग गोरखपुर आये और तब कुछ मास गोरखपुर रहे । गोरखपुरवास के समय की अनेक अति महत्वपूर्ण घटनाएँ आगे लिखी जायेंगीं । अभी प्रसंगान्तर न हो अतः थोड़े काल भविष्य में छलांग लगा लेते हैं । पू० पोद्दार महाराज गोरखपुर से सर्वथा एकान्त में रहने की दृष्टि से डालमिया दादरी और तब रतनगढ़ आ गये थे । वहाँ से ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में चूरु ग्राम गये थे । चूरू बीकानेर राज्य का महत्वपूर्ण जिला था ।

उन दिनों राजस्थान राज्य नहीं बना था । सम्पूर्ण राजस्थान रजवाड़ों में बँटा था । इन रजवाड़ों को अपने अन्तर्राज्यीय शासन के मामलों में पूर्ण स्वाधीनता थी । इनकी अपनी असेम्बलियाँ था । कार्यकारी कौंसिलें होती थीं। यद्यपि सभी महत्वपूर्ण पदों में मंत्री राजा के भाई बन्धु संबंधी ही होते थे, प्रजा का कोई चुनाव गत अधिकार नहीं था । राजा सर्वेसर्वा था । वही प्रधानमंत्री, मंत्रियों एवं सचिवों की नियुक्तियाँ करता था । न्यायपालिका भी स्वतंत्र नहीं थी । न्यायाधीश के निर्णय भी राजा और राजा के कृपापात्रों द्वारा अनुमोदित होने पर ही लागू हो सकते थे । सुप्रीमकोर्ट का मुख्य न्यायकर्ता राजा ही होता था । हाँ, राजा के ऊपर लंदन में इम्पीरियल कौंसिल में दरख्वास्त हो सकती थी, परन्तु वहाँ प्रजा की इतनी पहुँच ही नहीं होती थी । प्रजा की दृष्टि में राजा ईश्वर तुल्य अन्नदाता और श्रद्धापात्र होता था ।

बीकानेर राज्य का प्रधान शहर एवं मुख्य जिला होने से वहाँ कलेक्टर आदि सभी बड़े अधिकारी रहते थे । पू० गुरुदेव आंग्ल भाषा के भी अच्छे प्रवक्ता थे । हिन्दी तो उनकी अतिशय प्राञ्जल होती ही थी, साथ ही शास्त्रों

के गूढ़ रहस्यों को वे अति सरल, बुद्धि प्रधान तर्कों से प्रमाणित करते हुए विज्ञान सम्मत शैली में लोगों को समझाते थे । अतः उनका प्रवचन सुनने के लिये बड़े-बड़े पद-अधिकारी, कॉलेजों के प्राध्यापक, एवं बुद्धिजीवी लोग चावपूर्वक एकत्रित होते थे । उस दिन चूरू में पू० गुरुदेव प्रवचन करेंगे यह प्रचारित होने के कारण सभी बडे-बड़े अफसर एकत्रित हो गये थे । सभा में भीड़ भी पर्याप्त हो गयी थी ।

जब पू० गुरुदेव प्रवचन के लिये जाते थे तो उसके पूर्व श्रीपोद्दारमहाराज के पास अवश्य आया करते थे । श्रीपोद्दारमहाराज से वार्त्ता में उन्होंने पुनः वही पुराना आग्रह किया ।

'आप मेरी एक बात मान लीजिये । आप प्रवचन करना सदा-सदा के लिये बन्द कर दीजिये । सेठजी चाहे जितना प्रबल आग्रह करें, उनकी सभी बातें शिरोधार्य करिये, परन्तु इस बात को सर्वथा नकार दीजिये । इसी में आपका सर्वांगीण मंगल है । आप इस धरा में आये हैं व्रजभाव की ऊँची से ऊँची अवस्था में निमज्जित होने के लिये । अब आप उस परम एवं चरम लक्ष्य का त्याग कर प्रवचन देकर प्रतिष्ठा रूपी शूकरी विष्ठा के मूल्य पर उस स्थिति की अवहेलना करना चाहें तो दूसरी बात है ।

पू० गुरुदेव ने पूछा – "तो मैं प्रवचन करने नहीं जाऊँ ?"

इस पर श्रीपोद्दारमहाराज ने उन्हें कहा कि आज तो अनेक संभ्रान्त व्यक्ति आपकी प्रतिक्षा कर रहे हैं, उनको निराश करना उचित नहीं है, अतः आज तो प्रवचन कर आइये, पर अब आगे से उपराम हो जायें ।

पूज्य गुरुदेव के लिये श्रीपोद्दारमहाराज का इतना संकेत तो पर्याप्त था । अतः उस दिन का प्रवचन अन्तिम था । अन्तिम प्रवचन होने से वह अतिशय विचारोत्तेजक और भावोद्दीपक था । उसके पश्चात् पू० गुरुदेव ने सर्वथा मौन ले लिया । वे बोलते तो थे ही नहीं, किसी परमावश्यक बात को मात्र स्लेट पट्टी पर लिखकर बता दिया करते थे ।

## श्री सेठजी का पुनः साथ रखने का हठ

पू० गुरुदेव चूरू से पू० पोद्दार महाराज के साथ ही साथ रतनगढ़ चले आये। रतनगढ़ में श्रीशान्तनुबिहारी जी द्विवेदी भी सम्पादकीय विभाग में कार्य करने की दृष्टि से आये हुये थे । वे बाद में सन्यासी होकर श्रीअखण्डानन्दजी

सरस्वती के नाम से बहुत ही विख्यात हुए । ये श्रीमद्भागवत के महापंडित थे। श्रीमद्भागवत कथा इन्हें प्रायः कण्ठस्थ थी और सप्ताह कथा में किसी भी श्लोक का कोई अंश भी बिना कहे ये नहीं रहते थे । इन दिनों ये श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी के यहाँ सप्ताह कथा कह रहे थे ।

श्रीसेठजी चूरू ही रुके हुए थे । श्रीसेठजी चाहते थे कि पू० गुरुदेव उनके साथ ही पुनः चलें । श्रीसेठजी ऊपर से भक्ति का पर्याप्त प्रचार करते थे, परन्तु भीतरी मन से वे सर्वोपरितत्व ब्रह्म को ही मानते थे । अतः पू० गुरुदेव में ब्रह्मज्ञान की चौथी, पाँचवी भूमिका का प्रकाश हो ऐसी उनकी शुभाशंसा थी । फिर उनका गीता प्रचार का अतिशय आग्रह था । अतः सेठजी ने क्रमशः अनेक व्यक्ति चूरू से रतनगढ़ पू० गुरुदेव को बुलाने भेजे । पहले एक व्यक्ति आया, फिर दूसरा आया, फिर तीसरा एवं चौथा इस संदेश के साथ आते रहे कि पू० गुरुदेव श्रीसेठजी के साथ ही चूरू से आगे चलें । पू० गुरुदेव तो श्रीगंगा की साक्षी में श्रीपोद्दार महाराज के साथ जीवनव्यापी संबंध जोड़ ही चुके थे । अतः उनके मन में जाने की सर्वथा-सर्वथा रुचि नहीं थी ।

परन्तु एक महासिद्ध सन्त की रुचि को वे कैसे टालें - यह बात भी उनके लिये अति विकट दुविधा उत्पन्न कर रही थी । सन्देशवाहकों को तो पू० गुरुदेव किसी न किसी बहाने टालते रहे । अन्ततः पू० गुरुदेव को साथ ले जाने स्वतः श्रीसेठजी चूरु से रतनगढ चले आये । अब तो पू० गुरुदेव का धर्मसंकट सीमोल्लंघन कर गया । श्रीसेठजी स्वभावतः ही पू० गुरुदेव के लगातार उपेक्षा करने से क्षुब्ध थे । अतः उन्होंने किंचित् रुष्ट भाषा में कहा – 'मैं तो अमुक ट्रेन से प्रस्थान करूँगा ही, चलना हो तो आप आ जाइयेगा । यह कहकर श्रीसेठजी पुनः चूरू प्रस्थान कर गये । पू० गुरुदेव की बुद्धि किंकर्त्तव्य विमूढ़ थी । इस अति दुविधापूर्ण अवस्था में पू० गुरुदेव पोद्दार महाराज के पास गये । उन्होंने अपने मन की सम्पूर्ण उलझन उनके सम्मुख रखी । श्रीपोद्दारमहाराज ने अत्यन्त प्यार से अपनी दोनों हथेलियाँ पू० गुरुदेव के कंठ देश में रखीं और अपने नेत्रों तथा सम्पूर्ण मुद्रा में प्यार की वर्षा करते हुए उनकी दृष्टि में अपनी दृष्टि मिला दी । अहा ! इस प्यार की बलिहारी है । जब भी श्रीपोद्दारमहाराज किसी भी भाग्यवान् प्राणी की ओर इस प्यार सनी मुद्रा में देखते थे, कलेजा ही खींच लेते थे । अति स्नेह सनी वाणी में वे बोले – "मैंने कब चाहा और कब कहा है कि एक बार जब

आपने मेरे साथ रहने का व्रत ले लिया तो किसी भी आग्रह से उसे छोड़ें और जायें ।"

यह सुनना था और पू० गुरुदेव का सभी संकोच, दुविधा, सब संतापराध का भय जाता रहा और पू० गुरुदेव परम प्रसन्न हो गये ।

पू० गुरुदेव की मानसिक उलझन तो दूर हो गयी परन्तु अभी भी उन्हें श्रीसेठजी को सर्वथा नकारात्मक उत्तर देने का साहस नहीं हो रहा था ।

अतः उस सप्ताह कथा को निमित्त बनाकर एक बार श्रीसेठजी को टाल दिया गया । श्रीसेठजी थोड़े रूष्ट होकर चूरू से गोरखपुर एवं तब बाँकुड़ा प्रस्थान कर गये ।

## जीवन व्यापी संग में बाधायें एवं सालासर से चिन्मय पुष्प की प्राप्ति

११ मई, १९३९ ई० के मध्याह्न काल से पू० गुरुदेव ने श्रीपोद्दारमहाराज के साथ रहने का आजीवन व्रत ले लिया । यह उनका व्रत अखण्ड रुप से २२ मार्च १९७१ पू० पोद्दार महाराज के महा प्रस्थान तक निर्बाध चलता रहा । इस नियम में एक ही निष्ठा थी कि सूर्योदय से दूसरे दिवस के सूर्योदय के मध्य पू० गुरुदेव को एक बार श्रीपोद्दार महाराज के वृन्दावनधाम रूप पंचभूतात्मक पिंजर के दर्शन अवश्य हो जायें । जिस दिन इस दर्शन में व्यवधान होगा, उस दिन उनका यह व्रत खण्डित हो जायेगा क्योंकि सचल वृन्दावन स्वरूप पोद्दार महाराज उनसे विलग हो जायेंगे ।

इस नियम में अनेक बार बहुत बड़ी-बड़ी बाधाएँ आयीं । यह अनुबन्ध श्रीपोद्दारमहाराज एवं पू० गुरुदेव के मध्य अति गोपनीय था । इसका प्रचार होना तो पोद्दार महाराज को न तो अभिप्रेत था, न ही पू० गुरुदेव को ही। क्योंकि संसार के लोग इसका उपहास भले बनावें, इस निष्ठा की गरिमा का उनका श्रृद्धाहीन मन कल्पना भी नहीं कर सकता था ।

हाँ, पू० पोद्दार महाराज की धर्मपत्नी आदि कुछ अन्तरंग लोगों को अवश्य इसका ज्ञान था । बत्तीस वर्ष के दीर्घ कालमान में इसमें अनेक बार बहुत बाधाएँ आयीं ।

अगणित बाधाओं के आने के उपरान्त भी प्रभु प्रसाद और पू० गुरुदेव की अदम्य निष्ठा के कारण यह संकल्प अखण्ड निर्वाह हो गया ।

पहली बाधा तो गोरखपुर में ही आयी ।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका गोरखपुर आये हुए थे । श्रीघनश्याम दासजी जालान जो यावज्जीवन सेठजी के दाहिने हाथ के समान अनन्य सहयोगी रहे, उनके ही घर साहबगंज में श्रीगोयन्दकाजी ठहरा करते थे । वहीं वे ठहरे हुए थे । अचानक श्रीसेठजी की तबियत खराब हो गयी । हम आगे भी कह चुके हैं कि श्रीसेठजी के प्रति श्रीपोद्दार महाराज में गुरुभाव था । वे अति उच्च कोटि के सिद्ध सन्त तो थे ही, जयसिडीह में उनके ही सान्निध्य मे पू० पोद्दार महाराज को भगवान् विष्णु के दर्शन हुए थे । श्रीसेठजी अंग्रेजी एलोपेथी क़ी दवायें तो स्पर्श ही नहीं करते थे, आयुर्वेद में भी रसौषधि नहीं लेते थे । वे मात्र काष्ठौषधि ही लेते थे । यद्यपि वैद्यों ने उपचार की बहुत चेष्टा की किन्तु श्रीसठ़जी की अवस्था बिगड़ती ही गयी । श्रीपोद्दार महाराज मध्याह्न के समय साहबगंज गये थे, सो श्रीसेठजी की अति नाज़ुक अवस्था के कारण मध्य रात्रि तक नहीं लौटे । इस बात की किसी को भी कल्पना ही नहीं थी कि सेठजी इतने रुग्ण हो जावेंगे और पू० पोद्दार महाराज वहाँ रात्रि पर्यन्त रुके रह जावेंगे । यदि इसका तनिक भी आभास होता तो पू० गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज से जाने के पूर्व भेंट कर लेते और उस दिवस का नियम पूरा हो जाता । अब तो यदि सूर्योदय के पूर्व पोद्दार महाराज से मिलन नहीं हुआ तो यह व्रत तो टूट ही जायेगा ।

श्रीसेठजी की रुग्णता से गीता वाटिका में भी सभी का मन अतिशय व्यग्र था । इस व्यग्रता के वातावरण में पू० गुरुदेव से मिलने की बात श्रीपोद्दार महाराज भी विस्मृत कर गये । जब अर्ध रात्रि व्यतीत हो गयी और ब्रह्म मुहुर्त की बेला आ गयी तो पू० माताजी (श्रीपोद्दारमहाराज की धर्मपत्नी) अत्यधिक चिन्तित हो गयीं । उनके मन में पू० गुरुदेव के नियम खंडन से उत्पन्न परिणाम की चिन्ता सताने लगी । वे सोचने लगीं कि पू० गुरुदेव नियम खंडित होने पर हम लोगों का संग त्याग कर वृन्दावन चले जायेंगे । क्योंकि साथ रहने का व्रत तो सूर्योदय होते ही खंडित हो ही जायेगा । पू० माँ अतिशय आकुल हो रही थीं । उन्हें निद्रा कहाँ ?

इस प्रकार चिन्ता करते करते दो-ढ़ाई बज गये । रात्रि के ढाई तीन बजे श्रीघनश्यामदासजी के घर पर पू० पोद्दार महाराज को माताजी ने फोन किया । पू० माँ ने उन्हें पू० गुरुदेव के व्रत का ध्यान दिलाया । श्रीपोद्दार महाराज भी समझ गये कि सूर्योदय होने में मात्र घण्टे डेढ घंटे का विलम्ब

है । मोटर आदि आवागमन का साधन तो उन दिनों था नहीं । घोड़े के इक्के में बैठकर आना-जाना होता था । गीतावाटिका उन दिनों सर्वथा जंगल में ही थी । चतुर्दिक् आम, अमरूद, लीची आदि के घने वृक्षों के बगीचे और कच्चा रास्ता था । इक्के में एक घन्टा तो पहुँचने में ही लग जाता था। गोरखपुर अति पूर्व में होने से वहाँ सूर्योदय पश्चिमी भारत से एक घन्टे पूर्व हुआ करता है । फिर मध्य रात्रि में वाहन (इक्का) सामान्यतया तो उपलब्ध भी नहीं था, किसी वाहन (इक्के) वाले के घर भेजकर उसे निद्रित अवस्था से उठाकर वाहन में घोड़ा जुतवाकर बुलवाना पड़ता, तब गीता-वाटिका (बगीचा) पहुँचने की स्थिति होती । पू० पोद्दार महाराज को, जब कि श्रीसेठजी अत्यधिक रुग्ण हैं, उन्हें छोड़कर ऐसी विषम बेला मध्यरात्रि में गीतावाटिका जाने की ऐसी क्या त्वरा हो गयी है, यह भी श्रीसेठजी के समीपस्थ सामान्यजन के समझ के परे की बात थी ।

फिर भी उन्होंने श्री सेठजी के समीपस्थ लोगों से कहा - "श्रीसेठजी की तबियत अब वैसी चिन्ताजनक नहीं है, मैं एक अति आवश्यक कार्य से तुरन्त ही गीतावाटिका जाना चाहता हूँ ।"

श्री पोद्दार महाराज के मन में संकल्प उत्थित होते ही कोई अचिन्त्य विधान सक्रिय हो उठा । और उस अचिन्त्य विधान के फलस्वरूप श्रीसेठजी की आँखों में निद्रा की खुमारी आना प्रारम्भ हो गया । लोगों ने स्पष्ट अनुभव किया कि सेठजी को झपकी लग रही है । सहज ही मोटर कार भी उपलब्ध हो गयी और पोद्दार महाराज मोटर कार से गीतावाटिका और वहाँ से सीधे पू० गुरुदेव की कुटिया पर पहुँचे ।

श्रीपोद्दारमहाराज और गुरुदेव का वह सजल नेत्र परस्पर मिलन कैसा विशुद्ध रसमय था, इसे तो कोई प्रेम भरा हृदय ही अनुभव कर सकता है । जड़ लेखनी में कहाँ सामर्थ्य है कि उसे भाव दे सके ।

दूसरी घटना रतनगढ़ की है । राजस्थान में सालासर नामक एक स्थान है । यहाँ पर श्रीहनुमानजी महाराज का सिद्ध स्थल है । श्रीसालासर के बालाजी महाराज से ही श्रीपोद्दारमहाराज की दादी ने मान्यता करके बालक 'हनुमान' को प्राप्त किया था और इसीलिये बालक का नामकरण संस्कार भी हनुमान प्रसाद पोद्दार हुआ था । मारवाड़ियों में सालासर के बालाजी महाराज की इतनी मान्यता है कि वे विदेशों से भी बालाजी के सम्मुख बच्चों का केश समर्पण संस्कार करने आते हैं ।

रतनगढ़ से सालासर जाने के लिये सुजानगढ़ होकर जाना पड़ता है। यह दूरी रतनगढ़ से लगभग १०० किलोमीटर रही होगी । श्रीपोद्दार महाराज अनेक मारवाड़ी भाईयों के साथ कार तथा बस से सालासर गये । सुबह नौ-दस बजे वे पू० गुरुदेव से मिलकर गये थे । वे साथ ही यह कह भी गये थे कि सूर्यास्त के पहले-पहले मैं पुनः लौटकर रतनगढ़ आ जाऊँगा । साथ ही हँसकर यह भी कह गये थे कि कहीं कुछ विलम्ब हो जाय तो आप घर छोड़कर सड़क पर मत बैठ जाइयेगा । भवितव्यता ऐसी हुई कि वे सूर्यास्त तक नहीं आ सके । रात्रि के ९-१० बज गये, उनके आने का कोई सुराग ही नहीं था । घर में सभी को बहुत चिन्ता सताने लगी । तरह-तरह के विचार मन में आने लगे । जहाँ भी विशुद्ध स्नेह होता है, वहाँ अनिष्ट की ही आशंका हुआ करती है । श्रीपोद्दार महाराज यद्यपि पू० गुरुदेव को घर से बाहर नहीं बैठने का आग्रह कर गये थे, परन्तु फिर भी उन्होंने मन में यह निश्चय कर लिया था कि मध्यरात्रि तक यदि पोद्दार महाराज नहीं आये तो वे घर से बाहर जाकर राह में बैठ जायेंगे ।

मध्यरात्रि के दस बजे के आसपास श्रीपोद्दार महाराज आये । उनकी मोटर कार रास्ते में खराब हो गयी थी, सुधरवाने में समय लग गया । जैसे ही श्रीपोद्दार महाराज अपनी हवेली पहुँचे, वे सीधे गुरुदेव के पास गये ।

श्रीगुरुदेव तो चिन्तातुर हुए उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे । श्रीपोद्दार महाराज ने कहा – "बाबा ! मैं भी आपके ही विचारों में सचिन्त्य उलझा रहा, परन्तु देखिये, मैं आपके लिये एक विलक्षण वस्तु लाया हूँ । ज्यों ही मैंने सालासर में श्रीबालाजी महाराज को प्रणाम किया, उनके द्वारा यह पुष्प अपने आप मेरे हाथों में आ गया । जब से यह फूल मेरी हथेली में आया है तबसे मैं इसे अपनी मुठ्ठी में लिये हूँ । मुठ्ठी में भी इसलिये लिये हुए हूँ कि आपको दे दूँ ।

यह कहकर वह पुष्प श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव को दे दिया । वह सर्वथा अप्राकृत पुष्प था । उसकी सुगन्ध बहुत ही विलक्षण थी । पू० गुरुदेव का सम्पूर्ण निवास-कक्ष उसकी भीनी-मीनी सुगन्ध से महक एवं गमक उठा । बड़ी ही मदमाती सुगन्ध थी उसकी । ज्योंही वह पुष्प पू० गुरुदेव ने हाथों में लिया, एक और परिवर्तन हुआ । पू० गुरुदेव के सामने से यह सम्पूर्ण लोक तिरोहित हो गया और चिन्मय, दिव्य वृन्दावन का अवतरण हो गया । जिस स्थिति मे पू० गुरुदेव ने पालथी मारे श्रीपोद्दारजी से वह पुष्प लिया था, उसी

स्थिति में वे मध्यरात्रि के तीन बजे तक लगातार पाँच घंटे बैठे रहे । वे बैठे-बैठे अप्राकृतधाम श्रीवृन्दावन की लोकातीत वनस्थलियों के पुष्प, लता, झाड़ियाँ और पथों की शोभा को देखते रहे ।

सभी ऐसी शोभा बिखेर रहे थे जैसी कभी देखी ही नहीं । सभी एक से एक बढ़कर अभिनव सुन्दर । पू० गुरुदेव उस समय न तो स्वप्न काल में थे, न ही ध्यानावस्था में । वे पूर्णतया जाग्रत थे । परन्तु उसे जाग्रत भी नहीं कहा जा सकता । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही से वह अतीत अवस्था थी। पाँच घंटे पश्चात् पू० गुरुदेव का मन प्राकृत धरातल पर आ सका । यह सब देहातीत स्थिति हुई श्रीपोद्दार महाराज द्वारा पुष्प-दान के पश्चात् । लोग देखकर भी नहीं देख पाते थे कि पू० गुरुदेव के गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज कितने अद्वितीय-शक्ति सम्पन्न थे ।

इसी प्रकार एक बार स्वर्गाश्रम में डालमिया-कोठी में पू० गुरुदेव ठहरे हुए थे । उस दिवस भी श्रीपोद्दार महाराज उनसे बिना मिले हरिद्वार अथवा अन्यत्र चले गये थे । श्रीपोद्दार महाराज की प्रतीक्षा करते-करते सायंकाल होने को आया । श्रीगुरुदेव एवं परिवार के सभी जन सचिन्त्य हो उठे थे। पू० गुरुदेव कोठी से बाहर आकर बाहर दालान में बैठ गये। उस दिवस भी यही निर्णय हुआ था कि मध्याह्नपूर्व यदि पोद्दार महाराज नहीं आये तो गुरुदेव गंगा किनारे चले जावेंगे । सन्ध्याकाल के पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज का फोन आ गया कि वे हरिद्वार से चल पड़े हैं और ऋषिकेश पहुँचने वाले हैं । लगभग रात्रि में ९-१० बजे वे डालमिया कोठी पहुँचे और सीधे पू० गुरुदेव से मिलने गये । दोनों के प्रेम-मिलन के जो द्रष्टा थे, वे ही उस रसभीनी भावभरी प्रीति को छू पाये होंगे ।

## शीत सहन की स्पर्धा

श्रीपोद्दार महाराज में अपूर्व सिद्धियाँ थी, परन्तु उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से ऐसी याचना कर रखी थी कि जगत् के लोग मेरे स्वरूप को जान नहीं पावें । आत्म-महिमा की यथार्थता को छिपाये रखने के लिये वे ऐसा आवरणपूर्ण आचरण कर बैठते थे। अति विषमतापूर्ण व्यवहार उनका स्वतः हो जाता था कि जिससे लोग उन्हें सन्त मानने में ही सन्देह कर बैठते थे। फिर उनके स्थूल कलेवर में साक्षात् भगवान् नन्दनन्दन महारसघनमूर्ति रसराज

अवस्थित हैं, इसकी कल्पना करना तो लोगों के लिये असंभव बात थी। परन्तु सत्य, सत्य का भी परम एवं चरम सत्य यह था कि उनके स्थूल पांच-भौतिक कलेवर का भी पू० गुरुदेव अपने लिये और अपनी बात मानने वाले लोगों के लिये अपरिसीम महत्व मानते थे । पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की समाधि की चितास्थली की राख को भी उतना ही महत्वपूर्ण समझते थे जैसा महत्वपूर्ण वे उनके स्थूल कलेवर को मानते थे । इन दोनो विशुद्ध प्रेमावतारों में कितना स्नेह था इसका एक प्रसंग यहाँ दिया जा रहा है ।

जाड़े के दिन थे । राजस्थान में रतनगढ, चूरू, लोहारू, आदि स्थान भारत के अतिशय शीत के स्थान माने जाते हैं । जाड़े के दिसम्बर-जनवरी में भीषण शीत लहर चल रही थी । पू० पोद्दार महाराज को रतनगढ़ से दिल्ली जाना था । बीकानेर से दिल्ली मेल रात्रि को लगभग दस बजे रतनगढ़ पहुँचती थी । पू० गुरुदेव के शरीर में रक्ताल्पता थी अतः उन्हें शीत का अतिशय कष्ट रहता था । शीतऋतु में वे प्रायः उबलते गरम पानी की रबर की बोतल रखते थे, तब जाकर उनका शीत रुकता था । ओढ़ने के लिये भी चार-चार बहुत ही गरम कम्बलें रखनी पड़ती थी । यात्रा में कम्बलें तो साथ थी, परन्तु गरम पानी की रबर की बोतल ठंडी हो गयी थी । इधर रेलगाड़ी पूरी तेजी से चल रही थी । पू० गुरुदेव प्रायः ऊपरी बर्थ में सोया करते थे । नीचे की बर्थ पर स्थूल शरीर होने से पोद्दार महाराज रहते थे ।

यद्यपि डिब्बे की खिडकियाँ बन्द थीं, फिर भी शीत इतना अधिक था कि पू० गुरुदेव काँपने लगे । पू० गुरुदेव के पैर तो इतने ठंडे हो गये थे कि जैसे रक्त जम गया हो । श्रीपोद्दार महारज की दृष्टि पू० गुरुदेव की इस दशा पर पड़ गयी । उन्होंने तुरन्त अपनी शुद्ध कश्मीर के पश्मीने के चादर दोहरी तेहरी की और पू० गुरुदेव के पैर और शरीर ढँकने लगे । पू० गुरुदेव ने देखा कि श्रीपोद्दार महाराज भी रूई की रजाई तो साथ लाये नहीं हैं, यदि यह पशमीने की सर्वाधिक गरम चद्दर उन्होने उन्हें ओढ़ा दी तो स्वयं शीत के प्रकोप से रुग्ण हो जावेंगे।

पू० गुरुदेव जरा-जोर से बोले – "यह तो ठीक नहीं, यह सबसे गरम चद्दर यदि आप मुझे ओढ़ा देंगे तो आप क्या ओढ़ेंगे ।"

श्रीपोद्दार महाराज अतिशय वात्सल्य भरे दुलार से बोल उठे – "बाबा ! मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा । मुझ पर इस शीतोष्ण विषम ऋतुओं का कोई प्रभाव नहीं होता इनको सहने का मुझे बहुत अभ्यास है । मैं स्वयं शीत हो

जाऊँगा, फिर शीत, शीत को थोड़े ही पीड़ित करती है । मेरा ये सब कुछ नहीं बिगाड़ सकतें । मैं तो पूर्णतया इनका द्रष्टा हूँ ।"

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के मातृसम वात्सल्य पर मुग्ध हो गये ।

उन्होने उनके चादर वाले दोनों हाथ प्यार से थाम लिये एवं उत्तर दिया कि "द्रष्टा बनने की योग्यता तो आपकी कृपा से मुझ में भी है ।"

इतना कहकर पू० गुरुदेव ने अपने सब कपड़े उतार दिये और निष्कम्प बैठ गये । फिर कहने लगे - "देखिये । मुझे भी तनिक भी शीत नहीं लग रही । परन्तु अब आप प्यार से जो भी वस्त्र देंगे, मैं ओढ़ लूंगा ।"

श्रीपोद्दार महाराज हँसने लगे । और तब दोनो ही उस रात्रि एक ही सीट पर बैठे बात करते रात काट दिये, और जो भी ऊनी वस्त्र थे, परस्पर ओढ़े रहे । दोनों में कितना सरस प्यार था ।

**दोनों-दोनों के लिये सहज सभी कर त्याग**
**सुखद परस्पर बन रहे छलक रहा अनुराग ।**

## दौड़ लगानी पड़ी

संसार में बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें सन्यास वस्त्र धारण करने मात्र से सर्वमान्यता, सत्कार और पूजा मिलती है, यद्यपि वे उसके सच्चे अधिकारी नहीं है परन्तु पू० गुरुदेव को सच्चे वैराग्य और तीव्र भगवद्भक्ति के उपरान्त भी स्थान-स्थान पर घोर तिरस्कार मिला । यहाँ दो-चार उदाहरण उनके श्रीपोद्दार महाराज के प्रति विलक्षण प्रेम के साथ ही बड़े सेठों के दरबानों द्वारा हुए उनके अपमान के दिये जा रहे हैं । सच्ची साधुता किसे कहते हैं इसे पू० गुरुदेव ने इन प्रसंगों में अपने आचरण से सिद्ध किया है ।

एक बार पू० गुरुदेव श्रीजयदयालजी डालमिया के साथ डेहरी-आन-सोन गये थे । श्रीपोद्दारजी भी वहीं थे । लगभग चार बजे सायंकाल पू० गुरुदेव के घूमने की प्रकृति थी । रतनगढ़ राजस्थान में भी वे चार बजे घूमने चले जाया करते थे । श्रीडालमियाजी से गुरुदेव ने पूछा - यहाँ कोई घूमने लायक स्थान है ? उन्होंने सामने नहर का स्थान बता दिया ।

जिस दिशा की ओर यह स्थान बताया गया था, पू० गुरुदेव उधर ही घूमने चले गये। इधर जिस कोठी में पू० गुरुदेव ठहरे थे वहाँ का दरबान

बदल गया । पहले वाला दरबान तो गुरुदेव को भीतर आता देख चुका था । यह नया दरबान सन्यासीजी से सर्वथा अपरिचित था । ज्यों ही पू० गुरुदेव बाहर से टहलकर लौटे तथा मुख्यद्वार से कोठी में प्रवेश कर रहे थे, त्योंही (नेपाली गोरखा) इस नये दरबान ने पू० गुरुदेव की गर्दन पकड़कर उन्हें अतिअभ्रद्र गाली देते हुए दूर सड़क पर बैठा दिया ।

नेपाली गोरखा दरबान द्वारा ऐसा किये जाने पर भी पू० गुरुदेव के मन में रंचमात्र भी विकृति या ऊँच-नीच का भाव नहीं आया । वही मुसकान जो उनके मुख पर सदा रहती थी, वैसे के वैसे थी । पू० गुरुदेव कोठी के किनारे फुटपाथ पर गन्दे धूलि भरे स्थान पर बैठ गये। सामने से सैकड़ों बैलगाड़ियाँ ईख लादे जा रही थीं । बैलों के खुर की धूलि उन पर पड़ रही थी । लगभग आधा घंटा हो गया । इस अवधि में वह नेपाली गोरखा दो-तीन बार पू० गुरुदेव के पास आया तथा गाली देते हुए कहने लगा - "ऐ साधु ! तू अब तक यहीं बैठा है, हँसता है, जाता नहीं है ।"

जब वह पास आता तो पू० गुरुदेव को अपनी खुखरी दिखाता, मानो पेट में घोंप ही देगा । आधा घंटे बाद श्रीडालमियाजी के विश्वस्त नौकर श्यामा ने पू० गुरुदेव को बाहर सड़क पर बैठे देखा । उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ कि ये यहाँ सड़क पर क्यों बैठे हैं ? श्यामा ने जाकर पू० गुरुदेव से कहा - "अरे राम ! यह भी कोई बैठने की जगह है ?"

इतना कहकर वह नौकर पू० गुरुदेव का हाथ पकड़कर कोठी के अन्दर ले गया ? पू० बाबा हँस रहे थे ।

कोठी के अन्दर प्रवेश करते समय पू० गुरुदेव ने एक बार उस नेपाली दरबान की ओर एक नजर फेंक कर देख अवश्य लिया था । उसके तो चेहरे की हवाइयाँ ही उड़ रही थी । कोठी के भीतर दूब का सुन्दर मैदान था । श्यामा ने वहाँ एक सुन्दर सोफा रखकर पू० गुरुदेव को उस पर बैठा दिया । थोडी देर बाद तो डालमियाजी भी आकर दूब में पू० बाबा के चरणों में बैठ गये ।

फाटक पर खड़ा-खड़ा नेपाली गोरखा दरबान यह सब देख रहा था । अब तो उसके होश गुम हो गये । उसको लगा आज बहुत बड़ी गलती हो गयी है । किसी बड़े साधु का मैंने घोर तिरस्कार कर दिया है ।

श्रीडालमियाजी तो थोड़ी देर के पश्चात् चले गये । उनके जाते ही गोरखा दरबान घबड़ाता हुआ पू० गुरुदेव के पास आया । वह उनके पैर

छूकर कहने लगा - "हम आपको पहचाना नहीं, हम अनजाने में गलती किया ?" वह भागकर फिर दरवाजे पर जाता, फिर लौटकर गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करता । वह सोच रहा था कि अब तो मेरी नौकरी गयी ।

अन्त में पू० गुरुदेव ने मौन भंग कर के उसको आश्वस्त किया - "तुम चिन्ता मत करो, घबड़ाओ नहीं, मैं किसी से यह बात नहीं कहूँगा ?"

जब पू० गुरुदेव ने उसे इतना आश्वस्त किया तब वह कहीं शान्त-चित्त हो सका ।

दूसरा प्रसंग दिल्ली का है । पू० गुरुदेव श्रीमथुरानाथजी के यहाँ ठहरे थे। पू० गुरुदेव टहलने के लिये यमुना के किनारे गये थे । जब वे टहलकर कोठी में घुस रहे थे, उस समय पहरेदार ने कड़ककर उनसे पूछा - "कहाँ जाता है ?" पू० गुरुदेव ने उसे विनम्रता से समझाना चाहा । परन्तु वह तो अधिकाधिक कड़क होता जाता था । वह ताकतवर तो बहुत ही था, और पू० गुरुदेव तो सर्वथा दुबले पतले थे ।

पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज की चिन्ता सता रही थी । श्रीपोद्दार महाराज कोठी के बाहर किसी काम से किन्हीं से मिलने गये हुए थे । यदि पू० गुरुदेव को कोठी में भीतर जाने में विलम्ब हुआ तो श्रीमथुरानाथजी, पोद्दार महाराज को फोन कर देंगे कि बाबा यमुना किनारे घूमने गये हैं और अब तक लौटे नहीं है । श्रीपोद्दार महाराज निश्चय ही मान लेंगे कि यमुना दर्शन जन्य किसी विलक्षण अनुभूति में पू० गुरुदेव डूब गये हैं और उन्हें समय-असमय का ध्यान नहीं रहा है । अतएव वे सब काम अधूरा ही छोड़कर पू० गुरुदेव के लिये यमुना के किनारे उन्हें ढूँढने आ जायेंगे । वहाँ भी क्योंकि वे उन्हें मिलेंगे नहीं तो पोद्दार महाराज बहुत चिन्ता में पड़ जायेंगे । पू० पोद्दार महाराज को चिन्ता एवं परेशानी से बचाने का गुरुदेव के पास एक ही उपाय था, कि वे किसी भी तरह कोठी के भीतर प्रवेश पाकर मथुरानाथजी को अपनी उपस्थिति जतला दें । पहरेदार तो बाधक बना ही था ।

मन ही मन पू० गुरुदेव ने एक योजना बनायी । वे दौड़ने में बहुत तेज धावक थे । स्कूल में फुटबाल सेंटर फारवर्ड की हैसियत से खेलते थे । उन्होंने मन ही मन तोल लिया कि यह पहरेदार भले ही ज्यादा ताकतवर है, परन्तु मैं दौड़ने में तो इससे इक्कीस पड़ूंगा ही । हल्के शरीर के कारण यह

मेरी स्फूर्ति को नहीं पा सकेगा । बस, उन्होंने ज्यों ही पहरेदार थोड़ा असावधान हुआ तपाक से कोठी के भीतर दौड़ लगायी ।

पू० गुरुदेव को कोठी में घुसते देखकर पहरेदार लाठी लेकर उनके पीछे दौड़ा । आगे गुरुदेव और पीछे पहरेदार । पू० गुरुदेव इतना तेज दौड रहे थे कि पहरेदार थक गया था । पहरेदार पहुँचे इसके बहुत पहले गुरुदेव मथुरानाथजी के पास पहुँच गये थे । उन्होने पू० गुरुदेव के भागने का कारण जानना चाहा । परन्तु गुरुदेव ने हँसकर टाल दिया ।

तब तक वह पहरेदार भी पहुँच गया । उसने मथुरानाथजी से पूछा – ये साधु कौन है ? सेठजी ने उत्तर दे दिया कि ये अपने ही घर के महात्मा हैं । वह पहरेदार मुँह लटकाकर वापस चला गया ।

वास्तव में सच्चा सन्त वही है जिसमें मान-अपमान का भाव सर्वथा ही मिट गया हो । मान-अपमान में उलझा प्राणी तो आस्तिक कहलाने लायक भी नहीं है । यह जो शरीर रूपी पांचभौतिक आवरण है, जब तक हम इससे पृथक नहीं होते, तब तक उस दिव्य भाव-राज्य में हमारा प्रवेश हो ही कैसे सकता है ?

## चूरू में एक पंजाबी सन्त

सन्तजी का शरीर रावलपिण्डी का था । अति सुन्दर गौरवर्ण एवं सुगठित देह । वे रतनगढ़ में उन्हीं दिनों जब पू० गुरुदेव भी पू० पोद्दार महाराज के पास रतनगढ़ ही रह रहे थे, पू० गुरुदेव से ही मिलने के उद्देश्य से लगभग ढाई वर्ष रहे । वे ब्यावर से आये थे । ब्यावर में ही उन्हें अजमेर के सन्त सनम साहब के किसी परिचित से पू० गुरुदेव के संबंध में जानकारी मिली थी। गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज की मस्से की बीमारी में आपरेशन के लिये अजमेर गये थे ।

वे रतनगढ़ में आकर पू० गुरुदेव से मिलने के उद्देश्य से ग्राम के बाहर रहने लगे । नगर में वे केवल भिक्षा करने आते थे । उनके भिक्षा करने शहर में आने के समय पू० गुरुदेव एकान्त में अपने कमरे में रहते थे । पू० गुरुदेव सायंकाल शौच जाने के समय ही अपने साधना कक्ष से बाहर आते थे, या भिक्षा के समय उन्हें पुकार कर बुलाया जाता था । प्रायः सायंकाल ही वे किसी से मिलते-जुलते थे । लगातार ढाई वर्ष प्रयत्न करने पर भी जब पू० गुरुदेव से उनका मिलन नहीं हो सका तो वे निराश होकर चूरू चले गये।

प्रभु को तो उनसे मिलना ही था । अतः श्रीपोद्दार महाराज के साथ पू० गुरुदेव का भी चूरू जाना हो गया । श्रीपोद्दार महाराज ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में चूरू आये थे । एक दिवस सायंकाल शौच के लिये पू० गुरुदेव ब्रह्मचर्याश्रम से बाहर निकले । रेलवे के किनारे-किनारे वे रेत के धोरों की ओर बढ़ रहे थे । उधर ही कलकत्ते के सेठ लोग जो चूरू निवासी ही थे, खड़े थे, वे पू० गुरुदेव से वार्ता करने लगे ।

वे पंजाबी संत भी अदृष्ट की प्रेरणा से कुछ दूरी पर रेत के टीले में ही बैठे थे । उनके मन में भगवत्प्रेरणा से यह बात आयी कि अवश्य ही ये वही सन्त हैं जिनसे मिलने वे ढाई वर्ष रतनगढ़ रहे और मिल नहीं पाये । वे जल्दी-जल्दी चलकर पू० गुरुदेव के पास आये और एक ओर खड़े हो गये । उनकी आँखों का रंग भूरा था । उन्होने अवसर पाकर व्रजभाषा में पू० गुरुदेव से पूछा - "कहा, तुम मुझसे नायँ मिलोगे ?" उनकी व्रजभाषा में भी पंजाबी का पुट था । पू० गुरुदेव उनकी ओर उन्मुख हुए । उन्होंने अपने ढाई वर्ष रतनगढ़ ठहरने का सारा विवरण बताया । वे किस प्रकार कितनी ही बार मिलने आये, परन्तु मिलन हो नहीं पाया । पू० गुरुदेव ने उनसे अपने ठहरने का स्थान पूछा तो पता चला कि वे ऋषिकुल के समीप ही ठहरे हुए थे । पू० गुरुदेव ने कहा कि इस समय तो संध्याकाल हो रहा है और गुरुदेव को शौचक्रिया करने जाना भी है, दूसरे दिवस उनके निवास पर ही गुरुदेव ने मिलने का निर्णय किया ।

दूसरे दिन पू० गुरुदेव उनके निवास पर गये । उन सन्त ने अपना वृत्तांत पू० गुरुदेव को सुनाया । एक प्रसिद्ध मण्डलेश्वरजी से उन्होंने सन्यास की दीक्षा ली । सन्यास के पूर्व वेदान्त का विचार भली प्रकार चलता ही था। परन्तु ज्यों ही सन्यास की दीक्षा ली, त्योंही उनके मन में यह चाह जाग उठी कि भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन कैसे हों ? उन्होने सोचा वृन्दावन भगवान् की लीला-भूमि है वहाँ संभव है दर्शन मिल जावें । सन्यास के पश्चात् वे अपने गुरु से वेदान्त ग्रन्थ पढा करते थे । एक दिवस उन्होने अपने गुरुजी से कहा - "मेरी इच्छा वृन्दावन जाने की हो रही है।" इस पर गुरुजी ने कहा - "खाने कमाने लायक तो बन जाओ ?"००

यह सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही हँसी आयी । एक ओर तो वेदान्त का विचार और दूसरी ओर शरीर की इतनी चिन्ता ? अस्तु, फिर वे पू० गुरुदेव को आगे का वृत्त बताने लगे । वे कुछ दिन शान्त रहे । परन्तु मन

नहीं माना । कुछ समय पश्चात् उन्होंने गुरुजी से फिर बात चलायी । परन्तु बात नहीं बनी । जब उनसे नहीं ही रहा गया तो उन्होंने अपने गुरुजी से कहा – "यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तो मैं भाग जाऊँगा ।"

तब गुरुजी ने रोष में कहा – "इसकी टिकट कटा दो ।"

इसी को गुरुजी की आज्ञा मानकर वे चलने को तत्पर हो गये । उनके लिये मथुरा तक की टिकट कटाकर के दे दी गयी थी । टिकट कटाकर इसीलिये दे दी गयी थी कि वे पैसा का स्पर्श नहीं करते थे । उनके लिये ब्रजभूमि एकदम नवीन स्थान थी । वे भतरौड़ के पास आये । भतरौड़ था एक दम जंगल, जनशून्य प्रदेश । वहाँ जमुनाजी में स्नान किया और उस जनशून्य स्थान में एक पेड़ के नीचे आसन लगाकर वे बैठ गये । उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि अब तभी खाऊँगा जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर खिलायेंगे । शरीर इतना अशक्त हो चुका था कि अब तो जल के लिये एवं शौच-स्नान के लिये यमुना तक जाना भी असंभव सा हो गया था । जीवित रहने की आशा छूटने लगी । वे अपने व्रत पर अड़िग थे । शरीर तो एक दिन जायेगा ही । अब शरीर को जब जाना हो जाये, भोजन तो तभी होगा जब श्रीकृष्ण आकर खिलायेंगे । ऐसा करते-करते पन्द्रह दिन व्यतीत हो गये। सोलहवें दिन उनके कानों में घन्टी की आवाज सुनायी पड़ी ।

उन्होंने देखा चार गायें पास ही चर रही हैं । परन्तु वे गायें भी अद्भुत थीं । ऐसी गायें पहले उन्होंने कभी देखी नहीं थीं । विशालकाय, हाथी की तरह गायें थीं । बड़ी ही सुन्दर, अति सुडौल और उनके कण्ठों में बँधी घंटी का रव इतना सुमधुर था मानो वीणा-ध्वनि कर रही हो । गायें एक ओर से आयीं और उनके सामने से निकल गयीं । परन्तु एक गाय उनकी ओर बढ़ी। उनको ऐसा लगा कि यह गाय उन्हें सींग से मारेगी । यद्यपि शरीर अशक्त था परन्तु भय ने शरीर को इतना सशक्त कर दिया कि वे चट से एक सघन झाड़ी में जा घुसे । झाड़ी के काँटों से शरीर छिद गया । वहाँ सर्प का भी भय था । परन्तु गौ से वहीं रक्षा संभव थी । वह गाय चली गयी । अब वही सन्नाटा, वही जनशून्यता । दूसरे दिवस फिर गायें चरने के लिये आयीं । आज उनके साथ आठ-नौ वर्ष का एक बालक भी था । श्यामलवर्ण, सुन्दर शरीर, सलोना रूप, घुँघराले केश । उस बालक ने पूछा – क्यों बाबा ! दूध पीयोगे ? उस बालक को देखकर उनको सबकुछ यहाँ तक कि अपना व्रत भी भूल गया । उसके पूछने पर उन्होंने गर्दन हिलाकर स्वीकृति दे दी । उस

बालक ने एक लोटा दूध दिया । वे दूध पीने लगे । दूध भी अद्भुत स्वाद था । अद्वितीय मधुर था । उस बालक ने पूछा - "बाबा ! अब मैं जाँऊ ? नहीं तो मेरी गायें बिदक जायेंगी ।" उस साधु ने पूछा - "इस लोटे का क्या करूँगा ?" उस बालक ने हँस कर कहा - "यह लोटा यहीं रख देना, मैं आकर ले जाँऊगा ।"

उस साधु ने जाने की अनुमति दे दी । बालक चला गया । जब लोटे में एक-दो घूंट दूध रह गया तब उन्हें ध्यान आया कि अरे ! ये तो श्रीकृष्ण थे । अब तो वहीं लोटा रखकर उनको खोजने के लिये इधर-उधर गये। परन्तु न तो वह बालक ही मिला न उसकी वे गायें ही मिलीं । तब लोटा देखने पुनः उस स्थान पर आये तो जहाँ लोटा रखा था, वहाँ लोटा भी नहीं था। तब उनके मन में एक ऐसी गहरी हूक उठी एक विलक्षण अननुभूत व्यथा उठी कि दोनों हाथों की मुठ्ठी से अपनी छाती को मार-मारकर वे जोर-जोर से बुरी तरह रोने लगे । जब कुछ भाव शान्त हुआ तो वे थोड़ी दूर पर स्थित गाँव मतरौड़ में आये । वे एक स्थान पर बैठे थे । गाँव की एक गोरी बालिका, जो कमरतक घाघरी पहने थी, और जिसके मुख पर अतिशय भोलापन था उनके पास आयी और उनसे पूछने लगी - "बाबाजी ! रोटी खाओगे ?

बाबाजी ने "हाँ" कर दी । उस बालिका ने अपने हाथ में रखी रोटी खाने को दे दी और साथ में यह भी कहा कि जब मन हो, आकर खा जाया करो । मैं उस मन्दिर में रहती हूँ । अब मैं जाती हूँ । देर होने से मैया नाराज होगी ।

वह बालिका चली गयी । रोटी खाने के बाद वे उस बालिका का घर देखने के लिये गये । घर पर आकर घर के लोगों से पूछा - "आपकी बिटिया कहाँ है ?" घर के लोगों ने कहा - "हमारे तो कोई बेटी ही नहीं।" साधु बाबा ने कहा - "अभी मुझ को रोटी दी है ? तथा जब चाहे तब आकर ले जाने को कहा है ।" घर वालों ने वही बात दुहरादी - "हमारे तो कोई लाली नहीं है ।" तब साधुजी को चेत हुआ कि स्वयं राधारानी आयी थीं। अब तो इनकी वेदना की सीमा ही नहीं रही । न तो भगवान् श्रीकृष्ण को पहचाना, न ही राधाजी को । वे एकान्त में खूब रोये । ब्यावर में एक पं० रामप्रसादजी थे । उससे उन्होंने पूछा था मैं किसका जप करूँ । उन्होने एक कृष्ण मंत्र बता दिया था । अन्त समय तक उसी मंत्र का जप करते रहे ।

रात को तीन बजे से दुपहरी १२ बजे तक वे उसी मंत्र का जप करते थे। समुदाय में बैठकर वे वेदान्त का ही उपदेश करते थे । यह इसीलिये कि लोग उनके भीतर की वस्तु नहीं जान पायें । आत्मगोपन सन्तों का विलक्षण स्वभाव ही होता है ।

## गुरु शिष्य में अभूतपूर्व वात्सल्य

गुरु एवं शिष्य के मध्य कितना आत्मीयतापूर्ण संबंध होता है इसकी झाँकी बिरले भाग्यवान् व्यक्तियों को ही हो पाती है । हमारी जागतिक दृष्टि को मात्र मोह के सम्बन्ध ही देखने को मिलते हैं । मोहान्ध हुए हम पुत्र-पुत्रियों, सगे-सम्बन्धियों, भाई-बहनों में ही अपनत्व ढूँढते हैं, जिनमें मात्र स्वार्थ भरा रहता है, इनमें परमार्थ की छाया भी नहीं होती ।

गुरु, शिष्य को अपना सर्वस्व दान करके परमार्थ की सीढ़ियाँ चढ़ाता है पद-पद पर उसकी रक्षा करता है, उसे भयंकर विपत्तियों से बचाता है, उसके घोर कष्टदायी कर्मों को स्वयं भोगता है और उसे एकांगी विशुद्ध प्यार करता हुआ उसके चित्त को शुद्ध करता है । और उसे पूर्ण योग्य बनाकर अपनी संपूर्ण पारमार्थिक निधि सौंप देता है ।

पू० पोद्दार महाराज ने गुरुरूप में पू० राधाबाबा (गुरुदेव) से कैसे खेल किये हैं, इसके दो चार उदाहरणों के रूप में झाँकी यहाँ दे रहा हूँ । यह प्रथम घटना तो सन् १९३६ ई. की गोरखपुर की ही है । पू० पोद्दार महाराज के साथ गुरुदेव स्थायी रूप से रहने को आ गये थे । वे गीतावाटिका में ही पीछे कुटिया में रहते थे ।

पू० गुरुदेव आये ही थे । उनके पास वस्त्राभाव था । वे किसी से कुछ माँगते तो थे नहीं, उनके अग्रज भ्राता ही अपने आप कपड़ा जो भी दे देते थे, वही पहन लेते थे ।

हाँ, तो किसी ने पोद्दार महाराज को सूचना दे दी कि गुरुदेव का अधोवस्त्र घुटनों से भी ऊँचा रहता है और यह गृहस्थ परिवार में रहने पर मर्यादानुकूल नहीं है, अत: उन्हें नवीन वस्त्र दिया जाय । पू० गुरुदेव शुद्ध खादी के वस्त्र पहनते थे और सन्यास की मर्यादानुसार सिले वस्त्र भी नहीं पहनते थे । श्रीपोद्दार महाराज भी खादी के वस्त्र ही पहनते थे । जब

श्रीपोद्दार महाराज को उपरोक्त सूचना दी गयी तो उन्होंने अपनी पहनी हुई धोती यह कहकर गुरुदेव के पास भेज दी कि मेरे पास नवीन वस्त्र तो हैं नहीं, यह धोती मात्र एक बार ही पहनी हुई है।

प० पू० गुरुदेव के पास जब श्रीपोद्दार महाराज का सन्देश वाहक यह पहनी हुई धोती लेकर आया तो एक बार तो पू० गुरुदेव स्तब्ध रह गये । एक वैश्य गृहस्थाश्रमी एक ब्राह्मण सन्यासी को पहना हुआ कपड़ा दे, पू० गुरुदेव के लिये यह कल्पनातीत बात थी । वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हुए खड़े थे । इसी समय पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके आराध्य श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । उनके नेत्रों में अति विनोदभरी मुसकान व्यक्त हो उठी । श्रीकृष्ण गुरुदेव को स्पष्ट आदेश दे रहे थे - "इसे लौटाना मत, अन्यथा पोद्दार महाराज द्वारा दी हुई सम्पूर्ण पारमार्थिक निधियाँ भी लौटकर इस वस्त्र के साथ ही चली जायेंगी। यह वस्त्र असाधारण परमार्थ से भरा है । इसे मेरे पीताम्बरवत् महत्वपूर्ण समझना । इसमें अलौकिक प्रीतितत्व निहित है ।"

पू० गुरुदेव अपने इष्ट का यह आदेश सुनकर शान्त हो गये । उन्होंने पू० पोद्दार महाराज का वह अधोवस्त्र प्रसाद अपने मस्तक पर लगाया । और उसे पूजा में एक तरफ रख दिया ।

इसी प्रकार एक दिवस वे वस्त्र धोने का मन बना रहे थे । पू० गुरुदेव ने इसे स्वप्न कहकर सुनाया था। परन्तु उनके कथनानुसार कपड़े धोने की क्रिया तो सदा दिन में ही होती है, रात्रि में तो होती नहीं और दिन में पू० गुरुदेव कभी भी सोये हों, ऐसा देखने में नहीं आया, फिर दिवा स्वप्न बिना सोये गुरुदेव ने कैसे देख लिया, यह मन में पूरी बात जमीं नहीं थी । श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी से पूछकर जब संनिधि बैठानी चाही तो यही निर्णय हुआ था कि यह सूक्ष्म देह की लीला रही होगी । जो हो, श्रीपोद्दार महाराज पू० गुरुदेव के पास आये । वे बोले - "स्वामीजी क्या कपड़ा धोने जा रहे हैं ?" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "माह में मात्र एक दिवस कपड़े धोता हूँ एवं रँगता हूँ ।" श्री पोद्दार महाराज तपाक से बोले - "आपके कपड़े आपसे धुलेंगे नहीं, और धो लेंगे तो आप रंग तो सर्वथा पावेंगे नहीं, मैं धोकर रंग दूँगा ।" और पू० गुरुदेव से उन्होंने कपड़े छीन लिये और धोने एवं रँगने लगे । पू० गुरुदेव सचकित थे । एक बार उनके मन में आया कि पोद्दार महाराज से कपड़े छीन लें, परन्तु वे धोते-रँगते जा रहे थे और बहुत ही मधुर मुसकाती अपांग दृष्टि से उनकी ओर देखते जाते थे । वह उनकी दृष्टि ऐसी मधुर

होती थी कि गुरुदेव मुग्ध हो जाते थे । उन्होंने सारे कपड़े धोये, रँगे और तब सुखाकर चले गये ।

इसके पश्चात् पू० गुरुदेव कह रहे थे कि मेरे चित्त में मुझे जो अप्राकृत पवित्रता भरी दिखी और ऐसा विलक्षण प्रेमोद्दीपन हुआ वह अवर्णनीय है ।

यहाँ पू० पोद्दार महाराज का एक और महान् आत्मत्याग का प्रसंग लिख रहा हूँ ।

सं० २००० वि० तदनुसार सन् १९४३ ई० में श्रीपोद्दार महाराज बवासीर रोग से बहुत ही अधिक बीमार हो गये। उनको चारपायी पकड़ लेनी पड़ी । रोग की भीषणता देखकर श्रीपोद्दार महाराज को चिकित्सार्थ दिल्ली ले जाया गया । परन्तु रोग तो घटने के स्थान पर बढ़ता ही जा रहा था । रोग इतना बढ़ गया था कि बचने की भी आशा क्षीण, क्षीणतर होती जा रही थी । स्थिति की ऐसी गंभीरता थी कि लोग अन्तिम बार दर्शन करने एवं मिलने के लिये आने लगे । इसी बीच डा० अम्बालालजी को अजमेर दिखाने की भी बात हुई । श्रीपोद्दार महाराज को लोग इलाज के लिये अजमेर ले आये । पू० गुरुदेव तो साथ में थे ही । डा० अम्बालालजी की चिकित्सा से श्रीपोद्दार महाराज को लाभ हुआ और उनके स्वास्थ्य में सुधार दिखने लगा ।

गुदा का घाव ठीक हो जाने पर श्रीपोद्दार महाराज अजमेर से पुन: रतनगढ़ आ गये । इस बीच अनेक सप्ताहों तक उनका स्वास्थ्य सामान्य रहा। तीन माह पश्चात् बवासीर का रोग पुन: उभर पड़ा । उसके भीषण रूप को देखकर पुन: लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था । श्रीपोद्दार महाराज को पुन: अजमेर ले जाया गया। डा० श्रीअम्बालालजी के चिकित्सालय में गुदा के फोड़े का आपरेशन हुआ । आपरेशन सफल रहा । इन दिनों पू० पोद्दार महाराज को बहुत ही भीषण कष्ट उठाना पड़ा । स्निग्ध पदार्थ का प्रयोग करने के पश्चात् भी बहुत ही कष्टदायक स्थिति में मलद्वार से मल उतर पाता था ।

इस भीषण कष्ट में भी श्रीपोद्दार महाराज का मन स्वस्थ था । कैस्टर आयल से शौच कराया जाता था । परन्तु तब भी दर्द भीषण रहता था । बेचैनी भी बहुत होती थी ।

गुदा का घाव ठीक हो जाने पर श्रीपोद्दार महाराज को अजमेर से रतनगढ़ लाया गया । धीरे-धीरे रोग चला गया। विगत ६-७ मास तक वे

सीमातीत रूप से कष्ट पाये थे । परन्तु अब उनका स्वास्थ्य सामान्य हो गया था ।

एक रात्रि की बात है पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की हवेली में अपने कक्ष में ध्यानस्थ बैठे थे । लगभग मध्यरात्रि का समय था । पू० गुरुदेव के आराध्य तो उनके साथ थे ही । उस समय उन्होने पू० गुरुदेव से कहा कि यह तो तुम्हारा ही कष्ट था जो श्रीपोद्दार महाराज ने अपने ऊपर लेकर भोग लिया । यह सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही दुःख हुआ । पू० गुरुदेव इस रुग्णता की अवस्था में छाया की तरह उनके साथ थे । श्रीपोद्दार महाराज का पल-पल तड़पने का एक-एक दृश्य पू० गुरुदेव के स्मृतिपथ पर उभर-उभरकर आने लगा। श्रीपोद्दार महाराज की व्यथा की स्मृति करके पू० गुरुदेव छटपटा गये । "मेरे इतने भीषण कष्ट को इन्होंने अपने पर झेल लिया" - यह सोचते-सोचते कृतज्ञता के भाव से उनकी आँखों मे अश्रु छलक आये थे । इस अवस्था में उन्हें निद्रा आने का तो प्रश्न ही नहीं था । अकुलाहट के मारे रात्रि युगों के समान लम्बी हो गयी थी वह काटे ही नहीं कट रही थी । पू० गुरुदेव व्यथा और कृतज्ञता के बोझ से तो दब ही गये थे, परन्तु उनके हृदय में एक आश्चर्य भी था । वे विचार कर रहे थे - "अहा ! ये कैसे आत्मसंगोपन प्रिय महापुरुष हैं ! इन्होंने किसी भी स्वजन को, सेवा-परायण किसी सेवक को, अपने प्राणोतम मित्र साथियों को, सहयोगियों को, किसी को भी गन्ध भी नहीं लगने दी कि यह कष्ट उनके द्वारा किसी दूसरे का लिया है। उनका यह शीलयुक्त व्यवहार अपने निजजन के आत्यन्तिक हित करने की कैसी उच्च भावना का द्योतक है । इतनी उच्च त्यागमयी क्रिया और वह भी इतने गुप्त रूप से किसी भी स्वजन, सम्बन्धी, मित्र, सहयोगी एवं गुरुजन को भी आभास तक नहीं मिले, वाह ! क्या उच्च चरित्र है ? यदि किसी को इसकी गन्ध भी लग गयी तो जिसके प्रति इतना त्याग किया गया है, वह तो आभार से ही दब जायेगा, फिर तो किया कराया ही किर-किरा हो जायेगा - ऐसी सदाशयता का सजीव उदाहरण कहाँ देखने-सुनने को मिलता है ?" पू० गुरुदेव निशापर्यन्त कभी व्यथा, कभी कृतज्ञता, कभी दैन्य, कभी आश्चर्य, इन्हीं प्रकार के अनेक भावों में अभिभूत हुए करवटें बदलते रहें। निद्रा का तो प्रश्न ही नहीं था । बड़ी ही कठिनाई से पू० गुरुदेव की वह रात्रि किसी प्रकार व्यतीत हुई ।

प्रातः शौच-स्नान से निवृत्त होकर पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के पास गये । श्रीपोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में व्यस्त थे । वे सम्पादकीय लेखों को छपने के लिये ठीक कर रहे थे । पू० गुरुदेव के आते ही श्रीपोद्दार महाराज ने उनको स्नेह सम्मानपूर्वक बैठाया । फिर बोले – "कहिये, आज एक दम सबेरे-सबेरे कैसे आये ?"

पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण का नाम छुपाकर शालीन भाषा में कहा – "मुझे ऐसा अनेक कारणों से ज्ञात हुआ है कि आपने जो बवासीर का भीषण कष्ट पाया है – वह आपने अपने शरीर पर मेरा कष्ट झेला है एवं इसी के परिणाम स्वरूप आप सात माह तक मरणान्तक रुग्ण रहे हैं ।"

पू० गुरुदेव के इतना कहते ही श्रीपोद्दार महाराज अग्निशर्मा बन गये । उन्होंने अपनी अति रोषपूर्ण मुद्रा बना ली । एवं पू० गुरुदेव को झिड़कते हुए कहने लगे – "क्या कभी ऐसा हो सकता है ? क्या यह संभव है कि एक व्यक्ति दूसरे का कष्ट अपने पर ले ले । ऐसा कहीं आपने देखा है ? आपको बैठे-बैठे यही व्यर्थ की बातें सूझती रहती हैं । मैं तो आपको विवेकशील, प्रबुद्ध, प्रज्ञाशील महात्मा समझता था । आप अपने एकान्त में ये ही ऊल-जलूल व्यर्थ-चिन्तन एवं प्रमाद करते रहते हैं ?"

वास्तविकता को गोपनीय बनाने के लिये उस दिन श्रीपोद्दार महाराज ने जो नाटकीयता की और पू० गुरुदेव से जैसा रोषपूर्ण व्यवहार किया वह देखने लायक ही था । इस प्रकार बुरी तरह से झिड़के जाने से पू० गुरुदेव एक बार तो स्तब्ध ही हो गये । श्रीपोद्दार महाराज अपने आवेश में अनर्गल बोलते रहे, और पू० गुरुदेव चुपचाप सुनते रहे । श्रीपोद्दार महाराज समझ रहे थे कि गुरुदेव उनके रोष में आ गये हैं और बात दबी की दबी रह जायगी।

परन्तु पू० गुरुदेव भी पूरे घुटे हुए गुरु घंटाल थे । वे कुछ क्षण तो चुप रहे फिर वे भी अति रोष का नाटक करते हुए कहने लगे – "देखिये ! यह आपका सम्पादकत्व मेरे पर नहीं चलेगा ? विश्व में कोई शक्ति नहीं जो मेरी बात काट सके । मैं निराधार नहीं बोल रहा हूँ । मेरे पास अकाट्य प्रमाण हैं । मैं आपकी आँखें दिखाने के लपेट में आने वाला नहीं हूँ । इस धौंस पट्टी से आप मुझे भ्रम में नहीं रख पावेंगे ?"

अब श्रीपोद्दार महाराज समझ गये कि पू० गुरुदेव के कथन में मात्र भावनाजन्य अनुमान ही नहीं है । अपितु पर्याप्त ठोस दम है ।

गहन ध्यानावस्था मे पुज्य राधा बाबा

# महाभाव दिनमणि
# श्री राधाबाबा

## तीसरा भाग

पाँच सौ शब्दावली, गुरु-दीक्षा, भावजीवन का प्रारंभ भगवती श्री राधारानी से मिलन, अष्टयाम, एवं मंजुश्यामा भाव की मधुरतम अन्य लीलायें

सन् १९४० ई० से १९४३ ई० तक

वे हवा में नहीं बोल रहे हैं । इनके पास ठोस तथ्य हैं ? अवश्य ही श्रीकृष्ण ही इनके सामने यह रहस्य खोल चुके हैं । अब जब सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ही पर्दा खोलेंगे तो वे कैसे उसे अप्रकट रख पावेंगे ? श्रीपोद्दार महाराज का रोष तिरोहित हो गया । वास्तविक रोष तो उनमें था ही नहीं । वह तो मात्र कृत्रिम आवरण था जो उन्होंने अपनी चेष्टा से स्वीकार किया था। उनके नेत्र प्यार से छल-छला आये उन्होंने ठीक समझ लिया था कि उनका शिष्य अब इतना समर्थ हो गया है कि उससे अब छल-दुराव वे कर ही नहीं पावेंगे । उन्होंने अपने हाथ की कलम रख दी । अपनी दोनों हथेलियों को पू० गुरुदेव के कंधो पर रखकर वे अतिशय प्यार से बोले - "क्यों क्या आप और मैं दोनो भिन्न हैं क्या ?"

पहले केवल पू० गुरुदेव के नेत्र सजल थे और अब चार नेत्र आँसुओं से भीगे थे । दो हृदय प्यार में एक दूसरे पर न्यौछावर हो रहे थे । पू० गुरुदेव मीलित-नयन, मूक-अधर, अचल-अंग, निष्पंद बैठे रहे । प्यार कैसी अनमोल वस्तु है । परस्पर कितना त्याग है, कैसा विलक्षण समर्पण है, क्या वाणी में सामर्थ्य है कि निर्वचन कर सके ? कदापि नहीं । कदापि नहीं ।

ऐसे प्यार भरे थे गुरु शिष्य दोनों

**नैसर्गिक वत्सलता का रस कितना मीठा सच है प्रियतम।**<br>
**जैसे पिंजर को कम्पित कर तुमने दिखलाया था प्रियतम।।**<br>
**उसका भी है इतिहास बड़ा सुन्दर शुभ सुखदायी प्रियतम ।**<br>
**है किन्तु नहीं अवकाश यहाँ, फिर गोपनीय भी है प्रियतम ।।**

इस मायामय निसर्ग में भी वात्सल्य का रस गुरु शिष्य में कितना मधुर एवं उच्च कोटि का प्रवाहित होता है, यह सत्य तुमने पिंजर को कम्पित कर अर्थात् पोद्दार महाराज रूप शरीर को रुग्ण करके दिखलाया था । उसका इतिहास भी कितना सुन्दर है, शुभ है एवं सुखदायी है, परन्तु वह अति गोपनीय है और उसे कहने का यहाँ अवकाश ही कहाँ है ?

(यह चौपदा जिस इतिहास को संकेत कर रहा है वह इतिहास ऊपर लिख दिया गया है)

## व्रजभाव की गंभीर साधना का प्रारंभ

श्रीपोद्दार महाराज के साथ निर्बाध नित्य निवासने पू. गुरुदेव को रसोपासना में गंभीरतापूर्वक उन्मुख होने के लिये परम अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण कर दिया था। जब तक पू० गुरुदेव श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में व्यस्त रहे रस साधना की ओर प्रवृत्त होने के लिये उनके समक्ष उपयुक्त वातावरण था ही नहीं।

वे सदा ऐसे लोगों के मध्य रहते थे जो एक प्रकार से रसिक तो थे ही नहीं, पूरे रस-अनभिज्ञ थे। ऐसे लोगों का अनवरत संग और वेदान्त के विचारों की ही निरन्तर आवृत्ति से पू. गुरुदेव का रस-मसृण मन बहुत ही घबड़ाता था।

प० पू० गुरुदेव सबके सन्तोष के लिये यथासाध्य अपनी आन्तरिक भावनाओं को पूर्णतया गोपन रखते, सबके साथ हिलमिल कर उनकी रुचि के अनुसार ही बोलते, व्यवहार करते, प्रवचन करते। परन्तु उनका भीतरी रस-भाव दबते-दबते कभी-कभी विलक्षण ढ़ंग से फूट पड़ता। उस अवस्था को लोग गुरुदेव की बालोचित चंचलता ही मान बैठते थे।

अब तो इन सभी परिस्थितियों का पूर्णतया अन्त ही हो गया था। प्रवचन का सर्वथा त्याग होकर उन्होंने मौन ले लिया था, और अनवरत नाम-साधना अठ्ठारह घंटे चल रही थी। यहाँ तक कि कभी-कभी पू. गुरुदेव को शौचालय में भी नामजप करते रहना पड़ता था तब उनका तीन लाख नामजप पूरा हो पाता।

प० पू० गुरुदेव के मन से अहंकार-ममता, आशा-तृष्णा भोगों की वासना-कामना तो सब मिट गयी थी। समस्त द्वन्द्वों - सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, जय-पराजय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, मेरा-तेरा, मैं-तू आदि का भेद मिटकर, सदा सर्वत्र समत्व और शान्ति से उनका चित्त भरा था। उनकी चित्त एवं अन्तःकरण की पट्टी सर्वथा निर्मल स्वच्छ थी।

अब उन्होंने इस प्रकार ब्रजभाव की साधना का अभ्यास प्रारंभ किया। वे स्मरण करते - 'यमुना'। उनका मन एकाग्र तो था ही। 'यमुना' शब्द के

स्मरण करते ही उनका मन 'यमुना' की भावना में तल्लीन हो जाता था, और यमुना का निर्मल मंजुल प्रवाह उनके सम्मुख व्यक्त हो जाता था।

ऐसे ही वेणुध्वनि' इस शब्द के श्रवण-मात्र से गुरुदेव उस लोकातीत नाद-श्रवण की माधुरी में लीन हो जाते थे जो अचिन्त्य अवस्था होती थी। पू. गुरुदेव कहते थे कि पू. पोद्दार महाराज की कृपा से मुझे जो वेणुध्वनि का श्रवण हुआ, वह इतना अभूतपूर्व था कि निखिल लोकों के निखिल नादों की जितनी मधुरिमा हैं उन सबकी तुलना करने पर वे सभी श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि रूपी माधुरी के महान सागर के मात्र एक अणु में ही डूब जाती थीं। मैं अति दीन चित्त से आकुल हो प्रार्थना कर बैठता था - ' हे श्यामसुन्दर ! जहाँ-जहाँ आपकी मुरली के द्वारा कर्णप्रिय नाद सुधा की वर्षा होती है, वहीं-वहीं मेरे अनाद्यनन्त जन्म होते रहें, अत्यन्त तुच्छ निर्वाण से मेरा क्या प्रयोजन है।

पू. गुरुदेव ने छहों दर्शनों का अति गंभीर विशद अध्ययन किया था। वैशेषिक के वे पण्डित थे। तर्कशास्त्र में वे पारंगत थे। जैमिनी-मीमांसा-सूत्र एवं सांख्यादि-विद्या तो उन्हें कण्ठस्थ थी। उन्होंने वेदान्तादि दर्शनों का अनुशीलन आत्यन्तिक रूप से कर रखा था। परन्तु श्रीपोद्दार महाराज रूप सन्त भगवान की हेतुरहित कृपा से भगवान नन्दनन्दन ने उनके कानों में ऐसी वेणु-माधुरी प्रवाहित की कि उनका चित्त बलात् आकर्षित हो उठा एवं ऐसा आकर्षित हुआ कि उनकी सब शास्त्रों में आस्था ही नहीं रही। मात्र आस्था श्रीकृष्ण-वंशी-नादामृत में ही केन्द्रित हो गयी।

## व्रज भाव की पाँच सौ शब्दावली

पू. गुरुदेव ने पंच हजार ऐसे वाक्य चयन किये हुए थे, जिन पर प्रतिदिन वे अपना ध्यान ३०-४० सैकिण्ड अवश्य केन्द्रित किया करते थे। एक सहस्र नाम तो उन्होंने मुझे (लेखक को) लिखाये थे एवं कहा था कि दस-दस, बीस-बीस सैकिण्ड प्रतिदिन इन शब्दों में अपना ध्यान केन्द्रित किया कर। मुझे उन दिनों उन्होंने माधुर्य उपासना नहीं दी थी, पहले श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं में ही मेरा चित्त वे रमाना चाहते थे।

इस सहस्र शब्दावली में से पाँच सौ के लगभग यहाँ साधकों के लाभार्थ दिये जा रहे हैं।१. यशोदा, २. नन्दरायजी ३.नन्दभवन, ४. नन्दभवन के

पार्श्व में गोशाला, ५. यमुना, ६. यमुना के घाट, ७.घाटों में नाव, ८.घाटों की स्वर्ण-रजत-मंडित रत्न खचित सीढ़ियाँ, ९. स्त्रियों के स्नानघाट १०. पुरुषों के घाट ११.यमुना में ,खिलते कमल, १२. नीलकमल १३. रक्तपद्म १४. स्थल कमल १५.अप्राकृत शोभाशाली लतायें, १६. लताओं में रंग-बिरंगे पुष्प, १७. नन्दभवन का राजद्वार १८. राजपथ, १९. राजद्वार पर बैठे प्रहरी, २०. राजद्वार के शहनाई वादक, २१. नन्दभवन का शिखर एवं दीपस्तंभ, २२. गौएँ, २३. गौओं के स्वर्ण-मण्डित सींग, २४. गोप, २५. गोशाला के परिचारकों की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ, २६. गोदोहक, २७. गोदोहन की ध्वनि, २८. यशोदाजी की वेणी, २९. उनके हाथों के आभूषण, ३०. उनके द्वारा दधिमंथन, ३१. यशोदा जी की परिचारिकाएँ, ३२. उन की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ, ३३. श्रीकृष्ण का शिशु-वेष, ३४. उनका पालना, ३५. उनके काजल भरे नेत्र, ३६.उनकी नासिका, ३७. श्वास-प्रश्वास से फूलते नथुने, ३८. श्वास से हिलता उदर, ३९. उनकी नाभि, ४०. अतिसूक्ष्म रोमावली, ४१. उनकी लाल-लाल हथेली, ४२. उनके हाथों की नखमणियाँ, ४३. उनकी अँगुलियाँ, ४४. उनके कोमल किसलय से अधर, ४५. नीचे उगे दो दाँत, ४६. उनकी जिह्वा, ४७. उनके सुकोमल चरण, ४८. मांसल जंघाएँ, ४९. उनके नितम्ब, ५०. उनका अप्राकृत सुन्दर पुरुष चिन्ह। ५१. उनका चरण चलाना, ५२. उनका बाहुचालन, ५३. उनकी मुसकान, ५४. उनके कृष्ण कुन्तल, ५५. घुँघराली अलकावलि, ५६. गुम्फित मयूरपिच्छ; ५७. श्रीकृष्ण की लघुवंशिका, ५८. उनका घुटुरुन चलना, ५९. उनकी करधनी, ६०. करधनी की रुणकार, ६१. चरणों में नूपुर, ६२. उनकी चरण-नखावली, ६३. चरण-नख-चंद्रिका, ६४. उनका परम सुन्दर वक्षस्थल ६५. उस पर सुशोभित व्याघ्र-नख एवं दृष्टिदोष-निवारक-यंत्र, ६६. नन्दभवन का प्रांगण, ६७. प्रागंण के रत्नखचित स्वर्ण के खंभे, ६८. स्फटिक स्तंभ, ६९. स्फटिक स्तंभ में श्रीकृष्ण की छाया, ७०. छाया का अप्रतिम सौन्दर्य, ७१. छाया के संग क्रीड़ा, ७२. श्रीकृष्ण के सुबलादि बालसखा, ७३. श्रीबलरामजी, ७४. बलरामजी का अंग-सौन्दर्य, ७५. रोहिणी मैया, ७६. रोहिणी मैया द्वारा बलराम एवं श्रीकृष्ण दोनों को गोद में रखना, ७७. बलरामजी एवं श्रीकृष्ण की परस्पर प्रेम-क्रीड़ा, ७८. तुतलाकर बोलना, ७९. नन्दरायजी के द्वारा श्रीकृष्ण एवं बलराम दोनों को कंधे पर चढ़ाकर गौशाला ले जाना, ८०. गौओं के दर्शन, ८१. गौओं के श्रृंगार एवं उनका

पूजन, ८२. महर्षि शाण्डिल्य, ८३. वेद-पाठ-रत ब्राह्मण, ८४. श्रीकृष्ण एवं बलरामजी का स्वस्तिवाचन, ८५. उपंनन्दजी, ८६. संनन्दजी, ८७. श्रीउपनन्द जी की पत्नी प्रभावती, ८८. श्रीसंनन्दजी की पत्नी, ८९. सभी का श्रीकृष्ण-बलराम के प्रति प्रगाढ़ वात्सल्य, ९०. भगवान नारायण का नन्दभवन स्थित भव्यमन्दिर, ९१. मन्दिर का विशाल बाह्य-मंडप, ९२. मंडप में देवी-देवताओं, यक्षों, किन्नरों, गन्धर्वों की कलात्मक आकृतियाँ, ९३. मन्दिर का गर्भ-गृह, ९४ भगवान नारायण की नीलमणि प्रस्तर से निर्मित जीवन्त मूर्त्ति, ९५. पूजागृह में भगवान नृसिंहादि के अन्य विग्रह, ९६. शालिग्राम-शिला, ९७. सुदर्शन यंत्र, ९८. भगवती लक्ष्मीजी का यंत्र, ९९. उनका प्रतीकात्मक अर्चाविग्रह, १००. ब्राह्मणों द्वारा पुरुष सूक्त का पाठ, १०१. श्रीनन्दराय द्वारा ब्राह्मणों का पूजन, १०२. श्रीकृष्ण-बलराम द्वारा महर्षि शांडिल्य का पूजन, १०३. महर्षि द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम में साक्षात् ब्रह्म दर्शन, १०४. महर्षि के सम्मुख श्रीकृष्ण का मुसकाना, १०५. उनकी विश्व विमोहिनी मुसकान में भगवती आद्याशक्ति जगदम्बा का प्राकट्य एवं महर्षि को दर्शन, १०६. महर्षि की अचिन्त्य दशा, १०७. श्रीयशोदाजी द्वारा भगवान श्रीकृष्ण का पुरमहिलाओं को दर्शन कराना, १०८. पुरमहिलाओं द्वारा श्रीकृष्ण का कभी सिर को नीचा करके, कभी बांयी ओर मोड़कर, कभी दाहिनी ओर झुककर दर्शन करना। १०९. पुर महिलाओं के अश्रु-बिन्दुओं से मुक्तामालाओं का सृजन, ११०. श्रीयशोदाजी का श्रीकृष्ण को नन्दरायजी की गोद में देना, १११. उनके द्वारा पुरवासियों के मध्य श्रीकृष्ण को ले जाना ११२. श्रीकृष्ण को गोद में लेते ही उनके संस्पर्श से नन्दरायजी की बाह्य-ज्ञान-विस्मृति और विलक्षण भावसमाधि में अश्रु-प्रवाह, ११३. श्रीकृष्ण द्वारा अपने कोमल नील कुड्मल से हाथों द्वारा बाबा के अश्रु पौंछना, और उन्हें हिलाकर जगाना। ११४. श्रीकृष्ण द्वारा अपने बाबा का मुख ऊँचाकर उनसे अति प्रेम-भंगिमा-पूर्ण-वार्तालाप, ११५. श्रीकृष्ण द्वारा तोतली वाणी में बाबा के अश्रु मोचन का रहस्य पूछना। ११६. श्रीनन्दरायजी द्वारा श्रीकृष्ण को वात्सल्य की विह्वलता वश, कण्ठ से लगा लेना और कहना – "मेरे लाल ! तू मेरी अनन्त जन्मार्जित पुण्यराशि रूप कल्पतरु-उद्यान का प्रफुल्ल कुसुम है, तू मेरे वात्सल्य की कल्पलता-श्रेणी का मधुर फल है, अतः तुझे देखकर, तुझे गोद में पाकर मेरे नेत्र आनन्द से झरने लगतें हैं।"

११७.श्रीकृष्ण अत्यंत भोलेपन से अपने बाबा के मुख की ओर सतृष्ण देखते हैं और तब कहते हैं – "बाबा ! यह कल्पतरु उद्यान यमुनाके उस पार है क्या ? बाबा ! मैं तो मेरी मैया का हूँ इस कल्पलता श्रेणी का फल तो सुबल भैया होगा !"

११८. श्रीकृष्ण का नन्दजी के साथ नन्दभवन के अन्तःपुर में जाना। ११९. सखाओं के साथ कलेऊ। श्रीकृष्ण का स्वयं बहुत ही कम खाना, केवल लोनी का स्वाद चखना, १२०. श्रीकृष्ण का सखाओं सहित बन्दरों को मक्खन खिलाना, १२१. श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ा से घर के आँगन में दधि, नवनीत का कीच। १२२. नवनीत से लिपे-पुते मुखवाले सखाओं की शोभा, १२३. नवनीत से श्रीकृष्ण के लिप्तांगों का अभूतपूर्व सौन्दर्य, १२४. श्रीकृष्ण द्वारा मैया की वेणी को मक्खन खिलाने की लीला, १२५. मैया द्वारा संकेत से रोहिणीजी द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम का स्नान, श्रृंगार। १२६. सखाओं का भी उनकी माताओं द्वारा स्नान एवं श्रृंगार। १२७.श्रीकृष्ण का गोशाला में खेलने जाने को मचलना। १२८. गोशाला में न जाकर छोटी बछड़ियों, बछड़ों के संग खेलने की मैया की अनुमति। १२९. परिचारकों की गोद में चढ़कर श्रीकृष्ण-बलराम का गोशाला जाना। १३०.परिचारकों जैसी पगड़ी पहनने का श्रीकृष्ण का आग्रह। १३१. परिचारकों का हँसना। १३२.मैया द्वारा सुन्दर सुनहरी पचरंगी पाग श्रीकृष्ण को पहनाना। १३३. श्रीकृष्ण का उस पाग को परिचारक के मस्तक पर पहनाने का आग्रह और उसकी पगड़ी स्वयं पहनने के लिये मचल जाना। १३४. किसी प्रकार परिचारक की पगड़ी पहनकर ही संतुष्ट होना। १३५. बछड़ियों के साथ खेल-कूद। १३६. उनके कान में वंशी फूँकने का आग्रह। १३७. बछड़ियों की उछल-कूद। १३८. श्रीकृष्ण की उनके समान ही उछल-कूद। १३९. परिचारिकाओं को गोबर उठा-उठा कर देने का खेल। १४०. गोबर के घरौंदे बनाना, १४१. उन घरों को लाल-पीला पोतना १४२. गोबर से गोवर्धन पर्वत का निर्माण १४३. बछड़ों द्वारा गोबर निर्मित घरों का भंग।१४४. बछड़ों की पीठ पर बैठने का आग्रह। १४५. बछड़ों की पूँछ पकड़कर लटकने का खेल। १४६. मैया द्वारा भोजन के लिये पुकार। १४७. नन्दबाबा के संग बैठकर एक थाली में श्रीकृष्ण-बलराम का भोजन। १४८. श्रीनन्दबाबा को अपने हाथ से खिलाने का आग्रह। १४९. श्रीनन्दबाबा की दाढ़ी को भी खिलाने का आग्रह।१५०. श्रीनन्दबाबा की दाढ़ी क्यों नहीं खाती, इसलिये रूठ जाना। १५१. श्रीनन्दबाबा द्वारा बहुत ही मनुहार पूर्वक दो

कौर क्षीर मिष्ठान्न का ग्रास देना। १५२. श्रीनन्दबाबा की थाली से मिष्ठान्न लेकर कौओं, शुकों, कपोतों और चिड़ियाओं को खिलाना। १५३. नन्दबाबा के साथ गौओं को, बछड़े-बछड़ियों को भी भोजन कराने को मचलना। १५४. गौओं को गो-ग्रास देकर आना। १५५. मैया का स्तनपान करने को मचलना। १५६. मैया द्वारा स्तनपान। १५७. श्रीकृष्ण के मुख की राफों से दूध के चूकर बहने की शोभा। १५८. अतिशय दुग्ध-प्रवाह से मैया के वस्त्रों का भीग जाना। १५९. दुग्ध-धार का महल के आँगन में प्रवाह। १६०. प्रवहमान दूध का भाग्यशाली पक्षियों द्वारा पान, १६१. रोहिणीजी द्वारा बहलाकर शयन-कक्ष ले जाना और श्रीकृष्ण, बलराम और सखाओं का संग-संग रोहिणी जी से रामकथा एवं अन्य अवतारों की कथा का श्रवण।

१६२. श्रीकृष्ण को निद्रा की झपकी आना। १६३. उनके निद्रित सौन्दर्य का दर्शन १६४. श्रीकृष्ण का स्वप्न-दर्शन, १६५. स्वप्न में मुरली को कोई बन्दरी चुरा ले जाती है १६६. श्रीकृष्ण का रोते हुए उठना। १६७. उठते ही बाँसुरी चोरी चले जाने की शिकायत करना। १६८. मैया का बाँसुरी दिखाना १६९. परन्तु श्रीकृष्ण का स्वप्न को सत्य समझकर उस बाँसुरी को दूसरी बाँसुरी बताना। १७०. मैया द्वारा स्वप्न-काल की घटना का मिथ्यात्व सिद्ध करना असंभव हो जाना। १७१. श्रीकृष्ण का जिद करना कि बन्दरी बाँसुरी ले गई तो वह ले ही गई, वह असत्य कैसे हो सकता है। १७२. रोहिणी द्वारा पालतू शुक से वंशी वापस दिलाना एवं समझाना कि यह शुक बन्दरी से वंशी वापस छीनकर लाया है। तभी उनके रुदन का विराम। १७३. मैया के पास व्रज की पुरन्ध्रियों का एकत्रित होना १७४. उनका श्रीकृष्ण के गुण-लीला-सौन्दर्य का बखान करते हुए गायन, १७५ ताल-बन्ध पर श्रीकृष्णचन्द्र का नृत्य करना। १७६. श्रीकृष्ण के साथ सखाओं का भी संग-संग थिरकना। १७७. व्रजसुन्दरियों का 'तत तत थेइ थेइ' कहना और श्रीकृष्ण का ठीक तदनुरूप पद एवं हाव-भाव संचालन। १७८. श्रीनन्दरायजी द्वारा संध्या करते हुए, बाहर से द्वार-संध से पुत्र का नृत्य-दर्शन, १७९. श्रीकृष्ण का मन्द-मन्द गायन १८०. इसी समय नन्दरायजी पर दृष्टि पड़ जाने से श्रीकृष्ण का संकुचित हो जाना। १८१. नन्दरायजी की संध्या करने की क्रिया की श्रीकृष्ण द्वारा अनुकृति करना। १८२. जननी द्वारा श्रीकृष्ण को गोद में उठाकर कपोलों का बार-बार चूमना। १८३. पुनः जननी द्वारा बाबा को नृत्य दिखाने की आज्ञा देना १८४. जननी के प्रेमाग्रहवश और

बाबा की लालसा पूर्ण करने श्रीकृष्ण का पुनः नृत्य करना १८५. नूपुरों की मधुर रुनझुन ध्वनि १८६. मैया एवं बाबा की कर-ताली बजाना १८७. श्रीव्रजेन्द्र के मन का शरीर से निकलकर नूपुर-ध्वनि में विलय हो जाना १८८. मनशून्य व्रजेन्द्र का अपलक स्थिर-नेत्र हो जाना, १८९.दल-के-दल व्रजपुरवासियों और पुरन्ध्रियों का नृत्यदर्शन करने उमड़ आना १९०.श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा मुक्त-हस्त से बाल-मधुरिमा वितरण १९१.उनका कभी अस्फुट स्खलित स्वरों से गायन, १९२. हास्य-रञ्जित तोतली वाणी में नृत्य के बोल बोलना १९३. फिर नाचना और नृत्य के अन्त में अभूतपूर्व भंगिमा दिखाकर उसका समापन करना। १९४. श्रीनन्दरायजी से नन्हीं सी भुजा फैलाकर श्रीकृष्ण का लिपट पड़ना। १९५. व्रजरमणियों के आगमन पर श्रीनन्दराय द्वारा अति संकोचपूर्वक अपने लाल की छवि हृदय में भरकर विदाई लेना। १९६. अपने लाला को यशोदा को सौंपना १९७. आभीरबालाओं द्वारा श्रीकृष्ण को मयूर का नृत्य दिखाना १९८. ग्वालिन के मनोरथ की पूर्ति के लिये श्रीकृष्ण का दोनों भुजाओं को पीठ की ओर करके मयूर बन जाना एवं ग्रीवा ऊपर उठाकर ग्वालिन के चारों ओर घूम कर फेरी देते हुए नृत्य करना। १९९. गोपांगनाओं में तुमुल हर्ष-ध्वनि। २००. एक गोपबाला का प्रश्न "बता मेरे प्राण ! भ्रमर का गुन्जारण कैसे होता है ?" २०१. श्रीकृष्ण का भ्रमर की तरह उद्यान से दौड़कर आना और गूं ऊं ऊं ऊं उच्चारण करना और प्रासाद के आँगन में दौड़ना। २०२. श्रीयशोदाजी द्वारा राई-लौन करके दृष्टिदोष उतारना। २०३. गोपसुन्दरियों के आनन्द का पार नहीं रहना। २०४. किसी भी राह चलती गोपसुन्दरी से श्रीकृष्ण का मैया मानकर लिपट जाना २०५. गोपसुन्दरियों का भावाविष्ट हो जाना। २०६. श्रीकृष्ण का बलराम एवं अन्य सखाओं के साथ मल्ल क्रीडा करना। २०७. उनका बाहुक्षेप करना २०८. जंघा पर ताल ठोंकना २०९. किसी भी गोपी के द्वारा बलराम को अधिक बलशाली बताने पर श्रीकृष्ण का खिन्न हो जाना २१०. श्रीबलराम जी का हँसना २११. श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये बलरामजी का बलशाली होते हुए भी हार जाना। २१२. मधुमंगल का बलरामजी की पोल खोलना कि ये श्रीकृष्ण को जिताने के लिये जानकर हार स्वीकार कर रहे हैं। २१३. श्रीकृष्ण का मचलकर मधुमंगल को कभी भी साथ नहीं खिलाने की धमकी देना। २१४. मधुमंगल का दाँत निपोर कर हँसना २१५.यशोदाजी द्वारा लड्डू वितरण। २१६. लड्डू खाकर पुनः मल्ल क्रीड़ा

करना। २१७. मल्ल युद्ध में कभी श्रीकृष्ण का ऊपर होना, कभी बलराम जी का ऊपर होना, २१८. इस प्रकार अभिनव मल्लक्रीडा की रचना २१९. कृष्ण-बलराम की विशेष शोभा का दर्शन २२०. कृष्ण-बलराम द्वारा मल्लक्रीडा के पश्चात पुनः नृत्य करना। २२१. नृत्य करते-करते थक जाने पर रोष करके रोने लग जाना २२२. यशोदामैया द्वारा अपने लाल को थका पाकर तुरन्त गोद में उठा लेना। २२३. मुख पर चुम्बनों की बौछार करना। २२४. श्रीकृष्ण-बलराम को लेकर उन्हें धूलि-धूसरित देखकर स्नानगृह की ओर ले जाना। २२५. स्नानघर में स्वर्ण कलशियों में सुरभित स्वच्छ जल की शोभा देखना। २२६. स्वर्णकलशी का जल एक छोटे पात्र में लेकर श्रीकृष्ण को एक स्नानपात्र (बडी परात) में स्थित चौकी पर बैठाना, २२७. श्रीकृष्ण की और बलरामजी की भिन्न-भिन्न परातों में सुरभित स्वच्छ समशीतोष्ण जल डाल देना २२८. श्रीकृष्ण द्वारा एवं बलरामजी द्वारा जल का थपथपाया जाना, और जल उछालना। २२९. माता यशोदा एवं रोहिणी द्वारा विलक्षण जल-केलि शोभा निरखकर बलिहार होना। २३०. छोटे स्वर्णपात्र(लोटेनुमा सुराही) से माता यशोदा द्वारा जल लेकर श्रीकृष्णचन्द्र के चूर्ण-कुन्तल-मण्डित सिर पर बिखेर देना। २३१. जल के सिर पर गिरने से श्रीकृष्ण का किंचित सिहरना और स्वर्ण परात से माँ की गोद में आने के लिये बाहु ऊपर उठाना २३२.माँ द्वारा पुनः थोड़ा सुरभित जल और डाल देना। २३३. माता द्वारा गोद में लेकर पुनः जलपात्र में बैठाकर सभी अंग मल-मलकर धोना २३४. श्रीअंगों के मले जाने पर उनसे अभूतपूर्व अंग-गंध का प्रवाह बहना। २३५. उस अंग-गंध से यशोदाजी को विलक्षण भावसमाधि लग जाना। २३६. यशोदामाता को नेत्र मूँदे हुए और आनन्द समाधि में डूबी देखकर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों का अति मधुर मुसकाना। २३७. माता पर अपने हाथ से जलपात्र से जल लेकर उछाल कर डालना। २३८. जल के छींटे पड़ने से माँ का जाग्रत होना। २३९. पुनः श्रीकृष्ण-बलराम को स्नान कराना। २४०. अंगों को निर्मल सुकोमलतम मलमल के वस्त्रों से लपेट देना। २४१. वारिधारा का केशों से भाल, नेत्र, कपोल, एवं स्कंध, तथा उदर पर टपकने की शोभा निरखकर निहाल होना। २४२. जननी द्वारा अपने पुत्र के जलसिक्त होने से लाली लिये नेत्रों को देखकर भ्रम करना कि कहीं अरविन्द पत्र ही मेरे लाल के नेत्रों के स्थान पर जड़ित तो नहीं है। २४३. अहा! मेरे लाल के अंगों में स्वच्छता ऐसी है मानो महा-मरकतमणि को ही इसके अंगों

के रूप में गढ़ दिया गया हो २४४.अहा, कैसी विलक्षण सौरभ अंगों से निःसृत हो रही है, मानो नीलोत्पल विकसित हो रहा हो, २४५. अहा ! कैसी मधुर वाणी है मानो हंसों से युक्त यमुना की लहरें हों २४६. श्रीअंग-कान्ति ऐसी है मानो ज्योत्स्ना से परिपूर्ण तिमिर अंकुर हो। २४७. स्निग्धता ऐसी है मानो पूर्ण ज्योतिर्मान जलधर खण्ड हो। २४८. ब्रजपुर में संध्या की शोभा २४९. गौएँ पश्चिम दिशा से आ रही हैं अतः गोधूलि से व्रजपुर नन्दग्राम आवृत है। २५०. सूर्यास्त की लालिमा से नभ में पूर्ण व्रजरज अति सुन्दर रंग बिरंगी अनुरंजित हो रही है। २५१. कुमुद, कल्हार, कुन्द एवं मन्दार पुष्पों से सुरभित बयार व्रजपुर में बह रही है। २५२. संध्या आरती हो रही है २५३. ब्रजपुर में प्रत्येक घर में नारायण मन्दिर हैं, अतः घण्टानाद हो रहा है। २५४. शंख एवं मृदंग-नगाड़ों की ध्वनि मुखरित है। २५५. हरिकीर्तन नारायण-नारायण का उच्चारण हो रहा है। २५६. गोपबालक नृत्य कर रहे हैं। २५७. वन-क्षेत्र से गौएँ लौट आयी हैं। २५८. गोपाल उन्हें गोशाला में ले जाने के पूर्व घरों के द्वारदेश में पूजन के लिये एकत्र कर रहे हैं। २५९. घरों-घरों में गोपूजन हो रहा हैं। २६०. श्रीनन्दबाबा बलराम एवं श्रीकृष्ण को लेकर उनके हाथों विविध उपचारों से गोपूजन करा रहे हैं। २६१. ब्राह्मणगण वेदमंत्र उच्चारण कर रहे हैं। २६२. गोपुच्छ से श्रीकृष्ण-बलराम का रक्षा-कवच कराया जा रहा है। २६३. व्रजेन्द्र नन्दबाबा श्रीकृष्ण-बलराम को नारायण मन्दिर दर्शनार्थ ले जा रहे हैं। २६४. विविध उपचारों से ब्राह्मण नारायण अर्चन कर रहे हैं। २६५. ब्राह्मण भगवान नारायण के विग्रह के चरणों से उठाकर तुलसीदल एवं निर्माल्य पुष्प नन्दरायजी को देते हैं। २६६. श्रीनन्दबाबा निर्माल्य पुष्प श्रीकृष्ण-बलराम के मस्तक पर रखते हैं २६७. श्रीराम-कृष्ण के मस्तक पर घुँघराली कुन्तल राशि की शोभा निहारते हुए नन्दराय के अश्रु बह उठते हैं। २६८. श्रीकृष्ण बलराम के मस्तक पर अश्रु-बिन्दुओं का टपक जाना २६९. बालकों द्वारा मुख ऊपर उठाकर नन्दराय क्यों रो रहे हैं -- जिज्ञासा करना २७०. नन्दबाबा द्वारा बिना कुछ उत्तर दिये श्रीकृष्ण एवं बलराम को गोद में उठा लेना।

२७१. श्रीकृष्ण द्वारा बाबा के अश्रु अपनी सुकोमल हथेलियों से पोंछना। २७२. अकस्मात गोद से उतर पाँवों-पाँवों श्रीकृष्ण का माता के पास जाने की लालसा करना। २७३. श्रीकृष्ण का पाँवों से नूपुर ध्वनि करते हुए धीरे-धीरे चलना। २७४. ब्रजरानी के पास पहुँचकर हाथ उठाकर गोद में शीघ्र आने

को दौड़ पड़ना। २७५. लड़खड़ा कर गिर पड़ने के पूर्व माता द्वारा गोद में उठा लेना २७६. ब्रजरानी के वात्सल्य से नेत्र छलछला आना २७७.ब्रजरानी के स्नेहावेश से स्तन झरने लगना। २७८. रोहिणीजी द्वारा बलराम को गोद में लेकर नन्दरायजी की लज्जा से दूसरे कक्ष में चले जाना। २७९. श्री नन्दराय का हट जाना। २८०. नन्दरायजी के हट जाने पर यशोदा मैया द्वारा श्रीकृष्ण को दुग्ध-पान कराना। २८१. श्रीकृष्ण द्वारा अत्यंत क्षुधातुर की तरह ललक से दुग्ध-पान करना २८२. यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण का चुम्बन कर पुनः दूध पीने को प्रोत्साहित करना २८३. श्रीकृष्ण का जमुहायी लेना। २८४. श्री नन्दरानी द्वारा श्रीकृष्ण के छोटे से मुख विवर में सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को देखना। २८५. श्रीयशोदाजी की श्वासगति का अतिशय तीव्र हो जाना २८६. नन्दरानी का थर-थर कम्पित होना २८७. सम्पूर्ण शरीर के रोम-ऊर्ध्व हो जाना २८८. यशुमति द्वारा पुनः मुख विवर में झाँकना २८९. पुनः देखना-नीला अनन्त महाकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशायें, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वतमालाएँ, नद-नदी समूह, अरण्य श्रेणियाँ, चराचर अनन्त प्राणी। २९०. यशोदा द्वारा यह सब दृष्य देखकर मुग्ध भावाविष्ट हो जाना २९१. श्रीकृष्ण द्वारा अपनी माँ के कपोल पकड़कर उसे बार-बार भावावेश से जगाने की चेष्टा करना २९२. माता के होश में आते ही नीलमणि का हँसकर उसकी गोद में आ जाना २९३. मैया का अपने लाल को देखकर घटना प्रवाह भूल जाना। २९४. आश्विन पूर्णिमा की रात्रि २९५. आम्रपंक्ति कदम्ब-श्रेणी चाँदनी से नहा रही है। पर्वतीय निर्झरों से अमृत झर रहा है। २९६. कूप तड़ाग दिव्य सुधा से पूर्ण हैं। २९७. मानो ब्रजभूमि नहीं, चिन्तामणियों का विशाल आस्तरण है। २९८. गोपसुन्दरियाँ नहीं, अगणित महालक्ष्मी भूतल पर अवतरित हैं; २९९. ब्रजवधुओं की वाणी संगीतमयी है ३००. इनका गमन नृत्यमय है। ३०१. आकाश चिन्मय है ३०२. चन्द्रोदय हो चुका है ३०३. चन्द्र ज्योत्स्ना चिदानन्दमयी सर्वत्र प्रसरित है ३०४. नन्दभवन में गगन-चुम्बी मणि सद्म हैं ३०५. गोपरामाओं से नन्दसदन भरा है। ३०६. आज रात्रिपर्यन्त नन्दसदन में श्रीनारायण का नाम-गुण-कीर्तन होगा। ३०७. श्रीकृष्ण के नेत्रों में आज निद्रा नहीं ३०८. गोपवधुओं के ढ़ोलक-मृदंग झाँझ वादन पर उनका नृत्य चल रहा है। ३०९. वे सर्वथा निरालस्य एवं चंचल हैं। ३१०. नव-नव नूतन अतिशय कमनीय बाल्यभंगिमाएँ उनके अंग-संचालन से प्रकट हो रही हैं। ३११. ब्रजतरुणियाँ श्रीकृष्ण के नृत्य पर प्राण न्यौछावर कर रही हैं

३१२. सहसा उनकी दृष्टि मंथन-गगरी में स्थिर हो जाती है। ३१३. गगरी में गगनस्थ चन्द्र प्रतिबिम्बित हो रहा है। ३१४. वे और समीप जाकर देखते हैं ३१५.यह ऐसी क्या अति सुन्दर वस्तु है ? वे मैया से जिज्ञासा करते हैं। ३१६. जननी मात्र पुत्र की ओर देखती है उसकी अतिभोली बात का प्रत्युत्तर नहीं दे पातीं। ३१७. श्रीकृष्ण जननी का अंचल पकड़कर पुनः पूछते हैं ! ३१८."मेरे लाल ! यह चन्द्र है।" माता हँसकर उत्तर देती हैं। ३१९. श्रीकृष्ण हर्ष से ताली पीटकर नाचने लगते हैं। ३२०. अब तो उनकी माँ से हठ भरी माँग प्रारंभ हो जाती है - "मैया तू गगरी से निकालकर इसे मेरे हाथों में रख दे।" ३२१. श्रीकृष्ण मचलकर रो रहे हैं ३२२. उपनन्दपत्नी प्रभावती एक उपाय करती हैं, वे भण्डार से छुपाकर एक नवनीत खण्ड लाकर चुपचाप गगरी में डालकर खड़ी हो जाती हैं। ३२३. मैया अंचल से पुत्र की आँखें पोंछती है और कहती है -"तू नहीं ही मानता तो ले तुझे चन्द्र दे देती हूँ।" ३२४. जननी आती है और नवनीत खण्ड निकालकर श्रीकृष्ण के हाथों में रख देती है। ३२५. आनन्द में निमग्न श्रीकृष्ण हाथ में नवनीत खण्ड लेकर गगरी की ओर देखते हैं। ३२६. ब्रजरमणियों की जिज्ञासावश निकट उपस्थिति में गगरी में चन्द्र-प्रतिबिम्ब उन्हें नहीं दिखता। ३२७. नवनीत-पिण्ड लेकर वे आँगन में दौड़ रहे हैं ३२८. चन्द्र गगरी से निकाल कर मैया ने मुझे दे दिया, वे बलराम जी को सूचना देते हैं। ३२९. बलराम सहित वे पुनः गगरी में झाँकते हैं। ३३०. इस बार गोपरमणियों द्वारा गगरी छोड़ दिये जाने से चन्द्र-प्रतिबिम्ब पुनः उन्हें दिखाई पड़ जाता है। ३३१. उनके पंकज-नयनों में रोष एवं गान-व्यथा भरी है। ३३२. वे भूमि पर लोट जाते हैं ३३३. हाथ पैर पटक कर करुण कन्दन करने लगते हैं। ३३४. रूठे हुए श्रीकृष्ण जननी की गोद में नहीं आना चाहते। ३३५. यशोदा समझाती है चन्द्रमा गगन में है, गगरी में नहीं है। ३३६. उन्हें प्रतीत होता है, चन्द्रमा दो हैं, एक गगरी में और एक गगन में। ३३७. यशोदाजी श्रीकृष्ण को समझाती हैं - चन्द्रमा तेरी बहू का मुख है। वह तुझे देखने आता है। तू आँगन में खेलता नाचता है तो वह आकाश से देखता है और तू गगरी में झाँकता है तो वह गगरी में आ जाता है ३३८. श्रीकृष्ण हँसने लगते हैं । ३३९. एक गोपी गा रही है -

मैं देख्यौ जसुदा के आँगन मम नयनन को तारो री।
ततछन प्रान पलट गये मेरे, तन-मन है गयौ कारो री।।
जल-थल-नभ-कानन के भीतर जहँ लौं दृष्टि पसारो री।

तित ही तित मेरे नयनन आगे निरतत नन्द दुलारो री।।
देखत आनि सँच्यौ उर अन्तर, दे पलकन कौ तारौ री।
मोहि भ्रम भयो सखी उर अपनैं चहुँ दिशि भयो उजियारो री।।
हौं उन माँहि कि वे मोहि महियाँ परत न देत सँभारौ री।
तरु में बीज कि बीज माँहि तरु, दुहुँ में एक न न्यारौ री।।

३४०.एक महिष के पृष्ठ देश में श्रीकृष्ण चढ़ रहे हैं। बलराम उसे भगाने से वर्जित करने के लिये पूँछ पकड़े हैं। ३४१. प्रज्ज्वलित अग्निशिखा को पकड़ने की दोनों चेष्टा कर रहे हैं। ३४२. एक श्वान श्रीकृष्ण के पास पूँछ हिलाता खड़ा है, वह श्रीकृष्ण के सम्मुख नतमस्तक है। ३४३. बलराम उसके गले से लिपटे हैं ३४४. श्रीकृष्ण उसकी मुख-जिह्वा खींचना चाहते हैं। ३४५. एक कृष्ण सर्प के सामने दोनों खड़े हैं। बलराम ने उसकी पूँछ खींची है ३४६. सर्प फण का विस्तार करके लपलपाने लगता है । ३४७. श्रीकृष्ण ने उसके फण पर अपना वरद-हस्त रख दिया है। ३४८. श्रीकृष्ण ने हाथ से उसे पकड़ लिया है, बच्चे ताली पीटकर हँस रहे हैं। ३४९. कृष्ण-राम गंभीर कूप के सम्मुख दोनों खड़े हैं। बँधी हुई बड़ी कलशी को कूप में फेंक कर दोनों भरी हुई कलसी खींचना चाह रहे हैं। भरी कलसी भारी हो जाने पर मैया को पुकार रहे हैं। ३५०. नन्द प्रांगण में आनन्दमत्त मयूर को नृत्य करता दोनों देख रहे हैं। ३५१. श्रीकृष्ण पीछे से जाकर धीरे से मयूर की ऊर्ध्व पुच्छ पकड़ लेते हैं। मयूर और अधिक आनन्द विभोर हो उठता है।

३५२. ब्रजपुर के प्रमुख गोपों के बालक प्रतिदिन श्रीकृष्ण के साथ खेलने आते हैं। ३५३. उनसे आवृत कृष्ण-बलराम नन्दोद्यान में खेल रहे हैं। ३५४. गोपबालक धूलि इकट्ठी कर रहे हैं। ३५५. श्रीकृष्ण ने भी धूलिस्तूप का निर्माण किया है। ३५६. पास में ही श्रीदाम भैया भी धूलिखण्ड से उत्तम निर्माण कार्य कर रहा है। ३५७. श्रीदाम का निर्माण श्रीकृष्ण से उत्कृष्ट है। ३५८. श्रीकृष्ण ने उसका निर्माण धीरे से जाकर बिखरा दिया है। ३५९. श्रीदाम ने श्रीकृष्ण की रचनाएँ मिटा दीं । बालक हँस रहे हैं। ३६०. श्रीकृष्ण रुआँसे हैं ३६१. वे पुनः धूलिस्तूप से भवन निर्माण करने लगे हैं। परन्तु उनसे भवन निर्मित हो नहीं पा रहा है। ३६२. वे क्रोध में हाथ-पैर पटक कर सब धूलि बिखेर देते हैं, और मृत्तिका खाने लगते हैं। ३६३. अग्रज बलराम उनके हाथ पकड़ लेते हैं। ३६४. बलराम डाँटते हैं-"मृत्तिका को उगल दे" परन्तु श्रीकृष्ण उनकी परवाह नहीं कर मृत्तिका

निगल जाते हैं। ३६५. बच्चे मैया यशोदा से शिकायत करने भागते हैं। ३६६. बलराम श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ना चाहते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण हाथ छुड़ाकर पुनः मिट्टी खाते हैं। ३६७. वे कुपित पर अवश हैं। ३६८. मैया श्रीकृष्ण के परिधान सहेज रही हैं' ३६९. श्रीदाम के साथ पूरी मंडली द्वारा मिट्टी खाने की बात सुनकर मैया को रोष आ गया है। ३७०. वे कुपित हाथ में छड़ी लेकर नन्दोद्यान पहुँचती हैं ३७१. श्रीकृष्ण रूठे हुए किंचित कुपित बैठे हैं ३७२. मैया की छड़ी की ओर भयभीत शंकित देखते हैं ३७३. मैया के पूछने पर श्रीकृष्ण सर्वथा नकार देते हैं। ३७४. मैया मुख खोलने को कहती है। श्रीकृष्ण मुख खोल देते हैं। ३७५. मैया उनके मुख-विवर में पुनः सम्पूर्ण माया प्रपंच का दर्शन करती है। ३७६. वे श्रीकृष्ण का हाथ छोड़कर व्याकुल हो जाती हैं। ३७७. हाथ से छड़ी गिर जाती है, नारायण-नारायण उच्चारण करती मैया वहीं बैठ जाती हैं। ३७८. श्रीकृष्ण को गोद में उठाकर मैया नन्दगृह जा रही हैं। ३७९. मैया नारायण मन्दिर पहुँचती हैं। ३८०. नीलमणि को बैठाकर भगवान से नीलमणि की रक्षा के लिये प्रार्थना करती हैं। ३८१. द्वितीय दिवस मध्याह्न का काल है । एक वृद्धा गोपी फल की टोकरी लिये नन्दप्रासाद के राजद्वार पर खड़ी है। ३८२. वह विस्फारित नेत्र विस्मित नन्दभवन का वैभव देख रही है। ३८३. सहसा खेलते-खेलते श्रीकृष्ण राजद्वार पर खड़े हो जाते हैं। ३८४. वृद्धा जान गयी है कि ये ही नन्दतनय हैं। ३८५. उसकी विचित्र दशा है, उसका अंग-अंग काँप रहा है, आंखें झर-झर बरस रही है, मुख से वह नन्द नन्दन को अपने पास बुलाना चाहती है पर बोल नहीं सकती। उसकी वाक् शक्ति लुप्त है। ३८६. श्रीकृष्ण के पग के नूपुर रुनझुन-रुनझुन बजते हैं। वे सशंकित चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखते जाते हैं कि कोई उन्हें बाहर जाते देख तो नहीं रहा है। ३८७. वे फलवाली के समीप पहुँच जाते हैं। ३८८. उनको अपने सम्मुख अति पास में पाकर आनन्द-विगलित उसके आँसू बह उठते हैं। ३८९. सहसा उसकी वाक्शक्ति जाग्रत हो जाती है, वह बोल उठती है - "फल लोगे ?" ३९०. स्वीकृति में श्रीकृष्ण का सिर हिल जाता है । उनकी कृष्ण-कुन्तल-राशि-आवृत-मुख की कैसी विलक्षण शोभा है ? ३९१. फल विक्रयिणी श्रीकृष्ण-मुख-सौन्दर्य देखकर पगली हो जाती है। ३९२. भावाविष्ट हुई वह प्रमत्त सी फल की टोकरी लेकर चल पड़ती है। ३९३. उसकी आँखे श्रीकृष्ण की आँखों से जुडी हैं। ३९४. 'अरी मैं फल लूँगा' एक परम मधुर आवाज उसे सुनाई पडती है

३९५. फलविक्रयिणी के प्राणों में दिव्यातिदिव्य मधु की धारा बह उठती है। उसके कान उस मधुरतम शब्दावली के अमृत से भर उठते हैं। ३९६. पुनः शब्द आता है – 'री मैं फल लूँगा री, फल। ३९७. फल-विक्रयिणी लौट आती है। ३९८. वह नन्दनन्दन को विक्षिप्त सी आँखे फाड़-फाड़ देखे जाती है। ३९९. वह बोलती है – "फल लोगे ?" "लो", परन्तु इन फलों का मूल्य क्या दोगे ? ४००. श्रीकृष्ण पुनः उत्तर देते हैं – "मूल्य किसे कहते हैं ? तू तो सबसे ज्यादा पगली है, मुझे तो मैया रोज मक्खन, मलाई, आभूषण, वस्त्र, खेलने के खिलौने देती है, परन्तु कभी मूल्य नहीं माँगती। गोपियाँ भी बहुत वस्तु देती हैं, परन्तु कभी मूल्य की बात ही नहीं करतीं ?" ४०१. फलविक्रयिणी के नेत्र झर रहे हैं वह कुछ भी बोल नहीं पाती। उसकी विचित्र दशा है। ४०२. श्रीकृष्ण विचार कर रहे हैं। ४०३. उन्हें यही समझ में आता है यह मूल्य के लिये रो रही है। ४०४. वे अन्न-भण्डार की ओर दौड़ लगाते हैं – दोनों हाथ की अंजलि में नाज भरते हैं और दौड़े-दौड़े पुनः वापस आते हैं। ४०५. "ले, यह मूल्य।" वे अपनी अंजलि का अवशेष अन्न उसकी टोकरी में गिरा देते हैं। ४०६. शीघ्रता से आँगन से दौड़कर आने में अनकी अंजलि का अधिकांश अन्न तो राह में ही बिखर जाता है। ४०७. "री, मुझे अब सारा फल दे दे, ये मैं तेरे सभी फल लूँगा, सबके सब ले लूँगा।" वे पुनः बोल उठते हैं। "अब तो तेरे सब फलों का मूल्य मिल गया ?" वे उसे पुनः रोती पाकर पूछते हैं। ४०८. फल विक्रयिणी श्रीकृष्ण से पूछ बैठती है –"क्या मेरे सारे फलों का मूल्य मात्र एक धान्य का दाना है ? फल विक्रयिणी की टोकरी में तो श्रीकृष्ण की अञ्जलि का धान्य का मात्र एक दाना ही गिरा था। शेष तो उनके दौड़ कर आने से राह में ही बिखर गया था। ४०९. वे घूमकर राह में बिखरे धान्य को देखते हैं। फिर कहते हैं –"देख ! आज तो इतना ही ले ले, अब बार-बार जाने से मैया देख लेगी। फिर कभी आयेगी तो और धान्य दे दूँगा।" ४१०. फलविक्रयिणी की वाणी मुखर हो उठी थी – "नन्दनन्दन ! मेरे जीवन में दूसरा दिवस होगा, तब तो आऊँगी। गद्गद् कण्ठ को किसी प्रकार उसने स्वच्छ किया फिर बोली –"नन्द लाड़िले ! कर्मों के फलस्वरूप विधाता ने मुझे चाण्डालिनी बनाया। गोपियों की तरह मैं तुझे गोद में उठा नहीं सकती, तुम्हें प्यार नहीं कर सकती। तू मुझे मैया कहकर गोद में आ नहीं सकता। इस जीवन में अब यह अधिकार मिलने का भी नहीं। कदाचित् जीवन के उस पार – फलवाली का कण्ठ रुद्ध हो गया था।

४११. तत्काल श्रीकृष्ण बोल उठे "अच्छा री, सुनती है ? यह बता यदि मैं तेरी गोद में चढ़ जाऊँ और तुझे माँ कह दूँ तो तू मुझे बिना मूल्य लिये फल दे देगी ?" ४१२. फल विक्रयिणी की गरदन स्वीकृति प्रदान करती हिल जाती है। ४१३. श्रीकृष्ण एक बार इधर-उधर देखते हैं - फिर भुजा उठाकर लपक कर उसकी गोद में आ जाते हैं और उसके नेत्रों से बहते अश्रु अपनी हथेलियों से पौंछकर, उसकी ठोड़ी उठाकर उसे 'माँ' ! कह देते हैं तथा ..... फिर कहते हैं, "माँ ! अब तो फल दे दे ।" ४१४. फल विक्रयिणी अनन्त-कालीन परमानन्द समाधि में विलीन हो जाती है। ४१५. फल-विक्रयिणी उठती है। वह श्रीकृष्ण की अञ्जलि में टोकरी के सब फल रख देती है।

४१६. श्रीकृष्ण उसे आश्वस्त करते हैं - "नहीं, नहीं, तू चिन्तित मत हो, क्या मेरी अञ्जलि से धान गिर गये, इसलिये फल भी गिर जायेंगे ? इन सभी फलों को मैं खाऊँगा।"

४१७. फल-विक्रयिणी उन्मत्त पागल सी खाली टोकरी सिर पर रखकर जा रही है। एक सरोवर के तट पर टोकरी उतारती है। उसमें देखती है दिव्य रत्न लबालब भरे हैं। वह रत्नों को टटोलती है। फिर रत्नसहित टोकरी को सरोवर के अगाध जल में फेंक देती है।

निकटवर्ती गहन वन में प्रवेश कर जाती है।

४१८. यशोदा मैया श्रीकृष्ण को अञ्जलि भर फल लाते देखकर पूछती हैं- "लाल मेरे ! ये इतने फल कहां से लाया रे ?"

४१९. श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं - "किसी बहुत ही भली फलवाली ने धान्य लेकर मुझे सब फल दे दिये हैं।" ४२०. दासियाँ जो इस सब लीला को छुप कर देखती हैं, हँस पड़ती हैं। कहती हैं - "मैया ! तेरे लाला को छूना मत, इसे नहलाना। यह चाण्डालिनी की गोद में चढ़ा है और उसे 'माँ' कह कर फल लाया है।"

४२१. यशोदा मैया की आँखों में आँसू आ गये हैं। वह अपने लाल को प्यार करती भीतर ले जाती हैं।

४२२. समस्त ब्रजपुर अरुणोदय से रंजित है ४२३. आम्र प्रशाखाओं में छिपी कोकिल कुहू-कुहू स्वर भर रही है। ४२४. अन्य विहंगमों का कलरव बहुत ही मधुर राग का सृजन कर रहा है। ४२५. गोप सुन्दरियों का कल गान, गौओं की हम्मारव से ब्रजपुरी मुखरित है। ४२६. ब्रजेश्वर श्रीकृष्ण को

देखने शयन गृह आ गये हैं। ४२७. मैया यशोदा अपने नीलमणि को जगाने में तन्मय है। ४२८. श्रीकृष्ण मुख पर दुकूल डालकर और सोने की जिद कर रहे हैं। ४२९. ब्रजराज को आया देख श्रीकृष्ण "बाबा" कहकर मुख से दुकूल हटा देते हैं। ४३०. एक अदभुत आलोकमाला से शयनागार उद्‌भासित हो उठता है। ४३१. नन्द-दम्पति हर्ष से खिल उठते हैं ४३२. ब्रजेश निर्निमेष नेत्रों से पुत्र की ओर देखते हैं। ४३३. ब्रजरानी और ब्रजेश श्रीकृष्ण का मुख चुम्बन कर उनके अस्तव्यस्त केशों को ठीक करती हैं। ४३४. कनकझारी से सुगन्धित जल लेकर मुख प्रक्षालन करती हैं। ४३५. फिर कलेवा कराती हैं।

**कमल नैन हरि करौ कलेवा।**
**माखन रोटी सद्य जम्यौ दधि भाँति-भाँति के मेवा।।**
**खारक (सूखा खजूर) दाख, चिरौंजी, किसमिस, उज्जल गरी, बदाम।**
**सफरी(अमरूद) सेव, छुहारे, पिस्ता, जे तरबूजा नाम।।**
**अरु मेवा बहु भाँति-भाँति हैं षटरस के मिष्टान्न।**
**सूरदास प्रभु करत कलेवा, रीझे स्याम सुजान।।**

४३६. मुख धोये बिना ही श्रीकृष्ण जननी की गोद से भाग चलते हैं। ४३७. सम्मुख द्वार पर नन्दबाबा खड़े हैं। वे दूसरे द्वार से निकलकर कुछ ही दूर पर स्थित अपनी सखामंडली में जा मिलते हैं। ४३८. मंडली बलरामजी को अगुआ करके तमालवन में एकत्र हो गयी है। ४३९. वहाँ वे गेंद से खेलते हैं। ४४०. गेंद उद्यान के सरोवर में गिर जाती है। ४४१. श्रीकृष्ण मैया से दूसरी गेंद लेने दौड़ पड़ते हैं। ४४२. मैया को श्रीकृष्ण का क्षणभर का अदर्शन आकुल-व्याकुल कर देता है। सहस्रों अनिष्ट आशंकाओं से वे घिर जाती हैं। इस ध्वनि से मैया के हृदय में अमृत की धारा बह चलती है। वे नीलमणि को हृदय से लगाकर पुनः पुनः प्यार करती हैं। ४४३. दूसरी गेंद पाकर श्रीकृष्ण पुनः खेलने दौड़ पड़ते हैं। ४४४. मैया बाहर आकर देखती हैं - तमाल वन में श्रीकृष्ण, वृषभ, जम्बी, देवप्रस्थ, वरूथप आदि वयस्यों से सुरक्षित बलराम, श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, दाम, सुबल, मंगल, मधुमंगल सुमंगल आदि सखाओं के साथ खेल रहे हैं।

४४५. देखते-देखते जननी के स्तनों में दूध भर आया है। ४४६. माता श्रीकृष्ण को पुकारती हैं। ४४७. वे श्रीकृष्ण को दौड़कर पकड़ती हैं।

४४८. जननी एक बार वन की ओर देखती हैं, फिर नन्दभवन के शिखर के ऊपर अवस्थित कलश की ओर। ४४९. जननी मन ही मन काँप उठती हैं। सोचती हैं इसे इतनी दूर खेलने जाने से किसी प्रकार रोकना ही है। ४५०. वे भय की मुद्रा बनाकर कहती हैं –

दूरि खेलनि जनि जाहु लाल मेरे वन में आये हाऊ।

४५१. श्रीकृष्ण 'हाऊ' की बात सुनकर हँस पड़ते हैं। ४५२. मैया हाऊ की विभीषिका का वर्णन करती हैं। ४५३. श्रीकृष्ण बड़े ध्यान से सुनते हैं। ४५४. मैया कहती – अब लाल ! शीघ्र अपने घर को चले चलें। ४५५. श्रीकृष्ण-बलराम को पुकारते हैं। ४५६. बलरामजी भी आ जाते हैं। ४५७. दोनों मैया से, हाऊ की बात सुनते हुए उसकी अँगुली पकड़े घर को चल पड़ते हैं। ४५८. सहसा बलराम के मुख पर विचित्र तेज आ जाता है। एक विचित्र सी हँसी उनके मुख पर छा जाती है। वे बोलने लगते हैं –

"चारि वेद लै गयो शंखासुर जल में रह्यौ लुकाऊ।
मीनरूप धरि कैं जब मार्‌यौ तबहिं रहे कहँ हाऊ।।
मथि समुद्र सुर-असुरन के हित, मंदर जलधि धसाऊ।
कमठ रूप धरि धर्यो पीठ पर, तहाँ न देखे हाऊ।।
जब हिरनाच्छ युद्ध अभिलाष्यौ, मन में अति गरवाऊ।
धरि बाराह रूप सो मार्यो लै छिति दंत अगाऊ।।
विकट रूप अवतार धर्यो जब, सो प्रलाद बचाऊ।
हिरन कसिपु-वपु नखनि बिदार्यो, तहाँ न देखे हाऊ।।
वामन रूप धर्यो बलि छलि कैं, तीनि पगन वसुधाऊ।
श्रम जल ब्रह्म कमंडलु राख्यौ, दरसि चरन परसाऊ।।
मार्यो मुनि बिनहीं अपराधहिं, कामधेनु ले आऊ।
इक्किस बार निछत्र करी छिति, तहाँ न देखे हाऊ।।
राम रूप रावन जब मार्यो दस सिर बीस भुजाऊ।
लंक जराइ छार जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ।।
भक्त हेत अवतार धरे, सब असुरनि मार बहाऊ।
सूरदास प्रभु की यह लीला निगमनेति नित गाऊ।।
इस प्रकार आवेश में बलराम जी बोलते जाते हैं।

४५९. जननी हँसकर बलराम का मुख पोंछकर कहती हैं - "अरे बेटा तू तो बहुत बड़ी बड़ी बातें सीख गया रे। ४६०. बायीं ओर श्रीकृष्ण दाहिनी ओर बलराम जननी की अँगुली पकड़े घर पहुँचते हैं। ४६१. जननी उन्हें अन्तर्गृह में ले जाती हैं, दोनों के हाथों में सुन्दर सुपक्व बेसन और गेहूँ मिश्रित मिस्सी रोटी और एक एक उज्ज्वल नवनीत पिण्ड रख दिया है। ४६२. बलराम रोटी पाते ही हँसते हुए रोहिणी जी के पास भाग जाते हैं। ४६३. श्रीकृष्ण की विकसित अरविन्द जैसी हथेली पर माखन-मण्डित-रोटी की शोभा विलक्षण है। ४६४. अपने अम्बुजकोष-सदृश-मुख को खोलकर धीरे-धीरे माखन-रोटी वे मुख के भीतर ले जाते हैं, तथा उल्लास भरे नेत्रों से जननी की ओर देखते हैं। ४६५. इतने में नन्दरायजी आ जाते हैं। श्रीकृष्ण रोटी को आधी खायी छोड़ बिना मुख धोये बाबा की धोती से लिपट जाते हैं, कहते हैं - "बाबा, तुमने अभी तक कलेदा किया ही नहीं और मैं दो बार माखन खा आया। क्या तुम्हें भूख नहीं लगती ? ४६६. श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य करके अपने बाबा को रिझा रहे हैं। ४६७. श्रीकृष्ण के नग्न-नील-अंगों से ज्योति झर रही है। बन्धूकवर्ण अधरों पर हास्य है। जननी के द्वारा स्नेह से सँवारी चोटी पर हाथ रखकर उल्लास में भरे वे समस्त अंगों से थिरक-थिरक नाच रहे हैं। ४६८. श्रीकृष्ण के अधरों से सुधासिक्त रोटी के उस टूक को एक भाग्यवान् काग खा रहा है। नवनीत खंड उससे खाया नहीं जा रहा है, उसका सम्पूर्ण मुख धवल हो गया है। वह रोटी लेकर उड़ता है, नवनीत खंड पुनः धरा पर गिर जाता है। एक वानर उसे उठाकर खाता है।

४६९. एक ग्वालिन प्रत्याशा लगाये हुए है, व्रजरानी उसे कोई गृहकार्य बतावें जिससे वह श्रीकृष्णचन्द्र का मुख कुछ काल तक और देखती रह पावे।

४७०. नन्दरानी उसे खड़ी देखकर कहती हैं -

**पाहुनी कर दै तनिक मह्यौ।**
**हौं लागी गृहकाज रसोई यशुमति विनय कह्यौ**
**आरि करत मनमोहन मेरो अंचलि आनि गह्यौ**

४७१. अब तो उसके आनन्द का पार नहीं है। आनन्द में निमग्न वह मथानी की ओर चली। ४७२. उसकी दृष्टि तो यशोदा के अंक में विराजित श्रीकृष्ण को एकटक देख रही है। अतः मथानी से उसके पैर टकरा जाते हैं।

४७३. नेत्र श्रीकृष्ण के रूप पर ऐसे लुब्ध हैं कि दधि की मटकी का पूरी तरह उलट जाना, दधि का बह जाना उसे कुछ भी ध्यान नहीं है। ४७४. वह तो देख रही है -- कुञ्चित-केश-कलाप, ललाट का वह केसर-बिन्दु, रतनारे चंचलनयन, सुढार युग्म-कपोल, अरुणिम अधर, कठुला-भूषित कम्बुकण्ठ, व्याघ्र-नख-राजित वक्षस्थल, सुन्दर नाभिकमल, किंकिणी-भूषित कटि देश, सुकोमल छोटे बाहु-युगल, हस्तकमल, सुन्दर मनोहर जानु, गुल्फ, चरण-तल, मथानी को देख सकें नयनों में इतना अवकाश ही नहीं था।

४७५. मथानी के पास अनुमान से जा पहुँची, देख नहीं पायी, चरणों से दधिपात्र उलटा हो गया, दही-धारा बह चली। ४७६. अभी भी वह इतना ही समझी मटका मात्र तिरछा हुआ है उसमें दधि ज्यों-का-त्यों है। ४७७. नेत्र तो वहीं उसी शोभा में विजड़ित हैं। ४७८. अतः अनुमान से ही मटका सीधा कर वह बिलोना प्रारंभ कर देती है। ४७९. प्रेम-विवश ग्वालिन यह नहीं जानती कि रीते पात्र में ही मन्थन दण्ड चल रहा है, दही तो बाहर बह गया है। ४८०. श्रीकृष्णचन्द्र माता की गोद में स्तन पीना छोड़कर ग्वालिन की प्रेम दशा देख रहे हैं। वे हँसकर जननी को ग्वालिन की दशा दिखाते हैं। ४८१. जननी देखकर कहती है - "है ! माखन कहां से निकलेगा, दधि तो बह गया ? री पगली ! नैकु अपने कौं सँभार। अब तो ग्वालिन को दधिपात्र की वास्तविकता का पता चलता है। ४८२. वह बहुत संकोच में पड़ती है कि उससे यशोदारानी का इतना दधि विनष्ट हो गया, एवं यशोदा संकोच करती है कि उसकी मेरे लाला से लगी प्रेम-समाधि में उसने व्यवधान उपस्थित कर दिया। ४८३. दूसरे दिन वह ग्वालिन पुनः आई है। आज मैया श्रीकृष्ण को कजरी गैया का दूध पिलाना चाह रही है। श्रीकृष्ण हठ कर बैठे हैं, दूध पीते नहीं। ४८४. जननी की बुद्धि में एक आकर्षक उपाय उपजता है। वे कहती हैं --

कजरी को पय पियहु लाल मेरे जासौं बेनि बढै।

४८५. इस प्रलोभन में श्रीकृष्ण आ जाते हैं। ४८६. कजरी का दूध पीने से मेरी चोटी बढ़ जायेगी इस उल्लास में वे दूध पीने लग जाते हैं। परन्तु साथ ही साथ वे अपनी चोटी पर हाथ रखकर तत्क्षण ही बेनी बढ़ने का अनुभव करना चाह रहे हैं। ४८७.जब बेनी बढ़ी नहीं दिखती, उतनी ही समझ में आती है तो उस समय उनके आनन-सरोज पर विविध भाव-लहरियों

की शोभा देखते ही बनती है। ४८८. पराजय का रोष, भविष्य में कभी दूध नहीं पीने का रोषमूलक निश्चय, जननी के प्रति अविश्वास, दुग्धपान-जन्य स्वाभाविक तृप्ति सब भाव एक साथ उनके कमनीय मुख पर व्यक्त हो रहे हैं। ४८९. अपने को सर्वथा विस्मृत किये ग्वालिन श्रीकृष्ण की मुख-शोभा-पान करने में पूर्णतया निरत है। ४९०. जननी से रूठे हुए श्रीकृष्ण उधर उससे टकरा जाते हैं। ४९१. वह पूर्णतया बाह्य-ज्ञान शून्य हो गयी। पूरे आठपहर वह प्रस्तर प्रतिमा बनी रहती है। ४९२. आज तीसरे दिवस वह पुनः आयी है। मैया विविध पक्वान्नों से भरी थाली लिये अपने कन्हैया को खिलाना चाह रही है। ४९३. गोपसुन्दरी श्यामसुन्दर के ठीक पीछे खड़ी उनके मधुर वचनामृत सुनकर मत्त हो जा रही है। ४९४. श्रीकृष्ण कह रहे हैं -

**"मैया री मोहि माखन भावै**
**"जो मेवा पक्वान्न कहति तू, मोहि नहीं रुचि आवै।"**

४९५. इस मत्तता के आवेश-वश उसके मन में एक संकल्प जाग उठता है। क्या ऐसा संभव है कि मेरे घर में मैं दधिमंथन करके छुप जाऊँ और श्रीकृष्ण मेरे घर आकर निस्संकोच मेरे घर का नवनीत रुचि भर खावैं। मेरे नेत्रों की यह साध कभी पूरी होगी क्या ? "सूरदास प्रभु अन्तरजामी ग्वालिनी मन की जानी" ४९६.ग्वालिन नन्दभवन से लौटकर अपने घर पहुँची। ४९७. यंत्रचालित से उसके हाथ दधिमंथन कर रहे हैं। ४९८. रह-रहकर वह द्वार की ओर देखती है, उसे श्रीकृष्ण की उपस्थिति का सन्देह होता है। ४९९. वाञ्छाकल्पतरु ब्रजेन्द्रनन्दन वास्तव में ही उसके घर की ओर चल पड़े हैं ५००. गोपसुन्दरी के नन्दभवन से लौटते ही श्रीकृष्ण मैयायशोदा की गोद से भाग चले थे। ५०१. क्षणभर का भी बिलम्ब आज उन्हें असह्य हो रहा है। **"गये श्याम तिहिं ग्वालिन के घर देख्यौ नहीं कोउ इत उत !!"** श्रीकृष्ण आज सर्वथा एकाकी ग्वालिनि के घर आये हैं। ५०२. ग्वालिन चकित है। "सचमुच ही श्रीकृष्ण मेरे द्वार पर खड़े हैं" - ग्वालिनि विद्युद्गति से मणिखंभ की ओट में अपने को छुपा लेती है। ५०३. श्रीकृष्ण चुपचाप भीतर प्रवेश कर, जाते हैं। ५०४. ओह ! उनकी अतुलित शोभा उस समय कैसी है ?

**मुख पर चन्द डारौं वारि।**
**कुटिल कच पर भ्रमर वारौं, भौंह पर धनुवारि।**
**भाल केसर तिलक छबि पर मदन सत-सत वारि।।**

५०५. श्रीकृष्णचन्द्र ग्वालिन के मनोरथ को पूर्ण करने की लीला कर रहे हैं। पास ही नवनीत पूर्ण पात्र पड़ा है। वे पात्र में से माखन निकाल-निकाल कर खाने लग जाते है। ५०६. मणिस्तंभ में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दिखता है। ५०७. उन्हें लगता है जैसे एक अन्य शिशु भी उनके साथ चला आया है। ५०८. वे उससे वार्तालाप करते है - "भैया तू किसी से कुछ कहना मत ! हम लोग साथी हैं। यह ले तू भी खा।" श्रीकृष्ण प्रतिबिम्ब के मुख पर नवनीत का लौंदा ड़ालते हैं। परन्तु लौंदा गिर जाता है। "नहीं, नहीं, यह तो उचित नहीं, तूने यह मक्खन गिरा क्यों दिया ? क्या सभी अकेला लेना चाहता है। नहीं यह नहीं हो सकता। तुझे अधिक से अधिक एक कमौरी दे सकता हूँ।" ५०९. नन्दनन्दन की मुग्ध चेष्टा देखकर ग्वालिन जोर से हँस उठती है। ५१०. श्रीकृष्ण चन्द्र ग्वालिन को देख लेते हैं। एक अप्रतिम सुमधुर संकोच की छाया नन्दनन्दन के मुखचन्द्र को आवृत कर लेती है ५११. वे तुरन्त वहाँ से कुंज वीथी की ओर भाग चलते हैं। ५१२. बडभागिनी गोपसुन्दरी आनन्दातिरेक वश बाह्यज्ञानशून्य आत्मविस्मृत है। उसकी अद्‌भुत विचित्र दशा देखकर अन्य गोपसुन्दरियाँ चकित हो रही हैं।

## गुरु प्राप्ति की चिन्ता

पू० गुरुदेव का तीन लाख प्रतिदिन नामजप चल ही रहा था, साथ ही वे इस प्रकार पाँच हजार वाक्यों में अपने मन को दौड़ाते हुए श्रीमद्‌भागवद्‌गीता में वर्णित श्रीकृष्णलीलाओं में मन उलझाने लगे। लीलाएँ पू. गुरुदेव के सम्मुख ज्यों-ज्यों मूर्त होने लगीं, त्यों-त्यों पू. गुरुदेव श्रीकृष्ण को सुखी करने वाले प्रेम को प्राप्त करने को व्याकुल रहने लगे।

वे चिन्तित रहते कि उनके हृदय में इस रसमय प्रेम का बीज कैसे पड़े ? उन्हें ऐसे प्रेमीजन कहाँ से मिलें जिनके संग के मधुमय परम निर्मल भावरस से यह प्रेम सींचा जाता है। प्रेमीजनों की प्रेम-चर्चा रूपी अनुकूल हवा पाकर वह फिर बीज रूप में नहीं रहकर अंकुरित होता है। उन्हीं के निरापद सत्संग में वह पल्लवित होता है, पुष्पित होता है। तदनन्तर अपने प्राणवल्लभ प्रियतम नीलसुन्दर को यह मीठा प्रेमफल प्रदान करता है। इस फल से प्रियतम को परम आनन्द की प्राप्ति होती है। फिर श्रीकृष्ण के मन में इस मीठे फल को परिमाणरहित रूप में पाने की लालसा बढ़ती ही जाती है, एवं वे

उस मधुर फल के प्रदाता रस-समुद्र अपने प्रेमास्पद को पलभर के लिये भी नहीं त्यागते। वे गंभीर विचार में पड़ जाते – "श्री चैतन्य महाप्रभु जैसा महा प्रेमी रससिद्ध सन्त इस धरातल में क्या आज है ? फिर वह मुझे कैसे प्राप्त होगा ? क्या मुझे वह गुरु रूप में प्राप्त हो सकेगा ? क्या वह मुझे अपनायेगा? यह राधातत्व क्या है ? श्रीवृन्दावन का स्वरूप क्या है ? कुंज-निकुंज कैसे हैं ? गिरिराज पर्वत का वास्तव में चिन्मय स्वरूप कैसा दिव्य है ? मेरा गोपी शरीर क्या है ? उसका नाम क्या है ? मेरे भाव-शरीर के माता-पिता कौन हैं ? मेरी सखियाँ कौन-कौन हैं ? श्री राधाकृष्ण की सरस उपासना की पद्धति क्या है ? मैं किसकी सन्निधि में अष्टयाम सेवा करूँ। मेरी सेवा का स्वरूप क्या हो ? मेरे लीला-चिन्तन का शास्त्रीय आधार क्या हो ?

यह सत्य है – सर्वातीत, सर्वमय, सब लोकों के एकमात्र आधार, सबके नियन्ता ईश्वर श्रीकृष्ण मेरे दृष्टिपथ में रहते हैं। वे एक पल के लिये भी मुझे छोड़ते नहीं हैं। वे अवश्य मेरी इन समस्याओं का भी कोई समाधान अवश्य ढूँढ़े हुए हैं। वे स्वयं ही परम प्रेमस्वरूप गुरुदेव के रूप में मेरे सम्मुख अवश्यमेव प्रकट होंगे। परन्तु वह कृपा का शुभ दिन कब होगा ?

पू. गुरुदेव की उन दिनों जब से वे कलकत्ते में यावज्जीवन पोद्दार महाराज के संग का निर्णय करके उनके ही साथ-साथ गोरखपुर रहने आ गये थे, उपर्लिखित गंभीर समस्यायें थीं।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या किसी भगवत्प्राप्त व्यक्ति को भी किसी साधना के लिये भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य गुरु की आवश्यकता होती है ? जब स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के उनको अखण्ड अष्टयाम दर्शन होते थे, तो फिर उन्हें अन्य किसी भी गुरु की क्या आवश्यकता थी ? यह पहला प्रश्न होता है।

दूसरा प्रश्न है – श्रीपोद्दार महाराज ने पू. गुरुदेव को उनका चरण स्पर्श करके शक्तिपात द्वारा उन्हें सगुण साकार भगवान के दर्शन करवा दिये थे। इन भगवान् ने गीता के १८ वें अध्याय के 'यः इमं परमं गुह्यं'' श्लोक की नवीन व्याख्या करके यह भी सिद्ध कर दिया था कि वे ही परात्पर परब्रह्म की प्रतिष्ठा-साधना के सर्वोच्च पद हैं, वे ही ईश्वरों के महेश्वर एवं सबकी चरम एवं परम गति हैं। ये ही ब्रह्म, रुद्र, शुक, नारद, भीष्म, सनकादि के परम वन्दित चरण हैं ; तब पू. गुरुदेव के श्रीपोद्दार महाराज तो गुरु बन ही गये थे,

फिर किसी अन्य गुरु की दीक्षा की क्या आवश्यकता शेष रही थी ? ये यहाँ दो प्रश्न विचारणीय हैं।

वास्तव में तत्वतः श्री राधा एवं श्रीकृष्ण दो तत्व नहीं हैं। एक ही हैं, परन्तु फिर भी प्रेमभाव की साधना में आश्रय और विषय दो तट प्रत्यक्ष परिलक्षित होते हैं। प्रेमभाव की 'आश्रय' हैं श्री राधारानी एवं इसी प्रीतिभाव के विषय 'श्रीकृष्ण' हैं। प्रीतिभाव की 'आश्रय' श्री राधारानी की ही कायव्यूहरूपा गोपियाँ एवं मंजरियां है। अतः निकुञ्जलीला में प्रवेश कराके गोपी भावापन्न अथवा मंजरी भावापन्न होने की योग्यता श्रीराधारानी की ही कृपा से संभव है। निकुञ्जलीला का यही सौरभ है कि यहाँ स्वयं रसराज श्रीकृष्ण भी बिना गोपियों की आज्ञा के, उनकी अनुमति के बिना, उनकी प्रीति लाभ किये बिना प्रवेश नहीं कर सकते, फिर अन्य जीव की गति ही कैसे संभव है।

इसीलिये इस निकुंज साधना में याज्ञवल्क्यादि, दुर्वासादि एवं सनकादि की भी गति नहीं है। इस महादुर्लभ रस में इनका प्रवेश ही नहीं हैं। याज्ञवल्क्य एवं सनकादि नित्य परमपूज्य एवं वन्दनीय हैं। परन्तु उनका क्षेत्र दूसरा है महाभाव रसराज का वक्र आनन्द, उच्छलित आनन्द उनके लिये दुष्प्राप्य ही है। वक्र शब्द जहाँ व्रजरस की गति की ओर संकेत करता है वहाँ उच्छलित शब्द उसके उद्वेलन को लेकर है। यह विचित्र रस उन ऋषि मुनियों की परिधि के परे की वस्तु है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की कोटि के रससिद्ध सन्त तो स्वयं श्रीराधारानी के स्वरूप ही होते हैं। वैसे प्रायः उच्च कोटि के रससिद्ध संत किसी उच्च महाभावापन्न सखी अथवा मंजरी के प्रतिनिधि रूप होते हैं। ऐसी गोपी भावापन्ना किसी सन्त से दीक्षा हुए बिना निकुञ्जलीला में प्रवेश प्रायः होता नहीं है। यह रस की अनादि सिद्ध परिपाटी है। श्रीपोद्दार महाराज ऐसे ही बहुत ही उच्च कोटि के रससिद्ध सन्त थे। उन्होंने निर्गुण निराकार मत के परमाग्रही पू. गुरुदेव को चरण स्पर्श करके सगुण साकारवादी बना दिया था। उन्हें साक्षात् सगुण-साकार वृन्दावनेश्वर के दर्शन कराये, परन्तु यह कृपा उन्होंने अपने सिद्ध सन्तस्वरूप से ही की थी। यहाँ उन्होंने अपने महाभाव-मय रससिद्ध राधाभाव भावित स्वरूप को संगुप्त ही रखा था, क्योंकि राधाभाव की विलक्षण अति उच्च प्रीतिस्थिति को प्राप्त करने के पू. गुरुदेव उस समय सर्वथा अनधिकारी थे। वे तो रासलीला आदि श्रीमद्भागवद्गीता के

प्रसंगों को प्रक्षिप्त मानते थे, उनकी मखौल उड़ाया करते थे। अतः कृपाशक्ति ने उन्हें मात्र वृन्दावनेश्वर श्री कृष्ण के, कदम्बवृक्ष के नीचे स्थित रूप के ही दर्शन पाने का अधिकारी माना था।

अब उनकी उत्कट जिज्ञासा भक्तिलीला बीज को प्राप्त करने की हो रही थी। यथार्थतः यही तथ्य है कि श्रीकृष्ण दर्शन तो सुलभ है, वे तो असुरों, दुर्योधनादि कृष्णद्वेषी जनों को भी दर्शन दे देते हैं, परन्तु भक्तिलीला का बीज तो उद्धवादि श्रीकृष्ण के अन्तरंग सखाओं को भी गोपियों की चरणधूलि की कृपा से ही मिल सकता है। श्रीकृष्ण भगवान स्वयं भी किसी को अपना प्रेम नहीं दे सकते। भगवान श्रीकृष्ण को भी अपना प्रेम देने के लिये राधा रूप ही ग्रहण करना पड़ता है अतः जबतक पू. गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के सखी स्वरूपा सिद्धदेह से सम्पर्कित नहीं होते उनका निकुंजलीला में प्रवेश असंभव था।

श्री मन्महाप्रभु ने श्री सनातनगोस्वामीपाद को शिक्षा देते हुए मध्यलीला के बाईसवें परिच्छेद के ४८ वें पयार छन्द में कहा है - "कृष्ण भक्ति जन्म मूल हय साधु-संग' यहाँ साधु का अर्थ गोपीभावापन्न किसी रससिद्ध सन्त से ही है।

श्रीमन्महाप्रभु श्री रूपशिक्षा में भी कहते हैं -

**ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव**
**गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाये भक्तिलता बीज ।।१२।।**

यह भक्तिबीज महत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ केवल कृष्णकृपा उन्होंने नहीं कहा वरं 'कृष्णप्रिया' का ही वाचक यहां 'गुरु' शब्द है। कृष्ण-प्रिया गोपीजन एवं श्री राधारानी ही प्रीतिभक्ति का बीज प्रदान कर सकती हैं - यही तात्पर्य है।

प्रेम' कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा का नाम है। कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा के द्वारा श्रीकृष्ण को सुखी करने की जो इच्छा है, उसका ही नाम प्रेम है। वस्तुतः जीव के प्राकृत चित्त में ऐसी इच्छा स्वतः उदय कदापि नहीं हो सकती। साधनभक्ति का अनुष्ठान करते-करते जब चित्त शुद्ध सत्व के आविर्भाव की योग्यता प्राप्त करता है तब महत्कृपा से चिद्शक्ति के वैचित्र्यी विशेष का बीज साधक पर पड़ता है। तब अप्राकृत भगवल्लीला के उन्मेष को धारण करने वाली आसक्तिका उसमें उदय होता है। तब अप्राकृत विशुद्ध

सत्वमयी भगवल्लीला का प्रकाश एवं उसमें रति होती है और यही रति उत्कर्षता को प्राप्त कर प्रीति में परिणत होती है।

यथार्थ प्रेम साधना में भावदेह द्वारा ही साधना होती है। शास्त्र का कोई भी विधि-निषेध इसमें नहीं रहता। जबतक इस मायिक देह में अभिमान रहता है, तबतक प्रेम साधना तो बहुत ही दूर की बात है, ज्ञान-साधना भी संभव नहीं है। भावजीव का मूल स्वभाव ही होता है। प्रत्येक जीव का मूलस्वभाव शान्तरस प्रधान है, दास्यभाव प्रधान है, सख्यरस प्रधान है, वात्सल्यरस प्रधान है अथवा मधुररस प्रधान है, यह उसकी स्वयं की दृष्टि नहीं पहचान आती है।

नाम साधना एवं अन्य किसी भी प्रकार की साधना का तभी तक औचित्य है जब तक कि सद्गुरु नहीं मिलते। प्रारंभिक साधना वास्तविक साधना होती ही नहीं। जबतक सद्गुरु की कृपा नहीं होती तबतक आन्तरिक सत्यभाव में प्रवेश ही नहीं मिलता। गुरु प्राप्ति होने पर ही दीक्षा होती है। दीक्षा के पश्चात् ही गुरुदेव द्वारा सच्चे भावदेह का प्रकाश होता है।

भाव की दो विशेषताएँ हैं। एक भाव का आश्रय आलंबन है, दूसरा विषयालंबन। भाव आश्रय-विषय का अवलंबन करते हुए ही संचरित होता है। भाव का आश्रयालंबन हैं - श्रीराधा, सखागण, यशोदादि वात्सल्यवती गोपियाँ, दास्यरति प्रधान दासियाँ, बसुदेव-देवकी आदि भक्तगण। यह सब देहधारी आत्मा हैं। परन्तु इनका देह मायिक सर्वथा नहीं है। इनके स्थूल, सूक्ष्म, कारणादि देह नहीं होते । जैसे देह के रहने पर आत्मा को उसके प्रति अभिमान होता है, उसी प्रकार भाव के जागरण पर भावदेह में भी अभिमान होता है। इस स्थिति में साधक का स्थूलदेह किसी भी प्रकार का विक्षेप नहीं कर पाता। अगर ऐसा करता है तो समझना चाहिये कि जागतिक देहाध्यास अभीतक मिटा नहीं है। उदाहरण स्वरूप एक अस्सी वर्ष के वृद्ध का भाव दुधमुँहे शिशु का हो सकता है। वृद्ध जब माँ की उपासना करता है तो वह भावरूप में शिशु हो जाता है। इसी प्रकार एक बलिष्ठ पुरुष कोमलांगी स्त्री हो जाता है। जबतक भावदेह में अभिनिवेश नहीं होता, पूर्णतया स्व का अभिमान नष्ट नहीं होता, तबतक काल्पनिक शेखचिल्ली की कल्पना भले ही कोई करे भावसाधना संभव नहीं है। भावदेह अमूर्त नहीं होती, आकार विशिष्ट होती है। उसके हाथ-पैर, आँख-नाक, मुख, सौन्दर्य, सौरभ, माधुर्य, स्वभाव, उसकी कामनाएँ, रुचि, उसमें उग्रता, शील कोमलता, उसमें अपना-परायापन, उसका

घर-द्वार, माता-पिता, भाई-बन्धु, पति-पुत्र, उसका धन, मान, मर्यादा, लज्जा, कुल, गोत्र सब होता है।

भाव का आश्रय रूप जब भाव में प्रकट होता है तो भाव का विषयालंबन भी प्रकट होता है। भावदेह के प्रकट होते ही भाव के विषय का आविर्भाव स्वाभाविक ही होता है। जैसे ही शिशु भाव परिपक्व होता है स्वाभाविक ही माता का भी प्रकाश अपने आप हो ही जाता है। प्रिया भाव के प्रकट होते ही प्रियतम विषयालंबन स्वभावतः ही प्रकट हो जायेंगे। यदि किसी के सम्मुख विषयालंबन का प्रत्यक्षीकरण नहीं है तो यही मानना चाहिए कि आश्रयालंबन भी परिपक्व नहीं ही हुआ है। विषयालंबन और आश्रयालंबन दोनों का प्रकाश युगपत् एक साथ अवश्यंभावी रूप से ही होता है। भाव का आश्रयरूप जब भावदेह में प्रकट होता है तब धाम का भी स्वतः प्राकट्य हो जायगा। देह के जन्म लेते ही जैसे उसका घर-द्वार, मातापिता होते हैं वैसे ही भावदेह के प्रकट होते ही उसका भी पूरा संसार स्वभावतः अपने आप प्रकट हो जाता है।

यह भाव ही परिपक्व होकर प्रेम में परिणत होता है। भाव प्रेम में परिणत होते ही भगवत्स्वरूप स्वतः आविर्भूत होता है। उसका आह्वान नहीं करना पड़ता। उदाहरण के लिये अगर मातृभाव को लिया जाय तो समझना चाहिये कि भावदेह रूप शिशुभाव की परिपक्वता होते ही, प्रेम प्राप्त होता है और तत्क्षण ही प्रेम मातृस्वरूप विषय का आविर्भाव कर देता है। यह एक प्रकार से प्रेमसिद्धि है। प्रेम प्राप्त होते ही प्रेमाधार प्रियतम एवं प्रेमाश्रय प्रिया समानाधिकार हो जाते हैं। अर्थात् प्रियतम के आलिंगन में प्रिया बद्ध हो जाती है। माँ की गोद में शिशु बैठा ही होता है, शिशु का धाम माँ की गोद ही है। लेकिन यह भी प्रीति का चरम विकास नहीं है। प्रीति का विकास रस में होता है, भावदेह में द्वैत रहता है। प्रिया के साथ प्रियतम का एवं प्रियतम के साथ प्रिया की अभेद उपलब्धि नहीं होती। आगे चलकर भाव रसमय हो जाता है तो यह स्नेह संज्ञक बन जाता है। यह रसमयी हुआ भक्त दिव्यलीला में प्रवेश पाता है। स्नेह तक प्रियतम ऊर्ध्व एवं प्रिया नीचे रहती हैं। स्नेह के पश्चात् ज्यों ही यह रस 'मान' भाव में प्रवेश करता है भक्त ऊर्ध्व हो जाता है और भगवान नीचे हो जाते हैं। भगवान भक्तकामी हुए भक्त को मनाते हैं और भक्त रूठता है। प्राकृत शब्दों में इस पवित्रतम भाव को प्रकट करना असंभव है।

## विलक्षण दिव्य स्वप्न

पू. गुरुदेव इन्हीं चिन्ताओं में थे, तभी उन्हें एक विलक्षण दिव्यस्वप्न हुआ। भगवान श्रीकृष्ण की कृपाशक्ति ही इस स्वप्न के रूप में उनके सम्मुख व्यक्त हुई थी।

स्वप्न में श्रीपोद्दार महाराज की धर्मपत्नी उनके सामने खड़ी थी। उनका उस समय साधारण पाँचभौतिक शरीर सर्वथा नहीं था। वे अप्राकृत दिव्य भगवती स्वरूप धारण किये हुए थीं। अनके चतुर्दिक विलक्षण रक्तवर्ण का तेज विकीर्ण हो रहा था। रोम-रोम से कोटि-कोटि सूर्य समप्रभ प्रकाशरश्मियाँ निरन्तर प्रस्फुटित हो रही थीं। इस विलक्षण तेजपुंज महिला -- जिसकी शरीराकृति पू. पोद्दार महाराज की धर्मपत्नी जैसी ही थी -- को देखकर पू. गुरुदेव ने स्वप्न एवं जागरण सब समय अपने हृदय में प्रकट वंशी विमोहन श्रीकृष्ण से ही पूछा कि ये कौन हैं ? उत्तर स्वरूप उनके अन्तःकरण में ही एक अति सुमधुर मीठी दिव्य ध्वनि सुनाई पड़ी - "ये ही मेरी समग्र प्रकट-अप्रकट लीला की संरचनाकर्त्री, संचालिका, सूत्रधार महायोगमाया हैं। ये अघटन-घटना-पटीयसी सर्वभवनसमर्था मेरी कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् समर्था महाशक्ति हैं। इन महात्रिपुरसुन्दरी आद्याशक्ति को प्रणाम करो।"

इस दर्शन के साथ २५ वर्ष के तरुण सन्यासी पू. गुरुदेव एक स्तनपायी शिशु हो गये। उनके भावशरीर का आश्रयालंबन रूप तो स्तन पीनेवाला अबोध शिशु हो गया और विषयालंबन जगज्जननी माँ भगवती हो गयीं। उन दिव्य स्वरूपा माँ जगज्जननी ने उस शिशुरूपधारी गुरुदेव को अपनी गोद में उठाकर अपने वक्षस्थल से चिपका लिया।

इसके पश्चात् भगवती ने उन्हें ललिता कुंज का दर्शन कराया। अहा ! कैसा विलक्षण वह कुंज था।

वहाँ पक्षी समूह ऐसी अप्राकृत स्वरलहरी में कलरव कर रहा था मानो सम्पूर्ण राग-रागनियाँ वहाँ मूर्त्त होकर सम्मिलित हुई समवेत स्वर में गायन कर रही हों। वट के विटपों पर शंखालु वल्लरी छायी हुई थी। मूल-प्रदेश में हरी-हरी तृणराशि अति सुकोमल आस्तरण का निर्माण कररही थी। करीर वृक्ष इस तृणराशि को अतिशय प्रेमभरे निहार रहे थे। शंखालु वल्लरी का अधिकांश भाग पृथ्वी पर ही बिखरा था। द्रुम वट अपनी बाहों रूपी शाखाओं को झुकाकर अपने करपल्लव रूपी छोटी टहनियों को विनीत किये उसे कह रहा

था – "प्रिये ! सब कुछं तेरी प्रेमिल आँखों का ही भ्रम है। इस शशि सुमनावली से जो रह-रहकर झलमल कर रही है,- मह तेरी छाया ही तो मेरे उर में थी, अन्य मेरे हृदय में तेरे सिवा कौन अधिकार कर सकता है ?

इधर सत्वमयी उज्ज्वल अमृतालता नीम के वृक्षों को आलिंगित किये अति सुख से स्वच्छन्द फैल रही थी। उसका प्रसार परम मनोहारी था।

और देखो ! ये कामिनी लतायें प्रजापति की क्रीड़ा केलि की वार्ता वनदेवी को अति सरस भाव से बखान कर रही थीं। इधर गन्धवाह वायु से रजनी गंधा भी अपने प्रेम की अति सरस गाथा निवेदन कर रही थी।

और कुमुदिनी भी क्यों पीछे रहे ! वह हिमकर से उस प्रमत्त हुए अलि की सब करतूत बखान कर रही थी जो उसके कोष में बँधकर अब सुषुप्त हो चुका है।

जगज्जननी माँ भगवती ललिताम्बा शशिशेखरा की गोद में पू. गुरुदेव उसके वक्षस्थल में मुख सटाये आँचल में से मुख छुपाये टुकुर-टुकुर उन कुंजों की शोभा निरख रहे थे। पू. श्री गुरुदेव ने देखा कि श्रीपोद्दार महाराज उन्हीं कुंजों में से विल्ववृक्षों के हरेभरे एक कुञ्ज में विराज रहे हैं। माँ जगज्जननी उन्हें हाथ से संकेत कर रही थी कि इन्हें ही अपना सर्वस्व मान ले।"

इसी समय पू. गुरुदेव की स्थिति जाग्रत अवस्था की हो गयी। जिस समय पू. गुरुदेव उपरोक्त दृश्य देख रहे थे उस समय उनकी दशा न जाग्रत थी, न वे स्वप्न में थे, न ही तन्द्रा में थे। वह कैसी अवस्था थी इसे कोई भी ठीक शब्द नहीं दे सकता। सर्व-साधारण को समझाने के लिये 'स्वप्न देखा' यह शब्द दिया गया है।

पू. गुरुदेव आश्चर्यचकित विस्फारित नेत्र विचार करने लगे – यह क्या दृश्य मेरे सम्मुख प्रकट हुआ ? इससे मैं क्या अर्थ ग्रहण करूँ ? यह मेरी जीवन यात्रा की किस गति को संकेतित कर रहा है ?

इस स्वप्न के पू. गुरुदेव ने दो ही अर्थ लगाये ? पहला, अवश्य ही मुझे मेरे आगे के पथ-निर्देश के लिये भगवती आद्याशक्ति त्रिपुरसुन्दरी की उपासना करनी चाहिये। दूसरा श्रीपोद्दार महाराज ही मेरे वर्तमान और भविष्य के एक मात्र पथ-प्रदर्शक होंगे।

## गुरुदीक्षा

**जिस वन में गाय चराते हो, मुरली मुखरित जो है प्रियतम।**
**उसके उन निभृत निकुंजों के सर्वथा अगम थल में प्रियतम।**
**जा सकूँ, अतुल वह शक्तिपात तुमने पिंजर छड़ से प्रियतम।**
**था किया, सदा के लिये मिटा भिखमंगीपन मेरा प्रियतम।**

( हे प्रियतम ! जिस वन में तुम नित्य गायें चराने जाते हो, जो सदा मुरली निनाद से मुखरित रहता है, उस वन के निभृत निकुंजों में जो सर्वथा अगम्य स्थल हैं ( जहाँ शुक सनकादि सर्वपूज्य ऋषियों का भी प्रवेश नहीं, जो ब्रह्मादि देवों की पहुँच के भी परे हैं ) उन निकुंज स्थलियों में मेरा प्रवेश हो सके, मैं उनमें जा सकूं, वह शक्तिपात तुमने पिंजर स्थल की छड़ों से (अर्थात् अपने हनुमानप्रसाद पोद्दार रूप शरीर के हाथों से) किया। हे प्रियतम ! उस कृपा दान के फलस्वरूप तुमने मेरा सदा-सदा के लिये भिखमंगीपना मिटा दिया।)

अध्यात्म साधना में गुरु का स्थान अन्यतम होता है। माता के गर्भ में जिस प्रकार बीज-रूप में सन्तान रहता है और क्रमश: विकसित होकर अंग प्रत्यंग से परिपुष्टता प्राप्त करता है, इसके पश्चात प्रसव क्रिया के माध्यम से बाहर आकर इन्द्रिय-गोचर रूप में प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार गुरु स्वयं अपने आप को हृदय क्षेत्र में दीक्षा के रूप में स्थापित करता है, फिर शिष्य के द्वारा यथाविधि शोधित और रक्षित होकर शिष्य के हृदय से अपने आपको ही प्रकट करता है।

सद्गुरु पूर्ण है, वह सर्वज्ञ है, वह पूर्ण एवं सर्वज्ञान-शक्ति-समन्वित है, वह पूर्ण एवं सर्वकर्ता है, उसमें पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण क्रिया के समन्वय से पूर्ण विज्ञान शक्ति भी आविर्भूत होती है। वह असंभव संभव कर सकता है। उसकी इच्छाशक्ति महाइच्छा से एकमेक होती है। उसे क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं, उसके संकल्प से स्वत: कार्य होता है। उसके मन में कोई कार्य करने की इच्छा नहीं होती, सभी कार्य महाइच्छा के कारण होते रहते हैं। उसमें अपना संकल्प भी नहीं होता, क्योंकि वह अहंकारशून्य होता है। अत: महासंकल्प का ही उसमें बिम्ब पड़ता है। वही उसकी नियंतृ शक्ति होती है।

पू. गुरुदेव ने मई ११, १९३९ ई. को पू. पोद्दार महाराज का अखण्ड जीवन-व्यापी संग करने का व्रत लिया था। यह घटना लगभग जून मास की है। पू. गुरुदेव इन दिनों व्रजभाव-साधना की ऐसी प्रश्नावलियों में उलझे थे जिनका समाधान एक मात्र गुरु ही कर सकता है। ऐसा गुरु जो सिद्ध स्थिति में हो। शास्त्र के अवलोकन-अध्ययन से वे प्रश्न हल नहीं हो सकते थे। विचार शक्ति भी उन समस्याओं को सुलझा नहीं सकती थी। वे प्रश्न हल हो सकते थे मात्र सिद्ध गुरु की अहेतुकी कृपा से ही। पर जो वास्तव में सिद्ध है, वह अपने को सिद्ध बतलाने के लिये व्यक्त होगा नहीं और जो व्यक्त स्तर पर अपने को सिद्ध घोषित करते हैं, उनमें से शायद ही कोई विरला सिद्ध हो।

पू. गुरुदेव के सामने भी कुछ ऐसी समस्याएँ थीं जिनका समाधान वे पाना चाहते थे, परन्तु वे निरुपाय थे। श्रीपोद्दार महाराज सिद्ध स्तर के सन्त थे, पर वे गुरुपद की भावना को अंगीकार करने की भावना से कोसों दूर थे।

उन दिनों पू. गुरुदेव उस कुटीर में रहा करते थे, जो श्रीगंगाबाबू (बाबू गंगाशरण सिंह, गीताप्रेस के कार्य-प्रबंधक) ने अपनी साधना करने के लिये निर्माण करायी थी, एवं उस समय रिक्त ही पड़ी थी। बाद में पू. गुरुदेव के लिये स्वतंत्र कुटिया बन गई। अब इसमें श्रीहरिवल्लभजी ठहरा करते थे। पू. गुरुदेव विचारमग्न अपनी कुटीर के बाहर बैठे थे। विचार की गहरी रेखाएँ उनके मुख मंडल पर अंकित थीं। उसी समय पू. गुरुदेव के सामने का दृष्य बदला। उन्होंने देखा कि मुसकाते हुए पू. पोद्दार महाराज आये हैं। वस्तुतः वे सशरीर आये अथवा नहीं आये, कहा नहीं जा सकता, परन्तु पू. गुरुदेव के लिये तो वे आये ही थे। पू. गुरुदेव की उस समय सर्वथा अप्राकृत स्थिति थी। आते ही उन्होंने पूछा – "बाबा ! आज आप गंभीर कैसे बैठे हैं ?"

पू. गुरुदेव ने उनसे उत्तर में कहा – मेरे मन में एक गंभीर समस्या है। व्रजभाव सम्बंधी एक उलझन है, जिसका समाधान मात्र गुरुकृपा से ही संभव है परन्तु मैं कहीं जानेवाला नहीं और इसप्रकार का सौभाग्य दिखलायी देता नहीं कि सिद्ध स्तर का कोई सन्त स्वयं आकर मेरे गुरुपद को स्वीकार करे। सिद्धगुरु के बिना मेरे प्रश्नों का समाधान संभव नहीं। आप सब प्रकार से समर्थ हैं, परन्तु आप मेरा गुरुपद स्वीकार करेंगे नहीं।

श्री पोद्दार महाराज ने पूछा – "बाबा ! आपकी समस्या क्या है ?"

पू. गुरुदेव ने कहा – "तो क्या आप मेरे लिये गुरुपद स्वीकार कर सकते हैं ?"

श्रीपोद्दार महाराज ने कहा - "यह कौन सी बड़ी बात है ? यह मैंने कब कहा कि मैं किसी को शिष्य बनाऊँगा ही नहीं।"

पू. गुरुदेव को बहुत ही विस्मय हुआ। उन्होंने आश्चर्य और उल्लास मिश्रित वाणी में तुरन्त पूछ लिया - "आप कहीं मुझसे विनोद तो नहीं कर रहे हैं ? मैं ऐसा इसलिये कह रहा हूँ कि आप किसी को शिष्य रूप में स्वीकार नहीं करते। सच-सच बताइये कि क्या आप मेरे लिये गुरुपद स्वीकार कर लेंगे।"

श्रीपोद्दार महाराज की आँखों की मूक भाषा पू. गुरुदेव के लिये स्वीकृति प्रदान कर रही थी। फिर भी श्रीपोद्दार महाराज ने कहा आप अपनी दोनों हथेली मेरे सामने फैलाइये।

वह दृश्य मनोहर था जिसमें गुरुदेव बने थे तुम प्रियतम ।
थे पकड़ लिये वे हाथ लगी रहती मेंहदी जिनमें प्रियतम ।।

पू. गुरुदेव ने अपनी दोनों हथेली उनके सामने फैला दी। फिर उन्होंने हथेलियों को उलट देने की आज्ञा दी जिससे नख ऊपर हो जावें। पूज्य गुरुदेव ने अक्षरशः उनकी आज्ञा का पालन किया। नखवाला भाग आकाश की ओर एवं हस्त रेखाओं वाला भाग पृथ्वी की ओर कर दिया। इसके पश्चात वे अपनी अँगुली से पू. गुरुदेव अँगुलियों के नखों को स्पर्श करने लगे। पहले कनिष्ठिका के नख का, फिर अनामिका के, फिर मध्यमा के, तब तर्जनी के, और सबके पश्चात अंगुष्ठ के नख का स्पर्श किया। इसी प्रकार से फिर दूसरी हथेली की सभी अँगुलियों के नखों को स्पर्श किया। स्पर्श की क्रिया के समाप्त होते ही श्रीपोद्दार महाराज ने हँसते हुए कहा कि लीजिये, हो गया। इस प्रकार कहकर वे हँसते हुए चले गये।

उनके स्पर्श ने चमत्कार कर दिया। पू. गुरुदेव की सारी उलझनें तत्काल समाप्त हो गयीं। उनके सभी प्रश्न समाधान हो गये। उसी दिन स्वयमेव उन्हें उनके सभी प्रश्नों का हल मिलता चला गया। भविष्य में उनके लिये फिर कोई प्रश्न, कोई समस्या रही ही नहीं। उनके उस स्पर्श का ऐसा प्रभाव हुआ कि कालान्तर के सुदूर भविष्य में व्रजभाव की साधना सम्बन्धी कोई भी व्यक्ति कोई भी समस्या उनके सम्मुख रखता, उस समस्या का तुरन्त हल उन्हें स्फुरित हो उठता।

यह सर्वथा सत्य बात है कि समर्थ गुरु की कृपा का आश्रय मिलते ही सभी प्रश्न हल हो ही जाते है। कृपाश्रित की स्वयं की सारी समस्यायें तो दूर हो ही जाती हैं, इसके अतिरिक्त समर्थ गुरु की कृपा उस आश्रित जन को इतना सामर्थ्य प्रदान कर देती है कि दूसरों की समस्याओं का भी समाधान कर दे, उनकी विघ्न-बाधाएँ भी दूर हो जावें। वह कृपाश्रित स्वयं तो तरता ही है, दूसरों को भी तार देता है। इसी क्षमता की ओर श्री देवर्षि नारदजी ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है -

स तरति स तरति स लोकां स्तारयति

जैसे जन्म-जन्म के बुभुक्षित को कल्पतरु वृक्ष मिल जाय, जैसे मृत्यु मुख में पड़े व्यक्ति को अमृत मिल जाय, ऐसी पूर्ण समाधान की दशा उस समय पू. गुरुदेव की थी।

गुरु का शिष्य के प्रति कितना महान असीम वात्सल्य होता है, जो स्नेह एवं वात्सल्य सुख श्रीपोद्दार महाराज द्वारा उस दिन पू. गुरुदेव को मिला वह वास्तव में अकथ्य, अवर्णनीय है।

श्रीपोद्दार महाराज के जाते ही पू. गुरुदेव के चिन्तन की धारा ने एक नया मोड़ ले लिया। पू. गुरुदेव सोचने लगे - क्या यथार्थतः पोद्दार महाराज पांचभौतिक शरीर से मेरे पास आये थे अथवा भगवान श्रीकृष्ण अपनी सर्वभवन-सामर्थ्य से श्रीपोद्दार महाराज का रूप रखकर उन्हें दीक्षा दे गये। छानबीन करने पर ये ही तथ्य परिपुष्ट हुए कि श्रीपोद्दार महाराज ने सूक्ष्म शरीर से भले ही यह कार्य किया हो, स्थूल शरीर से तो वे सर्वथा नहीं ही आये थे।

## अगणित अनुभूतियों का प्रकाश

क्या कहूँ तथा क्या नहीं कहूँ, मैं समझ नहीं पाती प्रियतम।
पिंजर को सरका-सरका कर लीला तुमने जो की प्रियतम।।
लजवन्ती लतिका सी अगणित अनुभूति राशि वह है प्रियतम।
वाणी छू लेगी यदि उसको, सिकुड़ेगी ही वह तो प्रियतम।।

हे प्रियतम ! तुमने अपने (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार रूप) शरीर पिंजर को सरका-सरका कर (अर्थात् मेरे निकट ला-लाकर) जो लीलाएँ की है; उनके

संबंध में मैं क्या कहूँ तथा क्या नहीं कहूँ, मैं कुछ भी समझ ही नहीं पाती। ये मेरी एक दो नहीं, राशि-राशि अनुभूतियाँ गिनी नहीं जा सकतीं। अगणित हैं, यदि उनको वाणी छुएगी तो जो अनुभूति की पवित्रता, मर्यादा और सौन्दर्य है उसे पूरा व्यक्त न कर पाने के कारण वह संकोच में गड़ जायगी। हे प्रियतम, हाय ! मैं क्या कहना चाहती थी और जो कह गयी वह तो सर्वथा ही विकृत व्यक्त हो गया एवं जो व्यक्त करना चाहिये था, वह व्यक्त ही नहीं कर पायी।

श्रीपोद्दार महाराज लोगों के लिये विद्वान थे; बुद्धिमान थे, उन्हें हजारों लोग महापुरुष मानते थे, अनेकों ऊँची कोटि के महात्मागण भी उनमें योग की ऊँची से ऊँची विभूतियाँ देखकर अतिश्रद्धा से नमित हो जाते थे। वे अपनी आत्मगोपन-वृति की प्रबलता से सदा दीन, विनयी, अन्य महात्माओं के प्रति श्रद्धालु, सेवा परायण बने रहते थे, सबके सम्मुख अपने को हीन, हेय, तुच्छ ही व्यक्त करते थे, परन्तु सूर्य अपने को कितना ही कुहरा उत्पन्न कर ढ़के, वह प्रकट हो ही जाता है, इसी प्रकार उनकी विभूतियाँ विख्यात (प्रकट) हो ही जाती थीं।

श्रीपोद्दार महाराज में मानवीय गुण भी कम नहीं थे। वे राजनेताओं की कुशलता, उच्च कोटि की नीतिज्ञता से युक्त थे। वे बहुश्रुत थे, बहुविद् एवं आशु कवि थे। उनमें दुर्धर्ष तेज था, जो मात्र एक बार के ही संपर्क में आने पर किसी बड़े-से-बड़े व्यक्ति को भी प्रभावित कर लेता था। परन्तु पू. गुरुदेव के लिये तो वे अंधे की लकड़ी, कंगाल का धन, प्यासे का पानी, भूखे की रोटी, निराश्रयके आश्रय, निर्बल के बल, प्राणों के प्राण, जीवन के जीवन, देवों के देव, गुरुओं के गुरु, सिद्धों के सिद्ध, ईश्वरों के ईश्वर थे। पू. गुरुदेव के लिये श्रीपोद्दार महाराज सर्वस्व थे।

पू. गुरुदेव श्री मदभवद्गीतोक्त इस श्लोक को सदा स्मरण रखते थे -

नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।<br>
शक्यं एवं विधोर्द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।<br>
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।<br>
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।

(हे अर्जुन ! तू उच्च कोटि का तपस्वी है, परन्तु न तो मैं वेद विद्या के द्वारा, न ही कठोर तप से, न सर्वस्व दान से, नही ही अश्वमेधादि महान यज्ञों से इस प्रकार मिल पाता हूँ जैसा अपरोक्ष अनन्य भक्ति से मिल पाता हूँ। अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे इन्द्रिय-गोचर किया जा सकता है और मुझ में प्रविष्ट होना, एकात्म हो जाना संभव है (अन्यथा तो समग्र बुद्धियों का साक्षी होने से मुझे बुद्धि द्वारा स्पर्श भी नहीं किया जा सकता )

पू. गुरुदेव ने तो भक्ति भी नहीं की थी, उन्हें तो सबकुछ मात्र श्रीपोद्दार महाराज जैसे हेतुरहित कृपा-वर्षी, करुणा-वरुणालय दानी से ही प्राप्त हुआ था।

श्रीपोद्दार महाराज की यावज्जीवन छत्रछाया में पू. गुरुदेव ने बहुत ही सावधानी पूर्वक अपने साधन-पथ की रक्षा की। मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएँ मुख खोले सुरसा की तरह खड़ी थी। विद्या, बुद्धि, तप, दान, यज्ञ, आदि के अभिमान की बड़ी-बड़ी घाटियाँ थीं, भोगों की अनेक मनहरण वाटिकाएँ थीं; पाण्डित्य, विद्वत्ता एवं शास्त्रज्ञान के अभिमान का जाल माया बिछाये हुए थी। पू. गुरुदेव तो असाधारण विद्वान, लेखक, कवि, वक्ता, बहुभाषाविद्, कुशल संगठनकर्ता, तपोनिष्ठ, सर्वशास्त्रविशारद, ब्राह्मण शरीर थे। माया कहीं भी उन्हें भटकाने में समर्थ थी। परन्तु गुरुश्रद्धा का पाथेय, एकान्त गुरुभक्ति का कवच पहनकर सन्तप्रेम को अपना अंगरक्षक सरदार बनाकर वे माया से निर्भय थे।

अपने परम प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण को पाने के लिये उन्हें इन्हीं गुणों की आवश्यकता थी। कोरे सदाचार का अभिमान अथवा थोथे बुद्धिवाद से श्रीकृष्ण-प्रेम तो उन्हें मिलने वाला था नहीं।

पू. गुरुदेव के हृदय की एक बहुत बडी महिमा थी कि उनकी दृष्टि में पू. पोद्दार महाराज के देह में और उनके इष्ट श्रीकृष्ण में कहीं कोई भेद नहीं था। उनके परम तार्किक मन ने यह निर्विवाद सत्य मान लिया था कि किसी को धनी ही धन दे सकता है। श्रीपोद्दार महाराज स्ववस्तु का ही किसी को चरण-स्पर्श करके दान कर सकते हैं। जो वस्तु पर है वह दी ही नहीं जा सकती। अतएव परात्पर श्रीकृष्ण श्रीपोद्दार महाराज के लिये 'स्व' हैं, 'पर' कदापि-कदापि नहीं हैं। इसीलिये पू. गुरुदेव ने अपने भावों को श्रीकृष्ण-सुख-सुखिया बनाने का यही आदर्श रखा कि उनका मन, बुद्धि, चित्त

एवं इन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टा श्रीपोद्दार महाराज को समर्पित हो।

पू. गुरुदेव का पोद्दार महाराज के प्रति आदर्श आनुगत्य, आदर्श प्रेम, आदर्श त्याग, आदर्श सहिष्णुता, आदर्श समर्पण, आदर्श सेवाभाव जीवनपर्यन्त बना रहा।

पू. गुरुदेव कहा करते थे कि श्रीपोद्दार महाराज ने 'हुआ समर्पण प्रभु **चरणों में, मन की बात मनहिं भर जाने, सौंप दिये मन प्राण तुम्हीं को**' आदि जो ऊंचे समर्पणभावी पद लिखे हैं- वे सभी मूलतः उनके ही भावों को उनके काष्ठ-मौन के बाद शब्द दिये हैं।

लेखक ने उनसे जब यह पूछा कि "बाबा ! इस परमोच्च कोटि के समर्पण भाव का आपमें अभ्युदय कब से प्रारंभ हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा - "मैं अक्टूबर-नवम्बर मास में श्रीपोद्दार महाराज के साथ डालमिया दादरी गया हुआ था। दादरी में भगवान् श्रीहनुमानजी का एक मन्दिर था। वहाँ रामायण पाठ हो रहा था। मैं अपनी पूजा में बैठा था, अचानक मेरे अन्तःकरण में विराजित श्रीकृष्ण ने मेरा ध्यान गायन होती हुई एक चौपाई पर केन्द्रित कर दिया । वह चौपाई थी –

**एक हि धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा ॥**

पू. गुरुदेव में इस चौपाई को सुनते ही गोपी-भाव की जाग्रति इतनी प्रगाढ़ हो गयी कि वे बराबर ही पुरुष भाव को भूले रहने लगे। जो भाव १९३७ में गीताप्रेस के कमरे में थोड़े काल के लिये जाग्रत हुआ था यहाँ यह भाव सदा के लिये स्थिर हो गया। पू. गुरुदेव का यह प्रमदा नारी-भाव इतना प्रगाढ़ था कि उनके द्वारा पत्र लेखन ही असंभव होगया। वे पत्र लिखते-लिखते अपने को प्रगाढ़ स्त्री-भाव में अनुभव करने के कारण स्त्रीलिंग की क्रियायें प्रयुक्त कर दिया करते थे।

उस समय वे सोचने लगे :- "हाय ! इस विश्व में मेरा कौन है ? मेरे जन्म मरण के एक ही तो साथी हैं। मेरी जीवन-यात्रा में एक ही संगी हैं, और वे हैं श्रीपोद्दार महाराज रूपधारी श्रीकृष्ण। बस उसी क्षण मेरे मन में निश्चय होगया कि अपने जीवन का क्षण-क्षण तथा अपनी शक्ति का कण-कण श्रीपोद्दार महाराज की रुचि पूर्ति के लिये ही व्यतीत कर दूँगा। जगत में जो भी मेरा प्रेम, विश्वास एवं आत्मीयता का संबंध है, सबओर से सभी बंधनों को खोलकर मैं मात्र श्रीपोद्दार महाराज के चरणों से बाँध दूँगा।

"श्रीकृष्ण कोई पदार्थ थोड़े ही हैं जो कोई रुपये, पैसे, जमीन, मकान की तरह किसी को प्रदान कर दे। श्रीपोद्दार महाराज का सच्चिन्मय अपरोक्ष अस्तित्व ही तो श्रीकृष्ण हैं। वे श्रीकृष्ण ही वृन्दावन, गोपी और श्रीराधा हैं। अतः मेरा संसार तो मात्र श्रीपोद्दार महाराज ही हैं। मेरी सम्पूर्ण मति, गति, एवं प्राप्ति ये ही हैं। अवश्य ही ये मेरे भाव मैं सबसे संगोपित रखूँगा परन्तु अन्तर्हृदय से मेरा मन, तन, योग्यता, मेरी गुणराशि, सब उनको ही समर्पित होती रहेगी।"

पू. गुरुदेवके स्वभाव की एक विशेषता थी कि वे मात्र भावना पर विश्वास नहीं करते थे। भावुकता जिसकी कोई ठोस भूमि न हो, उनकी दृष्टि में मात्र पागलपन और दंभ का योग ही थी। वे यथार्थता के समर्थक थे। वे सोचते थे कि मुझे मात्र श्रीकृष्ण के ही दर्शन हुए हैं तो श्रीकृष्ण की ही सेवा करूँगा। उनके तार्किक मन में इसका दृढ़ विश्वास था कि सम्पूर्ण व्रजलीला, चाहे कुञ्ज, निकुञ्ज गोष्ठ कुछ भी हो, श्रीकृष्ण में ही, श्रीपोद्दार महाराज में ही ओत-प्रोत है। जब श्रीकृष्ण मुझे सशरीर पोद्दार महाराज के रूप में प्राप्त हैं और मेरे चित्त में भी उनका वंशीधारी कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ा स्वरूप नित्य अविचल स्वप्न-जागरण सब समय अखण्ड स्थित है तो सारी लीला उनकी कृपा से अपने आप प्रकट होती जायगी। मुझे मनोजनित कल्पना का संसार कदापि नहीं बनाना है।

अतः वे जब 'यमुना' शब्द पर दस बीस सैकिण्ड अपना मन निक्षिप्त करते तो वे अपने हृदयस्थ श्रीकृष्ण के सम्मुख मचल पड़ते। "मुझे यथार्थ में ही यमुनाजी के दर्शन कराओ। जब मैंने तुम्हारा कभी किसी चित्र को लेकर ध्यान नहीं किया, तुम गोरे-काले जैसे हो जब मेरे दृष्टि पथ में अपने आप आये तो मैं किसी प्राकृत जल का क्यों ध्यान करूँ, यथार्थ सच्चिन्मयी जो श्रीयमुना हैं उन्हें मेरे सम्मुख प्रकट करो।

मुझे सच्चिन्मय वृन्दावन, तुम्हारे परम धाम के दर्शन कराओ, सचिन्नमय गिरिराज पर्वत के दर्शन कराओ। वे श्रीपोद्दार महाराज रूप श्रीकृष्ण के सम्मुख ही अपनी मानसिक सब माँग रखते थे।

साथ ही साथ वे श्रीकृष्ण की रुचि में पूर्णतया समर्पित भी थे और सोचते थे, यदि श्रीकृष्ण की रुचि अनन्त जन्मों तक मुझे नरक में रखने की हो तो मैं कुंज, निकुंज, वृन्दावन, गिरिराज, राधाकुण्ड की माँग ही क्यों रखूँ। उनकी

रुचि के विपरीत मुझमें कोई भी इच्छा का, संकल्प का, स्फुरण का जागरण भी क्यों हो ?

वे तो उनके ही प्राप्तरूप का इकटक पान करते और उनकी रुचि को ही अपना सकल जीवन मानते थे। उनमें विलक्षण समर्पण था। वे तो श्रीकृष्ण से ही पूछते - "तुम्हें मेरी गोरी आकृति प्रिय है, या काली। यदि तुम्हें मुझे गोरा बनाने में सुख अनुभव होता हो तो मेरे अंग गोरे रहें अन्यथा जो तुम्हें रुचिकर हो, वैसा ही मेरा रूप गढ़ना। जो गुण तुम्हें रुचिकर लगें वे ही गुण प्रदान करना। यदि मुझे घोर कुरूपा, गुणहीना, दुश्शीला रखने में एवं अपने विनोद की सामग्री बनाने में ही तुम्हें सुख हो तो मुझे वैसीही बना देना। जो कला तुम्हें आनन्ददायिनी हो, उसी कला में मुझे पारंगत करना । इतना ही नहीं मेरा हँसना-बोलना, मैत्री करना, जो भी स्वभाव , प्रकृति, तुम्हें रुचिकर हो मैं वैसी, वैसी सदा वैसी ही बनी रहूँ। मुझमें आपकी रुचि से भिन्न कुछ भी, कभी भी न हो। ऐसा विलक्षण हेतुरहित उनका श्रीकृष्ण के साथ प्रेम था। (यहाँ यह बात बार, बार पुनः प्रकट कर देता हूँ कि श्रीपोद्दार महाराज के सिवा उनके श्रीकृष्ण अन्य कुछ भी नहीं थे।)

इसीलिये उनका मधुरतम मनभावन प्रेम नित्य निरन्तर सहज ही बढ़ता चला गया। उनके प्रेम में न झूठी अनुनय विनय थी, न ही कोई गुणजनित हेतु था। श्रीकृष्ण चाहे कैसा भी अपराध करें, पू. गुरुदेव का प्रेम उनसे घटता ही नहीं था, उन्हें श्रीकृष्ण से न भोग की स्पृहा थी, न ही मोक्ष की, उन्हें तो अपना सर्वस्व उनपर न्यौछावर भर करना था। उनका प्रेम कारणरहित था, उपाधिरहित था, मलरहित था, बाहर से केवल बखान करने वाला नहीं, मात्र मन की वस्तु था, नित्य था, सीमारहित था, परिमाणरहित एवं दोष रहित था।

एक दिन श्रीपोद्दार महाराज के पास गुरुदेव बैठे थे। श्रीपोद्दार महाराज उन्हें किसी ग्रन्थ से उदाहरण पढकर सुनाने लगे जिसमें श्रीकृष्ण राधारानी को यमुना का स्वरूप दर्शन कराते हुए कहते हैं कि तेरा एवं मेरा प्रेम ही यह कालिन्दी यमुना है। श्रीकृष्ण कहते हैं - "यमुना का एक किनारा मैं हूँ एवं दूसरा किनारा तू है। मेरी तेरे प्रति प्रीति मुझ एक तट से बहती हुई तुझ दूसरे तट तक जाती है, फिर तुझे आत्मसात् करती हुई तेरी ही हो जाती है। फिर तेरी प्रीति हुई वही रस-धारा पुनः उमड़ती है और मुझ दूसरे तट को आप्यायित करती मेरी ही प्रीति सम्पदा बन जाती है। यह हम दोनों का प्रीति रस-प्रवाह ही तो यमुना है।

श्रीपोद्दार महाराज यह रस वर्णन कर ही रहे थे उसी समय पू. गुरुदेव जहाँ बैठे थे, वहीं एक परम निर्मल चिन्मय रस-प्रवाह बह उठा। यह रस प्रवाह ही परम शोभामयी यमुना बनकर उनके सम्मुख ही लहराने लगा।

यह यमुना पू. गुरुदेव की प्राण सहचरी बन गयी। क्योंकि व्रजेशतनय का प्यार ही व्रजरस होकर अति मंजुल रूप में गुरुदेव के नयनगोचर हो उठा था।

अपने प्राणसारसर्वस्व के प्रीतिभावों की इस तरंगिणी में, उसकी मधुरातिमधुर उर्मियों में पू. गुरुदेव का भावशरीर स्नान करने लगा। वह कोई स्त्री का किसी नदी में स्नान नहीं था। उनका मनोहर प्रियतम प्रेमसुख में आपाततः रस-अवगाहन था।

अहा कैसी रसमयी कलिन्दनन्दिनी यमुना भानुतनया प्रवाहित हो रही थी, पू. गुरुदेव के दृष्टिपथ में। उसका कण कण पू. गुरुदेव की अखण्ड सौभाग्य-सम्पदा बन गया था। उनके प्रियतम नीलमणि ही तो रससागर बने वहाँ लहरा रहे थे। उन्हें उस विरजा में यदि अपने प्रियतम नीलसुन्दर भरे दृष्टिगोचर नहीं होते तो चाहे कितनी ही दिव्य, चिन्मयी वह नदी क्यों न होती उनके क्या काम की ? वे उसकी चिन्मय सुन्दरता एवं दिव्यता पर अपनी दृष्टि निक्षेप भी नहीं करते।

अहा, उस यमुना में कुमुद और पद्मों का कैसा सुभग वन विकसित हो रहा था। श्रीगुरुदेव को स्पष्टतया अनुभव हो रहा था मानो प्रियतम नीलसुन्दर का मन ही इन सुमनों के रूप में उन्हें सुवास प्रदान कर रहा है। अहा ! उनकी समग्र दिशाओं में प्रिय के मन ने विलक्षण चिन्मयी सुवास भर दी थी। पू. गुरुदेव अनुभव कर रहे थे असंख्य अलिगणों का गुंजन, हंसों का कल-कल प्रेमोद्दीपक मधुर छन्दों में कूजन, उन सभी का अर्थ उनके लिये तो उनके नीलमयंक श्यामसुन्दर में ही पर्यवसित था। उनके प्रियतम नीलसुन्दर ही प्रस्फुटित अरविन्द पुञ्जों के रूप में उनके नयनों में अपनी प्रेममयी शोभा भर रहे थे। वे ही कृष्ण कोकिला की अति रसमयी वाणी में प्रिया-प्रिया रटते वन को गुँजाते उनकी विविध प्रकार से प्रेमवन्दना कर रहे थे।

इसी प्रकार पू. गुरुदेव ने एक दिवस अपने हृदयस्थ श्रीकृष्ण से प्रार्थना की - प्राणवल्लभ ! तुम कहते हो और यह मेरा अनुभूत सत्य भी है कि श्रीपोद्दार महाराज ही सचल वृन्दावन हैं, तब तो इनके चिन्मय भूमितत्व में ही महाप्रभु चैतन्यदेव, भक्तिमती विष्णुप्रिया, महाप्रभु वल्लभाचार्य, भक्तसम्राट सूरदास, श्रीपाद सनातन एवं रूप गोस्वामी आदि इस शरीर के किसी न किसी

भाग में अवश्यमेव अवस्थित होंगे ही। फिर मुझ पर इन सब वैष्णवों की कृपावर्षा कर दीजिये न नाथ ! यदि मेरी इच्छा में आपकी रुचि की अनुकूलता हो, तभी इस इच्छा की पूर्ति हो अन्यथा मेरी इच्छा को अवश्य अवश्य आग लगा देना।"

श्री श्री गुरुदेव के मुख से यह प्रार्थना होते ही पू. गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज की कृपा से वहीं गोरखपुर में ही वृन्दावन की दुर्लभ भजन-स्थलियों, इनमें पुरातन काल के भजननिष्ठ सिद्ध सन्तों, विख्यात मन्दिरों के श्री विग्रहों, लीला स्थलियों, एवं श्री श्री चैतन्य महाप्रभु, श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु आदि के प्रकट दर्शन हुए। इनका प्रेममय परम दुर्लभ संस्पर्श पू. गुरुदेव को प्राप्त हुआ।

श्री श्री गुरुदेव कहते थे कि श्रीकृष्ण की विचित्र लीला होती थी। पहले मुझे ऐसा अनुभव होता कि श्रीपोद्दार महाराज आये हैं और तब मुझे ये विलक्षण अनुभव होते। एक दिवस सवेरे ज्योंही मैं पू. गुरुदेव के पास गया, उन्होंने कहा - भैया ! आज तो मुझे श्रीमद्वल्लभाचार्य के दर्शन हुए हैं। वे श्यामवर्ण थे, उनकी गोक्षुर जितनी चौड़ी लम्बी चूड़ा थी। मैं जब उनके चरणस्पर्श करने को झुका तो आचार्यचरण बोले - आप चतुर्थाश्रमी सन्यासी होकर यह मर्यादा विरुद्ध कार्य क्यों करते हैं ? श्री गुरुदेव ने उत्तर दिया आप तो कोटि कोटि सन्यासियों के वन्दनीय हैं। श्रीगुरुदेव मुझसे पूछ रहे थे - उनकी आकृति श्यामवर्ण थी न ? मुझे तो श्यामवर्ण दिखे हैं। उनके साथ सुरभी गैया भी थी।

इसी प्रकार पू. गुरुदेव को श्री श्री चैतन्य महाप्रभु के भी दर्शन हुए। वे कीर्तन कर रहे थे। फव्वारे की तरह उनके नेत्रों से अश्रुधार प्रवाहित हो रही थी। पू. गुरुदेव कहते थे कि यह सर्वथा सत्य है कि विरहावेश में उनके शरीर में इतना ताप होता था कि पत्थर पिघल जाता था और वहाँ उनके चरण अंकित हो जाया करते थे। श्रीसनातन गोस्वामी से तो उनकी रस-चर्चा भी हुई थी।

पू. गुरुदेव ने मुझसे कहा था कि जब श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुपाद से मेरा मिलन हुआ तो उन्होंने उन्हें अष्ट सखियों के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति बतलायी। उन्होंने श्रीप्रभुपाद से विनम्र निवेदन किया कि गौड़ीय आचार्यों के मत में श्री ललिता में खण्डिता भाव, श्री विशाखामें स्वाधीनभर्तृका भाव, श्रीचित्राजी में दिवाभिसारिका भाव, श्रीइन्दुलेखाजी में प्रोषितभर्तृका भाव,

श्रीचम्पकलताजी में वासकसज्जा भाव प्रमुख हैं। श्रीरंगदेवीजी में गौड़ीय आचार्यों ने उत्कण्ठिता भाव का विशद विवेचन किया है । यह विवेचन अत्यधिक वैदुष्यपूर्ण है और गंभीर है। पू. गुरुदेव श्रीसनातन गोस्वामीपाद से कह रहे थे कि उन्हें गौड़ीय आचार्यों से मात्र एक स्थल में भिन्न अनुभव होता है। श्रीतुंगविद्याजी का भाव है विप्रलब्धा एवं विप्रलब्धा भाव का सागर तथा उत्कण्ठिता का भावसागर जब ये दोनों सागर खूब लहरायें, तो उन दोनों सागरों का जो सम्मिलन बिन्दु है, उन्हें उसकी तो प्रतीक लगती है श्रीरंगदेवीजी। उन्हें स्पष्ट अनुभव होता है कि उत्कंठिता और विप्रलब्धा भाव के समान सम्मिश्रण-रूप-भावोच्छलन की प्रतीक तो हैं श्रीरंगदेवीजी और उत्कंठिता प्रमुख विप्रलब्धा-भावोच्छलन की प्रतीक हैं श्रीतुंगविद्याजी। श्रीसुदेवीजी कलहान्तरिता भावोच्छलन की प्रतीक हैं। अतः पू० गुरुदेव की मान्यतानुसार अष्टसखियों का जो क्रम बनता है उसमें प्रथम खण्डिता भाव की प्रतीक हैं ललिता, फिर स्वाधीनभर्तृका भाव की प्रतीक विशाखा, फिर दिवाभि-सारिका भाव की प्रतीक श्रीचित्राजी, फिर प्रोषितभर्तृका भाव की प्रतीक श्रीइन्दुलेखाजी, फिर वासकसज्जा भाव की प्रतीक श्रीचम्पकलताजी एवं तब उत्कंठिता और विप्रलब्धा के समान सम्मिश्रण की प्रतीक श्रीरंगदेवीजी और उनके पश्चात उत्कंठिता प्रमुख विप्रलब्धा भाव की प्रतीक श्रीतुंगविद्याजी आती हैं औरतब कलहान्तारिता भाव प्रमुख श्रीसुदेवीजी होती हैं। परमवंद्य श्रीगौड़ीय आचार्यों ने चम्पकलताजी के पश्चात तुंगविद्याजी को स्थान दिया है तब श्रीरंगदेवीजी का स्थान है।

श्री सनातन गोस्वामी पाद ने पू. गुरुदेव की अनुभूति की सराहना की। श्री गुरुदेव कहते थे कि कोई यदि पूछे कि इसका प्रमाण क्या है ? तो प्रमाण मात्र मेरी अनुभूति और मेरा कथन है। किसी को मेरे कथन के सत्य में ही यदि सन्देह है तो वह मेरी बात अनसुनी कर दे।

इसी प्रकार श्री श्री गुरुदेव को श्रीनाथजी की झाँकी, श्रीविहारीजी की झाँकी गोरखपुर में ही हुई थीं। उन्हें श्रीराधावल्लभजी, श्रीमदनमोहनजी, श्रीगोविन्ददेव, सभी विग्रहों के दर्शन वहीं गोरखपुर में हुए थे।

यद्यपि ये सभी दर्शन और अनुभूतियाँ क्रमशः भविष्य में अनेक वर्षों में हुई हैं तात्कालिक नहीं है। फिर भी प्रसंगवश उनका इसी परिच्छेद में वर्णन है।

पू. श्री गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के साथ उनके पूर्वजों के जन्मस्थान रतनगढ़ (राजस्थान) में चार-पांच वर्ष १९४० से १९४५ ई. के मध्य तक रहे। श्रीपोद्दार महाराज की पैतृक निवास-स्थली के पास ही जहाँ एक अन्य सेठ सर्राफों की हवेली थी, वहाँ उन्हें यमुना प्रवाह लहराता नेत्रों से दृष्टि गोचर होता था। श्रीगुरुदेव को पोद्दार महाराज सर्वदेवमय दृष्टिगोचर होते थे। उनकी धर्मपत्नी में उन्हें प्रत्यक्ष शशिशेखरा माणिक्य मुकुट धारण किये पूर्ण रक्तवर्णा चन्द्रानना जगज्जननी आद्याशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी भगवती पूर्णतया प्रकट दिखती थीं।

मैं (लेखक) उन दिनों युवक था। पू. अ. सौ. माताजी (श्रीपोद्दार महाराज की धर्मपत्नी) पू० गुरुदेव को भिक्षा करा रहीं थीं। किसी विषय में मैंने (लेखक) पू. माताजी की अवज्ञा कर दी। पू. गुरुदेव ने जैसे क्रोध में भरे हों, वैसी तेज आवाज में मुझसे पूछा - तू जानता है, तूने किसकी अवज्ञा, तिरस्कार किया है ? ये कौन हैं ? मैने कहा - बाबा ! ये मेरी बड़ी मामी हैं ! मैं श्रीपोद्दार महाराज को बड़े मामाजी कहता था। पू. गुरुदेव कड़क कर बोले - मेरी दृष्टि से देख ! अपनी अंधी फूटी आँख से क्या सत्य देख पावेगा? और उन्होंने उनका साक्षात् चन्द्रशेखरा, माणिक्य मुकुट धारणकर्त्री त्रिनेत्रा स्वरूप का दिग्दर्शन मेरे सम्मुख किया। उन्हें वे कभी चतुर्बाहु समन्विता दिखतीं एवं कभी द्विभुजा परामबा रूप में दृष्टिगोचर होतीं। लगातार ५३ वर्षों तक पू. गुरुदेव उनमें दिव्य परम चिन्मय मातृस्वरूप के ही दर्शन करते रहे।

मेरे उस दिन के अपराध को क्षमा कराने के लिये उन्होंने मुझसे स्वयं एक पाठ ललिता सहस्त्रनाम का सुना, बिल्ववृक्ष के नीचे भगवती की पंचोपचार से पूजा करवायी। वे यदाकदा स्पष्ट कहते थे जिन लीलाविधातृ शक्ति के बल पर मैं तुम्हारा तत्काल दूसरा जन्म दिव्य वृन्दावनधाम (गोलोक) में कराना चाहता हूँ, उनकी तुम अवज्ञा करो, यह मेरे लिये सर्वथा असह्य हो जाता है।

यह घटना सन् १९४८ ई. की है। मैं इन्टरमीडियेट की संगीत परीक्षा देने काशी गया था। मेरी परीक्षा जिसदिन समाप्त हुई, उसके दूसरे दिन शिवरात्रि थी। पू० गुरुदेव गोरखपुर में शिवरात्रि के दिन निशापर्यन्त पूजा कराया करते थे। शिवरात्रि की पूजा में मेरे द्वारा श्रीविद्यापति के रचित मैथिली भाषा के शिवविवाह के पद हर वर्ष गाये जाते थे। पू० गुरुदेव मन में

सोच रहे थे कि मैं परीक्षा देकर रात्रि को गाड़ी में बैठकर सुबह शिवरात्रि के दिवस गोरखपुर अवश्य पहुँच जाऊँगा और निर्विवाद पूजा में संकीर्तन की सेवा कर दूँगा। उन्होंने मेरी दिनभर एवं रात्रिभर प्रतीक्षा भी की। मैं शिवरात्रि के दिन की अपेक्षा दूसरे दिवस सायंकाल बस से गोरखपुर पहुँचा। मैं उन्हें प्रणाम करने ज्योंही उनके सम्मुख गया तो उन्होंने मुझसे जाते ही जिज्ञासा की - 'अरे, तेरी परीक्षा तो परसों ही सम्पन्न हो गयी थी, कल क्यों नहीं आया ?'

मैने उत्तर दिया - "बाबा ! शिवरात्रि पर काशीधाम में रहने के लोभ से रुक गया था। रात्रि में भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में पूजा-दर्शन किये, वहीं रात्रि-जागरण किया, अन्नपूर्णादेवी के भी दर्शनों का सौभाग्य मिला।"

उन्होंने मुझे बहुत निराशाभरे स्वर में एकदम भर्त्सनापूर्वक झिड़क कर कहा - "क्या खाक सौभाग्य मिला ? माँ अन्नपूर्णा और भगवान् विश्वनाथ गत रात्रि काशी में थे ही नहीं । स्वयं काशीधाम ही या तो यहाँ अवतरित था, अथवा भगवान् वहाँ से यहाँ चले आये थे।" मैं उनकी बात सुनकर स्तब्ध हो गया।

फिर उन्होंने मुझे अपना सम्पूर्ण अनुभव खोलकर बतलाया। वे कहने लगे - "भैया ! पूजा का प्रारंभ श्रीपोद्दारमहाराज एवं अ० सौ० माताजी द्वारा हो, यह मेरे मन में विचार अवश्य आया था। परन्तु क्योंकि मेरे निमंत्रण पर पू० पोद्दार महाराज कभी अनुकूल उत्तर नहीं देते थे, अतः मैने श्रीपरमेश्वर प्रसादजी फोगला (श्रीपोद्दारमहाराज के जामाता) एवं उनकी पुत्री (सौ० सावित्रीबाई) को ही पूजा करने के लिये चयन कर लिया और श्रीफोगलाजी को मात्र पूजा प्रारंभ करने की अनुमति लेने उनके पास भेजा था।

श्रीपोद्दार महाराज ने जाते ही श्रीफोगलाजी से कहा - 'थाँरो बाबो आज मेरे से पूजा कोनी करवावै ?' (हिन्दी में - क्या आपका बाबा आज मेरे से पूजा नहीं कराना चाहता ?) उनकी ऐसी प्रतिक्रिया देखकर श्रीपरमेश्वरजी सकपका गये, उन्होंने प्रस्ताव किया - आप चलिये। और वे सचमुच ही स्वयं सावित्री की माँ (पू० अ० सौ० माताजी) को लेने गये और तत्परतापूर्वक पूजार्थ आ गये। उन्होंने अति मनोयोगपूर्वक एक पूजा सम्पन्न की। और सम्पूर्ण पूजा में पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज अपनी पोद्दार-देह तथा आकृति में सर्वथा दिखे ही नहीं। वे साक्षात् वर-वेष में भगवान् शंकर ही उनकी दृष्टि में आते रहे। पू० गुरुदेव आश्चर्यचकित थे कि यह क्या हो रहा है ?

उनकी धर्मपत्नी अ० सौ० रामदेई माताजी भी साक्षात् भगवती पार्वती के रूप में ही उन्हें दिखती रहीं।

इधर पंडित लोग रुद्राष्टाध्यायी का पाठ कर रहे थे, परन्तु पू. गुरुदेव को उन्हें हिमालय प्रदेश में भगवान् के विवाह की लीला प्रत्यक्ष दिख रही थी। एक-एक देवता -- भगवान् नारायण, भगवती लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी, भगवती सरस्वती, सब देव-देवांगनाएं, न जाने कैसी शोभा लिये समुपस्थित थीं, क्या कहा जाये ?

एक पूजा पूरी करके श्रीपोद्दार महाराज पू० गुरुदेव के सम्मुख बोले - "बाबा ! अभी भी मुझे कल्याण के अंतिम प्रूफ देखने हैं, सुबह ही मशीन में नहीं जायेंगे तो मशीनें खाली रहेंगीं।" पू० गुरुदेव ने उन्हें साश्रु-नयन विदा किया। परन्तु उनके रंगमंच से हटते ही वह विवाह-दृश्य भी लुप्त हो गया। पू० गुरुदेव कह रहे थे कि जब तक वे बैठे रहे, इसी बिल्ववृक्ष के नीचे भगवान् विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णा स्थित थीं। उनकी शिव-पार्वती-विवाह-लीला पूरी यहाँ सम्पन्न हुई।

पू. गुरुदेव कह रहे थे कि जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ तो उन्हें मेरी (लेखक की) स्मृति हुई। वे मेरे अभाग्य पर दुखी हो रहे थे।

पू० गुरुदेव के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर मैं अपने अभाग्य पर पश्चाताप करने लगा। वास्तव में ही श्रीगुरुचरणों में जैसी श्रद्धायुक्त भक्ति एवं अनुशासन की आवश्यकता होती है, मुझमें तो उसका सर्वदा अभाव ही रहा।

## शास्त्रीय आधार

साधक जब साधना करता है, तब वह वृन्दावन की, कालिन्दी की, कुञ्जों की भावना करता है। भावना के परिपक्व होने पर जब वास्तविक वृन्दावन अवतरित होता है, उस समय जो स्थिति होती है, वह पूर्णतः अचिन्त्य, सर्वथा अनिर्वचनीय होती है। दिव्य चिन्मय-वृन्दावन के कुञ्ज-सर-सरोवर निकुञ्ज-लता-पादप-पुष्प-पक्षी आदि ऐसे हैं कि उनका वर्णन संभव ही नहीं है। उनका वर्णन करना स्वयं को ठगना है। जिसका वर्णन असंभव हो, उसके वर्णन का प्रयास करना आत्मवंचना ही है। भावना के वृन्दावन, कुञ्ज, निकुञ्जादि की वह छवि, इस छवि से सर्वथा ही अलग है; शब्दों से उसकी ओर संकेत करना संभव ही नहीं। उस वृन्दावन की दिव्य छवि का यदि कहीं

# महाभाव – दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

( प्रथम खण्ड )

Pages 301-400 साधु कृष्णप्रेम

वर्णन है तो वह ऐसा ही है मानो कोई गूँगा वाक्य-रहित, शब्द-रहित गूँगी भाषा में अपने मीठे-स्वाद का वर्णन करे। हाँ, यह अवश्य है कि इस वर्णन पर विश्वास करके जो साधना करेगा, उसे उस छवि के दर्शन अवश्य हो सकते हैं।

श्री प्रिया-प्रियतम के चिद्विलास का सागर सीमाविहीन है। उस सागर का आवर्त अनोखा है, अचिन्त्य है।

पू. गुरुदेव को श्रीकृष्ण-स्वरूपिणी, श्रीयमुनामहारानी का रस-प्रवाहिणी नदी के रूप में भी चिन्मय व्रज में दर्शन होता था और सखी रूप में जब वे उनसे मूर्त्त, सदेह भी प्रकट होने की प्रार्थना करते, वे प्रकट हो जाती थीं।

वे जब भी पू० गुरुदेव के सम्मुख सदेह प्रकट होतीं तो हाथों में कमलों की माला लिये होतीं। वह माला वे पू० गुरुदेव के भावदेह को समर्पित कर देतीं और उस माला को पू० गुरुदेव अपने भाव देह के सम्मुख ज्यों ही श्रीकृष्ण प्रकट होते, वन में गौचारण कर उनके निवास में आते, पहनाया करती थीं। यह क्रम दो-तीन वर्ष चला है। पू० गुरुदेव कहा करते थे कि श्रीयमुनाजी ने ही अनुमति देकर मुझे उनके तट के निकटवर्ती एक कुंज में रख दिया था जिसमें मैं तबतक रही जबतक श्रीकृष्ण ने मुझे भगवती राधारानी से मिला नहीं दिया। उसके पश्चात् तो मैं राधारानी के संग ही रहती थी। जब तक पू० गुरुदेव को श्रीराधारानी का प्यार नहीं मिला वे भगवती यमुना एवं भगवती तुलसी की कृपा पर ही अवलम्बित रहे।

ये सभी बातें पू० गुरुदेव के भावदेह की है। पू० गुरुदेव उसका शास्त्रीय आधार खोजना चाहते थे। पू० गुरुदेव का मन ऐसा था कि जब तक उन्हें अपने भाव का शास्त्रीय आधार नहीं मिला, वे उसकी सत्यता पर ही सन्देह करने लगते। वे सोचते थे कहीं यह मेरे सम्मुख प्रकट होने वाला दृश्य मेरी मनोजनित कोई सात्विक वासना का परिणाम-मात्र तो नहीं है। इस विचार से उनका विश्वास उन भावनाजन्य दृश्यों से हिल जाता था।

एक दिवस पू० गुरुदेव श्रीपोद्दारमहाराज के पास गये थे। वे प्रतिदिन ही उनके दर्शनार्थ दिन में एक बार उनके पास जाया करते थे। पू० गुरुदेव ने पूर्वाश्रम के अपने बड़े भाई श्रीदेवदत्तजी मिश्र से सभी दर्शनशास्त्रों का, एवं ब्रह्मसूत्रों का विधिवत् अध्ययन तो किया था, परन्तु पुराणों का अध्ययन वे नहीं कर पाये थे।

सन्यास लेने के उपरान्त उन्होंने अपनी मां से अन्तिम मिलन के लिये जाने पर ग्राम-प्रवास में श्रीदेवदत्तजी द्वारा भागवत-सप्ताह अवश्य सुना था। परन्तु उसमें मात्र रासलीला का वर्णन था, कुञ्ज-निकुञ्ज लीलाओं का कहीं कोई वर्णन नहीं था। अतः पू० गुरुदेव को अपनी निकुञ्ज-भावना का अब तक कोई शास्त्रीय आधार समझ में नहीं आ रहा था। जब पू० गुरुदेव श्रीपोद्दारमहाराज के दर्शनार्थ उनके पास गये तो वे पद्मपुराण देख रहे थे। उन दिनों गीताप्रेस से संक्षिप्त पद्मपुराण छापे जाने की बात चल रही थी।

पू० पोद्दारमहाराज पू० गुरुदेव को सम्बोधित कर कहने लगे- 'स्वामीजी ! देखिये, भगवान् श्रीशिव के द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप-तत्व का यहाँ पद्मपुराण में कैसा सुन्दर वर्णन किया है ? भगवान् समझाते हैं - कि मैं किस प्रकार सगुण हूँ और किस प्रकार निर्गुण हूँ। इस वर्णन के अनुसार यह अनुभव होता है कि अद्वैत ही लीलाद्वैत के रूप में किस शोभा से लीलायमान हो रहा है। भगवती श्रीराधा श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं और एक ही तत्व लीला के लिये दो रूपों में लीलायमान है। श्रीराधा श्रीकृष्ण से भिन्न कोई तत्व होतीं तो यह बात नहीं रहती। "रसो वै सः" रस वही है। रस और रस वाला दो पृथक्-पृथक् सर्वथा नहीं है।'

'भगवान् सगुण नहीं है क्योंकि वे प्राकृत गुणयुक्त नहीं हैं, वे साकार भी नहीं हैं क्योंकि वे प्राकृत आकार से युक्त नहीं हैं; उनके प्रत्येक अंग से प्रत्येक कार्य संभव हैं क्योंकि उनके प्रत्येक अंग सच्चिन्मय हैं, इस तत्व को न समझने से ही तो नासमझीयुक्त विनोद होते हैं।'

श्रीपोद्दार महाराज कह रहे थे — 'स्वामीजी ! प्रेम निर्गुण तत्व में ही होता है, क्योंकि प्रेम स्वयं निर्गुण है, गुणों को लेकर प्रेम होना प्रेम है ही नहीं। क्योंकि वह तो गुणों का ही आकर्षण है।'

इसके पश्चात् श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को पद्मपुराण का अंश पढ़ने को दिया। पू० गुरुदेव पद्मपुराण के पातालखण्ड को अपनी कुटिया पर ले आये। वे पातालखण्ड पढ़ने लगे। इसमें तीन इतिहास हैं :— १. भगवान् व्यासदेव का, २. भगवान् शंकर का और तीसरा श्रीशंकरपार्वती-संवाद है।

इन तीनों इतिहासों का यहाँ संक्षिप्त रूप दिया जा रहा है।

पहला इतिहास इस प्रकार है। श्रीव्यासदेव ने एक बार हजारों वर्ष घोर तपस्या की। श्रीकृष्ण के प्रसन्न होने पर उन्होंने कहा — "हे मधुसूदन ! मैं आपके उस यथार्थ स्वरूप को तत्व से जानना चाहता हूँ जो जगत् का पालक

एवं प्रकाशक है । आपका अद्भुत रूप मेरे सम्मुख प्रकट कीजिये और उसे साक्षात् मुझे आँखों से दिखाइये -- मेरी यही प्रार्थना है।"

त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन ।
यत् तत् सत्यं परं ब्रह्म जगज्ज्योतिर्जगत्पतिः।
वदन्ति वेद शिरसस्चाक्षुषं नाथ मेऽद्भुतम् ।।(पदम्०पातालखण्ड)

श्री भगवान् ने कहा -- "महर्षे ! मेरे विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं। कोई मुझे प्रकृति कहते हैं, कोई पुरुष कोई ईश्वर एवं कोई धर्म। कोई उभय-पद मोक्ष। कोई केवल सत्तास्वरूप भाव मानते हैं। अनेक मुझे परम कल्याणस्वरूप सदाशिव मानते हैं।"

"मुझे इसी प्रकार अनेक वेदान्त-प्रतिपादित अद्वितीय, सनातन ब्रह्म समझते हैं - परन्तु जो यथार्थ में निर्विकार सत्तास्वरूप है, सच्चिदानन्द जिसका विग्रह है और वेदों में जिसका रहस्य छुपा है अपना वह पारमार्थिक स्वरूप मैं आज तुम्हारे सम्मुख प्रकट करता हूँ।"

भगवान् के इतना कहते ही श्रीव्यासजी को एक बालक के दर्शन हुए :- जिसके शरीर की कान्ति नीलमेघ के समान श्यामवर्ण थी, और वह गोपकन्याओं तथा ग्वालबालों से घिरा हँस रहा था। वे भगवान् श्यामसुन्दर थे जो पीतवस्त्र धारण किये कदम्ब की जड़ पर बैठे थे। उनकी परम अद्भुत झाँकी थी। उनके साथ ही नूतन पल्लवों से अलंकृत वृन्दावन नामक वन भी दृष्टिगोचर हुआ। इसके पश्चात् नीलकमल की आभा धारण करनेवाली कलिन्दकन्या यमुना के दर्शन हुए। फिर गोवर्धनपर्वत पर दृष्टि पड़ी। गोपाल श्रीकृष्ण रमणियों के साथ बैठकर बड़ी प्रसन्नता के साथ वेणु बजा रहे थे। उनके शरीर पर अनेक अलंकार थे। उनका दर्शन कर श्रीव्यासजी को बहुत ही हर्ष हुआ। फिर भगवान् श्रीव्यासजी से कहने लगे -- "मुने ! तुमने जो इस दिव्य सनातन रूप का दर्शन किया है, यही मेरा निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, और सच्चिदानन्दपूर्ण विग्रह है। इस कमललोचन स्वरूप से बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट तत्व नहीं है। वेद इसी स्वरूप का वर्णन करते हैं। यही रूप सर्वकारणों का कारण है। यही सत्य, परमानन्दस्वरूप चिदानन्दघन सनातन शिवतत्व है। मेरी यह मधुरापुरी अनित्य नहीं है। यह मेरा नित्य-लोक है। ये वृन्दावन, यह यमुना, ये गोपकन्यायें, ये ग्वालबाल, सभी नित्य हैं। इसमें संशय

मत करना। पृथ्वी में जो मेरा अवतार है वह भी नित्य है। मैं ही एकमेव सर्वज्ञ, परात्पर, सर्वकाम, सर्वेश्वर, सर्वानन्दमय, परमेश्वर हूँ। मुझ में ही यह सारा विश्व, जो मेरी माया, विलासमात्र है, प्रतीत हो रहा है।"

दूसरा इतिहास भगवान् शिवजी नारदजी को कह रहे हैं :-- "मैंने भगवान् से एक बार यह वरदान माँगा --

यद्रूपं ते कृपासिन्धो परमानन्ददायकम्।
सर्वानन्दाश्रयं नित्यं मूर्तिमत् सर्वतोऽधिकम्।
निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं यद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः।
तदहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां परमेश्वर ।।

"कृपासिन्धो ! आपका जो परमानन्ददायक, समग्र आनन्दों का आश्रय, नित्य मनोहररूपधारी, सबसे श्रेष्ठ, निर्गुण, निष्क्रिय, और शान्त रूप है जिसे विद्वान लोग ब्रह्म कहते हैं, उसको मैं अपने नेत्रों से देखना चाहता हूँ।"

इस पर भगवान् ने कहा -- "तुम मेरे लीलाधाम वृन्दावन में चले जाओ, जो यमुना के पश्चिम तट पर है। वहाँ तुम्हें मेरे दर्शन होंगे।"

मेरे वहाँ जाने पर मुझे सम्पूर्ण देवेश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। वे किशोरावस्था से युक्त कमनीय गोपवेष धारण किये अपनी प्रिया श्रीराधा के कंधे पर बायाँ हाथ रखकर खड़े थे। उनकी वह झाँकी बड़ी ही मनोहर जान पड़ती थी। चारों ओर गोपियों का समुदाय था। मध्य में भगवान् खड़े हुए श्रीराधाजी को हँसाते हुए स्वयं भी हँस रहे थे। उनका श्रीविग्रह सजल-श्याम-मेघ के समान वर्णवाला था। वह समग्र कल्याणमय गुणों का धाम था। श्रीकृष्ण मुझे देखकर हँसे। उनकी वाणी में अमृत भरा था। वे मुझसे बोले :-- "रुद्र ! तुम्हारा मनोरथ जानकर आज मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं। इस समय मेरे जिस अलौकिक रूप को तुम देख रहे हो, यह निर्मल प्रेम का पुंज है। इसके रूप में सत् , चिद्, आनन्द ही मूर्तिमान् हुए हैं। उपनिषदों के समूह मेरे इस स्वरूप को निराकार, निर्गुण, व्यापक, निष्क्रिय, और परात्पर बताते हैं। मेरे दिव्य गुणों का अन्त नहीं है और कोई भी उन गुणों को सिद्ध नहीं कर सकता। अतः वेदान्त शास्त्र मुझ ईश्वर को 'निर्गुण' बतलाता है। महेश्वर ! मेरा यह रूप चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, अतः सम्पूर्ण वेद मुझे अरूप 'निराकार' कहते हैं। मैं अपने चैतन्य अंश से सर्वत्र व्यापक हूँ,

इसीलिये विद्वान लोग मुझे 'ब्रह्म' के नाम से पुकारते हैं। मैं इस प्रपंच का कर्ता नहीं हूँ, इसीलिये शास्त्र मुझे 'निष्क्रिय' बताते हैं। शिव ! मेरे अंश ही मायामय गुणों के द्वारा सृष्टि संहार आदि कार्य करते हैं, मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता। हे महादेव ! मैं तो इन गोपियों के प्रेम में विह्वल होकर न तो कोई दूसरी क्रिया जानता हूँ, न मुझे अपने आपका ही भान रहता है। ये मेरी प्रिया राधिका हैं, इन्हें परादेवता समझो। मैं इनके प्रेम के वशीभूत होकर सदा इन्हीं के साथ विचरण करता हूँ। इनके आगे-पीछे, अगल-बगल में जो लाखों सखियाँ हैं, वे सबकी सब नित्य हैं। जैसा मेरा विग्रह है, वैसे ही इनका भी सच्चिन्मय विग्रह है। मेरे सखा, माता-पिता, गोप-गौएं तथा वृन्दावन - ये सब भी मेरे स्वरूपभूत नित्य चिन्मय हैं। इन सबका स्वरूप सच्चिदानन्द रसमय ही है। मेरे इस वृन्दावन का नाम आनन्दकन्द समझो। इसमें प्रवेश करने मात्र से मनुष्य को पुनः संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। मैं वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाता। अपनी प्रिया के साथ यहीं निवास करता हूँ। रुद्र ! तुम्हारे मन में जिस जिस बात को जानने की इच्छा थी वह सब मैंने बता दी।'

तब भगवान् रुद्र ने पूछा -- 'प्रभो ! आपके इस स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उपाय मुझे बताइये।' भगवान् ने कहा -- 'रुद्र ! तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। किन्तु यह विषय अत्यन्त रहस्य का है। इसे यत्नपूर्वक गुप्त रखने की आवश्यकता है। देवेश्वर ! जो दूसरे उपायों का भरोसा छोड़कर एकबार हम दोनों की शरण आ जाता है और गोपीभाव से मेरी उपासना करता है, वही मुझे पा सकता है। जो एक बार भी हम दोनों की शरण आ जाता है, अथवा अकेली मेरी इस प्रिया राधा की अनन्य भाव से उपासना करता है, वह मुझे अवश्य प्राप्त करता है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके मेरी इस प्रिया की शरण ग्रहण करनी चाहिये।'

"रुद्र ! मेरी प्रिया का आश्रय लेकर तुम भी मुझे अपने वश म कर सकते हो। यह बहुत ही बड़े रहस्य की बात है। अब तुम मेरी प्रिया की शरण लो और युगल मंत्र का जप करते हुए मेरे धाम में निवास करो।"

इसी प्रसंग में भगवान् शंकर नारदजी से कहते हैं -- 'श्रीकृष्णप्रिया राधा अपनी चैतन्यादि अन्तरंग विभूतियों से इस प्रपंच का गोपन अर्थात् संरक्षण करती हैं। अतः उन्हें 'गोपी' कहते हैं। वे श्रीकृष्ण की आराधना में तन्मय रहती हैं अतः 'राधिका' कहलाती हैं। श्रीकृष्णमयी होने के नाते वे परादेवता

हैं। वे पूर्णतया लक्ष्मी-स्वरूपा हैं। श्रीकृष्ण के आह्लाद का मूर्त्तिमान्-स्वरूप होने के नाते मनीषीजन उन्हें 'ह्लादिनी शक्ति' कहते हैं।"

"श्रीराधा साक्षात् महालक्ष्मी हैं और श्रीकृष्ण नारायण हैं। इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। श्रीराधा दुर्गा हैं, तो श्रीकृष्ण रुद्र हैं। वे सावित्री हैं और श्रीकृष्ण ब्रह्मा हैं। इन दोनों के बिना किसी भी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। जड़-चेतनमय सारा संसार ही श्रीराधा-कृष्णमय है। सब मात्र इन्हीं की विभूति हैं।"

"तीनों लोक में पृथ्वी सर्वश्रेष्ठ है, इसमें जम्बूद्वीप, फिर इसमें भारतवर्ष, फिर इसमें मथुरापुरी, मथुरापुरी में वृन्दावन, फिर उसमें गोपीजन, गोपीजनों में राधा की अन्तरंग सखियाँ, उनमें श्रीराधा सर्वश्रेष्ठ हैं।"

तीसरे प्रसंग में भगवती पार्वती के पूछने पर भगवान् शंकर श्रीकृष्ण के अंगों का वर्णन करते हैं तथा उनके नख-शिख-शोभा-श्रृंगार का वर्णन करते हुए उनके महत्व का विवेचन करते हुए कहते हैं :-

'केचिद्वदन्ति तस्यांशं ब्रह्मचिद्रूपमद्वयम्।
तद्दशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः।।
योगीन्द्रैः सनकाद्यैश्च तदेव हृदि चिन्त्यते।
तिर्यग्ग्रीवजितानन्तकोटिकन्दर्पसुन्दरम्।।
सापांगेक्षणसस्मेरकोटिमन्मथसुन्दरम् ।
कुञ्चिताधरविन्यस्तवंशीमंजुकलस्वनैः।।
जगत्त्रयं मोहयन्तं मग्नं प्रेम सुधार्णवे।।

(पद्मपुराण पातालखण्ड)

'कुछ विद्वानों का कथन है कि चिद्रूप अद्वितीय ब्रह्म उनका (श्रीकृष्ण का) अंश है। अनेक मनीषीगण महाविष्णु को उनका दशमांश कहते हैं। सनकादि योगीश्वर अपने हृदय में इनका सदा चिन्तन करते हैं। जिस समय वे टेढ़ी गर्दन करके खड़े होते हैं, उस समय अनन्तकोटि कामदेवों से भी अधिक सुन्दर दीखते हैं। वे अपनी तिरछी चितवन तथा मधुर, मन्द मुसकान द्वारा करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दरता धारण कर अपने सिकोड़े हुए अधरों पर वंशी रखकर बजा रहे हैं और उसी मुरली की मधुर स्वरलहरी से त्रिभुवन को मोहित करते हुए सबको प्रेम सुधा सागर में निमग्न कर रहे हैं।'

देवी ! जिनके नखचन्द्र-किरणों की महिमा का भी अन्त नहीं है, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा के सम्बंध में मैं कुछ और बता रहा हूँ। त्रिगुणमय अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में जितने ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर हैं, सब इन श्रीकृष्ण की कला के करोड़वें-करोड़वें अंश से उत्पन्न हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलय की शक्ति से युक्त वे ब्रह्मादि देवता उन्हीं श्रीकृष्ण के वैभव हैं। उन श्रीकृष्ण के अंश का जो करोड़वाँ - उसके भी करोड़ अंश करने पर एक-एक अंश-कला से ऐसे असंख्य कामदेवों की उत्पत्ति होती है जो इस ब्रह्माण्ड में स्थित होकर जगत् के जीवों को मोह में डालते हैं। श्रीकृष्ण की शोभा-कान्ति के करोड़वें अंश से चन्द्रमा का आविर्भाव हुआ है। श्रीकृष्ण के प्रकाश के करोड़वें अंश से जो किरणें निकलती हैं, वे ही अनेकों सूर्य के रूप में प्रकट होती हैं, वे परमानन्द रसामृत से परिपूर्ण हैं। वे परमानन्द और परम-चैतन्यमयी हैं, उन्हीं से इस विश्व के ज्योतिर्मय जीव जीवन धारण किये हुए हैं। जो भगवान् के ही कोटि-कोटि अंश हैं। उनके चरणयुगल के नख रूपी चन्द्रकान्तमणि से निकलने वाली प्रभा को ही 'पूर्ण-ब्रह्म' बताया गया है, जो सबका कारण है और वेदों के लिये भी दुर्गम है। विश्व को मोहित करने वाला जो नाना प्रकार के पुष्पादि का सौरभ है वह सब उनके श्रीविग्रह की दिव्य सुगन्ध का करोड़वाँ हिस्सा है। इन श्रीकृष्ण की प्रिया, प्राणवल्लभा श्रीराधा हैं। वे ही आद्या-श्रीकृष्णमयी-प्रकृति हैं। इन्हीं श्रीराधिका के करोड़वें अंश से त्रिगुणात्मिका दुर्गादि देवियों की उत्पत्ति हुई है। इन श्रीराधिका के पद-रजस्पर्श से करोड़ों विष्णु उत्पन्न होते हैं।'

(पद्मपुराण पातालखण्ड)

प० पू० गुरुदेव इन शास्त्र वाक्यों को पढ़कर इतने कृतकृत्य हो गये मानो अब उन्हें कुछ भी जानना-समझना शेष नहीं है। जैसे समुद्र में डूब जाने पर ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, जल-ही-जल उपलब्ध होता है, उसी प्रकार पू० गुरुदेव को आगे-पीछे, ऊपर-नीचे श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण, एवं उनका लीलासिन्धु दिखने लगा। परन्तु अभी उनके जीवन में बहुत बड़ी-बड़ी लीला तरंगें आनी शेष थीं, जिनका तो उन्हें अभी आभास ही नहीं हुआ था।

प० पू० गुरुदेव को पद्मपुराण में ही अष्टकालीन लीला का अत्यन्त सुन्दर क्रम भी प्राप्त हो गया जिसके लिये उनका मन अतिशय लालायित था। वह अष्टकालीन क्रम ही प्रारंभ में उनकी रस-साधना का प्रमुख अंग रहा है।

यहाँ पुनः एक बात उल्लेख कर देता हूँ कि पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा से भगवान् श्रीकृष्ण की रसमयी लीलायें सदा ही पहले प्रकट होती थीं और जब गुरुदेव उन प्रकट हुई लीलाओं का आधार पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, ब्रह्माण्डपुराणादि आगम शास्त्रों में तथा रसिक व्रजभक्तों के लीलाचरित्रों के पद संग्रहों में, व्रजभक्तों की महावाणियों में ढूँढ़ते तो उन्हें वे कुछ भिन्नरूप में सही - मिल जाती थीं।

## भावजगत् - अहीरनी रसमयी

पू० गुरुदेव ने अपने भाव संसार की निम्न लीला-कथा मुझे एवं भाई श्रीराधेश्याम पालड़ीवाल को सन् १९५१ ई० में सुनायी थी। भाई श्रीराधेश्याम पालड़ीवाल तो उन दिनों पू० गुरुदेव का सर्वोत्तम समर्पित शिष्य था। उस पर चाहे अति अल्पकाल के लिये ही सही, उन दिनों पू० गुरुदेव की असीम कृपा वर्षा हुई थी। उसके संग-साथ से जो लीला-प्रसंग उन दिनों सुनने को मिले, वे ही यहाँ दिये जा रहे हैं।

यहाँ जो लीलायें लिखी गयी हैं, वे सभी श्रुतियाँ हैं। पू० गुरुदेव द्रष्टा ऋषि थे, वे दृष्य देखते हुए वर्णन करते थे, और हम भाग्यवान् जीव उन्हें सुनते थे। पू० गुरुदेव द्वारा उन्हें नहीं लिखने का कठोर आदेश था। हाँ, इन लीलाओं का जो भी अंश श्रीकृष्ण स्मृति-पटल पर स्थायी रूप से अंकित कर दें, उसके अनुसार चिन्तन-साधना हम भले ही करें। एक दिवस मात्र एक छोटी सी लीला का प्रकाश मैंने श्री गुलाबचन्दजी बोथरा के सम्मुख कर दिया था, इस पर पू० गुरुदेव मुझ पर बहुत रुष्ट हुए थे। कहना इतना ही है, कि उन्हें हम परस्पर एक-दूसरे को कह भी नहीं सकते थे। पू० गुरुदेव जिसे जितना अधिकारी समझते, अपनी इन लीला-रूप-मंत्र शक्तियों का बीज ही उसके हृदय में डालते थे, और बस उस समय पूर्ण मनोयोग पूर्वक एकाग्र चित्त से हम सुनते भर रहें, यही हमसे उनकी अपेक्षा होती थी।

सन् १९५१ ई० से १९७१ ई० तक जब तक मैं सन्यस्त नहीं हो गया, सुनी हुई इन श्रुति निधियों को, मंत्र-स्वरूप, जाग्रत, अप्राकृत - लीला-प्रसंगों को यहाँ दिया जा रहा है। शुद्ध मन से श्रद्धापूर्वक साधना करने पर निश्चय ही साधनातीत वस्तु के अवतरण में ये हेतु होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

वाह ! क्या ही विलक्षण मेरे गुरुदेव का भाव-संसार है। जिसका आकाश प्यार है, जिसके सूर्य चन्द्र मरुद्गण, पृथ्वी, आकाश, जल, तेज एवं दिशायें सभी प्यार हैं। जिसकी उद्भिज, अण्डज, जरायुज, स्वेदज सभी सृष्टि मात्र प्यार-ही-प्यार है। जिसके ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अर्थात् सृष्टि, पालन एवं संहारकर्त्ता भी मात्र प्यारी एवं प्यारे ही हैं।

ऐसे प्यार के देश में रसमयी बाला बने पू० गुरुदेव अपनी गोबर से लिपी-पुती वन-कुटिया में विराजित हैं। वह कुटिया जर्जरित भग्न है। पू० गुरुदेव की भावदेह इस बाला को क्या नाम दें। मञ्जुलीला नाम तो श्रीराधारानी से मिलन के पश्चात् श्रीरूपमंजरीजी ने उल्लेख किया था। इसके पहले तो पू० गुरुदेव अपने भाव-संसार में बस अनाम गोपी थे। जब उनके दृष्य पटल में 'प्रकट्यौ पूरण नेह' पद की लीला प्रकट हुई थी, उस समय भी उन्हें किसी नाम की स्फूर्ति हुई नहीं थी। हुई होगी तो भी उन्होंने उसका प्रकाश किया नहीं। अतः उन्हें उस अवधि तक के लिये जब कि उन्हें श्रीरूपमंजरीजी के संग मंजुलीला सेवा प्राप्त होती है, रसमयी अथवा भावमयी ही नाम दिया जा सकता है। मुझे व्यक्तिगत रसमयी नाम ही उपयुक्त लगा है। अतः उनके भावदेह को इसी नाम से उच्चारित कर रहा हूँ।

रसमयी की कुटिया मात्र देखने में ही भग्न एवं जर्जरित है। वह तो विशुद्ध सत्व के सार, प्यार का उत्तुंग प्रासाद है और प्यार के प्रासादों की ऐसी ही शोभा आज से नहीं अनादि काल से है। प्यार जनशून्य, टूटे-फूटे, एकाकी वन-वृक्षों के तले ऐसे ही भग्न-गृहों में उत्पन्न होता है, पलता है और अभिवर्धित होता है। वैकुण्ठ एवं कैलाश का वैभव वहाँ तुच्छातितुच्छ प्रतीत होता है।

बाला की कुटिया के सामने का पथ दूर बहती सरिता की ओर गया है। यह पथ सरिता तक पहुँच कर सरिता के किनारे चलता दक्षिण की ओर पगडंड़ियों में परिवर्तित हो जाता है। दक्षिण पथ से ही उस सुदूर वन से होते हुए उस रसमयी बाला के प्राणवल्लभ आते हैं, नित्य ही तो आते हैं। गायें चराकर उस वन से लौटते हैं और तब वे अपने एक छाया स्वरूप से तो सखादि के संग गायें लिये सरिता के किनारे-किनारे उत्तर की ओर पथ से गोकुल की ओर बढ़ जाते हैं और वे स्वयं उसकी भग्न कुटिया की ओर चुपचाप सरक आते हैं। अहा ! वे प्यार के कैसे निर्मल क्षण होते हैं जब बाला उनके प्रथम दर्शन करती है।

अहा ! कैसी शोभा होती है उसके नीलमणि की। मानो वे श्यामलता के एक अनिर्वचनीय फल हों जो मधुर सुस्वादु रस से पूरित हो उठे हों, और उस रसमयी बाला की लोभनीय वस्तु बन गये हों। कैशोरभाव उनके अंग-प्रत्यंगों में समस्त मधुरिमा और उच्छलित आनन्द उँड़ेल रहा होता है। मानो नीलपद्म अपने हृद्देश में प्रतिक्षण सृष्ट होते हुए मकरन्द एवं पराग को एकत्र कर मधुकरी (रसमयी बाला) का प्रीतिभाजन बनने जा रहा हो। अहा ! घुँघराली अलकें उनके कपोलों पर एवं ललाट के कुछ अंश पर झूलती कैसी प्यारी लगती हैं, उसे। गोखुरों से बिखरे उड़े धूलिकण अलकों की शोभा कैसी द्विगुणित कर दे रहे होते हैं। कुन्तल मण्डित मस्तक पर मयूर पिच्छ का मुकुट सदा ही सुशोभित रहता है और केशों में सुरभित वन्यप्रसून ग्रथित होते हैं। नेत्रों की मनोहर चितवन और अधरों पर व्यक्त हुए मृदु स्मित की शोभा देखते ही बनती है। वेणु के छिद्रों में जब वे स्वर भरते हैं तो बाला के प्राण छटपटाकर उसका देह छोड़कर उस नवकिशोर के चरणों में न्यौछावर हो जाते हैं।

जब उसका प्रियतम वह किशोर नीलम सामने के कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ा होता है तो तत्क्षण ही उसके नेत्र भ्रमर के रूप में परिणत हो उड़ चलते है। उसके नीलम के मुखारविन्द से राशि-राशि मधु की धारा प्रवाहित होती रहती है - उसके नेत्र भ्रमर उस मकरन्द रस का पान करने में निरत हो जाते हैं। दिनभर की विरहाग्नि जो उसके अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में अलक्षित रूप से धक्-धक् जलती होती है, प्रशमित हो जाती है।

उन क्षणों की प्रतीक्षा करती बाला अपने नेत्र उस पथ में बिछाये सम्पूर्ण दिवस और रात काट देती है। आज भी उन्हीं क्षणों की प्रतीक्षा उसे है, और उसके नेत्र उस पथ में ही बिछे हैं।

उसकी कुटिया पूर्वाभिमुख है। अभी मध्याह्न है फिर भी रवि किंचित पश्चिम की ओर अग्रगामी होने के कारण उसकी कुटिया के पीछे वृक्षों की ओट में हो गया है कुटिया के बाहर सुखद छाया है। उस छाया में वह उत्तराभिमुख बैठी है। उसके प्राणाराम अवश्यमेव इसी वन में कहीं होंगे। उसके नेत्र उन्हें ढूँढ़ते भटक रहे हैं। किसी सुदूर वन के मध्य कहीं उसके प्रियतम मिल जायें सखाओं के मध्य क्रीड़ा करते। किसी वृक्ष पर बैठे, अपनी गायों को घेरते, पीताम्बर फहराते, वंशीध्वनि करते दिख जावें। उसके नेत्र प्रियतम की खोज में उसे छोड़कर भाग गये हैं। और नेत्र अकेले थोड़े गये हैं

उसकी कर्णेन्द्रियाँ भी वन पथ में ही कहीं वेणुध्वनि सुन रही होंगी, और मन तो अपने मनोहर को एक क्षण भी नहीं छोड़ पाता । मन अपने साथ उसके प्राणों को भी ले गया है। हाँ, उसे संजीवित रखने का कार्य प्रियतम की अबाध स्मृति अवश्य क्रियाशील हुई कर रही है। सारांश यही है कि प्रियतम स्मृति रूप उसके नीलम के ही प्राणों का एक अंश उसे जीवित रखे है।

उसके अपने मन एवं प्राण तो उसके पास तभी लौटेंगे जब उसके प्राणवल्लभ उसके नेत्रगोचर होंगे। और अब तो आने वाले ही होंगे। नित्य ही तो आते हैं। दक्षिण दिशा में थोड़ी दूर जो पुष्पित कदम्ब है, उसके ही नीचे वे प्रतिदिन खड़े हो जाते हैं। उनका यह प्रतिदिन का नियम है। फिर आज इसका उल्लंघन वे क्यों करेंगे ? आज भी अब तो वे आने ही वाले होंगे। ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे नहीं आवें। इसी आशा में तो शरीर जीवन्त है उसका। उनके प्यार की ऊष्मा ही तो उसे जीवित किये हुए है। अन्यथा तो अपने प्रियतम का क्षणभर वियोग भी वह कैसे सह पावे ? उसके प्राण कभी के मिल जावें अपने प्राणप्रिय नीलम के नीलकमल जैसे चरणारविन्दों में।

परन्तु नहीं, यह देह उसके प्राणवल्लभ नीलम की प्रिया है। उन्हें उसके पास आने में, उसे देखने में सुख मिलता है, इसीलिये वह इस देह को पकड़े है। मात्र अपने प्रिय के सुख के ही लिये वह देहरूपा है, देह को धारण किये हैं।

तो बाला के प्राण चले गये हैं अपने प्राणधन को खोजने। वे भटक रहे हैं उस वृन्दा विपिन की राहों में। और आकुल प्राणों की सच्ची इच्छा जब उन्हें ढूँढ़ने एवं पाने की होती है तो वह प्राणधन मिल ही जाता है। यद्यपि यह सर्वत्र है, सर्वव्यापक है परन्तु उसका प्राकट्य प्रेमभरी प्राणों की आकुलता से ही होता है। रसमयी बाला के प्राण अन्ततः उसे ढूँढ़ ही लेते हैं। उसे देखते ही रसमयी के प्राण हरे हो जाते हैं। रसमयी के नेत्र, प्राण, मन सब इस शोभा का पान करने में संलग्न है :--

> कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फुल्लदृशोर्व्रजार्भकाः
> सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥
> बैठे जो बीच कृपालु, सुन्दर सखा चहुं दिसि भ्राजहीं।
> जिमि कमल मध्य सुकर्णिका सुभ पत्र चहुँदिसि छाजहीं।

मानो पद्म का एक प्रफुल्ल बीजकोश हो, इस बीज कोश के चारों ओर मंडलाकार श्रेणीबद्ध पद्म-दल हों -- इस प्रकार अपने सखा श्रीकृष्णचन्द्र को वेष्टित कर गोपशिशुओं ने आसन ग्रहण किया हुआ हैं। पहले श्रीदाम, सुबल, आदि शिशुओं की एक पंक्ति अपने सखा को घेर कर बैठ जाती है। इसके अनन्तर अपेक्षाकृत वृहत् दूसरी पंक्ति पहली को मण्डलाकार ही घेरे है। तीसरी पंति दूसरी की अपेक्षा वृहत्तर है और दूसरी को आवृत्त किये है।

वृजेन्द्रनन्दन को आवृत्त करने वाली प्रथम पंक्ति के सखा सभी वृजेन्द्र नन्दन की तरह पीत वस्त्र पहने हैं। अतः प्रथम पंक्ति पीत वर्णों के पद्म-दलों की तरह शोभा सम्पन्न है। द्वितीय पंक्ति में बैठे सभी सखा संयोगवश रक्तवर्ण के वस्त्र पहने हैं इसी प्रकार तृतीय पंक्ति में सभी सखा श्यामवर्ण के नील वस्त्र पहने हैं। इस प्रकार प्रफुल्ल पद्मकोश के निराले रंग बिरंगे सौन्दर्य का वर्णन साक्षात् वाग्वादिनी के लिये भी असंभव हो रहा है।

साथ ही एक और महती आश्चर्य है कि व्रजराज नन्दन का मुख-पद्म प्रत्येक शिशु की ओर है। प्रत्येक को यह अभ्रान्त अनुभूति है कि मेरा कन्हैया भैया सर्वथा मेरी ओर ही दृष्टि किये, स्नेह सौहार्द की अजस्र धारा बहाते हुए मेरे पार्श्व में ही अवस्थित है। ऐसी अवस्था में सबके आनन्द की थाह ही नहीं है।

जो हो रसमयी बाला प्रत्यक्ष देख रही है कि सखाओं से परिवेष्टित होकर भोजन के लिये आसन ग्रहण किये श्रीकृष्णचन्द्र यमुना पुलिन के उस वन में विराजे हैं।

आज सखाओं के भोजन के पात्र भी निराले ही हैं। कतिपय शिशुओं ने सुन्दर सौरभशाली कुसुमों के दल एकत्र किये और उन्हें संघटित कर अपने भोजन पात्र बनाये हैं।

अनेकों ने पद्म पत्रों से थाल का निर्माण किया हैं। कुछ ने वृक्ष के सुकोमल पत्रों से तो अनेकों ने वृक्ष-वल्कलों को लेकर अपनी थाली बनायी हैं।

> केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरंकुरैः फलैः
> शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः।

> कोउक पुष्प कोउ तासु दल कोउक पत्र फल माँहि
> भाजन कर जेवन लगे अपर उपल चित चाँहि ।

रसमयी बाला के प्राण इस शोभा को अलक्ष्यित लक्ष्य कर रहे हैं। पू० गुरुदेव बैठे हैं मुझ देहावेशी अधम के सम्मुख, उनका गैरिक वस्त्रधारी देह है, राजस्थान के, रतनगढ़ ग्राम में श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार की हवेली में। परन्तु उनके भाव शरीर के सम्मुख विलक्षण दृश्य के रूप में उनका भावजगत् प्रकट हो रहा है। उनके नेत्र निहार रहे हैं अपने कोटि प्राण प्रियतम के विलक्षण सौन्दर्य को। पू० गुरुदेव विलक्षण योगसिद्ध पुरुष थे। उनका शरीर उन दिनों पोद्दार महाराज द्वारा सौंपे पुस्तकालय के कार्य मे रत रहता। वे राधेश्यामजी धानुका एवं अन्य लागों को यथायोग्य कार्य करने का 'राधा राधा' बोलकर अपनी स्लेट पट्टी में निर्देश देते रहते परन्तु उनके मन एवं प्राण अलक्ष्य लक्ष्य करते रहते अपने प्राण सुन्दर नीलम को। उनके प्रियतम का मधुस्यन्दी स्वर उनके कानों को निनादित करता रहता था :--

भो, भो, भो, भो उज्ज्वलनिष्का निष्कासयत भक्ष्य सामग्रीं अग्रीयाम् इति।

(श्री आनन्द वृन्दावन चम्पू।)

अहो ! समुज्ज्वल पदक धारण करने वाले मेरे बन्धुगणों ! उत्तमोत्तम भोजन सामग्री अपने छींकों से निकालो तो सही !

बस, इस सुधा पूरित याचना की देर भर थी, सभी ने अपनी सर्वोत्तम खाद्य सामग्री अपने कन्हैया भैया के सम्मुख रख दी। प्रत्येक सखा को प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि कन्हैया भैया के सबसे अधिक निकट मैं बैठा हूँ, सर्वथा सम्मुख बैठा हूँ और मैंने अपने छींके की भेंट समर्पित की और कनु ने अपना सर्वोत्तम सबसे अधिक प्रिय पदार्थ मेरे आगे रख दिया। यह देखो ! अहा ! औरों ने भी वस्तु लाकर कन्हैया भैया को दीं अवश्य, परन्तु इसने होठों पर रक्खी सबसे प्रथम मेरी दी हुई वस्तु ! अहा ! क्या सुख सिन्धु उमड़ रहा है रसमयी बाला के उर एवं प्राणों के सम्मुख। पू० गुरुदेव का देह भले ही एकान्त में रहे, चाहे अनेक लोगों से घिरा कार्यरत हो – कदाचित अपने प्रियतम प्राणवल्लभ की अखण्ड स्मृति रह-रहकर उन में प्रत्यक्ष संयोग की भ्रान्ति नहीं उत्पन्न करती रहती होती तो सचमुच ही अपने प्रियतम के विरह में एक दिवस भी वे जीवन धारण कर पाते या नहीं – यह निर्णय कर लेना सहज नहीं है।

मैंने निरे बालकपन में उनकी यह दशा अपने इन चर्मचक्षुओं से देखी है। जैसा स्मरण है आगे के अध्याय में वर्णन कर रहा हूँ।

## "मुझे भूत लग गया था और अब तो भूतनी भी आ गयी है"

बात १९४० ई० की है मई जून का महीना था। पू० भाईजी (पू० पोद्दार महाराज) गोरखपुर छोड़कर पहले तो एकान्तवास की दृष्टि से ड़ालमिया दादरी चले गये थे, पश्चात् गोरखपुर जाकर पुन: सभी सम्पादक-विभाग सहित अपने पूर्वजों के ग्राम रतनगढ़ आ गये थे। मेरे मामा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी भी रतनगढ़ ही श्री भाईजी के साथ ही चले आये थे। वे श्रीपोद्दार महाराज की हवेली के पास ही एक दूसरे अग्रवाल सेठ की हवेली थी, उसमें रहते थे।

मैं एकादश वर्षीय बालक मेरे मामा के पास ही पढ़ने चला आया था। दिन में भोजनादि करके मेरे मामाजी श्रीपोद्दार महाराज की हवेली में ही चले जाते थे। वहीं उनका कार्यालय था। कल्याण एवं कल्याण-कल्पतरु के सम्पादन का कार्य वहीं से होता था। मेरी ग्रीष्मावकाश की छुट्टियाँ चल रही थीं। अत: मैं भी सम्पादक विभाग के धार्मिक पुस्तकालय से पुस्तकें पढ़ने मेरे मामाजी के साथ ही चला जाता था। धार्मिक बालोपयोगी भक्त चरित्र पढ़ने का मुझे बहुत ही शौक था।

हवेली की पिरोल के पास ही दुतल्ले में पू० गुरुदेव का कमरा था। दिन में पू० गुरुदेव सर्वथा एकान्त में रहते थे। मेरा गुरुदेव से परिचय तो वे सर्वप्रथम चुरू सन् १९३७ में श्रीसेठजी गोयनका जी के साथ-साथ जब आये थे तभी से था, परन्तु इन तीन वर्षों में मिलन नहीं हुआ था।

लगभग ४ बजे थे। मैं चुपचाप सीढ़ी चढ़कर पू० गुरुदेव को दरवाजे के संधिस्थल से देखने लगा। गुरुदेव बालकपन से ही न जाने मुझे क्यों इतने प्रिय लगते थे कि मुझे उनसे मिले बिना रहा ही नहीं जा रहा था। मैं जबसे रतनगढ़ आया था तभी से उनसे मिलने की सोच रहा था, परन्तु प्रथम तो वे मौन थे फिर नाम-जप में तल्लीन रहते थे, अत: मेरे मामाजी उनसे मिलाने का उत्साह ही प्रकट नहीं करते थे।

मैंने दरवाजों के सन्धिस्थल में आँख गड़ाकर देखा - पू० गुरुदेव अपने तख्ते (लकड़ी के) पर शान्त ध्यानस्थ बैठे थे। मैंने साहस करके दरवाजा

खोल लिया। दरवाजा मात्र उढ़का हुआ था। उसमें भीतर से सिटकनी, कुण्डी कुछ भी नहीं लगी थी। दरवाजा थोड़ा सा धक्का देते ही खुल गया। मैंने देखा उनके श्वास अति मन्द थे। वक्षस्थल ऊर्ध्व होने से उनके मुख एवं मस्तक पर रक्त प्रवाह का अधिक चाप था। मैं उनकी विचित्र दशा चुपचाप बहुत देर तक देखता रहा। उनके नेत्र स्थिर थे। मैने उनको 'बाबा' बाबा' कहकर आवाज दी। परन्तु उन्होंने मुझे न देखा, न सुना। मैं विस्मय कर रहा था। मैंने ऐसी दशा किसी की नहीं देखी थी। मेरी माँ हिस्टीरिया के कारण, बेहोश हो जाया करती थी, परन्तु वह तो विक्षिप्त रोगिणी की व्याकुल दशा होती थी। यहाँ तो अपरिसीम शान्ति और उनके चेहरे में ऐसी स्निग्ध मुसकान थी कि मेरा मन हटने को कर ही नहीं रहा था। मैं एक घण्टे के लगभग उनके पास ही बैठा रहा। मुझे यही भय था कि कहीं इनकी मृत्यु नहीं हो रही हो। मैंने उनको ललाट से, पैरों से स्पर्श किया, तीन चार बार बाबा, बाबा सम्बोधित भी किया, परन्तु वे संज्ञाशून्य थे।

हाँ, रह-रहकर नेत्रों से जो प्रायः स्थिर थे अश्रु की एक दो मुक्ता बिन्दु अवश्य कपोलों पर ढ़लक आती थी। इसका अर्थ था कि वे जीवन्त थे।

लगभग एक घण्टे पश्चात उनके नेत्र हिले और वे होश में आये। मैंने उन्हें प्रणाम कर पूछा – "बाबा ! आप स्वस्थ हैं ? आपको क्या हो गया था ? क्या आपको कोई रोग है ?

उन्होंने 'राधा राधा' कहकर निषेध किया। वे राधा राधा ही बोलते थे। उन दिनों घरों में शौचालय नहीं होते थे। स्त्रियाँ बाड़ों में जो हवेली के पास ही कुछ दूरी पर होते थे, जिन्हें नोहरे कहा करते थे, वहाँ शौच जाती थीं और पुरुष लोग दूर घोरों में (रेत के बडे ऊंचे टीलों में) शौच जाया करते थे। सभी ग्राम के पुरुषों को लोटा लेकर (जलपात्र लेकर) ग्राम से बाहर शौच के लिये जाता देखा जा सकता था। ग्राम के बाहर इसी उद्देश्य से बगीचियाँ भी होती थीं, कूंओं में जल एवं लोटों (जलपात्रों) की व्यवस्था भी रहती थी, जिससे शौच जाने की किया में सुविधा हो जावे।

पू० गुरुदेव लगभग पांच बजे शौच के लिये जाने को जब तत्पर हुए तो मैं भी उनके साथ हो लिया। वे मुझे लेकर रेतीले घोरों में निकल आये।

मैंने उनसे पुनः जिज्ञासा की –– "बाबा ! आपको क्या तकलीफ है ? आपके नेत्रों से अश्रु तो आ रहे थे, परन्तु आप सर्वथा संज्ञाहीन थे। मैं एक घण्टे से आपके कमरे में आपको देखता चुपचाप बैठा था।

पू० गुरुदेव ने मुझसे बहुत ही सात्विक विनोद किया। वे स्लेट तो साथ लाये नहीं थे, अतः उन्होंने रेत में ही अँगुली से लिखकर कहना प्रारंभ किया -- वे मुझ बालक के सम्मुख अपनी उच्च आध्यात्मिक भाव दशा को किस शब्दों में प्रकाश करते वे सत्य के साथ ही साथ आत्म गोपन भी करना चाहते थे। अतः उन्होंने थोड़ा कपट का आश्रय लेकर यही बात बताई :-- "भैया, आज के तीन वर्ष पूर्व मैं राप्ती नदी के किनारे रहता था। वहाँ मुझे एक भूत लग गया था, एवं रतनगढ़ आने पर तो एक भूतनी भी आ गयी है। वह भूतनी तो मुझे सदा पकड़े रहती है। कभी एक क्षण भी नहीं छोड़ती। मेरी आँखों से वही देखती है, मेरे मुख से वही खाती है, मेरे कानों से वही सुनती है, और भैया ! कभी-कभी वह भूत भी आता है। दिन में एक बार तो आता ही है और भूतनी को अपने साथ भी ले जाता है। जब भूतनी भूत के साथ चली जाती है, तब मेरी ऐसी दशा हो जाती है।" मैं अतिशय शंकित हो गया था। मैंने उनसे पूछा -- "इस समय वह भूतनी आपके ऊपर है ?" उन्होंने कहा -- "भूतनी ही तो तुझसे पुरुषाकार भाषा में बोल रही है। मुझे तो उसने मार ही डाला है। मेरे स्थान पर शरीर का सब नियंत्रण तो वही कर रही है।" मैने आश्चर्य से पूछा --"आप पूरे मरे हुए है, मुर्दा हैं ?" उन्होंने कहा -- "सर्वथा"।

"फिर कब तक वह भूतनी आपको पकड़े रखेगी ?" मैंने पुनः जिज्ञासा की। वे बोले -- "जब तक भूत-भूतनी की इच्छा ?" मैंने कहा -- "जब भूतनी ही बोल रही है तब वह मुझे पकड़े रहती है" ऐसा कैसे बोलती है ? उन्होंने कहा --"यह भी भूतनी की इच्छा।"

फिर बोले --"तू न तो कभी अकेले मेरे कमरे में आया कर और न ही मेरे साथ घूमने एकान्त धोरों में चला कर। अन्यथा कहीं तुझे भी भूतनी नहीं लग जाये ?"

मैं सोचने लगा - 'इसीलिये पू. गुरुदेव बहुत ही दुबली पतली आकृति के हैं। भोजन वे करते हैं और चट कर जाती है भूतनी। परन्तु उस बालक को भूतनी का भय सर्वथा नहीं लगता था। उसके पास तो तुलसी की कण्ठी है, यज्ञोपवीत है और गायत्री मंत्र है। ये सन्यासी बाबा तुलसी की कण्ठी नहीं रखते होंगे, न ही यज्ञोपवीत एवं गायत्री मंत्र भी इन्होंने नहीं जपा होगा। तभी भूत ने इन्हें दबोच लिया।

उस अबोध बालक को क्या पता कि साक्षात् अधिदेवी तुलसी एवं यमुनाजी जो उसके महाप्रभु वल्लभाचार्य की गुरुस्थानीया हैं वे तो उसके बाबा को सेवा-सामग्री, पुष्प-हार, आभूषण-वस्त्र साक्षात् प्रकट होकर प्रदान करती हैं।

वह एकादश वर्षीय बालक अपने मामा के साथ जिस मकान में रहता है वह विशाल हवेली रतनगढ़ ग्राम में 'भूतों की हवेली' करके प्रसिद्ध थी। जहाँ अनेकों लोगों को अनेक बार भूत दिख चुका था, उसी स्थान पर वह रोज सायंकाल एवं दुपहरी में शौच जाता है। वह तो रोज भूत को चिढ़ाकर आता है -**"अरे भूतड़ा, मेरे गले में तुलसी जी की कण्ठी। करना हो सो करले प्यारे तेर सिर पर मैं मारता डंडी ।"** उसने अपने मामाजी को भी यह मंत्र बताया है। उसके मामाजी ने उसे डाँटकर मना किया है कि उसे किसी को भी इस प्रकार गाली नहीं देनी चाहिये। आखिर भूत-प्रेत भी भगवान के ही रूप होते हैं। परन्तु अनुशासन मानना, बड़ों की आज्ञानुसार चलना तो उसके स्वभाव में ही नहीं है। जो मन में आता है वही करता है वह।

दूसरे दिन वह बालक पुनः उसी समय साढे तीन चार बजे के आसपास उन साधु बाबा के कमरे में पुनः चला गया। आज भी साधु बाबा अपने देह कलेवर में थे नहीं। देह कलेवर निर्जीव वस्त्र की तरह उस कमरे में तख्ते पर पड़ा था। वह देह कलेवर तो संज्ञाशून्य था, परन्तु उसके प्राण तो स्पन्दित हो रहे थे रस के महा समुद्र में। रस का अनन्त अथाह तट-हीन समुद्र उनके अन्तःकरण को स्पन्दित कर रहा था, उसके कारण अचिन्त्यावस्था में डूबे होने पर भी देह पर अष्ट सात्विक विकार रह-रहकर व्यक्त हो ही जाते थे। कभी अश्रुधार नेत्रों से बह उठती , कभी स्वेद से देह लथपथ हो जाती, कभी कुछ काल तक अनवरत भीषण कम्प होने लगता,कभी रोमांच हो आता और उनके रोम-रोम ऊर्ध्व हो जाते।

वह अबोध बालक समझ रहा था कि भूत-भूतनी मेरे बाबा को कष्ट दे रहे हैं। इसीलिये मेरे बाबा के शरीर की यह दशा है। उसने अपने गले से तुलसी की कंठी उतारी और उसे अपने बाबा के कमुण्डलु जल से धोकर 'श्रीकृष्ण शरणं मम' मंत्र का एक सौ आठ बार उच्चारण करते हुए उसे बाबा के गले में डाल दी। इसके पश्चात वह 'श्रीकृष्ण शरणं मम' मंत्र का मन ही मन अनवरत उच्चारण करता हुआ बाबा के टपकते अश्रुओं को अपनी हथेली में ग्रहण करना प्रारंभ कर देता है। वह मन ही मन भूत भूतनी से प्रार्थना

करता है कि वे भले ही उसके बाबा के देह में रहें परन्तु उसे कष्ट सर्वथा नहीं दें। वह जानता है कि बाबा की आत्मा तो भूत-भूतनी मार चुके हैं अब यदि इन्होंने यह देह छोड़ दी तो उसके बाबा मुर्दा(शव)हो जावेंगे। अतः वह अपने बाबा को जीवित तो रखना चाहता है, परन्तु सुखी, हँसता-खेलता, एवं बोलता व्यवहार करता देखना चाहता है। उन्हें इस प्रकार अतिशय पीड़ा से काँपते, रोते, भय से रोमांचित होते, पसीने से लथपथ होते देखकर उसके प्राण बाहर से भीतर तक काँप उठे हैं। अपने बाबा की दुःख-वेदना बँटाने का उसको यही उपाय समझ में आया कि वह अपने बाबा के आँसुओं को अपनी हथेली में इकट्ठा कर अपने अंग-अंग में चुपड़ ले। संभव है इससे भूत-भूतनी उसको पीड़ित करना प्रारंभ कर दें और उसके बाबा कुछ काल तो उनके द्वारा दिये कष्ट से विराम पा सकें। वह तो 'श्री कृष्ण शरणं मम' अमोघ मंत्र से फिर भूत-भूतनी को सीधा कर ही देगा।

इधर तो वह अबोध बालक रसमयी के बाह्य कलेवर के अश्रु इकट्ठे कर रहा है और उधर पू० गुरुदेव राधा बाबा रसमयी बाला बने हृदय देश के रस-राज्य में अपने साँवरे प्रियतम पर प्राण न्यौछावर कर रहे हैं।

## आवनी लीला

प० पू० गुरुदेव की भाव-देह रसमयी के प्राण एवं मन विलक्षण भावदृष्य देख रहे हैं :-- संध्या के किंचित् रक्ताभ श्याम परिधान की आभा वन प्रान्तर् के आकाश में परिव्याप्त हो चुकी है। सखाओं द्वारा उनके प्राण सखा का सर्वांग श्रृंगार सम्पन्न हो चुका है। रसमयी-प्राणवल्लभ नीलमणि के महामरकत श्यामल श्रीअंगों की निराली शोभा बस देखते ही बनती है। सखाओं ने उसका कैसा प्यारा श्रृंगार किया है। मस्तक को तो मयूर पिच्छ निर्मित मनोहर मुकुट से मण्डित किया है। घुँघराली अलकों में विविध वर्ण के महँ-महँ करते हुए कुसुम समूह गुम्फित हो रहे हैं। सखाओं द्वारा पहनाये अन्य अंगों में भी यथायोग्य कुसुमों के ही आभरण सुशोभित हैं। नवीन, रंग-बिरंगी, गैरिक आदि वन्य धातुओं से श्याम कलेवर पर सुन्दराति सुन्दर विविध चित्रों का निर्माण भी सभी ने मिलकर किया है।

सर्वांगों से पूर्ण श्रृंगारित यह साँवरा कैसा मनोहर है कि इसकी शोभा सब श्रृंगारों को श्रृंगारित कर रही है। श्रृंगारों की भला सामर्थ्य ही ऐसी कहाँ है जो इसे सजा सकें।

अहा, जब यह अपने बिम्ब-विडम्बी अधरों पर वंशी को धारण कर उससे परम रसमय अत्यंत स्फुट स्वरों का सृजन करता है तो समग्र विश्व ही मोहित हो जाता है। अब तो व्रजराजकुमार अतुल सुन्दर वेषभूषा से सुसज्जित हुए वन से गोष्ठ की ओर अग्रसर भी होने लगे। मधुरिमा का स्रोत प्रसरित हो रहा है उनके रोम-रोम से। नृत्य की नवनूतन भंगिमाओं के सहित पदविन्यास करते हुए वे सखा मण्डली को परमानन्द में डुबा रहे हैं।

देखो ! यह नीलसुन्दर एक सौन्दर्य समुद्र की तरह लहराता हुआ चाल भरता है। कभी तो यह तरुपत्रों को मोडकर स्वनिर्मित वाद्ययंत्र (सीटी) में अपने परम सुरभित मुखश्वास को भरकर अद्भुत मनोहर राग की एक ऊँची अतिशय मधुर तान छेड़ता है और कभी गुँजाता है अपना मेघ गंभीर श्रृंगीनाद। कभी-कभी यह अपने कर कमलों को ही शंखाकृति दे देता है और तब शंखनाद से स्पर्धा करती हुई कैसी परम मधुर ध्वनि सर्वत्र वन में प्रसरित हो उठती है उसका कौन वर्णन कर पावे।

और ये नन्दनन्दन के सखा जब अपने हृत्तल के सुख को अवरुद्ध करने में असमर्थ हो जाते हैं तो मधुर उच्च स्वर से अपने कन्हैया भैया की पवित्र कीर्ति का गान करने लगते हैं। प्रत्येक के कण्ठ से व्रजेन्द्र-नन्दन की प्रशंसा के गीत झर रहे हैं। सर्वथा अपनी ही प्रतिभा से रचित एवं तालबन्ध से गाये हुए इन मधुर गीतों में भरा है नन्दनन्दन के सुयश का वर्णन, उनकी बाल्य चेष्टामयी पुनीत कीर्ति का चारु चित्रण।

अरी यो कान्हर कारो री, नहीं री यो व्रज उजियारो री
सात बरस के साँवरिया ने गिरिवर धार्‌यो री।
कालिय ह्रद में साँप नथायो, दावानल मुख पान करायो
तृणावर्त बक अघ से असुरन मार पछार्‌यो री
चीर चोर, चितचोर, और दधिचोर कहायो री

अहा ! इधर तो पूर्ण महा सख्य रस प्रवाहित हो रहा है, और इस अमित रस में समग्र वृन्दावन झूम रहा है और उधर प्राणों की समग्र उत्कण्ठा लिये

रसमयी अपना तन, मन सबकुछ सर्वथा विस्मृत किये अपनी भग्न किन्तु प्रीति प्रासाद बनी कुटिया में अपने प्राणधन नीलमणि की आकुल प्रतीक्षा में सर्वथा उन्मादिनी हो रही है। वह कभी द्वार पर खड़ी होती है एवं कभी अपने प्रियतम के स्वागतार्थ सजायी रखी सेवा सामग्री की जांच परख करती है। उसके नेत्र केन्द्रित हैं, उस दिशा में, वन के उस पथ की ओर ही जिधर से ये व्रजेन्द्रनन्दन आते हैं।

उसका मन पुनः दौड़ जाता है अपने प्रियतम के पास। देखो ! देखो इनकी भुजाओं में कड़े, कंकण और बाजुबंद शोभा पा रहे हैं। हाथों में मुद्रिका अंगूठी है। और सबसे शोभा देने वाली तो इनके हाथों की नख राशि है।

रसमयी के ज्योंही ध्यान में प्रियतम के करकमल आते हैं, वह सोचने लगती है, हाय ! मैं कितनी ही मेंहदी क्यों न लगालूँ मेरे मेंहदी लगे हाथ कितने कुरुप हैं, और आते ही वे तो सर्वप्रथम अपने सुकोमल हाथों में इन्हें ही धारण करेंगे। इन्हें पुष्पसार से सुरभित तो कर लूँ। हाय ! ये खुरदरे हाथ, उनकी सुकोमलतम हथेलियों को कष्टकारी न हों।

रसमयी इस प्रकार अपने चित्त को व्यग्र कर रही है, इतने में ही उसके श्रवणरंध्रों में वेणुरव गूँज उठता है। अहा ! वे देखो वे आ गये, वे रहे उसके प्राणाराम। उसके दृगों में श्याम ज्योति पूरित हो उठती है।

विचित्र साज श्रृंगार से विभूषित हुए, अपनी परम रमणीय चेष्टाओं से पद-पद पर सुख सरिता का सृजन कर उसमें स्वयं ही अवगाहन करते हुए, सखाओं को निमग्न करते हुए रसमयी नयनानंदवर्धन प्रियतम अपनी छाया छवि से तो ब्रजपुर में प्रवेश कर जाते हैं,(गोकुल की ओर प्रवेश कर जाते हैं) और स्वयं रसमयी की कुटिया के पार्श्व में कदम्ब वृक्ष पर खड़े हो जाते हैं।

बर्ह प्रसूननवधातुविचित्रितांगः प्रोद्दामवेणुदलश्रृंगरसोत्सवाढ्यः।वत्सान्
गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिः गोपी दृगुत्सव दृशिःप्रविवेश गोष्ठम् ॥
श्रीमद्भागवत १०/१४/४७

रसमयी में उन्हें देखते ही माधुर्य स्नेह की ऐसी प्रखर धारा उमड़ती है कि उसका हृदय विगलित हो उठता है। रसमयी के मन-प्राणों के पीछे उसका हृदय भी बह चलता है अपने प्रियतम नन्दनन्दन की ही ओर। अब उसका शरीर उसकी कुटिया में रह पावे, भला यह कैसे संभव है। परन्तु लज्जा ने उसके पैरों की गति में ताले जड़ दिये हैं। साथ ही सात्विक भावों का उन्मेष जो हो आया। जड़िमा से समस्त अंग अवश हो गये। जहाँ की तहाँ वह खड़ी

ही रह गयी। रसमयी के कमल-नेत्रों में प्रेमानन्द के अश्रु झरने लगे हैं। वे अश्रु उसके कपोलों की सज्जा करने लगे हैं। अब उसका प्रियतम नीलम अपने आपको कैसे रोक पावे। वह निकट से निकटतर, निकटतम आता चला आता है। अपनी प्राणप्रिया के भुजपाश में स्वयं को बँधवाले अथवा उसे अपनी भुजपाश में बाँध ले। रसमयी तो अपने पैर चाहकर भी उठा नहीं पा रही है, नहीं तो वह दौड़ पड़ती। भावों का वेग उस अवस्था में उसे स्वेद से लथपथ कर रहा है साथ ही अश्रुओं की वर्षा से नहला रहा है। और नीलमणि उसके प्रियतम अपने कमल जैसे हाथ फैलाकर बटोरने लगे हैं अपनी ही हथेलियों में उसके अश्रुप्रवाह को।

ओह ! इस मिलन सुख का वर्णन कोई कैसे करे। इसमें एक विचित्र विशेषता है। यह मिलन है तो एक दैनन्दिनी घटना। प्रतिदिन नन्दनन्दन रसमयी की कुटिया में आते हैं। प्रतिदिन ही रसमयी उन्हें प्यार से गले लगाये अपनी कुटिया के अन्दर ले जाती है, प्रतिदिन ही वह उन्हें अपनी शय्या में बैठाती है उन्हें वनमाला पहनाती है। केसर कस्तूरी से उनके अंगों को विलेपित करती है। परन्तु न जाने महती आश्चर्य है प्रतिदिन ही ऐसा प्रतीत होता है मानो युग-युग के अन्तराल से आज ही प्राणप्रिय प्रथम बार ही आये हैं और प्रतिदिन ही इसमें गत दिवस की अपेक्षा सुख की ऐसी एक अभिनव अप्रतिम लहर परिव्याप्त हो जाती है, जिसकी झाँकी प्राकृत जगत के हम अधम जीवों की कल्पना में भी आनी संभव नहीं है।

देखो ! नीलमणि प्राणाराम की जैसे ही सुकोमल हथेलियाँ अश्रुओं से भरती हैं वह इन्हें छिड़क लेता है अपने कलेवर पर। अरे, वह तो अपनी प्राणप्रिया की प्रेमदशा को देखकर स्वयं भी प्रेमाश्रु बहाने लगा।

कहना कठिन है यह नीलमणि एवं रसमयी की अश्रु-प्रवाह-एकत्रीकरण की लीला कितने काल तक चलती रहेगी और उनकी यह प्रेम समाधि कब टूटेगी।

देखो ! प्रियतम नीलम की चंचल प्रेम समाधि कैसी विलक्षण है। समाधि भाषा में ही व्यक्त उसका प्रेमगीत एवं मधुस्यन्दी कोकिल के समान मधुर वाणी में गायन तो तनिक सुनो।

'प्रीति स्वाति जल से उपजीं ये मुक्ता तो मम अलंकार हैं।
प्रिया नयन सीपी से प्रकटीं महाभाव की परम सार हैं।
यों कहकर प्रेमोन्मादी से लगे उन्हें कर भर उछालने।

'मम वृन्दावन सरस करो'- कह वन कुञ्जों में लगे डालने।
'चुगो चुगो इन रसमय मणियों को हे चातक ! हे मयूरगण !
कोकिल, कीर, पपिहरा, शुक सारिका करो सज्जित सब तन मन।
यह सौभाग्य पुनः न मिलेगा हे लतिकाओं, हे पुष्पित वन
ये अशेष हैं अगणित हैं साजो इनसे समस्त वृन्दावन।
प्रियतम की इस महाभाव लहरी को निरख परम विस्मित हो
लगी बहाने प्रिया अश्रु मानो दो नेत्र नहीं झरने हों।
भर भर अञ्जलि अश्रु उछाल रहे उन्मत्त हुए जीवन धन
नाच नाचकर स्नान कर रहा था जीवन्त सकल वृन्दावन।
स्पर्धा होने लगी प्राणधन में प्यारी की अश्रुधार में
मात्र भाव ही भाव बह रहा अश्रु बना उन नेत्र द्वार में
भला भाव भी कभी पराजित हुआ नाथ ! वह तो अव्यय है।
तुम व्यय करना चाहो उसको हार तुम्हारी ही निश्चय है।
यों कह बाहुपाश में बाँध लिया विश्रान्त थके प्रिय को जब।
अश्रु मोतियों से वह लगी भिगोने उनका रोम रोम तब।
अंग अंग धोये प्रेम सँजोये सजल नयन धारा बरसाकर।
अलक तिलक आभूषण सब पहराये प्रीति अश्रु बिखराकर।
कैसी सुखद प्रीति वर्षा थी, नहा रहे, प्रेमी प्रेमास्पद।
मसृण धरा थी गगन सुनेहिल प्राण प्रीति रस भीगे गद्गद।

यह रसमयी प्राणाराम ऐसा ही भावग्राही है कि भाव में नहाता थकता ही नहीं हैं। अपने प्रिया-प्रेम में अहा वह कैसा नहाया है और अब अपनी प्रिया की भुजा में बँधा बेसुध हो गया है। देखो ! देखो, यहाँ तो यह रसमयी प्राणवल्लभ था और अब यह गोपी प्राणवल्लभ है। है वही साँवरा श्यामसुन्दर अनन्त रसनिधि परन्तु यहाँ यह गोकुल की वीथियों में गोप-व्रजवधू-नायक हो रहा है। देखो ! देखो !! एक से एक अति सुन्दरी व्रजबालायें नवनवायमान यौवन के उन्मेष से भरी, अटारियों में चढ़ीं, इसे देखने को नयन बिछाये खड़ी हैं। अहा ! इनके नयनों में कैसी प्रेमोत्सुकता है। इनकी प्रतीक्षा में कैसी सरस आकुलता है।

लो ! धूलि उड़ रही है। गोकुल के पश्चिम दिशा की ओर सभी की आँखें विजड़ित हैं। सुदूरगामी वन प्रदेश की तरफ से आने वाले पथ पर धूलि के अम्बार के मध्य उसका प्राकट्य होगा। धूलि धूसरित अतिमनोहर श्यामल

केशराशि के ऊपर लहराता मोरमुकुट, अरे, इन व्रजबालाओं की ही नहीं इन पशु-पक्षियों तक की भी पलकें उसे देखते ही गिरना बन्द हो जावेंगी। उन सभी के प्राणों की एक ही तो पुकार होगी :--

देख न देत न बैरिन पलकें।
सुन्दर वदन लाल गिरिधर को,बीच परत मानो वज्र की सलकैं।
ऐसे मुख देखन को सजनी कहा कियौ यह पूत कमल कैं।
नन्ददास सब जड़न की यह गति मीन मरत भावैं नहिं जलकैं।।

देखो एक कह रही है --"यह शोभा का सिन्धु है।" दूसरी मूक है परन्तु उसके प्राण चीत्कार कर रहे हैं --"यह छवि समुद्र मेरे प्राणों का भी प्राण है।" तीसरी का पारस्परिक वार्तालाप सुनो -- यह तो मेरी आत्मा की आत्मा, मेरा चित्तचोर है।"

छतों पर चढ़ी झुण्ड की झुण्ड इन गोपियों में उसको देखने की कैसी आतुरता है। उनके प्राणों की समस्त शक्ति नेत्रों में ही समाहित हो गयी है। शरीर के सभी अवयव, रोम-रोम, नेत्रों की ओर दौड़ लगा रहे हैं। सभी अंग अवयव रूप दर्शन में असमर्थ जो हैं। नेत्रों को ही तो विधाता ने यह सौभाग्य दिया है। और उन्हें तो यदि आनन्द का, तृप्ति का कुछ अंश मिलेगा तो नेत्रों के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

एक गोपी कह रही है -- "बहिन ये सखागण कैसे सौभाग्यवान हैं जो इसे नित्य नवीन श्रृंगार से सजाते हैं, इन्हें जितने भी वन में सुन्दर सुगन्धित पुष्प मिल पाते हैं, सभी पुष्प इसकी घुँघराली केशराशि में खौंस देते हैं। देखो तो सही, इस पीले कर्णिकार पुष्प की कैसी शोभा है जो इसके एक कान में कुण्डल की तरह सज्जित है।" दूसरी कहती है--"बेचारी नन्दरानी तो इसके प्रेम में ही विसुध रहती है, और यशोदा की दासियाँ इसके अतसी कुसुम से पतले-पतले कानों में मोटे-मोटे स्वर्ण-कुण्डल जो रत्नों से और भी भारी हो जाते हैं पहना देती हैं। हाय ! यह बेचारा फूल सा सुकुमार स्वर्ण-कुण्डलों के कानों में लटकाने से, तथा भारी स्वर्ण मुकुट को सिर पर ढोने से कितना कष्ट पाता होगा ? ये कठोर हीरक, माणक एवं भारी मणियाँ इसके सुकोमल अंगों में कितनी चुभती होंगी। इन सखाओं ने उचित किया। सब धातुओं को, मणियों, पत्थरों को वन में फैंक कर, इसका पुष्प श्रृंगार कर दिया। अरी !

प्रभात में जब यह वन जा रहा था तो मैं इसके भारी श्रृंगार को देखकर टप-टप अश्रु टपका रही थी। हाय ! ये स्वर्ण के मणिजटित्त बाजूबन्द, स्वर्ण के कड़े, मुद्रिका सभी इसके सुकोमल अंगों में कितना चुभते होंगे। अहा ! यह पुष्प श्रृंगार इसको कितना फब रहा है। सखाओं ने कुछ प्रेम प्यार पाया तो है ?

तीसरी कहती है --"अरी बहिन ! ये वन पुष्प भी विचित्र हैं। इन पुष्पों ने हीरक मणियों की ज्योति न जाने कहाँ से पाई है ? ये पुष्प हीरों की सी ज्योति निकालकर इसके कपोलों को दमका रहे हैं।

और चौथी कह रही है -- देख सखी ! इस सखा समूह ने तो पूर्णिमा के चाँद को ही मानो इसके ललाट पर विजड़ित कर दिया हो, क्या ही प्यारा बिन्दु इसके ललाट पर लगाया है। कुंकुम में तो ऐसी शोभा नहीं होती- ये सखा अपने सखा को कैसा सजाते हैं री !

अब पाँचवी की बात सुनो। वह कह रही है - देख री सखी ! दल के दल मधुमत्त भ्रमर मँडरा रहे हैं। कुछ तो व्रजेन्द्र नन्दन के कण्ठ देश एवं वक्षस्थल पर झूलती हुई वन माला पर भी आ विराजे हैं। इन सभी का एक स्वाभाविक गुञ्जन है, और नीलसुन्दर की अद्‌भुत अलोकिक परम मनोहारिणी अनुकृति का रागमय स्वर स्पन्दित हो रहा है, तथा उनमें मिल रही है शिशुओं के आह्लादपूर्ण श्रीकृष्ण सुयश संगीत की ललित लहरियाँ। तीनों का विचित्र सुन्दर सम्मिश्रण हो रहा है, विचित्र सा समाँ बाँधा है, वृन्दावन बिहारी ने।"

कश्चित गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमान चरितः स्रग्वी संकर्षणान्वितः।। श्रीमदा. १०/१५/१०

अब छठी कहती है :-- देखो ! इस नयनाभिराम नन्दतनय के कर्ण पुटों में मधुर कोमल आलाप करते हुए शुक की यह मनोहारिणी ध्वनि भर जाती है और वे तत्क्षण उससे भी अधिक सरस स्वर में कीर का ही अनुकरण करने लगते हैं। कभी कोकिल कूजन की मधुर पंचम तान सुनकर उसकी अपेक्षा भी मृदुलतम कण्ठ से ठीक वैसे ही राग वे भी भरने लगते हैं। और फिर तो कुछ ही क्षणों में शुक-पिक-अलि सभी मौन धारण कर चुप बैठ जाते हैं। शान्त स्थिर होकर वे अपने इस अनोखे प्रतिद्वन्द्वी गायक की ओर मानो देखने लग

जाते हैं। उन्हें लज्जा सी लगने लगती है -- "कहाँ हमारी यह कर्कश ध्वनि और कहाँ इन नील सुन्दर का मधुस्यंदी स्वर।"

अनुजल्पति जल्पन्तं कल वाक्यैः शुकं क्वचित्।
क्वचित् सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम्।। श्री मद्भा. १०/१५/११

अब सातवीं की बात सुनो। वह कह रही है -- "देखो री ! हमारे प्यारे श्यामसुन्दर की शोभा ने सबसे बड़ी दुर्गति तो बिचारे कामदेवकी की है। इसे अपने बल का बहुत ही गर्व था री ! यह शंकरजी को हरा जो चुका था। हमारे प्यारे ने तो इसका अस्तित्व ही निःशेष कर दिया। उसे तुच्छातितुच्छ नगण्य बनाकर अपने चरणों में रख लिया री।"

"देख सखी ! व्रज में नर-मादा तो असंख्य जोड़े हैं। सभी एक दूसरे से परस्पर मिलते हैं, कोई भी वैरागी नहीं हुआ है, साथ-साथ सोते, बैठते एवं खाते-पीते रहते हैं, सभी परस्पर प्रेम भी करते हैं, एक दूसरे के अतिशय आत्मीय भी हैं, परन्तु फिर भी नर-मादा, और शिशु एवं वृद्ध, परिवार के सभी लोगों का चित्त डूबा रहता है इस साँवरे के मनोहर रूप में ही। गौएँ दूध देती हैं, दूध देते समय चाटती हैं नवजात वत्सों को ही। परन्तु कैसा आश्चर्य है कि उन्हें उनका दूध दुहैया गोप, एवं नवजात वत्स सभी दिख रहे हैं, प्राणधन नीलसुन्दर ही नीलसुन्दर। और ये इस अपने प्राणवल्लभ की ध्यान छवि को देखकर ही अपने मुख का अर्धचर्बित तृणग्रास छोडकर, सिर को ऊपर उठा लेती हैं। इनके प्राणों की कैसी आकुल उत्कंठा है, अपने नित्य पालक नन्दनन्दन को देखते रहने की। और क्या जादू है, चाहे कोई अन्य गोपालक ही उनकी सेवा में हो, उन्हें तो यही प्रत्यक्ष दिखता है आनन्द विह्वलहुए नन्दनन्दन नीलमणि ही अपने पीताम्बर से गायों के मुख पर लगी रज पौंछ रहे हैं। और यह अनुभूति एक गाय की ही नहीं, असंख्य गायों की है, असंख्य गोवत्सों की है। असंख्य नेचुकियों, बछड़ियों की है। सभी नीलसुन्दर के अधरों से निस्सृत वाणी सुनती हैं, सभी उनका सर्व मोहनकारी स्पर्श पाती हैं एवं उनके ही प्यार और दुलार में सदा ही डूबी रहती हैं।

देखो, इस नन्दराय जी के गजराज से उसकी हथिनी कुछ कह रही है उसे भी सुन लो। हथिनी अपने जीवन सर्वस्व हाथी से कह रही है - मूर्ख ! नीचा मुख क्यों किये है ? क्या हुआ, इस नीलमणि बालक की मदमस्त लटक

भरी चाल ने तेरे अभिमान को चूर चूर कर दिया तो ? इसमें इतना लज्जित हो मुख नीचा कर जीवनभर उसे न देखने का व्रत लेने की मूर्खता कैसी ? अरे, इसके सामने देवराज इन्द्र, विश्वपिता ब्रह्माजी, सर्वमोहन कामदेव सबके अभिमान धराशायी हो गये हैं। उसके सम्मुख तू एक साधारण मोटी बुद्धि का हाथी क्या अर्थ रखता है ? अरे वैसे ही विधाता का प्रकोप है कि उसने हमें छोटी छोटी आँखें दी हैं। फिर इन आँखों की कृतकृत्यता का क्षण तो अभी ही आया है। इन्हीं क्षणों के लिये तो इन नेत्रों के होने की चरितार्थता है। फिर इस साँवरे सलोने प्राणों के प्यारे की ओर नयन भर कर देख न ! नयनों के द्वार से ही तो इसे हृदय के भीतर ले जाया जा सकता है। दूसरा तो कोई उपाय ही शेष नहीं है। तब इन अनमोल क्षणों को उदास होकर नीचा मुख किये क्यों व्यर्थ कर रहा है ? न्यौछावर कर दे अपने प्राणों को इस पर। जय हो ! इस प्राणों के प्यारे असमोर्ध्व सौन्दर्य माधुर्य की जय, जय, जय हो !! हाथी हथिनी प्रेमाश्रुओं से भीगे प्रेम में झूम रहे हैं।

देखो ! देखो !! शोभा समुद्र गोपीवल्लभ गौओं के पीछे-पीछे कैसा मधुर नृत्य कर रहा है। इसकी अंजलि में न जाने कहाँ से पुष्प भर जाते हैं और अटारियों पर चढ़ीं इसकी ओर सतृष्ण नयनों से देखती व्रजांगनाओं पर मुसका कर इस प्रकार पुष्प उछालता है कि पुष्प सीधे उनके उरोजों पर, कपोलों पर, उनके आनन पर, गिरते हैं और ये प्रीतिदेवियाँ भी उत्तर में इस पर इतनी पुष्पमालाओं की, पुष्पों की वर्षा करती हैं, कि सम्पूर्ण गोकुल का राजपथ पुष्पों से भर जाता है।

**केवल नर नारी नहीं धरा के मस्तक मणि मुनि थे प्रियतम !**
**जो स्वर्लोकों के, भुवर्लोक, पन्नग तल तक के थे प्रियतम !**
**प्रेरित हो अन्तर्यामी से दौड़े आये सब थे प्रियतम !**
**जैसे थे वैसे ही प्रायः कुछ रूप धरे भी थे प्रियतम।।**

(इस वनचारणोपरान्त आवनी की लीला का दर्शन करने धरा के केवल नर-नारी ही नहीं, मस्तक-मणि-मुनिगण भी आये थे। स्वर्गलोकों के, भुवर्लोकों के, एवं पन्नग तल तक (नागलोक) के सभी प्राणी अन्तर्यामी से प्रेरित हुए वहाँ दौड़े आये थे। कुछ अपने प्रकट रूपों में ही थे, और कुछ दूसरा रूप धारण किये थे।)

पश्चिम दिशा में सूर्यदेव रुक गये हैं। उनकी किरणें समशीतोष्ण सबको अतिशय सुखदायी हो रही हैं। पृथ्वी प्रतिक्षण नवीन-नवीन सुषमा धारण कर अपने प्राण प्यारे के चरणों में लिपट रही है।

शनै: शनै: व्रजवीथियों से होती यह नन्दनन्दन की टोली नन्दभवन में पर्यवसित हो जाती है। यशोदा मैया उन्मादिनी सी अपने लाला पर राई-लौन करती हैं, आरती नीराजन कर अपने अंक में भर लेती हैं।

इधर यह नीलसुन्दर नवनीरदवर्ण रससागर अपनी वात्सल्य-रस-घन मूर्ति मैया यशोदा के वक्ष में समाता है। वहाँ, वही माधुर्य-रस-सागर हुआ अपनी प्राणप्रिया रसमयी के आलिंगन में आबद्ध है। और ठीक, इसी समय श्रीपोद्दार महाराज की हेली में (हवेली शब्द का अपभ्रंश) अपने बाबा के कण्ठ से एक एकादश वर्षीय बालक लिपट जाता है। कैसा विलक्षण विचित्र साम्य अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया संघटित करती है।

## वे कैसे रसमय दिन थे

पू० गुरुदेव की आँख खुलती है। कण्ठ में लगे इस बालक को देखकर वे मुग्ध हो जाते हैं।

"अरे तू भीग कैसे गया रे?" उनका उससे पट्टी पर लिखकर प्रश्न होता है।

"आपका भूत आपको बहुत रुलाता है। मैं चाहता हूँ वह भूत-भूतनी मुझे लग जाये और आपको छोड़ दे। देखिये, आपकी आँखों से कितने अश्रु गिरे हैं। मैं चुपचाप आपके कमरे में आता हूँ। यह भूत मेरे सम्मुख आता ही नहीं। मैं तो उसे अमोघ 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र से ठीक कर देता। मैंने आपको अपनी तुलसी की कंठी भी पहनायी, परन्तु आप पर कहीं कोई असर नहीं हुआ। एक घंटे से कभी वह आपको कँपाता है, कभी पसीने से लथपथ कर देता है, कभी रुलाता है, आपके नेत्रों से आँसुओं की धारा चलती है, आप तो बेहोश रहते हैं।"

बालक को रोते-रोते हिचकी बँध गयी है। वह रोये और बोले जा रहा है। और उसके बाबा अति प्यार से उसके आँसू पोंछते जा रहे हैं।

और तब वे रतनगढ़ ग्राम के धोरों में दौड़ने चले जाते हैं। वह भी स्कूल में फुटबाल का खिलाड़ी है और उसके बाबा भी फुटबाल के अच्छे

खिलाड़ी रहे हैं। परन्तु उसके बाबा उससे बहुत ही तेज दौड़ते हैं। वे कबड्डी में भी उसे हरा देते हैं। बालक किसी स्पर्धा में भी उनसे तेज नहीं पड़ पाता। उस बालक के जीवन के वे बहुत ही रसमय दिन थे। वह युवक सन्यासी जो उससे पन्द्रह-सोलह वर्ष बड़ा है उसे न जाने क्यों बहुत ही आत्मीय श्रद्धास्पद, एवं अनुकरणीय लगता है।

बालक आजकल ईश्वर से एक ही प्रार्थना करता है। "हे प्रभो ! मेरा तो दूसरा जन्म होगा ही, यदि हो तो इस सन्यासी को ही स्त्री बनाकर मेरी माँ बनाना। और यदि इसे स्त्री देह न दे तो मेरा बाप बना देना। और यदि ये सब भी न करे तो उसके साथ ही उसका जन्म अवश्य करना।"

एक दिवस रतनगढ़ के घोरों में उसने अपनी भावना अपने बाबा के सामने व्यक्त कर ही दी। "बाबा ! आप मुझे सबसे अधिक प्यारे लगते हैं। नाना, नानी, माँ, बाप, मौसियाँ, एवं सब सम्बन्धियों से भी आप अधिक प्यारे प्रतीत होते हैं। आपके साथ मेरा मरने के पश्चात् भी सम्बन्ध जुड़ा रहे ऐसा हो सकता है क्या ?"

पू० गुरुदेव ने कहा -- "भैया ! मैं तो मृत्यु के पश्चात् और इस जीवन में भी तेरे बड़े - मामाजी श्रीपोद्दार माहराज से ही जुड़ा हूँ तथा जुड़ा रहूँगा। तू इनसे जुड़ जाय तो तेरा मेरा जन्मान्तर में भी सम्बंध बना रहा सकता है।"

अब तो बालक बहुत ही घबड़ा गया। श्रीपोद्दार महाराज तो बहुत ही गंभीर, मुख फुलाकर, प्रूफ देखते हैं, वह ४० वर्ष बड़े अपने मामा के भी गुरुजन से कैसे अपना प्रेम प्यार बनाये। ये सन्यासी तो उसके साथ खेलते-कूदते सब सरलता से मित्रवत् व्यवहार करते हैं। वह चुप हो गया। उसने निर्णय कर लिया पोद्दार मामाजी के साथ उसकी दाल नहीं गलेगी।

अब उसने दूसरा प्रश्न किया -- "बाबा ! आपको मैं क्या कहूँ आपसे अपना क्या सम्बंध बनाऊँ ? श्रीपोद्दार मामाजी तो उसके बड़े मामा हैं, आपको 'छोटा मामा' कहूँ। बाबा, आप मेरे गुरु हो जाइये ?"

सन्यासी बाबा सकपका गये। उन्होंने तो अपने जन्मगत सम्बन्ध ही माँ, बाप, भाई, बहिन सबसे तोड़ दिये हैं। अपनी असहाय निरक्षर पत्नी तक को वह छोड़ आया है।

आज यह सन्यासी यदि अपनी चार-पाँच वर्ष पुरानी मनोदशा में होता तो इस बालक को अपने कमरे में घुसने तक नहीं देता। पहली भेंट में ही

इसे इस प्रकार रूखेपन से झिड़कता कि यह इस प्रकार चोरी-चोरी उसके निवास में घुसने का साहस ही नहीं कर सकता था। और यह बालक देह कलेवर से ही तो बालक है। इसके अन्तराल में तो उन्हें भगवती श्री राधारानी की परम प्यारी एक मंजरी दिखायी पड़ रही है। और उस सन्यासी के हृदयदेश में विराजित वह श्यामल ललित तृभंग आकृति भी तो बालक के प्यार का अनुमोदन कर रही है। तभी न इसके द्वारा शरीर से वही क्रिया हुई जो उनके अन्तस्थ प्राणवल्लभ उनके भावदेह से कर रहे थे। जब उनके प्राणवल्लभ उनके प्रेमाश्रु अपनी नीलकमल जैसी हथेली में संग्रहीत कर रहे थे, ठीक उसी समय इसके द्वारा भी यही क्रिया संघटित होना, क्या इस बालक की किसी सुदूर भविष्य की पात्रता को प्रमाणित नहीं करता ?

पू० गुरुदेव ने अपने हृदय देश में विराजित श्रीकृष्ण की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त कर इस बालक हृदय को अपने स्नेह से भरपूर आपूरित कर दिया।

पू० गुरुदेव ने बालक को अतिशय प्यार से देखा।

बालक ने अपने बाबा से कहा-"बाबा ! मैं आपको एक गाना सुनाऊँ ?" उसके बाबा की अनुमति मिलने पर उसने उन्हें उसी कमरे में बैठकर जीवन का पहला भक्ति-पद सुनाया।

'तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज हारी।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसौं।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसौं।
ब्रह्म तू, हौं जीव हौं, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात गुरु-सखा, तू सब विधि हितु मेरो।
तोसौं मोसौं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यौं-त्यौं तुलसी कृपालु चरण शरण पावै।

सन्यासी बाबा ने प्यार से उसके सिर पर हाथ रख दिया है। बालक आज इतना प्रसन्न हुआ है कि उसके पाँव जमीन पर नहीं पड़ते। उसने अपने पूर्ण मनुहार से फिर पूछा -- "आप मेरे गुरु है न ?" उन्होंने जोर से बोलकर कहा -- "गुरु तो मैं तेरे बाप का भी हूँ। सन्यासी सबका गुरु होता है। परन्तु तुझे मुझे सच्चा मित्र मानना चाहिये। अन्यथा गुरु की आज्ञा नहीं

मानने से गुरु-अपराध हो जाता है।" प्रकारान्तर से इसे स्वीकृति मानकर बालक प्रसन्न हुआ दौड़ गया है।

दूसरे दिन पू॰ गुरुदेव ने बालक को अपने कमरे में चोरी-चोरी आने के लिये मना कर दिया, परन्तु उसके लिये एक रियायत कर दी है कि सायं चार बजे से पाँच बजे तक आफिस के कमरे में पू० गुरुदेव उससे एक घंटे प्रतिदिन या तो पद गायन सुनेंगे अथवा 'राधा-राधा' कहकर एक दूसरे को पीटने का खेल हुआ करेगा, फिर वे साथ-साथ ही धोरों में घूमने जाया करेंगे।

अब तो प्रतिदिन ही सन्यासी बाबा ठीक चार बजे आफिस में आ जाते हैं और बालक एवं सन्यासी बाबा परस्पर एक दूसरे को 'राधा-राधा' कहकर पीटने का खेल करते है। जब दोनों थक जाते हैं तो सन्यासी बाबा 'राधा-राधा' गाने लगते हैं। सन्यासी बाबा का कण्ठ इतना सुमधुर है कि बालक विभोर हो जाता है। उसके बाबा उसे संगीत भी सिखाते हैं। उन्होंने पीलू राग उसे सिखाया है। पीलू राग उसके बाबा का सर्वप्रिय राग है।

इस प्रकार यह क्रम महीनों तक चला। जब बालक स्कूल जाने लगा तो सायंकाल पोद्दार माहराज के नोहरे में बालक एक कमरे में हारमोनियम लेकर पद-गायन किया करता था। पू. गुरुदेव उन दिनों श्रीपोद्दार महाराज के निर्देश पर उनकी व्यक्तिगत लाइब्रेरी (पुस्तकालय) सुव्यवस्थित करने में लगे थे। अतः वहीं से बैठे-बैठे उसका पद गान सुना करते थे।

## दोनों दोनों से बढ़कर

जिस व्यक्ति के जीवन में व्रजभाव अवतरित होता है, उसका अस्तित्व कथन मात्र के लिये बचता है। श्रीपोद्दार महाराज के जीवन में भी भगवान् की कृपा का अपरिसीम समुद्र लहराता रहता था। मैंने अपने निरे बालजीवन में पू० गुरुदेव की देह-दशा तो देखी ही थी, श्री पोद्दार महाराज के उतने निकट संपर्क में मैं नहीं आ पाया था। परन्तु श्रीपोद्दार महाराज भी एक दूसरे से बढ़कर वाली कहावत चरितार्थ करते थे।

मैंने पूर्व अध्याय में कहा है कि सायंकाल लगभग पाँच बजे पू० गुरुदेव रतनगढ़ के रेत के धोरों में शौच किया करने एवं घूमने जाया करते थे। रतनगढ़ ग्राम के बाहर रेत के टीबे ही टीबे थे। कभी-कभी श्री गुरुदेव के साथ पोद्दार महाराज भी घूमने जाया करते थे। जब श्रीपोद्दार महाराज साथ

जाते तो पू० गुरुदेव उन्हें बैठकर प्राय: 'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज' गोपी-गीत सुनाया करते थे।

जब पू० गुरुदेव उन्हें गोपी गीत सुनाते उस समय उनकी भाव दशा देखते ही बनती थी। उनके हाथ में जल से भरा लोटा होता था और पू. गुरुदेव कमण्डलु रखा करते थे। परन्तु उनके हाथ एवं पैर लड़खड़ाते थे, जैसे वो सम्हल नहीं पावेंगे, गिर पड़ेंगे। एक दिन मैं पू० गुरुदेव के साथ घूमने जाने के लोभ में घर से चल पड़ा, परन्तु पता चला पू. गुरुदेव एवं पोद्दार महाराज चल पड़े हैं। मैं पीछे-पीछे गया। मेरे मामा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी मेरे साथ थे। श्रीपोद्दार महाराज ग्रामवासियों के सम्मुख तो ठीक चल रहे थे, ज्यों ही एकान्त धोरों में बैठकर पू० गुरुदेव ने गोपी-गीत सुनाना प्रारंभ किया, मैं शौच किया कर रहा था अत: दूर से देख रहा था, उनकी दशा शराबी की तरह हो गयी थी। शौच हो आने से उनका (लोटा) जलपात्र हलका था, फिर भी उनसे संभल नहीं रहा था।

मैं दूर से सुन रहा था - वे कह रहे थे -- "बाबा! मेरी आँख में संसार है ही नहीं श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण बचे हैं। मैं कुछ काल किसी वस्तु को देखता हूँ - फिर उसी स्थान में श्रीकृष्ण प्रकट हो जाते हैं। मैं अपने को एक निक्षिप्त भी नहीं कह सकता, विलक्षण दशा में हूँ। मुझे अपनी सत्ता के स्थान पर भी कभी श्रीकृष्ण, कभी श्रीराधारानी, कभी कोई गोपी दिखती है। अपने इस पार्थिव देह का भान भी मात्र 'कल्याण' एवं गीताप्रेस का कार्य करना है, इसलिये होता है। रुचि ऐसी ही होती है कि यह भी नहीं हो तो अच्छा रहे। मैं शरीर हूँ, मेरा परिवार है, ऐसी कभी वृति ही उदय नहीं होती। मेरे लिये न संसार बचा है, न सांसारिक पत्नी-पुत्र आदि सम्बन्ध बचे हैं, किन्तु स्वाभाविक मेरा जैसा व्यवहार वर्षों से चला आ रहा है, उन संस्कारों से उसी साँचे में ढला व्यवहार चलता रहता है। पूरी ईमानदारी की बात यही है कि यह सब व्यवहार भी श्रीकृष्ण ही कर रहे हैं। स्वाभाविक ही श्रीकृष्ण अपनी इच्छा से जब जैसा व्यवहार इस पार्थिव देह से कराना चाहते हैं, वैसा करा लेते हैं। हाँ, यश-अपयश मुझे अवश्य मिलता है। परन्तु यश-अपयश करने वाले भी श्रीकृष्ण ही दिखते हैं।

पोद्दार महाराज इस प्रकार की बात बोलते-बोलते एक दम काँपे और धम्म से धोरें में गिरकर समाधिस्थ (बिहोश) हो गये। हम दोनों ही शौच कियार्थ दूर-दूर बैठे थे। थोड़ी देर पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज ने अपने को

संवरित किया। वे अपने को संवरित करने की कला में बहुत ही माहिर थे। मैं रोने लग गया था। उन्होंने मुझे सांत्वना देते हुए कहा - "भाया ! थोड़ो चक्कर आ गयो थो। धोराँ में चालने को अभ्यास छूट गयो है।"

परन्तु वे रह-रहकर भावाविष्ट हो रहे थे। वे मेरे मामाजी एवं पू० गुरुदेव का सहारा लेकर चल रहे थे, परन्तु उनके पैर न तो ठीक से उठ रहे थे, न ही ठीक से पड़ रहे थे।

बाद में पू० गुरुदेव मेरे मामाजी को बता रहे थे कि जिस समय भाव का अवतरण होता है, व्यक्ति के वश की बात नहीं रहती।

श्रीपोद्दार महाराज को तो भगवान् श्रीकृष्ण ही सँभालते थे।

## देख री देख अनिमेष या वेष कौं

उन दिनों श्रीपोद्दार महाराज ने रतनगढ़ में 'कल्याण' का सम्पादक विभाग होने से एक सुन्दर धार्मिक पुस्तकालय संगठित करने का विचार किया था। पू० गुरुदेव ही इस पुस्ताकलय को व्यवस्थित करने में रत थे। उनके सम्मुख पुस्तकों के ढ़ेर पड़े रहते थे। दिल्ली, बनारस, कलकत्ते, बम्बई सभी स्थानों के बड़े बड़े प्रकाशकों की सूचियों में से पुस्तकें चयन होतीं थी और पू० गुरुदेव ही उन्हें विषयानुसार भिन्न-भिन्न अलमारियों में वर्गीकरण करके रखते थे।

उस दिन दुपहरी में तीसरे पहर तीन बजे वह बालक पुस्तकालय के सामने श्रीपोद्दार महाराज की हवेली के बगल में उनके नोहरे में एक कमरे में हारमोनियम बाजा लेकर बैठ गया था और पद गायन कर रहा था। घर के संगीतमय वातावरण के कारण गायन कला उसे सहज थी।

वह बालक बहुत ही भाव से गा रहा था, और उसने देखा पुस्तकालय का काम बन्द कर उसके बाबा चुपचाप शान्त बैठ गये हैं। उनके नेत्र मुँद गये हैं। आंखों से मुक्ता बिन्दु रूप प्रेमाश्रुधार कपोलों पर विजड़ित है। बाबा के कपोलों पर इन अश्रु बिन्दुओं की ऐसी शोभा हो रही थी मानो कमल पत्रों पर जल बिन्दु शोभा पा रहे हों।

बालक को अपने जीवन की चरम एवं परम कृतकृत्यता का अनुभव हुआ। उसे लगा वह पढ़े न लिखे, सदा ही महामूर्ख बना रहे, जिससे संसार उसे किसी भी काम का नहीं समझ कर त्याग दे। बस, वह इन सन्यासी

गुरुदेव की भिक्षा में से दो रोटी खा ले और जीवन पर्यन्त अपने बाबा को पद गाकर सुनाता रहे। उसके बाबा इसी प्रकार सुनते-सुनते अश्रु बहाया करें। युग बीत जायें, जन्म बीत जायें।

आज बालक को विश्वास हो गया कि उसके बाबा के नेत्रों से जो अश्रु बहते हैं, वे पीड़ा के अश्रु नहीं, प्रेम-सुख के आँसू हैं। प्रेम से ही उनके शरीर में, रोमाञ्च कँपकँपी, और स्वेद भी बहते हैं। उसे ऐसा अनुमान भी हो रहा था कि बाबा ने जो भूत-भूतनी की बात कही थी, वह भी मात्र उसे भयभीत करके कमरे में न आने देने के लिये कही थी। वे भूत-भूतनी राधा कृष्ण ही हैं। कोई पीड़ादायिनी प्रेत जाति की भूतनी उसके बाबा को सर्वथा ही आक्रान्त नहीं किये है।

बालक अपनी धुन में गा रहा है :-

**नवल ब्रजराज को लाल ठाड़ो सखी**
**ललित संकेत वट निकट सौहे ,. हो।**

बालक के पिता, पितामह, वल्लभ सम्प्रदाय के मान्य कीर्त्तनिया हैं। अतः आनुवंशिकी से सुन-सुनकर उसे पद गायन की वंदिशें सहज हैं। बालक के पूर्वजों में श्रीगदाधर भट्ट नामक बहुत ही त्यागी भगवद्भक्त हो चुके हैं। बालक भी भट्ट वंश का ही है। यह उन्हीं गदाधर भट्ट का ही रचित पद है।

बालक के पद गायन की सुरीली ध्वनि सुनते-सुनते सन्यासी बाबा अपने भावराज्य में डूब गये हैं। उनके सम्मुख एक अति ही मनोहारी भाव-दृष्य झलमला रहा है। वह भाव दृष्य कोरी मन की उड़ान नहीं, किसी विलक्षण परम सत्य, सत्य के सत्य, प्रीति-राज्य का हृदय देश में अवतरण है।

"श्री यमुना जी के निर्मल तट पर, थोड़ा सा दूर, यमुना के सैकत भाग से किञ्चित् हटकर एक परम सुन्दर कुञ्ज है। उसमें रहती है एक ब्रजांगना।"

"विश्व में ही नहीं, अनन्त त्रिलोकियों में भी, यदि कोई सर्वाधिक सुन्दर है तो वे हैं श्रीकृष्ण। ये सौन्दर्य, माधुर्य, सर्व सद्गुणों की पराकाष्ठा श्रीकृष्ण भी जब इस व्रजांगना के सौन्दर्य और प्रेमगुणों पर आकृष्ट हुए उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करके लुब्ध हो रहे हैं, तो यह व्रजांगना कैसी विलक्षण सुन्दरी है, इसका अनुमान ही किया जा सकता है। कोई भाग्यवान् श्रीकृष्ण

कृपापात्र जीव इसकी सुन्दरता की छाया को भी अपने नेत्रों से एक बार यदि देख ले तो उसका जीवन सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य तथा सफल हो जावे।

परन्तु यदि उस बृजांगना से उसके मन की अनुभूति पूछी जाय, तो सुनो, बहुत शान्त चित्त से ध्यान देकर वह क्या कहती है :--

"प्रियतम ! प्राणाधिक हे !! चतुर चूड़ामणि, मेरे श्यामचन्द्र हे ! मैं तुम्हें क्या कहूँ ? मुझ अभागिन के पास बस, तुम्हारे अतिरिक्त और है ही क्या ? हे प्राणरमण ! तुम्हीं तो मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति हो, मेरे असंख्य प्राणों के रूप में तुम नील-सुन्दर ही तो हो।"

"हाँ ! एक वस्तु मेरे पास अवश्य थी, महा-महा-मलिन-कुरूपता। तन की कुरूपता, मन की कुरूपता (घोर मलिनता), यही मेरी अक्षय धनराशि मेरे पास थी। परन्तु नीलम हे ! तुमने मेरे उस महामलिन तन-मन को भी ज्यों का त्यों अपहृत कर लिया, और इस प्रकार जब मुझ अकिंचन के पास कुछ भी नहीं रहा तो प्राणरमण ! मेरे प्राणवल्लभ हे ! इतना सा ही भान है कि मेरे पास कुछ भी है तो मात्र तुम्हीं हो उसके ग्राहक और तुम ही हो वह वस्तु देने वाले।"

किसी आभीर वधू से उसने केवल कृष्ण नाम सुना है। साथ ही किसी ने इतना और कह दिया है कि वह गोपराज नन्द का पुत्र है। साथ ही वे ठिठोली करती कहती हैं कि यदि अकेली-दुकेली उससे कहीं उसकी भेंट हो गयी तो वह उसकी मान-मर्यादा एवं परलोक को भी बिगाड़ कर रख देगा। परन्तु निगोड़ी उसकी सम्पूर्ण ममता उसी नन्दतनय के चरण सरोरुहों में लिपटना चाहती है। प्राण न जाने क्यों उसी की एक झलक पाने को चरम एवं परम व्याकुल हुए हाहाकार करते रहते हैं। उसके एक क्षण के मिलन-सुख के सम्मुख उसे सागर समन्वित सम्पूर्ण धरा का एक छत्र और निर्विघ्न आधिपत्य, विघ्न बाधा शून्य पाताल की सुख सम्पदा, योग सिद्धियों की कौन कहे, जन्म-मृत्यु-विहीन ब्रह्मपद और मोक्षपद भी तुच्छाति तुच्छ लगते हैं। उसका सम्पूर्ण अनुराग एकत्रित हो गया है उन नीलसुन्दर की चरण-नख-मणियों में ही।

और देखो तो सही, क्या स्थिति हो गयी है उसकी। सर्वथा विस्मृत कर देती है वह पंच तत्वों से निर्मित अपनी देह को, मन की चंचल संकल्प-विकल्प करने वाली वृत्तियों को एवं रोगरूप भोग-सुखों को। इन तुच्छ वस्तुओं में तो अटकने का प्रश्न ही नहीं, वह तो उस नीलसुन्दर की स्मृति में

अपुनर्भव के महान् आनन्द को भी तुच्छ समझ कर बिसार चुकी हैं। इन सबसे सर्वथा विरक्त हुई वह अपने प्राणों के प्राण, प्रियतम इस साँवरे के आकर्षण की चुम्बकीय शक्ति से खिंची, घर-द्वार, माता-पिता, लोक-लाज एवं कुल-मर्यादा के दुर्लंघ्य अवरोधों को लाँघकर इस निर्जन वन-पथ के किनारे निर्मित इस भग्न सी टूटी-फूटी कुटी में आ बैठी है।

इस यमुना तटवर्ती वन-पथ का चयन भी उसने इसीलिये किया है क्योंकि इस वन-पथ से ही उसका प्राणधन प्रतिदिन प्रातः वन में अपनी गायों को लेकर सखाओं सहित पदार्पण करता है और तब गायें चराकर इस वन-पथ से ही प्रायः सायंकाल लौटता है।

उस अपने नीलमयंक प्रियतम का युग-युगान्तरों से चिरवांछित दर्शन, चिर अभिलषित संस्पर्श एवं उसकी मधुस्यंदिनी प्रेमगिरा का उसके कर्णपुटों में रस-सिंचन कब और कैसे प्राप्त होगा, उसके वदन-सरोज के दर्शन-जन्य अपरिसीम .वक्र एवं उच्छलित आनन्दोदधि की अमित, अमाप, उत्ताल तरंगों में वह कब डूबे-उतरायेगी - यही उसकी सर्वाधिक चिन्ता के अधुनातन विषय हैं।

वह उदास चित्त बैठी रहती है, यमुना तट पर। यमुना ही उसकी एक मात्र आश्रयदातृ सखी है। वह अपने अमिलन की वेदना ज्वाला की महान व्यथा-कथा जब यमुना सखी को निवेदित करती है, तब अपने दिव्यातिदिव्य परिवेश में यमुना सखी सदेह उसके सम्मुख प्रकट हो जाती हैं। वे आश्वासन देती हैं कि शीघ्रातिशीघ्र ही उसका प्रियतम मिलन संघटित होगा। यह असंभव है कि वह मिलन होकर न रहे।

वह इसी आश्वासन से थोड़ी हरी होती है। परन्तु जब पुनः दिवस का अवसान हो जाता है, तो वह सर्वथा अन्यमनस्क होकर अपनी भग्न कुटिया की गोबर लिपी भूमि में लुंठित हो जाती है। उसका धैर्य मानो समाप्त हो जाता है। प्राण आकुल हो उठते हैं। उसके शरीर का भान ही छूट जाता है।

संध्या अपने सख्य परिवेश में उसके सम्मुख आती है। उस एकाकिनी को निमीलित नेत्र, निज आनन-सरोज को कर पल्लवों पर टिकाये, अपने प्राण सर्वस्व के ध्यान में अवस्थित देखती है तो औदास्य की रेखायें उसके मुख सरोज को भी आवृत कर लेती हैं। संध्या आती है उसके पास उल्लास में भरी हुई, परन्तु उसकी दशा देखकर वेदना की व्यथा लिये चुपचाप लौट जाती है।

अब कृष्ण निशा आती है। वह उसके गले में आलिंगन दे कर उसे उठाती है, शय्या में सुलाती है। परन्तु उसके नयनों में निद्रा कहाँ ? वह निशा की ओढ़नी में जड़ी हीरक तारावली की गणना करती काल बिता देती है। पहरुआ पक्षी ब्रह्ममुहूर्त्त के होने की जब सूचना देने लगता है तब उसे लगता है उसके सपनों को भी पाप लग गया है। आँख ही जब नहीं झपकेगी तो स्वप्न कहाँ से आयेंगे ? परन्तु आशा साथ नहीं छोड़ती। लगता है ब्राह्म-मुहूर्त्त में संभव है वे नन्दभवन से उठकर उसके पास चले आवें। परन्तु जब रवि उदयाचल से अपना लाल-लाल मुख दिखाने लगता है तो यह आशा भी टूट जाती है।

वह नीलगगन को देखती है, उमड़ते कृष्ण मेघों से वार्त्ता करती हैं, उनके द्वारा प्रियतम तक अपनी उर व्यथा पहुँचा देने का प्रस्ताव करती है।

दीर्घश्वास उसकी चिरसंगिनी हो गयी है। फूत्कार भी अरुणिम अधरों पर सहचरी के रूप में व्यक्त होती रहती है। उसकी कुञ्चित केशराशि सर्वथा रुक्ष, अस्तव्यस्त एवं धूलि में सनी रहती है। विलेपन आदि का तो प्रश्न ही नहीं। उसका गात्र अस्थिपंजर मात्र रह गया है। मुख-सरोज मुरझाया रहता है, कलेवर मात्र दैन्य का प्रतिरूप भर है। उसे न भोजन ही का ध्यान है, न जल पीने ही की सुधि रहती है। अत्यन्तिक वेदना की मूर्तिमती वह तमाल वृक्ष के तने को पकड़े, उसे हृदय से लिपटाये अपने प्रीति मनोरथों में ही डूबी रहती है।

दिन रात उसके मुख से ये दो पंक्तियाँ निकलती रहती हैं :--

**कहाँ जाऊँ कैसे पाऊँ व्रजेन्द्र नन्दन ।**
**तन-मन प्राण चित सर्वस्व हरण ।**
**किसे कहूँ कौन सुने मेरी कथा ।**
**विरही प्राणों की मर्म व्यथा .. ।**

कभी निर्निमिष नेत्रों से शून्य की ओर ताकती हुई बोल उठती है - "हाय ! हाय !! मेरे पास तो इस अश्रुकणावली के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति भी तो नहीं है। कभी कुछ था भी नहीं और होगा भी कहाँ से ? फिर इन नीरकणों के बदले मुझ महापातकी, भू-भार, दीना को भला वे क्यों अंगीकार करेंगे ? हाय ! हाय ! प्राणरमण ! तुम्हारे प्रति मेरा यह अदम्य आकर्षण क्यों

हो गया है ? इस प्राणोन्माद को अब मुझे ही भोगना है। दूसरा भला मेरी व्यथा को कैसे बँटाये।"

इस विषम विरह दशा से आकुल रसमयी बाला अभी-अभी यमुना से लौटी है। यमुना की कृष्ण लोल लहरों ने उसे उमड़-उमड़ कर परिस्नात कराया है। वह कुंज में खड़ी अपने केश सुखा रही है। हृदय में अतिशय हाहाकार है और विरह की अग्नि सर्वांगों को जला रही है।

इतने में ही उसके कानों में संगीत की अमृत ध्वनि पड़ती है। कोई गायक सुदूर कहीं गाता हुआ बहुत ही भाव भरे बोल सुना रहा है :--

नवल ब्रजराज को लाल ठाड़ौ सखी
ललित संकेत वट निकट सोहै री !
देख री देख अनिमेष या वेष कौं
मुकुट की लटक त्रिभुवन जू मोहै री !!

इस परम आशा बँधाते पद-गायन को सुनकर वह ठगी सी रह गयी है। उसके हाथ केश सुखाने की क्रिया स्थगित कर देते हैं। वे स्तंभित हो जाते हैं। साड़ी भी अस्तव्यस्त किसी भी प्रकार से तन पर लपेटी ही हुई है। कंचुकी पहनने का तो प्रश्न ही नहीं है। उसके उरोज मात्र साड़ी से ही आच्छादित हैं। अति मधुर स्वर में भाव-भरा कोई गाये जा रहा है।

स्वेद-कण झलक कछु झुकी सी रहत पलक,
प्रेम की ललक रस रास कीयें...।

उसके नेत्र इस पद गायन "देख री देख अनिमेष या वेष कौं" के उद्बोधन पर सामने उठ जाते हैं। उसकी कुटिया से किंचित् दूरी पर ही तो वट वृक्ष है। क्या सचमुच ही वट के निकट उसके प्राणधन आ गये ? वह वृक्ष की ओर नेत्र उठाती है। सचमुच ही वट-वृक्ष के नीचे खड़े उसके प्राणधन उसे दिखाई पड़ जाते हैं।

अहा! क्या रूप है ? इनका भृकुटि-विलास, इनके आकर्ण-विलम्बी दीर्घ नेत्र, नेत्रों की चपलता, घुँघराली कुंचित कुन्तल राशि, जानु-विलम्बित भुजाएँ, विशाल स्कन्धदेश, श्रीअंगों की संविन्मय सुवास, ग्रीवा में झूलती कमनीय वनमाला, वनमाला की अति उन्मादी महक, सभी तो परम मनोहर हैं। यह

ऐसा मनोहारी सौन्दर्य है कि देखनेवाले, देखनेवाली का सब कुछ हरण कर लेता है।

वह अनुमान करती है कि अवश्यमेव गोष्ठ से वन की ओर जाते हुए ही यह यहाँ आकर इस वट-वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ होगा, तभी न नेत्रों की पलकों के ऊपर स्वेदकण झलमला रहे हैं। अहा, इसकी ये पलकें भी कैसी सुकोमल हैं। हाय, ये पलकें अपनी अतिशय सुकुमारता के कारण नन्हीं-नन्हीं स्वेद की दो बूँदों का भार भी नहीं सह पा रही हैं, और इन स्वेद बूँदों के भार से ही थोड़ी झुक गयीं हैं। अहा ! इसके उत्फुल्ल वदनारविन्द को देखकर तो यही लगता है कि एक बार ही नहीं, हजारों-लाखों-बार अपने प्राणों को उस पर न्यौछावर करती जावे और उवाँर कर यमुना में फेंकती जावे।

अहा, इसके सौन्दर्य-कोष-रूप-चिबुक, बिम्बारुण अधरोष्ठ, सुढ़ाम धवल दंत-पंक्ति, मनोहारी हास्य-छटा, सभी से विशुद्ध प्रीति झर रही है। किसी भी निर्झर के पीछे कहीं उसके मूल देश में अखण्ड जल-स्रोत होता है, तभी न अनवरत जल की धारा उसमें से फूटती रहती है। इस किशोर के भी हृदय कोश में प्रीति ही प्रीति लबालब भरी है, तब न इसके नेत्र इस प्रकार प्रेम वर्षा कर रहे हैं। उभरे हुए अरुणिम कपोल, मणिजटित झिलमिल करते कर्ण कुण्डल, भाल पर सुशोभित गोरोचन का तिलक, कण्ठ में गुञ्जामाल, सरसिज सुमनों का हार, सुमनों पर गुन-गुन कर रही भ्रमर पंक्ति, सर्वत्र प्रीति सरस सरसतर होती प्रवाहित हो रही है।

कटि-देश, सुन्दर उदर, उदर पर विराजित त्रिवली, गंभीर-नाभि, श्रवणेन्द्रियाँ और सुघड़ नासिका, इसके सभी अंग प्रकृति के परे किसी अभिनव उपादान से निर्मित हैं।

सम्पूर्ण श्रृंगार, सम्पूर्ण आभरण, कटि-किंकणी की झंकृति, पद-नुपूरों का छमछम रव सम्पूर्ण वातावरण को प्रीतिपूर बना दे रहा है। कोटि-मदन-मदहारी श्रीअंगों का श्याम-वर्ण-सौष्ठव, समग्र विश्व के नयनों को सुख देने वाले सौन्दर्य का आगार, कितना अप्रतिम है यह।

क्या यह नीलमयंक ही गोपवधुओं से, व्रजकुमारियों से औद्धत्य करने वाला धृष्ट नन्दतनूज है ? समग्र वृन्दावन में असंख्य रस-विलास का कर्त्ता क्या यही नन्दतनय है ? अवश्यमेव यही मेरी प्राण-संजीवनी है।

छुप-छुप कर आँखें फेंक कर उसने इतना सब निरखा परखा तो, परन्तु सहसा उसकी आँखें उस नीलमयंक से मिल जाती हैं। चार आँखें होते ही वह

लज्जा से सिहर उठती है। न चाहते हुए भी उसकी आँखें नीचे उसके चरणों की भूमि पर झुक कर गड़ जाती हैं। हाय रे कैसी नारी जनित लज्जा है, वह उसे जी भर एक टक देख भी नहीं सकती। कितनी देर तक निगोड़ी आँखें झुकी रहीं, लज्जा उन्हें घेरे रही, और वह धरा पर दृष्टि गड़ाये धरा कुरेदती खड़ी रही। जब दुबारा साहस कर वहे नयन उठाती है, तब तक तो वह नीलमयंक वन-पथ से संभव है गोष्ठ की ओर पलायन कर जाता है।

अथाह हाहाकार से उसका हृदय भर जाता है। व्याकुलता की सीमा लाँघकर विरहाग्नि उसके सम्पूर्ण वदन को आवृत कर लेती है। हाय ! मात्र दो क्षण ही वह दृष्टि पथ में आया और चला गया। कहाँ गया वह, किस पथ से गया, उसके चरण चिन्ह तो अवश्य ही धरा पर अंकित मिलेंगे ही। उन चिन्हों पर ही अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दूँ ? हाय ! जाऊँ, उसकी चरण रज बटोरूँ और अपने को आपाद मस्तक उससे नहलाऊँ। उसे ढूँढ़ूँ तो सही । यदि आसपास ही वह छुपा होगा तो ? मुझे इस प्रकार निर्लज्जता से ढूँढ़ता देख लेगा तो ... तब तो प्रीति चौड़े आ जायगी। वह पैर उठाना चाहती है, परन्तु पुनः लज्जावश पैर उठते नहीं। उसके चरण ही धरा देवी मानों जकड़ लेती है। वह लज्जा विजड़ित खड़ी की खड़ी रह जाती है।

गायन की आवाज उसके कानों में अमृत उँड़ेल रही है।

परम अदभुत रूप सकल सुख भूप यह
नन्दनन्दन बिना कछु न भावै हो ..।
धन्य हरि भक्त जिनकी कृपा तें सदा...
कृष्ण-गुण गदाधर भट्ट गावै हो ...।

बालक के बाबा यंत्र चालित से लाइब्रेरी के कमरे से निकल नोहरे में लाइब्रेरी के सामने के कमरे में आ गये हैं। बालक के नयन मुँदे हैं। बालक की प्रकृति ही ऐसी नटखट है कि वह तुलसीदासजी की कविता को "ज्यौं त्यौं तुलसी कृपालु" के स्थान पर "ज्यों त्यों नटवर कृपालु चरण-शरण पावै" करके गाता है। इसी प्रकार इस गदाधर भट्ट के पद को भी उसने बदल कर गाना प्रारंभ किया है। वह नेत्र मूँदे गा रहा है :--

धन्य हरि भक्त बाबा कृपा तें सदा
कृष्णगुण नटवरिया दुष्ट गावै हो

बालक द्वारा गदाधर भट्ट के परम पुनीत नाम को उसके नाम से बदले जाने पर उसके बाबा मुसका पड़ते हैं। वे उसके हारमोनियम की कुञ्जी पर अपने हाथ रख देते हैं। उनके हाथ रखने से हारमोनियम के बहुत से मंद तीव्र स्वर एक साथ बज उठते हैं। बालक ने अपनी आँखें खोल दी हैं। वह कुछ भी बोला नहीं। उसका कण्ठ गदगद है। अपने बाबा के चरणों में वह प्रणाम करता है, उनके चरणों की धूलि सिर पर डालता है और उठकर चल देता है।

(सन् १९४८ ई० के दिसम्बर मास में बालक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य छोड़कर गोरखपुर आ गया था। उस समय उसने अपनी कुछ परमार्थिक अनुभूतियाँ परम पूज्य गुरुदेव के समक्ष रखीं थीं। तब पू. गुरुदेव ने यह सब प्रसंग बताकर उससे कहा था कि उसके जीवन में रस-भाव के बीज तो उन्होंने बहुत निरे जब वह ग्यारह वर्ष का बालक था और उन्हें पद सुनाया करता था तथा 'राधा राधा' कहकर पिटाई का खेल खेलता था तभी डाल दिये थे। वे अब पुष्पित हो रहे हैं, इसे जानकर उन्हें हर्ष है। परन्तु अभी उसे प्रवृत्ति मार्ग का सर्वथा त्याग नहीं करना है। उन्हीं दिनों यह सारा प्रसंग और उस प्रसंग पर होने वाली अपनी लीलानुभूति का वर्णन भी उन्होंने किया था, जो इस प्रसंग में वर्णित है।)

## राधाष्टमी उत्सव

**(यह घटना सन् १९४९ ई० की या १९५१ ई० की है। मैंने पू० गुरुदेव से प्रश्न किया था, "बाबा ! आपको भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन तो श्रीपोद्दार महाराज ने चरण स्पर्श करके कराये। श्रीराधारानी के दर्शन प्रथम बार आपको कैसे एवं कहाँ हुए ? इस पर उन्होंने जो लीला बतायी, वह विस्तार से लिखी जा रही है।)**

पू० गुरुदेव को राधाष्टमी के व्रत का पहले ज्ञान ही नहीं था। सन् १९४० ई० में वे राधाष्टमी के दिन दिल्ली में श्रीमथुरानाथजी के (सद्गृहस्थ के) घर पर ठहरे थे, वहीं उनकी भिक्षा की व्यवस्था थी। श्रीमथुरानाथजी की पत्नी ने उनसे पूछा "आज राधाष्टमी है आप फलाहार करेंगे या अन्नाहार?"

पू० गुरुदेव ने फलाहार (शाकाहार) करने का ही निर्णय किया। जब भिक्षा आयी तो पू. गुरुदेव ने मानसिक पूजा सम्पन्न की तथा भोग लगाकर शाकाहार भिक्षा कर ली। यह उनकी प्रथम राधाष्टमी मनायी गयी थी। दूसरे वर्ष राधाष्टमी के दिन वे रतनगढ़ में ही थे। राधाष्टमी के प्रसाद के लिये प० पू० गुरुदेव ने श्रीपोद्दार महाराज से मात्र दो रुपये माँगे। श्रीपोद्दार महाराज ने ये दो रुपये भी उन्हें यह कहकर नहीं दिये कि बाबा उनकी आर्थिक स्थिति तो जानते हैं नहीं, माँग करते रहते हैं। पू० गुरुदेव का बाह्य प्रापंचिक मन इससे थोड़ा व्यथित हुआ। परन्तु उन्होंने मन में समाधान कर लिया कि वे तो सन्यासी हैं। उन्हें बाह्य प्रपंच के व्यवहार से दुखी-सुखी नहीं होना चाहिये। प्रपंच की तो गति ही ऐसी है।

अचानक श्रीमोतीजी पारीक ने प्रस्ताव किया कि उनके घर में गाय है और वे दूध का शुद्ध मावा बनाकर पेड़े ला देंगे। इनका भोग लगा दिया जाय। यथा समय मोतीजी पेड़े ले आते हैं। ठीक मध्याह्न के समय पू० गुरुदेव अपने निवास कक्ष में ही पूजा सम्पन्न करते हैं। श्रीमोतीजी ने केसरिया पेड़े बनाये हैं और उस पर श्रीकृष्ण के वर्ण का पिश्ताचूर्ण जड़ दिया है। पेड़ों पर आलू को काटकर उसका संचा बनाकर "राधा, राधा" नाम अंकित कर दिया है। पूजा के पश्चात् इन्हीं पेड़ों का भोग लगा दिया जाता है।

प्रपंच के प्राकृत धरातल पर तो इस वर्ष पूजा का यही क्रम हुआ है। आओ अब अप्राकृत भाव धरातल पर चलें।

पूजा सम्पन्न करके पू० गुरुदेव शरीराध्यास रहित अवस्था में शान्त बैठे हैं। वे देख रहे हैं कि उनका हृदय सहज स्वतंत्र हो रहा है। वह सर्वथा खाली है। सहज भाव से ही उनकी दृष्टि श्रीपोद्दारजी की हवेली की ओर जाती है। उन्हें आभास होता है मानो श्रीपोद्दार महाराज मुख्य द्वार से अपनी हवेली में प्रवेश के लिये सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं। परन्तु ये क्या ? ये तो श्रीपोद्दारजी के स्थान पर भगवती श्रीराधा हैं ?

अहा, क्या ही त्रिभुवन मोहिनी मुसकान है। पिंगलवर्ण श्रीअंग शोभा के निर्झर हैं। नवनीरद वर्ण लहँगा और रक्तवर्ण कंचुकी धारण की हुई है। शुद्ध जरी से खचित और अनमोल मोतियों एवं विविध रत्नों से जटित हरिताभ वर्ण की ओढ़नी विलक्षण शोभा सर्वत्र प्रसारित कर रही है। किंकिणी कटि प्रान्त का स्पर्श पाकर सौभाग्यवती हो उठी है और मंजीर झंकार कर रही है, चरण सरोजों में। भाल पर सजी है मृगमद बिन्दुओं की मरवट और कुञ्चित

केशराशि वेणी में निबद्ध हुई पीठ पर लहरा रही है। मणिमय चन्द्रिका मस्तक पर शोभित है तथा रत्नहारों से वक्षस्थल भरा है। सर्वोपरि सुन्दर सुमनों से गुम्फित है वनमाला। मुखमण्डल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता एवं कान्ति कैसी है, कौन बतावे। कोटि-कोटि मन्मथ इनके एक रोम के लावण्य पर न्यौछावर हैं। बिम्ब-बिडम्बी अधरों पर मधुर स्मित की स्फुट रेख नित्य व्यक्त है। अप्रतिम हैं इसकी मादकता। अरे कर्णस्पर्शी विशाल नयनों की बंकिम चितवन ही वह जाल है जिसमें नन्दनन्दन त्रिभुवनमोहन, मुनिमन-मोहन, सर्वविमोहन, चर-अचर मोहन श्रीकृष्ण नित्य आबद्ध रहते हैं।

पू० गुरुदेव विस्फारित चकित खुले नेत्रों से देख रहे हैं। एक क्षण के सौंवे हिस्से में तो उन्हें श्रीपोद्दार माहराज दिखते हैं और दूसरे ही क्षण असमोर्ध्व अचिन्त्य सुन्दरी श्री राधारानी।

सहसा पू० गुरुदेव के कानों में अतिशय मधुर स्वर गूँज उठता है। "देखो ! आज वृषभानुपुर में राधारानी का जन्मोत्सव हो रहा है। देखो ! देखो !! क्या ही मनोरम दृष्य है। इस रतनगढ़ की धरा का भाग्य ही अप्रतिम है। इस हवेली की धरणी का कैसा सौभाग्य है कि इसने श्रीराधारानी के चरणों को अपनी पपनियों से छू लिया, छूकर धन्य-धन्य हो गयी है।

और पू० गुरुदेव भावदेह से नहीं अपनी पांचभौतिक देह के चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष देख रहे थे - "श्रीपोद्दारजी की हवेली के स्थान पर विशाल दिव्य अप्राकृत अनन्त वैभवों का आगार वृषभानुपर। फिर उनके सम्मुख व्यक्त हुआ श्रीवृषभानु बाबा का सर्वसम्पदा सम्पन्न अलोकिक महल, और तब व्यक्त हुई वृषभानु बाबा की वह सम्पदा जिसके सम्मुख, वैकुण्ठ, कैलास और त्रिलोकी का वैभव तुच्छ प्रतीत होता है।"

पू० गुरुदेव के सम्मुख बाबा वृषभानुजी की यशस्विता, उनकी अपार गरिमा, उनके श्रीअंगों का अप्राकृत दिव्य सौष्ठव सब इस प्रकार मूर्त हो रहा था कि वे रह-रहकर चमत्कृत एवं रोमाञ्चित हो रहे थे। सब कुछ अतुलनीय था, और आश्चर्य यह था कि सब कुछ पू. गुरुदेव अपने चर्मचक्षुओं से देख रहे थे।

**नियम हुतौ गुन देह में महाभाव नहि हौन।**
**मेरे हित पिय साँवरो सोऊ कीनो गौन ।।**

यह नियम है कि सत्व-रज एवं तमोमय इस त्रिगुणात्मक शरीर में महाभावात्मक चिन्मय स्थिति का अवतरण नहीं होता, पर उन प्रियतम श्रीकृष्ण ने अपना नियम पू० गुरुदेव के लिये बदल दिया, और वह कर दिया, जिसे जगत् में असंभव माना-समझा जाता है। इतना ही नहीं, उन प्रियतम साँवर ने स्वयं को पू० गुरुदेव के हाथों में सौंप दिया। यह उनके प्यार की पराकाष्ठा थी।

पू० गुरुदेव को जिस वृषभानुपुर की शोभा का दर्शन हुआ उसके पश्चिम दिशा में यमुनाजी बहती थीं। अब तो यमुना बहुत दूर है, उन्होंने रास्ता बदल दिया है।

पूरब की शिखरावलि-मण्डित गिरि था सीमा रचता प्रियतम !
कानन से जुडी प्रतीची में प्रसरित नीली सरिता प्रियतम !
सुविशाल राजपथ उत्तर में द्रुम जालों से छाया प्रियतम !
चलकर कोशों तक छू लेता उस शैल रत्नमय को प्रियतम !

प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु को देखा जाना संभव ही नहीं है। पू० गुरुदेव के शरीर का मन भी प्राकृत था, बुद्धि भी प्राकृत थी। माया जगत के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध मायातीत जगत के शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध से सर्वथा भिन्न हैं, माया-जगत की इन्द्रियों से वे सर्वथा अग्राह्य हैं। इन इन्द्रियों की वहाँ गति नहीं। परन्तु पू० गुरुदेव की इन्द्रियाँ एवं मन तो इस दृश्य के प्रकट होने के पूर्व ही समाप्त हो गये था। पूर्व पृष्ठों में इसका उल्लेख भी है कि देहाध्यास रहित हुआ पू० गुरुदेव का मन सर्वथा खाली शून्य हो गया था। जहाँ इस प्राकृत मन की समाप्ति हुई, वहीं वह अप्राकृत राज्य भगवत्कृपा से स्वतः अवतरित हो जाता है। यह किसी भी पुरुषार्थ द्वारा साध्य नहीं। यदि कोई अपने को सर्वथा भगवान पर ढार देता है तो भगवान् उसकी कामना अवश्य पूरी कर देते हैं। भगवान् बहुत ही उदार हैं। भगवान् कभी किसी की आशा खण्डित नहीं करते हैं। अप्राकृत राज्य में प्रवेश का एक मात्र साधन है, भगवत्कृपा पर निर्भरता।

पू० गुरुदेव का प्राकृत मन विलीन हो गया था महाभाव स्वरूपा वृषभानु नन्दिनी में जो सम्पूर्ण सौन्दर्य माधुर्य, ऐश्वर्य, की आधार हैं, सार स्वरूपा हैं। पू० गुरुदेव महासत्व में निमज्जित हुए उस अलौकिक लीला-सुख का मूकास्वादनवत् आस्वाद ले रहे थे जो लीला उस दिवस राधारानी के जन्मोत्सव को हेतु बनाकर श्रीपोद्दार महाराज की हवेली की भूमि में अवतरित हो रही थी।

उस दिवस राधारानी के जन्म को हेतु बनाकर उस हवेली की भूमि में यश की, ज्ञान की, प्रेम की, वैभव की, धर्म की, दानशीलता की आनन्द की एवं उमंग की तथा उत्साह की ऐसी ध्वजा फहरा रही थी जिसकी तुलना कहीं भी नहीं हो सकती।

सतत लीला चिन्तन के पश्चात् एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ मन मन नहीं रह जाता। महाभाव सिन्धु में जब मन विलीन ही हो गया तो फिर मन रहा ही कहाँ ? सिन्धु में बिन्दु मिलकर सिन्धु ही तो हो गया।

**देखो कैसे कह दूँ सब कुछ है बात बड़ी लम्बी प्रियतम !**
**आगे जाकर जो डूब गयी, फिरती है क्या पीछे प्रियतम !!**

पू० गुरुदेव को जो उस दिन सुख-वैभव के दर्शन हुए उस सुख-वैभव को प्राप्त करना तो दूर उसकी कल्पना भी न कभी किसी अमरेन्द्र को हुई है न दानवेन्द्र को और न ही किसी मानवेन्द्र को, फिर उसके प्राप्त होने का तो प्रश्न ही नहीं है।

पू० गुरुदेव उस समय जाग्रत थे, यह भी कहते नहीं बनता, उसको स्वप्नावस्था भी नहीं कही जा सकती, और सुषुप्ति तो वह थी ही नहीं। जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों ही दशाओं से परे की वह अवस्था थी। फिर पू० गुरुदेव को दर्शन होते हैं यशोदा रानी के। यशोदा मैया की आँखें कैसी सजल हो रही हैं। यशोदारानी के पास में ही व्रजचन्द्रमा नीलमणि किस प्रकार सजे खड़े हैं। इनके नेत्र सरोज कैसे उत्फुल्ल हैं ? इतना आनन्द और ऐसा उल्लास जैसा आज इनके नयनों में भरा है, वैसा तो विरल ही दिखायी पड़ता है। व्रज चन्द्रमा तो इतने प्रसन्न हैं मानो उनका मंगल परिणयोत्सव आज ही हो। और मानो आज ही नहीं अभी-अभी सम्पन्न होने जा रहा हो। चिर

काल से अभिलषित उनका प्रेम-मनोरथ बस, आज अभी पूर्ण होने जा रहा हो।

इतने में ही लो, जन्म के समय का धौंसा बज उठा। दुंदुभी निनादित हो उठी। नगाड़े मानो मूर्तिमान हुए नाच रहे हों, इस प्रकार विलक्षण ध्वनि उनसे निकल रही थी। और कर्णेन्द्रियों को ऐसा स्वर तो सुनंने को ही नहीं मिला, जैसी शहनाई की ध्रुनि हो रही थी। और नर्तक नट, कैसा हावभावपूर्ण नृत्य कर रहे थे।

पू० गुरुदेव के सम्मुख एक-एक दृष्य, एक-एक आकृति सर्वथा सुस्पष्ट हो रही थी। 'लो, 'कीर्तिदा मैया के भी दर्शन करो, रोम-रोम उनका आनन्दोदधि में उछाल ले रहा है। देखो तीनों बहनें, कीर्तिदा, शारदा, एवं कीर्तिमती साथ ही यशोदाजी एवं रोहिणीजी, मयूरासन पर विराजे, मुसकाते नन्दनन्दन और राधारानी की आरती कर रही हैं। और देखो ! इन ऋषियों की कतार कैसी गरिमामयी है। भागुरि ऋषि के नेतृत्व में सभी महर्षि, ब्रह्मर्षि, वेदर्षि इकट्ठे हो गये हैं। सभी के चरणों की धूलि लेकर यशोदारानी अपने लाली-लाला पर वार रहीं हैं।"

"यह जन्मोत्सव हो रहा है वृषभानुपुर में, परन्तु सभी उत्सव की प्रमुख संचालिका शक्ति हाथ में लिये हैं नन्दराय बाबा। अहा ! यशोदा रानी तो आनन्द में इतनी उन्मत्त हैं कि उन्हें जैसे व्यवहार-ज्ञान ही नहीं रहा है। उन्मादिनी सी हुई वे अपने रत्नहारों से भरी पेटियाँ खोल-खोल कर लुटा रही हैं। इधर नन्दजी मुक्ता-माणिक, पन्ने, हीरे इस प्रकार दान दे रहे हैं, जैसे कोई कंकर पत्थर लुटा रहा हो। मैया तो अपना समग्र गोधन, गजधन, वाजिधन, रत्नधन, स्वर्ण, रजत, ताम्रादि धातुएँ, अन्न-भण्डार लुटा देने पर ही जैसे आतुर हो रही हैं।"

"लो, अब तो नन्दरानी अपने पहने हुए हार, कर्णफूल, नाक का हीरा, अपने सिरोभूषण, अपने कण्ठहार, करधनी, सभी उतार कर देने लगीं।"

"श्रीरोहिणी को जैसे ही यह सूचना मिलती है, वे बलरामजी सहित दौड़ी आती हैं, मैया को सौभाग्य भूषण दान न देने की वर्जना करती, वे पुनः सभी आभूषण उन्हें पहना देती हैं। मैया तो इतनी उत्साहित हैं और ऐसा उन्मत्त आचरण कर रही हैं, मानो मदिरा पान किये हों, उनकी दानशीलता विराम ही नहीं पा रही है।"

"अति गरिमा से द्विजवृन्द देवाराधन में लग गये हैं। महागणेश की पूजा प्रारंभ हो गयी है। इसके पश्चात् पूजन होगा, भगवान् दक्षिणामूर्त्ति का और तब पूजित होंगे भगवान लक्ष्मीनारायण, भगवती आदिशक्ति जगज्जननी त्रिपुर सुन्दरी, कामेश्वर-कामेश्वरी युगल रूप में, फिर भगवान शंकर-पार्वती का अभिषेक होगा, और तब पूजित होंगे भगवान सूर्यदेव।"

"नन्दबाबा तो सबके चरण पखारने में ही लगे हैं। उनकी पगड़ी तो अपने मस्तक पर रह ही नहीं पाती। कभी किसी के चरणों में रखते हैं, कभी किसी के चरणों में। हाथ बाँध, वे दैन्य मूर्त्ति सबका स्वागत-सत्कार कर रहे हैं।"

"और नन्दनन्दन को कहाँ धैर्य है। वह तो अपनी कल्पप्रसून प्रिया पर भ्रमर हुआ मँडरा रहा है। जहाँ वह जाती है, उसके पीछे-पीछे उसकी छाया बना दौड़ रहा है। उसके रोम-रोम से अनन्त आनन्द-सुरसरियाँ प्रवाहित हो रही हैं।"

"और महर्षि दुर्वासा, अत्रि, अगस्त्य, वशिष्ट, विश्वामित्र, सभी राधा-साँवरी युगल जोड़ी को स्वस्तिवाचन पूर्वक आशीर्वाद दे रहे हैं। ये तत्वज्ञ ऋषि प्राणप्यारे नन्दनन्दन और प्यारी दुलारी राधाकिशोरी को भगवान विश्वेश्वर और उनकी संचालनकर्त्री महाशक्ति कह कर बखान कर रहे हैं। कोई रानी को परा-अपरा प्रकृति कह रहा है और कोई ब्रह्मशक्ति बता रहा है। "अरे वृषभानु ! ओ नन्दराय !! यह तुम्हारे घर में पूर्ण ब्रह्म परमात्मा अवतरित हुआ है। यह परम तत्व है, वेदों का सार-सर्वस्व है। और यह राधा इस विश्व प्रपंच की आधार शक्ति, अघटन-घटना-पटीयसी, असंभव को संभव करने वाली भगवती योगमाया है। यही चर-अचर अनन्त प्राणियों की माला पहने परा देवी हैं।"

"और देखो ! इन महर्षियों की स्तुति करते समय जो दाढ़ी हिल रही है, उसे देख-देखकर अपने बाबा की गोद में-बैठे नन्दनन्दन हँस रहे हैं और अपने बाबा से कितनी मुग्धता का प्रकाश करते पूछ रहे हैं -- "बाबा इन ऋषिगणों का तात्पर्य क्या है ?"

"और यद्यपि ऋषियों की बात नन्दबाबा एवं वृषभानुजी के गले तो नहीं उतरती फिर भी वे सबको सिर नदा-नवा कर प्रणाम कर-करके अपनी कृतज्ञता प्रकाश कर रहे हैं।"

"ब्रह्मर्षिगण अपने तत्व के प्रकाश में समाधिस्थ से हो रहे हैं। तत्व सिन्धु की लहरें उछल-उछलकर इन्हें अपने आवर्त्तों में नचा रही हैं।"

"श्रीगर्गाचार्य तो इस आवर्त-सिन्धु में पूरे ही डूब गये हैं, इन्हें तो गोप उठाकर अपने आश्रम पहुँचाने जा रहे हैं। लो, अर्चना कम के पूर्ण होते ही रंगमंच पर गोप आ गये हैं। नन्दभवन और वृषभानुपुर के गोप इस प्रकार नाच-नाचकर "राधा, राधा" नाम ध्वनि कर रहे हैं जिससे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द प्रवाहित होने लगा है।"

यह उत्सवानन्द क्षण-क्षण नित्य-नवनवायमान वेग से चल रहा था, इतने में ही पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दारजी की अति तेज पुकार सुनाई पड़ी। "दुलीचन्द ! भाया बाबा ने भिक्षा कोनी करायी, दो बज रह्या है।" और फिर वे जोर से पू० गुरुदेव को सम्बोधित कर कह उठे -- "बाबा ! आप भिक्षा कर लीजिये।"

उसी समय सम्पूर्ण दृश्य तिरोहित हो गया। पोद्दार महाराज और उनकी हवेली साथ ही प्रपंच का सब दृश्य पू. गुरुदेव के सामने ज्यों का त्यों व्यक्त हो गया। पू० पोद्दार महाराज की कोठी के मुख्य द्वार के बाँयी ओर एक बारामदा और कमरा था, पू० गुरुदेव बारामदे में ही बैठकर उन दिनों भिक्षा किया करते थे। श्री पोद्दार महाराज दाहिनी ओर के बड़े कमरे में अपना सम्पादकीय कार्य करते रहते थे।

पू० गुरुदेव भिक्षा करने लगे परन्तु रह-रहकर उनकी दृष्टि सामने बड़े कमरे में काम करते श्रीपोद्दार महाराज पर जा रही थी। और उनके स्थान पर उन्हें वहीं श्रीराधारानी की विलक्षण छबि दिख रही थी।

अहा ! उनके मस्तक पर पीछे शीश फूल नामक आभूषण शोभा दे रहा है। आगे चूड़ामणि चन्द्रिका है और ललाट पर तिलक के स्थान पर गोल कुंकुम की बडी बिंदी है।

उनकी उस समय ऐसी शोभा दिख रही है मानो स्वर्ण-शेखर सुमेरु के ऊपर पूर्ण राकाचन्द्र एवं भगवान् सूर्यदेव दोनों विराजित हों। शीशफूल में जो वज्रमणियाँ जटित हैं, वे सूर्यदेव की तरह लग रही हैं और लाल कुंकुम की बिन्दी राकाशशि की शोभा को हतप्रभ कर दे रही है।

पोद्दार महाराज प्रूफ देख रहे हैं और वे प्रूफ देखते-देखते ही पू० गुरुदेव पर अपनी तिरछी चितवन की दृष्टि डालते हैं। अहा ये पोद्दार महाराज क्या जादूगर हैं जो अपनी कला प्रदर्शित कर रहे हैं ? ये कल्याण के प्रूफ देखने

बैठे हैं कि पू० गुरुदेव को उनकी आराध्या के दर्शन कराने में जुटे हैं ? कहाँ तो मात्र दो रुपये देने के लिये ही पू० गुरुदेव का इन्होंने मानभंग कर दिया और अतिकृपण बनकर सर्वथा निषेध कर दिया और कहाँ अपना अलौकिक प्रीति वैभव पू० गुरुदेव पर न्यौछावर करने को विकल और आतुर हैं ? धन्य है संत चरित्र और धन्य है उनके व्यवहार की वक्र गति, उच्छलन, और ज्वार भाटे का नर्तन !

पू० गुरुदेव देखते जा रहे हैं, साथ ही आश्चर्य भी करते हैं। चिन्मय वस्तु का प्रकाश इतनी रजोगुणी अवस्था में – कैसे संभव हो रहा है, जब वे भिक्षा कर रहे हैं, भिक्षा का खारा-मीठा स्वाद ले रहे हैं, अपनी दृष्टि से भिक्षा कराने वाले को भी देख रहे हैं और सारी हवेली की गतिविधि का भी अनुभव कर रहे हैं ? यह तो आंठवा आश्चर्य है। जादूगर भी जादू तभी दिखा सकता है जब दृष्टि-बंध कर ले। यह तो पूर्णतया श्रीपोद्दार महाराज के देह में श्रीराधारानी का पूर्ण अवतरण है। क्या श्रीपोद्दार महाराज के रूप में स्वयं श्रीराधारानी ही अवतरित हैं ?

जैसे व्रजभूमि में अवतरण के समय श्रीराधारानी सबके सम्मुख प्रकट थीं, वैसे ही इस समय पोद्दार महाराज के रूप में क्या उनका प्रकाश हो रहा है। परन्तु आज के पाँच हजार वर्ष पूर्व तो पर्जन्यजी और महीभानु की पीढ़ी से चिन्मय जगत अवतरित हो गया था, तो क्या पोद्दार महाराज के परिवार के रूप में, इन सभी परिकरों के रूप में, इस हवेली और रतनगढ़ धाम के रूप में भी चिन्मय जगत ही व्यक्त हो रहा है ?

> पिंजर काला प्रतीक यह है व्रजधरा अरण्य तथा प्रियतम !
> सब मातृ-पितृ-कुल के परिकर ये श्वसुरालय के भी प्रियतम !
> गोवंश,वसन,उपकरण सभी जन के तन-धारण के प्रियतम !
> संधिनी-शक्ति की परिणति ही जो हैं-इन सबका ही प्रियतम !

पू० गुरुदेव की इस अनुभूति का कोई तार्किक समाधान उन्हें प्राप्त नहीं हो रहा था, परन्तु यह तो उनके लिये प्रत्यक्ष सत्य था कि पोद्दार महाराज के स्थान पर षोड़श-श्रृंगार धारण किये भगवती श्रीराधारानी ही उनके सम्मुख व्यक्त हो रही थीं।

वे स्पष्ट चर्मचक्षुओं से देख रहे हैं :--

"मृगमद को मलय केसर से सींचकर जो द्रव्य बना है उससे रानी की ललाट पर आड़ की रचना किसी सौभाग्यवती सखी ने की है। चतुर्दिक कस्तूरी और केसर की खौर और मध्य में कुंकुम की बिन्दु ऐसी शोभा दे रही है मानो ब्रहस्पति नक्षत्र सुमेरू पर्वत के ऊपर से उदय हो रहा हो। छोटे-छोटे तरौना आभूषण कानों में शोभा पा रहे हैं। ये तरौना हैं तो कनक के परन्तु इनमें विलक्षण पानीदार रत्नजटित हैं। ये तरौना के रत्न राधारानी के आनन पर, कपोलों की कनकवर्णी भूमि पर ऐसी ज्योति की किरणें फैंकते हैं मानो रवि की किरणें कनक-भूमि-वृन्दावन में विश्राम करने लेटी हों। हरिणी के नेत्रों के समान बड़े-बड़े चपल श्रीरानी के नेत्र जल से भरे बादलों की कृष्ण और श्वेत शोभा प्रकाशित कर रहे हैं।"

"रानी की नक बेसर की शोभा अहा कैसी सुभग है ? उसकी मुक्ता कैसी शोभा पा रही है ? इसके सम्मुख शुक्र नक्षत्र लजा जाता है। अहा ! प्रिया के अधरों की दसनावली की कैसी अलौकिक शोभा है। उनके सारे दसन ताम्बूल चर्वण से सहज रक्तिम हो रहे हैं। रानी जब मुसकाती हैं तो ऐसा लगता हैं मानो दसों-दिशाओं में दामिनी दमक उठी है।"

श्रीदुलीचन्द जी दुजारी बार-बार पूछते है - "आप बीमार हैं क्या ? कुछ भी नहीं खा पा रहे हैं। यह भात और दही ऐसे ही अछूता पड़ा रह गया है।" परन्तु गुरुदेव अन्न का कौर निगल ही नहीं पा रहे हैं।

पू. गुरुदेव क्या भोजन करें, उन्हें जो तृप्तिदायक भोजन श्रीपोद्दार महाराज अपना प्रूफ देखते-देखते परोस रहे हैं, उसे खायें या दुलीचन्द द्वारा परोसा भोजन खायें।

श्रीपोद्दार महाराज अपने रोम-रोम से पू० गुरुदेव को प्रीति वर्षा से नहला रहे हैं। उनकी यदा-कदा टेढ़ी चितवन करके निक्षिप्त दृष्टि पू० गुरुदेव के मन में ऐसी रस वर्षा कर रही है जिसका आस्वादन बिचारा दुलीचन्द क्या समझे ?

पू० गुरुदेव कहते थे कि मेरा तो श्रीपोद्दार महाराज की कृपा ने ही सब काम बना दिया। कृपा सागर पोद्दार महाराज की कृपा से मुझे अनायास ही महाभावसागर की गहरायी पर डाल दिया गया। उन्होंने मुझे अपने लक्ष्य पर बिना श्रम के इतनी जल्दी पहुँचा दिया मानो हैलीकाप्टर या हवाई जहाज से यात्रा करायी गयी हो। मुझे सन्त कृपा से ऊँची से ऊँची वस्तु अनायास सुलभ हो गयी। मैने कोई परिश्रम और प्रयास किया ही नहीं।

# भगवती श्री राधारानी का दर्शन
# मिलन एवं नित्य संग

पू० गुरुदेव की भाव देह पंचतत्वमयी सर्वथा नहीं थी। वह भगवती ब्रह्माणी एवं लक्ष्मी, पार्वती की तरह कारण जगत की देव देह भी नहीं थी, न ही वह भगवती श्रीमती त्रिपुर-सुन्दरी की तरह भगवद्देह ही थीं। उनकी भावदेह का इन सब देहों से कोई साम्य ही नहीं था। पू० गुरुदेव की महाभावमयी देह तो चिन्मय राज्य की एक अलौकिक विलक्षण वस्तु है जो निर्मित होती है श्रीकृष्ण प्रेम-रस-सार से ही। रसो वै सः श्रीकृष्ण की प्रीति प्रतिमा होने से ही उसे 'रसमयी' नाम दिया जा रहा है।

निज प्रियतम के प्रेम की घनीभूत प्रतिमा रसमयी अपने प्रियतम को नित्य नव-नव सुख देने की लालसा सँजोये अपनी कुटी में विराजित है।

और इस रसमयी के निवास स्थल को तो देखो ! महाभाव रससिन्धु की लहरें तो पृथ्वी और उपल के रूप में परिणत हैं, वे ही तरुओं और लतिकाओं के रूप में चतुर्दिक् प्रसरित हैं, वे ही वन, गिरि, गिरिश्रृंग के रूप में परिणत हैं। आँखें गड़ाकर देखो, वही विशुद्ध रस जल, स्थल, तेज, पवन एव नभ के रूप मे सर्वत्र भासित हो रहा है। विशुद्ध रस सिन्धु के अतिरिक्त किसी को भी यहाँ कुछ भी अन्य वस्तु उपलब्ध होगी ही नहीं।

ऐसे इस अपार महाभाव रस सुधा सिन्धु में ही व्रज जगत का भान हो रहा है पू० गुरुदेव को। अहा, अथाह है यह महाभाव सिन्धु। इसमें तल तो है ही नहीं। नित्य अतल है यह। कितनी उच्च, उच्चतर, उच्चतम लहरें उठ रही हैं इसमें।

ये लहरें हैं -- इस रसमयी प्राणाराम नीलमणि का ही उच्छलित प्रेमोन्माद, प्रीति तरंगे; उसकी परम रसभरी लीलायें, एक से एक उत्तुंग तरंगे बनकर ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्वतम उठ रही हैं और व्रज जगत को आ-आकर आर्द्र कर दे रही हैं।

क्या यह वज्र जगत और महाभाव समुद्र कुछ भिन्न हैं ? ये नन्दनन्दन, श्रीराधारानी, ये नन्द, यशोदा, वृषभानुजी, मैया कीर्तिदा, सखियाँ, पशुधन, ये चतुष्पद, ये भृंग,कीट क्या सब भिन्न हैं ?

अरे भाई ! कभी तुमने कन्दके बने राजा, रानी, महल, मकान, पर्वत, पशु-पक्षी देखे हैं ? सब कन्द ही कन्द तो हैं, इसी प्रकार ये सब मात्र

महाभाव रस समुद्र ही रस समुद्र है। भगवत्कृपा अथवा महज्जन कृपा से जब यह लोक किसी भाग्यवान को दिखता है तो वह कुछ भी कह नहीं सकता, अतः वह गूँगा हो जाता है, जगत को फिर देख नहीं पाता अतः अन्धा हो जाता है, और उसकी मन बुद्धि में इतना रस भर जाता है कि वह पागल हो जाता है।

सच्चिदानन्द परतत्त्व अहो ! अविषय मन-वाणी का प्रियतम !
है खेल अनिर्वचनीय और निरुपम अचिन्त्य इनका प्रियतम !
साँवर जिसको जितना सा, जब दिखला दे, वह देखे, प्रियतम !
उतना सा तभी, मर्म फिर भी अज्ञात रहेगा ही प्रियतम !!

इन लीलाओं की, इस व्रजराज्य की अनुभूति और प्रत्यक्षीकरण साधक एवं सिद्ध को अपने-अपने मानसिक धरातल के अनुरूप ही होती है। वियोग-संयोग, प्रकट-प्रच्छन्न, एकाकी-सामुदायिक सभी प्रकार की लीलाओं का उद्गम स्थल दिव्य भावराज्य का दिव्य नित्य विलास है। ये सभी लीलाये विलक्षण रूप से एक दूसरे से गुँथी हैं। इस रहस्य को हृदयंगम करना बहुत कठिन है।

संकेत भले सुन लो, यद्यपि रस का सागर वह है प्रियतम !
यह गिरा न जाने क्यों कुण्ठित हो रही अचानक है प्रियतम !!
कानन में विविध विहंगम हैं रस लोलुप किन्तु सभी प्रियतम !!!
है रस मर्मज्ञ नहीं पूरे अतएव न समझेंगे प्रियतम !!!!

यह वही सिन्धु अब तक जो है नापा जा सका नहीं प्रियतम !
है गहरायी कितनी, कोई बतला न सका, न सकी प्रियतम !!
नीचे जितना जो गया, गयी, बढ़ती ही मिली उसे, प्रियतम !!!
वह मरा, मरी, जो बचा, बची गूँगा, गूँगी वह है, प्रियतम !!!!

उस गूँगी का इंगित कोई समझे, न समझ पाये प्रियतम !
जो समझे वह सब समझ गया है नियम नहीं यह भी प्रियतम !!
गूँगी तो यह निर्णय करने आयगी नहीं कभी प्रियतम !!!
बहरी तो थी ही, अंधी, फिर पगली हो जाती है प्रियतम !!!!

तो जब महाभाव सिन्धु है तो फिर कौन सी संध्या कौन सा प्रभात। वस्तुतः आस्वाद्य, आस्वादक, और आस्वादन के भेद से रहित यह रस प्रवाह ही जब मात्र नीलसुन्दर है फिर कौन रसमयी और किसका किससे मिलन-वियोग ?

आस्वादन आस्वादक एवं आस्वाद्य नाम वाला प्रियतम !
सच तो यह है दयिते ! किञ्चित कोई है भेद नहीं प्रियतम !!
फिर भी वह है रसराज वहाँ वह महाभाव भी है प्रियतम !!!
इन दो की ही क्रीड़ा चलती उत्तर निकुंज में हे प्रियतम !!!!

आगे प्रवाह बहता क्रमशः उन दोनों के रस का प्रियतम !
वे अहो कहाँ से कहाँ जुड़े उसमें बहते रहते प्रियतम !!
पीछे आने का प्रश्न नहीं उस धारा में बनता प्रियतम !!!
वे सृजन और संहार जनित परिणाम न उसमें हैं प्रियतम !!!!

सचमुच ही प्रीति का पथ निराला, सबसे पृथक् है। इस प्रीति की उद्गमस्थली श्रीभानुराज नन्दिनी हैं। प्रीति पथ का पथिक वही हो सकता है जिस पर स्वयं भगवान व्रजेन्दनन्दन की कृपा का एक कण ढ़लक पड़ता है। कृपा कणिका से अभिषिक्त होते ही वह जुड़ जाता है, जुड़ जाती है, प्रीति की उद्गमस्थली भानुराजनन्दिनी से। उस समय भानुराजनन्दिनी के प्राणों की धारा ही प्रसरित होने लगती हैं जुड़ने वाले, जुड़ने वाली में।

पू० गुरुदेव की भाव देह की वर्तमान में ऐसी स्थिति है कि अभी उन्हें भानुराजनन्दिनी के मात्र राधा जन्माष्टमी उत्सव में दर्शन हुए हैं। अब उन्हें उनका नित्य परिचारकत्व प्राप्त हो जाय, वे उनकी अन्तरंग सखी होकर उनसे, उनकी लीलाओं से एकात्म हो जायें, इस भूमिका का निर्माण उनके प्राण प्रियतम श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

प्रीति जगत की परिपाटी ही यही है पहले श्रीकृष्ण के रसराज रूप में, वृन्दावनविहारी रूप में, वंशी, कदम्ब सहित साधक को दर्शन होते हैं। इस दर्शन के पश्चात प्रेम भूमि का निर्माण होता है। तत्सुखिया भाव का बीज वपन होकर महत्कृपा से वह बीज पल्लवित होता है। उसकी रस दीक्षा होती है।

तब भाव देह का उदय होता है। पांचभौतिक देहाध्यास की सर्वथा आत्यन्तिक निवृत्ति होकर भावदेह में पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। फिर लीला विधातृ शक्ति धाम में प्रवेश का अधिकार देती है। यमुना, दिव्य वृन्दावन, निकुंजों का, दिव्य चिन्मय गिरिराज परिसर आदि का दर्शन होकर इनमें नित्य निवास एवं निकुञ्ज प्रवेश की योग्यता प्राप्त होती हैं तब श्री राधारानी के दर्शन की भूमिका का निर्माण होता है। और तब उनकी मंजरी देह से सेवा प्राप्त होती है। राधारानी के दर्शन के पूर्व ही श्रीकृष्ण से मिलन और असीम प्रेम की अभिवृद्धि होती है। फिर श्रीकृष्ण मंजरी भाव देह में निज प्रिया का दर्शन करते हैं। उसे प्रिया ही मानकर अतिशय प्रेम से नहा देते हैं। तत्पश्चात् पूर्ण पात्री बनाकर राधारानी की चरण सेवा में उसे भेज देते हैं।

तो इस महाभाव रस सिन्धु में निशा अपने सम्पूर्ण राज्य का भार अपनी सखी उषा को सौंप कर सीकरों के रूप में अश्रुकण बिखेरती बिदा हो रही है। जिस प्रकार मनुष्य दो पैरों से ही चलता है, पक्षी की उड़ान निर्भर होती है दो पंखों पर ही, ठीक उसी प्रकार मिलन एवं विछोह, संयोग एवं वियोग दोनों के द्वारा ही इस रस विलास की सिद्धि होती है। इसीलिये निशा आती है और दिवस का अवसान होता है उषा आती है, निशा विदा लेती है, ब्रह्म मुहूर्त्त का आरंभ होता है । यमुना के किनारे से पूर्व में सूर्योदय होता है और पश्चिम में गिरि पर्वत श्रेणी में उसका अस्त हो जाता है।

निशा का अन्त होने पर शुक सारिका, मयूर, कोकिल, आदि असंख्य पक्षियों का कलरव प्रारंभ हो जाता है। इन पक्षियों के सुमधुर कलरव से रसमयी की नींद टूट जाती है। आँख खुलते ही खुमारी में उसे भान होता है प्रियतम अतिशय रसभरे नेत्रों से उसे ताक रहे हैं। ऐसी प्रियतम रस-भावित-मति रसमयी की निद्रा भी पर्यवसित होती है नीलद्युति में ही और स्वप्न जागरण में सब समय भरे रहते हैं, ये नीलसुन्दर अपनी मनमोहन मुसकान बिखेरते, अपनी चितवन की छटा से विश्व को मोहित करते हुए।

देखो रसमयी चल पड़ी है यमुना स्नान करने। यह कलिन्द नन्दिनी है कि सचिन्मय महाभाव-रस-सागर रसमयी के प्रियतम नीलम ही उमड़ रहे हैं उसे अपने प्यार के अतल तल में विलीन कर लेने को। अरे देखो ! देखो ! वह प्राणाराम नीलम रसमयी के सम्मुख न जाने कहाँ से आकर खड़ा हो गया है।

निर्निमेष नयनों से वह रसमयी की ओर सुस्नेह भरी अतिशय तृष्णा से देख रहा है।

रसमयी की भी कैसी दशा है। ऐसे अपूर्व मिलन सुख के क्षणों में और प्रीति के इन अनमोल अवसरों पर यह निगोड़ा निष्ठुर लज्जा भाव उसे अपने समग्र बल से विकट रूप में घेर लेता है। यह लज्जा उसमें अतिशय क्रूर विधाता ने मानो कूट-कूटकर भर दी है। लज्जा से घिरी वह रह-रहकर थरथर काँपने लगती है। यह कम्प इतना तीव्र होता है कि उसकी करधनी और गले के हारादि आभूषण ध्वनि करने लगते हैं। इसके पश्चात् स्वेद का प्रवाह उसके अंग-अंग से फूट पड़ता है। एक-एक रोम कूप जैसे जल का निर्झर हो उठा हो। वह मस्तक से ऐडी तक स्वेद से नहा जाती है। अब रोमांच और पुलक उठने लगते हैं।

रसमयी को ठीक अनुभव हो रहा है उसके प्रियतम के हृदय का सम्पूर्ण राग जैसे रसमयी के हृदय में भरता जा रहा है।

रसमयी अपनी प्रीति भावों की आंधी में इतनी प्रगाढ़ बह चली कि अपने वस्त्रों का भान भी उसे नहीं रहा।

इधर प्राणाराम नीलमणि के बाहु युगल भी भावों के अति वेग भरे उच्छलन से यंत्र चालित से ऊपर उठ जाते हैं। राग से ओत-प्रोत रसमयी का हृत्तल व्याकुल हुआ नीलम प्रियतम की ओर मानो दौड़ पड़ता है। अपने अस्तित्व को सर्वथा उसमें विलीन कर देने के लिये। और फिर दोनों का वह अनिर्वाच्य अचिन्त्य मिलन संघटित होता है, जिसको कोई क्या कहकर वर्णन करे। ऐसा कोई महासिद्ध सन्त हो जिसका हृदय पटल प्रिया-प्रियतम का लीला क्षेत्र बना हुआ हो, वही इस मिलन की छाया की छाया की कुछ कल्पना भर कर सकता है। वाणी और लेखनी इतना ही बता सकती है कि रसराज श्रीकृष्ण का भाव-सागर महाभावस्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी को आत्मसात् कर लेना चाहता है और महाभावस्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी का भावसागर उमड़कर रसराज को आत्मसात् कर लेना चाहता है।

कोई कहेगा यहाँ वृषभानुनन्दिनी है ही नहीं, यहाँ तो रसमयी अपने प्रियतम नीलम से मिल रही है। भाई ! अनेक स्वतंत्र सत्ताएँ तो हैं नहीं, सत्ता का मूल स्रोत तो प्रिया प्रियतम राधा माधव का निभृत निकुञ्जान्तर्गत नित्य चिन्मय विलास ही है। लीला पात्र, जैसे अनन्त हैं, वैसे ही उन-उनके भावों के अनुसार लीलाएँ भी अनन्त हैं और उसमें पात्रों के भावानुसार मिलन एवं

वियोग भी अनन्त है। परन्तु सब में लहरा रहा है एक ही प्रिया प्रियतम का प्रेम। भले ही कहने को नाम रूप भिन्न हों, मिलन और वियोग के पात्र चाहे रसमयी और नीलमणि हों, मिलन एवं वियोग के स्पंदित होने का मूल स्रोत तो निभृत निकुंजान्तर्गत नित्य निकुञ्जेश्वरी प्रिया एवं नित्य निकुञ्जेश्वर प्रियतम माधव ही हैं।

और देखो ! रसमयी के नेत्र कमल झरने लगे हैं अपने नील देवता के वक्षस्थल को भिगोने। और इधर नीलसुन्दर की भी यही दशा है वह अपने आपको सर्वथा विस्मृत करके ढ़लक पड़ा है अपनी प्राण-प्रिया के उरस्थल पर ही।

और देखो अघटित घटित हो गया। महाभाव-रस-तरंगिणी कालिन्दी के तट पर ही अतिशय सुभग यह निकुञ्ज कहाँ से प्रादुर्भूत हो गया ? देखो ! सभी श्रृंगारोपयोगी, विश्राम-दायिनी सामग्री इसमें प्रचुर मात्रा में यथा स्थान सजी हैं। अति मनोरम पद्मपर्यंक स्थान-स्थान पर लटकती मणि मुक्ताओं की झालरें, स्थान-स्थान पर लगीं मनोहर रत्न-जटित मनोहर आसन चौकियाँ, शुक सारिकादि पक्षीगणों के लिये लटके रत्नखचित स्वर्ण पिंजर प्रसाधन की सभी वस्तुएँ, मनोरथ करते ही यह कुंज मनोवांछित सब वस्तुएँ यथावसर उपस्थित कर देता है।

और नीलमणि अपनी प्राणप्रिया को अपने हृदय से सटाये-सटाये इस निकुंज के पद्मपर्यंक में विराजित कर दे रहा है। और तब स्वयं अपनी प्राणनिधि के चरण प्रान्त में आसीन हो जाता है। इसने अपनी प्राणप्रिया के रक्तोत्पल सदृश द्युतिमान सुकोमल चरणों को अपने कर सरोजों में धारण कर लिये हैं।

और सुनो, यह अपनी प्रिया के सुकोमल चरणों को कभी अपने सुकोमलतम अधरों से संस्पर्शित करता, कभी अपने नील नलिनाभ नेत्रों से छुलाता, निज पलकों से इनकी रज स्वच्छ करता, और कभी अपने वक्षस्थल में उन्हें स्थापित करता, नयन मूँदे कुछ अस्फुट परम मधुर स्वर में बोल भी रहा है।

आओ ! इसकी परम मधुर वाणी सुनें। अहा ! इसकी सुमधुर वाणी आनन्दोदधि की उच्छलित तरंगे ही हैं।

"मेरे प्राणों की रानी, मेरी सर्वांगों की मोहिनी, मेरे सम्पूर्ण आह्लाद और आनन्द की उद्गमस्थली, तुम्हारे इन चरणों के आश्रय से मुझे कभी पृथक् मत करना।"

देखो, देखो ये अपनी प्राणप्रिया के चरणों को अपने नलिन नयनों के प्रेमाश्रुओं से भिगोता हुआ, नयन मूँदे किसी विलक्षण आनन्द समाधि में डूब गया है।

और रसमयी भी अपने प्राणनाथ नीलसुन्दर को, अनन्त, अपरिसीम, अनुपम सुख में डूबा देखकर उनके सुख से अनन्त सुखी हुई आनन्दोदधि की उर्मियों में डूब जाती है। उसे कुंज का कण-कण अपने प्रियतम की नीलिमा से परिवेष्टित दृष्टिगोचर हो रहा है। सहसा उसे किंचित् बाह्य जाग्रति होती है। वह देखती है उसके चरण तो प्रियतम के अश्रुओं से आर्द्र हैं।

हाय ! ऐसा क्यों ? हकबकायी सी रसमयी अपने नीलमणि के करयुगलों को अपनी अञ्जलि में में बाँध लेती है और अति मनुहार भरे स्वर में बोलती है -- "तुम रो क्यों रहे हो ? प्राणनाथ !! अहा रसमयी की कोकिल कण्ठी वाणी में कितना रस छलक रहा है।

रसमयी सोच ही नहीं पा रही थी कि कौन से अभिनव भाव के आवेश में मेरे जीवन सर्वस्व का मन निमग्न है और लोर की धारा के रूप में वह मेरे चरणों को अभिषिक्त करने बाहर फूट पड़ा है। लो ! रसमयी को अपने नीलम प्रियतम की अतिशय मधुर वाणी श्रवण-गोचर हुई।

"प्राणेश्वरी ! तुम मेरे अन्तर्हृदय की सुगुप्त बात जानना चाहती हो तो जान लो। मैं निरवधि नित्य ऋणिया रहूँगा तुम्हारा। मेरे शत सहस्र प्राणों की देवी ! वस्तुतः तुम्हारे शुचितम चरण सरोरुहों में ही मेरा स्थान है। तुम मुझे वहीं वास दिये रहना। मेरे इस सौभाग्य से मुझे कभी वंचित मत करना।

"मेरी प्राण संजीवनी ! तुम्हारे नयनों की ऐसी शोभा है कि वे मेरी आकृति को देखने के सिवा कुछ देखते नहीं। तुम्हारी कितनी सौभाग्यवती श्रवणेन्द्रियाँ हैं जो मेरे शब्दों और मेरी वेणुमाधुरी के सिवा कुछ सुनती ही नहीं। तुम्हारी वाणी मेरे नाम एवं गुणगान के सिवा कुछ बोलती ही नहीं। तुम्हारे हाथों के सौभाग्य की क्या कह कर स्तुति करूँ, वे मेरी सेवा के अतिरिक्त कुछ करते ही नहीं। तुम्हारे चरण मेरे अनुसंधान के सिवा कहीं गमन करते ही नहीं। तुम्हारा मन मेरे चिन्तन में ही निरन्तर रत रहता है। तुम्हारा चित्त एवं अहंकार सर्वतोभावेन मुझे ही समर्पित है। और हाय ! मैं

कैसा हृदयहीन हूँ कि मेरे नयन नित्य अनेकानेकों को निहारने में चंचल बने रहते हैं। तुमने अपने प्रेम के प्रवाह में मेरे स्वसुख लालसा रत प्राणों की ओर देखा तक नहीं। सचमुच ही मेरी प्रीति अपवित्र है। मेरी इस हृदयहीनता का परिचय पाकर भी तुम नित्य निरन्तर मुझे अपने अनुरागपूर उरस्थल में ही रखती हो, और मुझे पवित्रतम बनाती रहती हो। मेरी जीवनेश्वरि ! मैं इसी अभाववश रोता रहा कि हाय ! कब मैं तेरे अनुरूप तुझे प्रेम कर पाऊँगा ?

नील सुन्दर के हृद्देश में भावों की आंधी सी आ रही है। वे अपनी प्राणेश्वरी रसमयी को मनोरम पद्म शय्या में विराजित कर दैन्य की चरम अवस्था में स्थित हुए, उसके रोम-रोम को अपने समग्र प्यार से अभिषिञ्चन करते हुए उसका अभूतपूर्व श्रृंगार करने लगते हैं। श्रृंगार करते हुए उनके हृत्तल में निर्मल अनुराग की उर्मियाँ निरन्तर हिलोरें ले रही हैं।

और तब वे दोनों गलबाहीं दिये, अपनी प्रीति से सम्पूर्ण वृन्दावन को आप्यापित करते हुए यमुना के किनारे-किनारे वन की ओर चलने लगे। फिर वह बेला आयी जब वह संकीर्ण वीथी दो भागों में विभक्त होकर राह बदल रही थी। एक भाग तो गहन वन में चला जाता था एवं दूसरा भाग गिरि-परिसर में जाता था।

वहाँ वे दोनों अवस्थित हो जाते और तब आकुलता से भरे-भरे हृदय से दोनों बिलग हो जाते। रसमयी का शेष दिन अपने कुञ्ज में एकाकी व्यतीत होता। प्यार ही प्यार से भरा उसका संसार था। वह घंटों अपने प्रिय की स्मृति में खोयी मयूरी की ग्रीवा से लिपटी पड़ी रहती। और जो उसकी कुटिया में तमाल वृक्ष था, वह तो रसमयी का चिर सखा था। रसमयी अपने हृदय की सभी बातें उसे सुनाती रहती और वह अतिशय मनोयोग पूर्वक सुनता रहता। ये हरिणियाँ समग्रवन में कुलाचें भरती उसके प्रियतम का अन्वेषण करके आतीं और रसमयी को सुनाती थीं कि उसके प्रियतम इस समय कहाँ, कैसी, रसमयी लीला कर रहे हैं। सखा मण्डली के साथ उनकी क्रीड़ा केलि को हरिणियाँ रसमयी के कानों में मुख लगाकर सुनाती रहती थीं। इस प्रकार लगातार दो वर्ष तक पू० गुरुदेव की यह भाव साधना चलती रही। प्रतिदिन प्रभात काल में यमुना के किनारे प्रियतम नीलमणि उनकी कुंज में आते और विदा हो जाते। दो वर्ष पश्चात एक दिन इसी प्रकार विदा होते समय वे दोनों अवस्थित हो गये। प्राणों में भावी विप्रलंभ का ताप लिये आमने-सामने वे बहुत देर तक अनबोले खड़े रहे। रसमयी के अंगों-अंगों में अदर्शन ज्वाला की आशंका से

वैवर्ण्य का अतिशय संचार हो उठा था। रसमयी एक टक निहार रही थी अपने प्राणवल्लभ की ओर। प्रियतम नीलमणि के नेत्र भरे थे, वे कभी वन की ओर देखते फिर रसमयी की ओर। सहसा नीलमणि बोल उठे - "प्राणवल्लभे ! यह कुछ घटिकाओं की विरह वेदना तुम सहन कर लेना, भला। और तब न जाने भीतर की उठी किसी अन्तमूर्त जिज्ञासा से रसमयी प्रश्न कर उठी थी । "प्राणवल्लभ ! तुम कहाँ जाओगे मुझे छोड़कर ? तुम प्रतिदिन यहाँ से सीधे गोचारण को तो नहीं ही जाते। फिर इतनी शीघ्रता आखिर क्यों करते हो ?

उस समय रसमयी के प्राणों की क्या दशा हुई थी, इसे कोई कैसे लिखे भला ? आकुलता की मुखमुद्रा जो रसमयी की उस समय थी, उसे स्वयं उसके प्रियतम ही अपने हृदय में अंकित भले ही कर पाये होंगे। रसमयी की बाह्य स्मृति सर्वथा लुप्त हो रही थी। उसके मुख से बस दो चार अस्फुट शब्द ही निकल रहे थे -- 'प्राणनाथ ! जाओ ! परन्तु प्रतिदिन मुझे छोड़कर तुम कहाँ जाते हो, इसका संकेत तो कर दो ?

रसमयी सर्वथा स्तंभित हो गयी थी। उसके जीवन सर्वस्व नीलमयंक ने उसे अंक भर कर अपने हृदय से सटा लिया था। उनका बदनांभोज स्वर विन्यास की मुद्रा में खुल उठा था :-- "देख, प्रिये ! यह वन की पगडंड़ी मुड़कर चली जाती है गहन वन में। यमुना से दूर पूर्व दिशा में जहाँ ये गिरि श्रृंखलायें दिख रही हैं। उस गिरि के परिसर में दो बड़े सरोवर हैं। तेरी पर्णकुटी से किंचित् दूरी पर ही यमुना का अतिशय मनोहर सम्मोहन घाट है। और उसके पार्श्व में तेरी पर्णकुटी के उत्तर की ओर अग्रभाग में एक लघुस्रोत है। जब रस तरंगिणी यमुना बढ़ती है तो उसकी लहरें और उसका जल इस स्रोत में बहने लगता है और सरोवरों तक चला जाता है। रस तरंगिणी कालिन्दी और उन सरोवरों का इस प्रकार मिलन हो जाता है। पावस में गिरिराज के प्रच्छन्न निर्झरों से जब सरोवर भरपूर हो उठते हैं तो एक छोटे से द्वार से जल इस स्रोत में बह चलता है और सरोवर का कलिन्द तनया से पुनः मिलन हो जाता है। ग्रीष्म में न सरोवर सूखते हैं और न ही स्रोत सूख पाता है। और कैसी विचित्र बात है, कभी-कभी हेमन्त में, शीत में भी, शरद वसन्त में भी, शिशिर में भी अचानक सरोवर ऊपर तक भर जाते हैं और उसकी धारा बह चलती है, उस रस स्रोत से कालिन्दी से मिलने के लिये।

इस सरोवर के मध्य में एक विलक्षण निकुंज है, उसमें रहती है मेरी प्राण प्रिया राधा जिसकी स्मृति मुझे सदा विभोर बनाये रखती है।

रसमयी के चित्त में अतिशय आह्लाद की तरंगें उठने लगीं - वह सोचने लगी - "मैं तो एक छिल्लर के समान महामलिन अत्यंत दुर्गन्धित जल से भरी गढ़ैया के जल की भी एक कणिका मात्र थी। भला मैं मेरे इस दिनकर की तृषा कैसे बुझा सकती थी। अहा खद्योत के भुक्-भुक् प्रकाश से भी कभी घोर तिमिरमयी निशा में उजियारी हो सकती है। मल से सना काँच का एक मलिन कण क्या नीलमणि की स्पर्धा कर सकता है? मेरे जीवन का अणु-अणु अभिलाषाओं के हाहाकार में परिपूरित है। मैं भला कैसे मेरे प्राणवल्लभ को सुख दे पाती।"

"मुझमें लेश मात्र भी सौन्दर्य नाम की वस्तु नहीं है। कोई भी मेरे किसी भी अंग संस्थान पर दृष्टि डाल ले, उसे यही अनुभूति होगी कि महा कुरूपा हूँ मैं। यह भी मैं अच्छी तरह से जानती हूँ कि किसी भी सद्गुण का कियदंश भी मुझ में नहीं है। दोषों की जीवन्त प्रतिमा मैं हूँ। अविवेक का घन आवरण मुझे नित्य आवृत किये रहता है।"

"फिर यह भी नितान्त सत्य तथ्य है कि प्रियतम के प्रति निर्मल अनुराग भी मेरा नहीं है। वे कुछ भी यदि मुझ में स्नेह देखते हैं तो वह मात्र प्रीति का दंभ है। मैं तो नित्य निरन्तर स्वसुख वासना से ही हाहाकार करती रहती हूँ। निरन्तर मुझे अपने ही योगक्षेम की चिन्ता है। उनसे जो कुछ मुझे स्नेह मिला है, वह मुझसे छिन नहीं जाय -- यह मुझे नहीं मिला, मुझे यह नहीं मिला - इस चिन्ता में ही मैं अहर्निश डूबी रहती हूँ और उनके निरन्तर देते रहने पर भी संतुष्ट होना तो जैसे मैं जानती ही नहीं। हाय, कितना निकृष्टतम घृणित जीवन है मेरा।"

"मैं भला कैसे मेरे प्राणवल्लभ को सुख दे पाती। वेदना की इस आग में मेरा अन्तर जल-जल कर जर्जर हो रहा था। स्वप्न में भी उनको क्षणार्ध के लिये भी सुख देने की योग्यता मुझ में नहीं थी। वे उदारता के सिन्धु अपने अपरिसीम सौहार्द से मुझे प्रेम करते थे, यह मात्र उनकी महानुभावता थी, मैं तो किसी भी प्रकार उनके योग्य कदापि नहीं थी।"

"अब प्रियतम मुझे अनुमति भर दे दें तो मैं मेरे प्रियतम की प्राणेश्वरी राधा के चरण सरोरुहों में न्यौछावर हो जाऊँ ? हाय रे ! अब तक मैने मेरे प्रियतम से उनके हृदय की यह रसमयी वार्ता क्यों नहीं पूछी। धिक्कार है मुझे। इतना सुदीर्घ काल व्यतीत हो गया और मैं मेरी प्रिया राधा की चरण रज से भी वंचित रही। शत-सहस्त्र धिक्कार है मुझे।"

"देखो तो सही ! मैं महा अधमा, लज्जाहीना अपने प्राणवल्लभ की प्रतिदिन सेवा करने का ढ़ौंग वर्षो से कर रही थी। रसविद मधुकर रे ! मेरे द्वारा लगातार वर्षों से यह महान अपराध सृजन होता रहा और तुमने आज तक मुझे नहीं चेताया। मेरी इस भग्न कुटिया में प्रतिदिन तुम आते, मेरी यत्किञ्चित सेवा लेते, मुझ अतिशय कृतघ्ना को अपनी प्रीति से नित्य सराबोर करके चले जाते, मैं प्रेम-हत्यारिणी स्वसुख में डूबी हर्षित होती रहती। मेरे मन में कभी प्राणेश्वरी राधा से मिलने की उत्कण्ठा ही नहीं हुई तो तुम मुझे राह भी भला क्यों दिखाते ? मेरे नीलम ! तुमने जो कुछ किया सो सब अति स्वाभाविक ही था।"

"मैं सदा प्रेम का दंभ ही करती आयी हूँ और आज भी दंभ से ही भरा मेरा जीवन है। मेरे नीलमणि ! स्वप्न में भी सच क्षण भर के लिये भी मैं तुम्हें अनाविल प्यार का एक कण भी नहीं दे पायी।"

रसमयी बिलख-बिलख कर रोने लगी थी। उसके इस रुदन में अथाह परिताप और आह्लाद दोनों असीम मात्रा में युगपत् भरे थे।

रसमयी के मुख से नीलम, नीलम का स्वर निःसृत हो रहा था। फिर दोनों के प्राण एकाकार हो उठने को व्याकुल हो उठे। और पल बीतते न बीतते रसमयी और उसके प्राणवल्लभ नीलमणि का परिरंभण इतना दृढ़ हो गया मानो छूटना जानता ही न हो। और जब यह परिरंभण किंचित् शिथिल हुआ तो हकबकी सी रसमयी देख रही थी अपने प्रियतम नीलसुन्दर की ओर। उस समय रसमयी के मुख से अस्फुट स्वर निकल रहे थे--'नीलम ! नीलम !! प्रियतम हे ! तुम मुझे एक वरदान दे दो। मुझे तुम्हारी हृदयेश्वरी श्रीराधारानी के चरणों का जो अनागत और अतीत की सम्पूर्ण विश्वविमोहक प्रीति के उत्स हैं, अखण्ड एवं अनाविल कैंकर्य दे दो।

और तब प्रियतम के कर सरोज रसमयी के दोनों स्कंधों पर विराजित हो गये और वे कहने लगे - "प्रिये ! मेरी प्राणेश्वरी राधा का मेरे तन के रोम-रोम पर, मेरे मन के प्रत्येक संकल्प पर, मेरे जीवन की प्रत्येक गति पर, चेष्टा पर, इतना ही नहीं मेरे नेत्रों की पलकों के उठने और गिरने पर, मेरी अलकावलि के एक रोम के भी हिलन-चलन पर कितना अधिकार है यह तुम नहीं जानती। और उन्होंने रसमयी की अँगुलियों को अपने वक्षस्थल के मध्य में स्थापित कर दिया। और रसमयी के कर्ण रन्ध्रों की तो बात ही क्या, उसकी अँगुलियाँ भी स्पष्ट सुन रही थीं, उसके प्रियतम के वक्षस्थल की प्रत्येक

धड़कन में - राधा, राधा, राधा - यही स्वर स्पंदित हो रहा था और तब रसमयी ने अपनी दृष्टि अपने प्रियतम की रोमावली पर केन्द्रित कर दी और अपने नीलसुन्दर के प्रत्येक रोम-रोम में उसे श्रीराधारानी का ही रूप अभिव्यक्त मिला। और तब रसमयी देखने लगी, उस भूमि की ओर जहाँ उसके नीलम प्रियतम खड़े थे, उस वृक्ष के नीचे जहाँ वे अवस्थित थे, उस वृक्ष के क्षुद्र से क्षुद्र अंश में, उस भूमि के प्रत्येक कण-कण में, उसे नीले गगन के अणु-अणु में, उस सुरभित वायु के परमाणु-परमाणु में जहाँ उसके नीलमणि श्वास ले रहे थे, भरीं थी श्रीराधा ही राधा। रसमयी को सर्वत्र श्रीराधारानी का मुख ही झलमल करता दृष्टिगोचर हो रहा था। रसमयी स्पष्ट अनुभव कर रही थी कि उसके प्रियतम की प्रत्येक वृत्ति में श्री राधारानी के अतिरिक्त किसी अन्य का किञ्चिन्मात्र अस्तित्व नहीं है। वे सर्वतोभावेन श्रीराधा ही राधा हैं। वे दोनों एक ही हैं। एक होकर भी दो हैं और दो होकर भी एक ही हैं।

**सर्वथा सर्वांश में इनमें नहीं कुछ भेद है !**
**नित्य लीला के लिये बस रंग भर ही भिन्न है !!**

" फिर भी रसमयी ठीक समझ रही थी कि उसके प्रियतम में कोई ऐसी विलक्षण माया है, कोई ऐसी संकल्प शक्ति है, जिससे सभी व्रजवासी भ्रमित हैं और ठीक समझ रहे हैं राधा वृषभानुजी की लडैती छोरी है और ये नन्द किशोर माता यशोदा के लाड़िले लाल हैं। और उसी शक्ति के प्रभाव से ही रसमयी भी उन्हें अपना प्राणनाथ, प्राणवल्लभ और राधारानी से पृथक् पुरुषाकार लिंग समझे बैठे थी। यद्यपि श्रीराधारानी और उसके प्रियतम एक ही हैं परन्तु इन्हें नित्य एक ही देखते रहना सर्वथा असंभव सा दुर्लभतम जटिल कार्य है।

रसमयी यह भी अनुभव कर रही थी कि निर्बाध दो वर्ष के लगातार क्रन्दन के पश्चात् जब उसके नेत्रों का मल स्वच्छ हुआ है तभी-तभी यह सत्य उसके सम्मुख प्रकट हुआ है।

और अब रसमयी की दृष्टि अपने प्रियतम के मुख पर स्थिर थी और प्राणधन नीलम की दृष्टि उसके मुख पर। काल मान से कितना समय लगा, उन दोनों के प्रकृतिस्थ होने में, अग्रिम लीला का उपक्रम करने में इसे कौन बतलावे ?

सच्चिदानन्द असमोर्ध्व और जो भगवत्ता का भी प्रियतम !
है सार मूल मधुरिमा, यही नीली-पीली द्युति है प्रियतम!!
रसमय संविद्, केवल अद्वय जो नील-पीतमय है प्रियतम !
लीला रस पीता हुआ नित्य जो युग्म रूप में है प्रियतम !!
रह कर दो नित्य एक जो है, दृग विषय हुआ वह है प्रियतम !
जिनका किंजल्क सुदुर्लभ है योगीश-मुनीशों को, प्रियतम !!

रसमयी सोचने लगी - 'मैं निश्चय ही इसी क्षण मेरी जन्म-जन्म की स्वामिनी के दर्शन करूँ, परन्तु क्या मैं ऐसे ही चली जाऊँ ? कुछ तो प्रथम मिलन के समय मेरे पास भेंट करने को उन्हें हो। मेरे पास तो अश्रुकणावली के अतिरिक्त और कोई भी संपत्ति थी नहीं, है नहीं और भविष्य में कुछ होने की कोई संभावना भी प्रतीत नहीं होती। रसमयी अपने भावों में ऐसी तन्मय हो गयी थी कि उसे ठीक अनुभव होने लगा कि श्रीराधारानी के चरणों में वह मानो पहुँच ही गयी है। एक अभिनव आकुलता का उन्मेष रसमयी में हुआ। और तभी नीलसुन्दर प्रियतम ने रसमयी को अपनी बाहुओं में बाँध लिया। 'प्रिये ! तू श्रीराधारानी मेरी प्राणप्रिया के पास जावे तो यह मेरी वनमाला उसे पहना देना।' उन्होंने अपनी पहनी हुई वनमाला रसमयी के हाथों में सौंप दी। रसमयी ने वनमाला तो ले ली, परन्तु उसे अनुभव हुआ कि मेरे प्रियतम के अरुण अधर पिपासा से म्लान हैं। "अरे न जाने कितने काल से मैंने इन्हें ताम्बूल ही अर्पण नहीं किया। वह इस अपनी विस्मृति पर अपने को धिक्कारने लगी। ताम्बूल पात्र से उसने एक अतिशय सुगन्धित ताम्बूल गिलौरी निकाली। अहा ! गुलाब और केवड़ा जल में भीगी उस गिलौरी में केसर, इलायची, कस्तूरी, आदि अति सुगन्धित पदार्थ एवं सुगन्धित सुपारी और अनेक सुवासित स्वादिष्ट अन्य पदार्थ भी भरे थे। उसने वह ताम्बूल प्रियतम श्याम सुन्दर के मुख में दिया, परन्तु यह क्या ? प्रियतम ने उसे अर्ध-चर्वण ही किया और शेष आधा उसके मुख में देने लगे। "नहीं, नहीं प्राणवल्लभ ! यह ताम्बूल तुम मुझे ऐसे ही दे दो। मेरे नीलम ! आज यह ताम्बूल मैं माला के साथ मेरी स्वामिनी रानी को भेंट करूँगी। और प्रीति की अथाह अनुभूति में तन्मय रसमयी ने अपना दक्षिण कर प्रियतम की ओर बढ़ा दिया। और नीलमणि ने वह अर्ध-चर्वित ताम्बूल रसमयी की हथेली में रख दिया।

रसमयी सोच रही है कि कितने निर्मल स्वभव के हैं उसके नीलमयंक प्राणधन ! उन्हें सदा देते रहने में ही अत्यधिक सुख का अनुभव होता है। क्या उनकी राधारानी का भी ऐसा ही स्वभाव होगा ?

सहसा रसमयी को स्मरण आया कि उसने अपने प्रियतम को इतने दीर्घकाल तक अपनी ही समस्याओं में उलझाये रखा। यह उसने कितना बड़ा अन्याय किया है ? अब तो इनको प्राणप्रिया के पास जाने ही देना चाहिये। और मैं कुछ काल ठहर कर तब उनके पास जाऊँ जिससे इनके परस्पर मिलन में किञ्चित भी मेरे कारण व्यवधान नहीं पड़े।

रसमयी अपने प्राणधन से कह उठी – 'नीलम रे ! तुम कब मुझ से बिदा लेकर राधारानी के पास जा रहे थे ? परन्तु मेरे कारण तुम्हारा वहाँ जाना विलम्बित हो गया। देखो, यहाँ पथ तो है नहीं, घोर अटवी ही अटवी है। गहन कान्तार और सूर्यदेव भी मध्याकाश की ओर बढ़ चुके हैं। उनका ताप भी तीव्रतम हो रहा है। हाय ! यह सब मेरे ही कारण हुआ ? मुझ पर तुम्हारा इतना स्नेह क्यों है ? इस स्नेह के पराधीन हुए ही तो तुम अपनी प्राण प्रिया से मुझे मिलाने को उत्सुक थे।'

'प्राण ! तुम्हारे स्नेह के लिये मैं क्या करूँ ? तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा प्रीति परायण निर्मल है। इतना कष्ट सहकर घने कान्तार को पारकर तुम प्रतिदिन प्रभात एवं सांयकाल मेरे पास आते हो ? फिर मेरे पार्श्व से गिरि परिसर जाते हो ? तुम्हारे ये सुकोमल चरण इतनी लम्बी पथ की दूरी कैसे पार कर पाते हैं ?'

'कंटकाकीर्ण पथ निश्चय ही तुम्हें अतीव कष्टदायक होता होगा, परन्तु घनी-प्रीति तुम्हें इस कष्ट में भी सुख बोध कराती है ?' रसमयी अपनी प्रियतम के दक्षिण कर में पुनः लिपट जाती है एवं कहती है -- "तुम कितने प्रेमी हो, प्रियतम।

सुमधुर वार्तालाप से दोनों का परस्पर रस-विनिमय हो रहा है। दोनों अग्रसर हो रहे हैं गिरिराज परिसर की ओर। सम्मुख दिखाई पड़ने वाली पहाड़ी को ही वे लक्ष्य करके उस दिशा में जाने वाली किसी न किसी पगडंडी का वे आश्रय ले रहे हैं। रसमयी देख रही है कि उसके प्रियतम जिस किसी भी पथ पर चलने को ज्यों ही उद्यत होते हैं, वृन्दावन की अधिष्टातृ देवी उसी पथ में सर्वत्र अतिशय सुरभित पुष्प-लताओं को आदेश देकर सारे पथ में लता-मंडप निर्माण करती चलती हैं। वृन्दा देवी द्वारा चयन किये अनगिनत

पुष्प चतुर्दिक विकसित हो पथ को सौरभ से भर देते हैं। रसमयी देखती है रह-रहकर प्रियतम के अरुण अधरों पर स्मित व्यक्त हो जाती है और वह स्मिति ही परिणत हो जाती है सुमनावली के रूप में। वे सुमनावली समस्त पथ में आस्तरण बिछाती जाती हैं। रसमयी ने चलते-चलते देखा कि कालिन्दी का सम्मोहन घाट सम्मुख ही है। रसमयी ने प्रियतम श्यामसुन्दर से कुछ काल यहाँ विश्राम करके तब आगे बढ़ने की रुचि प्रकट की।

प्रियतम रसमयी की अभिसंधि समझ गये। वे मुसकाते एकाकी ही वन में प्रविष्ट हो गये।

कालिन्दी के किनारे यह कुञ्ज कैसा अतिशय सुभग है। चतुर्दिक लता मण्डप से आच्छादित किन्तु यमुना की ओर पश्चिम दिशा में यह खुला हुआ है।

कला की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती ने स्वयं अनगिनत एक से एक सुन्दर परम सुरभित पुष्पों को उनके ही वृन्तों से गुम्फित कर कैसी सुभग प्राकृत मालाओं का निर्माण किया है और उन्हें इस निकुंज में स्थान-स्थान पर पूर्ण शोभा से लटका दी है। इन मालाओं में मधुकर किस प्रकार झूम-झूम कर लिपट रहे हैं। इन चंचरीकों की बोली दूर से तो स्वाभाविक गुन-गुन लगती है, परन्तु यदि ध्यान देकर कोई सुने तो उसे स्पष्ट अनुभव होगा ये, 'प्रिया-प्रियतम' 'प्रिया-प्रियतम' नाम ही उच्चारण कर रहे हैं। रसमयी देख रही है वृन्दावनेश्वरी श्रीराधारानी का प्रियतम-सुख सर्जक मन ही सुमनों के रूप में सर्वत्र विकसित हो रहा है और प्रियतम प्राणवल्लभ उसके नीलसुन्दर की रोमावली ही मधु मत्त चंचरीक बनी अपनी प्रिया के सुख-सिन्धु मन पर उमग-उमग कर गुँजार कर रही है।

रसमयी कुंज शोभा निहारने लगी। कालिन्दी की 'कल' 'कल' प्रवहन ध्वनि उसे 'कृष्ण' 'कृष्ण' उच्चारण करती सुनाई पड़ रही थी। परन्तु जब वह थोड़ा ध्यान लगाकर सुनती तो पहले वह ध्वनि 'राधाकृष्ण' 'राधाकृष्ण' सुन पड़ती एवं तब वह 'राधा' 'राधा' में पर्यवसित हो जाती।

यमुना के किनारे-किनारे का सम्पूर्ण तट क्षेत्र ही अभिनव एक से एक सुन्दर कुंजों से भरा था। कोई कुंज सर्वथा रक्तवर्ण के पुष्पों से लदा था तो कोई पीत पुष्पों से, कोई शुभ्र श्वेत पुष्पों से, कोई मिश्रित रंगों से; रसमयी इन कुंजों की शोभा देखती मुग्ध हो उठती है।

वन शोभा देखते देखते ही यंत्रचालित सी रसमयी को किसने कैसे महाभाव-रस-सिन्धु-सरोवरों के तट पर पहुँचा दिया, उसे कालमान की प्रतीति ही नहीं हुई। वह तो वन शोभा देखने में संलग्न थी और कोई यंत्री यथा-दिशा यथा-राह उसके चरणों को संचालित किये जा रहा था।

सहसा उसे अनुभव हुआ, वह किसी ऐसे देश में पहुँच गयी है जहाँ अलौकिक रूप एवं सौन्दर्य उमड़ रहा है। वहाँ प्रकृति अपने समग्र कौशल से श्रृंगारित हुई खड़ी है। अभिसार की अभिलाषा उसे चंचल बना चुकी है। नील सुन्दर प्रियतम ने उसे छूकर जगायी है। और केवल जगायी ही नहीं अनन्त असीम रस से सराबोर कर दी है उसे, अपना विशुद्ध रसभरा संस्पर्श दान करके। परन्तु वह अब कहीं छुप गया है। उसका अनादि स्वभाव जो ऐसा ही है।

प्रथमत: वह अपने प्रति आसक्ति उत्पन्न करता है। और जब वह आसक्ति असीम हो उठती है तो छिपकर वह उस स्नेही का सिसकना तड़पना देखता रहता है। ऐसा नहीं कि वह स्वयं प्रीति वेदना से अछूता रहता है। परन्तु दूसरे को सीमा रहित क्रन्दन कराता हुआ वह स्वयं भी क्रन्दन करता है। यह क्रन्दन ही उसकी दृष्टि में नेह का साफल्य है।

तो प्रकृति सोलहों श्रृंगारों से सजी अपने आवास से बाहर निकल कर इस सरोवर के चतुर्दिक् स्थित इन अनेक परम रसमय कुञ्जों में घूमती यत्र-तत्र उसे ढूँढ़ती फिर रही थी। प्रकृति के पथ को विकसित पुष्पों से आच्छादित कर दिया था निराविल रज ने। विशुद्ध सत्व अपनी दिव्य ज्योति से उसका पथ आलेकित कर रहा था। ये दोनों भी प्रियतम नीलम के वाम और दक्षिण नेत्रों में ही तो सदा निवास करते हैं। अत: वहीं से निकलकर वे उसकी सेवार्थ प्रस्तुत हुए थे।

सर्वरसनिकेतन से विलक्षण अभिसार जो उसका संघटित होना है। ढूँढ़ते ढूँढ़ते प्रकृति भी थक कर चूर हो गयी थी। इसीलिये सरोवर के किनारे श्रान्त थकी चुपचाप निस्पंद पड़ी थी। जो भी उसे अपने से बाहर ढूँढ़ता है, उसे वह थका ही लेता है। बहिर्मुख जितने भी लोग हैं सबके लिये वह सुदुर्लभ जो है। उसकी सम्यक् समाराधना अन्तर्मुखी होने पर ही संभव है। इसीलिये प्रकृति को भी अन्तर्मुखी करने वह उसकी समग्र गतिविधियों को प्रतिपल निरीक्षण कर रहा है। परन्तु पूर्णतया संगुप्त रहकर। आत्म-संगोपन की कला में उसकी कुशलता निरुपम एवं अतुलनीय है।

कुछ भी अवगुंठित नहीं रह सकता उससे। भाव की एक छोटी से छोटी तरंग भी किसी की भी उससे छुपी नहीं रह सकती। किन्तु जब तक मापक यंत्र को ध्वंस कर देने लायक तड़प नहीं होती तब तक तो उसे अप्रकट ही रहना है। प्रकृति के बड़े-बड़े कोटि-कोटि नेत्र उसे सर्वत्र ढूँढ़ते जा रहे हैं, लालायित हुए सब दिशाओं में कण-कण को छान-छानकर निरख रहे हैं, कहीं वह छिपा पकड़ में आ जाय। परन्तु उसे पकड़ लेना, ढूँढ़ लेना, बड़े-बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्रों के लिये भी दुष्कर है, फिर बिचारी यह त्रिगुणात्मक प्रकृति उसे कैसे ढूँढ़ पावेगी। यह उसे कौन समझाने का साहस करे। बड़े-बड़े सांख्याचार्य भी उसे विश्लेषण करके, छान-छानकर नहीं जान पाये। चारों वेद जिसका निर्णय 'नेति नेति' कह कर नहीं ही कर पाये।

है वह धृष्ट अवश्य ही उसके पास यहीं कहीं। छिप-छिपकर उसकी समग्र चेष्टाओं को वह देख रहा है। कुछ भी अवगुंठित नहीं रह सकता उससे। भाव की एक छोटी सी तरंग भी उससे किसी की भी भला कभी छिपी रह सकती है ? सबका एक मात्र साक्षी जो है वह ?

कुछ भी अवगुंठित नहीं रह सकता उससे। वह इतना शीघ्र प्रकट भी कैसे हो ? अभी तो तड़प-मापक यंत्र को ध्वंस कर देने लायक भी नहीं हुई है।

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अतिशय श्रान्त हो गयी थी वह। बैठकर अँगड़ाई लेने लग गयी थी। उसी समय प्राणवल्लभ के कृष्ण देह से निकलकर तम ने उसे अपने अंक में अवश्य ही भर लिया था। तम के द्वारा लाड़ लड़ाई जाकर वह शान्त सो गयी थी।

परन्तु प्रियतम को कहाँ चैन है ? वे अपनी प्रेमिका को तमोगुण में डूबी कैसे देख सकते हैं ? वे प्रकृति का स्वप्न बन गये ? जो स्वयं ही निराविल तमोरूप और रजोरूप हैं उन्हें स्वप्न बनने मे बिलम्ब थोड़े ही होता है। वे स्वयं ही तो जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति हैं। प्रकृति क्या ही प्यारा स्वप्न देख रही है :—

प्रियतम उसके चरणों को सहला रहे हैं। उसकी पैरों की सुकोमलतम अँगुलियों को अपने कपोलों से छुला रहे हैं। उसकी पगथलियों में लगे रजकण अपनी नेत्रों की बरौनियों से स्वच्छ कर रहे हैं। बलिहारी है रसराज के असमोर्ध्व प्यार की। वे अपने बिम्ब-विडम्बी अधरों से उसके चरणों की अँगुलियों को संस्पर्श दान कर रहे हैं। चाहे स्वप्न में मिलो अथवा जाग्रत में।

प्रियतम मिल तो गये ही हैं। स्वप्न में ही प्रकृति के नयनों में मानजनित रोष आ गया। प्रकृति जाग्रत तो हो गयी है स्वप्न में, परन्तु मानवती होकर उसने उन प्रियतम को पीठ दे दी है, जिनकी मुख छबि की एक झलक पाने को वह अब तक तरस रही थी।

प्रियतम ने उसका मानभंग करने का व्रत ठान लिया।

अहा ! कैसी मधुस्यंदी वाणी प्रियतम के मुख से फूट पड़ी है। "प्राणप्रिये ! मैं तो युगों-युगों से तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा हूँ।" मात्र एक ही रसभरे वाक्य के कान में जाते ही, मात्र एक ही निराविल प्रीति भरी नयन भंगिमा के दर्शन से प्रकृति का मान टूटकर चूर-चूर हुआ बिखर जाता है।

प्राणवल्लभ की वाणी सत्य की सत्य है। प्रकृति के कानों ने विद्रोह करके प्रियतम की वाणी का रस लेना स्वीकार कर लिया। प्रियतम के रूप को नेत्रों ने द्वार दे दिया। नेत्रों के द्वार से निरुपम सुन्दर रूप सीधा हृदय में जाकर विजड़ित हो गया। अब प्रकृति के लिये उस रूप को वहाँ से निवारण करना असंभव था। दृगों ने कपाट लगा लिये। दृग बन्द ही नहीं हुए, सुस्थिर होकर पहरेदारी करने लगे। और तो क्या घ्राणेन्द्रियों से निस्सरित होने वाले प्राण भी प्रियतम के चरणों में जाकर उनके दस नख-चन्द्रों के प्रकाश में एक हो गये।

इसी को सच्चा प्रणय कहते हैं। अनादि काल से यही रस-परम्परा है, मान का पर्यवसान प्रणय में ही होता है।

रसमयी सरोवर के चतुर्दिक प्राकृत शोभा के कण-कण में भरे प्रियतम नीलमणि को स्पष्ट अनुभव कर रही थी। अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणि से प्राणों की उत्कृष्टतम एकात्मता लिये हुए वहाँ की प्रकृति थी। और वहाँ के काल में व्याप्त थी मिलन समय की निरुपम निष्पंदता। साथ ही प्रियतम की अखण्ड स्मृति जन्य एकाग्रता।

रसमयी चकित हो गयी। कैसा देश काल व्याप्त है इस सरोवर के चतुर्दिक।

रसमयी के प्राण रानी का जय-जय कार कर उठे। "हे वृषभानु राजनन्दिनी ! हे प्रियतम प्राणेश्वरी !! तुमसे ही ....? नहीं, तुम्हारी छाया की छाया के कण मात्र से ही प्राप्त हुई हैं इस जड़ प्रकृति को ये सबकी सब भावनिधियाँ।

तुम्हारी भौंहों से इसने अद्भुत रसभरी बंकिमा ग्रहण की हैं तुम्हारे श्रुति युगल से स्मृतिकाल की अद्भुत एकाग्रता यह प्राप्त कर चुकी है, तुम्हारे नयन सरोरूहों से इसने विशुद्ध निर्मलता प्राप्त की है, और तुम्हारे नासा श्वास से अप्रतिम एकाग्रता का दान पाकर यह कृत-कृत्य हो उठी है। तुम्हारे हृदय में अपने प्रियतम के प्रति जो बढ़ता हुआ राग का प्रवाह है वही आविर्भूत कर दे रहा है चतुर्दिक् यहाँ के सर्व देश-काल में, सबके सब निरुपम अलौकिक प्रेम भाव और तज्जनित विलक्षण शोभा सौन्दर्य।

रसमयी के नेत्र नलिनों में भावसिन्धु लहराने लगा। कभी वह अनुभव करती सर्वत्र केवल-केवल प्रियतम नित्य निकुञ्जेश्वर ही खड़े हैं। यहाँ और कुछ भी नहीं है। उस समय जब रसमयी में यह भाव प्रधान होकर प्रगाढ़ता को प्राप्त करता तब उसे अपने अंगों का पीतवर्ण भी श्याम वर्ण दिखने लगता। वह गहन विचारों में डूब जाती। उसके प्राणनाथ आज अगणित कैसे हो गये हैं, क्या वे ही मेरे पास से यहाँ आकर अपनी प्रिया के प्रेमवश उसके निवास के चतुर्दिक वृक्ष, लता, पुष्प, तृण, गुल्म, पशु, और पक्षीगण बन गये हैं ? क्या सचमुच ही ये मेरे हृदय हरण मेरा भी इस प्रकार विलक्षण प्रेम भरा स्वागत कर रहे हैं ?

परन्तु दूसरे ही क्षण उसे अनुभव होता :-- नहीं, नहीं इन दोनों में, रानी एवं नीलम में तो कोई भेद ही नहीं है ?

**सर्वथा सर्वांश में इनमें नहीं कुछ भेद है**
**बस रंग भर ही भिन्न है अवशेष सभी अभेद है।**

पीतद्युति ही पीतद्युति सर्वत्र वन एवं सरोवर में भरी परिलक्षित हो रही है। यह कंचन ज्योति ही एकमेव सत्य की सत्य है। अहा ! कैसा विलक्षण सौन्दर्य है मेरी रानी का।

देखो ! रानी ही तो वृक्ष-वृक्ष से, लतिका-लतिका से, भूमि की प्रत्येक तृणराजि से, सुमन-सुमन के अन्तराल से, उसे निराविल प्यार से नहला रही है। अहा, कैसी सुमधुर वाणी में सर्वरूप में रानी रसमयी का स्वागत कर रही है :--"आओ बहिन ! आओ !! इस निकुंज में तुम्हारा स्वागत है।"

हो रहे चित्र हृत्पट पर थे, अंकित सब लहरों के प्रियतम !
कैसे; कितने सुन्दर वे हैं किस भाँति कहूँ तुमसे प्रियतम !
अविराम भावना हृत्तल की, विगलित हो, थी आती प्रियतम !
उसका मन डूब गया नीली-आनन्द हिलोरों में प्रियतम !!

इस प्रकार रसमयी विलक्षण भाव दर्शन में डूबी हुई थी। उसे अनुभव होने लगा उसके सम्मुख एक विलक्षण निकुञ्ज है। वह विचारने लगी - यही ललिता रानी का सर्वसौभाग्यप्रद निकुञ्ज है। यही ललितानन्दद है। अवश्य ही उसे यहीं आज रानी मिलेंगीं। वैसे सरोवर के चतुर्दिक् अन्य अनेक एक से एक सुन्दर निकुंज थे। परन्तु आज उसे रानी ललिता कुञ्ज में ही मिलेंगीं प्रियतम ने उसे ऐसा संकेत ही दिया था।

रसमयी विस्फारित नेत्र उस कुंज के दर्शन करने लगी। कैसा विलक्षण यह निकुञ्ज भवन है। यह निकुंज सर्वत्र सब भागों से उज्ज्वल नीलमणिवत् प्रकाश पुंज की तरह ज्योतिर्मान है। इसकी चतुर्दिक् परिक्रमा में श्रीफल के असंख्य वृक्ष लगे हैं जो सभी पानीदार फलों से लदे हैं। अहा, चन्दन के नवतरुओं से ही यह कुंज बना है, अतः मलय गंध से यहाँ की शीतल वायु विलक्षण रूप में सुवासित है। उस कुञ्ज का प्रत्येक भाग इतना अलौकिक सौन्दर्य-माधुर्य से भरा था कि कब कौन से भाग पर दृष्टि चली जाय और वह अन्तर के भावों को सीमातीत रूप तक उद्दीपित कर दे। कुञ्ज के दर्शन करती-करती रसमयी भावोद्वेलनजनित शैथिल्य के अतिरेक से अभिभूत हुई विवश वहीं धम्म से गिर जाती है।

उसे सम्हाला उस निकुंज की द्वाररक्षिका ने। द्वाररक्षिका की दृष्टि बहुत काल से रसमयी पर केन्द्रित थी। रसमयी के अंगों में जो श्रृंगार रचना थी, वह प्राणधार नीलमणि का ही अप्रतिम हस्त कौशल है, चतुर द्वार रक्षिका के पारखी नेत्रों से यह तथ्य सर्वथा ही गोपनीय नहीं रहा था। प्रियतम श्याम सुन्दर निज जीवनेश्वर की यह नवागन्तुका अतिशय प्रीति भाजन है तभी तो इस कुञ्ज-प्रदेश, इस राधा-विहार-सरोवर तक उसकी पहुँच हुई है -- यह जान लेने में भी उसे कोई कठिनाई नहीं थी। अतः उसने रसमयी की भाव दशा देखकर तत्क्षण आगे बढ़कर उसे अपनी बाहुओं में भर कर सम्हाल लिया। पास ही एक पीठ पर जिसमें सुन्दर मखमल का आस्तरण था, द्वार रक्षिका ने उसे बैठाया।

रसमयी के मुख से वाणी तो फूट ही नहीं रही थी, उसने मूक भाव से अपने हाथों में सम्हाली वह माला और अर्ध चर्वित ताम्बूल खण्ड उस द्वार रक्षिका की ओर बढ़ा दिया। ताम्बूल खण्ड और माला के दर्शन मात्र से द्वार रक्षिका समझ गयी कि यह प्राणेश्वर द्वारा प्रिया को भेजा गया प्रेमोपहार ही है। द्वार रक्षिका ने ज्योंही वह प्रेमोपहार स्पर्श किया -- रसमयी का स्वसुख उपरत प्रियतम प्रेम सुखदान का सम्पूर्ण स्वभाव उसके हृदय में प्रतिबिंबित हो गया। रसमयी के सरल और निर्मल भाव से भरे आनन पर वह द्वार रक्षिका मुग्ध हो गयी।

"क्या यह चर्वित ताम्बूल खण्ड प्राणाधार नील सुन्दर ने हमारी प्राणसखी को प्रेषित किया है, और इस माला में तो निश्चय ही जीवन सर्वस्व नीलमणि के अंगों की पावनतम सुवास पूर्णतया परिव्याप्त है ? क्या यह भी प्राणसखी के लिये तेरा उपहार है ? अति भाव भरे प्रश्न द्वार रक्षिका उससे कर रही थी।" परन्तु सखी री ? इस माला में तो तेरे वक्ष की चर्चित कस्तूरी के कण भी संलग्न हैं ? यह कहते हुए उसे रसमयी पर अतिशय प्रेम भरे नेत्रों से ऐसे कटाक्ष बरसाये कि रसमयी उस पीठ पर ही भावाविष्ट हुई लुढ़क गयी।

रसमयी बहुत चेष्टा करके स्वीकृति में मात्र अपनी गर्दन ही हिला सकी।

परिचारिका के नेत्र भी स्नेहाधिक्य से अतिशय आर्द्र हुए भावावेश में मुँद से रहे थे। परन्तु परिचारिका में सेवा भाव इतना प्रबल एवं प्रमुख था कि उसने अपना भाव तो तत्क्षण ही संवरित कर लिया। उसे वह चर्वित ताम्बूल और वन माला तत्क्षण ही अपनी प्राणसखी रानी के पास ले जानी चाहिये, इस कर्तव्यजनित त्वरा ने रसमयी के हाथों से दोनों उपहार लेकर वह निकुञ्ज महल के भीतर प्रवेश कर गयी।

रसमयी द्वार रक्षिका के जाते ही विचार में पड़ गयी। ज्यों ही द्वार रक्षिका रानी को ये उपहार समर्पित करेगी, रानी तत्क्षण ही उसे अपने पास बुला लेंगीं। प्राणवल्लभ नीलसुन्दर तो निकुञ्ज के भीतर अपनी प्रिया के पास होंगे ही। हाय ! मेरे भीतर जाने से रानी एवं प्रियतम के विहार के एकान्त क्षणों में निश्चय ही बाधा आवेगी। यदि वे एकान्त में नहीं होते तो यह द्वार रक्षिका मुझे अपने साथ ही ले जाती। हाय ! मैं उनके असीम एकान्त सुख के क्षणों में अवरोधक बन गयी ? हाय ! मैने यह विचार ही नहीं किया कि रानी से मिलनजन्य सुख को प्राप्त करती हुई मैं प्रियतम के सुख की घातक हो रही हूँ। अब तो मुझे तुरन्त ही लौट जाना चाहिये।

इन विचारों के आते ही रसमयी के पैर परावर्तित हुए अपने निकुंज की ओर लौट चले। रसमयी दैन्य में इतनी अभिभूत थी कि तीव्रगति से अपने कुंज में ही पहुँचकर उसने विश्राम की साँस ली।

भगवती श्रीराधा का वह दिव्य विहार सरोवर और ललिता कुञ्ज के दर्शन कर रसमयी अत्यधिक आनन्दित थी।

वन का सौन्दर्य, निकुञ्ज की शोभा, सरोवर की अगाध सरसता, उस द्वार रक्षिका का स्नेहभरा उन्मुक्त रसालाप, उस स्थान की एक-एक वस्तु ने रसमयी का मन पूर्णतया वशीकृत कर लिया था।

अहा ! कैसा निर्मल देश है, जहाँ स्वसुख वाञ्छा की कलुषित छाया किसी तृण में भी नहीं है। काम की सामर्थ्य ही कहाँ जो वहाँ के एक कीट को, भृंगी को भी संस्पर्श कर सके।

अहा ! और वह द्वार रक्षिका सहचरी -- निश्चय ही मनोज दूर खड़ा अश्रु-मोचन करता उसके चरणों की धूलि के कण की याचना करता होगा ? अरे ! अरे !! उस निर्मल सरोवर के चतुर्दिक् कितनी शुक-सारिकाएँ थीं। असंख्य कपोत-कपोती थे। मयूर, चातक और वराट-वराटी थे। कितने रंग-बिरंगे शोभा भरे पक्षी वहाँ विलसित थे।

शुभ शकुन बताते खंजन को, पहले उसने देखा प्रियतम !<br>
इतने में उड़ आया कपोत अभिनन्दन करने हे प्रियतम !<br>
वह कण्ठ फुलाकर लगा नृत्य अपना दिखलाने हे प्रियतम !<br>
पीहू करके आया मयूर उसने तानी छतरी प्रियतम !<br>
सुन्दर अत्यन्त एक शुक था प्रणिपात किया उसने प्रियतम !<br>
आया वह नीलकण्ठ, अपनी ग्रीवा नीची करके प्रियतम !<br>
आयी बट तीतर की टोली रचना कर मण्डल की प्रियतम !<br>
ये रंग-बिरंगे कितने ही क्रमशः विहंग आये प्रियतम !<br>
नानापन अहा ! प्रकृति में जो है नित्य सृष्ट होता प्रियतम।<br>
मानो यह सभी विहग बन कर करता था सुस्वागत प्रियतम !<br>
जो प्यार लिये ये आये हैं, वह इनकी ही निधि है प्रियतम !

ये सभी विहंग कितने सुखी हैं। रसविलास की देव दुर्लभ सभी सामग्रियाँ उनको करतलगत सुलभ हैं, परन्तु उनमें इनकी दृष्टि ही नहीं जाती। कैसे

योग सिद्ध हैं ये सभी, कि एक निमेष मात्र भी विस्मृत नहीं कर पाते अपने जीवन सर्वस्व प्रियतम और प्राणसखी रानी के सुख संवर्धन के उद्देश्य को। तृण पर स्थित लघुत्तम कीट भी वहाँ 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' पंक से अलिप्त कमल पत्र की तरह स्वसुख से सर्वथा अछूता है और प्रियतम सुख सूर्य की शोभा पर दृष्टि जमाये पूर्ण विकसित है।

अहा ! मैं तो उस द्वार रक्षिका के कुछ क्षणों के व्यवहार से ही उसकी क्रीतदासी हो गयी हूँ। फिर रानी की परम निगूढ़ प्रेमपात्री अन्य परिचारिकाएँ, मंजरियाँ, सखियाँ, नर्म सखियाँ तो न जाने कितने प्रीतिरस से भरी कैसी छलकती होंगी ?

अहा ! रानी का प्रियतम के प्रति कैसा अपार गरिमामय प्रेम है कि उसकी किंकरियाँ, दासियाँ, द्वार-रक्षिकायें, उसके गृह के पक्षी, शुक, सारिकाएँ, कपोत, वन के मयूर, चातक, उसके सरोवर के वराट, वराटी, इतना ही नहीं उस निकुंज की परिधि का आकाश, भूमि, तृण, गुल्म, वल्लरियाँ, तरुश्रेणियाँ, कीट, भृंग, वायु एवं जल एवं सूर्य-चन्द्र नक्षत्रावलि तक सब सृष्टि एक ही स्फुरणा से जीवंत है -- "प्रियतम का सुख ही हमारा सुख है, प्राण जीवन की रुचि चरितार्थ हो, उनकी चाह पूर्ण हो, यही हमारे अस्तित्व की सार्थकता है।

वैसे ही तुम 'निकुञ्ज है वह' ये शब्द भले सुन लो प्रियतम !<br>
पर देश नाम से कथित नहीं कोई है वस्तु वहाँ, प्रियतम !<br>
है कहाँ अहो ! फिर इसका है उत्तर इतना बनता प्रियतम !<br>
वह अपनी ही महिमा में है परिनिष्ठित नित्य बना प्रियतम !!

रसमयी का मन विचार कर रहा था :-- 'अहा ! प्रियतम नीलम ने मुझे जितना प्यार दिया है, वह अवश्य ही तभी वे दे पाये हैं जब मेरे स्वरूप में उन्हें रानी ही दिखाई पड़ी होंगी। वे तो यथार्थ में रानी के ही एकान्त प्राणवल्लभ हैं। वह रानी और प्रियतम के केलिसुख को अपने भावों में निरखती सम्पूर्ण निशा जागती रही - वह सोच रही थी --

कैसी थी प्रीति परस्पर की लहरें लेती रहती प्रियतम !<br>
दोनों ही एक दूसरे को रहते निहारते ही प्रियतम !!<br>
फिर भी अतृप्ति रहती मानो दर्शन का सुख न मिला प्रियतम !

दोनों के प्राण एक होकर ऐसी गति धर लेते प्रियतम !
होने लगती प्रतीति उनको, मानो मैं हूँ न अहो प्रियतम !
स्वीकार काल का वे करते, कहने के लिये तभी, प्रियतम !
वह था उनका स्वरूप ही, फिर आरंभ खेल होता, प्रियतम !
उनकी पलकें खुलती, सुस्मित अधरों पर भर आता प्रियतम !
सुस्थिर वे नयन पुतरियाँ भी चञ्चल कुछ हो जातीं प्रियतम !
गलबाहीं दिये हुए ही वे धीरे-धीरे उठते प्रियतम !
चलते धीरे, सुख से धरणी जड़िमा धारण करती प्रियतम !
आगे प्रवाह बढ़ता क्रमशः उन दोनों के रस का प्रियतम !
वे अहो ! कहीं से कहीं जुड़े उसमें बहते रहते प्रियतम !
पीछे आने का प्रश्न नहीं उस धारा में बनता प्रियतम !
वे सृजन और संहार जनित परिणाम न उसमें हैं प्रियतम !!

इन्हीं विचारों में खोयी-खोयी, डूबती-उतराती रसमयी की सम्पूर्ण निशा व्यतीत हो गयी। ब्राह्म मुहूर्त्त होते-होते ही उसकी आँख लगी होगी, परन्तु स्वप्न में भी उसको रानी का अपने प्रियतम से प्रेमालाप ही सुनाई पड़ रहा था।

आखिर बोली प्यारी –– 'प्यारे तुम अहो विजेता हो प्रियतम !
बोला प्यारा 'सच है प्यारी ! श्रीकर में ही जय है प्रियतम !
दोनों ही दुहराते जाते अपनी ही उक्ति भला, प्रियतम !
मुखरित निकुञ्ज वन का कण-कण होता उस मधुरव से प्रियतम !

रसमयी को ध्यान ही नहीं रहा, कब उसके प्रियतम उसके निकुञ्ज में आ गये।

प्रियतम के द्वारा पूर्व दिवस उसका श्रृंगार करते समय जिसमें घिसी हुई कस्तूरी लेप रखा जाता था, वह पात्र पार्श्व में ही छूटा पड़ा रह गया था, वह पात्र प्रियतम की दृष्टि में आ जाता है, वे उस कटोरी में अपने दाहिने हाथ की अनामिका अँगुली डालकर सोती हुई उसके कपोलों पर एक गोल बिन्दी लगा देते हैं। बिन्दी लगाकर प्रियतम उसके मुख की शोभा निरखने लगते हैं

मात्र एक कस्तूरी बिन्दु से ही उसकी शोभा इस प्रकार खिल उठती है कि प्रियतम उसके आनन सरोज पर मुग्ध हुए स्थिर दृष्टि हो जाते हैं।

इतने में ही उसका निद्रा भाव टूट जाता है वह प्रियतम का अपने निकुंज में आगमन देख शीघ्रता से उठती है। वह अपने बिखरे केशों को शीघ्रता पूर्वक समेटती है। सिर पर अंचल डाल लेती है। प्रियतम उसके बगल में ही बैठ जाते हैं। अभी तक भी वे उसकी मुख शोभा में ऐसे डूबे हैं कि उनका एक टक उसकी ओर देखना स्थगित ही नहीं होता। कुछ क्षण उसके मुख को अपलक देखते रहकर अतिशय प्यार से प्रियतम रसमयी के मस्तक पर अपना हाथ रख देते हैं। फिर अतिशय प्यार से रसमयी के मुख के पास झुककर धीरे से कहते हैं --"रात को बहुत देर तक जागती रही थी, ठीक ठीक बतलाना।"

रसमयी कुछ नहीं बोल पाती। नेत्र मूँदकर अपने प्राणाधार के वक्षस्थल में ढुलक जाती है।

प्रियतम रसमयी के बांये कंधे को अपने दाहिने हाथ से स्पर्श कर अपने प्यार को दुगुना करते पुनः पूछते हैं - "क्यों, नहीं बतायेगी ?"

रसमयी कुछ गंभीरता की मुद्रा में किन्तु मन्द मुसकाती हुई कहती है -- "विचारों में निद्रा आयी ही नहीं तो क्या करूँ ? रसमयी की बात सुनकर प्रियतम के नेत्र स्नेह से छलक आते हैं।" सूर्योदय हो गया है, यमुना स्नान करने नहीं जाओगी ?" वे पुनः प्रश्न करते हैं।

यह सुनते ही रसमयी शीघ्रता से वस्त्र समेटती हुई खड़ी हो जाती है। शीघ्र से चलकर मुख प्रक्षालन करने एक सुन्दर सजी हुई स्वर्णनिर्मित मणि जटित पीठिका पर बैठ जाती है। पास ही रखे जल-पात्र से जल लेकर वह मुख धोती है, दाँत माँजकर(कुल्ला) गण्डूष करती है। रसमयी के मुख से निस्सृत सुवास इतनी दिव्य एवं मनोहर है कि उसका सौरभ सर्वत्र प्रसरित हो उठता है। प्रियतम उस सुवास के आघ्राण में ही ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि उन्हें कुछ क्षणों तक बाह्य ज्ञान ही नहीं रहता। तत्पश्चात सकुचाये हुए प्रश्न करने की मुद्रा में पूछ बैठते हैं -- हाँ, हाँ ! मैं विस्मृत ही कर गया, कल तू रानी को वह पुष्पमाला और ताम्बूल खण्ड देने गयी थी न ? उसका तुझसे मिलन हुआ ही होगा ? मैं तो तुझसे उसका मिलन वृतान्त सुनने ही निरे प्रभात तेरे निकुञ्ज में चला आया था। मैं तो अपने मन में निराश था कि तू मूझे इस कुञ्ज में मिलेगी ही नहीं। अवश्य ही निशापर्यन्त तुझे प्रिया ने सख्य

स्वागत में ललिता कुञ्ज में ही रोक लिया होगा। तू अभी तक वहीं होगी ? वहाँ से स्नान श्रृंगार करके ही प्रिया तुझे भेजेंगी।

मैंने तो इधर तेरे कुञ्ज में ऐसे ही आनुमानिक झाँक भर लगायी थी। तुझे सूर्योदय तक सुषुप्त देख कर तेरे समाचार जानने की जिज्ञासा और प्रबल हो उठी थी।

प्रियतम की वार्ता सुनकर रसमयी अतिशय संकुचित हो उठी। उसका शरीर काँप उठा। वह किस मुख से प्रियतम को सूचित करे कि उसने मात्र माला और ताम्बूल ही द्वार-रक्षिका के हाथ भेज दिया था, संकोचवश स्वयं तो बिना मिले ही लौट आयी। प्रियतम कुंज के भीतर प्रिया के पास ही अवस्थित होंगे -- यह उसका अनुमान मिथ्या ही निकला। वे तो वहाँ थे ही नहीं।

हाय ! रानी अब क्या समझेंगी ? अवश्य ही मुझे मिथ्या अभिमाननी मानेंगी ? मैं द्वाररक्षिका के भीतर सूचना पहुँचाने तक भी द्वार पर धैर्य रख प्रतीक्षा नहीं कर सकी ? मुझे अतिशय धिक्कार है ? अब तो जो भूल हो गयी सो हो ही गयी । अब प्राणवल्लभ से कपट क्या करूँ ? उन्हें तो सब खोलकर बता देना ही चाहिये।

रसमयी का हृदय अतिशय तीव्रता से धक्-धक् कर रहा था। उसका कण्ठ रुद्ध हो गया था। वह अपने प्रियतम के हृदयदेश से सट गयी। उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाह बह उठा ।

"नीलम रे ! मैं महा मूर्खा, व्रजमूर्खा हूँ। सीमा रहित मूढ़ ही मुझे कहना उचित होगा । व्यवहार तो तनिक भी नही आता मुझे। मात्र अपने पागलपन के विचारों में ही दिनरात बहती रहती हूँ।"

"इस प्रकार की सब प्रकार से हीना को एक तुम ही ऐसे हो जो इतना स्नेह देते हो ? मैं रानी के सरोवर और निकुञ्ज गयी थी। वह तो साक्षात् प्रीति का प्रासाद ही है। प्रीति मूर्तिमती हुई वह वन बन गयी है। रानी का वात्सल्य वहाँ सर्वत्र जीवन्त प्रस्फुटित है। वल्लभ ! मेरे पास शब्द नहीं हैं जो वर्णन कर सकूँ, उस वन में मैंने कितनी असीम आत्मीयता, प्रीति, सौन्दर्य एवं शोभा का दर्शन किया।" "रानी की वह परिचारिका, एक मात्र किंकरी द्वार-रक्षिका - अहा ! कैसे उसके निराविल, सरल, प्यार से सने व्यवहार को, उसके रसीले माधुर्य को, उसके नयनों की पैनी परख को मैं शब्द दूँ। बस इतना ही कह पा रही हूँ - प्रीति ही अपनी समग्र गरिमा के साथ वहाँ उस प्रदेश में मूर्त है। नित्य नवीन-नवीन सुन्दर है वहाँ का उपवन। ऋतुराज

वसन्त अपने दल-बल के साथ वहाँ बारहों मास सेवारत है। शीतल सुरभित मलय पवन नित्य नवीन भाव गरिमा लिये एक रस वहाँ प्रवाहित होता है। वहाँ कोई प्राकृत लतिकाएँ नहीं हैं, सब कल्पलताएँ हैं, तरूश्रेणियाँ नन्दन कानन के पारिजात श्रेणी के गर्व को चूर-चूर कर दे रही है। महाभाव रूपा संधिनी ही उन वन के रूप में परिणत हैं।"

"प्राणाधार ! मैने सोचा तुम रानी के साथ अवश्यमेव वहीं होओगे। अतएव तुम्हारे संयोग-सुख में मेरा अनवसर पदार्पण कहीं बाधा न दे, इस संकोच में मैं वे उपहार उस द्वार रक्षिका को सँभलाकर रानी से अमिली ही परावर्तित हो गयी। निश्चय ही वह द्वाररक्षिका तुरन्त रानी की सम्मति लेकर लौटी होगी, मुझे द्वार से विलुप्त पाकर वह चिन्तित भी हुई होगी। रानी को भी मेरा इस प्रकार बिना सूचना दिये लौटना अव्यवहारिक ही प्रतीत हुआ होगा। परन्तु नाथ ! मेरे द्वारा ऐसा हृदय हीन व्यवहार मात्र इसीलिये हो गया क्योंकि मैं मूढ़ा यही समझ रही थी कि तुम निकुंज में रानी के संग हो।"

यह कहती-कहती रसमयी फफक कर रो उठी। प्रियतम उसकी निष्कपट निर्मल उक्ति पर रीझ गये। वे उसे अति स्नेह से अपने कंधे पर चिपकाये स्नानार्थ यमुना किनारे ले आये।

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण चन्द्र की स्मिति कितनी सम्मोहक है, कितनी मादक माधुरी इसमें भरी है, इसका अनुभव वही प्राणी कर सकता है, जिसे वे अनुभव करावें। प्रियतम ने अपनी मादक स्मिति का प्रयोग किया रसमयी का दुःख भुलाने में। रसमयी के मन-प्राण सर्वथा विमोहित हो उठे। एक क्षण में ही अभिनव एवं अलौकिक नेह धारा जन्य सुख में वह डूब गयी। वह प्रियतम के कंधों पर सिर टिकाये-टिकाये उनसे सटी-सटी यमुना के किनारे स्नान करने चली आती है।

रसमयी की कुटी से यमुना तक पथ के दोनों ओर कदली वृक्ष उग रहे थे। सुगन्धित पुष्पों की क्यारियाँ भी समग्र पथ को सज्जित किये थीं। पुष्पों की पंखुड़ियों को वायु उड़ा-उड़ाकर पथ में आस्तरण कर दे रहा था। कदली वृक्षों के पीछे अनार के वृक्षों की कतारें थीं और तब विल्ब वृक्ष फलों से लदे थें। कहीं विल्बों के स्थान पर नारिकेल शोभा पा रहे थे।

प्रियतम रह-रहकर रसमयी की ओर झुक जाते हैं और अत्यंत प्यार से रसमयी के कंधों से स्पर्श कर उसके मुखरावेिन्द की ओर देखते हैं। निशा जागरण के फलस्वरूप रसमयी अतिशय अलसायी है, फिर प्रियतम का सुकोमल

प्यार भरा स्पर्शालिंगन प्राप्त कर सुख से मुँदी उसकी आँखें शयित होने लगती हैं।

वह बीच-बीच में आलस्यवश उबासी भी लेती है। उबासी लेते समय उसके मुख से ऐसी निर्मल सुवास प्रसरित होती है कि पद्मगंध वहन करती वायु भी उस गंध को पाकर निहाल हो जाती है। रसमयी के मुख से निस्सरित इस सुवास का ऐसा तीव्र वेग प्रवाहित होता है कि वन-उपवन के विकसित पुष्पों में से मधु संवरित करते भ्रमर पुष्पों का मकरंद त्याग कर दम्पति की ओर उड़ चलते हैं। इस असीम भ्रमर दल को अपने चतुर्दिक् फेरी देते देख रसमयी संकुचित हुई अपने प्रियतम के अंगों से सट जाती है।

अब वही निकुंज आ जाता है, जहाँ पद्म पर्यंक में रसमयी का श्रृंगार प्रियतम ने किया था। यमुना के किनारे अतिशीतल मन्द समीर बह रही है। निकुंज के मुख्य द्वार से कुछ ही दूर पर यमुना का निर्मल प्रवाह है। मुख्य द्वार के आगे कैसा विशाल वट वृक्ष है। इस वट के नीचे खड़े हुए दोनों यमुना महारानी की सुखद शोभा देखते हैं।

सहसा प्रियतम अति मधुस्यन्दी वाणी में बोल उठे --"देख ! आज फिर तू कोई नयी बुद्धि मत उपजा लेना। तेरे कल लौट आने से प्रिया को बहुत ही गहन चिन्ता हुई होगी। मेरा अर्ध चर्वित ताम्बूल और मेरी अंग संस्पर्शित वन माला को भेंट में देने वाली अनुरागिणी से मिलने वे कितनी उत्कंठातुर हो गयीं होंगी, मैं तो मात्र कल्पना से ही सिहर उठता हूँ। तेरा विचार करते करते वे भी तेरी ही तरह निशापर्यन्त जागी ही होंगीं। मुझसे भी बहुत ही भूल हो गयी। तुझसे पृथक् होकर मैं चला तो था प्रिया की ओर ही परन्तु मेरे चरण भटक गये। मैं पहुँच गया चन्द्रावली कुञ्ज की ओर।

वहाँ से ज्यों ही राह मुड़ने का विचार किया ही था कि मुझे शैव्या ने देख लिया। अब तो उसके आग्रहवश मुझे चन्द्रावली सखी के पास ठहरना ही पड़ा। मैं सोचने लगा -- अब तू निर्बाध प्रिया से मिल पावेगी। और प्रिया भी तुझे पाकर मेरे न आने की व्यथा भूल जायेंगीं। तेरे सख्य सत्कार में वे रात भी पलकों में काट देंगीं -- ऐसा विचार करता हुआ मैं निशा में भी वहाँ नहीं गया।

हाय ! हाय !! अब तो बहुत ही व्यथा हुई होगी उसे। मेरी किसी भी अनुरागिणी से मिलने की उन्हें इतनी आतुरता हेती है, मानों मैं स्वयं ही

उससे मिलने आया हूँ। न जाने कल दुपहरी और विगत सम्पूर्ण निशा उन्होंने कैसे काटी होगी, मैं तो सोच भी नहीं पा रहा।

अब तू शीघ्र स्नान कर ले। मुझे तो अपनी गौएँ सम्हालनी हैं। मैं उन्हें सखाओं को सम्हलाकर किसी प्रकार तेरे सन्निकट आ पाया था। सुबल एवं तोक तो मेरे साथ ही आ रहे थे। वे मुझे अकेला आने ही नहीं दे रहे थे। लम्बे समय तक उनसे दूर रहने पर वे मैया को सूचित कर देंगे।

आज अभी प्रिया के पास मेरा जाना संभव नहीं है। तू शीघ्र स्नान करले तो मैं तेरा श्रृंगार कर दूँ। यदि तू मुझसे बिना श्रृंगार कराये चली गयी तो प्रिया को मेरे न आने का कष्ट सताता रहेगा। मेरे द्वारा श्रृंगारित तुझे पाकर रानी को तेरे स्वरूप में मैं ही मैं दिखाई पड़ूँगा। अतः वे मेरे न आने की व्यथा को तुझे पाकर बिसार देंगीं।

रसमयी चट-पट स्नान-घाट की ओर चल पड़ती है।

अहा, यमुना की नीली जलधारा में स्नान करती रसमयी की कैसी विलक्षण शोभा है। प्रियतम घाट की दीवारों से छुपे इस शोभा को नयन भर निहार रहे हैं। यमुना की तरंगे रसमयी के सिर पर से होकर पृष्ठ देश और स्कंध देश में गिर रही हैं। उसकी काली घनी कुन्तल राशि जल के वेग से स्वर्ण वर्णी पीठ पर इस प्रकार लहराती है मानों कोई वृहद् कृष्ण नाग बहता हुआ स्वर्ण शिला को पाकर उस पर आरूढ़ होने को प्रयासरत हो। परन्तु जल का वेग उसके प्रयास में बाधा दे रहा हो।

रसमयी के अंगों में लगी, केसर एवं कस्तूरी का गहरा लेप यमुना जल को पंकिल कर दे रहा है। उसके अंगों के मर्दन से अंग गंध इतनी गहन रूप से वायुमंडल को सुवासित कर दे रही है कि चारों दिशाओं से भ्रमर दल व्याकुल हुआ स्नान करती रसमयी की परिक्रमा करने लगता है।

जैसे ही रसमयी स्नान करती है, एक सुन्दर स्वर्णथाली में सब वस्त्राभूषण अपने आप घाट पर प्रकट हो जाते हैं। रसमयी अपने अंगों को एक शुभ्र स्वच्छ वस्त्र में लपेट कर यमुना से बाहर आती है और अपने गीले वस्त्रों को यमुना में ही पृथक् कर देती है। उसके पहने हुए गीले वस्त्र इस प्रकार यमुना जल में विलीन हो जाते हैं, मानो कोई रजकिनी उन्हें स्वच्छ करने ले गयी हो।

भाव विभोर रसमयी यमुना से बाहर आती है। स्नान करते समय उसे यही अनुभव होता रहा है कि उसके प्रियतम का स्नेह ही धारा रूप में यमुना

बना प्रवाहित हो रहा है। तभी न यमुना वे जीवन्त प्रकट हुईं उसे वस्त्रालंकार देती हैं, और प्रतिदिन उसके तन मन को रस स्वच्छ करके प्रियतम श्यामसुन्दर की भोग्या बनने की योग्यता प्रदान करती हैं।

यमुना किनारे के निकुञ्ज में रसमयी एक स्वर्ण-आसन पर जिस पर अति सुकोमल मखमल का आस्तरण है, बैठ जाती है। उसके तपाये पुरट के से वर्ण-सदृश अंगों में चम्पई रंग का लहँगा धारण किया हुआ है। इस लहँगे में कृत्रिम पीत एवं नील पुष्प विजड़ित हैं। पुष्पों के मध्य में इतनी सुन्दर मणियाँ जड़ी हैं कि लहँगा उन भिन्न-भिन्न वर्ण की मणियों से झलमल कर रहा है। उन्होंने राग बहुला सच्चिन्मय अरुणिम बंधों वाली कंचुकी वक्षस्थल पर धारण की है। ये सभी वस्त्र तो रसमयी घाट से ही स्वयं पहनकर आयी थी। प्रियतम ने अपने हाथों से उसकी ग्रीवा में झुला दिये हैं विविध रत्नों के हार, मणिमुक्ताओं की मालायें। और तब उन नील कर कमलों द्वारा सम्पूर्ण आभूषण रसमयी के सर्वांगों में विधृत हुए। रसमयी तो अपने प्रियतम की प्रेम एवं कला दोनों के संयोग से भरी श्रृंगार सम्पादन लीला को द्रष्टावत् तटस्थ देख रही थी। रसमयी देख रही है कि मेरे प्यारे नीलमणि के संस्पर्श से आभरणों की शोभा अपरिमित बढ जा रही है। साथ ही प्रियतम अनुभव कर रहे हैं कि मेरी प्यारी के अंग इतने सुन्दर हैं कि आभूषण तो उसके सौन्दर्य से आभूषित हो उठते हैं। वे भला उसके अंगों को क्या सजायेंगे।

देखो ! नीलसुन्दर अपने करपल्लवों से सौरभशाली सुन्दर पुष्प चयन कर रहे हैं। इन पुष्पों का कैसा सौभाग्य है कि ये प्रियतम के कर कमलों द्वारा गुम्फित होकर वनमाला का अति सुन्दर आकार ग्रहण कर रहे हैं। इस सुमन हारावली को जब प्रियतम रसमयी को पहनाने लगे तो उसने इसे हाथों में लेकर प्रियतम को ही पहना दी और उनकी वह पहनी माला रानी के लिये उपहार रूप में माँग ली। प्रियतम की ग्रीवा में झूलती वह माला अहा कैसी सौभाग्य वर्षा कर रही है।

और अब प्रियतम ने रसमयी के अति रसीले नेत्रों को अंजन अंजित करने का विचार किया। वे अपनी मध्यमा अंगुली से अंजन लेकर नयनों से जैसे ही छुलाने लगे, वे यह देखकर चकित हो गये कि वे नेत्र तो स्वयं ही उन्हें अपने भीतर पूरा समोये हैं। प्रियतम ने अपनी कज्जल सनी अँगुली नेत्रों से हटाकर रसमयी के कपोलों पर दिठौना के रूप में लगा दी। अपनी प्रिया के ललाट पर आकर्षक कुंकुम बिन्दु लगाकर प्रियतम सद्य:स्नात प्रिया की

केश राशि को अगरुधूम से सुखाने लगे। उस विकीर्ण केशराशि को जैसे ही उन्होंने वेणी रूप में बाँधने का विचार किया, वैसे ही रसमयी ने पुनः उन्हें निषेध कर दिया कि वह वेणी-बंधन तभी करेगी जब अपनी प्राण सखी रानी के दर्शन कर लेगी ? अहा, प्रियतम ने रसमयी की श्रवणेन्द्रियों में अति सुन्दर रत्नजटित तरौना पहनाये। अन्त में ज्योंही वे पनवट्टे में से पान का बीड़ा निकाल कर अपने हाथों प्रिया के अधरों से छुलाने लगे तो पुनः रसमयी ने उस ताम्बूल को प्रियतम के हाथों से अपने हाथों में ले लिया और अपने हाथों प्रियतम को उसे अर्धचर्वित कराके शेष अपने अंचल में रानी को भेंट करने की इच्छा से बाँध लिया। श्रृंगार समाप्त कर प्रियतम रसमयी को आरसी दिखाने लगे।

अहा ! अब तो आत्यन्तिक उल्लास में भरे प्रियतम कभी आरसी में अंकित रसमयी की छवि हृदय से सटाते हैं कभी अपने स्वयं को ही। उस शोभा पर न्यौछावर करने लग रहे हैं।

अन्त में श्रृंगार सम्पूर्ण कर अति उल्लास से भरे अधरों में मन्द-मन्द मधुर मुसकान लिये दोनों ही गलबाँही देकर पुनः रानी के विहार कुंज की ओर चलने लगते हैं। आज प्रियतम ने रसमयी को संकेत कर दिया कि रानी ललिता कुंज में नहीं मिलकर विशाखा कुंज में जो उसके पार्श्व में ही स्थित है, वहाँ मिलेंगी।

अहा, दोनों परस्पर कैसे एक दूसरे से लिपटे वन में प्रवेश कर रहे हैं। कौन कह सकता है कि इनमें दो भिन्न स्वतंत्र सत्ताएँ कियाशील हो रही हैं। जो इस समय इनका इस प्रकार प्रेम से युगपत् जुड़ा गुंथा रूप और वन गमन देखेगा वह तो यही कहेगा, ये दो देह अवश्य हैं, परन्तु दोनों का संचालन मात्र एक अहंकार और एक ही सत्ता कर रही है। अब वह सत्ता नील द्युति है अथवा पीतद्युति यह सत्य अपनी भाव राशि से ही आकलन किया जा सकता है। किसी को वह सत्ता नील द्युति प्रतीत हो सकती है, किसी को पीतद्युति और किसी को नीलपीत दोनों द्युति भी दिख सकती हैं। परन्तु दोनों का गमन लक्ष्य एक ही पथ है।

अहा, कैसी सुमधुर दोनों की परस्पर रसवार्ता हो रही है मानों दो वराट-वराटी एक दूसरे में समाहित प्रणय काकली कर रहे हों।

लो, वही कालिन्दी का सम्मोहन घाट आ गया। वहाँ से नील सुन्दर अपनी प्रिया से भरे हृदय से विदा लेकर गोचारण क्षेत्र की ओर बढ़ जाते हैं

और रसमयी त्वरा से चल पड़ती है गिरि की तलहटी में उन सरोवरों की ओर।

आज उसे अपनी प्राणसखी रानी से मिलने की इतनी त्वरा है कि वह प्रियतम नीलमणि के विछोह दुख को ही भूल गयी है।

अहा ! पलक झपकते रसमयी के चरण उस देश को संस्पर्शित करने लगते हैं, जहाँ सुमनों का सौरभ चतुर्दिक् प्रसरित हो रहा है। मधु लुब्ध भ्रमर उड़ उड़कर विविध सुमनों पर बैठ रहे हैं।, परन्तु नीरस निर्गन्ध वन्य जाति के प्राकृत रूप से खिले सुमनों से भला कृष्ण भ्रमर की तृष्णा कैसे बुझ पावे अतः विरक्ति में भ्रमित से दौड़ रहे हैं, कुञ्जों की फेरी लगा रहे हैं, कहीं किसी छिद्र से इन्हें प्रवेश मिल जाय तो ये टूट पडें उस पद्मिनी पर जो इन चंचरीकों की मात्र विश्राम स्थली है।

विविध विहंगम श्रेणी तरुजाल में निलीन रहकर नित्य निकुंजेश्वरी और निकुंजेश्वर का दर्शन पाने अति समुत्सुक है। इनमें से अनेक पक्षी तो तृण संकुल धरा पर सुस्पष्ट व्यक्त होकर अपनी सेवा समर्पित करने की त्वरा में नाच-नाचकर हर्षित हो रहे हैं और शुक, शुकी एवं सारिकायें अपने अन्य सजातीय विहंगम वर्ग के साथ आनन्द विभोर व्रजजन जीवन-सर्वस्व दम्पति की रसमयी केलि का चित्रण कर रहे हैं अपनी-अपनी भाषा में।

कोकिल का स्वच्छन्द कुहू-कुहू रव वनस्थल को मुखरित कर रहा है। किन्तु उसको कहीं कोई मात्र विहंगम की काकली ही नहीं मानले। ये मयूर जो पंख फैलाकर नृत्य कर रहे हैं, ये पुंस कोकिल और कोकिला पक्षी- सभी सुशिक्षित हैं तुलसी कानन की अधिष्ठातृ देवी से और अभिनव रागिणी के मिस से रानी की परिचारिकाओं को यथावश्यक संकेतदान कर रहे हैं।

रसमयी ने देखा कि ललिता कुंज से सटा उत्तर पूर्व के कोने में एक विलक्षण कुञ्ज है जिसमें सर्वत्र अशोक, सहिजन, अगस्त्य एवं कचनार के वृक्ष पूर्णतया कुसुमित हुए खड़े हैं। इनके कुसुमों के गुच्छों से समस्त कुंज-स्थल की शोभा ऐसी लग रही है मानो इन पुष्प गुच्छों से श्रीदेवी के उरोज विभूषित हो रहे हों। और पारिजात वृक्ष जो इस कुंज के मध्य में स्थित है, इस कुंज की भूमि के वक्षस्थल पर विचित्रता पूर्वक ऐसे रसमय मनोहर चित्र अंकित कर रहा है कि उन्हें देख-देख कर रात्रि में चन्द्रमा भी मुग्ध हो जाता है। इस कुंज की यह विलक्षणता स्पष्ट परिलक्षित हो रही है कि यहाँ के सभी वृक्ष निसर्गतः लता वल्लरियों का दासत्व आचरित करते प्रतीत होते हैं। इसे

कदली के विलक्षण सुन्दर वन ने चतुर्दिक घेर रखा है। यत्र-तत्र आम्र-वृक्षों की निकुंजावलि है और बीजपूर वृक्षों की कुंज पंक्तियाँ हैं। आम्रवृक्षों के निकुंजों के साथ-साथ दाड़िम वृक्ष के भी निकुंज हैं। प्रिया प्रियतम कन्दुक क्रीड़ा करें ऐसी विस्तृत क्रीड़ास्थली भी यहाँ शोभा दे रही है; एवं मणिमय विलक्षण सुन्दर महल हैं।

रसमयी को आश्चर्य हुआ कि कुञ्ज भवन का प्रवेश द्वार स्वतः ही उसके समीप आते ही खुल रहा है। रसमयी सोच रही थी कि क्या उसके आगमन की पूर्व सूचना महल के भीतर पक्षियों ने पहुँचा दी है ? वह यह विचार कर ही रही थी कि उसे मणिमय महल से बाहर निकलती वहीं नव कैशोर से विभूषित द्वार-रक्षिका दृष्टिगोचर हो जाती है।

उसे दूर से देखते ही रसमयी का हृदय अनुराग समुद्र की लहरियों में संतरण करने लगता है। रसमयी को देखकर वह द्वार-रक्षिका भी स्नेह में निमग्न हो जाती है।

रस-समुद्र जब उछाल लेकर विभिन्न दिशाओं में अपनी शत सहस्र ऊर्मियों को प्रेषित करता है, तो उन ऊर्मियों में संवेदन सर्वांश में परिपूरित रहता है। इसलिये जिस माध्यम का वे संस्पर्श करती हैं, उसे वे आत्मसदृश साँचे में ही ढ़ाल देती हैं। भानु किशोरी रानी के अन्तस्तल में विगत आठ पहर से जो रसमयी के प्रति रसोच्छलन हुआ, उसकी ऊर्मियों ने सभी सखी-मंजरियों, एवं रानी की आन्तरिक नर्म परिचारिकाओं के हृदयों को भी अभिभूत कर लिया था। अतः सभी के हृदय उन प्रिया हृदय से प्रसरित ऊर्मियों के प्रभाव से रसमयी के प्रति अगाध आत्मीयता और स्नेह से भरे थे।

रसमयी तो अपने कल के आचरण से व्यथित थी ही परन्तु वह द्वार रक्षिका भी अपनी भावव्यथा से पूरी भरी थी।

ज्यों ही द्वार रक्षिका रसमयी के द्वारा प्रदत्त उपहारों को लेकर रानी के पास पहुँची, उस समय रानी प्राणवल्लभ का चित्र निर्माण करने में तल्लीन थीं। इस नीलोदधि का स्वभाव ही ऐसा है कि जो भी इस उदधि की मात्र एक क्षुद्र सी कणिका का भी संस्पर्श प्राप्त कर लेता है, उसका बाहर निकलना तो सर्वथा असंभव हो जाता है।

चित्र रचना के समय ही सही, किशोरी के नेत्र अपने प्राणधन से चार हो जाते हैं। उन नील देव की बंकिम चितवन को चित्र में उतारते-उतारते ही किशोरी रानी के मर्मस्थल में नीलमयंक देव के बंक विलोचन की पैनी

धार बैठ जाती है। बस उसी के सहारे रानी का मन उस पथ से चलता-चलता डूब जाता है उस नील सौन्दर्य सागर में जहाँ से आजतक कोई बचकर निकल ही नहीं पाया है।

वह द्वार रक्षिका रानी के सम्मुख बार-बार निवेदन करती है रसमयी के इन उपहारों सहित आगमन की वार्ता, परन्तु द्वार रक्षिका को कोई प्रत्युत्तर ही प्राप्त नहीं होता है भानुनन्दिनी की ओर से। आखिर एक ही बात को पुनः पुनः निवेदित करने में तथा प्रत्युत्तर की भी प्रतीक्षा करने में द्वार रक्षिका का काल तो व्यतीत होता ही।

इधर रानी की भाव दशा विलय-बिन्दु की ओर अग्रसर होने लगती है। रानी के प्राणों की यह दशा देखती हुई वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाती है। पहले स्वामिनी की दशा की सूचना ललिता को देने जाय, अथवा द्वार पर बाहर प्रतीक्षारत रसमयी को सम्हाले, वह निर्णय ही नहीं कर पा रही है। वह अपनी भूल पर भी पश्चाताप करने लगती है। उसे आगन्तुका को स्वामिनी के पास अपने साथ ही ले आना चाहिये था। अब तो इतने विलम्ब तक उसे आसन दान तक न दिये जाने की असभ्यता को वह अपना तिरस्कार मान ही लेगी। और ऐसा मानने में कोई अस्वाभाविकता भी नहीं।

यदि अपने निर्मल साधु स्वभाव वश वह तिरस्कार नहीं भी माने तो भी स्वामिनी के लिये इस प्रकार का अनमोल अनुरागात्मक उपहार लाने वाली के प्रति उसका आचरण तो औचित्य से परे हो ही गया। फिर स्वामिनी निराविल प्रेम का तिरस्कार कैसे सहन कर पावेंगी। भले ही वे उसे कुछ भी न कहें, परन्तु उनके अन्तर्मानस में उठी इस व्यथा का भार तो उस पर ही होगा। फिर द्वार पर खड़ी आगन्तुका भी अतिशय संकोच शीला है, अन्यथा उसे स्वयं ही उसके पीछे महल के भीतर आ जाना चाहिये था। मनुहार की तो इस प्रेमभूमि में परिपाटी ही नहीं है। परन्तु हाय ! मुझ जड़ बुद्धि ने भी तो उसकी घोर उपेक्षा कर ही दी। वह तो प्रथम ही यहाँ आयी है। उसने साधारण शिष्टाचार वश संकोच का व्यवहार उचित ही तो किया। वह यहाँ की निस्संकोचता को कैसे हृदयंगम करती।

और इस आगन्तुका के प्रति प्राणवल्लभ का अवश्य ही अतिशय स्नेह रहा होगा, तभी न उन्होंने इसके हाथ अपना चर्वित ताम्बूल खंड एवं अपनी वनमाला भेजी थी। इन उपहारों को भेजने में उनका कोई मंतव्य भी रहा ही

होगा ? हाय ! हाय !! मैं तो घोर अपराधिनी ही हो गयी। मेरा व्यवहार तो प्रेम तो दूर रहा शिष्टता की सीमा का भी उल्लंघन कर गया।

इन विचारों में डूबी वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। अन्ततः उसने यही निर्णय किया कि रानी की उपेक्षा करके भी पहले उसे द्वार पर खड़ी आगन्तुका को सम्हालना चाहिये। यह निर्णय करके वह मुड़ ही रही थी कि उसे सम्मुख रूप मंजरी आती दृष्टिगोचर हो जाती हैं। वह रूप मंजरी को जो कुछ घटित हुआ निवेदन कर देती है।

उस उपहार सामग्री को रूप मंजरी को सौंप कर वह तेजी से द्वार की ओर आती है। परन्तु बाहर आकर पाती है कि आगन्तुका तो वहाँ है ही नहीं। वह अनुमान करती है कि संभव है वह आगन्तुका यहीं आश्र्व-पाश्र्व में वन देखने चली गयी होगी। परन्तु पर्याप्त समय प्रतीक्षा करने पर भी जब वह नहीं मिलती तो टोही पक्षियों से उसका अन्वेषण कराती है। कोकिला उसे यही सूचित करती है कि वह तो अतिशय स्नेह भरी डगमगी चाल से यमुना के सम्मोहन घाट की ओर लौटे जा रही है। प्रीत्युद्दीपन की अधिकता से उसकी चाल में गति-भंग दृष्टिगोचर हो रहा है।

द्वार रक्षिका अब पुनः रानी को सम्हालने भीतर जाती है। भानु-नन्दिनी के बढ़ते व्यथा भार को देखते हुए रूप मंजरी ने ललिता को बुला लिया है। ललिता रानी आते ही प्रियतम के द्वारा चर्वित अर्ध ताम्बूल किशोरी रानी के मुख में दे देती हैं। प्रियतम के वक्षस्थल में चर्वित केसर कस्तूरी पंक से लिप्त उनके श्री अंगों की गन्ध से सुरभित वनमाला भी ललिता रानी के कण्ठ देश में झुला देती है। इधर सखियों के प्राणों की बढ़ती चिन्ता भाव धारा भी रानी के हृदय को संस्पर्शित करती है। इन सभी के एक साथ घटित हो जाने से भावसमुद्र की अतल गहराइयों में प्रवेश करती रानी रुक जाती हैं। चित्त विचलित होते ही भाव सन्धि का उन्मेष अनिवार्य हो जाता है।

किशोरी की प्रथम दृष्टि उस द्वार-रक्षिका के आनन पर ही पड़ती है। उसे अश्रुओं से भीगा पाकर रानी में उसके प्रति अतिशय प्रेम उमड़ उठता है।

इसके पश्चात रानी सभी की ओर दृष्टि उठाती हैं, सभी के चेहरों में व्यथा भरी पाकर वे पूर्णतया जाग्रत हो जाती हैं।

वे उन्मुख होती हैं, द्वार-रक्षिका सहचरी की ओर। क्योंकि वही सर्वाधिक प्राणों की व्यथा से भरी थी।

"मनोरमे ! अरी क्या हुआ था मेरे साथ, तुझे सब कुछ खोलकर सुना रही हूँ । देख ! इस चित्र में मैं नवीन परिधान वस्त्रों से सुसज्जित हुई नीली शैवालिनी के तट पर जल भरने ही तो जा रही हूँ। और देख ! यहाँ द्रुम जालों में निलीन मेरे प्रियतम नील सुन्दर कैसी बांकी त्रिभंगी में खड़े हैं। मैं चित्र रचना करती-करती एक टक इस छवि को देखने लगी। सहसा मुझे ऐसा लगा मानो यह चित्र जीवन्त है। बस, मैं तो सर्वथा सुध-बुध ही खो बैठी। भावों की ऐसी आँधी मेरे मानस में आयी कि मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व ही उसमें विलुप्त हो गया री। तुझे मेरे कारण इतना कष्ट हुआ - तू मुझे क्षमा कर देना री।

"अरी ! यह वन माला मुझे किसने पहनायी री ? इसमें तो प्रियतम की अंग गंध भरी है ? उनके वक्षस्थल में विलेपित केसर एवं कस्तूरी की सौरभ भी इस वनमाला में लिप्त है। और मेरे मुख में जो ताम्बूल है, यह कौन सखी मुझे खिला गयी है ? यह तो निश्चय ही प्राणसर्वस्व नीलसुन्दर के अधर रस से सिक्त है ? क्या प्रियतम यहाँ आये हैं री ? वे कहाँ हैं ? उन्हें किसने कहाँ छुपाया है ? मेरे प्राण तो उन्हें देखने आतुर हो रहे हैं री ?

रानी की इस उत्कट जिज्ञासा पर मनोरमा उस नव-आगन्तुका के आने और माला तथा चर्वित ताम्बूल भेंट स्वरूप देने की वार्ता तथा साथ ही तुरन्त ही परावर्तित होकर लौट जाने की सभी वार्ता वर्णन कर देती है। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेती है कि वह उसे साथ ही लेकर निकुंज में प्रविष्ट नहीं हुई, यह उससे भूल हो गयी।

मनोरमा द्वारा रानी के सम्मुख इस प्रकार हृदय खोल देने और रुद्ध कण्ठ से रानी की आकस्मिक दशा देखने से हुए विलम्ब के कारण नव आगन्तुका के लौट जाने का समाचार सुनकर रानी चिन्ता में पड़ जाती हैं ?

वे मनोरमा को सम्बोधित कर कहने लगती हैं -- मनोरमे ! उस आगन्तुका को निश्चय ही नीलघन ने ही मेरे पास भेजा था। देख ! प्रियतम के अधरों की मधु सुधा इस ताम्बूल में पूरी सिक्त है। और इस वनमाला में कैसे बताऊँ री, मेरे प्राणरमण के श्री अंगों से निःसृत अप्रतिम रस की धारा बह रही है। वह अवश्य ही प्राण सुन्दर की अत्यधिक प्रीति पात्रा है। उसने अपना सर्वस्व नील सुन्दर पर न्यौछावर कर दिया है। उसके अन्तर्जीवन में स्वसुख की गन्ध भी नहीं है, तभी न यह वनमाला प्रियतम के निराविल आनन सरोज को दिग्दर्शित कर रही है। इन उपहारों को लेकर कहीं छद्म

वेश में प्रियतम ही तो नहीं आये थे री ? क्योंकि इस उपहार सामग्री को ग्रहण करते ही प्रियतम मेरे सम्मुख जीवन्त खड़े हो गये हैं। मेरे प्राणनाथ के अतुल सौन्दर्य समुद्र में देख, मैं डूब रही हूँ। मेरा अंग-अंग सर्वथा अवश हो रहा है री।

यह कहते-कहते रानी पुनः बाह्यावेश रहित हो जाती हैं। आठ पहर से प्रिया की यही दशा है, वे बार-बार आगन्तुका गोपी को पुकारती हैं। कहती हैं -- बहिन ! बता ! तू कौन है ? तेरे अंग-अंग तो मेरे प्रियतम के समान श्याम वर्ण हैं। नहीं, नहीं तू गौरवर्णा ही होगी। अवश्य मेरी ही भूल होगी। मेरी निगोड़ी आँखों को रोग लग गया है री। उसे सभी वस्तुएँ श्याम ही श्याम दिखाई पड़ती हैं। बता तो बहिन, तू कहाँ से आयी है ?

अहा ! मेरे प्यारे श्याम सुन्दर की चितवनं से घायल होकर तू भी मेरे समान तड़प रही है ? अच्छा बहिन ! तू मेरे पास ही रह। मुझे छोडकर अब कभी मत जाना। हम दोनों एक दूसरी के सामने हृदय खोलकर रोयेंगी, रो-रोकर जी हल्का कर लेंगी। यह कहती-कहती प्रिया फिर मुग्धावस्थ को प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार प्रिया के गत आठ पहर बीते हैं।

इधर द्वार रक्षिका ज्योंही रसमयी को पुनः आते देखती है तो वह दौड़कर आनन्द में डूबती उसका हाथ पकड़ लेती है। शीघ्रता से तेज गति से आने के कारण रसमयी के मुख पर प्रस्वेद कण मोती की तरह झलमल-झलमल कर रहे हैं। उसकी वेणी तो निर्बन्ध है ही। इतने में ललिता को भी पक्षी सूचित कर देते हैं कि कल वाली आगन्तुका पुनः वैसी ही माला एवं ताम्बूल लेकर निकुञ्ज द्वार पर आ चुकी है । वे भी विशाखा सहित धीरे-धीरे चलती हुई रसमयी के पास आ जाती हैं।

ललिता कुछ कपट क्रोध करके रसमयी का हाथ पकड़कर कहती हैं -- "क्यों, क्या कल तूने ही हमारी प्राण-प्यारी रानी को ताम्बूल एवं वनमाला भेंट में दी थी ? क्या तू जादूगरनी है ? हमारी प्राण सखी की आठ पहर से तूने कैसी दयनीय दशा कर दी है ? चलकर देख ? आज फिर कोई नया जादू करने आयी है ? कल की तरह आज भाग मत जाना ? नहीं तो याद रखना मैं ललिता हूँ।" यह कहती हुई वे छलछलाये नेत्रों से रसमयी को कसकर हृदय से लगा लेती हैं। वे इतना कसकर आलिंगन करती हैं मानो उसे अपने हृदय से एक ही कर लेंगी।

और मनोरमा को तो मानो प्राण ही मिल गये ? उसने उसके हाथ कसकर पकड़ लिये हैं.? मानों आज तो जाने ही नहीं देगी ? उसके नेत्रों से इतने आँसू बह रहे हैं कि उनके प्रवाह में उसे रसमयी का मुख दिखना भी बन्द हो जाता है। विशाखा भी रसमयी को आलिंगन करती हैं फिर वे एवं ललिता रानी दोनों किसी अन्य कार्य की त्वरा में हँसती हुई उससे बिदा ले लेती हैं।

मनोरमा उसके खुले केशों पर हाथ फेरती हुई कहती हैं :-- अरी सखी ! कल तू क्यों चली गयी थी री ? मुझ मूर्खा, अभिमानिनी से क्या तू रूठ गयी थी ? अवश्य ही मेरी भूल थी। मुझे उसी समय तेरा हाथ थामकर तुझे निकुञ्ज के भीतर ले चलना चाहिये था। हाय ! मुझसे घोर अपराध हुआ ही परन्तु तू तो अपने आप भी तो मेरे साथ आ सकती थी ? हमारे यहाँ की तो यही नेहमयी परिपाटी ही है। कोई किसी से पूछता थोड़े ही है। यह तो सबका अपना निकुंज है। प्रिया की सब वस्तु सबकी अपनी ही हैं। फिर इसमें पूछना क्या ? परन्तु यह कहकर मैं अपनी भूल अस्वीकारती नहीं। क्या मेरे अति विलम्ब तक नहीं लौटने से तूने अपमान का अनुभव किया ?

रसमयी क्या उत्तर देती ? उसका तो पात्र ही इतना छोटा है कि वह उसमें इतना प्रेम भरने में ही असमर्थ हो रही है। उसका हृदय पात्र इतना छलक रहा है कि वह पूरी की पूरी नहा गयी है।

द्वार रक्षिका कहती जा रही हैं :-- "अरी बहिन ! जब मैं तेरा हार एवं ताम्बूल खंड लेकर प्रिया के पास जैसे ही पहुँची तो वे प्राणवल्लभ की चित्र रचना कर रही थी।

वे उसमें इतनी तल्लीन थीं कि अनेक बार सूचित करने पर भी उन्हें मेरी बात सुनाई ही नहीं पड़ रही थी। अतः मैं विचार में पड़ गयी। वे भी अकेली थी। ध्यान की प्रगाढ़ एकाग्रता में उन्हें न सँभाला जाय तो कुछ भी अनहोनी उनके साथ घटित हो सकती है। कहीं वे भूमि पर ही लुढ़क जावें। इधर तुझे भी सत्कार-पूर्वक भीतर लाना भी मेरा कर्तव्य था। इस ऊहापोह में समय जा रहा था। इधर मुझे ज्यों ही रूपमंजरी दृष्टिगोचर हुई, मैंने तेरे उपहार उन्हें सम्हलाये और भागी तेरे पास। क्या करूँ ? तब तक तो तू ऐसी विलीन हुई कि मुझ पर तो सेरों पानी पड़ गया। मैंने विचार किया, इधर वन-शोभा देखने चली गयी होगी। परन्तु टोही पक्षी कोकिला ने सूचित किया कि तू तो सम्मोहन घाट की तरफ जा रही है। अरी ! ऐसा मेरा क्या

अपराध था जो तू एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहरी। रानी को तो जबसे तेरी उपहार सामग्री वनमाला एवं ताम्बूल खंड से संस्पर्श कराया वे तो तब से ही तेरी ही माला फेर रहीं है। इधर लगभग २४ घंटों से वे प्राय: बाह्य चेतना शून्य रही हैं और जब भी उन्हें बहि:श्चेतना थोड़ी भी होती है तो तेरा ही संस्मरण कर रही हैं।

इतने में ही ललिता एवं विशाखा पुन: आ जाती हैं। वे रसमयी को बायें हाथ से पकड़े रानी के पास ले जाती हैं। विशाखा उसके बांयी तरफ साथ चलती हैं।

ललिता रसमयी को प्रिया की बगल में बैठा देती हैं और संकेत से कहती हैं कि इन्हें तू अपने हाथ से ताम्बूल खण्ड खिला दे। साथ ही यह वनमाला जो प्रियतम ने अपने हाथों गुम्फित की है, इन्हें पहना दे।

रसमयी चुपचाप पास बैठी रानी की विलक्षण भावदशा देखती है। शरच्चन्द्र को भी हेय बनाने वाले उसके सुन्दर मुख चन्द्र के जादू ने रसमयी को रोमाञ्चित कर दिया है। अहा कैसा चित्ताकर्षक अमृतवर्षी मुखमण्डल है प्रिया का। किसी कवि ने ठीक ही कहा है ---

"कर पर धर कपोल बैठी री नयन मूँद"
कमल बिछाय मानो सोयो सुख चन्दा !!

अपने चपल लोचन-युग्मों की बंकिम चितवन से रसमयी रानी को अपलक निहारती है और तब उस अप्रतिम अनिन्द्य सौन्दर्य की साकार प्रतिमा के मुख पर प्रियतम का अर्ध चर्वित ताम्बूल दे देती है। वनमाला पहनाते पहनाते तो रसमयी के नेत्रों से अनर्गल बारिधारा प्रसरित होने लगती है।

रसमयी का कज्जल मिश्रित यह अश्रु-प्रवाह उसके दीप्त अरुणिम कपोलों को आर्द्र कर दे रहा है। रसमयी चाहती है,उसे रुद्ध करना परन्तु किसी भी प्रकार वह रुद्ध नहीं हो रहा है। हाँ ! कण्ठ अवश्य रुद्ध हो गया है उसका। वाणी नि:सृत नहीं हो रही है। सर्वथा विह्वल हो गयी है वह।

रसमयी द्वारा रानी के मुख में ताम्बूल देते ही रानी अपने नेत्र विकसित कर देती हैं। उनके सम्मुख नवागन्तुका का अश्रुसिक्त आनन झलमला उठता है। रसमयी की हृदय की रसधारा गंभीर गंभीरतर होती चली जा रही है। सखियाँ रानी को सँभाले रहकर मुसकाती हुई यह प्रेम लीला देख रही हैं।

देख-देखकर सभी आनन्द में उत्तरोत्तर विभोर होती जा रही हैं। सखियाँ अपने प्यार भरे हाथ से श्री प्रिया की बिखरी लटों को ठीक करती हैं।

रसमयी देखती है --"अहा मूर्तिमान सुन्दरता ! अनुमानातीत सुघड़ता !! निरुपमेय लावण्य !!! अपरिमित कान्ति !!!! रानी के अति सुकुमार चरणों में रसमयी लुढ़क जाती है। ज्योंही रानी के सम्मुख नवागन्तुका का अश्रुसिक्त, चरणों में लुण्ठित होने को उद्यत चेहरा आता है, रानी भावावेश में ही उसे उठाकर अपने वक्षस्थल से चिपका लेती हैं।

"अच्छा बहिन तो तू मेरे पास आ ही गयी। अरी! कबसे मैं तेरी प्रतीक्षा में अपने नेत्र बिछाये थी। अरी बहिना ! किसी अनमोल वस्तु के स्वामित्व को प्रकट करना भयावह होता है री ! उसके छिन जाने की संभावना होने लगती है। इसलिये मैं नहीं चाहती इसे मुख में भी लाना। परन्तु तू वास्तव में मेरी प्रीति-वैभव का अतुल निस्सीम कोष है री। मेरे प्राणों की लालसा है यह बहिन ! तू मेरे पास ही रह। देख री ! मैं तुझे अपनी आँखों की काली पुतरियों में रखूँगी। और जब भी मेरे इस पीत-तन के ग्राहक,मेरे प्राणों के प्राण,प्रियतम नीलमणि मेरे पास होंगे तो मैं अनन्तगुने प्रेम से उन्हें निहार सकूँगी, क्योंकि मेरे नेत्रों में तेरा भी तो वास रहेगा। बोल, तू मुझे छोड़कर नहीं जायेगी न ?

रसमयी रानी की इस व्याकुलता और प्रेमाग्रह को देखकर गदगदाये कंठ से इतना ही कह पाती है -- नहीं जाऊँगी, बहिन ! तू निश्चिन्त रह। इतना सुनते ही किशोरी रानी उसे पुनः दुगने वेग से कंठ से चिपका लेती हैं ?

रसमयी रानी के अचिन्त्य सौन्दर्य, अकल्पनीय माधुर्य, अतुलनीय लालित्य, असीम प्रेममय स्वभाव को देख-देखकर क्षण प्रतिक्षण अधिकाधिक समर्पण से अभिभूत हो रही हैं।

रानी रसमयी को वह चित्र पट दिखाती हैं जो उन्होंने अपने हाथों से बनाया है, वे उसे अपने पास ही पर्यंक में बैठा लेती हैं।

रसमयी चित्रपट को देखती है। अहा ! जीवन्त चित्रण किया है रानी ने। घन कृष्ण कुंचित कुन्तलराशि पर मयूर पिच्छ गुम्फित मुकुटाभरण कैसा फब रहा है। और प्रियतम के श्री अंगों पर ललित तृभंग मुद्रा की अभिव्यक्ति तो देखते ही बनती है। चंचल अरुणिम नेत्रों की चितवन से प्रीति रस का निर्झर झर रहा है। रानी ने प्रियतम का ऐसा सुभग चित्रण किया है कि उसे देखकर रसमयी उनके अतुल सौन्दर्य में डूब जाती है। उसके प्रियतम जितने सुन्दर

इस चित्रपट में दिख रहे हैं वैसे तो उसकी आँखों ने उन्हें साक्षात् रूप में कभी नहीं देखा था। वह विचार करने लगती है। यह क्या रहस्य है ? फिर तत्क्षण ही उसे रहस्य समझ में आ जाता है। रानी का प्रियतम के प्रति प्रेम उसके प्रेम से अनन्त गुना है, इसलिये रानी की प्रेम भरी आँखों ने उनके रूप को भी विलक्षण रूप से आस्वादन किया है, तब उसका चित्रण तो उसके दर्शन से विलक्षण होगा ही। प्रियतम का रूप तो चिन्मय है अतः वह तो प्रेम की तरतमता से घट बढ़ जाता है। जिसकी आँखें जितनी प्रेम में डूबी होंगी, उतना ही प्रियतम सौन्दर्य अभिवर्धित हुआ उसे प्रतीत होगा। और प्रिया ने तो अपनी प्रीति प्रतीति का ही यह चित्रण किया है। कोटि-कोटि कंदर्पों को लज्जा के घन आवरण में आवृत कर देने वाले इस चित्रण को देखकर रसमयी के अंग-अंग अवश होने लगते हैं, वह भाव समुद्र में डूबने लगती है। वह स्वेद से लथपथ हो जाती है। बार-बार उसे रोमाञ्च और कम्प होने लगता है। रानी रसमयी की यह दशा देखकर वह चित्र पट उसके हाथों से हटा लेती हैं और अपनी नील ओढ़नी के छोर से स्वयं रसमयी का स्वेद मार्जन करने लगती हैं। प्रेम से भरी रानी के नेत्र रसमयी की भावगरिमा देखकर छलछला आते हैं।

'कितनी सुन्दर है री तू' रानी उसके मुख की ओर एकटक देखने लगती है। रानी को इतने प्यार से अपनी ओर देखती पाकर रसमयी अपना मुख नीचा कर लेती है। "अरे, अरे आज तेरी केशराशि खुली क्यों है ? तूने वेणी बंध नहीं किया री ? मेरी तो अब तक इन पर दृष्टि ही नहीं गयी। और देख, सच बताना, तेरा श्रृंगार किसने किया है री ? ऐसा श्रृंगार तू स्वयं अपने हाथों कदापि नहीं कर सकती ? तेरे श्रृंगार के अन्तराल में मुझे नीलसुन्दर की प्राणोन्मादिनी मूर्ति अभिव्यक्त होती दिख रही है। तेरे कपोलों पर उनका प्रतिबिम्ब मुझे स्पष्ट दिख रहा है। तुझे स्वयं को पता नहीं है परन्तु मेरी आँखें ठीक देख रही हैं तेरे अंगों से अप्रतिम नीली धारा बह रही है । क्या तुझे लज्जा आ रही है ? अच्छा मत कह ? परन्तु मुझसे उनका प्यार छिपा नहीं रह सकता री। अपने हृदयगत समस्त दुलार से उन्होंने ही तेरा श्रृंगार किया है और तब वे तुझ पर, तेरी प्रीति राशि भरे आनन पर न्यौछावर हुए हैं ?"

मूक अधर रसमयी ने नयनों-नयनों में ही अपनी स्वीकृति दे देती है। और तब वह नयन नीचे करके बैठ जाती है। बहुत ही लजा रही थी वह।

इतने में ही एक विलक्षण चमत्कार होता है। रसमयी का समस्त शरीर घनीभूत होने लगता है और वह सिमट जाती है मात्र एक नीली ज्योति में और फिर वह नीली ज्योति भी घनीभूत होती हुई अति सूक्ष्म होती-होती प्रविष्ट हो जाती है रानी के कपोलों में, ठीक नासिका के पास। और वह परिणत हो जाती है एक मसिबिन्दु के रूप में। और तब उसके मसिबिन्दु में से ही एक अतिशय कोमलांगी गौरवर्णा सखी निकलती है।

सुन्दर , अति सुन्दर, अभिनव सुन्दर, प्रतिपल नव-नव नूतन सुन्दर वह प्रतीत हो रही है। उसके सौन्दर्य की, परम कल्याणमय गुण गणों की मधुरिमा क्षण-क्षण अभिवर्धित होती जा रही है।

प्रतिक्षण नव-नव लीला विलास की अप्रतिम सुन्दर भंगिमा से विभूषित होते रहते हैं उसके अंग-अंग। उसकी गुण-गरिमा नित-नूतन परिवर्धित होती रहती है। उसकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ डूबी रहती हैं रासेश्वरी रानी और रासेश्वर प्राणरमण के सुख विलास को सम्पादित करते रहने में ही। उसके उरस्थल में आनन्द की नित्य नवीन-नवीन रस-धारा प्रसरित होती ही रहती है। दो-तीन निमेष का कालमान व्यतीत होते न होते नवीन उमंग की लहरें आत्मसात् कर लेती हैं पूर्व की तरंगों को।

कैसी मनोहर है इसके अलक जाल की शोभा। कमल के सदृश मुख सरोरुह पर कृष्ण अलकावलि झूल रही है। कैसी विलक्षण सुन्दर है इसकी कुञ्चित कुन्तलराशि जिस पर दृष्टि पड़ते ही षट्पद श्रेणी का गर्व चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है। लज्जा के घन आवरण में अलिकुल अपना मुख छुपा लेता है। कितने मृदुल अंग संस्थान हैं इसके। यह मृदिमा भी नित्य नूतन होती चली जा रही है। सभी के प्राणों को चरम बिन्दु तक आकर्षित करती है, यह। सौरभ से दिशायें सुरभित हो रही हैं। इसके अंगों में प्रिया-प्रियतम दोनों के अंगों का सम्मिलित सुवास भरा है। इसमें सर्वत्र मादकता पूर्ण है।

प्रिया प्रियतम के अचिन्त्य कृपा के प्रकाश से किसी की घ्राणेन्द्रिय में वह शक्ति आ जाय, तभी कोई समझ सकेगा कि कैसी सरस एवं मादक इसकी अंग गंध है।

इसके झूमते हुए कमनीय नयनों में कैसा अभिनव आकर्षण है। अहा इसके पलक पड़ने की भी कैसी शोभा है। पलकों के गिरने और उठने में इसकी दृष्टि से कैसी रस की अभिनव वेगवती सरिता बह उठती है जो प्राण

सुन्दर को सुख संमुद्र में बहा ले जाती है और रानी को विलक्षण सख्य रस भरी सेवा से आप्यायित कर देती है।

मसिबिन्दु से ज्यों ही इसका उद्भव होता है इसे रूप मंजरी गले लगा लेती हैं। अब यह प्राणसखी रूप-मंजरी की सहयोगिनी होकर रानी की नित्य सेविका हो जाती है।

सहसा सूक्ष्मधी सारिका जो रानी की अतिशय प्रेमपात्री है स्वर्ण पिंजर में से बोल उठती है --

"मंजुलीला, मंजुलीला रूप किशोरी रानी की कायव्यूह-रूपा की जय !

अब शुक भी पीछे क्यों रहे, वह भी पुकार उठता है --

"मसिबिन्दूद्भवा, मसिबिन्दूद्भवा वृन्दावन-चन्द्र की प्राणप्यारी की जय ! मंजुलीला रूप रसमयी-परिणति की जय,जय !!

इस जय जयकार से रानी एवं ललिता विशाखादि सभी सखियों के मुख पर हँसी आने लगती है।

शुक एवं सारिका दोनों बोल उठते हैं -- महाप्लावन ! देखो ! देखो !! कलिन्दनन्दिनी की ओर तो देखो ! आज वह महारससिन्धु हो उठी है। वह यमुना तटवर्ती निकुंज, वह तो कभी का डूब गया। वह बिचारा वट वृक्ष, उस निकुंज के द्वार पर जो स्थित था, कुछ काल तक प्रवाह से जूझता रहा, अन्त में वह भी डूब ही गया। वे मनोरम घाट सब डूब गये। वह भग्न सी रसमयी की कुटिया भी बह गयी। और आश्चर्य यह रससमुद्र इतना उमड़ा कि महाभावद्वीप इस निकुंज के भी द्वार खटखटाने लगा। इन द्वारों के सन्धिस्थलों से प्रविष्ट होकर रसमयी को भी चूर्ण-चूर्ण कर अपने में उसके अवशेषों को घोल लेता है और तब उसे अपने से एकात्म कर स्वयं रानी के छोटे से मसिबिन्दु में समा ज़ाता है। उसमें प्रविष्ट होकर समाहित हुआ स्वयं को रानी में विलीन कर देता है।

रानी के इस मसिबिन्दु की जय, जय सदा ही जय हो।

शुक एवं सारिका दोनों जयकार कर उठते हैं :--

मसिबिन्दु विलया रसमयी की जय ! मसिबिन्दूद्भवा मंजुलीला की सदा ही जय हो।

पुनः दोनों साथ ही साथ बोल उठते हैं।

महाभावसिन्धु स्वरूपा नित्य निकुञ्जेश्वरी की जय !

महारससिन्धु प्रियतम नित्य निकुंजेश्वर की सदा ही जय हो !

## मंजुलीला भाव
## वनमाला गुम्फन लीला

व्रजेन्द्रतनय की अनाविल लीला रसपान एवं रसदान की मधुरिमामय अभिसन्धि को लेकर ही अघटन-घटना-पटीयसी-योगमाया निर्माण करती है अखिल रसामृत सिन्धु व्रजराज कुमार के विहार स्थल व्रजपुर का। शब्द नहीं हैं जो व्रजपुर की विभु-रसराशि को व्यक्त कर सकें। उसके महाभाव महिमा मंडित स्वरूप को भाषा में बाँध देना सर्वथा सर्वांश में असंभव, पूर्णतया असंभव है। प्रियतम नीलमणि और उनकी प्रिया महाभावमयी राधारानी की यह नित्य आवास-स्थली जो ठहरी। प्रीति अपनी समस्त गरिमा के साथ यहाँ इसी प्रदेश में मूर्त होती है। और इसीलिये व्रजेशतनय वृन्दाकानन का परित्याग कर अन्यत्र नहीं जाते । अतः नित्य नवीन-नवीनतर रसमय ही होती रहती है यहाँ की भूमि।

अहा ! रस तरंगिणी यमुना के पुलिनों की सौन्दर्य राशि प्रतिक्षण नित्य नूतन विस्तार को पा रही है। ऋतुराज बसन्त यहाँ अपनी पूरी सेना के साथ सर्वत्र एवं सब समय सेवा में उपस्थित है। शीतल मन्द मलय मारुत तो प्रियतम नीलमणि की परिक्रमा ही करता रहता है और उनके आदेश से श्वास लेने वाले लघुत्तम कीट से लेकर विशालकाय वन-गजराजों तक सभी के प्राणों में प्रियतम नीलमणि का रस संदेश भरता रहता है और उनके चरणों में सभी प्राणियों की भाव कुसुमांजलि अर्पित करता रहता है।

देखो ! यह तरुश्रेणी जो तुम्हें दृष्टिगोचर हो रही है इन्हें भूलकर नन्दन कानन की पारिजात-पादप-श्रेणी मत समझ लेना और न ही ये सर्वत्र रस-सुरभि दान करती लतायें सुतल तथा पाताल लोक से आनीत हैं :-- ये सभी तो नन्दतनय एवं प्रिया रानी की कायव्यूह स्वरूपभूता सन्धिनी शक्ति वृन्दा की ही इन रूपों में परिणति हैं। सुमनों का दिव्य प्राणोन्मादी भाव सौरभ, मधु लुब्ध असंख्य कृष्ण भ्रमरों का रसपूर्ण गुञ्जन, और मकरन्द रस-पान, उनका भाव-भरे रंग-बिरंगे सुमनों पर अति सरसता पूर्वक आसीन होना - इन सभी के अन्तराल में सर्वथा सर्वांश में मूर्त है, रानी की स्वरूपभूता संधिनी का विलास ही।

यहाँ निसर्ग का भोग्या होना ही अविचल नियम है। यहाँ सभी व्यक्ति नन्दनन्दन की सेवा के लिये समर्पित हैं, चाहे वे महाराजा वृषभुन हों, श्री गोपराज नन्दराय हों, अथवा साधारण सा साधारण अंत्यज जाति का चाण्डाल हो। वह अपेने स्व के लिये जीवित ही नहीं है, वह तो मात्र नन्दनन्दन सुखी हों, उनका सुख मेरे द्वारा कैसे सम्पादित हो, इसी भावना से जीवित है। यहाँ की सब वस्तुएँ नन्दनन्दन के लिये एवं सब परिस्थितियाँ भी हैं नन्दनन्दन के सुख-प्रवाह को नित्य नवनवायमान उच्छलन देने के लिये ही।

देखो ! आज कुछ विलक्षण दृष्टिगोचर हो रहा है। तरुश्रेणियों में आसीन ये पक्षीगण प्रतिदिन तो नाम-गायन करते हैं, नीलमणि प्रियतम श्यामसुन्दर का अथवा प्रिया राधारानी का, परन्तु आज तो इनमें कुछ परिवर्तन है। ये कोकिल, मोर, पपीहा, कपोत, फुदकती कृष्ण चिरैया, नाचती प्रसन्न होती नवीन नाम उच्चारण कर रही हैं। आओ, तनिक ध्यान लगाकर इन्हें सुनें।

अरे ये तो नामोच्चारण कर रही हैं :-- मंजुलीला , मंजुलीला ! और यह दूसरा नाम तो अतिशय क्लिष्ट है। परन्तु देखो, पक्षीगण कितनी सरलता पूर्वक इसे भी नाच-नाचकर उच्चारित कर रहे हैं। इन्हें "मसिबिन्दूद्भा। मसिबिन्दूद्भा" इतने क्लिष्ट उच्चारण में भी कहीं कोई आयास, क्लेश, अथवा दुरूहता नहीं प्रतीत हो रही है। और इस गायन के साथ ही चतुर्दिक् वन में सौख्य की, सौन्दर्य की, माधुर्य की, सरसता की एवं सौरभ की अभिनव उच्च लहरों पर लहरें उठने लग रही हैं।

अरे देखो ! यह सौन्दर्य की साकार प्रतिमा कौन है, जो राधा-विहार-सरोवर की राह से आगमन करती घने वन में अकेली निर्भय प्रवेश कर रही है। इस घने वन में व्रजरमणियाँ पुष्पचयन करने आती हैं अवश्य, परन्तु अकेली तो कदापि नहीं प्रवेश करतीं, वे सभी दो-चार, पांच-सात के यूथ में ही इस घने वन में प्रवेश करती हैं। परन्तु यह तो प्रभात होने के पूर्व ही अकेली वन-प्रवेश कर रही है, महती आश्चर्य है।

अरे ! विलक्षण सुन्दरी है यह ? पंच तत्वों से तो इसका कलेवर निर्मित ही नहीं है। इसका न तो साम्य है देवांगनाओं से, न ही नागलोक की कुमारियों से। इसकी तुलना तो लक्ष्मी, ब्रह्माणी, एवं पार्वती से भी नहीं की जा सकती। सत्यलोक, तपोलोक, महर्लोक, जनलोक, स्वर्लोक सबका तेज इसके सम्मुख फीका पड़ रहा है। अरे भाई ! इसके तो दर्शन मात्र से प्रपञ्च स्वतः स्वाभाविक विलुप्त हो रहा है। वैसे ही जैसे रवि के उदय होते ही स्वतः

अन्धकार विलुप्त हो जाता है। क्या ही विलक्षण प्रभाव है इसका ? आओ, इस पुष्पित कदम्ब वृक्ष के नीचे चलें। इस वृक्ष की डाली पर ये पक्षी युगल शुक एवं सारी कुछ रसमयी गंभीर रहस्यमयी वार्ता कर रहे हैं। इन्हें सुनें।

यह सारिका कह रही है :– हे शुक ! मैं इस मंजुलीला की पूरी वार्ता बता रही हूँ। यह किस पदार्थ से निर्मित है और इसका अन्तर्हृदय कैसा है ? ध्यान से दत्तचित्त होकर सुनना भला ?

"हे बन्धु ! तुमने कभी न कभी व्रजेन्द्र नन्दन के काले कजरारे नेत्र तो देखे ही होंगे ? कैसी मादकता भरी हैं उनमें, साथ ही कैसी निर्मलता भी है। उन कजरारे नेत्रों की रसमयी कालिमा से इस मंजुश्यामा की कुञ्चित केशराशि इसकी कांचन वर्णीपीठ पर लहराती कैसी सुन्दर लग रही है। अप्रतिम अतुलनीय है इसकी शोभा।

और बन्धुओं ! कोटि-कोटि शशधरों को अपनी कान्ति से हतप्रभ कर देने वाला नीलमयंक देव का लावण्य भरा मुखमण्डल तो तुमने नयन भर निहारा ही होगा। हाँ, तो उसी शोभा को पदार्थ बनाकर अतिशय प्यार और भावावेश के क्षणों में नीलमणि एवं राधारानी ने अपने हाथों इसके अंगों अंगों की बहुत ही मनोयोगपूर्वक रचना की है। इसीलिये इसके मुखमण्डल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता, और कान्ति सभी अवर्णनीय है।

और इसके कजरारे, कानों तक दीर्घ, तीखे नेत्रों की ओर तो देखो ! हरिणियाँ लजा कर मुख फेर रही हैं, कैसी अनुपम रसमयता निखर रही है इसके अन्तराल से। इसके इन रसभरे नयनों की अभूतपूर्व शोभा का रहस्य पता है तुम्हें ? नहीं तो सुनो। परम प्रेमास्पद प्राणसारसर्वस्व नीलमणि इसके नेत्रों में आठों पहर निवास करते हैं। तभी न सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ इसे मात्र प्राणवल्लभ ही प्राणवल्लभ दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यह विश्व प्रपंच को सर्वथा सर्वांश में विस्मृत कर गयी है। इसकी रसमयी अनुभूति सुन लो। यह देख रही है कि इसके प्राणवल्लभ नीलसुन्दर और प्राणप्रिया राधारानी के नील-पीत-द्युति चरण सरोरुहों में जो विजड़ित बीस नखमणियाँ हैं और उनसे जो अनाविल प्रीति प्रकाश निरन्तर निःसृत हो रहा है, वही घनीभूत होकर उपल बन गया है, वही अनन्त असीम नभ बना सबको अवकाश दे रहा है, वही रवि और शशि, अग्नि तथा अनन्तानन्त नक्षत्र मण्डल बन गया है। वही सप्त सागर के रूप में लहरा रहा है। वही प्राण बन भूः, भुवः, स्वः, महः, तपः, जनः एवं सत्यलोक तक के ऊर्ध्व लोकान्तरों के और तल, वितल, अतल,

सुतल, तलातल और पाताल तक के अधः लोकों के जीव समुदाय की श्वास प्रश्वास बन सबको जीवन्त कर रहा है, वही इन लोकों की विघ्न-बाधा-शून्य अनन्त सम्पदा है और वही इनमें अविद्या जनित देहाभिनिवेश कराता हुआ इन्हें जन्म-मृत्यु के अनन्त प्रवाह में भटका रहा है। भाई ! कैसी पावन सत्य दृष्टि है इसकी। इसे नीलसुन्दर के सिवा किसी अन्य की सत्ता दिखती ही नहीं। इसीलिये इसका रागद्वेष शून्य चित्त एकरस सर्वत्र सभी को अपना अगाध एवं निर्बाध एक रस प्रेम प्रदान कर रहा है। देखो शुक ! इसीलिये वन प्रान्त के पक्षी समुदाय के रूप में ही नहीं, कान लगाकर सुनो, व्योम, वायु, तेज, जल एवं धरा का अणु-अणु बने प्रियतम प्राणवल्लभ ही अतिशय प्यार से इस महा सौभाग्यवती देवी का नाम संकीर्तन कर रहे हैं -

मंजुलीले, मंजुलीले, मंजुलीले, मंजुलीले।

देखो ! यह परम सत्य इस देवी से अप्रकट थोड़े ही रह सकता है। इसे ठीक अनुभव हो रहा है समग्र वन में आत्मगोपन कला-प्रवीण उसके प्रियतम ही प्रेमजन्य विकलता के अतिरेक में उसका निरन्तर नाम जप रहे हैं। और इसीलिये मंजुलीला के दीर्घ सरसिज नेत्रों में प्रेमाश्रु-छलक आये हैं, शुकराज !"

तो लो, सारिका से इस देवी का परिचय तो मिल गया। अब इसके पीछे चलें, यह इस वन में क्यों आयी है ?

अवश्य ही यह यहाँ आयी है वन के सर्वोत्तम गन्धवाही पुष्पों का चयन करने। प्राणप्रिया राधा ने आज जीवन में प्रथम बार ही तो उसे यह पुष्पचयन की सेवा दी है। वह अपने हाथों अति सुन्दर सुगन्धित पुष्पों का चयन करेगी और तब उन्हें वृन्तों से कलापूर्ण रीति से गूँथकर सुन्दर पुष्पहार निर्माण करेगी और तब उस पुष्पहार को प्राणप्रिया प्रियतम श्यामसुन्दर को पहना देंगीं।

लो मंजु ने वन प्रदेश में चारों ओर दृष्टि घुमायी। वृक्षों-वृक्षों में आच्छादित लताएँ सुगन्धित कुसुमों के अम्बार लगाये उसे संकेत कर रही हैं। बहिन ! हमारे पास आओ न ! कुछ भी आयास की आवश्यकता नहीं, मात्र आँचल भर फैला लो, हम अभी तत्क्षण उसे पुष्पगुच्छों से परिपूरित कर देंगीं। देखो ! इन वृक्षों को अपनी सुकोमल सहस्रों भुजाओं से पूर्णरूपेण आलिंगित किये ये लताएँ कोई लाल, कोई पीली, कोई नीली कोई अनेक रंगों की मिश्रित, कोई पीली और लाल मात्र दो रंग की और कोई लाल, पीली, बैंगनी

तीन रंगों की पुष्प सज्जा धारण किये उसे अतिशय प्यार से आमंत्रण दे रही हैं। "आओ न बहिन ! मेरे पुष्प लो न, मैं ये इतनी सुन्दर पुष्पसज्जा धारण किये युगों-युगों से अति आकुल चित्त से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ -- मुझे सफल मनोरथ कर दो न ? मेरा रोम-रोम तुम्हारा अभिनंदन कर रहा है, अच्छा पुष्प मत लो, दो क्षण मुझे तुम्हारा प्रेमरस से ओतप्रोत किञ्चित् स्पर्शदान ही कर दो, और यह भी तुम्हारी रुचि के विपरीत हो, तो दो क्षण हमारी शीतल छाया में विश्राम ही कर लो न बहन ? निर्निमिष नेत्रों से वृक्ष-वृक्ष अपनी प्यारी सखी मंजुलीला को आकुल प्रेम निमंत्रण दे रहा है।

लो, एक भाग्यवान वृक्ष के नीचे खड़ी हो मंजुलीला ने अपनी आँचल निर्मित झोली फैला दी और क्षण भी नहीं हुआ और वृक्ष से लिपटी लताएँ अति सुरभित प्रस्फुटित पुष्पों की वर्षा करने लगीं। इन पुष्पों के सौरभ से समग्र वन मुखरित हो उठा।

अहा ! कैसी मुग्ध भावापन्ना है यह बाला मंजुलीला। इसका अंग-अंग नवतारुण्य से छलक रहा है। उसकी तरुणाई कोटि-कोटि अनंग मदहारी है। उसकी घुँघराली अलकावलि, कंदर्प-धनु सी बंकिम भौंहे, शुक-चंचु-तिरस्कारी नासिका, दमकते सुकोमल कपोल, बिम्ब के समान लाल-लाल अधर, कोमल किसलय से कान, रक्तपद्म से हाथ, गोल-गोल कलाइयाँ, रति को स्पर्धा में पराजित करती कमनीय भुजायें, ये उत्तुंग उरोज, ग्रीवा की गति, नेत्रों की चंचलता, भ्रू-नर्तन, पदविन्यास, उसका अभिनव सुन्दरतम रूप देखकर वन श्री भी लज्जा से अवनत मुख हो जाती है। वनश्री दूती बनी दौड़ी-दौड़ी नन्दनन्दन के कानों में चुपचाप संकेत दे देती हैं। आओ ! प्राणप्यारे अपने नेत्रों की रूप-दर्शन की तृषा बुझा लो न ? वनश्री के उरस्थल में उठती भावलहरियों का समर्थन नर्तन करता हुआ सुरभित समीर भी कर देता है। चिरकाल का वही तो नन्दनन्दन का सर्वप्रिय विश्वास पात्र दूत है। "हे मेरे प्राणधन ! तुम्हें आकुल हृदय से रानी की एक प्राणसेविका का यौवन पुकार रहा है। उसे अपनी दृष्टि से सार्थक कर दो न नाथ।

लो ! प्राणवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र के अधर पल्लवों में अनुमोदन भरी मधुरातिमधुर रसमयी स्मिति नाच उठी। और उन्होंने एक अतिशय प्रीति गरिमा से भरा खेल करने का संकल्प कर लिया। वनश्री और समीर दोनों कृतकृत्य हो गये। प्रियतम के नयन-चंचरीक मंजुलीला के वदन-सरोज के सौन्दर्य का रसपान करने समुत्सुक हो उठे। और लो, प्रियतम ने अपने को

व्यक्त कर दिया, वहीं उसी वृक्ष के पार्श्व में, एक सुमन लतिका की ओट में, जहाँ मंजुलीला वनमाला गुम्फन कर रही थी।

देखो ! प्रियतम की कैसी शोभा है। इन्द्रनीलद्युति अंग संस्थानों पर विराजित पीत परिधान, ललितत्रृभंग गात्र, इनके दर्शन मात्र से वन का अणु-अणु आनन्द में परिपूरित हो उठा। उनके श्रीअंगों की मधुरिमा भरी आभा से वन में सर्वत्र ओरछोर विहीन सुषमा बिखर उठी।

प्रियतम सतृष्ण निरख रहे हैं अपनी प्रिया मंजुलीला की पुष्पमाला गुम्फन करती मुग्ध मुद्रा को। प्यार की कूल विहीन स्रोतस्विनी उमड़ रही है, प्रिय के हृदय में। स्नेह का आपार वैभव अविराम वितरित होने लगा स्वतः प्रियतम के चंचल नंयनों से। उनका नील कलेवर प्यार के समुद्र की तरह लहराने लगा और संविन्मय आनन्द छलकने लगा उनके रोम-रोम से।

प्रियतम के कमल जैसे दीर्घ नेत्र उस छलकते प्यार से भरे टप-टप अश्रु टपकाने लगे।

परन्तु महारस की आगार मंजुलीला तो मानो मधुपूर बनी दत्तचित्त हो वनमाला गूँथने में लगी है। उसे पता ही नहीं है कि उसके प्रियतम कोटि मदन-मदहारी उसकी रूपराशि का अतिशय तृष्णा से नयन-प्यालों में भर-भर कर पान कर रहे हैं। और अप्रतिम प्रीति के ये दो निर्झर प्रियतम श्यामसुन्दर और प्यारी मंजुलीला सारे वनक्षेत्र को अपने प्रेमरस से सराबोर कर दे रहे हैं।

प्रियतम सरक कर शनैः शनैः मंजुलीला की पीठ के पास ही आ गये। मंजुलीला के मस्तक पर प्रियतम के बरसते नेत्रों की अश्रुधारा अभिषेक करने लगी। यह अश्रुधारा उसकी उन्मुक्त केशराशि का सिंचन करती उसके कंचन गात्र और रक्ताभ कपोलों पर भी बहने लगी फिर भी मंजुलीला यही जान रही है कि लताओं में संचित ओसबिन्दु रवि-किरणों के प्रसार से चू रही हैं, और वे ही उसके मस्तक को भिगो रही हैं।

वह माला गूँथती ही जा रही है। सुमन जैसे ही समाप्त होते हैं, सुमन लतिका पुनः पुष्पवर्षा कर देती है और माला गुँथती हुई दीर्घ, सुदीर्घ होती चली जा रही है। उसके नेत्रों के सम्मुख है उसके प्राण प्रियातम की मानस छवि। स्निग्ध नयनों की मधुमयी अविरल धारा से वह अपने प्रियतम को पाद्य समर्पित कर रही है। उनके पाद पद्मों में वह अपने प्रेमाश्रुओं से ही उर्घ्य, आचमन स्नान, सभी करा रही है। यह पावनतम प्रीति जलधारा ही तो उसका

एक मात्र धन है। इन अश्रुकणों की मुक्ताओं के मोल पर ही तो वह रानी के आश्रय को प्राप्त कर सकी है। उसके पास इनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। अपने प्रिय की प्रगाढ़ स्मृति में वह सर्वथा भूल गयी है अपने आपको। पूर्व संकल्पानुसार यंत्रवत् हाथ स्वतः माला पिरोते जा रहे हैं। उसे काल मान का तो ज्ञान ही नहीं है।

वह सूर्योदय से पूर्व ही रानी के आदेश से पुष्प चयन करने आयी थी और अब तो दुपहरी भी व्यतीत हो गयी है। रानी नन्दभवन से पाक-रचना कर लौट भी आयी हैं। उन्हें उसकी स्मृति ने विह्वल कर दिया है। अब तो ललितादि सखियाँ सूर्य पूजन के लिये प्रस्थान को उत्सुक हैं। निरे प्रभात गयी मंजुलीला का कुछ पता नहीं। कहाँ अदृश्य हो गयी वह। रानी सखियाँ सहित उसे ढूँढ़ने वन में चली आयी हैं। और पक्षियों ने राह दिखायी है उस मणिमय प्रांगण की।

अहा क्या ही प्यारी छवि रानी के सम्मुख है। वृक्ष पर बैठी सारिका जोर से चीख-चीख कर कह रही है --"बताओ तो सही, नील सुन्दर जैसा सच्चा स्नेह देने वाला भला कोई दूसरा है क्या ? ऐसी प्रीति क्या अन्यत्र संभव है ? देखो ! देखो !! मंजुलीला की रुचि का आदर करते हुए प्रियतम ने अपने को गुँथी माला से कैसा लपेट लिया है? ऐसा अन्य कौन है, जो किसी के प्रीति भरे मन की इस प्रकार साध पूरी करे ? इन्होंने अपने इन्द्रनीलद्युति सम्पूर्ण अंगसंस्थान, अपना सम्पूर्ण गात्र, अपना मयूरपिच्छ-गुम्फित-मुकुट, अपनी कुन्तलराशि, अपनी ग्रीवा, अपना विशाल स्कंधदेश, अपनी भुजायें, अपना वदन सरोज, अपने कर्ण-कुण्डल, अपना कटिदेश, सुन्दर उदर, नितम्ब और जंघाएँ और चरण सरोज सभी तो मंजुलीला द्वारा गुँथी माला से लपेट लिये हैं फिर भी मंजुलीला को अपनी वनमाला गुंथनलीला से विराम कहाँ ?"

अपने को आपाद मस्तक सुरभित माला में लपेटे नीलमयंक देव मंजुलीला को अपने अश्रुओं से नहला रहे हैं परन्तु उसे बाह्यज्ञान ही कहाँ ? यंत्र चालित से उसके हाथ माला गूँथने का कार्य यथावत् पूर्व अभ्यानुसार करते जा रहे हैं।

रानी कुछ क्षण चमत्कृत सी अपने प्रियतम की छवि देखती हैं और तब मंजुलीला को बाह्य आवेश कराने की चेष्टा करती हैं। रानी के साथ आयीं ललिता, रूप मंजरी, एवं मंजुश्यामा आदि इस प्रीति छवि पर विमुग्ध हो रही हैं।

रानी उसे सम्बोधित कर कहती है — "मंजूरी, तू तो निरे प्रभात निशान्त में ही पुष्प चयन करने गयी थी, क्या तेरी वनमाला ही अब तक नहीं गुँथी ? देख री, सूर्य पश्चिम की ओर मुख कर चुके,.उठ, न ?

मंजुलीला को अब बाह्यज्ञान होता है। वह प्रिया के कण्ठ से लग जाती है ? और मालाओं में गुँथे इन नील मयंकदेव को अपने पास ही खड़ा देख अति लज्जा से भर जाती है। वह मन ही मन जिज्ञासा करती है कि यह सब क्या खेल हो गया है ?

और सारिका चीख उठती है —

**एषांतु भाग्य महिमाऽच्युत तावदास्तामेकादशैवहि वयं बत भूरिभागाः**
**एतद् हृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽघ्र्युदजमध्वमृतासवं ते।**

हे अच्युत ! इन व्रजवासियों की सौभाग्य की महिमा तो अलग रही, इनके मन आदि ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं के रूप में रहने वाले महादेवादि हम लोग भी बड़े ही भाग्यवान् हैं क्योंकि इनकी मन आदि ग्यारह इन्द्रियों को प्याला बनाकर हम आपके चरण कमलों का अमृत से अधिक मीठा, मदिरा से भी मादक, मधुर मकरन्द पान करते रहते हैं। जब उसका एक-एक इन्द्रिय से पान कर हम लोग धन्य हो रहे हैं तो अपनी समस्त इन्द्रियों से उसका सेवन करने वाले इन व्रजवासियों की तो बात ही क्या है ?

# महाभाव - दिनमणि श्रीराधाबाबा

( प्रथम खण्ड )

Pages 401-500

साधु कृष्णप्रेम

# मंजुलीला भाव

# अष्टयाम लीला

ऐसे काल बिताओ, निसदिन।
भोर साँझ लौं, साँझ भोर लौं लाड़ लड़ाओ दोऊ जन।
छिन विच्छेप न होइ टहल में, कीजे यह अदभुत पन।
सब रस को रस सार विहार, सो चीन्हौं हम रसिक जन।
विविध भाँति के और भजन जे, लौन बिना ज्यों व्यंजन।
श्री राधा-पद-कमल-कृपा-बिनु को पावे रस को कन।
श्री वृन्दावन-वास रासि-रस, समय प्रबंध परम धन।
अलबेली श्रीबंसीअलि बलि यह मानो मेरे मन।

श्री अलबेली बंसीअलिजी निवेदन करते हैं :— हे मेरे मन, तू यह मेरी बात मान ले। इस प्रकार दिन-रात का तू(काल), समय व्यतीत कर। साँझ से लेकर भोर तक और भोर से लेकर साँझ तक तू प्रिया-प्रियतम दोनों जनों का लाड़ लड़ाया कर। इन दोनों की सेवा में तेरा क्षण भर भी विक्षेप नहीं हो। यह अनोख व्रत तू ग्रहण कर। सारे रसों का सार विहार रस है, यह रसिक जनों ने पहचान की है। दूसरे अनेक प्रकार के जो भजन हैं, वे तो नमक बिना जैसे व्यंजन होय, वैसे बेस्वाद हैं। श्री राधारानी के चरणों की कृपा के बिना रस का कण किसी को नहीं मिल पाता। श्रीवृन्दावनधाम का वास ही रस की ढ़ेरी है और समय को विहार-सेवा में नियुक्त करना ही परम धन है।

आओ ! अब श्री मंजुलीला भाव में पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा की निशा एवं दिवा अष्टयाम सेवा क्या रहती थी, इस प्रकरण पर प्रकाश डालें। यह अष्टयाम लीला पू० गुरुदेव ने मुझे सन् १९५१ में संकेतित की थी, जिसे मैंने लिपिबद्ध करके १९५६ ई. में पू० गुरुदेव को पुस्तकाकार रूप में पढ़ने एवं स्वीकृति के लिये समर्पित की थी। काष्ठ-मौन लेते समय पू० गुरुदेव ने मात्र बारह व्यक्तियों को इसे देने का आदेश दिया था। इन बारह व्यक्तियों को मैं अपनी हस्तलिपि में लिखकर दूँ, ऐसा उनका मन्तव्य था। बारह व्यक्ति निम्न थे -- १. सावित्री बाई (पू०पोद्दार महाराज की पुत्री) २. श्रीमति राधाबाई (पू० पोद्दार महाराज की दौहित्री) ३. राधेश्याम पालड़ीवाल ४. कुंजबिहारी पालड़ीवाल ५. श्री विष्णुहरि डालमिया ६. श्रीमती ललिता डालमिया ७. श्रीमती रमादेवी सरावगी ८. श्री गजाननजी सरावगी ९. श्रीमती इन्दु सरावगी १०. श्री मोतीजी पारीक ११. श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी १२. श्री रामस्नेहीजी।

पू० गुरुदेव के काष्ठ मौन के पश्चात मैं आर्थिक दुरवस्थावश इतना समय ही नहीं प्राप्त कर सका कि सबको वितरण करने इतनी प्रतियों में यह ग्रन्थ लिख सकूँ। इसकी एक मौखिक टेप करके श्री इन्दु सरावगी को अवश्य दे पाया था। उसके पास वह सुरक्षित है या नष्ट हो गयी पता नहीं। पश्चात् गुरुदेव ने इस अष्टयाम लीला में अपनी श्रीशिवभगवानजी फोगला को लिखी लीलायें भी सम्मिलित कर देने का सुझाव दिया था। श्रीशिवभगवानजी पोद्दार वाली लीलाएँ तो केलिकुंज के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं।

## श्री वृन्दावन वर्णन

प्रफुल्लित वन विविध रंग झलकत यमुना तरंग
सौरभ घन आमोदित अति सुहावनो ...
चिन्तामणि कनक भूमि छबि अदभुत लता झूमि
शीतल मंद अति सुगन्ध मलय आवनो
सारस हंस शुक चकोर नृत्यत चित्रित सुमोर
कल कपोत कोकिल कल मधुर गावनो
युगल-रसिक-वर-विहार परमानँद छबि अपार
जयति चारु वृन्दावन परम भावनो....

उज्ज्वल आनन्द से परिपूर्ण, विविध दिव्य सुगंधित समीर सेवित, श्री राधाकृष्ण युगल किशोर के रस विलास से सदा संतत उंल्लसित, अपरिसीम सौरभ से चंचल चंचरीकों की झंकार से निनादित, महा प्रेम-रस-तरंगों से हिल्लोलित यह वृन्दावन है। नये-नये पत्र पुष्पों से सुशोभित विटप समूहों में यहाँ नित नूतन सौन्दर्य स्फुटित है, प्रत्येक फल, पुष्पादि में यहाँ अपूर्व मकरन्द संचित है। विलक्षण सौरभ से दसों दिशायें आमोदित हैं। सर्वत्र अशोक, मौलश्री, चम्पा, माधवी, आदि लताएँ पुष्पित हो रही हैं। स्थान-स्थान पर कलिन्द नन्दिनी की मनोहर उर्मियाँ स्थल को सिक्त कर रहीं हैं। रसमय सरोवरों में अतिशय शोभा भरे स्वर्णकमल-प्रस्फुटित कमलों के दल वायु प्रवाह से चंचल हो रहे हैं।

पुष्प गुच्छों से आच्छादित सुसज्जित मनोहर कुंज श्रेणियाँ है। सरोवरों पर, ह्रदों पर, असंख्य वराट, वराटी, हंस, हंसिनियाँ केलिरत हैं। वृक्षों पर लिपटी लता श्रेणियों में विराजित असंख्य विहंगम प्रिया-प्रियतम की निशा-विहार की भावना से भावित हुए उनकी एकान्त मिलन की छवि को नेत्रों में भरे ध्यानावस्थित हैं। आनन्द-रस-सिन्धु की तरंगों में निमग्न पशु-पक्षी, लता-तरु, कीट-पतंग सभी एक अभिनव रसमयी प्रतीक्षा की मुद्रा में स्थित हैं। सुपुष्पित, फलित लता वल्लरियों से परिवेष्टित तरुश्रेणियों की निराली ही शोभा हैं। विविध मणियों से जटित उद्भासित भूमि तल है। उसमें समीर ने पुष्प परागों का आस्तरण आस्तृत कर रखा है।

## निद्राभाव

प्रिया प्रियतम निभृत निकुञ्ज में शयन कर रहें हैं। दोनों ही निद्राभाव समुद्र में तल्लीन हैं। निद्रा महाभाव का अर्थ ही है समस्त व्रज वृन्दावन रूप दृष्य सिमट कर समाहित हो जाय नील-पीत द्युति महाभाव रूप चिन्मय रस सिन्धु में। अनिर्वचनीय और अचिन्त्य का निर्वचन तो हो ही नहीं सकता। गिरा बस इतना ही संकेत दे सकती है कि पता नहीं महासिन्धु नील है कि पीत। एक क्षण वह नील प्रतीत होता है परन्तु दूसरे ही क्षण वह आत्मसात् हो जाता है एक असीम उत्ताल पीत लहर से। वह लहर समग्र को पीत महासिन्धु में परिणत कर देती है। परन्तु दूसरे ही क्षण फिर नील लहर

उच्छलित होती है और समग्र पीतता को अपने में विलीन कर लेती है। अब लगता है यह महाभाव सच्चिन्मय सिन्धु नील ही नील है। परन्तु क्योंकि वहाँ प्राकृत काल मान है ही नहीं, अत: उसे दूसरे क्षण भी नहीं कहा जा सकता, फिर अनन्त असीम पीत लहर उत्थित होती है और यह कथन भी नहीं बनता, क्योंकि नील लहर आ ही जाती। अब उसे कैसे नील कहें और कैसे पीत कहें।

यह सभी महाभाव लहरें पूर्ण संविन्मयी हैं अत: महाभाव कलेवर रानी क्षण में ही रसराज प्रियतम श्यामसुन्दर हो जाती हैं। और श्यामसुन्दर दूसरे ही क्षण राधा हो जाते हैं। अत: यह विलक्षण निद्राभाव पल-पल निमेष-निमेष रानी को प्रियतम के रूप में और प्रियतम को रानी के रूप में समग्रत: परिवर्तित करता रहता है।

और इस समय इस निद्रा महाभाव रससमुद्र का ऐसा उद्दाम उफान होता है कि इसकी लहरें समग्र गिरि शृंगों को, गिरि को, सम्पूर्ण तरुश्रेणियों को, समग्र वज्रप्रदेश को, प्रदेश के चर-अचर प्राणियों को अपने में लीन कर अस्तित्वहीन कर देती है। शुक, कपोत कोकिल, मयूर, जलचर एवं स्थलचर सभी डूब जाते हैं। कहाँ गयी ललिता, विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा सब सखियाँ, सभी मंजरियाँ-परिचारिकाएँ, सब अस्तित्वहीन, सत्ताहीन, हो गयीं हैं। इस महानिद्राभाव रस का सागर ऐसा उमड़ा है कि इसने काल को, दिशाओं को, सर्व देश को, लीलास्थलियों, लीला-परिस्थितियों को, सब को आत्मासात् कर लिया है। मात्र दो उच्छलित तरंगें शेष हैं, एक तरंग नीली रस सिन्धु है और दूसरी विशाल असीम भावतरंग पीली है। इन तरंगों का कोई तल है ही नहीं। ये नित्य अतल हैं। जब इनमें महाज्वार आता है बस उत्तुंग तरंगों के ही रूप में यह लीलायमान रहता है। यह उत्तुंग सच्चिन्मयी नीली लहर ही साँवर प्रियतम है और पीतद्युति सच्चिन्मयी भाव तरंग ही राधा, प्रिया, रानी हैं।

ये सच्चिन्मयी लहरें उत्तुंग उछाल लेती हैं और तब एक लहर दूसरी लहर को अपने में परिणत कर लेती है। नीली लहर पीत लहर में परिणत हो जाती है और पीत लहर नीली तरंग बन जाती है। रानी साँवर में परिणत हो जाती है और साँवर रानी हो जाते हैं। अब कौन रानी और कहाँ साँवर - इदमित्थं व्यक्तित्व तो है ही नहीं। पृथक् अहंकार हैं ही कहाँ ? अब जब अघटन-घटना-पटीयसी लीला-महाशक्ति महाभाव रससिन्धु में ज्वार को थाम देती हैं, तभी भाटा आता है। तब ये संविन्मयी महाभाव तरंगें ही उपल बन

जाती हैं, बस तरुजाल व्यक्त हो जाते हैं, ये उर्मियाँ ही वन के रूप में परिणत हो जाती हैं।

अरे भाई ! तुम्हारे नयनों में व्रजेन्द्रनन्दन एवं उसकी प्रिया की चरण रज का अंजन लगाकर जरा गौर करके देखो ! तुम्हें किसी में भी, न ललिता में, न विशाखा में, न चित्रा में, न चम्पकलता में, न इन्दुलेखा में, न तुंगविद्या में, न ही किसी मंजरी में, दासी में, न पक्षियों में, न वनचरों में, न नन्दभवन में, वृषभानुपुर में, न ही सखाओं में, महलों में कहीं भी इस विशुद्ध संविन्मयी रस सुधा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलेगा। कहीं कुछ भी अन्य वस्तु जब है ही नहीं तो मात्र रस ही रस, भाव ही भाव तो व्यक्त हुआ मिलेगा।

## निभृत निकुञ्ज में प्रिया-प्रियतम की शोभा

यह स्वत: सिद्ध है कि इन सबके व्यक्त होने का अर्थ ही है कि प्रिया प्रियतम में निद्रा महाभाव अब प्रशमित हो रहा है। लौकिक अर्थ में प्रिया प्रियतम अब जग गये हैं। लो, वृन्दादेवी प्रकट हो गयीं और शुक, सारिका, मयूर, कोकिला, चातकादि पक्षियों का कलरव चतुर्दिक् प्रारंभ हो जाता है।

कक्खटी वानरी वल्लरी पर आसीन सारिका को अस्फुट संकेत देती है और सारिका लवंग शाखा को सुशोभित कर रहे शुक की समाधि भंग करती हुई उसे जाग्रत करती है --"भाई, सावधान होओ, यह पूर्वी पवन जो सौरभ वहन करता प्रवाहित हो रहा है यह सरोरुहों के अर्ध-विकास से प्रसरित हो रहा है -- निशावसान समीप है।"

और शुक संबोधित कर रहा है मधुकण्ठ कोकिल को, सुग्रीव कपोत को, प्रशान्त मयूर को -- 'भाई ! यह समाधि भाव त्यागो, स्फूर्ति विस्तार करो, देखो ! भ्रमरों का दल कमल वन की ओर धावन करता गुंजार कर रहा है। अरे भाई ! प्रिया प्रियतम की निकुंज अवबोध लीला में सहायक हो जाओ। और भ्रमरों ने प्रभातकालीन मंगल गान करते हुए ताम्रचूड़ को जाग्रत कर दिया।

और ताम्रचूड़ ने अपनी कर्कश आवाज को अति मधुर बनाते हुए बाँग लगायी। वृद्ध विचक्षण शुक निकुंज के बहिर्देश से आकर सभी को संबोधित करता है --"अहो कोकिलों, सुनो । कन्दर्प ने तुम्हें जो अपना वीणायंत्र प्रदान किया है, वह किस अवसर के लिये। उसे बजाओ। परन्तु सावधान

पंचम स्वर में अभी नहीं। पहले मन्द-मन्द स्वर में प्रभाती प्रारंभ करो। युगल दंपति प्रिया-प्रियतम के नील-पीत-द्युति श्रीअंगों में अभी-अभी मुझे एक मनोहर स्पन्दन का दर्शन हुआ है। और अहा ! मेरे प्राणों में उद्वेलन हो उठा और मैं वहाँ से दौड़ता हुआ सभी को सूचना देने के उद्देश्य से आ रहा हूँ। अरे मधुकरों ! पदमों से पराग संचित कर लो। प्रिया प्रियतम के निकुंज से बाहर धरा पर पैर रखते ही प्रथम तुम्हें ही उनके चरणों में भेंट अर्पित करनी है।

अब विचक्षण शुक कपोतों को संबोधित कर रहा है -- भाई ! झींगुरों ने अपनी झन-झन ताल का विराम कर दिया है, अब तुम अपना 'घुत्''घुत्' मृदंग वादन प्रारंभ कर दो। आज मदन स्वयं प्रिया प्रियतम के जागते ही उन्हें अपना नर्तन दिखाना चाह रहा है।

लो, पक्षियों के संकेत को समीर ने सर्वत्र प्रसारित कर दिया। सरिता, सरोवर, प्रपात, ह्रद, गिरि सभी ने यह रसभरा संवाद श्रवण कर लिया। श्वेत कमल, रक्त पद्म एवं नीलोत्पल सभी अभिनव आनन्द में झूमने लगे।

समीर पुष्पों का किंजल्क अपने दूकूल में भर कर समग्र वन की परिक्रमा करता हुआ गवाक्ष-रंध्रों की ओट से निकुंज में झाँकने लगता है। उसकी दृष्टि वहाँ स्थिर हो जाती है, जहाँ गाढालिंगन-जनित सुख में डूबे हुए प्रिया-प्रियतम पद्म पर्यंक में शयित हैं। समीर की इस चेष्टा को राधा किशोरी की प्रिय शारिका सूक्ष्मधी जो उनके निकुंज में ही स्वर्ण दंड़ी पर विराजित है देख लेती है। बूढ़ा विचक्षण शुक तो कुंज के बहिर्देश में चुपचाप अर्ध-निमीलित नेत्र प्रिया-प्रियतम के ध्यान में रत है, किंचित मुसका कर नेत्रों से अत्यन्त रसमय कटाक्ष करता हुआ समीर की भर्त्सना कर उठता है --**"रस तस्कर ! छबि चोर ! किं पश्यसि संधि छिद्रेण।** परन्तु यथार्थत: वह भर्त्सना के मिस से समीर की क्रिया का अनुमोदन ही कर रहा है माधवी लता मुसका उठती हैं एवं समीर को तनिक रोककर उस दर्शन की शब्द-झाँकी की ही करा देने की मूक प्रार्थना करती है। मल्लिका भी पार्श्व में ही सरक आती है, मानो जो कुछ समीर माधवी को कहेगा-- उसका किञ्चित् आस्वादन उसे भी प्राप्त हो जायगा। पाटल समीर का सखा जो ठहरा, पहले ही सब वार्ता सुनकर झूम उठता है। स्वर्णयूथी जो अब तक ध्यानरत थी सजग हुई नयन उन्मीलित कर लेती है।

सौन्दर्य के अधिदेव ने वसन्तश्री के मुख से अंचल अपने हाथों उठा दिया। दोनों वृन्दावन पर विजयाभियान करने चल पड़े।

वृन्दावन के सभी लता-द्रुम अरुण, नील, पीत, एवं श्वेत कुसुमों के विकास से सज्जित हो उठे। सम्पूर्ण कानन ने अपने को प्रिया-प्रियतम के स्वागतार्थ विचित्र परिधान से भूषित कर लिया। जैसे वक्षस्थल पर नीलम का हार शोभा दे रहा हो, इस प्रकार यमुना लहर उठी। पूर्व की अरुणाई से अप्रतिम सुन्दर गिरि की रत्न राशि जगमगा उठी। मानो वृन्दावन के मस्तक पर विराजित रत्नमुकुट झलमला उठा हो। गिरिराज परिसर में स्थित सघन तरुश्रेणी - देवदारु, कदम्ब, शाल, प्रियाल, कोविदारु, अश्वत्थ, निम्ब, तिंतड़ी, शाल्मली, इमली, सभी झूम उठे - मानों वृन्दावन देव की कुंचित कृष्ण कुन्तलराशि समीर से प्रिया प्रियतम के जागरण एवं वनागमन का शुभ संवाद सुनकर आह्लाद से झूम उठी हो। मणिमय पर्वतों से निर्गलित मणिद्रव के समान स्वच्छ छल-छल, कल-कल, करते हुए निर्झर मानों वृन्दावन महाराज के आभूषणों की झंकार हो, ऐसे प्रतीत हो रहे थे।

राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड, नामक दो अपरिसीम सरोवर मानो वृन्दावन महाराज के तेजोमय ललाट में केसर, कुंकुम एवं चन्दन के दोहरे तिलक झलमला रहे हों। कुण्डों के चतुर्दिक् अवस्थित असंख्य कुंजगृह, उपकुंजों की अगणित श्रेणियाँ जैसे कपोलों पर सुन्दर अभिनव चित्रों का निर्माण किया हो। नीलगगन में उड़ती असंख्य हंसों की पंक्तियाँ मानो देववृन्द वृन्दावन महाराज के मस्तक पर नन्दन कानन के पुष्पों की वर्षा कर रहे हों।

मदन के अधरों पर स्मिति के समान रम्य वृन्दावन अपनी अपरिसीम सुषमा से प्रिया-प्रियतम के वनागमन पर सेवा में संलग्न होने को परमानन्दित हुआ, जागरुक हो गया।

नीलोत्पलों की सुन्दर शय्या में प्रिया-प्रियतम आलिंगन बद्ध प्रेम समाधि में लीन हैं। नवीन अम्बुद राशि को एकत्र कर , अभिनव कौशल से एक अपरिसीम पीयूषवर्षी अप्रतिम चन्द्र का निर्माण किया गया हो, तथा उसकी ज्योत्स्ना सर्वत्र प्रसरित हो रही हो। इस प्रकार नीलसुन्दर प्रियतम के श्री अंगों से शोभा का निर्झर झर रहा है। निर्मल स्वर्ण शिला पर जैसे काश्मीर विलेपित हो और जिसके अन्तराल से कोटि-कोटि राका चन्द्रों की सुस्निग्ध ज्योत्स्ना झर रही हो, जिसकी स्वच्छता और पवित्रता सुरधुनी की शत-सहस्त्र धारा को हेय बना दे रही हो ; वैसी आभा श्रीराधाकिशोरी के अंग-प्रत्यंगों से झलमल कर रही है।

सौन्दर्य सिन्धु में दो कुमुद परस्पर गुँथे निमीलित हों, इस प्रकार किशोरी के नयनों की शोभा है। और शारदीय शशधर के दर्शन करने के कारण पंकज ने अपने नयन मूँद रखे हों - प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के नयनों की विलक्षण शोभा है। श्रीराधाकिशोरी की चूर्ण कृष्ण कुन्तल राशि उनके बाम स्कन्ध को आच्छादित करती हुई प्रियतम श्रीकृष्ण के श्रीअंगों का संस्पर्श कर रही है और प्रियतम के अलकों की कुछ लटें प्रिया के बाम कपोल पर विश्राम कर रही हैं। श्रीराधाकिशोरी के अधर प्रियतम के अधरों से संलग्न हैं।

उरझ्यौ नीलाम्बर पीताम्बर महियाँ।
कुण्डल सौं लरलट बेसर सों पीत पट,
हार ही में बनमाल, बहियन में बहियाँ।
हंस गति अति छबि, अंग-अंग रही फबि,
उपमाऽवलोकिये कों पटतर नहियाँ।
काम के कलोल छूटैं सेजहू को सुख लूटैं,
सूर प्रभु विलसत कदंब की छहियाँ।

निकुंज की सजावट अत्यंत मनोहर है। नील-मणियों का मन्द-मन्द नीला प्रकाश सर्वत्र प्रसरित हो रहा है। गवाक्षिकाओं पर पीले मखमल के परदे लगे हैं जो यमुना पुलिन पर प्रवाहित मंद समीर के झौंकों से शनैः शनैः हिल रहे हैं, कम्पित हो रहे हैं। समस्त निकुंज प्रिया-प्रियतम की उन्मुक्त अंग-गंध की सौरभ से पूर्ण आमोदित है। निकुंज के पूर्व एवं दक्षिण के कोने में एक सुन्दर मणिजटित स्वर्ण पीठिका है, जिस पर जल की भरी हुई दो सुन्दर झारियाँ रखी हैं। कुछ पान-पात्र पार्श्व में रखे हैं। उस चौकी के पार्श्व में एक और रत्नजटित स्वर्णपीठीका है जिस पर चौड़े मुख के स्वर्ण निर्मित प्रक्षालन पात्र रखे हैं।

निकुंज के पश्चिम एवं दक्षिण के कोने में एक और सुन्दर रत्नमयी पीठिका है जिस में भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रृंगार की उपयोगी सामग्री सजी रखी हैं। इस सामग्री को रखने वाले पात्र भी अति कलात्मक कृतियाँ हैं। उसी के समानांतर एक और पीठ रखी है जिसमें अति सुन्दर वृहद् रत्न मंजूषा रखी है, एवं जिसके ऊपरी कपाट ऊर्ध्व खुले हैं, जिससे दर्पण पर प्रिया प्रियतम की शयित छबि प्रतिबिंबित हो रही है।

निकुंज की समस्त दीवार स्वर्ण निर्मित है परन्तु यह स्वर्ण इतना सकुमोल स्पर्शयुक्त है मानो किसलय दल हो और इस पदार्थ में रत्नों से ऐसी सुन्दर प्रिया प्रियतम के निशाकालीन विहारलीला की चित्राकृतियाँ विजड़ित हैं जिन्हें देखने से ठीक प्रतीत होता है मानो चित्र नहीं जीवन्त लीलापात्र हैं।

## शुक सारिका संवाद

निकुंज के पूर्व दिशा के कोने में प्रिया की अत्यधिक प्रिय सूक्ष्मधी नामक गृह-सारिका एक स्वर्ण-दंडी पर जो छत से लगी रेशमी स्वर्णतारों से ग्रथित रस्सी पर झूल रही है, अवस्थित है।

यह रानी की सूक्ष्मधी नामक गृह सारिका जिसे निभृत निकुञ्जान्तर्गत घटित होने वाली प्रिया प्रियतम की सम्पूर्ण निशा विहार लीला की साक्षी द्रष्टा रहने का सौभाग्य प्राप्त है एवं जो निष्पन्द-नेत्र निशापर्यन्त महाभाव की परमोच्च आह्लाद उर्मियों में तरंगायित होती रही है -- सहसा अपने उन्मीलित नेत्र विकसित कर देती है। वह देखती है प्रभातागमनजनित अरुणाई पूर्व दिशा में फैल रही है।

सारिका - "अरे कोई है ? इस हृदयहीन दुर्बुद्धि मलय-मारुत को अनुशासित करो। इसकी निर्लज्जता तो देखो ! मेरे प्रिया-प्रियतम के सुख में बाधा डालने आ गया है। देखो तो सही, बिना अनुमति लिये ही गवाक्ष रंध्रों के पथ से अन्तर्देश में प्रविष्ट हो गया।"

सारी की उक्ति का विराम होते न होते वृन्दादेवी बहुत धीरे-धीरे हाथ में एक स्वर्ण पिजंर लिये हुए निकुंज द्वार के पास आकर खड़ी हो जाती हैं और गवाक्षिका के छिद्र से भीतर दृष्टि डालती हुइ सारिका को मन ही मन प्रणाम कर अपने हाथ के पिंजरे का द्वार खोल देती हैं। पिंजरे में से विचक्षण शुक एवं शुभा सारिका उड़कर कक्ष के भीतर चले आते हैं। वे भी उसी स्वर्ण दंडी में चुपचाप अवस्थित हो जाते हैं जिस पर गृह सारिका पूर्वतः आसीन थी। वे उस गृह सारिका की परिक्रमा करते हैं, और तब प्रिया प्रियतम की ओर देखने लग जाते हैं। प्रिया-प्रियतम की रूपसुधा-पान कर दोनों तृप्त हो जाते हैं। उन्हें भावमुग्ध देखकर सूक्ष्मधी गृह-सारी बोल उठती है --

"आओ ! बहिन शुभे आओ ! तुम्हारा स्वागत है। मेरे जीवनसर्वस्व वल्लभ प्रियतम एवं वल्लभी प्रिया की अनुपम रूपसुधा का पान कर नयनों को

कृतार्थ करो। अहा ! किञ्चित् दृष्टि डालकर देखो तो सही। इन दोनों की रूपसुधा का मैं सम्पूर्ण निशा निर्निमिष नयनों से पान करती रहती हूँ, परन्तु मेरे नयन तृप्त नहीं होते। बहिन ! इस असीम रूप सागर की एक बूँद भी तो मेरी दो आँखों में नहीं समा पाती। फिर तृप्ति हो भी तो कैसे ?

अहो विचक्षण शुक ! रस विलास से श्रान्त निद्रा-सुख अनुभव करते प्रियतम कैसे भले लग रहे हैं ! नीलोत्पलों की शय्या पर अवस्थित प्रिया-प्रियतम के परस्पर ग्रथित पाद पद्मों को तो देखो ! नखों की ज्योति का तो दर्शन करो ! अहा ! नीलसरोवर में चार अभिनव सरोज प्रस्फुटित हो रहे हों और पाँच-पाँच चन्द्रमाओं की चार पंक्तियाँ उन पद्मस्थलों के अन्तराल से उद्भासित हो रही हों, अहा ! कदली स्तंभ की शोभा अपहरण करने वाली अप्रतिम शोभा राशि परस्पर संनद्ध जंघाओं पर से तो दृष्टि हटती ही नहीं।

अरे शुक ! सम्पूर्ण विश्व को विलक्षण संविन्मय सौरभ का दान करने वाले इन नासा पुटों से प्रवाहित श्वास-प्रश्वासों की ओर तो देखो ! मानो अप्रतिम सौरभशाली दो पूर्ण विकसित पद्म हों और उनके दलों को स्पर्श करता हुआ मन्द समीर प्रवाहित हो रहा हो। अरे शुक ! तुम्हारी घ्राणेन्द्रियाँ तुम्हारे मन और अहंकार सहित इनमें ही विलीन हो जायेंगी।

"अरी बहिन सारिके ! प्रिया-प्रियतम की कुंतल राशि की शोभा तो निहार। मानो मधुपान से मत्त भ्रमरावलि दो पद्मों पर विश्राम कर रही हो।

सारिका रूप-सुषमा का वर्णन करती भावाविष्ट हो जयगान करने लगती है --

**अहो ! कांचन-देहिनी शुद्ध स्वर्ण-विडम्बिनी श्रीराधा की जय हो !**
**ताटंक-धारिणी नील-दुकूलिनी किशोरी की जय हो !**
**नव रसिक किशोर-मुख-चन्द्र-चकोरी गोरी की जय हो !**
**विश्व-विमोहन-मनोहारिणी श्यामा महारानी की जय हो !**
**चूड़ामणि-राजित सुकुञ्चित केशी वृन्दावनेश्वरी की जय हो !**
**कृष्णाधर-सुधारस-ह्दिनी वृषभानुनन्दिनी की जय हो !**

सारिका के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर शुक भी जयजयकार कर उठता है तत्पश्चात वृन्दादेवी द्वारा आनीता नवागन्तुका शुभा सारिका कहती है -- "बहिन सूक्ष्मधी, तुम्हारे सौभाग्य की सीमा नहीं है। अहा ! सचमुच ही इन

दोनों मुखचन्द्रों पर नयन लगते ही उनमें वे नयन विजड़ित हो जाते हैं। फिर हटना चाहते ही नहीं। बहिन !

मैं अभी बाहर से उड़कर आयी हूँ। मैने देखा ! पश्चिम गगन में चन्द्र अति त्वरापूर्वक अस्ताचल की ओर बढ़ते जा रहे हैं। ऐसा अनुमान होता है कि इन वल्लभ-वल्लभी के मुखचन्द्र की झलक चन्द्रदेव को गवाक्ष रन्ध्रों से मिल ही गयी होगी, तभी न अतिशय लज्जा से वह तेजहीन हो रहे हैं और अस्ताचल में मुख छिपाने की शीघ्रता कर रहे हैं।

फिर शुभा सारिका उन्मत्त सी हुई जयजयकार कर उठती है ।

अहो ! इन्द्रनील-मणि मंजुल वर्ण की जय हो !!
फुल्लनीप-कुसुमांचित कर्ण की जय हो !!
राधिका वदन-चन्द्र-चकोर की जय हो !!!
सर्व बल्लव-वधू-धृति चोर की जय हो !!!!
केंकी-चन्द्र-विराजित-चूड़ की जय हो !!!!!
राधिकोन्नत पयोधर-धारी की जय हो !!!!!!
गौर धातु-तिलकोज्ज्वल भाल की जय हो !
केलि-चंचलित-चंपकमाल की जय हो !
चर्चित-सुरभि-पटीर की जय हो !
स्वर्ण-कान्ति-परिशोभि-कुटीर की जय हो !
प्रेममत्त वृषभानुकुमारी-नागर की जय हो !

शुक सारिका का जयगान सुनकर प्रियतम के नेत्र एक बार विकसित हो जाते हैं 'परन्तु निद्रा एवं आलस्य वश वे पुनः नेत्र मूँद लेते हैं।

शुभा सारिका पुनः बोल उठती है --

"हे मेरे प्यारे सखा शुक ! मेरे प्राणवल्लभ के मुखराविन्द की ओर तो देख ! इनके अलस भरे नयनों की ओर तो देख ! बिखरी अलकावलि की ओर देख ! ताम्बूल रंजित अधरों की ओर देख !"

विचक्षण शुक भी पुनः जय गान करता नाचने लगता है।

नव जलधर-वर्ण की जय हो।
चंपकोभ्दासि-कर्ण की जय हो।
विकसित-नलिनास्य की जय हो।

विस्फुरन्मन्द-हास्य की जय हो।
कनक-रुचि-दुकूल की जय हो।
चारु बर्हावचूड़ की जय हो।
मुख-जित-शरदिन्दु की जय हो।
केलि लावण्य-सिन्धु की जय हो।
कर विनिहित कन्दु की जय हो।
वल्लवी-प्राण-बन्धु की जय हो।

विचक्षण शुक - "हे सारिके ! मैं तुझसे निशावृतान्त सुनने को अधीर हो रहा हूँ। मेरे प्यारे श्यामसुन्दर और प्रिया रात्रि में सुख पूर्वक सो पाये हैं ? इस वन में अनगिनत चकवाक युगल हैं। उनके आनन्द कलरव से प्रिया प्रियतम की निद्रा में कहीं अवरोध तो नहीं आया ? मैं देखकर आया हूँ। अभी भी यमुना पुलिन में चकवा और चकवी शोर मचा रहे हैं। पूर्वाभिमुख किये ये प्रिया प्रियतम की गुणावली भी गाते जा रहे थे और अस्त होते हुए चन्द्रमा से कह रहे थे :-- चकवी कहती थी --"चन्द्रदेव ! जाओ, सुख पूर्वक जाओ, पुनः आना ! मैं तुझे अब गाली नहीं दूँगी। इस वन में मेरी प्यारी रानी और प्रियतम नीलमणि का राज्य है। यह राज्य अनन्तकाल तक रहेगा और अनन्त काल तक यहाँ के सभी प्राकृत नियम उलटे पुलटे रहेंगे। चन्द्र सुना है कि तुम्हारे दर्शन होते ही चकवे चकवी का विलगत्व हो जाता है, परन्तु मैं तो मेरे चकवे से एक क्षण के लिये भी कभी भी विलग नहीं हुई। भाई चन्द्र ! देखो ! मेरे नेत्रों में न जाने क्या रोग हो गया है ? मुझे चकवे में, तुझमें, निशा के कृष्णाकाश में, यमुना में, पुलिनवर्ती वृक्षों में, लताओं में, सभी पशु एवं पक्षियों में - यहाँ तक कि भूमि-भवन, गिरि-पर्वत में भी प्यारे श्याम सुन्दर भरे दृष्टि गोचर होते हैं। भाई ! बुरा मत मानना मुझे तो सदा ही यह भ्रम रहता है कि उज्ज्वल गगन में तुम्हारा प्रकाश नहीं प्यारे श्यामसुन्दर के ही मुख-चन्द्र का प्रकाश प्रसरित हो रहा है। इसलिये उड़कर उधर की ओर ही देखने लगती हूँ ; चकवा भी मेरे साथ ही साथ उड़ने लगता है। वह मुझसे ज्यों ही आगे बढ़ता है और उसका तन मेरे दृष्टि पथ में आता है मुझे उसमें भी प्रियतम नन्दनन्दन भरे दृष्टिगोचर होते हैं। फिर मैं विस्तृत आकाश से नीचे उतर आती हूँ। तो मुझे भूमि में भी प्रियतम सर्वत्र दिखने लगते हैं।

एक नहीं, अनन्त रूपों में सर्वत्र वे ही दृष्टिपथ में खड़े मुसकाते दिखते हैं। मैं सोच लेती हूँ - यह मुझे मात्र दृष्टि भ्रम ही है। मेरे नेत्रों में उनकी छबि बस गयी है। बहुत सोचती हूँ - ऐसा क्यों हो गया है ? तब एक ही समाधान मिलता है। हम सभी वन-विहंगमों पर हमारी प्राणप्यारी रानी की दृष्टि पड़ती है - और रानी की दृष्टि में, उनके अणु-अणु में प्रियतम ही प्रियतम भरे हैं इसीलिये हम सभी वन-विहंगमों की ऐसी दशा होगी। अत: चन्द्रदेव ! अपनी असंख्य प्राणों से भी अधिक प्यारी रानी पर न्यौछावर होती हुई तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि शीघ्र से शीघ्र पूर्व गगन में लौट आना। तुम्हारे आने से ही मेरी प्यारी रानी अपने प्रियतम से मिल पाती है अत: देर कदापि मत करना। हम वनवासी रानी की अनन्त करुणा के चिर ऋणी हैं। रानी की छाया पड़ने से ही हम इस अनन्त असीम सौभाग्य की अधिकारिणी बनी हैं। मैं रानी की एक तुच्छ सेविका से प्रार्थना मात्र कर सकती हूँ कि मेरी ओर से शंका मत करना कि चकवी मुझे गाली देगी। शीघ्र से शीघ्र पूर्व गगन में उदय होना मैं हृदय से तुम्हारा स्वागत करूँगी।

हे सारिके ! चक्रवाक भी इसी प्रकार चन्द्रमा से प्रार्थना कर रहा था। मैं तो सशंकित था कि चकवे चकवी की इस आनन्द केलि से प्रिया प्रियतम की निद्रा में व्यवधान तो नहीं आया।

शुक सारिका के वार्तालाप से प्रियतम की निद्रा तो टूट जाती है परन्तु वे प्रिया को हृदय से लगाये उसी प्रकार लेटे रहते है। दोनों में से कोई भी नेत्र खोलता नहीं है। हाँ, दोनों के मुख पर मुसकान खिल उठती है।

सखियाँ उधर गवाक्षिकाओं के छिद्रों में दृष्टि डालकर प्रिया प्रियतम की शोभा निहार निहार कर आनन्द में डूब रही हैं। सारिका पुन: बोलती है :-- व्रजेन्द्र-किशोर प्रिये ! व्रजपुरवासी राजपथ में आवागमन करें, इसके पूर्व ही आप शीघ्र गृह प्रस्थान करें। सुमुखि ! दिनकर अत्यंत वेगपूर्वक उदयाचल का आरोहण कर रहा है। अतएव शीघ्र शय्या परित्याग करो। सखि ! आलस्य त्याग करो। स्वयं जाग्रत होओ और प्रियतम को जाग्रत करो। सखि री ! लोक लज्जा का अवसर उपस्थित हो, यह कदापि उचित नहीं है।

**विचक्षण शुक :- नन्द किशोर - भामा की जय हो !**

**अलबेली वर बामा की जय हो !**

रंगीले की जय हो ! प्रिया-प्रेम-पगीले की जय हो ! पियमुखचन्द्र-चकोरी की जय हो ! दुलहिन नित्य किशोरी की जय हो ! प्रिया प्राणधन की जय हो !

रसिक जन-जीवन की जय हो ! राधारमण की जय हो शोभाभवन की जय हो। आनँदकंद की जय हो, श्री वृन्दावनचन्द की जय हो। कृष्ण कृपाल की जय हो ! अम्बुजनयन विशाल की जय हो।

"अहो मेरे प्राण सखा नीलमणि ! प्रिया समग्र निशा की जगी हैं। रमणी जनों का स्वभाव ही है कि उन्हें प्रभात बेला में ही अपने प्रियतम के प्रगाढ़ आलिंगन में बद्ध होने पर ही सुख पूर्वक निद्रा आती है। देखो ! प्रिया कैसी निश्चिन्त हैं इन्हें प्रभात होने का एवं निशावसान का भान ही नहीं है। हे प्यारे ! अपने मुखचन्द्र को आपके मुखचन्द्र से मिलाकर, कर कमलों से आपके कण्ठ देश को धारण कर ये आत्म विस्मृत हो रही है।"

"गोविन्द जागो। प्रिया को जगाओ । देखो ! कालिन्दी अत्यंत विरहातुर है। वे आपाके पथ में नयन बिछाये है। जागो देव ! जागो।"

"देव ! भगवती पौर्णमासी तुम्हारे मुख चन्द्र का दर्शन करने आ पहुँचें, नित्य कर्म सम्पादन कर जननी यशोदा सहित वे आपके शयन कक्ष में प्रवेश करें, इसके पूर्व ही आप शय्या परित्याग कर अपने शयन मन्दिर में प्रवेश कर जायें।

"सखे कृष्ण ! तुम्हारा प्रिय गृह-शुक दक्ष तुम्हारी सेवा में नन्दभवन से उड़ता हुआ अति त्वरापूर्वक आया है। वह सन्देश लाया है कि जननी यशोदा दासियों सहित तुम्हारे शयन-मन्दिर में तुम्हें जगाने पहुँचने ही वाली थीं। उसने यह कह कर उन्हें किसी प्रकार निवृत्त किया है कि - श्रीकृष्ण वन पर्यटन से अति श्रान्त शयित हैं। हे जननी ! उन्हें विक्षेप मत करो। अभी निश्शब्द कार्य करो। दधिमंथन भी किञ्चित् विलम्ब पूर्वक करना ही उचित है।" अतः शीघ्रता पूर्वक जागो, प्रिया को जगाओ और गोष्ठ की ओर निर्जन सुगुप्त पथ से चल पड़ो।

मलयज-रुचि सुन्दर चन्द्रक-चूड़ की जय हो।
संतत-सेवित यमुना कूल की जय हो।
नवाम्बुधि-नील की जय हो।
विलक्षण शील की जय हो। मुखासंगिवंश की जय हो।
शिखण्डावतंस की जय हो।
वराम्भोजनेत्र की सदा ही जय हो।

अप्रतिम सौरभ से वन का कण-कण सुरभित हो उठेगा। देख ! शयन के समय प्रिया-प्रियतम की वनमाला उनके अंगों की दिव्यातिदिव्य सौरभ से सन गई होगी। दिव्य रस से परिभावित वह माला हम सबको आनन्द मत्त कर देगी। प्रिया प्रियतम के नासा पुटों से प्रसरित श्वास निश्वास जन्य दिव्याति-दिव्य सौरभ ही तो हमारा जीवन है। भ्रमरी नृत्य करती है "मेरी प्यारी रानी की अलकावलि की जय। अद्भुत सौरभमयी घन-कृष्ण-कुन्तल-राशि की जय। चन्द्रिका-जटित मणियों से उद्भासित अपरिसीम सौरभवर्षिणी कोमलतम केश राशि की सदा ही जय हो। देख ! मेरे जीवन संगी भ्रमर ! अनन्त कुवलय एकत्रित हों, उनमें अपरिसीम मृगमद का संयोग हो जाय, पुनः आपार कर्पूरचूर्ण की पुट से वह भावित हो उठे, पश्चात् इस सम्पूर्ण ढेर को किसी सौरभमय सुधासागर में निक्षिप्त कर दें। फिर उसका मंथन हो तथा बिन्दु मात्र सौरभ सार निकल आवे - वह भी श्रीराधाकिशोरी की लटों से प्रसरित स्निग्ध सौरभ धारा की तुलना में अत्यंत तुच्छ हेय ही ठहरेगा। चलो ! उस सौरभ धारा में हम सभी अवगाहन करें।"

भ्रमर - "अहा ! मंगल सुमधुरे ! क्या तुमने कभी प्रिया प्रियतम की अधर सुधा का पान किया। अहा ! उस मधुरिमा से सनी सौरभ का तू आस्वादन पा सकती ? देख ! उस दिन यमुना के उस स्रोत के अंक में प्रस्फुटित अरविन्द कोश में बैठा, मैं किंजल्क का रस ले रहा था। रवि अस्ताचल में समा गये थे। और मैं मुग्ध हुआ उसी कोश में बद्ध हो चुका था। सहसा मुझे नुपूरों की झंकार सुनाई पड़ी। और प्रिया की कृपा से मेरे नयनों में अद्भुत प्रकाश का उन्मेष हो गया। मैं उस पद्मकोश के अन्तराल से स्पष्ट देखने लगा - मदनिका एवं रूपमन्जरी प्रिया प्रियतम के विहार के लिये अभिनव सुन्दर शय्या का निर्माण करने जा रही है। सहसा उनकी दृष्टि उस पद्मकोश पर भी पड़ गयी जिसमें मैं आबद्ध था। उन्होंने प्रिया प्रियतम की असीम कृपा से उस पद्मकोश को भी चयन कर लिया और वह कोश भी शय्या के उपकरणभूत सरोरुहों के ढेर में स्थान पा गया। अरी ! सम्पूर्ण निशा मैं उस कोश में आबद्ध हुआ निष्पन्द निर्निमिष नयनों से प्रिया प्रियतम के उस रसमय विहार को कोश के अन्तराल से ही देखता रहा। वाणी में सामर्थ्य नहीं कि उस अप्राकृत दृश्य को व्यक्त करे। ओह अधरों से अधर संलग्न थे। उन अधरों की सुकोमलता, सुन्दरता और पवित्रता अवर्ण्य है। मधु का स्रोत झर रहा था। सहसा युगल दंपति अधर से अधर सटाये ही प्रेम की विलक्षण

महाभाव समाधि में डूब गये। उन दोनों के संलग्न अधरों का रस प्रवाहित हो उठा। उस अधर रस की धार से शय्या में गुम्फित कुवलय पत्रों का सर्वांश सिक्त हो उठा। कोश के बाह्य स्तरों को पार करती रस-कणिका वहाँ आ पहुँची जहाँ मैं स्पन्दन शून्य पड़ा था। मेरा समग्र तन का रोम-रोम, मेरा मन और मेरे प्राण भी उस रस धार से सिक्त होने लगे। और इस प्रकार मैं उस दिव्यतम रस का, उसके अप्रतिम सौरभ का आस्वाद ले सका।" भ्रमरी भी अब पुनः अपनी अनुभूति कहने को आतुर हो उठी -

"मेरे जीवन साथी प्यारे भ्रमर ! क्या तुमने प्रिया प्रियतम के श्री अंगों पर व्यक्त हुए प्रस्वेद का घ्राण पाया है ? सुनो ! सौन्दर्य निकेतन वृन्दा-कानन ने एक दिवस अभूतपूर्व श्रृंगार धारण किया था। चारों ओर वसंत का साम्राज्य था। प्रिया प्रियतम वन सौन्दर्य निहारने लगे। प्रियतम वनस्थली के प्रत्येक भाग का परिचय देते हुए प्रिया श्रीराधाकिशोरी का मनोरंजन करते जा रहे थे। सहसा प्रिया श्रान्त हो गयीं। उनके गोरोचन मंडित भाल पर श्रमकण झलमल करने लगे। अपनी प्रिया को श्रमित जान प्रियतम ने पुरोवर्ती कुंज में प्रवेश किया। वहाँ स्वतः ही वृन्दादेवी ने पद्म शय्या निर्माण की हुई थी। प्रियतम ने प्रिया को उस पर विराजित कर दिया और स्वयं उन पर अपने पीताम्बर को व्यजन बना कर हवा झलने लगे। परन्तु अपने प्रियतम की नेह छबि देखकर प्रिया में सात्विक स्वेद विकार हो आया। उनकी रक्त बिन्दु वाली कंचुकी तो स्वेद से चूने लगी। प्रियतम को उस कंचुकी को अपसारित करना पड़ा। प्रियतम प्रिया के भाल, मुख एवं ग्रीवा, वक्षोज, सभी अंगों के स्वेद अपने पीताम्बर से पोंछने लगे। इससे मुख का, कपोलों का, वक्षस्थलका सभी श्रृंगार विलुप्त हो गया। प्रियतम नवीन श्रृंगार धारण करने चले। फिर तो ऐसा विलक्षण खेल हुआ कि प्रिया प्रियतम दोनों के ही श्रीअंगों से स्वेद की धारा बह चली। बस, प्रियतम श्रृंगार चित्र निर्मित करते और और उनकी ही अँगुलियाँ, हथेली, इतना स्वेद बहा देतीं कि चित्र विकृत हो जाते। प्रिया का रोम-रोम तो बस, स्वेद बूँदे ही बहा रहा था। शय्या का कण-कण स्वेद जल से आर्द्र हो उठा। अब तो मैं संयत नही रह सकी। निकुंज के पुष्प गुच्छों से उड़कर शय्या के समीप सरक आयी। स्वेद की बूँदे झर रही थीं प्रत्येक कुवलय पत्र पर। मैं किसी पत्र का आश्रय लेती पर बरबस वह चलती, मैं अवश थी। मेरा रोम-रोम उस स्वेद सौरभ में सन गया। मैं पूरी डूब ही गयी थी, उस मधुरातिमधुर रस प्रवाह में। अहा ! कैसी

वह सुरभि थी कैसा वह रस था - इसे मैं प्रयास करना चाहूँ तो भी वाणी द्वारा समझा नहीं पाऊँगी। इतना ही कह सकती हूँ कि उस समय मेरे लिये तो काल मान स्थिर ही हो गया था। प्रिया प्रियतम के अंक में विराजित कितने कालतक श्रृंगार धारण कराती रहीं - कितने युग बीत गये उस श्रृंगार के पूर्ण होने में, इसका भान करने लायक मेरा स्मरण-तंत्र बचा ही नहीं था। स्वेद के प्रथम स्पर्श से ही मैं सर्वथा उन्मादिनी हो चुकी थी। आज तक उन्मादिनी हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि उस स्वेद जल में मेरा अंग अंग-अंग सन जाने के कारण तुम मुझे देखकर भ्रमित हो जाते हो। पुष्पों का पराग भूल कर मेरा अनुसरण करने लगते हो और मैं इस डर से भाग चलती हूँ कि कहीं उस सौरभ की छाया तुम पर भी न पड़ जाय और तुम भी उन्मादी न हो उठो। मेरी तरह तुम भी अधिकांश बाह्य-ज्ञान शून्य न रहने लगो।"

लो, भ्रमरी का विलक्षण गायन तो सुन लिया, चले देखें ये चकोर-चकोरी क्या रट लगा रहे हैं। इसे भी सुनें तो सही। अहा ! कैसा प्रेम मस्त हो रहा है।

चकोर - "प्राणप्रिये चकोरी ! पूर्व गगन की ओर क्या देख रही हो ? मूढ़े ! अनुपम मंगल-निधान पूर्ण-चन्द्र को प्रकट करने की सामर्थ्य इस पूर्व गगन में रही ही नहीं। परम मंगल निधान पूर्णचन्द्र एक नहीं अब तो युग्म हैं। आश्चर्य - एक नील राका और दूसरा पीत द्युति शशि। ये दोनों कभी विलग होते ही नहीं। और भविष्य में भी अनन्त काल तक इनका क्षणभर के लिये भी विलगत्व न हो, यही मेरी विधाता से दीन विनय है अरी, ये तो पूर्ण स्वच्छन्द हैं। किसी भी दिशा का इन पर नियत बंधन नहीं। जहाँ कहीं से जब जैसी इनकी रूचि होती है ये प्रकट हो जातें हैं। अहा ! अनन्त काल तक अक्षुण्ण कानन की धरा इनसे उद्‌भासित होती रहे, बस कण-कण इनकी प्रीति ज्योत्स्ना में सना रहे। और हम दोनों इन अपूर्व युग्म-चन्द्र ज्योत्स्ना का आजीवन पान करते रहें।"

चकोरी आनन्द से नृत्य करती - "अहा मेरे कर्णपुटों में कैसा शुभ संवाद तुमने ड़ाला। प्रिय चकोर ! अपार हर्ष ! ये दोनों हमारी ही नहीं, सभी की जीवन निधि बने रहें। प्रिया प्रियतम के मुखचन्द्र-युग्म सभी प्राणी-प्राणी के प्राणों में अनन्त आनन्द सिंधु का सृजन करते रहें। और प्रिय तुमने उनकी नख ज्योत्स्ना का आह्लाद पाया है या नही। हो सकता है, मुख चन्द्र ज्योत्स्ना पान निरत तुम्हारा चित्त उधर गया ही न हो। यदि किसी

अभाग्यवश तुम वंचित हो ही गये होओ, अब ऐसी चूक मत करना। एक नहीं, दो नहीं, दस और दस बीस और पुनः बीस इन चालीस चन्द्रों से जो अपरिसीम सुधा का स्रोत प्रसरित होता है, मेरे प्राणधन ! उससे अब भविष्य में कदापि वंचित मत होना।"

अब देखो ! इस संकेत कुंज के चतुर्दिक् न जाने कहाँ-कहाँ से असंख्य पक्षी एकत्रित हो गये हैं। इन्हें विचक्षण शुक दूर-दूर के वनों से आह्वान करके लाया है। ये अपने अपने नियत स्थानों में बैठकर प्रिया-प्रियतम के कुञ्ज बहिर्गमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये अपनी अपनी भिन्न-भिन्न वाणी में प्रिया प्रियतम का मंगल गुणगान कर रहे हैं।

सारिका - "निकुंज महारानी की जय हो ! प्रफुल्लित अरविन्द के समान मुख वाली, सौरभपूर्ण किंजल्क से पूर्ण पद्मकोशों के समान वक्षोजों वाली, सरोरुह जैसे नेत्रों वाली नित्य किशोरी की जय ! अब दक्ष शुक की वाणी सुनो- वह सम्पूर्ण शुक समाज का नेतृत्व कर रहा है। "अहा ! नील तमाल से भी अत्यंत नील जिनकी आभा हैं, जो सदा घनी केसर, कस्तूरी एवं कुंकुमादि के पंक से लिप्त रहते हैं, जो नक्षत्र-मालाओं के समान वज्रमणि हारावली से विभूषित हैं, जिनके वक्षस्थल पर राधारानी का मुख चन्द्र सदा प्रतिबिंबित है - उन व्रज-नव-युवराज की जय हो।

अब मयूरी की उक्ति सुनो - "जय हो ! प्रिया किशोरी रानी के सुन्दर चरण चिन्हों की जय हो ! अहा ! शंख की कैसी विलक्षण शोभा है - वेदी और स्पन्दन, मीन और पर्वत तो चित्त को परम एकाग्र कर अपने में ही लय कर रहे हैं।

लो तांडविक मयूर आह्लाद से नाचता हुआ कहने लगा - अरे मयूरों, शुकगणों, सभी पक्षियों, मेरी बात चित्त में दृढ़तापूर्वक धारण कर लो। बस विश्व का सम्पूर्ण आनन्द तुम्हारे करतलगत हो उठेगा। प्रिया प्रियतम के सुन्दर चरण चिन्हों में ही रम जाओ। अहा ! पद्म कैसा विकसित हो रहा है। इस ध्वज पर से तो मेरा चित्त हटता ही नहीं। वलय और अंकुश, यह जौ और ऊर्ध्व रेखा, स्वस्तिक, एवं अष्टकोण, इन्द्रचाप एवं त्रिकोण सभी एक से एक मनोहर हैं। अहा ! कलश और अर्ध चन्द्र, अम्बर, मत्स्य और गोपद सभी अतुलनीय शोभामय हैं।

पक्षियों का इस प्रकार कलरव चल ही रहा था। वे अति उत्कण्ठापूर्वक निकुंज द्वार में अपनी दृष्टि जमाये थे और प्रतीक्षा कर रहे थे - कब द्वार

खुलें और प्रिया प्रियतम के उन्हें मनोहारी दर्शन प्राप्त हों। उनकी उत्कण्ठा शनैः शनैः बढ़ती ही जा रही थी।

## वीणा वादन एवं जागरण

(यहाँ यह बात पाठकों के सम्मुख पुनः पुनः रखनी है - ये सभी लीलाएँ उच्च कोटि के उन साधकों के लिये हैं जिनका काम-भाव सर्वथा सर्वांश में बीज सहित निरस्त हो चुका है। साथ ही जिनमें भगवान श्रीकृष्ण एवं राधा रानी के प्रति रमण-रमणी बुद्धि सर्वथा नहीं रही है। यहाँ नारी-पुरुष, रमण-रमणी की कल्पना ही नहीं है। महा प्रीतिभाव ही आस्वाद्य तथा आस्वादक, आश्रयालंबन एवं विषयालंबन के रूप में प्रिया प्रियतम बन गया है। ये प्रिया भी क्षण के कोटि भाग में ही प्रियतम हो जाती हैं और प्रियतम प्रिया। अतः इदमित्थं न प्रिया हैं एव न ही प्रियतम। सखियाँ, मञ्जरियाँ, दासियाँ, यही नहीं, वन उपवन, गिरि, ह्रद, सरोवर, सरिता, नंद, यशोदा, वृषभानु, कीर्तिदा, सभी निद्रा महाभाव में एक विलक्षण प्रेम समाधि में समाकर प्रिया प्रियतम से एक हो जाते हैं। कोई श्रीकृष्ण सिन्धु में डूबकर कृष्णसिन्धु हो जाता है और कोई प्रिया-सिन्धु में डूबकर प्रिया-सिन्धु हो जाता है। यहाँ का स्वप्न भी जागरण है और जागरण भी स्वप्न है। अतः यहाँ लौकिक, प्राकृत आवेश है ही नहीं। नित्य उच्छलित आनन्द लहरा रहा है। यह सब अप्राकृत राज्य के पात्रों में संघटित हो रही लीलाएँ हैं, जो पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा जैसे लोकोत्तर महासिद्ध सन्त के अन्तःकरण में व्यक्त हुई हैं। शब्द देने की लेखक की तो सर्वथा सामर्थ्य नहीं है। लेखक के महाभाग्य उदय हुये थे कि उसे श्री गुरुदेव की कृपा से इन्हें सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। लेखक ने अनचाहे ही अपनी शब्द देने की अयोग्यता के कारण इन लीलाओं का सम्पूर्ण माधुर्य, समग्र सौन्दर्य, और सारी पवित्रता नष्ट कर दी है। परन्तु वह निरुपाय है। हाँ ! यह सत्य है कि इन लीलाओं को पू० गुरुदेव श्री राधा बाबा को उनके काष्ठ मौन के पूर्व ही दिखाया जा चुका है। उनकी अनुमति लेकर ही लेखन कार्य हुआ है। उनकी इस सम्पूर्ण लेखन सामग्री पर दृष्टि पड़ चुकी है। इतना ही नहीं इसमें से बहुत पंक्तियाँ तो उनकी स्वयं की उनके स्वयं के हस्ताक्षर से लिखी गयी हैं। अतः वे मंत्र भी इनमें

सम्मिलित हैं। साथ ही उनकी अनुमति से बारह कृपापात्र व्यक्तिओं को इन्हें देने के लिये स्वीकृति मिल चुकी है। इसीलिये उनकी जीवनी के साथ इन्हें संबद्ध करके पाठकों के लाभ के लिये प्रकाशित की जा रही हैं इसमें जो भी अपराध लेखक द्वारा यदि हुआ है तो वह क्षमा प्रार्थी है)

श्री राधा किशोरी की निद्रा भाव समाधि का अवसान हो चुका है। किन्तु फिर भी वे अपने आपको निद्रित सी बनाकर निस्पन्द लेटी हैं। निद्रितवती, निमीलिताक्षी निज प्रिया की रूप माधुरी का पान प्रियतम अत्यन्त ललक भरी दृष्टि से करने लगे। वे अपनी प्रियतमा का बार-बार आलिंगन करते हैं। कपोलों पर प्रीति चिन्ह अंकित कर देते हैं। किशोरी के नेत्र-सरोजों पर अपने अधर स्थापित करते हैं और कभी उनकी बिखरी कुन्तल राशि को अपने हाथों सहलाते हैं, उन कुन्तलराशि पर भी अपने प्रीति चिन्ह विजड़ित कर देते हैं, उनकी दिव्य गन्ध को बार-बार सूँघते हैं और फिर आनन्द मत्त हुए अपनी प्राणप्रिया को पुनः अपने भुज-पाश में बाँध लेते हैं। उनके नयनों में एवं सर्वांगों में इस प्रकार अत्यधिक आलस्य महाभाव भरा है कि पुनः उनके नयन मुँद जाते हैं और अपनी प्रियतमा के वक्षोजों पर मस्तक रख वे पुनः प्रीति समाधि में निद्रावश शयित हो जाते हैं।

लो ! प्रभात होने के उपरान्त भी प्रिया प्रियतम के पुनः आलस्यवश शयित हो जाने पर प्रिया की बेसर के श्याम रत्न में से मंजुश्यामा उनकी भगिनी प्रकट होती हैं, एवं उनके वाम कपोल स्थित मसिबिन्दु से मंजुलीला प्रकट हो जाती हैं। उसी समय प्रिया प्रियतम दोनों की समग्र गुणावली भी गुण मंजरी के रूप में उनकी कटि किंकणी से व्यक्त हो जाती है। निद्रा काल में ये सब प्रिया-प्रियतम में समाहित थीं, अब उनके जागरण लीला की भूमिका के निर्माण के लिये इन सभी विशिष्ट लीला-पात्रियों की अभिव्यक्ति मूर्तरूप में हो रही है। ये तीनों अपने नूपुरों का शब्द न हो, अतः उनमें रेशमी सुन्दर वस्त्र लपेटे हैं। मंजुलीला एक स्वर्णिम रत्न-जटित अति सुन्दर थाल में तूलिका एवं विलेपन-योग्य परम सौरभयुक्त सुगन्धिद्रव्य कटोरियों में रखकर लायी है। वे प्रिया-प्रियतम की शय्या से सटाकर एक स्वर्ण पीठिका में इस सब सामग्री को रख देती हैं। श्री गुणमंजरीजी नवीन रत्नहार, मुक्तामालाएँ एवं अन्य आभूषण एक रत्नजटित थाल में लिये हैं, जिससे कि निशा विहार के

समय भग्न-आभूषण परिवर्तित किये जा सकें। श्री मंजुश्यामा जी खाली हाथ हैं।

तीनों सखियों की दृष्टि प्रिया प्रियतम एवं इनकी शय्या की ओर जाती है। वे देखती हैं प्रिया-प्रियतम परस्पर आलिंगन में आबद्ध बहिर्ज्ञान शून्य भाव समाधि में लीन हैं। तीनों सखियाँ इस शोभा को देखकर चकित हो जाती हैं। भावोदय के कारण उनके नेत्र मुँदने लगते हैं, परन्तु वे संयमपूर्वक अपने भावजन्य विलयावेश को रोकती हैं।

श्रीमती की वेणी उन्मुक्त है। उसमें गुम्फित मुक्ता और रत्न मालाएँ उनके शीश फूल नामक आभूषण को घेर कर पड़ी हैं। प्रियतम का मुकुट और मयूर पिच्छ कुंड़लों से लिपटा पड़ा है मुकुट और कुंड़लों के पास श्रीकृष्ण की लटों में पिरोये हुए मुक्ता माणिक्य शोभा दे रहे हैं। इनके नीचे प्रियतम के उत्तरीय का आलिंगन किये वनमाला शयित है। इधर प्रियतमा के समीप उनके गले का स्वर्णहार मानो किशोरी के दिव्य स्वर्णकुण्डल और कानों के चक्री नामक आभूषण को प्रणाम करने के उद्देश्य से साष्टांग मुद्रा में लेटा हुआ है।

उसी के पार्श्व में श्रीराधा किशोरी की कंचुकी पड़ी है। उसके पार्श्व में क्रमशः अलकावली को संवरित करने की दो शलाकाएँ, वलय, कंठहार, अंगुलीयक एवं ताराहार, भुजाओं में पहनने के अंगद, रत्नचूड़ियाँ, चरणों में पहनने के नाना प्रकार के मणि जटित नूपुर, मंजीर, और कमर की करधनी और पादांगुलीयक पड़े हैं। इस ओर श्रीकृष्ण के पार्श्व में उनका उत्तरीय शांत पड़ा है। उससे सटकर उनके बाहुओं के वलय, कंकण, अंगुलीयकों के साथ अनेक रत्नहार, कटि-किंकणी, पैरों के अंगुलीयकों से उलझा पीताम्बर अपनी शोभा विस्तार कर रहा है।

प्रिया-प्रियतम ऐसी शोभा है मानो रूप के दो पुंज परस्पर मिले विराज रहे हैं। निशा-विहार के चिन्हों की ओर मंजुश्यामा बहिन का ध्यान चला जाता है। वे उन्हें कस्तूरी पंक से छिपा देती हैं। अधरों पर नेत्रों के कज्जल की रेखा है वे उसे मुसकाकर रक्तिम अंगराग से छुपा देती हैं। श्री गुणमंजरी मंजुश्यामा जी के पार्श्व में शान्त स्थित रानी का अप्रतिम रूप निहारती भाव में मूक भाषा में बोल उठती हैं – हे सुन्दरी ! विधाता ने अहा ! जब तेरी यह विलक्षण गरिमामयी देह यष्टि का निर्माण किया तो अपनी कला की इति ही कर दी है। कुछ भी सौन्दर्य कहीं भी बचा कर नहीं रखा। सम्पूर्ण सौन्दर्य को

तेरे अंगों में ही उड़ेल दिया है। अरी सखि ! इस शोभा राशि का दर्शन कर लेने पर सम्पूर्ण भुवन एवं चतुर्दश लोक नीरस लगते हैं। तेरे चरणों के तालुप्रदेश की लालिमा पर ऐसा लगता है जैसे रति, कमला, और शची तीनों को बलिहार कर दूँ। कुवलय-दलों पर विराजित तेरे रोम-रोम से सहज माधुरी की जो राशि प्रस्फुटित हो रही है, उसका पान कर मेरे नयन छलकने लगे हैं।

प्रिया प्रियतम का श्रृंगार यथास्थान उचित प्रकार धारण करवा देने पर गुणमंजरी, मंजुलीला एवं मंजुश्यामा निष्पंद बिना कोई ध्वनि किये कुंज से बाहर आ जाती हैं। इधर वृन्दा के विनय करने पर ललिता सुन्दरी कुंज प्रकोष्ठ के बाहर वीणा वादन करने लगती हैं। भैरवी की कोमल स्वर लहरी वीणा की मधुर झंकार के साथ गूंजने लगती है। कोमल गांधार और कोमल निषाद की झंकृति सातों स्वरों पर अपना आधिपत्य जमा बैठी हैं। भैरवी रागिनी मूर्तिमती होकर वीणा पर आसीन हो गयी हों, इस प्रकार वीणा श्रीललिता सखी की कोमल अँगुलियों के संकेत पर तान भर रही हैं।

लो प्रिया-प्रियतम उस संगीत स्वरलहरी में सखियों द्वारा जगाये जाने का त्वरापूर्ण संकेत समझ कर सरस मुद्रा में जागने का उपक्रम करने लगते हैं। वीणा की स्वर लहरी इतनी सरस है कि वह प्रिया-प्रियतम को उसका रस लेने को बाध्य कर दे रही है। दंपति श्रीतार वीणा का रस लेने लगे। जब भी बंदिश में सम आता है, प्रिया प्रियतम दोनों की गरदन अनुमोदन में हिल जाती है। जो उनके रस में मस्त होने का लक्षण है।

सहसा प्रियतम की दृष्टि प्रिया के मुखारविन्द की ओर केन्द्रित हो जाती है। वे किञ्चित मुसकाते हुए अलकावलि मण्डित मुख के सौन्दर्य का पान करने लग जाते हैं।

रानी अपनी मृणाल सी भुजाओं को उठाकर अँगडाई लेती हुई आलस्य का निवारण करती हैं। उस समय उनके अधरों पर विराजित स्मिति की, अर्धमुक्त कबरी की, विमर्दित कुसुम माला की, अस्तव्यस्त हुए रत्न हारों की, आलस्य भरे विघूर्णित नयनों की छबि का दर्शन करते-करते व्रजकुल चन्द्र आनन्द से उन्मत्त हो उठते हैं।

रानी यद्यपि पूरी जाग्रत हैं परन्तु वे रति-श्रम से श्रान्त होने के कारण था आलस्य के आवेश से अपने तमाल-नील प्रियतम से पुनः लिपट जाती हैं। से चंचल विद्युल्लता नवीन मेघ में स्थिर हुई शोभा पा रही हो- श्री किशोरी

मंजरी चन्दन पात्र ग्रहण करती हैं। श्री विशाखा जी रति मंजरी को चित्र विचित्र रत्नों से जड़ा स्वर्ण रचित जल पात्र उठाकर देती हैं।

सखियाँ प्रिया-प्रियतम के रति-चिन्ह चिन्हित अंगों का दर्शन कर अपने को परम कृतकृत्य एवं कृतार्थ अनुभव करती हैं। उनके अधरों पर अपने प्रियतम के दशन चिन्ह, कलेवर पर नख चिन्ह, उनका विलास जन्य अलस भाव, वेष-विन्यास की अस्त व्यस्तता, विगलित कुंडलों की आभा, विच्छिन्न मणि-मुक्ताहारों की शोभा, कंठ प्रदेश में विमर्दित वन माला का सौन्दर्य - निहार-निहार कर सभी के नेत्र आह्लाद में मुग्ध हो रहे हैं।

श्री तुंगविद्याजी स्वर्ण दंडी युक्त व्यजन धारण कर लेती हैं और शनैः शनैः प्रिया प्रियतम पर व्यजन करने लगती हैं। श्री मंजुश्यामा स्वर्ण पिंजर में सारिका को समाविष्ट करती हैं और द्वार बन्दकर उसे अपने हाथों में सम्हाल लेती हैं।

सूर्योदय होने में अभी विलम्ब है। बन श्रेणी पर उषा कालीन सौन्दर्य छाया हुआ है। निकुंज के इधर-उधर हरिणी चौकड़ी भर रहे हैं। कदम्ब पर बैठी कोकिलें कुहू-कुहू की तान अलाप रही हैं। मालती-जुही आदि लताएँ नाना प्रकार के वृक्षों को आच्छादित कर मह-मह महक रहीं हैं। पुष्प विकसित हैं, उन पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं।

इतने में मुसकाती हुई वृन्दादेवी भी समुपस्थित हो जाती हैं। उनका निवेदन है कि आज उन्होंने वनवासिनी सखियों के सहयोग से अद्‌भुत वन श्रृंगार किया है, अतः अपनी दृष्टि प्रिया प्रियतम अवश्य ही अब शीघ्र उस पर ड़ालें।

रति मंजरी से लवंग जल की झारी लेकर प्रिया प्रियतम को गण्डूष (कुल्ला) कराने को उद्यत होती हैं। विमला कुल्ला करने का प्रक्षालन पात्र जो पास ही रखा है - उसे हाथ में उठा लेती हैं। पहले प्रिया एवं पश्चात प्रियतम पहले अपने नेत्र धोते हैं और तब जल-गण्डूष करते हैं। शीतल जल से भरा पान-पात्र चित्रा रानी के हाथों में देती हैं - रानी पात्र को प्रियतम के होठों से लगा देती हैं। प्रियतम धीरे-धीरे प्रिया के मुख पर दृष्टि जमाये आधा गिलास जल पी लेते हैं, फिर पात्र को प्रिया के होठों में लगा देते हैं। प्रिया लज्जावश पीना नहीं चाहतीं प्रियतम बायें हाथ से उनका इतने प्रेमाग्रह से कन्धा स्पर्श करते हैं एवं वह पात्र प्रिया के अधरों से सटाये ही रखते हैं, अन्ततः प्रिया कुछ घूँट जल धीरे-धीरे पी लेती हैं। फिर सखियाँ दोनों का

श्रृंगार नवीन वस्त्राभूषणों से करती हैं जो ठीक पुराने वस्त्रों एवं आभूषणों की हू-बहू अनुकृति ही हैं।

अनेक सखियाँ श्याम सुन्दर प्रियतम की शय्या पर, एवं अनेक नीचे कालीन पर बैठी हैं, कुछ उन्हें घेरे खड़ी हैं। उन सबके मध्य प्रिया प्रियतम की अनिर्वचनीय शोभा समस्त निकुंज को आनन्द से सराबोर कर रही है। प्रियतम की अंगकान्ति नीलमणि के समान दमक रही है। प्रिया प्रियतम को गुणमंजरी चरण प्रदेश तक लम्बी अत्यन्त सुन्दर शतरंगी पुष्पों से रचित अनन्त सौरभमयी माला धारण कराती हैं। तत्पश्चात् रूपमंजरी ललिता के आदेश से प्रिया प्रियतम को केसर-कर्पूर कुंकुम सिक्त चन्दन चर्चित करती हैं। सुन्दर वनमाला से विभूषित चन्दन से चर्चित पीतवसन धारण किये प्रियतम सुन्दर गोपरामाओं के साथ पुनः केलि-परायण हो उठते हैं। उनके कंपित मणि-कुण्डल एवं उनके उन कुण्डलों से दमकते उनके कपोल युगल, उनकी दंत-पंक्ति, सुकोमल गुलाबी अधर सब शोभा परम निराली फब रही है।

सखियाँ किशोरी से विनोद हास करती हैं। रानी के कपोल आनन्द से विकसित हो उठते हैं। किशोरी रानी के कपोल इतने निर्मल एवं ज्योतिर्मय हैं कि उन कपोलों में प्रिय छबि का प्रतिबिंब पड़ रहा है या नहीं, सखियाँ बार बार अनुसंधान करती हैं। प्रिया के आनन सरोज पर से प्रियतम की लुब्ध दृष्टि हटती ही नहीं। सखियों के आनन्द का पार नहीं है। उनके अंगों में सात्विक भाव उदय हो रहे हैं। कोई स्वेद से लथपथ हो रही है। कोई अट्टाहस कर रही है। किसी को कम्प हो रहा है। वह इस प्रकार काँप रही है जैसे तूफान से वृक्ष काँप रहे हों। किसी को अश्रुप्रवाह अनवरत हो रहा है कोई लज्जा से लाल हो रही है।

श्री मंजुलीला मंजरी सुगन्धित ताम्बूल अर्पण करती हैं। वे प्रिया के मुख से आधा ताम्बूल चर्वित कराके आधा प्रियतम को दे देती हैं। प्रियतम मंजुलीला को भुजा में भर लेना चाहते हैं पर वे पीछे हट जाती हैं।

सखी मंडली सहित प्रिया प्रियतम निकुंज के बाहर आ जाते हैं। बाहर एक विलक्षण चन्द्रातप तना है। यह ऐसी सुभग चन्द्रकान्त मणियों से जड़ा है जो निशापर्यन्त शीतल ज्योत्स्ना छिटकाती रहती है। पुष्पों से लदी सघन लताएँ बरामदे को चारों दिशाओं से घेरे शोभित हैं। उस चन्द्रातप से होते हुए सभी बाहर उपवन में आ जाते हैं। मन्द समीर के झोंकों से हिलती लताएँ मानो दम्पति से प्रार्थना करती हैं -- हमारे जीवनाधार ! निशापर्यन्त तुम्हें

हृदय में छुपाये बैठी रही अब जा रहे हो .... जाओ ... क्या ऐसा विधान संभव है कि तुम्हें एक पल भी अपने अंक से विलग न करूँ । ना ... ना.. मत जाओ।

आगे उपवन के प्रांगण के चारों ओर बड़ी-बड़ी गुलाब की क्यारियाँ हैं। परन्तु इनमें विलक्षणता यह है कि काँटे सर्वथा नहीं है। बड़े-बड़े सुगन्धित स्थल पद्मों के समान गुलाब खिले हैं।

इसी समय वृन्दा देवी के आदेश से शुभा सारिका बोल उठी -- "हे कमल नेत्रे प्रिये ! अभिवादन ! तुम्हारे आवास के सभी गुरुजन जाग्रत हो उठे हैं। उन्होंने गोदोहन भी समाप्त कर लिया है। गोशालाओं दुग्ध के असंख्य भाण्ड़ उठवाकर गोपगण गृहों की ओर प्रस्थान कर चुके हैं, अतः शीघ्रता पूर्वक शयन मन्दिर में जाकर विश्राम करो।"

हे मुग्धे ! तारागणों के सहित चन्द्र गगनतल में अदृश्य होने लगा। राजपथ जन समूह से पूर्ण हो, उसके पूर्व ही क्रीड़ा कौतुक का परित्याग कर कुंज से गोष्ठ की ओर प्रस्थान करो।

हे सरले ! तुम्हारे गुरुजन वास्तुपूजन की सभी सामग्री सम्पादित कर चुके हैं, वे तुम्हें उठाने शयन मन्दिर में पहुँचने वाले हैं, अतः शीघ्रता करो।

सारिका के वचन सुनकर रानी अतिशय व्यथित हो उठी। प्रियतम संग विच्छेद से दु:खिता वे प्रियतम के पीताम्बर में मुख ढ़ाँप कर वक्षस्थल से लिपट जाती हैं।

प्रियतम भी भावी विरह की व्यथा से विषादित हुए प्रिया का बार-बार गाढ़ालिंगन करते हैं। वे एक दूसरे के गले में बाँहें डाल कुछ क्षण एक दूसरे के मुखराविन्दों को अतृप्त नयनों से देखते हैं फिर वियोगाशंका से गंभीर श्वास लेते हैं। दोनों के मुख से स्वाभाविक उल्लास धूमिल हो जाता है। सखियाँ भी उदासीन हो जाती हैं।

ललिता रानी को प्रसन्न करने के लिये सम्बोधित करती हैं - री ! तुझे विस्मरण तो नहीं हुआ - आज प्रतिदिन की अपेक्षा शीघ्र सूर्य-पूजा के लिये जाना हैं। सूर्य व्रत आज से ही प्रारंभ हो रहा है।

ललिता की यह उक्ति सुनकर प्रिया एवं प्रियतम दोनों ही पुनर्मिलन की कल्पना से आनन्द में भर जाते हैं। दोनों के मुख पर उल्लास छा जाता है। सखियाँ भी उल्लसित हो जाती हैं। प्रियतम अतिशय कृतज्ञता मृदुलता भरी दृष्टि से ललिता की ओर निहारते हैं।

श्री मंजुलीला ने प्रिया का ताटंक जो शय्या में ही प्रिया भूल गयीं थीं, उठा लिया। उन्होंने उसे अपने अंचल में बाँध लिया। श्री मंजुलीला जी ने प्रिया प्रियतम का मुख शुष्क देखकर उन्हें ताम्बूल पात्र से ताम्बूल दिये। श्री गुणमंजरी प्रिया का (पीकदान) ताम्बूल विसर्जन पात्र उनके मुख के आगे कर देती हैं। प्रिया प्रियतम उस में मुख का चर्वित ताम्बूल शेष उगल देते हैं। उस (पीकदानी) ताम्बूल विसर्जन पात्र में बहुत से निशा काल के विसर्जित किये हुए ताम्बूल चर्वित शेष तथा अर्ध चर्वित ताम्बूल खण्ड पड़े हुए हैं, उन्हें श्री गुण मञ्जरी जी सब सखियों में वितरण करती हैं। फिर वे झारी से जल लेकर उस पात्र को स्वच्छ कर देती हैं। जैसे ही जल धोकर वे उसे फेंकती है उस पर शुक सारिकादि वृक्षों पर बैठे पक्षी ताम्बूल अवशिष्ट लेने आ जाते हैं। उस धोवन में प्रिया प्रियतम के मुख की ऐसी सुवास भरी होती है कि पुष्प मकरन्द को त्याग कर भ्रमर दल उस पर मँड़राने लगता है।

गुलाब की क्यारियों से होते हुए सखी मंडली सहित श्री प्रिया-प्रियतम कदली वन में प्रवेश करते हैं। इसके पश्चात वे अत्यंत सुगन्धित पुष्पों से भरे उपवनों मे से होते हुए विश्राम कुंज के मुख्य द्वार पर पहुँच जाते है। मुख्य द्वार से आगे बहुत ही मनोहर घाट हैं और घाट पर यमुना का निर्मल प्रवाह प्रवाहित हो रहा हैं घाट के ऊपर एक विशाल वट वृक्ष है। इस वृक्ष के नीचे खड़े होकर दम्पति यमुना की शोभा निहारने लगते हैं।

## यमुना-संतरण

तपन तनया तुमि ; तेई कादम्बिनी
पाले तोमा शैल नाथ कांचन भवने।
जन्म तव राजकुले (सौरभ जनमे फूले)
राधिका रे लज्जा तुमि कर कि कारणे ?
तुमि कि जानो ना सेउ राजार नन्दिनी ?

प्रियतम नील सुन्दर - "प्रिये देखो, यमुना की क्या ही मनोहर शोभा है। दूर-दूर तक तट-प्रदेश चित्र-विचित्र रत्नों से जटित है। ,उन रत्नों की उज्ज्वल कान्ति से दिव्य प्रकाश चारों ओर निखर रहा हैं। देखो तट के निकट अनन्त पक्षियों के समूह कलरव कर रहे हैं। जल में चित्र-विचित्र पक्षी

हंस-सारसादि के अगणित समूह एवं रंग-बिरंगी मछलियाँ, सभी आनन्द मत्त हैं। फिर विलक्षण रंगों के कमलों की शोभा तो सर्वोपरि है। इन श्वेत, पीत, रक्त, नील कमलों से लिपटीं कमलिनियाँ और इन सभी पर मदमत्त हो गुंजार करते मधुपों के अगणित-दल और इनके मध्य विहार करते हंस-हंसिनियों के युगल जोड़े सभी कैसे मनोहरी हैं। प्रिये ! ये प्रस्फुटित कमल ही जैसे यमुना सखी का मुख सरोज हों, तट प्रदेश में रत्नों और मणियों से विजड़ित लघु-लघु पर्वत ही मानो इसका मुकुट हो, शोभावली नीलोत्पल ही इसके दीर्घ कृष्ण नयन हों, चकवाक् दम्पति का दल ही इसके स्तन मंडल हों, देखो हंसों की उदार गति ही इसका मनहरण गमन आर युगल तट ही इसके दोनों नितम्ब हों और रस स्वरूप नीला जल ही जो प्रवाहित हो रहा वही इसका नील निचोल परिधान है, रंग-बिरंगी मछलियाँ इसकी मेखला हैं ऐसी शोभामयी तरणि तनया तेरा स्वागत कर रही है। आओ, प्रिये, नौकाओं में संतरण करें। प्रियतम के ऐसा कहते ही --

यमुना की लहरियों में रंग-बिरंगे रंगों से सजी रत्न जटित नौकाएँ, कोई मयूर की आकृति की, कोई श्वेत हंसाकृति की, कोई प्रस्फुटित कमल के समान गोलाकार आकृति की, कोई अविकसित पद्म-कोश के समान ऊर्ध्व आकार वाली, कोई मीनाकृति, कोई वृहद् तिमिंगलाकृति वाली नाच उठी । सभी नौकाएँ तट पर स्वभवतः ही आ लगीं । गोपबालाएँ जिसको जो रुचिकर लगी उन नौकाओं पर आरुढ़ हो गयीं ।

महती आश्चर्य इस बात का था प्रत्येक नौका में आरुढ़ गोपी को यही अनुभव हो रहा था कि प्रिया-प्रियतम उसी की नौका में आरुढ़ हैं एवं वह प्रिया से सटकर उसके पार्श्व में ही आसीन है ।

अत्यंत सुन्दर प्रस्फुटित कमल के समान बर्त्तुलाकार नौका पर प्रिया-प्रियतम आरुढ़ हुए । श्रीगुणमंजरी एवं मंजुलीला मंजरी नौका संचालन करने लगीं । प्रिया-प्रियतम की नौका को घेर कर सभी सखियों की नौकाएँ चल रही थीं ।

धीरे-धीरे यमुना की लहरियों में सभी नौकाएँ बढ़ने लगीं । यमुना में कहीं भी पंक हुए बिना ही सुन्दर कमल खिले हैं । प्रियतम-प्रिया को प्रसन्न करने के लिये यमुना में खिले कमल वनों की ओर ही नौका का रुख करने का संकेत, वाहक सखियों को करते हैं और खिले सुन्दर कमलदलों को

तोड़कर किसी कमल को उनकी वेणी में खौंस देते है किसी सुन्दर नीलकमल को प्रिया के हाथों में सौंप देते हैं।

प्रिया-प्रियतम की नौका को घेरकर संपूर्ण जल पक्षी अपने अंगों की मनोरम शोभा से प्रिया-प्रियतम के नेत्रों को, अपनी सुमधुर काकली से उनके कर्णपुटों को सुख देते उनकी नौका के आस-पास जल में संतरण करने लगते हैं। श्रीगुणमंजरी प्रिया को बहुत सी द्राक्षा, बादाम, काजू, पिश्तादि सूखा मेवा देती हैं जिसे प्रिया-प्रियतम नाव के साथ चलते पक्षियों को अपने हाथों खिला रहे हैं । प्रिया-प्रियतम की अंगगंध से लुब्ध भ्रमर अपने प्रिय पद्मों को छोड़कर दल बनाकर प्रिया-प्रियतम की अंगसौरभ से लुब्ध हुए उनकी परिक्रमा करते गुंजार कर रहे हैं । उनकी गुंजार से सब वातावरण मुखरित हो रहा है।

हंस-हंसिनियों का विहार देखकर प्रेमावेश के कारण प्रिया, प्रियतम के वक्षस्थल से लिपट जाती हैं । कभी कमल दलों का सौन्दर्य देखकर उनका मुख निर्निमिष नेत्रों से देखने लगतीं है । फिर गोष्ठगमन जनित वियोग की आशंका में इस प्रकार काँप जाती हैं जैसे वर्षा ऋतु में वज्रपात से वन की तरुराशि काँप जाती हो ?

प्रियतम प्रिया के भावी विरहदु:ख को यथाशक्य भुलाने का प्रयास करते हैं परन्तु जल में चकवाक-चकवाकी को परस्पर मिलते देख उनका मन अधीरता की सीमा लाँघ जाता है । वे दोनो परस्पर अलिंगित हो जाते है ।

शनैः शनैः प्रिया प्रियतम एवं सखियों की नौकाएँ यमुना के बालुका मय तट पर आ लगती हैं ।

प्रिया प्रियतम अब एक दूसरे से पृथक होकर गोष्ठ गमन करेंगे, इसलिये उनका एक बार एकान्त मिलन हो जाय- इस इच्छा से सभी सखियाँ प्रिया प्रियतम से कुछ दूरी पर वृक्षों की ओट में स्थित हो जाती हैं । प्रिया प्रियतम भावी विरह के दुख को न सह सकने के कारण एक दूसरे के प्रगाढ़ आलिंगन में लिपट जाते हैं ।

उनकी प्रेमालिंगन जनित प्रगाढ़ भाव-स्थिति ऐसी हो जाती है कि न उन्हें बाह्यज्ञान रहता है एवं न ही अपने आपका ।

परन्तु आश्चर्य काल भी उनके भाव का अनुसरण करता थम जाता है,वह गतिशील तभी होता है जब श्री रूपमंजरी उनका हाथ धारण किये उन्हें गुप्त

पथ से वृषभानु महल में ले जाती है तथा प्रियतम शंकित चित्त हुए बार-बार मुड़ मुड़कर प्रियतमा की ओर देखते नन्दभवन की ओर चल पड़ते हैं ।

## वृषभानु - भवन गमन, शयन एवं स्नान

पूरब की शिखरावलि मंडित गिरि था सीमा रचता प्रियतम ।
कानन से जुड़ी प्रतीची में प्रसरित नीली सरिता प्रियतम ।
सुविशाल राज-पथ उत्तर में द्रुम जालों से छाया प्रियतम ।
चलकर कोसों तक छू लेता, उस शैल रत्नमय को प्रियतम ।

लो ! अब सूर्योदय होने में अधिक विलम्ब नहीं है । सूर्यदेव ने अपनी प्रथम रश्मियों से वृन्दावनेश्वरी के चरणों में पाद्य समर्पित कराया । भानु-किशोरी अपने वृषभानुपुर प्रासाद में सुगुप्त पथ से अति शीघ्रतापूर्वक पहुँचने की त्वरा में तीव्र गमन कर रही हैं । सूर्योदय के पूर्व उन्हें अपने शयनकक्ष में पहुँच ही जाना है । तीव्र गति से उनके मुक्ताहार और आभूषणों के रत्न बिखर जाते हैं । श्री मंजुलीला, गुणमंजरी के साथ उन खण्डित मणिमालाओं को उठाकर आँचल में बाँध लेती हैं। रानी के दाहिनी ओर मंजुश्यामा उनकी बहिन चल रही हैं और बाम भाग में श्रीललिता रानी हैं । विशाखादि अन्य सखियाँ पीछे अनुगमन कर रही हैं । श्री रतिमंजरी ताम्बूलपात्र एवं रसमंजरी जल-पात्र लिये चल रही हैं । श्री मंजुलीला पीकदानी से रानी एवं प्रियतम के चर्वित ताम्बूल खण्ड अपने साथ एक पान पात्र में ले आयी हैं जिसे चलते-चलते ही वे सखियों में वितरित कर दे रही हैं। उस पर ललिता प्रसन्न होकर उनकी पीठ थपथपाती हैं ।

सभी सखियों एवं प्रिया की उस समय कैसी विलक्षण स्थिति है कोई उसे क्या कहकर वर्णन करे ।

हो रहे चित्र अंकित हृत्पटपर विगत निशा के ये प्रियतम !
कैसे कितने सुन्दर वे हैं किस भाँति कहूँ तुमसे प्रियतम !
अविराम भावना हृत्तल की विगलित हो थी आती प्रियतम !
सबका मन डूबा था नीली आनन्द हिलोरों में प्रियतम !!

यद्यपि रानी तीव्र गति से पथ में संचलन कर रही हैं, परन्तु विगत निशा का प्रियतम का नेह दान उनके हृत्पटल पर जीवंत स्मृति चित्र खड़े कर दे रहा है । कभी उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अभी तक प्रियतम के पास नाव में ही बैठी हैं । परन्तु दूसरे ही क्षण ऐसा अनुभव होता है कि वे तो हैं ही नहीं, थी भी नहीं, और वे होएँगी भी नहीं । मात्र प्रियतम ही प्रियतम ही तो सर्वत्र विलस रहे हैं ।

दे रहे प्रीति संकेत दृगों को नचा-नचा करके प्रियतम !
ढ़ल जाती बहित साँवरी पर रहता न होश तन का प्रियतम !!

ललिता रानी को किसी प्रकार साम दाम दंड भेद से पथ में संचलन करातीं हैं। वे उन्हें सूर्यपूजन में शीघ्र चलना है - कहकर उत्साहित करने की चेष्टा करती हैं। प्रिया फिर शीघ्रता से पथ चालन करती हैं। परन्तु कुछ ही क्षण नहीं बीतते पुन: भावाविष्ट हुई जोर-जोर से बोलने लगती है - "अरी ललिते ! ओ रूप !! अरी मंजू !!! मेरी प्राण प्रिया राधा कहाँ गयी ? उसे अन्वेषण करो । वह किसी लता-वल्लरी में मुझे ढूँढती पथ तो विस्मृत नहीं कर गयी । हाय ! अब मैं उसे कैसे एवं कहाँ पाऊँगा ? उसके बिना तो मेरे प्राण ही संकट में हो गये हैं ।"

सखियाँ पुन: रानी को संवरित करने की चेष्टा करती हैं । इस प्रकार किसी तरह पथ पूरा होता है ।

दूरी संकुचित अहो ! पथ की हो गयी सत्य सहसा प्रियतम !
लाड़िली आदि सब जा पहुँची आधी घटिका में ही प्रियतम !

वैसे प्राकृत धरातल पर बरसाने और संकेत के मध्य कई मील की दूरी है, वह कैसे आधी घडी अर्थात् बारह मिनट में ही तय हो जाती है यह आश्चर्य लग सकता है। वहाँ लीलाराज्य की प्रत्येक वस्तु चिन्मय है । वहाँ का देश, काल एवं वस्तुएँ सभी लीला की सम्पन्नता के लिये विस्तृत और संकुचित हो जाती हैं, वे यथावसर बृहत् भी बन जाती हैं और तब तत्क्षण ही वहीं लीला के अनुसार लघु भी हो जाती हैं । जड़-चेतनात्मक गुण-दोषमयी सुख-दु:ख पूर्ण जन्म मरणधर्मा हमारी जो ब्राह्मी सृष्टि है, इस सृष्टि के नियम

उस नित्य चिन्मयी लीलास्थली पर सर्वथा लागू नहीं होते । दिव्य लीलाराज्य के देश, काल, पात्र सभी नियमातीत हैं ।

यह महाराज वृषभानु का भवन है । विधाता का कौशल यहाँ कोई अर्थ ही नहीं रखता । सभी कुछ संविन्मय, सभी कुछ संधिनी शक्ति की परिणति ही है यहाँ । दिव्य रत्नों से बनी चतुः शालाएँ, चंदनादि अत्यन्त मूल्यवान काष्ठों पर जटित स्वर्ण और रजत तथा उसके ऊपर विविध बहुमूल्य रत्नों से जटित सम्पूर्ण कपाट । स्तंभ ऐसे हैं मानो मणि पर्वतों को काट-काट कर उनकी कलापूर्ण रचना की हो ।

स्वर्ण के झलमलाते कलश, दिव्य वेदियाँ, मुक्ता और प्रवाल के चूर्णों से निर्मित प्रांगण, कहीं स्वर्ण के, कहीं रजत के और कहीं स्फटिक के प्राकार वृषभानु पुरी जगमग-जगमग कर रही है ।

निकुंज से आकर रानी अपने महल में एक सुन्दर शय्या में लेटी हैं । रानी का मस्तक दक्षिण की तरफ है और चरण उत्तर की ओर हैं । एक नीली श्यामवर्ण स्वर्ण खचित चादर से रानी के मुख एवं ग्रीवा को छोड़कर सभी अंग आवृत हैं । देखने से प्रतीत यही होता है कि वे प्रगाढ़ निद्रा में हैं। उनके दीर्घ कमल के समान काजल से कृष्ण नयन आधे मुँदे है । अध मुँदे होने से कुछ श्वेत अंश की झलक हो रही है । परन्तु वस्तुतः वे अतिशय भावाविष्ट हैं, परन्तु जाग्रत हैं । श्री मंजुश्यामा श्रीप्रिया के चरणों के पास उनकी शय्या पर ही बैठी हैं । उनके श्यामल चरण नीचे लटक रहे हैं। उनके लाल-लाल तलुए श्यामवर्ण पैरों में बहुत ही शोभा दे रहे हैं । उनके नयन प्रेमवश छलक रहे हैं और दृष्टि प्रियामुख की ओर एकटक लगी है।

अब तो ब्राह्म मुहूर्त्त व्यतीत हो गया है । प्रातः हो गया है । मंजुलीला गुणमंजरी को पानदान एवं पीकदानी माँजकर लाने को कहती हैं । रति एवं अशोक रात्रि के भोजन पात्रों को स्वच्छ कर रही हैं । केलि एवं रसमंजरी मणिमुक्ताओं को यथा स्थान पर आभूषणों में विजड़ित कर रही हैं । श्री प्रिया के निशाकाल के वस्त्रों को धोकर श्यामला सुखा रही है।

रूपमंजरी उत्तम रीति से चन्दन घिस रही हैं और केसर पीस रही हैं । वृषभानु बाबा एवं कीर्तिदा मैया जग गये हैं । मैया आकर रानी की शयित शोभा देखकर पुनः गृहकार्य में लग गयी हैं । वे मंजुश्यामा के भगिनी प्रेम पर मुग्ध हैं । उसे हृदय से लगाती हैं । उसका मस्तक सूंघती हैं । सभी सखियाँ पारी-पारी से मैया को प्रणाम करती हैं और उनसे आशीर्वाद लेती हैं ।

ललिता को बुलाकर मैयारानी को उठाने का संकेत करती हैं जिससे समय पर नन्दरानी के बुलाने पर पाक रचनार्थ वे जा सकें । ललिता मैया को महल से उनके महल तक छोड़ने जाती हैं ।

स्नान के लिये स्नानगृह में मंजुलीला एक स्वर्ण पीठिका रख देती हैं । गुण मंजरी सुगन्धित मंजन दाँत माँजने के लिये रख देती हैं । और अब जल की झारी लेकर गण्डूषार्थ जल प्रदान करने के लिये केलिमंजरी खड़ी हो जाती हैं ।

लो, अब तो सुगंधा नापित कन्या अपनी सहचरी नलिनी के साथ आ गयी। वे अपने साथ ही उबटन निर्मित करके लायी हैं, मंजुलीला उन्हें चतुःसम (चन्दन, अगुरु, केसर और कुंकुम का समभाग में मिश्रण) प्रदान करती हैं । मंजुलीला सुगन्धा से अतिशय प्रेमपूर्वक मिलती हैं और गले लगकर उन्हें एकान्त में ले जाकर अति उत्कृष्ट एवं परम सौम्य उत्कृष्ट सुगन्धित तैल देती हैं और बार-बार समझाती हैं कि रानी के परम सुकुमार अंगों में तैल मर्दन करते समय तनिक भी बल प्रयोग नहीं करे । उनके अंगों का उबटन से सम्मार्जन भी अति सुकोमल संस्पर्श से करे ।

सुगन्धा मंजुलीला का निर्देश सुनकर मुसकाने लगती है। मंजुलीला जब ढ़ीठता से मुसकाने का कारण पूछती हैं तो वह उनके गले से चिपट जाती है एवं हँसकर कहती है - इन सभी कार्यों की शिक्षा जो मुझे परंपरा से मिली है, वह अन्यत्र से भला कैसे मिलेगी ? उसके परिवार ने तो रानी सुखदा एवं माता कीर्तिदा जब नई नवेली विवाह करके आयी थीं तभी से उन सबकी मर्दन एवं उबटन सेवा की है । रानी के सौकुमार्य के ध्यान का पाठ उसे अन्य कोई क्या पढ़ायेगा ? यह तो उसका पारम्परिक कार्य है ? सुगन्धा की बात सुनकर मंजुलीला लजा जाती हैं ।

रानी की विलक्षण शोभा है। सारिका अत्यन्त सुरीले कंठ से गान करने लगती है । उसके दोनों प्रयोजन हैं- रानी सो रही हों तो उठ जावें और यदि भावाविष्ट हों तो आत्मकेन्द्रित हो जावें।

सारिका - "कुँआरि राधिका तुम सकल सौभाग्य की सीमा,
बदन पर कोटि चन्द्र वारौं .....

सारिका गायन का वाक्य पूरा कर ही पाती है कि सहसा एक शुक उड़ता हुआ आता है - और सारिका से विवाद कर उठता है । वह दूर से सारिका

की वाणी सुनता है - "वदन पर कोटि कृष्ण वारौं ....." उसे इसी पर आपत्ति है । वह सारी से झगड़ता है कि क्या हमारे सखा श्रीकृष्ण इतने नगण्य और तुच्छ हैं कि तू इस कृष्णाराधिका के मुख पर हमारे करोड़ों सखा न्यौछावर कर रही है ?

सारिका डाँटकर कहती है - "मूर्ख ! झूठी कलह करता है, मैंने "वदन पर कोटि चन्द्र वारौं..... कहा है ।"

परन्तु शुक अपनी बात पर अडिग है - वह एक मयूर को साक्षी करके कहता है इससे पूछ इसने भी सुना है। मयूर अपनी नई राग आलापता है - वह कहता है कि "चन्द्र तो श्रीकृष्ण के मुकुट में पिच्छ के रूप में ही रहता है अतः चन्द्र का अर्थ कृष्णचन्द्र ही होता है ।" नभ स्थित चन्द्र तो ब्रज में उपमा का पात्र ही नहीं है - इतने में पास में ही स्थित पुंस कोकिल बोल उठता है :-"इस दुर्बुद्धि सारिका का मंतव्य कोटि कृष्णचन्द्र वारौं यही रहा है।"

सारिका रानी की अति प्रीतिपात्रा है - वह उनकी कलह की परवाह नहीं करती हुई दूसरी पंक्ति गाना चाहती है, परन्तु शुक उसे गाने नहीं देता। बीच में ही चीख उठता है ।

रानी उठ जाती हैं । ललिता उनके पास आ जाती हैं । अतिशय प्यार से पूछती हैं - निद्रा आयी ? रानी मन्द मुसकाकर निषेध कर देती हैं ।

रानी के जगकर उठते ही सारिका फुदक कर उसकी गोद में बैठ जाती है, शुक भी दूसरी गोद में धमक कर बैठ जाता है । रानी शुक का पक्ष लेकर कहती है - "सारिका सच बताना - जब तूने मुख से यह पाठ किया 'वदन पर कोटि चन्द्र वारौं' तब तेरे भीतर क्या सत्य छुपा था ?

सारिका जोर से खिल खिलाकर हँसती है - "प्रियतम तो आपके पद तल की लालिमा पर अपने आपको अनेक बार वार चुके है, इसकी तो मैं साक्षी हूँ, फिर मैंने तो मुख पर ही उन्हें न्यौछावर किया है ।"

शुक - (कृत्रिम रोष प्रकट करता हुआ ) प्रणयावेश में तो हर एक पुरुष प्रेम जन्य दीन उक्तियाँ करता है, आप भानु नन्दिनी, हम सभी वृन्दावनवासियों की वृन्दावन-महेश्वरी हो, सत्य न्याय करें क्या हमारे सखा इतने तुच्छ हैं कि यह कृष्णमुखी सारिका कोटि-कोटि उनको आप पर न्यौछावर कर रही है ?

रानी धीरे से अतिशय प्यार से शुक को अपने हाथों से उठा लेती हैं और उसकी कर्णेन्द्रिय के पास अति मन्द स्वर में कहती हैं - अर भाई शुक ! तू विश्वास करले, मेरा रोम-रोम उन पर न्यौछावर है, बलिहार है। सारिका कुछ भी कहे, उसका क्या ?

शुक जोर से बोल उठता - "पक्षियों ! सभी रानी की जय जयकार करो । सच्चा न्याय हुआ, सारिका हार गई । पक्षियों रानी को नृत्य करके दिखाओ ! सत्य यही है - हमारे प्रिय सखा के गुण सौन्दर्य एवं प्रीति पर रानी न्यौछावर है । अब तो हम सभी हमारी प्राणप्यारी रानी पर न्यौछावर हैं। ये हमारे सखा की हृदयेश्वरी, प्राणेश्वरी, रोम-रोम की स्वामिनी हैं, ये ही हमारे सखा की जीवनेश्वरी हैं । शुक के आह्वान पर अगणित पक्षी आ जाते हैं। सभी पक्षी आनन्दमत्त होकर नृत्य करते हैं -

**राधा रानी की जय, महारानी की जय**
**प्राण प्यारे की पटरानी की जय जय जय**
**हृदयेश्वरि की जय, प्राणेश्वरि की जय**
**हमारे सखा की जीवनेश्वरि की जय जय जय।**

रानी और सखियाँ परम प्रसन्न हुई पक्षियों की रसक्रीड़ा देख रही हैं। शुक और पक्षीगण मिलकर ऐसा नयन नचा-नचाकर भावभरा नृत्य कर रहे हैं कि कीर्तिदा मैया आदि सभी मातृपक्ष की स्त्रियाँ भी आ जाती हैं। रानी लज्जा से भर जाती है। सहसा मैया ललिता को संकेत करती हैं कि नन्दभवन से कुन्दवल्ली और धनिष्ठा पहुँच गयी हैं ।

मंजुलीला इसी समय भण्डार से द्राक्षा, बादाम, पिश्तादि बहुत सी मेवा एक रत्नजटित स्वर्णपात्र में रानी को लाकर देती है । एक-एक पक्षी रानी की गोद में आता है, रानी का प्यार भरा संस्पर्श प्राप्त करता है और तब रानी अपने हाथ से उसकी खुली चोंच में मेवा देती हैं। पक्षी आनन्द से उत्फुल्ल रोमांचित हो जाता है। अनगिनत पक्षी हैं परन्तु सभी को रानी एक क्षण में ही मेवा खिला देती हैं । सभी पक्षियों को ऐसा अनुभव होता है कि रानी सर्वाधिक प्यार उसे ही करती हैं ।

अब ललिता एवं मंजुलीला रानी को शय्या से उठाकर उपवन मे एक चौकी में आसीन कर देती हैं । चौकी पर अति सुकोमल मखमल की रेशमी -

रूई भरी गद्दी बिछी है रानी उस पर बैठकर सुगन्धा से सर्वांग में उबटन लगवाती हैं । अहा अतिशय सुगन्धित उबटन भी रानी के अंगों की सुवास के सम्मुख तुच्छ प्रतीत होती है । रानी के कर्पूर एवं केसर की ज्योति के समान अंग इतने स्वच्छ हैं कि सुगन्धा को रानी के अंगों में अपनी मुख छवि प्रतिबिंबित दृष्टिगोचर होती है । परन्तु रानी को तो सुगन्धा दिखनी ही बन्द हो गयी है उन्हें तो अब प्रियतम श्रीकृष्ण ही उबटन लगाने की प्रार्थना करते दृष्टिगोचर हो रहे हैं । सुगन्धा रानी के दृश्य पटल से ही विलुप्त हो जाती है । रानी जोर से बोल उठती है - "अरी ललिता ! इन्हें निवारित करो, ये क्या करने जा रहे हैं, इन्हें सादर महल में विराजित करो न । तब तक मैं स्नान करके आती हूँ ।"

सुगन्धा स्तंभित हो जाती है । ललिता दौड़ी आती है । कुन्दवल्ली एवं धनिष्ठा भी वहीं रानी के पार्श्व में ही खड़ी हो जाती हैं । ललिता तनिक डाँटकर कहती है, इस तरह से विलम्ब करेगी तो नंदभवन में पाक रचना हो गयी ? प्रियतम नन्दनन्दन भूखे ही वन का चले जायेंगे ।

ललिता के ये शब्द कानों में जाते ही रानी सजग हो जाती हैं । सुगन्धा पुन: मर्दन करना प्रारम्भ करती है। नलिनी अंगों में पहले सुगन्धित तैल लगाती है ताकि रानी की रोमावलि को उबटन उखाड़ नहीं पावे । अंगों को तैल स्नान कराके नलिनी रानी की वेणी उन्मुक्त कर देती है । घनी काली केशराशि पीठ पर लहरा उठती है । जबतक सुगन्धा पैरों एवं जंघाओं में उबटन करती है तबतक रानी के केशों को नलिनी तैल से खूब सिंचित करती हैं । रानी की घनी कुन्तलराशि पीठ पर एवं कंधों से होती उनकी बाहुओं पर लहराने लगती है ।

ज्यों-ज्यों सुगन्धा उबटन करती है त्यों-त्यों महक के आवर्त्त पर आवर्त्त उठ रहे हैं । रानी के अंगों की विलक्षण सघन गंध से भ्रमरावली सर्व ओर से घिर कर झंकार कर उठती है । वह भ्रमरावली वृन्दा के आदेश से रानी के अंगो पर नहीं टूटती, नहीं तो सब अंगो में गंध लुब्ध हुई चिपक जाती । रानी पुन: भावाविष्ट हो जाती हैं । उन्हें तो यही अनुभव हो रहा है कि प्रियतम ही भ्रमर बने उसके चारों ओर उड़ रहे हैं । वह भ्रमरों की ओर हाथ ऊँचा कर लपकती है । सुगन्धा रानी का प्रियतम प्रेम देखकर स्वयं भावाविष्ट होने लगती हैं । उन्हें रानी के रोम-रोम में प्रियतम भरे दृष्टिगोचर होते हैं । वह देखती है रानी तो मात्र श्रीकृष्ण-प्रवाहिनी रस-घन

प्रतिमा हैं । इनमें अपना अहं, स्व है ही नहीं । प्रियतम ही प्रियतम हैं । उन्हें रानी की केशराशि से लेकर चरण-तालु तक प्रत्येक अंग में मात्र मुसकाता साँवरा मुख दिखता है। उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा भी हो सकता है क्या ? नलिनी कहती है कि प्रियतम श्यामसुन्दर की भी यही दशा है । एक बार कुंज में वह उनके अंगों में भी तैल मर्दन का सौभाग्य पा चुकी है । उनके अनावृत अंगों में जब उसकी दृष्टि गई तो वह आश्चर्यचकित हो गयी । वहाँ प्रिया ही प्रिया की छवि भरी थी । ललिता, विशाखा एवं चित्रादि सखियाँ रानी को कहानी सुनाती हैं । जिससे उनका ध्यान बँटा रहे । वे भावाविष्ट नहीं हो पावें ।

"तुझे पता है आज मध्याह्न काल के विहार के समय विशाखा एक नवीन कौतुक भरी लीला करने वाली है ? रानी जिज्ञासा से ललिता की ओर देखती हैं । ललिता तत्क्षण कहती है तू पहले उबटन और स्नान तो सम्पन्न कर । मैं सुनाती जा रही हूँ । रानी अपना ध्यान ज्यों ही ललिता की ओर केन्द्रित करती है, त्यों ही ललिता नलिनी एवं सुगन्धा को संकेत करती है कि वे केशों में कंघी करलें और शीघ्रता से उबटन समाप्त करें ।

ललिता पुन: बात आगे बढ़ाती है । रात्रि को प्रियतम विशाखा के कुंज में थे, यह तो तुझे ज्ञात ही है । रानी हुंकार देती है । विशाखा ने प्रियतम से कपटपूर्वक उनके धारण किये सभी वस्त्र, आभूषण, वंशी आदि चुरा लीं और इनके स्थान पर नवीन वैसे ही सभी वस्त्राभूषण उन्हें पहना दिये। रानी की जिज्ञासा बढ़ जाती है। रानी दत्तचित्त ललिता को निहार रही है । पाटला ने आँवला, कल्क आदि के द्वारा रानी के केशों का संस्कार करना प्रारंभ किया ।

ललिता कहने लगी - अब विशाखा मेरे पास अपनी चतुराई से प्रसन्न हुई आई और कहने लगी - सखी ! तू स्वीकृति दे दे तो आज प्रियतम से छद्म किया जाय ? उसने कहा कि आज मध्याह्न में श्यामला को प्रियतम के रूप में सजाया जाय । श्यामला तो प्रियतम का दूसरा रूप है ही, रूप में, लावण्य में, सुकुमारता में, ऊँचाई में, चाल-ढाल में, शरीर रचना में, बोल-चाल में, हँसने-खेलने में विनोद में, मिलन में - वह तो प्रियतम की पूरी प्रतिमूर्त्ति ही है । अस्तु । श्रृंगार होने पर श्यामला सर्वथा प्रियतम का रूप ही हो जायेगी ।

रानी की जिज्ञासा अतिशय तीव्र हो उठी । उसने पूछा - तब ? आगे की बात फिर बताऊँगी - पहले तू स्नान कर ? ललिता के यह कहते ही रानी

झटपट उठकर स्नान चौकी में आकर बैठ जाती है। मंजुलीला स्वर्ण घटों से जल ला रही है । गुण मंजरी उनका साथ दे रही हैं । अहा ! जल कुण्ड़ों में पद्म, गुलाब, केवड़ा , खस के पुष्प रात भर से गिरे हैं । जल में पुष्प सार तैरने लगा है । जल समशीतोष्ण है और अतिशय सुगन्धित हो उठा है । रत्नजटित स्वर्णघटों से जलधारा प्रिया पर गिरती ऐसी शोभा पा रही है मानो वृक्षों से लदे सुमेरु पर स्वर्ग से गंगा गिर रही हो । ललितादि सखियाँ रानी के अंगो-अंगो को मल रही हैं । गुणमंजरी मोटी-मोटी जलधारा डाल रही हैं। रानी के अंगों में से मलने से परम सुन्दर अंगगंध निसृत हो रही है।

रूप मंजरी अति झीना वस्त्र लेकर उपस्थित हैं । ललिता उसे रानी के गीले अंग में लपेट कर उनके पुरातन वस्त्र उतरवाती है । रूप मंजरी बहुत से वस्त्र लिये हैं । रति मंजरी रानी के केशों को सुखाने के लिये एक वस्त्र में सब केशों को कसकर बाँध रही है । केलि मंजरी उनकी पीठ को महीन मल-मल के वस्त्र से पौंछ रही हैं । रति उनकी ग्रीवा, मुख एवं स्तनों को पौंछकर उदर आदि अंगों को पौंछ रही हैं । रानी के अंग ज्यों-ज्यों मले जा रहे हैं त्यों ही त्यों उनका कंचन वर्ण कुन्दन की तरह दमकने लगता है । रानी का अनावृत सौन्दर्य देखकर ललिता मनौती करती है कि कहीं प्रियतम इस शोभा को देख पाते । यह शोभा उनके लिये दुर्लभ है। हाय ! चन्दन, कस्तूरी लेप से तो रानी की शोभा आच्छादित हो जाती है । यह लेप्य सामग्री रानी को कुरूप करती है। उनकी प्राकृत श्रृंगार शून्य छवि से श्रृंगार भी श्रृंगारित होता है, रानी का निरावरण अनन्त सौन्दर्य तो इस ऊपरी श्रृंगार से ढ़क ही जाता है ।

अब मंजुलीलाजी ललिता सखी को रानी के कटि भाग में पहनाने के लिये स्वर्ण तन्तुओं द्वारा अनुपम शिल्प किया हुआ अत्यन्त सुन्दर लाल खोपनाओं से भूषित अत्यंत मूल्यवान नीले रेशम से बना हुआ लहँगा पहनाती हैं । रानी को लँहगे के स्थान पर पुनः श्याम सुन्दर ही अपने कटि देश से लिपटे दृष्टिगोचर होने लगते हैं । बस वे भावाविष्ट हो जाती हैं ।

ललिता पुनः जोर से बोलकर कहती है – "न तो तू पूरी कहानी सुनेगी, न ही नन्दभवन जायेगी ? यहीं इसी प्रकार तुझे पड़ी रहना है तो प्रियतम भूखे ही वन को जायेंगे ? मैं तपस्विनी पौर्णमासी को निवेदित कर देती हूँ । वे कोई दूसरा उपाय करें ।

ललिता का रोष काम कर जाता है । रानी को पुनः बाह्य ज्ञान हो आता है। अत्यन्त विनयपूर्वक कहती हैं - "बहिन ! मेरे नयनों पर मेरा वश नहीं है, वे बार-बार हर वस्तु में उनकी छवि जीवन्त देखने लगते हैं तो क्या करूँ । फिर चित्त भी वश में नहीं रहता, वह भी उनमें डूब जाता है । हाँ, तो फिर विशाखा ने श्यामला का श्रृंगार किया ?" ललिता कहने लगी - सारी कहानी सुनाऊँगी और आज सूर्यपूजन के लिये चलेंगे तो यही लीला होगी । तू पहले श्रृंगार धारण कर । देख ! सूर्य नभ में कितना ऊपर आ गया । नन्दभवन की गायें वनगमन के लिये हम्मरव कर रही होंगी । शीघ्रता कर ।

रानी श्रृंगार कराने श्रृंगार कक्ष में चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं ।

(रानी की स्नान-लीला की पू० गुरुदेव द्वारा रचित कथा केलि कुञ्ज नामक गीतावाटिका गोरखपुर से प्रकाशित पुस्तक में देखें )

## श्रृंगार एवं नन्द भवन गमन

राधा प्रति कृष्ण स्नेह सुगन्धि उद्वर्त्तन,
ताते अति सुगन्धि देह उज्ज्वल वरण ।
कारुण्यामृत धाराय स्नान प्रथम,
तारुण्यामृत स्नान मध्यम ।
लावण्यामृत धाराय तदुपरि स्नान,
निजलज्जा-श्याम-पट्ट शाटी परिधान।
कृष्ण अनुरागे रक्त द्वितीय वसन,
प्रणय-मान-कंचुलिकाय वक्ष आच्छादन।
सौन्दर्य कुंकुम सखी-प्रणय चन्दन,
स्मित-कान्ति कर्पूर तिने अंग विलेपन।
कृष्णेर उज्ज्वल रस मृगमद भर,
सेइ मृगमदे विचित्रित कलेवर ।
प्रच्छन्न-मान वाम्य धम्मिल्ल-विन्यास,
धीरा धीरात्मक गुण अंगे पटवास ।
राग ताम्बूल रागे अधर उज्ज्वल,
प्रेम कौटिल्ये नेत्र युगले कज्जल ।
सुद्दीप्त सात्विक भाव, हर्षादि संचारी,

एइ सब भाव-भूषण सब अंग भरि।।
किल किंचितादि भाव विंशति भूषण,
गुण श्रेणी पुष्पमाला सर्वांग पूरित ।
सौभाग्य तिलक चारु ललाटे उज्ज्वल,
प्रेम वैचित्य रत्न हृदये तरल ।
मध्यवय स्थिति सखी स्कंधे करन्यास,
कृष्णलीला-मनोवृत्ति सखी आस-पास।
निजांग सौरभालये गर्व पर्यंक,
तासे वसि आछे सदा चिन्ते कृष्णसंग ।
कृष्णनाम-गुण-यश अवतंस काने,
कृष्णनाम-गुण-यश प्रवाह वचने ।
कृष्ण के कराय श्याम रस मधुपान,
निरन्तर पूर्ण कर कृष्णेर सर्वकाम ।
कृष्णेर विशुद्ध प्रेम रत्नेर आकर ।
अनुपम गुण-गण पूर्ण कलेवर ।

भानु किशोरी को सखियाँ सजा रही हैं । उनका श्रृंगार सम्पन्न कलेवर प्रियतम नन्दतनय को परमानन्द-सिन्धु में निमग्न कर देता है। एक मात्र प्राणेश्वर नीलमणि को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से ही रानी सज रही हैं। और सखियाँ उन्हें अपने सम्पूर्ण कौशल से सजा रही हैं।

भानु किशारी श्रृंगार सिंहासन में बैठी हैं । प्रभात कालोचित सम्पूर्ण भूषण वस्त्र भूषण पेटिकाओं में से निकाल-निकालकर मंजुलीला सखियों के सम्मुख रख रही हैं । सब सखियाँ अपने मनोरथों के अनुसार जो-जो श्रृंगार चयन करती हैं, वह तो बाहर रख लिया जाता है शेष असंख्य प्रकार का श्रृंगार पुनः यथा स्थान रख दिया जाता है ।

बहुरत्न खचित गजदन्त विनिर्मित स्वस्तिद नामक कंकतिका से श्री मंजुश्यामा उनका केश संस्कार कर रही हैं।

बूझत साँवरि, बहिन ! बतारी ।
हेरि-हेरि अचरज निसदिन अति होउँ अधीर न समुझि गँवारी ।
हौं रचि-रचि कच तोर सँवारत, बेनि निहारि जाउँ बलिहारी ।

पलक परत नहिं परत देत तुम, जानि-अजानि कँपाइ बिथारी ।
सुनत लाड़िली लोचन छल-छल विह्वल गद्‌गद् गिरा उचारी ।
मोर कीर जनि कहिय सबहिं तन कन-कन पूरि रहहिं गिरधारी ।
अलकन यह पिय कौ बंधन लखि सपनहुँ सूल परत उर भारी ।
तुम उन मुकुत सुखी नित निरखउँ चाह परान पिरोवत सारी ।

(पू० गुरुदेव की काव्य रचना)

अपनी सम्पूर्ण चतुराई से श्री मंजुश्यामा अपनी बहिन श्री राधा की वेणी गूँथती हैं । छोटी-छोटी कलियों को यथा स्थान सुगुम्फित करके कुशलता के साथ श्यामला मंजरी उन्हें मालाएँ बना बनाकर दे रही हैं । मंजुश्यामा उन्हें लटों के साथ इस प्रकार गूँथ रही हैं कि वेणी अद्‌भुत सुन्दर हो उठे । पर यह क्या हुआ ? उसका सारा श्रम और श्यामला की सारी चतुरायी व्यर्थ ही हो जाती है। रानी अपनी वेणी को इस प्रकार प्रकम्पित कर देती हैं कि सारे केश बन्धन विहीन होकर उन्मुक्त हो जाते हैं और सभी मालायें भूमि पर बिखर जाती हैं। अपने श्रम को व्यर्थ समझकर खिन्नमना श्रीमंजुश्यामा अपनी बहिन श्री राधा से पूछती हैं – "अरी बहिन ! तू ऐसा क्यों कर देती है ? मैं तो इतने श्रम से चतुराई पूर्वक तेरी वेणी को गूँथती हूँ और तू इस प्रकार से वेणी को प्रकम्पित कर देती है कि केश खुल जाते हैं । और समस्त वेणी गुम्फन ही व्यर्थ हो जाता है ।" रानी बड़े प्यार से अपनी सहोदरा को उत्तर देती है ।" देख, बहिन ! मैं तेरा मन रखने के लिये वेणी रचना करवा लेती हूँ । पर मेरी जब दृष्टि मेरे इन केशों पर जाती है तो मुझे ये केश नहीं प्रियतम दिखाई पड़ते हैं । देख बहिन । ये मोर हैं शुक है, संसार इन्हें कुछ भी कहे परन्तु मुझे तो सभी के कण-कण में प्रियतम गिरिधारी ही भरे प्रतीत हो रहे हैं । अब मुझे तो यह मात्र अलकों का बन्धन तो लगता है नहीं, प्रियतम को बँधा मान कर मेरे तो हृदय में भंयकर शूल की पीड़ा होती है । मैं तो उनको नित्यपूर्ण मुक्त एवं सुखी देखना चाहती हूँ । तुम उन्हें मालाओं में, फूलों में पिरोती हो तो लगता है जैसे मेरे प्राण पिरो रही हो ।

अत: रानी के केशों का सखियों द्वारा संस्कार तो हो जाता है परन्तु वे उन्मुक्त वेणी निर्बन्ध ही रहते हैं । अब भी उनमें जल का अवशेष नहीं रहे इसलिये सखियाँ अगुरू, धूप, आमला, ब्राह्मी आदि अनेक औषधियों के धूम

द्वारा रानी के केश कलाप को सुखा अवश्य देती हैं । रानी को नीले रेशम का लहँगा तो स्नान के समय ही पहना दिया जाता है, परन्तु उसके ऊपर लाल रंग का अत्यन्त सुन्दर वसन श्री ललिताजी पहनाती हैं। इस लाल रंग के वसन में नक्षत्रों के समान हीरा मणियाँ जड़ित हैं । तत्पश्चात् रूप मंजरी ने कटिदेश में क्षुद्र घंटिकायुक्त काँची-मेखला धारण करवाती हैं । इस काँची करधनी के मूल प्रदेश में भाँति-भाँति के रत्न पिरोये हुए हैं तथा इनमें पाँच वर्ण के झूमर शुक, नील, पीत और हरिद्रा वर्ण के शोभित हैं ।

मंजुश्यामा एवं विशाखा अब कर्पूर, अगुरु और चन्दन द्वारा श्रीमती का पृष्ठ देश, बाहु-युगल, कुचद्वय, वक्षस्थल आदि विलेपित करती हैं । सिन्दूर से ललाट देश में सीमन्त रेखा लगाती हैं तथा कामयंत्र नामक तिलक रचना करती हैं । चन्दन बिन्दुओं द्वारा तिलक के दोनों पार्श्व में कपोलों तक कस्तूरी से पत्रावली रचना करती हैं । मंजुश्यामा प्रिया के वक्षोजों पर मृगमद द्वारा चन्द्ररेखा, पद्म, मकरी तथा आम्र पल्लव चिचित्र करती हैं। तत्पश्चात् रंगदेवी श्री किशोरी के कर्ण युगलों में स्वर्ण निर्मित कमल कली के आकार के ताटंक युगल पहनाती हैं । तुंगविद्या सखी श्रीराधाकिशोरी के कर्ण युगलों में ऊपर की ओर स्वर्ण से बने अति मनोहर चक्र शलाका द्वय पहनाती है । श्रीविशाखा रानी के नासाग्र भाग में बेसर पहनाती हैं । पश्चात् ललिता पहले कसौटी सिल पर अपने नाखून घिसती हैं, तब मध्यमा अंगुली से मनोज्ञ अंजन द्वारा रानी के नयनों को आँजती हैं ।

श्री विशाखा रानी को गुच्छ नामक हार पहनाती हैं यह वैदूर्य मणियों की दो-दो पंक्तियों के बीच हेम निर्मित बीज के समान लम्बित गुटिकाओं से युक्त है। रानी को मंजुश्यामा गुंजा का हार धारण कराती है। पूर्व रात्रि में प्रियतम ने नृत्य गीतों से रीझकर रानी को उपहार स्वरूप यह गुंजाहार दिया था । जिसे रानी मंजुश्यामा को सम्हला कर भूल ही गई थीं ।

श्री ललिताजी इन्द्रनील मणि के वलय रानी के मणिबंधों में पहनाती हैं। इन्द्रनीलमणि के वलयों के बीच में मुक्तावलि रचित सुवर्ण कंकण शोभा पा रहे हैं । इन कंकणों से श्यामल ज्योत्स्ना की तरह आभा प्रसरित हो रही है। अब ललिता ने नाना प्रकार के अंगुलीयकों को रानी को पहनाया । इन सभी अंगुलीयकों में राधा नाम अंकित था ।

श्री विशाखाजी किशोरी के चरणों में पदवलय आभूषण पहनाती हैं । ये अत्यन्त ही मनोहारी शब्द-ध्वनि किया करते हैं।

अब नर्मदा मालिन कन्या द्वारा लाये लीला कमल श्री विशाखाजी ने रानी के हाथ में दिये । लीला मंजरी ने रानी को स्वर्णमय रत्नखचित दर्पण दिखाया।

चम्पकलता ने पनबट्टे में से सुन्दर एला, लवंग और सुगन्ध द्रव्य से भरा स्वर्ण बरक से आच्छादित हुआ पान का बीड़ा निकाला और रानी के मुख में दिया । श्री मंजुलीलाजी ने आधा चर्वित बीड़ा रानी के मुख से लेकर कुन्दलता को दे दिया । कुन्दलता यह बीड़ा प्रियतम के मुख में दे देगी । कुन्दलता द्वारा लाया आधा चर्वित प्रियतम का बीड़ा मंजुलीला प्रिया के मुख में देती हैं ।

ललिता एक काजल की रेखा दृष्टिदोष निवारण के लिये प्रिया के कपोलों पर खींच देती हैं । परन्तु इस कज्जल रेखा ने तो प्रिया के मुख की सुन्दरता और अधिक अभिवर्धित कर दी है ।

सखियों द्वारा श्रृंगार हो जाने पर रानी गुरुजनों एवं भगवती त्रिपुर सुन्दरी के मन्दिर में प्रणाम करने जाती हैं। लज्जा से झुके नेत्र उनके चरणों में विजड़ित हैं । चलते समय उनके नूपुर झंकार कर रहे हैं । श्री ललिता उनके एक हाथ को थामे हैं । श्री मंजुश्यामा उन्हें कंधे से सहारा दिये हैं ।

अनुपम छवि, अनुपम रूप – लावण्यवती रानी के अंग-अंग से सौन्दर्य चू रहा है । उनके नयनों में अपार वैदग्ध्य एवं अनुराग छलक रहा है । उनके अंग-अंग से कुंदन ज्योति दमक रही है । बारंबार भाव प्रवणता वश वे रोमांचित एवं चमत्कृत होती हैं ।

उनके कटि प्रदेश में कांची नामक आभूषण उनके चलने से इस प्रकार शिंजन ध्वनि कर रहा है मानो यमुनाजी में असंख्य हंसों के यूथ काकली कर रहे हों । उनके चरणों में मंजीर नामक आभूषण की मधुर ध्वनि हो रही है। भिन्न-भिन्न आभूषण सभी संविन्मय होने से अपनी-अपनी सेवा से प्रिया की शोभा को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं । सबकी भीतरी चाह यही है कि प्रिया के अंगों से एकात्मलाभ प्राप्त कर प्रियतम सुख का संवर्धन करें ।

सद्रूप, सौशील्य एवं मांगल्य की मूर्तिमान स्वरूपा रानी भगवती आद्या शक्ति त्रिपुर सुन्दरी के मन्दिर में उनकी सच्चिन्मयी प्रतिमा को प्रणाम करने पहुँचती हैं ।

श्री त्रिपुर सुन्दरी की प्रतिमा प्रासाद कक्ष में ही प्रियतम।
अद्भुत सुवर्ण से विरचित थी, फिर था प्रभाव ऐसा प्रियतम।

हो जाता स्वत: नमित सबका सिर मन्दिर परिसर में प्रियतम।
हो कहीं चित्त की वृत्ति, किन्तु आते ही सीमा में प्रियतम।

चाहे कोई कैसा भी हो, भावित होता सहसा, प्रियतम।
विस्मृत सब कुछ होकर समाधि मानो लग जाती थी, प्रियतम।
प्रहरी ही होश कराता यह कहकर 'दर्शन कर लो' प्रियतम।
लेकर अञ्जलि में पुष्प तथा पंकिल लोचन से, हे प्रियतम।

जाकर जब अर्पित कर देता, अपने को श्री पद में प्रियतम।
होता था भान तभी उसको अग्रिम कर्त्तव्यों का प्रियतम।
वे अहो ! न जाने कबसे थीं राजित देवी कुल की प्रियतम।
युवराज रूप में ही जब थे वे वर्त्तमान राजा प्रियतम।

ऋषितुल्य पितृ चरणों की ले अनुमति ली थी उनने प्रियतम।
अपने ऊपर संभाल पूरी देवी की सेवा की प्रियतम।
उसके पहले भू देवों के द्वारा अर्चन होता प्रियतम।

वृषभानु राजा के प्रासाद कक्ष में ही भगवती त्रिपुर सुन्दरी की प्रतिमा थी। ये देवी राजा की कुल देवी हैं । प्रतिमा अद्‌भुत स्वर्ण से विरचित है और उसका ऐसा प्रभाव है कि चाहे कोई किसी इष्ट को मानने वाला हो, मन्दिर परिसर में प्रवेश करते ही उसका मस्तक स्वत: ही नमित हो जाता है । किसी की चित्तवृत्ति चंचल भी हो, चाहे कोई कैसा भी हो, मन्दिर की सीमा में आते ही वह भक्ति भावित हो उठता है। उसको सबकुछ विस्मृत हो जाता है और समाधि लग जाती है। उसे मन्दिर का द्वार रक्षक ही होश कराता है कि भाई दर्शन करलो। वह अश्रु भरे पंकिल नेत्रों से अंजलि में पुष्प लेकर जब अपने को भगवती के चरणों में जाकर अर्पित कर देता, तब उसे अग्रिम कर्तव्यों का भान होता है।

वे देवी इस भालुकुल में न जाने कब से शोभायमान हैं, इसका किसी को पता नहीं है । जब वर्तमान राजा युवराज रूप में थे तभी ऋषितुल्य पितृ चरण की अनुमति ले उन्होंने देवी की सेवा का भार अपने ऊपर लिया था, उसके पहले ब्राह्मणों द्वारा ही इनका अर्चन होता था ।

रानी जैसे ही प्रतिमा के चरणों में गिरी वैसे ही दो सुगन्धित पद्म पुष्प रानी के मस्तक पर आशीर्वाद रूप में गिरते है । सम्पूर्ण अन्तरिक्षचारी त्रिलोकी के ऋषि मुनि "अखण्ड सौभाग्यवती भव" का जैसे उद्घोष कर रहे हों , अन्तरिक्ष से बड़ी विलक्षण ध्वनि गुंजारित हो उठती है ।

रानी देवी को कर प्रणाम देवी मन्दिर के बाहर आकर सभी गुरुजनों, ब्राह्मणों, ऋषियों को प्रणाम करती हैं ।

कुन्दलता रानी के स्कंध देश को पकड़कर अत्यन्त प्यार से उसका मस्तक सूँघती हुई कहती हैं - "चल ! तुझे नन्दमहिषी यशोदा ने शीघ्र निमंत्रण दिया है ।" रानी के मुखारविन्द पर उत्कंठा और आनन्द के चिन्ह प्रकट हो जाते हैं । रानी मैया कीर्तिदा को प्रणाम कर नन्द भवन की ओर प्रस्थान का मानस बना लेती हैं ।

वे सभी सखियों सहित तेजी से छत की सीढ़ियों से उतरती हैं तथा महल के पश्चिम की तरफ उपवन में जा पहुँचती हैं । रानी उत्कंठावश इतनी तेजी से चल रही हैं कि रूप मंजरी उनकी नीली रत्नजटित ओढ़नी लेने के लिये पीछे लौटती हैं, उन्हें रत्नजटित ओढ़नी दौड़कर पहुँचानी पड़ती है। ललिता, कुन्दवल्ली सभी को रानी के साथ दौड़कर चलना पड़ता है । वे उपवन के द्वार को पारकर राजपथ में पहुँच जाती हैं। इसी समय रूपमंजरी पीछे से आकर उन पर ओढ़नी उढ़ा देती हैं । ओढ़नी ओढ़े हुए रानी नन्दमहल की ओर गति करती हैं ।

कुन्दवल्ली रानी को वन दर्शन कराती हैं ।

वृन्दारण्य के कण-कण में नव-नव शोभा उमड़ रही है । रानी की दृष्टि कुन्दवल्ली जिधर करती है उधर ही शोभा की राशि बिखर उठती है । कभी कुन्दवल्ली रानी को दक्षिण दिशा की ओर कभी उत्तर दिशा की शोभा पर दृष्टि पात करने को कहती हैं ।

कुन्दवल्ली रानी को नव-नव निकुंज स्थली की ओर लता पल्लव जाल से आवृत सुरम्य वन स्थली की ओर संकेत करती हैं, रानी की दृष्टि वहाँ पर पड़े इसके पूर्व ही प्रकृति की समग्र सुरम्यता वहाँ मूर्त्त होने की स्पर्धा कर उठती है, परन्तु रानी को तो इस शोभा के अन्तराल में भरे उसके प्रियतम ही उसकी ओर मुसकाते, नेत्र नचाते, कुंज की ओर आने का प्रेम निमंत्रण देते, ललित तृभंगी में खड़े दिखाई पड़ते हैं।

रानी प्रेमावेश से कभी ऐसी काँप जाती हैं मानो उन पर विद्युत गिर पड़ी हो। कभी रोमांचित हो जाती हैं। कभी उन्हें स्वेद प्रवाह हो उठता है। ललिता किसी तरह उन्हें सँभालती हैं। रानी को तो वन-पार करना ही कठिन हो जाता है, परन्तु इसी समय यशोदा मैया नन्दभवन से नान्दीमुखी को पुनः भेजती हैं कि रानी को किस कारण अतिशय विलम्ब हो रहा है। नान्दीमुखी को आयी देखकर सभी सखियाँ उन्हें प्रणाम करती हैं। नान्दीमुखी के साथ अन्य सखियाँ भी हैं। सभी रानी को कंठ से लगाकर सिर सूँघकर आशीर्वाद देती हैं। इन सभी सखियों के साथ रानी नन्दभवन के मुख्य द्वार पर पहुँचती हैं।

## नन्दभवन में प्रवेश

श्री ललिता राधारानी के आगे हैं, पीछे मंजुश्यामाजी हैं, कभी पार्श्व में और कभी पीछे गुणमंजरी चल रही हैं। रानी का वाम स्कंध थामे कुन्दवल्ली है। एक ओर नान्दीमुखी हैं। मंजुश्यामा के पास अशोक एवं रति हैं। एक ओर विशाखा हैं।

रानी सभी सखियों के साथ नन्दभवन में प्रवेश करती हैं। श्रीनान्दीमुखी श्री राधाकिशोरी को नन्दभवन का उद्यान दिखती हैं। वे कहती हैं – हे किशोरी रानी, देखो ! यह अप्रतिम शोभाशाली उद्यान महाराज नन्द के परम लाड़िले एवं यशोदा प्राणधन श्रीकृष्ण का परम प्रिय उद्यान है।

'श्रीकृष्ण' इतना नाम सुनते ही श्रीराधाकिशोरी के अंगों-अंगों में जैसे विद्युल्लहरी दौड़ गयी हो, उनके रोम-रोम से कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण प्रतिध्वनि होने लगती है।

नंदनन्दन नन्दभवन के भीतर महल के पास खड़े हैं। नान्दीमुखी श्रीकृष्ण की ओर राधा किशोरी का ध्यान आकृष्ट करती हैं। किशोरी देखती हैं श्रीकृष्ण उन्हीं की ओर देखते मन्द मुसका रहे हैं।

एक क्षण किशोरी के नयन श्रीकृष्ण के नयनों से मिलते हैं। श्री किशोरी रानी लज्जा से संकुचित हो जाती हैं। मन की पुनः दर्शन की लालसा नयन उठाकर देखने को कहती है, परन्तु लज्जा जैसे उनके नयनों को जकड़ कर नीचा कर देती है। उनके पैर स्तंभित हो जाते हैं। गति का नियंत्रण उनके हाथ में नहीं। उनके मन-प्राण बुद्धि एवं इन्द्रियों की समग्र चेतना सिमटकर

नयनों में ही मानो आकर भटक गयी है। मन की लालसा इतना प्रबल जोर मारती है कि लज्जा का अवरोध कुछ शिथिल हो जाता है। नयन ऊँचे हो जाते हैं पुनः प्रियतम श्रीकृष्ण की दृष्टि से उनके नयन मिल जाते हैं। अब तो लज्जा तरंगिणी में ज्वार हो आता है। गाढ़ लज्जा बल-पूर्वक नेत्रों को झुका देती  है। अंग जड़ हो जाते हैं। ललिता जोर से कहती हैं - "क्या करती है, यशोदा मैया सम्मुख खड़ी हैं। पैर यन्त्रवत् चल पड़ते हैं। नन्दनन्दन के अत्यन्त निकट से चलकर किशोरी एवं सखियाँ नन्द प्रांगण में पहुँच जाती हैं।

प्रेम विभोर भानु किशोरी को देखकर अखिल रसामृत मूर्त्ति प्रियतम में रस की एक अभिनव नवीन बाढ़ आ जाती है। बिन्दु के रूप में वह रस उनके नेत्रों से छलक कर बहने लगता है। रसमय नेत्रों से वे किशोरी का रूप देखते आये हैं और अनन्त काल तक यही रूप देखते रहेंगे। उनकी दृष्टि में माणिक मोती हीरे जवाहरात का तो कोई मूल्य ही नहीं है। जिसे देख देखकर वे अब तक तृप्त नहीं हुए, अनंत काल तक तृप्त होंगे भी नहीं वह भानु किशोरी का विलक्षण सुन्दर श्रृंगारित रूप यह है --"रानी अपने प्राण-प्रियतम की दृष्टि में उनके स्नेह का उबटन लगाये हुए है। इस उबटन में सखियों का प्रणयरूप सुगन्धित द्रव्य भी मिश्रित रहता है। उसी से किशोरी के अंग स्निग्ध, कोमल, सुगन्धपूर्ण एवं उज्ज्वल हैं। पहले किशोरी रानी कारुण्य रूप अमृतधारा में स्नान करती हैं, यह किशोरी का प्रातः स्नान कौमार है। फिर तारुण्य की अमृतधारा मे स्नान करती हैं, यह उनका मध्याह्न स्नान कैशोर है। ये दो स्नान करने के पश्चात् रानी लावण्य की अमृत धारा में अवगाहन करती हैं। यह किशोरी का सायाह्न तृतीय स्नान (कैशोर-सौन्दर्य) है। स्नान के पश्चात् रानी ने लज्जा रूप साड़ी पहनी है। यह साड़ी श्यामवर्ण की ही होती है और दिव्य श्रृंगार-रसमय तन्तुओं से निर्मित है। रानी कृष्ण अनुराग की अरुण साड़ी भी धारण करती है, तथा प्रणय एवं मान की कंचुलिका से उनका वक्षःस्थल आच्छादित है। रानी के अंग विलेपन में सौन्दर्य रूप कुंकुम, सखी-प्रणय रूप चन्दन एवं अधरों की स्मिति, कान्ति रूप कर्पूर चूर्ण मिश्रित रहता है। रानी ने मधुर रस की मृगमद (कस्तूरी) लेकर श्री अंगों को सुचित्रित किया है। प्रच्छन्न बंकिम मान के द्वारा केशबन्ध की रचना की है। उन्होंने किसी दिव्य धीरा-धीरा सुन्दरी के दिव्य गुणों को लेकर उससे उनका सुगन्धित चूर्ण (पटवास) निर्मित किया

है, वे राग का ताम्बूल ग्रहण करती हैं, इस ताम्बूल-राग से उनके अधर उज्ज्वल अरुणवर्ण हो उठे हैं; प्रेम के कौटिल्य रूप अंजन से वे दोनों नेत्रों को आँजे हैं। सुदीप्त अष्ट सात्विक भाव, अश्रु, स्वेद, रोमाञ्च, कंप, मूर्च्छा, उन्माद, विलय, प्रलयादि तथा हर्ष आदि तैंतीस संचारी भाव-भूषणों को रानी अपने सर्वांगों में धारण किये हैं। किल किञ्चित आदि बीस भाव ही रानी के श्री अंगों के अलंकार हैं। माधुर्यादि दिव्य पचीस सद्गुणों की पुष्पमाला से समस्त अंग पूर्ण हैं। सुन्दर ललाट पर सौभाग्यरूप सुन्दर मनोहर तिलक सुशोभित है। प्रेम वैचित्य रूप रत्नहार उनके हृदय पर नाच रहा है।

नित्य किशोर वयस रूप सखी के कंधे पर वे हाथ रखे हैं। कृष्णा-लीलामयी मनोवृत्ति रूप सखियाँ उन्हें घेरे हैं। अपने श्री अंग के सौरभ रूप गृह में वे दिव्य गर्वपर्यंक पर विराजित रहकर सदा श्रीकृष्ण मिलन का चिन्तन करती रहती हैं। कृष्णनाम, कृष्ण गुण, कृष्ण-यश का ही कानों में अवतंस रूप कर्णभूषण अलंकार धारण किये हैं। श्रीकृष्ण नाम, यश, एवं गुण के गान-प्रवाह से उनकी वाणी समलंकृत है। श्यामरस दिव्य श्रृंगार रसरूप मधु से पूरित पात्र हाथ में लिये वे श्रीकृष्णचन्द्र को मधुपान कराती हैं। यही भानु किशोरी के हाथों की शोभा है। समस्त अंगों से एकमात्र श्रीकृष्ण की सेवा होती है - यही किशोरी की अंग शोभा है। प्रियतम श्रीकृष्ण को रानी का बाह्य श्रृंगार दिखता ही नहीं, उन्हें तो वे अपने निर्मल प्रेम की आकार ही प्रतीत होती हैं, उनके अंगों के अन्तराल से प्रियतम प्रेमभूत अनन्त सद्गुण चमकते रहते हैं।

योगमाया मञ्च पर अपना वैभव बिखेर कर लीला क्रम का निर्देश करती जा रही हैं तथा उसी क्रम से लीला आगे बढ़ रही है।

## पाक रचना भोजन एवं वृषभानुभवन लौटना

नन्दभवन के मुख्यद्वार के समीप नन्दनन्दन खड़े हैं। उनके अत्यन्त निकट से चलकर रानी एवं सखियाँ नन्दप्रांगण में जा पहुँचती हैं। मरकत-मणियों की अकृत्रिम भूमि है। उस भूमि पर स्वर्णमय गुल्म लताएँ एवं द्रुम समूह परिशोभित हैं। कहीं स्वर्ण की वीथियाँ बनी हैं।

स्वर्ण ही स्वर्ण आस्तृत है। मृत्तिका का लेश भी नहीं। और इस स्वर्ण भूमि में मरकत मणिमय वल्लरियों की, गुल्मतरु पंक्तियों की छटा फैल रही है।

कहीं पद्मराग रचित भूमि है तो – उन पर स्फटिक निर्मित गुल्मलता वृक्ष समूह विराजित हैं और कहीं स्फटिक रचित भूमि है तो पद्मराग रचित लताएँ, गुल्म, तरुराजि झूम रही है। मरकत द्रुम समूह कनकलताओं से परिव्याप्त हैं। स्वर्ण पादप श्रेणी मरकत निर्मित वल्लरियों से सुमंडित हो रही है, स्फटिक रचित वृक्षावलि है तो शाखायें विविध रत्नों से बनी हैं, फिर प्रत्येक शाखा मणिमय पल्लवजाल से मंडित है। बहु वर्ण-मणिमयी पल्लवराजि की शोभा अकथनीय है। ऐसे मणिपल्लव नहीं जिनमें रत्नमय कुसुम निकर झलमल नहीं कर रहे हों। कुसुम समूहों से भाँति भाँति के सौरभ झर रहे हैं। वृक्षों के मूल देश में आलवाल निर्मित हैं, मणिद्रवों से ये अपने आप सब ओर से पूर्ण रहते हैं। अत्यन्त सुन्दर मणिमय विहंगमगण इनमें विहार कर रहे हैं।

भवन के प्राचीर का निर्माण हरित मणि से हुआ है। गृह समूह मरकत मय हैं। गृह के आच्छादन स्वर्णमय हैं। स्तंभ प्रवाल निर्मित हैं। वेष्टनी स्फटिक घटित है। गृह चूड़ा वैदूर्य रचित है। अट्टालिकाएँ महानीलकान्त मणि निर्मित हैं। द्वारावलि कुरुविन्द मणि प्रस्तरों से निर्मित हैं। विविध भाँति से सुचित्रित इस भवन की तुलना नहीं हो सकती।

स्थान-स्थान पर शिल्प नैपुण्य से अंकित शुक-पिक आदि पक्षियों की प्रतिकृति भ्रम उत्पन्न कर देती है। यह निर्णय करना ही अत्यंत कठिन है कि ये छबि हैं या जीवन्त विहंगम। छबिमय होते हुए भी सब कुछ चिन्मय। मणिमुक्ता रत्न आदि भी कठोर नहीं अत्यंत कोमल हैं।

नन्दभवन में मुकुन्द माता यशोदा, रोहिणी एवं अन्य गृहपरिजन रानी के स्वागतार्थ महल के बाहर ही खड़े हैं। रानी पर दूर से दृष्टि पड़ते ही मैया आनन्द में डूबने लग जाती हैं। रोहिणी उन्हें नियंत्रण में रखती हैं अन्यथा तो रानी के स्वागत में वे दौड़ पड़ें। फिर भी वे आगे बढ़कर रानी का पुष्प बिखेर कर स्वागत करती हैं। गगन एवं वृक्ष समूह स्वतः ही रानी के पथ को पुष्पास्तृत कर देते हैं।

माता यशोदा को अपने पुत्र नन्दनन्दन को आलिंगन करने में जो सुख मिलता है। वात्सल्य रसघन मूर्ति मुकुन्दमाता अपने रस का आवेग सहन नहीं कर पा रही हैं, उनके नयन प्रेमाश्रुओं से छलछला आते हैं। मुख से केवल 'राधा, वत्से, बेटी !' बस यही निकल रहा है । वात्सल्य रस जैसे मूर्त्त हुआ

उमड़ पड़ा हो, श्रीयशोदा को साक्षात् दिखाई पड़ रहा है इस राधा नामक किशोरी के अंग-अंग रोम-रोम जैसे नील नीरदाभ नन्दनन्दन नामक पदार्थ से ही बने हों । कोटि-कोटि नन्दनन्दन जैसे श्रीराधाकिशोरी के अणु-अणु में भरे मुकुन्दमाता को माँ-माँ पुकार रहे हों । मुकुन्दमाता यशोदा के स्तन वात्सल्य से झरने लगते हैं । सखियों के मस्तक पर माँ के स्नेह दुग्ध की बूँदे अभिषेक कर रही हैं । माता अत्यन्त आश्वस्त हुई रोहिणी से कहती हैं - "अब तो मेरी लाड़िली बेटी आ गयी अब तो एक क्षण में ही सब हो जायगा। रोहिणी रानी को सखियों सहित विश्राम कक्ष में ले जाती हैं । रानी को पथ से थकी जान परिचारिकायें गरम जल में नमक डालकर उनके चरण धुलाती हैं । कुछ देर सभी सखियाँ किशोरी सहित सहते-सहते नमकीन उष्ण जल में चरण रखती हैं । इससे सभी की थकान उतर जाती है । ललिता मंजुलीला को लेकर रोहिणीजी से रसोई में सब भोजन व्यवस्था समझ लेती हैं। तबतक रानी, मधुमती सहित एकान्त कक्ष में विश्राम करती हैं । मधुमती उनके धीरे-धीरे चरण दबा रही हैं ।

प्रिया के नेत्रों के सम्मुख प्रियतम की नन्दोद्यान में दृष्टि में आयी छबि ज्यों की त्यों जीवन्त है ।

अहा ! उसके प्रियतम कितने मनोहर हैं ? उनका वर्ण काजल के समान चिक्कण है । परन्तु काजल में मात्र सुचिक्कणता के अतिरिक्त और कोई गुण तो है नहीं । वह न सुधा के समान शीतल है और न ही सरस; मधुर एवं प्राणों को आप्यायित करने वाली मादकता भी उसमें नहीं है । उसके प्रियतम कैसे मधुर, लावण्यमय, प्राणों को मथने वाली आकर्षण शक्ति से युक्त एवं साथ ही साथ ज्योतिर्मान भी हैं । इन्द्रनीलमणि में ज्योति है-परन्तु उसमें तो जड़ कठोरता है । उसके प्रियतम के अंग-अंग अनाविल ज्योतिर्मान हैं साथ ही पद्मदलों की तरह परम सुकोमल हैं । हाँ, सरसता की दृष्टि से उनकी तुलना कुछ मेघमाला से की जा सकती है । नील कमल उनके अंगों की कोमलता को अवश्यमेव बहुत ही थोड़े अंश में पा सकता है । परन्तु इन सभी के गुण ससीम है । मेरे प्रियतम तो माधुर्य, लावण्य, सौन्दर्य, कान्ति, सरसत्ता, मादकता, आकर्षकता सभी में अपरिसीम, असमोर्ध्व हैं । वे तो विविध क्रीड़ारस के आकार हैं । अहा, उनकी कैसे घुँघराली अलकें हैं।

किशोरी की सम्पूर्ण वृत्तियाँ ध्यान में एकाग्र हो ही रही थीं इतने में ही यशोदा मैया की अति लाड़भरी शब्द ध्वनि उन्हें सुनायी पड़ती है। "वत्से

राधे ! मेरी लाड़िली ! तुम्हारे हाथों निर्मित भोजन सामग्री की प्रशंसा सम्पूर्ण गोकुल कर रहा है । और मेरा पुत्र बलराम एवं कन्हैया तो उसके लिये सदैव लालायित रहते हैं । बेटी तुम्हारी बनायी रस मलाई (पियूष ग्रन्थिपानीय) जो गाढ़े रढ़े मलाईदार दूध और छेना (अमिक्षा) के द्वारा निर्माण की जाती है और अमृतकेलि (मावे की जलेबी), कर्पूरकेलि (रबड़ी, दूध में मलाई के मोटे लच्छे पड़ा मिष्ठान्न) को मेरा वत्स बहुत ही रुचि से खाता है।

श्रीकिशोरी मैया की शब्दावली सुनकर सजग हो जाती हैं । रानी को रसोई घर में ले जाने ललिता आती हैं । रानी का हाथ लगाकर विशाखा शिखरणी बनाने में जुट जाती है । शशिलेखा विशाखा को सहयोग दे रही है। चम्पकलता (दुग्धसार) मावा निर्माण कर रही हैं। तुंगविद्या छाना (आमिक्षा) निर्मित करने लगीं । चित्रा मिश्री खंड बना रही है । रंगदेवी खण्ड-मण्ड बना रही है। सुदेवी खीर (पायस) बनाने जुटी है। मंगला जलेबी (कुण्डलिका) बना रही है। वासन्ती फीनी (मृदुफेनिका) निर्माण कर रही है। कादम्बरी चन्द्रकान्ति (मीठी फीनी) बना रही है । लासिका सत्तू तन्दुल चूर्ण पिण्डि निर्माण कर रही है। कौमुदी शष्कुली गुजिया बना रही है।

सभी सखियाँ एवं मंजरियाँ पाक कार्य में लग जाती हैं । अत्यंत शीघ्र ही सभी सखियों के सहयोग से गुण, सौरभ और रस एवं स्वाद में एक से एक उत्कृष्ट उत्तम सामग्रियाँ भगवती योगमाया स्वयं निर्माण करती जा रही हैं और राधा रानी के सम्मुख रखती जा रही हैं । रानी मात्र उसमें अपना हाथ रख देती हैं, और वह सामग्री अनन्त आयुवर्धक अमृततुल्य हो जाती है।

कांचन वल्ली ने अति सुमधुर मलाई के लड्डू निर्माण कर लिये । मैया यशोदा ने प्रभात ही प्रभात जो सुगंधा नामक गौ के दुग्ध से नवनीत निकाला था, उसमा घृत निर्माण कर लिया मंजुलीला ने । वही घृत सभी सामग्री में प्रयोग हो रहा है । अम्बिका ने वृजराज द्वारा धवला कामधेनु का स्वयं निज हाथों दुह कर रामकृष्ण के पानार्थ जो दूध रखा था उसे खूब रढ़ाकर पीने योग्य बना दिया । शशिमुखी और रंगमाला आम्र, दाड़िम, बदरी, रुचक (सेव), नींबू, केला, अदरक (सौंठ), खारक (खजूर), अमृतफल (अमरूद) आदि सुसंस्कृत कर रही हैं ।

रोहिणी मैया यशोदा को सखियों के सहयोग से रचित सभी सामग्रियाँ दिखा रही हैं । हे यशोदे ! निरीक्षण करो - यह चन्द्रतुल्य पायस, यह कदली

पिष्टक, यह क्षीर-सार, यह आमिक्षाकन्द (छेने की मिठाई) और यह अमृत केलि, सब मधुर मिष्टि राधा ने बना दी हैं ।

ये विविध शाक शकरकन्द, आलू, केला, कूष्मांडों एवं तोरी, लौकी, गोभी, टिण्डों, जमीकन्द आदि मूलों से रचित हैं । अहा ! जायफल, दालचीनी, जावित्री, धना, जीरा, हल्दी, हरी मिर्चादि के संयोग से ये विविध प्रकार के रायते भानुकिशोरी ने बनाये हैं, ये परम सुस्वादु हैं और इन्हें भानुकिशोरी ने नन्दनन्दन की तृप्ति के लिये विशेष मनोयोग पूर्वक रचना किये गये हैं ।

ये विविध, अचार हैं, ये शाक, ये पूड़ियाँ, ये धान्य और ये भिन्न-भिन्न दालें हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण सामग्री रोहिणी, यशोदा मैया को अतिशय हर्ष से दिखा रही हैं ।

श्रीयशोदा किशोरी को अत्यंत श्रमित जान अत्यंत प्रेम से उनको अपने हृदय से लगाती हैं, और उनके ऊपर राई लौन बारती हैं, अपने आँचल से उन पर व्यजन करती हैं । रानी रसोई घर से अपने कक्ष में आ जाती हैं । उनकी दृष्टि तो तोरणद्वार में भटक रही है, कहीं श्रीकृष्ण दृष्टिपथ में आ जावें तो उनके प्राणों की सम्पूर्ण थकान मिट जाये ।

पूजागृह के पार्श्व में एक बड़े सुन्दर कक्ष में चतुर्दिक् सुन्दर स्वर्ण के पीठ रखे हैं उन पर मखमल के आसन लगे हैं । उनके ऊपर नवनीत से स्वच्छ वस्त्र बिछे हैं । इन स्वर्णपीठों के सम्मुख स्वर्ण निर्मित चौकियाँ रख दी गईं हैं।

मनोहर आसनों पर मध्य में श्रीकृष्ण एवं बलराम भैया बैठे हैं । उनके सम्मुख श्रीदाम तथा उसके दक्षिण में सुबल । श्रीदाम के बाम भाग में मधुमंगल, फिर वरूथप, तोक, भद्र, सुबाहु, किंकिणी, दाम, अनुदाम और असंख्य सखा श्रीकृष्ण को घेर कर बैठे हैं । यद्यपि कुछ सखा श्रीकृष्ण के पृष्टदेश की ओर भी हैं परन्तु फिर भी प्रत्येक सखा को यही प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के पास सर्वथा उनके मुख के सम्मुख मैं ही हूँ । किसी को तो यह भी भान होता है कि बलदाऊ भैया उठकर उसके स्थान पर श्रीकृष्ण के सम्मुख आ गये हैं और वह बलरामजी के स्थान पर ठीक श्रीकृष्ण के पार्श्व में बैठा है।

अब भोजन प्रारम्भ होता है। सखियाँ, दासियाँ एवं स्वयं नन्दरानी परोसने का काम कर रही हैं । रानी भीतर बैठी हुई स्वर्ण तश्तरियों एवं कटोरों में सामान सजाकर परात में भर देती हैं । सखियाँ बाहर ले जाकर

परोसती हैं । श्रीकृष्ण मंजुलीला की ओर प्यार भरा संकेत करते हैं । मंजुलीला मेवा एवं केसर से सिक्त चन्द्रवर्णी पायस की कटोरी रानी के अधरों से छुलाती हैं और तब श्रीकृष्ण को परोसने जाती हैं । मधुमंगल इसे देख लेता है । वह संकेत से श्रीकृष्ण की ओर देखकर विलक्षण ढंग से हास्य विनोद करता है । 'देवी प्रसादम्' 'देवी प्रसादम्' कह करके वह जैसे ही बोलने लगता है श्रीकृष्ण उसका मुख लड्डू मिष्ठान्न से भर देते हैं । श्रीकृष्ण नवनीत-धवल, मलाई का लड्डू खाते-खाते नयन कोर से रानी की ओर दृष्टिपात करते हैं और मधुमंगल वह लड्डू यह कहकर झपट लेता है – "तुम मात्र चन्द्र-मुखदर्शन से ही बुभुक्षा शान्त करो, लड्डू मैं खा लेता हूँ।" सखागणों के साथ मुसकाते चपल बाल क्रीड़ा करते श्रीकृष्ण की शोभा अत्यन्त प्रेममय सुन्दर हो जाती है। माता यशोदा श्रीकृष्ण की थाली के सम्मुख आसन लगा लेती हैं और तर्जनी द्वारा प्रत्येक पदार्थ के गुण एवं स्वाद का वर्णन कर-करके श्रीकृष्ण को तृप्तिपूर्वक भोजन करने को उत्साहित करती हैं।

वे कहती हैं – "यह द्रव्य अत्यन्त सुन्दर है, यह बहुत सुमिष्ट है, यह अत्यन्त मनोहर है । कृष्ण, इसे तो अवश्य चखो।" परन्तु श्रीकृष्ण तो जिसे मैया अनुमोदन करती है एवं खाने का आग्रह करती है, वह पदार्थ सखाओं की थाली में डाल देते हैं ।

मधुमंगल माता यशोदा को कहता है "माता ! कृष्ण को तो तुम मात्र स्तनपान कराओ और आलिंगन दान करो – यह तो बस इतने से ही मोटा हो जायेगा । वह तो अति अल्प भोजी ही है । और बलराम रोहिणी मैया के यहाँ से, एवं ये सभी सखा अपने-अपने घरों से पूरे छककर, खाकर आये हैं । इन्हें तनिक भी और खिलाने की आवश्यकता नहीं है । माँ ! मात्र भूखा ब्राह्मण तो मैं ही हूँ । अतः सम्पूर्ण भोजन जो भी तेरे घर बना है, वह सभी तू निस्संकोच मेरी थाली में डाल सकती है। मैं सब खा जाऊँगा । एक कण भी उच्छिष्ट नहीं छोड़ूँगा । हाँ ! तुम, रोहिणी और नन्दबाबा नारायण मन्दिर से तुलसी प्रसाद ले लेना । ब्राह्मण भोजन का फल भी तुम्हें मिलेगा और निराहार व्रत का पुण्य भी । इससे अधिक और तुम्हें चाहिये भी क्या ? शीघ्र करो माँ ! जो कुछ निर्मित है त्वरापूर्वक सब ले आओ।

"अरी माता ! ये सुबल और तोक सिक्त पदार्थ अति अरुचि से खाते हैं, इन्हें तन्दुल और शाक, दाल दे सकती हो । घृत-सिक्त पायस आदि सभी पदार्थ मुझे ही मुझे परोसो ।"

मधुमंगल तृष्णातुर इस प्रकार जीभ में स्वाद ले-लेकर अँगुली चाटता है कि श्रीकृष्ण बलराम एवं अन्य सभी सखा हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं । श्रीकृष्ण एवं सखा अपनी थाली के सब मिष्ठान्न उसकी थाली में डाल देते हैं। वह कहता है - "निस्संकोच डालो - दुग्ध रचित, घृत पक्व, अग्नि संस्कारित कोई रसमय पदार्थ उच्छिष्ट कभी होता ही नहीं ।" और ब्राह्मण की जठराग्नि सर्वभक्षी है । वह अपवित्र होती ही नहीं ।" मधुमंगल अपनी बाम जाँघ पर ताल ठोककर कहता है - "हे सखा ! जब तक तुम तिरछे तीखे नयनों से देवी-मुख दर्शन करो, तब तक मैं सब खालूँगा।" यह कहकर दीर्घ ग्रास लेता हुआ "और पायस दो, और दधि दो, सिखरन, पंचामृत एवं नवनीत खूब दो, श्रीकण्ड कर्पूर केलि (रबड़ी), मलाई, बरफी के लड्डू और दो" माँगता हुआ भोजन पर टूट पड़ता है । मैया पायस परोसती तो वह सिखरन, पंचामृत, नवनीत चट कर जाता है ।

ये सब सामग्री परोसी जाती है तब तक वह 'पायस-पायस' की रट लगाता है । श्रीराधा एवं सखियाँ श्रीकृष्ण का हँसता और प्रसन्नता से नाचता मुख दर्शन करके आनन्द में निमग्न हो रही हैं ।

अनन्तर सब सखाओं के सहित श्रीकृष्ण की, मञ्जुलीलामंजरी मुखारी कराती हैं । श्रीराधा स्वयं अपने हाथों प्रियतम के लिये ताम्बूल लगाती हैं । कुन्दवल्ली को मंजुलीला इशारा करती है, कुन्दवल्ली श्रीकृष्ण के मुख में अपने हाथ से दो पान की गिलौरी देती है, फिर एक वापस ले लेती है । मधुमंगल ही-ही हँसता है-संस्कृत में बोलता है -"**देवी प्रसादम् देवतार्थ, देव-प्रसादं देव्यर्थम्।**" जब ललिता मधुमंगल को ताम्बूल देने लगती है तो वह कहता है -"**तपोनिष्ठ ब्रह्मचारी बालोऽहं । मदर्थे इदं ताम्बूलादि श्रृंगार-भोग सामग्री सर्वथा वर्जनीयः। विनिमये यदि लड्डूकं मोदकं देहि तदा सर्वे पूर्णानन्देन ग्रहणीयः।** नयनों से एक बार पुनः राधा किशोरी पर प्रेमपूर्ण दृष्टि निक्षेप कर श्रीकृष्ण विश्रामागार की ओर चल पड़ते हैं। श्रीकृष्ण के दृष्टि से ओझल होते ही सभी सखियाँ पूर्णतया अनमनी हो जाती हैं। श्रीराधा किशोरी में ऐसी व्याकुलता सृष्ट होती है कि मंजुलीला उन्हें रोहिणी एवं कुन्दवल्ली के आग्रह से विश्रामागार के सम्मुख के प्रकोष्ठ में ले जाती हैं, इस प्रकोष्ट में एक ऐसी विशाल आरसी है जिस पर सामने के विश्रामागार में विश्राम करते व्यक्ति का चित्र ठीक सम्मुख ही दिखने लगता है । रानी ओट में बिछे स्वर्ण पलंग पर विश्राम करती हैं और सम्मुख कक्ष में शयन करते श्रीकृष्ण उसे प्रत्यक्ष दिखते

रहते हैं । राधा के प्राणों में प्रियतम दर्शन से अतिशय प्रसन्नता होती है । यही दशा नन्दनन्दन की है । उन्हें भी राधारानी के मुख का दर्शन अपने कक्ष में लगी विशाल आरसी में हो रहा है । इधर गायें नन्दनन्दन के सान्निध्य को प्राप्त करने हम्मारव करने लगती हैं । सखागण भी श्रीकृष्ण को वन प्रस्थान के लिये प्रेरित कर रहे हैं । अतः श्रीकृष्ण को वनगमन करने को उठना ही पड़ता है ।

यह नन्दग्राम शकटाकार बसा है । कहीं-कहीं गोमय के गिरि श्रृंग बने हैं। गोष्ठ की गोशालाओं में सहस्रों गोपियाँ श्रीकृष्ण के रूप-गुण-शील का कीर्त्तन करती कार्यरत हैं ।

एक झुण्ड गाता है - अरी, यो कान्हर कारोरी
दूसरा यूथ गाता है - नहीं यो ब्रज उजियारो री
फिर समवेत सभी गाती हैं-सात बरस के साँवरिया ने गिरिवर धार्यौरी
एक झुण्ड पुनः - अरी प्राणन सौं प्यारो री
दूसरा झुण्ड - अरी या पै सरवस वारोरी
समवेत - सात बरस के साँवरिया ने गिरिवर धार्यौरी

गोपगण वत्सों को गौओं से पृथक् करने में असमर्थ हो रहे हैं। गौशालाओं से श्वेत गौएँ नदी की तरह उफनती निकल रही हैं । श्रीकृष्ण को सम्मुख पाकर वत्स एवं गौएँ रुक जाती हैं । सभी हम्मारव करके श्रीकृष्ण के प्रति अपना प्रेम मंतव्य प्रकट कर रही हैं ।

श्रीकृष्ण वनगमन के समय जहाँ-जहाँ अपने पैर रखते हैं - वहीं वहीं पृथ्वी हर्षोत्फुल्ला हुई सुकोमल तृण विकास के रूप में अपना रोमांच प्रकट कर रही हैं । श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे सम्पूर्ण ब्रजमण्डल के लोग चल रहे हैं । यशोदारानी तो अपने वन जाते पुत्र को देख व्याकुल है। श्रीव्रजराज, उपनन्द, संनन्द आदि गोप श्रीकृष्ण को वन जाता हुआ देख नीरव, निस्पंद और निस्तब्ध हो गये हैं । सभी एक टक अपने प्राण प्रिय लाला की ओर देख रहे हैं ।

मंगला, भद्रा, श्यामला, पाली, शैव्या एवं चन्द्रावली आदि सभी गोपांगनाएँ अपने-अपने भवनों के मुख्य द्वारों पर खड़ी निर्निमेष नयनों से अपने प्राणवल्लभ को देख रही हैं । मैया यशोदा रानी को एवं सखियों को भोजन करने को कहती हैं परन्तु वे सभी कहती हैं कि अपरान्ह में सूर्य पूजनोपरान्त ही भोजन करेंगी । मैया बहुत सारा भोजन उनके साथ बांध देती हैं और

नान्दीमुखी कुन्दलता को उन्हें वृषभानुभवन तक पहुँचा आने की अभ्यर्थना करती हैं ।

श्यामसुन्दर ने जिस थाली में भेजन किया था, सखियाँ उसी थाली को उठा लाती हैं। इन सभी ने बहुत ही चतुराई से श्रीकृष्ण की भोजनोपरान्त की थाली में मैया द्वारा भेजी सभी मिठाइयाँ सजा सजाकर रख ली हैं तथा सखियों सहित रानी प्रियतम के अधरामृत का प्रसाद लेती हैं । शीघ्रता से वे प्रियतम द्वारा चबाया पान एवं पीक से संयुक्तकर बहुत से पान तय्यार करती हैं एवं परस्पर बाँट लेती हैं । रानी को विदा करती मैया रानी की अँगुली में धनिष्ठा द्वारा मंगायी अँगूठी यह कहकर पहना देती हैं कि "बेटी ! मेरा यह आशीर्वाद अस्वीकार मत करना । मैनें इसे कृष्ण के लिये बनायी थी पर उसे कुछ ढीली होने से वह बार-बार निकाल फेंकता है आज प्रात: तेरी अंगुली देखकर यही अनुमान हुआ कि यह तेरे ठीक बैठेगी ।"

"मेरी लाडिली ! माँ के इस आशीर्वाद को तू ग्रहण कर ले ।" रानी सिर झुका लेती है । मैया के चरणों में गिरकर प्रणाम करती हैं, मैया रानी को हृदय से लगा लेती हैं । मैया की आँखों में अश्रु बहने लगते है । वे रानी की ठोडी पकड़कर चूमती हैं तथा कहती हैं - "बेटी तुझे देखकर प्राय: मुझे भ्रम हो जाता है कि सुबल कहीं कृष्ण को ही साड़ी पहनाकर खेल तो नहीं कर रहा है । फिर पास आने पर तेरे गोरे रंग को देख पहचान पाती हूँ, आह, विधाता ने तुम दोनों के मुख को सर्वथा एक सा ही निर्माण किया है । रानी मैया की बात सुन लजा जाती हैं ।

वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के बिम्बारुण अधरों पर विराजित वेणु की महामोहन स्वरलहरी से, सुबल श्रीदामादि, गोपशिशुओं के कण्ठ से अपने सखा के सुयश की सुमधुर तानों से सम्पूर्ण व्रजमण्डल मुखरित हो रहा है ।

अहो, जननी यशोदा का प्रेमावेश तो देखो। वे पुकार रही हैं -बलराम ! बेटे ! तू नीलमणि के सदा आगे रहना । हे सुभद्र, हे मंडलीभद्र, बच्चों ! मैं इस सुकुमार बालक का सब उत्तरदायित्व तुम्हें दे रही हूँ । हे श्रीदाम ! हे विजय ! हे जय ! तुम इसे कभी अकेला मत छोड़ना । हे वत्स मधुमंगल ! यह श्रीकृष्ण जो भी चंचलता करे, मुझे अवश्य बता देना । मैं तुम्हें भरपेट नवनीत दूंगी । अरे । सुबल तू मेरे लाल के पीछे हो जा । श्रीदाम, ओ दाम, सुदाम, तुम तीनों इसके सदा पार्श्व में रहना । देखो ! शिशुओ तुम इसे

चतुर्दिक आवृत करके ही चलना । यह सब कहते यशोदा के नेत्र निरन्तर झर-झर बरसते रहते हैं ।

राम ! प्रागस्य पश्चाद्भव सुबल ! युवां श्रीलदामन् ! सुदामन्
द्वौ पार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीय बन्धोः ।
इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता
तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्र नीरैरसित्ता ।।

बस, इससे अधिक वाणी की सामर्थ्य नहीं जो कह सके ।

मैया अंचल पसारकर देवी-देवता मनाने लगती हैं । हे नृसिंह ! प्रभो ! मेरे बालक की रक्षा कीजियेगा । हे पृथ्वी ! हे आकाश ! हे अरण्य ! हे दिक्पालों ! तुम सभी मेरे पुत्र के लिये शुभदायक रहना । श्री यशोदा मैया इसी प्रकार की भावना प्रत्येक गोप शिशु के लिये भी कर रही हैं ।

प्रियतम श्यामसुन्दर का पीताम्बर जो कुञ्ज से रानी पहनकर चली आयी थी, मंजुलीला उसे सुबल को लौटाती हैं परन्तु यह क्रिया वे श्रीकृष्ण को दिखाकर उन पर ऐसा कटाक्ष फैंक कर करती हैं, जिससे रानी एवं प्रियतम दोनो लजा जाते हैं । गोचारण के लिये वनगमन को समुत्सुक श्रीकृष्ण प्रिया को सुगुप्त संदेश देने के लिये मंजुलीला को पत्र प्रदान करते हैं और मंजलीला भी प्रिया का संदेश उन्हें देती हैं ।

अब प्रियतम असंख्य सखाओं सहित हँसते-खेलते गोचारण को जा रहे हैं। किशोरी उनके पीछे अपनी सखियों सहित एक ही पथ में कुछ दूर जाती हैं। प्रियतम बार-बार मुड़कर प्रिया की ओर देखते हैं। जब श्रीकृष्ण प्रिया की ओर तांकते हैं मंजुलीलाजी प्रिया का घूँघट किसी न किसी मिस से उठा देती हैं और रानी को वन अथवा ब्रजशोभा दिखाने के मिस प्रियतम से आँखें चार करवा देती हैं । इस प्रकार वे दोनों को अतिशय संतुष्ट करके उनकी आदर तथा स्नेह भाजन होती हैं । किशोरी की आँखें सजल हो उठती हैं । परस्पर दोनों का हृदय अपने भावों का आदान-प्रदान करता विह्वल हो उठता है। इन गुप्त संकेतों द्वारा उन दोनो के अपने -अपने प्रेम भावों के निवेदन को मात्र सखियाँ ही जान पाती हैं और कोई अनुमान भी नहीं कर सकता है । नन्दावास से चलकर किशोरी वनपथ की ओर अग्रसर होने लगीं । इस समय किशोरी के नेत्रों में प्रियतम की छवि भरी रहती है । उन्हें सम्पूर्ण राजमार्ग

ही कृष्णमय प्रतीत हो रहा है । अति कठिनता से वे पथ को पहचान भी पा रही हैं । अवश्य ही ललिता विशाखा आदि उन्हें संभालकर ले चलती हैं जिससे कहीं कोई बाधा नहीं आ पावे । रानी घर पर आकर धम्म से अपने बिछोनों पर गिर पड़ती हैं । ललिता रानी के सिर को अपनी गोद में ले लेती हैं और पंखा झलने लगती हैं । अवश्य ही किशोरी के मन में क्या-क्या विचार आ रहे हैं इसे कोई नहीं जान पाता ।

सखियाँ सूर्य पूजा की सामग्रियाँ प्रस्तुत करने में संलग्न हैं । मंजुलीला किशोरी के लिये पूजोचित पवित्र रेशमी वस्त्र और वैसे ही अलंकार और श्रृंगार सामग्री निकालकर ललिता को दे रही हैं ।

## वंशीध्वनि एवं वनगमन

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरं ।
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन्वेधसम् ।
औत्सुक्या बलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्र माघूर्णयन् ।
भिन्दन्नण्डकटाह भित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ।।
(श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु)

{यह नन्दनन्दन की वंशीध्वनि वृन्दावन को ही झंकृत करके नहीं रह गयी, अन्तरिक्ष को भी आत्मसात् करने ऊपर उठी, पाताल को प्रकम्पित करने नीचे चली गयी । उधर तो मेघ समूह सहसा रुद्ध हो गये । स्वर्गायक तुम्बरु की दशा विचित्र हो गयी । आश्चर्य में निमग्न विस्फारित नेत्रों से बारंबार वृन्दावन की ओर झाँककर वह इस उन्मद नादका अनुसंधान पाना चाहता था। सनक-सनन्दन प्रभृति ऋषिवर्ग का चिर अभ्यस्त ध्यान टूट गया । विक्षिप्त चित्त हुए वे इस मधुर रस में डूबने उतराने लगे । विधाता के आश्चर्य का भी पार नहीं और उधर दानवेन्द्र बलि की उत्सुकता की सीमा नहीं । चिरशान्त स्वभाव बलि आज अतिशय चंचल हो उठे । भोगीन्द्र अनन्तदेव भी आज घूर्णित होने लगे । समस्त ब्रह्माण्ड को भेदन करती यह ध्वनि सर्वत्र परिव्याप्त हो गयी । सब ओर रस सिन्धु उमड़ चला ।}

इस अमृत पूर का प्रवाह बहाने वाले नन्दनन्दन को इस वंशीवादन की शिक्षा कहाँ कब किससे मिली, यह किसी ने भी नहीं जाना । व्रजेश्वर की आज्ञा से आज गौओं का सुन्दर श्रृंगार हुआ है । सभी सिर उठाये शान्त होकर नन्दनन्दन लाड़िले की प्रतीक्षा कर रही हैं । श्रीकृष्णचन्द्र भी आ ही पहुँचे । एक हाथ में पितृ प्रदत्त लकुट और दूसरे में वंशी । देखो वे कैसी मधुर ललित चाल से आ रहे हैं ।

'उन पर दृष्टि पड़ते ही गौओं में जो आनन्द की लहरों पर लहरें परिलक्षित हो रही हैं उसे देखकर समस्त ब्रजमण्डल अवाक् है । कूदने के अतिरिक्त इन गायों के पास अन्य तो कोई साधन नहीं, जो अपने आनन्द को व्यक्त कर सकें । इसलिये वे हम्मारव करती कूदने लगीं। परन्तु इनके कूदने, चौकड़ी भरने में भी उन्माद एवं उद्दामता नहीं है । मानो वे विलक्षण नृत्य कर रही हों इस प्रकार सर्वथा किसी को भी क्षति नहीं करती वे अद्भुत रूप से अपनी मात्र प्रसन्नता ही व्यक्त कर रही हैं । कुछ रक्षक गोप उन्हें संयत करने की चेष्टा कर रहे हैं, पर सब व्यर्थ । हाँ, ज्यों ही नीलमणि उनके प्राणधन उनके मध्य आकर खड़े हुए, ज्यों ही उन्होंने अपना वंशीविभूषित हाथ उठाया, तब तो प्रत्येक गौ जहाँ की तहाँ शान्त हो गयी। अपने प्राणवल्लभ गोपाल की वे कभी भी रंचकमात्र इच्छा की भी अवज्ञा नहीं करेंगी – सभी गोधन इसका प्रमाण दे रहा था । इस दृष्य को देखकर आनन्द विह्वल सभी ब्रजवासी समवेत स्वर से पुकार उठे – "गोपाल नन्द के लाल की जय हो।"

अब एक विलक्षण आश्चर्य घटित होता है, श्रीकृष्ण मात्र आधी घड़ी में ही महर्षि शण्डिल्य से लेकर शत सहस्र ब्राह्मणों के एवं असंख्य वयोवद्ध गोप गोपियों के चरणों में प्रणिपात कर लेते हैं । सभी स्पष्ट अनुभव करते हैं यशोदा का नीलमणि आया है, उनके चरणों में सिर रखने को । उन्होंने उसको गले से लगाया है, मस्तक पर तिलक किया है, सिर सूँघा हैं, निर्निमिष नयनों से रुद्धवाणी से भी आशीर्वाद के वचन फूट पड़े हैं – "चिरजीवी रहो, सुख में फूलो-फलो ।"

प्रत्येक ब्रजकिशोरी तरुणी अनुभव कर रही है – अति सगुप्त न जाने किस पथ से वे उसके पास एकान्त में मुसकाते पहुँच गये हैं; एक मधुर मुसकान, तिरछी चितवन से प्रेमभरी एक कटाक्ष उन्होंने उस पर फेंकी है, उसके अवयव निस्पन्द हो गये हैं और प्राण निर्निमिष नयनों की राह उनके

साथ ही वन प्रदेश की ओर चले गये हैं, प्राण वियोग भला कैसे सह पावेंगे । जो मधुर प्रेम भाव की शत सहस्र मन्दाकिनी उस समय प्रत्येक गोपी के उरस्थल पर उठ रही है, उसे चित्रित करने की सामर्थ्य साक्षात् देवी सरस्वती में भी नहीं है ।

सखागण समवेत श्रृंगध्वनि कर उठते हैं । ब्रज पुरन्धियाँ मंगलगान कर रही हैं । जननी एवं व्रजेश को किसी अचिन्त्य शक्ति ने ही प्रकृतिस्थ कर रखा है, नहीं तो जैसी उनकी अपने पुत्र को वनगमन के लिये बिदा देते समय की दशा है उससे तो गोचारण आज सर्वथा स्थगित ही हो जाना चाहिये था ।

वृन्दारण्य के कण-कण में यह भावना मानो प्रतिध्वनित हो उठती है - "वनाधिदेवी ! माधव आ रहे हैं । उल्लास युक्त हो जाओ । अपने समग्र रूप, गुण का प्रकाश करो ।" लो ! प्राणवल्लभ नीलमणि के श्रीअंगो के सौरभ पान से मदान्ध हुए भ्रमरों का यूथ गुन-गुनरव करता उनके चतुर्दिक मँडराने लगा। नीलमणि ने इस गुंजन का ऐसा अनुकरण किया है कि अग्रज बलरामजी भी विस्मित हो उठे हैं। भ्रमरों की इतनी सफल और सरस अनुकृति देखकर स्वयं भ्रमर दल चकित हो बोलना स्थगित कर देता है । सखागण "वाह रे कन्हैया ! वाह रे कन्नू भैया !" कह कहकर साधुवाद का मंजुघोष कर रहे हैं।

लो, भ्रमरों की अनुकृति स्थगित हुई तो कलहंसों का दल दृष्टि में आ गया । नीलमणि हंसकुल के अति समीप चले गये । और उनके कूजन में अब उनका स्वर मिलने लगा ।

उन हंसों के नैसर्गिक सुन्दर रव में और नीलमणि की अनुकृति में आश्चर्यमयी एकता ही नहीं हो उठी अपितु इस अद्भुत नव किशोर नर मराल का स्वर इतना चमत्कारिक सरस है कि वराट-वराटी अपनी काकली स्थगित कर देते हैं । और अब उनकी चंचल दृष्ट को आकर्षित कर लिया मयूरों ने। अतिशय शीघ्रता से अपने पीताम्बर के उत्तरीय को उन्होंने हाथों के सहारे पीछे से फैलाकर ऐसा बना लिया मानो नृत्य-परायण अभिनव मयूर का विस्तारित पीताभ पुच्छ हो । तथा यह हो जाने पर देखने ही योग्य होता है उस मयूर दल के तालबन्ध पर उनके सम्मुख ही नील सुन्दर का अनुकरण नृत्य ! उनके महामरकत-श्यामल श्री अंगों की विचित्र भंगिमायें देख-देखकर वे असंख्य गोपाल गोपसखागण उच्च कण्ठ स्वर से हँसने लगते हैं । उनकी

वह उन्मुक्त हँसी गिरि परिसर में सर्वत्र गूँज उठती है । मयूर दल को भी संकोच होने लगता है । पुच्छ संकुचित कर, नृत्य का विरामकर वे देखने लगते हैं श्रीकृष्णचन्द्र की ओर । उन्हें सचमुच ही यही अनुभूति होती है कि ऐसा सुन्दर नृत्य तो वे कभी भी नहीं कर पावेंगे ।

और लो वनाधिदेवी ने अपने आपको ऐसी सज्जा से श्रृंगारित किया है कि आज सौन्दर्य की अधिष्ठातृ साक्षात् लक्ष्मीजी भी चकित हैं । विमान चारी देववर्ग भी इस सौन्दर्य को देखकर स्तब्ध है । नन्दन कानन तो इस सौन्दर्य के सम्मुख कूड़ेदानी में फेंकने लायक हो गया है । समीर उल्लसित होकर सर्वत्र संदेश प्रसरित कर रहा है :- "हे लतागणों । सचेतन होओ । हे तरुगण विकसित होओ ! हे मृगगण, क्रीड़ा करो, हे कोकिलगण ! तुम लोग भ्रमर दल के साथ गायन करो । हे शुक पक्षीवृन्द ! तुम लोग मधुर पदावली पाठ करो । हे स्थावर जंगम तत्वों ! आनन्दित होओ ! प्रियतम प्राणवल्लभ सभी को सुख देने वन में आ रहे हैं । लो देखो ! उनका वंशीनिनाद गूँज उठा । ऊपर आकाश का दृष्य भी देखने योग्य हो गया है । सुर समुदाय की बात तो दूर, हंसवाहन चतुर्मुख ब्रह्माजी भी प्रेम विकारग्रस्त हो उठे हैं ।

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्नववैणवकाकलीं कलयन् ।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मराल पृष्ठे मुहुर्लुठति ।।

अपने आठ कर्ण पुटों के द्वारा उस नवीन मधुरास्फुट वेणुध्वनिका रस-पान करते हुए ब्रह्मा विभोर होने लगते, उनका धैर्य छूट जाता तथा वे वहीं हंस के पृष्ठ देश पर प्रेम विवश हुए बारंबार लौटने लगते और सुरेन्द्र के सहस्र नेत्रों से अश्रुबिन्दु झरने लगते । सरलमति गोप सखा आश्चर्य चकित होकर देखते। गगन मेघशून्य है, फिर भी बूँदें गिर रही हैं । शीतल सुखद वृष्टि हो रही है, वन, प्रान्तर आर्द्र होते जा रहे हैं । वृन्दावन की भूमि किसी अभिनव वर्षाधारा से सिक्त हो रही है । इस वेणुध्वनि से वृन्दाकानन में स्थावर-जंगमों का स्वभाव वैपरीत्य तो अनिवार्य घटना है ।

द्रवति शिखर वृन्देऽचज्वले वेणुनादैर्दिशिदिशि विसरन्ती निर्झरापःसमीक्ष्य।

तृषित खग मृगाली गन्तुमुक्ता जड़ा तैः स्वयमपि सविधाप्ता नैव पातुंसमर्था।

(गोविन्द लीलामृत महाकाव्य)

{वेणुनाद का स्पर्श पाते ही स्थिर पर्वत श्रेणियों के शिखर समूह द्रवित हो जाते हैं, पाषाण तरल बनकर चारों ओर बह चलते हैं, अनेक निर्झरों का सृजन हो जाता है । उन्हें देखकर तृषित विहंगम कुल, मृगयूथ पीने के लिये उत्कण्ठित हो जाते हैं, चाहते हैं कि दौड़कर जल पीने जा पहुँचे; किन्तु उनके अंग अवश हो जाते हैं, उनमें एक विचित्र सुखमयी जड़िमा आ जाती है तथा स्वयं निकट आयी हुई उस वारिधारा का पान करने की उनकी सामर्थ्य भी समाप्त हो जाती है।

वंशीनादैः सरसि पयसि प्रापिते ग्रावधर्मम्
हंसीः संदानित पदयुगाः स्तम्भितांगी रिरंसूः ।
आसन्नीशाः स्वयमपि जड़ा बद्धपादा न गन्तुं
ताभ्यो दातुं न विसशकलं नापि भोक्तुं मराला : ।।

बंशीनाद का चमत्कारी प्रभाव सरोवर के जल को जमाकर प्रस्तर का रूप दे देता है । सरोवर में संतरण करते हुए हंसिनी यूथ के पैर भी जमे हुए जल के संपर्क में आकर बँध जाते हैं । साथ ही वे ध्वनि का मधुपान करके स्वयं भी अपने समस्त अंगों से निश्चल हो जातीं हैं। यही दशा हंसकुल की है। घन होकर प्रस्तर रूप में परिणत अपनी हंसिनी को अपना प्यार समर्पित करने की वासना लिये स्वयं भोजन करने के उद्देश्य से चञ्चुपुटों में मृणालखण्ड धारण किये वह मराल कुल भी जहाँ का तहाँ रुद्ध है । न तो वह मराली को मृणालदान कर पाता है और न ही स्वयं भक्षण कर पाता है ।

अतः आज अटवी में प्रवेश करने के कुछ ही काल पश्चात् प्रियतम नीलम ने वंशी निनाद किया । जैसे विरहरूप दावानल से मूर्छित प्रिय अटवी को चैतन्य करने के लिये अमृत वर्षा कर रहे हों । यह अमृत वर्षा वृषभानुपुर में विश्रान्त अपने कक्ष में थकी लेटी किशोरी रानी के कानों को भी रस पीयूष से भर देती है । मानो अपनी प्रिया को आह्वान करने का

मंगलाचरण पाठ हो रहा हो, उनकी अग्रिम लीलाओं की चिर सहचरी वंशी ध्वनि सर्वत्र प्रसरित हो उठी ।

और कदाचित् वन विहार के इस रसमय आवेश में नीलमणि आत्म विस्तृत हो गये । उनके वंशीनिनाद के उन्मादी सुख में डूबकर गोपसखागण भी जडिमा भावग्रस्त हुए अपनी सुध-बुध खो बैठे । गायें भी जो पूर्णतया स्वतंत्र होकर दूर चली गयी थीं, वे भी जड़ हो गयी थीं । उनके मुख का अर्धचर्वित तृणग्रास वहीं का वहीं रह गया था । वे अपने प्राणों का सम्पूर्ण वेग लगाकर आना चाहती थीं अपने नित्यपालक वेणुवादक के पास । परन्तु ऐसी विलक्षण सच्चिन्मयी जड़िमा उनके रोम-रोम में व्याप्त हो गयी कि उनके अंग अवश हुए हिल ही नहीं रहे थे ।

नीलमणि अकस्मात् जाग से उठते हैं । यह क्या कर दिया उन्होने । वंशीध्वनि तत्क्षण स्थगित हो गयी । उसे अपने कमर में उन्होंने खौंस ली । उनके नित्य नव सुन्दर मुखारविन्द पर एक विचित्र सी व्याकुलता परिलक्षित होने लगी । अरे सुबल ! ओ तोक, अरे मणिभद्र, भाई सुदाम ! ओ श्रीदाम ! अरे, तुम्हें क्या हो गया ? उठो, तो भाई । क्या सभी सो गये ? सखाओं के कर्णपुटों में उनकी यह अतिशय मधुर जलद ध्वनि अनिर्वचनीय पीयूष स्रोत का सृजन कर देती है, इसे कौन बतावे ? सभी सखागण जाग उठे से गायों को स्मरण करते हैं । उनके मुखारविन्द पर एक विचित्र सी व्याकुलता परिलक्षित होती है - अरे भैया ओ ! देखो तो सही अपनी गायें कहाँ से कहाँ चली गयीं ? और इस कन्नू की वंशी ने उन्हें भी कहीं दूर सुला नहीं दिया हो ?" इन सखाओं के नेत्रों में किञ्चित् भी चिन्ता, भय व्याप्त हो जाये - यह उनके प्राणसखा को कहाँ स्वीकार है । दूसरे ही क्षण नील सुन्दर के बिम्बारुण अधर-पल्लव पर वह अपूर्व स्मिति व्यक्त हो जाती है । वे दौड़कर निकटवर्ती कदम्ब की ऊँची शाखा पर चढ़ जाते हैं और फिर गूँज उठता है उनका मेघ गंभीर नाद-

> पिशंगि मणिकस्तनि प्रणतश्रृंगिपिंगेक्षणे,
> मृदंगमुखि धूमले शबलि हंसि वंशिप्रिये ।
> इति स्वसुरभीकुलं मुहुरुदीर्ण ही ही
> ध्वनिर्विदूरगतमाह्वयन् हरति हन्त चित्तं हरिः ।।
> मेघ गंभीरयावाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।
> क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गो-गोपाल मनोज्ञया ।।

अरी पिशंगि, ओ मणिकस्तनि, री प्रणतश्रृंगि, ओ पिंगेक्षणे, अरी मृदंगमुखी, हे धूमले, अहो हंसि, री वंशीप्रिये, आजा, आजारी ! हीओ ! हीओ ! इस प्रकार प्रत्येक का नाम ले लेकर, स्नेहविवश हुए वे आह्वान करने लगते हैं और अपने प्यारे नीलमणि की इस पुकार ने गायों में नवीन चेतना का मानो संचार कर दिया हो, वे एक साथ हाम्बारव करती अपने प्राणसारसर्वस्व के पास आ जाती हैं । बस, इतना सा ही तो अभिप्रेत था लीलाबिहारी को ।

अब फिर नये कौतुकों का प्रारम्भ हो गया । यह लो ! आगे से आगे सखाओं के प्रस्ताव प्रस्तुत हैं । एक ने कहा – "कन्हैया ! चकोर की बोली बोल सके तो जानूँ ।" दूसरे ने कहा – "मयूर के समान नृत्य तो मैं भी कर लूँगा, उसकी बोली बोलकर सुना ।" अनेक सखा हैं, सबकी अलग-अलग रुचि है । ये चकोर, क्रौंच, चकवा-चकवी, भारद्वाज , कोकिल, मयूर, सभी के मनोरथ पूर्ण करना है उनको ही । राशि-राशि वन-पक्षी शान्त-सुस्थिर उनकी ओर एक-टक देख रहे हैं । सभी के रव का हूबहू अनुकरण कर रहे हैं उनके ये प्राणनिधि ! और वह देखो ! वन के सघनतम अन्तर्भाग से हिंस्र-पशु व्याघ्र सिंह, विशाल अजगर भी बाहर आकर उन्मुक्त वनस्थली में अपने मनोहारी चितचोर के पास चले आये ।

**उस वन के किसी चतुष्पद में हिंसा की वृत्ति न थी प्रियतम !**
**दिनरात परस्पर निर्भय वे सुख से घूमा करते प्रियतम !**
**उनमें मुनियों की दृष्टि अहो ! थी स्वतः उतर आयी प्रियतम !**
**मानो एकात्मभाव मन में वे लिये हुए सब थे प्रियतम !!**

नीलसुन्दर के प्रति कितना स्नेहभरा है उनकी आँखों में, यह देखते ही बनता है । किन्तु बलिहारी है लीलाबिहारी की लीला की । वे तो भयभीत दौड़ लगा रहे हैं । देखो ! भय मिश्रित उनकी चीख निकल आयी है । अवश्य ही गोप सखा हँस रहे हैं । वे सभी ताली पीट-पीटकर हँसते हुए आनन्दभरी दृष्टि से इन हिंस्र पशुओं से खेल रहे हैं । तोक कृष्ण तो इस व्याघ्र की सवारी करने पर उतारू है । सुबल कन्हैया को बुला रहा है और कहता है -- "अरे भैया तूने कालिय नाग को आहत कर दिया, इस साधारण अजगर से

क्या डरता है ?" किंकणी ने अजगर का मुख खोल लिया है । वह तो बहुत ही विनोदी है - कहता है हमारे कन्हैया ने पहाड़ जैसे अजगर जिसका मुख कन्दरा के समान था, उसको मार डाला, इसका मुख तो मात्र भूमि विवर जैसा ही है । सखाओं की पुकार पर उनके प्राण सखा को तो आना ही था । इन हिंस्र जीवों में अहिंसा की नित्य प्रतिष्ठा है । निसर्ग से ही वैर सम्पन्न जन्तुओं में भी इस व्रजभूमि के प्रभाव से सदा स्नेह की सरिता उमड़ती रहती है।

इस प्रकार नये-नये कौतुक करते श्रीकृष्ण गिरि परिसर में पहुँच जाते हैं। सखाओं में तनिक भी श्रान्ति का भान नहीं हैं । अत: विश्रामका तो प्रश्न ही कहाँ है ? तो लो ! अब उनकी क्रीड़ा चली आँख मिचौनी खेल की । तरु शाखायें परस्पर जुड़कर हरित पत्रों का सुन्दर वितान कर देती हैं । इन लताओं की ओट लेकर एक दल को अरण्य में अपने को छुपाना है और दूसरे दल को उसे खोज निकालना है । सभी चाहते हैं कि इस रंगभूमि के नेता, प्रधान श्रीकृष्ण सबकी आँखों के आगे ही रहें, वे उनसे ओझल कदापि न हों। परन्तु लीला महाशक्ति तो रंगमंच में अब दूसरा दृष्य पट प्रस्तुत करने को उतावली हो रही है ।

अत: आँख मिचौनी लीला में एक दल का नेतृत्व बलदाऊ दादा संभालते हैं और दूसरा दल का नेतृत्व नीलमणि । दूसरा दल एवं नीलमणि लतावल्लरियों की ओट में जा छिपे । मात्र एकक्षण का ही यह उनका अदर्शन सखाओं के प्राणों में व्याकुलता की सीमा का उल्लंघन कर देता है । तुरन्त ही बलदाऊ भैया का दल अपने कन्हैया भैया को ढूँढ निकाल लेता है और विजय के हर्ष से सभी दल नाच उठते हैं ।

अवश्य ही अघटन घटना पटीयसी अचिन्त्य लीला महाशक्ति के विधान से ऐसा आयोजन हो जाता है कि यह एक क्षण का अन्तर्धान का कालमान श्रीराधा कुण्ड पर श्रीराधा किशोरी के दैनन्दिनी विहार की लीला-संरचना के लिये ढाई पहर की लम्बी अवधि बन जाता है । दूसरे शब्दों में यहाँ का एक क्षण वहाँ के ढाई पहर में व्यक्त हो जाता है । श्रीकृष्ण के सखागण उन्हें केवल एक क्षण के लिये अपने से पृथक अनुभव करते हैं और वहाँ राधाकुण्ड में, सूर्यपूजन की ढाई पहर की लीला संघटित हो जाती है ।

## श्रीकृष्ण का राधाकुण्ड आगमन

**दिन के दूसरे प्रहर में वे रहते अरण्य में थे प्रियतम !**
**मेरा प्यारा भाई मेरी करता सहायता था प्रियतम !**
**प्रेषित मैं एक पत्र करती तू भी अवश्य करना प्रियतम !**
**मेरे प्राणों में प्राण मिला नलिनों में लिख करके, प्रियतम !!**

वनदेवी नीलमणि प्राणधन के सरोवर के सन्निकट पहुँचते ही वसन्तश्री से मण्डित होन लगी । भ्रमरगणों की सर्वत्र झंकार मानो उनकी गुणावली पाठ कर रही थी । सर्वत्र पक्षीगणों की काकली मुखरित हो उठी । तरु समूह रस क्षरित करने लगे । लता श्रेणियों ने स्वागत में पुष्पों से समग्र पथ पर आस्तरण बिछा दिया । पत्र चंचल होकर आह्वान करने लगे । मृग मृगी यूथों में तृण भक्षण को विराम देकर वंशीरव से आकृष्ट हुए अपने प्राणवल्लभ के पास चले आये । हरिणियों के चंचल नेत्रों को देखते-देखते प्रियतम नीलमणि को प्रिया किशोरी रानी की स्मृति होने लगी ।

सरोवरों में मदमत्त हुए जल पक्षियों का कलरव प्रियतम के लिये प्रिया के आभूषणों की झंकार बन गया । उत्कृष्ट परिमल तिरस्कारी सुगन्धि भरी प्रस्फुटित कमल श्री उन्हें प्रिया की हसित आननश्री की स्मृति में विसुध कर रही थी । कमलों पर बैठे भ्रमर उन्हें प्रिया के कज्जल रंजित दीर्घ नयन प्रतीत हो रहे थे । रस चूते खिले दाड़िम दंतछटा की स्मृति उद्दीपित कर रहे थे, बिम्ब अधरो की, बड़े-बड़े नारंग उनके उरोजों की स्मृति में उन्हें विसुध बना रहे थे ।

प्रियतम प्राणवल्लभ के लिये सम्पूर्ण वन प्रिया रूप हो उठा था । वे जहाँ जहाँ भी दृष्टि डालते वहीं उन्हें प्रिया ही दिखाई पड़ती । एक अद्भुत असीम व्याकुलता उनमें व्यक्त हो गयी थी । एक चम्पक वृक्ष को देखकर तो उनकी व्याकुलता और तन्मयता दोनों अतिशय प्रगाढ़ हो उठी । श्रीदाम एवं सुबल दोनो वन एवं पर्वत शोभा दिखाकर उनका ध्यान हटाने की चेष्टा करते हैं - "हे सखे ! देखो हम गिरिराज गोवर्धन की तलहटी पर पहुँच गये हैं । अहा ! मणि समूहों की राशि-राशि से कैसा दिव्य प्रकाश उद्भासित हो रहा है । मणिमय आम्रवृक्ष मणिमय मुकुलों से लदे हैं । मणि मुकुलों के क्षरण से स्वर्णिम भूमि रत्नमयी प्रतीत हो रही है । अहा ! इन मणि मुकुलों पर भिन्न-भिन्न मणियों के रंग के भ्रमर गुंजन कर रहे हैं । इनका झूमना और

गुंजन करना कितना मनोरम है । इनके झंकार से तो मलयाचल की मंद समीर भी उल्लसित हो उठी है । देखो न ! इन सरोवरों के जल में गोवर्धन पर्वत की छवि ज्यों की त्यों मूर्तिमान हो रही है । मणि पर्वतों की ज्योत्स्ना लता वल्लरियों से आच्छादित घने वन के अन्तः पट से चमचम चमचमा रही है । इन मणि पर्वतों की चमक से प्रतिबिंबित इस सरोवर का जल भी विलक्षण छटा प्रकाश कर रहा है । गोवर्धन के अन्तराल से निकली यह स्वच्छ जलधारा भी कितनी शीतल-स्वच्छ और मधुर सुस्वादु है ।

परन्तु प्रियतम तो प्रिया की स्मृति में इतने तल्लीन हैं कि सुबल एवं श्रीदाम द्वारा वन शोभा वर्णन उनके कानों में प्रवेश ही नहीं कर रहा है । मयूरों का केकारव उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानों उन्हें एकाकी प्रिया से वियुक्त पाकर मयूरियाँ रुदन करती पूछ रही हों - "राधा कहाँ ? राधा कहाँ ? राधा कहाँ ?"

वे सुबल से कहते हैं - "हे सुबल ! ये हंस-हंसिनी गण मुझ एकाकी को प्रिया-विरह में दुखी देख अपनी भी प्रियाओं को सहानुभूति में त्याग कर उदास मन से कमलिनी के कोड़ में अपनी ग्रीवा डाल शान्त लेट गये हैं ।"

"हे सखे ! इन हरिणियों को भी मेरे प्रिया-वियोग का कितना असह्य दुःख है , ये भी अपने प्रिय मृग को त्याग अति उदास मन से मेरी ओर कैसी दया भरी दृष्टि से निहार रही हैं। यह कृष्णा-कोकिल 'किशोरी किशोरी' कूजती हुई हे सखे ! किस प्राणों की आकुलता से इधर-उधर फुदक रही है ? इन लताओं ने मुझे प्रियाहीन जानकर वृक्षों का आलिंगन त्याग दिया है एवं ये वृक्ष भी अधोमुख विषाद में कम्पित हो होकर अपनी व्यथा प्रकट कर रहे हैं। ये भ्रमर पुष्पों का मकरन्द पान नहीं करते, ये मुझे एकाकी विषादयुक्त उदास देख प्रिया का गुणगान कर मेरा मनोरंजन करने का प्रयास कर रहे हैं। और देखो इन पुष्पलताओं की ओर तो दृष्टि पात करो - ये अपनी विकसित पुष्पावली को गिराकर मुझे निवेदन कर रही हैं कि जब प्रिया ही नहीं है तो हम कौन सा साज श्रृंगार धारण करें ? अब तो हमारी सारी सज्जा ही प्रयोजन शून्य है ।"

"हे श्रीदाम भैया ! यदि तुम मुझे जीवित और हँसता, मुसकाता देखना चाहते हो तो शीघ्र मेरी प्रिया को मेरे इस वन में आने का समाचार दे दो । सखियों सहित अपने नूपुरों की झंकार से संपूर्ण वन प्रांगण को मुखरित करतीं, अपनी अमृतमयी दृष्टि निक्षेप से इन विरहिणी वल्लरियों को

जीवनदान देतीं, अपनी मुसकान माधुरी से संपूर्ण जड़-चेतन, स्थावर-जंगम को चैतन्य प्रदान करतीं वे कब इस सरोवर को अपना विश्राम स्थल बनावेंगी ? मैं परमाकुल चित्त मेरी प्रिया की प्रतीक्षा में रत हूँ । उनके आगमन के बिना न ही यह वन आनन्दित होगा, न ही मेरा हृदय ।"

"देखो न ! यह गोवर्धन जो अनन्त शोभा का आगार है मुझे प्रिया के बिना कितना नीरस, सौन्दर्यहीन, शुष्क दिख रहा है ।"

यह कहते-कहते वे बाह्य चेतना शून्य हो जाते हैं । श्रीदाम उन्हें धैर्य बंधवाने की चेष्टा करता कहता है कि मैं शीघ्र ही रानी को अन्वेषण कर यहीं ला रहा हूँ । सुबल कदली पत्र से उन पर व्यजन करता है । वह राधा-सरोवर का शीतल स्वच्छ जल उनके मुख पर छिड़कता है, फिर भी वे अर्धचेतन दशा में "राधा ! प्राणेश्वरी ! जीवन निधि !" कहकर पुकारने लगते हैं। वे अपने सभी आभूषणों को अपने देह से पृथक कर देते हैं ! हे मुकुट ! तुम मेरे शीर्ष को शोभित क्या करोगे, तुम्हारी कृतार्थता तो प्राणप्रिया के चरणों में झुकने पर ही है । हे मणिमालाओं ! मेरा समस्त श्रृंगार मात्र प्रिया की प्रसन्नता के ही लिये है जब वही मेरे साथ नहीं तो मैं तुम्हें धारण करके क्या करूँगा ? हे नूपुर ! हे कटि किंकिणी ! जब मेरी प्रिया आये तभी तुम मेरे अंगों को सुशोभित करना ! अभी तुम्हारी झंकार मुझे अति कर्ण कटु लगती है। हे कुंडल ! हे केयूर ! तुम सभी को मैं आकुल हृदय से बिदा कर रहा हूँ।

उन्होंने मात्र प्रिया के हाथों गुम्फित वन-माला अपने पास रखी और प्रिया की छवि प्रकाशित करने वाली गज-मुक्ता माला को धारण किये रहे । उन्होंने पीताम्बर को भी अपनी प्रिया के वर्ण का मान अपने पास रखा, शेष सभी आभूषणों को वे उतार-उतार कर चम्पावृक्ष के चरणों में रख देते हैं।

प्रियतम श्रीकृष्ण के भावों में प्रिया के विरह सें एक विलक्षण उदासीनता परिलक्षित हो रही है । उनके अन्तर्हृदय में अतिशय व्याकुलता है, परन्तु बाहर अपने सखाओं के सम्मुख लज्जा का प्रकाश भी है । यह मिश्रित भावदशा देखते ही बनती है । उनके प्राणों में मिलन की इतनी उत्कण्ठा है कि वे सचकित नेत्रों से उस पथ की ओर देखने लगते हैं जिस पथ से श्रीकिशोरी रानी नित्य राधाकुण्ड पर आती हैं । उन्हें भ्रम होने लगता है, वास्तव में ही किशोरी अशोक वृक्ष के आलवाल के समीप खड़ी है । वे हर्षोन्मत्त धीरे से सुबल को कहते हैं - "अरे सुबल ! किशोरी आ गई रे ?"

यह हृदय की भावना वाणी में आते ही उनमे पुन: घनीभूत लज्जा का आवेश हो जाता है । वे अपने भाव को गुप्त करने के प्रयास में अपने दक्षिण की ओर घने आम्र वृक्षों की कुंज में देखने लग जाते हैं । वे अपनी प्रिया के आगमन की भावना में पुन: तन्मय हो जाते हैं । दाहिनी ओर गिरिश्रृंगों की ओर उनकी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है । वहाँ एक उत्तुंग शिखर पर उन्हें पुन: किशोरी अवस्थित दिखाई पड़ती है, परन्तु इस बार उन्हें यही प्रतीत होता है कि यह उनके नेत्रों का भ्रम ही है ।

वे मन ही मन अपनी प्रिया राधा को संदेश देने लगते हैं - "प्रिये ! ऋतुराज आज पुष्प वितान तान कर, पुष्पास्तरण आस्तृत कर अपनी इष्टदेवी धरा का पूजन कर रहा है । देखो ! इसने मलय सौरभयुक्त परिमल की धूप सजा रखी है । भ्रमरों के निनाद की शंखध्वनि हो रही है । कोकिल, मयूर स्तुति पाठ कर रहे हैं । किंशुक फूल रहे हैं, यह उसका दीपोत्सव नीराजन है। प्रिये ! आओ !! मैं भी तुम्हारी अर्चना करूँ । इस किंकर की अर्चना ग्रहण कर इसे कृतार्थ करो ।

हे प्रिये ! देखो अति रमणीय कुसुमों से घिरा यह सरोवर दूर-दूर तक शोभा की तरंगों में नाच रहा है । इसके चतुर्दिक असंख्य मयूर नर्त्तन कर रहे हैं । अलिदल अति प्रमत्त हो रहे हैं । हे प्रिये ! आओ इस वन श्री की शोभा निहारकर इसे धन्य भाग्य करो ।

इस प्रकार प्रिया का प्रगाढ़ चिन्तन करते-करते उन्हें ऐसा अनुभव होने लगता है कि जैसे वे ही श्रीराधा हैं और श्यामसुन्दर उन्हें त्यागकर कहीं अन्यत्र चले गये हैं । उनकी 'मैं राधा' यह अनुभूति इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि उन्हें सुबल ललिता अनुभव होता है । यद्यपि उनका यह मनोभाव बाहर प्रकट नहीं होता परन्तु उन्हें 'मैं राधा' की अनुभूति में सम्पूर्ण बन एवं राधा कुण्ड श्रीकृष्ण से भरा दृष्टिगोचर होता है ।

इधर किशोरी रानी के आने का काल हो चुका है । वे अपने आवास से चल पड़ती है । रास्ते में ही श्रीदाम उन्हें मिल जाता है एवं वह श्रीकृष्ण की विरहावस्था की सूचना ललिता को दे देता है। किशारी अत्यन्त तीव्र गति से कुण्ड की ओर प्रस्थान करती हैं ।

(विस्तार भय से शेष अष्ट-याम लीला इस ग्रन्थ के इस भाग में नहीं दी जा रही है । शेष प्रसंग संक्षेप में दिये जा रहे हैं । इसका कारण यही

है कि पू० गुरुदेव जब मंजुलीला भाव में रहे उस समय मैं निरी अबोध बाल्यावस्था में रहा । उस समय समझ ही परिपक्व नहीं हुई थी । जब गोरखपुर में उनसे १९४९ ई० में मिलन हुआ तब वे मंजुश्यामा भाव में परिनिष्ठित हो चुके थे । मंजुलीला भाव में रहते हुए उन्हें जो भी लीलानुभव हुआ है वह श्रीशिवभगवान फोगला के लिये लिखी लीलाओं में व्यक्त है जो बहुत ही हेर-फेर करके उन्होने व्यक्त किया है । वह लीला चरित्र 'केलिकुंज' पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है।

मुझे उन्होनें मंजुलीला भाव की कुछ लीलाएँ सुनायी हैं, वे आगे दी जायेंगी । इसी प्रकार सारिका भाव की लीलायें भी आगे उल्लेख की जायेगीं। ये सब लीलाएँ तीसरे भाग में ही लिखी जा पावेंगीं । जो अष्टयाम मेरे पास है, वह उनका मंजुश्यामा भाव का है अतः मंजुश्यामा भाव में शेष अष्टयाम देने का मन है । पू० बाई सावित्री के पास राधाभाव में जब वे थे तबका अष्टयाम है । यदि पू० बाई उसे प्रकट करना चाहेगी तो पाठकों के अवलोकनार्थ वह दिया जा सकता है । अभी तो संक्षेप में ही इस अष्टयाम का आनन्द लें )

## अवशिष्ट अष्टयाम लीला

{ यहाँ जितने क्रमांक दिये जा रहे हैं उन सबके पृथक्-पृथक् अध्याय हैं। अब अनुमान ही कर सकते हैं कि सम्पूर्ण लीला कितनी विस्तृत है } (१) रानी राधाकुण्ड में आती हैं । प्रियतम कृष्ण कुण्ड में खड़े हैं । दोनों का प्रथमतः दृष्टि मिलन होता है फिर प्रेम जनित अथाह त्वरा लिये प्रिया-प्रियतम इस प्रकार प्रगाढ़ आलिंगन में गुँथ जाते हैं जैसे एक प्राण एवं दो तन हों । वन प्रान्त के सभी पक्षीगण शोभा देखकर मुग्ध हुए सात्विक विकारों से पूर्ण हो उठते हैं । सम्पूर्ण वन ही विलक्षण भाव-समाधि में भर जाता है । (२) प्रिया-प्रियतम के विश्राम के लिये मंजुलीला ने अत्यधिक शोभाशाली सुन्दर पुष्पकुंज निर्माण किया है, इस पुष्प मन्दिर में अतीव सुखद पुष्पाशय्या का अतीव कलात्मक कुशलता से वे मनोरमा और गुण मंजरी के सहयोग से निर्माण कर रही हैं । इस शय्या और विश्रामगृह की शोभा देखकर आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो उठती हैं । (३) रानी एवं प्राणवल्लभ इस मंजुलीला रचित अत्यधिक शोभाशाली पुष्प मन्दिर में विश्राम करने प्रवेश करते हैं और

मंजुलीलाजी औषधि युक्त सुगन्धित जल से दोनों के चरण परात में पखार रही हैं । चरण पखारने के उपरान्त वे अपनी उन्मुक्त अति दीर्घ केशराशि से दम्पति के चरण पौंछ रही हैं ।

प्रिया प्रियतम पद्म पर्यंक में विराजित हो जाते हैं । मंजुलीला दोनों पर चँवर डुलाती हैं । श्रीललिता के संकेत से चँवर डुलाने का कार्य गुण मंजरी को सौंपकर मंजुलीला प्रिया प्रियतम को मादक मधु पिलाने के लिये मधुपात्र लाती हैं । विलक्षण स्वादभरा मादक मधु से भरा पात्र मंजुलीलाजी ललिता को देती हैं, विशाखा भिन्न-भिन्न रत्नों के विशिष्ट आकृति के प्याले दोनों के हाथों में दे देती हैं और ललिता उन रत्न-प्यालों में मधु उडेलती हैं । प्रिया को जो मधु दिया जा रहा है उसका मरकत वर्ण है और प्रियतम को जो मधु दिया जा रहा है उसका वर्ण चम्पा के समान है । प्रिया प्रियतम परस्पर अपने हाथों पहले एक दूसरे को पिलाने का आग्रह करते हैं । प्रिया चाहती हैं प्रियतम उसके मधु पात्र को अपने अधरों से स्पर्शित कर लें एवं एक घूँट पी लें तब वे पान करें, ठीक इसी प्रकार प्रियतम चाहते हैं कि प्रिया पहले उनके पात्र को अधर संस्पर्शित करके घूँट एक पी लें तब वे पान करें । प्रिया सखियों के सम्मुख लज्जा कर रही हैं क्योंकि प्रियतम मधुपान कराते हुए उन्हें अपने अंक में बैठाना चाहते हैं और अतिशय प्यार से मधुपान कराना चाह रहे हैं । मंजुलीला तदनुसार अन्त:पट कर दे रही है । अन्तर्पट इतना झीना है कि सखियों को सारी शोभा तो दिख ही जाती है, परन्तु फिर भी प्रिया समझती हैं कि प्रियतम उन्हें एकान्त में ही मधुपान करा रहे हैं । मधुपान कराते कराते प्रियतम प्रिया के अधरों को भी अपने अधर से संस्पर्शित कर लेते हैं । इससे प्रेमजन्य ऐसी आनन्द लहर दोनों के अंगों में व्याप्त हो जाती है, जो मात्र किसी भाग्यवान् के संविद् में भले ही व्यक्त हो पावे, लेखनी में तो असंभव ही है ।

(४) लो ! मंजुलीलाजी ने अपने पन-बट्टे में से अति सुन्दर दो ताम्बूल की गिलौरियाँ निकाली हैं और एक गिलौरी प्रिया के मुख से अर्धचर्वित करवा के प्रियतम के मुख में दे दी है और दूसरी गिलौरी को प्रियतम से अर्धचर्वित कराके प्रिया के मुख में दे रही हैं । जब मंजुलीला यह ताम्बूल प्रियतम को प्रदान करती हैं उसी समय प्रियतम अपने मुख का चर्वित ताम्बूल परम रसभावित रूप में अपने मुख से ही उनके मुख में दे देते हैं । यद्यपि

मंजुलीला बहुत ही तीक्ष्ण निषेध करती है, अतिशय लजाती हैं परन्तु प्रियतम अत्यन्त औद्धत्य-पूर्वक यह क्रिया कर लेते हैं ।

**(शब्दों ने अति संक्षेप में वर्णन किये जाने के कारण इस लीला की पवित्रता, मर्यादा, सौन्दर्य एवं निराविल विशुद्ध सरसता को सर्वथा ही प्रकाशित नहीं किया है, वरं च शब्द तो लौकिकावेश और जगत की मलिन भोग क्रियाओं की ही अभिव्यंजना करते हैं पाठकों से इस दोष के लिये अनन्त चरणवन्दन पूर्वक लेखक क्षमा प्रार्थी है ।)**

अब अशोक मंजरी रानी एवं प्रियतम के सम्मुख रत्नजटित पीकदानी रख देती हैं । अशोक प्रिया प्रियतम से पीक उत्सर्जित कराके अधरामृत सनी प्रिया-प्रियतम की पीक नये ताम्बूलों में संयुक्त कर इन ताम्बूलों को सभी सखियों में वितरित करती हैं ।

(५) अब सारिका सखियों को निर्दयी एवं स्वसुखरता कहती हुई अति तीक्ष्ण स्वर में उनकी भर्त्सना करने लगती हैं - उसका रोष यही है कि सखियाँ प्रिया प्रियतम की एकान्त मिलनेच्छा को अन्धी होकर अनुमान ही नहीं कर रही हैं और अपने सुख में मदमाती उन्हें घेरे खड़ी हैं । सारिका के संकेत को समझ कर तुरन्त शुक निकुंज कक्ष के बाहर आ जाता है । सभी सखियाँ एवं मंजुलीला निकुंज के बाहर आ जाती हैं ।

(६) प्रिया प्रियतम के अंगों की मिश्रित अंग गंध इतनी सौरभमयी है, उसकी लहरें सखियों को आनन्द विभोर कर देती हैं । भ्रमरों का दल इस गंध से आकृष्ट हुआ चतुर्दिक गुंजार करता है और पुष्प मन्दिर के पुष्पों पर बैठ जाता है । वह भ्रमित सा यही मान बैठता है कि पुष्प मन्दिर के पुष्पों की ही यह महक है ।

एकान्त मिलन के कारण प्रिया प्रियतम के नूपुर, कंकण, एवं करधनी अतिशय रसमय ध्वनि उत्पन्न कर रही हैं, जिसको सुनकर सखियाँ आनन्द में डूब रही हैं ।

पुष्पमन्दिर निकुंज के लता छिद्रों से प्रिया-प्रियतम की कभी किसी अंग की झाँकी सखियों को हो जाती है जिससे सखियाँ अति निहाल हो रही हैं । प्रिया-प्रियतम के चरण चिन्हों को लता छिद्रों से देख-देखकर उनकी शयन मुद्राओं का अनुमान करती हुई सखियाँ एवं मंजुलीला परस्पर रसालाप कर रही हैं । प्रिया-प्रियतम द्वारा परस्पर रस विलासरत होने पर उनके मुख से सीत्कारादि के रूप में निकली ध्वनियों को सुनकर तथा प्रीतिचिह्न अंकित

करते समय निस्सृत ध्वनियों को सुनकर सभी सखियाँ आनन्दमत्त हो रही हैं।

(७) श्रीमंजुश्यामा प्रिया-प्रियतम के विहार को विरमित हुआ जान उन्हें श्रान्त शयनरत पाकर निकुंज में प्रवेश करती हैं । मध्याह्न काल व्यतीत हो गया है । वे रानी के अंगों में विहार के कारण विकृत हुए कुंकुमादि से श्रृंगार के समय रचित चित्रों को पुनः रचित करती हैं । तिलकादि भी जो विकृत हो गये हैं उन्हें यथोचित करती हैं । वे रानी के श्रीअंगों में चतुस्सम का अनुलेपन कर रही हैं । नख क्षत एवं दंत क्षतादि के चिह्नों को गोपन कर दे रही हैं । उनके भग्न मोतियों के हार एवं रत्नहारों को पिरोकर उन्हें यथास्थान धारण करा रही हैं । श्री मंजुलीला एवं गुण मंजरी उनको इस कार्य में सहयोग दे रही हैं ।

(८) अहा, सखियाँ डलियाओं में अतिशय सुगन्धित अनेकों वर्णों के पुष्प चयन कर ले आयी हैं । श्रीमंजुलीला परम सुन्दर वैजयन्ती माला का निर्माण करती हैं, वे पुष्पों के अति सुन्दर आभूषण भी बनाती हैं देखो, प्रिया प्रियतम के सम्मुख ये सभी वन मालाएँ और आभूषण रख दिये जाते हैं । और वे परस्पर एक दूसरे का श्रृंगार करते हैं । परिहास रत प्रिया-प्रियतम सखियों का भी श्रृंगार कर देते हैं । श्रृंगार करते समय कभी वे ललिता, कभी विशाखा एवं कभी चित्रादि से ऐसा रसमय परिहास एवं रसमय स्पर्श चेष्टा कर लेते हैं जिससे आनन्द की लहरें सखियों में उमड़ने लगती हैं ।

(९) अब ललिता प्रिया के केशों को सँवारने उन्हे वेणी मुक्त कर देती हैं परन्तु प्रियतम स्वयं प्रिया की वेणी रचना करने तत्पर हो उठते हैं । वे स्वर्ण कंघी से प्रिया के केशों को सँवारते हैं । प्रिया भी प्रियतम के केशों को सँवारती हैं और उनकी वेणी रचना करती हैं । प्रिया प्रियतम के नयनों में काजल आँजते हैं और प्रियतम-प्रिया के नेत्रों को अंजन अनुरंजित कर रही हैं। लो, प्रिया-प्रियतम अब परस्पर दोनों के अधर अनुरंजित करते हैं, उरोजों में पत्रावलि रचना करते हैं । दोनो एक दूसरे के चिबुकों पर कस्तूरी से बिन्दु रचना कर रहे हैं ।

(१०) श्रृंगार समाप्त होते ही मंजुलीलाजी प्रिया प्रियतम को अनंग गुटिका, सीधु-विलासादि, रति सुखवर्धक अति सुस्वादु रसायन खिला रही हैं ।

(११) ललितादि सखियाँ अपने-अपने कुंजों से अनेक प्रकार के सरस एवं मधुर फल चयन करके लाती हैं और प्रिया प्रियतम को खिला रही हैं ।

प्रिया-प्रियतम सखियों को भी साथ-साथ खिलाने की अतिरसमयी चेष्टा करते हैं । प्रियतम ललिता विशालादि सखियों के अधरों से खाया हुआ आम्र अमृत फलादि स्वयं खा लेते हैं । इस प्रकार प्रीति वर्धन करने वाली लीलायें हो रही हैं ।

(१२) सखियाँ कुंज में से ही किसी स्थान से सुन्दर रसोई बनाकर प्रिया-प्रियतम को भोजन कराती हैं, वे सभी स्वयं भी उनका अधरामृत सना प्रसाद भोजन कर रही हैं ।

(१३) प्रिया-प्रियतम वन विहार को चलते हैं । श्रीमंजुलीला प्रिया की वीणा लेकर उनके पीछे-पीछे चल रही हैं । एकान्त स्थान में प्रिया-प्रियतम को वीणा वादन करके सुनाती हैं । प्रियतम वेणु वादन द्वारा उनका साथ देते हैं । ऐसा रसमय समा बँधता है कि उसका वर्णन असंभव है।

(१४) लो बसन्त कुञ्ज में सखियों के साथ प्रिया-प्रियतम होली खेलते हैं। मंजुलीला प्रिया को प्रियतम पर छिड़कने के लिये केसर जल से भरी पिचकारी प्रदान करती हैं ।

(१५) पावस कुंज में प्रिया-प्रियतम की झूलन लीला होती है । एक से एक मनोहर कुंज हैं, कहीं मोतियों का पूरा कुंज है जिसमें मोतियों के ही झूले लगे हैं, कही वज्रमणियों का कुंज हैं और उसमें वज्रमणि का झूला है, कोई नीलमणि का, पुखराज का, स्वर्ण कुन्दन का, रजत का कुंज है उसमें वैसे ही झूले हैं, कोई पुष्पों का कुंज है, पुष्पों के झूले हैं, कही फलों का कुंज है और फलों के ही झूले हैं - इस प्रकार असंख्य झूलों में प्रिया-प्रियतम झूलते हैं। मंजुलीला एवं सखियाँ झोंटा दे देकर उन्हें झुला रही हैं। इतने तीव्र झोंटे लग रहे हैं कि प्रिया तो डर जाती हैं। तीव्र झोंटो के बीच प्रियतम उस तीव्र झोंटा देने वाली सखी को ही उठाकर अपने साथ ले लेते हैं । कभी ललिता को, कभी विशाखा को इस प्रकार अपने साथ झूले में बैठाकर वे झुलाते एवं उतारते हैं कि किसी सखी को तनिक भी आयास का अनुभव नहीं होता। अति सरस लीला चल रही है।

मधुमती मंजरी अति सरस ध्वनि में वीणा वादन कर रही हैं । कहीं तुंग विद्या आलाप लेकर तान सुना रही हैं। उनका कण्ठ इतना सरस एवं सुरीला है कि झूलन थम जाता है ।

(१६) यहाँ प्रियतम सखियों सहित जल क्रीड़ा कर रहे हैं ।

(१७) यहाँ प्रियतम सखियों सहित पासा खेल रहे हैं ।

(१८) यहाँ प्रहेलिका प्रश्नावली लीला हो रही है ।

(१९) लो, अब प्रिया सूर्य पूजा के लिये जाती हैं । प्रियतम एक बार तो गोचारण में विलम्ब हुआ कहकर वन में चले जाते हैं, परन्तु ब्रह्मचारी बनकर पुनः सूर्य पूजन कराने चले आते हैं । यह छद्म ब्रह्मचारी की लीला बहुत ही सरस है।

(२०) सूर्य पूजा सम्पादित करके प्रिया वन से आकर अति श्रान्त थककर महल में शयन कर लेती हैं। परन्तु प्रियतम की प्रगाढ़ स्मृति में उन्हें बार-बार गूढ़ भावावेश होता है। मंजुलीला पर्यंक में शयन करती रानी पर व्यजन कर रही हैं ·। उनके चरण संवाहन कर रही हैं।

(२१) अब सायंकालीन पाक रचना हो रही है । और मंजुलीला रानी को पाक रचना कार्य में पूर्ण सहयोग कर रही हैं ।

(२२) राधारानी अब अपरान्ह स्नान करने गिरिस्रोत में जा रही हैं । मंजुलीला उनके वस्त्राभूषणादि लेकर उनका अनुगमन करती है । गिरिस्रोत के दूसरे तट पर प्रिया को प्रियतम स्नान करते दृष्टिगोचर होते हैं । दोनो की वनमालायें एक के कंठ से जल में तैरती दूसरे के कंठ में आ जाती हैं। इस प्रकार प्रेम निवेदन होता है ।

(२३) रानी सायाह्न श्रृंगार करती हैं । प्रिया भावाविष्ट हैं । ललिता साम,दाम,दंड,भेद से किसी प्रकार उनका भावावेश शिथिल कर उन्हें श्रृंगारित करती हैं ।

(२४) अब नन्दनन्दन वन से नन्दभवन लौट रहे हैं, सखियों से घिरी वृन्दावनेश्वरी के पीछे-पीछे मंजुलीला भी वन से लौटती सखाओं से घिरी प्रियतम की आवनी लीला का दर्शन करती हैं । प्रियतम अपनी पुष्प गेंद प्रिया पर उछालते हैं जिसे प्रिया हाथों में ले लेती हैं । उसमें रात्रि में किस कुंज में मिलेंगे इसका संकेत रहता है ।

(२५) लो, अब तुलसी सखी आ गयी हैं, रसोई घर से सम्पूर्ण भोज्य सामग्री लेकर मंजुलीला नन्दभवन जाती हैं । साथ में वे प्रिया द्वारा अपने हाथों रचित सुन्दर पुष्प-माला और ताम्बूल जो स्वर्ण बरक से युक्त है प्रियतम को समर्पित करती हैं । वे प्रियतम को निशा मिलन के लिये कुंज-संकेत भी करती हैं ।

(२६) नन्दभवन से लौटती हुई वे श्रीकृष्ण का प्रसाद उनकी पहनी वनमाला, उनका चर्वित ताम्बूल साथ लाती हैं ।

(२७) रानी के निवास में आकर वे वह प्रसाद रानी एवं सखियों में वितरित करती हैं । वे सायंकाल रानी के कक्ष में अतिशय सुगन्धित धूप जलाती हैं जो रानी को अतिशय प्रिय हैं ।

(२८) रानी को पीने के लिये अतिशय सुगन्धित, केवड़ा पुष्पों से संयुक्त जल प्रदान करती हैं। रानी को भोजनोपरान्त आचमन पात्र में आचमन कराती हैं। रानी को पश्चात् वे ताम्बूल अर्पण करती हैं। अब वे सखियों सहित रानी का एवं प्रियतम का अवशिष्ट अधरामृत प्रसाद भोजन कर रही हैं।

(२९) प्रदोष काल हो गया । अब वृन्दावनेश्वरी का सखियाँ पुनः श्रृंगार करने लगीं । उज्ज्वल पक्ष में रानी को शुभ्र वस्त्र एवं उज्ज्वल स्वच्छ श्वेत मुक्ता एवं वज्रमणियों का श्रृंगार धारण कराया जाता है तथा कृष्ण पक्ष में उनका सम्पूर्ण श्रृंगार नील वस्त्र और नीलम के आभूषणों से ही किया जाता है । कृष्णपक्ष में तो उनकी दंतपंक्ति मिस्सी नामक रंग से काली कर दी जाती है । रानी को तदनुकूल श्रृंगार से सजाने में मंजुलीला ललिता का सहयोग कर रही हैं ।

(३०) रानी अभिसार को जा रही हैं । मंजुलीला उनका अनुगमन कर रही हैं । अहा वृन्दावनेश्वरी के नूपुर और उनकी कटि किंकिणी अतिशय रमणीय ध्वनि कर रही हैं, परन्तु मंजुलीला रानी का निशाविहार-गमन होने से नूपुरों में एवं कटि किंकिणी में वस्त्र बाँधती हैं जिससे निश्शब्द रानी वन-गमन करें ।

(३१) अहा सुदूर संकेत कुंज में स्थित प्रियतम वेणुध्वनि कर रहे हैं ! वह वेणुध्वनि मंजुलीला एवं प्रिया के श्रवणों में पड़ रही है, जिससे दोनों में रस मुग्धता सृष्ट हो रही है । वेणुवादन सुनकर प्रिया में जड़िमा भावोदय हो जाता है । ललिता का संकेत पाकर मंजुलीला प्रियतम के पास जाकर उन्हें वेणुवादन से विरत करती हैं ।

(३२) संकेत कुंज में प्रिया-प्रियतम का मिलन होता है । मंजुलीलाजी विमुग्ध हुई उस अपूर्व मिलन का दर्शन करती हैं ।

(३३) कदम्ब वृक्ष के नीचे सुन्दर पर्यंक में प्रिया-प्रियतम विराजित हैं । शुभ्र शीतल चाँदनी छिटक रही है । संपूर्ण वन आनन्द से भरा है । सखियाँ, नृत्य गीत एवं वाद्यों के वादन से प्रिया-प्रियतम को सुख प्रदान कर रही हैं ।

कभी मंजुलीलाजी प्रिया-प्रियतम को अति सुवासित ताम्बूल भेंट करती हैं, कभी नवीन सुगन्धित पुष्पमाला पहनाती हैं, कभी व्यंजन द्वारा शीतल हवा करती हैं । कभी सुवासित शीतल जलपान कराती हैं । कभी उनके चरण प्रान्त में बैठकर उनके चरण सहलाती हैं ।

सखियाँ प्रिया-प्रियतम का रासोचित श्रृंगार करती हैं । और तब रासोत्सव होता है ? मंजुलीला भी रासोत्सव में सम्मिलित होती हैं और रासोत्सव के पश्चात् परिश्रान्त प्रिया-प्रियतम को सुकोमल शय्या में सुलाती हैं। व्यजनादि द्वारा उनकी सेवा करती हैं । प्रिया प्रियतम के शयन कुंज से थोड़ा सा हटकर उनके रसालाप का श्रवण करती वे उनके कुंज के समीप ही सो जाती हैं ।

यह एवं इससे मिलती जुलती श्रीमंजुलीला की अष्टयाम चर्या रहती है। राधाष्टमी एवं जन्माष्टमी के दो दिन बाद तक नन्दनन्दन की गोचारण लीला और रानी की सूर्यपूजा स्थगित रहती है । इसी प्रकार बसन्त पंचमी से लेकर दोल पूर्णिमा तक भी ये लीलाएँ स्थगित रहती हैं । इन दिनों गोचारण का कार्य गोप ही करते हैं । श्रीकृष्ण बसन्त पंचमी से दोल पर्यन्त होली खेलने सखाओं के साथ वृषभानुपुर जाते हैं और सखियाँ नन्द भवन में आती हैं । होली क्रीड़ा का कार्य ४० दिन तक प्रिया-प्रियतम के मध्य खूब उत्साह के साथ होता है।

## मंजुलीला भाव
### (प्रियतम द्वारा वंशीवादन करके आवाहन एवं श्रृंगार)

देखो ! देखो !! भाई, ये नीलमयंक देव ललित तृभंग मुद्रा में खड़े हुए त्रिलोकी को मोहित कर रहे हैं । अहा ! इनके अंग-अंग कितने मनोहर हैं । काजल के समान सुचिक्कण इनका वर्ण है । परन्तु इनके वर्ण की सांगोपांग तुलना काजल कदापि-कदापि नहीं कर सकता । काजल में सुचिक्कणता के अतिरिक्त अन्य गुण कहाँ है, जो इनके वर्ण में भरे हैं । इनका वर्ण सुधा के समान शीतल है, सरस है, मादक है और प्राणों को आप्यायित करने वाला है, साथ ही लावण्य एवं मधुरता से भरा है और कोटि-कोटि चन्द्रों के शीतल प्रकाश को तुच्छ करने वाला तेजस्वी भी है, साथ ही इनका वर्ण परम सचिन्मय है । अब काजल विचारा इतने गुण एक साथ कहाँ से अपने में

प्रकट करे । क्या इन्द्रनील मणि उसकी कभी पूरी कर सकती है ? परन्तु इन्द्रनील में मात्र प्रकाश ही तो है, और वह भी ऐसा निर्मल प्रकाश कहाँ जो इन नीलमणिदेव की संतुलना में ठहर सके । फिर वह तो अत्यन्त कठोर पत्थर ही तो है । और नीलकमल ? नीलकमल में किंचित् मात्र कोमलता तो है, परन्तु वह सरसता नहीं है । मेघमाला में सरसता है तो कान्ति की किरणें नहीं हैं, सभी उपमानों के गुण परिच्छिन्न, ससीम, अल्प हैं । ये नीलमणि नन्दतनूज देवाधिदेव रसराज तो माधुर्य, लावण्य, रूप, सौरभ, सौकुमार्य, श्रृंगार, सौशील्य, चांचल्य, यशस्विता आदि सर्वगुणों के असीम, अपरिच्छिन्न सागर हैं । इनके अंगों में पिंगल दुकूल झलमला रहा है । वक्ष: स्थल पर रंग विरंगी वनमाला झूल रही है । अंग-अंग पर रत्नजटित आभूषण शोभा पा रहे हैं । परन्तु कण्ठदेश पर विराजित गुञ्जा की माला सर्वाभरणों को हेय बना रही हैं ।

विविध रस-विलास के अनुपम आकर हैं, ये ।

लम्बी घुंघराली अलकें हैं जिनसे विविध प्रकार का विलक्षण सुवास प्रसरित हो रहा है । केशपाश विभिन्न पुष्प मालाओं से सुशोभित है । ओह ! कितनी मनमोहक बन गयी है इससे चूड़ा की कान्ति । चमकते हुए ललाट पर चन्दन की खौर अत्यन्त शोभा दे रही है । लीलायुक्त चढ़ी हुई भौहों के विलास से वे कामिनियों का चित्त हरण कर रहे हैं । उनके झूमते हुए कमनीय नेत्र कमलों की छटा धारण किये हैं । गरुड़ की चौंच के समान नुकीली नासिका के अग्रभाग में मुक्ताफल लटक रहा है । दोनों कान स्वभाव से ही मनोहर हैं, विविध-मणि-जटित मकराकृति कुण्डलों से वे और भी भले लगते हैं । उनका प्रतिबिम्ब दर्पण सदृश कपोलों पर पड़ रहा है । जिससे ये कपोल और भी चमक उठे हैं । लावण्ययुक्त मुखरविन्द कोटि-कोटि शशधरों की कान्ति बिखेर रहा है । ठोड़ी विविध हास्य रस की छटा से अत्यन्त मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत हो रही है। कण्ठदेश में मुक्ताहार सुशोभित हैं। अहा ! कितना लावण्य भरा है इस कण्ठ में । त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हुए वे त्रिलोकी को मोहित कर रहे हैं । ग्रीवा की मरोड़ कैसी मधुर एवं आकर्षक है । वक्ष:स्थल तो मानो लावण्य का आकर ही है । मणिश्रेष्ठ कौस्तुम तथा विद्युत के समान चमचम करती मुक्तामाला उसकी शोभा को द्विगुणित कर रही है। घुटनों तक लटकती दोनों भुजाओं में केयूर एवं कंकण शोभा पा रहे हैं। उदर अत्यन्त मनोमोहक है, उस पर लावण्य अहर्निश क्रीड़ा करता है।

पृष्ठदेश एवं पार्श्वभाग भी अमृत के समान मधुर है । वर्तुल नितम्बभाग सुधा सम्भृत कमल के समान मादक है । कन्दर्प स्वयं मोहित है इसे देखकर। दोनों उरु मनोहर कदली स्तंभों की शोभा को परास्त कर रहे हैं ।

चरण कमल परम मनोहर एवं रत्नजटित नूपुरों से मण्डित हैं। विलक्षण प्रेम एवं आनन्द के सिन्धु ये इन लताओं की ओट में यमुना के मनोहर घाट के प्रस्तर खण्ड में खड़े-खड़े किसी का ध्यान कर रहे हैं । अखिल ब्रह्माण्ड नायक, अनन्त अपरिच्छिन्नैश्वर्य, अचिन्त्य महाशक्ति निकेतन, अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य ज्ञान विस्मृत कर मुग्ध शिशु की तरह ध्यानरत हैं ? परन्तु भाई ! यह ध्यान की कौन सी मुद्रा है ?

लोग पद्मासन लगाकर, सिद्धासन में ध्यान करते हैं, ज्ञानमुद्रा धारण करते हैं । परन्तु ये तो अधरों पर मुरली विधृत कर ध्यान कर रहे हैं । और यह मुरली भी कैसी भाग्यवती है, यह प्रियतम की नव पल्लव सदृश अधर शय्या में तो लेटी है और बिम्ब-विडम्बी ओष्ठ के आलिंगन-पाश में बद्ध हुई प्राणों की प्रीति सुरभि से संलालित हो रही है । प्रियतम के अति सुकोमलतम कर-पल्लव इसके अंग-अंग को संवाहित कर रहे हैं । अरे भाई । यह मुरली तो प्रियतम की दूती है । प्राणप्रियतम नीलमणि की परमाराध्या प्रिया को यही तो उनके सम्मुख आकर्षित करके लाती है। अतिशय विलक्षण है यह बांसुरी। यह दृष्टिगाचर होती भर है छिद्रयुक्त बाँस की काष्ठ, परन्तु जब इसका रव बजता है तब जिसे यह नन्दतनूज अपने पार्श्व में बुलाना चाहता है, मात्र उसी को तो यह वंशीवादन श्रवणगोचर होता है, अन्य तो इसके श्रवण से बहरे रहते हैं और उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि ये नीलसुन्दर उसके सम्मुख ही खड़े अथवा बैठे बाँसुरी में उसका नाम ले लेकर उसे पुकार रहे हैं । आह्वान कर रहे हैं, बस मेरा मात्र मेरा ही ।

फिर क्या संघटित होता है उसे भी सुन लो । जिसका यह नाम ले लेकर नयन मूंदे ध्यान कर रहा है, वह जिस अवस्था में जहाँ, जैसे है वहीं से उसी अवस्था में दौड़ पड़ता है, या दौड़ पड़ती है । उसे अपने तंन की स्मृति ही नहीं रहती । मन कहाँ है ? क्या हुआ उसके मन का ? कौन बतावे ? इस वंशी में लगायी फूंक उसके मन, बुद्धि, चित्त, समस्त ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों, अहंकार और उसकी आत्मा का भी इन नीलसुन्दरदेव से तादात्म्य कर देती है, इसे तादात्म्य भी नहीं कहा जा सकता ? क्योंकि तादात्म्य में तो पूर्ण विलय हो जाता है । फिर तड़प, जलन, चिन्ता, हाहाकार उसे थोड़े ही

होता है । परन्तु इस फूँक को सुनने वाली तो एक मीठी कसक लेकर यावज्जीवन जलाभाव में मत्स्यी की तरह तड़पती है, हाहाकार करती है और ऐसी आग उसके हृदय में जलती है जिसका अनन्त काल तक विराम ही नहीं होता । फिर तो उसका भोजन-पान छूट जाता है । उसका स्नान ध्यान, उसकी केश संरचना, श्रृंगार, उसका मर्यादा एवं शील व्यवहार, उसका धर्म, उसके पति, पिता-माता, भाई-बन्धु, पुत्र-पुत्री का ज्ञान, उसका निवास सब छूट जाते हैं। उसकी मानस भूमि से सभी - जैसे कभी थे ही नहीं - इस प्रकार विलुप्त हो जाते हैं । आतुर कलिन्दनन्दिनी का प्रवाह जैसे उद्दाम रूप में उद्वेलित हुआ पहले सुरसरि से संगमित होता है और तब नील समुद्र की ओर अविराम दौड़ पड़ता है, उसी तरह वह भी इस वेणु नादामृत रूप सुरसरि से संगमित होते ही एकीभूत धारा हुई नीलसिन्धु प्राणवल्लभ नन्दतनय से मिलने भाग छूटती है । इस वंश-काष्ठ की छिद्रभरी लकुटी का ऐसा ही प्राणोन्मादी प्रभाव है कि इस प्राण-विमोहक स्वर-लहरी की निर्बाध सत्ता के सम्मुख कोई अन्य अस्तित्व रह भी तो नहीं पाता । मात्र एक ही अस्तित्व रहता है और वह है इसका वादक यह नील तृभंगी नन्दतनय ।

तो रानी का समादेश पाकर मंजुलीला अपने मस्तक पर स्वर्ण कलशी रखे पूजार्थ यमुना जल लाने घाट की ओर अग्रसर हुई ही थी । उसके रूप की किरणों से दिशायें उद्भासित हो रही थीं । परन्तु इस नीलमंयक देव की वंशी रूपिणी आवाहन ध्वनि उसके श्रवण-विवरों में पड़ ही गयी। फिर क्या ? पैर भटक गये ? चरण रखती है कहीं, परन्तु पड़ते हैं कहीं । इस प्रकार स्वाभाविक ही उसका पद-विन्यास हो उठा उसी दिशा की ओर, जिधर से यह नीलमंयक देव वंशी की तान छेड़ रहा था ।

मंजुलीला अपने को संवरित करने की चेष्टा करती है, परन्तु अकारण ही उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। इतना ही नहीं वह देख रही थी कि वृक्ष समूह भी रसों की अटूट धारा बहा रहे हैं । और यमुना भी अपना प्रवाह उलटा कर रही है । यह वंशी ऐसा अमृत रस बहा रही थी कि उसका चित्त उन्माद-ग्रस्त हो उठा । उसे यह नाद चन्द्रमा से अधिक शीतल, निखिल लोक की सम्पूर्ण मधुरिमा से भी अधिक मधुर लगने लगा। वंशीनाद की चुम्बकीय शक्ति उसे आकर्षित कर लायी वहीं नन्दनन्दन के अति समीप और उसके पार्श्व में ही यह अति मोहित हुई आसीन हो गयी ।

अहा ! कैसा चमत्कार है, इसी समय चतुर्दिक वृक्षावलियों और लताओं ने स्वभावतः ही सुन्दर कुंज का निर्माण कर दिया । वल्लरियों ने सुगन्धित रंग बिरंगे पुष्प गिरा-गिराकर आस्तरण निर्माण कर दिया ।

जो भी व्यक्ति नीलसुन्दर की मुसकाती मुख-छवि अपने नयनों के सम्मुख देखने को पा जावे और उसकी अति मधुर वंशी की तान श्रवण-गोचर कर ले - फिर भला क्या वह अपनी देह सुधि को संभाल सकेगा ? कदापि नहीं । सो मंजुलीला स्निग्ध नयनों से अपने प्राणधन रसनिधान प्रियतम को एक-टक निहारने लगी । उसे न तो देह-सुध थी एवं न ही भूत-भविष्य, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान । उसकी पलकें गिरे - यह तो असंभव था । नन्दनन्दन की परम सुन्दर मुख छवि सर्वप्रथम जड़िमा का अस्त्र चलाती ही पलकों पर हैं । सो नयन उस रूप पर स्थिर हो गये । अब पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानादि पंचोपचार भी तो करना था । सो नयनों ने अश्रु-वर्षा कर इन सबकी सामग्री भी उपस्थित कर दी । यही तो प्रीति की पद्धति है ।

मंजुलीला अचेतन सी, स्पन्दन शून्य गिर गयी अपने जीवन सर्वस्व प्राणधन के चारु चिन्मय चरणों में । प्राणधन ने उसे भुजपाश में भरकर उठा लिया । परिरंभण के बंधन में आबद्ध हो गयी वह । प्रियतम के नयनों से भी शुचितम अश्रु-प्रवाहिणी धारा अविच्छिन्न प्रसरित होने लगी । इस प्रीति वैकल्य की अवधि कितनी थी - इसे कौन बतावे ? परन्तु जब भी वेह प्रकृतिस्थ हुई : उस क्षण प्रियतम का कर सरोज उसके मस्तक पर विराजित था । वे उसे पीयूषवर्षिणी दृष्टि से निहार रहे थे ।

किसी के लिये यह सौभाग्य केवल निर्धारित मात्र हो जाय, यही बहुत दुर्लभ प्राप्ति है, व्रजेन्द्र-नन्दन की कृपा-शक्ति शत-सहस्र युगों में ही सही कभी तो ऐसे सुदुर्लभ संयोग का विधान कर देगी - यह आशा होना भी बहुत ही असंभव सी बात है, फिर ऐसा विधान होकर यह महान् कृपा का अवसर उपस्थित हो जाय, उसके सौभाग्य और जीवन-सार्थकता की तो बात ही क्या है ?

और अब रसामृत सिन्धु में डूबे एवं डुबोते हुए प्रियतम मंजुलीला का श्रृंगार करने लगे । उच्छलित आनन्दोदधि की अमित, अमाप, उत्ताल तरंगों में वे दोनो डूबने उतराने लगे ।

अपने मृदुल कर से उसकी केशराशि को सहला-सहला कर, अतिशय प्यार से अलकावलि को अपने कर-कमलों से सुलझाते हुए, फिर प्यार से उसे

अपने कपोलों से, नयनों से, हृदय देश से लगाते हुए वे उसकी केश-रचना करने लगे । अहा ! एक-एक अलकावलि को वे कितने प्यार से निहारते हैं, फिर उसमें अपने हाथों निर्मित फूलमाला को लपेटते हैं । प्रेमवश उस अलकावलि पर उनकी अश्रु-बिन्दुएँ ढलक कर उसे चिन्मय-रस-सराबोर कर देती हैं, तब उस आर्द्रता को अपने अंचल से सुखाते हैं, उसका प्यार से चुंबन लेते हैं और इस प्रकार प्रत्येक लट को नेह सुधा में आप्यायित करते हुए उसको पुष्पों से अलंकृत करते हैं, मणिमालाओं से गूँथते हैं और केशराशि में कैसी विलक्षण कलाकृतियाँ निर्मित कर देते हैं ।

अहा ! अपने मधुस्यन्दी स्वर से प्रीति मधुभरी वाणी बोल-बोलकर वे मंजुलीला के मानस को प्रीति मधुपूरित करते हुए उसके ललाट पर कस्तूरी पंक से चित्र रचना करते हैं । उसके कपोलों पर पुष्प रचना करते हैं, कानों में पुष्पाभरण तरौ़ना पहनाते हैं, अधरों को सुमनों से निर्मित रंगों से रंजित करते हैं । चिबुक पर कस्तूरी बिन्दु की रचना करते हैं । अहा ! मंजुलीला के नेत्रों में प्रीति उद्रेक से जल कण छलक आते हैं, जिससे उनके नयनों का काजल कपोलों के सब श्रृंगार को बार-बार शुचि श्यामल धारा में परिस्नात करा देता है ।

प्रियतम इसे देखकर मुसका उठते हैं । परम सौहार्द से भरे वे बार-बार अपने हाथों में सुकोमल पीताम्बर छोर लेकर अपनी प्रिया मंजुलीला के आर्द्र नेत्रों को सुखाते हैं, कज्जल की धाराओं से बनी अस्त-व्यस्त रेखाओं को पोंछते हैं, उनके कृष्ण दागों को अपने अधरों की लालिमा दे देकर उन्हें पुनः स्वाभाविक वर्ण का बनाते हैं और तब पुनः श्रृंगार करना प्रारम्भ करते हैं ।

अहा मुख का श्रृंगार सम्पन्न कर प्रियतम मंजुलीला का वक्षस्थल श्रृंगारित करने लगे । उन्होंने मंजुलीलाजी की कंचुकी अपसारित कर दी । उनके उरोजों के सौन्दर्य का दर्शन करने मात्र से प्रियतम के नेत्र रसानन्द सिन्धु में डूबने लगे । दिव्यातिदिव्य रसवर्षी इन उरोजों में स्वर्णिम कमल कलियों का सा सौन्दर्य व्यक्त हो रहा था । अहा वे नवोत्थित गोलाकार स्तनमंडल अनन्त रस-गुणों की खान थे और प्रियतम के चित्त वित्त को बाँधे हुई दो चारु गठड़ियाँ थीं । जैसे दो असाधारण लावण्य भरी सहस्रदल अरविन्द की कलिकाएँ परस्पर संलग्न सटी हुई रूपादि दर्प से मदमत्त प्रियतम के सर्वस्वभूत चित्त को चुराने की उद्घोषणा कर रही हों, उनका ऐसा अनंग सागर को उछालता रूप था ।

अपने प्रियतम के अंक में स्थित रहते हुए भी मंजुलीला प्रेम वैचित्त्य की दशा को प्राप्त हो जाती हैं । वे हा प्राणवल्लभ ! तुम कहाँ हो ? इस प्रकार मधुर-प्रलाप करने लगती हैं ।

उरोजों से निस्सरित अप्राकृत दिव्य सुवास से परिपूरित हो उठती हैं प्रियतम की घ्राणेन्द्रियाँ। अहा! ये सौन्दर्यपूर कुचद्वय युगपत् विरुद्ध गुणधर्म प्रकाशित कर रहे थे। अति कठोर भी थे और सुकोमलतम भी थे। प्रियतम की समग्र त्वगिन्द्रियों को ये निसर्ग से अतीत संविन्मय रसानुभव में निमग्न कर रहे थे।

देखो ! देखो ! इन उरोजों में अंकित 'राधा' 'राधा' नाम देखने मात्र से प्रियतम की कैसी निसर्गातीत विलक्षण भावदशा हो गयी है। अहा ! कैसी उद्दाम समर्पण भाव की तरंगें प्रियतम के चित्ताकाश में उठ रही हैं। इस राधा-राधा नामांकन को देखते ही वे अपनी पूर्ण सत्ता ही, अपना समग्र अस्तित्व ही मंजुलीला को दान कर बैठते हैं। वे संकल्प कर बैठते हैं कि इसकी परिणति मेरी स्वरूपभूता 'मंजुश्यामा' में हो जाय। यह बहुत ही अल्प समय मंजुलीला भाव में रहे और तब मेरी प्रिया की नक बेसर रूपा हुई सदा मेरे नित्य निवास प्रिया के ओष्ठ से संलग्न रहे। यह संकल्प करते-करते ही प्रियतम निसर्ग से अतीत संविन्मय रसानुभव में सर्वथा निमग्न हो जाते हैं। कहीं घोर जड़िमा भाव का विकास उनकी कर्मेन्द्रियों में नहीं हो जाय - इस संभावना को देखते हुए वे शीघ्रतापूर्वक किसी प्रकार शेष श्रृंगार सम्पादित कर पाते हैं।

अहा ! प्रियतम प्राणवल्लभ की कैसी विलक्षण दशा हो गयी है। उनकी मन-सत्ता को तो पूर्णरूपेण अपहृत कर लिया मंजुलीला ने और वे मात्र एक स्पन्दन-शून्य अस्तित्व मात्र ही शेष रह जाते हैं। मंजुलीला की भी यही दशा है। उसका मन भी स्वयं अपने पास नहीं रहा - वह भी डूब गया पूरा प्रियतम के मन में। सर्वथा अचेतन, स्पन्दन शून्य दोनों एक दूसरे के बाहुबन्धन में ग्रथित कितनी अवधि तक रहे - इसे कौन बतावे ? किन्तु जब दोनों प्रकृतिस्थ हुए तत्क्षण ही भगवती योगमाया ने मंजुलीला को प्रिया द्वारा कालिन्दी से जल लाने के आदेश की स्मृति करा दी।

वह अपने को सँभालकर शीघ्रता से उठ खड़ी हुई। उन्होंने अपनी स्वर्ण कलशी सँभाली और यंत्रचालित सी चल पड़ीं यमुना तट की ओर। अपरिसीम, गंभीर, उच्छलित आनन्दोदधि की उत्ताल तरंगों में डूबती-उतराती यंत्रचालित सी ही उन्होंने गगरी यमुना जल से भरी। अरे ! वह लघु हेममयी उसकी

हृदय-कलसी तो प्रीतिरस से नित्य ही परिपूरित है, वह रिक्त हो तब तो उसमें कोई भाव तरंग प्रविष्ट हो। वह तो पूर्वतः ही लबालब भरी है। वह अति डगमगी चाल से चल पड़ी प्रिया राधारानी के कुंज की ओर। प्रियतम प्रेम की घनीभूत प्रतिमा, प्रेमास्पद के सुख की उपकरण बनीं उसकी कर्मेन्द्रियाँ यंत्रचालित सी यथायोग्य क्रिया कर रही हैं। उनके मन में भावों का अथाह उफान उठ रहा है। "प्रियतम प्राणनाथ ! मैं तो आपकी प्रिया किशोरी की एक तुच्छ चरण रज कणिका मात्र हूँ। मैं आपके द्वारा इस प्रकार समादृत होऊँ - यह मेरे लिये सर्वथा अयोग्य एवं अनुचित है। क्या आपसे इस प्रकार मेरा मिलन रानी की गौरवमयी मर्यादा के अनुरूप है ? हाय ! आप पुनः मेरे साथ ऐसी कोई प्रीति भरी क्रिया करें इसके पूर्व मैं अपना यह कलंक-पूर्ण मुख ही उसे न दिखाऊँ - यही मेरे लिये उचित होगा। मैं रानी का संग त्याग कर ही चली जाऊँगी। बस, एक बार उनसे क्षमा प्रार्थना कर लूँ। परन्तु उन्हें यह कैसे विश्वास होगा कि जो कुछ भी हुआ उसमें मेरी अपनी तनिक भी रुचि सर्वथा-सर्वथा ही नहीं थी। हाय ! प्रत्यक्षदर्शी साक्षी तो मेरा कोई हो ही नहीं सकता। पक्षीगण भी स्थूल क्रिया की ही साक्ष्य देंगे। भला, मेरे मन को अन्तर्यामी परमात्मा के अतिरिक्त कौन जान पावेगा ?

इसी प्रकार भावोच्छलन के आवर्त्तों में डूबती उतराती वे रानी के कुंज में चली आती हैं। अपने सिर पर रखी जमुना जल की गगरी रूप मंजरी को सौंप वे रानी के वक्षस्थल में सिर रखकर फफक-फफक कर रोने लगती हैं।

रानी की पारखी आँखें तत्क्षण ही अनुभव कर लेती हैं कि इस सरलमति निर्दोष बालिका को उनके छलिया प्रियतम ने इस परिताप की मनःस्थिति में पटक दिया है। प्रियतम ने इसके अंग-अंग का अनावृत श्रृंगार किया है। मंजुलीला के अणु-अणु में उन्हें अपने प्रियतम भरे दृष्टिगोचर होते हैं। उनके मानस में अपने प्राणवल्लभ का संकल्प भी उसी क्षण मूर्त्त हो उठता है। रानी को स्पष्ट अनुभव होता है कि यह उनकी सगी बहिन मंजुश्यामा ही है यह तो मात्र कुछ काल मंजुलीला का नाट्य मात्र कर रही है।

रानी के हृदय में मंजुलीला के प्रतिं कैसा रसमय वात्सल्य उमड़ता है इसे कोई क्या भाषा दे। रानी के हृदय में आत्मीयता की अभिनव उत्ताल लहरें उठ रही हैं।

मंजुलीला अति भावावेश में बोलती जा रही है। "मुझे नहीं चाहिये प्रियतम सुख । मेरा सब सुख मात्र रानी का सुख है। मेरा 'स्व' है ही

कहाँ ? मैं तो बिना मोल की क्रीत दासी हूँ, भला दासी का कोई 'स्व' संभव है। स्वामिनी ही तो उसकी सबकुछ होती है। मैं रानी की मात्र किंकरी हूँ। यावज्जीवन वही रहना चाहती हूँ। मैं उनकी दासियों की दासी हूँ। प्रियतम नीलम रे ..... मुझे क्षमा कर दो मेरे पास मेरा कुछ भी नहीं, सब मात्र रानी का है। इस विषय में तुम्हारी रुचि से मैं पृथक् ही रहूँगी। मैं अवश हूँ - मुझे क्षमा कर दो.... और रानी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही है जो मंजुलीला को अनवरत नेहस्नान से आर्द्र कर रही है।

## मंजुलीला भाव

### (प्रिया द्वारा श्रृंगार)

(यहाँ यह बात अच्छी प्रकार ध्यान में रखनी है कि ये सभी लीलायें इतनी उच्च कोटि के अधिकारियों के लिये है जिनका मन लोक और देह के लेशात्मक संस्कारों से सर्वथा परिशुद्ध एवं निर्मल हो चुका है। जहाँ ब्रह्मविद्या एवं वेद ऋचाओं की भी पहुँच नहीं है, उस पवित्रतम राज्य की ये लीलायें हैं,। यहाँ का श्रृंगार लौकिक देह-जनित सर्वथा नहीं है। जब प्राणधन नीलसुन्दर मंजुलीला का श्रृंगार करते हैं तो वे उनके महाभाव विग्रह तन में प्रीति के परमोच्च, रति, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव-जन्य परमोच्च महारस तत्व का बीज ही वपन करते हैं। इन महाभाग्यवान् गोपियों के अंग कोई प्राकृत रमणी के अंग तो हैं नहीं यहाँ तो एक अनन्य चिन्मय रसतत्व ही,परम विशुद्धतम सत्व ही परस्पर आश्रय और विषय हुआ लीलारत है। अतः जब राधारानी उनका श्रृंगार करती हैं तब भी वे उस महाभाग्यवान् कृपापात्रा सखी को महाभावोदधि की मोहन-मादनादि अति उच्च महा-गंभीर लहरियों के अनुभव की योग्यता ही प्रदान करती हैं। यहाँ लौकिक रमणी-रमण भाव लाना तो घोर नरक पतन है। अतः रसज्ञ पाठक सदा ध्यान रखें कि विशुद्ध-रस कुरस अरस कदापि नहीं हो।)

तपन तनया के तट पर वृक्षों से चतुर्दिक घिरे और विमल पुष्पाभरणों से लदी लताओं से आच्छादित कुंज में नीलसुन्दर ने मंजुलीला का पूर्ण मनोयोग पूर्वक श्रृंगार किया है। रानी और प्रियतम कोई दो स्वतंत्र पृथक् भिन्न सत्ताएँ तो हैं नहीं। रानी प्राणवल्लभ की प्राणों की प्रतिमा हैं। प्रियतम नीलमणि रानी के प्राण-निवास हैं। रानी सर्वरूप में अपने राजा की हैं और राजा रानी

का – दोनों का यह मधुर परम रमणीय नित्य संबंध है। प्रियतम नीलमणि ही राधा रूप में प्रकट हैं और रासेश्वरी भानुकिशोरी ही श्रीकृष्ण नन्दतनय बनी हुईं हैं। वे किसी को भिन्न दिखें भले ही, भिन्न हैं तो कदापि नहीं। नित्य नवीन लीलाओं के निर्दोष रसास्वादन के क्षेत्र में नित्य भिन्न होते हुए भी, हैं तो नित्य अभिन्न ही। प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर का जीवन नित्य राधामय है और श्रीराधा का जीवन श्रीकृष्ण जीवन रूप है। प्रियतम में अपनी प्रिया के लिये परमोन्माद है और प्रिया में प्रियतम के लिये सीमारहित प्रेमोन्माद है। वे दोनों ही दोनों के मन के भावों का निर्विवाद अनुभव करते रहते हैं। इसीलिये परस्पर प्रेमी प्रेमास्पद बने हुए उसी भाव से एक दूसरे के मन की करते रहते हैं और दोनों में युगपत् एक दूसरे को सुख प्रदान करने का नया-नया चाव बढ़ता रहता है। दोनों का इस प्रकार संगरहित नित्य संग है। पता नहीं कब से प्रियतम प्रिया बने और प्रिया प्रियतम बनी इस प्रकार खेल कर रही हैं लीला हो रही है। यह नित्य अभिन्नता में नित्य भिन्नता कैसी मधुर और दिव्य है।

तो रानी की दृष्टि प्रियतम के हृदय के भीतरी भावों को आत्मगत कर लेती हैं। नील सुन्दर का मनोरथ रानी के हृत्पटल पर पूर्णतया स्पष्ट अंकित हो जाता है। नील सुन्दर किसी भी सखी, मंजरी दासी के भाव सौन्दर्य सुधा का आस्वादन करना चाहें – उसके भावोदधि से उद्भूत अमृत रस के पान की रुचि उनमें प्रकट हो जाय, रानी के लिये इतना सा संकेत पर्याप्त है।

ये सभी सखियाँ, दासियाँ, मंजरियाँ भी उनसे भिन्न थोड़े ही हैं। उनकी ही कायव्यूह रूपा ही तो हैं। फिर इस महाभाग्यवती मंजुलीला को तो यमुना जल लेने जाने पर उन्होंने वेणुवादन कर स्वयं आकर्षित किया है। उसका नाम ले लेकर आह्वान कर उसे आकर्षित किया है। फिर अपने कर-कमलों द्वारा श्रृंगारित करने के बहाने उसके अणु-अणु में, कण-कण में उन्होंने अपनी हृदयस्थ प्रीति पूर्ण रूप से उँड़ेल दी है। रानी मंजुलीला मंजरी के इस सौभाग्य को बिसार कैसे सकती हैं।

अतः अब प्रियतम श्रीकृष्ण ने जो कार्य अधूरा रखा है, उसे रानी को पूरा करना है। पुरुषोचित भाव के कारण जिन अंगों को प्रियतम रस-सिञ्चित नहीं कर पाये हैं, अथवा मंजुलीला नारी-जनित प्रधान लज्जा-भाव को न त्याग सकने के कारण जिन सुकोमल भावांगों को अवगुंठित रखे रही हैं, उन्हें रानी को रस–सज्जित कर देना है। तभी न मंजुलीला का निराविल

पूर्णमहाभाव रूप निखरेगा जिससे प्रियतम मंजुलीला पर पूर्णतया अपने को समर्पित कर पावेंगे। रसराज तो महाभाव समुद्र में ही समाहित होगा। अन्यथा तो वह इतना असमोर्ध्व है कि समग्र धाराओं को अपने में डुबा लेता है। उस अनन्त सीमाहीन तलहीन रसवारिधि को अपने में लीन करने की भला किसकी सामर्थ्य है ? अत: रानी को मंजुलीला में स्वयं को प्रतिमूर्त्त करके तब उसे प्रिय चरणों में समुपस्थित करना है।

वैसे तो व्रज की सभी रमणियाँ प्रेममयी हैं। उनकी समग्र वृत्तियाँ प्रियतम नीलमणि के चिदानन्दमय स्वरूप में ही रमण करती रहती हैं। इसी अर्थ में ही तो वे रमणी है। जो ऐसी रस गुणवती हो उठें कि सर्वभोक्ता सर्वरमण प्रियतम श्रीकृष्ण भी जिनके लिये रमणेच्छुक हो उठें, यही तो उन महा भाग्यवती गोपांगनाओं का रमणीपना है। उन समस्त ब्रजरमणियों में भी मंजुलीला को रानी द्वारा मुकुटमणि पद दिया जाना है।

हाँ, इधर तो रानी इस प्रीतिदान के महा उदार भाव में लहरा रही हैं और उधर मंजुलीला के अति निश्छल, निर्मल, पूर्ण समर्पणमय, स्वसुखवाञ्छा विरहित रानी की चरण-रेणु की कैंकर्य-स्पृहा से विभूषित चित्त में विपरीत भाव लहरियाँ उठ रहीं हैं। यही तो प्रीति जगत की वक्र-गति है।

रानी श्रृंगार कक्ष में मंजुलीला को किसी न किसी बहाने से बुला लेती हैं। आनन्द अनुराग के आवर्त्त में डूबतीं, उतरातीं वे प्यार से सराबोर हुई मंजुलीला की ओर निहारती हैं। रानी मंजुलीला के सुन्दरतम भावरूप को देखकर मुग्ध हो जाती हैं। रानी को लगता है यह तो प्रेम रस की उदधि है। अहा ! इस सर्व-सद्गुणमयी को अपने रस-गुण-गौरव की स्मृति का भी लेश नहीं है, न ही इस सौभाग्य का लेश-अभिमान ही है। अहा ! इसका संसार में रहना, चलना, इसके मन में उठने वाले भाव, विचार, चेहरे पर आने वाली भंगिमाएँ, सभी छोटी सी छोटी चेष्टाएँ भी प्रेम समुद्र की विविध विचित्र तरंगे ही तरंगे हैं। इसमें जो कुछ है सभी मात्र विशुद्ध प्रेमसागर का ही उच्छ्वास मात्र है। यह तो मेरे मन से ही मनवाली है, मेरे जीवन से ही इसका जीवन है, यह मेरे प्राणों से ही प्राणवाली है। इसके बिना मेरी और मेरे बिना इसकी भाव सत्ता ही नहीं है। रानी विधाता के प्रति कृतज्ञ हो उठती हैं कि मुझे कैसी असीम भाव सौन्दर्य शालिनी प्राण सहचरियाँ उसने प्रदान की हैं। अहा ! ये ही मेरी ऐसी अनमोल सम्पदायें हैं जिनसे मैं अपने प्राणधन की रस-लालसा की किंचिन्मात्र समर्चना कर सकती हूँ।

बलिहार है - इस मुख छबि पर जिसने प्राणरमण ब्रजेश-कुल-चन्द्र को अपने प्राणोन्मादी आकर्षण से प्रतिबद्ध कर दिया। और वे वेणुवादन द्वारा इसका नाम गायन करने को व्याकुल हो उठे।

रानी अपनी प्राण सखी मंजुलीला का सर्वांग श्रृंगार करने समुत्सुक हो उठीं। वे मंजुलीला को उस परमातिपरमोच्च भाव श्रृंगार से सुभूषित कर देना चाहती हैं जिससे उनके प्राण प्यारे की सर्व रस लालसा परितृप्त हो जाय। और वे उस पर पूर्णरूपेण रीझ जावें।

रानी इतनी भाव विभोर हैं कि सखी का श्रृंगार करने की उत्सुकता में उनका सर्वांग कलेवर ही कम्पायमान हो जाता है।

मंजुलीला रानी के इस मनोरथ को पहचान जाती हैं। वे रानी के चरणों में लिपट जाती हैं। उनके नयनों से झर-झर अश्रु प्रवाहित हो उठते हैं। हिचकियाँ बँध जाने के फलस्वरूप मंजुलीला विशुद्ध शब्दावली में बोल ही नहीं पाती :-

"मैं .... मेरी प्राणसखी मैं... म... महादोषी हूँ। मैंने भूल की बहिन ! बहुत ही अक्षम्य अपराध संघटित हो गया मुझसे। आज तक मैं कभी कलिन्द नन्दिनी की ओर एकाकिनी नहीं गयी थी। पूजार्थ जल लाने की तूने ही मुझे आज्ञा दी थी। मुझे एकाकिनी को कदापि नहीं जाना चाहिये था। सरोजनी, विमला, श्यामला, रस, रति, अशोक, गुण मेरे तनिक से संकेत पर कोई न कोई मेरे साथ अवश्य चल पड़तीं। परन्तु प्राणाधिके ! वह काल इतने प्रभात का था कि नन्दनन्दन नन्दभवन में शयन शय्या से उठे भी तो नहीं होंगे - यही मेरी परिकल्पना थी। स्वामिनी ! मुझ निगोड़ी ने न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में यह सुनिश्चय कर लिया कि इस काल में मैं निर्बाध यमुना तट पहुँच जाऊँगी। इसी के फलस्वरूप इन उपरोक्त सभी सखियों को तेरी प्रातःकालीन स्नानादि सेवा में निरत पाकर मैं नितान्त एकाकिनी ही स्वर्ण गगरी लेकर सम्मोहन घाट की ओर निकल गयी।"

"मेरे कर्णपुटों में ज्यों ही मुरली रव प्रविष्ट हुआ, मुझे अपनी भूल समझ में आ गयी। परन्तु तब तक तो मैं निरुपाय थी। जब मुझे सुस्पष्ट ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रियतम मेरा नाम लेकर मुरली में मुझे ही पुकार रहे हैं, उस समय भी बहन ! सच समझना मैंने यहीं अनुमान किया कि वे निरे प्रभात तुझे कोई संकेत-पत्र प्रेषित करने मेरा आमंत्रण कर रहे हैं। वे तेरे ही निमित्त से नन्दभवन से इतने शीघ्र उठकर आये होंगे। इसी मनोरथ को लेकर उस

मुरली वादन ध्वनि का अनुगमन मैंने दो चार क्षण ही किया होगा कि फिर तो वह इतना आकर्षक लगा कि मुझे अपने तन-मन की सुधि ही नहीं रही।"

"मेरे शत सहस्र प्राणों की रानी ! मुझे अपनी हेतुरहित कृपा का प्रकाश देकर जिस शुचितम अनुराग से तूने मेरा पालन-पोषण किया है - काल के प्रवाह में हाय री सखि ! मैं तेरी गरिमा और मर्यादा के योग्य आचरण नहीं कर सकी। सर्वथा सर्वांश में मैं तेरे द्वारा श्रृंगारित होने की पात्रा कदापि नहीं हूँ।"

"हे उदार चूड़ामणि ! मेरी प्राणोपमा सखी किशोरी ! मेरी स्वामिनी ! तू तो अपने अपार प्रेममय स्वभाव का ही परिचय दे रही है। मेरे तन के कण-कण में तू अपने आपको ही श्रृंगार के रूप में भर दे रही है। मुझे सुख देने के लिये तू अपना सर्वस्व मुझे दे रही है। मुझसे प्रियतम का पूर्ण मिलन हो - यह संयोग संकल्प भी तू कर चुकी है। और यह भी ठीक जानती हूँ कि तेरे संकल्प के उदय होते ही लीला विधातृ शक्ति भी तदनुरूप संयोग विधान संगठित कर चुकी है। और यह भी सत्य है कि प्रियतम का भी तन-मन सब तेरे भ्रू नर्त्तन के अनुरूप ही क्रियाशील होगा। परन्तु प्राण संजीवनी ! अपने वात्सल्य के प्रवाह में तुझे तो मेरे दोष दृष्टिगोचर नहीं होते, परन्तु हाय हतभागिनी मैं, मेरे इन स्वसुख लालसारत प्राणों को इस तन में जो तेरे द्वारा श्रृंगारित होगा रख पाऊँगी ? कदापि नहीं, कदापि नहीं।"

"मेरी प्राणाराध्या ! मैं मानती हूँ कि मेरे गर्हित आचरण ने मेरी प्रीति अपवित्र कर दी है, इसके उपरान्त भी इस हृदयहीनता भरे आचरण का परिचय पाकर भी तू नित्य निरन्तर मुझे अपने अनुरागपूर उरस्थल में रखे हुए है एवं अपने परम पावन पवित्रतम स्नेह से मुझे आप्यायित कर रही है। मैं तेरे चरणों में निम्न मुखी हुई, अपना मुख उठाकर तेरी आँख से भी अपनी दृष्टि कैसी मिलाऊँ ? मैं इस अधम जीवन को तेरे आश्रय में डाले हुए हूँ - यही मेरी निर्लज्जता की पराकाष्ठा है।"

"जीवनेश्वरि ! तुम्हारे इस परम पवित्र प्रेम के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ। तुम्हारा निर्मलतम प्रेम तो सम्पूर्ण सुखों का उद्गम स्थल है। परन्तु बहन ! तू मेरे हृदय को अच्छी प्रकार टटोल ले। मुझमें कहीं भी रंचक मात्र भी प्रियतम से स्वसुख पाने की लालसा कभी भी रही हो और उससे प्रेरित होकर मेरे पैर, मन उनकी ओर बढ़े हों तो निश्चय ही तू मेरा श्रृंगार करके मुझे प्रियतम अंक शायिनी बना देना, परन्तु यदि यह सत्य न हो तो तेरे शुचितम

चरण सरोरुहों में ही मेरा स्थान एक रजकणिका के सदृश स्वीकार कर लेना, मुझे तेरे चरणों के आश्रय से एक क्षण मात्र के लिये भी मत हटाना।"

"मेरी प्राणों की रानी ! मेरी लाड़िली ! मुझ में इतनी सी भी योग्यता नहीं है कि मैं अपनी अलकों एवं पलकों से तेरी चरण रज कणिका को पौंछ भी सकूँ - परन्तु बहिन री ! मेरी इस अनधिकारिता को तेरे सिवा और कौन दूर कर पावेगा ? मेरी यह हृदय की अन्यतम साध क्या अधूरी ही रहेगी ? कदापि नहीं । तेरी अन्यतम हेतुरहित कृपा के बल पर ही यह कह रही हूँ कि मेरे नित्य निवास ये तेरे अरुण चरण ही निरवधि काल तक रहेंगे।"

मंजुलीला कहती जा रही थी और रानी के चरणों को इस प्रकार जकड़े हुए थी मानो किसी भी अवस्था में वह इन्हें नहीं ही छोड़ेगी।

रानी का अनुराग पूरित उरस्थल तपाये हुए सोने की भाँति सर्वथा तरल होकर अश्रुरूप में नेत्रों से झरने लगता है। नयनों की धारा से वे मंजुलीला को सिञ्चित करने लगती हैं। वे कह उठती हैं :-

**सर बिनु सरसिज सरसिज बिनु सर**
**कि सरसिज बिनु सूरे, तन बिनु यौवन, यौवन बिनु तन**
**की यौवन पिये दूरे.....।**

"अरी बहिन तू ही बता, यदि किसी कासार में विकसित अरविन्द पुञ्जों का वन न हो तो भला उस कासार की कहीं कोई शोभा होगी और यदि सूर्य का अस्तित्व ही न हो तो उन अरविन्द पुञ्जों की शोभा को कोई निरख सकेगा ? इसी प्रकार यौवन हीन तन और तनहीन यौवन क्या अर्थ रखेंगे यदि पिय मिलन ही नहीं हो।

और सखि ! भुवन भास्कर के बिना दिवस निरर्थक ही है एवं चन्द्रदेव के बिना रजनी कैसी ?"

**दिवसः को बिना सूर्य बिना चन्द्रेण का निशा**
**..................बिना कृष्णेन को व्रजः।**

"फिर प्रियतम नीलसुन्दर के बिना तो गोपी देह ही निरर्थक ही तो है। बहिन ! यदि प्राणवल्लभ नीलसुन्दर को यह यौवन समर्पित ही नहीं हुआ तो उसकी कृतकृत्यता ही कहाँ हुई ? मैं तो इसीलिये तेरा श्रृंगार कर रही थी कि

जिनके लिये तेरे अंग अंग में नव तारुण्य उमड़ रहा है, वे अपनी वस्तु को अंगीकार कर लें। सत्य बता बहन ! क्या तेरी तरुणाई के ग्राहक नन्दनन्दन नहीं है, तेरे यौवन का अणु-अणु प्रियतम प्राणरमण का आह्वान नहीं कर रहा है ? यह तेरी आजानुलम्बित वेणीबद्ध कृष्ण-कुंचित-कुन्तल राशि, कपोलों को संस्पर्शित करती अलकावलि और तेरा रोम-रोम प्राणवल्लभ प्राणवल्लभ की रट नहीं लगा रहा है ?"

रानी आगे कुछ भी कहे इसके पूर्व ही मंजुलीला ने रानी का मुख अपनी हथेलियों से बन्द कर दिया।

"बहना री ! मेरे असंख्य प्राण तुझ पर न्यौछावर हैं। परन्तु यह सब तो अति स्वाभाविक ही है। बोल बहिन ! यह कानन की धरा प्रियतम प्रियतम कह कर कृतकृत्य क्यों हो रही है ? प्रियतम जब अनावृत-चरण हुए कानन की धरा पर संचरण करते हैं तो उनके आगमन मात्र से यह कितनी धन्य-धन्य हो रही है। यह अनुक्षण प्रियतम के पाद पद्मों के स्पर्श से अतिशय सौभाग्य शालिनी हुई 'प्रियतम सुखी हों, प्रियतम सुखी हों '- यही रट लगा रही है।"

"केवल धरा ही नहीं धरा से सम्बद्ध सभी ये मरुत्, रवि, यह शशधर, यह अनन्त विस्तार लिये नभ - सभी के अन्तराल से - "मैं प्राणवल्लभ की, प्राणवल्लभ मेरे, मैं मात्र प्रियतम-सुखार्थ -' प्रियतम मेरे" यही भाव तो प्रवाहित हो रहा है। ये क्षुद्र-से-क्षुद्र तृण-वीरुध, दूर्वा, कुश आदि भी मात्र जीवन्त हैं एक ही भाव से कि प्रियतम के चरण हमसे संस्पर्शित हो कर मात्र एक क्षण के लिये ही सुखानुभव कर लें। बोल बहिन ! ये द्रुम क्यों बारहों मास फलवान् हैं ? लतावल्लरियाँ सदा ही बिना ऋतु के ही क्यों पुष्प पल्लवों से लदी रही हैं ? यह तपन-तनया का मंजुल प्रवाह, यह बहता मानसी गंगा का शान्त स्रोत, यह सम्मुख अवस्थित गिरिराज गोवर्धन, और अन्य पर्वत मालाएँ, ये ऊपर, सामने, पीछे, दक्षिण वाम पार्श्व में उड़ते, आसीन, कलरव करते विहंगम कुल, सर्वत्र कानन में स्वच्छन्द विचरण करते पशु-समूह। ओह ! इन सर, गिरि, खग मृग सभी तो एक भाव से ही भावित हैं और यह भाव है हमारा अस्तित्व मात्र प्रियतम सुखार्थ है, मात्र प्रिया-प्रियतम सुखार्थ है, प्रिया प्रियतम सुख ही हमारा अस्तित्व है। फिर बहिन जब सभी पंचभूतात्मक इस ब्रजराज्य की सृष्टि ही प्रिया प्रियतम सुख में ही केन्द्रित है तो मेरा यौवन और अस्तित्व इस पावनतम इच्छा से विरहित कैसे रह पावेगा ? और इस सब सृष्टि में इस भावना का मूल स्रोत, मूल उद्गम कहाँ से स्फुटित हो रहा है ?

इस निर्मलतम प्रेम की मूल स्रोतस्विनी कौन है? मात्र तेरा प्रियतम प्रेम ही तो इस का मूल उद्गम स्रोत है। तेरे प्रियतम प्रेम की अगाध असीम लहरें ही तो इस समग्र सृष्टि में यह निर्मलतम प्रेम भाव प्रवाहित कर रही हैं।"

"तो बहन ! फिर मुझे पृथक् व्यक्तित्व क्यों दे रही हो ? कर श्रृंगार बहिन ! कर दे, पूर्ण श्रृंगार कर दे मेरा । परन्तु मेरे रोम-रोम में एक ही नाम का श्रृंगार हो और यह जो नाम अंकित हो - वह राधा का ही हो। मेरे समग्र रोम कूपों में तेरे कर कमलों से राधा नाम भर दे, मेरे अंग-अंग को राधा नाम से पूर्ण श्रृंगारित कर दे और फिर मुझे भेज दे प्राण प्रियतम के पास । उस समय प्रियतम की अंक शायिनी मैं नहीं होऊँगी। जिसका राधा नाम है, पंचभूतों का वह पुंज ही प्रियतम के पास जायगा। मुझे तेरा अनुग्रह शत-प्रतिशत स्वीकार्य है।"

और रानी के पास कुछ भी कहने को बचा ही कहाँ था। रानी तो मंजुलीला के अथाह अनाविल प्यार में अपनी अहंता को ही विस्मृत कर बैठी। वे अपने नयनों की प्रेमाश्रुधारा से मंजुलीला के अंग-अंग को सिंचित करती जातीं और तब अपनी कृष्ण तूलिका से कुंकुम भर कर उससे मंजुलीला के अंगों के रोम-रोम में राधा राधा अपना स्वनाम अंकित करने लगीं। उमड़ते अतिशय स्नेह भाव से रानी के द्वारा असम्बद्ध प्रलाप होने लग गया ।

और महाभाव समुद्र जब इतना उछलता है और उन्मादी हो उठता है तो मंजुलीला तट बचा कैसे रह सकता है ? "स्वर्ण को तपाया जाता है भला। रज के अणु की छाया भी न रहे पुरट पर, पुरट पात्र पर इसलिये।" किन्तु जब कनक कुन्दन का आभूषण हो ही जाता है तो फिर उस कुन्दन के आभूषण को तो रानी को अपने हृदय मन्दिर में संस्थापित करना ही है।

वैष्णवों ! समझ लो भाव राज्य में श्रृंगार कैसा होता है, एवं कौन करता है और जब श्रृंगार हो जाता है तो जिसका श्रृंगार हुआ वह क्या से क्या हो जाता है। रानी का प्रियतम निज हाथों नित्य श्रृंगार करते हैं, और प्रियतम का रानी नित्य श्रृंगार करती हैं - और वे नित्य नव नूतन रस सागर की उद्दाम लहरें बने लहराते हैं। जो वे पूर्व में थे, वे पुनः होकर कभी लौटते ही नहीं। समुद्र में एक लहर का प्रादुर्भाव हो जाता है, वह पुनः कभी नहीं आयेगी - दूसरे ही क्षण जो लहर उदित होगी वह नवीन, नित्य अभिनव नवीन होकर ही आवेगी। यही जलनिधि की शोभा है। इसी प्रकार यही भाव सिन्धु एवं रसनिधि की शोभा है -

कछुदै बासी होत न कबहूँ – नित नूतन रस बरसत।

देखत देखत नयन सिराने तऊ नयन नित तरसत।

देखो ! देखो पुनः महाभाव समुद्र उमड़ा। अरे वह अनन्त, अपरिसीम, असमोद्भव, नित्य सत्य संविन्मय महा समुद्र रानी के नेत्रों से टपकते अश्रु प्रवाह से, प्रेम जनित असम्बद्ध भाव-प्रलाप से उद्भूत हुआ और उसने मंजुलीला और उसके समग्र अस्तित्व को ही अपने रस में घोल लिया। अब तो मंजुलीला नाम एवं रूप जन्य आकृति एवं व्यक्तित्व ही घुलकर विलीन होगया उस महाभाव सिन्धु में और वह भाव सिन्धु उस समग्र को लेकर तिरोहित हो गया, रानी की नासा के अग्रभाम में स्थित बेसर में। और तब उस बेसर से प्रकट हो गयीं पुनः मंजुश्यामा, अनंगमंजरी रानी की अनुजा, राधानुजा।

वैष्णवों सत्य, परम सत्य मात्र महा भावसिन्धु है। जब मंजुलीला के व्यक्तित्व को पू. गुरुदेव पकड़े थे, उस व्यक्तित्व में पू. गुरुदेव की अस्मिता एकात्म थी, तब भी मंजुश्यामा, राधानुजा थीं। ये सभी भगवती श्री राधारानी की कायव्यूह स्वरूपा सखियाँ नित्य लीला की आवश्यकतम अंगस्वरूपा हैं। इनका न तो प्रादुर्भाव होता है, न ही विलय। परन्तु इनमें भिन्न-भिन्न महाभाग्यवान् साधक, गोपी भावापन्न जीवों की अस्मिता ही अपने-अपने भावों की विशुद्धि को लेकर प्रादुर्भूत हो उठती है। और उनका ही शनैः शनैः उच्चतर उच्चतम स्तरों में उन्नयन होता है। मंजुलीला मंजरी अनादि काल से हैं, अनन्त काल तक रहेंगी, परन्तु किस भाग्यवान् जीव को महाभावसिन्धु कब इन नित्य सिद्ध मंजरी लीला देहों में संयुक्त करेगा और कब एक सिद्ध देह से उस जीव को और उच्चतर लीला भूमिकाएँ प्रदान करता हुआ उच्चतम राधा भाव में प्रतिष्ठित कर देगा, इसका संचालन सूत्र तो भगवती श्री राधा रानी अथवा अघटना घटना पटीयसी भगवती आद्या महाशक्ति त्रिपुर सुन्दरी के ही कर कमलों में है। रंगमंच की सूत्रधार भी वे ही महाशक्ति हैं। किस पात्र को वे अपनी नाट्यशाला में किस भाव नाटिका के उपयुक्त चयन करें, सब उनका ही विधान है।

(भगवती श्री मंजुलीला मंजरी उत्कण्ठिता और विप्रलब्धा भावोच्छलन की प्रतीक हैं। पू. गुरुदेव मंजुलीला भाव में लगभग तीन वर्ष रहे।)

## मंजुलीला भाव में
## 'राधा राधा' नामोच्चारण के पीछे की लीला-अनुभूति

पू० गुरुदेव का सन्यास लेने के पश्चात का नाम था श्रीमधुसूदनानन्द सरस्वती, परन्तु उन्होंने अपना यह नाम कभी किसी के सम्मुख प्रकट नहीं किया ।

एकबार श्रीपोद्दार महाराज के अनुयायी पं० श्रीगोवर्धनजी शर्मा रामायण-समिति के कार्य से गया जिले के दौरे पर गये थे । तब वे अरबल गये थे एवं जिज्ञासावश पू० गुरुदेव के जन्मस्थान फखरपुर ग्राम भी हो आये थे। उनके द्वारा ही सभी को पू० गुरुदेव का पूर्वाश्रम गृहस्थ का नाम चक्रधर मिश्र ज्ञात हुआ । तभी से उनका नाम स्वामी चक्रधरजी महाराज प्रचलित हो गया था ।

पू० गुरुदेव ने श्रीपोद्दार महाराज की रुचि से सर्वथा मौन ले लिया था । मौनावस्था में वे मात्र 'राधा-राधा' ही बोला करते थे । यदि कोई परमावश्यक संकेत उन्हें करना होता तब भी वे उसे स्लेट पट्टी पर लिखकर करते थे, परन्तु उस समय भी उनके मुख से उच्चारण 'राधा-राधा' शब्द ही हुआ करता था । मात्र 'राधा-राधा' बोलने से ही आगे जाकर वे 'राधाबाबा' नाम से विख्यात हो गये थे और लोग 'राधाबाबा' के नाम से उनसे देश-विदेश से पत्राचार भी करते थे ।

यह 'राधा-राधा' नामोच्चारण क्यों प्रारंभ हुआ, इसके पीछे एक परम चिन्मय दिव्यलीलानुभूति थी । यह दिव्यलीलानुभूति पू० गुरुदेव ने मुझे १९४८ ई० में बतलायी थी ।

सन् १९४० ई० से ही पू० गुरुदेव भाद्रपद शुक्ला अष्टमी एवं नवमी तिथि को श्रीराधाष्टमी महोत्सव मनाया करते थे । इस राधाजन्ममहोत्सव के उपलक्ष्य में दो दिवस राधा जन्म एवं दधिकर्दम उत्सव के पश्चात उद्दाम नाम-संकीर्तन हुआ करता था । इस संकीर्तन का संचालन १९५६ ई० तक पू० गुरुदेव स्वयं किया करते थे । सन् १९५६ ई० में जब उन्होंने काष्ठमौनव्रत ले लिया तब से यह संकीर्तन अन्य लोगों के द्वारा संचालित किया जाने लगा ।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमीमहोत्सव में उद्दाम नाम-संकीर्तन श्रीरघुबरदयालजी गोयल और श्रीमुरलीधरजी दोनों गीताप्रेस के कर्मचारी ही प्रारंभ किया करते थे, परन्तु थोड़े ही काल पश्चात् जो कीर्तन 'जय हरिगोविन्द राधेगोविन्द' की ध्वनि से प्रारंभ होता था, 'राधा-राधा' नाम में पर्यवसित हो जाया करता था और उसका सूत्र पू० गुरुदेव सम्हाल लेते थे ।

यह संकीर्तन इतना भावमय और तुमुल ध्वनि में हुआ करता था कि इसकी अवधि निश्चित नहीं थी । तीन-चार घण्टे के पूर्व तो कीर्तन के विराम का प्रश्न ही नहीं उठता था । घंटे, घड़ियाल, शंखध्वनि, झांझ, झालर, ढोलक एवं बंगाली मृदंग (खोल) के वादन और लय पर पू० गुरुदेव और सभी संकीर्तन करने वाले खड़े होकर भावनृत्य करते-करते 'राधा-राधा' नाम ध्वनि में इतने डूब जाते थे कि घड़ी की सूई कब पूरा चक्कर लगाकर एक घंटा व्यतीत हो गया बता रही है - किसी को पता ही नहीं चलता था । एक बार भावावेश में नेत्र बन्द होते और खुलते थे इतने में एक घण्टे का कालमान व्यतीत हो जाया करता था । खोल बजाने वाले की अँगुलियाँ अनभ्यासवश फट जाती थीं और रक्त से खोल लाल हो जाती थी । पू० गुरुदेव झालर हाथ में लिये बजाकर एवं पैरों से ताल देकर कीर्तन को मंद और तेज गति दिया करते थे । वे ही कीर्तन का नेतृत्व करते थे । इस कीर्तन में इतना आनन्दावेश होता था कि शरीर के श्रम की सुधि ही नहीं होती थी ।

इस उत्सव में किसी-किसी वर्ष श्रीपोद्दार महाराज भी सम्मिलित होते थे और तब श्रीराधा-विग्रहपूजन का कार्य उनके ही हाथों सम्पादित कराया जाता था । उन दिनों यह उत्सव पू० पोद्दार महाराज की निवास-स्थली के उस बड़े हाल में मनाया जाता था जिसमें कल्याण-कार्यालय भी था । यह उत्सव षष्ठी-उत्सव अर्थात् अष्टमी से त्रयोदशी तक लगातार चलता था और पच्चीस-तीस व्यक्ति इसमें उन दिनों प्रतिदिन सम्मिलित होते थे । पश्चात् तो इस उत्सव ने विराट रूप ले लिया और देश-विदेश से हजारों व्यक्ति इसमें सम्मिलित होने लगे । तब इसके विराट आयोजन को देखकर सन् १९५६ ई० में इसके लिये पृथक् रूप से विशाल पंडाल निर्माण कराया गया जो आज तक विद्यमान है । इसमें अब भी अखण्ड भगवन्नाम संकीर्तन चल रहा है ।

इसी उत्सव के एक वर्ष की घटना है; कीर्तन प्रारंभ करने का भार पू० गुरुदेव ने मुझे सौंप दिया । मेरे मन में भावोदय हुआ कि राधाजन्मोत्सव है

और राधाजी को 'कृष्ण' नाम अतिशय प्रिय है, अतः आज तो 'कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि ही होनी चाहिए । हाँ, कृष्णजन्माष्टमी के दिन 'राधा-राधा' नाम ध्वनि हो, यह तो उपयुक्त है । परन्तु राधाष्टमी के दिवस वृषभानुनृपमन्दिर में ही श्रीराधाजी की उपस्थिति में 'राधा-राधा' कीर्तन हो - यह मुझे भाव-संगत प्रतीत नहीं हो रहा था । अतः मैंने उस दिन महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के द्वारा कराये जाने वाला **'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण हे'** संकीर्तन प्रारंभ कर दिया ।

परन्तु पू० गुरुदेव ने उसे प्रारंभ होते ही स्थगित कर दिया । इतने में ही श्रीपोद्दार महाराज भी आ गये । उनके साथ उनके एक मित्र एवं अनुयायी श्रीबजरंगलालजी बजाज भी थे । श्रीबजरंगलालजी को लोग ढोलकियाजी कहा करते थे । जब भी कहीं संकीर्तन होता तो ये गले में ढोलक बाँध लेते थे । अतः इनका नाम ही सर्वत्र 'ढोलकियाजी' प्रचलित हो गया था । वे श्रीपोद्दारजी से बहुत ही निस्संकोची थे । उन्होंने श्रीपोद्दार महाराज से कहा कि आज तो आप ही संकीर्तन कराइये । आश्चर्य, उस दिवस श्रीपोद्दार महाराज ने श्री 'राधे-राधे' का कीर्तन प्रारंभ कर दिया । श्रीपोद्दार महाराज शरीर से वृद्ध एवं अशक्त थे, अतः बाद में तो कीर्तन का नेतृत्व पू० गुरुदेव ने ही सम्हाल लिया था। उस दिवस वह संकीर्तन ऐसा रंग लाया कि अभूतपूर्व आनन्द का समा ही बँध गया । श्रीमोतीजी पारीक नामक व्यक्ति तो भावावेश की चरमावस्था में पहुँच गये उस दिवस ऐसा लगने लगा था कि यदि संकीर्तन तत्क्षण स्थगित नहीं हुआ, तो संभव है श्रीमोतीजी महाराज महाभावावेश में परलोक-धाम ही नहीं चले जावें ।

कीर्तन के विराम होने के पश्चात् रात्रि में मैंने पू० गुरुदेव से प्रश्न कर दिया कि 'कृष्ण' नाम के प्रति आपके मन मे ऐसी उपेक्षा क्यों है ? जब उत्सव में कृष्ण-नाम-संकीर्तन प्रारंभ ही कर दिया गया था तो उसे विराम देकर 'राधा-राधा' संकीर्तन कराने के आप इतने आग्रही क्यों हो उठे ? उस पर उन्होंने मुसकाते हुए मुझे भगवती श्रीराधारानी की अति मधुरतम, दिव्य, परम अन्तरंग, चिन्मयी निम्नलिखित लीला श्रवण करायी थी । साथ ही यह भी कहा था कि इस लीला-दर्शन के पश्चात् उनका व्यक्तित्व इस भाव से इतना प्रभावित हुआ कि तभी से अन्य नामजप - यहाँ तक कि मंत्रजप के भी उनके सभी आग्रह बह गये और अधरों पर रह गया मात्र 'राधा' नाम । वह अनुभूत लीला नीचे उल्लिखित की जा रही है ।

सर्वत्र राधा–कृष्ण रूप दर्शन करते राधा बाबा

# महाभाव दिनमणि
# श्री राधाबाबा

चतुर्थ भाग

मालिन, नापित, रजक एवं हड्डिप कन्याओं की कथा
सारिका भाव एवं तृण भाव

परम पू० गुरुदेव को यह अनुभूति लगभग १९४० ई० में हुई थी । पू० गुरुदेव का चित्त उन दिनों जगत् को सर्वथा छोड देता था । वे रम जाते थे व्रज के अनोखे राज्य की रसमयी लीलाओं में । जब तक जगत्-प्रपंच की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती, लीलाजगत् का चित्तभूमि में अवतरण असंभव ही है । लीलाजगत् और विश्वप्रपंच दोनों एक साथ रहें; यह तो पूर्णतया अनहोनी सी ही बात है ।

लो, महा-महा रसिकशेखर पू० श्रीराधाबाबा का चिन्मय मानस किशोरीरानी के निकुंज दर्शन करता हुआ निष्पन्द है । अहा ! कैसा सुन्दर यह कदम्बतरु है ? कैसी निराली हरीतिमा है इसकी ? किसी भी महाभाग्यवान जीव के नयनों में मात्र एकबार ही यह दिव्य अप्राकृत हरीतिमा आ जाय, बस सदा-सदा के लिये विषम भवसागर की विष-ज्वाला प्रशमित हो जाय । यह तरुराज निरन्तर पुष्पसौरभ का संचार कर रहा है । कैसी निर्मल घ्राण है इसकी । काल के नियमों से अतीत इसमें कभी पतझड़ नहीं आती, न ही कभी यह पुष्परहित ही होता है । यह सदा एकरस मनोज्ञ एवं सुख-शीतल ही रहता है । पावस, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म सभी ऋतुओं में, बारहों मास एक रस सतत इसके अंग पुष्पभार से नमित ही रहते हैं । सदैव कुसुमित, इसकी शोभा से दसों दिशायें कैसी उद्भासित हो रही हैं । यह बड़भागी तरुराज इसीलिए ऐसा अलौकिक शोभासम्पन्न है क्योंकि इसकी छाया में, इसके स्वर्णिम रत्नजटित आलवाल पर, इसी वृक्ष के कुसुमों के आस्तरण पर आज नित्यनिकुंजेश्वरी भानुनन्दिनी, कृष्णप्रिया विराजित हैं । अपने कैशोर की मौज में भरी किशोरी की कैसी अप्रतिम शोभा है ? अहा ! प्राण-प्रिया किशोरी अचिन्त्य एवं अप्रतिम रूप राशि का उच्छलित महासमुद्र ही हैं ।

अहा ! गोलोक धाम में साक्षात् भगवतीलक्ष्मी जिनके चरणसरोजों की परिचर्या करती हैं, हंसवाहिनी सरस्वती जिन्हें निरन्तर वीणा श्रवण कराती हैं, और पार्वती व्यजन सेवा करती हैं, असमोर्ध्व ऐश्वर्यलक्ष्मी जिनकी नित्य सहचरी हैं, फिर भी जिस प्रकार साधारण प्राकृत गोपी किसी पक्षी के संग क्रीड़ाकौतुक कर रही हों, वे वन की इस सारिका पक्षी से वार्ता करतीं लीला-रस-पान में आत्म विस्मृत हैं ।

रानी की सुरभित श्वास-प्रश्वास से हिलोरें लेतीं उनकी नासा-बेसर उन के आननसरोज पर कैसी फब रही है ? अहा ! मन्दमलय समीर भी इन

प्रश्वासों की सहायिका हुई बेसर को चलायमान कर, रानी के होठों को अनुरंजित कर रही है । रानी के नयन-सरोजों में कैसा अप्रतिम शील है और रह-रह कर अकारण ही लज्जा का जो उन्मेष इन नयनों में हो उठता है, वह तो नेत्रों की शोभा को सहस्त्रगुनी कर दे रहा है । ये कर-कंकण कैसी मधुर ध्वनि मुखरित कर उठे । ओह ! इस चंचल सारिका ने रानी के कंकणों पर अपना आसन जो लगा लिया । अहा ! कैसी सुमधुर मुसकान रानी के अधरों पर नाच गयी । वे अपनी ग्रीवा को तनिक झुकाकर सारिका को कैसी प्यार और मनुहार भरी दृष्टि से निहार रही हैं । वामहस्त पर सारिका को बैठाये वे अपने दक्षिण कर-सरोरुह से उसकी पंखों भरी पीठ को शनैः शनैः सहलाने लगती हैं । फिर अतिशय प्यार से उससे वार्तालाप करती हुई प्रश्न करती हैं- "सारिके ! कुछ खाओगी ?" और पास ही रखे भाँण्ड से कुछ द्राक्षा निकालकर उसके विकसित मुख में दाहिने हाथ से खिलाने लगती हैं । और लो ! सारिका को इतना प्यार मिले तो शुक क्यों चूके ? वह भी अत्यंत उद्धत हुआ, बिना अनुमति लिये ही रानी के वाम-बाहुदंड पर ठीक सारिका के पार्श्व में ही आसीन होगया ।

अरे ! कमलनाल जैसी सुकोमलतम कंचनवर्णी रानी की भुजा तो कर-कंगनों के भार से ही बोझिल है, फिर इन पक्षीद्वय के बोझ से क्या दुखने नहीं लगेगी ? इन मूर्खों को तो इस भुजा पर बैठने में तनिक संकोच भी नहीं हुआ ? नहीं, नहीं, ये पक्षी इतने निर्भार हैं कि रानी को इन्हें अपने बाहु-दंड पर बैठाने में सुख ही अनुभव हो रहा है ।

अहा ! कैसी महोदार शिरोमणि हैं किशोरीरानी । वे शुक पक्षी की भी हरित्पीठ अतिशय प्रेमोद्रेक से सहलाने लगीं और उसके मुख को भी आग्रहपूर्वक विकसित करवा के उसमें अपने हाथों से बादाम , द्राक्षा और मिश्री देने लगीं । वात्सल्यजनित परम आनन्द की लहरें रानी में उठ रही हैं, एवं दोनों पक्षी ही, नहीं समस्त वन ही उसमें सतत बह रहा है ।

रानी के नेत्रों से अथाह प्रीतिसिन्धु उमड रहा है, इन दोनों वन-पक्षियों पर । मानों दो नेत्र नहीं, अतीत एवं अनागत की समस्त प्रीति सम्पदा को बहाने वाले निर्झर-द्वय हों। अहा ! रानी के ताम्बूल रंजित होठों से मधुस्यंदी वाणी मुखरित हो उठी। मानो मनोरम रस का उत्स ही फूट पड़ा हो -- "सारिके ! कुछ गान सुनाओ न ?" और इतना संकेत मिलते ही भला सारिका

शान्त रह पाती ? कदापि नहीं । उसने अपनी मधुर और सुरीली स्वर लहरी में गायन प्रारंभ कर दिया –

जय जय कृष्ण मनोहारिन् !

वाह री सारिका, कैसी सुरीली ध्वनि है तेरी ! क्या ही वाणी में लोच है, मुरक है, बार-बार स्वरों को तार और मन्द्र सप्तकों में घुमाती हुई वह एक ही पंक्ति का उच्चारण कर रही है --

'जय जय कृष्ण मनोहारिन् !'

और अब शुक भी कैसे शान्त रह पाता ? उसने सारिका के स्वर से भी अपने स्वर को अधिक परिष्कृत कर गायन प्रारंभ कर दिया --

जय वृन्दावन प्रियः . . .

और तब सारिका ने पुनः तान छेड़ी --

जय जय कुंकुम लिप्तांग . . .

और सारिका की स्वर लहरी थमे इसके पूर्व ही शुक ने छन्द पूरा कर दिया --

जय गोपी विमोहन : ।

और रानी के सम्मुख तो अपने प्रियतम की विलक्षण छवि नाच उठी- अहा ! प्रियतम प्राणसुन्दर कितने मनोहर हैं, सरसता में तो ये मेघमाला के सदृश हैं, इनसे मरकत मणि को हेय बनाने वाली कान्ति की किरणें फूट रहीं हैं, लावण्य और माधुर्य का अपरिसीम सागर जैसे लहरा रहा हो, नीलकमल के समान सुकोमल अंग-प्रत्यंग हैं । श्रीअंगों में पीताम्बर झलमला रहा है और वक्षस्थल पर रंगबिरंगी बनमाला झूल रही है । अंग-अंग पर प्रीति लहरा रही है । विविध प्रकार की रस-क्रीडा के वे अनुपम आकार हैं । अहा ! कैसी सुभग कृष्ण-कुंचित, घुंघराली अलकावलि है । केशपाश पुष्प मालाओं से अलंकृत हैं । कैसी मनमोहक चूड़ा की कान्ति है । चमकते हुए ललाट पर चन्दन की खौर अत्यन्त शोभा दे रही है । मध्य में गोरोचन का सुन्दर तिलक है और दोनों ओर अलकें झूल रही हैं। लीलायुक्त चढ़ी हुई भौंहों के विलास से वे रानी का चित्त अपहरण कर रहे हैं । उनके झूमते हुए कमनीय नेत्र बीच में नीलकमल और प्रान्तों में लालकमलों की छटा धारण किये हुए हैं । गरुड़ की चौंच के समान नुकीली नासिका के अग्रभाग में मुक्ताफल लटक रहा है । इससे उनकी शोभा बढ़ गयी है ।

# महाभाव – दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

( प्रथम खण्ड )

Pages 501-600

साधु कृष्णप्रेम

दोनों कान किसलय दल से कैसे मनोहर हैं ? पुष्पाभरण कुंडलों के रूप में शोभा पा रहे हैं । दर्पण सदृश श्यामल मनोहर कपोल हैं । लावण्ययुक्त मुखारविन्द कोटि-कोटि शशधरों की कान्ति बिखेर रहा है । ठोड़ी विविध हास्य रस की छटा से अत्यन्त मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत हो रही है । कण्ठदेश में मुक्ताहार सुशोभित है । अहा ! कितना लावण्य भरा है इस कण्ठ में ! त्रिभंगी मुद्रा से खडे हुए वे त्रिलोकी को मोहित कर रहे हैं। ग्रीवा की मरोड़ अत्यन्त मधुर तथा आकर्षक है । वक्षस्थल तो मानो लावण्य का आकार ही है । रानी को परमानन्द दान करने के लिये कैसा उत्सुक हो रहा है यह, विद्युत् के समान चमचम करती मणिमालाएँ एवं मुक्तामाल उसकी शोभा को बढ़ा रही हैं और इनके मध्य मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ तो बहुत ही आकर्षक लग रहा है । रक्त कमल से लाल-लाल करतल हैं । आजानुलम्बित भुजायें हैं । भुजाओं में केयूर एवं कंकण सब मात्र पुष्पों के हैं । रक्त कमल के से लाल-लाल करतल विविध चिन्हों से सुशोभित हैं । उदर अत्यंत मनोमोहक है, उस पर लावण्य अहर्निश क्रीड़ा करता रहता है । पृष्ठदेश और पार्श्वभाग भी अमृत के समान मधुर हैं । सभी अंग चिन्मय विहार करने के लिये रानी को आमंत्रण दे रहे हैं । बर्तुल नितम्बभाग सुधा-सम्भृत कमल के समान मादक है । इन्हें देखकर कंदर्प स्वयं मोहित है । दोनों उरु मनोहर कदली स्तंभों की शोभा को परास्त कर रहे हैं । इन्हें देखकर ऐसी कौन युवती है जिसका मन मुग्ध नहीं हो उठे । दोनों घुटने लावण्य युक्त मनोहर एवं चमकीले हैं । परम मनोहर चरण कमल रत्नजटित नूपुरों से मंडित हैं। लाल-लाल चरणतल चिन्हों से सुशोभित हैं। चरणों की अँगुलियों के नख चन्द्रमाओं के समान प्रतीत हो रहे हैं । प्रियतम, अपूर्व शोभामय विलक्षण प्रेम और आनन्दवर्षा करते रानी के नेत्रों के सम्मुख ललित त्रिभंगी में खड़े हो गये । रानी तो ध्यानस्थ होकर डूब गयी ।

अरे भाई ! यह सब तो होना ही है । जिन प्रियतम के पलकान्तर वियोग से ही रानी का एक-एक निमेष सौ-सौ युगों के समान प्रतीत होने लगता है, उन श्रीकृष्ण का गुणगान रानी सुने और उन का हृदयस्थ महाभाव सीमाबिन्दु तक न स्पर्श करले यह तो सर्वथा असंभव ही है । पूर्ण चन्द्र के दर्शन कर समुद में ज्वार न आवे - क्या यह संभव है ?

रानी को सुख-सिन्धु में डूबी देख शुक-सारिकाऐं अपने को कृत-कृत्य अनुभव करती हुईं अप्रतिम आनन्दोच्छलन की ऊर्मियों में डूबने लगीं ।

देखो ! देखो ! भावाविष्ट हुए शुक एवं सारिका की दशा तो देखो ! इनके नेत्रों से झर-झर अश्रु बह रहे हैं और रोमाञ्च से इनके पंख उत्फुल्ल हैं । बार-बार इनमें कम्पोदय हो रहा है और स्वरभंग से वाणी स्वर-सीमा का उल्लंघन कर अपभ्रंश हो रही है । तदपि, बेसुरे फटे कण्ठ से भी जो माधुर्य झर रहा है, उसे कण्ठजन्य सुरीलापन स्पर्श ही नहीं कर सकता । इस तुरीय नादामृत में स्वयं सरस्वतीदेवी का ही अस्तित्वगत साफल्य निहित है । लो, आत्म विभोर शुक-सारिका कृष्ण-कृष्ण का नाम संकीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे ।

परन्तु अरे, अरे, यह क्या ? यह कैसी भाव लहर आयी ? रानी तो इस गायन और नृत्य में विरक्ति प्रकाश कर रही हैं । वे तो सारिका की, शुक की चन्चु ही बन्द कर देने को उद्यत हो उठी हैं ।

जो रानी श्रीकृष्ण के लिये सोती हैं, जागती हैं; जिनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ ही संघटित होती हैं मात्र प्रियतम के सुख को केन्द्र बिन्दु बनाये रखकर ही; श्रीकृष्ण-सुख-सम्पादन की अदम्य लालसा ही जिनका अस्तित्व है, वे किशोरी रानी शुक-सारिका को कृष्ण-नाम-संकीर्तन से, कृष्ण-गुणगान से निवृत्त करें – यह तो महत्ती आश्चर्य ही है ।

परन्तु अनुपमेय है यह प्रेमतत्त्व । इसकी गति सीधी नहीं, परम वक्र है। इसका न तो कोई शास्त्र है, न ही यह किसी विधि-निषेध की मर्यादा में ही बँधा है ।

लो सुनो ! रानी क्या कह रही हैं, इन शुक-सारिका से । वे कह रही हैं – "सारिके बहिन ! तुम ने और हे कृष्णसखे शुकराज ! तुम दोनों ने मुझे असीम सुख-सिन्धु में डुबाने के लिये प्रियतम प्राणवल्लभ का नाम एवं गुण-गान सुनाया । अहा ! आनन्द सिन्धु की उछाल लेती तरंगों में मैं डूब गयी । मेरे सम्मुख तुम लोगों के अनुग्रह से प्राणवल्लभ की प्रत्यक्षवत् भावमूर्ति प्रकट हो गयी । उन्हें अपने सम्मुख पाकर सुख की ऊँची से ऊँची हिलोरों में मैं अनवरत डूबती रही । मैं तुम्हारा कैसे अभिनन्दन करूँ ? मेरे पास तुम्हारा ऋण चुकाने को कुछ भी तो नहीं है । हे मेरे प्राणसखा शुकराज ! तुम इसे सत्य मान लेना, भला । जब भी तुम कृष्ण-गुण-गान करते हो मेरे प्राणवल्लभ सर्वथा सत्यांश में मेरे पास आ ही जाते हैं । भले ही कोई उन्हें नहीं देख पावे, परन्तु जैसे ही कृष्ण नाम राधा के कानों में जाता है प्रियतम राधा के नेत्रों के सम्मने ही हो रहते हैं । वे कहीं भी हों,

किसी अवस्था में हों उन्हें मेरे सम्मुख आना ही पड़ता है परन्तु हे मेरी प्राणसखी सारिके ! प्रियतम को अपने नाम-गायन एवं श्रवण से वह सुख नहीं मिल पाता जो उन्हें राधानाम श्रवण एवं गुणगान से मिलता है । अतः मेरे प्राणप्यारे सखा, शुक ! तुम भी अपना क्रम बदलकर मुझे मात्र राधानाम और राधा-गुणगान ही सुनाया करो ।"

"यह सत्य है कि लोग मुझे मदगर्विता कहेंगे । तुम भी मुझे पगली, मूर्ख समझ सकते हो । सम्पूर्ण व्रजमण्डल में जो भी यह सुनेगा कि राधा अपने गृह-पक्षियों से अपना ही नाम-गुण-कीर्तन कराती है, वे सभी मुझे आत्मश्लाघालोलुपा समझेंगी, मानेंगी । सभी को यह उपहासास्पद लगना स्वाभाविक ही है । कोई भी प्रेमिका क्या स्वयं का नाम श्रवण करने में हर्षित हो सकती है ? वह अपने ही गुण-गान सुनने में रुचि रखे क्या इस पर लोग आक्षेप नही लगावेंगे ? मेरी प्राणोपम सखियां मेरा अपयश होता देखकर तुम दोनों को ऐसा करने से मना भी कर सकती हैं । परन्तु मेरी प्यारी सारिके ! तुम उन सखियों का कहना सर्वथा मत मानना।"

"देखो ! मेरे हृदय के अन्तरंग से अन्तरंग भाव का तुम दोनों पर मैं प्रकाश कर दे रही हूं। सुनो, किसी को दिखे चाह नहीं दिखे, परन्तु वे मेरे प्राणवल्लभ मेरे चतुर्दिक सदैव ही निवास करते हैं। वे एक क्षण के शतांश काल में भी मुझे छोड़कर नहीं रह सकते । उन्हें मेरा नाम और मेरा गुणगान परम प्रिय लगता है, अतः मेरे चतुर्दिक वही होना चाहिये । तुम सभी अच्छी प्रकार जानते हो कि प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर का नाम मुझे अतिशय प्रिय है । वह मेरे कर्णपुटों में ही नहीं, श्रवणद्वारों से मेरे हृदय में उतरकर मेरे रोम-रोम में अमृत भर देता है। परन्तु क्या राधा निज सुख के लिये अपने प्राण-प्रियतम के सुख की उपेक्षा कर दे ? शुकराज ! मेरे लिये यह असह्य है । उनका सुख ही मेरे लिये सर्वोपरि है । बस तुम तो 'राधा-राधा' नाम और 'राधा-यश' का गान करो। वे सुनकर सुखी हों, मुझे यही अभीष्ट है।" यह कहते कहते रानी पुनः भाव-सिन्धु में डूब गयी । और रानी का आदेश पाकर शुक-सारिका उन्मत्त हुईं गान करने लगीं -

राधा करावचित पल्लव बल्लरीके
राधा पदांकविलसन्मधुरस्थलीके
राधा यशोमुखरमत्त खगावलीके
राधा विहार विपिने रमतां मनोमे ।

और भगदती राधारानी को अपने प्रियतम की प्रसन्नता उनके भाव-वपु के आनन-सरोज को प्रफुल्लित करती दृष्टिगोचर हो जाती है, इससे अधिक उन्हें चाहिए ही क्या ?

यह है राधा महाभाव - अतिशय रमणीय, परम पवित्र, प्रियतम-सुख सुखिया और दिव्यातिदिव्य स्वसुखवांछा की लेशात्मक भावना से भी सर्वथा सर्वांश में विरहित । मत्सुख कं कल्पना के लेश से भी सर्वथा शून्य जिसका जीवन हो, वही इसमें प्रवेश करने का साहस और उत्साह करे ।

इस लीला दर्शन के पश्चात् पू० गुरुदेव सदा कभी उच्चस्वर में, कभी बोलचाल की भाषा में और कभी मन्द स्वर में 'राधा' नाम का ही उच्चारण अथवा गायन करते थे ।

, एक आश्चर्य की घटना और हुई । पू० गुरुदेव को इस लीला की अनुभूति प्रातः काल ही हुई थी, और संध्या के समय श्रीपोद्दार महाराज अपने आप उनके पास आये । उन्हें भी ऐसी ही लीला का उन्मेष हुआ था । वे आकर कहने लगे- "स्वामीजी ! आज आपको मैं एक अति विचित्र बात बतला रहा हूँ । क्या यह भी कभी उचित लगेगा कि निकुंजेश्वरी श्रीराधारानी अपने निकुंज में शुक-पिक-सारिकादि को सतत राधा-राधा नाम रटने को कहें अथवा राधा-गुणगान करने की प्रेरणा स्वयं निजमुख से दें ।"

"यह तो स्पष्टतया आत्मश्लाघा ही कही जायगी एवं सज्जन मनुष्य भी ऐसा करना उचित नहीं मानते । परन्तु लोक-व्यवहार कुछ भी उचित-अनुचित कहे भगवती श्रीराधारानी अपने निकटतम विहंगमवृन्द को यही आग्रहपूर्वक प्रेरणा देती हैं कि वे उनके चतुर्दिक 'राधा-राधा' नाम ध्वनि ही किया करें अथवा राधायश-स्तुति पाठ करें । और इस कथन की प्रेरणा कैसी सुन्दर है कि क्योंकि उनके प्रियतम प्रकट-अप्रकट सदैव उनके चतुर्दिक विद्यमान रहते हैं अतः उनके सुख-विधान के लिये यही सर्वोत्तम है । अपने प्रियतम के सुख-विधान के लिये राधा को आत्मश्लाघा जैसा महागर्हित कार्य भी करने में परम उत्साह है ।"

श्रीपोद्दार महाराज के मुख से सायंकाल ही यह बात सुनकर पू० गुरुदेव को परम विस्मय हुआ । जो लीला पू० गुरुदेव नें प्रभातकाल में देखी थी, उस लीला को श्रीपोद्दार महाराज ने साररूप में सांयकाल उनके सम्मुख कैसे प्रकट करदी ? यही उनके लिये परम विस्मय का हेतु था । क्या श्रीपोद्दार महाराज सर्वज्ञ हैं ? क्या ये मेरे मन में स्पन्दित होने वाले प्रत्येक भाव-विचार तक की

जानकारी रखते है। ? क्या मुझे जो भी दर्शन अनुभूति अथवा भाव-प्रकाश होता है, सभी के ये द्रष्टा, साक्षी रहते हैं ? क्या ये अन्तर्यामी हैं ?

पू० गुरुदेव ने अपनी सभी ऊहापोह श्रीपोद्दार महाराज के सम्मुख रख दीं। और यह भी प्रकट कर दिया कि प्रातःकाल ही इस लीला का उन्मेष उनके मानस में हुआ था । वे यह निश्चय भी कर चुके हैं कि भविष्य में अब वे मात्र 'राधा-राधा' ही बोला करेंगे ।

श्रीपोद्दार महाराज उस दिन प्रसन्न होकर चले गये परन्तु पश्चात् एक-दो दिन में आकर कहने लगे कि आप पहले षोड़शनामात्मक महामंत्र जपा करते थे । इसके पश्चात 'राधे कृष्ण राधे कृष्ण' नाम जपने लगे । अब आप कहते हैं कि मैं 'राधा राधा' जपूँगा सो आगे आप इसे भी मत छोड़ दीजियेगा।

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की चेतावनी पर बहुत ही तुष्ट हुए । पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप निश्चय मानिये यह 'राधा' नाम अब मुझसे देह रहते नहीं ही छूटेगा और यदि किसी कारण से छूट गया तो यह छूटना किसी अनन्त रसप्लावन की ही भूमिका का सृजन करेगा।"

## मंजुलीला भाव : मालिन, नापित, गृहरजक, एवं हड्डिप-कन्याओं की सौभाग्य गाथायें (मंजिष्ठा की कथा)

यह ब्रह्मपर्वत है । इसकी ही छाया में वृषभानुपुर अवस्थित है । इसके पार्श्व में ही रुद्रपर्वत फैला है जिसकी तलहटी में नन्दग्राम है और किंचित् दूरी पर गिरिराज नारायण पर्वत स्थित है । इन महाभाग्यवान तीनों पर्वतों की उपत्यकाएँ, इनके सम्पूर्ण गुहा-गह्वर, वन-प्रान्तर व्रजेन्द्रनन्दन के बिम्बारुण अधरों पर विराजित वेणु की महामोहन स्वरलहरी से सदा मुखरित होते रहते हैं ।

इसी ब्रह्मपर्वत से निस्सृत एक परम निर्मल गिरिस्रोत वृषभानुपुर के पार्श्व से बहता हुआ कानन में चला जाता है और सुदूर आगे जाकर यह यमुना में मिल जाता है । मानों यह ब्रह्मपर्वत अपने शोभाकोश की अपरिसीम रससम्पदा ही वृषभानुपुर के चरणों में समर्पित करने जा रहा हो, इस प्रकार स्वच्छ, शीतल, सुमिष्ट और भगवद्भक्त ब्रह्माजी के मानसतल के समान

निराविल जल से कल-कल, छल-छल निनाद करता, यह निर्झर स्रोत नित्य ही वृषभानुपुर ग्राम के चरण पखारता रहता है । इसी निर्झर में विकसित शोभाशाली पद्मों की गन्ध वहन करता मन्द समीर वृषभानुपुर के राजमहल में प्रवेश करता किशोरीरानी के श्रीअंगों का संस्पर्श पाकर कृतकृत्य होता रहता है । कितना भाग्यवान है यह निर्झर कि किशोरीरानी जब अपने महल की छत पर खड़ी होकर इसकी ओर अपनी दृष्टि घुमाती हैं तो इसके विकसित पद्मों की शोभा उनके नेत्रकोणों में समा जाती है । नानाविध कुसुमों के सुवास से उनकी घ्राणेन्द्रियाँ भर जाती हैं और इसकी कलकल निर्मल ध्वनि से उनके कान आनन्दित हो उठते हैं । यह गिरिस्रोत मानो वृषभानुजा कृष्णप्रिया किशोरी के कर्ण, त्वक् , रसना, दृगंचल एवं नासापुटों- सभी इन्द्रियों का आनन्द-संवर्धन करने के लिये ही ब्रह्मपर्वत से समस्त सामग्री लेकर अवतरित हुआ हो और सतत सेवा के उद्देश्य से निरन्तर प्रवहमान रहता हो ।

इसी गिरिस्रोत के किनारे नागरिक बस्ती से हटकर कुछ दूरी पर वनक्षेत्र में रजक बस्ती है । रजकों ने गिरिस्रोतों के किनारे-किनारे स्थान-स्थान पर प्रस्तर खण्ड आरोपित कर रखे हैं । यह स्थान रजकघाट करके ग्राम में प्रख्यात हैं । इस घाट की भी अपरिसीम शोभा है । सचमुच धन्य हैं ये कदम्ब, प्रियाल, पनस आदि वृक्षसमूह जिनके हृत्तलों में ऐसे दिव्य भावों की लहरें हैं । "श्री प्रियतम-प्रिया, वृषभानुजा किशोरीरानी के वस्त्रों को प्रक्षालन करने वाले रजकों को प्रणाम- इस गिरिस्रोत जिसमें रानी के वस्त्र स्वच्छ किये जाते हैं- के जल को प्रणाम । इन रानी के चिन्मय शोभास्वरूप वस्त्रों को भी शतशः प्रणाम ।" इस प्रकार ये सभी वृक्ष अपने शाखाग्ररूप मस्तकों पर विविध पुष्प-फलों की पूजोपचार सामग्री लिये झुकझुक कर सभी को प्रणाम निवेदन करते रहते हैं । ये अपने को कृतार्थ अनुभव कर रहे हैं । सभी वृक्ष फूले हैं, इनके विकसित पुष्पों पर भ्रमर झंकार कर रहे हैं ।

इन वृक्षों में अतिकमनीय पुरट तारों से खचित पट्ट डोरियाँ बँधी हैं। इन डोरियों में रजक गीले वस्त्र सुखा देते हैं । इन सभी वृक्ष समूहों की ऐसी पवित्रतम चर्या है कि जब रजक वस्त्र धोकर सुखाने इनके पास लाते हैं तब तो ये अपनी डालियाँ निम्न झुका देते हैं जिससे रजकों को वस्त्र सुखाने में कहीं कोई कठिनाई नहीं हो और जैसे ही पट्ट डोरियों में वस्त्र गिरे, ये डालियाँ उन्नत कर लेते हैं जिससे पवन पूर्णतया पूरे वेग से वस्त्रों को सुखा सके ।

क्यों न हो, ये अज्ञानी जड़ जो नहीं। अपितु ये तो इतने सौभाग्यशाली हैं कि इनके सौभाग्य के दर्शन-श्रवण करने वाले का भी अज्ञान-तिमिर सदा-सदा के लिये विनष्ट हो जाता है । अहो ! जिनके अन्तस्तल में रानी के स्वरूपभूत वस्त्रों की, उनको धोने वाले रजकों के चरण-सेवन की लालसा भरी है, उन्होंनें ही तो यथार्थ में ज्ञान के सारसिद्धान्त को हृदयंगम किया है । किशोरीरानी के सेवकों के चरण-सेवन परायण इन द्रुम समूहों में कहाँ है तम एवं अज्ञान का अंश । अपितु सेवा-समर्पण का आदर्श स्थापित कर, जगत् के तमोनाश अज्ञान निवारण के लिये ही इन्होंनें इस वृन्दावनधाम में वृक्षयोनि को अंगीकार किया है । यही सत्य है।

ग्रीष्म का उदय ही हुआ है । सचमुच वन की इस ग्रीष्म के समय भी कैसी निराली शोभा है । अगणित निर्झरों के झर-झर शब्दों में झींगुरों की झंकार आच्छादित हो गयी है। गिरिस्रोतों से, प्रपातों से असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित हो रहे हैं। उनसे सिक्त वनस्थली, स्निग्ध हुई समस्त तरुश्रेणी अद्भुत रूप से सुशोभित हो रही है । सर्वत्र हरित् तृणों का आस्तरण सा बिछा है । सरिता, सरोवरों और गिरिस्रोतों के शीतल जल से सिक्त वायु अत्यंत सुशीतल हो रही है।

कुमुद, पद्म, नीलोत्पल- अनेकानेक पुष्पों के किंजल्क को अपने अंचल में भरकर वन की, भानुपुर की परिक्रमा करती वायु प्रत्येक वनवासी का स्पर्श कर रही है । इसीलिये किसी भी काननवासी को ग्रीष्म के ताप की अनुभूति नहीं हुई है।

बाल रवि को उदय हुए किंचित् काल ही व्यतीत हुआ है। फिर भी रवि में तप्तता का प्रारंभ हो चुका है। थोड़े काल पश्चात तो रवि का प्रखर तेज भूमि को तपाने लगेगा। रजकिनी कन्या मंजिष्ठा तट पर अपनी सखी रंगरागा के साथ शीघ्रता पूर्वक वस्त्र धो रही है। रजकों के प्रमुख की कन्या मंजिष्ठा रानी की लाड़िली सखी भी है। और यह रंगरागा तो वस्त्रों के धूमिल हुए रंगों को इस प्रकार पुनः रँगकर चमकीला करती है कि यह पहचान ही नहीं हो पाती कि वस्त्र पुरातन हैं। रंगरागा के पिता ही वृषभानु बाबा के राजमहल के सभी वस्त्र कल्प एवं रंग करते हैं और मन्जिष्ठा के पिता इन्हें धोकर, मैलरहित स्वच्छ करते हैं। किशोरीरानी के वस्त्र तो ये ही दोनों सखियाँ सदा से स्वच्छ कर, रँग कर नित्य ही मंजुलीला को सौंप आती हैं। ये दोनों ही अपने पिता की इकलौती पुत्रियाँ हैं। हाँ, इनके भाई नन्दनन्दन के प्राणप्रिय

सखा हैं। परन्तु वे रजक का कार्य नहीं करते। उन्हें तो अपने सखा के संग आज यहाँ इस वन में, कल वहाँ उस वन में घूमने एवं क्रीड़ाएँ करने से ही अवकाश नहीं मिलता। ये दोनों सखियाँ वृषभानुराजदुहिता की विशेष सेविका मंजुलीला की भी अति विश्वासपात्रा सखियाँ हैं। अतः यदा-कदा मंजुलीला इन्हें प्रियतम नीलसुन्दर का पीत परिधान भी स्वच्छ करने को दे देती हैं। यह पीत-परिधान रानी निशाभिसार करते समय शीघ्रता से वस्त्र परिवर्तन करते हुए भूल से पहन कर चली आती हैं और रानी का नीलपरिधान प्रियतम पहन जाते हैं। इस प्रकार पलटे हुए इन वस्त्रों को मंजिष्ठा को तत्क्षण ही धोकर शीघ्रतापूर्वक सुखा कर देना होता है । क्योंकि रानी जब पाकरंधनार्थ नन्दभवन जाती हैं तो यह वस्त्रसुबल पत्नी कुन्दलता को नन्दभवन में सौंपना होता है और उनसे रानी का नीलाम्बर लेना होता है। आज भी मंजुलीला ने उसे यह परिधान शीघ्रतापूर्वक स्वच्छ कर देने की सेवा सौंपी है। सूर्योदय हो चुका है और उसे अपने कार्य की अतिशय त्वरा है।

इस पीताम्बर में न जाने क्या विलक्षणता है, वह इसे ज्योंही स्पर्श करती है, न जाने कैसे परमनिर्मल प्रीति के भावों में वह खो जाती है। अनेक बार ऐसा हुआ है कि वह इस पीताम्बर को लेकर राजमहल से रजकिनी घाट की ओर चली है, परन्तु उसके पैर उसे भटकाकर ले गये हैं वन की किन-किन सुरम्य घाटियों में।

इस पीताम्बर को लिये जैसे ही वह किसी एकान्तस्थल में पहुँची नहीं कि इसमें से प्रकट हो जाते हैं, वे नीलसुन्दर वनमाली - प्रेम के परम देवता, और वे उसे अनियंत्रित लिये चले जाते हैं ब्रह्मपर्वत की उपत्यकाओं को पार कराते गिरि की परम सुरम्य पुष्पों से लदी महकती घाटियों में। यह तो मंजुलीला उसके पीछे टोहक पक्षी लगा देती है अन्यथा तो उसके लिये उसे ढूँढना ही असंभव हो जाय। और कठिनाई यही है कि ये पीताम्बर से प्रकटे नीलम किसी अन्य को दिखते भी नहीं, बस उसे ही दिखते हैं अतः यदि वह किसी से कहे भी कि उसका हाथ पकड़कर प्रियतम नीलम उसे ले गये थे तो लोग उसे पागल ही कहेंगे। जागतिक दृष्टि में तो वे प्रत्यक्ष रहते हैं अपने सखाओं के साथ ही। उसका सहोदर भ्राता भी यदि सुने तो उसके इस प्रलाप को झुठला देगा क्योंकि कन्हैया तो उसके साथ उस समय निरन्तर एकरस क्रीड़ा करता रहा है।

मंजुलीला उसकी सभी परिस्थिति को सही समझकर भी सामंजस्य कर लेती है। फिर भी काल तो व्यतीत हो ही जाता है और वस्त्र अनधुला ही रह जाता है। त्वरावश कभी-कभी तो मंजुलीला को ही वस्त्र धोना पड़ता है।

सेवा में प्रमाद तो बहुत ही बड़ा दोष है। सेवा तो सेवा है। यदि कोई भाव-सुख में डूब जाय तो वह सेवा के तो सर्वथा ही अयोग्य हो जाता है। सेवा तत्सुखार्थ है और भाव मत्सुखार्थ। अतः उसे तो भाव से बचकर सेवा में ही तत्पर रहना चाहिये, यही उचित है। वह भी अति सावधानीपूर्वक इस भावावेश से शत्रु की तरह बचना भी चाहती है। परन्तु वह अवश हो जाती है। पीताम्बर का स्पर्श ही उसे प्रियतम प्राणसुन्दर के स्पर्श के समान ही स्पन्दित जो कर देता है और तब वह पीताम्बरधारी की भावमूर्ति के साथ अनियंत्रित हुई चल पड़ती है सुरम्य वन-वीथियों की ओर। प्राणधन नन्दनन्दन उसके नयनों की काली पुतलियों को अपना निवास स्थान बना लेते हैं। वे उसके कर को अपने सरोरुह सदृश हाथों से पकड़ लेते हैं और खींचते से ले चलते हैं। वे गिरि उपत्यकाओं में चढते हैं, उस समय वह उनके स्कंधदेश को पकड़े रहती है। किसी घनेवृक्ष के नीचे बिछे पुष्पास्तरण पर वे दोनों बैठते हैं। वह थकी हुई होती है, नीलसुन्दर अपनी जंघाओं का तकिया लगाकर उसे लेट जाने को विवश कर देते हैं।

वह उनके अनिन्द्य सुन्दर आननसरोज से झरते रूप-लावण्य का पान करती रहती है। और तब वे अपनी कटि में खौंसी मुरली को निकालकर उसे अपने अधरों में रख लेते हैं। फिर तो ऐसा अमृतपूर का प्रवाह बह चलता है कि वह पूर्णतया उसमें निमग्न ही हो जाती है। कुछ क्षण के लिये तो उसकी चेतना ही विलुप्त हो जाती है। चेतना का प्रकाश भी होता है तो जड़ पुत्तलिका की भाँति वह अपलक नेत्रों से बस उनके मुख की ओर निहारती ही रह जाती है। अहा, कितने प्रेम के वे क्षण होते हैं !

वह तो युगों-युगों तक बिना व्यवधान इसी प्रकार उनका मुख ताकती रहे, परन्तु अचानक निगोड़े टोही पक्षी चीख उठते हैं- "मंजिष्ठा, मंजिष्ठा .... पीताम्बर....पीताम्बर....।" इन टोही पक्षियों की कर्कश ध्वनि से ही उसे अपनी सेवास्मरण हो आती है। इस सेवास्मरण के साथ ही वह आश्चर्यवती विस्फारित नेत्रों से देखती है कि वह तो इस वन में सर्वथा एकाकिनी ही है। प्रियतम नीलसुन्दर तो उसके साथ हैं ही नहीं। अब प्राणों में पश्चात्ताप की प्रबल अनुभूति लिये वह पुनः रजक घाट की ओर लौटने को उत्सुक होती है

परन्तु उसे तो पथ का अनुसंधान ही नहीं रहता। ये पक्षी ही किसी प्रकार उसे पथ-निर्देश करके घाट पहुँचाते हैं। किस कठिनाई से वह उस वस्त्र को स्वच्छ कर पाती है। और जब सुखाने की पारी आती है तो वे ही नीलसुन्दर उनके अपने ही पीताम्बर को उसके दोनों विपरीत छोर पकड़ कर उसे उसके साथ ही सुखाने लगते हैं।

अहा ! महाराज नन्द के लाड़िले सुपूत, यशोदारानी को मातृपदयश का दानकरने वाले, प्रतिवर्ष जन्मदिवस पर महामहोत्सव से रञ्जित होने वाले, अपनी विलक्षण लीलाओं से अपनी सभी प्रेमिका गोप-वधुओं को आनन्दित करने वाले, अपने स्पर्श मात्र से विषभरी पूतना को नष्ट करने वाले, दूसरों की त्रुटियों से सदा अनभिज्ञ रहने वाले, शकट के खण्डित होने पर भी उससे अक्षत बच निकलने वाले, गोकुल के महा-महा-पुण्य विशेष की मूर्त्ति, निरन्तर अपनी प्रिया किशोरीरानी का आनन्दवर्धन करने वाले, सम्पूर्ण वन-कानन को अपनी प्रेम-प्रीति की रंगशाला बनाने वाले, हृदय एवं चित्त को चुराने में शूरता दिखाने वाले, चर-अचर सबको अपने वंशी निनाद से विमोहित कर देने वाले, प्रियतम प्राणवल्लभ मानो उसके संगी रजक हों इस प्रकार अपरिसीम सुखदायिनी प्रेमलीला करते हुए अपना ही पीताम्बर सुखाने के लिये उसके विपरीत दोनों छोर पकड़ कर उसके नयनों में नयन डालकर कैसी मधुर मुसकान बिखेरते हैं - वह क्या कहे !

उस समय उसका प्रेमसुख अवर्णनीय हो जाता है । अपने प्रियतम की वह अविस्मरणीय मुख-छवि, वह अप्रतिम विलक्षण रूपराशि मंजिष्ठा को इतना मुग्ध कर देती है कि मंजुलीला को या तो स्वयं या अपनी किसी संदेश-वाहिका सखी को भेजकर ही वह पीताम्बर रजकघाट से मँगाना पड़ता है - अन्यथा तो उसकी सेवा सदा अपूर्ण ही रहे, और वह पीताम्बर सुखाने की लीला निर्बाध अनन्तकाल पर्यन्त चलती ही रहे। वह तो उसे देने वृषभानुपुर जा ही नहीं पावे।

अहा ! यह कैसा महाश्चर्य है कि इस प्रकार प्रति दिवस लगातार प्रमाद घटित होते रहने पर भी मंजुलीला उसी को वह पीताम्बर पुनः स्वच्छ कर लाने की सेवा प्रदान करती है। कितना असीम प्रेमानुग्रह है उस पर उसका; अन्यथा कोई अपने कार्य में ऐसा व्यवधान प्रतिदिन ही क्यों सहेगा ?

उसने मंजुलीला से अपनी असमर्थता और दशा रो-रोकर अनेक बार वर्णन की है, परन्तु वह उसके अपराध को मानती ही नहीं और मुसकाकर

उसके विषाद की उपेक्षा कर देती है । एक दिवस उसने अति साहस कर अपने मन का अतिशय गुप्त मनोरथ भी मंजुलीला को बताया था - "बहन ! क्या यह संभव है कि जब भी रानी का नन्दनन्दन के साथ परिणय महोत्सव हो, रानी की रजकिनी दासी के रूप में वृषभानुबाबा उसे भी दहेज में दे दें।" मंजु बहन ने उसका मनोरथ गंभीरतापूर्वक सुना था एवं रानी की स्वीकृति दिलाने का आश्वासन भी उसे दिया था। इसके पश्चात् तो उसने अपनी मैया से भी अनुनय-विनय कर यह बात मनवाली थी कि उसके विवाह की कल्पना ही त्याग दी जाये। उसे तो यावज्जीवन रानी की रजकिनी दासी ही रहना है। उसकी मैया ने उसका अत्यंत आग्रह देखकर यह बात उसके बाबा के सामने भी रख दी एवं उसके बाबा ने यह बात एक दिन एकान्त में महाराज वृषभानुजी से भी निवेदन कर दी। उनकी स्वीकृति पाकर जब उसके बाबा ने यह सूचना मैया द्वारा उसे दी तब तो उसके हर्ष का पारावार ही नहीं रहा। मानो उसे त्रिलोकी का निर्बाध एकछत्र स्वाराज्य सिंहासन ही मिल गया हो, अथवा अपुनर्भव गति ही प्राप्त हो गयी हो।

वृषभानुबाबा द्वारा स्वीकृति हो जाने की बात जब उसने मंजुलीला बहन को बतलायी तब तो मंजुलीला ने उससे बहुत ही तीखा विनोद किया था -"अरी तू कैसी दासी बनेगी री, तू तो जैसे ही नन्दनन्दन का कोई भी वस्त्र छूएगी, बस पगली होकर वन-पहाडों में दौड़ती फिरेगी। फिर वृषभानुजा तुझे ढूंढने में दिन रात भले ही एक करें। नन्दभवन के सभी पक्षियों का बस एक ही कार्य होगा कि तुझे ढूँढते फिरें। अवश्य ही तू दासी नहीं उनकी स्वामिनी बनने का मनोरथ पाले है ! प्रियतम नीलमणि तो रजक बने तेरे धोये कपड़े सुखावें और रानी तेरे जड़िमा भावग्रस्त अंगों का मर्दन-संवाहन करें। क्यों यही तेरा मनोरथ है न ? और यह खूब ठिठोली करती हँस रही थी।

## रंगरागा की कथा

मंजुसखी की बातें सुनकर उसका हृदय लज्जा से भर जाता है और आज पुन: जैसे ही उसे मंजुसखी ने मुंसकाकर पीताम्बर शीघ्र स्वच्छ कर लाने का आदेश दिया है वह इस अपनी सखी रंगरागा को पकड़ लायी है। यह भी तो उसकी नाते की बहिन ही है, उसकी सखी है। यह रानी के वस्त्र कल्प करती है, रँगती है।

[illegible] सब दशा और व्यथा भी कह दी है। परन्तु हुआ तो सर्वथा विपरीत ही। रंगरागा तो उसकी कथा सुनते-सुनते ही अधीर होकर रोने लग जाती है - "अरी बहिन। मैं कैसी अभागी हूँ कि रात्रि-दिवस अनवरत अविराम 'कृष्ण-कृष्ण' रटती हूँ फिर भी वह सुधा-प्रवाह, वह प्रेमामृत निर्झर प्रियतम नीलमणि मेरे नयनगोचर ही नहीं होता। मैं रँगने के लिये लायी रानी की नीली साड़ी से मुख ढाँपे पड़ी रहती हूँ , कुन्तलराशि पीठ पर बिखरी रहती है, कभी भी वेणी रचना नहीं करती कि किसी दिवस जाग्रत में नहीं, तो स्वप्न में ही सही वे मेरी बिखरी केशराशि को स्पर्श कर लेंगे, परन्तु हाय री, मुझ अभागिन को तो उनका दर्शन ही नहीं मिल पाता, संस्पर्श की तो कल्पना ही कहाँ ?"

रंगरागा के नेत्र सजल हो उठते हैं, वाणी रुद्ध हो जाती है, वह थर-थर काँपने लगती है, मानो उस पर हिमपात हो उठा हो। उसके अँगो से भावावेशवश प्रस्वेद की धारा बह चलती है। वह पुनः सिसकियाँ लेती हुई कहती है - "एक दिवस नलिनी एवं सुगन्धा से जो रानी के अंगों में उबटन करके घर लौट रही थीं, मैंने रानी के अंगों से उतरी पूर्वचर्चित केसर माँग ली थी । रानी से पुरस्कार में मिली उनकी पूर्व पहनी नीली साड़ी, उनकी रक्तिम चोली, उनका लहँगा, सभी आभूषण जो उन्होंने मुझे यदा-कदा वार-त्यौहारों में दिये थे, मैंने अंगों में यथास्थान पहन लिये । वह केसर भी मैंने अपने अंगो-अंगों में मल ली । इस प्रकार सजी-धजी मैं दिवस-निशा पर्यन्त अष्टप्रहर बन-बन घूमती रही । कहीं कोई रानी की अंगचर्चित केसर की गंध से लुब्ध भ्रमर ही प्रियतम नीलमणि को रानी के वन-आगमन की मिथ्या सूचना ही दे दे और वे उस मिथ्या सूचना के वशीभूत हुए मेरे पास चले आवें, और रानी ही समझकर दो बोल प्यार के बोल जावें, बस, बहिन ! जन्मान्तरों की मेरी साध पूरी हो जावे, मैं उनके चरण पकड़ कर लिपट जाऊँ उनसे अपने पूर्वकृत अनन्त जन्मों के अपराधों की क्षमा माँग लूँ, उनके चरणों की रज से अपनी माँग भर लूँ, इस प्रकार चाहे छद्म से ही सही, बस जीवन में एक बार उनके अंगों से लग तो जाऊँ, बहिन री ! बस एक बार उनके सुकोमलतम चरण तालुओं को अपने सीमन्त पर रखकर सुहागिन हो जाऊँ री, फिर यावज्जीवन वे मुझे भले ही कभी न मिलें, कभी न दिखें, परन्तु हाय हतभाग्य। बहिन! कितनी ही बार यह सब छद्म करके भी उनकी मुझे एक भी प्रीति-झलक अब तक नहीं मिल पायी री ।"

"बहिन री ! 'कृष्ण-कृष्ण' आवृत्ति करती हुई मैं रातभर कदम्ब कुञ्जों में, वन में बैठी रहती हूँ । सोचती हूँ, अहा ! कभी तो वंशी बजेगी ? अहा ! कभी तो मेरे श्रवणरंध्रों में वंशीरव प्रवेश करेगा ही ? हाय ! जीवन में कभी तो मैं वंशीरव , उस सुधा प्रवाह, उस अमृत-निर्झर के उद्गम को भी देख पाऊँगी ? अहा ! वह न जाने कैसी मधुरध्वनि होगी ? और वे स्वयं न जाने कितने सुन्दर होंगे ? सखि री ! क्या मेरे जीवन में कभी वे क्षण भी आयेंगे ?"

रंगरागा के नेत्रों से झर-झर करता हुआ अनर्गल अश्रुप्रवाह बह उठता है । मंजिष्ठा अंचल से उसके अश्रुमार्जन करती है किन्तु उसकी आँखें तो मानो निर्झर ही हो उठी हों, पुनः अश्रुपूरित हो उठती हैं । अश्रुधारा बहने लगती है तो रुकती ही नहीं । मंजिष्ठा उसे ज्यों-ज्यों सान्त्वना दती है, परिणाम उलटा होता है, उसकी व्याकुलता और बढ़ जाती है ।

रंगरागा मंजिष्ठा के चरणों में लिपट जाती है – "इस पीताम्बर से वे तेरे सम्मुख प्रकट होते हैं तो आज उन्हें मेरे सम्मुख प्रकट कर दे न बहन ! मैं जन्म-जन्म की दासता का पट्टा तुझे लिख देती हूँ । मात्र एक बार ही उन्हें प्रकट कर दे । अहा एक बार, जीवन में मात्र एक बार उन महांमरकतद्युति अँगों से झरती शोभा के दर्शन करा दे, उस नवकैशोर का जीवन में बस एक बार समागम हो जाय, उस मोरमुकुटी मयूरपिच्छ-सुशोभित-भाल को एक बार मेरे दृष्टि पथ में ला दे री ! स्वप्न हो या जागरण, दिवस हो या रात्रि, बस एक बार ही वह श्यामज्योत्स्ना मेरे नयनों को उद्भासित कर दे, उस लहरें लेते रूपसागर में एक बार तो अवगाहन करादे, उन चंचल श्यामल लहरियों में नाचती-नाचती बस प्राण विसर्जन कर दूँ, यह कहती रंगरागा मूर्च्छित हो जाती है ।

अब मंजिष्ठा इस विरहिनी की क्या सहायता ले ? वह तो मंजिष्ठा को सम्हालना दूर उसे और उद्वेलित करना चाहती है, जिससे नन्दनन्दन प्रकट हो जावें और उसका उनसे मिलन हो जाये ।

## भाग्यवती एवं पुण्यपुंजा की कथा

मंजिष्ठा की तो मात्र पांच-छः ही अन्तरंग सखियाँ हैं । अब इन हड्डिप-कन्याओं भाग्यवती एवं पुण्यपुञ्जा की वार्ता सुनो । ये दोनों तो सबसे

ही अधिक पगली हैं । इनमें भाग्यवती तो ऐसी भाग्यशालिनी है कि वह जहाँ भी जायेगी उसे नन्दनन्दन के चरण चिन्ह ही अंकित दृष्टिगोचर होते रहते हैं । वह स्वच्छता कार्य क्या करेगी ? कार्य करने के लिये जो बुद्धि की सजगता चाहिये, उसका तो उसमें सर्वथा ही अभाव हो गया है । उसकी बुद्धि नन्दनन्दन को छोड़कर जगत को पकडें तब न ? हाँ पवनदेव अवश्य उस पर कृपालु हैं जो सभी उपवन और बाग बगीचों की अस्वच्छता उड़ाकर एक दिशा में एकत्रित कर देते हैं और तब अग्निदेव की एक चिनगारी उन सब सूखे पत्तों को और कूडे कचरे को उन पत्तों के साथ जलाकर भस्म कर देती हैं । बस उसका कार्य तो प्रकृति ने ही कर दिया है।

हाँ, वह झाडू लेकर पुण्यपुञ्जा के साथ निरे प्रभात अरुणोदय के पूर्व ही सेवा के लिये नगर में चली अवश्य आती है । परन्तु ज्योंही अरुणोदय हुआ उसे नन्दनन्दन के चरण चिन्ह दिखने लग जाते हैं।

अब तो उसकी दशा देखने ही लायक हो जाती है । उसके तन के अणु अणु से आनन्द झरने लगता है। दिव्योन्माद के लक्षण उसमें प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगते हैं । कण्ठ गद्‌गद हो उठता है । जैसे वह अनन्त काल तक के लिये परितृप्त हो गयी हो, वह उस रज में लोटने लगती है, परन्तु उन चरण चिन्हों को बचाकर । उसकी उन्मत्तता उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। यह दशा तो भाग्यवती की हुई ।

अब पुण्यपुञ्जा को देखो ! भाग्यवती के निर्देश से वह उपवन से पुष्प लाने जाती है । और जैसे ही वह मल्लिका के पार्श्व में पहुँचती है उसे नवीन नील-नीरद के समान नीलश्याम-कान्ति-वपु अपना जन्मों-जन्मों का कान्त नयनगोचर हो जाता है । वह किसी प्रकार दृष्टि फेरकर यूथी की लताओं की ओर दृष्टि पात करती है परन्तु वहाँ भी वह कृष्ण बन्धु अपनी सौन्दर्य-सुधा-वर्षिणी मन्द मुसकान से उसे मोहित करता खड़ा दिखता है । अब वह क्या करे, वैजयन्ती लता की ओर दौड़ती है, परन्तु उसकी सौन्दर्य-सुधामयी मुसकाती छबि वहाँ भी उसके दृष्टिपथ का भूषण हो उठती है । रक्त, पीत, हरिताभ जिन जिन पुष्प लताओं पर वह दृष्टिपात करती है सर्वत्र वे ही वे उसे अपने अंक में भरने को लालायित खड़े मुसकाते दिखते हैं। वहाँ से लौटती है तो भाग्यवती के पार्श्व में उसी स्थल पर जहाँ प्रथम बार उसे वे चरण चिन्ह दिखे थे, उसके प्राणों के प्राण खड़े दृष्टिगोचर हो जाते हैं ।

नवीन विद्युन्माला सा चमकीला मनोज्ञ पीताम्बर पहने, निर्मल शारदीय पूर्णचन्द्रमा सा समुज्ज्वल वदन और अधरों पर सुन्दर मुरली धारण किये, चंचल वायु द्वारा हिल्लोलित मयूर पिच्छ को मस्तक पर फहराते, घुँघराली अलकावलि से उसके चंचल चित्त को प्रीति बंधन में जकड़ते वे खड़े अपनी मुसकान बिखेर रहे होते हैं ।

इधर भाग्यवती को चैन कहाँ ? वह अपने झर झर बरसते नेत्रों से पहले तो उन चरण चिन्हों पर अर्घ्य, पाद्य समर्पित करती है और तब अपने वक्षस्थल सें चर्चित चन्दन उतार-उतारकर उसे अश्रुजल से आर्द्र कर उन पर लेप करना प्रारंभ कर देती है । अपनी वेणी में गुम्फित पुष्प उतार-उतार कर उन पर चढ़ाने लगती है ।

इधर अपने मुख से अस्फुट उच्चारण करती, प्रेमाश्रुओं के प्रवाह से अपना वक्षस्थल भिगोती वह पुण्य पुञ्जा भी लौट आती है । उसे तो चरण चिन्हों के स्थान पर वे स्वयं ही खड़े दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अतः वह तो उन्मादिनीसी मानो उनके चरणो में गिर पड़ी हो, भूलुंठित हुई मूर्छित हो जाती है ।

नगर के लोग उनके माता पिता को सूचित कर देते हैं, परन्तु यह कोई एक दिवस की घटना तो है नही, प्रतिदिन ही ऐसा होता है । कभी-कभी तो उन्हें अपने निवास-कक्ष से सटी फुलवारी में ही नन्दनन्दन के चरण-चिन्ह दिख जाते हैं, बस उन्हें उसी क्षण आत्म विस्मृति हो जाती है । उनका अन्तः करण श्याम-प्रेम-पूरित हो उठता है और वे प्रेम-मंगल-घट बन जाती हैं । प्रीति छल-छल बहने लगती है उन दोनों के नेत्रद्वारों से । कुंचित अलकें बिखर जाती हैं उनके भाल पर । परिधान का भान नहीं रहता उन्हें । निर्निमेष विस्फारित नेत्रों से चारों ओर देखने लगती हैं, उन्हें तो चतुर्दिक सर्वत्र सब रूपों में प्रियतम ही प्रियतम दिखते हैं । अतः या तो वे भू लुण्ठित मूर्च्छित रहती हैं अथवा "प्रियतम ! प्राणवल्लभ!!" कहतीं, भुजा पसारकर उन्हें आवेष्टित कर लेने के उद्देश्य से दौड़ती-भागती रहती हैं, यही उनकी नित्य की दशा है ।

अनेक बार तो दोनों इतनी उन्मादिनी हो उठती हैं कि उनका अन्न, पानी और निद्रा सर्वथा लुप्त हो जाती है । जब पाँच-सात दिन जल भी ग्रहण नहीं होता तो घबरायी उनकी मातायें रानी को सूचित करती हैं । सभी सखियों सहित रानी उन्हें देखने आती हैं ।

रानी को देखते ही तो उनका आनन्द सहस्त्रगुना हो जाता है । वे दोनों ऐसा नृत्य करती हैं, जैसा सम्पूर्ण कलाओं की अधिष्ठात्री वाग्देवी भी नहीं कर पावें । फिर एक "प्राणेश्वर आये थे री, निशा में प्रियतम मेरे घर आये थे री, और दूसरी "मेरे भी - मेरे भी .. " की रट लगाती रानी का हाथ पकड़ भूमि में कोई-न-कोई चिन्ह दिखाने लगती हैं । भूमि में स्पष्टतया कोई चिन्ह उभरा न होने पर भी उन्हें तो प्रियतम के दोनों चरणों के सभी चिन्ह वहाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते ही हैं । और यदि कोई भी व्यक्ति प्रतिवाद कर दे कि यहाँ भूमि की धूलि है,कोई पदचिन्ह नहीं है और उनकी भावदशा किसी भी हेतु से बदल जाय, फिर तो प्रिय-वियोग की ऐसी असह्य वेदना उनके हृदय में धधकती है कि उनका जीवन ही बचेगा या नहीं संदेह होने लगता है । अतः सभी, न दिखते हुए भी उनके दिखाये पदचिन्हों को देखने में ही उनकी जीवन रक्षा मानकर हाँ में हाँ मिलाते हैं । देखो ! दोनों बेसुध कटे कदली स्तंभ की तरह रानी की गोद में गिर पड़ी हैं । गंभीर मूर्च्छा में निमग्न उनके सिर पर रानी हाथ फेर रही हैं। एक का मस्तक रानी की एक गोद में और दूसरी का मस्तक दूसरी गोद में। अनेक उपचार प्रक्रियायें करने पर किसी प्रकार उनकी मूर्च्छा भंग हो पाती है ।

उनके माता-पिता भी क्या करें । अब नन्दनन्दन से उनके विवाह की तो कल्पना ही कैसे की जाय ? वृषभानुबाबा एवं किशोरी रानी से उनकी यही प्रार्थना होती है कि इन पगलियों को भी अपनी दासी,अनुदासी मानकर स्वीकार कर लें । संभव है नन्दभवन के वन-उपवनों की, नन्द बाबा की गोशाला के विशाल प्रांगण की स्वच्छता सेवा करती हुई ये दोनों चरणदासियाँ भी नन्दनन्दन की एकाध झाँकी पा लेंगीं और उस अखिल भुवन मोहिनी मुसकान से प्रभावित हुई अपने जीवन में संभव है किंचित् धैर्य धारण कर लें, किंचित् भी इनका भाव संवरित हो जावे। सेवा तो उन्हें यावज्जीवन करनी ही है, चाहे यहाँ करें, चाहे नन्दग्राम में करें । कोई हड्डिप युवक तो इनसे विवाह करने से रहा । ये ऐसी विलक्षण किशोरियाँ हैं कि यदि कोई युवक भूल से भी इनका अंग संस्पर्श कर ले तो उसे ऐसा अनुभव होता है मानो वज्रपात ही हो गया हो । उसके सर्वांग में ऐसा भीषण दाह हो उठता है कि वह मरणान्तक कष्ट से छटपटा जाता है । हां, कोई नारी भले ही इन्हें संस्पर्श करे । हड्डिप समाज में तो यह बात सर्वत्र बच्चों-बच्चों को ज्ञात है अतः इनके विवाह का समाज में तो प्रश्न ही नहीं है।

अब मंजिष्ठा की चौथी सखी माणिकी की वार्ता सुनो । वह भी अतिशय पगली है । यह मालिन कन्या माणिकी वन माला, वैजयन्ती, बाहुभूषण, अँगुलीयक, चरणभूषण, शिरोमुकुट, सभी आभूषण मात्र पुष्पों से ही निर्माण करती है । प्रत्येक आभूषण में उसकी सर्वोच्च एवं अभिनव मौलिक कला सृष्ट होती है । एक दिन भी पुनरावृत्ति नहीं, नित्य अभिनव नूतन छवि, नवीन कौशल से कलाकृतियाँ निर्मित होती हैं, कहीं किञ्चित् भी बासीपना नहीं ।

रानी के अंगों में उसके पुष्पाभरण जैसे फबते हैं, वैसे तो बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्णाभरण भी नहीं फबते और प्रियतम के आनन्द का तो पार ही नहीं रहता जब रानी उसकी रचित वैजयन्ती तथा वनमाला उन्हें पहनाती है। नन्दभवन में भी अच्छे से अच्छे कलाकार माली परिवार हैं जिनका पीढियों से माला रचना करना ही व्रत है, परन्तु प्रतियोगिता में इस माणिकी की तुलना में कोई ठहर ही नहीं पाता । उसकी माला में जो भाव और सौन्दर्य, जो कला और सुघड़ता होती है, पुष्पों के चयन की जो प्रक्रिया होती है, पुष्पगंध का जो मेल होता है, वैसा अन्यत्र असंभव ही लगता है । अनेक मालियों ने उसकी वनमाला में गुँथे पुष्पों को ही उसी कला से रचना कर उसकी अनुकृति करने की भी चेष्टा की है, परन्तु वह भावसौन्दर्य उन मालाओं में आया ही नहीं जो उसके हाथों पुष्पों के गुँथने में आता है । जैसे पुष्प ही उसके सेवक हों, उसके कहने से ही गन्ध प्रसार करते हों, उसकी रुचि से रूप धरते हों, इतना अधिकार है उसका मालाकारी कला में ।

वह भी बहुत ही प्रेमहठी है । उसका हठ है कि पुरानी वनमाला उसे मिलनी ही चाहिये । अब नन्दनन्दन वनमाला पहनकर नन्दभवन चले गये और उनके सेवक उस वनमाला को इधर-उधर कर दें अथवा नन्दनन्दन ही किसी अन्य को वनमाला दे दें तो वह अनमनी हो जाती है । उसका यही प्रेम हठ है कि चाहे नन्दभवन में ही वनमाला परिवर्तित हो, यशोदा मैया ही श्रृंगार करें, चाहे सखागण वन में श्रृंगार करें वह उतारी वनमाला पुनः उसे ही मिल जाये । इसके उपरान्त कोई कितनी ही मालायें, कितने पुष्पाभरण ले जाये, वह टोकरियाँ भर-भर कर मालाएँ दे देती है ।

अतः मंजुलीला को नन्दभवन पुष्पाभरण भेजते समय पुरातन वनमालाएँ लौटाने का कड़ा निर्देश देना होता है । सुबल को भी यह निर्देश है कि वन में नवीन श्रृंगार करते समय पुरातन मालायें सम्हालकर उसे लौटा दे । इधर प्रियतम श्रीकृष्ण भी उसकी मालाओं के ही दीवाने हैं । सखागण अपनी रुचि से फूल भले ही उनकी चूडा में खौंस दें, पुष्पाभरण तो वे उसका निर्माण किया हुआ ही पहनते हैं । कोई अन्य माली द्वारा रचित माला उनके सम्मुख करके देख ले, वे तुरन्त ही पहचान लेते हैं कि यह माला माणिकी द्वारा विरचित है या नहीं । जिसे पिया माने, वही सुहागिन । इसीलिये रानी को पाक निर्माण के लिये निमंत्रित करने नन्दभवन से आते समय कुन्दलता देवी सभी पुरानी वनमालाएँ, पुराने पुष्पाभरण इस पगली माणिकी के लिये लेकर आती हैं और नवीन पुष्पाभरण, वैजयन्ती, वनमाला टोकरी भर कर ले जाती हैं । पुष्पों की भी वह विलक्षण पारखी है । चित्र-विचित्र अलौकिक सौरभयुक्त पुष्प वह कहाँ-कहाँ से एकत्रित करती है, और उनकी गंध एवं रंग -परियोजना करके जो वैजयन्ती एवं वनमाला वह बनाती है वह विलक्षण सौरभ-समन्वित होती है । उसका रूपालंकरण भी अलौकिक ही होता है ।

अब यह दूसरी बात है कि रानी एवं रानी के प्रियतम नीलसुन्दर स्वयं इतने असीम सुन्दर हों कि उनके रूप के सम्मुख, अथवा नन्दभवन की भगवान नारायण की प्रतिमा अथवा वृषभानुपुर की भगवती त्रिपुरसुन्दरी की प्रतिमा के सामने उसके पुष्पाभरण फीके लगें । फिर भी उसकी मालाओं के रचना-कौशल की अद्वितीयता पर कोई भी अँगुली नहीं उठा सकता ।

आओ देखें ! वह पुरानी पुष्प मालाओं का, पुष्पाभरणों का क्या करती है ?

अहा ! कैसा विलक्षण सुन्दर देश है यह ! यहाँ सदा ही शरद और बसन्त ऋतु ही रहते हैं । प्रपातों से असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित हो रहे हैं । अगणित निर्झरों के झर झर शब्द झींगुरों की कर्ण कटु झंकार को अपने भीतर आत्मसात् कर ले रहे हैं । इन असंख्य प्रपातों से उच्छलित जल कणों से पृथ्वी सिक्त होकर अति सौंधी-सौंधी भूमि गन्ध सर्वत्र प्रसरित कर रही है । चतुर्दिक हरित् तृणों का आस्तरण सा आस्तृत है । सरिता, सरोवर और प्रपातों की लहरों पर बहती हुई वायु अत्यंत शीतल हो रही है । वह कुमुद, पद्म, नीलोत्पल आदि अनेक पुष्पों के किंजल्क को अपने आँचल में भरकर वनदेवी की परिक्रमा कर रही है । विविध विचित्र विहंगमों का कलरव, मृगों

का मनोहारी संचरण, मयूरों का सुन्दर रव, भ्रमरों का मधुर गुंजन, कोकिलों एवं सारसों का कूजन, अप्रतिम श्री यहाँ अक्षय निवास करती है ।

इस वन में माणिकी एक पुष्पित कदम्ब के आलवाल पर आसीन है । चतुर्दिक तरुराजि राशि-राशि कुसमों के भार से नमित है। कण-कण से सौन्दर्य का स्रोत प्रसरित हो रहा है । उसके चारों ओर राशि-राशि मयूर पिच्छ पड़े हैं । नव पल्लव झुक झुक कर आह्वान कर रहे हैं - "आओ सखि माणिकी ! मुझे वृषभानुजा प्रिया किशोरी और उनके प्राण-प्रियतम वनचन्द्र के श्री अंगों पर स्थान देकर कृतार्थ कर दो न ? चयन किये सुमनों के ढेर लगे हैं । उनके रूप में द्रुम वल्लरियों के हृदय का आह्लाद, आह्लाद की बिखरी हुई लहरें मानों बाट देख रही हैं - अहा ! हमारे प्राणसारसर्वस्व नील सुन्दर हमें धारण कर अलंकृत होंगे । सौभाग्य ! महासौभाग्य !! न जाने कब अपनी रानी का श्रृंगार करने निकुञ्जेश्वर लालायित हो उठें ।

परन्तु अभी तो माणिकी का ध्यान पुष्पाभरण निर्माण करने की ओर है ही नहीं । वह तो अपने चतुर्दिक कल की उतारी हुई रानी की कुम्हलायी, रतिकाल में मर्दित, उलझी, टूटी, वन मालाओं, खण्डित पुष्पाभरणों के मध्य अपना चित्त डुबोये है । वह एक एक पुरानी पुष्प माला को अथवा आभरण को बहुत ही मनोयोगपूर्वक देख रही है ।

इन वनमालाओं में लगी कुंकुम एवं केसर, चन्दन एवं कस्तूरीपंक को उतार उतार कर संचित कर रही है, एक कटोरी में । वह प्रत्येक पंक को पहले सूँघती है, सूँघते ही उसे पता चल जाता है कि यह केसर पंक तो रानी के अंगों की है और यह नील सुन्दर प्राणप्रियतम की । साथ ही उसे यह भी ठीक अनुभव होता रहता है कि यह पंक दोनों के अंगों में लगकर युगपत् मिश्रित हो चुकी है । कौनसे वस्त्राभूषण में किधर प्रियतम के अंगों की गंध आ रही है और किधर प्रिया के अंगों की गंध, इसकी भी वह पूर्ण पूर्ण पारखी है । अत: वह वनमाला के प्रत्येक पुष्प से पंक संचित करती है । इस पंक को वह तीन पृथक् पृथक् कटोरियों में रखती जाती है । एक में रानी के अंगों की पंक को, दूसरी में प्रियतम की अंगों की पंक एवं तीसरी में दोनों की मिश्रित। फिर इसको वह अपनी सभी सखियों में वितरित करती है और इसकी सखियाँ कौन-कौन हैं, पता है ? ये मालती लतायें, ये बेला, चमेली, चम्पा, शंखालु, ये यूथी, वैजयन्ती, मल्लिका, रक्त पीत हरिताभ असंख्य पुष्प- लताएँ ही तो उसकी सखियाँ है । जानी-अनजानी सभी लताओं को वह इस चंदन

पंक से चर्चित करती है । फिर जो भी शेष बचता है उसे वह अपने अंग में चुपड़ती है। उस उन्मादिनी का यह पंक चुपड़ना भी विशिष्ट है । वह अपने दक्षिण अंग में तो नन्दनन्दन के अंगों की पंक चुपड़ती है और वाम अंग में रानी के अंगों की गंध चुपड़ती है । मध्य अंग में वह दोनों के अंगों के मिश्रण को लगा लेती है । ये लताएँ ही तो इसकी परम प्यारी सखियाँ हैं ये सभी इसके लिये तो पूर्णतया जीवन्त हैं । अब इन अपसारित वन-मालाओं को वह इन्हीं सबको पहना देती है । जैसे ही ये लताएँ इन मालाओं को पहनती हैं, मानो प्रसन्नता से खिल उठती हैं, सुरभित पुष्पों का विकास उनमें फूट पड़ता है ।

और देखो ! इस तमाल से वह लिपट गयी । इसे तो यह तमाल दिख ही नहीं रहा है। वह तो इसे अपना भाव-धन, प्राणवल्लभ नील सुन्दर ही समझ में आता है । उसके सामने त्रिभंगललित प्रियतम श्यामसुन्दर की मानस मूर्ति है, अश्रु झर रहे हैं, और वह अपने हृदय की बात अपने प्रियतम को सुना रही है ।

बंधु तुमि से आमार पराण ।
देह मन आदि तोमार सौंपिछि जाति कुल शील मान ।
भक्तेर आराध्य धन हे कालिये ! जोगीर जीवन धन ।
गोप गोपालिनि हय अति दीना ना जानि भजन पूजन ।
कलंकी बलिया डाके सब लोके ताहाते नाहिंक दुःख ।
तोमार लालागिया कलंकेर हार गलाय परिते सुख ।
सती वा असती तोमाते विदित भाल मंद नहिं जानि ।
हे प्राण प्रियतम पाप-पुण्य मम तोमार चरण खानि ।

"मेरे प्रियतम तुम मेरे प्राण हो । मैंने अपना सर्वस्व-देह, मन, जाति, कुल, शील एवं सम्मान सभी तुम्हारे चरणों में समर्पण कर दिया है । हे श्याम सुन्दर ! मैं भली प्रकार यह भी जानती हूँ कि आप भक्तों के परमाराध्य सर्वस्व निधि हैं और योगियों के जीवन निधि सर्वसिद्धि-स्वरूप हैं । हम गोप ग्वालिनियाँ तो अत्यन्त नगण्य दीन एवं अति तुच्छ हैं । हम न आपका पूजन ही करना जानती हैं, न ही हमें भजन पद्धति का ही कुछ ज्ञान है । सारे विश्व में हमारी पहचान कुल कलंकिनियों के रूप में है, परन्तु क्योंकि यह

कलंक मात्र आपको लेकर है अतः हमें इसका दुःख तो सर्वथा ही नहीं है, अपितु यह हमारे गले में आभूषण के समान हमें सुखदायी ही लगता है । यह हमारे लिये शोभारूप है । हम सभी गोपांगनाएँ सती हैं अथवा असती हैं, यह आप भली प्रकार से जानते हो, हम तो अपना भला-बुरा कुछ भी नहीं जानतीं । हम तो इतना ही जानती हैं कि आप के चरणों में ही हमारे सब पाप-पुण्य विसर्जित हैं ।

कभी यह मन ही मन कहने लगती है :-

"नीलम रे ! सर्वथा नगण्या दीना हूँ मैं, रे। परन्तु बन्धु ! मेरे प्राणों के दो टुकड़े हो चुके हैं, एक नीलद्युति तू और दूसरा पीतद्युति रानी । परन्तु मेरे प्राणवल्लभ ! कदाचित् मैं विक्षिप्त हो चुकी हूँ । क्षणार्ध में मुझे तुम दोनों दो भिन्न सत्ताओं के रूप में दिखते हो और दूसरे ही क्षण दोनों मात्र एक ही सत्ता हो जाते हो । रानी के यौवन का लास्य तुम्हारा मनोरंजन करता अवश्य है, परन्तु पृथक् सत्ता कहाँ है उसकी ? मुझे तो यही नित्य प्रतिभात होता है कि उस लास्य के रूप में भी तुम ही, तुम ही एकमेव लीलायमान हो। तुम्हारे नील एवं पीतद्युति कलेवरों पर मेरा सर्वथा अधिकार भले ही नहीं हो परन्तु प्राणवल्लभ ! तुम दोनों से जो अथाह ममता मेरी है, उस ममता के पश्चात् अधिकार अर्थ ही क्या रखता है ? तुम्हारें इस नीलकलेवर पर और तुम्हारे ही अंक में समाहित तड़िल्लता-सी रानी में मेरी तो सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ और परिस्थितियाँ आत्यन्तिक विलय को प्राप्त हो चुकी हैं । यह अनुभूति कभी भी मेरा साथ ही नहीं छोड़ती, प्राणरमण !"

अहा ! कैसी विशुद्ध राग से भरी है, यह । तभी न इसका नाम माणिकी है। प्राणसुन्दर नीलमणि एवं किशोरी रानी से वह कोई छुपी थोड़े ही है । वन-विहार करते वनचारी प्रियतम और वनदेवी प्रिया कभी किसी वनलता से, कभी तमाल से, अशोक से लिपटी उसे ढूँढ ही लेते हैं, उस समय दोनों निष्पन्द चुपचाप उसके पास चले आते हैं, फिर प्रियतम उसकी बिखरी कुन्तलराशि को अतिभाव से गुम्फन कर उसमें अपने हाथ का नीलकमल उसकी वेणी में खोंस देते हैं और प्रिया अपने सिन्दूर से उसकी माँग लाल कर देती हैं । फिर दोनों ही युगल दम्पति चुपचाप गहन वन में चले जाते हैं । अहा! उस दिन तो उसके आनन्दोन्माद का पार ही नहीं रहता । उस दिन वह इतनी मालायें गूँथती है कि चाहे सारे नन्दभवन को पुष्पमहल बना दो । मालायें गूँथने में उसे श्रम थोड़े ही होता है । वह तो वन में बैठी-बैठी

सुन्दर मालाओं का भाव भर करती है आभूषणों की सुन्दर, सुन्दरतर, सुन्दरतम आकृतियाँ ही अपने भावदृष्य में देखती है और लतायें ढ़ेरों पुष्प गिराती जाती हैं और स्वतः ही उसके भावानुसार पुष्प मालाकार रूप ग्रहण करते रहते हैं । वह पुष्पों में कभी भी छिद्र नहीं करती । पुष्पों के वृन्त अपने आप गुम्फित होते हैं और माला अपना रूप ग्रहण कर लेती है । इसी प्रकार सभी पुष्पाभरण निर्मित होते हैं ।

अब मंजिष्ठा भला इस पगली से क्या राय ले ? एक दिवस उसने अपनी समस्या उसके कानों में डाली तो पहले तो उन्मादिनी-सी वह बहुत काल तक उसके नेत्रों में नेत्र गड़ाये देखती रही, फिर अट्टहास कर हँस उठी । कहने लगी – "बहन ! मेरे नयनों में नयन डालकर देख ! ये मालती, ये कदम्ब, ये तमाल, यह चम्पा, यह जूही, यह चमेली, सभी अम्बर हैं री । भिन्न-भिन्न वस्त्रों को धारण किये मात्र वही तो हँस रहा है । वह स्वयं ही तो अपनी प्यारी के लिये गजरे बनता है, वही वैजयन्ती, वही वनमाला स्वयं ही बन जाता है । परन्तु मुझसे वह छुप थोड़े ही पाता है ? टोकरी भी वही होता है और मुझे दूती बनाकर कहता है तू मुझे रानी के कंठ से लगा दे, तू मुझे उसके चरणों में, बाहुओं में पुष्पाभरण बनाकर बाँध दे, वह असमोर्ध्व प्रेमी है । सर्वत्र ठगने के लिये नाम मेरा कर देता है ? माणिकी के पुष्पहार सर्वसुन्दर हैं ? अरे सर्ववंचक ! मात्र एकमेव तू ही तो सर्वसुन्दर है । तेरे अतिरिक्त जो है सब असुन्दर ही असुन्दर है । अरी ! यह पीताम्बर भी वनमाला ही है । वनमाला में फूल गुम्फित होते हैं और इसमें फूलों के तार गुम्फित हैं। कपास का पुष्प ही रूई होती है, इसी प्रकार रेशम का फूल रेशम हो जाता है, तो सर्वत्र एक मात्र वही, वही है री !"

"बस, तू मेरा एक कहना मानले बहिन ! तू पीताम्बर लेकर मेरे पास आजा और मैं तेरे सब गन्दे अहंकारभरे नारी वस्त्र तो उतार देती हूँ और पीताम्बर पहना देती हूँ । पीताम्बर पहनते ही तू हूबहू निर्विवाद नील सुन्दर हो जायगी । मेरे इन बड़े-बड़े नयनों के दर्पण में देख । तेरे रोम-रोम को मात्र वस्त्र बनाकर पहने, वह मेरा नीलम ही नीलम है । इसीलिये तो मेरी तेरी मिताई है, अन्यथा मेरा किसी धोपानी से क्या लेना-देना ?"

"अरी तो तू मेरा कहना मान ले । पीताम्बर पहन तो सही । फिर तो मैं तुझे पुष्पहारों से सजाकर रानी के पास भेज दूँगी । अरी सच कहती हूँ, रानी तुझे देखती ही रह जायेगी । फिर तू नन्दनन्दन बनी गायें चराती

रहना, मैं तेरा सखा हो जाऊँगी । और जब नीलम साक्षात् दूसरे जीवन्त नीलम को अपने सम्मुख ठीक प्रतिस्पर्द्धी के रूप में देखेगा तो वह चकित हो जायेगा । ऐसा सजा दूँगी कि स्वयं यशोदा एवं नन्दजी भी नहीं पहचान पावेंगे । और तब उसका अभिमान चूर चूर हो जायेगा । अभी तो वह एकाकी एकमेव है, तब न इतराता है । जैसे ही एक से दो हुए, जिन्हें भी उसने तड़पाया, रूलाया वे तेरी ओर आ जायेगीं । फिर सब अभिमान त्याग हम कहेंगीं वैसा ही वह करना प्रारंभ कर देगा और वह पगली गहनवन में अट्टहास करती चली जाती है । थोडी ही देर में उसका अत्यंत करुण स्वर सम्पूर्ण वन में निनादित हो उठता है। "नीलम रे ! प्राणवल्लभ रे !" गिरि उपत्यकाएँ उसके स्वर की तीव्रता से प्रतिध्वनि कर उठती हैं । उसकी वाणी में इतनी विरह-वेदना और आन्तरिक विकलता रहती है कि वृक्ष झर झर रो उठते हैं । कोई भले ही अपने में समाधान कर ले कि उसकी तीखी ध्वनि के स्पन्दन से वृक्षों के पत्रों में संचित ओस कण झरते हैं, परन्तु मध्याह्न में भी कहीं भला ओस-कण होते हैं ? और जहाँ वृक्ष होते ही नहीं, मात्र रसतरंगिणी यमुना अथवा गिरिस्रोत की सैकत ही सैकत सर्वत्र आस्तृत होती है, अथवा दूर्वा का विस्तृत चरागाह होता है, उस पगली का क्या, वह तो वहीं चीख उठती है :- "नीलमणि मेरे ! प्राण वल्लभ रे !! तो निरभ्र वियत् अश्रु बरसाने लगता है ।

अब मंजिष्ठा क्या उसकी बात मानकर पीताम्बर पहनकर श्यामसुन्दर बनी घूमती फिरे ? क्या कोई सद्कुलवती रजकिनी अपने यजमान के वस्त्र पहनेगी ? फिर राजकुल के रत्नजटित वस्त्र भला उन्हें कौन धोने देगा ?

पर उस पगली को इतनी बात कौन समझावे ?

## प्रेमवती एवं नर्मदा की कथा

अब इसी माणिकी की दूसरी मालिन बहन प्रेमवती की कथा सुनो । देखो प्रेमवती क्या कर रही है ?

"यह विलक्षण देश है । यहाँ एक ही देश में एक भाग में ग्रीष्म है, तो दूसरे भाग में शरद है, एक भाग में वसन्त है तो पास के ही दूसरे भूखण्ड में यहाँ पावस है । यहाँ प्रभात में ग्रीष्म है तो उसी भूखण्ड में मध्याह्न में पावस

आ जाती है । सायंकाल शरद है तो निशा में शिशिर का प्रकोप हो जाता है ।

तो इस भूखण्ड में इस समय वर्षा ऋतु धरा को अलंकृत कर रही है । देखो ! दिक्सुन्दरियाँ सौदामिनी के अलंकार धारण किये पावस का अभिनन्दन स्वागत कर रही हैं । इसे सम्मान देने के लिये सूर्यदेव ने अपने चारों ओर वलय का निर्माण कर लिया है । आकाश बार-बार रह रहकर जैसे दुन्दुभी बजा रहा हो, नाद करके जयघोष कर रहा है । आनन्दमत्त पवन प्रत्येक कुंजद्वार पर गवाक्ष जालों के समीप राशि-राशि बूँदों की मुक्ता बिखेरकर अपना उल्लास व्यक्त कर रहा है । वृन्दाकानन को आकाश में वितान तानकर इसने विभूषित किया है ।

दिव्यातिदिव्य स्थान विशाखा कुञ्ज है । गिरिराज परिसर के आकाश में निविड़ नील अम्बुद राशि छायी हुई है । रह-रहकर विद्युत कौंध रही है और फिर मेघ गर्जन का तुमुल नाद परिव्याप्त हो जा रहा है । सखी प्रेमवती वन के सर्वसुन्दर भाग में पुष्प का झूला हिण्डोला निर्माण करने में दत्त-चित्त है।

निकुंज के उत्तर में पुष्पित कचनार महक रहे हैं। पूर्व में अगस्त्य और सहिजन के वृक्ष हैं। पश्चिम में अशोक की पंक्तियाँ हैं । मध्य में पारिजात का उन्नत शाखा किये वृक्ष है । यहाँ सभी वृक्षों पर लताएँ लिपटी हैं । ऐसा प्रतीत होता है मानों वृक्ष जाति ही वल्लारियों की दासता में सिर झुकाये नतमस्तक है। वल्लरियाँ पूर्णतया विकसित पुष्पावलियों के गुच्छों से लदी हैं ।

पारिजात वृक्ष पर ही प्रेमवती हिण्डोला डालने में दत्तचित्त है । पारिजात वृक्ष की एक स्थूलकाय डाल उत्तर की ओर फैली है । पारिजात के चतुर्दिक् दूर-दूर तक हरी-हरी दूर्वा का ऐसा सुभग आस्तरण है कि यही प्रतीत होता है, मानो अति सुन्दर परम सुकोमल हरी मखमल का आस्तरण बिछाया हुआ हो । प्रेमवती का दिवसपर्यन्त यही कार्य है, जहाँ भी उसके कोई सुन्दरतम भूखण्ड दृष्टिपथ में आया, वह झूला निर्माण करने में जुट जाती है । या तो वह हिण्डोला निर्माण करेगी, अथवा यदि उसे कोई चतुर्दिक् पुष्पों से लदा कुंज दीख आया तो उसके मध्य सुन्दर पुष्प शय्या निर्माण कर देगी ।

उसे स्पष्ट अनुभव है कि उसके प्राणरमण नीलमदेव, किशोरीरानी के संग जब झूले पर विराजित होगें तो सखियाँ उल्लासवश तेज झौंटा देंगी ही । और स्वाभाविक ही किशोरी अन्तर् से अनुपम उल्लसित होते हुए भी मृदुल-पीत कलेवरा होने से श्रम को सह नहीं पावेंगी । उनके अरुणिम

कपोलों पर, भालदेश पर निश्चय ही उन्मिषित हो उठेंगीं अगणित प्रस्वेद कणावली ।

नील सुन्दर प्राणवल्लभ के नेत्र-सरोज अपनी प्रिया के इतने श्रमभार को सह लें यह भी सर्वथा-सर्वथा संभव नहीं है अतः वे अविलम्ब झूले से कूद पड़ेंगे और अपनी प्यारी रानी को भुजपाश में बाँध ही लेंगे । उस समय प्रियतम को झूले के निकट ही किसी न किसी पुष्प शय्या की निश्चय ही आवश्यकता होगी । अतः झूला निर्माण करते समय वह पार्श्व में ही पुष्प मन्दिर भी बनायेगी, क्योंकि परमोदार प्राणवल्लभ अपने पीताम्बर के छोर को स्वयं हाथों में लेकर किशोरी रानी का अतिशय प्यारपूर्वक स्वेद-मार्जन करेंगे । और स्वेद-मार्जन करते-करते वे कहीं रानी के बिम्बफल से ओष्ठाधरों पर, उनके रक्तपद्म जैसे द्युतिमान कपोलों पर प्रीतिचिन्ह अंकित कर दें तो .. इसीलिये उन्हें सखियों से किंचित् ओट की आवश्यकता होगी ही। इन सभी योजनाओं पर विचार करती उसने अपनी सखि नर्मदा का सहयोग लिया है और अहा, कैसा अप्रतिम सुन्दर झूला निर्माण किया है । पारिजात वृक्ष की डालियों से सुदूर वृक्षों तक मेघवर्णी पुष्पों का जाल बुनकर इन्द्रनील द्युति चन्द्रातप निर्माण किया है । मध्य में पीले कर्णिकार पुष्पों की ऐसी रेखायें निर्मित की हैं जिससे जीवन्त स्थिर विद्युत् का आभास हो । रचना में प्रधानता मात्र पुष्पों की है, परन्तु पुष्पवृन्तों में कुछ ज्योतिर्मयी मणियों को गुम्फित कर पुष्पों को ज्योतिर्मान् बनाने की चेष्टा हुई है । इस प्रकार झूले के चतुर्दिक् जैसे घनघोर घटा उमड़ी हो और तड़िल्लता कौंध रही हो ऐसा पुष्प वितान निर्माण किया है ।

पारिजात की डाल को पूर्णतया इन्द्रनील वर्णी पुष्पों से ढँक दिया गया है और जिन पुष्पों से डाल ढँकी है, वैसे ही पुष्पों की आकाश में भी आतप होने से डाल इस प्रकार एक वर्ण होकर व्योमातप से मिल गयी है कि ऐसा लगता है कि झूले की डोरियाँ अभ्राच्छादित व्योम से ही जुड़ी हों । झूले की डोरियाँ स्वर्णतंतुओं से गुँथी रेशम से निर्मित है और उसमें चतुर्दिक, माणक, नीलम एवं पुखराज, साथ ही वज्रमणियाँ भी इस प्रकार झमक रही हैं कि इनको आच्छादित करने वाले श्वेत, नील एवं रक्तवर्णी कमल ज्योर्तिमान हो उठे हैं । डोरी के चतुर्दिक खिले कमलों का विलक्षण ज्योर्तिमान सुहास बिखर रहा है । यही प्रतीत होता है मानो कमल के पुष्पों को उनकी ही नालों से गूँथकर हिंडोरे की दंडी बनी है । हिंडोरे के आसन का अग्रभाग मयूर की

चंचु की तरह है और मयूर के पृष्ठ देश पर ही प्रियाप्रियतम के बैठने की चौकी है एवं पृष्ठ देश नृत्यमान ऊर्ध्व पुच्छ मयूर की तरह है । झूले की ठीक ऐसी शोभा है मानो श्वेत, रक्त और नील अरविन्दों की डोरी से किसी विशाल मयूर को बाँध कर अभ्राच्छादित नभ में उडा दिया गया हो और प्रिया प्रियतम का भार अपनी पीठ पर होने से वह धरती से किंचित ही ऊपर उठ पा रहा हो, उड़ने की चेष्टा कर रहा हो किन्तु अशक्त हो ।

यहाँ कोई पुष्पमन्दिर भी है, इसे संगुप्त रखने के लिये पुष्पमन्दिर और हिण्डोला के मध्य में एक विशाल पुष्प की पिछवाई है, इसमें भी पुष्पों के ही मेल से सुन्दर यमुना का चित्रण किया गया है । यमुना का सुदूर पर्यन्त प्रसरित रजत सैकत तट और नदी इतनी जीवन्त चित्रित है कि कोई पहचान ही नहीं पाता कि यह मात्र पुष्प खचित पिछवाई है । यमुना-नद में सुन्दर सहस्रदल पद्मों का विकास है और भ्रमरदल झंकार कर रहा है ।एक पद्मखण्ड को अपने मुख में लिये हंसिनी आगे संतरण कर रही है और पीछे हंस अपनी ग्रीवा उसकी शुभ्र शारदीय स्वच्छ पीठ पर डाले प्रीति में मुग्ध हो रहा है । कुछ हंसों की मात्र पिच्छ ही दृष्टिगोचर हो रही है क्योंकि अग्रभाग से उन्होंने जल में डुबकी लगायी हुई है। यह तो झूले की वाम भाग की पिछवाई है । इसी प्रकार झूले के पीछे के भाग में जो पुष्परचित पिछवाई है उसमें पुष्पों से ही निर्मित अति सुन्दर गिरि है, जिसके शिखर सुमेरु के समान स्वर्णिम हैं । गिरि की घाटियों में कल्पपादपों की असंख्य पंक्तियाँ हैं । धरा में कल्पप्रसूनों के अम्बार हैं । गिरि प्रांगण मणिमय है,जहाँ शिखर विशुद्ध कुन्दन द्युति से दमक रहे हैं, वहीं लघु पर्वतमाला मणिमयी है । अनेक पहाड़ वज्रमणि निर्मित हैं तो कुछ पर्वतश्रेणी माणिक्यमणि निर्मित हैं, अनेक नीलमणि के नग हैं तो कुछ पुखराजमणि के धरा पर अति सुन्दर हृद हैं जिनमें गजराज केलिरत हैं ।

दक्षिण पार्श्व की पिछवाई में तुलसी कानन की अभिनव सौन्दर्य राशि व्यक्त है । ऐसा प्रतीत होता है मानो वह शोभा प्रतिक्षण विस्तृत ही होती जायेगी । ऋतुराज वसन्त अपने दलबल सहित कानन को मानो पूर्णतया विजित कर चुका हो, पत्र-पत्र पर, प्रत्येक कुसुमों पर आधिपत्य जमाये वह निश्चिन्त निर्बाध सुखासीन है । शीतल, सुरभित मलय-मारुत नित्य नवीन भाव गरिमा के साथ मन्द-मन्द प्रवाहित हो रहा है । तरूश्रेणियाँ, वल्लरियाँ अपने पूर्ण सौन्दर्य में नवीन सज्जा के साथ परस्पर आलिंगित विराजित हैं ।

शतावधि पक्षीगण अपने जोड़ों सहित यहाँ-वहाँ वृक्षों पर कलरव कर रहे हैं । कुछ नरपक्षी अपनी प्रियाओं को रिझाने के लिये घूमर नृत्य करके उनकी परिक्रमा कर रहे हैं । अनेक पक्षी-युगल शुक-शुकी, सारिकाओं के सजातीय विहंगम अपनी चंचुओं को परस्पर मिलाये निराविल प्रीति का प्रकाश कर रहे हैं । जैसे शुचितम अनुराग का पयोनिधि ही उमड़ रहा हो । धरा पर हरी हरी सुकोमल प्रचुर घास का आस्तरण आस्तृत है, जिसमें चतुष्पाद नर-मादा पास-पास बैठे हैं । उनके नेत्रों में परस्पर प्रीति छलक रही है । इस पिछवाई में प्रीति के उद्दाम भावों का पशु-पक्षियों, वृक्ष-वल्लरियों, भ्रमर एवं पुष्पों के सजीव चित्रण के माध्यम से जीवन्तवत् प्रकाश किया गया है । सभी आनन्द विभोर हैं ।

इसी प्रकार हिन्डोले के वाम पार्श्व में पिछवाई से कुछ दूरी पर सखी नर्मदा ने पुष्प-मन्दिर निर्माण किया है । ऐसे सुरभित पुष्पों से यह मन्दिर निर्मित है कि मधु- लुब्ध भ्रमर उड़-उड़कर अनुपम मकरन्द का पान कर रहे हैं । इसके शिखर तो कांचन पुष्पों से रचित हैं । गुम्बद पीत और रक्ताभ पद्मों से निर्माण किये गये हैं । इसकी छत नील कमलों से निर्मित है और दीवारें श्वेत सुभग अरविन्दों से रचित हैं । इसके भीतर एक बहुत सुन्दर कक्ष में जहाँ पुष्पों की ही झालरें, फानूस लटक रहे हैं, पुष्पों की ही अतिशय सुकोमल परम रमणीय शय्या बिछी है । श्रृंगार रस की सभी सामग्रियाँ जैसे सुगन्धित पुष्पसार, आरसियाँ, मादक उत्तेजक पेय, नीलरसनिधि के भोग के लिये भिन्न-भिन्न फलों के रस सभी यथास्थान संचित हैं ।

इस प्रकार प्रेमवती एवं नर्मदा ने अतिशय सुभग हिन्डोला निर्माण कर दिया है । अपने प्रेमास्पद जीवनधन के सुख-संयोजन की योजना में अपने श्रम एवं सम्पूर्ण कौशल की इति कर देने पर भी जब तक इस के भोक्ता, रस के ग्राहक जीवनधन नील-पीत-द्युति दंपति, बृजराजदुलारे एवं भानुकिशोरी उसे भोगने नहीं पधारें तब तक तो रससमुद्र में ज्वार कहाँ ? उफान कहाँ ? मात्र स्पन्दन-शून्य प्रतीक्षा ही तो है । चरम उपलब्धि एवं प्राप्तव्य तो सभी के प्रिया-प्रियतम ही हैं ।

परन्तु विलक्षण स्वभाव है इस नीलद्युति प्रेमदेवता का । वह अपने प्रेमी के हृत्तल में वियोग वेदना की दाह उत्पन्न करता ही है । अनादि स्वभाव है यह उसका । प्रीति की लौ में अपने प्रेमी को जलता देखने में ही उसे रस आता है । वह अपने प्रेमी को भले ही क्षणार्द्ध का ही वियोग दे, परन्तु वह

क्षणार्द्ध ही प्रेमी के लिये तो युग-युग की कालावधि बन ही जाता है । वह जल से निष्कासित मीन की तरह तड़फड़ा उठता है ।

तो यही दशा हो रही थी प्रेमवती एवं नर्मदा की। उनके उरस्थल में रह-रहकर प्रियतम-प्रतीक्षा की मार्मिक व्यथा उमड़ रही है । उन्हें लगता था अब तो इन नील-पीत-द्युति दंपति का कमलमुख देखे बिना वे क्षण भर भी नहीं रह पावेंगीं । यह भावदशा उन दोनों की ही नहीं है, उन्होनें जो जीवन्त कलाकृतियाँ, ये पिछवाइयाँ एवं इनमें असंख्य जीव समुदायों की रचना की है उन सभी जीव समुदायों में भी अत्यन्त गहरी वियोग की स्फूर्ति हो उठती है । भाव की गति ही बडी वक्र है । विरह-विकल चेतन जीव समुदाय का ही नहीं इन पहाड़ एवं नदियों के भी हृदय विरह से कण-कण टूट रहे हों, ऐसा प्रतीत होने लगता है ।

हिन्डोले के मयूर की वह जीवन्त पुष्पाकृति जैसे ही सम्पूर्ण हुई, उसने अपने पंख नृत्य मुद्रा में उच्च किये, पैरों में जैसे ही नृत्य गति आई, छोटे छोटे स्वर्ण के रत्नजटित नूपुर जैसे ही खनखनाये कि उस मयूर का रोम-रोम आकुल कंठ से पुकार उठा - "हे मेरे अप्रतिम सौन्दर्य-माधुय-निधि-प्रिया-प्रियतम ! तुम कहाँ हो ? आओ, आओ न ? मेरे रोम-रोम की प्रगाढ प्रगाढ़तर होती सुन्दरता पर एक दृष्टि तो डाल दो न ? तुम्हारे नेत्रों को तनिक-सा सुख हो जाय तभी न इन मालिन कन्याओं का यह अथक अनवरत श्रम उनकी कलात्मकता अपने साफल्यबिन्दु को संस्पर्श करेगी ? अतः मुझ पर कुछ ही देर सही, आसीन होओ न ? मयूर की प्रार्थना की इति हुई ही नहीं कि समग्र वन-वासन्ती जो उन पिछवाइयों में चित्रित एवं पुष्पांकित थी - गदगदाये कण्ठ से प्रार्थना कर उठी -"हे कोटि-कोटि-रति-अनंग मदहारी प्रिया-प्रियतम, मेरी इन कलाकृतियों में अभिव्यक्त यह अपूर्व अनाविल तरुणाई मात्र तुम्हें सुख देने के लिये ही व्यक्त हुई है ? नाथ ! समग्र प्रकृति में मेरा यह उत्तरोत्तर अभिवर्धित अभिनव सुन्दरतम रूप मात्र तुम्हारे सुख के लिये ही तो है, हे मेरी प्राणेश्वरी वृषभानुजा ! हे मेरे प्रियतम नीलमणि !! देखो ये नगराज, इनकी स्वर्णमयी चमचमाती सुमेरु सदृश शिखरश्रेणीयाँ, ये प्रपात, ये गिरि-परिसरगत-वनोद्यान, ये उपत्यकाएँ, ये गहन, गहनतम कानन, ये गिरिप्रपात, निर्झर, जल से पूर्णतया आप्लावित ह्रद सरोवर, इनके किनारे आसीन सुन्दरतम असंख्य पक्षी समुदाय सभी तो आपको अपनी सुखदान-स्पृहा

से रिझाने परमाकुल प्रतीक्षारत हैं । नाथ ! इन सभी से अपने रूप दर्शन की स्पृहा बुझा लो न ?

अहा ! मानों नर्मदा और प्रेमवती साक्षात् चतुर्मुख वेदगर्भ ब्रह्मा हों, इनकी परछाइयों में पुष्प-अंकित वन ही नहीं व्योमपर्यन्त अणु-अणु विरह वेदना से व्याकुल हुआ चीत्कार कर उठता है- **प्रिया-प्रियतम, प्रिया-प्रियतम, प्रिया, प्रिया, प्रियतम, प्रियतम ।**

आओ ! आओ !! देखो, इस सहस्रदल कमल को तो देखो । अहा ! कैसा आह्लादपूर्ण इसका विकास है । इसमें निहित लावण्य,मधुरिमा, सरसता, सुकोमलता, स्निग्धता, कान्ति, सभी अवर्णनीय हैं । अहा ! इसके चतुर्दिक भ्रमर गुंज़ार कर रहे हैं । परन्तु देखो यह कंपित हो-होकर इन भ्रमरों को अपने ऊपर बैठने ही नहीं दे रहा है । यह स्पष्ट भ्रमरों को चेतावनी दे रहा है - "तुम्हें मेरे मकरन्द-सेवन का तबतक सर्वथा अधिकार नहीं है जबतक प्रिया-प्रियतम आकर मेरे सौन्दर्य को एक बार निरख नहीं लेते । यदि तुम मेरे मकरन्द का अनके आने के पूर्व ही पान कर गये, - फिर तो मेरी विकासगत निर्मल शोभा अवशिष्ट ही नहीं रहेगी । तब मेरे प्राणपति मुझे देखकर कैसे सुखी होंगे ? हाँ वे एक बार मेरे इस सौन्दर्य पर दृष्टि डाल लें फिर भले ही तुम मेरा समग्र मरकन्द पान कर जाना । मुझे फिर नवीन जीवन धारण करने तक इस वृद्ध, जर्जर, निरर्थक वपु को रखने में कोई रस भी तो नहीं रहेगा।" इसी प्रकार वह इन वराटी जलचरों को भी निषेध कर रहा है । कह रहा है-"देखो ! यदि तुम्हें मुझे नाल सहित उच्छेद भी करना हो तो तनिक ठहर जाओ, एक बार मेरे जीवन निधि मुझपर दृष्टिपात कर दें, मात्र एक दृष्टि ही डाल दें, फिर तुम मुझ समूचे को भले ही भक्ष कर जाना, परन्तु जबतक वे हिन्डोला-कक्ष में नहीं आवें, तबतक मुझसे दूर-दूर रहना भला ।"

और इन हरिणियों की ओर देखो । इनके आकर्ण विलम्बी दीर्घ नेत्र तीखी कोरयुक्त दृष्टि से कितनी आकुल प्रतीक्षा कर रहे हैं अपने प्रिया प्रियतम की । इनके मुख का ग्रास ज्यों का त्यों मुख में रखा है । ये उसे निगल ही नहीं पा रहे । और इनके नेत्रों में जो यह अनुपम रसमयता निखर रही है इसका कारण पता है तुम्हें ? अरे भाई, जीवनसर्वस्व प्राणनिधि भरे हैं इन सभी की नेत्र-दृष्टि में । देखा ! इनके नेत्रों की आकुलता कैसी असीम है ?

समग्र वन विकलता के अतिरेक में 'प्रियतम, प्रियतम' नामोच्चारण कर रहा हो, ऐसा सुरम्य वन-संगीत सर्वत्र गूँज रहा है । "हे विश्व-विमोहक जीवनसर्वस्व नीलमणि !, हे त्रिभुवन मनमोहिनी कीर्तिकुमारी !! हम पर बस एक दृष्टि डाल दो, कृतार्थ कर दो हमें ।" और वन में उठती इन आकुल भाव-ऊर्मियों को सुरभित समीर नर्तन करता हुआ ले चलता है, नन्दतनय एवं भानुनन्दिनी के श्रवण-रंध्रों में पहुँचाने ।

समीर किसी को भी बिना बताये परमोदार-स्वभावा किशोरीरानी के कर्णविवरों में इन सभी की आकुल पुकार उँडेल देता है । और रानी के अधर-पल्लवों में अनुमोदनभरी मधुरातिमधुर स्मिति नाच उठती है । समीर रानी की स्वीकृति पाकर आनन्द से परिपूरित हुआ वन में सभी को हर्षभरा संवाद दे देता है :- "हे वनचरों, हे शुक सारिकादि पक्षियों, हमारे राजा-रानी आ रहे हैं । उत्फुल्ल होओ, नृत्य करो, प्रमुदित होओ, गाओ, प्रसन्न होओ ।"

किशोरीरानी के रुख एवं संकेत को पल-पल निहारते रहने वाली और उसी के अनुसार समग्र लीला की संघटनकर्ती तुलसी-कानन की अधिष्ठातृदेवी ने अपनी अभिनव रागिनी के मिस से सर्वत्र सभी लीलापात्रों को यथावश्यक संकेत दान कर दिया कि वनागत नीलपीतद्युति सौन्दर्यसार दंपति को झूला झुलाना है ।

और अब तो भानुनन्दिनी ने नूतन अनुराग समुद्र की लहरियों पर नर्तन करते हुए अपने प्रियतम पर झूला झूलने की समुत्सुकता भी व्यक्त कर दी । और फिर क्या था, सखियाँ प्रतिक्षण वर्द्धमान नव नव उल्लास से पूरित हुई चल पड़ीं, प्रिया-प्रियतम सहित, उसी संकेत स्थान की ओर जहाँ विशाखा कुंज के पिछवाड़े यह शुचि सुन्दरतम हिन्डोला प्रेमवती एवं सखी नर्मदा निर्माण कर चुकी हैं ।

और, अब तो सखियों सहित प्रिया-प्रियतम भी व्यक्त हो उठे उस पारिजात वृक्ष के पार्श्व में ही । देखो, प्रिया अपने नेत्रों में अतिशय प्यार भरे हुए कभी तो प्रेमवती एवं नर्मदा की ओर निहारती हैं, कभी, अतिसूक्ष्मता से उनकी कृति को। जीवन्त अंकण को देख-देखकर प्रिया का पीत कलेवर प्यार के उदधि की तरह लहराने लगता है । प्रियतम का नील कलेवर भी संविन्मय आनन्द के आवेग से झूम उठता है । क्या ही जीवन्त प्रकृति का चित्रण है, परन्तु सब निर्माण है मात्र पुष्पों का । हिण्डोरे में मयूर के उड़ते दोनों ऊर्ध्व

पंख ही पीठ के वाम और दक्षिण किनारे हैं और उनके मध्य में विशाल मखमल का आसन है जिस पर प्रिया-प्रियतम अतिसुखपूर्वक विराजित हो सकते हैं । आसन के नीचे ही चरण रखने की चौकी है । सभी सुकोमल पुष्पों से आस्तृत हैं, परन्तु है सब पूर्णतया स्थिर एवं मजबूत । इसी प्रकार प्रिया-प्रियतम की पीठ को टिकाने के लिये पिछौरी, ऐसी प्रतीत होती है जैसे मयूर की ऊर्ध्वपिच्छ हो । परन्तु वह पिछौरी भी स्वर्ण-निर्मित रत्न एवं पुष्पों से जटित है । कथन का इतना ही मंतव्य है कि सम्पूर्ण निर्माण है पूर्णतया सुरक्षित, मजबूत किन्तु साथ ही सर्वतोभावेन, सुकोमल और ज्योतिर्मान ।

अहा ! प्रियतम तो मंजुलीला के कंधे पर हाथ रखकर अविलम्ब ही उस हिण्डोले पर आसीन हो गये हैं । परन्तु प्रेमवती और नर्मदा तो अपनी भावसमाधि में ही डूबी हैं । उन्हें कहाँ होश है ? उन्होंने तो प्रिया-प्रियतम के सुख के लिये हिण्डोरा निर्माण कर दिया, अब वे तो अपने भाव में कोई और अभिनव सुख-सृजन की रचना में संलग्न है । वे तो उसी सुखचित्र का ध्यान करतीं उसको प्रत्यक्ष सम्मुख देख रही है । उनके प्राण उसमें ही विजड़ित हो गये हैं ।

रानी ने एक मुसकानभरी दृष्टि उनके भावाविष्ट आनन पर डाली और तब तत्क्षण ही उन्होंने एक अतिशय प्रीति-गरिमा से भरा खेल करने का संकल्प कर लिया । सखियाँ रानी का संकेत समझ गयीं और उन्होंने इन दोनों मालिन कन्याओं- प्रेमवती और नर्मदा को प्रियतम के दक्षिण एवं वाम पार्श्व में झूले पर आसीन कर दिया । रानी तो अपने नेत्रों से सर्वत्र एवं अतिशय प्यार न्यौछावर करती मानो झूले में स्वयं अपने हाथों झौंटा लगादेंगी- ऐसा मनोरथ करतीं झूले की डोर पकड़े तृण संकुल धरा पर अवस्थित हो गयीं ।

'षडऋतु रहत सदा कर जोरे '

छहों ऋतुएँ तो निकुंजदेव एवं निकुंजदेवी की सेवा में उन्हें नवीन-नवीन सुखदान करने के लिये समुपस्थित रहती ही हैं दम्पति को जब भी जिस ऋतु से जितने काल सेवा लेनी हो किंचित् संकेत भर कर देने की आवश्यकता होती है ।

संकेत पाते ही पावस उमड़ पड़ी इस प्रदेश को रसवर्षण से आप्यायित कर देने के लिये । नील-अम्बुदराशि ने व्योम को उमड़-उमड़ कर आच्छादित कर दिया । दिशाओं में परिव्याप्त हो उठी घन-गर्जन की अनवरत

घन-घन ध्वनि । उल्लसित वीर बहूटी अलंकृत करने लगीं धरा के वक्षस्थल को ।

तो आज रसराज को इस प्रेमवती और नर्मदा को अपने स्वरूपगत चिन्मय आनन्द से आपाततः परिपूरित कर देना है । निज रस से लथपथ पूर्णरूपेण सिक्त स्नान करा देना है ।

आज झुलाने वाली हैं - निज सखियों के सहयोग से वृषभानुराजदुहिता और झूल रहे हैं - नील मयंक अपनी दो मालिन कन्या सखियों के साथ ।

अहा ! दोनों सखियों सहित प्रियतम की कैसी शोभा है ? मानो दोनों ओर, दो स्थिर तड़िल्लताओं के मध्य, नीलमेघ पवन वेग से हिलोरें ले रहा हो । प्रियतम के इन्द्रनीलद्युति अंगसंस्थानों पर पीत परिधान, ललितगात्र, इनके दर्शन मात्र से सखियाँ एवं कुंज का अणु-अणु आनन्दोल्लासित हो उठा था ।

निर्धारित क्रम से एक झौंटा ही लगा था कि प्रेमवती और नर्मदा की भावसमाधि टूट गयी । उनकी दृष्टि जैसे ही उन्मीलित हुई, उन दोनों ने ही अपने पार्श्व में पाया मयूरपिच्छगुम्फित मुकुटी को। जो अपने दोनों हाथों से उनको स्कंध देश से पकड़े था। उन्होंने सम्मुख देखा तो पाया कि सर्वत्र ओर-छोरविहीन सुषमा बिखेरती, अपने श्रीअंगों की मधुरिमाभरी आभा से सखियों की समग्र श्री को हतप्रभ करती, वृषभानुदुहिता सम्मुख झौंटा दे रही हैं ।

प्रियतम निरख रहे हैं, सतृष्ण नेत्रों से कभी प्रेमलता को, और कभी नर्मदा को साथ ही कभी सम्मुख झौंटा देती प्रिया को । प्रेमवती अनुभव कर रही थी प्यार की कूलविहीन स्रोतस्विनी उमड़ रही है उन दोनों के प्रति प्रिया और प्रियतम के हृदय में । प्रियतम तो उन दोनों पर अपने स्नेह का अपार वैभव अविरामरूप से न्यौछावर कर रहे हैं । प्रेमवती और नर्मदा दोनों के कमल से दीर्घ नयन उस छलकते प्यार से झर-झर टप-टप अश्रु टपकाने लगे । उन्हें तो जीवन में कभी भी ऐसे सौभाग्य की कल्पना ही नहीं थी कि प्रियतम के साथ वे झूला झूलेंगीं और प्रिया झौंटा देगीं । अनन्त कोटि मदन मदहारी प्रियतम उन महा अधमाओं, नीच मालिनों को इस प्रकार अपनी प्रिया के सम्मुख स्कंध देश से पकड़े अपने से सटाये बैठेंगे और इस प्रकार अतिशय तृष्णातुर उनकी रूपमदिरा का नयनप्यालों में भर-भर कर पान करेंगे ।

उन्हें यह निर्णय करने में एक क्षण भी नहीं लगा कि अति सुकुमार अंग किशोरी प्रिया के कपोलों पर, भाल देश पर, अगणित स्वेद-कणावली उन्मिषित हो गयी है, और मृदुल कनककलेवरा, वे इन दोनों वन पुष्पों की खोज में दौड़ने वाली हृष्ट-पुष्ट काया मालिनों को प्रियतम सहित झौंटा देने का अत्यधिक श्रमभार कैसे सह पावेंगीं ?

बस वे तुरन्त ही हिन्डोरे से कूद पड़ीं । उन दोनों ने अतिप्रेम से फूल जैसी सुकोमल प्रिया को सहज रूप से गोद में उठाया और विराजित कर दिया उस मृदुल सुमनों से सुशोभित झूले के मयूर आसन पर - प्राणवल्लभ नीलसुन्दर के साथ ही ।

देखो ! देखो !! व्योम को आच्छादित किये नील अम्बुदराशि के हृत्तल में विद्युलता कैसी शोभा दे रही है ? सर्व दिशायें इस परिव्याप्त शोभा से उल्लसित हो उठी हैं ।

और परमाश्चर्य, टँगी पिछवाइयों में चित्र रूप में अंकित असंख्य मयूरों के दल उन चित्रों से जीवन्त बाहर आ गये हैं और उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे हैं । सम्पूर्ण वनक्षेत्र को उन्होंने अपनी सुमधुर केकाध्वनि से मुखरित कर दिया है । धरा के वक्षस्थल पर आनन्द के पुलक उठ रहे हैं और वे अतिशय सुख से हरी हो रही हैं ।

नीलसुन्दर ने अपनी प्राणों की रानी को अपनी वाम भुजा में भर लिया है । प्रीति की गरिमा से साँवर प्राणधन के लोचन छल-छल करने लगे हैं । परमोदार प्राणजीवन नन्दतनय अपनी प्राणप्रिया के मुख पर छलके स्वेद कणों को अपने पीताम्बर के छोर से स्वयं परिमार्जन करने लगे हैं ।

देखो ! ललिता ने वीणा लेकर उस पर स्वर भरने प्रारंभ कर दिये हैं । मेघ-मल्हार रागिनी स्वयं मूर्त्त हो उठी है । तुंगविद्या ने आलाप प्रारंभ कर दिया है , और विशाखा ने मृदंग पर अति सुरीली थाप देना प्रारंभ कर दिया है । अब तो गायन, वादन और नृत्य की इच्छा से सखियों के मन गुदगुदा गये ।

अहा ! रूप की किरणों से दिशायें उद्‌भासित हो रहीं हैं । नूपुरों और कटिकिंकिणियों के रव से रवितनया का कूल मुखरित होने लगा है । वन श्री की श्रवणेन्द्रियाँ उस अमृतमयी झंकार में ही डूबने लगीं । उस महामोहक रव की सत्ता के सम्मुख अन्य ज्ञान रहता भी कैसे ?

ओह ! अब तो ये नन्दतनय वंशी को संस्थापित कर रहे हैं अपने अधरों पर । क्या उसमें स्वर भरेंगे ? फिर तो प्राणोन्मादी वेणुवादन से सम्पूर्ण गिरिपरिसर ही निनादित हो उठेगा । अरे ! उस सर्वमोहक स्वर लहरी में तो सभी डूब जायेंगे, कोई बच ही नहीं पावेगा ?

सभी सखियाँ प्राणवल्लभ और प्रिया के झूले को चतुर्दिक घेरे खड़ी हो गयी हैं । देखो ! देखो !! रूप की किरणों से सर्व दिशायें उद्भासित हो रही हैं । विश्व सत्ता का सम्पूर्ण सौन्दर्य, जैसे उस पारिजात तरु के पत्तों पत्तों पर फूट पड़ा। सम्पूर्ण सुषमा मानो वहाँ स्वयं ही समुपस्थित हो गयी हो। प्राणवल्लभ नन्दतनय वंशी वादन जो करने जा रहे हैं । सम्पूर्ण रसिकता के उद्गमस्थल व्रजेन्द्र तनय अपनी वाम भाग में स्थित प्रिया पर कैसी महारसभरी दृष्टि निक्षिप्त कर रहे हैं । सखियों के नेत्र अपलक विस्फारित हैं । सामने विश्व चमत्कारी सौन्दर्यपूर द्विधा रूप में विभक्त खड़ा है । जिसके कण मात्र के सम्पर्क से आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण विमोहित हो जाते हैं वे अपनी ब्रह्मज्ञानगत अखण्ड शान्ति को विस्मृत कर, उन्मादपूर्ण रसमयी परम व्याकुलता से जल-विहीन मत्स्य की तरह तड़पते रहते हैं। उस अनन्त, पारावारविहीन रूपसुधासमुद्र में अवगाहन करती सखियाँ ही नहीं, सभी जलचर-थलचर और चेतन-अचेतन, गिरि, प्रपात, निर्झर, भूखण्ड और सम्पूर्ण सत्ता ही विमुग्ध हुई किसी अनिर्वचनीय आनन्द में डूबी है ।

हिन्डोले पर विराजित झूलाझूलते नील-पीत-द्युति दंपति के सच्चिदानन्द सौन्दर्य-सुधा-सागर रूप को देखकर ललितादि सखियों को रहरह कर आनंद समाधि लग रही है ।

निर्धारित क्रम से झौंटे लग रहे हैं और संविन्मय स्वरूपविलास का समुद्र हिलोरें लेने लगता है । परस्पर रसमय हृदय की रसराशि का आस्वादन करने की उत्कण्ठा नव-नागरी एवं नव-नागर दोनों के प्राणों में जाग्रत है । दोनों के नील-पीत अंगसंस्थानों की मिश्रित द्युति से निकुंज देश सुख में हरा हो रहा है और दोनों के गात्र-सौरभ से अतिशय सौरभान्वित हो उठे हैं । झौंटे की गति तीव्र हो रही है और हिन्डोरे के आन्दोलन से गतिशील हुई समीर के झौंकों से सुमन झर-झर झर रहे हैं । मानो कुसुमावलि आत्मोत्सर्ग कर रही हो - इस द्विधा अप्रतिम रूपराशि पर ।

आनन्दपूर हास-विलासजन्य अद्भुत विह्वलता से प्रियाप्रियतम दोनों एक दूसरे के तन में इस प्रकार लिपटते हैं मानों परस्पर आत्मसात् हो रहे हों ।

प्रीतिरस का उच्छलन कितना एवं कैसा है, कौन बतावे ? इतना ही कहना संभव है कि हृत्तल की सीमा में वह अवरुद्ध नहीं हो पा रहा है ।

**कृष्णेन आराध्यत इति राधा**

## नलिनी की कथा

आओ, अब चलें नापितकन्या नलिनी एवं सुगन्धा की सुधि लें । वे भी मंजिष्ठा की परम प्यारी सखियाँ हैं, उनकी निराली सौभाग्य गाथाएँ क्या हैं, अवगाहन तो करें ।

नलिनी, किशोरीरानी के कुन्दनद्युति अंगों में फुलेल मर्दन करती है । वह अपने घर से पारंपरिक रूप से निर्माण किया हुआ औषधियों का सारग्राही संपुट दिया हुआ अंगराग लाती है और रानी के अंगों में उबटन करती है ।

नलिनी को निरे प्रभात ही फुलेल-मर्दन करने वृषभानुभवन आना पड़ता है । रानी ज्यों ही निद्रा त्याग कर शय्या से उठती हैं ललिता नलिनी को पुकार लगाती है । अत: वह एकाकिनी ब्राह्ममुहूर्त होते ही अपने गृह से चल पड़ती है, वह अपने स्नान, श्रृंगारादि सभी कार्य वृषभानुपुर पहुँचकर वहीं सम्पन्न करती है । आज उसे कुछ विलम्ब हो गया है । पिछले दिवस उसे रानी का उबटन निर्माण करना था, पुरातन निर्माण समाप्त-प्राय: था । अत: दिवसपर्यन्त उपयोगी वनौषधियों का संचय करने वह वन में भटकती रही थी । जो औषधियाँ उसे इस उबटन में डालनी होती हैं, वे सभी नारायण गिरि में ही बहुलता से प्राप्त होती हैं, अतः उन्हें ढूँढकर लाने में उसे संपूर्ण दिवस वनों में भटकना पड़ता है । वनौषधियां इकठ्ठी करके उन्हें स्वच्छ कर उसने कूटकर, पीसकर, छानकर उनका चूर्ण बनाया है और तब दधिकी, मक्खन की, मलाई की शताधिक भावना देकर यह विलेप निर्मित हुआ है । उसका सम्पूर्ण दिवस इस उबटन लेप के निर्माण में ही लग गया था ।

संध्या समय वह अपने निवास की छत पर किंचित्काल घूमने आयी थी । वृषभानुबाबा ने उसके परिवार को रहने के लिये अपने उद्यान में ही निवास दे दिया है । वह निवास यथार्थत: तो उनके राजमहल का ही एक भाग है । भ्रमण करते हुए उसने लक्ष किया कि सर्वत्र पद्म गंध को धारण किये मलय पवन अति मन्द-मन्द प्रवहमान हो रहा है । न जाने क्यों छोटी-मोटी लतायें, गुल्म, वृक्ष सभी आज पुलकित हैं और साथ ही अति उल्लास में भी

भरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं । उसे प्रतीत हुआ मानो किसी विशेष उत्साह से समग्र वन सुसज्जित हो रहा है । शोभा, जैसे वन के अणु-अणु से प्रस्फुटित हो रही है । उसे किंचित् आश्चर्य तो हुआ किंतु मन ही मन उसने समाधान कर लिया कि अवश्य ही रानी कुछ काल पूर्व इस उद्यान में भ्रमणार्थ आयी होंगीं । तभी समग्र वन उल्लसित एवं पुलकित-प्रफुल्लित है ।

कोकिला, शुकादि पक्षियों की मधुर ध्वनि सर्वत्र गुंजित है। आम्रवृक्ष बौरों से लदे हैं। सहसा उसकी दृष्टि में एक आश्चर्य प्रकट हुआ, उसने लक्ष्य किया कि नवीन पल्लवों और पुष्पों से अलंकृत सामने ही स्थित उस कुंजकुटीर के पीछे अमृतमयी उज्ज्वल, स्निग्ध एवं शीतल किरणें लहरा रही हैं। आज पूर्णिमा तो थी नहीं, जो चन्द्रोदय होता, फिर ये अनुपम किरणें तो भूमि स्थल पर ही हैं, व्योम से तो इनका संबंध ही नहीं है। अब उसे यह भी समझ में आया कि इसी ज्योतिपुंज के ही कारण आज सर्वत्र विशुद्ध सन्मय उल्लास हो रहा है। वह आश्चर्यचकित थी कि यह श्याम प्रभा तो सब अगजग को भुलानेवाली विलक्षण प्रेममयी है। अब तो उसका समग्र मन नेत्रों में ही एकाग्र हो गया । वह एक दीवार की ओट में हुई उधर ही दृष्टि स्थिर करके छुपकर बैठ गयी। अहा ! उस निर्मल प्रभा से शनैः शनैः अगणित शारदीय चन्द्रमाओं का मन हरण करने वाला मुखचन्द्र व्यक्त होने लगा। अरे ! अरे!! इस गोल मुखचन्द्र में तो पूर्ण चन्द्र व्यक्त होने जा रहा है। इसके मनोहर अतिशय विलासमद से बोझिल झुके-झुके दो विशाल नेत्र भी हैं। उसका आश्चर्य और बढ़ गया। वे नेत्र आकर्षण की खान थे; महान रस से भरपूर थे। और अब तो उस ज्योतिसुधा निधि से सौन्दर्य की परम मनोहारी तरंगें उठने लगीं। और वे तरंगें ही ललनाओं के चित्त को चुराने में अति शूरवीर समग्र अंगों के रूप में प्रकट होने लगीं।

नलिनी परम मुग्ध थी। कुछ बोल नहीं पा रही थी। उसकी सब अंगों की गति सहज ही रुक गयी। उसके हृदय में अपरिमित, अथाह, दिव्य प्रेमामृत समुद्र उमड़ उठा। वह देखती जा रही थी- शनैः शनैः उस सच्चिन्मयी नील-ज्योति से मयूरपिच्छगुम्फित मुकुटधारी सुन्दर सुख का कन्द मस्तक प्रकट हुआ, घुँघराली अलकावलि भी व्यक्त हो गयी। और तब प्रकट हुआ- वह परम प्रसन्न वदन-सरोज जो अलौकिक सौन्दर्य-माधुर्य से भरा छलकता सरोवर ही था।

उस नवीन जलद के समान धनश्यामकान्ति-वपु के ऊपर पीताम्बर लिपटा था। हृदयदेश में मालती और कमल पुष्पों की माला थी, जिनपर रसलोभी भ्रमर मँडरा रहे थे। समस्त अंग चन्दन से अनुलिप्त थे। काले घने केश थे। वह अपने मस्तक पर स्वर्ण खचित पाग पहने थे। मन्द-मन्द मृदु मुस्कान की छटा सर्वत्र बिखर रही थी। उसके एक हाथ में कीड़ा-कमल था, कटिफेंट में मुरली खौंसी हुई थी । नलिनी उस रूपोदधि को देखकर आनन्द में डूब गयी । नलिनी को यह भी ज्ञान नहीं रहा कि वह स्वयं कौन है, कहाँ जा रही है, क्यों जा रही है। उस करोड़ों-करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाले रूप ने उसके मन को बलात् आकर्षित कर लिया । वह धीर- धीरे अति मन्द-मन्द पैर रखती निश्शब्द छत से नीचे आँगन में उतरी । उस निवास से बाहर आयी और आर्त्त विह्वल हुई उस ज्योति की ओर दौड़ पड़ी । वह ज्योति ज्यों की त्यों उस कुंज के सहारे खड़ी मधुर, मधुर मुसका रही थी । यदा-कदा उसके चरण नूपुर बहुत ही मधुर ध्वनि कर उठते थे । दोनों ने एक दूसरे को देखा । और तब नलिनी प्रेम-सुख-रस के समुद्र में डूब गयी । वह बेसुध हो गयी थी । उस समय उसमें अन्य कुछ भी अवशेष नहीं रहा था ; मात्र लीला-आस्वादन की वह यंत्र बन गयी थी । बाह्यज्ञान का सर्वथा अभाव होने से, लज्जा, भय, एवं मान कुछ भी व्यवधान उसके एवं उसके प्रियतम के मध्य नहीं रहा था । प्रेमसुधा में मत्त वह सहज सब कुछ त्याग, दौड़ पड़ी थी अपने प्रेमास्पद के पास ।

सारा जगत् ही उसके मन से हट गया था, और सभी विषय-सुख-समूहों की उसे विस्मृति हो गयी थी । उसके सारे अंग निश्चेष्ट थे, वाणी रुद्ध थी । उसे तो यही अनुभव हो रहा था कि मधुर, सुमधुर, उस मधुर से भी परम मधुर तथा उससे भी और मधुरतर-मधुरतम एक नीलज्योति उसके चतुर्दिक उसे अपने आलिंगन में बाँधे है । उस नीलज्योति के अंगों में नित्य, निरन्तर माधुर्य अभिवर्द्धित होता जा रहा है । और उस मधुरार्णव की लहरें उसे भी आत्मसात् कर उसके समस्त अंगों में माधुर्य उँडेल रहीं हैं । वह समस्त सौन्दर्य और माधुर्य का मूल-आधार, बीज, मूलस्रोत, नीलकमलरूप सुन्दर कलेवर अपार मधुर सुगन्ध से भी भरा है । उसी में दो नेत्र-कमल, एक मुख-कमल, एक नाभि-कमल, दो कर-कमल, दो चरण-कमल हैं जो तेज एवं शोभा के भण्डार हैं, जिनके पृथक्-पृथक् वर्ण हैं, एवं उन सभी में से भिन्न-भिन्न मधुर सुगन्ध भी प्रवाहित हो रही है । एक ज्योतिर्मान नीलकमल

में आठों विभिन्न वर्णों के कमल और नीलकमल की अपनी गन्ध के साथ इन आठों कमलों की विभिन्न विचित्र सुगन्ध, सबके संयोग से वह परम सुन्दर श्रेष्ठ अनुपम विलक्षण शोभा, जो उसके सम्मुख थी, वह उसमें उमड उमडकर समा रही थी । उसके अंग-अंग मे वह शोभापूर भर रहा था । नलिनी छक गयी । न जाने कितने काल तक वह इस दशा में पड़ी रही। जब ब्राह्म मुहुर्त हो गया, प्राची दिशा में अरुणाई फूट पड़ी तब ही उसे बाह्यज्ञान हुआ, तब तक वहाँ अन्य कोई नहीं था । उसने इधर-उधर चतुर्दिक देखा । उद्यान पूर्ववत् था । वह कुंज के चतुर्दिक घूम आयी । कहीं उस नील चिज्ज्योति की उपस्थिति का कोई चिन्ह भी शेष नहीं मिला । वह विचार करने लगी - "वह कोटि-कोटि मनोजमनोहर, परम विलक्षण नीलश्याम कलेवर कौन था ? क्या वे ही किशोरीरानी के प्राणहरण नीलमणि हैं ? वे ही नन्दतनय क्या इस उद्यान में आये थे ? हाय, हाय ! कहाँ वह सुधामय सौन्दर्य, दिव्य रूप गुण की अनन्त निधि और कहाँ मैं अत्यंत कुत्सित मन और तन को धारण करने वाली कुरूपवती नापित कुमारी ? कहाँ वह प्रेम-सुधापूर आनन और कहाँ स्थान-स्थान पर शीतला के दाग के समान कुरूपता के चिन्हों से भरा मेरा कलूटा मुख ? हाय ! यह क्या कर बैठी मैं ? यों सोचते-सोचते नलिनी के सम्मुख उसके सारे दोष भयानक रूप में मूर्तिमान होकर प्रकट हो गये । वह उनको देख-देख कर काँपने लगी । वह डर गयी । अब रानी को अपना यह मुख मैं कैसे दिखाऊँगी ? इतनी भयानक दोषी एवं घोर पापिनी मैं प्रियतम नीलमणि के अंगों से लिपटने का साहस ही कैसे कर बैठी ? जिसके मन एवं शरीर की मलिनता का पार ही नहीं है, वह महानिर्लज्ज कदाचरण करने वाली अब किस मुख से रानी की चरणरज का जीवनव्यापी आश्रय चाहेगी ? वह, बुद्धि से तो यह सब विचार कर रही थी परन्तु उसका भीतरी मन अब भी उस रूप, शील, सौन्दर्य और सद्गुणों के समुद्र में डूब जाने को आतुर हो रहा था । वह, इस निर्लज्ज दशा का महावीभत्स चित्र रानी के सम्मुख रखने को व्याकुल हो उठी । उस महा-अधमा की निर्लज्जता की सीमा ही नहीं है । अहा ! कितने अनुपमेय और अतुलनीय गुणों के आगार कहाँ तो नीलसुन्दर, उसकी स्वामिनी के प्राणनाथ, और कहाँ महाघृणित दोषों से भरी वह कामुकी पामरी। उसके मन की प्रियतम से मिलने की इच्छा तो ऐसी ही थी जैसे घोर अन्धकार की प्रकाशमय सूर्य से मिलने की इच्छा हो जाय । उसके हृदय में अत्यन्त असह्य पीड़ा जाग उठी । वह लड़खड़ाते पैरों से किसी प्रकार रानी के

पास पहुँची तो सही, परन्तु पहुँचते-पहुँचते उसकी सम्पूर्ण बाह्य-चेतना लुप्त हो गयी, वह सारी सुध-बुध खोकर उनके चरणों में गिर पड़ी ।

किशोरीरानी ने उसे अपने अंगों में सटा कर अपने अंचल से उसका मुख मार्जन किया । पीयूषपूरित कण्ठ से वे बार-बार उसे "नलिनी ! नलिनी ! बहन क्या हो गया री तुझे, " कहकर जाग्रत करने की चेष्टा करने लगीं । किशोरी अतिशय प्यार से उसके मुख का चुम्बन किये जा रही थीं और उससे प्रश्न पर प्रश्न कर रही थीं :- "अरी बहिन री ! तू तो नित्य आनन्द में डूबी रहती थी, अद्‌भुत मधुर हास्य सदा ही तेरे मुखसरोज पर रह-रहकर नाचता ही रहता था । तेरे सम्पूर्ण अंगसंस्थान निरन्तर मानो सुख की ऊर्मियों पर ही संतरण करते रहते थे । हाय रे ! आज तुझे यह क्या हो गया री ? वही तेरा गात्र आज अचानक कृश क्यों हो गया री ? एक ही दिन में ऐसा परिवर्तन किस हेतु से री ? अरे ! अरे !! तू आकुल हुई रो रही है ? तेरे प्राणों में तो आजतक मैंने कभी यह व्याकुलता नहीं देखी ? तू मुझे इस सबका कारण सत्य, सत्य बतला दे री !"

इस प्रकार अनवरत प्रश्न करने पर भी जब नलिनी की मूर्च्छा नहीं भंग हुई तो रानी को सहसा भान हो गया कि अवश्य ही इस आकस्मिक परिवर्तन का हेतु उसके प्राणनाथ नीलसुन्दर ही हैं । उन्होंने ही इस पर कुछ अपनी कारस्तानी की है । निश्चय ही नलिनी के मर्मस्थल में उनकी ही बंकिम चितवन समा गयी है । रानी ने ललिता को पुकार कर नलिनी के उपचार की व्यवस्था करायी । कुछ क्षणों में ही ललितारानी के उपचार से नलिनी अर्द्धचेतन हुई - परन्तु यह क्या ? नलिनी पुनः रानी के चरणों में गिर गयी । ललिता एवं मंजुलीला आदि सखियाँ उस पर व्यजन कर रही थीं, फिर भी वह सिसकियाँ लेती रुदन करती ही जा रही थी - "अरी ! बहिन, कैसे हटा दूँ री, तू ही बता ? मेरा तो मन उस मोहन की मोहिनी छवि पर जाकर अटक गया है । हाय री ! बहिन, न तो मुझमें उनकी सेवा करने की शक्ति है, न सेवा की योग्यता ही, न सेवा के योग्य कोई पदार्थ ही है मेरे पास; मैं तो मात्र तेरी अकिंचन चरण-रज-दासी हूँ री ! मुझ में उनकी सेवा का भाव भी नहीं है, न ही तनिक-सा भी त्याग है । मेरा तो समस्त जीवन ही नीच स्वार्थ से पूर्ण, धिक्कार के योग्य है । तभी न बहिन ! यह अनुमान हो जाने पर भी कि वे तेरे प्राणपति हैं, मैं उनके अंग में समागयी । आज जब उनके मिलन का मुझे अभाव है,- मेरा मन चिरकाल से चित्त में अंकित-

उस श्यामचंद्र के दर्शन के लिये परम विकल है । देख न, बहिन ! मेरी हृदय-यंत्रणा असीम रूप में बढती ही जा रही है । मेरे हृदय-रस-समुद्र में भयंकर अग्नि जल उठी है । हृदय में प्रचण्ड पीड़ा उठ खड़ी हुई है । एक-एक पल युगों के समान हो गया री ! तनिक भी धैर्य और विवेक नहीं रहा । देख, बहिन ! मैं कैसी निर्लज्जतापूर्वक तेरे ही सम्मुख उनसे मिलन की अपनी टेक व्यक्त कर रही हूँ। कहाँ है मुझमें तत्सुखिया भाव ! क्या मैं अतिशय कुरूपा, सर्वतोभावेन मलिन हृदया, अधम जाति-कुल की नाइन उनका सुख विधान कर सकूँगी ? कदापि नहीं । फिर मात्र मत्सुख की पापाग्नि ही तो मुझे भीषण रूप में जला रही है ?"

"परन्तु मेरी बहना ! उस रूपराशि को - जो सौन्दर्य का अतल समुद्र है, जिसमें अनन्त अतुलनीय प्रीति-गुणों की तरंगें उठती हैं, जिसके एक-एक कण पर अपरिमित कामदेव न्यौछावर हैं, भला कौन ऐसी नारी संभव है जो उन अंगों की मोहिनी को देखकर अपना मन संवरित रख सके ? बहिन ! मेरे लिये तो लाख चेष्टा करने पर भी, अपने को बुद्धि से अनेक बार धिक्कारने पर भी धैर्य धारण करना असंभव हो गया री ! मैंने जितने भी बाँध लगाये, सब टूट गये; मेरे मन ने बुद्धि को दुत्कार कर पूर्ण मिलन की मनोहर इच्छा करली। बहन ! अब तू चाहे मुझे घोर नरकयंत्रणा का दण्ड भले ही दे, मेरी जो दशा है वह निष्कपट मैंने तेरे सम्मुख रख दी।"

सारा सखी-समाज इकठ्ठा हो गया है । नलिनी कभी कातर होकर करुणापूर्ण क्रन्दन करती रानी के चरणों में अपना मस्तक रगड़ने लगती है, कभी अपलक नेत्रों से उन्मादिनी की तरह आकाश की ओर देखती -"हा प्रियतम ! हा, हा नन्द किशोर !" पुकारने लगती है । कभी वह ध्यानस्थ होकर बैठ जाती हैं । तब उसकी दोनों आँखें बन्द हो जाती है । उसे समस्त योगिक समाधियों से विलक्षण प्रेमसमाधि लग जाती है । उसके सारे अंग स्पन्दनरहित हो जाते हैं । सारी सखियाँ उसकी विलक्षण प्रेम दशा से चमत्कृत हो रही हैं । वह पुन: कहने लगती हैं - "इसीलिये बहिन, मैं सदा ही उनसे छुपी ही रही । तेरे ही द्वारा प्रदान किये गये निवास से तुझे उबटन लगाने महल में आना और भानुमहल से पुन: अपने निवास पर चले जाने के अतिरिक्त मैं कभी वनोद्यानों में भी नहीं गयी । मैं सदा ही ध्यान रखती थी कि उनके सम्मुख कभी भी नहीं आऊँ ? परन्तु, मेरे समस्त संगुप्त रहने के

प्रयास के उपरांत भी बहिन ! वे मेरे निवास के पार्श्व के उपवन में पिछली रात्रि चले आये री !"

"बहिन ! मैं तुम्हारी यह पवित्र, अनुपम, अनूठी, अभिमानरहित, आत्यंतिक उदार और अपनी नीच परिस्थिति को देखकर लज्जा के मारे गड़ जाती हूँ । परन्तु बहिन, मैं अवश थी । उनका मुखचंद्र निरखकर मेरा यह जन्म, मेरा जीवन सार्थक हो गया री ! मैं धन्य हो गयी । मेरे दोनों नेत्र सफल हो गये । मेरे पंचप्राण प्रेमरस से आर्द्र हो गये री ! उन्होंने अपनी अहेतुकी पीयूषवर्षिणी दृष्टि डालकर, मेरे अन्तस् में शीतल, सुखद, असीम सुधासागर भर दिया । उनके साथ चाहे मैं मात्र दस क्षण ही रही, परन्तु उनके सान्निध्य में, मैं शिवबीजा, शिवस्वरूपा, सुमतिमयी बनी रही । परन्तु उनके बिछुड़ते ही मुझ में पश्चात्ताप की भयंकर अग्नि जल उठी । उनके बिदा होते ही मेरी पवित्रता, सुषमा, सुन्दरता सभी जाती रही । अब तो बहिन, तेरे चरणों में यह शरीर शव की तरह पड़ा है । मैं अत्यन्त दीन, दारुण दुखमयी, व्याकुल और अधीर हुई तेरी चरण रज की शरण हूँ। बहिन ! जो चाहे सो दण्ड दे, मैं तेरी घोर अपराधिनी हूँ । हे परम उदार बहिन ! अब तू जैसे चाहे, वैसे अपनी प्रीति की टेक निर्वाह कर ।"

नलिनी की प्रेम तथा दैन्य से भरी वार्त्ता सुनकर रानी के दोनों नेत्र छलछला आये । सखियों की भी सिसकियाँ बँध गयीं । रानी ने नलिनी को अपने प्रेम आलिंगन में बाँध लिया । वे प्रेमाश्रुओं से उसे भिगोती जा रहीं थीं एवं कह रही थीं -- "बहिन ! नलिनी री ! तुम एवं सभी सखियाँ मुझ से पूर्णतया अभिन्न हो री ! यह तुम्हारा मात्र शील ही है कि तुम सभी ने मुझ-तुम्हारी एक तुच्छ सेविका को स्वामिनीपद दे दिया है । परन्तु मैं सत्य, सत्य कहती हूँ कि मैं रूप में, गुणों में, प्रीति में, कला-कौशल में, सेवा में तुम सभी के सम्मुख निज को सदा परम तुच्छ ही अनुभव करती रहती हूँ।"

"तुम सब से रहित हो जाने की स्थिति में तो मेरी कोई सत्ता ही कहीं नहीं रहती है री ! तुम सब मेरी अक्षय प्रीति और सौन्दर्य की कोश हो, जिनसे मैं अपने प्राणप्रियतम नीलसुन्दर की एक कणमात्र रसलालसा परितृप्त कर पाती हूँ। बहिन ! मैं तो तुम्हारे बिना कोई वस्तु ही नहीं हूँ ।"

"बहिन ! मैं सत्य, सत्य, सर्वथा सत्य कह रही हूँ कि तू अपना यह सभी दैन्य एवं विषाद मेरे प्रेमाश्रुओं में बहा दे । तू तो मेरा द्वितीय रसमय रूप है । तुझमें मुझमें कोई द्वैत-भेद है ही नहीं । बहिन ! तू राधा की प्राणों की

प्रतिमा है । और वे मेरे प्राणनिवास हैं । अतः वे तुझसे तुझमें मुझको ही देखकर मिल पाये होंगे री ! बहिन ! तू मेरे आलिंगन में गुँथी है, मेरे चरणों में लिपटी है, उसी प्रकार रात्रि में तेरे पास उनके रूप में भी मैं ही आयी थी री ! राधा और प्रियतम दो पृथक् सत्ताएँ सर्वथा, सर्वांश में नहीं हैं । नयी नयी लीलाओं के निर्दोष रसास्वादन के क्षेत्र में नित्य भिन्न प्रतीत होते हुए भी बहिन ! यही परम एवं चरम सत्य है कि हम दोनों नित्य अभिन्न हैं । "

"बहिन री ! तू पूर्ण प्रसन्न हो जा । बहिन, मुझे शीघ्र नन्दभवन जाना है । कुन्दलता आने ही वाली होगी और देख, यह सुगन्धा भी केश रचना करने आ गयी । अभी तो मैंने स्नान ही नहीं किया री ! तू शीघ्र उबटन और तैलमर्दन कर दे । बस, मैं स्नान कर लूँ ।" यह कहते-कहते रानी ने न जाने क्या किया कि एक अभूतपूर्व ही घटित हो गया । अहा ! नलिनी की दृष्टि ही बदल गयी । उसे रानी के एक-एक अंगों एवं अवयवों में सुन्दर श्रृंगार से सजे प्रियतम दिखने लगे । वह मन से अतीत, बुद्धि से अगोचर प्रियतमतत्व को रानी के रोम-रोम में निहित प्रत्यक्ष देखने लगी । उसके हाथ ही मात्र तैलमर्दन एवं उबटन की क्रिया सम्पादित कर रहे थे । परन्तु मन तो विलक्षण भावदशा में न जाने कहाँ विचरण कर रहा था । हाथ, उसके अपने पूर्व स्वभाव से ही वशीकृत से उबटन कार्य करते जा रहे थे । प्रियतम के दिव्य रससाररूप के दर्शन जो आज उसे प्रिया के रोम-रोम एवं अंग-अंग में भरे -- हो रहे थे वैसे तो कल उसे निशा में भी नहीं हुए थे । तीनों कालों में एवं तीनों लोकों में भी ऐसी सम्पदा -- जो उसे आज अपनी रानी के अंगसंवाहन के पारितोषक के रूप में प्राप्त हो रही थी, किसी को कभी न तो मिली थी, न मिली है, एवं नहीं मिल पावेगी ? नलिनी पूर्णतया परितृप्त हो गयी थी । उसके सम्मुख यह तत्व भी ठीक-ठीक प्रकट हो चुका था कि रानी एवं प्रियतम भिन्न दो पृथक् सत्तायें न थे, न हैं, एवं न ही किसी भी काल एवं अवस्था में होने ही संभव हैं । रानी ही प्रियतम हैं एवं प्रियतम ही रानी हैं ।

(पू० गुरूदेव ने यह लीला सुनाते हुए यह रहस्य भी मेरे सम्मुख खोल दिया था कि इस दिव्य लीला का प्रकाश एवं अनुभूति उनके चित्त में भक्तराज रामराय प्रभु के -"पाछली रात परछाहीं द्रुमपातन की लालजी डोलत रँग भीने द्रुम-द्रुम तरन" पद को श्रवण करते-करते हुई थी । यह पद श्री वल्लभलालजी गोस्वामी - लेखक के पूर्वाश्रम के पिता उन्हें सुनाया करते थे ।

पू० गुरुदेव, उनसे - जब भी वे पू० गुरुदेव के निकट होते - बारह-बारह घंटे पदगायन सुना करते थे । हजारों ही पद उन्होंने पू० गुरुदेव को सुनाये थे और पू० गुरुदेव अपने लीलाराज्य में उन पदों में बीज रूप में निहित लीलाओं का दिव्य दर्शन करते, विलक्षण अप्राकृत चिन्मय जगत् में विचरण करते रहते थे । यहाँ आगे यह पद भी पूरा दिया जा रहा है ।)

भक्तराज रामराय प्रभु का उपरोक्त पद-

पाछली रात परछाहीं द्रुम पातन की,
लालजू डोलत रँग भीने द्रुम-द्रुम तरन !! १ !!
बने देखत बने, लगत अद्भुत मने,
ज्योति की ओत में निकस रही सब धरन !! २ !!
कृष्ण के दरस कौं, अंग के परस कौं
महाआरति मान चली मज्जन करन !! ३ !!
नूपुर धुनि सुनत चकृत ह्वै थकि रही,
परि गयौ दृष्टि गोपाल श्यामल बरन !! ४ !!
जरग सी पाग पर मोर चन्द्रिका बनी,
कमल-दल-नयन भ्रुव-बंक छबि मन हरन !! ५ !!
धाई सब गहन कौं, रसवचन कहन कौं,
भामिनी बनी अति छबि सुधारत चरन !! ६ !!
रोम-रोम रमि रह्यौ मेरो मन बस भयौ
नाहिं बिसरत वाकी झुकन में भुज भरन !! ७ !!
कहै भगवान हित रामराय प्रभुसौं मिलि,
लोकलाज भाज गयी प्रान परबस परन !! ८ !!

## पद का अर्थ

अरी सखी ! तुझे पिछली रात की, विगत निशा की बात बताती हूँ - वे लालजू श्रीकृष्ण अत्यन्त रंगभीने मेरे पिछवाड़े द्रुमों, द्रुमों के नीचे उनके पत्तों की परछाँही में डोल रहे थे । अहा ! मैंने उन्हें छुपकर देखा था। वे देखते ही बनते थे। उनकी छबि का वर्णन शब्दों से असंभव ही है। मेरे मन को उनका सौन्दर्य परम अद्भुत लग रहा था । एक विलक्षण सच्चिन्मयी

नीलज्योत्स्ना का कोई उद्गम स्थल हो, झरना हो, इस प्रकार उस नीली ज्योति के स्रोत में ही उनके अंग-अंग प्रकट हो रहे थे । मैं उन परम प्रियतम श्रीकृष्ण के अच्छी प्रकार से दर्शन करने को, उनके परम पावनतम अंगों का संस्पर्श प्राप्त करने को - जैसे कोई देवमंदिर में भगवद्विग्रह की महा आरती में जा रही हो, इस पवित्र भाव से चल पड़ी । मैं उन्हें उस वनोद्यान में खोजने लगी । सहसा उनके नूपुरों की ध्वनि ने उनका पता मुझे बतला दिया। मैं उनके नूपुरों की ध्वनि सुनते ही चकित हो उठी और उनका अथाह सुन्दर रूप देखती-देखती थक गयी, उनके रूप सौन्दर्य का कहीं न अथ था नहीं इति थी । वह घनश्याम-श्यामलवर्ण किशोर मेरी दृष्टि के सम्मुख था । अहा ! कैसा विलक्षण रूप था उसका - सिर पर स्वर्णखचित जरी की पाग थी, उस पर मयूर की चन्द्रिका वह लगाये था, कमलदलों के समान उसके विशाल नेत्र थे, भौंहें टेढ़ी बाँकी थीं और उसकी शोभा मन को वशीकृत कर लेती थी। मैं उस शोभा-वैभव को समग्ररूप में ग्रहण कर लेने को उतावली हो उठी और दौड़ पड़ी, उससे रसालाप करने को भी मन उतावला हो रहा था । मैं युवती, अपने चरणों की गति की सुन्दरता को सुधारती हुई चल रही थी । सखिरी ! मैं क्या कहूँ, मेरा रोम-रोम उस सुकुमार सौन्दर्य में रम गया री, और मन उसने हर लिया, अब वह उसके ही वशीभूत हो गया री। ज्योंही मैं उसके पास पहुँची, उसने मुझे झुककर अपनी भुजाओं में भर लिया । उसकी भुजाओं में भरने की भंगिमा मैं भूल ही नहीं पा रही हूँ । श्रीभगवानहित रामराय प्रभु कहते हैं कि मेरी सब लोक-लज्जा भाग गयी, मेरे सब अंग मनमोहन किशोर के परवश हो गये और मैं उससे सदा-सदा के लिये जा मिली ।

## सुगन्धा की कथा

रानी की अत्यन्त कमनीय चित्तहारी केशराशि की सज्जा सुगन्धा प्रतिदिन करती है । सर्वप्रथम वह उस केशराशि को वेणी-बंधन से मुक्त कर, उनकी कुन्दनद्युति पीठ पर लहरा देती है । इस केशराशि से घिरा रानी का मुख खिले अरविन्द के सदृश शोभा पाने लगता है । मानो उमड़ती घटाओं के मध्य पूर्ण द्युतिमान शारदीय राकाचन्द्र समुदित हो उठा हो । केशराशि से सौरभ के आवर्त-पर-आवर्त हिल्लोलित हो उठते हैं। वातावरण का अणु-अणु विलक्षण अप्राकृत महक से भर जाता है । कैसी सौभाग्यवती है सुगन्धा कि

उसे इस प्रफुल्लित मुख सरसिज का दर्शन करने का सौभाग्य प्रतिदिवस प्रातः प्राप्त होता है । इस विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्य से छलकते पद्म के मधु से नित्य परितृप्त इस नाइन के लोचनचंचरीक अति विशाल आकर्ण-विलम्बी आकृति धारण कर लेते हैं और अपने सौभाग्य का वर्णन छिन-छिन कानों की तरफ जा-जाकर उन्हें सुनाते रहते हैं । कैसा विलक्षण है राधा-मुख दर्शन का यह अमित आनन्दवैभव कि इस अक्षय कोष को प्रतिदिवस भरपूर प्राप्त करके भी नापित कन्या सुगन्धा मद एवं गर्व से युक्त नहीं होती, अपितु इस आनन्दवैभव से बोझिल हुए उसके नेत्र सदा विनीत, निम्न एवं दूसरों के चरणों में झुके ही रहते हैं ।

नलिनी की तरह दिवस में तो उसे भी नारायण गिरि की घाटियों में भटकना पड़ता है, क्योंकि जहाँ नलिनी, रानी के उबटन के लिये औषधियों की खोज करती है, वहाँ सुगन्धा को रानी का तैल निर्माण करने के लिये औषधियाँ एकत्रित करनी पड़ती हैं । वहीं नारायण गिरि पर्वत पर सूखी औषधियाँ बीनते-बीनते दोनों परस्पर सख्यचर्चा में संलग्न हो जाती हैं । दोनों की चर्चा का विषय तो एक ही है, या तो नलिनी रानी के अंगों की मादकता, सुकुमारता और सुघड़ता का वर्णन करने लगे अथवा सुगन्धा उनकी केशराशि की शोभा का वर्णन करे ।

सुगन्धा की सबसे निराली दृष्टि है, उसे तो रानी के केशों में प्रियतम श्यामसुन्दर भरे दृष्टिगोचर होते हैं । यह रहस्य वह भला किसे और कैसे बताये कि रानी की कांचनवर्णी पीठ पर छितरे केश सुगन्धा की दृष्टि में बाल नहीं- श्याम कज्जलवर्ण, नवकिशोर, नीलम प्रियतम हैं- जो उस पृष्ठदेश के सौन्दर्य से विमुग्ध उससे लिपटे हैं । अहा ! उनका प्रीतिदर्शन पाकर परमानन्द सिन्धु उछल उठता है- सुगन्धा के हृद्देश में । सुगन्धा नलिनी से मादक मुसकान से युक्त हुई लजायी-लजायी अपनी अनुभूति बताती है- "बहिन नलिनी ! मेरी रानी के प्राणधन कैसे हैं, यह तुझे किस भाँति बताऊँ, री । यह तो अनुभूति का ही विषय है, मात्र स्वसंवेद्य है- सब कुछ । अरी तूने तो मात्र एक रात्रि ही उन्हें अपने निवास के पिछवाड़े देखा, बस, दीवानी हो गयी और मैं तो प्रतिदिन ही उन्हें देखती हूँ । खूब देखती हूँ । मेरे प्रियतम तो रानी की केशराशि हैं .... और वह पागल की तरह हँसने लगती हैं । अरी सखी ! मेरे प्रियतम अभिनव सुन्दर प्रतीत होते हैं री ! उनके सौन्दर्य की मधुरिमा नव-नव लीलाविलास की अप्रतिम सुन्दर भंगिमाओं से सदा विभूषित

होती रहती है। उनकी गुणगरिमा नित्य परिवर्द्धित होती ही रहती है । दो तीन निमेष का कालमान व्यतीत होते न होते- नवीन उमंग की लहरें आत्मसात् कर लेती हैं- पूर्व तरंगों को ।

"अरी नलिनी ! षट्पदश्रेणी को बहुत ही गर्व था अपनी सुन्दरता का, परन्तु मेरी स्वामिनी के मस्तक पर सदा विराजित मेरे प्रियतम की शोभा ने, मेरी रानी के अलकजाल की शोभा ने उनका गर्व चूर्ण-विचूर्ण कर दिया; लज्जा के घने आवरण में अलिकुल ने अपना मुख छुपा लिया ।"

"अरी नलिनी ! सच बताना, मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) के जैसे सुन्दर अंगसंस्थान हैं, वैसे क्या तेरे नीलमणि के अंग हैं ? तू तो उनके अंग अंग से लिपटी है न, और मेरी तो मात्र अंगुलियाँ ही उनसे लिपट पाती हैं ? हाँ ! कभी-कभी बयार छेडखानी कर, मेरे प्रियतम को मेरे कपोलों पर उड़ाकर ले आती है । अरी, मेरा तो विश्वास है, मेरे प्रियतम जैसे मृदुल तेरे प्रियतम हो ही नहीं सकते । अरी मेरी अंगुलियाँ जब उनसे उलझती हैं, उस समय मुझे तो वह मृदुलता भी प्रतिक्षण नित्य नव-नूतन बढती ही प्रतीत होती है और मेरे प्राणों को अपार आकर्षित करती चली जाती है।"

"ओह ! जब मेरे (प्रियतम रानी की केशराशि) लोक एवं वेद की मर्यादा छिन्न-भिन्न कर बंधन मुक्त हुए (वेणी-बंध मुक्त हुए) मेरी अंगुलियों को अपने सुकोमलतम हाथों में गूँथकर लहराते हैं, सौरभ से दसों दिशायें सुरभित हो उठती हैं । अरी, इस गिरि परिसर में, इस समूचे वृन्दावन में जो सुवास तेरी घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही हैं, वह सब मेरे प्रियतम के श्रीअंगों का ही सुवास तो है- जो सर्वत्र मादकता भर रहा है । अरी नलिनी ! तू तो यही अनुभव करती है कि यह गुलाब की सुगंध है, यह मोगरा की और यह बेले की । कदाचित् किसी अचिन्त्य कृपा के प्रकाश से तेरी घ्राणेन्द्रियों में यह शक्ति आ जाय, तभी तू समझ सकेगी कि सर्वत्र विश्व में कहीं भी कुछ भी सुखद, सुन्दर, सुमधुर गंध है, वह सब मात्र मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) से ही उद्भूत हो रही है ।"

"और देखरी, मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) जब झूमते चलते हैं तो उनकी कमनीयता में मादक अभिनव आकर्षण होता है । पलक पड़ते-न-पड़ते उनके सुधामय अंगों से अप्रतिम शोभा की वेगवती सरिता निर्मित हो जाती है; अरी, वाणी से क्या बताऊँ मेरी बहना ! तू उनके विशाल, उन्मुक्त, बंकिम, नित-नूतन-शोभामय, प्रतिपल नवीन-नवीनतर दृष्टिगोचर होने वाले, सर्वत्र

रससुधा की सरिता बहाते रूप को देख तो सही, तब तुझे पता चलेगा कि उनकी तरुणाई और ललित लावण्य का विकास कैसा है ? अहा, उनके अंगों से कैसी दिव्य ज्योति प्रतिक्षण प्रसरित होती रहती है ? अरी, वे मात्र कृष्ण-कज्जल प्रतीत होते हैं, परन्तु सार की बात तो यही है कि दिनकर की रश्मियों में जो रंग हैं, वे इसी केशराशि के सुन्दरतम वर्णों की छाया की छाया ही तो हैं ।"

"तनिक सी म्लानता का लेश भी कदापि स्पर्श नहीं करता- मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) की ज्योति को । यह ज्योति ऐसी विलक्षण है कि अपनी आस्वादनीयता के गुण का कभी परित्याग नहीं करती । अपितु इनकी रमणीयता उत्तरोत्तर परिवर्द्धित होती रहती है । नित्य नवीन रससुधा का संचार करती रहती है , यह । निरवधि अपलक निहारते रहने पर भी नयन तृप्त नहीं होते । नित्य तरसते ही रहते हैं- पुनः पुनः दर्शन के लिये।"

"अरी बहिन ! मेरी आत्मा के आत्मा ये मेरी रानी के केश ही तो हैं । ये काले-काले कृष्णकुंतल मेरे असंख्य प्राणों के प्राण हैं । मेरे प्राणसारसर्वस्व, प्राणाराम, प्राणवल्लभ, चतुर चूड़ामणि, मेरे ये ही श्यामल सर्वस्व हैं।"

"देख बहिन ! तू अत्यन्त बुद्धिमान है री, ज्ञानगरिमा के आलोक में तूने अपने प्रिय का निर्धारण किस महाभाग्यवान को किया है, यह तू ही जाने। मैं तो अपना हृदय खोलकर तेरे सम्मुख रख गयी हूँ । मैं तो सचमुच यही अनुभव करती हूँ- अपने हृत्तल में प्रत्यक्ष देखती हूँ - ये मेरे प्रियतम नित्य नूतन रस से भरे ही रहते हैं।"

"अरी बहिन नलिनी ! मेरी एक अन्तिम प्रार्थना मान ले ! तेरे प्रिय से मुझे मिलाना तो तेरे वश की बात है नहीं और उनसे मिलने पर न जाने कैसी बेहोशी, मूर्च्छा, प्रलाप, सिसकियाँ, सखियों के सम्मुख प्रहसन, लोक-कुल का अपयश, आत्म-धिक्कृति -- न जाने क्या-क्या मेरी दुर्दशा होगी, परन्तु मेरे प्रियतम के तनिक से दर्शन तू सहज रुप में एक बार कर तो ले । मैं शपथपूर्वक कहती हूँ, बहन ! उन जादू भरे मेरे प्रियतम के नील श्रीअंग को देख लेने के अनन्तर तू अन्य सब को देखना ही स्थगित कर बस नेत्र मूँदे ही रह जायेगी । उनकी बंकिम छटा तो बस ऐसी ही निराली है री !"

यों कहती-कहती सुगंधा नलिनी से लिपट जाती है । फिर दोनों अपने-अपने कार्य -- सूखी औषधि बटोरने में लग जाती हैं ।

हाँ, तो उस दिवस नलिनी तो शीघ्रतापूर्वक अपनी आवश्यक सूखी काष्ठ औषधियाँ लेकर चली गयी थी, एकाकिनी सुगन्धा ही वनपथ से अपने निवास लौट रही थी । उसे सम्मुख ही नलिनीके प्रियतम नीलमणि मिल जाते हैं ।

उनके नवनीरदवर्ण श्रीअंगों पर पिंगल दुकूल झलमला रहा होता है । गुञ्जा की माला कण्ठ देश को विभूषित कर रही होती है । मस्तक पर मणिमय मुकुट, उस पर गुम्फित मयूरपिच्छ, कुञ्चित केशराशि, भाल पर विराजित मृगमद का बडासा बेंदा, उस नील मुखमण्डल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता, कान्ति को देखकर सुगन्धा ठगी-सी रह जाती है ।

उनकी आँखों में असीम अनुराग भरा रहता है, सुगंधा के प्रति । उनके हाव-भाव मुख-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे उस पर प्राण न्यौछावर कर रहे हों । उनके हृत्तल में हिलोरें लेती अनुराग की ऊर्मियाँ ऐसी मनोहर होती हैं मानो उसे अपने हृदयमंदिर में संस्थापित कर लेने के लिये वे व्याकुलता की सीमा लाँघ रहे हों । सुगन्धा पर प्राण न्यौछावर करते वे वहीं पथ पर बैठ जाते हैं ।

अब भला वह नापित कन्या क्या करे ? वह तो अतिशय संकोच में गड़ जाती है । वे रानी के, उसकी स्वामिनी के प्राणवल्लभ हैं, उसके तन का कण-कण अनन्त कृतज्ञ है उनका । वह तो बिना मोल की दासी है उनकी । "हाय ! मुझ नीच जाति की दासियों की दासी से वे यह कैसा व्यवहार कर रहे हैं ?"

"परन्तु हाय ! कैसी विचित्र दशा है इनकी ? उन्मादी हो गये हैं, ये । कुञ्चित अलकें बिखर गयी हैं इनके भाल पर ; निर्निमेष विस्फारित नेत्रों से चारों ओर देख रहे हैं वे । इनको अपने तन की सुधि ही नहीं रह गयी है । परिधान का भी भान नहीं है इन्हें । ऊँच-नीच का भेदज्ञान भी अवशिष्ट नहीं रह गया है इनके मन में । फिर वेष-भूषा कहाँ, कैसी हो गयी है इनकी, इसे कौन सँभाले ?"

सचमुच ही प्रीति का पथ निराला है - सबसे पृथक् सर्वत्र स्वतंत्र है यह। यहां न नीतिगत बंधन है, न ही जातिगत मर्यादा, न ही लोकगत, वेदगत कोई अनुशासन ही । यहाँ न कोई ऊँचा है, न ही नीचा । चरित्रहीन अथवा चरित्रवान, पुण्यात्मा अथवा पापी ये सब शब्द ही यहाँ के भाषाशास्त्र में हैं ही नहीं । यहाँ तो, प्रीति की उद्‌गमस्थली वृषभानुजा से बस एकात्मताजन्य योग होना चाहिये । बस, यह निराविल योग होते ही ब्रजेन्द्रनन्दन अपने आप इस

प्रीति-धरा में, उसकी नवीन-नवीन दिव्य ऊर्मियों में उच्छलन उत्पन्न करने आ पहुँचते हैं । वे स्वच्छन्द खूब स्नान करते हैं इसमें । बस उस जुड़े हुए, जुड़ी हुई के प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब कुछ वे जब तक निमग्न नहीं कर देते उछालते ही रहते हैं इन ऊर्मियों को । वे उस महाभाग्यवान गोपी को- गोपी तो उन्हें दिखती ही नहीं, उन्हें तो सर्वत्र उनके प्राणों की कोर, हृदय की प्रेम हिलोर वृशभानुजा ही भिन्न-भिन्न नाम एवं रूप ग्रहण किये दिखाई पड़ती हैं- अपने से पूर्ण एकात्म कर लेते हैं ।

वे, उसके श्रवण पुटों में अपनी मनोहारिणी गिरा भर देते हैं । बस, अब तो उसके कानों में या तो निरन्तर उनकी कोई रसभरी वाणी गूँजती रहेगी, अथवा उनकी मधुस्पंदी मुरली की तान । उनके इस मुरली रव और अधरों से निस्सृत स्वर की झंकृति के अतिरिक्त वह कुछ सुन ही नहीं पाती । अन्य सम्पूर्ण शब्दघोष के लिये उसके कान बहरे हो जाते हैं ।

तो लो, सुगन्धा के कानों में उन प्राणधन नीलसुन्दर की अमृतमयी प्रीतिवाणी भरने लगी - "सुगन्धे ! मेरी जीवन सर्वस्व !! अहा तू कितनी सुन्दर है, मैं तुझे अपनी आँखों की काली पुतलियों में छुपाकर रख लूँ । प्यारी! मेरे रोम-रोम की यह उत्कट अभिलाषा है । प्राणाधिके ! इतना ही नहीं, इन नयनों के सुगुप्त पथ से मैं तुम्हें ले जाऊँगा अपने उरस्थल के देश में और फिर अनुराग-रज्जु से बाँध लूँगा तेरे चरण-सरोरुहों को- अनन्त काल तक के लिये वहीं अपने हृदय में । फिर मेरी अप्रतिम सुन्दर निधि ! तुम निरवधि सदा सदा वहीं रहना ।"

अब सुगन्धा करे तो क्या करे ? उसके नयनों की काली पुतलियों में तो उनकी अनिन्द्य रूप-राशि पूरी की पूरी भर गयी है । उसके नेत्र उस रूपजाल में ऐसे फँसे हैं कि निकल ही नहीं पा रहे । यदि यही दशा उसकी जो अभी वर्तमान में है, नित्य निरन्तर बनी रही तब तो वह अन्य किसी वस्तु को भविष्य में कभी देख ही नहीं पावेगी । फिर तो केवल यही त्रिभुवनमोहनरूप ही उसका दृश्य अवशेष रह जायेगा । सकल दृश्य प्रपंच के लिये वह सर्वथा अंधी हो जायेगी ।

अहा ! इनके चरण कितने सुकोमल हैं - इन्हें तो रानी के बालों का आस्तरण बिछाकर, तब धरा पर अवतरित कराया जाये । इसीलिये तो रानी अपने तन के सुकोमलतम भाग- उरोजों पर भी इन्हें रखती सकुचाती हैं, इस संकोचवश कि कहीं उनके उरोजों की कुचकर्णिका इन चरणों में गड़ नहीं

जाये । वे प्राणघन, अरे ! वे ही इस वनपथ में खड़े हैं । अहा ! कैसी दीन मुख-मुद्रा बनाकर वे उस एक साधारण दासियों की भी दासी नापित कन्या से याचकवत् प्रेम की भिक्षा माँग रहे हैं । उसका मन, बुद्धि के शासन से विद्रोह कर उठता है और चाहता है कि दौड़कर अपने प्राणघन को अपनी बाहुओं में बाँध ले । परन्तु उसकी हिचक यही है कि उसका यह व्यवहार किशोरीरानी की मानमर्यादा के सर्वथा अनुकूल नहीं होगा ।

ये रानी के प्राणपति हैं, उसकी स्वामिनी के जीवनसर्वस्व हैं, उसे तो मात्र उनके चरण-रज की सेवा का ही अधिकार है । इनके अंगों में रानी की अनुज्ञा लेकर वह तैल-मर्दन कर दे, चरण-संवाहन कर दे - यह तो उसका कर्तव्य हो सकता है, परन्तु अपनी स्वामिनी के प्राणनिकेत का प्रेम निवेदन वह कैसे स्वीकार करे ? ये राजाधिराज वृषभानुमहाराज के जामाता हैं, ये कुछ भी बोलें, कहें, करें, इन्हें सब क्षम्य है । वह तो इनकी बिना मोल की दासी है, उसके रक्त के कण-कण पर इनका अधिकार है, ये उसे कुछ भी कह सकते हैं, परन्तु वह इनकी प्रणयिनी हो - यह तो कल्पना भी वह नहीं कर सकती । अतः सुगन्धा धरती में गड़ी जा रही है । वह आकुल कण्ठ से मन ही मन प्रार्थना कर रही है :-

"हे धरती माता । मेरी रानी की मर्यादा में मैं कलंक लगाने वाली नहीं होऊँ । अभी तू फटकर मुझे अपने भीतर समाहित करले । मैं इस मर्यादाहीन लज्जास्पद स्थिति से किसी भी प्रकार बचना चाहती हूँ ।"

परन्तु हाय ! न तो भूमिदेवी ही उसकी प्रार्थना पर किञ्चित् विचार कर रही हैं, न ही ये नीलसुन्दर ही अपनी हठधर्मिता को त्याग रहे हैं । अहा ! उनकी कैसी प्रेममयी वाणी है । कितना रसामृत घुला है उसमें !

"प्राण प्रियतमे ! तुम ही तो मेरे शतसहस्र प्राणों की अधिदेवी हो, मेरे असंख्य प्राणों की एक मात्र प्रतिष्ठा हो । जीवनेश्वरि ! अपनी अहैतुकी कृपा का प्रकाश कर मुझे एक वस्तु का दान दे दो- चिर अभिलाषा सँजोये मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ । मेरे उद्विग्न प्राणों की लालसा यही है, इतनी ही है कि मेरी आँखें अपलक निहारती रहें केवल, केवल, तुम्हें निरवधि । मेरे मन के कण-कण में मेरे प्राणों के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में नित्य विराजित रहे तुम्हारा, बस तुम्हारा ही यह मुखचन्द्र । करुणामयि ! अपरिसीम करुणा का प्रवाह तुम्हारे इन लोल लोचनों से नित्य निरन्तर प्रसरित होता रहता है । उस प्रवाह की एक कणिका मात्र मुझे दान कर दो ! बस 'एवमस्तु' कह दो।"

यह कहते हुए लो, वे आगे बढ चले ।

"नहीं, नहीं, मुझ मलिन देह, अधम-प्राण, निकृष्ट कामुक-मना नाइन को आप स्पर्श नहीं करें," कहती हुई सुगन्धा का रोम-रोम निषेध की ज्वाला से दहक उठा । उसके नेत्र बरस उठे । वह अति मधुर स्वर में बोल उठी - "मेरे नीलचन्द्र ! मैंने आजतक रानी के सौदामिनी-सदृश कंचन वर्ण पद-द्वय ही अपने हृदय में विजड़ित रखे हैं । उनके अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपने हृदय में स्थान दिया ही नहीं । रानी की कुंचित केशराशि की सेवा के अतिरिक्त मैंनें कुछ देखा नहीं, जाना नहीं ; और भविष्य में भी किंचित् भी देखना-जानना चाहती भी नहीं । साथ ही यह भी सत्य है कि मुझ कुरूपा, कुलच्छना, कुजाति की नाइन के लिए इसके सिवा सोचने-समझने को हो भी क्या सकता है ?"

"कथन मात्र के लिये 'स्व' के रूप में मुझ से सम्बद्ध जो भी था एवं है, उस सर्वस्व को तो सहज ही आत्यंतिक उल्लास के साथ मैं रानी को समर्पित कर चुकी हूँ । फिर आप मुझ से कुछ भी माँगे मेरे पास, आप रानी के प्राणवल्लभ हैं - इस नाते अदेय हो भी क्या सकता है ? परन्तु प्राणसुन्दर ! मुझ किंकरी को किंकरी ही रहने दीजिये । चरण-धूलि का स्थान चरण-स्थल ही है । वह मस्तक पर यदि उड़कर चढ भी जाये तो उसे परिचारिकाएँ झाड़ देंगी ? झाड़कर, कंघी से, स्नान से, उबटन से उसका निवारण और परिमार्जन कर दिया जाना ही अवश्यंभवी विधान है ।"

"मेरे स्वामी । मुझ निम्न घृणित जाति की, नीच कर्म करने वाली महामलिन नाइन देह का स्पर्श कदापि मत करिये, कहीं मेरे मलिन पापकर्मों की छाया आपका अमंगल नहीं कर दे, मैं भयभीत हूँ , मेरे नाथ ! मैं आपके द्वारा ऐसे सम्बोधनों की अधिकारिणी कदापि नहीं हूँ - फिर इस भाव से स्पर्श की जाऊँ यह तो कल्पनातीत बात है । मैं आपकी दासियों की दासियों की भी अनुदासी हूँ, मुझे अपनी स्थिति में ही रहने दीजिये । बस, बस, क्षमा करें स्वामी !"

नीलमणि, मूर्च्छित सुगन्धा को अंक में भर कर घने वृक्षों के कुञ्ज में ले जाते हैं । झर-झर नेत्र बरसाते वे उसे अपनी निराविल प्रीति में स्नान कराते हैं । सुगन्धा ज्यों ही दो क्षण के लिये स्मृतियुक्त होती हैं, तो यही पाती है कि नीलसुन्दर का परम सुखद, मादक स्पर्श सर्वथा व्यवधानरहित होकर उसकी त्वगिन्द्रियों में मूर्त्त हो रहा है । किसी अन्य संस्पर्श की क्षीणतम स्मृति

भी नहीं बची है उसके चित्त में । एक मात्र उनका ही स्पर्श उसके गात्र में अवशिष्ट रह जाता है । इतना ही नहीं, उसकी रसना भी नीलमणि के अधरपल्लवों से झरते मधुमय सुधारस से परिपूरित हो उठती है । अब बुद्धि के निषेध से मन कब तक वर्जित रहे । महारस-सिन्धु के उद्वेलन को तट चाहे कितना ही सुस्थिर हो, कबतके झेलता रहेगा, अन्ततः ढह ही जायगा। अतः प्रियतम के झुके सुधारस-परिपूरित अधर, कमनीय, अरुणिम गोल कपोल, रसीले नेत्र, बंकिम भ्रू-विलास, ऐसे मन्मथमथन के प्रेमजाल में उलझा ही देते हैं ।

वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की मन्द स्मिति, कितनी मोहक है कैसी मादकता भरी है इसमें, इसका अनुभव वही कर सकता है, जिसे वे कराना चाहें । परन्तु जिस महाभाग्यवती अथवा महाभाग्यवान का ऐसा सौभाग्य संघटित हो जाता है, उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है, सम्पूर्ण बाह्यज्ञान निवृत्त हो जाता है, उसकी स्वतंत्र सत्ता रहती ही नहीं । बिचारी नापित कन्या सुगन्धा की तो बिसात ही क्या, मुनीन्द्र, अमरेन्द्र, मानवेन्द्र, दानवेन्द्र, खग, मृग, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, कोई भी देहधारी आज तक तो दृष्टिगोचर हो न सका जिसकी अहंता इस मुसकान के दर्शन के अनन्तर भी जाग्रत् रही हो, सचेत रह सकी हो । सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीतकर साधन की चरमोत्कृष्ट दशा में अवस्थित योगीगण, कायिक, वाचिक, मानसिक तपःपूत तपस्वीगण, ज्ञान की गरिमा में पूर्ण-प्रतिष्ठित, तमोगुणजनित अज्ञता से सर्वथा दूर रहने वाले ज्ञानीवृन्द, त्याग की जीवन्त प्रतिमा, सुख की भ्रान्ति सृजन करने वाले जागतिक भोगों को चित्त से सर्वथा बहिष्कृत कर देने वाले त्यागी, ये सभी बिक जाते हैं नंददुलारे के कोटि-कोटि शशधरों की कान्ति बिखेरने वाले लावण्ययुक्त मुखमण्डल की हास्य छटा को देखकर ।

फिर यह साधारण राधा-दासी सुगन्धा कैसे प्राणसुन्दर नीलमणि के सभी आयुधों के प्रहार सह पा रही है ? इसका उत्तर यही है कि रानी के प्रति इसके अगाध समर्पण ने इसके हृदय में तत्सुख-भाव इतना सुदृढ़ कर दिया है कि तत्सुख-भाव-भावित हुई यह प्रियतम का सुखानुसंधान करने में ही पूर्णतया निरत है । स्वभोग लालसा की छाया भी इसे स्पर्श नहीं कर पा रही है ।

इसीलिये सुगन्धा के विचार इसी केन्द्र-बिन्दु पर उमड़-घुमड़ रहे हैं । "हाय ! मेरे प्रियतम को यह क्या हो गया है ? कैसे व्यामोह में ये पड़ गये हैं ? मुझ महाकुरूपा में निश्चय ही इन्हें रानी की मुखशोभा दिख रही है ।

इसी से ये उन्मादग्रस्त हुए इस प्रकार का अनर्गल, असंगत प्रलाप कर रहे हैं।" सुगन्धा प्रियतम के बाहु बँधन में बँधी रोम-रोम की आकुलता से अपनी स्वामिनी किशोरीरानी को पुकारने लगती है ।

"हे मेरी स्वामिनी ! मेरे रोम-रोम की आकुल पुकार सुन ले री ! मैं तेरे जीवनधन इस नीलमणि को कैसे समझाऊं ? ये तेरी प्रीति में उन्मादी हुए मेरे तन में तेरी रूपगरिमा भरी देख रहे हैं । मुझ सी सर्वथा अयोग्य को अपना अनाविल प्यार दान देकर ये अपार दुःखराशि को आमंत्रण दे रहे हैं । और हाय रे ! उसी को अप्रतिम सुख भी मान बैठे हैं वे ।

"ओह ! मेरी प्राणसहचरी ! तू ही कोई उपाय कर जिससे इनकी यह अतिशय दुस्साध्य व्याधि दूर हो सके । इनका यह मोह रोग मिटाना मेरे तो सर्वथा वश का नहीं है । आज न जाने कौन से विपरीत ग्रहों की छाया मेरे इन प्रियतम पर पड़ गयी है । अहा ! कैसा भीषण व्यामोह है कि चराचर के समस्त सुखों के सर्वथा उत्सरूप मेरे प्रियतम मेरे कारण अपार सुखों से सर्वथा वंचित हो जावेंगे । अब मैं क्या करूँ ? मेरे वश में तो कुछ भी रहा नहीं है। मेरे अन्तस्तल में तो जैसे शूल चुभ रहा हो, शूलभेदन जैसी पीड़ा हो रही है मेरे रोम-रोम में । हाय ! ललितारानी को जैसे ही पता चलेगा - इस नापित कन्या से प्रियतम ने रमण किया है, वह तो फिर इन्हें रानी के कुंज में प्रवेश ही नहीं करने देगी ? वे अतिशय कोपवती हुई मुझे रानी की सेवा से ही वंचित कर देंगीं । मेरा तो चाहे जो हो, परन्तु ये परम रसमर्मज्ञा, सर्वसुखदान में अतिशय निपुणा, अप्रतिम सुन्दरीरानी के बिना भला कैसे सुखी हो सकेंगे ? कदापि नहीं । हाय ! मुझे तो इनका सुख इसमें ही दिखाई पड़ रहा है कि शीघ्र से शीघ्र इनका यह भयंकर व्यामोह दूर हो जाय।"

और इसी समय एक विलक्षण संयोग संघटित होता है । आज रानी नन्दभवन पाक रचनार्थ जाने के पूर्व सुगन्धा के गृह जाने की इच्छा कर लेती हैं । उनमें सुगन्धा को कोई अलंकार उपहार देने की इच्छा परम प्रबल हो उठती है । अतः वे सुगन्धा को ढूंढने उसके गृह की ओर जाने वाले वन की ओर चल निकली हैं । पथ में ही उन्हें सुगन्धा के पद चिन्ह यहां से सघन वन में वृक्षों की ओर गये दृष्टिगोचर हो जाते हैं ।

अहा ! कानन की धरा को प्रिया श्रीराधाकिशोरी ने किस अद्‌भुत कृपा प्रसाद का दान किया है । प्रियारानी के आगमन से वह धन्य-धन्य हो रही है। रानी के मृदुल सुकोमल अनावृत चरणतल कानन की धरा पर संचरण

करें, धरा क्या, धरा से सम्बद्ध सभी तृण-वीरुध, दूर्वा, कुश आदि भी धन्य-धन्य हो रहे हैं । रानी कुछ दूर ही वन में आगे बढ़ी होंगी कि प्रियतम नील सुन्दर के चरण चिह्न भी दृष्टि में पड़ जाते है । रानी के साथ ललिता, मंजुश्यामा, मंजुलीला, विशाखादि सभी सखियाँ हैं साथ ही मंजिष्ठा घोपानी भी है। रानी के मुख पर प्रियतम के चरण-चिन्ह देखकर मन्द मुसकान आ जाती है । ललितारानी की आँखों में अभिनव मनोरम-कौटिल्य तो नित्य समाया रहता ही है, थोडी नेत्रों में लालिमा और बढ़ जाती है । उनके आनन-सरोज में विराजित अनुपम रसमयता में मिश्रित हो जाता है- विलक्षण मानजन्य प्रिय को अनुशासित करने का भाव ।

किन्तु किशोरी के प्राणों में तो विलक्षण प्रीति का संचार हो रहा है । वे सोच रही है - "कोई भी हो, कैसी भी हो, जो एक बार भी मुझसे जुड़ चुकी है, उसे तो प्राणवल्लभ अपनायेंगे ही । उससे उपरत वे हो ही नहीं सकते । अहा ! सुगन्धा प्राणों में कैसी उत्कण्ठा संजोये मुझसे जुडी है । फिर सांवर मेरे प्राणप्रियतम जो एक मात्र मेरी ही निधि हैं, मेरी ही वस्तु हैं वे उसे क्यों कर कण्ठ नहीं लगावेंगे । वे तो सुगन्धा में मुझे ही देख रहे हैं । जिसने मेरे चरणों को थाम लिया, उस सुगन्धा में उन श्यामल चंचरीक ने मुझ चम्पा की ही गन्ध तो पायी है, फिर वह उस पर समाकृष्ट क्यों नहीं होगा ? और सुगन्धा तो अतिशय मृदुल हृदया है, अभिमान, गर्व तो उसे छूकर ही नहीं गया है, कितना समुज्ज्वल हृदय है उसका । वह तो सर्वथा सर्वांश में मेरे मुख पर सदा सर्वस्व न्यौंछावर करती है फिर मेरे प्राणवल्लभ, प्राणरमण राधा दासी सुगन्धा की अप्रतिम निष्ठा का पुरस्कार न दें, यह कैसे संभव है ? वे उसे कभी भी विसार नहीं सकते ? रानी गुन गुना रही हैं -

> प्रीतम प्रीति ही तैं पइये ।
> यद्यपि रूप गुण शील सुघड़ता इन बातन न रिझैयें ।
> सतकुल जन्म कर्म शुभ लक्षण वेद पुरान पढैयें ।
> गोविन्द बिना नेह सौं आली, रसना कहा नचैये ।

रानी के मन में मधु का स्रोत उमड़ चला है । उसके भाव में उसे उसके प्रियतम अतिशय कृतज्ञता प्रकाश करते कह रहे हैं - "प्राणवल्लभे ! तुम्हारे चरणों में सर्वस्व समर्पण करने वाली ये किंकरियाँ जो अभिमान-मद

को सर्वथा गलाकर रजःकणिकाओं की तरह तुम्हारे चरणों में संलग्न हैं, मुझे तो प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं । हे दयामयि ! चाहे वे नापित हों, चाण्डालिनी हों, रजकिनी हों, मालिन हों, हड्डिप कुल में जन्मी हों, जब तुमने इन्हें अपनी नित्य सेवा-सन्निधि प्रदान कर दी, तब मैं इन्हें कैसे त्याग सकता हूँ । तुम्हारे चरणों से जुड़ते ही इनका निवास तो मेरे हृदय आसन पर हो ही गया। क्योंकि तुम्हारे युगल चरण अनादि काल से मेरे हृदय के ही अलंकार थे, हैं और निरवधि रहेंगें । मेरे प्राणों की रानी ! फिर इस सुगन्धा के पवित्र हृदय को तो तुम स्वयं जाँच लो, परख लो । यह महा महिमामयी तो, हे, मेरी प्राण संजीवनी ! तुम्हारे चरणों को सर्वथा एक निष्ठ अपने हृदय में स्थापित किये है । मैं तो इसका निरवधि ऋणिया हूँ ।" अपने प्रियतम की परम प्रेममयी भाववाणी सुनते-सुनते रानी के नेत्र अनर्गल अश्रु प्रवाहित करने लगते हैं । वे ललिता के कंधे का सहारा लेकर उस सघन वृक्ष कुंज के भीतर प्रवेश कर जाती हैं ।

रानी और सभी सखीमंडली के सम्मुख कुंज के भीतर का दृश्य उजागर हो उठता है । सुगन्धा की आकुल प्रार्थना-शब्दावली रानी के कर्ण विवरों में सुधा प्रवाहित कर देती है:-"मेरी स्वामिनी ! मेरे रोम-रोम की आकुल पुकार सुन ले री । मैं इन नीलमणि, तेरे जीवनधन को कैसे समझाऊँ ? वे तेरी प्रीति में उन्मादी हुए मेरे तन में तेरी प्रीति-गरिमा भरी देख रहे हैं । मुझ सी सर्वथा अनधिकारिणी को ये अपना अनाविल प्यार दान देकर अपार दुःखराशि को आमंत्रित कर रहे हैं ।"

रानी के आवेग को सखियाँ रोक नहीं सकीं । वे लताजाल को चीरकर कुंज के भीतर प्रविष्ट हो जाती हैं । वे दौड़कर सुगन्धा को अपनी गोद में ले लेती हैं । उनके नेत्र प्रेमाश्रुओं से झरते सुगन्धा के मस्तक को भिगो रहे हैं। रानी की बाहुओं में बँधी सुगन्धा सर्वथा बेसुध-विमुग्ध है । उसकी दोनों भुजायें बद्धाञ्जलि की मुद्रा धारण किये है । उसका रोम-रोम उद्घोष कर रहा है ।

"जिसमें मेरी रानी के प्रियतम प्राणनाथ नीलसुन्दर निरवधि सुखी रहें बस वही विधान हो, हे भगवान् नारायण ! मैं आपकी शरण हूं, मेरी रानी के जीवनसर्वस्व के सम्मुख अनन्त अपरिसीम अनुपम सम्पूर्ण सुख नित्य अभिव्यक्त रहे । हे प्रभो ! हे विधाता ! मेरी यह लालसा पूर्ण हो । हो गयी, हो गयी, हो ही गयी ।"

"हाय ! यह सुगन्धा कैसी गंगा-यमुना सी पवित्र है । धन्य है इसकी माता सुधर्मा, धन्य, धन्य हैं इसके पिता नापितराज सुबोधनजी और धन्य है इसका कुल ।" सभी सखियों के नेत्र प्रेमाश्रुप्रवाह से झर-झर बरस रहे हैं । रानी ने बाह्य-ज्ञान-शून्य पाटला को गोद में ले लिया है । रानी के प्रेमाश्रुप्रवाह से पाटला का वक्षस्थल भीग गया है । ललितारानी के नेत्र भी झर-झर बरस रहे हैं । एक कोने में खड़ी मंजुलीला सुबक रही है । मंजुश्यामा, रानी को सम्हालती हुई एक ओर रो रही हैं । उनके हिचकी बँध गयी है । प्रियतम अपना उपरैना शीतल जल से गीला कर लाये हैं और निचोड़ रहे हैं पाटला के मुग्ध नेत्र-मुँदे आनन पर ।

रह-रहकर सुगन्धा के ओठ बुदबुदा रहे हैं - "मेरे प्राण रौरवादि नरकों में भले ही जलते रहें । हाय ! ललितारानी जैसे ही जानेंगी कि इस कलमुँहीं नाइन से प्रियतम ने रमण किया है, वे अतिशय कोपवती हुईं इनको रानी के निकुंज में ही प्रवेश नहीं करने देंगीं । हे विधाता ! ये रानी से विहीन कुम्हलाऐ कमल से क्लान्त मुख, निकुंज के द्वार के बाहर निम्नग्रीवा आसीन हुए होंगे - उस समय मेरे प्राण उस अथाह ग्लानि को कैसे सह पावेंगे ? हे विधाता, ऐसा विधान करो जिससे इन नीलसुन्दर को अपार अनन्त निरवधि सुख सौभाग्य मिले । हे धरादेवी ! फट पड़ो और मुझे अपने गर्भ में निहित कर लो ।"

रानी सुगन्धा का मुख बन्द कर देती हैं । रानी के द्वारा मुख बन्द किये जाने पर सुगन्धा नेत्र खोल देती है । वह रानी का मुखारविन्द अपने पर झुका हुआ पाकर विस्मय से भर जाती है । अहा ! पूर्ण विकसित अरविन्द के समान रानी का आनन कैसी वात्सल्यराशि सुगन्धा पर वर्षा कर रहा है- इसे कैसे भाषा दी जा सकती है ? सौरभ का पुंज उसके कण-कण से झर रहा है। बदन सरोज में अभिनव प्रेमामृत मधुर-मधु परिपूरित है ।

इस प्रफुल्लित सुखसरसिज की अपनी सखी पर ऐसी निरुपम वात्सल्य वर्षा देखकर सभी सखियाँ प्रफुल्लित हो उठी हैं । इस विलक्षण शोभामय मुखसरोज के मधु से आकृष्ट प्रियतम के लोचन चञ्चरीक मतवाले हो उठे हैं। वे अतिशय व्यग्रता तथा परम उत्कण्ठा लेकर इस सरोज के मधुपान में सर्वलज्जा त्याग संलग्न हो उठते हैं । किन्तु इन मधुलोलुप को भला तृप्ति कहां ? अपितु इनकी मधुपान-लालसा प्रतिक्षण बढ़ती ही चली जा रही है ।

सुगन्धा को विश्वास ही नहीं हो पाता कि वह रानी की गोद में है । उसे क्षणभर प्रियतम का मुख दिखता है फिर रानी का । वह बिलख उठती है- "तुम स्वामिनी हो कि प्रियतम, मैं निर्धारित नहीं कर पा रही हूँ । परन्तु क्या सच, मेरी स्वामिनी ! तुम मुझ अधमा की पुकार पर खिंची आयी ? क्या मेरी व्याकुल प्रार्थना ने तुमको मुझ तक पहुँचा दिया ? मेरी हृदयेश्वरी ! अपने इन हृदयेश्वर को सँभालो" - यह कहती सुगन्धा ने पास ही आसीन श्यामसुन्दर का हाथ पकड़कर रानी के कर-सरोज में विधृत करा दिया । और स्वयं प्रेमावेशवश मूर्च्छित हुई लुढ़क जाती है, रानी की गोद में ?

अब भला इस दशा को प्राप्त सुगन्धा भी मंजिष्ठा की क्या सहायता करेगी? स्वयं अंधा, अंधों को मार्ग दर्शन नहीं ही करा सकता ? परन्तु एक दिवस इस सुगंधा के सम्मुख भी मंजिष्ठा अपनी समस्या रख देती है । सुगन्धा तो मंजिष्ठा के चरणों में ही गिर जाती है । उसके चरणों की धूलि वह अपने मस्तक पर धारण करने लगती है । कहती है - "बहन ! तेरे पास प्रियतम का पीताम्बर मंजुलीला बहन प्रतिदिन स्वच्छ करने भेजती है, इस पीताम्बर को साधारण अम्बर कदापि मत मान लेना ? अरी रानी के अंगों का वर्ण और रानी भिन्न थोडे ही हैं । रानी का राधा नाम, रानी का रूप, रानी के गुण, रानी के निवास महल, रानी का ग्राम-धाम सब पूर्णतया रानी, साक्षात् हमारी प्यारी रानी ही हैं । अरी मूर्खा ! इन्हें कहीं कूटती-पीटती तो नहीं है ? अरी इन सबमें यदि तुझे कुंकुम पंक लगी मिल जाय तो उसे धोकर फेंक मत देना, मुझे बुलाकर दे देना । मैं अपनी सखी माणिकी को वह दे दूंगी । और सुगन्धा दौडी-दौड़ी सचमुच ही माणिकी को पकड़कर न जाने कहां से ले भी आयी । माणिकी के साथ प्रेमवती और नलिनी भी चली आयीं । टोकरों में असंख्य रँगों के विलक्षण सौरभ-प्रवाह से सम्पूर्ण क्षेत्र को मह-मह महकाते पुष्प भी आ गये ।

## सभी सखियों की समवेत लीला

अब तो सुगन्धा गुरु बन गयी । नलिनी ने सुन्दर पुष्प मन्दिर निर्माण कर दिया और प्रेमवती एवं माणिकी पुष्पासन, पुष्प शय्या, पुष्पालंकार बनाती बनाती पगली ही हो रही थीं । सुगन्धा ने मंजिष्ठा से रानी के नीले वस्त्र और पीताम्बर उस पुष्पासन पर विराजित कर दिये और रंगरागा की प्रियदर्शन की लालसा तो असीम हो उठी । और जब किसी की भी यह

लालसा असीम हो उठती है तो उसे प्रियदर्शन होते ही हैं । भाग्यवती और पुण्यपुञ्जा नृत्य करने लगीं । सुगन्धा रंगरागा से कहती है - "अरी निगोडी मेरी आँखों को अपनी आँख बनाकर देख, कुछ दिखा ? बस, रंगरागा उन्मादिनी हो जाती है, वह तो एक ही रट लगा रही है -"दिख गये री, दिख गये, मिल गये री, मिल गये ।" मंजिष्ठा भी नृत्य करने लगी । सबके पैरों मे न जाने कहाँ से घुंघरू विजड़ित हो गये हैं । घुंघरू झँकार कर रहे हैं।

इन सभी पगलियों, उन्मादिनियों को होश कहाँ है । अनवरत नृत्य-गान चल रहा है । न दिन का पता है, न रात का । सबकी ऐसी विलक्षण दशा है कि यदि कोई बाहर का व्यक्ति इनमें से किसी एक को भी स्पर्श कर ले तो निश्चय ही ऐसा भाव का वेग उसमें जाग उठता है कि वह भी नृत्य करने लगता है । सम्पूर्ण रजक, मालिन, नापित एवं हड्डिप परिवार सब का सब रानी के पास चला आता है । सभी सखियों सहित रानी आकर उस पुष्पासन पर विराजित हो जाती हैं । नीलसुन्दर देव तो ऐसे अवसर खोजते ही रहते हैं। वे भी रानी के पार्श्व में ही आ विराजते हैं । ललितारानी ने वीणा सम्हाल ली है । तुंगविद्याजी ने गायन प्रारंभ कर दिया है । विशाखा मृदंग बजा रही हैं । क्या ही भावावेश है सभी को ? जो भी होशरहित हुई जैसे ही गिरने लगती है, रानी अथवा प्रियतम सम्हाल लेते हैं उसे । रानी का अंक सभी का प्रेमाश्रय जो है । नदियाँ सिन्धु-गर्भ में ही तो समाहित होंगी ? समग्र वृषभानुपुर रानी का ही तो कायव्यूह रूप है । जहाँ से जिसका उद्भव है, वहीं तो वह विलय होगा । महाभाव-सिन्धु की कैसी विलक्षण तरंगें हैं ।

इन तरंगों में डूबते-उतराने का कभी हम पामर जीवों का भी सौभाग्य होगा - निश्चय, निश्चय, निश्चय ही- रानी की चरणधूलि का आश्रय लेने वाले कृतार्थ होगें ही ।

# सारिका प्रसंग

(यहाँ इस परिच्छेद में उन लीलाओं का अनुशीलन है जो, पू० गुरुदेव जब सारिका भाव में स्थित थे- उस समय उनके अनुभव में आयी थीं । पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा तो लीला-महासिन्धु थे। उनकी हेतुरहित महाकृपा इस महाअधम पामर जीव पर थी, जिस कृपा के वशीभूत हुए वे परम अनधिकारी मानते हुए भी यदा-कदा लीला-महासिन्धु की एकाध ऊर्मि के छींटे इस अधम जीव पर डाल देते थे । उन दो-चार ऊर्मियों का ही यहाँ पाठकों के लिये उल्लेख है । वैष्णवजन इनका अवगाहन कर अवश्य कृतकृत्य होंगे ।

पू० गुरुदेव लगभग दो-तीन मास सारिका भाव में रहे । उन्होंने मुझे अपनी तृण-भाव में जब वे वृन्दावन में थे, उस समय की भी एक लीला सुनाई थी, उस लीला का भी आगे प्रकाश किया गया है । )

## सारिका प्रसंग: प्रथम लीला

### सारिका का प्रादुर्भाव

अहा-देखो ! भगवती श्रीराधारानी स्नान करने जा रही हैं । निकुञ्ज महल के चतुर्दिक् सघन कदम्ब वृक्षावली हैं । मंजरियाँ एवं सखियाँ विभिन्न कार्यों में व्यस्त हैं । कोई उबटन तैयार कर रही है, कोई चन्दन घिस रही है । कोई छोटी-मोटी कटोरियों में विभिन्न फुलेल डाल रही है । कोई श्रीप्रिया के पहनने के वस्त्राभूषणों को निकाल कर सजा रही है ।

सम्मुख कुछ ही दूरी पर गिरिस्रोत बह रहा है । घाट परम मनोरम हैं। कुछ सखियाँ रानी के पूर्व ही स्नान कर चुकीं हैं। वे घाट से लौट रही हैं। कुछ मंजरियाँ एवं सखियाँ अपना स्नानादि कार्य प्रिया से पूर्व ही सम्पन्न कर लेना चाहती हैं । वे अपने वस्त्र अपने साथ ही लिये घाट की ओर जा रही हैं । घाट तक पथ में आवागमन का ताँता लग रहा है । कोई अपने केशों में कंघी कर रही है, कोई शीघ्रता से वेणीबंधन कर रही है, कोई अपने सुन्दर रेशमी वस्त्रों को सूखने के लिय फैला रही है, कोई अपने नेत्रों में अंजन कर रही है ।

सघन कदम्ब वृक्षावली के पश्चात् जामुन वृक्षों की पंक्तियाँ हैं । जामुन के पीछे बिल्व वृक्ष लगे हैं, इधर दक्षिण में बेर हैं और आगे दाड़िम के अति मनोहारी वृक्ष हैं । पथ के दोनों ओर दाड़िम वृक्षों की शोभा विलक्षण है । आगे कदली वन हैं । सभी वृक्ष पुष्पित हैं और उनमें भ्रमर गुंजार कर रहे हैं।

इन वृक्षावलियों को चतुर्दिक् घेरे जो क्षुप, वीरुध-श्रेणियाँ एवं लता वल्लरियाँ हैं, वे मनोहारी कोमलकिसलय समूह से घिरी हैं, और उनमें विकसित, उल्लसित एवं सुरभित, सुमन सर्वत्र आनन्द प्रवाहित कर रहे हैं ।

भावसमुद्र का अनिर्वचनीय नित्य अभिनव उच्छलन वनस्थल के वृक्ष-वृक्ष मे लता-वल्लरियों में, सुमन-सुमन में हो रहा है फिर भला रानी पार्श्व में ही

स्थित रहकर इस प्लावन का, इस भाव-प्रवाह का अनुभव न करें, यह कैसे संभव है ?

रानी अपने भाव में डूबी हैं । वे देख रही हैं - परम रमणीय वृन्दावन है । अहो, कैसी अद्भुत बात है कि उन की जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही अप्रतिम अनुराग के निर्झर झर रहे हैं । सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वास की उन्मत्त पयस्विनियाँ प्रसरित हो रही हैं । वे अनुभव करती हैं कि उनके इस दृश्य जगत् के समस्त अधिवासियों की सम्पूर्ण वृत्तियां केन्द्रित हैं पूर्णतया व्रजमयंक पर ही । वृक्ष-लता-वल्लरियाँ, कीट-भृंग, स्थावर-जंगम, सबके सब अनुप्राणित हैं उनके नीलम के प्राणों से ही । सभी के प्राणों की एक ही चिर साध है - "व्रज के चन्द्रमा ! सुखी रहो तुम ! तुम्हारे सुख-संवर्धन की भूमिका का निर्माण ही सदा हम सभी के द्वारा हो । कभी स्वप्न में भी तुम्हारे सुख का विघातक कोई भी नहीं बने ।" किशोरी विचार करने लगती है-"हाय ! इस वन में तृणों में भी जब मेरे प्रीतम नीलम के प्रति ऐसी अगाध निर्मल प्रीति है, फिर विधाता ने मुझे ऐसी कठोर वज्र के समान हृदय वाली क्यों बनाया है ? देखो ! देखो ! इन वृक्षावलियों पर बैठे शुक, सारिका, कपोत, कपोती सभी तो मुझसे श्रेष्ठ हैं, ये सभी प्राणरमण नीलमणि को अपने नेत्रों की पुतरियों में बसाये हैं । ये पक्षी ही नहीं, ये ऋतुएँ भी राशि-राशि कमलों का उपहार देने उमड़ पड़ती हैं । इन ऋतुओं की यहाँ कोई कालावधि ही नहीं है । एक भूखण्ड में प्राणवल्लभ चरण रखें तो शरद सोलह श्रृंगार किये समुपस्थित हो जाती है । तत्क्षण ही दूसरे पार्श्व के भूखण्ड पर उनके चरण रखते ही हेमन्त नवधान्यों का अम्बार लगाकर प्राणसुन्दर की अर्चना करने को अति समुत्सुक खड़ी दृष्टिगोचर हो जाती है । देखो ! नन्दनन्दन यदि मुसका उठें तो शिशिर क्यों चूके भला, वह ओसकणों की मुक्ताओं की असंख्य मालायें पिरोकर प्राणवल्लभ का पथ सजाती सम्मुख उपस्थित हो ही जाती है । और वसन्त तो उनके नेत्रों में काजल-सी सदा लगी ही रहती है । वे जिधर भी दृष्टि डालें वह कुसुमित वल्लरियों का, मुकुलित आम्र शाखाओं का वितान निर्मित कर आकुल हृदय से पुकार उठती है -"हे प्राणरमण ! हे मेरे जीवननिधि !! हे हृदयधन !!! इस आस्तृत सुमन शैया पर एक क्षण विश्राम कर लो । देखो, मैं मलय-मारुतरूप व्यजन तुम पर अपने हाथों डुलाऊँगी । इस ग्रीष्म ने जो भी श्रान्ति देकर तुम्हारा स्वेद बहाया है, वह सब श्रान्ति मैं हर लूँगी । देखो, मेरे हृदयधन ! मैं कोकिला के परम मधुर सुरीले कंठ के

'कुहू-कुहू' गान से तुम्हारा मनोभिनन्दन करूँगी । और लो ! ग्रीष्म इस एक भूखण्ड में डेरा जमाये शान्त प्रतिवाद कर रहा है । कहता है – "प्राकृत शरीरधारी मेरे स्पर्श से भले ही जलें, उन्हें मैं भले ही प्रिय नहीं लगूँ परन्तु हे, मेरे प्राणवल्लभ ! मेरे जीवनसर्वस्व !! तुम्हारे लिये तो मैं सर्वथा-सर्वथा अपना स्वभाव बदल चुका हूँ। मैने अपने तपनशील ज्वालामय वस्त्रालंकारों को अन्यत्र सुदूर दूसरे प्राकृत स्थानों में फेंककर ही तुम्हारे इस मनोरम वृन्दावन में अपने चरण रखे हैं । प्राणवल्लभ ! कालमान से गणना करके कोई भले ही कह दे कि यह ग्रीष्म है, परन्तु तुम्हारे समीप हे व्रजसुन्दर ! मेरे दाहक गुण कदापि-कदापि व्यक्त नहीं हो सकते । मेरे समस्त अस्तित्व में ही मेरे सर्वस्व ! तुम्हें वसन्त की सुषमा को भी तिरस्कृत करने वाली मनोरमता मिलेगी ।" किशोरी देख रहीं हैं – सचमुच ही ग्रीष्म ने अपने बनभाग की निराली शोभा बना दी है । अगणित निर्झरों के झर-झर शब्दों में झींगुरों की कर्णकटु ध्वनि सर्वथा दब गयी है । अहा ! ये प्रपात भी असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित कर, मेरे प्राणधन नीलमणि की कैसी आनन्ददायिनी सेवा करने को समुत्सुक हैं । सम्पूर्ण वनस्थली ही इन निर्झरों से सिक्त हो उठी है। मेरे प्राणप्यारे के चरणों को सुशीतलता देने के लिये हरित दूर्वा का आस्तरण सर्वत्र आस्तृत है । देखो, देखो ! ये सरितायें, ये सरोवर, ये प्रपात और कुछ भी सेवा नहीं कर सकें तो इस मलय मारुत को अपने स्पर्श से अति शीतल कर मेरे प्रियतम को सुख देने की अपनी स्पृहा तो अवश्य ही प्रकट कर दे रहे हैं । देखो ! ये पद्म, नीलोत्पल, कुमुद अपनी मकरन्द इस व्रजपुर की परिक्रमा करती वायु को सौंपकर सुना क्या निवेदन कर रहे हैं, तनिक सुनो तो – "हे सखि समीर ! तुम तो बहिन ! अमृत सहोदरा हो, तुम अपनी मन्द मन्थर गति से झुर-झुर रव उत्पन्न करती प्रत्येक वृन्दावनवासी को सुधास्पर्श कर सुखदान करती रहती हो । इसीलिये किसी भी काननवासी को ग्रीष्मकालीन सूर्य की अग्नि के ताप की अनुभूति ही नहीं होती । एक तुच्छ सी सेवा हमारी भी कर दो, न ? हमारे प्यारे नन्दनन्दन जहाँ भी हो, हमारी यह किंजल्क तुम अपने आँचल में भर कर ले जाओ और उनके चरण सरोजों में समर्पित कर देना और यदि तुम्हारा ऐसा साहस नहीं ही हो सके तो उनके चतुर्दिक् ही इसे उड़ा देना ।"

देखो ! न इन प्रपातों के प्रेम प्रयास के कारण घोर निदाघ में भी रवि की रश्मियाँ कानन के धरातल का रस-शोषण नहीं कर सकीं । सर्वत्र

हरियाली ज्यों की त्यों बनी है । यहाँ की तरुराशि, लताएँ वैसी-की-वैसी राशि-राशि कुसुमों के भार से अभी भी नमित हैं । कण-कण से सौन्दर्य का स्रोत वैसे-के-वैसे प्रसरित हो रहा है ।

देखो । ये कलरव करते विहंगम, ये मनोहर संचरण करते मृग, अपने केकारव द्वारा नीलघन को निरन्तर पुकारते मयूर, मधुर गुञ्जन करते भ्रमर, कूजन करती कोकिल, सभी तो नीलसुन्दर को अपने हृदय में बसाये हैं । इन सभी के हृदय में भले कोई भी झाँककर देख ले, सभी को विलक्षण अनुराग रज्जु में बँधे मेरे प्राणधन नीलमणि के चरणसरोरुह ही दृष्टिगोचर होंगे । इनके हृदयों में ही नहीं इनके रोम-रोम में अनन्त काल तक के लिये मेरे नीलम ने प्रेम-परवश होकर नित्य वास कर लिया है ।

"मेरे प्यार के निस्सीम कोश- मेरे प्रियतम को, मेरी अप्रतिम सुन्दर निधि को ये सभी अपने अन्तःकरणों में निरुद्ध कर चुके हैं और हाय ! मेरा जीवन कैसा वीभत्स है कि उसमें मात्र स्वसुख लालसा ही स्वसुख लालसा, आत्मपूजा ही आत्मपूजा परिपूर्ण है।"

"हाय कैसी कठोर हूँ मैं । वज्रमणि भी ऐसी नीरस एवं कठोर तो नहीं ही होती होगी । वज्रमणि को वज्रमणि से तो चूर्ण-चूर्ण किया ही जा सकता है। मेरे हृदय में लबालब भरे घोर अहंकार का तो सर्वत्र वर्धन ही वर्धन होता है, वह तो किसी भी प्रकार चूर्ण हत, होता ही नहीं । फिर ऐसे कठोर गर्व- भरे, मदयुक्त अहं को प्रीति जैसी सरस, सुकोमल भावराशि भला कैसे मसृण कर पावे ।"

वे मन ही मन अपने प्राणवल्लभ से अपने मन की वार्ता निवेदन कर उठती हैं । नित्य सुन्दर जीवनधन ही तो उसके निजस्व हैं । यह नवजलधर-श्यामल रूप ही तो उनके अणु-अणु की ऊर्जा है । नव-मेघश्यामल तत्व से ही तो उसका अणु-अणु सिक्त है । वे मन ही मन अपनी दैन्य भरी प्रार्थना अपने प्रियतम के चरणों में निवेदन करने लगती हैं - "नीलम रे ! मेरे हृदय में तो मात्र मेरा अहंकार ही अहंकार सक्रिय है । फिर भला वहाँ तुम्हें स्थान कैसे मिल पावे ? मेरा चित्त इतना मलिन है कि प्राणवल्लभ ! तुम्हारी स्मृति मेरे चित्त को छू ही नहीं पाती । बहुत प्रयास से किसी प्रकार तुम्हारी स्मृति करती हूँ, तो वह स्थिर नहीं रह पाती ! भोग-वासनाओं की चंचलता उस स्मृति को, स्मृतिरूप तुम्हारे इन महामरकतद्युति अंगों को, तुम्हारी श्यामल सुकुमार छवि को मेरे हृदय देश में अंकित ही नहीं होने

देती। प्राणाराम ! अब बोलो ! मुझ महातुच्छा महा-महानगण्या के पास तुम्हें देने को बचा ही क्या है ? हाय ! हाय !! तुम्हारी स्मृति और तुम्हारे चिन्तन से शून्य मेरे जीवन को धिक्कार है।"

"मेरे नेत्रों में जब तुम्हारी मूर्ति ही नहीं ठहर पाती है तो ये निरर्थक नेत्र फिर जलनिधि में रहने वाली सीपी नामक जीव के शव ही तो हैं, जब मेरे श्रवणरंध्रों में तुम्हारा वेणुरव, तुम्हारी मधुस्यन्दिनी गिरा ही प्रवेश नहीं कर पाती तो इन श्रवणेन्द्रियरूप विषम गह्वरों को तप्त तैल से सम्पूरित कर देना ही तो उचित है । तुम्हारे अधर-सुधा-सिक्त प्रसाद से शून्य पदार्थों से तृप्त होती मेरी जिह्वा, मात्र प्रेत भोजन से ही तो इस उदर कुण्ड को भरती है। तुम्हारे जैसे अप्रतिम नील कल्पतरु के आश्रय से हीन मेरा जीवन सत्य ही दारुण नरकों की भट्टी में तपाने योग्य है । ये सब शुक, सारिका, भृंग, कीट, पशु, द्रुम, लताएँ ही मुझसे तो श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर हैं । अहा ! यदि मैं सारिका ही हो जाती और वन-वन डोलकर तुम्हारी मुखश्री देखती रहती तो भी कितना अच्छा होता ? यह सारिका सचमुच ही धन्य है जो निरन्तर इधर-उधर फुदकती यावद्दिवा-निशा 'साँवर, साँवर, नीलमणि, नीलमणि' रटती रहती है। इसकी वाणी प्रिय के नामस्मरण से क्षणार्द्ध के लिये भी विरत नहीं होती । यह न तो अन्य भाषण जानती है, न ही अन्य कुछ भी देखना-सुनना । इसके नेत्र सदा ही अर्द्धनिमीलित रहते हैं । क्योंकि वे प्रियतम श्यामसुन्दर की छवि से भरे छलकते रहते हैं । अहो ! सारिके, तू धन्य है ! तू सचमुच ही धन्य है।"

रानी "अहो सारिके तू धन्य है, तू सचमुच धन्य है" रटती-रटती बाह्यज्ञानरहित हो जाती है । वे गहन प्रेमसमाधि में प्रवेश कर जाती हैं । उसी समय एक विलक्षण घटित होता है । रानी की उन्मुक्त-वेणी, बिखरी घुँघराली श्यामल केशराशि से एक सारिका प्रकट हो जाती है । वह रानी के सम्मुख ही एक स्वर्ण चौकी पर आसीन हो जाती है । वह विस्फारित नेत्रों से रानी की स्तुति करने लगती है :-

"धन्य ! धन्य !! हे महाभागवत विलक्षण-दैन्य-सुभूषित-मूर्ति प्रियतमे वृषभानुतनये, तुम्हारी चरणरज को कोटि-कोटिशः वंदन । हे महाभाव जीवने! तुम्हें पुनः पुनः अनन्तशः नमन ।" यह कहती हुई वह रानी की चरणधूलि को अपने सम्पूर्ण अंगों में अपने पंखों से उछाल-उछाल कर डालती है । फिर अतिशय सुमधुर सरस वाणी में बोल उठती है :-

"मेरी प्राणेश्वरी ! मैं तो तुम्हारी ही रोमावली से प्रकटी तुम्हारी ही मानसस्परुपभूता हूँ । अतः ढूँढने जा रही हूँ, तुम्हारे पीत कलेवर के ग्राहक को । अवश्यमेव वह होगा यहीं कहीं अवगुण्ठित । अपनी प्राणप्रिया के भावामृत का पान-लोलुप - वह कहीं सुदूर प्रस्थान कर ही नहीं सकता ।

"प्रिये ! जैसी विलक्षण भावमयी तुम हो, वैसा ही अप्रतिम रसराज वह तुम्हारा प्रियतम भी है । अवश्यमेव वह भी यहीं कहीं किसी एकान्त कुञ्ज कुटीर में दैन्योक्तियों से अपने चित्त का प्रेमामृत अपसारित कर रहा होगा। तुम्हारी चरणरज की वन्दना करता वह भी अवश्यमेव अपने को दीन, नगण्य, मलिनता का पुञ्ज अनुभव करता हुआ तुम्हारी असमोर्ध्व करुणा की भिक्षा माँग रहा होगा । अपने को असहाय सर्वदोषों की प्रतिमा समझता हुआ वह मुझे अवश्य यहीं-कहीं तेरे आश्र्व-पार्श्व में ही उपलब्ध होगा, मैं उसे ही लेने जा रही हूँ और तेरे सम्मुख उपस्थित कर दे रही हूँ, उसे सम्हालना और अपने प्राणों में बसा लेना । मैं तो तुम दोनों की ही चरणदासी हूँ, तुम्हारे दुलारभरे संरक्षण की आकांक्षिणी हूँ । अपनी चरण कञ्ज-किंजल्क-कणिका से निरवधि अभिषिक्त करती रहना मुझे ।"

यह कहती वह सारिका रानी की स्मृति को हृदय में बसायें, रानी की परिक्रमा कर सुदूर वन में उड़ गयी। यह सारिका कौन है ? पहचानते हो ? यही हैं परम पू० गुरुदेव - श्रीराधाबाबा जो पूज्यों के सर्वपूज्य श्रीपोद्धार महाराज की चरण-रज-कणिका की कृपा पाकर कैसे विलक्षण सौभाग्य का वरण कर चुके हैं । उनका हृदय-देश अतिमनोरम प्रीति-संसार के दृश्य देखता हुआ महाभावजन्य आवर्तों के स्पंदन में निरन्तर धड़कता रहता है । धन्य ! धन्य !! धन्य !!!

## सखी चन्द्रावली के कुञ्ज में

सारिका के रूप में प० पू० गुरुदेव उड़ते जा रहे हैं। कहाँ जायेंगे अन्ततः। जीव-समुदाय की अन्तिम गति नन्दनन्दन ही तो हैं। पू० गुरुदेव सारिका के रूप में उड़ते हुए विचार करते जा रहे हैं। उन्हें प्रियतम नन्दनन्दन के लीला-विलास की आड़ में दो वस्तुओं के दर्शन हो रहे हैं। सारिका बने वे, व्रजराजकुमार के असमोर्ध्व ऐश्वर्य एवं माधुर्य में झूलने लगते

है –" एक ओर तो आप सर्वकारण कारण हो; पर साथ ही उसी समय इस व्रजवृन्दावन में आप मेरी प्राणप्यारी किशोरीरानी के प्राणवल्लभ भी हो। आप सर्वथा सर्वविकार रहित हो; पूर्णतया सच्चिदानन्द विग्रह हो आप। परन्तु ओह ! विरह की वेदना से अभिभूत होकर क्रन्दन करते हुए किस प्रकार दीन हुए आप अपनी प्राणप्रिया की पावन चरणरेणु के याचक भी हो उठते हो।"

"यह भी सत्य है, प्रपंञ्च के दोषों की गन्ध भी आप में नहीं है। परम विशुद्ध हो आप ! फिर भी निजप्रिया के तनिक से मान में आप इतने काम-व्यथा से पीड़ित हो उठते हो, और चरम दैन्यावेश को ग्रहण कर लेते हो कि यदि कोई आपकों साधारण जीव मान ले इसमें आश्चर्य ही क्या है। एक किशोर युवक की ही तरह जागतिक प्रणयभाव के अनुरूप ही आप सदा अपने लीला विलास का विस्तार करते रहते हो। जागतिक भावों के स्रोत से ही संगमित आपकी लीला-मन्दाकिनी निरन्तर प्रसरित होती रहती है। यद्यपि यह जागतिक स्थिति भी है अप्राकृत ही। आपका स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, लीला-विलास सभी अचिंत्य एवं अतर्क्य है प्रियतम। आपको मन-बुद्धि के द्वारा कोई कुछ भी जान ले, यह सर्वथा असंभव है। आपका नित्य प्रत्यक्ष दर्शन पा लेने पर भी मेरी चक्षु आदि इन्द्रियों के लिये आप सदा अगोचर ही बने रहते हैं।"

इस प्रकार विचार करती सारिका विशाल तपनतनया के तट पर पहुँच जाती है। अहा ! कालिन्दी का कर्पूर-धूलि-पटल सदृश कैसा निर्मल तट प्रदेश है। इन दोनों तटों के मध्य कैसी गंभीर धारा में कालिन्दी बह रही है। सारिका दोनों तटों के किनारे-किनारे उड़ती चली जा रही है। और लो ! सारिका पहुँच गयी सखी चन्द्रावली के कुंज में।

नव-नव शोभा धारण करने वाले, अत्यन्त रहस्यपूर्ण इस कुंज का कहना ही क्या है , जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही शोभा की राशि बिखर रही है। सारिका सोच रही है कवि की कल्पना आज सत्य ही हो गयी है। कवि की अभिव्यंजना का काल्पनिक रूप आज यहाँ प्रत्यक्ष मूर्त्त है। कवि जब कभी शुक-पिक आदि कलकण्ठ वन-विहंगमों की काकली सुन पाता है तो उसे कल्पना राज्य में अनुभूति होती है, यह काकली नहीं यह तो संगीत की स्वरलहरी है। उसके नेत्र मन्द समीर-संचालित लता-वल्लरियों के स्पन्दन को नृत्य के रूप में ही अनुभव करते हैं। मेघ के समागम से पृथ्वी पर उठी हुई अंकुर राशि को देखकर कवि को यह भान होता है कि ये अंकुर नहीं, यह तो

हर्षवश धरासुन्दरी को रोमाञ्च होने लग गया है। अपनी इस अनुभूति को वह काव्य में गुम्फित कर देता है। परन्तु उसकी यह अनुभूति सार्वजनीन नहीं हो पाती। जन-साधारण के लिये विहंगम-काकली, लता-स्पन्दन, भूमि का अंकुरोद्गम - सभी ज्यों के त्यों बने रहते हैं। किसी को इनमें गान, नृत्य एवं रोमाञ्च का अनुभव कदापि नहीं होता। कवि की कल्पनाएँ कागद पर मात्र मसिचित्र ही बनकर रह जाती हैं- ये सत्य बनकर प्रकट नहीं होतीं। किन्तु कदाचित् किसी के नेत्र प्राकृत जगत से ऊपर उठ जाते, वाग्वादिनी भी कमलयोनि द्वारा सृष्ट जगत को भूलकर कहीं नित्य चिन्मय वृन्दावन को देखने लग जाती, इस समय सारिका के साथ इस चन्द्रावली कुंज के दर्शन कर लेती, और वीणधारिणी के नेत्रों में नेत्र मिलाकर कवि भी, और उसके साथ ही साधारण पाठक, श्रोता भी कहीं इस चन्द्रावली कुञ्ज के एक भूखण्ड को ही देख पाते, तो वे सभी यही कहते कि यह कवि की कल्पना नहीं सत्य का मात्र एक क्षुद्र अंश ही है।

यहाँ इस चन्द्रावली कुंज में विहंगमों की काकली, काकली नहीं रही है। यथार्थतः ही वह संगीत की मधुर रागिणी ही बन गयी है। आज तरु शाखाओं से लिपटी लता-वल्लरियाँ पवन-संचरित होकर स्पन्दित हो रही हों - यह बात नहीं, अपितु वे प्रियतम प्राणवल्लभ को पाकर उनके दर्शन से समुल्लसित हुई सचमुच ही नृत्य कर रही हैं। भूमि पर अंकुर राशि उग आयी हो, सो बात नहीं, सत्य, सत्य ही वृन्दा कानन को धारण करने वाली धरा की अधिष्ठातृ श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-स्पर्श से रोमाञ्चित ही हो रही हैं। ये गायन, नर्तन, पुलकोद्गम कवि की कल्पना नहीं काव्यशास्त्र के रूपक, अलंकार भर नहीं, ये तो चिदानन्द-परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र के वृन्दावन में पदार्पण से व्यक्त होने वाले स्वाभाविक परम सत्य परिणाम हैं। प्राकृत नेत्र, मन इन्हें भले ही नहीं देख सकें इनका अनुभव नही कर पावें किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र के कृपा-कण से पूत हुए दिव्यशक्ति विशिष्ट नेत्रों के लिये तो ये नित्य सत्य हैं।

यह चन्द्रावली कुंजस्थली सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य, एवं पुलकोद्गम आदि अगणित आनन्द अनुभावों से परिपूर्ण हो गयी है। अरण्य का अणु-अणु अपने में न समाते हुए आनन्द को विभिन्न अनुभावों से व्यक्त कर रहा है।

तो इस चन्द्रावली कुंज में क्या प्राणवल्लभ भी हैं ? सारिका मन-ही-मन जिज्ञासा करती है। सारिका को जिज्ञासातुर पाकर एक हरिणी अपने नेत्रों के कोण से संकेत कर देती है । लो, ये रहे प्राणजीवन नन्दतनूज। प्राणवल्लभ अपनी प्राणप्रिया चन्द्रावली को उसके ही कुंज के एक-से-एक सुन्दर स्थानों का दर्शन करा रहे हैं। देखो ! इनके दक्षिण भाग में सटी-सटी चन्द्रवली कैसी शोभाशालिनी बनी फब रही हैं ? मानों इस निकुंज के अधिपति वे ही हों, उनका ही वह कुंज हो, इस प्रकार यहाँ के अणु-अणु से प्रियतम अपना परिचय प्रकट कर रहे हैं। प्रियतम अपनी प्रिया चन्द्रावली के दक्षिण स्कंध को छूते हुए नव-नव निकुंजस्थली की ओर, लता-पल्लव जाल से आवृत सुरम्य वनस्थली की ओर संकेत करके ले जाते हैं एवं उसे यहाँ वहाँ सूक्ष्मता से सभी स्थानों की शोभा दिखलाते हुए अतिशय हर्षित हो रहे हैं। दल के दल मयूर, मृग, अपनी भंगिमा से शुभ शकुन की सूचना देते हुए प्रियतम के सम्मुख आते हैं, ललक भरे नेत्रों से उनकी ओर देखते हैं, कुछ क्षण ठगे-से देखते ही रह जाते हैं, फिर अपने दूसरे सहजनों को सूचना देने, मानो चौकड़ी भरते, नृत्य करते सघन वन की ओट में छिप जाते हैं।

लो ! चन्द्रवली की परिचारिकाएँ आ गयीं। ये प्रियतम को पुष्पकुंज में ले जाना चाहती हैं। अहा, क्या ही सुन्दर पुष्पकुंज निर्माण किया गया है सम्पूर्ण कुञ्ज ही चम्पा, चमेली, बेला एवं मोगरा पुष्पों से ही बना है। अहा, मध्य-मध्य में नीलकमल, रक्तपद्म, पीत सरसिजों को अतिशय कलात्मकता से विजड़ित कर इस कुंज को अभिनव सुन्दर सज्जित किया गया है। अहा ! इस पुष्पकुंज के मध्य कैसी मनोहर पद्म शय्या है। लो ! नीलमणि प्राणाराम आते ही इस पद्मपर्यंक में विराजित हो गये। इनके चरणप्रान्त में आसीन हो गयी चन्द्रावली।

सारिका अपने बैठने के उपयुक्त स्थान की खोज में पुष्पकुंज की एक परिक्रमा करती है। अन्ततः उसे एक गवाक्षिका उपयुक्त समझ में आती है और वह चुपचाप अपने नेत्रों को नचाती-घुमाती, सब कुछ देखती, वहाँ निस्पन्द बैठ जाती है। गवाक्षिका खुली है और वहाँ से पुष्पकुंज के भीतर का सब दृश्य उसे दिखाई पड़ता है। सारिका के कान इतने संवेदनशील हैं कि शब्द चाहे कितनी ही मन्द ध्वनि से बोले जावें, उसे सुनाई पड़ ही जाते हैं।

परिचारिकाओं के अनुरोध से बाध्य होकर, शैव्यादि सखियों की मनुहार से द्रवित होकर प्रियतम चन्द्रावली के सहित इस पुष्पकुंज में आ तो गये परन्तु, उनकी दृष्टि एवं मन तो बार-बार जा रहा है - गिरि गोवर्धन के चरणप्रान्त में जानेवाले तरु-लता-मण्डित सुरम्य पथ की ओर ही। गिरि गोवर्धन को देखकर उन्हें उसके सुन्दर परिसर में स्थित अपनी प्रिया के नामधारी कुंड की स्मृति हो आती है और तब अपनी अति सरल, मुग्धा प्रिया की स्मृति में वे डूब ही जाते हैं। परम तीव्र गतिशील मृगशावक की तरह उनका चंचल मन उस अतिशय आकर्षक भूधर परिसर में जाकर वहाँ रम जाता है।

## प्रिया राधा की स्मृति में तल्लीनता एवं विरह-क्रन्दन

अरे भाई ! प्राणवल्लभ नीलसुन्दर तो अपनी प्रिया के कुंडों की स्मृति में ऐसे रम गये कि मानों किसी योगी ने समाधि ही लगा ली हो। देखो, देखो, कैसी स्थिर दृष्टि कर ली है उनके नयनों ने। श्वास-प्रश्वास कितनी मन्दगति सें चल रहा है। सखी चन्द्रावली के तो प्राण ही सूख गये हैं। हाय, हाय ! उसकी अति सुन्दर विकसित पद्म के समान मुख शोभा को तो मानों खग्रास -ग्रहण ही लग गया हो। शैव्या प्रियतम के उपचार में रत है। लो, प्रियतम दीर्घ निश्वास छोड़ने लगे। उनके नेत्र भी अश्रु-मोचन करने लगे। चलो, समाधि शिथिल तो हुई। उस समय तो ऐसा भय उपस्थित हो गया था कहीं यह समाधि महासमाधि में परिवर्तित नहीं हो जाय। खुली गवाक्षिका से दृश्य देखती, एकबार तो सारिका भी ललिता रानी को सूचित करने को उद्यत हो उठी थी।

"अरे ! अरे ! प्राणवल्लभ तो करुण रुदन करने लगे। क्या हो गया है इन्हें। इनके नेत्रों से अश्रुका प्रवाह बह चला है।" सारिका के हृदय के लिये यह पीड़ा असह्य होती जा रही है। उसकी बुद्धि का संतुलन नष्ट हो रहा है। सँभलने की शक्ति ही उसमें नहीं रह पा रही है। उसका तो सर्वस्व समर्पित है - मात्र प्रियतम के लिये।

इधर चन्द्रावली, शैव्या आदि सखियाँ भी परम विकल हैं। प्रियतम सुख ही तो इन सबकी भी साध है। इनकी सब चेष्टाएँ हैं तो मात्र प्रिय-सुख के ही लिये। इनके धन हैं केवल प्रियतम, इनका तन है मात्र प्रियतम-सुख

-सेवा-सामग्री। इनके कुञ्ज, श्रृंगार, प्रसाधन, इनका हास-विलास, इन्द्रिय-सुख के लिये तो सर्वथा-सर्वथा नहीं है। प्रियतम के सर्वाधिक सुख-दान के उपकरण मात्र ही तो हैं ये सब। इनमें तो अन्य कोई भी इच्छा नहीं, वासना नहीं, स्वसुख की कोई रुचि नहीं, कोई कल्पना हीं नहीं - फिर निज अभिलाषा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी भीतिभरी आँखें लगी हैं प्रियतम के अति विषादपूर्ण मुख की ओर। आखिर इन्हें हो क्या गया है? अभी-अभी तो ये परम प्रसन्न एवं आनन्दित थे। हँसत-मुसकाते ही तो कुंजभवन के पुष्पमन्दिर में प्रवेश किया था, इन्होंने। कितने उल्लसित थे, जब सर्वत्र भ्रमण करते हुए वनदर्शन कर रहे थे। अचानक ही इनके नेत्र निमीलित हुए, तब स्पन्दहीन और शान्त हो गये थे।

कुञ्ज के पशु-मृग-मृगी, आदि भी प्रियतम की करुण-क्रन्दन ध्वनि सुनकर एकत्रित हो गये। विहंगमों के समूह ने भी कलरव करना स्थगित कर, वृक्षों पर अपना आसन जमा लिया, फुदकना भी उनका कुछ काल के लिये तो विरमित ही हो गया है। मानों कुंज के सभी स्थावर-जंगम जीवों के उल्लास और आनन्द का अवसान ही हो गया हो।

सारिका अपने प्राणवल्लभ की अति वेदना-भरी वाणी सुन रही है। उसका हृदय फट नहीं पड़ता, शेष कुछ भी बचा नहीं है। प्राणों ने सम्पूर्ण शरीर से चेतना हटा ली है। समस्त चेतना सिमटकर कर्णेन्द्रियों में आगयी है। कुछ थोड़ी चेतना नेत्रेन्द्रियों में केन्द्रित है, जिससे नीलसुन्दर - उसके प्रियतम का वेदनाभरा मुख दिखाई पड़ता रहे। सारिका के श्रवण अपने प्रियतम की वाणी सुन रहे हैं-

"प्राणेश्वरी ! मेरे प्राणों की प्राण ! मेरी जीवन सर्वस्व !! तुम कहाँ हो ? हाय ! मुझे छोड़कर क्यों एवं कहाँ चली गयी हो तुम? अरी ललिते ! ओह विशाखे !! हे चित्रे !!! अहो चम्पकलते !!!! अरी गुण, ओ रंग, अहो रूप, रति, अशोक !!!!! कोई उपाय करो, मेरी प्राणों की रानी राधा को शीघ्रातिशीघ्र मुझसे मिलाओ। मैं निरवधि तुम्हारा ऋणी, दास, सेवक रहूँगा।"

"रे शुक ! अहो सारिके !! हे कोकिल !!! तुम ही उठो, जाओ, मेरी रानी को मेरी विरह दशा सूचित करो, उसे शीघ्रतापूर्वक यहाँ ले आओ। यदि वह नहीं आवे तो मेरे प्राणों को इस तन से पृथक् कर उसके पार्श्व में पहुँचा दो। हाय ! कैसी विषम भयावह पीड़ा मेरे प्राणों को मथ रही है। अहो प्राणेश्वरी, तुम कहाँ हो ?" प्रियतम इतना करुण प्रलाप कर रहे हैं कि उनकी

वाणी से हाहाकार का रव निःसृत होकर बाह्य परिवेश को भी विकल कर रहा है। उनके नेत्रों से अनर्गल अश्रु-प्रवाह विसर्जित हो रहा है।

इधर सखी चन्द्रावली में शान्ति का लेश भी नहीं रहा है। वे बाहर से भीतर, भीतर से बाहर आती-जाती कभी शैब्या, कभी किसी अन्य सखी को पुकारती हैं। वे महिष-श्रृंग के वर्ण के समान काली पड़ गयी हैं। सहस्रों राकाशशि की आभावाला उनका मुख सर्वथा निस्तेज हो गया है। कृष्णगतप्राणा, कृष्णाविष्टहृदया चन्द्रावली परमाकुल हैं। उनमें तो सदा प्रणयसिन्धु ही उद्वेलित होता रहता है। पारावारविहीन प्रणयसागर में ही, उसकी उत्ताल लहरियों में ही वे अब तक अवगाहन करती रहीं हैं। अपना सर्वस्व न्यौछावर करते हुए अपने प्राणप्रियतम की सुख कामना करती रहना ही तो उनका जीवन है। एक साथ दुःख, ग्लानि, प्रेमहीनता, शोक आदि भावों के भार से अभिभूत हुईं वे प्रकृतिस्थ रह सकें यह कैसे संभव है ?

वे अपने प्रियतम-प्राणवल्लभ को धैर्य दिलाने, उनका चित्त अपने रूप, सौन्दर्य और प्रेम से आकृष्ट करने का अनवरत प्रयत्न करने पर भी इस समय सर्वथा असफल ही हो रही हैं। सभी सखियाँ प्रियतम की ऐसी विकल दशा देखकर अतिशय व्यग्र हो उठी हैं।

"हाय रे विधाता ! तू कितना क्रूर है। हमारे प्राणनाथ को यह क्या व्यथा इस सुख अवसर पर हो गयी ? सचमुच ही विक्षिप्त चित्त हो उठे हैं ये। चिन्ता का तार बँध गया है सबके मन में। सबके नेत्र अश्रु से भीगे हैं।

परन्तु प्राणमोहन के कर्णपुटों में तो किसी का कोई स्वर प्रवेश ही नहीं कर पा रहा है। वे तो अविराम 'राधा-राधा-राधा' की रट लगाये हुए हैं। उन्हें तो इस समय यही प्रतीत हो रहा है जैसे उनके वस्त्र, आभूषण, उनका मुकुट, हार सभी मात्र श्रीराधारानी ही हैं। वे ही उनके अंग अंग में सजी हैं। राधारानी ही कर्त्ता हैं और वे ही उनके कर्म हैं। राधारानी ही उनकी तन-मन-धन सब कुछ हैं और वे ही उनकी मात्र धर्म हैं। रानी ही उनकी श्वास-प्रश्वास एवं प्राण हैं। रानी ही उनकी मन हैं, मन के सम्पूर्ण मनोरथ हैं, रानी ही उनकी भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान की परम एवं चरम वांछित विभूति हैं। वे ही उनका लोक-परलोक हैं, वे ही उनकी अन्तिम एवं परम गति हैं।

## चित्रपट दर्शन से विरह शान्ति

लो, चन्द्रावली सखि के संकेत से धनिष्ठा दौड़कर किशोरीरानी का चित्रपट उठा लाती हैं। चन्द्रावली सखी बरसते नेत्रों से रानी के चित्र को प्रणाम करती हैं, हृदय से लगाती हैं और उस चित्र को प्रियतम-प्राणवल्लभ नीलसुन्दर के सम्मुख, उनके नेत्रों के समक्ष कर देती हैं।

अहा ! उस चित्र के नेत्रों के सम्मुख होते ही प्रियतम कैसे आनन्द-विह्वल हो उठते हैं। विरहानल से संतप्त प्राणप्रियतम की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ समवेत हुई समुदित शशधर की रूपसुधा का पान करने नेत्रद्वारों में एकत्रित हो जाती हैं; मानो प्रेमिल चातक नवघन को सहसा सम्मुख पाकर हर्ष-स्तम्भित हो उठा हो। अहा ! प्रियतम आनन्दनिमग्न हो जाते हैं। परम सुखद, अतिशय शीतल, शंतम, सौन्दर्य-सुधासिन्धु में प्राणवल्लभ अवगाहन करने लगते हैं। उनके अवगाहन की कल्पना तो वही महाभाग्यवान कर सकता है जिसके नयनों में, सौभाग्यवश कभी वह अचिन्त्य रूपसुधोदधि उच्छलित हो उठा हो। प्रियतम-प्राणवल्लभ प्राणरमण के तन-मन की सम्पूर्ण ज्वाला पलक पड़ते-न-पड़ते प्रशमित हो जाती है -- उनकी असह्य, अथाह विरह वेदना, सदा सदा के लिये जैसे विलीन ही हो गयी हो। मूर्त्त प्रेमानन्दस्वरूपा, प्रिया राधारानी के मात्र चित्रपट का ही संस्पर्श पाकर उनके हृत्तल का अनुरागसिन्धु अनन्त, अपरिसीम, ऊर्मियों से परिपूरित हो उठता है। जैसे उनकी सम्पूर्ण साध पूरी हो गयी हो। वे अतिशय आतुरता से उस चित्रपट को अपने हाथों में ले लेते हैं एवं उसे अपने उरस्थल से सटा लेते हैं। दो चार पल बीतते न बीतते उनके होठों से मधुर स्वर निःसृत होने लगता है- "प्राणों की रानी ! तुम अहर्निश यों ही मेरे हृत्तल में निवास करती रहना। प्राणसंजीवनी हे ! कभी क्षणभर भी मेरा परित्याग करके मत जाना। मुझसे कभी पृथक् मत होना भला।"

विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देख रहीं हैं, चन्द्रावली एवं उनकी सहचरियाँ, शैब्या, धनिष्ठादि-प्रियतम के प्रिया-प्रेम को। उनके उरस्थल में ग्लानि का घटाटोप तमस् छा जाता है; सभी प्रिया राधारानी के सम्मुख अपने प्रेम-प्यार को सर्वथा तुच्छ हेय अनुभव करने लगती हैं। सभी मन ही मन अपने को धिक्कृत करने लगती हैं।

लो, क्षण बीतते-न-बीतते नीलचन्द्रदेव, प्राणरमण प्रकृतिस्थ हो गये। अपने कपोलों पर बहती मृदुलारुण नयनों की प्रेमाश्रुजलधारा का मार्जन किया उन्होंने अपने पीत दुकूल से।

चन्द्रावली एवं शैब्यादि उनकी प्राणसखियाँ भी बिलखती उनके चरणों में आ गिरीं। आत्यन्तिक औदास्य की छाया सुव्यक्त थी उन सबके मुखमंडलों पर।

## आश्वासन-दान

लो, परम रसज्ञ, रसिकशेखर, रसविद् प्रियतम-प्राणवल्लभ का अब तो व्यावहारिक ज्ञान भी क्रियाशील हो उठा। यथाकाल, यथापरिस्थिति उन्होंने अपनी प्रियाओं को अपने निराविल स्नेह का दान भी कराया। आश्वासन-दान में कोई भी त्रुटि नहीं रही। मृदुल हास्य का पुट देकर वे कहने लगे -- "अरी मेरी प्राणप्रिया चन्द्रावली ! मैं तुम्हें सदा अपने नेत्रों में ही बसाये रखता हूँ। तुम मेरी अप्रतिम सुन्दर निधि हो। इस व्रजमंडल में तुम्हारे समान रूपवती अन्य कोई भी युवती नहीं है। परन्तु इस रहस्य को मैं अन्य किसी के भी सम्मुख प्रकट करना नहीं चाहता। किसी अनमोल वस्तु के स्वामित्व को प्रकट करना भयप्रद होता है री ! उसके छिन जाने की संभावना हो जाती है। इसीलिये तुम्हारे प्रति मेरे प्रेम की, मैं किसी को गन्ध भी नहीं लगने दूँ - ऐसी मेरी प्राणों की लालसा मुझमें नित्य भरी रहती है। परन्तु मेरी प्यारी चन्द्रावली, तुम सदा ही विश्वस्त रहना तुम मेरे हृद्देश में नित्य विराजित थीं विराजित हो एवं सदा ही एकछत्र विराजित रहोगी।"

"अरी मेरी प्राणप्रिया चन्द्रावली ! मैं तुम्हारा ही प्राणनाथ हूँ। तुम सभी तनिक भी संकोच मत करना री ! चिन्ता का सर्वथा परित्याग कर देना। देखो ! मैं एक दिवा-स्वप्न देखने लगा था। यह सब व्याकुलता उस दिवा-स्वप्न का ही परिणाम थी और उस क्षण मुझे शरीर की सुधि भी नहीं रही थी। देख री ! इस पुष्पकुंज-मन्दिर में प्रवेश करते ही एक अभिनव रस-महासमुद्र में मेरी बुद्धि का अध्यवसाय ही निमज्जित हो गया। तेरे मुखचन्द्र के सौन्दर्य ने मेरे चित्त को बरबस उसमें डुबो दिया फिर तो मेरी सम्पूर्ण अहंता ही डूब गयी -- विश्वविमोहन तेरे राका-शशधर-मुख की निर्मल शीतल चन्द्रिका में।"

"क्योंकि तेरा परम प्रेममय नाम तो मेरे हृदय मन्दिर से, उसके परम सुगुप्ततम कोषागार से - प्रेम-कपाटों के विजड़ित रहने के कारण - बाहर आ नहीं पाया, अतः मैं तुझे ही 'राधा-राधा' कहता पुकार रहा था। सत्य ही चन्द्रावली ! मेरे नयनों की श्याम पुतलियाँ राधा के अणु-अणु में तेरी अनिंद्य सुन्दर रूप-राशि ही भरी देखती हैं। वे कहीं भी, किसी में भी तेरे सिवा अन्य किसी भी वस्तु को देख सकें ऐसी स्थिति उनकी रही ही नहीं। केवल तेरा ही त्रिभुवनमोहन रूप प्रतिबिम्बित रहता है वहाँ।"

"प्यारी चन्द्रावली ! मेरे जीवन का क्या रूप हो गया है री ! कैसी दशा कर दी है तेरे प्रेम ने मेरी, क्या बताऊँ ? तूने मेरे श्रवणपुटों में अपनी मनोहारिणी गिरा भर दी है। तेरे अधरों से निःसृत स्वर की झंकृति के अतिरिक्त, मैं अन्य कुछ सुन ही नहीं पाता।"

"मेरे नासारन्ध्रों में सदा तेरे श्रीअंगों का सौरभ ही परिव्याप्त रहता है; अन्य समस्त सौरभ सारहीन हो गये हैं ! परिणाम यह होता है कि तेरी सन्निधि में मैं सचमुच विवेक खो बैठता हूँ। और तेरे प्रेम की अनमोल निधि को सुगुप्त रखने की चेष्टा में व्याकुल हुआ 'राधा-राधा' पुकार कर उठता हूँ। तुम भली प्रकार जानती हो कि यह सब तभी होता है जब मुझे शरीर की सुधि नहीं रहती है। तुम विश्वास करना, भला। मैं तुम्हारी अपनी से अपनी वस्तु हूँ। मैं तुम्हारा प्राणनाथ हूँ और तुम सभी मेरी प्राणप्रियतमा हो।"

इस प्रकार प्रियतम नीलमणि किञ्चित् कपट सत्य का प्रयोग करते हुए शैव्या, धनिष्ठादि सभी सखियों को आश्वस्त करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु उनके इस चतुर वाग्जाल का प्रभाव क्या चन्द्रावली आदि सखियों के हृदय में पड़ता है ? कदापि नहीं।

## शैव्या द्वारा प्रिया राधारानी के प्रेम-दर्शन का आग्रह

और शैव्या तो प्रियतम नीलमणि से प्रश्न ही कर उठती है- "यह अकाट्य अखण्ड सत्य है कि प्राणवल्लभ, तुम प्राणप्रिया राधा से ही सर्वाधिक स्नेह करते हो। उनके प्रेम की तुलना में हम सभी भानु के सम्मुख खद्योत की तरह सर्वथा नगण्य, तुच्छ ही हैं। हम उनकी अतिशय प्रेमगरिमा से सचमुच सत्यांश में अभिभूत हैं। निश्चय ही वे तुम्हें अतिशय सुखदायिनी हैं, तभी न तुम्हारा उनके प्रति ऐसा असमोर्ध्व अनुराग है। परन्तु प्राणवल्लभ,

तुम्हारे प्रति उनके सर्वत्यागमय प्रेम के हमें दर्शन तो कराओ, एक झाँकी तो उनके प्रेम-स्वरूप की हमें भी हो, जिससे उस महा-महात्यागमय प्रेम को हम सभी अपने जीवन में उतारने की चेष्टा तो करें। उनके उस रस-महासमुद्र में अवगाहन तो हमारा प्रारब्ध नहीं ही है, हम मात्र उसके दर्शन तो प्राप्त कर सकें, उसकी एक निर्मल झाँकी तो हमें मिलसके, जिसके फलस्वरूप तुम उसके इतने वशवर्त्ती हो रहे हो।"

और, प्राणवल्लभ क्या उत्तर दें -- वे मात्र मुसका उठते हैं।

अपनी प्रिया चन्द्रावली की ग्लानि और उसके चित्त में जड़ीभूत हुए विषाद को दूर करने के लिये वे निर्णय कर लेते हैं कि कुछ दिवस वे अपनी प्रिया से मिलेंगे नहीं। यद्यपि उन्हें इस अभिनीत आचरण से असीम प्राणान्तक कष्ट होगा, परन्तु असमोर्ध्व प्रेमी स्वभाव जो है, उनका।

विलक्षण है प्रियतम-प्राणवल्लभ का प्रेम स्वभाव। अपनी प्रियाओं की घनीभूत प्रेमप्रतिमा ही तो वे हैं। अपनी प्रियतमाओं की नित्य-नवीन-सुख-सामग्री बने रहने की लालसा ही उनके हृत्तल को प्रतिक्षण आलोड़ित किये रहती है। उनका चित्त चञ्चल रहता है अपनी प्रियाओं के सुखसम्पादन में ही। अपनी प्रिया चन्द्रावली को सुखानुभूति हो जाय और उसका यह सुखानुभव प्रियतम प्राणसुन्दर के लिये अनन्त दुःख का सृजन कर रहा हो, तो उस परिस्थिति में भी उस दुःख को हँसते-हँसते वरण कर लेना प्राणवल्लभ का नित्य स्वभाव है। वह दुःख उन्हें परम सुखमय अनुभूत होता है, उस अपार दुःखोदधि में वे चिरन्तन अप्रतिम सुख का अनुभव करते हैं। स्वसुखवाञ्छा की कलुषित छाया उनके मानस में क्षणांश के लिये भी कभी प्रवेश नहीं कर पाती। काम की सामर्थ्य ही कहाँ जो उन्हें संस्पर्श कर सके। मन्मथमथन जो वे ठहरे। मनोज दूर खड़ा भले ही अपना हतभाग्य समझता रहे। त्याग का बाह्याडंबर नहीं है, उनमें। उन की प्रिया यदि उन्हें सुखोपभोग की, विलास की, रति की असंख्य सामग्रियाँ समर्पित करे, और उन्हें सुखी करना चाहें, उनके सुख से स्वयं सुखी हो तो वह सुख उन्हें सहर्ष स्वीकार है। उनकी तो नासा-समीर ही है -- प्रिया-सुखेच्छा। प्रिय सुख-सम्पादन की अभिलाषा ही उनके प्राणों की सत्ता हैं।

बस, प्रियतम नीलसुन्दर इस चन्द्रावली कुंज को ही अपना सुगुप्त आवास बना लेते हैं।

इधर, प्रिया किशोरीरानी की क्या दशा है, देखें ! जब उन्हें सारिका छोड़कर आयी थी उस समय तो वे विलक्षण महाभावगत दैन्य में अभिभूत थीं। अब उनकी क्या स्थिति है ? सारिका को अपनी प्रिया की चिन्ता हो जाती है। वह अपने को चन्द्रावली कुंज में निहित नहीं रख पा रही है। उसके पंख पुन: उड़ चलते है। और वह दूसरे ही क्षण अपने आपको राधाकुण्ड स्थित सर्वसौभाग्यप्रद कुंज में पाती है।

रानी अपने महल के पीछे की वाटिका में एक कक्ष में लेटी हैं। उनके मुख से ही नहीं, रोम रोम से अनवरत 'कृष्ण-कृष्ण' नाम की ध्वनि हो रही है। वे विचार कर रही हैं - न जाने कौन - से ऐसे कारण हो गये हैं कि उन्हें विगत तीन दिवसों से प्राणरमण दर्शन ही नहीं दे रहे हैं।

## रानी की विरह दशा एवं शैब्यादासी होकर रहने का संकल्प

रानी पाक-रचनार्थ नन्दभवन भी नित्य जा रही हैं, परन्तु वहाँ भी उन्हें प्रियतम की झलक नहीं मिली। दर्शन तो दूर, वहाँ उन्हें उनकी भोजन करते समय सखाओं के संग की सख्यवार्त्ता भी सुनने को नहीं मिली ! प्रतिदिन तो वे प्रसाद-निर्माणशाला के पार्श्व में ही स्थित भोजनकक्ष में भोजन करते थे, परन्तु अब न जाने क्यों उन्होंने नियम ही बना लिया है कि वे अपनी माता यशोदा के कक्ष में ही भोजन करते हैं। पूर्वतया रानी विश्रामकक्ष में विश्रामकाल में उनके आरसी में दर्शन कर लेती थी परन्तु अब तो वे अपनी माता यशोदा के ही कक्ष में भोजन कर, वहीं विश्राम भी कर लेते हैं, अत: अब तो यह आरसी-दर्शन भी सुदुर्लभ हो गया है।

अपने प्रियतम की छबि-दर्शन के अभाव में आज तो रानी का हृदय धैर्य ही त्याग दे रहा है। उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा है मानो वे श्याममुखकमल देखे बिना अब तो क्षणार्द्ध भी जीवित नहीं रह पावेंगी। उनका एक-एक पल युगों के समान व्यतीत हो रहा है। उनके मुख से जो अनवरत 'कृष्ण-कृष्ण' नामोच्चारण हो रहा है, इसी के सहारे ही उनके प्राण शरीर-त्याग नहीं कर रहे हैं। अन्यथा तो, वे प्राण कभी के ही उनके शरीर का परित्याग कर प्रियतमानुसंधान में चले जाते; उनसे मिलकर तद्रूप ही हो जाते।

अहा ! कृष्ण-नाम की पीयूषधारा ने ही रानी को विरहव्याल के विष से बचा रखा है। अतिशय विलक्षण है, यह पीयूषधारा। यह, बस किसी भी

प्रकार से -- भाव, कुभाव, आलस्यवश ही सही, एक बार जिह्वा पर तनिक-सी लग जाये, फिर तो मायाजन्य जड़ता नष्ट होकर ही रहती है। आत्मस्वरूप की स्मृति हो जाती है एवं तब एक और विलक्षण संघटित होता है। यह आत्मस्वरूपता की ज्ञप्ति पर्यवसित हो जाती है -- महामरकत-श्यामल-ज्योत्स्ना के दर्शन में, तत्पश्चात् वह श्यामल-ज्योत्स्ना एक अभिनव सुन्दर साकारविग्रह रूप ग्रहण कर लेती है। वह ऐसा विलक्षण रूप सौन्दर्य होता है -- जिसके दर्शनमात्र से दृश्यप्रपंच की सम्पूर्ण मायिक सत्ता बीजसहित विलुप्त हो जाती है। इस मयूर-पिच्छ-परिशोभित मुखाकृति की छटा माया नटी का सम्पूर्ण नाट्यकौशल ही अस्तित्वविहीन कर देती है। फिर यह त्रिभुवनमोहन श्यामाकृति अपने अरुणिम अधर-पल्लवों पर मन्द मुसकान की स्फुट रेखा व्यक्त कर देती है। बस, फिर तो वह महाभाग्यवान् द्रष्टा एक ही अनाविल कामना से जाज्वल्यमान स्फुल्लिंग की तरह धधकने लगता है।

"ओह ! प्राणाधिक कुछ नहीं चाहिये, मुझे। बस ! मात्र तुम मेरे हृदयमन्दिर में नित्य विराजित रहना।"

इस अनाविल हास्य के दर्शन कर लेने पर द्रष्टा अपना सर्वस्व खो बैठता है, सर्वथा निमग्न हो जाता है साक्षात् उसका मन वृन्दाकानन ही बन जाता है।

और तब वंशीरव से उसके हृद्देश का अणु-अणु निनादित हो उठता है। द्रष्टा को स्पष्ट भान होता है कि नीलसुन्दर उस अमृत-निनाद में उसका ही नाम ले-लेकर उसे ही पुकार रहे हैं। बस, तब तो वह श्रोता उस रव के पीछे तत्क्षण ही चल पड़ता है, चल पड़ती है। जिस अवस्था में जहाँ था वहीं से उसके चरण निर्बाध दौड़ पड़ते हैं -- उस मुरली ध्वनि की दिशा की ओर ही। उसे अपने तनकी स्मृति नहीं रहती, मन कहाँ है, क्या हुआ मन का, कौन बतावे ? सच्चिन्मयी नील-ज्योति के साथ, नील मयंकदेव के साथ तादात्म्य हो जाता है उसके मन का। बस, यही कहा जा सकता है।

तो रानी ने भी अपने प्राणरमण के दर्शन के अभाव में इसी अमोघ रक्षाकवच 'कृष्ण' नाम का ही आश्रय लिया। और इस 'कृष्ण' नाम ने उनके विरह-व्याकुल हृदय में अपने प्रियतम की जीवन्त भावमूर्ति खड़ी कर दी है। वे मन-ही-मन अपने प्रियतम को अपने सम्मुख देखती हुई अपने हृदय की व्यथा उनके ही सम्मुख व्यक्त करने लगती हैं।

"प्राण हे ! तुम तो मेरे हृदय के प्रेममन्दिर में ही नित्य निवास करते हो। अतः तुमसे तो मेरा कुछ भी अप्रकट नहीं है। तुम मेरे जीवन के जीवन हो। तुम मुझसे पृथक् होकर किसी भी रमणी के पास जाओ, रहो,- बस सुखी रहो, यही तो मेरे उर के अन्तरतम की एकान्त कामना है। अतः प्राण, तुम जहाँ भी हो, सुखी हो, मात्र बस यह संवाद तो मुझे दे दो। मेरे उरस्थल में तुम्हारे वियोग की धू-धू कर भीषण अग्नि प्रज्वलित है। मेरी इस आग की ज्वाला को कोई बिना अनुभव किये भला कैसे जान सकता है ? मेरी ये भीषण विरहाग्नि शान्त हो, इस कामना से मैं तुमको कुछ भी प्रतिबद्ध नहीं करती, तुम्हारे सुख में किन्चिमात्र भी मैं व्यवधान नहीं डालना चाहती। मैं तो यही चाहती हूँ कि मुझे मात्र यह संवाद प्राप्त हो जाय कि तुम जहाँ हो, वहाँ पूर्णतया सुखी हो।"

और लो, सारिका ने ललिता के सम्मुख प्रियतम का चन्द्रावली कुंज में होने का समस्त संवाद दे दिया। प्रियतम चन्द्रावली के प्रति अपना एकांगी प्रेम प्रकट कर रहे हैं, यह भी उसने ललिता को सुना दिया।

और ललिता यह सब संवाद सारिका के मुख से सुनकर अति कुपित हो उठी है। उसने प्रिया की सब दशा लिखकर एक पत्र देकर सारिका को पुनः चन्द्रावली कुंज में भेजा है। परन्तु प्रियतम ने वह ललिता का पत्र पढ़ा ही नहीं है। बिना पढ़े ही सारिका को वह पत्र लौटा दिया है। उन्होंने सारिका को कुछ भी संकेत नहीं किया कि वे कब प्रिया के पास उनके कुंज में आ रहे हैं। उन्होंने प्रिया के प्रति अपना अनुराग भी प्रकट नहीं किया। सारिका प्रियतम के इस उदासीन व्यवहार से अत्यंत क्षुब्ध लौट आयी है। अतिशय व्यथित है, वह। सारिका प्रिया के सम्मुख संकोचवश जा ही नहीं पा रही है।

एकान्त में ललिता के सम्मुख उसका कलेजा हाहाकार करता फूट पड़ता है। ललिता सारिका को किसी प्रकार समझा-बुझाकर प्रिया के पास भेजती है। और प्रिया, जैसे सभी घटना का उन्हें ज्यों का त्यों पूर्वज्ञान हो अत्यंत भावावेश से उसे अपने अंक में भर लेती हैं। वे अपना समग्रप्रेम सारिका पर न्यौछावर कर देती हैं। अति भावावेश में वे सारिका से वार्त्ता करने लगती हैं -- "क्यों दुखी होती हो बहिन ? प्रियतम ने मेरा तिरस्कार कर दिया उन्होंने मेरे प्रीतिसंवाद को भी निरादृत किया, तुमसे अति नीरस व्यवहार किया, बस, इसीलिये न तुम दुखी हो। वे सुखी हैं, न ! मैं इतना ही

जानना चाहती थी। तुम्हें पत्र सहित भेजने का इतना ही तो मेरा प्रयोजन था। मुझे विस्मृत कर वे परम सुखी हैं, यही संवाद मैं चाहती थी। अब मेरा कार्य तो तू कर ही आयी।"

अपनी प्राणसखी के ऐसे निर्मल एकांगी प्रेम को देखकर सारिका का प्रियतम पर प्रणयकोप और अधिक बढ़ जाता है। परन्तु प्रिया को बाह्य ज्ञान कहाँ ? वे तो बोलती ही जाती हैं- "सद्गुणनिधि ! तुम ही तो मेरी अमूल्य विभूति हो। मेरी एकमेव सम्पदा हो। मेरे हृदय का पवित्रतम सुख तुम ही हो। तुम ही मेरे सब सम्मान हो। तुम स्वतंत्र रहो, स्वाधीन रहो, अपनी रुचि का निस्संकोच जीवन विहरो। मेरी रुचि-अरुचि का सर्वथा ध्यान नहीं रखकर, पूर्ण स्वतंत्र आचरण करो। यही तो मेरा सर्वाधिक सत्कार है, नाथ। तुम मुझसे शंकित होओ, संकोच करो, पराधीन होओ यह भला मैं कैसे चाहूँगी ? जिसे चाहो उसे भोगो, जहाँ रुचि हो वहाँ जाओ, जैसे रुचि हो पूर्ण स्वच्छन्दता से विलसो। तुम्हारी प्रसन्नता ही मेरा संपूर्ण मनोरथ है। नाथ ! तुम मेरे कभी मत रहो; बस मैं तुम्हारी ही सदा रहूँ, यही वरदान दे दो। हे मेरे प्राणरत्न ! तुम सुखी रहो, तुम स्वच्छन्द-स्वतंत्र रहो, मात्र मेरी यही अभिलाषा है।" प्रिया के नेत्र झर-झर बरसने लगे। वे बाह्य-ज्ञान-शून्य हो गयीं।

रानी की दशा अति विचित्र है। उन्होंने विगत तीन दिवसों से अन्नजल भी नहीं ग्रहण किया है। प्रियतम-स्मृति की अतिशय प्रगाढ़ता में वे निरन्तर डूबी रहती हैं। अविरत प्रगाढ़ भाव में रहने से तन की नित्यक्रिया-स्नानादि का भी ध्यान उन्हें नहीं रहता। ललिता, गुणमंजरी आदि अन्य सखियों की सहायता से किसी तरह तन पर जल डालकर स्नान सम्पन्न करा देती हैं। अपनी प्राणसखी के स्वयं अंगुली डालकर दाँत माँजती हैं, और वस्त्र बदल देती हैं। देशका, कुलका, कालका, लोकका, शास्त्रका कुछ भी ज्ञान नहीं हैं-उन्हें। लोक-लज्जा बनी नहीं रह पाती है। सम्मुख गुरुजन हैं, कि बालक हैं, वे किसी को भी पहचानती नहीं। उनके सम्मुख तो सदा अखण्ड एक ही श्यामल छबि विद्यमान रहती है।

नीलसुन्दर परमाह्लाद में भरे अपने सौन्दर्यपूर की किरणें सर्वत्र बिखेरते हुए वृन्दाकानन में भ्रमण कर रहे हैं। अनन्त पारावारविहीन रसोदधि उछल रहा है। ऐसी प्रतीति हो रही है, मानो घनी श्याम-अम्बुदराशि रस-वर्षा करती धरा को पल्लवित करती जा रही है। आनन्द-अनुराग के आवर्त उनके

रोम-रोम से उत्थित हो रहे हैं। उनकी रसमत्तता, उनके नयनों की गति, उनकें अंग-संस्थानों का स्पन्दन -- ओह ! कैसा प्राणोन्मादी है। इन रसदानी का यह रस-वितरण-अभिनव विमोहन का जाल सर्वत्र विस्तारित कर रहा है। उनसे एकान्तिक भाव से जुड़े हुए, अपने प्राणों का उनसे ही तादात्म्य स्थापित किये हुए विहंगम श्रेणी में, चतुष्पाद समूह में, तरु-वल्लरियों में, ह्रदों में, कासारों में, कल्लोलिनी में उनके अन्तस्तल में प्रवाहित रस की धारा का प्रपात हो रहा है। अतएव एक अननुभूत आनन्दजन्य जड़िमा व्यक्त हो गयी है, इन सबमें।

वृन्दाकानन की वसुधा तो अपने आप में नित्य पुलकित है ही। इस समय उसमें परम प्रियतम नीलमणि के चरण संलालन से एक अभिनव कम्पन का सृजन हो गया है। अहा ! तृणावली कैसी उन्मत्त सी नाच रही है। दल के दल मयूर हंसादि विविधि विहंगम आकर बार बार घेर लेते हैं प्रियतम को। कुछ क्षण पंख प्रसारित कर कल कलरव से वन प्रदेश को मुखरित करते हैं फिर चञ्चु से चञ्चु संलग्न कर थिरक उठते हैं। कुरंगी-कुरंग नयनों में नील सुन्दर की छटा भरकर नयन निमीलित कर लेते हैं। देखो, देखो ! उन्मत्त हुए से वे एक दूसरी पर अपनी ग्रीवा को झुलाकर यंत्रचालित से कभी दाहिनी ओर, कभी बांयी ओर, दोलित हो रहे हैं। अन्य चतुष्पादों में भी ऐसी ही सुख मत्तता व्यक्त हो रही है। तरुशाखाएँ, तरुवल्लरियाँ झूम रही हैं, और ह्रद सरोवर फेनिल होकर अपने अपने कूल की तृण राशि को आर्द्र कर रहे हैं। नील कल्लोलिनी क्षण-क्षण में नव-नव आवर्त्तों का निर्माण कर रही है। लावण्य की शतसहस्र उर्मियों का विस्तार करते हुए प्रियतम नील सुन्दर रस क्रीड़ा में उत्तरोत्तर विभोर होते जा रहे हैं।

रानी इस चिद्विलास में आपाततः डूबी हुई हैं। उनकी प्रियतम-रति वेगपूर्वक सब दिशाओं में बिना ओर-छोर के प्रवाहित हो रही है। अपने चित्त के नित्य अभिवर्द्धनशील चाव में वे निर्बाध मिल रहीं हैं, अपने प्राण-सार सर्वस्व से। वे सर्वथा-सर्वांश में निरपेक्ष हैं। प्रियतम चाहे राधा नाम्नी किसी गोपी को भले ही जानें-पहचानें भी नहीं।

यद्यपि सखियाँ अपनी ओर से प्रियतम से विनय पर विनय करती हैं, पत्र पर पत्र भेजकर प्रिया का संवाद उनतक पहुँचाती हैं, परन्तु कोई पत्र खोलकर देखे तब। प्रियतम के इतने उपेक्षापूर्ण विपरीत व्यवहार का रानी को जैसे कुछ ज्ञान ही नहीं। इस विपरीताचरण-जनित प्रतिकूलता की एक रेखा

भी रानी के मानस पर अंकित नहीं हो पाती। वे तो अपने भाव में निर्बाध मिल रही हैं अपने प्राण-सार-सर्वस्व से। उनके चित्त का नित नूतन चाव क्षण-क्षण असीम वेग से अभिवर्द्धित ही होता जा रहा है।

प्रिया ललिता को सम्बोधित कर भावावेश में ही बोल पड़ती हैं — "क्यों कठोर हो रही हो बहिन ! तुम क्या चाहती हो ? प्राणवल्लभ नीलसुन्दर से मैं मान करूँ ? रसिकशेखर को शिक्षा दूँ ? क्या अपराध है उनका ? अपनी रुचि का आचरण करना, चन्द्रावली के कुंज में स्वाधीनतापूर्वक कुछ काल रह जाना, यही अपराध है न उनका ? बोल मेरी बहन, ललिता बोल ? उनको अपने पराधीन बनाकर रखना, फिर मान करके भयग्रस्त करना, यही क्या प्रेम है ? वे मेरे मन की ही करते रहें, अपने मन की कुछ भी स्वाधीनतापूर्वक नहीं करें ऐसी बाध्यता उन पर थोपना क्या प्रेम है ? क्या देखा है सारिका ने ? "वे चन्द्रावली को अपनी एकमेव प्रियतमा कह रहे थे, शैब्या के हाथों मधु पी रहे थे; पुष्पमन्दिर में चन्द्रावली के साथ एक शय्या में आसीन थे। तो इसमें क्रोध करने की बात ही क्या है? बहन ! उन्होंने स्वच्छन्द सुखाचरण किया, यह सुनकर तो मेरा हृदय सुख-समुद्र में डूब गया। ललिता री ! आज मैं जितनी सुखी हूँ, उतनी तो जीवनपर्यन्त कभी नहीं हुई। मेरा रोम-रोम आनन्द से नृत्य कर रहा है। इतने दिवसों में प्रियतम-प्राणवल्लभ के स्वच्छंद सुखाचरण का सुसंवाद मुझे आज मिला है। मेरे आनन्द की सीमा नहीं है।"

"ललिते ! मुझे रोकना मत। मैं शैब्या की दासी बनने, उसके कुञ्ज में जा रही हूँ। वहाँ मैं अपने प्रियतम का मोहन मुख अपने नेत्रों से देख तो पाऊँगी। अरी, मेरा अपयश ही तो होगा। शैब्यादासी होने से मेरी राजनन्दिनी की मर्यादा नष्ट हो जायगी। मैं चन्द्रावली-सेविका ही सही। मेरा मान-सम्मान अभिमान ही तो नष्ट होगा ? मैने अपनी प्रीति तो विनष्ट नहीं की। वे ही वे मेरे पास सदा आवें, क्या यही प्रीति-मर्यादा है। आज यदि बिना निमंत्रण के ही मैं उनके पास चली गयी तो अपने प्राणपति के चरणों में ही तो जा रही हूँ। मैं दासी-जीवन का क्लेश भोग लूँगी अपने प्राणवल्लभ का सुख-सदन मुख निहारकर अपने प्राणों को तो सुखी कर लूँगी। मेरा अहंकार चूर-चूर हो जायेगा, मुझसे शैब्या दासीवत् कार्य करायेगी, मैं उसकी पान-पीकदानी स्वच्छ करूँगी, उसकी सेज सँवारूँगी; ऐसा भी संभव है, वह मुझे अपने कुञ्ज में प्रवेश ही नहीं करने दे, तो भी मैं उसके चरणों में गिर

पडूँगी। उनका सुख एवं आनन्दभरा मुख मात्र एक बार ही सही, देख तो पाऊँगी।"

और सचमुच ही प्रिया शैब्या के कुंज की ओर चल पड़ती हैं। प्रिया उन्मादिनी हो गयी हैं। सखियाँ चीत्कार करतीं उनके पीछे दौड़ रहीं हैं। प्रिया को न ही तन की सुधि है और न ही वसन की। उनके नयन अपलक स्थिर हैं। सिर के केश बिखरे हैं। उन्हें बाह्य ज्ञान ही नहीं है। वे, हा, प्राणनिकेत!! कहती दौड़ी जा रही हैं। उनको सँभालने उनके पीछे ललितादि सखियाँ चली आ रही हैं। प्रिया की गति इतनी तीव्र है कि सखियाँ प्रिया के साथ चल ही नहीं पातीं।

प्रिया मन ही मन मन्द स्वर में बोले जा रही है - "प्राणवल्लभ राग ही राग करें, वैराग्य करने का उनका कोई अधिकार ही नहीं है ? प्रियतम मुझसे मिले ही मिले रहें, उन्हें मुझे त्यागने का अधिकार ही नहीं है क्या
नहीं, नहीं, वे पूर्ण स्वाधीन हैं। उनको मैं अपनें पराधीन रखकर कैसे सुखी रह पाऊँगी ? उनके प्राण किसी अन्य से सुख पाने को तरसते रहें और वे मात्र प्रतिबद्धता से मेरे पास बने रहें, इसमें मुझे कौनसा सुख है ? उनके प्राणों को जहाँ भी, जिसमें भी सुख है, वे वहीं जायें, वहीं रहें। मैं तो उनके सुख से पूरी सुखी हूँ। मेरा अपना स्वयं का क्या मान और क्या अपमान ? प्रियतम ही मेरे सभी मान सम्मान हैं; और वे पुकार उठती हैं -- "हा प्राणनिकेत ! हे प्राणवल्लभ !! हा जीवन सर्वस्व !!! हे गुणनिधि ! हे मधुर ! हे मोहन ! हे स्पर्शमणि ! हे राधाधन ! हे सुखार्णव ! हे परमाह्लाद।" वे चन्द्रावली कुंज के द्वार पर पहुँच कर भावसमाधि में सुधि-बुधिहीन हुई भूलुंठित गिर पड़ती हैं।

## रानी का चन्द्रावली, शैब्या एवं प्रियतम से मिलाप

और चन्द्रावली कुंज के द्वार पर ही प्रियतम, प्रिया का स्वागत करने खड़े मिलते हैं। चन्द्रावली और शैब्या दोनों ही स्वागत में दौड़ती हुई रानी के चरणों में गिर पड़ती हैं। उनके नयनों से बहते अश्रु थम ही नहीं पाते। धारा की तरह उनके नेत्र अश्रु प्रवाहित कर रहे हैं। चन्द्रावली की हिचकी बँध गयी है। रानी उसे अपने वक्षस्थल में कसकर आलिंगन कर लेती हैं

मानो रानी और चन्द्रावली प्रियतमप्रेम से भरी दो देह किन्तु मात्र एक प्राण हों।

"सब कुछ मेरा अपराध है, बहिन; सब मेरा अपराध है। मैं तुम्हारे प्रियतमप्रेम की अगाधता देखना चाहती थी। चलो बहिन, कुंज में चलो। मेरा कुंज तुम्हारी चरण-धूलि से पवित्र हो गया। तुम्हें देखकर मेरे कुंज का पत्र-पत्र उसकी भूमि का कण-कण, विशुद्ध एवं सच्ची प्रीति से सिक्त हो जायेगा।"

"तुम प्रीति की साक्षात् प्रतिमा हो। मैं तो तुम्हारी दासी की भी दासी होने के योग्य नहीं।" यह कहती शैब्या, ललितादि सभी सखियों को अपने कुञ्ज भवन में ले चलती हैं। किन्तु प्रिया तो इस आदर-भक्ति से सर्वथा निरपेक्ष हैं। वे तो अपने नीलमणि प्राणरमण का सुख-निकेत मुख देखकर अपने स्वरूपगत भाव-समुद्र में डूब गयी हैं। उन्हें तो सर्वत्र कुंज में, कुंज के पत्र-पत्र में, ललिता में, शैब्या में, चन्द्रावली में, सखियों में, सर्वत्र सभी में उसके प्राणनाथ ही भरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

और प्रियतमप्राणसुन्दर नीलमणि की कैसी विलक्षण दशा है ? वे तो अपनी प्रिया के मुखचन्द्र की पिंगलद्युति निहारकर सर्वथा विह्वल हो रहे हैं। उनके हृत्तल में अनुराग का सागर अथाह हिलोरें ले रहा है। शरच्चन्द्र को भी हेय बना देने वाले अपने प्रिया के सुन्दर मुखाविन्द पर दृष्टि पड़ते न पड़ते व्रजराजकिशोर--की विचित्र-सी दशा हो जाती है, अपनी प्रिया के प्रेमामृतवर्षी चित्ताकर्षक मुख के जादू ने नीलसुन्दर के नील-कलेवर में अष्ट सात्विक विकारों का उन्मेष कर दिया है। मधुरस्मित-विभूषित अधरों से दीप्तिमान् नील-कलेवर रोमाञ्चित हो उठा है।

रोमाञ्च के अन्तराल से सुस्पष्ट परिलक्षित होता है कि प्रियतम नीलमणि की हृदय रसधारा गंभीर, गंभीरतर होती जा रही है। चपल-लोचनों की बंकिम चितवन अपलक निहार रही है - अपनी प्रिया को। वे उस अप्रतिम अनिंद्य सौन्दर्य की साकार प्रतिमा के सम्मुख ठिठककर अविचलित खड़े हैं। नेत्रों से अनर्गल वारि-धारा प्रसरित हो रही है। आनन्दातिरेक से छलके इन वारि-बिन्दुओं में अद्भुत शैत्य अभिव्यक्त हो रहा है। उनके चतुर्दिक् आनन्दानुभव का प्रवाह प्रवहमान है। नेत्रों के कज्जल से मिश्रित यह अश्रु-प्रवाह उनके दीप्त अरुणिम कपोलों को आर्द्र कर दे रहा है। किसी भी

प्रकार रुद्ध ही नहीं हो रहा है – यह प्रवाह। उनका कण्ठ रुद्ध हो गया है। वाणी निस्सृत नहीं हो पा रही है; सर्वथा विह्वल हैं, वे।

अपनी प्राणधिका किशोरी की अनुपम प्रीतिराशि पर नित्य-विमुग्ध नीलसुन्दर के प्राणों में आज तो एक अभिनव उद्दाम भावोच्छलन हो रहा है। वे अपनी प्राणाधिका किशोरी से याचना में दीन हुए अपनी अभिलाषा रखने को समुत्सुक हैं। यद्यपि किशोरीरानी के लिये अपने प्रियतम को कुछ भी अदेय नहीं है,परन्तु फिर भी अभिलाषाभरी मधुस्यन्दी गिरा – अपनी बाह्य अभिव्यक्ति इस रूप में कर ही उठती है।

"प्राणप्रियतमे ! तुम ही तो मेरे शतसहस्र प्राणों की अधिदेवी हो, मेरे असंख्य प्राणों की प्रतिष्ठा हो। जीवनेश्वरि ! अपनी हेतुरहित कृपा का प्रकाश कर मुझे भी एक वस्तु का दान दे दो – चिर-अभिलाषा सँजोये मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मेरे उद्विग्न प्राणों की लालसा यही है, इतनी ही है-- "मेरे नयन अपलक विजड़ित रहें केवल, केवल,केवल तुम्हारे मुख पर। वे निरवधि मात्र तुम्हें निहारतें रहें। मेरे मन के कण-कण में, मेरे प्राणों के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में नित्य विराजित रहे तुम्हारा, बस, तुम्हारा ही, यह मुखचन्द्र। प्रेममयी ! अपरिसीम प्रीति का प्रवाह तुम्हारे इन अरुण लोचनों में सहज नित्य निरन्तर प्रसरित रहता है। उस प्रवाह की एक कणिकामात्र मुझे दान कर दो। बस, एवमस्तु कह दो मेरी प्राणप्रिये !"

चतुर्दिक् रस-समुद्र ही रस-समुद्र हिलोरें ले रहा है। एक लहर आती है, दूसरी उससे भी उच्चतर और तीसरी उससे भी और तीव्र एवं उद्दाम आती है।

सारिका बने, पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा का सम्पूर्ण अंग-अंग स्वेद से श्लथ है। रतनगढ़ ग्राम में रेत के ऊँचे-ऊँचे पहाड़ नुमे धोरों के कारण तापमान सर्वाधिक न्यून रहता है। परन्तु पू० गुरुदेव इतनी शीत में भी स्वेद से लथ-पथ हैं, सारिका का अंग अंग रोमाञ्च से उत्फुल्ल हो गया है। रोमाञ्चवश उत्फुल्ल-पंख होने से उसकी आकृति कुक्कुट की तरह विशाल हो गयी है। वह भरे कण्ठ से गा रही है-

> काले को लेकर मन मेरा हो गया निपट काला प्रियतम !
> कुछ भी संकल्प करूँ, काला होकर वह निकलेगा प्रियतम !
> वह असित रंग घन घनतर अब होगा क्रमशः आगे प्रियतम !
> है अतः अनन्तकाल तक ही जीवित रहकर रोना प्रियतम !

## सारिका प्रसंग : दूसरी लीला

## नन्दभवन दर्शन

अभी ब्राह्म मुहुर्त हुआ नहीं है । सारिका उड़ रही है नन्दप्रासाद की ओर । लो, दिखाई पड़ गयी व्रजेन्द्रपुरी । सारिका स्पष्टतया अनुभव कर रही है कि उसकी प्रिया राधारानी की ही सखी - वृन्दा (संधिनी शक्ति) की ही नित्य परिणति है, यह । वृन्दारण्य के कुञ्ज, निकुञ्ज, गिरि, सरोवर एवं वन-उपवनों की तरह यह पुरी भी परम विभु, नित्य चिन्मय है । प्रिया-प्रियतम की चिदानन्दमयी लीला के प्रकाश के साथ ही यह पुरी भी आविर्भूत होती है और जब लीला का अन्तर्द्धान हो जाता है तो यह पुरी भी अन्तर्हित हो जाती है । हाँ, जिनके नेत्रों में प्रिया-प्रियतम की चरण-नख-चन्द्रिका भरी है, उनके लिये तो, यह पुरी अनादि, अनन्त निरवधिकाल सदा वर्त्तमान ही रहती है, वृन्दाकानन उनके नेत्रों में सदा भरा रहता है । किसी भी कवि की रसना में कहाँ ऐसी सामर्थ्य है कि इसके विचित्र वैभव के किसी एक अंश का भी चित्रण कर सके । सारिका, व्रजेन्द्रपुरी की अप्रतिम शोभा की स्तुति में बस, यही बोल पाती है :-

क्वचिन्मरकतस्थली कनकगुल्मवीरुद् द्रुमा:
क्वचित्कनकवीथिका मरकतस्य वल्ल्यादय: ।
क्वचित्कमलरागभू: स्फटिकगुल्मवीरुद्द्रुमा:
क्वचित्स्फटिकवाटिका कमलरागवल्ल्यादय: ।।
क्वचिन्मरकतद्रुमा: कनकवल्लिभिर्वेल्लिता:
क्वचित्कनकपादपा मरकतस्य वल्लीजुष:
क्वचित्स्फटिकभूरुहा:कमलराग वल्लीभृतो
द्रुमा: कमलरागजा : स्फटिकवल्लिभाज: क्वचित् ।।

कहीं तो मरकतमणिमय अकृत्रिम भूमि है । उस भूमि पर स्वर्णमय गुल्मलतायें एवं द्रुमसमूह परिशोभित हैं, कहीं स्वर्ण की गलियाँ, वीथियाँ बनी हैं । सर्वत्र स्वर्ण ही स्वर्ण आस्तृत है, मृत्तिका का लेश भी नहीं । और इस स्वर्णभूमि में मरकतमणिमय वल्लरियों की, गुल्मतरु पंक्तियों की छटा फैल रही

है । कहीं पद्मरागरचित भूमि है, उस पर स्फटिक-निर्मित गुल्मलता वृक्ष-समूह विराजित हैं और कहीं स्फटिक की वाटिका बनी है तो उसमें पद्मराग की लतायें, गुल्म तरुराजि झूम रही हैं ।

कहीं तो मरकत द्रुमसमूह कनकलताओं से परिव्याप्त हैं एवं कहीं स्वर्ण-पादपश्रेणी मरकत की बनी वल्लरियों से सुमण्डित हो रही है तथा कहीं वृक्षों की अवलि स्फटिक की है, जो पद्मराग मणि की लताओं से उद्भासित हो रही है; और कहीं स्फटिक के लताजाल से पद्मराग के वृक्ष समुज्ज्वल हो रहे हैं ।

यहाँ जितने वृक्ष हैं, सभी कल्पतरु हैं एवं जितनी वल्लरियाँ हैं सभी कल्पलतिकाएँ हैं । शाल, तमाल, ताल, अश्वत्थ, कपित्थ, बकुल, नारिकेल, रसाल, प्रियाल, श्रीफल, करील, कोविदार, देवदारु, मन्दार, जम्बीर, चन्दन, अशोक, कदम्ब, गुग्गुल, पीलू, गन्धपिप्पली, गजपिप्पली, आदि जितने वृक्ष हैं सभी कल्पपादप हैं । वासन्ती, वनमल्लिका, स्वर्णयूथी, जाती, यूथी, मल्लिका, मुद्गरा, अपराजिता, गुञ्जा, शतमूली, बिम्बफललता, लवंगलता आदि जितनी लतायें हैं, सभी कल्पवल्लरियाँ हैं । नन्दनकानन में कल्पपादप नहीं, उससे सर्वथा विलक्षण ! प्राकृत कल्पवल्लरियाँ नहीं, उससे सर्वथा भिन्न ! ये तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्र नन्दन के चिन्मय धाम के चिन्मय तत्व से गठित हैं ।

सारिका उड़ती हुई देख रही है - वृजेन्द्रपुरी के समान ही वैभवशालिनी यहाँ सभी गोपों की न जाने कितनी ही पुरियाँ हैं । वह आश्चर्यचकित विस्फारित नेत्रों देख रही है । यहाँ के कण-कण से एक परम दिव्य ज्योति झर रही है । ऐसी उज्ज्वल ज्योति, जो प्राकृत जगत के कोटि-कोटि सूर्यों में भी संभव नहीं है, परन्तु साथ ही ऐसी शीतल, सुखद जैसी प्रपंच के कोटि चन्द्रों की पुंजीभूत किरणों में भी नहीं । यहाँ भी एक सूर्य तो है, परन्तु प्राकृत विश्व का सूर्य नहीं । एक पीयूषवर्षी चन्द्र भी है, परन्तु वह प्राकृत चन्द्र नहीं । यहाँ भी सुनील गगन है; गगन में मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, केतु, राहु असंख्य तारक - रमणीय, परम तेजोमय, अत्यन्त विलक्षण, परम सुन्दर, शोभन, अतिशय सुषमाशाली - सब कुछ अप्राकृत चिन्मय हैं ।

सारिका इस व्रजेन्द्रपुरी की ओर-छोर विहीन महिमा को देखकर विस्फारित-नेत्र बस, - उड़ रही है, सर्वत्र फुदक-फुदक कर बैठ रही है और परमानन्द में डूबी है ।

सारिका यह भी स्पष्ट देख रही है कि जो कुछ श्रुतियों में उल्लिखित है -

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकः**
**नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।।**
**तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।**

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र एवं न तारक समुदाय ही प्रकाशित होता है और न विद्युत् ही प्रकाश करती है । फिर, वहाँ अग्नि का प्रकाश तो संभव ही कहाँ है ? क्योंकि उसके नित्य प्रकाश से ही तो इन सूर्य चन्द्र आदि में प्रकाश का संचार होता है; उसके आंशिक प्रकाश को पाकर ही तो ये प्रकाशित होते हैं, सारा जगत भी उसी के क्षुद्रतम अंश से ही प्रकाशित हो रहा है ।

सारिका को स्पष्ट-स्पष्ट यह तत्व उजागर हो रहा है कि श्रुति-प्रतिपादित यह धाम और व्रजेन्द्रपुरी कोई दो पृथक् सत्ता नहीं हैं । परन्तु, फिर भी व्रजेन्द्रपुरी में यह श्रुति-प्रतिपादित तत्व ही सूर्य, चन्द्र, सभी नक्षत्र, साथ ही भूमि-भवन बना प्राकृत ग्रहों से सर्वथा भिन्न प्रकाशित हो रहा है ।

यह बात भी नहीं कि ऊपरवर्णित, वृक्ष, वल्लरी, भूमि, गृह, आदि वस्तुओं का कोई इत्थंभूत रूप है। इतना है, ऐसे है, ऐसे नहीं है - इस प्रकार इनके लिये कोई सीमा भी नहीं बाँधी जा सकती । जड़ वस्तु की तरह इनके रूप, रंग, आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा भाव आदि की इयत्ता नहीं । ये तो प्रियतमप्राणवल्लभ नीलमणि की अचिन्त्य लीला महाशक्ति का निरन्तर अनुसरण करते हैं । प्रिया-प्रियतम की जब, जैसी लीला का प्रकाश होता है, उसके लिये जो, जैसी जितनी सामग्री चाहिये, उसी रूप में इनका प्रकाश यहाँ होता रहता है ।

सारिका व्रजेन्द्रपुरी के असंख्य रत्नों से खचित स्वर्ण-पत्तरों के आवरित शक्तिशाली काष्ठ के विशाल मुख्यद्वार के समीप आ गयी । अरे, कैसे सच्चिन्मय हैं ये ? सारिका को देखकर ये द्वार - इनको संभालने वाले दो चमचमाते नीलमणि के तुंगाकार स्तंभों के सहित - जीवन्तवत् प्यार से स्वागत में बोल उठे :- "आओ प्यारी सारिके ! तुम्हारा व्रजेन्द्रपुरीस्थित नन्दभवन स्वागत करता है । हे आकाशचारिणी ! यदि हम तुम्हें अनुमति न दें तो तुम

इस भवन में अपने पंखों के बल कदापि प्रवेश नहीं पा सकती; क्योंकि हमारी उत्तुंगता हम उस समय नभस्पर्शी कर सकते हैं, परन्तु तुम तो हमारे नन्दनन्दन की दुलारी हो, तुम्हारा स्वागत, प्यार भरा स्वागत !"

सारिका ने मानो इस प्राचीर और विशाल प्रवेशद्वारों की स्वागत वाणी सुनली हो उसने भी इनको मन ही मन प्रणाम किया । उसे अपनी भूल समझ में आ गयी थी, उसे पूर्वतः ही इनको पहले प्रणाम कर, तब भीतर प्रवेश की अनुमति माँगनी चाहिये थी ।

अहा ! कैसे भीमकाय विशाल स्वर्णावरित स्तंभ हैं । इनके स्वर्णपत्रों पर रत्नों की ही बेलें विजड़ित हैं और बेलों में रत्नों के वृहत् प्रस्फुटित पुष्प हैं । इन भीमकाय स्तंभों के नीचे सूँड उठाये दो विशाल गजराज हैं, मानो इन गजराज-द्वय की सूँडों पर ही यह पुरी का गजद्वार खड़ा हो । जिन रत्नों से इन गजराजों की आकृतियाँ निर्मित हैं, वे अतिशय रसमय प्रकाश प्रसरित करते हैं एवं इतनी जीवंतता व्यक्त कर रहे हैं जिससे स्पष्ट परिलक्षित होता है मानो आद्याशक्ति भगवती महालक्ष्मी के वाहन गज ही इस पुरी के द्वारदेश में स्थित हों ।

इन स्तंभों के ऊपर उलटा अर्द्ध-चन्द्राकार, रत्नजटित छत्र है जिसके मध्य में भगवान् गणाधिपति की सिन्दूरवर्णी प्रतिमा अंकित है। उसके दोनों ओर सूर्यदेव एवं चन्द्रदेव की दो रथ-चढ़ी प्रतिमाएँ हैं । इसी प्रस्तर खण्ड के सर्वोपरि शीर्ष में नीलमणि रत्न की शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज नारायण की विशाल, शान्त रसप्रसरित करती, अति सौम्य अर्द्ध-निमीलित-नेत्र प्रतिमा है । मूर्त्ति का मुख मन्द-मन्द हास्य से युक्त है एवं इतना आनन्दमय है मानो सभी आगन्तुकों को उपदेश दे रहा हो-आनन्दोऽहं, आनन्दोऽहं। नन्दभवन के चतुर्दिक् बहुत ही ऊँची स्वर्णिम दीवार है । मध्य में सुन्दर मजबूत खंभे हैं; प्रत्येक स्तंभ पर चतुष्पाद छतरियाँ हैं । मुख्य-मुख्य स्थानों पर षट्पाद एवं अष्टपाद छतरियाँ भी हैं । नन्दभवन के भीतर इस दीवार से लगे बहुत ही सुन्दर रत्नमय परिचारकों के आवास हैं ।

इन गोपालकों एवं परिचालकों के आवासों के आगे बहुत ही सुन्दर स्फटिकशिला निर्मित मार्ग है, जिसके दोनों ओर बहुत सुन्दर कदम्ब वृक्ष सुपुष्पित रहते हैं । इनकें विकसित पुष्पों की सुगन्ध से सारा नन्दभवन महकता रहता है । परिचारकों के आवासों के आगे मेंहदी की अति सुन्दर बाड़ है जिसमें मेंहदी को ही काटकर मयूर, हाथी, हरिण आदि जीवन्त

आकृतियाँ सृजित की गई हैं । मुख्यद्वार और नन्दमहल के मध्य बहुत ही गोलाकार सुन्दर उपवन है। इसके मध्य में रत्नमय फव्वारा लगा है । नन्दभवन के दोनों ओर सटी अति विशाल गोशालाएँ हैं । इनके आगे राजमार्ग है और पीछे यमुना के सुन्दर गौघाट हैं । नन्दभ्वन के पीछे यमुना बहती है । नन्दभवन पूर्वाभिमुख है । सुदूर पूर्व में गिरिराज का विशाल पर्वत है और इस पर्वत और नन्दभवन के मध्य गहन वन है । नन्दभवन के उत्तर में गोशाला से सटा संनन्द जी का ऐसा ही विशाल सुन्दर भवन है और दक्षिण में गोशाला से सटा इतना ही सुन्दर उपनन्दजी का भवन है । सभी भवनों के पार्श्व में ऐसी ही विशाल गोशालायें है तथा गोशालाओं के पार्श्व में गोपों के आवास हैं ।

यमुना उत्तर से दक्षिण की ओर बहती है । वह कुछ दूर दक्षिण में जाती है तब पूर्व की ओर मोड़ ले लेती है । फिर पूर्व की ओर, बहुत दूर तक बहती हुई पुनः दक्षिण में मुड़ जाती है । राजमार्ग भी इस प्रकार उत्तर से दक्षिण और तब पूर्व की ओर मुड़ जाता है । पूर्व से होता हुआ यह राजमार्ग आगे वन में पगडंडियों में परिवर्तित हो जाता है । वन आगे गहन, गहनतर होता हुआ अति गहन हो जाता है । अति गहन होता हुआ यह वन गिरिराज परिसर तक चला जाता है ।

नन्दभवन और सिंहद्वार के मध्य गोलाकार उपवन में इतने सुन्दर सुरभित पुष्प विकसित हैं कि उनकी महक सम्पूर्ण नन्दभवन को सुवासित कर रही है । यह बयार भी विलक्षण स्वभाव वाली है - जिधर श्री कृष्ण होते हैं बयार की दिशा उधर ही हो जाती है। मानो निरन्तर उनके ही चतुर्दिक् उनकी ही परिक्रमा करती वह प्रवहमान रहती हुई कभी किसी दिशा से उत्तमोत्तम पुष्प-गंध लाती है और कभी किसी दिशा से ।

सारिका गिरि परिसर से उड़ती हुई नन्दभवन पहुँची है । वह समग्र व्रजेन्द्रपुरी की परिक्रमा करती है । अहा ! नन्दभवन के पीछे भी अति सुखद उपवन है, जो यमुना घाट तक गया है । घाट भी अतिशय मनोरम हैं । सभी गोपावासों और गोशालाओं के पीछे अति सुखद उपवन हैं और तत्पश्चात् यमुना पर परम रमणीक स्वर्णिम रत्नों से खचित एक-से-एक मनोरम घाट हैं । यशोदादि गोपियाँ अपने भवनों के पिछवाड़े से इस विस्तृत उपवन के मध्य होती हुई इन घाटों पर स्नानार्थ जाती हैं । महाराज नन्दादि पुरुषों के लिये पृथक् घाट हैं और स्त्रियों के लिये पृथक् घाट हैं । वस्त्रादि बदलने के

लिये घाटों पर अलग-अलग कक्ष बने हैं । घाटों पर भी वृक्षों की घनी सुखद छाया रहती है तथा सुन्दर विकसित सुमनों से लदी हुई लताएँ, वल्लरियाँ इन घाटों के स्वर्ण खंभों को अपने आलिंगन में बाँधें रखती हैं । अतः घाट रत्नखचित स्वर्णिम शिलाओं से निर्मित होते हुए भी इन लताओं से और उनके पुष्पों से सदा लदे रहते हैं ।

अहा, यमुना की भी कैसी विलक्षण शोभा है ? अपने प्रियतम नन्दनन्दन के नेत्रों को सुख देने के लिये यमुना प्रतिपल नित नूतन अरविन्दों से अपने को सजाती है । आश्चर्य है कि अति गंभीर निर्मलतम जल से सदा भरी रहने पर भी वह पद्मों से पूर्णतया भरी रहती है । गहरे जल एवं फिर प्रवाह में तो पद्मों का होना और विकसित होना, असंभव-सा ही है। पद्मों के लिये तो पंक होना परम अनिवार्य है, परन्तु विरजा, जिसके जल में रज एवं पंक है ही नहीं, उसका शतदल सरोरुहों से परिव्याप्त रहना महती आश्चर्य ही तो है, किन्तु यहाँ तो चतुर्दिक् एक नहीं, असंख्य आश्चर्य ही आश्चर्य, विलक्षणताएँ ही विलक्षणताएँ सर्वत्र भरी हैं ।

यमुना के पश्चिमी किनारे पर भी सुन्दर घाटों की पंक्तियाँ हैं । स्थान-स्थान पर स्वर्णशिलाओं से बने घाटों पर रत्नमयी सीढ़ियाँ बनी हैं । सुन्दर चन्दन काष्ठ से निर्मित रत्नों से खचित नौकाएँ इन घाटों में पंक्तिबद्ध बँधी हैं, इनमें हलकी रत्नमयी पतवारें हैं । इन नावों से प्रायः गोप गोपियाँ यमुना संतरण कर यमुना पारवर्ती गाँवों की ओर जाती-आती हैं ।

तो लो, सारिका नन्दभवन पहुँच गयी है । सारिका भावदेह में गुरुदेव को नन्दमहल, वृषभानुमहल एवं सभी उपनन्द, संनन्द आदि प्रमुख गोपों के विलक्षण शोभामय भवनों का दर्शन हो रहा है । उनकी प्रसन्नता की सीमा ही नहीं है ।

"जो खग हौं तो बसेरो करौं, नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन" के भाव से भरे पू० गुरुदेव सारिका वेश में कभी नन्दभवन के सुन्दर-सुन्दर कँगूरों में बैठते हैं, कभी प्राचीरों पर एवं कभी उपवन के पुष्पित वृक्षों पर । अत्यन्त प्रसन्नता भरे वे फुदक-फुदक कर चहकते अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहे हैं। राजमार्ग के दोनों ओर विकसित पुष्पों से लदे कदम्ब, अनार, बिल्वादि के वृक्ष हैं । ये सभी वृक्ष राजमार्ग को अलौकिक शोभा सम्पन्नता प्रदान कर रहे हैं ।

# गोदोहन एवं यश गायन

सभी गोशालाएँ वृक्षों से लदी हैं । इनके मुख्यद्वार राजमार्ग में खुलते हैं। गौओं के लिये अति हवादार स्वच्छ आवास बने हैं, जिनमें गोप गौओं की सेवा में निरत हैं ।

रात्रि के तृतीय प्रहर से ही गोप गौओं की सेवा में संलग्न हो जाते हैं । ब्राह्ममुहूर्त्त में तो गोदोहन ही प्रारंभ हो जाता है । गोदोहन की अति सुमधुर ध्वनि से सम्पूर्ण नन्दग्राम गूँजने लगता है । गोदोहन करते गोपालक नन्दनन्दन की सुन्दर लीलाओं का गायन करते हैं ।

गोदोहन आरम्भ होते ही गोपालों में प्रेमावेश का आरंभ हो जाता है । आजतक यशोदानन्दन ने जितनी लीलाएँ की हैं, सबकी सब गोपालकों के एवं गोपियों के हृदय-मन्दिर में अंकित हैं । गोपालकों के स्मृतिपथ में ये लीलाएँ मानो अभी हो रही हों - इस प्रकार जीवन्त उदय होने लगती हैं । हृदय में रससिन्धु उमड़ने लगता है । सभी गोपालकों के मसृण चित्त में इतना स्थान कहाँ कि वे सभी लीलायें रुद्ध हो सकें । अतः उच्छलित होकर यह रसधारा गीत के रूप में गोपालकों के मुख से निस्सृत होने लगती हैं । दोहन की ध्वनि में मिले हुए कण्ठ से गोपालकों के गीतों में नीलमणि के विविध चरित्र जीवन्त चित्रित होते हैं । गोपालकों के हाथ तो अपने प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर के लिये दुग्ध-दोहन कर रहे हैं, मुख से नीलमणि प्राणजीवन की रसमयी लीलाओं का गायन हो रहा है और उन सबकी चित्तभूमि में इन विविध लीलाओं के अनुरूप क्षण-क्षण में नव-नव वेष से विभूषित हुए नीलमणि नृत्य कर रहे हैं । इस प्रकार सभी गोपालक, परिचारक, परिचारिकाएँ कायमनोवाक्य से श्रीकृष्णचन्द्र प्राणवल्लभ में तन्मय हो रही हैं । और यही दशा गौओं की है । वे भी दिवसपर्यन्त अपने प्राणसुन्दर को निहारती ही रही हैं, संध्या में भी उन्होंने तभी दोहन करवाया है जब नन्दतनय उनके सम्मुख नेत्रों में प्रत्यक्ष रहे हैं । निशापर्यन्त सभी गौओं ने अपने नीलसुन्दर के ही स्वप्न देखे हैं । और अब तक वे उन्हीं के दर्शन में इतनी तन्मय हैं कि उन्हें पता ही नहीं है कि कब निशा व्यतीत हो गयी है और ब्राह्ममुहूर्त्त का प्रभाती दुग्ध-दोहन होने जा रहा है । उनकी भावना में तो नीलमणि पर्यंक में सोने गये ही नहीं है, वे उनके ही दृष्टिपथ में उनके

चतुर्दिक् ही थे, हैं, एवं रहेंगे । उनकी भावना में तो रह-रहकर नीलमणि उनके सामने आ जाते हैं और वे अपनी मूकभाषा में उनसे वार्त्ता करती रहती हैं ।

"रे ! व्रजराजकुलके तिलक ! तूने एक से एक बढ़कर परम मनोहर, सन्दर पवित्र लीलाएँ की हैं । परन्तु ओह ! पशुयोनि-जीवधारी हम गौओं पर भी तुम्हारी कैसी कृपा है कि उन सभीको तुमनें हमारी ही साक्षी में सम्पन्न की हैं । तुम हमको लीलासुख देकर किस प्रकार कृतार्थ कर रहे हो, हम तुम्हारे इस हेतुरहित प्रेम का क्या कहकर सत्कार करें । "

"अहा ! शकट-भंजन, पूतना-उद्धार, तृणावर्त-उद्धार, मृद्‌भक्षण, माखन चोरी, ऊखल-बंधन, वंशीध्वनि की भुवनमोहिनी का विस्तार, वत्सासुर उद्धार, बकासुर-संहार, व्योमासुरवध, अघासुर-संहार, वन-भोजन, ब्रह्म-सम्मोहन लीला आदि समस्त लीलाओं में तुम्हारी जिस-जिस माधुरी का विकास हुआ है, वह सब असमोर्ध्व है ।

इधर गोपियाँ भी नन्दनन्दन की मधुर रिंगण, विविध क्रीड़न, नर्तन, गोवत्सपुच्छधारण, उनके नवनीतहरण, आदि लीलाओं का अपने गीत-गायन में सजीव चित्रण कर रही हैं ।

अहा ! गोप गोपियों के अंगों की शोभा भी देखने योग्य है । गोपों के कटिदेश में सुकोमल रेशम की फेंट कसी है । वे छोटे-छोटे रत्नों से जटित सुन्दर बगलबन्दी पहने हैं । सिर पर उनके पगड़ियाँ हैं । गोपियों के लहँगा, कंचुकी, और रंगबिरंगी ओढ़नियाँ हैं । सभी में स्वेद, कम्प, अश्रुप्रवाह, स्वरभंग आदि सात्विक विकार व्यक्त हो रहे हैं । गोपों के अंगों में भी रह रहकर प्रकम्पन हो उठता है। यही दशा गौओं की है । गोपियों के हाथों को अलंकृत करने वाले कंकण, एवं कानों को विभूषित करने वाले कुण्डल-युग्म चंचल हो रहे हैं । गोपियों के अंगों में निरन्तर गति रहने से अंचल सिर से उतर आया है, वेणी-बंधन शिथिल हो गया है, वेणी में ग्रथित मालती पुष्प झरने लगे हैं एवं झर-झर कर चरणों का संस्पर्श कर रहे हैं। सभी गोप एवं गोपियों के प्रेमावेश के कारण प्रस्वेदकण भाल पर, कपोलों पर चिबुक पर, झलमल कर रहे हैं। इन गोप-गोपियों का प्रेमावेश के कारण बाह्य ज्ञान लुप्तप्राय: है फिर भी अपने प्राणसार सर्वस्व नीलमणि को दुग्धपान कराने की वासना के चिर जाग्रत रहने से उनकी दुग्ध-दोहन क्रिया में कोई व्यतिक्रम नहीं है । इसी प्रकार गौएं भी - नीलमणि हमारा दुग्ध पान करेगा, इस

सुबलपत्नी कुन्दलता है । वह निशा में भी इन्हें सँभालने इस कक्ष में आ-जा सकती हैं । वे ही निशा में इनकी कुशलता का निरीक्षण करती हैं।

तो सारिका अपने प्राणवल्लभ को उनके शयनकक्ष में न पाकर पुनः तीव्रगति से यमुना की ओर उड़ चलती है। अहा ! पू० गुरुदेव के सारिकारूप में पंखों में मानो मनोगति आ गयी हो। वे अतिशय त्वरा से उड़ रहे हैं। भगवान नारायण का वाहन गरुड़ भी इस समय अनकी गति को स्पर्द्धा में विजित नहीं कर पावेगा । इतनी तीव्रगति से वे नन्दभवन के पिछवाड़े से उपवन को पारकर यमुना घाट पहुँचते है। वे यमुना में स्नान करते महाराज नन्दराय को प्रणाम करते हैं और यमुना पार कर के किनारे-किनारे दक्षिण दिशा की ओर उड़ते चले जाते हैं। जब यमुना लम्बा बहाव लेकर पूर्व की ओर मुड़ जाती है तो ये यमुना तट को छोड़कर दक्षिण-पूर्व के मध्य तिकोना कोण लेकर उड़ने लगते हैं। सीधे लम्बी दूरी तक उड़ने पर इन्हें यमुना पुनः मिल जाती है। ये यमुना पार कर पगडंडी के ऊपर उड़ते सीधे गिरिराज परिसर में पहुँच जाते हैं। यहाँ आकर वे सर्वसौभाग्यप्रद कुञ्ज में झाँकते हैं।

## निभृत निकुंज : लीला दर्शन

सारिका आश्चर्यचकित है । यह गिरिराज परिसर भी विलक्षण अप्राकृत सौन्दर्ययुक्त है। लीला परिकरों की सुख-सुविधा के लिये, उन्हें भाँति-भाँति के उपकरण दे-देकर उनका प्रीति-विधान करने के लिये, प्रिया-प्रियतम की लीला को मधुरातिमधुर बनाने के लिये, उन्हें अभिनव रसपान कराकर क्षण-क्षण में आनन्दसिन्धु में निमग्न कर देने के लिये अहा ! यह भूमि प्रतिक्षण अपना रूप नव-नव सुन्दर परिवर्तन कर लेती है । जो एक क्षण सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है, दूसरे क्षण उसका रूप दूसरा ही परिवर्तित हो जाता है । सर्व-सौभाग्यप्रद कुंज को सारिका ने कितनी ही बार देखा है, यहीं से तो उड़कर वह नन्दभवन गयी थी । वैसे, नन्दभवन से गिरिपरिसर की दूरी सोलह कोस है, परन्तु यदि प्रिया-प्रियतम को अपने निवास में वृन्दावन में अभी पहुँचना है तो इस विलक्षण भूमि में यह दूरी ठीक उतने ही समय के अनुरूप यात्रा के योग्य हो जाती है । यहाँ ऐश्वर्यशक्ति की सहायता से चमत्कार सर्वथा नहीं होता, यहाँ तो बाहर से तनिक भी, कुछ भी गन्ध न देकर, किसी भी अस्वाभाविकता का तनिक भी प्रकाश न करके अचिन्त्य लीलाशक्ति इस भूमि को तत्क्षण ही यात्रा के योग्य रूप दे देती है । न तो लीला परिकर को यह ज्ञान होता है

कि भूमि संकुचित हो गयी है, न स्वयं उस भूमि को ही यह भान है कि उसने अपना रूप संकुचित किया है । इसी प्रकार यह रूपसौन्दर्य में भी नवीन नवीनतर सुभग सज्जाओं से सज्जित हो जाती है । इसे स्वयं को ही पता नहीं लगता कि कदम्ब के स्थान पर चमेली की बेला कैसे परिवर्तित हो गयी।

एक क्षण पूर्व जहाँ कदम्ब था यदि प्रिया-प्रियतम को चमेली के पुष्पों की आवश्यकता हो जाय तो वही कदम्ब तत्क्षण ही चमेली में परिवर्तित हो जाता है। बात यह है कि कदम्ब बना हुआ लीला परिकर स्वयं लीला का संविन्मय जीवन्त अंग है । वह प्रिया-प्रियतम को सुख देने की लालसा से तत्क्षण ही दूसरा रूप ग्रहण कर लेता है। इन्द्र-नीलमणि-तरु लीला में योगदान करने के लिये आवश्यकता होने पर जल का ह्रद हो जाता है । जल का ह्रद मणिमय सुभगतटों से युक्त हो जाता है । फिर किसी भी परिकर की इच्छा, संकल्प होते ही मनोहर सौरभपूर्ण सुन्दरातिसुन्दर, पर देखने में प्राकृत कदम्ब जैसे ही पुष्पदान कर सकता है । पद्मराग का अशोक प्राकृत की भाँति अथवा ज्यों का त्यों रहकर कर्णाभरण के लिये गोप सुन्दरियों के हस्त कमल पर सुन्दर स्तबक-गुच्छ एवं साथ साथ ही प्राकृत अशोक कुसुम के समान ही दर्शनीय कुसुम-गुच्छ देकर लीला की धारा को अक्षुण्ण बनाये रह सकता है। अहा ! सारिका के वेष में पू० गुरुदेव चकित हैं । वे स्पष्ट देख रहे हैं, एक क्षण जो मणिमय रसाल है वही सुस्वादु आम्रफलों की वर्षा कर रहा है । सम्पूर्ण गिरिपरिसर का क्षेत्र प्रिया-प्रियतम की इच्छानुसार प्राकृत-सा बनकर रसपोषण में अपना योगदान कर रहा है । जो चिन्तामणिमय उद्यान है, जहाँ एक क्षण पूर्व यमुना नदी एवं उसके तट की परिकल्पना ही नहीं, वही मणिमय उद्यान, सुरम्य यमुना तट बनकर बालुका राशि से युक्त हो जाता है । विलक्षण देश है यह -- जहाँ जो चाहिये, जब चाहिये, वही प्रस्तुत हो जाता है । लीला की मधुमयी धारा निर्दिष्ट क्रम का अनुसारण करती आगे से आगे प्रसरित होती रहती है ।

सारिका की आँखों में न जाने किस अचिन्त्य सौभाग्य से, प्रियाप्रियतम की चरणरेणु की कृपा से निभृत निकुंजलीला की एक झाँकी प्रकट हो गयी । अहा ! वृन्दावनेश्वर और वृन्दावनेश्वरी का कैसा सुन्दर विहारमन्दिर है यह । अहा ! इस में राधा-माधव के स्वरूपानन्द से चिन्मय अनादि-अनन्त रस की स्रोतस्विनी बह रही है । अहा ! कैसी अनमोल निधि है यह नील-पीत-द्युति।

इन नील-पीत-द्युति के लिये पद्मोदभव पितामह भी तरसते हैं। नारद-सनकादि ऋषियों की वैकुण्ठ, कैलाश और ब्रह्मलोक में निर्बाध गति भले हो, व्रजपुर का अनिर्वचनीय आनन्द इनके लिये सुदुर्लभ है फिर इस निभृत-निकुंज में प्रवेश का तो प्रश्न ही नहीं है । फिर यह सारिका साधारण पक्षी, जो एक ब्राह्मण सन्यासी मानव का भावदेह है ऐसा महाभाग्यवान कैसे हो गया कि शिव-सनकादि-सुदुर्लभ-गति में इसका प्रवेश निर्बाध हो रहा है । यह पक्षी व्रजपुर स्थित नन्दभवन में निर्बाध सर्वत्र विचरण कर आया है, वहाँ गोप-गोपियों, यशोदा-नन्दादि महामहिम स्वरूपों के दर्शन और प्रीति भावों में अवगाहन कर आया है और अब इसे व्रजमंडल के सर्वलीलामुकुटमणि इस राधा कुण्ड के भी दर्शन हो रहे हैं। अरे, अरे ! यह सर्वसौभाग्यप्रद इस निकुंज में ही नहीं इसके निभृत में स्थित प्रियाप्रियतम के शयन कक्ष में भी झाँक रहा है। यह कैसे संभव हो गया ? यह तो महती आश्चर्य ही है । अरे भाई ! इसे साधारण पक्षी मत मान लेना । इसने नीलसुन्दर एवं भानुकिशोरी के स्वरूप-विलास में अपने चित्त का सर्वथा, सर्वांश में विलय कर लिया है । इसके मन से अन्य किसी जगत की, प्राकृत लोकों की स्फूर्ति सर्वथा, सर्वांश में ही समाप्त हो गयी है । इसे तो सर्वत्र सर्वरूपों में मात्र सच्चिन्मयी नील-पीत-द्युतिही भरी दृष्टिगोचर होती है । इसने नीलसुन्दर की अहैतुकी कृपा का अवलम्बन लेकर इस नील-पीत-द्युति को अपने उरस्थल में इस प्रकार विजड़ित कर लिया है कि इसके लिये देवाधिदेव इन्द्रपद ही नहीं, वैकुण्ठ एवं कैलाश के सुख तो काकविष्ठावत् हेय हो ही गये हैं, मोक्षपद और अपुनर्भव सुख भी तृणवत् त्याज्य हो गये हैं । अतः इसके पीछे लौटने की तो अब संभावना ही सर्वथा समाप्तप्रायः है । तभी न इसके पंखों में नीलसुन्दर की नित्य लीलास्थली व्रजपुर की ओर उड़ने की स्पृहा जाग्रत हुई है । तभी न इसका प्रादुर्भाव भगवती निकुञ्जेश्वरी किशोरीरानी के कृष्ण-कुन्तलों से संभव हुआ है ।

तो देखो ! सारिका अपने चक्षुओं से निहार रही है । उसके नेत्र अर्द्धनिमीलित हैं। वह मणिमय निकुंज की गवाक्षिका से निकुञ्ज-कक्ष में शयित नराकृति परब्रह्म और उसकी ह्लादिनीशक्ति की झाँकी कर रही है । शयनागार अभिनव चिन्मय रस से प्लावित हो रहा है । प्रियतम के तन का अणु-अणु अपनी किशोरीरानी के रस में निमग्न है और रानी चिन्मय भाव समाधि में डूबी है ।

रानी के बाहुपाश में निबद्ध प्रियतम का अप्रतिम अनिंद्य सौन्दर्य-माधुर्य ऐसा विलक्षण है जैसा आजतक बाल्य, पौगण्ड -- किसी अवस्था में कभी किसी के अनुभव में नहीं आया । अहा ! पीतद्युति कनकवर्णी अभूतपूर्व कमलिनी पद्मा एक अद्भुत अपूर्व नवीनतम नीलपद्म से गुँथी हुई है । अहा ! कैसे विलक्षण अरविन्द-द्वय हैं ये, जिनका आघ्राण इससे पूर्व के अवतारों में तो भक्तों ने अनुभव किया ही नहीं, इस कृष्णावतार की किसी अवस्था में भी किसी गोपी को ऐसी झाँकी कभी भी नहीं हुई । ऐसी अतुलनीय सुन्दर, मधुर, मनोहर युगल रूप की जो झाँकी सारिका को इस समय हो रही थी, वह त्रिगुण से सर्वथा, सर्वथा परे की थी । सारिका निर्निमेष नयनों से देखती ही रह जाती है । अनन्त रससागर में वह डूब ही जाती है । बाह्य-ज्ञान खोकर वह अन्तःश्चेतना के जगत में जा पहुँचती है । वह अनुभव कर रही है कि सम्पूर्ण व्यवधानों को सर्वथा अपसारित कर, प्रियतम नीलरमण अपनी प्रिया के भुजपाश में बँधे हैं । दो अरुणिम नवल पल्लवों से प्रिया के चित् पीयूष का वे पान कर रहे हैं । दोनों युगल दंपति का परिरंभण इतना सुदृढ़ है कि जिसे विश्लेष कभी स्पर्श कर ही नहीं सकता । और इस रसपान में विराम का प्रश्न ही नहीं है । कालातीत निर्बाध, अखण्ड, असीम रसप्रवाह उच्छलित हो रहा है ।

परन्तु यह क्या ? अब तो प्रभात हो रहा है । चन्द्रमा पश्चिम गगन में भागा जा रहा है । देखो, देखो, तब ? क्या इनको पृथक् होना पड़ेगा ? परन्तु इन दोनों के अंग-अंग प्यार से इतने भरे हैं कि ये तो मानो किसी भी परिस्थिति में कभी भी पृथक् किये ही नहीं जा सकेंगे । क्या इनकी यह प्रेमनिद्रा हर लेने की सामर्थ्य किसी में है ? कौन ऐसे अचिन्त्य रस-सुख में डूबे इनको जाग्रत करने का दुस्साहस कर पावेगा ?

परन्तु यह क्या, एक वनकुकुट के मुख में इन युगल रसिक दंपति की निद्रा हर लेने की सामर्थ्य प्रदान कर स्वयं अचिन्त्य योगमाया महाशक्ति मानो इन वृन्दावनेश्वर, वृन्दावनेश्वरी के कमनीय श्रीअंगों में विलीन हो जाती हैं । बडभागी विहंगम पहरुआ खग जोर-जोर से बांग देने लगता है । और फिर तो सभी पक्षियों का वह तुमुल कोलाहल प्रारंभ हो जाता है जिसकी तुलना ही नहीं । चकवा-चकवी रसमयी वार्ता करने लगते है । चातक पुकार उठते हैं । कपोत-कपोती भी अपनी घुत्-घुत् ध्वनि में ताल देने लगते हैं। कोकिल गायन करने लगती हैं ।

परन्तु सारिका इन युगल दंपति के विरह की आशंका से असह्य वेदना में भर उठती है । उसकी वेदना इतनी अथाह हो उठती है, मानो उसका प्रशमन हो ही नहीं पावेगा ? परन्तु ज्योंही वह वेदना सहनशक्ति-सीमा का उल्लंघन करती है एक विलक्षण नवीन सत्य सारिका के सम्मुख उजागर हो जाता है।

नहीं, नहीं, इनका विलगता संभव नहीं है। इनमे वियोग हो ही नहीं सकता । इनका मिलन संयोग-वियोग इस द्वंद्व की परिधि के परे का है ।

सारिका अनुभव करने लगती है, अरे ! अभी तो ये प्रकट-विलास में लीलायमान हैं, परन्तु ज्योंही इन युगल दम्पति के अंग-अंग विलग होंगे इनका गोपन भाव-विलास प्रारंभ हो जायगा । प्रियतम प्रिया के उरस्थल में विलीन हो जायेंगे और प्रिया प्रियतम के उरस्थल में समाहित हो रहेंगी । और तब इनका एक दूसरे के परस्पर हृदयों को अपना निलय बनाकर, वहीं प्रतिष्ठित रहकर लीला कल्लोलिनी का सृजन प्रारंभ हो जायेगा । सारिका स्पष्ट अनुभव करती है कि जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति, सभी काल, सभी देश में प्रिया प्रियतम नित्ययुगल ही रहते हैं, कभी ये दो से एक होते ही नहीं । इनका नित्य द्वैत ही एकत्व है । और एकत्व ही नित्य द्वैत है । यह पीत-कलेवर नीलकलेवर को एवं नीलकलेवर पीतद्युति को, महारस-विलास की ऊर्मियों से आप्यायित करता ही रहता है ।

सारिका इस भाव तरंग में परिस्नात हुई बोल उठती है :-"अहा ! मेरे प्राणवल्लभ का अपनी प्रिया से नित्य मिलन है । इन्हें परस्पर वियोग की छाया छू ही नहीं सकती ।"

सारिका नाच रही है -"नित्य मिलन ! नित्य मिलन !! अखण्ड मिलन!!! मिलन ही मिलन !!!!" और सारिका के स्वर में स्वर मिलाकर वन के सभी विहंगम बोल उठते है- "निर्बाध मिलन, निर्बाध मिलन ।"

और कौन कहे, भविष्य में यह सारिका आगे क्या-क्या नित्य अभिनव नूतन देखेगी और महा आनन्द सिन्धु में नाचती रहेगी ।

दिशि दिशि शुकसारी मण्डलैर्गूढलीला
प्रकट मनु पद्दभिर्निर्मिताश्चर्यपूर :।
सदति रहसि वृत्तं प्रेयसी कर्णमूल
स्मितमुखमभिमन्यं भाति कुंजे बिहारी ।।

## सारिका प्रसंग : तृतीय लीला
### रूपदर्शन

लो, गिरिराज परिसर से उड़ती हुई सारिका पुनः नन्दभवन में आ गयी । पुनः सारिका ने अपने प्राणपति नीलसुन्दर के शयनकक्ष की ओर प्रस्थान किया और गवाक्षिका से उसके भीतर दृष्टि डाली । देखते ही उसे प्रतीत हुआ मानो स्रष्टा ने विश्वातीत सुन्दर श्यामघन किशोर के विचित्र रूप का निर्माण किया है । सारिका ऐसे सुन्दर रूप को देखकर फूली नहीं समा रही थी । अतृप्त नयनों से वह शयित नवघन-सुन्दर अपने प्राणपति का सौन्दर्य निहारती हुई वहीं उसी गवाक्षिका में नृत्य करने लगी । उसके मुख से संगीत झरने लगा। सारिका गायन करने लगी :-

जहँ जहँ नयना लगत, तहँ तहँ तासौं खगत
अंग अंग माधुरी बरनी न जाई !!
सुन्दर भाल कपोल मोहन मधुरे बोल
नासिका चिबुक अधर मन रह्यौ है लुभायी ।
हसन दसन ललन मुख की लुनाई
यह छबि निरखन कहा कहौं, दौरी हौं आयी ।
गोविन्द प्रभु की सुन्दर बानिक पर रसिक जन बलि बलि
बलि बलि जायी ।

नाचते-गाते सारिका के मन में आया - एक बार अपने प्राणपति से सर्वथा मिल जाऊँ । उनके अहा ! परम प्रेमास्पद अंगों का निकटतम स्पर्श पाकर कृतार्थ हो जाऊँ । साथ ही इनकी श्यामता की एक पुट मेरे अंगों में भी लग जाय ; अहो ! इन मेरे प्रियतम का मुख तो एक प्रस्फुटित अरविन्द है । दोनों नेत्र दो उत्फुल्ल कोरक हैं । ये दोनो चरण तो पूर्ण विकसित पंकज हैं । सारिका इस सौन्दर्य को देखकर स्तब्ध है । अहा ! जिस अंग पर दृष्टि डालो वहीं-वहीं उसकी दृष्टि सुस्थिर हो जाती है। उसके मन, प्राण ही नहीं रोम-रोम विमोहित हो रहे हैं ।

## यमुना दर्शन एवं स्तुति

सारिका बहुत काल तक इस रूप छबि को हृदय में अंकित कर पुनः फुर्र उड़ चलती है । वह उड़ती हुई सुभग यमुना तट पर आ जाती है। वह यमुना महारानी के दर्शन करती है । उसके प्रियतम श्यामसुन्दर के अंगों की अद्‌भुत श्यामलता जैसे यमुना महारानी ने चुरा ली हो - वह देखती ही रह जाती है। वह अपने प्राणपति के अंगों की तुलना यमुना के स्वरूप से कर बैठती है । उसे आश्चर्य होता है कि ऐसी श्यामलता यह कलिन्दनन्दिनी कहाँ से प्राप्त कर पायी ? वह विचार करने लगती है :- "क्योंकि प्रियतम सखियों सहित इसमें जल विहार करते हैं, क्या उस समय श्याम रंग रञ्जित अपने अंगों को धोने से यह यमुनाजल श्यामवारि हो गया है ?" श्रीमती यमुनादेवी के दर्शन मात्र से सारिका का अंग-अंग पुलकित हो उठता है। उसे अपने रसमयी जन्म की स्मृति हो आती है जब यमुना सखी प्रतिदिन प्यार में भरकर उसे प्रिय पूजा के लिये नित्य नवीन रसपूर्ण सामग्री, वस्त्र एवं अलंकार प्रदान करती थी । ये यमुना ही प्रिय-विरह-काल में उसे मिलन की आशा बँधाती थीं। आज भी यमुना उसे जैसे प्रकट होकर कह रही थी:-"बहिन ! सारिके !! वे हमारे प्राणवल्लभ विलक्षण प्रेम-दानी हैं । जो इनका मात्र ध्यान, स्मरण-चिन्तन भर कर लेता है उसे ही अपना स्वरूप दान कर देते हैं। देख, न ! मुझ जड़ नदी पर इनकी कैसी अद्‌भुत कृपा है। इन्होंने मुझे अपने श्यामल अंगों की आभा प्रदान कर यत्किञ्चित् अपनी तुलना की सामग्री बना ली है । इतना ही नहीं इन्होंने मुझे तो अपना प्रिया-पद देकर श्यामा नाम ही प्रदान कर दिया है । अपनी प्राणप्रिया किशोरीरानी सहित ये मेरे सँग नित्य विहार करते हैं ।" सारिका आनन्द में मत्त हुई यमुना महारानी की स्तुति करने लगती है:-

"नमो तरणितनया, परम पुनीत जग पावनी कृष्ण मन भावनी<br>रुचिर नामा ।।<br>अखिल सुखदायिनी सर्वसिद्धि हेतु श्रीराधिकारमण रतिकरण श्यामा<br>विमल जल सुमन कानन मोदयुत पुलिन अलिरम्य प्रिय ब्रजकिशोरा।<br>गोप गोपी नवल प्रेम रति बंदिता तट मुदित रहत जैसे चकोरा।

# महाभाव – दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

( प्रथम खण्ड )

पृष्ठ संख्या
601-715
तक

साधु कृष्णप्रेम

**लहर भाव ललित बालुका सुभग व्रजबाल व्रत पूरण रास फलदा।**
**ललित गिरिवरधरण प्रिय कलिन्दनन्दिनी निकट कृष्णदास विहरत**
**प्रबलदा ।।"**

"अरी, बहिन रवितनये ! तू तो महाभाव की साक्षात् मूर्ति है । रसिकशेखर रसराज नीलसुन्दर जो पुनीतों को पुनीत करने वाले हैं, उनके लीला जगत् - इस ब्रजप्रदेश को तू सदा अपनी प्रीतिरसरूप जलप्लावन से सिञ्चित कर परम पावन करती रहती है । तेरा नाम श्रीकृष्णप्रिया राधा से समत्व करता है। श्री किशोरीरानी वृषभानुतनया हैं और तू भानुतनया है । इस साम्यता के कारण प्रियतम प्राणवल्लभ नीलमणि को तेरा नाम परम रुचिर लगता है और तू उनके मन को निरन्तर मोहित करने वाली, उन्हें परम मन-भावन लगती है ।

"बताओ बहिन ! अखिल विश्व तो तेरे प्राणवल्लभ के एक रोम के कोट्यंश में ही स्थित है । हे कलिन्दनन्दिनी ! जब वे तेरे तट पर सुरभित सुमनों से आच्छादित कानन में पहुँचते हैं, तभी न उनकी चित्तभूमि में रस संवर्द्धन होता है । और उन नीलमयंक देव के ओठों पर ज्योंही स्मित विराजित होती है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड युगपत् एक साथ सुख समुद्र में परिस्नात हो जाते हैं। बहिन ! सब सिद्धियों की हेतु तो नन्दनन्दन की मन्द मुसकान ही है। और प्राण प्रियतम के मन्द मुसकाते अधरों पर वंशी केवल तेरे तट पर ही स्थापित होती है ।"

"हे तरणितनये ! ज्योंही ये प्रियतम तेरे तट पर बहती समीर का संस्पर्श पाते हैं, उनके कर स्वतः ही अपने अधर पल्लवों पर वेणु संस्थापित कर लेते हैं । अनन्त रससमुद्र हिलोरें लेने लगता है । अपनी प्रिया के अगणित यश एवं नामों के गायन में वे मुग्ध हो जाते हैं । विश्व में ह्लादिनी-सार-सर्वस्व भगवती श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपियों के सिवा और सिद्धि हो ही क्या सकती है ? उन्मद वेणुनाद के श्रवणगत होते ही कोटि-कोटि रमा-रति-वन्दिता गोपांगनाएँ तेरे तट पर अति प्रमुदित आकर्षित हुई चली आती हैं । और जैसे चकोर अनन्त लालसा से अपने प्रियतम चन्द्रमा को निहारता है, वे अपने नीलमयंक को अपलक निहारने लगती हैं । तेरे तट के दोनों ओर सुमनों से लदा परम सुरभित कानन है जो प्राणवल्लभ को अतिशय रमणीय है । वह अपार प्रेम बढ़ाने वाला है । अहा ! तेरा जल भी परम

निराविल निर्मल है । हे यमुने ! तेरे तट पर रजत चूर्ण सी अनमोल बालुका परम सुभग है । गोपियों को अपनी सम्पूर्ण प्रीति साधना का प्रत्यक्ष फल प्रियतम श्यामसुन्दर का अंग-संग वहीं प्रथमत: रास के समय प्राप्त हुआ था।"

"अहा ! वह कैसा सुभग काल था जब सुदक्ष चकोरी श्रेणी-सी गोपियाँ कृष्ण शशधर को देखकर तेरे बालुका प्रदेश में एक सुभगस्थल पर एकत्रित हो गयी थीं । श्याममयंक के चतुर्दिक समवेत (एकत्र) हुईं विरहानल से संतप्त उन व्रज ललनाओं की कैसी झाँकी थी । अहा ! प्रियतम श्याममयंक के परम सुखद शीतल, शंतम सौन्दर्यसिन्धु का वह अवगाहन कैसा मादक था ? इसे भला कौन वाणी दे सकता है ? इसे तो गूंगे के गुड़-स्वाद की तरह वही केवल अनुभव कर सकता है जिसके नयनों में वह रूप सुधोदधि कभी अचिन्त्य सौभाग्यवश उच्छलित हो उठा हो ।

"महाभागा गोपियों की तन-मन की सम्पूर्ण ज्वाला पलक पड़ते न पड़ते प्रशमित हो जाती है । उनके अनादि अनन्त दुखों का सदा के लिये अवसान हो जाता है। उनके हृत्तल का अनुरागसिन्धु अनन्त ऊर्मियों से परिपूरित हो उठता है। उन्हें अपने प्रियतम के सग महारास फल की प्राप्त हो जाती है।"

"अहो, मेरे प्राणवल्लभ गिरिवरधारी की प्रिया कलिन्दनन्दिनी ! यह कृष्णदास भी तेरे निकट इसी प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिये निवास कर रहा है।"

सारिका यमुना महारानी की स्तुति कर रही थी कि उसकी दृष्टि वहीं विचरते प्रियतम नीलसुन्दर पर पड़ जाती है । "अरे ! क्या ये शयन कक्ष से उत्थित होकर यमुना तट पर आ गये ?" वह आश्चर्य कर उठती है और देखती है कि एक पुष्पित कदंब के नीचे उसके प्रियतम खड़े हो गये हैं ।

अहा ! प्रियतम श्याम सुन्दर को अपने तट पर देखते ही कलिन्दनन्दिनी में कैसा उद्दाम अनुराग उमड़ पड़ा है । स्वप्न में भी प्रकृति ने ऐसे पद्मों की कल्पना नहीं की होगी जैसे वहाँ खिल रहे हैं। रवितनया ने अपने अञ्चल के अनन्त पद्मों में से कुछ सुन्दरतम पद्म एकत्रित किये और इस ढ़ेर में अपने कोष की श्री भी मिला दी, फिर इस ढेर को उसने नन्दनन्दन के चरणों में पुष्पांजलि के रूप में समर्पित कर दिया । अहा ! एक से एक अप्राकृत सुन्दर पद्म भी पद्मावल्लभ प्राणप्रियतम नीलमयंकदेव की शोभा के सम्मुख तुच्छातितुच्छ अनुभूत हो रहे हैं। स्तब्ध होकर तरणितनया अपने प्रियतम को निरखने लगी । वह अपलक नेत्रों से प्रियतम को निहारती रही ।

तरणितनया की इच्छा हो रही है कि वह अपने प्राणसुन्दर के शीतल शंतम चरणों में सदा-सदा के लिये समाहित हो जाये।

## रूप-शील गर्विता गोपी

और देखो ! देखो !! यह कौन गोपांगना है जो एक युवक के साथ घाट पर बँधी नाव पर आकर विराजित हो गयी है। संभव है, यह यमुना संतरण का मनोरथ किये है । अहा ! रत्नजटित मयूराकृति नाव पर इस गोपसुन्दरी का सौन्दर्य विलक्षण शोभा प्रसार कर रहा है ।

परन्तु क्या किसी ने उसे समझाया नहीं है कि यमुना तट पर निश्शंक आना-जाना सापद है । इस मार्ग में मयूर मुकुट धारण किये, पिंगल दुकूल पहने, अपने श्यामल सुन्दर तन में केसर युक्त चन्दन चर्चित किये हुए एक सुन्दर बालक घूमता रहता है । उसकी अंगकान्ति इतनी कमनीय है कि उस पर बस दृष्टि ही पड़नी चाहिये, फिर तो उसे देखते रहने में एक क्षण का भी व्यवधान इन नेत्रों को सहन नहीं होता । उसकी माधुरी के सम्मुख जब स्वयं मन्मथ भी लज्जित हो उठता है तो इन अबला गोपांगनाओं की बात ही क्या है ?

निश्चय ही इसको इसकी ननद ने बहुतेरा समझाया है । परन्तु यह रूप-गर्विता ही नहीं, अतिशय शील-गर्विता भी है । इसने नेत्रों में रोष भरकर अपनी ननद को बहुत धिक्कारा है ।

"तुम सभी व्रजेन्द्रपुरी की बनिताएँ अपने कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, शील और ज्ञान को भी विस्मृत कर चुकी हो । तुम सभी ने व्रजेश के उस श्यामल किशोर को न जाने क्या से क्या मान लिया है ? तुम सभी अकारण ही इस किशोर के पीछे अपनी सम्पूर्ण मर्यादा, कुल-कीर्ति, लोक-लज्जा एवं स्वाभिमान तक को तिलांजलि दे चुकी हो । घर-द्वार की सब मर्यादा त्याग कर तुम अकारण उसके पीछे उन्मादिनी हो गयी हो।"

अपनी ननद को इस प्रकार कटूक्तियों से आहत करके ही यह अपने सहोदर भाई के संग यमुना-पार अपने पीहर जाने के लिये यहाँ घाट पर लगी नाव पर बैठी है । यह यमुना पार जाना चाहती है। इसे पता नहीं इस नीलमयंकदेव पर जब तक किसी की दृष्टि नहीं पड़ती तभी तक वह भले ही सयानापन बरत ले।

लो, विलक्षण रसिक नीलसुन्दर की दृष्टि इस गोपी पर पड़ ही गयी । धूँए का वितान तानकर यद्यपि हेमन्त ने इसे नन्दनन्दन की दृष्टि से बचाने की बहुत चेष्टा भी की । संभव है यशोदामैया अपने नीलमणि को हेमन्त के प्रकोप से बचाने वस्त्रों में ही छुपाये रखे एवं सूर्य ऊपर उठने तक बाहर न निकलने दे, इस प्रकार यह गोपी सकुशल यमुना पारकर अपने पीहर चली जाय--हेमन्त की योजना सर्वथा असफल हो गयी। हेमन्त की आँखों के सम्मुख ही नीलसुन्दर काली कमली ओढ़े नन्दभवन से बाहर निकल आये और पलक झपकते ही अपनी स्वाभाविक विश्वविमोहक ललित त्रिभंगी छबि धारण कर यमुनाघाट पर इस कदम्ब के नीचे खड़े हो गये । हेमन्त ने इस अभिमानिनी गोपी की दशा का अनुमान कर राशि-राशि ओस-कणों के रूप में अपने अश्रु-बिन्दु बिखेर दिये ।

सारिका हेमन्त के सभी प्रयासों को देख रही थी । वह जोर से बोल उठी -

**सुनती हो कहा, भजि जाओ घरै**
**बिंध जाओगी नैन के बानन ते ।**

परन्तु सारिका की उच्चस्वर में दी गयी चेतावनी को भी गोपी अनसुनी कर गयी । लो अब इस चापल्यसीम की चपलता देखो । यह रसिकशेखर नाव पर पहुँच गया है। देखो, गोपी ने अपनी ओढ़नी से नाभितक नीचा घूँघट खींच लिया । परन्तु इस नीलमणि की झाँकी उसे मिल ही गयी ।

अरे ! अरे !! गोपी के नयनो में श्याम रूपसुधा भर गयी । उसी समय 'कुहू' 'कुहू' करती कोकिला पुकार उठी । परन्तु अहा ! गोपी के श्रवणों में जो नीलसुन्दर ने अपनी रसमयी वाणी -"अरी, तू कौन की बेटी है, कौन गाँव से आयी है री ? - से मधुधारा बहा दी, कोकिल में कहाँ सामर्थ्य है कि उससे स्पर्द्धा कर सके । अरे, अरे, पवन ने श्रीकृष्णअंगों को छूकर गोपी के नासापुटों में एक विलक्षण सुरभि भर दी । ठीक इसी समय श्री कृष्ण के मुख कमल पर मन्द मुसकान छा गयी । अब तो गोपी की सभी इन्द्रियाँ चिपक गयीं इस सलोने श्याम शशधर पर । लो ! गोपी अपनी जन्म-जन्म की अर्जित अनन्त पुण्यराशि का फल पा गयी । योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वशकारी मुसकान में मिलकर वह तन्मय हो गयी ।

अरे, नीली शैवालिनी के तट पर भीड़ लग गयी है । नख-शिख आभूषणों से सजी, नवीन परिधान पहने अपने भाई के साथ पीहर जाने को उद्यत नाव पर आसीन गोपी बाह्यज्ञानशून्य हो गयी है । उसका तपाये स्वर्ण-सा पिगंल सुन्दर कलेवर काँप रहा है । उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं है। भावों की ऐसी उद्दाम आँधी उसके मानस में आ रही है कि उसे न गृह-ज्ञान है, न कुल-मर्यादा का । उसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही कृष्णमय हो गया है; फिर भला वस्त्रों की किसे सुधि हो ? उसके सब परिवार के लोग इकठ्ठे हैं । वह अपनी ननद के गले लिपट गयी है । उसके नेत्र फव्वारों की तरह अश्रु-वर्षा कर रहे हैं । वह अति मंद स्वर में अपनी ननद को गीत सुना रही है.-

**सजनी मोते नयन गये ।**
**अब तो आस नहीं आवन की हरि के अंग छये ।**
**जबते कमल नयन उन निरखे छिन महिं और भये ।**
**मिले जात हरदी चूना ज्यौं एक हि रंग रये ।**
**मोकौं तज भये आप स्वारथी बिसर सुमत्त भये ।**
**सूरश्याम के रूप समाने मानो बूँद तये ।**

"अरी मेरी बहना ! क्या हुआ था मेरे साथ, तू सुन ले री ! मैं तो नीली शैवालिनी के तट पर लगी नाव पर आसीन केवट की प्रतीक्षा कर रही थी । अरी ! मुझे क्या पता, वहीं द्रुमजालों मे निलीन यह नन्दतनय भी वहीं खड़ा था । जैसे ही मुझे उसकी किंचित-सी झाँकी मिली मैंने अपनी नाभि तक लम्बा घूँघट निकाल अपने मुख को ढाँप लिया । नयन नाव की थली पर चिपका लिये । निम्न मुख कर लिया । परन्तु अरी ! इस नीलसुन्दर के श्रीअंगों से ऐसी अप्रतिम अमृतरस की धारा प्रसरित हो रही थी उसने सम्पूर्ण नौका को ही नीलमणि बना दिया । मेरा सहोदर ही नहीं, सम्पूर्ण प्रपंच ही मेरी दृष्टि से ओझल हो गया । मुझे तो यही प्रतीत हो रहा था-- मैं इस नीलमणि में डूब रही हूँ। यह एक अभिनव रसामृत वारिधारा है और मैं इसमें घुल रही हूँ।"

"अब तो बहिन ! मुझे कुछ भी नहीं दिखता । मुझे क्या हो गया है री ? तू भी मुझे मात्र एक पल धूमिल-धूमिल दिखती है, शेष सर्वत्र बस मेरे चतुर्दिक एक ही नीली श्यामल छबि भर गयी है।

"अरे ! अरे ! भाई ! मेरी ओर क्या देख रहे हो ? इसे देखो न। तुम्हारा अस्तित्व सफल हो जायगा। अरे, तुम सब भी इसकी मुसकान में मिलकर तन्मय हो जाओ न ? देखो, देखो ! चंचल अरुणिम नेत्रों की बंकिम चितवन से प्रीतिरस का परम मधुर निर्झर झर रहा है । कोटि-कोटि कंदर्पों को लज्जा के घन-आवरण में आवृत कर देने वाला अतुल सौन्दर्य इसके रोम रोम से प्रस्फोट हो रहा है । अरे ! शिरीष पुष्पों को अपनी सुभग चूड़ा में विजड़ित किये, मल्लिका पुष्पों की माला पहने विलक्षण सरसता का पुञ्ज वह जहाँ जाता है, शोभा बिखेरता जाता है ।"

"उसके सम्मुख मैं अवश हो गयी – इसमें मेरा दोष ही क्या है ? अरे इस नील-कमल-मुख की शोभा का क्या वर्णन करूँ ? कैसी मुनिमनमोहन इसकी छबि है । घन-कृष्ण-कुंचित-कुन्तलराशि-मण्डित इसके मस्तक पर मयूरपिच्छ-गुम्फित आभूषण धारण किया हुआ है । अरे, उस आभूषण पर पाटल पुष्पों की शोभा तो देखते ही बनती है । अहा, उसकी नीलग्रीवा में मुक्तामाल लहरा रही है । उसने बरबस मुझे अपने अंक में भर लिया री !"

"अरी बहिन ! अब तो मैं सर्वथा अंधी हूँ । मेरे नेत्र उसके मनोहारी परम रसमय रूप में डूब गये हैं । उनके अब लौटने की कोई आशा ही नहीं रही है । वे तो योगीन्द्र-मुनीन्द्र-विमोहन हरि के अंगों में ही चिपक गये हैं । जैसे हरदी चूना मिलकर रोली हो जाती है । वैसे ही अब वे कुछ और ही हो गये हैं । मुझे उन्होंने मतवाले होकर सर्वथा त्याग दिया है । जलते तवे पर जल की बूँद जैसे गिरते ही विलीन हो जाती है, वैसे ही मेरी अस्मिता उसके सुभग सुन्दरतम अंगों में मिलकर विलीन हो गयी है ।"

"अरी बहिन ! अब तो केवल एक ही लालसा शेष है । नेत्र भर कर मन्मथमथन अपने जीवनधन को बस निरन्तर निहारती रहूँ और उसके मनहरण संस्पर्श में यावज्जीवन गुँथी रहूँ ।"

और सारिका उन्मादिनी हुई एक ही रट, एक ही छन्द निरन्तर उच्चारित कर रही है । उसके लिये यह छन्द महामंत्र हो गया है।

**सुनती हो कहा, भजिजाओ घरै, बिँध जाओगी नैन के बाननते ।।**

और उसके पीछे सभी पक्षी यही गान कर रहे हैं । गोपावासों में अट्टालिकाओं में, गोशालाओं में, महलों-महलों में, यमुना के तट में, सरोवरों में, सर्वत्र एक ही गीत गुंजरित हो रहा है - **"सुनती हो कहा,भजि जाओ घरै, बिँध जाओगी नैन के बाननते ।**

## सारिका प्रसंग : चौथी लीला
## लीला लोक: नावलीला के दर्शन

सारिका पुन: उड़ चली। अतिशय सौभाग्यवती है, यह पक्षी । विलक्षण पंख हैं इसके । ये जब उड़ते है तो 'कृष्ण', 'कृष्ण' ध्वनि करते उड़ते हैं । इसके नेत्र सभी अवस्थाओं में सर्वत्र, स्वप्न-जागरण में ही नहीं, यहाँ तक सुषुप्ति में भी-- दर्शन करते रहते है। अपने प्रियतम नीलसुन्दर के चरण-सरोरुहों के। अहा ! अपने प्राणवल्लभ की नख-चन्द्रिका से उद्‌भासित होता रहता है सदा इसका हृदयदेश । इसका रोम-रोम प्रियतम प्राणवल्लभ के कमल-सदृश चरणों की अँगुलियों के सुकोमल संस्पर्श से रोमाञ्चित रहता है। सुघड़ नासा, सुन्दर भौंहें, झलमल करते कर्ण-कुंडल, बिम्ब-विडम्बी अधरों की कान्ति, सर्वव्यथाहारी स्मिति -- इन सबसे मंडित प्रियतम का मनोहारी मुखारविन्द इसके चित्त में अलंकार की तरह विजड़ित है । कदम्ब-किंजल्क के समान सुन्दर पीतवस्त्र-परिशोभित उनका नितम्बदेश और उस पर मेखला की सुखद रुनझुन ध्वनि से इसकी श्रवणेन्द्रियाँ निनादित होती रहती हैं ।

देखो ! वन के वृक्ष, उन पर आसीन शुक, पिक, कपोत, मयूर, चातक आदि विहंगम इसको उड़ती देख, इसके निर्मल पंखों से निकलती 'कृष्ण', 'कृष्ण' ध्वनि का अनाविल नाद सुनकर 'राधा', 'राधा' कह कर उच्च कण्ठस्वर से इसका अभिवादन करने लगते हैं ।

अहा ! इस 'राधा', 'राधा' नाम के सारिका के श्रवणपुटों में स्पर्श होते ही प्रिया की उत्कंठाभरी स्मृति ने सारिका को विह्वल कर दिया । अहा ! सारिका के तन-मन के अणु-अणु में पीयूष-कल्लोलिनी प्रवाहित हो उठी । सारिका की मन:स्थिति ऐसी हो गयी जैसे इसी क्षण रानी की अमृतमयी गोद में जाकर पंखहीन शावक की तरह गिर जाय ।

अहा ! सारिका के भीतर अमिलन की वेदना का वह बिन्दु सृष्ट हो गया, जहाँ आराध्य को मूर्त्त होना ही पड़ता है । फिर किशोरीरानी तो अनन्त वात्सल्यमयी हैं । उन्हें कोई उत्कंठातुर स्मरण करे और वे अभिव्यक्त नहीं हों, यह असंभव है । प्रीति के आह्वान की वे उपेक्षा भला कैसे कर सकती हैं?

सारिका प्रिया के लीला-लोक में पहुँच ही गयी ।

"अहा आश्विन मास है । शारदीय रजनी की शुभ्र ज्योत्स्ना वन-प्रान्तर को उद्भासित कर रही है । किञ्चित शैत्य का पुट लग गया है-- अरण्यस्थली पर । सारिका के उड़ते पंख थम गये हैं । वह पहुँच गयी है गिरिराज परिसर-स्थित मानसी गंगा में । राकाचन्द्र की ज्योत्स्ना प्राणाराध्या किशोरीरानी एवं प्राणसारसर्वस्व नीलचन्द्र में जल-केलिकी उत्सुकता जाग्रत कर देती है ।

कानन नें अपने कोश की अपरिसीम शोभा-सम्पदा प्रिया-प्रियतम के चरण-सरोजों में समर्पित कर दी । अपने अधिकृत समस्त चर-अचर-सहित वह उन युगल चरणों में स्वयं प्रतिपल न्यौछावर जो है । रसमत्त भ्रमरों की मधुर गुंजार, विहंगमों का अव्यक्त सुमधुर रव, मानसी गंगा का निराविल स्वच्छ शीतल सुमिष्ट जल, शीतल पद्म गंधवासित समीर का मन्द-मन्द प्रवहन - कानन ने प्रिया-प्रियतम के सम्मुख एक साथ समस्त उपकरण रख दिये । विकसित पद्मों की शोभा उनके नेत्रों में समा गयी । भ्रमरों के मञ्जुघोष से कर्णपुट पूरित हो उठे । सुखद अनिल ने उनके श्रीअंगों को शीतल सुस्पर्श दान किया । मानसी गंगा के स्वच्छ सलिल की मधुरिमा उनकी रसना में जा मिली। मानसी गंगा के चतुर्दिक स्थित वन, कुसुमों के अम्बार से लदा था । कल्प-पादपों की श्रेणी की श्रेणी सुवर्णलताओं से पूर्णतया समाच्छादित थी। चतुर्दिक पुष्प-वर्षा की होड़ लग रही थी । नानाविध कुसुमों का सुवास युगल दंपति की घ्राणेन्द्रियों में संचित हो उठा । राकाचन्द्र की ज्योत्स्ना उद्दीपन का सर्वत्र वातावरण निर्माण कर रही थी । प्रिया-प्रियतम इस रसमयता से प्रतिभावित हो उठे ।

प्रियतम अपनी प्राणेश्वरी किशोरीरानी को वन-शोभा दिखाते हुए उसे सम्बोधित कर उठे - "प्रिये !" वृन्दावनेश्वर ने अति रसोत्फुल्ल चित्त से अपनी प्राणप्यारी का ध्यान आकृष्ट किया । "प्राणप्रिये ! देखो !! अरुणवर्ण कोमल पल्लवजाल से मण्डित हो रहे हैं, ये वृक्ष समूह । ये अगणित फल-समूहों एवं पुष्प-गुच्छों सहित अवनत होकर तुम्हारी चरणवन्दना कर रहे

हैं। तुम्हारे आगमन से यह सर्वसहा वसुधा भी कितनी उत्फुल्ल है? अपने भवन में आयी तुम्हारा शुभ दर्शन पाकर ये वृक्षगण अपने मस्तक पर सँजोये पूजोपहार फल-पुष्पों को उतार-उतार कर तुम्हारे चरणसरोजों में निवेदन कर रहे हैं । नमित होकर अपनी शाखावली से तुम्हारे संनिकट धरा का स्पर्श करते हुए ये मूक संकेत कर रहे हैं -'आओ ! हमारी प्राणप्यारी आराध्या हमारा उपहार स्वीकार करो ।'

जो हो, प्रियतम की ये प्रेमोक्तियाँ और मानसीगंगा के चतुर्दिक की मनोहर वनशोभा प्रिया किशोरीरानी में एक अनिवर्चनीय हर्ष का संचार कर देती है । उनके अरुणिम अधरों पर मृदु मधुर हास्य उभर आता है ।

"प्यारे ! तुम अपने अरुणिम अधर-पल्लवों पर यह तुम्हारी सर्वविमोहिनी वेणु संस्थापित कर लो और इसके छिद्रों में मधुरातिमधुर स्वर भरो । कोई परम सुरीली प्रीतिभरी तान मुझे सुनाओ ।"

"अहो प्राणरमण ! इस तरणी को तो मैं अपने हाथों संचालित कर लूँगी । मेरे प्राण तुम्हारे इस वेणुवादन के श्रवण में संलग्न होंगे और मेरे नयन-चञ्चरीक तुम्हारे नीलघन-सदृश वदनसरोज के रस का अमृतपान करते रहेंगे ।" और प्राणप्रिया रानी ने अपनी उक्ति समाप्त करते-न-करते नाव की डाँड को अपने हाथों में ले लिया । करस्पर्श मात्र से डाँड स्वाभाविक ही स्पंदित होने लगी और वह परम सुभगा तरणी हिल्लोलित होकर चलायमान हो उठी । सखियों ने तत्क्षण ही नाव की डाँड प्रिया के हाथों से छीन ली और स्वयं संतरण करने लगीं । अहा - प्रियाप्रियतम एवं सखियों को नौका-रमण करते देख उनके दर्शन से आनन्दविवश मयूर नर्तन-रत हो उठे । तटों पर दल की दल हरिणियाँ निर्निमिष नयनों से एकमात्र युगल दंपति को देखने एकत्रित हो गयीं । उधर आम्रशाखाओं पर कोकिल-कण्ठ का पंचमस्वर प्राणों में अतिशय रस भरता प्रिया-प्रियतम का गुणगान करने लगता है ।

## वेणु निनाद एवं नृत्य

अहा ! कैसी सुखद नाव है, यह । मुक्ताओं का तो इस पर चन्द्रातप तना है, स्फटिक के खंभे हैं और नीलमणि का सिंहासन है । नाव की भूमि सब स्वर्णिम है । इसमें माणिक्य की पीठिकाएँ हैं जिनमें सखियाँ आसीन हैं। नीलमणि के सिंहासन में पुखराज की पीठ है, पैर रखने की पीठिका हरितमणि

से बनी है । मखमल का अति सुखद आसन है, दोनों ओर के बाजू मयूराकृति के हैं । इस सुन्दर, सुभग सिंहासन पर प्रिया-प्रियतम विराजित हैं । पार्श्व में ही माणिक्य की पीठ पर ललिता रानी वीणा लिये विराजित है । उनके सम्मुख ही विशाखा मृदंग लिये दूसरी ओर माणिक्य पीठ पर विराजित है । मृदंग रखने के लिये सुन्दर तदनुरूप एक रत्नमयी पीठिका है, जिसमें मृदंग सुस्थिर रखी है । पार्श्व में तुंगविद्या तानपूरा लेकर विराजित हैं । ललिता के हाथ में रुद्रवीणा है, मधुमती सरस्वतीवीणा लिये विशाखा के पार्श्व में विराजित हैं । इन्दुलेखा पैरों में घुँघरू बाँध रही हैं । कुछ सखियाँ अति सुरीली झाँझ लिये हैं । संविन्मय रसावेश चतुर्दिक व्याप्त है । आनन्द लहरियों के आवर्त पर आवर्त उठ रहे हैं ।

नाव के मुक्ता आतप पर, रत्नमय खंभों पर ध्वजा एवं पताकाएँ फहरा रही हैं । चन्द्रातप पर स्थान-स्थान पर रत्नमय झाड़फानूस लटक रहे हैं । प्रिया-प्रियतम के वदनसरोजों पर सखियों की दृष्टि स्थिर है और वे उनके आनन पर उठते किसी लीला संकेत की प्रतीक्षा कर रही हैं । लो ! अपनी प्रिया के मुख सरोज की ओर निहारते नन्दकुलचन्द्रमा ने मुरली में एक अति मधुर तान छेड़ी । बस, एक स्वर ही गूंजा था कि मानसी गंगा के चतुर्दिक तरुजाल में निलीन प्रिया-प्रियतम का एकटक दर्शन करते विविध विहंगम नेत्र निमीलित कर समाधिस्थ हो गये । मधुलुब्ध भ्रमर जो चतुर्दिक प्रसरित दिव्य सुमनों की प्राणोन्मादी सौरभ को त्याग कर प्रिया प्रियतम के चतुर्दिक उनकी अंगगंध के मतवाले हो रहे थे, चन्द्रातप में विजड़ित मणिमय पुष्पालंकारों में शान्त आसीन हो गये । सहस्रों मयूर, जो तटों पर आनन्द विह्वल नृत्य कर रहे थे, आनन्द विभोर स्तंभित चित्रांकितवत् रह गये । मानसी गंगा में नाव के चतुर्दिक तैरते मराल-मराली भी नेत्र निमीलित वंशीनिनाद की माधुरी में डूब गये ।

ललिता एवं मधुमती की कोमल कुन्दनद्युति अँगुलियां वीणा के तारों को एक सुमधुर वंशी-स्वर की सगत में झकृत कर उठीं । विशाखा की कमल-दल सी हथेलियाँ और कोमल किसलय-सी अँगुलियाँ मृदंग पर एक सम की थाप लगा गयीं । इन्दुलेखा के चरण भी घुँघुरुओं की एक झंकार लहरी दे गये । सारिका इस रसमयी मधुरध्वनि में डूब गयी । अपनी-अपनी भाषा में दम्पति की रस-केलि की चर्चा करते शुक-शुकी अपने सभी सजातीय विहंगमों सहित आनन्द विभोर हो उठते हैं ।

स्नेह की बाढ़ से सभी सखियों के नेत्र निमीलित हैं । प्रियतम ने पुनः मुरली में एक बार स्वर दे दिया । ध्वनि प्रसरित होने लगी -- वनस्थली के सब अंशों में । प्रिया के नेत्र मुकुलित हो गये । इस बार मुरली ने ऐसा महादिव्योन्माद प्रकट किया, कि सखियों के लिये भी सह सकना असंभव हो गया । प्रियतम मुरली वादन करें और इसके प्रभाव को कोई सह जाये, यह संभव ही कहाँ है ? चर-अचर, सभी वनवासी विमोहित होने लगे । सबके कर्णपुटों के पथ से हत्तल में एक अनिर्वचनीय सुधा-कल्लोलिनी उमड़ उठी और दृग भर गये, उस मुरलीधर की महामरकत श्यामल छबि से । औरों की तो बात ही क्या स्वयं प्रिया और मुरलीवादनरत प्रियतम भी आनन्दविवश झूमने लगे । चित्रारानी का परम मनोहर नृत्य और सखियों का संगीत-प्रवाह भी रसमय स्वर लहरियों में प्रवाहित हो उठा ।

नृत्य की शास्त्रीय प्रथा यह है कि प्रमुख नर्तक या नर्तकी नृत्य से पूर्व नृत्यस्थल में सुगन्धित वस्तु पहले बिखेरता है । प्रमुख नृत्य-नायक तो थे प्रियतम श्यामसुन्दर ही, अतः उन्होंने अपनी नीलकमल जैसी सुकोमल अञ्जलि में पूरित अतिशय सुरभित लघु-लघु वन्यकुसुमों को नाव पर बने नृत्य मंच पर बिखेर दिया । फिर तत्क्षण ही इन्दुलेखा के नेतृत्व में गोपांगनाओं ने विलक्षण प्रेम-भंगिमाओं और हाव-भाव से नृत्य करना प्रारंभ कर दिया । इन गोपांगनाओं के अंगों से व्यक्त होती कला इतनी उत्कृष्ट थी कि प्रिया-प्रियतम उन्मुक्त कण्ठ से वाह-वाह कर उठे । अब सखियों ने घेरा बना लिया और प्रिया-प्रियतम दोनो 'चालक' एवं 'चारी' नृत्य प्रस्तुत करने लगे।

इन्दुलेखा जी एवं सखियाँ अपने को अत्यंत तुच्छ एवं हेय समझने लगीं -- वे मन ही मन सोचने लगीं नृत्यज्ञ होने का मिथ्या अभिमान ही हम में है, वास्तव में नृत्य तो परिसीमित है -- इन नीलपीतद्युति दम्पति में ही । अहा ! उल्लास में भरकर जब प्रिया राग-रागिनियों के विभिन्न स्वर आलापने लगती हैं, उस समय ठीक अनुभव होता है मानो शैलेन्द्रनन्दिनी के रागसृजन का समस्त कौशल मूर्त्त हो उठा है -- किशोरीरानी के कण्ठ में ही । श्रुतिमनोहर श्रृंगारमयी कल्लोलिनी की कल-कल धारा सर्वत्र बह उठती है ।

यह संगीतोत्सव, नृत्योत्सव कितने काल तक चलता रहा, कौन निर्णय करे ? इस उत्सव के मध्य में तो अनादि, अनन्त कालप्रवाह भी स्तब्ध एवं स्थगित हो संगीत-श्रवण एवं नृत्यदर्शन में मुग्ध हो गया था ।

लो ! नवकैशोर से विभूषित व्रजराजदुलारे में अनुराग की अभिनव नूतन लीला करने की प्रेरणा जाग गई । क्षण-क्षण में नये-नये कौतुक करना तो इनका नित्यसिद्ध स्वभाव ही है ।

## श्रान्ति एवं शयन

ज्योंही इस संगीतोत्सव का विराम हुआ, प्राणवल्लभ ने प्रसूनों का आस्तरण आस्तृत करने का संकल्प कर लिया । उनके नयनों ने इस नृत्योत्सव कें मध्य ही यह अनुभव कर लिया था कि नृत्य करतीं प्रिया अतिशय श्रान्त हो उठी हैं। यथार्थत: ही प्रिया की कुंचित वेणी शिथिल हो जाने से केशराशि अस्त-व्यस्त हुई बिखर गयी थी । उनका सम्पूर्ण कुन्दन कलेवर घर्माक्त हो चुका था । श्वास-प्रश्वास की गति श्रान्तिवश पर्याप्त तीव्र हो उठी थी- यह तथ्य भी किसी से गोपनीय नहीं था । अब तो समस्त सखियों के भी प्राण तड़फड़ा उठे। सभी सखियाँ यही विचार करने लगीं कि कैसे प्रिया की सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षण में ही हर ली जाये । ललिता के संकेत से नाव तट पर स्थित चन्दन, कुन्द एवं कलिन्द आदि वृक्षों के नीचे रोक दी गयी । क्षणों में ही राशि-राशि वृन्तहीन पुष्पदलों की शय्या कदम्ब वृक्ष के नीचे निर्मित हो गयी । सखियों ने उस उत्तुंग तरुवर के मूल देश में उन पुष्पदलों और सुकोमल नवपल्लवों से अतिशय सुन्दर पुष्पमन्दिर भी निर्माण कर दिया । पुष्पों का ही सुन्दर-सा उपधान (तकिया) भी सखियों ने प्रस्तुत कर दिया । परन्तु नीलसुन्दर को अपनी गोद उस उपधान से अधिक सुखप्रद प्रतीत हो रही थी ।

अहा ! प्रिया प्रियतम की गोद में अपना मस्तक स्थापित कर नेत्र निमीलित किये शयित हैं और प्रियतम उनके मुख पर मन्द-मन्द व्यजन कर रहे हैं ।

इधर सखियों को यह भी अनुभव हुआ कि प्रियतम भी पर्याप्त श्रान्त हो चुके हैं। अत: सभी ने अगणित तरुओं के नीचे भिन्न-भिन्न स्थानों में पुष्प-पल्लव-तल्प निर्मित कर दिये। सबका मनोरथ पूर्ण करने के लिये प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर अगणित रूपों में अगणित सखियों के साथ अगणित तल्पों में शयन कर रहे हैं । कहीं, ललिता उनके चरण संवाहन कर रही है और कहीं विशाखा की गोद में प्रियतम का मस्तक शोभित है । सबका

मनोरथ एक साथ पूर्ण हो रहो है । सबकी प्रीति का उपहार अनन्त माधुर्यनिकेतन अपने प्रेम-ऐश्वर्य से स्वीकार कर ले रहे हैं। प्रीति के परम देवता नन्दनन्दन अगणित आत्मप्रकाश के द्वारा यह विश्राम की विहार-लीला सम्पादन कर रहे हैं । अवश्य ही किसी भी सखी को किञ्चित् मात्र भी भान नहीं है कि यहाँ कोई आश्चर्यमयी घटना घट रही है । यह भान हो जाय फिर तो आनन्द ही जाता रहे । एक साथ सभी सखियों एवं प्रिया को समान आनन्द दान करने के लिये ही प्रियतम नीलमणि की यह अभिनव लीला प्रकाशित हो रही है ।

"मैंने जिस पुष्प शय्या की रचना की है, उसी पर मेरे प्राणवल्लभ नीलम मेरे एकान्त संगी हुए शयन कर रहे हैं"-यही सबकी एकमेव प्रतीति है । परन्तु, सत्य तो यह है कि एक प्राणवल्लभ नीलमणि एक ही समय में अगणित वृक्षमूलों के नीचे सखियों द्वारा आस्तृत पुष्पशय्याओं में उनके संग शयन विहार कर रहे हैं ।

लो, अब अपरिच्छिन्नस्वरूप प्रियतम की चरण-सेवा प्रारंभ हुई । सारिका के सम्मुख प्रियतम की यह ऐश्वर्य प्रेमलीला स्पष्टतया व्यक्त हो रही है । धन्य है माहभाग सारिके !

कभी पुष्पमन्दिर में सर्वथा एकान्त में प्रियतम अतिशय लाड़ से अपनी प्रिया के चरण-सरोजों को अपने क्रोड़ में धारण कर लेते हैं, तब, अपनी सुकोमलतम अँगुलियों से स्पर्श करके मन्द-मन्द, अत्यंत सुखद भाव से उन चरणों को दबाकर अपनी प्रिया को सुख-प्रदान करतें हैं, फिर अपनी प्रिया के मुख पर श्रम-सीकर, स्वेद-कण देखकर विकल हो जाते हैं और नवपल्लव एवं पुष्परचित आर्द्र व्यजन लेकर उनके कनक-सरोरुह से विकसित मुख पर तथा कुन्दनद्युति श्रीअंगों पर शीतल मन्द सुगन्ध बयार करने की सेवा करने लग जाते हैं।

इसी प्रकार, उन्नत शाखा अगणित कदम्ब वृक्षों के नीचे स्वनिर्मित पुष्प-तल्पों पर कहीं कोई सखी एवं कहीं कोई सखी अपने प्रियतम के स्कंधों को, भुजाओं को, करपल्लवों को मधुर रुचिकर सम्मर्दन के भाव से आलिंगन किये उनकी सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षण में ही मिटा देने की चेष्टा में संलग्न है ।

सारिका के नेत्रों में यह सत्य भी पूर्णतया स्पष्ट हो रहा है कि इन प्रिया-प्रियतम दोनों के ही सच्चिदानन्दमय शरीरों में श्रान्ति, व्यथा, आमय के लिये तनिक भी कहीं त्रिकाल नें भी अवकाश नहीं । प्रकृति एवं काल से परे की वस्तु हैं -- इन दोनों की रुचिरांग सुन्दर, परम सुकोमल देहें, साथ ही सभी सखियों की, पशु-पक्षियों एवं वहाँ इस राज्य के चर-अचर सभी प्राणियों की सत्ताएँ भी। परन्तु यह ज्ञान इन परम अमल, हतपाप्मा लोगों की समझ से परे की वस्तु है। इस सत्य को इस व्रजराज्य में एक तृण भी धारण नहीं कर सकता । एक तृणचारी पशु भी यह ज्ञान अपने आशर्व-पार्श्व में भी फटकने नहीं देगा। वैसे इनके समान निर्मल तो साक्षात् वेदनिधि का मन भी नहीं है । अनादि काल से इनके मानस-तल में स्वसुख वासना का कलुष -(पापबीज) अंकुरित होता ही नहीं, फिर भी इतने नित्य अमल होने पर भी अपने एवं अपने प्राणवल्लभ के देहतत्व के ज्ञान को ये सभी ग्रहण कर ही नहीं सकते। स्वयं प्राणवल्लभ भी इस तत्वज्ञान को धारण कर सकें ऐसी, इस अवधि में तो उनकी स्थिति सर्वथा नहीं है। सारिका स्पष्ट अनुभव कर रही है कि इस समय यदि सर्वज्ञाननिधान प्राणवल्लभ नीलमणि में वैसी सच्चिदानन्दमयता की स्फूर्ति हो जाय तो -"मेरी प्रिया के अपार अनन्त सुख का मैं किसी भी प्रकार हेतु बन जाऊँ" -इस रस-निर्यास का द्वार ही रुद्ध हो जाय। इस सम्पूर्ण व्रजप्रदेश में प्राणतन्तुओं के साथ जो यह अमिट भावना जन-जन में है, पत्र-पत्र, कीट-पतंग, पशु-पक्षी -- यहाँ तक कि तृण गुल्मादि में भी पूर्णतया लबालब भरी है कि मेरा अस्तित्व इन युगल दम्पति के सुखार्थ ही है - इस रस का उद्‌गम ही फिर तो सर्वथा सूख जायगा। तब तो सबके मनोरथ ही अपूर्ण रह जायेगे। साथ ही लीलाविहारी वृन्दावनेश्वर और वृन्दावनेश्वरी का प्रणयरस-निर्झर ही सूख जायगा, जो अनादि काल से अवस्थित हैं और अनन्त काल तक अवस्थित रहेगे अपने इस स्वरूपभूत नित्य लीला-रस-सुधा को, महाभाव-लीलामृत को नित्य अतृप्त भाव से पीते रहने के लिये।

अहा ! असंख्य सखियाँ अपने क्रोड़ में प्रियतम को सुलाये उनकी सेवा कर रही हैं, फिर भी वन में कैसा शान्त वातावरण है। वन-विहंगमों ने भी जैसे नीरव रहने का व्रत ले लिया है। क्योंकि अपने प्रियतम की क्रोड़ में

निमीलित-नेत्र प्रिया शान्त शयित हैं। एक वन का झींगुर भी इस समय पूर्णतया सजग है। कहीं तनिक-सा बोलते ही उसकी प्राणसारसर्वस्वा रानी सो नहीं पायी तो ? उनके विश्राम में कहीं कोई व्यवधान हो गया तो ? यह प्रेम-जनित भय सबके मन में भरा है। अद्भुत नीरवता के बीच सभी सेवायें सम्पन्न हो रही हैं। किसी सखी के हिलने-डुलने से कहीं कोई आभूषण की खनक भी नहीं हो, शुष्क पत्रों की मर्मर ध्वनि भी नहीं हो पाये -- सब सखियों और प्रियतम के द्वारा इतनी सावधानी बरती जा रही है।

## रानी के स्वप्नदेश में सारिका

लो, प्रिया सचमुच ही चाहे क्षण भर ही सही निद्राभाव को ग्रहण कर लेती हैं। उनकी श्वास-प्रश्वास स्पष्ट निर्देश दे रही है कि प्रिया निद्रित हो रही हैं। और लो, महाभाग्यवती सारिका, उनके निद्रादेश में भी पदार्पण कर गयी। सारिका देखने लगी -"प्रिया निद्रा लेती-लेती स्वप्न देख रही हैं। स्वप्न में प्रिया-प्रियतम इसी प्रकार नाव में विराजित हैं और प्रियतम वंशीवादन कर रहे हैं। वंशी में प्रियतम लोकोत्तर स्वर रचना कर रहे हैं। यह वन के सम्पूर्ण जीव-समुदाय को भली प्रकार ज्ञात है कि जब भी प्राणवल्लभ अपने अधरों पर वंशी रखें, उस समय कोई भी काकली, कोई भी रव-सर्वथा किसी के भी द्वारा न हो। क्योंकि तनिक भी ध्यान इधर-उधर हो जाने पर इस वंशी-श्रवण के सुख से वे वंचित हो जायेंगे। अतः, सब वातावरण स्तब्ध हो रहा है। प्रियतम तो प्रियतम ही हैं। इनके सर्वांग जैसे चंचल हैं, वैसे ही इनका मन भी तो परम चंचल है। एक भाव में बहुत समय तक ये स्थिर रह पावें, यह इनके लिये कहाँ संभव है ? सो, भाव परिवर्तन हो ही गया। श्रृंगारमयी वंशीध्वनि की श्रुतिमनोहर रसधारा रौद्ररस के प्रवाह में विलय हो गयी। मानो वसन्त की मन्द बयार बहते-बहते ही पावस की घन-गर्जना होने लगी हो। प्रियतम ने वंशीनिनाद स्थगित कर, तरणी की डाँडें अपने करकमलो में ग्रहण कर लीं। वे डाँड खेने भी लगे और अपनी प्रिया की नवनवायमान होती मनोहर रूपछटा भी निहारने लगे ।

और अरे, प्रियतम नीलसुन्दर ने तो विनोद-विनोद में ही तरणी संचालन इतना वेग-पूर्वक कर दिया कि प्रिया भयभीत हो उठीं। तरणी की गति तो और भी वेग ग्रहण कर लेती - परन्तु प्रिया निषेध की मुद्रा में प्रियतम के

नौकाचालन करते हाथों को अपने सुकोमलतम हाथों में ग्रहण कर, निषेध कर उठीं। वे अब तक तो प्रियतम से लज्जावश किंचित् दूरी रखे थीं, और अपने सुदीर्घ आकर्णविलम्बी नेत्रों की कोर से प्रियतम की रूप-सुधा का पान कर रहीं थीं, किन्तु अब तो वे उनके क्रोड़में उनसे सर्वथा ही सटकर आसीन हो गयीं। अरे, अरे ! डाँड खेने की चतुराई से प्रियतम ने नाव को डगमगा दिया। प्राणप्रिया में अपनी सुरक्षा का भाव तो नहीं आया, प्रियतम की सुरक्षा का ऐसा भाव उठा कि वे स्वप्न में चीख उठीं। उनकी स्वप्न की इस भय-मुद्रा और चीखने की क्रिया ने उनका स्वप्न तोड़ दिया।

देखो, देखो ! जागकर प्रिया यथार्थत: ही अपने प्रियतम को असुरक्षित समझ प्रगाढ़ आलिंगन में भर लेती हैं। वे भावमयी, सर्वथा लज्जाशून्या हुई प्रियतम को इस प्रकार अपने बाहुओं और अंग-अंग में प्रगाढ़ रूप से भर लेती हैं, मानो उन्हें आत्मसात् ही करने जा रही हों। सविन्मय विलास की इस ऊर्मि ने कोटि-कोटि कंदर्पों के नायक को विलय बिन्दु की ओर अग्रसर कर दिया। सचमुच ही अतनु प्राणहीन ही हो जाता। हाय, हाय ! न जाने किस अहैतुकी कृपावश तो उसे मात्र क्षणार्द्ध के लिये इस महारस प्रदेश में प्रवेश प्राप्त हुआ था और इस विलयजन्य वज्रपात ने तो उसे इस परम दुर्लभ रस-दर्शन से भी विलग कर दिया, मूर्च्छित कर दिया।

अहा ! अपने सकल अंगों को भयवृत्ति में डुबाती प्रिया कितनी मनोहारिणी लग रही है । उनके कंचुकीबंध अपने आप ही मुक्त हो गये हैं, और नीवी बंधन शिथिल । परम निस्संकोच, वे प्रियतम को अपने अंगों में भर रही हैं। प्रियतम तो सदा से ही इस भावोच्छलन का स्वागत करने नित्य उत्सुक, सन्नद्ध एवं तत्पर रहते ही हैं। युगल दंपति प्रणय-रस-सिन्धु की लहरियों में डूबने उतराने लगे। सारिका इस रसमयी छवि को निहारती सर्व सौभाग्य में निमग्न हो रही है। तटवर्ती सभी नर-पशु-पक्षी जो भी इस शोभामयी रस-राशि का दर्शन कर रहे हैं सब में नारीत्व के चिन्ह एवं नारी-भाव स्वत: ही प्रकट हो जाता है। अरे ! अरे!! अपनी प्रिया के नवपल्लवों सदृश अधरों का चित्पीयूष प्रियतम पान करने लगे। अब तो वे अपनी प्रिया को निर्बाध भुजपाश में आलिंगित कर रहे हैं। विलास-रस-सिन्धु के अतल तल में समाये हुए उन्हीं भावों से प्रतिभावित हुए दोनों युगल दंपति तदनुरूप महारस समुद्र में डूबने-उतराने लगे। इस अलौकिक शोभा का आस्वादन कोई सारिका-जैसा बड़भागी जीव ही कर सकता है।

धन्य ! धन्य ! परम धन्य ! परमाति परम धन्य ! सारिका रूपधारी पूज्य गुरुदेव और पूज्य गुरुदेव के गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज - जो इस कपटरहित कृष्ण प्रेम का निरन्तर अवगाहन करते रहते थे । इस परम सुदुर्लभ भाव का परोक्ष दर्शन ही प्रथम तो इस जगत् में किसी को नहीं होता, फिर अपरोक्ष आविर्भाव होने का तो प्रश्न ही नहीं। किसी महासौभाग्यवान प्राणी को अपरोक्ष दर्शन हो पावे तो उसके प्राण प्राकृत शरीर में रह नहीं सकते । जो यावज्जीवन इसे अनुभव करते हुए देह धारण किये रहे वे महा-महा प्रेमावतार परम भागवत तो अनन्तशः वंदन ही वंदन के पात्र हैं।

## सारिका प्रसंग : पांचवी लीला
## गह्वरवन वर्णन

सारिका उड़ती हुई पहुँच गयी है यमुना के उस पार। कैसा विलक्षण है यह व्रजप्रदेश। इस देव-दुर्लभ सुरम्य प्रदेश में तीस अतिशय मनोहर रमणीय वन हैं - एक से एक अभिनव सुन्दर और परम रसमय। इन वनों की राजि में प्रिया-प्रियतम नीलमणि और किशोरीरानी की स्वरूपानन्दमयी चिन्मयी रस-स्रोतस्विनी निरन्तर अक्षुण्ण प्रवाहित होती रहती है। अहा ! कैसा विलक्षण देश है, जिसके रस के एक कण से सिक्त होने के लिये योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण निरन्तर लालायित होते रहते हैं - वहाँ इन तीसों वनों में नित्य निकुंजेश्वर एवं निकुंजेश्वरी के असंख्य विहार-निकुंज है, जो सबके सब यत्परोनास्ति सुभग हैं।

तो, सारिका के नेत्रों के सम्मुख गह्वरवन का विलक्षण रसप्रदेश आविर्भूत हो रहा है। चतुर्दिक अगणित हरित् लताएँ द्रुमों से लिपटी हैं। कुसुमों से भरे लताजालों में असंख्य विहंगम कीड़ारत हैं। एक ओर गुच्छ के गुच्छ पुष्पों का भार है इन पर, और दूसरी ओर विहंगमों के दल झूल रहे हैं, इनकी टहनियों पर। इस प्रकार ये वल्लरियाँ अत्यन्त नमित हो गयी हैं। ये अति नमित हुई मानो धरादेवी को नमन कर रही हों, इस प्रकार भूमि पर प्रसरित हैं।

वृक्षों की शाखायें फलों से लदी हैं। फलों का भार भी इतना अधिक है कि पादपों को झुककर पृथ्वी पर नमित हो कर फैलना पड़ रहा है। धरा का

वक्षस्थल तो पहले ही गुच्छ के गुच्छ पुष्पों से लदी लताओं से आच्छादित था ही, अब इन पादप-शाखाओं के नमित होकर प्रसरित हो जाने पर तो, भूमि सर्वथा आच्छादित ही हो गयी है। भिन्न-भिन्न पुष्पों की विलक्षण महक इतनी व्यापक और घनी है कि वन ही नहीं गिरिवर की गुफायें तक सौरभ से भर गयी हैं। भ्रमरावली मधुपान से छक कर मत्त हुई मौन हो गयी है, किन्तु विहंगमों को काकली से विराम कहां ? वे अपने सुमधुर, सरस स्वर से वन को सर्व ओर से निनादित कर रहे हैं।

सारिका के प्राण उत्कंठित हैं प्रिया-प्रियतम को ढूँढ़ने में। उसे कोकिला ने यही सूचना दी थी कि प्रिया को प्रियतम वनदर्शन कराने गह्वर वन की ओर लाये हैं। सारिका ने पीत-झिण्टी पुष्पों की झुरमुट में झंकार करते आनन्द कोलाहल में मत्त भ्रमरों से पूछा कि उन्होंने कहीं किसी दिशा में प्रिया प्रियतम की अंग-गंध प्राप्त की है ? भ्रमरों ने इतना ही संकेत किया कि यमुना तट से प्रस्फुटित पद्मों से मिली वह गंध अवश्य आती प्रतीत हो रही है। यह कह कर वे उड़ चलते हैं। अब सारिका इतने विस्तृत यमुना-तट पर कहाँ-कहाँ अपने पंखों को गति दे। अपलक नेत्रों से जड़-पुत्तलिका की तरह वह प्रिया की हेतुरहित कृपा का अवलंबन लेकर, वहीं एक ओर दृष्टि निहित कर देखती रह जाती है। सारिका के सम्मुख एक सुन्दर सरोवर है । सारिका देख रही है - एक हंस हंसिनी के चरण प्रान्त में अपना सिर झुकाये आसीन है। उसके मन में अथाह प्रीति की ऊर्मियाँ हिल्लोलित हो रही हैं। भाव की उमड़ती तरंगों से उसके रोम-रोम उत्फुल्ल एवं रोमाञ्चित हो रहे हैं। वे उसके पंखो के ऊपर, नीचे, दाहिने एवं बाँये बिखर-सी रही हैं।

जलधारा से सम्बद्ध मेदिनी पर चतुष्पादों का निर्भय होकर विचरना बहुत ही सुहावना प्रतीत हो रहा है। वे चतुष्पाद कुछ चलकर रुक जाते हैं। सुख-सिन्धु के प्रवाह में डूबकर अपने नयन मूँद लेते हैं, फिर निष्पंद हो जाते हैं; - फिर उन्मत्त हुए-से आगे की ओर चल पड़ते हैं। इन सभी के हृदयों में व्यक्त होनेवाले प्रीतिभावों के दृश्यों से किसी भी भाग्यवान् का तादात्म्य हो, तब न उनकी इन सब क्रियाओं का रहस्य उसे समझ में आवे । सारिका इतनी भाग्यवान् है कि वह सबके हृदयों में उफनते किसी भी प्रीति दृश्य की साक्षी हो जाती है; अतः वह ठीक जान रही है कि इनको अपने सम्मुख अपरिसीम शोभा का प्रवाह उच्छलित करते प्रिया-प्रियतम दीख जाते हैं तभी ये सुखसिन्धु में डूबकर नयन मूँद लेते हैं, निष्पन्द हो जाते हैं। ये उस परम

मोहक छबि को अपने हृदय में, रोम-रोम में भरने लगते हैं। फिर बाह्यवृत्ति के उदय होने पर ये अपने नयन पुनः विकसित करते हैं ; पुनः प्रिया-प्रियतम को किसी कदम्ब वृक्ष के नीचे दूर खड़े पाते हैं तो उन्मत्त हुए-से उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं। यही इनकी चेष्टा का रहस्य है।

सारिका शान्त चुपचाप बैठ गयी। किसी तपोनिष्ट ब्रह्मज्ञानी सन्यासी का मन ही तो इसका मन है - प० पू० गुरुदेव की भाव देह जो ठहरी। तब यह अन्य पक्षियों की तरह कलह-कलरव में निरत और चंचल कैसे होगी ? सत्वमयी शान्ति तो इसके चित्त का भूषण होगी ही; इसमें कुछ तो असाधारणता दिखाई पड़ेगी ही।

## व्रज जगत का तत्व रहस्य

अहा, इस विशाल कदम्ब वृक्ष पर आसीन इस सारिका की शोभा कैसी सुन्दर है, इसकी सुन्दरता भी परम सात्विक है मानो कोई तपोमूर्ति बैठी हो। सारिका की अपनी सहज अनुभूति है। वह देखती है कि यहाँ इस व्रज जगत् की सृष्टि विश्वस्रष्टा द्वारा कल्पित नहीं है। यहाँ तो अनन्त विश्व सृष्टि के नियामक प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र ही सूर्य, चन्द्र, गगन, पवन, ग्रह, नक्षत्र, अशेष तारक पंक्ति बने हैं। वे ही इस व्रजजगत् के निमित्त भी हैं और उपादान भी हैं। लौकिक सृष्टि तो चिदाभासजन्य मिथ्या प्रतीति है, परन्तु यह सृष्टि चिदानन्दमयी संधिनी शक्ति की परिणति है, अतः सत्य है। यहाँ जिस सच्चिन्मयी नीलिमा से नन्दनन्दन का आत्मप्रकाशरूप देह है, ठीक वैसा ही उनका ही आत्मप्रकाशमय रूप व्रज में यमुना, धरा, गिरिश्रेणी, वृक्ष, गुल्म, लतायें, एवं चर-अचर, अनन्त जीव समुदाय है। सारिका यह भी ठीक जान रही है इस व्रज में प्रिया-प्रियतम के आत्मप्रकाश की रूप-रेखा को रंचकमात्र भी वह किसी को हृदयंगम करा सके यह असंभव है। क्योंकि यहां प्रापंचिक सृष्टि जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो नियमों की परिधि में समा सके। यह तो प्रिया-प्रियतम के अपने आप द्वारा सम्पादित एक विलक्षण स्वतंत्र विश्व है। यह आनन्दात्मक है, चिदात्मक है। इसकी समस्त परिणति सर्वथा विशुद्ध है। इसके कारण मात्र प्रिया-प्रियतम हैं और यह उनसे सर्वथा अभिन्न है। तथापि यह लीला की संघटना के उद्देश्य से है, इसलिये उन लीला परिकारों के स्वभाव का इसमें उन्मेष हो गया है । इसी कारण यह विभिन्न रूपों में

प्रतिभासित हो रही है। वाणी इसकी रूप-रेखा का निर्देश कर ही नहीं सकती, यह अनिर्वचनीय है। बस, यह अद्‌भुत है। यदि इसे सृष्टि कहें तो यह सृजन का उत्कृष्टतम रूप है, सबसे विलक्षण है।

अत: सारिका देख रही है सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच सर्वथा, सर्वांश में प्रिया-प्रियतममय है। वह स्वयं में भी प्रिया-प्रियतम को पूर्ण लबालब भरा देखती हुई ध्यानस्थ बैठी है। वह अपने आपको सर्वथा विस्मृत कर अपने परम प्रेष्ठ प्रिया-प्रियतम के ध्यान में आपातत: डूब गयी है। अन्य-स्मृति-शून्य हो रही है उसकी दशा ।

लो ! रानी अपने प्राणवल्लभ नीलमणि सहित वन विहार करती चली आयीं, उसी स्थल पर जहाँ सारिका कदम्ब की डाली पर आसीन ध्यानस्थ है। सखियों सहित प्रिया-प्रियतम सारिका की बाह्य-ज्ञान-शून्य दशा को देखकर अति आनन्दित हो उठते हैं। जो प्रीति समाधि के लक्षण बड़े-बड़े ऋषियों मुनियों में प्रकट नहीं होते, वे प्रेमभावसमाधि के लक्षण इस पक्षी में सहज प्रकट देखकर सभी उस पक्षी की भावदशा की सराहना करते हैं।

प्रियतम न जाने क्या चमत्कार करते हैं कि सारिका के हृदय में व्यक्त प्रिया-प्रियतम की रूप छबि अकस्मात् अन्तर्द्धान हो जाती हैं। सारिका अतिशय विकल हुई अपने नेत्र खोल देती है। प्रिया-प्रियतम को सखियों सहित साक्षात् अपने सम्मुख पाकर उसके नेत्र प्रेम से छल-छला उठते हैं; उसे तीव्र रोमाञ्च हो आता है।

## प्रियतम एवं रानी के स्नेह की जय

रानी अतिशय प्यार से सारिका को अपने कोमलतम कर सरोजों में उठा लेती है। वे उसके पंखों पर अपने सुकोमलतम हाथों को फेर-फेर कर उसे अपने उमड़ते स्नेह सिन्धु की ऊर्मियों से नहला देती हैं। उसे अपने वक्षस्थल से लगाती हैं और अपने कपोलों से सटा लेती हैं। उसके रोम-रोम को अपने सुकोमलतम पद्‌म-पल्लवों-सदृश अधरों से प्रीतिदान करती हैं। और तब अपने प्राणपति नीलसुन्दर को सौंप देती हैं। प्रियतम भी अतिशय प्यार से उसके पंखों को हाथों से सहलाते हैं और पूछते है -"सारिके ! भूख लगी है, कुछ खाओगी ? और तब अपने एवं किशोरी रानी के अधरामृत से सिक्त सुमधुर फल उसकी चौंच में भर देते हैं ? सारिका के रोम-रोम में प्रेमामृत संचारित

हो उठता है। भाव की तरंगों में वह बह चलती है । वह कभी अतिशय प्यार से प्रियतम की ओर देखती है और कभी प्रिया की ओर, एवं तब दिये हुए कौर को किसी प्रकार निगल पाती है। अब प्रिया-प्रियतम दोनो अपने अपने मुखों का चर्वित ताम्बूल इसकी चौंच में देते हैं। फिर दोनों ही प्यार से मुसका पड़ते हैं। सारी भावाविष्ट हो जाती है। वह अपनी प्राणप्यारी रानी और परमप्रेष्ठ प्रियतम को सम्बोधित कर बोलने लगती है :-

"प्राणवल्लभ ! रजोगुणी पक्षी-जाति में जन्मी, महामलिनता की पुञ्ज सर्वथा तुच्छ, नगण्या हूँ मैं। मुझ सर्वदोषनिधान की भी अवहेलना न कर आप जो निराविल प्यार मुझे दे रहे हैं, हे, करुणावरुणालय ! आपकी असमोर्ध्व, हेतुरहित कृपा की निरवधि जय, जय, सदा ही जय हो । मैं महामलिन तुच्छातितुच्छा, आपकी दासियों की दासियों की अनुदासीतुल्य भी नहीं हूँ। हे, नील सुन्दर ! आप मुझे दुलारते हैं, संरक्षण देते हैं, आपकी महानुभावता की बलिहारी है। मेरा यह शिरोभाग आपके चरणों की धूलि से सदा ही धूसरित रहे, और आपकी कृपा निरन्तर मुझ पर बनी रहे।"

प्रिया-प्रियतम की प्यारभरी छबि हृदय में सँजोये सारिका--"मेरी प्राणवल्लभा की जय ! मेरे प्राणसारसर्वस्व की जय" इस प्रकार जय-जयकार करती, नाचती बेसुध हो जाती है। प्रिया-प्रियतम कदम्बवृक्ष की एक डाली पर उसे आसीन कर देते हैं और सखियों के साथ निकुंज में प्रवेश कर जाते हैं।

लो, सारिका फिर उड़ चली नील गगन में। अति विस्तृत नीलगगन में वह उड़ती जा रही हैं। सारिका के मन में, अन्तःकरण में पूरम्पूर भरे हैं- महामरकत-श्यामल, सुकुमार-अंग प्रियतम और पिंगलवर्णी स्वर्णलता-सी सुन्दरी प्राणेश्वरी किशोरीरानी। इनकी विशुद्ध सत्वमयी शक्ति से ही सदा संचारित होते रहते हैं -- उसके प्राण और इन्द्रियाँ । सारिका का कथन मात्र का 'स्व' और 'स्व' से सम्बद्ध उसका सर्वस्व, इन युगल दंपति के चरणों में आत्यंतिक उल्लास के साथ समर्पित है। प्रिया-प्रियतम की अखण्ड स्मृति और उसका निरवधि चिन्तन ही तो अब उसका जीवन है। उनकी नित्य सन्निधि का अनुभव करते रहना ही उसका ज्ञान, ध्यान एवं परमार्थ है। उसे यही अनुभव होता रहता है कि वे ही उसकी आँखों से देखते हैं, वे ही वाणी से बोलते हैं, और वे ही उसकी श्रवणेन्द्रियों से सुनते हैं। उसे यही स्पष्ट अनुभूति है कि सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच के व्यवहार में ये युगल ही सर्वत्र क्रियाशील हैं।

## गोपराज के ग्राम में

लो, दूर-दूर उड़ती, चली आयी सारिका नन्दग्राम से कुछ दूर स्थित एक ग्राम में। एक छोटा-सा परम शान्त, सौम्य, सुन्दर ग्राम है यह। यमुना इसके पास से ही बहती है । चतुर्दिक् सुन्दर वन से घिरा है, यह। असंख्य पक्षियों के कलरव से निनादित रहता है। सारिका ग्राम की चतुर्दिक् परिक्रमा करती है एवं एक धर्मनिष्ठ, सम्पन्न गोप के घर में प्रवेश कर जाती है।

बहुत ही कट्टर मर्यादावादी ये गोपराज हैं। सम्पूर्ण घर के गृहजनों पर इनका कड़ा अनुशासन है। इस घर की कुलवधुएँ कहीं बाहर आ-जा नहीं सकतीं। किसी से वार्त्ता करना भी पूर्णतया निषिद्ध है, इनके घर में। ऐसे गृह की कुलवधू है, यह गोपी। इसका पीहर भी ऐसा ही कट्टर मर्यादावादी है। गुरुजनों का निरे बालकपन से ही घना कट्टर शासन रहा है, इस पर। स्वभावतः चंचला होने से इसकी दृष्टि उठती तो है परन्तु तत्क्षण ही घूँघट की ओट में चली जाती है, लज्जावश।

## गोपी हृदय में प्रेमदीप

हाँ, इसके गृह के पीछे यमुना के घाट पर से थोड़ी ही दूर हटकर इसकी एक पर्णशाला है। पर्णशाला के चतुर्दिक् अति मनोरम एक उद्यान है। यह पर्णशाला ही इसका एकान्त विश्रामस्थल है। गृहकार्य सम्पन्न कर वह यहीं विश्राम करती है; इसका रूप सचमुच ही हृदयग्राही मनोमोहक है । नन्दरानी के निमंत्रण पर एक दिवस यह किसी उत्सव में नन्दभवन गयी थी। वहीं उसने नन्दनन्दन को भी देखा था। बस, प्रथम दृष्टि में देखते ही इसके हृदय में उनकी प्रीति का दीपक तो जल ही उठा था। या यों कहें, अनादिकाल से दीपक, बाती और तेल वह सँजोये हुए थी और इस प्रथम दृष्ट्या रूपदर्शन ने एक चिनगारी का कार्य किया और दीपक झक्-झक् जल उठा। परन्तु अभी तक इसके हृदयमन्दिर के सभी छिद्र बन्द रहने से समीर का तेज झौंका वहाँ नहीं प्रवेश कर पाया था। सर्वथा निर्वात हृदयस्थल में विराजित रहकर दीपक की लौ रञ्चमात्र हिली भी नहीं थी। फिर उसके ज्वाला बनकर सर्वदाही हो जाने की संभावना कैसे हो पाती ?

मध्याह्न में जब सब गृह कार्य निवृत्त हो जाता है, तो यह गोपी इस पर्णशाला में आकर बैठ जाती है। ये इसके एकान्त क्षण परम प्यार के होते हैं। इस समय इसके चित्त से जगत का चित्र-विचित्र-रंगभरा दुकूल (परदा) सर्वथा हट जाता है। एक अद्भुत, सच्चिन्मयी, नीलद्युतियुक्त आलोकमाला-सी चतुर्दिक फैल जाती है। इसकी पर्णशाला इस नील ज्योत्स्ना से उद्भासित हो उठती है। इस नीलद्युति के दर्शन से रविकिरणों का स्पर्श पाकर विकसित हुए कमलों की भाँति इस गोपी का रोम-रोम हर्ष से खिल उठता है। हृदय में आनन्द की सरिता बह चलती है। यह निर्निमिष नयनों से उस सच्चिन्मयी नीलद्युति में प्रकट होते अरविन्द-सदृश मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लग जाती है। फिर यह नीलद्युति आकृति शनै शनैः और स्पष्ट होने लगती है। गोपी देखने लगती है -- सुन्दर मयूर-पिच्छ से मस्तक की कुञ्चित अलकावलि परिभूषित है। उन्नत चमकते ललाट पर मृगमद-मिश्रित चन्दन की खौर सुशोभित है। गले में वन्य-प्रसून-गुम्फित तुलसीमाला झूल रही है। सम्पूर्ण सुषमा का आकर, विशाल वक्षस्थल श्रेष्ठ कौस्तुभमणि से विभूषित है। अहा ! कैसे सुन्दर कमलदल के समान अधर-पल्लव हैं और उन पर मन्द मुसकान की छटा नित्य व्यक्त रहती है। गोपी के नेत्रों में, कानों में, प्राणों में, मन में, उसकी बुद्धि में, उसकी आत्मा में, वह किशोर मूर्त्ति भर जाती है। उसे उस समय यही अनुभव होता है कि उसका जो कुछ वर्तमान, भूत एवं भविष्य है, सब का सब यह श्यामवर्ण किशोर ही है। यह गोपी इसी छबि के ध्यान में तबतक डूबी रहती है जबतक इसे इसकी सास का किसी गृहकार्य के लिये पुनः बुलावा नहीं आ जाता। परन्तु, यंत्रचालित-से ही इसके हाथ गृह-कार्य में लगे रहते हैं, इसका चित्त तो इसी श्याम ज्योत्स्नापुरुष में ही खोया रहता है।

कभी-कभी इसकी अनेक ग्राम्य सखियाँ आ जाती हैं। परन्तु उस समय इन गोपांगनाओं से भी इसकी वार्त्ता इस श्यामल नीलचन्द्र को लेकर ही होती है। ये सभी स्वर्ण कलशी लेकर यमुना तट से जल लेने चल पड़ती हैं । ये हँस हँस कर परस्पर वार्त्ता तो करती ही हैं, परन्तु सचकित, शंकित नेत्रों से इधर उधर देखती भी जाती हैं। अहा ! इन सबका उस समय कैसा नयनाभिराम रूप-सौन्दर्य छलक उठता है । उनके स्थूल कटिदेश में सुकोमल क्षौम (रेशमी) तंतुओं से निर्मित लहँगा सुशोभित है । प्रियतम नीलमणि की मधुरातिमधुर स्मृति से प्रणय-स्नेह-सिन्धु के उद्वेलित हो उठने से इनके स्तन

अतिशय उत्तुंग हो उठे हैं। साथ ही रह रहकर चित्त के उद्वेलित हो उठने से ये प्रकम्पित भी हो रहे हैं। हाथों को अलंकृत करने वाले कंकण, कानों को विभूषित करने वाले कुण्डल-युग्म भी अतिशय चञ्चल हो रहे हैं। प्रेमावेश के कारण प्रस्वेद-कण भाल पर, कपोलों पर, चिबुक पर झलमल कर रहे हैं। अंगों में निरन्तर गति रहने से अञ्चल सिर से उतर आया है। वेणीबन्धन भी शिथिल हो गया है। वेणी में ग्रथित मालती पुष्प झरने लगे हैं। झर-झरकर वे चरणों का संस्पर्श कर रहे हैं। मानो कबरी के ये पुष्प इन गोपियों के चरणों में गिरकर इन्हें एक सत्य सिद्धान्त का संकेत कर रहे हों - "अरी ! तुम्हारे परिवारजन, अभी जो तुम्हारे मस्तक पर आसीन हैं, वे तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण में तन्मय होते ही तुम्हारे चरणों में आश्रय लेने लगेंगे, तुम चिन्ता मत करो। प्रेमावेश के कारण इन सबका बाह्यज्ञान यद्यपि लुप्तप्राय: ही है, तथापि अन्तश्चेतना में यमुना तट जाने, जल भर कर लाने की वासना के चिर जाग्रत रहने से चरणों की गति तथा कलशी-ग्रहण में कोई व्यतिक्रम नहीं है। क्षण-क्षण इन्हें आभास हो उठता है कि इस वृक्ष के नीचे नन्दनन्दन खड़े हैं। इस झुरमुट में से लो वे निकल आये -- अत: दृष्टि के सशंक सञ्चालन से इनके भ्रू-युगल अतिशय बंकिम बन गये हैं। ये नयन बहुत ही सुन्दर दीख रहे हैं। इस प्रकार गोपियाँ प्रणय-महोदधि में डूबती-उतराती चञ्चल सौन्दर्य की प्रतिमा-सी बनी यमुना तट की ओर अग्रसर हो रही हैं।

## परस्पर रस चर्चा

लो, अपने सिर पर स्वर्ण कलशी रखे यह गोपी अपनी सखियों से क्या कह रही है ? जरा सुनो तो - "अरी बहनों ! मुझ पर तो मेरे गुरुजनों का अनुशासन इतना कड़ा है कि मैं तो नीलरमण की एक झाँकी भी नहीं पा सकती। बस, मात्र एक दिवस यमुना घाट पर कार्तिक अमावस्या के दिन अपनी सास के संग दीपदान करने गयी थी। अहा ! हजारों गोप गोपियाँ यमुना में दीपदान कर रहे थे। उस उत्सव में व्रजराज एवं व्रजरानी भी दीपदान करने अपने पुत्रसहित आये थे । अहा ! बस, उसी दिन एक झाँकी हुई थी नन्दतनय की।"

"अहा नवकमल जैसी विशाल नेत्रों की शोभा थी । बिम्बफलके सदृश लाल-लाल परम सुकोमल किसलयदल से अधर थे। उन पर मन्द मुसकान

छायी हुई थी। सजल जलद की-सी अंगों की कान्ति थी। अत्यन्त सुन्दर किशोर वेष था। मधुर, सुन्दर, मन्द गति से वे चलते थे, चरणों में मञ्जीर एवं नूपुर सुशोभित थे। कटिदेश में नवरत्न काञ्ची सुशोभित थी। काञ्ची से रुनझुन-रुनझुन शब्द हो रहा था। गले में सुन्दर हार था। यमुनातट पर सखाओं के साथ वे दीपदान कर रहे थे। पूर्ण शशधर जैसे मुख पर कुञ्चित केश कलाप सुशोभित थे।"

"अरी बहिन ! इस निगोड़ी लज्जा ने मेरे नेत्रों को इस प्रकार नीचे धरा पर गड़ा दिया कि अरी, मैं पूरा मुख उठाकर उन्हें देख भी नहीं पायी। फिर मेरी सास भी मेरे संग थी, वह बार-बार मुझ पर दृष्टि गड़ाती थी। मुझे धरती पर नेत्र गड़ाये देखकर उसे बहुत ही सान्त्वना हो रही थी। परन्तु मेरे हृदय पर तो वज्राघात हो रहा था री !"

लो, दूसरी सखी अपनी बात कहती है - "अरी बहिन ! जाग्रत में तो उन्हें देखने का प्रश्न ही नहीं बनता । परन्तु यह भी कैसे कहूँ कि वह स्वप्न था। इतना ही ज्ञान है कि वह निशा परम मनोहारी थी। चन्द्रमा पूर्ण विकसित था, और चतुर्दिक् चाँदनी भरपूर छायी थी। शरद ऋतु थी और मौसम इतना सुहावना था, मानो नभ से रजत चूर्ण ही बरस रहा हो।" अहा ! जब यह गोपी अपनी वार्त्ता कर रही थी, सारिका के चित्त में द्विविधा खड़ी हो गयी थी। वह गोपी की रसपूर्ण वार्त्ता सुने कि उस गोपी के अत्यंत चित्ताकर्षक, घने कृष्ण-कज्जल-अनुरंजित, बड़े-बड़े नयनों की शोभा देखे। गोपी बोलती थी तो उसके मुख पर उसकी धवल दंतपंक्ति मुक्तामणियों के सदृश चमक जाती थी और उसके अन्तराल से उसकी अनुपम रसमय वार्त्ता बहिर्गत होती थी। तो गोपी अपनी वार्त्ता आगे बढ़ाती है :- "मन्द-मन्द, अति शैत्य का पुट लिये समीर मेरे तन को उस समय अतिशय सुखद लग रहा था । अरी सखि ! मैं नदी-तट की पगडंडी पकड़े अकेली ही सघन वन की शोभा निरखती चल पड़ी। जहाँ तहाँ नदी का पाट छिछला था और वहाँ असंख्य, लाल, पीली, एवं नीले रंग की पद्मिनियाँ खिल रही थीं। निशा में भी भ्रमरों की झंकार चतुर्दिक् सघन रूप में हो रही थी।"

"अहा सखि ! जिनके मंगलमय नाम को सुन लेने मात्र से प्राणी सदा-सदा के लिये परम निर्मल हो जाते हैं, मैंने देखा वे एक कदम्ब के मूल में बैठे प्यारी बाँसुरि बजा रहे थे। अहा, मेरे चरण अपने वश में नहीं रहे। वे खिंचे, चल पड़े बरबस उसी ओर। अरी बहिन, मनोहारी साँवरी सूरत

देखकर मैं तो निहाल हो गयी। अरी, वे इस वंशी को - जो मात्र बाँस की एक पोली लकड़ी भर है और अनेक छिद्रों से युक्त है, उसे कितना चाहते हैं ? वे उसमें अतिशय सरसता से अपने प्राणों का रस भरते हैं और उसे आप्यायित करते रहते हैं। अरी, वे उसके छोटे-छोटे छिद्र के समान मुख का, जिसमें उनका फेनिल अधरामृत भर जाता है, अपने रसमय प्राणों की फूँक लगाकर प्रक्षालन करते हैं। कभी-कभी यह वंशी यदि उनके मनोनुकूल नहीं बज पाती है तो अपने पीताम्बर को आर्द्रकर, इस वंशी के छिद्रों को प्रक्षालित करते हैं और तब उस पर शतशत चुम्बनों को अकित करने लग जाते हैं। कभी इस वंशी को ये अपने कपोलों से सटाते हैं और कभी अपने कुन्तलमण्डित सिर को इस वंशी से लगा देते है। और यह वंशी भी उनके अनिर्वचनीय प्रेमानन्द में विभोर हो जाती है और तब उनके हाथ का यंत्र बन जाती है।"

"अरी बहिन ! मैंने निर्णय कर लिया था कि आज उनकी इन अगणित प्रेमिल चेष्टाओं से युक्त छवि को जी भरकर निरखूँगी। आज निशापर्यन्त उनके अंग-अंग से झरती नील ज्योत्स्ना में ही मैं अवगाहन करती रहूँगी। फिर विचार करने लगी कि यदि उनके सहसा सम्मुख हो गयी तो उनका वंशीनिनाद रुक जायेगा, अतः इस कदम्ब की छाया की ओट करके पीछे से चुपचाप चलूँ और क्षुप, तृण एवं गुल्मों की ओट से उनको मन भर देखती रहूँ।"

"अहा ! कैसी शोभा नीलसुन्दर की थी। मानो वसन्त के दिन हों; नव-तमाल-तरु की शाखाओं में - शाखा की प्रत्येक ग्रन्थि में विविध नवांकुर श्रेणी फूट पड़ी हो; इन नवांकुरों से श्याम तमाल का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा हो, परन्तु यह शोभा भी सर्वथा तिरस्कृत जो हो रही है नीलसुन्दर के रोम-रोम से प्रस्फुटित सौन्दर्य स्रोत की तुलना में।"

घुँघराली अलकें कपोलों पर, ललाट के कुछ अंश पर झूल रही थीं। कदम्ब का किंजल्क उड़-उड़कर उनकी अलकों पर गिर रहा था । कुन्तल-मंडित मस्तक पर मयूरपिच्छ का मुकुट सुशोभित था। केशों में सुन्दर सुरभित वन्यप्रसून ग्रथित थे। नेत्रों की मनोहर चितवन एवं अधरों पर व्यक्त हुई मृदु स्मिति की शोभा देखते ही बनती थी। प्रस्फुटित नीलसरोरुह से सुधा विनिंदक मधुधारा क्षरित हो रही थीं। बस, इस अप्रतिम सौन्दर्य को मैं निहार रही थी कि मेरा स्वप्न टूट गया। सखि री! इस निगोड़ी जाग्रति ने मुझे

अथाह विरहाग्नि में झौंक दिया। तब से यह भीषण विरह ज्वाला अलक्षित रूप से मेरे अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में धक्-धक् जल रही है।"

अब तीसरी कहने लगी - "मैं तो उन्हें प्रतिदिन ही अतिशय मीठे सपनों में देखती रहती हूँ। जब जागती हूँ तो वे दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। बहिन ! सारा दिवस मैं एक विचित्र-सी दशा में अवस्थित हुई काटती हूँ। जब मेरा स्वप्न टूट जाता है, तब भी कितनी ही देर पश्चात् मुझे पूरा बाह्यज्ञान हो पाता है। जब शरीर का भान होता है तो प्राणों में वेदना भरी रहती है। ऐसा लगता है मानों प्राण कहीं उड़कर चले जायें। अन्तस्तल सर्वथा सूना हो जाता है। परन्तु क्या करूँ बहिन ! दिन तो कल्पों के समान दीर्घ हो जाता है फिर भी काटना तो पड़ता ही है। आज तो रात्रिपर्यन्त स्वप्न आया ही नहीं। मयंक अस्त हो चुके थें, री ! प्राची की लालिमा गवाक्षरंध्रों से झाँकने लगी थी। मुझे लगने लगा, सचमुच ही मेरा जीवन निस्सार है। नीलमयंक प्राणपति से मिलने की तो कोई संभावना ही मेरे इस वर्तमान जीवन में तो है नहीं और अमिलन की अथाह विरह-दावाग्नि मेरे तन के कण-कण को अगाध ज्वाला में निरन्तर झौंके रहती है। मैं अपने ऐसे जीवन से पिण्ड भी कैसे छुड़ाऊँ -- यही विचार कर रही थी। इतने में ही मुझे झपकी आ गयी। अरी बहिन ! कहते हैं प्रभात का देखा स्वप्न सत्य हो जाता है। सुन री ! स्वप्न में वे नील देवता चुपचाप मेरे निकट मेरे अन्तर्गृह में आ गये री ! दिन भर की वह विरहाग्नि, जो अतिशय दाहक हो रही थी, प्रशमित हो गयी। परन्तु न जाने लज्जा के गहन आवर्तों ने मुझे डुबो दिया। फिर भी उनके मुखकमल पर मेरी दृष्टि विजड़ित हो गयी। तत्क्षण ही मेरे नेत्र भ्रमरों के रूप में परिणत हो गये। प्रियतम के मुखारविन्द से राशि-राशि मधु की धारा प्रवाहित हो रही थी।"

"अरी मेरे दो नेत्र-भ्रमर उसी मकरन्दरस का पान करने उन पर टूट पड़े। मेरे प्राण और हृदय सभी तो मेरे नेत्रों से सन्नद्ध थे ही। अतएव, प्रियतम प्राणसुन्दर की वह रूप-मधुधारा उसी तन्तु के सहारे झरने लगी थी हृदय में भी, प्राणों में भी। उसी समय रसपूरित हृदय में लज्जा की एक विशाल लहर आ गयी। उसने सम्पूर्ण द्वार रुद्ध कर दिये। एक साथ यह लज्जा सबका कठोर नियंत्रण करने लगी, इसीलिये लाजभरी पवित्र मुसकान एवं अतिशय भाव-मुद्रा के रूप में व्यक्त होकर वह उन्मादी प्रवाह पुनः पीछे की ओर लौट गया। बहिन री ! कदाचित् लज्जाद्वार अनावृत कर देती तो

हृदय की ओर से उठे हुए उस प्रवाह में बहकर मेरा सब कुछ उनके सम्मुख प्रकट तो हो ही जाता। प्रियतम चरणसरोरुह में मेरा सर्वस्व तो समर्पित हो ही जाता।"

"परन्तु बहनों ! इतने पर भी वे कहाँ मानने वाले थे। उन्होंने मेरे पृष्ठदेश से आकर मुझे चमत्कृत करने के लिये मेरे दोनों नेत्र मूँद लिये री! प्राणधन का मादक संस्पर्श पाकर ऐसी प्रतीति हुई मानो मेरे सम्पूर्ण अंगों में विद्युत् लहर दौड़ गयी हो। मेरा हृद्देश निर्मल अनुराग से परिपूरित हो उठा। अरी ! वह प्रियतम-प्राणनिकेत के कर-सरोज का संस्पर्श नहीं था री, अपितु सम्पूर्ण संजीवनीशक्ति का मेरे प्राणों में संक्रमण था। और तू ही बता मैं उससे भला कैसे बच पाती ? ओह ! प्राणों में फिर से अभिनव उल्लास जाग उठा।"

"अरी फिर वे मेरे नेत्रों के सम्मुख आ गये । ओह ! उनका मुख-सरोज मानो श्याम लता का एक अनिर्वचनीय सुन्दर परिपक्व फल हो। वे मेरे अंग-अंग की अति लोभनीय वस्तु थे। आत्यन्तिक सरलता की सुषमा से समलंकृत थे, वे। उन नील अंशुमाली के सान्निध्य में मेरा हृत्पद्म पूर्ण प्रस्फुटित हो उठा। मेरे नेत्र प्रियतम के दृगञ्चल से जा मिले। अनुराग-महासमुद्र को अपने अन्तराल में सँजोये दो उरस्थल सम्पूर्ण व्यवधानों को ध्वंसकर एकाकार हो उठे। जलते प्राणों का तापमान सर्वथा प्रशमित हो गया -- बाह्याभ्यंतर, सब ओर अभिनव शीतल प्रेमामृतरस से अविराम अभिषेक जो हो रहा था।"

"किन्तु, हाय रे ! सखि, मैं प्रियतम-प्राणवल्लभ के अंग-संस्पर्श की मादकता से, उस दिव्य सुवास से मात्र परिचित ही हो सकी थी कि बस, इतने में आकर किसी ने मुझे जगा दिया।"

"सखि री ! तब से मेरे प्राण जल रहे हैं, री ! अहा ! यह मेरी अप्रतिम नीलीनिधि अब पुनः मुझे कब मिलेगी ? हाय ! हाय ! उस मेरी नीलनिधि के बिना मेरे जीवन धारण का अब अर्थ ही क्या है ?"

देखो, अपनी सखी से वार्त्ता करती-करती यह गोपी अपने तन की भी सुधि भूल गयी है। भावों की प्रबल आँधी इस गोपी को न जाने कहाँ से कहाँ ले जायेगी ? भावों के आवेग में कभी तीव्र, कभी मन्द, पुनः तीव्र,तीव्रतम वेग लिये यह गोपी डूबी जा रही है -- अतल तल में। अब तो यह इतना भी स्मरण नहीं रखे है कि मैं कौन हूँ, क्यों एवं कहाँ आयी हूँ। इसे अपनी स्वर्ण कलशी का भी भान नहीं रहा है।

और जब यह भावसिन्धु किसी को भी अपने अतल तल में ले जाने में समर्थ हो जाता है, उस समय इन भावों का उद्भावक भला उससे कैसे दूर रह सकता है।

## प्रियतम से मिलन

पूर्वकृत संकल्पों की प्रेरणा से नियंत्रित गोपी यंत्रचालित-सी अपनी स्वर्णकलशी को यमुना घाट में जल में डालती है, जल को हिलोर कर गागर भर कर ऊपर उठाती है; सभी कार्य पूर्वकृत संकल्प से ही यंत्रचालित की तरह उसका तन कर रहा है। और लो, जल की गागर को ईंडुरी-सहित सिर पर रखकर वह अपने गाँव की दिशा में मुख करती है। बस, नीलद्युति प्रियतम उसकी गगरी पीछे से पकड़कर गिरा देते हैं।

गोपी मुड़कर ज्यों ही देखती है -- सौन्दर्यनिधि अपने प्रियतम की मुग्धता-सम्पुटित-भंगिमाओं का रस वितरण कराती छवि सम्मुख पाकर-निहाल हो जाती है। विशुद्ध विनोद कला में अतिशय निपुण, वाक्चातुर्य से विभूषित, हाव-भाव एवं कटाक्षों से नेत्रों को नचाते, क्षण-क्षण में अपनी धृष्ट चंचलता को उन्मुक्त भाव से बढ़ाते, कोटि-अनंग-मदहारी नीलमयंक अपने बिम्ब विडम्बी अधरों पर कुटिल मुसकान बिखेरत--उसे दृष्टिगोचर हो जाते हैं। किसी कुल-ललना की इस प्रकार धृष्टतापूर्वक गगरी गिराने के उपरान्त भी अपनी ग्रीवा को बंक गति देकर भ्रूनर्त्तन करते हुए, कुटिल मादक मुसकाते वे उस गोपी की ओर निहार रहे थे, मानो लज्जा नामक किसी वस्तु से उनका कोई वास्ता ही नहीं हो। उनके नयन, सम्पूर्ण प्राणों का प्यार लिये गोपी के मुख को एकटक निरख रहे थे। सर्वथा संविन्मय रूपलावण्य की गोपी पर वर्षा हो रही थी। गोपी के हृदय की रस कल्लोलिनी कूल-विहीन हो उठी थी।

"अरे ! अरे !! तेरे तो सभी वस्त्र भीग गये री । ले, तू मेरा यह पीत उपरना पहन ले और तेरी ओढ़नी, लहँगा मुझे दे, दे री, मैं इन्हें स्वच्छ कर, सुखा देता हूँ।" लो, प्रियतम अति मधुस्यन्दी स्वर में बोल रहे हैं और साथ ही साथ अपने बंक नयनों को नचा-नचाकर कटाक्षों से इस गोपी के हृदय को बेध भी रहे हैं। उन्होंने गोपी को अपना पीत उपरना उढ़ा दिया है। और इसी मिस से गोपी के हृदय में प्रीति ज्वाला धक्-धक् जला दी है।

लो, गोपी सदा-सदा के लिये उन्मादिनी हो गयी। उसके साथ आई सखियाँ उसे पकड़ने की चेष्टा कर रही हैं। परन्तु, वह तो 'प्रीतम !

प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!! नीलमणि हे'!!!! की रट लगाती गली-गली दौड़ रही है; उसे तो जगत् का कहीं कोई ज्ञान ही नहीं है।

ओह ! यह गोपी अति उच्च स्वर से, जब प्रीतम ! प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!! पुकारती है तो पशु-पक्षियों के भी प्राण विकल हो उठते हैं। गोपी के वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं, उसके आभूषण टूट गये हैं; मुक्ता एवं रत्न इधर-उधर बिखर रहे हैं। कभी यह पुकारने और रटने लगती है -"सांवर रे ! सांवर रे !" फिर इसके स्वरों में इतनी वेदना व्यक्त होती है कि सुनने वालों का हृदय फट पड़ता है।

और लो, यह सारिका भी उन्मादिनी हुई नाचने लगी। इसके भी रोम-रोम से यही ध्वनि प्रवाहित हो रही है - "साँवर हे ! प्रीतम हे ! नीलम हे ! जीवन सर्वस्व हे !"

## सारिका प्रसंग : छठी लीला
## सारिका की प्रेमदशा

विस्तृत नीलगगन में सारिका उड़ रही है। उसे नीलगगन दृष्टि-गोचर ही नहीं हो रहा है। उसे तो यही प्रतीत होता है कि प्रियतम-प्राणवल्लभ की श्यामलता भरी है -- इस नभ के अणु-अणु में। उसे लगता है - वृन्दावन में, गिरिपरिसर में, यमुना की तरल लहरियों में उसके प्रियतम की नीलिमा ही तरंगित हो रही है। सर्वत्र वनक्षेत्र में, व्रज के ग्राम-ग्राम में, सर्वत्र मात्र इस नीलसुन्दर की रस-सुधा का प्रस्रवण ही तो है। सम्पूर्ण वृन्दाकानन श्यामद्युति से उद्भासित हो रहा है।

सारिका के तन के अणु-अणु से, उसके कण्ठ से, अनवरत ध्वनि निकल रही है :- "सांवर हे ! प्रियतम हे !! नीलम हे !!! जीवन सर्वस्व हे !!!! अश्रुका अनर्गल प्रवाह सारिका के समग्र अंगों को आर्द्र कर दे रहा है। लो ! इस कदम्बखण्डी में बहुत पक्षी बैठे हैं। सारिका उड़ते उड़ते थक गयी है । वह एक कदम्ब वृक्ष पर चुपचाप शान्त बैठ जाती है। उसके सम्मुख उसके प्रियतम की भावछवि प्रत्यक्ष है - कटिदेश में पीताम्बर उत्तरीय फहरा रहा है। मृदुहास्य समन्वित मुखकमल है । कमलकोश से भी अधिक सुकोमल इनके अरुण चरण हैं।

व्रजकिशोर का सौन्दर्य किसी मान्यता की अपेक्षा थोड़े ही रखता है। वह तो ऐसा मादक सौन्दर्यसिन्धु है, जो बस किसी के भी दृष्टि-पथ में आ जाय, देखने वाली का सर्वस्व अनायास ही हरण कर लेता है वह। कोई भी युक्तिवाद वहाँ क्रियाशील रह ही नहीं सकता। जब तक किसी के नयन पथ में वह मूर्त्त न हो तभी तक उसकी बाह्य-दशा मर्यादित रह पाती है।

पक्षीगण नवागन्तुका सारी की प्रेम दशा देखकर चकित हो रहे हैं। उसके नेत्रों से टप-टप अश्रु गिर रहे हैं। रह-रहकर उसका शरीर सूखे-पत्ते की तरह प्रेमावेश में काँप जाता है। पक्षीगण धीरे-धीरे फुदक-फुदक कर उसके चारों ओर आवृत्त बनाकर बैठ जाते हैं। परन्तु सभी अनुभव कर रहे हैं कि ज्योंही उनमें से कोई एक भी परिधि से उसके तनिक भी निकट होता है, उसे एक ऐसी विद्युत् तरंग का अनुभव होता है जिससे उसकी मनोदशा अस्तव्यस्त होने लगती है। अतः कोई भी उस परिधि को भंगकर, उसके निकट होने अथवा उसे स्पर्श करने की चेष्टा नहीं कर रहा है। सर्वत्र विलक्षण शान्ति है। चतुर्दिक ऐसी एकान्तिकता दृष्टिगोचर हो रही है, मानो कीट, पतंग, वृक्ष-लता, सुमन, पशु-पक्षी ही नहीं, यमुना और पवन भी सारिका की ओर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किये हैं, और उसकी विलक्षण प्रेम-भावराशि का एकटक पान करने को उत्सुक हैं। यमुना ने कल-कल निनाद स्थगित कर, अपना प्रवाह शान्त एवं सम कर लिया है और पवन भी मन्द, शीतल, सुगन्धित अति शनैः-शनैः प्रवहमान है। ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो सम्पूर्ण प्रकृति ही सारिका की ओर ही दृष्टि जमाये उसे ही अति उत्सुकता से निरख रही है। सर्वत्र पूर्ण आनन्दमय वातावरण है।

सारिका तन से तो यद्यपि उस कुसुमित कदम्ब पर बैठी है परन्तु उसका अस्तित्व तो वहाँ है ही नहीं। उसके सम्मुख एक ही दृश्य है, गोपी को प्राणवल्लभ पीत उपरना उढ़ा रहे हैं। और ज्यों ही वह पीत उपरना गोपी देह को संस्पर्श करता है गोपी-'गोपी' रहती ही नहीं। अन्य लोगों को देह तो वही गोपी का ही दिखता है, परन्तु गोपी की समग्र सत्ता, उसकी अस्मिता, उसका अन्तःकरण, मन-बुद्धि, चित्त एवं सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ सभी डूब जाती हैं, रानीरूप महाभाव-महोदधि में।

## गोपी में राधा-भाव संचारण

गोपी का मुख वही है, आकृति वही है, परन्तु उस आकृति में आभा भर जाती है -- शरच्चन्द्र को भी हेय बनानेवाले प्रिया राधारानी के मुख-सरोज की। नित-नूतन सौन्दर्य की प्रतिपल अभिनव माधुरी छलक उठती है, उस मुख के अन्तराल से। वह मुख साधारण नारी-मुख नहीं रहता - कोटि-कोटि-कन्दर्प विनिन्दक लावण्य-सिन्धु आनन-सरोज हो उठता है। गोपी की केशराशि पूर्ववत् ही रहती है, परन्तु उसमें ही व्यक्त हो उठती है - अभिनव सुन्दर, कृष्ण-कुञ्चित कुन्तलराशि, जिसकी मनोरमता, सुकोमलता, सुचिक्कणता, अनुपमेय हो उठती है। वेणी सर्ववन्द्य, प्रियतम-चित्ताकर्षिणी नागिन का उपमान बन जाती है। गोपी का तन वही रहता है, परन्तु उसमें से कुन्दद्युति दमकने लगती है। तन पर पड़ा प्रियतम का उत्तरीय पीताम्बर नवनीरदवर्ण लहँगे में परिवर्तित हो जाता है और अनमोल प्रियतम-प्रेम-रत्नों से जड़ा झलमलाने लगता है। मस्तक पर मणिमय चूड़ामणि स्वत: ही प्रकाशित हो उठती है । अहो ! गोपी के मुखमण्डल पर अनुपम लावण्य, अप्राकृत मधुरिमा, विलक्षण सरसता, अतिशय सुकोमलता, और अद्वितीय कान्ति असमोर्ध्व रूप में दमकने लगती है । अब वह गोपी 'गोपी' रहती ही नहीं; कृष्णकान्ता, कृष्णाराध्या, कृष्ण-संजीवनी, कृष्ण-जीवन-जीवनेश्वरी, राधा-रासेश्वरी हो उठती है।

सारिका स्पष्ट परिलक्षित करती है - किशोरी रानी ही सखियों सहित यमुना-तट में जल भरने आयी थीं, विलक्षण संयोग हुआ, यह गोपी भी उसी समय यमुनाघाट पर अपनी सखियों सहित पहुँची और रानी में अपरिसीम स्नेह-सिन्धु उद्वेलित हो उठा। उस महाभाव-सिन्धु में यह गोपी किसी अपरिसीम सौभाग्य से अवगाहन कर गयी और फिर तो उस महाभावसिन्धु में पूरी की पूरी विलीन ही हो गयी।

गोपी का मन और अन्तःकरण एक लघुत्तम खद्योत के समान था। उसमें प्रियतम-प्रेम की ज्योति अवश्य थी, परन्तु वह रसमयी प्रीति किसी तरुवल्लरी के पत्रांश को एक क्षण के लिये क्षीण चमक का दान भले ही कर सकती थी। ग्रीष्म में समुद्भासित सूर्य के समक्ष उसकी सत्ता सर्वथा नगण्य थी। सहसा अनन्तकोटि-जन्मार्जित पुण्यों का गोपी में उदय हो गया और गोपी प्रचण्ड प्रीति की स्रोतस्विनी भानुनन्दिनी की कृपा-वात्सल्य की ग्रहीता हो गयी। अब

तो गोपी अपनी सम्पूर्ण आवरण-शक्तियों को उन महा महाभावमयी में विलीन कर देने के लिये बाध्य हो गयी। फिर क्या था, गोपी, 'गोपी' रही ही नहीं, 'राधा' हो गयी। और राधा के सम्मुख तो राधाधन को प्रकट होना ही पड़ता है। गोपी के नेत्र एक दिव्यातिदिव्य नीलतेज के उन्मेष से भर जाते हैं। अहा ! चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान उसके नयनों के मार्ग से हृदयस्थल में पैठती चली जाती है। अरुणिम नेत्रप्रान्त की चितवन तो सीधी कलेजे को बेधती चली जाती है। अहा, कैसे नेत्र हैं ये ? इनकी अरुणाई मानो विशुद्ध रजकी प्रतीक है अतः उस के अन्तस्तल में अनन्त प्रीति-मनोरथों (सुखदान-वासना) का सृजन हो उठता है। और नेत्रों की उज्ज्वलता का अंश मानो सत्व का प्रतीक है, जो उसकी प्रीति का संवर्द्धन, पालन कर रहा है। और नेत्रों का कृष्णांश - वह तो उसे अपने में पूर्णतया विलय ही कर ले रहा है। उज्ज्वलहास्य अधरों पर तबतक नाचता ही जाता है, जबतक गोपी पूर्णतया प्रिया-महाभावसिन्धु में पर्यवसित नहीं हो जाती।

अब इससे अधिक देखने की सामर्थ्य सारिका में नहीं रहती। उसके नेत्र इस चिन्मय चमत्कार से सर्वथा पूर्ण हो उठते हैं। सारिका के हृदय में किशोरीरानी के अपार वात्सल्यमय स्वभाव के स्तवन का भाव भर उठता है। वह रानी को खोजने चल पड़ती है। परन्तु सारिका एक अप्रतिम आश्चर्य-दर्शन से चकित हो उठती है। सारिका के नेत्रों की, मन की दशा ही विचित्र हो गयी है। उसे लगता है, जैसे व्रज का तृण-तृण, पत्ता-पत्ता नवनीलनीरदवर्ण और कंचनद्युतिवर्ण-प्रियतम श्यामसुन्दर एवं उनकी प्रिया ही है। प्रथमत. उसे अनुभव होता है, जैसे सम्पूर्ण व्रज-विश्व में प्रियतम नील सुन्दर भरे हों, फिर उसे दिखता है कि नहीं, इस नीलधारा का परम सत्य इसके हृदयस्थ पीतधारा में निहित है। पुनः लगता है कि नहीं, पीतधारा के अन्तराल में पूर्णतया नील सौन्दर्य ही क्रियाशील है, फिर लगता है नहीं, समग्र क्रियाशीलता को साक्षी के रूप में पीतवर्ण ही संचालित कर रहा है। सारिका की कर्मेन्द्रियाँ आनन्दातिरेकवश स्थिर हो जाती हैं। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एक अभिनव आनन्द के पूर में निमग्न हो जाती हैं। मन, उस दर्शनसुख में डूबकर अपनी सत्ता खो बैठता है। सारिका की पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन ग्यारहों-की-ग्यारहों इन्द्रियाँ इतनी शान्त हो जाती हैं, जैसे इनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही सदा-सदा के लिये विलीन हो गया हो। सर्वत्र, क्या प्रिया-प्रियतम ही प्रिया-प्रियतम हैं ? अन्य कुछ भी नहीं ? सुपक्व,

सुमधुर फलभार से अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावलियाँ, रंगबिरंगे सुरभित कुसुमों के आभरण धारण कर तरुश्रेणियों को वेष्टित किये लतावल्लरियाँ सारिका के लिये इस समय प्रिया-प्रियतम से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं हैं। तरुश्रेणियाँ प्रिया हैं तो लतावल्लरियाँ प्रियतम हैं, लतावल्लरियाँ प्रिया हैं तो तरुश्रेणी प्रियतम है, और इतना ही नहीं तरुश्रेणी के तने में भी प्रियाप्रियतम ही प्रियाप्रियतम भरे दृष्टिगोचर हो उठते हैं। सारिका के लिये चित्र-विचित्र विहंगमों का कलगान, इस समय मात्र प्रियाप्रियतम का रसालाप ही बन जाता है। सारिका-एक साधारण पक्षी में भला इतनी कहाँ सामर्थ्य कि वह प्रियाप्रियातम के असमोर्ध्व प्रेमवैभव को और अधिक देख सके। उसके नेत्रों के सम्मुख जितना जो अंश व्यक्त हो रहा है वह इतना विलक्षण है कि पूरी की पूरी ही वह डूब जाती है। तर्क समाधान कर नहीं सकता।

## सारिका की प्रेम दशा

सारिका इतना ही जान रही है -- प्रियाप्रियतम प्रकृति से परे की वस्तु होते हुए भी इस वृन्दावन की पूर्ण प्रकृति हैं। वे स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप होते हुए भी सारिका के विलक्षण दृश्य हैं। सारिका ठीक अनुभव कर रही है- प्रियाप्रियतम ही यहाँ सब मनुष्यों के रूप में हैं और प्रियाप्रियतम ही विडाल-मूषक, सर्प-नकुल, बने भिन्न-भिन्न शत्रुभाव परायण प्राणिवर्ग हो रहे हैं। परन्तु उनमें प्रेम का ऐसा विलक्षण प्रभाव है कि इन सभी परस्पर शत्रुभावपरायण प्राकृत देह-वस्त्रों को ओढ़े हुए भी वे अहा, कैसे परस्पर स्नेह के सूत्र में बँधे हैं ? अहा ! कैसी इनमें मैत्री है ? कहीं मलिन विकृति की संभावना ही नहीं। कानन में, कानन के आश्रित चराचर समुदाय में, कहीं क्षुधा-पिपासा प्राणों को चंचल नहीं करती, काम, मन का मन्थन नहीं करता, क्रोध, इन्द्रियों को जलाने नहीं आता, लोभ, सम्मोहन का सृजन नहीं करता, एक भी अशुभ विकृति प्रवेश ही नहीं कर सकती इनमें। इनकी यहाँ गन्धमात्र भी नहीं। इस प्रकार परम रमणीय वृन्दारण्य के आन्तरिक सत्य की द्रष्टा हुई सारिका निमीलित नयन है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हैं ! वह जिस ओर दृष्टि मोडती है वहीं अनुभव करती है, कण-कण में निराविल प्रेमभरे प्रिया-प्रियतम विद्यमान हैं। निर्मलतम प्रेम के वे दोनों मानो उफनते निर्झर हों। इस अमित माधुर्य राशि को देखती सारिका चुपचाप बैठी है।

ग्रामवासियों की आँखें तो केवल गोपी को ही उन्मादिनी देख रही हैं परन्तु सारिका के उन्माद को तो कोई परिलक्षित ही नहीं कर पा रहा। गोपी को सम्हालने, उसके पीहर एवं श्वसुराल के लोग आ गये हैं। लो, पौर्णमासीदेवी भी आ गयीं। उन्होंने सभी व्रजवासियों के कानों में -न जाने कैसा मंत्र फूँका है, सभी इस गोपी की चरणधूलि की वन्दना कर रहे हैं। परन्तु उन्मादिनी सारिका पक्षी को कौन सम्हालेगा ? अवश्य ही पक्षी-समूह उसके चतुर्दिक घेरा लगाये उसे अति स्नेह-सौहार्द भरी दृष्टि से निहार रहा है। परन्तु सारिका उन्हें कैसे इस सत्य को समझावे कि वे पक्षी नहीं है, उनके रूप में नीलसुन्दर प्रियतम ही अपनी प्रिया के स्कंध देश में भुजा रखे अवस्थित हैं। वे ही, वे ही इस रंगमंच में सभी नाट्यवेश धारण किये हैं। सारिका पुन: चीख उठती है - नीलम हे, साँवर हे, प्रियतम हे !

पक्षी समझ रहे हैं सारिका नीलमणि प्राणप्रियतम के विरह में विकल है, परन्तु सत्य यह है कि नीलसुन्दर अपनी प्रिया के स्कंध देश में भुजा रखे, अपनी प्रिया को अपने से सटाये सम्पूर्ण व्रजजगत में विचर रहे हैं। प्रिया 'नीलम'! 'नीलम'!! पुकारती है और प्रियतम-"प्राणेश्वरी, प्राणेश्वरी"-प्रेम संबोधन करते हैं। वह महाभावसिन्धु, नीलमणिद्युति-रमण-रमणी बना सर्वत्र विलसित हो रहा है। पारावारविहीन रसनिर्झरिणी ही यह सम्पूर्ण व्रजमंडल है।

इस प्रकार, कुछ काल तक तो सारिका में ज्ञानदीप की ज्योति जगी किन्तु फिर वह विलीन हो गयी - भक्ति की मन्दाकिनी में। उसका अन्तस्तल प्लावित हो उठा अतिशय दैन्य में। वास्तव में भक्ति की स्निग्धता ही ज्ञान की जननी है । भक्ति सान्द्र, सान्द्रतर होती हुई ज्ञान को जब आत्मसात् कर लेती है तभी ज्ञान कृतकृत्य होता है। क्योंकि अन्यथा तो ज्ञान प्रिया-प्रियतम के चरणसरोज की निर्बाध सेवा से ही वंचित हो जाय। ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि उसके प्रकाश में प्रियाप्रियतम की महिमा का तत्व प्रकट हो जाय। बस, इसके पश्चात् तो भक्ति की स्निग्ध स्रोतस्विनी ही उसे पूर्ण विश्राम दे पाती है।

सारिका पुकार उठी -"हे मेरे शत सहस्र प्राणों की रानी ! आपने मुझे अपनी अहैतुकी कृपा का प्रकाश देकर, अपने जिस शुचितम अनुराग का परिचय दिया है, काल के अनादि, अनन्त प्रवाह में हाय रे, न तो मैं उसके योग्य ही बन सकी, न कभी बन ही सकूँगी ? सर्वथा सर्वांश में निरर्थक ही है, मेरा अस्तित्व।"

"हे प्राणवल्लभे ! मैं आपका ऋण परिशोध कर ही नहीं सकती। निरवधि नित्य ऋणी रहना ही मेरी नियति है। हे प्राणप्यारी किशोरी ! आपके विशुद्ध उच्छलित रससिन्धु की एक कणिका ही मेरा जीवनावलम्बन है।"

"हे प्रियतमे ! मेरे अनन्त दोषों पर तो आपकी दृष्टि ठहर ही नहीं सकती क्योंकिं आपकी दृष्टि ही विशुद्ध विमल है। मैं तो आपकी कृपाराशि में ही निरवधि नहाती रही हूँ और नहायी ही रहूँगी। आपकी कृपा ही मेरा पोषण है।"

"हे किशोरी ! मुझ में यह योग्यता ही नहीं कि मैं अपनी पलकों से आपकी चरणरज पौंछ सकूँ, परन्तु मेरी सभी अयोग्यताएँ आपको ही दूर करनी हैं । हे मेरी जीवनाधार ! मेरा नित्य निवासस्थल तो आपके ये अरुण चरण ही हैं।"

इधर तो भक्तिजन्य दैन्य में सारिका का मन बह रहा था, उधर सारिका के भावों की प्रतिच्छाया लिये अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया लीला-संरचना करने में तत्पर हो जाती हैं।

## वन में प्रिया प्रियतम का आगमन

सारिका उसी कदम्ब वृक्ष पर बैठी सभी पक्षियोंसहित देखने लगी -- रूप की किरणों से दिशायें उद्भासित हो रही है; नूपुरों और कटि किंकिणी के रव से कदम्ब के चतुर्दिक का सम्पूर्ण वनक्षेत्र मुखरित होने लगा है। सारिका के कान उस अभूतपूर्व झनकार मे डूबने लगे। उस मोहक रव की सत्ता के सम्मुख अन्यत्व रहता भी कैसे ? लो ! रानी सखियों सहित वनदर्शन करने आई हैं। विश्वसत्ता का सम्पूर्ण सौन्दर्य, जैसे तरुश्रेणी के पत्तों-पत्तों में फूट पड़ा। सम्पूर्ण सुषमा को, जैसे किसी ने वन के अणु-अणु में उँडेल दी हो। रानी की दृष्टि जिधर भी उठती है, अतिशय सौन्दर्य से सजी वनश्री, नमित सम्मुख खड़ी हो जाती है।

अरे ! वहाँ प्राणप्रिया समुपस्थित हों, वहाँ से रसलुब्ध मधुकर प्रियतम को वर्जित कर सकने की सामर्थ्य ही किसमें है ? सम्पूर्ण रसिकता के मूल-स्रोत व्रजेशतनय एक सुरम्य लतावितान के तले अपनी प्राणप्रिया पर रसमयी दृष्टि निक्षेप करते सारिका को दृष्टिगोचर हो जाते हैं। सारिका भयभीत हो उठती है परन्तु दूसरे ही क्षण वह आश्वस्त हो जाती है। वनश्री उसके कानों में अतिमधुर स्वर में कह देती है - "मेरी बहिन ! रसिकशेखर और उनकी प्रिया

की सेवा का उपकरण बन पाने का अवसर बार-बार तो वन को मिलने से रहा। देखो ! सर्वथा व्यग्र मत होओ । निश्चिन्त हो जाओ । सम्पूर्ण वनपथ वृन्तहीन सुमनास्तरण की मृदुलता को भी तुच्छीकृत करने वाली मृदिमा से युक्त है। बहिन ! प्रियाप्रियतम निर्बाध कहीं भी जावें, टहलें, घूमें, विहरें, वन को हर कोने से - पथ, अपथ, सर्वत्र, सर्वदिशाओं से देखें - उनके चरणों की सुकोमलतम चरणस्थलियों के लिये, उनके कर की अँगुलियों के लिये, हथेलियों के लिये सर्वत्र अतिशय असीम मृदुलत्ता यहाँ व्यक्त मिलेगी। यदि विश्वास न हो तो किसी प्रतीत होने वाले कठोर से कठोर वृन्त को नेत्रों में अंजन की तरह लगाकर देख लो । कज्जल में भले ही कहीं कठोरता अवशेष रह जावे - इन वनतृणों में, वृन्तों में कहीं किंचित् भी कठोरता का लेश भी अनुभव में नहीं आ सकता । ये प्रस्तर खण्ड भी मात्र दिखने में कठोर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इनमें सुमनों की मृदुलता को तुच्छीकृत करने वाली पूर्ण सरसता निहित है।

सारिका देख रही है -- नन्दतनय तो वंशी को ही संस्थापित करने जा रहे हैं, अपने अधरों पर। अहा ! अब तो प्राणेन्मादी वेणुवादन से रवितनया का सम्पूर्ण कूल ही निनादित हो उठेगा। अरे ! उस मोहक स्वरलहरी में तो सभी डूब जायेंगे। कोई बच ही नहीं पावेगा।

लो, रानी और सखियों के पदविन्यास हो उठे उसी दिशा की ओर, जिधर से प्रियतम की वंशी की तान आ रही है। लो ! सभी सखियाँ प्राणवल्लभ को चतुर्दिक घेर कर यंत्रचालित-सी आसीन हो गयी हैं, वहीं धरा पर। रानी तो इस वंशी-विमोहन के बगल में ही खडी हो गयी हैं।

सारिका अति उच्च स्वर से पुकार उठी - "अरे ! अरे ! श्यामाम्बुद-राशि में असंख्य पिंगल विद्युल्लहरियाँ बारंबार कौंध रही हैं और रसनिर्झर का निर्माण करती, व्रज की धरा को प्लावित कर रही हैं।"

देखो ! आनन्द-अनुराग के आवर्तो में डूबते-उतराते प्रिया-प्रियतम दोनों वनवीथियों में अग्रसर हो रहे हैं। उनके पीछे सखियाँ, अति रसभरी उनका अनुसरण कर रही हैं । एक दूसरे को रसदान के प्रयास में उनकी रसमत्तता, उनके नयनों की गति, उनके अग-संस्थान का स्पंदन, ओह ! कैसा प्राणोन्मादी है। इस रसदानी का यह रस-वितरण कैस अभिनव विमोहन का जाल विस्तारित कर रहा है ?

और देखो ! दम्पति के अन्तस्तल में प्रवाहित रस की धारा का प्रपात हो रहा है -- उनसे प्राणों का तादात्म्य स्थापित किये हुए विहंगम-श्रेणी में,

चतुष्पाद-समूहों में, तरुवल्लरियों में, ह्रदों मे, कासारों में, और कल्लोलिनी में। एक अननुभूत आनन्द जड़िमा व्यक्त हो उठी है, इन सब में। देखो ! देखो !! तृणावली वसुधा के वक्षस्थल पर नाच रही है। सभी पक्षी उन्मुक्त स्वर में अपनी-अपनी वाणी में बोलते हैं और अपने रोम-रोम को थिरकाते नर्त्तन करने लगते हैं।

अहा ! सखियों के नेत्र अपलक विस्फारित हैं। उनके सामने विश्व-चमत्कारी सौन्दर्यपूर द्विधारूप में विभक्त खड़ा है। जिसके कणमात्र के सम्पर्क से आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण विमोहित हो जाते हैं, उस अनन्त पारावारविहीन रूपसुधासमुद्र में अवगाहन करती सभी सखियाँ ही नहीं, वन के पशु-पक्षी, जलचर, जड़-चेतन, समस्त प्रपञ्च की सत्ता ही विमुग्ध हो उठी है। रसदानी के वेणु-रव-पीयूष-वर्षण से सारिका आकण्ठ भीग गई है। सौभाग्य इसे कहते हैं।

## रानी की अलकावलि में विलय

अपलक निहारते-निहारते सारिका को अपने तन का भान ही नहीं रहा है। कौन है वह ? कहाँ से आयी थी ? कहाँ गन्तव्य है उसका ? कहाँ है वह, इस क्षण ? सभी ज्ञान तो खो चुकी है वह । मन विलीन हो चुका है, उसका नील-पीत-सौन्दर्य-वारिधि में।

अचानक विलक्षण चमत्कार हुआ। उस भावसमाधिगत अपरिसीम आनन्द की तरंगों में नाचती हुई सारिका विलीन हो गयी रानी की कुञ्चित अलकावलि में। और उसी समय पुनः उद्‍भव हो गया रानी की मसिबिन्दु से -- एक परम सुन्दरी गोपी का। विस्मय ! विस्मय !! अतिशय मौग्ध्य की लहरियाँ उस गोपी के मुख पर नाच रही हैं। इस गोपी के मन में अपरिसीम आनन्द की तरंगें उठ रही हैं और साथ ही एक अभिनव अभिलाषा उसमें उन्मिषित हो जाती है।

बस, निरवधि इन्हीं प्रिया-प्रियतम-युगलचरणों की सेवा ही मेरा व्रत होगा। इन युगल का सुख ही मेरा सुख होगा। इनसे भिन्न कभी, कहीं, कुछ भी मेरी रुचि नहीं होगी। इनकी रुचि के अतिरिक्त कुछ भी यदि लेशमात्र भी मुझ में चाह हो, तो वह सर्वथा, सर्वांश में सदा-सदा के लिये विलुप्त हो जाय।

शब्द नहीं है, जो इस गोपी के सौन्दर्य, माधुर्य एवं शील की वैभवराशि को व्यक्त कर दें। भला, साक्षात् सरस्वती भी चाहें तो उसके महिमामण्डित

स्वरूप को भाषा में बाँध नहीं सकतीं। प्रियतम-प्राणवल्लभ एवं प्रिया किशोरीरानी दोनों की अशेष प्रीति की आवासस्थली, जो यह ठहरी। दोनों ही की असमोर्ध्व प्रीति, अपनी सम्पूर्ण गरिमा के साथ, इस एक प्रतिमा और मूर्त्ति में मूर्त्त जो हो रही है। नवीन, नवीनतर सुषमा एवं सेवा का उत्साह व्यक्त हो रहा है, इसमें।

लो ! अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ने अपनी अभिनव रागिनी के मिस से यथावश्यक संकेत दान कर दिया इसको कि वन में आगत जीवनधन, नील-पीतद्युति सौन्दर्यसार-प्रियाप्रियतम वसन्तोत्सव लीला करेगे।

लो, नवकैशोर से विभूषित व्रजराजदुलारे और भानुनन्दिनी दोनों ही प्रतिक्षण वर्द्धमान नव-नव उल्लास लिये होली खेलने की समुत्सुकता का संकेत भी कर चुके, सखियों पर।

## होली-लीला

पू० गुरुदेव का महाभावमय व्रजजगत परमविलक्षण है। यहाँ के गोवत्स, गोपशिशु, गोप, गोगांगनाएँ, यहाँ तक कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, एवं पृथ्वी, साथ ही तृण, वीरुध, गुल्म, लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सभी के रूप में न तो ऋषि-महात्मा हैं, न ही कोई भगवत्पार्षद हैं। देवी-देवताओं के होने का तो प्रश्न ही नहीं। एक मात्र पू गुरुदेव के प्रियतम श्रीकृष्ण ही इन असंख्य रूपों में आत्म-प्रकाशित हैं। यहाँ दीख रही हैं -- गोपियाँ, राधारानी, वृन्दावन, नन्द, यशोदा, वृषभानुबाबा, माता कीर्तिदा, सुपक्व सुमधुर फलभार से अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावलियाँ, रंगबिरंगे सुरभित कुसुमों के आभरण धारण कर तरुश्रेणियों को वेष्टित किये लता वल्लरियाँ, इन पर आसन डाले चित्र-विचित्र विहंगमों का समूह, हरित् तृणराजि - परन्तु सत्य का सत्य यह है कि वास्तव में पू गुरुदेव के प्राणवल्लभ ही परिदृश्यमान अनन्त रूपों में आत्मप्रकाश कर उनका दृश्य बने लीला विहार कर रहे हैं।

कोई पूछेगा कि इस अनेक होने का प्रयोजन क्या है ? तो एक ही उत्तर है; आत्मलीलाविहार मात्र; महाभावसमुद्र का अनन्त रसप्रकाश, रसोच्छलन मात्र। पू० गुरुदेव ने यावज्जीवन 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' के सिद्धान्त रटे थे। पू गुरुदेव के गुरुदेव - श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा से इन श्रुति-पुराण वाक्यों का वास्तविक अर्थ उनके सम्मुख यथार्थतः इन लीलाओं मे ही प्रकाशित हुआ।

इनके अर्थ के सम्बन्ध में कहीं किसी को तनिक भी भ्रम एवं संशय नहीं रह जाय, इस उद्देश्य से इनके अर्थ, पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके प्रियतम इन लीलाओं के प्रकाश द्वारा मूर्त्तिमान कर दे रहे हैं।

जैसे सन्निपात से रुग्ण व्यक्ति की तृष्णा शान्त नहीं होती, जल पीने से उत्तरोत्तर बढ़ती है, इसी प्रकार प्रियतम नीलसुन्दर में अपने ही द्वारा, अपने ही रसपान की लालसा, ज्यों- ज्यों वे लीलारसपान करते हैं, निरन्तर प्रबल, प्रबलतर होती रहती है। अपने ही लीलामाधुर्य का अपरिसीम आस्वादन कैसे हो - इसी भावना से वे ही लीलारसमत्त हुए अपने को ही अनेक रूपों में व्यक्त पाते हैं। और तब वे, लीलारसमत्त स्वयं भगवान्-गोवत्स, गौएँ बन जाते हैं, गोपाल बन जाते हैं, वन, नदी, पहाड, तृण, वीरुध, गुल्म, पत्र बन जाते हैं और मुग्धता-स्फुटित लीलारस की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठती है। यह होली भी इसी महालीला रससमुद्र की एक धारा मात्र है।

देखो ! देखो ! लीला के ठीक उपयुक्त रंगमञ्च घटित हो, एतदर्थ वनश्री के सम्मुख हाथ जोड़े कन्दर्प सेनापति अति विनीत मुद्रा में कुछ निवेदन कर रहा है। "स्वामिनी ! नहीं किसी भी अंश में कोई त्रुटि नहीं रहेगी। यह तो मेरे चिर-अभ्यास की वस्तु है। कन्दर्प-सेनापति देव जगत् का प्राणी होता, तो भूल भी हो जाती। ये तो साक्षात् अनन्त विश्व सृष्टाओं के नियन्ता स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही तो व्रजजगत् में कन्दर्प हैं और वे ही कन्दर्प सेनापति-वसन्त। फिर उनसे भूल भला कैसे संभव हो सकती है ? अत: निर्भूल परम सुन्दर रंगमञ्च बन गया। "वन के राजा वृन्दावनेश्वर होली खेलेंगे" - समीर ने यह संदेश कानन के कोने-कोन में फैला दिया। वल्लरियाँ अपनी अपरिसीम सम्पदा - प्रस्फुटित पुष्प अपने प्राणधन के चरणों में समर्पित करने को समुत्सुक हो उठीं। रत्नमयी भूमि ने अगणित छोटे-छोटे जल के कुंड स्थान-स्थान पर निर्माण कर दिये। चतुर्दिक-प्रसरित लताओं से समीर ने चुन-चुन कर किसी में लाल पुष्पों के ढेर गिरा दिये एवं किसी में हरित् पुष्पों के असंख्य गुच्छ। ये पुष्पगुच्छ निपतित होकर जल में स्वत: ही घुल गये। पुष्पों की पंखुड़ियों और केसर ने कुंड़ों के जल को अगणित रंगों में रंजित कर दिया। सभी कुंड अत्यंत मनोहारी रूप में अनेक रंगों के जल से छलकते, विलक्षण शोभा प्रकाश कर रहे थे। सभी कुण्डों का जल भिन्न-भिन्न रंगों से रंजित तो था ही, साथ ही पुष्पों की मनोहारी गन्ध

से पूर्णतया सुगन्धित भी था। अति सुगन्धित पुष्पसार जल पर तैरता स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था।

अब इधर देखो ! उन्नत शाखा किये वृक्षों के नीचे पुष्प-किंजल्क के छोटे-छोटे स्तूप स्वत: ही निर्मित हो जा रहे हैं। तनिक स्पर्श तो करो, कैसी मुलायम किंजल्क है। कहीं एक कण भी कठोर रह जाय, और प्रिया-प्रियतम किंवा किसी सखी के नेत्रों में, उनके सुकोमलतम अंगों में तनिक भी गड़ जाय, ऐसी संभावना ही नहीं है। जैसे स्वयं वनश्री और वसन्त ने मिलकर सारी किंजल्क पीसी हो। कज्जल की तरह सुकोमल किंजल्कचूर्ण के अम्बार खड़े हो गये हैं। इधर गुलाबी केसरचूर्ण है, तो यहाँ स्वच्छ चंम्पई। एक ओर शुद्ध रक्तवर्ण की पराग है, तो इस ओर केसरिया रंग की। अरे, इन सभी परागों के ढ़ेर की महक तो ऐसी मनोहारी है कि घ्राणेन्द्रिय मतवाली ही हो उठी है।

वसन्त ने जैसा आश्वासन वनश्री को दिया था, ठीक उसी प्रकार समस्त वन को श्रृंगारित कर दिया है। वृक्षों की एक-एक डाली, एक-एक पत्र, तना, छाल-सब परम स्वच्छ । सम्पूर्ण वन का कोनाकोना, जैसे पहले झाड़ दिया गया हो और तब उसे चन्दनवारि से धो दिया गया हो, और फिर सर्वत्र उस पर पुष्परससार छिड़क दिया गया हो, इस प्रकार स्वच्छ, निर्मल, सुगन्धित हो उठा है। सम्पूर्ण वन वृक्षों पर लताओं ने रंग-बिरंगे पत्रों और पुष्पों से वन्दनवार बाँध दिये हैं और स्थान-स्थान पर पुष्पमालाओं की लड़ियाँ रत्नहारों की तरह सुशोभित हो रही हैं। श्वेत मोगरा और बेला, जुही और चमेली - इन पुष्पों की बेलें भूमि पर ऐसी प्रसरित हैं, जैसे मोतियों से चौक पूरे गये हों।

वृक्षों की सजी हुई डालियों पर शुकों की पंक्तियां विराजित हैं, मानो आशीर्वादात्मक मंगलवचनों का पाठ करने ब्राह्मण बुलाये गये हों। उनसे कुछ दूर पर कोकिलाएँ बैठी हैं, मानो सूत एवं मागध प्रिया-प्रियतम की कन्दर्प-क्रीड़ा का कीर्तन करने सन्नद्ध हों। इधर अगणित सारिकाएँ संकेत की प्रतीक्षा ही कर रही हैं, तनिक-सा संकेत वनदेवी कर दे तो वीणा-विनिन्दक-स्वर में सुन्दर रागिनी आलाप कर उठें। उनसे कुछ दूरी पर कपोत मृदंगवादन के साथ अपनी घुत्-घुत् ध्वनि करने को पूर्णतया समुत्सुक हैं। लो ! मयूरों का दल नृत्य के लिये पुच्छ उठाने को आतुर हो रहा है। और इधर हरिण हरिणियाँ आदि सभी चतुष्पाद भी भीड़ लगाये वसन्तोत्सव के

दर्शन को आतुर हो रहे हैं। अरे यह क्या ? कन्दर्प स्वयं अपने सेनापति के साथ ही साथ समुपस्थित हुआ सब साजसज्जा का निरीक्षण करने आया है--नित्य-निकुंजेश्वर और नित्य-निकुंजेश्वरी के फागोत्सव की रंगमंच सज्जा में कहीं तनिक-सी त्रुटि नहीं रह जाय। अरे, अरे ! यह क्या, बिचारे कन्दर्प ने पदार्पण तो बहुत उत्साहपूर्वक किया था, परन्तु इन नित्य-निकुंजेश्वरी की चरणस्थली की एक तनिक-सी झाँकीभर ही उसे मिली, कि वह हतप्रभ कहीं मुख छिपाने का स्थान ढूंढने लगा।

देखो ! देखो !! गैरिक आदि धातुओं से अपने अंग-प्रत्यंगों को चित्रित किये, पुष्पमालाओं को कण्ठाभरण बनाये और उन्हें ही भुजाओं में लपेटे, सिरों पर पहनी पगड़ियों में, मयूर, हंसादि अनेक सुन्दर पक्षियों के पिच्छ खौंसे, पीत, रक्त, हरित, नील और स्वच्छ रंगों के वस्त्र पहने, नन्दनन्दन के अगणित सखा हाथों में डफ, मृदंग, झाँझ लिये, अपने चरणों में पिंडलियों तक घुँघुरू बाँधे नृत्य करते आ रहे हैं। और इनके मध्य में, तारागणों के मध्य श्यामचन्द्रमा की तरह – नीलमणि प्राणवल्लभ की विलक्षण शोभा हो रही है।

अहा ! वनस्थली सखाओं के आनन्द-कोलाहल से मुखरित हो उठी – मानो पद्म का एक बीजकोश हो, इस बीजकोश के चारों ओर मंडलाकार श्रेणीबद्ध पद्म दल हों, इस प्रकार अपने सखा नीलमणि को घेर सभी सखागण डफ बजाते, झांझ-मृदंग पर थाप दे-देकर वन के वातावरण को तुमुल ध्वनि से निनादित करते, गाते, मंडलाकार नृत्य कर रहे हैं। नीलमणि प्रियतम श्रीदाम के कंधे पर हाथ रखे हैं। परन्तु प्रत्येक शिशु को अभ्रान्त अनुभूति यही है कि मेरा नीलम मेरे ही स्कन्धदेश का सहारा लिये, मेरी ही ओर दृष्टि किये, मुझ पर ही स्नेह-सौहार्द की अजस्र धारा बहाता चल रहा है। ऐसी अवस्था में उनके आनन्द की थाह कौन पावे ? बस, इतना ही कहना संभव है, उत्फुल्ल नेत्र, वे असंख्य गोपशिशु अपने कोटिप्राणप्रतिम सखा को निहार रहे हैं और उनके नीलमणि-सखा की दृष्टि भी एक मात्र उन्हीं की ओर केन्द्रित हो रही है।

जो हो, इस प्रकार श्रीदाम, सुबल, देवप्रस्थ, वरूथप, किंकिणी, तोक, अंश, भद्रसेन, अर्जुन, वसन्त, उज्वल, मुधमंगल, मंगल, पुष्पांक, भंगुर, भृंगार, पल्लव, सन्धिक आदि सखाओं से परिवेष्टित हुए प्रियतम-प्राणसुन्दर नीलमणि विलक्षण साज-सज्जा से सजे एक ओर अपनी कटिफेंट में वंशी खौंसे तथा दूसरी ओर रंग छिड़कने की रत्न-जटित स्वर्णिम पिचकारी खौंसे, परम

सुगन्धित पुष्प-किंजल्क की अबीर और गुलाल से नभ को आच्छादित करते चले आ रहे हैं। सभी सखाओं ने अपनी कमर फेंट को ही ढ़ीली कर, फेंट के वस्त्र को ही झोले के रूप में बनाकर कमर में बाँधा हुआ है। कुछ गोपाल वृक्षों के नीचे स्तूपाकार रूप में एकत्रित पुष्प-किंजल्क अपनी पगड़ियों के वस्त्रों में, अपने उपरनों में भर-भरकर लाते हैं और सखाओं के मध्य बाँट देते हैं। सखालोग मुठ्ठी भर-भरकर इसी पुष्पपराग को वन में सर्वत्र उड़ा रहे हैं। सरोज-कुसुमों के परिमल से सुवासित पवन का संस्पर्श पाकर राशि-राशि भ्रमरावलियाँ आकृष्ट हो गयी हैं एवं गुञ्जार कर रही हैं। इन सखाओं के क्रीड़ा-कौतुक निरखते स्थान-स्थान पर वर्षावारिसे परिपूर्ण जलाशय अपने वक्षस्थल को प्रस्फुटित पद्म समूहों से आच्छादित किये हँस रहे हैं। लो, सखाओं का कौतुक देखो, वे चतुष्पादों को भी फाग खिलाने उनके अंगों में पुष्पपराग की गुलाल मलने दौड़ पड़े हैं। भला, ये हरिणियाँ, ये नीलगायें इनके हाथ थोड़े ही आने वाली हैं। और कुछ सखा तो वृक्षों की डालियों पर मरकटों की तरह फुदक-फुदक कर इन मरकटों के मुख रंजित करने का प्रयास कर रहे हैं। जलाशयों में एकत्रित अगणित जल विहंगमों का दल अतिशय मधुर कण्ठ से कूजन कर रहा है। चतुर्दिक् नव-नव-पत्र-मंडित, फल एवं पुष्पभार से अवनत हुई सघन तरुश्रेणियाँ, भ्रमर-झंकार एवं पक्षियों के सुमधुर कलरव से प्रतिनादित ये श्रेणीबद्ध वृक्षावलियाँ - सभी अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और उनके सखाओं का आह्वान करती कह रही हैं -"अभिनन्दन ! गृह पर आये धूम मचाते अतिथियों का स्वागत है।" सचमुच सभी दृष्टियों से वन-भूमि अत्यन्त रमणीय सज उठी है।

लो ! डफ, मृदंग, झाँझ आदि के नाद के साथ ही सखाओं के "हो-हो-होरी" आदि ध्वनियों से आकृष्ट हुई सखियों का दल भी चला आया।

अहा ! सम्पूर्ण सुषमाधामरूपिणी, परमानन्द की उत्सरूपा इन वृजयुवतियों की क्या ही शोभा है ? सभी के अंग तप्त स्वर्णसदृश पिगंल-गौर वर्ण हैं। कोई पीत, कोई गुलाबी, कोई हलका बैंगनी, कोई मयूरपंखी, कोई हरिताभवर्ण के परिधान पहने हैं और सभी के अंग-अंग अत्यन्त कमनीय, सर्वथा सर्वांश में चित्तहारी सुन्दर श्रृंगारों से सुसज्जित हो रहे हैं। सबके मुख पूर्ण विकसित अरविन्द के सदृश शोभा पा रहे हैं। इधर इन सखियों के अंग अंग से, रोम-रोम से, कण-कण से जो सौरभ का पुंज विकसित हो रहा है, उससे तो वातावरण अतिशय मधुमय हो उठा है। इनके आगे-आगे प्रिया किशोरीरानी

मत्त गयंद की चाल से चल रही हैं। उनका मुखसरोज मधुर मधुपरिपूरित है। अहा, इनके प्रफुल्लित मुख-सरसिज का दर्शन कर प्रियतम श्यामसुन्दर के लोचन-चंचरीक मतवाले हो उठे हैं। अहा ! इनके मधुपान की यह लालसा अनन्त काल तक प्रतिक्षण बढ़ती ही जायेगी, कभी क्षण भर के लिये भी यह तृप्त कदापि नहीं हो पावेगी।

लो, प्रिया को देखते ही प्रियतम-प्राणवल्लभ के आकर्णविलम्बी नेत्रों में एक अभिनव मनोरम कौटिल्य का समावेश हो उठा और उन्होंने अनुपम रसमयता का परिचय देते हुए अपनी कमर से पिचकारी निकाल ली। सखाओं ने तुरंत ही उनका संकेत समझ लिया और अब तक जो उन्हें गोलाकार रूप में घेरे हुए थे, तत्क्षण ही सबने विद्युत गति से अपने को अर्द्धचन्द्राकार वृत्त में कर लिया। प्रियतम पार्श्व के ही लघु जलकुंड के निकट आ गये और उन्होंने अपनी पिचकारी रंग में पूरी भर ली।

अहा, प्रियतम के नयन-सरोजों पर राजित बंकिम-भ्रूविलास मदन के शर संधान को भी हेय बना दे रहा है। कामशर से विद्ध तो कदाचित् त्राण भी पाले, किन्तु प्राणवल्लभ-प्रियतम के भ्रकुटि-विलास की गरिमा और उसकी सम्मोहिनी शक्ति से कोई बच जाय, सर्वथा सर्वांश में असंभव ही है यह। वह तो चरणों में निरवधि दासीभाव-भावित हुई ही रह जायगी। जैसे अतनु ने पाँचों शर एक साथ छोड़ दिये हों, प्रियतम ने प्रिया के वक्ष और मुख सरोज पर रंग की वर्षा कर दी। जल-देवता वरुण निहाल हो उठे। वनश्री के अंगों-अंगों में अनन्त आनन्द की तरंगें हिलोरें ले उठीं। भूमि रोमाञ्चित हो उठी। उसके अंग-अंग में पुलक उठने लगे। अहा ! सर्वत्र धन्य-धन्य का निनाद गूँज उठा। एकत्रित सम्पूर्ण मयूरदल एक साथ नाच उठा। कोकिलाएँ गान कर उठीं। सारिकाओं ने मंगल कीर्तन करना प्रारंभ कर दिया। यद्यपि पिचकारी से जल तीव्र वेग से प्रिया की ओर प्रवाहित अवश्य हुआ था, परन्तु प्रिया के अंगों को स्पर्श करने के पूर्व तो वह तुहिन कणों के रूप में पर्यवसित हो उठा।

अहा, प्रिया के अरुणिम गोल कपोल कितने कमनीय हैं। उनके बिम्ब-विडम्बी अधर कैसे मधुमय सुधारस से परिपूरित हैं ? अहा, उनके कज्जल अनुरंजित नेत्र कैसे प्रेमामृत रसार्णववर्षी हैं ? इस पिचकारी से प्रकीर्ण जल के रूप में तो प्रियतम का परम सुहावन प्रेम-सुकोमल मन ही रसमत्त

हुआ प्रिया की ओर वेगपूर्वक धावित हुआ था, और वह तुहिनकणों की तरह अति सुकोमल रूप में रंजित कर गया, प्रिया के आनन-सरोज की शोभा को।

और लो, प्रिया की सहचरियाँ सावधान होकर प्रतिक्रमण करें, इसके पूर्व ही परम पटु नायक, प्रियतम-प्राणवल्लभ ने पुष्प-किंजल्क की गुलाल को परम सुगन्धित केसर-चूर्ण से समन्वित कर, ढ़ेर की ढ़ेर प्रकीर्ण कर दी - प्रिया की परम मनोहारिणी सुचिक्कण-कृष्ण-मिलिन्द सदृश आभावाली कुञ्चित अलकावलि पर। प्रियतम के ही वर्ण की नीले रंग की गुलाल, प्राणवल्लभ के करसरोजों से तीव्र गति से प्रकीर्ण हुई चली - एक लघु मेघ की तरह और उसने प्रथमतः एक नील आतप का निर्माण किया और तब शनैः शनैः वह बरसने लगी प्रिया की अलकावलि के जाल से निर्मित वेणी पर - इस वेणी में अतीव रमणीय रूप में गुम्फित सौरभशाली सुमनों पर। अहा ! इस गुलाल ने - इस पुष्प-किंजल्क-केसरचूर्ण ने प्रिया पर शनैः शनैः बरसते हुए किस अप्रतिम सुषमा का विस्तार किया है, कैसे विलक्षण सौरभ के आवर्त्त पर आवर्त उत्थित किये हैं, इसका तो किसी प्रिया-चरणरेणु-कृपाभावित-मति को ही किंचित् दर्शन हो जाय, तो वही अनुभव कर सकता है।

अहा ! केसर-रेणु बरस रही है। सभी सखियों एवं प्रिया की परम द्युतिमान मणिमय मुकुट चन्द्रिकाएँ इस कृष्ण-किंजल्क-वर्षा से भीग रही हैं। कंचनद्युति मुखारविन्दों की निरन्तर परिवर्द्धमान रूप-गरिमा, इस किंजल्क राशि से कृष्णमयी हुई कैसी अनुपमेय दिख रही है ? इसे भला, वाणी की कहाँ सामर्थ्य है जो चित्रित कर सके। अपने जीवन की आधार-शिला, जीवन-सार-सर्वस्वा, प्रिया एवं इन प्राणाधिदेवियों सखियों की अभी तो प्रियतम द्वारा अपने प्रतिक्षण परिवर्द्धमान अनुराग की सर्वतोमुखी रसधारा से समर्चना प्रारंभ ही हुई है। अभी तो इस समर्चना का श्रीगणेश ही हुआ है।

प्रिया के आह्लाद का पारावार नहीं रहा। उनके प्रियतम द्वारा सीमन्त पर लगाये सिन्दूर-दान की तरह ये प्रेमसौभाग्य की यशःपताकाएँ अबीर, गुलाल की अंग-संस्थानों पर बरसती धाराएँ उन्हें परमानन्द में डुबो दे रही हैं।

लो ! प्रिया के भी अनुराग की सर्वतोमुखी कल्लोलिनी उफन उठी। प्रिया के सुरम्य कमलनाल-से सुकोमल बाहु भी रत्नजटित पिचकारी से सुभूषित हो गये। अहा, सुललित मेंहदी की अति कलात्मक रचना से आवृत्त प्रिया के करपल्लव पिचकारी धारण कर कैसी शोभा वर्षा कर रहे हैं, इसका कोई कैसे वर्णन करे ? आजतक जितनी कलाएँ सृष्ट हुई हैं, जितनी सुन्दरता, जितनी

मधुरता और गुणराशि उपलब्ध हुई है, और होगी, उन सम्पूर्ण ललित कलाओं की निधि, गुण-गानों की राशि, प्रिया अपने प्रियतम के प्राणों का मन्थन करती उन पर केशरवर्णी परम सुवासित रस-रंग की अजस्र वर्षा करने लगी ।

अहा ! प्रिया एवं सखियों की कैसी शोभा है, अगणित रत्नावलियों एवं मुक्ताओं से गुम्फित उनका शिरोदेश श्याम चूनड़ी से विरहित हो उठा है। रत्नावलियों से गुम्फित वेणी, विमोहनकारी श्याम चूनड़ी से मुक्त हुई पीठ पर नागिन की तरह लहरा रही है। कंचुकी-परिशोभित उत्तुंग वक्षोज भी चूनड़ी से मुक्त हुए अंग-संस्थानों के मुकुट की तरह शोभा पा रहे हैं। शंख-सदृश सुघड़ कण्ठदेश और उसमें झूलते सुरम्य सुमनों के, मुक्तावलि के, मणिश्रेणी के विविध हार, करकमलों द्वारा पिचकारी से रंगवर्षा करने के कारण हिल हिल कर अपने सर्वजयी सौन्दर्य की यश.पताका फहरा रहे हैं। प्रियतम के दृग इस शोभा को निहारते-निहारते विथकित हैं। इस अभिनव अतुलनीय रूपराशि की वर्षा के साथ ही साथ अपने प्रियतम पर प्रिया द्वारा ऐसी रंग-वर्षा हो उठी कि सब सखा भीग कर तरबतर हो गये।

उनके कटिफेंट के झोलों में भरे किंजल्क, केशर के रंग इस वर्षा से बहकर उनके ही अंगों को पूर्णतया लाल, पीले रंजित कर चुके हैं। प्रेमोन्मादिनी सखियों ने सारी सखामंडली को चारों ओर से घेर लिया। चारों ओर से रंग-वर्षा, चारों ओर से ही गुलाल की धूम -- रसप्लावन ही रसप्लावन। सखागण अपने नेता श्रीकृष्ण को छोड़कर भाग खड़े हुए। प्रियतम अपना अतुल रस-पराक्रम विस्मृत कर पराजित हो गये इस होली में।

अप्रतिम सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु प्रियतम के हृदय में प्रिया-अनुराग की लहरें इस प्रकार उच्छलित हो रही हैं कि उनकी छवि अवर्णनीय हो रही है। कैशोर-विभूषित प्रियतम के नीलसुन्दर तन पर प्रिया एवं सखियों ने रंग-बिरंगी इतनी गुलाल डाली है कि उसका वह सच्चिन्मय नीलकलेवर इस महाभावमयी गुलाल के रंग से ढँक गया है। यद्यपि उसकी नीलमता सर्वजयी है, अत: वह उस गुलाल में से भी अपनी स्वाभाविक महारसमयी मधुरिमा और मोहकता के साथ प्रकट हो ही जाती है, असमोर्ध्व होने से वह अन्याच्छादन से पूर्णतया आच्छादित हो ही नहीं पाती, उसका त्रिभुवनमोहक सर्वजयित्व गुण अपने को सर्वोपरि रूप में व्यक्त कर ही देता है, परन्तु प्रिया द्वारा प्रक्षेपित इस महाभाव की राशि-राशि गुलाल ने उन्हें अनुरंजित नहीं कर दिया हो, सो

बात नहीं है। प्रियतम रूप-माधुर्य की धरा पर प्रियारूप-मधुरिमा का निर्झर इतना तीव्र वेग से गिरा है कि चतुर्दिक रस ही रस दृष्टिगोचर हो रहा है।

देखो तो सही। जिन अनन्त श्रीनिकेतन के रूप-सुधा-सिन्धु की एक कणिका से निसर्ग के असंख्य कामदेव सुषमा-सम्पन्न होते हैं, वे सखियों के उमड़ते यौवन-वेग से पराभूत-से हुए नीचा मुख किये खड़े है। उनकी बाँसुरी पर ललिता रानी ने अधिकर कर लिया है । प्रिया के कण्ठ पर झूलती वनमाला से विशाखासखी ने उनके हाथ बाँध दिये है। अहा ! प्रिया के सम्मुख निम्नमुख खड़े प्रियतम कैसे सुन्दर लग रहे हैं ?

उनका मयूरपिच्छ दूर अवनी पर गिर गया था जिसे एक सखी ने प्रिया के हाथ में दे दिया है। सहचरियों ने एक गोलक का निर्माण कर चतुर्दिक घेर लिया है नीलचन्द्र को सर्व ओर से। इस घेरे से दूर गोपशिशु-नन्दनन्दन के सखा, कोई किसी लताजाल की ओट से झाँक रहा है और कोई किसी वृक्ष की शाखा से अपने सखा को निहार रहा है। सब सखाओं के वस्त्र रंग से पूरे भीगे हैं तथा उनके मुख रंगबिरंगी पुष्प-केशर से अनुरंजित वानरों की तरह लग रहे हैं। सखाओं की झाँझ, मृदंग, डफ भी सखियों के हाथों में हैं।

सहसा ललितारानी अतिशय मधुर स्वर में बोल उठी -"अहो ! सर्वजयी मधुसूदन, आप में तो अप्रतिम शौर्य है। सर्वकलाविद् और सर्वविद्याविद् आपकी मति है, आप महामहिम, सर्वचातुर्यनिकेतन हैं, साथ ही सर्वसह भी हैं; फिर भी आप हम कोमलांगी ललनाओं के हाथ की पिचकारी की धार को भी नहीं सह सके। हे अशरणशरण आप अपनी वंशी की रक्षा भी नहीं कर सके।"

प्रियतम ललितारानी की वार्ता सुनकर, कुछ क्षण तो हतप्रभ रह गये। तत्पश्चात् उनकी प्रत्युत्पन्नमति प्रतिभा जाग उठी। वे गंभीर मेघध्वनि में अपनी प्रिया क़े मुख की ओर निहारते हुए बोल उठे -"हे मेरे प्राणों की रानी! मैं तुम्हारी अपनी से अपनी वस्तु हूँ। जब मैं किसी भी अंश में कहीं भी तुमसे पृथक् ही नहीं तो कैसी मेरी हार और कैसी मेरी विजय ? प्रिये ! फिर मैं तो नित्य ही तुमसे पराजित भी हूँ। जब मेरा मन, चित्त, प्राण और मेरी आत्मा ही तुम्हारे द्वारा जीती जाचुकी है तो मेरे इस तुच्छ कलेवर की बिसात ही क्या है ?"

"प्राणेश्वरी ! मेरी हार कोई आज की नवीन हार थोड़े ही है ? मैं तो तुम्हारी चरण-रज-कणिका पर अपना सर्वस्व नित्य न्यौछावर किये बैठा हूँ। हे

मेरी प्राणसंजीवनी ! अपनी अलकों से तुम्हारे चरण-सरोरुहों को पौंछ कर ही तो मैं सर्वजयी, सर्वसह, और असमोर्ध्व सर्वसौभाग्यशाली बनता हूँ ।"

"हे प्राणसर्वस्वे ! मैं तो तुमसे यही अति दैन्यमयी विनय कर रहा हूँ बस एक ही आशीर्वाद दें - तुम्हारी रुचि से मेरी रुचि का पार्थक्य रहे ही नहीं। तुम्हारी इच्छा ही मेरे मानस में सदा उत्थित हो, मूर्त्त हो, और चरितार्थ हो। उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता की खोज मैं कर ही नहीं पाऊँ। कदाचित् मेरे प्रति सर्वथा प्रतिकूल व्यवस्था ही तुम्हारे द्वारा सम्पादित क्यों न हो, तब भी मुझे इसकी चिन्ता नहीं हो । हे मेरी मानसमोदिनि ! तुम्हारे परमानन्द की उत्सरूपा स्मृति ही तो मेरे जीवन की आधारशिला है वही तो एक मात्र मेरा अवलम्बन है। हे पिंगल, गौर-वर्णे ! तुम सदा ही मुझ पर विजयी होओ।

प्रियतम की ऐसी विनम्र प्रेममयी वाणी सुनकर प्रिया के भावसिन्धु में अभिनव प्रेमभाव के आवर्त उठने लगे। प्रियतम को श्रमित जान कर किशोरी के प्राणों में व्यथा का संचार हो उठा; आंखों से अजस्र अश्रुधारा बह चली। उन्होंने दौड़कर अपने प्राणरमण को अपने अंग में भर लिया।

अहा ! वहीं एक सुन्दर कुञ्ज में प्रिया ने प्रियतम को सुभग पुष्प-शय्या पर विराजित कर दिया। नीलसुन्दर की कुञ्चित उलझी कृष्णअलकावलि को अपने हाथों में लेकर वे किंचित् दोलित कर सुलझाने लगीं हैं। वनदेवी से नवीन पीताम्बर और श्रृंगार लाकर प्रिया, प्रियतम का श्रृंगार करती हैं। अञ्जलि में स्वच्छ सुभग जल ले-लेकर उनके वदन-सरोरुह और अंग-अंग का प्रक्षालन कर रही हैं। उनके घर्माक्त श्रीअंगों को पौंछती हैं। भानुराज-नन्दिनी का मन सर्वथा डूब गया है- महामरकत श्यामल अंगों की मधुरिमा में ही।

# तृण-भाव

( पूज्य गुरुदेव अपने महाभावमयलीलाजगत में बहुत कालपर्यन्त तृण-भाव में रहे हैं। उनके तृण-भाव का जो भी वर्णन उन्होंने लीला-रूप में मुझे सुनाया था, वह यहाँ दिया जा रहा है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" के स्वाराज्य पद पर आरूढ़ पू० गुरुदेव का मन व्रजविश्व का एक तुच्छ निरीह नगण्य तृण होकर किस उच्च कोटि के दैन्य का प्रकाश करता रहा है, यह यहाँ दर्शनीय है । महाभावगत-दैन्य ही तो इस व्रजभाव का प्राणतन्तु है। इस महादैन्य की भूमि में ही प्रेम की बेलि बीजारोपित होती है, अंकुरित होकर पल्लवित होती है, एवं तब पुष्पित होकर वृहत् विकास को प्राप्त होती है। तभी उसे प्रियतम श्रीकृष्ण-रूप वृक्ष को समाच्छादित कर पाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यह सब अतिशय दैन्य तो मात्र महाभावगत ही है। जिसके आलिंगन में अनन्त ब्रह्माण्डों का नायक बँधा हो, जिसके प्रेम के वशीकृत हुआ वह कोटि-कोटि ब्रह्म-रुद्रादि का ईश्वर जिसके चरणरज की कामना करता हो, उसमें दीनता कैसी ? जिसके सौभाग्य की वन्दना अनन्तानन्त लक्ष्मी करतीं हैं, वह दीनहीन हो, यह सर्वथा उपहासास्पद है, परन्तु वाह रे महाभाव ! सचमुच तेरी बलिहारी है, वही प्रेम यहाँ प्रेमी को तृण बना देता है। इस का भाव-सौरभ इस लीला में ही देखते बनता है । )

# मैं एक तृण हूँ

मैं एक तृण हूँ । इस ब्रजवृन्दावन की भूमि में मैं प्रसूत हूँ। बस, यही मेरा परम-परमसौभाग्य है। शेष तो मैं सर्वथा निर्बल अशक्त जीव हूँ। एक ओसकण का भार भी मेरे लिये असह्य है। एक तुहिनकण भी मेरे मस्तक को भूमि-नत कर देता है, उससे आक्रान्त हुआ भी मैं खड़ा नहीं रह सकता। मैं सरक भी नहीं सकता, चलपाना तो मेरे प्रारब्ध में संभव ही नहीं है।

पावस, शरद, हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म एवं वसन्त- इन सभी ऋतुओं का प्रकोप सहना और उफ भी नहीं करना मेरी नियति है। जब ग्रीष्म आता है, मेरे सम्पूर्ण जीवन का वह रस ही सोख जाता है। मैं सूखकर पीला, निष्प्राणवत् हो जाता हूँ। परन्तु, मैं उससे अपनी रक्षा कर सकूँ- किसी अवगुण्ठन आच्छादन में मैं अपने मस्तक को छुपा सकूँ , मेरा ऐसा भाग्य ही नहीं है। कीट, पतंग, भृंग एवं मच्छर भी शीतल स्थानों की खोज कर उनमें छुप जाते हैं, परन्तु मैं तो अंशुमाली के उग्र प्रकोप से बचने पलायन भी नहीं कर सकता। मुझे तो उनके असंख्य किरण-बाण अपने लघु एवं सुकोमलतम तन पर सहने ही होते हैं। मेरे तन पर प्रकृति ने न तो कोई बाल दिये, न ही कोई सींग एवं कण्टक आदि। अत: किसी भी जीव से मेरी रक्षा मात्र दैववश ही होती है। जब वर्षाऋतु आती है तो रवि के प्रखरताप को तो उमड़ते सुन्दर नीलघन आच्छादित कर लेते हैं, शीतल, मन्द, बयार चलकर मुझमें प्राणों का पुन: संचार कर देती है, परन्तु जब लगातार मेघ बरसने लगते हैं उस समय सभी जीवसमुदाय अपने सिर कहीं न कहीं छुपा लेते हैं, मुझे तो अनवरत खुले आकाश के नीचे भीगते रहना पड़ता है। चतुर्दिक वर्षा जल में पृथ्वी भीग जाती है । मेरे चतुर्दिक भी पृथ्वी अतिशय नम हो जाती है। मैं पुन: हरा अवश्य हो जाता हूँ परन्तु कौन चतुष्पाद कब मुझे अपना ग्रास बना लेगा, मेरे चतुर्दिक अस्तित्व-नाश की आशंका बनी ही रहती है। मुझे तो एक छोटा सा टिड्डीशावक भी उदरस्थ कर सकता है। मेरी सुकोमल बाल को तो एक लघुत्तम कीट भी खाकर छेद सकता है। मैं तो बना ही हूँ- सबकी बुभुक्षा शान्त करने के लिये ही। कीट-पतंग दूसरे शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये ठीक मेरे जैसा रंग अपनी त्वचा में रंजित कर चुपचाप मुझे कुतरते रहते हैं। वे मुझे अन्य आक्रमणकारी शत्रुओं से अपने को बचाने के लिये अपना कवच अवश्य बनाते हैं, परन्तु मेरे अस्तित्व का स्वयं

वे- मेरे शरणागत ही मुझे अपना भोजन बनाकर नाश करते हैं। निरुपाय, अवश हुआ सब दु:ख सहकर दूसरों को तृप्त करते रहना ही मेरा स्वभाव हो गया है और मेरे माता-पिता एवं पितामह की यही मेरे लिये शिक्षा है। यही मेरा जीवन है।

परन्तु उन्हें यह शिक्षा किससे मिली है, पता है ? यह शिक्षा उन्हें मिली है उनके अन्त:करण में नित्य विराजित रहनेवाले प्रियतम नीलसुन्दर के दृगों से। उन्होंने ही मेरे पिता, पितामह एवं माता के अहम् को सर्वथा, सर्वांश में विदीर्ण कर अपने करुणासिन्धु की करुण लहरों से संगमित कर दिया, तभी उनके जीवन के अणु-अणु में सबको सुख देने का यह निराविल, एकाकी भाव जाग्रत हुआ। तभी से मेरे पिता ने उनके श्रीअंगों की नीलिमा को अपना स्वरूप बनाकर अपनाया। मैंने भी अपने अंगों को, उनकी नीलिमा और उनकी प्रिया-निकुंजेश्वरी राधा के अंगों की पीतद्युति के सम्मिश्रण से सजाकर तभी से निराविल विशुद्ध हरित् बना लिया है।

जगत् के जीवों ! कदाचित् तुम भी यह पाठ पढ़ सकते; सबके प्राण प्रियतम नीलसुन्दर को अपने हृदयों में बसाकर, बाहर-भीतर अनके रंग में रँग जाते। फिर तो तुम्हारा अस्तित्व भी विश्व के लिये अशेष मंगलकारी होता। करुणा के झौंकों में उड़ते हुए तुम भी सदा निराविल रस ही रस बरसाते होते, जगत् का ताप मिट जाता और अन्त में तुम्हारा नित्य निवास होता- नीलसुन्दर और उनकी प्रिया के नेत्रसरोजों में।

## मेरा परिचय

लो ! तुम्हें मैं अपना पूरा परिचय दे देता हूँ। मेरे पिता हैं- पावसऋतु के मेघ और मेरी माता हैं- सर्वसहा धरादेवी। मेरे पिता ने मुझे अतिविलक्षण शिक्षा दी है। मेरे पिता, जब आकाश में अपनी सम्पदा-निविड़नील अम्बुदराशि को लेकर उमड़ते हैं उस समय सूर्य, चन्द्र, तारक समूह गगन तल से अन्तर्हित हो जाते हैं। उस समय वे मुझे यही शिक्षा देते हैं कि -"देख ! तेरा स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप इसी प्रकार सत्व, रज एवं तम से आवृत हो गया है और तू मिथ्या भ्रमवश अपने को एक लघु तृण समझ रहा है।" सहसा उनके मध्य एक तडित्-लता लहर जाती है और वे मुझे शिक्षा दे उठते हैं - "इस तडित्-लहरी-सी ही तुझमें मैं तृण हूँ"- यह भ्रमात्मक सत्व की जाग्रति है,

शेष तो तुझ में रजमय नाद का ही बोलबाला है। साथ ही तम के घन आवरण से तो तू भरा ही है। वास्तव में ही विद्युत् का, मेघगर्जन का, मेघों का ज्योतिष्क-मंडल से कोई सम्बन्ध है भी नहीं, वे उसे आवृत कर ही नहीं सकते; आवरण तो दर्शक के दृष्टिपथ पर ही रहता है । अपने स्थान पर ज्योतिष्क-मंडल जैसे प्रकाशित है ही, वैसे ही इन गुणों से शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तुझ जीव का वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव का आवरण इन प्राकृत गुणों के द्वारा संभव ही नहीं । यह तो सर्वथा मिथ्या, अज्ञान-जन्य प्रतीति मात्र है। तू जीव तो स्वप्रकाश, परमानन्द-स्वरूप है ही। अवश्य ही, अपने ऐसे स्वरूप का भान तुझ जीव को तभी होता है जब तेरी आँखें उन सान्द्रनीलद्युति व्रजराजतनय की ओर केन्द्रित हो जाती हैं। तेरे सत्व के आलोक को नील-सुन्दर की चरण-नख-चन्द्रिका आत्मसात् कर लेती है। तेरी रज से भरी 'मैं'-'मेरे' की गर्जना उनके मधुमय कण्ठ से निस्सृत मुरली के स्वर में विलीन हो जाती है । तेरे तम की कालिमा उन निरञ्जन की नीली ज्योति में घुलकर उनके नेत्र-सरोजों का आभरण, सेवा का उपकरण बन जाती है।"

जगत् के जीवों, मेरे पिता की इस उपदेशराशि को मैंने पूर्णतया हृदयंगम कर लिया है। कदाचित् मेरे जीवन के अन्तराल से व्यक्त हुए इस संकेत को तुम सभी लोग हृदयंगम कर लेते तो सदा-सदा के लिये पूर्ण सुख-सिन्धु में निमग्न रहते।

अब मेरे पितामह अंशुमाली की विशाल हृदय की सीख को भी सुन लो। मेरी माता धरा अपनी असीमरसरूपी सम्पदा - सरिता, जलाशयों की जलरूपी संपत्ति लगातार आठ मास तक मेरे पितामह को समर्पित करती रहती है। उस समय मेरी माँ रससे लबालब परिपूरित होती है, उसके सरिता-सरोवरादि रसकोषों में रस की तरंगें उठ रही होती हैं। इसलिये वे किरणमाली उसका कुछ अंश स्वीकार कर लेते हैं। ले-लेकर वे मेरे पिता मेघ के पास, वह सम्पदा संचित करते रहते हैं। परन्तु जब ग्रीष्म के आवेग से मेरी माता धरणी, रसशून्य होने लगती है, ग्रीष्मताप से पीड़ित हो उठती है, तब वे तपनदेव तुरन्त ही वह संचित अगाध रस, वर्षा के रूप में लौटाने लगते हैं।

न्यायी, धर्मनिष्ठ राजा भी तो यही करता है। प्रजा की सम्पत्ति बढ़ जाने पर समुचित राज्यकर के रूप में ग्रहण कर, उसे अपने कोश में संचित रखता है। परन्तु जब प्रजा को उसकी आवश्यकता होती है, तब उन्मुक्त भाव से उसे लौटा देता है। प्रजा की सम्पत्ति, पुन: प्रजाजनों में ही वितरित हो जाती है।

मेरे पितामह मुझे यही शिक्षा देते हैं। "मेरे प्यारे वत्स ! लेना होता ही है, देने के लिये। तुमने जो कुछ भी रस, हरीतिमा भूमि से पायी है उसे उसी भूमि से उत्पन्न कीटराशि को खाने दो, उन्हें अपने आपको समर्पित कर दो। ये विशालकाय व्रजराज की गौएँ यदि तुम्हारे अस्तित्व को भी चर जावें, पूरा का पूरा चबा जायें, तो भी चिन्ताकुल मत होना, अपने को निरर्थक मत समझना। तुम अपने अस्तित्व से उनमें दुग्धरूप अमृत के निर्माण में हेतु बन जाओगे, और वह दूध यदि नन्दनन्दन नीलसुन्दर के अधरों से लगकर उनकी क्षुधा-निवृत्ति की, कहीं क्षणिक से सुख की भी सम्पदा बन गया, अथवा उन्हें क्षणिक तृप्ति भी दे गया तो तुम्हारा होना ही विश्व में परम सार्थक हो जायगा।"

और हे जगत् के जीवों ! तुम्हें यह रहस्य भी बता दे रहा हूँ कि भुवनभास्कर ने भी यह शिक्षा जो मुझे दी है वह पायी है व्रजेन्द्रतनय प्रियतम नीलमणि से ही । मेरे प्रियतम नीलमणि अपने भक्तों से, सखियों से, सखाओं से, मातृवर्ग की सखियों से, गौओं से, पिता नन्दजी से, ब्राह्मण-ऋषियों-मुनियों से लेतेसे केवल दिखते ही हैं। किन्तु कहाँ अपने समीप रखते हैं वे किसी के द्वारा कुछ भी दी हुई वस्तु को ? कितना सुन्दर बनाकर और कैसी अपरिसीम मात्रा में परिवर्द्धित करके वे अर्पित-वस्तु को लौटा देते हैं, इसे देखना चाहो-तो देख लो, उनके चारु-चरणों में न्यौछावर हुए प्रत्येक भक्त के जीवन में। अतएव, चिन्तित मत होना; अपितु सदा अपना अहोभाग्य समझना, यदि नीलसुन्दर अथवा उनके इस व्रजराज्य का कोई भी जन्तु तुम्हारी कोई भी वस्तु ले ले। अप्रतिम सुन्दर एवं अनन्त बनकर तुम्हारी वस्तु तुम्हारे पास ही लौट आयेगी, भला। मेरे पितामह का यह सन्देश मैंने तो अपने जीवन में शत-प्रतिशत ग्रहण कर लिया है।

मेरे पितामह की इसी शिक्षा से अभिभूत हुए, मेरे पिता महान् मेघ निरन्तर बरसते रहते हैं। क्यों, जानते हो ? अच्छा सुनो- इन्होंने अपनी विद्युत् की आँखों से दूसरों की व्यथा-व्याकुलता देख ली। पवनरूपी दया ने इन्हें झकझोर दिया। उस दया के प्रचण्ड वेग से परिचालित होकर ये उड-उड़कर आ गये। देखो ! इन्होंने अपने हृदय का जलरूपी सम्पूर्ण रस उँडेल दिया, विश्व को आप्यायित कर दिया। सर्वथा दयाशील सत्पुरुषों का स्वभाव अपना लिया मेरे पिता ने और अपने आचरण से यही शिक्षा मुझे दी है। "जीवों का दुःख देखते ही कृपा परवश हो उठो। अपना सर्वस्व देकर प्राण

न्यौछावर करके भी पीड़ितों को सुख-सुविधा का दान कर दो। परन्तु मेरे पिता को भी यह करुणत्व की शिक्षा मिली है मेरे प्रियतम नीलसुन्दर के दृगों से झर कर ही। मेरे पिता- इन महा मेघों ने मेरे प्राणधन नीलमणि के अंगों के वर्ण को इसीलिये अपना लिया है। बाहर-भीतर वे रंग गये हैं- उन्हीं के रंग में। तभी तो वे बरसते हैं दूसरों के ताप-निवारण के लिये और बरसते-बरसते ये विलीन हो जायेंगे- शरत्कालीन जलाशयों में विकसित सुन्दरातिसुन्दर सरसिज-कर्णिका की सुषमा धारण करने वाले मेरे प्रियतम नीलमणि के नयनों में ही।

और मेरी माता धरा ने भी मुझे यही शिक्षा दी है :-"बेटे ! तेरे शतसहस्र जन्मों का अशेष पुण्य उदय हुआ है जो तुझे यह नीलमणि की लीला-स्थली में तृणरूप में ही सही, जन्म तो मिला। अब तो कभी न कभी, तुम्हें अपने प्राणनिकेत के प्रत्यक्ष दर्शन का भी अनिर्वचनीय सुदुर्लभ सौभाग्य प्राप्त होगा ही। यदि यह सौभाग्य तुझे प्राप्त नहीं होना होता तो तेरा इस व्रजजगत से कोई सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। अब तू आनन्द से निरन्तर पुलकित हुआ नृत्य करते रहना, अपने सौभाग्य पर थिरकते रहना। देख, तू अनन्त काल से न जाने किन-किन देहों में अध्यस्त रहकर, इन देहों से सम्बद्ध अनन्त गृह-परिवार बनाता हुआ उनकी वस्तुओं में अपने-पराये की भावना से सतत भावित रहकर कहाँ, कहाँ बहता रहा है, तूने इस तमोमयी जीवन-धारा में बहते हुए न जाने कितनी कोटि-कोटि नृशंस कर्मराशियों का निर्माण किया है, फिर भी तुझे करुणावरुणालय व्रजराजनन्दन की चरणसरोजों की शीतल शंतम कृपा ने इस व्रजभूमि में प्रसव देकर अपनी छाया का दान दे दिया- यह तो अहोभाग्य ही है। अतः अब अपनी आयु का क्षण-क्षण प्रियतम श्रीकृष्ण के चारुचरणों की रज की प्राप्ति की आशा-उत्कण्ठा में ही व्यतीत कर देना। अपने नेत्रों में अति दैन्यभरी उत्कण्ठा और विप्रलंभ भरे रखना और अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए उनके पादपद्मों की समर्चना करते रहना। भले ही तेरे पास कोई भी अर्चन सामग्री न हो, तू अपने भावों की ऊर्मियों से ही अनेकानेक उपचारों का सृजन कर लेना और अपनी भावना में मूर्त्त उनसे व्रजेन्द्रकुलचन्द्र की समर्चना सम्पन्न करते रहना। अति अनुराग भरे हृदय से अपने देवाधिदेव की परिक्रमा करते रहना। इस प्रकार अपने जीवन को प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर की भक्तिरससुधा से अमृतवत् मधुर बनाये रखना।"

## विरह एवं प्रतीक्षा

इस शिक्षा को शत-प्रतिशत ग्रहण कर, मैं तुच्छ तृण सदा प्रतीक्षा करता रहता था :- "कभी न कभी तो अघटन-घटना-पटीयसी मेरे प्राणवल्लभ की कृपाशक्ति मेरे प्रियतम नीलसुन्दर की गति मेरी दिशा की ओर कर देंगी और वे गोचारण करते हुए पधार आवेंगे मेरे निकट की पगडंडी से और मुझे उनके चरणसरोरुहों की रेणु का स्पर्श तो प्राप्त हो ही जायगा।

हे जगत् के जीवों ! अब यदि तुम मेरी जीवन गाथा सुनने को ही समुत्सुक हो उठे हो, तो सुन लो। बहुत काल तक उनकी गति इधर मेरी दिशा की ओर नहीं हुई, तो नहीं ही हुई। प्रियतम नीलमणि के अदर्शन की ज्वाला ने मेरे सम्पूर्ण हृदयरस को सोख लिया। मेरी हरीतिमा समाप्त हो गयी। हाय ! प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आज भी नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन, चौथे दिन, इस प्रकार मास, वर्ष व्यतीत होते गये । एक वर्ष दो वर्ष, जब उनकी वंशीध्वनि भी कानन के इस अंश में, जहाँ मैं स्थित था, प्रतिध्विनित नहीं हुई तो फिर मेरी हरीतिमा तो विलुप्त होनी ही थी। मैं ही नहीं, कानन के इस भाग के सम्पूर्ण जलस्रोत ही शुष्कप्राय हो गये थे। स्रोत किस उद्देश्य से प्रसरित हों ? उनके हृदय की ऊर्मियाँ किसके चरणप्रान्त में न्यौछावर हों ? वे ही क्या- वल्लरियों ने भी पुष्पित होना स्थगित कर दिया, मानो वे वन्ध्या ही हो गयी थीं। आम्रों में मञ्जरियाँ नहीं आयीं। सारे भ्रमर तो नन्दनन्दन जिधर गति करें उधर ही धावित हो उठे थे। अत: निम्ब, शाल, तमाल, पिप्पल, जामुन, आम्र, बेल, सब के सब निम्न मुख-लटकाये सूखने लगे थे।

पावस की घटायें, अम्बुराशि दान करने आतीं परन्तु वह अम्बुराशि प्रियतम-प्राणवल्लभ के दर्शन के बिना जलनिधि के खारे जल के समान, प्राणों में उल्लास और जीवन्तता नहीं दे पाती। दिन-रात अजस्र अश्रुप्रवाह करते-करते थके, नयन भी प्राणहीन निस्पन्द हो गये थे। हृदय क्या था, विषाद एवं वेदना की धक्-धक् जलने वाली भट्टी हो गया था। सत्य ही है, त्रिताप-संतप्त जीवन इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दन के सम्पर्क में आये बिना कैसे शीतल होना संभव है ? क्या मूल से उच्छेद कर दिये गये किसी भी वृक्ष को अथाह वर्षा भी हरा कर सकती है ? कदापि नहीं। फिर मेरा मूल तो प्राणनिकेत से मेरी मिलनाशा थी, वही मिलनाशा ही जब समाप्तप्राय हो रही

थी, तो मुझमें जीवन एवं चेतना का प्रवाह कैसे तरंगित हो पाता ? परन्तु, इस अथाह दुखोदधि में पड़े रह कर भी मेरे चित्त में अविराम अंकित थी- वह मेरे प्राणनिकेत की इन्द्रनीलद्युति छवि। जो नष्ट हुआ वह तो सबका सभी बाहर का ही था। उस सच्चिन्मयी नीलिमा में फँसे मेरे प्राण वहीं उन्हीं चरणकमलों में विजड़ित रहे। वे एक पद भी अपने लक्ष्य से इधर-उधर नहीं हुए। फिर क्या था नीलसुन्दर ने एक दिवस कृपा कर ही दी। वे चले आये वन के इस भू-भाग की ओर ही। उनके आगमन की पूर्व सूचना, ज्यों ही समीर ने उनकी अंगगंध सबकी नासिका में भर कर दी, सम्पूर्ण वन में अपरिसीम उल्लास का संचार हो उठा। और वह महासौभाग्यवान क्षण भी उपस्थित हो ही गया जब उनके श्रीअंगों की श्यामल कान्ति मेरे नेत्रों में भी पूरित हो गयी। फिर तो सौभाग्य का अथाह, अनन्त कोष ही मेरे लिये खुल गया। वेणु की लहरी श्रवणपथ से हृदय को सिक्त कर उठी।

## प्रिय दर्शन एवं ब्रज-रज-कृपा

उस दिवस तो मेरी माता धरा भी कैसी शोभामयी हो उठी थी। मेरी माता के अंग-अंग में आनन्द के इतने पुलक उठे कि हरित् तृणों का अम्बार लग गया। वह सुख में अतिशय हरी हो गयी। प्रियतम प्राणनिकेत के रागवश यूथ की यूथ वीरबहूटियाँ उसके रोम-रोम में प्रसूत हो गयीं। बरसाती छत्ते असंख्य वितान से बनकर उसके अंग-अंग में मुक्तामालाओं की तरह सुभूषित हो गये। इसप्रकार सुखसौभाग्य से हरी, प्रीतिराग से लाल और मुक्तामणियों के श्रृंगार से सजी श्वेत- मेरी माता धरणी की निराली छटा देखकर मैं निहाल हो गया। विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दन के आगमन और मिलन पर तो साजसज्जा होनी ही चाहिये थी; उनके स्वागत में ही यदि अनन्तश्री प्रकाशित नहीं होंगी तो फिर भला कब होंगी ?

मैंने चाहा, मैं भी अपना श्रृंगार करूँ। परन्तु मुझे कौन वस्त्र देता। निर्वस्त्र रहना तो मेरी नियति ही थी। परन्तु धन्य हो कृपा की। वह जब किसी पर भी होती है जो अजस्र ही होती है, अमर्यादित ही होती है। कलिन्दनन्दिनी में रस की ऊँची से ऊँची तरंगे उठने लगीं। आनन्दातिरेक से उसके श्वास फूल रहे थे, बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगी, उसमें। यमुना मेरे नीलमणि के चरणसरोरुहों का पराग बटोरने लगी। पावस ने भी अपने

प्लावन से उन्मुक्त-हस्त राशि-राशि रजकण रविनन्दिनी को समर्पित कर दिये। मर्यादा तोड़ कर वह उमड़-उमड़ कर इस परागराशि का वितरण भी करने लगीं। तट की सीमायें तोड़कर जब यमुना उमड़ी तो एक बार तो ऐसा अनुभव होने लगा मानो उसका जलप्रवाह मेरे अस्तित्व को ही समूलतः उखाड़ फैंकेगा, परन्तु हुआ सर्वथा उसके विपरीत ही। उस तरणितनया के रसप्लावन ने मुझे उस निधि से श्रृंगारित कर दिया जिसके लिये पितामह ब्रह्मा और भगवान् रुद्र भी तरसते रहते हैं। कानन की उन पगडंडियों की धूलि जिन पर प्रिया किशोरीरानी और उनकी प्राणसारसर्वस्वा सखियाँ चरण रखती हैं, रासस्थली की वह पुलिन-सैकत जिस पर महारास होता है, सभी लीलास्थलियों की रज--जहाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दर से उनकी प्रेमिका गोपियों का प्रेमविवश मिलन हुआ है ; वह आनन्द-विवश हृदय एवं हृदय का सम्पूर्ण उच्छ्वसित रस जहाँ-जहाँ जिन कुंजस्थलियों में निपतित हुआ है, उन-उन बिहारस्थलियों की रजसे उन विशाल रसतरंगिणी की लहरों ने मुझे आपाततः श्रृंगारित कर दिया। व्रजपुरवासियों की, वृषभानुबाबा की, महात्मा नन्दराय की, घनवात्सल्य मूर्त्ति यशोदारानी की, मैया कीर्तिदा की, गोप-शिशुओं की, व्रजांगनाओं के चरण-पद्मों का पराग जो भीष्म, नारद , शुक, सनकादि, ब्रह्मा एवं भगवान रुद्र के लिये भी अप्राप्य है, उस रजकीच से, रसतरंगिणी यमुना के उन्मत्त प्रवाह ने मुझे आपाततः सान दिया।

हे जगत् के जीवो ! यदि तुम समझ सकते- इस व्रजरज की महिमा को, तो तुम्हें भान होता कि वह मेरा सौभाग्य कैसा था ? कितनी अचिन्त्य कृपाराशि मुझ पर उस क्षण बरसी थी, उस कृपाराशि से मेरा रोम-रोम सन गया था। किन्तु तुम्हारा मन तो कामना, वासनाओं की कीच से सना है। तुम्हारे नेत्रों पर बना है- इनका ही घना आवरण । अतः तुम कैसे हृदयंगम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्द को ? एक अप्रतिम परमानन्द -सिन्धु उच्छलित हो उठा; मेरे हृद्देश में। उस क्षण कितना भावविह्वल हो उठा था मै--इसे अचिन्त्य सौभाग्यवश कोई देख भले ले; वाग्वादिनी तो इसका एक अल्प सा अंश भी चित्रण करने से रही। बस, स्थूल शब्दों में इतना ही बता दे रहा हूँ। रस-तरंगिणी द्वारा निक्षिप्त, उस रसकीच का मेरे अंगों से संस्पर्श होते ही उस मृदुल, सुकोमल रज के अन्तराल से तत्क्षण ही महाजलधरतुल्य एक प्रकाण्ड विग्रह का आविर्भाव हुआ।उस विग्रह के हृदय में तडिल्लता-सी परमसुन्दरी उसकी प्रिया भी उससे आलिंगित, आबद्ध थी। अहा!

उस नील-पीत छटा से मेरा सम्पूर्ण दृश्य सदा-सदा के लिये आप्लावित हो गया। इतना ही नहीं, वह नीलपीतद्युति सुभग विराट, मेरे लिये एक मधुर सरस पानीय भी बन गया। और वह पानीय मेरी रसना से, नेत्रों से, नासाछिद्रों से, श्रवणेन्द्रियों से, उन-उनका विषय बनकर मेरे हृदयस्थल में भर उठा। व्रजेन्द्रनन्दन एवं उनकी प्रिया के दर्शन से मेरा हृद्देश परिपूर्ण रसमय हो गया। एक अत्यन्त अधम और तुच्छातितुच्छ, सर्वथा उपेक्षणीय तृण पर भी अपनी कृपा का ऐसा अचिन्त्यदान व्रजेन्द्रनन्दन दे सकते हैं, यह प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो रहा था। मेरे अपलक नेत्र एक क्षण केन्द्रित होते उनके रासबिहारी स्वरूप पर। अहा ! कैसे अप्रतिम, अरुणिम उनके चरणारविन्द हैं ? नृत्य के तालबन्ध का एक विचित्र-सा कम्पन उनमें भर आया है। समस्त कलाओं की आदिगुरु गोपियाँ उनको घेरे गोलाकार खड़ी थीं। एक प्राकृत नट भी अपनी कला का प्रदर्शन करने जाकर, अपने कौशल का परिचय देकर, विविध तालबन्धों से दर्शकों को मुग्ध कर देता है, फिर जहाँ सकलकलानिधि व्रजराजनन्दन हों और संग में उनकी अखिल कलाप्रवर्तिका प्रिया एवं सखियाँ, यमुना की स्वच्छ, शुभ्र रजतसैकत राशि को अपना रंगस्थल बनाकर महारास नृत्य करें, उस शोभा का कौन तो वर्णन करे ? देववृन्द के आनन्द का पार नहीं। आकाश में पूर्ण शरच्चन्द्र की चाँदनी पारावारविहीन अमृतवर्षा करने लगी। जिनकी चरणसेविका मायानटी के नियंत्रण में अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होकर निरन्तर नृत्य कर रहे हैं, जो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक क्षुद्रतम धूलिकण से आरंभकर, अतिशय महान् सुमेरु-पर्यन्त जड़वर्ग एवं कीटाणु से लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त चेतन समुदाय- सबको अनवरत नृत्य करा रहे हैं, वे एक अति नगण्य मुझ तुच्छ तृण के सम्मुख नृत्य कर रहे हैं, अपने सौभाग्य पर मुझे स्वयं को ही ईर्ष्या होने लगी। अहा, उनके रासोन्माद का क्या वर्णन करूँ, उन्हें न तो वीणा-झंकृति की और ना ही मृदंग आदि के ताल की सहायता की आवश्यकता थी। वे तो अपनी प्रिया के साथ मंच पर उतर आये और अभिनव प्रीतिमुद्राओं में उनके अंग थिरकने लगे।

## महारास दर्शन

उनके अधरों पर लगी वंशी का निनाद दिगदिगन्त को गुँजाने लगा। उनकी तदीय जन-विद्याधरियाँ असंख्य वीणायें ले-लेकर झंकृत करने लगीं,

परन्तु उनके तालबन्ध एवं जगन्मोहक नृत्यगति को वे वीणाध्वनि में संगत नहीं कर सकीं। वादनकुशल तदीय भक्त गन्धर्वतुम्बुरु आदि मृदंग पर थाप देने की चेष्टा कर रहे थे परन्तु उनकी ताल पर वे सब कुछ भी बजाने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे। एक-एक विद्याधरी, एक-एक गन्धर्वपत्नी मंच पर उतरीं परन्तु लज्जित होकर मुख छिपाकर पलायन कर गयीं। आकाश भक्त-देवअप्सराओं के विमानों से भर गया, परन्तु सब मोहित, लज्जित एवं चकित थीं। अहा, गोपियों का क्या सुरीला मधुमय कंठ था ? साक्षात् राग-रागिनी मूर्त्त होकर उनके कंठ में आसीन होने का सौभाग्य पाने को आतुर थीं, परन्तु उनके स्वर की मधुरिमा में वे डूबीं समाधिस्थ हो जाती थीं। बस, कैसे कहूँ- क्या कहूँ, चतुर्दिक आनन्दमयी मधुरिमा, और सौन्दर्य का उद्दाम उच्छलन हो रहा था। गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण सब नारीभाव को प्राप्त हुए रसमूर्च्छित थे। उनके ताल-स्वर का साथ देने में जब ये सभी असफल हो गये तो वे नन्दनकानन से मन्दार, पारिजात आदि पुष्पों को एकत्रित कर अपने विमानों से सभी गोपांगनाओं और श्यामसुन्दर पर वर्षा करने लगे। मैं उन सबके प्रेम-भाव से परिपूर्ण मुखों की शोभा देख रहा था। कुसुमों से अपने दुकूल भर-भर कर वे विमानों से झुक-झुक कर उन्हे नन्दनन्दन पर उँडेल रहे थे। प्रिया-प्रियतम के चरणों में कुसुमों की अविरल धारा बरस रही थी। व्रजेन्द्रनन्दन का माहात्म्य-कीर्तन करते हुए सिद्धगण, हरिचन्दन, कुंकुमादि दिव्य, सौरभमय विविध चूर्णों के उपहार बिखेर रहे थे। समस्त दिशायें आमोदित थीं। सभी अपना सर्वस्व -- नृत्यरत प्रिया-प्रियतम पर न्यौछावर करना चाह रहे थे।

लो, अब तो इनका नृत्य और भी तीव्रगति पकड़ लेता है। विलक्षण चमत्कार घटित हो रहा है। एक-एक सखी अपने साथ नीलसुन्दर प्रियतम को नृत्य करता देख रही है। असंख्य सखियों के साथ असंख्य रूप धारण किये प्रियतम, प्रत्येक सखी का हाथ पकड़े, नृत्य करने जा रहे हैं; सब कलायें कुण्ठित हो रही हैं; सम्पूर्ण रागिनियाँ हतप्रभ हैं; सारे राग लज्जित हैं।

रासनृत्य का भी एक शास्त्र है; उसके निर्धारित नियम हैं। गति-विन्यास-कौशल तो कोई अपेक्षाकृत एक दूसरे से अधिक भले ही प्रदर्शित कर दे, दर्शकों के हृत्तारों को कोई असामान्य रूप से झंकृत कर पाने की योग्यता भले ही रख ले, किन्तु प्रत्येक नर्तक अपनी परम्परा की सीमा में ही रहता है। कभी उसका अतिक्रमण नहीं करता। नृत्य-विशेष में जो उसकी

स्वतंत्रता रहती है अथवा एक मौलिकता का भान, जो वह अपने दर्शकों को कराता है, वह भी नृत्यकला की एक नियमगत वस्तु ही होती है। परन्तु यहाँ तो नन्दनन्दन सब परम्पराओं को तोड़कर, सभी सीमाओं के मस्तक पर 'थेई', 'थेई' की झंकार करते हुए सर्वथा स्वकल्पित गति से ही नृत्य करने लगते हैं। परन्तु आश्चर्य है, प्रिया किशोरीरानी और उनकी सखियाँ उनकी सम्पूर्ण कुशलता और गतिविन्यास को जैसे पहले से ही जानती हों, उनके साथ तो पग मिलाती ही हैं, उनसे भी अत्यधिक मनोहर और अत्यंत मोहक गति एंव लय का प्रकाश कर जाती हैं। बिचारे देववृन्दों ने कब देखा है - ऐसा प्राणोन्मादी प्रीति-नृत्य ?

विचित्र भूषण-वसनविभूषित असंख्य गोपियाँ हैं, नहीं, नहीं सौन्दर्यसिन्धु की असंख्य ऊर्मियाँ ही मानो घनीभूत हो गयी हैं, और इन एक-एक गोपी के साथ, उनके नायक नन्दनन्दन की क्या ही शोभा है ? मानो कोटि चन्द्र एकत्र हुए एकसाथ सुधा की वर्षा कर रहे हों, और भीग रहा है - एक अप्रतिम सुन्दर, सहस्रदल नील कुमुद-अपार सौन्दर्यराशि को अपने परम सुन्दर दलों में संपुटित किये।

अहा ! इस रासस्थली का भी क्या वर्णन किया जाय ? कुछ भी कह नहीं सकता। इस एकान्त निर्जन रसतरंगिणी के सैकत तट पर कौन ऐसी त्रैलोक्य-चमत्कारी पुरी का निर्माण कर देगा ? किसकी सामर्थ्य है भला ऐसी रंगस्थली निर्माण कर देने की ? यह रसरंगस्थली चारों ओर से असंख्य कदली स्तंभों से घिरी है। परन्तु कदली स्तंभ भी परम चमत्कारी हैं। ये प्राकृतिक कदली हैं कि अप्राकृत विलक्षण यंत्रमय रत्नमयी कृतियाँ, कुछ भी नहीं कह सकता। मैं तो बस, विस्फारित-नेत्र इस शोभा को देख ही सकता था। मेरी बुद्धि सर्वथा हतप्रभ थी। प्राण स्पन्दनरहित और मन अतिशय शान्त-प्रशान्त।

मानो अनन्त राका-शशियों के प्रकाश में इस रासपुरी की शोभा जगमग-जगमग कर रही थी। शरदच्चन्द्र एक ही था, परन्तु उसका प्रकाश सहस्रों रविरश्मियों को हतप्रभ कर देने वाला था। सहस्त्रों रत्नमय कदली स्तंभ इस रासमण्डल को घेरे थे। प्रत्येक कदली स्तंभ पर रत्नमय रत्नघट था और ध्वजा फहरा रही थी। ये शोभा की खान कदलीवृक्ष अति उन्नत मस्तक किये थे। इनके विशाल आकार के पत्ते बन्दनवारों की तरह परस्पर एक दूसरे से जुड़े थे। इसके पश्चात् पुष्पित कदम्बवृक्षों की श्रेणी थी। सभी वृक्षों पर रत्नमय चमकते पुष्प खिले थे। वृक्षों पर विशाल पुष्पवितान तना

था। यह पुष्पवितान सहस्रों योजन विस्तृत था। तभी न, कोटि-कोटि गोपांगनाओं का अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के संग नृत्यविलास हो रहा था। और इन गोपांगनाओं का वेष भी परम विलक्षण था। किसी ने पैरों के आभूषण तो कानों में लटका लिये थे और कानों के आभूषण पैरों में पहन लिये थे। लो, यह नथ जो नाक में पहनने का था इसको शिरोभूषण बना लिया था और शिरोभूषण को नाक में बाँध लिया था। अहा ! इन कदम्ब वृक्षों के तले प्रियतम इनको समझा-समझाकर कितने प्यार से इनका यथोचित श्रृंगार करते हैं। इन्हें तो अपने शरीर का कुछ भी भान नहीं है। अरे ! शरीर का भान ही रहे तो फिर प्रेम ही कहाँ ? सभी गोपियाँ अपने प्रिय की स्मृति में मतवाली हैं। अहा ! किस उत्साह से प्राणवल्लभ कोटि-कोटि रूप रखकर सभी सखियों का समुचित श्रृंगार कर रहे हैं ? अपने असीम स्नेह-परिपूरित करों से इन गोपियों के कंचनद्युति अंगों में प्रियतम यथायोग्य वस्त्राभूषण धारण कराने की चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु उनके नेत्र प्रेमवश छल-छल करने लगते हैं। गोपियों का, उनके प्रेम में तन, मन एवं सर्व बाह्य चेतना खोकर अस्तव्यस्त भाग कर आना और श्रृंगार में इस प्रकार ऊटपटांग वस्त्र पहन लेना, कहीं का श्रृंगार कहीं धारण कर लेना--यह सब देखकर प्रियतम प्रेमतन्मय हो उठते हैं। वे एक क्षण तो अपनी प्रियाओं के मुखचन्द्र से झरती, प्रेम-सौन्दर्य-सुधा का पान कर तल्लीन हो उठते हैं, परन्तु सहसा उनके प्रणयसिन्धु में एक भावावर्त उठता है। मेरी प्राणप्रिया, राधा नित्य-नव-सुन्दरी है, क्षण-क्षण में उसका रूप-लावण्य परिवर्द्धित होता है, और इस शरच्चन्द्र ज्योत्स्ना में यदि इसे मैंने सर्वश्रृंगार-समन्वित कर दिया तो औरों की तो क्या, कदाचित् मेरी ही दृष्टि इसे नहीं लग जाय; अतः प्रियतम अपनी प्रिया को सजाकर भी पुनः वैसे ही रहने देते हैं। परन्तु फिर भी प्रियतम के हृदय का स्पन्दन शान्त नहीं होता । प्रिया का सौन्दर्य इतना असमोर्ध्व है कि वह ऊटपटांग आभूषणों में भी परमातिपरम सुन्दर प्रतीत होने लगती हैं।

धन्य हैं, ये गोपियां जो युग-युग से वृजेन्द्रनन्दन को अपना मन, प्राण समर्पित कर चुकी थीं। अहा ! अनन्त जन्मों-जन्मों से ये प्राणों की उत्कण्ठा लिये अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही थीं, वे उनके चिरजीवन के आराध्य, प्राणाधार आज इनके अपने सम्मुख ही विराजित हैं -- यह अनुभव करतीं वे

कितनी हर्षमयी हो उठीं हैं ? प्रियतम भी इनके प्रति कैसा निर्मल अनुराग प्रकट कर रहे हैं ?

देखो, देखो ! ललितारानी के पादसरोजों को, प्रियतम ने अपने अञ्जलि-पुट में ही धारण कर रखा है। इनके अरुण चरणों में लगी धूलि को, धूलिकणों को ये अपनी चूड़ा के खुले केशों से सम्मार्जित कर रहे हैं। अहा ! प्रेम में भरे प्रियतम क्या उच्चारण कर रहे हैं - "अरी, गोपियों ! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणों की धूलि ? जो, इस परम दुर्लभ धूलि की एक कणिका भी प्राप्त कर लेता है, उसके मन को तो जरा आदि दोषों से रहित एक मन्वन्तर काल तक स्वर्ग-सुख की भोगने की कामना भी संस्पर्श कर नहीं पाती। इतना ही नहीं, ब्रह्मपद से भी श्रेष्ठ योगसिद्धियों और उनसे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्यु-विहीन मोक्ष तक को भी वह काकविष्ठावत् हेय एवं घृण्य समझने लगता है। अरी मेरी प्रियाओं ! क्या ही आश्चर्य है कि इस चरणरज को मैं बिना किसी प्रयास के ही प्राप्त कर रहा हूँ ? अहा, मेरा कैसा सौभाग्य है ?"

इस प्रकार, गोपियों के, ललिता के, विशाखा के, चित्रा, चम्पकलता और इन्दुलेखा के चरणसरोजों की रज को अपनी कुन्तलराशि से झाड़ने की क्रिया देख-देखकर अन्तरिक्ष के वे सिद्ध, गन्धर्व, देवगण सचकित विस्फारित नेत्र देखते रह जाते हैं।

परन्तु यह क्या, कुछ गोपांगनाओं में प्राण-प्रियतम की यह प्रेमपरवशता सौभगमद की जाग्रति कर देती है। बस, श्री कृष्ण वहीं अन्तर्द्धान हो जाते हैं। फिर तो, अबतक जो वनस्थली आनन्द-कोलाहल से मुखरित हो रही थी, वहाँ श्मशान की-सी गम्भीर नीरवता छा जाती है। अपने प्रियतम को न पाकर एक बार तो सभी गोपियाँ अतिशय संत्रस्त हो उठती हैं। वे जोर-जोर से रुदन करने लगती हैं।

## अर्न्तधान हो जाना

हाय ! उनकी विलाप-क्रिया ऐसी करुण होती है कि मुझ हृदयहीन, भावहीन शुष्क तृण का भी हृदय विगलित हो, द्रवित होने लग जाता है। किसी के ध्यान में जब सब वस्तुस्थिति आती है तो वह कहती है - "बहिनों ! इस प्रकार इस निर्जन एकान्त स्थान पर बैठकर रोने से क्या होगा ? उठो ! यह विषाद छोड़ो। अभी तक तो निश्चय ही प्रियतम हम लोगों से अधिक दूर नहीं गये होंगे, अतः हम उनका यहीं इन वनकुंजों में अनुसंधान तो करें।"

यह बात पूरी भी नहीं हो पाती कि दूसरी सखी अपनी विशेषज्ञता की छाप-सी डालते हुए कहने लगती है - "देखो बहिनों ! उनको ढूँढ़ो भले ही, परन्तु ढूँढ़ने से कहीं वे कंटकाकीर्ण वनपथ में प्रवेश हो गये और उनके सुकोमलतम अंगों में कंटक लग गये तो, उस व्यथा की बात सर्वोपरि विचारणीय हो जायगी। इस तथ्य को प्रधानता देते हुए ही तुम लोग कोई निर्णय लेना ।"

तीसरी, जो अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानती है, कह उठती है - "अरी ! यह सघन कान्तार तो पारावारविहीन है, उनके चरणचिन्ह तो ढूँढ़ो। इस सैकत में से तो एक लघु-से-लघु पिपीलिका भी अपने चरणांकन किये बिना नहीं जा सकती। बस, सखी के इतना कहते ही सभी सखियाँ समुज्ज्वल चन्द्र-ज्योत्स्ना में अपने प्रियतम के चरणचिन्ह ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं।

वन की क्या ही शोभा हो रही है। गोपियाँ रजतसैकत में अपनी ओढनियों में झुक-झुककर चरणचिन्हों को ढूँढ़ती हुई, ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो श्वेत, हरित्, पाटल, पाण्डुर, पीत एवं श्यामवर्ण के विमान नभ से उतर आये हों। गोपियाँ हतप्रभ हो रही हैं,- उस सैकत पर तो उनके प्रियतम प्राणवल्लभ के असंख्य नृत्यरत चरण चिन्ह अंकित हैं। अब वे उनके पलायन की कौन दिशा निश्चित करें ? अहा, गोपियों के नूपुर एवं उनकी कटि-किंकिणी की झंकार इतनी मनोहारी है कि सारा तट ही विलक्षण सुरीले नाद से भर गया है। ऐसा अनुभव होता है मानो वाग्वादिनी असंख्य रूपों में वीणा झंकृत कर रही हों। असंख्य कल्पप्रसूनों से धरा आच्छादित है। चरण चिन्ह ढूँढते-ढूँढ़ते गोपांगनाएँ अपने प्रियतम की स्मृति में इतनी तल्लीन हो उठती हैं कि किसी को किसी लता-ओट, किसी को किसी कदम्बवृक्ष के नीचे अपने प्रियतम का आभास होने लगता है।

देखो, ये सखियाँ परस्पर क्या कह रही हैं ? सुनो तो, इनके हृदय में सापत्य की कैसी व्यथा भरी है ? "अरी बहिनों, देखो न ? प्रेमलीलाविहारी प्रियतम श्यामसुन्दर इस सौभाग्यवती अपनी प्रियतमा सखी का प्रेममद पान किये कैसे मत्त हो रहे हैं ? अरी बहिन ! आलिंगन और विहार करते प्रियतम के मणिमय मञ्जु मंजीर, वलयादि विविध भूषण कैसे मृदु, मधुर झंकार कर रहे हैं। और इस निर्जन यमुनापुलिन के एकान्त में इस परमातिपरम मधुर झंकार को दिगंगनाएँ प्रतिध्वनित करके इसका चतुर्दिक् शत सहस्रगुणा विस्तार कर दे रही हैं। देखो री बहिनों ! यमुना ने भी अपने आनन्द का प्रकाश कमलों में

केशर प्रस्फुटित करके कर दिया है। अरी बहिनों, तुम इस आश्चर्य को भी क्या नहीं देख पा रही हो ? सूर्य के प्रकाश के बिना कमलदल तो कभी विकसित होते नहीं, परन्तु आज तक जो रवितनया अपने पिता-रवि के दर्शन से उत्फुल्ल हुई पद्मों का विकास करती थी अब अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर के दर्शन से निशा काल में ही ऐसा कर रही हैं।"

इतने ही में दूसरी बोल उठती है - "हाँ, हाँ, सखी, कालिन्दी के कर्पूर धूलिपटल-सदृश स्वच्छ सैकततट पर मालतीवन में प्रियतम श्यामसुन्दर का विद्युत्वर्ण पीताम्बर स्पष्ट ही तो परिलक्षित हो रहा है। अरी सखि ! प्रियतम तो मत्त गयन्द की तरह अपनी प्रियतमा के साथ नव-नवनिकुंज-स्थलियों की ओर, लता-पल्लव-जाल से आवृत सुरम्य वनस्थली की ओर बढ़ते ही जा रहे हैं। अहा, उनके नीलद्युति अंग-अंग में प्रेम मद छलक रहा है। उनके चरणों को स्पर्श करती, लटकती वनमाला क्या तुम्हें उनकी मदभरी त्वरित चाल से लहराती नहीं दिख रही है ?" इतने में ही तीसरी उसके पास आ जाती है और कहने लगती है -"निश्चय ही प्रियतम श्यामसुन्दर अपनी प्रियतमा के एकान्त संग के मोहवश ही हमें छोड़कर चले गये हैं। देख ! प्रियतम की अनुकृति करता यह मन्द समीर, लता-वल्लरियों को इसीलिये तो इस प्रकार अपने आलिंगन से झकझोर रहा है। और यह शशांक अपनी प्रिया धरासुन्दरी पर किस प्रकार मतवाला होकर अपनी किरणें बरसा रहा है, तभी न उसके समागम से धरासुन्दरी को रोमाञ्च होने लग गया है। हाय रे, हम हतभागिनियों को तो ये सुधाकर की किरणें अग्निबाण की तरह चुभ रही हैं।"

अब चौथी की बात सुनो । वह तो पूर्णतया ध्यानस्थ है। वह बाहर देख ही नहीं रही। वह तो अपनी ध्यानछबि का ही वर्णन कर रही है -"अरी, अरी बहिनों ! सौन्दर्य-सिन्धु उमड़ा आ रहा है। शोभासिन्धु के अधिदेवता मेरे प्रियतम के अंग-अंग में समाये मानो स्वयं पधार रहे हों। उन परम-सुन्दर प्रेमाधिदेव को मानो अनन्त, असंख्य लोल-लहरियाँ घेरे आ रही हों। उनके वदनारविन्द पर चर्चित चन्दनखौर की लहरें हैं। उनकी कुटिल अलकों में सुचिक्कण कज्जल-सम बाँकी भ्रमरगणों की कृष्णमयता की लहरें हैं। अधर-पुटों पर कभी तो मधुरातिमधुर वंशी निनाद की स्वरलहरी नाच उठती है और कभी परमातिपरम सरस रसमय वाणी की लोल लहर उठ जाती है। उनके कपोलों पर लावण्यमयी मधुरिमा की लहर है। उनके श्रवणेन्द्रियों में, कुण्डलों एवं दमकती मणियों की कान्ति की लहर है। सुन्दर वक्षस्थल पर वनमाला की

उज्ज्वल लहरें नाच रही हैं, कमनीय चरणों के समीप अरुणिम लालिमा लहरा रही है। सुन्दर नखावली पर उज्ज्वल लहरों की आभा फैली है। उनके नयनों में कटाक्षों और भ्रूनर्तन की अतिशय चंचल लहरी नृत्य कर रही है। उनकी ग्रीवा के समीप सौन्दर्य लहरें किञ्चित् बंकिम हो गयी हैं, सुन्दर, विशाल भुजाओं को सुपुष्ट श्यामता आवृत किये है। अहा, श्रृगांरवेश में मेरे हृदय में नित्य विराजित प्रेमदेवता के समस्त अंगों में ही उन्मादी प्रीति की लहरें उठ रही हैं। ये सौन्दर्य के अधिष्ठातृदेव सुन्दर चाल में चलते हुए, इस यमुना पुलिन को रसप्लावित कर रहे हैं।" यह कहती-कहती वह पूर्णतया ध्यानस्थ ही हो जाती है। अब सुनो, पांचवी, चारों को झकझोर कर सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती हुई कह रही है - "अरी ! इस चम्पकतनी सखी को देख रही हो न ? अहा ! देखो न, प्रियतम-प्राणवल्लभ के प्रेम में छकी यह कैसी रसमाती हो रही है। देखो ! प्रियतम नीलसुन्दर भी इसको अपने प्राणों का समस्त रस उँडेलकर मानो आप्यायित ही कर देना चाह रहे हैं। अहा, वे इसके चन्द्रमुख को कितने प्यार से निहार रहे हैं और उस पर शत-शत चुम्बन अंकित करने लग जाते हैं। देखो, इस गोपी ने अपनी सुन्दर मृणाल-सी भुजाओं में प्रियतम को बाँधकर पूर्णतया आलिंगित कर रखा है और उनके सिर से यह कितने रसमय ढंग से अपने सिर को मिला रही है ? प्रियतम, इसका यह अप्रतिम स्नेह पाकर, देख न, सारी चंचलता त्यागकर किसी अनिर्वचनीय प्रेमानन्द में विभोर हुए, उसके हाथ के यंत्र बन गये है। देख न ! इस सुपुष्पित कदम्ब के रत्नमय आलवाल में वे इस सखी की गोद में, इसके प्रेम में मत्त कैसे शान्त शयन कर रहे हें और यह सखी इन्हें सुमधुर पंचम राग आलाप कर, सुना रही है। अरी देखो ! हम सबको धिक्कार है, हतभाग्य ! हम प्रियतम को सुखदान ही नहीं कर सकीं अन्यथा वे हमें छोड़कर जा ही नहीं सकते थे। देखो न ! प्रेमानन्द में विभोर प्रियतम की मुखछवि देखो न ? वे सर्वथा ही इस सखी के ऊपर न्यौछावर हो गये हैं। धन्य है, प्रियतम की प्रेमपरवशता।" अब छठी सखि की बात सुनो :- "अरी बहिन देखो न ? प्रियतम का कैसा निर्मल प्रेमी स्वभाव है। वे अपनी प्यारी प्रियतमा-प्राणवल्लभा को शयन कराने के लिये परम सुकोमल पुष्प-तल्प निर्माण करने जा रहे हैं। देखो न ! इनके नीलद्युति उन्नत भाल पर, उभरे हुए सुन्दरतम कपोल-युग्म पर स्वेदबिन्दु झल-झल, झल-झल कर रहे हैं, परन्तु इस ओर इनका सर्वथा ध्यान ही नहीं है। वे तो अपनी प्रिया की शय्या

निर्माण करने के लिये, पूर्ण दत्तचित्त, एक-एक पुष्प का चयन कर रहे हैं। वे पुष्प-लताओं के पास कितने निर्भय जा रहे हैं। उनके सुकोमलतम चरणों की लाल पगथलियों में कहीं कोई क्षुप, तृण अथवा वीरुध चुभ जाय तो इसकी चिन्ता उन्हें है ही नहीं ? यह चिन्ता तो यहाँ, हम अभागिनें कर रही हैं। अरी ! वे तो एक-एक पुष्प को पहले अपनी हथेली पर रखते हैं, उसकी सुकोमलता की जाँच करते हैं, फिर उसका एक-एक पत्र सूँघते हैं। जब उसकी गंध उनकी नासिका द्वारा अनुमोदित कर दी जाती है तब वे गुच्छ-के-गुच्छ, उस पुष्प को एकत्रित कर, उनसे अपनी प्रिया की शय्या निर्माण करते हैं। यदि वह पुष्प-गंध उनकी नासिका को रुचिकर नहीं लगती तो वे उसी समय उसे छोड़ आगे बढ़ जाते हैं। अरी बहिन चलो न ! उनकी किंचित् सहायता करें, अन्यथा तो, वे प्रेम-परवश सब कार्य स्वयं अकेले अपने हाथों ही करते जावेंगे। देखो री ! प्रियतम ने अपनी प्रिया के श्रृंगार के लिये राशि-राशि सुगन्धित वन्य-पुष्पों को लेकर, उनकी अकेले मालायें बनायी हैं, अब इन्हीं से तो वे अपनी प्रिया को विभूषित करेंगे।"

अब सातवीं कह रही है - "अरी बहिनों ! यह विद्युल्लता-सी तडित्-वर्ण अंगोंवाली सखी ही इनकी प्राणप्रिया प्रतीत होती है। अरी, यह तो अत्यधिक निर्लज्ज प्रतीत हो रही है। देख ! यह प्रियतम से वार्त्ता कर रही है अथवा उनसे लिपटी ही जा रही है ? इसकी केशराशि वेणीबंधन से मुक्त बिखरी है और इसके उरोजों पर काँचली कंचुकी भी नहीं हैं। अरी, गुप्त वार्ता करने का भी कोई शील होता है यह तो मुख से मुख मिलाकर बात कर रही है। अरी, प्रियतम रसिकनागर इसी प्रकार वश में होते हैं। हाय ! हम लज्जा-मर्यादा का ध्यान रखती रहीं और प्रियतम को हमने खो दिया।"

इस प्रकार, अति सुकोमल-हृदया गोपसुन्दरियाँ विरहावेश में आकुल नेत्रों से इतस्ततः सर्वत्र अपने प्रियतम नीलमणि का प्रेमविहार देखने लगीं। प्राणों की तीव्रतम उत्कण्ठा उनके लिये कदली कुंजों में, कदम्ब वृक्षों के नीचे, शरद ज्योत्स्ना में चमचमाते यमुना तट पर इतस्ततः प्रियतम की अनेक प्रेमलीलाएँ, प्रत्यक्षवत् व्यक्त करने लगी। जैसे - प्राणों की तीव्र पिपासा रेगिस्तान में भटके हुए यात्री के सम्मुख मृग-मरीचिका के दृश्य सृजित कर देती है। कतिपय अतिशय कोमल-हृदया गोपांगना-प्रेमिकाएँ तो तुलसी आदि छोटे पौधों से वार्त्ता करने लगीं। कुछ कदम्ब और कदली वृक्षों से अपने प्रियतम का पता पूछने लगीं। कुछ भ्रमरों से ही बात करने लगीं।

गोपियों के सामने मानो समस्त दृश्य सर्वथा विलुप्त है। उनके सम्मुख तो अपने प्रियतम का मुसकान विकिरित करता आनन-सरोज है और उस आनन-कमल पर मधुपान करने के लिये बैठी हुई रसमत्त भ्रमरावली सदृश अलकें हैं। और ये गोपियाँ उन भ्रमरावलियों से कैसे प्रेममत्त हुई आकुल प्रार्थना कर रही हैं - "अहो रसमत्त भ्रमरों ! तुम परम धन्य हो। तुम निरन्तर गुन-गुन करते हमारे प्रियतम का परम अमृत गुणगान करते रहते हो। अत: इस गुणगान से तुममें सज्जन पुरुषों के दयालुता, वत्सलता आदि गुण तो अवश्य ही आ गये होंगे। अहो ! हमारा मन और ये दो नेत्र भी प्रियतम श्यामसुन्दर के नील-कुड्मल सदृश मुखसरोज का मादक मधुपान करने को तुम्हारी ही तरह परम आकुल हो रहे हैं। भाई ! इनको भी अपने साथ सम्मिलित कर लो, न। हाय ! हमारी तो प्रिय-वियोग में जो दशा होनी होगी, वह हो जायगी, ये हमारे नेत्र और मन मधुकर तो तुम्हारे संग प्रियतम-प्रीतिमकरन्द पान कर तृप्त हो जायेंगे। फिर वे अति दीन हुईं प्रियतम श्रीकृष्ण को अपनी विरह व्यथा सुनाने लगती हैं :-

"हे प्राणवल्लभ ! आपका कटाक्ष करता हुआ मधुरेक्षण हमें विमुग्ध करने के लिये मोहन मंत्र है, आपका भृकुटि विलास हमारे लिये मधुररस की फाँसी है और आपकी मृदु, मन्दमुसकान जादूका-सा प्रभाव डालती हमे पंगुवत् कर दे रही है। हे रसोद्गम ! हम सभी आपाकी बिना मोल की दासी हैं। इस अति विषम विरह-व्याल के विष से हम आक्रान्त हो चुकी हैं; अपने अधरामृत-रससिंचन से हमें बचा लीजिये। हे प्राणसुन्दर ! आपके वियोग में यह भीषण विरहदावाग्नि हमें निश्चय ही जलाकर भस्म कर देगी ।

देखो, देखो ! कुछ गोपियाँ मालती, जाति, यूथिका आदि पुष्प लताओं से आलिंगित हुईं, उन्हें मना रही हैं। वे प्रिय अदर्शन से ऐसी ठगी हैं, मानो एक निर्धन को पहले अपार धनराशि प्राप्त हो जाय और तब कोई उसे लूट ले। उन्हें जड़-चैतन्य का बोध ही नहीं है । वे देहानुसंधान रहित हैं। इन विरहिणियों को सर्वभाव की दशा प्राप्त हो गयी है, अत: योगमाया के आवरण से जड़वत् दृष्टिगोचर होतीं तरुगुल्म, लतावल्लरियां गोपियों के लिये चैतन्य मूर्त्तियाँ ही हो उठती हैं।

**हे मालति ! हे जाति यूथिके सुनि हित दै चित।**
**मान-हरन मन-हरन लाल गिरिधरन लखे इत।**

हे केतकि ! इत तैं चितये कितहूँ पिय रूसे।
हे नँदनंदन ! मंद मुसकि तुम्हरे मन मूसे।
हे मुक्ताफल बेलि ! धरें मुक्तामनि माला।
निरखे नैन विसाल मोहने नँद के लाला।
हे मंदार उदार ! वीर करवीर महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर मन हरन धीर गति ।
हे चंदन! दुखकंदन! सब कहुँ जरत सिरावहुँ।
नँदनंदन जगबन्दन चन्दन हमहिं मिलावहु ।।
बूझहु री इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि सोही।
सुन्दर पिय कर-परस बिना अस फूल न होहीं।
हे सखि ! ये मृगवधू, इनहिं किन बुझहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहुँ कतहूँ चितये हरि।
अहो कदंब ! अहो अंब ! निंब, क्यों रहे मौन गहि,
अहो बट तुंग सुरंग बीर ! कहुँ इत उलहे लहि।
जमुन निकट के विटप पूँछि भइ निपट उदासी
क्यौं कहिहैं सखि ! महा कठिन ये तीरथ-वासी।

"अरी मालती ! ओ जाति ! अहो यूथिके ! अरी बहिनों ! हमारी व्यथाभरी बात तनिक आत्मीयता भरे मन से एकाग्र होकर सुनना । बहनों ! क्या तुमने समस्त चराचर भूत-प्राणियों के चित्त चुराने वाले हमारे प्राणनिकेत को इधर से जाते देखा है ? हे केतकि ! प्रियतम हमारे किसी अप्रिय व्यवहार को लेकर रूठ गये हैं। अरी बहिन ! तू अनमनी उदास क्यों हो रही है ? क्या उनकी त्रिभुवनमोहिनी मुसकान ने तेरा मन भी हर लिया है ? तू बताती क्यों नहीं ? क्या तेरा मन भी तेरे पास नहीं रहा ? अरी मुक्ताफली ! तेरी तरह वे भी मोतियों की माला धारण करते हैं, उन त्रिभुवनमोहन को क्या तूने कहीं देखा है ? अहा ! आकर्णविलम्बी उनके नेत्र कैसे विशाल और प्रेममदछके हैं। हे चंदन ! तुम तो अपने शैत्य गुण से सबका ताप हरने वाले हो। क्या तुमको हमारे प्रियतम का कुछ भी अन्वेषण है ? अरे भाई, तुम बोलते क्यों नहीं ? प्रियतम-प्राणवल्लभ तो जगत् वंदनीय हैं और तुम भी तापसंतप्त हृदय की सकल आर्ति हरण करने वाले हो, फिर उनका पता बताकर हमारे हृदयों को परम शीतलता क्यों नहीं देते ? अरी लताओं ! तुम तो अतिशय प्रफुल्लित हो।

अवश्य ही तुमने हमारे प्रियतम के असमोर्ध्व माधुर्य का किञ्चिदंश तो अवश्य ही देखा होगा ? तभी न, विलक्षण आनन्द में सब कुछ विस्मृत कर, भ्रमित-सी हो रही हो । अरी बहनों ! क्या तुम्हें उनका किंचित्संस्पर्श भी मिला है ? अरी, उनका तो सब कुछ परम विलक्षण ही है। अरी, प्रपंच-निर्माता के हाथों से ही विश्व की एक-से-एक अधिक विस्मयजनक वस्तुएं सृष्ट हुई हैं, परन्तु कभी एक भी ऐसी वस्तु निर्मित नहीं हुई जिसका अवलम्बन कर, वे भी हमारे प्रियतम-प्राणवल्लभ के अचिन्त्य स्वरूप-सौन्दर्य, माधुर्य एवं संस्पर्श-सौगन्ध्य की मादकता का अनुमान लगा सकें। यद्यपि हम गँवार गोपियाँ तो किसी प्रकार भी उनकी प्रीति की अधिकारिणी नहीं । फिर भी हम इतना अवश्य जानती हैं कि किसी की भी ऐसी शोभा तभी निखरती है जब वे या तो उसके दृष्टिपथ में आ जाते हैं अथवा उसे अपने मादक संस्पर्श से अभिभूत कर देते हैं।"

"अरी सखि ! इन मृगपत्नियों से भी पूछ देखें ! ये ही कुछ उनका हमें अनुसंधान दे दें। इनके विशाल बडे-बडे डह-डहे नेत्र अवश्य ही हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ की शोभा का संस्पर्श पाकर अति उत्फुल्ल हो रहे हैं। तभी न इन हरिणियों के कण-कण में निराविल परमानन्द बिखर रहा है। हमारे प्रियतम की अमित माधुर्यराशि का बिन्दुमात्र ही सही, इन्होंने पान अवश्य किया है । हे कदम्ब ! हे आम्र ! हे निम्ब ! अहो ! तुम सभीने न जाने हम हतभागिनियों से क्यो चुप्पी साध रखी है ? हे उत्तुंग वटवृक्ष ! तुम ही कुछ बोल दो। क्या तुम्हें भी हम पर दया नहीं आती। हम अपनी खोयी निधि का अनुसंधान पाने, देखो, कैसी विकल एवं आतुर हुईं चतुर्दिक दौड़ रही हैं । कहाँ गये हमारे प्राणरमण सखा ?

गोपियों को जब इनसे कुछ भी उत्तर नहीं मिलता है तो वे अतिशय निराश हो जाती हैं। वे मान लेती हैं कि ये यमुना तटवर्ती तीर्थवासी वृक्ष पण्डा हैं, अत: ये परम स्वार्थी, दयाहीन हैं। इनका स्वभाव ही ऐसा है। अब वे धरादेवी की ओर उन्मुख होती हैं :-

**हे अवनी ! नवनीत-चोर चितचोर हमारे**
**राखे कितै दुराइ, बतावहु प्रान पियारे**
**अहो तुलसि कल्याणि ! सदा गोविंद-पद-प्यारी**
**क्यों न कहति तू नँदनंदन सौं व्यथा हमारी।**

**अपने मुख चाँदने चलैं सुन्दरि तिन माँहीं**
**जहँ आवैं तम-पुंज, कुंज गहर तरु छाँहीं।**
**इहि विधि बन-बन बूझि ढूँढ़ि उनमत की नाँई**
**करन लगीं मन हरन लाल-लीला मन भाई।**

अरी अवनि ! तेरे तृणहीन परमसुकोमल संकुलित भाग पर हमारे प्रियतम के पादपद्म अवश्य ही कहीं न कहीं अवस्थित होंगे। वे जहाँ कहीं भी, अतिशय कमनीय प्रेमभंगिमा धारण किये अपनी किसी प्रेमपात्री को रिझा रहे हों, तू उन्हें हमारी व्यथा अवश्य निवेदन कर दे । अरी, तू तो ठीक-ठीक जानती है कि वे मात्र नवनीत चोर ही नहीं हैं, हमारे चितचोर भी हैं। अरी बहिन तुलसी ! तुम तो परम कल्याणमयी हो। प्रियतम के चारु चरणों में निरन्तर संलग्न रहना ही तुम्हारा सनातन नियम है; तुम प्रियतम-चरण-चिन्हित -कानन के रजकणों में जन्मती हो, तुम्हारी उनके चरणकमलों में अक्षुण्ण प्रीति है- तुम हम पर कृपा करो। हमें उनका किञ्चित् अनुसंधान तो दो।"

इस प्रकार करुण क्रन्दन करती गोपांगनाएँ यमुना के किनारे का बालुकामय प्रदेश त्याग, सघन वन में प्रविष्ट हो जाती हैं।

किन्तु सहसा ही उन्हें उस सखी की बात याद आ जाती है जिसने कहा था कि उन्हें गहन वन में ढूँढ़ो भले ही, परन्तु कहीं वे तुम्हारे अन्वेषण से पलायन करते गहन कान्तार में प्रवेश कर गये तो -- उस कंटकाकीर्ण वन-पथ में चलने से उनको जो व्यथा होगी, उसको सर्वोपरि ध्यान में रख लेना। यह विचार करके गोपियाँ वहीं उस सुरम्य वन में अपने प्रियतम की रसमयी लीलाओं का अनुसरण करने लग जातीं हैं।

**तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।**
**तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः।। श्रीमदभागवत ।।**

हे जगत् के जीवों ! देखा तुमने, महज्जन चरण-रेणु की कृपा का चमत्कार। जो श्रीकृष्ण प्रकृति से परे की वस्तु हैं, जो स्वप्रकाश, परमानन्द-स्वरूप हैं, जिन्हें इन्द्रियाँ प्रकाशित कर ही नहीं सकतीं, मात्र कृपा परवश ही अपनी स्वप्रकाशिका शक्ति से किसी की बुद्धि में वे भले ही उतर आवें। जो स्थूल नहीं, अणु नहीं, क्षुद्र नहीं, विशाल नहीं, घन नहीं, द्रव नहीं,

छाया नहीं, तम नहीं, तेज नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, नेत्र नहीं, कर्ण नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, मुख नहीं, प्राण नहीं, माप नहीं, संग नहीं - इस प्रकार समस्त अपरमात्म, मायिक पदार्थों का निषेध कर ब्रह्मका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के द्वारा जिनके सच्चिदानन्दस्वरूप का संकेत प्राप्त होता है; उनकी अपार कृपा के बल पर मुझे कैसी विलक्षण लीलाओं के दर्शन हो रहे हैं। मेरा मन इन महाभाग्य गोपियों का दर्शन ही नहीं कर रहा है, इनके परम गोपनीय से गोपनीय प्रेमभाव भी मेरे सम्मुख इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं मानो मैं इनके मन का साक्षी हो गया हूँ। उनकी कृपा से मैं एक-एक गोपी के भावों से अपने तृण-हृदय को भावित पा रहा हूँ, मानो मैं तृण नहीं रहा होऊं, मेरा पर्यवसान गोपीदेह में ही हो गया हो। अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ने अपनी किसी अनन्त कृपा के हेतु से ही मुझे यह तृण-भाव दिया है।

देखो, गोपियों का मन अपना मन रहा ही नहीं, स्वयं श्रीकृष्ण ही हो गया। उनके शरीर की प्रत्येक चेष्टा ही कृष्णमयी बन गयी। वे उनकी बोली बोलने लगीं। वे उनकी ही तरह चेष्टा करने लगीं और उनका गुण-गान करती उनकी लीलाएँ करने लगीं तथा उनमें निमग्न हो गयीं। उन्हें अपने शरीर का  भान ही नहीं रहा। फिर घरों की स्मृति का तो प्रश्न ही कहाँ था ?

मोहन लाल रसाल की लीला इन्हहीं सोहैं।
केवल तन्मय भई न जानैं कछु हम को हैं।
हरि की सी सब चलनि विलोकनि बोलनि हेरनि।
हरि की सी गायन टेरन घेरन पट फेरनि।
हरि की सी वन आवन गावन अति रसरंगी
हरि सम कौतुकरचन नटन नव ललित त्रिभंगी।
श्रीदामा बन भाग चढ़त कोउ कान्हर काँधे
कोउ यशुमति बन कान्ह दाम गहि  ऊखल बाँधैं।
कोउ यमलार्जुन भंजत गंजत कालियबल कौं
कोउ कह मूँदहु नयन सोच नहिं दावानल को।
कोउ गिरिवर अम्बर को कर-धर बोलत है तब।
निधरक इहि तर रहौ गोप-गोपी-गोधन सब।

**भृंगी भयतैं भृंग होय जब कीट महा जड़।**
**कृष्ण प्रेम तैं कृष्ण होइ तब का अचरज बड़।**

देखो ! देखो ! यह पूर्णयौवना गोपी तीन वर्ष के वय की हो गयी है और नन्दनन्दन बनीं अपने अंगों में पुरुषोचित धोती धारण किये है। और इस दूसरी गोपी को देखो, इसने जननी यशोदा का आवेश ग्रहण कर लिया है।

लो, यह गोपी ठीक श्रीकृष्ण की तरह कौमार्य की चेष्टाएँ कर रही है। देखो ! इसने दूसरी गोपी को, जो विशालकाय साँड बनी डकार रही है-उसकी पूँछ पकड़कर उमेठना आरंभ कर दिया है और लो, अब तो यह साँड बनी गोपी की ग्रीवा पर, पीठ पर उछल कर चढ़ गयी है। यह उसके श्रृंगों को पकड़कर उससे विविध कीड़ा कर रही है। और यह दूसरी गोपी जो नन्दरानी बनी है, किस प्रकार भयभीत हुई इसे निवारण करने की चेष्टा कर रही है। इस गोपी की चाल, विलोकनि, दृष्टि, वाणी, बोली बोलने का ढ़ंग सब ठीक श्रीकृष्ण की ही तरह हो रहा है। उसके नाट्य में इतनी स्वाभाविकता है कि देखनेवाला आश्चर्य ही करेगा। अब देखो ! यह कृष्ण बनी गोपी जननी यशोदा बनी गोपी के सम्मुख हठ करती गा रही है।

**मैया री मैं गाय चरावन जैहों।**
**तू कह, महरि ! नन्द बाबा सौं, बड़ो भयो न डरैहौं !!**
**श्रीदामा लै आदि सखा सब अरु हलधर सँग लैहौं।**
**दह्यौ भात कौंवरि भरि लैहौं, भूख लगै तब खैहौं।**
**वंसीवट की शीतल छैंयां खेलन में सुख पैहौं।**
**परमानंद दास सँग खेलौं, जाय जमुन तट न्हैहौं !!**

और यशोदा बनी गोपी का इस हठगान को सुनकर रोम-रोम आनन्द पूर्ण हो उठा है। परन्तु वह इतने नन्हें से नीलमणि को वन में गोचारण करने भेजेगी, इसकी तो वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं करती । यह यशोदारानी बनी गोपी देखो किस प्रकार प्रसंग बदलकर अपने नीलमणि को सुलाने की चेष्टा कर रही है।

परम भाग्यवान् तृण देख रहा है, सम्पूर्ण वन में नाट्यवेश धारण किये असंख्य गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की असंख्य लीलाओं का अनुकरण जीवन्तवत् कर रही हैं। वे अपने प्रियतम-प्राणवल्लभ मनमोहन के परम

रसमय हावभाव से एकात्म हो चुकी हैं। वे अतिशय तन्मय हुई सर्वथा आत्म-विस्मृत कर गयी हैं कि हम गोपी हैं।

## कृष्णजन्म लीलानुकृति

देखो । यहाँ व्रजेन्द्रगेहिनी, यशोदा सूतिकागार में नेत्र निमीलित किये चुपचाप निस्पन्द बैठी हैं। रोहिणी के भी नेत्र निमीलित हैं। अन्य समस्त परिचारिकायें भी निद्राभिभूत बाह्यज्ञानशून्य हो रही हैं। यशोदा के कोड़ से संलग्न सच्चिदानन्दकन्द हरि शिशुरूप में अवस्थित हैं।

देखो ! पुरमहिलाओं का दल नन्दप्रांगण में एकत्र होने लगा और तुमुल आनन्दध्वनि से सतिकागार ही नहीं, नन्दप्रासाद मुखरित हो उठा। देखो, देखो ये गोपियाँ गा रही हैं :-

**नैन भरि देखो नन्दकुमार।**
**यशुमति कूख चन्द्रमा प्रकट्यौ या व्रज कौ उजियार ।।**
**बन जिन जाउ आजु कोउ गोसुत अरु सब गाय गुवार।**
**अपनें अपनें भेष सबै मिलि लावौ विविध सिँगार।।**
**हरद-दूब-अच्छत-दधि कुंकुम मंडित करो दुवार।**
**पूरो चौक बिबिध मुक्ताफल, गावहु मंगलचार ।।**

देखो, यह गोपी शहनाई बजा रही है। इसने पत्तों को मोड़कर पोले बाँस से शहनाई बनाई है। लो, ब्राह्मण आ गये। यह गोपी, व्रजेश उपनंद बनकर ब्राह्मणों का पूजन कर रही है। अहा, यह नन्दराय बनी गोपी कैसी आनन्दमत्त नृत्य कर रही है ? यहाँ कृष्णजन्म की लीला चल रही है। और इधर देखो, यह गोपी गा रही है :-

**आज कहूँ ते या गोकुल में अद्भुत वर्षा आयी हो।**
**मणिगण हेम हीरधारा की व्रजपति अति झरि लायी हो।**
**बानी वेद पढ़त द्विज-दादुर हियें हरषि हरियारे हो।**
**दधि घृत छीर नीर नानारँग बहि चले खार पनारे हो।**

देखो ! इस रोहिणी बनी गोपी को देखो। यशोदानन्दन का मुख कैसे चाव से हेर रही है ? इसका रोम-रोम आनन्द में निमग्न है।

देखो, गीत गाती गोपी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही है। ये आँसू आनन्द के हैं:-

पटह-निसान-भेरि-शहनाई महा गरज की घोरें हो।
मागध-सूत बदत चातक-पिक बोलत बंदी-मोरें हो।
भूषन-बसन अमोल नंदजू नर-नारिन पहराये हो।
साखा फल-दल-फूलन मानो उपवन झालर लाये हो।
आनँदभरि नाचत ब्रजनारी पहिरें रँग रँग सारी हो।
बरन-बरन बादरन लपेटी विद्युत न्यारी-न्यारी हो।
दरिद्र-दावानल बुझे सबन के जाचक-सरबरपूरे
बाढ़ी सुभग सुजस की सरिता, दुरित-तीर-तरु चूरे।
उन्हयौ ललित तमाल बाल एक भई सबन मन फूल।
छाया हित अकुलाय गदाधर तक्यौ चरन को मूल ।।

अरे ! यह गोपी अपनी सखियों से क्या कह रही है :-

सखीकुल ! गोकुलराजं पश्य ! (सखियों ! गोकुलेश्वर नन्दजी को तो देखो।)

पुत्रोत्सवमनु खेलाभाजम् (पुत्रोत्सव के आनन्द में निमग्न होकर वे कितने चंचल, कितने कौतुक-परायण हो रहे हैं।

उदधिप्रभदधिसम्प्लवदेशम्
परितोघूर्णितमन्दरवेशम्
मध्यघटीफणिराजे कृष्टम्
हृद्यसुहृद्भिरतीव च दृष्टम्
मध्ये मध्ये दुर्लभदानम्
ददतं दधतं विस्मयभानम्
एकं पुनरलमभवदपूर्वम्
अजनि विधुः बत यदितः पूर्वम्।

(देखो तो सही, बहनों ! यह सामने का दृश्य देखकर मुझे तो सागर मन्थन की स्मृति हो रही है । यह दही से भरा हुआ व्रज सागर जैसा हो गया है। उसमें मन्दर पर्वत के समान नन्दराय सर्वत्र घूम रहे हैं। उनकी कमर में लपेटा हुआ वस्त्र घृत-दधि से चिकना होकर, फूलकर ठीक वासुकि-नाग-जैसा बन गया है। उसे पकड़कर उनके प्रिय सुहृज्जन इधर-उधर खींच ले जा रहे हैं। देखो ! वे अतीव प्रसन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं जैसे समुद्र-मंथन के समय अनेकों रत्न निकल रहे थे, मन्दर-पर्वत सागर के रत्नों को निकाल-निकाल कर फेंक रहा था, वैसे ही ये नन्दरायजी बीच-बीच में रत्न-राशि लुटाने लग जाते हैं। अहा ! आज इनकी कैसी आश्चर्यमयी शोभा है ? परन्तु इस सागर-मंथन में एक अपूर्व बात हुई है। सर्वत्र प्रसिद्ध है -- चन्द्रमा मन्थन प्रारंभ होने पर- सागर मथे जाने पर निकले थे। पर नन्द का यह शिशुचन्द्र तो मन्थन होने के पूर्व ही प्रकट हो गया।)

## पूतना लीलानुकृति

अरे, इस नन्दभवन की ओर जाती हुई गोपांगना को तो देखो ! यह पूतना बनी है। श्री मद्भागवतकार ने इसका जैसा वर्णन किया है, सांगोपांग इसने वही रूप धारण किया है । इसकी लहराती हुई वेणी में मल्लिकापुष्प गुम्फित हैं। वृहत् नितम्बभार एवं वक्षस्थल के कारण रमणी कृशोदरी है, सुन्दर साड़ी से इसके समस्त अंग आच्छादित हैं। हिलते हुए कर्ण-कुण्डलों की आभा से इसकी केशराशि दमक रही है। ऐसी दमकती हुई कुन्तलराशि से इसका मुख अलंकृत है; होंठों पर मन्द-मन्द मुसकान है। स्मितसमन्वित वक्र कटाक्ष-निक्षेप से व्रज-वासियों का मन हरण-सा करती हुई एक हाथ से कमलपुष्प घुमाती हुई वह मन्थरगति से चली जा रही है। अरे गोपियाँ इसे साक्षात् सर्व-सम्पद् अधिष्ठातृ श्रीदेवी समझकर, इसका स्वागत कर रही हैं। इसे कोई भी रोकता नहीं। निर्बाध वह वहाँ पहुँचती है जहाँ व्रजरानी बनी गोपी, शिशु बने नन्दनन्दन को लाड़ लड़ा रही है।

अरे, यहाँ तो शिशु का पालना-उत्सव हो रहा है।

**कनक रतन मनि पालनो गढ़्यो काम सुतहार ।**
**विविध खिलौना भाँति के गजमुक्ता चहुँ धार ।।**

**जननि उबटि अन्हवाय कैं अति क्रम सौं लये गोद ।**
**पौढाये पटपालने सिसु निरखि-निरखि मन मोद।**
**अति कोमल दिन सात के, अधर-चरन-कर लाल।**
**सूर स्याम छबि अरुनता निरखि हरष ब्रजबाल।**

अहा ! कैसा अभिनव स्वर्णमंडित एवं रत्नजटित पालना कामदेव नामक सुतहार(सुथार) ने निर्माण किया है । इसके चारों ओर गजमुक्ताओं के गुच्छ लटक रहे हैं। और इसकी ऊपर की दंडी में विविध भाँति के खिलौने लटके हैं। माता यशोदा ने कन्हैया को पहले उबटन करके फिर तैल लगाकर शास्त्रीय क्रम से पंचामृत आदि पदार्थों से नहलाया है। फिर पालने के पट पर सुन्दर सुकोमल गद्दी में सुला दिया है। श्रीकृष्ण मात्र सात दिन के ही वय के हैं। उनके दोनों चरण एवं दोनों हाथ लाल-लाल अरुणाई लिये हैं। यह अरुणाई ऐसी सुखद है कि गोपियाँ देख-देखकर निहाल हो रही हैं।

देखो ! रोहिणी आदि अनेक सखियों से घिरी यशोदा, श्रीकृष्ण बनी गोपी को चूम-चूम कर अति प्रमुदित हुई गीत गा रही है । यह राक्षसी बनी गोपी कुछ दूरी पर खड़ी हो जाती है। देखो, नन्दरानी बनी गोपी की दृष्टि इस पर पड़ जाती है। इस अतिशय दिव्य रमणी को देखकर वे चौंक जाती हैं। उसकी अभ्यर्थना करती हैं।

देखो, इस पूतना बनी गोपी के मुख पर पैशाचिकता का उल्लास छा जाता है। वह मधुमिश्रित स्वर में अपना परिचय देती है :-

**"गोप्य: ! अहं मथुरावासिनी विप्रकामिनी। साम्प्रतं वाचिकवक्त्रेण मंगलसूचकम् तत्वम् श्रुतं। स्थविरे काले महान् नन्दपुत्र: बभूव इति। श्रुत्वा अहं तं द्रष्टुं आशिषं कर्तुम् ईप्सिताम् आगता ।"**

"अरी गोपियों । मैं मथुरावासिनी ब्राह्मण-पत्नी हूँ । अभी संदेशवाहकों के मुख से परम मंगल सूचक समाचार सुन पायी कि नन्दराय को इस वृद्ध वय में सर्व सुलक्षण सम्पन्न पुत्र हुआ है; बस, यह सुनते ही मैं उसे देखने और अभिलषित आशीर्वाद देने चली आयी हूँ।" वह कहती ही चली जाती है और व्रजरानी एकटक उसकी ओर देखती रहती हैं।

**“मम च सर्वश्रेयस्तननौ स्तनौ नित्यममृतं क्षरत: येन पीतेन सोऽयं निस्सन्देह सिद्धदेह: स्यात्। तस्मादहमस्य सर्वसुखविधातृधात्री च भविष्यामि।”**

“मेरे इन सर्व मंगलदायी स्तनों से निरन्तर अमृत झरता है। जिसके पीने से तुम्हारे शिशु का शरीर अमर हो जायगा। अत: मैं तुम्हारे बच्चे की सर्वसुखदात्री धाय बनकर यह अमृतमय दूध उसे पिलाने आयी हूँ।”

देखो, निशाचरी यशोदानन्दन बनी गोपी की ओर बढ़ने लगी। वह तो निमीलित-नेत्र होकर पालने पर ठीक यशोदानन्दन श्रीकृष्ण की ही मुद्रा धारण कर शिशु-सुलभ-भंगिमा का सांगोपांग अनुकरण करती हुई, आँखें मूँदे है मानो ऐसी महादुष्टा का मुख देखना उसे अभिप्रेत नहीं हो। अहा ! यह गोपी तो मात्र श्रीकृष्णकी अनुकृति ही कर रही है, परन्तु इसके ध्यान में तो नन्दनन्दन पूर्णतया प्रतिचित्रित हैं ही, अत: इसके अञ्जन-निमीलित नेत्रों की शोभा तो देखते ही बनती है। यह अपने प्रियतम प्राणवल्लभ के बाल्यस्वरूप में इतनी तदाकार तन्मय है कि इसके मुख पर, नेत्रों पर, व्रजेन्द्रनन्दन के बाल्यसुलभ-भाव की हूबहू छवि झलमला उठती है। इसके नेत्रों को देखकर यही अनुभव होता है मानो नीलकमल-कोरकों की सम्पुटित अग्रिम पंखुड़ी पर दो मधुमत्त भ्रमर विश्राम कर रहे हों।

देखो ! यशोदा एवं अन्य गोपियों के देखते-ही-देखते यह राक्षसी अतिशय वात्सल्यपूर्ण प्रेमपूरित हाव-भाव का प्रदर्शन करके कंचुकी को अपसारित करती हुई नन्दतनय बनी गोपी के होठों पर दुर्जर विषसंसिक्त स्तनाग्र रख देती है। देखो, यह गोपी ठीक नन्दनन्दन की ही तरह चुक्-चुक् शब्द करती हुई दूध पीना आरम्भ कर देती है। पर यह केवल दूध ही नहीं पीती, यातुधानी बनी गोपी के मानो मलिन प्राणों को भी पीने लग जाती है। दो ही चार क्षणों में यातुधानी बनी गोपी ऐसा नाट्य करती है, मानो वस्तुत: ही उसके समस्त मर्मस्थानों में अतिशय पीड़ा होने जा रही हो। “अरे छोड़ ! छोड़ दे रे” - कहती वह यशोदानन्दन बनी गोपी को वक्षस्थल से उठाकर अलग दूर फेंक देना चाहती है। परन्तु इस गोपी ने तो उसके स्तनों को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है । वह अपना सारा बल लगाकर छुड़ाने की चेष्टा करती है परन्तु तो भी हाथ तो छूटते ही नहीं। अब तो मर्मान्तक व्यथा से वह हाथ-पैर पटकती हुई भयंकर चीत्कार करने लगती है।

देखो, यह गोपी मायाविनी का नाट्य करती उड़ने का अभिनय करती है । अब तो उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी है; वह निष्प्राण होकर गिर पड़ती है। गोपांगनाएँ यशोदानन्दन बनी गोपी को उठाकर तुरन्त छाती से लगा लेती हैं ।

## शकटभंजन लीलानुकृति

अब देखो, यहाँ हो रही- शकटभंजन लीला की शोभा देखें।

इस गोपी में, जो श्रीकृष्ण बनी है, अपने अंगुष्ठ-क्षरित्-रस की महिमा का तत्व जानने की तीव्र इच्छा, उस रस के पान का अदम्य लोभ जाग्रत हो उठा है। अहा, इतनी वयस्क होकर भी वह अपने अंगुष्ठ को पी-पीकर कितनी प्रसन्न हो रही है। अरे भाई, तुम्हारी फूटी आँखें इसे गोपी देख रही हैं, यह है तो एक अभिनव बालभंगिमा का प्रकाश करने वाले, अपनी ही बाललीला-माधुरी का स्वयं ही रसलेने वाले नन्दनन्दन। अभी तक तो ये शय्या पर उत्तानशायी होकर किलक रहे थे। हठात् इन्होंने अपने आप अपनी दाहिनी ओर करवट ले ली। फिर क्या था, इनको करवट के बल सोये देखकर यशोदा, रोहिणी आदि धात्रियों के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। एक ही साथ गोपियाँ हर्ष की तुमुल-ध्वनि से प्रांगण को निनादित करती नाच उठीं। नन्दरानी का तो रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। वे दौड़ी आयीं। पुत्र का मुख-चुम्बन करती सुख-समुद्र में डूबने-उतराने लगीं। औत्थानिक उत्सव की धूमधाम में ही नन्दनन्दन इस शकट के नीचे आ गये हैं। नन्दराय के रत्न-प्रांगण में ही यह वृहदाकार शकट रखा हुआ है, उसके नीचे सुन्दर दोलिकामञ्च (पलना) टँगा है। इसके पाये प्रवालनिर्मित हैं। पट्टियाँ मरकतमणि-रचित हैं। अरुण क्षौम (रेशम) की डोरी एवं फीते हैं, तूलपुष्ट (रुई भरा) आस्तरण बिछा है। चतुर्दिक इसके तूलनिर्मित उपधान (तकिये) लगे हैं । इसी पलने पर माता यशोदा इन्हें सुला गयी हैं।

लो, यह उत्कच बनी गोपी भी आ गयी। अहा, यह वायु की लहर का कैसा कृत्रिम प्रदर्शन अपने नाट्य में कर रही है। शकट के नीचे अकेले किलकते, अंगुष्ठ-रसपान-संलग्न नन्दपुत्र को यह उत्कच बनी गोपी निहारने लगती है। देखो ! यह मन्दस्वर में बुदबुदाती बोल रही है- "पूतना का प्राणहरण करने वाला बालक यही है। यह इस महान शकट के नीचे अवस्थित

है, इसके सम्मुख जाकर इसके प्राण ले-ले, ऐसा तो किसी भी प्राणी के लिये संभव नहीं दीखता। छद्म करके पूतना मर ही चुकी है, अतः छद्म भी मेरे लिये निरापद नहीं है। इसीलिये अलक्ष्य रहकर मैं अपने उद्देश्य की सिद्धि करूँ- यह विचार करता उत्कच उस शकट को दबाने लगता है । 'चरमर' 'चरमर' शब्द करता शकट कम्पित होने लगता है।

सहसा नन्दनन्दन के चरण उछालने से उनका एक चरण-भाग शकट से स्पर्श कर जाता है। शकट अकस्मात् आकाश में उछलता है, और गिर पड़ता है। उसकी चोट से उत्कच चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, वायु देह छोडकर दिव्य देह से बालक्रीडासक्त गोलोकविहारी नन्दनन्दन को वह प्रणाम करता है, और विमान पर आरूढ होकर गोलोक को प्रस्थान कर जाता है।

देखो, उपनन्द जी एवं उत्सव करती गोपमण्डली - 'नारायण, नारायण, त्राहि, त्राहि, दयासिन्धो ! करुणामय ! जगत्पते ! रक्षा करो, रक्षा करो,- पुकार उठती है। व्रजेन्द्र गद्गद् कण्ठ से "नारायणाखिल गुरो भगवन्नमस्ते !" कहते बालक को उठाने लगते हैं। रोहिणी यशोदाजी को तुरन्त सूचना देती है कि श्रीकृष्ण सुरक्षित हैं। यशोदा रानी बालक को स्तनपान करा रही हैं।

## मल्ललीलानुकृति

और देखो ! यहाँ मल्ललीला हो रही है। दो प्रबल मल्ल हैं, एक बलराम बनी गोपी और दूसरी श्रीकृष्ण बनी गोपी। दोनों में अभूतपूर्व बाल्यभाव है। देखो बाललीला-रस-पान से छकी इन व्रजांगनाओं के लिये समस्त अमृत-राशि निस्सार हो चुकी है। हे जगत् के जीवों ! जिन तुच्छाति तुच्छ वैषयिक सुख की वासना- जिसमें तुम आपाततः लिप्त हो, उसके आकर्षण का तो इनमें प्रश्न ही नहीं, योगीन्द्र-मुनीन्द्रवांछित मुक्तिसुख भी इन के इस लीलानन्द की तुलना में इन्हें नमक सा कटु प्रतीत हो रहा है।

देखो, इन गोपियों का आनन्दवर्धन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र बाहुक्षेप करते- ताल ठोंक रहे हैं। उस समय गोपियाँ कह बैठती हैं - "नीलमणि ! तेरी अपेक्षा तो राम में बल अधिक है।" यह सुनते ही देखो, श्रीकृष्ण बनी गोपी अपने चूर्ण-कुन्तल-मण्डित सिर को किस प्रकार हिला-हिलाकर असम्मति

प्रकट करने लगती है। देखो, यह रोहिणीनन्दन राम बनी गोपी भी अपने अनुज की ओर देखकर कैसी निर्मल स्वाभाविक बाल हँसी हँस रही है। गोपांगनाएँ दोनों को पुचकार कर पास खड़ा कर दे रही हैं और स्वयं दो मण्डलों में विभक्त हुई एक मण्डली श्रीकृष्ण बनी गोपी का पक्ष ले रही है और दूसरी बलराम बनी गोपी का। फिर तो अपनी-अपनी भुजायें फैलाकर दोनों लिपट पड़ते है। परस्पर एक दूसरे के प्रति अपना प्राबल्य दिखाते हुए से कभी श्रीकृष्ण ऊपर तो राम नीचे और राम ऊपर तो श्रीकृष्ण नीचे - इस प्रकार एक परममनोहारी अभिनव मल्लक्रीड़ा दोनों में सम्पादित हो रही है।

## माखनचोरी लीलानुकृति

लो, इस सखी का आवेश तो देखो। यह मनोरथ कर रही है :- "हे मेरे प्राणवल्लभ ! कभी तो मेरे घर भी आओ। मेरे घर का नवनीत ग्रहण करो। यदि मेरे सम्मुख रहने पर तुम्हें संकोच हो तो नाथ ! मैं दधिमंथन करके सद्य-सुमिष्ट मक्खन निर्माण कर, तुम्हारे लिये छींके में रख कर इधर-उधर चली जाऊँगी। तब तुम आना, मेरे घर पर बैठकर अपने सखाओं के सहित यथारुचि मक्खन आरोगना। मैं यह तुम्हारी लीला छिपकर देखूँ और देख-देखकर निहाल हो जाऊँ। हे भगवान नारायण ! कृपा करो ! हाय ! मेरी यह साध पूरी कर दो ।"

ग्वालिन तो इधर अपनी जान में अपने मन के ये भाव भगवान् की घर में राजित प्रतिमा के सम्मुख गुप्त रूप में, प्रार्थना के रूप में प्रकट कर रही है; परन्तु देखो, ये एक दूसरी गोपी के रूप में बने अनन्तैश्वर्यनिकेतन भक्तवाञ्छाकल्पतरु, प्रेम के भूखे उसके प्रियतम श्रीकृष्ण स्वयं सुन रहे हैं और मन-ही-मन लो 'तथास्तु' उनके मुख से निकल ही तो जाता है।

देखो, यह गोपी यंत्र-परिचालित सी दही-बिलौना कर रही है। इसके हाथ ही दधिमंथन कर रहे हैं, परन्तु मन तो द्वारदेश में ही अटका है, रह-रह कर उसे भ्रम होता है मानो श्रीकृष्णचन्द्र उसके द्वार पर खड़े हैं। वह विस्फारित-नेत्र उधर ताकती है, परन्तु द्वार सूना पाकर पुनः अपने भावों में डूब जाती है।

परन्तु वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन वस्तुतः ही उसके मनोरथतन्तु में बँधे उसके घर की ओर चल पड़ते हैं। जननी लपककर उन्हें थाम लेती है परन्तु अतिशय चेष्टा करके भी पक्वान्न-मिष्ठान्न वे उन्हें नहीं

खिला पाती हैं; केवल मात्र किंचित् माखन ही उसके मुख में डाल सकी हैं। आज क्षणभर का भी विलम्ब उसके कन्हैया को सर्वथा असह्य हो रहा है । वे जननी का हाथ छुड़ाकर अन्तत: भाग ही जाते है। यशोदा मैया भी आश्चर्यचकित है क्योंकि नीलमणि को बाहर जाने के लिये इतना व्यग्र उन्होंने प्रथम बार ही देखा है।

बलराम एवं अन्य गोपबालक घर से उनके साथ अवश्य चले थे किन्तु पथ में सभी पीछे रह गये। भ्रान्त होकर दूसरी ओर बढ़ गये। श्रीकृष्णचन्द्र निर्बाध एकाकी ग्वालिन के घर पर पहुँच गये हैं। ग्वालिन ने इस बार ज्यों ही द्वार की ओर देखा - "हैं ! नन्दनन्दन तो मेरे द्वार पर खड़े हैं। ओह, यह रूप !" ग्वालिन के प्राणों में स्पन्दन होने लगता है। पर वह जानती है कि क्षणभर का वियोग उसके मनोरथ को छिन्न-भिन्न कर देगा। ग्वालिन विद्युद्गति से अपने को एक मणिस्तंभ के पीछे छुपा लेती है।

देखो, श्रीकृष्ण बनी गोपी कैसी चुपचाप घर के भीतर प्रवेश कर जाती है। मथानी के निकट शान्त, मौन होकर बैठ जाती है और इस गोपी की कैसी दशा है। इसे तो मानो सचमुच ही श्रीकृष्ण के दर्शन हो गये हों। यह मतवाली होकर गा रही है -

**मुख पर चंद डारौं वारि**
**कुटिल कच पर भ्रमर वारौं, भौंह पर धनुवारि।**
**भाल केसर तिलक छबि पर मदन शत-शत वारि।**
**निरख कुंडल तरणि वारौं, कूप श्रवणन वारि।**
**झलक ललित कपोल छबि पर मुकुर डारौं वारि।**
**नासिका पर कीर वारौं अधर विद्रुम वारि।**
**दसन पर कनि वज्र वारौं बीज दाड़िम वारि**
**चिबुक पर चित वित्त वारौं प्रान वारौं डारि।**
**सूर प्रभु की निरख शोभा को सकै जु निहारि ।**

लो, अब यह सौन्दर्यसागर मानो तरंगित हो उठता है। श्रीकृष्ण नवनीत चोरी की लीला करने चलते हैं। चंचल नेत्रों से एक बार वे द्वार की ओर देखते हैं फिर पात्रों में से माखन निकालकर खाने लग जाते हैं। सहसा मणिस्तंभ में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है । उन्हें प्रतीत होता है मानो मेरे आने से पूर्व ही एक अन्य शिशु यहाँ आया है और मणिस्तंभ से

सटा बैठा है । देखो, देखो श्रीकृष्ण कैसे भयग्रस्त हुए इसे मना रहे हैं। वे इसे अपने हाथ का मक्खन उत्कोच रूप में देना चाहते हैं। लेकिन खंभ से टकराकर नवनीत नीचे भूमि पर गिर जाता है। वे उसे पुनः समझाते हैं। "देख, इस प्रकार मक्खन फैंकते थोड़े ही हैं। खाले, भाई, हम दोनों मित्र हैं।

नन्दनन्दन की इस प्रकार की मुग्धलीला देखकर ग्वालिन के हृदय में प्रेमसमुद्र लहराने लगता है। उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। आनन्द पूरित हँसी के रूप में वे ऊर्मियाँ बाहर प्रकट हो जाती हैं। वह स्तंभ की ओट से बाहर निकल आती है। श्रीकृष्णचन्द्र भी ग्वालिन को देख लेते हैं। एक अप्रतिम सुमधुर संकोच की छाया नन्दनन्दन के मुख को आवृत कर लेती है, साथ ही वे तुरन्त उठकर कुञ्जवीथी की ओर भाग चलते हैं।

वह बड़भागिनी गोपी तो आत्मविस्मृत है। वह विक्षिप्त सी घर से बाहर निकल पड़ती है । उसकी विचित्र दशा है । उसके रोम-रोम से आनंद झर रहा है। वह दूसरे ही मनोराज्य में रह रही है। इस शरीर में आवे तो कोई बात बतावे। उन्मत्त सी मौन इधर-उधर वह घूम रही है।

## दामोदर लीलानुकृति

अब यहाँ और ही छबि देखें। श्रीकृष्णचन्द्र जननी के अपराधी हैं। जननी उनका एक हाथ पकड़े उन्हें भवन की ओर ले चलती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी देखो, कैसी बाल्यवत् अश्रुमार्जन कर रही है । उसके नेत्रों में लगा काजल अश्रुप्रवाह से धुल-धुलकर कपोलों को सिक्त कर रहा है। रुक-रुककर दूसरे हाथ से वह अश्रुमार्जन करने लगती है। भय-विह्वल नेत्रों से वह गोपी बारबार सिर उठाकर जननी बनी गोपी के मुख की ओर देखती है। किन्तु जननी बनी गोपी आज दया का लेश भी प्रकट नहीं कर रही। बार-बार वह स्वर्ण छड़ी को ऊपर उठाती है तथा ऐसी मुद्रा बनाती है मानो आज वह इस छड़ी से निश्चय ही श्रीकृष्ण के सुकोमल अंगों पर प्रहार करेगी ही। देखो श्रीकृष्ण बनी गोपी आकुल-कण्ठ से पुकार उठती है- मेरी मैया ! अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा। किन्तु जननी बनी गोपी का हृदय तनिक भी नही पसीजता। और भी रोषभरी वाणी में वह उसकी भर्त्सना करने लगती है। 'अरे चञ्चलमति ! रे क्रोधी ! रे लोभी ! अरे वानरबन्धु ! रे असद्वाक्

विद्यावाचस्पति ! रे गृहलुण्ठनकारी ! बहुत उत्पात मचाये है। आज उन सब अपराधों का दण्ड मैं तुझे अवश्य दूँगी। चल, बता, कहाँ हैं तेरे खिलौने ? सब लाकर मुझे दे दे। मैं सारे खिलौने ले लूंगी। और फिर देख, इस छड़ी की ओर।" इस प्रकार जननी शमन को भी भय देने वाले विश्वभयहारी श्रीकृष्णचन्द्र को भय दिखाने लगती है । व्रजेन्द्रनन्दन का यह करुणक्रन्दन पार्श्ववर्ती आभीर सुन्दरियों के कानों में जा पहुँचता है। सबसे पहले देखो, यह वृद्धा गोपी व्रजेश्वरी को सीख देने आयी है। देखो ! वह कैसी रोषभरी यशोदा को डाँट रही है और गोपियाँ भी उसके साथ ही नन्दनन्दन का पक्ष लेने जा रही हैं :-

"अरी यशोदे ! तू किंञ्चित् से दधि के लिये इस नन्हें से बालक पर इतना क्रोध कर रही है, तनिक इसके मुख और शरीर की ओर तो देख ? अरी देख, यह तेरी इस लकुटी के भय से ऐसा काँप रहा है मानो प्रातः ही पंकजकोश मृणाल सहित वायु से कंपित हो रहा हो। अरी ! देख ! यह मुख नमित किये है, किन्तु इसके संकुचित अधरों से इसके भीतर की रोष एवं ग्लानि स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। अरी, तू जरा से गोरस के लिये ऐसे मुखारविन्द का अपमान कर रही है, जिस पर प्राण भी न्यौछावर कर दिये जायें तो थोड़े हैं।"

आभीरसुन्दरियों ने, व्रज की वृद्धाओं ने, सभी ने श्रीकृष्णचन्द्र को जननी के अनुशासन से मुक्त कराने का अधिकतम प्रयास किया, किन्तु उन्हें यही उचित प्रतीत हो रहा है कि घड़ी-दो-घड़ी के लिये इसे बाँध ही दिया जाय। अतः सब की अवहेलना कर वे श्रीकृष्णचन्द्र को बाँधने चलती हैं।

सुनलो ! जगत के जीवों, सुनलो !! मुझ तृण पर, सर्वथा दीन, साधनहीन, असमर्थ पर -- जो न देव है, न दानव है, जो नर भी नहीं है, जिसके तप की, निग्रह की, ध्यान की ,भजन की संभावना ही नहीं है, जिसमें योग्य बुद्धि ही नहीं है कि तत्व-विचार आदि कर सके, जिसमें मन नहीं है कि प्रेमप्रीति कर सके, स्थूल इन्द्रियाँ ही नहीं हैं कि दृश्यसुख को अनुभव सके, जिसकी एक ही गति है कि वह किसी चतुष्पाद का मात्र भोजन बन जाय-- उस के ऊपर कृपावारिधि नीलसुन्दर की कैसी विलक्षण अनुग्रह वर्षा हो रही है। उसके सम्मुख शान्तरति, दास्यरति, वात्सल्यरति, सख्यरति और माधुर्यरति जन्य पाँचों प्रकार की सर्वोच्च भगवल्लीलायें व्यक्त हो रही हैं। आनन्दसिन्धु उमड़ रहा है और उसका हेतु क्या है ? मात्र निरीह चाह ?

महज्जनचरण-रज का आश्रय ? किंवा कृपा की आकांक्षा ? नहीं, नहीं, ऐसा कोई भी हेतु सिद्ध नहीं होता। हेतुरहित मात्र अनुग्रह, मात्र अनुग्रह, केवल अनुग्रह की भी प्रतीक्षा और कुछ नहीं।

तो शास्त्र कहते हैं जिन, श्रीकृष्णचन्द्र में न बाहर है, न भीतर है जिनका न आदि है न अन्त; त्रिकाल-सत्य-तत्व होने के कारण जिनमें काल-कृत परिच्छिन्नता भी नहीं है; जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सृजन से पूर्व भी विराजित थे, और इन सबके विलय हो जाने पर भी विराजित रहेंगे; जो अनन्त ब्रह्माण्डों के अन्तराल में अवस्थित हैं, साथ ही उनके बाहर भी ज्यों-के-त्यों विराजित हैं; जो स्वयं ब्रह्माण्ड बने हुए हैं- उन अचिन्त्यस्वरूप, साथ ही अधोक्षज (इन्द्रियों के गोचर) नराकृति परमब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र को अपना उदर-जात पुत्र मानकर, जैसे कोई काष्ठ पुत्तलिका को बाँधने चले- इस प्रकार यह व्रजमहिषी बनी गोपी बाँधने जा रही है और यह श्रीकृष्ण लीला करती श्रीकृष्ण बनी गोपी बँध रही है। सांगोपांग लीला हो रही है।

बन्धन का अर्थ ही है कि किसी ओर-छोर वाली सीमित वस्तु को उसकी अपेक्षा अधिक विस्तार वाली वस्तु से वेष्टित कर दिया जाय, लपेट दिया जाय। फिर अनन्तानन्त श्रीकृष्ण को लपेटने के लिये उनसे बड़ी वस्तु माता कहाँ से पायेगी ? यह तत्वज्ञान वात्सल्य-रसघन-मूर्ति यशोदारानी को कभी समझ में नहीं आ सकता । ये भाव उनके अन्तस्तल को कभी स्पर्श ही नहीं कर पावेंगें। वे तो प्रत्यक्ष ही, प्रतिदिवस ही उन असीम को अपनी भुजाओं में बाँध लेती हैं और इस समय भी उस असीम का एक परम सुकोमल हाथ वे अपनी मुट्ठी में पकड़े हैं। फिर उसका उदर-बंधन कर पावें ऐसी वस्तु की खोज भी उन्होंने तत्क्षण ही कर ली। उन्होंने अपनी वेणी से वेणीबन्धन की सुकोमल कृष्ण-पट्ट-डोरी निकाल ली और उससे वे श्रीकृष्णचन्द्र का कटिदेश सचमुच ही लपेट देती हैं।

और देखो, इन श्रीकृष्ण बने गोपी की भयग्रस्त आँखें तो देखो। और देखो इसका आवेश ? यह उच्चस्वर से बार-बार पुकारने लगती है - "अरी रोहिणी मैया ! दौड़, देख मैया मुझे बाँध रही है; तू मुझे छुड़ाले !" परन्तु आज तो उसकी पुकार पर रोहिणी भी नहीं आ रही, वे जो उपनन्दजी के घर किसी कार्य से गयीं हैं।

**यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषःकर्मबंधनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते ।।**

जिनके नाम को केवल एक बार ग्रहण कर लेने मात्र से -- छींकने, गिरने, फिसलने के समय, विवश होकर एक नाम एक बार उच्चारण कर लेने मात्र से मनुष्य का अनादि कर्मबन्धन उसी क्षण छिन्न-भिन्न हो जाता है-ऐसा कर्मबन्धन जिसे मुमुक्षु पुरुष योगसाधनादि बड़े-बड़े उपायों के द्वारा बड़ी कठिनाई से काट पाते हैं, वह तत्क्षण नष्ट होजाता है; जिसके नाम की इतनी महिमा है -- वे श्री कृष्ण आज जननी के भावी बन्धन से मुक्त होने के लिये रो-रोकर पुकार रहे हैं, फिर भी उनकी रक्षा नहीं हो पा रही है। श्रीकृष्ण ! बलिहारी है तुम्हारी विश्वविमोहिनी लीला की !

यहाँ उपस्थित गोपसुन्दरियों को तो अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्र का यह क्रन्दन असह्य हो गया है, वे व्रजेश्वरी को समझा रही हैं -

**अहो जसोदा ! कत त्रासति हौ, यहै कोख को जायौ**
**बालक अजौं अजान, न जानै केतिक दह्यौ लुटायौ**
**तेरौ कहा गयौ ? गोरस कौं गोकुल अंत न पायौ**
**कहा भयौ जो घर कैं लरिका चोरी माखन खायौ**

परन्तु नन्दरानी तो मानती ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी भी कैसी बाल्यलीला कर रही है, कभी बन्धन के भय से जोर लगाकर मैया के हाथ से छूटना चाहती है - कभी भूमि पर पसर जाती है, कभी जननी के पृष्ठ देश की ओर छिप रही है; परन्तु न तो जननी हाथ ही छोड़ती है और न बाँधने का आग्रह । एक हाथ से श्रीकृष्ण को दबाये रखकर दूसरे हाथ से पट्ट-डोरी को उनकी कटि में लपेटने की चेष्टा में लगी है। डोरी कमर के चतुर्दिक लिपट भी जाती है परन्तु गाँठ नहीं लग पाती, दो अंगुल छोटी हो जाती है। क्षणभर के लिये मैया रुकी, परन्तु अपराधी पुत्र को बाँधकर शासन तो उन्हें करना ही है ! ऐसा निश्चय कर दूसरी डोरी पुनः वेणी से निकाल लेती हैं और उसे पहली में जोड़ देती हैं; परन्तु ज्यों ही पुनः उदर पर यथास्थान

बाँधती हैं वह भी पुनः दो अंगुल छोटी हो जाती है। इसे किंचित् और बडी बना लूँ - ऐसा विचार कर अपनी कबरी में से तीसरी डोरी भी निकालकर जोड़ लेती है, परन्तु इस बार भी पृष्ठ बँधता नहीं, गाँठ नहीं लगती। इस बार भी पुनः दो ही अंगुल का व्यवधान हो जाता है। अब तो मैया को अत्यधिक आश्चर्य हो रहा है। क्योंकि पहली डोरी ही पर्याप्त थी, फिर दूसरी जोड़ ली, तीसरी भी जुड़ गयी, मैया के पूरे केश ही निर्बन्ध हो गये, परन्तु डोरी तो छोटी की छोटी ही थी। कुछ भी कारण हो, मैया के पास इस सब में बुद्धि लगाने का अवकाश ही कहाँ है ? परन्तु कबरी में तो अब डोरी हैं नहीं; श्रीकृष्ण को छोड़कर दूसरे स्थान से सुकोमल डोरी ले आना संभव भी नहीं; अब क्या हो ? ब्रजेश्वरी और कोई उपाय न देखकर गोपियों से कहती हैं - "मेरी उस मणि-पेटिका में ऐसी अनेक डोरियाँ पड़ी हैं, उन्हें ला तो दो, आज तो मैं इसे बाँधकर ही छोडूँगी।

गोपसुन्दरियाँ एक बार पुनः श्री कृष्ण के अनिन्द्य-रूप-सौन्दर्य की ओर मैया का ध्यान आकर्षित करती हैं जिससे उनका रोष शान्त हो जाय-

**चितै धौं कमल-नैन की ओर**
**कोटि चन्द वारौं मुखछवि पर, ऐ हैं साहु के चोर**
**उज्ज्वल अरुन असित दीसति हैं दुहुँ नयननि की कोर**
**मानौ सुधा पान कैं कारन, बैठे निकट चकोर**
**कतहीं रिसति जसोदा इन सौं, कौन ग्यान है तोर**
**सूर श्याम बालक मनमोहन, नाहिंन तरुन किसोर**

किन्तु ब्रजरानी आज तो उन पर भी क्रुद्ध हो जाती है - "देखो ! तुम सबकी शिक्षा की मुझे आवश्यकता है नहीं। मैं चाहती हूँ पट्ट-डोरियाँ ला दो; नहीं ला सको तो चुपचाप शान्त बैठी रहो। तुम्हें यह सहन नहीं हो रहा हो तो नेत्र बन्द कर लो, अपने घरों को लौट जाओ, मैं तो इसे आज बाँधकर ही रहूँगी।

सभी गोपसुन्दरियाँ हतप्रभ हैं। आज प्रथम बार ही ब्रजरानी को इन्होंने इस प्रकार कुपित देखा है। कुछ गोपियाँ तो डोरी लाने दौड़ गयीं, परन्तु एक गोपी जिसे मैया की बात पर अत्यधिक रोष आता है उसे प्रकट न कर झुँझला

कर यशोदारानी का मन्थनरज्जु, जिससे वे अपने प्राणप्रिय नीलमणि के लिये प्रतिदिन दधिमंथन करती थीं - लाकर उनके हाथ पर रख देती है और व्यंग में भरकर कहती है -"नन्दगेहिनी ! यह पर्याप्त लम्बी है, उन पट्टडोरियों में इसे जोड़ लो।" ब्रजरानी उस गोपी के व्यंग को जान तो जाती हैं, परन्तु बाँधने की त्वरावश कुछ भी उत्तर नहीं देतीं। मन ही मन उस अति मोटी रस्सी को देखकर कहती हैं - "ठीक बहिन ! तुमने वास्तव में ही उचित वस्तु ला दी।" वह मन्थन रज्जु सुचिक्कण था। यद्यपि स्थूल तो अधिक था परन्तु लम्बा पर्याप्त था। पट्ट डोरियों में उसे भी सन्नद्ध कर लिया गया, तब भी महान आश्चर्य, अतिशय आश्चर्य !! इतने सुदीर्घ लम्बे मन्थनरज्जु के जुड़ने पर भी पूर्ववत् वही दो अंगुल की न्यूनता देखकर अब तो मैया के विस्मय का पार ही नहीं रहता। इधर उपस्थित गोप सुन्दरियाँ सभी खिल-खिलाकर हँस रही हैं। कुछ नव तरुणियाँ जो वाचाल थीं, कहती हैं -"ब्रजेश्वरी ! जब हम उलाहना देने आया करती थीं - तभी हमने तो तुमसे कहा था कि यह कोई उत्कृष्ट मोहिनीविद्या जानता है और इसी विद्या के सहारे जब यह नवनीत आदि चोरी करने जाता है तो चोरों के सिद्धदेव कफल्लक को भी मात कर देता है। क्योंकि इस मोहिनीविद्या के बल से इसे न तो कोई बाँध सकता है, न ही पकड़ सकता है; यह मनमानी करता है। यह चोराग्रणी आज इसी विद्या के बल पर देखो, तुम्हारे बन्धन में भी नहीं आ रहा है।"

इन तरुणियों के उत्तर में यशोदा कहती हैं - "नहीं, नहीं, मुझे बतलाने की आवश्यकता नहीं ; मैं अच्छी प्रकार जानती हूँ कि इस नीलमणि का बन्धन क्यों नहीं हो पा रहा है। यह उसकी मोहिनीविद्या का नहीं, तुम्हारी किसी निन्दनीय विद्या का चमत्कार है।"

ब्रजेश्वरी का यह आक्षेप सुनकर क्या तरुणी, क्या वयस्का सभी अट्टहास करके हँस पड़ती हैं। गोपियाँ ब्रजरानी के चरणों की शपथ खाकर निषेध करती हैं।

इतने में वे गोपियाँ जो यशोदारानी की मणिमंजूषा से पट्ट डोरियाँ निकालने गयी थीं, वे बहुत सी डोरियाँ ले आती हैं। डोरियों की अगणित संख्या देखकर मैया का उत्साह बढ़ जाता है। वे उसी पूर्व रज्जु में पुनः माप कर कि मात्र दो अंगुल की ही कसर है, अनेक डोरियाँ एक साथ जोड़ती हैं परन्तु परिणाम एक ही सामने आता है कि बन्धन दो अंगुल छोटा हो जाता है। गोप सुन्दरियाँ तो हँसती ही हैं, अब तो मैया भी चकित हुई हँसने लगती

है। सभी अतिशय आश्चर्य कर रही हैं। मैया के घर में जितनी डोरियाँ थीं सब मिला लेने पर भी दो अंगुल का अन्तर समाप्त नहीं हो रहा। अब तो सम्पूर्ण नन्दग्राम से, वृहद्वन से डोरियाँ आने लगीं। अतिशय आनंद कौतूहल से घर घर से गोपियाँ जितनी घर में डोरियां मिलती हैं, ले आती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र के इस अद्भुत चरित्र को देखने की अभिलाषा में समस्त ग्राम की ब्रजवधुएँ दौड़-दौड़कर नन्दभवन इकट्ठी हो गयी हैं। सम्पूर्ण ग्राम से लायी डोरियाँ जुड़ जाने पर भी नन्दनन्दन की पीठ से लगते ही वह दो अंगुल का अन्तर नहीं मिटता।

सचमुच ही वह न्यूनता परब्रह्म का संस्पर्श पाकर स्वयं परब्रह्म बन गयी थी और ब्रह्म के ही समान ह्रास-वृद्धि से रहित हो गयी थी। न घटती थी, न बढती थी बस दो अंगुल की ही बनी रहती थी।

अब तो सारे ग्राम की डोरियाँ भी समाप्त हो गयीं। बाँधने का प्रयास करती ब्रजरानी भी श्रान्त हो गयी। उसके समस्त अंगों से स्वेदधारा बह रही थी। जिस मालती की माला से मैया ने अपने केश बाँध रखे थे, वह भी टूट गयी। जननी की इस हताशा ने कि 'मैं नीलमणि को नहीं बाँध सकूँगी' देखो श्रीकृष्णचन्द्र के नेत्रों मे दया भर दी। बस, कृपाशक्ति प्रकट हो गयी और श्रीकृष्णचन्द्र ने मैया की प्रथम पट्टडोरी में ही बँधना स्वीकार कर लिया। मैया ने अपने प्राणसार सर्वस्व कन्हैया को एक ऊखल से बाँध दिया और गृह कार्य में लग गयी। इधर देखो ! इन गोपशिशु बनी गोपियों की दशा कैसी विचित्र हो रही है। अपने प्रियसखा को जननी के बन्धन से मुक्त करने के लिये अपने को गोपशिशु समझती हुई, ये देखो, कैसा परस्पर परामर्श करने में संलग्न हैं। उन्हें भय है कि कहीं जननी न आ जाय। एक गोपी गोप-शिशु बनी अतिशय सावधानी पूर्वक उस प्रांगण की ओर देख आती है कि मैया क्या कर रही है। इधर वह जैसे ही संकेत करती है एक शिशु धीरे से श्रीकृष्णचन्द्र के समीप जाता है। उनके ऊखल में बँधे अंगों को हाथ से स्पर्श करता है। फिर तुरन्त ही जननी के भय से सशंकित हो उठता है। उसको एक युक्ति सूझ पड़ती है और वह नन्दनन्दन के कान के समीप मुख ले जाकर कहता है -- "अरे भैया, तू इसे खोल ले। फिर अन्यान्य शिशुओं को भी अपने ध्यान में आये उपाय की सूचना देता है। सभी सहमत हो जाते हैं। सब धीरे-धीरे फुसफुसा कर कन्हैया के कान में राय देते हैं "बस तू खोल ले और हमारे साथ भाग चल।" परन्तु समस्त प्राणिमात्र का भवबंधन संकल्प मात्र से खोल

देने की वे भले ही सामर्थ्य रखें, मैया द्वारा ऊखल से बाँधी बंधन-ग्रंथि तक उनके छोटे-छोटे हाथ पहुँच नहीं पाते।

असफल, निराश, निरुपाय से हुए वे सखाओं की ओर देखने लगते हैं। अच्छा, तेरे हाथ नहीं पहुँचते, ठहर, मैं यह बंधन-ग्रन्थि खोल देता हूँ।" कहता एक सखा मधुमंगल आगे बढ़ता है। परन्तु ग्रन्थि इतनी सुदृढ़ बाँधी गयी है, उससे खुल नहीं पाती। उसकी सहायता करने श्रीदाम आता है परन्तु वह भी असफल। अब सुदामा सशंकित नयनों से मैया की आहट लेता आगे बढ़ता है, परन्तु गाँठ हिलती तक नहीं। सख्यरस की धारा चाहे कितनी प्रबल हो, वह वात्सल्यरस की स्निग्धता की गाँठ खोल थोड़े ही सकती है। मैया का दिया बंधन इतना क्षीण थोड़े ही है, इसीलिये जननी की लगायी गाँठ अविचल रहती है। उदास शिशु मण्डली अपने सखा के मुख की ओर देखने लगती है।

अचानक श्रीकृष्ण को एक उपाय सूझ पड़ता है। उन्हें आँगन में खड़े पुरातन दो यमल अर्जुन वृक्ष दिख जाते हैं। वे सखाओं से कहते हैं - "भैयाओ ! देखो, यह ऊखल बहुत ही भारी है। अकेला तो मैं इसे खींच सकूँगा नहीं। परन्तु तुम सब सहायता करो। सब मिलकर धक्का देते इसे लुढ़काते चलो। मैं भी जोर लगाकर खींचता हूँ। फिर देखो ! चलें वहाँ इन अर्जुन के दो वृक्षों की ओर। इन वृक्षों के मध्य मैं तो समा जाऊँगा परन्तु यह ऊखल भीतर जा नहीं सकेगा। साथ ही अपने इसे टेढ़ा भी कर देंगे। फिरतो यह इस पार ही अटक जायगा। तब फिर उस पार से मैं डोरी को झटके दूँगा । पूरे बल से डोरी खिंची कि टूटी। बस काम हो गया। युक्ति सुनते ही गोपशिशुओं के हर्ष का पार नहीं रहता।"

देखो ! श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी दोनों हाथ एवं दोनों घुटने टेके पृथ्वी पर ऊखल को ठेलने लगती है। गोपशिशु भी जोर लगा-लगाकर ऊखल को लुढ़काने की चेष्टा कर रहे हैं। देखो श्रीकृष्ण बनी गोपी के अरुण कपोलों पर, ललाट पर श्रमकण झलकने लगे। यहाँ इस वन में ऊखल कहाँ से आता, एक सूखे काष्ठ के लट्ठ को ही ऊखल के रूप में कल्पित कर लिया गया है। अहा! श्रीकृष्ण की क्या शोभा है :-

**बंधुक सुमन अरुण पद पंकज, अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आये।**
**नूपुर कलरव मनु हंसिनि सुत रचे नीड़ दै बाँह बसाये।**
**कटि किंकिनि-वर हार ग्रीव, दर, रुचिर बाहु भूषन पहिराये।**

उर श्रीवत्स, मनोहर हरि-नख, हेम-मध्य मनि-गन बहु लाये।
सुभग चिबुक, द्विज-अधर-नासिका, स्रवन-कपोल मोहि सुठि भाये।
भ्रुव सुन्दर, करुना-रस-पूरन, लोचन मनहुं जुगल जलजाये।
भाल विसाल ललित लटकन मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाये।
मानौ गुरु सनि-कुज आगें करि ससिहि मिलन तम के गन आये।
उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाये।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनु तड़ित छिपाये।
अंग-अंग-प्रति मार-निकर मिलि, छबि-समूह लै-लै मनु छाये।
सूरदास सो क्यौं करि बरनै, जो छबि निगम नेति करि गाये।

देखो, रिंगण करते श्रीकृष्ण अर्जुनवृक्ष बनी गोपियों के निकट आ पहुँचते हैं। देखो इन्हें निकट पाकर इन युग्मगोपियों की कैसी प्रेमदशा हो रही है। यह तो सत्य ही है कि वृक्षों में संवेदन शक्ति होती है। फिर ये तो शापभ्रष्ट धनद पुत्र हैं। अपने इस परिणत रूप में इनमें अपनी पूर्वजन्म की स्मृति अक्षुण्ण है।

देखो, श्रीकृष्ण गोपी रूप युग्मवृक्षों के अन्तराल से होकर उस पार जा पहुँचते हैं। छिद्र में उनके प्रवेश होते ही ऊखल तो अपने आप ही टेढ़ा हो जाता है । सखा बोल उठते हैं -"हाँ भैया ! बस कन्हैया ! भैया, ऊखल अड़ गया है, अब तू खींच ले, केवल एक झटका दे दे।" बालगोपाल बनी गोपी के बिम्बविडम्बी अधरों पर एक मन्द मुसकान छा जाती है। वे दामोदर अपनी कटि से बँधे ऊखल को तनिक अपनी ओर खींच लेते हैं। बस, फिर तो क्षण भर भी न लगा, अर्जुन तरुओं की पृथ्वी में धँसी जडें उखड़ आती हैं। प्रकाण्ड धड़ अगणित उपशाखायें, सघन पल्लव-जाल -- सभी ऐसे स्पन्दित होने लगते हैं, मानो प्रबल झंझावात उन्हें लेकर उड़ चला हो। दामोदर का बाल्योचित बल-प्रकाश ही उनके लिये सर्वथा असह्य हो जाता है और उनका अणु-अणु प्रकम्पित हो उठता है। देखते-ही-देखते अत्यन्त घोर शब्द करते हुए अचिन्त्य वेग से वे दोनों वृक्ष पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। अवश्य ही वे इस प्रकार ऐसे स्थान पर गिरते हैं, जहाँ एक भी गोप शिशु नहीं, एक भी गौ, गोवत्स नहीं, गृहरचना का कोई अंश नहीं, केवल मात्र मणिजटित समतल भूमि है। इसीलिये किसी को भी किंचिन्मात्र भी क्षति नहीं लगती, नन्दप्रासाद के किसी भी भाग में कहीं कोई टूट-फूट नहीं होती। ये जड़ वृक्ष तो थे नहीं, धनद

पुत्र थे, और अब तो वे कन्हैया के निज जन हो गये थे, उनमें समस्त भक्तिगुणों का विकास हो गया था। अमित शक्ति आ गयी थी। महान् आश्चर्य तो यह है कि इतने विशालकाय अर्जुनवृक्ष ऊखल-आकर्षण से मूलोत्पाटित होकर गिरते हैं परन्तु जननी यशोदा के वात्सल्य से प्रेरित, उनके द्वारा निर्मित, आग्रहमय वह बंधन नहीं खुलता। ऊखल में लगायी उनकी डोरी, वह ग्रन्थि नहीं टूटती। श्रीकृष्णचन्द्र का वह बन्धन अक्षुण्ण ही रहता है। हाँ ! दो सिद्ध पुरुष भी उनके अन्तराल से प्रकट होते हैं और श्रीकृष्ण चरणों में न्यौछावर होने चल पड़ते हैं।

नतजानु हुए, अञ्जलि बाँधे ये धनदपुत्र नलकूबर, मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्र के चरणप्रान्त में अवस्थित उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। व्रजचन्द्र की चरण-नख-चन्द्रिका ने उनमें दिव्य-ज्ञान का उन्मेष कर दिया है। नवनीरद-श्यामल श्रीअंगों ने रस की सरिता बहा दी है। हर्षातिरेकवश उनका कण्ठ रुद्ध है। नेत्रों से अनवरत अश्रु की वर्षा हो रही है। कपोल, वक्षस्थल आर्द्र हो चुके हैं। वे अपने मुकुटमंडित सिर को झुकाकर दूर से तो वन्दना कर चुके पर उसे श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-पल्लव से स्पर्श करा देने के लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। परन्तु शरीर विवश हो रहा है। जड़ सा बनकर चेष्टाशून्य हो रहा है। बाल्यलीलाविहारी का बाल्यावेश, बाल्यभंगिमा कुबेरपुत्रों को यह सौभाग्य सहज में देना जो नहीं चाहती। ऊखल से बँधे होने के कारण, और ऊखल के अटक जाने से वे भाग तो नहीं सकते। परन्तु अपने करकमल नचा-नचा कर उन्हें स्पर्श न करने का संकेत करने लगते हैं।वे कुबेर पुत्रों की ओर देखकर पुकार उठते हैं -"अरे, अरे! तुम तो कोई देवता हो, मुझ गोकुल के गोपराज के पुत्र के क्यों पाँव पकड़ते हो ? श्रीकृष्ण की इस रसीली उक्ति से ऐसी गंभीर प्रीतिधारा बह चलती है कि कुबेरपुत्रों का ऐश्वर्य ज्ञान एक बार तो उसमें डूब ही जाता है।

## कालिय-निग्रह लीलानुकृति

देखो ! देखो !! यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी के अधरों पर नित्य विराजित स्मिति की आभा किंचित् गंभीर भंगिमा धारण कर रही है। उनकी दक्षिण भुजा कालिय-ह्रद की ओर केन्द्रित हो गयी है। वह तर्जनी से कालिय

नाग के उस आवास की ओर संकेत करती हुई एक श्वास में ही बोलती जा रही है। उसकी वाणी में पर्याप्त ओज भरा है। "अरे भैयाओं ! देखो तो सही, इस चमचम करती यमुना के वक्षस्थल में एक ह्रद में एक बहुत बड़ा सर्प रहता है। वह महा दुष्ट है। उसका नाम कालिय है। वह जल-स्तंभन-विद्या जानता है । उस विद्या के प्रभाव से इस ह्रद् में गृह का निर्माण कर वह निवास करने लगा है। देखो ! अपनी आँखों से देखलो, ऊँचे आकाश में उड़ते पक्षी भी इसकी फुफकार में भरे भयंकर विष से सबके सब इस ह्रद में गिर पड़ते हैं। इसकी जिह्वा ऐसी भयंकर विषज्वाला निकालती है कि चारों ओर की भूमि ही झुलस एवं जल जाती है। मेरी तो इच्छा है कि साहसपूर्वक मैं इस कदम्ब पर चढ़ जाऊँ और इस विषमय ह्रद में कूदकर कालिय को बाहर करूँ । देखो, तुम सब लोग इस स्थान पर ही गायों को सँभालना। यह कहती हुई उस कृष्ण बनी गोपी ने दाहिने करतल से अपनी बामभुजा को ठोक कर उस कदम्बतरु पर चढना आरंभ किया और तरु के ऊपर की सर्वोच्च शाखा पर जा विराजी। श्री कृष्णचन्द्र बनी गोपी देखो इस प्रकार यमुना की ओर देख रही है - मानो वह भली प्रकार से निरीक्षण कर रही हो कि केवल तीर-भूमि ही नहीं, यमुना का प्रवाह भी कितने वृहद् अंश में इस कालिय ने विषदूषित कर दिया है। अरे ! अरे! कदम्ब की यह शाखा अतिशय वेग से कंपित हुई और नील सुन्दर बनी गोपी तो उस यमुमा में कूद ही पड़ी।

अरे कालिय तो कभी का यमुना छोड़कर चला गया। परन्तु यह क्या ? अरे, कुछ गोपियाँ तो नागवधुएँ बनीं बाहर आ गयी हैं। वे आधे अंगों से यमुना में डूबीं हैं और आधी बाहर खडी हैं। उनके मध्य श्रीकृष्ण बनी गोपी खड़ी है। वे कह रही हैं - "हाय रे ! इस बालक का भविष्य ! हमारे क्रूर पति के सम्पर्क में इस अप्रतिम सुन्दर बालक की क्या दशा होगी ? वे आतुर होकर श्रीकृष्ण बनी गोपी को उस स्थान से शीघ्रतिशीघ्र भाग जाने के लिये संकेत कर रही हैं।

**अरे ! कौन को बालक है तू बार-बार कहि भाग न जाई।**
**छनकहिं में जरि भस्म होयगो जब देखै उठि जाग जम्हाई।।**
**उरग-नारि की बानी सुनि कै आपु हँसे मन में मुसुकाई।**
**मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याकौं अब देहिं जगाई।।**

किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र तो भागना दूर हँस रहे हैं। नागवधुएँ कातर होकर बारबार आग्रह कर रही हैं- "रे बालक तू भाग जा।" किन्तु कृष्णचन्द्र तो वैसे ही हँस रहे हैं। इतना ही नहीं निर्भय नेत्रों से नागपत्नियों को समझा रहे हैं।

**"कहा डर करौं इहि फनिग को बावरी"**

देखो, नागपत्नियों के मना करने पर भी अपने चंचल कर-कमलों से श्रीकृष्ण यमुना-जल आलोड़ित करने लगे। लो, कालिय के प्राण चंचल हो उठे। वह अधीर सा हुआ अपने सर्पावास से बाहर निकल आया। ह्रद के ऊपर आकर देखो, इस कालिय सर्प बनी गोपी ने अपनी ओढ़नी का कैसा फणों के समान विस्तार किया है।

देखो ! यह गोपी जो सर्प बनी है बोल रही है :-"अरे ! यह तो एक शिशु है। सौन्दर्य का निर्झर झर रहा है इसके अंगों से । कैसा नयन-सुखद सुकुमार है यह ! नवजलधर की श्यामलता भरी है इसकी अंग-कान्ति में। अरे, अरे, यह कैसी विलक्षण नीलिमा है जो ह्रद की उर्मियों में प्रतिबिम्बित हो रही है। श्यामद्युति से मेरा सम्पूर्ण आवास ही उद्भासित हो रहा है। अरे ! इस बालक को मेरी विषज्वाला कुछ भी प्रभावित नहीं कर रही अपितु इससे तो सर्वत्र सुधा का प्रस्रवण हो रहा है। अहा, ये शिशु के अंग तो आनन्द के निर्झर हैं। कमल-कोश से भी अधिक सुकोमल इसके अरुण चरण हैं। मृदुहास्य समन्वित कितना सुन्दर इसका मुखकमल है।

देखो, कालिय सौन्दर्य-दर्शन से विथकित हो उठा है।

परन्तु यह क्या कालिय को देखकर श्रीकृष्ण बनी गोपी तो भाग चली। यमुना में कैसी लीला हो रही है। उसके पीछे कालिय बनी गोपी भी उसे ग्रस लेने को भाग रही है। अरे बलिहारी है बाल्य-लीलाबिहारी के कृपा-दान की। कालिय को श्रीकृष्ण के अरुण चरणों का स्पर्श तो मिल गया, परन्तु उसने तो लपक कर इन्के पाद-पल्लव में दंशन कर लिया, विष उगल दिया।

परन्तु अरे ! यह शिशु तो कालिय के दंशन से भस्म ही नहीं हुआ। यह तो और भी उल्लास में भरकर पुनः वेग से वैसे ही ह्रद के जल को क्षुब्ध करने लग गया। कालिय के विस्मय की सीमा नहीं रही। पर उसे प्रतीक्षा का अवकाश भी कहाँ। जलती हुई आंखों से श्रीकृष्ण बनी गोपी की ओर देखता

हुआ यह कालिय उसके सर्वांग में बार-बार दंत प्रहार कर रहा है। परन्तु नीलसुन्दर का कुछ भी बिगाड़ नहीं होता, वे तो क्षतशून्य ही हैं। "इस शिशु में कोई अद्‌भुत सामर्थ्य अवश्य ही है।" कालिय बुदबुदा रहा है। अब तो उसकी आखों में मानो कोध की भट्टी फूट पड़ी हो। बडे वेग से वह झपटता है, व्रजेन्द्रनन्दन के अंगों को ज़पेट कर चूर्ण-विचूर्ण कर देने के उद्देश्य से। लो, कालिय ने नन्दनन्दन को अपनी कुंडली में वेष्टित कर लिया और नन्दनन्दन मृतवत् निश्चेष्ट होकर कालिय-पाश में बँध गये। हाय ! हाय ! यमुना तट में कैसा हाहाकर मच गया है। असंख्य गोप शिशु बनी गोपियाँ "हाय रे ! मेरा कन्नू" कहकर अचेत हो गये हैं।

गायों के रूप में भी गोपियों ने हम्मारव करना प्रारंभ कर दिया। गोप-शिशु बनी गोपियाँ मूर्च्छित ही हो गयी हैं। देखो ! ब्रजपुर से दौड़े वयस्क गोप आ रहे हैं और श्रीकृष्ण को निष्चेष्ट देखकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। ब्रज की धरा अभूतपूर्व रूप से कम्पित होने लगी। यशोदारानी की आँखों से झर-झर अश्रुप्रवाह हो रहा है। ब्रजपुरन्ध्रियाँ दौड़ती आ रही है। दिशायें धूँएँ से धूमिल हैं। दिनमणि सूर्य निस्तेज है। सभी व्रजवासी नितान्त विक्षिप्त से हुए गोकुल से दौड़े आ रहे हैं। ब्रजपुरसुन्दरियों के केशबन्धन उन्मुक्त हैं। तन-आवरक वस्त्र अस्तव्यस्त हैं। गोपों की शिखायें खुल गयी हैं। पद-पद पर स्खलित होते, भूमि पर गिरते-पड़ते वे सब चले आ रहे हैं। हाय रे ? कृपा रे ? सबके मुखों से एक ही करुण नाद वनप्रदेश को नादित कर दे रहा है। ओह, तट पर सबसे पहले मूर्च्छित होकर गिरे ब्रजेश। ब्रजरानी की अपरिसीम वेदना का तो चित्रण ही असंभव है। वेदना की ज्वाला में उनकी तो मूर्च्छा ही जल रही है। क्षणभर के लिये एक तुमुल आर्त्तनाद सर्वत्र गूँज उठता है और फिर एक भयावह नीरवता सर्वत्र छा जाती है। "नहीं रे, निश्चेष्ट होने पर भी मेरा नीलमणि जीवित है, अन्यथा अधरों पर यह स्मिति मुसकाहट कैसी ?" मैया प्रबल वेग से अपने वक्षस्थल को पीट कर आर्तनाद करती ह्रद की ओर दौड़ती हुई कूदने लगी। परन्तु बलरामजी ने पीछे से दौड़कर उन्हें अपने भुजपाश में बाँध लिया। देखो, ब्रजेश भी ह्रद की ओर छलाँग लगा रहे हैं। परन्तु बलरामजी उन्हें भी अपनी भुजाओं में रुद्ध कर लेते हैं। इधर श्रीबलराम सभी को आश्वस्त कर रहे हैं :-

"अरे, मेरे इस मकरकुण्डलधारी भाई श्रीकृष्ण के लिये क्षुद्र सर्प से भय की बात ही क्या सोचनी है ? अरे, सभी अपना दुख दूर कर दो। इस अधम

सर्प कालिय को प्राणहीन सा बनाकर मेरा यह अखण्ड प्रतापवान् भाई कृष्णचन्द्र बस उठ ही चला है ।

गोप सुन्दरियाँ, गोपगण - कोई भी हृद में प्रविष्ट नहीं हो पाता है। सबके आगे बलराम खड़े हैं। किसी को संकेत से, किसी के कंधे छूकर, किसी को भुजाओं में भरकर वे दूर कर देते हैं। और यह लो, एक अद्‌भुत अलौकिक तेजो-मण्डल उनके मुख को आवृत कर लेता है और मेघ-गम्भीर स्वर से वे पुकार उठते हैं :-

**हंहो तात ! तातप्यमानमानसतया समेधमानेन मानेन शोकेन खेदयितव्यो दयितव्यः अयं कृष्णस्य।**

**भो मातः मा अतः परं विलप लपनं मे निर्द्धारय धारय धृतिं भोः।**

**भोः पौरजानपदाः! विपदाविस्करणेन मापरं परं संतापमाप्तुमर्हत।**

अरे बाबा ! प्रतिक्षण वेग से बढते हुए इस अतिशय चिरसंतापी शोक से अपने इस शरीर को व्यथित मत करो। यह देह श्रीकृष्णचन्द्र के प्यार की वस्तु जो है, बाबा !

अरी मैया, अब तू विलाप मत कर ! मेरी बात मानले, धैर्य रखले।

अरे ओ, पुरवासियों ! अपनी अविचारपूर्वक चेष्टा से नई विपत्ति का सृजन कर किसी अन्य महान् दुख के भागी मत बनो।

**'अस्य हि मदवरजस्य मदवरजस्य शौर्यस्य महिमानं हि माऽऽनंदवर्द्धनं भवन्तो जानन्ति जानाम्यहमेव केवलं केऽवलम्बन्तामभरपरिवृढा अपि यल्लवावबोधम्।**

हे ब्रजपुरवासियों ! मेरे इस कनिष्ठ भ्राता के शौर्य की महिमा को आप लोग निश्चय ही नहीं जानते। किसी के भी अहंकार को चूर्ण-विचूर्ण कर देने के लिये इसमें भी एक महान अहंकार की जाग्रति होती है, उसकी उस आनन्द-वर्द्धिनी महिमा से आप सब सर्वथा परिचित नहीं हैं। केवल मात्र मैं जानता हूँ। औरों की तो बात ही क्या है, ऐसे देवश्रेष्ठ भी कौन हैं, जो मेरे इस भाई की महिमा के लव मात्र का भी ज्ञान प्राप्त कर सके हों ?

**"खल्वयमनेन पुंनागेन नागेनस्य पराभवः।**

'अहो ! निश्चय समझो अभी-अभी मेरे पुरुष-कुंजर भाई के द्वारा नाग प्रमुख कालिय का पराभव होने ही जा रहा है।

रोहिणीनन्दन बलरामजी के आश्वासन का प्रभाव होता है और सभी व्रजवासी कालियहृद में प्रविष्ट होने से निवृत्त हो जाते हैं।

और वे अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र क्या अपने निज-जनों की यह परम दयनीय दशा नहीं देख पा रहे हैं ? इन सबका करुण क्रन्दन क्या वे नहीं सुन पा रहे हैं ? यह तो ब्रजजन के हृत्सिन्धु की, उनके भावसागर की मात्र मन्थनलीला है। उनका इतना ही उद्देश्य है कि त्रिताप से नित्य जलते हुए असंख्य प्राणियों के लिये महौषधिरूप बनकर इस सागर की कुछ बूँदें, मन्थनजात अमृत की कुछ कणिकायें प्रपंच के तट पर बिखर जायें और अनन्तकाल तक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्क आ सकें - उनकी त्रिताप-ज्वाला सदा के लिये प्रशमित हो जाय।

कालिय के लिये तो यह संभव ही नहीं है कि वह श्रीकृष्णचन्द्र को अपने कुंडली बंधन में रख सके। क्षण-दो-क्षण में ही कालिय का शरीर टूटने लगता है। कुंडली का एक-एक आवरण टूट जाता है। निरुपाय कालिय को उन्हें छोड़ना ही पड़ता है।

इस सभी व्रजपुरवासियों के जीवन-शून्य से हुए शरीर में प्राण-संचरित हो उठे। रोहिणीनन्दन की बात सत्य होने में किसी को भी अब सन्देह नहीं रह गया। बिचारे कालिय के बल की तो एक सीमा है। अनन्त अपरिसीम बलशाली से होड़ करके वह कब तक टिक सकता था। देखते-देखते उसकी सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी। वह अत्यंत श्रान्त हो गया। उसे दीर्घ निश्वास आने लगे। आसन्न मृत्यु जैसी उसकी दशा हो गयी। हाँ फन उसके ऊपर ही उठे थे, जिनकी ओट से अभिमान स्पष्ट रूप से झाँक रहा था। मदोन्मत्त कालिय स्वयं नतमस्तक नहीं हो सका, न सही, श्रीकृष्ण अपना चरण-स्पर्श-दान कराने को स्वयं आतुर हो उठे। ऊपर उठे कुछ फनों पर उन्होंने एक अत्यंत हलकी सी थपकी लगायी। कालिय के उन्नत फन उस भार से नमित हो गये। पलक गिरते-न-गिरते नील सुन्दर उन झुके हुए सुविस्तृत फनों के छत्ते पर अनायास ही उछलकर चढ़ गये।

देव-वृन्द के आनन्द का पार नहीं रहा है। ऐसे अत्यन्त अधम सर्प को भी श्रीकृष्ण अपनी कृपा का अयाचित दान दे सकते हैं - यह प्रत्यक्ष देखकर 'जय-जय' के नाद से अन्तरिक्ष नादित हो उठा।

अहा ! इन मृदुल चरणों की शोभा कैसी है ! अरे, गोपी बने श्रीकृष्ण कालिय बनी गोपी की ओढनी-रूपी छत्र पर कैसे चढ़  पावेगी ? अत: नृत्य नहीं हो सका न सही।

देखो ! नागपत्नियाँ बनीं गोपियाँ प्रार्थना कर रही हैं- हे परम दयालो ! इस सर्प का प्राणान्त बस हो ही चला है, कृपा करो, कृपा ! नाथ !! अब विलम्ब मत करो। प्राणतुल्य हमारे पति को हमें भिक्षा में दे दो। दयामय !

लो, कालिय भी वृजराज के समक्ष हाथ जोड़कर स्तवन करने प्रस्तुत हो गया है। "नाथ । महामहेश्वर हम जन्म से ही अत्यन्त दुष्ट हैं। परपीड़ा हमारा जन्मसिद्ध स्वभाव है। जीवमात्र के लिये अपने स्वभाव का परित्याग करना कठिन जो है, नाथ ! बस, आप ही बचा सकते हो, नाथ ! सर्वेश्वर रक्षा करो !!

लो ! नन्दनन्दन कालिय को निर्देश देते हैं - कालिय देख ! अब तुझे इस ह्रद में मेरे इस लीला-क्षेत्र में निवास नहीं करना है। अब यमुना जल का उपयोग व्रज की गायें और व्रजपुरवासी ही करेंगे। जा, अब तुझे मेरे गरुड़ से कोई भय नहीं होगा।

नतमस्तक हुए कालिय ने व्रजेन्द्रनन्दन का आदेश स्वीकार कर लिया। नागवधुओं की आँखें झर-झर झर रही हैं। प्रेम-विह्वल कालिय कृष्णचन्द्र के चरणों में गिर पड़ा है। "देखो ! कालिय नन्दनन्दन का श्रृंगार एवं पूजा कर रहा है। देखो ! नन्दनन्दन कैसे दिव्य नागमणियों से भूषित सिंहासन पर विराजित हैं। दिव्यातिदिव्य मृगमद, कुंकुम, चन्दन आदि से उनके समस्त अंगों को कालिय विलेपित कर रहा है। उसे कितना परिताप है । वह अपने दंशित स्थलों की वेदना हरण करने के लिये श्रीकृष्ण के अंग-अंग को चाट रहा है। वह अपना समग्र विष पुन: हरण कर रहा है। अंग-अंग को निर्विष कर रहा है।"

अब व्रजेन्द्रनन्दन को नागपत्नियाँ पद्मरागादि मणियों के रत्नहार पहना रही हैं। देखो ! नागलोक के पुष्पों की सौरभमय पुष्पमालायें अब वे धारण करा रहीं हैं। अमूल्य अलंकारों से श्रीअंगों को अलंकृत कर रही हैं। देखो ! अहा ! यह शोभामय कमलमाला कितनी सुन्दर है, इसके पश्चात अर्चना के असंख्य उपचार कालिय ने व्रजेन्द्रनन्दन को समर्पित किये।

अब विविध शृंगार  से सुशोभित श्रीकृष्णचन्द्र तट की ओर आ रहे हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी इस गंभीर यमुना जलराशि पर इस प्रकार चरण रख कर आ रही है मानो वह स्थल हो। सबसे पहले सुबल और श्रीदाम दोनों ही विद्युत वेग से दौड़कर नीलसुन्दर के समीप आये और उन्हें अपने भुजापाश में भर लिया। स्नेह के उस स्रोत में असंख्य गोप बालक यही अनुभव कर रहे हैं कि सबसे पहले मुझे ही कन्हैया भैया ने अपनी भुजाओं में भरा है। इतने में जननी यशोदा आयी। ओह ! वाग्वादिनी में कहाँ सामर्थ्य है कि चित्रित कर दे - मैया एवं उसके लाल के मिलन की भावराशि का। वह बस, इतना ही कह सकी -

**मन सँग हिय अगवानि करि जननी लये तट लाइकैं।**
**पय स्रवत, आँसू ढरत, अंक गुविंद भेंटे धाइकैं !!**

अब रोहिणीजी ने नीलसुन्दर को वक्षस्थल में लगाया। व्रजेश्वर अब तक मानो प्रतीक्षा सी कर रहे थे। परमशीलवान् व्रजेन्द्र के धैर्य का बाँध टूट गया। वे तो अधीरतावश स्त्रीसमूह में ही प्रविष्ट हो गये और श्रीकृष्ण को अपने अंक में भर लिया।

गोपसुन्दरियाँ यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से व्रजेन्द्रनन्दन को अपने वक्षस्थल पर धारण नहीं करसकीं, फिर भी अपने दृगञ्चल के पथ से उनका मानस-मिलन संघटित हुआ ही। उनके भी मनोरथ पूर्ण हुए।

रोहिणीनन्दन बलराम तो दूर अवस्थित रहकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए सबके मिलन-सुख का आनन्द ले रहे थे। किन्तु अग्रज अनुज का मिलन भी अनिवार्य है। देखो ! दाऊ भैया ने लपक कर अनुज को वक्षस्थल में धारण कर लिया। उनके मुख-कमल पर दिव्य हास्य भरा है, वे हँस रहे हैं।

अग्रज से मिलने के बाद श्रीकृष्णचन्द्र की दृष्टि मूक पशुओं की ओर जाती है। सभी गायें, वृषभ, वत्स, चित्रलिखे हुए से, निष्पन्द-मुग्ध से अवस्थित हैं। सभी नीलसुन्दर का कुशल जान लेना चाहते हैं - "हमारे जीवनाधार ! कालिय के द्वारा तुम्हें चोट तो नहीं लगी ?"

देखो ! देखो ! जगत के जीवों ! देखो ! जिस समय श्रीकृष्ण असंख्य धेनुराशि से मिल रहे हैं, उस समय उनके चरण-सरोरुह ह्रद की उस विष-दग्ध तट-भूमि को पावन चरण-स्पर्श दान करते जा रहे हैं -- और इसका तत्क्षण परिणाम देखो - अद्भुत हरीतिमा वहाँ व्यक्त होने लगती है। यह जला हुआ स्थल-देश मनोहर तृण-संकुल श्यामल बन जाता है। इतना ही

नहीं, ह्रद की सीमा से पार के वृक्ष भी जो विष की ज्वाला से झुलस गये थे, वे भी नीलसुन्दर की दृष्टि से ही पुष्पित हरित हो जाते हैं। इसी प्रकार तुम्हारी अनन्त काल से कामविष से दग्ध हृदय-भूमि भी बस एक बार उनके चरण धूलि से यदि संपर्कित हो गयी, तो सदा-सदा के लिये सुख में निमग्न हो जायगी।

सबका मिलन सम्पन्न हो गया, अब श्रीकृष्ण पुनः अपनी माता के पास आ गये हैं। अपने लाल को हृदय से लगाकर माता ने क्रोड़ में धारण कर लिया है। बाल्य-लीला-विहारी अपनी माँ की ठोड़ी छूकर अति मधुर स्वर में उसे प्रबोध दे रहे हैं :-

**कंस कमल मँगाइ पठये, तातैं गयउँ डराई।**
**मैं कह्यौ निसि सुपन तोसौं प्रकट भयौ सु आइ।**
**ग्वाल सँग मिलि गेंद खेलत आयो यमुनातीर।**
**काहु लै मोहि डारि दीन्हौ कालिया-दह-नीर।**
**यह कही तब उरग मौसौं किन पठायौ तोहि।**
**मैं कही नृप कंस पठयौ कमल कारन मोहि।**
**यह सुनत डरि कमल दीन्हौं, लियो पीठ चढाइ।**
**सूर यह कहि जननि बोधी देख्यौ तुमहीं आइ।**

प्रभु की शिशु-सुलभ परम-रसमय सरल वचनावली की जय हो !

इधर भुवनभास्कर का रथ अस्ताचल को स्पर्श करने लगा है। व्रजेन्द्र नन्दराय चिन्तित हैं- "इतने बड़े समुदाय के साथ ब्रज में पहुँचते-पहुँचते अर्धनिशा हो जायगी"- यही उनकी चिन्ता का विषय है। अन्ततः निश्चय हुआ कि आज यहीं यमुना तट पर ही विश्राम किया जाय। सबके घर-घर से षटरस के भोजन पक्वान्न वहीं आ गये हैं। वहीं भोजन हुआ और थके थकाये सब गोप एवं समस्त नन्दग्राम की प्रजा, व्रजेश्वर-व्रजरानी रोहिणी मैया सहित अपने राम-श्याम को लेकर तन्द्रित हो गये।

# फूँक से दावानल-मुक्ति

अर्ध निशा हो गयी। महामायावी दानव दावानल आ पहुंचा। क्षण भी नहीं लगा, गीष्म्रऋतु की वह शुष्क वनस्थली दावाग्नि के रूप में धधक उठी। सम्पूर्ण ब्रजपुरवासी, गायें अपनी भाव-समाधि में लीन हैं, उन सम्पूर्ण ब्रजपुरवासियों को सब ओर से घेर कर सर्वथा भस्म कर देने के लिये महावीर दावानल जल उठा। एक तुमुल कोलाहल आरंभ हुआ। प्राण रक्षा की आशा नहीं। कदाचित् रविनन्दिनी की शीतल धारा के पास तक पहुँचा जा सके। परन्तु वह भी संभव नहीं, चारों ओर ही आग की भीषण लपटें उठ रही हैं। कितना भयंकर दृश्य है। इसी समय अचानक सबकी मनोवृत्ति में एक अद्‌भुत् सी प्रेरणा भावित हो उठी :-

"अहा, हमारे प्राण-संकट के समय इसी बालक नन्दनन्दन में ही तो महाप्रभु नारायण आविष्ट हो जाते हैं ! क्यों न हों, अब इस समय इस बालक में ही हम लोग नारायण की भावना करके इसी की शरण ले लें। फिर तो सभी ब्रजवासी पुकार उठे :- "हे कृष्ण ! हे महाभाग श्रीकृष्ण ! हे सर्वसामर्थ्यशालिन् ! हम सब अपने आत्मीयजनों की, सुहृद् समुदाय की रक्षा करो।"

ब्रजराज भी अपने पुत्र में आविष्ट हुए नारायण देव की कृपा-याचना करने चले अवश्य, परन्तु उनकी भाषा सर्वथा बदल गयी। भाव कुछ के कुछ हो गये। गद्‌गद कण्ठ से वे इतना ही कह सके :- "अहा, मृत्यु से डर नहीं, विपत्तियों का प्रवाह चलता रहे, इससे भी भय नहीं। परन्तु तुम्हारे मुखचन्द्र की किरणों के दर्शन का अभाव हो जाय - इस यंत्रंणा का ही भय है।" ब्रजरानी तो नारायण की भावना करने से रहीं। वे तो इसी चिन्ता में हैं -

**कैसेहुँ ये बालक दोउ उबरैं, पुनि-पुनि सोचति परी खभारे।**

अब नींद खुली व्रजेन्द्रनन्दन की। वे तत्क्षण उठ बैठे। अहा ! आलस्य भरे श्री अंगों की शोभा कैसी देखते ही बन रही है। नयन विजड़ित हैं। पलकें गिरती जो नहीं। जननी की अन्तर्व्यथा का असह्य भार पुत्र के अन्तस्तल पर ज्यों-का-त्यों सरक आया। श्रीकृष्णचन्द्र के नयन-सरोजों में एक कम्पन हुआ, होठ भी किंचित् से हिल गये। जैसे फूँक लगने से एक तुच्छ दीप बुझ जाय। इस प्रकार उनके अधरों से निसृत मन्द सुरभित फूत्कार के द्वारा महा प्रचण्ड दावाग्नि तत्क्षण शान्त हो गयी।

## सर्वत्र लीलाओं की अनुकृति

देखो ! यहाँ श्रीकृष्ण की आँखमिचौनी लीला हो रही है। सखी ही श्रीकृष्ण बनी है, और सखियाँ ही उनके सखा। देखो यहाँ व्रजेश्वर बनी गोपी श्रीकृष्ण को भोजन के लिये ला रही है। स्मित-समन्वित मुखारविन्द के दर्शन मात्र से प्रमुदित चित्त हुए व्रजराज के साथ वे एवं बलरामजी भोजन कर रहे हैं।

और यहाँ देखो ! व्रजेश्वरी कण्व ब्राह्मण के सम्मुख रो रही हैं - "देव ! इस बालक को क्षमा करें। और कन्हैया को तो न माँ का भय है, ना ब्राह्मण का। वे तो अपने बंकिम नेत्रों को इधर-उधर संचालित करते हुए हाथ से खीर उठा-उठाकर खा रहे हैं। और इष्टदेव के लिये जिस आसन की कण्व ने परिकल्पना की थी, उस पर वे विराजित हैं। और यहाँ यशोदा चकित हुई श्रीकृष्ण के मुख को खोलकर देख रही है और उन्हें सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड अपने कन्हैया के मुख में दिख रहा है।

व्रजरानी की श्वास-गति अत्यंत तीव्र हो गयी। सारा शरीर थर-थर काँपने लगा है। और वे अपनी सखी धात्रियों के सम्मुख बोलती ही जा रही हैं - "ओह ! मैंने सुस्पष्ट देखा है, नीलमणि के छोटे से मुख-विवर में झाँककर देखा है - वहाँ नीला अनन्त आकाश - महाकाश है। स्वर्ग है, पृथ्वी है, दिशायें हैं, सूर्य है, चन्द्र है, अग्नि है, वायु है, समुद्र है, द्वीप पुञ्ज हैं, पर्वत-मालिकाएँ हैं, नद-नदी समूह हैं, अरण्य श्रेणियाँ है, चराचर अनन्त प्राणी हैं; अरे ! नीलमणि के छोटे से मुखविवर में मैंने सम्पूर्ण विश्व को देखा है।

और यहाँ देखो, यमुना के रजत सैकत तट पर खेल हो रहा है। श्रीदाम सखा बनी गोपी खड़ी है, पीछे से दौड़कर भागते श्रीकृष्ण आते हैं और श्रीदाम भैया के कंधे पर चढ़ जाते हैं। श्रीदाम को सहारा देने उसके बायें एवं दाहिने दो सखा और खड़े हो जाते हैं और लो, तोककृष्ण श्रीकृष्ण के कंधे पर खड़ा होने की चेष्टा कर रहा है। श्रीकृष्ण ने उसे कंधे पर चढ़ा लिया है और लो, श्रीकृष्ण ने उसे अपने कंधे से उछाल दिया। उछलते हुए उसने एक कदम्ब की टहनी पकड़ ली और उस पर झूल गया है, सखा मण्डली नीचे से सरक गयी है, और तोक कदम्ब पर लटका रह गया है। तोक कदम्ब पर झूल रहा

है, श्री कृष्ण के उल्लास की सीमा नहीं है। सभी ताली पीट-पीट कर हँस रहे हैं। सहसा तोक हाथों के बल झूलता कदम्ब की डाली पर चढ़ गया है और बंदर की तरह सब सखाओं पर खों-खों करता, झपटने की मुद्रा दिखा रहा है।

देखो, यहाँ विलक्षण लीला हो रही है। गोपियाँ यशोदारानी को उलाहना देने आयी हैं - कल भी एक गोपी उलाहना देने आयी थी। श्रीकृष्ण ने उसकी गोशाला में जाकर दुहने के समय के पूर्व ही बछड़ों के बन्धन खोल दिये थे, परन्तु वह ज्यों ही मुख खोलने लगी कि श्रीकृष्ण आकर सीधे उसकी गोद में बैठ गये। अब तो वह गोपी ऐसी फँसी कि सब भूल गयी। नन्दरानी को कुछ भी बताये बिना वह गुन-गुन करती लौट गयी। यशोदा आश्चर्य में डूबी उसकी ओर देखती ही रह गयी।

आज तो दल की दल गोपियाँ आयी हैं। देखते-ही-देखते नन्दप्रांगण भर गया है। नन्दरानी को अति विस्मय है कि बिना निमंत्रण के इतनी गोपियाँ कैसे चली आयी हैं। एक आश्चर्य की बात यह है कि प्रत्येक को यह अनुभव है कि मैं नन्दरानी के अत्यंत समीप बैठी हूँ।

देखो, एक कह रही है - "नन्दरानी ! ब्रज तो तुम्हारा राज्य है, नीलमणि तुम्हारा पुत्र है। अतः मैं इसका दोष बताऊँ तो तुम रुष्ट मत होना। तुम्हें आश्चर्य होगा कि अब ब्रजपुर के कितने ही घरों में गोदोहन नहीं होता। गायों के थनों में दूध बचे, तब न गोदोहन हो। यह अकेला नहीं शताधिक बालकों को साथ लिये आता है। हम सब जान भी नहीं पातीं कि कब कैसे पहुँच जाता है। वहाँ जाकर जितने बछड़े होते हैं, सबकी रस्सी खोल देता है। हमें समाचार मिले इसके पहले सब बछड़े दूध पी चुके होते हैं। यदि हम क्रोध करें तो यह हँस देता है। इसकी हँसी में ऐसी मोहिनी होती है कि सारा हमारा क्रोध शान्त हो जाता है और हम भी हँसने लगती हैं।"

दूसरी कहती है - स्वाभाविक ही यही किसी अपने सखा को भेजकर सूचित करवाता है कि बछड़े खुल गये हैं, और जैसे ही हमने गोशाला की ओर चरण बढ़ाये यह हमारे घर में प्रवेश कर जाता है। हमारे गृह को जनशून्य बनाने के लिये वत्समुंचन इसका उद्देश्य होता है। अब तो हमारे घरों में जितना भी दधि, दुग्ध, नवनीत आदि वस्तुएँ होती हैं उनको लेकर यह सखाओं के साथ पहले तो भोजन करता है और फिर सब वस्तुएँ बन्दरों को, पक्षियों को, वितरित कर देता है। चौर्यकला का तो यह कफल्लक मुनि से भी अधिक

आचार्य है। अरी नन्दरानी ! वैसे यह हमारे घर के आगे से निकले और हम इसे माखन खाने का आग्रह करें, तो यह यही उत्तर देता है – "बडी नवनीत खिलाने वाली आयी, क्या मेरे घर नवनीत नहीं है, जो तेरे घर खाने आऊँ ?"

इतने में तीसरी कहती है – "अरी ! यह स्वयं चाहे जितना खावे, अपने सखाओं को खिलावे, वह भी सह्य हो जाय, परन्तु यह तो असंख्य वानरों को मक्खन लुटाता है। ये वानर खाते-खाते जब उपरत हो जाते हैं तो यह अपने सखाओं को कहता है – 'इस गोपसुन्दरी के गृह के नवनीत-दधि आदि स्वादिष्ट नहीं हैं, तभी तो इन्हें वानर भी नहीं खा रहे। यह फूहरी गोपी है। यह माखन बिलोना नहीं जानती।' और यह कहकर हमारे सब नवनीत-दधि-दुग्ध-भाण्ड यह फोड़ डालता है।"

अरे, अरे देखो ये नन्दनन्दन तो आ गये। अपनी मैया से ये कैसी मधुरातिमधुर बातें बना रहे हैं – जरा ध्यान देकर सुनो तो . "अरी मैया ! तू जानती नहीं और जब तू ही नहीं जानती तो ये सब फूहड़ व्रजगोपियाँ क्या जानेंगी ? उस दिन की बात ! अरी मैया, मेरा तपस्वी वेश था। ये बलराम भैया भर मेरे साथ थे। मेरे पास परिग्रह का सर्वथा अभाव था, प्रिया-वियोग से मेरे प्राण अति व्यथित हाहाकार कर रहे थे। यदि ये वानर, भालू और इनका राजा सुग्रीव नहीं होता, मेरे पास साधन ही क्या था ? मैया री, उस दिन प्रत्येक वानर मेरा सैनिक था। उस दिन तो इन वानरों ने मेरे से अपना पारिश्रमिक भी नहीं माँगा था। और तो क्या, उनकी उदर-पूर्ति भी मैं नहीं कर सकता था। वे स्वयं ही वन्य फलों का संचय करते, अपने तो खाते ही, स्वयं मुझे भी ये ही खिलाते थे। अत: इनको माखन न खिलाऊँ तो मैया, ऋण कैसे उतरेगा री। इसीलिये अपनी प्रिय भोज्य वस्तु नवनीत इनको बाँटता हूँ री। इसमें उलाहने की कौन बात है ? अरी मैया ये गोपियाँ चोर हैं। मेरे घर को अपना मान बैठी हैं। ब्रज का प्रत्येक घर मेरा है और ब्रज की प्रत्येक गैया भी मेरी है। अपने घर की समस्त वस्तुएँ, चाहे लुटाऊँ या रखूँ इसमें उलाहने की कौन बात है ?"

निरे छोटे से बालक के मुख से ऐसी बातें सुनकर यशोदा के मुख पर अत्यन्त विस्मय एवं मन्द-मुसकान छा जाती है। मैया यशोदा दुग्ध, नवनीत एवं दधि की शत-शत मटकियाँ दासियों से उठवाकर आँगन में रखवाती हैं

और सभी गोपियों से जिसके घर जितनी हानि हुई है तौल-तौल कर ले जाने की प्रार्थना करती हैं।

लीलासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की अनादि अनन्त लीलाओं में किसी एक लीला का भी - उसके किसी स्वल्पतम अंश का भी 'अथ' 'इति' निर्देश कर देना कि यहाँ इसका आदि है और यहाँ अन्त है, यहाँ इसका आरंभ है और यहाँ इसकी परिसमाप्ति हुई, इस प्रकार इत्यंभूत रूप निर्धारित कर देना आजतक किसी के लिये भी संभव नहीं हुआ, अनन्त काल तक किसी के लिये होगा भी नहीं। इस अपरिसीम महासिन्धु में कहाँ किस समय कौन सी ऊर्मि उठी और कहाँ कितने काल के अनन्तर वह विलीन हुई - यह आज तक किसी ने नहीं जाना। यहाँ, उनके स्वरूपभूत वृन्दाकानन में प्राकृत अवच्छेद नहीं, प्राकृत कालमान नहीं। लीलानिर्वाह के लिये यहाँ वस्तुएँ भी है और प्रतीयमान काल-नियंत्रण भी है अवश्य, परन्तु वे सबके सब सर्वथा सच्चिदानन्दमय है। इन्हीं शब्दों में यत्किञ्चित् हम उस अप्राकृत सत्ता को शाखाचन्द्रन्याय से हृदयंगम कर सकें तो भले कर लें।

गोपियाँ इस प्रकार लीलाओं के अनन्त अगाध सिन्धु में अवगाहन करतीं हुई तन्मय हो रही थीं, अचानक उनमें से किसी समूह को प्रियतम चरणों के चिह्न वन में एक दिशा की ओर जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं। अहा ! सभी चिह्न अंकुश, कमल, कलश, ध्वजा, सभी स्पष्ट जगमगा रहे हैं। जिस चरण रज को शिव, ब्रह्मा, सनकादि, नारद एवं अनन्त योगीजन खोजते थक जाते हैं, उस रज को गोपियाँ अपने हृदय के ताप के नाश के लिये अपने वक्षस्थलादि सभी अंगों में मल रही हैं।

अहा ! अचानक उन चरण चिह्नों के साथ ही गोपियों को एक महा सौभाग्यवती रमणी के चरण-चिह्न भी परिलक्षित हो जाते हैं। गोपियों ने तुरन्त अनुमान भी कर लिया कि वह विश्व-विमोहन-मोहिनी सुन्दरी कौन है जिसे उनके प्रियतम अपने संग ले गये हैं।

**पुनि निरखे ढिंग जगमगात पिय प्यारी के पग**
**चिते परस्पर चकित भई जुरि चलीं तिहीं मग !!**

अहा ! यह परम सौभाग्यवती युवती प्रिया किशोरीराधा ही हैं जिसके त्रैलोक्य-विमोहन रूप के प्यासे हुए प्रियतम उसे एकान्त में ले गये हैं। अब

तो पद-चिन्हों की ऐसी भंगिमायें मिल गयीं, जिससे प्रिया के संग संग प्रियतम ने जो जो विहार किया उसकी स्पष्ट झाँकी परिलक्षित हो रही थी।

वे परस्पर बातें करने लगीं - "अरी देख न ! इन पद-चिन्हों में प्रिया की मात्र अंगुलियाँ ही हैं, पीछे की ऐडी आदि है ही नहीं, इससे यह स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि यहाँ नीलसुन्दर के कंठ से लिपटी प्रिया ने उनके अधरों का पान किया है।"

अनेक गोपियाँ जो आगे बढ़ गयीं थीं उन्होंने एक पल्लवों की कुंज देखी जहाँ सर्वत्र पुष्प मालायें और पुष्प-गुच्छ बिखरे थे, इससे यही प्रतीत हो रहा था यहाँ प्रियतम ने प्रिया की वेणी गूँथी हैं। अरे ! किसी गोपी को एक लता जाल मे अवस्थित आरसी भी मिल गयी। उसने सखियों को आरसी दिखाते हुए चकित दृष्टि से जिज्ञासा की। सखि ने उत्तर दिया -

**बेनी गूँथन समै छैल पाछे बैठे जब**
**सुन्दर बदन विलोकन सुख को अन्त भयौ तब**
**तातैं मंजुल मुकुर सुकर लै बाल दिखायो।**
**श्रीमुख को प्रतिबिंब सखी तब सम्मुख पायो।**

अब एक परम बुद्धिमान गोपी चरणचिन्हों से अनुमान कर-कर के सम्पूर्ण विहार-लीला जो प्रिया प्रियतम में घटित हुई है, उसका चित्र खींच रही है। उसके मन में तनिक भी मात्सर्य अथवा सापत्न्यजन्य कोप नहीं है। गोपी कह रही है - "अरी बहिनो ! यह सखी कितनी सौभाग्यशालिनी एवं सुन्दरी है कि यह जहाँ-जहाँ गयी है सौन्दर्य अधिष्ठातृ के कोश में जितनी शोभाराशि है उसने सभी वहाँ बिखेर दी है। अरी ! इस महासौभाग्यवती ने निश्चय ही अनन्त पुण्य किये हैं तभी न, यह यहाँ एक तनिक सी लता ओट देकर निर्बाध प्रियतम का अधर-रस-पान करती रही है। देख री, ये चरण-चिन्ह स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि यह सलोनी जिधर चरण निक्षेप करती है, प्रियतम इसके पीछे-पीछे उधर ही चल पड़ते हैं। अरी, इस माहाभागा की सौन्दर्य स्रोतस्विनी ने प्रियतम को पूर्ण रसावगाहन कराया है री।

उन गोपियों ने थोड़ा ही पथ पार किया होगा कि उन्हें वह गोपी भूलुण्ठित कंचन लतिका सी दिखाई पड़ जाती है। कवि ने कैसा सुन्दर वर्णन किया है -

**घन तैं बिछुरी बीजुरी जानु मानिनि तन काछैं।**
**किधौं चन्द्र सौं रूसि चन्द्रिका रह गयी पाछैं**

नैनन तें जलधार हार धोवत धरि धावत।
भँवर उडाइ न सकत वास बस मुख ढिंग आवत।
क्वासि क्वासि पिय महाबाहु यों बदत अकेली।
महा विरह की धुनि सुनि रोवत खग-मृग-बेली।
ता सुन्दरि की दसा देखि कछु कहत न आवै।
विरह भरी पूतरी होइ तौं कछु छबि पावै।

गोप सुन्दरियाँ आश्चर्यचकित थीं। शास्त्र कहते हैं - "ना मयूखमालि-मालिन्यं तमसा कर्त्तुं प्रभूयते" "अहो ! किरणमाली सूर्य में मलिनता का संचार कर देना तम के लिये संभव ही नहीं है, फिर इस महासुन्दरी महा-महा-प्रेममयी को कोई नायक विरहावृत कर सके, एवं त्याग दे, यह कैसे संभव है ? यह सुन्दर कोमलांगी तो नयनों में रखने लायक साक्षात् शोभादेवी है, इसको यहाँ ऐसे भीषण वन में अकेली छोड़कर वह निष्ठुर कपटी चला गया, विधाता ! ऐसे क्रूर पुरुष की रचना भी क्या तेरे द्वारा संभव है ?

गोपियाँ मन ही मन प्रियतम श्यामसुन्दर की भर्त्सना करने लगती हैं।

सचमुच ही ये गोपियाँ प्रेम की अधीश्वरियाँ हैं। इस सखी की विरह दशा को देखकर वे अपना अमिलन दुख सर्वथा सर्वांश में भूल गयीं। यद्यपि इस गोपी से उनकी हृदय की विरह-व्यथा किसी भी प्रकार न्यून नहीं है, उनका हृदय भी प्रियतम-विरह में फटा जा रहा है, सर्वांगों में प्रियतम-प्रेम की अग्नि धू-धू जल रही है, उनके नेत्र भी निरन्तर बरस रहे हैं, फिर भी इस नव विरहिनी को यत्किंचित् सान्त्वना देने का वे सभी उपाय करने लगीं। पर-दुख में वे अपने दुख को सर्वांश में विस्मृत कर गयीं। कवि नन्ददास कहते हैं -

धाइ भुजन भरि लई सबनि लै-लै उर लाई।
मनो महानिधि खोइ मध्य आधी निधि पायी।
कोउ चुंबत मुखकमल कोउ भ्रू, भाल, सुअलकैं।
जामें पिय संगम के सुन्दर श्रमकन झलकैं
पौंछत अपने अंचल रुचिर दृगंचल तिय के।
पीक-भरे सुकपोल लोल-रद छद जहँ पियके।
तिहिं लै तहँ ते अउरि बहुरि यमुना तट आयीं।
नंदनँदन जगबंदन पिय जहँ लाड़ लड़ाई।

गोपियों की अन्तस्तल की विरह-ज्वाला प्राण-हारी ज्वाला से कहीं अधिक विषम है, परन्तु प्रियतम-स्मृति-रूप-अमृत की बूँदे उनके हृदय में जो अनवरत पड़ रही हैं, उसी से वे जीवित हैं। अन्यथा तो उनके प्राण कबके उनके तन को छोड़कर अपने प्रियतम के चरणों में लीन हो गये होते।

और वे अनंत प्रेमनिकेतन उनके प्रियतम से गोपियों का यह विरह-ताप क्या अज्ञात है ? क्या वे अपनी प्रेमिकाओं की इस विरह-जन्य दयनीय दशा का अनुभव नहीं कर रहे हैं। क्या वे इन गोपियों को त्याग कर कहीं दूर जा सकते हैं ? नहीं, नहीं, इन गोपांगनाओं की तो चरण-धूलि ही प्रियतम-मिलाप की अमोध दवा है। इनके रोम-रोम में अणु-अणु में कृष्ण ही कृष्ण भरे हैं। ये कृष्णमयी हैं, ये कृष्णात्मिका हैं, ये प्रियतम-प्राण-सार-सर्वस्वा हैं।

जिनके कपड़े गहने श्री कृष्ण हों, जिनके श्वास-प्रश्वास श्रीकृष्ण हों, जिनके ममता-मान, भोग्य, भोक्ता एवं सब भोग श्रीकृष्ण हों, वे श्रीकृष्ण से विलग कहाँ कैसे संभव हैं ? जिनके कर्ता श्रीकृष्ण हैं, कर्म ही श्रीकृष्ण हैं, और कर्तव्य श्रीकृष्ण हैं, जिनके तन, मन एवं धन सब कुछ उनके प्रियतम हों, वे प्रियतम वियोगिनी हों, यह भला कैसे संभव है ? जिनके धर्म मात्र श्रीकृष्ण हों, जिनकी प्रकट विभूति श्रीकृष्ण हों, जिनके भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सब ऐश्वर्य श्रीकृष्ण हों, जिनके लोक-परलोक, बन्धन-मोक्ष, गति-दुर्गति सभी श्रीकृष्ण हों, उनसे उनके वियोग की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

उनके नेत्र तो समाये हुए हैं अपने प्रियतम के मुख सरोज में ही, किसी कवि ने उनकी कैसी दयनीय दशा का चित्रण किया है :-

**कृष्ण मुखारविन्द दृग दीने, रोवहिं विह्वल बदन मलीने।**
**वारिज लोचन मोचहिं बारी, संतत हिय जहँ बसत मुरारी।**
**कहि-कहि ललित गुपाल-गुन, ब्रज कीने जे ख्याल।**
**भूली तन सुधि मनहुँ सब मुई सकल ब्रजबाल ।।**

अरे भाई ! यह प्रेम-सागर के ज्वार-भाटे हैं। ये तरंगें तो जो प्रेम करेगा या जहाँ प्रेम होगा वहाँ नित्य ही उठेंगी। अरे ये तो अमृत की कणिका हैं। प्रियतम श्रीकृष्ण ठीक जान रहे हैं कि गोपियों की अमिलन-जन्य-विरह-ज्वाला इतनी नहीं बढ जाय कि उनके कलेवर को ही भस्म कर दे, फिर निरावरण

वे अपने प्राणाधार को प्राप्त कर लें - अतः वे उनके मध्य स्थूल रूप में प्रकट होने के पूर्व उनके हृदय में प्रकट होते हैं। गोपियाँ अपने प्रियतम की स्पष्ट छबि अपने हृदय में देखती हुईं बोल उठती हैं। उनकी वाणी, अमृत की कणिकाएँ श्रीमहाभाग शुकमुनि आदि के द्वारा प्रपंच के तट पर बिखरा दी गयी हैं, जिससे अनन्त काल तक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्क में आ जावें, उनकी त्रिताप ज्वाला सदा के लिये प्रशमित हो जाय।

गोपियाँ विरहावेश में कहती हैं -

**जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।**
**दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।।**

प्राणवल्लभ ! सुना था कि लक्ष्मी चंचला होती है। वह दीर्घकाल तक एक स्थान पर रहती नहीं। परन्तु जबसे तुम्हारा (जन्म) आगमन इस व्रज में हुआ है, तबसे तो हमनें वसन्त की श्री शोभादेवी को, ऐश्वर्य की श्री अनंत सुख-सम्पदा को, विजय श्री अपने निजजनों के सर्वविधि उत्कर्ष को - सभी श्रियों को यहीं स्थायी निवास करते पाया है। इसीलिये इस व्रज की शोभा वैकुण्ठ से भी बढ़कर हो गयी है। हमने तो अपने प्राण तुम्हारे युगल-चरणों में ही समर्पित कर रखे हैं। हम तुम्हें वन-वन में भटकती खोज रही हैं।

**शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषादृशा।**
**सुरतनाथ तेऽशुल्क दासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ।।२।।**

हे हमारे प्रेमपूर्ण हृदय में निवास करने वाले स्वामी ! हम तो तुम्हारी अशुल्क दासी हैं, बिना मोल बिकी हुई हैं। तुमने अपने उन नेत्रों से हमें घायल कर दिया है, जो शरत्कालीन जलाशयों में खिले सुन्दर से सुन्दर सरसिजों की शोभा को चुराने वाले हैं। हे वरद ! मनोरथ पूर्ण करने वाले प्राणेश्वर ! क्या स्नेह कटाक्षों से मारना वध नहीं है ?

**विषजलाप्ययात् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।**
**वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ।।३।।**

हे पुरुष शिरोमणि ! (यदि हमें मारना ही तुम्हें अभिप्रेत था तो) फिर यमुनाजी के विषैले जल से (कालियनाग नाथ कर) अजगर के रूप में खाने वाले अघासुर से, इन्द्र की कोपजन्य वर्षा से, आँधी (तृणावर्त से), बिजली (इन्द्र के द्वारा वज्रपात से) अनल (दावानल से), वृष (वृषभासुर से) और व्योमासुर(मयात्मज) आदि से बार-बार भिन्न-भिन्न अवसरों पर आपने हमारी रक्षा ही क्यों की ?

**न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिल देहिनामन्तरात्मदृक् ।**
**विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।४।।**

सखे ! हम भली प्रकार जानती हैं कि तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो। क्योंकि यदि तुम साधारण गोपी-प्रसूत बालक ही होते तो तुम्हारे प्रथम दर्शन के समय ही तुम्हारी अनन्त, असीम, अनिर्वचनीय सुन्दर शिशुमूर्ति का दर्शन करने भर से हमारा बाह्यज्ञान सर्वथा लुप्त सा नहीं हो जाता। हमने प्रथम दर्शन में ही ठीक जान लिया था कि तुम विश्व की रक्षा के लिये ब्रह्माजी की प्रार्थना पर ब्रज में एवं यदुवंश में प्रकटे हो। क्योंकि किसी भी बालक के अंग इतने स्वच्छ नहीं होते मानो उत्कृष्ट नवनीलकान्तमणि के अंकुर हों, इतने मृदुल भी नहीं होते मानो नवतमाल के तरुपल्लव हो, इतने स्निग्ध नहीं होते मानो वर्षणोन्मुख नवजलधर हों एवं इतने सुरभित कदापि नहीं होते मानो त्रैलोक्य लक्ष्मी के भाल पर कस्तूरी तिलक हो। तुम तो जन्मते ही इतने आकर्षक और सुचिक्कण थे मानो हमारी सौभाग्य श्री के नेत्रों में लगा सिद्धाञ्जन ही साक्षात् अंग-धारण कर प्रकट हो गया हो।

**विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।**
**करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ।।५।।**

हे कान्त ! आपके सरसिज के समान कर-सरोज जो आपको शरण ग्रहण करने वाले सभी संसार चक्र से भयभीत जनों को अभय करते हैं, जिनसे तुमने लक्ष्मीजी का पाणिग्रहण किया है, और सभी की लालसा अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं -- उन्हें हमारे सिर पर रख दो न ?

**व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।**
**भज सखे भवत्किंकरी: स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय !!६!!**

अहा ! कितनी मधुर मनोहर तुम्हारी मुसकान है। जिन तुम्हारे अत्यन्त निकट के जिनजनों को यह अप्रतिम मुसकान देखने को मिलती है, उनका कण्ठ भर जाता है, वाणी रूद्ध हो जातीहै उनकी आंखे भर आती है छलकती हुई आंखे ही संकेत कर देती हैं कि उनका सम्पूर्ण मान मद चूर चूर हो गया है। उनके नेत्र स्पष्ट कहते हैं उस अप्रतिम मुसकान माधुरी को मैने देखा है परन्तु विधाता ने मुझे बोलने की शक्ति ही नहीं दी और वाणी में देखने की शक्ति नहीं है, अत: उसका यथार्थ वर्णन हो ही नहीं सकता। हे व्रज वासियों की सम्पूर्ण आर्ति के नाश करने वाले वीर ! हमसे रूठो मत ! हमसे प्रेम करो। हम आपकी तुच्छ दासी हैं। हमें अपना सुन्दर कमल मुख दिखाओ।

**प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनं।**
**फणिफणार्पितं तेपदाम्बुजं कृणु कुचेषु न: कृन्धि हृच्छयम् ।।७।।**
**मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।**
**विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व न: ।।८।।**
**तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभीरीडितं कल्मषापहम्।**
**श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना: ।।९।।**
**प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यान मंगलम्।**
**रहसि संविदो याहृदि स्पृश: कुहक नो मन: क्षोभयन्ति हि ।।१०।।**
**चलसि यद व्रजच्चारयन् पशून् नलिन सुन्दरं नाथ ते पदम्**
**शिलतृणांकुरै: सीदतीति न: कलिलतां मन: कान्त गच्छति ।।११।।**
**दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं विभ्रदावृतं।**
**घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि न: स्मरं वीर यच्छसि ।।१२।।**

नाथ ! कोई अपने इस अचिन्त्य सौभाग्य का अनुभव भले ही न कर पावे, परन्तु योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीकृष्ण चरण सरोरुह में बिना इच्छा के जबर्दस्ती भी कोई झुक जावे उसके समस्त पाप उन चरणों में खिंचकर नष्ट हो जाते हैं। अहा, कालिय के मस्तक में स्थित मणिसमूहों से उद्भासित उन चरणों की कैसी शोभा थी, जब आपने ऐसे अत्यंत अधम सर्प को भी अपनी

कृपा का अयाचित दान दिया था। प्राणवल्लभ ! वे अनन्त श्री के आश्रय चरण कमलों से आप वन-वन भटक कर हमारे बछड़े चराते उनके पीछे-पीछे फिरते हो, उन चरणों को हमारे कुचों पर आप रख दीजिये, हमारा हृदय आपके विरह की आग में दग्ध हो रहा है, आपसे मिलन की आकांक्षा हमें सता रही है। हमारे हृदय की ज्वाला शान्त करने का यही अमोघ उपाय है।

कमलनयन ! आपकी वाणी कितनी मधुर है ! उसका एक-एक पद, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर है। बड़े-बड़े विद्वान् भी आपके वाक्य-विन्यास के अर्थों में रम जाते हैं, आपकी गीतोपनिषद् आदि वाणी पर वे कविजन अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। आपकी उस मनोज्ञ वाणी को श्रवणगोचर करने के लिये हम आपकी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं। दानवीर ! अब तुम अपना अमृत से भी मधुर अधर-रस पिलाकर हमें जीवन दान दो, हमें तृप्त ही नहीं, छका दो।

प्रभो ! यह सत्य है कि ज्ञान होते ही अज्ञान जन्य संसार तत्क्षण नष्ट हो जाता है, परन्तु आपकी लीला-कथा कितनी अमृतमयी है। अहा ! क्या ही आश्चर्यमयी है आपकी लीला-सुधा। अनादि काल से अब तक बड़े-बड़े विधि-विधान से सम्पादित हुए यज्ञ आपकों तृप्त करने में समर्थ नहीं हो सके, वही तुम नित्य पूर्णस्वरूप होने पर भी गोपबालक रूप में इन गायों और गोपिकाओं का स्तन्य पान कर सदा तृप्त रहते हो। यद्यपि गायों का, गोपरमणियों का, स्तन्य दुग्ध स्थूल दृष्टि से देखने पर अन्नपान आदि से उद्भूत देह-विकार मात्र वस्तु ही तो है, परन्तु धन्य है, तुम्हारी लीला कि तुमको इनके स्तनक्षरित दुग्धामृत का श्रीमुख से चूस-चूस कर स्वाद लेते, स्वाद ले-लेकर तृप्त हो जाते हम सब प्रत्यक्ष देखते हैं। उन गौओं एवं व्रजरमणियों पर आपकी कृपा की पराकाष्ठा ही तो है यह। आपके ऐसे अमृत-गुणों का, विरह से सताये तुम्हारे भक्त लोग कीर्तन करते-करते सदा तन्मय रहते हैं। प्रेम की विचित्र लहरें उनके अन्तस्तल में निरन्तर छायी रहती हैं भूलोक में वे ही सबसे बड़े दाता हैं। तुम्हारी लीला-कथा-श्रवण मात्र से सारे पाप, ताप तो मिटते ही है परम मंगल एवं कल्याण का दान भी वह करती है, वह परम मधुर, परम सुन्दर एवं बहुत विस्तृत भी है। इसीलिये बड़े-बड़े ज्ञानी महात्मा और कविलोग भी उसका गान करते रहते हैं।

हे प्राणवल्लभ ! एक समय था जब अपने कोटि-कोटि प्राण-प्रतिम तुम हमारे प्रियतम की प्रेमभरी मादक मुसकान और रसभरी चितवन का मात्र

ध्यान करके हम आनन्द में मग्न रहती थीं। जब तुम गोचारण के लिये वन में पधारते उस समय एक विचित्र सी दशा में अवस्थित हुईं हम निर्निमेष दृष्टि से तुम्हारी ओर देखती रहतीं। क्रमशः तुम हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते। उस समय तुम्हारी तरह-तरह की क्रीडाओं का ध्यान करती हुई हम कितनी देर पश्चात बाह्यज्ञान में आतीं, यह कहना कठिन है। जब हमें अपने शरीरों का भान भी होता तब ऐसी प्रतीति होती कि प्राणों में आपाततः एक वेदना भर गयी है। यह उस समय कहना कठिन था कि हमारे प्राण क्या चाहते हैं ? जब हम तुम्हारे मुख सरोज को नहीं देख पातीं - इस स्वल्प अदर्शन के समय भी हमारा अन्तस्तल सूना हो जाता था। प्राण तुम्हारे दर्शन के लिये सर्वथा मचले होते। वह तुम्हारा स्मृति-रूप-ध्यान जो दिन भर बना रहता वह भी परम मंगलदायक था। उसके पश्चात् तुम मिले। तुमने हमसे हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं। प्रेम की बातें कहीं। हमारी विरहाग्नि जो अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में अलक्षित रूप से धक् धक् जल रही थी, प्रशमित हो गयी। परन्तु हमारे कपटी मित्र ! आज जब तुम पुनः हमें निराश्रित इस वन में छोड़ गये हो, हम तुम्हारी उन्हीं बातों को स्मरण कर रहीं हैं।

हे नाथ ! तुम्हारे चरण इतने सुकोमल हैं, मानो सुन्दरतम श्याम तमाल के नीचे किसी ने रक्तकमल बिछाये हों। ये रक्तकमल पराग का उपहार एकत्रित कर हमारे मन-मधुकर के प्रीति-भाजन बन गये हों। जब तुम गोचारण के लिये निकलते हो, उस समय यह सोचकर कि तुम्हारे इतने सुकोमल चरण, कंकड़, कुश-काँटे गड़ जाने से पीडित होते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है, हमें अतिशय दुख होता है।

जब संध्या होती है, तुम वन से घर लौटते हो। उस समय हम तुम्हारी निराली शोभा देखती हैं -"घुँघराली अलकें कपोलों पर, ललाट के कुछ अंश पर झूलती रहती हैं। गोखुरों से बिखरे हुए धूलिकण उड़-उड़कर उन अलकों पर पड़ते रहते हैं। नेत्रों की मनोहर चितवन एवं अधरों पर व्यक्त हुए स्मित की शोभा देखते ही बनती है। तुम अपना वह अलौकिक सौन्दर्य हमें दिखा-दिखाकर हमारे हृदय में मिलन की आकाक्षा एवं प्रेम उत्पन्न करते हो।

**प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।**
**चरणपंकजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ।।१३।।**
**सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितं।**

**इतरराग विस्मारणं नृणां वितर वीर नः तेऽधरामृतम् ।।१४।।**
**अटति यद्‌भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यतां।**
**कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्‌दृशाम् ।।१५।।**
**पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागता:।**
**गतिविदस्तवोग्दीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ।।१६।।**
**रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणं।**
**बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धामते मुहुरति स्पृहा मुह्यते मनः ।।१७।।**
**व्रजवनौकसां व्यक्तिरंग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमंगलं।**
**त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ।।१८।।**
**यते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।**
**तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्**
**कूर्पादिभिर्भ्रमतिधीर्भवदायुषां नः।।१९।।**

हे प्रियतम ! सत्य तो यह है कि भक्तजनों को, जो निरन्तर आपके चरणों में प्रणाम करते रहते हैं, आप कृपापूर्वक समस्त मनोरथों का दान करने वाले हो , इसीलिये नखचन्द्रिका से उद्‌भासित आपके कमल सदृश चरणों की अर्चना स्वयं लक्ष्मीजी निरन्तर करती रहती हैं। और हम तो प्रति दिवस ही यह अनुभव करती हैं कि रक्तपद्‌म की शोभा वाली आपकी पगथलियाँ जैसे ही धरादेवी पर पड़ती हैं, वे सुख में हरी हो जाती हैं और आपके चरण-चिह्नो को आभूषणों की तरह अपने अंगों में विजड़ित कर लेती हैं । और हे लीलामय ! विपत्ति में पड़े हुए प्राणी के तो एक मात्र ये चरण ही ध्येय हैं, इन चरणों के सिवा उसकी तो कोई गति ही नहीं है। सर्वभयहारी जो वे हैं। हे रमण ! हमारे हृदय की प्रेमव्यथा का हरण करने के लिये उन्हें आप हमारे उरोजों पर रख दीजिये । ॥१३॥ हे वीर ! तुम्हारा अधरामृत मिलनके सुख की आकांक्षा को अतिशय बढाने वाला है; वह विरह-जन्य सब शोकों का नाश करने वाला है, अहा उसे यह बाँस की वेणु भली भाँति चूम-चूम कर पान करती छकी रहती है। जिन्होंने एक बार भी उसे पान कर लिया उनकी उससे इतर सभी आसक्तियाँ सर्वथा सर्वाश में विस्मृत हो जाती हैं। हे प्रेमवीर ! हमें वही अधरामृत पान कराओ(वितरण कर दो) ॥१४॥ प्राणप्यारे! दिन के समय जब तुम वन में विहार करने चले जाते हो, तब तुम्हारे अदर्शन में हमारा एक-एक क्षण युगों के समान व्यतीत होता है, और संध्या के समय जब

हम तुम्हारी घुँघराली कुंचित केशराशि से मण्डित मुखारविन्द को देखती हैं तो हमरी पलकें ही गिरना बंद हो जाती हैं, उस समय यही लगता है कि इन पलकों को बनाने वाला विधाता सर्वथा मूर्ख है।।१५।। प्राणवल्लभ ! हम अपने सर्वस्व (पति-पुत्र,भाई-बन्धु, कुल-परिवार) सबका त्याग कर उनकी इच्छा और आज्ञा का उल्लंघन करके तुम्हारे पास आयी हैं। हम तुम्हारे संकेत को समझकर तुम्हारे मधुर वंशीध्वनि से मुग्ध हुई यहाँ आयी हैं। हे कपटी ! इस प्रकार रात्रि के समय आयी हुई युवतियों को तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ सकता है ? प्यारे ! एकान्त में तुमने मिलन की आकांक्षा जगाने वाली वार्ताएँ हमसे की हैं। हमसे ठिठोलियाँ की हैं, तुम प्रेमभरी चितवन से देख-देख कर मुसकाते थे और हम मुग्ध हुई, तुम्हारे विशाल वक्षस्थल की शोभा में रम जाती थीं, जो लक्ष्मीजी का नित्य निवास है।

तबसे तुम्हें पाने की हमारी लालसा बढती ही जा रही है। प्यारे ! अब तो हमारा मन अतिशय मुग्ध होगया है। प्यारे ! तम्हारा व्रज में प्राकट्य हम व्रजवासियों के सम्पूर्ण दुख-ताप को नष्ट करने वाला है, यह विश्व का पूर्ण मंगल करने के लिये है। हमारा हृदय तुम्हारे प्रति असीम लालसा से भर गया है। कुछ ऐसी औषधि दो, जो तुम्हारे निजजनों के हृदय रोग का सर्वथा निर्मूल नाश कर दे। ।।१७।। प्रियतम ! तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर रखती भी डरती हैं। कहीं उन्हें हमारी कुच कर्णिका चोट न पहुँचावे । उन्हीं चरणों से आप रात्रि में घोर जंगल में छिपे-छिपे भटक रहे हो। कहीं कंकड़ पत्थर आदि की चोट लगनेसे वे आपके चरण पीड़ाकुल नहीं हो रहे हों - इसकी आशंका से हमें चक्कर आ रहा है, हम मूर्च्छित हो रही हैं। श्रीकृष्ण ! श्यामसुन्दर !! प्राणनाथ !!! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारी, तुम्हारी सर्वतोभावेन तुम्हारी ही हैं।

जगत के जीवों ! देखो मुझ एक साधन-भजन-हीन तृण पर कैसी महती भगवत्कृपा महज्जन चरण-रेणु द्वारा हुई है। मैं गोपियों के विरहावेश एवं उनके इस भावभरे गायन से स्वयं अभिभूत और स्पन्दित होने लगा और इन गोपियों के साथ ही विरहाविष्ट .हुआ परम करुण स्वर में उनके साथ ही विलाप करने लगा। ठीक इसी समय मुझे विलक्षण अनुभव हुआ। मेरी समग्र अस्मिता ही श्रीकृष्णमयी हो गयी । मुझ तृण का कलेवर तो मात्र एक झीना सा परदा ही रह गया और उसके अन्तराल में भर गये मात्र प्रियतम श्याम

सुन्दर । उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकान से विकसित था। गले में वनमाला झूल रही थी। पीताम्बर धारण किये थे। शरीर की श्यामल आभा मरकत मणि की शोभा को तुच्छ बना दे रही थी । पीताम्बर परिधान संध्याकालीन पीताभ मेघ की कान्ति को लज्जित कर रहा था। मयूर पिच्छ शोभित किरीट अपनी प्रभा से सुमेरु शृंगों को मलिन कर दे रहा था। मुक्तामाला शैल के वक्षस्थल पर प्रवाहित जलधारा की एवं वनमाला सुमन समूहों की शोभा को प्रतिहत कर दे रही थी। कोटि-कोटि कामदेवों के भी मन को मथने वाले उस रूप को अपने रोम-रोम में भरा पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे शरीर में दिव्य प्राणों का संचार हो गया। तृण शरीर के रोम-रोम में नवीन चेतना, नूतन स्फूर्ति हो गयी। बस, इसी समय एक विलक्षण घटित हुआ। मेरा तृणभाव सदा-सदा के लिये समाप्त हो गया और मैं एक परम सुन्दरी गोपी बना उन महाभागा गोपांगनाओं में सम्मिलित हो गया। मैने अतिशय प्रेम से अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के कर कमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया और मैं उसे धीरे-धीरे सहलाने लगा। प्रियतम ने उसी समय मुझ पर अपनी तिरछी चितवन से प्रेम की बौछार कर दी और अपने चन्दन चर्चित भुजदंड को मेरे कंधे पर रख दिया। और तब मुझे आकृष्ट कर मेरे मुख में अपना चर्चित ताम्बूल उगल दिया। बन्धुओं ! तबसे एक अभूतपूर्व रस से आविष्ट मेरा जीवन हो गया। जिसका वर्णन मैं क्या साक्षात् सरस्वती भी नहीं कर सकतीं। अब तो अनवरत मैं गोपी बनी निर्निमिष नयनों से अखण्ड उनका मुखकमल मकरन्द रस–पान करती रहती हूँ। कभी तृप्ति ही नहीं होती। अब तो यह स्मरण ही नहीं रहा कि कभी मैं एक तुच्छ तृण था। प्रियतम प्राणवल्लभ का अखण्ड आलिंगन करते रहने से मेरा रोम-रोम सदा खिला रहता है और महासिद्ध योगियों से भी उत्कृष्ट परमानन्द में मैं डूबी रहती हूँ। मेरी हृदयगत शान्ति कैसी है, मैं कुछ कह नहीं सकती ?

हे जगत के जीवो, यदि तुम्हें मेरे सत्य पर तनिक भी विश्वास हो, यदि तुम्हें कहीं महज्जन भगवत्कृपा से प्राप्त हो जावें तो उनकी चरणधूलि से अपने रोम-रोम को भर लेना । उनका कायिक, वाचिक, मानसिक संग किये रहना और उनके चरणों में अपने को सर्वतोभावेन समर्पित कर सको तो कहना ही क्या है। यही मेरी एक तुच्छ प्रीति भरी तुम सबसे प्रार्थना है।

निर्मल लहरें स्नेह-सिन्धुकी नित उद्वेलित जिनके अन्तर

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या 001-100 तक

साधु कृष्णप्रेम

## इस रत्नगर्भामें अवगाहनकर प्राप्त करें, ये छुपे रत्न

१. आपकी ज्ञान-मूलक अभिरुचिको तुष्टि देनेवाली श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीकी पू. श्रीराधाबाबासे वार्त्ता –

"ब्रह्मज्ञानका ककहरा"

२. नास्तिकता एवं भगवद्विषयक संदेहोंके निवारणार्थ नाजिम साहब एवं मुंसिफ मजिस्ट्रेट आदिकी वार्त्ता –

"भगवान्की सत्ता और महत्ता"

३. भक्ति भावनाओंको निश्चयही परिपक्व करनेवाले हैं पू. श्रीराधाबाबाके कलकत्तेके प्रवचन

४. एक सन्यासी भक्तकी रहनीकी झलक पाइये - पू. श्रीराधाबाबाके अग्रज भ्राताओंको लिखे पत्रोंमे

५. पू. श्रीराधाबाबाके श्रीहरिकृष्णदासजी गोयनकाको लिखे गहन तत्त्व विचारासे भरे पत्र आपको भगवन्मार्गकी दिशा देनेमें समर्थ हैं

६. सरस रससाधनाकी झाँकी लीजिये श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला एव व्रजवास करनेवाले भक्तोंके पत्रोमे

७. व्रज रससाधनाका जीवन्त चित्रण – श्रीशिवभगवान्जी फोगलाके पत्रोंमें

८. आइये, व्रजकी एक परम निराविल, गोपीसे श्रीकृष्ण के पवित्रतम प्यारकी झाँकी देखें श्रीराधाबाबाकी अपनी प्राथमिक रससाधनाके पू. पोद्दार-महाराजको लिखे –

"रसार्चनकी अरुणाई" शीर्षक पत्रोमें

९ एक सच्चे भक्तका जगत्को क्या दान होता है, पढें श्रीशिवकुमारजी केडियाको उद्बोधित "भक्त-महिमा"के पत्रोमें -

१०. पू श्रीराधाबाबा तत्र-मार्गके सर्वोच्च सिद्ध एवं न्यास विद्याके आचार्य रहे है। उनको क्रोध भट्टारक महर्षि दुर्वासाके दर्शन हुए। उनकी तंत्र साधनाके ये अनमोल प्रसग मिलेंगे

"पू राधाबाबाकी मातृ-साधना" नामक खण्डमे

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## (द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

वार्त्तायें, प्रवचन, पत्राचार एवं मातृसाधना

साधु कृष्णप्रेम

*प्रकाशक*

**राधु कृष्णप्रेम**

अध्यक्ष, श्रीमती विमलाबाई चैरिटी ट्रस्ट

षोडशगीत मंदिर, अनाथालयके पीछे, बीकानेर–३३४ ००१ (राजस्थान)

**राधामाधव प्रकाशन, षोडशगीत मंदिर,**

**अनाथालयके पीछे,**

**बीकानेर**



श्रीराधाष्टमी, श्रीकृष्ण सं. ५२२२

(२० सितम्बर, १९९६)

प्रथम प्रकाशन ११०० प्रतियाँ

**न्यौछावर रु. १५१**

*लेजर टाईप सेटिंग :*

**तँवर कम्प्यूटर्स**

कृपाल भैरूँ मंदिरके पास,

सर्वोदय बस्ती, बीकानेर (राजस्थान)

**स्वामी कम्प्यूटर्स**

फड बाजार, बीकानेर (राजस्थान)

*मुद्रक :*

आदित्य ऑफसेट, दरियागंज, नई दिल्ली

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## द्वितीय खण्ड

(वार्त्तायें, प्रवचन, पत्राचार एवं मातृसाधना)

## अनुक्रमणिका

| क्रमांक | विषय | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|

| क्रमांक | विषय | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|



## प.पू.श्रीराधाबाबाकी मातृ-साधना

# चित्र-सूची

(बहुरंगे चित्र)

मुखपृष्ठ – महाभाव-निमग्न श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड



तृतीय खण्ड

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## द्वितीय-खण्ड

(वार्त्तायें, प्रवचन, पत्राचार एवं लेख)

## प्रथम अध्याय

(वार्त्तायें)

१. ब्रह्मज्ञान एवं भगवद्भक्तिका ककहरा
वार्त्ताकार – पं. वल्लभलाल गोस्वामी

२. भगवान्‌की सत्ता और महत्ता
वार्त्ताकार – चूरू नगरके नाजिम, मुंसिफ
एवं पुलिस पदाधिकारी

## सार संक्षेप - १

*जैसे विभागरहित सूर्यका तेज, किरणोंके रूपमें पृथक्-पृथक् अनुभव होता है, जैसे लहराता हुआ एक समुद्र, लहरोंके रूपमें भिन्न-भिन्न लहरें हैं, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे विभागरहित स्थित हुआ महाकाश घटोंमें पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एक ही रूपसे स्थित भगवान् पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत हो रहे हैं ।*

x x x

*यह तन-मन जो भी आपको दिखता है, सब एकमात्र उनकी ही संपत्ति तो है। जैसा रखना चाहेंगे, रखेंगे। ऐसा कौन है जो उनकी हेतुरहित परम मंगलमयी इच्छामें अपनी टाँग अड़ा सके ? यदि कोई टाँग अड़ानेकी चेष्टा करेगा, तो उसकी टाँग टूटेगी ही। जीवन तो वे जैसा विधान करेंगे, वैसे ही चलेगा।*

x x x

*भगवान्की सत्ता ऐसी परम सत्य वस्तु है, कोई भले ही उसे न माने, मान लो, सभी उसे न मानकर नास्तिक ही हो जावें, तो भी वह विश्वके अणु-अणुमें अनादिकालसे व्याप्त थी, है एवं अनन्तकालतक ज्यों-की-त्यों व्याप्त रहेगी। हाँ, जैसे ही हमने प्रभुका आश्रय लिया, असत् वस्तु स्वतः ही हमसे छूट जायेगी।*

## सार संक्षेप - २

*इन्द्रियजन्य ज्ञानमें जन्म है, मृत्यु है, भोग हैं, भय है, राग है, द्वेष है, दुःख है, पीड़ाएँ हैं, शरीर है, संसार है, नरक है, स्वर्ग है, काल है, कर्म है, सद्गति है, दुर्गति है, 'मैं' है, 'तू', है 'तेरा' है, 'मेरा' है।*

x x x

*अपनेमें शरीर-भाव धारण करनेके कारण ही आनन्दघन भगवान् संसारके स्वरूपमें दीख रहे हैं। जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करनेसे संसारका अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मभाव धारण करनेपर परमात्माका अनुभव होने लगता है।*

।। श्रीराधा ।।

वार्त्ता संख्या - एक (१)

# ब्रह्मज्ञान एवं भगवद्भक्तिका ककहरा

*उपदेशक :*

**प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

(आगे जाकर प. पू. श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

*वार्त्ताकार :*

**पं. श्रीवल्लभलाल गोस्वामी**

*स्थान :*
ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू
(बीकानेर राज्य)

*दिनांक :*
बसन्त ऋतु, वि. सं. १९९३
तदनुसार, सन् १९३७ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीवल्लभलालजी गोस्वमीकी
डायरीके अंश

## आलोक

*ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमका वार्षिकोत्सव हो रहा है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी प्रभृति अनेक लोग बाहरसे पधारे हैं। ग्रामके अनेक सेठ-साहूकार भी सम्मिलित हैं।*

## सन्दर्भ

*तत्कालीन बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू नामक शहर है। रेलवे स्टेशनके पार्श्वमें ही ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमका भवन एवं उसकी चारदीवारीयुक्त विस्तृत भूमि है। इसी आश्रममें भवनसे दूर, एकान्त स्थलमें निर्मित एक कुटीनुमा झोंपडीमें काष्ठके तखतपर एक अति साधारण ऊँटके बालोंसे निर्मित कम्बलका आसन बिछा है। आसनपर सन्यासी वेष धारण किये एक तरुण युवक ध्यानस्थ आसीन है। कुटियाके शेष स्थलमें एक टाटकी दरी बिछी है। तरुण सन्यासी, सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके साथ गोरखपुरसे उत्सवमें पधारे हैं। सन्यासीके तखतके पार्श्वमें कोनेमें एक काष्ठकी चौकीपर मृत्तिकापात्रमें जल भरा है। जलपात्रके पार्श्वमें सन्यासीका काष्ठ-निर्मित कमण्डलु है।*

*कमण्डलुको जल छाननेके स्वच्छ वस्त्रसे आवृत किया हुआ है।*

*सन्यासी महात्माकी वय बीस-पचीस वर्षके लगभग है। कक्षका द्वार उढका है। कोई अर्गला नहीं लगायी गयी है।*

*प्रश्नकर्त्ता पूर्वानुमति लेकर यथासमय उपस्थित हुए हैं। प्रश्नकर्त्ता भी उत्सवमें अतिथि ही हैं। वे भूमिपर ही बिछी टाटकी दरीपर निश्शब्द शान्त बैठ जाते हैं। समागत सज्जन ध्यानस्थ तरुण सन्यासीके तेजस्वी मुखमण्डलको निर्निमेष देखने लग जाते हैं। सर्वत्र विलक्षण शान्ति है। उत्तमोत्तम तीर्थस्थलों की समग्र पवित्रता मानो पुंजीभूत हुई, इसी स्थलमें एकत्रित हो समागत अतिथि ऐसे निर्मल वातावरणको पाकर मुग्ध है। इस युवक सन्यासीकी शान्त एवं ध्यानस्थ मुद्रा निरखता हुआ समागत अतिथि निम्न विचारोंमें खोया है :- "अहा ! कितना शान्तिदायक वातावरण है। समग्र प्रापञ्चिक रजोगुण एवं तज्जन्य मनोगत अशान्ति जैसे इस कक्षके बाहर ही अवरुद्ध है। इस सन्यासीके कलेवरसे निःसृत घना सत्वप्रवाह जैसे उसे बरबस भीतर प्रवेश ही नहीं होने देता। कैसा पवित्र इस युवकका मुखमण्डल है। इसकी निर्मल दृष्टिसे अजस्त्र आत्मीयताकी पवित्र धारा प्रसरित हो रही है। कोई भी व्यक्ति इस तपस्वीको देखकर यही अनुभव करेगा, जैसे उसका अपना चिरकालसे बिछुडा परम स्नेही आत्मीयजन पुनः मिल गया हो।" आगत अतिथि इन्हीं विचारोंमें मग्न है। सहसा उसे खाँसी आ जाती है। वह उसे रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी रोक नहीं पाता। तरुण महात्मा किसी अन्य प्राणीकी उपस्थिति अपने कक्षमें अनुमानितकर अपने ध्यान-निमीलित नेत्र उन्मीलित कर देते हैं।*

*समागत व्यक्ति अपना परिचय देता है एवं प्राथमिक शिष्टाचार-वार्त्ताके पश्चात् अपनी जिज्ञासा निवेदित करता है।*

**प्रश्नकर्त्ता** - "स्वामीजी ! कल ही आपको प्रथम बार देखा था। देखते ही ऐसा अनुभव हुआ, मानों मेरा कोई अपना अति निकटस्थ स्वजन सन्यासी होकर आया है। क्या आप अपने माता-पिता, कुल-गोत्र एव जन्मस्थानादिका परिचय देंगे ?"

**तरुण महात्मा** - "मेरे आत्मस्वरूप बधु ! आपकी आत्मीयताकी मैं स्तुति करता हूँ। परन्तु आप मेरा समग्र परिचय अपने इष्टदेव भगवान्‌से ही पूछ लीजिये। देखिये, इस मलिन, क्षणभगुर नश्वर देहका परिचय भी भला क्या हो सकता है ?"

"पचभूतोका विकार, एक कीट जैसे जन्म धारण करता है, वैसे ही सृष्टिका एक नगण्य तुच्छ कलेवर (पिण्ड) यह भी है। प्रपञ्चमें जैसे अनेक

कीट-फतिगे उत्पन्न होते हैं, कालकी अति सीमित क्षणिक अवस्था तक जीवित रहते हैं, फिर नष्ट हो जाते हैं, ठीक वैसे ही यह मानव-कीट भी है, जिसे 'चक्रधर' नामसे अभिहित कर दिया गया है। यह किसी मादा कीटसे जन्म लेकर इस समय देह-प्रारब्धानुसार इस राजस्थानके चूरू नामक शहरमें दिखाई पड रहा है। जैसे सभी कीट-फतिगे माताकी योनिसे जन्मते हैं, अपना कालमान पूराकर एक दिन विनष्ट हो जाते हैं, इसकी भी यही गति होनेवाली है।"

"हॉ ! महापुरुषोके सत्सगसे इतना इसे स्वल्प ज्ञान अवश्य हुआ है कि विश्वसृष्टिमे सम्पूर्ण जीवत्व भगवान् श्रीकृष्णकी ही वस्तु है ,"

"भगवान स्वय अपने श्रीमुखसे गीतोपनिषद्मे कहते हे "देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अश है।" इसे भली प्रकार समझ लेना चाहिये। जैसे विभागरहित सूर्यका तेज, किरणोके रूपमे पृथक्-पृथक् अनुभव होता है, जैसे लहराता हुआ एक समुद्र, लहरोके रूपमे भिन्न-भिन्न लहरे हैं ऐसा प्रतीत होता है । जैसे विभागरहित स्थित हुआ महाकाश घटोमे पृथक्-पृथक्की भॉति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोमे एक ही रूपसे स्थित भगवान् पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत हो रहे हैं। और यही भगवान्के जीवात्माको अपना 'सनातन अश' कहनेका अभिप्राय है।"

"जैसे मीठे-खारे स्वादका ज्ञान खानेवालेको ही होता है, उसी प्रकार किसी भी जीवका सत्य परिचय उसकी वर्तमान, भूत एवं भविष्यमें क्या उन्नति-अवनतिकी सभावनाऍ हैं – सभी बाते यथार्थमे सत्य तो भगवान् श्रीकृष्ण ही बता सकते हैं। मेरे अथवा आपके या किसीके भी जन्म-कर्मका सम्पूर्ण लेखा-जोखा उनके ही पास है।"

"यह तन-मन जो भी आपको दिखता है, सब एकमात्र उनकी ही सपत्ति तो है। वे इसे रोगी-दुखी, यशस्वी-अपयशस्वी, अभावग्रस्त-सम्पन्न, रोगी-नीरोगी, सुरक्षित-असुरक्षित – जैसा रखना चाहेंगे, रखेगे। ऐसा कौन है जो उनकी हेतुरहित परम मगलमयी इच्छामें अपनी टॉग अड़ा सके ? यदि कोई टाँग अडानेकी चेष्टा करेगा तो उसकी टॉग टूटेगी ही। जीवन तो वे जैसा विधान करेगे, वैसे ही चलेगा।"

**प्रश्नकर्त्ता** – "स्वामीजी ! मैंने तो सुना था कि आप शुष्क ब्रह्मवादी वेदान्ती हैं, आप श्रीकृष्णको माननेवाले भक्त कबसे और कैसे हो गये ?"

**तरुण महात्मा** – "हॉ, पहले मै भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपको मायोपाधिक मानता था, परन्तु अब मेरे लिए ब्रह्मसत्ता और श्रीकृष्ण, दो भिन्न, प्रथक्, सत्ताएँ नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णका आकार प्राकृत आकार नही है एव

भगवान्‌में जो गुण हैं वे सभी मायाराज्यसे परे, अप्राकृत गुण हैं। यह मुझमे परिवर्तन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके सत्संगसे हुआ है। वास्तवमें सत्य यही है कि ब्रह्मभावके परिपाक होनेपर ही भगवान श्रीकृष्णकी सच्ची भक्ति प्रारभ होती है। श्रीगीतोपनिषद्‌में भगवान् कहते हैं :–

*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।*
*समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।*

**प्रश्नकर्त्ता** – "स्वामीजी ! आपके ब्रह्मवादी वेदान्ती होनेकी पृष्ठभूमि क्या रही ?"

**तरुण महात्मा** – "मैंने मेरे बडे भाई श्रीदेवदत्त मिश्रसे वेदान्तके तीनों अंग (प्रस्थान-त्रयी) पढे थे। ये तीनों अग हैं – १ ब्रह्मसूत्र २ उपनिषद् ३ श्रीमद्भगवद्गीता। इन तीनों ग्रन्थोंके श्रीमदादिशक राचार्यकृत भाष्य हैं। इनके पर्याप्त मननपूर्वक गहन अध्ययनके फलस्वरूप मैं निर्विवाद ब्रह्मसत्ताको माननेवाला बन गया था।"

**प्रश्नकर्त्ता** – "क्या आप मुझे ब्रह्मज्ञानका ककहरा सक्षेपमें बतानेकी कृपा करेंगे ? देखिये ! मुझे तो आप आस्तिक भी मत मानियेगा। पूर्वजोंकी शिक्षानुसार अष्टछाप-सूरदास, नन्ददासादिके पद-गायनका अवश्य अभ्यासी हूँ, परन्तु आन्तरिक भगवद्विश्वास नहींके बराबर है।"

**तरुण महात्मा** – "बन्धु ! आप सचमुच ही सरल एवं निश्छल हैं। ससारमें प्राय मौखिक आस्तिक, ज्ञानी एव भक्त ही दृष्टिगोचर होते हैं। कहनेको तो हजारो लोग अपनेको भगवद्भक्त एवं ज्ञानी कह देंगे, किन्तु इन हजारोंमेंसे किसी एकको भी वास्तवमें स्वरूप-ज्ञान है या नहीं, यह कहना कठिन है। वेदान्तकी पाठशालाओंमें आत्माके स्वरूपपर विचार कर लेना, पाठ पढ लेना, भरी सभामे जनताके समक्ष आत्मज्ञानी होकर मनोरञ्जक सुन्दर-से-सुन्दर प्रवचन कर देना सहज है, ऐसे मौखिक स्वरूप-ज्ञानी, शास्त्रीय-ज्ञानी, और दिखाऊ वैराग्य-सम्पन्न बहुत मिल जायेंगे, परन्तु यथार्थमें स्वरूप-ज्ञान होना अति कठिन है।"

"यथार्थमें स्वरूप-ज्ञान होनेपर बुद्धि ज्ञानके आलोकमें वेदान्तके पाँच महावाक्योंपर दृढ निश्चय कर लेती है। इसी प्रकार यथार्थ आस्तिक भगवद्भक्त होनेपर भी बुद्धि भगवान्‌के सम्बन्धमे इन निम्न चार विषयोंमें अति सुदृढ आस्थावान् हो जाती है।"

"वेदान्तके ये पाँच महावाक्य हैं – १ प्रज्ञान ब्रह्म २. अयमात्मा ब्रह्म ३ अहं ब्रह्मास्मि ४. तत्त्वमसि ५. सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन । इनके अतिरिक्त उपनिषदोंमें एव श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे अन्य और भी सहस्रों वाक्य हैं,

जो वेदान्त-निष्ठाके परिपाकमें हेतु हैं। परन्तु इन सभी सिद्धान्तोंपर बुद्धिकी अखण्ड, सुदृढ आस्था जम जानी चाहिये, तभी कोई सच्चा ज्ञानी कहा जा सकता है।"

"भगवद्भक्तिके सम्बन्धमें भी भक्तकी ये निम्न चार अखण्ड, अटूट सुदृढ़तम आस्थाएँ होती हैं। ये भगवद्भक्तिकी आधारशिलाएँ या नींव हैं, ऐसा ही कहना उचित होगा। ये चार बातें हैं – भक्तको अथवा आस्तिकको अटूट-अखण्ड एव निर्भ्रम विश्वास होना चाहये कि भगवान् सर्वत्र हैं। भक्तके इस विश्वासके अप्रतिम उदाहरण भक्तराज बालक प्रह्लाद हैं। भक्तराज प्रह्लादको उसके पिताने नंगी चमचमाती तलवार निकालकर पूछा था :–

**यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।**
**क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृष्यते ।।**
**सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते ।**
**गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् ।।श्रीमद्भा.।।७।८।१३-१४।।**

"हे मन्दभाग्य ! जो तूने मेरे सिवा और किसीको जगत्का स्वामी बतलाया है, सो देखूँ तो वह तेरा जगदीश्वर कहाँ है ? अच्छा, क्या कहा – 'वह सर्वत्र है ? मुझमें, तुझमें, खड्‌ग एवं खम्भे में भी है', तो वह मुझे इस खम्भेमें दीखता क्यों नहीं ? अच्छा, तुझे इस खम्भमें भी दिखायी देता है ? अरे, तू क्यों इतनी डींग हाँक रहा है ? मैं अभी-अभी तेरा सिर धडसे अलग किये देता हूँ। देखता हूँ, वह तेरी रक्षा कैसे करता है ?"

"इस प्रकार अत्यन्त महाबलवान् दैत्यके सम्मुख भी – जो हाथमें खड्‌ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा है और बार-बार झिड़कियाँ देता मारनेको उद्यत है, शान्त खड़े प्रह्लादजी भगवान्को सर्वत्र देखते हुए अविचलित निर्भय हैं। भक्तको अपने भगवान्की सार्वत्रिकतापर ऐसा ही अखण्ड अटूट विश्वास होना चाहिये। अनुकूल परिस्थितियोमें तो हम सभी 'भगवान् सर्वत्र हैं', इस विषयपर उपदेश दे सकते हैं, परन्तु यदि झपटता हुआ सिंह मुख फाड़कर हमें चीरकर खा जाने को उद्यत दृष्टिगोचर हो और उसके अंग-अंगमें सर्वत्र भरे भगवान् हमें दीखें, तभी हमारी सच्ची आस्तिकताकी परीक्षा संभव है।"

"इसी प्रकार भक्तिकी दूसरी विश्वास-भूमि है – भगवान् सर्वज्ञ हैं। तीसरी विश्वास-भूमि है – भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं और चौथी भूमि है – भगवान् सर्वसुहृद हैं। प्रह्लादजी इन चारों विश्वासोंके पूर्णतया प्रतीक, पूर्ण-विश्वासी भगवद्भक्त कहे जा सकते हैं। जिस हिरण्यकशिपुके तनिक-से क्रोध करनेपर तीनों लोक और उनके लोकपाल काँप उठते थे, उसके सामने परम निर्भय

छोटा-सा शिशु प्रह्लाद भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्तापर विश्वस्त कितना अविचल है ? वे हिरण्यकशिपुको ही समझा रहे हैं :—

**न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्**
**परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः।।**
**स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजःसहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा**
**स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ।।**

**।। श्रीमद्भा.।। ७। ८। ८-९।।**

"श्रीप्रह्लादजी कहते हैं – "हे दैत्यराजन् ! ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब छोटे-बड़े, चर-अचर, जीवोंको भगवान्‌ने ही अपने वशमे कर रखा है। न केवल मेरे और आपके, अपितु संसारके समस्त बलवानोंके बल भी केवल वे ही हैं। वे ही महापराक्रमी, सर्वशक्तिमान् प्रभु काल हैं तथा समस्त प्राणियोंके इन्द्रियबल, मनोबल, धैर्य, देहबल, एव इन्द्रियाँ भी वे ही हैं। वे ही परमेश्वर अपनी शक्तियों के द्वारा इस विश्वकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं। वे ही तीनो गुणोके स्वामी हैं।"

"हिरण्यकशिपु स्वभावसे ही अतिशय क्रूर था यह बात प्रह्लादजीसे अज्ञात नहीं थी। वह क्रोधमे साँपकी तरह फुफकार रहा था। परन्तु उसकी पापभरी टेढी दृष्टिकी प्रह्लादजीको तनिक भी परवाह इसलिए नहीं थी, क्योंकि भगवान्‌की सार्वत्रिकता और सर्वशक्तिमत्तापर उनका भ्रमरहित, निस्सन्देह, अटूट एव दृढ़ विश्वास था। हिरण्यकशिपु बार बार उन्हें यमराजके घर भेजनेकी धमकी दे रहा था, परन्तु प्रह्लादजीका चित्त सर्व-सुहृद, सर्वत्र-स्थित, उनके रोम-रोमके रक्षक, सर्वात्मा, समस्त शक्तियोंके एकमात्र आधार, सर्वज्ञ भगवान्‌में पूर्णतया टिका हुआ था। इसीलिए वे अभय, पूर्ण निश्चित, अपने विश्वासपर अडिग थे। हिरण्यकशिपुने उन्हें मतवाले हाथियोंके मध्य फेकवा दिया। परन्तु हाथियोंमें भी भक्तराज प्रह्लादकी पावनतम सच्ची परमात्मदृष्टिसे भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। उन हाथियोमे भगवान्‌का अपार सौहार्द फूट पडा। उन्होंनें बालक प्रह्लादको अपनी सूँडसे उठाकर अपने शिरोदेशमे महावतके स्थानपर विराजित कर लिया। इसी तरह विषधर साँपोंका प्राणहारी विष भगवत्सत्ताके अखण्ड दर्शनसे प्रह्लादजीके लिये अमृत हो गया। पुरोहितोंके द्वारा उत्पन्न कृत्या राक्षसीमें भी भगवत्सत्ताका अभाव थोडे ही था। प्रह्लादजीकी आस्तिक दृष्टिसे कृत्या स्नेहमयी जननी बनी, भक्तराजको वात्सल्यदान देती हुई निहाल हो गयी। श्रीप्रह्लादजीको मारनेका हिरण्यकशिपुको कोई उपाय नहीं सूझ रहा था, क्योंकि उसके रक्षक भगवान् थे।"

"मेरे आत्मस्वरूप बन्धु ! निष्ठा बडी वस्तु होती है। हमारी निष्ठा सुदृढतम होनी चाहिये। चाहे वह निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्मपर हो अथवा सगुण-साकार-सविशेष भगवान्पर हो। जैसी सगुण-साकार भगवत्सत्तापर प्रह्लादजीकी अमोघ, अखण्ड आस्था थी, वैसी ही निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्मपर ज्ञानी महात्मा जडभरतजीकी आस्था थी। उनके लिये **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** यह श्रुति अविचल निष्ठाकी हेतु थी। **'अयमात्मा ब्रह्म'** की अमोघ निष्ठा-भावनासे भरी उनकी बुद्धि सच्चिदानन्द-भावमे सदा डूबी ही रहती थी, किसीकी बुद्धि ही जब बुद्धिसे परे ब्रह्मानन्दमें पूर्णतया निमज्जित रहेगी, तो स्वाभाविक ही बुद्धिकी निर्विकारताका प्रभाव मन-इन्द्रियोपर पड़ेगा ही। अत जडभरतजीकी मन-इन्द्रियाँ भी धीरे-धीरे दृश्यकी सत्ताको ही अस्वीकारकर ब्रह्मानन्दमे डूबने लगीं। हमारा मन यदि दृश्याकार नहीं हो, तो दृश्यसत्ता इन्द्रियोको दिखायी ही नहीं पड सकती। जैसे स्वप्नकालमे कहीं कोई दृश्य नहीं होनेपर भी जाग्रत् अवस्थाके सस्कारोंसे युक्त मन दृश्याकार हुआ अनन्त काल्पनिक, किन्तु स्वप्नकालमे सत्यवत् प्रतीत होनेवाले मिथ्या दृश्योका सृजन कर लेता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामे भी यह प्रापञ्चिक जगत विना हुए ही, विषयाकार वृत्तियोंके कारण मन-बुद्धिमें भासित हो रहा है। यह आभास तभीतक है, जबतक हमारी बुद्धि ब्रह्माकार नहीं होती। उसे ज्योंही **'प्रज्ञानं दृश्य'** के स्थानपर **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** -- यह ज्ञान होगा, त्योही वह दृश्यकी असत्ताका निश्चय करके परब्रह्मकी सच्चिदानन्दमयी सत्तामें डूब जायगा। अभी हम मात्र केवल वाणीसे पढे-पढाये महावाक्य उच्चारण कर लेते हैं, परन्तु हमारी वाणीका यह उच्चारण मन-बुद्धिकी निष्ठा बनना तो दूर, उनके विश्वासकी भूमिका सस्पर्श भी नहीं कर पाता है। यदि मन कामातुर हो रहा है, तो प्रज्ञानमे इन्द्रिय-सुखकी सत्ताका ही आधिपत्य जमा है, नेत्र सुन्दर स्त्रीकी सत्ताको सत्य दिखा रहे हैं, तो क्या नेत्रोंका ज्ञान प्रज्ञानसे भिन्न है ? प्रज्ञान ही तो मूलस्रोत है, जिससे इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, सभी अस्तित्व पा रही हैं। प्रज्ञान जब नानात्वका, अनेकत्वका मिथ्या बोध कर रहा है, तब वह ब्रह्म केवल बातोसे थोडे ही हो जायेगा। जैसे ही प्रज्ञान ब्रह्माकार हुआ, मन एव इन्द्रियाँ जगदाकार रह ही नहीं सकतीं। अतः जड़भरतजीको मानापमानका अनुभव ही नहीं होता था। उन्हे लोग पागल, नर-पशु, मूर्ख अथवा बहरा कहकर पुकारते, परन्तु उनकी बुद्धि इतनी प्रगाढतासे ब्रह्मभावमें रमी रहती कि इन सब उक्तियोंकी उनमे कोई प्रतिक्रिया ही नही होती। उनकी जीभ जरा भी स्वाद नहीं देखती, जो भी प्राप्त होता उसे क्षुधानिवृत्तिके लिये उदरस्थ कर लेती। भिक्षान्न प्राप्त करनेकी उनमें कोई अहंकारगत कामना भी नहीं होती। स्वभावत शरीरको

प्रारब्धानुसार जो मिलता, शरीर अपनी स्वभाव-चेष्टासे उसे उदरमे डाल लेते।
श्रीमद्भागवतकार कहते हैं :– *"नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्माधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः ।।५।९।९।"*

"अन्य किसी भी हेतुसे उत्पन्न नहीं होनेवाला स्वतःसिद्ध केवल प्रज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञान उन्हें प्राप्त हो गया था। इसलिये शीतोष्ण, भूख-प्यास, रोग-शोक, मानापमान आदि द्वन्द्वों और संयोगोसे होनेवाला सुख-दुःखस्वरूप अनुभव उन्हे नहीं होता था। सुख-दुःखादिमें उन्हें देहाभिमानकी स्फूर्त्ति ही नहीं होती थी। सर्दी, गरमी, वर्षा और आँधीके समय उनका देह साँडके समान नंगा ही पडा रहता था। वे न तो स्नान करते थे, न तेल-उबटन ही लगाते थे। शरीरपर मैल जम जाता था। उनकी कमरमें मैला-कुचैला कपड़ा लिपटा रहता। इस प्रकार प्रारब्धानुसार शरीर चाहे जैसी अवस्थामें रहे, उनका मन आत्मतेजमें सूर्यवत् आलोकित रहता था। शरीरको प्रारब्धानुसार चावलकी कणी, खली, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी जले अन्नकी खुरचन, जो भी मिल जाती, वे उसीको अमृतके समान स्वाद लेकर खा लेते।"

"एक बार डाकुओके सरदारने पुत्रकी कामनासे भगवती भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका सकल्प किया। इसी समय दैवयोगसे अकस्मात् डाकुओंकी दृष्टि जडभरतजीपर पड गयी। जड़भरतजी तो एक खेतकी मेंडपर बैठे अपने स्वाभाविक प्रशान्त आनन्दस्वरूप प्रज्ञानमें डूबे थे। डाकू उन्हें रस्सियोंसे बाँधकर चण्डीमन्दिर ले गये। परन्तु जड़भरजीको सर्वत्र मात्र **'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म, नेहनानास्ति किञ्चन'** के अतिरिक्त कुछ अनुभव हो, तब न कोई भय हो। भय तो द्वितीयकी सत्ता दीखनेपर ही होता है।" श्रुति कहती है – *"द्वितीयाद्वै भयं भवति । उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति ।"*

"श्रीजडभरतजीमें एक अखण्ड आत्मस्वरूप, अपने आपेके सिवा द्वैतकी कल्पना ही नहीं थी। जब कुछ भी द्वैतकी भावना मनुष्यके अन्तःकरणमें होती है, तभी उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, चिन्ता, दुःख, मृत्यु आदि शरीरभाव भासित होते हैं। यह संसार-दृश्य द्वैत एवं अज्ञानसे ही उत्पन्न होता है। जब न द्वैत है, न अज्ञान है, तो जडभरतजीके लिये परमार्थसत्ता ही व्यवहार हो गयी थी, अतः उन्हे एक ही परमात्मा, जो सूर्य, चन्द्र, देवी, देवता, भद्रकाली, चण्डी, रुद्र, भैरव एवं यमराजमे था, वही सर्वत्र डाकुओंमें भी एवं अपनेमें भी समानरूपसे भरा दृष्टिगोचर हो रहा था।

श्रुति कहती है :–
*"स यश्चायं पुरुषः यश्चासावादित्ये, स एकः। सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।"*

अर्थात्, इस पुरुषके भीतरका आत्मा एवं सूर्यके भीतरका आत्मा एक ही है। ज्ञानीको सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके भूत-पदार्थ आत्मरूप ही दिखायी पड़ते हैं।"

"फिर ऐसे सर्वत्र अपनेको ही देखनेवाले, सच्ची आत्मनिष्ठाकी ज्योतिसे सतत उद्भासित महात्मा जडभरतजीको कहाँ शोक, कहाँ दु:ख, भय, अज्ञान एवं मृत्युकी चिन्ता थी ? उन्हें जड शरीर और उसके काटे जाने, बलि दिये जानेका कोई बोध ही नहीं था। ***ऊधो मन न भये दस बीस*** प्रत्येक प्राणीके शरीरमें दस–बीस मन तो होते नहीं। एक मन था, वह **'प्रज्ञानं ब्रह्म'के** बोधमें प्रज्ञान-घन हो गया, अब 'दृश्य' और 'डाकू' और फिर 'भद्रकाली' एवं तब 'बलि' आदि इतनी सत्ताओंको मान्यता ही कौन एवं कैसे दे ? साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त जडभरतजी **'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सर्वम् हि एतद् ब्रह्म'** अर्थात्, यह सारा विश्व एकमात्र परमात्मामें ही मृगमरीचिकावत् कल्पित है, और निश्चय ब्रह्म ही है, ऐसे परम पवित्र सत्य निश्चयमें डूबे बैठे थे। इन चोरोंने अपनी पद्धतिके अनुसार विधिपूर्वक उनको अभिषेक [illegible] स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये तथा नाना प्रकारके आभूषण, चन्दन, [illegible], और तिलक आदिसे विभूषितकर अच्छी तरह भोजन कराया। फिर वे धूप, दीप, माला, पत्ते, अंकुर, फल, आदि उपहार सामग्रीके सहित बलिदानकी विधिसे गान एवं स्तुति करने लगे। वे ढोल, मृदंग, झाँझ आदि वाद्योंका तुमुल शब्द करते उस पुरुष-पशुको भद्रकालीके सम्मुख ले गये। जैसे ही दस्युराजके पुरोहितने उस नर-पशुको मारनेके लिये देवीमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक खड्ग उठाया, यह भयंकर कुकर्म देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें अति दु:सह दाह होने लगा। वे उसी प्रकार, जैसे हिरण्यकशिपुके सम्मुख खम्भ फोडकर नृसिंह भगवान् प्रकट हो गये थे, मूर्तिको फोडकर प्रकट हो गयी। ठीक नृसिंह भगवान्के समान ही अत्यन्त असहनशीलता और क्रोधके कारण भौंहें चढ़ाये हुई, लाल-लाल आँखे किये कराल दाढों और चढ़ी हुई लाल आँखोंके कारण भद्रकालीका विकराल वेष भयानक जान पड़ रहा था। इस विकराल वेषमें वे इतनी कुपित थीं मानो सारे संसारका संहार कर डालेंगी।

"कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि जहाँ भक्तमें भगवान्के वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्यादि भावोंके आस्वादनके लिये लेशात्मक अहंकार रहता है, ज्ञानीका अहंकार सबीज परब्रह्म परमात्मामें विलीन हो जाता है। प्रारब्ध-निर्वाह करनेके लिये ऐसे ज्ञानी महात्मामें भगवान्का अहंकार ही, मात्र भरण-पोषणरूप कर्म कराता है। ऐसे ज्ञानी एवं भगवद्भक्त जिनकी देहाभिमानरूप सुदृढ़ हृदयग्रन्थि छूट गयी है, जो समस्त प्राणियोंके सुहृद एवं आत्मा हैं, जो सर्वथा विगत-वैर

हैं, साक्षात् भगवान् ही इनकी, चाहे उनका नाम प्रह्लादजी हो, अथवा जडभरतजी, कभी न चूकनेवाले कालचक्ररूप श्रेष्ठ शस्त्रसे रक्षा करते हैं। भगवद्भक्तो एव आत्मज्ञानी पुरुषोके लिये ऐसे विकट अवसर आनेपर सर्वत्र अखण्ड भगवद्दर्शन करना अथवा आत्मरूपानुभव करना और किसी भी प्रकार विचलित नहीं होना, सहज स्वाभाविक ही है, यह कोई बडे आश्चर्यकी बात सर्वथा नहीं है।"

**प्रश्नकर्त्ता** – स्वामीजी ! आपने भक्ति एव ज्ञानके दो सर्वोच्च आदर्शों – श्रीप्रह्लादजी एव श्रीजडभरतजीके सहित इनकी प्राथमिक निष्ठाओंका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया। दृश्यजनित राग-द्वेषका ही नहीं, ज्ञानोपलब्धिपर समग्र दृश्यका ही शश-शृंगवत् लुप्त हो जाना और दृष्टा एव दृश्यके भेदसे रहित निर्विकल्प सच्चिदानदघन ब्रह्मका ही एकरस सर्वत्र सब समय अनुभव होना, सचमुच ही विलक्षण बात है।"

"इसी प्रकार भक्तका स्वप्न, जागरण एव सुषुप्तिमे भी अपने इष्ट भगवान्को अविस्मृत सब समय, सर्वत्र देखना, उन्हें सर्वज्ञताके अलकारोसे सुभूषितकर अपने ही नहीं, आब्रह्म-कीटपयन्त सबके अन्त करणोंमे पूर्ण डेरा डाले हुए अनुभव करना, भगवान्की सत्ताको स्वीकृति देते हुए उन्हे सर्वशक्तिमान् एव सर्वसुहृद मानकर पूर्ण आत्मसमर्पणकर उनपर ही सर्वथा निर्भर एवं उनकी शरण हो जाना – ये सभी बाते सुनकर हृदय कृतकृत्य हो गया।"

"परन्तु तनिक इसपर भी प्रकाश डालिये कि शास्त्रोमे लिखे प्रह्लादादिके उदाहरणोंके अतिरिक्त वर्तमानमें भी क्या कोई ऐसा एकान्त ब्रह्मनिष्ठ अथवा भक्तादर्श साधक एवं सिद्ध है क्या ?"

"दूसरे, इसपर भी प्रकाश डालिये कि इस भक्ति एवं ज्ञान दोनोकी सर्वोच्च निष्ठाओंको प्राप्त करनेका सरलतम साधन क्या है ?"

**तरुण महात्मा** – "मेरे आत्मस्वरूप बन्धु ! वेदान्त साधनाके चार सोपान हैं। परन्तु एक बात सदा ध्यानमें रखें कि कोई भी सोपान चढनेसे ही लक्ष्यतक पहुँचा जा सकता है। उपनिषद्में स्पष्ट लिखा है –

**"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न बहुना श्रुतेन, यमैवेष आत्मा वृणुते तेन लभ्यः ।"**

"यह आत्मतत्त्व अथवा भगवत्तत्त्व मात्र बडी-बडी बातें बनानेसे नहीं प्राप्त होता, यह बहुत सुननेसे भी प्राप्त नहीं होता। श्रुति कहती है – 'यह उसीको प्राप्त होता है, जिसे यह अथवा जो इसे वरण (स्वीकार) करता है।' जब मनुष्य पहले धन कमानेके महत्वको हृदयगम कर लेता है एवं ठीक पूरी निष्ठासे समझ लेता है कि परिवार-पालनके लिये अथवा ससारमें सम्मानपूर्वक जीवन-यात्रा संचालनके लिये धन परमावश्यक है, तो सम्पूर्ण जीवन, यहाँ तक कि बूढ़ा हो

जानेपर भी वह धन कमानेमे लगा रहता है। इसी प्रकार सर्वप्रथम शास्त्रोंके मननपूर्वक चिन्तन करनेसे शास्त्रज्ञानके आलोकमें मनुष्य यह निश्चय करे कि परमात्म-साधन मेरे जीवनमें कितना उपादेय और आवश्यक है।"

"अत प्रथम सोपान है - 'सत्संग किवा शास्त्रज्ञान।' वैसे भारतमें अनेक मठों, विद्यालयोंमें ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् एव वेदान्त-दर्शन पढ़ाये जाते हैं। यहाँ मनुष्य अच्छी प्रकारसे शास्त्रज्ञान प्राप्त कर सकता है। इन विद्वानोंसे पढनेकी अपेक्षा सचमुच ही यदि कोई वेदान्तनिष्ठ, शास्त्रको आचरणमे उतारनेवाला महात्मा मिल जाय, तो उससे शास्त्र पढ़नेसे इससे भी अधिक लाभ संभव है। किसी भी सिद्धान्तपर जिसकी जितनी अधिक निष्ठा होती है, वही अन्यको अपनी सिद्धान्त-निष्ठापर आरूढ़ करवा सकता है। परन्तु ऐसे ब्रह्मनिष्ठ सच्चे विद्वान् नहीं मिलें, तो किसी भी पाठशालामे शास्त्र पढनेमे कोई हानि नहीं है। इन शास्त्रोके आदिशंकराचार्यादि अनुभूत, ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं द्वारा किये हुए भाष्य हैं, इन भाष्योका आस्थासहित मनन करते हुए अध्ययन किया जाय, तो महात्माओंकी क्षतिपूर्त्ति, ये भाष्य कर सकते हैं, क्योकि इन भाष्योंमें जो तत्त्व रहस्योंका खुलासा किया गया है, वह अनुभूतिके आधारपर ही है। अत सर्वप्रथम इस शास्त्रज्ञानके आलोकमें सद्वस्तु अथवा उपादेय वस्तु क्या है, सारकी बात क्या है और निस्सार बात क्या है, इसका निर्णय कर ले ।"

"इसी प्रकार यदि रुचि भक्तिकी ओर झुकी प्रतीत हो, तो भक्तिशास्त्र श्रीमद्भागवतपुराण, तुलसीकृत रामचरितमानसादि ग्रथोका खूब मननपूर्वक उत्तमोत्तम भक्तोंकी टीकाओसहित अध्ययन करे। किसी सम्प्रदाय विशेषपर रुझान हो, तो उस सम्प्रदायके आचार्यो और उनके भगवत्प्राप्त अनुयायियोके द्वारा लिखे ग्रन्थोका खूब मननपूर्वक अध्ययन करे और सद्वस्तुका खूब ठोक-बजाकर निर्णय करे। सद्वस्तुका बुद्धि जब ठीक-ठीक निर्णय कर ले, तो विवेकके आश्रयसे असत्से सामजस्य त्यागना प्रारभ कर दे, सत्को अपना स्वभाव बना ले।

"प्रिय बन्धु ! यहां यह बात अच्छी प्रकार समझ ले कि सृष्टिके ऐसे जीव – जिनका मस्तिष्क विकसित ही नहीं है कि वे सत्-असत्का नीरक्षीर विवेक कर नहीं सकें, तो वे भगवान्के द्वारा क्षम्य रहते हैं, क्योंकि भगवान्के द्वारा उन्हें जो जन्म मिला है वह मात्र भोग-योनि ही है, उचित-अनुचितका विचार वे कर ही नहीं सकते। उनका मस्तिष्क ही अविकसित है। वे पशु हैं। मानव-जातिमें भी ऐसी अनेक जगली जातियाँ हैं, जिनका ज्ञान, मात्र इतना ही विकसित है जिससे वे अपना शिकार आदि करके उदर ही भर पाते हैं, वे द्विपद पशु हैं। मानवकी शक्ल-सूरत रखते हुए भी उनके संस्कार पशुवत् ही हैं।

परन्तु जिनके उत्तम संस्कार हैं, जिनमें विद्याध्ययन करने योग्य बुद्धि है, जिनका विवेक जागरूक है, जो शास्त्राध्ययन कर चुके हैं, मानवजातिके कल्याणार्थ प्रभुकी गीतोपनिषद्, उद्धवगीतादिकी वाणी जिनके कानोंमें पड चुकी है, जो इनका तात्पर्य और शास्त्रोंके द्वारा प्रभुका स्नेहभरा आदेश सुन-समझ सकते हैं, वे भी यदि प्रभुके द्वारा बताये नियमोंका, शास्त्रविधिका उल्लघन करते हैं, असत्का आश्रय लेते हैं, बुरे विचारों और इन्द्रियभोगोंकी प्राप्तिमें ही अपना पुरुषार्थ समझते हैं, तो मान लीजिये कि उनका घोर पतन निश्चय ही है।"

"जो वस्तु सत्य है, उसे अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये यह अपेक्षा नहीं रहती कि कोई उसे माने ही। हम सत्यको जानकर भी नहीं मानें, हम शास्त्रके ज्ञाता, पडित, व्याख्याता होकर भी झूठ बोलें, दुराचरण करें, ढोंग एवं दम्भाचरण करके अर्थोपार्जन करें, हम प्रभुकी सत्ताका बखान करके भी प्रभुकी सत्ताको अपने लिये नहीं मानें, तो हमारे न माननेसे उनका, उनके सत्य विधानका तो कुछ भी नहीं बिगड़ता, हाँ, उसे आन्तरिकरूपसे न माननेसे हम सत्यनिष्ठाके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम लाभसे सभी अंशोंमें वचित अवश्य हो जाते हैं।"

"भगवान्‌की सत्ता ऐसी परम सत्य वस्तु है, कोई भले ही उसे न माने, मान लो, सभी उसे न मानकर नास्तिक ही हो जावे, तो भी वह विश्वके अणु-अणुमें अनादिकालसे व्याप्त थी, है एवं अनन्तकालतक ज्यों-की-त्यो व्याप्त रहेगी। हाँ, जैसे ही इस तथ्यको हमने स्वीकार किया, साथ ही प्रभुका आश्रय लिया, असत् वस्तु स्वत. ही हमसे छूट जायेगी और साथ-ही-साथ प्रभुका अनन्त आनन्द, शान्ति, कल्याणादि वैभव, उनका अनन्त बल, असीम करुणा, मैत्री, सेवादि उनके सद्गुण, उनका अपरिसीम सौन्दर्य, अथाह ज्ञान, अपार निर्लेपता, असंगता, उनका सबकुछ हमारा हो जायेगा और उन लीलामय प्रभुका रगमच, इस विश्वका कण-कण, क्षण-क्षणमें हमारे लिये नये-नये सुखका, आनन्दका नित्य नूतन द्वार खोलता दृष्टिगोचर होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश सत्-असत्का विवेक करके भी हम कहीं असत्की सत्तासे ही चिपके रहे, तो जगत्की अगणित भोग-सामग्री हमारे पास रहनेपर भी हम दु:ख-संतापसे सदा भरे ही रहेंगे। हम दु:खसे छूटनेके लिए अपनी सभी शक्ति खर्च कर देंगे, फिर भी दु:खोंकी बेलि सदा हमपर छायी ही रहेगी। एक दु:खका कारण मिटेगा, तो दो नये कारण खड़े हो जावेंगे। शरीर रुग्ण होनेपर डाक्टर-वैद्योंके पीछे अनाप-शनाप धन खर्च करेंगे, परन्तु न तो मनके रोग मिटेंगे, न तनके । सत्य यही है कि तीनों ओरसे त्रितापकी दावाग्नि हमें भस्म करने दौडी आ रही है। सभी ओर निराशाका घोर अन्धकार छाया हुआ है।"

" यह अटल नियम है, जहाँ हमने प्रभुकी सत्ताके विपरीत असत्का आश्रय लिया, प्रभुकी सत्ताका त्याग किया, वहीं रास्ता भटके, सुन्दर सड़कसे हटकर उधेड़-बुनके जगलमे, बीहड़में हमारा भटकना प्रारंभ हो जायेगा। चिन्तारूपी अग्निसे सारा शरीर, मन, प्राण – सब कुछ झुलसने लगेंगे। प्रभुके परम सत्यकी अवज्ञा करनेके इस अवश्यभावी परिणामसे राजा-रक, ब्रह्माजीसे लेकर कीट-पतगतक कोई भी न तो बच पाया था, न बच पाया है, न ही बच पायेगा।"

"अतएव यह निश्चय ही मान लें, हममेंसे किसीको भी, कभी तनिक भी ऐसा अनुभव हो कि मनमें चिन्ताकी घटाएँ घिर रही हैं, जलनकी ज्वाला जल रही है, तो निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि हमारे द्वारा प्रभुकी सत्य सत्ताका अवश्य-अवश्य निरादर हो रहा है। हमारा मन सन्मार्गसे हटकर कुमार्गमें आ गया है तथा इस विपत्ति-जालसे छूटकर सन्मार्गपर आनेका एक ही उपाय है -- हम जहॉ जिस परिस्थितिमें हैं, वहीं उसी अवस्थासे प्रभुकी सर्वत्र व्याप्त सत्ताको स्वीकार कर लें, सत्यका आश्रय पकड़ लें। चाहे हमें सत्यके आश्रयसे कितनी ही विपत्तियोंके आनेकी संभावनाएँ दिखें, ठीक दृढतासे यह मान ले कि हमारा मन हमें धोखा दे रहा है। अमृत कभी विष हो नहीं सकता, आजतक सभी गरल (विष) पीकर ही मरे हैं, अमृत पीकर किसीकी मृत्यु नहीं हुई है। प्रभुकी सत्य सत्ताका आश्रय लेते ही उसी क्षण हमें सुन्दरतम मार्ग दिख जायेगा। हमारे सभी प्रश्न हल हो जावेगे, हमारी जलन शान्त हो जायेगी और चिन्ताएँ दूर हो जावेगी। साथ ही अखण्ड अनुभव हो जायेगा कि प्रभुका वरद हस्त हमारे ऊपर सदा था, है एवं रहेगा।"

"सत्य वस्तुको स्वीकार करते ही प्रभुका परोक्ष अनुभव होता ही है, क्योकि प्रभु ही सत्य हैं। उस समय हमे ठीक अनुभव होगा, इस विश्वमें कहीं कोई दु:ख नहीं, कहीं किसीके लिए कोई विपत्ति नहीं, सर्वत्र, सब ओर मंगलका, आनन्दका स्रोत बह रहा है। प्रभु ही हमारे आगे हैं, वे ही हमारे पीछे हैं, वे ही हमारे ऊपर हैं, वे ही नीचे हैं, वे ही दाहिने हैं, वे ही बाँयें हैं। वे ही हमारे बाहर हैं, वे ही भीतर पूरे पूरम्पूर भरे हैं। उनसे रिक्त कहीं कोई सत्ता है नहीं, थी नहीं और हो सकेगी नहीं।"

"सत्य, ज्ञान एव आनन्द कहाँ नहीं है, परन्तु हमारा मन इसे माने तब न ? हमें तो धन, लोभ, काम, यश, मोह आदि भ्रान्त कर रहे हैं। हमें कुछ-का-कुछ दीख रहा है। मंगलके स्थानपर हमारी भूख (चाह), माँग अमंगलकी, सतत आनन्दके स्थानपर दु:खकी होने लगती है। बस, मेरे बन्धु ! इतना ही हमें

करना है। असत्‌को त्यागकर सद्वस्तुकी ओर हमें मुडना भर ३।"

"यहाँ यह सदा ध्यान रहे, यह स्थिति केवल कहने-सुननेसे होनेवाली नही है। इसके लिये हमें जीवनका पूरा दृष्टिकोण ही बदलना पड़ेगा। हमें यह ठोक-बजाकर निर्णय करना पडेगा कि मानव जीवनकी सार्थकता पशुकी भाँति भोग भोगनेमे नहीं, अपितु नित्य सत्य प्रभुकी अनुभूति कर लेनेमें है। हमें हमारे जीवनका लक्ष्य स्थिर करना पडेगा। सत्स्वरूप परमात्मासे हम निकले हैं और सत्स्वरूप प्रभुमें ही हमारा नित्य निवास होना है।

*"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदा यतनाः सत्प्रतिष्ठाः"*

"हमारे मूल (उद्गम) सत्स्वरूप प्रभु हैं। सत्स्वरूप प्रभुमें ही सब सृष्टि सदा निवास करती है और अन्तमें भी हम सत्स्वरूप परमात्मामें ही प्रतिष्ठित रहेगे।"

"इस सिद्धान्तको शरीर छूटनेसे पहले ही प्रत्यक्ष अनुभव करनेके लिये हमें कटिबद्ध होना पड़ेगा।"

"ऐसा हुआ नहीं कि परमात्माकी ओरसे निरन्तर बहनेवाली प्रेमकी धारा करुणाकी धारा हमारे अन्दर घुसनेका मार्ग पा जायेगी। हमारे द्वार जो हमने अभी मलिन देहेन्द्रिय भोगोंकी वासनाओंके लिये खोल रक्खे हैं, उन्हें हमें ही बन्द करने पडेगे। प्रभुकी ओरसे हमें यह जैविक स्वतत्रता मिली हुई है – चाहे हम अपना मुख अविनाशी प्रभुकी ओर करें, चाहे हमारी गति दुःखालय, अशाश्वत भोगोकी ओर करें। जबतक हम प्रभुको अपने भीतर घुसनेका द्वार नहीं देंगे, प्रभुकी कृपा हमारे चारों ओर मँडराती ही रहेगी, हमारे भीतर जोर-जबर्दस्ती करके प्रवेश कदापि नहीं करेगी। अभी तो हमने सब ओरसे अपनी अगणित इच्छाओंके कपाट लगाकर अपनेको प्रभुकृपासे वंचित रखनेका जैसे व्रत ले रखा है। प्रभुका प्रेम, उनकी कृपा हमे अपने-आपमें मिला लेनेके लिये उमड़ती है, परन्तुं सब ओरसे द्वार बन्द देखकर लौट जाती है। हमारी भोग-वासनाएँ मोहजनित 'मैं' एवं 'मेरे', 'तू' एवं 'तेरे' की रागद्वेषमयी इच्छाएँ प्रभुके मंगलमय कृपादानसे हमें वंचित कर दे रही हैं। इसीलिये हमें इन मोहमयी प्रभुविरोधी इच्छाओं, वासनाओंका त्याग करना ही पडेगा। अपनी इच्छा मिटाकर प्रभुकी इच्छाको अपने अन्दर व्यक्त होनेके लिए मार्ग देना ही पड़ेगा। तभी हमारे उद्देश्यकी पूर्त्ति होगी।"

"एक दिनमें ऐसा हो जायेगा, यह संभव नहीं। हमें जीवनभर अनवरत असत्‌से पिण्ड छुड़ाने एवं सत्स्वरूप प्रभुको अपने भीतर भरनेका प्रयास करना पडेगा । यह जब हो जायेगा, तभी हमें अखण्ड सत्स्वरूप प्रभुका अखण्ड परोक्ष

दर्शन होगा। परोक्ष दर्शन होनेके पश्चात् परमात्माके अपरोक्ष दर्शनमे अधिक विलम्ब नही होता। परोक्षानुभवमें डूबते ही साधकको यह अनुभव तत्क्षण ही होने लगता है कि परम कल्याण-निकेतन प्रभुने मुझे अपने चरणोंमें शरण दे ही दी हे और मेरे आत्मनिवेदनको स्वीकार कर, वे मुझमे घुल-मिलकर एक हो गये हैं। अब उनका एवं मेरा मिलन अखण्ड, अविभाज्य, अटूट है। भगवान्‌के परोक्ष दर्शन होते ही भगवत्कृपाका भक्तपर ऐसा प्रवाह उमडता है, भगवद्वात्सल्यकी ऐसी निर्मल परमानन्दमयी लहर उठती है कि साधकका अहं, जो शेष रहकर प्रभुका दर्शन कर रहा होता है, विगलित होकर उस महामगल एवं आनन्द-समुद्रसे एकमेक ही हो जाता है। बस, साधक ***'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'*** इस श्रुतिवाक्यको अपने भीतर चरितार्थ कर लेता है।"

"मेरे आत्मस्वरूप बन्धु ! परमात्माकी चाहे भक्ति-साधना हो अथवा ज्ञान-साधना हो, इन चार सोपानोंको पार करके ही साधक भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यतक पहुँच सकता है, इसे ठीक समझ लें। यह मैंने आपके प्रश्नके दूसरे चरणका उत्तर दे दिया।"

"आपके प्रश्नके प्रथम चरणका उत्तर मैं यही देना चाहता हूँ कि मेरी दृष्टिमे ऐसे सन्त वर्तमानमें हैं, जिनकी स्थिति भक्तराज प्रह्लादसे भी ऊँची है। परन्तु आपका उनपर वैसा ही विश्वास होना, मेरे वशकी बात नहीं है। मेरी दृष्टिमे जडभरतजीके समान ज्ञानी एवं प्रह्लादसे भी बढकर भक्त आज भी हैं, अभी मैं उनके नाम आपको इसीलिये नहीं बतलाना चाहता क्योंकि आपका मन उनके प्रति इस ऊँची कोटिकी श्रद्धा कर नहीं पावेगा। मैं अपनी किसी भी बातपर आपका अविश्वास, अश्रद्धा और सन्देह निर्माण नहीं करना चाहता। अत मेरी इतनी ही बात मान लीजिये कि सच्चे सन्तोंसे यह धरा कभी, किसी कालमे क्षणके लिये भी वञ्चित नहीं रह सकती। जिस दिन सच्चे सन्तोका अभाव होगा, उसी दिन यह धरा प्रलयमें डूब जायेगी।"

**प्रश्नकर्त्ता** - "स्वामीजी ! आपसे मिलकर सचमुच ही मैं कृतकृत्य हो गया। यह जो कुछ काल आपके साथ व्यतीत हुआ, सचमुच ही जीवनभर स्मरण रहेगा। आपकी बातें जैसे साक्षात् भगवान्‌के मुखसे निकली हो, उस प्रकार सटीक मेरे जीवनको पूर्णतया बदल देनेमें समर्थ हैं।"

"मैं आपका सदैव पूर्णतया आभारी रहूँगा। हाँ, एक मेरा अन्तिम प्रश्न और है। यद्यपि मैंने आपका पर्याप्त समय ले लिया है, फिर भी थोड़ा समय देकर मेरी इस गुत्थीको भी सुलझा दें।"

"हमारे सम्प्रदायमे – जो आपने उपदेश दिया, उससे उलटी शिक्षा दी

जाती है। आपने जहाँ श्रीकृष्णकी सार्वत्रिकताकी अनुभूतिपर बल दिया, हमारे श्रीकृष्ण तो इन महानताओं और चमत्कारोंसे सर्वथा ही विरहित हैं। वे तो ***'यशोदोत्संगलालित'*** हैं। वे यशोदाजीकी गोदीमें ही सदा रहते हैं। वे एकमात्र उनकी अपनी निजी सम्पत्ति हैं। इसी प्रकार हमारे श्रीकृष्णमें सर्वज्ञताका लेश ही नहीं। वे तो पेड-पौधोंके नाम, 'गाय' किसे कहते हैं, 'घोड़ा' क्या है, 'कुत्ता' क्या है और 'चूहा' क्या है, सभी जिज्ञासायें अपनी मातासे पूछ-पूछकर निवारण करते हैं। इसी प्रकार हमे तो ऐसे श्रीकृष्णकी सेवा करना ही परमार्थ सिखाया गया है, जिसकी अभी स्वतः गर्दन ही नहीं उठती। जो मात्र **'म, म' 'त, त'** ही बोल पाता है। उसमे सर्वशक्तिमत्ता और सर्वसौहार्द जैसे गुण कहाँ हैं ?"

**तरुण सन्यासी** - "मेरे निश्छल बन्धु ! यह सत्य है कि आपके आराध्य श्रीकृष्ण ***'यशोदोत्संगलालित'*** दुधमुँहे शिशु हैं, परन्तु आपके ही सम्प्रदायके सूरदासादि भक्तोंको उन वर्षणोन्मुख नवजलधरके नवांकुर-सदृश स्निग्ध, तमालतरुके पल्लव सदृश मृदु, परमाकर्षणशील, सुचिक्कण, सुरभित, सर्वमनोहारी परमाराध्य बालकृष्णकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और महिमाका ज्ञान नहीं हो, सो बात तो नहीं है।"

"मैं आपके सम्प्रदायके सम्बन्धमें बहुत विशेष ज्ञान तो नहीं रखता, परन्तु महाप्रभु वल्लभाचार्यने स्वयं ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य लिखा है। श्रीसूरदासजीका एक पद तो गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित पद-पुस्तिकामें छपा है, वह तो मुझे कण्ठस्थ भी है, उसमें बालक श्रीकृष्णकी महिमाका पर्याप्त वर्णन है। वह पद है :-

**देखो अद्भुत अविगतकी गति, कैसो रूप धर्‍यौ है (हो)**
**तीन लोक जाके उदर बसत हैं, सो सूपके कोने पर्‍यौ है (हो)**
**जाके नाल भये ब्रह्मादिक, सकल जोग व्रत साध्यौ (हो)**
**ताकौ नाल छीनि ब्रजयुवती बाँटि तगासौं बाँध्यौ (हो)**
**जिहिं मुखकी समाधि सिव साधी आराधन ठहराने (हो)**
**सो मुख चूमति महरि जसोदा दूध-लार लपटाने (हो)**
**जिन स्रवननि जनकी विपदा सुनि गरुड़ासन तजि धावै (हो)**
**तिन स्रवननि है निकट यशोदा हलरावै अरु गावै (हो)**
**विस्व-भरन-पोषण, सब समरथ, माखन काज अरे हैं (हो)**
**रूप विराट कोटि प्रति रोमनि पलना माँझ परे हैं (हो)**
**जिंहि भुज-बल प्रह्लाद उबार्‍यौ, हिरनकसिपु उर फारे (हो)**
**सो भुज पकरि कहति ब्रजनारी, ठाड़े होउ लला रे (हो)**

**जाको ध्यान न पायौ सुर-मुनि, संभु समाधि न टारी (हो)**
**सोई सूर प्रकट या ब्रजमें, गोकुल-गोप-बिहारी (हो)''**

''जहाँतक मेरा ज्ञान है, आपके सम्प्रदायका आधारशास्त्र श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत ही भक्तिजगत्का भी आधारशास्त्र है। मुझे जहाँ तक अनुमान है, मैंने जो कुछ आपको कहा है, वह श्रीमद्भागवत शास्त्रसे विपरीत तो कदापि नहीं होना चाहिये। भागवत-धर्मके सार-सिद्धान्तोंका ही प्रकाश मैंने अपनी भाषामें आपसे कहा है। उपरोक्त पद आपके ही सम्प्रदायके प्रमुख कवि श्रीसूरदासजीका है, जिसमें भगवान्‌के बाल-माधुर्यके साथ ही उनका माहात्म्य भी वर्णित है।''

''वैसे शुद्ध माधुर्य-सेवा जिसमें माहात्म्यका अनुभव भी नहीं हो, ऐश्वर्य जहाँ कहीं झाँके भी नहीं, उसकी भी अपनी एक गरिमा है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने अपने एकान्त सत्संगमें मेरे सम्मुख ऐसे प्रसगोंका भी उल्लेख किया है, परन्तु उसके अधिकारी वर्तमानमें कहाँ हैं ? हम तो जब पूरे आस्तिक ही नहीं हैं, तो हमें तो मर्यादाकी दृष्टि अपनाकर ही पहले भगवद्विश्वास अर्जित करना चाहिये।''

''विशुद्ध माधुर्य तो लोक-वेदातीत लोगोंका मार्ग है। हम तो अभी पूरे शरीराध्यासी हैं। जहाँ हमारे काम-क्रोधादि विकार ही नहीं छूटे, जब हम पूरे लोक व्यवहारमें आपाततः रचे-पचे हैं, वासनाओंके मलसे लिप्त, हम लोगोंको विशुद्ध माधुर्यकी बात करना शोभा नहीं देता। श्रीमद्भागवत शास्त्रके अनुसार तो महारासकी अधिकारिणी, गोपांगनाओंको भी भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका पूरा ज्ञान था, और वे भगवान्‌को अपना पति मानती हुईं भी गोपीगीतमें कहती हैं –

***''न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्''***

''आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो, समस्त शरीरधारियोंके हृदयमें रहनेवाले, उनके साक्षी, द्रष्टा भी हो, अन्तर्यामी परमात्मा हो ।''

''इसका स्पष्ट अर्थ है कि गोपियाँ श्रीकृष्णको अपना प्रियतम मानती हुईं उनमें परमात्मबुद्धि रखती थीं। हाँ, माता यशोदाके चित्तमें कभी भी भगवान्‌का ऐश्वर्य टिक नहीं पाया, उनका परम विशुद्ध वात्सल्य श्रीकृष्णको सदा अपना जन्मजात पुत्र ही देखता रहा। अतः यदि आप सचमुच ही यशोदा-भाव-भावित हैं, तो मैं आपको कुछ भी उपदेश देनेका अधिकारी नहीं हूँ। उस समय तो मैं आपकी चरण-रेणुकी वन्दना ही कर सकता हूँ। फिर मेरा सारा उपदेश आपके लिये सर्वथा उपेक्षणीय है। परन्तु यहाँ अत्यन्त सावधानी रखियेगा। यदि आपमें महा-महा-महिमामयी यशोदामैयाके परम दिव्य भावकी छायाका लेश भी होगा,

तो आपमें नामरूप और देहत्वका सश्लेष विकार भी नहीं होना चाहिये। फिर आपका चित्त आठों प्रहर श्रीकृष्णकी प्रगाढ स्मृति और चिन्तामे ही निरत रहना चाहिये। तनिक भी घोर मलिन मायिक देह-भावका आपमें आठों प्रहरमे क्षणभरके लिए भी यदि आवेश होता है, तो विशुद्ध वात्सल्यकी छायाके कणका भी अभी आपमे सस्पर्श नहीं हुआ है – ऐसा मानते हुए इस मलिन देह-भावसे निवृत्त होनेकी चेष्टामे हमे लगना चाहिये। हम भगवान् श्रीकृष्णकी वात्सल्य भाव-भावित उपासना, सेवा-भावना अवश्य करे परन्तु साथ ही उन्हें अपने हृदयमे अन्तर्यामी रूपमे देखते हुए यह भी भावना करें -

*"अन्तरमें स्थित रहकर मेरी बागडोर पकडे रहना ।*
*निपट निरंकुश चंचल मनको सावधान करते रहना ।।*
*अन्तर्यामीको अन्तःस्थित देख, सशंकित होवे मन ।*
*पाप भावना उठते ही, हो नाश लाजसे वह जल-भुन ।।"*

"बन्धु ! मार्गका लक्ष्य चाहे हम कितना ही उच्च स्थापित करे, लक्ष्य-स्थान यात्राका प्रारभ स्थल नही हो सकता। हमारी यात्रा हमें वहींसे प्रारभ करनी है, जहाँ हम वर्तमानम हैं। अत जहॉ हम हैं, उसके अनुसार ही हमारा साधन भी होगा। यदि हम घोर मलिन कीचडमे फॅसे है, तो हमे प्राथमिकता उसी साधनाको देनी होगी, जो हमें पहले इस कीचडसे, दलदलके समुद्रसे निकाल. उसके पश्चात् ही हम हिमालयकी सुरम्य पुष्प-घाटीकी यात्रामें सफल होंगे। अभी तो घोर मलिनतम माया-कीचसे तो हम निकल, उसके पश्चात् ही हम सख्यरस, वात्सल्यभाव अथवा माधुर्यरतिकी बात कर सकेंगे।"

"यदि मेरी बात आपकी भावनामे ठेस पहुँचानेवाली हो, तो क्षमा करेग। परन्तु, मेरी मान्यतामे जो सच्ची कपटरहित बात आपके लिये आयी वह निस्संकोच कह दी है।"

"अब आज तो बहुत ही विलम्ब हो गया है। आपसे बात भी प्राय पूर्ण हो ही गयी है। मुझे सायकालके सत्सगके पूर्व शौच-स्नान भी करना है, अत. अब आपसे विदाई मॉगता हूँ, फिर कभी प्रभुने चाहा तो आपसे और वार्त्ता होना सभव है।

**(यह सब प्रसंग वार्त्ताकारने मुझे बहुत वर्ष पूर्व गोरखपुरमें सुनाया था। वार्त्ताकारने यथास्मृति इसे अपने हस्ताक्षरोंमें लिख रखा था। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबासे वार्त्ताकारकी भेंट इतनी प्रभावोत्पादक थी कि भविष्यमें वार्त्ताकारका जीवन और भी भक्तिभावसे भरा हो गया था। वे अनवरत भागवत-परायण जीवन ही व्यतीत करने लगे थे।)**

।। श्रीराधा।।

वार्त्ता संख्या - दो

# भगवान्‌की सत्ता और महत्ता

*वार्त्ताकार :*

## बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू नगरके नाजिम, मुंसिफ मजिस्ट्रेट एवं पुलिस अधिकारी

*स्थान :*
ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू
*दिनांक :*
बसन्त ऋतु, वि.सं. १९९५
तदनुसार, ई. सन् १९३८

*प्राप्ति-सूत्र :*
तत्कालीन मुंसिफ
श्रीगोपाल आचार्यके सौजन्यसे

*पूज्य स्वामीजी चक्रधरजी महाराज (भविष्यमें पू. श्रीराधाबाबाके नामसे प्रख्यात, एक तरुण सन्यासी) जो हिन्दी, आंग्लभाषा, बँगला एवं संस्कृत भाषामें समान अधिकार रखते हुए भाषण करनेमें कुशल हैं, सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके साथ चूरू पधारे हैं।*

*ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरूका वार्षिकोत्सव हो रहा है। यह ब्रह्मचर्याश्रम सनातन धर्मके मूल आचार-विचार, कर्मकाण्ड और जीवन-पद्धतिकी शिक्षाके साथ-साथ शिक्षाबोर्डकी एन्ट्रेन्स परीक्षातककी शिक्षा बच्चोंको आज भी दे रहा है। शिक्षार्थी बच्चोंके लिये यहाँ निवासकी समुचित व्यवस्था भी उपलब्ध है। शुल्क नाम-मात्रका, अत्यल्प लिया जाता है, जिसमें विद्यार्थीको निःशुल्क पुस्तकें, कॉपियाँ, सभी लेखन-सामग्री उपलब्ध करायी जाती है। सुबह-सायं भोजनके अतिरिक्त दोनों समय दूध भी दिया जाता है।*

*सभी बालक यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातिके होते हैं। ये पादुकाके स्थानपर खड़ाऊ पहना करते हैं। प्रातः एवं सायंकाल ये सन्ध्या-गायत्रीके साथ-साथ योगासन एवं नियमित व्यायाम भी करते हैं। बच्चे मात्र ६ घंटे ही शयन करते हैं। शेष अठारह घंटे इन्हें अध्ययनके अतिरिक्त ब्रह्मचर्याश्रमकी सभी भूमि एवं भवनोंको स्वच्छ करना, वृक्षोंका सिंचन करना, पुष्पोंकी लताओंको पानी देना होता है। इन्हें व्यायाम एवं योगादिके साथ-साथ गीता, रामायण, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंका अभ्यास भी*

कराया जाता है। बच्चे गीता-रामायण एवं श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंको कण्ठस्थ करके अर्थसहित सुनाया करते हैं। शास्त्रोंके श्लोकोंका बच्चे पदच्छेद, अन्वयादि करके अर्थ सुनाया करते हैं। अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, व्याकरण, कर्मकाण्ड, अमरकोश आदि सभी विषयोंमें बच्चे मेधावी होते हैं और प्रमाद, आलस्यसे रहित ईमानदार, सच्चरित्र एवं कठोर जीवन-यापनके अभ्यासी हो जाते हैं।

वार्षिकोत्सवके दिन संस्थापकगण तो आते ही हैं, साथ-ही-साथ बच्चोंके अभिभावक, माता-पितादि भी आते हैं। बच्चोंकी सर्वविधि उन्नति देख-देख कर सभी हर्षित होते हैं। अति शिशु अवस्थासे ही बच्चोंको इस आश्रममें भरती किया जाता है, और सत्संस्कारोंकी शिक्षाके साथ-साथ अंग्रेजी, हिन्दी, गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्रादि सभी विषय बहुत ही कठोर परिश्रमसहित पढ़ाये जाते हैं। प्रायः सभी बच्चे उच्च अंकोंको प्राप्तकर शिक्षा-बोर्डकी परीक्षा उत्तीर्ण करते हैं। जब बालक सोलह वर्षकी उम्र प्राप्त कर लेता है, तभी उसे आश्रमसे छुट्टी मिल पाती है, अन्यथा आश्रममें भरती हुए बच्चेको आठ-नौ वर्षतक आश्रममें ही आठों प्रहर, सर्वकाल रहना होता है। वार-त्यौहार, होली-दीवालीपर भी बच्चे घर नहीं भेजे जाते हैं। हाँ, माता-पिता एवं अभिभावक उनसे मिलने आश्रममें आ सकते हैं।

वार्षिकोत्सवमें बालकोंके अभिभावकोंके अतिरिक्त चूरु एवं आसपासके शहरोंके सभी गण्यमान्य व्यक्ति आमंत्रित किये गये हैं और शहरके पदाधिकारी, शिक्षाविद्, सेठ-साहूकार आदि सभी उपस्थित हैं।

उपस्थित जनसमूहको सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका, स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज, भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार आदि संस्थापकगण सम्बोधित कर रहे हैं। प्रवचन, सत्संगका विषय गीता-शास्त्र, तुलसीकृत रामायण और ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंका विवेचन है। स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज, एक तरुण सन्यासी नवागन्तुक हैं और इनकी प्रवचन-शैली शिक्षाविदों, राज्याधिकारियों एवं बुद्धिजीवियोंमें लोक-प्रिय है।

इन बुद्धिजीवियोंका विशेष दल आज श्रीस्वामीजीसे प्रश्नोत्तरीके रूपमें वार्त्ता करने समुपस्थित हुआ है। चूरूके नाजिम (तत्कालीन जिलाधीश) इनमें प्रमुख हैं। इनके साथ मुंसिफ मजिस्ट्रेट एवं विद्यालयोंके मुख्य शिक्षक, पुलिसके उच्चपदाधिकारी आदि भी सम्मिलित हैं।

एक काष्ठकी चौकी (तखत) पर पू. स्वामीजीका आसन है एवं सभी पदाधिकारी कुर्सियोंमें आसीन हैं।

*सर्व प्रथम चूरू जिला नाजिम महोदयने स्वामीजी श्रीचक्रधरजीसे प्रश्न किया :–*

**(वार्ता प्रारंभ)**

**नाजिम साहब** - "स्वामीजी ! मैं हिन्दू होकर भी हिन्दू-शास्त्रोकी माइथोलोजी (पुराण-कथाओ) पर विश्वास नहीं करता। पौराणिक कथाओंके आधारको छोडकर विज्ञान-सम्मत तार्किक उक्तियो द्वारा क्या आप मेरे लिये भगवान्‌की सत्ता प्रतिपादित कर सकते हैं ?"

**तरुण सन्यासी** - "नाजिम साहब ! परमात्मा या भगवान् त्रिकालाबाधित सत्य है, अत. उन्हींसे सब कुछ प्रतिपादित हो रहा है, उन्हें मैं 'चक्रधर' नामक एक सृष्टिकीट भला कैसे प्रतिपादित कर सकता हूँ ?"

आप तो विद्वान् हैं, सत्य तो अनन्त है। सत्य अपना परिचय देनेमें स्वयं समर्थ और स्वतत्र है। अनन्त सत्यका परिचय व्यक्ति नहीं दे सकता, वह तो स्वयं सत्यमें व्यक्त है, सत्यसे व्यक्त है।"

"एक बात आप मुझे बताइये, आप अपने-आपको किसके द्वारा जान रहे हैं, अथवा आपको कौन प्रतिपादित कर रहा है ?"

**नाजिम साहब** - "मैं अपने-आपको अपने बुद्धि-जन्य ज्ञानके प्रकाशमें जान रहा हूँ।"

**तरुण सन्यासी** - "देखिये ! जरा गंभीरतासे सोचकर बताइयेगा, आप अपनी बुद्धिको भी जान रहे हैं। आप कभी अपने-आपको मन्द-बुद्धि भी अनुभव कर लेते हैं, कभी ऐसे भी अवसर आते हैं, जब आप अपनी तीक्ष्ण बुद्धिकी प्रशसा भी करते है, तो जो बुद्धिकी मन्दता एवं तीक्ष्णताको जान रहा है, वह ज्ञान बुद्धिसे परे बुद्धिका प्रकाशक ही होना चाहिये ?"

"फिरसे विचार कीजिये, ज्ञान इन्द्रियोसे भी आ रहा है। ऑखको रूपका ज्ञान होता है, कानको शब्दका ज्ञान होता है। इसीलिये ज्ञानवान् इन्द्रियोंको हम ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं, परन्तु इन ज्ञानेन्द्रियोको हमारा मन (Mind) प्रतिपादित कर रहा है। मन यदि अन्यत्र लगा हो, तो कान सुनेगे नहीं, नेत्र देखेगे नहीं। इस मनको आप बुद्धिसे जानते हैं। आप जब कहते हैं, "स्वामीजी मेरा मन चचल है", तो मनको आप मनसे परे किसी वस्तुसे जानते हैं। मनसे परे आपकी बुद्धि है। और बुद्धिको भी जब आप जानते हैं और कहते हैं कि "मेरी बुद्धि मन्द है", तो यह बुद्धिसे परे कौन है ? आप कहेंगे कि बुद्धिसे परे 'मैं स्वय' 'आत्मा' हूँ। अब आप ही सोचकर बताइये, इस आत्मासे परे कौन है ? तो आप कहेंगे कि इस आत्मासे परे तो कुछ भी नहीं है। आत्मा ही सबका प्रकाशक, सबका प्रतिपादक है। अब आप थोडी-सी मेरी बात मान लीजिये और इस आत्माको

आप व्यष्टि-भावसे मुक्त कर दीजिये, क्योंकि आत्मा सर्वत्र सब जीवधारियोंमें अनुभवरूप है। तो इसे आप ही कहेंगे कि परमात्मा सबको प्रतिपादित कर रहा है। परमात्माको व्यक्ति प्रतिपादित नहीं कर सकता। यह परमात्मा स्वप्रकाश सत्य है। यह सत्य अनन्त है । इसी स्वप्रकाश सत्यके ज्ञानमें हम अनन्तत्व को भी जान रहे हैं। जो अनन्तत्वको जानता है, वह अवश्य अनन्तसे भी अनन्त है।"

"नाजिम साहब ! आप हमारे शास्त्रोंपर अकारण नाराज हैं। भला बताइये, गीता कितनी तर्कयुक्त है, जब वह कहती है :–

*इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।*
*मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। (गीता ३।४२)*

गीताके इस श्लोकका अर्थ है कि हमारा पंचभूतात्मक शरीर, जो जड है, वह ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा प्रकाशित हो रहा है। क्योंकि चेतना ही जड़ताका सचालन करनेमें समर्थ है, अत. शरीरसे ज्ञानेन्द्रियाँ अधिक बलवान् हैं और वे शरीरसे परे रहती हुई उसका सचालन कर रही हैं। इन्द्रियोंसे परे मन है, यह मन इन्द्रियोंसे अधिक बलवान् है। यह इन्द्रियोंको सचालित कर रहा है और मनकी नियंत्रक बुद्धि, मनसे भी परे एवं उससे अधिक बलयुक्त है। बुद्धिसे परे हमारा आत्मा, सबका प्रकाशक और सर्व-बलनिकेतन है। वही सबको सचालित कर रहा है। उसका सचालक अन्य कोई नहीं। वह स्वयसिद्ध है, स्वप्रकाश है, पूर्ण स्वतत्र है, और सर्व-बलनिकेतन है। यह आत्मा ही सर्वाश्रय है। यह व्यष्टि एवं समष्टि सबमें निहित है, और सर्वरूप है।"

"अब 'भगवान्' शब्दका अर्थ समझ लीजिये। 'भग' हमारे यहाँ ऐश्वर्यबोधक है। ऐश्वर्य छ प्रकारके है। इनके नाम हैं – ज्ञान, वैराग्य, धर्म, बल, ऐश्वर्य और यश। जिसमें ये छ प्रकारके ऐश्वर्य समग्ररूपमें हो, उसे 'भगवान्' कहते हैं। अब आप अपनी आत्मामें इन छ ऐश्वर्योंको समग्ररूपमें अनुसधान कीजिये। यदि आप अपने अनुसधानमे गभीर होंगे, तो आश्चर्यचकित हो उठेंगे। आप पायेंगे कि मै व्यर्थ ही अपनेको अल्प, मरणधर्मा शरीर माने हुए था। मैं तो सचमुच ही भगवान् हूँ। मुझमें तो ये छहो ऐश्वर्य पूर्णरूपेण विद्यमान हैं।"

"नाजिमरूपधारी भगवन् ! अपने-आपको पहचानिये, आपमे अनन्त ज्ञान है या नहीं ? देखिये, एक बार दस-पॉच क्षणोंके लिये ही सही, भूल जाइये, पूर्णतया विस्मृत कर दीजिये कि आप एक अल्प शरीरधारी हैं। आप अपनेको ***'यो बुद्धेः परतस्तु सः'*** मानकर इस धरातलपर एक मिनटके लिए ही बैठक लगा लीजिये। आप निश्चितरूपसे पायेंगे कि जो बुद्धिको भी अपने ज्ञानमें जान रहा है, वह निश्चय ही प्रज्ञानस्वरूप, अनन्तज्ञान-निकेतन, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप

आपका अपना आपा ही है। वह सर्वज्ञ है, क्योंकि सर्व उसमें ही प्रकाशित हो रहा है। उस आत्मामे ज्ञान ही ज्ञान है। जब सारी अनन्तता ज्ञानके ही भीतर है, ज्ञानके द्वारा ही अनन्तता प्रकाशित हो रही है, तो निश्चय ही आत्मा अनन्तज्ञान स्वरूप है।"

"अब आप पूरी तरहसे शरीर-मुक्त हुए अनुभव कीजिये – 'मैं पूर्ण ज्ञान हूँ, त्रिकालाबाधित ज्ञान हूँ,' क्योंकि कालकी सत्ता ज्ञानसे परे नहीं, ज्ञानके द्वारा ही जानी जाती है, अतः आप कालके भी काल हैं। सर्वकाल आपमें ही उदय एवं अस्त हो रहा है। देखिये ! हमारे शास्त्रोंसे जो आपने नाराजगी मोल ले रखी है, उसे छोड दीजिये और समझिये, शास्त्र कहते हैं – **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**, अर्थात् यह प्रज्ञान सबसे महान्, सबसे बडी वस्तु है। प्रज्ञानसे बड़ा कुछ नहीं और यह आत्मा ही प्रज्ञानस्वरूप है। अतः आत्मासे बढकर और कुछ नहीं। **'अयमात्मा ब्रह्म'**, यह आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा पूर्ण है।"

"नाजिम साहब ! यह अवश्यभावी तथ्य है कि जो पूर्ण है, उसमें किसीसे भी राग नहीं हो सकता। राग सदा अपूर्णतामें ही सम्भव है। आत्मा रागसे भी मुक्त है और द्वेषसे भी मुक्त है। आत्मा अपने-आपमे ही तृप्त है, कृतकृत्य है, वहाँ अन्यत्व सम्भव ही नहीं। जब आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, तो वह किससे राग करे, एवं किससे द्वेष करे। वह तो प्रज्ञानस्वरूप एकमेव है। अतः वह अनन्त वीतरागी है। अतः आपके अपने आपेमें पूर्ण वैराग्य स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार आपमें अनन्त बल, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त धर्म, एवं यश भी आपको अन्वेषण करनेपर अवश्य मिलेंगे ।"

**नाजिम साहब** - "स्वामीजी ! आत्मा मायासे राग तो कर ही सकती है। जैसे मेरी आत्मा इस शरीरसे पूर्णतया रागी है, शरीरके निर्वाहकी, शरीरको भोगोंकी प्राप्ति हो, इसकी चिन्ता मुझे होती है, इसका अर्थ ही है कि यह चिन्ता मेरे अपने आपेमें, आत्मामें भी है। दूसरे आत्मामें ज्ञान भी है और अज्ञान भी है। क्या आत्माके द्वारा जड पञ्चभूत जो अज्ञानरूप हैं, प्रकाशित नहीं हो रहे हैं ? यदि आत्मामें अज्ञान होता ही नहीं, तो अज्ञान आता ही कहाँ से ?"

**तरुण सन्यासी** - "नाजिम साहब ! आप यहाँ भूल कर रहे हैं । देखिये ! बोधस्वरूप आत्माको बुद्धि माननेका भ्रम मत पालिये। आपकी बुद्धि रागी हो सकती है, वह शरीराध्यासी भी हो सकती है, अतः शरीरकी रागी होकर उसके निर्वाहकी, उसकी सुख-समृद्धिकी चिन्ता कर सकती है। बुद्धि, विद्या एवं अविद्या-सम्पन्न दोनों हो सकती है। बुद्धिमें दुःख, चिन्ता, अभाव, व्याप्त हो सकते हैं। परन्तु आत्मा बुद्धिकी प्रकाशक है, वह सर्वथा विशुद्ध है। वह

स्वरूपतः ही विशुद्ध बोध है। बुद्धि रागी भी हो सकती है, एवं द्वेषी भी हो सकती है। वह विवेकी, अविवेकी हो सकती है, परन्तु आत्मा अपने-आपमें पूर्ण होनेसे, न रागी है, न द्वेषी है। उसमें जैसे पूर्ण बोध है, उसी प्रकार पूर्ण वैराग्य भी है। नाजिम साहब ! विचार कीजिये, जब आप इन्द्रियोसे युक्त शरीरके अध्यासी हुए, इन्द्रियजन्य ज्ञानको सत्य समझने लगते है, तो आपको ससार सत्यवत् भासता है, आप उसे सत्य समझने लगते हैं। आप जब विवेकाश्रयी हुए, विवेक-जन्य ज्ञानसे ससारको देखेंगे, तो आपको संसार दु खालय, क्षणभगुर, नाशवान्, असत् अनुभव होगा। और आप जब अनुभवरूप आत्मामें बैठकर देखेगे, तो आपको सर्वत्र पूर्ण शुद्ध बोधस्वरूप सत्ताके अतिरिक्त कुछ नहीं दीखेगा। उस समय न तो शरीर रहेगा, न ही ससार। व्यष्टि शरीर और समष्टि ससार दोनों ही उस समय शशश्रृगवत् लुप्त हो जावेगे।"

**नाजिम साहब** - "स्वामीजी ! मेरा मूल प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है। आपने कहा कि बुद्धि एव इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रागद्वेष एव ससार है, तो बुद्धि एव इन्द्रियाँ क्या आत्मामें नहीं हैं और अगर नहीं हैं तो ये आयी कहाँ से ?"

**तरुण सन्यासी** - "देखिये, ये सभी मात्र प्रातीतिक हैं, परस्पर एक-दूसरे द्वारा निषिद्ध होती हैं। जैसे रात्रिमें अल्प चाँदनीका प्रकाश हो, और भय हो, भूतके संस्कार हों, तो एकान्त रेगिस्तानमें फोगके वृक्ष भूत-भूतनियोंकी तरह दीखते हैं। भूत-भूतनियाँ होती होंगी, परन्तु मैंने स्वय अनुभव किया है कि एकान्त जगलमें अल्प प्रकाशमें फोग-वृक्षके ठूँठ ठीक स्त्रियों एवं मनुष्योकी तरह समूहमें बैठे दृष्टिगोचर होते हैं। अब यदि कोई निर्भय ऊँटमे अथवा किसी वाहनमें बैठकर उनके निकट चला जाए, तो ठूँठ दृष्टिगोचर हो जायेगा ही। इसी प्रकार विषयोंका राग होनेपर ही इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियोंकी सत्ता है। यदि विषयोंके प्रति राग मिट जाए तो इन्द्रियॉ स्वत ही लुप्त हो जावेगी। विचार कीजिये, देखनेके रागसे मनुष्य अधा होनेपर नेत्रोंके लिये लालायित है। यदि देखनेका राग न रहे, तो उसे नेत्रेन्द्रियकी आवश्यकता ही नहीं है, वह अपने आत्मज्ञानजन्य आनन्दमें, अपने सत्स्वरूपमें मस्त है। इसी प्रकार सुननेका राग रहनेपर ही कानकी आवश्यकता है, सुननेका राग न रहे, तो कानकी आत्मामें आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य बिना कान, बिना ऑख अपने सत्स्वरूपमें पूर्ण है। अब बुद्धिजन्य ज्ञान (विवेक) जब देखने एवं सुननेके रागको निवृत्त कर देता है, तो हम कहते हैं – "यह वैरागी है।" मैंने एक महात्माको देखा है, वे जन्मान्ध थे और पूरे बहरे थे, बहरे होनेसे गूँगे भी स्वाभाविक ही थे। जो सुनेगा ही नहीं, वह बोलेगा क्या ? परन्तु वे बडे मस्त थे। वे अपना अनुभव बता नहीं

स।त थे, परन्तु उनकी मस्ती और आनन्दवृत्ति देखकर लगता था कि वे देखन-सुनने एव बोलनेके रागसे मुक्त होकर अपने आत्मानन्दमें पूर्ण मस्त हैं; विवेकने उन्हें इन विषयोके रागसे मुक्त कर दिया था। तो यह सत्य है, बुद्धि जब विवेकयुक्त होकर विचारमें लग जाती है, तो विषयोंसे वैराग्य होता है।"

"एक बार मैं काशीमें था, वहाँ गंगाके किनारे मैंने एक महात्माको देखा। वे आमका रस अपने शरीरपर चुपडकर गगाके किनारे गन्दे स्थानोंमें जहाँ लोग शौच जाते हैं, पड़े रहते थे। उनके शरीरमें चतुर्दिक् मक्खियाँ भिन-भिनाती रहती थीं। परन्तु वे मक्खियोंको उड़ाते ही नहीं थे, न नहाते थे। मैं उन दिनों किशोर था। कैशोरजन्य चपलता एवं आत्मीयताके कारण मैंने उन्हें जबर्दस्ती नहलानेका विचार किया, तो वे हँसकर कहने लगे – "मूर्ख ! तेरे भीतर तो पहल देख, तू स्वयं कितना विषय-मलसे मैला है और वासनाओंकी कितनी बडी-बडी मक्खियाँ तेरे भीतर भिनभिना रही हैं ? अरे ! उन्हें तो पहले तू उड़ा ले, स्वयं तो स्वच्छ हो।"

"तो विचारपूर्वक वैराग्यसे उन्होंने त्वक्-विषयक स्पर्शके रागसे अपनेको मुक्तकर रखा था। अब वे अपने विवेकमें मस्त थे।"

"यह वैराग्य भी उसी समयतक जीवित है, जबतक किसी-न-किसी प्रकारका राग है। रागके समूल मिटते ही वैराग्य अपने-आप मिट जाता है। राग-वैराग्यके लुप्त होते ही अनुभवजन्य ज्ञान प्रकट हो जाता है। उस अनुभव-जन्य ज्ञानमें न शरीर है और न ही संसार है। शास्त्र इसी स्थितिका उद्‌बोध करता हुआ कहता है :–

***'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति किंचन'***

अर्थात्, सर्वत्र निश्चय ही प्रज्ञानघन आत्मरूप ब्रह्मकी ही सत्ता है। यह – 'मैं', 'तू', 'तेरा', 'मेरा', अनेकत्व कहीं कुछ भी नहीं है। वह ***'ब्रह्म'*** तू ही है। ***'तत्त्वमसि' ।'***

"इस बालको पुनः समझ लीजिये :–

**पहली बात** - इन्द्रियजन्य ज्ञानमें जन्म है, मृत्यु है, भोग हैं, भय है, राग है, द्वेष है, दु:ख हैं, पीडाएँ हैं, शरीर है, ससार है, नरक है, स्वर्ग है, काल है, कर्म है, सद्गति है, दुर्गति है, 'मैं' है, 'तू' है, 'तेरा' है, 'मेरा' है।"

**दूसरी बात** - इन्द्रियजन्य ज्ञानमें जब दु:ख-दोष-दर्शन होता है और सुखरूप बीजसे दु:खरूप वृक्ष हरा-भरा हो जाता है, तभी उन्नतिकी प्रेरणा होती है। क्योंकि सुख सदा किसीका दु:ख बनकर ही मिलता है, और ऐसा कोई दु:ख नहीं है जिसका जन्म सुखसे नहीं हुआ हो। उन्नतिकी प्रेरणा, वैराग्यकी

उत्पत्तिकी हेतु होती है।

जो सुख किसीका दु ख बनकर मिलता है, वह सुख मिटकर निश्चय ही बहुत ही बडा दु ख हो जाता है। जब हृदयमें दु खरूप अग्नि धधकती है, तो यह धधकती अग्नि विकारोंको जलाने लगती है। जिस प्रकार लकडीके न रहनेपर अग्नि अपने-आप ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विकार नहीं रहनेपर, दु ख अपने-आप शान्त हो जाता है।"

"सुख-दु खके शान्त होनेपर ही आनन्दकी गगा लहराती है। उस समय बुद्धिजन्य ज्ञानमें सद्भाव होना प्रारंभ होता है। आनन्दकी गंगा शरीर-भावको भी डुबो देती है। शरीर-भाव धारण करनेसे ही सीमित अहभाव उत्पन्न होता है। सीमित अहभाव होनेसे ही हम किसी-न-किसी प्रकारकी बन्धनयुक्त भावना अपनेमें अनुभव करते हैं । उसी बन्धनयुक्त भावनासे चाह उत्पन्न होती है और चाहसे कर्म करनेका भाव उत्पन्न होता है। कर्मरूप बीजसे शरीररूप वृक्ष उत्पन्न होता है। अपनेमे शरीर-भाव धारण करनेके कारण ही आनन्दघन भगवान् ससारके स्वरूपमे दीख रहे हैं। जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करनेसे ससारका अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मभाव धारण करनेपर परमात्माका अनुभव होने लगता है। बुद्धिजन्य ज्ञान, विवेकमे सद्भाव होनेपर शरीरमें भाव मिटानेकी चाह उत्पन्न होती है। और शरीर-भाव मिटानेके लिये आत्मभाव धारण करना आवश्यक लगता है। आत्मभाव धारण करते ही अनुभवजन्य ज्ञानपर सद्भाव होता है। अनुभवजन्य ज्ञान होते ही सच्ची आस्तिकताका उदय होता है।"

"**तीसरी बात** - अनुभवजन्य ज्ञान रागको समूल मिटाता है। रागके मिटते ही वैराग्य भी मिट जाता है। विचारका उदय होता है। विचार अविचारको खा जाता है। अविचारको खाकर विचार भी शान्त हो जाता है। अज्ञानका अभाव करके ज्ञान शान्त हो जाता है। भोगका अभाव होते ही योग भी स्वत मिट जाता है। अब मात्र अनुभवरूप परमात्मा-ही-परमात्मा रहता है। यही स्थिति परम पद है।"

**मुंसिफ मजिस्ट्रेट** - "स्वामीजी ! नाजिम साहबके प्रश्नोंके आपने तर्क-सम्मत उत्तर दिये। मेरा नाम श्रीगोपाल आचार्य है। एक मेरा भी प्रश्न है। वह प्रश्न यद्यपि है, पूरा नास्तिकताका प्रतिपादक, परन्तु आपसे यदि जिज्ञासाका पूर्ण समाधान नहीं ,हुआ, तो मैं तो पूर्ण नास्तिक ही रहूँगा। स्वामीजी ! मृत्युके पश्चात् कोई आत्मा रहती है, होती है, मैं इसे नहीं मानता। यह विश्व प्राकृत है एवं प्रकृतिमें संयोगोंसे चेतना, ज्ञान स्वतः उत्पन्न होते हैं। शरीरसे हीन कोई आत्मा कहीं नहीं है। मेरी दृष्टिमें यह आत्मा-परमात्मा, पेट-भरे व्यक्तियोंकी

मात्र कल्पना है। शरीरकी मृत्युसे आत्मा-परमात्मा, सभी मर जाते हैं।

**तरुण सन्यासी** - "मुंसिफ साहब ! आप तो न्यायके आचार्य हैं। फिर जातिसे भी आप 'आचार्य' ब्राह्मण हैं। आप कृपा करके मुझे इतनी छोटीसी बात समझा दीजिये कि आप जो कह रहे हैं कि शरीरकी मृत्युसे आत्मा-परमात्मा सभी मर जाते हैं, इस बातको आनुमानिक रूपसे कह रहे हैं, या प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर कह रहे हैं ? यदि आप प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर यह कहते हैं कि आत्मा-परमात्मा सब मर जाते हैं, तब प्रत्यक्ष आत्मा-परमात्माकी मृत्युके आप दृष्टा रहते हैं। तब तो मेरी बात सिद्ध हो गयी। मैं भी यही कह रहा हूँ कि अनात्मवस्तुका नाश आत्मवस्तुके ज्ञानसे हो जाता है, फिर आत्मवस्तु भी नहीं रहती। परमात्मवस्तुकी सत्ता भी अपरमात्मवस्तुकी सत्ताको समाप्त करनेके लिये ही है। अपरमात्मवस्तु समाप्त होते ही परमात्मवस्तु भी नहीं रहती। एक अनिर्वचनीय अभावका द्रष्टा-भाव रहता है। क्योकि 'भाव' शब्द भी अभावके नाशके पश्चात् रह ही नहीं सकता।"

"और यदि आपका कथन, मात्र अनुमान है, तो मेरा इतना ही कहना है, अनुमान द्वारा स्थापित सत्य, सिद्ध-सत्य है, यह कभी कहा ही नहीं जा सकता। अतः कृपया आप उसमें जिज्ञासाको रखिये। जिज्ञासाका अन्त मत करिये।"

"अब आप यदि जिज्ञासा रखते हैं, तो आपको अपने भीतर ही एक ऐसा सत्य दृष्टिगोचर होगा जो सर्वकालमें एक-सा रहता है, और असत्‌को प्रकाशित कर रहा है। आप ठीक अनुभव करेंगे – शरीर बालकपनसे कुमार होता है, फिर किशोर और तब युवक हुआ है, वह अयोग्यसे योग्य हुआ है, अपठितसे पठित हुआ है, परन्तु सत्य जो उसे देख रहा है, प्रकाशित कर रहा है, वह एक-सा है, वह निष्परिणामी है। एक असत् है, जड है, जो अपने-आपको प्रकाशित नहीं कर सकता, परन्तु वह दूसरेकी आधीनतामें, साक्ष्यमें प्रकाशित हो रहा है, वही जन्मसे लेकर मृत्युतक बढ़-घट रहा है। वही व्यय हो रहा है। परन्तु जो सत्य है, स्वप्रकाश है, द्रष्टा है, जो घटता-बढ़ता नहीं, निष्परिणामी है, अव्यय है, नित्य एकरस है – वह असंग है, अनावृत है, वह एक-सरीखा नित्य है। उसका किसी भी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता। वह अत्यंत प्रिय है। मैं जो दिशा दे रहा हूँ उस पर आप थोड़ा गंभीरतापूर्वक विचार कीजिये, तो आप ठीक पायेंगे कि शरीर आपमें धृत है, आप शरीर हैं नहीं। आपकी स्वाभाविक वाणी, ज्ञान भी यही कहता है, 'मेरा शरीर' । अब बताइये जो आपका है, वह आप हो नहीं सकते। आचार्यजी ! आप तो न्यायविद् हैं, शरीर जड़ है, आप नित्य, सत्य, स्वप्रकाश हैं, शरीर अनित्य, असत्य, पर-प्रकाश है, आप अमृत हैं, शरीर

मृतधर्मा है, वह जन्मा है, निश्चय ही उसकी मृत्यु होगी ही। मेरी समझमें नहीं आता, आप ऐसे आग्रही क्यों हो रहे हैं कि मृत्युको, दु:खको, विकारको, मलिनको, पराधीनको, पर-प्रकाशको, दरिद्रताको, अपना स्वरूप माननेपर तुले हैं ?"

"आचार्यजी ! आप बुद्धिमान्, विवेकी, पढे-लिखे, विद्वान्, तर्कशील व्यक्ति हैं। विचार कीजिये, यह शरीर है क्या ? व्याकरण-शास्त्र 'शरीर' शब्दकी व्याख्या करता है, ***'शर इव ईरयति, इति शरीरः'*** – जो बाणके चुभ जानेपर जिस प्रकार चिर जानेकी पीड़ा होती है, वैसी निरन्तर पीड़ा देता रहता है, वह 'शरीर' कहलाता है। आचार्यजी ! जो भी शरीरवान् हैं – उनकी दशा तो देखिये ! कभी वे काम-पीड़ित हुए औरतकी चाटुकारी कर रहे हैं, कभी क्रोधमें अंधे हुए अपनेसे निर्बल, दुःखी प्राणीपर झल्ला रहे हैं। वे क्रोधमें स्वयं भी जल रहे हैं एवं दूसरोंको भी जला रहे हैं। कभी लोभसे ग्रस्त हुए किसी धनी-कंजूस, अर्थ-लोलुपकी चाटुकारी कर रहे हैं। कभी किसीसे सुखकी आशा करते हैं, कभी किसीसे। वे सदा भयग्रस्त हैं। कभी रोगका भय, कभी धन-नाशका भय, कभी आजीविका-नाश होनेका भय, कभी मृत्युका भय, बुढापेका भय, पापका भय, पद-पदपर उन्हें असुरक्षा एवं भय ही भय है। भयकी परिस्थिति पैदा न होनेपर भी वे सदा चिन्ताग्रस्त रहते हैं। विषाद उनका क्षणभर भी पिंड नहीं छोडता। आचार्यजी ! यदि कोई मूर्ख, सस्कारहीन व्यक्ति, जिसका मस्तिष्क इतना विकसित ही नहीं हुआ है कि विचार कर सके, जो प्रवाहवत् भोगोंमें उलझा बह रहा है, वह ऐसी बात करता तो क्षम्य था, परन्तु आप तो विचारशील हैं, आपका विवेक जाग्रत् है, आप अपनेको क्षणभंगुर, नाशवान् सृष्टि-कीट माननेकी अकारण जिद क्यों पकड़े हैं ? यह बात समझमें ही नहीं आती। बुद्धिजीवी होकर आप इन्द्रियजन्य ज्ञानको सत्य समझनेकी भूल कर रहे हैं, जब स्वयं इन्द्रियाँ ही विनाशी हैं। वे स्वप्रकाश ही नहीं, पर-प्रकाश हैं। वे तो मन, जैसे उनको नचाता है, वैसे नाचती हैं। मन-बुद्धि मलिन हैं, तो इन्द्रियाँ मलिनतम वस्तुओंमें रस लेने लगती हैं। मनके कामग्रस्त होनेपर उन्हें मल-मूत्रके सड़े-गले पिण्डमें सौन्दर्य दिखाई पड़ने लगता है। अपान-वायुकी दुर्गन्धसे भरे अंगोंमें उन्हें रमणेच्छा हो उठती है। ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा दिखाये जानेवाले दृश्यको ही आप सत्य समझ रहे हैं ? इसे विवेक तो आप स्वयं ही नहीं कहेंगे।"

"आप बुद्धि एवं विचारद्वारा उत्पन्न विवेकसे विश्लेषण करेंगे, तो आपको ठीक अनुभव होगा कि नास्तिसे अस्तित्व व्यक्त हो ही नहीं सकता। असत् नाशवान् संसार है, वह नित्य क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। परन्तु इसका आधार

सत्य है। मृत्यु और जन्मका आधार नित्य-जीवन है। वह अखण्ड है, वह अमृत है, अच्युत है, अव्यय है, अविनाशी है। उसका नाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। जिसका व्यय होता है, उसीका नाश संभव है। जो अव्यय है, सदा एकरस है, वह मृत्युका भी द्रष्टा है। अगर मृत्युका कोई प्रमाता, द्रष्टा, साक्षी नहीं होता तो मृत्यु होती ही नहीं। इसी प्रकार जो मृत्युका प्रमाता, द्रष्टा साक्षी है, वही जन्मका भी साक्षी है। हाँ, इतना निश्चय है कि वह जन्मका द्रष्टा जन्ममें अनुस्यूत है। अजन्माका जन्म होना संभव नहीं है, परन्तु वह सर्वसत्ता होनेसे जन्मको सत्ता दे रहा है, स्थितिको भी सत्ता दे रहा है, और विनाशको भी सत्ता दे रहा है। यदि वह जन्म, मृत्यु एवं स्थिति, इन तीनों अवस्थाओंमे अनुस्यूत नहीं होता तो जन्म, मृत्यु एवं स्थिति होती ही नहीं। वह दु:खको भी सत्ता अवश्य दे रहा है। परन्तु वह सुख-दु:ख दोनोंसे सर्वथा परे, नित्य आनन्द-स्वरूप है। वह अज्ञानको सत्ता दे रहा है परन्तु स्वयं अज्ञान नहीं है, अज्ञानसे परे मात्र विशुद्ध बोध है।"

"देखिये ! मृत्यु भोगको खा रही है और अमृतमें लीन हो रही है। जन्म नास्तिको खा रहा है और नित्य अविनाशी सत्यका प्रकाश कर रहा है।"

"आचार्यजी ! जो वस्तु आपका हर समय त्याग कर रही है, जो आपके हाथमें ही नहीं आ रही है, प्रतिपल परिवर्तित हो रही है, एवं जो आपको अपनेमें उलझाकर सत्यसे काट रही है, आप उसे पकडना चाहते हैं ? वास्तवमें तो उससे अपने-आपको ऊपर उठा लेना ही आपकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा होती।"

"परन्तु कठिनाई तो यह है कि अभी तो आप उस परम नाशवान्‌के मोहमें, जो सत्य है, नित्य है, आपका अपनेसे अपना है, अमृत है, आनन्दस्वरूप, आपका सच्चा परम प्रेमी, हितू, परम मंगलकारी है, उसके अस्तित्वको ही झुठला देनेको कटिबद्ध हो रहे हैं और न जाने किन-किन नास्तिकोंके तर्क पढ-पढ़कर उस परम सत्यकी ओरसे दृष्टि फेर लेनेकी शपथ ले चुके हैं।

**मुंसिफ मजिस्ट्रेट** - "स्वामीजी ! मैंने सुना था, साधुलोग नेत्रोंके त्राटकसे हिप्नोटाइज (Hypnotise) करते हैं, आप तो अपने धारा-प्रवाह अकाट्य तर्कोंसे मुझे सम्मोहित कर चुके हैं।" (सभी हँसने लगते हैं)

**पुलिस पदाधिकारी** - "स्वामीजी, आचार्यजीकी तरह मैं भी एक नास्तिक जीव हूँ। मुझे आपसे यही पूछना है कि हम पाप करते हैं, चोरी करते हैं, हत्याएँ करते हैं, असत्याचरण करते हैं, भगवान् हमें तुरन्त दंडित क्यों नहीं करता ? इसी प्रकार, हम सत्य बोलते हैं, ईमानदार होते हैं, तो भगवान् द्वारा हमें पुरस्कृत किया जाना चाहिये, परन्तु देखा जाता है, ईमानदार अधिक कष्ट पाते

हैं। यदि भगवान्‌की सत्ता है, तो ईमानदार, सच्चा व्यक्ति उसके द्वारा निश्चय पुरस्कृत होना ही चाहिये ।"

**तरुण सन्यासी** - "इन्सपैक्टर साहब ! पहली बात तो यह है, जिसे आप सच्चा, ईमानदार कहते हैं, वह किसके प्रति सच्चा, ईमानदार है ? विचार कीजिये ! आजके कुछ वर्ष पूर्व, मैं विप्लववादी क्रांतिकारी था। अब एक पुलिस-अधिकारी, जो ब्रिटिश हुकूमतके प्रति ईमानदार थे, वे मुझे फाँसीके तख्तेपर चढ़ानेके लिये सच्ची नीयतसे छल-बलसे चेष्टाशील थे। वे थे ईमानदार, इसमें कोई संशय नहीं है। इसी प्रकार एक डाकू भी अपने गिरोहके सरदारके प्रति ईमानदार सच्चा हो सकता है। आप महाराजा बीकानेरके प्रति ईमानदार हो सकते हैं। एक व्यक्ति अपनी पत्नी, बच्चोंके प्रति ईमानदार है, परन्तु माँ-बाप कहते हैं, हमने इसको पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया, यह हमारे प्रति सर्वथा ईमानदार नहीं है। एक व्यक्ति माता-पिताका भक्त है, उसकी पत्नी रोती है कि इसे माता-पिताकी सेवा करनी थी, तो विवाह करके मुझे क्यों लाया ?"

"तो पहली वस्तु यह है कि हम प्रभुके प्रति ईमानदार हैं, या नहीं ! यदि हम सचमुच ही प्रभुके प्रति ईमानदार होंगे, तो निश्चय ही हम सब कुतर्क छोड़कर प्रभुके अगणित स्नेहमय दानको, प्रतिक्षण पद-पदपर आगे-से-आगे हमारी सुख-सुविधाके लिए उनके द्वारा की हुई व्यवस्थाको गिनने लग जावेंगे। यदि हमारी आँखें फूटी नहीं होंगी – "अजी, ये सब तो संयोगसे यों ही हो जाते हैं, होते रहते हैं, ईश्वर तो भ्रम है" – इस विषके विस्फोटसे हमारी आँखोंकी ज्योति मारी नहीं गयी होगी, तो हमें प्रत्यक्ष दीखेगा कि ओह ! प्रभुके अनन्त असीम उपकारोंकी हम गणना ही नहीं कर सकते। वास्तवमें ही प्रभु-जैसा प्रेमी जगत्‌में कोई है ही नहीं।"

"आप मेरेसे वयमें वृद्ध हैं, अतः मैं आपको 'पुलिस-अंकल' कह दूँ, तो आपको आपत्ति तो नहीं ही होगी ? आपसे थोड़ा नैकट्यका रिश्ता बना लूँ। तो, पुलिस-अंकल ! आप तुलसीदासजीसे तो परिचित होंगे ही। उनका जीवनचरित्र भी आपने सुना ही होगा। वे जन्मसे ही मातृ-पितृ-हीन थे। कहते हैं कि उनके दाँत भी वयसे पूर्व निकल आये थे। किंवदन्ती तो यहाँतक है कि उनको जो भी स्त्री पालती, वही कुछ कालमें मर जाती थी। अतः इस भयसे उनको कोई रोटी भी नहीं देता था, न ही पालन करता था। अन्ततः उन महात्मा तुलसीदासको नरहरिदास नामक एक महात्माने पाला और वे ही उनके शिक्षागुरु, आध्यात्म-गुरु एवं पालनकर्त्ता माता-पिता भी हुए।"

"तो, श्रीतुलसीदासजीने कभी भगवान्‌को ऐसा उपालम्भ नहीं दिया कि

"हाय रे भगवान्! तूने यह क्या किया ? तू मेरे प्रति इतना निष्ठुर क्यों हुआ कि तूने निरे बालकपनमें ही, मैं जब सब विधि असहाय, अशक्त एवं निर्बल था, मुझे मेरी जननीकी गोदसे ही वंचित कर दिया ? मेरे पिताकी छत्रछाया ही मुझपरसे हटाली ?" अपितु, वे भगवानसे उलटे और अधिक दण्डकी याचना कर रहे हैं। वे कहते हैं :–

**कीजै मोकौं जमजातना मई।**
**राम तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठ दई॥**
**गरभवास दस मास पालि पितु-मातुरूप हित कीन्हौं।**
**जडहिं विवेक सुशील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हौं।**
**कपट करौं अन्तरजामिहुँ सौं, अघ व्यापकहिं दुरावौं॥**
**ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियौ मन बावौं॥**
**उदर भरौं किंकर कहाइ बेच्यौ विषयन हाथ हियौ है।**
**मोसे वंचककौं कृपालु छल छाँडिकै छोह कियौ है॥**
**पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।**
**भिद्यौ न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके॥**
**स्वामीकी सेवक-हितता सब, कछु निज साँइ-दोहाई।**
**मैं मति तुला तौलि देखी भइ, मेरेहि दिसि गरुआई॥**
**एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये अरु करिहैं।**
**तुलसी अपनी ओर जानियत, प्रभुहि कनोड़ौ भरिहैं॥**

## हिन्दी-भावार्थ

अर्थात्, 'हे नाथ! मेरे-जैसे नीचको नरककी आगमें ढकेल दो, भस्म हो जाने दो।'

"हे राम! (सभी जीवोंके अन्तरात्मा, सर्वत्र रमण करनेवाले, सर्वत्र व्याप्त) आप जैसे परम पवित्र, सुहृद स्वामीसे, अकारण-हितूसे, हठपूर्वक विमुख रहनेवाले मुझ शठके लिये यही दण्ड उचित है।"

'जब मैं माँके गर्भमें दस मासतक रहा, उस समय उस जठराग्निमें जिसमें अन्न पच जाता है, मुझ एक अल्पतम अणुवत् कीड़ेकी आपने रक्षा की, मेरा पालन-पोषणकर मुझे अभिवर्द्धित किया और एक शिशु-शरीरके रूपमें मुझे विश्वमें प्रस्तुत कर दिया। इसके उपरान्त भी आपके हित करनेकी प्रवृत्तिका अन्त नहीं हुआ। मैं तो उस समय सर्वथा बुद्धिहीन निरा मांसका लोथड़ा था, आपने मुझ मतिमन्दको विवेक दिया, दुष्टको भी सुन्दर, उत्तम शीलका दानकर

सुभूषित किया। मैं अगणित अपराध ही करता रहा, परन्तु आपने उस ओर तनिक भी दृष्टिपात न कर, समाजमें मुझे आदरका पात्र बनाया। फिर भी नाथ ! मेरी कैसी अधमाई है कि मैं उलटा ही चलता रहा।'

'प्रभो ! अन्तर्यामीके प्रति भी कपट, सर्वव्यापकसे भी पाप छिपानेका प्रयास, मेरी ऐसी कुटिलाईके उपरान्त भी धन्य हो, नाथ ! आप मुझसे कभी रुष्ट नहीं होते। मेरे हृदयमें भक्तिका लेश भी नहीं है, परन्तु आप आज भी "ये बड़े भक्त हैं" – यह यश दिलाकर मेरी उदरपूर्ति कर रहे हैं। स्वामिन् ! मुझ नीचका हृदय तो विषयोंके हाथ बिक चुका है, फिर भी ऐसे वंचकके प्रति आपकी कृपा तनिक भी कम नहीं होती, आपके प्रेमका द्वार बन्द नहीं होता ; धन्य है आपकी कृपा-वत्सलता। आपके द्वारा सदा मुझपर निष्कपट भावसे स्नेहकी वर्षा होते रहनेपर भी मेरा वज्रसे कठोर हृदय द्रवित नहीं होता। आपके द्वारा पल-पलमें किये उपकारोंको भली-भाँति जान-बूझकर, सुन-समझकर भी मैं पापी, न तो पिघलता ही हूँ, न ही परिवर्त्तित होता हूँ। हाय ! आपकी इतनी विशुद्ध, निराविल प्रेम-धाराके अजस्र बहते रहनेपर भी मेरा हृदय फटकर, गलकर सिक्त नहीं होता, विगलित होकर बह नहीं चलता। यह मेरी कैसी कठोर जड मानसिकता है ? मेरे मालिक, सुनो, अपनी बुद्धिरूपी तराजूके एक पलड़ेपर मैंने आपकी भृत्य-वत्सलताकी राशि रख दी, और दूसरेपर अपने स्वामीद्रोहकी किञ्चित् राशि अंशरूपमें रखी, जब मैंने तौलकर देखा, तो पाया कि मेरे स्वामीद्रोहका पलडा ही भारी है।'

'फिर भी आप मेरा हित करना स्थगित नहीं करते, जैसा हित भूतकालमें करते थे, उससे अधिक अब वर्तमान्‌में कर रहे हो, एवं भविष्यमें भी मुझे अटूट विश्वास है, कि इससे भी असंख्यगुनी धाराओंमें आपका स्नेह मुझपर प्रवाहित होता ही रहेगा। मुझे पता है, यह आपका अकारण-हितू स्वभाव ही है – अपनी ही ओर देखना, दूसरेकी दुर्गुण-राशिकी ओर कदापि नहीं देखना। अनन्त उपकारोंसे मुझको ही नहीं, जीवमात्रको आप्यायित कर देनेपर भी आप देते ही जाते हो, आपके स्नेहमय दानका कभी विराम होता ही नहीं।"

"तो पुलिस-अंकल, थोड़े श्रद्धाके बीज डालिये। भगवान् निष्ठुर नहीं हैं कि जननीकी गोदसे पुत्रको छीन लें, पिताकी दृष्टिसे पुत्रको ओझल कर दें, पति-पत्नीके प्रेमभरे संबंधोंको छिन्न-भिन्न कर दें, भगवान् धन-लोलुप चोर-डाकू नहीं हैं, जो हमारी संपत्तिका हरण कर लें, वे जागतिक प्राणियोंकी तरह ईर्ष्यालु कदापि नहीं हैं, कि हमारा प्रभुत्व, सम्मान, कीर्ति सहन नहीं कर पावें और उसे नष्ट कर दें। हमारा स्वास्थ्य, सुन्दर शरीर देखकर भगवान्‌को जलन कदापि

नहीं होती, जो रोगसे उसे सुखाकर अस्थिपंजर बना दें ।"

"प्रभु तो निश्चय ही दयाके महान्-से-महान् उदधि हैं। वे लोलुप नहीं, वे तो नित्य पूर्णकाम, आप्तकाम हैं। वे ईर्ष्यालु कदापि नहीं, अपितु हमारा उत्कर्ष उन्हें परम उल्लाससे भर देता है। उनकी दृष्टिमें अशुभका लेश नहीं, परम शुभ, परम मंगल एवं अमृतका स्रोत उनकी दृष्टिसे सतत झरता रहता है। वे लेनेकी दृष्टिसे कुछ भी नहीं लेते, जो कुछ लेते हैं, उसे अनन्त गुना बढ़ाकर देनेके लिये लेते हैं। वस्तुतः सत्य बात यही है कि हमारी मलिन अवस्था उन्हें सह्य नहीं। इसीलिये वे हमारी मलिनता मिटाकर उसमें अपना निर्मल तेज भरकर लौटानेके लिये ही हमारा कुछ लेते हैं।"

"इसे उदाहरणसहित स्पष्ट समझ लीजिये। एक ब्राह्मण-शिक्षक मुझसे कुछ वर्ष पूर्व मिले थे। वे सच्चे, भगवदनुरागी गृहस्थ थे। नियमपूर्वक नाम-जप, पूजा-पाठ करते, वर्षाके दिनोंमें किसी सरोवरके किनारे चले जाते, वहीं संध्या, तर्पण, सूर्यार्घ्य, गायत्रीजप, शिवपूजनादि करके, विद्यालय जानेके समय ही घर लौटते, भोजनादि करके विद्यालय चले जाते। नियमपूर्वक परिश्रमसे पूरे समय मन लगाकर बच्चोंको पढ़ाते, सत्य-निष्ठा रखते, मेहनत और ईमानदारीकी अर्जित कमाईसे गृहस्थका निर्वाह करते। सायंकाल भी संध्या, भजन, पूजा, आरती करके भगवत्प्रसाद पाते, एवं तब शयन करते। संयमपूर्वक रहनेके कारण उनके सन्तानरूपमें एक पुत्र और एक पुत्री ही थी। माता-पिता भी दिवंगत हो गये थे। अचानक उनके एकमात्र पुत्रको थोडा ज्वर हुआ। ज्वर बिगड़ता गया और बहुत चेष्टा करनेपर भी वह बचा नहीं, भगवान्‌ने उसे उठा लिया। उनका अतीव दुखी होना स्वाभाविक ही था। इसी दुःखावस्थामें उनको एक परम विद्वान् महात्मा मिल गये। ये महात्मा जंगलमें गुफामें रहते थे, बहुत ही विरक्त थे। ये सायंकाल नित्य ही उनके सत्संगमें जाते। इन अध्यापक महोदयके कहनेसे नगरके और विद्वान्‌लोग भी महात्माजीके पास आने-जाने लगे। महात्माजी सबकी शंकाओंका समाधान अति सुन्दर शैलीमें करते। शास्त्र उनको कण्ठस्थ थे। ये महात्माजीको प्रतिदिन अपने घरसे भोजन पहुँचाते और भक्तिपूर्वक उनकी सभी सेवा करते। कुछ दिनों पश्चात् वे महात्मा भी इतने रुग्ण हो गये कि चल-फिर भी नहीं पाते थे, टट्टी-पेशाब भी वहीं बिस्तरोंपर कर देते। इन्होंने जी-जानसे उनकी सेवा की। प्रतिदिन नियमपूर्वक शौच पेशाबसे सने कपड़े दो-दो, तीन-तीन बार स्वच्छ करना, महात्माको नहलाना, नहलाकर वस्त्र पहनाना, सभी सेवा इन्होंने की। कुछ काल पश्चात् महात्माजी भी दिवंगत हो गये।"

"ये शिक्षक-ब्राह्मण मुझसे कह रहे थे कि महात्माकी सेवाके फलस्वरूप मेरा कोई भला होना तो दूर, एकमात्र मेरी पुत्री, जिसका मैंने सच्ची अर्जित कमाईसे विवाह किया था, वह बाल-विधवा हो गयी। वे कह रहे थे कि जामाताके जीवनकी रक्षा हो जाय, इसके लिये मैंने महामृत्युंजयका अनवरत अनुष्ठान किया, शिवार्चनमें मनों दूध, दही, मधु, घृत, चीनी अर्पित की। उस दुःखद मृत्युके समय ईश्वरकी सत्तापर अखण्ड विश्वास करनेका दम भरनेवाले ये ब्राह्मण-शिक्षक हाहाकार कर उठे।"

"वे मेरे पास फूट-फूटकर रो रहे थे, उनकी यही व्यथा थी कि यदि भगवान् मेरे-जैसे व्यक्तियोंके साथ भी ऐसा विधान करेंगे तो कौन उनको भजेगा ?"

"अकलजी ! आप मेरी सच्ची बात हृदयंगम कर सकेंगे या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु ऐसा निष्ठुर विधान करनेके पूर्व भगवान् यही सोचते हैं कि यह मेरी सर्व-विधि सच्ची और भोली सन्तान, मेरी एक कृत्रिम मूर्तिको सत्य एवं नित्य मानकर उसमें आसक्त हो उठी है। वह जामाता बनी मूर्ति, है मेरी ही एक छायामात्र, परन्तु यह उसे परम प्रियजन मानकर इतना भ्रान्त हो गया है कि इसकी आँखें बन्द हो गयी हैं। यह ज्ञान-वैराग्यके अगले सोपानोंपर चढ़ ही नहीं रहा है। हाँ ! यह संध्या, गायत्री आदि शुभकर्म अवश्य कर रहा है, परन्तु कर्म तो नदीका बहाव है। यह नदीके बहावका आश्रय लेनेके कारण नदीके कारणको तो जान ही नहीं पावेगा। शुभकर्म इसकी यात्राको महासागरकी ओर ही कर रहे हैं। वे इसे घोर संसारमें ही चक्कर लगवावेंगे। संसारके कारण मुझ परमात्माको यह इन शुभकर्मोंके प्रवाहमें तो जान ही नहीं सकेगा। हाय ! जिस पथसे इसे जाना चाहिये; उस ओर न जाकर, यह सच्चा, भोला मानव अपनी दिशा उलटी किये है। यह विचारकर ही प्रभु अपनी उस 'जामाता' नामकी कृत्रिम मूर्त्तिको — प्रभुकी ही एकमात्र छाया — जिसे वह ब्राह्मण-गृहस्थ लाड़ला लाल, बेटा, सर्वस्व समझ रहा था, कुछ समयके लिये स्थानान्तरित कर देते हैं।

"ऐसा होते ही उन शिक्षक-ब्राह्मण गृहस्थके चित्तमें अतिशय व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। व्याकुलता तो अग्निके समान है। अतः वह व्याकुलता उनके सब विकारोंको जलाकर, उनके हृदयको और शुद्ध कर देती है। हृदयके शुद्ध होते ही ब्राह्मण-शिक्षकको यह ज्ञान हो जाता है कि इस जगत्‌का स्वरूप ही क्षणभंगुर, अशाश्वत है। वह दुःखालय है ही। बस, ब्राह्मणके सीमित भावका अभाव हो जाता है। वे पूर्ण अभय हो जाते हैं। उन्हें संसारसे सच्ची निराशा हो जाती है। जीवनमें ही उन्हें मृत्यु दीखने लगती है। उन्हें अपना घर, धन-

सम्पत्ति सब होते हुए भी विनष्ट ही दीखते हैं। वे सब ओरसे निवृत्त होने लगते हैं। इन्द्रिय-जन्य संसारकी घोर असत्ता जानकर वे ब्राह्मण देवता बुद्धि-जन्य ज्ञानका आश्रय ले बैठते हैं। संसारकी असत्ताका अनुभव होनेपर उनका राग समूल मिट जाता है। रागके मिटनेसे अविचारकी समाप्ति हो जाती है। बस, वे अपनेको शरीर समझनेकी भूल त्याग देते हैं। शरीर समझनेकी भूलके हटते ही ब्राह्मण देवता भगवत्पदपर विराजित हो जाते हैं।"

"बताओ, पुलिस-अंकल ! यदि आप मेरे भावोंको हृदयंगम कर चुके होगे तो निश्चय ही समझ गये होगे, कि प्रभुकी यह निष्ठुर चेष्टा, मात्र डाक्टर द्वारा किया एक जहरीले फोडेका ऑपरेशन-भर था, अमगलमय, अहितकारी दु खदान कदापि नहीं था। अंकल ! मेरी-आपकी बहिर्दृष्टि तो स्वस्थ, सुन्दर शरीरके होनेको ही शुभ मान रही है, हमारी दृष्टि धन-सम्पत्तिकी अभिवृद्धिको ही परम स्नेहदान समझ रही है। हमारी दृष्टि प्रतिष्ठारूपी शूकरी-विष्ठाको ही प्रभुका वरदान मान रही है। परन्तु हम भ्रमित हो सकते हैं, प्रभु तो अनन्त ज्ञानके एकमात्र स्रोत हैं, वे तो भ्रमित नहीं ही हो सकते। अतः प्रभु जब हमारी धन-सम्पत्तिका हरण कर लेते हैं, तो जो धन-सम्पत्तिके भ्रममें हम गंदे कीचड़की पन्द्रह तहे लपेट चुके हैं, वे उसे ही धोकर स्वच्छ करते हैं।"

"पुलिस अकल ! सदा ध्यान रखें, चोरी, हिंसा, झूठ, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ, शराब – ये पन्द्रह महादोष, महापाप, मात्र धनसे ही उत्पन्न होते हैं। प्रभु देखते हैं कि यह मेरा लाडला लाल इन पन्द्रह बुराइयोंमें नीचेसे-ऊपरतक सन जायेगा, यदि इसके पास धनकी अभिवृद्धि हुई। बाह्यदृष्टि रखनेवाले सोचते हैं, 'हाय ! यह इतना दान करता था, इसके घरसे कोई खाली हाथ नहीं लौटता था, इसने अस्पताल, धर्मशालाएँ, अन्नक्षेत्र, पाठशालाएँ बनायीं, पर भगवान् भी कैसा निष्ठुर है ? इसको दर-दरका भिखारी बना दिया, इसकी सब प्रतिष्ठा धूलिमें मिलादी । परन्तु, इन सब, इस प्रकार सोचनेवालोंको यह कहाँ पता है कि इन अस्पतालों आश्रमों, धर्मशालाओ, पाठशालाओके कारण इसका गर्व, अहंकार, अभिमान बढता ही जा रहा था, जो इसे सत्यके प्रति अंधा कर दे रहा था । वे कहाँ इतना गहन विश्लेषण करते हैं कि दूसरोंसे पुण्यमें भी स्पर्द्धा करनेवाली इसकी प्रकृति इसे अन्तर्मुख होने ही नहीं दे रही थी, भव-प्रवाहमें बहाये ही जा रही थी, जिसका कहीं ओर-छोर ही नहीं था ? उन्हें क्या पता कि अपनेमें गुण-बुद्धि करके यह अन्य प्राणियोंको पुण्यमें, समृद्धिमें यशमें, बुद्धिमे, तुच्छ समझ रहा था और सियाराममय विश्वको अपनी मंदबुद्धिकी विष-बेलिसे लपेट

रहा था ।

"अहा ! स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी प्रभुको हमारे हितका कितना ध्यान है ? वे हमारी सपत्ति कभी नहीं हरते। हाँ, संपत्तिके रूपमें घोर विपत्तिका, जिसे हमने 'सपत्ति' सज्ञा दे दी है, उसका ही उनके द्वारा नाश होता है।"

"इसी प्रकार, प्रभु जब देखते हैं कि प्रतिष्ठाके छलसे घोर विष हमारे गले उतर रहा है, और विष भी अब अपना मरणान्तक असर करने लगा है, प्रतीकार किये बिना इस विषकी ज्वालामें हम भस्म ही हो जायेंगे, तब वे पहला यही काम करते हैं कि प्रतिष्ठाका प्याला फोड़ देते हैं। फिर अपमानके रूपमें विरोधी औषधि देकर चढे हुए जहरको उतार देते हैं। अकारण, निरर्थक वे हमारी प्रतिष्ठाका अपहरण कदापि नहीं करते। अंकल ! कभी-कभी हीरेको और चमकीला बनानेके लिये भी खरादपर चढ़ाया जाता है। राजा हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठाको स्थायी बना देनेके भावसे ही भगवान्‌ने घोर परीक्षाएँ लीं थी और उन कठोर परीक्षाओंसे उसकी प्रतिष्ठा प्रभुने परमोज्ज्वल एव स्थायी कर दी।"

हमारी और प्रभुकी दृष्टिमें आकाश-पातालका यही अन्तर है। हम देखते हैं – यह हमारे प्यारे बेटेका शरीर है। प्रभु देखते हैं – यह मेरे प्यारे शिशुपर लपेटा एक वस्त्र-मात्र है। अमुकका वस्त्र ऊपरसे देखनेमे तो सुन्दर दीखता है, परन्तु भीतर-ही-भीतर यह गलित कुष्ठके विषैले कीटाणुओंसे भर गया है। प्रभुकी परम शुभ दृष्टि इस बातपर उपयुक्त समयपर चली ही जाती है। बस, वे हमारा वस्त्र बदल देते हैं, पुराना उतारकर हमारी वासनानुसार नवीन वस्त्र हमपर लपेट देते हैं। अबोध शिशु, जिस प्रकार माता द्वारा नया वस्त्र बदलनेपर चीत्कार करता है, उसी प्रकार हम मचलते हैं, रोते हैं, परन्तु प्रभु, स्नेहमयी जननीकी तरह हमारा रोना सुन कर हँसते हैं।"

"पुलिस अंकल ! यदि आप इन सभी तथाकथित विपत्तियोके अवसरोंपर प्रभुको, उनके मगलमय हाथोंको महामंगलवर्षा करते देख लेते तो सदा-सदाके लिये आपको विपत्तिका दीखना ही बन्द हो जाता।"

"सच्ची बात यह है कि हमारी बुद्धि बहुत ही सीमित है। वह प्रभुके समग्र विधानको इष्ट और अनिष्ट – दो भागोंमें विभाजित कर लेती है। हम यह कदापि नहीं सोचते कि आज जो अनिष्ट है वह कल परम इष्ट बन सकता है। विचार करें, एक किसानके पास मात्र १०० किलो गेहूँ है। वह यदि अनिष्टके भयसे इसे बीजके रूपमें खेतमें बो देता है, तो इतना ही गेहूँ उसे वर्ष-दोवर्षका खानेका अन्न प्रदान कर देता है। इसी तरह प्रभुके समग्र विधानमें अमावस्याका तम आता ही है – चन्द्र ज्योत्स्नाको प्रकट करनेके लिये । ग्रीष्मका ताप आता

है – वर्षाकी शीतल धारासे पृथ्वीको सींचकर प्रफुल्लित कर देनेके लिये। पतझड आता है – नव बसन्तके लिये। विश्वमें यदि कुछ भी ध्वस होता है, तो अधिक सुन्दर नवनिर्माण के लिये ही होता है। हमारा जहाँ भी यदि अनिष्ट हुआ है, तो निश्चय ही मानलें, वह सबका सब हुआ है – मात्र हमारे परम इष्टकी योजना बनानेके लिये ही। रात्रिके पश्चात् दिन, बिना व्यतिक्रमके आवेगा ही।"

**पुलिस अधिकारी** - "स्वामीजी ! आपकी बातें सचमुच बहुत ही सकारात्मक हैं। परन्तु मैंने सच्चे गरीबोंकी झोंपडियाँ दुष्ट जागीरदारों द्वारा जलायी जाती देखी हैं, वहाँ कहीं भी उनके महल बनते नहीं देखे। गरीबोंको और गरीब, और अधिक गरीब होते देखे हैं। मैंने पिशाचों द्वारा गरीब-गुरबोंके ध्वंसकी विभीषिका देखी है, परन्तु कहीं भी मेरे सम्मुख पुनर्निमाणका दृश्य नहीं आया। सत्यशील लोगोंपर, ईमानदार अफसरोंपर, सती-साध्वी स्त्रियोंपर अनिष्ट तो बारबार आते सुनता हूँ, परन्तु पापियोंका ही इष्ट होते देखता हूँ, पुण्यात्मा जीव तो अनिष्टमें ही पिसते दीख रहे हैं।"

**तरुण सन्यासी** - "पुलिस अंकल ! हमारा जीवन अनादि-अनन्त इतिहासकी एक पोथी है। वर्तमान जीवन उसी पोथीका एक पृष्ठ है। यदि इस सारे पृष्ठपर जलनेकी, ध्वंसकी, अनिष्टकी कथा लिखी है, इनके ही चित्र यदि हमारे एक जीवन-पृष्ठपर अकित हैं, तो आवश्यक नहीं इसी पृष्ठपर पुनर्निर्माण और इष्टकी सुखद गाथा भी लिखी ही जाय। ध्वसका वर्णन पूरा होनेपर ही तो निर्माणका प्रारंभ होगा। यदि हमारा यह जीवन ध्वंसाध्याय ही होगा, तो इस पृष्ठमें न सही, अगले जन्मोंमें या मरणानन्तरकी गतियोंमे ही सही, नवीन, नूतन निर्माण होगा अवश्य ही। यह हो नहीं सकता – ध्वंस ही ध्वंस हो। ध्वस निर्माणका ही होता है। जहाँ निर्माण ही नहीं वहाँ ध्वंस सभव ही कहाँ है ? अतः निर्माण तो निश्चय होगा, होगा, अवश्य होगा ही। किसी भी प्राणीके जन्मके पश्चात् ही, विपत्तियाँ आती हैं और सपत्ति भी आती है, और उसका नाश भी होता है।"

"पृष्ठके उलटनेपर हमें निश्चय ही दीख जायेगा कि जगन्नियन्ताके क्रममें अनिष्टके पश्चात् इष्टकी प्राप्तिवाले अध्याय, बिना व्यतिक्रमके अंकित होंगे ही। फिर यह इष्ट-अनिष्टकी भावना देहादि अनात्म-पदार्थमें अभिनिवेश होनेसे ही है।"

"मानव-जीवन तो हमें मिला ही इसीलिए है कि हम दुत्कार एवं सत्कारकी ओर न देखकर पुरस्कारदाताको पहचान लें। सत्कार तो क्षणभंगुर है, अनित्य है। वह एक दिन दुत्कार करायेगा ही, अतः हमारी दृष्टि कहीं इन

दोनोंसे हटकर सत्कारकर्ताको पहचान ले, प्रयत्न यही करना है।"

"अंकल ! बुद्धिको सागरके वक्षस्थलपर आते ज्वार-भाटेपर केन्द्रित नहीं करें। यह निश्चय है कि भाटेके पश्चात् ज्वार आयेगा, परन्तु वह भी आवेगा जानेके लिए ही वह हमे अखण्ड, शाश्वत शान्ति कदापि नहीं देगा। यदि ज्वार-भाटेसे दृष्टि हटाकर हम कहीं सागरके भीतर प्रवेश करके देख पाते, तो हमें दिखता इन तरंगोंसे कुछ ही दूर नीचे जानेपर समुद्रका गर्भ सर्वथा अखण्ड, शान्त है। ठीक इसी प्रकार ऊपर तो इस विश्वमें निश्चय ही विषयोंके आवागमनकी आँधी चल रही है, परन्तु यह विषयोंकी अथाह लहरोंकी उछल-कूदवाला विश्व जिस परमात्माके आधारपर अवलम्बित है, उस आधारमें क्षोभ नही, विकलता नहीं, पूर्ण शान्तिका अखण्ड साम्राज्य है।"

"प्रभु ! पूर्ण शान्त हैं, पूर्ण प्रसन्न हैं, वे शान्तिरूप ही हैं, अमृतस्वरूप ही हैं, प्रभु रसस्वरूप, प्रेमस्वरूप हैं । उनको पाये बिना स्थायी रस-भाजन आप कदापि नहीं हो सकते ।"

**पुलिस पदाधिकारी** - "स्वामीजी ! आपकी अनमोल अमृत-बाते तो हम भले सुन लें, जबतक आपकी संकल्प-परिधिमे बैठे हैं, आपके विचार-वर्त्तुल हमे प्रेम, रस, आदि शब्दोके सब्जबाग भले दिखा दें, यहाँसे जाते ही, हमारे लिये तो वही अपराध जगत् खडा हो जायेगा। चोरोका चिन्तन करो, मारो-पीटो, चोरी कबूल कराओ, अफसरोंकी जी-हुजूरी करो, उनकी उलटी-सीधी, अच्छी-बुरी माँगें पूरी करो। क्या यह संभव है कि हमारा दुष्ट चचल मन एकाग्र हो पावे, और हम आपके परमात्माको छू सकें ? हमारे पास तो ऊपर अशान्ति, नीचे पाप, दाहिने कलह, बायें क्लेश, बाहर नरक और भीतर वासनाएँ ही वासनाएँ हैं। हमने तो आपके मुखसे ही ये अमृत-विचार आज अभी सुने-भर हैं। क्या यह सभव है, हम मनको एकाग्रकर उसके भीतर प्रवेश कर पावें, परमेश्वरको छू लें, हमें यह आपकी बतायी पूर्ण शान्ति मिल जाये ?"

**तरुण सन्यासी** - "चाचा ! अवश्य संभव है। वे शान्तिस्वरूप प्रभु आपकी बाट देख रहे हैं। वे आपके पथपर नयन बिछाये हैं कि कब आप बाहरकी दृष्टि समेटकर भीतरकी ओर अपनी गति कर लें। जिस वेग एव शक्तिको खर्च करके हम बाहरके विषयोंको पानेकी दौड लगा रहे हैं, वह हमारा शक्ति-व्यय, हमारी उडान, दौड, कहीं भीतरकी ओर, जहाँ हमारे अन्दर प्रभु नित्य विराजित हैं, हो जाय तो निश्चय ही मान लीजिये, अमृतस्वरूप प्रभुसे हमारा मिलन हो ही जाय।"

"चाचा ! पहले बुद्धिमे भगवान्‌को निश्चयपूर्वक पूरा भर लीजिये। सब

प्राणियोमें एक मेरे इष्टदेव ही छिपे-भरे हैं, वे सबकी आत्मा हैं, वे सर्वत्र व्याप्त हैं, वे मेरे इष्ट सब जीवोके अन्तरात्मा हैं, वे सम्पूर्ण कर्मोंके अध्यक्ष हैं, सब भूतोके अधिष्ठान हैं, सबके साक्षी हैं, ब्रह्मासे लेकर कीट-पर्यन्त सबको चेतना देनेवाले मेरे इष्ट परमात्मा ही हैं। वे मेरे इष्टदेव मेरे शरीरमे नखसे लेकर शिखा-पर्यन्त अनुप्रविष्ट है। भूत, वर्तमान, एव भविष्यका सब जगत् मेरे परम-आत्मीय परमात्माका ही तो स्वरूप है।"

"चाचा ! इस प्रकार जब बुद्धिमें प्रभुके, हमारे इष्टके स्वरूपका निश्चय हो जाय, तब भी उसके मननकी, बार-बार स्मरणकी आवश्यकता रहती ही है, अन्यथा विषयोके बाजारमे दौडते हुए मनके द्वारा पथका भूल जाना साधारण बात है। हम बार-बार मनन करे, क्रिया-जन्य रस और कर्मसे तो हमें आजतक पूर्णताका अनुभव हुआ नहीं। हम बचपनसे अबतक, सारे जीवन, जागनेसे सोनेतक अनवरत कर्म करते-करते बूढे हो गये, क्या मिला ? कर्मसे मात्र भोग ही मिल सकता है, और भोगसे तृप्ति होती ही नहीं। विचार करिये, कर्म करते-करते आप ऊँचे पदाधिकारी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस बन गये, अब और इन्सपैक्टर जनरल हो जावेगे, तो भी क्या होगा ? क्या वर्तमान आई.जी तृप्त हैं, कृतकृत्य हैं ? यदि आप महाराजा गगासिह हो तब भी कर्मसे क्या तृप्ति और पूर्णता मिलेगी ? यह रास्ता ही बीहडकी ओर जाता है। इस पथमें सुख, शान्ति, पूर्णता, कृतकृत्यता है ही नहीं । इस प्रकार अपना सोच बनाते हुए प्रभुके स्वरूपका खूब मनन करें।"

"प्रभु अनित्य पदार्थोंमे नित्य-विराजित हैं, चेतनोंमे पूर्ण चैतन्य वे ही हैं। वास्तवमे ही प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, हो सकती ही नहीं। हमे जो कुछ भी अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, शत्रु-मित्र, इष्ट-अनिष्ट दीख रहा है, सभी रूपोमे जो अन्यकी प्रतीति हो रही है, वह केवल इसीलिये है कि झूठे ही हमने अन्यकी सत्ता मानली है। जैसे स्वप्नके समय हम और हमारा मन अकेले होते हुए भी एक विचित्र सृष्टि कर लेते हैं, जाग्रत् अवस्थामे मनोरथ करते समय जब हम मनोरथोके प्रवाहमे बहने लगते हैं, तो कितना विचित्र ससार खडा हो जाता है। मनकी कल्पनासे ही तो यह स्वप्नकी सृष्टि एव मनोरथका ससार प्रतीत होता है । यद्यपि इस स्वप्न एव मनोरथके ससारमे सर्वथा सब ओर हम-ही-हम भरे हैं। ठीक इसी प्रकार, इस जगत्मे प्रभु-ही-प्रभु भरे हैं परन्तु प्रभुके सकल्पसे प्रभु ही अनेक हुए हमे दिखते हैं। अनन्त लीलामय प्रभु ही शत्रु-मित्र, अपने पराये, इष्ट-अनिष्ट, भला-बुरा, राग-द्वेषके रूपमे हमारे सम्मुख व्यक्त होकर हमारे विश्वासकी परीक्षा ले रहे हैं। सत्ता है एकमात्र

उनकी ही। परन्तु वे लीलामय ही अनेक मुखौटे लगाकर हमारे सामने अनेक होकर आ रहे हैं। इसीलिए सबसे सीधा उपाय है, कि हम अन्यका संकल्प-विकल्प करनेवाले हमारे मनको ही प्रभुने निरुद्ध कर दें। मन जैसे ही उनमें निरुद्ध होगा, फिर एकमात्र उनके सिवा किसीकी सत्ता बचेगी ही नहीं। फिर हम पूर्ण निर्भय, प्रभुकी गोदमें, उनके अटल-अखण्ड आश्रयमें उनके पूर्ण शरणागत होंगे। मन प्रभुमें तन्मय हुआ नहीं कि इन्द्रियाँ भी अपने आप प्रभुमें लग जावेंगी।"

"चौबीस घण्टोमें एक घण्टे भी यदि हमारा मन तन्मय हो गया, और बुद्धिने ठीक अटल निश्चय कर लिया कि अनन्त ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे थपेड़े देनेवाली लहरें कुछ नहीं, मात्र समुद्र हैं, बस, फिर हमारे नेत्रोंके सामने जो भी रूप आवेगा, हमारा मन हमें याद दिला ही देगा – "हमारे प्रभुका ही यह रूप है, हमें प्रभुके ही दर्शन हो रहे हैं।" कानोंमें कटु-मधुर, अनुकूल-प्रतिकूल, आदर-अनादरका कोई भी शब्द पड़ा नहीं, हमें ठीक मन याद दिला देगा – ये तो हमारे प्रभु ही बोल रहे हैं, हमें प्रभुके ही शब्द सुनाई पड रहे हैं। नासिकामें किसी प्रकारकी गंध आवे, हम अनुभव करेंगे कि इस गंधके रूपमें प्रभु ही व्यक्त हो रहे हैं। कैसा भी स्पर्श प्राप्त होगा, हमारा मन हमें यह याद दिला ही देगा कि हमें प्रभुका ही स्पर्श प्राप्त हो रहा है। रसना जिस रसका भी आस्वाद ले, मन हमें यह भान करा देगा कि इस रसके रूपमें हमारे प्रियतम प्रभु ही आस्वाद्य बने हुए हैं।" बस, फिर बुद्धि एवं मनके साथ हमारी इन्द्रियाँ भी प्रभु-परायण हो जावेंगी।"

"निश्चय करें – प्राथमिकता हमें बुद्धिको ही देनी है। यदि बुद्धि ही शरीरवादी होगी, तो नींव कच्ची रहनेसे महल कभी नहीं खड़ा होगा। बुद्धि यह दृढ़ निश्चय कर ले, कि चित्स्वरूप प्रभुकी ही सर्वत्र सत्ता है। फिर मन प्रभुके गुणोंका, रूपका, तत्त्व-रहस्यका विचार मनन करता उसमें निरुद्ध हो जाय, अब इन्द्रियाँ भी उनके ही अनुगत हो उठें, बस, हमें अखण्ड परमात्माकी सेवाका अवसर मिल जायेगा।"

"एक बात सदा ध्यानमें रखें – जिसके हृदयमें किसीसे कुछ भी लेनेका, कामनाका, चाहका भाव है, वह सेवा नहीं कर सकता। अतः पहले हमें अपने अन्दर प्रभु पूर्ण भरे दीखेंगे, जो पूर्णकाम हैं, तभी हम अन्य किसीकी भी सेवा करनेके पात्र होंगे। प्रभुके अतिरिक्त तो अन्य कोई है नहीं। अतः प्रभु जब खूब ठोक-बजाकर हमारी पूर्णकामताको जाँच लेंगे तभी हमें अपना सेवाधिकार देंगे।"

"चाचा ! जीवन ज्ञान, भाव, और क्रिया इन तीनोंसे मिला हुआ है। अतः हमारे द्वारा इन तीनोंका पूर्ण सदुपयोग होना चाहिये। ज्ञान-शक्ति यह अनुभव

करे कि मेरा नाशवान्, दुःख, रोग, भय, अभावके प्रतिरूप इस शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा कोई व्यक्तित्व नहीं है। मेरा प्रभुसे अखण्ड, नित्य, अविनाशी, अजस्र, अविच्छिन्न सम्बन्ध है और वे ही मेरे व्यक्तित्व हैं। भाव-शक्तिसे यह धारणा हो कि प्रभु पूर्णकाम, सर्वत्र, सर्वशक्तिमान् और सर्व-सुहृद हैं। वे मेरे हैं और मुझसे एकमेक हैं, अतः मैं किसीके दुःखका हेतु कभी नहीं होऊँ। अब क्रियाशक्ति भले ही संसाररूप प्रभुकी सेवामें लग जाय, किन्तु यह सावधानी एव जाग्रति बनी रहे कि जिनकी भी सेवा मुझसे हो रही है, वे पूर्णरूप प्रभु ही हैं। यह प्रभुकी मुझपर पूर्ण कृपा है कि उन्होंने मुझे सेवाका अवसर दिया। निश्चय ही प्रभुकी सांसारिक मूर्तियोंकी सेवासे मेरा कल्याण हो ही जायेगा। यह होते ही निश्चय ही मानिये, हमारी प्रत्येक क्रिया ही आनन्द एवं कृतकृत्यतारूप फल देनेवाली हो जायगी।"

"फिर हमारी वाणी प्रभुकी सेवा-ही-सेवा करेगी। हमसे यदि चिथड़ा लपेटे राहका भिखारी मिलने आवेगा, तब भी हमें यही अनुभव होगा – 'प्रभु ही पधारे हैं।' हम आगे बढकर अमृतमयी वाणीसे उनका सत्कार करेंगे। प्रभु चाहे कोई भी वेष धारण किये हों, हैं तो सम्राटोंके सम्राट् ही। बस, सम्राट्‌की सेवा उनके अनुरूप ही होनी चाहिये। यदि हमारी आँखें प्रभुको भिखारीके रूपमें ठीक देखती रहीं तो हमारे आभ्यन्तरिक आदरभाव और अपनत्वमें तो कहीं कोई तिलभर भी उनके प्रति अन्तर आ नहीं पावेगा। बस, यह होते ही परीक्षामें हम उत्तीर्ण हो जावेंगे और प्रभुकी कृपासे उस भिखारीमें ही हमें प्रभुका वह सच्चिदानन्दघनं, अप्राकृत सौन्दर्य-माधुर्यसे ओत-प्रोत रूप दीख जायेगा कि हम निश्चय ही सिद्ध महात्मा हो जावेंगे।"

**पुलिस अधिकारी** - "स्वामीजी ! निश्चय ही अब तो मुझे ये पुलिस-वर्दीके बटन खोलने ही पड़ेंगे। यह सब आप-जैसे महात्माके नित्य-संग और जागरूक अनुशासनके बिना संभव नहीं है।"

**तरुण सन्यासी** - "चाचा ! वर्दीके बटन नहीं, संसार और शरीरको, बिना हुए ही सत्य समझनेकी ग्रन्थियाँ जो आपने अपनी मन-बुद्धिमें गूँथ रखी हैं, उन्हें खोल दीजिये। संसार और शरीर आजके कुछ ही विगत वर्षों पूर्व नहीं था, और कुछ ही विगत वर्षों पश्चात् भी यह नहीं रहनेवाला। यह तो वर्तमानमें मात्र मध्यमें ही भास रहा है। यह वर्तमानकी मिथ्या प्रतीतिभर है। अतः इसका निर्वाह प्रारब्धानुसार करते जाइये। इसे सत्य मानकर इसके पीछे पागल मत होइये। जो आदि में थे, अन्तम भी रहेगे और मध्यमें भी हैं, परन्तु अपनी मायासे मध्यमें संसारवत् दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन अपने परम प्रियतम प्रभुको क्षण भरके लिये

भी विस्मृत मत करिये, यही बटन (ग्रन्थि) खोलना है। आप जिस ग्रन्थिमें उलझे हैं, उस भूल-भूलैयासे बाहरभर आना है।"

"चाचा! आप सभी स्वरूपतः पूर्ण परमात्मा थे, पूर्ण-पूर्ण परमात्मा ही हैं, एवं इस अखण्ड सत्यसे कभी भी कोई विचलित हो पावे, यह सम्भव ही नहीं है। मुझ अकिंचन भिक्षुकका सभी अभिवादन स्वीकार करें।"

सभी अधिकारीगण हँसते हुए, अतिशय श्रद्धा-भावसे पूर्ण समाधान प्राप्त करते हुए, संतुष्ट होकर विदा लेते हैं।

*(यह सारा प्रसंग तत्कालीन मुंसिफ श्रीगोपाल आचार्यकी व्यक्तिगत डायरीसे उद्धृत है। कतिपय लोगोंने मिलकर इसे चूरूमें नोट किया था। यह डायरी उनकी मृत्युके बीस-बाईस वर्ष पश्चात् अति जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें मुझे प्राप्त हुई थी। पन्ने इतने गल गये थे, दीमकों द्वारा भी उन्हें मध्यमें क्षत कर दिया गया था; अतः अनेक स्थलोंको पू. राधाबाबाके प्रकाशित लेखोंसे पूर्ण करना पड़ा है। - साधुकृष्णप्रेम)*

---

# महाभाव-दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

## द्वितीय-खण्ड

## द्वितीय अध्याय

### प्रवचन-उपदेश

*विषय :*

१. हम भगवान्‌के हो जावें
(ईडन-गार्डन्स, कलकत्ता)

२. स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः
(गोविन्द भवन, कलकत्ता)

## *सार-संग्रह*

*(इन्हीं उपदेशोंसे)*

*(१)*

*जैसे ही हमें अनुभव हो जायेगा कि हम तो भगवान्‌से एकमेक हैं, शरीरसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। जैसे सर्पकी केंचुलीका त्याग करदेनेसे सर्पकी कुछ भी क्षति नहीं होती, उसी प्रकार शरीरकी क्षति एवं नाशसे हमारा बाल भी बाँका नहीं होगा। अमृतस्वरूप भगवान्‌के शरणागत हमारा मौत भला क्या बिगाड सकती है ?*

x x x x x

*हम भगवान्‌के हैं - इस अपनेपनके सम्मुख योग्यता, पात्रता, अधिकार आदि कुछ भी महत्व नहीं रखते । यह सम्पूर्ण साधनोंका फल है। जिसे भगवान्‌की आत्मीयता पर विश्वास है, वह सदा मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर चलता है और मृत्यु उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती।*

x x x x x

*'मैं भगवान्‌का हूँ' यह तथ्य है। यह हमारे मानने, नहीं माननेकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्‌से हमारा संबंध अटूट, अखण्ड नित्य है।*

*(२)*

*परमात्माको प्राप्त करनेकी कोई अवधि नहीं है। जैसे ही मनुष्य शरीर एवं इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त हुआ, असत्, नाशवान्, परिवर्त्तनशील पदार्थोंसे उसका राग निवृत्त हुआ, बस, वैसे ही उसी क्षण वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।*

x x x x x

*हमें परमात्माकी नित्य सब समय प्राप्ति है। परमात्माको प्राप्त करनेमें शरीर एवं इन्द्रियोंकी किसी भी चेष्टाका आश्रय लेनेकी सर्वथा आवश्यकता नहीं है।*

x x x x x

*यदि हम सावधान होकर जो हमें छोड़ रहे हैं, उनके रागसे निवृत्त हो जावें, तो बस, हम परमात्मासे इसी क्षण एक हो जावेंगे, क्योंकि परमात्माके सिवा सबकुछ स्वतः ही हमें छोड़ रहा है। हमें उसे छोड़नेमें किसी भी चेष्टा, प्रयास, श्रम एवं साधन कुछ भी करनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है।*

x x x x x

*भगवान्‌ने जीवको मनुष्य जन्म देकर जन्म-मरणके प्रवाहसे निकालनेका अचूक अवसर दिया है, साथही अपनी प्राप्तिका पूरा अधिकार भी दिया है।*

x x x x x

*हम चाहें तो मात्र बारह मिनट अर्थात् आधी घडीके सद्विचारोंसे अपना जीवन बदल सकते हैं एवं भक्ति और ज्ञानकी सर्वोच्च अवस्था भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान्‌से उच्च न तो कोई पद है, न ही कोई उच्च स्थिति (गति) ही संभव है।*

।। श्रीराधा।।

उपदेश संख्या - एक (१)

# हम भगवान्‌के हो जावें

*उपदेशक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

(भविष्यमें – परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

*प्रवचन लिपिबद्ध करने वाले :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्र एवं उनके सहयोगी अध्यापकगण

| *स्थान :* | *दिनांक :* | *प्राप्ति-सूत्र :* |
|---|---|---|
| ईडनगार्डन्स, कलकत्ता विक्टोरिया मेमोरियलके निकटस्थ स्थानमें | सत्यतिथि अज्ञात अनुमानित फरवरी १९३८ | श्रीदेवदत्तजीमिश्रके पत्र-संग्रहकी कापी। |

## आलोक

*सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका कलकत्ते आये हैं। उनके साथ ही स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज एवं स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज भी कलकत्ता आये हुए हैं। सत्संगका आयोजन किया गया है। प्रातःकाल सेठजी श्रीजयदयालजी स्वयं, गोविन्दभवन कार्यालय, बाँसतल्ला गलीमें सत्संग कराते हैं। मध्याह्नको उसी स्थानपर स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका सत्संग होता है। सायंकालीन सत्संग ईडनगार्डन्समें स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका होता है। आज रविवार है। हजारों लोग सत्संग सुनने बैठे हैं। एक ओर पुरुषों एवं दूसरी ओर महिलाओंके बैठनेकी व्यवस्था है। एक लकड़ीके तखतका मंच है, जिसमें पूज्य स्वामीजीका आसन लगा है।*

## पूज्य श्रीस्वामीजी द्वारा मंगलाचरण एवं प्रवचनका प्रारंभ

*वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।*
*पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।*

*पराकृतनमद्‌बन्धं परं ब्रह्म नराकृति ।*
*सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ।।*
*वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।*
*देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।।*
*कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं ।*
*नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम् ।।*
*सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली ।*
*गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपाल चूड़ामणिः ।।*
*सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।*
*तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।*

परमात्मस्वरूप बन्धुओं और माताओं ! मुझ अकिंचन साधुका सभीके चरणोंमें प्रणाम । हम सभी यहाँ सत्संग करने आये हैं। 'सत्संग' दो शब्दों 'सत् एवं 'संग'के योगसे बना है। सत्‌का अर्थ है सत्य अथवा परमात्मा एवं संगका अर्थ है, उसे अपना मानना, उससे मेल करना ।

श्रीमद्भगवद्गीतामे भगवान् स्वयं अपने मुखसे इन तीनों शब्दों – *'ॐ', 'तत्', एवं 'सत्'* को अपने वाचक नाम बतलाते हैं।

*"ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत : ।* (१७/२३)

अर्थात्, ब्रह्म (परमात्मा) को स्मृतियोमे तीन नामो 'ॐ', 'तत् एवं 'सत् से निर्दिष्ट किया गया है"

तो यहाँ हम सभी एकत्र हुए हैं, सत्स्वरूप परमात्माका संग करने उससे मेल-मिलाप, प्रेम करने, उसे समझने, पहचानने और उस परमात्मासे हमारा सम्बन्ध क्या है, इसे जानने।

'सत्' शब्द अस्तित्ववाची है। भगवान् श्रीमद्भागवतमे श्रीब्रह्माजीको उपदेश देते हुए कहते हैं – "सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था, न सूक्ष्म और न ही इन दोनों-स्थूल एवं सूक्ष्मका कारण अज्ञान था , आज भी जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ भी मैं ही मैं हूँ। और इस सृष्टिके रूपमें भी जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, अनंत नक्षत्र-मण्डल, काल, कर्म, देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग एवं जीव-समुदाय और उनका अनन्त माया व्यापार दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सभी मैं ही मैं हूँ।"

भगवान् कहते हैं कि "मुझ परमात्मामे ही सब कुछ होनेपर भी जो घर मकान, दुकान, व्यापार, भाई-बन्धु, पत्नी-पुत्र आदि अनेक सत्ताये दीख

रही हैं, और मुझ भगवान् या परमात्मामें ही पूरी तरह स्थित होते हुए भी प्राणी कह बैठते है - "कहाँ है परमात्मा, किसने उसे देखा है ?" "यह मेरी प्रतीति नही होना, मात्र मेरी माया है।" तो सचमुच हम सभी भगवान्‌की मायासे ही यह सर्वथा सर्वांशमें भूल बैठे हैं कि हमारा भगवान्‌से क्या सम्बन्ध है ?

यह मायाका प्रवाह इतना प्रबल है कि हम सभी पहले तो अपना सम्बन्ध मान बैठे हैं, नाशवान्, क्षणभगुर, जड़, मलिन शरीरसे, फिर इस जड, मलिन शरीरके निर्वाहके लिये जुड़ गये हैं – भूमिसे, भवनसे, पत्नी-पुत्रसे, धनसे, मान-प्रतिष्ठासे, और तब इन सभीमें इतने लिप्त हो गये हैं कि स्वप्नमे भी हमे परमात्मासे – जो हमारे निकट-से-निकट है, अपने सम्बन्धकी झलक भी नही मिलती।

हममे कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अपनेको पडित एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता समझते हैं। वे वस्तुत ऐसे विद्वान् हैं भी। वे ज्ञानके प्रकाशमें अपना सम्बन्ध भगवान्‌से क्या है, यह जानते हैं। यदि मैं उनसे आप सभी लोगोके सम्मुख प्रवचन करनेको कहूँ, तो संभव है, मुझसे कितना ही श्रेष्ठ वे इस विषयमें प्रवचन भी कर देंगे, परन्तु इतनी समझ रखते हुए भी उनकी बुद्धि अपने उस ज्ञानको मन एव व्यवहारमे मान्यता नहीं देती । चाहे हम कुछ भी बोलें, कहे, पढें, अथवा सुने, हमारी मान्यता शरीर एवं शरीरके भोगोंमें ही फँसी रहती है। अत जब हम इस परमात्म-ज्ञानको मान्यता ही नहीं देते, तो भले ही वह श्रेष्ठतम सन्तों और शास्त्रो द्वारा हमे प्राप्त हुआ है, हमारी पर्याप्त मान्यताके अभावमें वह ज्ञान हमारे लिये महत्वपूर्ण और लाभदायक नहीं हो पाता। हमारी विषयोमे महत्त्व-बुद्धि होनेसे वह नगण्य और नकारात्मक ही हो जाता है।

चाहे कितनी ही बड़ी विद्वत्ता हो, चाहे कितना ही पढा-सुना जावे, ज्ञान तभी सफल होता है, जब वह हमारे द्वारा वरण किया जाता है, माना जाता है और वह हमारे मन एव इन्द्रियोंके व्यवहारमे उतरता है। जब हम अपने व्यवहारमें आन्तरिक मान्यताके रूपमें अज्ञानको, शरीर, इन्द्रियोके भोग, और क्षणभगुर, दु खालय ससारको ही वरण किये रहते हैं, तो हमारा मात्र वाचिक-ज्ञानी होना सर्वथा निरर्थक ही हो जाता है।

शास्त्रोंमें इस विषयमें एक अतिशय रोचक कथा आती है। राजा उत्तानपाद जानता था कि सुनीति मेरी पत्नी है। वह यह भी भलीप्रकार जानता था कि ध्रुव मेरा होनहार सद्गुणी बड़ा पुत्र है। आगे जाकर वही युवराज एवं राजा होनेका अधिकारी भी है। परन्तु भली प्रकारसे यह जानते हुए भी वह मनसे इसे मान्यता नहीं देता था। वह मान्यता अपनी दूसरी पत्नी सुरुचि एवं उसके पुत्र

उत्तमको ही देता था। इसीलिये उसने सुरुचिकी इच्छाका आदर करते हुए ध्रुवको अपनी गोदमें नहीं बैठाया और उत्तमका सत्कार किया। ठीक, हमारे साथ भी यही घटित हो रहा है। यह जानते हुए भी कि हम परमात्माके और परमात्मा ही मात्र हमारा है, हम शरीर एवं भोगोंको महत्व देकर उन्हें ही अपना रहे हैं और परमात्माका तिरस्कार कर रहे हैं। श्रुति कहती है -

*"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न बहुना श्रुतेन, यमेवैष आत्मा वृणुते तेन लभ्यः ।।"*

अर्थात्, कोई आत्मविषयमें बहुत पढ़ा-लिखा पंडित हो जाए तो उसे यह परमात्मा नहीं मिलता, कोई बहुत ही रोचक शब्दोंमें इस आत्माका व्याख्यान दे सके, उस प्रवचनकर्ताको भी परमात्मा मिल जाते हैं, सो बात भी नहीं। यदि कोई उसे, घण्टों सुनता रहे, उसे भी यह नहीं प्राप्त होता, यह तो उसीको प्राप्त होता है, जो इसे स्वीकार करता है, वरण करता है, और जो इसे वरण करता है, उसे ही यह भी वरण करता है।

तो, हमारे सत्संग करनेकी प्राथमिक उपादेयता यही है कि परब्रह्म परमात्मा, अथवा भगवान्‌से हमारे सम्बन्धको हम भली प्रकारसे जानकर उन्हें हम वरण कर लें ।

जहाँतक भगवान्‌के स्वभावकी बात है, वे यह अच्छी प्रकारसे जानते हैं कि हम उन्हें सर्वथा अपना नहीं मानते, हम आपातत धन, पुत्र, परिवार, शरीरमें ही दिन रात उलझे हैं, फिर भी वे हमारे प्रति अपार आत्मीयता रखते है एव श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने मुखसे कहते हैं :-

*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।*
*मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।१५-७।।*

अर्थात्, "तीन लोक एवं चौदह भुवनोंमें मेरा ही सनातन अंश आत्मा जब प्रकृतिमें स्थित मन एवं इन्द्रियोको अपना मान लेता है, तो वह 'जीव' संज्ञक हो जाता है।"

भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि हम सभी उनके ही अंश हैं, परन्तु प्रकृतिके कार्य – शरीर, प्राण, मन एवं इन्द्रियोंके साथ अपनी एकता वरण कर लेनेसे उनका अंश होते हुए भी हम जीव-संज्ञक हो गये हैं। भगवान्‌के कथनका यही रहस्य है कि हमारा जीवपना सर्वथा ही बनावटी है। वह हमारी मात्र भ्रमपूर्ण मान्यताके कारण ही है, और हमारा परमात्मापना पूर्णतया सत्य है। भगवान्‌की हमारे प्रति आत्मीयता अतिशय महान् हितकारी, अखण्ड, नित्य रहनेवाली एवं स्वतःसिद्ध है।

जैसे सूर्यसे उसकी किरणें, अग्निसे उसका तेज, जलसे सरसता, पृथ्वीसे

स्पर्शशक्ति एव पृथ्वीसे गन्ध पृथक् की नहीं जा सकती, इसी प्रकार परमात्मासे हम पृथक् किये नहीं जा सकते। प्रकृति, मन एव इन्द्रियोंसे हमारी जातीय एकता नहीं है। हमने अज्ञान, मोह अथवा मायासे यह एकता वरण कर ली है। भगवान् हमारे इस अज्ञानको भली प्रकार जानते हैं। इसीलिए हमारे द्वारा उन्हें सर्वथा भुला दिये जाने पर भी वे हमें नहीं भूलते ।

हम सम्बन्ध बनाते हैं – पत्नी, पुत्र एव परिवारसे, धन, सम्पत्ति एव यशसे, परन्तु जिन-जिनको हम अपना मानते हैं, वे मात्र प्रयोजनसे ही हमारे रहते हैं। ये एक क्षणमें ही हमे छोडकर चल देते हैं, उनके छोड़ देनेपर उनके अभावमें हम विकल होते हैं, परन्तु हमारी विकलताकी उन्हें सर्वथा ही परवाह नहीं रहती।

शास्त्रोंमें वर्णन आता है कि राजा चित्रकेतुका जब इकलौता पुत्र मृत्युको प्राप्त हो गया, तो वे पुत्र-शोकके कारण चेतनाहीन हो गये। उन्हें कोई भी ढाढस, सन्तोष नहीं दिला पा रहा था। वे अपने पुत्रकी लाशके पास शोकग्रस्त मुर्देके समान निपतित थे। ऐसी शोक-विह्ल दशामें उनके पास श्रीनारदजी एव श्रीअंगिरा ऋषि आये। इन ऋषियोंने शोकाकुल राजाको उठाया और तदनन्तर उन्हें आश्वस्त करनेके लिये मृत राजकुमारके जीवात्माको राजाके सम्मुख प्रत्यक्ष बुला लिया। देवर्षि नारदजीने उस जीवात्मासे कहा – "भाई ! देखो, तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे वियोगसे अत्यंत शोकाकुल हो रहे हैं। तुम मेरा कथन मानकर इस राजकुमारके मृत शरीरमें पुन आ जाओ और पिताके दिये स्नेहको भोगो।" इसके उत्तरमें जीवात्माने अपने बिलखते माता-पिताको क्या उत्तर दिया, तनिक ध्यान देकर सुनो । जीवात्माने कहा – "देवर्षिजी ! जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रयकी वस्तुऐं किसी एककी नहीं होतीं, एक व्यापारीसे दूसरे व्यापारीके पास आती-जाती रहती हैं, वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता है, और मृत्युको प्राप्त होनेपर दूसरेके पास चला जाता है। किसीका किसीसे भी स्थायी सम्बन्ध सर्वथा नहीं मानना चाहिये। मैं, जीव तो नित्य अहकाररहित हूँ। मैं जबतक जिस शरीरमें रहता हूँ, तभीतक उसे अपना मानता हूँ। मेरा न तो कोई अत्यत प्रिय है, न अप्रिय है। न ही मेरा कोई अपना है, एवं न ही पराया।"

इस जीवात्माकी उक्तिसे राजा चित्रकेतुकी आँखें खुल गयीं। उसे सत्य समझमें आ गया। उसका पत्नी-पुत्र-परिवारसे मोह-बन्धन कट गया। उसका पुत्रके मरनेका सम्पूर्ण शोक जाता रहा।

हमारे सत्सगमें आनेका प्रयोजन यही है कि हमारे हृदयमे भी सच्चे

ज्ञानका प्रकाश हो, हमारे मोहका, अज्ञानका नाश हो, जिस मोहके कारण हमने मिथ्या, क्षणभगुर, दु खालय ससारकी वस्तुओसे अपना सम्बन्ध मान रखा है।

भगवान्का श्रीभगवद्गीतामे ***"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"*** कहनेका यही प्रयोजन है कि हम इस भावको अतिशय दृढतापूर्वक पकड ले कि हम पूर्णतया भगवान्के हैं और भगवान्-मात्र हमारे हैं। भगवान्मे हमारे प्रति विशुद्ध सत्वमयी करुणा है। भगवान् हमारे अल्पजीव हो जाने एवं दु खालय, क्षणभंगुर शरीरसे एकात्म हो जानेके कारण होनेवाले भय, शोक, चिन्ता, सन्देह, अभाव, रोग, पीडा, मृत्यु आदि दोष मूलसे मिटाना चाहते हैं। यह सत्य है कि ज्योंही हमारी मन-बुद्धि भगवान्से अपने सम्बन्धको दृढतापूर्वक पकड़ लेगी, हमारा मन भगवान्के अभय, विभु, आनन्दप्रद आश्रयको ज्योही दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लेगा, हमारे भीतरसे मरनेका भय, जीनेका मोह, करनेका राग, पानेका लालच सर्वथा, सर्वांशमे समाप्त हो जायेगा।

## सर्वथा एवं सर्वदा निर्भयताकी प्राप्ति

'हम भगवान्के अश हैं', हमारी मन-बुद्धिके द्वारा यह ठीक प्रकारसे दृढतापूर्वक पकडते ही जो सबसे बडा अनमोल धन हमें मिलता है, वह यह है कि हम सर्वथा, सर्वांशमे ही पूर्णतया निर्भय हो जाते हैं।

सबसे बडा भय तो हमें मृत्युका होता है। महर्षि पतञ्जलिने मृत्युको सबसे बडा क्लेश माना है, यह भय बडे-बडे विद्वानों, शास्त्रके पंडितोंको भी होता है।

दूसरा भय हमें पाप-कर्मोका होता है। हमें अनुभव होता है, हमारी वृत्तियाँ तो अभीतक शुद्ध हुई नहीं, हमारे भीतरके शत्रु काम-क्रोध-लोभ-मोह ज्यों-के-त्यो-पूरे हैं, हमसे भजन होता नहीं, हम कहाँ जावेंगे ? जो भी प्राणी थोडे भी धर्म-भीरु हैं, शास्त्रादिका सत्सग कर लेते हैं – उन्हें यह भय सदा घेरे रहता है।

ये दोनों ही हमारे भय सर्वथा व्यर्थ हैं। ये भय तभीतक हैं, जबतक हम भगवान्पर विश्वास नहीं करते । ज्योंही हमें यह ज्ञान और विश्वास हो जायेगा कि हम भगवान्के हैं, वैसे ही हमें यह भी ठीक अनुभव हो जायेगा कि हम तो भगवान्से एकमेक हो गये हैं, शरीरसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा है, और जैसे सर्पकी केंचुलीका त्याग कर देनेसे सर्पकी कुछ भी क्षति नहीं होती, उसी प्रकार शरीरकी क्षति एव नाशसे हमारा बाल भी बॉका नहीं हुआ है। जब भगवान अमृतस्वरूप हैं, मृत्यु उन्हे स्पर्श भी नहीं कर सकती, तो उनके शरणाग ए हमारा मौत भला क्या बिगाड सकती है ?

हमारा यह दूसरा भय भी व्यर्थ ही है। यदि हम सच्चे मनसे अपनेको भगवान्का और भगवान्को अपना मान लेते हैं, इसके पश्चात् भी यदि अपनेमे अयोग्यताएँ, निर्बलताये अनुभव होती हैं, तो हमे इसकी चिन्ता कदापि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जब हम भगवान्के हैं और भगवान्ने यह सर्वथा नहीं कहा है कि तुम विशुद्ध होनेपर ही मेरे हो, तो फिर इन निर्बलताओंकी ओर हमारी दृष्टि ही क्यो जावे ? जब भगवान्ने हमारी सभी निर्बलताओको जानते हुए ही हमे अपना कहा है एव साथ ही यह भी कहा है कि मेरा अंश, प्रकृतिमें स्थित मन एव इन्द्रियोको अपना माने हुए है, फिर हमे चिन्ता क्यों हो ? भले ही हमारी अवस्था बुरी-से-बुरी है, परन्तु हम भगवान्के अश तो हैं ही। भगवान्ने जब कोई शर्त लगायी ही नहीं और बेशर्त हमें अपना अश कहा है, फिर हमे इन शरीरगत तुच्छ कमजोरियोंपर ध्यान ही क्यों देना चाहिये ? भगवान् जब पूर्णत: निष्पाप हैं, तो हम उनके अंश भी निश्चय ही निष्पाप हैं और कहीं कोई मलिनता हममें है, तो भगवान्की कृपा निश्चय ही हमें निष्पाप कर देगी, यह भाव हमारा सदैव पूर्ण प्रबल रहना चाहिये।

हम जब भगवान्के अश है, तो हमारा सुधार भगवान्का कार्य है। हमारा तो बस एक ही काम है कि निर्भय, निश्शक, शोकरहित हुए भगवान्को अपने-से-अपना मान ले, हमारी भगवान्से जो अतिशय निकटता है, उसे एक पलके लिए भी नहीं भुलावें। हममें जो भी न्यूनताएँ हैं, वे सभी संसार और शरीरको अपना माननेकी भूलसे ही हमारे भीतर प्रविष्ट हो पायी हैं, अतः इस शरीर और ससारसे, ससारगत वासनाओंसे असंपृक्त रहनेकी ही सतत चेष्टामें जुटे रहें ।

इस सम्बन्धमें एक बहुत ही प्यारी कथा पद्मपुराणमे आती है। विभीषण जब रावणरूपी ससार और शरीरसे अपना सब सम्बन्ध तोडकर, सबको त्याग एवं सर्वथा विस्मृतकर भगवान् रामसे अपना सम्बन्ध जोड़ चुके, उनके ही पूर्ण शरणागत हो गये तो, विभीषणके दोष फिर विभीषणके रहे ही नहीं, वे तो सभी रामजीके ही हो गये। अब एक दिवस विप्रघोष नामक ग्राममे विभीषणजीसे एक ब्रह्महत्या बन गयी। उस ग्रामके ब्राह्मणोंने इकट्ठे होकर विभीषणजीको पकड़ लिया, और खूब मारा-पीटा। परन्तु विभीषणजीकी मृत्यु ही नहीं हुई। जब बहुत चेष्टा करनेपर भी विभीषणजी मरे नहीं तो निराश होकर उन ब्राह्मणोंने उन्हें जजीरोंसे बाँधकर धरतीके भीतर एक गुफामें कैद कर दिया।

यह घटना उन दिनोंकी है, जब रावणकी मृत्यु हो गयी थी, एवं विभीषणजी लंकाके राजा हो गये थे। भगवान् श्रीरामजीको अपने भक्त विभीषणके

कैद होनेके समाचार ज्योंही मिले, वे तुरन्त ही पुष्पक विमानमें चढकर विप्रघोष नामक ग्राममें पहुँचे। ब्राह्मणोंने रामजीका बहुत ही आदर-सत्कार किया। जब श्रीरामजीने वहाँके ब्राह्मणोंसे विभीषणजीके बारेमें पूछा, तो ब्राह्मणोंने विभीषणजीको राजा रामजीके सम्मुख बन्दीवेशमें समुपस्थित कर दिया। ब्राह्मणोंने कहा – "महाराज ! यह ब्रह्म-हत्यारा है, हमने इसको बहुत मारा-पीटा, परन्तु यह मरता ही नहीं है।" भगवान् रामजीने विप्रघोषवासियोंसे कहा – "ब्राह्मणों ! इस विभीषणको मैंने एक कल्पकी आयु और लकाका राज्य दे रखा है, यह कभी मर नहीं सकता। यह तो मेरा भक्त है, इसके लिये तो मैं स्वयं मृत्युदण्ड स्वीकार करनेको तत्पर हूँ। वास्तवमें अंश (सेवक) के अपराधका उत्तरदायित्व अशी (स्वामी) पर ही आता है, अतः विभीषणके बदलेमे आपलोग मुझको ही दण्ड दें।"

*वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम् ।*
*राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति ।।*
*भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड ईष्यते ।*
*रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन् ।।*

भगवान्‌की यह वत्सलता देखकर ब्राह्मण आश्चर्य करने लगे। उन सभीने विभीषणको मुक्त कर दिया।

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि – 'हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं' – इस अपनेपनके सम्मुख योग्यता, पात्रता, अधिकार आदि कुछ भी महत्व नहीं रखते । यह सम्पूर्ण साधनोका फल है।

छोटा-सा बच्चा अपनेपनके बलपर आधीरातमें रोनेपर सारे घरको नचाता है। सारे घरवाले उठकर उसके हठको पूरा करते हैं। इसलिए, जब हम भगवान्‌के अश हैं, तो हमें अपनी योग्यताकी ओर कदापि नहीं देखकर मात्र भगवान्‌के साथ अपनेपनको ही देखते रहना चाहिये ।

भगवान् कहते हैं, जब तू ***'ममैव' - 'मेरा ही है'*** – तो फिर चिन्ता करके अथवा अपने साधनद्वारा शुद्ध होनेका मिथ्या प्रयास करके, तू अपराध ही करता है। यह तेरा अभिमान है कि तू जैसा है, जो है – वैसा ही मेरे पास दौडता हुआ न आकर, शुद्ध पवित्र होकर मेरे पास आना चाहता है। यह तेरा अभिमान मेरे प्रति अविश्वासमूलक है। जब मैं कहता हूँ कि तू **'ममैव', मात्र मेरा ही है**, फिर मेरे प्रति पूरा विश्वास, भरोसा नहीं रखना – तेरा निश्चय ही मेरे प्रति अपराध है। तुझमें अपने दोषोंको लेकर चिन्ता करना वास्तवमे अपने बलके अभिमानके ही कारण है। यह नियम है कि दोषोको मिटानेमे अपनी सामर्थ्य मालूम होनेसे ही उनको मिटानेकी चिन्ता होती है। यदि हममे दोष मिटानेकी

सामर्थ्यका अभिमान सर्वथा नहीं हो, तो हम भगवान्‌को पुकारेंगे, और अधिक बलपूर्वक भगवान्‌को अपने सम्बन्धकी स्मृति करके उनसे ही चिपकेंगे। जैसे, छोटे बालकके पास कुत्ता आ जाय -- वह अपनेमें जब कुत्तेको भगानेकी सामर्थ्य नहीं देखता, तो रोकर माँको ही पुकारता है।

मेरा अश होकर तू चिन्ता करता है, तो कलङ्क आता है, मुझपर । तू इनकी चिन्ता मत कर। इनकी चिन्ता मैं करूँगा । जब तू मेरा है, तो अपना सब भार, शोक, चिन्ता मुझपर छोड़कर निर्भर, निश्चिंत, निश्शोक हो जा।

हमारी तो भगवान्‌से सदा यही प्रार्थना होनी चाहिये —

*दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो*
*नरके वा नरकान्तक प्रकामम् ।*
*अवधीरित शारदारविन्दौ*
*चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ।।*

हे नरकासुरका अन्त करनेवाले प्रभो ! आप मुझे चाहे स्वर्गमें रखें, चाहे भूमण्डलमें अथवा नरकमे, आपका जो भी मेरे प्रति मगलमय विधान हो, वही हो। मेरी तो एक ही माँग है कि मृत्यु जैसी भयंकर अवस्थामें भी मैं शरद्-ऋतुमें खिले कमलोकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके चरणोंका चिन्तन करता रहूँ । (उन्हे अपना सर्वस्व समझ, उनसे ही चिपका रहूँ।)

मेरे बन्धुओं ! मेरी माताओं !! हमारे भीतर दोष तभीतक हैं जबतक हम भगवान्‌से कटे हैं। यह अकाट्य बात है कि दोष भगवान्‌की विमुखतासे ही टिक सकते हैं। जबतक शरीर और संसारके आश्रयके क्षीण-से संस्कार हैं, तभीतक दोषोंका अस्तित्व है। भगवान्‌से हमारे सम्बन्धकी अखण्ड-स्मृतिरूप सूर्यके उदय होते ही शरीर और संसारके आश्रयके सस्कार समूल नष्ट हो जायेंगे और उनके मिटते ही सब दोष स्वतः लुप्त हो जावेगे।

मनुष्यके मनमें यह भय भी रहता है कि कहीं मृत्युके घोर कष्टमें मेरी वृत्तियाँ भगवान्‌से हट नहीं जावें। ऐसा भयका भाव भी हमें सर्वथा निकाल देना चाहिये। क्योंकि जब हम भगवान्‌के ही पूरे हैं, तो जैसे हम जीवनकालमें भगवान्‌के अपने-के-अपने हैं, वैसे ही मृत्युकालमें भी उनके अपने-के-अपने ही रहेगे । भगवान्‌ने यह तो कहीं नहीं कहा है कि तुम मुझमे वृत्ति लगाओगे, तभी मेरे होओगे; भगवान् तो सर्वथा बेशर्त, बिना कोई भी करारके यह बात कहते हैं कि तू मेरा ही सनातन अश है। सनातनका अर्थ ही है कि जब तुम माँके गर्भमें सर्वथा अबोध अर्द्धसुप्त थे, तब भी मेरे ही अश थे, मृत्युके समय, मूर्च्छा, प्रमाद में सर्वथा मुझे भूले रहनेपर भी तुम मेरे ही अश रहोगे। अतः कोई

भी शंकाका भाव हमें अपने पास नहीं फटकने देना चाहिये और 'मैं भगवान् की कृपामें तरान्तर हूँ, उनका ही अंश, भाग, हिस्सा, अवयव हूँ, अब मेरेको किसी बातका भय नहीं, शंका नहीं, सन्देह नहीं, चिन्ता नहीं, यही सोचते रहना चाहिये। अबतक वृत्तियोको अपनी माननेसे ही, हम इन्हे शुद्ध नहीं कर सके। वृत्तियाँ हमारी स्वरूपत हैं ही नहीं, ये वृत्तियां तो त्रिगुणमयी प्रकृतिकी हैं, और हम भगवान्‌के हैं। भगवान् कहते हैं, जीवने प्रमादवश 'प्रकृतिस्थानि, वृत्तियोको अपनी मान ली है। अत जब वृत्तियाँ हमारी हैं ही नहीं, तो गुणोमें गुणोको बरतने दो। निद्रा एव मूर्च्छाके समय वृत्तियाँ सर्वथा अवरुद्ध हो जाती हैं, रजोगुणी प्रकृतिमे नाच रही है। हम तो भगवान् की कृपा-ही-कृपासे ओतप्रोत हैं, हमारे चारो ओर सर्वत्र भगवान् परिपूर्ण लबालब भरे हैं। हम तो भगवान्‌के अपनत्व, आत्मीयतामे तरान्तर हैं। भगवान् यही चाहते हैं, हम उनके अंश उनके ही पूरे रहे, हम प्रकृतिस्थ मन एव इन्द्रियोंसे सर्वथा असग हो जावें ।

**(एक व्यक्ति श्रोताओंमें से उठकर प्रश्न करता है)**

**प्रश्नकर्त्ता** - "स्वामीजी ! मुझे तो मैं जब रात्रिमें एकान्तमे भगवान्‌का ध्यान करता हूँ, तो भगवान्‌के प्रकट होनेका भी भय अनुभव होता है। मुझे यह भी भय होता है कि कहीं भगवान् प्रकट हो गये और उनके रूप एवं गुणोमे मैं आसक्त हो गया, तो मैं उनके पीछे दीवाना बना पागलोकी तरह गली-गली भटकता रहूँगा। फिर मेरे बाल-बच्चे टके-टकेके मोहताज हो जावेगे, मेरी पत्नी, मेरा एवं बच्चोका पेट भरने दाई-महरीका काम करेगी। इस भयसे भयग्रस्त, मैं भजन-ध्यान, माला, सत्सग सबका त्याग कर देता हूँ।" (प्रश्न सुनकर सब हँसते हैं)

**(स्वामीजीका उत्तर)**

**स्वामीजी** - "भैया ! यह सब तुम्हारा भगवान्‌के प्रति मात्र अविश्वास एव परायापन है। भगवान् हमारे आत्मीय-से-आत्मीय हैं। माता हमे अपार प्यार करती है, परन्तु उसके प्यारमें क्या कभी हम पागल हुए गली-गली फिरते हैं ? माता क्या हमें ऐसा करने देगी ? इसी प्रकार, भगवान् तो हमारे परम आत्मीय हैं। जितना वात्सल्य अपने-अपने शिशुओंके प्रति संसारकी सभी माताओंमें है, वह सब एकत्रित होकर भी भगवान्‌के वात्सल्यकी छायाका मात्र एक कण-भर भी नहीं हो पाता। अब विचार करो, भगवान्‌में कितनी आत्मीयता, वात्सल्य एवं हमारे प्रति प्यार है। सचमुच ही, जो महाभाग्यवान् भगवत्प्रेमी भगवान्‌के प्रेममें अपने घर-संसारकी सुध-बुध खोकर पगले हो जाते हैं, उनके चरणोंकी धूलि इतनी पवित्र होती है कि बडे-बडे इन्द्रादि देवता उस धूलिको

पानेके लिये उनके पीछे-पीछे फिरते हैं। उनका परिवार जगद्वन्द्य हो जाता है। रामकृष्णदेव, अथवा चैतन्यदेवकी पत्नियोंको कभी भी दाई-महरीका काम नहीं करना पड़ा। वे सदा ही सबके लिये परमादरणीय रहीं। विश्वास करना चाहिये कि भगवद्भक्तका सम्पूर्ण योग-क्षेम भगवान् स्वय निर्वाह करते हैं। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर भी यही समझमें आता है कि बच्चा जब अपनी मॉसे दूर होता है, तभी भयभीत होता है, जैसे ही बच्चा अपनी मॉंकी गोदमे जाता है, उसका सारा भय चला जाता है, उसे विश्वास है, मॉं उसकी अपनी-से-अपनी है। भगवान्की सामर्थ्य, उनकी आत्मीयताकी तुलना संसारकी माताओसे की ही नहीं जा सकती। अत भगवान्के भक्तको तो साक्षात् यमराजसे भी भयभीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि जिसे भगवान्की आत्मीयतापर विश्वास है, वह सदा मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर चलता है और साक्षात् मृत्यु, उसका बाल भी बॉका नहीं कर सकती।

## निश्शंक होना

हमें भगवान्की आत्मीयताके प्रति भूलकर भी कभी यह सन्देह नहीं करना चाहिये कि मैं भगवान्का हुआ या नहीं, भगवान्ने मुझे स्वीकार किया या नहीं , यह सन्देह अनेक भक्तोंको ऊँची साधना करनेपर भी बना ही रहता है। हमे तो सदा यही देखना चाहिये कि मैं तो अनादि कालसे भगवान्का ही था। मै पूरा-का-पूरा आज भी भगवान्का हूँ और आगे भी सदा भगवान्का ही रहूँगा। मैंने अपनी मात्र मूर्खतासे अपनेको भगवान्से विमुख, पृथक् मान लिया था। परन्तु मैं उनको कितना ही अपनेसे अलग मानता चला जाऊॅं, वे मुझे अपनेसे अलग कर ही नहीं सकते। सूर्यकी किरणें सूर्यसे जुडी हुई ही पृथ्वीपर पहाडो-जगलो, घनी ॲंधेरी घाटियोको प्रकाशित करने आती हैं, वे अपनेको यदि सूर्यसे कटी, पृथक् समझ भी लें, तो भी उनका सूर्यसे जुडा रहना उनकी मान्यताकी अपक्षासे नहीं, वरं एक अकाट्य सत्य तथ्य है। इसी प्रकार हमारा 'भगवान्का होना' अकाट्य, अखण्ड तथ्य है। वह हमारी मान्यताकी अपेक्षासे कदापि नहीं है। वह भगवान्की एक पूर्ण सत्य, तथ्यात्मक उक्ति है कि जीव ***''ममैव अंशः''*** – भगवान्का ही अंश है। अत इसमें सत्यांशमें कहीं कोई भी सन्देह एवं शंकाकी गुजाइश है ही नहीं। जब हम भगवान्के हैं, यह हमारी सुदृढ आस्था हो ही गयी, तो हमे किसी भी प्रकारके परीक्षात्मक भाव रखकर सन्देहोंको प्रश्रय कभी नहीं देना चाहिये। साधक जब अपनेमें उत्तम लक्षण नहीं देखता है, तो प्राय उसमे सन्देहवृत्ति झॉंकने लगती है। इससे यही व्यक्त होता है कि हमारी योग्यतामूलक गुणोमें तो आस्था है, किन्तु भगवान्के तथ्यात्मक

वचनों पर हमारा विश्वास हिलता है। हमे तो भक्त होनेके नाते भगवान्के वचनोपर ही पूर्ण आस्था रखनी चाहिये। भगवान्की उक्ति ही पूर्ण प्रामाणिक है, यही हमारे अमोघ विश्वासका आधार होनी चाहिये। भगवान्की उक्तिपर सन्देहकर उसे अन्य कसौटियोसे जाँचनेकी भावना भक्तको कदापि नही रखनी चाहिये ।

वैसे स्वयं भगवान्ने ही श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायमें अपने भक्तमे होनेवाले निम्न सद्गुण बतलाये हैं :–

**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च**
**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी** ।।१३।।
**सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः** ।।१४।।
**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः**
**हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः** ।।१५।।
**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः**
**सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः** ।।१६।।
**यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचतिन कांक्षति ।**
**शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः** ।।१७।।
**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः** ।।१८।।
**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।**
**अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः** ।।१९।।

भगवान कहते हैं कि मेरे भक्तको सभी प्राणियोमें द्वेषभावरहित, सबका मित्र (प्रेमी, हित करनेवाला) करुण (दयालु) ममतारहित, अभिमानरहित, सुख-दुखकी प्राप्तिमे सम, क्षमाशील, निरन्तर सतुष्ट, योगी (मेरी स्मृतिके तारसे निरन्तर जुडा हुआ), शरीरको निजवशमे रखनेवाला, दृढनिश्चयी, मन-बुद्धिको मुझमें लगाये रखनेवाला होना चाहिये।।१३–१४।।

उससे किसी प्राणीको उद्वेग नहीं होना चाहिये, और उसको भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं हो। वह हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय एव उद्वेगसे रहित होना चाहिये।।१५।।

वह आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतरसे पवित्र, मेरी स्मृतिमे सदैव जागरूक, सावधान, ससारके भोगोके प्रति उदासीन, व्यथासे रहित, नवीन कर्मोंके प्रारभका त्यागी होना चाहिये।।१६।।

उसे ससारके अनुकूल होनेपर हर्षित एव प्रतिकूल होनेपर विषादित

कदापि नहीं होना चाहिये। उसे अनुकूलताकी आकांक्षा एव प्रतिकूलतापर शोक नहीं करना चाहिये। शुभ एव अशुभ कर्मोंमें भी उसे राग-द्वेष नहीं रखना चाहिये।।१७।।

उसे शत्रु एवं मित्रमे, मान एवं अपमानमे समत्व रखना चाहिये, सुख-दुःखमें आसक्तिरहित, शरीरके जिस-किसी भी प्रकारसे निर्वाह होनेमें सन्तुष्ट, शरीरमें ममता आसक्तिसे रहित, उदासीन, स्थिर-बुद्धिवाला होना चाहिये।।१८।।

भगवान् कहते हैं, ऐसा भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। भक्त-साधक यदि अपनेमें इन उपरोक्त लक्षणोंको न भी पायें, तो भी उसे चिन्तित एव निराश कदापि नहीं होना चाहिये। उसका लक्ष्य उस अवस्थामे ये गुण न होकर, अपनी मन-बुद्धिमें भगवान्‌का अपनापन बढ़ाना ही होना चाहिये, क्योंकि जैसे ही जीव पूर्णतया भगवान्‌का होता है उपरोक्त गुण उसमें बिना किसी प्रयासके अपने-आप आ जाते हैं। साधकमें कहीं-न-कहीं भगवान्‌को अपना न माननेकी ही त्रुटि है, जिससे इन लक्षणोंका उसमें न होना दिख रहा है। भगवान्‌का होते ही, ये गुण स्वभावतः ही उसमें उसी प्रकार पूरे भरे मिलेंगे, जैसे सूर्योदयके होते ही प्रकाश सर्वत्र भर जाता है।

## अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्

भगवान्‌को अपना माननेवाला भक्त स्वभावतः ही अन्य सभी प्राणियोंसे द्वेष-भावसे रहित होता है। उसके हृदयमें से कुछ अनिष्ट होता है अथवा कोई अनिष्ट करता है, – ये दोनों धारणाएँ ही समूल नष्ट हो जाती हैं। भगवान्‌को अपना माननेवाला साधक – व्यक्ति, वस्तु एवं परिस्थिति तीनोंकी ही अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता – दोनों ही परिस्थितियोंमें अपने भगवान्‌के परम मंगलमय भागवती-विधानको ही चरितार्थ होता देखता है। उसके अनिष्टमें हेतु होनेवाले किसी भी व्यक्तिके प्रति, उस साधक-भक्तके मनमें द्वेष-भाव कदापि उदय नहीं होता। वह अपनेसे द्वेष करनेवालेमें भी अपने इष्टको ही भरा देखता है और सभीके उर-प्रेरक उसके इष्ट भगवान् ही हैं, ऐसा मानता हुआ उस अनिष्ट करनेवालेको भी वह अपने भगवान्‌की लीलाका एक यंत्र ही देखता है।

भक्तके लिये चाहे कितनी ही घोर-से-घोर प्रतिकूल परिस्थितियाँ आवे, वे सभी उसके लिये उसके भगवान्‌का परम मंगलमय वरदान ही होती हैं। भक्तके लिये प्राणीमात्र चाहे वह उसके प्रति घोर शत्रुता ही क्यों न रखनेवाला हो, भगवान्‌का यंत्ररूप ही होता है। वह अपने शत्रुमें भी अपने इष्टको ही भरा क्रियाशील देखता है। अतः वह किसीके भी प्रति द्वेष-भाव नहीं रखकर, सभीको प्रणाम करता है। उदाहरणस्वरूप, मान लें, किसी भी व्यक्तिने भक्तके धन-मान

एवं यशमें बाधा पहुँचायी, तो उस समय अपनेको भगवान्‌का माननेवाले भक्तको यही अनुभव होगा कि इस व्यक्तिके रूपमें उसके इष्ट, साक्षात् भगवान्‌ने ही यह उसका परम मगलमय विधान किया है। वह यही सोचता है कि यदि मुझे धन, मान-सम्मान, आदर-सत्कार मिलता रहता, तो 'भगवान् मेरे हैं', इस भावसे मेरा स्खलन होनेकी बहुत सभावना थी। अत: वह, उस शत्रुता करने वाले साथ ही उसके धन, मान-बडाई एव आदर-सत्कारका नाश करनेवाले उस व्यक्तिपर द्वेष न करके उससे मैत्रीभाव ही रखता है।

जो, ***'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं',*** ऐसा भाव रखता है – उसकी प्राणीमात्रमें प्रभुको देखनेकी वृत्ति अति प्रगाढ हो जाती है, वह ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत्, केहि सन करहिं विरोध' (मानस ७।११२ ख)*** की भावनासे पूरा भर ही जाता है। ऐसा उसका स्वभाव ही हो जाता है।

अपनेको भगवान्‌का माननेवाला साधक अपना अनिष्ट करनेवाले व्यक्तिकी सब क्रियाओंको भगवान्‌का कृपा-पूर्ण मगलमय विधान ही मानता है, क्योकि जब वह भगवान्‌का है, और भगवान् उसके हैं, तो भगवान् उसका अनिष्ट तो होने दे ही नहीं सकते, सदैव सबके द्वारा उसका इष्ट होना ही सभव है, यही उसका सुदृढ भाव रहता है।

वह साधक प्राणीमात्रको भगवान्‌का अश परिस्थितिमात्रको भगवान् का परम मगलमय वरदान एव वस्तुके भाव-अभाव दोनोंको भगवत्प्रसाद ही समझता है।

उस साधककी यह स्थिर दृष्टि रहती है कि जैसे मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियोके भी भगवान् अपने है, और सभी प्राणी भगवान्‌के ही हैं। फिर वह किसी भी प्राणीके प्रति थोडा-सा भी यदि द्वेषी होता है, तो वह उसका भगवान्‌के प्रति ही द्वेष होगा, इसे साधक सह ही नहीं सकता। जैसे छोटे बालकको पीडा देनेवाला व्यक्ति माताको ही पीडा देता है इसी प्रकार भगवान्‌के जनके प्रति द्वेष करने वाला भगवान्‌के प्रति द्वेष ही तो करेगा। इसे साधक भला कैसे सह सकता है ? कहनेका यही अर्थ है कि भगवान्‌को अपना माननेपर 'सर्वभूताना अद्वेष्टा' भाव स्वभावत: ही साधकमें आजाता है।

## मैत्रः करुण एव च

"मैं भगवान्‌का हूं और भगवान मेरे हैं" ऐसी भावना रखनेवाले साधकके अन्त:करणमे प्राणीमात्रके प्रति भगवद्भाव होनेसे उसकी सबसे मैत्री ही होती है, भगवान् जब सबके ***'सुहृदः सर्वभूतानाम्'*** हैं, तो भगवान्‌का स्वभाव भगवान्‌के निज जनमे आयेगा ही। अत वह स्वाभाविक ही सब जीवोका हेतुरहित उपकारी ही होता है।

*'हेतुरहित जग जुग उपकारी, तुम तुम्हार सेवक असुरारी'* भगवान्के जनमें यह भाव रहता है कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिछले पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। अतः वह उसके प्रति दयार्द्र हो उठता है।

'भगवान् मेरे हैं' – ऐसा समझनेवाला जब किसी भी दुखी प्राणीको देखता है, तो उसके मनमें यह भाव अति तीव्ररूपसे आता है कि यह मात्र इसीलिए दुखी है, क्योंकि यह भगवान्को अपना नहीं समझता। प्रारब्धवश पुराने जन्मोंके पाप-भोग इसे पीडा-कष्ट तो दे सकते हैं, परन्तु इसे दुखी कदापि नहीं कर सकते, यदि यह अपनेको भगवान्का और भगवान्को अपना मान ले। बस, इस भावके आते ही भगवान्का जन उस व्यक्तिके प्रति करुणासे भर जाता है और उससे मैत्री करके उसे भगवान्का बनानेकी चेष्टामें रत हो उठता है। इस तरह, वह सम्पूर्ण जीवोंका मित्र और करुणाशील हो उठता है।

## निर्ममः निरहंकारः

यद्यपि भगवान्को अपना समझनेवाले साधकके मनमें प्राणीमात्रके प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणाका भाव रहता ही है, परन्तु उसकी किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किञ्चिन्मात्र भी ममता नहीं होती। उसकी ममताके केन्द्रबिन्दु एकमात्र भगवान् ही होते हैं। वह सभी प्राणी-पदार्थको भगवान्की वस्तु समझता है और एकमात्र अपनी वस्तु भगवान्को ही मानता है। भगवान् मेरे हैं और सारा ससार भगवान्का है, यह उसकी सुदृढ धारणा होती है। अतः भगवान्की वस्तु भगवान्को सौंप देनेपर उसे प्रतिपल सुखका ही अनुभव होता है। उसकी अन्य प्राणी-पदार्थसे तो ममता हटी ही रहती है। वह तो अपने शरीर, इन्द्रियो एव मनको भी अपना नहीं समझता, क्योकि उसकी मूल पकड यही होती है कि प्रकृतिस्थ मन, इन्द्रियों एवं शरीरमे फँसनेके कारण ही वह अबतक अपनेको भगवान्का अंश नहीं समझ पा रहा था।

ऐसे भगवज्जनकी अपने शरीरादिके प्रति किचिन्मात्र भी अंहंबुद्धि नहीं होनेके कारण उसका सद्गुणोंसे भी राग नहीं होता। यद्यपि निरहंकारी होनेसे उसमें स्वतः श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण प्रकट होने लगते हैं, परन्तु, वह सभी दैवी-संपत्तिको भगवान्की मानकर उन्हें ही अर्पित किये रहता है, इसीलिये उसमें अहंभाव टिक ही नहीं पाता।

## समदुःखसुखः क्षमी

भगवान्को अपना माननेवाला भक्त सुख-दुःखोकी प्राप्तिमे सम रहता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता की अनुभूति उसके हृदयमें होती ही नहीं, क्योंकि उसे सम्पूर्ण विधान ही उसके परम प्रियतम भगवान्से आया अनुभव होता है।

प्रारब्धानुसार शरीरमें कष्टदायी रोग होनेपर उसे शारीरिक पीड़ाका ज्ञान तो होगा, परन्तु उससे वह दुखी, शोकयुक्त एवं विकृत कदापि नहीं अनुभव करेगा। अपनेको भगवान्‌का माननेवाला भक्त सदा यही प्रार्थना करता है कि उसके प्रति अहित करनेवाले, बुरा सोचनेवालेको भगवान् कदापि दण्ड नहीं दें। क्योंकि उसे उसका बुरा करनेवाला भी भगवान्‌का अंश दिखता है। भगवान्‌का अश भगवद्विधानसे यदि उसका बुरा करनेमें निमित्त हो गया है, तो वह अवश्य क्षम्य है। ऐसे सोचते हुए भक्त कभी किसीको भी दण्डित किये जानेका भाव नहीं रखते।

## संतुष्टः सततम्

भक्तको जब सुदृढ विश्वास हो जाता है कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, तो वह नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है । उसे जब भगवान्‌का अश होनेसे भगवान् नित्य मिले ही हुए हैं, तो अब उसके असन्तोषका तो कोई कारण बचता ही नहीं है। नाशवान् संसारकी उसे कोई आवश्यकता होती ही नहीं। 'भगवान् मेरे हैं'— इस महान् आनन्दरूप अनुभवमें पूर्णरूपेण मस्त हुआ वह व्यक्ति सारे ससारको तुच्छ, हेय एवं पूर्ण उपेक्षाका हेतु समझता है। उसके सन्तोषमें किसी भी हेतुसे तनिक-सी भी न्यूनता नहीं होती।

## योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः

वास्तवमे तो हमारी मन-बुद्धि एवं इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूपसे भगवान्‌में ही स्थिर, शान्त हो पाती हैं। ससारसे जब मनुष्यका रागयुक्त सम्बन्ध होता है, तो इन मन, बुद्धि एव इन्द्रियोंको हम ही संसारमें अपने रागसे लगाते हैं। ससारमें उन्हें पर्याप्त सुख मिलता नहीं। ओस चाटनेसे किसी प्यासेकी पूर्ण सतुष्टि जब नहीं ही हो पाती, तो वह प्यासा जलकी खोजमें यत्र-तत्र-सर्वत्र भटकता है। यही दशा मन-इन्द्रियोंकी भी होती है। सांसारिक विषयोंमें जब उन्हें पूर्ण सतुष्टि होती ही नहीं, तो वे कृतकृत्यता और संतोषकी खोजमें भटकती हैं। भगवान्‌को अपना माननेवालेमे संसारके प्रति रागयुक्त सम्बन्ध तो किंचिन्मात्र भी होता नहीं, अतः उसकी मन-बुद्धि एवं इन्द्रियाँ भी भगवान्‌में ही नियुक्त होती हैं, इनको वहाँ अखण्ड आनन्द एव सुख मिलता है, अतः उनके फिर इधर-उधर हटनेकी सभावना ही नहीं होती। वे सर्वथा भक्तके वशमें ही रहती हैं।

वास्तवमें किसी भी प्राणीका भगवान्‌से किसी भी कालमें वियोग होता ही नहीं और जिसका ऐसा सुदृढ निश्चय है कि मैं भगवान्‌का अंश हूँ, उसके भगवान्‌से वियुक्त होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः ऐसे साधकको तो पूर्ण योगी ही मानना चाहिये।

जिसे भगवान्की उक्तिपर ही सन्देह हो, उसकी तो यहाँ बात हो ही नहीं सकती। जिसे भगवान्की उक्तिपर एवं गीताशास्त्रकी वाणीपर विश्वास है, उसकी बुद्धिमें – सम्पूर्ण विश्व परमात्माका अंश है, ऐसा अटल निश्चय होता है। जो भगवान् कह रहे हैं, वही पूर्णरूपेण सत्य है, ऐसी उसकी सुदृढ आस्था और श्रद्धा होती है। उसमें विपर्यय दोष आ ही नहीं सकता। उसको भगवान्से अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धमें कहीं कोई अनिश्चय नहीं होता। उसका ऐसा निश्चय बुद्धिमे नहीं, प्रत्युत स्वयमें होता है। हाँ, इसका आभास बुद्धिको अवश्य होता है।

ज्ञानी और अज्ञानीका यही तो भेद है। संसारके विषयोमे बहुत ज्ञान रखनेवाला सच्चाज्ञानी कदापि नहीं है। सच्चा ज्ञानी वही है – जिसे ससार तो असत् अनुभव हो और भगवान्के विषयमें उसे सशय-विपर्ययहीन सुदृढ विश्वास एवं निश्चय हो।'

## मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः

जो भगवद्भक्त इस प्रकार जब भगवान्का ही हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि भी स्वभावतः भगवान्में ही लग जाते हैं। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मनुष्यकी मन-बुद्धि रमती है। भक्तके लिये भगवान्से बढ़कर न तो कोई प्रिय होता है, न ही कोई श्रेष्ठ। भक्तका प्रेम जब भगवान्के सिवाय कहीं नहीं रहता तो ***'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४/११)*** भगवान्की इस प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान्को भी भक्त उतना ही प्रिय होता है।

## यस्मात् लोकः न द्विजते

जब भक्त अपनेको भगवान्का मानता है, तो वह सम्पूर्ण प्राणीमात्रको भी प्रभुरूप ही देखता है। अतः उसकी मन, वाणी एवं शरीरसे होनेवाली सभी क्रियाएँ भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं। ऐसी अवस्थामें भक्तके द्वारा संसारमे किसी भी प्राणीको उद्वेग हो ही नहीं सकता।

भक्तकी मात्र क्रियाएँ स्वभावतः प्राणियोंके परम हितकी ही होती हैं, उसके द्वारा भूलसे भी किसीके अहितकी चेष्टा नहीं होती। इसके उपरान्त भी अपने ही दोषयुक्त स्वभावके कारण अनेक प्राणियोंको भक्तकी हितमूलक चेष्टाएँ भी उद्वेगजनक प्रतीत होती हैं। इसमें भक्तका कोई दोष नहीं होता। भर्तृहरिजी कहते हैं :–

***मृगमीनसज्जनानां तृण-जल-संतोष-विहित-वृत्तीनाम् ।***
***लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ।।*** **(नीतिशतक ६१)**

हरिण, मछली और सज्जन क्रमशः तृण, जल, और संतोषपर अपना

जीवन निर्वाह करते है (किसीसे कुछ नहीं चाहते) परन्तु व्याध, मछुए और दुष्टलोग अकारण ही इनसे वैर करते हैं।

भक्तोका चरित्र जो मात्र भगवानको ही अपना मानते है, इतना निर्मल होता है कि उनसे द्वेष रखनेवाले लोग भी उनके चिन्तन, संग, दर्शन, स्पर्श एव वार्त्तालापके प्रभावसे अपना आसुरी[illegible] कर उनके भक्त हो जाते हैं। श्री तुलसीदासजी कहते हैं –

*उमा सन्त कइ इहइ बडाई । मन्द करत जो करइ भलाई ।।*

भले ही अपने आसुरी-स्वभाववश कोई भक्तकी हितकर क्रियाओसे भी उद्वेग कर सकता है, भले ही कोई बदलेकी भावनासे ग्रसित हुआ अपनेको भक्तका शत्रु भी मान सकता है, परन्तु भक्तकी दृष्टिमें उसका न तो कोई शत्रु ही होता है और न ही वह किसीको उद्विग्न करनेका भाव ही रखता है ।

## यः लोकात् नो द्विजते

जो अपनेको भगवान्‌का अश मानता है ऐसे भक्तका शरीर, मन एव इन्द्रियाँ भगवत्प्रेममे इतनी निमग्न रहती हैं कि उसको प्राणीमात्रकी क्रियाओमें भगवान्‌की लीला ही दीखती है, अत उसे किसीकी किसी भी क्रियासे कभी उद्वेग नहीं होता। दूसरे, भगवान् उसके हैं – ऐसा माननेसे वह पूर्णकाम होता है। अत दूसरोंसे उसके उद्विग्न होनेका प्रश्न ही नहीं होता।

## हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तो यः स च मे प्रियः

भक्त हर्षादि विकारोसे रहित होता है क्योकि उसके भगवान् सर्वत्र, सब समय सम एव पूर्णरूपमें उसे प्राप्त होते हैं। उसकी प्रसन्नता नित्य, एकरस, विलक्षण और अलौकिक होती है। वह क्षणिक नाशवान् सासारिक पदार्थोंके सयोग-वियोगसे उत्पन्न होनेवाली नहीं होती।

दूसरे लोगोको अपने समान या अपनेसे अधिक सुख-सुविधा, धन, विद्या महिमा, आदर-सत्कार, प्राप्त होता देखकर साधारण मनुष्यके अन्त करणमें उनके प्रति ईर्ष्या होने लगती है, क्योंकि उसको दूसरोका उत्कर्ष सहन नहीं होता। अनेक बार कुछ साधकोके अन्त करणमें भी दूसरे साधकोंकी उन्नति और प्रसन्नता देखकर किंचित् ईर्ष्याका भाव पैदा हो जाता है। परन्तु अपनेको भगवान्‌का अश समझनेवाला भक्त इस विकारसे सर्वथा रहित होता है। उसकी दृष्टिमें भगवान्‌का अंश होनेसे किसीकी स्वतत्र सत्ता रहती ही नहीं, अत वह किससे अमर्ष एवं ईर्ष्या करे ?

इसी प्रकार इष्टके वियोग और अनिष्टके सयोगकी आशकासे होनेवाले

विकारको 'भय' कहते हैं। भय दो प्रकारका होता है। पहला, आन्तरिक कारणोंसे भय होता है – जैसे चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि शास्त्रविरुद्ध भाव एव आचरणोंसे घटित होनेवाला भय। दूसरा, बाह्य कारणोंसे भय होता है, जैसे सिह, साँप, चोर, डाकू, घातक बीमारी आदिसे कष्ट एवं अनिष्ट होनेकी आशकाका भय। सबसे बडा भय मृत्युका होता है। ये सभी भय मात्र शरीरके आश्रयसे ही पैदा होते हैं। भगवान्को अपना एवं अपनेको भगवान्का माननेवाले भक्तका आश्रय शरीर कदापि नहीं होता, वरं उसके नित्य एव अखण्ड आश्रय भगवान् ही होते हैं। हाँ, वह यह अवश्य समझता है कि ज्योही भगवच्चरणोंका उसका आश्रय शिथिल हुआ, उसे सब भय एवं आपद् घेर लेंगे, अत वह उनसे अति दृढतापूर्वक जुडा रहता है। फिर उसे सब विधानोंमें अपने प्रियतम भगवान्की परम मंगलमयी लीला ही दिखती है, अतः उसके भगवान्की लीलासे भयभीत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता।

मनमें एकरूपता न होकर, मनके हलचलयुक्त हो जानेको 'उद्वेग' कहते हैं। यहाँ भगवान्ने 'उद्वेग' शब्दका प्रयोग तीन अर्थोंमें किया है।

१ भक्तकी कोई भी क्रिया उसकी ओरसे किसी भी अन्य प्राणीके उद्वेगकी हेतु नहीं होती ।

२. भक्त दूसरे प्राणीकी किसी भी क्रियासे उद्विग्न नहीं होता ।

३. बार-बार कोशिशं करनेपर अपना सुधार नहीं कर पाना, अपनी साधनाका इच्छानुसार फल नहीं मिलना, बहुत ग्रीष्म, शीत, वर्षा, बाढ़ आदि प्राकृत विपदाओंका बार-बार आना भी किसीके उद्वेगके हेतु हो सकते हैं।

उपरोक्त दो प्रकारके उद्वेग ऐसे भक्तको, जो भगवान्को अपना मानता है, एवं अपनेको भगवान्का अश समझता है, नहीं होते। अब यहाँ तीसरे उद्वेगका उल्लेख है। कहनेका इतना ही तात्पर्य है, भक्त जब यह दृढतासे मान लेता है कि भगवान् मेरे हैं, और वे जो कुछ कर रहे हैं सब परम आत्मीयतापूर्ण ही हो रहा है, और जो मेरे हितमें परमावश्यक है, वही हो रहा है, तो उसके अन्त करणमें उद्वेग नामक वस्तु रहती ही नहीं।

उद्वेग होनेमें आसुरी स्वभाव और अज्ञानजनित मन, बुद्धि एवं शरीरको अनुकूल करनेकी इच्छा ही प्रधान हेतु है। जो पूर्णरूपेण भगवान्का है, उसकी स्वतत्र इच्छा होनेका तो प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि भगवान्की इच्छा ही वास्तवमें उसकी इच्छा होनी चाहिये। उसमें आसुरी-स्वभाव भी होनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब वह भगवान्का अंश है तो भगवान्का स्वभाव ही उसका स्वभाव स्वभावतः ही होगा। अनिच्छासे प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको

वह निश्चय ही भगवान्का कृपापूर्ण अनुग्रह ही तो देखेगा और निरन्तर आनन्दमें ही मग्न रहेगा।

सारांशकी बात यही है कि जो परमात्माको अपना नहीं मानता, न ही अपनेको परमात्माका मानता है, साथ ही संसारसे पूरा बँधा है, उसे ही हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग एव बंधन होता है। भक्तकी दृष्टिमें तो एक भगवान्के सिवा अन्य किसीकी भी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहनेसे ये विकार उसके पास भी नहीं फटकते। जो भगवान्का है एव जिसके भगवान् हैं, वह यावन्मात्र दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होता है। उसे गुणोंका भी अभिमान नहीं होता, क्योंकि उसके तो मात्र भगवान् ही होते हैं और भगवान्का होना ही उसका अभिमान होता है।

अगर उस भक्तको अपनेमें कभी कोई गुण दिखता भी है, तो वह उसको भगवान्का ही मानता है, अपना नहीं। उसके भीतर तो उसे भगवान्-ही-भगवान् पूरे भरे दिखते हैं – न तो कोई गुण, न ही कोई दोष। इस प्रकार वह मात्र भगवान्से जुड़ा, सब संसारसे मुक्त होता है।

ऐसे भक्तको भगवान् ही सर्वाधिक प्रिय होते हैं और भगवान्को वह भक्त अत्यंत प्रिय होता है।

## अनपेक्षः

यहाँ यह बात मुख्यतया ध्यान देनेकी है कि केवल इच्छा करनेसे संसारके पदार्थ मिल जावें और इच्छा न करनेसे नहीं मिलते हों – ऐसा कोई नियम नहीं है। वस्तुत जो कुछ भी प्रारब्धमे है, वह स्वतः प्राप्त होता है क्योंकि जीवात्माको जो भी उसके लिये आवश्यक भोग हैं, उनका प्रबन्ध पूर्व-निर्धारित है। जहाँतक शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्रीका प्रश्न है, वह प्रबन्ध तो जीवमात्रके शरीरके लिये भगवान्की ओरसे पहले ही निश्चित रहता है। जो भी व्यक्ति लेनेकी प्रबल इच्छा रखता है, उसे कोई देना नहीं चाहता। इसके विपरीत किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रखनेवाले विरक्त, त्यागी अथवा बालककी आवश्यकताओंका अनुभव अपने-आपे दूसरोंकी होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इच्छा नहीं करनेसे जीवन-निर्वाह बिना माँगे स्वतः होता है।

जो भक्त भगवान्को अपना मानता है और अपनेको भगवान्का ठीक-ठीक सम्यक् प्रकारसे मानता है उसकी तो सम्पूर्ण सार–सँभाल भगवान् स्वयंको करनी पडती है, क्योंकि वह भगवान्के सिवा किसी दूसरेको स्वीकार ही नहीं करता। जैसे, बिना माँगे बच्चेको दूध पिलानेकी, वस्त्र पहननानेकी, उसके शरीरकी सम्पूर्ण रक्षाकी चिन्ता माँको अपने-आप स्वभावत ही होती है, उसी प्रकार ऐसे भक्तकी स्वंय भगवान् अपने हाथों सब सँभाल करते हैं।

भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं –

*निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।*
*अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः ।।११।१४।१६।।*

अर्थात्, जो मुझसे कुछ भी नहीं चाहता, सर्वथा अपेक्षाशून्य, निरपेक्ष है, निरन्तर (अपनेको मेरा अंश मानकर) मेरा चिन्तन करता है, पूर्ण शान्त है, द्वेषरहित है, मुझे समरूपमें सर्वत्र व्याप्त अनुभव करता है, देखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं सदा – उसकी चरणरज मेरे ऊपर पड़ जाय, इस भावसे घूमा करता हूँ ।

किसी भी वस्तुकी इच्छाको लेकर भगवान्‌से कामना करनेवाला इच्छाका ही दास होता है, वह भगवान्‌का दास कदापि नहीं होता। उसके हृदयमें भगवान् नहीं बसे होकर इच्छित वस्तु ही बसी रहती है। यह तो भगवान्‌की महान् उदारता है कि वे उसको भी अपने जनकी अर्थात् 'अर्थार्थी भक्त'की सञ्ज्ञा दे देते हैं, क्योंकि वह उस इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिए भी दूसरेका आश्रय न लेकर भगवान्‌पर ही भरोसा करता है।

जो स्वतः भगवान्‌को अपना मानता है, वह तो नाशवान् सांसारिक पदार्थोंकी कामना ही नहीं करता, क्योंकि वह ठीक जानता है कि इन वस्तुओंका वियोग अवश्यभावी है और भगवान्‌का वियोग कभी हो ही नहीं सकता। इस तथ्यको ठीक हृदयंगम कर लेनेके कारण भगवान्‌को अपना माननेवाले व्यक्तिके मनमें संसारकी कुछ भी कामना नहीं रहती, वह सदा निरपेक्ष रहता है।

***(एक व्यक्ति श्रोताओंमेंसे उठकर पुनः प्रश्न करता है)***

***प्रश्नकर्त्ता*** - "स्वामीजी ! क्या भगवान्‌को अपना माननेवाला व्यक्ति भगवान्‌के दर्शन अथवा उनका प्रेम प्राप्त करनेकी अपेक्षा भी भगवान्‌से नहीं रखता ?"

***स्वामीजी*** - भाई ! जिसका अटूट विश्वास है कि मैं भगवान्‌का अंश हूँ और भगवान् मेरे हैं, सत्यांशमें वह भगवान्‌के दर्शनकी अथवा भगवान्‌से भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा भी नहीं रखता। इसे भली प्रकार समझ लें। जैसे हमारी अँगुली, हाथ, पैर हमारे शरीरके भाग हैं, अंश हैं, वे कभी यह कामना नहीं करते हम हाथसे, पैरसे, अपने किसी छोटेसे अवयवसे भी प्रेमप्राप्त करें। हमारे समग्र अंग-अवयव, यहाँतक कि एक रोम भी हमसे बिना माँगे हमारा पूरा-पूरा प्रेम प्राप्त कर रहा है, वैसे ही अपनेको भगवान्‌का अंश समझनेवाला, यह ठीक समझता है कि कोई अंशी अपने अंशको बिना प्रेम दिये रह ही नहीं सकता। अतः उसकी कोई भी माँग या तो उसका अविश्वास है अथवा उसके भावमें,

समझमें कुछ कमी ही है। जैसे अगी अपने अंगको स्वभावत पूर्ण प्रेम देता है, क्योंकि अंग तो उसका ही है, उसी प्रकार अंशी अंशको स्वभावत ही प्रेम दे रहा है । दूसरे, दर्शनकां तो तभी प्रश्न उठता है जब अदर्शन हो, वियोग हो, दूरी हो, पृथकत्व हो। जब हम भगवान्‌के ही अंश हैं, तो दर्शन क्या, भगवत्प्राप्ति भी हमे हो ही गयी, यही हमारा दृढ निश्चय होना चाहिये। कोई भी अंश यदि अंशीको अप्राप्त है, तो अशाशीभाव सिद्ध ही नहीं हुआ।

**प्रश्नकर्त्ता** - "स्वामीजी ! सागर अशी है, जल अश है परन्तु जल सागरसे पृथक्, दूर, वियुक्त रेगिस्तानके किसी कूपमें हो सकता है, उसी प्रकार हम भगवान्‌के अंश होकर क्या वियुक्त नहीं हो सकते ?"

**स्वामीजी** - भाई ! तुम्हारा सागरका उदाहरण भगवान्‌के प्रसंगमें समीचीन सांगोपांग नहीं है। सागरमें जलका बाहुल्य है, परन्तु सागर समग्र जल-तत्त्वका प्रतिनिधि नहीं है। हाँ, यह कह सकते हो कि जल-तत्त्व (हाइड्रोजनके दो भाग एव ऑक्सीजनका एक भाग) अशी है और जलकी बूँद अंश है। यहाँ जल-तत्त्वसे जलकी बूँदका वियोग कदापि नहीं हो सकता। जहाँ भी जलकी बूँद है, वहाँ हाइड्रोजन एव ऑक्सीजनके परमाणु अवश्यमेव हैं।

कहनेका यही अर्थ है कि भगवान्‌को अपना माननेवाला अपनेको भगवान् से पूर्ण सयुक्त अनुभवकर उनकी सब शक्ति, समृद्धिका निजको पूरा स्वामी ही मानता है, तो वह उनसे क्या अपेक्षा करेगा ? यदि वह अपेक्षा करता है, तो निश्चय ही उसकी मान्यता एवं विश्वासमें कमी है। कोई भी अश अंशीसे एक ही होता है। श्रुति कहती है :-

*ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते*
*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।*

अर्थात्, भगवान् पूर्ण हैं और उनसे प्रकाशित होनेवाला इदं रूपसे दिखनेवाला यह संसार भी पूर्ण है क्योंकि पूर्णसे पूर्णही निकलता है। पूर्णसे पूर्णको भी यदि अपहृत कर लिया जाए, तो भी वहाँ अवशेष शून्य नहीं – पूर्ण ही बचता है।

अत जब भगवान् पूर्ण हैं तो उनका अश भी पूर्ण ही है। भगवान्‌का अंश उनका सजातीय होनेसे भगवान्‌से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखेगा, क्योंकि वह स्वयं भी तो पूर्ण भगवान् ही होगा।

## शुचिः

लौकिक दृष्टिसे तो आचरण-भ्रष्ट होनेसे हम किसीको 'अपवित्र' कहते हैं, परन्तु वास्तवमें जो कुछ अपवित्रता आती है, वह सबकी-सब भगवान्‌से

विमुख होनेसे ही आती है। जैसे, अङ्गार अग्निसे पृथक् होते ही कोयला हो जाता है। उस कोयलेको साबुन लगाकर कितना ही कोई धोये, उसका कालापन मिट ही नहीं सकता। हाँ, यदि पुनः अग्निमें रख दिया जाय, तो वह अपना समग्र कालुष्य त्यागकर पुनः चमक उठता है। ऐसे ही भगवान्‌के अंश इस जीवमें अपवित्रता, कालापन भगवान्‌से विमुख होनेसे ही आता है। जैसे ही यह भगवान्‌के सम्मुख होकर अपने स्वरूपको समझ लेता है कि 'मैं तो भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' बस उसकी समग्र अपवित्रता उसी क्षण स्वतः मिट जाती है। उसे अपवित्रताको मिटानेके लिये किसी पृथक् अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। उसमें तो इतनी पवित्रता आ जाती है कि उससे समग्र दुनिया ही पवित्र हो उठती है। भगवान् ऐसे भक्तको अपना मुकुटमणि बना लेते हैं।

जो भगवान्‌को पूर्णरूपेण अपना एवं अपनेको भगवान्‌का अनुभव करता है, ऐसे भक्तके शरीर-कलेवरमें 'मैं', 'मेरेपन' के स्थानपर भगवान् ही होते हैं, क्योंकि अपनेको भगवान्‌का अंश समझनेके कारण उसके 'मैं' – साक्षात् भगवान् हो जाते हैं और अपनेको भगवान्‌का माननेके कारण उसके 'मेरे' भगवान् ही हो जाते हैं। अतः ऐसे महाभाग्यवान् साधकका शरीर भी अत्यंत पवित्र होता है। ऐसे साधकके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि विकार नहीं रहनेसे उसका अन्तःकरण अत्यंत पवित्र होता है। ऐसे भक्तके दर्शन, स्पर्श, वार्त्तालाप और चिन्तनसे दूसरेलोग भी पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सबलोगोंको पवित्र करते हैं, परन्तु ऐसे भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं। तीर्थ भी उनके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं। ऐसे भक्तोंके हृदयमें भगवान् अखण्ड, नित्य विराजित रहते हैं, अतः पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले भगवान्‌के प्रभावसे ये भक्त तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते विचरण करते हैं।

*तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ।।*

**(श्रीमद्भा. १।१३।१०)**

महाराज भागीरथ गंगाजीसे कहते हैं : –

*साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः*
*हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ।।*

**(श्रीमद्भा. ९।९।६)**

अर्थात्, हे माते ! जिन्होंने लोक-परलोककी समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है, जो संसारमें उपरत होकर अपने-आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले हैं, परोपकारी साधुपुरुष हैं, वे अपने अङ्गस्पर्शसे तुम्हारे (पापियोंके अंग-स्पर्शसे प्राप्त) समस्त पापोंको नष्ट कर देंगे, क्योंकि

उनके हृदयमें सर्वपापहारी हरि नित्य निवास करते हैं।

## दक्षः

मानव जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। इसीके लिये मनुष्य शरीर मिला है। अतः जिसने ठीकसे दृढ़तापूर्वक यह अनुभव ठोक-बजाकर कर लिया कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, वही दक्ष है। भगवान्‌का होना ही भगवत्प्राप्ति है। हम अपनेको शरीर, इन्द्रियों एवं संसारका मानते हैं, इसीलिए भगवान्‌से कटकर भगवान्‌से अपनेको दूर, विलग, पृथक् और अप्राप्त समझ रहे हैं। भगवान्‌की परम पावन एवं सत्य दृष्टिमें तो जीवमात्र उनका अंश है, अतः एक नगण्य कीटसे लेकर ब्रह्माजीतक सभी जीवोंको भगवान् पूर्णतया प्राप्त हैं ही।

सांसारिक दक्षता और चतुराई वास्तवमें दक्षता नहीं है। एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक दक्ष होना कलक ही है। इससे जड़ पदार्थोंका अन्तःकरणमें आदर बढ़ता है। यह दक्षता तो मनुष्यका पतन करानेमें ही हेतु है। भगवान् अपने श्रीमुखसे श्रीमद्भागवतमें कहते हैं –

*एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्*
*यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ।।११।२९।२२*

विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत् शरीरके द्वारा मुझ अमृत (अविनाशी एवं सत्य तत्त्व) को प्राप्त कर लें ।

## उदासीनः

'उदासीन' शब्दका अर्थ ही यह है कि जो 'उत' अर्थात् 'उच्च' (भगवान्) में आसीन, बैठा हुआ है, जो व्यक्ति अपनेको संसार एवं शरीरका नहीं मानकर भगवान्‌का मानता है, वही वास्तवमें उच्चपदपर आसीन है। भगवान् ही सर्वोच्च हैं।

लौकिक व्यवहारमें तटस्थ, निर्लिप्त और पक्षपातसे रहित व्यक्तिको उदासीन कहा जाता है। वस्तुतः जो भगवान्‌को इष्ट मानता है और संसारकी सम्पूर्ण कामना-वासनाको अनिष्ट – वह सांसारिक व्यक्तियों, वस्तुओं एवं परिस्थितियोंकी अनुकूलता प्रतिकूलता – दोनोंसे ही परम उदासीन और निर्लिप्त ही रहता है। अपनेको भगवान्‌का माननेवाले व्यक्तिके अन्तःकरणमें मित्र और शत्रु समझे जानेवाले व्यक्तियोंके प्रति, हर्ष एव शोक उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियोंके प्रति और वस्तुओंकी प्राप्ति एवं नाशके प्रति सदा उदासीनता ही रहती है। साथ ही वह शरीरसहित सम्पूर्ण संसारको ही क्योंकि परमात्माका मानता है, इसलिये उसका व्यवहार सभीके प्रति पक्षपातरहित ही होता है।

## गतव्यथः

अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें प्रसन्नता और प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तकी खिन्नताजन्य जो हलचल होती है, उसे 'व्यथा' कहते हैं। अतः अनुकूलता-प्रतिकूलतासे अन्तःकरणमें होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक, आदि विकारोंका जिसमें सर्वथा अभाव हो, उस भक्तको 'गतव्यथ' कहते हैं।

जो भक्त अपनेको पूर्णरूपेण भगवान्‌का अंश समझता है, वह अपने अन्तःकरणमें भगवान्‌को पूर्ण, नित्य, अखण्ड, अविनाशी रूपमें लबालब भरा अनुभव करता है, अतः उसके हृदयमें भागवती-आनन्द इतना परिपूर्ण भरा होता है कि उसे अन्य प्रकारकी किसी व्यथाको अपने भीतर प्रवेश करानेका स्थान ही नहीं दिखता। फिर यदि कोई विकार अथवा अभाव हृदयमें प्रवेश करनेका साहस भी कर लेता है, तो भक्तके अन्तःकरणमें पहलेसे ही विद्यमान परिपूर्ण भागवती-आनन्द उस अभाव एवं विकारको वहीं अपने अथाह, असीम, अनन्त आनन्दमें एकमेक करके आनन्दरूप ही कर देता है। अतः भक्त पूर्णरूपेण 'गतव्यथ' ही होता है।

## सर्वारम्भपरित्यागी

भोग और सग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्म करनेको 'आरभ' कहते हैं। भगवान्‌को अपना माननेवाला व्यक्ति भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले कर्मोंका सर्वथा त्यागी होता है। भक्त भगवन्निष्ठ होता है। भक्तकी दृष्टिमें प्रकृति और प्रकृतिका कार्य, मात्र भगवान्‌का है। अतः वह भगवान्‌के सिवाय किसीको अपना नहीं मानता। अतः अपनेको भगवान्‌का माननेके कारण वह भगवान्‌को पुकारनेके अतिरिक्त अपने लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं समझता। उसके द्वारा होनेवाले किंचिन्मात्र कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होते हैं।

अतः वह धन-सपत्ति, सुख-आराम, मान-बड़ाई, आदिके लिये किये जानेवाले नये-नये कर्मोंका आरंभ कभी नहीं करता।

## यो मद्भक्तः स मे प्रियः

***'भागो भक्तिः'*** इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो भगवान्‌का भाग, अंश अपनेको जानता है और सम्यक्‌रूपसे ऐसा मानता भी है, वही भगवान्‌का भक्त है। मैं भगवान्‌का अंश हूँ और भगवान् पूर्णतया मेरे हैं, इस सम्यक् ज्ञानके द्वारा ऐसा मानने-जाननेवाले व्यक्तिकी सभी चित्त-ग्रथियाँ जड़तासे सर्वथा, सर्वांशमें ही मुक्त हो जाती हैं, एवं वह भगवान्‌की हेतुरहित निष्कारण भक्ति करने लगता है। भगवान्‌के महान् गुण उसको पूर्णतया आकर्षित कर लेते हैं। जबतक जीव

मन-बुद्धि, इन्द्रियों, शरीर-कुटुम्बादिको अपना माने हुए रहता है, तभीतक वह शारीरिक-निर्वाह, पारिवारिक भरण-पोषण अथवा सामाजिक मान-प्रतिष्ठाकी कामनासे इनसे उलझा रहता है। इसमें उलझ जानेके कारण ही वह भगवान्‌से विमुख हुआ रहता है। किन्तु उसकी यह भगवान्‌से दूरी यथार्थ कदापि नहीं है। संसारसे जीवकी एकता भी यथार्थ नहीं है।

यह शरीर एवं संसारसे एकता मात्र भूलसे मानी हुई ही है। वस्तुतः सत्य तो यही है कि प्राणीमात्र भगवान्‌के अपने-के-अपने, सर्वथा एवं सर्वांशमें उनके अंश हैं। भोगोंमें भी सर्वव्यापी भगवान् ही परिपूर्ण हैं। जीवकी भोगोंमें आत्यंतिक आसक्तिके कारण ही भोगोंमें हमें छिपे भगवान् दिखते नहीं। जब इन नाशवान् भोगोंकी ओर जीवका आकर्षण नहीं रहता, उस स्थितिमें स्वतः ही उसका मन अपने अंशी भगवान्‌की ओर खिंच जाता है। फिर एकमात्र परमात्मासे ही उसका स्वतः प्रेम हो जाता है। ऐसे अनन्य प्रेमी भक्तको भगवान् यहाँ *'मद्भक्त'* कहते हैं। और जो भगवान्‌में अनन्य प्रेम रखेगा, तो निश्चय ही भगवान् भी उससे अनन्य प्रेम ही करेंगे, अतः वह भगवान्‌का अतिशय प्रिय तो निश्चय ही होगा।

## यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति

संसारमें मुख्य विकार चार ही हैं – राग, द्वेष, हर्ष एवं शोक । जो जीव अपनेको भगवान्‌का अंश मानता है एवं भगवान्‌को अपना मानता है, ऐसे साधकमें ये चारों ही विकार नहीं होते। उसको यह ठोक-बजाकर अनुभव होता है कि संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है और भगवान्‌से कभी भी वियोग न हुआ था, न ही वियोग है और न ही कभी वियोग होना संभव है। संसारकी कोई स्वतंत्र सत्ता भी नहीं है। यह तो मात्र भगवान्‌में ही ठूँठमें भूतवत्, सीपमें रजतवत् भासमान है। इस प्रकार गहन विचार, मनन और निदिध्यासनसे इस वास्तविकताका अनुभव करलेनेपर जीवका जड़तासे सम्बन्ध हटने लगता है और भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सिद्ध सम्बन्धको वह अटल, अखण्डरूपसे पहचानने लगता है। इस कारण उसका अन्तःकरण सांसारिक पदार्थों, व्यक्तियों और परिस्थितियोंसे उत्पन्न राग-द्वेषादिसे सर्वथा मुक्त हो जाता है।

हर्ष एवं शोक तो राग-द्वेषके ही परिणाम हैं। जिसके प्रति राग होता है, उसके संयोगसे हर्ष और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके वियोगसे हर्ष होता है और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी प्राप्ति एवं प्राप्तिकी आशंकासे एवं जिसके प्रति राग है, उसकी अप्राप्ति एवं अप्राप्तिकी आशंकासे ही शोक होता है। परन्तु जो जीव अपनेको भगवान्‌का अंश मानता है और भगवान्‌को अपना समझता है उसमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव रहनेके कारण स्वतः एक साम्यावस्था

उदय हो जाती है और वह उसे सभी विकारोंसे सर्वथा मुक्त कर देती है।

वैसे रात्रिके समय अन्धकारमें दीपक जलानेकी कामना होती है, दीपक जलानेसे हर्ष होता है, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है, और पुन: दीपक कैसे जले -- ऐसी चिन्ता होती है। ये सभी बातें रात्रि होनेसे ही घटित होती हैं। परन्तु जब मध्याह्नका सूर्य तपता है तो दीपक जलानेकी कामना नहीं होती, दीपक जल जाय तो हर्ष नहीं होता, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष अथवा क्रोध नहीं होता और अन्धेरा नहीं होनेसे प्रकाशके अभावकी चिन्ता भी नहीं होती, इसी प्रकार भगवान्से विमुख एवं ससारके सम्मुख होनेसे ही शरीर-निर्वाह और उसके सुखके लिए अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति, आदिके मिलनेकी कामना होती है, इनके मिलने पर हर्ष होता है, इनकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेवाले के प्रति द्वेष या क्रोध होता है और इनके नहीं मिलनेपर 'कैसे मिले' ऐसी चिन्ता होती है। परन्तु जो भगवान्का अपनेको अश मानते हुए भगवान्से सदा जुडा, मस्त है; उसमें ये हर्ष-शोक, राग-द्वेषादि विकार कदापि नहीं होते, वह पूर्णकाम हो जाता है।

## शुभाशुभ परित्यागी

वास्तवमें ममता, आसक्ति एव फलेच्छासे रहित होकर ही शुभकर्म करनेके कारण भक्तके कर्म, अकर्म हो जाते हैं। 'अमुक कर्म मैं करता हूँ', 'इस कर्मका अमुक फल मुझे मिले' -- ऐसा भाव रखकर कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्मसे बँधता है। प्रत्येक कर्मका आरंभ भी होता है, और अन्त भी होता है। इसलिए उसका फल भी आरभ और अन्त होनेवाला होता है। परन्तु जीव सनातन है, अत वह कर्म और उसके फलसे सर्वथा सबधरहित है। मात्र फलकी इच्छा ही उसे बाँधती है।

अपनेको भगवान्का एव भगवान्को अपना माननेवाले साधकमें मात्र भगवान्की ही कामना रहती है, भगवान्के अतिरिक्त किसी अन्य फलकी कामना से वह शून्य होता है। वह कर्म करता है, तो मात्र भगवान्की सेवा एवं प्रसन्नताके लिये। ससारसे ऐसा साधक पूर्ण वीतराग एव भगवान्के प्रति रागी होता है। अत: उसके सभी शुभकर्म अकर्म हो जाते हैं। अशुभकर्म, विकर्म तो ऐसे भक्तसे हो ही नहीं सकते। अशुभकर्म एव विकर्म तो सासारिक कामनाओके बहुत बढ जानेसे ही होते हैं। शास्त्र-निषिद्ध कर्मका नाम ही विकर्म अथवा अशुभकर्म है। भगवान्को अपना माननेवालेसे विकर्म तो हो ही नहीं सकते, क्योकि विकर्म तो उसीसे होने सभव हैं जो घोर ससारकी कामना करता है और भगवान् एव शास्त्रको मानता ही नहीं है।

साधक जबतक प्रकृतिसे अपना संबंध मानता है तबतक वह कर्म करने मे अपनी सांसारिक उन्नति मानता है। सासारिक कामना ही उसके शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकारके कर्मकी हेतु होती है। मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत कर्मोंमें राग-द्वेष ही बाँधते हैं। भगवान्को अपना समझनेवाला सांसारिक कामनासे कर्म नहीं करता, वह तो मात्र भगवत्सेवार्थ कर्म करता है। अत. वह शुभ एवं अशुभ दोनों ही कर्मोंके फलको मात्र भगवान्को ही समर्पित करता रहता है। अत वह शुभ एवं अशुभ दोनों कर्मोंका ही नहीं, इन सम्पूर्ण कर्मोंके राग-द्वेषका भी त्यागी होता है।

## भक्तिमान्यः स मे प्रियः

ऐसे भक्तकी भगवान्में अत्यधिक प्रियता रहती है। उसके द्वारा मात्र भगवान्का स्मरण-कीर्त्तन, चिन्तन-भजन, उन्हे प्रसन्न करनेके हेतुसे ही निरन्तर होता रहता है।

**यह जागता है, तो भगवान्के लिये,** सोता है, तो भगवान्के लिये। वह स्वप्न भी भगवान्के ही देखता है। ऐसे ही भक्तके लिये गीता ***'भक्तिमान्'*** **शब्दका प्रयोग करती है। भगवान्के** प्रति इस अनन्य प्रेमके कारण वह भगवान्का **अत्यंत प्रिय होता है।**

## समः शत्रौ च मित्रे च

यहाँ भगवान्ने भक्तमें व्यक्तियोंके प्रति होनेवाली समताका वर्णन किया है। जो प्राणी भगवान्को ही अपना मानता है एव अपनेको भगवान्का अश समझता है, उसमें सर्वत्र भगवद्बुद्धि रहने तथा राग-द्वेषका राहित्य होनेके कारण किसी भी व्यक्तिमें अपने-परायेका भाव नहीं रहता। न ही उसका कोई शत्रु एवं मित्र भी होता है। लोग भले ही उसकी स्वभावानुसार अनुकूलता किंवा प्रतिकूलताको देखकर उसमें शत्रुता एवं मित्रताका आरोप कर लें। परन्तु वह तो सर्वत्र भगवान्को देखता हुआ सदैव पूर्णतया सम ही रहता है। अपने-अपने भावके अनुसार कोई भले ही उससे शत्रुता, मित्रताका व्यवहार करे।

## तथा मानापमानयोः

मान एवं अपमान तो दूसरेके द्वारा की जानेवाली क्रिया है जो शरीरके प्रति होती है। भक्तकी अपने कहलानेवाले शरीरसे न तो अहंता होती है, न ही ममता। इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके अन्तःकरणमें कोई हर्ष-शोक नहीं होता। वह नित्य-निरन्तर अपने प्रियतम प्रभुके स्मरणमें डूबा हुआ सदैव सम ही रहता है।

इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे संयोग होनेपर अन्तःकरणमें साधारणतया

विकार होता ही है। सरदी-गरमी त्वगिन्द्रियके विषय हैं। भक्तकी त्वगिन्द्रियाँ भगवान्‌के अंग-स्पर्शके सुखमें इतनी तल्लीन रहती हैं कि उसे सरदी-गरमीका अनुभव ही नहीं होता। यह उसकी मात्र त्वगिन्द्रियको लेकर ही ऐसी स्थिति नहीं है, समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें उसकी ऐसी ही स्थिति होती है।

इसी प्रकार, सुख-दु:खकी बात है। सुख-दु:खकी परिस्थिति अवश्यंभावी है, अतः उससे रहित होना तो संभव ही नहीं है। इसीलिये, भक्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितिमें सम रहता है। उसे प्रतिकूल और अनुकूल दोनो ही परिस्थितियाँ प्रभुका मंगलमय दान ही समझमें आती हैं। अतः उसे सुख-दु:ख न होकर सदैव आनन्द ही आनन्द सर्वत्र भरा दृष्टिगोचर होता है।

## संग विवर्जितः

*'संग'* शब्दका अर्थ संयोग और आसक्ति दोनो ही होता है। मनुष्यके लिये यह तो संभव ही नहीं है कि वह सब पदार्थोंका संग त्याग दे। जबतक प्रारब्ध-भोग शेष है शरीरसे उसका संग तो लगा ही है। यदि प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे ही त्याग करनेपर मुक्ति होती, तो निद्राकाल, अथवा मूर्च्छाकालमें जीवकी मुक्ति हो ही जानी चाहिये। फिर मरनेवाला प्राणी तो सभी पदार्थ और उनके संबधोंका त्याग करके जाता ही है, वह तो मुक्त हो ही जाना चाहिये। परन्तु ऐसी बात है नहीं। अन्तःकरणमें आसक्ति रहते हुए शरीरका त्याग करनेपर भी शास्त्रानुसार संसारका बन्धन बना ही रहता है। अतः यही निश्चय होता है कि संसार एवं प्राणी-पदार्थका संयोग बाँधनेवाला नहीं है, इनका राग एवं आसक्ति ही बाँधने वाली है।

जो भगवान्‌को अपना मानते हैं एवं अपनेको भगवान्‌का मानते हैं ऐसे भक्तोंमें भगवान्‌का संयोग (संबंध) अविरत रहता है। उनमें आसक्ति भी भगवान्‌की ही रहती है, क्योंकि आसक्तिके बिना कोई किसीसे अनवरत संबंध, संयोग रख ही नहीं सकता। किसीका अखण्ड चिन्तन तभी होता है, मन किसी भी प्राणी-पदार्थमें तभी लगता है, जब उसकी उसमें आसक्ति होती है। संसारकी आसक्तिका हेतु संसारमें मेरापन है, शरीरमें 'मैंपना' है। यह अज्ञान एवं अविवेकके ही कारण है।

प्रभुको मेरा माननेवालेकी आसक्ति संसारसे हटकर प्रभुके अनन्त, अविनाशी, अलौकिक, चिन्मय रूप-गुणोंमें सिमट जाती है। जैसे संसारसे आसक्ति हटी, मलिन शरीरमें आसक्ति रह ही नहीं सकती। शरीरसे 'मैंपना' हटकर, यह 'मैंपना' भगवान्‌के अनन्त अखण्ड 'मैंसे' एक हो जाता है।

अपने अंशी भगवान्‌से विमुख होकर, भूल एवं अज्ञानसे संसारको अपना

मान लेनेके कारण ही हमारा संसारसे राग हो गया है। यह राग ही संसारमें आसक्तिका हेतु है। संसारसे अपनापन मात्र माना हुआ है। वास्तविक अपनापन ससारसे हो ही नहीं सकता, क्योंकि संसार स्वरूपतः ही 'पर' है। यह माना हुआ अपनापन, भूलसे है और भूलके निवृत्त होते ही स्वभावतः हट जाता है। भगवान्‌से अपनापन वस्तुत है ही, क्योंकि भगवान् ही सबके आत्मा हैं। अतः असत्‌के हटनेसे सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है।

## तुल्यनिन्दा स्तुतिः

निन्दा एव स्तुति मुख्यत नामकी होती है। वा[illegible] जो भगवान्‌को अपना मानते हैं अथवा अपनेको भगवान्‌का, उनमें नाम एवं रूप दोनोंके प्रति लेशमात्र अहंता ममता नहीं होती। शरीरको तो वे स्वयं ही निन्दनीय मानते हैं। अत शरीरकी निन्दा सुनकर तो उन्हे प्रसन्नता ही होती है। इसी प्रकार, नामकी बात है। नाम तो मात्र शरीरको लक्षित करके शरीरका ही रखा गया है। यदि कोई नाम-रूपकी स्तुति करता है, तो भक्तको अतिशय लज्जा अनुभव होती है। भक्तकी सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेके कारण उसे स्तुति करनेवालेमे भी भगवान् ही दीखते हैं। अत वह कभी-कभी यह मानकर कि 'अहा ! भगवान् परम वात्सल्यवश मुझमे अपनी परमोदार दृष्टिसे नहीं होनेपर भी, गुण देख रहे हैं, हर्ष से नाच उठता है' जैसे बच्चेकी कुरूपता भी मॉको सुन्दरता समझमें आती है, उसके अवगुणोमें भी मॉंको गुण दीखते हैं, इसी प्रकार भक्त समझता है कि सब रूपोंमें अभिव्यक्त मेरे प्रभु मुझ अवगुणीको भी अपने वात्सल्यवश गुणी देखकर हर्षित हो रहे हैं।

भक्तके द्वारा अशुभकर्म तो हो ही नहीं सकते, शुभकर्मोमें वह केवल भगवान्‌को ही हेतु मानता है। अत वह निन्दा-स्तुतिमे सदा सम ही रहता है।

## मौनी

जो भगवान्‌को अपना मानते हैं और अपनेको भगवान्‌का मानते हैं, ऐसे भक्त स्वत स्वाभाविक भगवत्स्वरूपका मनन करते रहते हैं। अतःकरणमें आनेवाली प्रत्येक वृत्तिमें उन्हें ***'वासुदेवः सर्वम्'*** (गीता ७।१९) 'भगवान् ही सब रूपोंमें हैं' – यही दीखता है। इसलिये, ऐसे भक्तके द्वारा निरन्तर ही भगवान्‌का मनन होता है।

यहाँ ***'मौनी'*** का अर्थ 'वाणीका मौन रखनेवाला' नहीं माना जा सकता। इसके सिवाय वाणीका मौन रखने मात्रसे भक्त होना संभव होता, तो फिर सभी गूगे एवं बहरे भक्त हो जाते। [illegible]सुरी स्वभाववाले, दंभी व्यक्ति भी हठपूर्वक वाणीका मौन रखते हैं। इसलिये यहाँ मौनी वही है जो निरन्तर भगवत्स्वरूपका मनन करता रहता है।

## संतुष्टो येन केनचित्

*'सन्तुष्टो येन केनचित्'* पदका शाब्दिक अर्थ तो यही है कि प्रारब्धानुसार शरीर-निर्वाहके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसमें संतुष्ट रहे। परन्तु वास्तवमें भक्तकी संतुष्टिका कारण, अधिक या कम सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं होती। भक्तकी सतुष्टि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे भी नहीं होती। जो भगवान्को ही एकमात्र अपना किंवा अपनेको पूर्णरूपेण भगवान्का मानता है, ऐसा भक्त तो अपने भगवान्में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है। इस विलक्षण सतुष्टिके कारण, वह संसारकी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें पूर्णतया सम रहता है। उसके अनुभवमें प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भगवान्के परम मगलमय विधानसे ही आती है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहनेके कारण उसे *'संतुष्टो येन केनचित्'* कहा गया है।

## अनिकेतः

लौकिक अर्थमें *'अनिकेत'* लोग उसीको कहते हैं जिसका कहीं कोई वासस्थान नहीं है। परन्तु यहाँ गृहविहीनको अनिकेत नहीं कहा गया है। इस ससारमें शरीरको तो सभी प्राणियोंने अपना निवास बना ही रखा है। वस्तुतः जिनकी स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरमें आसक्ति है, इन्हें जो अपना मानते हैं, वे सर्वथा *'अनिकेत'* नहीं हैं। जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों प्रकारके जगत्को त्यागकर मात्र भगवान्को ही अपना निकेत अथवा आश्रय मानते हैं, वे ही भगवद्भक्त यहाँ *'अनिकेत'* पदसे लक्ष किये गये हैं।

## स्थिरमतिः

भक्तकी बुद्धिमें भगवत्तत्त्वकी सत्ता और स्वरूपके विषयमें कोई सन्देह अथवा विपर्यय नहीं होता। अतः उसकी बुद्धि भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे कभी, किसी अवस्थामें भी विचलित नहीं होती। इसलिये उसको *'स्थिर मतिः'* कहा गया है। भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये उसको कभी किसी प्रमाण या शास्त्र-विचार, स्वाध्याय आदिकी जरूरत नही रहती, क्योंकि वह स्वाभाविकरूपसे भगवत्तत्त्वमें तल्लीन रहता है।

स्थिर-बुद्धि होनेमें कामनाएँ ही बाधक होती हैं। अतः कामनाओंके त्यागसे ही स्थिर-बुद्धि होना संभव है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है :—

*भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।*
*व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।२।४४।।*

*प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।*
*आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।२।५५।*

अर्थात्, जिसका अन्तःकरण भोगोंके ऐश्वर्योंमें अत्यन्त आसक्त है एवं उनकी ओर खिंच गया है, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका स्थिर-बुद्धि हो ही नहीं सकती।२।४४।। जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी प्रकार त्याग कर देता है, अपने-आपमें अपने-आपसे ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें ही, उसकी बुद्धि स्थिर होती है और वह 'स्थित-प्रज्ञ' अथवा 'स्थिर-बुद्धि' कहलाता है । २।५५।।

जो भक्त भगवान्को अपना अथवा अपनेको प्रभुका मानता है, उसके अन्तःकरणमें सांसारिक सुखकी कामना नहीं रहती अपितु वह भागवती-आनन्द और भगवान्के संयोग-जन्य सुखमें उनके अलौकिक रूप-गुण-चिन्तनजन्य सुखमें मस्त रहता है। वह अपने प्रभुमें – जो उसकी आत्मा हैं, उनकी कृपा एवं प्रेमसे संतुष्ट रहता है, अतः उसकी बुद्धि पूर्ण स्थिर ही रहती है।

## भक्तिमान् मे प्रियो नरः

मनुष्य तो स्वाभाविक रूपसे ही भक्तिसे भरा है। भगवान् उसकी आत्मा हैं और आत्मामें सब जीवमात्रका अतिशय प्रेम एवं भक्ति स्वभावसे ही रहती है। जीवसे भूल यही होती है कि वह भगवान्को छोडकर शरीरको अपनी आत्मा मानने लगता है और तब वह नाशवान् क्षणभंगुर शरीर एव उसके भोगोंकी ओर खिंचकर उनकी भक्ति करने लगता है। इसीलिए, उसे स्वाभाविक, असीम, अखण्ड आत्मसुख तो मिलता नहीं और विषय-सुखोंसे उसकी तृप्ति होती नहीं। उसके जीवनमें नीरसता भरी रहती है। जो भगवान्को अपना मानते हैं अथवा अपनेको भगवान्का अंश समझते हैं, वे भक्त अपने भगवान् और उनके अपार आनन्दमें तल्लीन रहते हैं। यहाँ, इसीलिये ऐसे ही भक्तोंके लिये ***'भक्तिमान्'*** पद आया है। वे भगवान्को अपना जाननेवाले भक्त ही वास्तवमें अपने मनुष्य-जीवनको सार्थक करनेवाले हैं, वे ही वस्तुतः मनुष्य हैं। जो मनुष्य शरीर पाकर भी सासारिक भोग-संग्रहमें लगे हैं, वे नर तो द्विपद-पशु ही हैं, वे मनुष्य कहलानेके योग्य ही नहीं हैं। कहनेका इतना ही अर्थ है कि भगवान्को अपना माननेवाला भक्त स्वाभाविक ही सर्व-भक्तिगुणनिकेतन होता है। भगवत्कृपासे उसमें स्वाभाविक, बिना प्रयासके सम्पूर्ण दिव्य गुण स्वतः लबालब भर जाते हैं।

अतः उसे विपरीत धारणा अथवा परीक्षात्मक भाव कदापि-कदापि नहीं लाना चाहिये। 'मैं भगवान् का हूँ' – यह तथ्य है, यह मेरे मानने एव नहीं माननेकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्का और मेरा परस्पर जो सबध है वह

अटूट है, अखण्ड है, नित्य है।'

जैसे विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ होता चला जाता है। वह सम्बन्ध यहाँतक सुदृढ हो जाता है कि उसे यही लगता है कि 'मैं यहीं की हूँ, और ये ही मेरे हैं'। जब उसके घरमें पुत्र-वधुएँ आती हैं और खटपट करती हैं, तो वह यही कहती है कि इन परायी छोरियोंने मेरा घर बिगाड़ दिया, उसे यह याद ही नहीं रहता कि मैं भी पराये घरमें जन्मी हूँ। कन्याका पतिके घरसे तो मात्र माना हुआ संबंध ही है। हमारा तो भगवान्‌से अनादिकालसे नित्य-सम्बन्ध था, है एवं अनन्त कालतक रहेगा। वास्तवमें ससारके माने हुए मिथ्या संबंधोंके सुदृढ होनेसे ही हम भगवान्‌से हमारे सम्बन्धोंको भूल गये हैं।

अतः, आवश्यकता यही है कि इस मिथ्या भ्रमको आज, अभीसे ही त्यागकर पूर्ण निर्भय निश्चिंत हो जाएँ। भगवान्‌का पूर्ण भरोसा करें और संसारका भरोसा सर्वथा त्याग दें। आज आप लोगोंको सत्संगमें आनेका यही फल मिलना चाहिये कि आप सभी श्रोताओंकी, और मुझ वक्ताकी, दोनोंकी श्रद्धा एवं पूरा निश्चय भगवान्‌की पूर्ण सत्य उक्तिपर हो जाय कि हम सब भगवान्‌के थे, भगवान्‌के हैं और भगवान्‌के रहेंगे। संसारके न तो थे, न हैं एवं न ही रहेंगे। इस पूर्ण निश्चयको बारबार दोहराते हुए ही हम सब परस्पर विदाई लें ।

*।। राधाकृष्णौ वन्दे ।।*

---

।। श्रीराधा।।

उपदेश संख्या - दो

# स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः

*उपदेशक :*

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(भविष्यमें परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

*प्रवचन लिपिबद्ध करनेवाले :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्र एवं उनके सहयोगी अध्यापकगण

| *स्थान :* | दिनांक : | *प्राप्ति-सूत्र :* |
|---|---|---|
| गोविन्दभवन कार्यालय, | फरवरी १९३८ का | श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी |
| बाँसतल्ला, कलकत्ता | प्रथम सप्ताह | पत्र-संग्रहकी कापी |

## आलोक

*सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका कलकत्ता आये हैं। श्रीसेठजीके साथ पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज भी हैं। गीता-तत्त्वविवेचनी (श्रीमद्भगवद्गीताकी टीका) का लेखन-कार्य चल रहा है। इसी अवसरपर गोविन्दभवनमें मध्याह्नका सत्संग हो रहा है। लगभग चार-पाँचसौ लोगोंकी भीड़ है। भीड़में तीन-चौथाई स्त्रियाँ हैं। एक ओर स्त्रियाँ एवं दूसरी ओर पुरुष बैठे हैं। ''जय-सीताराम, सीताराम'' का कीर्त्तन चल रहा है। एक मंचपर वक्ताके बैठनेका आसन है। आसनपर काषाय वस्त्र पहने तरुण सन्यासी शान्त अर्द्ध-निमीलित नेत्र किये बैठे हैं। समय होनेपर वे संकेत देकर कीर्त्तन स्थगित कर देते हैं।*

*पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (तरुण सन्यासी) वक्ताके रूपमें मंगलाचरण प्रारंभ करते हैं :-*

### *मंगलाचरण*

*वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।*
*पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपितत्त्वमहं न जाने ।।१।।*

*पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति ।*
*सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः।।२।।*

*वसुदेवसुतंदेवं कंसचाणूरमर्दनम् देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।।३।।*

*एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकी पुत्र एव*

*एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ।।४।।*
*कस्तूरी तिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं ।*
*नासाग्रेवरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम् ।*
*सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावलिः*
*गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपाल चूडामणिः ।।५।।*
*सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादि हेतवे ।*
*तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।६।।*

***मेरे आत्मस्वरूप बन्धुओं एवं माताओं !***

हम सभी यहाँ सत्संग, भगवान्-सम्बन्धी शास्त्रोंकी श्रेष्ठ बातोंको कहने-सुननेके लिये एकत्रित हुए हैं। शास्त्रोंमें लिखी अच्छी श्रेष्ठ ऋषियोंकी अनुभूत बातें, कहने-सुनने एवं विचार तथा मनन करनेसे जीवनको भगवान्की ओर मोड़नेमें बहुत ही सहायता मिलती है। कहने-सुनने एवं मननपूर्वक विचार करनेसे ही ये बातें अनमोल, कीमती, दामी एवं उपयोगी समझमें आती हैं, तभी उनको जीवनमें धारण करनेकी प्रेरणा भी होती है। यदि सचमुच ही ये बातें हमारे जीवनका अङ्ग बन जाती हैं, हमारे द्वारा धारण हो जाती हैं, तो हम महापुरुष, महात्मा हो जाते हैं। भगवान् तो समान रूपसे सभीके हैं, चाहे वह किसी भी धर्मके माननेवाले हों, स्त्री हों, बच्चे हों, पुरुष हों, युवक हों, वृद्ध हों।

यहाँ जितनी भी माता-बहनें अथवा भाई बैठे हैं, सभीने भक्तराज ध्रुवकी कथा तो अवश्य सुनी होगी। अनेक माताओंने अपने पुत्रोंको भी यह कथा अनेक बार सुनायी होगी। परन्तु हममेंसे किसीके भी पुत्रने भगवान्को प्राप्त नहीं किया। हमे स्वयको भी इस कथाको सुनकर भगवान्के दर्शनकी वैसी प्रेरणा नहीं हुई, जैसी भक्तराज ध्रुवजीको हुई थी।

ध्रुवजीका तो बहुत ही हलका अपमान हुआ था। हम सबका तो हमारे परिजन अनवरत इससे कितना ही गुना अधिक अपमान कर चुके हैं, फिर भी हम भगवान्में न तो अबतक लगे, और न ही लग रहे हैं।

इसका एक ही कारण समझमें आता है कि हमारा चित्त बहुत ही मैला है। हम लोग संसारसे अनवरत दुःख, शोक, तिरस्कार, कृतघ्नता, मृत्यु पीड़ाएँ, अभाव पाकर भी संसारसे ही चिपके रहना चाहते हैं, संसारको मनसे त्यागकर किनारे हो, भगवान्में नहीं लगना चाहते। जहाँ ध्रुव जैसा छोटा मात्र पाँचवर्षका बालक, अपनी सौतेली माताके तनिकसे कटु-वचनोंसे ही [illegible] गया, और भगवान्के चरणोंके प्रगाढ़ ध्यान एवं चिन्तनमें अतिशय [illegible]पूर्वक

लग गया, हम प्रतिदिन ध्रुवजीसे कितना ही गुना अधिक तिरस्कार पाकर भी संसारसे राई-रत्ती भी अपना मन हटा लेनेका संकल्प नहीं करते ।

जब भक्त बालक ध्रुव अतिशय छोटी शिशु अवस्थामे ही सब कुछ त्यागकर एकान्तरूपसे भगवान्‌की आराधनाके लिये वनमें चल पडा, तो राहमें उसे महर्षि नारद मिले। उन्होंने उस बालकको उसी प्रकार समझाया जैसा दुखी होनेपर प्रायः घरके भाई-बन्धु हमें समझाया करते हैं। नारदजी कहने लगे– "वत्स ! अभी तो तू निरा अबोध बच्चा ही है। संसारमें लोगोंको पद-पदपर कितने अधिक तिरस्कार सहने पड़ते हैं, तुझे अभी इन बातोंका ज्ञान ही कहाँ है ? भाव-अभाव, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु सब मात्र अपने कर्मोंके ही फल हैं। अत: उन्हें भोगकर काटनेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं है। बुद्धिमान पुरुषको चाहिये कि उसे जैसी परिस्थिति मिले, उसे भगवान्‌का परम मंगलमय विधान समझकर, उसीमें परम संतुष्ट रहे। भाई, तू भगवान्‌की आराधना करने चला है, परन्तु बड़े-बड़े योगी लोग अनेकों जन्मोंतक संसारसे अनासक्त रहकर समाधि-योगके द्वारा बड़ी-बड़ी कठोर तपस्याएँ करके भी भगवान्‌के मार्गका पता नहीं पाते। इसलिये बेटा, तू हठ छोड़कर घर लौट जा। बड़ा होनेपर शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् जब तेरी परमार्थ-साधनामें प्रवेश करने योग्य बुद्धि हो जाय, तब भगवान्‌की आराधना कर लेना।"

"बेटा ! भगवान्‌के विधानानुसार सुख-दु:ख, जो भी प्राप्त हो, उन्हें तितिक्षापूर्वक सहकर चित्तको सदा सम और सन्तुष्ट रखना चाहिये। यदि तेरे पिता तेरे लघु भ्राता उत्तमको राज्य-समृद्धि देते हैं, एवं तुझे नहीं देते तो भी उसका सुख देखकर तुझे उलटे प्रसन्न ही होना चाहिये।"

नारदजीके इस प्रकार बहुत समझाने एवं घर भेजनेका बहुत आग्रह करनेपर भी दृढ़ निश्चयी ध्रुव भगवान्‌को प्राप्त करनेके अपने संकल्पपर अटल रहे। उन्होंने नारदजीको बहुत ही प्यारा सटीक उत्तर दिया। भक्तराज ध्रुव कहने लगे – "भगवन् ! आप ब्रह्माजीके पुत्र हैं और सूर्यदेवकी तरह त्रिलोकीमें लोगोंको भगवान्‌का दान करते हुए ही विचरण करते हैं। आप तो मुझे कृपाकर भगवान्‌की प्राप्तिका ही साधन बताइये। दयाकर उपरोक्त प्रकारकी बहकाने-फुसलानेवाली बातें कहकर मुझे पुन: संसार-चक्रमें लौटानेकी चेष्टा मत कीजिये।"

भक्त-बालक ध्रुवको अपनी माता सुनीतिके द्वारा मात्र कुछ ही क्षणोंका थोडा-सा सत्संग प्राप्त हुआ था, परन्तु उन दो-चार क्षणोंके सत्संगसे ही उन्होंने अपनी वृत्तियोंको, भगवन्मुखी बना लिया। उन्होंने इस सत्संगके प्रभावसे मात्र पाँच वर्षकी अति अल्पवयमें ही भगवान्‌के चरणोंकी कृपा प्राप्त कर ली।

इसी प्रकार महाराज परीक्षित् चक्रवर्ती सम्राट् थे। सम्पूर्ण विश्वमें उनका एकछत्र सार्वभौम राज्य था। वे वयमें अभी युवक ही थे। एक दिन वे धनुष लेकर वनमे शिकार खेलने गये थे। हरिणोंके पीछे दौडते-दोड़ते वे थक गये। उन्हें बहुत ही जोरकी भूख-प्यास लगी। उन्हें आसपासमें कहीं भी जलाशय जब नहीं दिखा, तो वे पास ही स्थित एक ऋषिके आश्रममें प्रवेश हो गये। उन्होंने देखा कि शमीक मुनि समाधिमें ध्यानस्थ बैठे हैं। राजा अत्यंत प्यासे थे, अतः उन्होंने ऋषिकी समाधि-अवस्थामें ही उनसे जल पिलानेकी याचना कर दी। उनका प्याससे गला सूखा जा रहा था। वे भूख-प्याससे छटपटा रहे थे। परन्तु भगवान्‌के ध्यानमें मन एवं बुद्धिके निरुद्ध हो जानेसे ऋषि तो जाग्रत्, स्वप्न एव सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओंसे रहित, निर्विकार, ब्रह्मरूप तुरीय-पदमें स्थित थे। जब राजाको ऋषिने न तो पानी पिलाया, न ही उठकर आदर-सत्कार ही किया, तो उन्हें ऋषिका आचरण अपना अपमान लगा। वे क्रोधके वशीभूत हो गये। एक ब्राह्मण ऋषिपर क्रोधित होनेका उनके जीवनमें यह पहला ही अवसर था। राजासे प्रमाद हो गया और क्रोधके वशीभूत हुए उन्होंने ऋषिके गलेमें धनुषकी नोकसे उठाकर एक मरा हुआ साँप डाल दिया, एवं अपनी राजधानीमें लौट आये। उन शमीक मुनिका पुत्र बहुत ही तेजस्वी था। वह दूसरे ऋषिकुमारोंके साथ वहीं थोड़ी दूरीपर खेल रहा था। जब उस बालकने राजाकी करतूत जानी, तो उसने तुरन्त राजाको श्राप दे दिया – "कुलाङ्गार परीक्षित् ! तूने भगवद्भजनरत मेरे पिताका अकारण अपमान किया है; जा, आजके सातवें दिन तुझे तक्षक सर्प डस लेगा।"

राजधानीमें पहुँचते-पहुँचते राजा परीक्षित्‌का क्रोध तो उतर गया और उन्हें समाधिस्थ ब्राह्मणके प्रति किया अपना घृणित कर्म बहुत ही परिताप देने लगा। वे, इस प्रकार अपने किये पर परिताप कर ही रहे थे कि इतनेमें ही उन्हें समाचार मिला कि ऋषिकुमारके शापसे उनके जीवन-कालकी अवधि मात्र सात दिन ही रह गयी है और तक्षक नाग आजके ठीक सातवें दिन उन्हें डसकर मृत्युदान दे देगा।

परीक्षित्‌जीने इस शापको वरदान मान लिया। महाराज परीक्षित् परम धीर थे। वे आसन्न मृत्यु देखकर सर्वथा घबड़ाये नहीं। यदि हममेंसे किसीको भी यह पता चल जाए कि हमारी मृत्यु मात्र सात दिन पश्चात् है, तो हम सारे कुटुम्बियोंको दूर-दूरसे बुलाकर अपनेसे चिपका लेंगे, दिन-रात हम एवं हमारे कुटुम्बी धन-सपत्तिके बँटवारेमें ही लड़ते-झगड़ते रहेंगे। परन्तु परीक्षित्‌जीने तो अपनेको राज-पाट, घर-परिवार सबसे सर्वथा पृथक्, निरासक्त करके

गंगा-तटका आश्रय ले लिया। उन्होंने ब्राह्मण-बालकपर तनिक भी क्रोध नहीं किया, अपितु उन्होंने ब्राह्मण बालकके श्रापको भगवान्‌की अनन्त कृपा ही समझा। वे सोचने लगे – "हाय ! निरन्तर देह-गेहमें आसक्त रहनेके कारण मैं पाप-रूप ही हो गया था। अब मुझे परम विरक्त हो जाना चाहिये, और अपने चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें पूर्ण-रूपेण समर्पित कर देना चाहिये। भले ही मुझे भविष्यमें अपने कर्मोंवश चाहे जिस योनिमें जन्म लेना पड़े, अब तो मुझे यही उपाय करना है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोमें मेरा अनुराग हो, उनके चरणाश्रित महात्माओंमें मेरी विशेष प्रीति हो जाय। वे आमरण अनशन करके अन्न-जल त्यागकर गंगातट पर बैठ गये।

उसी समय पृथ्वीपर स्वेच्छासे विचरण करते श्रीशुकदेव मुनि पधार गये। व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी महाराजके सत्संगसे परीक्षित्‌जी मात्र सात दिनमें ही देव-दुर्लभ परम-पद प्राप्त कर गये।

हम विचार करें, पाँच वर्षके बालक ध्रुवने श्रीनारदजीसे मंत्र-दीक्षा और भगवान्‌का ध्यान सुनकर मात्र छः माहमें भगवान्‌को प्राप्त कर लिया। युवक राजा परीक्षित् मात्र सात दिनमें ही श्रीशुकदेवजी महाराजकी कृपासे भगवान्‌के गुणगान सुनते हुए मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर परम-धाम गये। अब वृद्ध राजा खट्वाङ्गकी कथा सुनें। उसे तो मात्र दो घडी पूर्व ही, अर्थात् मृत्युके अड़तालीस मिनट पूर्व पता चला कि उसकी मृत्यु होनेवाली है। वे मात्र दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनटके समयमें ही सब कुछ त्यागकर भगवान्‌के अभयपद को प्राप्त कर गये।

यह सब तभी हुआ, जब इन सभीने भगवान्‌को ही अपने जीवनका सर्वस्व मानकर उन्हें प्राप्त करनेका दृढ निश्चय कर लिया एवं सभी वृत्तियोंको सासारिक नाशवान् पदार्थोंसे पूरी तरह हटा लिया।

हम सब बड़े भाग्यवान् हैं। हमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, श्री तुलसीकृत रामचरितमानस – जैसे सद्ग्रंथ सुलभ हैं। हमें इन ग्रन्थोंका प्रतिदिन सत्संग भी प्राप्त है। फिर भी यदि हम इस सत्सगसे चित्तवृत्ति शुद्धकर भगवान्‌के चरणोंमें अनन्य प्रेम नहीं करते, नाशवान् दुःखोंके घर, क्षण-भगुर इस शरीर और आने-जानेवाली धन-मायामें ही फँसे रहते हैं, तो हमारे जैसा अभागा दूसरा कौन है ? कहते हैं, अपने कल्याण-साधनकी ओरसे असावधान रहनेवाले पुरुषोंको वृक्षों और साँपोंके समान, यदि हजारों वर्षोंकी आयु भी मिल जाय, तो भी वे उसे व्यर्थ ही प्रमाद तथा निद्रा-आलस्यमें खो देंगे और यदि किसीको आधी घड़ीकी ही आयु मिले और वह उस आयुमें ही भगवान्‌की ओर अपनी

वृत्तियोंको मोड़ दे, शरीरादि सासारिक पदार्थोंको, जो नाशवान् है, अपने नहीं हैं, भगवान्की क्षण-भगुर माया समझ ले और अपनेको भगवान्का समझ, 'मैं' एवं 'मेरे' को भगवान्के चरणोंमे आत्मीयतासे संयुक्त कर दे, तो उसकी आधी घड़ीकी आयु भी सफल हो जाती है। वह अनादि, अनन्तकालसे चौरासीके चक्करमें भटकते रहनेका परम फल मात्र आधी घड़ी (बारह मिनटों) में ही प्राप्त कर लेता है।

विचार करें, परमार्थकी सर्वोच्च उपलब्धि क्या है ? जब भगवान्ने हमपर ऐसी कृपा कर दी कि सर्व साधनोका धाम यह मानव-जन्म हमें दे दिया, तो अब हमें इस मानव-जन्मका पूर्ण सदुपयोग कर, ज्ञान एवं भक्तिकी जो भी सर्वोच्च स्थिति हो, वही प्राप्त कर लेनी चाहिये।

हम चाहें तो मात्र बारह मिनट, अर्थात् आधी घडीके सद्विचारोंसे अपना जीवन बदल सकते हैं एव भक्ति और ज्ञानकी सर्वोच्च अवस्था भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान्से उच्च न तो कोई पद है, न ही कोई उच्च स्थिति (गति) ही संभव है। मनुष्य-मात्रको भगवान्ने अपनी अनन्त आत्मीयतावश विवेक अथवा विचार-शक्ति नामक एक ऐसा अमोघ अस्त्र दिया है जिससे वह चाहे तो सम्पूर्ण माया-प्रवाहको काट सकता है। ज्ञानयोगका साधक इसी विचारशक्तिसे सत्-असत्, जड़-चेतनका विवेककर, अलगाव करके अपने स्वरूप (अखण्ड चेतन) में स्थित हो सकता है। भक्तियोगका साधक, उसी विचारशक्तिसे 'मैं परमात्माका हूँ', और 'परमात्मा मेरे हैं' – इस प्रकार भगवान्से आत्मीयता करके अपना उद्धार कर सकता है। कर्मयोगका साधक उसी विचार-शक्तिसे शरीर, इन्द्रियों, एवं मन-बुद्धि आदि पदार्थोंको संसारका ही मानते हुए संसारकी सेवामे लगाकर, उन पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद मान लेता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। हमारी विचार-शक्तिका यदि हम सदुपयोग करें, तो इन तीनों प्रकारके निश्चय करनेमें हमें बारह मिनट भी नहीं लगेंगे, क्योकि जो भी अशाश्वत, विनाशी एव दुःखालय है उससे संबंध जोड़नेका अथवा उससे जुडे रहनेका अनुमोदन किसी भी विचारशील प्राणीकी बुद्धि नहीं कर सकती और अविनाशी, आनन्दस्वरूप, नित्य-सनातन परमात्मासे ही अपना नित्य अखण्ड आत्मीय संबंध है – यह समझनेमें कोई बुद्धिमान् विचारशील प्राणी विलम्ब नहीं कर सकता। हम यदि मात्र बारह मिनट ही सही प्रकारसे विचार करें तो हमें पता चल जायेगा कि हम यह शरीर कदापि नहीं हैं। शरीर बदलता रहता है, और हम कभी नहीं बदलनेवाले, एकरस हैं। जो हम शिशु अवस्थामें थे, वही हम बाल्यावस्थामें रहे, वही हम युवावस्थामें हैं एवं वही

वृद्धावस्थामें भी रहेंगे। यह शरीर भी हमारा नहीं है, क्योंकि इसे हम जैसा चाहें, वैसा यह रह नहीं सकता। शरीरपर हमारा वश भी नहीं है, यह स्वतंत्र है, इसे हम जितने दिन रखना चाहें, उतने दिन यह रहनेवाला भी नहीं है। जैसा सबल, नीरोग इसे बनाना चाहें, यह बन नहीं सकता। यह हमारे लिये भी नहीं है, क्योंकि, यदि हमारे लिये होता, तो इसके मिलनेसे हम पूर्ण संतुष्ट हो जाते। यह परिवर्तनशील है, हम अपरिवर्तनशील हैं। अपरिवर्तनशीलके परिवर्तनशील काम आ ही नहीं सकता। यह हमारा सजातीय भी नहीं है। यह हमारे लिये होता, तो इसे जितने दिन हम अपने पास रखना चाहते – यह रहता। परन्तु यह हमारे वशका भी नहीं है और यह निश्चय ही हमारे लिये भी नहीं है। इन वास्तविकताओंको हम मात्र आधी घड़ी (बारह मिनट) में ही विचार करके शरीरसे अपनेको सर्वथा पृथक् देख सकते हैं। ये विचार स्त्री, पुरुष एवं बालक, सभी थोड़ी विचारशीलता रखकर कर सकते हैं। इन विचारोंको करनेके लिये, न बहुत बड़ी विद्वत्ताकी डिग्रियाँ चाहिये, न ही कोई बहुत अधिक शास्त्र-विचार। यह निश्चय तो साधारण प्राणी थोड़ेसे तर्क द्वारा कर सकता है।

बस, ऐसा विचारकर हम परिवर्तनशील प्राकृत पदार्थोंके साथ राग त्याग दें, हम उनको ही सर्वाधिक महत्व देकर उनका दास कदापि नहीं बनें। अपनेको उनके आधीन सर्वथा नहीं मानें। अपने लिये उनकी आवश्यकता भी नहीं समझें। असत् पदार्थोंके आश्रयका सर्वथा त्याग करके अपने समस्वरूप भगवान्में अखण्डरूपसे स्थित हो जायें। भगवान्से जुड़कर समताका प्राप्त होना तो हमारे घरकी वस्तु है। भगवान्को हमें कहीं भी बाहरसे लाना नहीं है, हमारे अन्दर सत्स्वरूप भगवान् तो भरे ही हैं। हम सत्स्वरूप भगवान्के अंश हैं, । बस, असत् पदार्थों एवं क्रियाओं (चेष्टाओं) से राग करनेके कारण ही सत्य हमसे ओझल हो गया है। असत्का राग हटते ही सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति तो स्वतःसिद्ध ही है।

तो कहनेका यही अर्थ है कि परमात्माको प्राप्त करनेकी कोई भी अवधि नहीं है। जैसे ही मनुष्य शरीर एवं इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त हुआ, उसने असत्, नाशवान्, परिवर्तनशील पदार्थोंसे अपने रागका निवारण किया, बस, वैसे ही उसी क्षण वह भगवान्को प्राप्त हो जाता है।

इसे फिरसे ठीक प्रकारसे समझ लें। हमें परमात्माकी नित्य, सब समय प्राप्ति है। उसे प्राप्त करनेमें शरीर, मन एवं इन्द्रियोंकी किसी भी चेष्टाका आश्रय लेनेकी सर्वथा आवश्यकता नहीं है। शरीर, शरीरके उपयोगी समस्त पदार्थ, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिजन्य हैं। जब शरीर ही नाशवान् है, तो सारी क्रियाओं, चेष्टाओंका भी आरंभ एवं अन्त है। हम नित्य हैं, हमें

अनित्यमें किसी भी प्रकार फँसना नहीं है। अनित्यको अनित्य समझकर मात्र अपना रागजनित सम्बन्ध-भर विच्छेद कर लें, नित्य तो प्रकट हो ही जायगा। असत्से सम्बन्ध हटते ही सत्पर आरूढ़ तो हम हैं ही।

एक बात और समझ लें – हमने स्वयंने ही अपना पतन किया है। हमने संसारके संबंधको पकड़ा है, ससारने हमको कहीं कुछ भी नहीं पकड़ा है। जैसे बाल्यावस्थाको हमने नहीं छोडा, वह स्वतः ही हमसे छूट गयी, हमारा जवानी और बुढ़ापेके साथ भी संबध निश्चय ही स्वतः, बिना प्रयास छूट जायेगा । हमारी मूर्खता यही है कि जब पुराना सम्बन्ध हमको छोड़ देता है, हम पुनः नये शरीर सम्बन्धको पकड़ लेते हैं। यदि हम सावधान होकर, जो हमें छोड़ रहा है उसके रागसे निवृत्त हो जावें, तो बस, हम परमात्मासे इसी क्षण एक हो जावेंगे, क्योंकि परमात्माके सिवाय सब कुछ स्वत ही हमें छोड़ रहा है। हमें उसे छोड़नेकी कोई चेष्टा, प्रयास, श्रम कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। हम बस, इसपर दृष्टि जमाकर सावधानीपूर्वक देख लें कि शरीर एवं संसारके साथ हमारा जो भी संयोग है, वह प्रतिक्षण स्वतः छूट रहा है और परमात्मासे हमारा संबंध नित्य अटूट एव अखण्ड स्वतःसिद्ध है, परमात्मासे हमारा संबंध कभी, किसी भी कारणसे छूट ही नहीं सकता।

मनुष्य-जन्म सम्पूर्ण जन्मोंका अन्तिम जन्म है। भगवान्ने जीवको मनुष्य शरीर देकर उसे जन्म-मरणके प्रवाहसे अपनेको अलग करनेका अचूक अवसर दिया है, साथ ही अपनी प्राप्तिका पूरा अधिकार भी दिया है।

परन्तु यह मनुष्यकी घोर मूढता ही है कि ऐसा अवसर पाकर भी वह विषयोंमें रागी हुआ, पुराने प्रवाह – जन्म-मरणके चक्करमें चला जाता है।

*अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि (गीता ९।३।*

मनुष्य-जन्म केवल अपना कल्याण अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। विषयोंका सुख तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो जाता है। यह मनुष्य-जन्म तो सम्पूर्ण जन्मोंका आदि-जन्म है। सम्पूर्ण जन्मोका आरभ मनुष्य-जन्मसे ही होता है। मनुष्य-जन्ममें किये हुए पाप एवं बढ़ाई हुई वासनाएँ चौरासी लाख योनियो और नरकोमें भोगनेपर भी समाप्त नहीं होतीं। मनुष्य यदि सँभल जाय, तो वह इस एक मनुष्य-जन्ममें ही, मात्र पापोंका ही नहीं, अपितु पापोंकी योनि (उत्पत्ति-भूमि) समग्र वासनाओंका भी समूल नाश करके अपना कल्याण कर सकता है तथा अपने परम एवं चरम लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। भगवान्ने मनुष्यको पूरा अधिकार, पूरी स्वतंत्रता दी है। वह चाहे तो इस मनुष्य-जन्मका दुरुपयोग कर भविष्यमें नये-नये जन्मोंकी तैय्यारी कर ले अथवा अपनी वृत्तियोंको

भगवान्मे लगाकर पूर्ण-रूपेण अपना उद्धार कर ले तथा अपने स्वरूप भगवान्का साक्षात्कार कर ले । भगवान्ने श्रीमद्भागवद्गीताके आठवें अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है :–

*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।*
*तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।८-६।।*

अर्थात्, मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोडता है, वह उसी भावसे भावित होता हुआ, उस-उस योनिमें चला जाता है।

जब अन्तकालके स्मरणके अनुसार ही गति होती है, तो हमें यही चेष्टा करनी है कि हमें अन्तकालमें भगवान्का ही परम पावन स्मरण हो। यहाँ यह ध्यान रहे कि स्मरण उसी वस्तुका होता है, जिसके साथ हमारा अपनापन है। जिस वस्तुके साथ हमारा अपनापन सुदृढ़ है, मृत्युके समय हम उसीका स्मरण करते हैं। जिसको हम स्वभावतः अपना मानते हैं, उसीमें स्वाभाविक ही हमारी मन एवं बुद्धि भी लगी रहती है। यदि हमें अन्तसमयमें भगवान्का स्मरणकर भगवान्को ही प्राप्त करना है, तो हमें अपनी मान्यताओंमे सुधार करना ही होगा। हमें किसी भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु, व्यक्ति, घटना, एवं परिस्थिति आदिका आश्रय नहीं रखना होगा। हम परमात्माके हैं, तो हमें परमात्माका ही आश्रयी होना होगा।

यह सदा ध्यान रहे कि जीव परमात्माका अंश होनेसे नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। और वह जिन-जिन सांसारिक नाशवान् वस्तुओ, व्यक्तियों आदिका आश्रय लेता है, वे उत्त्पत्ति-विनाशशील एव प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाले हैं। ये विनाशी एव परिवर्तनशील होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं और यह जीव उनको खोकर रसहीन, सर्वथा रीता-का-रीता, दुखी हो जाता है। यह जीव वस्तुओंको तो खो देता है, परन्तु उनके रागको नहीं खो पाता और यह राग ही उसको मृत्युके समय अनेक ऊँची-नीची योनियोंमें जन्म दे देता है। अगर यह विनाशी वस्तुओंका त्याग कर दे, तो वह मृत्युके समय अचिन्तनकी दशा प्राप्त कर मुक्त हो जाय और यह यदि अपने रागको विनाशी एवं परिवर्तनशील वस्तुओंसे हटाकर नित्य, अविनाशी भगवान्के चरण-कमलोंके चिन्तनमें डुबा दे, तो उसे भगवान्के सामीप्य, सायुज्य, सार्ष्टि एवं सालोक्यकी प्राप्ति हो जाय। इसीलिए, हमें अपनी पहलेसे बनायी हुई इस मान्यताको मिटाकर कि ये भोग हमारे हैं, ये ऐश्वर्य, भूमि-भवन हमें चाहिये, अपने अन्तःकरणमे भगवान्के सिवाय अन्य किसीको भी कोई महत्त्व एवं आश्रय नहीं देना चाहिये।

इसे पुनः गंभीरतापूर्वक समझ लें। हमारा शरीर हमें कर्मफलसे प्राप्त है,

परन्तु हमारी शरीरके प्रति अहंता-ममता मात्र मानी हुई है। यह कर्मफलका भोग सर्वथा नहीं है। जैसे, मनुष्य जब ब्रह्मचारी होता है, उस समय वह अपनेको गृहस्थ कदापि नहीं मानता, फिर ज्योंही वह गृहस्थ होता है, उसी क्षण ब्रह्मचारी मानना छोड देता है। इसमे उसे कोई विशेष प्रयास नहीं करना पडता। वह एक क्षणमें ही ब्रह्मचारी होना छोड़कर गृहस्थ हो जाता है। इसी प्रकार, वही गृहस्थ जब साधु हो जाता है, तो उसकी उसी क्षण 'मैं गृहस्थ हूँ' यह मान्यता भी मिट जाती है। इसी प्रकार, वस्तुसे भी हम अपना सम्बन्ध तत्क्षण तोड़ लेते हैं। हमारा बहुत ही प्यारा मकान है, हमारी दुकान एवं व्यापारिक प्रतिष्ठान है, हम उन्हें बेच देते हैं और ज्योंही हमने उनको बेचकर कीमत वसूल की, हमारी उस वस्तुमे ममता तत्क्षण ही मिट जाती है। हमे रुपया मिलते ही, भले दूसरे ही दिवस उन सभीमें आग लग जाय, हमें उनके विनाशसे किंचित् भी दु:ख नहीं होता। इसी प्रकार, यदि उनकी चाहे दूसरे ही दिन सैकड़ो गुनी आय-वृद्धि हो जाय, हमें उससे सर्वथा हर्ष नहीं होता। इससे यही सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण अहता-ममता मानी हुई है, वास्तविक नहीं है।

जब सम्पूर्ण अहता और ममता मात्र मानी हुई ही है, तो उसे हम ससारसे हटाकर परमात्मामे बहुत ही आसानीसे जोड सकते हैं। अगर हमारी अहता एव ममता ससारके प्रति वास्तविक होती, तो वह मिटायी नहीं जा सकती थी। इसी प्रकार, जब हम परमात्माके अश हैं, तो हमारी परमात्माके साथ ऐसी एकता है कि वह मिट ही नहीं सकती, अमिट है, उसे हटायी नहीं जा सकती। फिर ससारके साथ हमारा सबध स्वतः ही टूट जाता है। जैसे बाल्यावस्थामे हमे खिलौने प्राणोसे प्यारे लगते हैं, परन्तु, जवानीमे मनुष्य रुपये-पैसे, खेत-जमीन, मकान, दुकानमे उलझ जाता है, खिलौनोके प्रति उसका अपनापन स्वतः ही छूट जाता है। इसी प्रकारसे, मृत्युको प्राप्त होनेपर अथवा निद्रित हो जानेपर हम खेत-जमीन, मकान-दुकान, रुपए-पैसे, स्त्री-पुत्र सबको भूल जाते हैं। इसीलिये, यही सिद्ध होता है कि सासारिक अहता-ममता सुगमतापूर्वक छोडी जा सकती है और परमात्मा नित्य हमारा है ही, अत उसे अपना समझना भी परम सुगम ही है।

हम स्वय नित्य हैं, शरीर एव ससार अनित्य है। नित्यके साथ अनित्यका संबंध कभी टिक ही नहीं सकता। अनित्य किसी भी क्षण नष्ट हो जायेगा और नित्य एकरस, अखण्ड, अविनाशी है, सदा रहेगा। शरीर और ससारके साथ अपना सबध है नहीं, मात्र माना हुआ है। इनपर 'मैं' एव 'मेरेपन' का आरोप कर लिया गया है। शरीर एव ससार प्रकाश्य है और हम प्रकाशक हैं। शरीर

एकदेशीय है और हमारा स्वरूप देशातीत है। शरीर जड है और हमारा स्वरूप चेतन है। शरीर ज्ञेय है और हमारा स्वरूप ज्ञाता है। स्वरूपका ज्ञातापन भी शरीर और संसारको लेकर ही है। अगर शरीरकी दृष्टि हटा दी जाय, तो स्वरूप ज्ञातृत्व-रहित, चिन्मात्र है, केवल चितिरूपसे रहता है। इस चितिरूपमें "मैं" एवं 'मेरा-पन' है ही नहीं। इसमें अहंता-ममताका अत्यंत अभाव है। वह चिन्मात्र परमात्म-स्वरूप ही है। बस, इससे यही प्रमाणित होता है, शरीर एवं ससारसे अहंता, ममता जैसे ही मिटी, परमात्मा हमें तत्क्षण ही नित्य प्राप्त हो जाता है।

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है, जो सबका आधार और प्रकाशक है, जो सबमें परिपूर्ण है, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्तिसे पहले भी था, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके रहते हुए भी है और जो अनन्त-ब्रह्माण्डरूप भी है, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके लीन होनेपर भी रहेगा, उस परमात्माकी पूजा भला हम कैसे कर सकते हैं ? शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण एवं प्रवृत्तिके अनुसार अनेक कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं। उन सभीसे परमात्माकी पूजा होती रहती है। बस, हमारी समझ यह बनी रहे कि हम अपने साधारण-से-साधारण कर्मसे भी भगवान्की पूजा ही कर रहे हैं। अगर मनुष्य, मात्र यह भाव रखे कि मैं परमात्माकी आराधना ही कर रहा हूँ, तो उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ ही परमात्माका पूजन हो जायेंगी। जैसे पितामह भीष्मने अर्जुनके साथ युद्ध करते समय उसके सारथी बने भगवान्की अपने युद्ध-रूप कर्मके द्वारा पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्का कवच टूट गया, भगवान्के सारे शरीरमें बाणोंने प्रवेश कर-करके घाव कर दिये। हाथकी अँगुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे भगवान्की परम सुकोमल अँगुलियाँ लगाम पकड़नेमें असमर्थ हो गयीं; परन्तु भगवान्ने अपने घायल कर देने रूप कर्मको भी भीष्म द्वारा श्रद्धापूर्वक किये जानेके कारण अपनी पूजा ही माना। ऐसी पूजा करनेके पश्चात् पितामह भीष्म शरशय्यामें पड़े-पड़े अपने युद्धकर्मद्वारा पूजित एवं बाणोंसे ही पाद्य-अर्घ्य ग्रहण किये हुए भगवान्का ध्यान करते हैं :-

*युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये ।*
*मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ।।*

(श्रीमद्भागवत् १।९।३४)

अर्थात्, युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोडोंकी टापोंसे उडी हुई रज जिनकी सुन्दर अलकावलिमें लगी हुई

है, इस प्रकार बाणोंसे अलंकृत भगवान् श्रीकृष्णमें मेरे मन-बुद्धि लग जावें।

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोंके लिये छः कर्म बताये गये हैं। स्वयं पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना – ये ब्राह्मणके कर्तव्य कर्म हैं और पढ़ाना, यज्ञ कराना, तथा दान लेना – ये उसके आजीविकाके कर्म हैं। इनके अतिरिक्त शम, दम, नियम, जप, तप, तितिक्षा, ध्यान, धारणा, एवं समाधि, ये नौ ब्राह्मणके स्वभावज कर्म हैं, इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, चलना-फिरना आदि जितने भी कर्म हैं, उन सभी कर्मोंको, भगवान्‌को श्रद्धापूर्वक अर्पणकर ब्राह्मण भगवान्‌का सब समय पूजन करे। इसी प्रकार, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सभी अपने वर्ण एवं आश्रमोंके अनुसार सेवाके द्वारा भगवद्‌बुद्धिसे अतिश्रद्धापूर्वक भगवान्‌की अपने सभी कर्मोंके द्वारा पूजा कर सकते हैं।

लौकिक एव पारमार्थिक सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन तो करना चाहिये, परन्तु उन कर्मों और उनको करनेके उपकरणोंमें, और इन्द्रियोमें ममता नहीं रखनी चाहिये। इसका कारण यही है कि जिन वस्तुओं, क्रियाओंमें ममता हो जाती है, वे सभी वस्तुऍं अपवित्र हो जाती हैं । जैसे भगवान्‌के भोगके लिये वस्त्र, आभूषण, अलकार एवं प्रसाद (भोजन) सामग्रीमें अपनी ममता रखनेसे वे सभी वस्तुएँ अपवित्र हो गयीं, ऐसा माना जाता है। हमें भगवान्‌की पूजा करते समय ***'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्'*** का भाव ही रखना चाहिये, क्योंकि भगवान् किसीके भी ममत्व-मलसे दूषित वस्तु कदापि ग्रहण नहीं करते। 'प्रकृतिमें जो कुछ है, सब परमात्माका है; 'मैं तो मात्र निमित्त हूँ' – इस भावसे जो कुछ किया जाता है, वही निर्मल होता है और निर्मल भाव, निर्मल वस्तुओंसे ही भगवान् अपनी पूजा ग्रहण करते हैं। जिन क्रियाओं, वस्तुओं आदिको मनुष्य जितनी अपनी मान लेता है, उतनी ही वे परमात्माके पूजनसे वंचित हो जाती हैं। जो भी वस्तु चाहे वह एक तुच्छ फूल, एक तृण, एक पत्र ही हो, यदि उसे व्यक्तिने स्वयं भोग लिया, अपनी मान लिया, उसे भगवान् भला कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? अपने सम्पूर्ण कर्मों एवं प्राकृत पदार्थोंसे परमात्माका पूजन करनेवाला मनुष्य प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित हो जाता है क्योंकि उसका सब समय यही भाव रहता है, शरीर एवं इन्द्रियों-सहित सम्पूर्ण प्रकृति-पदार्थ भगवान्‌के हैं, भगवान्‌के लिये हैं, अतः भगवद्रूप ही हैं। ज्योंही मनुष्य प्रकृतिके राग एव सम्बन्धसे रहित हुआ, वह स्वतः ही अपने प्रियतम भगवान्‌का हो जाता है। भगवान्‌के प्रति बारबार अपने शरीर और अहंताको समर्पित करते रहनेके कारण उसका प्रभुमें अनन्य प्रेम जाग्रत् हो जाता है। प्रभु-प्रेमके प्राप्त होते ही फिर उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

यहाँ मनुष्य शब्दका अर्थ मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र एवं वैश्य ही नहीं लेना चाहिये, वरन् मनुष्यमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी, यहूदी, सभी जाति एव धर्मके व्यक्ति सम्मिलित हैं। मानवमात्र अपने स्वाभाविक कर्मोंसे परमात्माके पूजनके अधिकारी हैं। क्योंकि जीवमात्र परमात्माका अपने-से-अपना अंश है।

जैसे, घरमें स्वभाव आदिके भेदसे अनेक तरहके बालक होते हैं, परन्तु उन सबकी माँ एक ही होती है और उन बालकोंकी तरह-तरहकी जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सभी क्रियाओंसे माँ प्रसन्न होती रहती है, क्योंकि उन सभी बालकोमे मॉका पूरा अपनापन होता है। ऐसे ही, चाहे कोई किसी भी जातिका, मान्यताका, धर्मका, वर्णका, रूप-रंगका, कर्म-स्वभावका हो, भगवान् उससे इतना ही चाहते हैं कि यह मेरे सम्मुख हो जाय। भगवान्के सम्मुख हुए एवं प्रकृति और शरीरके रागसे रहित हुए मनुष्यकी सभी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं। आवश्यकता इतनी ही है कि वह व्यक्ति उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके रागसे रहित हो जाय और भगवान्के सम्मुख हो जाय। यह बात पुन समझ लें कि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका प्रारब्ध रहते त्याग सभव नहीं है, त्याग करना मात्र उनके रागका ही संभव है। मनुष्यकी जैसी स्वत सिद्ध प्रवृत्ति है, स्वाभाविक प्रकृति है, उसमें वह अगर राग–द्वेष जनित नयी उलझन पैदा न करे तो वह प्रकृति स्वाभाविक ही उसका कल्याण कर देती है। तात्पर्य यही है कि मनुष्य और उसकी भगवान्के द्वारा बनायी प्रकृतिके द्वारा प्रवाह-रूपसे अपने-आप होनेवाले जो स्वाभाविक कर्म हैं, उनका यदि कोई स्वार्थत्यागपूर्वक, प्रीति और तत्परतासे आचरण करे, परन्तु कर्मोंके प्रवाहके साथ राग-द्वेष नहीं करे, और न ही फलेच्छा रखे, तो उसका स्वतः करनेका वेग (रजोगुण) धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। कर्ममें आसक्ति नहीं होनेसे नयी रजोगुणी क्रिया (वेग) पैदा नहीं होती। इससे प्रकृतिके पदार्थों और क्रियाओंके साथ निर्लिप्तता आ जाती है। निर्लिप्तता होनेसे प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रवाह (प्राकृत रजोगुण) स्वाभाविक ही चलता रहता है और उनके साथ अपना कोई संबध नहीं माननेसे साधकका भगवान्के साथ नित्य संयोग हो जाता है, जो प्राणीमात्रका स्वतः दायभाक् है।

कर्मोंमें एक तो 'अभिरति' होती है एवं दूसरी 'आसक्ति' होती है। अपने स्वाभाविक कर्मोंको केवल दूसरोंके हितके लिए तत्परता और उत्साहपूर्वक करते रहनेसे मनमें जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम 'अभिरति' है, तत्सुख-सुखिया भाव है। इसे ही साधारण भाषामें प्रेम कहते हैं। फलकी इच्छासे कर्म

करना, अर्थात्, कुछ 'स्व' को मिले, कुछ प्राप्त हो, इसलिये कर्म करना 'आसक्ति' है, काम है, स्वार्थ है। प्रेमसे, निष्काम कर्मसे, तत्सुख-सुखियाभावसे किये कर्मसे कल्याण होता है, भगवान्‌से संयोग होता है और आसक्तिसे संसार एवं बन्धन दृढ़ होते जाते हैं।

चेतन-जीवात्मा और जड प्रकृति दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न है। चेतन स्वाभाविक ही निर्विकार अर्थात् परिवर्तनरहित है और प्रकृति स्वाभाविक ही विकारी अर्थात् अशाश्वत और दुःखालय है। इन दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न होनेसे इनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। चेतनने प्रकृतिके साथ अपना संबंध मानकर उसे सत्य भावनासे जोड़ लिया है। इसीको गुणोंका संग कहते हैं। यह गुणोका संग ही जीवात्माको अच्छी-बुरी योनियोंमें ले जाता है।

*कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।* (गीता १३।२१।।)

उन गुणोंके अनुसार ही मनुष्यमें कर्म-भेद होता है। उन गुणोंके अनुसार ही कर्म भी स्वाभाविक एवं सहज होते हैं। जैसे तमोगुण-प्रधान जीव स्वाभाविक रूपसे ही बहुत निद्रा-आलस्य-प्रमादयुक्त कर्म करेगा। रजोगुणीमें करनेका अथाह वेग रहेगा। गुणोंके अनुसार स्वभाव और स्वभावके अनुसार स्वाभाविक कर्म होते हैं। सतोगुणी व्यक्ति अधिक लद-फंद एवं करनेके वेगसे उपरत रहेगा। रजोगुणीकी स्वाभाविक ही लद-फदात्मक प्रवृत्ति रहेगी। मनुष्य जब इन भिन्न-भिन्न स्वभावोंको प्रकृतिका गुण न मानकर अवगुण बुद्धि करके, जब इनका प्रयोग अपने स्वार्थ, भोग, और आरामके लिये करता है, तब वह उस स्वभाव और कर्मफलकी आसक्तिके कारण उससे बँध जाता है। जब उन्हीं कर्मोंको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके निष्काम-भावसे संसारके हितके लिये करता है, तब वे ही कर्म परमात्मासे योग करानेवाले हो जाते हैं।

*(इसी समय श्रोताओंमेंसे एक व्यक्ति उठकर प्रश्न करता है)*

**प्रश्नकर्त्ता** - "स्वामीजी ! मुझे बहुत निद्रा आती है। रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी रुकती नहीं। रात्रिमें भरपूर सोनेपर भी दुकानमें भी सो जाता हूँ। सत्संगमें भी खडा होकर सुनता हूँ, फिर भी निद्रा आती है। इस निद्रारूप कर्मको सर्वव्यापक परमात्माकी पूजा कैसे बनाऊँ ? कृपा करके इसपर प्रकाश डालिये।

**स्वामीजी** - भाई ! एक बात का ध्यान रखो कि तुम्हे जो अत्यधिक निद्रा आती है, वह तुम्हें नहीं, तुम्हारे शरीरको ही आती है। तुम्हारी निद्रा स्वाभाविक नहीं है, अस्वाभाविक है। वह या तो किसी बीमारीके कारण है, या तुम्हारे गलत अभ्यासके कारण है। मनुष्य, जैसे अभ्याससे निश्चय करके निद्राको कम कर

सकता है, वैसे ही निद्राको अधिक सोनेकी आदत डालकर बढ़ा भी लेता है। परन्तु यह निश्चय मान लो, निद्रा शरीरको ही आती है, तुम्हें तो निद्रा आ ही नहीं सकती। चेतनको तमोगुण कभी आवृत कर नहीं सकता। अधकार पृथ्वीको तो आवृत कर सकता है, परन्तु वह सूर्यको कदापि आवृत नहीं कर सकता।

पहली भूल तो तुम यह कर रहे हो कि अपनेको चेतन परमात्माका अंश नहीं मानकर रजोगुणी, तमोगुणी, सतोगुणी शरीररूप प्रकृति मान रहे हो। फिर शरीरकी किसी बीमारी, अवगुणको अपना अवगुण मान रहे हो। पहले इस भावसे अपनेको सर्वथा मुक्त करो। स्वयं अपनेको दीर्घकालतक सोनेवाला तमोगुणी शरीर नहीं मानकर शुद्ध-बुद्ध परमात्माका चिन्मय-चेतन अंश अनुभव करो। फिर निद्रारूप तमोगुणी कर्मको अपनेसे पृथक्, मात्र पूजनसामग्री समझकर उसे भगवान्‌को समर्पित कर दो। प्रतिदिन सोनेके पूर्व यही भाव करो कि –

***या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।***
***नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ।।***

हे भगवान्‌की मायाशक्ति ! तुम जिस प्रकार सतोगुणी हो, ठीक वैसी ही निद्रारूप तमोगुणमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित हो। भगवान्‌की शक्ति भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होती। अतः हे भगवत्स्वरूपे ! तुम्हें मेरा नमस्कार, नमस्कार, अनन्त बार नमस्कार है।

इसी प्रकार निद्रामें भगवद्‌बुद्धि करनेसे आपका निद्राके प्रति राग-द्वेषभाव समाप्त हो जायेगा और भगवद्‌बुद्धिके कारण प्रतिक्षण प्रेम बढ़ता जायेगा और निद्राकर्ममें पूज्य-भाव होकर भगवत्सेवाका भाव जग जायेगा। बस, निद्रा श्रेष्ठ भगवत्पूजा हो जायेगी।

पुनः इस बातको समझ लें; जबतक हम देहधारी हैं, देहके साथ तादात्म्य रखते हैं, तबतक हम चाहे थोड़ी निद्रा लें अथवा अधिक निद्रा लें, निद्राका सर्वथा त्याग तो संभव ही नहीं है। शरीर प्रकृतिका कार्य है और शरीरके साथ तादात्म्य रखनेवाला प्राणी तमोगुण, रजोगुण दोनोंसे रहित कैसे हो सकता है ? अतः रजोगुण आनेपर, जैसे अग्निमें धूम होगा ही, शुभके साथ अशुभकर्म होंगे ही। इन कर्मोंसे भी हमें द्वेष नहीं रखना है। शुभकर्मोंसे राग रखनेपर शुभकर्म भी पुनर्जन्मके कारण हो जायेंगे और जन्म होनेपर अशुभकर्मोंकी पुनः संभावना होकर नीच योनियों एवं नरकोंमें भी जाना पड़ सकता है।

अतः भीतरसे कर्मोंका सम्बन्ध छोड़ना ही वास्तवमें छोड़ना है। बाहरसे किसी भी शुभ-अशुभकर्मसे सम्बन्ध नहीं छोड़ा जा सकता। कोई मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, आदि कर्मोंका त्याग कर सकता है, परन्तु वह खाना-पीना नहीं

छोड़ सकता। भोजन करेगा, तो अन्नके उत्पन्न करने, उसे सँभालने, पीसने, पकानेमें जीव-हिंसाका पापकर्म भी होगा ही, जलमें निहित सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा होगी ही। इसी प्रकार, आने-जानेमें, चलने-फिरनेमें, उठने-बैठनेमें होनेवाले शुभाशुभ कर्मोका त्याग नहीं ही हो सकता। अत हम भीतरसे ही निद्रादि कर्मोकी आसक्तिका त्याग कर सकते हैं। कोई भी देहधारी मनुष्य कर्मोंका स्वरूपत त्याग नहीं कर सकता। भावसे ही वह उनसे अपनेको पृथक् मान सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह किसी भी कर्मको अच्छा-बुरा नहीं माने। न शुभमें राग, न अशुभसे द्वेष, न जाग्रतिको अच्छी समझे, न निद्राको बुरी। सब प्रकृतिमात्र भगवान्‌का ही माया रूप है, भगवान्‌की ही शक्ति है, ऐसा मानकर उसे भगवान्‌के चरणोमें डाल दें और अपनेको भगवान्‌से जोड़ लें। बस, फिर उसकी सम्पूर्ण क्रियामात्र परमात्माका पूजन ही होगी, उस पूजनसे उसे नित्य परमात्माका अखण्ड संयोग प्राप्त होता रहेगा और मानव-जीवनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यही होगी कि हमारा सर्वकालमें भगवान्‌से अखण्ड संयोग बना रहे।

---

श्रीराधाबाबाके अग्रज-भ्राता

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

# महाभाव-दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

## द्वितीय खण्ड

## तीसरा अध्याय

(अग्रज-भ्राताओंसे पत्राचार)

*विषय :*

१. भगवान्‌से एकात्मता....
२. भगवान्‌के चरण-चिह्न..... (अ) एवं (ब)
३. भगवान्‌के अंग-प्रत्यंगका ध्यान
४. भगवान्‌का वर्ण
५. श्रीरूप-सनातनके त्यागमय जीवनका अनुसरण
६. श्रीधाम-वृन्दावनकी एक चमत्कारिक घटना
७. तत्तेनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः
८. संसारकी सच्ची सेवा
९. स्मर्तव्यं सततं विष्णुः
१०. बेटी किशुनपियारीका भगवद्धाम-प्रवेश
११. पू. भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) का छायावत् संग
१२. पूज्या माँकी सच्ची सेवा
१३. भगवन्नाम-महिमा एवं नामी-से नामकी एकात्मता
१४. सकल लोक मॉं सहुँने वन्दे....
१५. उमा राम-सुभाउ जेहिं जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।
१६. भोगोंमें सुख नहीं
१७. भगवान्‌का आश्रय ही एकमात्र कर्तव्य
१८. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु

## सार-संक्षेप

*(इन्हीं पत्रोंका मधु-संचयन)*

*भक्तोंकी मान्यतानुसार भगवन्नाम एवं भगवच्चरणारविन्दकी महिमा स्वयं भगवान् भी अपने मुखसे बखान करनेमें समर्थ नहीं हैं ।*

x x x

*भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने स्वरूपको भूलकर साक्षात्भगवत्स्वरूपका ही निरन्तर आठोंयाम अनुभव करते हैं। ये भगवद्भक्त इतने प्रभावशाली होते हैं कि उनपर पूर्ण श्रद्धा हो जाय तो उसे उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो जाय। अतएव जिसको भी भगवद्दर्शन किंवा भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा हे, उसे ऐसे भगवत्प्रेमी सन्तको पकड़ लेना चाहिये।*

x x x

*जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है, परन्तु विषयोंके प्रति वृतियोंके अनवरत प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है, इसीसे विशुद्ध प्रेम दुःख उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो गया है।*

x x x

*सन्त निश्चयही हमें अपने वस्तुगुणसे ही कल्याण-मार्गकी ओर ले जावेंगे, उनका वस्तुगुण हमारी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा भी नहीं रखता, परन्तु इसमें थोडा काल अवश्य लग सकता है।*

x x x

*चाहे यह बात मैं अन्य किसीके गले नहीं उतार सकूँ, परन्तु भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपकी चरण नख-द्युतिकी एक अति अल्प-सी किरण और सर्व उपनिषदोंका सार तत्वज्ञान, दो भिन्न वस्तुएँ कदापि-कदापि नहीं है।*

x x x

*भगवान्के सगुण-साकार विग्रहमें जो भी शक्तियाँ निहित हैं, वे सभी शक्तियाँ भगवान्के नाममें भी पूर्णतया निहित हैं।*

x x x

*सभी पुराण समाधि भाषामें लिखे गये ग्रन्थ हैं। इनमें अनेक कल्पोंके वर्णन किये गये हैं। कल्पान्तरमें देशगत भूगोल, प्राकृत वस्तुएँ, उनके आकार-प्रकार नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं। हमें हमारे इस कल्प और युगमें कुछ बातें वैसी नहीं मिलें, जैसा पुराणोंमें वर्णन है, वे वर्णन युक्ति-संग्त भी नहीं लगें, परन्तु इनकी सत्यतामें कहीं किञ्चित् भी न्यूनता नहीं है।*

x x x

।। श्रीराधा ।।

# तीसरा अध्याय

पत्र-संख्या - एक

# भगवान्‌से एकात्मता

*पत्र-प्रेषिति :*

## पं. श्रीदेवदत्तजी मिश्र

(प. पू. श्रीराधाबाबाके अग्रज भ्राता)

*स्थान :*
श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी
व्यापारिक कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)
*दिनांक :*
कार्तिक अमावस्या वि. सं. १९९४,
तदनुसार, ता. २३-१०-१९३७ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
पं. श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी
पत्र-संग्रहकी कापीसे उद्धृत

## आलोक

*श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी कोठीके नीचेके तल्लेमें व्यापारिक प्रतिष्ठान है। ऊपरके तल्लेमें निवास (भवन) बना है। उसी निवासमें एक शान्त पृथक् कमरेमें पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (तरुण सन्यासी जो भविष्यमें पू. श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात हुए) ठहरे हैं। पार्श्वके बडे कमरे (हाल) में 'गीता-तत्त्वविवेचनी' (श्रीमद्भगवद्गीताकी सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके विचारोंकी प्रतिपादक टीका) का कार्य हो रहा है। टीकाकार्यके लिये कोठीमें ही अन्य पृथक्-पृथक् कक्षोंमें श्रीरामसुखदासजी महाराज (रामस्नेही सम्प्रदायके सन्त) पं. श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी (संस्कृत एवं श्रीमद्भागवतपुराणके प्रख्यात विद्वान्) आदि अनेक लोग ठहरे हैं। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार भी गोरखपुरसे आये हैं।*

## वातावरणका परिचय एवं सन्दर्भ

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी कोठी, एक व्यापारिक प्रतिष्ठान तथा गृहस्थका घर होते हुए भी निरन्तर ब्रह्मज्ञान-चर्चा, सत्सग और श्रीमद्भगवद्गीताके तत्त्व-रहस्योंकी विचार-गोष्ठियोंसे मुखरित रहती है। यहाँ

संध्यावन्दन, जप-तप, स्वाध्यायादि होते रहनेसे वातावरण ऋषि-गृह तुल्य है। यद्यपि नीचेकी मंजिलमें यहाँ व्यापार कार्य भी होता है, परन्तु व्यापार करनेवाले मुनीमों एव स्वय मालिकोकी डेस्कोंके आगे भगवान् राम, कृष्ण, नारायण, शिव, दुर्गा आदि, जो जिसके इष्ट हैं, उनके अति मनोरम चित्र लगे हैं, सभी मुनीमो एवं कार्यकर्ताओंको प्रात कालीन भगवत्प्रार्थनाके समय प्रतिदिन यही शिक्षा दी जाती है कि सभी ग्राहकोंसे अति भक्ति-विनयपूर्वक भगवद्दृष्टि रखकर ही व्यवहार किया जाय। वस्तुओंके दाम एक रहें और अधिक लाभ लेनेकी प्रवृत्ति नहीं रहे। तनिक भी व्यापारिक छल-कपट, झूठ-फरेब सर्वथा नहीं हो। वैश्यजातिका धर्म व्यापार है, इसलिये धर्मभावनासे कर्म किया जाय, उसमें हानि-लाभरूप फलकी ओर दृष्टि नहीं रहे। उपनिषदोंमें वर्णित तुलाधार वैश्यका आदर्श सदा लक्ष्यमें रहे। व्यापारकार्यमें लगे नौकरवर्ग भी परस्पर अति श्रद्धापूर्वक 'नारायण', 'रामजी' आदि भगवान्‌के नामोका सबोधन करते हुए ही व्यवहार करें। घरकी स्त्रियाँ भी वर्णाश्रमधर्मानुसार पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुई, सबमे भगवान्‌की मूर्ति ही देखती हुई, सभी अतिथियों एवं गृहस्थ-परिवारकी सेवामें निरत हैं। परम सात्त्विक भावोंका सर्वत्र प्राबल्य है। वातावरणमें आचारशुद्धिको सर्वोपरि महत्व दिया जा रहा है। प्रमाद, आलस्य, अस्वच्छता, अपवित्रता, जूठ-कूठ आदि बुरे संस्कार बच्चोंमें भी नहीं हैं। धर्म-पालन एवं साधना ही सबके लक्ष्य हैं।

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (पं. पू श्रीराधाबाबा) अपने कक्षमें बैठे अपने अग्रज भ्राताओंको पत्र लिख रहे हैं।

**श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः**

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम ! आपके दोनों पत्र यथासमय मिल गये थे। सब समाचार ज्ञात हुए ।

सत्संग करनेसे मनुष्यको थोड़ी-बहुत शान्ति तो अवश्य ही मिलती है। फिर जितनी अधिक श्रद्धा हो, उतना ही अधिक लाभ होता है। अधिक लाभ श्रद्धापूर्वक सत्संगको आचरणमें उतारनेकी तत्परता एवं लगनपर निर्भर करता है। अनेक सत इतनी उच्च-कोटिके होते हैं कि उनमें भगवान्‌से पूर्णतया अभेद हो जाता है। भगवान् एवं उनमें फिर कोई भेद नहीं रहता। उनका पाञ्च-भौतिक शरीर, मात्र प्रारब्धाधीन रहता है। शेष 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं भगवान् राम हूँ', 'मैं नारायण हूँ', 'मैं भगवान् श्रीकृष्ण हूँ' इस ज्ञानसे वे क्षणभरके लिये भी

# महाभाव-दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या
101-200
तक

साधु कृष्णप्रेम

विचलित नहीं होते। उनमे भगवान्की सार्वत्रिकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एव सर्वसौहार्द आदि शक्तियाँ भगवान्के समान ही विकसित होती हैं। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका एव भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ऐसे ही महापुरुष हैं। श्रीसेठजीमे 'मैं भगवान् नारायण हूँ' यह भाव अक्षुण्ण, आठोंपहर रहता है। ये अपनेको शख, चक्र, गदा एवं पद्मधारी चतुर्भुज ही देखते हैं। कभी-कभी, इनका आन्तरिक भाव पूर्ण निर्विकल्प सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपसे भी एकाकार हो जाता है। इनमे देहभावजन्य अहंकार, जैसे 'मैं जयदयाल गोयन्दका हूँ – यह तो कभी उदय ही नहीं होता। ये, या तो अपरोक्ष ब्रह्मानुभूतिमे डूबे रहते हैं अथवा 'मैं नारायण हूँ' – इस भावसे सृष्टिका कल्याण-कार्य अनवरत करते रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसे भक्तोंके लिये कहा गया है :–

***साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।***
***मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।***

**(श्रीमद्भागवत ९/४/६८)**

जैसे ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी, ब्रह्म ही होता है – **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** (श्रुति), इसी प्रकार भगवान्के भक्त भगवत्स्वरूप ही हैं। जो भगवान्के भक्तोंका सेवन करते हैं, वे भगवान्का ही सेवन करते हैं। साधु भगवान्के हृदय हैं और भगवान् साधुके हृदय हैं। साधु भगवान्के अतिरिक्त किसीको नहीं जानते, भगवान् भी साधुको छोडकर किसीको नहीं जानते ।

***'भरत सरिस को रामसनेही । जग जपु राम, रामु जपु जेही ।'***

श्रीभरतजी रामजीका निरन्तर जाप किया करते थे और रामजी निरन्तर भरतजीकी चिन्ता करते, उनके जपमें तल्लीन रहते थे।

प्रेमस्वरूपा गोपियोके सम्बन्धमें भी भगवान्की ऐसी ही उक्तियाँ हैं।

***मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।***
***जानन्ति गोपिका पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ।।***

हे अर्जुन ! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं और कोई नहीं जानता।

गीतामें भगवान्ने कहा है – ***ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।*** **(गीता ९/२९)**

"जो प्रेमसे मुझको भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ ।" श्रीनन्ददासजी अपनी रासपंचाध्यायीमें कहते हैं :–

***मोहनलाल रसालकी लीला इनहीं सोहैं !***
***केवल तन्मय भयीं न कछु जानैं हम को हैं ।।***

गोपियाँ भगवान्को ढूँढती हुई ऐसी तन्मय हो गयीं कि वे उन्हींकी लीला करने लगीं। भैया ! मेरे कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि श्रीजयदयालजी गोयन्दका जैसे भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने ब्रह्मरूपको भूलकर साक्षात् भगवत्स्वरूपका ही निरन्तर आठोंयाम अनुभव करने लगते हैं। ऐसे भगवद्भक्त इतने प्रभावशाली होते हैं कि उनपर पूर्ण श्रद्धा हो जाय, तो उसी क्षण उनके स्थानपर ही हमें भगवान्के दर्शन हो जावें। अतएव जिसको भी भगवद्दर्शन किंवा भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा है, उसे ऐसे भगवत्प्रेमी संतोको पकड लेना चाहिये। यदि परिस्थिति इतनी अनुकूल न हो कि ऐसे भगवत्प्रेमी पुरुषोके संगकी व्यवस्था हो सके, तो इन-जैसे महापुरुषोंका अतिश्रद्धापूर्वक ध्यानादि करके उनसे ही प्रार्थना करनी चाहिये कि ऐसे पुरुषोका संग मिल जावे एवं उनपर अतिशय, अटूट श्रद्धा हो जाय।

आप मुझसे पूछ सकते हैं कि तुम्हे तो ऐसे महापुरुषोंका दुर्लभ संग प्राप्त है, क्या तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो गयी ? इसके उत्तरमें मुझे यही कहना है कि अवश्य ही मैं परम भाग्यवान् हूँ, जो श्रीजयदयालजी-जैसे संत मुझसे अपनी कुछ भी सेवा ले रहे हैं, एवं अत्यन्त प्यार तथा आदरसे मुझे अपने साथ रखे हुए हैं, परन्तु निश्चय ही मेरी श्रद्धाका काँटा अभी उस बिन्दुको संस्पर्श नहीं ही कर रहा है, जिससे तत्क्षण ही उनके रूपमें मुझे भगवान्के दर्शन होकर मैं पूर्ण कृतकृत्यता लाभ कर लूँ। यह बात पूरी तरह आपको समझा पाऊँ इसलिए श्रीभाईजीके सत्संगमें सुना एक सच्चा भक्त-चरित्र आपको लिखकर भेज दे रहा हूँ।

सुना है, व्रजमें एक प्रसिद्ध महात्मा श्रीभट्टजी हुए हैं। ये श्रीचैतन्यदेवके प्रादुर्भावके पूर्वके महात्मा थे। व्रजकी अनेक स्थलियोको इन्होंने पहचानकर उनकी पुनः स्थापना करायी थी। ये दक्षिणमें द्रविड़देशके रहनेवाले थे। ये जब युवावस्थामें ही थे, तभी इन्हें उत्कट वैराग्य हो गया और ये गृह त्यागकर भगवान् राधाकृष्णके दर्शनोंकी उत्कट इच्छा लेकर व्रजप्रदेशकी ओर चल पडे। उन दिनो व्रजमें घोर वन था। बहुत दूर-दूर, गाँव थे भी, तो उनके निवासी मात्र पशुपालन करते थे। उन दिनों और तीर्थ तो लुप्त थे ही, मात्र गोवर्धनपर्वत, यमुना नदी, एवं मानसीगंगा ही प्रकट थीं। राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड आदि सरोवर तो थे, परन्तु ये गुप्त थे और घोर वनोंमें स्थित थे। ये केवल कुण्डोंके रूपमें पशुओंको जल पिलानेके कार्यमे प्रयुक्त होते थे। उन दिनों गोवर्धन पर्वतकी परिक्रमा-स्थली भी घोर वनमें से ही जाती थी, और उसमें जंगली पशु, शेर-चीते, भालू आदिका बाहुल्य था।

श्रीभट्टजी द्रविडदेशसे पैदल यात्रा करते हुए व्रजप्रदेशमें गोवर्धनके मध्य-स्थित मानसीगंगामें पहुँचे। उन्होने देखा कि मानसीगंगाके तटपर एक अद्भुत, तेजस्वी, शान्त महात्मा विराजित हैं। उनके ध्यान-निरत नेत्र अर्द्ध-निमीलित हैं, और अति प्रसन्न आनन्दयुक्त मुद्रामें उनका मुखमण्डल विशुद्ध सात्त्विक तेजसे दिपदिपा रहा है।

श्रीभट्टजीने मानसीगगामें स्नान किया, और उन महात्माके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम करके उनके निकट ही वे एक दूसरे पेडके नीचे जाकर चुपचाप शान्त बैठ गये। श्रीभट्टजी अति प्रसन्न थे क्योंकि उन्हें व्रजप्रदेशमें पहुँचते ही उनके मनोवाछित महात्माके दर्शन हो गये थे। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय भी कर लिया कि वे इनकी ही शरणागति ग्रहण करेंगे और इनकी कृपासे निश्चय ही उनको भगवान् श्रीराधाकृष्णके दर्शन हो जावेगे।

श्रीभट्टजीने इन महात्माकी आध्यात्मस्थितिका पूर्ण आकलन कर लिया। ये भगवान्के स्वरूपतत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले तथा उनसे अनन्य प्रेम करनेवाले महात्मा थे। श्रीभट्टजीकी पारखी ऑखें वह भलीप्रकारसे पहचान चुकी थीं। श्रीभट्टजीको इन महात्मापर पूर्ण विश्वास हो गया था।

***अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता, बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं सन्ता ।।***

**(श्रीरामचरितमानस)**

भगवत्तत्त्वके ज्ञाता, भगवत्प्रेमके रंगमे रँगे हुए मोक्षसन्यासी, भगवत्सगी, लीला-विहारी भगवान् श्रीराधाकृष्णके नित्यलीलाके पात्र, प्रेमीसन्त, बिना भगवत्कृपाके कदापि नहीं मिल सकते। और यदि अनन्त जन्मोंके पुण्यवशात् ऐसे सत मिल भी जाते हैं, तो निश्चय ही मान लेना चाहिये कि अब भगवत्प्रेमरूपी भक्तिकी प्राप्ति सहज ही होनेवाली है। इसमें कहीं कोई सशय नहीं है।

श्रीमद्भागवतमे भगवान् अपने श्रीमुखसे उद्धवजीको कहते हैं :-

***न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।***
***न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ।।***
***व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।***
***यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ।।***

**(श्रीमद्भागवत ११।१२।१-२)**

हे उद्धव ! दूसरे समस्त सगोका निवारण करनेवाले सुदुर्लभ प्रेमी-भक्तोंके सगसे जैसा मैं वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप त्याग, इष्ट, आपूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम किसी भी अन्य साधनसे नहीं होता।

यहाँ यह बात समझ लेने की है कि अन्यान्य सभी साधन सकामभावसे होनेपर भोग और स्वर्गादिकी और निष्कामभावसे होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि और मुक्तिकी ही प्राप्ति करानेवाले होते हैं। लीला-विहारी भगवान्‌को सीधा वशमें करनेवाला तो केवल एक सर्वतंत्र-स्वतत्र, अनन्य विशुद्ध प्रेम ही है, जो इन साधनोके द्वारा किसीको भी नहीं मिलता। वह तो केवल भगवत्संगी प्रेमी महापुरुषोकी कृपासे ही मिलता है। नित्यकृपावर्षी भगवान् एव भगवदीय महात्माओकी कृपा बिना जीवको भगवत्प्रेम कदापि नहीं मिल सकता, अतएव ऐसे प्रेमी सतोकी सेवा, उनकी आज्ञाका पालन, उनका सग ही प्रेम-प्राप्तिका प्रधान साधन है। श्रीभट्टजीने दृढनिश्चयसे इन महापुरुषकी शरण लेनेका मन-ही-मन व्रत ले लिया।

कुछ काल पश्चात् महात्माजीने अपने नेत्र उन्मीलित किये। धीरे-धीरे उनकी वृत्तियाँ जब जगत्‌को पकडने लगीं, तो श्रीभट्टजीपर उनकी पवित्र दृष्टि पडी। पहली दृष्टिमें ही महात्माजीने युवक भट्टजीपर भगवान् राधाकृष्णकी असीम कृपा और उनके आध्यात्मिक-साधनाके सुयोग्य पात्र होनेकी बात पहचान ली। उन्होने अत्यन्त स्नेहसे श्रीभट्टजीका परिचय पूछा। सरल युवक श्रीभट्टजीने अपना दाक्षिणात्य द्रविडदेशीय भट्ट ब्राह्मण होने और अपने ग्रामधाम, माता-पिताका सभी परिचय उन्हें दे दिया।

महात्माजीने श्रीभट्टजीसे सुदूर दक्षिणदेशसे व्रजप्रदशमें आनेका कारण पूछा, तो युवक श्रीभट्टजीने अपने विरक्त होकर गृहत्यागकी वार्त्ता सुनायी और यह भी निवेदित किया कि वे व्रजमें भगवान् राधाकृष्णके दर्शनकी परम उत्कण्ठा लेकर ही आये हैं।

महात्माजी शान्त हो गये एव अपने भजनमें पुन. तल्लीन हो गये। श्रीभट्टजी उन महात्माजीकी यथावसर सेवाका अवसर ढूँढने लगे, और जैसे ही कोई सेवाका अवसर उन्हें मिलता, वे पूर्ण तत्परतापूर्वक उनकी सेवा करने लगते।

इस प्रकार, कुछ काल व्यतीत हो गया। श्रीभट्टजी अच्छी प्रकार जानते थे कि जिसको अपने परम कल्याणकी इच्छा हो, उसे परम प्रेमीभक्त एवं सिद्ध गुरुकी शरण ही जाना चाहिये। उसे गुरुको ही आत्मा और इष्टदेव समझकर निष्कपट भावसे उनकी सेवा करके, उनसे भगवत्प्रेम-प्राप्तिका साधन सीखना चाहिये। इस साधनरूपा भक्तिके पश्चात् ही गुरुकृपासे शुद्ध अन्तःकरणवाले भक्तमें प्रेमलक्षणा भक्ति उदय होती है, तभी वह प्रेम-मग्न होता है और भगवान्‌के युगलस्वरूप श्रीराधाकृष्णके साक्षात् दर्शनोंका अधिकारी होता है।

श्रीभट्टजीका उन महात्माको गुरु बनानेका निश्चय तो दृढ हो ही गया था, अब वे अवसरकी प्रतीक्षा करने लगे। भट्टजीको एक दिन वह अवसर भी मिल गया। श्रीभट्टजीकी सेवासे अति प्रसन्न हुए महात्माजी, उनसे प्रेमपूर्ण वार्त्ता कर रहे थे। श्रीभट्टजीने महात्माजीके सम्मुख अपने पूर्ण, शरणागत होनेकी इच्छा प्रकट कर दी। महात्माजी परम प्रसन्न थे ही, उन्होंने युवक श्रीभट्टजीको शिष्य बनानेका मन-ही-मन निश्चय कर लिया, एवं विधिवत् दीक्षा भी दे दी। सिद्ध गुरुसे दीक्षा पाकर जब श्रीभट्टजी मानसीगगामें स्नानकर गुरुदेवके सम्मुख उपस्थित हुए, तो गुरुजीने उनसे एक प्रश्न किया – "बेटा ! तूने मेरी किस आशासे शरणागति ली है ?" श्रीभट्टजीने निवेदन किया – "महाराज ! मनुष्यके जीवनके भविष्यके एक क्षणका भी उसे पता नहीं है, मैं आपकी कृपाका आश्रय लेकर श्रीराधाकृष्ण भगवान्की प्राप्तिका साधन पूछना चाहता हूँ। मेरी वर्त्तमानमे जैसी मन-बुद्धिकी दशा है, वह आपसे कहीं कुछ भी छिपी नहीं है। ना जाने कितने जन्मोंके पुण्यफलोदयसे भगवान्को या भक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है। मैने क्षणभरके लिये ही अपने जीवनका ध्येय भगवत्प्राप्ति माना है, न जाने चचल मन कब ध्येय परिवर्तित कर दे, अतः प्रभो ! मुझे शीघ्र साधन-मार्गपर आरुढ कर दीजिये। ज्यो-ज्यो मेरा साधन बढ़ेगा, मेरा नीच मन उसमे विशेष अनुराग कर पावेगा। मैं, मेरी जो वर्तमान्में सदिच्छा जाग्रत हुई है, उसे खोना नहीं चाहता। स्वास्थ्य भी मेरा सदा अच्छा रहेगा, यह भी निश्चय नहीं है। स्वास्थ्य बिगड जानेपर, इन्द्रियोके अशक्त हो जानेपर, बुढापा आ जानेपर, यदि इस युवावस्थामें भजनका पूरा अभ्यास नहीं किया गया, तो आगे मन लगना असभव है। घरमे आग लगनेके पश्चात् फिर कूप खोदनेमे लगना तो व्यर्थ ही प्रयास होगा।"

"हे प्रभो ! आपके चरणकमलोमें मेरा यह मनरूपी भ्रमर आज ही बँध जावे, मैं अब एक पलका काल भी भगवद्भजनके बिना बिताना नहीं चाहता। प्रभो ! कृपा करें, जिससे मेरी एक-एक श्वास खूब सावधानीपूर्वक भगवच्चिंतनमें लग जाय। भजनहीन मेरा जो भी समय व्यतीत हो रहा है, यही मेरी सबसे बडी विपत्ति है। प्रभो ! मैं साधनजन्य सारे क्लेश सह लूँगा, किन्तु अब प्रिया-प्रियतम भगवान् श्रीराधाकृष्णका वियोग मुझसे पलभर भी सह्य नहीं है। प्रभो ! मैं अति कातर हुआ, आपसे मेरे हृदयकी गुप्ततम बात कह रहा हूँ। मुझे न मोक्ष चाहिये, न ही ज्ञान चाहिये, न वैभव चाहिये, न ही ऋद्धि-सिद्धियाँ एवं न महान् कीर्ति ही चाहिये। मुझे किसी भी योनिमे जाना पडे, कुछ भी हो, मुझे इसकी भी [illegible] चिन्ता नहीं। बस, परम दयालो ! मुझे श्रीराधाकृष्ण युगल-दम्पति[illegible]

प्रेम प्राप्त हो जाय, बिना किसी हेतुका प्रेम, पगलाप्रेम, अन्धाप्रेम, प्रेममय प्रेम, प्रियतममय प्रेम, मेरा दिनोदिन बढता रहे, बस यह कृपा कर दीजिये।"

महात्माजीने अत्यन्त ध्यानपूर्वक श्रीभट्टजीकी सभी बातें सुनीं और तब अति शान्त चित्तसे बोले – "बेटा ! बता तो, तुझे मेरे स्थानपर क्या दीखता है ?" श्रीभट्टजीने उत्तर दिया – "प्रभो ! मुझे आप भागवतधर्म-परायण, सदाचारी, साधुस्वभाव, दैवी-सम्पत्तिवान् महात्मा दृष्टिमें आ रहे हैं । प्रभो ! आप-जैसे महात्माओंका मिलना परम सुदुर्लभ है। प्रभो ! आप-जैसे सच्चे निस्पृह भगवज्जनोंको प्राप्तकर मैं धन्य एवं कृतकृत्य हूँ ।"

श्रीभट्टजीकी उक्ति सुनकर महात्माजीने पुनः अति स्नेहसे कहा – "बेटा ! ठीक है, अब मैं तुझे एक साधना बताता हूँ। तू आजसे ही इस साधनाको प्रारंभ कर दे। यह साधना कठिन तपस्यायुक्त अवश्य है, परन्तु तेरी मनोकामना इसी साधनासे पूर्ण होगी, यही मुझे समझमें आ रहा है। आजसे तू सर्वथा मौन ले ले। मन-ही-मन 'राधा-कृष्ण' जप करते हुए तुझे इस श्रीगोवर्धनपर्वतकी अनवरत परिक्रमा करनी है। तेरी यह गिरिराज-परिक्रमा लगातार बारह वर्षोंतक चलती रहे। जब तुझे बहुत भूख अनुभव हो, तो भिक्षा माँगनेकी मुद्रामें अंजलि पसार लेना, परन्तु परिक्रमा स्थगितकर कहीं किसी ग्राममें भिक्षार्थ मत जाना। भूलकर भी सिवा राधाकृष्णके अन्य किसी व्यक्तिका संग मत करना। अन्य संग होनेपर कभी दुःसंग भी होना संभव है, और दुःसंगसे आसुरी सम्पत्तिके सभी दुर्गुण और दुराचारोंका विकास और विस्तार होता है। दुःसंगसे साधकके समस्त सद्गुण विनष्ट होकर उसका सर्वनाश हो जाता है।"

"बेटा ! तू पशु-पक्षियोंका भले ही संग कर लेना, व्रजके पेड़-पौधोसे भले ही मैत्री कर लेना, किन्तु शिश्नोदरपरायण नीच मनुष्योंका संग कदापि मत करना। जो भी विषयीजनोंका भूलकर भी संग कर लेता है, वह इन अशान्तचित, मूर्ख, नष्टबुद्धि, स्त्रियोंके हाथके खिलौना बने हुए मनुष्योंकी भाँति स्वयं भी अन्धकारपूर्ण नरकोंमें जाता है।"

"भगवत्सम्बन्धी तत्त्व-रहस्य तथा लीला-कथाओंको छोड़कर भोगके समय तृप्तिदेनेवाले लौकिक विषयोंका मनसे भी कभी चिन्तन मत करना, क्योंकि चित्त अधिक समयतक जिस विषयका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति हो जाती है। फिर विषयी पुरुषोंके शरीर, वाणी और मन द्वारा किया हुआ संग स्वाभाविक ही विषयासक्ति बढाता है। आसक्तिसे कामना होती है, जो समस्त पापोंका मूल है।"

"बेटा ! मानसिक, कायिक एवं वाचिक तीनों प्रकारके दुःसंगसे सर्वथा

बचना, क्योंकि जबतक दोषोंका समूल नाश नहीं हो जाता, तबतक सज्जन पुरुषको दोषसे भी डरते ही रहना चाहिये। जैसे ईंधनमें दबी हुई जरा-सी चिनगारी हवाके जोरसे विशाल अग्निका रूप धारण कर लेती है, इसी प्रकार दबा हुआ जरा-सा भी दोष कुसंग पाते ही पनपकर विशाल रूप धारण कर लेता है। पहले-पहले जब मनमें काम-क्रोधका विकार उत्पन्न होता है, तो उसकी एक लहर-सी ही आती है, परन्तु कुसग पाकर वह लहर समुद्र बन जाती है, फिर समग्र हृदयपर उसीका अधिकार हो जाता है। अत: तनिक-से कुविचार, कुसंगकी उत्पन्न होते ही गर्दन दबा देना, भूलकर भी उसमें रस मत लेना।"

"बेटा ! जब तुझे प्यास लगे, तो किसी ग्राम्य-कूपमें मत जाना। जन-सम्पर्कसे बचते ही रहना। किसी एकान्त, गन्दे जलके पोखरेसे भले ही अपनी प्यास बुझा लेना। वह गँदला जल तेरे पेटमे मिट्टी ही डालेगा, किन्तु कुविचारके संस्कार नहीं डाल पावेगा। यदि शुद्ध जलके मोहसे ग्राम्य-कूपमें चला गया, तो ग्राम्य-कूप, तडाग, सरोवरोंमें जल भरतीं स्त्रियोंपर तेरी स्वाभाविक ही दृष्टि पडेगी, जो तेरे लिये सर्व-विनाशक होगी। अत: सदा जनबस्तियोसे दूर रहना एवं एकान्तका कभी त्याग मत करना ।"

"परिक्रमा करते-करते जबतक पूरी थकान नहीं आवे, मत रुकना। जब शरीर थककर चूर-चूर हो जाय, तो किसी सघन वृक्षके नीचे विश्राम कर लेना। वृक्षको छोडकर ग्राम्य-कुटी अथवा एकान्त खण्डहरोंका आश्रय कदापि मत लेना। इस प्रकार लगातार बारह वर्षतक परिक्रमा करनेके पश्चात् फिर मुझसे इसी स्थानपर मिलना ।"

श्रीभट्टजीने तत्काल उन श्रेष्ठ महात्माको प्रणाम किया, और उनकी अनुमति लेकर, जैसे उन्होंने आज्ञा दी थी, ठीक उन्हीं नियमोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेका निश्चयकर परिक्रमा प्रारंभ कर दी।

श्रीभट्टजी लगातार बारह वर्षतक अपने गुरुदेवकी आज्ञानुसार अक्षरशः नियमोंका पालन करते हुए श्रीगिरिराज-परिक्रमा करते रहे।

नदीमें तैरनेवाले मनुष्यके लिये जैसे हाथों और पैरोंसे नदीके जलको फेंकना और काटना आवश्यक होता है, उसी प्रकार इस माया-समुद्रको जो भी तैरकर पार करना चाहते हैं, उन्हें भी अहंकार और विषयासक्तिरूपी जलको बराबर काटना और फेंकना ही पड़ता है। जो इनका त्याग नहीं कर सकता, इनको काट नहीं सकता, वह माया-समुद्रके जलमें रमकर अतल-तलमें डूब ही जाता है; हाथ-पैर मारते-मारते भी उसके थक जाने अथवा श्वास टूटनेकी

संभावना हो ही जाती है।

इसी प्रकार घोर तपस्यासे भट्टजीका शरीर सूखकर काँटा होगया। उन्हें शीत-घाम-वर्षामें खुले आकाशमें रहना होता था। कभी-कभी अनवरत अजलि पसारकर भिक्षा माँगनेकी मुद्रा करनेपर भी पाँच-छः दिनोंतक उन्हें एक कण भी कहींसे अन्न नहीं मिलता था। जब भूखसे क्लान्त शरीर चलनेमें भी सर्वथा अशक्त हो जाता, वे बिल्ववृक्ष, जालके वृक्ष, तथा गूँदीवृक्षके पत्ते चबा लेते। परन्तु उन्होने नियम तोड़कर ग्राम्य-भिक्षा करना स्वीकार नहीं किया। कभी कोई वस्त्र दे देता, तो तन ढक लेते अन्यथा किसी चिथड़ेसे अधो-अंग ढक लेते और सर्वथा नग्न रहते। अनवरत चलनेसे उनके पैरोंमे घाव हो गये। उनके अगोंकी सम्पूर्ण सुकोमलता जाती रही। घुँघराले, सुन्दर बाल जटा बन गये। सारा सौम्य, सुन्दर शरीर धूपमें तपकर काला हो गया। परन्तु वे सरलभावसे अपने पर भगवान्की बरसती अपार कृपाका अनुभव करते हुए सब कठिनाइयाँ सहते रहे।

धीरे-धीरे तन एवं मन दोनो ही कठोर तपके अभ्यासी हो गये। श्रीभट्टजीको अपने ऊपर-नीचे, इर्द-गिर्द, सब स्थानों एवं भूत-भविष्यत्, सब कालमें भगवत्कृपा भरपूर अनुभव होने लगी। वे सारे पाप-तापसे मुक्त हो गये और भगवान्की सच्ची भक्तिके अधिकारी हो गये।

शान्ति और परम आनन्द साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। इनके रूपमे भक्तके हृदयमे स्वय भगवान् ही अवतीर्ण होते हैं। श्रीभट्टजीके हृदयमें आनन्दरूप भगवान् स्वयं ही अपनी ह्लादिनी-नाम्नी आनन्दशक्तिको निमित्त बनाकर, प्रिया-प्रियतम राधाकृष्णके अखण्ड ध्यानके रूपमें प्रकट होने लगे। उनके हृदयमे एक विलक्षण तेज सदा उदित रहता। उनकी समग्र भोगवासना निवृत्त हो गयी। उपासना एव तपसे इन्द्रियाँ एव मन अन्तर्मुखी हुए अन्तःस्रावी आनन्दामृतमें डूबने लगे।

उनका मन शान्त एवं एकाग्र रहने लगा। नयन आन्तरिक आनन्दसे झुके अर्द्ध-निमीलित रहते। भूतशुद्धिसे शरीरसे तेजका स्फोट होने लगा। वे जब नेत्र खोलते, तो भीतरी तेजोमण्डल बाहर भी, सर्वत्र सभीमें भरा दृष्टिगोचर होता। उन्हे सम्पूर्ण विश्व सत्ता ही एक अभूतपूर्व आनन्द-प्रकाशमें तैरती दृष्टिगोचर होती। धीरे-धीरे काल गतिको तो बारह वर्ष व्यतीत करने ही थे। श्रीभट्टजी महाराज ठीक बारह वर्ष पश्चात् मानसीगंगामें स्नानकर अपने गुरुजीके पास पहुंचे। वे सचैल वस्त्रोंमे ही, जलमें भीगे थे। गुरुदेवने अपने ध्यानस्थ नेत्रोंमें परम आत्मीयता भरकर श्रीभट्टकी ओर निहारा और वही प्रश्न पुनः पूछा -

"बेटा ! तेरी द्वादशवर्षीया भक्ति-साधना सम्पूर्ण हुई। बोल, तुझे मेरे स्थानपर क्या दीखता है ?"

इस बार श्रीभट्टजी, जब अपने पू. गुरुदेवके सम्मुख खड़े थे, तो उन्हे अपने गुरुके स्थानपर एक विलक्षण तेजोमण्डल अनुभवमें आ रहा था। वह तेजोमण्डल सर्वदेवमय था। ब्रह्माजी, भगवान् विष्णु, रुद्र, इन्द्र, सारे दिक्पाल, सूर्य, पवन, वरुण, गणेश, कार्तिकेय आदि सभी देवगण उस तेजस्वी मण्डलमे विराजित थे। श्रीभट्टजीने अपने गुरुको साष्टाग प्रणाम करने के पश्चात् निवेदन किया – "गुरुदेव ! आप तो सर्वदेवमय परम सत्त्वरूप विग्रह हो। आप अनन्त तेज हो, अनन्त बल हो, अनन्त ऐश्वर्य हो। प्रभो ! आपकी ही कृपाशक्तिसे यह समग्र विश्व और इसमें निहित जीव-समुदाय सचालित हो रहा है। आप सर्वसमर्थ, सर्वव्यापी, एवं सर्वज्ञ हो। मैं आप-जैसा गुरु पाकर धन्यभाग्य हूँ ।"

श्रीभट्टजीकी स्तुति उनके पू. गुरुदेव सुनते रहे। जब श्रीभट्टजी बोलकर शान्त हो गये, तो गुरुजीने पुनः कहा – "बेटा ! अभी तुम्हारी साधना पूर्ण नही हुई। जाओ, पुनः बारह वर्ष इसी प्रकार श्रीगिरिराज महाराजकी परिक्रमा करो। सावधान रहना, इस बार और शक्तिशाली विक्षेप एव विघ्न आवेंगे। विचलित मत होना और साधनाका भूलकर भी त्याग मत कर देना।"

श्रीभट्टजीने अपने पू. गुरुदेवको साष्टाग प्रणाम किया और चल पड़े पुनः श्रीगिरिराज महाराजकी परिक्रमा करने ।

इस बार परिक्रमा करते-करते श्रीभट्टजीके पास अनेक सिद्धियाँ आयीं। श्रीभट्टजीको तो भगवत्प्रेमामृतकी लगन थी। प्रेमीभक्त इन अणिमादि सिद्धियोंकी तो बात ही क्या, मोक्षरूप सिद्धि भी नहीं चाहता। श्रीभट्टजीने इन सिद्धियोंको भगवत्प्रेमके सामने अत्यत तुच्छ समझकर इनकी ओर देखा ही नहीं।

श्रीमद्भागवतमे स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं –

**न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।**
**न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ।।११।१४।१४।।**

"मुझमें चित्त लगाये रखनेवाले मेरे प्रेमीभक्त मुझको छोडकर ब्रह्माका पद, इन्द्रासन, चक्रवर्ती राज्य, लोकान्तरोंका आधिपत्य, योगकी सब सिद्धियॉ और सायुज्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते ।"

इसके पश्चात् श्रीभट्टजीको अनेक ऋषियों, मुनियोंका सान्निध्य मिलने लगा। सनकादि ऋषियोंने उन्हें अविच्छिन्नरूपसे शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान दिया। वे आत्मरतिमें नित्य स्थित रहने लगे। उन्हें आत्मरूपसे प्रत्येक प्राणीमें श्रीराधाकृष्ण भगवान् ही विराजमान हैं – यह अनुभव होने लगा। ऐसी भक्तिसे

मुक्ति उनके करतलगत हो उठी। श्रीभट्टजी अब अपने तन एवं मनको भगवान्की पूजन-सामग्री समझकर बाह्य एव मानस दोनों प्रकारसे विश्वरूप भगवान्की पूजा करने लगे।

श्रीभट्टजी अपने समस्त लौकिक एवं वैदिक कर्म भगवान्में अर्पण करके अपने प्रियाप्रियतम राधाकृष्ण भगवान्का अखण्ड स्मरण करने लगे । वे सब सिद्धियों और आत्मज्ञानसे निरपेक्ष उसी प्रकार दीन एवं अकिंचन बने रहे। वे अपने गुरुकी आज्ञा अक्षरशः पालन कर रहे थे।

इस बार उन्हें क्षुधाकष्ट नहीं हुआ। जैसे ही क्षुधानुभव होता, कहीं-न-कहींसे भिक्षा अपने-आप ही आ जाती। जब भी उन्हें शीतादिका प्रकोप अनुभव होता, व्रजवासीजन धूनीकी व्यवस्था कर देते, उन्हें वस्त्र ओढ़नेको मिल जाते। वर्षाऋतुमें लोग तम्बू तानकर उनका वृक्षके नीचे आश्रयस्थल निर्माण कर देते।

काल बीतते क्या देर लगती है। बारह वर्ष पलक झपकते व्यतीत हो गये। इस बार तपके साथ आत्मज्ञानके आलोकसे भरे श्रीभट्टजी अपने गुरुदेवके सम्मुख खडे थे। श्रीभट्टजीने बारह वर्ष तक जो साधना की थी इससे वे सर्वथा फल एवं आसक्तिसे रहित हो गये थे। मानसीगंगामें स्नानकर वे जैसे ही गुरुदेवके चरणोंमे काष्ठवत् गिरे, गुरुदेवने वही प्रश्न किया – "बेटा, श्रीभट्ट ! तू तो ज्ञानी हो गया रे ! मेरे रूपमें तुझे क्या अनुभव हो रहा है ?"

श्रीभट्टजी हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए बोले – "गुरुदेव ! आप परमहंसोंके प्राप्य-स्थान हैं, जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण हैं, आप जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको नित्य जानते हैं। सर्व स्फुरणाओंसे रहित ब्रह्मपद आप ही हैं। आप पचभूतोंका संघात शरीर कदापि नहीं हैं।"

"जो मन और वाणीसे अगम्य हैं, वरं जिसके साक्ष्यमें समस्त मन अस्तित्व पाता है एवं जो सम्पूर्ण वाणियोंका द्रष्टा है, जिसका शास्त्र 'नेति', 'नेति' कर निरूपण कर रहे हैं, जिस अजन्मा देव-देवेश्वर अच्युतको 'आदि-पुरुष' कहते हैं – हे गुरुदेव ! वे आदि-पुरुष आप ही हैं। जिस सर्वस्वरूप परमेश्वरमें यह समस्त संसार रज्जुमें सर्पके समान प्रतिभासित हो रहा है, उन अज्ञानातीत, सच्चित्-तजोमय, पूर्ण सनातन आपको मैं प्रणाम करता हूँ।"

श्रीभट्टजीके गुरुजी उनकी स्तुति सुनते गये, एवं मन्द-मन्द मुसकाते रहे। तत्पश्चात् पुनः अत्यंत स्नेहसनी वाणीमें बोले – "बेटा ! अभी तेरी साधना पूर्ण नहीं हुई; जाओ, इसी प्रकार और बारह वर्ष अयाचित काष्ठमौन व्रत लिये पुनः श्रीगिरिराज महाराजकी परिक्रमा करो ।"

श्रीभट्टजीने अपने गुरुदेवको पुनः साष्टांग प्रणाम किया। वे सब अभिमानोंसे

सर्वथा रहित थे।

इस बार यात्रा करते-करते उनकी विचित्र दशा होने लगी। उनके मुखसे तो अनवरत 'राधाकृष्ण' नाम निकलता ही था, उनके रोम-रोमसे उन्हें 'राधाकृष्ण' नाम-ध्वनि उच्चारित होती सुनायी पडने लगी। वे जिस वृक्षके नीचे विश्राम करते, उस वृक्षके पत्ते-पत्तेमेंसे उन्हें 'राधाकृष्ण', 'राधाकृष्ण' सुनायी पड़ने लगता। यह नाम-ध्वनि अत्यत सुमधुर, सुरीली होती। कभी लगता, जैसे सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक अव्यक्त वादक हजारों श्रीतार वाद्य बजा रहे हैं, और उस तार-वादनमें अनुस्यूत परम मधुर 'राधाकृष्ण' नामोच्चारण हो रहा है।

श्रीभट्टजी नाम-ध्वनि सुनकर ऐसे मस्त होते कि परिक्रमा करते उनके पद नृत्य करने लगते। कभी भट्टजीके चित्तमें उस नाम-ध्वनि-श्रवणसे भगवद्विरहकी ऐसी दारुण वेदना उत्पन्न होती कि वे व्याकुल होकर अपने देहकी सुधि ही भूल जाते।

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है, क्योंकि जीव परमानन्दस्वरूप परम प्रेमरूप भगवान्का ही सनातन चिदंश है, परन्तु विषयोके प्रति वृत्तियोंके अनवरत प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो जाती है और इसीसे वह प्रेम, दु:ख उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो जाता है। इसी कारण उसके मनमें कामनाएँ प्रज्वलित होती रहती हैं एवं परमात्ममुखी दिव्य प्रेमस्वरूपका प्रकाश नहीं होता। प्रेमके दिव्य स्वरूपके प्रकाशके लिये उसकी विषयाभिमुखी वृत्तियोकी गतिको पलटकर मात्र ईश्वराभिमुखी करनेकी आवश्यकता है। श्रीभट्टजीने विषयोंका स्वरूपसे तो त्याग कर ही दिया था, अब तो भगवन्नामका भीतरसे ऐसा विशुद्ध रस-विस्फोट हुआ कि उससे विषयोंकी समग्र आसक्ति ही बीज सहित नष्ट हो गयी। अतः अब तो उनका हृदय भगवत्प्रेमका दिव्यधाम ही बन गया। अमृतका स्वाद चखनेवालेकी जैसे फिर अन्य रसपर दृष्टि ही नहीं जाती, इसी प्रकार हृदयमें भगवत्प्रेमरसका स्वाद चखते ही उनकी ब्रह्मज्ञान एवं आत्मरतिमें रमी हुई बुद्धि भगवान्की लीला, रूप, एवं गुणोमें पूर्णतः आसक्त हो गयी। उनमें प्रिया-प्रियतमकी लीलाओंके स्फुरणसे उत्पन्न प्रेमके दिव्य भाव स्वतः प्रकट होने लगे। श्रीभट्टजीका रोम-रोम परमानन्दसिन्धु बना उत्ताल प्रेमानन्द-तरंगोंमें लहराने लगा। यदा-कदा उनका चित्त एकदम द्रवित हो जाता और उनके नेत्रोंसे झर-झर अश्रुप्रवाह फूट पड़ता। कभी-कभी ऐसा सात्त्विक कम्पोदय होता कि वे थर-थर काँपने लगते। कभी उनके सभी अग जड़िमा-भावसे जड़ हो जाते। कभी इतना स्वेद होता कि उनके वस्त्र तक भीग जाते।

जिस प्रकार हम लोग घोर तमोगुणमें डूबकर सोते हैं, वैसी निद्रा तो

उन्हें कभी आती ही नहीं थी, भगवान्‌की अखण्ड स्मृतिमें उनकी निद्रा भी विचित्र चेतनायुक्त होती थी।

अन्ततः, एक दिवस वह क्षण भी आ गया, जब श्रीभट्टजीको गिरिराज-परिसरमें विचरण करते भगवान् राधाकृष्णके दर्शन हो गये। श्रीगिरिराजके परिसरमें एक निकुंजमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधाजीसहित झूला झूल रहे थे, और सखियाँ उन्हें झूला झुला रहीं थीं। श्रीभट्टजी अपने इष्टदेवके दर्शन प्राप्तकर कृतकृत्य हो गये। उनका सूक्ष्म भावशरीर उसी क्षण गोपीदेह बना, बस झूलनोत्सव लीलामें उन सखियोंके संग सम्मिलित हो गया। अब तो श्रीभट्टजीका संसार ही बदल गया। उन्हें अपने प्राकृतदेहकी तो सर्वथा विस्मृति ही हो गयी और वे अपने अप्राकृत भावदेहमे ही दिन-रात तल्लीन रहने लगे। वे चलते थे, परन्तु उनका आधार प्राकृत पृथ्वी नहीं थी, अप्राकृत गोलोककी धरा ही उनका आधार थी। उनका गिरिराज-परिसर अब प्रिया-प्रियतम भगवान् राधाकृष्णकी अभिनव रसमय लीलाओंकी विलासभूमि था। श्रीभट्टजीकी परिक्रमा ज्यो-की त्यो हो रही थी, परन्तु अब परिक्रमा करनेवाला 'श्रीभट्ट' नामक देहगत अहकार नहीं था, अपितु कोई परम रसमयी भगवल्लीलाकी पात्रा गोपी ही उनके शरीरको यंत्र बनाकर उन्हें परिक्रमामें दौडा रही थी। रात-दिवस उनके अन्तःकरणमे भगवल्लीलाओका कोई-न-कोई उन्मेष चलता ही रहता। उनकी लीलानुभव करनेवाली वृत्तिका तार कभी नहीं टूटता था। उन्हें अविच्छिन्नरूपसे परम् रसमयी लीलाओंका उन्मेष होता ही रहता था। श्रीभट्टजीके निर्मल चिदाकाशके अणु-अणुमे अनन्त लीलानिकेतन रसिकशेखर भगवान् श्रीकृष्ण भर गये। उनके लौकिक एवं अलौकिक दोनों देहोके श्वास-प्रश्वास राधाकृष्ण ही हो गये। उन्हे अपने प्राणोके प्रत्येक स्पन्दनमें भगवान् राधाकृष्णका लीला-विहार ही अनुभव होता था। उनके सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सब, मात्र प्रिया-प्रियतमके ही निर्मल रस-प्रकाशसे झलमल कर रहे थे। जल-कुण्डोमें उन्हें प्राकृत जलके स्थानपर प्रियाप्रियतमका प्रेमरस ही परिपूर्ण भरा दृष्टिगोचर होता। पृथ्वीका कण-कण प्रिया-प्रियतम राधाकृष्णकी छबिके आलोकसे झलमलाता दिखायी पडता। इतना ही नहीं, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें उन्हें साक्षात् उनके प्रिया-प्रियतम राधाकृष्ण ही देहधारण किये दीखते। कभी-कभी तो देह दीखना ही लुप्त हो जाता, उस समय उन्हे सर्वत्र अखण्ड प्रत्यक्ष राधाकृष्णके दर्शन होते रहते। इस प्रकार उनकी बुद्धि ही विक्षिप्त-सी हो गयी। उनकी बुद्धि उस विलक्षण अप्राकृत रस-प्रवाहमें लहराती प्रपंचकी स्मृतिसे सर्वथा ही जब हट जाती, तो उनके आचरण पागलवत् उन्मादी होने लगते ।

इस प्रकार प्रिया प्रियतमके लीलारसमें डूबते-लहराते बारह वर्षका काल क्षणोंके समान व्यतीत हो गया। श्रीभट्टजीको तो अब काल-गणनाका भी होश नहीं था, परन्तु सयोग ऐसा हुआ कि गुरु-शिष्यका मिलन ठीक समयपर भगवद्विधानवश हो गया। विगत वर्षोंमें जब उनका मिलन होता था, तो उत्कण्ठातुर अवस्था शिष्यकी रहा करती थी, परन्तु इस बार मिलनकी उत्कण्ठा गुरुमें अधिक थी। मानसीगंगा स्नान करके आते ही, जैसे ही श्रीभट्टजी गुरुजीके चरणोंमे प्रणाम करने झुके, गुरुजीने उछलकर उन्हें अपने आलिगनमें कस लिया। गुरुजीको न तो श्रीभट्टजी दिख रहे थे, न ही भट्टजी को गुरुजी । दोनो इस प्रकार मिल रहे थे मानो परस्पर प्रिया-प्रियतम ही मिल रहे हों। जैसे ही गुरु शिष्य प्रगाढ आलिगनमें बँधे, दोनो ही प्रगाढ़ भाव-समाधिमे डूब गये। जब दोनोंको बाह्यज्ञान हुआ, तो गुरुदेवने शिष्यसे गद्गद् कण्ठसे कहा —"जा बेटा। अब मस्त होकर सर्वत्र व्रजरसका प्रवाह बहा दे।"

कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि आपकी, मेरी अथवा किसीकी भी यदि सेठजी जयदयालजी अथवा श्रीभाईजी जैसे सिद्धसन्तके प्रति पर्याप्त श्रद्धा हो जाय, तो उनके ही रूपमे हमे भगवान्के इसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं, जैसे भक्तप्रवर श्रीभट्टजीको अपने गुरु-शरीरमें हुए थे।

भैया, बात यह है कि भगवान् सर्वत्र हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वे नहीं हो। महान्-से-महान् एवं क्षुद्र-सी-क्षुद्र वस्तु चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन, भगवान् सबमे सब समय पूर्णरूपसे स्थित हैं। आकाशमे, वायुमें, अग्निमें, जल एव पृथ्वीमें, पृथ्वीसे बने ईंट-पत्थर एव रेतके छोटे-से-छोटे कणमें, वृक्ष, लता, पौधोमें, बनियान-कोट-पतलून-दवात-कलम-कागजमें, हमारे सम्पर्कमें आनेवाली सभी वस्तुओके अणु-अणुमें भगवान् पूर्णतया ओत-प्रोत हैं। जैसे इन्द्रधनुष कुछ होता नहीं, सूर्यकी किरणोंके रंग ही जलयुक्त आकाशमें इन्द्रधनुषकी छटा दिखाते हैं, इन्द्रधनुषको यदि ढूँढा जाए तो वह कहीं भी, नहीं प्राप्त होगा, इसी प्रकार यह जगत् भी भगवान्में ही मायाशक्तिद्वारा भासित हो रहा है। इसके रूपमें सत्य स्वरूप तो भगवान् ही हैं। सच्चे सन्त इस बातको प्रत्यक्षवत् जानते-समझते हैं। सच्चे सन्तोंको तो अपनी आत्मामें ही नहीं, अपने शरीरके हाड-मास-रक्त-मज्जामें, अपने मलिन मल-मूत्रतकमे भगवान्के सिवा कुछ भी नहीं दिखता। श्रुति कहती है — ***'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यांजगत्',*** 'जो कुछ भी दृश्य है, जगत् है, वह सब मात्र परमात्मा ही है।' सच्चे सन्तकी यह दृष्टि निर्भूल एवं अखण्ड-अटूट होती है। दूरकी वस्तु छोड़ें, हम जिससे अनवरत, अविच्छिन्न रूपसे जुड़े हैं, क्षणभरके लिये भी जिसे भूल नहीं पाते,

भूलना चाहते भी नहीं, जो हमारे लिये अतिशय प्यारकी वस्तु बना हुआ है, सच्चे सत एव महात्माको उस अपने शरीरमें नखसे शिखापर्यन्त भगवान्-ही-भगवान् भरे दृष्टिगोचर होते हैं।

सन्तके इस अनुभवका श्रुति समर्थन करती है। वह कहती है -

*'स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः'* **(बृहदारण्यक)**

हमारे शरीरमें भगवान् नखके अग्रभागसे शिखापर्यंत परिपूर्ण भरे है। हमम और सच्चे सन्तमें इतना ही अन्तर है कि हम इस ज्ञानसे पूर्णतया कटे हैं, भगवान्के स्थानपर हम अपनी 'मैं' - सत्ता, अहकारको भरा अनुभव करते हैं और सच्चे भक्तकी दृष्टि अहकारके स्थानपर भगवत्सत्ताका अनुभव करती होती है। इसीलिये सन्त भगवान्से पूरा जुडा होता है और हम पूरे कटे रहते हैं।

यही कारण है कि सत सर्वसमर्थ हैं, जगत्मे जो बात सबके लिये असभव मानी जाती है, सन्त उसे क्षणके लाख-करोड़वे हिस्से जितने समयमें सम्पादित कर सकते हैं। सन्तोकी शक्तिकी कोई सीमा ही नहीं, क्योंकि वे स्वय तो कुछ होते ही नहीं। उनके रूपमे भगवान् ही होते हैं। वैसे तत्त्वत हमारे रूपमें भी भगवान् ही हैं, परन्तु हम अपने स्वरूपमें जीवगत अहंकारको ही देखते हैं और शरीरगत अल्पशक्तिको ही अपनी शक्ति मानते हैं। सन्तोंके शासनका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। सत ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं। स्थूल एव सूक्ष्म जगत्के जितने भी शासक हैं, उन सभीके शासक सन्त हैं। सन्त असख्य विचित्र शक्तियोसे सम्पन्न होते हैं। सबका सब कुछ उनके सम्मुख अवगुण्ठन-रहित है। वे सर्वानुभूः हैं।

भैया ! मेरे पास इसे प्रमाणित करनेका कोई अकाट्य तर्क तो है नहीं, परन्तु यदि आप मेरे विश्वासको अपना विश्वास बना सकें, तो निर्भूल मानलें कि सेठजी एव भाईजी इसी महामहिम कोटिके सन्त हैं। उनसे हमारा निकटका परिचय है और उनसे हमारी आत्मीयता है, यह भगवान्की हमपर महान् कृपा है।

भैया ! यदि आप मेरा कहना मानकर नियम कर सकें तो, दस-बीस, पचास-सौ बार जितनी भी देर, सर्वथा आसानीसे करना सभव हो, यह भावना करे कि श्रीसेठजी एव भाईजी -- ये दो सन्त साक्षात् भगवान् ही हैं इस भावनाको करते समय हमारे द्वारा संत-भगवान्के प्रति उतना ही सम्मान, उतना ही प्रेम, अपनत्व, एव त्याग समर्पित होना चाहिये, जितना साक्षात् प्रभुके हमारे समक्ष होनेपर, हम उन्हें समर्पित करते। सन्तोंमें प्रभुकी ही पूरी सत्ता भरी है, इसकी हमारे चित्तमें इतनी जीवन्त धारणा होनी चाहिये कि हमें उनमें उतना ही निर्दोषताका अनुभव होने लगे, जितनी निर्दोषता हमें अपने इष्टके हमारे

सम्पर्कमें आनेपर उनमें भरी अनुभव होती। हमारा अन्तःस्तल सतरूप भगवान्‌के चरणोंमें लुट जाना चाहिये। उनकी तुच्छ-से-तुच्छ सेवा करके भी हमारा रोम-रोम आनन्दसे नृत्य कर उठे।

भैया ! सचमुच यदि ऐसा हो जाय, तो निश्चय ही इनकी कोटिके सन्तोंमें हमें भगवान्‌के साक्षात् दर्शन होने सभव हैं। सन्त अतिशय दयालु होते हैं। फिर हम तो इनके सब प्रकारसे आश्रित हैं, स्वजन हैं, ये हमें कदापि निराश नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है, भले कुछ विलम्ब हो, हमारी सुनवाई हो ही जायेगी।

सन्त तो अपने वस्तुगुणसे ही हमें कल्याण-मार्गकी ओर ले जावेंगे, उनका वस्तुगुण हमारी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा भी नहीं रखता, परन्तु इसमें थोड़ा काल अवश्य लग सकता है। निश्चय ही मानिये, प्रभुने जब ऐसे विलक्षण भक्तिभावसम्पन्न भक्तोंसे हमारा परिचय करा दिया, उनसे हमारी घनिष्ट, आत्मीयता हो गयी, तो हमारा कल्याण तो हो ही गया, ऐसा मान ही लेना चाहिये।

तारादत्त भैया घरसे आ जावें, तो सूचना देनी चाहिये, उन्हें भी मुझे पत्र लिखना है।

आपका भाई

**चक्रधर**

।। श्रीराधा ।।

पत्र संख्या - दो

# भगवान्‌के चरण-चिह्न (अ)

*पत्र-लेखक :*

***प. पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज***

*पत्र-प्रेषिति :*

श्रीदेवदत्त, तारादत्त मिश्र, कलकत्ता
(पूज्य स्वामीजीके अग्रज भ्राता)

*स्थान :*
'श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास' फर्मकी
बाँकुड़ा-स्थित कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)

*दिनांक :*
कार्तिक शुक्ला सप्तमी, सं. १९९४ वि.
तद्नुसार, ता. १ नवम्बर, १९३७ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपि

## आलोक

*बाँकुड़ाके निवास-स्थानके वातावरणका उल्लेख पूर्व पत्र-संख्या एक में किया जा चुका है।*

*श्रीदेवदत्तजी मिश्र परमपूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजके ताऊके पुत्र, अग्रज भ्राता थे। वे इनके अभिभावक और संस्कृतके शिक्षागुरु भी थे। श्रीदेवदत्तजीके संरक्षणमें ही कलकत्तेमें इनकी कॉलेज-शिक्षा सम्पन्न हुई थी। सन्यासोपरान्त पूज्य श्रीस्वामीजीने श्रीदेवदत्तजीसे प्रस्थानत्रयी, गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रके शाङ्कर-भाष्य पढ़े थे। श्रीदेवदत्तजी मिश्र उन दिनों कलकत्तेमें ही माहेश्वरी विद्यालयमें शिक्षक थे। श्रीदेवदत्तजी न्यायदर्शनमें 'तीर्थ' थे और संस्कृत व्याकरणके उद्भट विद्वान् थे। ये अतिशय उदार, परिवारके कल्याणको समर्पित गृहस्थ ब्राह्मण थे। इनका सम्पूर्ण परिवार फखरपुर ग्राम, जिला गया, बिहारमें पौरोहित्य कर्ममें नियोजित था।*

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

प्रिय श्रीदेवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । आपका पत्र मिला । जीवन बहुत ही आनन्दपूर्वक

श्रीकृष्ण-चरण

व्यतीत हो रहा है। आज मैं आपलोगोंको सत्संगकी एक अत्यन्त रहस्यमयी सत्य घटना लिख रहा हूँ। कुछ ही वर्ष पूर्व काशीकी एक बंगाली महिलाको भगवान्‌ने स्वप्नमें दर्शन दिये एवं आदेश दिया कि मुझे तेरे साथ होली खेलनी है। उन दिनों बसन्त एवं फागका त्यौहार था। भगवान्‌का स्वप्नादेश पाकर उस महाभागा बंगाली महिलाने रात्रिके समय अपने उपास्यदेवकी मूर्तिके समीप कुछ अबीर एवं गुलाल रख दी। यह अबीर एवं गुलाल सुन्दर रजतपात्रोंमें अनेक रंगोंमें रँगी रखी थी। रात्रिको मन्दिरके कपाट लगाकर, उक्त महिला भी मन्दिरके भीतर ही भगवान्‌की मूर्तिके समीप बैठ गयी। प्रात काल जब पुजारीने मन्दिरके कपाट खोले, तो वह महिला पूर्ण बाह्यज्ञानशून्य भावाविष्ट थी। उसके अगोमें गुलाल, अबीर पुती थी। भगवान्‌की मूर्ति भी गुलाल एवं अबीरसे पूर्णतया आच्छादित भरी थी। आश्चर्य यह था कि जितनी गुलाल एवं अबीर उन रजतपात्रोंमें समा सकती थी, उससे कई गुनी अधिक सर्वत्र मन्दिरमें, श्रीविग्रहके अंगोंमे, एवं महिलाके चतुर्दिक् लगी, बिखरी थी।

एक आश्चर्य और था कि मन्दिरके निज-गृह-प्रागणमें जो गुलाल बिखरी थी, उस विकरित गुलालमें भगवान्‌के चरणतलोंके परम मनोहारी चार प्रधान चरण-चिह्न अकित थे। इससे यह निश्चय ही हो गया कि उक्त महाभागा महिला-भक्तके साथ भगवान् साक्षात् स्वयं होली खेलने आये थे। काशीमें इस बातका तुरन्त ही प्रचार हो गया और लोग दूर-दूरसे उस बाह्यावेशशून्य महिलाके और उनके इष्टदेवके दर्शनार्थ उमड़ पड़े। यह सयोग ही था कि स्वय श्रीभाईजी भी उस दिवस किसी कार्यवश काशी गये हुए थे। श्रीभाईजीने उक्त महिलाके दर्शन भी किये और उन चारो चरण-चिह्नोंके फोटो भी करवा लिये। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने उन चरण-चिह्नोकी फोटो मुझे भी दिखलायी थी। ये भगवान्‌के चारों प्रधान चरण-चिह्न इस फोटोमें इतने सुस्पष्ट और अलौकिक सौन्दर्यसहित उभरे हैं कि मैं तो देखकर ही मुग्ध हो गया। ये चिह्न -- वज्र, अंकुश, ध्वजा, एव कमलके थे। यह सुदुर्लभ फोटो श्रीभाईजीके पास आज भी है। ये चिह्न हमारे हाथ-पैरकी रेखाओके समान सर्वथा नहीं होकर, ठीक प्रस्फुटित कमलके आकार, अथवा वज्रादिकी आकृतिके उभरे चिह्न हैं। कमलका चिह्न देखनेमें स्पष्टतया कमलवत् प्रतीत होता है। इसके सोलह दल भी स्पष्टतया पृथक्-पृथक् व्यक्त दिखाई पडते हैं। दलोमें व्यक्त सुकोमलता ज्यों-की-त्यों दीखती है।

## भगवान्‌के चरणोंकी महिमा

भगवद्विग्रहोंमें वैसे तो इनके सभी अङ्ग एक-से एक बढ़कर सुन्दर हैं,

फिर भी भक्तलोग भगवान्‌के श्रीविग्रहोके दो ही अङ्गोको माहात्म्यकी दृष्टिसे महत्व देते हैं। प्रथम, मुखारविन्द और दूसरे, चरणारविन्दोंको। यद्यपि भगवान्‌के सभी अंङ्गोका सौन्दर्य प्राकृत गुण-सश्लेषसे शून्य होनेके कारण परमातिपरम सुन्दर है, वह शुक-सनकादि एव नारदादि परम विरक्त मुनिजनोंको भी पूर्णतया मोहित एवं अभिभूत करनेमें समर्थ है, फिर भी प्रेमीभक्त अन्य सभी अगोकी अपेक्षा चरणारविन्दोंमें अधिक आसक्त रहते हैं। भक्तगण तत्त्वत-भगवान्‌के सभी अङ्गोंको पूर्ण भगवान् का स्वरूप मानते हुए भी भगवान्‌के पावन नामों और चरणोकी महिमा स्वय भगवान्‌से भी अधिक माननेके कारण, इन्हें ही सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं। वस्तुतः भक्तगण भगवान्‌के नाम और उनके चरणारविन्दोंपर पूर्णतया न्यौछावर ही हैं। भक्तोंकी मान्यतानुसार तो भगवन्नाम एव भगवच्चरणारविन्दकी महिमा स्वयं भगवान् भी बखान करनेमे समर्थ नहीं हैं।

***"राम न सकहिं नाम-गुण गाहीं"***

भक्तोकी दृष्टिमें भगवच्चरणोंकी महिमाका अपने चारों मुखोंसे स्वय ब्रह्माजी, साक्षात् वाणीदेवी, पार्वतीजीसहित भगवान् शंकरजी, स्वयं भगवान् नारायण और उनके अवतार वेदव्यासजी भी वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। जिन चरणोंके सस्पर्शसे प्रस्तर-खण्ड बनी गौतम-नारी अहिल्या तर गयी, जिन चरणोंकी धोवनसे पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाली गगाजी प्रकट हुईं, जिन चरणोंने भगवान् शिवको शिवत्व प्रदान किया, ये ही भगवान्‌के चरण कभी अयोध्या, वृन्दावनादिमें पड़े थे, अत इनका माहात्म्य सर्वतीर्थ-मुकुटमणि हो गया। ये भगवान्‌के चरण भक्तोंकी दृष्टिमें स्वय भगवान्‌से भी बढकर हैं।

भगवान्‌के चरण-चिह्नोसे अकित भू-भागको देखकर बूढे अक्रूर प्रेमविभोर हुए रथसे उतर पडे थे। उनके नेत्र अश्रु-धारा बहाते हुए भगवान्‌के चरण-चिह्नाकित भूभागको पहले तो अभिषिक्त करने लगे, फिर वे उस भू-भागकी मिट्टीमें लोटने लगे थे। उस चरण-पद-तल-स्पर्शित मिट्टीमें लोटनेसे भगवद्भक्त श्रीअक्रूरजीको वही सुख मिल रहा था, जैसा एक भगवद्भक्तको स्वयं भगवान्‌के आलिगनसे प्राप्त होता है।

भगवान्‌की लाल-लाल चरणागुलियोंमे विजडित राका-चन्द्रमाके समान निर्मल, शीतल, तेजस्वी प्रकाशसे जिस भाग्यवान् भक्तका हृदय एक बार भी यदि आलोकित हो जाता है, उसके हृदयसे मायाजन्य तमका सदा-सदाके लिये ही समूल नाश हो जाता है। इन नखोंसे जो अप्राकृत द्युति झरती है, इस प्राकृत जगत्‌के चन्द्रमासे तो उस द्युतिकी तुलना हो ही नहीं सकती, भगवल्लोकके लाखों-करोडो चन्द्रमा भी यदि एकत्रित हों तो भी उस अनिर्वचनीय सुभग

द्युतिके सम्मुख सर्वथा हेय, तुच्छ एव फीके लगने लगते हैं।

इस भगवच्चरणारविन्दोंमे निहित नख-ज्योत्स्नामें नाम-मात्रका भी कलक नहीं, कालिमाकी किसी रेखाके संश्लेष-स्पर्शका तो प्रश्न ही नहीं उठता, वह एकरस शीतल, परम कल्याणकारी, सुखद, परमद्युतिमान् होते हुए भी नयनोंको अपलक देखते रहनेके लिये अपनेमे पूर्णतया विजड़ित कर लेती है। पलकोंका वश नहीं रहता कि वे ऑखोंपर गिरकर उन्हे उस द्युति-दर्शनसे एक क्षणके करोडवें भागके कालमानके लिये भी वर्जित, निवृत्त अथवा वचित कर सके।

प्राकृत चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना तो घटती-बढती है, वह कृष्ण-पक्षमें लुप्त हो जाती है, परन्तु भगवान्‌के चरण-नखोंकी ज्योत्स्नाके तो कभी बुझने, लुप्त होने अथवा मन्द होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। यह द्युति त्रिविध तापोंका सदैव नाश करती रहती है। इन भगवच्चरणारविन्दकी भूमिपर अङ्कित छबिका भी कोई भाग्यवान् यदि कभी अनन्त पुण्योदयसे दर्शन पा जावे, तो वह सभी कर्म-बन्धनोसे सदा-सदाके लिये छूट जाता है। मुक्ति-पद तो उसके करतलगत हो ही जाता है, वह सुदुर्लभ भगवत्प्रीतिको प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है।

भैया ! हमलोगोने बहुत कालतक भगवान्‌के रूपको मात्र मायिक माना, हमलोग भगत्तत्त्वको भगवान्‌के रूप एव आकारसे परे मानते थे। हमलोग सदैव यही समझते रहे कि नीची श्रेणीके लोगोंके चित्तको एकाग्र करानेके लिये ऋषियोंने भगवान्‌के अलौकिक रूप एव गुणोका वर्णन भर किया है। तत्त्व तो निर्गुण निराकार ही संभव है। जितने भी रूप एवं गुण हैं, वे कितने ही बढा-चढ़ाकर क्यों न वर्णन किये जायें, रूप तो प्राकृत सूर्यके सात रगों और नेत्रेन्द्रियके सयोगसे ही मनोकल्पित होगा, इसी प्रकार जो भी गुण है, वे अवगुणोंके प्रतिरोधी ही तो होगे। तत्त्वका इनसे क्या लेना-देना ? तत्त्व तो निर्विशेष, निर्विकल्प, निष्परिणामी, मात्र द्रष्टा एव साक्षी है। तत्त्व दृश्य एवं परोक्ष भला कैसे संभव हो सकता है ? परन्तु वास्तविकता हमारी बुद्धिके, सोचके परे थी।

श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे महात्माका यदि मुझे सुदुर्लभ सग नहीं मिलता, तो मेरे दृष्टिपथमें भी सभव है, यह सत्य प्रकाशित नहीं ही हो पाता। श्रीभाईजीके अनवरत सत्सगसे मेरे हृदयकी यह भेद-ग्रथि खुली कि भगवान्‌का रूप अप्राकृत, अलौकिक है। भगवान्‌में मायिक जड-प्रकृतिका सश्लेष भी नहीं है, इसीलिये वे निराकार हैं, परन्तु अपने प्रेमीजनोंके भावानुसार दृश्य होनेकी सामर्थ्य भी उनमें सदैव निहित है, अत वे पूर्ण सगुण-साकार भी हैं। वे सर्वव्यापी हैं, अतः गर्भमें प्रविष्ट भी हो सकते हैं। श्रीपरीक्षित्‌जीकी रक्षाके

लिये वे उत्तराके गर्भमे भी प्रविष्ट हुए थे। वे भक्तराज प्रह्लादकी रक्षाके उद्देश्य से जड खम्भेसे प्रकट हो सकते हैं। उनके सर्व-मन-विमोहन गुण इतने अनन्त और असमोर्ध्व हैं कि पूर्ण माया-निरस्त शुक-व्यास-नारदादि ऋषि, वशिष्ठ एव जनक-से ज्ञानी, ब्रह्मा एव शिव-सनकादि भगवत्कोटिके महानुभाव भी उन गुणोसे सदैव वशीकृत रहते हैं। भगवान्का सगुण-साकार रूपमें बोलना, मुसकाना, रूठना, झगडना, मटकना, शास्त्र-विरुद्ध, लोक-धर्म-विरुद्ध व्यवहार करना, सब तत्त्व ही तत्त्व है। तत्त्वस उसमे कहीं कोई च्युति नहीं। भगवान्की छोटी-से-छोटी लीलामें भी, जो हमे नगण्य प्रतीत हो सकती है, उसमें भी पूर्णतत्त्व विशुद्ध रूपमें नृत्य करता रहता है। भगवत्सत्ता समग्रत विशुद्ध तत्त्वसागर ही है।

देवदत्त भैया तो नैयायिक हैं, उनकी बुद्धि मेरी भक्तिमयी इस बातको कैसे हृदयम कर पावेगी, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु उन्होने निरे बालकपनसे ही मेरी बातोपर अटूट विश्वास किया है। सम्पूर्ण षड्-दर्शन और विशेषकर वेदान्तदर्शनके शाकर-सिद्धान्त पक्षको उन्होने ही मुझे सागोपांग पूर्ण मनोयोगपूर्वक अध्ययन कराया है। उनके ही उपदेश एवं अध्यापनसे मैं कट्टर वेदान्ती बना था। अब जब मैं ही यह बात उनको जोर देकर कह रहा हूँ, तो यह बात तो वे मानेंगे ही कि मेरी बातें मात्र भावुक थोथी उडान तो कदापि नहीं हैं। वे यह तो मान सकते ही हैं कि कोई-न-कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण अनुभूति उनके चक्रधरको अवश्य ही हुई होगी, जिससे बाध्य हुआ, वह अपने पूर्णतया परिवर्तित भक्तिभाव भरे विचार मुझे समझा रहा है।

चाहे यह बात मै अन्य किसीके भी गले नहीं उतार सकूँ, परन्तु मेरी तो यह अविचल निष्ठा हो गयी है कि भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपकी, चरण-नख-द्युतिकी एक अति अल्प-सी किरण और सर्व उपनिषदोंका सार सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, दो भिन्न वस्तुएँ कदापि-कदापि नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम एव अन्य भगवद्विग्रहोंके नाम, ओष्ठ एवं जिह्वाके सयोगसे उत्पन्न होने वाले प्राकृत शब्द-विकारमात्र कदापि नहीं हैं, जिनकी अनवरत आवृत्ति एवं उच्चारण, मात्र मनोनिग्रहका ही साधन एव हेतु हो। भगवन्नाम उसी प्रकार सच्चिदानन्दघनीभूत विग्रह है, जिस प्रकार भगवान्का अवतारकालमें सगुण-साकार स्वरूप है। जो भी भगवान्के सगुण-साकार विग्रहमे शक्तियाँ निहित हैं, वे सभी शक्तियाँ भगवान्के नाममें भी पूर्णतया निहित हैं।

यद्यपि उन दिनो हमलोग भगवन्नाम-कीर्त्तन एव जप करनेवालोंको साथ ही भगवान्के अर्चा-विग्रहोकी अर्चाकरनेवालोको मन्द अधिकारी ही समझते थे।

मैं तो भगवद्भक्तिकी बात करनेवाले एवं भगवान्‌की सगुण-साकार सत्तापर जोर देनेवालेसे बात करना भी नहीं चाहता था। मैं तो ऐसी मान्यता रखता था कि इन सभी मन्द अधिकारियोंकी मान्यताओंपर यदि मैं उलझ गया, तो मैं वास्तविक सत्य तत्त्ववस्तुसे वंचित ही रह जाऊँगा और मेरा यह मानव-जन्म व्यर्थ चला जायेगा।

परन्तु वाह री भगवान्‌की हेतुरहित कृपा! न चाहनेपर भी श्रीभाईजीसे मेरा बरबस मिलन हुआ और मेरी सम्पूर्ण धारणाएँ आमूल-चूल बदल गयीं। अब तो मेरी सुदृढ मान्यता है कि भगवान्‌का सगुण-साकार विग्रह, सच्चिदानन्दकन्द, परमतत्त्वका सार-स्वरूप है। जबतक जीवपर भगवान्‌के सगुण-साकार भगवद्विग्रहकी कृपा नहीं होती, उसके दर्शन उसे नहीं मिलते, भक्ति प्राप्त नहीं होती, जीव तर्क-वितर्ककी बात, विचारोंकी उड़ानें भले ही भर ले, उसमें वस्तुतः तत्त्वको आत्मसात् करनेकी योग्यता ही नहीं आती। जो भी साधक भगवान्‌के सगुण-साकार, अप्राकृतवपु, सच्चिदानन्दकन्द विग्रहके परे किसी अन्य सत्य तत्त्वको ढूँढते फिर रहे हैं, वे सचमुच ही माया-भ्रमित हैं और अपने व्यर्थके दुराग्रहसे वास्तविक सत्यसे वंचित ही रह रहे हैं।

श्रीमद्भागवतपुराणमें श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं –

*निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।*

***क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात् ॥***

'भगवान् श्रीकृष्णके सगुण-साकार स्वरूपके गुण एवं यश इतने मंगलमय हैं कि सम्पूर्ण तृष्णाराशिका समूल नाश कर देनेवाले शिव-ब्रह्मादि, सनक-नारदादि, शुक-व्यासादि एवं वशिष्ठ-जनक जैसे ज्ञानीजन भी इन गुणोंका अनवरत गायन करते रहते हैं। भवरोग एवं त्रिविध तापोंकी औषधि ढूँढनेवाले मुमुक्षु भी, इन्हें अमृतवत् सेवन करते हैं और परम मनोरम एवं रमणीय मानते हुए विषयीजन भी इन्हें अपने कानोंसे दूर नहीं करते। फिर आत्मघाती पुरुषके सिवा ऐसा कौन है, जो परमोत्तम-चरित्र भगवान्‌के गुणगान्‌से विरत रहे ?'

सचमुच ही विगत वर्षोंमें हम लोग आत्महत्यारे ही रहे, जो भगवान्‌के सगुण साकार विग्रहके प्रति उदासीन रहे।

यहाँ एक और रहस्य उद्घाटित कर दे रहा हूँ। हम लोगोंने गर्ग-संहितादि पुराणोंमें गोलोकादिका एवं देवीभागवतमें भगवतीके दिव्य लोकका जब वर्णन पढ़ा था, उस समय यही हमारी मान्यता थी कि भक्त ऋषियोंने प्राकृत संसारकी वस्तुओंको देख-सुनकर, उनमें अलौकिकताका समावेशकर, ये वर्णन कर दिये हैं। मैं तो इस सभी वर्णनको व्याजस्तुति माना करता था। काव्यमें अतिशयोक्ति

अलकारका प्रयोग होता ही है। परन्तु आज तो मुझमे यह भी समझ उदय हो रही है कि मेरी पुरातन धारणा सर्वथा भ्रममूलक, अश्रद्धा एवं अविश्वासभरी, नास्तिकताकी द्योतक थी। पुराणोंका अक्षरश. वर्णन सत्य है।

सभी पुराण समाधिभाषामें लिखे गये ग्रन्थ हैं। इनमें अनेक कल्पोंके प्रसंग वर्णन किये गये हैं। कल्पान्तरमें देशगत भूगोल, प्राकृत वस्तुएँ, उनके आकार-प्रकार नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं। हमें हमारे इस कल्प और युगमें कुछ बाते वैसी नहीं मिलें, जैसी अनेक पुराणोंमें वर्णित हैं, वे वर्णन हमें युक्तिसंगत भी नहीं लगे, परन्तु इनकी सत्यतामें कहीं किञ्चित् भी न्यूनता सर्वथा नहीं है। जैसे सगुण-साकार भगवद्विग्रह हैं, इसी प्रकार अप्राकृत भगवल्लोक भी हैं। ससारमे हमे जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमे उस सर्वथा अप्राकृत, सच्चिन्मय परमधामकी छाया मात्र है। उदाहरणस्वरूप, जैसे हम एक सुन्दर नगर देख रहे हैं, नगरमे सुन्दर गलियाँ हैं, पथोके दोनों ओर सुन्दर हरे-भरे पुष्पाच्छादित वृक्ष हैं। नगरमे चार-दिवारियाँ हैं, बडी-बड़ी पिरोले हैं, सुन्दर उपवन हैं, इनमें बन्दनवारें टँगी हैं, सुन्दर बाग-बगीचे हैं। ये सभी वस्तुएँ आधुनिक नगरोंमें होनी सभव हैं। परन्तु यहाँ सभी वस्तुएँ मायिक हैं। आज निर्मित हुईं, कल विनष्ट हो जानेवाली हैं। आज नवीन निर्माण सुन्दर प्रतीत हो रहा है, कल बासी होकर कुरूप प्रतीत होने लगेगा और तत्पश्चात् खण्डहर हो सकता है। ये सभी वस्तुएँ, इस क्षणभंगुर प्रकृतिरूपा मायामें, अप्राकृत चिन्मय भगवल्लोकके किसी नगरकी छायारूप हैं। इनमे हमें जो भी क्षणिक सौन्दर्य एव रमणीयता आभासित हो रही है, वह सब सौन्दर्य अप्राकृत भगवल्लोकके सच्चिदानन्द तत्त्वका प्रकाशमात्र है।

इसी प्रकार इस त्रिगुणात्मक माया-जगत्‌में जितनी भी विशिष्ट स्वर्ण, रजत, हीरे, पन्ने, माणिक, मोती आदि विभूतियाँ हैं, वे सब भी उस अप्राकृत भगवद्धामगत विभूतियोकी छाया-मात्र हैं। ससारमें नवीन आविष्कार कुछ भी नहीं होता। नित्य विद्यमान सच्चिन्मयधामकी वस्तुएँ ही युगधर्मानुसार छायारूपमें प्रकट एवं तिरोहित होती रहती हैं। जहाँ पूर्वकालमें मंत्र-शक्तियोंसे मनुष्य दूरदर्शन, दूरश्रवणकी शक्तियाँ अर्जित कर लेता था, अब वही कार्य इस मशीनयुगमें दूरश्रवण टेलीफोन एवं दूरदर्शन टेलीविजनद्वारा हो रहा है। भगवद्धामगत नित्य शक्तियाँ कभी अंशतः किसी विशिष्ट आविष्कारके रूपमें प्रकट हो जाती हैं, फिर अप्रकट होकर लुप्त हो जाती हैं। पहले यहाँ पुष्पक विमानोंमें देवलोकके प्राणी आवागमन करते थे, वहाँ अब जेट इंजिनोंद्वारा संचालित बृहत्काय हवाईजहाज यात्राओंमें प्रयुक्त हो रहे हैं; मशीनी रॉकेटोंका

युग प्रचलित है। अभी भी बहुतसे ऐसे चमत्कार, जिनकी हम आज कल्पना भी नहीं कर पा रहे, प्रकृतिके गर्भमें अप्रकट, अप्रकाशित विद्यमान हैं। कालान्तरमें वे प्रकट हो भी सकते हैं, और नहीं भी हों, सब कुछ भगवदिच्छापर निर्भर करता है। परन्तु भगवान् स्वय और उनका भगवद्धाम ऐसा विलक्षण सर्वशक्ति-गर्भगृह है, जहाँ सर्वज्ञान, सर्व-शक्तियाँ, सर्वसत्ता, सर्व-आनन्द नित्य विद्यमान है।

सृष्टिमें पहले जिन रोगोंके बारेमें कभी सुना ही नहीं था, वे नये-नये मारक रोग महामारीका रूप लेकर प्रकट हो जाते हैं और कुछ काल पश्चात् उनके चमत्कारिक निदान भी सम्मुख आ जाते हैं। ऐसी असख्य औषधियाँ आज भी विद्यमान हैं, जिनका गुण-प्रभाव हमें अज्ञात है। सृष्टिमे नया बीज कुछ भी नहीं बनता। जो पूर्वसे है, परन्तु लुप्त है, वह कभी-कभी प्रकट हो जाता है। योगी भी नया बीज नहीं बना सकता। जो कुछ हमें भूतकालमें इस विश्वमें देखनेको मिला था, अथवा वर्त्तमानमें दिखायी पड़ रहा है, भविष्यमे दिखाई पडेगा, वह सब भगवान्‌के दिव्यधाममें सत्य, नित्य प्रत्यक्ष, प्रकट है, उसकी छाया ही मायाजगत्‌मे पडकर मूर्त्त, अमूर्त्त होती रहती है। भगवद्धाम ऐसा विलक्षण है कि समग्र आविष्कारोंकी कल्पनाएँ भी वहाँ नित्य मूर्त्त एवं वर्त्तमान् हैं। भगवान्‌का अलौकिक धाम भगवान्‌के चरणोमें ही नित्य स्थित है।

ये बातें ऐसी हैं कि सर्वसाधारण तो इन्हें गप्प ही कहेगा। अतः भगवान्‌के प्रति, शास्त्रोंके प्रति, सन्तोके प्रति श्रद्धा करनेवाले लोगोको ही ये बातें सुनानी चाहिये। असूयादोषसे रहित होनेकी इसमे प्राथमिक आवश्यकता है। अर्जुनमें असूया दोष न पाकर ही भगवान्‌ने उनको अपना सगुण-साकार विराट् स्वरूप दिखाया, समझाया था। इसीलिए शास्त्रोंने निर्गुणरूपको सुलभ बताया है, सगुणरूपको सही-सही समझनेवाला कोई एक विरला श्रद्धावान् ही संभव है। मेरे प्रति बालकपनसे आपका अटूट-सा विश्वास देखकर ही मैंने ये सब बातें आपको लिखी हैं।

प्राकृत जगत्‌की बुद्धि भले ही इसे नहीं समझ पावे, परन्तु सत्य यही है कि भगवान्‌का लोक तो भगवान्‌के चरणोंमें स्थित है और भगवान् अपने लोकमें स्थित हैं। कोई कह सकता है, भाई ! चरण तो भगवान्‌के अग-अवयव हैं और भगवान् अवयवी हैं, फिर जो धाम किसीके अवयवके एक भागमें स्थित हो, उसमे समग्र अवयवी कैसे निवास करेगा ? 'अवयवीमें' भगवद्धाम ऐसे ही ऊट-पटांग है। वास्तवमें भगवान् और भगवद्धाम – दो हैं ही नहीं। भगवान् और भगवान्‌के चरण, भगवान् और भगवान्‌के हाथ, पेट, वक्षस्थल, सब पूर्ण भगवान् ही हैं। अतः सब सभीमें हैं। चरणोंमें मुख है और मुखमें चरण हैं। भगवान्‌के सभी अंग-अवयव,

रूप, आकार, उनके गुण, उनका धाम, उनका नाम सब अप्राकृत, चिन्मय, सच्चिदानन्दस्वरूप, पूर्ण हैं। अतः भगवान्‌के नाममें ही भगवान्‌के चरण और उनका धाम पूर्णरूपेण समाहित है। ऐसा ही उनके अग-अवयव एव धामकी बात माननी चाहिये।

इसी प्रकार भगवान्‌का श्रीविग्रह भी मनुष्यका-सा होते हुए भी सर्वथा ही विलक्षण है। प्रकृतिका सम्पूर्ण सौन्दर्य भगवान्‌के श्रीविग्रहके रोमके सौन्दर्यकी छाया-भर है। जब छाया ही इतनी सुन्दर है, तो विशुद्ध भगवद्देहका रोम कितना अभूतपूर्व सुन्दर होगा, यह कल्पनातीत बात है। फिर जिनका रोम-मात्र इतना सुन्दर है, उसका मुख, नेत्र, ललाट, कपोल, वक्ष, हाथ कितने सुन्दर होंगे, यह सब अवर्णनीय है। इसका तो चिन्तन ही असभव है। बुद्धि भी विचार करते-करते थक जाती है।

भगवान्‌के सभी विग्रहोके दिव्य धाम यद्यपि तत्त्वत. एकमेव सच्चिदानन्द-घनरूप ही है, परन्तु फिर भी विग्रहोके अनुसार उनमे भेद भी है, वैसे शास्त्रोमें भगवान्‌के विग्रहोमे अश एव अशी ऐसा भेद किया है, परन्तु ये भक्तोकी अपनी-अपनी निष्ठाको सर्वोच्च मान्यता देनकी ही बाते हैं। भगवान् तो सभी भगवान् हैं। श्रुति कहती है :-

*ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।*
*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।*

भगवान्‌के सभी विग्रह पूर्ण हैं और पूर्णमे कहीं कोई अश-अशी हो ही नहीं सकता ।

यहॉ इतनी ही भिन्नता है कि श्रीरामके चरणोमे भक्तको साकेतके दर्शन होगे और भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें गोलोकके, इसी प्रकार भगवान् नारायणके चरणोमे हमे वैकुण्ठके दर्शन होगे। वैसे गोलोक, वैकुण्ठ एवं साकेत – तीनों कोई पृथक् भूखण्ड कदापि नहीं हैं। यदि ये भूखण्ड ही होते तो भगवद्विग्रहके चरणोके एक सुकोमलतम भागमे उनकी स्थिति भी कैसे होती। अत. यही मानना चाहिये, कि तीनों ही पूर्ण सच्चिदानन्द तत्त्व हैं, परन्तु भक्तोकी निष्ठासे सभी पृथक्‌वत् दीख रहे हैं।

सारकी सार बात यही है कि जिसने भगवान्‌के चरण-कमलोंका आश्रय ले लिया, उसने सभी प्रकारके ऐश्वर्य, विभूतियाँ, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, मुक्ति और प्रीति – सभी निधियोंको कर-तलगत कर लिया। इसमें तनिक भी सन्देह सर्वथा-सर्वथा नहीं करना चाहिये।

आजका यह पत्र बहुत ही लम्बा हो गया है अतः आज तो इस विषयको

विराम दे रहा हूँ। यदि जीवित रहा और भगवान्की अन्तर्मनमे प्रेरणा हुई तो, आगेकी बातें आगामी पत्रमे दी जा सकती हैं।

मैं पुन आप दोनों भाइयोंसे करबद्ध विनीत प्रार्थना करता हूँ कि भगवान्के नामका अनन्य आश्रय अवश्य लिये रहें। भगवान्का नाम सम्पूर्ण भगवान् है। यह निष्ठा हलकी नहीं करें। भगवान्की नामकृपा आपका सब पथ आलोकमय बना देगी। सारा रास्ता पूर्ण सुखकर हो जायेगा।

आपका

**चक्रधर**

---

।।श्रीराधा।।

पत्र संख्या - दो

(एक ही विषयके आठ पत्र होनेसे उन्हें एकही पत्रमें संयुक्त कर दिया गया है)

# भगवान्‌के चरण-चिह्न (ब)

*पत्र-लेखक :*

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(भविष्यमें पं. पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

*पत्र-प्रेषिति :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

वरिष्ठ संस्कृत अध्यापक, माहेश्वरी विद्यालय,

बड़ा बाजार, कलकत्ता

*स्थान :*

श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास नामक फर्मकी कोठी, बाँकुडा (बंगाल)

*दिनांक :*

मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी वि.सं. १९९४, तदनुसार, १५ नवम्बर, १९३७ से २ जनवरी १९३८ तक लिखे पत्रोंका सामूहिक संग्रह

*प्राप्ति-सूत्र :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपि किये गये लेखसे

## आलोक

पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका यह पत्र-लेखन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके श्रावण कृष्णा द्वितीयासे श्रावण शुक्ला द्वितीयातक सं. १९९२ में गोरखपुरमें वर्षभरके सत्संगके अवसरपर गीतावाटिकामें दिये गये प्रवचनोंके आधारपर है।

## सन्दर्भ

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजके ताऊके पुत्र, अग्रज भ्राता, श्रीदेवदत्तजी मिश्र उनके शिक्षागुरु रहे। ये न्याय-दर्शनमें 'तीर्थ' उपाधिसे

युक्त विद्वान् नैयायिक, संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। नैयायिक होनेसे सगुण-साकार भगवत्तत्त्व पर इनकी आस्था सन्देहयुक्त थी। इन्होंने स्वामीजीको पूर्वाश्रमके छात्रजीवनमें प्रस्थानत्रयी, उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र पढाये थे और उनकी, ब्रह्मज्ञान एवं वेदान्त-दर्शनमें रुचि परिपुष्ट की थी। भविष्यमें श्रीस्वामीजीका रुझान भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके सत्संगसे, पूर्ण रागात्मिका प्रेमाभक्तिकी ओर हो गया और इनकी इष्ट श्रीराधारानी हो गयीं।

पू. स्वामीजीका अपने अग्रज भ्रातासे यह पत्र-व्यवहार उन्हें अपनी भक्ति-भावनासे प्रभावित करनेके हेतुसे ही हुआ है। इसीलिए उन्होंने अनेक पत्रोंकी कडीके रूपमें लगातार उन्हें भगवान्के सगुण, साकार तत्त्व, रहस्य एवं माहात्म्यका उद्बोध कराया है। पाठक निश्चय ही इन पत्रोंसे अपना साधन-पथ चयन कर पावेंगे। इन पत्रोंके प्रकाशनका यही हेतु है।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने श्रावण कृष्णा द्वितीयासे अनेक दिवसों तक भगवान्के चरण-चिह्नोंपर प्रकाश डालते हुए गीतावाटिका, गोरखपुरमें वर्षभरके सत्संग-सत्रमें प्रवचन किया था। श्रीभाईजीसे भक्तराज नारदजीकी भेंट भी इन्हीं दिनों हुई थी। यह भी सुना गया है कि श्रीभाईजीने भगवान्के चरण-चिह्नोंके माहात्म्यको दिग्दर्शित करनेकी जिज्ञासा श्रीनारदजीसे भी की थी। कुछ विशिष्ट लोगोंकी ऐसी मान्यता भी है कि इन प्रवचनोंमें जो भी माहात्म्य वर्णित है, उसमें अधिकांश श्रीभाईजीको श्रीनारदजी द्वारा कहा गया था।

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीभुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव' आदि विद्वज्जनोंको श्रीभाईजीका यह प्रवचन इतना सारगर्भित लगा था कि इन लोगोंने मिलकर इसे यथाश्रुत यथागृहीत लिपिबद्ध कर लिया था। स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका गोरखपुर-आगमन इस प्रवचनके दो-तीन माह पश्चात् हुआ था। वे आश्विन शुक्ला एकादशीके दिन गीतावाटिका पहुँचे थे। उस समय वे पूर्ण वेदान्तनिष्ठ ज्ञानी थे। बादमें अकस्मात् ही उनमें एकदम परिवर्तन हुआ, और जब उनकी रुचि भक्तिनिष्ठाकी ओर पूरी हो गयी, तो इन्हीं 'माधवजी' आदिसे उन्हें इस प्रवचनकी प्रति उपलब्ध हुई और इसी आधारपर उनका अपने अग्रज भ्रातासे यह पत्र-व्यवहार सम्पन्न हुआ है।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम। आपके पूर्व पत्रके सदर्भमे भगवान्के चरण-चिह्नोंपर ही लिख रहा हूँ।

भगवान्‌के चरणोंकी महिमा अनन्त है। इन भगवान्‌के चरणोंका यदि किन्हीं प्राकृत धराके रजकणोंसे संस्पर्श भी हो जाता है, तो वे महाकृपाधाम रजकण साधारण महत्त्वहीन धूलि होते हुए भी माहात्म्यमे चिन्मय हो जाते हैं। कोई भगवत्प्रेमी साधक यदि उस महतीकृपाधाम रजका सस्पर्श कर ले, तो उस रजके मात्र सस्पर्शसे ही उसकी जडता निश्चय ही विनष्ट हो जाती है। इसमें कालावधिका विलम्ब अधिकार-भेदसे भले ही सभव हो। भगवच्चरणारविन्दोंकी कृपाके बिना भगवद्भक्तिकी प्राप्ति तो सर्वथा असंभव ही है।

जब भी भगवान् किसीपर कृपा करते हैं, तो पहले उसे अपने चरणोंका दर्शन प्राप्त कराते हैं। जिन भगवद्भक्तोंके मस्तकोंको भगवान्‌के चरणोंकी रज सुभूषित कर चुकी होती है, उन भक्तोंकी चरणरजके लिये देवतालोग भी तरसते रहते हैं। ये देवगण अपनी मर्यादाके रक्षार्थ प्रकट होकर तो उन भगवद्भक्तोके सम्मुख उपस्थित हो नहीं सकते, अत· वे अतिगोपन भावसे पशु-पक्षी बनकर आते हैं और इन भगवद्भक्तोंकी चरण-रजमें लोटते हैं। इस प्रकार इन महाभाग भगवद्भक्तोकी चरण-रजका कण पाकर, कृतकृत्य हुए देवगण अपने भाग्यकी सराहना करते हैं। शास्त्रोंमें कहागया है :–

*"देवे परिचयो नास्ति यत्पूजा कथं भवेत्"*

अर्थात्, जब देवतासे अपना परिचय ही नहीं है, तो फिर उस देवताकी पूजा भला कैसे होगी ? अत सर्वप्रथम भगवान्‌के चरणोके ही भक्तको दर्शन होते हैं, इन चरणोंके दर्शनसे जब भगवद्भक्ति उदय होती है, तो इन चरणोंकी कृपासे ही भगवान्‌के अन्य अङ्गोकी प्राप्ति और दर्शन होते हैं।

भगवान्‌के चरणोके दर्शनोके भी पूर्व जब भगवत्कृपा क्रियाशील होती है, तो भक्त-साधकको भगवान्‌के चरणोंकी पावनतम गधका घ्राण प्राप्त होता है। भगवान्‌के चरणोसे झरती इस परम कल्याणकारी गंधके नासिकामे प्रवेश करते ही साधकका सम्पूर्ण शरीर परम विशुद्ध हुआ भगवद्भक्तिकी ग्राहकताका पात्र हो जाता है।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार चैत्रकृष्णा प्रतिपदा स १९८८ वि तदनुसार, सन् १९३१ ई मे, आजसे लगभग साढे छ वर्ष पूर्व काशीमे श्रीविशुद्धानन्दजी नामक एक प्रसिद्ध महात्मासे मिलनेके लिये गये थे। उन दिनो ये लोगोमे 'गन्धीबाबाके' नाम से विख्यात थे। ये सूर्यविज्ञानके बहुत बडे पण्डित थे। सूर्यरश्मियोको काचके एक लेंससे किसी भी वस्तुपर केन्द्रितकर, ये मनचाही गध पेदा कर देते थे। इसीलिए इनका नाम 'गधीबाबा' प्रसिद्ध हो गया था।

जब भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इनसे मिले, तो उन्होने

श्रीविशुद्धानन्दजीसे कहा - "स्वामीजी ! क्या आप श्रीकृष्ण-अग गन्ध भी इस सूर्य-विज्ञानसे उत्पन्नकर सुँघा सकते हैं ?"

श्रीविशुद्धानन्दजी हँसने लगे और कहने लगे कि सत्यांशमें श्रीकृष्ण अग-गध किसी भी प्राकृत-विज्ञानसे उत्पन्न करना असभव है। देवजगत्में भी उसकी उपलब्धि किसीको नहीं है। हाँ, उस परम चिन्मय गन्धकी नकल प्रकृतिमे जैसी भी सभव हो सकती है, वह मैं निर्माण करनेकी चेष्टा कर सकता हूँ। परन्तु पोद्दारजी ! इसकी परीक्षा कौन करेगा कि जो भी गध मैं निर्मित करूँगा, वह श्रीकृष्ण अंग-गन्धके तुल्य है ? उस गन्धकी परीक्षा करनेवालेको श्रीकृष्णांग-गन्धका अनुभव तो होना ही चाहिये। फिर उस परीक्षकको मुझपर ऐसी श्रद्धा भी होनी चाहिये कि मैं स्वयं भगवदंग-गधका अनुभवी हूँ, तब न वैसी ही गध निर्माण कर रहा हूँ।"

श्रीपोद्दारजीने कहा – "स्वामीजी ! हमें आपपर तो अवश्यमेव श्रद्धा है, तभी न हमने यह प्रश्न आपसे किया है। हॉ, परीक्षा करनेका अधिकार हम लोगोमेसे किसीके भी पास सर्वथा नहीं है। जहॉतक मेरा प्रश्न है, मैं तो नरकोमें पड़ा विषयी पामर प्राणी हूँ, परन्तु उस चिन्मय गधकी अनुकृति भी यदि हमें सूँघनेको मिलेगी, तो भी हम सभी अपनेको धन्यभाग्य एव कृतकृत्य अनुभव करेगे।"

आप आश्चर्य करेगे, श्रीभाईजीके पास आज भी श्रीविशुद्धानन्दजी महाराज द्वारा प्रदत्त वह गध एक इत्रकी शीशीमे रखी है। उन्होने वह गध मुझे भी सुंघाई थी श्रीभाईजी कहते थे कि भगवान् श्रीकृष्णके अगोंकी गधकी तो कहीं कोई अनुकृति (नकल) हो ही नहीं सकती, वह तो निरुपम असमोर्ध्व है, परन्तु यह गन्ध उसका किञ्चित् आभासमात्र अवश्य दे पा रही है।

श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवके सम्मुख जब भी श्रीकृष्ण प्रकट होने होते, तो पहले उन्हे एवं उनके साथी वैष्णवजनोंको भगवान्के अगोकी गध मत्त कर डालती थी। इस गधसे भावोन्मत्त हुए, वे एव उनके वैष्णवभक्त प्रभुकी उपस्थिति अनुभवकर उन्हे प्रकट करनेके लिये व्याकुल प्रार्थना और विरह-क्रन्दन करने लगते । श्रीचैतन्यदेव अतिशय भावावेशमे अपने भक्तोसे कहते –

*"हेन श्रीकृष्ण अंग-गंध जे न पाय से सम्बन्ध तार नासा भस्त्रादि समान ।*

अर्थात्, जो प्राणी इस श्रीकृष्ण-अग-गधसे अपनी नासिकाका सम्बन्ध नहीं जोड पाया, उसे नासिकाके होनेका लाभ ही क्या मिल पाया ? उसकी नासिका धौकनीके द्वार (छिद्र) की तरह व्यर्थ ही वायु खैंचती और छोडती है।

भैया ! जिन्हें आज न सही सुदूर भविष्यमे भी कभी भगवत्प्रेम एव

भगवद्दर्शनका सौभाग्य मिलना होता है, उन्हें ही श्रीचैतन्यदेव-जैसे किसी भगवद्भक्तके चरणाश्रितोकी चरण-रज प्राप्त होती है।

## कमलका चिह्न

वैसे भगवान्के रामावतार, वामनावतार, विष्णु, नारायण आदि स्वरूपोंके चरणोमे भी चिह्नके रूपमे कमल है परन्तु भिन्न-भिन्न अवतारोंके चरणोंमे जो कमलका चिह्न है, उनके दल (पखुड़ियों) और वर्णमे पर्याप्त अंतर रहता है। भगवान श्रीकृष्णके चरणोंमे जो कमलका चिह्न है, उसमे सोलहदल हैं, इस कमलका रग ललाई लिये हुए गुलाबी है। इस कमलके चिह्नके ऊपर लगे रज-कणोके स्पर्शमात्रसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कमल ज्ञानका ही प्रतीक है।

ये भगवान्के चरणोमें सलग्न जो रजकण है, ये बाह्यरूपसे भी जड नहीं है रजकणोका जो भाग भगवान्के चिन्मय चरणतलोंमे चिपका रहता है, वह चिन्मय ज्योतिर्मय ही हो जाता है। इन रजकणोका ऐसा कल्याणकारी प्रभाव है कि यदि इनका कहीं भूलसे अथवा किसी भी प्रकारसे स्पर्श नेत्रोंसे हो जाय, तो मायाका नेत्रोमे लगा कीच सदा-सदाके लिये स्वच्छ हो जाता है। उस महाभाग्यवान्की नेत्र- ज्योतिमे फिर सर्वत्र, जाग्रत्-स्वप्न, सभी कालोंमें भगवान्के परम मगलमय रूपकी अलोकिक झाँकी ही भरी रहती है। ऐसे भक्तके लिये भगवान् स्वयं अपने मुखसे कहते हैं –

*अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः ।।*

अर्थात्, मै उस अपने भक्तके पीछे-पीछे इसलिए घूमता हूँ कि उसकी चरण-रज मुझपर पडती रहे, और मै उस चरण-रजसे पवित्र होता रहूँ

यह तो सर्वविख्यात हे कि भगवान्ने अपने सखा एवं भक्त सुदामाके चरणोकी धोवनको स्वय तो पान किया ही, उसे अपनी सभी पटरानियोको भी पिलाया था। उन्होने उस चरण-धोवनको अमृतकी तरह अपने द्वारकाधामके सभी महलोमे ऊपर-नीचे, सर्वत्र छिडका था। जिन द्वारकानाथ भगवान्के पादोदकके पानसे मनुष्य पूर्वजन्मो एव इस जन्मके सभी पापोसे छूट जाता है जो पादोदक अपुनर्भव गति प्रदान करने वाला है, वे भगवान् द्वारकाधीश स्वय अपनी चारों भुजाओंसे अपने सखा, भक्त सुदामाका चरणोदक तीर्थजलवत् अपने पर छिडक रहे हैं, यह भक्तवत्सलताका अप्रतिम उदाहरण ही तो है श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि –

*"विना महत्पाद रजोऽभिषेकम्"*

अर्थात्, महात्माओंकी चरण-धूलिको मस्तकपर छिड़के विना कल्याण कदापि नहीं होता।

कमलके साथ तो भगवान्‌का बहुत ही निकटका सम्बन्ध है। भगवानके नाभि, मुख, चरण, कर, नेत्रादि मुख्य अगोको कमलकी उपमा दी जाती है। भगवान्‌के नाभि-कमलसे जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीकी उत्पत्ति होती है। भगवान्‌के अगोसे पद्म-गंध अनवरत प्रसरित होती रहती है। पद्मजा लक्ष्मी भगवान्‌की पत्नी है।

यह कमलका चिह्न भगवान्‌की एडीके ऊपरके भागमे स्थित है। कमलके ऊपर वज्र है। कमलके पार्श्वमे अकुशका चिह्न है और सर्वोपरि ध्वजा फहरा रही है।

भगवान्‌के लाल-लाल अतिसुकोमल चरणतलोपर भिन्न-भिन्न वर्णोके ये चरण-चिह्न अतीव मनोहर लगते है। वैसे कमल लाल वर्णका है, परन्तु भगवान्‌के चरणोके रगमे इसका वर्ण मिलकर एकाकार नहीं हो जाय, अत इसमे पीलापन और नीलिमा झाॅई मारती रहती है। भगवान्‌के चरणोमें यह हरिताभ दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार, छत्र पीले वर्णका, वज्र श्वेत-शुभ्र कर्पूर गौरवर्णका एव अकुश श्याम वर्णका – इस प्रकार सभी चरण चिह्न अलौकिक शोभाका प्रकाश करते हैं। ये सभी, जब किसी महाभाग्यवान् भक्तके नेत्रोके सम्मुख प्रकट होते हैं, तो इन सभीकी आभा एक साथ मिलकर अलौकिक वर्णकी हो उठती है। इनकी पृथक्-पृथक् आभा भी एक दूसरेपर पड़कर अतीव अद्भुत सौन्दर्य सृजन करती है।

भगवान्‌के चरण-चिह्न सभीको सब समय नही दीखते। जब भी इनकी कृपा होती है, तभी इनके दर्शन होते हैं, किन्तु जब भी ये दृष्टिपथमें आते हैं, तब इनकी शोभा ऐसी निर्मल प्रकाशयुक्त एवं असीम सुन्दर होती है कि उसका वर्णन किया जाना सर्वथा असंभव है।

भगवान्‌के चरणोमे इन चरण-चिह्नोंके बीचो-बीच ठीक मध्यमे व्याधने बाण मारा था। इसका अर्थ यही है कि भगवान्‌के साथ ही इस धरासे, ज्ञान (कमल), आसुरी शक्तियोका दमन (अकुश), धर्म एव संतोंका अनुशासन (छत्र) एव सत्शक्तियोंकी विजय पताका (ध्वजा) – ये सभी व्याधद्वारा विनष्ट कर दिये गये ।

भगवान्‌के चरणोमें जो षोडशदल-कमलका चिह्न है, वह भगवान्‌के पुत्र विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीका निवास स्थान है। श्रीब्रह्माजी ही सम्पूर्ण लोकालोक और देवगणोंके पिता-माता दोनो ही हैं। अत इस कमलके चिह्नमेसे सभी देवगणोंके दर्शन होते रहते हैं। यह कमलका चिह्न ऐसा निर्मल दर्पणवत् है, जिसपर समग्र विश्व-सृजनका प्रतिबिम्ब अकित है। सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान् अच्युतके

चरणोंमे ही तो है। जैसे कमल पक (कीचड़) में उत्पन्न होता हुआ भी उसके सस्पर्शसे सर्वथा विवर्जित, निर्मल, असंग, ऊपर उठा हुआ रहता है, वैसे ही भगवान्‌के चरणोमें इस त्रिगुणमयी मल-विक्षेपादि दोषोसे युक्त सृष्टिके होनेपर भी भगवान् सर्वथा इससे असंग, निर्लेप, पृथक् हैं, यही कमलका भाव है।

## वज्रका चिह्न

बगालमें 'दाव' नामक एक औजार होता है। वज्रकी आकृति लगभग दावके समान ही होती है। यह दावसे अधिक तीक्ष्ण और तेजयुक्त चमत्कारी होता है। शेषनागके फनसे भी इसकी आकृति मिलती है। वज्रका रंग श्वेत है। वैसे श्वेतवर्ण तो अवर्ण हो जाता हे। उसमे कोई-न-कोई अन्य वर्णका लेशभर भी मिश्रण अवश्य होता है। शिवजी महाराजको शास्त्रोंमे श्वेतवर्णका कहा है, परन्तु वे कर्पूर-गौरवर्णके माने जाते हैं। कर्पूर-गौर वर्णमें श्वेतताके साथ थोडी ललाई रहती है। यह लालिमाका मिश्रण ही कर्पूर-गौर वर्णको नेत्रोके सम्मुख अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह वज्र कर्पूर-गौरवर्णका ही होता हे।

भगवान् विष्णुकी आराधना करते समय इन्द्रने भगवान्‌के चरणोंका अनवरत पूजन किया। उस समय उसे भगवान्‌के चरणोंमे अकित वज्रके दर्शन भी होते रहे। भगवान् विष्णुके आदेशसे ही वृत्रासुरको मारनेके लिये इन्द्रने भगवान्‌के चरणोंमें जो वज्रचिह्न है, उसे देखते हुए, उसी आकृतिका एक पार्थिव वज्रास्त्र विश्वकर्माके द्वारा दधीचिकी हड्डियोंसे बनवाया था। उसीसे उसने वृत्रासुरका वध किया था। इस वज्र-निर्माणके पूर्व वज्र नहीं था, सो बात नहीं थी। हाँ, इसके पहले वह प्राकृत संसारमें गुप्त था, प्रकाशमे नहीं आया था।

वृत्रासुर भगवान्‌का अनन्य भक्त था। वह अपने इष्टदेवके चरणोका ध्यान करते समय नित्य अपने ध्यानमें प्रकट इस वज्र-चिह्नको प्रणाम करता था। जब इन्द्रने उसे मारनेके लिये उसी वज्रका प्रयोग किया, तो अपने इष्टके चरण-चिह्नको अपनी मृत्युका हेतु बनकर अपनी ओर आता देख, वह वृत्र कृतकृत्य एव धन्य हो गया। उसकी भक्ति देखकर इन्द्रदेवका वह वज्रास्त्र कुण्ठित हो गया। इस वज्रास्त्रके साथ भगवान् विष्णुदेवका सिद्ध मारण-मंत्र भी प्रयुक्त किया गया था, वृत्रके भक्तिभावके सामने इस मारण-मंत्रकी शक्ति भी पूर्णतया निरस्त थी। अब तो इन्द्रकी वृत्रको मारने की सामर्थ्य सर्वथा समाप्त हो गयी थी। परन्तु तत्पश्चात् वत्रासुरने भगवदिच्छा जानकर स्वयं मृत्युको वरण कर ली।

सत्य तथ्य तो यही है कि कमलके गुलाबी चिह्नके रूपमें स्वय ब्रह्माजी एव वज्रके रूपमें अपनी समग्र शक्तियों सहित भगवान् शिवजी, भगवान्‌के चरणोमें साक्षात् नित्य स्थित रहते हैं। इसीसे जहाँ ब्रह्माजी भगवान्‌की शरण

रहकर विश्वसृष्टिका समस्त वैभव सृजन कर पाते है, वहीं शिवजी महाराज भी भगवान्‌की चरण-शरणके प्रभावसे ही विश्वको सहार करनेकी शक्ति पाते है और उस सहार द्वारा उसे पुन अपने प्रभुके चरणोंमें ही लीन करते रहते हैं। भगवान्‌के चरणोमे अङ्कित यह वज्र जगत्‌के समग्र पापोंको उनकी वासनासहित समूल नाशमे हेतु होता है और पापोंके समूल नाशसे ही जीवको नित्य भगवच्चरणाश्रयकी प्राप्ति होती है।

## अंकुशका चिह्न

जैसे भगवान् शंकर कर्पूर-गौरवर्ण हैं, उसी प्रकार भगवान् सूर्यदेव नीलिमा-प्रधान शुभ्रवर्णके हैं। भगवान् सूर्यदेव विष्णुके अंश हैं। द्वादश आदित्योंमें भगवान् विष्णुकी भी गणना होती है। अकुशके रूपमें पालन-शक्तिसम्पन्न भगवान् विष्णु (नारायण) ही श्यामवर्ण धारण किये भगवान् श्रीकृष्णके चरणोमें स्थित हैं। वे विश्वको पालन करनेकी शक्ति भगवच्चरणारविन्दोंसे ही लाभ करते हैं।

अंकुशमें मदोन्मत्त हाथीको भी वशमें करनेकी शक्ति होती है। नित्य नियमित रूपसे इस अकुशरूप चरण-चिह्नको प्रणाम करनेसे हमारा दुर्दान्त हाथीके समान उद्दंड एव चचल मन वशमें हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण महायोगेश्वर हैं, उनका परमोन्नत वैभव है, उनके चौदह अगुल लघु, परम सुकोमल चरणोंमें स्थित इन चरणचिह्नोंके रूपमें ही सम्पूर्ण विश्व सृजित, सपालित, और संहारित हो रहा है।

## ध्वजाका भाव

भगवान्‌के चरणोंम चिह्नके रूपमे जो ध्वजा है, उसका वर्ण पीत है। यह विशुद्ध सत्त्वरूपा भक्तिकी प्रतीक है। ध्वजा विजयकी सूचक है। जो भी भगवच्चरणाश्रयी भक्त ध्वजाका ध्यान करते है, उनके भीतर ससारकी आसक्ति और अज्ञान नहीं रहता। उन्हे निश्चय ही प्रगाढ रागात्मिका, विशुद्ध सत्त्वमयी भक्ति प्राप्त होती है। यह रागात्मिका प्रेमाभक्ति सर्वविजयिनी है।

भगवान्‌के चरणोमें अनेक महासिद्ध भक्त बत्तीस चिह्नोकी बात कहते हैं, कुछ यह सख्या चौसठ और कुछ एक सौ आठ चिह्नोंका संधान करते हैं। परन्तु सभी एकमतसे निम्न चार चिह्नोंको प्रामुख्य देते हैं। ये कमल, अकुश, वज्र एव ध्वजा, सभी वैष्णव विग्रहो – राम, कृष्ण, नारायण, आदिके चरणोमे स्पष्ट परिलक्षित हैं और सभी सम्प्रदायो द्वारा इन्हे पूर्णतया मान्यता प्राप्त है।

## भगवान्‌के चरणोंके अन्य शेष चिह्न

भगवान्‌के चरणोमें इन चार चिह्नोके अतिरिक्त जो शेष चिह्न परिलक्षित

होते हैं, उनमे कुछ तो आयुध हैं, इनके अतिरिक्त पशुओंके चिह्न हैं। आयुधोमें धनुष, बाण, तलवार, बरछी, शक्ति, शूल, तोमर एवं गदा आदि हैं। सुदर्शन चक्र भगवान् विष्णुके चरणोमें चिह्नरूपमे प्रमुख है। पशुओके चिह्नोंमें – अश्व, हाथी, हरिण, कामधेनु (गाय) आदि प्रमुख हैं। नक्षत्रोंमें – सूर्य एव चन्द्र हैं। ऋषियोनें – नारदजी हैं, पुष्पोमें – दिव्य पुष्प हैं, जलचरोमें मीनको लिया गया है। नागोमें – शेषनाग, पक्षियोमे – गरुडजी, वाहनोंमें – रथ, फलोंमें – कदम्बका फल, स्वर्गस्थ जीवोमे – उर्वशी, कामधेनु, कल्पवृक्ष एव पर्वतोमे – सुमेरु पर्वतको लिया गया है। पृथ्वीके वृक्षोमे – अश्वत्थ, राजचिह्नोंमे सिहासन एव छत्र-चँवर, वस्त्रोमे – पीताम्बर, आभूषणोमें बाजूबन्द, वाद्योमे – वीणा, मुरली, पात्रोमे – स्वर्णकुम्भ एव देवताओमे ब्रह्माजी प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त शुभचिह्नो मे – स्वस्तिक, अग्निकुण्ड, ऊर्ध्वरेखा, त्रिकोण, अष्टकोण, एव नवकोण हैं असुरोमे – राजा बलि, एव शुभवाद्योमे – घण्टिका एव शख सम्मिलित हैं। यज्ञान्नमें तिल एव जौ हैं। तिल 'स्वधा' पितृलोकके प्राणियोका प्रतीक है एव जौ 'स्वाहा' अर्थात् देवलोकके प्राणियोंका प्रतिनिधि है। निवास स्थानके रूपमें महलका चिह्न है एव स्वच्छताका प्रतीक – दर्पण है।

भगवान् श्रीकृष्णके दाहिने चरणमं उनकी प्रीतिशक्ति राधाजी, भगवान् श्रीरामके चरणोमें सीताजी एव भगवान् विष्णुके चरणोमें लक्ष्मीजी निवास करती हैं। श्रीराधाजीके चरणोंमे चक्र, चँवर, लता, आदिके चिह्न रहते हैं।

कोई यह शका करे, कि चौदह अंगुलके छोटे छोटे चरणोमें इतनी वस्तुएँ कैसे रहती हैं, तो यह तो प्राकृत जगत्के एक छोटे-से चित्रमें भी हम देख सकते हैं। चित्र अथवा फोटो छोटी होती है, परन्तु उसमें समुद्र, मकान, सूर्य, चन्द्र, पहाड, झरने, नदियाँ, देव-दानव – सभी चित्रित किये जाते हैं। फिर प्राकृत चित्रोंमे तो उनका स्वरूप जड होनेसे इन सब पदार्थोंका मात्र आकार ही रेखाओके रूपमे उभरता है, भगवान्के चरण चिन्मय होनेसे उनने असुरराज बलि, सुमेरु पर्वत, आदि सभी वस्तुएँ साक्षात् नित्य निवास करती हैं। इनकी इन चरणोमें मात्र जड आकृतियाँ ही नहीं है, सभी वस्तुएँ जीवन्त, मूर्त्त, इन चरणोंमे नित्य रहती हैं। ये सभी अपने सब रूप, बल और सत्ताके साथ प्रकट हो सकती हैं और पुन: इनमे चिह्नरूपसे स्थित भी हो सकती हैं। जिन भगवान्की मायाशक्ति अघटन-घटना-पटीयसी है, उनके लिए इसमे कौनसी असंभव अनहोनी बात है ?

भगवान्की अनन्त शक्तिकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। भगवान् चाहे तो अवकाशमे अनवकाश कर सकते हैं, तथा अनवकाशमें अवकाश। वे

सूर्यको एक हिमकण बना सकते हैं और हिमकणको सूर्य। इस अनन्त विस्तृत सृष्टिको वे एक सूईके छिद्रमें प्रवेश करा दें और उन्हें इसमें न तो सूईका छिद्र बड़ा करना पड़े और न सृष्टिको लघु। ऐसी अनेक चमत्कारिक सिद्धियाँ तो योगियोंमें भी मिल जाती है, परन्तु उनमें वे आंशिक ही होती हैं और भगवान् तो स्वयं सिद्धोंके महासिद्ध हैं।

सारांश यही है कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टि प्रतीक चिह्नोंके रूपमें भगवान्के चरणोंमें जीवन्त निवास करती है। जिस प्रकार अर्जुनके रथमें उसकी ध्वजापर चिह्नके रूपमें हनुमानजी थे, परन्तु थे वे – स्वयं साक्षात्, इसी प्रकार, यह समग्र भौतिक जगत् वैसे हमें आदि-अन्तहीन पंचभूतात्मक दीख रहा है, परन्तु यह परमात्म-स्वरूप चिन्मयरूपमें भगवान्के चरणोंमें नित्य स्थित है। यह नितान्त सिद्धान्त है, कि विश्वमें कहीं, कुछ भी, कैसा भी है, सब भगवान्के चरणोंमें ही है। भगवान्के चरणोंसे परे कुछ भी, कभी भी होना संभव नहीं है।

यद्यपि यह बात सर्वसाधारणकी समझके परे हैं, परन्तु भगवत्तत्त्वको जानने समझनेवालोंके लिये यह स्पष्ट तथ्य है।

यह विश्वसृष्टि चेतनमें है, चेतनसे है, अतः चेतन ही है। यह तर्क तो दिया जा सकता है, परन्तु लौकिक नेत्रोंसे तो सभीको जगत्के रूपमें अनन्त, विस्तृत जड़ता ही जड़ताका प्रसार दृष्टिगोचर हो रहा है। यह तो भगवद्भक्तकी ही भक्तिभावमयी दृष्टि है कि उसे भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण जगत् भगवद्रूप दिखाई पड़ता है। इसका उदाहरण भक्तराज प्रह्लादके रूपमें हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष है। भक्तराज प्रह्लादके पिता हिरण्यकशिपुके लिये कहीं भी भगवत्सत्ता थी ही नहीं, उसे मैं, तू, खड्ग, खंभ, नदी, पहाड़, तलवार, ढाल अनेक सत्य दीख रहे थे, वहाँ प्रह्लादको स्पष्ट, प्रत्यक्ष, सर्वत्र भगवत्सत्ता ही सत्य दृष्टिगोचर हो रही थी। और यह प्रह्लादकी दृष्टिका ही अमोघ सत्य था, जिसके फलस्वरूप भगवान्को नृसिंह-रूप धारण करके खंभेमेंसे प्रकट होना पड़ा।

भक्तके नेत्र मात्र व्यवहारमें ही लौकिक होते हैं, वैसे वे भगवान्में इतने पगे होते हैं कि दिव्य भावापन्न होनेसे, वे चिन्मय ही हो उठते हैं। भक्तकी नेत्र-पुतरियाँ ही साक्षात् भगवान्का निवास हो जाती हैं।

भक्तराज हनुमान्जीने अपना हृदय फाड़कर सभीको उसमें साक्षात् भगवान् सीतारामको विराजित दिखाया है। भक्तोंके नेत्रोंकी परम रसमयी चिन्मयताकी शोभा ही निराली होती है। उपनिषद् कहते हैं – ***'तद् विष्णोः परमं पदम्'*** अर्थात्, सम्पूर्ण विभूतियोंसहित यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि भगवान्के चरणोंमें ही है। इस श्रुतिके अनुसार विश्वकी विभूतियोंके सम्पूर्ण नमूने भगवान्के

चरणोमें चिह्नरूपमें प्राप्त होते हैं।

ऋषि, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, नक्षत्र, आयुध, आभूषण, वृक्ष, पर्वत, वस्त्र, राजचिह्न, वाद्य, पात्र, फल-फूलादि सभी वर्गोमेसे एक-एक वस्तु चुनकर भगवान्‌ने अपने चरणोमें चिह्नके रूपमें स्थापित कर रखी है।

वैसे भक्तोंकी इस विषयमें विलक्षण भावनाएँ हैं। भक्त सोचते हैं कि भगवान्‌के चरणोमें सम्पूर्ण सृष्टि है और भगवान्‌के चरण तो मेरे परम स्नेहास्पद हैं, अतः उसके लिये यह सृष्टि मायिक, मिथ्या, मृगमरीचिकावत् नाशवान् एवं दुःखालय नहीं होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाती है। यद्यपि सृष्टि अपने स्वरूपको बदलती नहीं है, वह भक्तके लिये भी दुःखालय ही रहती है, परन्तु भक्त सृष्टिके सुख-दुःखको अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे लेता ही नहीं है, वह तो सभी सांसारिक संपत्ति-विपत्तिमें भगवान्‌के परमानन्दकन्द मुखारविन्दकी सर्वसुखनिधान छबि देख-देख कर मस्त रहता है। भक्तको सर्वत्र अपने इष्टके सर्वसम्पद्-निकेतन् चरणारविन्द ही विलसित नजर आते हैं। भक्तके आत्मनिवेदनको देखकर भगवान् कृतज्ञतासे भर उठते हैं। वे निर्णय ही नहीं कर पाते कि मैं अपने इस भक्तको, जिसने मेरे चरणोको अति भक्तिभावसे अपने हृदयके भीतर अखण्डरूपसे स्थापित कर लिया है, क्या दूँ ? भगवान् तो मात्र विचार ही करते हैं और भगवान्‌का मन अपने भक्तोंके प्रति कृतज्ञतासे मात्र आप्यायितभर होता है, परन्तु परमोदार भगवान्‌के चरण तो, भक्तका हृदय स्पर्श करते ही भक्तिभावजन्य परमोच्च, अनमोल सम्पूर्ण निधियाँ उस भक्तको तत्क्षण ही दे डालते हैं। इस प्रकार भक्तके पास भगवान्‌का सारा प्रेमैश्वर्य और भक्तिभाव-जन्य विभूतियाँ स्वतः बिना किसी प्रयासके आ जाती हैं। विश्वमें जितना भी ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सद्गुण हैं, सौशील्य है, सौभाग्य है – सबके स्रोत, उद्गमस्थान तो भगवान्‌के परमनिधि चरण ही तो हैं। जैसे उदाहरणस्वरूप, प्रेमाभक्तिके आचार्य भक्तशिरोमणि नारदजी हैं। जब नारदजी स्वयं भगवान्‌के चरणोके माध्यमसे भक्तके हृदयमे आ जाते हैं, तो वह भक्त प्रेमाभक्तिसे वंचित कैसे रह सकता है ?

इसी प्रकार स्वस्तिकका चिह्न है। वह सर्वतोदिशि मंगलका प्रतीक है। जब भक्तके हृदयमे भगवच्चरणारविन्दमें स्थित स्वस्तिक मूर्तिमान् धृत होता है, तो वह भक्त निश्चय ही सम्पूर्ण त्रिलोकीके लिये परम मंगलकारी बन जाता है। जिन पदार्थोंके चिह्न भगवान्‌के चिन्मय चरणोमें स्थान पाये हैं, वे सभी अप्राकृत भगवद्धामकी ही वस्तुएँ हैं। उन्हें कभी प्राकृत जगत्‌की लौकिक वस्तुएँ नहीं समझनी चाहिये। अतः भक्तके हृदयमे ज्योंही भगवच्चरणारविन्द विराजित होते हैं, अप्राकृतधाम एवं उसकी सभी मुख्य निधियाँ भी भक्तके हृदयको अपना घर

बना लेती है। अप्राकृत निधियाँ सम्पूर्ण लोकशक्तियोंकी भी आधार हैं, अत भक्त लोक-परलोककी प्राकृत-अप्राकृत सभी सिद्धियोका स्वामी स्वभावतः ही हो जाता है।

योगी एव भक्तकी तो कोई तुलना ही सभव नहीं है। योगी अपनी योग साधनासे मात्र प्राकृत-शक्तियोका आशिक स्वामित्व पाता है। अप्राकृत भगवल्लोकतक तो उसकी गति ही नहीं है। इस प्राकृत-शक्तियोंके आंशिक स्वामित्वसे ही योगी अभिमानी हो उठता है। भगवान्‌के भक्तके अभिमानी होनेकी तो कभी कल्पना ही नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो भगवान् एवं उनके परम चिन्मय, शतम चरणोंको अपने हृदयमें पाकर उनके परम प्रेममे वशीकृत हुआ अपने आपको ही भूल जाता है।

इसके ज्वलन्त उदाहरण भक्तराज हनुमान्‌जी हैं। भक्तराज हनुमान्‌जी सर्वसिद्धियोक स्वामी हैं। यद्यपि उन्हें अपनी समग्र महत्ताकी पूर्ण विस्मृति रहती है, क्योकि जब भक्त भगवान्‌की स्मृतिमें तल्लीन रहता है, तो उसे अपने व्यक्तित्व और उसकी महत्वपूर्ण शक्तियोका विस्मरण सहज स्वाभाविक ही हो जाता है, श्रीजाम्बवान्‌जी जब उन्हें इन अपनी महत्वपूर्ण शक्तियोंकी स्मृति कराते हैं, तब भी वे भगवान्‌की सेवार्थ ही उन शक्तियोंका प्रयोग करते है। भगवान्‌की मुद्रिकाको अपने मुखमे मेलकर ही वे अपनेको शक्तिमान् समझ पाते है, उन्हे यह अखण्ड रूपसे ज्ञान एव स्मरण रहता है कि मैं जो कुछ भी हूँ, वह सब भगवान् की सेवकाईका फल है, मैं तो अपने स्वामी श्रीरामजीके बलसे ही बली हूँ। मेरा अपना स्वयका कुछ भी नहीं है। श्रीहनुमान्‌जी भगवान्‌की सेवकाई और उनके कार्यक लिये प्राप्त भगवान्‌के बलसे बली हुए अपने सम्मुख रावणको एक तुच्छ मच्छरके समान भी नहीं समझते। मेघनादके द्वारा ब्रह्मपाशसे बाँधे जानेपर एव रावणके सम्मुख उसकी भरी सभामे समुपस्थित किये जानेपर भी वे पूर्णतया निर्भय हैं। वे पूर्णतया विश्वस्त है कि भगवान्‌की असभवको सभव करनेवाली सामर्थ्य उनकी रक्षा करनेमे पूर्ण समर्थ है। यह मृत्युमुखमे पडा रावण उनका एक रोम भी क्षत नहीं कर सकता। भक्त होनेके नाते भक्तराज हनुमान्‌जीके हृदयमे भगवान्‌के चरण तो अखण्ड विराजित रहते ही हैं और भगवान्‌के चरणोमे जो भी दिव्य अप्राकृत निधियाँ है, वे सब उनके हृदयका चरणोके सग निहित रहनेसे अपनी अनन्त तेजस्विता आदि शक्तियोंसे समलकृत किये रहती हैं।

## सूर्य एवं चन्द्रका भाव

भगवान्‌के चरणोमें सूर्य एव चन्द्रके चिह्न विद्यमान हैं। सन्तजनोंने इनके

असख्य भाव ग्रहण किये हैं। मुख्य कुछ भाव यहाँ उल्लेख किये जा रहे हैं।

भगवान्के चरणोंमें सूर्यदेव हैं, वे भक्तके, चरणोंमें प्रविष्ट होते ही भगवद्भक्तका सम्पूर्ण तमोगुण नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार भगवान्के भक्तोको जब भगवान्का अदर्शन रहता है, वे अतिशय विरहमें व्याकुल होते हैं, तो वे इन प्राकृत सूर्य-चन्द्रको देखकर भगवान्के चरणोंकी स्मृति कर लेते हैं। उन्हें यह समझकर कि ये भगवान्के चरणामें अंकित हैं, बहुत ही सान्त्वना मिलती है।

भगवान्के भक्तोमें अग्रगण्य शिवजी महाराज तो चन्द्रमाको भगवान्के चरणोंमें अंकित मानकर उसे सदा अपने मस्तकपर ही धारण किये रखते हैं भगवान्के चरणोदकको तो वे गगाके रूपमें अपने जटाजूटमें एवं भगवान्के चरण-चिन्ह चन्द्रमाको वे शिरोभूषण बनाकर सदैव अपने मस्तकपर धारण किये रहते हैं।

यह बात पूर्व-प्रसगमें कही जा चुकी है कि भगवान्के चरण ही परमपद हैं। जैसे साकेत-धाम भगवान् रामके चरणोमें है, गोलोकधाम भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें है। भगवान्के चरण अप्राकृत चिन्मय हैं। इनमे प्राकृत सूर्य-चन्द्रका तो प्रवेश ही संभव नहीं है। अत इन प्रकृति-पिण्डो सूर्य-चन्द्रकी वहाँ गति ही नहीं है। श्रुति कहती है -- ***'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः'*** अर्थात्, वहाँ न तो सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा एवं न ही अग्नि। तो फिर इन भगवल्लोक साकेत-गोलोकादिमें कौनसे सूर्य-चन्द्र प्रकाशित होते हैं ? ये भगवल्लोक, हैं तो लीलाजगत् ही। अत वहाँ सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश सभीकी स्थितिका उल्लेख शास्त्रोंमें मिलता है। वहाँ दिन-रात होते ही हैं। वहाँ नन्द-यशोदाजी, दशरथ-कौशल्याजी जब रहते हैं, भगवान्की असख्य प्यारी गायें, सखागण निवास करते हैं; जहाँ श्रीराधाजी, कीर्त्तिदा मैया, उनके महल-मकान, सभी सखियाँ और गोपगणोंके असख्य परिवार हैं, यमुना, राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड, गिरिराज पर्वत आदि सभी जगत् है, तो वहाँ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, वायु तो होंगे ही। निश्चय ही ये वहाँके सूर्य-चन्द्र प्राकृत, विनाशी, सूर्य-चन्द्र नहीं होकर, भगवान्के चरणाश्रित अप्राकृत चिन्मय सूर्य, चन्द्र ही हैं। ये अनन्तानन्त विश्वब्रह्माण्डोंमें प्रकाश करनेवाले सूर्योंके मूल बीज हैं।

शास्त्रोंमे ऐसा वर्णन आता है कि जिनकी परम गति होती है, वे सूर्यमण्डल को भेदकर अति ऊर्ध्व लोकोमें प्रस्थान करते हैं। भगवान्के चरणाश्रयी भक्त तो भगवान्की चरणकृपासे स्वत सूर्यमण्डल-भेदी हो जाते हैं। उन्हें इस लौकिक सूर्य-मण्डलसे कुछ लेना-देना ही नहीं रहता। विश्व-ब्रह्माण्डमें जो-जो लौकिक-अलौकिक गतियाँ हैं, वे सभी गतियाँ भगवद्भक्तको भगवच्चरणारविन्दोकी

कृपा-कणके प्रसाद-स्वरूप स्वत: ही प्राप्त रहती हैं।

भगवच्चरणतलगत चन्द्रमा भक्त हृदयमे प्रवेश होते ही सम्पूर्ण तमोगुणको नष्ट कर देता है। वह भक्तके हृदयमें ऐसी विशुद्ध सत्त्वरूप सुशीतल अमृत-वर्षा करता है कि उस विशुद्ध सत्त्वरूपा बाढ़मे उसके पूर्वकृत पापो-तापोका पता ही नही चलता। ये सभी विशुद्ध सत्त्वमे डूबकर उससे एकाकार हुए परम अमृत ही बन जाते हैं। यह चन्द्रमा प्राकृत पिण्ड तो है नहीं, यह तो भगवद्धामका भगवद्रूप चन्द्र है, जो भक्तके हृदयकी सभी काम-क्रोध, लोभ, मोहादि पाप-मूलक वासनाओको भगवत्प्रेमके निर्मलतम सरस भावोमें रूपान्तरित कर देता है।

जैसे भगवान् श्रीकृष्णने व्रजलीलामें पूतनाका विषभरा स्तन्यपानकरके उसे अपने नित्यलोकोंमे मातृगति देकर भेज दी, जैसे अघासुरकी मृतदेहको अपने सख्यरसकी क्रीडास्थली बना ली, इसी प्रकार भगवच्चरणतल-निवासी चिन्मय चन्द्रमा भी भगवद्भक्तोंके समग्र कालुष्यको महाभावजन्य उच्चाति-उच्च भाव-लहरियोमें रूपान्तरितकर भक्तोंको भगवान्‌की प्रीतिमे सराबोर करता रहता है।

## वंशीका भाव

भगवच्चरण-स्थित, जो भगवान्‌की वंशी है, उसका निनाद इतना मनोमुग्धकारी है कि जिस भाग्यवान् जीवके कानोंमें यह कर्ण-रसायन वंशीध्वनि जाती है, उसके लोक-धर्म, वेद-धर्म एवं कुल-धर्म, यहाँ तक कि देह-धर्म भी स्वत: छूट जाते हैं। उसे इन्हें छोडनेका कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यह महान् त्याग उससे स्वत: ही सम्पन्न हो जाता है।

वंशी, मात्र देखनेमें ही जड़ बाँसकी बनी है, वास्तवमें वह कोई महासिद्ध संत है, जिसने अपनी परमोच्च भक्तिके द्वारा यह महासुदुर्लभ पद प्राप्त किया है ? किसी परमोच्च भाव-भक्तिसम्पन्न महापुरुषने जडवत् होकर भगवान्‌के हाथों उनका पूर्ण यंत्र बनना स्वीकार किया है, एव इसी सर्वसमर्पणमयी शुभवासनाके फलस्वरूप वह भगवान्‌के अधरोंमें संलग्न रहनेका महान् सौभाग्य प्राप्तकर जड वंशी बन गया है। उसने अपनी स्वत:की कोई इच्छा, रुचि रखी ही नहीं। भगवान् उसे जैसे बजायें, भगवान्‌की रुचिके स्वरोंको ही अपने छिद्रों से निकालना उसने अपना परमधर्म माना है। वे यदि इस वंशीको अपनी कटिमे खौंसी रखते हैं, तो यह वंशी उनकी टेंटमें ही पडी रहती है। भगवान् यदि इसे करकमलोंमे धृत किये रहें, तो यह उनके हाथोंमें रहती है। इसकी अपनी कोई, रुचि, मनोरथ या इच्छा नहीं है।

ब्रजमण्डलके महासिद्धसत श्रीहित हरिवंश महाप्रभु यावज्जीवन वंशी-भावमें ही रहे। वेदान्ती लोग ऐसे निर्मल भावोंकी हँसी उड़ाते हैं। वे आक्षेप करते हैं कि भक्तलोग चेतनसे जड़ बनना चाहते हैं। वे भगवद्भावका वास्तविक तत्त्व-रहस्य जानते ही नहीं। उन्हें भगवान्‌के चिन्मय आयुधो, आभूषणों, वस्त्रादि सभी उपकरणोंकी परमोच्च रसमय स्थितिकी परिकल्पना ही नहीं है। वे तो भगवान्‌के परम विशुद्ध चिन्मय विग्रहको भी मायोपाधिक समझते हैं। जब वे स्वयं भगवान्‌के मायातीत, अप्राकृत, चिन्मय विग्रहके तत्त्व-रहस्यसे ही अपरिचित हैं, तो भगवान् के चिन्मय अङ्गोंमें धृत, उनसे सलग्न इन आयुध एव आभूषणोंके प्रति अज्ञान भावना रखे, इसमे अनहोनी ही क्या है ? परन्तु सत्य दृष्टि यही है कि भगवान्‌के चिन्मय अगोंसे सलग्न सभी वस्तुएँ भगवत्स्वरूप उनके पार्षद ही हैं। वे बाहरसे ही सभी जड़वत् दीखते हैं, परन्तु हैं सभी, पूर्ण चिन्मय भगवत्स्वरूप। भगवान्‌के चिन्मय अगोंसे सलग्न एक धूलिकणकी भी महिमा ऐसी असमोर्ध्व एव महान् है कि उससे सस्पर्शित होने-मात्रसे पत्थरके रूपमे परिणत गौतम नारी अहिल्या परम पवित्र होकर नारीत्व प्राप्त कर लेती है।

साक्षात् विश्वस्रष्टा ब्रह्माजी, इन्द्रादि देवगण, स्वय भगवान् शकरजी भगवान्‌की चरण-रजके लिये लालायित रहते हैं। उद्धव-जैसे महापुरुष और स्वय ब्रह्माजी, कीट-पतग, लता-द्रुम बनकर भी अपने मस्तकपर इस धूलिका अभिषेक करानेको लालायित रहते हैं। इन भगवान्‌के चरणोमे जो नूपुर-किंकिणी आदि आभूषण हैं, उनमें जडताकी कल्पना करना ही मात्र घोर अज्ञता ही है

भगवान्‌के प्रेमीभक्त तो भगवत्सेवार्थ ऐसे नये-नये विलक्षण भाव-सम्बन्ध नित्य ही स्थापित करनेको समुत्सुक रहते हैं। वे तो अपुनर्भव मुक्तिपदको, अविनाशी ब्रह्मैक्यको, भगवान् श्रीकृष्णके हाथको सुशोभित करनेवाले जड लकुट-भावकी प्राप्तिके सम्मुख अति तुच्छ, हेय समझते हैं। भक्तोकी चाह आश्चर्यजनक है। उनकी आकाक्षाएँ विलक्षण हैं। कोई चाह करते हैं, हम वह परम स्वच्छ निर्मल दर्पण बन जावे, जिसमे हमारे प्यारे श्यामसुन्दर और प्राणप्यारी किशोरी रानी अपन जगन्मोहक रूपको निहारा करते हैं। कोई भक्त प्राणप्रियाके झूलनोत्सवमें प्रयुक्त होनेवाला झूला बनना चाहते हैं, अनेक भक्त भगवान्‌के शयनमे प्रयोग होनेवाली शय्या बनकर जीवनकी सफलता चाहते हैं। कोई-कोई भक्त तो व्रज-मण्डलका सर्वव्यापी आकाश ही बन जाना चाहते हैं, जिससे वे अपने प्रियाप्रियतमका सान्निध्य, भलेही उनके प्रिया-प्रियतम जहाँ-कहीं भी रहे, सदैव निश्शक प्राप्त करते रह सकें। फिर चाहे प्रियतम मथुरा जावें, अथवा द्वारका, वे हस्तिनापुर रहें अथवा कुरुक्षेत्र, उनकी दृष्टिसे ओझल तो वे

होने से रहे। अनेक भावुक भक्त भ्रमर, तृण, शुक-सारिका, कोकिल-मयूर एव कपोत और कुक्कुट होकर अपने प्राणधन नीलमणिकी सेवाकी चाह करते हैं। भक्तोंके असंख्य मनोरथ हैं।

एकबार किसी गोपीने भगवान्‌की वंशीसे पूछा – "हे वंशी ! तूने ऐसा कौनसा तप किया है, जिसके कारण तू हमारे प्राणनाथ श्यामसुन्दरके अधरोंसे ही सदा संलग्न रहती है ? तेरे अंगोंको वे अपनी सुकोमलतम अँगुलियोंसे सदैव सहलाते हैं, तुझे अपना परम सुस्वादु, अमृतको भी तुच्छ करनेवाला अधरामृत पान कराते हैं। उनके प्राणोंसे तू प्राणान्वित रहती है, उनका अधर-पानही तेरी तृप्तिका हेतु है। तू वे ही बोल बोलती है, जो वे तुझमें स्वर भरकर बोलनेको प्रेरित करते हैं। उनका सकल्प ही तेरा वादन है।"

इसपर मुरलीने उस गोपीको जो उत्तर दिया, वह अतिशय तात्विक, सारगर्भित एव मार्मिक था। मुरलीने कहा – "बहनों ! मैंने अपने प्राणवल्लभ, जीवन-सर्वस्व प्रियतमके लिये सर्वप्रथम तो अपना हृदय सर्वथा खाली, शून्य कर दिया। उसमें अपना अहंकार, अपने प्राण, सकल्प, धर्म, सस्कार, वासनाएँ, इच्छाएँ कुछ भी नहीं रखीं। मैंने अपने को पूरी पोली करके उनके हाथों सौंपी है। उन्होंने मेरे तनको छेडना चाहा, तब भी मैंनें उफ भी नहीं की। कोई निषेध नहीं किया, कुछ भी प्रतिक्रिया उनके विरोधमें मैंने प्रकट नहीं की। मैं पूर्णतया उनको समर्पित थी, आज भी हूँ और सदैव रहूँगी। मेरा अपना निजका कोई मन नहीं, मेरी अपनी कोई निर्णय करनेवाली बुद्धि नहीं, मेरी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता भी नहीं है। मैं तो पूरी उनके प्राणोसे प्राणान्वित, उनके मनसे मनवाली, उनकी सत्तासे सत्तान्वित, उनके हाथकी एकमात्र यंत्र, खिलौना बनी हूँ। श्रीमद्भागवत मे जो कहा गया है कि **"ता मन्मनस्का मत्प्राणाः मदर्थे त्यक्तदैहिकाः"** यह भाव मुझपर पूरा-पूरा चरितार्थ होता है। जब मैंने अपने प्रियतमकी रुचिपूर्त्तिके लिये अपना अह, अपना सर्वस्व ही उन्हें समर्पित कर दिया, तब स्वाभाविक ही फिर वे मेरे भीतर जो स्वर भरते हैं, वही तो स्वर बोलेगा। क्योकि वह बोल, वह गीत, उनका पूरा-का-पूरा अपना होता है, विशुद्ध ज्यो-का-त्यों मुझ यत्रसे बहिर्गत होता है, उसमें मेरा अपना सश्लेष भी नहीं होता, इसीलिए वह नाद – पूर्ण ब्रह्मनाद, सर्वाकर्षक आह्वान-नाद हो जाता है।

"मैनें, बहनो ! कभी उनसे आग्रह नही किया कि वे मुझे अपने अधरोंपर रखे । वे अपनी कटिमें कसी फेंटमे मुझे रख लेते हैं, तो मैं विरोध नहीं करती। मैं तो यह भी आग्रह नहीं करती कि वे मुझे बजावें ही। वे जब इच्छा हो, बजावें,

जो राग बजाना चाहें बजावें, नहीं बजाना चाहें, कभी नहीं बजावें। मैं उनके हाथोंकी यंत्र, मात्र उनकी अपनी-से-अपनी बनी रहूँ, बस यही मेरा भाव है।

चेतन होते हुए भी जिन-जिन भक्तोंने अपना हृदय इस प्रकार अहकार-शून्य बना लिया, वे भक्त ही मुरली भाव-देहको प्राप्तकर भगवान्‌के हाथोंमे थिरकते हैं। उनमें ही भगवान्‌के प्राणोंके स्वर निनादित हो पाते हैं।

मुरलीके सौभाग्यको देखकर, भगवान् श्रीकृष्णकी अतिशय प्रेम-भाजन गोपियोंको भी स्पर्द्धाजन्य ईर्ष्या होती है। परन्तु उनकी यह ईर्ष्या अति प्रेमभरी, विशुद्ध सात्त्विक है।

भैया ! ज्ञान एवं कर्मकी जितनी ऊँची-से-ऊँची स्थितियाँ हैं, मुरलीकी सभीमें परमोच्च स्थिति है। गीतोक्त सांख्य उपासना द्वारा जिसे सिद्धि प्राप्त करनी हो, वह मुरलीको अपना गुरु बनावे। इसी प्रकार जिसे निष्काम कर्मयोगकी शिक्षा लेनी हो, वह भी मुरलीके ही आदर्शको अपनेमें स्थिर करे। शरणागति योगमें तो मुरली पूर्ण धुरीण है ही। मुरलीमें गीतोक्त कामना और फलासक्तिका त्याग ही नहीं है, उसे तो अपने भीतर कोई अहंकार है, अथवा नहीं है, — दोनोंका भी ज्ञान नहीं है, वह तो, बस भगवत्प्रेममें अपनी अस्मिता और अस्तित्वको ही भूले रहती है और भगवान्‌में डूबी रहती है।

इसीलिए इस मुरलीको भगवान्‌की कटि-फेंटका बंधन मिला है, और अपनी निजी-से-निजी वस्तुके रूपमें भगवान्‌ने उसे स्वीकार किया है। वह उनके हाथोंमें विराजती है, अधरोंसे लगती है, उनके प्राणोंसे प्राणान्वित होती है, उनके स्वरोंसे बजती है और उनके चरणोंमें पद-चिह्नके रूपमें नित्य निवास करती है। वह भगवान्‌की अक्षुण्ण-संगिनी है। भगवान्‌ने अपने नाम भी वंशीधर, वंशीविमोहन आदि इसी आत्मीयतासे रखे हैं, जैसे नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, राधिकारमण, गोपीजनवल्लभ आदि उनके नाम हैं।

मुरलीको वे सभी शक्तियाँ स्वभावतः ही भगवान् द्वारा प्रदान कर दी गयी हैं, जो स्वयं भगवान्‌में हैं। जैसे, भगवान्‌में विरुद्धगुण-धर्माश्रयत्व है, तो मुरलीमें भी यह गुण भगवान्‌के समान ही पूर्ण है। भगवान् असंभवको संभव कर सकते हैं, तो मुरली भी वैसा ही कर सकती है। मुरली भगवान्‌के समान जड़को चेतन और चेतनको जड कर देती है। वह अचल पदार्थोंको जलकी तरह तरल एव प्रवहमान कर देती है और तरल, बहते पदार्थोंको जड़ बना देती है। अघटन-घटना-पटीयसीत्व जैसा भगवान्‌में है, वैसा ही मुरलीमें भी भगवान्‌की कृपासे ज्यों-का-त्यों है। परन्तु मुरलीको अपनेमें इस सर्वशक्तिमत्ताके होनेका कहीं कोई बोध नहीं है। जब भगवान् उसमें अपना स्वर फूँककर उससे ऐसा

कार्य कराना चाहते हैं, तो यह कार्य भगवान्‌की शक्तिसे उसके द्वारा सांगोपांग सपादित हो जाता है। मुरली अपने स्वतत्र अहकारसे कभी कुछ भी नहीं करती। उसमें अपने स्वतंत्र अहंका लेश भी नहीं है। हाँ, भगवान् उसमें जब ऐसा स्वर भरते हैं कि जड़ चेतन हो जावें और चेतन जड बन जावें, तो तत्क्षण ही, मुरली-रव अपने प्रभावसे वैसा कर देता है। मुरली-निनादसे वृक्ष रस टपकाने लगते हैं, नदियाँ स्थिर हो जाती हैं, पहाड सचल हो उठते हैं। गोपियोंके घरकी सभी लकड़ियाँ गीली हो जाती हैं और उनका गीलापन रसोईमे जलती आगको ठडा कर देता है। व्रजकी लाखो गाये और बछडे मुरली-निनादको सुनकर स्तब्ध एवं निश्चेष्ट हो जाते हैं। वे अपने मुखका ग्रास भी निगल नहीं पाते।

यह मुरलीका ही चमत्कार था कि छोटे पौगण्ड वयके श्रीकृष्णपर गोपोंने अपनी वनमें लाखों इतस्तत भटकी गायोंको बुलाकर एकत्रित करनेकी जिम्मेदारी डाल रखी थी। श्रीकृष्ण ज्योंही अपनी मुरलीमें स्वर भरते और गायोंके नाम मुरलीमें उच्चारण करते – 'धौरी, धूमरी, कजरी, श्यामा, पीताम्बरा, चारुनयना, चारुश्रृंगी, कृष्णा, कावेरी, पीनस्तनी' – सभी गायें और बछड़े चाहे कितनी ही दूर क्यों न चर रहे हों, पहले तो स्तब्ध हुए वंशीमें अपने नाम सुनते, फिर कुछ काल उस मधुरतम मुरली-निनादको सुनते हुए उसीमें तल्लीन हो जाते, तब यंत्रचालितसे उनके चरण अपने-आप अपने प्राण-सार-सर्वस्व, नन्दनन्दनकी ओर, जिधर वे कदम्बवृक्षके नीचे अपनी बाँसुरी बजाते होते, चल पड़ते हैं। इन गायोंकी, बछडोंकी, उस समय सुर-मुनि-दुर्लभ दशा हो जाती है। उनके कानोंमें मुरली-रव प्रवेश करते ही सीधा पहले उनके मन और चित्तको आप्यापित करता है एव तब उन्हें अचल एव स्थिर कर देता है। वह वंशीरव उनके एकाग्र चित्तमे भगवान् वंशीविमोहनकी सुन्दर मुख-छबिको सब ओर पूरा भर देता है। तब सर्वोच्च भाव-समाधिमें डूबते-लहराते गायें एवं बछड़े यंत्रचालितसे अपने प्राणप्यारेके पास पहुँच जाते हैं। जब इन गोपालकी वशी बजती है, तो पशुओंकी तो बात ही छोड़े, सम्पूर्ण पक्षीगण ही नहीं, व्रजके असंख्य कीट-पतग भी योगियोंकी सर्वोच्च भाव-समाधिको प्राप्त हो उठते हैं। समय-असमय कभी भी, बस, साँवरे गोपालकी इच्छा होनी चाहिये, ज्योंही वशीमे वह फूँक लगाता है, बस, उस मुरलीके गुजायमान होते ही, जो जहाँ जिस अवस्थामें होता है, उसी अवस्थामें वह परमोच्च तल्लीनताको प्राप्त कर जाता है। यदि गायें चरती होती हैं, तो उनका चरना तत्क्षण ही छूट जाता है। दूध-पीते बछडे दूध पीना बन्द कर देते हैं, उनकी सब इन्द्रियाँ इस नादमें प्रवाहित हुई स्वत ही बिना

किसी साधना एवं चेष्टाके रुक जाती हैं, उनकी श्वास भी ऐसी सुमन्द गतिसे चलती है, जिससे मात्र प्राण-धारण हो सके। उनके नेत्र अर्द्ध-निमीलित, स्थिर, शान्त अपने प्राणवल्लभकी रूप-छविका पान करते रहते हैं और उन सभीकी सम्पूर्ण रजोगुणी हलन-चलन सर्वथा शान्त हो जाती है। उनको इस अलौकिक कर्ण-रसायनकी प्राप्तिसे इतना आनन्द होता है कि उनका रोम-रोम आत्यन्तिक तृप्तिसे भर उठता है।

इससे यह भाव ग्रहण करना चाहिये कि जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरणोंके साथ मुरली भी आ गयी, उसमें भी इस मुरलीके सभी गुण आ जाते हैं। अर्थात्, उसका मन-रूपी पक्षी इधर-उधर उडना छोडकर स्थिर हो जाता है। उसकी इन्द्रिय-रूपी गौएँ अपने-आप उसके वशमें ही रहती हैं। उन्हे उसे नियंत्रित करना नहीं पडता। सब अनायास ही हो जाता है, सायास कुछ भी नहीं करना पड़ता ।

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें भगवद्भक्तके लिये कहा गया है –
***''धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहाम्''***, अर्थात्, भगवान्‌का भक्त यदि आँख मूँदकर भी दौडे, तो भी उसके गिरने अथवा लडखड़ानेका भय नहीं रहता।

यह बात सर्वथा उचित भी है, जिसकी मन-इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह आँख मूँदकर दौडे, तो भी गिरनेका प्रश्न ही नहीं उठता और भगवद्भक्तका अर्थ ही है कि जिसकी इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि सब भगवान्‌में निरुद्ध एकाकार हों। यह उदाहरण तो ससारमें ही देखा जा सकता है। जिस रथीके घोडे सारथीके वशमें हों, सधे हुए हों, वह सारथी सोये हुए रथीको भी सकुशल अपने गतव्य स्थान तक पहुँचा देता है। भक्तके तो सारथी स्वयं भगवान् होते हैं और अपनी इन्द्रियों-रूपी घोडोकी बागडोर भक्त अपने भगवान्‌को ही सौंपे रखता है; तब उसके गिरनेका प्रश्न ही नहीं है। भगवान् इसीलिए गीतोपनिषद्‌में प्रतिज्ञा करते हुए कह बैठते हैं – ***''न मे भक्तः प्रणश्यति''***, अर्थात्, मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं हो सकता।

एक अति निर्मल भाव और है, वह यह है कि कभी-कभी सखियॉ मुरलीको चुरा लेती हैं। कभी-कभी यह मुरली यशोदाजीके हाथमें भी पड जाती है। परन्तु इस मुरलीको न तो सखियाँ ही बजा सकती हैं, न ही यशोदाजी । सखियाँ मुरलीको चुराकर अपनी स्वामिनी राधाजीको दे देती हैं। वे इसे बजाने की चेष्टा भी करती हैं, परन्तु कितनी ही बार फूँक लगानेपर भी मुरलीमेंसे सही निनाद तो तभी निकलता है, जब यह नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अधरोंमे सटती

है। अन्य किसीके भी वशकी बात नहीं है कि इसमें से सही स्वर निकाल सके। यह मुरलीकी भगवान्‌के प्रति अनन्यता है। उसपर सर्वाधिकार एकमेव भगवान् श्रीकृष्णका ही है।

कहाँ हमारी दशा है – हम कहलाते तो भगवान्‌के भक्त हैं, परन्तु हमारे ऊपर प्रभुत्व एवं स्वामित्व जमाये हैं – घर-परिवारके लोग। हम तो इतने गये-बीते हैं कि हमपर गृह-मकान, खेत-खलिहान, मान-प्रतिष्ठा, धन-वैभव आदि जड वस्तुएँ ही पूरी तरह हावी हैं।

रामभक्त तुलसीदासजी महाराज अपनी विनय-पत्रिकामे भगवान् रामसे यही प्रार्थना करते हैं - "हे दयालु प्रभो ! मेरा यह हृदय आपका मन्दिर है, इसे काम-क्रोधादि डाकुओंने अपने आधिपत्यमें लेकर लूटना प्रारभ कर दिया है। इस मेरे हृदय-मन्दिरको इन डाकुओंसे खाली कराइये और अपने अधिकारमें पुन कर लीजिये, नहीं तो आपका ही अपयश होगा कि स्वामी होकर सेवककी रक्षा नहीं कर पाये।

मुरलीपर एकछत्र भगवान्‌का ही अधिकार है। भगवान्‌को जैसे मुरली एकक्षण भी नहीं त्यागती, उस प्रकार भगवान् भी मुरलीको अपनेसे एक क्षण भी विलग नहीं करते। निद्राकालमें भी मुरली भगवान्‌के सिरहाने ही रहती है। ज्यों ही भगवान् प्रात काल उठते हैं, वे सबसे पहले अपनी मुरलीको ही सम्हालते हैं। चाहे भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ गोचारण करने जावे, वनमें चपल-से-चपल बाल-क्रीडाएँ करें, जलमें स्नान-केलि करें, छाक-भोजन करे, मुरली सदा उनके पास ही रहती है। वह क्षणभर भी भगवान्‌से विलग नही होती।

मुरलीसे हमें यही शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भी एकमात्र भगवान्‌के ही होकर रहेंगे, तो भगवान् भी हमें पलभर भी नहीं छोड़ेंगे ।

## कदम्बके फलका भाव

कदम्बवृक्ष भगवान् श्रीकृष्णका अतिशय प्रिय वृक्ष है। भगवान्‌के अप्राकृत चिन्मय गोलोकधाममें भगवान्‌के दिव्य भवनके मध्य एक रत्न-वेदीके ऊपर कदम्बका विशाल वृक्ष है, भगवान् इसीकी छायामे नित्य विराजित रहते हैं। जो भगवान् सम्पूर्ण विश्वके आश्रय और सभीको छाया देनेवाले हैं, वे जिस कदम्बकी छायामे रहते हैं, उस कदम्बके माहात्म्यका वर्णन क्या कहकर किया जाय ?

यह कदम्ब-वृक्ष महाप्रलयका भी साक्षी रहता है। यह नित्य, सनातन है। यह सदा ही फला-फूला रहता है। यह कालाधीन नहीं, काल इसके आधीन है। अत. न इसमें पतझड़ होती है और न ही नवीन कोपलोंकी उत्पत्ति। इसके

पुष्पोंकी परम दिव्य सुगन्धसे सम्पूर्ण गोलोक महकता रहता है।

इसकी शाखाओंमें पुष्पोंके साथ-ही-साथ फल भी भरे रहते हैं। इन फलोंसे दिव्य प्रेम-रसका प्रवाह झरता रहता है। यह कदम्बका फल भगवान्‌के परम विशुद्ध प्रेमका द्योतक है। जिनके हृदयमें भगवान्‌के चरण नित्य विराजित रहते हैं, उनके हृदयमें भगवत्प्रेम भी सदा पूरम्पूर भरा रहे, यह कदम्ब-फलका वरदान भक्तको मिलता है।

## अश्वत्थवृक्षका भाव

अश्वत्थ सभी वृक्षोंमें सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् अश्वत्थको अपना स्वरूप बताते हैं। *''अश्वत्थः सर्व वृक्षाणाम्''* अश्वत्थकी जड,छाल, फल, गूदा, इसके स्कन्ध, इसकी शाखाएँ, पत्ते, आदि सभीमें रोगनाशक शक्तियाँ निहित हैं। यह वृक्ष वैद्यक-शास्त्रकी विभूति कहा जाता है। योगी इसीलिए इसकी छायामें निवास करते हैं। इसकी छाया सर्व-रोगनाशक है। भगवान् इसे अपने चरणोंमें स्थान देकर यही प्रकट करते हैं कि हे जगत्‌के जीवो ! मेरे चरणोंकी छायामें आते ही तुम्हारा समग्र भव-ताप सदा-सदाके लिए नष्ट हो जायेगा। भगवान्‌के चरणोंकी छायामें जो जीव नहीं हैं, जिन्होने भगवान्‌के नामकी, भगवान्‌के भक्तोकी, भगवान्‌के धामकी, उनकी लीलाओंकी, गुणगानकी शरण (आश्रय) ग्रहण नहीं की है, उन्हे ही मायागत दैविक, आत्मिक एव भौतिक व्याधियाँ आक्रान्त करती हैं। जो भगवान्‌के चरणोकी छायामें हैं, उनका तो रोम भी कभी आधि-व्याधिग्रस्त नहीं हो सकता।

दूसरा भाव यह है कि गीताशास्त्रमें भगवान्‌ने इस संसारको ऐसा अश्वत्थ बताया है, जिसकी मूल तो ऊर्ध्व है और शाखाएँ नीचे हैं --

**''ऊर्ध्वमूलमधः शाखा अश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।''**

यह ससार-रूपी अश्वत्थ भगवान्‌के चरणोंमें नित्य स्थित है। यही भाव चरणचिह्नके रूपमे अश्वत्थवृक्षको रखकर भगवान् अपने भक्तोंके सम्मुख प्रकट करते हैं। अर्थात्, जो भी भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेगा, उसके लिये यह दुर्लंघ्य भव-सागर गोखुरके गड्ढेके समान पार करनेमें सहज हो जायेगा, क्योंकि इस संसारके आधार तो भगवान्‌के चरण ही हैं।

## कुंभका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो कुभ है, वह अमृतसे परिपूर्ण है। सम्पूर्ण देवजगत्‌की रक्षा इसी अमृत-कुंभसे ही होती है। देवासुर संग्रामके पूर्व भगवान्‌ने मोहिनी अवतार लेकर इस अमृत-कुभको असुरोसे छीन लिया था और इसका अमृत

देवताओंको पिलाया था। इसीलिये सम्पूर्ण वैदिक एवं तांत्रिक अनुष्ठानोंमें प्रथमतः घट-स्थापन किया जाता है। भगवान्‌के चरणोंमें यह अमृत-घट मूर्तिमान प्रत्यक्ष नित्य रहता है। इसका यही भाव है कि जो लोग भी भगवान्‌के चरणोंकी छायामें हैं, उनमें सम्पूर्ण दैवीसम्पदाओंका नित्य निवास रहेगा। उन्हें आसुरी-भाव कदापि स्पर्श नहीं कर पावेंगे। भगवान्‌के भक्तोंके सम्मुख आसुरी, राक्षसी, भूत-प्रेतजनित विपत्तियाँ आ ही नहीं सकतीं। ज्योंही भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तकी छाया भी उनपर पड़ी, वे बाधाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। आसुरी वृत्तियाँ भी भक्तके हृदयमें उपद्रव कदापि नहीं कर पातीं।

## मीनका भाव

मीनका जलके साथ अनन्य प्रेम है। जलके वियोगमें मछली क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती। उसे जलसे निकालकर हम दूधमें, शरबतमें, मधुमें ही क्यों न रखें, वह कदापि प्राण धारण नहीं करेगी। जल ही उसके जीवनका एकमात्र अवलम्ब है। जल-विहीन वह बुरी तरहसे छटपटाने लगती है, उसका प्राणधारण करना ही असंभव हो जाता है।

भक्तका हृदय भी भगवान्‌के वियोगमें जब ऐसा ही छटपटाता है, तभी भगवान् उसके सम्मुख साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। भक्त भगवच्चिन्तनके बिना एक पल भी नहीं रह पावे, उसके प्राण कण्ठोंतक आ जावें, भक्तमें ऐसी लगन भजनके प्रति होनी चाहिए। अनुरागका अर्थ ही है, चिन्तन। हमारा मन विषयानुरागी है, जो विषयोका पल-पल चिन्तन कर रहा है, जब वह भगवदनुरागी हो जायेगा तो फिर उसे विषय तो विषके समान लगेंगे एवं भगवान्‌का पल-पल चिन्तन ही उसके प्राणोंको तृप्त करेगा। मछलीसे भक्त यही शिक्षा लेता है।

मछली स्थिर शान्त नहीं है, वह अतिशय चंचल है, परन्तु उसकी सम्पूर्ण चचलता मात्र जलमें ही है। इसी प्रकार हमारा यह चित्त भी खूब चंचल होकर भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण-गानके अथाह समुद्रमें भले कितनी ही दौड लगाता रहे, उसे हमें दौडनेसे कभी नहीं रोकना चाहिए। हमारे मनका समग्र स्पन्दन मात्र भगवान्‌में ही होता रहे। ऐसे एकांगी, अनन्य प्रेमका आदर्श होनेसे ही भगवान्‌ने मछलीको अपने चरणोंमें स्थान दे रखा है।

दूसरे, मछली रस-ग्राहिका है। ज्योंही उसे कुछ भी खानेकी वस्तु मिली, वह अपनी मृत्युकी भी परवाह न करते हुए भी उसे जालके काँटेसे स्वीकार कर लेती है। इसीप्रकार भगवद्रसमें हमारा चित्त मछलीकी तरह रागासक्त हो जाये – यही शिक्षा भगवान्‌के चरणोंमें स्थित मछलीका चिह्न हमें दे रहा है।

# सिंहासनका भाव

सिंहासन उसीको प्राप्त होता है, जो अन्य शत्रुओंपर विजय प्राप्तकर उन्हें निगृहीत कर सके। भगवान्के चरणोंमें स्थित सिहासन हमें यही शिक्षा देता है कि तुम्हारे अन्त: और बाह्य जो भी करण (मन एवं इन्द्रियाँ) हैं, उनपर तुम्हारा पूर्ण निग्रह रहे। चंचल अन्त:करण (चित्त) एवं बहि:करण (इन्द्रियाँ) तुम्हें परमात्मासे काटकर क्षणभंगुर माया-पदार्थोंमें उलझाती हैं, अत: निश्चय ही ये तुम्हें स्वराज्य सिहासनसे वचित रखनेमें ही हेतु हैं। इनपर पूर्ण निग्रह कर लो, तभी भगवच्चरणोंमें निहित परमपदरूप सिहासनकी प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् जो भगवान्के चरणोंका आश्रयी है, वह सिंहासनासीन सबका सम्राट् होता है।

देवता इन्द्रियोंके भी अधिष्ठाता हैं। नेत्रोंके अधिदेव सूर्य हैं, मनके अधिष्ठाता चन्द्रदेव हैं। हाथोंके अधिष्ठाता इन्द्र हैं। चरणोंमें भगवान् विष्णुका वास है। प्रजापति जननेन्द्रियके अधिदेव हैं, वरुण उदरके, भगवान् वासुदेव चित्तके अधिपति हैं, अहकारके अधिष्ठाता भगवान् शेष हैं, एवं बुद्धिके अधिष्ठाता भगवान् रुद्र हैं। इन सभी मन-इन्द्रियोपर जिसने विजय प्राप्त कर ली, वह सब देवताओंका भी सम्राट् हो जाता है। वैसे भक्तका परम विनयी एवं दीन होना, उसका शील है, परन्तु सत्य बात यही है कि भगवान् भी जब भक्ताधीन रहते हैं, तो देवताओंकी कहाँ सामर्थ्य है कि वे उस भक्तसे विमुख हो सकें। सभी देवगण भक्तको भगवच्चरणारविन्दानुरागी मान उसे सिहासनासीन कर देते हैं।

जो मनुष्य भगवान्का निज-जन हो गया उसके भगवान् स्वयं भी आधीन हो जाते हैं। भगवान्के सभी गुण ऐश्वर्य, बल, ज्ञान, वैराग्य, धर्म एव यश उस भक्तकी सेवा करने लगते हैं। यह तो स्वाभाविक ही है। जिसकी सेवा स्वयं राजा करेगा, तो राजाकी रानियाँ, सेनापति, मत्री, राजाके आधीन बडे-बडे विद्वान् – सभी उसकी सेवा करनेको उत्सुक होंगे ही। अत: भगवान्का सर्वस्व भक्तकी सेवामें लग जाता है। यह अवश्य है, कि भक्त उनका उपयोग कभी अपनी स्वतंत्रमतिसे नहीं करता। उसे इन ऐश्वर्योंकी ओर देखनेकी फुरसत ही नहीं रहती। उसके भगवान् उसके सामनेसे जब क्षणभरके लिये हटें, तो वह दूसरी ओर दृष्टिपात करे। वह तो अपने भगवान्के चरणारविन्दके प्रेममें ही चौबीसों घण्टे छका रहता है। उसका चित्त तो भगवान्के सिवा किसी अन्य सत्ताको मान्यता ही नहीं देता। गोपियाँ उद्धवको कहती हैं -

*'ऊधो मन न भये दस बीस*
*एक हुतो सो गयो श्याम सँग को अवराधै ईस ।।'*

अर्थात्, हे उद्धव ! हमारे पास दस-बीस मन तो हैं नहीं। मात्र, एक मन था, सो श्यामसुन्दरके साथ चला गया, अब ब्रह्मज्ञान-रूप ईश्वरोपासना कौन करे ?

भक्तकी यही विशेषता है कि उसका मन, 'मन' नहीं रहता वह 'भगवान्' ही बन जाता है, उसकी इन्द्रियाँ भी सभी भगवान्से एकाकार हो जाती हैं। वह स्वयं रहता ही नहीं, भगवान् ही उसके रूपमें लीलायमान रहते हैं। भक्तका सम्पूर्ण दृश्य भगवान्की परम मगलमयी मूर्त्ति हो जाता है, और भक्तका द्रष्टा भगवान्का यंत्र (दास) हुआ, भगवान्के प्रेम-सिहासनासीन हो, भगवान्के परम पावन चरणोंके पूजनमे डूबा रहता है। उसका देखना-सुनना, बोलना, हँसना, लिखना-पढना, सोना-जागना सब भगवन्मय होता है। भगवत्प्रदत ऐश्वर्यका उसे भान ही कहाँ है ? वह परम निरभिमानी होनेके कारण अपनेको भगवान्का सच्चा दास भी नहीं समझता। वह तो अपने भक्तिभावगत दैन्यमें अपनेको परम अधम, पतित, दीन-हीन समझता हुआ सदा अपने आराध्य भगवान्के हेतुरहित प्रेमपर निर्भर रहता है।

इस प्रकार महादैन्यभाव ही भगवान्के चरणाश्रित भक्तकी शोभा होती है और इसीके वशवर्ती हुए भगवान् अपने चरण भक्तके हृदयमे स्थापित कर देते हैं।

भगवच्चरणोंमें अकित सिहासनका यह भी भाव है कि भगवान्का एव भगवान्के चरणोका यदि किसीको पता जानना एवं पूछना हो, तो वे भक्तके हृदयमें ही विराजित मिलेगे। भक्तके हृदय-सिंहासनमें सदैव भगवान् आसीन मिलते हैं और भगवान्के चरणोंमें चिह्नरूपमें स्थित सिंहासनमें भक्त आरुढ रहता है। अत भगवान्के चरण तो भक्तका पता हैं और भक्तका हृदय भगवान्का पता है।

## रथका भाव

भगवान्के चरणोंमें रथका चिह्न है, उसमें घोडे नहीं हैं। यह रथ घोडोके बिना भी गतिशील है। यह स्वय चेतन है। उसे चलानेके लिए भी किसी अन्य सारथीकी आवश्यकता नहीं है। कोई कहेगा कि बिना घोड़े एव बिना सारथीके कोई रथ निर्धारित पथपर चले, यह बात बुद्धि-सम्मत नहीं है, तो निश्चय ही उसे अभी भगवान्की अघटन-घटना-पटीयसी शक्तिपर विश्वास नहीं है। भगवान्की कृपासे ऐसी विलक्षण शक्तियॉ तो भगवान्के भक्तोमें भी देखी जाती हैं।

सत ज्ञानेश्वर नामक भगवान्के एक भक्त हुए हैं। एक दिन, वे अपने भाई-बहिनोंसहित अपने घरकी फूटी दीवारपर बैठे भगवद्वार्त्ता कर रहे थे, सहसा उन्हें किसीने सूचित किया कि महायोगी चांगदेव उनके पास उनसे मिलने आ रहे हैं।

ये चागदेव एक सिद्ध योगी थे। इनकी आयु चौदह सौ वर्षकी थी। वे प्रत्येक सौ वर्षमें अपना शरीर कायाकल्पके द्वारा नवीन कर लेते थे। वे सिहपर सवार होकर चलते और शरीरपर विषधर नाग लपेटे रहते । सिद्धियोके अभिमानसे भरे, वे ज्ञानेश्वरपर अपने योग-वैभवकी छाप छोड़ना चाहते थे।

संत भगवान् ज्ञानेश्वरने उस अभिमानीका अभिमान चूर-चूर करनेकी ठानी। चांगदेव यद्यपि सिद्ध योगी थे, परन्तु वे भगवान्‌की भक्तिसे सर्वथा अछूते, कोरे थे। वे हृदयसे चाहते थे कि कोई मुझे भक्तिका मार्ग बतावे। परन्तु वे अपनेसे किसी अधिक शक्तिशालीकी शरण ग्रहण करना चाहते थे। जैसे कि कहावत है – ***'पानी पीजै छानके और गुरु कीजै जानके'*** – सो वे ज्ञानेश्वरजीको गुरु बनानेके पहले उनकी शक्ति-सामर्थ्यकी परीक्षा भी लेना चाहते थे।

ज्योंही ज्ञानेश्वरजीको सूचना मिली कि चागदेव सिहपर सवार होकर उनसे मिलने आ रहे हैं, तो उन्होने चांगदेवके मनकी सारी बात जान ली। उन्होने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि चागदवेकी सिद्धियोका अभिमान चूर-चूर होना ही चाहिये। बस, वे जिस दीवारपर बैठे थे, उसीको उन्होने अपने मनसे सकल्पकर विमानकी तरह उडनेमें समर्थ, गतिशील कर दी। चारो बहिन-भाई – निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, ज्ञानदेव एवं मुक्ताबाईको नभमे उडती दीवारपर बैठकर अपने पास आता देखकर चांगदेवका सिद्धियोका सम्पूर्ण अभिमान चूर्ण-चूर्ण हो गया। वे अति लज्जित हुए ज्ञानदेवजीके चरणोमे गिर पड़े। यह एक परम सत्य घटना है और महाराष्ट्र देशका बच्चा-बच्चा इस घटनासे परिचित है।

जब भगवान्‌के भक्त अपने सकल्पसे जड़-दीवारको गतिमान कर सकते हैं और वह दीवार स्वत चागदेवके आगमनकी दिशा एव राह निर्धारितकर चलायमान हो सकती है, तो साक्षात् भगवान्‌के चरणोंमें अकित चिन्मय रथ यदि बिना सारथी एवं घोड़ोके स्वचालन-विद्या-पारगत हो, इसमे अनहोनी क्या है ? भगवान्‌के सकल्पसे तो यह सम्पूर्ण चौदह-लोककी सृष्टि ही यथानियम सटीक चालसे गतिमान हो रही है।

भाव यही है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेवाला भक्त भगवान्‌के चरणोंमें चिह्नित रथपर अत्यत सुखपूर्वक आसीन हो जाता है और यह रथ उसे बिना घोडे, बिना सारथीके ही भगवान्‌की मन शक्तिसे सचालित हुआ भगवान्‌के परमधाममें पहुँचा देता है।

यथार्थत. भगवान् और भगवान्‌के चरण, दो पृथक् सत्ताएँ तो सर्वथा नहीं हैं। चरणोंकी प्राप्तिके पश्चात् भगवान्‌की प्राप्ति तो हो ही गयी। परन्तु भावुक-भक्त

प्रत्येक वस्तुको पृथक् लेकर ही अपने भाव-ससारका सृजन करता है।

ज्ञान एव भक्तिमार्गमें यही अन्तर है। भक्तिमार्गी, भगवान्‌का समग्र स्नेह पाकर भी यही सोचता है कि अभी मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। उसकी भक्ति-साधना कभी समाप्त ही नहीं होती। वह सदा अपूर्णताके बोधमें ही रहता है। यद्यपि उसकी साधना भी भगवान्‌की अँगुली पकडकर ही होती है। उसके हृदयमें भगवान्‌की प्रेममयी छवि पूर्ण भरी रहती है। उसके मस्तकपर भगवान्‌के वरद-हस्तकी छाया निरन्तर रहती है, परन्तु वह कभी अनुभव नहीं करता कि मुझे मेरी मंजिल मिल गयी।

ज्ञानी अपनेको प्रारंभसे ही 'पूर्ण' अनुभव करता है। उसका अन्य कोई सामर्थ्यवान् रक्षक तो होता नहीं, अत पद-पदपर डाकू उसे लूटते रहते हैं। वह इन डाकुओंसे स्वयं अपनी ही शक्तिसे अपनी रक्षा करता है। यद्यपि उसमें जो भी शक्ति है, उसका मूलस्रोत भगवान् ही हैं, परन्तु ईश्वरकी शक्तिको वह अपनी शक्ति इसीलिए मान बैठता है, क्योंकि वह अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता स्वीकारता ही नहीं, इसीलिए, उसके ज्ञानाभिमानी हो जानेका प्राय भय बना रहता है। अभिमान तो सब पापोंका मूल है ही, अत उसके पतनकी भी संभावना अधिक रहती है। इसीलिए ***'ज्ञानके पंथ कृपाण्की धारा'*** कहा गया है।

रथका यह भी भाव है कि भक्तकी साधना परम चिन्मय भागवती रथसे होती है और इस परम सुखद यात्रामे चाहे मजिल कभी नहीं मिले, परन्तु भगवान्‌के चरणोके आश्रयमें यह यात्रा पद-पदपर भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य और सद्गुणोंके आस्वादनसे भरी परम रसमयी और उनके निरापद सान्निध्यसे भरी होती है।

## धनुषका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो धनुष है – वह बिना प्रत्यचा (डोरी) के है। बिना प्रत्यंचाके ही उसमें बाणका संधान भी होता है। भगवान्‌के चरणोंमें जितने भी धनुषादि आयुध हैं, उन सभीका उद्देश्य है, भक्तोंके एवं भक्तिके शत्रुओंका नाश हो जाय। भगवान्‌का अपना तो कोई विरोधी (शत्रु) न है, न होगा ही। इस विश्वमे सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं, तो वे स्वयं ही स्वयंके शत्रु तो हो नहीं सकते। हाँ, अपने भक्तके एव भक्तिके शत्रुओंको, वे अपना विरोधी अवश्य मान लेते हैं। भगवान्‌में तो मंगलमयता ही मंगलमयता भरी है, अत भगवान्‌के द्वारा भक्त एवं भक्ति-विरोधी असुर मारे जाकर भी तर जाते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें चिह्नित जितने भी आयुध हैं, वे भी पूर्ण मंगलमूर्ति हैं, इनके द्वारा भी जितने भक्त

एव भक्ति-विरोधी दुर्जन मारे जाते हैं, सभी प्राय तर जाते हैं।

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌के चरणोंके आश्रितका कोई विरोधी रहता ही नहीं है। आगे-पीछे भक्तके सभी अनुकूल हो जाते हैं।

*'जापर कृपा रामकै होई, तापर कृपा करैं सबकोई'*

*रामनामजपतां कुतो भयं, सर्वतापशमनैकभेषजम् ।*
*पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।।*

भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तके लिए दाहिका-शक्ति शीतल हो जाती है। विष भी अमृत हो जाता है।

*'गरल सुधा रिपु करहिं मिताई ।*
*गोपद सिन्धु अनल सितलाई' ।।*

भक्त प्रह्लाद इसके उदाहरण हैं। जब भक्त भगवान्‌के प्रेममें सब कुछ भूले रहते हैं, तो उनके लिये भगवान् अग्निकी दाहिका-शक्तिको ही खींचकर उसे शीतल कर देते हैं। भक्तका प्रभाव विलक्षण है। सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी शक्ति भगवान् अपने भक्तकी रक्षाके लिये कुण्ठित कर देते हैं। परीक्षित्‌के लिये भगवान्‌ने उत्तराके गर्भमें जाकर ब्रह्मास्त्रकी शक्तिको कुण्ठित कर दी थी।

लौकिक दृष्टिसे भक्तपर दुःख आते हैं, परन्तु उसके अखण्ड भगवच्चरणाश्रय ग्रहण किये रहनेके कारण चरणोंमे चिह्नित आयुध उसकी सब विपत्ति नाश करते रहते हैं।

## बाणका भाव

भगवान्‌के सभी कार्य विलक्षण होते हैं। वे भक्तके सभी शत्रुओंके नाशके लिए एक ही आयुध प्रयुक्त नहीं करते। बाणके द्वारा भगवान् जन्म-जन्मान्तरोंके पापोका नाश कर देते हैं। भगवान्‌के बाणोंमें अन्य प्राकृत बाणोंकी अपेक्षा यह विशेषता है कि प्राकृत बाणोंमें गतिकी सीमा होती है, किन्तु भगवान्‌के बाणकी कोई गति-सीमा नहीं होती। यह बात जयन्तके उपाख्यानसे सिद्ध होती है।

भगवान् रामने जयन्तकी दुष्टतासे कुपित होकर एक घासकी सींकको बाण बनाकर उसपर लक्ष्य करके छोडी थी। वह तनिक-सी घासकी सींक इतनी अमोघ थी कि इन्द्रपुत्र जयन्त स्वर्गमें अपने पिता इन्द्रसे कैलाशमें भगवान् शकरजीसे, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीसे, किसीसे भी न तो रक्षा पा सका, न ही अपनी रक्षा लोकलोकान्तरोंमें जाकर स्वय भी उस सींकसे कर सका। सर्वत्र उसे भगवान्‌की वह सींक बाण बनी अपना पीछा करती दृष्टिगोचर हो रही थी।

अन्तमें भगवान् रामकी शरण ग्रहण करनेपर ही उसकी रक्षा संभव हुई। प्राकृत बाणोको तो कोई भी लक्ष्यसे इधर-उधर होकर चुका भी सकता है, उन्हें कोई अपने बाणसे काट भी सकता है। महाभारत युद्धमें अर्जुनपर हुई अनेक शक्तियोंके प्रहारको भगवान्ने अपने रथ-संचालनके कौशलसे निष्फल कर दिया था। परन्तु भगवान्का बाण तो चिन्मय होता है, वह तो लक्ष्य-भ्रष्ट किया ही नहीं जा सकता। अत भगवान्के चरणोंमें बाणका चिह्न इसीलिये है कि चरणाश्रयी भक्तके सभी जन्म-जन्मान्तरोंके पापोका यह बाण नाश करके ही रहे।

## कौमोदकी गदा एवं देवदत्तनाम्नी असि

भगवान्के चरणोंमें चिह्नित बाण, जहाँ जन्म-जन्मान्तरोके पापोंका नाश करता है, ये गदा एव असि नामक आयुध क्रियमाण एव प्रारब्धादि पापकर्मोका नाश कर देते हैं। तात्पर्य यही है, भगवच्चरणाश्रयी भक्तकी जाग्रत्, स्वप्न सर्वकालीन विपत्तिकी भगवान्के आयुधों द्वारा रक्षा हो जाती है।

सच्ची बात तो यही है कि भगवान्का सगुण-साकार विग्रह भक्तोंके लिये ही जगत्मे प्रकट होता है। भगवान्के आयुध एवं भगवान्, असुरोंका नाश करते दृष्टिगोचर तो अवश्य होते हैं, परन्तु वास्तवमें विशुद्ध सत्त्वरूप भगवद्विग्रहद्वारा नाश क्रिया हो ही नहीं सकती। 'नाश' शब्द ही प्राकृत है और तमोगुण-प्रधान अधिदेव रुद्र ही प्रकृतिमें नाश-क्रिया करते हैं। विशुद्ध-सत्त्व तो अप्राकृत तत्त्व है और अप्राकृत तत्त्व भगवद्विग्रह एव उसके सच्चिन्मय आयुधोंद्वारा नाश-क्रिया संभव ही नहीं है।

जैसे भगवान्के प्रति शत्रुता करनेवाले असुर, दुर्जय आसुरी विकारोंके ही प्रतिनिधि हैं। अघासुर सम्पूर्ण पाप-समुदायका प्रतिनिधि था। बकासुर दंभका, शिशुपाल पर-निन्दाका एव तृणावर्त्त रजोगुणी काम-क्रोधादि वृत्तिका प्रतिनिधि था। ये विकार भगवान्की सम्पूर्ण सृष्टिको ही मानसीरूपसे आक्रांत किये रहते हैं। भगवान्के परम दिव्य आयुध, भगवान्के चरणाश्रित भक्तोंके हृदयसे इन विकारोंको नष्ट करने लगते हैं, तो ये सभी, विकाररूपसे तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु लीलारूपमें भक्तोंके हृदयोंमें बने रहते हैं, क्योकि ये आयुध विशुद्ध सत्त्वरूप होनेसे इनका नाश नहीं कर पाते उनकी शुद्धि करके उनका लीलोपयोगी रूपान्तरणभर कर देते हैं। देवर्षि नारद अपने भक्तिसूत्रोंमे कहते हैं :—

*तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।।६५।।*

अर्थात्, सब आचार भगवान्को अर्पणकर चुकनेपर भी यदि काम, क्रोध अभिमानादि बचे हो तो, उन्हें भी उन भगवान्के प्रति ही करना चाहिये ।

इससे यही सिद्ध होता है कि भक्तोंके अन्दर काम-क्रोधादि विकार रहते हैं, अन्यथा, उनको भगवान्‌के प्रति प्रयोग करनेकी बात ही क्यों कही जाती? परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं, कि भगवान्‌के प्रेमी-भक्तोंमें विषयी पुरुषो-जैसे काम, क्रोध, अभिमानादि भाव रहते हैं। आसुरी सम्पदाके दुर्गुणरूप दूषित विषयासक्ति, हिंसा, द्वेष, क्रोध एव काम – इनका तो महात्माओंमें बीज ही नहीं रहता। जो भक्त जगत्‌के संस्कारोंसे भी शून्य हो जाते हैं, जो लज्जा, घृणा, कुल, शील, मान, देह, गेह, भोग एव मोक्षतककी सुधि भुलाकर अपने प्रियतम भगवान्‌पर न्यौछावर हो चुके हैं, इनके काम, क्रोध, अभिमानादि भी परम दिव्य होते हैं। उनका रूप शुद्ध होकर सर्वथा विलक्षण, दूसरा ही हो जाता है।

भक्तकी कामना कैसी विशुद्ध प्रेममयी होती है, जब वह रो-रोकर पुकारता है :–

***हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !***
***हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !***
***हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !***
***हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे ।।***

हे देव ! हे प्रियतम ! हे विश्वके एकमात्र बन्धु ! हे हमारे मनको अपनी ओर बरबस खींचने वाले ! चे चपल ! हे करुणाके एकमात्र सिन्धु ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम ! हा ! हा ! तुम कब हमारे दृष्टिगोचर होओगे ?

इसी प्रकार श्रीकृष्णगतप्राणा रुक्मिणीजी भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं :– हे अच्युत ! हे त्रिभुवनसुन्दर ! आपके दिव्य गुण मेरे कानोंके द्वारा जब मेरे हृदयमें प्रवेश करते हैं, तो मेरे हृदयके तापको हरणकर उसे शीतल कर देते हैं। इसी प्रकार आपके दिव्यरूपकी भी बात है। आपके – समस्त नेत्रधारियोंकी दृष्टिके सबसे परमलाभ – रूप-सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त सारी लोक-लाजको छोड़कर आपपर अत्यन्त आसक्त हो गया है।

ये भक्तोंकी कामनाके दो उदाहरण हैं। ऐसे असंख्य उदाहरण शास्त्रोमें भरे हैं, जहाँ भगवद्‌कामी भक्त भगवान्‌की मिलनाकांक्षामें कामातुर हुए, विरहमें व्याकुल हुए, अपने हृदयके उद्गार प्रकट करते हैं। वे श्रीकृष्णकी कामनासे पीड़ित हुए सदा उन्हें पुकारा करते हैं।

अब भक्तोंके, क्रोधके आदर्श उदाहरणोंपर विचार करें – एक दिन श्रीकृष्णकी किसी खिझानेवाली चालसे श्रीराधाजी क्रोधमें भर जाती हैं। सखी जब उन्हें समझानेका प्रयास करती है, तो क्रोधमें भरकर वे उसे कहती हैं –

"तू उनका नाम भी मेरे सामने मत ले, उनकी तो बात ही क्या है, मैं

काले रगकी वस्तुमात्रका त्याग कर"दूँगी। जीवनभर उनके विरह-तापसे जलती रहूँगी, परन्तु उनसे अब नहीं मिलूँगी।''

*मिलौं न तिनसौं भूल, अब जोलौं जीवन जियौं ।*
*सहौं विरहको सूल, बरु ताकी ज्वाला जलौं ।*

श्रीराधाजीके क्रोधकर रूठनेका एक और उदाहरण देखे। यह क्रोध कितना दूषणरहित है, इसपर भी ध्यान रखें। यहाँके ये उदाहरण पवित्र प्रेमके नामान्तर मात्र हैं। यहाँकी विधि ही सर्वोपरि प्रेमकी विधि है।

*सखि नन्दलाल न आवन पावैं ।*
*भीतर चरन धरन जिन दीजो, चाहे जितै ललचावैं ।*
*ऐसनको विश्वास कहा री, कपट बैन बतियावैं ।*
*'नारायन' इक मेरे भवन तजि, अनत चहै जहँ जावैं ।।*

ये सब उदाहरण तो महासिद्धभक्तोके हैं। हम साधारण साधकोंको भी यदि काम-क्रोध-लोभ सतावैं, तो हमें उन्हे भगवान्‌के प्रति ही लगा देंना चाहिये। जो बातें हमारे लिये शास्त्रोमें पतनकी हेतु बतायी गयी हैं, वे सभी भगवान्‌के प्रति प्रयुक्त होनेपर उन्नतिकी हेतु, साधक बन जाती हैं। यह निश्चय रखना चाहिये।

शास्त्र इसके प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवतमें परमहंसश्रेष्ठ श्रीशुकदेवजीके वचन हैं :–

*कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।*
*नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।।१०।२९।१५।।*

काम, क्रोध, भय, स्नेह, तादात्म्य एवं मित्रता – सभीकुछ श्रीहरिसे जो करते हैं, वे अवश्य ही भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाते हैं।

कहनेका इतना ही अर्थ है कि भगवान् एवं भगवान्‌के आयुधोंद्वारा नष्ट किये जानेपर, सभी आसुरीभाव, दिव्य प्रेम-भाव धारण करके भक्त और भगवान्‌के हृदयमें पुनः जन्म ले लेते हैं। ये सभी भगवल्लीलाके सहयोगी पात्र हो जाते हैं।

भगवल्लीलामें स्वयं भगवान् यशोदामैयासे असत्य बोलते हैं। मैयासे भगवान्‌का यह दोष छुपा भी नहीं है, अतः वे उन्हें 'असद्‌विद्यावाचस्पति' की उपाधि तक दे डालती हैं। राधारानीसे भी भगवान् कपट करते हैं। इसी तरह, सखियाँ भी भगवान्‌से दुराव, छल, कपट करती हैं, असत्य बोलती हैं, तो लीला-पात्रोंमें ये उस समय आसुरी भावोके प्रतिनिधि ही मूर्तिमान होकर भक्तों और भगवान्‌के हृदयमें पुनः प्रकट हो जाते हैं। परन्तु व्रजलीलामें उस समय, ये मलिना मायाके अन्तर्गत नहीं होकर, शुद्ध सात्त्विक शास्त्रोंद्वारा अनुमोदित

प्रेम-विकार बन जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने अपने मामा कंसको, जो मूर्तिमान अभिमान था, मारकर उसे अपने भक्तोंके हृदयमे स्थायी वास दे दिया। श्रीतुलसीदासजी महाराज अपने रामायण महाकाव्यमें कहते हैं :-

***'अस अभिमान जाहिं जनि भोरें । मैं सेवक, रघुपति पति मोरें ।।'***

भक्त इस अभिमानको सर्वथा त्यागना नहीं चाहता, अपितु इससे निरन्तर चिपका रहना चाहता है कि "मैं भगवान् का सेवक हूँ, मैं भगवान्का सखा हूँ, मैं भगवान्की जननी हूँ, मैं भगवान्की दासी हूँ, प्रिया हूँ।" इस प्रकारका भगवान्से ठोस सम्बन्धात्मक अभिमान भगवान्के सभी भक्त लीला-पात्रोंमें ठूँस-ठँसकर भरा रहता है। अपने हृदयसे वे इस अभिमानको कदापि हटाना नहीं चाहते। भक्तकी इतनी ही निष्कामता है कि स्वर्गके भोग एव अपवर्गका तो वह काकविष्ठावत् त्याग कर देता है, परन्तु अपने प्यारे श्यामसुन्दरके मुखारविन्दके दर्शनकी कामनामें वह आपाद लिप्त रहता है। भगवान्की रूप-छटाको पान करनेकी कामना यदि भक्त त्याग दे, तो फिर वह भक्त ही कहाँ रहा ? तो, भगवान्को सुख देनेकी कामना अथवा भगवत्सेवाकी कामनाके रूपमें भगवद्भक्तमें, काम ज्यों-का-त्यो बना रहता है। श्रीतुलसीदासजी इन भगवत्कामी भक्तोको सयाना कहते हैं :-

***'अस विचारि हरि भगति सयाने, मुकुति निरादरि भगति लुभाने'***

भगवद्भक्त मुक्ति-सुखका निरादर करके भी भगवत्प्रेम, भगवत्काममे डूबे रहते हैं। मुक्ति तो इन भगवद्भक्तोकी दायभाक् होती है। जैसे पिताकी सम्पत्ति बिना प्रयासके पुत्रको स्वत प्राप्त है, उसी प्रकार, मुक्तिपर तो भक्तोका सहज अधिकार ही है। भगवत्प्रेम अथवा भगवान्की लीलामे संयुक्त होना तो मुक्तिके परेकी वस्तु है। श्रीब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें आया है –

***कृष्णभक्तिः कृष्णदास्यं वरेषु च वरं वरम् ।***
***श्रेष्ठा पञ्चविधामुक्तेर्हरिभक्तिर्गरीयसी ।।***

अर्थात्, वरोमे श्रेष्ठतम वर श्रीकृष्णभक्ति, श्रीकृष्णदास्य ही है। पाँच प्रकारकी सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य, सार्ष्टि एवं अपुनर्भव – इन श्रेष्ठ मुक्तियोंसे हरिभक्ति ही श्रेष्ठ एवं गुरुतर है। अत. भक्तलोग मुक्तिका निरादर करके भगवत्प्रीतिके सुखसे चिपके रहते हैं।

भक्तोमे कामना तो उसी प्रकार भरी रहती है, जैसी साधारण विषयी जीवोंमें रहती है। परन्तु भक्तोंकी कामना मात्र भगवान्पर केन्द्रित होती है। भक्तराज वृत्रासरकी कामनाका स्वरूप तनिक देखें । वह कहता है –

*न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं ।*
*न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे ।।*
*अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।*
*प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।।*

'हे सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोडकर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकछत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी, नहीं चाहता। जैसे पक्षियोके पखविहीन, भूखे बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते है, जैसे भूखे बछडे अपनी माताका दूध पीनेको आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन ! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।

तात्पर्य यही है कि भक्त शुद्धकामी होता है। वह भगवत्कामकामी है। श्रीतुलसीदासजी महाराज तो भगवान्‌से कामी, लोभी बनानेकी प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं :—

*कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।*
*तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।*

'हे प्रभो ! जैसे कामी पुरुषको नारी अतिशय प्यारी लगती है, एव लोभीकी जैसे धनपर अतिशय प्रियता एवं कामना होती है, उसी प्रकारकी तीव्र चाह मेरे मनमें, हे भगवान् राम ! आपके प्रति हो।'

भक्तोंका यह भगवत्काम सारे सांसारिक कामोको जलाकर, उनकी चिताकी भस्म शरीरमे रमाकर नाचता है। भगवान् शिव मूर्तिमान् भगवत्कामके अप्रतिम उदाहरण हैं। दूषित-काम इनके तृतीय नेत्रसे भस्म हो जाता है। वे समग्र कामनाओंकी भस्म लपेटकर दिन-रात प्रेमास्पद भगवान्‌के नामको रटते रहते हैं।

## अग्निकुण्डका भाव

भगवान्‌का स्वभाव है कि वे भक्तके हृदयमें एकाकी, एकछत्र स्वामी होकर ही रहते हैं। काम-क्रोधादि विकारोके साथ वे नहीं रह सकते। इसी तात्पर्यसे भगवान्‌के चरणोमे 'अग्निकुण्ड' है। यह अग्निकुण्ड ऐसा है, जिसमें भक्तोंके सारे पाप-ताप भस्म हो जाते हैं। यह चिदग्निकुण्ड है।

हमारे समग्र कर्मोकी आहुति इसी कुण्डमें पहुँचती है। कर्म-यज्ञके भोक्ता तो एकमात्र ईश्वरोके ईश्वर, भगवान् हैं। अत यह यज्ञकुण्ड भी है।

श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌मे भगवान् कहते हैं --

*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।*
*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।*

बेचारे देवता तो भगवान्का प्रसाद पाकर सतुष्ट हो जाते हैं। जो, जिस देवताकी भक्ति करता है, भगवान् उसकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उसी देवताके रूपमें उस भक्तकी कामना पूर्ति कर देते हैं, जिससे उस देवताके प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है।

भगवान्के चरणोंमें जो अग्नि है, वह भगवान्से मिलानेमें परम हेतु बनती है। यह अग्नि भगवान्के चरणोंके साथ जैसे ही भक्तके हृदयमें प्रवेश पाती है, बस विरहाग्निके रूपमें यह भक्तको ऊपरसे तो जलाती प्रतीत होती है, परन्तु भीतर-ही-भीतर, यह भगवत्स्मृति एवं उनके ध्यानकी ऐसी सुखमयी परमशीतल गगा बहाती है कि भक्त निहाल हो जाता है। इस प्रकार, भक्त भगवान्की स्मृतिका और भगवान् भक्तकी स्मृतिका अलभ्य सुख प्राप्त करते हैं।

## जौ एवं तिलका भाव

भगवान्के चरणोंमें जौ एव तिलके चिह्न हैं। जौका भाव यह है कि भक्तिमें लगा रहनेके कारण यदि कोई देवकर्म सम्पादित नहीं कर पाता, तो यह जौ आश्वासन देता है कि सम्पूर्ण देवकर्मोंका फल भक्तको भगवच्चरणारविन्दकी स्मृतिसे ही प्राप्त हो जायेगा। उस भगवद्भक्तसे समग्र देवजगत् स्वतः बिना उपासनाके ही सदा अनुकूल एवं प्रसन्न रहता है। इसी प्रकार, भगवच्चरणारविन्दमें स्थित तिल भी आश्वासन देता है कि भक्तकी भक्तिसे सम्पूर्ण पितृकर्म स्वतः ही पूर्ण सफलतापूर्वक सम्पादित हो जाते हैं। यथार्थतः सारे कर्मोंमें जो भी अपूर्णता होती है, वह भगवान्के नाम-स्मरण, नाम-संकीर्तनसे पूरी हो जाती है।

## त्रिकोणके चिह्नका भाव

भगवान्के चरणोंमें जो त्रिकोणका चिह्न है, वह - **'आदियोनि'** कहा जाता है। इसे महायोनि भी कहते हैं। इसी महायोनिमें सृष्टिकालके समय चैतन्य-बीज स्थापित होता है। यही प्रकृतिकी पूर्ण साम्यावस्था है। इसी महायोनिसे सम्पूर्ण लीलाजगत्की उत्पत्ति होती है। इस त्रिकोणके तीन बिन्दु ब्रह्मा, विष्णु, महेश किंवा सत्, रज एवं तम, तीन गुण हैं। ये समग्र गुण एवं इनके अभिमानी देवता त्रिदेव भगवान्के चरणोंमें नित्य निवास करते हैं। भगवान्के चरण ही सर्वाश्रय हैं, यही इस त्रिकोणका भाव है।

त्रिकोणके रूपमें भगवान् यह भी प्रकट करते हैं कि मुझे प्राप्त करनेके तीन ही मार्ग हैं – ज्ञान, भक्ति एवं निष्काम कर्म। ज्ञानमें ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेयकी एकतासे सिद्धि होती है, निष्काम कर्मयोगमें कर्ता एव कर्म एव कर्मफलकी एकतासे और भक्तिमें भक्त, भक्ति एवं भगवान् तीनोंकी एकतासे ही पूर्ण सिद्धि

बनती है। यह त्रिकोण यही बात दर्शाता है कि जो भगवान्‌के चरणोंका आश्रयी है, इस त्रिपुटीकी एकता उसे ही प्राप्त होती है।

## नवकोणके चिह्नका भाव

नवकोणका चिह्न यह दर्शाता है कि नवधाभक्ति करनेसे इन चरणोंकी प्राप्ति सहज है, अन्यथा अन्य किसी साधनसे इनकी प्राप्ति असंभव है।

## ब्रह्माजीका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो ब्रह्माजी चिह्नरूपमे स्थित हैं, वे ही मूल हिरण्यगर्भ हैं। इन्हींसे वेद प्रकट होते हैं। इनका ही दूसरा नाम मूलप्रकृति है। ये भगवान्‌के चरणोंके नित्य आश्रित हैं। श्रीब्रह्माजीका स्थान भगवान्‌के चरणोंमे कमलके पास ही है। यह कमल ही आदि-पुष्प है। भगवान्‌के चरणोंमें रहकर ही ब्रह्माजी सृष्टि करनेकी सम्पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृजन भगवान्‌के चरणोंके द्वारा ही हो रहा है।

## शेषनागका भाव

इसी प्रकार भगवान्‌के चरणोंमें शेषनाग है। महाप्रलयमे जब सब नष्ट हो जाते हैं, तो मात्र भगवान् ही शेष रहते हैं। इन शेष भगवान्‌के हजार मुख हैं और ये अपने हजारों मुखोसे भगवान्‌के दिव्य गुणोंका अनवरत गायन करते रहते हैं। भगवान्‌की स्तुति ही इनका कर्म है। इसीसे भगवान् इनकी ही कुण्डलीपर प्रलयकालमें शयन करते हैं और प्रलय-पयोधिमें समाधिस्थ, इनकी स्तुति सुनते रहते हैं। इस कालमें भगवान्‌का नाम भी 'शेषशायी' ही होता है। ये अपने कर्मोंसे यही उपदेश देते हैं कि यदि भक्त भगवान्‌के नाम-गुण-कीर्तनमें लगा रहे, तो महाप्रलय भी उसका बाल-बाँका नहीं कर सकता ।

महाप्रलय उन सब वस्तुओंको नष्ट कर सकता है, जो भगवान्‌से विमुख हैं। भगवान्‌से संयुक्त चाहे कोई उद्भिज भी यदि है, तो वह महाप्रलयमें भी पूर्णतया सुरक्षित है। मारकण्डेय ऋषिको जब महाप्रलयके दर्शन हुए थे, उस समय उन्हें स्पष्ट दिखाई पडा था कि जहाँ सूर्य, चन्द्र एवं सारे नक्षत्र भी प्रलय-पयोधिमें डूब गये थे, वहाँ एक वटवृक्ष अक्षय, अविनाशी था, क्योंकि उसके पत्तोंमें चरणांगुष्ठ मुखमें चूसते भगवान् बालकृष्ण शयन कर रहे थे।

श्रीगीताशास्त्र भी कहता है :—

*अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।*

अर्थात्, जो भगवान् सम्पूर्ण सृजन, स्थिति एवं प्रलयको अपने रोममें धारण किये हैं, वे ही मात्र अविनाशी हैं। उन अव्यय भगवान् एवं उनकी वरद

स्मरण-छायामें रहनेवाले भक्तोंका नाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

तो, जहाँ सृष्टिके देव ब्रह्माजीका चिह्न यह प्रकट करता है कि सम्पूर्ण सृजन भगवान्‌के चरणोंसे ही हो रहा है, शेषनाग जो प्रलयके देव हैं, यह प्रकट करते हैं कि महाप्रलय भी भगवान्‌के चरणोमें ही सबको पर्यवसित कर देता है। सर्वाश्रय भगवान्‌के चरण ही हैं।

## अश्वके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोमें अश्वका चिह्न है। इसका भाव यही है कि भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तकी अबाधगति होती है। जैसे देवर्षि नारदजी एव अंगिरा ऋषि हैं। ये ऋषियो, मुनियो, देव-दानवो, असुरों, नागों, पितरों, सिद्धों, गन्धर्वों, योगियोके सभी लोकोमें निर्बाध आ-जा सकते हैं। वे वैकुण्ठ, कैलाश, ब्रह्मलोक, सर्वत्र जाकर भगवान्‌के यथेच्छ दर्शन-मिलनका सौभाग्य प्राप्त करते रहते हैं।

दूसरा, इस अश्वके चिह्नका भाव यह है कि भगवान्‌के चरणोके ध्यानसे हजारों अवश्मेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। अश्वमेध यज्ञ करनेवालेका जन्म-मरणका चक्र, आवागमन छूटता नही है। वह उत्तम-से-उत्तम स्वर्गाधिपति इन्द्रकी गति भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु अपुनर्भव गतिको नहीं प्राप्त कर सकता। कोई बहुत भगवत्कृपापात्र हो तो उसकी क्रमश मुक्ति भले ही हो जाय, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें एक बार भी आत्म-निवेदन करके प्रणाम करनेवाला फिर जन्म-मरणके चक्रमें कदापि नहीं पडता।

## गजराजके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोमे गजराजका चिह्न है। यह भगवान्‌के अपूर्व वात्सल्यकी स्मृति कराता है। गजराजने ग्राहसे युद्ध करते हुए अन्तिम समयमें भगवान्‌को पुकारा था। पुकारते ही भगवान् दौडे आये। अपने गरुड़-वाहनको भी, उन्होने शीघ्र पहुँचनेकी त्वरामे त्याग दिया। अपने भक्तोंके प्रति भगवान्‌का कैसा वात्सल्यभरा भाव है, इसे ही यह चिह्न दर्शाता है।

## गरुड़के चिह्नका भाव

गरुड भगवान्‌का वाहन हैं, गरुड़जी, जो भगवान्‌के वाहन हैं उनकी गति मनसे भी तीव्र है। इस चिह्नका यही भाव है कि भक्त ज्योंही भगवान्‌के चरणारविन्दकी पूजा करता है, गरुडजी फिर उसे तत्क्षण ही भगवान्‌की गोदमे पहुँचा देते हैं। उसे अविलम्ब भगवत्प्राप्ति होती है।

दूसरे गरुडजी सर्पोका भक्षण कर जाते हैं। इसका अर्थ यही है

भगवच्चरणारविन्दका ध्यान करनेमात्रसे गरुडजी भक्तके सभी विषय-विषधरोंका भक्षण कर जाते हैं।

## अष्टकोणके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो अष्टकोणका चिह्न है, उसके सम्बन्धमें तन्त्र ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारके भाव आये हैं। यह अष्टकोण अष्टदिशाओंमे भगवान्‌के स्वरूपको न्यस्त करता है। साधक अनुष्ठान करते समय आठों दिशाओंमें अपने इष्टदेवको स्थापित करता है। वह आठो दिशाओमें अपने भगवान्‌की उपस्थिति अनुभव करता है।

उपनिषदोंमें कहा गया है :–

*ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोन्ततरेण ।*
*अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।*

अर्थात्, भक्त अनुभव करता है कि सर्वत्र सब ओरसे हमारे लिये मगलका, परम आनन्दका स्रोत बह रहा है। ऐसा इसलिए कि एकमात्र प्रभु ही सदा सर्वत्र विराजित हैं। वे हमारे आगे हैं, हमारे पीछे हैं, दाहिनी ओर वे ही हैं और बॉयी ओर भी वे ही हैं। वे नीचे भरे हैं एव ऊपरकी ओर भी वे ही पूर्ण हैं। सम्पूर्ण जगत्‌के रूपमें वे ही हमें दीख रहे हैं।

ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता सर्वत्र जैसे ब्रह्मको देखता है, भक्त वैसे ही अपने भगवान्‌को अपनी आठों दिशाओंम पाता है।

अष्टकोणका भाव आठो सिद्धियोंसे भी है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण कमल नित्य अखण्ड विराजित हैं, उसकी सेवा आठो सिद्धियाँ गुप-चुप बिना प्रकट हुए करती हैं, क्योकि भक्त तो अपने भगवान्‌के सिवा अन्य सिद्धियोंको काक-विष्ठावत् घृण्य मानता है। उसके सामने तो जाग्रत्-स्वप्न, सब समय भगवान् ही मुसकाते रहते हैं। वह अन्यकी ओर ताकता-झाँकता भी नहीं है। उसे तो भगवान्‌से इतर अन्य को देखनेका अवकाश ही नहीं है। फिर भी सिद्धियाँ भक्तकी सेवा करती रहती हैं, क्योंकि सिद्धियाँ भी रहती तो भगवान्‌के चरणोंमे ही हैं और भगवान्‌के चरण भक्तके हृदयमे निवास करते हैं, अतः सिद्धियोंपर न चाहते हुए भी भक्तका स्वाभाविक ही पूरा वर्चस्व हो जाता है।

## हरिणके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो हरिणका चिह्न है, उसका भाव भक्तोंको अतीव सुख देनेवाला है। हरिणका चित्त अत्यन्त सरल होता है। वेणुके मधुर स्वरपर वह अपने-आपको, अपने पकड़नेवालेके हाथमें दे देता है। मृत्युकी उसे तनिक

भी परवाह नहीं रहती। हरिणकी तरह भगवद्भक्त भी अति सरल-चित्त होता है भगवान्‌की मुरली-ध्वनि ज्योंही उसके कानमे पडती है, वह सारी सुध-बुध खोकर भगवान्‌की ओर दौड पडता है। रासपूर्णिमाके सन्ध्याकालमें शरच्चन्द्रके समुदित होते ही जब भगवान्‌ने वशीमे गोपियोंका नाम ले-लेकर उनका आह्वान किया, तो गोपियॉ तत्क्षण ही अपना घर-द्वार, यहॉ तक कि शरीरकी भी सुधि खोकर भगवान्‌की ओर दौड पडी थीं। उन्होने उस आत्मविस्मृतिके प्रवाहमे अपना ऐसा उलटा-सीधा शृगार किया था कि उनके उस विकृत वेषको देखकर भगवान् स्वय प्रेम-विभोर हो उठे थे। वे लहँगेको तो अपनी ओढनी बनाये सिरपर ओढे थीं और ओढनीको लहॅगा बनाये थीं। कुछ गोपियोने, जिन्हें घरवालोंने कपाट लगाकर रोक लिया था, अपने प्राण ही उस मुरली-ध्वनिपर न्यौछावर कर दिये। भगवान्‌की मुरली सुनकर भक्तकी भी यही दशा होती है। वह मुग्धमृगकी तरह समस्त सुध-बुध खोकर भगवान्‌में पूर्णतया तल्लीन हो जाता है।

भैया ! गोपियोकी बात तो शास्त्रोमें लिखी है कि उनकी ऐसी दशा साक्षात् भगवान्‌के मुरलीवादनपर हुई थी, परन्तु मैंने श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की यह दशा अपनी ऑखों देखी है। श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी ज्योही कोई भगवल्लीला अथवा भगवद्गुणानुवादका पद-गायन उन्हें सुनाते हैं, वे इतने विभोर हो जाते हैं कि उन्हें यही ज्ञान नहीं रहता कि वे कौन हैं, कहॉ हैं एव उन्हें क्या कहना है ?

## श्रीनारदजीके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरण-कमलोंमे नारदजीका निवास है। श्रीनारदजी प्रेमाभक्तिके पूर्ण प्रतीक हैं। भगवान्‌की भक्ति एव प्रेमको, वे मुक्त हस्तसे सभी अधिकारियोंमें वितरण करते हैं। डाकू बाल्मीकिको उन्होंने ही ऋषि बनाया था। उन्होंने उन्हें 'राम' मत्रकी 'मरा' शब्दकेरूपमें दीक्षा दी थी। तत्पश्चात् श्रीनारदजीकी ही प्रेरणासे बाल्मीकिजीने रामायण महाकाव्य लिखा था। इसी प्रकार श्रीवेदव्यासजीको श्रीकृष्ण-गुणगानात्मक श्रीमद्भागवत ग्रन्थ लिखनेकी प्रेरणा भी श्रीनारदजीने ही दी थी। श्रीशुकदेवजी जैसे ज्ञानी, अद्वैतनिष्ठ, विरक्त महात्माको भी नारदजीने ही भगवद्भक्तिमे प्रवृत्त किया था। श्रीभक्तराज प्रह्लादजी, जब हिरण्यकशिपु-जैसे असुरकी पत्नी आसुरी नारी कयाधूके गर्भमें थे, तो कयाधूको अपने आश्रममे रखकर नारदजीने ही भगवद्भक्तिका सत्संग कराया था। इस सत्सग-उपदेशसे उन्होने गर्भस्थ बालक प्रह्लादमें भक्तिका ऐसा मर्म प्रतिष्ठित कर दिया कि उनकी जोडीका उच्चकोटिका आजतक कोई भक्त नहीं हुआ। नारदजीके उपदेशसे

प्रह्लादजीकी माता भी भक्तिपरायण हो गयीं थी।

नारदजी भक्तोके आदर्श हैं। वे अहर्निश प्रेमाभक्तिमें आत्मविस्मृत रहते हैं एवं जहाँ कहीं भी गमन करते हैं, भगवत्प्रेम एव भगवद्भक्तिको ही भक्तोके हृदयमें अभिवर्द्धित करते रहते हैं।

मनुष्याकृतिमें नारदजी, ब्रह्माजी, एवं श्रीराधिकाजी भगवान्‌के चरणोंमे हैं। ब्रह्माजी एवं नारदजीका भाव संक्षेपमें निवेदन कर ही दिया है।

## राधिकाजीका भाव

श्रीराधिकाजीको जो भगवान्‌से पृथक् मानते हैं -- वे महान् पापके भागी हैं। भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपका तो उनकी आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधाजीको लेकर ही आविर्भाव होता है। श्रीराधाजी आह्लादसार हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दकन्दवपु हैं। आह्लादतत्त्वके बिना आनन्दकन्दवपुका प्राकट्य ही असभव है। अत श्रीराधारानी ही भगवान् श्रीकृष्णके सच्चिदानन्दकन्द विग्रहको प्रकट करनेमें एकमेव हेतु हैं।

आह्लाद ही तो आनन्द हैं। अत राधाकृष्ण दोनोका युगपत् इस प्रकारका सम्बन्ध है, जैसे सूर्य एव किरणका, अग्नि एवं तेजका, जल एव रसका, पृथ्वी एव गन्धका, भगवान्‌का जब-जब, जहाँ-जहाँ प्राकट्य हुआ है, श्रीराधाजी सदा उनके साथ रही है। राधाजीका निवास भगवान्‌के चरण हैं। जिन भक्तोंके हृदयमे भगवान्‌के चरण विराजित हैं, वहाँ उस हृदयमें श्रीराधाका निवास अवश्यमेव है, भले ही वह प्रकटरूपमें नहीं दृष्टिगोचर होता हो, परन्तु प्रेमाभक्तिभावरूपमे श्रीराधाके बिना भगवान् भक्तके हृदयमें प्रविष्ट हो ही नहीं सकते।

## पीताम्बरका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें दिव्य पीताम्बर भी चिह्नरूपमे स्थित है। भगवान्‌के वस्त्र-आभूषण, गुण-आयुध आदि सभी अप्राकृत एवं चिन्मय हैं। इन्हें साक्षात् भगवान्‌का रूप ही मानना चाहिये। इन्हे कभी-भी भगवान्‌से पृथक् नहीं किया जा सकता। ये भगवान्‌के अंग-अवयवोंकी तरह अनिवार्य भगवद्भाग हैं।

पीताम्बरका रग श्रीराधाजीके वर्णका　कनकाभ है। श्रीराधाजीका वस्त्र नीलाम्बर, ठीक श्रीकृष्णके वर्णका घनश्यामवर्ण है। वैसे श्रीराधाजीको वस्त्ररूपमे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण आच्छादित किये रहते हैं, एवं श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णको वस्त्ररूपमें आवरित किये हैं।

पीताम्बर उच्चतम प्रेमकी अद्वैतावस्थाका प्रतीक है। इस पीताम्बरके

अन्तरालसे भगवान्‌का नीलवर्ण झाँई देता रहता है। इस दिव्य-योगमें श्रीराधाकृष्णकी सम्पूर्ण युगल मिलनाभा झलमल करती रहती है। इसी प्रकार, श्रीराधाजीके नीलाम्बरमें श्रीराधाका कनकवर्ण झाँई देता है और सम्पूर्ण युगल मिलनाभा प्रकाशित होती है। जिसके हृदयमें अखण्डरूपसे भगवान्‌के चरण-कमल विराजित रहते हैं, उसे प्रेमकी सर्वोच्च महाभाव दशा प्राप्त होना परम सुलभ है। यही भाव चरण-चिह्नके रूपमें श्रीराधाजीकी छवि अभिव्यक्त कर रही है।

## दिव्य पुष्पका भाव

भगवान्‌के चरणोमें परम चिन्मय पुष्प है। इसका सम्बन्ध योग-क्रियासे प्राप्त योग-संसिद्धिसे है। योगी लोग जब अपने शिष्य साधकपर परम प्रसन्न होते है, तो उन्हें एक पुष्प दिया करते हैं। यह पुष्प अप्राकृत योग-पुष्प होता है। यह दिव्य पुष्प जैसे ही शिष्य अपने सिद्ध योगीगुरुसे प्राप्त करता है, वह स्वय चिन्मय एवं दिव्य हो जाता है। जैसे ही शिष्य योगीश्वर गुरुओंसे दिव्य पुष्प प्राप्त करता है, उसकी साधना पूर्ण हो गयी माननी चाहिये। भगवान् तो योगेश्वरेश्वर हैं। भगवान्‌के चरण-कमल जिस साधकके हृदयमें बसते हैं, उसे योगकी पूर्णता स्वत' प्राप्त हो जाती है। उसको समग्र साधनाकी सिद्धिरूप फलकी प्राप्ति हो गयी, ऐसा ही मानना चाहिये ।

इस दिव्य पुष्पको कुछ भक्तोंने पारिजात पुष्प भी माना है। परन्तु पारिजात पुष्प तो लौकिक स्वर्गकी ही सम्पदा है, भगवान्‌के चरण तो परम चिन्मय हैं।

## छत्रका भाव

भगवान्‌के चरणोमें छत्र है। छत्रके दो प्रमुख भाव हैं। जिस भक्तको भगवान्‌के चरणोंका आश्रय प्राप्त हो जाता है, उसका, विषयोंके अभावका ताप तथा विषयोंकी बहुलताकी वर्षा – कुछ भी बिगाड नहीं सकती। जिन आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक त्रितापसे सम्पूर्ण त्रिलोकीके देवदानव, राजा-महाराजा, निर्धन-धनवान्, कीट-पतंगसे लेकर ब्रह्माजीतक सभी जीव-समुदाय त्रस्त हैं, इन तीनों तापोंसे भक्तकी यह छत्र सदा-सर्वदा रक्षा करता है। जो भगवान्‌के चरणोंकी छायामें आ गया, उसपर देवता भी छत्र-छाया करते हैं।

## बाजूबन्दका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें बाजूबन्दका चिह्न है। यह भक्तकी साधन-शक्ति (बाहुओं) की कवचवत् रक्षा करता है। भगवान्‌का बाजूबन्द-आभूषण तो अप्राकृत है। इसके बिना उनका श्रृगार पूरा होता ही नहीं। जिसने भगवान्‌के चरणोंका

आश्रय लिया, उसके सम्पूर्ण योगक्षेमका भार भगवान्‌पर है, उसकी सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक विपत्तियोकी कवचवत् भगवान्‌का यह बाजूबन्द रक्षा करता है तथा वह भक्त त्रिलोकीका परम भूषण हो जाता है – यही इस बाजूबन्दका भाव है।

## शंखका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें शख है। शख भगवान्‌का विशेष आयुध है। विष्णुरूपमे यह सदा भगवान्‌के हाथमे रहता है। शंख विजयका चिह्न है। जिसके हृदयमे भगवान्‌के चरण-चिह्न रहते हैं, वह सभी शत्रुओपर विजयी रहता है। उसके सब विरोधी शख-ध्वनिसे ही नष्ट हो जाते हैं। हमारे यहाँ मन्दिरोंमे अथवा घरोंमें भी पूजनके समय जो पवित्र शख-ध्वनि की जाती है, उसका यही भाव है कि शख विष्णुरूप होनेसे समग्र अशुभ ग्रहों, भूत-प्रेतादि सभी आसुरी आवेशोसे रक्षा करता है। उसकी ध्वनि परम मगलकारी होती है।

## ऊर्ध्वरेखाका भाव

जिस किसीके चरणोंमे ऊर्ध्वरेखा होती है, वह सामुद्रिक ज्योतिष-शास्त्रानुसार सदा उन्नतिकी ओर ही अग्रसर होता है। उस मनुष्यकी दृष्टि उदात्त, ऊँचे विचारोमें रमती है। भगवान्‌के भक्तका – जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण स्थापित रहते हैं – सर्वभूतके प्रति अतिशय कल्याणकारी, सर्वत्यागमय एव अतिशय उदार भाव ही रहता है। भक्तकी गति सदा ऊर्ध्व ही रहती है। *'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'* जब सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष भी ऊर्ध्व-गतिमान् होता है, भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तका ऊर्ध्व-गतिमान् होना तो अकाट्य निश्चय ही मानना चाहिये। सबसे ऊर्ध्व तो भगवान् स्वय ही हैं। भगवान्‌से ऊर्ध्व किसीका होना तो सर्वथा ही असभव है और भगवच्चरणाश्रयी भक्तकी गति अबाध, अपने प्रियतम, प्राणवल्लभ भगवान्‌की ओर ही होती है।

ऊर्ध्वलोक तो प्राकृत हैं, अत भक्तकी उनकी ओर कभी दृष्टि ही नहीं जाती। उसके इन लोकोकी ओर ललचानेका तो प्रश्न ही नहीं है। उसके गन्तव्य तो मात्र परमात्मा हैं।

## राजा बलिके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें राजा बलिका भी चिह्न है। भगवान् राजा बलिको ठगने गये थे एवं स्वयं ठगे गये। उन्हें बलिके द्वारपाल होकर बने रहना पड़ा। भगवान्‌ने बलिके मस्तकपर अपने सुर-मुनि-दुर्लभ परम चिन्मय चरणतल रख दिये। इतना ही नहीं, उन्होने सदा-सदाके लिये बलिको अपने चरणोमें स्थायी

रूपसे निवास ही दे दिया। बलिकी आकृति ही भगवान्‌ने अपने चरणोंमें अंकित कर ली। इससे बढकर किसीके भी सौभाग्यकी और क्या बात हो सकती है ? बलिको पहले ऐश्वर्यमद था। भक्तराज प्रह्लादने, जो बलिराजाके पितामह थे, बलिको पहले बहुत समझाया। परन्तु बलिने उनकी बात नहीं मानी। भक्तराज प्रह्लादजीने देखा कि इसकी बीमारी तो बहुत ही बढ गयी है। उन्होंने बलिकी मगलकामनाके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की। भगवान् वामन बनकर आये और बलिके समग्र राज्यको उन्होंने मात्र एक पगमें ही नाप लिया। भगवान् जिसपर कृपा करते हैं, उसका धन हर लेते हैं। सासारिक कार्यमे उस व्यक्तिको पूर्ण असफल कर देते हैं।

ससार तो सफलताका ही पुजारी है। असफल व्यक्तिसे वह अपनी आँखें निरर्थक, फालतू समझ हटा लेता है। असफल व्यक्तिके घरवाले भी अपने नहीं होते। सभी उसका घोर तिरस्कार करते हैं। तिरस्कारसे उसे वेदना होती है, उस वेदनासे व्यथित, वह भगवान्‌को सहज ही स्मरण करता है, क्योंकि अब तो उसके एकमात्र वे ही शरण्य रह जाते हैं।

जैसा राग होता है, भगवान् वैसी ही उसे दवा भी देते हैं। भगवान्‌ने बलिका धन हरण कर लिया। परन्तु सुदामा को धन दिया। भगवान्‌ने नारदजीको उनके विवाहके लिये उत्सुक होनेपर बन्दरका रूप देकर सर्वत्र उपहासका पात्र बनाया, परन्तु भगवान् शंकर, जो परम विरक्त थे, उनका विवाह रचाया। शंकरजीकी बारातमें भगवान् स्वय गये थे।

राजा बलिका ऐश्वर्यमद उसे घोर नरकोमे ले जाता। अत भगवान्‌ने उसे जबर्दस्ती युद्ध करके छीन लिया। परन्तु उस पाप-वस्तुको हरकर भगवान्‌ने बलिको अपने-आपका दान कर दिया। बलिका समग्र राज्यविस्तार तो भगवान्‌ने अपने एक पगमें नाप लिया था। अब बलि अपनेको परम अकिंचन अनुभवकर भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित हो गया। भगवान्‌को बलिने साष्टांग प्रणाम किया। उसके ऐश्वर्यमद, बलमद, पुण्यमद सभी धूलमें मिल चुके थे। उसके पास मात्र भगवच्छरणागतिके, अन्य कोई चारा ही नहीं था। अत उसने भगवान्‌के चरणोंका सर्वप्रकारसे आश्रय लेकर उन्हें अपने मस्तकपर रख लिये, और जो भगवान्‌के परमोदार चरणोंको अपने मस्तकपर रख लेता है, भगवान्‌के चरण उसके स्वयं भगवान्‌को ही बॉध देते हैं। बस, भगवान् बलिके बन्धनमें आ गये।

## दर्पणका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें दर्पणका चिह्न है। दर्पणमें प्रत्येक व्यक्तिका प्रतिबिम्ब

दीखता है। यह जगत् भगवान्‌का प्रतिबिम्ब है। इसमे सर्वत्र भगवान् ही भगवान् भरे हैं। भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तकी ऐसी ही सत्य एवं परम निर्मल दृष्टि हो जाती है। जो भगवान्‌के चरणोका आश्रय नही लेता, उसे ससारकी, मायाविकृत, त्रितापदायी, विषम छबि ही दीखती है। उसे सर्वत्र भगवान्‌की सत्ताका पूर्ण अभाव ही दृष्टिगोचर होता है।

दर्पणके सम्मुख जो जैसा रूप लेकर आयेगा, दर्पण उसे उसका वही रूप दर्शायेगा। ठीक इसी प्रकार, भगवान् कहते हैं –

***"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"***

अर्थात्, जो जिस भावसे मुझे भजता है, मैं उसे उसकी ठीक निष्ठानुसार, वैसा ही दिखाई पडता हूँ। मैं उसके भावोका पूर्णतया प्रतिपादन करते हुए ही उसका भजन करता हूँ – दर्पणका यही भाव है।

## सुमेरु पर्वतका भाव

भगवानके चरणोमे सुमेरु पर्वत है। सुमेरुका अर्थ है – सुन्दरतम आधार, 'सु' अर्थात् सुन्दरतम, 'मेरु' अर्थात् आधार। सुमेरुको लोग सोनेका पहाड भी मानते हैं। परन्तु वास्तवमे सुमेरु तीन लोक एवं चौदह भुवनोका आधार है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, सभी सुमेरुके ही आधारपर स्थित हैं। सुमेरु कालका भी आधार है। वह रात-दिवसकी सन्धिकालका भी आधार है। सुमेरुको स्वर्णमय इसीलिये कहा जाता है, क्योंकि त्रिलोकीका सर्व-वैभव सुमेरुके आश्रयमे ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण आनन्द-वैभवके आधार, भगवान्‌के चिन्मय चरण हैं। जिन्हें भगवान्‌के चरण प्राप्त हो गये, उन्हें आनन्दका, प्रेमका सुमेरु ही प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌के चरणोमें चिह्न रूपमें अकित इस पर्वतको अनेक भक्त 'सुमेरु' नहीं मानकर गिरिराज गोवर्धन पर्वत मानते हैं। इस गोवर्धन पर्वतको भगवान्‌ने अपनी कनिष्ठिकाके नखपर धारण किया था। देवराज इन्द्रके व्रजपर कोप करनेपर, इसे भगवान्‌ने अपना छत्र बनाकर इन्द्रका गर्व नष्ट कर दिया था। उसकी इस भक्तिके पुरस्कार-स्वरूप भगवान्‌ने इस पर्वतको अब अपने चरणोमें चिह्नके रूपमे स्थायी स्थान दे दिया है। यही इस चिह्नका भाव है।

## घण्टिकाका भाव

भगवान्‌के चरणोमे घण्टिकाका चिह्न भी है। यह घण्टिका भगवान्‌को विशेष प्यारी है। भगवान्‌की कटि-करधनीमें छोटी-छोटी घण्टिकाएँ लगी हैं। इनका अति सुन्दर तात्रिक भाव है। पूजा-कर्मकाण्डमें घण्टिकाका बहुत ही

महत्व है। पूजामें समय-समयपर घण्टानाद करना परमावश्यक है। घण्टेमेंसे जो ध्वनि प्रसरित होती है, वह अनहद-नाद जैसी ही है। यह सृष्टिका मूल-नाद है।

अनहद-नादमे दस प्रकारके नाद निहित होते हैं। इसमें तीसरा नाद घण्टिका का होता है। घण्टी – 'क्लीं', 'क्लीं' शब्दका उच्चारण करती है, यह भगवान् श्रीकृष्णका प्रेम-बीज मत्र है। यह महाबीज है। यह महाबीज सृष्टिका मूल प्रसूति-नाद मंत्र है। इस महाबीजका उद्भव, क्योंकि घण्टिकासे ही हुआ है, इसीलिये भगवान्‌के चरणोंमें घण्टिकाका स्थान है।

## वीणाके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमे वीणाका चिह्न भी है। मुरलीके अतिरिक्त भगवान्‌को वीणा अतिशय प्यारी है। मुरली तो भगवान् स्वयं धारण किये रहते हैं और स्वय ही बजाते हैं, परन्तु वीणा तो भगवान्‌की प्रिया राधाजीकी सखियोके हाथोमे रहती है और वे ही इसे बजाकर भगवान्‌को मुग्ध कर देती हैं। कभी-कभी गायनोत्सवमे भगवान् मुरली बजाते है और श्रीराधाजी वीणा बजाती हैं, उस समय प्रेम-सगीतोत्सवमें ऐसी दुर्लभ बहार आती है, जिसका वर्णन ही असंभव है। तारवाद्योमे सबसे आदि वाद्य वीणा है।

अनेक भक्तोके भावानुसार भगवान्‌के चरणोमें जो वीणा है, वह ब्रह्मवीणा है। भगवान्‌ने इसे अपने परमभक्त नारदजीको प्रदान कर रखी है। यह वीणा जो नारदजीके हाथमें रहती है – भगवान्‌का नाम गायन करती है । जिसके हृदयमे भगवान्‌के चरण बसते हैं उसके कानमे वीणाके समान परम सुरीला भगवान्‌का नाम निरन्तर ध्वनित होता रहता है।

जब मैं सर्वप्रथम श्रीभाईजीके पास गीतावाटिकामें पहुँचा था, तो उस दिन आश्विन शुक्ला एकादशी थी। मैं मात्र तीन दिन ही गीतावाटिकामें रहा था। जहाँतक मुझे स्मरण है, वह काल रासपूर्णिमाका मध्यरात्रिका काल रहा होगा। उस मध्यरात्रिमें शुभ्र चाँदनीमें मुझे अतिशय मधुर स्वरमे 'हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' महामंत्रकी ध्वनि सुनायी पडी। यह नाम-गायन इतना मधुर एवं सुरीला था कि मेरा सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो उठा। उन दिनों मैं कट्टर वेदान्ती था। **'सोऽहं'** मत्रका जाप किया करता था। दिन-रात, सब समय ब्रह्मविचारमें ही निमग्न रहता था। इस नाम-ध्वनिके श्रवणने मेरा-ब्रह्म-विचार तो स्थगित कर ही दिया साथ ही मुझे परम भावुक बनाकर इस नाम-ध्वनिके साथ अपना कण्ठ-स्वर मिलाने को भी विवश कर दिया। इस अतिशय सुरीली ध्वनिमें अपना कण्ठ-स्वर मिलाकर, मैं

भी बरबस महामन्त्रका गायन करने लगा। कुछ ही क्षणोंके पश्चात् मेरे शरीरमें तीव्र रोमाञ्चके साथ-साथ सात्त्विक कम्पोदय होने लगा। मेरी ऑखोसे अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। मैं अपनेको रोक ही नहीं पा रहा था। यद्यपि, मैं अपनी समग्र शक्तिसे अपनेको इस भावुकतासे निवृत्त करनेकी चेष्टा कर रहा था, परन्तु मुझे पराजय ही मिल रही थी।

आज अनुमान करता हूँ, अवश्य ही यह परम मधुर-ध्वनि चिन्मय वीणाकी ही रही होगी, क्योकि चिन्मय वीणाके स्वर मूर्त्त होकर स्वत ही उच्चारित होते है। उनका चिन्मय निनाद ऐसा ही प्रभावोत्पादक होता है। इस चिन्मय नादसे शुष्क-से-शुष्क प्राणीमें भी रस-सचार हो जाता है। उसके अगोमे अष्ट सात्त्विक विकारोंके लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं।

यह चिन्मय ब्रह्मवीणा भगवान्के चरणोमें अखण्ड निवास करती है भगवान्के रसिक भक्तोंको जैसे मुरली अपने नादसे आकर्षित करती है, उसी प्रकार यह वीणा भी भक्तको भक्ति-समुद्रमें डुबा देनेमे समर्थ है।

इन पत्रोंमे मैंने आपको भगवान्के प्राय सभी प्रमुख चरणचिह्नोंका वर्णन सुना दिया है। उपनिषदोमें एक बहुत ही पवित्र उल्लेख है –

*'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न बहुना श्रुतेन, यमैवेष आत्मा वृणुते तेन लभ्यः'*

अर्थात्, भगवान् न तो बहुत प्रवचन करनेसे प्राप्त होते हैं, न ही बहुत सुननेसे, वे तो उसीको प्राप्त होते है जो भगवान्को वरण करता है।

यहॉ वरण करनेका अर्थ यही समझना चाहिये कि भगवान्के नाम, रूप, लीला एव धाममे अपने चित्तको एकतान-एकात्म कर देना। जैसे कोई भगवान्के नामको ही अपना जीवन बना ले। नाम-जपसे मृत्युपर्यन्त हटे ही नहीं। जिह्वागत वाणी नाम जपते-जपते ही मृत्युकालमे भगवन्नाममें लीन हो जाय। जो इस प्रकार भगवान्को अपने जीवनमे वरण कर लेगा, उसे निश्चय ही भगवान्की प्राप्ति हो जायेगी।

आप तो परम सात्त्विक, समझदार, सच्चरित्र सरल ब्राह्मण हैं। भगवान्के चरणोको वरण कर लीजिये। चाहे भगवान्के चरणोंके आश्रयसे एक बार आपको प्रकट रूपमे दु ख, कष्ट, रोग, पीडा अभाव ही मिले, आपका सर्वत्र घोर अपमान एव तिरस्कार हो परन्तु आप भगवान्के चरणोंको ही अपनी सबसे बडी निधि मानकर, नाम-स्मरण करते हुए उनके आश्रयको ही अपना सबसे बडा सबल मानिये। फिर निश्चय ही ये जितनी भी ऊपर लिखी निधियॉ हैं, सभी आपके करतलगत हो जायेंगी। आपका जीवन निहाल हो जायेगा। अन्यथा तो ये सभी बातें आपको एव मुझको कल्पना प्रसून ही लगेगी

पुनः-पुनः एक ही बात दोहराता हूँ – खूब भगवन्नाम जपिये। भगवान्‌के नामाश्रयी साधकको भगवान्‌का नाम गुरु बनकर ऐसे अनेकों परम चिन्मय अनुभव कराता है, जो अभी हमारी कल्पनामें भी नहीं है।

जो भगवान्‌के नाम-जपको प्रमादवश त्यागता है वह अपने मनमें चाहे अपनेको महाज्ञानी समझता रहे, परन्तु सच्ची बात यही है कि उसका अनमोल मानव-जन्म व्यर्थ ही जा रहा है। वह बहुत ही अनमोल दामी वस्तुसे वंचित हो जाता है।

आपका

**चक्रधर**

---

।। श्रीराधा ।।

पत्र संख्या - तीन

# भगवान्‌के अङ्ग-प्रत्यङ्गका ध्यान

*पत्र-प्रेषक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

(भविष्यमें, परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीदेवदत्तजी, श्रीतारादत्तजी मिश्र**

(माहेश्वरी-विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता)

*स्थान :*
श्री जयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी
बाँकुड़ा स्थित कोठी, बाँकुड़ा, (बंगाल)
*दिनांक :*
१२ जनवरी १९३८

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी कापीकी
प्रतिलिपिसे संग्रहीत

## आलोक

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका आगमन बाँकुड़ा हुआ है। सायंकालीन सत्संग हो रहा है। श्रीहरिकृष्णदासजी, भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे भगवान्‌के श्रीअंगोंका ध्यान करानेका आग्रह करते हैं । तद्‌नुसार भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ध्यान कराते हैं। इसी सत्संगका यथाश्रुत, यथाग्रहीत वर्णन प. पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज द्वारा श्रीदेवदत्तजी मिश्र, अपने अग्रज भ्राताको पत्र द्वारा प्रेषित किया गया। श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवालाने कलकत्तेमें श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि की, जो उनकी मृत्युके उपरान्त श्रीशिवकिसनजी डागाने वृन्दावनमें अपने पास सुरक्षित रखी। उसी पत्र-संग्रहको यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

---

**श्रीराधाकृष्णौ वन्दे**

पूज्य श्रीदेवदत्त, तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम ! आपका पत्र मिला। आप दोनोंकी रुचि देखकर आज

आपको पत्रमें भगवान्‌के ध्यानकी बात लिख रहा हूँ। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार परम कृपालु स्वभावके सन्त हैं। मेरे जैसे अनेक अनधिकारियोको भी वे बहुत कृपा करके ऐसे साधन-रहस्य समझाते रहते हैं कि मन मुग्ध हो जाता है। उनकी विवेचन-शैली बहुत ही सरल एव सभीको समझमे आनेवाली होती है। गूढ-से-गूढ तत्त्वकी बातोंको भी वे अति सरलतापूर्वक सबके हृदयमें उतार देते हैं। आज उन्होंने सत्सगमें भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप-ध्यान कराया था। उनका अति सजीव स्वरूप-चित्रण सुनकर मैं तो मुग्ध ही हो गया। रह-रहकर आपकी स्मृति आ रही थी। कहीं आप मेरे साथ ही बाँकुडा होते तो कैसा आनन्द होता।

परन्तु यह भी प्रभुका परम मगलमय विधान ही है कि उन्होंने मुझे तो सब घर-बार, जमीन-जायदादके मोहसे मुक्त कर दिया एव आपको इन सबमे उलझा दिया। परन्तु इसमे आपके निराश होनेकी बात सर्वथा ही मत समझियेगा। योग्य व्यक्तिसे प्रभु अपने जनोंकी सेवा कराते हैं और जो उद्दण्ड बालक सेवाके योग्य नहीं होता, उसे घरसे दूर किसी अन्य कार्यमें नियुक्त कर दिया जाता है। ऐसा ही प्रभुका खेल है। कठपुतलीको नचानेवाला किस कठपुतलीसे राजाका अभिनय करायेगा और किससे भिश्तीका, यह बिचारी कठपुतली क्या समझे ? नचानेवालेकी इच्छासे ही सभी कठपुतलियोको नाचना पड़ता है।

हम सबको नचानेवाले महा-महामगलमूर्ति परम दयामय भगवान् है। आकाशमे जैसे अवकाश ही अवकाश है, उसी प्रकार भगवान्‌मे दया ही दया भरी है। वे मगलके घन-स्वरूप है। जैसे बादलमे वाष्पके रूपमे जल ही जल भरा होता है, मिश्रीमें मिठास ही मिठास होती है, वैसे ही भगवान्‌में दया ही दया, करुणा ही करुणा, कृपा ही कृपा, मगलमयता ही मगलमयता भरी है।

भैया ! आपने सदा मेरेपर विश्वास किया है। बचपनकी शिशु अवस्थासे आजतक मैंने आपसे जो कुछ भी कहा, आपने उसे असत्य नहीं माना। आज भी आप मेरी इस बातको निश्चय ही परम विश्वस्त एवं सत्य मान लीजिये कि श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) को भगवान्‌के दर्शन हुए हैं। साथ ही इसे भी ठीक-ठीक, सत्य समझ लीजिये कि श्रीभाईजीको जिस कोटिके भगवद्दर्शन हुए है, उस कोटिके दर्शन बिरले भक्तोको ही होते हैं। मैं भक्त ध्रुवको परम वन्दनीय एव नित्य प्रणम्य मानता हूँ। परन्तु ध्रुवको दर्शन देकर एव दर्शनका फल राज्य-भोग देकर भगवान् चले गये। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) को भगवान् इस प्रेमभावसे मिले कि उनके नयनोकी पुतरियोमे ही बस गये। ये बातें कुछ तो मुझे अपने अनुभवसे ज्ञात हुई हैं और कुछ उनके भाव

एवं लक्षणोंसे ज्ञात हुई हैं। आज सत्सगमें भगवान्‌के ध्यानका वर्णन करते हुए भाईजीकी जो विलक्षण भाव-दशा मुझे देखनेको मिली, ऐसी भाव-दशा भगवद्दर्शन-प्राप्त व्यक्तिकी ही होनी संभव है, दूसरे यह भाव-दशा तभी हो सकती है, जब किसीके सम्मुख भगवान् प्रकट हों और उन्हें प्रत्यक्ष देखता हुआ, कोई उनके रूपका वर्णन कर रहा हो। अतः मेरी ऐसी सुदृढ़ मान्यता बनती जा रही है कि भाईजीके हृदयसे भगवान् एक पल भी हटते नहीं, वे उनकी नयनोंकी पुतरियोंमें ही सदाके लिये बस गये हैं। ऐसे भक्तोंके, जो-जो लक्षण शास्त्रोमे लिखे हैं, उन सभीको मैंने भाईजीमें मिलान करके ही अपनी धारणा सुपुष्ट की है।

आज श्रीभाईजीने मुरलीमनोहर द्विभुज भगवान्‌का ध्यान कराया था। उनके बायें हाथमें लकुट है और दाहिने हाथमें मुरली है। भगवान्‌के हाथमें जो मुरली है, उसमे सप्तछिद्र हैं। मुरलीका प्रथम छिद्र तो भगवान्‌के अधरोपर टिका रहता है। ऊपरके होठसे इस छिद्रको ढकते (चुम्बन लेते) हुए, भगवान् उसमें अपनी सम्पूर्ण प्राणोकी शक्तिसे फूँक लगाते हैं। भगवान्‌के प्राणोंके रससे यह मुरली, जो भीतरसे पूरी खाली – पोल-युक्त है, भर जाती है। इस वंशीमें अपने प्राण तो हैं ही नहीं, यह तो भगवान्‌के प्राणोंसे ही प्राणान्वित है। यह भगवान्‌के हाथकी पूरी यत्र है। भगवान् यंत्री हैं और इसमें अपना स्वर भरकर इसके द्वारा अपनी लीला सम्पादित करते हैं।

जैसी यह वेणु है, वैसा ही भगवान्‌का यत्र, यह लकुट है। यह लकुट अचेतन प्रतीत होता है, परन्तु है यह पूर्ण चेतन भगवद्भक्त । भक्तोंने इस लकुटके लिये अति अनोखी भावनाएँ की हैं। किसीकी भावना है कि यह श्रीकृष्णका सबसे प्रिय सखा है। सुबल, श्रीदामादि सखा, जो भगवान्‌की मधुर लीलाके सहयोगी हैं और सखियोके मध्य निकुंजलीलामें भी सम्मिलित रहते हैं – उनसे भी इस लकुटका पद अधिक है। यह भगवान् श्रीकृष्णके रासमण्डलमें भी उनके साथ रहता है, जबकि रासमण्डलमें किसी भी पुरुष सखाका प्रवेश असंभव है।

श्रीकृष्ण जहाँ भी अधरोंपर वशी स्थापित किये हुए ललित-त्रिभंगी मुद्रामें खडे होते हैं, लकुट उन्हें सहारा देता हुआ, उनके साथ ही रहता है। लकुटका सौन्दर्य भी श्रीकृष्णसे कम नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अपने मस्तकपर रत्नजटित मुकुट धारण करते हैं, ठीक वैसे ही यह लकुट भी अपने शिरोदेशमें अनमोल रत्नजटित स्वर्णका मुडिया धारण करता है। श्रीकृष्णके मस्तकपर जैसे मयूरपिच्छ सुशोभित रहता है, उसी तरह इसके भी मुठियापर मयूरपिच्छ

लहराता है। जैसे श्रीकृष्णका वर्ण श्याम है, लकुटका वर्ण भी श्रीकृष्णकी ही तरह नवीन मेघवर्ण है। श्रीकृष्ण जब ललित-त्रिभंगी वेषमें नटवर-रूप हुए, खड़े होते हैं, तो यह लकुट भी अपने तनसे टेढी आकृति धारणकर उनके बगलमें ही विराजित होता है। भगवान् श्रीकृष्णके श्यामल अंगोंमें, जैसे पीताम्बर शोभा पाता है, वैसे ही लकुटके अंगोंमें भी पीले स्वर्णका पत्तर लगा होता है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि लकुटमें जो पत्तर लगा है एवं मुठियेमें जो रत्न जटित हैं, वे सभी न तो प्राकृत स्वर्ण ही हैं, न ही वे रत्न ही, लौकिक चमकदार पत्थर। इस धातुका वर्ण तो अवश्य ही तपाये सोनेका-सा है, परन्तु है यह सर्वथा अप्राकृत, चिन्मय धातु। यह स्वर्णसे भी असीम सुन्दर धातु है। यह लकुट दिखता मोटा एव भारी है, परन्तु यह है, फूलसे भी ज्यादा सुकोमल। इसका बोझ यदि भगवान्‌को अनुभव हो जाय तो वह लीला-परिकर भक्त ही कहाँ रहा ? यह भगवान्‌से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यह भगवान्‌के अगोंके समान भगवान्‌का अभिन्न पार्षद है, उनका अपना है। जैसे हाथ-पैर भारी होते हैं, परन्तु वे शरीरके भाग होनेसे शरीरको भारी नहीं लगते, इसी प्रकार यह लकुट भगवान्‌को सर्वथा भारी नहीं लगता।

वैसे कभी-कभी भगवान् वंशी भी स्वर्णकी धारण करते हैं। इस वशीमे भी हीरों एवं मोतियोंके गुच्छ (लड़ें) लटके होते हैं। शास्त्रोंमे भगवान्‌की अनेक वंशियोंका वर्णन आता है। वशी, वेणु, मुरली–ये सभी अनेक जातियाँ हैं। परन्तु इनमें जो मूल वशी है, वह बदलती नहीं। वही एक वशी यथासमय, यथावेष भिन्न-भिन्न रूप एवं शृंगार धारण करके भगवान्‌की सेवामें प्रस्तुत हो जाती है।

भगवान्‌के सभी आभूषणोंमें, जो चिन्मय स्वर्ण रहता है, वह जीवन्त धातु होनेसे उसमें एक विलक्षण प्रकाश होता है। विद्युत्‌के प्रकाशसे तो आँखें चौंधिया जाती हैं, परन्तु भगवान्‌के मुकुटसे, लकुटसे, वंशीसे, भगवान्‌के बाजूबन्द, कटि- करधनी, नूपुर आदि आभूषणोंसे, जो चिन्मय प्रकाश निस्सृत होता है, वह परम सौम्य, शीतल, सुखद, स्निग्ध एवं साथ ही परम मंगलकारी है। वंशीमें जो मुक्ता और रत्नोंकी लड़ें हैं, इनमें परम चिन्मय घण्टिकाएँ भी लगी हैं, ये मुक्ताके आकारकी, अति लघु हैं, परन्तु बजनेमें इतनी सुरीली हैं कि वशीके रवको अपने 'किन्-किन्' नादसे और चमत्कारी बना देती हैं।

भगवान्‌के बाहु परम सुकोमल, मोटी, श्यामल, कमल-नालके समान हैं। हथेली एवं हाथ, खिले हुए नील-कमलके सदृश हैं, जिसकी पंखुड़ियाँ भीतरसे परम सुन्दर गुलाबी रंगकी हों। भगवान्‌की हथेलियोमें भी उनके चरण-चिह्नोकी तरह स्पष्ट आकृतियोंके चिह्न हैं, जो स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। भगवान्‌के ऐसे

सुकोमल हाथोंको पीताभ मणियोंके परम सुन्दर कंकण समलंकृत कर रहे हैं। इन ककणोंके दोनों ओर फूलोके गजरे भी भगवान्‌के मणिबन्धोको सुसज्जित करते है । भगवान्‌के कमल-जैसे परम सुकोमल हाथोंमे समलकृत ककणोंके ऊपर माणिबन्धोंको लपेटे पुष्पोंके गजरोंकी ऐसी शोभा है कि देखनेवालेकी पलकें ही गिरना बन्द हो जाती हैं। जो गजरे भगवान्‌के मणिबन्धोंको सुभूषित कर रहे हैं, उन फूलोके गजरोंमें और पीत-रत्नके कंकणोमें छबिकी तरगोंके उठनेसे सौन्दर्यकी ऐसी स्पर्द्धा होती है, कि बस आँखे पलक झपकाना ही स्थगित कर देती है। यह स्पर्द्धा अकेली सुन्दरतामें ही नहीं होती। सुन्दरताके साथ सुकोमलता, प्रेम, कान्ति, सुगन्ध, कल्याण, एव यशकी स्पर्द्धा भी देखते ही बनती है। कोई कहेगा, पुष्पोंकी सुकोमलताको ककण कैसे पराजित कर पावेगे एव ककणकी धातुमें, रत्नोमे, सुगन्ध कहॉसे आवेगी, जो पुष्पोंके गजरोंको पराजित कर सके और प्रेम भला जड-वस्तुओमें कहॉसे पैदा हो जायेगा ? तो इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌को सुख देनेके लिये, उन्हे शृगारित करनेके भावसे भगवान्‌के लीला-परिकर ही तो कंगन बने हैं और वे लीला-परिकर ही फूलोके गजरोंके रूपमें भगवान्‌को सुसज्जित कर रहे हैं, ये सभी आभूषण जड़ कदापि नहीं, पूर्ण चिन्मय हैं, अतएव भगवान्‌को सुख देनेकी उनमें होड होना स्वाभाविक ही है।

यही स्थिति भगवान्‌की बाहुओंमें विजडित बाजूबन्दोकी भी है। बाल-लीलामें यशोदा मैया जब भगवान्‌का शृगार करती हैं, तो नन्दमहलकी मालिनसे पुष्पोंके बाजूबन्द बनवाती हैं। वह वात्सल्यवती मालिन सभी आभूषणोंके नीचे सुकोमलतम कुवलयोंका पहले आधार देती है, इन चिन्मय कुवलयोके ऊपर अलंकार एवं परम सुन्दर मुक्ता-माणिक, पुखराज-वज्रमणि आदि रत्नालंकार पिरोये जाते हैं। ये परम सुकोमल, चिन्मय कुवलय भगवान्‌के अंगोको मात्र सुख-स्पर्श ही देते हैं।

भगवान्‌का कण्ठ शखके समान सुडौल एवं सुन्दर है। अलंकारके रूपमें भगवान्‌के ऐश्वर्ययुक्त विग्रहोके कण्ठमे तो वैजयन्तीमाला झूलती है, साथ ही वक्षस्थलको कौस्तुभमणि एवं श्रीवत्सचिह्न भी सुशोभित करते रहते हैं, परन्तु व्रजमें भगवान् श्रीकृष्ण मात्र वनमाला ही धारण करते हैं।

वनमें गाय चराने जाते समय व्रजलीलामें भगवान्‌का शृंगार मैया यशोदा करती है। खेलकूदमें जब शृंगार अस्त-व्यस्त हो जाता है, तब गोचारण करके लौटते समय भगवान्‌का शृंगार सखागण करते हैं।

यह शृंगार विलक्षण ही होता है। इस शृंगार-वेषमे श्रीकृष्ण जैसे फबते

हैं, वैसे कहीं नहीं फबते ।

वैसे श्रीकृष्णका मधुर-भावसे सखियाँ भी शृगार करती हैं। यह उनका शृगार सर्वसाधारणके दर्शनकी वस्तु नहीं होता। इस शृंगारकी शोभा तो श्रीराधारानी एव सखियाँ ही देख पाती हैं। इस शृगारसे भी परमोत्कृष्ट शृंगार भगवान्‌का रासके समय होता है। इस सर्वोत्कृष्ट शृगारसे सजे श्रीकृष्ण साक्षात् मन्मथ-मन्मथ ही होते हैं। यह ऐसा मादक शृंगार होता है कि शिव-ब्रह्मादि देवगण तथा सनकादि ऋषियोंको भी इस शृंगारसे सजे श्रीकृष्णका दर्शन असभव है। इस वेषमें सजे श्रीकृष्णका दर्शन तो महाभागा राधिकाजी एव उनकी अन्तरग सखियोको ही सभव है।

इससे भी परमोच्च कोटिका भगवान्‌का एक शृंगार और भी होता है। यह शृगार केवल श्रीराधारानी अपने निजहाथोसे भगवान् श्रीकृष्णका करती हैं। और मात्र अकेली उनकी ही आँखे इस भगवान्‌के शृगारको देखती हैं। स्वय भगवान् भी इस शृंगारका प्रतिबिम्ब ही मात्र आरसीमें देख पाते हैं और अपने इस रूपको देखकर इतने चमत्कृत हो जाते हैं कि उनके मनमें अपने ही सौन्दर्यके आस्वादनकी कामना जाग उठती है। यह भगवान् श्रीकृष्णकी विशुद्ध सौन्दर्यास्वादन-कामना भगवती श्रीराधारानीका शृगारकर, उनका रूप देखकर ही तृप्त होती है। श्रीराधारानी श्रीकृष्णके सौन्दर्यास्वादन-कामकी निवृत्तिके लिये ही सजती हैं। उनके सजनेमें स्वसुख अथवा स्वको सुन्दर दिखानेका लेशमात्र भी भाव नहीं रहता। इस शृगारको अन्य सखियाँ भी देखनेके लिए तरसती हैं। वे कुजके छिद्रोमें झाँककर देखनेकी चेष्टा करती हैं, परन्तु वह उनके दृष्टि-पथका विषय नहीं बन पाता।

वनसे गोचारण करके जब भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमे लौटनेको उत्सुक होते हैं, उस समय सखागण उन्हें छोटे-छोटे वनफलोंसे, द्रुम-वल्लरियोंके रंग-बिरगे नव-पल्लव एव मनोहारी पुष्प-गुच्छोसे, विविध-विविध वर्णोंके चित्र-विचित्र कुसुमोकी राशिसे, अभी-अभी झड़े हुए झलमलाते मयूर पिच्छोंसे, एवं गैरिक आदि रगोकी भाँति-भाँतिकी वन्य धातुओसे सजाते हैं। जब इन वन-धातुओंसे अपने सखा श्रीकृष्णका सखागण अग-अग लेप देते हैं, तो उस समय उनकी ऐसी मनोहारी छबि निखरती है कि आकाशचारी विमानोमे बैठी देवागनाए भी उसे देखकर मूर्च्छित हो जाती हैं।

सखागणोके पास तो श्रीकृष्णको सजानेका शृंगार-द्रव्य मात्र वन-धातुएँ एव वन-पुष्प ही होते हैं, वे अपने स्वयका भी उन्हीं धातुओसे शृंगार करते हैं। श्रीकृष्णके केशोंमे ये भिन्न-भिन्न रंगोंके पत्ते खौंस देते हैं। इस सब शृगारसे

सजे श्रीकृष्ण जब व्रजमें गोचारणकर लौटते हैं, तो सभी व्रजरमणियाँ और व्रजवासी देखकर मुग्ध हो उठते हैं। मुक्ताहारोंको भी तिरस्कृत करनेवाली गुञ्जामाला और मणिहारोंको हतप्रभ कर देनेवाली नव-पल्लवोंकी माला पहने श्रीकृष्ण आबाल-वृद्ध, सबका चित्त चुरा लेते हैं।

भगवान्‌के होठ बिम्बफलके समान हैं। भगवान्‌की मुसकान सर्वोपरि मनोहारी है। मृदुहास तो भगवान्‌के मुखपर सदैव ही रहता है। वे जब सो जाते हैं, उस समय भी उनके लाल-लाल पल्लव-सदृश अधरोंमें मन्द-मुसकान छायी रहती है। क्रोधकी अवस्थामें भी उनका मुसकाना स्थगित नहीं होता। उनका मुसकाना तो उस समय भी ज्यों-का-त्यों ही रहा था जब व्याधने मृग मानकर जहरीले बाणसे उनके लाल-लाल कमलसे चरण बेध दिये थे और वे स्वधामगमनको प्रस्तुत हुए अपने महाप्रयाणकी भूमिकाकी सूचना अपने सारथी दारुकको दे रहे थे।

यह एक विलक्षण बात ही है कि भगवान् श्रीकृष्णने पूतना-तृणावर्त्त, बकासुर-अघासुर, व्योमासुर आदि सभी असुरोंका वध किया, किन्तु इस संहार-लीलामें भी उनकी मुसकान उनके अधरोंसे नहीं हटी। कंसको मारते समय भी भगवान् हँस रहे थे।

भगवान्‌की दंत-पंक्तियाँ शुभ्र, स्वच्छ एवं श्वेतवर्णकी हैं। यह धवल-श्वेतता है। इस धवल-श्वेततामेंसे शुभ्र, मन्द प्रकाश निकलता रहता है। यह प्रकाश हजारों राका-शशियोंके समान शीतल एवं सुखद है। भगवान्‌के होठोंकी लालिमा इस धवलिमासे जब मिलती है, तो विलक्षण शोभाका अभ्युदय होता है। फिर इसमें भगवान्‌की मंद, मुसकान जीवनसत्ताका सृजन कर देती है। इसके साथ ही भगवान्‌के मुखसे, दाँतोंसे ऐसी मनोमुग्धकारी सुवास प्रसरित होती है कि लेखनी उसका वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाती है।

भगवान्‌की नाकमें बुलाक रहती है। भगवान्‌के नेत्र, नासा, मस्तक, कान सभी मुखकी शोभाको सहस्त्रगुनी बढानेवाले ही हैं। भगवान्‌का मुख ऊपरकी ओर तनिक-सा लम्बित है और शेष भाग गोल है। वह माधुर्य एवं लावण्यका अपरिसीम सागर है। भगवान्‌के समग्र आननसे कान्तिकी किरणें फूटती हैं, वे मरकतमणिको तुच्छ कर देती हैं। गरुडकी चौंचके समान नासिका, अग्रभागसे किंचित् मुडी हुई है। भगवान्‌की लम्बी घुँघराली अलकें हैं, जिनसे विविध प्रकारका सुवास प्रसरित होता है।

विलक्षण बात यह है कि भगवान्‌की प्रत्येक अलकावलिसे पृथक्-पृथक् गंधका प्रवाह झरता है। ये सभी सुंगधियाँ एक-से-एक बढकर मनोहारी हैं।

फिर इनका सम्मिलित सुगन्धमय स्वरूप तो और भी विलक्षण मनोमुग्धकारी हो उठता है। सत्य बात यही है कि मनकी शक्ति ही नहीं रहती, उस सब सौन्दर्य, माधुर्य, सुगन्ध एव सुरूपताका आस्वादन कर सके, वह मूर्च्छित हो जाता है।

भगवान्‌के केशपाश भिन्न-भिन्न वर्णके सुन्दर पुष्प-गुच्छोसे सुगुम्फित हैं। पुष्पमालाओसे गुँथी भगवान्‌की चूडा (चोटी) तो और भी अतिशय मनोमोहक है। भगवान्‌के मुखारविन्दका वर्ण ही सुधाके समान शीतल, सरस, मादक, एव प्राणोंको आप्यायित करनेवाला है। वह अतिशय लावण्य एवं मधुरतासे भरा है उससे कल्याण एव कृपाकी वर्षा निरन्तर ही होती रहती है। क्षणके करोडवे हिस्सेके लिए भी यह कृपा एव परम मगलमयी कल्याण-वर्षा न तो थमती है, न ही न्यूनाधिक ही होती है। भगवान्‌का आनन, नवमेघके समान है, यह कल्याणमयी प्रीतिवर्षा एकरस, अनवरत करता ही रहता है।

ऐसे भगवान्‌के आनन-सरोजके ऊपर भगवान्‌का ललाट है। यह ललाट सदा चन्दन एव कुकुम-केसरकी खौरसे समलकृत रहता है। इसके मध्यमें वल्लभ-सम्प्रदायवालोकी तरह गोराचनका तिलक शोभा पाता है। उस तिलकके दोनो ओर अतिशय शोभामयी अलकावली झूलती रहती है। उनकी भौहे परम लीलायुक्त हैं। भगवान् अपनी भौंहोको ऐसी मनोहर भगिमासे नचाते है कि उनसे समग्र नवों रस एक साथ प्रवाहित हो उठते हैं। भगवान्‌की भौहोंका नर्त्तन देखकर यशोदामैयामें वात्सल्यरसकी ऐसी ऊँची लहरे उठती है कि उनके स्तनोंसे दुग्धधारा झर-झर बहने लगती है। इन भौंहोंके इशारेसे सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, काल, सम्पूर्ण देव-दनुज, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, योगी, ऋषि, मुनि, गन्धर्व-चारण, नाग-अप्सराएँ, यहाँतक कि यमराजतक काँप जाते हैं। ये सभी पूर्ण अनुशासनपूर्वक अपना सम्पूर्ण कार्य सम्पादित करते हैं। इन्हीं भौहोंके सचालनसे कामिनियोमे प्रेमकी ऐसी लहर उठती है कि ये अपना सम्पूर्ण चित्त-वित्त भगवान्‌पर न्यौछावर कर देती हैं। ये भौंहें भक्तोंको संकेत मात्रसे धर्म, अर्थ, काम एव मोक्षका दान दे डालती हैं। योगीजन इन भौहोंके दर्शनकर परम शान्तचित्त हो जाते हैं। भगवान्‌के भौहोके दर्शनमात्रसे योगीगण असम्प्रज्ञात समाधिमें डूब जाते हैं। जो भक्त-भगवान्‌की इन सुन्दर भौंहोंका ध्यान भर करते हैं, उनके कामादि दोष सदा-सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं।

भगवान्‌की भौहोसे अभिरक्षित भगवान्‌के परम सुन्दर बडे-बडे अति कमनीय नेत्र हैं। ये प्रेम, दया, मगलमयता, कृपा-वर्षामें इतने निरत हैं कि भक्तोंपर इन सब भावोंकी वर्षा करते हुए अघाते ही नहीं हैं। परम कमनीय भगवान्‌के नेत्र मध्यमें नीलकमलों और प्रान्तोंमें लालकमलोकी छटा धारण किये

रहते हैं। गरुडकी चौंचके जैसी नुकीली नासिका के अग्रभागमें भगवान्का बेसर (बुलाक) नामक आभूषण रहता है। इसमें परम निर्मल मुक्ताफल लटकता रहता है। इस मुक्ताफलसे चन्द्रमाकी शीतल शुभ्र-ज्योत्स्नाके समान ज्योति बिखरती रहती है, जो उनके अधरोकी गुलाबी आभाको और भी प्रद्योतित कर देती है। इससे भगवान्के अधर बहुत ही सुन्दर लगते हैं। उनकी शोभा अनन्तगुनी बढ जाती है। भगवती राधारानीकी बुलाकमे नीलमणि रहती है, एवं श्रीकृष्णकी बुलाकमें पीताभा-लिये मुक्ता।

भगवान्के दोनों कान स्वभावसे ही परम मनोहर हैं। वे विविध मणिजटित मकराकृति कुण्डलोंसे और भी भले लगते हैं। उनका प्रतिबिम्ब दर्पण-सदृश कपोलोंपर पडता रहता है। इन कुण्डलोंकी दमकसे कपोल रह-रहकर चमक उठते है। लावण्ययुक्त मुखारविन्द कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्ति बिखेरता रहता है। भगवान्की ठोडी विविध हास्यरसकी छटासे अत्यंत मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत होती है। भगवान्के कण्ठमें असीम लावण्य भरा है। त्रिभगी-भुद्रामें वे त्रिलोकीको मोहित करते रहते हैं। उनकी ग्रीवाकी मरोड़ अत्यंत मधुर तथा आकर्षक है। विशाल वक्षस्थल, तो मानो लावण्यका घर ही है। भगवान्के कपोलोपर अनेक विलक्षण आभाएँ पडती हैं। इन चतुर्दिक् पड़ती आभाओंसे वे विलक्षण रूपमे सदा दमदमाते रहते हैं। कपोलोंमें स्वाभाविक ही अपना गुलाबीपना तो है ही, इस गुलाबीपनको दोनों ओरसे कुण्डलोंकी दमक प्रद्योतित करती रहती है। फिर बिथुरी अलकावलि भी वायुके झौंकोंसे इन्हें अपने घनश्याम वर्णसे रजित करती है। सिरपरसे मुकुटकी दमक और ठोडीपर विजड़ित वज्रमणिकी चमकसे, ये चारों ओरसे घिरकर चमचमाते विलक्षण आभा छिटकाते हैं।

भगवान्के नेत्र इतने कटीले हैं कि इनके सौन्दर्यकी तो उपमा कहीं हो ही नहीं सकती। भगवान्का सर्वाधिक सुन्दर अग नेत्रोंके नीचेका मुख-भाग है।

भगवान्का मस्तक उन्नत है। उसके ऊपर रत्नजटित मुकुट है और उस पर मोरपंख विजड़ित है।

भगवान्के हाथोंमें भी चिन्मय चिह्न उभरे हैं। गदा, शंख, यव, छत्र अर्द्धचन्द्र अंकुश, ध्वजा, कमल, यूप, हल, कलश एवं मत्स्य – ये चिह्न भगवान्के कर-कमलोंमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

भगवान्का जैसा उदार हृदय है, वैसा ही उनका वक्षस्थल विशाल है। भगवान्के हृदयमें पापी-तापी, अपराधी सभीके लिये पूरी गुंजाइश है। क्रूर से क्रूर पातकी भी भगवान्से क्षमा प्राप्त कर सकता है – यदि वह भगवान्की शरण

ग्रहण कर ले और पुन पातक नहीं करे। भगवान्का हृदय इतना अधिक निर्मल, करुण, अदोषदर्शी, क्षमाशील एव उदार है कि हृदयहीनोंको भी सपर्कमें आनेपर सहृदय बना देता है। भृगुजीका प्रसग इसका परिचायक है। भगवान् भृगुलताको इसीलिए धारण करते हैं कि सभीको शिक्षा मिले कि अपराधीके प्रति ऐसा ही निर्मल भाव रखना चाहिये। इसीलिए भगवान्के सभी अवतारोंमें भृगुलताका चिह्न अवश्य ही रहता है।

भगवान् शत्रुभाव रखनेवालोंको भी अपार स्नेहराशि ही प्रदान करते हैं। आजतक जितने भी भगवान्के शत्रु हुए, भगवान्ने सभीको मुक्त कर दिया। वास्तवमें तो भगवान्के वात्सल्यके एक कणकी छायाको लेकर ही प्राकृत जगत्की सभी माताएँ अपने शिशुओंको स्नेहसे आप्यायित कर रही हैं। भगवान् किसीके गुणों, उसके रूप, एव उत्तम शीलपर उतने नहीं रीझते हैं, जितने निर्बल होकर दीनताभरी पुकारपर रीझते हैं। कोई मनसे भी यदि भगवान्की शरण हो जाए, तो भी भगवान् उसे पूरा शरणागत मानकर उसके वशीभूत हो जाते हैं। भगवान् सदा वर्तमानका ही भाव देखते हैं, पहले का किया दुराचरण उनकी दृष्टिमे चढ़ता ही नहीं। आमिषभोजी गृध्रको भी भगवान् उसी भावसे अजलि भरकर तर्पण दान करते हैं, जिस भावसे मानों कोई अपने पिताको तर्पण दे रहा हो। मर्यादा-पुरुषोत्तम होते हुए भी भगवान् निषाद्को गले लगाते हैं एवं शबरीके जूठे बेर खाते हैं। भगवान्के हृदयकी कोमलताकी छाप सन्तोके स्वभावमें अवश्य मिलती है। सन्तोंके हृदयको इसीलिए नवनीतकी उपमा दी जाती है। भगवान्के अवतारकी हेतु, मात्र उनकी दया है। भक्तके दु खको देखकर भगवान् अपने आपको रोक नहीं पाते। गजेन्द्रके आख्यानमें इसका बहुत ही अच्छा दिग्दर्शन है।

भगवान्के सम्मुख जैसे ही जीव होता है, भगवान् उसके करोड़ों जन्मोके पाप नष्टकरके उसका उद्धार कर देते हैं।

*सनमुख होहिं जीव मोहि जबहीं जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ।*

केलेके स्तम्भकी परत उतारनेपर जैसा चिकना और कोमल भाग प्रकट होता है, वैसी ही सुकोमल भगवान्की जंघा है। भगवान्की कटि सिंहकी-सी क्षीण होती है। भगवान्के कमरके ऊपर कमरबध नामक आभूषण है। इसे मारवाड़ी भाषामें 'तागडी' कहते हैं एवं संस्कृतमें 'कटिबन्धभूषण' कहा जाता है। यह आभूषण भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। श्रीकृष्ण अवतारमें भी इस आभूषणके अनेक प्रकार देखनेमे आते हैं। द्वारिका एवं

मथुरालीलामे यह भिन्न आकृतिका एवं व्रजलीलामें भिन्न आकृतिका होता है।

व्रजलीलामें जबतक श्रीकृष्ण स्तन्यपायी होते हैं, तबतक तो यह कटि-किंकिणीके रूपमे उदरके नीचे बँधा रहता है। यह कटि-आभूषण, स्वर्णका बना होनेपर भी अत्यंत हलका होता है। भगवान्को इसका भार सर्वथा अनुभव नहीं होता। करधनीके मध्यमें लडें लगी होती हैं और इन लडोंमें एक-एक क्षुद्र घटिका चारों ओर लगी रहती है, जो बहुत ही मधुर 'टिन-टिन' ध्वनिमें बजती है। घुँघुरूकी तरह ये गोल आकृतिकी एव बन्दमुखवाली नहीं होतीं। ये लघु घंटिकाकी तरह ही होती हैं। इन घंटिकाओंकी टकराहट कटिबन्ध-आभूषणकी लडोंसे होती है और ये विलक्षण मधुर-स्वरका सृजन कर उठती हैं। गोपियाँ दूरसे इन घटिकाओंकी मधुर-ध्वनि सुनकर भगवान्के आगमनको जान लेती हैं।

भगवान्के उदरमें तीन रेखाएँ हैं, जो एक प्रकारसे त्रिदेवों किवा त्रिगुणोका रूप हैं। भगवान्की नाभिको कमलकी उपमा दी जाती है। भगवान्की नाभिमे समग्र सृष्टिको उत्पन्न करनेका बीज निहित है। श्रीब्रह्माजी समग्र ज्ञान (वेद) और समग्र सृष्टिको समेटकर भगवान्की नाभिमे लीन हुए रहते हैं। जब भगवान्का सृष्टिको उत्पन्न करनेका सकल्प होता है, तो इस नाभिसे ब्रह्माजी प्रकट हो जाते हैं। यही नाभिका परम आध्यात्मिक रहस्य है।

यह ध्यान, श्रीभाईजीने आजके सत्सगमें कराया था। इसे यथाश्रुत-यथास्मृति मैंने अपनी भाषामे आपको लिख दिया है। प्रवचन करते-करते बीच-बीचमें श्रीभाईजी ध्यानस्थ हो जाया करते थे। फिर कुछ काल पश्चात् प्रकृतिस्थ होनेपर वे बोला करते थे। सत्सगके बादमे मेरी जब उनसे वार्त्ता हुई, तो वे कह रहे थे – "स्वामीजी ! भगवान्के ध्यानकी बात जब भी कहता हूँ, बस, भगवान्की स्मृति प्रबल होते ही मनकी ऐसी दशा हो जाती है और रोकनेकी बहुत चेष्टा करनेपर भी बाह्य-ज्ञान लुप्त हो जाता है।"

मैंने उनसे पूछा – "आप-जैसी सबकी दशा हो, इसका उपाय क्या है ?" उन्होने यही उत्तर दिया – "सर्वत्र, सबमें भगवान्को भरा हुआ देखना, निरन्तर जिह्वाद्वारा नाम-जप करना, साथ ही भगवान्की अमोघ कृपापर विश्वास करना। ये तीन साधन बन जायें तो भगवान् प्रकट हो जाते हैं।, भगवान्के प्रकट होनेपर जगत् रह नहीं सकता। यह अमोघ नियम है – जबतक जगत् है, भगवान्की मात्र कल्पना है, वे हैं नहीं ! वे ज्यों ही प्रकट होते हैं, जगत् रह नहीं सकता। भगवान् सूर्य हैं और जगत् रजनी है। दोनों एक साथ रह नहीं सकते।"

भाईजीकी बातें सुनकर मुझे बहुत ही परिताप हुआ। भगवान्ने जब

अपनेसे मिलानेका इतना सुगम रास्ता दिखा दिया और ऐसे भगवत्प्राप्त सन्तोंसे मेल-मिलाप, आत्मीयता पैदा कर दी, फिर इस अनमोल भगवन्नामको प्रमादवश भूलकर हम अपनी आत्महत्या ही तो कर रहे हैं।

भैया ! आप तो मुझे यही आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपना समग्र जीवन भगवन्नाम-जपमें ही लगा दूँ। निश्चय मानिये, इससे अधिक दामी वस्तु संसारमें और कुछ भी नहीं है।

आपका
**चक्रधर**

---

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - चार

# भगवान्का वर्ण

*पत्र-प्रेषक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

(भविष्यमें - प. पू. श्रीराधाबाबाके नामसे सर्वविख्यात)

*पत्र-प्रेषिति :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, माहेश्वरी विद्यालय

बड़ा बाजार, कलकत्ता (बंगाल)

*स्थान :*
श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी
बाँकुडा-स्थित कोठी, बाँकुडा (बंगाल)
*दिनांक :*
२५ जनवरी १९३८ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी पत्र-संग्रहकी कापीसे प्रतिलिपि किये हुए संग्रहसे संग्रहीत ।

## आलोक

*श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी कोठीमें सायंकालीन सत्संग हो रहा है। श्रीमद्भगवद्गीताकी तत्त्व-विवेचनी टीका लिखी जा रही है। उसी कार्यके लिये भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार बाँकुड़ा आये हैं। सत्संगमें श्रीरामसुखदासजी महाराज, श्रीघनश्यामदासजी जालान आदि सज्जनोंके अतिरिक्त बाँकुड़ाके अन्य अनेक मारवाड़ी एवं बंगाली समुदायके व्यापारी भी बैठे हैं। श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे प्रश्न करते हैं कि भगवान्का वर्ण कौनसा है ? भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार विनम्रतापूर्वक श्रीसेठजीसे ही इसपर प्रकाश डालनेका आग्रह करते हैं। परन्तु श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका ''आज तौ हनुमान तू ही कह; म्हे सभी सुणस्याँ'' – मारवाडी भाषामें यह कहकर श्रीभाईजीसे ही प्रवचन करनेको कहते हैं। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अति संकोचपूर्वक प्रवचन प्रारंभ करते हैं।*

*यह पत्र इसी प्रवचनका यथाश्रुत-यथाग्रहीत रूप है। इस प्रवचनका सार, श्रीस्वामीजीने अपने ताऊके पुत्र अग्रज-भ्राताको लिखकर भेजा है।*

## श्रीराधाकृष्णौ वन्दे

पू. देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम। आपका पत्र मिला। आपको भगवान्‌के चरण-चिह्नोंपर लिखे मेरे पत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण अनुभव हुए एव आप उन चार-पाँच पत्रोंको प्रतिदिन नियमपूर्वक पढते हैं, यह जानकर बहुत ही हर्ष हुआ। आपको इस पत्र-पाठनसे निश्चय ही बहुत लाभ होना चाहिये, क्योकि यह सारा वर्णन किसी महासिद्ध सन्त द्वारा सुनाया गया अनुभूत तथ्य है।

आज सायकाल श्रीभाईजीने सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके छोटे भाई, श्रीहरिकृष्णदासजीके प्रश्नपर भगवान्‌के वर्णका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया था। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सार आपको लिख दे रहा हूँ। ये सभी सत्सग बहुत ही अनमोल एव अलौकिक हो रहे हैं। सचमुच ही भगवत्कृपाकी अथाह एवं असीम वर्षा हो रही है।

भगवान्‌का वर्ण कैसा है – इसका वर्णन नहीं हो सकता। जब भगवान्‌के श्रीविग्रहमे जड पदार्थका लेश नहीं है, तो प्राकृतिक रग-रूपका उनमे होना सर्वथा असंभव है। वैसे, शास्त्रोमें भगवान्‌का रूप नीलकान्तमणि, अतसीकुसुम तथा नवघन मेघके समान वर्णित है, परन्तु ये सभी उपमायें यथार्थमें तो पूरी हो ही नहीं सकती, अंशतः भी पूरी नहीं हैं।

मूलत श्रीकृष्णका वर्ण नील है, और उसमें श्यामताकी आभा घनीभूत है, भगवान् नारायणका वर्ण नील है, परन्तु उसमे नीलता घनीभूत है। भगवान् रामका वर्ण नील है, परन्तु उसमे घन हरित् आभा भरी है। उनका वर्ण मयूरकण्ठी है, परन्तु ये सभी बाते शास्त्रोंने साधकोंकी ध्यान-धारणाके लिये ही वर्णन की हैं, साधकके हृदयमें जब भगवान् प्रकट होते हैं, तभी वह भगवान्‌के असली स्वरूपको जान पाता है। उस समय वह भी इन्हीं शब्दावलियोंमें अपना अनुभव भले ही कहे, परन्तु वह ठीक समझ जाता है कि भगवान्‌के अंगोके वर्णको शब्द दिया ही नहीं जा सकता। भगवान्‌का वर्ण सत्याशमें अनन्त सौन्दर्यके सारका भी सार है।

भगवान्‌का वर्ण मात्र लगता है – नीलघन श्यामतेजयुक्त परन्तु इस नीलघन श्यामतेज सौन्दर्यके सारके सारमें निरन्तर स्वयभूत सुगन्धिका पवाह भी बहता रहता है। इस श्यामलतेजकी सुगन्धिके प्रवाहकी यदि कहीं किसीको जरा-सी भी झाँकी मिल जाय, तो चाहे वह बडे-से-बडा ब्रह्मज्ञानी, इन्द्रिय निग्रही मुनि हो, तुरन्त ही वह उसमे अभिभूत हुआ मुग्ध हो ही जायेगा।

प्रकृतिमें कुल वर्ण सात हैं। परन्तु भगवान्‌के अप्राकृत लोकमे अनन्तवर्ण

है। ये वर्ण परस्पर संयोगोसे नहीं बने हैं। ये स्वप्रकाश सभी पूर्ण स्वतंत्र तत्त्व हैं। भगवान्के विग्रहका वर्ण भी स्वय स्वप्रकाश, पूर्ण स्वतंत्र, अपने-आपमे अलौकिक है। यह न नीला है, न श्याम है, न हरित् है। क्योंकि नील, श्याम, हरित् आदि शब्दावली तो लौकिक वर्णोंको ही प्रकाशित करती है, भगवान्के चिन्मय अलौकिक वर्णको, ये लौकिक वर्णोंके अर्थको व्यजित करनेवाले शब्द स्पर्श भी नहीं कर पाते। यही कहा जा सकता है कि भगवान्का वर्ण भी स्वयं भगवान् है, अत वह भगवद्वर्ण है, वह न नील है, न श्याम एवं न ही हरित् । हाँ, वह भगवद्वर्ण अतीव सुन्दर है। इस सुन्दरातिसुन्दर वर्णमे अनेक अन्य और वर्ण भी मिलते रहते हैं। जैसे उदाहरणस्वरूप भगवान्के श्रीविग्रहमें तीन कोटि रोम हैं। इन प्रत्येक रोमका सबका अपना-अपना स्वयंका स्वतंत्र, सर्वनिरपेक्ष पृथक् वर्ण है। इन तीन करोड रोमोंके वर्णोंकी शोभा-धारा प्रवाहित होती, भगवान्के वर्णमे मिलती रहती है। इस प्रकार, अनन्त रोमोके अनन्त वर्णोंकी छबिसे भगवान्के विग्रहका वर्ण, न नील रह जाता है, न ही किसी निश्चित वर्णका। बस, कोई प्रत्यक्षदर्शी हो, तो यही कह सकता है कि भगवान्में अनन्त छबिकी झकोरें उठ रही हैं। उन्हें किसी इदमित्थं एक वर्णका कहा ही नहीं जा सकता।

भगवान्का सौन्दर्य प्राकृत सौन्दर्यके समान नहीं होनेसे नित्य नूतन छविवाला है। अत वे घनश्याम वर्ण होते हुए भी क्षण-क्षण नवनवायमान वर्णके प्रतीत होते हैं।

## भगवान्का मुख

अब विचार करे, भगवान्का मुख कैसा है ? किसी साधक भक्तने कहा - *'अतसी कुसुम तन, चंचल दीरघ नयन''।* अब अतसीकुसुमका वर्ण भगवान्के कमल मुखपर ठहर कहाँ पाता है ? भगवान्की अलकावलियोंको चाहे कितनी कसकर चूडामे बाँधी जावे, ये सभी अलके इतनी स्वच्छन्द एव चचल हैं कि ललाटपर, कपोलोपर मंडराना, ये अपना पूर्ण अधिकार समझती हैं। ये अपने परमातिपरम सुन्दर घन-कृष्णवर्णसहित ललाटपर, कपोलोपर मँडराये बिना रह ही नहीं सकतीं। ये इन सब अंगोपर विहरना अपना अधिकार समझती हैं। बस, इन घन-कृष्ण अलकावलिके वर्णसे भगवान्के अगोंका स्वाभाविकवर्ण तत्क्षण ही घुल-मिल जाता है। अब कोई जिज्ञासा करेगा कि इन अलकोंका कौनसा वर्ण है ? शास्त्र तो कहते हैं कि भगवान्की घन-कृष्ण कुन्तलराशि है। परन्तु, अरे भाई ! इन केशोमें वृन्दावनके असख्य रगोंके पुष्प-गुच्छ गुंथे रहते हैं वे अपने रगोंके सम्मिश्रणसे इन अलकोंको किस-किस वर्णकी आभाय दे देकर अनुरजित करते हैं, इन्हे पहचानना, समझना शास्त्रोंके वशकी बात कहाँ है ? यह तो

वृन्दावनके पुष्पोंकी बात रही, अब श्रीकृष्णके केश उनके सखाओंको धन-कृष्ण भले ही दिखे, सखियोंको तो वे कचनवर्णके दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें तो अपने प्राणप्यारेके केशोमे श्रीकिशोरीरानीका नित्य-वास समझमें जो आता है। अपना-अपना भाव है। जहाँ सखियोंको अपने प्राणप्यारे श्यामसुन्दर के केशोमें राधारानीके दर्शन होते है, वहीं सखाओंकी और ही विलक्षण दृष्टि है। सखा कहते हैं – "हमारे प्यारे सखाका एक रोम भी, उसका रोम नहीं है, वह स्वयं ही है। तत्त्वतः सखाओकी बात पूरी सागोपांग है। भगवान्‌का चाहे कोई अल्प-से-अल्प अग हो, वह मात्र एक लघु अंग नहीं है, स्वय अगीरूपमे भगवान् ही हैं। सखा कहते हैं कि हमारे श्रीकृष्णका एक रोम भी साक्षात् स्वय श्रीकृष्ण है। सखागण मैया द्वारा श्रीकृष्णकी कसकर गूँथी हुई चूडाको देखकर ऐसा ही अनुभव करते हैं, मानो मैया द्वारा दामोदरलीला सम्पन्न की गयी हो। श्रीकृष्णकी अलकावलि सखाओंको स्वय श्रीकृष्ण ही अनुभूत होती है। बस, वे सखा, वनमें ज्यो ही अपने कन्नू भैयाको निज अधिकार क्षेत्रमें पाते हैं, वे उन अलकावलियोंको मैया द्वारा प्रदत्त चूड़ा-बन्धनसे पूर्णतया उन्मुक्त कर देते हैं।

यह परम सुकोमल, मूर्तिमान् सुगन्धिसे सनी केशराशि अपनी अनन्त लावण्यमयी आभासे उन सखाओंके प्राणप्रतिम कन्नू भैयाके मुखमण्डलको कैसी दमकाती है – इसे मात्र देखनेवाला ही जान सकता है। वह शोभा देखकर देखनेवालेकी वाणी गूँगी हो जाती है। नेत्र अपलक स्थिर हो जाते हैं। मन, बुद्धि एवं अहता उस छबि-समुद्रकी उच्छलित लहरोंमें डूबकर आप्यायित निमग्न हो जाते हैं।

कोई कह सकता है कि यह केशराशि घन-कृष्णाभासे ही तो मुखमण्डलको दमकायेगी ? नहीं, नहीं, यह बात नहीं है। यह परम सुन्दर केशराशि वृन्दावनमे स्थित सभी पक्षियोंकी उत्पत्ति-भूमि है। भगवान् श्रीकृष्णकी केशराशिसे ही सारे नर-मयूर, नर-हस, नर-कपोत, नर-शुक, नर-तमचोर आदि असंख्य जातियों एव वर्णोंके पक्षीगण अभिव्यक्त होते हैं। वृदावनको नित्य निरन्तर मुखरित रखनेवाले असंख्य एवं अनन्त प्रकारके रंग-बिरंगे भृग भी इन्हीं अलकावलियों से उत्पन्न होते हैं। इसका प्रमाण यही है कि ज्योंही प्रियतम श्रीकृष्ण निद्राभावमें डूबते हैं, ये सभी पक्षीगण, भृंगादि, इन अलकावलियोंमें अपनेको लय कर लेते हैं। उस समय समग्र वृन्दावनमें इन पक्षियों एवं भृगोंका कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं ढूँढ पाता। और जैसे ही श्रीकृष्ण निद्राभाव त्यागते हैं, समग्र वृन्दावन इन पक्षियोंकी काकली एवं इन भृंगोंके गुन्जारसे मुखरित होने लगता है।

इसीलिए, यदि कोई ध्यानपूर्वक देखे, तो श्रीकृष्णकी एक-एक अलक कृष्णवर्ण नहीं, निरुपम वर्णोंसे युक्त है और पृथक्-पृथक् शोभाका प्रकाश कर

रही है। हाँ, सभीको मिलाकर यदि दूरसे देखा जायेगा, तो वे घन-कृष्णवर्णकी ही दीखेगी।

उदाहरणरूपमे इस तथ्यको सूर्यकी किरणोसे और अच्छी प्रकारसे समझ लें। सूर्यकी किरणे भिन्न-भिन्न सात वर्णोंवाली हैं। इन्द्रधनुषको देखनेसे ये सात वर्ण जलकी बूँदोंमें आकाशमें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाते हैं, परन्तु सर्वसाधारण-को सूर्यकी किरणें स्वच्छ, शुभ्र ही दीखती है। इसी प्रकार ये अलकें ध्यानसे देखनेपर ही अनेक वर्णोंसे युक्त दीखेंगी, वैसे कृष्ण-वर्णकी ही दिखाई पड़ेगी।

फिर ये अलकें भी, क्योंकि पूर्णरूपेण श्रीकृष्ण ही हैं, अत इनका वर्ण भी इदमित्थं नहीं है। ये प्रतिक्षण नव-नवायमान सौन्दर्यसे भरी होती है। भिन्न-भिन्न वर्णकी असंख्य अलकावलियाँ परमातिपरम शोभा प्रसार करतीं नितनूतन-वर्णमयी छबिकी प्रियतम श्रीकृष्णके मुखमण्डलपर ऐसी घनघोर वर्षा करती हैं, कि उस छबिको कोई भी कवि वाणी नहीं दे सकता। बस, उस सौन्दर्य-समुद्रके उच्छलनको, जो भी भाग्यवान् निरख पाता है, उसमें पूरा डूब ही जाता है। सार-संक्षेप यही कहा जा सकता है कि क्षणका मात्र करोड़वा हिस्सा ही एक अलकावलिके भागमें आता है। बस तभी, दूसरी अलक अपनी नव-नवायमान छबिसे प्रद्योतित हो उठती है और तब तीसरी, और तत्क्षण ही चौथी, फिर पॉचवी, छठी, सातवीं, सभी एक-से-एक अभिनव सुन्दर वर्णवाली अलकें अपनी शोभा वर्षा करती अघाती नहीं। अब, कैसे कहा जा सकता है कि श्रीकृष्णका मुखमण्डल मात्र नवघन श्यामवर्णका ही है ?

इन्हीं सबके मध्य भगवान्का मयूर-पिच्छ भी अपनी रंग-बिरंगी शोभाका प्रसार करता है। इस मयूर-पिच्छको भगवान्के मुखमण्डलको दमकानेका सौभाग्य मिले, इसके पूर्व ही भगवान्के इस मुकुटके स्वर्णाधारसे ऐसी विलक्षण छबि तरंगायित होती है कि उसके पीत सौन्दर्य-झकोरसे मुखमण्डल सुमेरु-शिखरके समान दमक उठता है। इस शोभाको द्रष्टाका मानस अनुभव करे, उसके पूर्व तो भगवान्के ललाटके ठीक मध्यमें सुशोभित तिलक अपनी निराली ही वर्ण-छबिका प्रकाश कर जाता है। यह तिलक गोरोचनका, कुकुमका, कस्तूरीका, अनेक वर्णवाला होता है। वास्तवमें तो यह भगवती श्रीराधाके चरणोंका प्रतीक है। इसमें राधारानीके चरणोंकी सारी शोभा निहित है। अत यह सर्व-शोभाधाम है। कभी लगता है, यह तिलक कस्तूरी-वर्णकी शोभा वर्षा कर रहा है, किन्तु पलक झपकते ही यह केसर-वर्णी हो उठता है, तीसरे ही क्षण यह कुमकुमी शोभाका विस्तार करने लगता है। द्रष्टा कुछ भी आस्वादनका रस ले पावे, इसके पहले ही इसकी कुमकुमी शोभा कभी कुन्दन-वर्णी हो उठती

है और कभी यह कर्पूराभायुक्त हो जाती है। कभी ऐसा लगता है कि रानीके साक्षात् चरणोकी आकृतिवाला यह तिलक सुन्दर-से-सुन्दर मुक्ताओंसे जटित है, कभी यह माणिक्य रत्नोंके सौन्दर्यका प्रकाश करता है। इस प्रकार अनन्त शोभाका निकेतन यह तिलक भगवान्‌को और ही छबिदान करता है।

अभी भगवान्‌के मुकुटमें जड़े रत्नोंकी तो पारी आयी ही नहीं। भगवान्‌के किसलयके समान कानोंमे विजडित कुण्डलोंकी कपोलोंपर दमकका उल्लेख तो किया ही नहीं। फिर, ललाटपर जो चन्दनकी खौर चर्चित है, उसकी असीम शोभाका बखान तो हुआ ही नहीं। अब बताओ ! इतने वर्णोंसे उद्भासित मुखमण्डलको कोई, कैसे नवघन श्यामवर्ण कहेगा ? जो उन्हें मात्र श्यामवर्ण कहेगा, वह तो मात्र तमकी ही बात करता है, क्योकि श्यामवर्ण तमस्‌का ही पर्याय है। परन्तु श्रीकृष्णविग्रह तो विशुद्ध सत्त्वकी मूर्त्ति है। अतः वहाँ तमस्‌के लेशका भी होना असंभव है।

भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोंमें जो श्वेतता है, वह तो विशुद्ध सत्त्वकी प्रतिनिधि है, उनमें जो लालिमा है, वह विशुद्ध रजकी द्योतक है, और उनमें निहित कालिमा वह तमोगुणकी प्रकाशक है। भगवान् सर्वगुण-निकेतन होनेसे, सम्पूर्ण गुणोको अपने नेत्रोमे सजाये रहते हैं। भगवान्‌के मुखमे जो दतपंक्ति है, वह विशुद्ध सत्त्वमयी एव स्वच्छ-शुभ्र है। भगवान्‌के अधरोंमें जो लालिमा है, उसमें त्रिजगन्माता योगमायाका नित्य निवास है। भगवान्‌के अधरोमे जो सर्वमोहिनी मुस्कान है, वह सर्व-वर्णमयी है। भगवान्‌की नाकमें जो सर्व-सौन्दर्यधाम बेसर है, वह प्रतिक्षण उनके अधरोको अनुरजित करती रहती है।

अब भगवान्‌के कम्बुकण्ठका हाल सुने। इस परम सुन्दर कण्ठको परम चिन्मयी वृन्दामहारानी (तुलसी) नित्य मनोहर हारके रूपमें आलिगित किये रहती हैं। अब बताओ, वह कण्ठ नीलघन, श्यामवर्ण कहाँ रह पाता है ? भगवान्‌की कण्ठगत घनश्यामताको तो भगवती तुलसीकी सर्वमनोहर हरीतिमा आच्छादित कर जाती है। अब तुलसी महारानीके साथ उनका लीला-धाम वृन्दावन, वनमालाके रूपमें भगवान्‌के कण्ठ-देशकी शोभा ही तो है। ये पुष्प मात्र गन्धवाही साधारण प्राकृत पुष्प ही नहीं है, ये समग्र उच्चतम भक्तिभावसे युक्त वृन्दावनवासी व्रजभक्तोंके विशुद्ध सात्त्विक मन हैं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनका नाम 'सुमन' अभिहित है। ये महाभावजनित प्रीति-समुद्रकी असंख्य लहरियाँ हैं। ये सुन्दरतम पुष्प बने व्रजभक्त, भगवान्‌को कण्ठसे लेकर कटि-पर्यन्त, अपितु कभी-कभी तो जघा-पर्यन्त सर्वांगोमें लम्बी वनमालामें गुँथे, अपने प्रेमालोकसे दिपदिपाते रहते हैं। ये अनन्त भावभरे हैं, अत अनन्त वर्णोंकी

विलक्षण स्वप्रकाश आभा छिटकाते हैं। इन प्रत्येककी आभा, एक दूसरेकी आभासे मिश्रित होकर, जो पावनतम सर्वोच्च भक्तिमय वर्ण-प्रकाश व्यक्त करती है कि इसे कोई क्या कहे ? इसके उपरान्त भगवान्‌के दिव्य मगलमय विग्रहमें जो आभूषण धृत हैं, उनमें कहीं नीलम, कहीं माणिक, कहीं वज्रमणि, कहीं मुक्ता, कहीं वैदूर्य, कहीं गोमेद, कहीं शुचितम गुंजाएँ लगी हैं। इन सभी चिन्मय रत्नोंका विलक्षण प्रकाश भगवान्‌के अंगोंको जगमगाता रहता है।

एक बात और बहुत ही भावमयी है। हमारी सभी इन्द्रियाँ अपनेसे बाहर के विश्वको तो प्रकाशित करती हैं, परन्तु हमारे अपने-आपेसे, स्वयसे पूर्णतया अनभिज्ञ, अनजान ही रहती हैं। उदाहरण-स्वरूप हमारी नेत्रेन्द्रियाँ हैं, वे बाहरके विश्वको तो देख लेंगी, परन्तु ये नेत्रेन्द्रियाँ न तो स्वयं अपने आपको देख पाती हैं, न इनको आश्रय देने वाली बुद्धिको, मनको, अहताको, हमारी आत्माको, परमात्माको देख सकती हैं, प्रकाशित कर सकती हैं। परन्तु भगवान्‌की नेत्रेन्द्रियाँ हमारी तरह अविद्या-दर्शनकुशल नहीं है। उनके तो आसपास ही छल, माया, अविद्या टिक नहीं सकती। अतः वे अन्तर्मुख हुईं सर्वत्र भगवान् ही भगवान्‌को देखती हैं। भगवान्‌के नेत्र लीलामय सम्पूर्ण विश्वको देखते हैं, परन्तु क्षणके करोड़वें- अरबवे हिस्सेमें भी कभी अपने-आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देख पाते। भगवान्‌के नेत्रोंके सम्मुख आते ही अविद्यामयी माया मात्र पलायन ही नहीं करती, भगवान्‌में विलीन हो जाती है, और बचे रहते हैं, एकमात्र स्वयं भगवान्। चाहे वात्सल्यरसके मूर्तिमान् विग्रह भक्तराज नन्दबाबा एवं मैया यशोदा हों, अथवा रोहिणी मैया, बलदाऊ भैया; चाहे सख्य रस विग्रह मधुमगल, श्रीदाम, सुदामादि सखागण हों, सभीमें भगवान्‌के नेत्र स्वयं अपने-आपको ही देखते हैं। भगवान् तो पूतना, तृणावर्त्त, व्योमासुर, कागासुर, अघासुर, बकासुरादि असुरोंमें भी अपने-आपको ही देखते हैं। इसीलिये भगवान् कभी भयग्रस्त नहीं होते।

भय तो सदा द्वितीय, 'पर' को देखनेसे ही होता है। अपने-आपसे कभी कोई भयभीत नहीं हो सकता। श्रुति कहती है- ***'द्वितीयाद्वै भयं भवति'***। जब सब रूपोंमें भगवान्‌के नेत्र अपने-आपको ही देखते हैं, तो वे कभी, किसी क्षण भयभीत हो ही नहीं सकते ।

इसी प्रकार, भगवान् कभी काम-ग्रस्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि दोकी सत्ता होनेपर ही कामोदय होता है। दोकी सत्तासे ही मोह, विषाद, मद एवं सम्मान पानेकी इच्छा होती है। भगवान्‌की इन्द्रियाँ परानुसंधान कर ही नहीं सकतीं।

भगवान्‌की सभी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हैं। भगवान्‌के नेत्र सर्वत्र, जैसे

अपने-आपको ही देखते हैं, उसी प्रकार, कान सर्वत्र किसी दूसरेका नहीं, अपना ही चिन्मय नाद सुनते हैं। भगवान् अपने आपको ही सर्वत्र पाकर अपने ही लीलानन्दमें मस्त रहते हैं। भगवान्‌से इसीलिए कोई कर्म नही होता। कर्म नहीं होनेसे उनको कर्मबन्धन भी नहीं होता। श्रुति कहती है :—

***'परात् कामोऽभिजायते, परात् क्रोधो, लोभो मोहोऽभिजायते, पराद्वैभयं भवति।'***

जहाँ अपनेसे भिन्न कुछ हो, तब न राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, चिन्ता, अभाव एवं अज्ञान हो। जहाँ मात्र आत्म-विलास ही आत्मविलास है, वहाँ कहाँ अज्ञानजन्य संसार है।

भगवान्‌के वर्णके सम्बन्धमें भी ऐसी ही बात समझनेकी है। सूर्य, चन्द्र एवं अग्निका प्रकाश बाहर फैलता है। सूर्यका वर्ण-प्रकाश सूर्यसे बाहरकी सत्ताको प्रकाशित करता है, परन्तु वह सूर्य स्वयं कैसा है, इसे नहीं बताता। भगवान्‌का वर्ण बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी है। वह स्वयं भगवान् है। भगवान् एव भगवान्‌का वर्ण — दो भिन्न, पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। इसी प्रकार भगवान्‌के आभूषणोंकी भी भगवान्‌से इतर कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वे भगवान्‌से अपृथक् अविभाज्य हैं। यही स्थिति भगवान्‌के आभूषणोंमें विजड़ित रत्नोंकी है। ये सभी मणियाँ बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होनेसे इनका वर्ण-प्रकाश भगवान्‌के विग्रहके वर्णमें एक होता रहता है। इसीप्रकार भगवान्‌का पीताम्बर भी है। भगवान्‌के पीताम्बरका चिन्मय पीतवर्ण भगवान्‌को सर्वत्र, सबओरसे आवृत कर लेता है और तब भगवद्वर्णसे एकात्म हुआ, एक साथ मिलकर भगवान्‌की समग्र शोभाका ही भाग हो जाता है।

इसे, इस प्राकृत उपमासे समझनेकी चेष्टा करें। हम सभी देखते हैं कि ज्योत्स्नामयी रात्रिमें कभी-कभी चन्द्रमाके चारों ओर एक मण्डल बनता है। यह मण्डल एक वर्णका नहीं होता। विविध रंगके चन्द्रमाके अनेक घेरे बनते हैं। ये नीले-पीले, लाल, हरे, बीसों घेरे होते हैं। ये रंग आपसमें मिले भी रहते हैं और अमिले भी। परन्तु चन्द्रमापर छिटके इन अनेक वर्णोंके मण्डलोंसे भी भगवान्‌का वर्ण-सौन्दर्य सही-सही नहीं आँका जा सकता, कारण चन्द्रमाकी किरणें बहिर्मुख होकर चन्द्रमाके बाहर मण्डल बनाती हैं और भगवान्‌के आभूषण भगवान्‌के वर्णको ही विचित्र वर्णोंसे रंजित करते हैं। वे बहिर्मुख नहीं, अन्तर्मुखी होते हैं। भगवान्‌का वर्ण-सौन्दर्य तो जब भगवान्‌के दर्शन होते हैं, तभी अनुभव होता है। परन्तु यह अनुभव भी मात्र क्षण-भर ही होता है। दूसरे क्षण, दूसरी छबि-तरंग उठती है और पूर्वछबिको अपने सम्मुख पूर्ण हतप्रभ, फीकी कर देती है। इसके पश्चात् पलक झपकते ही तीसरी छवि-तरंग उठ आती है और तब चौथी,

पाँचवी, छठी, सातवीं, आठवीं, सभी एक, दूसरेसे परस्पर असमोर्ध्व-सुन्दर तरंगे उठती रहती हैं। इस तरह अनन्त नवनूतन सुन्दर तरंगोमे भगवान्‌का नयन-मनहारी वर्ण-समुद्र लहराता रहता है।

भगवान्‌के दिव्य विग्रहके आभूषण, उनके रत्नादि, कोई भी पार्थिव नहीं हैं। हमलोग इनकी सतुलना पार्थिव रत्नोंसे कर लेते हैं, यह हमारी पूरी भूल है वहाँ सभी वस्तुएँ जीवन्त पूर्ण-भगवान् हैं। वे परम रसमय, चेतन, और चिन्मय हैं।

भगवान्‌के वर्णका आस्वादन भी हो सकता है – कोई प्राकृत जगत्‌का प्राणी इसे सुनकर हँसेगा। परन्तु, है यह बात सर्वथा सत्य। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने 'मधुराष्टक' नामक एक स्तोत्र बनाया है। जिसमें भगवान्‌को ***'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'*** कहा है। मधुरता तो जिह्वाका रस है। रूप जहॉ नयनोंद्वारा दर्शनीय होता है, मधुरता सदा जिह्वाद्वारा आस्वादनीय है भगवान्‌के सभी वर्णोंको सुधाका अनन्त समुद्र कहा है। भगवान्‌की वर्ण-[illegible]में अनन्त सुकोमलता भी है। इसका अर्थ यह है कि भगवान्‌के विग्रहको कोई जैसे स्पर्श करता है, वैसे ही उसे भगवान्‌के वर्णका भी स्पर्श-सुख मिल सकता है। भगवान्‌के वर्णमें अनन्त सुगन्धि है। यहाँ भगवान्‌के अग-गन्धकी बात सर्वथा नहीं हो रही। कोई यह भूलकर भी नहीं समझे कि भगवान्‌के चिन्मय विग्रह एव अंगोंकी सुगन्धको ही वर्णकी गन्ध कहा जा रहा है। भगवान्‌के वर्णोंकी गंध अंग-गन्धसे सर्वथा पृथक्, विलक्षण एवं भिन्न है। भगवान्‌की अंग-गध जहाँ घनीभूत है, तीव्र है, वहॉ भगवान्‌के वर्णमें अति भीनी, परम मन्द, परन्तु बहुत ही विलक्षण गध भरी है। जैसे चन्द्रमाकी चॉदनीका शीतल सस्पर्श अनुभव होता है, उसी प्रकार भगवान्‌के वर्णोंका भी संस्पर्श होता है।

भगवान्‌के वर्णकी सुकोमलताकी हम कल्पना ही नहीं कर सकते। हमने मात्र मासल कोमलता ही देखी है। सूर्यकी किरणोंकी तीक्ष्णता और चन्द्रमाकी किरणोंकी शीतलता हमारी त्वचाकी ही संवेदनाएँ हैं। भगवान्‌के वर्णकी सुकोमलता तो हमें पूर्ण रूपसे तभी अनुभवमें आवेगी, जब उसका सवेदन हमको साक्षात् होगा।

भगवान्‌के चरणोंकी लालिमा एव उनका वर्ण इतना सुकोमल है कि वैकुण्ठलोककी अप्राकृत धरा उसे अपनेसे संस्पर्श कराती, सकुचाती है। भगवान् वैकुण्ठलोकमें सदा धरतीसे चार अंगुल ऊपर ही उठे रहते हैं। फिर इस कठोर मर्त्यलोककी पृथ्वीपर उनके पैर पड़नेका तो प्रश्न ही नहीं। कोई कहेगा कि भागवतशास्त्रमें तो इस व्रजभूमिमें भगवान्‌के गोचारण करने जाते समय नंगे पैरों पृथ्वीपर चलनेका स्पष्ट वर्णन है ? श्रीअक्रूरजीने वन-वीथियोंमें भगवान्‌के चरण-चिह्न देखकर उनका पूजन भी किया है ?

इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌के अवतरणके तीन पीढी पूर्वसे ही चिन्मय-लोकका अवतरण इस पृथ्वीपर हो जाता है, अतः भगवान्‌के चरण उनके चिन्मय-लोककी चिन्मय भूमिपर ही पडते हैं, इस मृत्युलोककी कठोर, कर्कश भूमिपर नहीं। श्रीअक्रूरजीको मथुरासे आनेपर चिन्मय व्रजमें ही भगवान्‌के चरण-चिह्नोंके दर्शन हुए थे।

जब भगवान् गोचारण करने व्रजमें जाते थे, तो भगवान्‌के सुकोमल चरणोंको पृथ्वीदेवी अपने हृदयमें रखनेके उल्लाससे भरी भाव-सुमन सर्वत्र प्रस्फुटित कर देती थी, और उन भाव-सुमनोंपर ही भगवान्‌के चरण गिरते थे। गोपियाँ कहती हैं कि आपके चरण हमारे सुकोलतम अग – कुचोंपर भी रखतीं हम सकुचाती हैं, क्योकि हमारे कुचोंकी कठोर कर्णिका कहीं उन्हें क्षति न पहुँचा दे। जब गोपियाँ ही भगवान्‌के चरणोंको अपने हृदयमें रखती सकुचाती हैं, तो भला, यह जड पृथ्वी उन्हें कैसे अपने ऊपर रखेगी ? भगवान्‌के चरण तो पृथ्वीकी भाव-भूमिपर भाव-अकुरोको ही संस्पर्श करते चलते हैं।

भगवान्‌के साथ भगवान्‌का विलक्षण गन्ध-वलय भी चलता है। इसमें सम्मिलित हुईं भगवान्‌की अग-गंध, अंग-वर्णकी गध, भगवान्‌के तेजकी गध, भगवान्‌के अगोंमे चर्चित केसर, कस्तूरी, चन्दन एवं तुलसीकी दिव्य चिन्मय गंध, आभूषणोंसे निस्सृत गंध, वस्त्रोकी सुवास-गंध, आभूषणोंमें विजडित रत्नोंकी गंध, पुष्प-हारोंकी गंध, उनपर चतुर्दिक् मँडराते व्रजके भ्रमरोंकी गंध, वृन्दावनकी भूमिगंध, लता-पतादिकी सुगन्ध – सभी गंधराशियाँ मिलकर भगवान्‌के आगे-पीछे, सर्व ओर एक ऐसा गंध-वलय, तेज-वलय, शब्द-वलय, वायु-वलय एवं भाव-वलय निर्मित करती हैं, जिसे मात्र अनुभवी ही अनुभव कर सकता है।

बस, यही कहा जा सकता है कि भगवान् 'भगवान्' ही हैं। उनका सब कुछ अनुपम, अतुलनीय, अवर्णनीय है।

अन्तमे मुझे तो यही कहना है कि भैया ! हम सभी प्राणप्रणसे नाम-जपमें लग जायें। भगवत्कृपासे तभी हम उस भगवल्लोकमें पहुँच पावेंगे, जहाँ भगवान्‌की अलौकिक महिमा एवं शोभाके हमें दर्शन हो सकेंगे।

***"सकल अंग हरिविमुख, नाथ, तव नामकी ओट लयी है।***
***है तुलसी परतीति एक, प्रभु मूरत कृपामयी है।"***

हम भगवन्नामकी रज्जु पकडकर ही प्रभु-कृपाके अधिकारी हो सकते हैं। अतः नाम-जपका कभी त्याग नहीं करें, इतनी ही कृपा करें।

आपका
**चक्रधर**

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - पॉंच (५)

# श्रीरूप-सनातनके त्यागमय जीवनका अनुकरण

*पत्र-लेखक :*

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

श्रीतारादत्तजी मिश्र

(पूज्य स्वामीजीके अग्रज भ्राता)

ग्राम - फखरपुर (गया) बिहार

*लेखन स्थल :*
श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास
फर्मकी कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)

दिनांक :
२६ अप्रैल १९३८

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी कापीसे

## आलोक

*प. पू. स्वामी चक्रधरजी महाराजने जब सन्यास लिया था, तो ज्ञानमार्गी वेदान्ती होनेसे उस समय उन्होंने भगवान् आदिशंकरस्वामीकी रहनीको अपना अनुकरणीय आदर्श माना था। किन्तु तत्पश्चात् अकस्मात् ही उन्हें भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका दो-तीन माहका संग मिला और उस संगके चमत्कारपूर्ण प्रभावसे वे श्रीराधाकृष्ण युगल सरकारकी रसमयी भक्तिसे ओतप्रोत हो उठे। उनकी रहनीका आदर्श भी उनकी साधनानुसार परिवर्तित हो गया और उन्होंने वैष्णवादर्श श्रीरूप-सनातन गोस्वामी-बन्धुओंकी रहनीको अपना लक्ष्य निहितकर यावज्जीवन 'करतल भिक्षा तरुतल वास' का संकल्प कर लिया। क्योंकि उन्होंने इस संकल्पके पूर्व ही सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको उनके विचारोंकी गीताकी टीकाके लेखनकार्यमें सहयोग देनेका वचन दे दिया था, अतएव उस वचनको निभानेकेलिये वे उनके संग ढाई-तीन वर्ष अवश्य रहे; परन्तु ज्योंही यह कार्य सम्पन्न हुआ, वे वृन्दावन जाकर इसी आदर्श रहनीसे जीवन व्यतीत करनेका व्रत लेनेको समुत्सुक हो उठे।*

*यह सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें पुनः दर्शन देकर ऐसा करनेसे*

*मना कर दिया और वे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको ही सचल वृन्दावन मानकर उनके संग ही यावज्जीवन छायावत् रहे; किन्तु उनकी स्वयंकी निजी हृदयकी लालसा तो इन वैष्णवादर्श गोस्वामी-बन्धुओंकी रहनी-वरण करनेकी ही थी। अपने अग्रज भ्राताको लिखा उनका यह पत्र उनकी इसी आन्तरिक लालसाको ही अभिव्यक्ति दे रहा है।*

**श्रीराधाकृष्णौ वन्दे**

पू. तारादत्त भैया

सादर सप्रेम प्रणाम । नीचेकी पंक्तियोमे श्रीरूप एवं सनातन गोस्वामी प्रभृति दोनो भाइयोकी जीवन-शैलीका एक आभास भर दे रहा हूँ –

वे वृक्षोकी तरह बिना किसी आवास (झोपडी एवं मकान) के, खुले आकाशके नीचे रहा करते थे। तेज धूपमे, घनी वर्षामें यदि कहीं छाया भी ग्रहण करते, तो मात्र एक दिवस-रातभरके लिये किसी एक वृक्षकी। दूसरे दिवस, सूर्योदय होते ही, वे उस वृक्षकी छाया छोड देते थे। यदि आवश्यक होता, दूसरे दिन दूसरे वृक्षको ही अपना आश्रय बनाते थे। ब्राह्मणोंके सात घरोसे टूक-टूक (रोटीका अल्प टुकडा) भिक्षारूपमे माँग लाना ही उनके पेट भरनेका साधन था। यदि किसी ग्राममे ब्राह्मणोके घर नहीं होते, तो वे सर्वसाधारणके गृहोंसे मधुकरीवृत्तिसे टूक माँग लाते थे। उनके पास सूखी तूम्बी ही जल-पात्र होती थी और ग्राममे इतस्तत फेके फटे वस्त्र (चिथड़े) ही उनका शरीर ढकनेके साधन थे ऐसे अल्पतम साधनोसे जीवन-निर्वाह करते हुए भी वे परम सतुष्ट रहते थे और भगवान् श्रीकृष्णका नाम-सकीर्तन करते हुए सदा आनन्दमें मस्त, नृत्य करते हुए चलते थे। वे दिवस-रात, आठों प्रहर भजन करते रहते थे और चार घडी अर्थात् एक घटा और छत्तीस मिनट मात्र, निद्रा लेते थे। यह शयन भी जब भजनमें कोई विक्षेप हो जाता, तो नहीं हो पाता था। वे नाम-जप करते-करते ही ग्रन्थ भी लिखते और चैतन्य-चरित्र सुना करते। उनका चैतन्य महाप्रभुके चरणोंका ध्यान भी नाम-जप करते हुए ही होता था। ऐसी आदर्श रहनीसे श्रीरूप-सनातन गोस्वामी दोनों भाइयोंने जीवन यापन किया था।

अवश्य ही तारा भैया! हम दोनों भाई इन परमादर्श महात्यागी भगवद्भक्तोंके समान अपनी रहनी नहीं बना सके हैं। फिर भी, इन महात्माओंका आदर्श सम्मुख रखकर हमें इनका अनुकरण करनेकी चेष्टा तो करनी ही चाहिये। अहा! कब वह सुभग अवसर आवेगा, जब वृन्दावनकी गलियोंमें इन भगवद्भक्तोंकी चरणरेणुके परमाणु हम दोनोंको पवित्र करेंगे। यदि हमारा ऐसा सौभाग्य भगवत्कृपासे हो जाय और हम दोनों ही उनका जीवनादर्श लेकर वृन्दावन चल

पडे, तो भगवान्‌के परम चिन्मय, अप्राकृत, नित्य-लीलाधाममें क्रीडा-केलिमें सम्मिलित हुए, ये परम भागवत दोनों भाई (श्रीरूप-सनातन) हम लोगोंपर अवश्यमेव कृपावर्षा करेंगे। भैया ! कोई परम अधम प्राणी भी यदि पात्र हो जाता है, तो ऐसे परम निर्मल महात्माजनोंको अपनी दिव्य शक्तिका सचार करके उनके ऊपर कृपावर्षा करनी ही पड़ती है।

आपने अपने पत्रमें लिखा है – "तुम मेरे इस मोहके बन्धनको शुद्ध प्रेमके बन्धनमें पलट दो, ताकि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे, तुम्हारे ही साथ श्रीरूप-सनातनकी तरह, प्रभुके सम्मुख हाथ जोड़नेका अधिकारी हो जाऊँ ।"

भैया ! दयामय प्रभुकी लीला अपरम्पार है। श्रीरूप-सनातन तो आपाततः विषयोंमें लिप्त थे। इनके पास योग्यता, विद्वत्ता, यौवन, नीति, बुद्धि, धन, मान, प्रतिष्ठा और राज्यशक्ति – सभी थीं। ये बगालके नवाबके प्रधानमंत्री थे, किन्तु दयामयको उनपर दया आयी। उन्हें भगवत्प्रेमावतार महाप्रभु चैतन्यदेवके दर्शन हो गये। बस, महाप्रभु चैतन्यदेवकी चरणधूलिकी कृपाका यह चमत्कार हुआ कि घोर विषयोंमें लिप्त राज्यमद-जैसे घोर रजोगुणी अभिमानमें भरे, दोनों भाई अति उच्चतम कोटिके भगवद्भक्त हो गये।

ये मायासे कितने विरक्त थे, इसका एक छोटा-सा उदाहरण दे रहा हूँ। एक बार ये शौच-स्नानके लिये यमुनाजीके किनारे गये थे। वहाँ यमुनाजीकी रेतीमें एक पत्थरसे इनकी खडाऊ (पैरोंमें पहननेकी काष्ट-निर्मित पादुका) टकरा गयी। इस खडाऊमें अँगूठेके द्वारा पकडनेके लिये बनायी खूँटीको स्थिर करनेके लिये उसके निम्न तलेपर एक लोहेकी कील लगी थी। उस ठोकरके पश्चात् श्रीसनातनदेवने देखा, वह कील पूरी स्वर्णमें परिवर्तित हो गयी है। ये समझ गये कि माया उन्हे भजनसे निवृत्त करनेका चक्र चला रही है। इसी मायाने उनकी राहमें देवरत्न पारस पत्थरको प्रकट किया है। इन्होंने उसी समय उस पत्थरको, रेतका एक टीला बना करके दबा दिया और खडाऊसे उस स्वर्णकी कीलको निकालकर उसे यमुनाजीमें फेंक दी। उसके स्थानपर दूसरी लोहेकी कील खड़ाऊमें ठोक दी। उस दिन स्वर्णको स्पर्श करनेके कारण श्रीसनातनदेवको उपवास करना पड़ा ।

इधर मायाने फिर नवीन घटना चक्र चलाया। बंगालके किसी शिवभक्तने बारह वर्षतक शिवाराधनकर भगवान्‌को प्रसन्न किया और उनसे पारस पत्थर प्राप्त करनेकी इच्छा व्यक्त की। भगवान् शिवजी तो कृपावतार, औढरदानी हैं; उन्होंने उस भक्तपर पूर्ण कृपाकर भक्तिदान करनेका विधान कर दिया। उन्होंने उससे कहा – "भाई ! पारस पत्थर चाहते हो, तो यहाँसे वृन्दावन चले जाओ

और वहाँ एक परम त्यागी भगवद्भक्त श्रीसनातन गोस्वामी रहते हैं, वे तुम्हें पारस पत्थर दे देंगे।" यह शिवभक्त बगालसे पैदल यात्रा करता हुआ वृन्दावन पहुँचा। वहाँ खोजता हुआ श्रीसनातन गोस्वामीकी कुटीपर पहुँचा।

उनके चरणोंमें साष्टांग दण्डवत्कर इसने उनको भगवान् शकरजीका आदेश सुनाया। श्रीसनातन गोस्वामी तो अपने भजनमें लगे थे। उन्होंने उसकी बात सुनकर कहा – "भैया ! मुझे तो अभी मेरे भजनकी पूर्त्ति करनी है, अत मैं तो चल नहीं सकता। तू यमुना किनारे सीधी पगडडीसे चला जा। वहाँ तुझे मेरी शौच-क्रिया करनेके स्थानपर एक जगह ऊँचा टीला-सा मिलेगा। उसकी मिट्टी हटा लेना, वहाँ तुझे पारस पत्थर मिल जायेगा। वह शिवभक्त पारस-जैसी अनमोल, अलभ्य मणिकी ऐसी उपेक्षा देखकर चकित हो गया। वह शीघ्रतापूर्वक सीधी पगडडीपर चला गया और जहाँ श्रीसनातन गोस्वामी शौच-क्रिया करते थे, उसीके पास उसे वह रेतका ऊँचा बनाया स्तूप भी दिख गया। जरा-सी रेत हटाते ही उसे पारस भी प्राप्त हो गया और परीक्षाके तौरपर पारस-मणिका लोहेको स्वर्णमें परिवर्तित कर देनेका प्रभाव भी उस शिवभक्तने वहीं आजमाइश कर लिया। वह पारस लेकर अति हर्षित हुआ, परन्तु सच्चे सन्तके दर्शनसे उसपर भगवत्कृपा भी क्रियाशील हो उठी, उसके मनमे एक विलक्षण जिज्ञासा उदय हो गयी। उसने सोचा कि मैंने पारसको प्राप्त करनेके लिये बारह वर्ष घोर तपस्या की, उसके पश्चात् मैं भगवान् शिवका वरदान लेकर पैदल चलता यहाँ वृन्दावनमे पहुँचा। परमाश्चर्य, ऐसे अलभ्य रत्नको यहाँ इस महापुरुषने शौच-क्रिया करनेके अपवित्र स्थानपर मिट्टीसे दबाकर सर्वथा उपेक्षित डाल रखा था। इतनी बडी निधिसे इतनी विरक्तिका अर्थ ही है कि इस महात्माके पास इससे अधिक मूल्यवान् कोई निधि अवश्य है। जब मैं इतने प्रयाससे ऐसे महात्माके समीप पहुच ही गया जो पारससे भी अनमोल महानिधिका स्वामी है, तो इन महात्मासे वही निधि क्यों न प्राप्त करूँ ? इस तुच्छ पारससे क्यों संतोष करूँ ? यह सोचकर वह पुनः श्रीसनातन गोस्वामीके चरणोंमें गिर गया। भगवद्भक्त-संत तो परम दयालु होते ही हैं, उन्होंने उस भक्तको अपने चरणोंमे गिरा देखकर कहा – "भाई ! तुझे पारस मिल गया, अब क्यों मुझे तंग करता है ? अपने ग्राम जा और पारससे मनोवाछित धन प्राप्त कर ले।" उस शिवभक्तने सन्तजीके चरण जोरसे पकडकर कहा – "महाराज ! औढरदानी भगवान् शंकरने आपसे मेरा परिचय कराया है। अवश्यमेव आपके पास इस पारसको भी हेय, तुच्छातिच्छ कर देने वाली कोई महामूल्यवान् निधि है। प्रभो ! अब मुझ शरणागतको यह तुच्छ पारस देकर उस महानिधिसे क्यो वंचित

कर दे रहे हैं ? इसे तो आपने इतना तुच्छ समझ रखा है कि शौच करनेके गदे स्थानपर पटक दिया है ? प्रभो ! अब तो आपके पास जो पारससे भी परम अनमोल निधि है, वही मुझे दयाकर दान करें, जिससे मैं वास्तविक कृतकृत्यता प्राप्त कर सकूँ।

श्रीसनातनदेवजी समझ गये कि इस साधुपर भगवत्कृपा है। उन्होंने उससे परीक्षाके भावसे पूछा – "क्या इस पारसको तू यमुनामें फेंक सकता है ?" उसने उस पारसको तुरन्त ही यमुनाजीमें फेक दिया। श्रीसनातन गोस्वामीने कहा – "सचमुच ही मेरे पास इस पारससे अनन्त-गुनी अधिक मूल्यवान् यह भगवन्नाम-मणि है। इसे तू ग्रहण कर ले, तू निश्चय ही कृतकृत्य हो जायेगा।"

श्रीसनातन गोस्वामीने उसे अपने जपकी माला दी और भगवान्नाममें लगा दिया। सो, भैया ! आप जानते हो, दयामय प्रभुकी लीला अपरम्पार है। मैं तो स्वयं भवसागरमे बह रहा था। पता नहीं, बहते-बहते कहाँ जाकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता, किन्तु दयामय प्रभुको मुझपर दया आ गयी। उन्होने पासा पलट दिया। मैं उनकी ओर बहने लगा।

भैया ! भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे सन्तसे मैं तो मिलना ही नहीं चाहता था, परन्तु दयामय प्रभुने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि जिससे बाध्य होकर मुझे उनकी ओर जाना ही पड़ा। मैं मूढ, अपनी शास्त्रीय मान्यताओके झूठे आग्रहसे भरा विद्या-मदमें इतरा रहा था, परन्तु प्रभु-कृपाने बलात्कारसे महान् भगवद्भक्त, सिद्ध प्रेमानुरागी सन्तकी गोदमे मुझे खींचकर पटक दिया।

भाई ! इसीसे मिलती-जुलती घटना आपके साथ भी हुई ही है। आप तो भगवान्‌की भक्ति एव ज्ञानकी बातोको गीताकी मात्र किताबी बातें ही बताया करते थे। आप इन सब बातोंको व्यवहारसे परे ही समझते थे। आपका मनुष्य-जन्मका अनमोल समय पल-पल व्यर्थ ही बीत रहा था और आप पागलोकी दीवाली मनानेमें पूरे जुटे थे। परन्तु आप पर भी करुणा-वरुणालयको दया आयी। उन्होंने हठात् आपके जीवनमें परिवर्तन कर दिया। देखते-ही-देखते आप नरकमय जीवनका परित्यागकर बाहर निकलने लग गये और आज प्रभुसे मिलनेकी उत्कण्ठा आपमें बढती जा रही है।

भैया ! मैं आपसे क्या कहूँ – अब तो आपको कलकत्तेमें श्रीजयदयाल गोयन्दकाजी जैसे श्रेष्ठ ज्ञानीसन्तकी आत्मीयता भी प्राप्त हो गयी है और भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी भी आत्मीयता, उनका दर्शन-स्पर्श भी आपको प्राप्त हो चुका है। मुझे तो श्रीविभीषणजीकी, श्रीहनुमानजीके दर्शन करनेके पश्चात् कही उक्ति याद आ रही है –

*अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ।।*

अतः, जब हम दोनों भाइयोंको ऐसे महासिद्ध भगवद्भक्त प्राप्त हो चुके हैं, तो हमपर भगवान्‌की कृपा भी निश्चय ही अविलम्ब अवतरित होगी।

भैया ! यदि इसमे कुछ भी विलम्ब हो रहा है, तो मात्र इसीलिये कि हमें भगवान्‌के बिना रहना सह्य हो रहा है। मुनिराज वसिष्ठजीकी उक्ति, भैया प्रतिदिन हम दोहरायें :-

*प्रान प्रानके जीवके जिव सुखके सुख राम ।*
*तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहिं, तिन्हहिं विधि बाम ।।*
*सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ । जहँ न राम पद पंकज भाऊ ।।*
*जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू । जहँ नहिं राम प्रेम परधानू ।।*
*तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम तेहीं । तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केहीं ।।*

अहा ! कब हमारा ऐसा सौभाग्य होगा कि हमें भगवान् प्राणों-के-प्राणकी तरह प्यारे लगने लगेगे। वे हमारे जीव-के-जीव, सुख-के-सुख होंगे । भगवान्‌के बिना हम भोजन खा रहे हैं, उसका स्वाद-सुख ले रहे हैं, हम जल पी रहे हैं, हमे श्वास लेना सुखदायी लग रहा है, हम घर-द्वार, सुख-सम्पत्ति, मान-सम्मान, स्त्री-पुत्रके सभी भोग भोग रहे हैं, निश्चय ही हमारे ऊपर विधाता अनुग्रहशील नहीं है। अन्यथा हमें भगवान्‌के विरहमें कुछ भी प्रिय लगना नहीं चाहिये था। जबतक हमारे हृदयमें भगवान्‌के चरण-कमल विराजित नहीं हों, हमे इतर धरम-करम, सुख-आनन्द अग्निके समान जलानेवाला लगना चाहिये था। श्रीवसिष्ठजी महाराज कहते हैं कि यदि ऊँची-से-ऊँची योग-समाधि भी भगवान्‌के प्रेमसे छलकती रसमयी नहीं है, तो वह समाधि योग नहीं, कुयोग ही है। योगको योग तभी कहना चाहिये, जब वह भगवान्‌के परम शंतम चरणोंसे हमें सयुक्त कर दे। यदि भगवान्‌के दर्शन-मिलनेसे हीन कोई ज्ञानोपलब्धि है, तो निश्चय ही वह घोर अज्ञान ही है।

अतः हम और कुछ भी नहीं कर सकें, तो जीभसे निरन्तर भगवान्‌का नामोच्चारण तो करते ही रहें। हम नामको साक्षात् भगवान् समझें और अपना सर्वस्व लुटाकर भी भगवान्‌के नामको कभी नहीं बिसरावें। हम भगवान्‌का नाम लेकर ही अपनेको परम सुखी मानें और नामके बिना अपने को महादुखी, हीन एवं कगाल ही समझें ।

बस ! हमारी यही बुद्धि हो जाय, तो नाम-भगवान् हमारा शेष सभी कार्य सम्पादित कर देंगे। सभीको मेरा सादर सप्रेम यथायोग्य ।

**आपका भाई - चक्रधर**

।। श्रीराधा।।

पत्र-संख्या - छः (६)

# श्रीधाम-वृन्दावनकी एक चमत्कारिक घटना

*पत्र-लेखक :*

## परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

भविष्यमें - परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्र**

वरिष्ठ संस्कृत अध्यापक, श्रीमाहेश्वरी विद्यालय, बडा बाजार, कलकत्ता

*प्रेषण-स्थल :*
गीता वाटिका, गोरखपुर (उ.प्र.)
*दिनांक :*
२० सितम्बर, १९३८

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपिकर
उतारी गयी कॉपीसे

## आलोक

*गोरखपुर रेलवे-स्टेशनसे तीन किलोमीटरकी दूरीपर लगभग छः-सात एकड़ भूमिमें फैला एक लघु वनस्थल, जिसे 'गीता वाटिका'के नामसे जाना जाता है। उन दिनों उस सम्पूर्णक्षेत्रमें विद्युत्का प्रकाश नहीं पहुँचा था। मात्र लालटेनके प्रकाशमें ही काम चलाया जाता था। चारों ओर आम्र, अमरूद, लीची, कदली आदिके वृक्षोंसे घिरी एक सुन्दर, सुव्यवस्थित वाटिका, मध्यमें कोठी, जिसमें गृहस्थ-आवास एवं 'कल्याण' तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के सम्पादन-विभागका कार्यालय भी है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इसीमें सपरिवार रहते हैं। इस कोठीके पीछे वनक्षेत्रमें अनेक कुटियाएँ बनी हैं, जिनमें सम्पादन विभागके अन्य लोग एवं साधकगण रहते हैं। चतुर्दिक्, सुन्दर वृक्ष, लताएँ, पुष्प, कोकिलादिका गायन – सब मिलाकर सर्वत्र पूर्ण सात्त्विक वातावरण है। इसी वाटिकामें पीछे वनक्षेत्रमें पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज भी एक कुटीमें ठहरे हैं। गीता-तत्त्वविवेचनी (सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके भावोंकी गीताकी टीका) का लेखन-कार्य चल रहा है, इसी हेतु से श्रीसेठजीके साथ स्वामीजीका गोरखपुर आगमन हुआ है।*

## श्री राधाकृष्णौ वन्दे

प्रिय देवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। जैसा आपने पूर्वपत्रमें सच्चे हृदयसे आशीर्वाद दिया है, उसी प्रकार सदा आशीर्वाद देते रहें, जिससे जीवन भगवान्‌के चरणोंमे सर्वथा समर्पित हो जाय। गुरुजनोका सच्चे हृदयसे प्राप्त आशीर्वाद सचमुच ही जीवनकी प्रगतिमें अत्यधिक सहयोगी होता है।

श्रीवृन्दावन-धाममें आजसे पाँच-छ. वर्ष पहले एक सच्ची घटना घटित हुई है। हम सभीके भगवद्विश्वासको बढानेवाली इस घटनाका आपके सम्मुख उल्लेख कर देता हूँ। सभव है इससे, आपको कुछ पारमार्थिक लाभ हो।

वृन्दावनमें एक ब्राह्मण परिवार रहता था। परिवारका मुखिया भगवान् श्रीकृष्णका परम श्रद्धालु एव सच्चा भक्त था। परिवारमें कुल मिलाकर सात-आठ प्राणी थे। भगवद्भक्तोकी प्राय भगवान् अपनी भक्तवत्सलता दिखानेके लिये कठिन परीक्षाएँ लेते ही रहते हैं।

हम मृत्युको भयावह मानते हैं, परन्तु भगवान् तो मृत्युके रूपमें अपने भक्त और उसके स्वजनोंको अपने परमधामका अखण्ड सुख दान करते हैं। अतः मृत्यु-रूपमे वे उनका यह मलिनतम गन्दा रक्त-माससे बना शरीर-रूप मैला वस्त्र हटा देते हैं और अपने जनोको अपनी परम वात्सल्यमयी गोदमें नित्य-जीवन प्रदान कर देते हैं। सो, भगवान्‌ने उस परम भगवद्भक्त ब्राह्मणके परिवारके साथ भी ऐसी ही लीला की। एक ही वर्षमे उन ब्राह्मणके घरके सभी प्राणियोकी एक-एक कर मृत्यु हो गयी। हरे-भरे परिवारमें मात्र शेष रहे – वे, अकेले एक ब्राह्मण ही ।

इतने प्राणियोंकी एक ही साथ रुग्णता, उनके इलाज और तब मृत्यु-खर्च करनेके कारण ब्राह्मणको अपनी सब जायदादको तो बेचना ही पडा, साथ ही जो एकमात्र रहनेको मकान बचा, उसको भी एक महाजनके पास गिरवी रख देना पडा । यावज्जीवन ब्राह्मणने कभी नौकरी नहीं की थी। जो खेती थी, वह परिवार-पालनके लिये भगवत्कृपासे पर्याप्त अन्न-वस्त्र दे देती थी। परन्तु सम्पत्तिके विक्रय हो जानेसे और गिरवीके कर्जके रुपए चुकानेके लिए ब्राह्मणको एक जगह सेवकत्व भी करना पडा। उसे प्रतिमास उस सेवकाईसे आठ रुपये मासिक मिलते थे। अपना जीवन-निर्वाह मात्र एक-दो रुपये मासिकमे ही किसी प्रकार करके ब्राह्मण, अधिकाश बचा रुपया, उस महाजनको गिरवीके रुपयोके पेटे दे देता था। ब्राह्मण अकेला प्राणी था, वह नौकरीके अतिरिक्त सभी

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या
201-300
तक

साधु कृष्णप्रेम

समय श्रीबिहारीजीके दर्शन एव भजनमें ही व्यतीत करता था। इस प्रकार तीन वर्षका काल व्यतीत हो गया। ब्राह्मणने महाजनको मासिक किश्तें दे-देकर प्राय सभी रुपये चुकता कर दिये। अब कर्जके रूपमें मात्र दस रुपये ही बचे थे।

महाजन, जिसने ब्राह्मणको कर्ज दिया था, बहुत बेईमान, लोभी प्रकृतिका व्यक्ति था। उसने ब्राह्मणका मकान हथियानेका मन बना रखा था। इसलिए वह ब्राह्मणसे प्रतिमास रुपये ले-लेकर अलगसे एक बहीमें जमा कर लिया करता था, परन्तु उसे तमस्सुककी पीठमें जमाके रूपमें लिखता नहीं था।

तीन वर्ष होनेके पहले ही उसने ब्राह्मणके कुल रुपयोकी ब्याजसहित नालिश कर दी। ब्राह्मणके नाम सम्मन जारी हुआ। ब्राह्मण उस समय वृन्दावनके प्रसिद्ध बिहारीजीके मन्दिरमें बैठा था। जब चपरासीने ब्राह्मणको सम्मन दिया, तो ब्राह्मणके होश उड़ गये। वे अति सरल, भगवद्विश्वासी जीव थे। उन्हें कल्पना भी नहीं थी कि इस तरहकी भी कोई बेईमानी कर सकता है।

इन्होंने चपरासीसे कहा कि "भाई, मैंने सब रुपये पाई-पाई, ब्याज-समेत चुकता कर दिये हैं, मात्र दस रुपये शेष बचे हैं, वे भी भविष्यमें एक-दो माहमें चुकता कर दूँगा।" चपरासीने पूछा – "भाई, कोई रसीद ली है ?" ब्राह्मणने कहा – "भाई ! मैंने महाजनपर विश्वास करके कोई रसीद नहीं ली।" चपरासीने पुन पूछा – "भाई ! कोई गवाह है ?" ब्राह्मणके मुखसे हठात् निकल गया – "भाई ! और तो कौन गवाह हो सकता है, मात्र एक बिहारीजी गवाह हैं।"

चपरासीको ब्राह्मणकी बातसे यही समझमे आया कि कोई बिहारी नामका व्यक्ति गवाह है। चपरासी मुंसिफ मजिस्ट्रेटका खास विश्वासी अहलकार था। उसने मुंसिफ साहबसे ब्राह्मणकी सिफारिश करते हुए कहा कि "हुजूर ! ब्राह्मण बहुत ही ईमानदार है। उसपर बनियेने झूठा मुकदमा बनाया है । यद्यपि उसके पास रकम चुकाये जानेकी रसीदें तो नहीं हैं, परन्तु उसका एक गवाह है जिसके सम्मुख रुपया दिया गया है। उसके नामसे आप सम्मन जारी कर दें।"

भगवान्के लीला-विधानानुसार मुंसिफको भी विश्वास हो गया। बिहारी-गवाहके नाम सम्मन जारी हुआ। वही चपरासी पुन सम्मन लेकर आया। ब्राह्मण मन्दिरमें ही थे। चपरासीने 'बिहारी-गवाह' का पता ब्राह्मणसे पूछा । ब्राह्मणने कहा – "सम्मन मन्दिरमें ही साट दो, गवाह, मन्दिरके पास ही यहीं-कहीं होगा, उसे स्वयं ही सूचना मिल जायेगी।" चपरासी बिहारीजीके मन्दिरमें सम्मन साटकर चला गया।

यथाक्रम अदालतकी तारीखका दिन आया। तारीखके पहले दिन ब्राह्मण बहुत ही बैचेन हुआ। रात हुई। ब्राह्मणने मन्दिरके पुजारी गोस्वामियोंसे कहा –

"आजकी रात्रि मुझे यहीं रहने दिया जाय"। पुजारीजीकी दृष्टिमे तो भगवान्‌की मूर्ति साक्षात् भगवान् थी नहीं, परन्तु उस गरीब ब्राह्मणको तो साक्षात् भगवान् ही उस मूर्तिमें विराजित प्रत्यक्ष दीख रहे थे।

पुजारियोंकी सद्भावना ब्राह्मणके साथ थी। मन्दिरमें सम्मन साटे जानेके उपरान्त सारे वृन्दावनमें यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि ब्राह्मणने कोर्टमें बिहारीजीको अपना गवाह बनाया है। गोस्वामी पुजारी लोगोंमें भी सर्वत्र इसकी चर्चा थी। वे सभी यह जानते भी थे कि रुपये ब्राह्मणने महाजनको दे दिये हैं एवं महाजनने यह सर्वथा झूठा दावा किया है, परन्तु किसीको भी यह विश्वास कतई नहीं था कि मन्दिरके बिहारीजी गवाही देने कोर्टमें चले जावेंगे। सभी ब्राह्मणको समझा रहे थे कि इस प्रकार यदि बिहारीजी गवाही देने लगे, तब तो कलियुग रहेगा ही नहीं। फिर तो ससारमें जो इतनी झूठ-फरेब चल रही है, वह सर्वथा समाप्त हो जायगी। परन्तु ब्राह्मण अपनी जिद और विश्वाससे रचकमात्र विचलित नहीं हो पा रहा था। उसका विश्वास सुदृढ था।

ब्राह्मणकी प्रार्थनापर उस ब्राह्मणको पुजारियोंने रात्रिपर्यन्त मन्दिरमें रहनेकी छूट दे दी। ब्राह्मण रात्रिभर मन्दिरके आँगनमें भगवान्‌के सम्मुख आर्त प्रार्थना करता रहा। प्रात: होनेको आया। बिहारीजीकी मंगला एवं जागरणकी आरती परम्परानुसार विलम्बसे ही होती है। रातभरके जगे ब्राह्मणको ब्राह्ममुहूर्तमें थोड़ी झपकी आ गयी। उसे उस तन्द्रामें श्रीबिहारीके दर्शन हुए। श्रीबिहारीजीने प्रकट होकर ब्राह्मणको कहा – "मैं तुम्हारी गवाही देने कोर्टमे अवश्य आऊँगा।" ब्राह्मणकी आँखें खुलीं। वह आनन्दमें भरा पूर्ण-मनोरथ था। उसने अपने सभी इष्ट-मित्रोंसे कह दिया कि अवश्य ही श्रीबिहारीजी मेरी गवाही देंगे। अब तो लोगोंने उस ब्राह्मणको अपने हँसी-मजाकका साधन बना लिया। घर-घरमें उसे बुलाकर पूछा जाता और वह साफ-स्पष्ट शब्दोंमें सबके सम्मुख ही निश्छल यह बात खोल देता कि बिहारीजीने मेरी गवाही देनेकी बात स्वयं श्रीमुखसे स्वीकार की है, ऐसा हो ही नहीं सकता कि बिहारीजी गवाही नहीं दें। लोग ब्राह्मणकी बात सुनकर हँसने लगते।

बिहारीजी गवाही दे ही देंगे – ऐसा विश्वास नहीं होनेपर भी अनेक लोग कोर्ट जाकर तमाशा देखनेका निश्चय कर बैठे।

भगवान्‌ने पुन: एक विलक्षण लीला की। आकाशमें मेघ एवं घनघोर घटा छा गयी। पानी एवं अन्धडका ऐसा प्रकोप हुआ कि चारों ओर पानी-ही-पानी हो गया। वृन्दावनसे मथुराका रास्ता ही पानीसे पट गया। ओले पड़नेसे मौसम एकदम सर्द हो गया। इस खराब मौसमके कारण बहुतोंका मथुरा जाकर

बिहारीजीकी गवाहीको प्रत्यक्ष देखनेका उत्साह ही समाप्त हो गया। ब्राह्मणको तो हर हालतमे कोर्ट जाना ही था। कुछ लोग – जो ब्राह्मणके अति अन्तरग मित्र थे, वे सब तो उसके साथ गये ही।

मुंसिफके कोर्टमे मुकदमा खुला। जैसा विधान होता है, उसीके अनुसार सभी व्यवहार हुए। यथासमय बिहारी-गवाहकी पुकार लगायी गयी। "बिहारी-गवाह, हाजिर हो" – पहली आवाजमें कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला। चपरासीने ब्राह्मणसे प्रश्न किया ? ब्राह्मणने कहा – "है तो यहीं।" फिर दूसरी आवाज लगी – "बिहारी-गवाह हाजिर हो" – फिर भी कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। तीसरी आवाज पुन लगी – "बिहारी-गवाह हाजिर हो" – यह अन्तिम पुकार थी। किन्तु, इसी बीच एक विलक्षण मधुर एवं गभीर आवाजमें प्रत्युत्तर मिला- "हाजिर है।"

लोगोमें सन्नाटा छा गया। ब्राह्मणको रोमाच हो आया। उसकी दृष्टि भीडमें चली गयी। उसने देखा – भीड़मेंसे एक व्यक्ति काले कम्बलमें अपने सारे शरीरको लपेटे कोर्टकी ओर बढ़ रहा था। जैसे वह कोर्टके सभी रीति-रिवाजसे पूरी तरह परिचित हो – वह गवाहके कटघरेमें खड़ा हो गया। उस गवाहने तनिक-सा अपने मुखका पर्दा हटाया और मुंसिफकी ओर देखा। मुसिफके हाथसे कलम गिर गयी। वे एकटक उस मनुष्यकी ओर देखने लगे। कुछ देर बाद जब मुसिफ अपनेको सँभाल पाये, तभी मुकदमेका कार्य प्रारंभ हुआ। मुसिफने गवाहसे प्रश्न किया – "आप इन ब्राह्मणके गवाह हैं ?" गवाहने कहा- "जी हाँ ।" मुंसिफने कागज, कलम उठायी और बयान लिखने लगा। मुसिफने प्रश्न किया – "आपका नाम ?" गवाहने उत्तर दिया – "बिहारी अहीर ।" मुंसिफने पुनः पूछा – "आपकी वल्दियत ?" गवाहने उत्तर दिया – "नन्दराय अहीर ।"

सम्पूर्ण कोर्ट चकित था। मुसिफने पूछा – "आप जानते हैं, इस ब्राह्मणने महाजनके पूरे ऋणके रुपये चुकते कर दिये ?" गवाहने शुद्ध उर्दू भाषामें ही उत्तर दिया – "हुजूर ! मैं तमाम वाक्यात आपके सम्मुख अर्ज करता हूँ।" इसके पश्चात् गवाहने तारीखवार कब-कब, कितने-कितने रुपये ब्राह्मणने, महाजनको कैसे चुकते किये, इसका विस्तृत सटीक विवरण दे दिया। एक-दो नहीं, सैंकड़ों किश्तोंमें रुपये चुकाये गये थे। परन्तु बिहारी-गवाह सही तारीख, वार और तिथि, साथ-ही-साथ सही समयका भी उल्लेख कर रहा था।

मुद्दईके वकीलने इसपर आपत्तिकी । उसने कहा – "यह गवाह झूठा है, कोई मनुष्य इतनी तारीखें, तिथि, वार एवं सही समय इतने लम्बे समयतक

स्मृतिमे सँजोये नहीं रख सकता। यह असंभव है।''

बिहारी-गवाहने पुन: कहा -- ''मुझे सर्वथा याद है। मैंने स्वयं साथ जाकर इनके रुपये चुकाये हैं।'' मुसिफने पुन: पूछा -- ''क्या रुपये बहीमे दर्ज हुए है ?'' गवाहने कहा कि महाजनके पास दो बहियाँ हैं। एक बही कोर्टमें पेश करनेके लिये है, उसमें कुछ भी दर्ज नही है। दूसरी बही सेठके कमरेमें लोहेकी अलमारीमें है, उसमें उन्हीं तारीखोंमें सभी रुपये दर्ज हैं -- जो तारीखें मैंने अर्ज की हैं। मेरे साथ यदि मुसिफ साहब महाजनके घरतक चलें, तो मैं अभी सभी जमा रकम जिस बहीमें दर्ज हैं वह बही कहाँ रखी है, यह भी बता सकता हूँ। आप उसमे जमा रकमसे मेरी तारीखें मिलान कर सकते हैं।''

कोर्ट बरखास्त करके मुसिफ महाजनके घर उसी समय आये। मुसिफके साथ-साथ वह चपरासी, काले कबलसे शरीर ढके बिहारी-गवाह और उत्सुक जनता उमड़ पडी। बिहारी-गवाहने अलमारी बता दी। अलमारी खोली गयी। बिहारी-गवाहने, जिस बहीको संकेतित किया, उस बहीको मुंसिफने खोली। गवाहने जो-जो तारीखे बतायी थीं, ठीक उन्हीं तारीखोंमें ब्राह्मणके नाम सभी किश्तें ज्यों-की-त्यों जमा मिलीं। सबसे अन्तिम किश्तका रुपया कई पन्नोंके पश्चात् जमा मिला। उसे ढूँढनेमें अवश्य कुछ समय लगा, किन्तु वह भी ठीक उसी तिथिमें जमा पाया गया, जो तिथि बिहारी-गवाहने बतायी थी।

मुंसिफने सब जमाखर्चकी अच्छी प्रकार जाँच-पड़ताल की। इस जॉच-पडतालके कारण बिहारी-गवाहसे उसकी दृष्टि हट गयी। बस, सब जाँच-पडताल पूरी करके मुंसिफने बिहारी-गवाहको जैसे ही खोजना चाहा, बिहारी वहाँ था ही नहीं।

मुंसिफ कोर्टमे गये। मुकदमा खारिज कर दिया। कहते हैं, मुंसिफ साहबने स्वय भी अपना इस्तीफा लिखा और नौकरी छोड़कर साधु हो गये। वे जबतक जीवित रहे, वृन्दावनमें ही देखे गये। ब्राह्मण देवता तो पूर्वसे ही श्रीबिहारीजीके शरणागत थे, एवं जबतक जीवित रहे, बिहारीजीके मन्दिरमें ही भजन-पूजन करते रहे। इस घटनाको पत्र-लेखन तिथिसे पाँच-छः वर्ष पूर्वकी माननी चाहिये, अर्थात् यह घटना लगभग १९३३-३४ ई की है।

इस घटनाके उल्लेखमें बिहारी-गवाह अथवा मुंसिफ आदिके कहे हुए शब्दोंमें थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है, शेष घटनाक्रम प्रायः ज्यों-का-त्यों है।

मैंने श्रीभाईजीसे यह घटना सुनी है, इसलिये इसके सत्य एवं प्रामाणिक होनेमें कहीं भी तनिक भी सन्देह नहीं है। इस घटनाका पत्रमें उल्लेख करनेका मन्तव्य यही है कि भगवान् आज भी अपने भक्तोंको अपनी भावनानुसार कृतार्थ

करनेको तत्पर हैं। निष्काम-भक्तोको प्रेमदान एवं दर्शन तथा सकाम-भक्तोंको उनकी वांछित कामना पूर्ण करके भगवान् आज भी कृतार्थ करते हैं। हमारा विश्वास उठ गया है, इसीसे हमारी पद-पदपर हानि हो रही है। भगवान्, बिना किसी भदभावके, सबको स्वीकार किये हैं, अश्रद्धावश हम ऐसा नहीं मानें, तो दोष हमारा ही है। इसीलिये मैं आप सभीसे एक ही प्रार्थना करता हूँ कि सभीको अधिक-से-अधिक भगवान्का नाम लेना चाहिये। सभी अनुभव-प्राप्त सन्तोंका इस विषयमे एकमत है, कि जो जितना अधिक नाम-जप करेगा, वह उतना ही शीघ्रतापूर्वक भगवान्की ओर अग्रसर हो सकेगा। भगवान्की शीघ्रतिशीघ्र प्राप्तिके लिये इसके सिवा और कोई सुगम साधन इस कलिकालमें नहीं है।

आवश्यकतानुसार कम-से-कम बोलें और शेष समय नाम-जपमें लगावें। जैसे-जैसे अन्त करण पवित्र होगा, वैसे-वैसे भजनमें प्रेम बढता जायेगा। फिर तो धारा-प्रवाह स्वाभाविक ही भजन होने लगेगा। फिर उसमें श्रम नहीं, विश्रामकी प्राप्ति होगी। जबतक यह स्थिति नहीं हो, अधिक-से-अधिक नाम-जप करना चाहिये।

भगवान् मात्र कहने-सुननेकी ही वस्तु नहीं हैं। साधनाका क्रियात्मक प्रयोग करके उन्हें प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। इस ससारमे सार-वस्तु मात्र भगवान् हैं। हमारी धन-माया, परिवार, पुत्र-पत्नी, सम्बन्धी और यह शरीर सब मात्र भगवान्के लिये ही हों।

**आपका**
**चक्रधर**

---

।।श्रीराधा।।

पत्र.संख्या - सात (७)

# तत्तेनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः

*पत्र-लेखक :*

**प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्र**

माहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता (बंगाल)

*प्रेषण-स्थल :*
डालमिया जैन एण्ड कम्पनी
पो. डालमिया-दादरी (जिंद स्टेट)

*दिनांक :*
१३-६-३९

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपि

**।। श्रीराधाकृष्णौवन्दे ।।**

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र गोरखपुरसे पुन प्रेषित होकर आज ही मिला है। मैं यहाँ श्रीभाईजीके साथ आया हूँ। भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) एकान्त-जीवन बितानेकी दृष्टिसे यहाँ आये हैं, यद्यपि इस उद्देश्यकी पूर्तिमें अनेक अवरोध दीख रहे हैं। कल्याण-पत्रके सम्पादन-विभाग एवं अन्यान्य भाइयोका भाईजीके प्रति अतिशय आकर्षण है। वे सभी लोग इन्हें सर्वथा छोडना नहीं चाहते। और तो क्या, स्वयं सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका, जिनके प्रति श्रीभाईजीका अगाध पूज्य-भाव है, वे भी भाईजीको स्थायीरूपसे गोरखपुर छोडनेकी आज्ञा नहीं दे रहे हैं , फिर भी भाईजी सभीको किसी तरह थोडा-बहुत राजी करके एक बार यहाँ आ गये हैं। भाईजी यद्यपि अपने एकान्त-जीवनमें किसीको भी अपने साथ नहीं रखना चाहते, परन्तु मुझपर यह भगवान्‌की अतिशय दया ही है कि मुझे उन्होंने अपने साथ रहनेकी स्वीकृति दे दी है। अत मैंने यही विचार किया है कि जबतक श्रीभाईजीको मेरे कारण कोई असुविधा नहीं हो, तबतक मैं उनके पास ही रहूँ।

वैसे, भाईजीका स्थायीरूपसे कहाँ रहना होगा, यह अभी निश्चय नहीं है।

अनेक स्थान उनके ध्यानमें हैं। जहाँ भी उनका जाना होगा, आपको सुविधानुसार सूचना दे दूँगा।

आप मेरे स्वास्थ्य अथवा अन्य व्यवस्था-सम्बन्धी बातोंको लेकर चिन्तित नही होगे। हम सभी भगवान्‌की असीम दयामे ही अवगाहन कर रहे हैं। अनन्त-कृपासागर प्रभुका विधान दयासे रहित हो ही नहीं सकता। मगल-सागरसे अमगल विधान तो निकल ही नहीं सकता, भले ही हमारे जीवनमे ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि हमे द[illegible] दरका भिखारी बन, मारा-मारा फिरना पडे। ऐसे भीषणतम प्रतिकूल [illegible] निश्चय ही भगवान्‌का परम मगलमय हेतु ही छिपा रहता है। हमारी [illegible] समझ पावे, ऐसा भले ही नहीं हो, क्योकि भगवान् अपनी प्रत्येक [illegible] हमपर प्रकट ही कर दे, यह आवश्यक नहीं है। हमें तो उनपर [illegible] ही चाहिये, और तनिक भी दुःख न मानकर मंगल-ही-मगल, अथाह [illegible]-मगलमयताका ही अनुभव हर विधानमें करना चाहिये।

यदि हमारी बुद्धि इस मगलमय[illegible] [illegible]कर भगवान्‌के द्वारा घटित होनेवाले विधानमें किञ्चित् भी दुःख म[illegible] निश्चय ही समझ ले कि अभी हमें जगन्नियन्ताके पास पहुँचनेमें [illegible]। हम भूलसे ही भयानक वस्तुको सुखदायक समझ रहे हैं। इसे नि[illegible] ही सत्य समझ लीजिये कि भगवान्‌ने यदि हमे कोई प्रतिकूलता दी है, तो उसका कारण यही है कि जिसे हम अपने अनुकूल विधान समझ रहे हैं, वह हमारे लिये भविष्यमें घोर अहितकारी भयानक परिणामोंको उत्पन्न करनेवाला ही था [illegible] प्रमाद एवं भूलसे ही उस भयानक-से-भयानक परिणामको उत्पन्न करने[illegible] परिस्थितिको सुखदायक समझ रहे थे। कृपामय भगवान्‌का विधान [illegible] कि भगवान् हमें उस अहितकारी भयानक परिणामसे बचानेके लिये [illegible]पूर्वक रोक लगा देते हैं, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ प्रभु हमारी तरह अबोध तो [illegible] नहीं, वे भला हमारी मनचाही अहितकारी वस्तु देकर हमारा जीवन बरबाद [illegible] करें ?

मेरे कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि मुझे [illegible] आपका अपना योग-क्षेम जगन्नियन्ताके हाथमें सौंपकर निश्चिंत हो [illegible] चाहिये। लोगोंकी दृष्टिमें दीन-हीन रहकर भी यदि हमने अपनेको जगन्नियन्ताके हाथों सौंप रखा है, तो हम निश्चय ही शाहंशाहों के शाहशाह हैं।

मैं तो सन्तोंके सत्संग एव शास्त्रोंकी वाणीसे एक ही निश्चयपर पहुँचा हूँ – यही मुझे अकाट्य एवं अमोघ सत्य दृष्टिगोचर हो रहा है कि करुणासागर प्रभुकी हेतुरहित दयासे विश्वका एक पामर-सा कीड़ा और जगत्-स्रष्टा

ब्रह्माजी – दोनो समानरूपसे निरन्तर भीग रहे हैं। करुणा-सागरकी अपार करुणाकी लहरे इतनी उद्दाम एव असीम, अथाह हैं कि कोई भी उनसे वंचित नहीं रह सकता। यदि कोई भी प्राणी उनका नाम ले-लेकर ही उन्हें पुकारता रहे, तो उसे उस दयाका परिचय अवश्य-अवश्य ही मिल जायेगा, यह मेरा विश्वास है।

भैया ! प्रारब्धका फल तो होकर ही रहता है। वह तो टाला जा नहीं सकता। दु खके साथ मनुष्य प्राय चंचल हो जाता है। उस समय भक्तिके सुन्दर भावोंको पल्लवित करनेमें कठिनाईका अनुभव करता है। बुद्धिमानी इसीमे है कि कठिन-से-कठिन विपत्तिके अवसरपर भी मनुष्य किसी दूसरी ओर न मुडे। भगवान्का सहारा छोड़कर मनुष्य यदि किसी दूसरेकी शरण ले लेता है, तो समझना चाहिये – भगवान्पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

भगवान्की दया कैसी हेतुरहित और विलक्षण है – इसका उल्लेख श्रीमद्भागवतकार करते हैं :-

*"अहो बकीयं स्तन कालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्य साध्वी ।*
*लेभे गतिं धात्र्युचितं ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।*

"अहो, आश्चर्य है ! इस पूतनाने अपने स्तनमें कालकूट विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पिला दिया। ऐसी असाध्वी (बाल-हत्यारिणी) को भी जिन्होंने धात्री यशोदाके समान गति दे दी, ऐसा अन्य दयालु कौन संभव है, जिसकी शरण ली जावे ?"

परम सत्य यही है कि अपार कृपालुकी अनन्त कृपाधारामें ही यह सारा संसार डूबा हुआ है, परन्तु हम उस कृपाधाराका अनुभव नहीं कर पाते।

यह इसी प्रकार है, जैसे अनन्त समुद्रमें तैरती एक छोटी बाल-मछली अपनी माँसे जिज्ञासा करती है – "माँ ! लोग कहते हैं, मछलियाँ समुद्रमें पैदा होती हैं, वह समुद्र, माँ ! कहाँ है, मुझे तो वह दीखता ही नहीं।" जैसे मछलीकी बच्ची अपने ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें समुद्र-ही-समुद्र होते हुए भी समुद्रको नहीं पहचानती, उसी प्रकार, हमारे चतुर्दिक्, सब ओर दयामयकी अपार, अनन्त दयाके रहते हुए भी हम उस दयाका अनुभव नहीं कर पाते। इस अनुभवहीनता और अविश्वासके कारण ही हमारा सब दु ख है।

भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होनेमें हेतु, मात्र हमारे अन्त करणकी मलिनता ही है। अन्यथा भगवान्के साकार-विग्रहमें रक्त-मांस तो हैं नहीं। उसमें तो मात्र कृपा-ही-कृपा, आत्मीयता-ही-आत्मीयता भरी है।

श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं :–

*"चिन्ता कापि न कार्या: निवेदितात्मभिः*
*भगवान् पुष्टिस्थः न करिष्ये लौकिकीं च गतिम् ।।"*

अर्थात् चिन्ता कदापि नहीं करना चाहिये, भगवान्को बस, अपनेको निवेदित-समर्पित कर देना ही जीवका कर्तव्य है। भगवान्की सत्ता ही उनकी कृपा-महिमासे पूरम्पूर है। उनमें कृपाके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। अतः उनका सपूर्ण विधान कृपापूर्ण ही सभव है। भगवान्की भगवत्ता ही उनका कृपा-स्वभाव है। वे हमारी निश्चय ही अलौकिक गति करेगे।

भैया ! कठिनाई यही है कि हमने भगवान्को तो देखा है नहीं। जो भी हमारी दृष्टिपथमे लोग आये हैं, वे सभी रागी, द्वेषी है। उनमे यदि कहीं कुछ भी, कभी उपकार-भावना उदय होती है, तो उसके साथ ही वे उस उपकारका बदला भी चाहते हैं, अत हमारी दृष्टिमें जीवन-भरमे हेतुरहित कृपाका कोई उदाहरण नहीं आनेसे हमारा विश्वास ही नही बनता कि कहीं कोई कृपा-सागर स्वरूप भी सभव है।

वास्तवमे मेरे पास भी कोई उपाय नहीं है कि मैं आपको या अन्य किसीको भी मेरी बातका विश्वास करा दूँ। परन्तु अनादिकालसे अबतक जितने भी जगत्मे सन्त-महात्मा हुए हैं और आज भी जितने महात्मा हैं – सभीका यही अनुभव था एव है कि अपने-आपको भगवत्कृपापर छोड़ दो। मात्र, बस, मुखसे जितने भी दो-पॉच, दस-बीस भगवान्के पावन नाम बनें, लेते जाओ। अधिक नाम ले सको तो कहना ही क्या ? परन्तु भगवान्को अधिक नाम पुकारनेकी खुशामदी और चाटुकारिता कोई रिझाती हो, सो बात भी नहीं है। अपने आपको सच्चे विश्वाससे भगवत्कृपापर छोड दो। सारे साधन अपने-आप प्राप्त हो जावेगे। बस, हमे इतना ही करना है कि हम अपने भीतर भगवत्कृपाका जो क्षीण-सा भरोसा है, उसे बनाये रखें ।

श्रीतुलसीदासजी अपने पदमें यही बात कैसे प्रगाढ विश्वाससे दोहराते हैं, हम भी उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गा पावे, तो धन्य हो जावेगे –

**मैं भरोसे अपने 'राम' के और नहीं कुछ कामके ।**
**दोउ अक्षर सब कुल तारे वारि जाऊँ उस नामके ।**
**तुलसी दास प्रभु राम-कृपा-धन और देव सब दामके ।**

**आपका**

—

।। श्री राधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - आठ (८)

# संसारकी सच्ची सेवा

*पत्र-लेखक :*

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*पत्र प्रेषिति :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र

माहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी
हवेली, ग्राम - रतनगढ़, (बीकानेर)
*दिनांक :*
२०-१-४० ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी
पत्र-संग्रह की कापीसे
प्रतिलिपि किया गया

## आलोक

*बीकानेर राज्यकी रतनगढ तहसील। ग्राममें मारवाडी अग्रवाल सेठोंका प्राधान्य। वैश्यजातिके इन अग्रवाल सेठोंकी प्रकृति अति धर्म-परायण। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रति जनताके सभी वर्गोंमें आत्मीयता एवं श्रद्धा है। ग्राममें ब्राह्मण जाति, अग्रवाल-वैश्योंके द्वारा दी जानेवाली दान-दक्षिणा एवं उनके द्वारा कराये गये कर्मकाण्डों एवं देवोपासनाकी आजीविका पर निर्भर है। ग्राममें सड़के नहीं। रेतीले मार्ग । बाजार चौपड़नुमा बसा हुआ है। ग्रामकी चारों दिशाओंमें दरवाजे हैं। ग्राममें प्रमुख धनिक सूरजमल नागरमल जालान है। उनके इष्ट श्रीरामचन्द्रजी हैं। अतः उनके द्वारा बनाया गया रघुनाथजीका सुन्दर संगमरमरका मन्दिर, दसवीं कक्षातकका 'रघुनाथ विद्यालय' नामक स्कूल तथा एक सुन्दर पुस्तकालय है जिसका नाम भी 'रघुनाथ पुस्तकालय' है। ग्राममें वैश्य अग्रवालोंकी बहुत सुन्दर कलात्मक चित्रकारीसे सजी हवेलियाँ हैं। उनकी बड़ी-बड़ी पिरोलें हैं। अधिकांश सेठ व्यापारके लिये कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानोंमें रहते हैं। उनका मात्र धार्मिक पर्वोंपर ग्राममें आगमन, होता है, ग्राम चारों ओर सुनहरी रेतके ऊँचे-ऊँचे टीलोंसे घिरा हुआ है। जलके लिये कुँए – जिनका पानी अतिशय सुस्वादु, मिष्ट है। मालीलोग*

*कंधोंपर घड़े रखकर घरोंमें पानी पहुँचाते हैं। जनता भोली, सत्य-परायण एवं चरित्रवान् है।*

*ग्रामके मध्यमें भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली है। हवेलीके मुख्य प्रवेशद्वारके पास ही सटे एक पहले तल्लेके कमरेमें स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका निवास है। हवेलीके नीचेके भागमें 'कल्याणका' सम्पादकीय विभाग एवं हवेलीके अन्दर भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीका गृहस्थ-निवास है। वातावरण परम धार्मिक है; सायंकाल तथा प्रातःकाल दोनों समय कीर्तन-भजन एवं सत्संग-चर्चा, गीता-रामायण आदि शास्त्रोंपर प्रवचन होते रहते हैं। ग्राममें सर्वत्र श्रीहनुमानजी महाराजकी प्रमुख मान्यता है।*

**श्रीराधाकृष्णौ वन्दे**

पूज्य देवदत्त भैया एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम। आप दोनोंके पत्र मिले। आप लोगोंको पृथक्-पृथक् पत्र देनेमे समय भी बहुत लगता है एव बाते वे ही हैं, जो दोनोको समानरूपसे कहनी हैं, अत यदि एक ही पत्र आप दोनों पढ लें, तो उत्तम रहे। आप दोनोंने लिखा कि आप दोनो भाई एक प्रकारका ही मन रखते हो। आप दोनोंकी दृष्टिमे स्त्री-परिवार, भाई-बन्धु एव कुटुम्बीजनोंकी सेवा ही प्राथमिक कर्तव्य है। आप दोनो भाई अपने कुटुम्ब-परिवारकी सेवा ही करना चाहते हो। आपने जो कुछ मुझे लिखा है, वह सच्चे मनसे ही लिखा है। आप दोनों भाइयोंके मनमे स्वार्थ-त्याग नहीं हो, सो बात भी नहीं है।

मैं स्वयं जब स्कूलमे पढता था, उन दिनो यही सोचता था कि मुझे तो अपना जीवन देश-सेवामें ही लगाना चाहिये। देशके लिये मेरे मर-मिटनेसे यदि परिवारको पर्याप्त क्षति होती है, तो भी अपना सुख और परिवारका सुख देश-हितमे बलिदान कर देना, मैं मेरा प्राथमिक कर्त्तव्य समझता था। मुझे उन दिनों ऐसे लोग भी मिले, जो मात्र समाजकी सेवाको ही अपना कर्तव्य मानते थे। मुझे ऐसे भी लोगोंके दर्शनोंका सौभाग्य मिला, जो सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंकी सेवा करनेमें ही अपने जीवनकी सार्थकता समझते थे।

भैया, जिन महापुरुषोंके ऐसे सच्चे भाव हैं, वे सर्वथा प्रशसनीय हैं। ऐसे उदात्त भाववाले लोग ही ससारमें महान् कार्य कर पाते हैं। मैं भी पूर्व-कालमें इन्हीं विचारोंको प्रशसनीय मानता था। परन्तु भैया ! इधर मेरे मनमें कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण, साथही सर्वथा ही भिन्न विचार उदय हुए हैं। आज मेरी दृष्टि ऐसी है कि वस्तुत जो भगवान्के चरणोमें चित्त लगाकर भगवान्की सेवा नहीं कर सकता, उसके द्वारा किसी भी प्राणीकी सेवा करना कठिन ही नहीं, अपितु

असभव है। इसके प्रतिकूल जो भगवान्मे लग चुका है, अथवा तत्परतापूर्वक लगनेकी चेष्टामे है, उसके द्वारा विश्वके प्रत्येक प्राणीकी यथायोग्य सेवा अपने-आप हो जाती है। उसके लिये उसे कोई पृथक् प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही नहीं होती। अवश्य ही भगवत्सेवाका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। वह भिन्न-भिन्न लोगोके लिये भिन्न-भिन्न रूपमें हो सकता है। कोई विश्वके सभी प्राणियोके रूपमे भी प्रभुको देख सकता है, कोई परिवारके जनोंमें भी भगवान्को देखकर उनकी सेवा कर सकता है, परन्तु महत्त्व देनेकी बात भगवान्को ही है। परिवारको, देशको, विश्वको भगवान्के ऊपर यदि प्रामुख्य दिया जा रहा है, तो मेरी दृष्टिमे यह उसका मोह है और मोहाक्रान्त प्राणी सेवाके अयोग्य ही है। हॉ, यदि कोई पत्नीको ठीक परमात्मा मानकर पूजा कर रहा है, साथ ही परिवारके सभी प्राणियोको भगवान्की मूर्तियॉ ही समझ रहा है, तो उसमें पत्नीके प्रति ही अथवा परिवारके प्रति ही 'मैं समर्पित हूँ' – यह भाव नहीं रहेगा। वह मन्दिरमे भगवान्की मूर्तिको देखकर उसी प्रकार सेवातुर हो उठेगा, जैसा वह पत्नीको भगवान्की मूर्त्ति समझकर सेवातुर हो रहा है।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि किसीके भी द्वारा, किसी भी रूपमें, यदि भगवत्सेवा अथवा भगवदाराधना हो रही है, तो फिर उसके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे तरु, शाखा एवं सम्पूर्ण पल्लवोकी सेवा स्वत ही होती है, वैसे ही भगवान्की सेवा यदि किसीसे किसी भी रूपमें हो जाय, तो विश्वकी सेवा स्वत ही हो जायेगी। उस प्राणीके लिए परिवारकी, देशकी, विश्वकी पृथक् सेवाके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पडता।

तनिक गभीरतापूर्वक विचार करें, आपका परिवार आपसे मात्र तनकी अथवा धनकी सेवा ही चाहेगा, उसके उपरान्त भी आपकी सेवासे वह कभी भी पूरा सतुष्ट नहीं हो सकेगा। भगवान्को आप मात्र मनकी सेवासे ही पूर्ण सतुष्ट कर सकते हैं।

राक्षसी पूतनाने भगवान्को मार डालनेकी वासनासे स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर अपना दूध पिला दिया, परन्तु भगवान्ने उसे यशोदाजीकी (माताकी) गति दे दी, लोगोंको आप यावज्जीवन अपना सर्वस्व दे दीजिये, इसके उपरान्त यदि किसी एक दिन केवल एक बारके लिये भी आपने उनको कठोर वाणी कह दी, तो चाहे उस वाणीके पीछे आपकी परम हितभरी भावना ही क्यो न हो, परिवारके लोग आपसे द्विष्ट हो जावेगे। परिवारके लोग आपसे मात्र स्वार्थपूर्ति ही चाहते हैं, उनको आपके आत्यतिक कल्याणसे कोई सरोकार नहीं। जहॉ भगवान्, आपका मात्र आत्यतिक सुख, कल्याण ही चाहते हैं, उन्हें आपसे कोई लौकिक स्वार्थ नहीं ।

इसलिये भैया ! मेरी तो आपसे पुनः प्रार्थना है कि आप शास्त्रोंके वचनों पर विश्वास करें। भगवान्‌के भजन और उनकी ही सेवाको प्रामुख्य दें। इसके उपरान्त आपके द्वारा जो भी पारिवारिक सेवा होनी है, वह स्वतः ही हो जायेगी। मेरा मन्तव्य यह कदापि नहीं समझें कि आप एकान्तमें बैठकर ही भजन करें। आप भगवान्‌की सर्वव्यापी सत्तापर ही विश्वास करें, परन्तु भजनकी ओर बढ़ चलें। परिवारके लिये भगवान् जो कुछ कराना चाहें, उसे भगवान्‌का यन्त्र बनकर करनेकी चेष्टा करें। जो कुछ भी कर्म हों, यावन्मात्र भगवान्‌के उद्देश्यसे ही हों, अपने लक्ष्य भगवान् ही रहें। अपने हृदयको भगवान्‌से तनिक भी विचलित नहीं करें।

यह बात तो अकाट्य है कि जो कुछ भी हो रहा है, हुआ है अथवा होगा, वह सब भगवान्‌के विधानानुसार पूर्व निर्धारित ही है। उसमें आप कहीं कुछ भी परिवर्तन कर नहीं सकते। परिवारके जितने भी प्राणी हैं, उनका जीवन-मरण मान-अपमान, सुख-दुःख, रोग-शोक, सब पूर्व विधानानुसार नियत है। वह विधान अटल है, किसी भी प्रकार टाला जा ही नहीं सकता। आप अपने पर निर्भर प्राणियोंकी सुख-सुविधाकी चेष्टा भले ही कर सकते हैं, परन्तु उनपर आये रोग-शोक, मान-अपमान, जीवन-मरण, हानि-लाभ आदि प्रकोपोंका पूर्ण निवारण कर सकें, यह तो सम्भव है ही नहीं। उन सभीपर अथवा उनमेंसे किसी एकपर विपत्ति आनेपर मेरी दृष्टिमें आपको चिन्तित होनेकी भी सर्वथा आवश्यकता नहीं है। ऐसे अवसरोंपर भगवान्‌के भजनको गौण करनेकी भी आवश्यकता नहीं ही होनी चाहिये।

क्योंकि उनकी सहायता जो कुछ भी हो सकती है, वह भजनसे ही सम्भव है। इतना तो भैया, आप भी समझते हैं कि मनुष्यकी शक्ति सर्वथा सीमित है। फिर अनन्त दयाके सागर भगवान् सबके सुहृद हैं। जो सब तरहसे गया-बीता है, सब प्रकारसे सबकी दृष्टिमें हीन है, भगवान् तो उसके भी अपने-से-अपने हैं। आपकी अपेक्षा आपके परिवारकी भगवान्‌को अधिक चिन्ता है। फिर भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, उनका प्रत्येक विधान सभीके लिये परम मंगलमय है। भगवान्‌को हमारी अपेक्षा अधिक चिन्ता है कि किसके लिये कब, क्या होना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें ऐसा समझें कि जिन-जिन चिन्ताओंसे आप चिन्तित हो रहे हैं, अगर वे वस्तुतः ही महत्त्वपूर्ण हैं, तो भगवान्‌को भी चिन्ता होनी ही चाहिये। अर्थात् जिसको सुखी करनेको भैया ! आप व्यग्र हैं अथवा जिस परिस्थितिको टालनेकी आप चिन्ता किये हैं, आपसे बढ़कर भगवान्‌के द्वारा उस व्यक्तिकी बहुत सुचारुरूपसे सँभाल हो जानी चाहिये। अतः भजनको छोड़कर

भगवान्‌के मंगलमय अवश्यभावी विधानमें अपनी किसी अहंकारजनित टाँग अडानेकी क्रियासे परिवारकी सेवा तो सभव होगी ही नहीं, आपका अहंकार आपको भजनसे काटकर जगत्‌की भूल-भुलैयामे फॅसाकर चिन्ता, दु:खादिमें डाल देगा। आपका अनमोल मानव-जन्म जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये आपको मिला है, व्यर्थ ही चला जायेगा। अत. मेरी स्नेहजनित इस प्रार्थनाको यदि आप स्वीकार कर लें, तो भगवद्भजनको ही प्रामुख्य दें। परिवारकी सेवा आप अवश्य करें, परन्तु वह हो भगवद्भजनके साथ-साथ ही। भगवद्भजन यदि प्रमुख रहेगा, तो निश्चय ही हम पूर्ण-निरापद संसार-यात्राके समधुर फल भगवत्प्राप्तिकी ओर कदम बढ़ा सकेगे।

आपके पत्रको पढकर जो भी बातें मेरे मनमें आयीं, मैं लिखता चला गया हूँ। इनमे अगर कुछ सार दीखे तो आप ध्यान दे, अन्यथा इसे बकवास समझकर रद्दीकी टोकरीमें डाल देंगे ।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - नौ (९)

# स्मर्त्तव्यं सततं विष्णुः

*पत्र-लेखक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

**(पू. श्रीराधाबाबा)**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्र, कलकत्ता**

*प्रेषण-स्थल :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम पो. रतनगढ (बीकानेर)**
**दिनांक :**
**१ फरवरी, १९४०**

*प्राप्ति-सूत्र :*
**श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी पत्र-संग्रहकी कापीसे की गयी प्रतिलिपि**

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला । पू तारादत्त भैयाके अंगूठेमें घाव हो जानेके समाचार विदित हुए। भगवान् कष्ट देते हैं – उससे अनन्त गुना सुख देनेके लिये। वैसे प्रारब्धका फल होकर ही रहता है, टाला नहीं जा सकता। परन्तु भगवान् प्रारब्ध भी ऐसा ही सगठित करते हैं, जिसमे यदि घोर दु ख आवे, तो उसके पश्चात् सुख भी उससे अधिक मात्रामे ही मिले।

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता तो इसीमें है कि निरन्तर भगवान्‌का ही स्मरण किया जाये। त्रिकालज्ञ सत्यवक्ता श्रीवेदव्यासजी महाराज कहते हैं –

*स्मर्त्तव्यं सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यं न जातु चित् ।*
*सर्वे विधि निषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ।।*

अर्थात्, जितने भी विधि-निषेधात्मक शास्त्र-वचन किंवा सन्तवाणियाँ हैं सबका अन्तर्भाव मात्र इसी बातमें है कि निरन्तर भगवान्‌का ही स्मरण हो, एवं उनका एक लव-मात्र भी विस्मरण नहीं किया जाय।

हम लोगोने भैया, अनन्त जन्म ग्रहण किये, अनन्त शरीरोके अनन्त, परिवार बने एव बिगडे, अनन्त बार 'मेरा-तेरा' कहकर प्राणियोको मोह-जालमें फँसा एव सबको छोड भी दिया, आज उन सभीकी हमे स्मृति भी नहीं है।

परन्तु भगवान्‌के सम्बन्धमें सभी शास्त्र एव सन्त-समुदाय एकमतसे यही कहते हैं कि वे जिसे एक बार भी अपना बना लेते हैं, फिर कभी उसका परित्याग नहीं करते। किसी भी जन्ममें एकबार भी सच्चे हृदयसे हमने भगवान्‌को 'मेरा' कहकर उनका वरण नहीं किया। उनकी वाचिक-शरण भी पूर्व-जन्मोमें हमने नहीं ही ली। श्रीमद्भागवतमे राजा मुचुकुन्दसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं –

*वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते ।*
*मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ।।*

अर्थात्, हे राजर्षे ! कोई भी श्रेष्ठ वर माँगिये, मैं आपकी सम्पूर्ण कामनाओकी पूर्ति कर सकता हूँ और जो भी आपकी इच्छा होगी, वह वर आपको दूँगा। मेरे शरणागत व्यक्तिको कभी किसी, भी चिन्ताका पात्र होनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब यदि हमने अपने पूर्वजन्मोमे कभी भगवान्‌की मात्र वाचिक शरण भी ली होती, तो आज हमारी यह दशा कदापि नहीं होती। हमपर भगवान् दया अवश्य करते और अपनी असीम अनुकम्पासे हम सभी शोकोको पार कर गये होते। जैसे सूर्यके सम्मुख हुआ प्राणी कभी भी प्रकाश और गरमीसे वंचित हो ही नहीं सकता, उसी प्रकार यदि हम एकबार भी भगवान्‌के सम्मुख हो गये होते, निश्चय ही वे हमे जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त कर ही देते।

इसीलिये, इस बार हमे जो मानव-जन्म मिला है, अब उसमें गफलत और भूल नहीं करें। इस मानव-जन्ममें हमें अपने हृदयकी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमे डाल ही देना है। सच्ची एव उत्कट चाह लेकर हमे ऐसा करना ही है। प्रभु कृपामय हैं, वे जब देखेगे कि इसने अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे पकड लिया है और इसकी नीयत शुद्ध है, तो हमारी चाहका प्रतिबिम्ब उनपर अवश्य पडेगा ही। हमारे ऐसा करते ही उसी क्षण उनकी कृपा-शक्ति हमारी सारी बाधाएँ हटा देगी और हमें आत्मसात् कर लेगी। हम तत्क्षण अपनेको उनके चरणोंके अत्यन्त निकट पावेंगे।

सन्तोका एकमत है कि मनकी मलिनता ही भगवान्‌के प्रति सच्ची चाह उत्पन्न नहीं होने देती। हमारा मन शरीर एवं इन्द्रियोके क्षणभंगुर भोगोंमे लगा है, यही उसकी घोर मलिनता है एवं यही भगवान्‌की सच्ची चाह उत्पन्न करनेमे बाधक है। कठिनाई यही होती है कि अनेक भोगोंकी चाहसे विभ्रान्त मन भगवान्‌की चाह कर ही नहीं पाता।

मनको शुद्ध करनेका इस घोर कलिकालमें एक ही अमोघ उपाय है, वह उपाय है, भगवान्‌की अखण्ड-स्मृतिकी साबुन लगाकर उसे धोना। यह स्मृति

जबतक भगवान्के तत्त्व-रहस्यके ज्ञानसे संयुक्त नहीं होती है, तबतक वह मात्र नाम-रूपात्मक ही तो सभव है। भगवान्का रूप भी, जबतक हमारा मन एकाग्र नहीं होता, हमारे सम्मुख प्रकट नहीं हो पाता। अत हमारे पास एकमात्र यही उपाय शेष बचता है कि हम मात्र नामात्मक ही भगवान्की स्मृति करें।

यद्यपि मलिन मन इसमें भी नहीं ही लगेगा, किन्तु इसे जबर्दस्तीसे जिह्वाद्वारा भगवान्के नाममें तत्पर करना ही होगा। नाममें यदि हमने अपनी मात्र जिह्वाको ही संलग्न किया, तब भी नाममें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि वह मनको जिह्वाद्वारा खींचकर भगवान्में लगा देगा। साथ-ही, यदि हम जिह्वाद्वारा जो भी नाम जपें उसे कहीं कानोद्वारा सुनने भी लगे, तो सोनेमें सुहागा हो जायेगा।

मेरी तो सभीसे यही विनम्र विनय है कि बिना प्रेम, बिना श्रद्धा ही कोई यदि हठपूर्वक अपनी जिह्वाको भगवन्नामके उच्चारणमें लगा दे और कानोंसे उस उच्चारणको सुनताभर रहे, तो शीघ्र ही मन इसमें ऐसा रस लेने लगेगा कि फिर हिलेगा ही नहीं। हमें मनकी दुष्टताओंकी ओर देखना नहीं चाहिये। मन कहीं भी जाये, भले ही विषयोंमें भागे, यदि जिह्वाने नामका आश्रय नहीं छोडा, तो नाम-कृपासे सब कुछ अपने-आप हो जायेगा।

श्रीरामकृष्ण परमहसदेव कहते थे – "अमृतके कुण्डमें कोई अति श्रद्धापूर्वक, माहात्म्य-बुद्धिसे उतरकर अमृतपान करे, अथवा जानबूझकर जबर्दस्ती कोई अपनेको उस कुण्डमें गिरा दे, या अन्य कोई गर्दन पकड़कर रोने-झींकने, गाली-गलौजकर प्रतिरोध करनेपर भी उसे ढकेल दे, गिरनेवाला किसी भी प्रकार गिरा हो, अमृत-कुण्ड अमरत्व तो उसे देगा ही। इसी प्रकार, भगवान्के नामका जीभसे किसी भी प्रकार सम्बन्ध हो जाय, यह सर्वथा दु:खसे छुडाकर परम आनन्दघन प्रभुके चरणोंमें ले जायेगा ही।" मैं जिनको भी पत्र लिखता हूँ, उन्हें यही लिखता हूँ, अपनेपर कृपाकर वाणीका सयम कर लें, हँसी, मजाक, प्रमाद, विनोद, गप्पें, कुछ भी काम नहीं आनेवाली, बहुत ही लम्बा रास्ता तय करना है। क्योंकि प्रभुकी सेवाके रूपमें गृहस्थ-सेवा करनी चाहिये, अत अति आवश्यक होनेपर ही बोलें, शेष समय भगवन्नामकी ध्वनि करते रहें।

सावधान हो जायें, जो श्वास गया वह लौटकर आनेवाला नहीं है। मृत्युका ठिकाना नहीं है, कब आकर यहाँका सब खेल मिटा दे ? अत अपनी ओरसे पूरी शक्ति लगाकर भगवान्को पुकारते जावें ।

हमारी शक्ति चाहे अतिशय क्षीणतम ही क्यों न हो, वह भगवत्कृपाका संबल पाकर इतनी प्रबल हो उठेगी कि दुर्लभ-से-दुर्लभ भगवच्चरणारविन्द

हमारे हृदयमें विराजित हो ही जायेगे। इसमें अमोघ विश्वास रहे।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं :—

**अबलौं नसानी, अब ना नसैहौं ।**

**राम कृपा भव-निशा सिरानी, जागे फिर ना डसैहौं ।**

जो बीत गया, सो बीत गया। मानव-जन्मके जो दो-चार श्वास भी शेष हैं, वे ही भगवन्नामको समर्पित कर दें। भगवान्‌का स्वभाव अतिशय मृदुल है।

***जन अवगुन प्रभु देख न काऊ । दीनबन्धु अति सरल सुभाऊ ।।***

***एक बान करुणानिधानकी । सो प्रिय जाके गति न आनकी ।।***

x x x

***ऐसी कौन प्रभुकी रीति । विरद लागि पुनीत परिहरि, पामरन पर प्रीति ।।***

सन्तोंने भगवान्‌का ऐसा मनोहारी स्वभाव बताया है कि जो भी उस स्वभावको जानभर ले, वह भजन छोड़कर अन्य भाव कर ही नहीं सकता।

***उमा राम सुभाउ जेहिं जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।***

मेरा इतना ही कथन है, कि जैसे पछी दो पंखोंसे उड़ता है, उसी प्रकार भगवत्कृपा और नामस्मरणको अवलम्ब बनाकर हम अपना जीवन भगवान्‌के चरणोंमें डाल दें।

यह संसार, संसारका वातावरण, परिस्थितियाँ, हमको प्रोत्साहित करेंगी, ऐसी सर्वथा आशा नहीं रखें। कलियुगका निरन्तर बढ़ता प्रभाव, साधना करनेवालोंके सामने विपरीतताओंका अम्बार लगा देगा। अतएव अकेले ही बढना होगा। रोकने-टोकने, विरोध करनेवाले सभी होंगे। सहयोग करनेवाला तो दूर, सहयोगकी बात करनेवाला भी कोई विरला ही होगा। कोई कर्तव्यके नामपर, कोई धर्मके नामपर, कोई दयाके नामपर, कोई पुत्र-परिवारके नामपर, अपाहिज-वृद्धजनोंकी सेवाके नामपर, सभी भगवान्‌के पथसे विचलित करना ही चाहेगे। इसलिये सावधान रहें। सबकी सुनें। विनयपूर्वक सब कुछ करें, परन्तु नामाश्रय किसी भी अवस्थामें नहीं छूटे, यह सतत ध्यान रहे। आपका मन भी नाम छुडानेके लिये आपसे अनेक तर्क करेगा। कभी अन्य महत्त्वपूर्ण साधनाओंमे प्रवृत्त करनेकी बात सोचेगा, इसलिये खूब सावधानी रखें। श्रीमद्भागवतमें श्रीदेवहूतिजीकी वाणीका निम्न श्लोक अपने कमरेमें लिखकर रख लें। इसपर आते-जाते ध्यान देते रहें :—

***अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् ।***

***तेपुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।।***

बड़े आश्चर्य की बात है जिसने भी तुम्हारा नाम लिया, उसने सारी तपस्या कर डाली, यज्ञ कर लिये, तीर्थ-स्नान कर लिया, वेद-पारायण कर

लिया, उसने सभी आर्य-गुणोंका संचय कर लिया। इसलिये जिसकी भी जीभपर तुम्हारा नाम है, वह चाण्डाल होनेपर भी अत्यन्त पूज्य है।

भैया ! इस उपरोक्त श्लोकको पढ़कर मेरे मनमें तो अनेको बार यह बात दृढ होती है कि कलियुगके अनर्थकारी वातावरणमें पलकर हमलोगोंने अपने शास्त्रोपर भी श्रद्धा नहीं रखी। अन्यथा, यदि श्रीमद्भागवत जैसे ग्रन्थको हम एकबार भी पढ लेते, तो हमें भगवान्‌के नामका माहात्म्य तो अवश्य ही समझमें आ जाता, हम फिर तो भूलकर भी भगवान्‌का नाम अपनी जिह्वासे नहीं हटाते।

भैया ! लोग समझते हैं कि शास्त्रोके वचन अर्थवाद हैं। वे नहीं सोचते कि इन वचनोको कहनेवाली भगवन्माता देवहूति हैं, जिन्होने इन अमृत-वचनोको जगत्‌के अशेष कल्याणकी भावनासे कहे हैं। जिन वचनोको महर्षि वेदव्यासने अपने समाधिपूत अन्त करणमें धारण करके प्रकट किया, वे अर्थवाद अथवा असत्य कदापि नहीं हो सकते। परन्तु हाय ! कलियुगी कालका कैसा विलक्षण प्रभाव है कि हम इन परम पावन मत्राक्षरोंको पढ़कर भी धारण नहीं करते, इनकी सुनकर उपेक्षा कर देते हैं ?

मेरा तो इतना ही कहना है कि हम कैसे ही रहें भजनको पकड़े रहें। मन नहीं लगे, तो कोई बात नहीं। स्थूल जिह्वाके द्वारा भगवान्‌का नाम लेनेसे विरत नहीं हों। मात्र एक हमारी इन्द्रिय, जिह्वाके भगवान्‌में लगनेसे ही सर्वेश्वर भगवान् हमारे पास आ जावेंगे। वे मात्र आवेंगे ही नहीं, अपितु पूर्ण सर्वतत्र स्वतत्र होते हुए भी वे नामके बलपर भजन करनेसे हमारे आधीन हो जावेगे। श्रीतुलसीदासजी महाराज अपने रामचरितमानस ग्रन्थमें कहते हैं :-

***सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ।।***

ये रामायणके वचन पूर्ण तत्त्व और सिद्धान्त-सम्मत हैं । और क्या कहूँ, सम्पूर्ण शास्त्र भगवन्नाम महिमासे भरे पडे हैं। कमी तो हमारी ही है, कि हमने नाम-चिन्तामणिको महत्त्वहीन मानकर उपेक्षासे त्याग रखा है। उसकी स्वीकृतिमें हमारी तत्परता ही अपेक्षणीय है।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - दस (१०)

# बेटी किशुनपियारीका भगवद्धाम-प्रवेश

*पत्र-लेखक :*

**प. पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीबड़के भैया**

**ग्राम, पो. फखरपुर (गया) (बिहार)**

*प्रेषण-स्थल :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम रतनगढ़ (बीकानेर)**

*दिनांक :*
**भादपद शुक्ला द्वादशी, सं. १९९७ वि.**

*प्राप्ति-सूत्र :*
**श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपिसे**

पूज्य बड़के भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने किशुनपियारीकी मृत्युके सम्बन्धमें लिखा। उसकी मृत्युके समय घरके सभी लोगोंने भगवन्नाम संकीर्त्तन किया, सो विश्वास रखना चाहिये, उसका निश्चय-निश्चय परम मंगल हुआ है।

यह बात सदा ध्यानमें रखें कि मृत्यु एवं जीवन, दोनोंपर नियत्रण रखनेवाले एकमात्र भगवान् हैं। नाम-भगवान् और नामी-भगवान्में कहीं किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। जहाँ भगवान्का नाम है, वहाँ भगवान्का आंशिक नहीं, पूर्ण प्रकाश है। यह हमारी श्रद्धाकी न्यूनता ही है कि हमें नाममे भगवान्का सम्पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। आप मेरी बात पर पूरा-पूरा विश्वास कर लें कि भगवन्नामके सान्निध्यमें हुई मृत्यु वैसी ही मंगलमयी है जैसी कि भगवान् रामके सान्निध्यमें उनकी गोदमें जटायुकी मृत्यु हुई थी। जैसे भगवान्की गोदमें मरते जटायुको भगवान् श्रीरामने अपने धाम, अपने पिता दशरथजीके पास भेज दिया था, वैसे ही भगवन्नामने भी किशुनपियारीको मरनेके पश्चात् उसी भगवद्धाममें पहुँचा दिया है, जहाँ जाकर कोई भी व्यक्ति पुनः जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं पडता। आपलोग मेरे विश्वासको अपना विश्वास नहीं बनावे, यह तो आप जानें, परन्तु मुझे तो इसमें कहीं कोई संशय नहीं है

कि किशुनपियारीकी भगवान्‌के नामने वही सद्गति की है, जो ऊँचे-से-ऊँचे सिद्ध भगवद्भक्तकी हो सकती है।

जिस महाभाग्यवान् प्राणीकी मृत्यु भगवन्नामकी गोदीमें हो, उसकी कितनी आनन्दमयी, सर्वमंगलकारी स्थिति है, इसकी कल्पना भी हम सबको नहीं है। हमने अभीतक कभी किसीकी भी वैसी मगलमयी परिस्थिति देखी नहीं है । हमे तो कभी ऐसे सौभाग्यका आशिक अनुभव भी नहीं हुआ है। हम इतने अभागे हैं कि हमने 'मगलमय' नाम-भर सुना है। हमने मंगल एवं आनन्दका अनुभव ही कहाँ किया है ? जैसे गुड़का नाम-भर सुननेसे गुडके स्वादकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार 'मंगलमय', 'शिव', 'कल्याणमय', 'आनन्दमय', 'सच्चिदानन्द' आदि नामोका श्रवण करनेसे ही उन भावोंकी कल्पना नहीं होती। जब भगवान्‌का परम मगलमय नाम लेते-लेते भगवत्कृपासे भाग्यवान् साधक उनकी विशुद्ध मंगलमयताका स्वाद चखता है, भागवती-आनन्दमें पूरा सिक्त हो जाता है, तभी उसे अनुभव होता है – भगवत्सान्निध्यकी परम मगलमयी एव घन-आनन्दमयी स्थिति कैसी होती है। किशुनपियारीकी मृत्यु में अमगलकी सर्वथा ही कल्पना नहीं करें, ऐसी मृत्यु ऋषिमुनियोंको भी दुर्लभ है।

हाँ, यदि हम चाहें तो स्वयं जीवित रहते हुए ही अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पितकर जीवन्मुक्ति-रूप मृत्युका आनन्द ले सकते हैं। सच्चे भगवत्प्रेमीजन इस जीवित मृत्युको वरणकर प्रभु प्रेममें छलकते रहते हैं। प्रेमियोका जीवन जहाँ प्रभु-प्रेममें छका व्यतीत होता है, उनकी मृत्यु भी उन्हें अपने प्रियतम प्रभुके निकट पहुँचानेवाली होती है।

अवश्य ही ऐसा लिखना-पढना आसान है, वास्तविक मृत्युको इस रूपमे वरण करना अत्यंत ही कठिन है। परन्तु सचमुच ही यदि हम भगवन्नाम एवं भगवत्कृपाको अपना संबल बना लें, तो हमारे लिये कुछ भी असभव नहीं है।

आपका

चक्रधर

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - इग्यारह (११)

# पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका छायावत् संग

*पत्र-लेखक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

**(प. पू. राधाबाबाके नामसे विख्यात)**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र**

**ग्राम एवं पो. फखरपुर (गया)(बिहार)**

*लेखन-स्थल :*

**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम एवं पो. रतनगढ़, (बीकानेर)**

*दिनांक :*

**आश्विन कृष्णा ४, सं. १९९७ वि.**

*प्राप्ति-सूत्र :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

पूज्य देवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । आप दोनों भ्राताओंके अत्यन्त प्रेम-भरे पत्र प्राप्त हुए। किशुनपियारीके निमित्तसे भागवत-सप्ताहके अवसरपर आप लोगोंने मुझे ग्राममें बुलाया, आप लोगोंद्वारा ऐसा करना परम स्वाभाविक ही है। मेरे प्रति आप सभी भाइयोंने जैसा प्रेम एवं त्यागका भाव सदा रखा है और उस सम्बन्धको जैसा अबतक निभाया है, उसकी तुलनामें मेरा आचरण सदा ही हेय एव तुच्छ ही रहा है। इसका कारण कुछ तो मेरी बाल्यावस्था रही एवं कुछ मूर्खता ही समझ लीजिये। यह बात मैं शिष्टाचार अथवा आपकी प्रसन्नताके लिये नहीं लिख रहा हूँ, अपितु ऐसी वस्तुस्थिति ही सर्वथा सदा रही है।

हम लोगोंने जिस प्रेमसे अपने जीवनके इतने दिवस बिताये, उस निस्वार्थी प्रेम-भावका पर्यवसान वास्तवमें भगवान्में ही निहित होना चाहिये। जगत्में किसीका भी किसीके प्रति प्रेम यदि भगवान्में उसे जोड़नेमें हेतु नहीं होता, वह प्रेम सुखान्त कभी नहीं हो सकता। सच्चे प्रेमका अर्थ ही है कि वह हमें भगवान्से एकमेक कर दे। यदि उसकी गति वैसी नहीं होती, तो वह प्रेम निरर्थक एवं दुःखान्त ही होगा। प्रेमके नामपर वहाँ अवश्य ही आत्मेन्द्रिय प्रीतिकी वासना ही काम कर रही है, इसलिये बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

जगत्में आज जो इतना दुःख, दैन्य, निराशा, विश्वासघात, स्वार्थपरता, नृशसता आदि बढ रही है, उसका मूल हेतु यही है कि भगवान्के अस्तित्वपर हमारा क्रियात्मक विश्वास ही उठ गया है। भगवान्के विषयमें हम लोग परस्पर कहते-सुनते हैं, दूसरोंको उपदेश भी देते हैं, परन्तु हमारा कहना-सुनना, उपदेश देना, सभी मात्र ऊपरी जिह्वा एवं कर्णेन्द्रियोंका व्यापार-भर रह जाता है। वह हमारा जीवन नहीं बनता। जो वस्तु हमारा जीवन नहीं बन पायी है, उसपर हमे सत्याशमे विश्वास कहाँ है ? जिनपर भी हमारा सत्यांशमे विश्वास है, वे हैं — बन्धु-बान्धव, पत्नी-पुत्र-परिवार, धन-मान-प्रतिष्ठा, खेत-खलिहान, इन सबके लिये ही हमारा जीवन समग्रतासे समर्पित हो रहा है।

मैं दूसरोंको तो उपदेश दूँ और स्वय अपने जीवनको अपने ही कथनके क्रियात्मक प्रयोगसे वचित रखूँ, यह धाँधलेबाजी एव दाभिक आचरण मुझे तो कदापि वाछनीय नहीं है। मैं तो सदासे इसी बातका पक्षधर रहा हूँ कि जबतक मैं भगवान्की सत्ताको पूरा नहीं मानता एवं जानता, मुझे उसका दूसरोको उपदेश कदापि नहीं करना चाहिये और जब मैं उनका उपदेश अन्यको कर रहा हूँ, तो फिर मेरा समग्र जीवन ही भगवान्के चरणोंमें पूर्ण समर्पित होना चाहिये। यदि इसके लिये मुझे सारे जगत्का त्याग करना पडे, तो प्रभु-विश्वासके लिये सब कुछका त्याग हँसते-हँसते कर देना चाहिये। जब मृत्यु किसी दिन अवश्यंभावी ही है, तो फिर इस त्यागमें हिचकिचाहट कैसी ?

जब भगवान्पर मुझे विश्वास करना ही है, तो सर्वतोभावेन पूरा ही करना है। भगवान्को अपने जीवनमें आंशिक रूपसे रखना मुझे सर्वथा स्वीकार्य नहीं है। यदि भगवान् हैं और वे हैं ही, तो वे मेरे जीवनमें फिर पूरे ही अवतरित हों। भगवान्के अतिरिक्त मेरे जीवनमें अन्य कुछ भी नहीं हो। मेरे सर्व ओर सब समय भगवान्-ही-भगवान् भरे रहे। मेरा उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना, सब कुछ भगवान्में ही हो। कुछ अंश जगत् एवं कुछ अंश भगवान् — यह मुझे कदापि स्वीकार्य नहीं है। ऐसी मेरी सदासे निष्ठा रही है।

आजके पाँच वर्ष पूर्व, जब मैं बाँकुडा जाकर सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे मिला था, तो उन्होंने मुझसे बातो-ही-बातोमे कहा था कि — "स्वामीजी ! मुझे ऐसा साधु आजतक देखनेमें नहीं आया, जिसके जीवनमें असत्से सामंजस्य नहीं हो। मैं चाहता हूँ कि आप अपने जीवनमें जिस भी वस्तुको असत् मान लें, उससे सामंजस्य कदापि नहीं करें। किसी निर्बलतावश वह असत् आचरण आपके जीवनमें बना रहे, यह कदापि नहीं हो। जब भगवान्का बल हमारे पास है, तो हमारे जीवनमें असत् क्यो रहे ?"

श्रीजयदयालजी-जैसे महान् कृपालु महापुरुषको उस दिन मैंने मन-ही-मन यही आश्वासन दिया था कि भगवत्कृपाके बलपर आप मेरा जीवन सौटच ऐसा ही पावेंगे, तो अपने जीवनकी सर्वतोमुखी भगवान्‌की ओर गति करनेके परम पवित्र उद्देश्यसे ही मैं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास यावज्जीवन रहनेका व्रत लिये हूँ और रह रहा हूँ ।

भगवान्‌की इच्छासे श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके साथ मेरा जीवन-व्यापी संग नहीं हो सके, एक क्षणके पश्चात् दूसरे क्षण क्या घटित होनेवाला है, इसकी सूचना तो मात्र जगन्नियन्ता प्रभुको ही होना संभव है। परन्तु जबतक जगन्नियन्ताकी मरजी ऐसी ही है, भाईजीको छोड़कर एक कदम भी इधर-उधर होनेका मेरा न तो संकल्प ही है, न ही मेरी रुचि।

ऐसे अवसर अनेकों बार आये हैं, जब सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका आग्रह मुझे अपने साथ रखनेका रहा। वे मुझे भाईजीके पाससे हटाकर सत्संग करवाने इधर-उधर भेजना चाहते थे। परन्तु सर्वथा इन्हीं विशुद्ध पारमार्थिक कारणोंसे बाध्य होकर मैंने उनसे प्रार्थना कर-कराके छुट्टी ले ली।

वैसे श्रीजयदयालजी भी असाधारण कोटिके महापुरुष है। श्री जयदयालजीके मेरे ऊपर अपार पारमार्थिक ऋण हैं। सच कहता हूँ कि मुझे उनके चरणोंमें सदा-सदाके लिये न्यौछावर ही हो जाना चाहिये। परन्तु, मैंने श्रीजयदयालजीके सदाग्रहको भी ठुकराकर अपने-आपको भाईजीके साथ जोड़ा है, इसमें अवश्य ही अनेक अलौकिक पारमार्थिक कारण हैं, जिन्हें मैं जीवनमें किसीको भी नहीं बता सकता। इन पारमार्थिक कारणोंसे ही मैं आपलोगोंके भागवत-सप्ताहके आमंत्रणको ठुकरा रहा हूँ। मैं इस अवसरपर फखरपुर नहीं आ पाऊँगा। मेरे फखरपुर नहीं आनेके व्रतमें विश्वास करें – अत्यन्त मंगल-ही-मंगल भरा है।

संभव है, मेरे इस पत्रसे आप लोगोंके प्रेम-भरे हृदयको ठेस पहुँचे। आप लोग मुझसे विशुद्ध पारमार्थिक भावसे ही मिलना चाहते हैं, मेरे साथ रहनेसे भजन-सत्संगमें आप सभीका उत्साह बढ़ेगा। ये सभी बातें सत्य हैं, परन्तु भगवान्‌ने सभीके लिये पृथक्-पृथक् रास्ते बनाये हैं। जिनकी कृपामयी प्रेरणासे आपलोग सुदुर्लभ श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा-सत्रका सुसंयोग प्राप्त करने जा रहे हैं, उनकी कृपामयी प्रेरणाने मुझे उससे वंचितकर भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार जैसे सन्तसे छायावत् जुड़े रहनेकी प्रेरणा दी है। प्रत्येक विधानमें हम भगवान्‌का मंगलमय वरद-हस्त देख सकें, तो हमें हँसी ही आयेगी।

विश्वास करें, श्रीभाईजीसे मेरा संग किसी भी लोक-व्यवहारके हेतुसे कदापि नहीं है। आप लोगोंसे नहीं मिलनेमें कोई लौकिक अड़चन हो, सो बात

भी नहीं है। बडे मजेमें श्रीभाईजी मेरे आने-जानेका टिकट कटा सकते हैं। परन्तु, सच्ची बात यह है कि न तो मैं कारण ही बता सकता हूँ और न ही श्रीभाईजीको छोड़कर मैं कहीं भी आ-जा ही सकूँगा। कल क्या होगा, इसका पता नहीं।

मैं पिछले किन्हीं पत्रोंमे यह बात लिख भी चुका हूँ कि श्रीभाईजीके अनुग्रहसे ही मुझे परमतत्त्वके परमसार भगवान्‌के सगुण-साकारस्वरूपका अनुभव हुआ है। कर्तुम्-अकर्तुम-अन्यथाकर्तुं समर्थ भगवान् जिसके अधिकारमें हो, जो अपनी सत्प्रेरणासे किसीको भगवत्प्रेम-दान करनेमें समर्थ हो, किसी भी मरणातुर व्यक्तिको जो हाथ पकडकर भगवान्‌के दर्शन दिलाकर उसे भगवद्धामकी यात्रा करानेमे समर्थ हो, आप लोग कल्पना कर लें कि ऐसे व्यक्तिके जीवन-व्यापी छायावत् सग रहनेकी मेरी कामना किस हेतुसे होनी संभव है ?

छोटका भैया, बड़के भैया आदि सभीको मेरा यही सन्देश दे दीजिये कि वे अति उत्साहपूर्वक श्रीमद्भागवत-कथा सुनें। श्रीमद्भागवत-कथा सुननेवालोंके लिए जो परमावश्यक नियम हैं, वे भी वे अवश्य पालन करे। श्रीमद्भागवत भगवान्‌का साक्षात् वाङ्मय स्वरुप ही है। अतः श्रीमद्भागवत-श्रवणके समय चित्तको स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब, घर-खेत-खलिहान, सबसे हटाकर भगवान्‌में लगा दे। ससारको सर्वथा असत्य एव शरीरको मृत्युके साथ ही लुप्त हो जानेवाला, क्षणभगुर, स्वप्नतुल्य समझते हुए एकमात्र भगवान्‌को ही सार-की-सार वस्तु समझे। मनमें निरन्तर भगवान्‌को बसाया रखें। श्रीमद्भागवत कथामें जहाँ भी भगवान्‌के परम मगलमय यश एवं चरित्रोंका वर्णन आवे, उन्हे पूर्ण एकाग्र-चित्तसे जैसे अपने समक्ष ही भगवान्‌की वह लीला हो रही है, इस भावसे उस लीलाको जीवन्त मानते हुए सुनें। जहाँ भगवान्‌के स्तुति-प्रसङ्ग आवें, उनमें भी पूर्ण एकाग्र चित्तसे सभी तात्त्विक रहस्योंको चित्तमें धारण करनेकी चेष्टा करें। जो भी तत्त्व-रहस्य समझमे नहीं आवें, उन्हें वक्तासे बार-बार पूछनेमें संकोच नहीं करें शंका-समाधानद्वारा अपनी सभी जिज्ञासाएँ निवृत्त कर लें। इसके उपरान्त कथा-श्रवणके पश्चात् जब भी विश्रामकाल हो, तो जो बातें कथामें सुनी हैं उनका पूर्णरूपसे पुनः पुन मनन करें। यदि कहीं शका रह जाती हो, तो उसका फिर दूसरे दिवस समाधान करें। इस प्रकार पूरे कथा-कालमें अखण्ड भगवान्‌का स्मरण रहे, एक क्षण भी उससे विमुख एवं विरत नहीं हों। यदि इस प्रकार कथा-श्रवण की जायेगी तो सभी श्रोताओंका निश्चय ही जीवन धन्य हो जायेगा और वक्ता भी कृतकृत्य हो जावेंगे। सत्याशमे मेरी परिस्थितिको, बातको समझना भगवत्कृपा-सापेक्ष है। मैं बार-बार अपनी अवहेलनाओंसे आपका हृदय चूर-चूर करता रहा हूँ, अतः क्षमाप्रार्थी हूँ ।

**आपका - चक्रधर**

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या- बारह (१२)

# पूज्या माँकी सच्ची सेवा

*पत्र-लेखक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

**(पू. श्रीराधाबाबा)**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीतारादत्त मिश्र**

**ग्राम. पो. फखरपुर (गया) (बिहार)**

*लेखन-स्थल :*

**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर)**

*दिनांक :*

**आश्विन कृष्णा, अष्टमी, सं. १९९७ वि.**

*प्राप्ति-सूत्र :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्रसंग्रहकी कापीकी प्रतिलिपि**

पू. तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला । भैया ! माँके विशुद्ध प्यारकी स्मृति मेरे चित्तमे कितनी ही बार उठती है, फिल्मकी तरह मनपर चित्र बन जाते हैं। मैं अपनी उस समयकी व्यथा किसीके भी सम्मुख प्रकट नहीं कर सकता। मुझे माँकी ओरसे मात्र शुद्ध प्रेम-ही-प्रेम मिला और मैं तो उसे बार-बार घोर तिरस्कृत ही करता रहा। मेरे चित्त-पटलपर इस प्रकारकी अनेकों घटनाएँ जब उभरती हैं, उस समय मेरी कैसी दशा होती है, मैं समझा नहीं सकता। मेरे अन्दर उन दिनो लडकपना था, मूर्खता और प्रमादवश ही कहें – सचमुच ही मुझसे माँकी लौकिक सेवा बन नहीं सकी।

भैया ! आपके पत्रका एक-एक अक्षर सत्य है। मैंने माँका सबसे अधिक दूध पिया, सबसे अधिक प्यार पाया है। आज वह मुझसे मात्र मिलनेके लिये, मुझे देखनेके लिए तरस रही है, उसकी शरीर-दशा रुग्णताके कारण अत्यत नाजुक है, सभव है, यह उसकी अन्तिम-दशा ही हो, परन्तु मेरा दृढ निश्चय है कि मैं ऐसी हालतमे भी उससे मिलने नहीं ही आ पाऊँगा। निश्चय ही, मेरा यह व्यवहार आप सभीकी दृष्टिमे, साथ ही ग्रामवासियोंकी दृष्टिमे भी – नीचतासे

भरा हुआ, निर्दयी, मातृघाती एवं घृण्य होगा। मेरे इस महानीच कृत्यकी मैं कोई सफाई दे सकूँ और वह सभीके गले उतर जाय, यह मेरा व्यर्थ प्रयास ही होगा।

मेरे इस व्यवहारको देखकर कुछलोग मुझसे घृणा कर सकते हैं, कुछलोग मेरी ऊपरी यति-धर्म-जन्य रहनीसे प्रभावित हुए मेरी प्रशंसा भी कर सकते हैं। परन्तु वे सब भी अंधेरेमें ही अपना-अपना अनुमान करेंगे। मेरे माँके पास न आनेका वास्तविक कारण तो उन्हें अज्ञात ही रहेगा। मुझे तो प्रशंसा और निन्दा दोनों ही सिर नवाकर स्वीकार करनी है।

आप मुझे इतना स्नेह करते हैं कि मेरी बातोंपर बालकपनसे ही आपको अटूट विश्वास है। आपके निश्छल, निष्कपट पत्रको पढकर कुछ सैद्धान्तिक बातें मात्र लिख रहा हूँ । परन्तु ये बातें, जो मैं लिख रहा हूँ, मेरे माँसे नहीं मिलनेका कारण सर्वथा नहीं हैं। ये बातें तो मैं आपके परम सुकोमल हृदयको कुछ शान्ति पहुँचानेके उद्देश्यसे ही लिख रहा हूँ।

मैं एवं माँ – दोनों ही न जाने कितने कालसे इस माया-चक्रमें पडे अनन्त यातनाएँ भोग रहे थे। माँकी शारीरिक सेवा भी अनन्त जन्मोमें अनेक पुत्रोंने अवश्यमेव की भी हो सकती है। इस जन्ममें मेरेद्वारा न सही, आपकेद्वारा माँकी भरपूर नहीं, तो आंशिक सेवा तो अवश्य हुई ही होगी। परन्तु उसकी आध्यात्मिक सेवा किसीके भी द्वारा किसी भी जन्ममें आज तक नहीं ही हो सकी है। यदि यह सेवा हुई होती, तो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे श्रीमद्भगवद्गीताकी इस वाणीके अनुसार उनका फिर जन्म कदापि नहीं होता –

*"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्*
*नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।*

"मुझे प्राप्तकर महात्मा लोग परम-गतिरूपा महासिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं और उनका इस दुःखालय एवं क्षणभगुर संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता।

भैया ! मैं इतनी बडी बात आपको अपने मुखसे अपनी प्रशंसाके रूपमें कैसे कहूँ, परन्तु प्रभु-कृपा इस रूपमें भी तो होनी संभव है ही कि उनकी परम पावन कृपामयी दृष्टि माँपर पडी हो और वे माँको अपने पास बुलानेमें हेतुरूपमें मुझे ही निमित्त बना रहे हों। और ऐसा होना भी तो संभव है कि इसी निमित्तसे प्रभु मुझे फखरपुर जाकर माँसे मिलनेका निषेध कर रहे हों। उस अवस्थामें अपने मोहवश मैं प्रभुके इस पुनीत आदेशको ठुकराकर फखरपुर चला जाऊँ, तो मेरे जैसा अभागा मातृघाती और कौन होगा ? अभी अधिक-से-अधिक आप एव ग्रामके परिजन ही मुझे कृतघ्न, कठोर एवं ढोंगी कहेगे, परन्तु आप लोगोंके इन दुर्निवार आक्षेपोंको सुनकर भी कहीं श्रीकृष्ण मुझे स्वीकार कर ले और मेरे

हेतुसे माँको परमगति प्रदान करते हुए अपने धाममें अपनी सेवा प्रदान कर दे, तो मैं कितना असीम भाग्यवान् होऊँगा, यह बात मैं सर्वथा भूल नहीं गया हूँ। परन्तु, अब हृदयमें ऐसी बात ही जड पकड रही है कि "हे परम कृपालु स्वामिन्! मूर्खता एवं अभिमानवश मैंने बहुत-सी मूर्खताएँ की हैं, अनेक वचन दे दिये हैं। अब भी अभिमानवश बहुत-सी अहंकारभरी बातें करता रहता हूँ। परन्तु, मेरे नाथ ! तुम जिस विधानसे प्रसन्न होओ, वही विधान हम सभीके लिये हो, मेरी सभी प्रतिज्ञाएँ तोडनेमें ही यदि आपकी प्रसन्नता हो, तो हे प्रभो ! आप अति निर्ममतापूर्वक उन्हें तोड़ डालो। मेरे पूरे अभिमानको चूर-चूर कर डालो। इसी क्षण मेरे अहंको चूर-चूर कर दो। आपकी मंगलमयी इच्छा पूर्ण हो।"

"नाथ ! मेरी बुद्धिका क्या ? वह आपकी इच्छाको परम अमंगलमयी भी मान सकती है, तब भी आपकी वह परम अमंगलमयी इच्छा भी अवश्यमेव पूर्ण हो। अन्तर्यामिन् ! आपसे कभी कुछ भी छिपा नहीं रह सकता। हो सकता है, मेरी यह प्रार्थना भी सच्चे हृदयसे नहीं की गयी हो, क्योंकि हृदय अपने मनके प्रतिकूल विधानको सहर्ष स्वीकार करनेको कदापि प्रस्तुत नहीं होता। परन्तु आप अनन्त कृपामय हो। मेरी इस मौखिक प्रार्थनाके आधारपर ही मनमानी कर लेना । प्रभो ! करना वही जिसमें आपकी पूर्ण रुचि एवं प्रसन्नता हो। प्रभो ! मैं ऐसा ही बनूँ कि आपकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता सदा रहे।"

आप कह सकते हैं कि प्रभु परम दयालु हैं, वे किसीकी तरसती माँसे नहीं मिलनेकी निर्दय इच्छा कदापि नहीं कर सकते तो आप यही समझ लीजिये कि मैं प्रभुकी इच्छाके नामपर अपने किसी अहंकारका ही पोषण कर रहा हूँ। परन्तु मेरी यह भूल भी तभी सुधरेगी जब मेरे उर-प्रेरक राधाकृष्ण मेरी भूल मिटायेंगे। अभी तो मेरी मन-बुद्धि यही निर्णय कर रही है कि मैं मेरे प्रिया-प्रियतम् राधाकृष्णकी इच्छाका ही अनुसरण कर रहा हूँ और इससे मेरा और माँ दोनोका अशेष मंगल है।

कभी साक्षात् मिलनेपर इस संबधमें अनेक बातें कहनेका विचार है, परन्तु यह बात भी विचारणीय है कि मेरी बातोंको आप समझ सकेंगे या नहीं। प्रभु-कृपाके बिना सुनी-समझी बात भी चित्त ग्रहण नहीं करता।

महात्माओंसे हम लोगोंने न-जाने कितनी ही बार सुना है कि विश्वके अणु-अणुमें प्रभुका निवास है, ऐसी कोई भूमि ही नहीं जहाँ प्रभु नहीं हों। महात्मालोग मात्र ऐसा कहते ही हों, सो भी बात नहीं। उन्हें तो साक्षात् सत्य एवं सर्वत्र भगवान्के दर्शन होते हैं। परन्तु क्या उनकी सर्वथा सत्य-की-सत्य बात सुनकर भी हम उनके इस कथनका मर्म ग्रहण कर पाते हैं ? यदि हमारा

चित्त उनके इस कथनका पूरा-पूरा मर्म ग्रहण कर पाता, तो हमें भी तत्क्षण इस जगतमे परिपूर्ण भगवान्‌के दर्शन होने लग जाते। ऐसा क्यों नहीं होता, इसका वास्तविक कारण तो प्रभु ही जानें, परन्तु महात्मालोग इसका स्थूल कारण यही बताते है कि अन्त करणकी मलिनतावश उसमे सत्यके मर्मको ग्रहण करनेकी योग्यताका अभाव हो जाता है। स्वच्छ अन्त करणमें ही सत्यके प्रकाशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य होती है। सत्य वस्तु एक परमात्मा ही है, परन्तु ग्रहण-शक्तिकी मलिनतासे वही परमात्मा जगत्‌रूपमें भासित हो रहा है।

मुझे यही सकोच है । प्रभु-कृपासे मेरे हृदयमें जो भी कृपाका मर्म प्रकट हुआ है, इस सम्बन्धमें मैं किसीको भी कुछ कहूँ, तो मेरे शब्द तो भले ही कोई कानोमें डाल ले, परन्तु वास्तविक स्थिति तो वह तभी समझ सकता है जबकि ठीक भगवान्‌ने मुझे जहाँ रख छोडा है, वहीं उसे भी ले जाकर रख दें। साराश यही है कि साक्षात् मिलनेके समय वार्त्तालाप करते समय तो भले ही मैं थोड़ी-सी आशा कर लूँ कि आपको मेरे मनकी स्थितिका आशिक प्रकाश मिल जाए, पत्राचारसे तो वह बात समझायी जा ही नहीं सकती।

अन्तमें एक बात कहकर यह पत्र समाप्त कर रहा हूँ। मैं अपने प्राणोंकी पूरी शक्ति लगाकर अपने हृदयमें उमड़ते माँके मोह-ममताके भावोंको निर्ममतापूर्वक कुचल रहा हूँ। वे महाकृपालु प्रभु ही मुझे संबल देकर अपनी इच्छाके साँचेमें ढाल रहे हैं, अन्यथा मैं इतना कठोर आचरण कर ही नहीं सकता था। भैया ! मैं मानता हूँ कि माँको मेरा वियोग असह्य है, किन्तु यदि मैं श्रीकृष्णका भजन करता हुआ उनके चरणोमें न्यौछावर हो गया, तो माँकी अपने-आप ऐसी सेवा हो जायेगी कि माँ बिना परिश्रमके ही उस नित्य सुखको प्राप्त कर लेगी – जैसा सुख मेरी अनन्त जन्मोंकी सेवासे भी वह कदापि प्राप्त नहीं कर पाती। वे मुझे आशीर्वाद दें कि मैं भगवान् राधाकृष्णकी सेवामें समर्पित हो जाऊँ और उनका गर्भधारण सफल हो।

आपके हृदयको यदि कोई ठेस इस पत्रसे लगी हो, तो क्षमा करेंगे ।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - तेरह (१३)

# भगवन्नाम-महिमा एवं नामीसे नामकी एकता

*पत्र-लेखक :*

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*(प. पू. श्रीराधाबाबा)*

*पत्र-प्रेषिति :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र

ग्राम एवं पो. फखरपुर (गया) (बिहार)

*लेखन-स्थल :*

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम, पो. रतनगढ (बीकानेर)

*दिनांक :*

उल्लेख नहीं

*प्राप्ति-सूत्र :*

श्रीदेवत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

पूज्य देवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । सन्त लोग भगवान्‌के नामकी तुलना देवमणि पारस पत्थरके साथ करते हैं, परन्तु सच्ची बात यही है कि भगवान्‌का नाम इतना अनमोल है कि उसकी तुलना किसी त्रिगुणात्मक-जागतिक अथवा देवजगत्‌के दिव्य पदार्थसे हो ही नहीं सकती। भगवान् और भगवान्‌का नाम दोनों ही चिन्मय हैं। नाम एव नामीमे अभेद है, यह बात सर्वसाधारणकी समझमे नहीं आ सकती। बडे-से-बडा पढा-लिखा पंडित भी नामको प्राकृत प्राणोंके संघातसे उत्पन्न, मात्र शब्द ही मानेगा। शब्द तो जड शरीरके द्वारा ही उच्चारित होता है, फिर चाहे वह कोई गाली हो अथवा राम, कृष्ण, दुर्गा, शिव, विष्णु, नारायणादि कोई भगवान्‌का नाम। विद्वान् तो भगवान्‌के नामको इतना ही महत्त्व देते हैं कि यह भगवद्वाची होनेसे भगवद्धारणामें हेतु अथवा प्रेरक-भर हो सकता है। विद्वानोंको तो यह भी समझमे नहीं आता कि भगवानका विग्रह (शरीर) लौकिक नहीं है। इसीलिये वे उसे मायोपाधिक मानते हैं। अनेक लोग प्राकृत शरीरधारी-गुरुको भी भगवान् मान लेते हैं। वे गुरुके प्राकृत शरीर और भगवान्‌के विग्रहको समान मानकर उनसे अपने गुरुके प्राकृत शरीरकी एक

समझने लगते हैं।

परन्तु जब भजन करते-करते चित्त अति शुद्ध हो जाता है और भगवत्कृपाका प्रकाश होने लगता है, तभी यह बात सही रूपमें गले उतरती है कि भगवान्‌का सगुण-साकार स्वरूप समग्र रूपमें पूर्ण चिन्मय एवं अप्राकृत है। विग्रहके साथ ही भगवान्‌का प्रत्येक रोम भी पूर्ण भगवान् है। भगवान्‌का तेज परब्रह्म परमात्मा है और जिस प्रकार भगवान्‌का सगुण-साकार रूप चिन्मय है, उसी प्रकार भगवान्‌का नाम, भगवान्‌के गुण, उनकी लीला एव धाम भी पूर्ण चिन्मय हैं।

उसी समय यह रहस्य भी प्रकट होता है कि भगवान्‌का नाम भी भगवान्‌के स्वरूपके समान ही सर्वकर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं समर्थ है। मृत्युके समय जो सद्गति एव जो प्रभाव भगवान्‌के साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देनेसे सम्भव है, वही सांगोपांग प्रभाव एव सद्गति भगवान्‌का नाम भी देनेमें समर्थ है।

उसी समय यह भी अनुभव होता है कि हमारे मुखसे निकला प्रत्येक भगवान्‌का नाम, चाहे वह भाव-कुभाव, आलस्य, एवं प्रमादमे ही निकला हो, उसने हमको उसी प्रकार भगवत्सत्तासे एकमेक किया है, जैसे साक्षात् भगवान् हमको अपना दर्शन देकर एकात्म करते। नामकी भी वही महिमा, वही प्रभाव, वही फल, वही तत्त्व, वही रहस्य है — जो साक्षात् भगवान्‌के दर्शनका है।

मान लो, हमें साक्षात् भगवान् दर्शन दे जावें और अज्ञानवश उन्हें नहीं पहचाननेके कारण दर्शनके समय संयुक्त होकर भी जैसे हम अपनेको उनसे असंयुक्त ही अनुभव करते रहे, उसी प्रकार अश्रद्धा एवं नाम-महिमाको नहीं जाननेसे एव मध्यमें अज्ञानका, अपरिचयका आवरण आ जानेसे ही हम भगवन्नामका अनवरत जप करते हुए भी नाम-भगवान्‌की चिन्मयता और नामजन्य अनन्त आनन्दको अनुभव नहीं कर पाते।

बहुत-सी भक्त-गाथाओमें ऐसी घटनाएँ आती हैं कि साक्षात् भगवान् प्रकट होकर उनका कार्य कर जाते हैं, परन्तु भक्त उन्हें अपरिचयवश साधारण मनुष्य मान बैठते हैं। इस अपरिचय-अवस्थामें साक्षात् भगवान्‌का भी प्रभाव एव माहात्म्य जैसे छिपा रह जाता है, उसी प्रकार अपरिचय एवं माहात्म्यपर श्रद्धा-विश्वास नहीं होनेसे भगवान्‌के नामका प्रभाव भी हमारे सम्मुख प्रकट नहीं हो पाता है।

इसे इस सच्ची घटनाके संदर्भमें सम्यक्-प्रकारसे समझ लें।

वृन्दावनमें एक बहुत ही उच्चकोटिके त्यागी महात्मा रहते थे। वे वास्तविक विरक्त थे और भगवद्भजनमे इतने डूबे रहते थे कि उन्हें भोजनकी सुधि ही नहीं रहती थी। एक दिवस उन्हें भगवत्कृपासे एक पारस पत्थर प्राप्त हो गया। उन

परम-विरक्त महात्माको भगवद्भजन छोड़कर उस पारससे क्या मोह होता ? उन्हें शरीर एव इन्द्रियोके विषय तो चाहिये थे नहीं। कुटियामें भगवद्भजन तो उनसे हो ही रहा था, अत उन्होंने अत्यंत उपेक्षासे उस पारस पत्थरको देव-मणि मानकर एक लोहेकी डिबियामे एक कपड़ेका बिछौना-सा बनाकर रख दिया। वे तो उसकी ओर ताकते-झाँकते ही नहीं थे। व्रजवासियों द्वारा प्राप्त रूखी-सूखी भिक्षासे ही वे पूर्ण संतुष्ट थे। इधर भजन करते-करते महात्मा वृद्ध एवं रुग्ण हो चले। उन्हे शरीर-सेवाकी आवश्यकता हो गयी। भगवान्को तो भक्तोंके योगक्षेमकी चिन्ता होती ही है। महात्मा तो परम विरक्त थे। वे रुग्णताके कारण शारीरिक असमर्थतावश न तो भिक्षा करने ग्रामवासियोंके घरोंतक जा सकते थे, न ही यमुनाजीसे पीनेके लिये जल ही ला पाते थे। बिचारे भूखे-प्यासे ही बैठे-बैठे भजन करते रहते। अब भगवान्के लिये भक्तका कष्ट असह्य हो गया। कुछ समयतक तो भगवान्को सेवकका रूप रखकर महात्माजीकी स्वय सेवा करनी पडी। अब प्रभुने महात्माजीकी स्थायी सेवा-व्यवस्था करनेकी ठानी। उन्होंने एक लोभी, परन्तु भगवद्भक्तको स्वप्नमे प्रकट होकर आदेश दिया कि इन परम विरक्त महात्माके पास पारस पत्थर है, तू इनकी सेवाकर और इनकी कुटियासे पारस पत्थर चुरा ले। ये तो परम विरक्त रुग्ण-शरीर हैं, तू इनकी सेवाके बहाने, इनकी कुटियामें खोज कर ले और पारस पत्थर प्राप्त कर ले। स्वप्नमें भगवान् द्वारा आदेश पानेसे उस लोभ-परायण व्यक्तिको पूरा विश्वास हो गया कि महात्माजीकी सेवासे वह निहाल हो जायेगा। वह व्यक्ति महात्माजीकी निकटता प्राप्त करनेके लिये बहुत ही मनोयोगपूर्वक उनकी सेवा करने लगा। महात्माजीको सेवककी आवश्यकता तो थी ही, उन्होने उसपर सरलतासे पूरा विश्वास कर लिया। उसने महात्माजीकी सेवा ऐसे मनोयोगपूर्वक की कि महात्माजी भी उसपर पूरे प्रसन्न हो गये। अब महात्माजी जब शौच क्रियाके लिये वनमें जाते तो वह सेवक महात्माजीकी कुटियाकी सफाईके बहाने पूरी तलाशी लेता। अनवरत अनेक वर्षोंतक चेष्टा करनेपर भी उस व्यक्तिको महात्माजीकी कुटियामें पारस पत्थर ढूँढनेपर भी नहीं मिला।

इधर महात्मा उस व्यक्तिकी सेवा तो ले रहे थे, परन्तु वे उसकी गतिविधिपर तीक्ष्ण दृष्टि भी रखे हुए थे। उन्हे आश्चर्य हो रहा था कि इतने वर्षोंसे लगातार सेवा करते रहनेपर भी इस व्यक्तिका चित्त शुद्ध होकर इसकी भजन-रुचि क्यों नहीं बढ रही ? उस व्यक्तिकी सेवामें उन्हें कहीं चूक भी नहीं दिख रही थी। इस प्रकार रात-दिन अनवरत, अथक एवं निस्स्वार्थ सेवा करनेपर निश्चय ही मलिन-से-मलिन प्राणीकी भी चित्त-वृत्ति शुद्ध होकर उसकी प्रवृत्ति भजनोन्मुखी

हो जानी ही चाहिये थी। परन्तु इस व्यक्तिके भीतर कोई परिवर्तन न देख, वे आश्चर्य करने लगे।

एक दिन महात्माने अनुकूल अवसर पाकर उस सेवकको पूछ ही लिया। वे कहने लगे – "बेटा ! तू बिना स्वार्थके मेरी अनवरत, अथक सेवा कर रहा है, तू सदा जागरूक एव प्रमादहीन रहता है और इतने वर्षोंसे लगातार मेरे पास है, फिर भी तुझे मेरी सेवाका फल क्यों नहीं मिल रहा ? भगवद्भजनमे तेरी तनिक-सी भी प्रवृत्ति जब नहीं हो रही, तो मेरी सेवाका तुझे फल ही क्या मिला ? सच बता, तू कौन है और किस हेतुसे मेरे पास आया है ?"

सच्चे महात्माकी सेवा सर्वथा व्यर्थ तो जा ही नहीं सकती थी, उस व्यक्तिका थोडा चित्त तो शुद्ध हुआ ही था, अत उसने निश्छलरूपसे महात्माजी के सम्मुख अपना मतव्य प्रकट कर दिया। उसने कहा – "महाराज ! मैं तो आपकी कुटियासे पारस पत्थर चुराने आया था। मैंने, जब भी अवसर मिला, आपकी कुटियाका कोना-कोना छान मारा, परन्तु महाराज आपने पारस पत्थर कहॉ छुपा रखा है, मैं अबतक बार-बार प्रयत्न करनेपर भी नहीं जान सका। मुझे पूर्ण विश्वास है, मुझे जो स्वप्न हुआ था, वह असत्य कदापि नहीं हो सकता। मैं चौबीसों घण्टे पूर्ण जागरूक सजग रहा कि कभी तो आप छिपाये हुए पारस पत्थरको स्वय भी देखेंगे, सॅभालेंगे। परन्तु आपने उसे कभी टटोला, सभाला नहीं। महाराज ! मैं तो चोर हूँ ही, परन्तु आप भी वस्तुओको छुपानेमे इतने कुशल हैं कि मैं आपसे हार मान गया।"

महात्मा उस व्यक्तिकी बात सुनकर हॅसने लगे। उन्होने कहा – "भैया ! पारसकी मुझे आवश्यकता तो तब होती, जब मुझे शरीरके भोगोंकी स्पृहा होती, यह मेरे कामकी वस्तु ही नहीं थी। मुझे तो भगवान्‌का भजन प्रिय है और पारस तो उसमें बाधक ही होता, अत मैंने उसे निरर्थक मानकर इस लोहेकी डिबियामे बिना छुपाये ही रखा है, इसे छुपाया कहॉ है ?"

चोरको महात्माजीकी बात सुनकर और भी हॅसी आयी। उसने कहा- "महाराज ! आप महात्मा होकर भी असत्य बोलेगे, यह तो मुझे विश्वास ही नहीं था। क्या आपको भी धोखा ही हुआ है ? यह पारस भला कैसे होगा, यह तो लोहेकी डिबियामें रखा है ? पारससे तो लोहेका स्पर्श होते ही वह स्वर्ण हो जाता है। महात्माजीने पुन मुसकाते हुए उस डिबियाको उठाया और कपड़ा हटाकर उस पत्थरसे लोहेकी डिबियाका संस्पर्श कराया, तत्क्षण ही वह लोहा स्वर्णमें परिवर्त्तित हो गया। अब तो महात्माजी और वह सेवक दोनों ही हॅसने लगे। महात्माजीने पुनः उस सेवकको सम्बोधित करते हुए कहा– "बेटा ! जैसे

इस कपड़ेकी छोटी-सी गद्दीके आवरणसे यह पारस लोहेके वर्षोतक साथ रहकर भी इसे स्वर्ण नहीं बना पा रहा था, उसी प्रकार इस पारसकी चाहके कारण इतने दिवस मेरे साथ रहकर मेरी सेवा करता हुआ भी तू भगवान्की भक्ति प्राप्त नहीं कर पाया।"

अत भैया ! ठीक समझ लीजिये। भगवन्नाम इसी प्रकार हमें भगवान्से मिलानेकी अमोघ सामर्थ्य रखता है, नाम स्वयं भगवान् ही है, परन्तु नाम लेते हुए भी नाम-भगवान्को साधारण शब्द मान लेनेके कारण हमारे चित्तपर नामका प्रभाव प्रकट नहीं हो पाता; नाम एव नामीकी एकताके तत्व-रहस्यका ज्ञान और उसपर श्रद्धा नहीं होनेसे नाम तत्काल ही हमें भगवद्मिलनका सुख नहीं दे पाता। इस भ्रम एवं अश्रद्धाका आवरण ज्योंही हमारे चित्तसे हटा, हम अपनेको भगवान्के परम निकट ही अनुभव करेंगे। पारसके निरावरित स्पर्शने जैसे लोहेको तत्क्षण स्वर्णमें रूपान्तरित कर दिया – भगवान्का नाम भी भगवान्का साक्षात् स्वरूप ही है – ऐसा समझमें आते ही नाम हमें तत्क्षण ही भगवान्से संयुक्त कर देगा।

नाम-भगवान् हमारी स्थूल जिह्वा-इन्द्रियको ही, शब्द होनेके नाते संस्पर्श करते हैं, क्योंकि हम उन्हें मात्र शब्द मान रहे हैं। मात्र शब्द समझनेके कारण शब्द ही हमारे सम्मुख प्रकट होता है, भगवान् प्रकट नहीं होते। यद्यपि कालान्तरमें यह शब्द भी क्योकि भगवद्वाची है, हमारे भगवान्के चिन्मय मिलनका हेतु हो जायेगा। परन्तु वर्तमानमें तत्क्षण भगवान्का प्राकट्य हमारी अश्रद्धाके कारण नहीं हो पाता। इस विश्वासहीनता एवं अश्रद्धाको भी नाम-भगवान् ही दूर करेंगे। नाम रटते-रटते हमारे अविश्वासकी परतें क्रमश क्षीण होती जावेगी तथा एक दिवस जीवनमें ऐसा अवश्य आवेगा, जब नाम स्वतः पूर्ण विश्वासको प्रकट कर देगा। विश्वासके प्रकट होते ही नाम स्वयं ही भगवान्के रूपमें अपनेको प्रत्यक्ष कर देगा। वह भगवान् तो आज भी है, कल भी था एवं आगे भविष्यमें भी रहेगा। उसके वस्तुगुणमे कहीं कोई न्यूनता न थी, न है, न ही रहेगी। न्यूनता मात्र हमारे विश्वासकी है। अविश्वासका आवरण हटा नहीं कि नाम-प्रभाव व्यक्त हुआ।

विचार करें, सूर्य पृथ्वीसे अनन्तगुना महान् है, उसे एक छोटा-सा बादल कदापि ढक नहीं सकता। परन्तु बादल हमारे नेत्रोंको तो आवरित कर ही सकता है। बादलका आवरण हमारे नेत्रपर आनेसे हमें जैसे सूर्य ढका हुआ अनुभव होता है, उसी प्रकार भगवान् इतने सत्य है कि उनपर कोई भी अविश्वास प्रभावी हो ही नहीं सकता। परन्तु अविश्वास भगवान्पर आवरण

डालनेमें असमर्थ होता हुआ भी हमारी बुद्धिको तो भ्रान्त कर ही देता है। भ्रान्त हो जानेसे हमारी बुद्धि साक्षात् भगवान्‌के प्रति भी सन्देहग्रस्त हो जाती है।

अत नाम रटनेसे अपने अन्तःकरणकी ही भ्रान्ति, उसका अविश्वास ही हमे हटाना है, अन्तःकरण शुद्ध होते ही विश्वास स्वतः प्रकट हो जायेगा। विश्वासके उदय होते ही नाम तत्क्षण भगवान्‌को प्रकट कर देगा, क्योंकि भगवान् तो वह है ही।

भैया ! सच्ची बात यह है कि भगवान् सर्वत्र हैं, वे हमारे सम्मुख सदा नित्य-प्रकट हैं, परन्तु हमारी मलिन अन्तःकरणकी वृत्तियाँ, अविश्वासके कीचसे सनी आँखें, उन्हें देख नहीं पातीं। जैसे ही यह अविश्वासकी कीच आँखोंसे हटी, अनन्त-कोटि सूर्योंको भी अपने स्व-प्रकाशसे प्रकाशित करनेवाले भगवान् हमारे सम्मुख व्यक्त हो जावेंगे।

अत भैया ! किसीको भी तनिक भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। बिना किसी घबडाहटके नाम-वाहनमें चढ़कर दौड़ पड़ें और भगवान्‌को प्राप्त कर सदा-सदाके लिये निहाल हो जावें !

**आपका**
**चक्रधर**

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - चौदह (१४)

# सकल लोकमाँ सहुँनें वन्दे

*पत्र-लेखक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्र**

**माहेश्वरी-विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता**

*लेखन-स्थल :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,**
**ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर)**

*दिनांक :*
**६ दिसम्बर, १९४०**

*प्राप्ति-सूत्र :*
**श्रीदेवदत्तजी मिश्रके**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने अकालकी भीषण स्थितिका चित्रण करते हुए परिवारमें बहनोंकी दु:खद स्थितिका वर्णन किया। उनके पास नहरी-जमीन नहीं होनेसे उन्हे तीन-तीन दिवस भूखे रहना पडता है, पत्रमे सारा समाचार पढ़कर चिन्ता हुई।

वैसे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, गीताप्रेस द्वारा अकाल-पीड़ितोकी पर्याप्त सेवा करते हैं और मेरे तनिक-सा सकेत कर देनेपर, निश्चय ही सहायताकी पर्याप्त राशि बहनोके पास जा सकती है, परन्तु भैया ! मैंने तो आपका पत्र विश्वंभर श्रीहरिके ही चरणोमे रख दिया है। मैं भाईजीको किंचित् भी लौकिक-स्वार्थकी गंध भी नहीं देना चाहता और आपसे भी मेरा यही विश्वास-भरा निवेदन है कि चाहे सारा परिवार भूखसे तड़प-तड़पकर मर जाय, आप या अपने परिवारका कोई भी प्राणी श्रीभाईजीको इसकी गंध भी नहीं लगने दे।

भैया ! विश्वास करे, सुख-दु:खरूपमें अपने ही कर्मोका फल प्राप्त होता है। अत: भीषण कष्टको भी प्रभुकी अनुकम्पा मानकर सह लें ।

इस सम्बन्धमें महाभारतशास्त्रमें दो प्रसङ्ग बहुत ही सुन्दर आये हैं।

पहला प्रसङ्ग श्रीभीष्मपितामहका है। श्रीभीष्मपितामह शर-शय्यामें पड़े मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उस समय उनसे पूछा गया कि महाराज ! आप तो महान् धर्मात्मा रहे, आप पूर्वजन्ममें अष्टवसुओंमेंसे एक वसु थे। आप परम पवित्रात्मा भगवती गंगाके पुत्र हैं, आपको यह शर-शय्याका कष्ट किस कर्मके हेतुसे मिला है ?

इसपर श्रीभीष्मजीने उत्तर दिया कि "पूर्वजन्ममें मैंने राह चलते हुए एक सर्पको धनुषकी नोकसे राहसे हटाते समय थोड़ा-सा प्रमाद कर लिया था। मेरे धनुषकी नोकसे फेंका गया वह सर्प एक काँटोंकी झाडीमें गिर गया और वहाँ वह तीखे काँटोसे पूरी तरह छिद गया। उसी कर्मके फलस्वरूप मुझे यह कष्ट भोगना पड़ रहा है।"

सुख-दु खरूपमे अपने ही कर्मोका फल प्राप्त होता है, इस सम्बन्धमें एक बडी सुन्दर घटना और है। महाभारत-युद्ध समाप्त होनेके बाद एक दिवस धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा – "श्रीकृष्ण ! इस जन्मसे पिछले सौ जन्मोंकी बातें तो मुझे स्मरण हैं। मैंने अबतकके सौ जन्मोंमें, किसी भी जन्ममें कोई ऐसा उग्र पाप नहीं किया, कि जिसके फलस्वरूप मेरे समक्ष मेरे सौ बेटोकी मृत्यु हो जाय। फिर मैं क्यों इस प्रकार जीवित रहकर मेरे पुत्रोंकी मृत्युका शोक भोग रहा हूँ ?"

इसके उत्तरमे भगवान्ने धृतराष्ट्रसे कहा – "सौ जन्मोंके भी पूर्व एक जन्ममें तुम राजा थे। तुम्हारा एक सुन्दर उपवन था। उस उपवनमें एक हंस-हसिनी रहते थे। दाम्पत्य-जीवन सुखपूर्वक बिताते हुए एक बार उन्होंने पूरे सौ अण्डे दिये। समय आनेपर उनमेंसे बहुत ही सुन्दर सौ बच्चे निकले। एक दिवस तुम्हारे रसोइयेने उनमेंसे एक बच्चेको मारकर उसे पकाकर वह पक्व-मास तुम्हें खिला दिया। तुमने उस सुस्वादु पक्व-मांसभोजनकी बहुत ही प्रशंसाकी एव उस रसोइयेको पुरस्कार-राशि भी प्रदान की। तुमने रसोइयेसे यह नहीं पूछा कि यह मास कहाँसे लाकर पकाया गया है। अब तो रसोइयेने प्रतिदिन ही तुम्हारी तृप्तिके लिये एक हस-शावकका वध करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार तुम्हें तृप्तिदायक भोजन परोसनेके लोभसे उसने एक-एक करके उस हंस-दम्पतिके सौ बच्चोंको मारकर तुम्हें खिला दिया। उसी पापका यह फल आज इतने दिनोंके पश्चात् तुम्हारे सम्मुख आया है। इस पापके फलस्वरूप ही तुम्हारे जीवित रहते, तुम्हारे सौ लडके मारे गये।"

ये दोनों इतिहास त्रिकालज्ञ ऋषि वेदव्यासजीने महाभारतमें कहे हैं। श्रीवेदव्यासजी-जैसे महर्षिके द्वारा असत्य भाषणकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती। अत इसे कपोल-कल्पना मानना तो सत्यपर ही घोर अश्रद्धा करना है।

अतः बहनोपर जो भी दुःखकी परिस्थितियाँ आ पड़ी हैं, वे अवश्यमेव उनके ही किन्हीं जन्मोंके दुष्कृतका ही फल हैं, अन्यथा परम दयालु विश्वभर, जो चींटीसे लेकर ब्रह्माजीतक सबके आहारकी यथासमय, यथायोग्य व्यवस्था करते हैं – निश्चय ही उनकी भी समुचित व्यवस्था करते ही।

भैया ! हम लोग सोचते हैं कि हमारे साथ बड़ा अन्याय हो रहा है, परन्तु भगवान्‌के राज्यमें किसीके साथ कभी अन्याय हो ही नहीं सकता। अतः जैसी भी परिस्थिति आकर प्राप्त हो जाय, उसे अपना कर्म-फल मानकर वीरतापूर्वक सहन करना चाहिये। मान लो, विपत्ति आयी और हम खूब घबड़ाये, खूब रोये, परन्तु उससे होगा क्या ? विपत्ति तो भोगनी ही पड़ेगी। हँसकर भोगें, चाहे रोकर। हँसते हुए भोगनेसे यह अवश्य अनुभव हो जायेगा कि हम एक ऋण-भार, कर्म-विपाकसे मुक्त हो गये। हम अपनेको प्रभु-कृपासे हलका अनुभव करेंगे।

हम प्रभुकी ओर देखते हुए विपत्तिको भोग लें। निश्चय ही दयामयकी हेतुरहित कृपा उस विपत्तिकी सार्थकताका रहस्य हमपर खोल ही देगी। हम निश्चय ही उस विपत्तिके रूपमें आये प्रभुके वरदानका साक्षात्कारकर निहाल हो जायेंगे। विपत्तिके अन्तरालमें प्रभुके वरद-हस्तकी छाया ही हमपर पड़ रही है, परन्तु विपत्तिसे घबड़ाये हम, मात्र विपत्तिको ही देखते हैं, विपत्ति देनेवाले प्रभुकी अनन्त, अपार कृपाको नहीं देखते। जैसे ही प्रभुकी कृपापर हमारी दृष्टि गयी, घोर-से-घोर विपत्तिको भी सहनेकी सामर्थ्य प्रभु हमें देंगे ही।

परमहंस-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी महाराजने श्रीमद्भागवतमें एक बहुत ही प्यारा श्लोक कहा है :–

*तत्तेनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः भुञ्जान एवात्मकृतंविपाकं ।*
*हृद्वाग्वपुर्भिः विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ।।*

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि अपने ही द्वारा किये हुए कर्म-विपाकको भोगते समय मनुष्य भगवान्‌की अनुकम्पाकी सदा सम्यक्-प्रकारसे समीक्षा करता रहे, साथ ही उस विपत्तिको प्रभुका वरदान मानते हुए, प्रभुके प्रति अति कृतज्ञ हुआ, हृदय, वचन एवं शरीरसे भगवान्‌को निरन्तर प्रणाम करे। इस प्रकार सब समय सब रूपोंमें भगवान्‌को प्रणाम करता हुआ जीवन बितानेवाला विनयी प्राणी, जैसे पिताकी सम्पत्तिपर पुत्र अपने-आप अपना अधिकार प्राप्त कर लेता है, वैसे ही मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है।

भैया ! अनन्त जन्मोंके कर्म-चक्रसे छूटनेका श्रीशुकदेवजी महाराजने यह बहुत ही सुन्दर एवं सरल साधन बताया है। यह अत्यत ही सरल उपाय है– बस, थोड़ी-सी सावधानीकी ही आवश्यकता है, प्रमाद त्यागकर सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि

ही तो करनी है और मन-ही-मन विश्वरूप भगवान्‌को प्रणाम करना है।

एक महात्माका मुझे अनुभव है। वे प्रत्येक षोडशाक्षर नाम-मन्त्रके जपके पश्चात् – ***'कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने प्रणतः क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः'*** – इस मन्त्रका सम्पुट अवश्य लगाते थे और सिर झुकाकर भगवान्‌की मानस-मूर्तिके सम्मुख एकाग्र-मनसे प्रणाम करते थे। इस प्रकार, वे मालाके एक-एक दानेपर प्रणाम करते हुए ही आगे नाम-जप करते थे। उनका ऐसा सुन्दर अभ्यास था कि मालाका एक दाना खिसकते ही उनकी गर्दन भगवान्‌को प्रणाम करने स्वतः ही झुक जाती थी। अनेक बार, वे महात्मा माला साथ नहीं भी रखते थे, परन्तु उस अवस्थामें जहाँ भी उनकी दृष्टि पड़ती वहीं प्रभुको स्थित देखकर वे अवश्य प्रणाम करते। उनका अभ्यास तो इतना बढ़ गया था कि प्रत्येक प्राणीमें ही उन्हें अपने इष्टकी मूर्ति मुसकाती दिखती। उनकी प्रणाम-क्रिया जीवमात्रके प्रति होती थी। आगे जाकर तो वे जड़-पदार्थोंमें भी अपने भगवान्‌को देख-देखकर प्रणाम करने लगे थे।

भैया ! हम बहुत ही प्रमादी हैं। कोई भी साधन स्थिरता एवं श्रद्धापूर्वक करते ही नहीं। यह परमहंस-शिरोमणि शुकदेवजी महाराजद्वारा बताया साधन तो ऐसा सुगम एवं अनमोल है कि सम्पूर्ण जगत्‌को, स्वप्न-जागरण – सभी समय, प्रत्यक्ष भगवान्‌में परिवर्तित कर दे सकता है। इस साधनमें लगे साधकको रोग-शोक, सपत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मृत्यु, यश-अपयश – सभीमें भगवान्-ही-भगवान् भरे दीखेंगे, उसका न ही कोई शत्रु होगा, न ही मित्र, उसके लिये न कहीं अनुकूलता है, न प्रतिकूलता। उसे तो सर्वत्र सब अवस्थाओंमें प्रभु एवं प्रभुकी परम मगलमयी लीला ही सदा विलसित दृष्टिगोचर होगी।

भैया ! मृत्यु तो एक दिवस आयेगी ही। वह चाहे भूख-प्याससे छटपटाकर आवे, चाहे अन्य किसी हेतु से। आवश्यकता तो यही है कि हम मृत्युके रूपमें आये मंगल-निकेतन प्रभुको देख सकें। हमें रोगके रूपमें, शोकके रूपमें, सभी रूपोंमें प्रभु-भर दिखें। बस, साधन कुछ भी होवे, हमें ठीक यही अनुभव होना चाहिये कि कण-कणमें भरे प्रभु हमसे प्रत्यक्ष पूजा स्वीकार कर रहे हैं।

सब जगत् हमारे लिये प्रभुकी पावन मूर्ति हो जाय और हम सदा, सभी अवस्थामें उनके प्रणत रहें ।

आपका
चक्रधर

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - पन्द्रह (१५)

# उमा राम सुभाउ जेहिं जाना ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।

*पत्र-लेखक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीतारादत्तजी मिश्र**

**ग्राम, पो. फखरपुर (गया) (बिहार)**

*लेखन-स्थल :*

**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,**
**ग्राम, पो. रतनगढ़, बीकानेर**

*दिनांक :*

**१५ दिसम्बर १९४० ई.**

*प्राप्ति-सूत्र* -
**श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

पू. तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने अति निश्छल-भावसे अपनी मनकी जो स्थिति लिखी, वह आपकी ही नहीं, अधिकांशतः हम सभीकी है। आपने पूरा आत्मान्वेषण करके अति दैन्यसे – जो भी अपने भगवद्विश्वासकी कमियाँ बतायीं हैं, वे भैया ! सच पूछो तो अधिकाशत: हम सभीमें हैं। आप कहते हैं – "मैं तो पूरा भगवान्‌को मानता ही नहीं, वे जगत्‌के प्रभु (नियन्ता) हैं, ऐसी भी मेरी सत्य आस्था नहीं है। प्रभुके अस्तित्वपर ही जब मेरा पूर्ण और सुदृढ विश्वास नहीं है और मैं उनका आश्रित ही नहीं, फिर वे मुझे क्यों संभालेंगे ?"

भैया ! आपकी इन शंकाओंके उत्तरमें मैं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार द्वारा सुनायी एक घटनाका उल्लेख कर देता हूँ। यह घटना सच्ची ही होनी चाहिये, क्योंकि श्रीभाईजी अपने सत्संगमें कभी कपोल-कल्पित कथाएँ नहीं कहते हैं, भगवद्भक्तोकी सच्ची कथाएँ ही प्रायः सुनाते हैं। उनकी सुनायी घटनाका यथाश्रुत-यथाग्रहीत यह वर्णन है। इसे मात्र कहानी ही मानी जाय, तब भी इस कथामें निहित जो तत्त्व (भगवान्‌का स्वभाव) है, वह तो संतद्वारा

बताया उनका सत्य अनुभव है ही। "एक वृद्धा-स्त्री बहुत ही भगवद्भक्त थी। वह साधु-महात्माओंपर भी अतिशय श्रद्धा रखती थी। प्रतिदिन कोई-न-कोई सन्त-महात्मा उसके घर भोजन करने आते ही रहते थे। उसने अपना यह नियम ही बना रखा था कि पहले किसी-न-किसी महात्माको भिक्षा करा दे, तब स्वय भोजन करे। बहुत वर्षोंसे बुढ़ियाका यह क्रम अक्षुण्ण चलता रहा। अच्छे-अच्छे भगवद्भक्त उसके घर आते और अतिशय प्रेमपूर्वक उसके घरका भगवत्प्रसाद ग्रहण करते थे। बुढ़िया, महात्माओके अपने गृहमें आनेपर, पहले उनके चरण पखारती, पूजन करती, और तब भोजन कराके, उनसे भगवद्विश्वासकी, साधनाओ सम्बन्धी वार्त्ता करती और उन्हे दक्षिणादि देकर पूर्ण सतुष्ट करके विदा करती थी।

एक दिवस बुढियाने किसी साधु-महात्माकी बहुत खोज करायी, परन्तु उसे कोई साधु मिला ही नहीं, जो उसके यहाँ प्रसाद पाने आवे। वह भी नियमकी पक्की थी, अत उस दिवस उसने भोजन किया ही नहीं। वह सायकालतक भूखी-प्यासी भगवान्‌का भजन करती रही और किसी-न-किसी महात्माकी प्रतीक्षा करती रही।

सायकाल उसके घरमें भूला-भटका एक अति-वृद्ध साधुवेषधारी आ गया। बुढियाने अति श्रद्धापूर्वक महात्माजीको आसनपर बैठाया, उनका पूजन किया। महात्माजी वस्तुत दिन-भरके भूखे थे, उन्हें भोजनकी अति शीघ्रता थी, अत वे इस पूजन आदिमें होनेवाले विलम्बको सहन नहीं कर पा रहे थे। वे भोजनके लिये छटपटा रहे थे। बुढियाके यहाँ भोजन तो तैयार था, परन्तु उसने सायकालका भगवान्‌को भोग नहीं लगाया था, न ही सन्ध्या-आरती ही की थी। अत उसने महात्माजीको भगवान्‌की आरतीमें सम्मिलित होनेका आग्रह किया और कहा – "महाराज! आरतीका काल व्यतीत हो रहा है, आरती करते ही मैं आपको भिक्षा परोस दूँगी।"

बुढियाकी बात सुनते ही वे महात्मा-वेषधारी वृद्ध बौखला गये। वे कहने लगे – "यह पत्थर-पूजा सब ढोंग है। मैं किसी भगवान्‌को नहीं मानता। कहीं कोई भगवान् नही होता। मैं अभी तेरे भगवान्‌को उठाकर गलीमें फेंकता हूँ, अगर वह सच्चा हो तो मेरा एक बाल भी बॉका कर ले।"

बुढ़िया तो स्तब्ध-चकित थी। उसकी सारी उम्रमे आजतक उसके घरपर उसके ठाकुरको बाहर गलीमे फेकनेको उद्यत कोई महात्मा नहीं आया था। कुछ देर तो बुढ़िया चकित हुई, उस साधुद्वारा भगवान्‌को दी जानेवाली गालियॉ सुनती रही, परन्तु जब लगातार साधु यही बकवास करता रहा, तो

उसको क्रोध हो आया। उसने एक डंडा उठाया और साधुसे कहा

"महाराज ! मेरा घर भगवद्भक्तोंकी सेवाके लिये है, आप-जैसे नास्तिक कालनेमियोंके लिये नहीं है, जो वस्त्र तो साधुका पहने हो और भगवान्‌की सत्ता न मानकर उन्हे गालियॉ देते हों। आप इसी क्षण मेरे घरसे निकल जाइये, अन्यथा अब मैं इस डडेसे ही आपकी आवभगत करूँगी।"

वह साधु चुपचाप, जैसे आया था, वैसे ही चला गया। उसी समय भगवान्‌ने बुढ़ियाको आकाशवाणी द्वारा सन्देश दिया – "अरी बुढ़िया ! यह साधु आजसे ही नही, निरे बालकपनसे साधुवेष धारण किये है। परन्तु यह जब मुझे मानता ही नहीं, तो गाली भी देता रहता है। लगातार साठ-पैसठ वर्षोंसे मैं इसकी अनवरत गालियॉ सुनता आया हूँ और आजतक मैंने कभी इसे भूखा नहीं सुलाया। इसने आजतक तो मुझे गाली देनेकी अपनी आदत छोडी नहीं और मैंने भी इसे अन्न-वस्त्र देकर योग-क्षेम करनेकी अपनी आदत नहीं छोडी। जब यह अपनी गाली देनेकी बान नहीं छोडता, तो मैं इसे रोटी देनेकी बान क्यों छोड़ूँ ? यही मेरा तिरस्कार करता आया है, मैं तो सदा इसका सत्कार ही करता रहा हूँ। आज प्रथम बार तूने इसको भूखा ही घरसे निकाल दिया। तू कैसी मेरी भक्त है – जो एक दिन भी इसे रोटी नहीं खिला सकी ? मैंने गाली खा-खाकर भी इसका यावज्जीवन माताकी तरह दुलारसे पालन किया है, आज प्रथम बार जब तूने इसे तिरस्कार करके अपने घरसे भूखा निकाला, तो मुझे बहुत ही लज्जा आ रही है। तूने तो मेरी नाक कटवा दी, तू भला कैसी मेरी भक्ति करती है ?"

भैया ! इस कथाकी कोई एतिहासिकता नहीं होनेसे कोई इसे कपोल-कल्पित ही कह दे सकता है, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता तो भगवान्‌की स्वयकी प्रामाणिक वाणी है ही। श्रीगीताजीमें भगवान् अपनेको ***'सुहृदः सर्वभूतानाम्'*** कहते है। उन्होने यहॉ ***'सुहृदः सर्वसुहृदानां'***, अथवा ***'सज्जनानां'***, ***'भक्तानां'***, ***'आस्तिकानाम्'*** – नहीं कहा है। भगवान् कहते हैं, "सर्वभूतका मैं सुहृद हूँ।" भगवान्‌के कहनेका इतना ही अर्थ है कि प्राणिमात्र जिनके शरीर पचभूतोंसे निर्मित हैं – चाहे वे शरीर पृथ्वी-तत्त्व-प्रधान मनुष्योंके हों, जल-तत्त्व-प्रधान वरुणलोकके प्राणियोके हों, वायु-तत्त्व-प्रधान प्रेतादिके हों, मंत्ररूप देव सृष्टिके हों, मैं सबका सुहृद हूँ। यहॉ भगवान्‌ने यह नहीं कहा है कि मैं महात्माओंका ही सुहृद हूँ, दुरात्माओंका नहीं, मैं मेरे यश-गान करनेवालोका ही सुहृद हूँ, अपयश करनेवालोका नहीं, मैं विश्वास करनेवाले आस्तिकोंका ही सुहृद हूँ, नास्तिकोका नहीं। भगवान् कहते हैं कि मैं आस्तिक, नास्तिक, मूढ, माया-भ्रमित,

मुझे भूले-भटके, सभीका सुहृद हूँ।

क्या मैं एव आप, जो सचमुच ही न तो पूरे आस्तिक हैं, न ही नास्तिक हैं -- सर्वभूतोंकी श्रेणीमें नहीं आते ? यदि भगवान् कुछ गुण-विशिष्ट लोगोंके ही सुहृद होते, तब तो हमें चिन्ता होती, तब तो अवश्य ही आप और हमलोगोंके निराश होनेका कोई कारण भी होता, परन्तु जब भगवान् गुण-निरपेक्ष, मात्र सभी जीवधारियोंके सुहृद हैं, फिर निराशाका प्रश्न ही कहाँ है ?

भगवान् हम सभीके सुहृद तो हैं ही, साथ ही वे सर्वशक्तिमान्, सर्वलोक-महेश्वर एव कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं समर्थ भी हैं। फिर वे सर्वज्ञ भी हैं, हमारी भीतर-से-भीतर की परिस्थितिका भी ठीक-ठीक उन्हें ज्ञान है, क्या वे हमारा हित नहीं करेंगे ? क्या उनकी सामर्थ्य हमारे-जैसे एक नगण्य जीवको सुधारनेकी भी नहीं है ? जब वे हमारे सभीके भेदभावरहित अपने-के-अपने हैं, और सर्वशक्तिमान् हैं, तो फिर हमें क्या वे बिना किसी क्लेश अथवा परिश्रमके सहजरूपमें इस भवसागरसे पार नहीं कर देंगे ? निश्चय ही हमें उनके बलपर, उनकी हमारे प्रति आत्मीयतापर विश्वास नहीं है, अन्यथा हम किसी साधन-बलका विश्वास न कर, उनके भरोसे पूर्ण निरापद एवं निश्चिंत हो जाते। उन सर्वलोक-महेश्वरके प्रति हमारा सौहार्द ही सुदृढ हो जाता, तो हम निश्चय-निश्चय निहाल हो जाते।

यह बात सर्वांशमे सोलहों आने सत्य होनेपर भी हमारा प्रभुके प्रति अविश्वास क्यों है ? इसका प्रमुखतम कारण हमारे अन्त करणकी मलिनता ही है। दूसरा कारण हमारी भोगोंकी चाह, आसक्ति एवं प्रभुसे भिन्न अपनी स्वतंत्र पसंद है।

भगवान्ने सभी जीवोंको जैविक-स्वतत्रता दे रखी है, अतः इस अन्त करणकी मलिनताको स्वच्छ कर सकना, हमारी स्वयकी चेष्टासे ही संभव है। इसमें अन्यत्र कहींसे मात्र प्रासगिक सहायता ही मिल सकनी संभव है। इसमे प्रमुख प्रयास हमे स्वय ही करना पडेगा। इसे दूर करनेमें कोई बहुत कठिनता हो, सो भी बात नहीं। हमें और कुछ भी नहीं करना है, मात्र भगवन्नाम्का आश्रय ले लेना है। जबतक ऐसा समय नहीं आता कि भगवान्के स्वभावगत सौहार्दको देख-देखकर हमारा हृदय चौबीसों घण्टे प्रभु-प्रेममें छका रहे, हम जीभसे निरन्तर नाम उच्चारित करते रहें। हम अति कठोरतापूर्वक नियम ले कि परमावश्यक होनेपर ही बोलेंगे और जीभसे निरन्तर नाम उच्चारित करते रहेंगे। जिस दिन जप निरन्तर होने लगेगा, फिर कोई कर्तव्य हमारा शेष नहीं रहेगा।

दूसरी बात भी बहुत ही अनमोल है। हम कहीं कोई अपनी पसन्दगी नहीं रखें। हम चाहते हैं – हमारा लडका इन्जीनियर बन जाय, वह बालक पढता नहीं, हम बहुत दुखी हो उठते हैं। हम चाहते हैं, हमारा मकान हो, और प्रभुका विधान हमें गृह-हीन, किरायेके मकानमें जीवन-यापन करानेका हो रहा है, हम दुखी हैं। हमारी पसन्दकी हमे पत्नी नहीं मिली, हमारे पसन्दका हमारा स्वास्थ्य नहीं, हम अधिकाश अपनी पसदके कारण ही दुखी होते हैं।

अत हमे अपनी पसन्द को मनसे सर्वथा, सर्वांशमे ही हटा देना चाहिये। जो प्रभुकी पसन्द है, वही हमारे लिये पूर्ण अमृत है। जो अपनी पसन्दगीपर निर्भर है, वह प्रभुकी पसन्दगीका विद्रोही है। हमें सर्वदा सुदृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि परम-सुहृद भगवान्‌ने जो भी हमें अपनी पसन्दगीसे दिया है, वही हमारे लिये परम निरापद, कल्याणकारी विधान है, वही हमारे लिये अमृत है। अनन्त शक्तिशाली, अनन्त कृपालु, अतीव सुहृद, अनन्त सत्ता-स्वरूप, सर्वज्ञ प्रभुसे हमारे एव हमारे सभी परिवार, बन्धु-बान्धव, पुत्र-कलत्रोके लिये जो भी विधान हो रहा है, उनकी पसन्दगीका वह विधान ही हमारे लिये पूर्ण मंगलमय है। प्रभुके विधानसे यदि हमारे पास घोर रोग-शोक, दु ख-दारिद्रय, हानि, पराभव, एक-से-एक बढ़कर संकट आ रहे हैं, तो भी हम उसे प्रभुका दिया प्रसाद, अमृतौषधि मानकर हर्ष और उल्लाससे भरे रहें। यद्यपि ऐसे परम विपरीत विधानको हँसते हुए स्वीकारना – है परम कठिन, परन्तु प्रभुके सौहार्दपर विश्वासकी यही एक कसौटी है। यदि हम प्रभुके द्वारा भेजे गये प्रत्येक विधानको अमृत एवं प्रभुका वरदान समझ ले और सदा हर्षित रहे, तो फिर हमारे अन्त करणकी मलिनता दूर होते किंचित् भी देर नहीं लगेगी।

भैया ! बस एक बार हमारा अन्त करण शुद्ध हुआ नहीं, कि सम्पूर्ण विश्वको अपनी पावनतम मगलमयी गोदमें धारण किये प्रभु और उनका परम-सुहृद स्वभाव हमारी ऑखोंको, हृदयको, रोम-रोमको आप्यायित कर उठेगा। हम प्रभुकी विलक्षण हेतुरहित प्रेममयी झाँकी देखकर कृतकृत्य हो उठेंगे।

भैया ! हमारी बुद्धि प्राकृत है, वह मात्र हमारे वर्तमान शरीरके एवं इन्द्रियोके सुखोंतककी ही बात सोचती है, परन्तु प्रभुका ज्ञान अनन्त है, वह हमारे समग्र भूत, एव भविष्यकी राई-रत्तीकी चिन्ता रखते हैं।

हमारी बुद्धि पाप-सस्कारोंसे मलिन है, वह क्षुद्र भोगोंमें उलझी पाप-पुण्य एवं शास्त्रविधिका उल्लघन करके भी मात्र भोग-सुखका विधान ही हितमूलक समझ रही है। हम जिस बातको अपने एवं अपने जनोंके अनुकूल समझते हैं, वह विधान भगवान्‌की सुदूर भविष्य-परक दृष्टि एव उनकी परम मंगलमयी

कृपाशक्तिके विपरीत हो सकता है। भगवान्‌की कृपा-शक्ति तो सदैव निर्भूल मगलवर्षिणी है। उसके विधानमें किसी भी प्रमाद एव अहितकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अत भगवान्‌की अनन्त मगलमयी कृपा-शक्तिके द्वारा जो भी हमारे लिये विधान रचित हुआ है, उसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा उसकी कोटिका हितकारी विधान हमारे लिये संभव ही नहीं है। भगवान्‌की अनन्त कृपामयी सुदूर दृष्टिने ऐसा मानकर ही वह विधान हमपर लागू किया है। यह सभव है कि जीवनभर वह हमारी पसदगीके प्रतिकूल ही रहा हो। परन्तु उससे अधिक मगलमय अन्य किसी विधानकी हमारे लिये सभावना ही नहीं थी।

भैया ! भगवान्‌के अत्यत सौहार्दपूर्ण स्वभावका ज्ञान नहीं होनेसे ही हम भगवान्‌पर पूर्ण निर्भर नहीं हो पा रहे हैं और पूर्ण निर्भर नहीं होनेसे शरीर एवं इन्द्रियोके भोगोकी अनुकूलता प्राप्त करनेमें रात-दिवस चिन्तित रहते हैं एव यह हमारा चिन्ताग्रस्त मन हमें विषयोके ही चिन्तनमें भरमाता रहता है, हमें भगवान्‌का भजन करनेकी फुरसत ही नहीं देता। हम दिनरात जिस योगक्षेमकी चिन्तामे लगे हैं, उसका हमारे लिये अर्थ इतना ही है कि हमारा नाशवान् क्षणभगुर, मलिन शरीरके भोगोंसे अधिक-से-अधिक योग हो और जो भोग प्राप्त हैं, वे अक्षुण्ण बने रहे, जहाँ भगवान्‌की दृष्टिमे हमारे योगक्षेमका अर्थ है कि कौनसी ऐसी परिस्थितियाँ घटित हो जिससे हमारा ससारके भोगोंसे वैराग्य हो और परमात्मासे योग हो, साथ ही जो भी हमारा परमात्माकी तरफ थोडा-बहुत रुझान हुआ है, उस रुझानके भावोंका सरक्षण (क्षेम) हो सके ।

जो भी भक्त भगवान्‌के इस स्वभावको जान लेता है, वह सदा-सदाके लिये यह मान लेता है कि जिन परिस्थितियोंका भगवत्कृपा हमारे जीवनमें विधान कर रही है, वही भगवान्‌का हमारे लिये अनन्त कृपापूर्ण वरदान है। यदि वे परिस्थितियाँ मगलमय वरदान नहीं होतीं, तो भगवान्, जो हमारे परम सुहृद हैं, उनके लिये उन्हे बदल देना कौन कठिन कार्य होता ? बस, वह भक्त सभी चिन्ताओसे पूर्णतया मुक्त हुआ अपनी सम्पूर्ण कर्म-शक्ति मात्र भजनमें ही लगाता है। ऐसे भगद्विश्वासी भक्तको यदि कोई चिन्ता होती है, तो शरीर एवं ससारकी नहीं, वह समझता है कि शरीरका निर्वाह करना तो भगवान्‌की जिम्मेदारी है। उसे तो यही चिन्ता होती है कि कहीं मेरा भगवान्‌की निर्भरतामे कोई स्खलन तो नहीं हो रहा है। वह सदा इसी खोजमे रहता है कि मैं कहीं भगवान्‌का पूर्णरूपेण आश्रयी न होकर अन्याश्रयी तो नहीं हो रहा ? भगवान्‌पर पूर्ण निर्भर भक्तको दु खपूर्ण परिस्थितियाँ अथवा प्रतिकूलताएँ उतना कष्ट नहीं देतीं जितना उसे अपना भगवदाश्रयका स्खलन अथवा-अन्यमुखापेक्षी होना

कष्टदायक लगता है।

संसार यदि किसीके लिये कुछ भी करता है, तो बदलेमे कितनी ही उचित, अनुचित माँग रखता है। परन्तु भगवान् हमारा सम्पूर्ण योग-क्षेम निर्वाह करते हुए हमसे मात्र इतना ही चाहते हैं कि हम इस अशाश्वत, दुःखालय ससारकी आसक्ति का त्यागकर मात्र उनसे ही सतत संयुक्त रहें। नाम, रूप, लीला, धाम, किसी भी सूत्रसे भगवान् हमें अपने अखण्ड, अपार, असीम आनन्द एवं मंगल-वैभवसे जोडे रखना चाहते हैं।

हम तो इतने वज्रमूर्ख हैं कि ऐसे परम दयालु-स्वभाव भगवान्को सदा पीठ दिये रहते हैं – जो हमारी सब चिन्ता, हमारा सब दुःख, जलन, अभाव मिटाकर हमारा जन्मसे लेकर मोक्षतक अथवा भगवान्में पूर्ण विलय (एकमेक) हो जानेतकका योगक्षेम-निर्वाह करनेकी प्रतिज्ञा किये हुए हैं।

ये सभी बाते मात्र भावुकताकी नहीं, ध्रुव सत्य हैं। भगवान्पर विश्वास करके हम यदि अपनेको सम्पूर्ण चिन्ताओंसे सदा-सदाके लिये मुक्त कर लें और मात्र अपने एवं उस परम दयालु प्रभुके मध्य एकान्तिक, विशुद्धखरे प्रेम-निर्वाह की चिन्ता करें, तो हमारा सम्पूर्ण जीवन ही अमृत हो जायेगा। कुछ ही कालमें हम पावेंगे कि सम्पूर्ण लौकिक और पारमार्थिक हमारी सभी समस्याएँ सरलतासे हल होती जा रही हैं। केवल भगवान्पर निर्भर होकर चल पड़नेकी ही आवश्यकता है। भगवान् हमारी सुरक्षाका प्रमाण पद-पदपर देते जावेंगे।

एक बात ध्यानमें रखें – निर्भरता भी तीन प्रकारकी होती है। निकृष्ट कोटिकी निर्भरता इसे कहते हैं कि जिसमें लाचारीसे संतोष करना होता है कि क्या करें, भगवान् जबर्दस्त हैं, उनसे लड़ा तो जा सकता नहीं, करेंगे वे अपने मनकी ही, अब जैसे रखेगे, हमें रहना ही पडेगा, जो विधान करेंगे, वह स्वीकारना ही होगा – यह निकृष्ट कोटिकी निर्भरता है। इसे निर्भरतापर कलंक ही कहना चाहिये।

दूसरे प्रकारकी निर्भरतामें विवेककी प्रधानता होती है। इस कोटिका भक्त सतुष्ट रहता है और बुद्धिमें अटल निश्चय रखता है कि प्रभु जो करते हैं, वह ठीक करते हैं। परन्तु यहाँ निर्भरताके ऊपर विवेककी ही प्रधानता है। निर्भरता गौण है और विवेक प्रधान है।

अनुकूल परिस्थितियोंमें कहना कि हम तो प्रभुपर निर्भर हैं, हमें तो उनके प्रत्येक विधानमें संतोष है – यह केवल मौखिक निर्भरता है।

परन्तु अनवरत दीर्घ-कालतक, पूर्णतया प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही बनी रहे और इन निरन्तरकी घोर विपत्तिजनक परिस्थितियोंमें भी स्वाभाविक ही

हमारा प्रभुके प्रति निर्भरताका भाव उमड़ता रहे और हम 'पूर्ण मंगल हो रहा है', यही सुदृढ रूपसे अविचल मानते रहें, तब समझना चाहिये कि हमारा भाव सौटंच है।

यह तभी सभव है जब प्रभुका पूर्ण सौहार्दभरा स्वभाव हमारी आँखोमें नित्य व्यक्त रहे। यह निश्चय मान लीजिये कि ऐसी निर्भरताका उदय होते ही हमारा अन्त करण सम्पूर्ण पाप एव पुण्य – दोनों प्रकारके मलसे रहित हुआ तत्क्षण ही पूर्ण निर्मल और शुद्ध हो उठेगा।

शुभ-अशुभ नाश होते ही हमारे लिये भगवान्‌का परममगलमय नूतन विधान व्यक्त हो जायेगा, जो हमारा समग्र जीवन ही सहज-सुखी कर देगा। लौकिक दृष्टिमे भी अशुभ परिस्थितियाँ तो अशुभ कर्मोसे ही आती हैं। जब हमारे अशुभ कर्म रहेगे ही नहीं तो अशुभ परिस्थितियोका भी समूल नाश हो ही जायेगा। भक्तका जीवन इसीलिये अति सहज-सुखकर ही कटता है।

सिद्ध-शरणापन्न निर्भर-भक्तके जीवनमें पहले तो विपत्तियाँ आती ही नही, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनोका नाश हो जानेसे भक्तका कर्म-भोग तो सर्वांशमें कट ही जाता है। उसका शेष जीवन, भगवान् लीलामयके मात्र पात्रके रूपमें ही व्यतीत होता है। परन्तु ऐसे भक्तका कभी-कभी अतिशय सम्मान बढ़ानेके लिये और जगत्‌में भक्त-चरितका आदर्श सस्थापित हो – इस पवित्र उद्देश्यसे स्वय भगवान् ही प्रतिकूल परिस्थितिका बाना पहनकर भक्तके सम्मुख खडे हो जाते हैं। इस स्थितिमे उस भयंकर परिस्थितिका बाना पहने भगवान्‌का भक्त अम्लान चित्तसे उत्साह पूर्वक सुस्वागत करता है। वह भगवान्‌की इच्छापूर्तिके लिये हँसता-नाचता विपत्तियोंको भगवद्रूप ही देखता हुआ, जगत्‌की दृष्टिमें गरल दिखनेवाले उस भगवत्प्रसादको अमृततुल्य मानकर, सहर्ष हँसता–नाचता, भगवद्-यशका गान करता, उसे पी जाता है।

सारांश बात इतनी ही है कि हम अच्छे हैं, या बुरे हैं, आस्तिक हैं या नास्तिक हैं, चरित्रवान् हैं या दुश्चरित्र है, हमारी वृत्तियाँ सुधरती हैं या नहीं सुधर रहीं, इस सबकी चिन्ता सर्वथा प्रभुपर छोड़ दीजिये। यहाँ जो कुछ भला-बुरा, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश हो रहा है, होने दीजिये। मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगाइये। जितनी बार मन संसारमें जाये, वहाँसे हटाकर भगवान्‌मे लगाते जावें। जिह्वासे भगवन्नामका आश्रय नहीं छोडे, फिर कोई चिन्ता नहीं। सब पूर्ण मगल ही होगा।

**आपका - चक्रधर**

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - सोलह (१६)

# भोगोंमें सुख नहीं है

*पत्र-प्रेषक :*

**प. पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

(प. पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीदेवदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र**

**(माहेश्वरी विद्यालय, वडा बाजार, कलकत्ता)**

*लेखन-स्थल :*

**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,**
**ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**

**दिनांक :**

**तिथि - पौषकृष्ण ३० सं. १९९७ वि.**
**तद्नुसार, १८-१२-४०**

**प्राप्ति-सूत्र :**
**श्रीदेवदत्तजी मिश्रके**
**पत्र-संग्रहकी कापीकी**
**प्रतिलिपि**

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने अपने पत्रमे जो भी मेरी प्रशसा की, सत्याशमें वे बातें आपकी स्नेहमयी दृष्टिकी ही उपज हैं। स्नेहमें गुण-दर्शन ही होता है, दोष-दर्शन तो होता ही नहीं। मैं जब अपनी ओर देखता हूँ, तो सर्वथा, सर्वाशमे अपनेको सब प्रकारसे हीन ही अनुभव करता हूँ। मेरे परमार्थ-जीवनकी आधारशिला तो सदैव आपकी दी हुई शिक्षाएँ ही रहीं हैं। आपकी दी हुई सस्कृत-शिक्षासे ही मैं आज गौडीय महात्माओके अनमोल ग्रन्थ देख पा रहा हूँ, जो वर्तमानमे मेरी जीवन-साधनाके पाथेय हो रहे हैं। सचमुच ही मैं आपका रोम-रोमसे कृतज्ञ हूँ। आपके उपकारका बदला तो मैं, अति कृतघ्न चुका सकता ही नहीं, हाँ, यदि मैं मेरे आराध्य राधाकृष्णके चरणोंमें पूरा न्यौछावर हो सका, तो वे मेरे सभी दायित्व पूर्णतया निर्वाह कर देगे – ऐसी मेरी धारणा है।

भैया ! मेरे मनमें तो आजकल ये ही भाव प्रमुख रूपसे उठते रहते हैं। बार-बार निश्चय करता हूँ कि मानव-जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि इस

जीवनको प्रभुके चरणोंमें समर्पित करना है। बार-बार सोचता हूँ, शरीरके भोग मुझे या किसीको भी सुखी कर सकते हैं क्या ? मान लो, एक बार यह सत्य ही हो कि भोगोंमे सुख है, तो क्या ये हमारी इच्छासे हमें प्राप्त हो जायेंगे ? यदि प्राप्त हो भी गये, तो क्या ये स्थायी रहेंगे ? ये स्थायी रहे नहीं और हमें छोड गये, तो इनकी आसक्तिसे क्या हम तत्क्षण मुक्त हो सकेंगे ? इन सभी प्रश्नों पर गभीरतासे विचार करनेपर एक ही तथ्य समझमें आता है कि ये भोग दु खोको उत्पन्न करनेवाली योनियाँ है। ये मात्र क्षण-भरके लिये सुखाभासकी आशा तो दिलाते हैं, परन्तु सुख इनमें है नहीं। ये दु खोमे फँसानेके जजाल मात्र हैं। ये प्राप्तिकालमें भी सुखी करते नहीं। "अब सुख मिलेगा, अब सुख मिलेगा" – इस मिथ्या आशामें ही उलझाये रखते हैं।

ये भोग हैं, क्या ? इस प्रश्नपर विचार करनेसे यही तथ्य प्रकट होता है कि इन्द्रियोंका अपने विषयोसे संस्पर्श ही इन भोगोकी उत्पत्ति का हेतु है। नेत्रन्द्रियोंका जब सुष्ठु आकारसे, त्वचाका जब सुखद स्पर्शसे, कानोंका जब सुमधुर शब्दसे सयोग होता है, तो उसे हम सुख समझ लेते हैं। यह सुख चिरस्थायी तो, हो ही नहीं सकता, बस क्षण-भरके लिये यह सुखका आभास-भर देता है। जब स्थायी सुख होता ही नहीं, तो तृप्ति होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ जीवको मृगतृष्णाकी तरह मात्र सुखाशामें ही भटकाती रहती हैं। जीवका सम्पूर्ण अनुसधान इन्हींमें सुख ढूँढ़नेका हो जानेके कारण वह इनके पीछे परमात्माकी खोजसे ही कट जाता है। उसका लक्ष्य ही परमात्मगत अखण्ड शान्ति नहीं होकर, भोगोंकी घुड-दौड हो जाता है। इस प्रकार यह बिचारा जीव अखण्ड आनन्दकी सभावनासे ही पूर्णतया कट जाता है।

ये भोग प्राप्तिकालमें तो अतृप्तिकी नीरसताकी उत्पत्ति करते ही हैं, प्राप्तिके पश्चात् इन्हें और अधिक पानेका लोभ व्यथित करता है। इतनेमें सुख नहीं मिला, इससे सुख नहीं मिला परन्तु इतना हो जाता, तो सुख मिल जाता, यह मिल जाता, तो सुख मिल जाता, इस प्रकार लोभकी ज्वाला, हमें इन विषयोंसे उत्पन्न हो-होकर निरन्तर जलाती रहती है। जहाँ हम दूसरोंको हमसे अधिक भोग-सम्पन्न देखते हैं, वहाँ हमारी उनसे निरन्तर ईर्ष्या बढती जाती है और यह ईर्ष्या उनके प्रति वैर एव द्वेषमे परिणत हो जाती है। जिनके पास भोग-बहुलता होती है, उनमें प्रभुताका मद एवं अभिमान बहुत बढा रहता है। जिससे वे स्वयं तो दुखी रहते ही हैं, दूसरे जो भी उनके संपर्कमें आते है, उन्हें भी दु खी ही करते हैं। इन भोगियोंके द्वारा संसारको अभाव, चिन्ता, मद, ईर्ष्या, राग, द्वेष, लोभ मोह, काम एव क्रोधादिका ही दान निरन्तर होता रहता है। वह

भोगी स्वय तो भयंकर चिन्ता एवं दु:खोमें जलता हुआ मृत्युको प्राप्त होता ही है, दूसरोंको भी नारकीय निम्न-गतियोंमें ही ढकेलनेका हेतु हो जाता है, क्योंकि वह बड़ा भोगी ही छोटे भोगियाका आदर्श रहता है। भैया ! विषयी एवं भोगियोंसे, जो भी उनका सग करते हैं, उन्हें दुर्भाव-ही-दुर्भावका दान होता है, क्योंकि सत्-स्वरूप परमात्माका भाव वहाँ उनमें होता ही नहीं। दुर्भावसे पाप और पापसे नारकीय गति, निम्न-गतियोका दु:ख – इस प्रकार विषयीजनोंमें दु:खका अबाध चक्र चलता रहता है।

अत, भैया ! मैं तो सदा यही चेष्टा रखता हूँ कि इन विषयीजनोंका क्षण-भरके लिये भी, मनसे भी संग नही हो और नित्य आनन्दमय प्रभुकी ओर ही हमारा मन निरन्तर प्रवृत्त रहे।

मनुष्यको जीवनमे दो बातोका सर्वाधिक मोह होता है। (१) निज शरीरको सुखी रखनेका (२) अपने नामका। शरीरको मन-चाहा आराम मिलता रहे और लोगोमें मेरा खूब सम्मान हो, खूब आदर हो, इस प्रकार – ये दो मोह परमार्थके मार्गमे बढ़नेवाले सन्तोंमें भी पाये जाते हैं।

भैया ! मैं तो बहुत विचारके बाद इसी निष्कर्षमें पहुँचा हूँ कि शरीरको सुखी रखनेकी चेष्टा एवं सम्मानकी चाह – ये दोनों ही वासनाएँ असार हैं। इनके पीछे जो भी दुर्लभ मानव-जीवनको बरबाद करनेकी धुन जगाये हैं, वे सर्वथा ही मूर्ख हैं।

मान लीजिये, लोगोंमें मेरी खूब प्रसिद्धि हो गयी, सबके मध्य मैं बहुत ही प्रतिष्ठित भी हो गया, मुझे लोग अपना सम्मान्य नेता मानने लगे, विदेशोंमें भी मेरा नाम-यश हो गया, परन्तु भैया ! सच बताइये, इससे मेरा क्या बना एव बिगड़ा ? इस जन्मके पूर्व अनन्त जन्मोंमे हमारे अनन्त नाम रखे गये हैं, पता नहीं, हमारा कितना सुयश गाया गया है, परन्तु आज हमें उसकी स्मृति भी है क्या ? जैसे मैं अनन्त पूर्व-जन्मोंके अनन्त नामोंको भूल गया हूँ, वैसे ही मेरे इस जन्मके नामको भी मैं निश्चय ही विस्मृत कर जानेवाला हूँ।

शरीरकी भी यही दशा है, इसे चाहे कितने ही आरामसे रखा जाये, इसे अवश्यंभावी रोग-शोकके कष्टसे बचाया जा ही नहीं सकता। फिर, एक दिन तो इससे सर्वथा ही संबंध हटनेवाला ही है। इस शरीरके पहले भी हमारे असंख्य शरीर रहे हैं, वे दु:खपूर्वक, अतिशय दुर्दशा और कष्टमें मृत्युको प्राप्त हुए अथवा अत्यंत सुख-समृद्धि एव सुविधाओंसे मृत्यु-मुखमें गये, इसकी जैसे हमें आज कोई स्मृति नहीं है, वैसे ही, इस शरीरकी भी चाहे इसे कितने ही आरामसे रखा जाये, एक दिन स्मृति ही नहीं रहेगी। अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि दोनों

वस्तुओंसे मन हट जाये और भगवान्‌के पावन नाममें लग जाय। इस शरीरका जो भी विधान भगवान्‌ने रच रखा है, वह होता रहे। हमारा ध्यान ही इस ओर कभी न जाये । इन सबसे सर्वथा उपराम रहकर बस, भगवान्‌में चित्त एक-तार जुड़ा रहे।

भैया ! मैं तो शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं करता। वैसे तो अभी भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अन्न, वस्त्रकी सभी व्यवस्था बहुत ही स्नेहपूर्वक कर रहे हैं, परन्तु यही समझमे आता है कि प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध उसके साथ है। फिर शरीर-निर्वाहके लिये चिन्तित होना कौन-सी बुद्धिमानी है। जब जगत्पालनकर्त्ता परमात्मा है, तो उनपर अविश्वास करके, अपने पालनकी चिन्ता स्वयं करना, घोर मूढता ही तो है। भैया ! मुझे तो जगत्पिताके निर्भूल विधानपर ही आश्रित रहना, सर्व-सुखकर लगता है। प्रभुकी चिन्ताको मैं अपनी चिन्ता क्यों बनाऊँ ?

भगवद्विश्वासी त्रिकालज्ञ सन्तोंने यही कहा है कि हमें तो भगवान्‌के भरोसे नित्य कृतकृत्यता, निरन्तर आनन्द एवं अखण्ड निश्चिंततामें डूबे रहना चाहिये । मुझे तो भैया ! आप यही आशीर्वाद दें कि मेरा किसी भी शारीरिक उलझनसे चित्त उद्विग्न नहीं हो। प्रभुका अखण्ड आश्रय बना रहे। एक क्षणके लिये भी प्रभु-चरणोंकी शीतल छायाकी मैं विस्मृति नहीं कर पाऊँ।

साधु हो जानेपर भी लोग लोक-सग्रहकी घुडदौड़में सम्मिलित हो जाते हैं। फिर उनका दिन-रात लोक-कल्याणकी चिन्तामें ही व्यतीत होने लग जाता है। प्रभुका भजन स्मरण तो सर्वथा छूट ही जाता है। मुझे तो भैया, यही अच्छा लगता है कि न तो लोक रहे, और न मैं ही रहूँ। मेरा तो सब समय मात्र भजन में ही व्यतीत हो। मेरे सम्मुख तो प्रभु ही जीवन्त खड़े रहें। अनन्त जीवोंके पालनकर्ताको जैसे जीवोंके शरीर-भरणकी चिन्ता है, वैसी ही उन्हें परमार्थदानकी चिन्ता भी होगी ही। हमारे द्वारा प्रभुको भुलाकर लोक कल्याणकी चिन्ता की जानी – मुझे तो अहंकारभरी क्रिया ही लगती है। जब प्रभुके द्वारा हमारी आवश्यकतानुसार सभी सांसारिक वस्तुएँ अन्न-वस्त्र, रहनेको आवास मिलता है, तो हमारी आवश्यकता देखकर, प्रभु हमें परमार्थदान भी करायेंगे ही। अनन्त जीवोंका पालनकर्ता हमें अपने ज्ञान और अपनी प्राप्तिका साधन-पथ नहीं बतावे, यह कैसे संभव है। भगवान् कीड़ेसे लेकर ब्रह्माजीतक सभीको उनकी सभी आवश्यकताएँ स्वाभाविक रूपसे सहज उपलब्ध कराते हैं, वे हमारे पारमार्थिक योग-क्षेमकी भी अवश्य ही चिन्ता करेंगे। हाँ, हमारी मलिन आँखें यह देख सकतीं हैं कि हमें आवश्यकता-भर नहीं मिल रहा है । परन्तु, भगवान्‌का निर्भूल

विधान किसी भी जीवको उसकी आवश्यकता-भर जैसे लोककी वस्तुएँ देता है, वैसे ही उसके परमार्थकी भी चिन्ता निश्चय उसे ही करनी होगी।

हमें शरीर एवं मन दोनोंकी व्याधियोकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। जैसे शरीरकी व्याधियाँ आती-जाती रहती हैं, वैसे ही मानसिक काम-क्रोधादि व्याधियाँ भी आने-जानेवाली हैं। इनके आवेगको धैर्यपूर्वक सह जाना ही एकमात्र उपाय है। यह अवश्य है कि मानसिक व्याधियोंका आवेग चित्तको उद्विग्न करता है, परन्तु इनका आवेग सहकर ही इन्हें शमित किया जा सकता है। प्रभुका कृपा-विधान ही इन व्याधियोंसे हमारा समूल पिण्ड छुड़ायेगा।

आप मुझसे किन्हीं परमावश्यक विषयोंपर सलाह करने एवं मिलने आना चाहते हैं, सो उत्तम है। परन्तु प्रभुके परम मंगलमय विधानसे ही हमारा जो एक पारिवारिक सयोग था, वह वियोगके रूपमें व्यक्त हुआ है। अत: यदि मिलना न भी हो, तो इसे भी प्रभुकी कृपा ही माननी चाहिये। इस अवस्थामें अपनी सभी परमावश्यक बातें हम प्रभुको ही निवेदन कर दें। प्रभुके क्रियात्मक आदेशकी प्रतीक्षा करें। मेरा तो ऐसा पूर्ण निश्चय है कि सर्वज्ञ, सर्व-सुहृद प्रभु अपनी परम हितकारी एवं मंगलमयी राय आपके मनमे उत्थितकर आपका समाधान कर देंगे।

भैया ! मेरी राय तो यही है कि आपका गृहस्थ होनेके नाते इतना ही कर्तव्य है कि आप परम शान्त-चित्तसे, तनिक भी उद्वेग एवं चिन्ता नहीं रखते हुए, प्रभुके द्वारा जो भी सहज अर्थोपार्जनका विधान हो — उसे यथायोग्य सबके हितमें लगा दें। होगा तो वही जो प्रभु के द्वारा पूर्वत रचा हुआ है।

***करी गोपालकी सब होय ।***
***जो मानै पुरुषारथ अपनो, अति झूठो है सोय ।।***

x x x

***होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावै साखा ।।***

ये सभी वचन त्रिकालज्ञ सन्तोंके हैं। भगवद्विधान तो निर्बाध सभीपर लागू होना ही है। जब सब खेल पहलेसे फिल्माया हुआ है और दृश्य ही सामने आनेवाला है, तो फिर चिन्ता कैसी ?

आप कह सकते हैं, कि स्वयं तो गैर-जिम्मेदारीसे सब छोड़कर चला गया और मुझे भी कर्तव्य-विमुख होनेकी बात लिखता है, सो ऐसा आशय मेरा कदापि नहीं मानें। जिस भगवद्विधानके अनुसार मैंने कर्तव्यका त्याग परमात्मामें लगनेके लिये किया, उसी भगवद्विधानकी रीलमें आपका पार्ट अभी गृहस्थमें बने रहनेका है। परन्तु, अपने-अपने नाट्य-चरित्रका भलीप्रकार पालन करते हुए

कोई पात्र इस अकाट्य सत्यसे क्यों अपरिचित रहे कि उसे रंगस्थलमें मात्र अपना पार्ट ही अदा करना है, चिन्ता-चितामें जलते हुए जीवन-यापन कदापि नहीं करना है।

जिस कर्तव्य-पालनके मिथ्या व्यामोहसे हम भगवान्से विमुख हों, वह हमारा कदापि कर्तव्य नहीं है। हमारी आसक्ति ही हमें उसे हमारा कर्तव्य समझा रही है। कर्तव्य-पालन करनेवाला जब भगवत्सेवा-भावसे कर्म करता है, तो उसे पद-पदपर कृतकृत्यता, आनन्द और निश्चिंतताका अनुभव होता है। हमारी संसार-यात्रामे पथ-चयनकी सही कसौटी यही होनी चाहिये कि प्रत्येक कर्म हमारा भगवत्पूजन हो रहा है या नहीं। और यदि भगवत्पूजन हो रहा है, तो प्रत्येक कर्मका पर्यवसान आनन्द, कृतकृत्यता और अखण्ड शान्तिमें ही होना चाहिये। प्रभुमें अखण्ड-आनन्द, अखण्ड-ज्ञान, और अखण्ड-सौहार्द है। अतः प्रभुसे जुड़े प्रत्येक कर्मका फल हमें कल्याण, आनन्द, शान्ति एवं कृतकृत्यतारूपी रस प्रदान करनेवाला ही होगा। यदि ऐसी हमारी स्थिति नहीं है और प्रभुकी उपासनारूप कर्मसे यदि हमे अशान्ति, चिन्ता, नीरसता, विषाद मिलता है, तो यह निश्चय ही मान लें कि वह क्रिया प्रभु-प्रसादका संस्पर्श नहीं प्राप्त कर रही है।

मनुष्य-जीवनमें मुझे तो दो ही कर्तव्य समझमें आते हैं। १. प्रभुपर अखण्ड विश्वास रहे कि वे ही मेरे सब लोक-परलोकका समुचित निर्वाह करेंगे और २ जिह्वाद्वारा भगवान्‌का नाम निरन्तर लिया जाता रहे। ये दो कर्तव्य पालन होते रहें, तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रहेगा।

**आपका**
**चक्रधर**

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - सत्रह (१७)

# भगवान्‌का आश्रयही एकमात्र कर्तव्य

*पत्र-प्रेषक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीतारादत्तजी मिश्र**

ग्राम, पो. फखरपुर (गया) (बिहार)

*लेखन-स्थल :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी
हवेली, ग्राम, पो. रतनगढ़, बीकानेर
*दिनांक :*
१२-१-४१ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी कापीकी प्रतिलिपि

पू. तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला। पत्र पढ़नेके पश्चात् बहुत विचारकर यह पत्र लिख रहा हूँ।

आजतक जितने भी उच्च-शक्ति-सम्पन्न सन्त हुए हैं, उन्होंने भगवान्‌के संबंधमें अपना यही अनुभव जताया है कि भगवान् हैं तो सही, परन्तु वे यथार्थतः कैसे हैं, इसे मात्र वे ही जानते हैं, दूसरा आजतक न तो कोई जान पाया है, न भविष्यमें ही कभी कोई जान सकेगा। साथ-ही-साथ सन्तोंका यह भी अनुभव है, कि उन भगवान्‌के विधानसे प्रत्येक जीवके लिये जो भी प्रारब्ध घटित हो रहा है, उसीमें उस जीवका अनन्त मंगल निहित है। इसीलिये, भैया ! सभी सन्तोंका एकमतसे यही आग्रह रहता है – भगवान्‌से कुछ न चाहकर हम अपने-आपको सर्वथा-सर्वांशमें उन पर ही छोड़ दें ।

मुझे तो आपके लिये भी यही सर्वोत्तम साधन समझमें आ रहा है कि आप भी अपने-आपको निरवलम्ब भगवान्‌पर ही छोड़ दें ।

अपनी ओरसे इतना ही साधन करें कि जिह्वासे भगवान्‌का नाम-जप होता रहे। मनसे यथाशक्ति उनका स्मरण हो; फिर जो हो, उसीमें हम निश्चिंत होकर परमानन्द मानें।

भगवान्की बडी कृपा है कि आपको संसार एवं परिवारकी आसक्ति दोषके रूपमें दीख रही है। अपनी धर्मपत्नीके प्रति मोह और धनके लिये व्याकुलता होना – यह दोष तो सभीमें थोडे-बहुत रूपमें होता ही है, परन्तु इसे आप अपने दोषके रूपमें जान-पहचान रहे हैं, यह भगवान्की कृपाका ही फल है। अब जिनकी कृपासे ये आसक्तियाँ आपको दोष रूपमें दीख रही है, इनका समूल मिटना भी उन प्रभुकी कृपासे ही होगा। प्रयत्नसे मनुष्य इनको न्यून तो कर सकता है, परन्तु इनके समूल नाशके लिये प्रभुसे रोकर प्रार्थना करना ही एकमात्र उपाय है।

भैया ! जिन प्रभुके सकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डों-भरे विश्वका सृजन एवं विनाश सभव हो सकता है, उनके लिये एक जीवकी आसक्तिका नाश करना कौन बड़ा कार्य है ? हाँ, आवश्यकता इस बातकी है कि अपनी करुण प्रार्थनासे हम उन दयामय प्रभुमें ऐसा करनेकी चाह उत्पन्न कर दें।

आप कहेंगे कि प्रभु जब परम दयालु हैं और उनके संकल्प-भरसे ऐसा हो सकता है, फिर वे क्या मेरे लिये मात्र संकल्प-भर करनेमें भी दरिद्र हैं ? भैया ! इसका उत्तर यही है कि हम सच्चे हृदयसे इन दोषोंको दूर करना चाहते नहीं हैं। हममेंसे करोड़ों तो धर्मपत्नीके मोह और धनके लिये व्याकुलताको दोष ही नहीं मानते। आप-जैसे लोग, जो इसे दोष मानते हैं, वे भी इसे सत्सग और शास्त्रोंके अध्ययन-मननके प्रकाशमें ही ऐसा मान रहे हैं, इन दोषोंसे सर्वथा मुक्त होनेकी उनकी तीव्रतम उत्कण्ठा सर्वथा नहीं है। आप-जैसे लोगोंका अन्तर्मन भी इन आसक्तियोंका समूल नाश नहीं चाहता, भीतरसे हमारी, आपकी इच्छा इनकी पूर्ति करनेकी ही होती है। साधु-महात्माओंके सत्संगको सुनकर किसी दोषको अपने भीतर देखकर उसे दोषरूपमें मान लेना यह सर्वथा द्योतित नहीं करता कि उसमें उस दोषके समूल नाशकी उत्कटतम अभिलाषा भी है। हम मात्र ऊपरसे ही इन दोषोंको 'दोष' कहते-समझते हैं, परन्तु हमारा मन भीतरसे पूरी तरहसे इनकी अभिवृद्धि ही चाह रहा है। हमारा मन इन दोषोंको अपने भीतर देखकर भयंकर जलन अनुभव नहीं करता। सचमुच ही कहीं यदि हमारे अन्तस्तलकी कातर माँग इनसे मुक्त होनेकी हो जाती, तो उसी क्षण प्रभु हमारी प्रार्थना सुन लेते और निश्चय ही हम सर्वथा दोष-मुक्त हो जाते।

हमारे भीतर जितने भी दोष हैं, वे मात्र इसीलिये हमारे हृदयरूपी घरमें डेरा डालें हैं, क्योंकि भीतर-ही-भीतर हम उन्हें बनाये रखना चाह रहे हैं। भगवान्का बल हमारे पास पहलेसे ही इतना पर्याप्त है कि यदि सच्ची चाह हो तो किसी भी दोषमें हमारे भीतर बने रहनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। परन्तु

भगवान्‌द्वारा प्रदत्त बलका पूर्ण दुरुपयोग करते हुए हमने ही इन सभी दोष-समुदायरूपी डाकुओंको बल प्रदान किया है, जिससे ये हमारे हृदयमे डेरा जमाये हुए हैं। इन दोष-समुदायरूपी लुटेरोके पास इनका अपना स्वयका बल तो कुछ भी नहीं है। हमारा अन्तर्मन, क्योकि इन्हें बनाये रखना चाहता है, अत: वही इन्हें गुपचुप अपना बल देकर बली करता है। हमारे अन्तर्मनकी शह पाकर ही ये हठपूर्वक हमारे हृदयरूपी घरको आक्रान्त किये हैं।

एक बात और अति महत्त्वपूर्ण है, आप चाहे कितनी ही गिरी-अवस्थामें क्यों न हों, आपने जब एकबार भगवान् श्रीकृष्णको अपना सर्वस्व सौंपकर उनसे एकान्त, मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है, तो किसी भी बातके लिये चिन्ता करना, उनपर अविश्वास करना, आपके लिये घोर कलक ही है।

भैया ! जब आप श्रीकृष्णके हैं, तो मन, वाणी और कर्मसे अब तो आपको सबका आश्रय त्यागकर एकमात्र उनका ही मुख जोहना चाहिये। भैया ! आपको तो जो भी आवश्यकता हो, सच्चे एकाश्रयी अनन्य साधककी तरह भगवान् श्रीकृष्णसे ही कहना चाहिये।

इस सम्बन्धमें भगवान् शकर कहते हैं :-

*सरः समुद्र नद्यादीन् विहाय चातको यथा*
*तृषितो म्रियते चापि साधनानि विचिन्तयेत् ।।*

अर्थात्, प्यास बुझानेके लिये जल अन्य स्थानोंमें भी उपलब्ध है, सुलभ है, परन्तु चातक जिस प्रकार मात्र मेघसे ही याचना करता है, चाहे मेघ ओले बरसाकर उसे घायल ही कर दे, इसी प्रकार हमें याचनाके उद्देश्यसे अन्य किसीके भी पास नहीं जाना है। अपनी सम्पूर्ण नीचताओंको लेकर हमें तो भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही रोना है। भगवान् श्रीकृष्णको हमारी दशाका राई-रत्ती ज्ञान है। वे सर्व-समर्थ हैं और हमारे स्वामी हैं। यदि हम उनके होकर अपनी व्यथा उन्हें ही कहेंगे, तो वे हमारी व्यथा निश्चय ही सहृदयतापूर्वक सुनेंगे। थोड़ी देरके लिये मान लें कि वे हमारी – एक नगण्य जीवकी व्यथा सुननेका अवसर नहीं पावें, तो भी अन्य किसीसे कुछ भी याचना नहीं करके हम अपने चित्तमें तो संतोष कर ही सकते हैं कि हमने अपने धर्मका कुछ अश तो पालन किया है।

समस्त त्रुटियों एवं आवश्यकताओंके लिये पतिव्रता स्त्री पतिका ही मुख जोहती है। अवश्य ही उत्तम पतिव्रतामें त्रुटि नहीं रहती, उसकी अपनी स्वतंत्र कोई आवश्यकता भी नहीं रहती। उसके मनमें यह दृढ़ विश्वास भी होता है कि पति हमारे लिये जो भी कर रहा है, वह ठीक ही कर रहा है। पतिका कोई भी

व्यवहार पतिव्रता स्त्रीको कभी अनुचित लगता ही नहीं। परन्तु यदि इस कोटिका हमारा मन न भी हो और त्रुटियोंसे मन पूरा उद्विग्न होता हो तो इस परिस्थितिमे भी स्त्रीके लिये, जैसे एकमात्र कर्तव्य यही है कि वह अपनी सब दशा अपने पतिसे ही निवेदन कर दे, उसी प्रकार हमें अपनी सब दशा भगवान् श्रीकृष्णको ही कह देनी चाहिये।

आपने जब अपने आपको और अपने जनोंको भगवान्‌को समर्पित कर दिया, तो आपसे सम्बन्धित सभीकी कर्मोंकी सम्पूर्ण लेख-राशि अब यमराजके पास है ही नहीं। आपकी एव आपसे सम्बन्धित सभी जनोंकी सम्पूर्ण कर्मोंकी लेख-राशिकी फाइल अब यमराजसे सीधे श्रीकृष्णके पास ही चली गयी है। अब आपके एव आपसे सम्बन्धित सभी जनोके लिये जो भी विधान होगा, वह निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ही होगा। अब आपको या आपसे सम्बन्धित किसी भी जनको दण्डित किया जायेगा, तो वे ही अपने हाथों दण्डित करेगे और यदि पुरस्कृत करेंगे, तो वे स्वयं ही पुरस्कारदाता होगे।

आपने अपनी पत्नीके निरन्तर रोगी रहनेकी जो भी दशा वर्णन की, उसके सम्बन्धमें मेरा तो एक ही निवेदन है कि मंगलमय भगवान् श्रीकृष्णके विधानके अनुसार ही जो होना है, वह हो रहा है। यदि श्रीकृष्ण उसकी मृत्यु चाह रहे हैं, तो उसकी मृत्यु निश्चित है और वह होकर ही रहेगी और प्रभुका विधान यदि उसे जीवन दिये है, तो कोई भी रोग उसे मार नहीं सकता। आप भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अपने विश्वासमे शिथिलता कदापि मत आने दें, चाहे वह पत्नीकी रुग्णताको लेकर हो अथवा आर्थिक प्रश्नोंको लेकर। आपकी अर्थ-बहुलता अथवा अर्थ-दरिद्रता, आपकी पत्नीका रहना अथवा उसका भगवान्‌के धाम चले जाना – ये सभी निर्णय श्रीकृष्णके हाथों ही हो रहे हैं। आपका सुख-दु ख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश जो भी होना है, वह सब अब प्रारब्धानुसार नहीं होकर, भगवान् श्रीकृष्णकी व्यक्तिगत, सर्वतंत्र-स्वतंत्र इच्छानुसार ही सपादित होना है। अत जो भी भोगना है, वह तो भोगना ही है, उसे मिटाया जा ही नहीं सकता।

यदि आपका विधान प्रारब्धानुसार होता, तब तो नवीन शुभकर्मराशि द्वारा उस प्रारब्धमें कोई फेर-बदल भी संभव हो पाता, परन्तु अब तो क्योंकि आपका विधान ही कर्मजगत्‌के पास नहीं होकर सीधा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके कृपा-विधानद्वारा सम्पादित हो रहा है, तो अब वह अमोघ है। अत अब तो जो कुछ भी रियायत हो सकती है, उनके ही द्वारा हो सकती है, अतः उनसे रोकर प्रार्थना करना ही अब अपना अवलम्ब शेष रहा है।

भैया ! क्या यह कम सौभाग्यकी बात है कि हम दोषी हों, नटखट हों और हमारे अपराधोंका वे अपने हाथो हमें दण्ड दे। क्या यह हमारा सौभाग्य नहीं है ? यदि आप बार-बार इन बातोंको मनमें लायेंगे तो मन शनै-शनै इनको ग्रहण करने लगेगा। और एक बार भी यदि मन इन पवित्र प्रेम-जन्य भावोमें रमने लगा, तो फिर इन भावोंसे ओत-प्रोत हमारा मन प्रत्येक दु ख-सुखमे अपने प्राणाराध्य प्रियतमका ही सस्पर्श प्राप्त करने लगेगा। और उनका सस्पर्श ओर प, दो तो हैं ही नहीं, अत हम उन्हे अपने सम्मुख प्रत्यक्ष देखनेकी आदत डाल लेगें और उन पूर्ण लीलामयको हमसे खेल करता प्रत्यक्ष देख-देखकर प्रतिक्षण कृतार्थ होते रहेंगे।

मुझे तो पुन-पुन आपसे यही कहना है कि उनपर ही निर्भर होनेकी चेष्टा रखिये। आपकी पत्नीके प्रति जो भी आसक्ति है, जो धनके प्रति आसक्ति है, वह सभी आसक्ति, वे सबसे हटाकर मात्र अपने प्रति कर लें, यह उनकी कृपाके लिये बाये हाथका खेल है। उनकी कृपा कितनी बलशाली है, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते ।

भैया ! किसीके द्वारा सुनाई, इधर कुछ ही मास पूर्वकी एक घटना सुना रहा हूँ। व्रजमें गिरिराज-परिसरमें एक भक्त रहते थे। वह रहते थे, आन्यौर ग्राममें एक कुटिया बनाकर, परन्तु दिनमे गिरिराज-परिसरमें कुण्डोंके किनारे पेडोंके नीचे एकान्तमे बैठकर शान्त-चित्त भजन करते रहते थे। वे बहुत ही कम बोलते थे और निरन्तर नाम-जप करते रहते थे। वे किसी भी व्रजवासीको श्रीकृष्णरूपमें देखते हुए 'लाला' कहकर ही बोलते थे। उनके सम्मुख आनेवाला चाहे वृद्ध हो चाहे वृद्धा, चाहे युवक हो या युवती, चाहे बालक हो अथवा बालिका, वे तो उसे 'लाला' अथवा 'लाली' ही कहकर सबोधित करते थे। सभी व्रजवासी उनकी रहनीसे और भजन-निष्ठासे प्रभावित थे। उनका सर्वत्र पर्याप्त आदर था।

एक दिन वे वनमे एकान्त-स्थलमें चुपचाप शान्त बैठे भजन कर रहे थे। कदम्बका घना वृक्ष था, अत उनका देह किसीकी दृष्टिमें भी नहीं आ रहा था। पासमें ही गोविन्दकुण्ड था। गोविन्दकुण्ड परिक्रमा-पथपर है, अतः वहाँ दिनमें परिक्रमा करते यात्री आते-जाते रहते हैं। महात्माजीको यात्रियोंसे क्या लेना-देना था, वे तो अपने भजनमें निरत थे।

गोविन्दकुण्डमे कोई परिक्रमा करता हुआ परदेसी यात्री आया होगा, उसने वहीं कुण्डके किनारे जल-पान किया एव विश्राम करने वहीं लेट गया। कुछ काल पश्चात् उसका रुपयोसे भरा मनीबेग किसीने चुरा लिया। यात्रीकी निद्रा खुली, तो उसने अपना मनीबेग इधर-उधर ढूँढा। वह जब उसे नहीं मिला

तो उसने चोरको खोजनेका प्रयास किया। उस यात्रीकी दृष्टि सहसा पेड़ोंके पत्तोंके मध्य छुपे महात्माजीपर पड़ी। उसने महात्माजीको चोर समझा। उसे इतना क्रोध आ रहा था कि बिना कोई पूछताछ किये ही उसने महात्माजीको पीटना प्रारंभ कर दिया। महात्मा वृद्ध और कृशकाय तो थे ही, निर्दयतापूर्वक पिटनेसे बेहोश हो गये। उसने महात्माकी सम्हाली ली, जब उसे उनके पास कुछ भी मिला नहीं, तो वह उन्हें बेहोश छोड़कर भाग गया। इधर गाँववालोंको जब पता लगा, तो वे महात्माजीको उठाकर अस्पताल लाये। कुछ उपचारके पश्चात् जब महात्माजीको कुछ होश हुआ, तो ग्रामवासियोंने उनसे मारनेवालेका हुलिया पुछा । महात्माजीकी दशा तो ऐसी थी, कि उन्हें सर्वत्र मात्र 'लाला' , 'लाली' – दोकी ही सत्ता दिखती थी। अत: प्रत्येक प्रश्नकर्ताको वे यही उत्तर देते "लाला" ! तूने ही तो मार लगायी, अब तू ही सेवा कर रह्यो है। अरे, तू तो सबके घट-घटकी जाननेवालो है, मोते का पूछै है कि कौन मार गयौ ? तू ही तो मार गयो थो।" अस्पतालकी नर्स जब उनकी पट्टी करने आयी, तब भी उनकी यही उक्ति थी। 'लाली', 'लाला' ने मार लगायी और अब तू पट्टी करै है, कर दै।" इसी प्रकार पुलिस इन्सपैक्टरको भी महात्माजीने यही उत्तर दिया- "भैया ! और कौनकी सामर्थ्य है कि मोहे मार सकै। मोहे तो 'लाला' ही मारै है और 'लाला' ही तारैगो। मेरो या संसारमे और कौन है भैया ?"

भैया ! वे सच्चे महात्मा थे, उनकी आँखें खुली थीं, अत: उन्हें सत्य स्पष्ट, प्रत्यक्ष दिखने लगा था। उन्होंने इसे पूरी तरह हृदयंगम कर लिया था कि उनके इष्ट, प्रियतम श्यामसुन्दरकी इच्छाके बिना पत्ता भी हिल नहीं सकता है, फिर जो भगवान्‌के समर्पित सेवक हैं, स्वय भगवान्‌के सिवा किसकी हिम्मत है जो उनके रोमको भी क्षति पहुँचा सके। हाँ ! किसी अवश्यभावी कर्मविपाककी पूर्तिके लिये श्रीकृष्णने ही अपने हाथों उन्हें मार लगायी है, अब जब मारा है, तो वही उपचार करने भी आया है।

भैया ! मैं अधिकांश महात्माओंके अनुभवका सार आपको लिख रहा हूँ – "यह ससार अनित्य है, इसमें सुख है ही नहीं। सुख चाहते हो, तो भगवान्‌का भजन करो।"

वास्तवमें आपको जो स्त्री-परिवार, खेत-खलिहान, घरकी ऊँची-नीची परिस्थिति झकझोर रही है, उसे सर्वथा-सर्वथा सत्य मत मानिये। अपनेद्वारा देखे-समझे विश्वको मायाका मिथ्या खेल समझकर भगवान् श्रीकृष्णको, जो सर्व मायाधीश्वर हैं, उन्हें उनकी माया सौंप दीजिये। पीलियेके रोगीको ससार पीला दृष्टिगोचर होता है, उसे मिश्री, जो परम शुभ्र होती है, पीली ही दीखती

है। परन्तु वह रोगी है, उसकी दृष्टि शुद्ध कदापि नहीं है। उसके समझे एवं कहे वर्णको कोई भी प्रामाणिक नही मान सकता। जो स्वस्थ-व्यक्ति दृष्टि रखता है, वही प्रामाणिक मानी जाती है। इसी प्रकार, हम जिसे पत्नी-पुत्र, परिवार, अपने स्वजन, शत्रु-मित्र, राजा-प्रजा, जमींदार-खेतीहर देख रहे हैं, यह सब हमारी रोगी आँखोका ही परिणाम है। स्वस्थ आँखें भक्तोकी एवं सिद्ध-सन्तोकी ही होती है। वे इन सभीके रूपोमें अपने प्राणसारसर्वस्व प्रियतम श्रीकृष्णको ही नाट्य करते देखते हैं। उनके लिये जगत् है ही नहीं। जगत्‌की व्यवहारिक एवं पारमार्थिक – दोनो प्रकारकी सत्ता उनकी दृष्टिमे मात्र श्रीकृष्ण ही हैं। अतः वे महात्मागण उन्हे ही सर्वत्र देख-देखकर उनके लीलामय रूपको सतत प्रणाम करते रहते हैं।

भैया ! आप परम बुद्धिमान् हैं। केवल बुद्धि पलटनेकी ही आवश्यकता है। जहाँ आप पत्नीकी अनवरत बीमारीसे दुखी, चिन्तित, विषादग्रस्त हो रहे हैं, वहीं जैसे ही आपकी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्णको अपनी सच्चिदानदमयी लीला करते देखेगी, बस, आपके आनन्दका पारावार ही नहीं रहेगा। पहले-पहले मनुष्यको विश्वास करके सन्तोकी अनुभूत-दृष्टिका ही अनुकरण करना पडता है। फिर पीछे भगवान् कृपाकर उसे स्वय भी अपना अनुभव कराने लगते हैं। जब स्वय भगवान् उसे अनुभव कराने लगते हैं, फिर तो वह कहीं भी डिगता नहीं। नाशवान्, परम स्वार्थी, क्षण-भरमें ही स्वार्थसे शत्रु और क्षण-भरमे ही मित्र हो जानेवाला, कर्माधीन, कर्म-भोगके क्षय होते ही विनष्ट हो जानेवाला यह शरीर एव इसके परिवारके पीछे भगवान्-जैसी अनमोल वस्तुको भुलाकर, ऐसे सुन्दर मानव-जीवनको व्यर्थ कर देना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। इस मिथ्या आशामे कि ये पत्नी-पुत्र-कलत्र हमें सुख देंगे, जीवनको बरबाद करना भारी भूल है। न-जाने हम कितने-ही परिवारोंको अपने विगत जन्मोमे छोड़ आये हैं। उन पूर्वके असख्य परिवारोमें कितने ही इस समय भूखसे तडपते हो सकते हैं, अनेक जन्मोमे रही हमारी पत्नियाँ न-जाने कितनी भीषण रोग-पीडाओंसे आक्रात होगी ? परन्तु क्या हम उनकी चिन्ता करते हैं ? सभी तो प्रभुकी ही सम्पत्ति हैं। अत इस परिवारको भी प्रभुकी ही सम्पत्ति समझकर, प्रभुको प्रभुकी वस्तु सौंपकर निश्चित हो जाइये। सबके योगक्षेमका आगे-से-आगे यथोचित प्रबंध लगा हुआ है।

भैया ! मेरी परम मंगलमयी बात मान लीजिये। आपका किसी भी परिस्थितिमे, किसीके लिये, कुछ भी शोक करना सर्वथा ही अनुचित है। आपका मात्र इतना ही कर्तव्य है कि जिह्वाके द्वारा भगवान्‌की परम मगलमयी नाम-

सुधाका पान होता रहे एव कानोके द्वारा अपना ही उच्चारित किया हुआ नाम आप सुनते रहे। अब शेष रहा मन – इस मनका उनके त्रिभुवन-मोहन सौन्दर्यको निरखते हुए निरन्तर उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण – ये तीन काम हमारेद्वारा यदि निर्बाध हुए, तो चौथी बात – उनका साक्षात् दर्शन, वे स्वयं करायेंगे। यह दर्शनकी बात हमें उनपर ही छोड देनी चाहिये। वे जब उचित समझे, जैसा उचित समझे, करे। ये चार बातें स्वय भगवान् श्रीकृष्णने गोपीजनों को बतलायी हैं - *श्रवणात् दर्शनात् ध्यानात् मयि भावानुकीर्त्तनात् ।।*

देवी पार्वतीके प्रश्नोका उत्तर देते हुए भगवान् शंकरने साधक एव साधनाका बडा ही सुन्दर चित्र खींचा है।

*सुचिरं प्रेषिते कान्ते यथा पतिपरायणाः ।*
*प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैवकांक्षिणी ।*
*तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायंत्यपि शृणोति च ।*
*श्रीकृष्ण-गुण-लीलादि- स्मरणादि तथा चरेत् ।।*

भगवान्ने कितना सुगम साधना का स्वरूप कहा है। पति परदेशमें है, मन किसी भी विषयमें नहीं लगता, व्याकुलता बढती जा रही है, मन-ही-मन सोचती है – उनमे निष्ठुरता तो है नहीं। अहा ! वे कितने कोमल-स्वभावके हैं, वे तो सब प्रकारसे निश्चय ही अतीव सुन्दर हैं। पूरा तो उन्हें तब जानती, जब देख पाती। केवल चित्र ही तो देख सकी हूँ। परन्तु चित्रके नेत्रोसे ही कैसी प्रीति छलक रही है ? फिर जब उनका चित्र ही इतना प्रेम-भरा है, तो वे स्वयं कितने प्रेमसे भरे होंगे ? इस प्रकार मात्र चित्र देखकर ही एक-एक गुणोंपर मन मुग्ध होता रहे। बस, दिन-रात उनका चिन्तन होता रहे। फिर सर्वथा भूल जाय, इस ससारको, उसके दु ख-दारिद्र्य एवं अभाव-भरे स्वरूपको। जोर-जोरसे उनका गायन करने लग जाय। फिर स्थिर होकर उनकी बाट जोए, यदि कोई कुछ उनकी बात सुना दे, तो उसे अपना प्यारे-से-प्यारा मानकर, खूब दत्तचित्त होकर उसकी चर्चाका, परस्पर अनुस्मरण करे। इस प्रकार उनमें ही चित्त लगाये सम्पूर्ण जीवन बितावे। ये बातें अनहोनी सर्वथा नहीं हैं। पुन एक बात दोहरा रहा हूँ, इसका अर्थ ही है कि यह बात परम अनमोल है। आप जैसे हैं, जो हैं, घोर पापी हैं, दुरात्मा हैं, अथवा भले-से-भले, सच्चे, अति चरित्रवान् हैं, भगवान्की दृष्टिमे आपके ये गुण-अवगुण कुछ भी अर्थ नहीं रखते। भगवान् तो मात्र आपके समर्पणको ही देखते हैं, अत भगवान्से निवेदन करे –

**योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च ।**
**तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ।।**

अर्थात् हे मेरे प्रियतम प्रभु! इस लोक-परलोकमें मुझसे सम्बद्ध सभी वस्तुएँ आपकी, आपकी, मात्र आपकी हैं। मैं आपकी सम्पत्ति हूँ, मेरा घर-परिवार, धन, खेत बस, सब आपका है।

भैया! जिस दिन भी मन यह बात पूरी तरह स्वीकार कर लेगा, बस उसी दिवस सदा-सदाके लिये सब दुःख मिट जायेंगे। जबतक मन यह स्वीकार नहीं करता है, तभीतक चिन्ता होती है। प्रभुका दासत्व स्वीकार होते ही निश्चितता आ जाती है। अतः पूरी शक्ति लगाकर उनका हो जानेकी तय्यारी करें। भगवान् तो हमें पूरा स्वीकार किये हुए ही हैं। वस्तुतः तथ्य ही यह है कि हम उनके हैं। हमसे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ भी उनकी ही हैं। परन्तु हमने झूठे ही उनकी वस्तुओंको अपनी मान रखी हैं और चिन्ताके बोझसे व्यथित होते रहते हैं। अतः आत्माकी सारी शक्ति लगाकर उनका हो जानेकी तय्यारी करें। सबसे यथायोग्य।

आपका
चक्रधर

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - अठारह (१८)

# मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु

*पत्र-प्रेषक :*

पू. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*(प. पू. श्रीराधाबाबा)*

*पत्र-प्रेषिति :*

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

माहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता

*लेखन-स्थल :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
ग्राम, पो. रतनगढ़, (बीकानेर)

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

*दिनांक :*
तिथि - पौष शुक्ला दसमी, सं. १९९७ वि.
तदनुसार, ७-१-४१ ई.

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम ! आपका पत्र मिला । आपने भगवत्प्राप्ति अथवा अपने कल्याणका अतिशय सुगम साधन पूछा, साथ-ही-साथ आपने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह साधन आपकी परिस्थितियोंमे आपके द्वारा कर सकने-जैसा होना चाहिये। आपके पत्रको पढकर, मै विचारमें पड़ गया। बहुत सोचनेके पश्चात् यही निर्णय किया कि आपका पत्र भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको समर्पित कर देना चाहिये एवं उनसे ही आपके अनुरूप कोई सुगम साधन पूछना चाहिये। तद्नुसार, आपका पत्र श्रीभाईजीको दे दिया गया था। उन्होने आपको पत्रोत्तरमें निम्न श्लोकके भाव लिखनेको कहा है। अत वे उनके बताये श्लोकके भाव लिखकर भेज रहा हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने अपने प्रिय सखा, साथ ही शिष्य, अर्जुनको अनेक कल्याणकारी साधन बताये हैं। साधन किये जानेपर ये सभी साधन परम श्रेष्ठ हैं। परन्तु भगवान्ने एक साधनको अर्जुनको दो बार जोर देकर करनेको कहा है। जिस साधनका भगवान् अपने गीताशास्त्रके नवें अध्यायके ३४वें

श्लोकमें वर्णन कर चुके हैं, उसीको पुनः अठारहवें अध्यायमें **'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'** कहकर दोहरा रहे हैं – इसका अर्थ ही है कि भगवान्‌का यह सर्वगुह्यतम परम वचन जो उनके द्वारा दोहराया जा रहा है, कोई अतिशय महत्व रखनेवाला साधन है। अवश्य ही यह अति अनमोल, सुगम और शीघ्र कल्याण करनेवाला है, इसमें भगवान्‌की दृष्टिमें कहीं कोई विकल्प नहीं है। यह अति सरल है, अतः सभी परिस्थितियोंमें सभीके द्वारा किया जाना संभव है।

यह साधन चार चरणोंवाला है। इन चारों चरणोंमेंसे यदि एक भी चरणका साधन कोई कर ले, तब भी वह अपना कल्याण कर सकता है। एक चरणका साधन करनेमात्रसे ही साधकके द्वारा चारों चरण स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं। श्रीभाईजी-जैसे महासिद्ध सन्तने आपको यह साधन बताया है, अतः निश्चय ही यह आपको सिद्धि प्रदान करेगा – इसमें कहीं कोई संशय मुझे तो नहीं है। यह अति महत्त्वकी बात है कि पहले तो गीताशास्त्रमें वर्णित होनेके नाते यह स्वयं भगवान्‌द्वारा सम्पूर्ण विश्वके मानव-मात्रको बताया गया परम हितकारी साधन है, दूसरे फिर व्यक्तिशः आपको श्रीभाईजी-जैसे पुरुषने संकेतित करके दिया है, अतः यह आपके लिये तो महामंत्र हो गया है। आप इसपर बढ़ चलिये और अपने प्राणोंकी सम्पूर्ण-शक्ति लगाकर इसे कर जाइये।

श्रीमद्भगवद्गीताका यह अनमोल भगवद्वाक्य है –

*मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।*
*मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥*

अर्थात्, हे अर्जुन! क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय (सखा, शिष्य, साथ ही शरणागत भी) है, अतः मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि यदि तू उपरोक्त चार चरणोंवाला यह साधन करेगा, तो निश्चय ही मुझे प्राप्त हो जावेगा। ये चार साधन हैं (१) मन्मना भव (२) मद्भक्त (३) मद्याजी एवं चौथा तथा अन्तिम साधन है, **'मां नमस्कुरु'**। अब मैं आपके लिये इन चारों साधनोंके कुछ रहस्यपूर्ण भाव, जो श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) अपने सत्संगोंमें अनेकों बार खोलकर प्रकट कर चुके हैं, आपको लिख दे रहा हूँ।

पहला भाव है – **'मन्मना भव'** – इस साधनमें हमें कुछ भी अपनी ओरसे नहीं करना है, मात्र भगवान्‌के मनवाला हो जाना है। वास्तवमें, जो पुरुष भगवान्‌के दिव्य गुण, रहस्य, और प्रभावको यथार्थ रूपसे जान लेता है, सन्तों एवं शास्त्रोंकी वाणीद्वारा उन्हें जानकर, उनपर पूर्ण विश्वास कर लेता है, वही अपना मन भगवान्‌को समर्पितकर भगवान्‌के मनवाला हो सकता है। मनुष्य बहुत ही स्वार्थी है, वह अपना मन वहीं लगाता है, जहाँ उसकी सर्व स्वार्थसिद्धि

हो। भगवान् शकर अपने हृदयका सर्वोत्तम विश्वास प्रकट करते हुए श्रीरामचरितमानसमे अपनी प्राणप्रिया प्रेयसी पार्वतीजीके सम्मुख कहते हैं –

*"उमा राम सुभाउ जेहिं जाना, ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।*

"हे उमा ! जो भगवान् रामका स्वभाव (मन) जान लेते हैं, उन्हें भगवान्के भजन (मनवाला होने) के अतिरिक्त, अन्य कुछ भी रुचिकर नहीं लगता।" दरिद्र मनुष्यको कहीं देवमणि पारस मिल जाय, तो वह भला दूसरी ओर मन लगा सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार, जब हमारा मन ठीक यह अनुभव कर लेगा कि भगवान् ही परम-तत्त्व हैं, वे सर्वत्र हैं, वे हमारे मनकी प्रत्येक बात भली-प्रकार से जानते हैं, वे हमें, हमारे सब मनोरथोंका दान दे सकते हैं, वे सर्वसमर्थ हैं, हमारे परमातिपरम सुहृद हैं, हमारे कल्याणके, हितके, हमारे सब प्रकारके मगलके वे हेतु हैं, भगवान् ही हमारे एकमात्र आधार हैं, वे ही एकमात्र हमारी गति हैं, वे दिव्य गुण-निधान हैं, वे सम्पूर्ण सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यकी एकमात्र निधि हैं, वे हमें अनन्त प्रेम करनेवाले, हमारे एकमात्र प्रेमी हैं, वे आनन्द-कन्द-विग्रह हैं, वे हमें गले लगानेके लिये सदा हाथ पसारे खडे हमारी बाट देख रहे हैं, वे परम दयालु हैं, भक्तवत्सल हैं, दीनबन्धु हैं, हमको जो कुछ चाहिये, भगवान् उस सभीका भण्डार हैं, हमें ज्ञान चाहिये तो भगवान् ज्ञान-स्वरूप हैं, हमे प्रेम चाहिये तो भगवान् अनन्त-प्रेममय हैं, आनन्द चाहिये तो भगवान् आनन्दघन हैं, हमें वैराग्य चाहिये तो भगवान् परम वैराग्यवान् हैं, हमें धन चाहिये तो सम्पूर्ण धनकी स्वामिनी लक्ष्मीजी अपनी सम्पूर्ण चचलता छोड़कर भगवान्के चरणोकी सेवा करती रहती हैं, हमे ऐश्वर्य चाहिये, तो सारा जगत् उन्हींके ऐश्वर्यके मात्र एक कणकी छायाका प्रकाश है, यश चाहिये, तो विश्व-ब्रह्माण्ड की सारी, यशस्विता भगवान्के एक रोमसे निकलती है। साराश यही है कि संसारमें हम जो कुछ भी सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम, स्नेह, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धन, भोग, सुख, समृद्धि देखते हैं, और इन सब वस्तुओके सबधमे जहाँतक हमारी ऊँची-से-ऊँची कल्पना होती है, हो सकती है, वह सब कुछ हमें भगवान् सहज ही दे सकते हैं, हमारे इस जगत्के पदार्थ और पदार्थोंकी हमारी कल्पना, भगवान्के अखिल सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्यादि सद्गुणोंके सागरकी एक बूँदकी बराबरी भी नहीं कर सकती। जो व्यक्ति इस प्रकार भगवान्के स्वभाव (मन) को जान लेता है, साथ ही भगवान्के स्वभाव (मन) पर दृढ़ विश्वास कर लेता है, वह आधे क्षणके लिये भी भगवान्को छोड़कर अन्यत्र मन नहीं लगा सकता। वह जगत्के क्षणिक भोगोंके उदय और विनाशमें भला हर्ष एवं शोक कैसे करेगा ? अवश्य ही भगवान्के प्रति उसका विश्वास सच्चा

होना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें राजा मुचुकुन्दसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

*वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते ।*
*मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ।।*

**(श्रीमद्भागवत १०।५१।४४)**

"हे राजर्षे ! मुझसे वर माँगो, मैं तुम्हारे सम्पूर्ण मनोरथों एवं कामनाओंकी पूर्ति कर सकता हूँ। जो भी प्राणी मेरी शरण ग्रहण कर लेता है, उसे फिर कभी भी कुछ भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नही है, उसके सभी मनोरथ मेरेद्वारा पूरे होते हैं।"

जीवनमें बहुतसे ऐसे नाजुक अवसर आते हैं, जब हम समझते हैं कि भगवान् तो परम निर्दयी हैं, भला हम भगवान्‌के मनवाले कैसे हो सकते हैं ? भगवान् तो सदा हमारे मनके विपरीत ही करते हैं, उनका भजन करनेके उपरान्त भी हमें बहुत ही प्रतिकूल कटु-विषके घूँट पीने पडते हैं, भगवान्‌के विधानमें हमारे प्रति दया है ही कहाँ ? यदि उनमें दया होती, तो उनका हमारे प्रति ऐसा प्रतिकूल विधान क्यों होता ?

इस प्रकार भगवान्‌के प्रति बहुत ही अविश्वास एवं शिकायतका भाव होनेपर भी, जो वस्तुस्थिति हमारे प्रतिकूल होती है, जो भी विधान विपरीत क्रियाशील हो रहा है, वह तो बदलता नहीं, उलटे और विपरीतताएँ लेकर वह प्रभुका विधान (मन) हमारे सम्मुख आने लगता है। हम चाहते हैं – अमुक व्यक्ति जीवित रहे, वह मर जाता है, हम चाहते हैं – हमारा अपमान, बेइज्जती नहीं हो, हमपर यह दु:ख-भरी परिस्थिति नहीं आवे, परन्तु वह आ ही जाती है। दूसरे शब्दोंमें जिन-जिन चिन्ताओंसे हम चिंतित रहते हैं, वे भगवान्‌की दृष्टिमें सर्वथा महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं और जिन परिस्थितियोंको हम टालना चाहते हैं, वे भगवान् हमपर लागू कर देते हैं।

परन्तु उस समय हमें दृढ़ निश्चयपूर्वक यही विश्वास करना चाहिये कि जिस प्रकार सूर्यमें वह शक्ति है ही नहीं कि वह किसीको अन्धकारका दान कर सके, उसी तरह भगवान्‌में भी यह शक्ति नहीं है कि वे किसीपर अकृपा कर सकें। भगवान्‌के लिये किसीका अहित करना संभव ही नहीं है। सभव है, ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि हमें दर-दरका भिखारी बन मारा-मारा फिरना पडे, परन्तु ऐसे भीषणतम प्रतिकूल विधानमें भी निश्चय ही भगवान्‌की परम मंगलमयता ही चरितार्थ हुई है, हो रही है, यह अकाट्य एवं परम सत्य है। हमारे प्रति घटित होनेवाले इस भीषणतम प्रतिकूल विधानमें क्या और कौनसी

महा महामगलमयी कृपा भरी है, भगवान्का क्या दयामय हेतु है, यह तो मात्र वे ही जानते हैं। परन्तु हम भगवान्के मनवाले हो जावें, इसका यही तात्पर्य है कि उस अवस्थामें भी हमें कभी दु ख नहीं हो, भगवान्के प्रति अविश्वास नहीं हो, और हम उस अत्यत भयानक भगवद्विधानको हमारे लिये परम मगलमय ही मान लें ।

यह सत्य है, दु खके साथ मनुष्य प्राय चंचल हो जाता है, उस समय भक्तिके सुन्दर भावोको, विश्वासकी हरी-भरी बेलिको पल्लवित करनेमें हमें कठिनताका अनुभव होता है। यह स्वाभाविक ही है। परन्तु हमें अति सावधानी-पूर्वक यही साधना करनी है कि कठिन-से-कठिन विपत्तिके अवसरपर भी हमारा मन भगवान्के प्रति सदा अनुकूल भावोसे भरा रहे और हम भगवान्के मनको अपना मन बनाते हुए उस प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमे भगवान्की अनन्त दया एव, कृपाका ही अन्वेषण करे ।

भगवान्का स्वभाव (मन) कैसा है, इसे बताते हुए श्रीमद्भागवतकार कहते हैं –

*''अहो बकीयं स्तन कालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्य साध्वी ।*
*लेभे गतिं धात्र्युचितं ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।*

अर्थात् – ''अहो ! आश्चर्य है, इस पूतनाने अपने स्तनोमें कालकूट विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पिला दिया। ऐसी असाध्वी (बाल-हत्यारिणी) को भी जिन श्रीकृष्णने अपनी धात्री, यशोदाकी गति प्रदान कर दी, ऐसी अनन्य दयालुता किसमें एवं कहॉ ढूँढ़नेमें मिलती है ? ऐसे भगवान्को छोडकर और किसकी शरण ली जावे ?''

बात यही है कि हमारा ईश्वर एवं शास्त्रोंपर प्रत्यक्षकी तरह विश्वास नहीं है। भगवान्की सत्ताके विश्वासमें हमें प्रह्लादजीको सदा आदर्श मानकर याद रखना चाहिये। प्रह्लादजीपर एक नहीं, अनवरत विपत्तियॉ आती ही गयीं। उनके पिता ही उनके दुर्दान्त शत्रु हो गये। वे असुरराज थे, सम्पूर्ण पृथ्वीपर उनका एकछत्र शासन था। बड़े-बड़े दिग्पति उनके भयसे कॉंपते थे। हजारों दिग्गज-बली दानव, छोटे-से पॉंच वर्षके वयके बालक प्रह्लादजीको मारने चले। अहा ! कितने भगवद्विश्वाससे भरे प्रह्लादजी उन असुर-दानवोंको संबोधित करते हैं :–

*''विष्णु शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः ।*
*दैतेयास्तेन सत्येन माक्रामन्त्वायुधानि च ।।*

**(विष्णुपुराण १।१७।३३)**

''हे असुरों, दानवों और दैत्यों ! मेरे परमात्मा विष्णु सर्वव्यापक हैं। वे इन

शस्त्रोंमें भी हैं, तुम सबके रोम-रोममे वे ठसाठस भरे हैं, वे मुझमे हैं और सब जगह हैं। यह परम सत्य है और मेरी मन-बुद्धिमें यह सत्य प्रत्यक्ष है। अत इस परम सत्यके प्रभावसे तुम्हारे इन शस्त्रास्त्रोका मुझपर तभी कोई प्रभाव होगा, जब मेरे प्रभु मुझे पीड़ा देना चाहेंगे; अन्यथा इन शस्त्रास्त्रोका मुझपर कोई असर हो नहीं सकता। हाँ, मेरे प्रभु यदि पीडा भी देंगे, तो उसमें निश्चय मेरा परम हित एवं मंगल ही छुपा होगा।"

भगवान् प्रह्लादजीकी रक्षा कर रहे थे, अत. दैत्योंके सभी शस्त्र व्यर्थ गये और उनके आघातने प्रह्लादजीका बाल भी बाँका नहीं किया। उन्हें तनिक भी वेदना, वे दैत्य नहीं पहुँचा पाये।

विश्वास करे, विषधर सर्प हमें तभी काटेंगे, जब भगवान् चाहेंगे। अन्यथा घोर-से-घोर विपत्तिमे भी हमारा कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। और भगवान्के द्वारा यदि हम दण्डित होंगे, तो उसी प्रकार हमारी उत्तमोत्तम गति अवश्यभावी है, जैसी गति भगवान्‌द्वारा प्राण-हरण करके पूतनाको प्राप्त हुई, भगवान्‌द्वारा सर्वस्व हरण करनेपर प्रतापी राजा बलिको प्राप्त हुई, राजा मोरध्वजको पुत्रकी मृत्युपर प्राप्त हुई, दर-दरका भिखारी और चांडालका दास बनाकर भगवान्ने राजा हरिश्चन्द्रको प्रदान की।

अत: हमे जगन्नियन्ताके परम मगलमय विधानमें अपना मन एक करके सदा-सदाके लिए निश्चित हो जाना चाहिये, क्योंकि अनादिकालसे आजतक भगवान्ने जिन-जिनको तनिक भी कष्ट दिया है, तो परिणाममें उनका महान् हित ही हुआ है। फिर यदि हमें भगवान्के द्वारा कुछ भी कष्ट दिया जा रहा है, तो निश्चय ही हमारा भी वे परम मंगल, असीम हित ही कर रहे हैं। हो सकता है, भूलसे ही हम अत्यत भयानक वस्तुको सुखदायक समझ रहे हों। राजा बलि राज्यमदमें इतने अभिभूत हो गये थे कि भक्तराज प्रह्लादजीको, जो उनके पितामह थे, भगवान्से उनके हितके लिये प्रार्थना करनी पड़ी और भगवान्ने राजा बलिको उस भयानक राज्यमदसे निर्दयतापूर्वक वंचित कर दिया। इसी प्रकार, हमारा मनचाहा अनुकूल विधान, संभव है हमारे लिये परिणामत महान् अहितकारी हो, इसे हम अपनी सीमित शरीरगत बुद्धिसे नहीं जान पाते हों और भगवान् जो हमारे सभी भूत-भविष्यको भली प्रकारसे जानते हैं, वे हमारी तरह अबोध तो हैं नहीं, इसलिये संभव है, वे हमारी मनचाही अहितकारी वस्तु हमें न देकर हमारा जीवन बरबाद नहीं करना चाहते हों और उस अहितकारी वस्तुसे हमें अति निर्दयापूर्वक वंचित कर दे रहे हों।

भगवानके मन एवं स्वभावको जाननेके लिये भगवानके असीम सौहार्दको

पहचाननेके लिये हमें भगवद्भक्तोका स्वभाव समझना एवं देखना चाहिये।

प्रह्लादजीको मारनेके लिये दानवराज हिरण्यकशिपुके पुरोहितोंने 'कृत्या' उत्पन्न की, परन्तु कृत्या जब भक्तराज प्रह्लादके तेजको असह्य समझ, उन्हें मारनेमें निष्फल हुई, तो उसने उन सभी पुरोहितोको मार डाला। भक्तराज प्रह्लाद इतने दयालु थे, कि वे उन निरपराध पुरोहितोंका कृत्याके द्वारा मारा जाना सहन नहीं कर सके। उन्होंने देखा, बिचारे पुरोहित तो निर्दोष हैं; यदि वे दानवराजके कथनानुसार कृत्यां उत्पन्न नहीं करते, तो उनके पिता दानवराज उन्हें मार डालते। अत वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए कहते हैं –

*''यथा सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी जगद्गुरुः ।*
*विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्येते पुरोहिताः ।।*
*यथा सर्वगतं विष्णु मन्यमानोऽनपायिनम् ।*
*चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्येते पुरोहिताः । (पद्मपुराण)***

अर्थात्, सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सब प्राणियोंमें व्याप्त हैं, हे प्रभो ! यदि मैं इस सत्यका ठीक अनुभव कर रहा हूँ, तो मेरे इस सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जावें। यदि मैं सर्वगत और अक्षय भगवान्‌को, मुझे मारनेकी चेष्टा करनेवालोंमें भी लबालब भरा देखता हूँ, तो इस सत्य से ये पुरोहित जीवित हो जावें। भक्तराज प्रह्लादजीकी सुदृढ ठोस आस्तिकतासे पुरोहित जीवित हो गये ।

हमें विचार करना चाहिये कि भगवान्‌के भक्त ही जब इतने दयालु होते हैं कि अपने मारनेवालेको भी जीवित देखना चाहते हैं, तो भगवान् कितने दयालु होंगे ?

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रभुके प्रेमका स्रोत है। जीव परमानन्द-स्वरूप परम-प्रेमरूप भगवान्‌का ही सनातन चिदंश है। विषयोंके प्रति उसके मनकी शक्ति प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है और इसीसे यह विशुद्ध धारा घोर दु खको उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो गयी है। भगवान् अपने अत्यत आत्मीय स्वभावसे जीवका ऐसा विधान करते हैं – जिससे उसकी विषयाभिमुखी गति पलटकर परमात्ममुखी हो जाय। इसीलिये भगवान् जननीकी गोदसे पुत्रको छीन लेते हैं, जिससे वह उसके मोहसे स्वरूपतः हटकर परमात्ममुखी हो सके। भगवान् निष्ठुर सर्वथा नहीं हैं कि पति-पत्नीके प्रेमभरे सम्बन्धोंको छिन्न-भिन्न कर दें। वे जागतिक प्राणियोंकी भाँति ईर्ष्यालु कदापि नहीं हैं, जो हमारा सुख-सम्मान, कीर्ति सहन नहीं कर पावें और उसे नष्ट कर दें।

जो ऐसा समझते हैं कि विषयोंमे आसक्त रहते, यथेच्छ अमर्यादित विषयोंका संग्रह एवं उपभोग करते हुए भी भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो जायेगी, वे बहुत ही बडी भूलमें हैं। भगवद्भक्तिके मार्गमें विषय और विषयासक्तिका त्याग अवश्यंभावी है। इसीलिये, भगवान् हमें अपने स्वरूपानन्दका परमामृत पान करानेके लिये ही विषय-विषका प्याला बलात् हमारे हाथसे छीन लेते हैं।

भक्तिमें तो अपने भोगके लिये कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। जब भोक्ता ही भगवान्‌के चरणोंका दास हो जाय, तो भोग्य-वस्तु कहाँसे रहे ? भक्तिमें तो एकमात्र प्राणाधार भगवान् ही सर्व-भोक्ता हैं। ऐसी अवस्थामें भक्तका अपना कोई भोग्य विषय रह ही नहीं पाता। अत विषयोंका और विषयासक्तिका उत्तरोत्तर त्याग करना ही पड़ता है। हम समझते हैं, कि विषयभोगमें सुख है, परन्तु भगवान् तो हमारी तरह अबोध, अज्ञानी हैं नहीं। वे ठीक समझते हैं -- जबतक इसका शरीर विषयभोगमें लगा होगा, और मन विषयोंमें आसक्त रहेगा, तो फिर यह स्वरूपानन्दके असीम, अमाप उदधिसे वंचित ही रहेगा। मन जबतक स्वरूपानन्दसे कटकर विषयाभिमुखी रहेगा, तो वह सदा क्षुद्र कामकी विषभरी ज्वालामें ही जलता रहेगा, क्योंकि यह नियम है, कि मन जिस वस्तुका चिन्तन करेगा, उसीमें उसकी आसक्ति होगी।

भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है :--

*विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।*
*मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ।।*

अर्थात्, विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह मुझमे लीन हो जाता है।

मनको जहाँ लगाओ, वहीं लग जाता है, और वह लगाना होता है इन्द्रियोंके द्वारा ही। हम बार-बार जिस प्रकारके दृश्योंको देखेंगे, जैसी बातें सुनेंगे, जैसी चीजें खायेंगे, जो कुछ सूँघेंगे, जैसी वस्तुका स्पर्श करेंगे, उन्हींका मनमें बार-बार चिन्तन होगा और जिस वस्तुका अधिक चिन्तन होगा, उसी में आसक्ति होगी। अतः भगवान् हमारे आत्यन्तिक और दूरगामी हितको देखकर ऐसा विधान ही बना देते हैं कि हमें बरबस भगवान्‌के प्रतिकूल सम्पूर्ण विषयोका ही त्याग कर देना पड़े।

इसीलिये, हमें विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌का मन सदा हमारा परम हित ही सोचता है, वह हमारा परम सुहृद, सदा हमारे आत्यंतिक कल्याणकी ही कामना करनेवाला है।

बात यह है कि विश्वास और श्रद्धा करनेसे ही उनकी प्राप्तिका साधन

प्रारभ होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामे कहा गया है कि ***'संशयात्मा विनश्यति'*** ***(गीता ४-४०)*** अर्थात् जो भगवान्‌के सौहार्दयुक्त 'मन' पर ही अविश्वास, अश्रद्धा करते हैं, उनका तो विनाश निश्चय ही है।

हम विचार करे, भगवान्‌के मनमें अपना मन मिलाकर उनका निरन्तर भजन एव गुणगान करनेवाले कैसे विलक्षण और असख्य महात्मागण हुए हैं ? उनमेसे प्रमुख भक्तोंका यहाँ उल्लेख किया जाता है –

**देवर्षि नारद** - ये ब्रह्माजीके मानसपुत्र है और सदा ही भगवान्‌के मनमे ही अपना मन मिलाये रहते हैं। ये भगवान्‌के मनसे अपना मन इतना अधिक एकत्व किये हुए हैं कि इन्हें अनेक ऋषि, मुनि 'भगवान्‌का मन' ही बतलाते है। मात्र एक बार इन्होंने भगवान्‌के मनके विपरीत अपनी इच्छा व्यक्त की थी। भगवान्‌ने इन्हें जो रूप दे रखा था, उस रूपके विपरीत इन्होने भगवान्‌के समान रूप चाहा था और विवाह करनेकी इच्छा भगवान्‌के सम्मुख व्यक्त की थी। भगवान्‌ने इन्हें शिक्षा देनेके लिये बन्दरका चेहरा प्रदान कर दिया। अपने मनकी कामनाका, इस प्रकार भगवानद्वारा उपहास कर दिये जानेपर, इन्होंने भगवान्‌को ही श्राप दे दिया था। जिस श्रापको स्वीकार करनेके कारण भगवान्‌को भी पत्नी-वियोगमें बिलखना पड़ा था और सीताजीकी खोजमें बन्दरोंकी सहायता लेनी पडी थी। बस, इस एक उदाहरणके अतिरिक्त नारदजी सदा भगवान्‌में ही अपना मन मिलाये रहे। भगवान्‌के प्रति किये गये इस एक प्रतिकूल आचरणका भी नारदजीको सदा परिताप ही रहा और वे सदा जागरूक रहे, जिससे कि भविष्यमें उनसे कभी भी कोई भगवान्‌के मनके विपरीत पुन: ऐसा आचरण नहीं हो।

नारदजी सदैव अपनी ब्रह्मवाणीमें भगवान्‌का नाम एवं गुणगान करते हुए त्रिलोकीमें भ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार, महर्षि वेदव्यास, शुकदेवजी महाराज, महात्मा याज्ञवल्क्य, काकभुशुण्डिजी, भगवान् शेष, सूतजी, शौनकादि ऋषि, शाण्डिल्यजी, भक्त भीष्म, अर्जुन, परीक्षित्‌जी, राजा पृथु, जनमेजय, भगवती श्रीलक्ष्मीजी, अम्बरीषजी, कवि आदि नौ योगीश्वर, श्रीभरतजी, भक्तप्रह्लादजी, सनकादि, ध्रुवजी, श्रीहनुमान्‌जी, विदुरजी, उद्धवजी, राजा बलि, विभीषणजी, भक्तराज सुतीक्ष्ण, राजा शिवि, व्रजकी गोपीजन, गोप, कश्यप-अदिति, सुतपा पृश्नि, मनु-शतरूपा, दशरथ-कौशल्या, माता कैकेयीजी, गोपराज नन्द एवं मैया यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि अनेकों प्रमुख भक्त ऐसे हुए हैं, जो निरन्तर यावज्जीवन भगवान्‌के मनमें ही अपना मन मिलाये रहे।

सनत्कुमार नित्य निरन्तर **'हरिःशरणम्'** मत्रका ही जाप करते रहते हैं।

इनके **'हरिः शरणम्'** मंत्रका अर्थ ही है कि भगवानके मनमें अपना मन मिलाकर उनकी शरण रहो। श्रीवेदव्यासजीने अठारहों पुराणोंमे भक्तिको ही सर्वप्रधान भगवत्प्राप्तिका साधन माना है। वेदव्यासजीकृत भागवत-धर्ममें यही वर्णन किया गया है कि प्राणी भगवान्के मनमें ही अपना मन मिलाकर उनकी शरण रहे। वेदव्यासजी-कृत भागवत पुराण तो भक्तिकी खान है। श्रीशुकदेवजीने जबतक भगवान् श्रीकृष्णसे यह वरदान प्राप्त नहीं कर लिया कि उनपर भगवान्की माया असर नहीं करेगी, तबतक गर्भ-वासका त्याग ही नहीं किया। श्रीमद्भागवत-शास्त्रका सांगोपांग अध्ययनकर उन्होने भक्तिकी नदी बहा दी। महर्षि शाण्डिल्यने ही तो भक्तिके सूत्र लिखे हैं। उन्हें सभी भक्तगण अपना आचार्य मानते हैं। महर्षि गर्गकी गर्गसहिता तो भक्तिकी गंगा है। महर्षि कौडिन्यने तन्मयतासक्तिमें महासिद्धि प्राप्त की थी। भगवान् शेष तो दिन-रात अपने सहस्त्र मुखोंसे भगवान्का गुणगान गाते हैं। ये दास्यभावके प्रधान आचार्य हैं। दास्यभावका तो मूलमंत्र ही एक है कि भगवान्के मनमें मन मिलाये हुए उनकी दास-भावसे सेवा करो। राजा बलि तो सर्वात्म-निवेदनके आचार्य हैं। भगवान्के मनमें अपना मन मिलाना ही तो आत्म-निवेदन है। श्रीहनुमान्जीने अपना कलेजा फाड़कर वहाँ विराजित भगवान्के दर्शन सबको कराये थे, जिसका अर्थ ही था कि भगवान् ही उनका मन थे। विभीषणजीने तो अनन्त कालतककी लोक-निन्दा स्वीकार की और भगवान्के मनकी ही की।

वास्तवमें प्रेम ही चरम एव पंचम पुरुषार्थ माना गया है और प्रेमका तो ककहरा ही यही है है कि भगवान्के मनका होकर ही जीव जीवनयापन करे। इस प्रेममें मोक्षका भी सन्यास हो जाता है।

अतः हमारा प्रमुख साधन यही हो कि हम उपरोक्त इन सभी भगवद्भक्तिके महान् आचार्योंके आदर्शोंका पालन करते हुए सदैव भगवान्के मनको ही अपना मन माने और जो भी भगवान्के मनका विधान हमारे लिये भगवान् लागू करें, उसमें हमें हमारा भले ही सर्वनाश दिखायी पडे, परन्तु हम उसे हमारे लिये पूर्ण मंगल-विधान मानकर उसे हँसते हुए स्वीकार कर लें ।

दूसरा साधन भगवान्ने भक्त अर्जुनको बताया, वह है 'मद्भक्त' अर्थात् 'हे अर्जुन ! तू मुझसे सदा अपनेको एक ही अनुभव कर। भगवान्से अपनी पृथक् एवं विलग सत्ता कदापि मत मान।

प्रायः सभी जीव मायामें फँसकर शरीर एवं शरीरियोंका अपनेको भाग (अंश) मानते हैं। पशु, पक्षी सभी जीवोंका यह परंपरागत स्वभाव है कि वे अपने शरीर अथवा शरीरियोंको ही अपना मानते हैं। हममेंसे अनेक अपनेको उदात्त

भावनावश विश्वका भाग मान लेते हैं, अनेक जातिका भाग मान लेते हैं, धर्मका भाग मान लेते हैं, अपनेको मानवमात्रका भाग मानकर मानवमात्रकी सेवाका व्रत ले लेते हैं, परन्तु बडी कठिनाई यही है कि हम अपनेको भगवान्‌का भाग, अंश, उनका भक्त कभी भी नहीं मानते।

इसीलिये भगवान् अर्जुनको अपनी प्राप्तिका सबसे सरल यही साधन बताते हैं कि तू अपनेको मेरा ही भाग मान, मेरा ही अंश मान। यदि हम अपनेको विश्वका, राष्ट्रका हिस्सा मानेंगे, तो हमारी भक्ति विश्व एवं राष्ट्रके प्रति होगी। अपनेको जब परिवारका भाग मानते हैं, तो परिवारकी सेवामें लगे रहते हैं। जब मनुष्य अपनेको माता-पिताका भाग मानता है, तो माता-पिताकी सेवामें लगा रहता है। वही मनुष्य, जब अपने माता-पितासे कटकर स्वयंको पत्नी-पुत्रका भाग मान लेता है, तो पुत्र-पुत्री, पत्नी एवं परिवारकी भक्तिकर उनसे बँध जाता है। उसकी सम्पूर्ण कर्म-शक्ति, उस अवस्थामें परिवारका बोझ ढोनेमे ही लग जाती है।

अतः भगवान् अपने प्रिय सखा एवं भक्त अर्जुनसे यही कहते हैं कि तू अपनेको मेरा भाग मान। ***'भागो भक्तिः'*** जब तू अपनेको मेरा भाग समझेगा, तो स्वाभाविक ही तेरी भक्ति मुझसे हो जायेगी। जबतक कन्या अपनेको माता-पिता, भाईके परिवारका हिस्सा समझती है, तो वह उनसे जुडी रहती है। जब विवाह हो जानेपर वही कन्या अपनेको अपने पति एवं पति-गृहका हिस्सा समझ लेती है, तो उस समय पतिका परिवार उसकी सेवाका केन्द्र हो जाता है और माता-पिताके परिवारको, जहाँ जन्म लेती है, वह भूल जाती है। अपनेको संसारका, परिवारका भाग समझ लेनेकी भूलसे ही हम भगवान्‌को भूले हुए हैं और संसारके प्रति अपना पूरा दायित्व, कर्तव्य समझ रहे हैं। जैसे ही हम अपनेको भगवान्‌का अंश, भाग मान लेंगे, हम संसारको सर्वथा भूल जायेंगे और भगवान्‌के ही हो जायेंगे। उस समय हमारी सम्पूर्ण कर्म-शक्ति भगवान्‌की सेवामें ही, उनकी भक्तिमें ही व्यय होगी।

भगवान् गीतामें अर्जुनसे कहते हैं :—

*अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।*
*तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।८।१४।।*

अर्थात्, हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझे अपने-से-अपना मानता है, मुझे अन्य एवं पृथक् नहीं मानता एवं मुझसे अपने चित्तको जोडे रखकर नित्य-निरन्तर सतत मेरा स्मरण करता है, मैं उसको परम सुलभ हूँ, क्योंकि वह मुझे अपनेसे पृथक अन्य नहीं माननेके कारण मुझसे नित्य-युक्त है और योगी है।

भगवान्से नित्य एकी-भावसे जुड़ा अनुभव करनेवाले भक्तको तर्क-वितर्कमें पड़नेकी कोई आवश्यकता ही नहीं। वह तो अपने जीवनका प्रत्येक क्षण अपने भगवान्मे ऐसे मिला हुआ व्यतीत करता है जैसे नदी प्रतिक्षण समुद्रमे मिलती रहती है। भक्त अपने तनको भी भगवान्से ओत प्रोत मानता है। भक्तका मन, बुद्धि, अहंकार – सब कुछ भगवान्में तन्मय रहते हैं। भगवद्भक्तकी भावना होती है कि धरादेवी तो भगवान्की प्रेयसी है, अतः मेरे तनका समग्र पृथ्वी तत्त्व भगवान्की प्रिया है। मेरे प्राण तो पवनपुत्र होनेसे भगवान्के परमदास हैं क्योंकि पवनपुत्र हनुमान्जी भगवान्के परमोच्च भक्त-सेवक हैं। मेरा धन तो भगवान्का ही है, क्योंकि लक्ष्मीजी सदा भगवान्के चरणोंकी सेविका ही है। मेरा मन भी भगवान्का पुत्र है, क्योंकि मनके अधिष्ठाता प्रद्युम्नजी (रतिपति कामदेवके अवतार) भगवान्के पुत्र हैं। चित्तके तो अधिष्ठाता ही स्वयं भगवान् वासुदेव हैं। इस प्रकार भक्त अन्तःकरण, बहिःकरण, सभी इन्द्रियों एवं मनमें भगवान्का नित्य अधिकार अनुभव करता रहता है।

भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं :–

*''विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।*
*मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ।।*

अर्थात्, विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमे आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह मुझमे लीन हो जाता है।

भक्त तो अपनेको भगवान्का अंश (भाग) ही मानता है, अतः उसके लिये अपने भोगकी कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। उसका भोक्तापन तो भगवान्में मिल जाता है, क्योंकि भगवान्के अतिरिक्त उसके स्वतंत्र भोक्तापनकी कोई सत्ता ही नहीं रहती। भक्तकी नित्य-निरन्तर यही भावना होती है कि उसके प्राणाधार भगवान् ही सर्व-भोक्ता हैं, क्योंकि वे ही अंशी हैं और वह (भक्त) अपने समस्त अंगों और सामग्रियोंके सहित भगवान्का भोग्य है, क्योंकि वह अंश है भक्तकी यही परम पूत दृष्टि होती है कि भगवान् ही एकमात्र पुरुष (अंशी), स्वामी हैं और शेष सब प्रकृति उनकी भोग्या अंश एवं दासी है। ऐसी अवस्थामें भक्त स्वयं भोग्य हो जाता है और उसका कोई परमात्मा के अतिरिक्त अन्य भोग्य विषय रह ही नहीं जाता। भक्त ठीक समझता है कि उसका मन यदि विषयभोगमें आसक्त होगा, तो वह अपने सर्वाधार प्रियतम भगवान्की सेवा किस प्रकार करेगा ? अतः वह अपने चित्तको सब विषयो और उनकी आसक्तिसे खालीकर, भगवान्में डूबा रहता है।

मनका स्वभाव है, उसे हम जहाँ लगाना चाहेंगे, वहीं लग जायेगा। मन

लगता है, इन्द्रियोंके द्वारा ही। अत भक्त आँखोसे बार-बार भगवान्के सुन्दर-सुन्दर चित्रोको ही देखता है, वह कानोसे निरन्तर भगवान्के गुणगान ही सुनता है। वह भोजनके रूपमें, भगवान्को भोग लगाया, परम सात्त्विक प्रसाद ही ग्रहण करता है। वह अपनी घ्राणेन्द्रियसे भगवान्के अंगोंकी दिव्यगंध ही सूँघता है। वह भगवान्के चरणोंका ही सब रूपोंमे सस्पर्श करता है। वह बुद्धि एवं मनसे बार-बार भगवान्के ही स्वरूपका, तत्त्व-रहस्यका विचार एवं चिन्तन करता रहता है, जिससे उसकी आसक्ति भगवान्में ही हो। अत भक्त भगवान्की सेवाकी अभिलाषामे भगवान्के प्रतिकूल सम्पूर्ण विषयोंका त्याग कर देता है। जहाँ विषयी लोग अपने मनको भगवान्से हटाकर भोगों एवं जगत्प्रपचमें लगाते रहते हैं, वहीं भक्त जगत्के विषयी लोगोकी प्रकृतिके सर्वथा विपरीत अपने मनको सब विषयोसे हटाकर निरन्तर भगवान्से ही जोडे रहता है। उसका सब समय भगवान्के ध्यान, चिन्तन, कीर्तन, भगवत्सेवा, साधु-सत्कार, सत्संग, आदि, जो भगवदनुकूल, विषय हैं, उनमें ही चाह करके व्यतीत होता है। जिन विषयोंके संग्रह और सेवनकी शरीर-यात्रा या कुटुम्ब-पोषणके लिये नितान्त आवश्यकता होती है, उनका भी वह शास्त्रानुकूल ईश्वरकी आज्ञा समझकर बहुत थोडी मात्रामे ही संग्रह और सेवन करता है। वह अन्य किसी भी फल एवं कामनाको मनमें स्थान नहीं देता एव ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही अपने जीवनका पल-पल व्यतीत करता है। भक्त विषयासक्ति एवं विषयानुरागके त्यागको अधिक महत्व देता है, क्योकि विषयासक्ति नहीं रहनेपर यदि प्रारब्धवश भगवदिच्छासे विषय उसके पास आते भी हैं, तो वे विषय भी भगवत्सेवाके उपकरण बन जाते हैं। अत भक्तका हृदय विषयानुरागसे सर्वथा रहित हुआ भगवत्प्रेमका दिव्य-धाम ही बन जाता है। भक्तसे विषयोका त्याग स्वाभाविक ही होता है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं –

***रमा विलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ।।***

अमृतके स्वादको चख लेने और उसके गुणसे लाभ उठा लेनेपर, जैसे विषकी ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती, उसी प्रकार भक्तकी भी दृष्टि विषयोकी ओर नहीं उठती। उसे तो भगवान्में आसक्त होनेमें ही परम सुख अनुभव होता है

भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं :–

**मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।**
**मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम् ।।**
**(श्रीमद्भागवत ११।१४।१२)**

प्रिय उद्धव ! मुझमें चित्त लगानेवाले और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोडनेवाले भक्तको आत्म-स्वरूप मुझमे जो परम सुख मिलता है, वह विषयासक्त-चित्त लोगोको कहाँसे मिल सकता है ?

तीसरा साधन भगवान् अर्जुनको बतलाते हैं – **'मद्याजी'**, अर्थात्, जीवको भगवान्का ही यजन (भजन) करना चाहिये। 'यजन' का अर्थ है कि भक्त मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक भगवान्का पूजन करनेवाला हो।

भगवान्के इस प्रकारके पूजन एवं यजनको भक्त भगवान्के प्रति अपनी भक्तिका प्रधान अग मानता है। यह यजन उसका साध्य एवं साधन दोनों ही होता है। भक्तसे अपने भगवान्का इस प्रकारका पूजन निरन्तर अखण्ड स्वाभाविक और श्रमरहित ही होता है। साधकको इस प्रकारके भजनका अभ्यास करना चाहिये। जो मनुष्य भजनके बिना मुक्ति अथवा भगवत्प्रेम चाहता है, वह भूलता है। श्री तुलसीदासजी महाराज कहते हैं –

***बारि मथैं घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल ।***
***बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल ।।***

जलके मन्थनसे भले ही घी निकल आवे, बालूसे भले ही तेल निकले, परन्तु भगवान्के भजन बिना भवसागरसे मनुष्य नहीं तर सकता – यह सिद्धान्त अकाट्य है।

अतएव कल्याणकामी जीवके लिये भगवान्का इस प्रकारका पूजन-भजन अनिवार्य साधन है। विषयोंसे मन हटाकर यदि बार-बार भगवान्में नहीं लगाया गया, तो वह पुन. दौडकर विषयोंमें चला जायेगा। विषय-त्याग वैराग्य है, तो भगवान्का श्रद्धासहित यजन अभ्यास है। अभ्यास एवं वैराग्यसे ही विशुद्ध भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

जो साधक घड़ीभर तो भजन करते हैं और शेष समय चित्तको भगवान्से हटाकर ससारमें लगाये रखते हैं, वे भक्तिका सुखद लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। यह प्रेम एवं आदरयुक्त भगवान्का यजन नहीं है। यजन-रूप पूजा एव भजन तो तभी सिद्ध होता है जब वह सदा होता रहे, सतत होता रहे और सत्कारपूर्वक हो। योगदर्शनमे महर्षि पतञ्जलि कहते हैं –

***स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।***

'दीर्घकालपर्यन्त, निरन्तर, सत्कारपूर्वक किया हुआ अभ्यास दृढ़ होता है। (और यही यजन कहलाता है) नित्य-निरन्तर एव अखण्ड यजनसे भगवान्की प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

अतएव भगवान्‌का यह यजन अखण्ड-रूपसे करते हुए ही साधक स्नान, भोजन, व्यापार, कृषि, अध्यापन आदि सभी कार्य करे। इस भगवत्पूजनका ताँता क्षणभर भी नहीं टूटना चाहिये। भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन नहीं हो सके, तो निरन्तर भगवान्‌का नाम स्मरण करे। भगवान्‌के नाम-स्मरणसे मन और प्राण पवित्र हो जायेगे, भगवान्‌के पावन पद-कमलोमे अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जायेगा। नाम-जपकी सहज विधि यह है कि अपने श्वास-प्रश्वासके आने-जानेकी ओर ध्यान रखकर, श्वास-प्रश्वासके साथ ही मनसे, साथ ही धीमे स्वरसे वाणीसे भी भगवान्‌का नाम-जप करता रहे। यह साधन उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते, खडे रहते, सब समय किया जा सकता है। अभ्यास दृढ़ हो जानेपर भगवान्‌के चिन्तनमें चित्त विक्षेप-शून्य होकर अपने आप लग जायेगा। प्राय सभी प्रसिद्ध भक्तों और सन्तोंने इस साधनका प्रयोग किया है। महात्मा चरणदासजी कहते हैं –

*(१) ''श्वासा माही जपेतें दुविधा रहे न कोय ।''*

*(२) ''स्वास स्वास सुमिरन करो, यह उपाय अतिनीक ।।''*

अर्थात्, भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, रहस्य, गुण, लीला, अथवा नामका चिन्तन निरन्तर तैल-धारावत् होना चाहिये। यही भगवान्‌के लिये किया जानेवाला अखण्ड भगवद्यज्ञ है।

साधकको मनसे तो नित्य निरन्तर-भगवान्‌का यजन करना ही चाहिये, परन्तु कान एव वाणीसे भी सदा-सर्वदा भगवान्‌का ही गुण सुनना और कहना चाहिये। मनसे भगवान्‌का पूजन, भजन, चिन्तन तभी सफल होगा, जब हमारी इन्द्रियाँ भी भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगी रहेगी। सभी कार्योंका प्राय आधार होता है – सुनना अथवा बोलना। यदि कानोंमें सदा विषयोकी ही चर्चा आती रहेगी और वाणीसे सदा विषयोकी बाते ही की जावेगी, तो मनसे भगवान्‌का चिन्तन होना असभव-सा ही समझना चाहिये। यदि कान और जबान (वाणी) भगवान्‌में लगे रहेगे – उन्हें दूसरे कार्यके लिये फुरसत ही नहीं मिलेगी – तो अन्यान्य इन्द्रियाँ और मन स्वत ही भगवत्परायण हो जावेगे। अतएव कान एव जीभको भगवान्‌के नाम-गुण लीलादिके सुनने एव गानेमे ही निरन्तर लगाये रखना चाहिये। यही जीवन-यज्ञ है। श्रीमद्भागवतमे कहा गया है –

*श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।*
*न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ।।*
*बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।*
*जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ।।*

*(श्रीमद्भा.२।३।१९-२०।।)*

जिसके कर्ण-पथमें भगवान्‌के नाम-गुणोंने कभी प्रवेश ही नहीं किया, वह मनुष्यरूपी पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहेकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय है। हे सूतजी ! जो कान भगवान्‌की लीलाका श्रवण नहीं करते, वे सर्पादिके बिलके समान हैं और जो दुष्टा जिह्वा भगवान्‌की लीला-कथाका गान नहीं करती वह मेंढककी जीभके समान व्यर्थ ही 'टें-टें' बकवास करने वाली है।"

किसी भी शास्त्रके अन्तमें उस ग्रन्थका सार और परम अनमोल सत्य बात ही रखी जाती है। श्रीमद्भागवत भक्तिकी सुरसरि है, उसके अन्तमें ग्रन्थका समापन करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज सार-की-सार बात कहते हैं –

*मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः*
*तदेव सत्यं तदुहैव मंगलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ।।४८।।*
*तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्*
*तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ।।४९।।*

*(श्रीमद्भा. १२।१२।४८।४९)*

अर्थात्, जिस वाणीसे अधोक्षज भगवान्‌की कथा नहीं कही जाती, विषयोंकी बुरी बातें कही जाती हैं, वह वाणी असत् और व्यर्थ है। जिन वचनोंमें भगवान्‌के गुणोंको प्रकट किया जाता है, पुण्यकीर्तिभगवान्‌का यश-वर्णन किया जाता है, वास्तवमें वे ही वचन सत्य हैं, वे ही कर्म मंगलरूप हैं, पुण्य हैं, वही वाणी मनोहर है, वही रुचिर है, वही नित्य-नव-नूतन-रसमय है। वे ही वचन सदा मनको महान् आनन्द देनेवाले हैं और साथही मनुष्योंके शोकरूपी समुद्रको सुखानेवाले हैं।

सम्पूर्ण भागवतशास्त्रमें इस प्रकारके भगवद्यज्ञ करनेके लिये अनेक उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। यहाँ कुछ परम अनमोल उक्तियाँ दी जा रही हैं :–

*"ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।*
*मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ।। श्रीमद्भा.११।२६।२९।।)*

अर्थात्, जो लोग मुझमे मन लगाकर श्रद्धा और आदरके साथ मेरी नाम-गुण-लीला-कथाको सुनते, गाते, और अनुमोदन करते हैं, उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है।

*य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।*
*कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।*
*इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।*
*अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ।।*

*(श्रीमद्भा.११।३१।२७-२८)*

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – "हे राजन् ! जो मनुष्य देवदेव भगवानके दिव्य

जन्म-कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे छूट जाता है । भगवान् श्रीहरिकी अति मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाललीलाओंको सुनने तथा उनका गान करनेसे मनुष्य परमहंसोंकी गति – भगवान्‌में पराभक्तिको प्राप्त होता है।

**भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।**
**मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ।। (श्रीमद्भा.११।२६।३०)**

भगवान् कहते हैं – इस प्रकार मुझ अनन्त-गुण-सम्पन्न, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें भक्ति हो जानेपर फिर उस साधु-पुरुषको और कौनसी वस्तु प्राप्त होनी शेष रह जाती है ? वह कृतार्थ हो जाता है।

भगवान्‌के इस प्रकार नित्य-निरन्तर यजन करनेका महान् फल होता है। भक्तके मुखसे उच्चारण किये हुए नामकी ध्वनि जहाँतक पहुँचती है, वहाँतकका वातावरण पवित्र हो जाता है। मृत्युकालके अन्तिम श्वासमें भगवान्‌का नाम किसी भी भावसे जिसके मुखसे निकल जाता है, उसको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌के नामका जहाँ कीर्तन होता है, वहाँ यमदूत नहीं आ सकते।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है :–

*सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।*
*वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ।।*
*अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।*
*संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ।।* (६।२।१४,१८)

पुत्रादिके नाम-सकेतसे, परिहासमें, स्तोभ या अवहेलनासे भी भगवान्‌का नाम लेनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक लिया हुआ पुण्यश्लोक भगवान्‌का नाम मनुष्यके पापको उसी प्रकार जला देता है, जैसे अग्निमें किसी प्रकारसे भी डाला हुआ ईंधन भस्म हो जाता है।

यह भगवान्‌का, नाम-यज्ञ द्वारा यजन है। यह यजन इतना श्रेष्ठ है कि देवी देवहूति भगवान् कपिलदेवसे कहती है –

***अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।***
***तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।।***
***(श्रीमद्भा.३।३३।७)***

अर्थात् 'अहो ! जिसकी जिह्वापर भगवान्‌का पवित्रनाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है, क्योंकि जो भगवान्‌के नामका कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान वेदाध्ययन सबकुछ कर लिया।

श्रीमद्भागवतके अन्तिम उपदेशमे श्रीशुकदेवजीका कथन है –

*पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।*
*हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ।।*
*संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।*
*प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ।।*

**(श्रीमद्भा. १२।१२।४६-४७)**

अर्थात्, कोई भी मनुष्य गिरते, पडते, छींकते अथवा दु खसे पीडित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वरसे *'हरये नमः'* पुकार उठता है, तो वह सभी पापोसे छूट जाता है। जैसे सूर्य पर्वतकी गुफाके अन्धकारका भी नाश कर देता हे और जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न करके लुप्त कर देता है, इसी प्रकार अनन्त भगवान्का नाम-कीर्तन अथवा उनके प्रभावका श्रवण हृदयमें प्रवेश करके समस्त दु खोंका अन्त कर देता है।

यह तो मात्र विवश होकर भगवान्के नाम-यज्ञ द्वारा यजनका फल है। प्रेमसे भगवान्के नाम-यज्ञ द्वारा यजनका फल तो कहना ही क्या ?

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते है :–

*बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित अघ दहहीं ।*
*सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव बारिधि गोपद इव तरहीं ।।*

अतएव भगवान् अर्जुनको अपनी प्राप्तिके लिये नाम-गुण-यश-कीर्तन-यज्ञ, प्रभाव-तत्त्व-विचार एव चिन्तन-यज्ञके द्वारा अपना यजन करना, एक बहुमूल्य साधन बताते हैं।

उपरोक्त बहुमूल्य यज्ञके अतिरिक्त भगवान्की प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिका सुगम साधन, सत्सग-यज्ञ द्वारा भगवान्का यजन है। इस महत्कृपा (महापुरुषोंकी कृपारूप) यज्ञके प्रतापसे, पहले तीनो-नाम-गुण-यश-कीर्तन-यज्ञ, श्रवण-यज्ञ एव प्रभाव-तत्त्व-विचार एव चिन्तन-यज्ञ अपने आप ही हो जाते हैं।

इसको परिलक्षित करते हुए ही भगवान् तीसरा साधन बतलाते है –

***"मां नमस्कुरु"***

महापुरुष तो कृपालु होते ही हैं, परन्तु श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनको जो प्रणाम करते हैं, उनके विषय-भोग स्वत ही छूट जाते हैं। ये महापुरुष केवल शास्त्र ज्ञाता अथवा सदाचारी ही नहीं होते, ये भगवान्के स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपसे जानकर, उनमें अनन्य प्रेम करनेवाले महासिद्ध भक्त होते हैं। ये ऐसे भक्त होते हैं, जिनके लिये भगवान् अपने मुखसे कहते हैं – *"अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः"* अर्थात् इन भक्तोंके मैं पीछे-पीछे फिरता हूँ जिससे

इनके चरणोंकी धूलि मुझपर पडती रहे। ये महापुरुष सर्वैश्वर्य-निकेतन, मधुरतम लीला-विहारी भगवान्‌के नित्य-लीला-सगी होते हैं। इन्हें प्रणाम करनेसे ज्योंही इनके चरणोंकी धूलि साधक भक्तके मस्तकपर पडती है, भक्तको प्रेमरूपी भक्तिकी सहज ही प्राप्ति हो जाती है। मुक्ति तो इन भगवत्प्रेमियोकी दृष्टिमें भगवद्भक्तिकी उत्पत्तिमें बाधा देनेवाली पिशाचिनी समझी जाती है। ऐसे प्रेमी-भक्तोंको प्रणाम करनेपर साधकको उनकी जो कृपा, अथवा संग प्राप्त होता है – वह कृपा, योग एवं ज्ञान आदिसे भी वशमे न होनेवाले भगवान्‌को सहज ही वशमे कर लेनेमें हेतु होती है।

ऐसे प्रेमी-संतोंको परम दीन होकर प्रणाम करनेसे भगवान् जैसे वशीभूत होते हैं, वैसे योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम एवं नियम किसी भी साधनसे वशीभूत नहीं होते।'

इसका कारण यह है कि अन्यान्य सभी साधन, सकामभावसे करनेपर भोग और स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं, ये ही साधन निष्काम भावसे किये जानेपर अन्त करणकी शुद्धि और मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले हैं। लीला-बिहारी भगवान्‌को सीधा वशमें करनेवाला तो सर्वतत्र-स्वतंत्र, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम ही है, जो इन साधनोंमेसे किसीके द्वारा भी प्राप्त नहीं होता। यह तो केवल भगवत्सगी प्रेमी महापुरुषोकी महती कृपासे ही मिलता है। अत ऐसे सन्तोको मन, काया एव वाणी द्वारा नित्य निरन्तर प्रणाम करें ।

ससारमें स्वधर्म-परायण, सदाचारी, साधु-स्वभाव, दैवी-सम्पत्तिवान् संतोंकी प्राप्ति तो फिर भी हो सकती है, किन्तु सच्चे हीरोंकी भाँति, उपदेशकोंकी जमातोमे सच्चे प्रेमी साधु बहुत थोडे ही होते हैं। खोज करनेपर संसारमें सदाचारी, कर्मकाण्डी और कुछ ज्ञानी पुरुष तो भले ही मिल जावें, परन्तु ऐसे सच्चे-प्रेमी-महात्मा बहुत ही कम मिलते हैं, जिनकी कृपामात्रसे परम दुर्लभ योगी-ज्ञानीजन-वाछित भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती हो। इसीलिये, ऐसे महात्माओंका मिलन बहुत ही दुर्लभ माना जाता है। यदि कहीं ऐसे महापुरुष मिल भी जाते हैं, तो उनका पहचानना बहुत ही कठिन होता है, क्योकि बाह्य-आचरण तो नाटकके पात्र भी किसी अंशमें वैसा ही दिखला सकते हैं। आँखोंसे आँसुओंका बहना, रोना, हँसना और चिल्लाना ही प्रेमीके लक्षण नहीं हैं, अनेक बाह्य-कारणोंसे भी यह सब तो हो सकता है। फिर कोई-कोई सच्चे-प्रेमी ऐसे भी होते हैं, जो इन लक्षणोंवाली स्थितिसे भी आगे बढ़ गये हों और जिनके बाह्य-आचार साधारण समझके बाहर हों। सच्चे-प्रेमीजन तो किसीसे कहने जाते नहीं कि हमें प्रेमी मानो, और कहनेसे मानता भी कौन

है ? अतएव ऐसे निस्पृही भगवज्जनोकी पहचान बहुत कठिन है।

अवश्य ही, ऐसे सन्तोका मिलन हरि-कृपासे ही होता है। भगवान् जिसपर कृपा करके अपनाना चाहते हैं, उसीके पास स्वयंको प्रेमपाशमें बाँधे रखनेकी शक्तिवाले, अपने ही स्वरूपभूत प्रेमी भक्तको भेजते हैं। वस्तुतः भगवत्कृपा और महान् पुरुषोका संग एक-दूसरेके आश्रित है। महत्पुरुषोंके संग बिना भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता, और भगवत्कृपा बिना ऐसे महापुरुष नहीं मिलते। श्रीविभीषणको हनुमान्‌जीके मिलनेपर ही भगवत्कृपाका अनुभव हुआ था। इसीसे उन्होंने कहा –

*अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ।।*

ऐसे महापुरुषोंका सग प्राप्त कर लेना हर एक जीवके वशकी बात नहीं है। अतः भगवान् अर्जुनको कहते हैं कि तू मुझको प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें देखता हुआ प्रणाम कर। **"मां नमस्कुरु"** उपदेशमें इसी साधनका उल्लेख है। यदि कोई अति दीनतापूर्वक प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें भगवान्‌का निवास जान एव मानकर भगवान्‌के सभी रूपोंको प्रणाम करनेका साधन अपना लेता है, तो उसपर भगवान् निश्चय ही कृपा करते हैं। भगवत्कृपा साधकको पात्रता देती है। पात्रता प्राप्त होनेपर भगवान्‌के अत्युच्च निर्मल प्रेमकी एकान्त आकांक्षा साधकके मनमे उत्पन्न होती है। उस अवस्थामें साधकके हृदयका आर्त्तनाद अन्तर्यामी आनन्दमय प्रभु जब सुनते हैं, तब कृपा करके वे अपने किसी प्रेमी-भक्तको आदेश या संकेत करके उसके समागममें भज देते हैं । वहाँ पहले उसके प्रेमकी परीक्षा होती है। यदि उसका प्रेम कामनाशून्य और अनन्य होता है और वह अपने आचरण और व्यवहारसे उस प्रेमी-भक्तके हृदयमें पात्रताका विश्वास पैदा कर देता है, तब वे सन्त उसका सन्देश भगवान्‌के पास पहुँचाते हैं और भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त करके क्रमशः प्रेमका रहस्य उसके सामने खोलते हैं । धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों उसकी पात्रता बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌की आज्ञासे वे सन्त उसे भगवान्‌के प्रेमराज्यमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ाकर ले जाते हैं। अन्तमें उस साधकपर भगवान्‌की पूर्ण कृपा होनेसे वह भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लेता है।

अतएव भगवान् अर्जुनके सम्मुख स्पष्ट खोलकर प्रतिज्ञा-भावसे इन साधनोका फल भी बतला देते हैं, वे कहते हैं :–

*"मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे"*

अर्थात्, हे अर्जुन तू मेरा परम प्रिय है, अतः तुझसे मैं यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि इन उपरोक्त चार साधनोंको भली प्रकारसे आचरित करनेपर, तू

निश्चय ही मुझे प्राप्त हो जायेगा।

बात यह है कि भगवान्‌की कृपाके अवतरणमे अभिमान सबसे बड़ा बाधक है। पहले भगवान्‌ने जो तीन साधन बताये हैं -- ***१. मन्मना भव, २. मद्भक्तः ३. मद्याजी*** – इन तीनों साधनोको करनेसे साधक समझने लगता है 'मैं भक्त हूँ'। यह अभिमान सर्वथा पतनका हेतु है। भक्तका साधन भगवत्कृपासे ही सम्पन्न होता है। भगवत्कृपा ही उसकी कुछ भी उन्नतिमें हेतु होती है। अभिमानके आते ही भगवत्कृपाके द्वार रुद्ध हो जाते हैं। अतएव अभिमानका सर्वथा त्याग परमावश्यक है। यहाँ तक कि निरभिमानताके अभिमानको भी त्याग देना आवश्यक है। अभिमान-त्यागका सर्वोत्तम उपाय दीनता, विनय और नम्रता है। इसीलिये, यहाँ भगवान्, ***'नमन-यज्ञ'*** द्वारा अपने पूजन-यजनकी बात कह रहे हैं।

***'मां नमस्कुरु'*** अभिमान-नाशका सर्वोत्तम साधन है। साधक चाण्डाल, शूकर, गर्दभादिमें भी जब भगवान्‌का नित्यधाम देखकर उन्हें प्रणाम करता है, तो उसका अभिमान गल जाता है। भगवान् जड-चेतन, सब प्राणी-पदार्थमें लबालब भरे हैं, भक्त जब यह देख-देखकर निरभिमानी एव दीन होता है, तभी उसको ठीक अनुभव होता है कि यदि यत्किंचित् भी वह साधन-पथमें बढ़ पाया है, तो उसकी हेतु मात्र भगवत्कृपा ही है। तब उसके चित्तसे जगत्‌के संस्कार मिटने लगते हैं। फिर भक्त-साधक लज्जा, घृणा, कुल, जाति, शील मान, देह, गेह, भोग, एव मोक्ष – सबकी सुधि भूलकर केवल भगवान्‌को ही अपना एकान्तिक-प्रेमी मानकर उनपर न्यौछावर हो जाता है। फिर वह ऐसे कृपालु भगवान्‌के दर्शनकी कामनाके वेगसे पीडित होकर रो-रोकर पुकार उठता है –

***हे देव, हे दयित, हे भुवनैकबन्धो,***
***हे कृष्ण, हे चपल, हे करुणैक सिन्धो ।***
***हे नाथ, हे रमण, हे नयनाभिराम***
***हा हा कदानु भवितासि पदंदृशोर्मे ।।***

**(कृष्णकर्णामृतम्)**

इस प्रकार, वह साधक फिर अपने सब ओर भगवान्‌को भरा हुआ देखता है। उसे आकाश भगवान्‌की छबिसे भरा दृष्टिगोचर होता है, उसे कहीं भी यदि सौन्दर्य-माधुर्य, रमणीयता, दिखती है, तो उसे भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यका अंश ही सर्वत्र फैला हुआ दृष्टिगोचर होता है। बस, तब भक्तका एक ही साधन होता है, अपनेको सर्वथा दीन मानकर सब भगवन्मूर्तियोंको प्रणाम करना और भगवान्‌के लिये सदा रोया करना, उन्हें पुकारना और उनके चरणोंमें लोट-लोटकर

उनसे उनकी हेतुरहित कृपाकी याचना करना ।

बस, भगवान् उस साधककी पुकारपर अपनी आँख मिचौनीकी लीला-छोड़कर प्रकट हो जाते हैं। जब भक्तकी पुकार सुनकर त्रिभुवन-कमनीय, योगीजन-दुर्लभ, देव-देव-प्रत्याशित, ऋषि-महर्षि-महापुरुष-चित्ताकर्ष, निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृत-सारभू, आनन्दकन्द, मदनमोहन, मन्मथ-मन्मथरूपमें मुसकाते हुए और मुरलीमें अपना दिव्य-मोहन सुर भरते हुए सहसा प्रकट होकर अपनी प्रेमानन्द-रसमाधुरी चारो ओर बिखेर देते हैं, तब उस दिव्य-भावापन्न भक्त-साधककी क्या दशा होती है, इसका वर्णन करनेकी शक्ति किसीमे भी नहीं है।

उस समय भक्तका अपना सब कुछ भगवान्‌के चरणोमें स्वयमेव न्योछावर हो जाता है। वह भगवान्‌के चरणोकी परमानन्दरूपा प्रेमाभक्तिको पाकर धन्य हो जाता है। मोक्ष-साम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है। भगवान्‌के कर-सरोज ऐसे भक्तको अभय देकर उसकी सब प्रेमाभिलाषा पूर्ण कर देते हैं। वह भगवान्‌का नित्य-सिद्ध-कैंकर्य प्राप्त कर लेता है।

भैया ! मैं आपको क्या कहूँ ? मैं तो परम दीन-हीन, भाईजी (श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार) जैसे भगवद्भक्तकी शरणमें पड़ा हूँ। वे कृपालु महापुरुष मुझपर कभी-न-कभी अवश्य ही कृपा करेगे - यही आशा लिये हूँ। परन्तु सत्य सार-की-सार बात यही है कि भगवान्‌में अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है, वही सबसे अधिक मधुर है। मानव-जीवन इस मधुर भगवत्प्रेमामृत पान करनेके लिये ही मिला है।

भैया ! घर-परिवार, खेत-खलिहानकी लौकिक वासनाएँ ही विष हैं। मैं तो आपसे बार-बार यही दीन प्रार्थना करता हूँ कि भगवत्प्रेमकी एक पवित्र वासनाके अतिरिक्त अन्य किसी वासनाको अपने भीतर मत रहने दीजिये।

आपने जो कुछ भी पूछा, वह पूज्य भाईजीके द्वारा बताया साधन आपको लिख दिया है।

**आपका**
**चक्रधर**

# महाभाव-दिनमणि

# श्रीराधाबाबा

## (द्वितीय खण्ड)

(वार्त्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार एवं लेख)

## अध्याय चौथा

(श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके पत्र)

### विषय सूची

# सार संग्रह

इसीसे मैं तो किसीके भी मनको शुद्ध विद्या-भाव-भावित अर्थात् अन्तर्मुखी करनेका एक ही साधन संकेतित करता हूँ कि वह नाम-जप साधना करे। नाम-श्रवणके साथ यदि यह नाम जप होने लग जाय तो मनकी वृत्ति शीघ्रातिशीघ्र अन्तर्मुखी हो उठती है। भगवन्नाम, चिज्ज्योति और भगवद्रूपका अभ्युदय क्रमशः यही साधनकी उन्नतिका स्वरूप है, अथवा यों कहें कि यही सम्यक् पथ है। इस नाम-साधनाके अखण्ड अभ्यासके प्रभावसे ऐसी अवस्थाका स्वभावतः ही उदय हो जाता है एवं तब यही धारणा दृढ़ हो जाती है कि यह नाम-मात्र मेरे हृदयसे ही स्फुटित नहीं हो रहा, अपितु हृदयसे लेकर समस्त जगत्, क्षुद्रतासे लेकर बृहत्तम सत्ता पर्यन्त, प्रत्येक वस्तुमें समरूपेण व्याप्त है। इसके पश्चात् अन्तःस्थित चिज्ज्योतिका स्वभावतः जागरण होता है। तब ठीक प्रत्यक्षवत् दर्शन होने लगता है कि सर्वव्यापक इष्टरूप ज्योतिमें जगत्की सभी जागतीय वस्तुएँ विद्यमान हैं। तभी ठीक-ठीक गीताके इस श्लोकका वास्तविक अर्थ चित्तमें अवधारित होता है -

*"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय"*

अर्थात्, "हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त इस विश्वमें कहीं कुछ भी नहीं है।" अभी हम मात्र भगवान्‌के वक्तव्य सुनते हैं, पढ़ते हैं, परन्तु इस तत्वका प्रत्यक्षानुभव नहीं कर पा रहे।

x x x x x x

भावदेहके अनन्तर सिद्ध देह प्रसिद्ध है। भावदेह साधक अवस्थामें अभिव्यक्त होती है। यह भावदेह भी नाम-माहात्म्यके प्रभावसे शीघ्र सुलभ होती है, ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है।

x x x x x x

ऐसे कृपा-पात्र जीव माताकी कोखमें गर्भवासके समय भी वैकुण्ठवत् आनन्दमें रहते हैं। उन्हें सर्वसाधारण जीवोंकी तरह जन्म, मृत्यु, जरा एवं व्याधिका अनुभव नहीं होता है। वे तो भगवान् नारायणके दिव्य चिन्मय सामीप्यका लाभ निरन्तर पाते हैं और शरीरके घोर रोगग्रस्त होनेपर भी उसकी पीडाका अनुभव सर्वथा नहीं करते। यह विलक्षण जीवन्मुक्तिकी अवस्था है।

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - १९

# नाम-संकीर्त्तनका तात्त्विक-विवेचन

*पत्र-प्रेषक :*

## स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*पत्र-प्रेषिति :*

## श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

*पत्र-प्रेषण स्थल :*
गीतावाटिका, गोरखपुर ।
दिनांक :
तिथि अज्ञात, सं. २००३

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह
(श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला द्वारा
बाँकुड़ासे प्रतिलिपि किया गया पत्र)

## आलोक

*श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके पिताका नाम श्रीखूबचन्दजी गोयन्दका था। सेठजी श्रीहरिकृष्णदासजी, जयदयालजीके छोटे भाई थे। श्रीसेठजीके अनेकों दैवीगुणोंकी छाप इनके जीवनमें स्पष्टतः प्रतिबिम्बित थी। संस्कृत साहित्य एवं दर्शनमें इन्हें विशेष वैदुष्य प्राप्त था। पातंजल योगसूत्र और बादरायणके ब्रह्मसूत्रपर आपके द्वारा लिखी टीका जिज्ञासु पाठकोंको सहज ही आकर्षित कर लेती है। दर्शनके कठिन से कठिन स्थलोंको सहज भाषामें व्यक्त कर देना आपकी निजी विशेषता है। उपनिषद्-साहित्यका गंभीर आलोडन करनेके पश्चात् नौ उपनिषदोंपर आपके द्वारा लिखी हिन्दी टीका, गीताके शांकर और रामानुजभाष्यका गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवाद— सभी आध्यात्मिक जीवनकी अमूल्य निधियाँ हैं।*

*इनके जीवनमें ज्ञान एवं भक्तिका समन्वय विलक्षण रूपमें दर्शनीय था। एक दार्शनिककी तीक्ष्ण बुद्धि रखनेपर भी आपका हृदय भक्तिसे परिपूरित था। भक्तोंकी गाथा सुननेपर आपको प्रायः साश्रुनेत्र देखा जाता था। निरन्तर साधना एवं मनन करते-करते आपकी आध्यात्मिक स्थिति उच्च हो गयी थी। आप आजीवन गीताप्रेसके ट्रस्टी रहे। बाँकुड़ामें १४ फरवरी सन् १९७३ ई. को ८१ वर्षकी अवस्थामें आपका भगवद्धाम पदार्पण हुआ।*

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी !

सस्नेह यथायोग्य। आपका पत्र यथासमय प्राप्त हो गया था। मैं एक मासमें मात्र एक दिवस ही पत्रोत्तर दिया करता हूँ। पिछले मास पूर्णिमामें श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) के साथ यात्रामे था, अत. वहाँ पत्र लिखने वालेकी सुविधा नहीं होनेसे पत्राचार नहीं कर सका। पट्टीपर पत्र लिखकर रख देता हूँ, कोई सुविधानुसार उसे लिपिबद्ध करता है, तभी पत्र प्रेषित हो पाता है। अतः विलम्बके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। इस प्रकारके विलम्ब होनेकी भविष्यमे भी पूरी संभावनाएँ हैं। आपका पत्र गूढ साधन-सम्बन्धी है, अत खूब समझकर ही उत्तर दिया है। आपको उचित एव रुचिकर लगे तो ध्यान दीजियेगा, अन्यथा फाड़कर रद्दीकी टोकरीमें डाल दीजियेगा।

मेरी समझमे जबतक जीव पूर्ण स्वतत्र नहीं हो जाता, तबतक सम्पूर्ण साधनाओंका यंत्र मन ही रहता है। मनके द्वारा ही भक्ति, ज्ञान, अथवा कर्मयोग– सभीकी साधना संभव है। मेरी समझमें साधकको प्रारभमें मनको निरुद्ध करनेकी चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिये। अनेक अधकचरे लोग प्राणायामके द्वारा प्रारभमें ही कृत्रिम उपायसे मनको निरुद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु मेरी दृष्टिसे ऐसे सभी साधकोंको हानि ही हुई है। मुझे एक योगी मिले थे, वे अपनेको योगाचार्य कहते थे और वे अपने शिष्योको यही उपदेश देते थे, "मनको मार, बेड़ा पार" परन्तु उनकी विक्षिप्त दशा हो गयी थी। अतएव कृत्रिम उपायोंसे मनको निरुद्ध करना सर्वथा अनुचित है। मनको निरुद्ध करनेकी चेष्टा न कर, उसे शुद्ध करनेपर ही यह समझमें आता है कि साधकके आध्यात्म जीवनमें मनका कितना महत्वपूर्ण उपयोग है। बिना वशीभूत किया, चंचल, मलिन मन साधकका रिपु है और निजवशमें किया हुआ निर्मल मन ही उसका परम मित्र है। श्रीमद्भागवतमें भिक्षुगीतमें भगवान् भिक्षुके माध्यमसे यही कहलाते हैं –

**"नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्नदेवतात्माग्रहकर्मकालाः ।**
**मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्त्तयेद् यत् ।।**

**(श्रीमद्भा. ११।२३।४३)**

अर्थात्, मेरे सुख अथवा दु:खका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है, और न ही ग्रह, कर्म अथवा काल आदि ही हैं। (श्रुतियाँ एवं महात्माजन) मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सम्पूर्ण ससार–चक्रको चला रहा है ।

मन सर्वदा ही चचल है, सर्वदा ही अस्थिर है, और सर्वदा ही भ्रमणशील

है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि मनमें सभी समय एक अभाव जग रहा है। उसकी तृष्णा एवं अतृप्ति अनन्त है। वही उसको शान्त नहीं रहने देती। मनकी माँग है, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द। यही मनका भोजन है। इसको न पाकर मन हाहाकार कर रहा है। उसका अभाव ही उसका चाञ्चल्य है। मन की क्षुधा, भूख, तृष्णा निवृत्त होते ही उसकी चचलता सदा-सदाके लिये निवृत्त हो जाती है।

मेरी दृष्टिमे मन चाहता है – श्रीकृष्णको । कोई उन्हें परमात्मा, ब्रह्म, राम, भगवान्, नारायण, शिव, शक्ति कुछ भी कह ले – मन इन्हें ही चाहता है। श्रीकृष्ण ही मनके सखा हैं, प्रभु हैं, उसके प्रियतम हैं, पति हैं, सर्वस्व हैं। उनसे भटककर ही मन उनकी प्राप्तिके लिये ज्ञात या अज्ञातरूपमें विरहाग्निमें दग्ध हो रहा है। मन सर्वत्र एकमात्र उन्हींका अन्वेषण कर रहा है। जागतिक वस्तुएँ जो भी उसके सम्मुख आती हैं, वह उन सभीमें श्रीकृष्णको खोजनेका प्रयत्न करता है परन्तु जब उन सभीको क्षणभगुर, असत्, अभावभरी, अपूर्ण, अतृप्ति बढानेवाली एव दु खरूप देखता है, तो अतृप्त होकर भागता है। यह सत्य है कि मन श्रीकृष्ण ही है। भगवान् स्वय अपने मुखसे गीतोपनिषद्में कहते हैं कि **"इन्द्रियाणां मनश्चास्मि"** अर्थात्, इन्द्रियोमें मैं मन हूँ, फिर भी मन इसे भूला हुआ है। वह बहिर्मुख है और श्रीकृष्णकी ओरसे विमुख है।

अत हरिकृष्णदासजी ! साधनाका मुख्य उद्देश्य ही है मनको अन्तर्मुख करना। अनादिकालसे विश्वमें दो प्रकारकी शक्ति प्रवाहित हो रही है। जिस बहिर्मुखी शक्तिप्रवाहमे पतित होकर मन बाहरकी ओर गतिशील है, वह है अविद्याशक्ति और जिस अन्तर्मुखी शक्तिके प्रवाहमें मन पतित होकर अन्तर्मुखी होता है, वह है विद्याशक्ति। दोनों मूलमें एक ही हैं। इस विद्याशक्तिको ही ज्ञानी विचार, विवक कहते हैं, तांत्रिक 'शब्द शक्ति' कहता है। भक्त 'नाम' कहता है।

विज्ञानकी भाषामें विशुद्ध व्योम तत्त्वमे विचार अथवा सकल्प स्वभावत: ही होता है। मायाके स्पर्शसे व्योमके कलकित होनेके कारण उसमें क्षोभवश वायुकी उत्पत्ति होती है। वायुकी वक्र और कुटिल गतिसे सरल निनाद खण्ड-खण्ड होकर विभिन्न वर्णरूपोंमे अभिव्यक्त होता है। वह वर्णमाला, चाहे वह किसी भी देशकी भाषामें व्यवहृत हो रही हो, सब वायुका ही खेल है। इसीसे विशुद्ध चैतन्य-प्रवाहमे विभिन्न वृत्तियोका उद्गम होता है। वह सब मनको आबद्ध एवं विक्षिप्त करता है। इन वृत्तियोकी चचलतासे ही मन आत्मविस्मृत होकर असख्य विक्षेपोकी क्रीडा-पुत्तलिकाके रूपमें परिणत हो जाता है। उसका आत्मवश-भाव अथवा भगवद्दासभाव छूट जाता है। इसकी निवृत्तिका मुझे तो एक ही उपाय

समझमें आता है कि उसे ज्ञानियोंकी भाषामें शुद्ध चैतन्य प्रवाहमें डाला जाय और मेरी भाषामें श्रीकृष्ण नाम संकीर्त्तन प्रवाहमें डाला जाय, अथवा सेठजी श्रीजयदयालजी महाप्रभुकी भाषामें सत्संग-प्रवाहमे डाला जाय, तभी उसमें श्रीकृष्ण-स्मृति अथवा आत्म-स्मृति जागती है। अर्थात् यह घोर मायाजन्दित मूढतासे जाग सकता है। तत्रकी भाषामें शुद्धनाद, मेरी भाषामें श्रीकृष्णनामामृत की धारा ही निर्मल चैतन्यका देहाश्रित प्रकाश है। विशुद्ध व्योममें यह भगवन्नामामृत निरन्तर हो रहा है। इसी कारण मनको नाम-जपका ही अनुवर्त्तन करना चाहिये। एकबार मात्र ही सही शुद्धनादका आश्रय मिला नहीं, अथवा श्रीकृष्णनाम सकीर्त्तनका रस चखा नहीं और उसको निरन्तर धारण कर सकनेकी योग्यता प्राप्त हुई नहीं कि मनकी यह आपातत विकलता मिट जाती है। वह विकल्प-शून्य होकर चेतन 'कृष्ण-नाम'की धारामें बहने लगता है। वह फिर वृत्तियोके विकल्प-जालमें नहीं फँसता।

इसीसे मैं तो किसीके भी मनको शुद्ध विद्या-भाव-भावित अर्थात् अन्तर्मुखी करनेका एक ही साधन सकेतित करता हूँ कि वह नाम-जप साधना करे। नाम-श्रवणके साथ यदि यह नाम जप होने लग जाय तो मनकी वृत्ति शीघ्रातिशीघ्र अन्तर्मुखी हो उठती है। भगवन्नाम, चिज्ज्योति और भगवद्रूपका अभ्युदय क्रमश यही साधनकी उन्नतिका स्वरूप है, अथवा यों कहें कि यही सम्यक् पथ है। इस नाम-साधनाके अखण्ड अभ्यासके प्रभावसे ऐसी अवस्थाका स्वभावत ही उदय हो जाता है एवं तब यही धारणा दृढ़ हो जाती है कि यह नाममात्र मेरे हृदयसे ही स्फुटित नहीं हो रहा, अपितु हृदयसे लेकर समस्त जगत्, क्षुद्रतासे लेकर बृहत्तम सत्ता पर्यन्त, प्रत्येक वस्तुमें वह नाम समरूपेण व्याप्त है। इसके पश्चात् अन्त स्थित चिज्ज्योतिका स्वभावत जागरण होता है। तब ठीक प्रत्यक्षवत् दर्शन होने लगता है कि सर्वव्यापक इष्टरूप ज्योतिमें जगत्की सभी जागतीय वस्तुएँ विद्यमान हैं। तभी ठीक-ठीक गीताके इस श्लोकका वास्तविक अर्थ चित्तमें अवधारित होता है –

*"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय"*

अर्थात्, "हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त इस विश्वमें कहीं कुछ भी नहीं है।" अभी हम मात्र भगवान्के वक्तव्य को सुनते हैं, पढ़ते हैं, परन्तु इस तत्वका प्रत्यक्षानुभव नहीं कर पा रहे।

शब्द और रूप भगवान् श्रीकृष्णके अथवा ब्रह्मके ही विविध स्वरूप हैं। नाम-साधनके द्वारा यह ठीक अभिव्यक्ति हो जाती है कि भगवान् एवं भगवान्का नाम भगवान्की शक्ति एवं भगवान्का रूप-आकार, सबकुछ एक ही है। भगवान्का

रूप निजबोधरूप चैतन्य ही है। इस निजबोधरूप चैतन्यमें ही मन अपनी कल्पनाके अनुसार रूपका गठन कर लेता है। निजबोधरूप ज्योतिसे ही दिव्य चिन्मयरूपका प्राकट्य होता है।

मेरी तो इतनी ही समझ है कि नाम-स्मरण अथवा संकीर्त्तनसे भगवान्‌के अनुग्रहसे धीरे-धीरे सत्यका पूर्ण अनुभव-द्वार खुल ही जाता है। और क्या कहूँ। सबको सप्रेम यथायोग्य ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या : २०

# कर्त्ता कौन है ?

*पत्र-प्रेषक :*

**स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प. पू. राधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका**

*स्थान :*
गीतावाटिका, गोरखपुर
*दिनांक :*
७ मार्च सन् १९४७ ई.

*प्राप्ति सूत्र :*
श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला द्वारा
बाँकुडामें प्रतिलिपि किया पत्र
श्रीशिवकिशनजी डागाके पत्र-संग्रहसे

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी

सप्रेम यथायोग्य। आपको पत्रोत्तर बहुत कालके पश्चात् दे रहा हूँ। इधर पत्र-व्यवहार करनेवालोकी सख्या बढ़ती जा रही है। जो लोग पाप-पकमे फँसे हैं और परितप्त है, उनको शीघ्र उत्तर देनेकी प्रवृत्ति रहती है, अत उन्हे प्राथमिकता देता हूँ। आपका पत्र तो मात्र सत्संग-चर्चा ही है, अत आगे-पीछे भी उत्तर जायेगा, तब भी कोई बात नहीं, ऐसा मानकर उसे प्राथमिकता नहीं दी थी। दूसरे, आपके पत्रोंमे पूर्ण तात्विक बाते होती हैं, अत उसकी प्रतिलिपि गोस्वामीजी (श्रीचिम्मनलालजी) ही करते हैं, वे कार्यमे सदैव व्यस्त रहते हैं। यद्यपि मेरा सन्देश मिलनेसे तो वे तुरन्त ही सब काम छोडकर आ जाते हैं, किन्तु मुझे ही सकोच रहता है कि कही भाईजीका कोई परमावश्यक कार्य उनके जिम्मे नहीं हो। इन सभी कारणोसे आपका पत्र बहुत दिनोंसे अनुत्तरित रह गया। मासमें मात्र एक दिन ही पूर्णिमाके दिन पत्र-लेखन करता हूँ। आपका पत्र लिखकर रखवा दिया था, और गोस्वामीजीके पास पट्टियॉ भी भेज दी थीं कि वे प्रतिलिपि करके पोस्ट कर दें। पूर्णिमाके दिन, मात्र जो नियत दैनिक-कार्य तथा उपासनाके घण्टे हैं, उन्हे छोडकर दिन-रात आठों प्रहर पत्र-लेखन करनेपर भी पूरे पत्र उत्तर नहीं दे पाया हूँ। अब जो छूट गये, वे तो अगले मास ही उत्तरित हो सकेंगे। सब परिस्थिति इसलिये खोलकर लिखी है

कि विलम्बसे यदि पत्रोत्तर जाय, तो आप विचार नहीं करेगे।

आपका जो प्रश्न है कि कर्त्ता कौन है, इसके उत्तरमें मेरा इतना ही निवेदन है – जीव कर्त्ता है अथवा ईश्वर कर्त्ता है, ये दोनों ही उत्तर पूर्ण सत्य नहीं हैं, एकाशमें ही सत्य हैं।

जबतक अंहकार और कर्तृत्वाभिमान है तबतक तो जीव ही कर्त्ता है, यही बात स्वीकारनी होगी। देहात्मबोध रहनेतक जीव अपनेको ही कर्त्ता मानता है और कर्मोंके सुख-दु खरूप फलोका भोक्ता भी रहता है। इसलिए जीव बद्ध है। यही ससारावस्था है। साधारण जीव इसी नियमानुसार जन्म-मृत्युके प्रवाहमे बह रहा है।

जब सम्यक्‌रूपमे अहकारकी निवृत्ति हो जाती है, और किसी कर्मका कर्तृत्वाभिमान अपनेमें नहीं रहता तब कर्मके लिये जीव उत्तरदायी नहीं रहता। यह अवस्था ज्ञानोदयके समकक्षमे होती है। इस अवस्थामे अपना कर्तृत्व भी नहीं रहता। इसीलिये जीव कर्मफलका भोक्ता भी नहीं होता। उस समय यह समझ होती है कि सब प्रकारके कर्म मात्र प्रकृतिके गुणोसे ही हो रहे हैं। अत प्रकृति जिसके अधिष्ठानसे कार्य कर रही है वह परमात्मा कर्त्ता है। इस दृष्टिके कारण जीव कर्मफल भी ईश्वरको ही समर्पित करता है।

परन्तु इन दोनों स्थितियोसे परे एक और दृष्टि है। उस दृष्टिमे त्रिगुणके सचालक भगवान् जगन्नियन्ता कर्म कराते हैं और जीव यन्त्रवत् सब कर्म करता है। यह ज्ञान-भक्ति – मिश्रित दृष्टि है। इसमें परमात्मा प्रयोजक है और जीव प्रयुज्य है। इसमे जीव अहमर्थ कुछ भी नहीं करता, उसके सभी कर्म भगवदर्थ ही होते है। यहाँ जीव पूर्णतया समर्पित है। जीव नाचता है, परन्तु काम, क्रोधका चोला पहनकर नहीं नाचता, वह परमात्माके लिये नाचता है। इसमें जीवकी प्रकृति त्रिगुणात्मक नहीं रहती, वह शुद्ध प्रकृतिका आश्रयी होता है। शुद्ध प्रकृतिसे ससार तब एक विचित्र अभिनव रूपमे भगवन्मय प्रतीत होता है। सुख-दुखका अनुभव तब भी होता है, परन्तु उस अवस्थामे सुख-दु ख दोनो ही भगवान्‌के सुखके लिए ही होनेसे एक विलक्षण रसास्वादनमें हेतु हो जाते हैं। इस भवनाट्यशालाके सूत्रधार वे है, नाटकका पात्र जीव होता है।

श्रीतुलसीदासजी एवं अनेक वैष्णव भक्तोकी ऐसी ही अनुभूतियाँ सर्वत्र देखनेको मिल जावेंगी।

*(१) उमा ! दारुयोषित की नाईं । सबहिं नचावत रामु गुसाईं ।।*
*(२) करी गोपालकी सब होय। जो मानै पुरुषारथ अपनौ अति झूठौ है सोय ।।*

ज्ञानोत्तर भक्तिरसवेत्ता रसिकजन देहमें अवस्थान करते हुए भी इस रसमे डूबे रहते हैं। इस अवस्थामें साधक एवं सिद्ध दोनोके यथार्थ मलिन देहोंके अन्तरालसे विशुद्ध सत्त्वमय निर्मल देहका प्रकाश होता है। श्रीसेठजी जयदयालजी एव श्रीभाईजीमें इसी भावकी प्रधानता है कि वे पूर्ण परमात्माके नियत्रणमें यत्रवत् उनका कार्य सम्पादित कर रहे हैं। परमात्मा यन्त्री है और वे मात्र यन्त्र हैं।

इसके पश्चात एक और भी स्थिति है। एक दिन श्रीभाईजी अपने आप ही मुझसे बोले – "स्वामीजी ! आप समझते हैं कि मैं इन सभी कर्मोंको कर रहा हूँ, मैं कोई भी अच्छा-बुरा कर्म नहीं करता, क्योंकि मैं इस मलिन देहमें हूँ ही नहीं। तब क्या मेरी प्रकृति इन कर्मोंको कर रही है ? वह भी ये सब कर्म नहीं कर रही, क्योकि मेरी प्रकृति भी मलिन त्रिगुणमयी नहीं है। वह विशुद्ध सत्त्वरूपा है। तब क्या भगवान् आविष्ट होकर मेरे शरीरसे कर्म करते हैं ? यह भी स्थिति सर्वथा नहीं है, क्योकि मेरे भगवान् परम रसमय हैं और उन्हे अपनी रसमयी लीलाओंसे अवकाश ही नही है कि वे इस त्रिगुणमयी मायाके प्रपंचकी ओर दृष्टिपात ही करें। तब क्या वे अपने सकेतसे प्रेरितकर किसी अन्य शक्तिसे यह कार्य कराते हैं ? यह भी सत्य नहीं है, क्योकि मेरे भगवान् अपनी प्रियतमा राधा और गोपियोंके अतिरिक्त किसी अन्य शक्तिकी स्मृति ही नहीं रखते। तब मेरे तो यही समझमे आता है कि प्रारब्धानुसार इस शरीरका स्वभाव ही इससे कर्म करा रहा है। इसका मात्र स्वभाव ही कर्त्ता है। मुझे तो यही लगता है।"

यह विशुद्ध ज्ञानोत्तर प्रीतिभावकी दृष्टि है। इसके अतिरिक्त भी एक निगूढ स्थिति और है, जिसे शब्द देना कठिन है। उसमे भोक्ता, भोग्य एव भोग, कर्त्ता, कर्म एव करण तीनों ही मात्र श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं। यह स्थिति मात्र अनुभवगम्य ही है। यह अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय है।

सक्षेपमें मैंने आपके प्रश्नका उत्तर दे दिया है। सबको यथायोग्य

**राधा राधा राधा राधा**

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या : २१

# समाधि-अवस्थामें क्या सच्चे भगवद्दर्शन होते हैं ?

*पत्र-प्रेषक :*

**पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प.पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका**

*पत्र-प्रेषण स्थल :* गीतावाटिका, गोरखपुर

दिनांक : तिथि अज्ञात, वर्ष २००३

प्राप्ति-सूत्र : श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह (श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला द्वारा बाँकुडासे प्रतिलिपि कर लाये गये पत्रोंकी कापी)

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी,

सप्रेम यथायोग्य । साधारणतया सभी साधकोमें यही विश्वास है कि समाधि-अवस्थामें ही भगवान् अथवा ब्रह्मका साक्षात्कार संभव है परन्तु मेरी दृष्टिमें यह पूर्ण सत्य नहीं है। मेरी छोटी समझमे समाधि चित्तकी अवस्था विशेष मात्र ही होती है। यथार्थ भगवद्दर्शन कहे, अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार कहें, (अर्थात् शुद्ध चिद्रूपी सवित्का साक्षात्कार) जबतक चित्त रहता है, हो ही नहीं सकता। भगवान्का साक्षात्कार, विशुद्ध भगवद्दर्शन भगवान् जब कराते हैं, तभी संभव है। यहाँ यह भेद समझनेकी पूरी आवश्यकता है कि भगवान् चित्शक्ति हैं, चित्त नहीं है। अतएव विशुद्ध भगवद्दर्शनका अर्थ है भगवान्का स्वयं अपना, अपने ही द्वारा दर्शन करना। यह वस्तुत समाधि-अवस्था नहीं है, यहाँ समाधिजनित प्रज्ञा भी नहीं है। क्योंकि समाधिजनित प्रज्ञा, चित्स्वरूप और सत्वगुण दोनोंकी ग्रन्थि, बद्धावस्था मात्र है। चित् और अचित्की ग्रन्थि मुक्त हो जानेपर समाधि प्रज्ञा रह नहीं सकती, क्योंकि सत्वगुण मूलप्रकृतिमें अस्तमित हो जाता है। सत्वगुणके मूल प्रकृतिमे अस्तमित होनेपर ही चिद्रूप पुरुष अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। पुरुष स्वरूपत ही स्वप्रकाश है, इसीलिये वह साक्षात्कारात्मक है। समाधि- अवस्थाके पश्चात् भाग्यक्रमसे या भगवदनुग्रहके प्रभावसे यदि भगवत्-साक्षात्कार हो, तब वह पुन निवृत्त नहीं हो सकता है।

मैं श्रीसेठजी जयदयालजी एवं श्रीभाईजी दोनों महापुरुषोंको नित्यसिद्ध मानता हूँ, क्योंकि एक क्षणके लिये यथार्थ भगवद्दर्शन होनेपर वस्तुत वह साधक नित्यसिद्धकी श्रेणीमें आ जाता है। एक बार यथार्थमें भगवद्दर्शन होनेपर फिर भगवान्‌को छोडकर अन्य किसी पदार्थके दर्शन सभव ही नहीं हैं। मैंने इस विषयमें एक बार सेठजी श्रीजयदयालजीसे स्पष्ट उनकी अनुभूति पूछी थी। एक दिवस वे अनेक लोगोंसे घिरे थे। जगत्‌की चर्चा ठहाका लगाकर लोग कर रहे थे। श्रीसेठजी सबकी कुशल क्षेम पूछ रहे थे। वे मोटरसे हरिद्वारसे आगे कहीं (पूरा स्मरण नहीं) जा रहे थे। मैं भी उनके साथ ही जानेवाला था। रास्तेमें मैंने उनसे पूछा – "सेठजी ! आप इतने लोगोंसे व्यावहारिक वार्त्तायें कर रहे थे उस समय एवं अब इस मोटरमें मेरे सग बैठे हुए आपकी वृत्ति कहाँ स्थित है ?" उन्होने उस समय जो भी उत्तर दिया, मुझे स्मरण है। उन्होंने जो कुछ कहा उसे मारवाडी भाषामे न कहकर वह मेरे शब्दोमे यह है "जबतक सस्कारोका पूर्ण क्षय नहीं होता, आत्मसाक्षात्कार होने पर भी सस्कार उद्‌बुद्ध होनेसे जगत् दर्शन हो जाता है। यह दर्शन वस्तुत सर्व-साधारण लोगो जैसा जगत्-दर्शन नही है। आत्माके मात्र एकबार साक्षात् कर लेनेसे ही फिर जगत्‌में लौटना नहीं होता। मैं सभी लोगोंसे मिलते समय अथवा जगत्-चर्चा करते समय निरन्तर यही अनुभव करता हूँ कि घन आनन्द ही आनन्दके विलक्षण अथाह समुद्रमें यह जगत् मिथ्या प्रतिभासमात्र है। यह सब पूर्व-दृष्ट जगत्‌का सस्कारजनित दर्शन है, वस्तुत दर्शन नहीं। इसे विपरीत रूपमें पुन समझ लीजिये। जब मैं निर्गुण-निराकार घन आनदस्वरूप परमात्माका ध्यान कराता हूँ, तो लोग खुली ऑखो, अथवा नेत्र निमीलित करके भी देखते तो मात्र अधकार हैं, परन्तु वे मात्र पूर्व कभी आये हुए किसी आनन्दकी सस्कारजनित कल्पना मात्र करते है, उन्हें घन आनन्द, अखण्ड आनन्द, मात्र आनन्दके अनुभवरूप दर्शन नहीं होते, इसी प्रकार मुझे जगत्‌के भीतर जगत्‌का व्यवहार करते हुए भी प्रत्यक्ष दर्शन तो घन आनन्दस्वरूप ब्रह्मके ही होते रहते हैं, परन्तु मैं पूर्व-दृष्ट जगत्‌का सस्कारानुसार व्यवहार मात्र करता हूँ। स्वप्न टूट जानेपर स्वप्नका दर्शन नहीं होता, परन्तु जग जाने पर जाग्रत दृष्टामें स्वप्नके मिथ्यात्वका पूर्ण ज्ञान होते हुए भी, जैसे उसकी स्मृति रह सकती है, यही दशा जगत्-व्यवहारके समय मेरी जाननी चाहिये।"

श्रीसेठजीने मुझे एक बात और अति महत्वपूर्ण कही थी। यहाँ उसे ही उल्लेख करना मेरा वास्तविक उद्देश्य है। उन्होने कहा "स्वामीजी ! मुझे प्रकृत्ति-विनिर्मुक्त शुद्धात्माका भी स्वरूप साक्षात्कार हो चुका है, परन्तु मै इस

अवस्थाको पूर्ण नहीं मानता। क्योकि इस आत्मदर्शनके अन्तर्गत सर्वभूत-दर्शन नहीं रहता। मेरी मान्यता ऐसी है कि पूर्ण आत्मदर्शन तभी सभव है, जब सर्वभूतका आत्मरूपेण साक्षात्कार हो। सर्वसाधारणको या मुझे भी ज्ञानकालके पूर्व जो सर्वभूतोंका दर्शन होता था वह अनात्मक अथवा मिथ्या-दर्शन था। किन्तु अब जो सर्वभूतोंका दर्शन हो रहा है, वह आत्मरूपेण विलक्षण दर्शन हो रहा है। यह स्थिति कैवल्य-मुक्तिसे मैं उच्च ही समझता हूँ, क्योंकि कैवल्य अवस्था समग्र नहीं है, वह व्यतिरेकात्मक पूर्णता है। परन्तु भगवान्‌की (आत्मशक्तिके सगुण रूपकी) कृपासे भगवती चित्‌शक्तिका उन्मेष अखण्ड नित्य रहनेपर, कैवल्य-स्थितिकी प्राप्तिके उपरान्त यह विलक्षण दशा सभव है, जिसमें सर्वभूतोंमें पूर्ण भगवान्‌के दर्शन होते हों।"

यही बात श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने भी मुझे कही थी – "स्वामीजी ! भगवान्‌के पूर्ण स्वरूपके साक्षात्कारके पश्चात् जगत्‌की पृथक् सत्ता रहती ही नहीं, मेरे मनमें प्रारंभमें जब सन्यास लेनेकी बार-बार प्रवृत्ति होती थी, एकान्तमें रहनेकी निरन्तर रुचि रहती थी, तो एकबार भगवान्‌ने प्रकट होकर मुझे कहा – "मूर्ख ! मुझसे पृथक् जगत्‌की सत्ता है कहाँ ?" उसके पश्चात् तभीसे प्रभुने ऐसी कृपाकी कि अखण्ड भगवान्‌मे चैतन्यमयी शक्तिके विलासरूपमें जगत् नित्य प्रत्यक्ष होता रहता है, पूर्वानुभवके स्मृतिरूपमे नहीं। बाबा ! मेरे लिये अब अतीत और अनागत, दोनों अखण्ड भगवान्‌में नित्य वर्त्तमान हैं। अब मेरे लिये ***'सर्वम् कृष्णमयं जगत्' वस्तुतः प्रत्यक्ष है।"***

हरिकृष्णदासजी ! भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की वह बात, सुनकर मैं श्रद्धाभिभूत हो उठा था। आप तो उपनिषदोंके मर्मज्ञ हैं। उपनिषद् कहते हैं-

***"यस्य सर्वं आत्मैवाभूत तत्र किं केन पश्यति ?"***

सभी वस्तु वस्तुतः श्रीकृष्ण हैं, यह श्रीभाईजीको केवल ग्रंथसे ज्ञात नहीं है, उनका प्रत्यक्ष अनुभव है, और यह आठों याम उनमे सम्यक्‌रूपसे पूर्णतया व्यवहृत हो रहा है।

इस अवस्थामें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, सहज भगवान् ही भगवान् हैं। भगवान्‌से पलभर भी पलक झपकनेतककी भी च्युति नहीं। मुझे तो यही पूर्ण स्वरूप-साक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति समझमे आती है।

मैं साधिकार कुछ भी कह सकूँ, ऐसी मेरी योग्यता नहीं। मैंने अपना तुच्छ मत मात्र आपके प्रेमको देखकर व्यक्त किया है। कुछ भी आपको रुचिकर लगे – तो यह विचारणीय है, अन्यथा इसे फाड़कर फैंक देगे। सबको यथायोग्य।

**राधा राधा राधा राधा**

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २२

# महाजनो येन गतः स पन्थाः

**गोरखपुर**

**तिथि - अज्ञात**

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी ! सादर सस्नेह राधास्मरण ।

आपका पत्र मिला। आपने गूढ़ प्रश्न किया है कि तत्वज्ञानी मुनियोंमें भी जो पूर्ण सत्यके साक्षात् स्वरूप ही होते हैं, मतभेद संभव हैं क्या ? इसी सदर्भमें आपने एक श्लोक भी उल्लेख किया है -

*"वेदाः विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नाऽसौ मुनिः यस्य मतं न भिन्नम् ।*
*धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।"*

"अर्थात् वेदोंमें भिन्न-भिन्न अनेक मत हैं, स्मृतियाँ भी विभिन्न मतोंकी प्रतिपादक हैं, एवं ऐसा कोई मुनि भी नहीं दिखता जिसका मत एक दूसरेसे भिन्न नहीं हो। धर्मका तत्त्व अत्यंत गूढ़, मन-बुद्धिसे परेकी गुहामें निहित है अत जिस पथका महापुरुष आचरण करते हैं; वही सत्याशमें पथ है।

आपके प्राय. पत्र ऐसे गूढ तत्वोंके प्रश्नोंसे ही भरे रहते हैं, जबकि आप जानते हैं कि मैं शास्त्रोंके पठन-पाठन, उनके मनन-चिन्तनसे सर्वथा विरत, मौन, एकान्त-साधनामें ही लगा रहता हूँ। यह आपका मुझपर असामान्य प्रेम और विश्वास है। फिर मैं आपके पत्रोंका महीनों उत्तर नहीं देता, तब भी आपके मुझसे प्रश्नोत्तर करनेके उत्साहमें कभी कमी नहीं आती। मेरा तो यही निवेदन है कि ऐसा ही शुद्ध प्रेम आप मुझसे सदा करते रहें।

आपके प्रश्नका उत्तर जैसा श्रीकृष्ण प्रेरणा दे रहे हैं, लिख दे रहा हूँ।

हरिकृष्णदासजी ! धर्मका तत्व एक अत्यन्त गंभीर और परमगूढ रहस्य है। वह मनसे अतीत है। मनका पूर्णतया निरोध हुए बिना इस गुहामें प्रवेश असभव है। शास्त्रोंमें जो भी वर्णन है, वह वर्णन सभी मुनियोंने मनको लेकर ही किया है। जो भी, चाहे वह कितना ही ऊँचे-से-ऊँचा सिद्ध महापुरुष ही क्यों न हो, जब मनको लेकर तत्वकी व्याख्या करेगा, तत्वका दर्शन करनेका प्रयास करेगा तो उसको शास्त्रके तत्व अपनी प्रकृतिके अनुसार ही दिखाई पडेगे।

प्रत्येक मुनिकी प्रकृति भिन्न है, अतः उनकी प्रकृतिकी भिन्नता ही मतोंकी विभिन्नताका कारण है। जब मुनि अपने मनोंके अनुगामी हैं, तो उनके

भिन्न-भिन्न मत स्वाभाविक ही हैं।

विशुद्ध तत्वका साक्षात्कार तो मनको अतिक्रम करके होता है, किन्तु उस स्थितिका साक्षात्कार कर लेने पर भी वर्णन नहीं हो सकता। कारण यही है कि वर्णन करनेके लिये मन-वाणीकी आवश्यकता होगी ही। प्रत्येक वाणी एव शब्दके पीछे मनकी पृष्ठभूमि रहती ही है। जहाँ मन है वहाँ विकल्प होंगे ही। स्वरूप साक्षात्कार वितर्क समाधि द्वारा भी संभव है और प्राचीन कालके योगियोंने वितर्क समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञानका ही विवरण जनताके सम्मुख व्यवहार भूमिमें दिया है। ये सभी विवरण विकल्पमय हैं।

तत्वका साक्षात्कार वहाँ होता है, जहाँ मन रहता ही नहीं। वह निर्विकल्प भूमि है। परन्तु निर्विकल्प भूमि में बुद्धिका अभाव होनेसे तत्वका वर्णन असंभव है। तत्वका वर्णन तो वाक्यो द्वारा होगा जिसमें मन परमावश्यक है। अतः निर्विकल्प ज्ञानका वर्णन हो ही नहीं सकता। जहाँ, जो जितना वर्णन है, वह मात्र विकल्प ज्ञानही है।

वेद-स्मृति सभी शब्दात्मक हैं, अत परम प्रामाणिक होनेपर भी ये विकल्प रहित नहीं हैं। "मननशीला मुनय" मुनि सभी मननशील हैं, वे विकल्पसे रहित नहीं हैं। इसलिये मात्र इन मुनियोंकी वाणीके अध्ययनसे विकल्प रहित तत्वकी उपलब्धि संभव नहीं है।

आजकलके तथाकथित ज्ञानियोंसे मेरा यहाँ मतभेद है। तथाकथित ज्ञानी कहते हैं कि गुरुमुखसे तत्वज्ञान एवं वेदान्तके महावाक्य श्रवण मात्रसे तत्व प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है। मैं ऐसा नहीं मानता। श्रवण उत्तम है, परन्तु इतने मात्रसे हृदयगुहामें प्रवेश नहीं मिलता। ज्ञान-कथन, ज्ञान-श्रवण साधन हो सकते हैं, सिद्धि नहीं। उसके लिये मनसे अतीत अवस्था प्राप्त करनी आवश्यक है। निर्विकल्प सत्य एकमेव है, वह वाणीका विषय है ही नहीं। वह निर्विवाद निर्विकल्प है।

जन-साधारण तत्वान्वेषणके लिये मनसे अतीत इस पूर्ण निर्विकल्प हृदय-गुहामें क्योंकि प्रवेश नहीं पा सकता, अत उसके लिये महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करना ही एकमात्र उपाय शेष रहता है।

**राधा राधा राधा राधा**

(श्रीहरिकृष्णदासजीको चिम्मनलाल गोस्वामी का सस्नेह हरि-स्मरण)

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २३

# भगवान् ही पूर्ण योगी हैं

गोरखपुर
तिथि - अज्ञात

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका !

सादर सस्नेह राधा-राधा। आपका पत्र मिला। इस बार आपका पत्र योगके सबधमें है। आपने लिखा कि योगी असंभवको भी संभव कर सकता है – क्या यह सत्य है ?

मेरी इस सम्बन्धमें जो धारणा है, वह लिख दे रहा हूँ। जिन्हें हम-आप गेरुआ वस्त्र धारण किये मठोंमें निवास करते देखते हैं, वे साधक मात्र हैं। योगी अत्यत दुर्लभ है। योगका अर्थ है किसी वस्तुसे जुड़ना। जो कर्म परमात्मासे जुड़नेके लिये किया जाता है, उसे कर्मयोग कहा जाता है। यह सबके मूलमे है। यह कर्म सर्वथा निष्काम होता है। इसलिये इसे कुशल कर्म भी कहते हैं। परमात्मासे जुडनेके लिये इस कर्म-कौशलकी नितान्त आवश्यकता है।

*"योगः कर्मसु कौशलम् "।*

यह निष्काम कर्म ही मन्थन है। इस मंथनके अन्तमें ज्ञानामृत उपलब्ध होता है। चैतन्यरूप ज्ञानके पश्चात् ही अनुभव होता है कि हम भगवान्के अश हैं, और तब अशी भगवान्से भक्ति होती है। भक्तिसे ही यह अनुभव होता है– भगवान् मेरे हैं और तब उनसे प्रेम होता है। प्रेम भगवान्से साक्षात्कारका हेतु है।

*हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमतें प्रकट होंहि मैं जाना ।।*

ईश्वर-साक्षात्कारसे जीवमें ईश्वरत्वका प्रकाश होता है, तभी वह महाशक्तिकी उपासनाका अधिकारी होता है। ईश्वर-साक्षात्कारके पश्चात् महाशक्तिकी उपासना सभव है, पहले नहीं। अत ईश्वर-साक्षात्कारके पश्चात् ही सही रूपमें योग साधना प्रारंभ होती है।

वस्तुतः योग जीवत्व रहते सभव नहीं है। महाशक्तिसे योग होना ही योगी होना है। पूर्ण योगी ईश्वर है, उसका सत्य अर्थमें महाशक्तिसे नित्य योग होता है, ईश्वर नित्य उपासक है और महाशक्ति सदा उपास्य है। ईश्वर और

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या 301-400 तक

साधु कृष्णप्रेम

महाशक्ति नित्य सयुक्त रहते हैं। महाशक्तिके संयोगसे ही ईश्वरका ईश्वरत्व है।

इस विषयमे कुछ अश तक यह उदाहरण दिया जा सकता है। आगमें लोहेका एक टुकडा यदि डाल दिया जाय, तो वह एक घण्टेमें तपकर अग्नितुल्य लाल हो जायेगा। इस तप्त लोहेसे यदि हम काष्ठका, या किसी भी अन्य वस्तुका सम्पर्क करेगे, वह तुरन्त भस्म हो जायेगी। यहाँ लोहा ईश्वर है और महाशक्ति अग्नि है। जैसे लोहा ईश्वरतो अग्निमें एक घटे पडा रह सकता है, अग्निको आत्मसात् करके उसके तापसे किसी वस्तुको जला सकता है, परन्तु काष्ठका तिनका, रूईका कोई अश, उससे बुना कपडा अग्निको आत्मसात् नहीं कर सकता, तुरन्त भस्म हो जाता है, इसी प्रकार ईश्वर ही महाशक्तिको धारण करनेमें समर्थ है, जीव नहीं।

किसी-किसी अधिकार सम्पन्न जीवको ईश्वर साक्षात्कारके पश्चात् महाशक्तिकी कृपासे उनकी उपासनाका अधिकार मिलता है, और वे विश्वमे महायोगी कहलाये जाकर अनन्त कल्याणके हेतु होते हैं।

योगका अर्थ ही है – महाशक्तिसे योग । इसीलिये श्रीकृष्ण महायोगेश्वर हैं। श्रीराम भी योगेश्वर हैं। विशुद्ध सत्वरूपा महाशक्तिने ही इनके द्वारा महान् आसुरी शक्तियोका पराभव रचाया था। योगेश्वरका अर्थ ही होता है, अखण्ड सत्तासे नित्ययुक्त होना, योगेश्वर देशकालमें अवरुद्ध नहीं होता। वह सर्वत्र सर्वकाल विद्यमान रहता है और सबके हृदयकी सब बात उसे निरावरण अवगत रहती है।

**राधा राधा राधा राधा**

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २४

# महाशक्ति निष्क्रिय होनेसे ब्रह्ममें एक है, किन्तु भगवान्में वह उनसे पृथक् उनकी दासी है

**गोरखपुर**
**तिथि - उल्लेख नहीं**

श्रीहरिकृष्णदासजी !

सादर सस्नेह राधा-राधा । आपका पत्र मिला। आपने मेरे योग-सम्बन्धी पूर्वपत्रकी आलोचनामें लिखा कि आपकी समझमें यह बात नहीं आ पायी कि ईश्वर एव महाशक्ति दो कैसे सभव है। आपकी मान्यता यही है कि महाशक्ति, भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं। इसके उत्तरमें मैं मेरा विनम्र निवेदन व्यक्त कर रहा हूँ। मेरे किसी भी मतको आप उतना ही आदर दे, जितना आपकी बुद्धि स्वीकारे। जिस प्रकार आप निष्कपट भावसे मुझसे प्रश्न करते हैं, मैं निश्छल जो मेरी समझ है, वह बतला देता हूँ।

श्रीमद्भागवतमे – ***ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते*** इस प्रकार उल्लेख मिलता है। विशिष्ट कोटिके वैष्णव साधकोंने इसका विशद विवेचन किया है, किन्तु इसकी उपयोगिता अन्तर्मुख गुह्यतत्वके साधकोंके लिये ही है। सामान्य पाठकोके लिये नहीं।. गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमे विशेष करके रूप गोस्वामी, एवं जीव गोस्वामीने भी इन शब्दोंकी व्यापकता पर अपना मत प्रकट किया है। प्राचीनकालमें इन तीनो तत्वों पर खूब विमर्शन हुआ है। अवश्यमेव यह सर्वविदित नहीं है।

यद्यपि सत्य एक ही अद्वय तत्व है, परन्तु वह अनुभव-भेदसे ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीनों नामोसे प्रसिद्ध है। यह तत्व महाज्ञान स्वरूप है, सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं। महाज्ञानकी दृष्टिसे उसका नाम ब्रह्म है। उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु सब निष्क्रिय हैं। महायोगकी दृष्टिसे इसी ब्रह्मका नाम है परमात्मा। यह विश्वका अधिष्ठाता एव नियामक है और साथ ही उसका परिपालक भी है। जीवात्मा उसीका अश है। भक्तिकी दृष्टिसे इसका ही नाम भगवान् है। भगवान्में अनन्त शक्तियोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति

है, जहाँ परमात्मामें आंशिक अभिव्यक्ति है। ब्रह्ममें इनकी बिलकुल अभिव्यक्ति नहीं है। मैंने अपने पूर्वपत्रमें यही बतानेकी चेष्टा की थी कि अनन्त शक्तिसे योग मात्र भगवान्का ही होता है। अतः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुंसमर्थ महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण एवं श्रीराम हैं। महाशक्तिसे नित्य युक्त होनेके कारण ही वे भगवान् कहलाते हैं। ब्रह्म ज्ञानगम्य है। परमात्मा योगगम्य है – उसमें सयोग चित्तवृत्तिके पूर्ण निरुद्ध होने पर हृदय गुहामें होता है। उसी एक सत्यकी व्याख्या विप्रो, मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे की है। भगवान् भक्तिगम्य हैं। ब्रह्म निराकार है, परमात्मा चिन्मय आकार है। बहिर्मुख लोग उन्हें साकार कहते हैं। चित्तके अन्तर्मुख होनेपर समाधि-अवस्थामें मनके निर्विकल्प होजाने पर परमात्माका साक्षात्कार होता है। भगवान् साकार हैं, मात्र भक्तिगम्य हैं, एव षडिन्द्रिय-वेद्य हैं।

दुग्ध जैसे एक होने पर भी चक्षुरिन्द्रियके संयोगसे श्वेत और रसनेन्द्रियके सयोगसे रसमय प्रतीत होता है, एवं साथ-ही-साथ उदरकी क्षुधा शान्त भी करता है, शरीरको बल एवं ओजदायी होता है, उसी प्रकार अखण्ड परम सत्ता एकमेव अद्वितीय होती हुई भी ज्ञानकी दृष्टिसे निर्गुण, निष्कल, निर्विकल्प, निराकार परम अद्वय स्वरूप है। योगकी दृष्टिसे उसी अद्वय स्वरूपमें योगावस्थाका प्रादुर्भाव दीख पडता है। यह योग परमात्मासे जीवात्माका है, जीवात्माका महाशक्तिसे नहीं है। हाँ, योगीको यह अनुभव अवश्य होता है कि जिस परमात्मासे उसका योग हो रहा है, वह परमात्मा अनन्त महाशक्तिसे युक्त है। परन्तु उसमे पूर्ण शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं, मात्र कुछ शक्तियाँ ही अभिव्यक्त हो रही हैं। ज्ञान और ऐश्वर्य योगीके परमात्मामें प्रधान हैं।

भगवदावस्थामें वही वस्तु साकार है। यहाँ भगवान् भी साकार हैं और भक्त भी साकार है। भक्तको अपने अनुभवके साथ ही साथ उसके अपने भगवानका भी अनुभव होता है। परन्तु भक्त जहाँ अपनेको चित् शरीर युक्त देखता है, वहीं भगवान्को चिन्मय सस्कार-सम्पन्न षडिन्द्रिय-गोचर अनुभव करता है।

भगवान्में ऐश्वर्यप्रधान स्वरूप भी होता है, और माधुर्यप्रधान स्वरूप भी। माधुर्यप्रधान स्वरूप स्वयं भगवान् हैं और ऐश्वर्यप्रधान स्वरूप भगवान्की कलाका अवतरण है। ऐश्वर्यप्रधान स्वरूपकी प्राप्तिका उपाय भक्ति है। भक्तिका स्वरूप श्रीप्रह्लादजीने श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया है और तुलसीकृत रामचरितमानसमें शबरीको स्वय भगवान्ने बतलाया है। ऐश्वर्यप्रधान भगवान्की प्राप्ति न तो कर्मसे सभव है, न ज्ञानसे ही। वह मात्र भक्तिसे ही संभव है।

जिसमें ऐश्वर्यका लेश भी नहीं ऐसे माधुर्य-सार-सर्वस्व भगवान् प्रेमसे प्राप्त होते हैं। वहाँ 'स्व' का उनकी रुचिमे पूर्ण विलय है। वहाँ उनका सुख ही अपना सुख है। वहाँ निज कल्याणका भाव भी नहीं है। ':त्र' का पूर्ण समर्पण है। वहॉ न भुक्ति है, न मुक्ति है। भुक्ति एव मुक्ति की पिशाची इच्छाका लेश भी जहॉ है, वहाँ प्रेम है ही नहीं और जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ **मधुराधिपतेरखिलं मधुरं** भगवान्का अस्तित्व नहीं है। यहॉ ऐश्वर्य आस-पासमे ही नहीं। यहॉ ऐश्वर्य भक्तके पास भगवान्को सुख देनेके लिए रहता है। ऐश्वर्यलीलाके साथ वैकुण्ठका सम्बन्ध है और माधुर्यलीलाके साथ गोलोकका। इस गोलोकसे ही नित्य वृन्दावनकी अभिव्यक्ति होती है।

माधुर्यलीलामे महाशक्ति लीला-सम्पादनका समग्र विधान स्वय करती है और ऐश्वर्यलीलामें महाशक्ति महालक्ष्मी स्वरूपा भगवान्की चरणसेवामे नियुक्त रहती हैं इन महाशक्तिके सयोगसे ही ऐश्वर्ययुक्त भगवान्, कैलासमें शिव-शक्तिके रूपमें, साकेतमें सीता-रामके रूपमें, श्रीमन्नगरमें कामेश्वर-कामेश्वरीके रूपमें, वैकुण्ठमे लक्ष्मी-नारायणके रूपमे दर्शन देते हैं। ये ही महायोगेश्वर हैं। देव-दानवों, सुर-असुर सभीमें इन्हीं महायोगेश्वर भगवान्की आशिक शक्तियाँ निहित रहती हैं। संक्षेपमें मैंने आपके प्रश्नका उत्तर दे दिया है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

॥ श्रीराधा॥

पत्र संख्या - २५

# विभूतियोंके दर्शनसे विश्वास पुष्ट होता है

गोरखपुर

निश्चित तिथि अज्ञात

श्रीहरिकृष्णदासजी !

सादर सस्नेह राधा-राधा । आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि विभूतियाँ तो मात्र मायिक हैं, उनकी परमार्थ साधनामें क्या आवश्यकता है ?

आपके प्रश्नके उत्तरके रूपमे मुझे इतना ही कहना है कि जो साधना प्रारभ करते है, उनके लिये निष्काम भाव ही सर्वोचित है, क्योंकि सकाम भाव मायिक होनेसे सदा अतृप्त रखनेवाला, एवं आसक्ति बढानेमें हेतु होनेसे हानिकारक एवं अनुचित है। भगवान् भी प्रथमतया भक्तको निष्काम बनानेके लिये और उसके अहकारको चूर-चूर करनेके लिये भक्तके सम्मुख अपनी शक्तियॉ अप्रकट ही रखते हैं। परन्तु जब भक्त अहकार रहित होनेके मार्गमें अग्रसर हो जाता है तो भगवान् अपने स्वरूपके प्रकाशके साथ भक्तके विश्वासको परिपुष्ट करनेके लिये अपनेमे इन विभूतियोंका प्रदर्शन भी करते हैं। भक्त जब तक अपने भगवान्‌के स्वरूपके क्रम-रहस्यको पूरा समझेगा ही नहीं तबतक सूक्ष्म तत्वमें प्रवेश कैसे करेगा। जब तक भगवान्‌की महिमा भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होगी, तबतक वह अपने इष्टके सौहार्द एवं शक्तिमत्ताके प्रति आश्वस्त कैसे होगा ? अतः प्रवेशार्थीका विश्वास सुदृढ करनेके लिये यह महिमा-प्राकट्य अवश्यक होता है। साधारण लोग जिसे असंभव समझते हैं, भगवान्‌के भक्तके लिये, अपने भगवान्‌की कृपाके बलपर, वह असंभव नहीं रहता। भक्तको अटूट, अखण्ड विश्वास रहता है कि उसके भगवान्‌के लिये कुछ भी असंभव नहीं है। वे कर्त्तुम् समर्थ हैं, अकर्त्तुम् समर्थ हैं और अन्यथा कर्त्तुम् समर्थ भी हैं। भगवान् के लिये असभव कुछ भी नहीं, क्योंकि सबकुछ उनकी मायाशक्तिके ही आधीन है। अघटन-घटना-पटीयसी मायाशक्ति पर उनका पूर्ण स्वतत्र अधिकार है।

यद्यपि मायाशक्ति भी भगवान्‌की होनेके कारण पूर्ण स्वतंत्र है, परन्तु उसका पूर्ण स्वातंत्र्य भी भगवान्‌के संकल्पसे बद्ध होता है।

यहाँ आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि भक्तमें भगवान्‌की महिमा-शक्तिको

भगवान् नारायणके अंशावतार

ज्ञानके सूर्य सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका

देखनेकी स्पृहा आवश्यक है अथवा उसका अपने इष्ट पर सरल विश्वास आवश्यक है ?

इसका उत्तर यही है दोनों ही आवश्यक हैं । पहली अवस्थामें भक्तका भी चित्त चचल और सन्देहयुक्त रहता है, उस समय निष्ठा और विश्वास कहाँसे आवेगे ? जब भक्त अपने भगवान्‌की महिमाको प्रत्यक्ष देखता है, एक बार ही नहीं, पुन पुनः उनकी महिमाका अपरोक्षानुभव प्राप्त करता है, तभी उसका मन उसके भगवान्‌पर विश्वस्त होता है। विश्वस्त हो जाने पर ही फिर भक्तका मन अखण्ड शान्तिका अनुभव कर पाता है। आगे जाकर तो विश्वास ही प्रधान होता है। परन्तु प्रारभमें सौहार्द एव महिमा और विभूतियोंका प्रत्यक्ष-ज्ञान अनुभवमें आना ही चाहिये। इसके बिना विश्वासकी पूर्ण पुष्टि नहीं होती, एव विश्वासके सर्वथा पुष्ट हुए बिना न तो समर्पण ही सभव है और न ही निष्ठा।

भगवान्‌में भक्तको इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति-विभूतिके ये तीन क्रम उपलब्ध होते हैं। इनमें भगवान्‌की इच्छाशक्ति सर्वोपरि है। भगवान्‌की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका कार्य भी करती रहती है। जब श्री ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णके सभी बछडे और सखाओंको चुराकर एक गुफा में बन्द कर दिये, उस समय श्रीकृष्णने मात्र इच्छा ही की थी कि वे सब कहाँ गये ? परन्तु उनके इच्छा मात्र करते ही उन्हें सर्वज्ञान होगया। इसी प्रकार भगवान्‌के द्वारा मात्र इच्छासे सर्वक्रिया भी स्वत सम्पादित होती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इच्छा एवं इच्छाशक्तिमें भेद क्या है ? इसे मैं उदाहरणके द्वारा समझाता हूँ।

हम दिनभरमे अनेकों इच्छाये करते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो भी हम इच्छा करें वह पूर्ण ही हो जाये। इच्छायें वे ही पूर्ण होती हैं, जिनमें भगवान् विश्वनियन्ताकी शक्ति निहित रहती है। शक्तिका अर्थ ही है चैतन्य। जब तक हम शरीराध्यस्त हैं, हमारी इच्छा इच्छामात्र है। उस इच्छामें शक्तिका, चैतन्यका, भगवान्‌का योग नहीं है। आत्मस्वरूप अथवा ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कार अथवा भगवत्साक्षात्कारके पश्चात् इच्छा इच्छाशक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति के पश्चात् भी इच्छायें रहती हैं ? तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि वह इच्छा महाइच्छाके रूपमें अवश्य रहती है। वह न रहे तो ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रहेगा ।

माण्डूक्योपनिषद कारिकामें गौड़पादस्वामीने स्पष्ट कहा है – **इच्छा मात्र प्रभोः सृष्टिः** । जिस हमारी इच्छामें प्रभुकी, भगवान्‌की शक्ति निहित रहती है,

वह इच्छा उसी क्षण पूर्ण हो जाती है।

सृष्टिके मूलमे है इच्छा । कुम्हार घटादि बनानेके लिये मात्र इच्छा ही तो करता है। कुलालचक्र घूमता है, थोड़ी सी मिट्टीका पिंड उसपर पडा है, और उस पर कुम्हारका हाथ रखा है। कैसा आश्चर्य है। हाथ हिलता नहीं और कुम्हारकी इच्छानुसार कभी घड़ा, कभी सकोरा और कभी हाँडी तैयार हो जाती है। इच्छासे सब होता है। उपादान सत्ता स्वरूपमें नित्य ही है, कालचक्र घूम ही रहा है समग्र उत्पत्ति, स्थितिका, साथ ही विनाशका भी नियमन कर रहा है।

यह बात सदा स्मरण रखनेकी है कि इच्छा ही बीज है। इच्छाका नाश कदापि नहीं हो सकता। इच्छा हुई और होते ही अनन्तमें चित्रित हो जाती है। इच्छाकी तृप्ति हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। उपदेश सुनने मात्रसे वासनाका त्याग हो जाना है कलिकालमे तो देखनेमे नहीं आया।

इच्छाशक्ति ही चरम शक्ति है। वर्तमान सृष्टिमें इच्छाशक्ति सर्व-प्रधान शक्ति है।

जबतक एक भी वासना अतृप्त है, तब तक मुक्ति असभव है। अत प्रवृत्तिके द्वारा ही प्रवृत्तिकी निवृत्ति का उपाय है। वैदिक मार्गमे भी यही भाव है— पहले कर्म, फिर त्याग एवं तब ज्ञान । कर्मकाण्डमें तो कामनाका अत ही नहीं होता। परन्तु उसमें भी जब यह आहुति दी जाती है कि 'ॐ भू स्वाहा, ॐ भुव स्वाहा, ॐ स्व स्वाहा'' अर्थात् भू आदि त्रिलोक जिनमे काम्य फलोका भोग होता है, सब भस्म हो जावें। ज्ञानमार्गमें चित्त-शुद्धिका एक ही उपाय बताया है – निष्काम कर्म। यहाँ भी सभी इच्छा लोकोपकारके लिये समर्पित हैं। भक्तिमार्गमें भगवदिच्छा पूर्ण हो, भगवान्‌को सुख देनेके भावमें इच्छाका समर्पण है। भक्तिमार्गमे भगवान् अपनी महाइच्छासे भक्तकी सभी कामना पूर्ण करते हैं, तब भक्त अपनी सब इच्छा भगवान्‌को अर्पण कर देता है। इस इच्छाके अर्पणके पश्चात् ह्लादिनी अथवा परमानन्दरूपा शक्तिका आविर्भाव होता है। जब तक इच्छाकी पूर्त्ति नहीं हो, तबतक तो परमानन्दरूपा शक्तिके आविर्भाव होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इच्छाकी निवृत्तिके बिना तो आनन्दका उदय असभव ही है। अत यह भक्तकी इच्छा-निवृत्ति भगवान्‌की इच्छाशक्ति अथवा महाइच्छासे ही हो पाती है। इसी प्रकार भगवान्‌को सर्वज्ञ मानकर भक्त अपनी ज्ञानशक्ति भी उनमें समर्पित कर देता है। यहाँ पुन समझ ले – ज्ञान एव ज्ञान-शक्तिमें बहुत अन्तर है। ज्ञान तो जीवमात्रमे है, परन्तु जीवमात्रमें जो ज्ञान है, वह अल्पतम ज्ञानाभास भर है। जीवको त्रिकालाबाधित, नित्य एव अखण्ड ज्ञान नहीं है। सुदूर भविष्य जीवके सम्मुख अस्पष्ट है। वहाँ ज्ञानमे विस्मृति भी है। परन्तु

प्रभुमे विस्मरण है ही नहीं। इसलिये ज्ञानमे जहाँ प्रभुका सयोग है, वहाँ ज्ञान ज्ञानशक्ति कहलाता है। इसी प्रकार हमारी समग्र क्रिया, अल्प क्रिया है और प्रभुमें अनन्त कर्म-सामर्थ्य है। अत जीवको प्रभुकी अपार सौहार्दभरी इच्छाशक्ति, अनन्त ज्ञानशक्ति एव क्रियाशक्ति इन विभूतित्रयसे ज्यो ही परिचय होता है -- जीव अहकारमुक्त हुआ पूर्ण इच्छा निवृत्त हो जाता है। बस, इच्छानिवृत्तिके साथ ही साधक भगवान्‌की पूर्णानन्दमयी गोदमे प्रवेशलाभ करता है। इसके पश्चात् अनुकूल एव प्रतिकूल दोनोही भगवान्‌की लीला समझमे आनेसे सच्चे समत्वकी प्रतिष्ठा हो जाती है, तब आनन्दका भी भेदन हो जाता है। उस समय आह्लादिनी परमानन्दरूपा चिन्मयी स्थितिमें प्रवेश होता है। अन्तमे राधाकृष्ण, सीताराम, शिवशक्तिके साथ अपने स्वरूपका भी तादात्म्य होजानेसे पूर्ण स्वातन्त्र्यका उन्मेष होता है। यही पूर्णता है।

विभूतियाँ विश्वासके सम्मुख तुच्छ अवश्य है, परन्तु विभूतियोंके प्रति सच्चा वैराग्य और उनसे आत्यतिक निवृत्ति बिना उनके प्रत्यक्ष अनुभवके सभव नहीं है। और सच्चा वैराग्य एव निवृत्ति परमावश्यक है ही।

**राधा राधा राधा राधा**

**(श्रीहरिकृष्णदासजीको चिम्मनलाल गोस्वामीका सस्नेह हरिस्मरण)**

---

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २६

# लीलाका प्रकाश चिदाकाशमें ही संभव है चित्ताकाशमें नहीं

**गोरखपुर**
**तिथि उल्लेख नहीं**

श्रीहरिकृष्णदासजी,

सादर सस्नेह राधा राधा ।

आपने जो नित्यलीलाकी बात लिखी है, वह चिदाकाशका व्यापार है, चित्ताकाशका नहीं। चित्ताकाशमें कर्म-संस्कार संचित रहते हैं। मायातीत-पदमें आरूढ हुए बिना नित्यलीलाका सन्धान नहीं मिलता। नित्यलीला जड-जगतका व्यापार नहीं है। चिन्मय धाममें ही इस नित्यलीलाकी स्वाभाविक स्फूर्ति उपलब्ध हो सकती है। गौडीय आचार्यगण स्वरूपाशक्तिके ह्लादिनी एव ह्लादात्मा इन भिन्न-अभिन्न दो रूपोमें ही नित्यलीलाका वर्णन करते हैं। यह आपको समझाना अनावश्यक है कि स्वरूपाशक्ति अन्तरंगा चित्शक्ति ही है। यह वस्तुत भगवत्स्वरूपसे अभिन्न होते हुए भी शक्त्यात्मक है। माया जडशक्ति है, इसलिये मायिक प्रपच अथवा मायागर्भमे नित्यलीलाकी सभावना ही नहीं है।

प्राचीन आगम शास्त्रो (तत्र शास्त्र) मे शिवशक्तिके यामल रूपका वर्णन आया है। सहजयान बौद्धोंमें भी युगनद्धरूप प्रचलित है। तान्त्रिक और बौद्ध इसे लीला-रसधाराका प्रस्त्रवण स्वरूप मानते हैं।

तान्त्रिक लोग 'अ' एव 'आ' को एक ही सत्ताके दो दिक् मानते हैं। 'अ' है अनुत्तर एवं 'आ' है आनन्द। अनुत्तरमें प्रकाश मात्र है। यह शिव-शक्तिका अद्वयरूप तत्व है, यही वास्तवमे अद्वैत है। यही 'आ' आनन्द है। 'आ' आनन्दमें प्रकाशरूपी शिव एव विमर्शरूपिणी शक्तिके मिथुनीभाव या परस्पर अनुप्रवेश से उच्छ्वसित रसधारा श्रृगार अथवा आदिरसका आश्रय लेती हुई विवर्त-विलास के रूपमें खेलने लगती है।

परन्तु मेरी धारणा है श्रीभाईजीको जिस लीला जगतकी अनुभूति है वह इससे विलक्षण है। वह और अधिक रसमयी है। मैं तो अभी इस रसधाराको

छू भी नहीं पाया हूँ। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) को जो लीला-अनुभूति होती है, वह चित्ताकाशका व्यापार नहीं है। मेरी इस मान्यताको आप असंदिग्ध मानें।

आप यह तर्क कर सकते हैं कि शुद्ध चैतन्य तो निष्क्रिय है और लीला क्रियात्मिका है। शुद्ध चैतन्य अचल, ध्रुव है और लीलामें पूर्ण चचलता है। अतएव शुद्ध चित्स्वरूपमें लीलाका कोई स्थान नहीं। परन्तु यह होते हुए भी मैं यह कह सकता हूँ कि ये तर्क तभी तक उठते हैं जबतक केवल वाचिक ज्ञान है। स्पंदमयी शक्तिका स्वच्छन्द विलास मनकी चचलता नहीं कहा जा सकता। इसका मायिक इच्छा-ज्ञान-क्रियासे सम्बन्ध ही नहीं है। यह तो भगवत्स्वरूपका मात्र निगूढ रहस्य है। बाह्यदृष्टिसे न तो यह देखी ही जा सकती है, न ही जबतक बाह्यभाव रहता है, तब तक इसका किसीको अनुसधान ही मिला है। यह वस्तुतः विशुद्ध परमात्माका अपने स्वयंके साथ रमण है। इस खेलमें द्वितीय कहीं कोई नहीं है। यह लीला अनुगत द्रष्टा सखियोको साक्षीरूपसे अवश्य दिखती है। ये सखियाँ भी मूलरूपमे स्वरूपाशक्तिकी भाव-स्फुरणायें ही हैं। इसका भी प्रयोजन है। अन्यथा मायामुक्त भगवद्भक्त जीव भगवान्से सम्बद्ध कैसे हो ? भगवद्भक्त जीव पराभक्तिके प्रभावसे सखी-स्वरूपके साथ योगयुक्त हो जाता है। इसीलिये वह पहले साक्षी अथवा द्रष्टा होकर लीला-दर्शनका अधिकारी होता है। ये जीवन्मुक्त भगवद्भक्त माया और महामायासे अतीत होकर भगवान्की विशुद्ध चित-उज्ज्वला,स्वरूपभूता महाशक्तिके अकाश्रित रहते हैं। यह साख्यादि सम्मत केवली द्रष्टाका पद नहीं है। हरिकृष्णदासजी ! इस स्थितिका सही वर्णन एव अनुमान भी मुझे शास्त्रोमें कहीं नहीं मिला है। यह अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, मात्र अनुभवगम्य अवस्था है, जो श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे भक्तकी अनुभूतिमे पूरी उतरी है। मेरी दृष्टिमे इस युगमें इस भगवद्रसके वे प्रमुख आचार्य हैं। उनके पश्चात् यह प्रीति-सूर्य अस्त ही हो जाने वाला है। शेष क्या कहूँ —

**राधा राधा राधा राधा**

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २७

# वृन्दावन मायातीत भूमि है मानस-भूमि नहीं है

गोरखपुर
तिथि उल्लेख नहीं

श्रीहरिकृष्णदासजी

सादर सस्नेह राधा-राधा। आपका पत्र मिला। महाप्रभु चैतन्यके आविर्भाव के पूर्वसे ही तात्त्विक दृष्टिसे रागमार्गकी भक्ति-साधनाका वर्णन मिलता है। परन्तु यह गुप्तरूपसे साधकोंके भीतर ही परिज्ञात रहा है। आप मेरी इस बातको पूरी तरह सत्य मान लीजिये कि वृन्दावनधाम रसिक भक्तोंकी मानस-विलास भूमि सर्वथा नहीं है। रीतिकालीन कवियोंने भले ही महाभाव स्वरूपिणी राधा, किंवा रसिक-राजशेखर-श्रीकृष्णको अपनी मानस काम-सतृप्तिका साधन बनाया हो परन्तु आप चैतन्य-चन्द्रोदय पढ़िये, इस नाटकमें आपको विरजा नदीके दूसरे पार पर-व्योमका वर्णन मिलता है। यह नित्य चिन्मय भूमि है। इस स्थानके लताकुंजादि चिन्मय और आनन्दघन हैं। 'भगवत्सन्दर्भ' नामक गौडीयग्रन्थमें भी आपको इसका वर्णन मिलेगा। यह भगवान् नारायणका त्रिपाद-विभूति-स्वरूप नित्य-अनन्त-शुद्ध सत्त्वमय दिव्य परम पद है। वृन्दावन मायातीत भूमि है। यह नित्य है। महा-प्रलयका भी यह नित्य साक्षी है। सृष्टि भी तीन प्रकार की है। १ योनि-सभव सृष्टि २ अयोनि-सभव सृष्टि और तीसरी स्वत सिद्ध सृष्टि। नित्य चिन्मय वृन्दावनमें तीसरे प्रकारकी स्वत सिद्ध अयोनि-सभव सृष्टि है और मर्त्यलोकमें योनिसंभव सृष्टि है। आपने 'अप्राकृत नवीन मदन' का उल्लेख भी वैष्णव रस-साहित्यमें अवश्य देखा होगा। यह विरजाके इस पारकी सृष्टिमें नहीं, उस पारकी पर-व्योमके अन्तर्गत सृष्टिका वर्णन है। मेरे पास निम्न ग्रन्थ नहीं हैं परन्तु श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) को आप लिखेंगे तो वे कहीं-न-कहीं से ये ग्रन्थ मँगाकर आपको भेजवा सकते हैं। ये ग्रन्थ हैं १ प्रेमानन्द लहरी, २ राधारस कारिका एव तीसरा ग्रन्थ है ''निगूढार्थ प्रकाशावली''। इन ग्रन्थोंमे राधाकृष्ण तत्व अर्थात् युगलरूपका वर्णन आपको विशद और सुस्पष्ट दार्शनिक विवेचना सहित मिलेगा।

भावदेहके अनन्तर सिद्ध देह प्रसिद्ध है। भावदेह साधक अवस्थामे अभिव्यक्त

होती है। यह भावदेह भी नाम-माहात्म्यके प्रभावसे शीघ्र सुलभ होती है, ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। परन्तु इसके पूर्व मलशुद्धि आवश्यक है। लीला जगत्मे विक्षेप मनके चचल होनेसे नहीं होता। क्योकि वहाँ मनकी चचलता अपेक्षित है। सिद्ध देह साधक अवस्थामें होता नहीं है। साधकका आश्रय सखीके चरण और सिद्ध होने पर श्रीराधाके चरण आश्रय होते हैं। यहाँ साधकका लीलाके प्रति राग रहता है। वह लीलादर्शन और लीलामें सखीका सहयोगी भर रहता है। सिद्धदहमें प्रीति और प्राप्ति (संयोग-वियोग) के प्रति राग होता है। आप तुलसीदासकृत "श्रीरामनाम-कलामणि-कोश-मंजूषा" नामक ग्रन्थ कलकत्तेकी नेशनल लाइब्रेरीसे लेकर पढ सकते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रभृति देहोका अतिक्रम करनेके बाद पदेह प्राप्त होने पर भगवान्के नित्य-पार्षद-भावकी प्राप्ति होती है। यह नित्यपार्षददेह सगुण-निर्गुण दोनोंसे अतीत है। इन गौडीय गोस्वामियोंके ग्रन्थोकी अपेक्षा उत्कलीय वैष्णवोंके ग्रन्थोमें इस मार्गका दार्शनिक विस्तार अधिक सुस्पष्ट देखनेको मिल सकता है। महाप्रभु चैतन्यने उत्कलमें जिस निगूढ-धर्मका शिक्षण दिया था और जो अधिकार भेदसे पचसखाओमे आबद्ध रहा, उसकी भी आलोचना आवश्यक रूपसे आप देखें। इनमें तीन ग्रन्थ श्रीभाईजीने मुझे देखनेको दिये थे। उनके नाम हैं प्रेम भक्ति, ब्रह्मगीता, एवं तीसरी पुस्तक थी गुरुभक्तिगीता। ये सभी उत्कृष्टतम तत्वग्रन्थ हैं। और क्या कहूँ ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २८

# सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी परमार्थिक स्थिति

गोरखपुर
तिथि उल्लेख नहीं

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाकी स्थितिके सम्बन्धमे मेरी धारणा पूछी है, इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि किसी भी महापुरुषकी स्थिति तो मात्र स्वसवेद्य ही होती है। उसे या तो सर्वज्ञ परमात्मा ही सही जान सकता है, और या स्वय वह महात्मा ही। दूसरे जो भी आकलन करते हैं, वे तो अपनी श्रद्धाके कॉटेसे मात्र अनुमान ही लगा सकते हैं। यह श्रद्धाका कॉटा मनके चंचल और अस्थिर होनेसे हिलता-डुलता रहता है। कभी मन श्रद्धावेशमें किसीको साक्षात् भगवान् ही समझ लेता है, और फिर अपने मनमें अश्रद्धा होनेसे उस भगवान्‌को पिशाच समझते भी देर नही लगाता। श्रद्धामे सत्य ज्ञान तो होता नहीं है। अत मुझे आपके प्रश्नका उत्तर देनेमे अतिशय सकोच हो रहा है। यह सकोच ही मेरे पत्रोत्तरमे इतने अधिक विलम्बका हेतु हुआ है।

आपने श्रीगोस्वामीजी (चिम्मनलालजी गोस्वामी) को अनेक पत्र दिये एव मुझसे उत्तर लिखानेका आग्रह करते रहे। गोस्वामीजी (चिम्मनलालजी गोस्वामी) मेरे पास आते, परन्तु मैं उन्हें पत्रोत्तर नहीं दे पानेके अन्य कोई सत्य कारण बताता रहा। परन्तु मैंने उन-उन कारणोके सहित वास्तविक पत्रोत्तर नहीं देनेका भीतरी कारण उनके सम्मुख भी उल्लेख नहीं किया। वह वास्तविक कारण यह सकोच ही था। अब आपके पुन. पत्र आनेपर मनसे उस सकोचको छोडकर उत्तर दे रहा हूँ। इस उत्तरको मेरी भावुक धारणा भी आप मान सकते हैं। मेरे पास इसका कोई सत्य प्रमाण तो है नहीं जो मैं अपने वक्तव्यके समर्थनमें आपको दे सकूँ। हाँ, मेरे कथनको शास्त्र-सम्मत करनेकी चेष्टा मैने अवश्य की है।

वस्तुत यह माननेमे तो आपको कहीं कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती कि उपासक भी आत्मा (परमात्मा) है और उपास्य भी आत्मा ही है। परन्तु दोनोंमे

पार्थक्य इतना ही है कि एक माया-बद्ध आत्मा है और दूसरा मायामुक्त आत्मा है। श्रीसेठजीकी यह आध्यात्म-यात्रा कबसे प्रारभ हुई, यह तो मुझे स्पष्ट ज्ञात नहीं है, किन्तु जैसा वे स्वयं अनेकोंको एवं मुझे भी कह चुके हैं कि वे विक्रमादित्य राजाके मंत्री थे और तभीसे सिद्ध-ज्ञानी थे। अतः मेरी इतनी ही धारणा है कि किसी भी पूर्व-जन्ममें उनकी उपासक आत्मा पर भगवान् नारायण के किसी सिद्ध-भक्त-महापुरुषकी कृपा-दृष्टि अवश्य पडी थी। इस कृपादृष्टिके बिना तो कोई भी बद्ध आत्मा परमार्थ-पथका पथिक ही नहीं हो सकता, यह सभी सत्शास्त्रों और महापुरुषोंका एकमत है। अतः सन्त-कृपा अथवा गुरु-कृपा से बिद्ध होनेपर उनमें अन्य बद्ध-जीवोंसे विलक्षणता उदय हुई। यह सत्य था कि वे श्रीसेठजी रूपी बद्ध-आत्मा पर दृष्टिपात करनेवाले सिद्धगुरु-भगवान् अथवा महापुरुष निश्चय ही भगवान् नारायणके ही उपासक थे। अतः श्रीसेठजी (जयदयालजी गोयन्दका) के भी उपास्य भगवान् नारायण ही रहे। क्योंकि जिस सिद्ध महापुरुषकी दृष्टि जिस किसी जीवपर पड़ती है, उसका इष्ट सिद्धपुरुषका **इष्ट ही होता है। सिद्ध सद्गुरुकी दीक्षा अथवा दृष्टिपात्** (दोनो एक ही बात है) **से उपासक आत्मा श्रीसेठजीमें कुछ विलक्षण शक्तिका** संचार हुआ। वह महापुरुष **प्रदत्त शक्ति थी जो उनके कर्म अथवा साधनासे** कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती **थी। अतः सद्गुरुने उपासकके अधिकारानुसार उनमें** नारायणी शक्तिका संचार किया, यह तेज-विशेष आध्यात्मिक-शक्ति थी। नारायणी-शक्ति भगवान् नारायणका स्वाभाविक तेज होती है। इस नारायण-तेजका आकर्षण कर जब कोई महापुरुष अथवा सद्गुरु उसे उपासकमें अनुप्रवेश कराते हैं, तब उनका दीक्षाकार्य सम्पन्न होता है। मृत्युके समय यह शक्ति उपासकको खींचकर उनके इष्टलोक अर्थात् स्वरूपमें ले जाती है।

साधारणतया जिन जीवों पर किसी महापुरुषकी अनुग्रह-दृष्टि नहीं पडती अथवा वे जबतक सद्गुरुमुखी नहीं होते, वे मृत्युके अनन्तर देह-कोषसे निकलकर स्वकर्मानुसार अध, ऊर्ध्व अथवा तिर्यक् गति प्राप्त करते हैं। इसी गतिके क्रममें उनका भोग तत्तद् भुवनोंमें सम्पन्न होता है। तदनन्तर अवशिष्ट कर्म भोगनेके लिये कर्मानुरूप देहका आश्रय उन्हें लेना ही पडता है। इसके लिये मातृगर्भमें उन्हें प्रवेश करना पडता है। इसीका नाम ससार है।

परन्तु सद्गुरुकी दीक्षाके प्रभावसे मृत्युके समय इन महापुरुष अथवा गुरुशक्तिने सेठजीकी तात्कालिक आत्माको खींचकर स्वस्थान नारायणलोकमें प्रवेश करा दिया। इस नारायणी शक्तिका स्वस्थान है वैकुण्ठ। उनके ऊपर इस अन्तिम मृत्युके समय उनकी अपनी कर्मशक्तिका प्रभाव नहीं पडा। क्योंकि

नारायणीशक्ति उनकी कर्मशक्तिसे प्रबल थी। आत्मा चिदणुरूपा है। अतः नारायणी शक्तिके आकर्षणसे देह त्यागकर वह श्रीसेठजीकी आत्मा सीधे वैकुण्ठमें पहुँच गयी।

वहाँ जानेपर अणुरूपी श्रीसेठजीकी आत्माको नारायणी ज्योतिकी प्राप्ति होती है और सेठजीकी तात्कालिक चिदणु आत्मा उससे तादात्म्यलाभ कर लेती है। यह नारायणी ज्योति प्राकृत ज्योति नहीं है। यह भगवान् नारायणकी स्वरूप ज्योति है। इसीका नाम आलोक है। शास्त्रोंमें इसे सालोक्य मुक्ति भी कहते हैं। अर्थात् चिदणुरूपी आत्मा ज्योतिरूपेण वैकुण्ठमें अवस्थित रहती है। यह जानना चाहिये कि प्रत्येक लोकमें स्वाभाविक ही कृपाशक्ति आवर्त्तन क्रिया करती रहती है। जैसे पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है, उसी प्रकार वैकुण्ठके सभी सत्त्व भगवान् नारायणकी परिक्रमा करते हैं। यह परिक्रमा सहजभावसे स्वाभाविक निरन्तर होती रहती है।

जैसे मनुष्यमें जन्मके उपरान्त स्वाभाविक बाल, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धत्व आता ही है, उसी प्रकार इस परिक्रमाका भी निर्दिष्ट क्रम है।

सालोक्यके पश्चात सारूप्य स्वतः प्रकट होता है। आप तो योगका अध्ययन कर चुके हैं। योगमें प्रख्यात है कि ***''ज्योतिरभ्यन्तरे रूपम्''*** अर्थात् ज्योतिका पूर्ण विकास होनेके साथ ही रूपका अविर्भाव होता है इसी प्रकार नारायणके उपासकको नारायण रूपकी प्राप्ति होती है।

अतः श्रीसेठजीकी चिदणु आत्मा नारायणी ज्योतिसे एकात्म लाभ कर नारायण रूप प्राप्त कर लेती है। यह सारूप्य मुक्ति है। परिक्रमाकी समाप्ति अभी नहीं हुई। आगे चलकर रूपके विकासके अनतर शक्तिका विकास होता है। उसका नाम है सार्ष्टि। केवल नारायण रूप प्राप्त करलेनेसे सम्यक् विकास तबतक नहीं माना जाता जबतक भगवान् नारायणकी शक्ति उस चिदणु आत्मामें आयत्त नहीं हो। इसीलिये उपासक जीवको सारूप्य प्राप्त होनेके बाद नारायणी शक्तिकी प्राप्ति होकर सार्ष्टि अवस्था प्राप्त होती है। इसके पश्चात् कृपाशक्तिके प्रभावसे उपासक-उपास्यका व्यवधान हट जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसमे चिदणु आत्माका उपासक-भाव अपने उपास्य नारायणका सामीप्य लाभ करता है। यह सार्ष्टिसे भी उच्च अवस्था है। इस भगवान् नारायणके अखण्ड सामीप्यके समय ही "मैं नारायण ही हूँ" यह भाव अखण्ड रहता है। यहाँ उपास्य उपासक भाव भी हट जाता है और अपने उपास्यसे चिदणु आत्माका व्यवधान- रहित मिलन होता है। यह सार्ष्टिसे भी उच्चावस्था है।

कृपाशक्तिकी क्रियाशीलता अब भी बनी रहती है। और साधकका साध्यसे पूर्ण योग करा देती है। यहाँसे पूर्ण मुक्तावस्थाका प्रारभ होता है। इसका नाम है सायुज्य। यहाँ उपासकका उपास्यके साथ सर्वात्मना युक्तभाव होता है। यहाँ पूर्ण साम्यभाव तो आ ही जाता है, परन्तु अशाशी भाव रहता है। यहाँ उपास्य तो नारायण है ही किन्तु उपासक भी उस समय भगवान् नारायणसे अभिन्न ही है। परन्तु यहाँ भी उपासक अश एवं उपास्य अंशी बना रहता है।

अभी भी कृपाशक्ति क्रियाशील रहती है। यह कृपाशक्ति यदा-कदा इस अश – भावी सिद्ध उपासकका विश्वकल्याणके लिये अवतरण करा देती है।

मेरी दृष्टिमें श्रीसेठजी जयदयालजीकी यही जन्मके पूर्वकी और पश्चात्‌की अवस्था है। वे स्वय भगवान् नहीं हैं, परन्तु अपने साधनसे सर्वोच्च अवस्था प्राप्तकर भगवान्‌के अश होकर जीवमात्रके कल्याणार्थ पुन अवतरित हुए हैं।

ऐसे कृपा-पात्र जीव माताकी कोखमें गर्भवासके समय भी बैकुण्ठवत् आनन्दमें रहते हैं। उन्हे सर्व साधारण जीवोकी तरह जन्म, मृत्यु, जरा एव व्याधिका अनुभव नहीं होता है। वे तो भगवान् नारायणके दिव्य चिन्मय सामीप्यका लाभ निरन्तर पाते हैं और शरीरके घोर रोगग्रस्त होनेपर भी उसकी पीडाका अनुभव सर्वथा नहीं करते। यह विलक्षण जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। ऐसे जीव कुछ भी करते हुए नित्य अकर्त्ता बने रहते हैं।

आपके अतीव आग्रहको दखते हुए मैंने अपनी शास्त्र-सम्मत भावना व्यक्त कर दी है।

**राधा राधा राधा राधा**

**(श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाको चिम्मनलाल गोस्वामीका हरिस्मरण)**

---

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २९

# ब्रह्म कर्म, निष्काम कर्म तथा ज्ञानोत्तर प्रीति

**गोरखपुर**
**तिथि अज्ञात**

श्री हरिकृष्णदासजी !

सादर सस्नेह राधा-राधा। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। आपने ब्रह्मकर्म एव निष्काम कर्मके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डालनेकी बात कही। ब्रह्म-कर्मका अर्थ ही है कि ब्रह्मज्ञानमें पूर्ण प्रतिष्ठित रहते हुए कर्म करना— यह स्थिति कैसी रहती है, दूसरे, निष्काम कर्मयोगीकी क्या स्थिति है ?

इस विषयमें श्रीकृष्ण जैसी प्रेरणा दे रहे ह, वैसा लिख रहा हूँ। विषयोंका तो प्रयोजन ही है — विकारोत्पादन । अब पहली स्थिति यह है कि विषयोंका इन्द्रियोंसे सयोग होते हुए भी इन्द्रियॉ विकारग्रस्त नहीं हों — इस स्थितिका शास्त्रोंमें उल्लेख अवश्य देखनेमें आया था, परन्तु वर्तमानमें ऐसा महात्मा मेरी दृष्टिमें नहीं आया था। श्रीशुकदेवजी महाराजके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें अवश्य ऐसा वर्णन है कि नग्न युवती स्त्रियोंको सम्मुख स्नान करती देखते हुए भी उनकी निर्विकल्प ब्रह्मदृष्टिमें किंचित् हिलन-चलन नहीं होती थी। श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे साधकोके सम्बन्धमें लिखा है **'धीरस्तत्रन मुह्यति।'** इन्द्रियोंमें यदि निरन्तर भगवत्स्मृति अथवा ब्रह्मतेज व्याप्त रहे तो यह संभव है। यद्यपि विषयोंका प्रयोजन ही है विकारोत्पादन परन्तु विकारशील विषयोंके सान्निध्यमें आकर भी इन्द्रियाँ अविकृत रहें, यह तभी संभव है जब मनका सयोग इन्द्रियोंके दृश्यसे पूर्णरूपेण हट जाय और मन विशुद्ध सत्व रूप भगवत्स्मृतिमें डूबा रहे।

एक बार मैं श्रीभाईजी (हनुमान प्रसादजी पोद्दार) के साथ रतनगढसे कहीं बाहर जा रहा था। रास्तेमे कुछ ऐसा संयोग हुआ कि ट्रेनमें मेरे एवं श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) दोनोंके बिस्तर जिनमें ओढने-बिछानेका सारा सामान था, चढाये नहीं जा सके। भीषण सर्दीकी ऋतु थी और रतनगढ-चूरूके आसपास सर्वाधिक सर्दी रहती है। मेरा शरीर सर्दीका कष्ट अधिक ही अनुभव करता है, अत मैं ओढने-बिछानेके सामानके अभावमें काँपने लगा। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) से यह देखा नहीं गया। उन्होंने

तुरन्त बिना कोई संकोच किये मुझे अपना पहननेका ऊनी स्वेटर और पशमीनेका शाल उढा दिया। मैंने इसका विरोध करते हुए कहा – "भाईजी आप वयमें मुझसे बहुत अधिक वृद्ध हैं, आप यह क्या कर रहे हैं ?" इसके उत्तरमें भाईजीने मुझसे कहा – "बाबा ! शरीरकी त्वगिन्द्रियको सर्दीका अनुभव होते हुए भी मनको तनिक भी शीत स्पर्श नहीं करे, मुझमें इतना धैर्य एवं निग्रह है।" और वे मात्र एक धोती बनियानमें शान्त निर्विकार हँसते मुझसे बाते करते रहे। इसके बाद मैंने भी उनसे कहा कि लीजिये ! मैं भी ऐसी चेष्टा करता हूँ, परन्तु मैं जानता था कि जो मनोनिग्रहकी सहज शक्ति उनमें है, वह सहजता मुझमें नहीं है। बलपूर्वक किसी विषयमें सघर्ष करना दूसरी बात है और सहजतापूर्वक सर्वथा स्वभाववत् निवृत्त हो जाना दूसरी बात है।

इससे भी और कठिन एक स्थिति होती है जिसमें इन्द्रियोमें विकार हो जाय और मन उससे प्रभावित नहीं हो। यह बहुत कठिन है, परन्तु असंभव नहीं। ज्ञानी गृहस्थ राजा जनक इसके उदाहरण हैं, वे अपनी पत्नी सुनयनाके साथ गृहस्थोचित रमण करते हुए भी मनको ब्रह्मचिन्तनमें लगाये रहते थे।

श्रीभाईजी (हनुमान प्रसादजी पोद्दार) से इस विषयमें प्रश्न करना तो मर्यादानुकूल नहीं था, परन्तु उनकी भगवत्प्राप्तिके पश्चात् उत्पन्न हुई कन्या इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इन्द्रियोमें विकार हुए बिना गृहस्थ-व्यवहार संभव नहीं और गृहस्थ-व्यवहार करते हुए मनको अविकृत रखे बिना अखण्ड भगवत्स्मृति संभव नहीं। मनमें भगवत्स्मृति-जन्य विशुद्ध सत्वबल पूरा भरा रहने पर ही यह स्थिति संभव है।

मैंने एक बार श्रीसेठजीसे रॉचीमें यह बात पूछी थी। मैंने पूछा – "सेठजी ! जब आप इतनी बडी गीताप्रेसकी संस्था चलाते हैं, और सैकड़ों वैतनिक एवं अवैतनिक कार्यकर्त्ताओंसे व्यवहार करते हैं तो उनके कार्य-व्यवहार से मनमें उद्वेग होता है या नहीं ? और अनुकूल व्यवहारसे हर्ष एवं प्रतिकूलमें उद्वेग यदि होता है तो राग-द्वेष तो फिर बना ही रहा ।"

इसके उत्तरमें श्रीसेठजीने मुझसे कहा – "स्वामीजी ! पहले तो मेरा मन उद्विग्न होता ही नहीं। मैं तो निष्काम-भावसे स्वयं कर्म करता हूँ। कोई सहयोगी यदि अनुचित करता है तो या तो उसे परिवर्त्तित कर देता हूँ, किसी अन्यसे काम लेता हूँ, अथवा उसे समझानेकी चेष्टा करता हूँ। अपनी भगवद्-दृष्टि बनाये रखता हूँ। मेरा कार्यके प्रति भी स्वका राग-द्वेष नहीं है, क्योंकि मैं समझता हूँ कि मैं भी भगवान्‌का हूँ एवं कार्य भी भगवान्‌का है। भगवान् अपने कार्यको अपनी शक्तिसे जैसे कराना चाहें, वैसे करें-करावें। नहीं कराना चाहें,

नहीं करावें। अतः यथाशक्ति तो मैं अपने मनमें कर्मचारी भाव आने ही नहीं देता, परन्तु यदि मन-इन्द्रियोंमें व्यवहारके समय किसी संस्कारवश ऐसा भाव आ भी जाय तो बुद्धिमें मेरे ***"वासुदेवः सर्वम्"*** यह निश्चय इतना सुदृढ़ है कि बुद्धिके इस अमोघ निश्चयके रहनेपर मन-इन्द्रियोका स्खलनं कोई अर्थ नहीं रखता। इस अटल निश्चयके उपरान्त भी, यदि बुद्धि मान लो, किसी मूढावस्था, पागलपन आदिके कारण बदल भी जाय तो मेरे चित्तके विलक्षण सात्विक आनन्द भावमें कहीं कोई खरौंच नहीं लगेगी। और मान लो, भीषण पीड़ाके समय यह आनन्दवृत्ति भी नहीं रहे, तो भी निश्चय मानिये, मैं उस दुःख-पीडाका द्रष्टा हूँ– यह भाव तो निर्विकल्प रहेगा ही। मेरे द्रष्टाभावमें आनन्द और दुःख-पीडा – दोनोंमें सम भाव है। अतः उसे आप निर्विकल्प पावेगे। यही ब्रह्मकर्म है। शरीर कर्म किये बिना तो रह ही नहीं सकता। परन्तु इन्द्रियोके द्वारा, मनके द्वारा, बुद्धिके द्वारा, चित्तके द्वारा और द्रष्टा साक्षीरूपमें भी ब्रह्म किंवा भगवान् नारायणका संस्पर्श सुदृढ़ बना रहे। इन्द्रियाँ भगवदर्थ कर्म करें, यह इन्द्रियोंका भगवान्से संयोग है। मन भगवान्के मन-चिन्तनमें निरत रहे, यह मनका ब्रह्मकर्म है, यही भगवान्में उसका लीन होना है। बुद्धिको अटल-अखण्ड निश्चय भगवान् रहें, यह बुद्धिका ब्रह्मकर्म है। चित्त भगवदानन्दमें मस्त रहे, यह चित्तकी ब्रह्मचेतना है। और अहंकार साक्षी द्रष्टा बना पूर्ण समभाव पकडे रहे, यह अहंकारका ब्रह्मकर्म है।"

हरिकृष्णदासजी ! श्रीसेठजीने ब्रह्मकर्मकी व्याख्या करते यह अपनी स्थिति बतायी थी। परन्तु मेरी भावनानुसार श्रीसेठजी एवं श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की इससे भी ऊँची स्थिति है। ब्रह्मकर्मकी दो दिशायें हैं। एक दिशा है – भवसागरके तूफानसे अपनेको ब्रह्म अथवा भगवान्से जोड़े रखकर अस्पृश्य रखना। दूसरे, अपने भगवद्भजनके प्रभावसे इस भवसागरके तूफानको ही रोक देना। उदाहरण स्वरूप इसे और स्पष्ट समझ लें। जैसे घोर-से-घोर अतिशय कष्टदायी बीमारी हो जाय, अब उसमें भगवान्की स्मृतिको अखण्ड रखते हुए, भगवान्की सन्निधिमें उनकी कृपासे उसे सह जाना यह पहली बात है। दूसरी बात है – भगवान्की कृपासे उस बीमारीको चमत्कारकी तरह स्वरूपतः मिटा देना, यह दूसरी बात है।

दोनों स्थितियोंमें ही अविचल भगवत्कृपाका आश्रय और उनका अखण्ड बल रहेगा। यह पहली बात भक्त साधककी है और दूसरी बात योगी साधक की है।

परन्तु वस्तुतः श्रीसेठजीकी एवं श्रीभाईजीकी स्थिति मेरे मतानुसार

इससे भी ऊँची है। विशुद्ध ब्रह्मज्ञानी तूफानको तूफान समझता ही नहीं, देखता ही नही। वह तो तूफानको ब्रह्म तथा अपना सच्चिदानन्द स्वरूप ही देखता है। ठीक इसी तरह ज्ञानोत्तर प्रीतिका उपासक इस भीषणसे भीषण तूफानको साक्षात् अपने इष्टका स्वरूप ही मानता है। श्रीभाईजीकी अनुभूति उनकी इस कवितामें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है –

*''देख दुःखका वेश धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ !*
*जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ।*
*नाथ छिपालो तुम मुख अपना चाहे अति अँधियारेमें ।*
*मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें ।।*

जहाँ श्रीसेठजी सभी प्रतिकूलताओंको अपना स्वरूप ही मानते हुए पूर्ण निष्कामी बने रहेंगे, वहीं श्रीभाईजी ऐसी परिस्थितियोमें भगवान्का परम सुहृद सस्पर्श देखते हुए आनन्दसे झूमेगे, अति उन्मादी भाव-भरा नृत्य करेंगे।

मेरे मतसे यह स्थिति सर्वोपरि है। ऐसे ही साधकको श्रीमद्भगवद्गीतामें *''वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः''* कहा गया है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## (द्वितीय खण्ड)

(वार्त्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार एवं लेख)

## अध्याय पाँचवाँ

### (व्रजभावके रसमय पत्र)

पत्र-प्रेषिति

१. श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला
२. श्रीराधाकृष्णजी धानुका
३. श्रीरामलालजी चूड़ीवाला
४. श्रीउमादत्तजी माटोलिया
५. श्रीशिवभगवानजी फोगला

विषय सूची

# सार-संग्रह

हमारे मनकी खोज नश्वर शरीर-सुख है – जहाँ इस व्रजराज्यका एक तृण, वीरुध, और एक रजकणभी अपने अकृत्रिम स्नेहसे नीलमणि नन्दतनयको अपना सर्वस्वदान कर सुखी करनेके लिये पल-पल व्याकुल है। इसीलिये यहाँके रजकी लघुत्तम कणिका भी शिव-सनकादि-वन्द्यसौभाग्यकी भाजन है।

x x x x x

धन्य हैं इस गिरि-परिसरके चिन्मय प्रस्तर खण्ड, जिनकी दृष्टिके सम्मुख इस कदम्बवृक्षके नीचे प्रतिदिवस व्यवधानरहित वह अनिर्वचनीय नील-किशोर खड़ा होता है। उस समय इन समग्र चिन्मय प्रस्तर खण्डोंके अव्यक्त नेत्र भ्रमररूपमें परिणत हो जाते हैं, और इस परम अनिर्वचनीय गन्धशाली नीलाम्बुजका प्रीति-मकरन्द पान करने, इसकी ओर परम वेगसे धावित हो उठते हैं। एक-दो नहीं, असंख्य भ्रमर इस गिरिराजके प्रत्येक प्रस्तर-प्रस्तरसे व्यक्त हो, अतिशय आतुर हुए 'कृष्ण' नाम झंकार करने लगते हैं। उस समय इस नीलाम्बुज श्याम तनके रोम-रोमसे विलक्षण गन्ध-धारा प्रवाहित हो उठती है और ये भ्रमर उस गन्धमें अन्धे-से हुए मतवाले अपने प्राणरमणके पावन नामसे समग्र वनको गुञ्जारित कर देते हैं।

x x x x x

अहो ! विश्वमें जीवत्व धारण करनेवालों ! तुम सभी इस लीला-नर्त्तन-कुशल परम सुन्दर, नागर, गोपराज नन्दरायके लालको स्मरण करो न ! इसके विशाल हेतुरहित कृपावर्षी नेत्रोंके चिन्तन-मात्रसे तुम्हारे सभी दुःख सदाके लिये समाप्त हो जावेंगे।

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - तीस (३०)

# "सुमिरो नटनागरवर" पदकी लीला-भावना

*पत्र-प्रेषक :*

## प. पू स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*पत्र-प्रेषिति :*

## श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला, कलकत्ता

*प्रेषण-स्थल :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**

*प्राप्ति-सूत्र :*
**श्रीशिवकिसनजी डागा**
**वृन्दावनवासीका पत्र-संग्रह**

**दिनांक :**
**२९-५-३९ ई. ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा, १९९६ वि.**

श्रीयुत् मोहनलालजी झुनझुनूवाला,

सादर सप्रेम यथायोग्य। अभी-अभी आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। भाई ! काल विद्युत्की भाँति हम सभीको देखते-देखते छोडकर भाग रहा है। गिनतीके श्वास एक-एक कर कम होते जा रहे है, अत युगल सरकारको हृदयमे बसाइये। जीवनका यही परम लाभ है। अब समय ही कहाँ है कि किसी अन्य प्रपञ्चमे तनिक भी मन लगावें ?

देखिये ! मेरी यह बात अकाट्य मान लीजिये कि इस ससारमे रचे-पचे किसी भी प्राणीको, कभी भी सुख-शान्ति मिल ही नहीं सकती। वह अशान्ति एवं अभावमे सदैव जलता ही रहेगा। जबतक प्रिया-प्रियतमके युगलचरणोंमे चित्त नहीं रमेगा, आपकी तो बात ही क्या, शिव-ब्रह्मादिकको भी शान्ति नहीं मिल सकती। अत ऐसा मन बनाइये कि प्रिया-प्रियतमसे मिलनकी नित्य नयी-नयी उमगोंके मनोरथोमे ही वह आठों प्रहर उलझा रहे। कभी वह उनके चरण-कमलोंको अपनी अति सतृष्ण एव आकुल दृष्टिसे निहारता रहे, कभी उनकी सुन्दरतामे अपनेको न्यौछावर करता रहे। कभी उनमे लगी अलक्तक और मेहदीकी चित्रकारीको एकटक निहारे, कभी चरण-चिह्नोके भावोकी चित्रकारीको एकटक निरखे, कभी चरण-चिह्नोके भावोंमें डूब जाय। कभी सयोगजन्य आनन्दमे नृत्य करे। कभी वशीध्वनिके श्रवणमें सबकुछ विस्मृत कर

दे। कभी वनमाला गूँथनेमे निरत रहे, कभी उनको अति सुवासित बीड़ा समर्पित करे। कभी विरह-वेदनामें अपने सब दुष्कृतोंको जला दे।

परन्तु सावधानी रहे, यह सेवा, आनन्द-नृत्य सभी हों अति एकान्तमें, मात्र श्रीकृष्णके सम्मुख ही। इस मायावी ससारको हमारे एव हमारे प्रियतमके मध्य किसी सम्बन्धकी गंध ही नहीं लगने पावे। हमारे नेत्रोंमें निरन्तर प्रियतमके पथ-जोहनेकी आकुलता बनी रहे, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु झरते रहें, परन्तु संसारको यह सब अज्ञात ही रहे। भीतर-ही-भीतर हमारे चित्तमें नेह-सुधाका सागर सतत हिलोरें लेता रहे।

मोहनलालजी ! कलकत्तेका व्यापार, दुकान, उसकी सब चिन्ता सर्वथा ही मिथ्या स्वप्नवत् है। ये जैसे होनी होंगी, होती रहेगी। इन सभीको भगवान् श्रीकृष्णको सौंप दीजिये। आप तो सतत सर्वकालमें प्राण–प्रियतमकी ही चिन्ता करिये। ससारमें जो होना है, वह सब अमोघ है। आपकी चिन्ता करनेसे अथवा अहकारगत प्रयत्न करनेसे कुछ भी परिवर्तन संभव नहीं है। वे सर्वम्भर प्रभु हमें जहाँ, जिस रूपमें – सम्पन्न, विपन्न, यशस्वी, अपयशस्वी, सम्मानित, असम्मानित, सुखी, दुखी रखना चाहेंगे, रखेंगे। हम तो मात्र अपने मनकी गति बदल दें। इस मनने न-जाने कहाँ-कहाँ, कितनी जगह ममत्व किया हुआ है। इस ममत्वको सब स्थानोंसे हटाकर भगवान्के चरणोंमें जोड़ना है। इस मानवजन्ममें अपना मात्र, इतना ही कर्त्तव्य है।

*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ।।*
*सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ।।*

भाईजीको आपका पत्र मिल गया है। वे अत्यधिक व्यस्त हैं। उन्होंने वह आपका पत्र मुझे भेज दिया था। उसमे आपने उनसे आग्रह किया था कि वे मुझसे कोई भगवान्की लीला नित्य-चिन्तन करनेके लिये लिखवा दें, सो उनकी अनुमति मानकर एक परम पवित्र लीला लिख दे रहा हूँ। यदि इसका नित्य चिन्तन करेंगे, तो निश्चय ही आपपर प्रभुकी कृपा-वर्षा होगी।

"सायंकाल होने जा रहा है। सूर्य अस्ताचलकी ओर तीव्रगतिसे पलायन कर रहा है। गिरिराज-परिसरमें चतुर्दिक् इतस्ततः वन-चारणके लिये आयी गायें बिखरी हैं। वे दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रहके यूथोंमें सुदूर गिरि-परिसरमें तृण-चर्वणमें निरत हैं। प्रत्येक गौको यही अनुभव हो रहा है कि मानो उसका प्राणपति गोपाल, उसके पार्श्वमें ही खडा मन्द-मन्द मुसका रहा है। गौओंको मात्र अपने जीवन-सर्वस्वकी जीवन्त उपस्थिति ही अपने पार्श्वमे अनुभूत नहीं हो रही है, अपितु उन्हे यदा-कदा उनकी ग्रीवामें, पृष्ठ-देश (पीठ) में उसका प्राणाकर्षक, मनोहारी संस्पर्श भी अनुभूत हो रहा है।

सभी गायोंकी विलक्षण योग-स्थिति है। उन्हे नेत्रोंसे अपने प्राणधन नन्दतनूजका मन्मथ-मन्मथ रूप-सौन्दर्य, रोम-रोममें उसका परम मादक सस्पर्श, नासिकामें उसी नन्दतनयकी सुर-मुनि-दुर्लभ अग-गन्ध, साथ ही कानोंमें उस अपने प्राणपतिकी शब्दावली भी सुनायी पडती है – 'अरी पिशंगि ! वनकी सुकोमल तृणराशि सुस्वादु तथा सुमिष्ट है न ? अरी, तेरा दुग्ध तो आज मुझे ही पीना है, अतः कटु-तृणोंका ग्रास मत लेना री ! अन्यथा, तो मेरे दूधका स्वाद ही बिगड जायगा।"

और यह अनुभूति मात्र एकाकी पिशगिकी ही नहीं है, यह मणिकरस्तनि तो देखो, कैसी विह्वल है ? इसकी रोमावली स्नेह-सस्पर्शजन्य रोमाञ्चसे कैसी ऊर्ध्व और कठोर हो रही है ? इसे बार-बार कम्प हो रहा है। आओ ! इस महाभागाके अन्त करणमें झॉककर देखें। अरे ! अरे !! नन्दतनय नीलाम्बुज-लोचन तो प्यारके पूर्ण आवेशमें इसकी ग्रीवामें ही झूल गया है ! महा-महासौभाग्यशालिनी इस मणिकरस्तनिकी ग्रीवाका हार बना, यह उसका प्राणनिकेत अपने नेत्रोंकी दीर्घताकी सतुलना इस गौके नेत्रोंसे कर रहा है और इस सतुलनाकी भी कैसी मादक प्रीतिभरी प्रक्रिया है ! गौके आननसे इस चचल-मतिका वदन-सरोज सटा है। इसकी सुरभित श्वास-प्रश्वास मणिकरस्तनिके प्राणोंसे एकात्म हो रही है। इसके मृणाल-नाल-से बाहु-युगल इस महाभागाकी ग्रीवाको आलिगन-पाशमें सुबद्ध किये हैं। और यह अपनी मनोहारी चितवनसे गौकी ओर निहारता हुआ, गौके नेत्रोंमें अपने नेत्र संस्पर्शित कराता, उसके स्वयके नेत्रोंकी सुदीर्घता गौके नेत्रोसे अधिक है – यह सुप्रमाणित करनेको परम लालायित हो रहा है।

और लो, इस कजरीकी ओर देखो ! इसके हम्बा-रवको श्रवण करनेवाला यही समझेगा, मानो यह अकारण ही चिल्ला रही है। सभी गोपालकोका अनुमान है कि यह कजरी अपने सद्योजात वत्स-शिशुकी स्मृतिमें विह्वल, विकल है। अनेक गोप समझ रहे हैं, इसे शीघ्र गोष्ठ पहुँचनेकी त्वरा है। परन्तु, इस गौके आतुर क्रन्दनका रहस्य सत्यांशमें किसीको भी ज्ञात नहीं है।

हॉ, इस कजरीका व्यवधानरहित-रूपसे प्रतिदिवस स्तन्यपान करनेवाला, यह नीलमणि अवश्यमेव इसके विलापके कारणसे परिचित है। वह ठीक जान रहा है कि कजरी उसके अदर्शनजन्य संतापसे व्याकुल हो रही है। वह सर्वान्तर्यामी, उसकी विरह-जन्य प्रेम-पुकारको अति मनोयोगपूर्वक सुन भी रहा है, परन्तु किसीकी ऐसी विरह-व्यथा न जाने क्यों, इसको बहुत ही सुखद लगती है। यह इस तडपको बढाते चले जानेकी कलाका परम मर्मज्ञ है। अत इस तडपको चरम बिन्दुतक पहुँचानेकी धुनमें नयन नचाता मुसका रहा है।

कजरी पुकार लगाये जा रही है – "हे मेरे प्राणसुन्दर ! हे मेरे अप्रतिम

सौन्दर्य-माधुर्य सिन्धु !! हे मेरे जीवन सर्वस्व !!! हे मेरे प्राणोंके प्राण !!!! मेरे निरुपम प्रेम-पयोधि, मेरे प्राणरमण !!!!! सहसा अकारण ही तुम मेरे दृगोसे दूर, ओझल क्यों हो गये ? आजतक तो कभी तुम एक पलके लिये भी मेरे दृगोंसे दूर हुए नहीं ! फिर, आज अकारण इस विरहकी दारुण ज्वालासे मेरे प्राणोका दहन तुम क्यों कर रहे हो ? अभी कुछ पल पहले तक तो तुम मेरे दृष्टि-पथमे ही अपनी सख्य-क्रीडामे निरत थे, फिर अकारण ही आँखमिचौनी करनेकी तुम्हे क्या सूझी ? हाय ! मुझ अबलापर यह वज्रपात क्यो कर रहे हो, स्वामी !''

देखो ! देखो !! इस आन्तरिक भीषण विषादसे इसके दोनों नेत्र अश्रु-प्रवाह करते रुकते ही नहीं, इसका आकुल हम्बा-रव विराम पाता ही नहीं। और इस सुपुष्ट-काया कामधेनुको तो मानो प्रेमोन्माद ही हो उठा है। यह तो उन्मत्तवत् नृत्य किये जा रही है। आओ ! इसके नयनोंमें झाँककर देखे, इसके प्राणरमण तो इसके नेत्रोके सम्मुख ललितत्रिभगरूपमें खड़े हो गये हैं। अहा ! उनके मुखमण्डलसे कैसा लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता एव कान्तिकी ऊर्मियाँ उच्छलित हो रही है ? यह दर्शन ही तो इस गौके जीवनका सर्वाधिक सरस क्षण है अत यह आनदप्रमत्त हुई नृत्य करे, इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

आओ, मोहनलालजी ! अनन्त बार प्रणाम करते जावें – गोवर्धन-गिरिके इस परिसरको, जहाँकी भूमिका अणु-अणु, लताएँ, वृक्षोके पत्ते-पत्ते अपने प्राणप्यारे श्यामसुन्दरपर सदा अपना जीवन न्यौछावर किये रहते हैं। यहाँके पुष्पोका पराग संचित करनेवाले असख्य भ्रमर सचमुच ही धन्य-जीवन हैं, क्योंकि उन्हे प्रत्येक पुष्पमें अपने प्राण-प्यारे श्यामसुन्दरके ही दर्शन होते रहते है। उन्हे प्रत्येक पुष्पकी सुवास ही अपने प्राणप्रियतम नीलाम्बुज-सुन्दरकी अंग गंध ही अनुभव होती है। यहाँके शुक-सारिका, कपोत-कोकिल, मयूर-चकोरादि असख्य पक्षीगण, निरन्तर त्रिभुवन-कमनीय श्यामसुन्दरके अहर्निशि गुण-गान करते रहनेमें ही अपनेको सफल, सार्थक, जीवन समझ रहे हैं।

आओ, कोटिश प्रणाम करे, यहाँके सारस, हस, कारण्डव, बकुल, चक्रवाकादि अनेकानेक जलचरोको, जिन्हे उन्हे आधार देनेवाला जल, 'जल' ही समझमें नहीं आता, इनको तो सदैव यही भ्रम रहता है कि उनके प्रियतम श्यामसुन्दर ही नीर बने उनके प्राणोके आधार हैं। इन्हे इस जलमे कोई कीट भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जिन्हे ये भक्षण कर पावे, इन्हें तो जलमें सर्वत्र उनके नील-पयोधि प्रियतम ही सर्वजीवोके रूपमे विलसित दिखते है अत ये नेत्र निमीलित किये, अपने प्राणनिकेतकी शोभा देखते रहते हैं और इस शोभा दर्शनसे अपने-आप ही उनकी क्षुधा तृप्त हो जाती है।

आओ, अनन्त प्रणाम करे – इन हरिण, नीलगायादि वनचरोको, जो समवेत स्वरमें निज प्राणोकी एक ही आकांक्षा व्यक्त कर रहे हैं – "प्राणवल्लभ नन्दतनय ! इस त्रिभुवनमें तुम्हारे अतिरिक्त हमारा और कौन है? हमे अपने शीतल शंतम चरणोंसे दूर मत फेंक देना। हम अनाश्रितोंके मात्र आप ही आश्रय हैं। एक क्षण भी हमारे हृदय-पथसे आपकी मनोहर छबि धूमिल होती है, तो बस, हमारे प्राण शरीर त्यागकर उड चलनेको आतुर हो उठते हैं। आप ही हमारे सभीके मात्र भूषण हो, जिससे हम भी इस वनमे अपनेको सार्थक-जीवन अनुभव कर रहे हैं।"

भाई ! इस रसभूमिका तो एक तृण भी परम वन्दनीय है, जो प्राणप्रियतम नीलमणिको अपने अकृत्रिम स्नेहदानका आधार बना चुका है। यहाँ एक अति लघु गुल्म भी शिव-सनकादि-वन्द्यसौभाग्यका भाजन है, क्योकि एक दिवस उसके जीवनमे भी ऐसा आ चुका है, जब नीलमणि नन्दतनयने इस अकिचन गुल्मको भी अपने अकृत्रिम स्नेह-सौभाग्यका दान किया है। धन्य, धन्य है यह वीरुध, जो निश्चय ही नन्दतनयको एक-न-एक दिवस निरख चुका है।

धन्य है इस गिरि-परिसरके चिन्मय प्रस्तर-खण्ड, जिनके दृष्टि-पथमे त्रिगुणात्मक प्रकृतिका परम मनोहारी अलकार-यह कदम्बवृक्ष सदैव सुशोभित रहता है। इसी कदम्ब-वृक्षके नीचे व्यवधानरहित प्रतिदिवस वह अनिर्वचनीय किशोर खडा होता है। उस समय, इन समग्र चिन्मय प्रस्तर-खण्डोके अव्यक्त नेत्र भ्रमर रूपमे परिणत हो जाते हैं और इस परम अनिर्वचनीय गन्धशाली नीलाम्बुजका प्रीति मकरन्द पान करने इसकी ओर परम वेगसे धावित हो उठते हैं। एक-दो ही नहीं, असंख्य भ्रमर इस गिरिराजके प्रस्तर-प्रस्तरसे व्यक्त हो, अतिशय आतुर हुए 'कृष्ण' नाम झकार करने लगते हैं। ये अलिगण अपने प्राणरमणके पावन नामसे समग्र वनस्थलको गुजार देते हैं। उस समय इस नीलाम्बुजवत् श्यामतनके रोम-रोमसे विलक्षण गन्ध-धारा प्रवाहित हो उठती है और ये भ्रमर उस गन्धमे अन्धे-से हुए मतवाले रहते हैं।

और देखें, इस वन-खण्डकी इस कदम्ब-खण्डीमे भिन्न-भिन्न वृक्षोमे सैकडों शुक और सारिकाये निर्निमेष दृष्टिसे किसका ध्यान लगाकर समासीन हैं। ये सभी कितना प्यारा उद्‌बोधन कर रही हैं -

"अहो ! विश्वमें जीवत्त्वधारण करनेवालो ! तुम सभी इस लीला-नर्त्तन कुशल, परम सुन्दर, नागर, गोपराज नन्दरायके लालको स्मरण करो न ! इसके विशाल हेतुरहित कृपावर्षी नेत्रोके चिन्तन-मात्रसे तुम्हारे सभी दुःख सदाके लिये समाप्त हो जावेंगे।"

*सुमिरो नटनागरवर सुन्दर गोपाल लाल ।*
*सब दुख मिट जैहैं, वे चिन्तत लोचन विशाल ।*

"अरे भाई ! इसकी कृष्ण अलकावलि इतनी सुन्दर है कि उसकी झलक भी कहीं तुम्हें प्राप्त हो गयी, तो तुम्हारी पलकें उस सुन्दरताके आस्वादनमे अपनी गति (गिरना-उठना) ही भूल जावेंगी, फिर इसके भौंहोंका विलास, इसकी मन्द मुसकान और इसकी दंत-पंक्तिके मध्यके छिद्र इतने रसमय हैं कि तुम इन्हें देखकर इसके विशुद्ध रसमें आप्यायित ही हो उठोगे।"

*अलकनकी झलकन लखि पलकन गति भूल जात ।*
*भ्रूविलास मन्द हास रदन-छदन अति रसाल ।।*

"अरे भाई ! कानोमे जो यह रत्नजटित कुण्डल धारण किये रहता है, उसकी छबि इसके कपोलोंको मुकुटकी तरह जगमगाती रहती है। यह शोभा रविकी शोभाको लज्जित कर देनेवाली है औरयह अपने मस्तकपर मयूर-पिच्छके गुच्छोसे जो अवतंस धारण किये है, उसकी शोभा एवं साथ-ही-साथ जो चन्द्रमाको हेय बनानेवाला विमल कुंकुमका बेंदा यह अपने भालपर लगाता है, वह सब अवर्णनीय है।"

*निन्दत रवि कुण्डल-छवि, गण्ड-मुकुर-झलमलात*
*पिच्छ-गुच्छ कृतऽवतंस, इन्दु बिमल बिन्दु भाल ।*

"इसके अंगो-अंगोमें माधुर्यकी तरगें तरगायमान होती रहती हैं, इस शोभाको देखकर, बिचारा अनंग हारकर मुख छुपा लेता है, इसकी लटकीली चालको देखकर तो मत्त गयन्दका भी मद विमद हो जाता है।"

*अंग-अंग जित अनंग माधुरी तरंग रंग*
*विमद-मद-गयन्द होत देखत लटकीली चाल ।*

"अहा ! जब यह पीताम्बर पहने, सुन्दर-हीरोंका श्रेष्ठ श्रृंगार धारण करके मुसकाता है, इसके उरस्थलमे उस समय नवीन तुलसीसे विरचित एवं बीच-बीचमे सुन्दर, सुगन्धित सुमनोंसे खचित लम्बी वनमाला ऐसी लगती है, जिसे मात्र अनुभव ही किया जा सकता है।"

*हसन-लसन-पीतवसन, चारु-हार-वर-सिंगार*
*तुलसी-रचित कुसुम-खचित पीन उर नवीन माल।।*

"अरे ! यह ब्रजराजका कुल-दीपक, वृन्दावनका श्रेष्ठ महाराजा, श्रीवृषभानुजीका जामाता होनेसे परम सम्मान्य दीन-जनोपर सहज ही कृपा-वर्षा करनेवाला है।"

*ब्रज-नरेश-वंश-दीप श्रीवृन्दावन-वर महीप*
*श्रीवृषभानु-मानपात्र सहज दीन-जन दयाल ।*

"भाई, यह वृन्दावन-भूपति सौन्दर्यकी अतुल राशि है, अनन्त-गुणोका निधान है, श्रीगदाधरजी कहते हैं कि उन्होंने ऐसा जानकर ही उसे अपना प्रभु (स्वामी) माना है, यह युवतीजनोका परम रसिक है एव उनके तथा मुनियों-दोनोंके मानसका राजहंस है।"

*रसिक भूप रूपरास गुणनिधान जानराय ।*
*गदाधर प्रभु युवती-जन मुनिमन-मानस-मराल ।।*

अहा ! सारिकाये कैसी विलक्षण निसर्गातीत भावदशामें विह्वल हुई, यह गीत गायन कर रही हैं ! असख्य पक्षी भाव-विभोर हुए उनका सुमधुर गायन श्रवण कर रहे है ! कैसी उद्दाम प्रीति-लहरियाँ इन सभी पक्षीगणोंके चित्ताकाश में हिलोरें ले रही हैं !

अरे भाई ! इन्हे मात्र साधारण चचल पक्षी ही मत समझ बैठना, ये सभी तो अपना समग्र अस्तित्व ही अपने प्राणधन, जीवन-सर्वस्व श्यामसुन्दरपर न्योछावर कर देनेवाले महात्यागी प्रेमी-भक्त है, जो अपने प्राणपतिकी लीलाके पक्षी-पात्र बने हैं। प्रियतम श्रीकृष्णकी चित्सत्ता ही तो इनकी चेतनता है और अपने प्रियतमका संकल्प-विकल्प ही इनका सकल्प-विकल्पात्मक मन है, या यों कहें, ये पक्षी है ही नहीं, अपरिसीम गभीर आनन्दोदधिकी उच्छलित उत्ताल तरगें मात्र हैं। ये प्रियतम-प्रेमकी उत्ताल तरगे ही लीला-महाशक्तिद्वारा यंत्रचालित इतस्ततः फुदक रही हैं।

ये पक्षी देखो ! कैसे चहकते हैं, अपने प्राणप्यारेके यशोगानमें इनकी जिह्वा थकती ही नहीं, ये कभी काव्यपाठ करते हैं और कभी कलह भी करते हैं, तो प्रिया-प्रियतमके अनन्त नाम ही इनकी चर-चराहटमें ध्वनित होते रहते हैं। ये निमीलित-नेत्र शयन भी करते हैं, तब भी इनके हृदय और नेत्रोमें अपने प्राणवल्लभकी छबि भरी रहती है। प्रिया-प्रियतमकी सचल प्रतिमाये बने, ये शुक, ये सारिकाये, कपोत, कोकिल एव मयूर अपने-अपने प्रेमास्पदके सुखके उपकरण बने यत्रचालितसे यथायोग्य कर्म कर रहे हैं।

मोहनलालजी ! पू भाईजीके संकेतानुसार आपको व्रजरसके कुछ अनमोल भाव लिख दिये हैं। परन्तु सच्चा लाभ तो तभी सभव है, जब आप और हम अपने जीवनमे इन भावोंको भरें। हमारे जीवनकी कृतकृत्यता इसीमें है कि हम व्रजभूमिमें तृणवत्, पाहनवत् ही अपना मन बना लें। परन्तु परम अभागे हम अभी तो जड़ धन, इन्द्रिय-सुखों, और मान-सम्मानके पीछे भूत हो रहे हैं। न-जाने हमारे जीवनका यह दुर्भाग्य कब मिटेगा ?

**राधा राधा राधा राधा**

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - इकतीस (३१)

# प्रीतम-छबि नयनन बसी पर-छबि कहाँ समाय
# भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिरि जाय

*पत्र-प्रेषक :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

**(प. पू. राधाबाबा)**

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला, वृन्दावन**

**लेखन स्थल :**
**भाईजी श्री हनुमानप्रसादजीकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकिसनजी डागाका
पत्र-संग्रह

**दिनांक :**
**निश्चित तिथि अप्राप्त, संभावित सं. १९९७ वि.**

श्रीयुत मोहनलालजी !

सस्नेह यथायोग्य ! आपका पत्र मिल गया है। इधर शरीर रुग्ण है, फिर भी आपका प्रेम देखकर पत्र लिख रहा हूँ। आपकी भेजी हुई महावाणीकी पुस्तक एव व्रज-निकुञ्जकी रज मिल गयी है। आपने व्रज-निकुञ्जकी रजके माहात्म्यके सम्बन्धमें प्रकाश डालनेकी बात कही। मेरी बुद्धिमें प्रेरित कर श्रीकृष्ण जो कहला रहे हैं, वह लिख दे रहा हूँ।

इस रजका माहात्म्य इसीलिये है, क्योंकि यह उन महाभागा गोपियोंकी चरण-धूलि है, जिनके नेत्रोंमें, मनमें, प्राणोंमें मात्र प्रिया-प्रियतम ही आठोंयाम बसे रहते थे। वे ऐसी प्रेम-मतवाली थीं कि उनका रोम-रोम प्रेमोल्लासमें मत्त रहता था।

कैसा विलक्षण वह भावदेश था, जो आजके पाँच हजार वर्ष पूर्व इसी व्रजभूमिमें अवतरण हुआ था । इस अवतरणके समय इस व्रजका आकाश, मात्र तत्सुखी प्रेम था। उस समय इस व्रजके सूर्य, चन्द्र, मरुद्गण, पृथ्वी, आकाश, जल एवं सभी दिशायें भी प्रेम-ही-प्रेम, तत्सुखिया प्रीति-ही-प्रीतिसे पूर्ण

लबालब भरे थे।

इस प्रदेशकी उद्भिज, अण्डज, जरायुज, स्वेदज-सभी सृष्टि अपने प्राण-सार-सर्वस्व नीलसुन्दरपर अपना सर्वस्व न्यौछावर किये थी। वह सब सृष्टि एक ही भावसे भावित थी -

*न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।*
*वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ।।*
*कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।*
*कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्नावोढुं गदाभृतः ।।*

**(श्रीमद्भा. १०।८३।४१-४२)**

"हमें पृथ्वीके साम्राज्य, स्वर्गके राज्य अथवा इन दोनो पदोंके भोग, अणिमा, महिमादि सिद्धियोंका ऐश्वर्य, ब्रह्माका पद, मोक्ष, अथवा वैकुण्ठधाम किसीकी भी इच्छा नहीं है। हमारी सभीकी चाह यही है कि भगवती श्रीराधा (कमला) के कुच-कुकुमकी सुगन्धसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णकी चरण-धूलि हमारे मस्तकको सदैव भूषित करती रहे।"

वह सृष्टि ही ऐसी प्यार भरी थी कि वहाँकी लताऍं पत्र-पुष्प सभी आकुल-कण्ठसे सदैव एक ही विनय करते रहते थे :—

*व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।*
*भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारुदर्शय ।।*
*प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।*
*चरणपंकजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ।।*

"हे सखे ! हम आपकी किंकरी हैं, कृपा करके हमें स्वीकार कीजिये, अपना सुन्दर मुख-कमल हमें दिखाइये। हे रमण ! हे आर्तिनाशन् ! तुम्हारे चरणारविन्द प्रणत-जनोकी कामना पूरी करनेवाले हैं, लक्ष्मीजीके द्वारा सदा सेवित हैं, पृथ्वीके आभूषण हैं, विरह-विपत्तिकालमें ध्यान करनेसे कल्याण (मिलनानन्द) प्रदान करनेवाले हैं। हे प्रियतम ! उन परम कल्याण-निकेतन, सुशीतल चरणोंको हमारे तप्त हृदयपर स्थापित कीजिये।"

मोहनलालजी ! आजके वृन्दावनसे उस वृन्दावनकी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। वह विशुद्ध-सत्वका सार, चिन्मय वृन्दाकानन था, जो आजके व्रज-प्रदेशमें आजसे पॉंच हजार वर्ष पूर्व अवतरित हुआ था। इसीलिये आजतक इस प्रदेशकी व्रज-रजका माहात्म्य है। इस व्रज-रजमें, उस चिन्मय वृन्दावनमें उस समय निवास करनेवाली प्रियतम-प्रेम-निमग्ना राधारानी और गोपियोंकी चरण-धूलिका संस्पर्श अवश्य-अवश्य हुआ है। अविनाशी प्रेमके वे परमाणु

अबतक इस व्रज-रजमें संचित हैं, यही इस व्रज-रजका माहात्म्य है। यह व्रज-रज चिन्मय प्रीतिकी बीजस्वरूपा है, इसीलिये यह सर्वमहापुरुष-वन्दित है।

प्रेमका तो स्वभाव ही है, वह एकाकी वन-स्थलोंमें, वन-वृक्षोंके तले, लताओं, कुंज-निकुंजोकी छायामे ही पुष्पित-पल्लवित होता है, अत: प्रेमीजनोंको कैलास तथा वैकुण्ठका वैभव परम तुच्छ लगता है। तो, इन लता-पताओंसे घिरे वन कुंजोमें ही प्रियतम श्यामसुन्दर राधारानीसे मिलने नित्य ही आते हैं। वे गाये चराते हुए सखाओंके संग क्रीडाएँ करते हैं और तब छायारूपमें तो सखाओंमें ही रहते हैं और स्वयं राधारानीके पास चले आते हैं।

लो ! आज भी इस परम विशुद्ध, चिन्मय, सत्त्व-स्वरूप वृन्दाकाननके एक वनखण्डमें जहाँ चतुर्दिक् कदम्ब ही कदम्ब-वृक्ष हैं, एक वृक्षके तले श्रीमती राधारानी अपनी सखियोंसे घिरी विराजित हैं। वे प्रतीक्षा कर रही हैं अपने श्यामसुन्दरकी।

मोहनलालजी ! श्रीकृष्ण कहाँ नहीं हैं, वे तो सर्वत्र हैं। आपके हृदयमे, आपके शरीरके रूपमे, शरीरके अणु-अणुमें वे ही वे भरे हैं। आपके रक्तके, मासके अस्थिके कण-कणमें श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण भरे हैं। भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीताउपनिषद्में कहते हैं -

*"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।"*

अर्थात् "हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त इस विश्वमें कहीं, कुछ भी नहीं, इस विश्वका सबकुछ मैं ही बना हुआ हूँ।" अत सबकुछ श्रीकृष्ण होते हुए भी वे सर्वभवन-समर्थ प्रभु हमें शरीररूपमें दिख रहे हैं। वे ही संसार बने हैं, स्त्री-पुत्र परिवारकी चिन्ता बने हैं, कलकत्तेके व्यापारकी चिन्ता बने, वे भूतकी तरह हम सबको नरकोंमें ले जानेकी चेष्टा कर रहे हैं। ऐसा वे क्यो कर रहे हैं ? इसीलिये, कि हमें चिन्ता, दु:ख, अभाव, शोक एव मृत्युभरा यह संसार ही प्रिय है। हमे आनन्दकन्द, प्रेमस्वरूप श्रीकृष्ण प्यारे ही नहीं अनुभव हो रहे।

***"हरिव्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम तैं प्रकट होहिं मैं जाना"***

राधारानी एव गोपियोंमें और हमारेमें यही अन्तर है। हमारा मन धुधकारी प्रेत बना विषयानुसधानमें भटक रहा है, परन्तु गोपियोंका मन निरन्तर सर्वत्र सभीमें श्रीकृष्णको खोज रहा है। हमारे मनकी चाह विषय है, धन है, गोपियोंके मनकी चाह श्रीकृष्ण हैं, अत वे सभी गोपियाँ अपने नवकिशोर प्रियतमको खोजने एवं न्यौछावर हो जाने वन-कुञ्जोंमें आयी हैं।

तो राधारानीके प्राण उनके शरीरमें हैं ही नहीं। यद्यपि प्राण-तन्तु शरीरसे जुड़े अवश्य हैं, परन्तु वे मनके साथ भटक रहे हैं उस वृन्दाविपिनकी

राहोंमे अपने प्रियतमको खोजने। ललिताकी जघाओंमें रानीका मस्तक है। विशाखा व्यजन-सेवा कर रही है, चित्रा पैरोंको सहला रही है। सभी सखियाँ अच्छी प्रकार जान रही हैं कि रानीको चेतना तभी आवेगी जब उसके प्राणवल्लभ यहाँ आवेंगे। वे रानीका मस्तक अपनी गोदमे लेकर, जब उसकी निर्बन्ध- वेणी, केशराशिको सहला सहलाकर उसे सम्बोधित कर उद्‌बुद्ध करेगे, तभी रानी जाग्रत होंगी।

यह तो प्रतिदिनका नियम ही है कि दक्षिण दिशामे जो सनातन पुष्पित कदम्ब है, उसके नीचे ही उनके प्राणवल्लभ उन्हे दृष्टिगोचर होंगे। आज भी वे अबतक तो आ ही जाने चाहिये थे, सखियोंको क्षण-क्षणका विलम्ब असह्य हो रहा है। यद्यपि सभीका यह विश्वास अटूट है कि वे आवेगे ही, ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे नहीं आवें। रानीको तो अपने प्राणवल्लभके प्रेमकी स्मृति ही सजीवित किये है। अपने प्रियतमको देखने-मिलनेकी आशामें ही उनका शरीर जीवन्त है, अन्यथा तो रानीके प्राण क्षणभरमें ही उसके शरीरको छोडकर अपने प्रियतमके चरणोंमें मिल जाते।

तो, राधारानीके भटकते प्राणोने अन्तत अपने प्रियतम्‌को अन्वेषण कर ही लिया है। आकुल प्राणोंकी सच्ची इच्छा जब उन्हे ढूँढनेकी होती है, तो वह प्राणधन मिल ही जाता है। सहसा रानी नेत्र खोल देती हैं। रानीको होशमें आयी देख, सभी सखियाँ उल्लसित हो उठती हैं। परन्तु यह क्या ? उन्हें तो वन, वनचर, वृक्ष, लताएँ, ललिता, विशाखादि सभी सखियाँ, यहाँतक कि उनका अपना तन भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। उन्हे तो सर्वत्र त्रिभुवन-कमनीय, ऋषि-महर्षि-महापुरुष-चित्ताकर्ष, निखिल-सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृत-सारभूत, मन्मथ-मन्मथ, आनन्दकन्द मदनमोहन प्रियतम ही सर्वत्र दिख रहे हैं।

वे भावावेशमें ललिताको कहती हैं – देख री ललिता ! वे सामने कदम्बके नीचे मन्द-सुमन्द मुसकाते खडे हैं। अरी ! तू मेरी ओर क्या देख रही है ? अरी मूढे ! तू तो सर्वदा मान ही किये रहती है। विधाताने तुझे न-जाने कैसा कठोर हृदय दिया है ! देख री, उनके मुखारविन्दसे राशि-राशि प्रीतिधारा प्रवाहित हो रही है। अहा ! कैशोर-भाव उनके अंग-प्रत्यगमें कैसी अप्रतिम मधुरिमा छलका रहा है। अरी ! उनके कपोलो एवं ललाटके कुछ अंशको सुसज्जित करती घुँघराली अलके कैसी प्यारी लग रही हैं ! अरी, चल न ! उनकी अलकोपर जो गोखुरोंसे उड़ी धूलि सलग्न है, उसे अपनी पलकोंसे झाड दे। री विशाखा ! देख न ! वे मयूर-पिच्छका मुकुट मस्तकपर धारण किये नटवर वेषमें कितने प्यारे लग रहे हैं री ! अरी ! तू मेरे मुखकी ओर क्या देख

रही है ? अरी चित्रा ! तुम सभी क्या ललिताकी शिक्षासे प्रमाद कर रही हो ? कोई उनको वनमाला भी अर्पण नहीं कर रही। उनके लिये आसन भी नहीं बिछा रही। देखो ! वे मन्द-मन्द मुसकाते मुझपर प्रेमकटाक्षोंकी वर्षा कर रहे हैं।"

सखियोंके नेत्र रानीकी अवस्था देखकर छलछला आये हैं। रानीके चारों ओरका विश्व ही प्रेमानन्द-रस-माधुरीका पात्र हो गया है। उनके चतुर्दिक् सदैव, सर्वत्र ही सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सुशीतल अपने प्रियतमके वदन-विधुकी शुभ्र-ज्योत्स्ना ही छिटकी है।

मोहनलालजी ! ऐसी राधारानीके चरण आजके पाँच हजार वर्ष पूर्व जिस धरापर पडे थे, उसकी रज आपने मुझे भेजकर कृतकृत्य ही कर दिया है। मैं मात्र शिष्टाचारवश ही ऐसा नहीं लिख रहा हूँ। सर्वथा सर्वांशमे अपने मनका भाव ही आपको निवेदित कर रहा हूँ।

सार-की-सार बात तो यही है कि इन गोपियोंकी तरह हम भी अपने प्राणोंमें श्यामसुन्दरको बसावें। यदि हमारे हृदयमें श्यामसुन्दर बस गये, तो फिर जगत्‌के लिये स्थान ही कहाँ बचेगा ?

***प्रीतम छबि नयनन बसी, पर छबि कहाँ समाय ।***
***भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय ।***

मोहनलालजी ! जगत्‌की वासनाओंको चित्तसे हटानेका एक ही उपाय है कि श्यामसुन्दरको सर्वेन्द्रियोंसे अपने अन्तःकरणमें पूरम्पूर भर लिया जाय। जबतक बोतलमें, या किसी भी भाण्डमें जल नहीं भरता, तभीतक वायु भरी रहती है। बोतलको वायु-शून्य करनेका उपाय यही है कि उसमे जल भर दिया जाय। जलके भीतर जाते ही वायु स्वतः निकल जायेगी। इसी प्रकार, इस मनमें प्रियतम श्यामसुन्दरको भरे बिना संसार नहीं हट पावेगा। ज्योंही श्यामसुन्दर इस मनमें आये, संसार रहेगा नहीं।

सबको यथायोग्य । प्रेम बनाये रखियेगा।

**राधा राधा राधा राधा**

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - बत्तीस (३२)

# सन्तका अखण्ड नित्य संग कैसे हो

*पत्र-प्रेषक :*

**प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प. पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र प्रेषिति :*

**श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला**

**लेखन स्थल :**
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**
**दिनांक :**
**ता. १८-३-४१ ई.**

**प्राप्ति-सूत्र :**
**श्रीवृन्दावनसे प्राप्त**
**श्रीशिवकिसनजी डागाके**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपिसे**

प्रिय मोहनलालजी ! सप्रेम यथायोग्य ।

आपका कृपा-पत्र मिला। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) से इस जन्ममें आपका भाव-सम्बन्ध बहुत ही मधुर हुआ है। आपने लिखा कि इस सम्बन्धको मृत्यु नहीं तोड पावे, इसका उपाय बताइये। सो, इसका उपाय तो यही है कि आप एकमात्र भगवान् श्रीराधाकृष्णके चरणोमें न्यौछावर हो जाइये।

एक लौकिक उदाहरण है – एक माँसे उत्पन्न दो कन्याएँ हैं। वे यदि सर्वदा साथ रहना चाहे, तो उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि उन दोनोंका विवाह एक ही पुरुषसे हो जाय। तत्पश्चात् दोनो ही पातिव्रत-धर्मका पूर्णतया पालन करें। हिन्दू-शास्त्रानुसार पतिव्रता स्त्रीको जन्म-जन्मान्तरमें भी एक ही पति मिलता है। अवश्य ही जगत्में स्त्रियों द्वारा पातिव्रत-धर्मका पालन बहुत ही न्यूनतया होता है, इसीलिये उनके अनेक जन्मोंमे अनेक पति होते हैं। परन्तु पातिव्रत-धर्मका यथार्थतः सत्यांशमें पालन होनेपर शाश्वत रूपमें स्त्रीको वही एक पति ही सर्वयोनियोंमें मिलता है।

इसी प्रकार, यदि आप सचमुच ही श्रीकृष्णके सखा, दास-दासी, गोपी कुछ भी हो गये और उनकी अथवा राधारानीकी सेवा ही आपका उद्देश्य हो गया, तो फिर भगवान् श्रीकृष्णके साथ-साथ अथवा राधारानीके साथ आपका

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - पैंतीस (३५)

# मेंहदी - सेवा

*पत्र-प्रेषक :*

**स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प.पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

श्रीराधाकृष्णजी धानुका, श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला,
श्रीवृन्दावनधाम (मथुरा)

*लेखन स्थल :*
गीतावाटिका, गोरखपुर

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकिशनजीडागाका पत्र-संग्रह

*दिनांक :*
श्रावण कृष्ण १३,
सं. २००५ (सन् १९४८)

*विषय :*
गोरखपुरसे श्रीलाडिलीजीको वृषभानुपुर मेंहदी भिजवाना।

## सन्दर्भ

*श्रीवागीशजी शास्त्री वृन्दावनके एक रसिक भक्त थे। अजमेरके एक मुसलमान भक्त सनम साहबसे इन्होंने श्रीराधाबाबा एवं भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दारकी महिमा सुनी थी कि ये अति उच्च-कोटिके रसिक सन्त हैं। इसके पश्चात् वृन्दावनधाममें राजवैद्य श्रीलक्ष्मीनारायणजीसे भी, जो हित-हरिवंश सम्प्रदायके माने हुए वैष्णव थे, पू. राधाबाबाकी प्रशस्ति सुनकर ये श्री भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) एवं पू. राधाबाबाके दर्शनार्थ गोरखपुर आये थे। पू. श्रीराधाबाबाके आग्रहसे ये उनको 'राधासुधानिधि' ग्रन्थकी कथा अति एकान्तमें सुनाया करते थे। इस कथामें मात्र तीन व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। पू. राधाबाबा स्वयं, गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री । अत्यन्त रसमय कथा चल रही थी, कि पू. राधाबाबाको एक मेंहदी लीलाकी अति रसमयी अनुभूति हुई। इसी कथाके मध्य श्रीवागीशजीने यह भी उल्लेख किया कि श्रावणी तीजपर लाड़िलीजीको भक्तलोग बरसानेमें मेंहदी चढाया करते हैं। अतः पू. राधाबाबाने श्रीभाईजीके घरमें मेंहदी पिसवाई और उसे श्री भगवानदासजी सिंहानियाके हाथों बरसाने श्रीलाडिलीजीकी सेवामें प्रस्तुत*

भाई मोहनलालजी ! मेरे कहनेका इतना ही मन्तव्य है कि पहले हमारे जीवनका यह उद्देश्य तो हो कि इस जीवनकालमे, जो भाईजी जैसे महापुरुषका सग हमें अमोघ भगवत्कृपावश प्राप्त हो गया है, वह अब कभी नहीं छूटे । मृत्युके पश्चात्‌की बात तो बहुत दूर की है। हम तो शरीरकी तुच्छ आसक्तियोंमे उलझ भाईजीको त्यागते फिरते हैं। हमारी ऐसी इच्छा ही कहाँ है कि हम उनका नित्य सग अथवा उनकी सेवा कर सके।

मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि यद्यपि आपके भाव परम निर्मल हैं, परन्तु इन भावोकी पहले ठोस नींव तो बनाइये। यह नींव तभी बनेगी, जब आपका मन पूर्णरूपसे इस विनाशी ससारकी मायासे विरक्त होकर पहले श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व मान लेगा। दूसरे, श्रीकृष्णकी कृपापर पूर्णतया निर्भर हुआ वह चातककी तरह उन्हें ही पुकारता रहेगा एवं अन्य आश्रयोंका सर्वथा त्याग कर देगा।

यदि आपके, मेरे, अथवा किसीके भी द्वारा ऐसा हुआ, तो जीवनकी धारा किसी भी दिवस एकाएक क्षणमात्रमें ही पलट जायेगी। तभी आगेका मार्ग खुलेगा और पथ-निर्देश होगा।

आपके पत्रका, मनमे जैसी श्रीकृष्णने प्रेरणा दी, उत्तर लिख दिया है। कृपा एवं प्रेम सदैव बनाये रखें।

**राधा राधा राधा राधा राधा**

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - तैंतीस (३३)

# श्रीकृष्ण कल्पना नहीं, वस्तुतः सत्य हैं।

*पत्र-प्रेषक :*

## स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

## श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला

**लेखन स्थल :**
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,**
**ग्राम एवं पोस्ट रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**

**प्राप्ति-सूत्र :**
**श्रीशिवकिसनजी डागाका**
**पत्र-संग्रह**

**दिनांक :**
**श्रावण शुक्ला दशमी, सं. १९९८ वि.**

प्रिय मोहनलालजी !

सादर सप्रेम यथायोग्य । आपका पत्र मिला।

'भक्तनारी' नामक गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें रबियाकी बडी प्यारी कथा है। रबिया भगवान्से प्रार्थना करती है – "मेरे प्राणनाथ ! मै यदि स्वर्गकी कामनासे तुम्हे भजती होऊँ, तो मेरे लिये स्वर्गका द्वार ही बन्द कर देना। यदि नरककी ज्वालाके भयसे तुम्हें भजती होऊँ, तो मुझे नरककी ज्वालामे जला देना, मै पाप-कर्मको हटानेके लिये यदि तुम्हे भजती होऊँ, तो मुझे घोर पापी ही बनाये रखना, यदि किसी भी अनुकूलताकी मुझे चाह हो, तो वह मेरी चाही परिस्थिति मुझे कभी मत देना, परन्तु यदि कोई भी अपनी कामना नहीं रखकर मैं मात्र तुम्हारे सुखके लिये तुम्हे प्रेम करती हूँ, तो मुझे तुरन्त मिल जाओ, अब और विलम्ब करके मुझे मत तरसाओ ।"

मोहनलालजी ! भक्तोके कैसे सुन्दर निर्मल भाव हैं ? भक्तोको ससारका भान ही नहीं रहता। वे तो अपने भगवान्को भीतर-बाहर, सर्वत्र देखते रहते हैं। वे भगवान्को ही भजते हैं, वे अपने प्रभुसे ही बोलते है, उनसे ही हँसते हैं, रोते हैं, माँगते हैं और वे जो कुछ भी देते हैं, प्रभुको ही देते हैं, वे लेते भी मात्र प्रभुसे ही हैं। वे प्रभुमे ही उठते-बैठते, चलते हैं, वे निरन्तर प्रभुका ही विचार करते हैं, उनका सम्पूर्ण अध्यास परमात्मा ही परमात्मा है। इसीलिये वे परमात्माके भक्त हैं,

मोहनलालजी, भक्त कैसे होते हैं ? उनकी महिमाका प्रकाश वाणी एवं लेखनी कर ही नहीं सकती। देखिये ! भाईजीके एक मित्र धनपति बहुत रुग्ण थे, उनके पेटकी बहुत ही साघातिक शल्यक्रिया (Operation) होने वाली थी। भाईजी मुझे भी अपने साथ अस्पतालमें ले गये थे। सहसा लोगोंमें घबड़ाहट व्याप्त हो गयी। डाक्टरोंसे मरीजका रक्तचाप सभल नहीं रहा था। अतः उन्होंने मरीजकी मृत्युका पूर्वाभास सभीको दे दिया था।

भाईजी मरीजकी हाथकी नाड़ी थामे ध्यानस्थवत् हो रहे थे और अपनी अनुभूतिका विलक्षण प्रकाश उस मरणासन्न प्राणीके सम्मुख कर रहे थे -

'सेठजी ! ससारको भूल जाइये। यह सब, जो आपको ऑखोंसे दिख रहा था, कानोंसे सुननेमें आ रहा था, वह सब स्वप्न था, जो अब टूटनेही वाला है। कुछ क्षणोंमें ही आपका इस सब दृश्यसे कहीं, कोई सम्बन्ध नहीं रहनेवाला। देखिये ! मेरे कथनानुसार ध्यान करिये —

"एक परम सुन्दर कदम्बका वृक्ष है। उसमे बहुत ही अलौकिक पुष्प खिल रहे है, विलक्षण सुगन्ध सर्वत्र महक रही है। देखिये ! पास ही परम सुशीतल यमुना बह रही है। यमुनामें असख्य कमल हैं। कमलोंपर भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। कदम्बके नीचे श्रीकृष्ण गोपियोंसे घिरे बैठे है। इन श्रीकृष्णके चरणोंके नखोंसे, जो विलक्षण ज्योत्स्ना, आभा निकल रही है, उसमें ही आपको डूबना है, उसमे विलीन हो जाना है। देखिये ! अब कोई रुग्णता नहीं है। आप शरीर है ही नहीं, शरीर थे ही नहीं। इस निर्मलतम अमृत-देशमे कभी रुग्णता होती ही नहीं। सर्वत्र अमृत ही अमृत है। परमात्मा श्रीकृष्णका आपपर अथाह प्रेम ही प्रेम है, शान्ति ही शान्ति है, मंगल ही मगल है, आनन्द ही आनन्द है।"

'यमुनाजल कितना निर्मल है, उसमे कीचड़ सर्वथा नहीं, फिर भी कमल असख्य भरे हैं, भ्रमर 'कृष्ण' गायन कर रहे हैं। यहाँ सारस हैं, हस हैं, शुक हैं, कीर है, परन्तु सभी परमात्माके ध्यानमें निरत हैं, ध्यान करिये ! आपकी ओर भगवान् देख रहे हैं, आप उनसे अपने नेत्र मिलाइये। बस, भगवान्‌के रूपमें डूब जाइये, उनसे एक हो जाइये। उनसे ऐसे मिलिये, मानो समुद्रमें बूँद मिल गयी हो।"

भाईजी तबतक यह ध्यान कराते रहे, जबतक सेठजीकी साँसें चलती रहीं। थोड़ी देरमें सेठजीके बच्चे पुनः डाक्टरोंकी ओर दौड़े। डाक्टर आये भी, परन्तु सेठजी तो परमधामको चले गये थे।

फिर हम लोग जब दिल्लीसे लौटकर आ रहे थे, तो भाईजी मुझे गाड़ीमें बहुत ही तत्त्व-रहस्यकी बातें समझा रहे थे। वे कह रहे थे — "स्वामीजी! भोगीके सामने घर है, मकान है, परिजन हैं, मोह है, अभाव हैं, चिताएँ हैं, रोग

हैं, भय है, दारिद्रय है, जडता-ही-जडताका राज्य है, दुख हैं, पीडाएँ हैं, बुढापा है, वहाँ शरीरका बल है अथवा निर्बलताएँ हैं, बुद्धि की योग्यता-अयोग्यताएँ हैं, परन्तु उसके लिये भगवान् है ही नहीं। योगीके पास नित्य शुद्ध, विशुद्ध, परम निरपेक्ष प्रेम-स्वरूप परमात्मा है, उसका अलौकिक विलक्षण लीला जगत् है, परमानन्द ही परमानन्द है, परन्तु उसके पास दुःख-अभाव, ग्लानि, पीडा, चिन्ता, मृत्यु, अभाव हैं ही नहीं। उसके पास अखण्ड शान्ति ही शान्ति, आनन्द ही आनन्द है। जिस नाशवान् क्षणभगुर सांसारिक भोगोके लिये प्राणी दिनरात हाय-हाय कर रहे हैं, योगी इनकी ओरसे पूरा विमुख, अनजान, अज्ञानी है। वह बस, परमात्माके नाम, गुण, यश, उनका रूप, ध्यान, उनकी अनन्त उदारता आदिके चिन्तनमे सतत सजग है। जहाँ भोगी भगवान्के लिये अन्धा है, वहाँ योगी संसारके लिये अधा है। भोगी कहता है — "भगवान सन्देहास्पद, शास्त्रोकी गप्प, साधुओकी जीविकाके साधनमात्र हैं, वहाँ योगीके लिये भगवान् प्रत्यक्ष हैं, उसके पल-पलके सगी हैं, वे उससे बोलते हैं, बात करते है, हँसते हैं, खेलते हैं, उसका सम्पूर्ण योगक्षेम निर्वाह करते हैं। योगी ससारको भ्रम जानता है, भ्रम मानता है, वह देखता हुआ भी उसे मिथ्या समझता है और भगवान्को नहीं देखता हुआ भी अखण्ड देखता है। बाबा! श्रीकृष्ण हैं — यह मात्र मेरी कल्पना नहीं है, यह सत्य का सत्य है। बाबा! श्रीकृष्ण मेरी प्रत्येक श्वासको गिनते हैं, वे मेरे सर्व-साक्षी हैं, वे मेरे मनकी छोटी-सी हलचलको भी बहुत प्रेम और सावधानीपूर्वक देख रहे हैं। वे मेरे सम्पूर्ण व्यवहारके पारदर्शक हैं। वे ही मेरे रूप हैं, आकार हैं, मेरा धन-वैभव, मेरे बल, ज्ञान, मेरे देश, काल, स्वभाव है। वे ही मेरे आकाश हैं, भूमि है, वे ही मेरे वस्त्र हैं, मैं उन्हें ही पहनता हूँ, ओढता हूँ। मैं उनसे ही प्राणान्वित हूँ। वे ही मेरा यश, अपयश, गुण, स्वास्थ्य एव आधार हैं। वे एक पल भी मुझे नहीं छोड़ते, ये मेरे आधीन हैं, मैं उनका आश्रय हूँ। मैं श्रीकृष्णमे ही जीवित हूँ, मैं सर्वाधिक उन्हींका आदर करता हूँ। मैं उन्हें ही देता-लेता हूँ। मेरा जीवन मात्र उनका वरदान है। मुझे तो श्रीकृष्ण ही इस विश्वके मात्र आधार दिखते हैं। उनका स्वरूप विलक्षण है, सब उनका ही लीला-विलास है।"

मोहनलालजी! आप भाईजीके प्रेमी हैं। परन्तु आप उनकी आस्थाको अपनी आस्था नहीं बनाते। जुडे हैं संसारसे और बात करते हैं, मात्र भाईजीके प्रेमकी। आजसे ही उनकी आस्था-विश्वास-निष्ठाका एक कण-मात्र ग्रहण कर लीजिये और मस्त हो जाइये।

**राधा राधा राधा राधा**

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - चौंतीस (३४)

# भक्त मानदासजीका रोचक प्रसंग

*पत्र-प्रेषक :*

**स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प.पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला**

**प्रेषण स्थल :**
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीकी हवेली**
**ग्राम पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**
**दिनांक :**
**ता. १८।२।४० माघ शुक्ला ११, सं. १९९६**

*प्राप्ति-सूत्र :*
**श्रीशिवकिसनजी डागाके**
**पत्र संग्रहसे**

प्रिय श्रीमोहनलालजी !

सादर यथायोग्य । आप मुझे बहुत प्यार करते है, यह प्यार बरा बढता ही रहे, यही आपसे भिक्षा मॉग रहा हूँ। आप मेरे बताये हुए साधन अर्थात तीन-तीन मिनटपर भगवत्स्मरणकी चेष्टा करते हैं, परन्तु भूल हो जाती है। ऐसा आपने लिखा सो भूल होती है, तो होने दे परन्तु चेष्टा करते ही चले जायें। जबतक श्रीकृष्ण प्यारे नहीं लगते, तबतक भूल होगी ही। यह नियम है, सबसे प्यारी वस्तु कभी भूलती नहीं। अभी श्रीकृष्णसे अधिक प्यारा शरीर एव ससार लगता है, अत श्रीकृष्ण भूल जाते हैं, शरीर तो नहीं ही भूला जाता। श्रीकृष्णको याद करते-करते अपने आप सब ओरका आकर्षण फीका पडता जायेगा, फिर वे ही सबसे प्रिय लगने लगेंगे और भूल नहीं होगी।

एक भक्तका आपने नाम सुना होगा, वे व्रजके श्रेष्ठ रसिक भक्त थे, उनका नाम मानदासजी था। वे वल्लभ-सम्प्रदायके अनुयायी थे। वे बहुत तितिक्षासे वृन्दावनवास करते थे एव निरन्तर नाम जप करत रहते थे। वे प्रति तीन तीन पलमे भगवान्‌को देखनेका नियम लिये थे। जबतक उनका ध्यान सुदृढ नहीं हुआ, तबतक तो वे चित्र-छबिका ही दर्शन कर लेते थे। वे अधिकांशत वृन्दावन अथवा गिरिराज-परिसरमें राधाकुण्डपर रहते थे, ऐसा सुना है।

उनका भाव एक सखीका था। वह सखी अपने ससुरालमे रहती थी,

परन्तु उसके पतिसे उसका मिलन नहीं हुआ था। पति परदेस गया था। किसी आभीर-वधूसे उसने नन्दनन्दनकी चर्चा अवश्य सुनी थी। परन्तु उसका गृह नन्दभवनसे दूर, किसी अन्य ग्राममे होनेसे अबतक उसे उनकी झाँकी नहीं मिल पायी थी। न जाने, इस नन्दनन्दनकी थोडी-सी चर्चाने ही उसपर ऐसा कौन-सा जादू कर दिया कि निगोडी उसकी सम्पूर्ण ममता उन्हींके चरण-सरोरुहोंमे लिपटना चाहती थी ? प्राणोंने निश्चय कर लिया था कि यदि उसका पति परदेससे आया भी, तो उसके उसे दर्शन मात्र हों, इसके पूर्व ही वह देह त्याग देगी। प्राणोंने एकान्त-मनसे इस नील घन-सुन्दरको ही अपना सर्वस्व समर्पण करनेका पूर्ण निश्चय कर लिया था, यद्यपि यह लोक-वेद-विरुद्ध था परन्तु वह क्या करे ? उसका मन ऐसा ही इस नवकिशोर पर आसक्त जो हो गया था। प्राण पल-पल इसी गोपालकी एक झलक-भर पानेको चरम एवं परम व्याकुल हुए हाहाकार करते रहते थे। उसके एकक्षणके दर्शनके लिये वह तरसती रहती थी। मिलन-सुखकी तो उसे आशा ही नहीं थी। बस, उसकी एक झलक देखने-भरको ही मिल जाय, फिर तो उसी क्षण वह अपने प्राण उस नीलमणिके चरण नख-मणियोमें ही विलीन कर देगी, उसका अन्तर्हृदय ऐसे ही अनुरागभरे संकल्प विकल्पोंमें बहता रहता था।

उसके ससुरालमे उसपर इतने प्रतिबन्ध हैं कि वह तो नन्दग्रामकी ओर जा ही नहीं सकती थी, घरसे बाहर जाना ही उसका यदा-कदा ही होता था वह भी मात्र पनघट अथवा यमुनासे जल लाने-मात्रके लिये। दिनभर तो गृह-काजसे सिर ऊँचा करनेकी उसे फुरसत ही नहीं मिलती थी फिर भी उसका मन कैसा निर्लज्ज था कि वह प्रतिपल अनुभव करता था कि "आज उसके घरके पीछेके वनमे उसे वंशी-निनाद सुनाई पड़ ही जायगा। आज असंख्य गायोंके साथ वह अनिर्वचनीय गोपाल उसके गृहके पार्श्वसे गुजर ही जायेगा। उसके मस्तकपर काली कामरी होगी। उस कामरी और मोरमुकुटपर गोरजका अभिषेक हो रहा होगा। वह गायोके पीछे-पीछे नंगे पैर दौडता, कितना मनोहर लगेगा ? उसके हाथमें बडी-सी लकुटी होगी। वह गौओके आनेका कोलाहल सुनते ही दौडकर छतपर चली जायगी। वह उसका श्यामल मुखचन्द्र वरा जीभर देखकर, उसे अपने मनमें ही सदा-सदाके लिये बसा लेगी।"

इस प्रकार विचारोंमें तन्मय हुई, वह गोपी अर्द्ध-विक्षिप्त-सी रहती थी। घरके लोग उसे पति-वियुक्ता होनेके कारण मतवाली हुई मानते थे परन्तु उसके चित्तमे तो उसी नन्दनन्दनके रूपकी, बोलीकी, चलनकी स्मृति भरी रहती थी।

इस भावमे गोपी बने मानदासजी प्रभातसे लेकर रात्रिके द्वितीय प्रहर तक भगवान्‌की परमाकुल प्रतीक्षा करते हुए "राधाकृष्ण, राधाकृष्ण" जप करते अपना काल-यापन कर रहे थे।

मोहनलालजी ! जो भी भक्त-हृदय इस प्रकार कालक्षेप करने लगता है, परम दयालु प्रभु उसपर कृपाकरते ही हैं। एक दिवस वह सौभाग्यशाली क्षण उपस्थित हो ही गया जब सायकाल प्रभुने मानदासजी, और उनकी हृदयस्थ भावमयी गोपीपर कृपा कर ही दी। बस, फिर क्या था, उधर तो वह गोपी और इधर मानदासजी दोनों ही विक्षिप्त हो गये। गोपीभावमे डूबे मानदासजी, जिस पथिकसे भी मिलते, बस अश्रु बहाते एक ही पद गाया करते थे -

*आवत कालकी साँझ देख्यौरी गायन माँझ ।*
*कौनको ढ़ोटा री सखि शीश मोर पखियाँ ।*

उन्हे तो पथिक पुरुष अनुभव ही नही होता। उन्हे अपने स्वयके शरीरमे भी पुरुष-भाव नहीं रहा था। उन्हे उनका स्वयका देह (वह भावदेह) गोपीका ही अनुभव होता था। वे राधाकुण्डपर किसी तमालके नीचे खडे श्रीकृष्णको देखकर निहाल होते, आँसू बहाते रहते।

"अरी सखि ! वह कल (विगत दिवस) की सध्याका परम सुहावना समय था। जब मैंने गायोंके मध्य उसे देखा।

बहिन ! मुझे पता ही नहीं, वह श्यामल किशोर किसका पुत्र था, बस, मुझे तो उसकी पहचानका इतना ही ज्ञान है कि उसके मस्तकपर मोर-पख खौंसे हुए थे।"

*अतरी-कुसुम-तन चंचल-दीरघ नैन ।*
*मानो रस परीं लरत युग मखियाँ ।।*

"अरी सखि ! उसका श्यामल सुन्दर वदन अतसी-कुसुमके वर्णका था, परन्तु उसके नेत्र अस्वाभाविक परम चचल और बडे-बडे दीर्घ थे। वे ऐसे लगते थे, मानो दो बडी मक्खियॉ परस्पर लडती रस-कूपमें गिर गयी हो।"

*धातुको तिलक कियें, गुञ्जनके हार हियें ।*
*उपमा न बनै दियें जेती तेती नखियाँ ।*

"अरी बहिन ! वह वन-धातु (लालरगके पत्थर) का तिलक किये था। उसके ऊपर वन गुञ्जाओकी ही मालाये सुशोभित थीं। उसके नखोसे शिखातक सभी अंग निरुपम सुन्दर थे री।"

*राजत पीत-पिछौरी मुरली बजावै गौरी ।*
*देख भई बौरी इकटक रही अँखियाँ ।।*

"अरी सखि ! उसके अगोमें पीतपिछौरी शोभा दे रही थी, वह अपनी मुरलीमें गौरी राग बजा रहा था। सखिरी, मैं तो उसे देखते ही बौरा गयी री, बस, मेरे नेत्रोंकी पलके ही गिरना बन्द हो गयीं और मेरे नेत्रोंकी उसके मुखपर टकटकी ही लग गयी।"

*चलत न सूधे मग डगमग परैं पग*
*भामिनि भवन लाई हाथ धरैं कँखिया ।*

"अरी बहिन ! क्या करूँ री, वह प्रेममे भरा सूधे रास्तेसे नहीं चल रहा था, वह तो डगमग पैर रखता, मतवाला सा मेरी ओर ही देखता, मेरे घरके निकट आगया। अब मैं अपनेको कैसे रोक पाती री, मै तो उसे गलेमें हाथ डालकर अपने घर ही ले आई। बहिन री ! यद्यपि इस मेरे आकस्मिक साहस और प्रेमको मेरी ननदे एव सास अतिशय निन्दाकी दृष्टिसे देखेंगी, लोकमें मेरी अतिशय निन्दा ही इससे होगी, परन्तु मैं तो उसके पीछे दीवानी ही हो गयी हूँ।"

*मानदास प्रभु चितचोर देख जीऊँ माई*
*और न उपाय दाव सुनौ मेरी सखियाँ ।*

मानदासजी इस प्रकार सभीसे अपनी दशा बखान करते फिरते थे। वे कह रहे थे। "सखियो ! मैं तो उस मेरे चितचोरको ही देखकर जीवित हूँ, वह ऐसा हठीला है कि तबसे मेरे हृदयसे हटता ही नहीं है। सखियों, मेरे पास अब तो और कोई उपाय ही शेष नहीं बचा है। जो होना हो, सो हो।"

मैंने आपको जो तीन-तीन मिनटमे भगवत्स्मृति करनेका साधन बताया था, वह इन्हीं भक्त मानदासजीका चरित्र पढकर ही निर्देश किया था। मैं स्वय भी यह साधन करता हूँ। आपका मेरे प्रति निर्मल, शुद्ध प्रेम देखकर चित्तमें ऐसा विचार उठा था, वृन्दावनमे आपपर भी कहीं ऐसी कृपा हो जाय, वह रसिक चूडामणि, हेतुरहित-अनुरागी, अपने डगमगे प्रेम-मतवाले चरणोंसे आपके मन-मानसमें भी गाय चराता उतर आवे, तो आप सदाके लिये निहाल हो जावेंगे, और क्या कहूँ --

**राधा राधा राधा राधा राधा**

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या - पैंतीस (३५)

# मेंहदी - सेवा

*पत्र-प्रेषक :*

**स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प.पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीराधाकृष्णजी धानुका, श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला,**

श्रीवृन्दावनधाम (मथुरा)

*लेखन स्थल :*
गीतावाटिका, गोरखपुर
*दिनांक :*
श्रावण कृष्ण १३,
सं. २००५ (सन् १९४८)

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकिशनजीडागाका पत्र-संग्रह
*विषय :*
गोरखपुरसे श्रीलाडिलीजीको वृषभानुपुर
मेंहदी भिजवाना।

## सन्दर्भ

*श्रीबागीशजी शास्त्री वृन्दावनके एक रसिक भक्त थे। अजमेरके एक मुसलमान भक्त सनम साहबसे इन्होंने श्रीराधाबाबा एवं भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दारकी महिमा सुनी थी कि ये अति उच्च-कोटिके रसिक सन्त हैं। इसके पश्चात् वृन्दावनधाममें राजवैद्य श्रीलक्ष्मीनारायणजीसे भी, जो हित-हरिवंश सम्प्रदायके माने हुए वैष्णव थे, पू. राधाबाबाकी प्रशस्ति सुनकर ये श्री भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) एवं पू. राधाबाबाके दर्शनार्थ गोरखपुर आये थे। पू. श्रीराधाबाबाके आग्रहसे ये उनको 'राधासुधानिधि' ग्रन्थकी कथा अति एकान्तमें सुनाया करते थे। इस कथामें मात्र तीन व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। पू. राधाबाबा स्वयं, गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री । अत्यन्त रसमय कथा चल रही थी, कि पू. राधाबाबाको एक मेंहदी लीलाकी अति रसमयी अनुभूति हुई। इसी कथाके मध्य श्रीबागीशजीने यह भी उल्लेख किया कि श्रावणी तीजपर लाड़िलीजीको भक्तलोग बरसानेमें मेंहदी चढाया करते हैं। अतः पू. राधाबाबाने श्रीभाईजीके घरमें मेंहदी पिसवाई और उसे श्री भगवानदासजी सिंहानियाके हाथों बरसाने श्रीलाडिलीजीकी सेवामें प्रस्तुत*

*की। इसी आशयसे पू. श्रीस्वामीजीने श्रीमोहनलालजीको भी श्रीभगवानदासजीके संग बरसाने जाकर यह कार्य सम्पादित कर देनेका आग्रह किया था। इसी सन्दर्भ में यह पत्र है। इस घटनाके लगभग १६ वर्ष पश्चात् १९६४ ई. में पू. राधाबाबाने यह मेंहदी लीला मुझे सुनाई थी। उन दिनों पू. बाबा राधाभावमें डूबे रहते थे। उन्होंने मेंहदी लीलाका एक स्वरचित पद भी सुनाया था। यह पद संभव है अ. सौ. सावित्री बाईके पास सुरक्षित हो। मुझे जो उन्होंने मेंहदी लीला सुनायी थी, वह पत्रके पश्चात् अग्रिम पृष्ठोंमें दी गई है। पत्र निम्नलिखित है।*

*श्रीयुत मोहनलालजी झुनझुनूवाला तथा श्रीराधाकृष्णजी धानुका ! (श्री स्वामी चक्रधरजी महाराजने लिखाया है।) सादर सप्रेम श्रीराधा-राधा।*

*श्रीभगवानदासजी सिंहानिया बम्बईवालोंसे आप दोनों परिचित होंगे। ये मेरे अति प्रिय स्वजन हैं। श्रीवागीशजी शास्त्री पिछले दिनों यहाँ आये थे। उन्होंने कथा-प्रसङ्गमें ही उल्लेख किया था कि श्रावणी तृतीयाको (बड़ी तीजके दिन) सभी श्रद्धालु ब्रजवासी बरसानेमें किशोरी रानीको मेंहदी चढाया करते हैं। इसको सुनकर मेरे मनमें भी एक भाव-लहर उठी कि यहाँसे बहुत ही पवित्रतापूर्वक मेंहदी पिसवाकर लाडिलीजीको भेजी जाये। अ. सौ. माताजी (श्रीभाईजीकी पत्नी) ने यह सेवा स्वयं स्वीकार कर ली और उन्होंने 'राधा-राधा' अखण्डनाम जप करते हुए मेंहदीको बीनकर, उसे पूरा स्वच्छ करके अपने हाथों पीसी है। उसको अति पवित्रतापूर्वक डब्बेमें पैककर, उसे जूटसे लपेट कर आपके पास भेजी जा रही है।*

*श्रीभगवानदासजी इसी उद्देश्यसे आपके पास आ रहे हैं। यदि कोई खास अड़चन नहीं हो तो मेरा सस्नेह अनुरोध है कि आप भी वृन्दावनसे इनके साथ ही बरसाने जावें और प्रतिपदाके दिवस श्रीलाड़िलीजीके अंगोंमें मेंहदी लग जाय, इसकी चेष्टा करें। आपके साथ रहनेसे भगवानदासजीको सुविधा रहेगी। आप लोग वहाँसे परिचित हैं, और ये भगवानदासजी पहली बार ही बरसाने जा रहे हैं। आपके कारण इन्हें प्रसाद आदि पानेमें कष्ट भी नहीं होगा। आप कुशलपूर्वक होंगे। इस उद्देश्यसे पहले इन्हें आपके पास भेज रहा हूँ।*

*राधा राधा राधा राधा राधा*

*(पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने वि. सं. २०२१ में जो मुझे मेंहदी लीला सुनाई थी, वह नीचे दी जा रही है। इसकी भाषा और कथा-रचना इस रसशून्य अज्ञ लेखककी है, अतः जो भी भाषा-जनित दोष समझमें आवें, उन्हें प. पू. राधाबाबापर आरोपित नहीं किया जाय। यद्यपि चेष्टा ऐसी ही की गयी है कि भाषा और भाव भी पू. राधाबाबाके स्वलिखित साहित्यसे ही सुचयन किये जायें, फिर भी शुद्ध वस्तु तो शुद्ध ही है, एवं नकल नकल ही है। पाठक लेखककी असमर्थता समझ, मात्र पू. राधाबाबाकी अनुभूत लीलाके माहात्म्य पर ही ध्यान रखेंगे।)*

## मेंहदी लीला

यह वृषभानुपुर ग्राम है। इस ग्रामकी शोभा ऐसी विलक्षण है मानो अपरिमित सौन्दर्य-सिन्धुकी लहरें ही यहाँकी पृथ्वी, पर्वतोंके सुरम्य रंग-बिरंगे उपल बनी हैं। ये हैं तो मात्र उपल ही, परन्तु इनकी शोभा नीलम, माणिक्य, पुखराज, कुन्दन और वज्रमणिको भी तुच्छ कर दे रही है। विशुद्ध सौन्दर्य वन गिरि, निर्झर, गिरिस्रोत, जल, स्थल, तेज, पवन, और नभमें सर्वत्र ही पूर्ण-परिपूर्ण भरा छलक रहा है। कुरूपताका तो प्रश्न ही नहीं, अल्परूपताको भी यहाँ किसी कोनेमें स्थान नहीं है। गोपराज वृषभानुबाबाकी ऐसी विलक्षण यह निवारा-नगरी है।

इस विलक्षण शोभाशालिनी पुरीमें उत्तरमें गिरिश्रृंगोंकी छायामें वृषभानु बाबाका भवन है। विधाताका सर्व कौशल इस भवनके निर्माणमें जैसे चुक गया हो, ऐसा विलक्षण इसका शिल्प है। सभी कुछ सचिन्मय सन्धिनी शक्तिकी ही परिणति है। दिव्य रत्नोंकी बनी चतु: शालायें, चन्दनादि अत्यन्त मूल्यवान् काष्ठके सभी कपाटोंपर जीवन्तवत् स्वर्ण और रजतकी कलाकृतियाँ जडित हैं, कहीं-कहीं स्वर्ण और रजतके ही धातु-निर्मित कपाट हैं, परन्तु उनमें बहुमूल्य रत्नोंकी कलाकृतियाँ सुजड़ित है। स्तंभ ऐसे हैं, मानो मणि-पर्वतोंको काट-काट कर उनकी कलापूर्ण रचना की हो।

स्वर्णके झलमलाते कलश, दिव्य वेदियाँ, मुक्ता एवं प्रवालके चूर्णोंसे निर्मित प्रांगण, कहीं स्वर्णके, कहीं रजतके और कहीं स्फटिकके प्राकार, वृषभानुपुरी इन सबके मध्य जगमग-जगमग कर रही है।

इस शोभाशालिनी पुरीमें वृषभानुबाबाके महलके पिछवाडे अत्यन्त सुन्दर वाटिका है। इसी वाटिकाके एक प्राकृतिक, अति मनोहरकुंजमें एक वृक्षकी टहनीमें बँधे झूलेमें राधारानी बैठी हैं। यह कुञ्ज ऐसा है जिसमें वर्षाकी बौछारोंसे तो झूलेपर बैठे व्यक्तिकी समुचित रक्षा हो जाती है, किन्तु उसे पावस ऋतुकी प्राकृत शोभा सम्यक्‌रूपसे दृष्टिगोचर होती रहती है।

कुञ्जभूमिमें रानीके झूलेसे कुछ ही दूरीपर गुणमंजरी आसीन है। वे झूलेको झुलानेकी स्वर्ण-खचित डोरी थामे हैं। वे झूलेको बहुत ही सुमन्द झौंटा दे रही हैं। रानीके झूलेके वाम एव दक्षिण दोनो ओर रस एव रति मंजरियाँ व्यजन एव चँवर डुलाती खडी हैं। कोई मधुप अथवा लघु तितली-कीट कहीं रानीके अग-सुवासपर आकृष्ट हुआ, रानीके अगोपर न बैठ पावे, इसके लिये वे पूर्ण सजग हैं। रानी खुले नेत्रोंसे समग्र वनको देख रही हैं। उनके नेत्र भाव-निमीलित नहीं हैं, पूर्ण विकसित हैं, फिर भी यह स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है कि भाव-प्रवणता रानीको प्रगाढतापूर्वक आक्रान्त कर रही है।

चतुर्दिक्, कृष्णमेघ उमड़े हैं। रानीको मेघाच्छादित गगन बहुत ही प्रिय लग रहा है। उन्हे यही प्रतीत हो रहा है, मानो उनके नवघन श्यामवर्ण प्रियतम ही प्रेमभरे चतुर्दिक् उमड रहे हैं। ज्योंही घन सुमन्द-सुमन्द गर्जन करते हैं इत स्तत वाटिकामें वृक्षोके नीचे विचरते मयूर जोरसे प्रिया-यहॉ, प्रिया-यहॉ निनाद करने लगते हैं। इनमें कुछ ऊर्ध्व शिखि कर आनन्दमें नृत्य कर उठते हैं।

रानीको इन मयूरोके रूपमे यदा-कदा उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ही नृत्य करते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। रानीकी यह भाव-प्रगाढ़ता जब और उद्दीपित होती है, तो उन्हे गुण, रति एव रसके रूपमें प्रियतम श्यामसुन्दर ही झूलेकी डोरी थामे अथवा व्यजन लिये खडे दृष्टिगोचर होते हैं। रानी प्रश्न कर उठती है – "अरे ! यह मेरे आर्श्व-पार्श्वमें व्यजन लिये कौन है ? वे उच्च स्वरमें बोलती हैं– कौन है, कौन है ? काहे मेरे झूलेकी रश्मि थामे है ?

रानीकी भावदशाको जानती सखियाँ तत्क्षण ही प्रत्युत्तर देने उनके पार्श्वमे आ जाती हैं और कहती है – "बहिन ! हम रति, रस एवं गुण मजरियाँ हैं।" इसके उपरान्त भी रानीको तो तीनों प्रियतम श्रीकृष्ण ही दिखती हैं। वे पुन: प्रश्न करती हैं – "रसमजरी ! तू मेरे पास आ ! रति तू मेरे बायें खड़ी हो! जब तीनों पृथक् होती हैं, तब रानी 'रस', 'रति' एवं 'गुण' इस प्रकार एक-एकको स्पर्श कर-करके स्मरण करने लगती हैं। इसी प्रकार कभी-कभी रानीको अपना झूला एव कभी वे स्वय भी प्रियतम ही दृष्टिगोचर होने लगती हैं। उस समय भी अपनी प्राणसखी ललिताको वे पुकार उठती हैं - "अरी ललिता ! देख मुझे ढूँढ, तो, मैं तो अपना अनुसन्धान ही नहीं कर पा रही हूँ ?" रानी की इस भावदशा गभीरताको भी सखियोंको ही सवरित करना होता है। आज भी रानी झूलेमें ऐसी दशाकी ओर ही अग्रसर हो रही हैं। कभी वे अन्तर्मुखी हुईं नेत्र-निमीलित कर लेती हैं, कभी टुक-टुक नेत्र विकसितकर सर्वत्र प्रसरित पावसके सौन्दर्यको वाटिकामें क्रीडा करता निहार रही हैं।

अचानक नव-घन आच्छादित नभमे चपलाकी तीव्र चमक होती है और अतिशय तीव्र गर्जन-ध्वनिसे वातावरण निनादित हो उठता है। रानी चौंककर बहिर्मुखी होती हैं।

कहीं सुदूर नभमे अतिशय मधुर सुरीली ध्वनिसे पपीहा 'पिहू, 'पिहू पुकार रहा है। रानीको अनुभव होता है, जैसे सुदूर वनमे छुपे प्रियतम श्याम सुन्दर ही पपीहेकी ध्वनिका अनुकरण करते सकेत देकर उसे वन भ्रमणार्थ आमत्रण दे रहे है। रानी विक्षिप्तवत् झूलेसे उतरनेकी चेष्टा करती हैं। तत्क्षण ही रति एव रस मजरियॉ अपना चॅवर एव व्यजन किनार रख उन्हे सम्हालती हैं। रानी इन दोनोंके सहारे झूलेसे नीचे उतर आती हैं। वे उस आमत्रण ध्वनिकी दिशाका सकेत पाने पुन विक्षिप्त सी समुत्सुक होती हैं।

गुण भी खडी हो जाती है। गुणको दूरसे दिखाई पडता है कि · " पौर्णमासी कीर्तिदारानीके साथ महलकी ओरसे आ रही है। वह शीघ्र आकर रानीके कानमे उच्च-स्वरमे कहती है — बहिन ! सतरित होओ, मैया पौर्णमासी आ रही हैं।"

गुण इतने उच्च स्वरमे यह वाक्य कहती है कि रानी अतिशीलभरी विनयी दृष्टिसे सम्मुख देखने लग जाती हैं। सभी सखियॉं आदरमे खडी हो जाती हैं। सभी देखती है — काषाय-वस्त्रावृता श्वेत-शुभ्रकेशा, तपोमूर्ति, तेजस्विनी ऋषि-स्वरूपा एक वृद्धा एक श्यामवर्णा सखीका सहारा लिये माता कीर्त्तिदाके सहित प्रासादकी ओरसे आ रही है। निकट आनेपर रानी उन परम तपस्विनीको प्रणाम करती है। मानो इस वृद्धा तपस्विनीके सम्मुख सभी प्रणत हो, इस भावसे पुष्पभरी लताये धरणीकी ओर झुक जाती है, उन्नतग्रीवा वृक्ष नमित हो जाते हैं मयूर नृत्य स्थगितकर तपस्विनीके निकट उनकी चरणधूलिमे लोटने लगते हैं। समग्र वातावरणमे ही जैसे श्रद्धा भर जाती है।

रानी निकट जाकर वृद्धा तपस्विनीको ज्योही प्रणाम करनेको उद्यत होती हैं, वे उन्हें उठाकर अपने वक्षसे लगा लेती हैं। वे अति वात्सल्यभरी रानीके सिन्दूर रञ्जित सीमान्तको प्रेमाश्रुसे अभिषिक्त करने लगती है। सखियो तुरन्त एक ऊँचा आसन बिछा देती हैं, और माता कीर्त्तिदा आग्रहकर उन्हे उसपर बैठा देती हैं। वृद्धा तपस्विनीके बैठ जानेपर सभी सखियॉं एव माता कीर्त्तिदा भी यथास्थान बैठ जाती हैं। मैयाके पास रानी बैठी हैं। वृद्धा तपस्विनीके विलक्षण तपोतेजसे समग्र वातावरण दिप-दिपा उठता है।

आशीर्वादात्मक अति गभीर ध्वनिमें तपस्विनी कहती हैं 'बेटी राधा आज श्रावण शुक्ला प्रतिपदा है। आज सभी सुहागिन स्त्रियॉं पीहरमें अपने हाथों

एवं चरणोमे मेंहदी रचना करती हैं।" यह कहती वृद्धा तपस्विनी नेत्र निमीलित किये ध्यानस्थ हो जाती है। वृद्धाके साथ आयी किशोरी श्यामाके नेत्र रानीके मुखपर मडराने लगते हैं। यह किशोरी वृद्धाके पाससे अचानक उठकर रानीके बगलमें उससे सटकर बैठ जाती है। सहसा तपस्विनी अपने नेत्र पुन खोल देती हैं। वे अपने साथ आयी श्यामाको रानीके पार्श्वमे आसीन देख, किंचित् मुसकरा उठती हैं। फिर कहती हैं – "बेटी ! देख, मैं तेरे लिये कैसी सुन्दर मेंहदी लाई हूँ। इस मेंहदीको मैने स्वय ही अपने हाथो अपने आश्रममें वपन किया था। जब यह पूर्ण पल्लवित हो उठी तो इसके पत्र मैंने सौभाग्य-मत्रका जाप करते हुए स्वय ही तो चयन किये, स्वय परिमार्जित और स्वच्छ किये और स्वय ही अपने हाथों इन्हे पीसकर विगत रात पद्मगन्धी यमुनाजल में भिगोकर तेरे पास इसका लेप निर्माण करके लायी हूँ। बेटी ! यह मेरे साथ आयी चचला श्यामा किशोरी जो अब तेरे साथ सटकर बैठ गयी है, मेंहदी माँडनेकी कलामें परम धुरीण है। यह अनेक कलाओकी पूर्ण मर्मज्ञ है, जैसे नृत्यकला, गायनकला, चित्रकला आदि। मैंने इसकी सभी कलाओंकी परीक्षा ली है और इसे पूर्ण पारगत जानकर तेरी सखी बनाने, तेरे पास लाई हूँ। बेटी ! यह तेरे हाथोमें और चरणोमे इतनी सुन्दर मेंहदी रचना करेगी कि इसकी कला देखकर फिर तू इसे कभी नहीं छोडेगी। ले, सँभाल ले, इस मेहदी पात्रको और इस मेंहदी रचानेवाली सखीको।"

यह कहती हुई वृद्धा तपस्विनी एक मृत्रिका-पात्रमें भिगोई मेंहदी रानीके हाथोंमे दे देती हैं। रानी प्रणत हुई वह पात्र लेकर पार्श्वमे खडी रतिमजरीको सौंप देती है। वृद्धा तपस्विनी अब उठ खडी होती हैं, फिर रानीके मस्तकको सूँघती, उन्हें आशीर्वाद देती चलनेको उद्यत हो उठती हैं। रानी कीर्त्तिदा उन्हें अपना वाम-कधा सम्हलाती हैं। वे उनका सहारा लिये महलकी ओर चल पडती हैं।

दो-चार कदम चलते वृद्धा तपस्विनी पुन रुक जाती है एव मुसकराकर कहती हैं – "यह श्यामा अति एकाग्रचित्त हो मेहदी लगाती है, इसे कोई विक्षेप नहीं हो, अत एकान्त कुजमें इससे मेंहदी-रचना कराना।" यह कहकर पुन तेजीसे वे प्रासादकी ओर बढ चलती हैं।

लो ! वृषभानु प्रासादके ही पिछवाड़े गिरिस्रोतके तटपर ही एकान्त स्थलमें एक परम सुन्दर, सौम्य निकुञ्ज स्वत प्रादुर्भूत हो गया है। सभी श्रृगारोपयोगी सामग्रियाँ इसमें प्रचुर मात्रामें यथास्थान सुसज्जित हैं। अति मनोरम रत्न-विजडित चन्दन काष्ठके प्राकारोंमें सुजटित आरसियाँ यथास्थान

सजी हैं। स्थान-स्थानपर मखमलकी गद्दियोसे युक्त रत्न जडित स्वर्णके पीठासन रखे हैं मणि मुक्ताओकी झालरोंसे कुज-कक्ष जगमगा रहा है। स्वर्ण-पिंजरोंमें शुक-सारिकादि पक्षी समासीन हैं। मनोरथ करते ही मनोवाछित प्रसाधनकी सभी वस्तुएँ यथावसर प्रदान कर दे, ऐसी इस निकुजमें विधाता-प्रदत्त स्वत सिद्ध शक्ति है।

देखो ! श्यामासखी रानीके सग इस कुञ्जमे पदार्पण करती हैं। अति विश्रामदायी एक पीठासीनपर रानी विराजित हो जाती हैं। रानीका सकेत पाकर सभी सखियॉ निकुञ्जसे बहिर्गत हो जाती हैं और निकुञ्ज एकान्त हो जाता है। श्यामासखी मेहदी रचनाकी सभी उपयोगी सामग्रियाँ यथास्थान सज्जित कर, रानीके चरण-प्रान्तमे ही स्थित एक मखमलके आसनपर स्वयं बैठ जाती हैं।

लो ! सखीने मेहदी-रचनार्थ रानीके चरणोसे अंगुलीयक, अगुष्ठक एवं नूपुरादि चरण-सज्जित अलकारोको विलग कर दिये। ये सभी अलकार सचेतन चिन्मय जो हैं। देखो ! ये वियोग-दु खभारसे व्यथित कैसे शोभाहीन हो रहे हैं ! किन्तु साथ-ही-साथ रानीके सुकोमलतम चरणोंमे सौभाग्य-मेंहदी समलंकृत होगी और वे इस श्रृगार-रचनाके द्रष्टा-साक्षी रहेगे, इस भावसे, सुख-भावसे भी भावित हैं। युगपत विरह और सुख दोनों भावोका प्रकाश करते इन सब अलकारोकी अहा ! कैसी विलक्षण शोभा है ! लो ! सखीने प्राण-प्रिया रानीके रक्तोत्पल-सदृश सुकोमल दोनों चरणोंको अपने कर-सरोजोमें विधृत कर लिये है। देखो भाई ! इस सखीको हो क्या गया है ? यह एक क्षण तो इन चरणोको अपने अधरोसे सस्पर्शित कर रही है, कभी निज पलकोंसे इनकी रज स्वच्छ करती है। यह नयन मूँदे कुछ अस्फुट-स्वरमे बोल भी रही है। आओ ! इसकी मधुर वाणी सुनें। अरे ! यह कैसी विलक्षण सखी है ? इसकी मधुर-वाणी आनन्दोदधिकी उच्छलित तरगे तो हैं ही, किन्तु इसकी वाणीमे पुरुषोचित गाभीर्य भी है। कोई स्त्री इतने गभीर स्वरवाली हो, कभी देखनेमें ता नहीं आयी। देखो ! यह तो रानीके चरणोंको अपने नलिननयनोंके प्रेमाश्रुओंसे भिगो रही है। अरे, अरे, यह नयन मूँदे किसी विलक्षण प्रेम-समाधिमें ही डूब गयो ! यह इस भाव-दशामें कैसे मेंहदी-रचना करेगी। कलात्मकताका प्रदर्शन कछ तो बहिर्मुखताकी अपेक्षा भी करेगा ही !

श्यामासखीको प्रेमसमाधिमें डूबी देख, रानी सखियोका आह्वान करती है। ललिता श्रृगार कक्षमें तत्क्षण ही प्रविष्ट होती है। रानी एव ललिता दोनोंही श्यामासखीको जाग्रत करनेके लिए झकझोरती हैं। अचानक दोनोके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता। श्यामासखीके वक्षोजोके रूपमे उसके वक्षस्थलमे सलग्न

कन्दुक, उसे झकझोरते ही उसके वस्त्रोंसे बहिर्गत हो जाते हैं। ललिता मुसकाने लगती है। रानीका आनन -- सरोज लज्जासे रक्ताभ हो उठता है। रानीके सम्मुख अब तो सभी रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि मेहदीके मिस उसके प्रियतम श्यामसुन्दर ही श्यामासखी बने, तपस्विनी वृद्धा पौर्णमासीको भी छल गये हैं, और कीर्तिदा मैयाको भी वचना दे गये हैं। किन्तु अभीतक प्रियतमकी प्रेमजन्य मूर्च्छा निवृत्त नहीं हुई है। ललिता एव रानी उन्हें उसी कुञ्जमे सुसज्जित मनोरम पद्मशय्यामे लेटा देती हैं। रानी प्रियतमके मस्तकको अपनी गोदमे लेकर उसी शय्यामे आसीन हो जाती हैं। सहसा प्रियतम श्यामसुन्दरको किञ्चित् बाह्य जाग्रति होती है। वे कुछ अस्फुट शब्द उच्चारण करने लगते हैं "हे मेरे प्राणोकी रानी ! हे मेरे सर्वांगोकी सम्मोहिनी !! हे मेरे समग्र आनन्दको उद्गमस्थली !!! हे मेरी प्राण सजीवनी !!!! तुम्हारे इन चरणोंके आश्रयसे मुझ क्षणभरके लिये भी कभी पृथक् मत करना। अब तो मेरे प्राणोकी समूची वृत्तियाँ ही सर्वतोभावेन तेरी चरण-नख-ज्योत्स्नामें ही समाहित हो गयी हैं।"

"मेरी श्रवणेन्द्रियामे तेरे चरणोमे सुजड़ित नूपुरोकी झकार ही बस गयी है। मेरा मन तेरे चरणगत तालुओकी लालिमामे ही पूर्णरूपेण स्थिर हुआ रम गया है। प्राणेश्वरी ! तुमसे मैं किंचित् भी कपट नहीं करता। यह मेरे अन्तर्हृदयकी सुगुप्तसे सुगुप्त बात है। वस्तुत तुम्हारे शुचितम चरणोंमे ही मेरा स्थान है तुम मुझे वहीं बसाये रखना। मेरे इस सौभाग्यसे मुझे कभी वंचित मत करना।"

"मेरी रानी ! यह मेहदी तो मेरा ही स्वरूप है। यह तेरे चरणोमें सलग्न होते समय तो अपने बाह्य कृष्ण स्वरूपमे ही सयुक्त होती है-किन्तु जब कुछ काल पश्चात् यह तेरे चरणोसे वियुक्त होगी तो तेरे चरणोंमे अपना समग्र प्रेम राग रजित कर जायेगी। इसी प्रकार, जब मैं तुझसे मिलता हूँ, तो अपने समग्र स्नेह-रागको ही तेरे प्राणोमे सलग्न कर जाता हूँ। मेरी प्राण सजीवनी ! मैं तो मेंहदीके रूपमे तुझसे सलग्न होने ही तो आया था।"

रानी देखती है कि उसके प्राणनाथ नीलसुन्दर अर्द्धचेतनावस्थामे भी उसके चरणोंको ही स्पर्श करनेको आतुर हैं। वे अपने प्रियतमके कर युगलोको अपनी अजलिमे बाँध लेती हैं। वे अपने प्राणनाथ नीलसुन्दरको अनन्त, अपरिसीम, अनुपम प्रेमभावमे डूबा देखकर स्वय भी उन्हीं प्रेमोदधिकी ऊर्मियोमें डूबने लगती हैं। उन्हे उसका ही नहीं समग्र विश्वका कण-कण अपने प्रियतमके अथाह प्यारसे परिवेष्टित दृष्टिगोचर होने लगता है। रानीके हृद्देशमे भावोंकी आँधी सी आने लगती है।

सहसा हकबकायेसे प्राणसुन्दर नीलमणि सचेतन हो उठते हैं। वे देखते

है कि उनका छद्म सखी-वेष तो उतर गया है और वे रानीकी गोदमे लेटे हैं। ललिता ! हँसकर विनोद करती है – "अहो वचकशिरोमणि ! आपके सखी नाट्यकी बलिहारी है।"

प्रियतम नीलमणिके नेत्र प्रेममें पूर्ण पगे छलक रहे है। वे रानीकी ओर अति सतृष्ण होकर देखते है और कहने लगते है। "प्राणवल्लभे ! तेरे चरणोके तनिकसे सस्पर्शने जब मेरा समग्र छद्म मिटा दिया है और मै जैसा हूँ वैसा सम्मुख हू, तो अब मुझे यह मेहदी-शृगार तो कर लेने दो। क्या मेरे जीवनका अणु-अणु अतृप्त अभिलाषाओका ही आगार बना रहेगा ? प्रिये ! तू तो अपरिसीम सौहार्दकी सिन्धु है। जिस लालसाकी पूर्तिके लिये मैने पौर्णमासी ...से वचनाकी, वह मेरी लालसा तेरी महानुभावतासे पूर्ण तो हो जाय।"

रानी हँसकर अपने प्रियतमके कण्ठसे लिपट जाती है। ललिता हँसकर कहती है "ये आपकी है, और आप इनके। हम मध्यमे क्यो और कौन ? चलो सखियो निकुञ्जका एकान्त करो।" सभी सखियां खिल-खिलाकर हँसती कुञ्जके बाहर हो जाती हैं।

* * * * * *

प्रियतम नीलसुन्दर एक पद्मपीठपर अपनी प्रियाको समासीन करके देखो ! उनके चरणोमे मेहदी-रचना कर रहे है। रानीके सुकोमलतम युगल चरण अपनी गोदमे रख वे अपनी प्रियाके चरण-प्रान्तमे ही बैठे है। एक रत्नपात्रमे अतिशय बारीक पिसी मेहदी, पुष्पसार (इत्र) मे भीगी रखी है। मेहदी अपने आपमे इतनी सुवासित है कि उसमे इत्रसारका मिश्रण अनावश्यक लग रहा है किन्तु वृन्दावनकी समग्र पुष्पलताओका मनोरथ भला प्रियतम कैसे अनदेखा कर पाते ? इन लताओंको अपने पुष्पो द्वारा प्रियाके चरणोंमे सलग्न होनेका अवसर तो इस पुष्पसारके मिस इसीसमय जो मिल रहा है। प्रियाके चरणोको अपने रागसे रजित करनेका सुअवसर तो आज ही है, यह अवसर चूक जानेके पश्चात तो ऐसा सौभाग्य बार-बार मिलनेसे रहा। प्रियाकी केशराशि तो प्रतिदिन ही पुष्पसारोसे सिक्त होती है। वह कस्तूरी, केसरके कल्क-धूमसे प्रतिदिन सुवासित भी होती है। रानीके अगो-अगोमे उबटन-द्रव्य निर्माण करनेमे भी पुष्पचूर्णोका उपयोग प्रतिदिवस होता है, परन्तु कल्क, उबटन, केसर-लेप आदि चरणोको कहाँ सस्पर्श कर पाते है ? प्रियाके चरणोंकी अपनी एक विशेष महिमा जो है, फिर ये इन महामहिमामण्डित चरणोकी सेवासे भला कैसे वचित रह जाय अत जबभी प्रियाके चरणोको अनुरञ्जित करनेके लिये मेहदीकी पत्ती तोडी जाती है, तो आश्र्व-पार्श्वमे विकसित सुरम्य सुगन्धिधारी

सभी पुष्प भी प्रार्थना करने लगते हैं – "बहिन मेंहदी ! यह हमारा सौभाग्य ही है कि हमारी सजातीय तू आज अपने पत्रों द्वारा प्रियाकी चरण-सेवा करने जा रही है। बहिन ! इस गर्वसे इतनी सुवासित मत हो उठना कि हम सभीके पुष्पसारसे तुझे भिगोया नहीं जाय। आज ऐसी अप्रतिम सेवाका अवसर तुझे जो मिला है, उसमें भले ही प्रमुख भूमिका तेरी ही रहे, परन्तु तेरे साथ हमारा सहयोग भी बना रहे, यह सदा ध्यान रखना।"

इस प्रार्थनाका ही यह फल है कि मेहदीने अपनी सुगन्धि मन्द-मधुर ही रखी है और प्रियतमने इसके चूर्णमें पुष्पसार (इत्र) मिलाकर जो लेप निर्माण किया है, वह लेप ही प्रियाके चरणोमे प्रयुक्त हो रहा है।

प्रियतमने अपने दक्षिण हाथमे पुष्पवृन्तोंसे निर्मित एक सुकोमल शलाका ले रखी है और उसीको मेंहदीलेपमें डुबोकर वे चित्र निर्माण कर रहे हैं। रानीके दक्षिण चरण एव वाम चरणके चतुर्दिक् तो उन्होने लता-जाल निर्माण किया है, इस लताजालके प्रत्येक पत्रमे उन्होने 'कृष्ण' नाम लिखा है। चरणके मध्य भागमें अँगुलियोंके ऊपर उन्होने एक कदम्बवृक्ष और उसके नीचे स्वय अपनी मुरलीवादक छबि अंकित की है। गगनमे पूर्ण चन्द्र और राकानिशाकी शोभा सज्जित की है। किन्तु उसमें वृक्षोंकी ओटसे चन्द्र झाँक रहा है। वामचरणमे उन्होने एक वृक्षके नीचे प्रियाकी पद्म शय्यामे शयित छवि निर्माणकी है और स्वय प्रियाके चरणोके समीप बैठे निज प्रियाके चरणोका संवाहन कर रहे हैं – ऐसी छबि निर्माणकी है । वृक्ष यमुनाके तटपर स्थित है, और यमुनामे हस-हसिनी गण तैर रहे हैं। यमुनामें सर्वत्र कमलिनियाँ भी विकसित हैं।

प्रियतम, प्रियाके चरणोमें मेहदी-रचना सम्पूर्ण करके किंचित् विराम लेते हैं और कहने लगते हैं – "प्रिये ! तुम्हे पता है, यह तेरे चरणोमे मेरे द्वारा मेंहदी रंजित करानेका सकल्प किसका है ?"

प्रिया मुग्ध-सी अपने प्रियतमके मुखकी ओर ताकने लगती हैं। प्रियाकी अवलोकनी इतनी सरल एव स्नेहभरी है कि प्राणवल्लभ नीलसुन्दर अपनेको सवरित ही नही कर पाते और उसे अपने वक्षमें सटा लेते हैं। फिर कहने लगते है "प्रिये चलो ! प्रपचकी भारत-भूमिमें चलें। प्रपचके कालमानानुसार आजके पॉच हजार वर्ष पूर्व हम दोनोने इस भूमिखण्डके व्रजप्रदेशमे अवतार ग्रहण किया था। प्रिये ! प्राकृत कालगणनाके अनुसार वहॉ तेरी उस अवतारकालमे एक शताब्दीसे भी अधिक कालपर्यन्त अतिशय महाभावोन्मादी चिन्मयी प्रेमलीला सम्पन्न हुई थी।

प्रिये ! अधुना इसी प्रपञ्च भूमि भारत-खण्डके गोरक्षपत्तन नामक नगरमे

तेरे विलक्षण कृपा-भाजन दो सन्त, तेरी परम कल्याणप्रद प्रीति भावलीलामे आकण्ठ निमग्न हैं।

प्रिये ! यह भारत-भूखण्ड तेरा असीम-कृपाभाजन है। यदा-कदा तेरे भाव जगत्का प्रकाश यहाँ भिन्न-भिन्न सन्तोंमें यथाकाल, यथायोग्यता होता ही रहता है। तेरी कृपा-कोरको प्राप्त करनेवाले जिन वरिष्ठ सन्तद्वयकी चर्चा मैं कर चुका हूँ, उनमे एक तो वैश्य जातिमे उत्पन्न गृहस्थ है ओर दूसरा गैरिक वस्त्रधारी सन्यासी ब्राह्मण शरीर है। इन दोनोके पावन अन्तःकरण-मुकुर तेरी नित्य-नूतन अभिनव मधुर लीलाओंके बिम्बसे जगमगाते रहते हैं। ये दोनो आरम्भ ही तेरी अतिशय प्रेम-गरिमामयी लीलाओंके द्रष्टा बने उसमें निमग्न रहते हैं। इस वैश्यजातिके गृहस्थ सन्तकी धर्म-पत्नीको वह सन्यासी अपनी धर्ममाता तुल्य समादर करता है और उसमें भगवती पौर्णमासीका अश क्रियाशील है। इस महासौभाग्यवती स्त्रीने ही इस सन्यासी सन्तकी प्रेरणासे तेरा पावन 'राधा' नाम जपते हुए मेहदी संस्कारितकर तेरे प्रपञ्चान्तर्गत बरसाने ग्रामके मन्दिरमे स्थित तेरी मूर्त्तिके अर्चनार्थ भेजी थी। आज जो यह सम्पूर्ण लीला इसके चिन्मयधाममें सघटित हुई है वह इसी सन्यासी सन्तके निर्मल सकल्पका प्रतिफल है।

आओ प्रिय ! एक क्षण हम दोनो इस तेरे कृपा भाजन गृहस्थ सिद्धस· ? और इस सन्यासीके राधा-परिवारपर एक दृष्टि डाल ले। चलो, बरसानेके मन्दिरमे मेहदी लानेवाले इस सन्यासीके कृपा-पात्रोकी अर्चनापर भी तेरी एक प्रेमभरी दृष्टि पड़ ही जाय।

यह कहकर प्रियतम नीलमणिने अपनी प्रियाको गोरखपुर एवं बरसानेका दृश्य दिखाया। सौभाग्यवश उस दिवस गीतावाटिकामे श्रावणीतीजके उपलक्षमे "राधा-राधा" नाम सकीर्त्तन हो रहा था। प्रिया-प्रियतम इस कीर्त्तनमे नृत्य करते-झूमते सभी उत्सवमे सम्मिलित महासौभाग्यवान् कृपा-पात्रजनोपर दृष्टि डालते तथा बरसानेमे पूजामे सलग्न श्रीभगवानदासजी, श्रीमोहनलालजी आदि प्रियपात्रोको निहारते, एक-दूसरके स्नेहमे सराबोर आगेकी अपनी लीलाओमे निमग्न हो जाते हैं।

(अन्तिम वर्णित सम्पूर्ण लीला कि प्रिया-प्रियतम गोरखपुरमें राधा-परिवारपर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं, पू. राधाबाबा द्वारा शब्दशः कथित है।)

**राधा राधा राधा राधा राधा**

---

॥ श्रीराधा॥

पत्र संख्या - छत्तीस

# कब इन नैननि निरखिहौं वदन-चन्द्रकी कान्ति

*पत्र-प्रेषक :*

**पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प. पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला, श्रीरामलालजी चूडीवाला, श्रीउमादत्त माटोलिया एवं अन्य वृन्दावनवासी सत्संगी बन्धु**

*प्रेषण-स्थल :*
गीतावाटिका, गोरखपुर (उ.प्र.)
*दिनांक :*
**पौष पूर्णिमा, सं. २००३**

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह ।

श्रीमोहनलालजी,

(श्रीस्वामीजीने लिखाया है)

सस्नेह राधा स्मरण। आपके पत्र मिलते रहे हैं। इस बार आपको एक अतिशय सुन्दर पद लिखकर भेज रहा हूँ। यह पद मुझे अतिशय प्रिय लगता है, और मैं इसे प्रायः गुनगुनाता रहता हूँ। आपका सचमुच ही मुझपर बहुत ही विश्वास एवं प्रेम है, और मैं आपको पत्रोत्तर भी नहीं दे पाता। क्या करूँ ? मेरी स्थिति तो यह है कि 'बाबाजीकी झोलीमें जेवडा' और भजन आपसे होता नहीं है। मैं चाहता हूँ, आपकी रहनी इस पदके भावों जैसी हो जाय, और आप अबतक सांसारिक वासनाओं और कर्त्तव्योंके जंजालसे निकल ही नहीं रहे। अतः बार-बार पत्रोंमें एक ही बात इधर-उधर उलटफेरकर दोहराता रहता हूँ।

चलो ! इस पदका ही आनन्द लेते हैं। न जाने हम सभीकी जीवनधारा इस उच्च श्रेणीकी प्रेममयी होकर पियाप्रियतमकी ओर कब मुडेगी और सच्ची चाहयुक्त यह हूक हमारे प्राणोंसे उठेगी।

*यमुना तट निशि चाँदनी सुभग पुलिन तरु छाँहि ।*
*कब परमाकुल विरहिनी हम पिय पेखन जाहिं ॥*

हाय ! कब वह सुदिन होगा, जब यमुनाका परम प्रेम-पावन तट होगा, सुन्दर सुभग पुलिन होगा, निर्मल चँदनीभरी निशा होगी, तमाल अथवा कदम्बकी

छाँह होगी, और परमाकुल विरहिनी हम प्रियतमके चरणोंके दर्शन करने जावेगी।

*युगल-रूप आसव छकी तनिक न तनकौ ध्यान ।*
*विरह-दशा दारुण निरखि दम्पति दया-निधान ।*
*कबहुँ झुकत मो ओरकौं ऐहैं मदगज चाल ।*
*गरबाहीं दीने दोऊ प्रिया, नवल-नँदलाल ।।*

मुझे वे दोनों प्रिया-प्रियतम, अपने सौन्दर्य सुधारूप आसवमें पूरी छकी देख, तथा तनके ज्ञानसे भी शून्य पाकर मेरी दारुण विरह-दशाको देखते हुए दया-निधान दम्पति कभी-न-कभी अवश्य अपनी मदमत्त गजराजकी-सी चाल चलते हुए मेरे निकट आवेंगे और मुझपर झुकेंगे। वे दोनों प्रिया व नवल नँदलाल परस्पर गलबाँही दिये होंगे।

**सिर झलकत मंजुल मुकुट कटि लौं लट रहि छूटि ।**
**सोहत ललित लिलार पर उभै भौंहकी जूटि ।।**
**ता मधि बैंदी रतनकी लर मुकुताकी हाल ।**
**नैन छके कछु-कछु अरुण सुन्दर सरस विसाल ।।**
**कुण्डल झलक कपोल पर राजति नाना भाँति ।**
**कब इन नैननि निरखिहौं वदन-चन्दकी कान्ति ।।**

उनके मस्तकपर मंजुल मुकुट झलमलाता होगा, और उनके केशोंकी लटें कमरतक लटक रही होगी। उनके सुन्दर लिलारपर दोनों भौंहोंके घने काले छोटे-छोटे बाल शोभा दे रहे होंगे। उन दोनों भौंहोंके मध्य रत्न-जटित बिंदी शोभायमान् होगी और उसके ऊपर मोतियोंकी हाल शोभित होगी। उन दोनोंके सुन्दर रस-भरे विशाल नेत्र जो थोड़े-थोड़े अरुणाई लिये है। प्रेम-मद मे छके हुए होंगे। उनके कुण्डलोंकी आभा कपोलोंपर दमक रही होगी, जो कुण्डलोंमें जड़ित अनेक प्रकारके आभूषणोंके कारण नाना प्रकारकी रंगत प्रकट कर रही होगी। अरी सखि ! कब वह शुभ दिवस होगा, जब मैं अपने इन नयनोंसे ऐसे प्रियतमके वदन चन्द्रकी शोभा, कान्ति देख पाऊँगी।

भाई मोहनलालजी ! मैं तो उनकी कृपाकी बाट देख रहा हूँ, आप भी देखिये। पल-पल उनकी कृपाकी प्रतीक्षा हो जीवनके अन्तिम क्षणतक कभी तो वे हेतुरहित कृपालु दयाद्रवित होंगे ही। और क्या कहूँ ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - सैंतीस (३७)

# नींद तोहि बेचूँगी आली !

*पत्र-प्रेषक :*

**पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प. पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला एवं सभी वृन्दावनवासी सत्संगीजन।**

*प्रेषण-स्थल :* गीतावाटिका, गोरखपुर ।

*दिनांक :* भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा, संवत् २०२२ वि.

*प्राप्तिसूत्र :* श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह ।

प्रिय श्रीमोहनलालजी !

सप्रेम जय श्रीराधे । (पू. स्वामीजीने लिखाया है)

आपके पूर्व-पत्र मिले। आज श्रीलादूरामजी वृन्दावनसे आये थे। उन्होंने आपके समाचार दिये हैं।

राधाष्टमीका उत्सव यहाँ सोल्लास बहुत ही सुन्दर ढंगसे मनाया गया। इस उत्सवका परम दुर्लभ चरणामृत प्रसाद अलग पैकेटमें भेज रहा हूँ। इसे यमुनाजल अथवा गंगाजलमें चाहे जितना बढ़ाना चाहें, बढ़ा लीजियेगा। सभी प्रेमियोंको अवश्य दें। श्रीनन्दकुमारजी ब्रह्मचारीको भी अवश्य दें। श्रीशिवभगवान्‌जी फोगलाको भी प्रसाद अवश्य देंगे।

इस बार आपने मुझे अनेक सुन्दर पद भेजे हैं। इन अनेक पदोंमेंसे एक पद मुझे बहुत ही भावमय लगा। आपने तो इसे रासधारियोंसे रासलीलामें सुना था, किन्तु पूरा स्मरण नहीं सम्भवतः श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीने इसे मुझे सुनाया था। मुझे उनके गायनके साथ एक लीलाकी भावना भी हो उठी थी। मानसिक कल्पनाएँ तो सुन्दर पदोंके साथ होती ही रहती है। इन दिनों आपका यह पद दिन-रात मनमें छाया रहता है। प्रेमकी आश्चर्यजनक स्थिति को यह पद झलकाता है।

**नींद तोहि बेचूँगी आली, जो कोई ग्राहक होय ।।**

प्रेम रस भावित-मति व्रजसुन्दरियाँ प्रेमकी उच्चावस्थामें अपना समग्र

व्यावहारिक ज्ञान खो बैठती हैं। जिस तमालके अथवा कदम्बके नीचे श्रीकृष्ण खडे हो जाते है, वे उस तमालसे लिपटी उस भूमिखण्डमें पडी रहती हैं। वे लता-वल्लरियोंसे वार्त्ता करती रहती हैं। हरिणियोंके द्वारा अपने प्रियको अपना प्रेम-सन्देश भेजती हैं यहॉतक कि उन्हे प्रतीत होने लगता है, मानो निद्रा भी खरीदने-बेचनेकी वस्तु है। वैसे तमोगुणसे उत्पन्न निद्रा तो व्रजसुन्दरियोंको संस्पर्श ही नहीं कर सकती। हॉ ! अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके चिन्तनमें वृत्तियोंके सर्वथा तन्मय हो जानेपर वे आत्मविस्मृत अवश्य हो जाती हैं। इस आत्मविस्मृतिको ही वे निद्रा मान बैठती हैं। सुषुप्तिकी भॉति अज्ञानमे उनकी वृत्तियॉ लीन हो जावे, ऐसी उनकी निद्रा नहीं। उनकी चित्तभूमिमे तो सोते समय भी नित्य-निरन्तर अखण्ड श्रीकृष्ण-स्फुरण होता ही रहता है।

*चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात ।*
*हृदय तें यह श्याम मूरति छिन न इत-उत जात ।।*

तो गोपीकी निगोडी ऑखोंको रोग लग गया है। उसे सभी वस्तुएं श्याम ही श्याम दिखाई पडती है। गोपी चलती है तो उसे पथके चतुर्दिक् सभी वस्तुओंके अन्तरालमे श्यामसुन्दर ही भरे दृष्टिगोचर होते है। वह देखती है तो उसे सभी वस्तुएँ श्याममय दिखती हैं। गोपीके स्वप्न उसके प्रियतम श्यामसुन्दर से सबंधित ही होते हैं और निद्रा भी उसकी एक भावसमाधि ही माननी चाहिए जिसमे अन्य स्मृतिरहित वह मात्र अपने प्रियतमकी स्मृतिमे डूबी रहती है।

तो गोपी बाह्य जगतके लिये तो सो रही है परन्तु उसके भीतर उसका मन तो इस मयूर-मुकुटीकी छविपर निरुद्ध डूबा है। उसके हृदयमे स्थिर दृश्य है – अहा ! घन कृष्ण कुंचित कुन्तल राशिपर मयूर-पिच्छ गुम्फित मुकुटाभरण कैसा फब रहा है ? श्री अंगोपर ललित त्रिभंगमुद्रा देखते ही बनती है। चंचल अरुणिम नेत्रो की चितवनसे प्रीति-रसका निर्भर झर रहा है। गोपी विलक्षण निद्रामे निद्रित है। उसके चतुर्दिक अतुलनीय सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य जगमगा रहा है। इस प्रगाढ निद्रादर्शनमे जितने सुन्दर उसे प्रियतम दिखते हैं वैसे तो उसकी ऑखो ने जाग्रतमे भी कभी नहीं देखे थे।

सहसा गोपीकी नींद खुल जाती है। वह नक्षत्रोंकी स्थितिसे अनुमान लगाती है कि अभी मात्र अर्धनिशा ही है। उसे यह समझमे ही नहीं आता कि निद्रामे प्रियतमका दर्शन कैसे सभव है ? वह स्वप्न तो कदापि नही था ? क्योंकि स्वप्नमे स्थिर वृत्ति कदापि सभव नहीं – और घोर निद्रामे कुछ भी दर्शन सभव नहीं। फिर कोटि-कोटि कन्दर्पोंको लज्जाके घन आवरणमे डालनेवाला वह सौन्दर्य उसे निद्रामें कैसे दर्शन होना सभव हुआ ?

गोपी विचारते-विचारते भावसमुद्रमे डूबने लगती है। वह स्वेदसे लथपथ हो जाती है बार-बार उसे रोमाञ्च और कम्प होने लगता है। वह यही निर्णय करती है कि वह तो घोर निद्रामे सोयी पडी थी और उसके प्रियतम यहाँ आये थे। उन्होने उसे घोर निद्रामे शयित देखकर एक अभिनव रसक्रीडा की थी, वे उसके अन्तःकरणमे प्रवेश कर गये और प्रेमवश उस सोती हुई को भी अपनी उपस्थिति दिग्दर्शित कराके वे चले गये।

गोपीको उसके प्रियतमने जगाया नही, परन्तु वे उसके एकान्त शयनकक्ष तक आये थे, तभी तो उसको निद्रामे भी उसे उनकी मादक प्रेममयी छविके दर्शन हुए थे अहा वे कैसी मनोहर थी, उनके अलक-जालकी शोभा ! कितने मृदुल अग संस्थान थे, उनके। वह मृदिमा भी नित्यनूतन होती चली जा रही थी। उसके प्राणोको चरम सीमातक आकर्षित कर गयी, वह। उनके सौरभसे गोपीका कक्ष अबतक महक रहा है।

इस प्रकार सोचती गोपी व्याकुल होकर प्रागणकी ओर दौड पडती है। उसे प्रागणमे दिखाई पड जाते है चक्र, छत्र, यव एव अकुशके चिन्ह जो उसके प्रियतमके ही पद-चिन्ह है। अब तो गोपीके दुःखका पारावार नही।

आह ! रे प्रियतम आँगनमे आये और लौट गये और अरी बैरिन निद्रा ! तूने मुझे सुलाये ही रखा ?

*आये मोहन फिरि गये अँगना, मैं बैरिन रही सोय !*
*कहा करूँ कछु बस नहि मेरो, मिल्यौ रतन दियो खोय ।।*
*लछीराम प्रभु अबकैं मिलैं तो राखूँगी नयन समोय ।*
*नींद तोहि बेचूँगी आली जो कोई ग्राहक होय ।।*

अहा कैसे विलक्षण प्रेमभरे भाव हैं। गोपी नींदको बैरिन समझकर उससे अतिशय कुपित है। वह उसे बेचनेको व्यग्र है, परन्तु उसे व्रजमे श्रीकृष्णके ग्राहक तो मिल गये, निद्राका ग्राहक तो मिलना ही असभव है निद्रा तो उस व्रजकी सभी गोपियोंको धोखा देती है। वह उनके विरहतापको भुलाकर उन्हे विश्राम तो अवश्य देती है, परन्तु उन्हे वह अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिसे तो काटती ही है, यह गोपियोंको स्वीकार जो नही, परन्तु कठिनाई यही है कि व्रजमे गोपीको नीदका ग्राहक दिखता ही नहीं गोपी कहती है —

"अरी नींद ! मैने तुझे अपनी सखी समझा था। अपने प्रियतमके विरहमे जब मै अतिशय व्याकुल होती थी तो तू मेरी व्यथा हरने आया करती थी तू उनसे मुझे स्वप्नोमे मिलाया भी करती थी। मैं तेरा अति उपकार मानती थी।

परन्तु तू तो पूरी ठग निकली। तूने मुझे तो सुलाये रखा और जब प्रियतम मेरे पास आये, तो तू मुझ सुषुप्तको छोडकर उनके साथ रमण करने लगी ? अरी कुटिला ! तूने तो आज मेरा मिला अनमोल रतन ही मुझसे छीन लिया। परन्तु बहन ! तेरा दोष नहीं, वे है ही ऐसे। वे नीलसुन्दर जब अपने बंकिम नेत्रोसे किसीकी ओर देख भर लेते हैं, तो रमणियोका धर्म और धैर्य ही छूट जाता है। फिर तेरा मन भी उनमे रम गया इसमे आश्चर्य ही क्या हे ? अरी ! जब समग्र वनके भ्रमरदल ही उन्हे देखकर व्याकुल हुए अपने प्रियतम कमलका मधुपान त्यागकर उनकी ओर दौड पडते हे, जब यमुना उन्हे देखकर अपना प्रवाह बदल कर, उलटी बहने लगती है, तो तू तो निद्रा ! युवती ठहरी , तूने मुझ दुखियाको ही ठग लिया ? परन्तु सखि ! मैं तुझे क्षमा नहीं कर सकती। यह एक दिनकी बात तो है, नही ! तू तो सदैव ही ऐसा करेगी। फिर तो मैं अपने प्रियतमसे सदैवके लिये वंचित हो जाऊँगी। इस ब्रजमें तो अनन्त प्रियतम-विरहिनी हैं। विरह-दुख-पीडित किसीने भी अपनी व्यथा हरनेके लिये तुझे चाहा, मै उसे तेरा दान कर दूंगी। चाहे वह बिना मोल ही तुझे मुझसे खरीद ले। तुझे बेचनेसे ही मुझे प्रियतम मिल पावेंगे। इस बार तो यदि वे आये, तो उन्हे सदा-सदाके लिये मै नयनोमे ही समोये रखूँगी। एक क्षणके लिये भी पृथक् नहीं करूँगी।

मोहनलालजी ! बडभागिनी ब्रजसुन्दरी श्रीकृष्णदर्शनमे बाधा समझकर निद्रा जैसी वस्तुको भी विक्रय करनेका सकल्प कर रही है, और हमलोग इतने अभागे है कि प्रत्यक्षमे जो वस्तुएँ श्रीकृष्ण-दर्शनमे निरन्तर बाधक हैं, उन्हे चाह-चाहकर, आमन्त्रण दे-देकर अपने हृदयमें बसाते हैं। उनके नही मिलनेसे बहुत ही दुखी होते हैं।

मोहनलालजी ! आप तो ब्रजमे बसते है। श्रीराधारानीकी अपारकृपासे ब्रजवास मिलता है। परन्तु जैसे शरीर ब्रजमें है, वैसे मनका प्रत्येक सकल्प, उसका अणु-अणु ब्रजकिशोरः एव ब्रजकिशोरसे भर जाय, इसकी चेष्टा करें

सभी प्रेमियोंको यथायोग्य कहेंगे।

राधा राधा राधा राधा

---

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या : अड़तीस (३८)

# तुलसी पूजन

*पत्र-प्रेषक :*

**पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प. पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला**

*प्रेषण-स्थल :* अजमेर (पूरा पता नहीं)

दिनांक : ता. ७.१२.४३

प्राप्ति-सूत्र : श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह

प्रिय मोहनलालजी ! (पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराजने लिखाया है) पुनः दर्द बढ़ जानेके कारण, मैं, रामस्नेहीजी, गोस्वामीजी, पुरुषोत्तमजी आदि आज यहाँ चले आये हैं। इसीसे आपको पत्रोत्तर नहीं दे पाया।

तुलसी पूजनके सम्बन्धमें आपने लिखा कि श्रीराधारानीने जो तुलसीका अनुष्ठान किया था जिसमें, दूध, ईखका रस, एवं आम्ररस चढ़ाया था, वैसे ही मैं भी उसी विधि-विधानसे पूजन करना चाहता हूँ, सो मेरी दृष्टिमें आपको ऐसा नहीं करना चाहिये। क्योंकि व्यावहारिक दृष्टिसे ऐसा देखा जाता है कि जिस तुलसीमें ये वस्तुएँ सिञ्चित की जायेगी, वह तुलसी सूख जाती है। आपने पुष्करमें ऐसा किया भी था और तुलसीजी तत्काल ही सूख गयी थीं।

श्रीराधारानीने जो तुलसीका अनुष्ठान किया, वे तुलसीजी चिन्मय थीं। उन्होंने प्रकट होकर समग्र सामग्री स्वीकार की थी। श्रीराधारानीके तो संस्पर्शमात्रसे ही दूध, ईखका रस एवं आम्ररस सभी चिन्मय हो गये थे। वे तो राधारानीके समान उनका स्वरूप ही बन गये थे। जिस गायका दूध श्रीराधारानीने प्रयोग किया, जिस आम्रवृक्षके वे आम्रफल थे, एवं जिस ईख-पौधेका रस निकाला गया था, वे सब आजके जैसे अधम योनिके प्राणी नहीं थे। वे तो बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि एवं मुनि ही होंगे। वे ऋषिगण अपने अनिर्वचनीय पुण्य प्रभावसे रानीकी सेवाके उपकरण बने होंगे। अतः वह राधारानीकी पूजा और हम प्राकृत देहधारियोंकी पूजामें कदापि साम्य नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि उनका अनुगमन करके उनका आदर्श रखकर हम परमार्थ-पथमें आगे बढ सकते हैं। परन्तु आजकल तो पवित्र दूध मिलना भी कठिन है। गायोको कृत्रिम भोजन दिया जाता है। पवित्र आम्रफल भी मिलने कठिन हैं। ईखमे भी न जाने कैसी अपवित्र खाद दी जाती है।

इसीलिये शास्त्रमे ऐसी पूजा वर्णित होनेपर भी व्यवहारमे तुलसीजीके लिये वह घातक हो उठती है। आपने जिस तुलसीको पुष्करमें सींचा था, उसके लिये मालीका कथन है कि वह अब हरी हो ही नही सकती। अत मेरी यही राय है कि आपको प्रतिदिन शुद्ध गगाजल, यमुनाजल अथवा तीर्थ-जलसे तुलसीजी सींचनी चाहिये।

मेरा ऐसा आग्रह नहीं कि आप अनुष्टान छोड दें, किन्तु इस विषयमे यदि मेरी बात आपको युक्तिसगत अनुभव नहीं हो, तो वृन्दावनके किसी बडे महात्मासे आपको राय कर लेनी चाहिये।

भाई! मेरी बातोका किसीपर असर तो होता नहीं, इसका कारण मेरी ही निष्ठामे कच्चाई है। जिस किसीको भी जब यह लिखता हूँ कि सब चिन्तन छोड़कर प्रिया-प्रियतमका चिन्तन करो, तो कोई भी मेरी बात मानता ही नहीं। प्राय सभीके ये ही पत्र आते है कि मन चचल है, लगता नहीं, साधन होता नहीं। अत यही स्फुरणा होती है कि अपनी त्रुटि ही दूर की जाय। इसके बिना न तो सच्चा लाभ मुझे होगा, न ही मै दूसरोके लिये भी मगलकारी हो सकूँगा। मुझे तो आपसे यही निवेदन करना है कि प्रत्येक पॉच मिनटमे, फिर तीन-तीन मिनटमें प्रभुसे एक बार अन्तर्हृदयसे विनय करें – "नाथ! चरणोमें शाश्वत स्थान दो।" मुझे तो यही साधन सर्वोत्तम अनुभवमे आया है। यदि आपको रूखा लगे तो आप अन्य कोई रसिक महात्मासे रसीला साधन पूछ लीजिये। कुछ भी हो चलना तो आपको पडेगा, तभी पथ पार होगा।

मृत्युसे पूर्व अपनी ओरसे भगवान्के चरणोमें पूर्ण समर्पणकी सच्ची इच्छा अवश्य हो जानी चाहिये। नहीं तो इससे अधिक हानि और कुछ भी नहीं। ऐसी इच्छा उत्पन्न होनेका कलिकालमें एक ही उपाय है। निरन्तर भगवन्नामका जप प्रारंभ हो जाय। कजूसके धनकी तरह नाम बिना एक क्षण भी नहीं बीते।

सार-की-सार बात यही है, कि प्रिया-प्रियतमका अखण्ड स्मरण बना रहे। नीचे लिखे पद्यको प्रेमपूर्वक बार-बार पढें और उसके अनुसार ध्यान करे–

***रे मन करु नित-नित यह ध्यान।***
***सुन्दर रूप और स्यामल छबि, जो नहिं होत बखान।***
***मुकुट, सीस चन्द्रिका बनी, कनफूल, सुकुण्डल कान।***

*कटि-काछिनि, सारी, पग-नूपुर, विछिया, अनवट-पान ।।*
*कर-कंकण-चूरी दोउ भुजपैं, बाजू सोभा देत ।*
*केसर-खौर-बिन्दु सेंदुरको देखत मन हर लेत ।।,*
*मुख पै अलक पीठ-पै बेनी नागिन-सी लहराति ।*
*चटकीले पट निपट मनोहर, नील-पीत फहराति ।*
*मधुर मधुर अधरन वंसी धुनि-तैसी ही मुसकानि ।*
*दोउ नयनन रसभीनी चितवनि परम दयाकी खानि ।*
*ऐसो अद्भुत भेष विलोकत, चकित होत सब आय ।*
*हरीचन्द बिनु जुगल कृपा यह, लख्यौ कौन पै जाय ।*

रे मन ! गौर श्याम सुन्दर रूपकी छवि जो वाणीके द्वारा वर्णन नहीं की जा सकती, नित्य-नित्य ध्यान कर। अहा ! युगल प्रिया-प्रियतम स्वरूपमे श्रीकृष्णके मस्तकपर तो मयूर-मुकुट शोभा दे रहा है और प्रियाजीके मस्तकपर चन्द्रिका बनी है। श्रीकृष्णके कानोमे कुण्डल जगमगा रहे हैं और राधारानीके कानोमे मनफूल विराजित है। श्रीकृष्णकी कटिपर काछनी है और प्रियाकी नीली सारी सुशोभित है। श्रीकृष्णके पैरोमे नूपुर रुन-झुन कर रहे है और प्रियाजीकी अँगुलियोमे बिछिया एव चरणोमे अनवट-पान शोभा दे रहे हैं। प्रियतमके करोमे ककण शोभायमान है और प्रियाजीके चूडियाँ एव बाजूबन्द शोभा दे रहे है। प्रियतम श्यामसुन्दरके केसर खौर एव प्रिया राधारानीके सिन्दूर शोभायमान् है। श्रीकृष्णके मुखपर अलकावलि शोभित रहती है और प्रियाजीकी पीठ पर वेणी नागिनके समान लहराती है। दोनोकी यह अभूतपूर्व सुन्दर छवि मनको हर लेती है। दोनोके नील पीत वस्त्र अत्यन्त चटकीले अतिशय मनोहर हैं और फहरा रहे हैं।

अहा ! प्रियतमके मधुर रसमय अधरोमे वशी सुशोभित है और प्रियाजीके अधरोमे मन्द-मुसकान विराजित है। दोनोके नयनोकी चितवन अत्यन्त रसभीनी है और वे दयाके खान हैं। उनका वेष ऐसा अद्भुत है कि जिनकी भी उनपर दृष्टि पडती है, सभी देखकर चकित हो जाते है। श्रीहरिचन्दजी कहते है कि युगल-स्वरूप प्रिया प्रियतम राधा-माधवकी कृपाके बिना यह दर्शन सभव नहीं है।

मेरी समझमे मैने आपके सम्पूर्ण पत्रका यथोचित उत्तर दे दिया है।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या : उन्तालीस (३९)

# तनहिं राखु सत्संगमें मनहिं प्रेम-रस भेव

*पत्र-प्रेषक :*

**पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प. पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीउमादत्तजी माटोलिया एवं सत्संगीजन**

*प्रेषण स्थल :*
**गीतावाटिका, गोरखपुर**

*दिनांक :*
**वैशाखपूर्णिमा सं. २००५ वि.,**

*प्राप्तिसूत्र :*
**श्रीशिवकिसनजी डागा द्वारा किया पत्र-संग्रह ।**

श्रीउमादत्तजी, (श्रीस्वामीजी महाराजने लिखवाया है)

सस्नेह राधा-राधा। आपको पत्र मिला। सत्संगकी बात आपको स्वर्गाश्रममें इतनी मिलती होगी कि आप सुनते-सुनते थक गये होगे। उनसे अतिरिक्त और मेरे पास ऐसी कौनसी नवीन बाते हैं जो मैं आपको सुनाऊँ। जो कुछ आपने सत्संगमें सुना है, उसे जीवनमे उतार लीजिये, यही मेरा प्रेमभरा निवेदन है।

श्रीहितहरिवंश महाप्रभुका जो कथन सभी सत्संगियोंके लिये है, वह आपको लिख दे रहा हूँ -

***तनहिं राखु सत्संगमें मनहिं प्रेमरस भेव ।***
***सुख चाहत हरिवंस हित, कृष्ण कल्पतरु सेव ।।***

श्रीहरिवंश महाप्रभु कहते हैं - "भैया ! तनको तो अवश्य सत्संगमें रखे परन्तु मनको सदा प्रिया-प्रियतमके प्रेममे ही भिगोये रखें। यदि मनको प्रभुके प्रेम-रसमे नहीं भिगोया, तो मन सूखी सत्संगकी बातोंको सुन तो लेगा, परन्तु उनमे पूरी तरह डूबेगा नहीं और जबतक मन डूबेगा नहीं, जीवन संसार-जंजालसे निवृत्त नहीं हो पावेगा। मनको रस एवं स्नेह चाहिये। वह चाहे लाख समझाओ जायेगा वहीं, जहां रस पायेगा। और समग्र विशुद्ध रसका दान करनेमे एकमात्र श्रीकृष्ण ही कल्पतरु है। वे ही सर्व रसनिधान हैं। अतः यदि सुखकी चाह है, तो उन परम रसनिधान कृष्ण-कल्पतरुका ही सेवन उचित है।

***निकसि कुंज ठाड़े भये भुजा परस्पर अंस ।***
***राधावल्लभ मुख कमल निरखत हित हरिवंश ।***

श्रीहरिवंश महाप्रभु कहते हैं मैं 'पर-उपदेश कुसल बहुतेरे' की तरह केवल भाई! तुझे उपदेश ही नहीं देता, मैं स्वय भी दिनरात श्रीराधावल्लभका मुखकमल देखता रहता हूँ। अहा! कैसा विलक्षण कुञ्ज है, जिसके चतुर्दिक् अशोक, कदम्ब, कचनारके वृक्ष पूर्ण कुसुमित खडे हैं। इनके कुसुमोके गुच्छोंसे समस्त कुञ्जस्थलकी शोभा आश्चर्यजनक रूपसे वृद्धिको प्राप्त हो रही है विविध विहगम तरुजालमें निलीन रहकर नित्य-निकुञ्जेश्वर एव नित्यनिकुजेश्वरीका दर्शन प्राप्त करने अति समुत्सुक है। इनमेंसे अनेक पक्षी तो तृण-सकुल धरापर सुस्पष्ट व्यक्त होकर नाच-नाचकर हर्षित हो रहे हैं। कोकिलाओका कुहू-कुहू रव समग्र वनस्थलको मुखरित कर रहा है। ऐसे सुखद शोभा भरे कुञ्ज-प्रांगणमे प्रिया-प्रियतम परस्पर एक दूसरेके कधोपर हाथ रखे कुज महलसे बाहर आकर खडे हो जाते हैं। वे इस कुज-प्रागणके मध्यस्थित एक परम सुन्दर पारिजात वृक्षकी ओर बढते हैं। और वहॉ एक आसन-पीठमे समासीन हो जाते हैं।

***सबसों हित निहकाम मन, वृन्दावन विश्राम ।***
***राधावल्लभलालकौ हृदय ध्यान मुख-नाम ।।***

भाई! यदि तू कहे कि मुझे तो राधावल्लभके दर्शन नहीं होते, तो तुझे उनके दर्शनका साधन बतलाता हूँ। तू सभी जड़चेतनमे श्रीराधावल्लभको भरा अनुभव कर और सबसे निष्काम मन रखता हुआ प्रेम कर। वृन्दावनकी भूमिमें विश्राम कर। हृदयमें श्रीराधावल्लभलालका ध्यान करनेकी चेष्टाकर और मुखसे 'राधाकृष्ण', 'राधाकृष्ण' नामका निरन्तर उच्चारण करता रह।

***रसना कटौ जु अनरटौ, निरखि अनफुटौ नयन ।***
***श्रवण फुटौ जो अनसुनौ, बिनु राधा जसु बैन ।।***

अरे भाई! तेरा यह निश्चय इतना अमोघ दृढ होना चाहिये कि यदि तेरी रसना नामकी रट नहीं लगावे, तो उसे तू काट डाले, और नयन यदि उनकी छबि नहीं देखैं तो वे फोड़ दिये जावें, श्रवणेन्द्रिय कान यदि श्रीराधारानीके सुयशकी वाणी अनसुनी करते हैं, तो उन्हें भी फोड़ दिया जाय। ऐसा यदि तेरा अमोघ दृढ निश्चय होगा, तो निश्चय ही यह तेरा साधन दीर्घकालिक और अनवरत बिना विक्षेपके चलता रहेगा। बस, यह साधन चलता रहा – तो एक न एक दिन अवश्य तुझपर प्रिया-प्रियतमकी कृपावर्षा हो जायेगी और वे तुझे दर्शन देकर कृतार्थ कर देंगे।

उमादत्तजी! सारकी बात आपको लिख दी है।

**राधा राधा राधा राधा**

।।श्रीराधा।।

पत्र संख्या : चालीस (४०)

# सच्चा वृन्दावन-वास

*पत्र-प्रेषक :*

**प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज** (प. पू. श्रीराधाबाबा)

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीरामलालजी चूड़ीवाला**

**पत्र-प्रेषण स्थल :**
गीतावाटिका, गोरखपुर (उ.प्र.)
**दिनांक :**
**भाद्रपद पूर्णिमा, सं. २००४ वि.**

***प्राप्तिसूत्र :***
**श्रीशिवकिसनजी डागाके**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

## आलोक

***श्रीरामलालजी चूड़ीवालेके सम्बन्धमें इतना ही ज्ञात है कि ये श्री मोहनलालजी झुनझुनूवाला एवं राधाकृष्णजी धानुका आदिके साथी थे, एवं इन्हींके साथ वृन्दावनवास करते थे।***

प्रिय श्रीरामलालजी ! सस्नेह जय श्रीराधे । (श्रीस्वामीजी महाराजने लिखाया है।)

आपका पत्र मिला। असलमें आप सभी लोग वृन्दावन जाकर एव वहाँ रहकर भी वृन्दावन-बिहारीको नहीं देख पा रहे हैं। आपको जागरण-स्वप्न–सभी समय अधिकांशत: संसार ही दिख रहा है। यही कारण है कि जैसा जीवन आप सभीका होना चाहिये, हो नहीं पा रहा है। जबतक आप पूर्ण दृढ़ता पूर्वक ऐसा नहीं चाहेंगे, तबतक दूसरा कोई ऐसा कर दे, यह सर्वथा आशा त्याग देनी चाहिये। भजन जब तक आप स्वयं नहीं करेंगे, कोई अन्य उपाय जीवनको भगवदीय बनानेका मेरी दृष्टिमें तो है नहीं। भजन आपको ही करना होगा, चाहे आज करें, कल करें, मृत्युके समयतक कभी भी करें, अथवा जन्मान्तरोंमें मानव-जन्म पाकर करे, करना आपको ही पड़ेगा। यदि अभीसे सावधान होकर कर लिया, अनेक जन्मोंके गर्भवासका, मृत्यु एवं बुढापेके दारुण कष्टोंका विराम हो सकता है। अन्यथा ये सभी क्रम अवश्यंभावी हैं। इनसे बचना एक प्रकारसे असंभव ही है। अभी भजन करना कठिन भी नहीं है। मात्र प्रमादका ही त्याग करना है और कठोरतासे नीचे लिखे नियमोंका बिना अपवाद पालन करना है।

१ कानसे प्रिया-प्रियतमकी चर्चाके सिवा कुछ भी नहीं सुनें। दूसरा शब्द जहाँ तक संभव हो, कानमे पडे ही नहीं।

२ आँखसे प्रिया-प्रियतम-सबधी वस्तुओके अतिरिक्त अन्य वस्तु देखे ही नहीं।

३. वाणीसे 'राधाकृष्ण' की पुकार ही लगी रहे।

यदि ऐसा होगया, तो निश्चय ही मानिये फिर जीवन वृन्दावन-विहारीको निश्चय ही अर्पित हो जायेगा। आपके जीवनकी ऐसी रहनी होनेपर निश्चय ही एक दिन प्रिया-प्रियतम प्रकट हो जावेगे और आप उनके दर्शनकर कृतकृत्य हो उठेंगे।

आपको ज्वर आरहा है और ज्वराधिक्यके कारण आप महारास देखने नहीं जा पाते, उस सुखसे वचित हो रहे हैं, सो सभी बाते ठीक है। किन्तु मेरा तो यही कथन है कि कहीं आप इस ज्वर-तापको विरह-ज्वरमे परिवर्त्तित कर पाते, तो फिर महारासका ऐसा दर्शन होता कि सर्वत्र अन्य कुछ दिखना ही स्थगित हो जाता। अवश्यमेव इतना सौभाग्य तो आपका है ही कि आपमें रासदर्शनकी इतनी विकलता है। आपने लिखा कि मैं ऐसी कृपा करूँ सो आपकी मेरे प्रति सद्भावना है। भाई ! निश्चय मानिये वर्त्तमानमें मुझमे ऐसी योग्यता नहीं है। यदि मुझमे ऐसी योग्यता होती, तो निश्चय ही मैं अपनी और आप सभीकी ऐसी स्थिति कर देता।

यह प्रभुकी आपपर अतिशय महती कृपा है कि आपका शरीर श्रीधाममें निवास कर रहा है, अब मनमे व्रजधाम और बस जाय, यह भिक्षा श्रीराधारानी से आप माँगिये। यह निश्चय है कि श्रीमहारानीकी अनन्त, असीम अनुरागकी धारा श्रीधाममें प्रवाहित हो रही है। आपका मन प्रथमतः उस धाराके सम्मुख हो जाय और तब उसमें डूब जाय। उस अनुरागका मात्र एक स्रोत ही आपके मनमें खुल जाय, इतना होते ही तो उस अनुरागकी अजस्र स्रोतस्विनी अपने आप ही आपको पूर्ण अनुरागमय बना देगी, और आपको श्रीधामसे एकमेक कर देगी। निश्चय ही उस महाभाग्यवान् दिवस को आप देख पावेंगे ।

*आज गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी ।*
*शरद विमल नभ चन्द्र विराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी ।।*
*चम्पक बकुल मालती मुकुलित, मत्त मुदित पिक कीर री सजनी ।*
*लेत सुधंग रंग-रँग-नीकौ व्रज युवतिनकी भीर री सजनी ।।*
*मघवा मुदित निसान बजायौ व्रत छाँड़्यौ मुनि धीर री सजनी ।*
**(जै श्री) हित हरिवंश मगन मन श्यामा, हरत मदन मन पीर री सजनी ।।**

## भावार्थ

अहा ! कैसा मनोहर यमुनाका पुलिन है, जिसे चतुर्दिक् असख्य कल्पतरुवृक्ष घेरे हुए है ? इस पावनतम पुलिनकी रजःप्रायवत् सैकतपर आज हमारे प्राणवल्लभ प्रियतम गोपाल अति रसमयी रास-क्रीडा करने जा रहे हैं।

कैसी सुखद शुभ्र शरद ऋतु है, आकाशमें विमल पूर्णचन्द्र विराजित है और अति सुगन्धभरी शीतल वायु मन्द-मन्द प्रवाहित हो रही है।

इस पुलिनमें सर्वत्र चम्पा, बकुल, मालती आदि पुष्प विकसित हैं एव निशामें भी मयूर, शुक आदि पक्षीगण अतिशय मोदभरे मधुर स्वरोंमे कूजन कर रहे हैं। अहा ! असख्य व्रजयुवतियाँ एकत्रित हुईं सम्मिलितरूपसे श्रेष्ठ प्रकारसे राग-रागिनियोंका आलाप ले रही हैं।

देवताओंके राजा इन्द्रभी अत्यन्त मुदित हो उठे हैं और अन्तरिक्षमें अपनी प्रसन्नता नगाडा बजाकर व्यक्त कर रहे हैं। वर्षोंसे मौन लिये इन तपस्यारत मुनियोने भी अपना उपरामताका व्रत त्याग दिया है तथा रासदर्शनको लालायित हो उठे हैं। श्रीहितहरिवशजी कहते हैं कि श्रीराधारानी अत्यन्त मगन मन हुई अपने प्रियतमकी प्रेमजन्य गहन पीड़ा हर रही हैं।

भाई रामलालजी ! आप प्रिया-प्रियतमके श्रीधाममें रहते हुए मुझे स्मरण करते हैं, यह श्रीराधारानीकी मुझपर अनन्त कृपाका ही द्योतक है। मेरी ओरसे श्रीधाम एव वहाँ नित्यलीला-रत प्रिया-प्रियतमको एक दण्डवत् प्रणाम करेंगे।

आपने श्रीभाईजीके द्वारा पत्र-लिखवानेका आग्रह किया था, वे अतिशय व्यस्त हैं, अत यह तो सभव नहीं हो पा रहा है। मेरा लिखा पत्र श्रीभाईजीको पढाकर भेज रहा हूँ, आप इसे भाईजी द्वारा पठित होनेसे अनुमोदित मान लें। और क्या कहूँ।

राधा राधा राधा राधा

---

॥ श्रीराधा ॥

पत्र संख्या : इकतालीस (४१)

# वृन्दावन बसि यह सुख लीजै

*पत्र-प्रेषक :*

## परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*(प. पू. श्रीराधाबाबा)*

*पत्र-प्रेषिति :*

**श्रीशिवभगवानजी फोगला,** वृन्दावनधाम

*प्रेषण-स्थल :*
गीतावाटिका, गोरखपुर
दिनांक :
मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्थी, वि. २००४

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीशिवकिसनजी डागाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

## आलोक

*श्रीशिवभगवानजी फोगला, श्रीसेठजी जयदयालजीके पुराने सत्संगी रहे। ये ब्रज-रसके भावुक अनुरागी थे। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुत्री अ. सौ. सावित्रीबाईका विवाह इनके दत्तक पुत्र श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगलासे हुआ था। श्रीभाईजीकी प्रेरणासे प. पू. श्रीराधाबाबाने इन्हें ब्रजभाव सम्बन्धी राधाकृष्ण प्रिया-प्रियतमकी अष्टप्रहर लीलाओंकी अनेक भावनाएं लिखकर दी थीं, जो बादमें 'केलिकुञ्ज' नामक ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं। बादमें इन्होंने स्थायी श्रीधाम वृन्दावनवास कर लिया था। श्रीवृन्दावनधाममें इनके द्वारा बनाया ''फोगलाश्रम'' आज भी परमार्थ-साधकोंकी सेवामें है।*

श्रीशिवभगवानजी ! श्रीस्वामीजीने लिखाया है

सस्नेह राधास्मरण । गत पूर्णिमाको मैंने श्रीमोहनलालजीके पत्रमे सकेत दिया था कि आपको पृथक् पत्र दूँगा। अत. यह पत्र जा रहा है।

मेरे पास लिखने योग्य केवल एक ही बात है। वही घुमा-फिराकर सभीको लिखता रहता हूँ। वह बात आपको भी लिख दे रहा हूँ। जिस साधनसे

जैसे हो, मन प्रिया-प्रियतममे लीन हो जाय, इसकी चेष्टा हो। प्रिया-प्रियतमके अतिरिक्त मनमें कुछ रहे ही नही। यदि यह हो गया, तो सब कुछ हो गया। और यदि यही नहीं हुआ, तो कुछ भी नहीं हुआ।

श्रीअलबेली अलिजीका कैसा सुन्दर पद है। मैंने तो अपने जीवनका यही लक्ष्य निश्चय किया है, आप भी यदि इसे ही अपने जीवनमे उतार लें तो निश्चय ही निहाल हो जावेंगे।

**वृन्दावन बसि यह सुख लीजै ।**
**सात समयकी महल टहल बिनु इक छिन जान न दीजै ।।**
**परम प्रेमकी रासि रसिक जे तिनहीको सँग कीजै ।**
**निविड निकुञ्ज विहार चारु अति सुरस सुधा छकि पीजै ।।**
**और भजन साधनमें मिथ्या कबहूँ काल न छीजै ।**
**दिवस निशा दुलराइ दुहुनकौं अलबेली अलि जीजै ।।**

**भावार्थ**

रे मन ! यदि तू वृन्दावनवास कर ही रहा है तो अब इस सुखमें पूर्णरूपसे निमग्न हो जा। प्रिया-प्रियतमका जो यहाँ इस वृन्दावनमें रस-महल है उस महलमे तू मगला-आरती, ग्वाल, श्रृगार एव राजभोग, उत्थापन, भोग एव शयन – इन सातों समयकी सेवामे चूकना मत। यदि तुझे कोई सगी-साथी आवश्यक हो तो सदैव उनका ही सग करना जो प्रिया-प्रियतमके राशि-राशि प्रेमके रसिक हैं, किसी अन्यमार्गीका भूलकर भी सग मत करना। एकान्त निकुञ्जमे चारु रसमय विहार करते प्रिया प्रियतमके प्रेमकी परम रसमयी सुधा सदा छककर पीते रहना। दूसरे मिथ्या भजन-साधनमे अपने समयको नष्ट मत करना अलबेली अलिजी कहते हैं रात-दिन अष्टप्रहर प्रिया-प्रियतमको ही लाड लडाते रहना – इस प्रकार अपना जीवन बिताना ।

यह सार-की-सार बात आपको लिखी है। परन्तु अभी आपकी उधेड़-बुन देखते हुए ऐसा लगता है कि आपके मनमे अनेकों वासनायें, अनेकों कर्त्तव्य पूरे करनेका भाव घर किये हैं । वृन्दावनवास करके भी आपका चित्त इन वासनाओंके पीछे दिग्भ्रमित होता है। आपको कैसे समझाऊँ, जबतक ये सम्पूर्ण वासनाएं समूल जल नही जातीं, प्रिया-प्रियतमकी डगर, गैल मिलनी कठिन नहीं, असभव है। अभी तो सच पूछे, भजनकी नकल भी पूर्ण नहीं हो रही है। जैसे शरीर व्रजमे है, वैसे ही मनका अणु-अणु व्रजकिशोरी एवं व्रजकिशोरमें कहाँ रमा है ? वह पूरा-पूरा रम जाय, ऐसी चेष्टा करें और पूरी लगन एव दृढतासे करें ।

आपके जीवनका वही क्षण सार्थक है, जिस क्षण आप प्रिया-प्रियतम एव उनके परिकरोका चिन्तन करते हैं। आप भले ही उत्तमसे उत्तम सेवा-कर्म करे, आश्रम बनावे, परन्तु यदि वह शुद्ध प्रिया-प्रियतमके चिन्तनमें विक्षेप उत्पन्न करता है, तो उसमे दोष निश्चय ही भरे हैं, आज वे आपके सम्मुख भले ही प्रकट नहीं हो रहे हो, कल वे अवश्य, अपना अति भीषण रूप रखकर सामने आ ही जावेंगे।

अभी आपका शरीर काम देता है। अभी आप मन तथा इन्द्रियोंको इच्छानुसार प्रिया-प्रियतमकी सेवामे नियोजित कर सकते हैं। पर पता नहीं, कब शरीर लाचार हो जाय, उस अवस्थामे बिना अभ्यास भगवच्चिन्तन होना बहुत ही कठिन हो जायेगा । अधिकाश प्राणियोंको उस समय शरीरकी पीडाका ही चिन्तन होता है। अत शरीरके ठीक रहनेका सदुपयोग अभीसे कर लेना चाहिये।

सभी सत्संगी जनोंको राधे-राधे।

**राधा राधा राधा राधा राधा**

---

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## द्वितीय खण्ड

(वार्त्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार, लेख)

## अध्याय छठा

## (रसार्चनकी अरुणायी)

पू. श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दारको समर्पित
प. पू. श्रीराधाबाबाकी प्रारंभिक अति रसभरी अनुभूतियाँ

विषय-सूची

## श्रीराधारानीकी महाभावोक्तियाँ

।। श्रीराधा ।।

# रसार्चनकी अरुणाई

*प्रस्तुति :*

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, 'कल्याण'

प्रथम प्रसंग

## प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैव कांक्षिणी

*स्थान :*
डालमिया जैन एण्ड कम्पनी
डालमिया दादरी
*तिथि :*
आश्विन कृष्ण चतुर्दशी, वि. सं. १९९६

*प्राप्तिसूत्र :*
गोलोकवासी श्रीचिम्मनलालजी
गोस्वामीकी डायरी
*संग्रहकर्त्ता :*
गोलोकवासी श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

### आलोक

*परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (भविष्यमें पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे प्रख्यात) के ये सभी पत्र पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको सम्बोधित किये हुए हैं। पू. स्वामीजी उन दिनों श्रीभाईजीके सान्निध्यमें व्रजभावकी परम निर्मल रस-साधना कर रहे थे। श्रीभाईजी ही उनके रस-साधनाके गुरु थे। अतः वे अपनी समग्र अनुभूतियाँ निश्छल ज्यों-की-त्यों उन्हें पत्रोंमें लिखकर निवेदित कर देते थे। पू. स्वामीजीका उद्देश्य इस नियमित पत्र-लेखनके पीछे यही था कि उनकी मानसिक स्थितिका चित्र श्रीभाईजीके सम्मुख निष्कपट स्पष्ट रहे।*

*पू. श्रीभाईजी पू. स्वामीजीके व्रज-साधनाके परमोच्च भावप्रधान इन पत्रोंको अतिमनोयोगपूर्वक पढकर पू. स्वामीजीकी रस-साधना परम संगुप्त ही रहे, इस पवित्र उद्देश्यसे इन पत्रोंको अति छोटे-छोटे टुकडोंमें फाडकर*

अपने अन्य फाडे गये कागजोंमें सम्मिश्रितकर, कूडेदानीमें डलवा देते थे। वे पू. स्वामीजीकी रस-साधना-जन्य गरिमाकी अन्य लोगोंको गन्ध भी नहीं देना चाहते थे। सत्य भी है, प्रेम तो हृदयकी गुप्ततम अनुभूति है और अतिशय संगुप्त रहनेपर ही यह साधना फलीभूत होती है।

बलिहारी है, श्रीगंभीरचन्द दुजारीरूप भगवान् श्रीकृष्णकी, जो कूडेदानीके सभी फटे कागजोंको उठा लेते थे, और उन सभी फटे-पत्रोंको श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको समर्पित कर देते थे। दोनों सज्जन, तब मिलकर घण्टों अथक परिश्रमके द्वारा इन चूर-चूर हुए पत्र-खण्डोंको यथास्थिति मिलान करते थे। इस प्रकार पूर्ण हुए पत्रको श्रीगोस्वामीजी अपनी डायरीमें प्रतिलिपिरूपमें संग्रहीत कर लेते थे।

कालगति सर्वोपरि है। आज न तो श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी ही हैं और न ही श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी। दोनोंको ही काल लील गया। वह डायरी जिसमें ये सभी पत्र संग्रहीत थे, श्रीगोस्वामीजीकी धर्मपत्नी सरयूदेवीके पास उनके जीवनकालतक रही। श्रीसरयूदेवी भी अपनी इह-लीला अपने पीहर बीकानेरमें अपने भाई श्रीकन्हैयालालजी गोस्वामीके घरपर समापन कर गयीं। श्रीकन्हैयालालजी गोस्वामीके परिवारमें तो वह डायरी किंचित् भी महत्वकी थी नहीं। एक दिन संकलनकर्त्ताके सौभाग्यके फलस्वरूप वह डायरी श्रीकन्हैयालालजी गोस्वामीकी धर्मपत्नी षोडशगीत मन्दिर, बीकानेरको प्रदान कर गयी। इस डायरीके पन्ने इस प्रकार गल चुके थे कि उन्हें बहुत प्रयत्न करनेपर भी **(Lamination)** लेमिनेशन भी नहीं कराया जा सकता था। वह डायरी टीटाघर प्रेसकी सन् १९३१ ई. की थी। जिसपर ई. सन् १९३९ के श्रीराधाबाबाके पत्र श्रीगोस्वामीजीने प्रतिलिपि कराके रखे थे। प्रतिलिपिकार कौन है, यह भी अज्ञात ही है।

इन पत्रोंके लेखन का प्रारंभ आश्विन कृष्ण चतुर्दशी सं. १९९६, स्थान डालमिया दादरीसे हुआ है और कबतक चला है, कहा नहीं जा सकता। इन पत्रोंमें भिन्न-भिन्न लीलाओंकी अनुभूतियोंके लघु-प्रसंग हैं। एक प्रसंगकी समाप्तिपर xxxx xx इस प्रकार क्रासके चिह्न लगाये हुए हैं। मात्र एक-दो पत्रोंमें ही तिथि दी गयी है।

इतना निश्चय है कि ये सभी पत्र ज्ञानोत्तर प्रीतिके छलकते-उछलते निर्झर हैं । रसज्ञ पाठक निश्चय ही विशुद्ध भावराज्यकी परम पवित्र छवि इन पत्रोंके द्वारा अवश्य पा सकेंगे एवं इनके निर्दिष्ट पथसे यदि साधन करेंगे तो साफल्य भी सुनिश्चित ही है। इसी आशासे इनका प्रकाशन किया जा रहा है।

*पुनश्च - गोरखपुरसे पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार एकान्तवासके लिये डालमिया दादरी गये थे। उस प्रवासमें वे पू. श्रीराधाबाबाके सिवाय अन्य किसीको भी अपने साथ नहीं ले गये थे। हाँ, पू. भाईजीका परिवार अवश्य साथ था। परन्तु श्रीदुजारीजी वहाँ भी भाईजीके साथ बिना आज्ञा लिये ही चले आये थे। डालमिया दादरीके पत्र भी उन्होंने ही पू. श्रीचिम्मनलालजीको दिये होंगे। इन पत्रोंपर शीर्ष (Heading) मैंने अपनी तुच्छ बुद्धिसे दिये हैं। इन पत्रोंके मूलमें शीर्ष नहीं दिये गये थे। मुझे पता नहीं ये पत्र दुजारीजीके पास रहे या नहीं। कारण, उनका सारा प्रयास पू. भाईजीकी जीवनी-संबंधी वस्तुओंपर ही केन्द्रित था। पू. राधाबाबाकी अनुभूतियोंपर उनकी श्रद्धा उतनी नहीं थी, जितनी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी रही।*

**साधुकृष्ण प्रेम**

---

पू. भाईजी !

प्रणाम । आपपर बहुत विश्वास है। अत आपको अपने मनकी भीतरी सभी बाते कह रहा हूँ। इन सभी बातोंको लिखते समय सकोच है कि आप समझेंगे कि तुम्हारे भीतर प्रच्छन्न काम विकार है। तुम इस साधनाके अधिकारी नहीं हो। परन्तु मै आपको यही समझाना चाहता हूँ कि स्त्री मेरी भोग्या है – यह भाव मेरे भीतर कभी भी नहीं उदय होता। फिर भी ज्यो ही किसी भी सुन्दर युवती स्त्री पर मेरी दृष्टि पडती है, उसकी सुकुमारता, रमणीयता आदि देखकर ऐसा लगता है कि यह मुझसे अत्यधिक सौभाग्यवती है, जो इसे स्त्रीत्व एवं सौन्दर्यादि भाव मिले हैं। यह अवश्य ही श्रीमती राधारानीकी अश-स्वरूपा है, तभी इसे स्त्रीका देहाध्यास मिला है। उस समय यही विचार मेरे भीतर हिलोरें लेने लगते हैं कि हतभाग्य ! मैं भी राधारानीका ही अश हूँ, परन्तु मुझे पुरुषका अध्यास मिला। मै निश्चय ही अभागा हूँ। तत्क्षण ही वैराग्यके विचार भी उदय होने लगते हैं। यह तो पार्थिव देह है, इसमें सौन्दर्य कहाँ है ? यह तो अत्यन्त मलिन है, सारा मल-मूत्र, मास-कफ, रक्त-मज्जा, पुंजीभूत होकर गोरे चमडेके आवरणसे मात्र ढका है, तो इससे कोई सुन्दर थोडे ही होता है ? मलिन मांसादिसे उत्पन्न सुकोमलता तो स्पर्श-विकार ही है। इस प्रकार घृणाके भाव भी उदय होने लगते हैं। बारम्बार इन घृण्य भावोंपर मनको केन्द्रित रखनेपर भी, न-जाने क्यों, यह बात चित्तको बहुत ही सुहावनी लगती है कि मैं स्त्री हूँ। भाईजी ! स्त्रीत्वके आकर्षणसे मन इतना अधिक आक्रान्त रहता है कि जैसे ही ये भाव उत्पन्न होते हैं, बस मन इनको छोडना ही नहीं चाहता। सारा

वैराग्य बह जाता है। श्रीराधाकृष्ण (मेरे आराध्य इष्ट) का चित्र-विग्रह देखते-देखते तो ये भाव और भी प्रगाढ हो जाते हैं। पद्मपुराणोक्त भगवान् शकर द्वारा पार्वतीजीको बतायी साधनामे मन डूबने लगता है। निम्नश्लोक पढता हूँ, तो इसीका जप करते रहनेका मन हो उठता है :-

*सुचिरं प्रेषिते काले यथा पतिपरायणाः*
*प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगेवकांक्षिणी ।*
*तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यपि शृणोति च ।*
*श्रीकृष्ण-गुण-लीलादि स्मरणादि तथा चरेत् ।।*

इस श्लोकका जप करते-करते सचमुच ही ऐसा लगने लगता है, मानो श्रीकृष्ण ही मेरे (पति हैं) प्रियतम हैं और उनकी मैं अप्रतिम सुन्दरी, युवती प्रिया (पत्नी) हूँ। वे विदेश चले गये हैं। नारीरूपमे मेरी भावदेहकी आकृति जैसे मनमे सुस्पष्ट उदय हो आती है। मेरी घुँघराली कृष्ण-केशराशि उन्मुक्त-कबरी हुई मेरे पार्श्वमें मुझे लहराती स्पष्टतया दिखने लगती है। अपने मृणाल-नालसे बाहुयुगल, उन्नत कचुकीबद्ध उरोज, अपना उदर, शेष सभी शरीरगत अंग अवयव प्रकट दृष्टिगोचर होते हैं। फिर इस देहकी सर्वथा ही विस्मृति हो जाती है। लगता है, जैसे वे मेरे तो है, विदेशवासी हैं, अत उनसे मिलन नहीं हो पाता। इस नारीवेषमें उनसे वियुक्त रहनेके कारण मन किसी भी विषयमें नहीं लगता। निरन्तर व्याकुलता बढती जाती है। जैसे ही उनका चिन्तन होता है, उनके बारेमे सोचना प्रारभ होता है, चित्त उसमे ऐसा रम जाता है कि बाहरकी स्मृति ही नहीं रहती। अन्य सभी कार्य, भजन-पाठ, नामजप, सब छूट जाते हैं। किसी भी अन्य साधनाकी स्मृति ही नहीं होती। बस, मन इन्हीं विचारोंमें डूबता जाता है :-

"अहा ! वे कितने सुन्दर हैं, सुकुमार हैं ! उनमें निष्ठुरता भला कैसे संभव है ! अतिशय सुकोमल स्वभाव ही तो उनका है ! क्या उनके आननपर उनका यह स्वभाव नहीं दिखता ? कितना मनोरम, रमणीय उनका आनन सरोज है ! कैसे मधुर मीठे वे बोलते हैं ! कैसी निर्मल हँसी हँसते हैं ! सर्वांगोंसे पूरा जी भरकर, उन्हें देखा भी कहाँ है ? क्या कभी सर्वबाधा-विनिर्मुक्त उनसे मिल पाऊँगी ? ठीक है, अभी वे विदेश हैं, परन्तु कभी तो वे यहाँ गोकुलमें अपने माता-पिताके पास आवेंगे ही। तब तो मैं उनसे पूरी मिल ही सकूँगी। अभी तो उनका चित्र ही देख पा रही हूँ। यह चित्र भी उनका सागोपांग कहाँ है ? इस चित्रकी रचना तो मैंने ही की है। एक दिवस पनघटपर, और एक दिवस नन्दभवनमें जो उनकी झाँकी मिली थी, उसीको अपने स्मृतिमें पूरा भरकर मैंने

ये रेखायें-भर खींच ली थीं। इन रेखाओमें भला उनका सही चित्र थोड़े ही अकित हुआ है। फिर भी इस चित्रके नेत्रोसे उनकी कैसी प्रीति-भरी छबि छलक उठी है। जब उनका चित्र ही इतना मनोरम है, तो वे स्वयं न जाने कैसे मनोहारी होगे ? उनके नेत्र कैसे सजल एव रसभरे हैं ? भौहे कैसी सुघड़ कटीली हैं ? उनकी चितवन कितनी मनोहारी है ? क्या उनसे कभी भी मेरी आँखें चार होगी ? इस चित्रके नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलाते ही, जब मैं लज्जासे भर उठती हूँ, तो फिर उन्हें प्रत्यक्ष मिलनेपर कैसे देख पाऊँगी ? जब वे मिलेगे तो क्या मोर-मुकुट पहने होगे ? मुकुट तो, पहने चाहे न भी पहने, मयूर पिच्छको तो वे अपनी चूडामे खौंसे ही रहते हैं। वह मयूर-पिच्छ उन्हें फबता भी कैसा है ?"

भाईजी ! इस प्रकार मात्र चित्र देख-देखकर उनके एक-एक अगमें घण्टो ही मन रमा रहता है। चित्तमे इतनी अधिक मुग्धता भरी रहती है कि कालका पता ही नहीं रहता। जपकी माला हाथसे छूट जाती है। जिह्वागत स्मरण स्थगित हो जाता है। भूल जाता हूँ – इस ससारको। उनमें तल्लीनता चित्तको एकाग्र कर देती है। कभी-कभी गायनकी अथवा गायन-श्रवणकी प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ जाती है। गोस्वामीजी, मधुरजी आदि उनका कोई गीत सुना देते हैं, तो लगता है, जैसे ये अपने प्यारे-से-प्यारे हैं। परन्तु आश्चर्य है, इनका पुरुष रूप प्रिय नहीं लगता। कल्पनामें इन्हें भी परम रमणीय स्त्रीके रूपमे ही देखनेका प्रयत्न करता हूँ। इनके नाम, रूप सभी परिवर्तित कर उन्हे अपने मनोराज्यका कोई प्यारा-सा नाम देनेकी ही प्रवृत्ति जोर मारती है। मधुरजीकी मयूर-वीणा तो बहुत ही उद्दीपन करती है। मेरी मनोदेशकी वीणा उनसे कुछ भिन्न अवश्य होती है। कभी-कभी घण्टो वैसी वीणा लिये, अपने इष्टके चित्र-विग्रहके सम्मुख बजाती रहती हूँ। कल्पनामें खो जाती हूँ – कभी वे बजा रहे हैं, मैं सुनती हूँ, कभी मैं बजाती हूँ, और वे उसमें अपनी बहुत ही सुमधुर मुरलीके स्वर मिला देते हैं।

भाईजी ! इसी-स्थितिको लिये एकाकी बढ रहा हूँ।

आज इतना ही। आगे भावदशा ऐसी हो रही है कि पत्र लिखा ही नहीं जा रहा।

**राधा  राधा  राधा  राधा**

---

प्रसंग - दो (२)

# योऽहं ममास्ति ..... चरणेषु समर्पितम्

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

*स्थान :*
डालमिया दादरी
*तिथि :*
आश्विन शुक्ला वि. सं. १९९६

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी
*संग्रहकर्त्ता :*
श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी

पू. भाईजी !

प्रणाम ! सर्वथा प्रारभसे लेकर अबतक जो हुआ है, हो रहा है, किया है, कर रहा हूँ, इन सभीके होते समय, करते समय मेरे मनकी कैसी दशा हो उठती है, इसे ठीक-ठीक न तो स्वय ही समझ पाता हूँ, न ही किसीको समझा ही सकता हूँ।

जहॉ तक स्मृति है, इसका प्रारभ तो हनुमानगढ़ीमें ही हो गया था। इसके पश्चात् गीतातत्त्वाकका श्रीसेठजीके साथ कार्य करते हुए भी यह भावोद्दीपन बहुत ही प्रबल हो उठता था। अपनी मनोदशाको सवरित रखने, एवं कुछ भी बाह्य प्रकट नहीं हो पावे, इस भयसे मैं स्वरमे "राधा-राधा' गाने लगता था। जबतक आपने सर्वथा मौन नहीं कराया, कोई व्रजभावका गीत गुनगुना उठता था। सेठजीके सहयोगियोको इस मेरे गायनसे बहुत विक्षेप भी होता था, परन्तु मैं भी तो अवश था। किसीको अपनी सही मनोदशा तो बतला भी नहीं सकता था। एक दिवस गीताप्रेसके उस कमरेमे ठहरा था, जहॉ बाई सावित्रीका प्रसव हुआ था, वहॉ यह भाव और भी प्रगाढ हो गया था। मेरे आराध्यके चित्र भी तभीसे बदलते रहे हैं। आजकल तो एक बंगाली पत्रिकामें छपा चित्र ही मेरे इष्टके रूपमें है, जिसमें मथुरा-प्रस्थान करते श्रीकृष्ण राधारानीसे विदा ले रहे हैं।

ये सभी भाव बिना किसी योजना एव साधनाके अपने आप स्वत उत्पन्न हुए हैं। योजनानुसार इनकी कोई भी साधनागत परम्परा हो, किसी साम्प्रदायिक परम्पराका साधनामें आधार लिया हो, सो बात भी नहीं है।

कभी लगता है आप साक्षात् श्रीकृष्ण हैं। चाहे कृत्रिम मानसिक भावुकता ही हो, उस समय सर्वतोभावेन आपको अपना सर्वस्व समर्पण करनेके भाव बहुत अधिक प्रबल हो उठते हैं। उस समय लोक-परलोक सब आपके किञ्चित्से सुखके लिये न्यौछावर करदेनेकी स्पृहा अतिशय प्रबल हो उठती है। आपका 'पुरुषोत्तम तत्त्व' नामक लेख नित्य पाठके रूपमें सम्मिलित कर लिया है। नामजपका जबतक भाव रहता है, तबतक तो नहीं, किन्तु ज्योंही इस भावकी स्फुरणा होती है कि उनका नाम ले रही हूँ, 'हरे राम, हरे राम' महामंत्र छूट जाता है और अपने-आप ही 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण' जप प्रारभ हो जाता है।

आपको श्रीकृष्ण समझनेमे एक भय बहुत ही प्रबलरूपसे घेर लेता है कि कहीं आप मुझे त्यागकर मथुरा, द्वारिका नहीं चले जावे। आपसे मेरा वियोग हो जायगा, इस कल्पना-मात्रसे अतिशय व्याकुलता मेरे चित्तको घेर लेती है। अत उसी समय मन विकल्प कर लेता है, नहीं, नहीं भाईजी श्रीराधारानी ही ।

एक दिवस, बातों-ही-बातोमें आपने मुझसे कहा था – "स्वामीजी ! मैं तो राधारानीका एक क्षुद्रतम अश हूँ।" बस, इसी दिवससे आपकी बातको चित्तने पकडली है। भाईजीने प्रकारान्तरसे तो यह स्वीकार कर ही लिया है कि मैं 'राधारानी हूँ, क्योकि 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' इस श्रुतिके अनुसार अशाशी पृथक् नही हो सकते। इस सिद्धान्तानुसार आपके 'राधारानी' ही होनेकी बात मनने पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली है। मन इस पक्षमें एक तर्क और भी देता है- यदि आप राधारानीका स्वरूप नहीं होते, तो मुझे श्रीकृष्णस्वरूपका दान कैसे कर पाते ? श्रीकृष्णस्वरूपदान तो भगवती श्रीराधा ही कर सकती हैं। यह मेरे मनमें जो श्रीकृष्ण-प्रीति-विषयक भाव-भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, उन्हे जो सर्वस्व समर्पण करनेमें एक विलक्षण उल्लास होता है, वे मेरे-के-मेरे हैं - यह विश्वास प्रबलतर, प्रबलतम हो रहा है, और मेरे किसी भी आचरणसे वे एक क्षणके लिये सुखी हो जायें, ये विशुद्ध परम निष्काम प्रेममूलक सभी भाव तो श्रीमती राधारानीके ही है, अत इनका मेरे चित्तमें प्रतिक्षण प्राबल्य यही दर्शाता है कि आप श्रीराधारानी ही हैं। इस भावके उठनेसे आपको अपना पूर्ण-समर्पण कर देनेका भाव बहुत ही प्रबल हो उठता है।

मन बार-बार इसी श्लोककी आवृत्ति करता रहता है -

*"योऽहं ममास्ति यत्किंचिदिह लोके परत्र च ।*
*तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ।।*

(अर्थात्, इस लोक एव परलोकमें जो मैं हूँ अथवा जो कुछ किंचिन्मात्र भी मेरा है, वह सब आजसे ही हे प्रभो ! आपके चरणोंमें समर्पित है।)

कभी-कभी ऐसे दर्शन भी इस भावुक मनको हो उठते हैं, जिससे यह भाव भी अतिप्रबल हो उठता है, कि आप साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं।

एक दिवस श्री 'माधव'जी पर आप बहुत बिगडे थे। अति रोषमे आपने उस दिवस यह भी कह दिया कि बन्द कर दो 'कल्याण'। मैं आपके पार्श्वमें ही खडा था। आपको अतिशय क्रुद्ध देखकर मनमे आया कि, क्या भाईजी-जैसे विशुद्ध महापुरुषको भी क्रोध आ सकता है ? उसी समय मैंने मन-ही-मन आपके चरणोमें सरल भावसे प्रार्थना की कि ''नाथ ! सिद्ध-सन्तस्वरूप दयालो! मेरे हृदयमें उठी इस मलिन मायाजन्य सन्देह-वृत्तिका समूल नाश कर दे।''

बस, इधर मेरे हृदयसे यह प्रार्थना उत्थित हुई, कि आपका पूरा रूप ही बदल गया। साक्षात् मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण ही आपके रूपमें प्रकट हो गये। मैं चकित हो गया। उस दिवससे यह मान्यता भी दृढ होती जा रही है कि आप इस 'पोद्दार' रूप प्राकृत कलेवरको मात्र पकडे हैं और हैं पूर्णरूपेण भगवान् लीलाबिहारी श्रीकृष्ण ही। फिर मनमे आता है कि श्रीराधारानी एवं श्रीकृष्ण दो पृथक् सत्ता तो हैं नहीं। श्रीराधारानी श्रीकृष्णरूपमें भी व्यक्त हो सकती हैं। अत आप श्रीराधारानी ही हैं।

आपक. स्वभाव, प्रकृति भी इतनी मधुर, कोमल, हेतुरहित दयालु एव उदार है कि इसमे आश्रयालम्बन-तत्त्वकी ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। इसलिये अन्तमे यही 'निश्चय कर लेता हूँ कि आप 'श्रीराधारानी' ही हैं।

भाईजी ! मेरे मनकी जो भी ऊहापोह है, उधेडबुन है, सब आपको निवेदन कर दी है। आगे भी जैसा मन बनता जायेगा, आपको सब सरल-चित्तसे निवेदन करता रहूँगा। आपकी एकान्त वृत्तिमे व्यवधान अनुभव हो, तो सकेत कर देंगे। फिर यह लिखना स्थगित कर दूँगा। क्षमा करेंगे।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - तीन (३)

# वचन-माधुरी एवं मुरली-श्रवण

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

*स्थान :* डालमिया दादरी
*दिनांक :* अज्ञात

*प्राप्तिसूत्र :* श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी
*संग्रहकर्त्ता :* श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी

पू. भाईजी !

प्रणाम ! आजकल कुछ विलक्षण दशा हो रही है। प्रायः सोते समय मेरा भौतिक निवास-कक्ष बदल जाता है। लगता है – सामने उपवन है, उन्नत वृक्ष हैं, उनमें पुष्पित लतायें लिपटी हैं। सभी पुष्प विकसित हैं। भ्रमर एवं तितलियाँ गुंजार करती, नाचती हैं। यह सभी परिवर्त्तन स्वप्नमें होता है अथवा अन्तश्चेतनामें, कुछ नहीं कह सकता। मेरा मनोकक्ष (कमरा) उस समय इतनी सुमधुर गन्धसे महकता है कि नासिका उस गन्ध स्रोतको अन्वेषण करने व्याकुल हो उठती है। मेरा स्वरूप भी उस समय सर्वथा परिवर्त्तित होता है। पुरुष सन्यासी-देहके स्थानपर एक अति सुकुमार परम सुन्दरी नारी-देहमें मेरा अस्तित्व बदल जाता है।

जब यह सब परिवर्त्तन होता है, उस समय मैं किसी मखमलके पर्यंकपर सोयी रहती हूँ। न-जाने कहाँसे अत्यंत सुमधुर "प्राणेश्वरी ! प्राणेश्वरी !!" की पुकार मेरे कर्णपुटोंमें अमृत घोल जाती है। उस सम्बोधनकर्त्ताको अन्वेषण करने - मन अतिशय व्यग्र हुआ [illegible] देने लगता है। अति चञ्चल हुई इधर-उधर अन्वेषण करने चलती हूँ परन्तु कोई भी दृष्टिपथमें नहीं आता।

कभी-कभी इस 'प्राणेश्वरी' नाम-ध्वनिके स्थानपर इतना सुमधुर मनोरम वंशी-निनाद सुनाई पड़ता है कि मन करता है – दौड़कर उस वंशीवादकके चरणोंमें अपनेको न्यौछावर कर दूँ। परन्तु वह वंशीवादक अन्वेषण करनेपर भी

कहीं दृष्टिपथमे नहीं आता। प्रथमत ऐसा अनुभव होता है, मानो यह वशीवादन अति समीपके किसी स्थलसे कोई कर रहा है, परन्तु ज्यों ही अन्वेषण करनेका प्रयास करती हूँ, तो वह दूर-दूर होता चला जाता है। बहुत प्रयास करनेपर भी जब वह आश्र्व-पार्श्वमे नहीं मिलता, तो मन-ही-मन उसका ध्यान करती, उसके प्रेम-सुखकी कल्पनामें नेत्र मूँद लेती हूँ।

मन निर्मल प्रेमके भावोमे डूबता चला जाता है। ज्यो ही मधुर कल्पनाएँ गहन-गभीर होती हैं, ऐसा स्वप्नवत् अनुभव होता है कि तकियेके स्थानपर उन्होन अपनी सुकोमल जघापर मेरा मस्तक रख लिया है। वे मेरी कबरी-उन्मुक्त घनी बिथुरी कच-श्रेणीको सहलाने लगते हैं। कितना असीम स्नेह भरकर वे मेरे मुखपर अपनी दृष्टि स्थिर कर लेते है।

नेत्र मूंदे-मूंदे, मै उन्हे स्पष्ट देखती हूँ। कैशोर-भाव उनके अग-प्रत्यगमे समस्त मधुरिमा उडेल रहा होता है। घुंघराली अलकें उनके कपोलों और ललाटके कुछ अशपर झूलती कितनी प्यारी लगती हैं। कुन्तल-मण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छ सुशोभित रहता है। केशोंमे सुरभित वन्य-प्रसून ग्रथित होते है, नेत्रोकी मनोहर चितवन और अधरोपर व्यक्त हुई मृदुस्मितकी शोभा देखते ही बनती है।

परन्तु आश्चर्य होता है, भाईजी ! मुँदे नेत्र तो यह सब दृष्टिपथमें सुस्पष्ट उभरता है, परन्तु ज्योंही नेत्र उन्मीलित करती हूँ, पलकोके उन्मेषभरसे सपूर्ण दृश्य ही तिरोहित, विलुप्त हो जाता है। स्वयको सन्यासी वेषमें डालमियाकी कोठीके कमरेमें पाता हूँ। मेरा यह भाव-ससार नेत्रोके मुँदनेपर ही मानो उदय होता है और नेत्र खुलते ही यह सब भाव-दृश्य अस्त हो जाता है।

मन जिन पवित्र प्रीतिके भावोमें बहता है, उन भावोको शब्द देना मेरी सामर्थ्यसे अतीत है। आपकी सत्ता तो मेरे भीतर भी है ही। अत अपनी सर्वज्ञ-दृष्टिसे सब कुछ आप ही जान लें, मैं क्या कहूँ।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - चार (४)

# मेरा भाव-संसार भावोंके झंझावातसे प्रकट होता है

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरीसे
*संग्रहकर्त्ता :*
श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

स्थान :
डालमिया, दादरी
*तिथि :* अज्ञात

## आलोक

*(यह पत्र मात्र क्रास देकर प्रारंभ किया गया है। प्रारंभ में 'राधेकृष्ण' लिखा गया है। तिथि एवं स्थान कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं है। अनुमान होता है यह पत्र भी दादरीमें ही लिखा गया होगा। क्योंकि गोरखपुर अथवा रतनगढ़ में तो पू. राधाबाबाके निवासके आगे लॉन था नहीं।)*

भाईजी ! अब तात्त्विक विचारके सम्बन्धमे भी कुछ लिखना जरूरी समझकर लिख रहा हूँ। श्रीकृष्णके वचन कहीं भी किसी शास्त्रमें हों, बहुत ही प्यारे लगते है। उन्हे पढते समय ठीक ऐसा अनुभव होता है, मानों अभी वर्तमानमे ही मुझे सम्बोधितकर वे उन्हे दोहरा रहे हो। उन विचारोके अतिरिक्त मुझे जगत्मे सबसे अधिक विश्वास आपकी बातोपर होता है। आपकी कोई भी बात हो, सर्वाधिक आकर्षित करती है। यह प्रश्न तो उठता ही रहता है कि मैं कौन हूँ ? विचार उठने लगते हैं और सोचता हूँ, 'चक्रधर' नामसे अभिहित शरीर तो मैं हूँ नही। इस नाम एव रूपसे मेरा सम्बन्ध तो केवल २९-३० वर्षका है, फिर पीछे ओर आगेका भूत एव भविष्य सब अज्ञात है। मन अपने-आप ही उत्तर देता है, भाईजीसे अधिक विश्वासपात्र दूसरा और कौन है ? उन्होने कहा है "स्वामीजी आप राधारानीके अश है।" फिर इस शरीरमें मेरी ममता एव

अध्यास क्यों हो ? इस शरीरको मुझे उसी प्रकार भूल जाना चाहिये, जैसे मैं पूर्वजन्मके शरीरको भूल गया। मानसिक जगत्‌में तो मैं श्रीराधारानीके चरणोंमे ही स्थित रहता हूँ, परन्तु जीते हुए ही इस शरीरको कैसे सर्वथा भूला जाय ? आपके द्वारा सत्संगमें बोला गया यह दोहा निरन्तर याद करता हूँ :-

*प्रीतम छबि नैनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय ।*
*भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय ।*

धर्मशाला (सराय) में तिल रखनेका भी स्थान नहीं देखकर जैसे यात्री लौट जाता है, इसी प्रकार यदि मनमे पूर्ण लबालब भगवान्-ही-भगवान् दिखेंगे तो ससार इस अन्त करणको छोडकर चला ही जायेगा। अत 'हरे राम' अथवा 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण' निरन्तर जप करते हुए ही मानसिक सेवा भी करता हूँ। मेरी मानसिक सवा कैसी है इसका स्वरूप बता रहा हूँ -

आज बाहर लॉनमे बैठा नाम-जप कर रहा था। सहसा भाव बहुत ही मधुर होने लगे। भावोंकी ऐसी ऑधी आ रही थी कि रोकनेपर भी रुक नहीं रही थी। इन भावोमें बहता चला जाऊँ, इसके सिवा अन्य कोई चारा ही समझमें नहीं आ रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले भावोदय होता है, उसे रोकनेकी चेष्टा करता हूँ, तो वे भाव तीव्र झझावातकी तरह झकझोरकर समूचे दृश्यको ही परिवर्त्तित करनेपर उतारू हो उठते हैं। यह परिवर्त्तित दृश्य अथवा निद्राके पूर्व प्रकट होनेवाला भाव-ससार दोनो ही प्रगाढ भावोंका ही परिणाम है। मेरी यह भाव-लहर ही उद्दाम होकर 'दृश्य एव द्रष्टा' दोनोका ही रूपान्तरण कर देती है। आज भी यही हुआ।

मेरा देह मुझे स्त्री-देहमे परिवर्त्तित दिखने लगा। सम्मुख दृश्य भी कुछ-का-कुछ ही हो गया। देखती हूँ, एक उपवनमें बैठी हूँ। मेरी पीठ मंजरियोंसे लदे एक सघन कदब-वृक्षसे सटी टिकी है। मेरे आगे चयन किये ढेरसे सुगन्धित पुष्प पुरैन (कमल) के पत्रोंमें सग्रहीत हैं। ये पत्र कदलीके भी हो सकते हैं। पुष्पमाला गूँथ रही हूँ। कहीं दूर कोई जल-स्रोत है, क्योंकि कल-कल निनाद स्पष्ट श्रवणगोचर हो रहा है। प्रभातका प्रथम प्रहर है। वृक्षोंसे छन-छनकर धूप आ रही है। शरद्‌ऋतु है। अतिशय सुहावना वातावरण है। देखती हूँ, प्रियतम आकर मेरे पार्श्वमें आसीन होगये हैं। उनके नेत्र मेरे आननपर ऐसे मँडरा रहे हैं, उसे कोई कवि चकोरकी चन्द्रमा-तृपाकी भले ही उपमा दे सके, परन्तु वह उपमा उस अवस्थाका ठीक चित्र तो दूर, उसके आर्श्व-पार्श्व भी नहीं पहुँच पाती। उस अवस्थाका सत्य चित्रण कर सके, सभव है साक्षात् सरस्वती भी ऐसे न तो शब्द ही पा सकेगी, न ही उपमायें ।

मैं विधाताके सम्मुख आँचल पसारकर कामना कर बैठती हूँ – हे विधाता ! मेरे परम कुरूप आननमें आज इतना सौन्दर्य तो प्रदान कर ही दे कि जिससे ये मेरे प्रियतम किंचित् सुखानुभव तो कर सकें। परन्तु साथ-ही-साथ लज्जाका संवेग भी इतना अधिक उठता है कि शरीर स्वेदसे लथपथ हो जाता है। स्वेदसे वस्त्र इतने अधिक आर्द्र हो उठते हैं कि स्वेद निचुडकर स्वाभाविक ही बहने लगता है। समस्त शरीरके रोम खडे हो जाते हैं। उनके नेत्र असीम प्रेमकी वर्षा कर रहे होते हैं। मुझे निहारते-निहारते ही वे परम मधुर वाणीमे कहने लगते हैं – "प्राणेश्वरी ! तुम सब प्रकारसे मेरी हो।"

ज्यों ही उनके ये शब्द मेरे कानोंमें प्रवेश होते हैं, तत्क्षण ही मेरे लज्जासे अबतक अवनत नेत्र, उनके मुख-दर्शनका लोभ संवरित नहीं कर पाते। मात्र कुछ क्षण, मैं उनकी मुख-माधुरीका दर्शन कर पाती हूँ कि पुन लज्जा घेर लेती है। उनकी आनन-छवि, मुसकाते मुखमण्डलको अपने हृदयमे भरकर नेत्र लज्जावश पुन मुँद जाते हैं। कर्णपुटोमे उनकी मधुरातिमधुर वाणी गूँजती रहती है – "प्राणेश्वरी ! तुम मेरी जीवन सर्वस्वा हो, मेरी प्राण-प्राण हो।" मैं उनके स्नेहमें डूबी मानो गूँगी हो जाती हूँ। मेरा कण्ठ रुद्ध हो उठता है। एक भी शब्द बोलनेमें वाणी असमर्थ हो उठती है। परन्तु मेरा अन्त करण अन्तर्वाणीसे यही उत्तर देता है – "नहीं, नाथ ! तुम मुझे कहने दो, तुम तो स्नेहके मूर्तिमान् विग्रह हो ही, प्रीति-रहिता तो मैं ही हूँ। अत मुझे बार-बार अनवरत इन्हीं प्रेम-मंत्रोको उच्चारण करने दे। यावज्जीवन इन शब्दोका जाप मेरा रोम-रोम करता रहे। नाथ ! मुझे रोम-रोमसे अपनी बना लो। मेरे नेत्रोके रूप, प्राणोके स्पंदन, मनके अनुराग, भावोंके आस्वाद्य – तुम, तुम, एकमात्र तुम ही सदैव रहो। मैं होऊँ ही नहीं। तुम-ही-तुम स्वच्छन्द, अमर्याद सुख भोगो। मेरा सर्वस्व मात्र तुम्हारे चरणोंकी रज पर न्यौछावर होता रहे।"

प्रेम-मूर्च्छामें मैं उनकी गोदमें ढुलक जाती हूँ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - पाँच (५)

# मैं जो हूँ, वही वे हैं; मैं जहाँ हूँ, वहीं वे हैं; मैं जैसी हूँ, वैसे ही वे हैं

*प्रस्तुति :*

**प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*प्रेषिति :*

**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**

**डालमिया दादरी**
**तिथि : उल्लेख नहीं**

*प्राप्ति-सूत्र :*
**श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी**
*संग्रहकर्त्ता :*
**श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी**

भाईजी !

मेरी मानसिक दशाका एक संक्षिप्त चित्र आपके सम्मुख रखा है। सोचने लगता हूँ, यह क्या हो रहा है, उचित है अथवा अनुचित, किससे पूछूँ ? क्या यह कोई मेरा मानस-रोग है ? प्रच्छन्न काम-विकार है ? गौडीय साहित्य तो अवश्य ही मेरे इन मनके भावोंका पोषक है। परन्तु ये भाव मेरे भीतर अपने-आप अति वेगसे उठते हैं। पहले तो स्त्री-भावमें जब मैं होता, तो कुछ अपने सुखकी वासना दृढ़ रहती थी, परन्तु अब तो शिथिल होते-होते वह भावना सर्वथा सर्वांशमें ही समाप्त हो गयी है। श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें तो मेरा 'मम' सर्वथा-सर्वांशमें ही उनपर न्यौछावर रहता है। क्षण-क्षण वे सुखी, अतिसुखी, और अधिक सुखी हों — बस यही भाव-तरगें उठती रहती हैं। वे अपनी रुचि-पूर्त्ति पूर्णरूपेण करें, कहीं कोई संकोच, संभ्रम उन्हें न हो, बस, यही भाव पूर्णरूपेण प्रबल रहता है।

भाईजी ! एक दिवस मेरे सम्मुख आपने अपनेको राधारानीका एक अंश बताया था। फिर मुझे तो अपनी गति किसी भी मूल्यमें आपसे पृथक् तो सर्वथा ही स्वीकार्य नहीं है। चाहे मेरा कहीं कुछ भी हो, मैं अति नगण्य ही क्यों न होऊँ, मुझे आप अपने चरणोंकी रज बनाकर ही चाहे क्यों न चिपकाये रखें, परन्तु मैं होऊँगा, रहूँगा वहीं जहाँ आप होंगे।

भाईजी ! लक्ष्मी नारायणजीका विवाह ब्रह्माजीने कराया, शिव-पार्वतीका मिलन नारदजीकी प्रेरणासे हुआ। रुक्मिणीजीका प्रेम-सन्देश किसी ब्राह्मणने द्वारका पहुँचाया, परन्तु मेरे हाथ तो श्रीकृष्णके हाथमें आपने ही दिये हैं। मेरे ब्रह्मा, शिव-सनकादि एवं नारद सबकुछ एकमात्र आप ही हैं। आपने ही मुझे उनका रूप-ज्ञान कराया और वेणुनादरूप मंत्र सुनाया, जो प्रेम-वेदान्तका महावाक्य है।

कभी-कभी ऐसे विचार भी आते हैं कि स्त्रियोंके मध्य, स्त्री रूपमें रहते-रहते, प्रेमकी ही बातें, चिन्तन करते-करते, कहीं मेरा पतन नहीं हो जाय। ये बातें, ये विचार तभी उठते हैं, जबकि वृत्तियाँ बहिर्मुखी होकर मानसिक-सेवाके जगत्‌से नीचे अधिक देर रह जाती हैं। परन्तु फिर सहसा ही भावावेग ऐसा उठता है कि उस भावावेगमें सब अहं, उसकी कल्याण-कामना पूरी बह जाती है।

भाईजी ! जैसे ही वे सम्मुख आते हैं और नेत्रोंसे दृष्टिगोचर होते हैं, नेत्र चिन्मय जीवन्त हो उठते हैं। ये नेत्र मचल उठते हैं – उन्हें अपनी दृग-पुतलीमें बैठाने को।

उनका रूप मेरे नेत्रोंको प्रीतिकी परमशीतलतासे भर देता है। मेरे नेत्र अतिशीघ्र उन्हें हृदय-देशमें ले आते हैं। अब तो अनुसंधान ही नहीं रह पाता कि वे मेरे बाहर प्रत्यक्ष हैं कि भीतर ध्येय हैं। उनकी आनन-छबि मुझे मेरे केसर-कुंकुम-मंडित वक्षमें इस प्रकार अंकित दृष्टिगोचर होती है, मानों उनकी मुखाकृति मेरे वक्षमें गोद दी गयी हो। मैं, अपने हृदयमें एकात्म हुई विजडित उनकी मुखाकृतिसे वार्त्ता करती हूँ – "देखो ! तुम मेरे हृदयमें अब तो बस गये हो न ! मैं अब कहीं भी जाऊँ, कुछ भी करूँ, कैसे भी रहूँ, तुम तो मेरे अखण्ड, अविच्छिन्न नित्य-संगी ही रहोगे ! वे वाणीसे तो मूक-मौन रहते हैं, किन्तु उनकी प्रतिक्रिया ऐसी होती है कि मेरा रोम-रोम उनसे पूर्ण लबालब भर जाता है। फिर तो भीतर-बाहर उनके सिवा कुछ भी शेष नहीं रहता। वे मुझे पूरा मिटा देते हैं। मेरी समग्र अहंता ही उनसे ओत-प्रोत, उनमें अभिन्न हो जाती है।

भाईजी ! अब ये चाहे दिखें, न दिखें, उनकी स्मृति भी हो, नहीं हो, मेरा उनसे कुछ भी पृथक् अस्तित्व तो रहा नहीं है। मैं जहाँ हूँ, वे वहीं हैं, मैं जैसा हूँ, वे वैसे ही हैं, मैं जो हूँ, वे भी वही हैं। मेरा सबकुछ उनका है। वे सब प्रकारसे मेरे हैं। अब यदि मैं गिर ही जाऊँगा तो क्या होगा ? मेरे सभी कर्म तो वे ही करते हैं। मेरा भूत, भविष्य, वर्त्तमान सब उनका है।

कोई मेरी इन अनुभूतिपूर्ण उक्तियोंको उनके गंभीर सत्यको नहीं माने और मात्र इसे मेरी भावुकता ही समझे, तब भी 'नाम चिन्तामणि कृष्ण' यह श्लोक तो सर्वप्रसिद्ध ही है और आप अपने सत्संगमें अनेक बार इसका संदर्भ भी देते हैं। कृष्ण-नाम यदि मेरी जिह्वामे रहता है, फिर भय किस बात का ? कृष्ण नाम तो चिन्मय ही है। और भगवान्‌ने गीतामे यह आश्वासन भी दिया है कि "न मे भक्तः प्रणश्यति।" यह वचन तो झूठा है नहीं। 'राधा' नाम उच्चारण करता ही रहता हूँ, अतः इस नाते, उनका भक्त भी कहला ही सकता हूँ। यदि गिर ही गया तो कहाँ जाऊँगा, उनसे पृथक् तो कोई भी गति है ही नहीं। अतः उनसे पृथक् तो मैं हो ही नहीं सकता। जब भगवान्‌की इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो उनकी इच्छाके बिना मेरा पतन कैसे सभव है ? और यदि उनकी इच्छा ही मुझे गिरानेकी ही है, तो फिर मुझे किसी सद्गतिसे, उत्थानसे लेना ही क्या है ? मैं तो प्रति दिवस ही नहीं, क्षण-क्षण ही उनसे यही निवेदन करती हूँ 'हे प्रभो ! जो आपकी रुचि हो वही हो, जिसमें आपको सुख हो, मुझे वही अभिप्रेत है।" भाईजी ! उनका प्यार अपूर्व है, अनुपम है, मैं उनके विभु प्रेममें डूबकर भी यदि गिर जाऊँगी, तो मेरी उन्नतिका तो अब कोई उपाय ही नहीं है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - छः (६)

# मन-इन्द्रियोंसे जो कुछ भी ग्रहण होता है, सभी श्रीकृष्ण हैं

*प्रस्तुति :*

**परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*प्रेषिति :*

**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीकी हवेली,
ग्राम, पो. रतनगढ, बीकानेर राज्य

*तिथि :*
भाद्रपद कृष्ण ३ सं. १९९७ वि.

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरी

*संग्रहकर्त्ता :*
श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

भाईजी !

उस दिवस आपके ही मुखसे सत्सगमे भागवतका यह श्लोक सुना था -

**मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।**
**अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ।।**

**(श्रीमद्भा. ११।१३।२४)**

(अर्थात्, मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा इन्द्रियोंसे जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है।)

भगवान् श्रीकृष्ण हसरूपसे सनकादिको यह परम सत्य प्रकाशित कर रहे हैं। फिर मेरी मानसिक भावना भी तो श्रीकृष्ण ही है, जो सत्यके परम सत्य हैं। आपके इस सत्सगको सुननेके पश्चात् मुझे ऐसा उद्दीपन रहा कि किसी भी जन्तु, प्राणी, पदार्थ एव मनुष्यपर यदि दृष्टि जाती, तो मुझे चिन्तन होता कि इसके अणु-अणु में श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं। जब सब कुछ इन्द्रियों एव मनसे अनुभव हो रहा है और मनका सब अनुभव श्रीकृष्ण ही है और मन भी श्रीकृष्ण ही है, क्योंकि उन्होंने गीतामें यह भी कहा है कि 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' – फिर

चिन्ता रही ही कहाँ ?

भाईजी ! अब तो मैं सर्वथा ही निश्चित हो गया हूँ। जब जीवमात्रकी सभी मानसिक हिलन-चलन ही श्रीकृष्ण हैं, तो फिर मेरी तो प्रत्येक मानसिक भावधारा हो उस मयूर-मुकुटीसे प्रत्यक्ष युक्त है। मेरा तो मिलन-वियोग, रोना-हँसना, गाना-बजाना, मेरा सम्पूर्ण ससार ही उस परम सत्य-के-सत्य – श्रीकृष्णको ही लेकर है। अबतक झूठे ही मैं – "वह मेरी मात्र कल्पना है, मनकी उडान है" – इस सन्देहसे ग्रस्त रहा। इस शास्त्र वाक्यने तो यह निर्विकल्प सिद्ध कर दिया कि सोते, जागते, स्वप्न देखते अथवा मानसिक प्रेमका उनके साथ ससार बसाते, मैं जिन भावनाओंमें बह रहा था, वे सभी परमसत्यकी सत्य हैं।

अब तो स्थूल जगत्मे भी, जब मुझे भूख-प्यास लगती है, अथवा शरीरगत रुग्णता-जन्य जो भी कष्ट होता है, उस समय यही अनुभव होता है कि इन सभी रूपाम साक्षात् मेरा मयूर-मुकुटी ही आया है। क्योकि बीमारी, कष्ट, भूखकी सभी सवेदनाएँ तो मनके ही द्वारा हो रही है और मेरा मन अथवा उसके सकल्प-विकल्प सब मात्र श्रीकृष्ण ही हैं। मैं तो मेरे परमाराध्य प्रियतमसे प्रार्थना करने लगता हूँ – "दयालो ! मेरे जीवन-सर्वस्व !! इस रोग-कष्ट, भूख-प्यासादि विकारा और भोग एवं तृप्तिरूप वासनाओके रूपमे आप क्यो आते है, मेरे सम्मुख तो अब सदा मुरली-मनोहर, मेरे प्राणपति ही बनकर रहा करो।" बस, जैसे ही मेरी यह प्रार्थना होती है, भाईजी ! वे मेरे प्रियतम तुरन्त ही अपने विशुद्ध श्रीकृष्णरूपमे परिणत हो जाते हैं। फिर तो मेरी जहाँ भी दृष्टि जाती है, वे वहीं से प्यार बरसाते दृष्टिगोचर हो उठते है। अहा ! उस समय उनका मयूर-मुकुट, घुँघराली अलकावलि, केसर तिलक, शुभ्र ललाट, उस पर करतूरीकी चित्रकारी, कुण्डलोंकी झलमल आभासे दमकते कपोल, अधरोपर मन्द-मुसकान, गलमे वनमाला – सभी तो परम विलक्षण होते है। क्षुधा और तृप्ति दोनोके रूपमें वे ही जब मेरे उदरमें मुसकाते दिखते है, रोग और कष्टके रूपमें जब वे ही अपनी त्रिभुवन-कमनीय छटा छिटकाते दृष्टिगोचर होते हैं, तो मैं निहाल हो उठता हूँ।

भाईजी ऐसे मेरे प्राण-सार-सर्वस्वको मैं किस उन्नति-अवनति, उत्थान-पतन, यश-अपयश, वाद-विवाद, गति-अवगतिके लिये छोड दूँ ? वे मेरे-के-मेरे हैं, वे मेरे नयनोंकी ज्योति हैं, कानोके कर्णफूल हैं, वे मेरी सीमन्तके सौभाग्य-सिन्दूर हैं, मेरे आननके मधुकर हैं, मेरी श्वास-प्रश्वासके मधुरतम सुरीले सगीत हैं, मेरे हृदयके हार हैं, मेरे मनके मनसिज हैं, मेरे

चित्तकी वे ही चेतना हैं, मेरी ममता हैं, मेरी प्रीति हैं, मेरे रोम-रोमकी वे ही पुलकावलि हैं, मेरी सुख-राशि हैं, वे ही मेरे सर्वाभूषण हैं, मेरी गुणराशि हैं, मेरे सत्य-के-सत्य, जीवन-के-जीवन हैं।

फिर उन्हें मैं चाहूँ तो छोड भी सकती हूँ क्या ? जब वे मुझे छोडें, तब न, उन्हें मैं त्याग पाऊँ। वे पलककी ओट हों तब न उनका अदर्शन हो, जब मेरे अहकारको ही उन्होंने अपनी प्रेयसी (प्रिया) बनाली, तो वे कैसे छूटेंगे ? जहाँ भी मेरी दृष्टि जाती है, वे वहींसे प्यार बरसाते दृष्टिगोचर होते हैं, तो उनका त्याग कैसे सभव है ? त्याग उसीका संभव है – जो सर्वत्र नहीं हो। उनकी प्रेम-कल्पनामें खोये रहना तो मेरा परमातिपरम सौभाग्य है। उनकी प्रीति ही मेरा स्वत्त्व है। वे मेरी सुखराशि हैं। कोई दुःख एव दुर्भाग्यको तो भले ही त्याग दे, सुख एव सौभाग्य भी कभी त्यागा जा सकता है क्या ? अब मुझसे तो उनके बाहुओंका आलिगन त्यागा जायेगा नहीं, चाहे मेरी जो भी बुरी-से-बुरी गति हो सो हो। भाईजी ! जैसे मैं उन्हे नहीं त्याग सकती, वैसे ही वे भी मुझे त्याग सकते नहीं, परन्तु क्योकि, वे कर्त्तुम्-अकर्त्तुम्समर्थ हैं, अपनी अचिन्त्य सामर्थ्यसे मेरा त्याग भी कर दें, तो भी मैं तो उनकी ही रहूँगी ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - सात (७)

# इस मोर-मुकुटीका कलेवर ही मेरी समग्र सम्पदा है

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी
पोद्दारकी हवेली
ग्राम, पो. रतनगढ (बीकानेर राज्य)
*दिनांक :*
उल्लेख नहीं

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीचिम्मनलालजी
गोस्वामीकी डायरी
*संग्रहकर्त्ता :*
श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी

भाईजी !

इस मेरे प्राणोके सार-सर्वस्व मयूर-मुकुटीकी प्रेम-चर्चा किससे करूँ ? इस जगत्में आपके सिवा मेरा है ही कौन ? किसके सम्मुख अपना हृदय खोलकर अपने मनके प्रेमकी गुप्ततम बातें कहूँ ?

भाईजी ! मैं अनन्तकालसे उन्हें देख रही हूँ, अनन्त-रूपोंमें उन्हें देख रही हूँ, परन्तु जानती-पहचानती नहीं थी, आज पहचान पायी। यह अन्तिम भाव आजकल निरन्तर बढता ही जा रहा है। अपने मानसिक भाव-जगत्में जब डूबी रहती हूँ, तब उन परम रसमय दृश्योका अनुभव तो मनसे ही होता है, तो मनसे अनुभूत सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण, आज तो रात्रिके बारह बजेतक सर्वत्र उन्हें देखती रही। मुझे तो श्रीकृष्णमयी होकर कृष्णमयी लीलाओंमे अनन्त कालके लिये समाविष्ट हो जाना है। मेरे मनकी जहाँतक पहुँच है, मुझे तो परम एवं चरम तत्त्व यही दृष्टिगोचर होता है।

इस मोर-मुकुटीका प्रेममय कलेवर ही तो मेरे लोक-परलोककी सम्पूर्ण सम्पदा है, जब यह मेरे सम्मुख होता है, तो लोभी जैसे धनको बार-बार

सम्हालता, गिनता और देख-देखकर हर्षित होता है, उसी प्रकार मैं तो इसे आलिंगनमें बाँधे इसके रोम-रोमको मेरे नयनोकी पलकोसे निर्मच्छन करती रहती हूँ। जब इसके अग-अगको हृदयसे सटाती हूँ, उसको अधरोसे संस्पर्श करती हूँ, तो मुझे ऐसा अनुभव होता है — मानो मैंने त्रिलोकीकी सब सम्पदाओका आधिपत्य प्राप्त कर लिया है। यह मुझे न-जाने कहाँ कहाँ, अज्ञात एकान्त कुजरथलोमें ले जाता है और अपनी अतिशय मीठी सुरीली बँसुरी सुनाता है, उस समय मेरी श्वास-श्वास इसके प्रेममें भीगी-नहायी रहती है, इसका सौन्दर्य मेरे नेत्रोके द्वारसे हृदयमे प्रविष्ट हुआ, उसे जगमगाता रहता है। इसके साथ मेरी जितनी केलि सम्पन्न होती है, यद्यपि वहाँ देहगत मलिनता तो सर्वथा नहीं है, परन्तु उसमे स्त्री-पुरुषोचित शृगारिक क्रीडाएँ तो सभी होती ही हैं। सन्यासधर्मके अनुसार तो उनका चिन्तन सर्वथा वर्ज्य है ही। परन्तु मेरा मन तो निरन्तर उनमे ही रमण करता इस ससार को ही भूला रहता है। इस केलिमे मेरी सब सगिनी-सखिया सम्मिलित होती हैं। अत उनके अग-प्रत्यगोका मानसिक दर्शन एव ध्यान प्रगाढ भावसे होता ही रहता है। इन सबमे इतना रस आता है कि सामनेका स्थूल ससार ही विस्मृत हो जाता है। तो क्या भाईजी सचमुच ही मैंने पतनके द्वार खोल लिये ? मेरा मानसिक चरित्र-पतन हो गया ? भाईजी अब तो मैं इस मार्गमे इतना निर्लज्ज, निर्भय हो गया हूँ कि पतनका भय भी समाप्त हो गया है। हृदयमे एक आशका तो अवश्य ही सकोच कराती है, कि कहीं आपके विपरीत (प्रतिकूल) मेरे आचरण तो नहीं हो रहे। आपका सग छूट जानेकी आशकासे कॉप उठता हूँ। परन्तु भाईजी, मनकी यही दशा है। आपसे कपट करनेसे लाभ ही क्या ?

सोचता हूँ – "**करी गोपालकी सब होय**" यदि श्रीकृष्णको आपका एव मेरा सग छुडाना ही होगा, तो छुडा देगे। अपनी प्रिया-मुझको यदि वह नारकीय-देह देकर नरकोमे ही ले जायेगा, तो क्या वहाँ इसकी प्रीति-नदी सूख जायगी ?, जैसे इस समय मैं इसकी समाराधना कर रही हूँ, वहाँ भी वैसी ही समाराधना करती रहूँगी। घोर कुभीपाक और रौरवादि नरकोमे भी मैं इसे नयनोमे अजनकी तरह ही ऑजे रखूँगी। यह वहाँ नरकोंमें भी निश्चय ही मेरे हृदयका हार बना रहेगा। मेरे ललाटका सौभाग्य तिलक और मेरे कानोका कर्णभूषण बना यह तो सर्वकाल सर्वगति, एव सर्व-अवस्थाओमे मेरे साथ ही छायाकी तरह रहेगा चाहे वह नरक हो स्वर्ग हो किंवा अपवर्ग हो।

भाईजी ! जब इस नन्दतनयके साथ वन-वन डोलना ही मेरी नियति है, तो इसकी सक्षम भुजाओके भरोसे नरकमे भी घूम-फिर आऊँगी। आज जब

वनके मयूर, चातक, पिक, कपोत, शुक एव सारिकाएँ हमारी प्रीतिकी साक्षी हैं, तो कल यमदूत, यत्रणाएं देनेवाली नारकीय जीव-योनियाँ हमारी प्रीतिकी साक्षी होंगी। आज वनके कदम्ब, कुञ्ज-निकुज हमारे प्रीतिके आश्रय-स्थल होते हैं, तब रौरव और कुम्भीपाक नरकके दारुण यंत्रणागृह हमारे आश्रय होंगे। इतना निश्चय है, उस अवस्थामे मैं मेरे प्राणपतिको अपनी शपथ देकर अवश्य मना करना चाहूँगी कि वह यह कर्म-भोग मुझे अकेले ही भोगने दे। वह तो मात्र मेरे सुख-सौन्दर्य और सौहार्दका ही भागीदार रहे। मेरे हृदयकी अन्यतम यही अभिलाषा थी, है एव आगे भी रहेगी। मैं तो यही चाहूँगी कि उन दिनों वह मेरी स्मृति पथसे भी दूर चला जाय, क्योंकि यदि मै उसे स्मृतिमे रखूँगी, तो वह भी मुझे स्मरण करेगा, और तब उसे अपने निकट आनेसे वर्जित कर देना एक प्रकारसे असभव ही होगा। परन्तु जैसा उसका मेरे प्रति प्यार है, वह मेरे मना करनेपर भी वहाँ आ ही जायेगा। और ज्यो ही वह उन नरकोमे आया, नरक, नरक रह ही नहीं सकेंगे।

भाईजी ! मेरे तनको ही कोई कर्मराशि नरकगति दे सकती है, मेरे मनको तो अपने प्राणधनके चरणोंसे पृथक् किसी भी विधान द्वारा कोई भी विधाता कर नहीं पावेगा – यह निश्चय है और मेरा मन ही यदि आपके सत्सगमे सुनी भागवती-निष्ठाके अनुसार श्रीकृष्ण है, तो नरकोमे भी मैं रहूँगी निश्चय ही उनके नयनोमें नयन उलझाये, बाहुओमे बाहु गूँथे, एक दूसरेके अगोमें अपने अंग समाये ही। मेरा मन तो ऐसा ही हो गया है कि वह विश्राम ही पाता है – नीलचन्द्रकी प्रीति-ज्योत्स्नामें। उसकी तो सौभाग्य-शय्या ही मेरे प्राणवल्लभकी गोद है। यदि किसी भी उत्तमोत्तम आदर्श गतिके लिये मुझे नीलसुन्दर प्राणपतिको छोडना पडे – उससे अच्छी सुभग बात तो मेरा नरकोंमे पड़ना ही होगा।

एक दिवस उन्होने मुझसे कहा – देखो ! प्रिये, यह ससार तो कर्मसे बना है। आओ, चलें अपना पृथक् प्यारका ससार बनावेंगे।" मैं उनके पीछे चल पडी। अपनेसे सटाये वह मुझे न-जाने कहाँ-कहाँ ले चला? एक कदम्ब-कुञ्जमें उसने ढेर-सारे पुष्प बिछाकर मुझे बैठा दिया। कहने लगा "अब प्यारका आकाश बनाता हूँ, प्यारकी ही पृथ्वी, जल, अग्नि, प्राण, पवन, वृक्ष, नद-नदी सब प्यार ही प्यार, मात्र विशुद्ध प्यार।" अहा ! वह कैसा प्रेममय संसार था। मैं उसकी प्रेम-किकरी, तुच्छातितुच्छ चरणदासी। वह उसका प्रेम-स्वभाव ही है कि असंख्य उत्तमोत्तम रूप-गुण-शील-सम्पन्न उसकी प्रेयसियोंके रहते, वह मुझ परम अधम, रूप-गुण-शील-हीना एक दासीपर अपना प्रेम न्यौछावर

करता है। मैं तो सर्वथा विस्मृत ही कर गयी हूँ कि मेरे कोई माता-पिता, पति, पुत्र, सास-ससुर, भाई-बन्धु भी हैं। उसके प्यारने – मेरा अपना आपा भी कुछ है- इसके भी जब सस्कार नहीं रहने दिये, तो परिजन-परिवार, लोक-कुल-जाति-मर्यादा,धर्म-ससारकी तो बात करना ही व्यर्थ है। अबतो मात्र मैं हूँ और वह है। उसका प्यार मुझे चतुर्दिक् लपेटे रहता है। मैं तो अपने बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दायें-बाये, आगे-पीछे मात्र या तो उसे देखती रहती हूँ, अथवा उसके प्यारमें पगी-भीगी रहती हूँ। मेरे लिये तो यही सर्वप्रेय एवं श्रेय प्रतीत होता है।

भाईजी ! यह अति विस्तार वाला आकाश आप देख रहे है न ! इससे बृहत् भला कुछ भी सभव हो सकता है क्या ? परन्तु मैं सत्य कह रही हूँ कि इस आकाशसे भी बृहत् उन्होंने मुझे प्यार दिया है। इतनी अधिक आत्मीयता (अपनापन) उनकी मुझसे है। यह केवल साहित्य नहीं है। उनके आलिगनमें [illegible] जब म उनके श्वासोको गिनती हूँ, तो ऐसा लगता है कि उनके प्राण मेरे बाहर ही नहीं मडरा रहे, वे मेरे स्वयके प्राण ही हो रहे हैं। उनकी श्वास-प्रश्वाससे ही मैं जीवित हूँ।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - आठ (८)

# वनश्री क्यों फूली है ?

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी
पोद्दारकी हवेली,
ग्राम., पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
*दिनांक :* उल्लेख नहीं

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीचिम्मनलालजी
गोस्वामीकी डायरी
*संग्रहकर्त्ता :*
श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी

भाईजी ! आज रघुनाथ पार्कमे सायकाल घूमने चलागया था। वहाँ पर बेंचपर बैठा, खिले पुष्पोकी शोभा देख रहा था। सहसा दृश्य बदल गया। खुली आँखो से स्पष्ट अनुभव हो रहा था, मानो मयुना तट-वर्ती कोई निकुंज हो। यहाँ तो कोई जलकी बहुलतावाला स्थल भी नहीं है, परन्तु मुझे तो उस समय वहॉ यमुनाजी लहराती दर्शन दे रही थीं। यमुनामे नीलकमल एवं रक्तकमल दोनो खिले थे। चतुर्दिक् बसन्त मूर्त्तिमान् लहरा रहा था। लताये पुष्पोसे लदीं वृक्षोसे लिपटी थीं। निकुञ्जके चतुर्दिक् फैला विस्तृत वन-क्षेत्र भी सुषमासे लकदक कर रहा था।

भाईजी ! वे मेरे पार्श्वमे ही थे। एक क्षणके लिये भी तो वे मुझसे वियुक्त नहीं होते। यदि वे कभी अलग होते भी हैं, तो मैं उनसे मानसिक सयोग कर लेती हूँ। उनसे मेरा वस्तुतः संयोग और मानसिक सयोगमें अन्तर ही क्या है ? हॉ ! उस समय, सारा बाह्य-दृश्य उनके साथ ही मेरे हृदयमें ज्यो-का त्यों व्यक्त हो जाता है। नेत्र मुँद जाते हैं, तभी मेरी आँखे उन्मीलित होती हैं। अन्यथा तो मेरे नेत्र कभी उन्मीलित होते ही नहीं। हों भी तो किसके लिये ? वे यदि दृश्यमें नहीं हों, तो फिर दृश्यमें देखनेको है ही क्या ?

तो प्रीतिसे भरे हम दोनों वन-शृगार देख रहे थे। अचानक वनके पुष्पोंसे वे मेरा शृगार करने लगे और मैं उनका। वनश्रीके रूपमें उनका प्रेम ही सर्वत्र खिल रहा था। सज्जाके रूपमें अपने प्यारसे ही तो वे मेरे रोम-रोमको

आपूरित कर रहे थे। जब वे मेरा शृंगार कर चुके, तो मैं उन्हें सजाने लगी। उनका शृंगार करते-करते ही मैंने उनसे प्रश्न कर दिया – "प्राणनाथ ! यह वन-श्री आपकी उपस्थिति-मात्रसे इतनी प्रफुल्लित क्यों हो उठती है ?"

वे प्यार भरा कटाक्ष करते हुए कहते हैं – "प्रिये ! तुम्हारे लिये । यह तुम्हारी सेवाका सुख लेने नित्यनूतन सज्जित हुई तुम्हारे नयनोंको आनन्द देने प्रस्फुटित होती है।" मैं उनके प्रेममें भरी उनसे लिपट जाती हूँ।

"वल्लभ ! सुना है, पूर्व जन्ममें तुम राम थे, क्या यह सत्य है ?" मैं वक्षस्थलसे लगी उनसे प्रश्न पूछती हूँ। "ऐसा मैयाके मुखसे मैंने भी सुना है, महर्षि श्रीगर्गाचार्यजीने मेरे बाबाको भी यह निर्देश किया था।"

हम दोनो एक वृक्षके परम स्वच्छ आलवालपर बैठ जाते हैं। "तो, उस जन्ममें सीता तुम्हारी वल्लभा रही, वे पृथ्वीकी पुत्री थीं ?" मैंने उनके नयनोमें नयन डालते हुए प्रश्न किया। उन्होने स्वीकृतिमे मस्तक-भर हिलाया।

अब तो पूर्णतया मैं उनके वक्षस्थलमें सट गयी थी। "और तुमने राज्यश्रीको रिझानेके लिये उस धरा-पुत्रीका त्याग कर दिया ?" मेरे नेत्र उनसे यह प्रश्न करते-करते छलछला आये थे। वे भी मेरे नयनोमें छलकती प्रीतिसे किंचित् करुण हो उठे थे।

मैं भावावेशमें भर उठी थी। "हाँ ! तुमने उस पृथ्वी – सुताको त्याग दिया और वह तुम्हारे दो पुत्रोको महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें जन्म देकर तुम्हारे विरहमें विलाप करती पृथ्वीमें समा गयी थी।" मेरे नेत्रोंसे अश्रुधारा फूट पडी थी। वे मेरी भावावेशजन्य उत्तेजनाको देख हतप्रभसे निम्नमुख हो गये थे। मैं बोलती जा रही थी और मेरी वाणी सिसकियोंसे अवरुद्ध हो रही थी।

"प्रियतम ! यह वनश्री वही सीता है" जो एकांगी, प्रेमभरी, अपने नितनूतन सौन्दर्यको तुमपर अनवरत, मूक न्यौछावर कर रही है। वही धरा-वत्सला सीता ही हिमालयसे स्फुटित हुई यमुना बनी तुम्हारे चरणोंको पखार रही है। उसीने सूर्यपुत्री कालिन्दीके रूपमें तप कर तुमसे विवाह किया और पटरानी-पद प्राप्त किया । वही भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणी, सत्राजित्पुत्री सत्यभामा, जाम्बवाननन्दिनी जाम्बवती, राजाधिदेवीकी पुत्री 'मित्रविन्दा, कोसलनरेशकी पुत्री नाग्नजिती, केकय देशकी श्रुतकीर्त्ति-पुत्री भद्रा और मध्यप्रदेशके नरेशकी पुत्री लक्ष्मणा बनी। वही अनादि-विरहिणी चातकी बनी अनवरत 'पीतम' 'प्रीतम' चीत्कार करती रहती है। प्राणवल्लभ ! इतने निष्ठुर मत बनो, इसे शाश्वत सौभाग्यदान दो।"

मैं भावाविष्ट हुई उनके चरणोंमें लिपट मूर्छित [illegible] हूँ।

प्रसंग - नौ (९)

# प्रिये ! आज तुम्हारा जन्म-दिवस है

**रतनगढ़**
**रासपूर्णिमा १९९७ वि.**

भाईजी ! कलकी घटनाका उल्लेख कर रहा हूँ। रातको आपके नोहरेमें रासपूर्णिमाका महोत्सव था। भगवन्नाम संकीर्त्तन हो रहा था। एक ओर दमाके रोगी एकत्रित थे। आप उन्हे पूर्णिमाकी खीरके साथ दवा देते हैं। 'राधारमण जय कुंज-बिहारी, मुरलीधर गोवर्धनधारी' कीर्त्तन श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी करा रहे थे। कीर्त्तनमे मैं सम्मिलित था, सहसा दृश्य बदलता है। स्पष्ट अनुभव होता है, पार्श्वमें थोडी दूरमें, जहाँ सर्राफोंकी हवेली है, यमुना बह रही है। यमुनातटसे थोडा हटकर तटपर एक कुटी है। उसपर चतुर्दिक् भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे लदी लताये आच्छादित हैं। पुष्पोंकी ही छत है एव मन्द सुमधुर गन्धसे सम्पूर्ण वातावरण भीना-भीना महक रहा है। कुटीके चतुर्दिक् छोटा-सा उपवन है। उसी उपवनमे पुष्पित कदम्बके नीचे एक काष्ठकी चौकीपर बैठी हूँ। मेरे पास पुष्पोंका ढेर लगा है। पूर्णचन्द्रकी चाँदनी अति स्नेहभरी मनोरम चतुर्दिक् छिटक रही है। विचार कर रही हूँ, इतनी शुभ्र, शीतल चाँदनीमे कहीं वे आ गये तो ? एक पुष्पमाला तो गूँथ लूँ। वही उन्हे समर्पित कर दूँगी। सहसा पदध्वनि होती है। देखती हूँ, वे उपवनके द्वार-देशपर खडे हैं। परम सुन्दर मयूर-मुकुटी वेष, हाथमे एक परम सुगन्धित वनमाला। मैं उनके स्वागतके लिये खड़ी होती हूँ। वे बहुत ही प्रसन्न हैं। उनका खिला मुख देखकर मन नृत्य कर उठता है। उनका सौन्दर्य भी कैसा अपूर्व है ? श्यामल ललाटपर चन्दन केसरकी खौर और कुकुमका तिलक है। घनकृष्णवर्णकी रेशमी अलकावली मस्तकपर अस्तव्यस्त हो रही है। उसपर मयूर-पिच्छ अपनी निराली छटा दिखा रहा है। अर्द्ध-निमीलित भाव-भरे नेत्र, कपालोपर कुकुमकी चित्रकारी, कानोंमें कुण्डल, लाल-लाल अधरोंके मध्य कुन्दकली-सी दन्तछटा, चिबुकपर हीरामणि, वक्षस्थलपर केसरका लेपन, गुञ्जाहार और आजानुलम्बित वनमाला, कटिपर पीताम्बर, वे मन्द-मन्द मुसकाते हैं, आगे बढते हैं, और मुझे अकमें भर लेते हैं। अति प्यारसे गूँथी वनमाला मुझे ही पहना देते हैं। पुष्पहार पहनानेके साथ ही साथ उनके बाहु भी मुझे आकण्ठ लपेट लेते हैं। कितनी शोभा बिखेरती है उनकी मुसकान ?

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एव तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या
401-540
तक

साधु कृष्णप्रेम

"प्रियतम" – मैं उनके कण्ठसे लगी विह्वल हो जाती हूँ। "प्राणवल्लभे ! आज तुम्हारा जन्मदिन है। मेरा सर्वस्व तुमपर न्यौछावर है।" वे प्यारसे गद्‌गद हो उठते हैं। अपने कण्ठका मणिहार भी वे मेरे कण्ठमे डाल देते हैं। मेरे नेत्र उनका अतिशय प्यार देखकर बरस पडते हैं। वे मेरे आननको अपनी दोनों हथेलियोसे दबाकर कहते हैं – "आजके दिवस अश्रु नहीं ढुलकाते, तनिक मुसकाओ।" उनकी उक्तिपर मैं मुसकानेकी चेष्टा करती हूँ, किन्तु उनका निश्छल असीम प्यार मुझे अश्रुसिक्त कर ही देता है। मैं उनके नीलकान्त-मणि-सम दमकते वक्षस्थलसे सट जाती हूँ।

ऐसा लगता है, मेरी चिति जैसे उनसे एकाकार हो रही है – मानों वे ही मेरी मूर्तिमान आत्मीयता हैं। वे मुझसे सटे-सटे ही चन्द्रमाकी ओर देखते हैं। ऐसा अनुभव होता है, मानो राका-विधु खिल-खिलाकर मुसका उठा है। चाँदनी भी जैसे उद्दीपित हो उठी हो, वह अपनी दूधिया सुधासे हम दोनोको नहला दे रही है। वे मुझे चन्द्रमा दिखाते हुए कहते हैं – "प्रिये ! चन्द्रमा कितना सुन्दर है ?" मैं उनकी ओर ही एकटक देखती रहती हूँ और मुसका देती हूँ। वे पुनः जिज्ञासा करते है, तो उनके गलेसे गुँथी उत्तर देती हूँ – "प्रियतम ! प्रीति ही परम सुन्दर है।"

**राधा राधा राधा राधा**

---

## प्रसंग - दस (१०)

# तुम इतने सुन्दर क्यों हो ?

रतनगढ़,
तिथि, संवत् कुछ नहीं

भाईजी !

रात्रिके बारह बज रहे हैं। आजका जप, पाठ कुछ भी पूरा नहीं हो रहा। जैसे ही 'राधाकृष्ण, राधाकृष्ण, कृष्ण-कृष्ण, राधा-राधा' जपनेको मुख खोलता हूँ,नेत्रोंके सामने विलक्षण दृश्यावलियाँ एवं भावोंकी आँधी आनी प्रारंभ हो जाती है। अपनेको हजार चेष्टा करनेपर भी रोक नहीं पाता। एक-दो दृश्य लिखकर भेज रहा हूँ। चेष्टा करनेपर भी शब्दोंके द्वारा अनुभूतिका चित्र सही नहीं उतर पाता। शब्द उसकी पवित्रता, उसकी सुन्दरता, उसका शील व्यक्त ही नहीं कर पाते, क्या करूँ ?

यमुना-पुलिनपर वे खड़े हैं, कितनी पवित्र उनकी छबि है ? ऐसा ठीक अनुभव हो रहा है, उनके अस्तित्वको अपने ऊपर धारण करनेसे पृथ्वी, वायु, यमुना, वन, वृक्ष और कुञ्ज सभी पवित्रको भी पवित्र करनेवाले बन रहे हैं। उनके अंगो-अंगोसे एक परम निर्मल श्याम तेज झर रहा है, सब शोभा, पवित्रता, सौन्दर्य, माधुर्यकी खान मानो वे ही हैं।

वे मेरे अति निकट आकर आसीन हो जाते हैं। मैं उनकी सुन्दरतासे अभिभूत मुसकाती हुई, उनकी ओर देखती रहती हूँ और तब उनसे प्रश्न कर बैठती हूं -- "प्रियतम ! तुम इतने सुन्दर क्यों हो ?" वे मेरी जिज्ञासाका कुछ भी उत्तर नहीं देते। मैं पुनः जिज्ञासासे उनकी ओर देखती हूँ। वे मेरे कपोलोंपर बिखरी लटे निवृत्त करते हैं और अति ललचायेसे, मेरे आननको निहारते हैं। जब मैं पुनः यही प्रश्न करती हूँ तो वे बोल उठते हैं -

"प्रिये ! देखो ! आकाशमें चन्द्रमा अपनी निर्मल दूधिया चाँदनीसे सम्पूर्ण वनको नहला रहा है, चन्द्रिकाकी किरणें, चाहे वे अधखिली कलियोंको निरवगुंठित कर रही हों, चाहे यमुनाकी लोल लहरियोंमें सुधा घोल रही हों, सब चन्द्रमाकी सुन्दरताका अणुमात्र लेकर ही क्रियाशील हो रही हैं। इसी प्रकार इस विश्वमें जो कुछ सुन्दरता, मधुरता, प्रीति, अमृत है – सबकी एकमात्र उत्स तुम्हारी प्रीति है, प्रिये ! तुम्हारे रससे सब वृक्षोंके फल मधुर हैं, तुम्हारी सुगन्ध लेकर सब पुष्प मह-मह महक रहे हैं। तुम्हारी शीतलतासे यमुनाकी चंचल ऊर्मियाँ

स्निग्ध है। तुम्हारे सौन्दर्यको ग्रहणकर वन मुखरित हो रहा है। तुम्हारी मधुर वाणीको ही कोकिला कुहू-कुहूकर अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा कर रही है। तुम्हारी अनन्ततासे आकाश विस्तृत है। तुम्हारा प्यार ही सम्पूर्ण विश्वमें आत्मीयताका प्रकाश कर रहा है। उसी प्रकार तुम्हारी नेत्रोमे बसी प्रीति-लक्ष्मी ही मुझे सुन्दर बना रही है।"

वे कहते जा रहे थे और उनका वक्तव्य मैं मुसकाती, उन्हे अति नेहसे निहारती हुई सुन रही थी। जब उनका कथन विरमित हुआ, तो मैंने बस एक वाक्य ही कहा – "प्राणनाथ ! तुम इतना तो स्वीकार करोगे ही कि ऐसी प्रेममयी मैं, मात्र तुम्हारे चरण-रजकी तुच्छातितुच्छ किंकरी हूँ।"

वे मुझसे लिपट जाते हैं और मैं उनमे गुँथ जाती हूँ । और ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहा। वे ही वे रह जाते हैं। वे कृष्ण हैं और मैं उनकी आधार कृष्णा। जिसके अणु-अणुमें कृष्ण हो, जिसमें सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण समाये हो, कृष्णसे भिन्न जिसमें कहीं कुछ भी पृथक् सत्ता शेष नहीं रही हो, वही तो कृष्णा है। वे श्याम हैं, मैं श्यामा हूँ। मैं वनमाला हूँ, वे वनमाली, मैं भोग्या हूँ, वे भोक्ता। मै मन हूँ और वे मन्ता, मैं प्रज्ञान हूँ, वे प्रज्ञाता मैं सत्य हूँ, वे सत्ता। मैं 'मैं' हूँ और वे मेरे हैं। मैं आत्मा हूँ, वे आत्मीयता।

भाईजी ! यह शब्दजाल नहीं है। मेरी उनसे उस समय ऐसी ही प्रगाढ़ एकात्मता अनुभूत होती है। यही तो प्रीति है। यदि पृथकता ही हो, तो फिर वे मेरे कैसे मै उनकी कैसे ? भाईजी ! मेरे मनमे जैसे यह संकल्प आता है कि 'मै उनकी' उसी समय ऐसा अनुभव होता है, मेरे श्वास-श्वासपर मेरे सम्पूर्ण तन मन, इन्द्रियोपर उनका पूर्णतया अधिकार हो गया है। मेरा समग्र निजस्व ही श्रीकृष्णका हो जाता है और जो कुछ भी, कोई भी जो मेरा है, सब उनका हो जाता है। मैं पुन. पुन जप करती हूँ – "मेरे जीवन-सर्वस्व ! मैं सब प्रकार से तुम्हारी हूँ" – मेरा यह वाक्य समाप्त ही नहीं हो पाता कि उनकी प्रीति इतनी उमडती है कि उनका ममत्व मेरे समग्र मनको आत्मसात् कर लेता है। मेरा मन वे ही-वे हो जाते हैं। मेरा सर्वस्व उन महाप्रेमसमुद्रमे डूब जाता है।

भाईजी ! "मैं उनकी हूँ और वे मेरे हैं" – यही परम सत्य है, यही परम तत्व है। वे मेरे हैं - यही समग्र परमार्थका अन्त है। 'वे मेरे हैं' यही सार की-सार बात है। वे मुझमे ही निवास करते हैं। मैं ही उनका गोकुल, नन्दग्राम, गोलोक हूँ। मुझमें ही वे प्रकट होते हैं, स्थिर रहते है और विलय हो जाते हैं। वे मेरे हैं, सर्वांगत मेरे हैं, एकमात्र मेरे हैं, समग्र मेरे हैं, मुझसे कहीं, कभी, कुछभी

अतिरिक्त नहीं। अनादिकालसे यही सत्य था, उनका मेरा ऐसा ही प्यार सर्वकालसे था, है एव रहेगा, परन्तु मैं ही अज्ञानी थी, अंधी थी, अबूझ थी, अपरिचित थी। अनादिकालसे वे मुझपर न्यौछावर होते रहते थे, परन्तु फिर भी मैं अपनेको परायी, एकाकिनी, उनसे विरहित अनुभव कर रही थी। अनादिकालसे उनका समग्र मात्र मेरा निजस्व था, परन्तु फिर भी मै कंगालिनी ही अपनेको अनुभव कर विलख रही थी।

उनका प्यार असीम था, है, एवं रहेगा। बलिहारी है उस बुद्धिकी जो उनकी प्रीतिसे फिर भी अनजानी अछूत है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

## प्रसंग-ग्यारह (११)

# क्या तुम मुझे अप्राप्त हो ?

**रतनगढ़**

**दिनांक : अज्ञात**

मयूर कुटी है। मैंने उनकी स्मृतिमे अपनी कुटियामे चतुर्दिक् मयूर पख लगा लिये हैं। ऐसा लगता है, जैसे मयूर पखोका श्रृगार किये वे मेरे चतुर्दिक् है। मै मन-ही-मन उनसे वार्त्तालाप करती हूँ। मै उनसे प्रश्न कर बैठती हूँ 'प्रियतम ! क्या तुम मुझसे वियुक्त हो, मुझे अप्राप्त हो ?'' मेरा प्रश्न पूरा मुझसे बोला भी नहीं जाता कि मध्यमे ही वे, अति मधुर भगिमामे मुसकाते मेरे सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। अतिशय मधुर मुसकाते, वे मुझे निहारने लगते है। उनके नेत्रोसे मेरे नेत्र ऐसे जुड जाते हैं कि लजाकर मुझे ही अपना मुख नीचा करना पडता है।

''प्रियतमे ! 'प्राप्ति' मैं हूँ तो 'अप्राप्ति' भी तो मेरी ही है। और मुझमे तो 'मैं' एव 'मेरा' – भिन्न एव पृथक् सत्य कदापि सभव नहीं है।' उनकी प्रीति-रहस्यसे भरी वाणी मुझे निहाल कर देती है। प्रेम उनका दान है, तो त्याग भी उनका ही तो दान है। सत्कार एव दुलार उनका दिया है, तो क्या दुत्कार उनका दिया प्रसाद नही है ? सयोग उनका है, तो क्या वियोग पराया है ? मुखारविन्द उनका है, तो क्या पीठ उनकी नहीं है ? वे मुझे साम्मुख्य देकर आलिगित किये रहे, तो क्या वे कभी भी करवट लेकर मुझे पीठ नहीं दे ?

और मैं उनके भावपूर्ण कथनको सुनकर नृत्य करने लगती। मधुर-मधुर मुसकाते वे मुझे देख रहे होते हैं और हर्षोत्फुल्ल मेरा नृत्य विराम ही नहीं पाता। मैं हर्षविह्वल हो जाती हूँ।

भाईजी ! अबतक प्राप्ति को ही मैंने प्रेम मान रखा था। अप्राप्ति भी तो उतनी ही उनकी है, जितनी प्राप्ति। निजेन्द्रिय भोग-सुखकी स्पृहा यदि समूल मिट जाय, तो प्राप्ति एव अप्राप्तिमें भेद ही कहाँ है ? उनकी प्रसन्नता तो प्राप्तिमे भी है और अप्राप्तिमे भी है। भला कौन किससे पराङ्मुख होता है ? जो आलिगन दान देता है, वही तो पराङ्मुख भी होता है। सम्मुख जब तुम होओगे, तो पराङ्मुख क्या कोई अन्य होगा ? मिलन तुम्हारा है, तो बिछोह क्या दूसरेका सभव है ? राग-अनुराग उनका है, तो क्या त्याग वैराग कोई और

करेगा ? अब तो मेरा एव उनका इतना अटूट सम्बन्ध हो गया है कि कभी किसी भी अवस्थामे यह बन्धन ढीला हो ही नहीं सकता । अबतक मैंने उनके प्यारकी गरिमाको समझा ही नहीं था। उसकी गहराईमे मैं डूबी ही नहीं थी। मैं तो मात्र उनकी अनुकूलताकी ही भोक्ता थी। हाय ! वे मुझे कितना असीम प्यार करते थे और मै कितनी भोग-लोलुप थी। मुझे अपनी नीचतापर इतना पश्चात्ताप होता है कि मेरा प्रेम-नृत्य आसुओंकी झडीमे बदल गया। मेरा मुख, वृक्ष सभी अश्रुधारासे तर हो जाते हैं। मैं उनके चरणोमे लिपट जाती हूँ। मेरा रोम-रोम 'प्रियतम' चीत्कार करने लग जाता है।

"प्रियतम ! हा ! हतभाग्य,मै तुम्हारे प्रेमको जान ही नहीं सकी।' अप्राप्ति सचमुच ही तुम्हारा असीम अनन्त प्यार है।

**राधा राधा राधा राधा**

## प्रसंग - बारह (१२)

# प्रेम किसको कहते हैं ?

*स्थान* : रतनगढ,
**तिथि संवत् कुछ नहीं**

वृन्दावनका परम रमणीय स्थल। यमुनाका पावन पुलिन। परम रम्य कुसुमोसे लदा कुज। कदली-वृक्षोसे झुके वृक्षोके नीचे वे मुझे अपने वक्षसे लगाये बैठे है। अपना उत्तरीय ही उन्होने मेरा आसन बना दिया है। अत्यत स्नेहसे वे मुझे एवं मैं उन्हें निहार रही हूँ।

अनन्त, असीम प्रेम अपनी वाणीमे भरकर, मै उनसे प्रश्न करती हूँ – "प्राणवल्लभ ! प्रेम किसको कहते हैं ?"

वे मुझे प्रीति-भारसे झुके नेत्रोको उठाकर निरखते है और अति सुमधुर एव गभीर स्वरमे कहते हैं – "वल्लभे ! प्रेम और तुम दो अलग कदापि सभव नहीं है। जिसे लोक एव परलोकमे, जब भी मात्र तुम्हारे चरण-कमल ही स्वार्थ एवं परमार्थ समझमे आते है, तभी वह 'प्रेम' नाम लेनेका अधिकारी होता है।"

"प्राणेश्वरी !" उन्होने अति प्यारसे मुझसे ही प्रश्न कर दिया – "जब तुम मेरे प्रेमकी उद्दीपित अवस्थामे होती हो, उस समय भला तुम्हे क्या अनुभव होता है ?"

"वल्लभ !" मैने अति सकोचसे उत्तर दिया – "मुझे तो ऐसा लगता है, मानो मेरे भीतर एव बाहरका सम्पूर्ण अवकाश ही तुम्हारी छबिसे भर गया है। मेरे श्वास-प्रश्वासके रूपमे मानो तुम ही मेरी जीवनधारा हो जाते हो, ऐसा अनुभव होता है मानो मुझमें रक्त-मास-अस्थि सभीका अभाव हो गया है और तुम्हारे आकार-रूप पदार्थने मेरे भीतर जो भी रिक्त था उसे लबालब परिपूर्ण भर दिया है। उस समय मेरा मन मेरा नहीं रहता, तुम्हारा मन ही मेरा मन हो जाता है। उस समय तुम्हारी बुद्धि मेरी बुद्धि एव तुम्हारा अहकार मेरा अह हो जाता है। उस समय मैं रहती ही नही, तुम-ही तुम मुझे अपनेमें मिलाये सरसते रहते हो। मेरे जीवन ! उस समय मुझे चलते फिरते, उठते बैठते जाग्रत-स्वप्न, सभीकालमें एवं सभी अवस्थाओमे यही अनुभव होता है, मानो मै थी नहीं, हूँ नहीं रहूँगी भी नहीं। मात्र तुम-ही-तुम नित्य अखण्ड, परम सत्य-के-सत्य हो।"

उन्होने मुझे अपने अगोमें समा लिया। उस समय न मैं थी, न ही वे थे। उनके लिये 'मै-ही-मैं' थी और मेरे लिये 'वे-ही-वे' थे। मात्र प्रेम ही हम दोनोंकी सत्ताका एकमेव सत्य था।

मेरे पास तो न रूप है, न यौवन है। फिर मुझे वे क्यों प्यार करें, परन्तु वे मुझे अतिशय प्रेम करते हैं।

भाईजी ! क्या मैं पागल (बावली) हो रही हूँ। सचमुच ही किसी कामकी नहीं रह गयी हूँ। दिन-रात उनको ही देखती रहती हूँ। एक दिवस इसी संकोचमे यमुनामें डूबने चली गयी थी। वे राधारानीके हैं। मैं तो रानीकी एक तुच्छ सेविका हूँ। वे मुझे फिर क्यों प्यार करे ? इस मेरे प्रेम-प्यारका कोई अवाछित दु खद परिणाम न हो। मैं उन्हें प्यार किये बिना रह नहीं सकती। अत. प्राण दे देना ही एकमात्र उपाय समझमे आया। यमुनामें डूब भी गयी। परन्तु डूबनेपर भी मेरे प्राण सर्वशा छूटे ही नहीं। उलटे सर्वांगोंमे परम शीतलता व्याप्त हो गयी। थोडे ही कालमे वहाँ श्यामसुन्दर खडे, हँसते दृष्टिगोचर हो गये। वे मुसका रहे थे। कह रहे थे – "मजू ! तू प्राण देने आयी है ? तू प्राण दे देगी, तो मैं कैसे जीवित रहूँगा ?" बहन ! इसीलिये न मर सकती हूँ, न ही जी सकती हूँ। क्या करूँ ? जहाँ दृष्टि डालती हूँ, वहीं वे ही दिखते हैं। मुझे कोई भीषण रोग हो गया है ? इसका उपाय भी तो मेरे पास नहीं है। वे मेरे मनकी सब बात जानते हैं। अत जहाँ उनसे बचकर जाना चाहूँ तो वे वहीं उपस्थित हो जाते हैं। अब तो जो होना हो, सो हो।

राधा राधा राधा राधा

## प्रसंग - तेरह (१३)

# वे ही वे, वे ही वे, वे ही वे

**रतनगढ़**
**तिथि अज्ञात**

भाईजी ! गोरखपुरमे आपने सत्सगमे कहा था – "श्रीकृष्णने समस्त जगत्के सम्मुख यह सिद्ध कर दिया कि सब कुछ वे ही वे हैं। आदिकालमे प्रह्लादकी इसी आस्थाको कि भगवान् सर्वत्र हैं, उन्होने विलक्षण नृसिंह अवतार ले करके सत्य सिद्ध कर दिया। श्रीकृष्णावतारमें अति शिशु-अवस्थामे उबासी लेते समय, माँ यशोदाको उन्होंने अपने खुले, नन्हेसे मुखमें अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डका दर्शन कराया। इसी प्रकार बाललीलामें मृत्तिका-भक्षण करके माता यशोदाके सम्मुख पुन यही सत्य दोहराया। कौरवोकी राज्यसभामे सभी उपस्थित जन-समुदायके सम्मुख उन्होंने पुन विराट्-रूप प्रकट किया। अर्जुनको युद्धकालमे यही विश्व-विराट्रूप दिव्यदृष्टि देकर दिखाया और महाभारत युद्धकी समाप्तिपर द्वारका लौटते समय इसी विश्व-विराट्रूपको पुन महर्षि उत्तकके सम्मुख प्रकट किया।"

भाईजी ! मेरे मनने आपकी इस बातको बहुत ही दृढतापूर्वक पकड ली है। अत मानसिक भावजगत्में भी मेरे सम्मुख ऐसी ही लीलाएँ एवं भाव सामने आते है। एक दृश्यका उल्लेख कर रहा हूँ -

"यमुनाका पावन पुलिन है, सम्मुख असख्य नील-कमलोंको खिले देखकर उनकी स्मृति अत्यत प्रगाढ हो रही है। मनमें आता है कि सम्मुख-स्थित इस कदम्बवृक्षके अणु-अणुमे भी तो वे ही भरे होंगे। ***"मनसा वचसा दृष्ट्या"*** भागवतके श्लोकके अनुसार तो निश्चय ही वे भरे होगे। कदम्ब बने मेरे सामने वे ही ता खडे हैं। बस, कदम्बको श्रीकृष्ण ही मानकर उससे लिपट जाती हूँ। मानो उनके ही चरण-कमलोसे लगी हूँ इस भावमें सभी बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है। ज्योही कुछ ज्ञान होता है, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों कुछ सखियाँ यमुनाघाटमे जल भरने आयी हैं। वे मुझे कदम्बवृक्षसे लिपटी देख घेर लेती हैं। उनमेसे एक सखी मुझे जाग्रत करनेके लिये बार-बार हिलाती है। परन्तु मुझे तो मुग्धावस्थामें भी उस सखीके रूपम श्यामसुन्दर ही दिखते हैं। वह ज्योही

मुझे हिलाकर मेरी प्रीति-मूर्च्छा भग करती है, मैं 'प्रियतम' कहकर उसे आलिगन कर लेती हूँ। मुझे तो उस सखीके रूपमें शतप्रतिशत श्यामसुन्दर ही दिखते है। मै अपनी पहनी हुई पुष्पमाला भी सकुचाती हुई उसकी ग्रीवामे डाल देती हूँ। मेरी भावावस्था देखकर सभी सखियॉ खिल-खिलाकर हँस पडती हैं। परन्तु मुझे तो उन सभीमे प्रियतम श्यामसुन्दर ही खिल-खिल हँसते दृष्टिगोचर होते हैं। मेरी तो दृष्टि ही पलटी होती है। कहीं किसी मुद्रामे एव कभी किसीमे – मुझे तो वे ही सरस रहे प्रतीत होते हैं। ज्यों-त्योकर कोई सखी मेरे मुखपर पानीके छींटे डालकर जाग्रत करती है। सम्मुख मयूर नृत्य कर रहा है। परन्तु भाईजी ! आपके सत्सगके अन्तश्चेतनामे इतने घने सस्कार रहते हैं कि नेत्रेन्द्रिय मयूरको देखती हुई भी भावकी प्रबलतावश उसे नकार जाती है। बुद्धि एव विचार नेत्रेन्द्रियके प्रत्यक्ष दर्शनको झुठलाते हैं और यही विचार कौंधते हैं– मयूरकी सत्य सत्ता थी नही, है नहीं, होगी भी नहीं। मात्र मुझे सुख देनेके लिये ही वे एकमेव, अनेक बने लीला कर रहे हैं। वे ही अनन्त रूप, अनन्त गुणो-अवगुणोके वस्त्र पहने मेरे सामने आ रहे हैं। मुझे आह्लादित करने के लिये ही वे यमुना बनकर कल-कल निनाद कर रहे हैं, सुगन्धित सुन्दर सुमनोके रूपमें वे ही मनको आच्छादित किये है। अनेकों प्रकारके वर्ण, अनेकों प्रकारकी सुगन्धमें वे प्रेमभरे सरस रहे हैं। वे ही भ्रमर एवं तितलियाँ बने कितने प्रेम मतवाले नृत्य कर रहे हैं। मेरे चतुर्दिक् प्रेम-न्यौछावर करते, असख्य रूपोमें सरसते, उन परम शोभामयको देखकर मैं भावावेशमे पुकार उठती हूँ – "प्रियतम ! प्रियतम ! प्राणवल्लभ !!

सहसा बाह्य जाग्रति हो जाती है। मैंने तो राधानामके अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलनेका व्रत लिया है। यह क्या ! दूसरे शब्द कैसे बोल रहा हूँ। अपने निवाससे बाहर झॉकता हूँ – कहीं कोई सुन तो नहीं रहा है ? बाहर किसीको भी सुनता नहीं पाकर, आश्वस्त होता हूँ। फिर अपने शरीरमें भी उन्हे ही भा देखने लगता हूँ। ऐसा अनुभव होता है, मेरे रोम-रोमके रूपमें वे ही वे तो परमसत्य हैं। कमरेकी दी: उनकी नीली आभामे ओत-प्रोत दिखती हैं। मेरे स्वयंका तो अनुसधान ही परम असत्य हो उठता है। मैं इस सुविचारित तथ्यमे निदिध्यस्त हो जाता हूँ कि मेरा 'स्व' 'अह' सर्वथा मिथ्या, मात्र प्रातीतिक, मायागत है। उन्होने ही मेरा रूप रखकर मुझे ही भ्रमित कर रखा है।

## प्रसंग - चौदह (१४)

# प्रभात जागरण

**रतनगढ़**
**दिनांक : अज्ञात**

सूर्योदयके पूर्व नेत्र खोलती हूँ तो वे प्रियतम अपार स्वागत करते मेरे सामने खडे होते हैं। मेरे दिवसका प्रथम दृश्य वे ही होते हैं। मैं शय्यासे उठूँ, इसके पूर्व ही वे मेरी शय्यामें बैठ जाते हैं। उनकी असीम, अनन्त प्रेमसनी 'प्राणेश्वरी, प्राणेश्वरी' शब्दावली मेरे कर्णपुटोंमे अमृत घोल जाती है। उनका अपार प्रेमसे भरा आलिगन ही मेरे दिवसका प्रथम सस्पर्श होता है। उनके अगोंकी सुमधुर गध मेरी नासिकामे भर जाती है और वह मदमाती गन्ध दिवसभर मुझे उनकी स्मृतिमे मुग्ध किये रहती है। वे मुझे अपने अकमें लिपटा लेते हैं और उनके बाहुओमे बँधी, उनके अनन्त प्यारका आस्वादन करने लगती हूँ। मेरे नेत्र प्रेम-सुखमें मुँदने लगते हैं और वे अपने रसभरे अधरोंसे उन्हें प्रेम-सिक्त करते रहते हैं।

भाईजी ! उस समय मेरे चारो ओर मात्र प्रीतिशोभा ही बिखरी होती है। आकाश, मेरे प्रियतमके प्रेमसे भीगा होता है, प्राण प्रेमसे शीतल। सम्पूर्ण प्रकृति (जल-स्थल) उस समय ऐसी प्रेम-शोभासे भरी होती है कि अनन्त लक्ष्मियाँ उसपर न्यौछावर हो जावें।

मेरे प्राण भी श्याममय हो प्रियतमरूप हो जाते हैं, वे मेरे रोम-रोममे प्रवेश होकर मेरे तनके अणु-अणुको श्यामल प्रीत्याकृतिसे आच्छादित करने लगते हैं। मेरे निवास-कक्षका सम्पूर्ण अवकाश ही प्रियतममय हो जाता है। मेरे नेत्रोको बस, प्रियतम-ही-प्रियतम सर्वत्र दिखते हैं और शेष सब दिखना बन्द हो जाता है। नेत्र मानो अन्धे हो जाते हैं। कानोमें अब कोई शब्द ही प्रवेश नहीं हो सकता। एक ही शब्द विश्वके सम्पूर्ण वातावरणसे झकृत होता रहता है – 'प्रिये ! प्राणेश्वरी !! प्राणवल्लभे !!! जीवनेश्वरी !!!!

उसे वैखरी कहूँ, मध्यमा कहूँ – मेरा मुख यदि वाणी देता है तो बस, एक यही "प्रीतम ! प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!!

'प्रीतम हे, प्राणवल्लभ हे, जीवन सर्वस्व हे !

### प्रसंग - पन्द्रह (१५)

# कामेश्वर अंकोपरि राजति रतिकलिते

**रतनगढ़**

**दिनांक : अज्ञात**

गिरिराजका एकान्त परिसर । एक सरोवरके पास हम दोनो आसीन हैं। वे उस कुण्डको 'सुन्दरी-सरोवर' नामसे अभिहित करते हैं। प्राय हम दोनोंका मिलन यहीं होता है। सरोवरमें असख्य नील, पीत, रक्तवर्णके कमल विकसित हो रहे हैं। घाट पर बनी एक पुष्पाच्छादित छत्रीमे हम दोनों आसीन हैं। हम दोनो पर लतायें रह-रहकर सुगन्धित पुष्प गिरा दे रही हैं। सम्मुख ही फलोंसे लदा जामुन वृक्ष है। जामुन-फलोंका रस उस वृक्षसे भूमिपर टपक रहा है सरोवरमे हस-हसनी तैर रहे हैं। निर्मल, शान्त जलको वायु स्पंदित कर रही है।

सहसा वे नेत्र मूँदकर ध्यानस्थ हुए, कुछ जपने लगते हैं। मैं उन्हें हिलाकर पूछती हूँ – "प्राण ! क्या कर रहे हो ?" वे कहते हैं – "जप करता हूँ।" मै पूछती हूँ – "आप भी जप, ध्यान, साधना करते हो, किसे प्राप्त करना है ?" "मै शिवोऽह कामोऽह, कामेश्वरोऽह जाप करता हूँ" – वे कहने लगे।

मुझे हँसी आ गयी। कहने लगी – "यदि तुम शिव हो, तो मयूर-मुकुट क्यो धारण करते हो ? तुम्हारे अगोंमें लिपटे सर्प तो इस मयूर-पिच्छसे डरकर भाग जावेगे, और तुम्हारे सगी भूत-प्रेतोंको देखकर भयभीत हुई मुझे अकालमे ही मृत्यु वरण करनी पड़ेगी।"

वे मुसकाने लगे। कहने लगे – "मैं तुम्हारे ही लिये तो शिवत्व, कामत्व एव कामेश्वरत्व वरण कर रहा हूँ।" मै उनसे लिपट गयी। "प्राणनाथ ! तुम मेरे लिये तो मात्र मेरे प्रियतम पदको ही वरण किये रहो। मुझे तो तुम्हारी यह मनमोहक श्याम कान्ति ही सर्वाधिक प्रिय है।"

वे हँसते हुए पुन बोले - "बताओ ! शिव-प्रिया पार्वती, काम-प्रिया रति एव भगवती कामेश्वराक-निलया कामेश्वरी कहाँ आसीन रहती हैं ?" मैंने कहा – "पार्वती शिवके, रति कामदेवके एवं भगवती कामेश्वरी भगवान् कामेश्वरके अंकमे सदा रहती हैं।" वे अब तो बहुत ही जोरसे हँस पडे। उनकी ऐसी उन्मत्त खिलखिलाहट मैंने अबतक देखी ही नहीं थी।

"बस, यही समझानेके लिये तो मैं शिव हो रहा हूँ।" वे अब भी अति प्रेमभरे मुसका रहे थे। उनकी मुसकान विलक्षण तत्त्व रहस्यका मुझपर ज्ञापन कर रही थी।

मैं कहीं भी रहूँ, कुछ भी होऊँ, प्रियतम मुझे अपनी प्यारभरी गोदमें कभी

पृथक् नहीं करते हैं। महा-आनन्दमें मैं डूबती जा रही थी। प्रियतम मेरे, मेरे-के-मेरे हैं। मेरे प्रियतम न ही जपसे मेरे हैं, न तपसे मेरे हैं, न ध्यानसे मेरे हैं, न ज्ञानसे, वे न शमसे मेरे है न दमसे, वे न ही योगसे, न यज्ञसे मेरे हैं। यम-नियम, पुण्य-पाप, सत्कर्म-दुष्कर्म, कोई भी उत्तमता, अथवा अधमता उन्हे सस्पर्श ही नहीं कर सकती। वे अकारण, हेतुरहित, मात्र प्रेमसे मेरे हैं। मैं पापी हूँ, दुर्गुणी हूँ, कुरूप हूँ, अधम हूँ, निकृष्ट हूँ, पतित हूँ, अल्प हूँ, चाहे घोर-से-घोर बुरी मेरी गति हो, मैं कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देव-दानव, असुर-गन्धर्व, कुछ भी हूँ, मैं मात्र प्रेमसे उनकी प्राणप्रिया हूँ। वे सदा सर्वकाल मेरे, पूरे मेरे हैं। मेरा शाश्वत-धाम उनकी गोद है। मेरा भूत-भविष्य-वर्त्तमान सब उनकी गोद है। मैं पूरी-की-पूरी उनकी हूँ। रोम-रोमसे उनकी हूँ। मैं पूरी उनमें समाहित हूँ। मेरे ऊपर वे, नीचे वे, दाँये वे, बाँये वे, बाहर वे, भीतर वे ही वे हैं। ऐसी मैं उनकी प्राणप्रिया और वे मेरे प्रियतम हैं।

उनका आकाश मेरे आकाशको गोद लिये है, मेरे प्राण उनके प्राणोंकी गोदमे आलिंगित हैं। मेरे प्राण ही उनके तनमें प्रवाहित हो रहे हैं, और उनके प्राणोंसे मैं निश्वसित हो रही हूँ। मेरा तन, मन, बुद्धि सभी उनसे एक ही हैं। उनका निर्णय मेरा निर्णय, उनके सकल्प-विकल्प मेरे संकल्प-विकल्प, उनकी रुचि, मेरी रुचि। उनका जीवन मात्र मेरा जीवन है। मेरी मात्र आँख है, वे देखते हैं, उनकी आँखोसे मैं झाँकती हूँ। उनके मुखसे मैं बोलती हूँ और मेरे मुखसे वे। उनका अहकार मेरा अह और मेरा अहकार उनका अहं हो गया है। एक उत्तुंग लहर जैसे छोटी लहरको अपनेमे लीन कर लेती है, घटके फूटते ही, उसका मृत्तिकाऽवरण विच्छिन्न होते ही जैसे घटाकाश महाकाशसे एकमेक हो जाता है, टिमटिमाते दीपके निर्वाण होते ही जैसे उसकी ज्योति अनन्त ऊर्जामें रम जाती है, मेरा पंचभूत उनके पचभूतसे और मेरा अन्तःकरण उनके अन्तःकरणसे एकात्म हो रहा है। मैं कहीं कुछ शेष नहीं रही। वे ही वे हैं, यही हम दोनोका मधुरतम प्रेममिलन है।

महाकाशमे उनकी उक्ति गूँजती हुई सर्वव्यापी शब्द-सत्तामे समा जाती है – "प्राणेश्वरी! तुम ही मेरा भाग्य हो, सौभाग्य हो। मैं शिव हूँ, तुम शिवा हो, मैं काम हूँ, तुम रति हो, मैं भगवान् कामेश्वर एवं तुम कामेश्वरी हो, मैं कृष्ण, तुम कृष्णा हो, मेरी सौन्दर्य-माधुर्य-गुणनिधि तुम हो, तुम ही मेरी ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य एव यशस्विता हो, तुम मेरे पुण्योंका अक्षय फल हो, तुम मेरे नेत्रोंकी लक्ष्मी हो, तुम मेरी रसनाकी सुधा-स्रोतस्विनी हो, तुम ही मेरी वाणीदेवी सरस्वती हो। तुम मेरी सर्वस्व हो। मैं सर्वतोभावेन तुम्हारा हूँ।"

---

प्रसंग - सोलह (१६)

# मयूर-मुक्तामणियाँ

रतनगढ़
दिनांक - अज्ञात

एक विचित्र वन दृष्टिगोचर होता है। उसमें विलक्षण सुन्दर सरोवर हैं। उसमें कुन्दनके केसरवर्णी घाट हैं, नीलमणिके समान स्वच्छ, निर्मल, नीला जल है। उस वनका आकाश प्राय सदा ही नव मेघोंसे आच्छादित रहता है। काले-काले मेघ एकके-ऊपर-एक उमडते ही रहते हैं, मन्द-मन्द गर्जन एवं नेह-फुहारोंकी बौछारें होती ही रहती हैं। चातक, पिक, रह-रहकर पिहू-पिहूकी ध्वनि करते रहते हैं। उस वनमें आम्र, कदम्ब – सभी वृक्ष प्रत्येक कालमे पुष्पित, फलित ही रहते हैं। भ्रमरोंका रव तो सदा ही वहाँ मुखरित रहता है। उस वनमें असख्य मयूर हैं। उनका एक 'सुन्दरी' नामक मयूर नेतृत्व करता है। ज्यों ही प्राणवल्लभका पर्दापण उस वनमें होता है, असंख्य मयूर दिशाओं-दिशाओंसे 'केहॉ-केहॉ' करते उमड आते हैं। वे प्रियतम प्राणवल्लभको सर्वओरसे घेर लेते है। उनका प्रियतम नील-मेघ ही मानो आकाशसे धराको समलंकृत करता, अवतरण कर आया हो, वे अतिशय प्रमुदित अपना नृत्य प्रारंभ कर देते हैं।

प्रियतम एक दिवस मुझे भी उस वनमे ले गये। प्रियतमको देखते ही मयूरोने अपने पिच्छ ऊर्ध्वकर, नृत्य प्रारंभ कर दिया था। वे कितना भावपूर्ण घूमर नृत्य कर रहे थे, वाणी उसका वर्णन करनेमें असमर्थ थी। नृत्यके साथ उनसभीके नयनोसे प्रेमाश्रु झर रहे थे। अश्रु उनके नेत्रोंसे निर्गलित हुए जैसे ही धराको समलकृत करते, वे अनमोल मुक्ताओमें परिवर्त्तित हो जाते थे। प्राकृत जगत्में तो इसे कोई सर्वथा असत्य ही समझेगा, परन्तु जिस किसी भाग्यवान् ने यदि भावजगत्का किचित् भी संस्पर्श किया है, तो वह इसे सर्वथा ही सत्य मानेगा। तो मयूरोके अश्रुओसे निर्मित मुक्ताओके वहॉ चतुर्दिक् ढेर लग गये। प्रियतमके आदेशपर मैंने भी दो-चार मुक्तामणियोंको अपने हाथमें लेकर परीक्षण किया। सीपीके सम्पुटसे तो इतने विशाल मोती प्रकट होने भले ही संभव हो, परन्तु ऐसी पानीदार सुन्दरतम मुक्तामणियाँ मयूर अपने प्रेमाश्रुओंसे निर्माण कर सकते हैं यह चमत्कार तो आज ही प्रियतम प्राणवल्लभके सान्निध्यमें देखनेको

मिला था। मैं आश्चर्यचकित उन मुक्ताओंको भलीप्रकार निरख ही रही थी, उनकी मनोहारी सुन्दरतासे चकित हो ही रही थी कि मेरे नेत्र एक और महान् आश्चर्य देखकर अभिभूत हो उठे। उन मुक्तामणियोके अन्तरालमे प्रियतम नीलमणिकी मयूर-मुकुटी, प्रेम-सौन्दर्यभरी मुखाकृति झलमला रही थी। मैं प्रियतमकी ओर देखने लगी थी और वे मेरी ओर। सहसा मैंने एक प्रस्तर-खण्डसे एक मुक्ताके अनेक टुकडे-टुकडे कर दिये, परन्तु उस मुक्ताके सभी खण्डोमें भी वह श्यामाकृति ज्यों-की-त्यो झलमला रही थी। मेरी भावधारा, अतिशय गहन-गभीर हो चली। मुझे अनुभव होने लगा जैसे उन मुक्ताओंके कलेवरके मध्य मेरे प्राणवल्लभकी सुमूर्त्ति झलमला रही है, उसी प्रकार मेरा कलेवर भी मेरे प्राणवल्लभकी छबिसे जगमगा रहा है।

मुझे अपना तन मात्र मुक्ताका खोल ही दिखने लगा। वे तो मुसकाते जा रहे थे। वे कोई प्रवचनकर्त्ता थोड़े ही थे, जो तत्व-रहस्यकी बडी-बडी बाते बढ-चढकर बोलते फिरें। वे तो सुमूर्त्त तत्व हैं। उनकी मुसकानमे ही तो सम्पूर्ण माया वास करती है। उनकी मुसकान मायामे जकड भी लेती है और माया-मुक्त भी कर देती है। मेरे सम्मुख जब भी वे मुसकाते है, उनकी सृष्टिके सब रहस्य कदलीकी छालकी तरह खुलते चले जाते हैं।

"यह मयूर-मुकुट मेरे प्रियतमसे कुछ भिन्न कोई पृथक् वस्तु थोडे ही है। वे जैसे मुक्ता है मुक्तामे जैसे ओत-प्रोत है, उसी प्रकार इस 'सुन्दरी' मयूर मे भी वे ओत-प्रोत हैं। उसके पिच्छकी भी वे ही आकृति बने है, वे ही वशकुज हैं, वशी हैं और वशीरव हैं। वे ही वृन्दावन-गोकुलके नर-नारी, भूमि-भवन, वृक्ष-ओषधि, फूल-फल, गिरि-नदी-नद-निर्झर सब बने हैं सभीके अन्तरालसे यदि ध्यानसे कोई देखे तो उनकी मयूर-मुकुटी छवि निश्चय ही प्रत्यक्ष हो उठेगी।"

मै इस विचारधारामे उलझी ही थी कि वे बोल उठे "प्रिये! तुम मुझसे हो मुझमे हो और पूर्णतया मेरी ही हो मेरी जीवन हो हृदय हो प्राणोंकी प्राण हो।"

मै उनके वक्षस्थलसे सट जाती हू। उनका प्यार मेरे रोम-रोममे एक विलक्षण रसमयी सिहरन उत्पन्न कर देता है जैसे सारा काल सत्ता ही हमारी प्रीतिका रसास्वादन करने स्तम्भित हो गयी है। उनकी प्रीति मेरे रोम रोममे प्रवेश [illegible] रही है। मैं डूबती चली जाती हू। [illegible] है बस आस्वादन आस्वादन मात्र आस्वादन ही शेष रहता है। उनका कितना [illegible] असीम प्रेम है, समूची की समूची ही मै आस्वादनरूप हो उठती हू [illegible] डूबी

मेरी नेत्र-ज्योति अन्य कुछ भी नहीं देख पाती। अन्य दृश्यके लिये वह अंधी ही हो जाती है। नेत्र आस्वादनरूप हुए मुग्ध मुँद जाते हैं। अपने प्रियतमको अपनेसे पृथक्, बाहर दृश्यरूप करनेको जैसे दृष्टा तत्पर ही नहीं हो रहा हो। नेत्र तो द्रष्टाके आधीन हैं। ''मैं'' द्रष्टा बाहर तो है नहीं। ''मैं'' तो भीतर-भीतर सबका आश्रय, सबका साक्षी जो है। फिर मेरा प्रियतम तो मुझसे आलिंगित है ही। तन तो केवल मुक्ताकी बाहरी खोल है। प्रियतम तो भीतर समासीन हैं। वे तो मेरे प्रियतम हैं। वे न तनके भोग हैं, न ही मनके, न ही इन्द्रियोंके भोग हैं। उनका बुद्धिसे, शरीरगत अहंकारसे भी क्या प्रयोजन ? वे तो मेरे भोग हैं। वे भोक्ता हैं और मैं भोग्या । मैं भोक्ता हूँ और वे भोग्य। वे मेरे अपने-के-अपने हैं। वे मुझसे हैं, मुझमें हैं और मेरे ही हैं। मेरे 'मैं' के वे ही मात्र निस्व हैं। मेरे 'मैं' के वे ही वैभव हैं, यश हैं, बल हैं, आधार हैं। मैं तो उनकी ही हूँ, उनसे ही एकमेक नित्य आलिंगित हूँ। बाहरके नेत्र उनको भीतर-भीतर ढूँढते उनतक पहुँच जाते हैं और उनके रूपसे एकमेक हो जाते हैं। बाहरके कान भीतर मुड जाते हैं। वह तो मेरा है मुझमें रस घोल रहा है। अतः कान भी गहरे-गहरे उनकी मधुरतम शब्दावलीकी खोजमें डूबते जाते हैं। अन्ततः उन्हें पाकर, उनकी सुमधुरतम शब्द-राशिमें समाहित हो जाते हैं। कान अमृतमें पग गये हैं, पूर्ण रस-सिक्त हो उठते हैं।

भाईजी ! जब मैं अपनी इस भाव-दशामें रहता हूँ, मुझे पता ही नहीं रहता कि बाहर दिन है या रात है। बाहर कौन देश है, कौन गाँव है ? बाहर कीट-पतंग, पशु-पक्षी, न जाने किस योनि में हूँ ? मेरा तो नित्य अमृत-भावदेश है। नित्य अमृत-काल है। मेरी निशा अमृत, मेरा प्रभात अमृत है। प्रेमामृतमें डूबी — मैं विशुध हूँ।

---

प्रसंग - सत्रह (१७)

# एकमात्र वह मयूर-मुकुटी ही मेरा है

**रतनगढ**

**तिथि : अज्ञात**

भाईजी ! भावजगत्में मुझे न मेरी माँ की स्मृति है, न पिताकी। भावजगत्मे न मेरा घर है न मेरा ग्राम। न जाति है, न ही गोत्र। न करण, न कार्य। एकमात्र वह मयूर-मुकुटी ही मेरा है – एकमात्र मेरा है, सर्वकालमें मेरा है। वही मेरा एकमात्र सर्वस्व है, वही मेरी सम्पूर्ण गति है। उसीसे मेरा उद्भव है, उसीमें स्थिति है, और वही मेरा प्रलय है। वही मेरा स्वर्ग है, नरक है, दुःख है, सुख है, भाग्य है, सौभाग्य है, कर्म है, उपासना है, धर्म है, धारणा है, वही जप, तप, तीर्थ, व्रत मेरी समग्र पुण्य-राशिका एकमात्र आधार ! वह मेरा सखा है, नित्य सगी है, अपने-का-अपना है, ममतास्पद है। वही ज्ञेय-ध्येय, ईश्वरों-का-ईश्वर है।

वह मुझे प्रतिदिवस, जब इच्छा हो तभी दर्शन देते हैं। आज गोविन्दरामजी के यहाँ विचित्र स्थिति हो गयी। आपने मुझे भगवन्नाम सुनाने भेजा था। परन्तु वे मुझे वृन्दावनमे ले गये। मानसिक-भावोंकी आँधी इतनी प्रबल थी कि रोके नहीं रुक पा रही थी। अन्तर्भावनाको रोकनेकी बहुत चेष्टा कर रहा था। नेत्र मुँदे-मुँदे जा रहे थे। शरीर तो गोविन्दरामके घरमे था, परन्तु वे मुझे घने कदम्ब-कुञ्जोमे ले गये। कदम्ब ही कदम्ब। एक नहीं, दो नहीं, असंख्य। सभी मजरियोंसे लदे। मजरियोंकी महकसे भ्रमर आकर्षित होकर उमड़े आ रहे थे। उनके निनादसे सम्पूर्ण वन मुखरित था, परन्तु वह निनाद इतना सरस था कि उसका कोलाहल हृदयकी भावधारामे तनिक भी विक्षेप नहीं करता था। अपितु, वह भ्रमरोका गुञ्जार चित्तमें प्रेमोद्दीपन ही करता था। कदम्बकी एक शाखामे पुष्पलताओंको गूँथकर एक मजबूत झूला डाला हुआ था। रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे उस झूलनेकी शोभा दर्शनीय थी। सम्मुख यमुनाका पंकिल किनारा और उसमें असंख्य पद्म विकसित थे।

उस झूलेपर उन्होने अपना पीताम्बर उपरैना बिछा दिया और मुझे उसपर आसीन कर दिया। तत्पश्चात् वे भी उस पर बैठ गये। अति प्रेम-मुग्ध

हुई मैं, उनको एकटक निरख रही थी। वे सुमधुर वेणुवादनकर मुझे आह्लादित कर रहे थे। उनका वेणुवादन इतना सुमधुर था कि मैं अर्ध-विक्षिप्त होने लगा। वहाँसे शीघ्र ही आपकी हवेली लौट आया। आपने आनेपर मुझे पूछा – "स्वामीजी ! इतने शीघ्र ही आगये ?" मैं आपको क्या उत्तर देता, तुरन्त ही अपने निवासमें जाकर उस अतिशय सुमधुर वशीध्वनिमें डूब गया।

बीच-बीचमें वे वेणुवादनको विराम दे देते थे। उस समय वे मेरे नेत्रोमे नेत्र डाल इस प्रकार प्रीतिभरी हास-छटा बिखेरते कि चित्त उसपर न्यौछावर हो जाता। उनका, भाईजी ! मेरे प्रति इतना असीम प्यार है कि मुझे तो उसका कोई हेतु ही समझमें नहीं आता।

उनका स्नेह देखकर मेरे नयनोंमें अश्रु छलक आते हैं, तो वे इन बिन्दुओंको अपने हाथों पोंछने लगते हैं। उनका स्पर्श मेरे अंग-अंगको रोमाञ्चित कर देता है। भाईजी ! इस सभी सुखकी मूल-हेतु तो आपकी ही कृपा है। आज भी लगता है, मेरे हृदयमें इन भावोकी प्रबलतम आँधी आप ही उठाते हैं। निश्चय ही आप प्रीतिके अथाह, अनन्त समुद्र हैं। विश्वमें कहीं भी यदि वर्षा होती है तो उसका हेतु मात्र वारिधि ही तो है। आप अनन्त, असीम प्रेम-वारिधि हैं जो उमड-उमडकर मुझे विलीन कर रहे हैं। भाईजी ! मेरी ऐसी कौनसी योग्यता आपने परखी है, जिससे इतनी कृपा-वर्षा आप मुझपर कर रहे हैं। मैं तो किसी भी प्रकार की कोई भी पात्रता अपनेमें नहीं देखता। मैं क्या कहूँ – मैं तो आपकी चरण-रजपर न्यौछावर हूँ। मेरे अपराधोंको सदा क्षमा करते रहें।

**राधा राधा राधा राधा**

---

### प्रसंग - अठारह (१८)

# जैसे पीताम्बर, मोरमुकुट, वेणु उनकी है, उसी प्रकार मैं भी उनकी ही, मात्र उनकी ही हूँ

**रतनगढ़**
**मार्गशीर्ष मासकी कृष्णाष्टमी**
**सं. १९९७ वि.**

यमुनाका किनारा। स्वर्णमय मनोहर घाट । चतुर्दिक् सुन्दरतम फुलवारी। सामने उपवन एवं कदलीवन । कदलीवनके पूर्ववर्त्ती भागमें आम्रवन। पश्चिममें कदम्बवन। कदम्बसे आगे बाँसके घने कुंज। कदम्बवनमें कदम्बके मध्य अनेक तमालके वृक्ष हैं। सम्मुख कदलीवनसे ग्रामकी ओर लघुपथ (पगडंडी) जा रहा है। पथके दोनो ओर भी सुन्दर फूलोंकी झाडियाँ हैं, उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके पुष्प विकसित हैं।

सखियोके साथ जल भरने यमुना आई हूँ। अपने स्वर्णघटको जैसे ही जलमें डुबाया, पैर रपट गया। यमुनामें फिसलकर गिरी तो वस्त्र भीग गये। किसीने चुहलमें एक घट मुझपर और उँडेल दिया। पूरा स्नान हो गया। उठनेको उद्यत हुई तो सखीने यमुनामें पुनः धकेल दी। अब पूरी भीगी, तनसे चिपटे-सटे कपडोमें ग्राममें कैसे प्रवेश करूँगी। एक सखीसे प्रार्थना की कि गृहसे मेरे सूखे वस्त्र ले आवे। सब सखियाँ आश्वासन देकर, मुसकातीं अपने जलके घट लेकर चली गयीं। मैं अकेली एकान्त देखकर अपने भीगे वस्त्र उतारकर उन्हें सुखानेका प्रयास कर रही थी कि वे सम्मुख ही दृष्टिगोचर होगये।

मैं लज्जावश एक वृक्षकी ओट करके पीठ देकर विपरीत दिशामें मुखकर, खडी होगयी। अति मधुर उनकी शब्दावली कानोंमें रस घोल गयी।

"अरी तू तो पूरी-की-पूरी रससे भीगी है री ?"

उस मधुर शब्दावलीका ऐसा सरस प्रभाव मनपर पडा कि ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे मैं यमुना जलमें नहीं, उनके प्रेममें भीगी खडी हूँ। मेरे पूरे अगोसे, वस्त्रोंसे जलकी बूँदें नहीं, वे ही, उनका स्नेह ही चू रहा है, टपक रहा

है। मैं उनको पीठ देकर खडी थी, परन्तु वे मेरे सम्मुख आ गये थे। मैं पुन उनसे विमुख दिशामें पलटूँ, परन्तु मेरे पलटनेके पूर्व ही वे मेरे सम्मुख आ जाते थे।

वे बहुत ही सुन्दर थे। उनका मयूर-मुकुट, घुँघराली अलकावलि, कपोलोंपर कस्तूरीकी, केसरकी चित्रकारी, कुमकुमका तिलक, कजरारी भौंहें, अधरोंपर लालिमा, कानोंके कुण्डल, उनकी वनमाला, गलेमें पडी गुञ्जा, उनकी चाल, उनके हाव-भाव, मुसकान सब इतने सुन्दर थे कि कोई भी रमणीका चित्त ऐसे प्रेमी रसिक-सुन्दरपर न्यौछावर नहीं हो जाय, असभव था।

उन्होंने ऐसी माया की कि ऐसा लगने लगा मानो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार मेरे सभी अन्त करण एव नेत्र, कान, घ्राण, त्वचा, सब बहि करण उनके प्रेमरसमें घुलकर उनकी ओर प्रवाहित होने जा रहे हैं। मै पूरी-की-पूरी उनके प्रेमरसमे भीगी जा रही थी। मैं समग्ररूपमे घुलकर रसरूप हुई उनमें मिल जा रही हूँ। मुझ समग्रको मिटाकर वे ही वे मुझमे अपनेको भर रहे हैं।

मैने उनकी ओर देखा, परन्तु मैं उनकी छबि देखकर आश्चर्यचकित हो उठी थी। मयूर-मुकुटसे लेकर पीताम्बरके छोरतक – उनके सब अग-अवयवोंमे उन्होंने जैसे मुझे भर रखा था। वे मुझसे पूरे भीगे खडे थे। बड़ी विलक्षण दशा थी, वे मुझे ही नही मिटारहे थे, स्वय भी पूरे रिक्त-घट थे, जिसे मुझ सरिताके प्रेमजलसे वे भरनेको पूर्ण समुत्सुक थे।

आगेकी घटना क्या कहूँ ? उन्होने सहसा आगे बढकर मुझे भुजाओमे पूर्णालिगित कर लिया था। और तब वे मुझे निकटस्थ एकान्त कुञ्जमे ले गये। वे मेरा शृंगार करने लगे।

वाह रे भाग्य ! उन्होने भाईजी ! फिर मुझे ऐसा सजाया कि कोई कोना ऐसा शेष नहीं बचा, जिसे उन्होंने अपनेसे नहीं भर दिया हो। मेरा रोम-रोम उन्होंने अपनेमें सज्जित कर लिया और अपने रोम-रोमसे वे मुझमें सज्जित होगये। भाईजी ! घण्टो मेरी कैसी स्थिति रही, मैं कुछ भी वर्णन नहीं कर सकती। सखियाँ आ गयीं मेरे सभी वस्त्र लेकर। परन्तु मैं तो उन्मादिनी थी। प्रिय ने मेरा सारा तन पत्रोसे आवृत्त किया था, अथवा फूलोसे। मुझे तो अपने रोम-रोममें वे स्वयं ही सजे दिख रहे थे। आगेकी लीला अशब्द, अवाणी है। आपको तो सारी अनुभूतियाँ हैं। आप समझ लेंगे ही।

---

प्रसंग उन्नीस (१९)

# भाईजी ! आप पारसमणि हैं, आपके स्पर्शमात्रसे मैं लोहा, कुन्दन हो गया हूँ

**रतनगढ़, मार्गशीर्ष मास**
**तिथि, संवत् उल्लेख नहीं**

भाईजी ! आप प्रेम-सूर्य है। मै तो आपकी मात्र एक अल्प-सी लघुतम किरण हूँ। आप प्रेम-वारिधि है, मैं तो आपकी एक शीतल फुहार-भर हूँ। आप अनन्त लीलामय, अनन्त रस-विलास हैं। आप प्रेमके पारसमणि हैं, आपके स्पर्श-मात्रसे मै, लोह-खण्ड, कुन्दन हो गया। आपने मुझे बहुत ही विलक्षण निधि प्रदान कर दी। आत्मज्ञानीको सच्ची आत्मीयता आपके द्वारा प्राप्त हुई। आपने सर्वात्मा प्रियतम श्रीकृष्णसे मेरा अपनत्व करा दिया। अब तो मैं सचमुच, सर्वथा निरपेक्ष मस्त कलदर हो गया हूँ।

भाईजी ! वे मेरे श्रीकृष्ण, कौन माता यशोदाके पास रहते हैं ? प्रभातमे निद्रा खुलते ही तो वे सखाओके हो जाते हैं। मैया उनका मुख धोनेमें विलम्ब कर दे अथवा कलेवा (मक्खन तथा मिस्सी रोटी) देनेमे विलम्ब कर दे तो चिडचिडा उठते हैं। उन्हे मैयाके दु:ख-सुखकी चिन्ता नहीं, अपने लकुट-बॉसुरीकी अधिक चिन्ता रहती है। सखागण आये नहीं, कि वे भागे नहीं। मैया किसी प्रकार उनके हाथ-मुँह ही स्वच्छ कर पाती है, उनके सरसिज-वदनपर एक लोटा सम-शीतोष्ण जल ही डाल पाती है कि उन्हें अपने सद्यजात वत्स-शिशुकी स्मृति विह्वल कर देती है। मैया उनकी मगल-कामनासे उन्हे नारायण-मन्दिर तक किसी प्रकार ले जाती है, परन्तु उनका मन आज वनमें क्या क्रीडा-कौतुक होंगे – इसके विचारोंमे ही उलझा रहता है। उन्हें अपने मंगल-अमगलकी परवाह ही कहाँ है ? उन्हे ऋषियोसे स्वयके स्वस्तिवाचनकी चिन्ता नहीं, शीघ्र गो-पूजन हो जाय, इसी धुनमें बाबाको खरिकमें खींच ले जानेकी चिन्ता ही सताये रहती है।

वनमें किसी अनिष्टकी चिन्ता मैया करती रहे, उन्हें तो अपनी छाकमें सखाओके लिये इतनी सामग्री भेजनी है, यही रट लगी रहती है। मध्याह्नमें

सखाओंको कितने मिष्ठान्न, कितने स्वादिष्ट पक्वान्न खिलाये जायें, उनके मस्तिष्कमें लड्डू-पूरी ही भरे रहते हैं।

सायकाल वन-चारणसे लौटते ही सखाओंको भूख लग गयी होगी, सायकालीन व्यारूमें क्या-क्या सामग्री किस-किस सखाको रुचिकर लगेगी, इसीका अदेश, वे मैयाको देते रहते हैं और सखाओंको खिलाते-पिलाते ही उनके नेत्र निद्रासे झुकने लगते हैं। बस ! मैयासे कहानी सुननेकी स्वार्थ-पूर्तिके मध्य ही वे सो जाते हैं । अब भाईजी ! वे मैया यशोदा एवं नन्दजीके कहाँ हैं? वे तो सदा अपने ही रसके हैं। परन्तु नन्द-यशोदाने मात्र अपनत्वसे उन्हें नन्दनन्दन, यशोदानन्दन मान रखा है। गोपियोंके घरमें भी मात्र वे अपने मनोरजन, माटे-बर्त्तन फोडने ही जाते हैं, बन्दर-कौओंको मक्खन लुटाना उनका कौतुक है। अपने घर मैयाका भय रहता है, अत पराये घर मक्खन-लौंदे उछालना उनकी सर्वप्रिय क्रीडा है। फिर भी वे मात्र अपनत्वसे गोपी-प्राण हैं। उनकी प्रीतिने सखियोंको भी क्या दिया है ? कोई भी सखी मात्र उनकी आत्मीयताकी ही दीवानी है। भाईजी ! उनकी उस आत्मीयतासे आपने मुझे रोम-रोमसे भर दिया है। अतएव, वे मेरे सर्वाधिक प्रिय हैं। मैं तो उनके निरपेक्ष-प्रेमसे धनी होकर मस्त हूँ।

भाईजी ! चिड़िया दर्पणमें पड़े अपने प्रतिबिम्बको अपना प्रतिपक्षी मानकर उससे लडती है। छोटे बच्चे दर्पणमें पडे अपने प्रतिबिम्बको अपना प्रतिपक्षी मानकर दूसरा बालक समझकर उससे खेलते हैं। भाईजी ! वह नीलश्याममणि मेरा बिम्ब ही तो है। चाहे मैं उसकी बिम्ब और वह मेरा प्रतिबिम्ब हो अथवा वह मेरा बिम्ब और मैं उसकी प्रतिबिम्ब होऊँ, बात तो एक ही है। भाईजी ! वह मेरा प्रतिबिम्ब-बिम्ब ही मेरा आत्मा-का-आत्मा, जीवन-का-जीवन, प्राणों-का-प्राण, प्रियतम होगया है। मैं उस अपने बिम्बसे ही नित्य खेलती रहती हूँ।

भाईजी ! मेरे भावदेहमे ही एकदिवस मुझे स्वप्न आया कि वे मुझे त्यागकर किसी अन्य देशकी यात्रापर चले गये हैं। वहाँ उन्होंने राज्यपद स्वीकारकर लाखों अपरिमित सुन्दरियोंसे विवाह कर लिये हैं। वे मुझे सर्वथा, सदैवके लिये पूरे विस्मृत कर गये हैं। परन्तु भाईजी ! वह सम्पूर्ण स्वप्न था तो मात्र मेरे हृदय-देशके रंगमंच पर ही। भाईजी ! वृन्दावनमें असंख्य पुष्प खिलते हैं और भ्रमर गुंजार करते एक पुष्पसे दूसर, दूसरे से तीसरे, फिर चौथे, पाँचवें कितने ही पुष्पोंका रस ग्रहण करते हैं। क्या एक भी पुष्प, भ्रमरको हीन, हेय, निन्दनीय मानता है ? प्रीति तो अनन्त रूपोंमें ही प्रंकट होती है। भाईजी ! सूर्यकी असंख्य किरणें हैं। समुद्रमें अनन्त लहरें है। सूर्य क्या एक ही किरणका

अधिपति हो सकता है ? समुद्र तो सभी लहरोंको अपने जलसे आप्यायित करेगा ही। यमुना अनन्त-प्रवाहका ही तो नाम है। प्रीति भी अनन्त भावमयी रमणियोमें विलसेगी ही। भाव सीमित, परिच्छिन्न, अल्प तो है नहीं। वह तो महावारिधि है। जिसका कहीं ओर-छोर ही नहीं। अतः वह अनन्त, असंख्य रमणियोंके अन्तःकरणोमें विलसेगा ही तब . ? अनन्त रमणियोके अन्तः भाव-भोक्ता प्रियतम सभीके ही तो होंगे ? भाईजी ! मेरे अन्तःकरणमें भी आपने प्रीतिके किसी भावांकुरको ही सबीजितकर पुष्पित-पल्लवित किया है और उस प्रीति भावके ही तो वे भोक्ता हुए मेरे दृश्य बने हैं। तब यहाँ-वहाँ चाहे वे विवाह करें अथवा बिना विवाह किये रसदान करें, सर्वत्र मेरा प्रेम ही तो विलस रहा है, लहरा रहा है।

भाईजी ! आपका 'गोपी-प्रेम' लेख पढकर तो निहाल ही हो गया हूँ। उसे प्रतिदिन अनेकों बार पढता रहता हूँ।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - बीस (२०)

# तुम मुझे इतना क्यों प्यार करते हो ? मैं तो तुम्हारी स्मृति भी नहीं कर पाती....

रतनगढ़
तिथि, संवत् कुछ भी उल्लेख नहीं

भाईजी ! आजकी भावना लिख रहा हूँ ।

वृन्दावनका ग्राम्य-गोष्ठ । दिनभरसे कार्य-व्यस्त हूँ। मेरा नाम मजुलीला है। रसोई बनाना घरके कपड धोना, घरमे झाडू लगाना। राधारानीका घर है। ठीक, इसी भावने भावित रहता हूँ। गाय दुहना, गोशाला स्वच्छ करना, घर-परिवारकी सेवा-सुश्रूषामे दिवस व्यतीत हो जाता है। प्रियतम रानीके तो सर्वस्व है ही, परन्तु मुझे भी प्रेम करते हैं। दिन-रात उन्हींके स्वप्न देखती रहती हूँ। इधर यमुनाकी ओर, वनकी ओर गयी ही नहीं, फिर उनसे दो बातें भी कैसे होतीं ? काम-काजकी व्यस्ततामे उनकी विस्मृति भी हो ही जाती है। उनकी विस्मृतिसे अति ग्लानिसे गड जाती हूँ।

सायकाल गोदोहनके समय सहसा एकान्त गोशालामे वे आगये मै गाये दुह रही थी कि पीछेसे उन्होने मेरे नेत्र मूँद लिये। नेत्रो एव कपोलोपर उनके स्पर्शने, उनके अगोकी मधुरतम गन्धने ठीक अवगत करा दिया कि वे ही हैं। गोदोहन स्वत ही स्थगित हो गया। उन्होने असीम प्यारसे मुझे अपने वक्षस्थल से सटा लिया। वे अपने उपरनासे मेरे मस्तकपर लगी गोरज झाडने लगे। मैने उनसे पूछा "प्रियतम ! तुम मुझे इतना क्यो प्यार करते हो ? मैं तो इतनी निकृष्ट, मलिन सस्कारोसे भरी हूँ कि आपके सम्मुख नेत्र ऊँचा करने लायक भी नहीं हूँ। आपकी स्मृति भी गृह-कार्यमे छूट जाती है। शरीरसे तो गृह-परिजनकी सेवामे निरत हूं ही, मन भी कामोमें उलझे रहनेसे आपकी स्मृति त्याग, इधर-उधर न जाने कहाँ-कहाँ दौड लगाता रहता है। फिर तुम कैसे मुझे अपनी मानते हो, मेरी तो हीन-बुद्धि तुम्हारे प्यारको समझ ही नहीं पाती ?" प्रियतम मेरी बातको बहुत ही हलकी मानकर हँसने लगते हैं। बहुत ही प्यारसे वे मुझे अपनेसे सटा लेते हैं।

'बोलो, प्राणेश्वरी ! यह मेरी वनमाला, पीताम्बर तुम्हारी स्मृति करता है क्या ? मेरा कण्ठहार बाजूबन्द कंकण, कटि-करधनी, कोई भी तेरी स्मृतिमें जब व्याकुल नहीं है, फिर भी तुम मेरी प्रिय हो, अपनी-की-अपनी हो, उसी प्रकार यदि तेरा मन इधर-उधर भटक जाता है, तो मैं तुमसे विरक्त क्यों हो जाऊँगा ? भला, मुझे बताओ, तुम तन-मन हो क्या ? मन तो मालाकी तरह मात्र शरीरका एक अवयव है , तन तो साडी, चोलीकी तरह मात्र एक वस्त्र है। अब तुम मुझे स्नेह करते-करते जैसे इस वन-मालाको भी अपने नेत्रोंसे लगा लेती हो, मेरे पीताम्बर उपरैनामे अपना मुख छुपा लेती हो वस्त्राभूषण तुम्हें सज्ञान अनुभवमे नहीं आते, फिर भी मेरे अंगी होनेसे वे तुम्हे "मैं" के रूपमें ही अनुभव होते हैं। इसी प्रकार तेरा तन-मन मेरे पास नहीं भी रहे, मुझसे पृथक् इधर-उधर-भटकता भी रहे, तब भी तुम मेरीकी मेरी अपनीकी अपनी हो, थी एव रहोगी।"

अब तो दिवस-निशा यही भाव अतिशय सुदृढ होता जा रहा है कि सभी अवस्थाओमें मैं उनकी ही हूँ। उनकी अनुपम अकथनीय, अचिन्त्य एव अलौकिक मधुरातिमधुर आत्मीयतामे डूबी रहती हूँ। वे मेरे परमात्मीय हैं, मेरे सदैव साथ हैं, मुझ परमातिपरम नीचताकी प्रीतिमाको भी वे अपनी चरणधूलिसे कदापि पृथक् नहीं करेगे। उनके नयनोकी प्रीतिधारामें मैं सदैव डूबी रहती हूँ। भाईजी! जैसे मछलीके चारों ओर – ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दॉये-बाये, समुद्र-ही-समुद्र है, समुद्र एवं जल ही जैसे उसका जीवन-रस है, प्रियतमका प्रेम उसी तरह मेरा जीवन-रस है। सुन्दरी, सद्गुणी होनेसे ही वे मेरे हो, सो बात नहीं, मैं महा-कुरूपा, गुणहीना होऊँ, तब भी वे मेरे ही हैं।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - इक्कीस (२१)

# प्रीतिका धरातल

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् अज्ञात**

भाईजी ! आपको अनेक दिनोसे पत्र लिख रहा हूँ। इतना लिखकर भी अपनी वास्तविक दशा आपको समझा सका या नहीं, कह नहीं सकता। आजकल तो विचित्र ही ढग चल रहा है, क्या होगा, पता नहीं।

आज आपके सत्सगमे बैठा था। आप न जाने क्यो, सभवत मुझे ही शिक्षा देने, कुछ बातें कह गये। आपकी बातोको मैं सर्वाधिक महत्व देता ही हूँ, वे बाते मुझे कण्ठस्थ ही हो गयी हैं। आप कह रहे थे – "प्रेम वह धरातल है– जहाँ कोई जीव नहीं, कोई ईश्वर नहीं, कोई स्त्री नहीं, कोई पुरुष नही, कोई नायक नहीं, कोई नायिका नही, कोई रमणी नहीं, कोई रमण नहीं, कोई दाता नहीं, कोई दान-प्राप्तकर्त्ता नहीं, कोइ महान् नहीं, कोई हीन नहीं, कोई दयालु नहीं, कोई दीन नहीं, वहॉ तो मात्र प्रीति ही प्रीति है। प्रेम ही वहॉ धर्म है, प्रेम ही गुण-अवगुण, प्रेम ही जीवन है।"

चाहे इस आपके सत्संगके सस्कार हो सकते हैं, आज श्रीकृष्णके विलक्षण रूपमें दर्शन हुए। पूजामे बैठा "राधाकृष्ण" "राधाकृष्ण" जाप कर रहा था। अपने इष्टके चित्रपटपर मेरे नेत्र इकटक लग रहे थे। सहसा उनकी मूर्त्ति जीवन्त होकर सम्मुख बैठ गयी। आज वे सर्वथा शृगारशून्य थे। उनके अंगोमे मात्र एक साधारण सा पीताम्बर था। वह ऐसी साधारण पीताम्बरी थी जैसी प्राय ब्राह्मण लोग पहनकर आपके यहाँ पूजा, अनुष्ठान करने आते हैं वे निराभूषण थे।

रत्नजटित मुकुट, कलाइयोंमे कुन्दनके केयूर, बाहुओंमे बाहुबन्ध, ग्रीवामे रत्नहार कुछ भी नहीं था। बस, वे मात्र एक मयूरका पिच्छ बालोमे खौंसे थे तथा गलेमे गुञ्जा और वन-पुष्पोकी माला मात्र थी।

मैंने उनसे जिज्ञासा की – "वल्लभ ! सब आभूषण कहाँ गये? स्वर्णजटित वेणु भी त्यागकर यह साधारण बॉसकी बॉसुरी ले ली, यह क्या हुआ ?"

वे मुसकाने लगे। मेरे बारम्बार प्रश्न करनेपर उन्होंने सक्षिप्त-सा उत्तर

दिया – "सब महिमा त्याग दी, महिमा प्रीतिमें बाधक है। महिमा कामना उत्पन्न करती है। अब मुझमें कोई महिमा नहीं है। मैं अकिंचन तुम्हारा हूँ। तुम भी अकिंचन, मैं भी अकिंचन। मेरा तुम्हारा प्रेम अब निर्बाध होगा।" मेरी आँखें आश्चर्यचकित थीं। वे अनन्त-ऐश्वर्य-निकेतन थे, क्या उन्होंने मेरे लिये ईश्वरत्व त्याग दिया ? वे अनन्त बल-निकेतन थे, परन्तु मेरे प्रेमको समादृत करने उन्होने अपना समग्र बल, यश, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, किनारे कर दिया ? अब वे परम अकिंचन, अति सुकुमार, सुन्दर, मधुर, मात्र मेरे नयनोंके भूषण हो रहे हैं। वे तो अनन्त-ज्ञान-सम्पन्न थे। परन्तु मेरी प्रीतिमें वे परिच्छिन्न मात्र तीन हाथके देश-कालान्तर्गत, दृश्य-रूप, देहाध्यासी हो गये ? उन्होंने वैराग्य त्यागकर मुझसे राग किया। वे अनन्त धर्म-यशके निकेतन थे, मेरे लिये वे जार-पदसे विभूषित होने जा रहे हैं ? मैं उमड पडी और उनसे लिपट गयी। वे अतिशय प्यारसे मुझे सहला रहे थे। वे कह रहे थे – "अब तो तुम्हारा प्रेम मेरा है और मेरा पूरा प्रेम तुम्हारा है। अब तुम मेरी प्रीतिकी एकमात्र स्वामिनी हो। कहीं कोई रुकावट नहीं, बाधा नहीं। गुण-दृष्टि बहुत बुरी है गुणाभिमान होनेपर ही अन्यमें अवगुण दृष्टि होती है। अब तुममे कोई श्लाघनीय गुण नहीं होनेसे भी मेरा तुमसे प्रेम एकरस-निरन्तर रहेगा। उसमे गुणोका आधार ही नही। मात्र विशुद्ध प्रेम ही प्रेम है। अब तुम भी मुझसे प्रेमके अतिरिक्त कुछ भी अन्य चाह मत करना।"

भाईजी ! वे मेरे आँचल से खेलने लगे। उनकी आँखोसे झर-झर प्रेमाश्रु गिर रहे थे। मैं बार-बार उनके अश्रु पोंछ रही थी।

वे फिर कहने लगे - "प्राणेश्वरी ! यदि तुम मुझसे धन चाहोगी, तो मैं मात्र गँवार ग्वारिया हूँ, यही समझना। यदि तुम मुझसे मुक्ति चाहोगी, तो मैं स्वय ही प्रीतिबधनसे बँधा हूँ। यदि तुम मुझसे सौन्दर्य चाहोगी, तो मैं काला-कलूटा हूँ, यदि तुम मुझसे माधुर्य माँगोगी, तो मेरा स्वभावही अति निष्ठुर, स्वार्थी है। यदि तुम मुझसे उत्तम कर्म चाहोगी, तो मैं चोर-जार हूँ। यदि तुम मुझसे त्याग चाहोगी, तो मैं भोगी-शिरोमणि हूँ। यदि तुम मुझसे मन चाहती हो, तो मैं परम चचल मनका हूँ – कभी किसी एकका न रहा, न रहूँगा। यदि तुम मुझसे धर्म चाहती हो, तो मेरा जन्म ही निम्नकुलके गोपोमें हुआ है। तुम मुझसे उत्तम वैराग्य चाहोगी, तो मेरे पास राग, भोग एवं शृगार ही हैं। यदि तुम मुझसे उत्तम लोक चाहती हो, तो मैं वन-वन डोलता फिरता हूँ, करीलके कुज मेरे निवास हैं, मैं घासके बीहडोमें गाये चराता फिरता हूँ। यदि तुम मुझसे सिद्धि चाहती हो, तो मेरा तो व्रत ही है कि जो मेरी आशा करता है, उसका मैं सर्वनाश कर

देता हूँ। यशोदा मैया मुझे अनेक दोषोंकी प्रतिमूर्त्ति ही मानती हैं। मुझमें अनगिनती दोष हैं। मैं कृतघ्न भी हूँ। बलिने मुझे सर्वस्वदान कर दिया, किन्तु मैंने उसे श्री-हीन करके नाग-पाशसे बाँध दिया। पिता-माताकी जन्म लेनेके पूर्वकी सात सन्तानें, मैंने मरवादीं। जन्म लेकर महात्मा नन्दरायके यहाँ लालन-पालन कराने आया तो उनकी सद्य जात कन्याका बधिक बना। असत्यका आश्रय लेकर इन भोले-भाले गोपोंका पुत्र बनकर लालित-पालित हुआ, और ज्योंही पख उगे, उन्हें त्यागकर चला गया और उनकी ओर दृष्टि भी नहीं की। मेरा चरित्र तो भोले माता-पिताकी भी वचना करनेवाला रहा है। बोलो प्रिये ! तुम मुझसे क्या आशा लेकर उलझ रही हो ?

मै मेरे प्रियतमकी भोली बातें सुनकर उनके कठसे लग गयी। ''बस, कह चुके, मुझे भी जो पीडा देनी हो, दे लेना। मैं तुम्हारी सब पीड़ाओंको तुम्हारा ही स्वरूप मानकर प्यार कर लूँगी। यही उनको मेरा उत्तर था।

भाईजी ! यदि मुझे विद्याकी चाह होती, तो मैं विद्याधरों अथवा विद्याकी अधिदेवी महासरस्वतीकी उपासना करता। यदि मुझे योगसिद्धियोंकी चाह होती, तो मेरा झुकाव निश्चय ही योग-मार्गकी ओर ही होता। परन्तु मुझे तो मुझ जैसा परम अकिंचन दीन-जनोका स्वामी हेतु-रहित प्रीतिविग्रह मोर-मुकुटी ही सर्वप्रिय है। यदि मैं उन्हे अनंत लक्ष्मियोंका पति मानता, उनके पास अनन्त सौन्दर्य है, माधुर्य है, उनके पास अनन्त गुणावली, यश है, बल है, वीर्य है, अनन्त सत्ता है – यह समझकर उनके प्रति लुब्ध होता तो भाईजी क्या लोभ प्रीति हो सकता है ? कदापि नहीं। लोभका प्रतिफल तो लोभ ही होता, वे भी मुझपर किसी लोभसे ही लुब्ध होते। फिर मुझ सर्व-साधनहीनके पास उन राज-राजेश्वरको देनेके लिये क्या होता ? यदि किन्हीं गुणोंकी श्रृंखलाके प्रति आकृष्ट होकर कोई किसीसे प्रेम करता है, तो काम-मल निर्मल प्रेमका नाश ही कर देता है। अत आपके द्वारा मुझे ऐसे विलक्षण प्रेम एव प्रेमीके दर्शन हुए हैं, जहाँ गुण-दृष्टि हमारे मध्य-पार्श्वसे भी नहीं फटकती। यदि वे किसी भी सत्कर्म, सदाचार, साधन, तप, जप, ध्यान, धारणा, समाधिसे मेरे होते, तो इन कर्मोंके नहीं होनेपर मेरा उनका प्रेम ही क्षय हो जाता। मैंने तो मेरे प्राण-जीवनका प्यार बिना मोलके पाया है, इसीलिये वह अनमोल है। वे मुझ निर्बलको निस्साधन आपने दिये हैं। यदि वे किसी भाग्यबल, उत्तम प्रारब्धसे मिले होते, तो प्रारब्धक्षय उनका भी क्षय कर देता। मेरा उनका ममत्व नित्य, अखण्ड-सत्य है। इस ममत्वमें कोई गुणावली कभी उद्दीपन नहीं करती और कोई दुर्बलता बाधक नहीं होती। जो गुणोंका हेतु रखता है। वह अवगुणोंसे मिट जाता है। जो

किसी भी हेतुसे जन्मता है वह हेतुके अधिक एव न्यून होनेपर अधिक, न्यून होता है और हेतुके मिटते ही मिट जाता है। मेरा उनका प्रेम जन्मने-मरनेवाला कदापि नही है। मेरे प्रति उनके प्रेममें न जन्म है, न क्षय है, वह मात्र अभिवर्धनशील है। यही उसका नित्य-सिद्ध स्वभाव है। उनके अतिरिक्त मेरी उनसे कहीं कभी कोई कामना न थी, न ही है, न होगी। उनके सिवा मुझे अन्य कुछ भी नहीं चाहिये। यही मेरे उनके प्रेमका धरातल है।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - २२ (बाईस)

# प्रेम-देशकी ओर

रतनगढ़
तिथि, संवत् अज्ञात

उस दिन भागुरि ऋषि रानीके अखण्ड सुहागके लिये यज्ञ करा रहे थे। रानीके सकेतसे मुझे यमुनाजल लाना था। जल तो वस्तुत रानीको स्वय ही लाना चाहिये था, परन्तु महर्षिने रानीसे मुझे अतिशय एकात्म मानकर, मुझे ही जल लानेकी आज्ञा दे दी। मै दौडती-फुदकती स्वर्ण-गगरी एव ईडुरी लिये यमुना तट आगयी, जल लानेके पूर्व स्नान करना आवश्यक था और सचेल वस्त्रसे ही जल लाकर यज्ञमण्डप तक जाना था।

उस दिन यमुना घाट पर विलक्षण शोभा एव सौन्दर्य नर्त्तन कर रहा था। मैं वाणी द्वारा उस शोभाका वर्णन ही नही कर सकती। ज्योंही स्नानार्थ यमुनाकी वन्दना कर जलमे प्रवेश करने लगी कि सम्मुख आम्रवृक्षपर बैठा एक पक्षी बोल उठा - प्रियतम ! प्रियतम !! प्रियतम !!! मैं समझ गयी प्राणपति यहीं कहीं आर्श्व-पार्श्वमे है अहा ! जब वे आर्श्व-पार्श्वमे ही होते हैं, तो प्रकृतिको न-जाने क्या हो जाता है ? चतुर्दिक् वातावरणमे प्रीति निरवगुंठित हो उठती है।

सहसा, वे थोडी ही दूरीपर पारिजात-पुष्पकी कुजसे निकलते मुझे दृष्टिगोचर हो गये। उन्हे ज्योंही देखा, ऐसा अनुभव हुआ मानो सम्पूर्ण आनन्द एव शोभा इन पर न्योछावर कर दूं। वे इतने सुन्दर, इतने मधुर इतने रसमय थे कि इन्द्रियोंमे उनको भोगनेकी सामर्थ्य ही नहीं थी। नेत्र तो उनके सौन्दर्यकी छायासे ही छक गये। नेत्र चचलता तभी व्यक्त करते हैं जब अतृप्त रहते हैं। बाहर दृश्यमे उन्हे तृप्तिका सुख मिलता जो नहीं। वहॉ प्रियतमके सौन्दर्यने तो उन्हे ऐसा छककर तृप्त किया, कि वे रसमे पूरे डूब गये।

मै रूप गुण, एव सौकुमार्य, शील, सबसे हीन उन्हें क्या समर्पित करती? वे मुझ कुरूपाको भी अपनेसे एक करनेका सुखमय सकेत कर रहे थे।

मै सकुचाती, किसी प्रकार उनको निषेधकर जल लेकर गृह आ पायी परन्तु, अब तो मेरी सभी इन्द्रियां, मन-बुद्धि मुझसे विद्रोह कर रही हैं। अहकार

उनके चरणोमे लुट पडनेको व्याकुलताकी सीमा लॉघ रहा है।

रानीके चरणोमे गिरकर जब हाहाकार-भरे स्वरमे मैने सम्पूर्ण आख्यान कहा और रुदन करने लगी, तो रानी हँसने लगी। वे कह रही थीं –

"बहिन मजु ! लहरका समुद्रमे विलीन हो जाना ही तो उसका साफल्य है। किरणका सूर्यके अथाह तेजमे एकत्व ही तो उसकी सार्थकता है। मजु ! हम हैं क्या ? मात्र उन महाप्रीति-सागर प्रियतमकी लहरें ही तो हैं । मैं एव तू – हम सभीका उन प्रेमोदधिमे लहराना ही तो केलि है, लीलाविलास है।"

"बहिन मजु ! विषधर भुजग दश करता है, तो अपने विषकी फुहारे मात्र शरीरके एक भागमे ही प्रवेश कराता है। यह सॉवरा भुजग तो अपनी सभी इन्द्रियोसे प्रेमकी फुहारे बरसाता है। उसके प्रेमामृतकी फुहारे इन्द्रियोके द्वारोसे तनके रोम-रोम, नस-नसमे घुल जाती हैं। अरी बहिन ! वह मयूर-मुकुटी ज्यो ही किसीके अगका स्पर्श कर ले, विद्युद्धारावत उसका प्रेमामृत, स्पर्श किये व्यक्तित्वके समग्र अस्तित्वको ही अपनेमे एककर लेता है। फिर उसका प्रेमामृत ओर वह स्वय दो भिन्न सत्ता तो हैं ही नहीं। अत इन्द्रियोके द्वारसे वह स्वय पूरे अन्त करणमे व्याप्त हो जाता है। बहिन ! इससे अधिक और क्या कहूँ, उसने इस तेरे मेरे कलेवरको अपना रहने ही कहाँ दिया है ? हम सभी जब उसकी ही हो गयीं तो हमारे ये जड-कलेवर मात्र उसकी रुचिपर थिरकनेवाले यंत्र ही तो है। वे इन अपने कलेवरोसे जो जी चाहे खेल करे। वे अब हमे चाहे कुलतारिणी, महासती-साध्वीकी उपाधिसे भूषित करे, अथवा कुलकलकिनी पद दे, इस तनको वियोगकी ज्वालामें जलावें अथवा सयोग सुखसे आप्यायित कर दे। वे पूरी मन-मानी करे, भला उनका वर्जन कौन करे ? कहीं कोई मेरी पृथक् सत्ता हो, तो बहिन, मैं उन्हें वर्जित करूँ।

"बहिन मजू ! यदि हमे वह नीलचन्द्र कुलकलकिनी स्थापित कर देगा तो कुल-धर्म-शील-सम्पन्न लोग हमे घृणा करके त्याग देगे। हम चरित्रहीना दुश्शीला होगी, तो सदाचारी चरित्राभिमानी लोग हमें अपनी जातिसे पृथक कर देगे। हम असती हैं, तो सतीगणोमे हम समादृत नही हो पावेगी। यदि हम अधार्मिक होंगी, तो धर्मात्माओमें हमारा प्रवेश निषिद्ध होगा। यदि हम उत्तम शीलसे युक्त नहीं हैं, तो हमे सम्भ्रान्त जाति-कुल-शीलवाले लोग नहीं अपनायेगे। परन्तु हमारे हृदयमे यदि उनके प्रति प्रियता है, तो वे हमे त्यागेगे नहीं। और हम तो मात्र उनसे ही प्रयोजन है। अन्यसे हमारा क्या लेना-देना ? उनसे एकत्व ही तो मेरे, तेरे अस्तित्वकी चरम एव परम कृतकृत्यता है।"

रानीके इस उपदेशका मैं क्या उत्तर देती ?

---

## प्रसंग - २३ (तेईस)

# पुष्प चयन

**रतनगढ**

**तिथि - अज्ञात**

एक दिवस रानीने कहा – "मजू री ! पूजाके लिये दो-पाँच फूल तोड ला। मैं पुष्प-चयन करनके लिये वनम ज्योही प्रविष्ट हुई कि किसी अज्ञात दिशासे कोई अत्यत मधुर-स्वरने बोला – "मजू ! सावधान ! इस वनमे जो फूल तोडता है, उसके तन-मन-जीवन-यौवनपर मेरा अधिकार हो जाता है, वह मेरी सम्पति बन जाती है।" मैं चौंकी । मुझे वृषभानुबाबाकी पुत्रीने पुष्प-चयनके लिये भेजा था। कडककर बोली – 'तुम रोकने वाले कौन हो ?' परन्तु मेरे प्रति उत्तरमे अति मृदु हँसी ही सुनाई पडी। पुन वे ही शब्द उच्चारित हुए 'अरी ! मुझे देखने-भरसे सबकुछ लुट जायेगा। अत मुझे नहीं देखनेम ही लाभ है। परन्तु स्मरण रखना, पुष्प-चयन किया, तो मुझे ही सर्वस्व समर्पण करना होगा।" रानीको बहुत विलम्ब हो रहा था, अत बिना किसी परवाहके मैंने पुष्प-चयन कर लिये और आँचलमें बाँधकर ले चली। फिर वही मधुर हँसी मेरे कानोमे अमृत घोल गयी। मैने सारा वृत्तात रानीको सुनाया। "बहिन क्या बताऊँ ! मैं महाकुरूपा हूँ, परन्तु सब सौन्दर्य तो उनके प्रीति-दृगोमे ही वास करता है। उनके नेत्रोमे मेरे प्रति प्रीति होनेसे उन्हे मेरे रोम-रोममे सुन्दरता ही सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है। फिर उनके तो, वे और प्रेम दो वस्तुएँ भी तो नही है। उनकी दृष्टि पडते ही वन शोभाके आगार हो उठता है, यमुना प्रेमामृत-प्रवाहिनी बन जाती है, यमुना-तटकी स्वर्णरजतचूर्णकी तरह सुन्दर और परागके समान सुकोमल हो उठती है। वनमे अगणित पुष्प विकसित हैं, परन्तु उनका सभी सौन्दर्य, सब सुगन्धि मात्र उनकी प्रीतिभरी दृष्टि-निक्षेपका ही फल है।

"उनके चरणोके संस्पर्शसे ही तो पृथ्वीमे सुगन्ध-नामक गुण उत्पन्न हुआ है। उनके प्राणोका संस्पर्श पाकर ग्रीष्मकालमें भी वायु सुशीतल रहती है। वे जब वनचारणको चलते है, तो आकाश शोभाधाम हो उठता है। उनके अंगकी श्यामाभा ही पयोधराको श्याम-सुरग से रजित कर देती है। उनकी वाणी सुन-सुनकर पक्षीगण अपने कलरवमे प्रीति ही प्रीति अप्यायित कर लेते हैं। भास्करके तेजोमण्डलसे अमृत वर्षा होना उनकी विमल दृष्टिका ही चमत्कार है।"

"बहिन ! अब तो मुझपर मेरा वश ही नही। मै उन्मादिनी रस-सरिताकी तरह उनसे मिलनातुर हो रही हूँ। अरी सखी ! मैं जैसे ही विश्राम करने अपने

नेत्र मूंदती हूँ, यह प्रीति-सम्पदा मेरे हृदय-देशमे भरी दृष्टिगोचर होती है ऐसा लगता है, मानो अनन्त जन्मोसे मैं इसीकी आराधना कर रही होऊँ। हृदय मचल मचल उठता है। इसे नयनोंमे अजनकी तरह ऑज लूँ अथवा हृदयमें हारकी तरह धारण कर लूँ किंवा अपने ललाटका सौभाग्य-तिलक बना लूँ।"

"बार-बार यमुना घाटपर आती हूँ। यमुना-जलके स्थान पर मेरे हृदय घटमे यही नीली प्रीतिधारा भर लाती हूँ। घरके परिजन मुझे रीता घट लेकर यमुनासे लौटते देखकर अशकुन मान रुष्ट होते हैं, परन्तु उन्हे कौन समझाये कि मगला-का-मगल करनवाला यह सॉवरा मेरे साथ-साथ ही उनके घरमें प्रविष्ट हो गया है।

"बहिन री! चाहे मै गृहकार्यमें लगी रहूँ, चाहे गृहपति, सास-ससुर, देवर एव ननदोस घिरी रहूँ, चाहे पीहरमे माता-पिता, बहिन-भाइयोंके मध्य रहूँ, यह मेरा सॉवरा जीवनधन एक क्षण भी मुझे नहीं छोडता। यह मेरे चतुर्दिक् घूमता रहता है, ज्योही एकान्त हुआ – मुझसे तन सटाकर मेरी गोदमे सिर रखकर लेट जाता है। यह कैसे होता है, पता नहीं। परन्तु, यह चाहे मुझसे आलिंगित ही रहे इसे दूसरा कोई देख नहीं पाता। बस, मेरे नेत्र ही इसे देख पाते हैं। यह मुझसे वार्तालाप करता रहेगा तो दूसरे सुन नहीं पाते। मैं उससे हँसती हूँ, बोलती हूँ, लोग मुझे 'सिरफिरी' कहते हैं। परन्तु जिसको जो कहना हो, कहे। मुझे किसीसे क्या लेना-देना ?

"सखि री कोई यही अर्थ तो समझेगा कि मैं मेरे हृदयहारसे मानसिक दिवा-स्वप्नका सबध जोडे हूँ। ऐसा समझनेवाला भले ही ऐसा समझे। मुझे अन्य किसीसे प्रयोजन ही क्या है ? यह नन्द-पुत्र तो मेरे तन-मन एव इन्द्रियोका प्रत्यक्ष है ही। यह मेरे प्राणोका प्राण, आत्माका आत्मा, मेरे कलेजेकी कोर है। यह मेरी सर्वेन्द्रियोका एकछत्र स्वामी है। इतना अवश्य है, कि इसकी सत्ताका प्रमाण मैं द्वितीयको नहीं दे सकती।

"अरी बहिन ! इस प्रेममणिका मुकुट प्रेम है, इसकी अलकें प्रेम हैं और इसकी पलकें भी प्रेम ही हैं। इसकी भौहे प्रेम हैं, तिलक प्रेम है, नयन, कपोल नासिका अधर, ग्रीवा, वक्ष, बाहु, उदर, नाभि सभी अग मात्र प्रेम ही प्रेम हैं। यह प्रीतिका उदधि है।

"आओ बहिन ! चले उस प्रेमदेशकी ओर -- जहाँ कदम्बके नीचे यह प्रीतिवपु ललित त्रिभग मुद्रामे खडा है, मुसका-मुसकाकर जो सम्पूर्ण विश्वके कण-कणमें अपनी प्रीतिका मधु घोल रहा है, समग्र अस्तित्वको ही, जो अपनी प्रीति रसधारामें डुबो रहा है।"

---

### प्रसंग - चौबीस (२४)

# कैसे धैर्य रखूँ

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् अज्ञात**

बहिन री ! वे प्रीतिके उन्मादमें भरे यमुनाके किनारे-किनारे डोलते हैं और यमुना प्रेमोन्मादमें भरी सुख-सौभाग्यमें प्रफुल्लित हो, उफन उठती है। वे जब प्रेमसे छलकते घटके समान निज नेत्रोंसे वृन्दावनकी लता वल्लरियोंको निहारते हैं, तो वृन्दावन प्रेमोन्मादमें भरा अगणित सुवासित पुष्पोंसे लद जाता है। प्रेमोद्दीपनसे भ्रमर प्रमत्त हो उठते हैं, मयूर नृत्यमें झूम उठते हैं, चातक चातिकागण पिहू-पिहूकी ध्वनिसे समग्र वनको मुखरित कर उठते हैं।

बहिन री ! जब सम्पूर्ण वनही उनके प्रेमसे प्रफुल्ल हो उठता है, गिरिराजके प्रस्तर खण्डोंसे रसामृतके स्रोत फूट पड़ते हैं, सम्पूर्ण गिरिराज स्वयं मसृण हो पुष्पदलोंकी तरह सुकोमल हो उठता है, आकाश झुक जाता है, वायु मन्द सुगन्धित एवं सुशीतल हो उठती है, यमुना स्थिर हो जाती है, पुष्पहाससे वन प्रमुदित हो उठता है, तो मैं अबला कैसे धैर्य रख पाऊँ री ? मेरा रोम रोम उनसे मिलनेको व्याकुल हो उठे, उसमें आश्चर्य ही क्या है ? सखि री ! वे मूर्तिमान प्रेम हैं।

उनके नेत्रोंमें सौन्दर्यका समुद्र भरा है। उनके अधरोंमें रसका सागर लबालब छलक रहा है। उनकी अलकावलि प्रेमकी घटाएं हैं। उनका वक्षस्थल शोभाका धाम है। उनके चरण प्रीतिके निर्झर हैं। फिर कौन कामिनी उनसे मिलनमें धैर्य रख सकेगी ?

बहिन ! उमड़ते घनको देखकर मयूरी क्यों नाच उठती है ? कोई उसे क्या निषेध कर सकता है। स्वाति जल पानके लिये चातक क्या तृषातुर है। क्या कोई भी उसे प्रतिबन्धित कर सकता है ? यमुना सागरसे मिलनको क्यों उमड़ी जा रही है — क्या उसे कोई रोकेगा ? बहिन मेरी ! सुख-समुद्रमें बाँध कैसे सम्भव है ?

देख री ! कोई-न-कोई ऐसा अवश्यम्भावी कारण है जिससे मयूर नृत्य कर रहे हैं, कोकिलाएँ, चातक कूजन कर रहे हैं, मेघ बरस रहे हैं, अम्भोज

विकसित हो रहे हैं, वासन्ती लतायें पुष्पभारसे लदी झुक रही है, राका अमृत ज्योत्स्नासे धराको नहला रहा है, क्या यह कारण प्रीति नहीं है ?

देख री ! वे पुष्पोंसे लदे कदम्ब-वृक्षके नीचे खडे हैं । वे भ्रू-सकेतसे मुझे बुला रहे हैं, उनके अगों-अंगोसे कैसी निर्मल श्यामाभा निकल रही है ? आओ न, इस रूप-महोदधिसे उद्भूत निरुपम रूपसुधाका नयन-प्यालोंमें भर-भरकर पान करें।

अरी सखि ! विधाताने मुझे नेत्र दिये ही हैं · · उन्हे देखनेके लिये, फिर मेरे नेत्र उन पर मुग्ध होते हैं और उनका रूप मेरे नेत्रोमे बस जानेको व्याकुल हो रहा है, तो इसमे निषिद्ध ही क्या है ? जब उनका निर्माण ही मात्र मेरे लिये, और मेरा निर्माण ही मात्र उनके लिये हुआ है तो विश्वमें कहीं कोई दीवार ही नहीं है, जो उनके एव मेरे मध्य खींची जा सके। मेरा उनसे मिलन विश्वकी कोई शक्ति रोक नहीं सकती। मैं उनकी, उनकी, उनकी रहूँगी और वे मेरे, मेरे मात्र मेरे ही रहेंगे।

**राधा राधा राधा राधा**

---

### प्रसंग - पच्चीस (२५)

# मेरे जाग्रत एवं स्वप्नको ही नहीं, वे अपने आलिंगनसे मेरी निद्राको भी लिपटाये रखते हैं।

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् उल्लेख नहीं**

भाईजी ! मुझे पता नहीं, वे मेरे मन हैं बुद्धि-विलास हैं, कल्पनाके गन्धर्वनगर हैं, कल्पना हैं, परमात्मा हैं, सत्य हैं, असत्य हैं, भ्रम हैं, भावुकता है, पागलपन है, चेतना हैं, स्वप्न हैं, दंभ है, ब्रह्म हैं, माया हैं, ज्ञान हैं, अज्ञान हैं, मेरी साधनाकी निम्न-दशा हैं, अथवा उत्तमोत्तम-दशा हैं, मेरी वासना हैं, मेरा उत्थान है, पतन है अथवा मेरा अहंकार हैं। मेरे पास उन्हे परखने, जॉंचनेकी न बुद्धि है, न ही विद्या है। मुझे ऐसा अनुभव भी नहीं है कि शास्त्र एवं तत्वकी कसौटीपर उन्हें खरा उतार पाऊँ। इतनी जॉंच-परख करनेकी मैं आवश्यकता भी नहीं समझती।

इतना अवश्य कह सकती हूँ, अबतक जो कुछ मैं थी उसके स्थानपर अब वे हैं। जबतक मैं थी, तबतक मैं मलिन पंचभूतोंका मात्र पिण्ड ही थी, उस पिण्डमें असंख्य विकार थे तुच्छताएँ थीं, भय था, अज्ञान था, चिन्तायें थीं, मृत्यु थी, रोग थे, कामनाएँ-ही-कामनाएँ भरी थीं, किन्तु अब तो भाईजी, वह सब तो थूक, कफकी तरह फिंक गया।

अब मेरा तन प्रियतम, मन प्रियतम, मेरे प्राण प्रियतम, मेरे गुण प्रियतम, मेरा सौन्दर्य-ही-प्रियतम है। मेरा लोक, परलोक, कर्म, स्वभाव, प्रकृति सब वे ही वे हैं। वे मेरे विश्व बन गये हैं। अनन्त स्वर्ग, नरक, पृथ्वी, पाताल, ब्रह्मलोक, सिद्धलोक, अनन्त देवी-देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज कितनी योनियॉं उन्होने ग्रहण कर ली हैं। अनन्त देशोंमें, अनन्त रूपोंमे, अनन्त भावों, कर्म संस्कारोंको लिये वे जन्म रहे हैं, मर रहे हैं, मैं उन्हें सभी अवस्थाओंमे देखती हूँ, पहचानती हूँ और ज्यों ही वे मुझे अवसर देते हैं, मैं उन्हें प्रेमामृतसे सराबोर कर देती हूँ। चुपचाप बिना कहे, बिना जताये, मेरा विभु प्यार, उनके पीछे अनन्तदेश,

अनन्तकालकी निर्बाध यात्रा कर रहा है।

भाईजी ! वे मुझसे बोलते हैं और आपकी महिमाकी बाते बतलाते हे। एक दिवस वे आपकी महिमा बतलाते कह रहे थे – "प्रिये ! इसे सर्वांशमे सत्य समझलना – इसमे तनिक भी मीन-मेख मत करना – मेरे शब्द-शब्द सत्यके सत्य, परम सत्य हैं। यदि किसीको देवताका आवेश हो जाय तो बाहरी रूपसे चाहे वह तुम्हे दिखे कि अमुक व्यक्ति भोजन कर रहा है, परन्तु आन्तरिक रूपसे वह देवता ही उसमे खाता-पीता, व्यवहार करता है। यह तो मैंने साधारण आवेशकी ही बात कही है, इस हनुमानप्रसाद-सत्तासे तो मैं एक हो चुका हूँ। अब चाहे दिखे कुछ भी, हूँ तो इसके भीतर पूर्णरूपसे मैं ही। इसके नेत्रोंसे कभी मै और कभी मेरी प्रिया राधारानी देखती हैं, इसके कानोसे हम ही रस ग्रहण करते है, और तो क्या कहू, जैसे प्रद्युम्नादि मेरी सन्तान है, इसी प्रकार इसकी पुत्री सावित्री भी सर्वथा सर्वांशमे मेरी ही सन्तान है। क्योकि इस बालिकाके गर्भाधानके समय नारायणावेशमे मै ही इस हनुमानप्रसाद-रूप कलेवरमे पूर्णतया [illegible] था। यह तो कभीका मुझमे पूर्णतया विलीन हो चुका था। सिन्धु[illegible] बिन्दु मिल जाने पर क्या फिर वह बिन्दु पुन निकाली जा सकती है [illegible] नही अत यह क्रोध करता है, तो उस क्रियाको मेरी ही शत-प्रतिशत क्रिया मानना। इसको मै सोते, जागते, स्वप्न लेते एक क्षणके लिये भी नहीं त्यागता [illegible] इसकी सत्ता, मात्र मेरी ही सत्ता है। हाँ, जब मुझे अन्तर्धान-लीला करनी होगी, तभी इसका त्याग करूँगा और उस दिन लोग यही समझेगे, हनुमानप्रसाद नित्य लीला-धाममे प्रविष्ट हो गया। जबकि वह लीलाधाम-प्रवेश मेरा होगा। यह तो अभी भी सर्वांशमे लीलाधाममे मेरा लीलापात्र बना मेरी सेवा कर रहा है।"

"तू मुझसे पूछेगी कि इसने ऐसा कोनसा तप, साधन किया कि मैने इसके तनको इस प्रकार अपना धाम बना लिया ? तो ठीक समझले, मैं किसीके भी बाह्य-साधनसे सर्वथा विक्रीत नहीं होता। जब मैं कालियनागके फनोको अपनी नृत्य-स्थली बना लेता हूँ, जब अघासुरकी विशाल अजगर-देहको अपनी क्रीडा-स्थली, लीला-भूमि बना सकता हूँ, जब गोवर्धन-जैसे साधारण प्रस्तर-समूहको अपना छत्र बना सकता हूँ, जब मैं पूतनाके कालकूट-समावृत स्तनोको अमृत-गोद बनाकर उसपर खेल सकता हूँ, जब भीलनीके उच्छिष्ट बेर अपना भोग बना सकता हूँ, तो मैने इस मेरे परम प्रेमीके हृदयको भी अपनी रगभूमि बनाली, मेरी मौज है। इसमे साधनगत योग्यता सर्वथा हेतु नहीं, अतर्हृदयकी चाह ही मात्र हेतु है। अब तो सब शोभाओकी अधिदेवियाँ इसके

हृदयमे आनेको ललचाती है, सभी लक्ष्मियाँ वहीं निवास करती है, जहाँ मैं रहता हूँ।

"प्रिये ! देवता उपासनासे प्राप्त होते हैं, दुर्लभ गतियोंके लिये दुस्तर तपकी अपेक्षा है, मैं तो मात्र पुकारनेसे स्मरण-मात्रसे मिल जाता हूँ, हाँ वह मेरा मिलन किसीके अनुभवमे आवे, या नहीं आवे, यह दूसरी बात है, जब मैं प्रेमसे पुकारने मात्रसे द्रौपदीके अधोवस्त्र बन सकता हूँ, तो क्या प्रेमी हनुमानप्रसादके तनको पीताम्बरवत् मैं अपना कलेवर नहीं बना सकता ? जब मैं उत्तराके गर्भमे प्रवेश कर सकता हूँ, तो इसके अन्त करणको व्रजभूमि बनाना कौन कठिन कार्य है। ?"

भाईजी ! श्रीकृष्ण जैसा प्रेमी तो ***न भूतो न भविष्यति,*** कभी होनेवाला ही नहीं है। आजके दिवसकी लीला आपको सुना रहा हूँ, वे मुझे अकम धारण किये विश्राम कर रहे थे। निकुञ्जमें मात्र हम दो ही थे। वे अतिशय प्यारसे मुझसे कहते है "प्राणेश्वरी ! तुम सो जाओ।" मेरे नेत्र उनके प्रेमगे छके हैं विश्रान्तिमे नेत्र मुँदते हैं परन्तु मे उन्हे खोले रखती हूँ कि कही निद्रागत विस्मृतिमें वे मुझसे दूर नहीं चले जावें।

वे मेरे हृदयमें उठे भावको जान लेते है। वे बहुत ही दुलारसे अपने वक्षस्थलसे मुझे सटा लेते है, एव कहते हैं – "मेरी रानी ! मुझे मात्र अपनी जाग्रतिका ही सागी क्यो मानती हो, मैं तो तेरी निद्राको भी अपने आलिगनमे लिपटाये रखता हूँ। निर्भय, निस्सकोच सो ही जा।"

भाईजी तभीसे न-जाने उन्होंने क्या कर दिया है कि मेरी सभी अवस्थाये उनके आलिगनमे लिपटी रहती है। मेरे सभी स्वप्न उनसे भरे रहते है। सुषुप्ति तो पूरी उनकी गोदमें ही बीतती है।

मेरी जिधर दृष्टि जाती है, उनका रूप नेत्रोके दृश्यको अपनेमे लिपटाये रखता है। मैं जो भी शब्द सुनूँ, प्रत्येक शब्द उनकी वाणीकी मधुरतासे ओत-प्रोत रहता है। प्रत्येक गधमें उनकी सुवास भरी रहती है। प्रत्येक स्पर्शमे उनका अंग-स्पर्श छलक उठता है।

भाईजी ! मैं अपनी अनुभूतिको शब्द नहीं दे पाती परन्तु कैसे समझाऊँ मैं स्नान करती हूँ तो जलमें वे तरलता बने मुझे नहलाते है, मैं वस्त्र पहनती हूँ तो वस्त्रके सूत सूतमें वे ओत-प्रोत हो जाते हैं एव मुझसे लिपट जाते हैं

उनके प्रेमकी किन किन बातोको गिनाऊँ, वे मेरे स्वप्नोमे तो समाये रहते ही हैं, उनके अपने स्वप्नो एवं मनोरथोंमे भी मुझे भरे रहते हैं वे अपने स्वप्नोंकी बात प्राय सुनाते हैं और हँसते हुए कहते हैं "जब तू प्रत्येक स्वप्नमे मेरे साथ रहती है, तो तेरेसे वियोग सभव ही कैसे हो सकता है ?

प्रसंग - छब्बीस (२६)

# प्रियतम इतने प्रेम परवश हैं कि मैं उठाती हूँ तो उठते हैं, बैठाती हूँ तो बैठते हैं ।

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् अज्ञात**

मेरी निवास-कुटीके आगे-पीछे चारों ओर वन हैं। पिछवाड़े, पश्चिमकी ओर कुटीके नजदीक तो फुलवारी है, फिर थोड़ा मैदान है। आगे आम्र, अशोक तथा लीचीके वन हैं। मैं अपनी कुटीके आगे पूर्वमें फुलवारीमें बैठी हूँ।

उत्तरकी ओर मेरी कुटीसे आगे थोड़ी दूरपर घासपर हरिण-शावक चर रहे हैं। वे चरते-चरते अति प्यारसे मेरी ओर दृष्टिपात कर लेते हैं, कि कहीं उनका तृण-चारण मेरी रुचिके विपरीत तो नहीं है।

मुझे अपने नेत्रोंसे तो यही दिखता है कि छोटे-छोटे मृगछौने मेरे उपवनकी घास चर रहे हैं, परन्तु भावमें यही अनुभव हो रहा है कि प्रियतम ही मुझे सुखी करने हरिण शावकोंका मनोहर दृश्य बनकर लीलायमान हैं। और मेरा भाव मुझे ठीक अनुभव कराता है कि पश्चिमकी ओर जो फुलवारी है, उसके प्रत्येक पुष्पमें भी प्रियतम ही मुस्करा रहे हैं।

मेरा अन्तर्हृदय उन्हें देखते ही कितना तृष्णातुर हो उठता है, कैसे बताऊँ ? उनका रूप मानो अमृतकुण्ड हो, और अनन्त प्याससे तड़फड़ाते मेरे नेत्र उस कुण्डके अमृतको पान करनेको अतिशय समुत्सुक हो उठते हैं।

कुछ काल पश्चात समग्र बाह्यदृश्य अनिर्वचनीय प्रभामें मानो डूबने लगता है। बस शीतल शतम कृष्ण ज्योत्स्ना मेरी निवास-कुटीको मेरे तनको कुटीके निकटकी फुलवारीको, मैदानको, आम्र, अशोक एवं लीचीके वृक्षोंको, सुदूर यमुनाके स्वर्णिम सोपानों एवं घाटोंको सबको समाच्छादित कर देती है। फिर उसी कृष्ण-ज्योत्स्नाके मध्यसे श्यामल प्रीतिवपु मुसकाते सम्मुख खड़े हो जाते हैं, उनके हाथमें लकुट होता है। सिरपर मयूर-पिच्छ घुँघराली अलकें कपोलोंपर अत्यन्त सुखकारी लगती हैं। वे लकुटके सहारे त्रिभंगीसे खड़े मुसकान बिखरते रहते हैं। अत्यंत मनोहारी प्रेमभरी दृष्टिसे मुझे निहारते जाते

है उनकी दृष्टि नहीं, अमृतकी निर्झरिणी ही होती है। इतना प्रेमामृत उनके नेत्रोंसे प्रवाहित होता है उस प्रेममें मैं डूबकर मात्र प्रीति ही हो जाती हूँ। ऐसा अनुभव होता है, मानो मुझे मिटाकर उन्होंने मात्र प्रेम कर दिया और तब अपने नेत्रोंके प्रेमामृतसे मिलाकर पुनः उसे अपने नेत्रोंमें भर लिया। अब नेत्रोंसे वे मुझे अपने हृदय-सिंहासनमें विराजित कर लेते हैं। उनके हृदयमें भरा प्रेम-रस मुझे परम रसमय बना देता है अब परम रसमय हुई मैं उनके अंगोंमें प्रेम कान्ति बनी छिटकती रहती हूँ। उस समय उनके नेत्रोंसे मैं देखती हूँ। उनके कानोंसे मैं सुनती हूँ। उनका मात्र कलेवर-भर रहता है, शेष सब मैं ही मैं उनके कलेवरकी पूर्ण-नियन्ता बनी रहती हूँ। उस समय मैं यन्त्री होती हूँ और वे यन्त्र।

भले ही कोई मेरे इस कथनको नहीं माने, परन्तु सत्य यही है कि प्रियतम ऐसे प्रेम परवश हो उठते हैं कि मैं बैठाती हूँ तो बैठते हैं, मैं चलाती हूँ, तो चलते हैं मैं गाती हूँ तो गाते हैं, मेरे संकेतपर ही वे वेणु बजाते हैं, मैं नचाती हूँ तो वे नाचते हैं। मैं उनकी समग्र विधातृ-शक्ति होती हूँ।

और तब उनका निरतिशय प्रेम ही घनीभूत होता हुआ पुनः मेरा स्वरूप बनकर उनके बाहर प्रकट हो, उनकी दर्शन-स्पृहा शान्त करने लगता है। इस बार वे मेरे नेत्रोंमें समा जाते हैं। नेत्रोंसे हृदय-देशमें चले आते हैं, फिर मेरा प्रीतिरस उन्हें रसमय बनाता हुआ मेरे रोम-रोममें भरलेता है, फिर वे मेरे यन्त्री हो जाते हैं। तब वे जैसे मुझे नचाते हैं मैं नाचती हूँ।

यही हम दोनोंका स्वरूप-विलास है।

राधा राधा राधा राधा

---

### प्रसंग - सत्ताईस (२७)

# वे यदि मुझसे पाप करते हैं, वह अनंत पुण्योंसे भी मंगलमय है

रतनगढ़
तिथि अज्ञात

आज निरे प्रभात, जब मैं जल लेने यमुना-घाट गयी थी, वे मेरे घरमें घुस गये। उन्होंने सब दही-दूध, मक्खन बन्दरोंको लुटा दिया। मेरे घरमें जो कुछ था, सब दरिद्रोंको बाँट दिया।

एक दिवस मैं अपनी ननदके साथ यमुना गयी थी, तो उन्होंने मेरी गगरी ककरी मारकर लुढका दी। जब मेरे सभी वस्त्र भीग गये, तो मुझसे ठिठोली करने लगे। जब मेरी ननद, मैया यशोदाके पास उलाहना देने मुझे ले गयी तो मैयासे नेत्र मटकाकर कहते हैं, "मैया ! याके खसम (पति) को रूप रखकर मैंने ही तो या सौ ब्याह कियो थो, या तेरी सेवामें नर [illegible] जाय, जाते मैं याकूं सताऊँ हूँ।"

कभी मैं इनसे जनपथमें मिल जाती हूँ, तो [illegible] संग मुझे घेर लेते हैं। मेरा सार्वजनिक खिलवाड करते हैं। परन्तु सखि ! फिर भी मेरी प्रीति उनके प्रति बढती ही जाती है।

बहन ! न-जाने क्या, ऐसा मन [illegible] रहता है कि वे ही मेरा धर्म हैं, वे ही अधर्म हैं। वे ही पाप हैं [illegible] पुण्य हैं, वे ही मेरे कुल [illegible] शील हैं। वे ही मेरे सम्मान [illegible] समृद्धि हैं [illegible] हैं, वे मेरा यदि अपमान करते हैं, तो वही [illegible] मेरा सम्मान है [illegible] मुझसे पाप करते हैं, तो वह अनन्त पुण्योंसे भी [illegible] है। [illegible] गाली देते हैं, तो मुझे अनन्त [illegible] भी [illegible] प्रिय [illegible] यदि [illegible] हैं, तो वह सब सुखोंसे अधिक ग्राह्य है।

बहिन ! मैं तो कन्दुक हूँ और वे खेलते हैं।

---

## प्रसंग - अट्ठाईस (२८)

# जिस मिलनको मात्र पलकका गिरना विरह कर दे, वह काचका महल ही तो है।

**रतनगढ**
**तिथि, संवत् अज्ञात**

भाईजी ! निरन्तर ऐसा मन रहता है कि उनके रूपको नेत्रोंमें पूरम्पूर भर लूं। नेत्र उनके रूपमें इतने छक जाय कि अनुसन्धान ही नहीं रहे, रूप है या नेत्र है। उनकी वेणु-माधुरीसे कान पूरे भर लूं। वह वेणुध्वनि कानोंसे मेरे हृदयको आत्मसात कर प्रीति-माधुरीसे पूरा रसासिक्त कर दे। उनकी अधर-सुधाको इतना छककर पान करूँ कि मेरी सब सत्ता ही उनसे अभिन्न हो उठे। बस, फिर वे, वे न रहें, 'मैं' मैं न रहूँ, मात्र प्रीति ही रहे।

भाईजी ! मेरे नेत्र प्रेमशून्य हैं। वे भेद-परत्व देखना त्यागते ही नहीं। उनको प्रियतम प्राणवल्लभके प्रेममय रूपमें इतना डुबाऊँ कि बस उनका रूप ही रूप रह जाय, उनकी आत्मीयता ही आत्मीयता शेष रह जाय। फिर अनुसंधान ही नहीं रहे, कि उनका रूप है कि मेरे नेत्र हैं।

उनकी चरण महिमा ऐसी असमोर्ध्व है कि इन चरणोंके संस्पर्शकी संभावनासे ही पृथ्वी नित्य सुहागिनकी तरह प्रीति-सज्जासे सुसज्जित हो उठती है। उनकी चरण-नख-ज्योतिमें अपनी आत्मसत्ताको इतना डुबाऊँ कि वह विलीन ही हो जाय। अपनी सभी इन्द्रियोंको उनकी इन्द्रियोंमें मिला दूँ। अपनी आँखे, यदि उनके अतिरिक्त कुछ भी देखती है तो उस दृश्यको बाधित करके उन्हे ही उन्हें देखूँ।

अहा ! जहां देखूँ वहां - प्रियतम ही प्रियतम। नेत्रोंमें प्रियतमका रूप इतना भर जाय कि आकाश, मात्र प्रियतमने रूपान्तरित उनका रूप ही हो जाय।

भाईजी ! जिस मिलनको पलकोंका गिरना विरह कर दे, मनका संकल्प विकल्प जिस मिलनमें बाधक हो जाय, शरीरकी गति अपगति उसकी जन्म-मृत्यु, उसका देश-विदेशगत गमन-आगमन जिस मिलनको अमिलन कर दे वह कांचका महल ही मात्र तो है, न जाने किस क्षण टूट जाय ? उस

मिलनका क्या तो विश्वास किया जाय ? उस नील सुन्दर प्रियतमको तो अपने से इतना एकात्म करूं, कि वह न शरीरके संयोगसे संयुक्त हो, न उसके वियोगसे वियुक्त हो पावे।

भाईजी ! वे परम सुन्दर हो और मैं देखती रहूँ, यह तो मात्र क्षणिक नेत्रेन्द्रियोंकी तृप्ति ही तो है, चाहे वे मेरे नेत्र इस पंचभौतिक देहके हो अथवा भाव-देहके। वे वेणुवादन करे और मैं सुन लूं, यह तो मात्र क्षणिक कानोंको सुख देनेका भोग-सुख ही तो है, चाहे वह सुख मेरे भावगत देह द्वारा ही मुझे मिलता हो। इसी प्रकार, वे कुछ काल आलिंगनका सुख ले, या दे, यह भी क्षणभंगुर ही लेन-देन है। क्या यही मेरा उनका प्रेम है ? ओस-बूंदके जलसे कभी किसीकी प्यास बुझी है क्या ? इन्द्रिय-सुख तो ओस-बूँदसे भी ज्यादा क्षण भंगुर है। तब नाशमान सुखकी झलक पाना ही क्या प्रीति है ? भाईजी ! प्रियतमको मैं अपना असीम भोग बना लूं या मैं उनका असीम भोग बनूं, यही तो मेरा-उनका शाश्वत योग है। मेरी अनादि, अनन्त, अखण्ड, अक्षय, अतृप्तिकी वे शाश्वत तृप्ति हो, मुझ अनन्त-रसतृष्णके लिये वे पूर्ण प्रेमामृत-सागर हो, मुझ अनन्त भाव-सरिताके लिये वे अनन्त रसवारिधि हो। वे मेरे बहुत भीतरतक घुसकर मेरे अपनत्व मेरे आपसे घुल-मिल एक हो जावे, तभी तो मेरी सार्थकता है। तभी न वे मेरे निजस्व, प्राणपति, जीवनसर्वस्व प्राणो-के-प्राण सत्यत होंगे। अन्यथा, तो ये मात्र शब्द ही होंगे। जो जीभके हिलानेसे उत्पन्न होंगे और निरर्थक ही शून्यमे विलीन हो जायेंगे। उनका उच्चारण करनेकी सार्थकता तो तभी होगी, जब वे इन शब्दोंके मेरे जीवनमे सच्चे यथार्थ हो जावें।

भाईजी ! वे मेरे नेत्रोंके रूप अवश्य है, परन्तु नेत्रोंको भोगनेवाले रूप हैं, नेत्रोंके द्वारा भोगे जानेवाले रूप नहीं है।

एक दिवस,वे मेरे सम्मुख आये। वे बहुत ही सुन्दर थे। उनका मयूर-मुकुट, घुंघराली अलकावलि, केसर-तिलक, शुभ्र-ललाट, उस पर कस्तूरीकी चित्रकारी, कुण्डलोंकी आभासे दमकते कपोल, अधरोपर मन्द मुस्कान, गलेमें वनमाला, सब कुछ परम मनोहारी विलक्षण था। उन्होने मुझसे कहा "कितना सुन्दर हूँ मैं ?" मैं मुसका उठी। फिर उन्होने अपनी शक्ति, सामर्थ्यका प्रकाश किया, अपना ऐश्वर्य प्रकट किया। निस्सन्देह अनन्त-शक्ति, सर्वभवन-सामर्थ्य उनमे है ही। ऐश्वर्य भी उनका असमोर्ध्व है, इसमे किसे संशय हो सकता है ? परन्तु मैं मुसकाती रही। मुझे अपने बल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य माधुर्यसे अभिभूत होता नहीं पाकर उन्होंने अपना शील एवं यश प्रदर्शित किया। अनन्त गुणावली, अतुलनीय शील अपार सुयश उनका था ही। किन्तु, अब भी मैं उनसे अप्रभावित मुसका

रही थी। वे मुझसे प्रश्न करते बोले – "क्यों ?" मैंने उनसे कहा "प्रियतम! तुमने अर्जुनको विराट्रूप दिखाया एव उसे चकित कर दिया। कौरव-सभामें सभी कौरवोंको अपने विराट्रूपसे तुमने भयभीत और चमत्कृत कर दिया। महर्षि उत्तक तुमसे भयग्रस्त हो गये, और कहाँ तो वे तुम्हे श्राप दे रहे थे, कहाँ चुप-चाप मुख छुपा गये। तुमने माता यशोदा एवं नन्दजीको भी अपने विश्व-विराट् रूपका दर्शन कराया, और वे भी भोले माता-पिता 'नारायण-नारायण' रटने लगे। तो, आज मैं तुम्हे अपना विराट् स्वरूप दिखाती हूँ। देखो।" और वे अति उत्सुक मेरी ओर देखने लगे। मेरे रोम-रोममे वे-ही-वे भरे थे। वैभव एव ऐश्वर्य, उनकी सब शक्तियों सहित वे मेरे रोम-रोममे भरे-छके थे। मैं मुसका रही थी। उन्हे सचकित देखकर मै उनके गलेमे लिपट गई एव कहने लगी "प्रियतम तुम मेरे हो, मेरे नयनोके काजल हो, मेरे कानोके कर्णफूल हो, मेरे सीमन्तका सौभाग्य-सिन्दूर हो, मेरे मुकुटमणि हो, मेरे तिलक हो मेरे आननके मधुकर हो, मेरी श्वासोंके सगीत हो, मेरे हृदयके हार हो, मेरे मनके मनसिज हो मेरे चित्तकी चेतना हो, मेरी समग्र ममताके केन्द्रबिन्दु हो, मेरी प्रीतिके [illegible] हो, मेरे रोम-रोमकी पुलक हो, मेरे प्राणोके प्राण, जीवनके जीवन हो, मेरी [illegible] हो, चेतना हो, मेरे सुख-सौभाग्य हो मुझ अकिंचनकी असीम सम्पदा हो, मुझ निरवलम्बके मात्र अवलम्ब हो, मेरे सर्व-यातना-स्थल हो, जब तुम सब प्रकारसे मेरे हो तो मैं महान और तुम अल्प हुए या नहीं ? क्या यह तुमसे बडा गुण मेरा नहीं ?"

अब तो वे भी हँसने लगे और हम दोनो एक दूसरेके आलिंगनमे [illegible] गये। वे मेरे भूषण है इससे बडा गुण कुछ हो भी तो नहीं सकता।

भाईजी ! प्राणवल्लभ तो घन ममत्व की मूर्ति हैं, वे यदि मेरे नहीं होंगे तो क्या जड़ता और परम्परा भरा संसार मेरा होगा ? यदि ममत्व और स्नेह ही अपना नहीं होगा तो क्या जड़, स्वप्न-सदृश माया किसीको अपनायेगी ? भाईजी ! आपकी कृपासे मुझे तो ऐसा ही प्रियतम-प्रेयसी पद दान कर दीजिये। और क्या कहूँ ?

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - अट्ठाईस (२८)

# उस समय वे मेरे मात्र अपनत्वके ही आस्वादन होते हैं।

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् उल्लेख नहीं**

भाईजी! वे इतने सुन्दर हैं कि मेरे नेत्र उनकी सुन्दरताको अपने नेत्र रूप पात्रमें भर ही नहीं सकते। यदि विधाता मुझे करोड़ों नेत्र दे दे, तब भी उन्हें देखनेकी मेरी स्पृहा शान्त नहीं हो सकती। वे इतने सुकोमलतम हैं कि मेरे हाथ उन्हे स्पर्श ही नहीं कर पाते। स्पर्शेन्द्रियको स्पर्श करनेके लिये कुछ कठोरता स्थूलता अपेक्षित है ही।

भाईजी! वे इतने अपने हैं कि प्राप्त ही नहीं होते। प्राप्त होनेके लिये किञ्चित् परत्व तो अपेक्षित है ही। प्राप्ति-भावका अर्थ ही है कि कोई पराया है, अप्राप्त है, पृथक् है। किसीको तभी न प्राप्त किया जाय, जब कोई किंचित् दूर हो, अलभ्य हो। किंचित नेत्रोंसे दूरी होगी, तब न नेत्र देखेंगे कान सुनेंगे, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श करेगी, हाथ पकड़ेंगे एव पैर उनकी ओर गति करेंगे। वे तो सीधे ही जब हृदयमें पैठ जाते हैं, तो कोई कैसे किसे प्राप्त करे? उनके लिये साधनाश्रम भी क्या किया जाये?

अरी! अग्निमे जला हुआ तो कोई कहीं बच भी जाय, परन्तू सूर्यसे जलेको कैसे कोई बचा सकता है? वे तो प्रेम-सूर्य हैं। अरी! नदी नालेमें से तो डूबे हुएको कोई निकाल भी ले, समुद्रमें डूबेको कोई कैसे निकालेगा? वे तो प्रेम-समुद्र हैं। उनके अपनेपनके समुद्रमें मेरा आपा ही डूब गया री। अब तो समुद्रमें डूबा सिन्धु होकर ही लहरायेगा। सूर्यसे जला सूर्य होकर ही प्रकाशित होगा। धरामें गड जानेपर तो मिट्टी ही बनना होगा। मैं रही ही नहीं। पूरीकी पूरी उनकी हो गयी।

अरी! यह जो मैं बोल रही हूँ, सो भी उन अनन्त रस-विलास प्रियतमकी एक लीला-लहर मात्र है।

आओ बहन! चले उस निकुञ्जमें, चलकर उनके अखण्ड प्रेमालिगनमें बँधकर चिर विश्राममे डूब जाये। उन परम प्रीतिमयको अपनेमे पूरा भर लूँ और अपने भेदको उनके सत्यमें पूरा डुबा दूँ। अब तो उनके आलिगनमे यही अनुभव

हो कि वे ही मेरी भोग-स्पृहाके रूपमें अपने आपका स्वयं ही आलिगन सुख ले रहे हैं। मेरे नेत्रोंकी लालसा बनकर वे स्वयं ही अपने रूपका आस्वादन कर रहे हैं, मेरे कानोंकी लालसा बनकर वे ही अपने स्वयंके मधुर शब्दको सुन रहे हैं, मेरी गन्धकामना बनकर वे अपनी ही प्रीति-गन्धको सूँघ रहे हैं। वे ही मेरी स्पर्शकामनासे अपनी ही सुकोमलताका अनुभव कर रहे हैं।

बहिन ! एक और चमत्कार होता है। ज्योंही वे मुझसे मिलते हैं, वे अपने रूपका चोला ही उतार देते हैं। मेरी देखनेकी कामना जबतक रहती है, तभीतक वे अनन्तानन्त रूपको ओढे रहते हैं और जैसे ही मेरी देखनेकी कामना-तृप्त हुई, उनका 'रूप' नामक वस्त्र भी उतर जाता है। मैं जबतक भोक्ता रहती हूँ, तभीतक वे भोग्य रहते हैं। अथवा वे जबतक भोक्ता रहते हैं, तभीतक मैं उनकी भोग्या रहती हूँ। जैसे ही मैंने भोक्तापनको फेंका, वे भोग्यभावसे पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। अथवा उन्होने भोक्तापनका जैसे ही त्याग किया, मेरा भोग्याभाव उनकी प्रीतिमें लीन हो जाता है। मैं अपने नारीरूपका जबतक स्मरण रखती हूँ, तभीतक तो वे नर हैं, मैं रमणी हूँ, तभीतक वे रमण हैं। जैसे ही मैंने नारीत्व, रमणीत्वको उनकी प्रीतिमें विस्मृत किया, वे रमण एव नर कहाँ रह पाते है ? बहन ! नेत्र तथा रूप, कान एव शब्द, नासिका एवं गन्ध, स्पर्शेन्द्रिय और स्पर्श रसनेन्द्रिय एव रस सभी बाह्य वस्त्र ही तो हैं, मात्र आवरण ही तो हैं। जबतक उनसे मिलना नहीं होता, तभीतक ये वस्त्र रहते हैं, जबतक पूर्ण मिलन नहीं होता, तभीतक तो बाह्य शृगार रखना होता है। बहन ! उनके और मेरे मिलनके मध्य आवरण कैसे सभ॰ है ? निरावरण मिलन ही विशुद्ध प्रेम है री ! मेरे, उनके मध्य ये रूप-नेत्र, मन-बुद्धि, कान शब्दादिक दीवारे रही, फिर मिलनानन्द ही कहाँ ? अत सब बाह्य आवरण स्वतः ही उतर जाते हैं। और निरावरण उनसे एक हो जाती हूँ।

बहिन ! उनका बाह्यरूप मेरे नेत्रोंका काजल है। उनकी वेणुमाधुरी मेरे कानोका कर्णफूल है। उनकी अग-गन्ध मेरी नासिकाकी नथमुक्ता है। उनका स्पर्श और त्वगिन्द्रिय-सुख मात्र मेरी त्वचाका लेपन द्रव्य है। बहन ! सब मात्र बाह्य शृगार है री ! सब उतारकर निरावरित, जब उनसे मिलती हूँ, तो पता चलता है कि वे और उनकी प्रीति कैसी विशद है। उस समय न मैं 'मैं' रहती हूँ एव न ही वे 'वे' रह पाते हैं। बस, एक परम मधुर, परम रसमय प्रीति रहती है। वही सब सौन्दर्य, माधुर्य, रसास्वादनकी उद्‌गम-स्थली है। उस समय वे मात्र मेरे अपनत्वके ही आस्वादन होते हैं।

---

### प्रसंग - तीस (३०)

# निरावरित मिलनमें ही उनका प्रेमास्वादन संभव है।

**रतनगढ़**

**तिथि - अज्ञात**

बहिन ! क्या करूँ री, मैं महाकुरूपा हूँ। इसीलिये मुझे उनका रूप प्रिय लगता है। यदि मैं रूपवती होती, रूपतृप्त होती तो उन्हें रूपवान् होकर मेरे सम्मुख आनेकी आवश्यकता ही नहीं थी। किन्तु मैं तो सब प्रकारसे ही दुर्गुणोकी खान हूँ, इसीलिये मुझे रिझाने, वे गुणोका शृगार करते हैं। मेरी कटुताकी अग्नि बुझानेके लिये ही उनमें मधुरता उदित होती है। बहिन ! तप्त को ही शीतलता की माँग होती है, इसीलिये वे अपार रसमय हुए मेरी तृप्तिके लिये उमडते हैं। मुझ कगालिनीके कामकी पूर्त्ति ही तो उनका ऐश्वर्य करता है।

परन्तु उनके रूपोदधिसे ज्योंही मेरी रूपासक्ति परितृप्त होती है, वे रूपका चोला उतार देते हैं। वे गुणोंका, शीलका, माधुर्यका, ऐश्वर्यका सब पहनावा फेक देते हैं जैसे ही मेरी दुर्गुणी होनेकी, दुश्शीलताकी, कटुताकी, कॅगलेपनकी ग्लानि मिटती है। मैं हीनताका, लघुताका त्याग करती हूँ, वे महानताका पूर्णतया त्याग कर देते हैं। अरी ! रूपासक्ति कोई प्रेम थोडे ही है, वह तो मात्र प्रलोभन है। गुण, शील, यश, माधुर्य एव ऐश्वर्य तो मात्र कामनाकी आग बुझाने वाले हैं। प्रेम कोई बुभुक्षाका हविष्य थोडे ही होता है। नहीं री बहिन ! वे निरावरित जब मुझसे मिलते हैं, तभी मैं उनका विशुद्ध प्रेम-स्वरूप देख पाती हूँ। उस समय मैं भी दुर्गुणों, कुरूपताओं, मलिनताओं, कटुताओं एवं दरिद्रताओ और अभावोंके मलावरणसे मुक्त होती हूँ। वे मेरे पूरे तभी होते हैं जब मैं भी अनावरित और वे भी पूरे अनावरित होते हैं।

उस समय न तो वे ईश्वर होते हैं और न ही मैं जीव होती हूँ। न वे अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-ज्ञान-वैराग्य धर्म-यश एव वीर्यको धारण करने वाले होते हैं, न ही मैं अल्प, मलिन, मृत्यु, दु ख, अविद्या, माया, भोग, रोग, अधर्म एव दुर्बलताओंसे त्रस्त जीव होती हूँ। अरी ! जबतक किसीकी भी आँखोंमें इन निर्बलता-सबलता, दारिद्रय-वैभव, लघुता-महानता, पवित्रता अपवित्रताकी कीच लगी है, वह मेरे प्रियतमके सच्चे प्रेम-स्वरूपको देख ही नहीं सकता। गुणोंका अभिमानी प्रेमकी पवित्रताको स्पर्श भी नहीं कर पाता।

### प्रसंग - ईकत्तीस (३१)

# तुम तो मेरे सदैव रहोगे ही

**रतनगढ**
**तिथि - उल्लेख नहीं**

भाईजी ! पहले मैं उनकी प्रतीक्षामें रात-रात भर जगती थी। सोचती थी, कहीं सो गयी और वे मेरे पास आये, मैं उन्हें सोयी मिली, वे लौट जावेगे तो क्या होगा ? परन्तु अब तो उनकी उपस्थितिमें भी खूब निश्चित सो जाती हूँ।

जबतक वे मुझे अपने नहीं लगते थे, तभीतक मैं उन्हें रिझानेको श्रृंगार करती थी, उनके अनुकूल आचरण करती थी, सदा शिष्टताका ध्यान रखती थी। उन दिनों यमुनाघाटपर उनकी एक झलक मिल जाय, उसके लिये तरस जाती थी। एक दिवस उन्होंने मुझसे मात्र दो मीठे बोल बोल लिये थे, उस दिन सभी सखियोको मैंने मिठाई बाँटी थी। सखियाँ मुझसे बारम्बार पूछ रही थी। "आज तू किस खुशीमें मिठाइयाँ बॉट रही है," – तो मैंने असत्य ही कह दिया था कि "आज मेरा जन्म-दिवस है।" अरे जिस दिवस उन्होंने मुझे 'प्रिये' कहा था, ऐसा लगा था, जैसे मेरे सौभाग्य-सूर्यका आज ही उदय हुआ है। जिस दिन कुञ्जमें उनसे प्रथम मिलन हुआ था, उस दिवस तो सम्पूर्ण ब्रजमण्डल फूलोसे भरगया था। आकाश सुखवर्षा करता धरतीके अति निकट आगया था। सूर्य और चन्द्रमा उस दिन मुझपर अमृत वर्षा कर रहे थे। निशापर्यन्त तारकावलियॉ आनन्द-समारोहमें झूम रही थी। निशा-सुन्दरीने उस अवसर पर घुँघरू बाँधकर नृत्य किया था।

उन दिनो कितनी भयभीत रहती थी। देवी-देवता गृह-नक्षत्र सबकी अनुकूलता मनौतीके रूपमें मानती थी, पद-पदपर शंकालु चित्त कितने अनिष्टोंकी आशका करता था, कहीं यह मेरा सुख-सौभाग्य छिन नहीं जाय। कही वे मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं हो जाये, मुझसे पराये नहीं हो जाय। उन दिनो क्षणाका वियोग युगों, कल्पोंके समान लगता था। अनिष्टकी कितनी आशकायें होती थीं। परन्तु अब मुझे उनके अखण्ड अपनत्वका पूरा विश्वास हो गया है। उन दिनों अविश्वास ही भयका कारण था और अब विश्वासने मुझे बेपरवाह बना दिया है। अब तो मैं उनसे रूठती हूँ, झगडती हूँ, कलह करती हूँ, मान करती हूँ, अब तो उनकी उपस्थितिमे भी निश्चित सो जाती हूँ। मै कुछ भी उनकी

रुचिके विपरीत भी करूँ, तब भी उनका मेरे प्रति अपनापन अखण्ड है। मेरा प्रेम अविनाशी है। अब वे मुझे कभी त्याग ही नहीं सकते, क्योंकि वे अकाट्य-रूपसे मेरे हैं। अब तो क्षण-क्षण एक ही गीत मेरी वाणीमें फूटता रहता है –

**संसारे जदि नाहि पाइ साड़ा, तुमि त आमार रहिबे।**
**बहिवारे जदि नाहिं पाइ भार, तुमि त, बन्धु बहिबे ।।१।।**
**कलुष आमार, दीनता आमार, तोमारे आघात करे शतबार**
**आर केह जदि ना पारे सहिते, तुमित बन्धु सहिबे ।।२।।**
**जाक् छिंडे जाक् मोर फूल-माला, थाक् पड़े थाक् भराफूल डाला।**
**हवे न विफल मोर फूल-तोला, तुमित चरण लइबे ।।३।।**
**दुःखेर आमि डरिब न आर, कण्टक होक् कण्ठेर हार।**
**जानि तुमि मोरे करिबे अमल, जतई अनल दहिबे ।।४।।**

**(भावार्थ)**

यह ससार यदि हजारों बार पुकारने पर भी मेरी पुकार अनसुनी कर दे, परन्तु हे प्रियतम! तुम तो मेरे सदैव रहोगे ही। तुम मेरी पुकार कदापि अनसुनी नहीं कर सकते। इस जगत्में मेरा भार उठानेवाला कहीं कोई भले ही नहीं मिले, तुम तो निश्चय ही प्रियतम! मुझको वहन करोगे ही ।।१।। मेरा कालुष्यभरा स्वभाव, मेरा दैन्य निश्चय ही तुम्हें अनवरत बार-बार आघात (पीड़ा) देगा, परन्तु और कोई दूसरा चाहे सहे, अथवा नहीं सह पावे, तुम तो प्रियतम मुझे सहोगे ही। मेरी गुँथी फूलमाला भले ही कोई छिन्न-भिन्न कर दे, मेरी फूलोंकी ढेरीको ससार भले ही स्वीकार नहीं करे और ये फूल भले ही उलिगाभ धरे रह जायें, परन्तु प्रियतम! तुम्हारे लिये मेरे फूलोंका चुनना विफल नहीं होगा, तुम तो मेरे सुमनोंको अति प्रेमाग्रहसे अपने चरणोंमें ले ही लोगे।।३।।

हे प्रियतम! अब मुझे दुःखोंसे तनिक भी भय नहीं लगेगा। भले ही मेरे उर पर ससार काँटोंका हार ही डाल दे, मुझे यह पूर्णतया ज्ञान हो गया है कि तुम मुझे जितना ज्वालामें झौंकोगे, निश्चय ही तुम्हारी यह क्रिया मुझे निर्मल करनेके लिये ही होगी ।।४।।

बहिन! गुणों ही गुणोंकी क्या बात करूँ, वे इतने स्वार्थी थोड़े ही हैं कि वे मेरी सुन्दरताके तो भोक्ता हों, और कुरूपताको त्याग दें, वे मेरी सुशीलताके ग्राहक हों और दुश्शीलताको त्याग दें, वे मेरे सुखके साथी हों और पीड़ाको त्याग दें, पुण्यके ग्राहक हों और पापको त्याग दें, बहिन! मैं उनकी हूँ, तो उन्होंने मेरी सब सुदशा एवं दुर्दशा दोनों ही स्वीकारी है री!

बहन! वे मधुरताके समुद्र अब अन्यत्र थोड़े ही आते-जाते हैं, मुझमें ही

नित्य निवास करते हैं। वे मुझे अपनी प्रीतिमें डुबोने मुझसे ही प्रकट होते हैं। और मुझमें ही पुन. छुप जाते हैं। मैं उनकी नित्य निवास-भूमि हो गयी हूँ। मैं ही उनका लोक हूँ। उनका कोई निश्चित समय तो है नहीं, दिनमें, रात्रिमें, जब इच्छा हो, प्रकट हो जाते हैं। उन्हें कोई सकाच नहीं होता। मैं सोयी हूँ, जागती हूँ, नहाती हूँ, खाती हूँ, उनकी प्रतीक्षा करती होऊँ, नहीं करती होऊँ, उनकी उपस्थिति मुझे वाछित हो, अवाछित हो, वे मेरे पास चले आते हैं। वे मेरे शयन-गृहमें, स्नान-गृहमें कहीं भी आ सकते हैं। वे मेरे सब मनके ज्ञाता हैं। मेरे सब हृदयसे पूरे परिचित हैं। वे मनकी गुप्तसे गुप्त बात और गुप्तसे गुप्त कर्मको भी जानते हैं।

वे सर्वकालके मेरे साथी हैं। उनके सिवा मेरा कोई कुछ भी नहीं है। वे ही मात्र मेरे हैं।

मैं अनन्त शृगारोमें उनकी हूँ एवं सर्वशृगार-रहित भी उनकी ही हूँ। वे परम प्रेममय हैं, अत प्रकट होकर अपने प्रेममें ही छुप जाते हैं। सयोग-वियोग दोनों ही उनका प्रेम ही है।

बहन ! सयोगका सुखास्वादन अधिक-से-अधिक हो, इसीलिये वे वियुक्त होते हैं। वियोगका दु.ख अधिक-से-अधिक हो, इसीलिये वे सयुक्त होते हैं। संयोग का सुख ही तो हमें वियोगमे दु:खी करता है। और वियोगका दु:ख ही हमें सयोगमें अतिशय सुखी करता है। प्रीति तो दोनोही में सम है। और वे तो मात्र प्रेम ही तो हैं। अतः वे प्रेम होने के कारण संयोगमें जितने मिले हैं, वियोगमे भी उतने ही मिले हैं। वियोगमे अभाव किसी दूसरेका थोड़े ही है, उनका ही अभाव होता है और संयोगमें भाव भी उनका ही होता है। वे तो दोनोमें ज्यों-के-त्यों एकरस हैं ही। अरी उनकी पीठ वियोग है और मुख संयोग है। उनका रोष वियोग और तोष संयोग है, अब पीठ और मुख दोनो ही जैसे उनके ही हैं, वैसे ही रोष एव तोष भी उनके ही हैं। वे तो सदैव मेरे पास ही हैं। वियोगमें, संयोगमें, भावमें, अभावमें, विरागमें, अनुरागमें, साम्मुख्यमें, वैमुख्यमें, दर्शनमें, अदर्शनमे वे मेरे चित्तको कहाँ छोड़ते हैं। अत. अब मैं तो निर्भय, निश्चित बेपरवाह हो गयी हूँ। उनकी प्रीतिकी महिमा ही यह है कि वे कभी पराये हो नहीं सकते। वे तो सदैव अपने ही अपने हैं। और जो अपनेपनसे भरा है वह नित्यमिलित ही है। कभी अमिलित हो ही नहीं सकता।

**राधा राधा राधा राधा**

---

### प्रसंग - बत्तीस (३२)

# मेरा असली सौन्दर्य तो मात्र प्रीति है

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

भाईजी ! वे मेरे हैं। आज मैंने उनसे खूब कलह की। जब वे आये, मैंने सब शृंगार बिगाड लिया। मलिन वस्त्र पहन लिये। सारे शरीरको धूलि-मिट्टीसे भर लिया। शय्या त्यागकर भूमि पर सो गयी। केश बिखरा लिये। जब वे मनाने आये, तो उन्हें पीठ दे दी। उन्हें चिढानेका जितना प्रयास कर सकती थी, किया, परन्तु वे मेरे ऐसे अनन्य प्रेमी हैं कि मुझसे एक क्षण भी रुष्ट नहीं हुए। मुसकाते ही रहे।

वे मेरे हैं, वे मुझे उठाते हैं, उठती हूँ, बैठाते हैं, बैठती हूँ, नचाते हैं, नाचती हूँ, गवाते हैं, गाती हूँ, सत्कारते हैं तो सम्मानित होती हूँ, दुत्कारते हैं, तिरस्कृत हो उठती हूँ। वे पीडा देते हैं, सताते हैं, भूखा रखते हैं, रोगी करते हैं, वे मुझपर पूर्ण स्वाधीन हैं।

क्या वे मेरे पराये हो सकते हैं ? किसी कालमें किसी अवस्थामें भी नहीं। नहीं, नहीं, वे एकान्त हेतुरहित मेरे थे, हैं एवं सदा रहेंगे। यदि मैं दुर्गुणोंसे भरी उनके सम्मुख आती हूँ, तब तो उनका प्यार मेरे प्रति और अधिक वेगसे उमड़ उठता है।

मैं काली-कुरूप, दुश्शीला, अधर्मपरायणा हूँ, परन्तु उनकी, मात्र उनकी होनेसे उनकी दृष्टि मेरी गुण-अवगुण राशिपर जाती ही नहीं। वे मेरे प्रति मात्र प्रीतिसे आकृष्ट हुए हैं, इसीलिये मैंने उनका नाम प्रियतम रखा है। प्रीति गुणोंकी गुलाम सर्वथा नहीं है। उसका गुण-अवगुणसे प्रयोजन ही क्या है ?

अरी ! वे मेरे अन्तर्यामी हैं, वे मेरे भीतर-बाहरकी सब जानते हैं, और मैं उनके हृदयकी सब बात यथार्थतः जानती हूँ। जब वे मेरे भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानकी सब जानते हैं, तो उनसे मेरा शृंगार ही क्या ? शृगार तो मात्र ऊपरी बनावट ही तो है। क्योंकि वे मेरी सभी कुरूपताओंको जानकर मेरे हैं, अतः अब मैं निर्द्वन्द्व निश्चिंत हूँ।

वे मुझे जो हूँ, जैसी हूँ जब सब जानकर ही स्नेह करते हैं, तो फिर अब

मैं निर्भय उनकी गोदमें निरावरण हूँ।

अरी ! उन्हें सौन्दर्य सुख देगा कि मैं सुख दूँगी ? वे तो स्वयं ही अनन्त सुन्दर हैं। जो वस्तु जिसके पास नहीं होती, उसे ही पाकर तो वह प्रसन्न होता है। शृगारके ऊपरी लेपोंको तूने मुझपर यदि लेप ही दिया, तो वह कैसे स्थायीरूपमें उन्हें अपना बना सकेगा ? वे नकल देखकर उलटे हँसेंगे री ! क्योंकि वे तो सभी भीतरकी जानने वाले हैं।

सखिरी ! मेरा असली सौन्दर्य तो मात्र प्रीति है। इस ऊपरी त्वचाको सुन्दर बनानेसे क्या लाभ ? उनकी दृष्टिमे यह तुच्छ अतितुच्छ, घृण्य है री ! अरी ! वे मेरे गुणोंको भोगेंगे, कि मुझे ? अरी सखि ! वे अनन्त गुण-वारिधि है। अरी, उनसे अधिक गुण मैं कहॉसे पाऊँगी री ? समग्र गुणोकी जननी लक्ष्मी उनके चरणोंमें रजके तुल्य हैं। वे उसकी ओर कहॉ देखते हैं ? तब गुणोंके अलंकार यदि मैंने धारण कर भी लिये, तो वे चरणोंमे पडी लक्ष्मीका दासत्व मुझे भी दे देंगे। मुझे कण्ठसे कहाँ लगावेंगे ? सखि री ! वे तो मात्र प्रीति-भोगके ही लोलुप हैं। अत: इन गुणालंकारोंका अपने पास होना, नहीं होना — मात्र व्यर्थ की बात है।

अरी ! मैं उनके पास ज्यों ही पहुँची, वे परम प्रेममय मुझे सीधे अपने हृदय-देशमें ले जावेंगे री ! सखिरी ! उनका हृदय इतना एकान्त सुकोमल है, वहाँ तो प्रीतिचन्द्रकी परम मधुमयी शुभ्र चाँदनी छिटकती है। वहॉ ये तेरे सजाये वस्त्रालंकार कुछ अर्थ ही नहीं रखेंगे री ! व्रहाँ तो वे भी अपने सब गुण, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, भगवत्ता, यश, बल, आदि अलंकार एक किनारे रखकर मात्र प्रेम कान्तिसे जगमगाते हैं। अत: सब सज्जा व्यर्थ है री! मुझे तो अकिंचन ही उनके पास जाने दे री ! प्रीति तो अकिंचन ही होती है। वे भी अंकिचन, मैं भी अकिंचन। वे अपनी महानतासे मुक्त और मैं अपनी अल्पतासे मुक्त। प्रेममें एकमेक। वे, 'वे' न रहें, और मैं 'मैं' न रहूँ। एकत्वके बिना मिलनानन्द कैसा ?

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - तैंतीस (३३)

# रसहीन फलका छिलका कहीं स्वादिष्ट होता है ?

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

अरी बहिन ! यदि मेरा शृगार तूंने बहुत सुन्दर कर भी दिया, और उन्होंने समझ लिया कि इसकी सौन्दर्यासक्ति है, तो वे मुझे अपने अनन्त सौन्दर्यसे एक कर लेंगे। यदि तूने मुझे गुणालकारोंसे सजाया और उन्होने कहीं समझ लिया कि मैं गुण-लुब्धा हूँ, तो वे अपने अनन्त गुणोसे मेरा मिलन करा देंगे और मात्र मैं गुणवती ही रह जाऊँगी। वे मुझे कहाँ मिल पावेंगे ? और यदि वे न मिले और मैं अनन्त सुन्दरी, अपार गुणवती ही होकर रह गयी तो मुझे क्या मिलेगा री ? रसहीन फलका छिलका कोई स्वादिष्ट होता है क्या ?

अरी ! जैसे उनके आयुध बाहर ही पड़े रहते हैं, अरी, जैसे उनकी माला, मुकुट, कगन, अगद, कौस्तुभ, बाह्य-शोभा ही हो रहती है, क्या तू भी मुझे मात्र उनके बाहरका शृगार ही बनाना चाहती है ? नहीं सखि ! यह उनका बाह्य दर्शन कामुकों और बहिर्मुखोंको भले ही सतुष्ट कर दे, मैं तो उनकी प्रीति-कामिनी हूँ। वे मेरे प्रियतम हैं, मैं उनकी प्रिया हूँ। वे मेरे सर्वस्व हैं, मैं उनसे अभिन्न हूँ। वे मेरे रोम-रोमके स्वामी हैं।

अरी, नदीको तू कितने ही पुष्प-शृगारोसे शृंगारित कर दे, वे सभी अलकार नदी किनारे ही फेंक देगी। तू नदीके घाटोंको कितने स्वर्ण दीपोंसे जगमगादे, उसकी दृष्टि एकटक सागरकी ओर ही लगी रहेगी। उसका लक्ष्य सागर-मिलन है। उससे एकमेक हो जानेमें ही उसकी चरितार्थता है। वह घाटोंकी जगमगाहट से कैसे लुब्ध होगी ? सागर भी उसे अपनी ऊपरी लहर नहीं बनावेगा। वह उसे अपने भीतर, अति भीतर, हृदय-देशमे आत्मसात् कर लेगा।

अरी ! मुझे मेरे प्रियतमसे एकमेक हो जाने दे। पृथक्ता महा-अभाग्य है।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - चौंतीस (३४)

# क्या तुम 'तुम' ही रटते रहोगे, 'तुम' तो परत्व है, बोलो - 'मेरी', 'अपनी' – मैं मचले जा रही थी

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

भाईजी ! आजकी बहुत ही प्यारी अनुभूति लिख रहा हूँ। उन्होंने एक सखिसे कहकर मेरे नेत्र मुँदवा दिये। और स्वय अपनी वाणीसे बोले - "बताओ प्रिये ! कौन है ?" मैंने उत्तर दिया "प्रियतम" । वे विजयोल्लाससे मुसकाकर बोले – "ऊँ हूँ, तुम हार गयी"। सखीने अपने हाथ मेरे नेत्रोंसे निवृत्त कर लिये थे। मैंने किंचित् रोष दिखाते हुए कहा – "स्त्रीजन-वंचक ! अपनी माया-यवनिकामें छुपकर अनादिकालसे मुझे न-जाने कितने-कितने रूप रखकर छलते आये हो, अब कबतक छलते जाओगे ? क्या मैं अन्धी हूँ, जो तुम्हे पहचानती नहीं हूँ, साडी पहनकर, स्त्रीरूप रखनेमात्रसे क्या मैं मूर्ख बन जाऊँगी ?" और मैं रोने लगी। मेरी बातोका अर्थ सखी कुछ भी नहीं समझ सकी। परन्तु मैं भी क्या करती, उस काल मेरी ऐसी ही प्रेमदशा थी कि मुझे वृन्दावनमें, आकाशमे, सूर्य, चन्द्र सभी रूपोंमें प्रियतम ही प्रियतम भरे दृष्टिगोचर हो रहे थे। मुझे यही अनुभव हो रहा था कि सखीका रूप रखकर सचमुच ही प्रियतम ने ही मेरे नेत्र मूँदे थे। मुझे भावाविष्ट एव रोती देखकर प्रियतम मुझे अतिशय स्नेहसे ढाढस दिलाने लगे।

मैंने कहा – "बैठो ! अब मेरी बारी है। मैं तुम्हारे चक्षु बन्द करती हूँ। बतलाओ कौन है।" वे मेरे भोलेपनसे मुसकाने लगे। मैंने उनके नेत्र बन्द किये और पूछा – "बोलो प्रियतम कौन है ?" उन्होने कहा – "तुम" ।

बस, मैं पुन उनपर बिगड गयी। सम्पूर्ण जीवन तुम 'तुम' ही कहते रहोगे। 'तुम तो परत्व होता है। मेरा नाम क्या 'तुम' है ? 'तुम' तो अपनेसे पृथक् करनेकी, काटनेकी बात है। मेरा नाम क्या 'मेरी', 'अपनी' कहते लज्जा आती है? कभी 'मेरी', 'अपनी' भी कहोगे कि 'तुम, तुम' रटते रहोगे ?' मैं मचले जा रही थी। और वे प्यारसे अश्रु बहा रहे थे। "तुम अकाट्य, अखण्ड, नित्य मेरी

हो। मैं अपने अस्तित्वकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ, तुम त्रिकालमें कभी मुझसे भिन्न नहीं थी। तुम मुझसे भिन्न हो ही नहीं सकती।"

मैं उनकी वाणी सुन रही थी। प्रीति और प्रियतम दो कहाँ हैं ? मैं देख रही थी। प्रीति ही कृष्णाकृति बनी मेरे बाहर खडी है और वही मेरे नेत्रोंसे मेरे हृदय-देशकी ओर उमडी बह रही है। जैसे सरिता वर्षाऋतुमें उमडकर तटोको आप्यायित करती है, विलीन कर लेती है। वे मुझे विलीन करने मेरे हृदयमें उमड पडे हैं। मैं डूब रही हूँ, वे उफन रहे हैं।

भाईजी ! वे मेरे, मात्र मेरे हैं। कोई देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति, उनसे मुझे पृथक् कर सके - सभव ही नहीं है। जलसे भलेही मछलीको कोई पृथक् कर पावे, प्राणोंसे भलेही शरीरको पृथक् किया जा सके, वे मेरे मुझसे पृथक् हो ही नहीं सकते।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - पैंतीस (३५)

# अन्तर्प्राकट्य

रतनगढ़
**तिथि - अज्ञात**

मेरे प्राणवल्लभ ! मेरे जीवन सर्वस्व !! मेरे प्रियतम !!! मैं चीख उठती हूँ। साथ-ही-साथ अपने नेत्र कसकर बन्द कर लेती हूँ। मेरे नेत्रोंके भीतर प्रियतम प्रेमवर्षा करते प्रकट हो जाते हैं। मैं उनमें अपनेको एक करनेमें लग जाती हूँ। अरे ! आनन्दको आनन्दसे एक करनेमे, प्रेमको प्रेमसे एक करनेमें कठिनाई ही क्या है ? प्रेम उनका एव मेरा कोई पृथक् थोड़े ही है। वह तो एक भाव ही है। इसी प्रकार उनकी सत्ता और मेरी सत्ताको एक करनेमें कहाँ कठिनाई आती है ? मैं उनसे अपना एकत्व करने ही जाती हूँ कि बाहरसे उनकी ध्वनि हृदयको स्पन्दित कर देती है – "प्राणेश्वरी ! नेत्र खोलो।"

मैं उनमे डूबी, उनके अन्तरालसे ही बोलती हूँ – "नहीं, मुझे अपने हृदयमे ही डूबी रहने दो। बाहर तुम छोडकर चले जाते हो। बाहर सब कुछ कालान्तर्गत है, क्षणजन्मा, क्षण भगुर, क्षण-स्थित। तुम्हारे हृदयमें कालका प्रवेश ही नहीं। यहाँ तुम नित्य मेरे सगी हो। यहाँ तुम्हारा सर्वस्व मात्र मेरा है। बाहर तुमपर अनेकोंका स्वामित्व है। तुम प्यार करना चाहो फिर भी, बाहर प्यार कर ही नहीं सकते। बाहर प्रीति मुरझा जाती है। यहाँ प्रीति परिपूर्ण विकसित है। बाहर देह है और देह, काम एव भोगका ही पर्यायवाची नाम है। कोई देह रखकर कहे कि मैं भोगसे एव कामसे परे हूँ, यह असभव है। आकाशमें कोई भी शब्दसे परे हो ही नहीं सकता। सूर्यके समीप तापहीनता असभव है। सागरमे रहकर कोई सुमिष्ट जल प्राप्त करे, असंभव है। लवणका खारापन सागरमें होगा ही। इसी प्रकार देह कामयुक्त होगी ही। अत बाहर आते ही मैं कृष्ण-कामिनी हो ही जाऊँगी। यहाँ मैं कृष्ण-स्वामिनी हूँ।"

"आओ ! मेरे प्राणनाथ ! तुम भी मेरे हृदयमें उसी प्रकार आ जाओ, जैसे मैं तुम्हारे हृदयमें हूँ। यहाँ तुम्हें कोई कस कभी मथुरा-निमंत्रण नहीं देगा। यहाँ कोई अक्रूर रथ लेकर नहीं आवेगा। यहाँ कोई कूबरी तुम्हें नहीं रिझा पावेगी। यहाँ विशुद्ध प्यार-ही-प्यार है। यहाँ तुम मुझे अखण्ड अपनी गोदमें ही भले

रखना। यहाँ मैं अन्धी भी हो जाऊँ तो भी तुम्हे देखती रहूँगी।"

"प्राणवल्लभ! जिस दिन तुम मेरे भीतर नहीं होओगे, उस दिन जीवनकी तो बात ही क्या मृत्यु भी मेरी नहीं होगी। कोई इसे माने या नहीं माने, मेरे जन्म एवं स्थितिकी बात तो दूर रही, मेरा प्रलय भी तुम्हारे-मेरे संयुक्त होनेसे ही है। जिस दिन तुम मुझे त्याग दोगे, उस दिवस प्रलय भी मुझे त्याग देगा।"

"प्रियतम! अभी तो प्रभातमे अरुणायी है, कोकिलायें कुहू-कुहूगान कर रही हैं, पद्म खिल रहे हैं, यमुना कल-कल ध्वनिसे बह रही है, भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं, सम्पूर्ण वनमें शोभा भरी है, शीतल मन्द समीर बह रही है, पुष्प मुसका रहे हैं। देखो, देखो! यह आम्रवृक्ष अपनी शाखायें हिलाकर मुझे आश्वस्त कर रहा है, प्रियतम हम सबके भीतर हैं, उनका हेतुरहित स्नेह हम सबको आप्यायित कर रहा है।"

"तुम, न रहो और सूर्यमें प्रकाश रहे, चन्द्रमा अमृत ज्योत्स्नासे सबको संस्पर्शित करे, धरती सबको धारण करे, असंभव है। जिस दिवस तुम्हारा आश्रय मेरे हृदयमें नहीं रहेगा, उस दिन जन्म एवं स्थितिके रहनेका तो प्रश्न ही नहीं, प्रलयकी गोद भी मुझे विश्राम नहीं देगी।"

"मूर्ख हैं वे, जो यह मानते हैं भूमि, प्राण हमारे हैं। यह वृन्दावन, यह यमुना, ये कदम्ब, ये पशु-पक्षी, क्या मुझ हतभाग्याको धारण किये हैं? नहीं, नहीं, असंदिग्ध, इनमें कुछ भी मेरा नहीं है? सब मात्र इसीलिये चतुर्दिक् क्रीड़ा-केलि होरही है, क्योंकि तुम इस रस विलास में समुत्सुक हो। क्योंकि तुम मुझे अपने गोदमें धारण किये हो, इसीलिये यह अति शोभापूर्ण आकाश मुझ पतिताको धारण करने प्रस्तुत हुआ है। जिस दिवस तुमने मेरे हृदय-स्थलको त्यागा, फिर मैं रहूँगी ही नहीं।"

**राधा राधा राधा राधा**

---

### श्रीमती "राधारानीकी' महाभावोक्तियाँ
### (मंजुलीला (पू. राधाबाबा) के प्रति)
### एवं अन्य प्रसंग

### प्रसंग - छत्तीस (३६)

# मैं तो मात्र उनका सुख सजाती हूँ

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

मैं तो रानीकी सेविका हूँ। रानीकी रुचिके लिये प्रति दिवस कुञ्ज सजाती हूँ। दिवस-पर्यन्त वन-वन फिरकर अति सुन्दर-सुन्दर मनोहारी सुगन्धिभरे अगणित पुष्प चयन कर लाती हूँ। उनको वृन्तोंसे गूँथ-गूँथकर मालायें निर्माण करती हूँ और तब कुञ्जमें शय्या निर्माण करती हूँ। किन्तु वे नहीं आते। दिन बीते, मास बीते, परन्तु वे नहीं आये। एक दिवस रानीके सम्मुख मुख खोल ही दिया । "बहिन री ! जब वे आते ही नहीं, तो प्रति दिवस क्यों उनकी कामनामे यह सज्जा की जाय ?"

रानी तो विरहमे वैसे ही निरन्तर क्लान्त हो रही थी। उसने अपना उदास मुख ऊँचा उठाया और धीरेसे मुझसे कहने लगी -- अरी मूढ़ा ! क्या इन्द्रियोंका सुख-सस्पर्शही-मिलन मात्र प्रीति है ? क्या मैं देह-सुख सजाती हूँ ? मैं तो उनका सुख सजाता हूँ। मजू री ! प्रतिदिन प्रभातमें प्राची अरुणाई मे नहाती है, अपना प्रतिदिन शृंगार करके सायंकाल उषा निर्बाध उपस्थित होती है। यह यमुना अपने कूलोंको भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे प्रतिदिवस ही आच्छादित कर देती है। प्रतिदिन ही ये कुञ्ज, ये वन, नित्य नयी सज्जा धारणकर शृगार करते हैं। अरी बहन ! इस मयूर को देखन ! यह प्रतिदिवस ही अपने पुराने पंख गिरा देता है और नये-नये पखोसे सजता है। ये भ्रमर नये-नये गीतोसे प्रतिदिवस ही वन गुञ्जारित करते रहते हैं। देख न ! अपने प्रेमी चातकके लिये प्रतिदिवस नये-नये मेघ उमडते है। परन्तु क्या ये अपनी स्वयकी साज-सज्जा करते हैं ? नहीं री ! मंजु ! ये सभी अपने-अपने प्रियतमकी सुख-सज्जा करते

हैं। प्रतिदिन सभी पुष्पोंकी मुसकानको भ्रमर भोगें, यह क्या आवश्यक है ? पुष्प तो खिलेंगे ही, वे सब अपनी पूर्ण सुवास बिखेरेंगे हीं, चाहे भ्रमर आवें, न आवें। वे सायकाल मुरझाकर बिखर जावेगे, वल्लरियाँ पुनः दूसरे दिवस नवीन पुष्पाभरण धारणकर मुसकावेगी, नवीन साज-सज्जासे प्रतिदिन अपना शृंगार करेगी। भला वे अपने प्रियतमके सुखका आह्वान कैसे स्थगित कर देंगी ? प्रियतम तो परम स्वाधीन हैं, वे आवें, न आवें। प्रतिदिवस ही निशा अपना तारकावलियोसे शृगार करती ही है, परन्तु निशानाथ चन्द्र प्रतिदिवस उसे सौभाग्य-पद देता है ? अमावस्या हो, तो क्या निशा शृगार नहीं करेगी ? अमावस्याके दिन तो उसका और अधिक शृंगार होता है। क्या वह कभी ऐसा सोचती है कि आज तो प्रियतम आवेंगे ही नहीं ? अरी, यमुनाकी अनन्त लहरियॉ तटोसे टकराकर सूख जाती हैं, क्या वे सभी अपने प्रियतम सागरसे मिल पाती है ? परन्तु मजू बहिन ! क्या यमुनाकी लहरें नित्य नये वेगसे उमडना स्थगित कर देती हैं ? सागरसे तो किसी सौभाग्यशालिनीका ही मिलन होता है। परन्तु सागर-मिलनका स्वप्न तो सभी सजाती ही हैं।

"बहिन मंजू री ! मैं तो मात्र उनका सुख सजाती हूँ। एक दिवस वे मेरे पास आये। निम्न-मुख किये खडे हो गये। अहा ! कितने प्यारे लग रहे थे। मन उन पर न्योछावर हो रहा था। उनका मुख किञ्चित् उदास था। मैंने कहा – "प्राणवल्लभ ! आज उदास क्यो हो ? वे मुझसे लिपट गये। उनके सरसिज-नेत्र अश्रुकण ढलका रहे थे। उनके मुखसे शब्द निस्सरित नहीं हो रहे थे। फिर भी वे किसी प्रकार कह सके – "रानी ! मैं अब तुमसे कभी नहीं मिलूँगा। मेरे मिलनेसे तुम्हारा सर्वत्र अपयश होता है। तुम तो मेरे सुखके लिये सबकुछ सह लती हो, परन्तु भला इतना हृदयहीन मैं कैसे होऊँ ? अत मैं अन्तिम बार तुमसे मिलने आया हूँ, अब कभी नहीं मिल पाऊँगा।" उनका मेरे प्रति हित भाव देखकर मेरा मन रुऑसा हो रहा था, परन्तु फिर भी मैं खिल-खिलाकर हँस पड़ी।

मैंने पूछा "कहॉ रहोगे ? प्राणवल्लभ ! कहीं-न-कहीं तो तुम्हें रहना ही होगा। जिस भूमिपर तुम निवास करोगे, वह भूमि तो मेरा हृदय होगी ही। जिस आकाशके नीचे रहोगे, वह आकाश भी मेरा हृदयाकाश ही हो जायेगा। मैं तुम्हारे सब देशको, आकाशको, कालको अपने भीतर अमृतरूपमें धारण कर लूँगी। तुम मेरे हो, मुझसे पृथक् हो ही नहीं सकते। कोई शक्ति तुम्हें मुझसे पृथक् करे, यह संभव ही नहीं है।"

"देख री मजु ! ये हरिणियाँ यदि अपने कृष्णसार मृगोंसे प्रीति करती हैं,

तो यह प्रीति कोई मेरे हृदयकी प्रीतिसे भिन्न थोडे ही है। सम्पूर्ण विश्वमें प्रीति तो एक ही है वह चाहे स्वर्ग, नरक, पृथ्वी, पाताल, ब्रह्मलोक, सिद्धलोक कहीं भी हो। सभी लोक जहाँ प्रीति है, वह स्थल वृन्दावन ही है, उस प्रीतिके भोक्ता प्रियतम ही हैं, चाहे वे किसी कलेवरके रूपमें व्यक्त हो रहे हों, और वह प्रीति मेरी सत्तासे ही हो रही है।

सखि री ! अनन्त देशोंमें, अनन्त रूपोंमे, वे मेरे ही द्वारा प्रीतिसे सराबोर हो, सुख पा रहे हैं। मजु ! उनका सुख ही 'राधा' है।''

**राधा राधा राधा राधा**

---

### प्रसंग - सैंतीस (३७)

# मंजू री ! तन का त्याग, त्याग होता ही नहीं

**रतनगढ़**

**तिथि - अज्ञात**

कितने ही दिवसोंसे रानी तमाल वृक्षसे लिपटी पडी हैं। उन्हें होश ही नहीं – कब दिवस होता है और कब निशा आती है। मैं उनके पास निरन्तर बैठी रहती हूँ। जैसे वे थोडा होश करती हैं, यमुनाजल पिलानेकी चेष्टा करती हूँ। दो चार तुलसीदल ही उनका अन्न-ग्रहण है।

कुछ क्षण उन्हें जाग्रति हुई, तो मुझे अपने हृदयसे सटाकर कहने लगीं– "मंजू ! तनका त्याग, 'त्याग' होता ही नहीं। 'त्याग' तो तब होता, जब वे मुझे मनसे छोड देते। सखि री ! विश्वास कर, उनका मन मेरे पास है। उनके म    पर मेरा पूरा अधिकार है। तू तो मात्र उनके तनको यहॉसे दूर गया अनुभव कर रहा है। मंजु री! तनका आचरण देखना तो बहुत ही छिछली बात है। समुद्रकी समग्र रत्नराशि तो उसके अतल-तलमें रहती है। लहरोंमें तो तुम्हें मात्र खारा पानी ही तो मिलेगा।

"अरी बहिन ! क्या तू प्रियतमको मेरे सम्मुख खडा नहीं देख रही ? देख न ! वे भौंहे नचाकर मुझे बुला रहे हैं। परन्तु तू उन्हें नहीं देख पावेगी। अरी! तेरे मनमे वे नहीं हैं । तेरे मनमें वे पूरे भरे होते, तो एक क्षणभी तुझे अपनेसे पृथक् अनुभव नहीं होते। अरी बहिन ! अपना मन ही नयनोंका दृश्य बन जाता है। जब वे मेरे मनमे बसे हैं, तभी न खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते सभी समय वे मुझे अपने पास ही दिखते हैं।"

"अरी सखि ! विश्वास कर, तू जो उनपर लांछन लगाती है कि वे मथुरानगरकी स्त्रियोंसे आकृष्ट हो गये हैं, यह तेरा उनपर सर्वथा असत्य आरोप है। वे अवश्य कूबरीके घर गये हैं, उन्होने उसे रतिदान भी किया है, बाहरी दृष्टिसे ये सभी बातें सत्य हैं, परन्तु यदि तू उनके भीतरी मनको देख पाती, तो उन्होंने कूबरीमें भी राधाकी प्रीति ही देखी होगी। वे राधाके ही पास गये हैं री "

"चाहे कोई मेरी बातपर विश्वास करे, न करे, परन्तु वे 'राधा' ही देखते हैं, 'राधा' ही सुनते हैं, वे किसी अन्यसे प्रेम कर ही नहीं सकते। वे चाहे हजारों ही नहीं, करोडों स्त्रियोंसे विवाह कर लें परन्तु उनके सभी विवाह होंगे – मात्र राधासे । वे राधाके ही थे, राधाके ही हैं और राधाके ही अनाद्यनन्त रहेंगे।"

प्रसंग - अड़तीस (३८)

# अनुशासन

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

सखी ललिता प्रियतमसे रुष्ट हो गयी है। उसने रानीपर शासन कर दिया है – "चाहे जो हो, तुम्हें थोडी कठोरता रखनी ही होगी। उनसे तू नहीं मिलेगी।" रानीने ललिताको सुस्पष्ट कर दिया है – "यह तो सभव ही नहीं कि वे सम्मुख मिलनेको उत्सुक हों और मेरे हाथ उनके आलिंगनके लिये उठें नहीं। नेत्रोंको भी मैं उनके रूप-पानसे निवृत्त करनेमे असमर्थ ही रहूँगी। मेरे नेत्र यदि विद्रोह करके उनके पास चले जावें, तो मेरा वश ही क्या है ?" और ललिता स्वयं भी यह भली प्रकार जानती है कि प्रियतमके सम्मुख रानीका हृदय धैर्य धारण करले, नियत्रित रह सके – यह असंभवसे भी अधिक असंभव है। किन्तु ललिता यह सब समझ-बूझकर भी रानीको अनुशासित करनेपर तुली है।

उसने रानीको निकुंजमें ‑ न्दकर चतुर्दिक कपाट लगा दिये हैं। रानीकी सेवाके लिये मुझे रानीके पास छोड़ दिया है। मुझे भी उसने अत्यत तर्जित कर निर्देश दिया है कि यदि रानी कपाट खोलनेकी चेष्टा करे, तो मैं तत्क्षण ही उसे सूचना करूँ। निकुजके बाहर भी ललिताकी विश्वस्त अनुचरी पहरेपर हैं। टोही पक्षियोको भी निर्देश है कि प्रियतमकी पल-पल की गति ललिताको सूचित करते रहें।

रानीको दूरसे भी प्रियतमकी झाँकी नहीं मिले – ललिताने कठोरता पूर्वक ऐसी व्यवस्था कर दी है। सभी गवाक्षिकाओंको भी बन्दकर बाहर परदे लगा दिये गये हैं।

परन्तु यह क्या, ललिताने सब कपाट बन्दकर ज्योंही बहिर्गमन किया, प्रियतम आ गये। मैं आश्चर्यचकित थी। रानीने मुसकाकर कहा – "आओ प्राणवल्लभ !" और प्रीतिकी उमगमें वे दोनों परस्पर आलिंगनमें गुँथ गये। रानी मानो उनकी वनमाला और प्रियतम उसके हृदय-हार हो गये। मैं लज्जावश द्वारके परदेकी ओटमें होकर, उन दोनोंकी प्रेमशोभा निरखने लगी। रानी उनके अग-अगसे एक थी और वे रानीके रोम-रोमसे मिलित थे।

भीतर जब सुवास महकती है, तो चाहे कितने ही कपाट लगे हों, गन्ध बाहर अनुभव होती ही है। प्रीति, चाहे किसी एकके भी हृदयमें पुष्पित-पल्लवित हो, उसके अंकुर सभीके हृदयोंमें स्फुटित होने ही लगते हैं। सागरमें जब ज्वार आता है तो किनारे आप्यासित होते ही हैं। रानी एवं प्रियतमके हृदयकी धड़कनें जब एक हो रही थीं, तो सखियाँ रह नहीं पायीं। उन्होंने निकुंजकी गवाक्षिकाओसे भीतर झाँक लगायी और रानी एवं प्रियतमका मिलन-दर्शन उन्हें हो ही गया। ललिता सखीके प्राण भी रानीसे पृथक् तो थे ही नहीं। उसे रानीके प्रिय-मिलनका आभास नहीं हो, यह तो असभव ही था।

उसने तरजते हुए कपाट खोले। उसके नेत्र क्रोधसे आरक्त हो रहे थे। ओठ अस्फुट शब्दोच्चारण कर रहे थे। आते ही उसने मुझसे प्रश्न किया – "प्रियतम भीतर प्रवेश हो गये ?" मैंने संकेतसे ग्रीवा हिलाकर सहमति जतायी। परन्तु तबतक तो प्रियतम रानीमें विलीन हो गये थे और रानी अकेली ही शय्यामे शयन कर रही थी। वे रानीके हृदय मन्दिरमें स्पष्ट आलोकित हो रहे थे। ललिताने दूसरा प्रश्न किया – "रानी प्रियतमसे मिली थी ?" मैंने मन्द मुसकाते हुए उत्तर दिया – "हाँ ।" उसने मुझसे पुन पूछा – "अब वे कहाँ गये?" मैंने रानीका हृदय संकेतित कर दिया – "वे इसीमे प्रविष्ट होगये हैं।"

उसने पुन प्रश्न किया – "वे कुंजके भीतर कैसे प्रविष्ट हुए, द्वार तो बन्द थे।"

मैंने अब ललिताके कण्ठमें अपनी भुजायें डाल दीं। ललिताकी आँखोंमें भी मेरे प्रति प्यार छलछला आया था। मैंने उससे कहा – "प्राणसखी ! प्रीति भी भला क्या जड़ द्वारोंसे अवरुद्ध हो सकती है ? वे तो रानीके हृदयसे प्रकट होते हैं और वे उसकी भाव-सत्ता हैं, उनपर कहीं कोई द्वारपाल बैठ सकेगा ? जबतक रानीके शरीरमें प्राण हैं, वे रानीसे मिलेगे ही और जब प्राण ही रानीका संग छोडेंगे, तो वे रानीके प्राणोंको अपने भीतर समाये, आलिंगित किये चले जावेंगे।"

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - उन्चालिस (३९)

# संयोग-वियोग कुछ होता ही नहीं है।

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

"ललिते ! प्राण सखी !! जब तू मुझे इतना अधिक स्नेह करती है, तो मेरी बात क्यों नहीं सुनती ? मैं मानती हूँ कि तू अत्यधिक बुद्धिमती है और मैं महामूर्खा, भोली, भावुक एवं पगली। परन्तु मेरी बात सुननेसे तो तेरी कुछ क्षति होनी नहीं है।"

जब रानीने इतना आग्रह किया, और उसे समझाना चाहा, तो ललिता उसकी बात सुनने बैठ गयी। जब वह पूरे मनोयोगसे रानीकी बात सुननेको उद्यत हो गयी, तो रानी कहने लगी –

"बहिन ! मैं तुझे ऐसा उपाय बता देती हूँ कि जिससे फिर प्रियतम श्यामसुन्दर कभी हमसे पृथक् हो पावें ही नहीं। यह ऐसा वशीकरण-मत्र है जिससे प्रियतम कदापि इधर-उधर हो ही नहीं सकते।"

ललिताकी उत्सुकता चरम सीमातक पहुँच गयी थी। रानीने उसके कंठमें अपने दोनो हाथ अत्यंत प्यारसे डालदिये और अति स्नेहसे उसे देखने लगी।

ललिता झुझला गयी। कहने लगी – "तुझे बस, कहना तो कुछ है नहीं, मात्र मुझे प्रेमसे भरमाना है। रानी कहने लगी – बहिन देख, रुष्ट मत होना। जब मैं 'राधा' रहती हूँ, तभीतक न मुझमें प्रियतमसे मिलनेकी इच्छा होती है। और मेरी इच्छा पूर्त्तिके लिये तेरा आग्रह होता है कि वे आवें। और उनके अन्यत्र चले जानेपर तुझे क्षोम होता है। अतः मैंने निष्कर्ष यही निकाला है कि सभी समस्याओंका मूल मेरा 'राधा' होना है। जब सभी दुखोंका हेतु ही 'राधा' होना है तो मैंने अब निश्चय कर लिया है कि 'राधा' ही नहीं रहूँगी।"

"सखी ! तू मुझे नील निचोल न पहनाकर बस, पीताम्बर पहनादे।' चन्द्रिकाका पर्याय मोर-मुकुट हो जायगा। एक बाँसकी बाँसुरीमें फूँक लगाऊँगी और श्यामसुन्दर हो जाती हूँ, बस झंझट ही सदाके लिये समाप्त।"

ललिता रानीकी बात सुनकर मुसकाने लगी। बोली – "जब तू श्यामसुन्दर

बनी राधाको वन-वन ढूँढेगी, तो वह कहाँसे आवेगी ?"

रानी यह सुनकर विचारमें पडगयी। परन्तु कुछ ही कालमें सोचकर बोल उठी – "अरी, 'राधा' तो मैं हूँ ही।"

"तो अब श्यामसुन्दर नहीं हैं न ?" उसका सटीक उत्तर था।

रानी झुँझला उठी। यह खूब भूल-भूलैया रही ! जब प्रियतम होते हैं, तो मैं नहीं रहती, और जब मैं होती हूँ तो प्रियतम नहीं होते। परन्तु कुछ ही कालमें रानीके चित्तमें इस समस्याका भी समाधान आगया। वे बोल उठीं – "ललिता ! ठीक तो है, जब वे रहते हैं, तो मैं उनमें समा जाती हूँ और जब मैं होती हूँ, तो वे मुझमें समा जाते हैं, फिर वियोग तो है ही नहीं।"

परन्तु ललिता इसे मात्र रानीका पागलपन ही मान रही है। रानी उसे समझा ही नहीं पा रही कि सयोग-वियोग कुछ होता नहीं है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - चालीस (४०)

# प्राणेश्वरी ! क्या मैं तुझे छोड़कर कहीं जा सकता हूँ?

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

प्रियतम मथुरा चले गये हैं। रानीने जबसे उन्हें विदा दी है, उन्हें होश ही नहीं है। प्रायः अर्ध-चेतनामे "प्रियतम-प्रियतम" पुकारती वन-वन भटकती रहती हैं। वन ही, गिरि-परिसर ही उनका स्थायी निवास हो गया है। मैं उनके पीछे-पीछे छायाकी तरह लगी रहती हूँ। आज तो उन्होंने अपना वेश भी बदल लिया है। नीली साडी उतारकर पीताम्बर पहन लिया है। श्रीकृष्णाविष्ट हुई श्रीकृष्ण बनी बोलरही हैं। उन्होने मुझे राधा मान लिया है और मेरे गले लगकर कह रही हैं –

"प्राणेश्वरी ! क्या मैं सचमुच तुम्हें छोड़कर कहीं भी जा सकता हूँ ? मैं तो जानता ही नहीं, कहाँ मथुरा है ? मेरा सम्पूर्ण हृदयस्थल तो राधा-ही-राधासे भरा है, वहाँ मथुरा एव अक्रूर, साथ ही उसका इतना बडा रथ समा ही कैसे सकता है ? जहाँ सर्वत्र राधा-ही-राधाकी घन-सत्ता लबालब भरी हो, वहाँ एक सूईकी नोकका अरबवाँ हिस्सा जितना तो स्थान रिक्त है नहीं, उसमें अक्रूर एवं मथुरा, कंस तथा कूबरी कैसे भला प्रवेश कर सकती हैं ? कंस तो भय है। प्राणेश्वरी ! तू तो सदा मुझे अपनत्व और आत्मीयताके सिन्धुमें डुबोये रखती है, अब, भला कोई भी क्या अपनत्व, प्रीति, आत्मीयताको त्यागकर भयकी नगरीमें प्रवेश करेगा, कर सकता है ? प्रिये ! जब तू मुझे अपने इस प्रीति-सुधासागरसे निकाल देगी, तभी न, बहिर्मुखी होकर मैं मथुराकी बात ही सोच सकता हूँ। मैं तो प्रिये ! एक क्षणके लिये भी तेरे आलिंगनसे मुक्त नहीं हो पाता। मुझे तो अक्रूर, कंस, कूबरी, मथुराका स्वप्न भी नहीं आ पाता। मेरा तो स्वप्न, जागरण एवं सुषुप्तितक तुझसे आप्यायित है। मेरा तो स्वप्न भी तेरे प्रेम-सौन्दर्यसे भरा रहता है। मेरी तो निद्रा ही तेरे माधुर्यसे छलक रही है। तेरे प्रेम-सस्पर्शसे जब मेरे प्राण-प्राण पुलकित हैं, सर्वत्र आनन्द-गन्ध महक रही

है, जब मेरे प्राणोंका प्रत्येक स्पन्दनतक 'राधा' 'राधा' भ्रमरवत् गुंजार कर रहा है, वहाँ इस मथुराकी कल्पना भी हुई कैसे ?"

"आओ प्रिये ! प्रेम-वृन्दावन हमें पुकार रहा है। कालिन्दी ने आज प्रेमभरा पद्म-शृंगार किया है। प्रीतिभरी यमुना अपनी सौन्दर्य-शोभासे पद्माका तिरस्कार कर रही है। कृष्ण घन उमड़ रहे हैं। राधा मयूरी-नृत्य कर रही है। मथुरा केवल भ्रमका ही पर्याय है।"

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - एकतालीस (४१)

# यमुनाके मैं पार जा ही नहीं सकता था

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

अब तो समग्र वन ही सूख गया है। सूखे, बिना पातके कदम्ब एव तमाल प्रेतोकी तरह खड़े हैं। यमुनाकी अति क्षीण धारा बह रही है। उसमें न तो पद्म प्रस्फुटित हैं, एवं न ही भ्रमर गुजार कर रहे हैं। यह वही कदम्बवृक्ष है, जहाँ प्रतिदिवस ही प्रियतम गोचारण करके आते थे एवं रानीसे मिलते थे। रानी इस कदम्बको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जातीं। यहीं भूलुठित इस कदम्बसे लिपटी पड़ी रहती हैं। मैं यथाशक्ति उन्हें सम्हालनेकी चेष्टा करती हूँ। ललिता, विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा, सभी जैसे प्राणशून्य, केश बिखराये, धूलि-धूसरित अर्ध-चेतनदशामें इधर-उधर किसी-न-किसी स्थलमें प्रियतम-स्मृतिमें तल्लीन पड़ी रहती हैं। मैं प्रति घड़ी, दो घड़ीमें सबके सूखे कंठोमें जल एव तुलसीदल अर्पण कर आती हूँ। अतिशय क्षुधातुर प्राणोंको कभी कदलीफल, कभी आम्ररस, खिलानेकी चेष्टा करती हूँ। कभी रानीको कुछ ढाढ़स हो, इसलिये कोई चर्चा छेड़ बैठती हूँ। एक दिवस मैंने अत्यंत तेज ध्वनिमे कहा – "अरी, ललिता ! ओ, विशाखा !! देखो प्रियतम मिल गये। उठो री, शीघ्रता करो, मुख प्रक्षालन करो और केशराशि सँवारो। लो, ये आम्रफल खाकर कुछ चित्त चेतन करो और रानीका शृंगार करो।" सभी सखियोंमें जैसे प्राण सचारित हो उठे, सभी चेतन हुईं मेरे पास चली आयीं। मुझे घेरकर सभी उत्सुकतासे मेरा मुख देख रही थीं। रानी भी अर्ध-जाग्रत् मेरी ओर समुत्सुक निहार रही थी। मैंने पहले सभीको कदलीफल और आम्र खानेका निर्देश दिया। रानीको अपने हाथसे आम्र खिलाया। जब सभी सखियाँ कुछ चेतन हुईं, तो मैंने कहना प्रारभ किया – "बहनों ! मैंने सोचा, वे वृन्दावनसे चले गये, तो पृथ्वीमें तो होंगे ही। वे इस वनाकाशसे चले गये, परन्तु कहीं-न-कहीं किसी आकाश-खण्डके नीचे तो होंगे ही। अरी ! वे यमुनाके इन घाटों, कुञ्जोमें नहीं आते, परन्तु किसी-न-किसी कूप, सरोवर, नदीका जल तो पान करते ही होंगे ? सूर्यके प्रकाशको तो नहीं ही त्याग गये, कहीं-न-कहींकी वायु तो उनमें प्राण संचार कर ही रही होगी ? अतः मैंने उन्हें

ढूँढनेका निर्णय ही कर लिया। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं मथुरामें भी उन्हें ढूँढ निकालूँगी। अरी ! वृन्दावनकी कोई सीमा थोडे ही है। यह सीमा तो हमारी मान्यतासे है। हम वृन्दावनकी सीमाको बढाकर मथुराको वृन्दावनके अन्तर्गत भी तो कर ही सकती हैं। वृन्दावनके आगे कोई अलंध्य दीवार तो है ही नहीं, कि वृन्दावन मथुराको अपने भीतर नहीं ले सके। अरी! जब वे ललिताकुंजमें जाते थे, तो हम सभी एवं विशाखा सखी भी ललिताकुंजको अपना ही कुंज समझती थीं। इसी प्रकार जब वे विशाखाकुज में होते, तो हम एवं ललिता रानी भी विशाखाकुंज को अपना ही कुंज समझती थीं। इसी प्रकार चलो कुबडीको भी अपनी सखि बनालें, इस प्रस्तावसे मैंने मथुरा-यात्राका भी मन बना लिया। अरी, मैंने उन्हें मथुरामें सर्वत्र ढूँढा, परन्तु वे मिले ही नहीं। इसके पश्चात् मैंनें द्वारका की भी यात्रा की। सोचा, रुक्मिणी, सत्यभामा एवं भालुपुत्री (जाम्बवती) को सखी बना लिया जाय। अरी, रानी भानुतनया हैं, वे भालुतनया हैं। 'न' और 'ल' मात्र दो अक्षरोंका ही तो अन्तर है। सब प्रियतमकी हैं तो अपनी ही तो हैं। परन्तु वे वहाँ भी मुझे नहीं मिले। मथुरा, द्वारकामे कोई द्वारकाधीश, मथुराधीश चारभुजाके ईश्वर अवश्य विराजित थे। अरी, कूबड़ीके पास वे गये ही नहीं थे। हम झूठे ही बिचारी कूबड़ीको कोस रही थीं।

अब तो रानी अति समुत्सुक मेरी ओर जागरूकतासे निहारने लगीं। मैंने सभी सखियोंके सम्मुख कुछ फल और रखे और रानीको अपने हाथसे खिलाने लगी। रानीने दो-चार कौर लिये और पुनः पूछा – "तो, वे मिले ?"

मैंने कहा – "हॉ, मिले री ! तू दो-चार कौर खा तो ले।" किसी प्रकार इस तरह मैंने रानीके उदरमे दो-चार कौर फलोंके उतारे।

मैं कहने लगी – "अरी, मैं उन्हें सर्वत्र ढूँढती फिरी। जब वे पृथ्वीमें नहीं मिले, तो मैंने उनको आकाशमें ढूँढा। आकाशमें अनन्त-ब्रह्माण्ड तैर रहे थे। सभी ब्रह्माण्डोमें विचित्र गुणावगुणमयी सृष्टियाँ थीं। परन्तु वे किसी भी ब्रह्माण्डमें नहीं थे। मैंने सम्पूर्ण आकाश भ्रमण किया, परन्तु वे आकाशके किसी भी खण्डमें नहीं थे। मुझे सूर्य-लोकमें अत्यन्त तेजस्वी देवी-देवता मिले, मैंने उन सबमें अपार रूप और शक्तिके चमत्कार देखे। मुझे बहुत वैभव दिखाई पडा, परन्तु वे नहीं मिले।"

"मुझे अन्तर्यामी ईश्वरके दर्शन हुए, मैंने ब्रह्म-साक्षात्कार किया, परन्तु वहाँ भी वे नहीं थे। मुझे न ईश्वर चाहिये था, न ब्रह्म, मुझे न शक्तिनिकेतन, न देवता, न ऋषि, न तपस्वी, न ब्रह्मा, न शिव, न विष्णु – कोई भी नहीं चाहिये था। अतः इन सभीको मात्र प्रणाम करके मैं उपेक्षासे अपनी आगेकी यात्रा करती

रही। मुझे तो न शुद्ध चाहिये था, न बुद्ध, न निर्मल, न ही पवित्र। सभी लोक-लोकान्तरोंमें उन सबके अधिदेवता विराजित थे। मुझे तो उनसे कोई प्रयोजन ही नहीं था। मैं हार-थककर चूर हो गयी। जब मैं परमाकुल हो उठी तो मैंने आर्त्त-स्वरमें पुकार की। जैसे ही मैंने 'प्रियतम' ! 'प्रियतम' ! पुकार लगायी कि वे वहीं प्रकट हो गये । मैं उनके कण्ठसे लग गयी। वे मुझे अतिशय प्यार करने लगे। मैंने उनसे पूछा – "प्राण ! तुम किस देशमें रहते हो ? अक्रूर तो तुम्हें रथमें बैठाकर मथुरा ले गया था, परन्तु मुझे तो तुम मथुरामें नहीं मिले ?" उन्होंने हँसकर कहा - मैं यमुनाके पार जा ही नहीं सकता था। अत इस पार ही रह गया था। अक्रूर तो कसारि चतुर्भुज नारायणको लेकर मथुरा चला गया था। मैंने उनसे पूछा – "तो अब तुम कहाँ रहते हो ?" उन्होंने कहा – "मैं तो मेरी प्रियाके हृदयमें ही रहता हूँ।"

"बहिनों ! एक परमाश्चर्य, मैंने और देखा – वे विचित्र शृंगार धारण किये थे। पीताम्बरके रूपमे तो उनके तनसे रानीका तन लिपटा था। रानीकी भुजायें ही उनकी वनमाला थी। रानीके स्नेहका हर्ष-विकार ही मयूर-मुकुटके रूपमें उनकी बुद्धिरूप मस्तिष्कको अलकृत कर रहा था। रानीका मन ही उनके विशाल चचल नेत्र थे। रानीके शरीरका तमोगुण उनके नेत्रोंमें काजलके रूपमे लगा था। रानीकी वृत्तियोके रजोगुणको वे अपने हृदयमें स्वर्णरेखाके रूपमें धारण किये थे। और रानीके हृदयका सतोगुण उनकी दतमुक्ताकी छटा थी। रानीकी शक्ति-सामर्थ्य ही उनकी भुजाये थी, रानीकी गतिशीलता ही उनके चरण थे। रानीके हाव-भाव और भ्रू-नर्त्तन ही उनका नृत्य था। अरी बहिनों ! रानीकी वाणी ही उनके चरणोके नूपुर थे और रानीके लिये 'हा ! प्रिये ! हा ! प्रिये ! उनकी प्रेमाकुल चीत्कार ही वेणुवादन था। अरी सखियों ! रानीकी प्रगाढ प्रीतिही उनके अधरोंकी मुसकान थी। रानीका जो प्रियतमके प्रति प्रगाढ़ राग है वही उनके अधरोकी लालिमा थी। रानीके हृदयकी लज्जा ही उनके कपोलोंकी दमक थी। रानीका आलिगन ही उनकी स्पर्शेन्द्रिय त्वचा, रानीका 'रा' एवं 'धा' नाम ही उनकी दोनों श्रवणेन्द्रियाँ थीं। रानीका सुयश-वैभाव ही उनके कुण्डल तथा रानीकी इच्छा ही उनकी बुद्धि थी। रानीकी संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियाँ ही उनका मन, रानीके वस्त्र ही उनके अंगोकी श्याम कान्ति, रानीकी मुसकान उनके भूषण, अलकार थे। रानीका अधरामृत ही उनकी रसनाका स्वाद, रानीके अंगोंकी सुवास ही उनकी नासिका थी। रानीका अस्तित्व उनकी सत्ता एवं रानीका हृदय ही उसका निवास था। अरी बहिनो ! वे रानीकी स्मृतिमें झर-झर अश्रु गिरा रहे थे। वे कहरहे थे कि "मैंने रानीसे पृथक् अपनी स्वतत्र-सत्ता

रखकर रानीको बहुत कष्ट दिया। वे मेरी स्मृति करती सदा विरह-वियोग सहती रही। पृथक् सत्ता रहनेपर तो विलगत्व अवश्यभावी है। मैं मेरी प्रियासे मिलता था, तो उसका लोक-अपयश होता था। अतः मैंने अक्रूरको मात्र अपना सहायक बनाया। मैं उसके रथपर बैठकर लोक-दृष्टिसे तो मथुरा चला गया। परन्तु वस्तुत तो मैं मेरी प्रियाको त्यागकर एक पग भी इधर-उधर नहीं हो सकता था।"

"अरी मंजु ! मेरी प्रिया रानीके समान विश्वमें कोई प्रेमी न तो हुआ था, न हुआ है, न ही भविष्यमें भी होगा। ससारमे सब कोई अपनी कुछ-न-कुछ सत्ता रखते हैं। उनका अहं होता है, अहकी मंगल-कामना होती है, अहंका संसार होता है, रुचि होती है, गुण-अवगुण होते हैं, रूप होता है। मात्र मेरी प्रिया ही ऐसी है, जिसका सबकुछ मात्र मेरा है। उसकी स्वतंत्र कोई रुचि नहीं, उसका अपना कोई संसार नहीं, उसके अपने कोई कर्म नहीं, उसका धर्म नहीं, उसकी गति नहीं, उसका सबकुछ एकमात्र मैं ही हूँ।"

"मैं उसको जिस रूपका वस्त्र पहनाता हूँ, वह निस्संकोच वैसी ही सज जाती है। बता री मजू ! तू तो पूरे साढ़े तीन हाथकी है, क्या तुझे कोई अपने नेत्रो मे आँजेगा तो तू अँज जायगी, कदापि नहीं। परन्तु मेरी राधा ऐसी है कि मै उसे अपने नेत्रोमें रख लेता हूँ, तो मेरी पलकोंमें ही निवास कर लेती है। अरी ! मैं ज्योंही पलक गिराता हूँ, तो वह मेरे हृदयमें आसन लगाये दिखती है और पलक उठाता हूँ, तो बाहर बैठी हँसती रहती है। वह मेरी प्रिया आठोंयाम मेरे पास ही रहती है। मैं चलता हूँ तो वह साथ चलती है, सोता हूँ तो मेरी निद्रा बनकर मुझे विश्राम देती है, उठते-बैठते खाते-पीते, आठोंयाम वह मेरी प्रेम-दीवानी है। उसे मैं दोष लगाता हूँ तो वह दोषी हो जाती है, कभी प्रतिवाद नहीं करती। मेरी रूचि ही उसका सब चरित्र है। वह मेरी रुचिके लिये सब लाछन सहती है। उस प्रियाके सिवा मेरा कहीं कोई नहीं है। मात्र वही मेरी है, अत उसके हृदयको छोडकर मैं अब एक पल भी बाहर नहीं आऊँगा। वही मेरा स्थायी निवास रहेगा।"

मैं यह सब कह ही रही थी कि रानीको गाढ आवेश हो गया। वे, "हा प्राणनिकेत ! कह कर दौड पडी। उन्हें यही दृष्टिगोचर हो रहा था कि उनके प्राणवल्लभ सामने खडे हैं। सभी सखियॉ सखि ! सखि ! कहतीं उनके पीछे पागलकी तरह दौड पडीं। कहीं रानीको ठोकर नहीं लग जाय। उसके सुकोमल चरणोंमे कोई कंटक क्षति नहीं कर दे। सखियोंने उसे अपनी बाहुओंमें निबद्ध कर लिया। रानी वहीं सखियोकी गोदमें पुन मूर्च्छित हो गयीं। मैंने गगरी

उठायी और सूने यमुनाघाटसे जल लाने चल पड़ी। अब रानीको न-जाने कितने कालतक, फिर इस भाव-मूर्च्छामें मुझे ही सम्हालना है। मैं जानरही हूँ, रानीके संग ही सभी ललिता, विशाखादि भी प्रियतम स्मृतिमें इतनी तल्लीन होनेवाली हैं कि सबकी सेवा संभाल मुझे ही करनी होगी ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

## प्रसंग - ब्यालीस (४२)

# क़ीर्त्तिदाके यहाँ जन्म लेने पर भी वहाँ मेरा जन्म हुआ ही नहीं

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

मंजू, री ! जिसे तू 'राधा' नाम-रूपसे जानती है, वह तुम्हारी सखी राधा है ही नहीं। तुम मुझे कीर्त्तिदाकी औरस जात कन्या समझती हो, परन्तु यह अति विलक्षण सत्य है कि कीर्त्तिदा मैयाके यहाँ जन्म लेनेपर भी वहाँ मेरा जन्म हुआ ही नहीं। भाद्रपद शुक्ला अष्टमी मेरी जन्म-तिथि है ही नहीं। जिसे तू वृषभानुमहलमें क्रीडा करती देखती है, वह क्रीडा ही मेरी नहीं है। जिसे तू अनेक शृगारोसे सजाकर वन-वन लिये डोलती है, वह मेरा रूप ही नहीं है। जो शब्द इस समय तेरे सम्मुख उच्चारित हो रहे हैं, सखि ! वे मेरे शब्द होते हुए भी सत्याशमें मेरे शब्द नहीं हैं। मैं जो तुझे स्पर्श कर रही हूँ, यह मेरा वास्तविक संस्पर्श है ही नहीं।

यदि तू मुझे सचमुच ही देखना चाहती है, तो योग्यता प्राप्त कर – जिससे तू नन्दभवनमें क्रीड़ा करते यशोदोत्सङ्गलालित श्यामल मयूर-मुकुटीके हृदयमें प्रवेश पा सके। वहाँ नन्दभवनके आँगनमें मैं मुसका रही हूँ। उस मुसकानमें ही तुम्हे मेरी सत्ता कभी दृष्टिगोचर हो सकती है, क्योंकि उसका सुख ही मेरी सत्ता है। उसके नेत्रोमे झाँकते-झाँकते कभी तुझे मेरे नेत्र दिख सकते हैं। क्योंकि वह मेरे नेत्रोंसे ही देखता है। जिसे तू 'प्रियतम' 'प्रियतम' पुकारती है, वह तो मेरी मात्र कठपुतली, यत्र है री ! हाँ ! उस यत्रके साथ यत्रीरूपमें मेरा नित्य संयोग है। हाँ, यदि तू उससे सच्चा प्रेम करेगी, तो कहीं-न-कहीं तुझे उसमें मेरा रूप भी दिख जायेगा। क्योंकि वह मेरे ही रूपसे रूपवान् है। जब तू उसकी सत्याशमे हृदय-हार बनेगी, तो तुझे उस हृदयकी अन्यतम स्वामिनीके रूपमें मेरा परिचय भी अवश्यमेव प्राप्त हो जायगा।

सखिरी ! मेरे जन्मका कोई काल ही नहीं है क्योंकि कालान्तर्गत मैं हूँ ही नहीं। काल तो मेरा ईक्षण-मात्र है। इसी प्रकार मेरा एक कलेवर भी नहीं

है। विश्वमें जितने कलेवर हैं, मेरे ही हैं। हाँ ! यह सत्य है कि असीम, अनन्त विस्तारवाली मैं विरुद्ध-गुणधर्माश्रयी हुई नन्दसुतके हृदयमें परिच्छिन्न हूँ। वही मेरा मन्दिर है। उसका सर्वसुख विधान करना मेरा कर्म है। वही हृदय मेरा आँगन है, जहाँ मैं रसरास-समन्वित विलास करती हूँ। वही मेरा निभृत-निकुंज है, जहाँ मैं पूर्ण विश्राम करती हूँ। वह मुझसे अविभक्त, अभिन्न है।"

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - तैंतालीस (४३)

# उनका कुछ तो मेरे पास है, संयोग नहीं, वियोग ही सही

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

रानीको कुछ होश हुआ है। उसने अपने सरसिज-नेत्र कुछ विकसित किये हैं। मेरे हर्षकी सीमा नहीं है। विगत तीन दिवसोंसे तो उसने जलकी बूँद भी ग्रहण नहीं की थी। सहसा वह उठकर मेरे गले लग गयी और कहने लगी– "मजू री ! क्या तुझे सत्य पता है कि प्रियतम मथुरा गये ? नहीं, नहीं, हमने अक्रूरकी बातोंसे ही विश्वास कर लिया कि वे मथुरा जा रहे हैं। अरी, मैंने तो बस, उनको इस उदुम्बरके वृक्षतक ही देखा था। इसीलिये, बस, यहीं पड़ी रहती हूँ। यहाँसे रथने दिशा बदल ली थी, और वे मुसकाते मेरे नेत्रोंसे ओझल हो गये थे।"

"अरी मंजू ! कहीं अक्रूर उन्हें नन्दभवनसे रथमें बैठाकर मेरे हृदय-देशमें तो नहीं पहुँचा आया है ? जिस दिन अक्रूर उन्हें लेने आया था, उसी दिवस वे मेरे पास आये थे, री ! उनके नेत्रोंमें अश्रु छलछला रहे थे। मैंने उनसे कहा – "प्राणवल्लभ ! तुम क्यों रोते हो ?" तो कहने लगे – 'प्रिये ! प्रारब्धवश यह देह मथुरा जा रहा है, परन्तु तू मुझपर अविश्वास मत करना, तू मेरे हृदयमें सदा बसी रहेगी। मैं उनके आलिंगनमें गुँथ गयी थी, री। उन्होंने उस दिवस इतनी प्रेमवर्षा की थी कि मैं उनके प्रेमसे मूर्च्छित ही हो गयी। उस मूर्च्छावस्थामें ही वे मथुरा चले गये। ऐसा मैंने सुना अवश्य था, री।"

"परन्तु, बहिन री, तुझे सत्य कहती हूँ कि ज्यों ही मेरी मूर्च्छा भंग हुई, वे तो मुसकाते मेरे सम्मुख अनन्त प्रीति न्यौछावर कर ही रहे थे। अरी सखि ! जबतक वे अक्रूरके रथपर नहीं बैठे थे, तबतक तो वे मुझसे पृथक् भी होते थे। उनसे प्रतिदिवस ही वियोग होता ही था। प्रतिदिवस वे गौएँ चराने जाते थे, तो मेरे नेत्रोंसे पृथक् होते ही थे, वे माँ यशोदाके पास रहते, तो वियुक्त होते ही थे, इसी प्रकार चन्द्रावली आदिके कुञ्जमें जाते, तब भी उनसे वियोग हो ही जाता

था, परन्तु अब तो वे एक क्षण भी नेत्रोंसे नहीं हटते, मेरी पलकोंको ही उन्होंने अपना स्थायी निवास बना लिया है।

"अरी बहिन ! यदि वे सचमुच ही मथुरा चले जाते, तो मेरे प्राण भी उनके साथ मथुरा चले जाते, री। मेरी इन्द्रियाँ भी उनके बिना रह ही नहीं सकती थीं। तो फिर मेरे नेत्र, कान, नासिकादि सभी इन्द्रियाँ सीधी मथुरा पहुँचतीं। मेरे प्राण इस शरीरसे जुड़े हैं, यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि वे यहीं हैं और मेरे प्राणोका उनसे संयोग है।"

"अरी बहिन ! रूपका ऐसा बल होता है कि वह नहीं चाहनेपर भी नेत्रोंको अपनी ओर आकर्षित कर ही लेता है। अरी, सुमधुर स्वरमें भी ऐसा बल होता है कि बलात् कानोको अपनेमें उलझा लेता है, अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेता है। शिशुओंकी तोतली बोली और बाल-सुलभ चेष्टाओंमें ऐसा बल होता है कि वे मनुष्यका मन आत्मीयतासे भर देते हैं। स्त्रियोंके यौवनमे ऐसा बल होता है कि उनके मोहिनी रूपमें शिवजी बाबा जैसे समाधिनिष्ठ तपस्वी भी स्खलित हो ही गये थे।"

"मजू, री ! गिरिराजमें भारका बल, यमुनामें प्रवाहका बल, सूर्यमें तेजका बल, वायुमें प्राणशक्तिका बल है। क्या राधाकी प्रीति सर्वथा निरीह है, री ? राधाकेप्राणवल्लभको अक्रूर रथपर उठाकर ले गया और राजा कसको चन्दन-लेप प्रस्तुत करनेवाली कूबडीने उन्हें अपने आँचलमें समेट लिया ? जिन्होंने कसके बलको चूर-चूर कर दिया, वे राधावल्लभ कूबडीके नयनोंकी मारसे घायल हो गये और उसकी भुजाओंके कारागारमें बँधे पडे हैं ?

"बहिन ! मंजूरी !! तू इस निरीह परम अबला अति दीना करुण-क्रन्दनरता राधाको त्याग दे, री। राधामें प्रीति है ही नहीं।"

"अरी, गजकी पुकार इतनी सबल थी कि वे गरुडको भी त्यागकर वैकुण्ठसे पैदल दौडकर उसे बचाने चले आये, द्रोपदीकी आर्त्तिमें भी इतना बल था कि उसने उन्हें अपना अधोवस्त्र बना लिया। सुदामाकी मैत्रीमें बल था कि उन्होने उसे दो तन्दुलके बदले अपनी चरण-सेविका लक्ष्मी दान कर दी। निश्चय ही राधा प्रीतिहीना है, री ।"

विरहकी असह्य वेदनासे रानी अतिशय व्याकुल हो उठी। उसके वक्षोज और वस्त्र सभी आँसुओंके प्रवाहसे भीग गये। रोते-रोते उनकी हिचकियाँ बँध गयीं। वह अति विह्वल हुई, बोलती जा रही थी – "मजू, री ! बोल, मैं क्या साधना करूँ ? उनकी प्रीति कैसे पाऊँ ?"

"मैं जप करूँगी तो उनकी स्मृति मिल जायगी, ध्यान करूँगी तो उनका

रूप मेरे हृदयमें आ जायगा, तप करूँगी, तो उनका वैभव मिल जायेगा, त्यागसे यश मिल जायेगा, समाधिसे अखण्ड शान्ति प्राप्त हो जायेगी, ज्ञानसे एकत्व, सत्यसे उनकी सत्ता प्राप्त हो जायेगी, परन्तु प्रीति तो नही ही प्राप्त होगी, री। अरी बहिन ! तुम मेरा श्रृंगार करके मुझे रूपवती बना दोगी, तो उनकी कामुकता मुझे मिल जायेगी। नृत्य, गान, सुन्दर स्वभाव एव गुणोसे उनकी क्षणिक रुचि आकर्षित कर लूँगी, परन्तु उनका प्रेम तो कदापि नहीं मिलेगा, री वात्सल्यसे पुत्रत्व, सख्यसे बन्धुत्व, दास्यसे स्वामित्व, प्रणयसे पत्नीत्व मिल सकता है, परन्तु प्रेम नहीं मिल सकता, री। भक्तिसे तू उनका कृपा अनुग्रह, उपासनासे उनका नैकट्य, सेवासे वे तेरे ऋणी हो जायेगे, परन्तु प्रेम तुझ नहीं मिलेगा, री। समर्पणसे वे तेरे अभिभावक हो जायेगे, आज्ञापालनसे संकोचग्रस्त, विनयसे आशीर्वाद, स्तुतिसे वरदान, शिष्यत्वसे उपदेश भले ही प्राप्त हो जाय, इन साधनोसे तुझे उनका प्रेम नहीं प्राप्त हो सकता। मैं तो मात्र प्रीति चाहती हूँ, री। प्रीति तो कोई मूल्य देकर नहीं खरीदी जा सकती, री। प्रीति तो मात्र अपनत्वसे ही प्राप्त होती है। साधन तो परायेकी विक्रय-राशि है। उसका तो आधार ही पराया भाव है।

"अरी मजू ! प्रीतिका तो अर्थ ही सयोग है, री । प्रथम बार जब उनसे मेरी दृष्टिका सयोग हुआ था, तब ऐसा लगा कि वे मेरे हैं। फिर जब उनकी वेणुध्वनि श्रवणगोचर हुई, तो ऐसा अनुभव हुआ मानो यह मेरे ही हृदयकी परावाणी है। फिर जब विशाखासे उनका नाम श्रवणगोचर हुआ, तो ऐसा अनुभव हुआ मानो न-जाने अनादिकालसे यह नाम मेरे रोम-रोममें झकृत होता रहा है। फिर उनसे जब प्रथम मिलन हुआ, तो वे मेरी अस्मिताके ही स्वामी हो गये, री। आज भी वे मेरे हृदयमें एकछत्र डेरा जमाये हैं। वे मेरे नेत्रोमे, प्राणोमे, श्वास-प्रश्वासमें, चित्तमे, मनमें, स्मृतिमें, रोम-रोममें गुँथे, अविभक्त, एक है, तो वे वियुक्त कैसे हो गये, री ? अरी मजू ! देख, मेरी आँखोमें न-जाने क्या रोग हो गया है, वे तेरी आकृतिमे भी मुझे भरे दिख रहे हैं। अरी ! वे पलक-भर भी दूर नहीं होते, फिर सात कोस दूर मथुरा कैसे चले गये, री। अरी बहना ! पहले अक्रूरका रथ मेरे नेत्रोंमें घुसेगा, तब न उन्हें नेत्रोंकी पुतरीसे लेकर बाहर जा पावेगा ? जब वे मेरी नेत्र-पुतरियोंसे बाहर होते ही नहीं, तो अक्रूर उन्हें कैसे ले जायगा, री ?"

"मजू ! मुझे तो यही समझमें नहीं आता कि वियोग एव विरह बला क्या होती है? अरी मेरी श्वास-श्वास 'कृष्ण', 'कृष्ण', 'कृष्ण', 'कृष्ण' उच्चारण कर रही है। फिर उन्होंने मुझे कैसे त्याग दिया, री।"

"अरी, इतना तो तू भी देखती थी कि जिस वनखण्डमे प्रियतम गोचारण करते थे, ये पक्षी, ये भ्रमर, ये कोकिल, ये चातक, ये कपोत, ये मयूर सभी उसी वनखण्डकी ओर ही उडते थे। अरी, निर्जीव वायुका प्रवाह भी उधर ही बहता था जिधर वे प्राणधन क्रीडा करते होते। अब, यदि सचमुच ही प्राणसुन्दर मथुरा चले जाते तो ये पक्षी यहाँ मेरे पास तुझे दृष्टिगोचर होते ? कदापि नहीं। अवश्य ही समूचा वृन्दावन पक्षियोके कलरव एव भ्रमरोंके गुञ्जारसे शून्य हो जाता। परन्तु इन पक्षिया एव भ्रमरोंकी उपस्थिति ही प्रमाणित कर रही है, प्रियतम यही हैं।"

"अरी मजू ! तुझे अपने हृदयकी गुप्ततम अनुभूति भी कैसे बताऊँ ? वे ही मेरे नेत्रोमे प्रकाश दे रहे है। वे ही मेरे कानोमे श्रवण-शक्ति बने विराजित हैं। वे ही मेरे हृदयकी धडकन हे। वे ही मेरी सभी कर्मेन्द्रियो एव ज्ञानेन्द्रियोंकी संचालिका-शक्ति हैं। इससे अधिक और क्या कहूँ – वे ही मेरे हृदयकी धडकन हैं। वे आज-भरके मेरे नहीं, जन्मान्तरोके मेरे हैं। जन्म-जन्मके वे ही मेरे स्वामी हैं।"

"अरी मजू ! उनका सबकुछ प्यार है। उनके नख, रोम, केश, और स्वेद भी प्रेम ही प्रेम हैं। फिर भले ही मेरे पास उनका सयोग नहीं, वियोग ही सही, राग नहीं, द्वेष ही सही, सद्व्यवहार नहीं, दुर्व्यवहार ही सही, प्रेम नहीं, त्याग ही सही, प्रीति नहीं, उपेक्षा, घृणा ही सही, सत्कार नहीं, दुत्कार ही सही, साम्मुख्य नहीं, वैमुख्य ही सही, अरी ! उनका कुछ तो मेरे पास भी है न ? अनुकूलता नहीं है, सबकुछ प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल है, परन्तु कुछ है तो सही ! जब बहिन! उनका सबकुछ प्यार है, तो उन्होंने मुझे जो कुछ दिया, मैं अति कृतज्ञतापूर्वक उसे ही उनका सर्वस्वदान मानकर कृतकृत्यतापूर्वक स्वीकार लेती हूँ। अरी, जब कोई पहले अपना होता है, तब न शत्रुता भी करता है ? यदि कोई अपना होता ही नही, तो वियोग भी किसका होता, री ? आज जिसने दुत्कारा है, कल उसने सत्कारा भी था। अरी ! आज घोर रात्रि है तो कल दिन भी अवश्य ही होगा। वे मुझे प्रीतिसे नहीं, घृणासे देखें, उपेक्षासे देखें, मैं हूँ तो उनकी ही।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - चौवालिस (४४)

# मैं उनकी थी, उनकी हूँ, उनकी ही रहूँगी।

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

"अरी सखि, चाहे वे कल्पों-कल्पोंमें भी कभी नहीं मिलें, मेरा कभी सुख-सवाद भी नहीं लें, मेरा नाम सुननेपर भी घृणासे मुख सिकोडले, उनसे मेरा कभी कोई सम्बन्ध था – इसे भी नहीं स्वीकारे, मेरी स्मृतिसे भी मुख मोड ले, इसके उपरान्त भी मैं उनकी ही थी, उनकी ही हूँ एव सदा उनकी ही रहूँगी। तनकी एकता तो तनकी कामनासे ही होती है, मन एवं अहकार स्वरूपत ही राभीके भिन्न-भिन्न हैं। जो पृथक् हैं, विलग हैं, वे रुचि एव कामनाओके कारण और दूर हो जावें – सब स्वाभाविक ही तो है। किसी कालमे उन्हे राधाका तन अतिशय प्रिय था, आज रुक्मिणी, सत्यभामा अथवा कूबडी उन्हें प्रिय लगे, यह स्वाभाविक ही है। किसी समय उन्हे राधामें अनन्त गुण, अनुभव होते थे, राधाका मन उन्हे, बहिन ! सर्वाधिक आकृष्ट करता था, राधाके अहको 'मेरी', 'मेरी' कहते फूले नहीं समाते थे, आज अन्य अनेकोके सेवा-सुखसे वे पूर्णतया प्रलुब्ध हैं – सब स्वाभाविक ही है, मजु !

"इसमे उनका दोष ही क्या है ? मैं रूपकी कगालिनी हूँ, सभी गुणोंसे हीन हूँ । मुझमें राजमहिषी रुक्मिणीके समान शील नहीं ही होगा। कुबडीके समान सेवा-भाव भी कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसने यावज्जीवन कसको अपनी सेवासे ही प्रसन्न किया हुआ था। मेरे पास कालिन्दीके समान तप नहीं, जाम्बवतीके तुल्य त्याग नहीं है, इन्द्रियोंका निग्रह नहीं, वैभव नहीं, कला नहीं, पवित्रता नहीं, उत्तम जाति नहीं, कुल-गौरव नहीं, कुछ भी श्रेष्ठत्व, बहन ! कहाँ है मेरे पास ? मैं तो फूहड, महाभोगलोलुपा, सभी दुर्गुणोंकी खान हूँ। तब उन सभीसे मेरी तुलना कैसे संभव है ? अत यह स्वाभाविक ही है कि उनके मनका रुझान उन सब गुण-शीलवती राजकन्याओकी ओर हो जाय। इसमें उनका दोष ही क्या है ? उत्तम वस्तु सभीको आकृष्ट करती है। मैं महा-अधमा सब प्रकारसे निकृष्ट रही, अत स्वाभाविक ही उनकी उपेक्षाकी भाजन हूँ। परन्तु, मजू री ! वे तो परम कुलीन उत्तमोत्तम हैं ही। अतः मैं अपना मन उनसे कैसे

हटाऊँ ? मेरे मनमे तो वे ही वे बसे थे, एवं आज भी आठोयाम वे ही बसे हैं।

"मजू री ! मूल्यवान् वस्तुओंका तो कोई मूल्य भले ही संभव है, मेरा क्या मूल्य ? मैं तो उनकी बिना मोलकी दासी हूँ। मंजू री ! विश्वमें सभी वस्तुओंका कुछ-न-कुछ मूल्य तो होता ही है। परन्तु राधा तो बिना मोलकी उनकी दासी है। वे आज नहीं, कल नहीं, अनन्तकालमें जब भी, मात्र उसकी चाह करे, राधा उसी क्षण उनके सम्मुख जैसी भी है, उपस्थित मिलेगी ।

"मजू री ! तू सोचती है राधा कोई तेरी सखि-स्वरूपा कलेवर है, नहीं री, राधा उनकी प्रीति है। मैं उनका हृदय ही हूँ, री। तुझसे उनका हृदय ही यह सब वार्त्ता कर रहा है, री। प्रीति तो किसीका हृदय ही होता है। इसीलिये राधा अनमोल है। मेरे प्राणवल्लभका हृदय अनमोल ही तो होगा। वह कोई हाट-घाट पर मूल्य देकर खरीदा जा सकता है ? कदापि नहीं।

इसीलिये बहिन ! राधा उनको किसी कालमे, किसी अवस्थामे, कभी भी नहीं त्याग सकती। जरासन्धने उन्हें मथुरासे वचित कर दिया, भले ही उन्हे कोई द्वारकासे भी वचित कर दे, परन्तु राधाके हृदयसे उन्हे कभी कोई वंचित नहीं कर सकता। मजू री ! वृद्धावस्था यौवनसे वचित कर देती है, रोग बलसे वंचित कर देता है, आयु समाप्त होने पर मृत्यु शरीरसे वंचित कर देती है, क्षीण पुण्य होने पर धन, यश, गुणोसे वचित होना संभव है, कोई इन्द्रियोंके असमर्थ होने पर भोगोंसे वंचित हो जाता है, परन्तु प्रियतमका उनकी राधासे वचित होना असभव है, री। राधा तो प्रियतमका अपना स्वत्व है। वह बिना हेतु उन्हें सदैव प्राप्त थी और रहेगी। वे मात्र उसे पलक उठाकर देखना भर चाह लें, वह सदा उनके पास थी, है, एव रहेगी। वह तो उनकी सत्तामे ही समायी है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - पैंतालीस (४५)

# प्रेम-रहस्य

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

मजू री ! तू समझती है कि प्रियतम मथुरासे आये ही नहीं, परन्तु मैं तुझे सत्य कहती हूँ, मेरी स्मृतिको सफल करने वे नित्य ही मेरे सम्मुख आते हैं। और मेरे इस कथनको तो तू मान ही नहीं सकेगी कि वे मेरे पास मात्र आते ही नहीं, मुझे छोड़कर एक पल हटते भी नहीं। मजू ! यह मेरी महिमा नहीं, उनकी ही प्रीतिकी स्तुति है। अन्धी ऑखोंसे भले ही उन्हें कोई देख नहीं पावे, यह बात दूसरी है, परन्तु सत्य बात यही है कि इस वृन्दावनके एक तिनकेको भी वे क्षण भरके लिये छोडकर एक पैर भी इधर-उधर नहीं हो सकते। तू देख नहीं पा रही, यह तेरी असमर्थता है परन्तु मैं स्पष्टतया देख रही हूँ कि इस समय भी वे मुझपर अपनी अनन्त प्रीति न्यौछावर कर रहे हैं।

मजू ! तू हँस रही है। समझ रही है राधा बहिन पागल हो गयी है। वे द्वारकाकी पटरानियोंके प्रेम-पाशमें बँधे हैं और मैं उन्हें अपने प्रति न्यौछावर मान रही हूँ। परन्तु तू भले ही हँस ले। सत्य तो मेरी ही बात है, थी, एवं सदा रहेगी सत्य सर्वकालमे एकरस सत्य ही रहता है। मजू ! अच्छा तू बता ! यह सूर्य वृन्दावनमे चमक रहा है, न ? फिर यही सूर्य द्वारकाकी पटरानियोंके महलोंको कैसे प्रकाशित कर रहा है ? इसी क्षण एक साथ जैसे सूर्य वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, हस्तिनापुर सभी स्थानोमें एक समान प्रकाश दे रहा है, इसी प्रकार मेरे प्रियतम भी प्रीति विभु हैं। मजु ! सूर्य भी इतना विभु नहीं, जितनी मेरे प्रियतमकी प्रीति-विभु है। और उनकी प्रीति चाहे वे द्वारका, मथुरा, हस्तिनापुर कहीं भी रहें, मेरे सम्मुख उन्हे प्रकट कर ही देती है। मंजू ! क्या तू उन्हे नहीं देख पा रही ? कोई बात नहीं। मेरी ही आँखों से उन्हें देख ले, देख ! वे उस कदम्बके नीचे खडे मुसका रहे हैं । क्या तू उनका वेणु वादन नहीं सुन रही ? इसमे चिन्ता कैसी ? बहिन, मेरी श्रवणेन्द्रियोंको अपना ले। जब तू राधाकी बहिन है तो राधाके नेत्र, श्रवणेन्द्रियाँ भी तो तेरी ही हैं। मैं इन्हें तुझे सौप दे रही हूँ। सदा-सदाके लिये इन्हें तुझे दे दूँगी । अरी ! तू रोती है ? क्या

राधा ऑख कानके बिना अधी-बहरी हो जायगी ? क्या तुझे यह भय है ? नहीं बहिन ! राधा तो सदा प्रियतमके हृदयमें ही निवास करती है, वह तो उनकी ही ऑंखोंसे देखती है, उनके ही कानोंसे सुनती है।

बहिन ! देख न ! उस अश्वत्थकी आलवाल पर सुखासीन हुए वे 'राधा राधा' उच्चारण करते वेणुवादन कर रहे हैं ।

अच्छा बहिन ! बोल, तू प्रभातमे ही तो आज मुझे सुना रही थी कि वे तेरे स्वप्नमें तेरी गगरी यमुनामे गिराकर हॅस रहे थे,तो बता री ! द्वारकासे वे तेरे पास स्वप्नमे कैसे आ गये री ? अरी बहिन ! द्वारकासे वे तेरे स्वप्नमें आ सकते हैं,तो उन्हें तेरे जागरणमे आनेसे भला कौन रोक रहा है ? और जब तेरे स्वप्नमें तेरी गगरी ढुलकानेसे रुक्मिणीके बाहु-पाश उन्हें विवर्जित नहीं कर सके, तो जाग्रतमें राधाको कदम्बके नीचे इसी समय वे क्यों नहीं दर्शन दे सकते ?

क्या कहती है ? स्वप्नमे तो स्मृति आकार ग्रहण कर लेती है ? ठीक है, तब जाग्रतमें स्मृतिको आकार ग्रहण करनेमे क्या किसीने प्रतिबन्धित किया है? स्मृति ही तो उनकी प्रीति है । प्रीतिके बिना भला क्या कोई किसीकी स्मृति कर सकता है ? प्रियतम मुझे असीम प्यार करते हैं, अत: मेरी स्मृतिमे वे भरे रहते हैं। और वे अपनी स्मृतिको पूर्णत्व देने मेरे नेत्रोंमे नित्य साकार हुए नाचते रहते हैं। वे मेरे कानोमे वेणुनादका अमृत नाद भरते रहते हैं।

अरी बहिन ! सर्वप्रथम जैसे ही मैंने उन्हें देखा, उन्हे स्पर्श किया, तो मुझे ठीक अनुभव हुआ कि वे मेरे मूर्तिमान् सौन्दर्य-भाव हैं। उनके मुखमे न हड्डियोंका ढॉंचा था, न त्वचा, न मांस, न रक्त। अरी बहिन ! वे मात्र सौन्दर्य थे। सुन्दरता ही घनीभूत होकर मानो श्यामाकृतिमे ढली मेरे सम्मुख थी। मैंने उन्हे स्पर्श किया। विलक्षण ! सुकोमलता ही सुकोमलता घनीभूत हुई, मुझे उनके संस्पर्शमें अनुभूत हो रही थी।

अरी बहिन ! मैंने उन्हे सूॅंघा । महदाश्चर्य !! उनके सभी अग-अवयव मात्र घनीभूत सर्वोत्तम सुगन्ध थे। फिर बहन ! मैंने उन्हें आलिंगित किया। बहिन! सर्वांगोसे मात्र वे मेरे प्रीति भाव ही थे। तो क्या वे नन्दनन्दन, यशोदोत्संग लालित नहीं है ? निश्चय ही हैं। परन्तु वे कोई हड्डी-मास से बनी शरीराकृति सर्वथा नहीं हैं । वे अस्तित्वतः, सत्तातः घनीभूत प्रीतिपुञ्ज हैं। अरी बहिन भाव का निवास द्वारका, मथुरा, गोकुल एवं वृन्दावन नहीं हो सकता । भाव तो हृदयमें ही अखण्ड निवास करता है। जब अपना हृदय ही प्रेम शून्य हो, तभी न उनका वियोग होगा ? बहिन मंजू ! यही तो परम आश्चर्यका विषय है । सब व्रज समझता है कि वे राधाको विरहिनी, दुखिया बनाकर मथुरा चले गये।

परन्तु सत्य यही है कि उनकी प्रीति उन्हे मैं गोष्ठमें होऊँ तो गोष्ठमें, कुंजमे होऊँ तो कुजमें, यमुना किनारे होऊँ तो यमुना किनारे लाकर मेरे सम्मुख कर देती है। मैं उनसे पूछ बैठती हूँ – "प्रियतम ! तुम तो चाचा अक्रूरके रथमें गये थे, फिर लौटकर कैसे आये ?" तो वे कहते हैं – "वल्लभे ! गया तो अश्वोके रथसे था, आया हूँ प्रीतिके पखोसे उडकर।" मजू बहन ! मैं हॅसने लगती हूँ ! वे जलमें, स्थलमे, आकाशमें, मेरे प्राणोंमें, सखियोकी आकृतिमे, तुझमे, सम्पूर्ण वृन्दावनमे, यहॉं तक कि मेरे रोम-रोममें मुझे भरे दिखते हैं ।

बहिन ! वे मेरा प्रेम हैं। पहले उनकी स्मृति होती है। स्मृति प्रगाढतर होती जाती है। स्मृति प्रीतिको उद्दीप्त कर देती है। और उद्दीपित प्रीति उन्हें मेरे आलिगनमें बॉध देती है।

यही मेरा उनका प्रेम रहस्य है ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - छियालीस (४६)

# मैं तो प्रीति-पिपासिनी कृष्णा चातकी हूँ

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

मजू री ! कूबरी आज कृष्ण-महिषी है और राधा कृष्ण-विरहिनी । निश्चय ही मै कुरूपा हूँ, गुणहीना हूँ, शीलहीना, कुटिला एव कलङ्किनी हूँ। परन्तु उनकी प्रीतिस तो मुझे उन्होने आज भी वचित नहीं ही किया है। वे मेरे पास न सही, व मुझे त्यागकर चले गये, परन्तु मैं अभागिन उनकी प्रीतिसे तो पूरी सुहागिन हूँ ही। मजू बहिन ! यदि उनकी प्रीति मुझे त्याग देती तो मैं एक क्षण भी जीवित नही रह सकती थी।

मजू ! वृषभानु-दुहिताका सब भोग ऐश्वर्य, उसके प्रति दासियो और प्रजाका वह प्रेम कुज, वन, नद, नदी, गिरि-काननोंका सब सौन्दर्य, मोर, हस, शुक-सारिकाओका वह केलिकलरव, सब स्वप्न-विलास था। उनके साथ था, उनकी वस्तु थी, सब उनकी रुचिके लिये था, उनके साथ चला गया। परन्तु उनका प्रेम मेरा था, वह कभी मुझे छोडकर कहीं नहीं जा सकता। उनका देह-सुख-सयोगका भोग किसी दिन वे मुझे दे रहे थे, अब चाहे कूबरी को दे अथवा द्वारका-महिषियोको प्रदान करें। मजू ! तू तो मेरी साक्षी है, मैं तो तब भी इस सबसे निरपेक्ष थी। उनको सुख होता था अतः उनके सुखके लिये जो भी रस-विलास वे देते, भोगती थी, अब उनके सुख और रुचिके लिये उसे त्याग दे रही हूँ। न तब मेरी भोगासक्ति थी, न अब कोई त्यागाग्रह है। मैं उनका रूप देखती थी किन्तु मात्र इसीलिये कि मुझे अपना स्वरूप-दर्शन कराके वे सुख अनुभव करते थे। मैं उनकी वेणुमाधुरी सुनती थी, क्योंकि मुझे सुनाने के लिये ही वे वेणु बजाते हुए सुख-समुद्रमे डूब जाते थे। क्या उस समय मेरे मनमे उनको भोगनेकी कामना थी ? मजू ! कदापि नहीं। उस समय यदि भोक्तृत्वका किंचित् लेश भी मुझमे होता तो आज भोगोका अभाव मेरी उनके प्रति प्रीतिको खा जाता। परन्तु उस समय वे ही राधाके भोक्ता थे और आज भी वे ही ज्यो-के-त्यो राधाके भोक्ता हैं। उस समय वे सयोग दान देकर राधाको भोग रहे थे और आज वे ही वियोग दान देकर राधासे रमण कर रहे हैं। मैं तो

दाताकी रुचिपर उस समय भी न्यौछावर थी और आज भी दाताकी ही रुचि पर न्यौछावर हूँ।

मजू ! ये यमुनाके घाट साक्षी हैं, सयोगमे भोग होता है और वियोगमे प्रेम। उनके अनन्त मिलनदानसे मैं कभी तृप्त नहीं हुई। नयनोमे उनका रूप प्रतिदिन ही भरती थी परन्तु वह रूप सदा मुझसे पृथक्, बाह्य ही रह जाता था। हॉं ! उस रात जब वे मुझसे मथुरा जाने की अनुमति लेने आये थे, मैंने मजू, उनका रूप बाहरसे भीतर उतार लिया था। बस, जब उनका आगमन गमनमे परिवर्तित हुआ, मैंने भीतरवालेको बाहर कर लिया। अक्रूर अवश्य बाहरवालेको रथपर बैठाकर मथुरा ले गया। परन्तु जो मेरे भीतर बस गया था, वह तो ज्यो-का त्यो अछूता मेरे पास है ही। वह तो जाता भी कहाँ ?

देख री, वे मेरे हृदयके भीतर बैठे हैं। वे हँस रहे है। उनकी मुसकान उनकी आनन्द बिखेरती चितवन मेरे हृदयमे सुखका निझर बनी फूट रही है। वे मरे है, मरे हृदयमे उनका नित्य निर्बाध निवास है। मेरे हृदयमे विरहकी अग्नि यदि धू-धूकर जलती है, तो वे क्या उस तापसे सर्वथा अछूते रह पावेगे? इसीलिये मजू ! वे मथुरा जावे, द्वारका जाये मैं सदा सुखी रहती हूँ। मेरा दु:ख जब उन्हे निश्चय ही दु:ख-पीडित कर ही देगा, तो मेरा विरह-विकल होना, क्या उचित होगा ? अरी पगली ! प्रेम तो एकताका ही पर्याय है। एकात्मता ही यदि उनसे मेरी नही हो पायी, तो प्रेम है ही कहाँ ? और यदि मेरी उनसे प्रगाढ एकात्मता है, तो उनका सुख ही तो मेरा सुख है । मेरे दु:खकी ज्वालासे वे झुलस जावे, मेरी तीव्र विरहाग्नि उनको विकल कर दे, उनका मनोनुकूल सुखसे वचितकर यहाँ मेरे निकट ले आवे, तब तो मै घोर कामुकी हो उठूँगी, प्रीति तो मेरे आर्श्व-पार्श्वमे ही कहीं नहीं होगी । मजू ! मै कामुकी, कृष्ण-सुख भोग-लोलुपा नहीं, मात्र कृष्ण-प्रीति-पिपासिनी कृष्णा-चातकी हूँ।

मजू बहिन ! मैं तो उनकी सब प्रकारसे दासी हूँ। मेरे नेत्र उनके रूपके दास हैं, मेरी श्रवणेन्द्रियॉं उनकी वेणु-माधुरीकी दासियाँ हैं। मेरी त्वचा उनके स्पर्शकी दासी है, मेरी रसना उनके अधरामृतकी और मेरी नासिका उनके गन्धकी नित्य दासी है। मेरा मन उनके मनका, बुद्धि उनके निर्णयकी और मेरी अस्मिता उनके अहकारकी नित्य दासी है। मुझे तो वे मेरे स्वामी ही दिखते रहे। मैं उनके हाथकी यत्र हूँ और वे यत्री। मै तो उनके कण्ठकी माला हूँ। वे पहने, न पहने, किसी कोनेमें रख दे, मैं उनकी नासिकाको सुगन्ध देती रहूँगी। वे मुझे धरापर गिरादें, मैं उनकी चरणधूलिको मस्तकपर सराहूँगी । वे पैरोंसे कुचल दें, मेरा सौरभ उनके हाथो-पैरोमे लगकर धन्य हो जायेगा। मेरी स्वतत्र सत्ता ही क्या है ?

मैं तो उनके ही लिये थी, उनमें विलीन हो जाना ही तो मेरा सौभाग्य है।

अरी बहिन ! कोई अपने उपकरणसे द्वेष करता है ? बच्चा अपने क्रीडा-कन्दुकको कितना प्यार करता है ? वे उसके खिलौने ही उसका सब धन होता है। जब वे अपनी बाँसुरी एव लकुटीको ही बिसार दिये और छोडकर चले गये, तो राधाको भी बिसार दिये हैं।

मजू ! लोग समझते हैं कि मात्र नदियाँ ही समुद्रको प्रेम करती हैं, उसके लिये दौड रही है । लोग समुद्रको निष्ठुर, लापरवाह, कहकर धिक्कारते हैं। परन्तु बहिन ! यह पूरा भ्रम ही तो है । नदियोका जल तो समुद्रके प्रेम स्वभावसे ही है। नदियोका उफान, मात्र किनारे आप्यायित करता हे, किनारे के दो चार गॉव ही उसकी बाढसे सिक्त होते हैं परन्तु समुद्र जब उफनता है तो मेघों की लोरे सम्पूर्ण व्योम को ही घेर लेती है, ऊँचे-ऊँचे, गर्वसे मस्तक उठाये पहाडोका अणु-अणु समुद्रकी प्रीतिवर्षासे पूरा सिक्त हो जाता है और तब समुद्र निर्झर बनकर फूट पडता है। नदियॉ तो रिक्त है, समुद्र ही अपना प्रीति जल भरकर उन्हे प्रवाह देता है और समुद्रका प्रेम ही 'नदी' नाम हो जाता है उसकी वह समवेत प्रीति ही नदी बनकर समुद्रसे मिलने दोड पडती है ।

इसी प्रकार मजू, लोग समझते हैं, मछलियॉ ही जलसे प्रेम करती हैं। क्या जल मछलियोसे हीन रह पाता है ? एक छोटा-सा पोखरा भी तुम्हें किसी मछलीके बिना नही मिल सकता । जैसे मछली जलके बिना प्राण त्याग देती है, जलमे भी उसकी सत्ता रहनेतक मछली अवश्य रहेगी ।

बहिन मजू ! प्रियतमका प्रेम ही तो राधामे 'राधा' बना है। प्रियतमने अपना प्यार भरकर एक गॅवार ग्वालिनीको राधा बना दिया ! उन्होने इस कुरूपा ग्वालिनीमे अपना इतना अधिक प्रेम उॅडेला, उसके रोम-रोम में प्रियतम-ही-प्रियतम भर गये।

मजू री ! जैसे बूँद जब जलकी होती है, तो उस बूँदमें जल-ही-जल होता है। कण यदि पृथ्वी का है, तो उस कणमें पृथ्वी-ही-पृथ्वी है, अन्य कुछ नहीं। किरण यदि प्रकाश की है तो उस किरणमे प्रकाशके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। एक लघु टुकडा भी यदि स्वर्णका है, तो उसमें स्वर्ण-ही-स्वर्ण है, अन्य कुछ भी सभव ही नहीं। इसी प्रकार यदि राधा कृष्णकी है, तो उसमें सबकुछ कृष्ण-ही-कृष्ण है, कृष्णसे हीन राधा कहीं कुछ भी हो ही नहीं सकती। राधासे श्रीकृष्णको हटाया, दुराया, मिटाया जा सकता ही नहीं।

प्रियतम मेरे हैं, एकमात्र एकान्तिक मेरे हैं।

**राधा राधा राधा राधा**

श्रीपोद्दारमहाराज

पता नहीं कुछ रात-दिवसका, पता नहीं कब संध्या-भोर

प्रसंग - सैंतालीस (४७)

# इन भावनाओंको लिपिबद्ध मत कर

भाईजी ! आज पूजामें बैठा था। अचानक श्रीकृष्ण व्यक्त हो गये। कहने लगे – "इन भावनाओंको लिपिबद्ध मत कर। तेरा भाईजीको सब लिखना और उन्हे अपनी मन स्थिति अवगत करा देना अबतक उचित ही था, परन्तु ये पत्र किसी अनधिकारीके पास जा सकते हैं। अबतक की तेरी अनुभूतियाँ जगत्में प्रेम-साधना करनेवालोंके लिये अनमोल ही होंगी। परन्तु, आगे जो भी तुझे लीलादर्शन होगे, वे इतने गोपनीय एवं प्रेम-रहस्योसे भरे होगे कि उनकी किसी भी अपात्रको गन्ध भी नहीं लगनी चाहिये। अत आजसे इनका लिखना ही स्थगित कर दे। आपके पाससे ये मेरे पत्र किसी अपात्रके पास जावे इसकी सभावना तो सर्वथा ही नहीं है, परन्तु फिर भी न-जाने क्यो उनकी इन्हे लिखनेमे अतिशय अरुचि है। अत यह सब लिखना स्थगित कर रहा हूँ। वैसे आप और मेरे आराध्य श्रीकृष्ण कोई पृथक् सत्ता तो है ही नही। आज आपने सत्सगमे भी ऐसा ही सकेत किया था कि प्रेम-भावना गुरुक सम्मुख भी प्रकट नहीं करनी चाहिये। क्योकि यदि गुरु सर्वज्ञ है, तो वह अन्तर्-हृदयकी सब बातें जानता ही है, और यदि वह सर्वज्ञ नहीं है, तो शब्द हृदयकी विशुद्ध प्रीतिका सही चित्र रख ही नहीं सकते। शब्दोसे यथार्थ विशुद्ध प्रीति-भावना किसीको भी बतलायी नहीं जा सकती। अत. उसे मन-ही-मनमें परम गोपनीय रूपमे स्वय ही आस्वादन करता रहे। गुरु परम अधिकारी शिष्यको भी यह प्रेमरस की भावना कहकर नहीं प्रदान करे। क्योकि अधिकारी शिष्य तो गुरुके चिन्तन मात्रका सग्रहण कर लेता है, और अनधिकारी शिष्य इसको निश्चय प्रच्छिन्न काम-भावना ही मानेगा। अत ये सभी भावनाये परम गोपनीय ही रहनी परमावश्यक है। ये कथा कहानी एव साहित्य नहीं है। ये तो गूँगेका गुड-स्वाद है। ये सुनने-पढनेकी वस्तु ही नही है। इनमे कोई भाग्यवान् ही डुबकी लगाता है।

आपके सत्सगको सुनकर पूजामे बैठा, तो बार-बार श्रीकृष्ण वही अनुशासन कर रहे थे। भाईजी ! मै देख रही हूँ और वे विलक्षण-विलक्षण लीला दिखला रहे हैं। जब सेवाके समय मानसिक-जगत्मे अपनेको जो भी अनुभव करता हूँ, जिस गोपी-देहकी मुझे अनुभूति अपने रूपमें होती है, उस देहका अनुभव भी तो मेरा मन ही तो कर रहा है। और मन श्रीकृष्ण स्वय है। इसलिये ऐसा तथ्य अनुभवमें आता है कि इस देहके छूटते ही, मैं अपने उस मानसिक-देहमें प्रविष्ट

हो जाऊँगी और श्रीकृष्णमयी हुई श्रीकृष्णमयी लीलाओमे अनन्त कालके लिये सम्मिलित हो जाऊँगी, यही मेरी चरम एव परम गति होगी।

भाईजी ! इतने अधिक भावोंकी तरगें उठ रही हैं कि क्या कहूँ ? कभी वियोग-ही-वियोगके दृश्य आते है, कभी मानससंयोग-ही-सयोगमे डूबा रहता हूँ। ऐसा नहीं कि क्रमश सयोग एव तव वियोग हो। बस सयोगके मध्य ही वियोगका दृश्य हो आता है और वियोगके मध्य ही सयोग प्रकट हो जाता है। सयोगके समय ऐसा अनुभव होता है कि उनसे वियोग तो असभव है, किन्तु दूसरे ही क्षण वियोगमे ऐसी अथाह ज्वाला उठती है कि लगता है उनसे कभी सयोग हुआ ही नहीं। भाईजी ! इतनी ही लीला नही है, इससे भी परे अनन्त आस्वादन है, अनन्त लीलाये हैं, परन्तु क्या है, पता नहीं। वे अनन्त लीलामय हैं। उनकी लीलाके एक कणने ही सचमुच निहाल कर दिया है। भाईजी ! मैं तो श्रीकृष्णकी प्रिय-से-प्रिय वस्तु हूँ। भाईजी ! मुझे जो राधारानी दिखती हैं, वे तो सरलताकी चरम सीमा हैं। उनमे सर्वज्ञता आदि गुण सर्वथा नही है।

भाईजी ! जब कभी सोचता हूँ आप सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ है, मेरे आत्मीय-से-आत्मीय है, आपको वे (श्रीकृष्ण) अतिशय प्यार करते है, इस नाते ही मैं श्रीकृष्णकी प्यारी हूँ, या आप स्वय श्रीकृष्ण ही है, अथवा मेरी प्रोणापम सखी राधारानी हैं – बस, आनन्दमे भर जाता हूँ, आनन्दकी बाढ़ आ जाती है। आपके चरणोमें मानसिक रूपसे लोटने लगता हूँ। आपके द्वारा लिखे 'गोपीभावकी साधना' शीर्षक लेखमे आपने जो भी लिखा है, वह सर्वस्व-अर्पणका उच्चतम चित्रण है। कभी-कभी लगता है, ऐसा मानसिक जगत्में तो मेरा भाव है, परन्तु यह मेरे देहमे भी भीतरी स्वभाव बन जाता, तो निहाल हो जाता। **'आमि कृष्णपद दासी'** महाप्रभुकी यह व्याख्या एव आपके गोपी-भाव लेखके कुछ अश प्रेमभावके इतने उच्चतम चित्रण हैं कि त्यागपूर्ण समर्पणकी भावनामे तन्मय हो जाता हूँ। ये सभी मेरे भाव सुनकर आप दया करेंगे, प्रेम करेंगे या पागल कहकर घृणा करेंगे, कुछ अनुमान नहीं। एकाकी प्रवाहमे बह रहा हूँ, लिखते-लिखते कुछ-का-कुछ लिखा चला जाता है। क्रियामे स्त्रीलिंग, कभी पुलिंग जैसा मनमे आया, करता गया हूँ। सम्बोधनोमें 'भाईजीके' स्थानपर कभी 'बहन' ! भी सम्बोधित हो गया है। मनमे आया, मैं रानीकी सेविका मजुलीला हूँ, अत 'मजु री !' ऐसा सम्बोधन रानीद्वारा हुआ है। मेरे हृदयकी ओर देखते हुए कोई घृणाके योग्य बात हो, तो क्षमा कर दीजियेगा। मनकी यही दशा है। क्या होगा, पता नहीं । इतना लिखकर समाप्त कर रहा हूँ।

**राधा राधा राधा राधा**

# महाभाव-दिनमणि

# श्रीराधाबाबा

## द्वितीय-खण्ड

(वार्त्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार, लेख)

## अध्याय आठवाँ

## (भक्त-महिमा)

(श्री शिवकुमारजी केड़ियाको लिखे पत्र)

# सार-संक्षेप

*"स्वामीजी ! मुझे 'मैं शरीर हूँ' यह प्रायः बोध नहीं रहता। जैसे हम पूर्वजन्मके शरीरोंको सर्वथा भूल जाते हैं, वैसे ही, इस शरीरको भी अधिकांशतः भूला रहता हूँ। कभी इस देहके स्थानपर श्रीकृष्ण, कभी श्रीराधारानी, कभी कोई गोपी, कभी राम, कभी शिव, कभी भगवान् नारायण, मेरा सब यथायोग्य व्यवहार कर जाते हैं। आपसे इस समय कोई प्रापञ्चिक अहंकार सर्वथा वार्त्ता नहीं कर रहा है। जैसे किसी परम विशुद्ध चित्सत्ताकी किसी गहरे कूपसे प्रतिध्वनि गूँज रही हो, इस शरीरसे परमोच्च चित्सत्ता ही क्रियाशील हो रही है। कभी-कभी यह शरीर दिखता है, परन्तु उस कालमें - कोई विश्वास नहीं करेगा कि त्रिगुणात्मक पंचभूत, चिन्मय होने कैसे संभव हैं, परन्तु भगवान्‌की अन्यथाकुर्तुम्- सामर्थ्य कहें, यह शरीर भी पूर्ण सन्धिनी-शक्तिकी परिणति - चिन्मयरूप ही अनुभव होता है। यदि वह त्रिगुणात्मक प्राकृत शरीर भी रहता हो, तो इसके भीतरसे प्रतिध्वनि की तरह कभी कोई बोल जाता है, किसी वस्त्रकी तरह इसे कभी कोई पहन लेता है, इसमें परमोच्च आध्यात्मिक शक्तियाँ विचित्र-विचित्र प्रकारकी लीला करती रहती हैं।"*

x x x x x x x x

*भला बताओ, इस निर्दोष, अकारण हितू भक्तकी झूटी निन्दा करनेवालेको मैं कैसे क्षमा कर सकता हूँ ? फिर तो मेरे शरणागत भक्त मुझ सर्व-रक्षा-समर्थके रहते अरक्षित हो जायेंगे। यह तो धनाभिमानी एक नरक-कीट, तुच्छ, जीव था, भक्तराज पोद्दारका यदि मेरी अर्द्धांगिनी लक्ष्मी भी तिरस्कार करे, तो मैं उस विनाशरहित लक्ष्मीका भी त्याग कर दूँ।*

x x x x x x x x

*भाईजी की दृष्टि इतनी पवित्र एवं सम है कि उन्हें तो चाहे कोई नारकीय कीडा हो, कोई अति सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञ सन्त हो, सभी समान भगवद्रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। भाईजी सब जीवोंको गुण-निरपेक्ष, ज्ञान-निरपेक्ष और भक्ति-निरपेक्ष प्रेम करते हैं। उन्हें किसीसे कुछ आशा तो है नहीं, उन्हें तो सबको भगवद्भाव वितरित करना है, सो वे उसे सर्वत्र सभीमें वितरित करने - जहाँ भी ममत्व देखते हैं, पहुँचते ही हैं।*

।। श्रीराधा।।

प्रसंग - एक

# भक्त-महिमा

*प्रस्तुति :*

## परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केड़िया

*स्थान :*
रतनगढ़, (बीकानेर राज्य)
दिनांक : १३-२-४१ ई.

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केड़ियाकी
कापीसे प्रतिलिपि

## आलोक

### (श्रीशिवकुमारजी केड़ियाका संक्षिप्त वंश एवं जीवन-परिचय)

वैश्योंमे अतिशय साहसी, धर्मनिष्ठ, उद्योगशील, नीति-निपुण, प्रतापी, ऋजु-प्रकृतिके अग्रवाल होते हैं। 'अग्रेभवा' अग्रवाल-यह किवदन्ती सर्वत्र प्रचलित है। 'अग्रे' का अर्थ है, जो आचरणोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, वे 'अग्रवाल' कहलाते हैं। पुरातनकालमें जो वैश्य, तपस्यारत अग्निहोत्री ब्राह्मणोंकी समिधाके लिये अगरु-काष्ठका संचय करते थे – वे अगरुवाल या अग्रवाल कहलाये। त्रेताके प्रथम चरणमें महाराजा अग्रसेन इसी जातिके हुए हैं। ये परम ब्राह्मण-भक्त धर्मनिष्ठ राजा थे और भारतके पश्चिमोत्तर राज्योंसे लेकर समुद्र-तटपर्यन्त सम्पूर्ण भारतभूमिपर इनका एकछत्र राज्य था। इनकी राजधानी अग्रवन (आगरा) में थी। अग्रवाल जाति इनकी ही सन्तान हैं। इन महाराजा अग्रसेनने अठारह विवाह किये, परन्तु किसी भी रानीसे उनके कोई सन्तान नहीं हुई। राजाको निस्संतान जानकर सभी महर्षिगण एकत्रित होकर विचार करने लगे। महात्मा गर्गाचार्य एवं सभी ऋषियोंने मिलकर महाराजा अग्रसेनसे उनकी प्रत्येक धर्मपत्नीके सहित पृथक-पृथक् अठारह पुत्रेष्टि यज्ञ कराये। राजाके इन यज्ञोंके फलस्वरूप प्रत्येक पत्नीसे एक-एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इन अठारह पुत्रोंके नाम अठारह ऋषियोंके ऊपर रखे गये। अग्रवालोंके गोत्रोंमें सर्वप्रथम महर्षि गर्गाचार्यके

नामका 'गर्ग' गोत्र आता है। केडिया जाति इस गर्ग गोत्रके अन्तर्गत ही है। केडिया जातिकी प्रशस्तिमे राजस्थानके भाटो-चारणोका यह दोहा बहुत ही प्रसिद्ध है –

**करतब बॉका केड़िया, धर्म घणा पोद्दार ।**
**गोत अठारह मध्यमें, धडाबन्द दातार ।।**

केडिया जातिके आदि पुरुष पाहूरामजी अग्रवाल थे। स. १५१५ वि वैशाख शुक्ला द्वादशीके दिन इन्होने एक चमत्कारी भूखण्डमे कैर (करील) की टहनीका रोपण करके 'केड' नामक नगर बसाया था। श्रीपाहूरामजी इस केड नगरके चौधरी (मुख्य व्यवस्थापक) रहे। केड नगरके निवासी होनेसे श्रीपाहूरामजी अग्रवालके वशज केडिया कहलाये। बादमे इनके वशजोको बिसाऊने, तत्कालीन राजाने अनेक विशेषाधिकार देकर बसा लिया। इस वशके लोगोकी ईमानदारी, धर्मनिष्ठा, भगवत्परायणता, व्यापार-कौशल देखकर बीकानेर महाराजा सरदारसिहजी बहुत ही प्रभावित हुए और उन्होने इनके वशज श्रीनन्दरामजीको बिसाऊसे अपने राज्यमे बसानेकी इच्छा प्रकट की। श्रीनन्दरामजी ऊँटोके काफिलोपर पशमीना, सूखे मेवा, हींग आदि माल लाकर पाली-मारवाड़ आदि शहरोमे बेचा करते थे। ये सभी सामान ये अमृतसर, लाहौर आदि नगरोसे खरीदा करते थे। उन दिनो ठगो और डाकुओंका बहुत जोर था। परन्तु ये इतने शूरवीर एव प्रभावशाली थे कि इनका माल कभी लूटा नहीं जाता था। रेलो और ऊँटों द्वारा आने-जानेवाले मालका ये बीमा लेनेका काम भी करते थे। इनके बीमेका माल सुरक्षित ही पहुँचता था।

धर्म इनका प्रथम पुरुषार्थ था। ये विष्णुसहस्रनामके इक्कीस पाठ किये बिना कभी अन्न ग्रहण नहीं करते थे। इनका बम्बई, जयपुर, अमृतसर, काश्मीर, पटना, कलकत्ता, दक्षिण हैदराबाद आदि अनेक स्थानोमें व्यापार था। फीरोजपुरमे नूरपुर आदि पॉच गॉवोकी बहुत बडी जमींदारी इन्होने खरीद रखी थी।

बीकानेर-नरेश श्री सरदारसिहजीके आग्रहपर इन्होने बिसाऊ छोडकर श्रीमहाराजाके पिता रतनसिहजीके नामपर रतननगर बसाया। इन्होने नगरके चारों ओर पक्का प्राचीर ओर लक्ष्मीनारायणजीका सुन्दर मन्दिर बनवाया। यह रतननगर चूरू एव रामगढके मध्य महनसरसे तीन कोसकी दूरीपर है।

श्रीनन्दरामजीके पुत्र श्रीअर्जुनदासजी केडिया थे। ये सस्कृत एव हिन्दी भाषाके पण्डित, कवि एव सिद्ध शिवभक्त थे। श्रीअर्जुनदासजी अपने मरणावसरके सम्बन्धमे भगवान् शकरसे सदा यह याचना किया करते थे -

**'अन्तसमय करुणानिधि मेरे । ये सब सुलभ होहिं प्रभु प्रेरे ।।**

**कासी भूमि भगीरथि कूला । कुसा सयन मुद मंगल मूला ।।**
**तुलसीवन वर विप्रन आसी । दरसन सिव स्वरूप सन्यासी ।।**
**गल रुद्राक्ष विबुधसरि बारी । भाल भसम तन निज सम कारी ।।**
**शिव शंकर हर पशुपति नामा । जपै जीह अविरत अविरामा ।।**
**छवि कमनीय कथित कर ध्याना । अविचल चित चलितेहु प्रियप्राना ।।**

भगवत्कृपासे आपकी यह अभिलाषा सोलहो आने पूर्ण हुई। यहाँ तक कि "दरसन सिव स्वरूप सन्यासी" भी हुआ। एक योगिराज सन्यासी स्वतः इनकी मृत्युकालमे वहाँ उपस्थित हुए और दरसन देकर कुछ समयके उपरान्त चले गये। मार्गशीर्ष कृष्णा १४ सं० १९८७ को आपको ज्वरातिसार हुआ। धीरे-धीरे उसका प्रकोप बढ़ता गया। बारह दिवस रुग्ण रहनेके उपरान्त मार्गशीर्ष शुक्ला ११ के दिन, सोमवारको प्रातःकाल आपका कैलास-वास हुआ।

आपने चैत्र शुक्ला द्वादशी संवत् १९८२ वि० को काशीवास प्रारम्भ कर दिया था और फिर मृत्युपर्यन्त स्थायीरूपसे काशी ही रहे। ये भूमिशयन करते और अपना सम्पूर्ण समय सरस्वतीकी सेवाके अतिरिक्त शिवाराधनामे ही लगाते थे।

आश्विन सं० १९७७ वि० में बीकानेर में तत्कालीन महाराजा श्रीगंगासिंहजी युवराज-पदपर प्रतिष्ठित हुए। इसके पूर्व महाराजा नाबालिग थे। राज्य-शासन अंग्रेज रेजीडेण्ट द्वारा किया जाता था। इस अवसरपर बीकानेर शहर एवं सर्वत्र राज्यमें महोत्सव मनाया गया।

उस समय सभी प्रतिष्ठित नागरिको एवं विद्वानोको निमंत्रण दिया गया। इस उत्सवमें महाराजा गंगासिंहजीने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको, राज्यके अतिशय मेधावी छात्र समझकर काशीसे विशेष बुलावा देकर निमंत्रित किया। ये बीकानेर राज्यके प्रथम ऐसे मेधावी छात्र थे, जो Entrance परीक्षासे ग्रेजुएशनतक लगातार विश्वविद्यालयमें प्रथम एवं सर्वाधिक अंक प्राप्त करनेवाले छात्र रहे। इस अवसरपर श्रीकेडियाजीको भी सम्मान्य नागरिकके रूपमें निमंत्रण मिला था। चिम्मनलालजी गोस्वामीकी प्रकृति आपकी प्रकृतिसे बहुत ही मिलती थी। अतः दोनोके मन ऐसे मिले कि कभी फटे ही नहीं। समान विद्या-व्यसनी होनेके कारण इनका सख्य सदैव एक-रस रहा। दोनों विद्वज्जनोंमे जैसा सौहार्द था, वैसा ही औदार्य, वैसा ही शौर्य और स्थैर्य भी था। आरब्धकार्यको न त्यागनेवाले उत्तमजनोंमे आप दोनो थे। यद्यपि दोनोकी वयमें बहुत असमानता थी, श्रीकेडियाजी यहाँ वानप्रस्थोन्मुख वयके थे, वहीं श्रीचिम्मनलालजी यौवनकी देहलीमें पैर रख रहे थे। परन्तु दोनोके ही लिये अपने जाति-समाज एवं देशमे

'गुणोका गाडा'' विशेषण प्रयोगमें लाया जाता था। दोनों परस्पर जब भी मिलते, सारस्वत-चन्द्रिका, कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदिके प्रबन्धोपर घण्टो साहित्यिक-वार्त्ताका आनन्द लेते। उस समय इनकी मण्डलीमे बाबू फतेहसिंहजी साहब (बीकानेर के चीफ कोर्टके जज) शेख मोहम्मद इब्राहीम साहब (बीकानेर हाईकोर्टके जज) आदि रहा करते थे।

इसी अवसरपर महाराजाकी ओरसे घोषणा की गयी थी कि यदि समागत सज्जनोमे से कोई राज्य सचालन-सम्बन्धी नूतन परामर्श दे, तो उससे लाभ उठाया जायेगा। उन दिनों चाटुकारीका युग था, अत आप दोनोंके अतिरिक्त सभी आमत्रित व्यक्तियोने राज-व्यवस्थाकी मात्र प्रशस्तियोंका ही उल्लेख किया। इस बीच, आप दोनों साहसपूर्वक खडे हुए और यह कहा कि हमे इस सम्बन्ध में निवेदन करना है। श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका निवेदन यह था कि ''प्रजाकी पुकार सुननेके लिये महाराजा साहब सप्ताह पक्ष, या मासमे एक दिवस ऐसा नियत करनेका अनुग्रह करें, जिस दिन निर्बाधरूपसे प्रजा महाराजा साहबकी सेवामे अपना सुख-दु ख निवेदन कर सके।''

श्रीअर्जुनदासजी केडियाका सुझाव यह था कि जकातके लिय स्त्रियोंकी तलाशी नहीं ली जावे।'' इसपर जकातके तत्कालीन अफसर तैश में आकर बोल पडे कि ''क्या औरतोको बेपर्द किया जाता है ?'' श्रीकेडियाजीका अति निर्भीकतापूर्ण उत्तर था कि ''हॉं, क्योंकि किसी भी सभ्य जातिकी महिलाओंकी जकातके लिये तलाशी लेना तो क्या, तलाशी देनेके लिये उनसे कहा जाना भी उन्हे नगी एवं बेइज्जत करना है। यदि ऐसा करनेसे राज्यकी आयमें कमी पड़े, तो मेरा निवेदन है कि जकातकी दर बढाकर उसे पूरा कर लिया जाय।''

महाराज श्रीगगासिहजी पर इन दोनों की निर्भीक सलाहका बहुत असर पड़ा और दोनों ही सुझाव आगे चलकर कार्यरूपमें परिणत हो गये। श्रीगगासिंहजी महाराज तो इन दोनोसे इतने प्रभावित थे कि आगे जाकर श्रीअर्जुनदासजी केडियाको तो अपनी एक्जीक्यूटिव कौंसिलका सदस्य बनाया और श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीजीको इसी कौंसिलका सेक्रेटरी नियुक्त कर दिया। कर्नल राव बहादुर राजा हरिसिहजी सी आई ई (महाराज) ने दरबारकी ओरसे आप दोनोंकी प्रशस्ति करते हुए कहा कि दरबारको इस बातसे बडी प्रसन्नता है कि राज्यमें ऐसे स्पष्टवादी मतिमान् प्रजाजन हैं। हमारी प्रजा मात्र भेडोकी टोल नहीं है कि ऑख मूँदे चलती जावे, उसमे राज्यभक्तिके साथ-ही-साथ आत्मसम्मान भी कूट-कूटकर भरा है।

उन दिनों बीकानेरमे शेख मुहम्मद इब्राहीम चीफ जस्टिस (जज) थे।

इनको मुशायरेका बहुत शौक था। श्रीचिम्मनलालजीके साथ श्रीअर्जुनदासजी वहाँ भी जाया करते थे। एक दिवस महफिलमें शायर लोग "रंगलाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर" – इस तरह पर अपनी-अपनी शायरी सुनाने लगे। श्रीकेडियाजी आशुकवि थे, अतः महफिलमें ही बैठे-बैठे दोनोंने मिलकर इसकी पूर्त्ति कर डाली। श्रीचिम्मनलालजीने इस नज्मको अपने सुमधुर-कण्ठसे गाकर सुनायी। मजलिसमे इसकी खूब वाह-वाही हुई एवं दाद दी गयी। समस्या-पूर्त्तिकी कविता निम्न है –

**"रंग लाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर"**
**गुरु गोरखका हुआ जबसे तू चेला होकर ।**
**खाक मलके घूमा बियाबाँमें अकेला होकर ।।**
**पा लिया नूरे खुदा जिस्म घिनैला होकर ।**
**रंग लाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर ।।**

श्रीअर्जुनदासजी केडियाकी मृत्यु सन् १९३० ई, तद्नुसार मार्गशीर्ष शुक्ला ११ सोमवार स १९८७ वि. को काशीमें हुई। आपके देहावसानके अनन्तर स १९८९ वि. में चूरूमें सर्व-हितकारिणी सभा द्वारा आपकी प्रतिमाका उद्घाटन वहाँके तहसीलदार, प जेठमलजी आचार्य बी.ए एलएल. बी के सभापतित्वमें हुआ। इस अवसरपर चूरू, रतनगढ़ एवं रतननगर आदिके प्रमुख विद्वान् एवं महाजनोंके अतिरिक्त काशीके श्रद्धेय प. मदनमोहनजी शास्त्री, कल्याण-सम्पादक पं श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, सम्मान्य सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका आदि सभी महानुभाव उपस्थित थे।

श्रीशिवकुमारजी केडिया आपके ज्येष्ठ पुत्र थे। अपने पिताकी ही तरह इनमें भी भगवद्भक्ति भरी थी, परन्तु इनकी भक्तिधारा भगवान् शंकरकी ओर न होकर, भगवान् श्रीकृष्णकी ओर बह चली थी। भगवान् श्रीकृष्णकी इनपर अतिशय कृपा थी। ये अपने पिताके समान ही कवि थे और भगवान् श्रीकृष्णको कविताके रूपमें प्रतिदिन अपनी विनय सुनाया करते थे। श्रीशिवकुमारजीकी प्रार्थना, जो वे श्रीकृष्णसे प्रतिदिन किया करते थे। नीचे दी जा रही है।

**सुन्यौ गुन्यौ सीख्यौ न कछु कृष्ण चहौं नत होइ ।**
**हित मेरो जस रावरो होइ, कीजिये सोइ ।।**
**केहि गिनती हौं, किन्तु हौं, विनती करौं समास ।**
**करिय कृपा करि कृष्ण नित निज दासनको दास ।।**
**मोसो अधम न कृष्ण ! कोउ तोसौं अधम-निवाज ।**
**यह विचारि कीजिय कृपा, बरद-बरद व्रजराज ।।**

**एक कृष्ण अघहरन तुम, हौं अधमन सिरताज ।**
**विलग न जानहु, जायगी वरद ! विरदकी लाज ।।**
**कीन्हीं कृपा कृपा-यतन ! दीन्हीं मानुष देह ।**
**कृष्ण पतित-पति पेखि अब तोरन लगे सनेह ।।**
**मो पति हूजिय जगतपति ! न तु जग अनत बसाउ ।**
**एकहु बनै न कृष्ण ! तो तजिय जगतपति नाँउ ।।**
**अघगन अगिनत जनम तें जमा किये जो जोरि ।**
**जनि हिय आइय कृष्ण तुम तुरत लेहुगे चोरि ।।**
**तुम ज्योंहू हठ हौं गह्यो हटउँन हठउँ दयाल ।**
**पतितन पावन कृष्ण ! पन तजहु, न तजहुँ कुचाल ।।**

**(भावार्थ)**

हे श्रीकृष्ण ! मैने न तो श्रवण-भक्ति की है, न ही आपके भक्त एव सन्तोंका सत्सग ही किया है। मैंन महापुरुषोंके चरणोमें विनीत होकर शिक्षा भी ग्रहण नहीं की है। मैं तो केवल आपके चरणोमे अपना मस्तक झुका रहा हूँ और यह चाहता हूँ कि जिस आपके विधानसे मेरा हित हो, वही आप करे।

आप ईश्वरोके ईश्वर हो, मैं असंख्य जीवोमेंसे एक नगण्य तुच्छ जीव, आपके सम्मुख सर्वथा महत्वहीन हूँ, फिर भी संक्षेपमें विनय कर रहा हूँ – मुझपर कृपा करिये और मुझे अपने दासोका ही दास बना लीजिये।

हे श्रीकृष्ण ! मेरे समान कोई अधम नहीं है और आपके समान कोई दूसरा अधमोंका निर्वाह करनेवाला नहीं है। हे वरदान देनेवालों (शिव-ब्रह्मादिक देवताओ) को भी वरदान देनेवाले ! मुझ पर कृपा करिये।

हे श्रीकृष्ण ! ससारमें पाप-हारी एक मात्र आप ही हो। और मैं पापियोका सिरताज हूँ। हे वरदान देकर सभीको संतुष्ट करनेवाले, मैं कुछ नहीं जानता, आपके यशकी ही हानि होगी, यदि मेरा कल्याण नहीं हुआ।

हे श्रीकृष्ण ! आपने अति कृपा करके मुझे मनुष्य-देह प्रदान की। किन्तु मुझे पतितोंका स्वामी पाकर अब क्या स्नेह-सम्बन्ध तोडनेका विचार करने लगे हो ?

हे श्रीकृष्ण ! मरे पति होनेपर ही आप जगत्पति हो सकते हैं, यदि आप मेरे पति नहीं होना चाहें, तो दूसरा जगत् भले ही बसा लीजिये, इस जगत्के पति तो आप उसी शर्तपर हो सकेंगे, जब मेरे स्वामित्वको (पतिपनेको) स्वीकार करेगे और इनमेसे एक भी बात आपसे नहीं बने, अर्थात् न ही आप मुझ-जैसे

अधमके स्वामी बनना चाहें और न ही दूसरा जगत् बसाना चाहें, तो फिर मात्र एक ही उपाय शेष है कि आप 'जगत्पति' नामका त्याग कर दीजिये।

हे श्रीकृष्ण ! मैने अनगिनत जन्मोंके पाप जमाकर-करके जोडकर रखे हैं, मेरी आशा यही है कि जैसे ही आप मेरे हृदयमे आओगे, तुरन्त उन्हे चुरा लोगे, क्योकि आप चोर-शिरोमणि हो ही।

हे श्रीकृष्ण ! आपके ही समान मैंने भी हठ कर लिया है। आप पतितोंको पवित्र करनेका हठ जब नहीं छोडते, तो मैं अपनी पाप करनेकी कुत्सित चाल क्यों छोड़ूँ ?

श्रीशिवकुमारजी केडियापर भगवान् श्रीकृष्णकी अतिशय कृपा थी। भगवान् श्रीकृष्ण इनसे स्वप्नमे बाते किया करते थे। जैसे इनके पिताने काशी त्यागकर अन्य कहीं नहीं जानेका व्रत लिया था, उसी प्रकार ये भी वृन्दावन त्यागकर कहीं नही जाते थे। परन्तु ये भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रति बहुत ही उच्चकोटिकी श्रद्धा रखते थे। इनकी पोद्दारजीके प्रति इस उच्चकोटिकी श्रद्धामें हेतु उनका श्रीगोस्वामीजी चिम्मनलालजीके प्रति पारिवारिक सम्बन्ध था। ये जब भी गोरखपुर अथवा रतनगढ आते, श्रीगोस्वामीजीके घरपर ही ठहरा करते थे। श्रीगोस्वामीजीके प्रति इनका सख्यसहित अतिशय पूज्य भाव था।

श्रीभाईजीके सत्सगके लिये ये वृन्दावनवासको त्यागकर भी ऋषिकेश, गोरखपुर अथवा रतनगढ, जहॉ भी श्रीभाईजी होते, अवश्य जाया करते और महीनो उनका सत्सग किया करते। इस सत्सगके प्रति उनकी ऐसी निष्ठा थी कि उसके लिये ये अपने वृन्दावन-वासका नियम भी शिथिल कर दिया करते थे।

पू स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज (प पू श्रीराधाबाबा) पर भी इनकी श्रद्धा थी। ये पू श्री स्वामीजीसे व्रजरसकी साधन सम्बन्धी बार-बार जिज्ञासाएँ करते एव श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दारकी भक्तिजन्य उच्च-रसमयी स्थितिके बारेमें भी उनसे प्रश्न किया करते थे। पूज्य स्वामीजीने इन्हे प्रतिदिन एक लाख नाम-जप करनेका नियम दिया एव उसे एक माहतक अनवरत पूरा करनेपर उनकी जिज्ञासाओके सम्बन्धमें कुछ बतलानेकी बात कही। श्रीशिवकुमारजीने पू स्वामीजीकी आज्ञा शिरोधार्यकी और एक लक्ष भगवन्नाम जपनेका प्रतिदिनका नियम लगातार माहपर्यन्त सागोपांग निभाया।

श्रीस्वामीजी श्रीकेडियाजीकी निष्ठासे प्रभावित हो गये एवं प्रतिदिन श्रीभाईजीकी महिमामयी स्थितिके सम्बन्धकी बातें उन्हें लिखकर दिया करते। श्रीकेडियाजीको स्वामीजीने इस प्रकार चालीस प्रसग नोट करवाये। यद्यपि

श्रीस्वामीजीने इन बातोंको अत्यन्त गोपनीय रखनेकी आज्ञा दी थी परन्तु श्रीकेडियाजी इन बातोंको अपने हृदयमें संजोकर नहीं रख सके। उनके मनमें भगवानकी मायाने श्रीस्वामीजीकी अत्युच्च श्रद्धामयी बातोंके प्रति एक क्षीण-सी अविश्वासकी रेखा उत्पन्न कर दी और वे मन-ही-मन विचार करने लगे कि इन बातोंका श्रीभाईजीसे अनुमोदन प्राप्त कर लिया जाय। यदि ये बातें सत्य हैं, तो श्रीभाईजी अवश्यमेव इनका अनुमोदन कर देंगे और अगर ये मात्र श्रीस्वामीजीके भावुकतापूर्ण विचार-भर हैं, तो बात स्पष्ट हो जायेगी। इस विचार-प्रवाहमें बहते श्रीकेडियाजी चूक गये और उन्होंने सभी प्रसंग, जो श्रीस्वामीजीने उन्हें दिये थे, एक दिवस श्रीभाईजीको दे दिये।

श्रीपोद्दारजीने वे सभी लेख, जो श्रीकेडियाजीके पास थे, पढ लिये और अतिशय उपेक्षा दिखाते हुए उन्हें श्रीकेडियाजीको वापस दे दिये। साथ ही यह टिप्पणी कर दी कि ये सब स्वामीजीकी भावुक उडान है, मैं तो मात्र एक साधारण साधक हूँ, जो कुछ शास्त्रोंमें है, उसे कल्याणमे लिख देता हूँ। मेरी ऐसी स्थिति सर्वथा सर्वांशमें नहीं है।

श्रीकेडियाजीकी, क्योंकि श्रीभाईजीके प्रति श्रद्धा अधिक थी, वे उन्हें सिद्ध-भगवत्प्राप्त पुरुष मानते थे, एव श्रीस्वामीजीको मात्र एक उच्च साधक, अत श्री भाईजी कदापि असत्य नहीं बोल सकते, एवं जब मैं उनका श्रद्धालु सत्सगी हूँ, तो मुझसे वे यह दुराव क्यों करेंगे – ऐसा सोचते हुए, उन्होने श्रीस्वामीजीकी बतायी सभी बाते मात्र उनकी भावना एव कल्पनाकी उडानें हैं- यही धारणा दृढ़ करली।

इधर श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) स्वामीजीके पास आये और उन्हे श्रीकेडियाजीको अपनी गोपनीय अनुभूतियोंको नहीं बतानेके निर्देश दे दिये। श्रीभाईजीका यही कथन था कि श्रीकेडियाजी ऐसी बाते पचा सकें, ऐसे अधिकारी नहीं हैं। श्रीस्वामीजीने सावधान होकर श्रीकेडियाजीसे वे सभी अपनी बतायी बातोंके लेख "एकबार कुछ सुधार करना है" कहकर वापस ले लिये।

श्रीकेडियाजी तो भ्रमित थे ही, उनके लिये अब वे बातें कोई महत्वपूर्ण थीं भी नहीं। उन्होंने श्रीस्वामीजीको वे सभी लेख लौटा दिये। अवश्य, उनके पास निम्न प्रसंग एक पृथक् कापीमें उतारे रह गये, जो भी उन्होने अपने पास अति उपेक्षासे ही रख छोड़े थे।

इसके पश्चात् यथा-समय श्रीकेडियाजी वृन्दावन लौट गये। उन्होंने श्रीस्वामीजीको उन लेखोंको लौटानेका आग्रह भी नहीं किया एवं न ही स्वामीजीने उन्हें वे लेख लौटाये ही।

वृन्दावन पहुँचकर श्रीकेडियाजीको स्वप्नमें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए। उन्होने श्रीकेडियाजीको सावधान करते हुए कहा कि "तुम ठगा गये हो, श्रीस्वामीजी चक्रधरजी द्वारा लिखी बातें पूर्णतया अक्षरश: सत्य हैं। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने अपनी आत्म-सगोपन वृत्तिके कारण तुम्हें छल लिया है।"

इस स्वप्न से केडियाजीके मनमें अतिशय परिताप हो उठा। उन्होने वृन्दावनसे पू स्वामीजी श्रीचक्रधरजीको अति परिताप-भरे पत्र लिखे एव वे लेख वापस भेज देनेकी प्रार्थना की। परन्तु, क्योकि भाईजीने स्वामीजीको मना कर दिया था, अत उन्होने उनकी प्रार्थना अनसुनी कर दी।

सन् १९४९ ई में श्रीकेडियाजी गोरखपुर आये थ। वे लेखकके पूर्वाश्रमके मामाजी, श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके यहाँ ठहरे थ, लखक केडियाजीको 'केडिया-मामाजी' कहकर सम्बोधित करता था। श्रीकेडियाजीके चेहरे एव हाथो-पैरोमे गलित-कुष्ठके लक्षण प्रकट होने लगे थे। पू स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराजकी प्रेरणासे उनकी चिकित्सा वहांके 'कुष्ठाश्रम'में करायी जा रही थी। पू स्वामीजीकी आज्ञासे उनकी सेवामे लेखक नियुक्त था। उन्हीं दिनो श्रीकेडिया-मामाजीके अनुग्रहसे लेखकको यह डायरी पढनेको मिली थी और उसमे उल्लेख किये इन प्रसगोंकी श्रीकेडियाजीकी अनुमतिसे लेखकने प्रतिलिपि करली थी।

उन्हीं प्रसगोंको यहाँ पाठकोके लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। सबसे महत्वपूर्ण बात इन लेखोंमे यही है कि श्रीभाईजीने, जो एक साधारण धर्म-भीरु वैश्य परिवारमे जन्मे थे, और जिनमें प्रारभकालमे वे सभी त्रिगुणात्मक प्राकृत दोष-गुण थे, जो एक प्राकृत-जीवमें होने सभव हैं — मात्र साधना करके भगवत्कृपासे कितनी उच्च-स्थिति प्राप्त की; वे साधारण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए, पत्नी-पुत्री एव उसके बालबच्चोंका यथावत् पालन करते हुए, किस पारमार्थिक उच्चतम भाव-भूमिमें विचरण करते थे, यही विशेषता यहाँ दर्शनीय है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

॥ श्रीराधा॥

प्रथम प्रसंग

# भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका सर्वदेवमय स्वरूप

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी
पोद्दारकी हवेली
दिनांक : १३-२-४१ ई.

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

*(पूज्य श्रीचक्रधरजी महाराजने दिनांक १३-२-४१ ई. को निम्न बातें श्रीशिवकुमारजी केडियाको लिखकर दीं)*

एक दिन हम दोनो (पू स्वामीजी एव भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) सायकाल रतनगढ ग्राममे धोरोमे घूमने एव शौचक्रिया करने गये थे। केडियाजी! श्रीभाईजीने पूरी बातें जो मुझे कहीं, वे सभी अक्षरश तो मैं कह नहीं सकता, परन्तु आशिकरूपसे जितनी मेरे स्मृतिपटलपर कुछ काल बाद तक रहीं, उन्हें मैंने सक्षेपमे यथास्मृति कागजमें लिख ली थीं। वस्तुत उन सब बातोको यहाँ जितने लोग हैं, उनमेसे एक भी हृदयगम कर सके, ऐसी स्थिति किसीकी भी नहीं है। उनमेंसे कुछ अंश जितना आपके लिये लाभदायक हो सकता है, उसे मैं अपनी ओरसे कुछ लपेटकर आपको लिख दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि आप इन बातोको मात्र अपनेतक ही सीमित रखेंगे। इन पारमार्थिक रहस्यमयी बातोंको कोई समझ तो सकता है नहीं। इन बातोंकी गध पाकर मित्र-भावसे ही सही, कोई इनका विकृत बतंगड ही खड़ा कर सकता है।

भाईजी कह रहे थे – "स्वामीजी ! अनेक व्यक्ति मुझसे व्यवहार करते हैं। स्त्री-पुरुष, नौकर-चाकर, सन्त-असन्त, साधक-सिद्ध, साधारण-असाधारण, धनी-गरीब, अच्छे-बुरे – सैकड़ों लोग अपनी नई-नई, भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ मेरे सम्मुख रखते हैं, परन्तु मेरी स्थिति ऐसी है कि मुझे वे व्यक्ति ही सत्य अनुभव नहीं होते, न ही उनकी परिस्थितियाँ ही, जैसी वे कहते हैं, सत्य लगती हैं मुझे तो विशुद्ध सन्धिनी-शक्तिकी ही परिणति जैसे सर्वत्र भरी दृष्टिगोचर होती है। सर्वत्र अथाह मगलमय भगवल्लीलाका प्रवाह जैसे बह रहा हो, ऐसा

ही अनुभव होता रहता है। यह अखण्ड लीला-प्रवाह ही जैसे मेरा, आपका, एवं सभीका अस्तित्व है, यह अखण्ड अस्तित्व है, जो सतत प्रवाहित होता रहा था एवं होता रहेगा।

"स्वामीजी ! मुझे 'मैं शरीर हूँ' यह प्राय बोध नहीं रहता। जैसे हम पूर्वजन्मके शरीरोको सर्वथा भूल जाते है, वैसे ही, इस शरीरको भी अधिकाशत भूला रहता हूँ। कभी इस देहके स्थानपर श्रीकृष्ण, कभी श्रीराधारानी, कभी कोई गोपी, कभी राम, कभी शिव, कभी भगवान् नारायण, मेरा सब यथायोग्य व्यवहार कर जाते हैं। आपसे इस समय कोई प्रापञ्चिक अहकार सर्वथा वार्त्ता नहीं कर रहा है। जैसे किसी परम विशुद्ध चित्सत्ताकी किसी गहरे कूपसे प्रतिध्वनि गूँज रही हो, इस शरीरसे परमोच्च चित्सत्ता ही क्रियाशील हो रही है। कभी-कभी यह शरीर दिखता है, परन्तु उस कालमें – कोई विश्वास नहीं करेगा कि त्रिगुणात्मक पचभूत चिन्मय होने कैसे सभव है, परन्तु भगवान्‌की अन्यथाकुर्तुम्-सामर्थ्य कहे, यह शरीर भी पूर्ण सन्धिनी-शक्तिकी परिणति – चिन्मयरूप ही अनुभव होता है। यदि वह त्रिगुणात्मक प्राकृत शरीर भी रहता हो, तो इसके भीतरसे प्रतिध्वनि की तरह कभी कोई बोल जाता है, किसी वस्त्रकी तरह इसे कभी कोई पहन लेता है, इसमें परमोच्च आध्यात्मिक शक्तियाँ विचित्र-विचित्र प्रकारकी लीला करती रहती हैं।"

"स्वामीजी ! मुझे तो ज्ञान ही नहीं रहता कौन इस शरीरसे क्या अपेक्षा कर रहा है, और कौन क्या व्यवहार पा रहा है ? मै सत्यस्थितिको वाणी देनेकी स्थितिमे नहीं हूँ। कुछ भी निर्धारित हो, तो उसे वाणी दी जाय। सत्य स्थिति तो मेरी सर्वथा प्रपचसे परे अन्यत्र है। जैसे सूर्य प्रत्येक जीवधारीके निकट-से-निकट है, क्योकि उसीसे निर्गत ऊर्जासे प्रत्येक जीवधारीकी सब शरीर क्रियाएँ संभव हो रही हैं, परन्तु वस्तुत सूर्य प्रत्येक जीवधारीसे अनन्त अकल्पनीय दूरी पर है। इसीसे मिलती-जुलती स्थिति मेरी समझ लीजिये। मैं इस समय भी आपके निकट-से निकट होता हुआ भी दूर-से-दूर हूँ। इस समय आपसे इस शरीर द्वारा कैसे वार्त्ता हो रही है, कौन वार्त्ता कर रहा है, इस वार्त्ताके पीछे, उसका वास्तविक हेतु क्या है, मुझे कुछ भी ज्ञात नही, एव सबकुछ ज्ञात भी है। बस इसे यही भाषा दे लीजिये कि सन्धिनी-शक्तिका परम कल्याण एवं मंगलमय कृपा-प्रवाह असीम अनन्त उछाल ले-लेकर लहरा रहा है, और इस शरीरके माध्यमसे एक गुब्बारेसे निकली सूं-सूं वायुकी तरह जो भी शब्द स्फोट हो रहे हैं, वे सब उसी मगल लहरके ही अंग हैं।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - दो (२)

# यः कर्माणि सन्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति

*स्थान :*
रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : २०-२-४१ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
संग्रहकी प्रतिलिपि

*(पू स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजने अपने रतनगढके निवासके कमरेमें दिनांक २० फरवरी १९४१ ई. को निम्न बातें बताईं। इनका आधार भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके स्वयं श्रीमुखके वचन हैं, जिन्हें परस्पर वार्त्तालापके समय उन्होंने स्वामीजीसे कहे और स्मृतिके आधारपर बादमें उन्हें कागजमें स्वामीजी द्वारा लिपिबद्ध किया गया।)*

केडियाजी ! ये बाते किसी शास्त्रमें लिखी-पढी नहीं बता रहा हूँ। परन्तु यह भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी सत्य, सत्य, सत्यकी सत्य स्थिति है। श्रीभाईजीका भाव-देह पञ्चतत्त्वात्मक मनोमय सर्वथा नहीं है, न ही वह दिव्य तेज-प्रधान मन्त्ररूप ही है। उनका देह है, परन्तु सर्वथा अप्राकृत है। वहाँ उनका लोक भी है, परन्तु सर्वथा अप्राकृत है। स्वर्गकी तरह किसी भजनरूप कर्मसे प्राप्त होनेवाला वह लोक नहीं है। न ही उसकी तुलना सत्यलोक, ब्रह्मलोक, कैलास अथवा वैकुण्ठसे की जा सकती है। वह भावरूप संसार भगवान् श्रीकृष्णके प्रेम-राज्यकी एक विलक्षण अलोकिक सृष्टि है, जिसमें गति – न तपसे, न कर्मसे, न जपसे, न ध्यानसे, न ही योग-सिद्धियोसे, न विद्यासे, न ज्ञानसे, न मन्त्र-तंत्रसे सभव है। वहाँ किसी भी साधनाके फलका प्रवेश नहीं है। वह तो मात्र श्रीकृष्ण-सुख-स्पृहा लोक है एव स्वय भगवती श्रीराधारानी या उनकी नित्य-सिद्धा गोपीकी कृपा ही उस भावराज्यमे प्रवेशका एकमात्र उपाय है।

उस अलौकिक अप्राकृत प्रेम-राज्यमें श्रीभाईजीका प्रवेश कालमानके किस अश, किस तिथिमे हुआ, कुछ नहीं कहा जा सकता। श्रीभाईजीने स्वयं अपने मुखसे मुझे कहा है कि "अनादिकालसे मैं इसी लोकमे था, हूँ एव रहूँगा। इस लोकके अतिरिक्त अन्य किसी जगत्‌की मुझे स्मृति ही नहीं है जैसे मृत्युके पूर्वके किसी शरीर एव ससारकी हमे कोई स्मृति नहीं है, जैसे टूटे हुए स्वप्नकी दो-चार दिवस पश्चात् स्मृति सर्वथा लुप्त हो जाती है – इसी प्रकार इस हमारे

माया जगत्‌की उस लोकमें नित्य-स्थिति-प्राप्त श्रीभाईजीको स्मृति ही नहीं है। फिर आप कहेगे कि भाईजीके रूपमें कौन सत्संग कराता है, कौन बोलता है, कौन यथायोग्य सभीसे सब व्यवहार कर रहा है ? तो आप मेरी बातका विश्वास भले ही न कर पावें, अथवा आपकी बुद्धि इसे समझ सकनेकी स्थितिमें भले नहीं हो, परन्तु आपके प्रश्नका सत्य उत्तर यही है कि श्रीभाईजीको यह ज्ञात ही नहीं है कि उनका कोई प्राकृत देह है एवं कोई प्राकृत माया जगत् भी है। हम प्राकृत हवेली, उनके परिवार, उनके द्वारा किये-कराये सत्सग, वार्त्तालापको सुन सकते हैं, हमारे प्रारब्ध-व्यवहारानुसार भाईजीका देह कुछ कालतक हमे दिख सकता है, और हम सभी उससे व्यवहार पा सकते हैं, परन्तु जहाँ तक भाईजीकी स्वयकी सत्ताका प्रश्न है, उनमें प्राकृत लेशभाव भी स्पर्श हो सके, यह सभव ही नहीं है। श्रीभाईजी तो अनवरत श्रीकृष्णको ही देखते हैं, उन्हें ही सुनते हैं, उनमे ही जागते-सोते, निवास करते हैं। उनका जीवन अखण्ड घन श्रीकृष्ण-प्रेमरस ही है।

श्रीभाईजीकी स्थितिको सर्वसाधारण समझ ही नहीं सकता। उच्च-साधन सम्पन्न सत्संगी भी इन बातोंको हृदयगम नहीं कर सकता। एक व्यक्ति अपनी ऑखसे यही देखता है कि भाईजी गृहस्थके सभी व्यवहार सागोपाग कर रहे हैं, वे राजनेताओंसे, आये-गये महात्माओंसे, समाजसेवी सुधारकोंसे, नगरके गणमान्य नागरिकोंसे, समुचित वार्त्ता करते हैं, व्यापारियोको व्यापार-बुद्धिसे सीख देते हैं, घर-परिवारके लोगोंसे ममता-मोह जताते हैं, घरवालोके लोक-व्यवहारको सब प्रकारसे साध रहे हैं, जो सम्पादन कार्यमें दिन-रात प्रूफ देखने, लेखोको व्यवस्थित करने, विशेषाक आदिके लिये सामग्री मॅगाने आदि कार्योंकी चिन्ता करते हैं, पचासो व्यक्तियोके स्टाफको लेकर उनसे यथोचित कार्य ले रहे है, उनका प्रपचसे कोई संबंध नहीं है, तो यह बात सर्वसाधारणके गले उतरनेका तो प्रश्न ही नहीं है, एक उच्च साधन-सम्पन्न सत्सगी भी इसे मात्र बकवास ही मानेगा। मैं स्वय भी अनेक बार ऐसे सन्देह कर चुका हूँ। परन्तु श्रीकृष्णकी मुझ पर ऐसी कृपा है कि मेरे समग्र सन्देह जब जब उत्थित हुए, उन्होंने समूल विनष्ट कर दिये।

केडियाजी ! मेरे ध्यानमें युगों-युगोंमे ऐसी उच्च अध्यात्मिक स्थितिका कोई सिद्ध भगवत्कृपा-पात्र आया ही नहीं है। मेरा ऐसा कहना नहीं है कि युगोंमें ऐसा महापुरुष हुआ नहीं है, परन्तु हुआ होगा तो मेरी जानकारीमे नहीं है। मैंने कहीं उल्लेख नहीं पाया है। नारदभक्ति-सूत्रोंमें महासिद्ध प्रेमी-भक्त नारदजीने सिद्धान्तोमें ऐसी स्थितिका उल्लेख अवश्य किया है। श्रीनारदजी

अपने भक्तिसूत्रके अडतालीसवें सूत्रमें कहते हैं -

**"यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्यसति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ।"**

यहाँ श्रीनारदजी प्रेमी-भक्तोंके लक्षण बता रहे हैं। भगवान्‌का प्रेमीभक्त जो कुछ करता है, वह भगवान्‌के लिये ही करता है। उसकी न कर्ममें आसक्ति है, न कर्मफलमें। वह तो यत्रवत् है। परन्तु जहॉतक उसे यह स्मरण रहता है कि मैं यत्र हूँ, तबतक वह कर्मफलका त्यागी तो होता है, कर्मका त्यागी नहीं हो पाता। कर्मका त्यागी प्रेमी-सन्त तभी होगा, जब वह अपने शरीर एवं संसारको सर्वथा विस्मृत कर जायगा। जगत् एवं शरीरकी स्मृति रहते भगवान्में पूर्ण तल्लीनता कहाँ हुई ? प्रेमी-भक्तको जब आठों-पहर रात-दिवसका भी ज्ञान नहीं रहता, उसके ध्यान-पथसे भगवान् जब एक क्षणके लिये भी नहीं हटते, उस स्थितिमे उसे पता ही नहीं रहता है कि मैं शरीर हूँ, मेरा शरीर एव कोई ससार भी है और मुझसे कुछ कर्म हो रहा है। उसके मन-बुद्धि तो सम्पूर्णतया भगवान्मे डूब जाते है। और उसका प्राकृत अहकार पूर्णतया भगवन्मय हो जाता है, तब उस अहकारके स्थानपर एक भावजगतका भागवती, अप्राकृत अहकार उदय हो जाता है।

उस अप्राकृत भागवती अहकारकी प्राप्तिके साथ ही उस प्रेमीभक्तका अप्राकृत भाव-जगत् प्रारभ हो जाता है, तब उस प्रेमी-सन्तको न तो प्राकृत जगत्की स्मृति ही रहती है, एव न ही उसे प्राकृत काल, रात-दिवसका भान होता है। उस स्थितिमे जैसे हम पूर्वजन्मकी पूर्णतया विस्मृति कर देते हैं, उस महाकृपापात्र प्रेमीभक्तकी मन-बुद्धि इस प्राकृत मायाजगत्की पूर्णतया विस्मृति कर देती है। वह भगवान् और भागवती लीला जगत्से ऐसे एक हो जाता है, जैसे एक बूँद समुद्रमें गिरकर समुद्रसे एक-मेक हो जाय। वह नित्य भगवल्लीला का अप्राकृत पात्र बन जाता है।

उसी स्थितिका उल्लेख इस अडतालीसवें सूत्रमे श्रीनारदजी कर रहे हैं कि भक्त समग्र कर्मोंका स्वरूपत त्यागकर द्वन्द्वरहित भगवान्‌का यंत्र हो जाता है। तब उस भक्तके अन्त करणमे भगवान् स्वयं विराजित हुए उसके प्रारब्ध पूरे होनेतक सांगोपांग कर्म करने लगते हैं।

श्रीभाईजीकी ऐसी ही विलक्षण निर्द्वन्द्व अवस्था है। उनके शरीरगत मैं-तू, मेरे-तेरे, सुख-दुख, हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु, दिन-रात, आदि द्वन्द्वोंका आत्यतिक विस्मरण हो गया है। उनका इस प्राकृत मायाराज्यसे प्रयोजन ही अब नहीं रहा है। भाईजी एक अविच्छिन्न अखण्ड भगवत्प्रेमके महान् अप्राकृत चिन्मय समुद्रमे डूबकर तन्मय हो गये हैं। उनसे लोक-वेदका सब आश्रय

स्वयमेव उसी प्रकार छूट गया है, जैसे सर्पके शरीरसे उसकी केंचुल छूट जाती है। उनका लोक-वेदका त्याग तिरस्कार-मूलक द्वेषात्मक नहीं, अपितु तृप्ति, कृतकृत्यता और विस्मृतिमूलक है। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने वेदोका त्याग नहीं किया है, अपितु वेदोंने ही उन्हें पूर्णकाम, अपनी परिधि एव पहुँचके परे मानकर उनपरसे अपना अधिकार उठा लिया है। श्रीभाईजी विधि-निषेधकी सब मर्यादासे परे पहुँच गये हैं। वे वेदोको लॉघकर एक अनिर्वचनीय भगवत्प्रेममें मतवाले हैं। वे अपने प्रियतम श्रीकृष्ण-सुख-तात्पर्यैक प्रीतिकी जीती-जागती मूर्त्ति हैं।

श्रीकेडियाजी ! भगवान्ने श्रीगीताजीमे ऐसे भक्तके समग्र योग-क्षेमके निर्वाहकी प्रतिज्ञा की है, अत. अब श्रीपोद्दारजीके शरीरको उनके प्रारब्ध पूर्ण होनेतक जिलाये रखने अथवा उस शरीरके सम्बन्धियों, परिचितोसे यथायोग्य यथाभाव सर्वव्यवहार सांगापाग निर्वाह करनेका, उनसे अपना पूर्ण यत्रवत् सम्पूर्ण निजवाछित कर्म करानेका दायित्व स्वयं साक्षात् सर्वलोक-महेश्वर श्रीकृष्णको वहन करना पड़ रहा है। श्रीपोद्दारजीको तो पता ही नहीं है कि किसी स्वामी चक्रधर नामक साधुके साथ हाथ पकडकर शौचक्रिया करने एकान्त रेतके टीबोंकी ओर कौन जा रहा है ? ग्रामके लोगोके 'जयरामजी'के अभिवादनका "भाया प्रसन्न है, राजी है ?" — कहकर कौन उत्तर दे रहा है ? उनके शरीरको यत्र बनाकर सर्वलोक-महेश्वर ही ये सभी क्रियाएँ सांगोपांग कर रहे हैं। श्रीभाईजीके साथ प्राकृत जगत्का सम्बन्ध सत्यांशमे लेशमात्र भी नहीं है। उन्हें माताजीकी, सावित्रीकी स्मृति ही नहीं है। वे नित्य ही अपने भावराज्य में हैं, परन्तु अब उनके रूपमें साक्षात् सर्वलोकमहेश्वर, सर्वमायाधिपति श्रीकृष्ण ही सब लोक-व्यवहारका सांगोपांग निर्वाह कर रहे है। अत उनके सम्पर्कमें आनेवाले माया जगत्के सभी जीव चाहे वे मक्खी, मच्छर, पशु-पक्षी, मनुष्य, पितर, देवगण कोई भी हों एक-न-एक दिन तर जावेंगे। उनके प्राकृत शरीरका अस्तित्व त्रिभुवनके लिये परम पवित्र और मगल-निधान है।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - तीन (३)

# भाईजी और श्रीकृष्ण

| *स्थान :* | *प्राप्ति-सूत्र :* |
|---|---|
| भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली | श्रीशिवकुमारजी केडियाकी |
| रतनगढ़ (बीकानेर राज्य) | कापीसे प्रतिलिपि |
| दिनांक : २७-२-४१ | |

## आलोक

*(परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजने भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दारके सम्बन्धमें निम्न बातें लिखकर दीं। ये सभी बातें उन्हें साक्षात् श्रीकृष्णने प्रकट होकर अपने श्रीमुखसे कही थीं। भगवान्के श्रीमुखके वचन होनेसे इन्हें प्रथम पुरुषमें ही लिखा गया है।)*

ये भगवान्के श्रीमुखके वचन हैं —

"हनुमानप्रसाद पोद्दार जैसे सन्त और मुझमे कहीं कोई अन्तर कदापि नहीं मानना चाहिये। इसकी कृपा और मगलमयताका दान मुझसे भी अधिक है। वह विलक्षण प्रेमी है। 'पूर्ण' कहकर कोई ब्रह्मतत्त्वका निर्वचन भले ही कर पावे, परन्तु इसके प्रेमका निर्वचन मैं सर्वलोकमहेश्वर स्वयं परमात्मा भी करना चाहूँ, तो नहीं कर सकता। क्योकि इसका प्रेम नित्य नव-नवायमान है और क्षण-क्षण वेगपूर्वक अभिवर्द्धनशील है। मैं तो इसके प्रेमास्वादनमें गूँगा एव बहरा हुआ डूबा रहता हूँ। मैं तो अपने स्वादको भी नहीं कह सकता। बस, कभी अथाह रुदन अथवा कभी अनन्त महान् आनन्दकी लहरोंमें लहराते रहना ही मेरी नियति है। आश्रयालम्बन-प्रधान इसका भाव होनेसे यह क्षण-क्षण मेरा भोग्य हुआ मुझे अनन्त रसोर्मियोंके रूपमें सदासे सुख-ही-सुख दान करता रहता है और मुझसे कुछ भी बदलेमें नहीं चाहता। मात्र देते रहना ही इसका स्वभाव है। इसके स्पर्श, रसालाप और मिलन-आलिंगन-सुखके लिये मैं तरसता रहता हूँ। हमारा परस्परका प्रेम सर्वथा अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है।

अन्तमें बस इतना ही जान लें कि इस महासिद्ध प्रेमीसन्तके रोम-रोमसे दिव्य, विशुद्ध महा-महामगलमयी, विश्वपावनी प्रेम तरंगें निस्सृत होती रहती हैं जो सबको (बिना अधिकार-भेदके) निस्संकोच सतत मेरा दान करती रहती हैं? मेरा दान करनेमें समर्थ ऐसे दिव्य प्रेमी सिद्धसन्त युग-युगमें कभी बिरले ही सृष्टिमें प्रकट होते हैं. **राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - चार (४)

# भाईजीकी दृष्टिमें आते ही सब 'श्रीकृष्ण' हो जाते हैं

*प्रेषिति :*

**श्रीशिवकुमारजी केडिया**

स्थान :
श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
ग्राम एवं पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : ५ मार्च १९४१

प्राप्तिसूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

## आलोक

*(प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजने निम्न लेख उपरोक्त तिथिको अपनी कुटियामें दिया। इसमें उनका स्वयंका विलक्षण अनुभव निहित है।)*

केडियाजी ! सच्चा प्रेम कभी घटता तो है नहीं, वर वह सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेममें कहीं परिसमाप्ति नहीं है। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) का सदा यही भाव रहता है कि मुझमें तो प्रेम है ही नहीं। भाईजीके विच्छेद-रहित प्रेमकी सतत वृद्धिका क्रम कभी टूटता ही नहीं। परम प्रेमके दिव्य-रसमें डूबे हुए भाईजी अपने प्रेममय, रसमय प्रियतम (भगवान्) को सर्वत्र देखते हैं। उन्हें कोई दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं। कोई भी वस्तु, चाहे वह जड हो अथवा चेतन हो, उनके सम्मुख भगवान् बनकर ही आती है। वे किसी साधकको ही, सच्चरित्र, सदाचारीको ही भगवान् देखें, सो बात नहीं है। उनका प्राणिमात्रके प्रति सहज प्रेम है। यह उनका प्रेम उनकी हृदय-गुहामें अति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम -- मात्र अनुभवमें आनेवाला है। यह प्रेम प्राणिमात्रको भगवान्से मिला देनेवाला है। जैसे एक छिपकली, एक फतिंगा भी यदि भाईजी (हनुमानप्रसाद पोद्दार) के सम्मुख आता है। एक ग्राम-सूकर जो पूर्णतया मलिन मलसे सना है, भाईजीको दृष्टिगोचर होता है, तो वह भगवान् श्रीकृष्ण बनकर ही उनके सम्मुख आता है, त्रिगुणात्मक जीव बनकर नहीं। अब इस पावनतम प्रेममय दृष्टिका ही सुदूर भविष्यमें यह अमोघ फल होगा कि वह फतिंगा निश्चय ही

भगवान श्रीकृष्ण अपने स्वरूपतत्त्वके रूपमें प्राप्त कर लेगा। भगवान् अपने [illegible] प्रेमी-भक्तकी दृष्टिकी सत्यता कालके किसी अशमें अवश्य-अवश्य प्रतिफलित कर देंगे। जब भक्त-सम्राट प्रह्लादजीकी दृष्टिको सत्य प्रतिपादित करनेके लिये भगवान् खभेम से प्रकट हो गये, तो भाईजी जैसे परम प्रेममे डूबे सन्तकी दृष्टि भी एक दिवस निश्चय ही उनके देखे सत्यको हेतुरहित रूपसे प्रकट करनेवाली होगी ही।

भाईजीके कानमें जो कुछ भी, शब्द-ध्वनि आती है, वह केवल प्रेममय भगवान्की स्वरलहरी ही होती है। अत वे नित्य-निरन्तर भगवान्की मुरलीकी मीठी तानमे ही मस्त रहते हैं। इसी प्रकार उनके मुखसे भी प्रेममय शब्दराशि ही झरती है। उनकी वाणी अपने प्रियतम भगवान्से प्रेम-वार्त्तालापके अतिरिक्त कुछ करती ही नहीं। वे जो कुछ बोलते है, वह उनके प्रियतमका गुण-गान ही होता है।

एक दिवस मैं अपने साधन-कक्षमे बैठा, अपने आराध्यके ध्यानम निरत था, अचानक मेरे कानोमे भाईजीकी अतिरोष भरी [illegible] आवाज आयी। वे इतने रोषभरे स्वरसे बोल रहे थे कि मुझे उनके क्रुद्ध होनेका सन्देह हो गया। मैंने मन-ही-मन सोचा "क्या भाईजीको इस प्रकार क्रोध भी आता है ?" मैंने इस सन्देहके निवारणकी प्रार्थना अपने आराध्य श्रीकृष्णके सम्मुख कर दी। श्रीकृष्ण ही भाईजीकी महिमा मेरे कानोमे जब-तब डालते रहते थे, अत मेरा सन्देह मैं अन्य किसके सम्मुख रखता ?

सहसा श्रीकृष्णने ही मुझे प्रेरणा दी कि मैं भाईजीके सम्मुख ही अपना सन्देह क्यों न प्रकट कर दूँ ? बस, यह विचार आते ही मैं अपने आसनसे उठकर भाईजीके कमरेकी ओर चल पडा। अपने कमरेमें भाईजी किन्हीं रतनगढ ग्रामके सेठसे वार्त्तालाप कर रहे थे। उनके सम्मुख वे सेठ भी बैठे थे।

मैं जाकर चुपचाप एक ओर बैठ गया। मेरे मनमें आया कि सन्तसे उसके व्यवहारका अति गोपनीय रहस्य समझना है, अत प्रथम उनके चरणोमें भगवद्भावसे अति विनयपूर्वक प्रणाम करना चाहिये।

अत अपनी दृष्टि मैंने उनके चरणोंमे केन्द्रित कर दी। मुझे यह देखकर अति आश्चर्य हो रहा था कि जैसे ही मैंने अपनी दृष्टि हनुमानप्रसाद पोद्दाररूप देहके चरणोंमें केन्द्रित की, वहाँ वह देह थी ही नहीं। मैंने देखा, कहीं मेरी भावुकताके कारण मुझे मस्तिष्कगत कोई विकार तो नहीं हो रहा। अत मैंने पुन. वहाँसे दृष्टि हटाकर कमरेमें इधर-उधर अनेक वस्तुओंपर दौडायी। फिर मैं भाईजीके पास रखे एक अखबारको देखने लगा। मैंने पुन भाईजी (हनुमानप्रसाद

पोद्दार) के मुखकी ओर दृष्टि उठायी। मैंने पाया वे मेरे आनेके उपरान्त भी उसी प्रकार उद्विग्न और क्रोधमे हैं। उनकी वाणी शीघ्र बोलनेके प्रयासमें हकला रही है और शब्दोका शुद्ध उच्चारण भी नही कर पा रही है।

मैने पुन उनके चरणोकी ओर दृष्टि डाली तो देखा वहाँ उनकी देह थी ही नहीं। वहाँ तो किसी गोपीके अतिशय सुकुमार परम सुकोमल चरण थे। इन चरणोमे माहुरकी लालिमा अलकृत थी। पैंजनी और चरणोंके परम बहुमूल्य आभूषण स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे। मेरे नेत्र उन चरणोकी अभूतपूर्व शोभासे भर गये। अहा ! कैसी अलौकिक नख-मणियाँ थी ? उन नख-मणियोसे कैसी परम स्निग्ध, चिन्मय ज्योत्स्ना छिटक रही थी वह शोभा इतनी निराविल पवित्र थी कि सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक अविद्या अपनी मूल मायाशक्तिसहित ही वहॉसे पलायन कर गयी थी। अहा ! उन चरणोमे चिपटे धूलि कण भी बाह्यरूपसे जड नहीं थे, परम चिन्मय ज्योतिमान थे। वह दर्शन ही परम शान्तम, विशुद्ध सत्त्वसे ओत-प्रोत, परम आनन्दमय एव अनन्त कल्याणकारी था। मेरा चित्त वह विजडित हो गया। दृष्टि वहासे हट ही नहीं रही थी।

सहसा मेरे कानोने सुना। मानो कोई परम मधुर अमृत समुद्र गरज रहा हो। ऐसी मधुरवाणी इतनी प्रेमभरी ऐसी रसमयी कि उसका वर्णन करनेको शब्द ही अन्वेषण नहीं किये जा सकते – मेरे हृदयको अमृत सिक्त कर उठी –"महाराजजी ! आज आपका इस समय कैसे आना हुआ, यह तो आपके एकान्त ध्यानका समय है ?"

यह परम मधुरवाणी सुनकर तो मैं स्वेदसे लथपथ हो उठा। मुझे कम्प हो उठा। मेरा मुख लज्जासे लाल हो उठा। मैने नेत्र उठाये। अवलोकन तो करूँ उस वदन-सरोजका जो ऐसी सुमधुर कोकिलाकी कल काकलीको भी तिरस्कृत करनेवाली वाणी बोल रहा है। देखा – श्रीभाईजीके स्थानपर तो एक त्रैलोक्य-मोहक नारी-सौन्दर्य अभिव्यक्त है। यह क्या हुआ ? श्रीभाईजी कहाँ गये ? भाईजीके स्थानपर यह अनिंद्य सुन्दरी नारी कैसे प्रकट हो गयी ? अहा ! इसके अग-अग कितने मनोहर है ! कुन्दन-द्युति सुचिक्कण इसका गौरवर्ण है। इसका वर्ण सुधाके समान शीतल सरस, मादक और प्राणोको आप्यायित करनेवाला है। कोटि-कोटि चन्द्रोके शीतल प्रकाशको तुच्छ करनेवाला तेज उसके अग-अगसे झर रहा है। यह बाला तो माधुर्य, लावण्य, रूप सौरभ, सौकुमार्य, श्रृगार, सौशील्य चाञ्चल्य यशस्विता आदि सर्वगुणोकी असीम उदधि है। इसके अगोमे नील दुकूल आधृत है। उत्तुग वक्ष रक्त कचुकीसे आच्छादित हैं। कण्ठदेशपर विलक्षण शोभाशाली रत्नजटित हार हैं। सर्वोपरि

पुष्पमाला झूल रही है। अंग-अंग रत्नजटित आभूषणोंसे अलंकृत हैं। लम्बी घुँघराली अलकोंसे कितनी मनमोहक है इसकी चूड़ा। केशपाश पुष्पमालाओंसे ग्रथित हैं।

मैं स्तब्ध उस नारीकी शोभा देख रहा था। क्या ये भाईजी हैं ? मैं चकित था। अचानक मेरी दृष्टि उन सेठजीपर गयी। परन्तु वहाँ तो सेठजी भी लुप्त हो गये थे।

अरे, अरे ! सेठजीके स्थानपर तो विविध-रस-विलासके आकर नील सुन्दर श्रीकृष्ण मुसका रहे थे। अखिल ब्रह्माण्ड-नायक, अनन्त अपरिच्छिन्न ऐश्वर्य एवं ज्ञानको विस्मृतकर, विमुग्ध भोले किशोर बने वहां विराजित हैं।

मैं मन-ही-मन श्रीभाईजी एवं उन सेठजी दोनोंको प्रणामकर उठकर चला आया। मेरे निवासपर आकर मैं घण्टों अचिन्त्य-दशामें पड़ा रहा। मेरे समग्र सन्देह विगत थे। भाईजी जो कुछ भी बोले, वह हमें चाहे क्रोधमें भरी गरज सुनायी पड़े, परन्तु इसे निश्चय ही मान लीजिये, क्रोध भरी गरजका स्रोत परम एवं चरम रस-वारिधि है। भाईजीका तिरस्कार, भाईजीकी उपेक्षा और घृणा भी शिवोदधि है, महा-महाकल्याणकी निर्झरणी ही उसे मान लेना चाहिये। जिस महाकृपापात्रपर भाईजी क्रुद्ध होंगे, वह निश्चय ही उनके महाप्रेमामृत-सिन्धु में डूबेगा ही। एक बार मात्र अल्पकालके लिये वह भले ही उस क्रोधसे घबड़ाकर व्यथित हो उठे। भाईजीकी दृष्टि भी जिस-जिस महाभाग्यवान् जीवपर पड़ती है, वहाँ भले ही आज नहीं, निकट अथवा सुदूर भविष्यमें ही सही, परमानन्द रस-सुधामय श्रीकृष्णको प्रकट होना ही पड़ेगा।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - पाँच (५)

# वृद्धा गृह-सेविकाको विलक्षण बुद्धियोगका दान

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ (बीकानेर राज्य)**

*प्राप्तिसूत्र :*
**श्रीशिवकुमारजी केडियाके**
**संग्रहकी प्रतिलिपि**

**दिनांक :**
**निश्चित तिथि - अज्ञात**
**लगभग मार्च मास, १९४१ ई.**

केडियाजी ! भाईजीके शरीरमें रक्त नहीं बहता, मेरे सत्यपर विश्वास कर लीजिये, उनमें मात्र प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द प्रवाहित हो रहा है। उनके समस्त अग मात्र-प्रियतम श्रीकृष्णका ही अनुभव कर रहे हैं। भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मात्र अपने प्राण-प्रियतम श्यामसुन्दरको ही विषय कर रही हैं। उनकी ऑखे अहर्निश कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्ति बिखेरनेवाले लावण्य-सिन्धु श्यामसुन्दरको सर्वत्र देखती हैं। कान सदा उन्हींकी मधुरातिमधुर, ब्रह्ममयी वेणुध्वनि सुनते रहते हैं। भाईजीकी नासिका नित्य-निरन्तर उसी नटवरकी अंग-सौरभको सूँघती रहती है, उनकी जिह्वा अविच्छिन्नरूपसे उसी प्रेम-सुधाका आस्वादन करती है और उनका रोम-रोम सर्वदा उसी अखिल सौन्दर्य-माधुर्यरसाम्बुधि रसराजका परम सुखस्पर्श ही अनुभव करता है।

भाईजी जैसा सन्त कहीं देखने-सुननेमें नहीं मिलेगा, जिसके आकाशमे अन्य कोई शब्द है ही नहीं, मात्र एक ही शब्द है – वह है, अपने प्राण-सार-सर्वस्व प्रियतम नीलमणिका 'श्रीकृष्ण' नाम । भाईजीकी प्राणवायुमें मात्र एक ही परम रसमय परम-पावन स्पर्श भरा है और वह शिव-संस्पर्श है – श्रीकृष्णके परमपूत अगोका , भाईजीके शरीरमें जो भी तेज तत्त्व है – वह है एकमेव श्यामतेज

नीलमणिदेवका — जो परम निर्मल, निरामय, सर्वशिव है, जिसकी सतुलना विश्व-सृष्टिमे कहीं हो ही नहीं सकती। भाईजीके शरीरका जलतत्त्व और उनके प्रियतम नीलसुन्दरका अधर-सुधारस एकमेक हो चुके हैं, उनमे अभिन्नता नहीं, अभेदावस्था व्यक्त है। भाईजीका सर्वस्व उनका प्रियतम नीलमणि है — जो उनके सबमे ओत-प्रोत हो गया है। भाईजीकी पत्नी श्रीकृष्ण हैं, पुत्री श्रीकृष्ण हैं, भाईजीका घर, उनके सम्बन्धी, जामाता, उनके नौकर, उनकी बहिने, उनका परिवार, वंश, उनके पिता-पितामह-प्रपितामह, माता-मातामही, प्रमातामही, सब श्रीकृष्ण हैं। भाईजीका घर, मकान, निवास, हवेली, नोहरा, सब श्रीकृष्ण हैं। भाईजीकी गौ, नौकर, उनका श्वान-सूकर भी श्रीकृष्ण हैं। उनके चतुर्दिक् ऊपर-नीचे, दाहिने-बाये, बाहर-भीतर, सर्वत्र मात्र श्रीकृष्णका ही निवास है। उनके चतुर्दिक् सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द, श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं। उनके कानमें जो कुछ भी शब्दावली आती है, वह प्रेममय प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रेम-सगीतकी स्वर-लहरी ही होती है। वे अपने प्रियतम नीलसुन्दरका गुण गाते-गाते कभी थकते ही नहीं। क्षण-क्षणमें उन्हे प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रेमरसामृतका अनुपम स्वाद मिलता रहता है। वे अपनी अतृप्त रसनासे उसी अमृत रसपानमे मत्त रहते हैं। उनके चित्तमे उनके प्रियतमके सिवा अन्य किसीका स्थान ही नहीं रह गया है। उनके सम्पूर्ण अन्तःकरणमे एकमात्र उनके प्रियतमका ही अखण्ड साम्राज्य और पूर्ण अधिकार है। ऐसा जरा-सा भी स्थान नहीं, जहाँ किसी दूसरेकी कल्पना छायारूपसे भी आ सके। उनका चित्त साक्षात् प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन गया है। उनके समस्त अग उनके प्रियतम श्रीकृष्णका ही अनुभव कर रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ केवल भगवान्‌को ही अपना विषय करती है। भाईजीका समस्त विश्व प्रेममय, आनन्दमय, रसमय या श्रीकृष्णमय है। उनकी दृष्टि जहाँ भी जाती है आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य, माधुर्य वहाँ लबालब भर जाता है। उनके दृश्य, द्रष्टा — सभी मधुर हैं, हम-तुम सभी मधुर हैं। भाईजी परमानन्द रससुधा सिन्धु हैं और उनमे उनका सब कुछ मधुरातिमधुर है। भाईजी जिस नित्य महान् दिव्य प्रेमामृत-रससागरमे निमग्न रहते हैं — वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। वे पराप्रेमाभक्तिके मूर्तिमान् विग्रह हैं,

जो अपने प्रियतमके अतिरिक्त दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, दूसरेका सस्पर्श नहीं करता, वही अविनाशी सनातन, सत्य प्रेमी है।

श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) के नोहरे की, जहाँ प्रतिदिन सत्सग हुआ करता था, स्वच्छता करने एक गरीब ब्राह्मणी आती थी। उसकी भाईजीके

प्रति अतिशय श्रद्धा थी। वह सबसे पृथक्, दूर बैठकर चुपचाप भाईजीका सत्सग सुना करती। वह भाईजीके एक-एक शब्दको इस श्रद्धासे हृदयगम करती – मानो भाईजी साक्षात् भगवान्को प्रत्यक्ष जाननेवाले भक्त हो और जो कुछ कह-बोल रहे है वह बहुत ही अनमोल बात हो। वह बहुत भावसे सत्संग-भूमिको नित्य प्रणाम करती। जिस-जिस स्थानपर भाईजीके चरण पडते, वह उस स्थानकी धूलि चूपचाप उठा लेती थी। वह उस धूलिको नित्य सिरपर लगाती। सत्सग-भूमिको तो वह तीर्थो-का-तीर्थ मानती थी। उसका यह सुदृढ भाव था कि भाईजी प्रतिक्षण भगवान्से वार्त्ता करते है, उनके ही अनन्य सेवक हैं और उनके मुखसे साक्षात् भगवान् ही बोलते हैं। वह यह भी विचार करती थी कि भाईजीका घर भगवान्का साक्षात मन्दिर है, यहॉ भगवान् अवश्य आते हैं अत इतनी-सी इनके गृहकी, नोहरेकी स्वच्छताकी सेवा करनेसे सभव है, भगवान्की मगलमयी दृष्टि मुझ अधम नारीपर भी पड जाय।

भाईजी तो सभी जानते है -- बहुत ही उदार स्वभावके हैं। वे सेवाका मूल्य चुकानेमें सदा आग-से-आगे तत्पर रहते है, अत वे उस ब्राह्मणी सेविकाके घर कभी गेहूँ, बाजरा, तेल, घी, भिजवानेकी चेष्टा करते, कभी एक सौका नोट कागजमे लपेटकर उसे गुपचुप देनेका प्रयास करते। वह भाईजीका तिरस्कार तो नहीं करती, परन्तु वह कुछ भी दिये जानपर ग्लानिसे भर उठती। वह भाईजीसे विनय-पूर्वक कहती – ''मै आपके घरकी दासी होऊँ, ऐसा सौभाग्य तो मेरा है नहीं, हॉ, यहॉ सत्सग होता है, जब आप सभीको अब ओरसे स्पृहाशून्य होकर अपनी चित्तवृत्ति अनन्यभावसे भगवान्मे लगानेकी बात कहते है, तो क्या मैं निस्वार्थरूपसे इस भगवान्के यशगान-स्थलीकी स्वच्छता करनेकी अधिकारिणी भी नहीं ? आपने तो अपनी सारी ममता और आसक्ति जागतिक पदार्थोसे सर्वथा निकालकर, एकमात्र प्रियतम भगवान्को ही अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। आपने तो मोक्ष-सुखसे भी जब चित्त हटा लिया, तो मुझे इन जगत्की वस्तुओको क्यो देते हैं ? जब भगवान्मे अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है और यह सब नाशवान् है तो मुझे सबसे मधुर वस्तुका ही दान कीजिये, लौकिक वासना तो मृत्यु है। आप मुझे भगवान्का सामीप्य दीजिये न। जब आप जैसे भक्तजन मुक्ति भी न चाहकर मात्र भक्ति चाहते हैं, तो मुझे आप भक्तिपूर्वक इस तुच्छ सेवाको तो निस्वार्थ भावसे करने दीजिये।''

भाईजी उस निर्मल भाव-भक्तिवाली महिलाकी बात सुनकर हँसने लगते, परन्तु फिर भी कुछ न कुछ उसकी झोलीमें डाल ही देते थे।

केडियाजी ! उस मारवाड़िन सेविकाकी मृत्युके समय भाईजी मुझे अपने

साथ ले गये थे। उस सेविकाको मृत्यु खेल लग रही थी। वह भगवान्‌को प्रत्यक्ष अपने सम्मुख देख रही थी। वस्तुत: उसकी मृत्युकी ही मृत्यु हो रही थी। प्रभुकी लीलाके सिवा 'मृत्यु' संज्ञक कोई भयावनी वस्तु उसके ज्ञानमें रह ही नहीं गयी थी। इसीलिये वह सर्वथा पूर्णकाम, पूर्ण-परितृप्त थी। सब लोक-परलोकके मूल-स्रोत भगवान् उसके सामने थे। उसके लिये भगवान्‌की लीलासे पृथक् कोई सत्ता ही नहीं रही थी।

जैसे ही भाईजी उसके सामने गये, बुढिया-सेविका प्रसन्नचित्त अपने बिस्तरपर बैठ गयी। उसके नेत्रोंसे उस दिन ठीक ऐसा अनुभव हुआ कि जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, सचमुच ही वे अमृतके समुद्रमें क्रीडा करते हैं। उस बुढ़ियाको भाईजी साक्षात् भगवान् श्यामसुन्दर ही दिख रहे थे। उसने आते ही पहले भाईजीकी अति पवित्र भावसे पूजाकी। फिर भाईजीसे कहा कि जैसे जटायुकी मृत्यु भगवान् रामके सम्मुख हुई, मेरे धन्य भाग्य ! आज मेरा शरीर आपका दर्शन करते हुए आपके परमधामको जा रहा है। फिर मुझे सम्बोधित करके कहने लगी – "बाबा ! ये भाईजी भक्त-सेठ नहीं, साक्षात् भगवान् हैं। मैं इन्हें अबतक भक्त ही मानती रही। परन्तु आज इन्होंने मेरे मृत्युके समय अपना सब परदा हटा लिया है। अहा ! इनके अग-अग कितने मनोहर हैं ? काजलके समान इनका श्यामवर्ण है। अहा ! कैसी शीतल, सरस, मादक मधुरतासे लबालब, भरा इनका रूप है। अग-अंगपर रत्नोंके आभूषण शोभा पा रहे हैं। अहा ! इनके कण्ठमें गुञ्जाकी माला कैसी शोभा दे रही है ? लम्बी घुँघराली अलकें हैं।"

भाईजी इस बुढियाकी हाथकी नाड़ी थामे हँस रहे थे। भाईजीकी वह हँसी भी अपार कृपामयी थी। भगवद्भक्त-शिरोमणि भाईजीके नोहरेकी झाड़ू-बुहारीकी सेवा-मात्रसे वह बुढिया निहाल हो गयी। उसका मानव-देह धारण करना सफल हो गया था। बुढियाने प्रतिदिन महाप्रेमीशिरोमणि भाईजीकी चरणरजसे अपनेको पवित्र किया था। अत: वह परम कृतकृत्य हुई, भाईजीके ही रूपमें भगवान्‌का दर्शन करती हुई, निष्कण्टक भगवद्धामको गयी।

केडियाजी ! इस बुढियाने मेरी ऑखें खोल दीं। वह मुझे कहा करती थी कि बाबा ! नदीमें तैरनेवाले मनुष्यके लिये सबसे अधिक आवश्यक बात होती है – हाथों और पैरोंसे नदीके जलको फैंकते जाना। जो निरन्तर जलको काट नहीं सकता, वह नया तैरनेवाला नदीके पार नहीं जा सकता। इसी प्रकार इस महाभयावनी दुस्तर माया-नदीको तैरकर जो उस पार भगवल्लोकको जाना चाहते हैं उन्हें अहंकार और विषयासक्तिरूपी जलको बराबर अलग फैंकते रहना

चाहिये। जो अहंकार और आसक्तिको दूर नहीं फेंक सकता, वह इस मायानदीके जलमें रमकर अतल तलमें डूब जायेगा। परन्तु इस मायानदीमें इतने भीषण भँवर पड़ते हैं कि हाथ-पैर मारते रहनेपर भी उनके थक जानेकी अथवा श्वास टूट जानेकी सम्भावना बहुत ही अधिक रहती है। अतएव बीच बीचमें बाबा ! आलम्बन, कोई (आसरा) सहारा चाहिये, जहाँ कुछ देर ठहरकर कोई विश्राम करले। इन भाईजी जैसे सन्तोंकी चरणरजके सहारेसे (बलसे) मुझे तो तैरना पड़ा ही नहीं। मैं तो इन महापुरुषकी कृपा-रूपी सुदृढ़ नावपर सवार होकर अनायास ही भवसागरको तर गयी। बुढ़ियाके भाव यही थे, यद्यपि यह भाषा मेरे द्वारा परिशुद्ध की गयी है।

केडियाजी ! श्रीमद्भागवतमें भगवान् अपने अतिशय प्यारे सखा उद्धवजी को उपदेश करते हुए कहते हैं -

**निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।**
**सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ।।**

**(श्रीमद्भा.११।२६।३२)**

अर्थात्, जलमें डूबते हुए लोगोंके लिए जैसे नौका अवलम्बन है, उसी प्रकार इस भयंकर संसार-सागरमें गोते खानेवालोंके लिये शान्तचित्त ब्रह्मवेत्ता सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं।

महाभाव सन्तोंकी सेवासे पाप-ताप और मोह अनायास ही दूर हो जाते हैं। केडियाजी, जिस प्रकार अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनों ही का नाश हो जाता है, इसी प्रकार सन्तपुरुषोंकी चरण-रज-सेवनसे पाप-रूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय, और अज्ञानरूपी अंधकार - ये कोई भी नहीं रहते ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - छः (६)

# कुत्तेकी योनिसे भगवल्लीला-लोकमें

*प्रस्तुति :*

## परम पूज्य स्वामी चक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ (बीकानेर राज्य)**
**दिनांक : २० मार्च, १९४१ ई.**

*प्राप्तिसूत्र :*
**श्रीशिवकुमारजी केडियाके**
**पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपि**

केडियाजी! निर्मल हरिभक्तिकी प्राप्तिके लिये महापुरुषोंकी कृपा अमोघ उपाय है। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) कैसे हेतुरहित दयालु हैं, इसके ज्वलन्त उदाहरणके रूपमें मैं यह सच्ची घटना आपको सुना रहा हूँ।

रतनगढमें एक धनी सेठ थे। धनीलोग प्रायः दुष्पूरणीय कामनाओंका आश्रय लिये रहते हैं। वे प्रायः धनकी रखवाली करते रहना ही अपना अति महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य समझते हैं। चोरी, हिंसा, झूठ, धोखा, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, सट्टा एवं मद ये पन्द्रह अनर्थ धनी मनुष्योंमें प्रायः देखे जाते हैं। सेठजीमें भी पर्याप्त धनका अभिमान एवं मद था। वे अपार विषय-चिन्ताओंमें ही घिरे रहते थे।

सेठजी समझते थे कि मैं भोगी हूँ, सुखी हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं दान करके अपना नाम-यश अक्षुण्ण कर लूँगा। परन्तु भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं —

**अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः ।**
**प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६-१६।।**

अर्थात् जो अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले हैं, साथ ही मोहरूप जालमें फँसे हैं, उन विषय भोगोंमें अत्यन्त आसक्त लोगोंको निश्चय ही मैं महान् अपवित्र नरकोंमें गिराता हूँ।

श्रीसेठजी प्रायः श्रीभाईजीके पास आया करते थे, परन्तु श्रीभाईजीके

सत्संगका उनपर कोई स्थायी असर नहीं पडता था। अहंकारी लोग सदा अपनमें ही गुणाभिमान करते हैं, अतः वे दूसरोंकी निन्दामें रत रहते हैं। धनाभिमानके साथ परद्वेष नामक अवगुण रहता ही है। अतः धनीलोग दूसरोंके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमात्माके प्रति द्वेषी हो ही जाते हैं।

श्रीसेठजी ऊपरसे तो भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के सत्संगमें रहते, परन्तु भीतरसे वे उनसे ईर्ष्या, स्पर्द्धा एवं द्वेष भी रखते थे। उसका कारण यही था कि भाईजीके पास धन नहीं होते हुए भी उनकी लोक-प्रतिष्ठा रतनगढ ग्राममें सर्वोपरि थी। भाईजी अकिंचन थे, परन्तु उनपर तत्कालीन बीकानेर राज्यके महाराजा भी बहुत आदर और श्रद्धा रखते थे। श्रीभाईजीका राज्यके अधिकारियोंपर भी अति स्नेह भरा दबदबा था। ग्राममें धनी-मानी सभी सेठोंके युवक, बच्चे भाईजीके संकेतपर लोक-सेवाका ऊँचा-नीचा काम करनेमें भी नहीं हिचकिचाते थे। इन सभी बातोंसे सेठजी ऊपरसे प्रेमका दिखावा करते हुए भी भीतरसे भाईजीसे ईर्ष्या करते थे।

उन सेठजीकी मृत्यु हुई। सेठजीके परिवारके लोग सेठजीकी मृत्युके समय भाईजीको बुलाने भी आये, परन्तु भाईजीको अचानक शौच-क्रियाकी प्राकृत माँग हो आयी और वे उससे निवृत्त हो, तबतक समाचार मिला कि श्रीसेठजीकी मृत्यु हो चुकी है।

ये सेठजी कुत्तेकी योनिमें चले गये। श्रीभगवान गीतामें कहते हैं -

**तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।**
**क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।**

अर्थात् "उन द्वेष करनेवाले पापाचारी क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बारबार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ।" भाव यही है कि ऐसे धनीलोग प्रायः सूकर-कूकर आदि निम्न योनियोंमें ही गिरते हैं।

उस दिन मैं (पू. स्वामी चक्रधरीजी महाराज) अपने ध्यानकक्षमें बैठा था। अचानक मुझे भगवान् श्रीकृष्णका संकेत मिला कि वे सेठजी कुत्तेकी योनिमें जा रहे हैं। उन सेठजीकी मृत्युके कुछ दिन पश्चात् ही भाईजीके नोहरेकी कुतिया गर्भवती हुई और उसके अनेक पिल्लोंमें वे सेठजी भी एक पिल्ला बन गये। जैसे ही मैं अपने उपासना-कक्षमें बैठता, भगवान् श्रीकृष्ण अनेक पिल्लोंमें से एक पिल्लेपर मेरा ध्यान केन्द्रित कर देते और मुझे संकेतित कर कहते कि "देखो ! सेठजीकी क्या ही शोभा है ?"

मैं भगवान् श्रीकृष्णके संकेतपर दयार्द्र हो उठता और प्रभुसे प्रार्थना करता कि सेठजीको इस दुर्गतिसे मुक्त करिये। परन्तु प्रभु मेरी बात सुनी-अनसुनी

कर देते और मुझे अम्बरीष भक्तकी कथा सुना देते। वे कहते – "चक्रधर ! मैं सर्वथा भक्ताधीन हूँ, मेरे सीधे-सादे, सरल भक्त इस हनुमानप्रसाद पोद्दारने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। यह हनुमानप्रसाद मुझे अतिशय प्यार करता है और मैं इसे । साधुबाबा ! इस पोद्दार-भक्तका एकमात्र आश्रय मैं हूँ। भला बताओ, इस निर्दोष, अकारण हितू भक्तकी झूठी निन्दा करनेवालेको मैं कैसे क्षमा कर सकता हूँ ? फिर तो मेरे शरणागत भक्त मुझ सर्व-रक्षा- समर्थके रहते अरक्षित हो जायेंगे। यह तो धनाभिमानी एक नरक-कीट, तुच्छ, जीव था, भक्तराज पोद्दारका यदि मेरी अर्द्धांगिनी लक्ष्मी भी तिरस्कार करे, तो मैं उस विनाशरहित लक्ष्मीका भी त्याग कर दूँ। इस भक्तराज पोद्दारने मेरे लिये स्त्री-पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक सबका त्याग कर दिया है। यह सबको छोडकर मुझसे प्रेम करता, मेरी शरण है। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमे कर लेती है, वैसे ही नर साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बांधे रखनेवाले समदर्शी इस साधु पोद्दारने मुझे वशमे कर लिया है। चक्रधर महाराज ! यह पोद्दार मेरा हृदय है और इसका हृदय, मन एव अन्त करण मैं हूँ। निरपराध, साधु-हृदय इस अकारण-हितूकी निंदा और अपवाद करनेवालेका अमगल तो होगा ही। यह मेरा अनुशासन है।"

केडियाजी ! भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोमे लालिमा देखकर मैं चुप हो जाता। रतनगढमे भयकर शीत लहरीसे युक्त निशा होती। वह सेठ कुत्ता बना निशापर्यन्त शीतसे कॉपता 'कूँ-कूँ' करता। मेरे मनमे आता कि उठकर उन सभी कुक्कुरोको मै अपनी कम्बल उढादूँ। परन्तु फिर यह समझकर चुप कर जाता कि सारे रतनगढमे न-जाने कितने पिल्ले और अन्य जीव भी शीतसे काँप रहे होगे। तू किन-किनकी सेवा करेगा ?

एक दिवस मैंने श्रीकृष्णसे पूछा – "प्रभो ! इस सेठको पिल्ला ही बनाना था, तो यहाँ मेरे इस भजन-कक्षके नीचे रहनेवाली इस कुतियाके ही गर्भमे इसे क्यो डाला है ? आप बार-बार इसे मेरे दृष्टि-पथमें लाकर मुझे क्यो करुणासे भर देते हैं ? आपको जब मेरी करुण प्रार्थनाको अनसुनी ही करना है तो मुझे प्रति रात्रि इसका दु ख दिखाकर दयार्द्र एव व्यथित करनेमें आपका क्या हेतु है ?"

एक दिन सायकाल, वह सेठ, कुत्ता बना पुन ची-चीं कर रहा था, तो मुझे पुन अतिशय दया आयी। उस समय भाईजी अपनी पिरोल (घरके मुख्यद्वार) पर ही बैठे शौच जाकर अपने हाथ मटिया रहे थे।

श्रीभाईजीके पास उस समय कोई भी नहीं था। मैं जाकर उनके पास खडा हो गया। उन्होंने मुझे देखकर कहा – "कहिये स्वामीजी, कैसे आये ?"

मैंने कहा – "भाईजी ! अमुक सेठ जिनकी कुछ काल पूर्व मृत्यु हुई थी, कुत्तेकी योनिमे चले गये हैं। यह सत्य है कि वे आपकी इधर-उधर अकारण निन्दा करते-फिरते थे। परन्तु आपके लिये तो भाईजी ! निन्दा एव स्तुति दोनों ही समान हैं। निन्दाके रूपमे ही सही वे आपका अवगुणरूपमे स्मरण तो नित्य करते थे ही। अत उस आपके स्मरण-जनित पुण्यसे ही कुत्तेकी योनिमे भी वे आपके दरवाजेपर पडी रहनेवाली इस कुतियाके ही पुत्र हो गये हैं। भाईजी ! मैंने आपके ही मुखसे एक दोहा सुना है -

**धणीके द्वारे पडे रहौ, धणीकी ठोकर खाय ।**
**कबहुँक धणी निवाजिहै, जो द्वार छाँड नहिं जाय ।।**

भाईजी ! अब आप कृपा करके आपके द्वारपर कुत्तेके पिल्लेके रूपमें पडे इन सेठजीकी सद्गति कर दीजिये। जबतक आप कृपा नही करेगे तबतक विश्वकी कोई शक्ति इनकी अधम गतियोंसे रक्षा नहीं कर सकती। न जाने कितने कल्पोंतक ये सेठ सूकर, कूकर, सरीसृपादि निम्नतम योनियोंमे ही दुर्गति भोगते रहेगे। भाईजी ! आपका अनिष्ट करनेसे ही इसकी यह अधोगति हुई है, अब आप ही इसे क्षमा करके मुक्त करिये।"

"भाईजी ! आप ही इसके अपराधको क्षमाकर इस अधम सेठको अपार दु ख-राशिसे मुक्त कर सकते हैं। भाईजी, ये दूसरे कुत्ते तो अपने कर्मोंका भोग पूरा करके उत्तम गतिको प्रयाण कर जायेंगे, परन्तु यह सेठ अपने प्रयास और सत्कर्मसे तो महज्जन अपराधकी ज्वालासे कभी भी त्राण नहीं पा सकेगा। इसीलिये, मेरा हृदय इसके प्रति करुणार्द्र हो रहा है, क्योंकि इसकी अधोगतिसे मुक्ति होनी ही नहीं है।"

केडियाजी ! भाईजी मेरी बात सुनकर मुसकाये। उन्होंने बडे प्यारसे अपने मिट्टीसे मटियाये हाथ मेरे दोनो कधोपर रख दिये। फिर अति स्नेहसे बोले – "स्वामीजी ! आप मुझे इतना निष्ठुर क्यों समझते हैं ? आप और मैं क्या दो पृथक् व्यक्ति हैं ? जब आपने इसको क्षमा कर दिया, और इसके प्रति इतनी दया दिखलायी, तो मैंने तो इसे कबका ही क्षमा कर दिया।"

"हाँ, देखिये ! इस सेठको इस मेरी निन्दा करनेका यह फल दे रहा हूँ कि यह सीधा मेरे लीलालोक भगवद्धामकी यात्रा कर रहा है। बस, यह इसका अन्तिम कुत्तेका जन्म है। और यह जन्म भी इसका बहुत ही अल्प-कालका है। आप स्वयं देखेगे, यह दो-चार दिनोंमे ही मृत्युका ग्रास हो जायेगा और मृत्युके उपरान्त तत्क्षण ही सीधा उसी भगवद्धामको जायेगा - जो मेरा लीलालोक है, मेरा भाव-ससार है। इसकी मुझसे किञ्चिन्मात्र भी हीन गति नहीं होने वाली।"

"परन्तु हाँ, यह रहस्य आपके सम्मुख प्रकट करनेके पूर्व आपसे यह वचन अवश्य ले लेना चाहता हूँ कि आप इस सेठके बच्चोंको इस मेरे बताये रहस्यकी गन्ध भी नहीं देंगे। न तो उन्हें यह सूचना देंगे कि उनके पितामह भगवद्दोषवश कुत्तेकी योनिमें पडे, न ही यह ही प्रकट करेंगे कि मेरे हेतुसे उन्हें भगवान् राधामाधवका लीलाधाम प्राप्त हुआ। आप बस, मुझे यह वचन दे दीजिये और निश्चिन्त होकर अपने भजन-कक्षमें भजन करिये।"

मैं भाईजीकी महानुभावता देखकर अतिशय द्रवित-चित्त हो उठा था। मेरा मन कर रहा था कि भाईजीकी चरण-रजमें लोटने लगूँ, परन्तु वह एक सार्वजनिकरूपसे उपहासास्पद नाटक हो जाता तथा भाईजीको यह अभिप्रेत भी नहीं था, अतः अपने मनके भावावेगको रोककर मैं अपने भजन-कक्षमें निम्न मुख किये चला आया।

केडियाजी ! जिन भगवान्‌के प्रेमी-भक्तोंका ऐसा परम मंगलमय स्वभाव है, उन भगवान्‌का कितना कृपालु स्वभाव होगा, तनिक विचार तो करिये। जो भक्तोंका अपराध करते हैं, भक्त उनको अपना धाम, अपनी गति प्रदान करते हैं — कैसा अनन्त, असीम औदार्य है उनका ? जिनपर वे क्रोध करते हैं, उनमें उनके साक्षात् इष्ट श्यामसुन्दरको वे व्यक्त होनेको विवश कर देते हैं।

केडियाजी ! मेरी बातोंको केवल भावुकताकी उडान मत मानियेगा। ये तथ्य परम-सत्य-के-सत्य है। भाईजीके गुण इतने दिव्य हैं कि मैं तो चकित हो जाता हूँ। भगवान्‌की मैं अपने पर अनन्त कृपा मानता हूँ कि उन्होंने मुझे ऐसे दिव्य-भक्तिगुण-सम्पन्न प्रेमीसन्तका सान्निध्य प्रदान किया।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग संख्या - सात (७)

# सच्चे सन्त कभी निराश नहीं करते

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

### श्रीशिवकुमारजी केडिया

**स्थान :**
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ (बीकानेर राज्य)**
**दिनांक : उल्लेख नहीं**
**अनुमानित मार्च-अप्रैल, १९४१ ई.**

**प्राप्तिसूत्र :**
**श्रीशिवकुमारजी केडियाके**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

चूरू नगरमें सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पैतृक घर है। यद्यपि उनके सभी भाइयोंका व्यापार तो बाँकुड़ा बंगालमें है, परन्तु स्वयं श्रीसेठजी एवं उनके सभी भाई वर्षभरमें एक बार तो अवश्य ही चूरू आया करते हैं। इस घटनाके समय श्रीशिवदयालुजी सपरिवार चूरू ही थे। ये श्रीजयदयालजीके बड़े भाई थे। अपने अनुज जयदयालपर इनका अतिशय प्रेम-भाव था। श्रीसेठजी जयदयालजी चाहते थे कि शिवदयालुजी उनके सत्संग द्वारा गीताके तत्त्व एवं रहस्यको पूर्णतया हृदयंगमकर अपने जीवनमें सारा उतार लें। वे इन्हें निर्गुण-निराकार, सगुण निराकार, सगुण-साकार-सविशेष परमात्मतत्त्वकी गुत्थियाँ खोल-खोलकर अपने सत्संगमें सुनाते। श्रीशिवदयालुजी मनोयोगपूर्वक अपने अनुजका सत्संग सुनते भी थे, परन्तु न जाने क्यों, उनका मन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रति अधिक आकृष्ट था। श्रीशिवदयालुजी सत्संग तो अपने अनुज श्रीजयदयालजीका करते, परन्तु भीतर-ही भीतर उनका मन समर्पण करना चाहता था, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको ही। श्रीशिवदयालुजीको यह सुदृढ आस्था थी कि भाईजीको भगवान् श्रीकृष्णकी सहज सदैव प्राप्ति है और वे चाहें तो भगवत्प्रार्थना करके किसीको भी भगवद्दर्शन ही नहीं भगवत्प्रीति प्रदान करा सकते हैं। श्रीशिवदयालुजी ऐसा

मानते थे, कि यह सामर्थ्य उनके अपने अनुज जयदयालमें भी है – परन्तु शिवदयालुजीका मन वृन्दावन-बिहारी श्रीकृष्णपर अधिक आकृष्ट था, न कि गीतावक्तापर। अत. उन्हें जब भी श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दारका सग एवं एकान्त अवसर मिलता, वे उनसे अपने आराध्य एवं जीवन सर्वस्व श्रीकृष्णके दर्शन करानेकी प्रार्थना अवश्य करते। वे अनेकोंबार श्रीभाईजीसे अपनी मॉग, जब भी अवसर मिला, दोहरा चुके थे।

श्रीभाईजी श्रीशिवदयालुजीकी प्रार्थना सुन लेते, किन्तु मुसकुराकर टाल देते। एक दिवस जब उन्होने बहुत ही आग्रह किया तो "भाईजीने अपनेको एक अतिनगण्य, साधारण-गृहस्थ, श्रीसेठजीका सत्सगी-साधक कहकर उन्हे श्रीसेठजीसे भगवद्दर्शन करानेकी प्रार्थना करनेको कहा।

श्रीशिवदयालुजी मन मसोसकर रह गये। फिर भी उन्होने आशा नहीं छोडी। श्रीशिवदयालुजी समझते थे कि उनसे अपनी साधना द्वारा मनको शुद्ध करके भगवान्मे लगाना सभव ही नहीं है। वे तो घर-परिवारकी, राग-द्वेषात्मक बेडियोमे उलझे हैं, अत उन्हे तो आशा थी कि कोई अपनी कृपा-शक्तिके द्वारा उनके अन्त करणमे ऐसी भक्तिरसकी बाढ लावे जिससे उनका अहकार चूर-चूर हो जाय, बुद्धि भक्तिरसमे ओत-प्रोत हो जाय, मन उसमें डूब जाय और इन्द्रियॉ भगवदनुरागिणी बन जावे। परन्तु ऐसा अकारण हेतुरहित कृपालु कौन सभव है ?

श्रीसेठजी उन्हे साधनाकी उच्च-से-उच्च बाते बताते थे, परन्तु अथाह भवसागरको शिवदयालुजी अपने पुरुषार्थसे पार कर लें, यह उनके वशकी बात सर्वथा, सर्वाशमें ही नहीं थी। अत श्रीशिवदयालुजी पूर्ण श्रद्धासे श्रीसेठजी जयदयालजीका सत्सग तो अवश्य करते थे, परन्तु वे कृपाकी आशा श्रीभाईजीसे ही करते थे। उन्हे श्रीभाईजीपर ऐसी सुदृढ आस्था थी कि भाईजी बस चाहभर लें, तो वे चाहे कितने ही अनधिकारी हों, एक क्षणमें ही उनकी सम्पूर्ण अपात्रता समाप्त हो सकती है और भगवान् श्रीकृष्णकी मुनि-मन-मोहिनी मुसकानसे उनका हृदय एक क्षणमें ही उद्भासित हो सकता है।

विषयानुसन्धान तो उसी अभागेके नयन-मन करते हैं और तभी तक करते हैं, जबतक उसकी इन्द्रियोके पथमें वृन्दावन-चारी गोपीजन चितचोर नहीं आता। जिस क्षण नयनोकी राहमें **"बर्हापीडं नटवर वपुः"** आगया, फिर भला इन तुच्छ इन्द्रियोकी कहॉ सामर्थ्य है कि उसके आकर्षणको छोड सके।

कालमान तो व्यतीत होना ही था। यद्यपि श्रीशिवदयालुजीने अनेक बार भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीके सम्मुख मुख खोला। किन्तु उन्हें श्रीभाईजीसे

उनकी मुसकानके अतिरिक्त और कुछ भी ठोस आश्वासन प्राप्त नहीं हुआ।

इसी साधको मनमें लिये शिवदयालुजी अचानक रुग्ण हो गये। उनकी धीरे-धीरे रुग्णता बढती गयी और एक दिन श्रीभाईजीके पास समाचार पहुँचा कि शिवदयालुजीके बचनेकी कोई उम्मीद नहीं है।

**'सन्त हृदय नवनीत समाना'**

श्रीभाईजीका हृदय द्रवित हो उठा। सन्तोंका हृदयतो नवनीतके समान परम सुकोमल होता ही है, उन्हे पिघलते कितनी देर लगती है।

केडियाजी! श्रीभाईजी मेरे (स्वामी श्रीचक्रधरजीके) पास आये। सायकालका समय था। मैं अपने ध्यानकक्षमे बैठा था। श्रीभाईजीने मेरे पास आकर मुझसे कहा "स्वामीजी! श्रीशिवदयालजी बहुत बीमार हैं। ऐसा समाचार है कि अब उनका बचना कठिन है। उनकी बहुत कालसे ऐसी इच्छा रही कि उन्हे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन एव भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो। स्वामीजी! मैंने उनसे अनेक बार आग्रह किया कि वे श्रीसेठजीसे प्रार्थना करे, परन्तु उन्हे न-जाने क्यो सारी आशा मुझसे ही है। श्रीसेठजी (जयदयालजी गोयन्दका) भी चूरू हैं। अब तो लगता है, उनका अन्तिम-काल है। कृपया आप श्रीकृष्णसे प्रार्थना करिये कि उन्हे भगवानके दर्शन हो जायें। मैं इसीलिये आपके पास आया हूँ।"

मैं भाईजीकी बात सुनकर मुस्कराने लगा। मैंने भाईजीको स्लेट-पट्टीमे लिखकर बहुत समझानेकी चेष्टा की कि मेरे आराध्य श्रीकृष्ण और आप दो स्वतत्र एव पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। जो श्रीकृष्ण भाव-जगत्मे मेरे आराध्य, इष्ट हैं वे ही पाचभौतिक कलेवर धारण किये साक्षात् आपके रूपमें मेरे सम्मुख हैं। परन्तु वे मेरे उत्तर सुननेका धैर्य थोडे ही रखते थे। उनका ऐसा स्वभाव ही है कि वे जब कोई आग्रह करते हैं, तो उस आग्रहके समर्थनमे दूसरेकी बात सर्वथा नहीं सुनते। बस, अपना ही आग्रह दुहराते चले जाते हैं।

वे मेरी स्लेट-पट्टीपर लिखी बात पढ़े बिना ही बोलते चले गये। "स्वामीजी! आप मेरा कहना मानिये तो सही, आप प्रार्थना तो करिये, और देखिये, सायकालको तो आपको मेरे साथ चूरू चलना ही है।"

जो होनी थी, वही हुई। चूरूमें जब भाईजी पहुँचे, तो श्रीशिवदयालुजी मरणासन्न थे। उन्हे बाह्य होश बहुत ही क्षीण-सा ही था। श्रीभाईजीको देखते ही श्रीशिवदयालुजीके मुखपर एक विलक्षण प्रसन्नता व्याप्त हो गयी।

केडियाजी! मैंने स्पष्ट अनुभव किया, जैसे श्रीकृष्ण भाईजीके हाथों बिके हों। श्रीभाईजीके प्रति श्रीकृष्णके प्यारकी कोई सीमा नहीं थी। भाईजी मानो स्वतत्र हो अपने आराध्य – सर्वलोकमहेश्वर श्रीकृष्णका चाहे जैसा उपयोग

करें, चाहे जिसको उनका दान कर दे। वाह रे ! भगवान्का भक्त वात्सल्य ! भाईजीके सकेतपर उनके आराध्य श्रीकृष्ण असभवको भी सभव कर देत थे।

शिवदयालुजी अपनी साधनगत योग्यतासे भगवान् श्रीकृष्णके लीला-पुरुषोत्तम रूपका दर्शन-लाभ प्राप्त करे, यह असभव था। श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाने उन्हे ध्यान करानेकी अनवरत चेष्टा की थी। परन्तु शिवदयालुजीकी वृत्तियाँ तो निर्गुण, निराकार तत्त्व पर स्थिर ही नहीं हो रही थीं और न ही सगुण-साकार स्वरूपको पकड पा रही थीं। उनको देहाध्यास-जन्य अहता पूरी जकडे थी। उनकी चित्त-भूमि दृश्य-जगतकी सत्यतापर स्थिर थी और उनका 'मैं' 'तू' 'मेरा-तेरा, राग-द्वेष निवृत्त ही नहीं हो पा रहा था। उन्हे भगवान श्रीकृष्णकी परम चिन्मय रसमयी लीलामे सन्निविष्ट कर देना, यह भाईजी जैसे परम कृपालु महापुरुषका ही चमत्कार था।

ससारमे ऐसे महापुरुष मिल जायेगे जो शास्त्रमे उल्लिखित तत्त्व-रहस्यकी बातें सुनाकर चकित कर देते हैं। परन्तु उन्हे स्वय ज्ञान निष्ठा हो अथवा वे भक्ति-निष्ठ हो, यो बात आवश्यक नहीं है। ऐसे महापुरुष भी मिल सकते हैं जिन्हे भगवान्की कभी एकाध झाँकी हो गयी हो। इस दर्शनसे उनका भक्त होनेका अभिमान भले ही पुष्ट हो गया हो परन्तु वे जगत्के कल्याणके हेतु हो सके -- कठिन बात है। हाँ ! कुछ ऐसे विरल सन्त भी उपलब्ध हो सकते हैं जिनका सत्याशमे अस्तित्व जगत्के अशेष मगलका हेतु हो, परन्तु वे भी किसी मरणासन्न प्राणीको, जिसका देहाध्यास निवृत्त ही नहीं हुआ हो, भगवानका दर्शन-जन्य कृपा-दान कर दे - ऐसा कठिन है।

केडियाजी ! मेरे जीवनमे अनेक महात्मा आये है मैंने ऐसे प्रवचन कर्त्ताओको सुना है जो सचमुच ही चकित कर देनेवाली भगवप्रेमकी शास्त्रीय बातें बता जाते हैं, जो ब्रजलीलाओकी अति रसमयी कथाएं तो कहते हैं परन्तु भीतरसे वे सर्वथा, सर्वांशमे कोरे ही होते हैं। मुझे ऐसे महात्मा भी मिले हैं, जिन्हे भगवान् राधाकृष्णकी नीचे स्तरकी लीलाओके दर्शन तो हुए हैं परन्तु वे स्वय भगवान्की लीलाओके पात्र नहीं बन पाये हैं मुझे उन ऊँची भूमिकावाले महापुरुषोके भी दर्शन हुए हैं, जो स्वय इन परमोच्च भगवल्लीलाओमे प्रवेश पाकर कृतार्थ हैं, परन्तु किसी अन्यको उन भगवल्लीलाओके आस्वादनका अधिकारी बना देना उनके वशकी बात नहीं। श्रीभाईजीने तो केडियाजी ! मैंने ऐसा भगवत्कृपाका चमत्कार देखा है कि जिसे **'न भूतो न भविष्यति'** कहा जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्णकी श्रीभाईजीके प्रति विलक्षण **'भक्त-पराधीनता'** है।

श्रीभाईजी श्रीशिवदयालुजीके बगलमे ही कुर्सी लगाकर बैठ गये। मैं

उनके पास था ही। वे हाथ पकड़कर उनकी नाडी देख रहे थे। सहसा ही शिवदयालुजीको होश आ गया। वे कुछ बोलने लगे। घरवाले समझ रहे थे कि वे कोई अपने मनकी सांसारिक इच्छा प्रकट करना चाह रहे हैं किन्तु सच्ची बात यही थी कि श्रीशिवदयालुजी इस लोकमे थे ही नहीं। वे बोल रहे थे – "अहा देखो ! भगवान् श्रीकृष्ण मेरे सामने खडे हैं। इस शोभाको देखकर मेरे सब पातक नष्ट हो गये। अहा ! कैसी पवित्र रूपराशि है, भगवान्‌की।"

"अहा ! प्रभुका श्यामवर्ण इतना सुशीतल प्रकाशयुक्त है कि उनकी श्यामल शोभा, उनके ही अंगोंमें विजडित कुन्दनके रत्नजटित आभूषणोकी शोभाको तुच्छ कर दे रही है। अहा ! उनके अगोंकी गन्ध ऐसी मादक है कि ऐसा कोई इत्रसार नहीं कि उस गधकी तुलनामें ठहर सके।"

शिवदयालुजीके नेत्र मुँदे थे। मैंने देखा भाईजी ! अपनी विशिष्ट मस्ती-भरी हँसी हँस रहे हैं।

परिवारकी कोई स्त्री बोल उठी – "ताऊजी ! भगवान्‌से प्रार्थना करिये, वे अपने चरणोंका आपको सस्पर्श करावें ।" परन्तु शिवदयालुजी तो मानों किसी दूसरे लोकमें प्रवेश कर गये थे। किसीकी कोई भी बात उनके कानमें प्रवेश ही नहीं कर रही थी। वे तो अपनी ही धुनमे बोले जा रहे थे -

"भगवान् तो मेरा हाथ पकड़े हैं। वे मेरी ओर कैसे प्यारसे निहार रहे है? अहा ! मेरे प्रभुके नेत्रोंकी कैसी सुन्दर शोभा है ! शरदऋतुमे खिले कमलदलोंपर मानों मोतीकी चमक चढायी हो। भगवान्‌के अगोपर इतना चमकीला वस्त्र है – मानो आकाशकी बिजली स्थिर होकर उस वस्त्रके रूपमे भगवान्‌के अगोमें लिपटी हो। अहा ! उनके हाथमें विराजित मुरलीके छिद्रोंसे बिना बजाये ही मधुर स्वरोंकी सुधा बह रही है। उनका सौन्दर्य मुझे नहला रहा है। मै तो ऐसा पागल हो रहा हूँ, मुझे अपनी सुधि ही नहीं है। वेही मेरा हाथ पकडे मुझे लिये जा रहे हैं। जहाँ ले जाना चाहें, ले जावें। अब मैं तो जा रहा हूँ।"

बोलते-बोलते शिवदयालुजीकी वाणी शान्त हो गयी। उनके आननमे दिव्य तेजका एक प्रकाश-सा मैंने देखा, मेरे दो ऑसू ढलक आये थे। श्रीभाईजीने शिवदयालुजीका हाथ छोड़ दिया। मेरी ओर देखकर कहा – बाबा ! नाडी बन्द हो गयी। शिवदयालुजी भगवद्धाम गये।"

केडियाजी ! मैं भाईजीकी कृपाका चमत्कार देखकर गद्‌गद था। मन-ही-मन विचार कर रहा था – शिवदयालुजीके न-जाने कौनसे ऐसे महान् पुण्य थे, कि भाईजीके प्रति उनका झुकाव हुआ और उनसे ही इन्होने अपनी परमार्थ-आशाके तार जोड़े। अन्यथा सैकडों-हजारों सत्संगियोंको यह पता है

कि भाईजी भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं, कौन इनसे ऐसी आशा करता है कि भाईजी उसकी मृत्यु सुधार दें, भगवान्‌के दर्शन करा दें। धन्य है शिवदयालुजीके भाग्य ! जो इन्होंने भाईजी जैसे महापुरुषसे अपनी आशाके तार बाँधे।

केडियाजी ! मनुष्य धनसे सुखकी आशा करता है, राज्याधिकारसे युक्त किसी पदको प्राप्तकर अपनेको सुखी समझता है, योगीजन दीर्घावधियोंका तप करके उत्तम सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहते हैं, कोई ज्ञानी होकर मुक्तिकी कामना करते हैं, परन्तु किसी सच्चेसन्तको पहचानकर मात्र आत्मीयतावश निस्साधन उससे भगवान्‌के दर्शनकी जीवनभर आशा रखना, बिरले व्यक्तिकी ही बात है। फिर सन्तोंकी ही अतिशय कृपालुता है कि वे जो भी उनसे आशा रखता है, उसकी आशा पूर्त्ति करते हैं। केडियाजी ! भाईजी तो इससे भी विलक्षण हैं। उनसे कोई किसी भी भावसे जुड़ जाय, वे तो उसे चाहे-अनचाहे भगवान् ही दान करते हैं। बिना माँगे मात्र अपनेसे किसी भी प्रकार जुडे व्यक्तिको भगवान्‌के दर्शन करा देना, इतनी बडी उदारता है, जिसका कहीं उल्लेख ही शास्त्रोमें नहीं है। अग्निसे कोई बिना आशा किये ही स्पर्शित हो जाता है, तो जैसे अग्नि उसे जला देती ही है इसी प्रकार श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) का अतिशय सौहार्द-सना वस्तुगुण भगवान्-जैसी अनमोल एव दुर्लभतम वस्तुकी प्राप्ति, किसीको चाहने-न-चाहनेपर भी, उनके सम्पर्कमें आने मात्रसे ही करा देता है।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - आठ (८)

# कर्मकाण्डी ब्राह्मण-देवतापर अनचांही कृपा

*प्रस्तुति :*

**प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

*प्रेषिति :*

**श्रीशिवकुमारजी केडिया**

*स्थान :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**
**दिनांक : अज्ञात, अनुमानतः अप्रेल १९४१ ई.**

*प्राप्ति-सूत्र :*
**श्रीशिवकुमारजी केडियाके**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

एक समय था जब सस्कृत भाषाके प्रकाण्ड विद्वानोकी बहुलताके कारण जयपुर नगरको लोग राजस्थानकी 'काशी' माना करते थे। इसी प्रकार रतनगढ ग्राम भी सस्कृत-विद्वानोंके कारण उन दिनों राजस्थानकी दूसरी 'काशी' माना जाता था। ग्रामने गौड ब्राह्मणोंकी प्रधानता थी और वे सभी दूर-दूर तक ख्याति-प्राप्त संस्कृतके सुपठित विद्वान् थे। इन ब्राह्मण विद्वानोंके घर में ही सस्कृत पाठशालाएँ होती थीं और सैकड़ोकी संख्यामे ब्राह्मण ब्रह्मचारी इनके सान्निध्यमे संस्कृत व्याकरण, साहित्य, दर्शन, वेदान्त और वेदोंका अध्ययन किया करते थे।

ग्राममें धनी आस्तिक अग्रवाल वैश्य थे, जो प्राय सभी ब्राह्मणसेवी थे। ये इन विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तियाँ देते थे, जिससे ब्राह्मण बालकोंमें संस्कृत-पठनकी अतिशय रुचि रहती थी। संस्कृत-विद्यार्थियोंको लोग चावसे अपने घरोंमें ब्रह्मभोजोंमें आमंत्रित करते थे, जिसमें इन्हें भोजनके अतिरिक्त वस्त्र, ताम्रधातुके पात्र और पर्याप्त दक्षिणा भी मिलती थी। उन दिनों मुद्रा मूल्यवान् थी और वस्तुएँ बहुत सस्ती थीं। अत एक सस्कृत-विद्यार्थी, ब्रह्मचारी होनेका समाजमें गौरव तो पाता ही था, पर्याप्त अर्थोपार्जन भी कर लेता था। इसीसे ब्राह्मणोंके बालकोमे सस्कृत शिक्षा पानेका अतिशय चाव रहा करता था।

ग्राममें सर्वत्र सस्कृतके विद्वानोका समादर था और वे श्रद्धासे सभी

वैश्य-घरोंमें प्रतिष्ठापूर्वक पूजे जाते थे।

भाईजीके परिवारमें भी उनकी दादीके समयसे एक सम्मान्य कर्मकाण्डी विद्वान् ब्राह्मण-देवता आया करते थे। वे सुदूर आसाम-बगाल आदि प्रान्तोंमे भी, जहाँ इस ग्रामके वैश्य व्यापारी व्यापार हेतु गये हुए थे यात्रा करते थे और वैदिक यज्ञ-यागादि करानेमें इनकी अतिशय ख्याति थी। इन्होंने गायत्रीके अनेक पुरश्चरण किये थे और इन्हें लोग सिद्ध-ज्योतिषी, साथ ही सफल अनुष्ठानकर्त्ता भी मानते थे।

इतने विद्वान्, धार्मिक, और वैदिक कर्मकाण्डके मर्मज्ञ होनेके उपरान्त भी इनकी वृत्ति धन बटोरनेमें ही लगी रहती थी और ये गृह-परिवार एव बाल-बच्चोंके प्रति अति मोहासक्त थे। धनके साथ जैसा, कि शास्त्रोंमे लिखा है – पन्द्रह दोष आते ही हैं। यद्यपि इनकी ग्राममें प्रतिष्ठा थी, परन्तु इनके घरमे इनके बच्चोंमें परस्पर बहुत ही कलह रहती थी। इस गृह-कलहके कारण ब्राह्मण-देवता सदा अतिशय अशान्त रहते थे।

काल तो सबको ग्रास करता ही रहता है, चाहे कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो, धनवान् हो, मान-प्रतिष्ठायुक्त हो, चाहे अपठित, कंगाल, दरिद्र, और सबका उपेक्षा भाजन हो। राजा-रंक, धनी-दरिद्र, असामान्य-सामान्य, विद्वान्-मूर्ख, आचारी-अनाचारी, बलवान्-निर्बल, काल सबको बिना भेद किये एक दिन अपना ग्रास बना ही लेता है, सो पडितजीपर भी उसने अपना एक दिन दाव आजमा ही लिया। मृत्युके समय पंडितजीने भाईजीको स्मरण किया। श्रीभाईजी उस समय मुझे (पू श्रीचक्रधरजी महाराजको) भी अपने साथ ले गये थे। मृत्यु-शय्यामें पडे पण्डितजीकी वृत्ति पूरी संसारमें उलझी थी। परिवार, धन, मकान, प्रतिष्ठा, सोना चाँदी और बालबच्चोंको छोडते पडितजीको बहुत ही कष्ट हो रहा था। पण्डितजीको तो यमदूत ले जाने आ ही गये थे, परन्तु पण्डितजीकी वृत्ति भगवान्मे लगे इसकी उनके बच्चोंको सर्वथा चिन्ता नहीं थी। वे तो बारबार पण्डितजीसे अपना मनचाहा बँटवारा कर देनेका ही आग्रह कर रहे थे और पडितजीने भाईजीको इसीलिये बुलाया भी था कि वे इन बच्चोंका व्यवहार-कुशलतासे समाधान कर दें। भाईजीसे वे यही चाहते थे कि भाईजी उन बच्चोंको उन सबके मनोनुकूल हिस्सा-पॉती बँटवारा कर दे। भाईजीकी उस समयकी व्यवहार-कुशलता देखकर, केड़ियाजी ! मैं तो दंग हो गया। भाईजीने रोषका उस समय ऐसा नाटक किया कि वे एकदम अग्निशर्मा ही बन गये। इतने जोरसे क्रोधमें भरे वे गरजे कि सभी परिवारके लोगोकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। केडियाजी ! भाईजीके पूरे शब्द तो मैं आपको बता नहीं सकता,

क्योंकि वे उस समय शुद्ध रतनगढ़ी मारवाडी भाषामें बोल रहे थे, परन्तु उनका कहनेका अर्थ इतना ही मुझे समझमें आया, जैसे वे कह रहें हों – "आप सभी अपने-घर मकानके अतिरिक्त मेरी हवेली और सावित्रीकी माँका गहना-कपडा भी बाँट लेना, परन्तु अभी तो कुत्तोंकी तरह मत झगडो, इस तरह हल्ला मत मचाओ। इन पडितजीको मरने तो शान्तिसे दो।" और कहाँ एक क्षण पूर्व तो भाईजी क्रोधमे आग उगल रहे थे, बस, दूसरे ही क्षण उन पंडितजीके मस्तकपर हाथ रखकर वे उनके कानमें भगवन्नाम सुनाने लगे। जिस समय भाईजी पडितजीको भगवन्नाम सुना रहे थे, उनकी योगस्थ अवस्था देखकर, मैं चकित हो गया। उनके नेत्रोसे स्नेहकी विलक्षण धारा प्रवाहित हो रही थी। उनका सारा क्रोध न-जाने कहाँ चला गया था। पडितजी भाईजीसे बहुत ही वयोवृद्ध थे। वे उनके परम सम्मान्य थे, परन्तु इस समय तो जैसे भाईजी उन पूज्य ब्राह्मण-देवताको माता-पिताके समान वात्सल्य प्रदान करनेवाले हो गये थे। मैंने देखा कि पडितजीके मस्तकपर हाथ रखते ही और उनके कानमें मात्र दो-चार भगवन्नाम सुनाते ही पडितजी जोरसे रुदन कर उठे। "भाईजी! बहुत कृपा, बहुत बडी कृपा, परम शान्ति, अपार शान्ति।" फिर अपनी पत्नीसे कहने लगे – "इन्हें अपना यजमान-मात्र मत समझना, ये भगवान्से भी बढकर उनके परम भक्त, बहुत बडे महापुरुष हैं" फिर अपने हाथ जोडकर कहने लगे – "भाईजी, आपकी कृपासे मुझ महा-पापीको भगवान् लेने आ गये, अब जा रहा हूँ, प्रणाम । मैं तो नामका पडित कहलाता था। असली पडित तो आप हो।" और भाईजी उनके जुडे हाथ हटाकर उनसे कह रहे थे "मैं तो 'हनुमानिया' – आपका बालक हूँ । वही "मन्नू' हूँ। आशीर्वाद दीजिये। मेरी वृत्ति भगवान्में लगे, बोलिये 'हरे राम हरे राम राम राम हरे-हरे।' और 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' कहते पडितजीके प्राण-पखेरू उड गये।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - नौ (९)

# युवक डॉक्टरपर कृपा

प्रस्तुति :

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

प्रेषिति :

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

स्थान :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली
ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : अनुमानतः अप्रेल १९४१ ई.

प्राप्तिसूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केड़ियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

## आलोक

*इस घटनाका उल्लेख पू. श्रीराधाबाबाने ३३ वर्ष पश्चात् सन् १९७४ ई. में श्रीबालकृष्णजी महाराजके सम्मुख किया था। भाई श्रीराधेश्यामजी बंकाने अपनी 'वाटिका-वेणु' नामक पुस्तकमें इस प्रसंगका उल्लेख किया है। परन्तु केड़ियाजीके इस पत्र और 'वाटिका-वेणु' नामक पुस्तकमें उल्लिखित घटनामें बहुत अन्तर है।*

*इसमें अनेक कारण हो सकते हैं। श्रीकेडियाजीको इस घटनाकी सब बातें पू. राधाबाबा द्वारा ही लिखकर दी गयी थीं। इस घटनाका उल्लेख श्रीराधाबाबाने मेरे सम्मुख भी सन् १९५१-५२ में किया था, वह उल्लेख पूरा इस पत्रसे मिलता-जुलता है। दूसरे इस घटनाके मुख्य पात्र रतनगढके डाक्टर भार्गवसे मेरा भी व्यक्तिगत सम्बन्ध अति आन्तरिक रहा है। काष्ठमौनके पश्चात् रतनगढ़में पू. राधाबाबा १९५८ में डाक्टर भार्गवसे ही सर्वप्रथम मुखर हुए थे। तब मैं एवं श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव दोनोंने डाक्टर साहबसे घण्टों वार्ता की थी। उस समय उन्होंने, यह घटना उनके ही साथ घटित हुई है, ऐसा हम दोनोंके सम्मुख स्वीकार किया था। उनका जो भी वर्णन था, वह भी हू-बहू इस पत्रसे मिलता-जुलता है।*

*अतः संभव है, पू. श्रीराधाबाबाने श्रीमहाराजजीसे जो वर्णन ३३ वर्ष*

*पश्चात् किया, वह या तो जानकर कुछ हेर-फेरसे किया हो, अथवा उसमें उनकी स्मृतिमें भिन्नता रही हो। पाठकवर्गके सम्मुख सही स्थिति रखना कर्त्तव्य समझकर यह स्पष्टीकरण दिया गया है।*

**साधुकृष्णप्रेम**

---

एक डॉक्टर नये-नये रतनगढ़में आये थे। वे युवक थे। ग्रामके सभी युवकोमे उन दिनों 'भाईजी' बहुत ही लोक-प्रिय थे। इस लोक-प्रियताके पीछे भाईजीका निस्वार्थ लोक-सेवामय व्यवहार एव उनकी सबके प्रति प्रकट होनेवाली अलौकिक आत्मीयता ही हेतु थी। रतनगढमे राजकीय अस्पतालमें वे नये-नये नियुक्त होकर आये थे। एक दिवस वे सायकालको भाईजीसे मिलने उनकी हवेलीमें चले आये।

प्रथम मिलनमें ही श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने उन्हें अतिशय आत्मीयतासे नहला दिया। मानो वे जैसे उनके परिवारके ही सदस्य हों – इस प्रकार उनको तत्क्षण ही भाईजीने अपने एव अपने परिवारका पारिवारिक डाक्टर (Family Doctor) तो नियुक्त कर ही लिया, साथ ही अनेक सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित परिवारोमें जहाँ श्रीभाईजीके प्रति अधिक सद्भावना थी, वहाँ भी उनको पारिवारिक डॉक्टर बना लेनेके लिये उन्होंने प्रशसा-पत्र लिख दिये। भाईजी द्वारा विश्वास व्यक्त कर देनेके कारण अनेक सम्भ्रान्त परिवारोकी पारिवारिक सँभाल डाक्टरके जिम्मे आ गयी, एव ग्राममे डाक्टर साहबकी इज्जत हो गयी। वैसे वे अपने पेशेमें कुशल थे। अत उन्होने कुछ ही दिनोमें सर्वत्र लोकप्रियता अर्जित कर ली। उनके हाथमे यश भी था अत डाक्टर-युवक सभी मारवाडी परिवारोंमे बुलाये जाने लगे।

वैसे डाक्टर महोदय सच्चे चरित्रवान् थे, परन्तु आध्यात्मिक पृष्ठभूमि न होने एव नवयुवक होनेके कारण वे स्त्रियोके अंग-स्पर्श करते (नाड़ी आदि देखने के हेतुसे) तो उन्हे काम-विकार हो आता था। डाक्टरको तो जॉचके लिये ऑख, नाड़ी, पेट, कमर, सभी स्पर्श करने पडते ही हैं। डाक्टर साहब जब युवती बहू-बेटियोके अग-स्पर्श करते, तो वे विकार-ग्रस्त एव चचल हो उठते।

एक दिवस, वे डाक्टर मेरे (पू. स्वामी श्रीचक्रधरजीके) पास मिलने चले आये, उन्होने मुझसे एकान्तमें अकेले ही मिलने एवं वार्त्ताका समय चाहा। मैंने उनको सायकाल उनकी सुविधानुसार किसी समय भी आनेको कह दिया।

सायकाल लगभग पाँच बजे डाक्टर साहब मेरे पास आये। डाक्टरने अपनी समग्र मनोदशा निश्छल होकर मरे सम्मुख रख दी। डाक्टरका अभीतक

विवाह भी नहीं हुआ था। वह बहुत ही सरल, सीधा एवं सच्चरित्र युवक था। वैसे उसका जीवन अबतक पवित्र रहा था, परन्तु उसे अपने व्यवसायकी दृष्टिसे स्त्री-शरीर सस्पर्श करना ही पडता था। स्पर्शके समय बहुत संयम रखनेपर भी वह विकृत एव चचल हो उठता था।

जिस निश्छलतासे उसने सब बातें मुझे बतायीं, उसी निश्छलतासे मैंने उसे सभी बाते श्रीभाईजीको भी कह देनेकी बात कही। वह भाईजीसे कहनेमे बहुत ही सकोच अनुभव कर रहा था। वह मुझसे कहने लगा कि "भाईजीने मुझपर बहुत विश्वास किया है, यदि मैंने सब बातें भाईजीके सम्मुख खोलकर रखदीं और उन्होने सम्भ्रान्त परिवारोंमें किसीसे भी यह बात प्रकट कर दी, तो मेरी रतनगढमे फिर प्रैक्टिस ही उखड जायेगी। बाबा! भाईजीके सम्मुख मुझे मत भेजिये।" मैंने उसे समझाया कि "जब श्रीभाईजीने तुम्हे पहली भेटमे ही इतना विश्वास और स्नेह दिया है, तो तुम्हें उनके सामने निश्छलतापूर्वक सब बात रख देनी ही चाहिये, चाहे तुम्हारी प्रैक्टिस उखड़े या जमे, तुम्हें भाईजी जैसे सन्तसे विश्वासघात कदापि नहीं करना चाहिये। तुम भगवान्के सम्मुख तो सच्चे रहोगे कि मैं जो था, जैसा था, भाईजीके सम्मुख आईनेकी तरह स्पष्ट था, भाईजी जैसे सिद्ध-भक्त सन्तसे तुमने कुछ भी दुराव-छिपाव नहीं किया। उनसे विश्वासघात करके अपनी प्रेक्टिस जमानेमें मुझे तो तुम्हारा न तो पारमार्थिक एव न ही लौकिक – किसी भी प्रकारका हित समझमें आता है।"

मेरी बात डाक्टरको जँच गयी। वह मेरे पास से सीधा भाईजीके पास चला गया। भाईजीके सम्मुख जैसे मैंने उसे समझाया था, उसने ठीक वैसे ही स्पष्ट अपनी स्थिति रख दी। भाईजी तो उससे, ये बातें सुनते ही एकदम क्रोधमे भर गये। उन्होने क्रोधमें भरकर उस डाक्टरको तुरन्त अपने पाससे चले जानेको कहा, और कहा कि "आगेसे मुझे मुख नहीं दिखावें। मैंने आपको सच्चरित्र समझकर, विश्वास करके बहू बेटियों वाले इज्जतदार घरोंमें भेजा था, मुझे आपसे यह आशा नहीं थी।"

भाईजीके क्रोधसे डाक्टरकी दशा तो ऐसी हो गयी कि वह यदि अवसर पा जाए तो जमीनमे ही समा जाये। उसका तन पसीने-पसीने हो गया। उसके मुखसे बस, इतनी सी बात निकली – "भाईजी! क्षमा करिये, आजसे मैं आपके अथवा ग्राममें किसी भी सम्भ्रान्त परिवारके घर प्रेक्टिस करने नहीं जाऊँगा।" यह कहकर वह उठकर ज्योंही जाने लगा, भाईजी कुछ द्रवित हुए। उन्होंने कहा "डाक्टर साहब! आप मेरे बालक हैं, इसलिये मैं अपना समझकर आपपर उत्तेजित हो गया था। देखिये! अभी तो मैं किसी परमावश्यक कार्यमें

व्यस्त हूँ। आप कल सायंकाल इसी समय मेरे पास अवश्य आइयेगा। मेरे स्वभावमे यह दोष है कि मैं अपने जनोपर कभी-कभी इस प्रकार उत्तेजित एव क्रोधित हो उठता हूँ।"

डाक्टर नीचा मुख करके उठकर बाहर आ गया और मेरे पास आकर वह फफक कर रोने लगा। मैने उसे धैर्य बँधाया, कहा कि "आपपर निश्चय ही भगवत्कृपाकी वर्षा हुई है। आप निश्चय ही मेरी बात मान लीजिये कि भाईजीका यह रोष आपका अनन्त मगल करेगा।" डाक्टरको ढाढस बँधाकर मैंने उसे विदा किया।

दूसरे दिवस डाक्टर सायकाल उसी समय मेरे पास आया और मुझे प्रणामकर भाईजीके कमरेमें चला गया। उसने जैसे ही भाईजीके कमरेमें प्रवेश होनेके लिये परदा उठाया, उसके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उसने स्पष्ट खुली-आँखोसे देखा कि भाईजीकी डेस्कके एक कोनेकी ओर कैशोर अवस्थाके भगवान् श्रीकृष्ण मयूर-मुकुट धारण किये बैठे हैं और झुककर वह सब पढ रहे हैं, जो भाईजी लिख रहे हैं। इस प्रकारका एक चित्र श्रीसूरदासजीके संदर्भमें 'कल्याण' पत्रिकामे कुछ दिन पूर्व छप भी चुका था। इस छपे चित्रमें अधे सूरदासजी 'इकतारा' नामक वाद्य बजाकर भजन गा रहे हैं और श्रीकृष्ण बैठे उनका गायन अति तन्मयतापूर्वक सुन रहे हैं।

उस डाक्टरने ठीक उसी छपे चित्रकी तरह जब भाईजीके सम्मुख भगवान्को बैठे देखा, तो एक बार तो उसे ऐसा लगा कि मानो उसे मस्तिष्कगत भ्रम हो रहा है। वह कमरेसे बाहर आया, उसने पास ही रखी पानीकी टंकीसे अपना मुख धोया, फिर श्रीभाईजीके कक्षमे पुन झाँक लगायी। पुनः इसी प्रकार भगवान्को बैठे देखकर डाक्टर घबड़ा गया। बाहर आकर उसने पुनः अपनी जेबसे एक खौंसी पिन निकाली और अपने शरीरमें चुभोकर पुन. भाईजीके कमरेमे झाँका। उसे पुन भगवान्की वही छवि दृष्टिगोचर हुई। अब डाक्टर एकदम भावाभिभूत हो उठा। वह दौडा-दौडा मेरे कमरेमें आ गया। उसे होश नहीं था। वह मात्र इतना ही बोल रहा था "बाबा ! दिख गये। बाबा ! निहाल हो गया । बाबा ! भगवान्के दर्शन हो गये।" वह मुझसे लिपट गया, उसका शरीर पसीनेसे लथपथ था। उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। उसके मुखसे वाणी नहीं निकल रही थी। रोते-रोते हिचकी बँध गयी थी। मैं उसके मस्तकपर हाथ फेर रहा था, इतनेमें ही हँसते-हँसते भाईजी भी मेरे कमरेमे चले आये। डाक्टर तो भाईजीको देखते ही मुझे छोडकर उनसे लिपट गया। वह तो एक ही शब्द रट रहा था – "भाईजी ! आपको पहचान नहीं पाया, क्षमा कर दीजिये।

न जाने मेरा कौन महाभाग्य था कि आपके दर्शनोंका अवसर मिला। मुझ अधमको क्षमा कर दीजिये। आपने तो मुझे निहाल कर दिया।''

मैंने देखा, भाईजीके अश्रु भी स्नेहसे छल-छला आये थे। उन्होंने डाक्टरका मस्तक अपनी गोदमें रख लिया था। वे उसके मस्तक पर हाथ फेर रहे थे। कुछ देर पश्चात् डॉक्टर स्वस्थ-चित्त हुआ। वह उठकर बैठ गया।

उस दिवसके पश्चात डाक्टरको पाँचवर्षतक कभी काम-विकार नहीं हुआ। पाँचवर्षके पश्चात् भाईजीने ही उसका विवाह किसी पवित्र बालिकासे करवा दिया।

राधा राधा राधा राधा

### प्रसंग - दस (१०)

# नगर-सेठपर कृपा

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**
**दिनांक निश्चित तिथि अज्ञात**
**संभावित अप्रेल १९४१ ई.**

*प्राप्तिसूत्र :*
**श्रीशिवकुमारजी केडियाके**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

केडियाजी ! एक नगर-सेठ थे। उनका नाम उल्लेख करना उचित नहीं है। उनके पास अपार धन था। चाँदी-सोनेकी शिलाओंसे उनके तहखाने भरे रहते थे। तहखानोंकी चाभी सेठजी अपने पास ही रखते थे। सेठजी वैसे बहुत दानी, यशस्वी थे। अनेक नगरोमें उनके द्वारा निर्मित कराये मन्दिर थे। अनेक माध्यमिक विद्यालय, पुस्तकालय, दातव्य औषधालय, धर्मशालाएँ, स्थान-स्थान पर पानीकी प्याऊ, सभी तीर्थोंमे साधु-महात्माओंके लिये अन्नक्षेत्र – उनके पुण्यकार्योंकी गिनती नहीं थी। उनके द्वारा देवकर्म, पितृकर्म, जप, पुरश्चरण, यज्ञ, पुराण-पाठ, कूप-तालावोंका निर्माण, सभी उत्तम कर्म प्राय: होते ही रहते थे। सेठजीके घरसे कोई दरिद्र, खाली हाथ कभी वापस नहीं आता था। उनका यशोगान सर्वत्र ही होता रहता था।

यद्यपि सेठजी ये सभी उत्तम कर्म निरन्तर करते रहते थे, किन्तु उनके सभी कर्म होते थे अपनी यश-लिप्सा और पुण्यलाभके लिये ही। अतः ये सभी कर्म उन्हें बन्धनसे मुक्त करनेवाले नहीं होकर उनका शरीराध्यासरूप बन्धन सुदृढ करनेवाले ही थे। भगवान् श्रीकृष्णने "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**" वाक्य ऐसे ही धर्मोंके सम्बन्धमें कहा है। मनुष्यकी यश-लिप्सा ही भ्रमवश ऐसे कर्मोंको महत्व दिलाती है। इनसे हमारे अहकारको ही पोषण प्राप्त होता है और सारकी वस्तु कुछ भी प्राप्त नहीं होती।

यह सब कहनेका इतना ही अर्थ है कि सेठजीके पास धन था ही और साथ ही धन-सम्पत्तिका नशा भी था। किसीके पास कितना ही धन हो, शरीरकी गति तो जो होनी है, वही होती है। चाहे कोई जगत्‌में पैसेके बलसे भूदेव, नरदेव, सेठ (श्रेष्ठ), नगरश्रेष्ठ – कुछ भी कहला ले, धन-प्राप्तिकी आशामें चाटुकारलोग धनियोंके लिये भले कितने ही विशेषण लगा दें, उनके शरीरकी तो जो गति होनी होती है, वही होती है। नगर-सेठजीके पास अपार सपत्ति होनेपर भी उन्हें ऐसा भीषण रोग हुआ कि जिससे उनके शरीरमें कीडे पड गये। सेठजीके शरीरसे मवादका प्रवाह बहता था, और वह इतना दुर्गन्ध युक्त होता था कि उनके बहू-बेटे भी उनकी सेवाके लिये उनके पास घृणावश कभी नही आते थे। बच्चोने पैसे होनेके कारण जर्मनीसे एक प्रसिद्ध डाक्टर और नर्सको पॉच हजार रुपया प्रति दिवसके पारिश्रमिकपर उनकी सेवामे नियुक्त कर दिया था। बच्चे बापको पूछते ही नहीं थे। सेठजीको अपने बेटे-बहूपर बहुत ही रोष था, परन्तु उनके उस रोषकी उनके पुत्र एव पुत्रवधूको कुछ भी परवाह नहीं थी। उन्होने डाक्टरोको नियुक्त करके अपने कर्त्तव्योकी इति समझ ली थी। वे इतने अधिक पैसेवाले और प्रतिष्ठित थे कि उन्हें कोई समझा भी नहीं सकता था। बहुत काल तक सेठजीने इस भीषण रोगका कष्ट सहा।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) तो ग्राममे सबके अकारण-हितू और आत्मीय थे ही। उनका सबसे उत्तम स्वभाव यही माना जाता था कि चाहे कोई अति दूरका ही परिचित हो, कष्टके समय भाईजी सान्त्वना देने या उसे भगवान्‌मे लगाने अथवा कुछ सेवा करने-कराने पहुँच ही जाते थे। केडियाजी! भाईजी की दृष्टि इतनी पवित्र एव सम है कि उन्हें तो चाहे कोई नारकीय कीडा हो, कोई अति सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञ सन्त हो, सभी समान भगवद्रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। भाईजी सब जीवोको गुण-निरपेक्ष, ज्ञान-निरपेक्ष और भक्ति-निरपेक्ष प्रेम करते हैं। उन्हे किसीसे कुछ आशा तो है नहीं, उन्हें तो सबको भगवद्भाव वितरित करना है, सो वे उसे सर्वत्र सभीमें वितरित करने – जहाँ भी ममत्व देखते हैं, पहुँचते ही हैं। भाईजी, अपने सीधे, सरल स्वभाववश सेठजीकी हवेली नित्य ही पहुँच जाते। वे उन्हें भगवान्‌की सर्वत्र समरूपसे स्थितिके सम्बन्धमें अपने अनुभव बताते और उनसे निरन्तर भगवान्‌को अपने पास ही अनुभव करते रहनेकी बात कहते। सेठजी भाईजीकी बात तो सुन लेते, परन्तु उनका मन यह चाहता था कि हवेलीमें जो नीचे तहखानोंमें सोने-चाँदीकी सिलें रखीं हैं, वे सिलें उनकी धर्मपत्नीको ही मिले, यह धन उसके जीवनकालमें उसका ही रहे, उसे उनके पुत्र-पुत्रवधू उसके जीवनकालमें छू भी नहीं सकें। सेठजी चाहते थे

कि भाईजी इस बातका पुख्ता विश्वास उनको दिला दें और ग्रामके धनी-मानी पचोंको मध्यस्थ बनाकर, ऐसा कोई विश्वस्त सुरक्षा-कवच निर्माण कर दे, जिससे उनका पुत्र इस धनपर अधिकार नहीं कर पावे।

श्रीसेठजीके इकलौता एक ही पुत्र था, सो पहले तो उसे पिताकी सम्पत्तिसे भाईजी कैसे वंचित करते ? दूसरे सेठजीका पुत्र वैसे सब बातोंमें तो सेठजीकी रुचिसे कार्य करनेवाला, आज्ञाकारी था, परन्तु इस दर्दनाक बीमारीमें वह अपने शरीरसे पिताकी सुश्रूषा नहीं कर पा रहा था, यह उसकी कमजोरी एवं विवशता ही थी। इस विवशताका एक कारण यह भी था कि उसे एवं उसकी पत्नीको यह भय था कि कहीं यह बीमारी छूतकी नहीं हो, और पिताके पास आने-जानेसे वे स्वयं या उनके बच्चे इस भीषण रोगसे ग्रस्त नहीं हो जावे। किसी भी व्यक्तिको परिवारमें जब गलित-कुष्ठ हो जाता है, तो भगवद्विश्वासी आस्तिक बच्चे भी गलित कुष्ठवाले सम्बन्धीको घरसे हटा देते हैं। यह मानव की स्वभावगत स्वाभाविक कमजोरी है, जिसके वशीभूत उनके पुत्र एवं पुत्रवधू अपने पिताकी शारीरिक सेवा नहीं कर रहे थे। इन स्वाभाविक कमजोरियोंके कारण इकलौते एकमात्र पुत्रको पिताकी संपत्तिसे वंचित कर दिया जाय और माँ-बेटेके विश्वास और वात्सल्यके मध्य धनके कारण रागद्वेषमूलक कोई व्यवधान खडा हो, भाईजीको यह सर्वथा रुचिकर नहीं था। अतः भाईजी इस विषयमें सेठजीकी बात सुनी-अनसुनी कर दे रहे थे और चाहते थे कि सेठजी धनके महत्वको हृदयसे सर्वथा निकाल दें, साथ ही यदि कोई उनकी इस दर्दनाक बीमारीमें सेवा नहीं कर पा रहा है, तो उसे क्षमा कर दे। धन तो सबको मात्र उसके प्रारब्धवश ही मिलता है। किसीको धनसे वंचित करना अथवा धन दिलाना, दोनों कार्य जगन्नियन्ता भगवान् ही करते हैं। ऐसे समयमें जब कराल-काल मुख खोले सम्मुख खडा है, किसीसे भी प्रतिशोध लेनेकी इच्छा करना नरकोंमें ले जानेवाली चेष्टा है। ऐसे समयमें तो सबको हेतुरहित रूपसे क्षमाकर भगवान्में ही अपना चित्त लगाना उचित है। जगत्में न तो कोई अपना है, न ही कोई पराया है। यदि कभी किसीसे कोई अनुकूल-प्रतिकूल आचरण हो भी जाते हैं, तो वह स्वयं ही बंधनोंसे बँधा-जकडा अपनी अच्छी-बुरी प्रकृतिका दास है। अतः उसे किसी भी दोष एवं अपराधका कर्त्ता नहीं समझते हुए किसीभी होनेवाली अवश्यभावी प्रतिकूल घटनामें मात्र निमित्त समझ, क्षमा कर देना ही उचित है। वास्तवमें विश्वमें जो कुछ, जहाँ भी घटित हो रहा है, वह तो मात्र विश्वनियन्ताके विधानसे ही हो रहा है। विश्वनियताकी इच्छाके बिना तो एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। विश्वनियन्ताकी रुचिके बिना जब

पलक भी कोई नहीं गिरा सकता, तो किसीको किसी अप्रिय एवं प्रतिकूल घटनाका कर्त्ता मान लेना तो अपना ही अज्ञान है।

भाईजी इसीलिये पिताके मनसे पुत्रके प्रति उत्पन्न हुआ द्वेष सर्वथा मिटा देना चाहते थे। वे सेठजीको बारबार अनवरत यही समझानेकी चेष्टा करते थे कि "इस ससारमें सुखका लेश भी नहीं है। किसीसे भी अपनी सुख-सेवाकी आशा करना मात्र दुराशा है। यह संसार तो मात्र स्वार्थोंका टकराव-भर है। **"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्"** यह संसार अनित्य है, दु खालय है, इसमें सुख है ही नहीं। यदि सुख-.प्राप्तिकी इच्छा है, तो मेरा भजन करो – भगवान्‌के ये वचन न तो मिथ्या हुए हैं, न ही कभी होवेंगे। सुखकी आशामे जीवनको बरबाद करना बडी भारी भूल है। और जीवनके अन्तिम दिनोंमें जब मृत्यु मुख खोले खडी है, इससे दूसरी कोई बडी भूल हो भी नहीं सकती।"

केडियाजी ! भाईजी सेठजीको बार-बार समझाते कि "कोई भी जिसे वास्तविक सुखकी इच्छा है, उसे भगवान्‌का भजन करना ही होगा। इसके बिना अन्य कोई चारा ही नहीं है। पीलियेके रोगीको ससार पीला ही दृष्टिगोचर होता है। उसे मिश्री जो शुभ्र, स्वच्छ होती है, पीली दिखती है, परन्तु वह रोगी है, उसकी दृष्टि शुद्ध कदापि नहीं है। अत अब अन्तिम कालमें उन्हें सगे-सम्बन्धी, पुत्र-पुत्री, शत्रु-मित्र, अपने-पराये, अच्छे-बुरे, सबमें मात्र भगवान्‌को ही भरा देखना चाहिये। उन्हें इस भीषण रोगके रूपमें भी भगवान्‌की ही कृपाको देखना चाहिये। अन्यथा, यदि भीषण रोगके रूपमें भगवान् नहीं आते, तो सेठजी ! आपकी राग-द्वेषमयी दृष्टिके सुधरनेका कोई उपाय ही नहीं था।"

श्रीभाईजी जैसे ही सेठजीसे कोई उनका सम्बन्धी मिलने आता, सेठजीको चेताते – "सेठजी ! श्रीकृष्ण ही व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारके सत्य हैं। अतः इन सब मिलनेवालोके रूपमें वे ही अनेक रूप धारणकर आपके सम्मुख आ रहे हैं। अत सबमें पूरी सावधानी रखते हुए, उन्हें ही देखिये, उनसे ही मिलिये। देखिये ! अन्य कोई नहीं है, मात्र भगवान् ही सर्वत्र भरे हैं, अतः इस विषयमें इस समय बहुत सावधान रहें। ऐसा सुन्दर मानव-जीवन कहीं व्यर्थमें नहीं चला जाय। परिवारको देखकर, सम्बन्धियोंको अपना मानकर, भगवान्‌को कहीं भूल मत जाइयेगा। यह वास्तवमे ही हीरेको फेंककर ककर बटोरनेके समान ही है। न जाने हम कितने ही सम्बन्धियोंको पिछले अनन्त जन्मोंमें छोड आये हैं। उनमें अपनापन करने एव भगवान्‌की विस्मृतिसे ही हमें बार-बार गर्भका कष्ट हुआ है। अत- इस बार मृत्यु सुधार लीजिये। सबमें भगवान्‌को ही भरा देखिये।"

सेठजी भाईजीकी बातें कानसे सुनते अवश्य थे, परन्तु उनके हृदयमे घना राग-द्वेष ठूँस-ठूँसकर भरा था। सत्संगकी बाते हृदयमें जमती नहीं थीं। सुननेके उपरान्त भी भाईजीकी बातें उनके द्वारा धारण नहीं होती थीं। वे सब मिलनेवालों से यही कहते थे कि "उनका पुत्र नालायक है। मृत्युके पश्चात् वह मेरा दाह-संस्कार भी नहीं करे। मेरे शरीरको उसे स्पर्श करने नहीं दिया जाय।"

सेठजीमें सकल्पकी ऐसी दृढता नहीं थी कि वे पुत्रके प्रति उनके हृदयमें उत्पन्न हुए राग-द्वेषको त्यागकर उसमें भगवान्‌को भरा देख सकें। जो हो, काल तो किसीकी प्रतीक्षा करता नहीं है, यथासमय सेठजीकी मृत्यु हुई। केड़ियाजी ! भाईजीकी कैसी दयालुता थी। मृत्युके समय वे मुझे भी ले गये और इस सकल्पके साथ मुझे उन्होने साथ लिया कि सेठजीको किसी-न-किसी प्रकार अन्तिम समय भगवच्चिन्तन होना ही चाहिये। भाईजी जैसे कृपालु सन्तकी सद्भावना भला भगवान् मिथ्या कैसे करते ? यद्यपि अन्तिम समय तक जबकि उनकी नाडी छूट रही थी, सेठजी पुत्रके प्रति रोष और उनका सारा धन-वैभव पुत्रको मिल जानेकी ग्लानिसे पूरे आक्रान्त थे, फिर भी अन्तिम समय भाईजीकी हेतुरहित कृपा विजयी हो ही गयी। सेठजीके अन्तिम प्रयाणके समय भाईजी जोरसे उनके कानोमे मुख लगाकर बोले – "सेठजी ! भगवान् आयग्या है। सामने खडा है। आप देख रहे हैं न ?" सेठजीकी स्वीकृतिमे गरदन हिल ही गयी। "अब अपना सब धन भगवान्‌को सौंप दीजिये" भाईजी बहुत जोर देकर बोले। सेठजीकी मुट्ठीमें अबतक जो तिजोरी और तहखानेकी चाभियाँ जोर लगाकर पकड़ी हुई थीं, छूट गयीं। भाईजी पुन: बोले – "वाह ! भगवान्‌के चरणोमें लक्ष्मीजी समर्पित हो गयीं। भगवान् प्रसन्न हैं। अब उनके चरणोंकी पूजा करिये।" सेठजीने भाईजीके हाथसे दो फूल लेकर ठीक भगवान्‌के चरणोंमें चढानेका भाव दिखाया। और उनकी गरदन भगवान्‌के चरणोंमें ही लुढक गयी।

भाईजी पुन जोरसे सभी सम्बन्धियोंको जो वहाँ सेठजीको घेरे खडे थे, सम्बोधित कर बोले – "सेठजीने अपना मानव-जन्म सफल कर लिया। उनकी मृत्यु भगवान्‌का दर्शन करते हुए, उनके चरणोंमें हुई है।"

सारा जनसमुदाय इस भाईजीके चमत्कारको देखता हुआ विस्मित था। भाईजीके नेत्र भी भगवान्‌का अपने प्रति वात्सल्य देखकर छलक आये थे। उन्होंने मेरा हाथ पकडा और अति वात्सल्यसे कहा "बाबा ! अब चले, अपना काम हो गया।" मैं तो भक्तराज हनुमानप्रसादजीकी मन-ही-मन जय कहता हुआ उनके पीछे अनुगत हुआ चल पडा ।

**राधा राधा राधा राधा**

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या 001-100 तक

साधु कृष्णप्रेम

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## (तृतीय खण्ड)

## (मातृसाधना)

विषय :

# भगवती ललिताम्बाकी आरती

जय जय जगदम्ब राजराजेश्वरि ललिते ।
शरणागत भक्त हेतु चतुर्वर्ग फलिते ।

अमृतोदधि–सुरतरुवृत मणिद्वीप-नीप-वितत।
चिन्तामणिधाम रत्नवेदि समुज्ज्वलिते ।।

शिवाकारमचोपरि परशिवपर्यंकोपरि।
कामेश्वरअंकोपरि राजति रतिकलिते ।।

उद्यत्-दिनकर-सहस्र शीतकिरण कोटि मिश्र।
निज तनु निरवधि अजस्र चिद्घनरस-गलिते।।

केशकुसुम मौक्तिमाल-ग्रथित बालचन्द्रभाल।
त्रिनयन करुणा रसाल नासामणिनलिके ।।

अलक-झलक युग कपोल श्रुतिमणिताटंक लोल ।
अरुणारुण नव निचोल मंदहासमिलिते ।।

सिन्दूरारुण शरीर वेदबाहु युद्धवीर।
पाशांकुश धनुषतीर-धृत कृत-रिपुदलिते ।।

मरकतमणि कनकमाल कंचुकि गल मौक्तिमाल।
मणिमय रशना विशाल अंतरीय तुलिते ।।

पद–नूपुर–नख–प्रकाश गजगति-गंजन विलास।
रासेश्वरि दास आस रास-वास वलिते ।।

# महाभाव–दिनमणि श्रीराधाबाबा

## (तृतीय खण्ड)

(पत्राचार एवं मातृसाधना)

## प्रथम अध्याय

(अन्य लोगोंसे पत्राचार)

१) श्रीहनुमानजी ठर्ड
२) श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया
३) श्रीजयदयालजी कसेरा
४) श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया

## विषय

---

## सार–संक्षेप

अबतक जो भी पापकर्म हमसे हो गये हैं, उन्हे भगवान्‌की कृपा पर छोडकर, भविष्यमे कोई भी दोष संघटित नहीं हों, इसकी सतत चेष्टा रखनेकी आवश्यकता है । पिता, चाचा, भाई आदि सभी परिवारके गुरुजन पाप करनेकी प्रेरणा देते हैं और वैसा न करनेपर व्यापारिक अर्थ हानिका उत्तरदायी आपको ही समझते हैं, तो इसका उत्तर यही है कि शास्त्रमें यह बात स्पष्टतौर पर आती है कि यदि पिता भगवद्विमुख हो और पापकी आज्ञा दे, तो उसका कहना कदापि नहीं मानना चाहिये।

x x x x

आप अपने हृदयमें तनिक भी चिन्ता नही करे, क्योकि आप भगवदाधीन हैं । जब भगवान् आपके लिये दुःख–क्लेशका विधान रचेगे, तो उसको सहन करनेकी शक्ति भी अवश्य ही देंगे ।

x x x x

हम यदि सूक्ष्मतासे विचार करें, तो हमें पता लगेगा कि भगवान्‌की कृपाके बिना तो हम श्वास भी नहीं ले पाते हैं । अतः जब हमारे प्राणोका स्पन्दन भी भगवान्‌की शक्तिसे हो रहा है, हमारी श्वास–प्रश्वास उनकी कृपाशक्तिसे चल रही है, हमारी हृदयकी धडकन भी उन्हींके सकल्पका फल है, तो फिर विचार करें कि भगवान् हमारे कितने अधिक समीप हैं । यदि प्रभुकी ओरसे हमे असफलता भी मिले, तो चिन्ता नही । सफलताकी आकांक्षा सभी प्राणियोंमें होती है, परन्तु भगवत्प्रेमी सफलताके स्थानपर प्रभुकी रुचिकी जय हो–यही कामना करता है ।

x x x x

यह सत्य,सत्य, परम सत्य है कि भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) का संग भगवान्‌के संगकी अपेक्षा भी अनेक अंशोंमें बढकर है । यह भावुकताकी सर्वथा बात नही है । वस्तुतः ही भगवान्‌की प्राप्तिकी अपेक्षा सच्चे सन्तकी प्राप्ति बडी दुर्लभ है ।

x x x x

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या–१

# महापुरुषोंकी महिमाका ज्ञान

पत्र–प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(प. पूज्य श्रीराधाबाबा)

पत्र–प्रेषिति :

श्रीहनुमानजी ठर्ड, कलकत्ता

लेखन–स्थल
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी
हवेली, ग्राम, पो रतनगढ, (बीकानेर राज्य)
दिनाक पत्रकी प्रतिलिपिमे कोई तिथि
नही दी गयी, सभवत सन् १९४३

प्राप्ति–सूत्र
श्रीशिवकिसनजी डागा
के पत्र–सग्रहसे
श्रीमुकुन्दजी गोस्वामी द्वारा
की गयी प्रतिलिपि ।

## आलोक

*श्रीहनुमानजी ठर्ड उन सौभाग्यवान् जीवोमें से एक थे, जिन्होंने पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी मस्सों (PILES) की अति भीषण कष्टदायक बीमारीमें प्राणप्रणसे सेवा की थी । दिल्लीमें जब पू. भाईजी मरणान्तक रोगाक्रान्त थे और उन्हें अतिशय भीषण शिरोवेदना भी साथ–साथ ही थी, उस समय श्रीप्यारेलालजी डागा और श्रीहनुमानजी ठर्ड, इन दो भाग्यवान् जीवोंने जिस धैर्य, लगन एवं श्रमपूर्वक श्रीभाईजीकी सेवा की थी, उससे स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज इनके प्रति अपनेको सदैव उपकृत अनुभव करते थे ।*

––––

भैया श्रीहनुमानजी ठर्ड,

आपके मनमे जो ऐसी अभिलाषा जाग्रत हुई है कि भगवान्‌की भक्ति करूँ, इससे उत्तम दूसरी अभिलाषा हो ही नहीं सकती । आज कलियुगमें अल्पआयु, अल्पशक्ति एव अल्पबुद्धिवाले मनुष्य हैं । हमारी दशा विषय–वारि–मनो–मीनकी

है, अर्थात् हम विषयोके जलमें मीन (मछली) की तरह पूरे आसक्त हुए जी रहे हैं। विषय–वारि (जल) को छोडनेकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते । हमे लगता है कि यदि हमसे विषय छूट गये तो हमारे प्राण ही नहीं रहेगे । कलि–मलसे ग्रसित बुद्धिमे इस पावन भक्तिकी अभिलाषाका उदय होना अनन्त जन्मोंके पावन पुण्यकर्मोका ही फल समझना चाहिये ।

निश्चय ही, भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे सिद्धसन्तकी सेवा, जो आपसे बनी है, उसका ही यह सुफल है कि आपमें ऐसी शुद्ध वृत्तिके बीज पडे है।

परन्तु इस परम पवित्र अभिलाषाको बहुत ही सावधानीपूर्वक आपको पुष्ट करना चाहिये । जैसे वृक्षकी अकुर–अवस्थामें बाड देकर रक्षा की जाती है, प्रतिदिन जल देकर उसका पालन किया जाता है, उसके चतुर्दिक् उगनेवाली खर–पत्तियों (नुकसान पहुँचाने वाली विषैली घास) को हटाकर उसे नीरोग रखा जाता है, उसे पाले आदिसे पानी देकर अथवा जूटकी बोरी आदिसे ढककर रक्षा की जाती है, इसी तरह इस अभिलाषाको भी आपको अति सावधानीपूर्वक सुपुष्ट करना पड़ेगा ।

यह निश्चय है कि आपके ये भक्तिभाव यदि सुपुष्ट हो गये तो आप तीनों (सत्व, रज एव तम) गुणोंका अतिक्रमणकर भगवान्‌के प्रेमस्वरूपको प्राप्त कर लेंगे।

इस भक्तिभावको सदाचरणकी बाड लगाकर पहले सुरक्षित किया जाता है, अन्यथा इसे विषयभोगरूपी वृत्तियाँ (बकरियाँ) चर जाती हैं ।

आपको सचमुच ही भक्तिरूपी इस वृक्षमें लगनेवाले भगवत्प्रेमरूप फलोंका यदि स्वाद चखना है, तो सर्वप्रथम भगवान्‌की कृपाका भरोसा करके आपके द्वारा प्राय घटित होनेवाले सभी असत् आचरणोंको कराल विषतुल्य मरणान्तक मानकर त्याग देना चाहिये । इन झूठ, चोरी, दूसरेका धन अथवा राज्यकरका अपहरण करनेका पाप (हिंसा) मनको कडा करके, निश्चयपूर्वक सर्वथा छोड़ देना चाहिये। यदि आप सचमुच ही इन्हे कडा मन बनाकर त्याग देंगे, तो निश्चय ही प्रभु आपकी स्वयं पूर्ण सहायता करेगे । परन्तु आपका यह सुदृढतम निश्चय तो होना ही चाहिये कि चाहे प्राण भले ही चले जावे, मैं पाप कदापि नही करूँगा । यह भक्तिभावरूपी वृक्षके अकुरको रक्षा करनेवाली बाड है ।

यह बात आप निश्चयपूर्वक मान ले कि इन झूठ, चोरी, हिंसा आदि अशुचि आचरणोंसे केवल आपका ही सर्वनाश होगा, सो बात नही है, इस पापमें जो भी आपके भाई, बन्धु, मित्र, परिवारके माता–पितादि पूज्यजन भी यदि सहायक हैं, तो उन सबका घोर अहित एव नाश निश्चित ही है । इसमें कहीं कोई मीन मेख, कोई विकल्प है ही नहीं । भगवान्‌ने जो श्रीमद्भगवद्गीतामे कहा है कि–

*तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।*
*क्षिपाम्यजस्रमशुभानामासुरीष्वेव योनिषु ।।*

अर्थात्, इन नराधमोको, जो अति क्रूरतापूर्वक आत्मासे, धर्मसे द्वेष करते हैं, मैं ससारमें बारबार अशुभ एव आसुरी कूकर सूकरादि योनियोंमें डालता हूँ । यह बात कभी असत्य होनेवाली नहीं है । भगवान्का न्याय भी उसी प्रकार अमोघ है, जैसी उनकी दया, कृपा है । मूर्खतावश लोग इसे समझते नहीं हैं ।

अत अबतक जो भी पापकर्म हमसे हो गये हैं, उन्हें भगवान्की कृपा पर छोडकर, भविष्यमे कोई भी दोष सघटित नहीं हों, इसकी सतत चेष्टा रखनेकी आवश्यकता है ।

आपने जैसा लिखा है कि पिता, चाचा, भाई आदि सभी परिवारके गुरुजन पाप करनेकी प्रेरणा देते हैं और वैसा न करनेपर व्यापारिक अर्थहानिका उत्तरदायी मुझे ही समझते हैं, तो इसका उत्तर यही है कि शास्त्रमे यह बात स्पष्ट तौर पर आती है कि यदि पिता भगवद्विमुख हो और पापकी आज्ञा दे, तो उसका कहना कदापि नहीं मानना चाहिये । श्रीतुलसीदासजी तो सर्वोच्च महात्माओकी श्रेणीमें आते हैं । वे कहते हैं :—

*"जाके प्रिय न राम वैदेही*
*तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ।*
*पिता तज्यौ प्रह्लाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी ।*
*बलि गुरु तज्यौ, कत व्रजबनितनि, भये जग मगलकारी ।*

अत भाई ! तुम्हें परिवारके कोई भी सम्बन्धी, गुरुजन यदि पाप करनेकी आज्ञा दें अथवा ऐसा करनेका मन ही बनावे तो तुम्हें उसका पालन कदापि नहीं करना चाहिये ।

जबतक भैया ! तुम्हारा यह अति सुदृढ़ निश्चय नहीं होगा, तुम जो भी भजन करोगे, वह भजन, सौ छिद्रवाली चलनीमें जैसे पानी इकट्ठा नहीं होता है, बह जाता है – वैसे बह जायेगा, उसका प्रकट फल तुम्हारे सम्मुख नहीं आ पावेगा । वृत्तियाँ शुद्ध नहीं होनेसे भजनमें रुचि और आनन्द नही आवेगा और भजन दीर्घ काल तक एव नित्य नव–नव रससे भरा नहीं हो पावेगा ।

अत पापोके त्यागका निश्चय सुदृढ़, सुदृढतर होना चाहिये । इस

निश्चयमे शिथिलता आनेसे एक बार त्याग दिये गये पाप पुन हो सकते हैं । हॉ, यदि दोनो बाते एक साथ हुई, भजनमे पूरी बढोतरी और पाप-त्यागका सुदृढतम, नित्य नव नव उत्साहपूर्वक निश्चय, तो प्रभु-कृपासे आत्मबल बढेगा, पापप्रवृत्ति टूट जायेगी, किन्तु मनमे यह निश्चय दृढ़तापूर्वक होना चाहिये कि पापोको मैं आत्मसमर्पण नही करूँगा, चाहे प्राण भले ही चले जावें।

इस प्रकार पापोको त्यागकर यदि आप भजन करगे और भजनमे मन लगने लगेगा, तो अपने आप भगवान् एव महापुरुषोंकी महिमा समझमे आने लगेगी । उसके पहले हमारी जो कल्पना है, वह मात्र उनके बाहरी रूपकी ही होती है ।

आप दुजारीजीसे अथवा किसीसे भी बहुत ऊँची-ऊँची बाते सुन सकते हैं, परन्तु उनको सही प्रकारसे हृदयगम करना और लाभ उठाना, केवल मात्र भजनसे ही सभव हो सकता है । स्वय भजन नहीं करेगे, वे बाते केवल बाते ही बनी रहेगी। भाईजीकी सबसे बडी महिमा यही है कि उनकी श्वास-श्वाससे भगवान्का साक्षात् स्मरण होता है, उनकी ऑखें निरतर भगवान्को देखती-सुनती हैं, उनके मनके प्रत्येक भाव भगवान्को ही समर्पित होते हैं और वे स्वय भगवान्के ही हैं । इसका अर्थ यही तो है कि हम उनसे शिक्षा लेकर अपना जीवन वैसा ही ढाल लें। यदि हम केवल यह सुनते रहे, बोलते रहे कि भाईजी इतने महान् हैं, भाईजी ऐसे भक्त हैं, तो होगा क्या ? भाईजीके मुखसे निगला ग्रास क्या हमारा पेट भरेगा ? हमारा पेट तो तभी भरेगा जब हम भाईजी-जैसे स्वय भजन कर भगवान्के हो जावेंगे।

भाईजीकी सबसे बडी महानता, मेरी दृष्टिमे यही है कि वे एक साधारण वैश्यकुलमें उत्पन्न हुए सामान्य जीव थे । उनमें कभी, कोई अवतारी शक्तियाँ नहीं रहीं । वे सामान्य जीव बनकर जन्मे, उन्होने सामान्य लोगोकी तरह ही गृहस्थ-धर्मका पालन किया । उनके बाल-बच्चे हुए, उनका भी उन्होंने सामान्यतया ही निर्वाह किया । उन्होंने कभी कोई असामान्यता अपने जीवनमें दरसाई ही नहीं, अपितु सामान्य मानव-जीवनमे जो भी क्षुद्रताएँ, कमियाँ हो सकती हैं, अन्ततक वे उन्हें ही अपनेमें दरसाते रहे, परन्तु भगवद्भजनको दृढ़तापूर्वक नित्यनूतन वेगसे बढ़ाते चले गये । वे स्वय यावज्जीवन भगवच्छरणागत रहे और सबको वैसा ही हो जानेका उपदेश भी देते रहे ।

उन्होने एक शब्द भी ऐसा कभी सम्भाषण नहीं किया, जो वे स्वय आचरण नहीं कर सके हों । वे सत्सगमें भी प्राय वे ही बाते बताया करते हैं, जो वे जीवनमें उतार चुके होते हैं । वे पूर्ण भगवद्विश्वासी, सर्वथा सब प्रकारसे भगवान्पर पूरे मनसे निर्भर हैं । अब मैं, आप, दुजारीजी अथवा अन्य कोई भी

महापुरुषोकी महिमाका ज्ञान
पत्र प्रेषिति–श्रीहनुमानजी ठर्ड

---

जबतक पूरे भगवद्विश्वासी नहीं होते, भाईजीकी स्थिति कैसे समझ पावेंगे ? भाईजी तो अवश्य ही इन सभी स्थितियोंसे और बहुत ऊँची कल्पनातीत गतिको भी लाँघते गये हैं, हम जो कुछ ऊँचाई मात्र सोच सकते हैं, वह तो भाईजीकी स्थितिके सम्मुख तुच्छातितुच्छ है, परन्तु जिस अगम्य दुर्लभ गतिको भाईजीने प्राप्त कर ली है, उसकी हमारी बुद्धि कल्पना भी तो तभी करेगी, जब कुछ सीढियाँ हम भी चढ जावेंगे ।

आप मुझसे पूछेंगे कि आप मुझे जो कुछ भी बतला सकते हैं, वह तो बताइये, तो मैं सत्यधर्मसे कहता हूँ कि मुझे भी जो कुछ मालूम है, वह आप समझ नहीं सकियेगा । इसमे आपकी बुद्धिका दोष नही है । आप पूर्ण बुद्धिमान् हैं, परन्तु वह स्थिति ही ऐसी नहीं है, जो सुनकर समझी जा सके ।

आप सचमुच ही यदि समझनेकी इच्छा रखते हैं, तो मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप भजन कीजिये । भजन आपको योग्यता देगा और तब भगवान् या स्वय भाईजी ही आपको बिना सकोचके सब बात समझायेंगे ।

मैं इस मतका भी नहीं हूँ कि आपको जो भी बाते श्रीदुजारीजीके द्वारा सुननेको मिल रही हैं, उन्हे मत सुनिये । भाईजीकी महिमा कोई भी कहे, सुन लीजिये, परन्तु सुननेमात्रसे आपको वह लाभ नहीं मिल सकता, जो मिलना चाहिये। वह लाभ तो तभी मिलेगा, जब जीवन बनेगा । अत पूरी शक्ति लगाकर पापोसे पूरी धृणा करते हुए, उन्हे छोडकर तत्परतापूर्वक भजनमे लग जाइये । फिर स्वय भगवान् गरज करके आपको सब समझावेंगे ।

आपको कोई यह भी समझा सकता है कि स्वामीजीने आपको टरका दिया, उनकी कहनेकी इच्छा थी नहीं, सो दूसरी बाते बनाकर आपको सतोष करा दिया, तो मुझपर विश्वास करें कि ये बातें बुद्धिके परेकी हैं, अनुभूतिपरक हैं । यदि कह भी देता और आप कुछका कुछ समझ लेते, तो लाभके स्थानपर हानि भी हो सकती थी । 'मिश्री' बहुत ही अच्छी वस्तु है, परन्तु सग्रहणीकी बीमारीमे वह हानि करती है एव कुपथ्य मानी जाती है । जबतक पाप हैं, तबतक प्रेमकी ऊँची–ऊँची बातें सावधानीपूर्वक ही सुननी चाहिये ।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे । मैने सच्ची एव हितकी समझकर ही आपको अपने मनकी बातें लिखी हैं, यदि पसन्द नहीं आवें तो क्षमा करेंगे ।

आपका
चक्रधर

---

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या–२

# शुद्ध अन्नसे ही शुद्ध मन संभव है

भैया श्रीहनुमानजी ठर्ड !

सस्नेह जय श्रीराधे । आपका पत्र यथासमय मिल गया था । पूर्वमासकी पूर्णिमापर पत्रोत्तर नही लिखा जा सका था, अत पत्रोत्तरमे हुए विलम्बपर विचार मत कीजियेगा । आपने पुन भाईजीकी महिमाके दो–चार प्रसग लिखनेका आग्रह किया, सो आपके भावपक्षका मैं हृदयसे अनुमोदन करता हूँ ।

देखिये हनुमानजी ! सभी धर्मोके दार्शनिक एवं सभी आधुनिक वैज्ञानिक भी, एकमतसे यह बात मानते हैं कि अन्नसे ही मन बनता है । यदि आप सात्विक, पवित्र अन्नका भोजन करेगे, तभी आपका मन भगवद्विश्वासको अपने आचरणका आधारस्तभ बना सकेगा । सत और भगवान्, दो पृथक् अस्तित्व हों, ऐसी बात नहीं है । इसीलिये सतपर विश्वास और भगवान्पर विश्वास, दो बाते नहीं हैं । यदि हमारा सतपर विश्वास नहीं है, तो सत–महिमाकी ऊँची बातोंपर कैसे विश्वास हो सकता है ? सत एव भगवान्पर पूर्ण विश्वास ही सत एव भगवान्की महिमाको हृदयमे उतारनेका सच्चा साधन है । अत मनको शुद्ध, सत–विश्वासी बनानेकी पहली सीढी है– अन्न सात्विक हो, सात्विक विधिसे, सात्विक विचारोंवाले व्यक्ति द्वारा निर्माण किया गया हो और वह सात्विक कमाईसे प्राप्त किया गया हो ।

यह बात आपको अति साधारण मालूम पडेगी, परन्तु मनको शुद्ध बनानेके लिये यह पूर्णरूपसे परमावश्यक है । महाभारतमें भीष्म पितामहके प्रसगमें यह बात बहुत ही स्पष्ट रूपसे आयी है ।

महाभारत युद्धकी समाप्तिपर एक दिन युधिष्ठिरको भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि ज्ञानके सूर्य दादाजी भीष्म पितामह अस्त होने जा रहे हैं, उनसे जो भी सीखना हो, सीख लो । भगवान्के निर्देश पर सभी पाण्डवोसहित युधिष्ठिर, द्रौपदी एव श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्रके उस भूभागपर गये जहॉं भीष्मजी शरशय्यामें पड़े, सूर्यके उत्तरायण होनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे । वे सूर्यके उत्तरायण होनेपर ही देह त्याग करना चाहते थे । पाण्डवो एव भगवान् श्रीकृष्णको अपने पास आया देख, भीष्मजी बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको मृत्युके समय अपने पास ही खडे रहकर, दर्शन देते रहनेकी

प्रार्थनाकी, क्योकि युद्धभूमिमे उनके पास भगवान्को आसन देनेकी सुविधा तो थी नहीं। युधिष्ठिरने भीष्मजीसे बहुत ही मार्मिक धर्मकी बाते पूछीं, और सभी बातोंका दादा भीष्मजी सागोपाग उत्तर देते गये । इस प्रकार युधिष्ठिर एव भीष्मजीका वार्त्तालाप चल ही रहा था कि वही खडी, इस सवादको सुन रही, द्रौपदी मुसका उठी ।

द्रौपदीको हँसते देखकर दादाजीने पूछा–"बेटी ! तू तो पतिव्रता स्त्री है, तुम्हारी जैसी स्त्री अकारण नही हँस सकती । बोलो, सत्य बताना, तुम्हे हँसी किस कारणसे आयी ?"

द्रौपदीने उत्तर दिया – "दादाजी ! मुझे एक सन्देह हो गया है । आज तो आप इतनी ऊँची धर्मकी वार्त्ता कर रहे हैं धर्मके सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्तरोकी सरल और सारगर्भित व्याख्या कर रहे हैं परन्तु आपका यह धर्म ज्ञान उस समय कहाँ चला गया था, जबकि भरी सभामे मेरी साडी दु शासन द्वारा खीची जा रही थी ?"

द्रौपदीकी बात सुनकर दादाजीने उत्तर दिया "बेटी ! तू सत्य कह रही है। पापात्मा दुर्योधनका अन्न खानेसे उस समय मेरी बुद्धि दूषित हो गयी थी और मैं न्याय–अन्यायका पूर्णतया विचार नही कर सका था ।"

भैया ! जब दूषित अन्न खानेसे भीष्मजी जैसे, गगामाताके पुत्र और सत्यनिष्ठ, नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी बुद्धि भी धर्म–अधर्मका निर्णय करनेमे भ्रान्त हो सकती है, तो राज्यकरकी चोरी जैसा दूषित महापाप करके अर्जित धनसे प्राप्त अन्नको खानेसे अशुद्ध हुई आपकी बुद्धि भाईजी जैसे महा–महा पवित्र महापुरुषकी महिमाको कैसे धारण कर पावेगी–यह बात मेरी तुच्छ बुद्धिमें उतर ही नहीं पा रही ।

भैया ! हमारी सभीकी स्थिति यही है - भाईजी जैसे भगवत्प्रेमी महापुरुषकी महिमाके साथ भी हम मात्र मनोविनोद ही कर रहे हैं । भाईजीके पवित्र साधनामय जीवनको, उनके विश्वासोको हम अपने आचरणोका आधारस्तभ कहाँ बना रहे हैं ? अन्यथा हम तुच्छ धनके लिये असत्य भाषण, राज्यकरकी चोरी, विषयविलासरूपी कलिपकमे ग्राम्यशूकरकी तरह पडे रहनेकी अपनी आदते कुछ तो छोडनेके लिये सचेष्ट होते । हमारे धन अर्जनका प्रयोजन क्या है ? विषय विलासकी सुविधायें ही तो धनसे जुट पाती हैं, झूठे अहकारकी पुष्टि ही तो धनबहुलता करेगी और उसका परिणाम घोर नरकोंकी प्राप्ति ही तो होगी।

अत भाई हनुमानजी ! अत्यत प्यारसे, एक हितू मित्रकी तरह तुम्हें यही राय देता हूँ कि अपने सत–विश्वासको जीवन्त बनाओ । हम जब भगवान्के परम मगलमय दु खक्लेशरूप प्रसादको प्राप्त करनेसे इतने घबडाते हैं और भगवान्को त्यागकर विषयभोगोको प्राप्त करनेके लिये असत्य, कपट, चोरी, व्यभिचारादि पापोंको अमृतकी तरह सेवन करते हैं, तो भाईजी जैसे महासिद्ध सन्तका प्रेमचरित्र

और उसकी महिमाके कहाँ अधिकारी हैं ?

भाईजीने तो स्वार्थरहित हो, भगवत्प्रेमको ही अपने जीवनका ध्रुवतारा बनाया है । उनके तो प्रत्येक कर्म, सोने, जागने, उठने, बैठने, खाने, पीने, हँसने, बोलनेका पर्यवसान ही भगवत्प्रेममें है ।

भैया हनुमान ! भाईजीके किसी एक जीवन पक्षको तो हम अपने आचरणका आधारस्तभ बनावे । हम यह तो अटल ध्रुव निश्चय करे कि चाहे हमे घोर दरिद्रता मिले, भगवान् हमे अन्नके दाने दानेके लिये मोहताज कर दे, हम एकनिष्ठ होकर वही कर्म करेगे जो भगवान्को प्रसन्न करनेवाला है । उस समय यदि तुम पैसे–पैसेके मोहताज हुए मर भी गये, जगत्मे दरिद्रताके कारण तुम्हारा सर्वत्र यदि तिरस्कार–अपमान ही हुआ, तो भी तुम्हे यह सन्तोष तो होगा कि मृत्युपर्यन्त शेष जीवन मैने भगवान्की सेवामें, उनके अनुकूल आचरण करते हुए बिताया ।

भैया ! भगवान् हमारी त्रुटियो एव कमजोरियोको भली प्रकार जानते हैं, वे ठीक समझते हैं कि हमारी गति ही उनकी ओर नही है, हमारी माँग भी भगवान् नहीं हैं, फिर भी अकारण हितू भगवान्ने हमपर अपनी अनन्त कृपाकी बौछार की और हमे भाईजी जैसे अपने सर्वाधिक–प्रियपात्रकी सेवा प्रदान की।

अतः भाई ! इस बरसती भगवत्कृपाको अपने पास सुरक्षित सँजोकर रख सको, और वह तुम्हारी स्थायी पूँजी बन जाय, इसके लिये तुम्हे कुछ ठोस उद्योग तो करना ही होगा ।

अत इसे ही भाईजीकी महिमाकी बात मानो कि यदि तुम सचमुच पापरहित होकर भगवान्की नाम–जप साधनामे जुट जाओ, तो तुम्हारे हृदयमे निश्चय ही भगवत्प्रेमकी ऐसी तरग उठेगी, जो बिना किसी बाधाके तुम्हे भगवान्की ओर धकेलकर अग्रसर कर देगी । तुम्हारा साधन–पथ निश्चय ही भाईजीकी कृपासे बहुत ही निष्कण्टक होगा ।

भैया ! आवश्यकता यही है कि तुम अपने जीवनके क्षण–क्षणको भगवत्स्मृतिमें ही बिताओ और कोई भी पाप भूलकर भी तुम्हें आकर्षित नहीं कर पावे ।

यह निश्चय है कि तुमपर भगवान्की असीम हेतुरहित कृपा है । क्योकि भगवान्की असीम कृपाके बिना तुमसे भाईजी–जैसे महापुरुषकी शरीर सेवा बन ही नहीं सकती थी । कोई–न–कोई बाधा, विघ्न आ ही जाता ! यह सत्य है कि भगवान्ने तुम्हें अपनी कृपाशक्तिके विपुलदानसे अनुगृहीत किया है ।

तुम प्रति दिवस प्रभातमें निद्रासे उठते ही बिस्तरोमें बैठे–बैठे प्रार्थना करो–"हे प्रभो ! मुझे अपनी शक्ति देकर अधोगतिसे ऊपर उठाये । मेरे अपराधोका परिमार्जन करें ।"

## शुद्ध अन्नसे ही शुद्ध मन सभव है

पत्र प्रेषिति–श्रीहनुमानजी ठर्ड

---

हनुमान भैया ! जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे विशुद्ध भावसे भगवान्‌को अत्यत समीप समझकर, नितान्त सरलता और सच्चाईके साथ अपने हृदयकी सभी भावनाओको हम भगवान्‌को निवेदन कर दें और एकमात्र उन्हींकी प्राप्तिके लिये चेष्टारत हों। अपनी शक्तिभर प्रयत्न करनेसे निश्चय ही भगवान्‌की कृपासे हमें वह मगलमय स्थिति प्राप्त होगी, जिसकी शिव–सनकादि मुनिजन भी अत्यत लालसा करते हैं । विषयोसे मन हटानेपर और उसे भगवन्मुखी करनेपर ही हमे वह प्रेममयी स्थिति प्राप्त होगी, जहाँसे हम श्रीमाईजीके सच्चे स्वरूपको ताक सकेगे ।

आपका<br>
चक्रधर

--------

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–३

# भगवान् कृपा करते ही हैं

पत्र–प्रेषक :
परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज
( परम पूज्य श्रीराधाबाबा )
पत्र – प्रेषिति :
श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया

पत्र–प्रेषणस्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली
ग्राम, पोस्ट – रतनगढ़, ( बीकानेर राज्य )
दिनांक : १० मार्च १९४०

प्राप्तिसूत्र
श्रीशिवकिसनजी डागाके
पत्र संग्रहसे प्रतिलिपि

## आलोक

*श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया एक सात्विक धर्मभीरु सज्जन है । ये श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका एवं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके परम श्रद्धालु हैं । इन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन गीताप्रेसको समर्पित किया हुआ है । वर्षोतक श्रीसेठजीके साथ रहकर इन्होंने उनके विचार और प्रवचनोको मारवाडी भाषासे हिन्दीमे रूपान्तरित करके लेख तैयार करनेकी सेवा की है । ये वर्तमानमे भी गीताप्रेसके समर्पित कार्यकर्त्ता है । जीवन पर्यन्त इन्होंने गीताप्रेसकी ही सेवा की है ।*

--------

प्रिय रामेश्वरजी !

सादर सप्रेम यथायोग्य । आपका पत्र पढकर एक प्रकारसे मन व्यथित हुआ । अवश्य ही हम सभीकी, जो भगवान्‌से विरहित ससारमें पडे हैं, वस्तुत दशा अति दयनीय ही है ।

एक बात अवश्य है । यद्यपि यह बात किसीके भी सामने प्रमाणित हो सके या इसे मैं प्रमाणित कर पाऊँ ऐसी सामर्थ्य तो मेरेमें नहीं है तथापि यह कह सकता हूँ कि मेरा ऐसा सुदृढ विश्वास है कि आपने, मैंने या किसीने भी यदि जीवनमें एक बारके लिये भी भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय पकडा है, तो किसी–न किसी दिवस उनकी कृपादृष्टि हमको इस विषय–कीच–कूपसे अवश्यमेव निकालेगी और

वे हमे निश्चय ही अपना नित्य, परममगलमय सामीप्य देकर कृतार्थ करेंगे ही । चाहे मै एव आप अथवा कोई भी भगवान् श्रीकृष्णकी कितनी ही अवहलना कर रहा हो, एव आगे भविष्यमें भी चाहे और कितनी ही अवहेलना करे, वे हमारे दोषोपर दृष्टिपात करते ही नहीं, करेंगे ही नही और अपने अखण्ड सौहार्दभरे स्वभावसे वही करेगे, जिससे हम शीघ्र—से—शीघ्र उनके शाश्वत, मगलमय चरणोका अखण्ड आश्रय प्राप्त कर सकें ।

देखे, हमारी कल्पनामे यह बात आ ही नही सकती कि उनका प्रेम कितना निस्वार्थ, दिव्य एव अलौकिक आत्मीयतासे परिपूर्ण होता है । जीवन यदि एक बार उनसे सम्बन्ध जोडकर अज्ञानतावश उनसे हटना भी चाहे तो हट नही सकता । भगवान्का अलौकिक आकर्षण इतना प्रबल होता है कि क्षणभरमे ही सम्पूर्ण जागतिक आसक्तियॉ जलकर खाक हो जाती हैं और जीव शुद्ध होकर उनमे मिल ही जाता है । जगत्मे जितने भी श्रीकृष्ण—प्रेमी हुए है, या होगे सभीके प्रति आगे-पीछे, देरसे अथवा शीघ्र, यह कृपा हुई है अथवा होगी ही । भगवान् जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं, उसे कभी भी नही छोडते ।

आप कुछ भी नहीं कर पावे, तो अपनी सामर्थ्य—भर अधिक—से—अधिक कालतक उनका नाम जप करनेकी ही चेष्टा करे ।

मेरी इस बातपर विश्वास करलें कि श्रीकृष्णका प्रत्येक विधान अनत प्रेम एव मगलसे ओतप्रोत है । अमावस्याके घने अन्धकारके पश्चात् शुक्लपक्षकी ज्योत्स्नामयी रजनी आती ही है ।

मुकलानियाजी ! यह कौन बता सकता है कि श्रीकृष्ण आपको इन परिस्थितियोमे डालकर क्या देना चाहते हैं ? आपका निश्चय ही मगल—ही—मगल हो रहा है । यह बात तो प्रत्येक भगवद्विश्वासी व्यक्ति कह ही सकता है ।

मैं तो आपसे यही निवेदन कर सकता हूँ कि आप अपने भगवद्विश्वासको सजीव बनावे । भगवद्विश्वास एव नाम जपसे असभव सभव हो सकता है । मुझे उन लोगो पर तरस आता है, जो भगवद्विश्वासको अपने आचरणका स्तभ नहीं बनाकर, अन्य साधनोका आश्रय लेते हैं । मेरी दृष्टिमे भगवान्के पावन नामोका जप और भगवद्विश्वासके अतिरिक्त इस कलिकालमें अन्य कोई साधना हो ही नही सकती । हमें पूर्णताके निकट ले जानेके लिये ये दोनो साधन अनमोल हैं।

भाई ! जैसे सुख-शान्ति भगवान्का कृपा प्रसाद है, उसी प्रकार दुःख क्लेश भी भगवान्की ओरसे आनेवाला उनका कृपा प्रसाद ही है । अपनी त्रुटियो एव कमजोरियाको भगवान्के समक्ष निवेदन कर दे फिर चाहे कल्याण हो अथवा अकल्याण, उत्थान हो अथवा पतन, उन्नति हो या अवनति, इस सम्बन्धमे फिर

सोचनेका कभी विचार ही नहीं करें । भगवान् जब चाहेंगे, इन कुकृत्योंको दूर करनेका स्वय उपाय कर लेगे । हमे अपने पास जो कुछ भी है, अच्छा-बुरा, शुभ–अशुभ, अपना सर्वस्व भगवान्को समर्पित कर देना चाहिये, फिर चाहे भगवान् हमें घोर नरकोमें डाले, चाहे स्वर्गसुख दें, उनके प्रत्येक विधानमें हमें सन्तोषका अनुभव ही करना चाहिये।

आप अपने हृदयमे तनिक भी चिन्ता नहीं करे, क्योंकि आप भगवदाधीन हैं । जब भगवान् आपके लिये दु ख–क्लेशका विधान रचेंगे, तो उसको सहन करनेकी शक्ति भी अवश्य ही देगे । फिर भय क्यो ?

मुकलानियाजी ! स्वार्थरहित होकर, अपने जीवनका लक्ष्य भगवत्प्रेम बनाइये। आपके प्रत्येक कर्मका पर्यवसान भगवत्प्रेममें ही हो । दृढ़ निश्चय करे कि मैं केवल एकनिष्ठ हुआ भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म करूँगा । यदि आपके आत्मप्रीत्यर्थ कर्म बन्द हो जावें, तो फिर पाप होनेके द्वार तो सदा–सर्वदाके लिये बन्द हो ही जायेगे, क्योंकि सारा विषय–विलास मात्र आत्मभोगार्थ ही है ।

हम यदि सूक्ष्मतासे विचार करे, तो हमें पता लगेगा कि भगवान्की कृपाके बिना तो हम श्वास भी नहीं ले पाते हैं । अत जब हमारे प्राणोंका स्पन्दन भी भगवान्की शक्तिसे हो रहा है, हमारी श्वास–प्रश्वास उनकी कृपाशक्तिसे चल रही है, हमारी हृदयकी धडकन भी उन्हींके सकल्पका फल है, तो फिर विचार करे कि भगवान् हमारे कितने अधिक समीप हैं ।

अत जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे विशुद्ध भावसे भगवान्को अपने अत्यन्त समीप समझकर, नितान्त सरलता और सच्चाईके साथ अपने हृदयकी अच्छी-बुरी प्रत्येक भावनाको उनके सामने रखते हुए, जो भी कर्त्तव्य–कर्म आपके लिये प्रस्तुत हो, उसकी सफलताके लिये भी भगवान्से अनुनय विनय करे । फिर यदि प्रभुकी ओरसे हमे असफलता भी मिले, तो चिन्ता नहीं । सफलताकी आकाक्षा सभी प्राणियोमें होती है, परन्तु भगवत्प्रेमी सफलताके स्थानपर प्रभुकी रुचिकी जय हो–यही कामना करता है ।

मुकलानियाजी ! भगवान्की ओर देख–देखकर ही यदि हमारे जीवनका क्षण–क्षण व्यतीत हुआ, तो हम सदा सन्तोष और प्रसन्नतासे ही भरे रहेगे और क्या कहूँ ?

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या–४

# जगत्को भूलें

पत्र–प्रेषकः

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र–प्रेषितिः

श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया, कलकत्ता

| | |
|---|---|
| पत्र–प्रेषणस्थलः | प्राप्ति–सूत्रः |
| भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली | श्रीमुकुन्दजी गोस्वामी द्वारा |
| ग्राम पो रतनगढ़ (बीकानेर राज्य) | प्रतिलिपि किया |
| दिनांक : | श्रीशिवकिसनजी डागाका |
| आश्विन शुक्ल पूर्णिमा १९९७ वि. सं. | पत्र–संग्रह |

श्रीयुत मुकलानियाजी,

आपका स्नेहभरा पत्र मिला । भाई, मैं तो आपको एक ही राय दे सकता हूँ । आप श्रीकृष्णके चरणोंमें अपना सब कुछ आत्मसमर्पण कर दीजिये, और इस जगत्का एवं अपने स्वयंको भी सर्वथा–सर्वांशमें भूलनेकी चेष्टा करिये। आपका सब दुःख इसीसे मिट सकता है ।

भाईजीके पास रहनेकी इच्छा आपके मनमें है, यह बड़ी सुन्दर बात है। अनन्त भाग्योदयके उपरान्त ऐसी इच्छाका स्फुरण मात्र होता है, परन्तु यदि मेरी बातपर विश्वास कर सकें, तो कर लीजिये कि इस इच्छाकी पूर्ति भी आप प्रभुकी रुचि पर ही छोड़ दीजिये ।

यह सत्य,सत्य, परम सत्य है कि भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) का संग भगवान्के संगकी अपेक्षा भी अनेक अंशोंमें बढ़कर है । यह भावुकताकी सर्वथा बात नहीं है । वस्तुतः ही भगवान्की प्राप्तिकी अपेक्षा सच्चे सन्तकी प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है । सन्तोंकी भी अनेक श्रेणी होती हैं । जो भगवान्के सगुण साकार रूपके प्रेमी भक्त हैं, उनके दर्शन, स्पर्श, सेवाकीतो बात ही क्या, उनसे स्पर्श पायी

हुई वायु भी यदि किसीको सस्पर्शित होती है, तो भी वह महा—महाभाग्यवान् है ।

साथ—ही—साथ यह भी उतनी ही महत्वपूर्ण बात है कि यदि श्रीकृष्ण ऐसे सौभाग्यका दान हमे नहीं करना चाहते हो एव घोर विषयीजनोंके मध्य ही हमे रहने देनेका विधान बनाये हो, तो उनकी रुचिमे ही हमारी रुचि मिल जाय, मुझे यही बात श्रेयस्कर लगती है । अत हमे प्रभुके विधानसे जबतक ऐसी सुविधा नही मिलती है कि हम पू भाईजीके तीन हाथके शरीरके नित्य—सगी हो, हमे उनके शारीरिक सगकी स्पृहा अधिकतर, अधिकतम बढाते जाना चाहिये । यह स्पृहा इतनी अधिक बढ़ जाय कि साक्षात् प्रभुका एव सत दोनोको यह चिन्ता हो जाय कि यदि उनसे हमारा शारीरिक मिलन नहीं हुआ, तो हमारे कही प्राण ही नहीं छूट जावें ।

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसका कैसा शुभ प्रसग है । श्रीविभीषणजी रावण—वध एव लकापुरीकी विजयके पश्चात् भगवान् रामजीसे कहते हैं —

*अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजे । मज्जनु करिअ समर श्रम छीजे ।।*
*देखि कोस मन्दिर सम्पदा । देहु कृपाल कपिन्ह कहुँ मुदा ।।*
*सब विधि नाथ मोहि अपनाइअ । पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ ।।*
*सुनत वचन मृदु दीनदयाला । सजल भए द्वौ नयन विसाला ।।*
*दोहा — तोर कोस गृह मोर सब सत्य वचन सुनु भ्रात ।*
*भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात ।।*
*तापस वेष गात कृस, जपत निरन्तर मोहि ।*
*देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरऊँ तोहि ।।*

"हे प्रभु ! अब इस दासके घरको पवित्र कीजिये । घरपर चलकर स्नान कीजिये, जिससे समरकी थकावट दूर हो जाय । हे कृपालु ! खजाना, महल और सम्पत्तिका निरीक्षणकर प्रसन्नतापूर्वक वानरोंको दीजिये । हे नाथ ! मुझे सब प्रकारसे अपनालीजिये और हे प्रभो ! मुझे साथ लेकर अयोध्यापुरीको पधारिये ।"

विभीषणजीके वचन सुनकर दीनदयालु प्रभुके दोनों विशाल नेत्रोमें (प्रेमाश्रुओंका) जल भर आया । श्रीरामजीने कहा—"हे भाई ! सुनो, तुम्हारा खजाना और घर सब मेरा ही है, यह बात सच है । पर भरतकी दशा याद करके मुझे एक—एक पल कल्पके समान बीत रहा है । वे तपस्वीके वेषमे कृश—शरीरसे निरन्तर मेरा नाम जप रहे हैं । हे सखा ! वही उपाय करो जिससे मैं जल्दी—से—जल्दी उन्हे देख सकूँ, मेरा तुमसे यही अनुरोध है ।

दोहा — *बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर ।*

जगत्को भूल
पत्र प्रेषिति—श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया

---

*सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर ।*

हे विभीषण! यदि अवधि बीत जानेपर मैं जाता हूँ, तो भाईको जीवित नहीं पाऊँगा।" छोटे भाई भरतजीकी प्रीतिका स्मरण करके प्रभुका शरीर बार–बार पुलकित हो रहा है।

श्रीमुकलानियाजी! जैसी भरतकी विरह दशा थी, यदि वही दशा हमारी श्रीभाईजीके विरहमें हो जाय, तो भाईजी फिर हमको, आपको एक क्षण भी अपनेसे अलग नहीं करेंगे। परन्तु हम भाईजीके मिलनकी केवल ऊपरी चाह ही रखते हैं, कहीं–न–कहीं हमारे भीतर कोई–न–कोई उनसे अनुकूलताकी सुखको हितकी कामना है, हमारा जीवन–निर्वाह भाईजीके बिना बहुत ही आनन्दके साथ व्यतीत हो रहा है, हम सभी शरीर एवं भोगोंके सुखमें उनके अभावमें भी रम–पच रहे हैं, तब श्रीकृष्ण पूरे अन्तर्यामी होनेके कारण, ऐसा विधान नहीं बनाते कि हमारा श्रीभाईजीसे नित्य–संग बना रहे।

देखिये! मेरे मनमें आपके प्रति प्रेम ही प्रेम है, किन्तु सत्य कहता हूँ, मैं एक अति साधारण मनुष्य हूँ। मैं तो सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण–कृपाकी ओर दृष्टि जमाये सर्वसाधनहीन एवं अकिंचन उनके चरणोंमें पड़ा हूँ। उनकी दया कृपा ही मेरे जीवनका आधार है। मेरी तरह निरवलम्ब आप भी उनके चरणोंको पकड़ रहिये फिर जो हो, सो होता रहे।

चाहे हम दोनों, उस अवस्थामें कितने ही दीन हीन होंगे वे हमारी उत्तम–से–उत्तम, अलौकिक गति अवश्य करेंगे, हम दोनों ही गर्त्तमेंसे निकल जायेंगे। एक दिन उनकी कृपा अवश्यमेव असम्भवको सम्भव कर देगी।

हाँ! उनकी ओर हमारी आशा लगी रहे। हम अन्य दिशाकी ओर भूलकर भी नहीं निहारें।

मुकलानियाजी! भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें हमारा मंगल ही मंगल भरा है। हमें कब और किस समय कौनसी वस्तु चाहिये, इसको वे अन्तर्यामी अच्छी तरह समझते हैं। भगवान् हमसे कितना अपार स्नेह करते हैं–इस बातको यदि हम समझ पावें, तो फिर हमें भले कोई भी परिस्थिति प्राप्त हो–चिन्ता और कामना दोनों ही नहीं हो। सुख–दुःख, अनुकूल प्रतिकूल, अच्छा–बुरा सब हमारे लिये समान हो जाये। मिलन–अमिलन भी हमारे परम सुहृद भगवान्‌के द्वारा रचित मात्र खेल (लीला) ही तो हैं, और हैं सब हमारे कल्याणके लिये ही।

भगवान्‌ने जब कितनी ही सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति हमारी की है, तो इस परम पवित्र, अनन्त मंगलकारी, संत–मिलनकी कामनाकी पूर्ति वे नहीं करेंगे, उनपर इस प्रकार हमारा अविश्वास क्यों हो? परन्तु यह पवित्र कामना चाहे हमारे

लिये लोकदृष्टिकी कामनाओंसे ऊँचे—से ऊँचा पारमार्थिक हितभरा स्थान रखती हो, परन्तु है तो यह कामना ही, जो आपाततः स्वहित एवं स्वसुख (कल्याण) की भावनासे भरी है ।

मैं तो आपसे यही कहूँगा कि हमारा आदर्श तो 'स्व' का आत्यन्तिक विस्मरण एवं मात्र श्रीकृष्ण रुचिका पालन ही हो, फिर चाहे हमें घोर दुःखमूलक नरकवास ही क्यों न मिले । हमें यह तो आश्वासन रहेगा ही कि हमने जीवनभर भगवान्‌से कुछ भी कामना नहीं की एवं भगवद्रुचिका ही जीवन जिया।

मुकलानियाजी, भगवत्‌रसिकजी एक बहुत ही उच्चकोटिके भगवत्प्रेमी भक्त हुए हैं । उनकी वाणी उल्लेख कर दे रहा हूँ :

*स्वर्ग, नरक, अपवर्ग—आस नहिं त्रास है ।*
*जहँ राखौ, तहँ रहौ, मानि सुख रास है ।।*
*देव, दया करु दान, न भूलौं केलिकौं ।*
*भगवत ललित—तमाल बिलोकौं बेलिकौं ।।*
*दुख—सुख पावै देह नहीं कछु संक ही ।*
*निन्दा—अस्तुति करौ राव कै रंक ही ।।*
*परमारथ व्यवहार बनौ कै ना बनौ ।*
*अंजन है मम नयन रसिक भगवत सनौं ।।*

उनकी वाणीका भाव यही है कि हे प्रभो ! मेरे लिये स्वर्ग—सुख एवं नरकका दुःख दोनों ही समान हैं, क्योंकि ये दोनों ही आप प्रभुके द्वारा ही रचित विधान है, आप मेरे परमसुहृद हो अतः आप भयानक नरकका भी विधान मेरे लिये करोगे तो वह नरक मेरे लिये आपकी प्रसन्नताका हेतु होनेके कारण स्वर्गसे बढ़कर सुखदायी होगा । भयानक से-भयानक परिस्थितियाँ तभी हमारे लिये दुःखदायी, क्लेशदायक होती हैं, जब हमारा मन विभ्रमग्रस्त होता है । शुद्ध एवं श्रद्धायुक्त हृदयसे यदि हम नरकके भयंकर कष्टको भी स्नेहार्द्र भगवान्‌के द्वारा प्रेषित अनुभव करने लगते हैं, तो उससे होनेवाली समग्र मानसिक एवं शारीरिक व्यथा हमारे चित्तसे स्वतः ही लुप्त हो जाती है और उसके स्थानपर हमें प्राप्त होता है, एक मूक, अलौकिक, परम सुखमूलक सौहार्दभरा आश्वासन ।

अतः प्रभो ! आप मुझे जहाँ, जैसे भी रखेंगे, मैं उस आपके विधानको अपने लिये परम मंगल एवं सुखका खजाना (निधि) ही मानूँगा ।

मुझे तो नाथ, यदि कोई आपसे दान प्राप्त करना है, तो वह मात्र इतना ही है कि मैं सर्वत्र आपकी सरस, प्रेमभरी, भगवती राधाजीके संग घटित होनेवाली केलिको कभी विस्मृत नहीं करूँ । उसे सदा ही अपने सम्मुख प्रकट होती देखता

जगत्को भूलें
पत्र प्रेषिति—श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया

रहूँ । मुझे आपके लीलाराज्यका प्रत्येक तमाल आपसे युक्त ही दिखाई पडे अर्थात् सर्वत्र आपही—आप भरे दीखें ।

हे प्रभो ! मेरा यह देह यदि दु ख सुख पाता है, तो मुझे किसी भी प्रकारकी शका नही है । सम्पूर्ण विश्वमें सम्राट् किवा दरिद्र कोई भी यदि मेरी घोर निन्दा स्तुति करेगे, तब भी मैं अपनी कोई क्षति नहीं मानता, क्योकि मेरा प्रयोजन उनसे कुछ भी नहीं है । मेरा तो प्रयोजन मात्र आपसे ही है । प्रभो ! मुझे परमार्थ साधना बनने अथवा नही बननेकी भी परवाह नही है, क्योकि आपकी प्राप्ति किसी भी साधनसे सभव ही नहीं है । आप किसी पुरुषार्थ अथवा साधनके फल है ही नही । आप तो मात्र अपने शरणागत, सर्वत्यागी प्रेमीजनोको अपनी हेतु रहित कृपासे ही दृग्गोचर होते हैं । मैं तो, नाथ, इतनी ही आपकी अनुकम्पाका याचक हूँ कि आप अजनकी तरह मेरे नेत्रोमे सने रहे । एक क्षणके लिये भी आपका मुखकमल मेरे नयनोसे ओझल नहीं हो । बस, आपका वियोग मुझे सह्य नहीं है।

भाई मुकलानियाजी ! हमारा सर्वस्व भाईजीके सुखके लिये, सेवाके लिये, उनकी आज्ञापालनमे लगे, चाहे उनका शरीर—सग हमे मिले या नहीं मिले ।

भाईजीने आपको पत्र लिखा है, उनके पास आपके लिये कोई काम तो है नही । उन्होने कहा है कि सत्सगके लिय दो-चार दस दिवसके लिए आप आना चाहें अवश्य आवे, परन्तु आपको पुन लौटना है । ऐसा न हो कि आपको पुन लौटनेमें अधिक कष्ट हो ।

शेष राधाकृष्णकृपा ।

आपका
चक्रधर

------

।।श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–५

# सन्तके सम्मुख सन्देह नहीं रहते

पत्र–प्रेषिति :
श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया, कलकत्ता
तिथि–मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी वि सं १९९७

श्रीयुत रामेश्वरजी मुकलानिया !

सादर सप्रेम यथायोग्य ।

नाम–जपके सम्बन्धमे एकमात्र आपकी उत्कण्ठा ही मुख्य हेतु है । आप जितनी लगन एव श्रद्धा रखेगे, उतना ही नाम–जप होगा । आपने लिखा कि नाम–सख्यामें प्रमादवश कमी रह गयी, अत मैंने एक समय भोजन नहीं किया । सो इस विषयमे मेरी तुच्छ समझसे भोजन नही करनेसे आगे भूल नही हो, ऐसा तो है नही । अनेक बार मन यह प्रमाद कर लेता है कि आज नाम–जप न सही, भोजन नहीं करेगे ।

नाम–जप नहीं हुआ, इसका सही प्रायश्चित यही है कि दूसरे दिवस दुगुना नाम–जप किया जाय । इससे मनको प्रमाद करनेका अवसर नहीं मिल पावेगा । अन्यथा मन प्रमाद एव अरुचि प्रकट करता हुआ, यही कहता रहेगा, आज अन्न नही खायेगे, फलाहार कर लगे, दूध ले लेगे, नाम–जप न सही ।

रतनगढसे लौटते समय गाडीमें बैठते हुए आप भाईजीकी यादमे रो पडे, अपने आपको रोक नही सके, इस सम्बन्धमें मैं यही कह सकता हूँ कि आपपर प्रभुकी बड़ी कृपा है ।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) भगवत्प्रेमी सन्त है, भगवान्से भी वे बढकर हैं, उनसे आपका प्रेम होना सचमुच ही श्लाध्य है । ससारमे सभी स्त्री–पुत्र, घर परिवारसे बिछुडने पर रोते हैं, कोई धन–नाश होनेपर रोता है । आप भाईजी जैसे सतके लिये रोये यह आपका महाभाग्य है । परन्तु मेरा आपसे इस विषयमें इतना ही निवेदन है कि आप रोइये, किन्तु एकान्तमे बैठकर सबस

छिपकर। एकमात्र श्रीकृष्णके सामने ही आपका रुदन प्रकट हो । आपके रोनेकी बात स्वय भाईजी भी कभी भूलकर भी नही जान पावे । जब श्रीकृष्ण स्वय भाईजीको आपके रोनेकी बात कहें, तभी भाईजीको भी आपका रुदन ज्ञात हो, ऐसा परम गोपनीय रोना रोइये ।

आपने लिखा कि मै जब भाईजीसे दूर कलकत्ते अथवा अन्यत्र था, तो मेरे चित्तमे हजारो ही प्रश्न एव सन्देह उठते थे । परन्तु ज्यो ही मै रतनगढ भाईजीके पास पहुँचा और जितने दिवस भी वहाँ उनके सान्निध्यमे रहा, मेरे सब सन्देहो और प्रश्नोमे से एक भी स्मृतिमे नही आया और अब जब भाईजीसे दूर चला आया हूँ, तो वे सभी प्रश्न पुन उमड घुमडकर मेरे चित्तको मथ रहे है ।

इसका उत्तर यही है कि महापुरुषोकी यही महिमा है । प्रश्न उधेडबुन सब तमोगुण रजोगुणकी चित्तमे प्रबलतासे ही उठते हैं । महापुरुषोके चारोओर एक सीमाखण्डतक सत्वका आलोक प्रसरित रहता है । वह सत्वका प्रवाह हमारे, तुम्हारे सभीके चित्तके रजोगुण तमोगुणको क्षीण, क्षीणतर कर देता है । अत विशुद्ध सत्वकी अभिवृद्धिके साथ सब प्रश्न एव सन्देह दूर कर देता है । प्रश्न स्वत ही लुप्त हो जाते हैं । जैसे, जहाँ उत्तरी दक्षिणी ध्रुवामें सूर्यदेव छ मासतक कभी नही छुपते, तो वहाँके रहनेवालो को ६ माह तक अन्धकार दिखता ही नही, उनके यहाँ इस अवधिमे रात्रि ही नही होती, इसीप्रकार महात्माका सग करनेपर साधककी सभी शकाएं सभी सन्देह एव प्रश्न स्वत लुप्त हो जाते हैं । महापुरुषोसे मिलने पर मिलनवालेके चित्तमे केवल प्रेमकी धारा ही बहती रहती है, यह परम स्वाभाविक ही है ।

श्रीनारायण स्वामीजी महाराज वृन्दावनके एक उच्चकोटिके महात्मा हो गये हैं । वे कुसुमसरोवर गोवर्धनमें रहा करते थे । लोग देखते कि वे प्रतिदिन सरोवरसे दौडते हुए राधाकुण्ड तक जाते और बिना रुके, तत्क्षण ही मुडकर पुन दौडने लगते और कुसुम सरोवर पहुँच जाते । प्रतिदिन ही ऐसा करने पर लोगोने उनसे पूछा "बाबा ! ऐसा क्यो करते हो ?" तो स्वामीजीने हँसकर कहा "भैया ! क्या बतावे, मै देखता हूँ कि यार (श्रीकृष्ण) सामने ठाडौ है । मुझसे रहा नही जाता । मै वाते कूँ पकडवे दौड पडूँ, परन्तु वो पकडमें आवै नॉय । मोसौं रह्यौ नॉय जावै । वो भागै, तो मैं भी भागूँ । जब दौडतो–दौडतो थक जाऊँ, तबतक राधाकुण्ड आय जाय । वहाँ वो न जाने कैसे, मेरे पीछै आय जाय । मैं भी मुडकर वाकूँ पुन पकडवे कूँ दौडूँ और दौडतो दौड़तो पाछौ कुसुम सरोवरपर आय जाऊँ भैयाओ ! या प्रकार वो मोय बूढेकूँ दौडावै और सतावै है ।"

लोगोने पूछा "बाबा ! तोय यौं रोज दौडावे, तो तुम वाते कारण नॉय

पूछौ ?

स्वामीजीने उत्तर दिया – "भैया ! का बताऊँ, वो दिखै नॉय, तबतक तो बहुत सारी बाते याद रहैं, पाछैं ज्यो ही वो दीखै, फिर तो कछु ही याद नॉय रहै। वाके देखनेमे सगरी बाते भूल जॉय । केवल बाकी चितवन ही देखतो रह जाऊँ।"

मुकलानियाजी ! यही महापुरुषोंकी स्थिति होती है । उनके सम्मुख जो जितना निश्छल एव कपटहीन रहता है, वह मनुष्य उतना ही अधिक उनके प्रेमको ग्रहण करता है । प्रेम ग्रहण होनेपर शका एव प्रश्न तो विलुप्त होगे ही। उस समय यदि कुछ प्रश्न उठते भी हैं, तो वे उस महापुरुषके प्रति अलौकिक प्रेमके अग ही होते हैं । वे प्रेममय प्रश्न उस व्यक्तिके एव महात्माके मध्य बहनेवाले प्रेम-प्रवाहको और भी उद्दीप्त कर देते हैं ।

देखिये, पिताजीका जो भी स्वभाव है, उसमे उनका तनिक भी दोष नही है। सब श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तमका ही खेल है । वे बिचारे उनकी मायासे नाच रहे है। अत अपने मनमे किसी भी प्रकार उनसे द्वेष-भाव कदापि मत रखियेगा । सदा, ठोक-ठोककर बार-बार यही निश्चय रखिये कि उनमे श्रीकृष्णकी पूर्ण सत्ता लबालब भरी है ।

# (द्वितीय पत्र)

मनमें बार-बार सोचिये, दृढ धारणा कीजिये, प्रभुकी हमपर बडी कृपा है । यह बात मेरे कहनेभरसे मानलें, सो बात नहीं है, यह सही वस्तुस्थिति है। यदि प्रभुकी अपार करुणा नही होती, विशेष रूपसे दया नही होती, तो आपको श्रीसेठजी जयदयालजी एव भाईजीके दर्शन ही नहीं होते और न आपके मनमे उनके विरहका कष्ट और नित्य मिलनकी आकांक्षा ही रहती, साथ ही आपके मुखसे भगवान्का नाम भी नहीं ही लिया जाता । प्रभुने आपके लिये कृपाके ये सभी राजद्वार खोल रखे हैं । अत उन्हींकी कृपाका आश्रय करके इनको अधिक-से अधिक मात्रामें ग्रहण कीजिये, अपने भीतर लबालब भरियें और प्रभुपर न्यौछावर हो जाइये ।

सच मानिये ! भगवान्से अधिक प्यार करनेवाला, सतत आपकी सम्हाल करनेवाला अन्य आपको कोई नहीं मिलेगा ।

एक योग भ्रष्ट महात्मा कहीं पैदा हुए एव धूलिमें खेल रहे थे । राजाकी सवारी निकली । राजाने पूछा-"धूलिसे क्यो खेलते हो ?" महात्माने कहा

"धूलिसे शरीर पैदा हुआ, धूलिमें मिल जायेगा, इसलिये धूलिसे खेलते हैं।" राजाने कहा–"मेरे साथ चलोगे ?" महात्माने कहा–"चल सकता हूँ, परन्तु मेरी चार शर्तें माननी पडेगी । पहली शर्त है – तू सदा नित्य–निरन्तर मेरे साथ रहेगा । दूसरी शर्त है – हम खूब खावेंगे, तू मात्र खिलायेगा और स्वय कुछ भी नहीं खायेगा । तीसरी शर्त है – तुम कोई भी कपडा मत पहनो और मुझे खूब पहननेके लिये कपडे दोगे । चौथी शर्त यह है – तुम कभी एक क्षणके लिये भी नहीं सोओगे और सतत जागरूक रहकर मेरी सम्हाल करोगे और मैं खूब छककर सोऊँगा ।"

राजाने कहा – "महाराज ! ऐसा क्या कभी हो सकता है ? हॉ ! मैं आपको खिलाकर खाऊँगा । आपको जैसे कपडे मैं पहनता हूँ, पहनाऊँगा। आपके सोनेपर सोऊँगा और जहाँ मैं जाऊँ, रहूँ आप भी रहियेगा ।"

महात्माने कहा – "मैं तुम्हारे जैसे दीन दरिद्रके पास नही रहता । मेरा मालिक ऐसा है, जो कभी नही सोता और मेरे सोनेपर निरन्तर जागकर सावधानीपूर्वक मेरी रक्षा करता है । मुझे भरपेट खूब खिलाता है और स्वय कभी नही खाता । वह स्वय कपडे नहीं पहनता और मुझे सुन्दर से सुन्दर कपडे पहनाता है । वह सदा मेरे साथ ही रहता है और एक क्षणके लिये भी मुझे छोडकर कहीं नहीं जाता ।"

तो मुकलानियाजी, ऐसे प्रियतम, प्रेमी, सखा भगवान् श्रीकृष्णको छोडकर इस ससारमे किन भोगो और भोगियोका आश्रय ले । विश्वमे कोई भी भोगका स्वरूपसे त्याग तो कर ही नही सकता, परन्तु भोगकी आसक्ति तो सर्वथा त्याग हो सकता है । देहकी सम्हाल कीजिये, परन्तु भीतर जागरूक रहकर यही मानिये, देह उनकी वस्तु है, और वे उसे जैसे चाहे रखे, मेरा इसमे कौन सा ममत्व है ?

भगवान्‌की कृपाका आश्रय करके बढनेकी चेष्टा करियेगा, तो कुछ भी असभव नही है । मनमे दोष भरे हैं, माना, पर हम यदि उत्साह तोडेगे तो ये और भी तग करेंगे । उनके चरणोका आश्रय करके दोषोको निकाल डालिये । एक क्षणके लिये भी निराश मत होइये । हतोत्साह होना, क्षीण हुए दोषोंको भी बल देना है । दोषोको निकालनेकी चेष्टा करनेपर ये मनमे छुप जाते हैं और जिस दिन भी मनुष्य उत्साह भग करता है, उस दिन दोष जोर मारने लगते हैं । इसलिये उत्साह कभी मत तोडिये, लेते जाइये भगवान्‌का नाम ।

किसी भी रुकावट डालनेवालेके प्रति मनमें तनिक भी द्वेष मत रखिये। बाहरी रुकावट, हमारे मनमे भगवान्‌के प्रति कितनी लगन है, उसकी मात्र परीक्षा है ।

## सन्तके सम्मुख सन्देह नहीं रहते

पत्र प्रेषिति—श्रीरामेश्वरजी भुकलानिया

परिवारके सभी लोग भगवान् द्वारा आपको सौंपी हुई धरोहर हैं । इनका आदर सेवा सत्य एव प्रेमसे भरकर करे । सेवाके द्वारा सबके सतोष विधानका प्रयत्न कर । किसी भी सासारिक परिस्थितिके लिये रोना श्रीकृष्णका अनादर करना है । परिस्थितिके सर्जक तो साक्षात् भगवान् ही हैं और उन्होने मात्र हमारा मगल करनेके लिये ही विषम परिस्थितिका विधान किया है । मेरे मनमे जो भाव प्रभुने उत्पन्न किये वे लिख दिये हैं । घरमे सभीको सस्नेह, सादर भगवत्स्मरण ।

आपका

चक्रधर

। । श्रीराधाकृष्णौ वन्दे । ।

पत्र संख्या–६

# वृत्तियोंको भगवन्मयी बनानेकी साधना

पत्र–प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र–प्रेषिति :

श्रीजयदयालजी कसेरा

प्रेषण–स्थल :
गीता वाटिका, गोरखपुर
दिनाक : १८ नवम्बर १९३७ ई

प्राप्ति–सूत्र
श्रीशिवकिसनकी डागाका
पत्र–सग्रह

## आलोक

*श्रीजयदयालजी कसेरा सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अभिन्न सहयोगी थे । इनकी समाजसेवा प्रवृत्ति श्लाघनीय थी । समाजसेवी होनेके नाते इनका महात्मा गॉधी, श्रीजवाहरलालजी नेहरू, महामना मदनमोहनजी मालवीय आदि सभी नेताओसे पारिवारिक, घनिष्ठ, आत्मीय सम्बन्ध रहा । मारवाडी रिलीफ सोसाइटी, विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय, जैसी अनेक सामाजिक सस्थाओमें इनका उल्लेखनीय योगदान रहा है । कलकत्तामे जब गोविन्दभवन ट्रस्टकी स्थापना हुई, तो इसमें इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की । ट्रस्टकी आरभिक बैठके प्रायः इन्हीके सभापतित्वमें होती थीं । गोविन्दभवन ट्रस्टके ट्रस्टी होनेके पश्चात् सेठजी श्रीजयदयालजीसे इनकी घनिष्ठता बढती ही गयी। कालान्तरमें ये श्रीसेठजीके अनन्य भक्त बन गये । पू श्रीसेठजीकी सत्सग गोष्ठियोमें ये प्राय सम्मिलित होते थे । उनके प्रवचनोके श्रवण हेतु, ये प्रायः प्रतिवर्ष ही गीताभवन, स्वर्गाश्रम जाते थे । गीताप्रेसके लिये इनके द्वारा*

*की गयी सेवायें सदैव आदरके साथ स्मरण की जायेंगी । ज्येष्ठ कृष्ण ४ सं. २००३ को ७२ वर्षकी अवस्थामें क्रूर कालने इन्हें अपना ग्रास बना लिया। ये महाभाग्यवान् थे कि सेठजी श्रीजयदयालजीके सान्निध्यमें गीताभवन, स्वर्गाश्रममें गंगाके पावन तट पर इनका पाञ्चभौतिक शरीर ब्रह्मलीन हुआ । इनके देहावसानकी सूचना प्रकाशित करते हुए भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने 'कल्याण' के २०वें वर्षके दसवें अंकमें लिखा है – 'उनका सनातनधर्मका प्रेम, पवित्र हृदय, सरल व्यवहार, उनकी मैत्रीभावना, अतिथिसेवा, व्यवहार कुशलता, परदुःखकातरता, उदारता और सेवापरायणता, उनकी सैद्धान्तिक निष्ठा और दृढता, उनकी भक्ति और प्रीति, भगवत्कृपा तथा भगवान्‌के मंगलविधानमें उनका दृढ एवं अटूट विश्वास ये सभी ऐसे आदर्श गुण थे, जो एक ही साथ, एक ही व्यक्तिमें प्रायः नहीं पाये जाते स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराजके प्रति इनकी श्रद्धा थी और ये उन्हें प्रायः पत्र लिखते थे । इनके दो पत्र जो उपलब्ध हुए हैं, साधकोंके लिये अति उपयोगी समझकर प्रकाशित किये जा रहे हैं।*

— —

प्रिय श्रीकसेराजी !

सादर सस्नेह यथायोग्य । आपका कृपा-पत्र मिला । आप मुझपर जो श्रद्धा-स्नेह रखते हैं, उसका मैं आभारी हूँ ।

आपने पत्रमें अपने मनकी समग्र वृत्तियोंको भगवन्मयी बनानेकी साधनाके सम्बन्धमें प्रश्न पूछा है, इसके उत्तरमें मुझे यही विनीत निवेदन करना है कि अभी तो मेरी स्वयंकी वृत्तियाँ ही पूर्णतया भगवन्मुखी नहीं हुई हैं । मैं स्वयं एक साधारण साधक हूँ और श्रीसेठजी तथा भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) के कथनानुसार ही साधना करता हूँ । मेरी वृत्तियाँ, जिन्हें भटकना नहीं ही चाहिये, अभी भी भटकती हैं, फिर भी आपका निश्छल प्रेम देखकर मनमें जो बातें आ रही हैं, उन्हें लिख दे रहा हूँ । मैं आपको कोई उपदेश दे रहा हूँ, ऐसा सर्वथा मत मानियेगा, क्योंकि आपने निष्कपट भावसे प्रश्न किया है, अतः जैसी मैं स्वयं साधना करता हूँ अथवा भगवत्प्रेरणावश जो भी मेरी बुद्धि आपको लिखनेकी प्रेरणा कर रही है, वह लिख दे रहा हूँ । आप यह प्रश्न श्रीसेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) अथवा भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) से भी पूछ लीजियेगा और सर्वोपरि महत्व उनकी ही बातोंको दीजियेगा । मेरी बातें यदि उनसे मेल खाती आपको रुचिकर

एव हितकारी अनुभवमे आवे, तभी मानियेगा, अन्यथा मेरा पत्र बकवास समझकर फैंक दीजियेगा ।

मेरी तो इन दिनों यही साधना है कि 'मै' एव 'मेरे' से सम्बन्धित जो कुछ भी है, वह सब कुछ मेरे प्रियतम प्रभुका ही है, मेरा अपना कुछ भी नही है। मेरे मनने अबतक सर्वथा मिथ्या ही ऐसा मान रखा था कि यह शरीर, शरीरके सम्बन्धसे इसके भाई बहिन, पिता माता, स्त्री–परिजन, साथ ही शरीरगत मन–बुद्धि, बुद्धिकी वृत्तियॉ एव उनके द्वारा सम्पादित अनन्त कर्मराशि, मेरी है मै कर्ता हूँ और साथ -ही- साथ इन सभीका 'भोक्ता' भी हूँ । इस मिथ्या धारणासे ही इनके सुधार बिगाड़की भी मुझे चिंता हुआ करती थी । इधर श्रीसेठजी एव भाईजीकी विशेष कृपासे इस समझका उदय हुआ कि यह मात्र मेरे मनकी अहकारगत सर्वथा ही मिथ्या धारणा है । यह स्वामी 'चक्रधर' नामक कीट प्राकृत विधानानुसार उसी प्रकार पिता द्वारा गर्भाधान किया जाकर मातृकोखमे सुसवर्धित हुआ है तथा समय पाकर निर्गत हुआ है जैसे प्राकृत विधानसे एक सूकर कूकर अथवा मक्खी मच्छर, कोई कीट-पतगा होता है । जैसे सूकर कूकर एव कीटके सस्कार एव स्वभाव भिन्न–भिन्न होते है, इसका भी पिता–माता द्वारा प्रदत्त सस्कारानुसार स्वभाव बना है । इस मानव–कीटकी भी जो भी त्रिगुणात्मक वृत्तियॉ हैं, वे सभी प्रभु द्वारा उनके परम मगल विधानसे ही निर्धारित हैं ।

जैसे सूर्य चन्द्र, अनन्त नक्षत्रमण्डल, पृथ्वी आदि महत्पिण्डोकी सत्ता प्रभुद्वारा पूर्णतया नियत्रित है, इसमे पलक झपकाने जैसा हेर-फेर सभव नही, उसी प्रकार सभी जीवोकी एव 'मैं–मैं' मिथ्या अहकार करनेवाले इस मानव कीटकी भी छोटी–से–छोटी वृत्ति भी, प्रभुके पूर्ण मगलमय विधानानुसार ही नियत्रित है।

मुझे तो यही परमार्थका ककहरा समझमे आया है कि इस सत्य भावनाको बहुत सुदृढ करके जीव मिथ्या 'मैं' एव 'मेरे' का महा मोहभरा अहकार त्याग दे । जैसे ही इस परम सत्य तथ्यपर विश्वास होगा, मैं, आप अथवा कोई भी साधक सभी सासारिक एव आत्मकल्याणकी चिन्ताओंसे मुक्त हो सकेगा । प्रभुके हेतुरहित दयालु स्वभावपर उसकी आस्था ज्यो ही सुदृढ होगी, तभी उसे सच्चे विश्राम एव शान्तिकी उपलब्धि हो सकेगी ।

मैंने स्वयने यही साधना की है और आपको भी यही मेरी तुच्छ सलाह है कि इस लोक अथवा परलोकमे, जो भी आप हैं अथवा जो कुछ किंचिन्मात्र भी आपका है, वह सब आज इसी क्षण ही प्रभुके चरणोमे समर्पित कर दीजिये । सत्याशमे यह सब ससार प्रभुका ही है, हमने मिथ्या ही यह बोझ अपने सिरपर डाल रखा है । होगा वही -जो प्रभु करेंगे, तभी होगा–जब प्रभु करेगे, वैसा ही होगा -जैसा प्रभु

करेंगे । अतः व्यर्थ ही चिन्ताका बोझ अपने सिर क्यों लिया जाय ? मनकी इस सर्वथा मिथ्या भ्रममूलक मान्यतासे ही सारा संसार दुःखी है कि यह शरीर मेरा है, यह दुष्ट मन मेरा है, यह परिवार, यह व्यापार मेरा है । यह मेरापन ही इन सभीके बनने-बिगड़नेकी चिन्ता करवा रहा है । इस चिन्तासे ही दिनरात मनुष्य सकाम कर्ममें लगा है और कर्मफलका भोक्ता हो रहा है । सचमुच ही यदि कोई स्वीकार कर ले कि सब कुछ प्रभुका है, तो सांसारिक दृष्टिसे जिसे 'सर्वनाश' कहा जाता है, वह होनेपर भी वह अनुभव करेगा कि कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ है । प्रभुसे अधिक बुद्धिमान तो संसारमें कोई दूसरा है नहीं, वे अपनी वस्तुको नष्ट कैसे करेंगे ? कोई भी बुद्धिमान् अपनी वस्तुको बिगाड़ता नहीं, नष्ट नहीं करता । वह यदि कुछ भी बिगाड़ता है, तो उसे और अधिक सुन्दर बनानेके लिये ही बिगाड़ता है । फिर वे सर्वभवन-सामर्थ्य हैं, वे भला व्यर्थ ही अपनी वस्तु कैसे विनष्ट करेंगे ? वे तो निर्माण ही कर रहे हैं सुन्दरसे सुन्दरतम निर्माणकी प्रक्रियामें ही हम सभी स्वभावतः ही प्रभुके द्वारा गुजारे जा रहे हैं । सच मानिये, यह केवल थोथी कल्पना नहीं है परम सत्यका सत्य है । यदि इस वास्तविक स्थितिकी किंचित् भी झाँकी हममेंसे कोई भी कर पावे तो फिर दुःख, चिन्ता, उसके जीवनसे सदा-सदाके लिये विदा हो जाय । जबतक यह अनुभव स्वयंका अपना नहीं हो, तबतक अग्रणी सन्तोंके अनुभवपर अपना विश्वास जमाना चाहिये । जब सनातन गोस्वामीने, श्रीचैतन्य महाप्रभुका शिष्यत्व स्वीकार किया, तो उन्होंने सर्वप्रथम अपने वास्तविक स्वरूपको जानना चाहा कि मैं कौन हूँ । सनातन गोस्वामीके जिज्ञासा करने पर महाप्रभुने बताया कि सभी चेतन प्राणियोंका शाश्वत स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके सेवकके रूपमें ही है । भगवान्से सम्बन्धके रूपमें इस अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं जाननेके कारण ही भौतिक संसारमें सभी दुःख पा रहे हैं । मैंने तो अपने जीवनकालमें जितने भी पाश्चात्य एवं भारतीय सन्तोंके विचार पढ़े हैं, उनमें सभी उच्च सन्तोंका एक ही अनुभव पाया है कि प्रत्येक प्राणीकी प्रत्येक चेष्टाके क्षुद्र से-क्षुद्र अंशका नियन्त्रण भगवान्की शक्तिसे ही हो रहा है । ईसा मसीहको जब क्रॉसपर लटकाया जा रहा था, उस समय सभी देवशक्तियाँ यही अनुभव कर रही थीं कि भगवान्का परम मंगल ही सृष्टिपर अवतरित होने जा रहा है । अपने सम्पूर्ण शरीरके मर्मस्थलोंपर मोटी लोहेकी तीखी कीलें ठोंक दिये जानेसे मर्मान्तक पीडावश उनके मनमें एक क्षीण सा सन्देह अवश्य उदय हो गया था कि 'हे प्रभो! यदि आपकी भक्ति करने वाले लोगोंको इतनी वेदना और पीडा आपके द्वारा दी जायेगी, तो कौन व्यक्ति आपकी भक्ति करेगा ?' उसी समय देवशक्तियाँ ईसाको धिक्कारने लगीं । अन्ततः उनका सन्देह निवृत्त हुआ और वे मूक वाणीमें प्रभुके

सम्मुख यही व्यक्त करते हुए मृत्युको प्राप्त हुए कि 'हे प्रभो ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। इसीमें पूर्ण मगल है ।'

कसेराजी ! किसी भी व्यक्तिके जीवनमे यदि घोर जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तो वे प्रभुके द्वारा उसे कीचडसे निकालनेका उपक्रम मात्र ही होती हैं । अत हमे इस ससारमे जो भी, जैसा हो रहा है, सबको प्रभुका परम मगल विधान मानते हुए बार-बार मनकी बिखरी हुई वृत्तियोको जगत्‌के कोलाहलसे हटाकर नित्य सुखमय प्रभुके चरणोमे जोडते रहनेकी ही चेष्टा करनी चाहिये ।

वास्तवमे हम लोग भगवान्‌के इतने अधिक कृपा-पात्र है कि हमे सेठजी गोयन्दकाजी एव श्रीभाईजी जैसे महापुरुषोका परम आत्मीय एव नैकट्यपूर्ण सत्सग प्राप्त हुआ है । इनकी इस आत्मीयताके कारण पात्रके तारतम्यसे उनका वस्तुगुण तो काम कर ही रहा है । उसी वस्तुगुणका यह परिणाम है कि हम भगवान्‌की ओर प्रवृत्त है और इससे हटने नही पा रहे है । परन्तु इस जगत्‌के लिये अशेष कृपावतार इन महापुरुषोसे जो हमारी सत्सग विषयक चर्चा होती है, उसे हम बस सुनते भर ही हैं । उन्हे हमारा मन ठीकसे धारण करनेका प्रयत्न नही करता । हम बाते अवश्य ऊँची से ऊँची सुन लेते हैं, परन्तु इन सन्तोके सारभूत उपदेशको हमारा मन, जितना महत्व देना चाहिये, पहले तो देता ही नही, दूसरे महत्व देता भी है, तो अपने जीवनके लिये ये सभी अत्यन्त आवश्यकरूपसे पालनीय है, ऐसा नही समझता । इस उपेक्षाके कारण परमार्थ साधनके प्रति हमारी उत्कट लालसा ही नही होती और जीवनमे जिसको उतारनेकी पूर्ण चाह ही नही है, वह कार्य हमारा पूरा होना तो सभव ही नहीं है ।

कसेराजी ! अनन्त सन्तोकी बाते शास्त्रोमे भरी पडी है वे सर्वथा असत्य नहीं हैं । सन्त त्रिकालज्ञ थे, आज भी हैं एव आगे भी रहेगे । सन्तोकी वाणीका सार ही मैं बता रहा हूँ और उसे आचरणमे लानेकी चेष्टा करता हूँ । आप भी वैसा ही करिये ।

सन्त कहते हैं, भगवान सर्वत्र हैं । श्रीमद्भगवद्गीतामे भगवान् स्वय अपने मुख से कहते हैं कि "मत्त परतर नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय" अर्थात्, मेरे अतिरिक्त विश्वमें कही कुछ नही है । इस अमोघ सत्य बातपर विश्वास नहीं करके यदि हम दुकान, व्यापार, मैं, तू, तेरा, मेरा, कलकत्ता, दिल्ली देखते हैं और अपनी इन्द्रियोकी भ्रामक दृष्टिपर विश्वास करते हैं, साथ ही भगवान्‌की अमोघ सत्य वाणीपर अनास्था करते हैं, तब हमारी वृत्तियाँ ससारमे बहेगी ही, भगवान्‌को कैसे पकडेंगी ?

हम सन्तो एव भगवान्‌की वाणीपर पूर्ण विश्वास करें, तो आज भी हम

**वृत्तियोको भगवन्मयी बनानेकी साधना**
**पत्र–प्रेषिति : श्रीजयदयालजी कसेरा**

भगवान्‌का निश्चय ही सर्वत्र अखण्ड विराजित देख लेगे एव ससार हमारे लिये पूर्णतया उपेक्षणीय, स्वप्नवत्, मात्र मिथ्या, प्रातीतिक हो जायगा । जो क्षणभगुर, मात्र उदयास्त स्वभाव वाला है, जो जाग्रत्‌में रहता है, स्वप्नमे दूसरा हो जाता है एव निद्रामे विलुप्त हो जाता है, जो जन्ममे रहे और प्रलयमे विलुप्त हो जाय एव स्थितिके समय भी क्षण–क्षण हानि, लाभ, जन्म, मरण, यश, अपयशके रूपमे बदलता रहे, उसपर कौन बुद्धिमान आस्था करेगा ? जिसपर अपना वश ही नहीं, वह कैसे अपना हो सकता है एव उसपर आस्था रखना महामूर्खता ही तो है ।

कसेराजी ! भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामे कहते है – "मृत्यु सर्वहरश्चाह" अर्थात्, मै ही सर्वस्व छीननवाली मृत्यु हूँ तो विपत्ति अर्थात् मनके प्रतिकूल होनेवाली परिस्थिति भी तो वे ही है । मृत्यु तो सब विपत्तियोकी माता–पिता है। अत यह निश्चित ही है कि कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति यदि है तो उसके रूपमे हमे हमारे प्रियतम प्रभु ही आलिगित कर रहे हैं । रूप चाहे कितना ही भयानक हो, है यथार्थमे उस भीषण परिस्थितिके रूपमे प्रभु ही । आपने प्रह्लादजीकी कथा तो खूब पढी सुनी होगी । प्रहलादजीने तो साधारण भगवद्विश्वाससे कहा था कि पिताजी ! भगवान् आपमे, मुझमे, आपकी इस तीक्ष्ण खड्गमे, खभमे सर्वत्र हैं, परन्तु भगवान् कैसा विकराल रूप रखकर नृसिह रूपमे गरजते उस खभेमेसे व्यक्त हो गये हिरण्यकशिपु सँभले और अपनी ढाल तलवार सँभाले, तब तक तो झपटकर भगवान्‌ने उसे फाड ही डाला । उस रूपको देखकर लक्ष्मीजी भयभीत हो गयीं, परन्तु भक्त प्रह्लाद नही भयभीत हुए । उन्होने ठीक अनुमान लगाया कि मेरे नाथ ही यह रूप रखकर आये है । वे हाथ जोडकर स्तुति करने लगे — साष्टाग प्रणिपात करके भगवान्‌को सर्वस्व आत्मसमर्पणकर भगवान्‌का स्वागत करने लगे ।

भगवद्भक्तको भगवान्‌का अनुकूल सुख देनेवाला रूप ही प्रिय हो, सो बात नही, उसे तो भगवान् जिस रूपमे आवे, वही रूप प्रिय है । जिसे भगवान् प्यारे हैं, वह रूपको कहाँ देखेगा ? चैतन्य महाप्रभुको गरजते समुद्रके रूपमे भगवान्‌के दर्शन हुए तो वे उछलकर समुद्रमे ही छलाँग लगा बैठे । भक्तश्रेष्ठ ऋषभदेवजीको दावानल भगवद्रूप दृष्टिगोचर हुई, तो वे आगमें स्वाहा हो गये, वहाँसे हटे ही नहीं। आग शरीरको राख कर सकती है, भागवती–आस्था भगवत्साक्षात्कार करा देती है।

जो भी साधक यह आस्था करता है कि भगवान् ही सवरूपमे उसके इतस्तत सर्वत्र हैं, उसे तो भगवान्‌की प्राप्ति हो ही गयी । फिर उसकी वृत्तियॉ भगवान्‌को छोडकर कहाँ जायेंगी ? यह हम सत्सगमें सुनते भर हैं कि भगवान् सर्वत्र हैं, भगवान् सर्वज्ञ हैं, भगवान् सर्वसुहृद हैं एव भगवान् सर्वसमर्थ हैं । हम इन चारों बातोपर एक क्षणके लिये भी सत्याशमे आस्था कर ले, उसी क्षण भगवान् हमे

परम कल्याणरूपमे गले लगा ले । परन्तु हम तो सुनतेभर है मात्र एक कानसे और तत्क्षण ही उसे विस्मृतकर रचपच जाते है जड जगत्मे, शरीरके क्षणभगुर भोगामे, 'मै मेरे', 'तू–तेरे' मे । फलस्वरूप हमे सन्तोकी बातोसे उनके अनमोल सत्सगसे वह लाभ हो नही पाता, जो हो जाना चाहिये ।

कसेराजी ! आप तो बुद्धिमान् है, आजसे ही मनकी अनुकूल, प्रतिकूल सब परिस्थितियोके रूपमे, जड, चेतन, सब पदार्थोके रूपामे और अपने, पराये, उत्तम–अधम, सब व्यक्तियोके रूपमे मात्र भगवान्को देखना प्रारम्भ कर दीजिये, देखिये ! आप भगवान्की लीला देखकर हँसते–हँसते लोट–पोट हो जायगे।

मुझे तो आजतक मेरे अथवा किसीके भी जीवनमे ऐसी घटना नही स्मरण है, जिसका परिणाम उसके लिये परम मगलमय नहीं हुआ हो । यह आवश्यक है कि मनके विपरीत भयानक रूपमे जब भगवान् प्रकट होते है, तो लोग रोते हैं एव वे ही, मनके अनुकूल मधुर रूपमे जब प्रकट होते है तो सभी हँसते है, परन्तु इस हँसने एव रोनेके अन्तरालमे हम अपने सौभाग्य दुर्भाग्यका ही अनुभव करते हैं, भगवान्का अनुभव नही करते । शत्रुके रूपमे प्रभु आते है, तो हम द्वेष करते है और मित्रके रूपमे भगवान् आते है तो हम राग करते है परन्तु इस शत्रु–मित्रके रूपमे हम सभी राग–द्वेषका तो अनुभव कर लेते है, प्रभुका अनुभव नहीं करते, जब कि आवश्यक यही है अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमे, शत्रु–मित्र व्यक्तिके रूपमे एव लाभ–हानिमूलक वस्तुके रूपमे हमे अपने प्रियतम प्रभुको ही देखना चाहिये और उनका ही स्वागत करना चाहिये।

मेरे मनमे जो बात आई, लिख दी । यदि अच्छी रुचिकर लगे, तो स्वीकार करियेगा अन्यथा बेकार पन्ने समझ फेंक दीजियेगा ।

आपका
चक्रधर

------

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–७

# प्रभुके लिये द्वार खोलें

पत्र–प्रेषक :
स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज {प. पू. राधाबाबा}
पत्र–प्रेषिति :
श्रीजयदयालजी करोरा

पत्र–प्रेषणस्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
मु. पो. रतनगढ {बीकानेर राज्य}
दिनाक : १३–२–४१

प्राप्ति–सूत्र
श्रीशशिकेसजी डागाके
पत्र–सग्रहकी प्रतिलिपि

श्री जयदयालजी करोरा,

सादर सप्रेम यथायोग्य । आपका पत्र मिला । आपका शरीर अस्वस्थ जानकर विचार हुआ । वैसे तो सभीका शरीर क्षण क्षण विनाशकी ओर ही बढ रहा है, परन्तु विनष्ट होनेसे पूर्व इसे यथासभव इस अवस्थामे रखनेकी अवश्य चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे यह अपनेमे रहनेवाले मनको अपने प्रियतम प्रभुकी ओर बढानेकी चेष्टाके समय कहीं उद्विग्न नही कर दे । जिस क्षण वास्तवमे ही यह प्रभुको पकड लेगा, उस समय तो फिर इसकी सॅभालकी आवश्यकता ही नही रहेगी। सॅभाल करेगा भी कौन ? सॅभाल करता है, मात्र मन । वही जब प्रभुसे जा मिला, जुड ही गया, तो फिर प्रभु जैसी इस शरीरकी व्यवस्था करना चाहेगे, वही होगी । परन्तु, जबतक वह परिस्थिति नहीं है, सयम, पथ्य, औषधिकी व्यवस्था आपने रखी ही होगी । यदि उचित समझे, तो सारी व्यवस्था–सबधी बात एक पत्रमें मुझे अवश्य लिखेंगे ।

रह गयी प्रभुमें मन लगानेकी बात, सो असलमें सारा दोष हमारा अपना है। हमारे भीतर दृढ निश्चयकी कमी है । आप दृढ निश्चय करके अपने हृदयके द्वार प्रभुके लिये खोलिये तो सही, वे प्रवेश करके उसपर पूरा अधिकार नहीं जमालें, तो

मुझे कहियेगा । वास्तवमे तो वे आपके हृदयसे एक पल भी हटे नहीं हैं एव हट सकते भी नही हैं । यह आवश्यक है कि हमारी जैविक स्वाधीनताका उनके द्वारा हनन नही हो, इसलिये वे आपके हृदयमे आपकी अनन्त जन्मोकी वासनाओके ठीक अनुरूप पुत्र, कलत्र धन, धाम अपने परायेके रूपमे आपको दर्शन दे रहे है । वे आपके 'अह' के रूपमे आपको शरीर दिख रहे है । कसेराजी ! आपके आदिसे अन्त तक ऊपर, नीचे सर्वत्र जो ससार भरा है वह प्रभुके सिवा कुछ भी नही है। हॉ, हम उन्हे इसी रूपमे चाहते है, अत वे हमे इसी रूपमे दृष्टिगोचर हो रहे हैं । द्वार खोल देनेका यही अर्थ है कि इस ससारके चिन्तनमे जो हम, आप रचे-पचे हैं, उससे पल, दो पल पृथक् होकर प्रभुके पूर्ण चिन्मय, घनानन्द, कल्याणस्वरूपकी ओर थोडा झॉकें तो सही । आदिसे अन्ततक जब हमारी चाह ही जडता है, तो वे सच्चिदानन्द परमप्रेमस्वरूप इस जडताभरे चिन्ताक्रान्त मनमे प्रवेश करे भी कैसे ? इसीलिये पहले सच्ची इच्छा इसकी ही जगानी है कि मुझे यह ससार नही चाहिये प्रभुकी ही आवश्यकता है ।

एक बोतलमे यदि वायु भरी है तो जल नही रह सकता और यदि जल भरा है तो उसमे वायु रह नही सकती । इसी प्रकार जहॉ चिन्ता है, वहॉ आनन्दस्वरूप परमात्मा कैसे रह पावेगे ? हृदयको अन्य चिन्तासे खाली करना ही भगवान्के लिये द्वार खोलना है । जब हमारी भीतरी चाह ऐसी होगी कि हमे भगवान्के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिये, तभी हमने उनके लिये अपने हृदयका द्वार खोला, ऐसा समझा एव माना जायेगा । जब हमारे हृदयमे सतत उनका ही स्मरण रहेगा तभी ऐसा माना जायेगा कि उनके विराजनेके लिये हमने आसन लगा दिया । कसेराजी ! भूल जाइये इस ससारको और उसके स्थान पर स्मरण कीजिये –

अहा ! भगवान् नारायण, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीरामजी कितने सुन्दर हैं । अहा ! हमारे प्रभु माधुर्य और लावण्यके सागर हैं । उनके श्रीअगोमें पीताम्बर झलमला रहा है । वक्षस्थल पर स्वर्णरेखा और तुलसीरचित माला झूल रही है । अग, अग पर रत्नजटित आभूषण शोभा पा रहे हैं । लम्बी धुँघराली अलके हैं । अहा ! मेरे प्रभुके अगोमेसे कैसा सुवास प्रसरित हो रहा है। चमकते ललाटपर चन्दनकी खौर अत्यन्त शोभा दे रही है । मध्यमें गोरोचनका तिलक है । अहा ! मेरे प्रभुकी कैसी महिमा है, मानो ईश्वर प्रतिपादक समस्त उपनिषदोंका प्रामाण्य ही शरीर ग्रहण कर उनके रूपमें मूर्त्त हो गया है किवा आनन्द सुधासागर ही घनीभूत हुआ विग्रहरूपमे प्रकट है । अहा ! जिन्हे कुछ लोग जगत्कर्त्ता कहते हैं, कुछ जिन्हें परमात्मा कहते है, जिन्हे कुछ तत्ववेत्ता ब्रह्म कहते हैं और भक्तगण जिन्हे भगवान् कहकर प्रतिपादित करते है, जिनका प्रभाव देशकालसे परिच्छिन्न नहीं है,

**प्रभुके लिये द्वार खोलें**
**पत्र–प्रेषिति : श्रीजयदयालजी कसेरा**

वे ही देखो मेरे ध्यानपथमे सीमाबद्ध हुए सगुण साकार विग्रह बने, मुझे दृष्टिगोचर हो रहे हैं । अहा ! इनका कैसा अचिन्त्य ऐश्वर्य है, मै तो इनकी चरण–नख–चन्द्रिकामें ही अपना अस्तित्व विलीन कर दूँ । अहा ! इनका माधुर्य भी कैसा विलक्षण एव असीम है, मेरा मन तो मरकतद्युति इनके कलेवरको हृदयमे निरन्तर बसाये रखनेका ही करता है । अहा ! मेरा सम्पूर्ण अन्त करण ही इनके श्रीअगोकी ज्योत्स्नासे उद्भासित हो रहा है । इनके अग–सुवाससे मेरा रोम–रोम सुवासित हो उठा है ।

इस प्रकारकी झॉकीसे मनको निरन्तर भरते रहिये । देखिये ! फिर वे आकर आपके हृदय आसनपर बैठते हैं कि नहीं । पहले वे झॉककर देखेंगे मात्र । जब उन्हें आपके द्वार पूर्णतया उन्मुक्त मिलेंगे तो फिर भीतर थोडा सा प्रवेश करेंगे। वहॉ उन्हें अपनी ही छाया आनन्दमें नृत्य करती दीखेगी । वे कौतूहलवश उस छायाको केवल एक बार छू भर लेगे । फिर तो वह उनकी छाया पूरा उनका स्वरूप ही बन जायेगी । आपके चिन्तनकी झॉकी तत्क्षण ही वास्तविक उनका दर्शन बन जायेगी । आप सदाके लिये कृतार्थ हो जायेगे ।

परन्तु कसेराजी ! यह सब मात्र बातोसे नहीं होने वाला है । करनेसे ही होगा । मेरा अन्तिम कथन इतना ही है कि हम सभीके जीवनका वही क्षण सार्थक है, जिस क्षण हम भगवान्का चिन्तन स्मरण करते हैं । शेष सब व्यर्थ है। सबको यथायोग्य ।

आपका
चक्रधर

*(श्रीकसेराजीपर पू. श्रीराधाबाबाके पत्रोका बहुत ही प्रभाव पडा था । अन्तकालमें उनका जीवन सर्वत्र भगवान्को देखना और उनकी रुचिमें अपनी रुचि मिलाना, इस साधनाका प्रतिरूप ही हो गया था । जो भी इनके पास आता उसे वे यही कहते– "भगवान्की हॉं में हॉं मिलाओ, भगवान् जो भी करें, उसीका अनुमोदन करो और उसीको अपने परम कल्याणका हेतु समझते हुए सिर झुकावो।" वे इसी मंत्रका जप किया करते थे ।*

*भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने इनकी मृत्युपर अपने ये उद्गार प्रकट किये थे – "कसेराजीकी मृत्यु सफल मृत्यु हुई, परन्तु उनके चल जानेसे सनातनधर्मका स्वयं आचरण करनेवाला एक बहुत ही पक्का सेवक, साधु सन्तोंका भक्त, सत्सगका प्रेमी प्रचारक, अद्वैतज्ञानका सिद्धान्ती, साथ ही परम भगवद्भक्त और एक महान् उदार प्रेमी पुरुषका स्थान खाली हो गया, जिसकी*

*पूर्ति वर्त्तमानमें तो हो नहीं सकती ।"*

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या–८

# मना रे करु माधवसौं प्रीत

पत्र–प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी चक्रधरजी महाराज {प० पू० श्रीराधाबाबा}

पत्र–प्रेषिति :

श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया, कलकत्ता

| | |
|---|---|
| पत्रप्रेषणस्थल – | प्राप्तिसूत्र |
| गीतावाटिका गोरखपुर | श्रीघनश्यामजी कानोडियासे |
| दिनांक १२–१–४६ ई० | प्राप्त प्रतिलिपि |

**आलोक**

*कर्मठताके प्रतीक श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़ियाका जन्म सन् १८८५ ई० मे हुआ था । ये महेन्द्रगढ़ ग्राम, जिला पटियालाके निवासी थे । बालकपनसे ही ये भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके मित्र रहे । इनमे देशके प्रति अटूट प्रेम था । क्रान्तिकारी गतिविधियोंमें भी ये सदा श्रीभाईजी {ह० प्र० पोद्दार} के साथी रहे । परिणामत· इन्हें सन् १९१९ ई० मे गिरफ्तार कर लिया गया । बंगाल सरकारने श्रीभाईजीकी तरह इन्हे भी बगालसे निष्कासित कर दिया । इस निष्कासनकी अवधिमे इन्होंने कुछ वर्षोंतक गोरखपुरमें अपना समय यापन किया था ।*

*हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनो ही विषयोंमें इनका समान अधिकार था । साहित्यके प्रति इनकी प्रारम्भसे ही रुचि रही । 'कल्याण' पत्रिकाके प्रकाशनके आरम्भिक कालमें भी कुछ समयतक ये भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार को 'कल्याण' पत्रके सम्पादन कार्यमें सहयोग देते रहे । विविध विषयोंपर लिखे इनके निबन्ध विद्वत्ता और शास्त्रोंके गम्भीर चिन्तनके प्रतीक हैं । श्रीभाईजी {ह० प्र० पोद्दार} के आग्रहपर इनके निबन्धोंका एक सकलन 'तत्त्वविचार' के नामसे गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित हो चुका है ।*

*इनके सम्बन्धमें श्रीभाईजीके निम्न उद्‌गार है :-*

*"श्रीज्वालाप्रसादजी विचारशील पुरुष थे, उनके सुन्दर विचारोको पाकर कोई भी व्यक्ति निश्चय ही लाभान्वित होगा ।"*

*श्रीकानोड़ियाजी वर्षोंतक 'रुबी जनरल इन्श्योरेंस कम्पनी' की कलकत्ता शाखाके व्यवस्थापक रहे । कर्मठता, कर्तव्यपरायणता, उदारता आदि गुण उनमे कूट-कूटकर भरे थे । अपनी विशिष्ट योग्यताओके कारण ये गोविन्द भवन ट्रस्टके प्रथम मंत्री बनाये गये । ये इसी ट्रस्टके यावज्जीवन ट्रस्टी तो रहे ही, इन्होने इस अवधिमें जिस कुशलतासे गीताप्रेसका कार्य सँभाला, वह उल्लेखनीय है । गीताप्रेसके लिये इनकी सेवाएँ सदा स्मरणीय रहेगी ।*

*श्रावण शुक्ला पञ्चमी सं २०१२ वि तदनुसार २४ जुलाई, सन् १९५५ ई. को कलकत्तेमें इनका पक्षाघातसे देहावसान हो गया ।*

---

प्रिय श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया,

सस्नेह यथायोग्य । आपका पत्र मिला । आपने जो भी अपनी स्थिति लिखी, हम सबकी भी यही दशा है । जगत्मे हम सभी श्रीकृष्णको भूल जाते हैं। आप तो गृहस्थ हैं, क्षम्य हैं । किन्तु मै तो गृहत्यागी सन्यासी हूँ, मुझे तो मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके अतिरिक्त वास्तवमे कुछ भी नही दिखना चाहिये, परन्तु मेरी भी अभी ऐसी स्थिति नही हुई है । अत सचमुच ही मैं तो अतिशय धिक्कारका पात्र हूँ ही ।

यह सत्य है कि इस विश्वमे सर्वत्र एक वे ही ठसाठस भरे हैं, परन्तु अपनी मायाशक्तिके कारण वे अनन्त, पूर्ण स्वतत्र व्यक्तित्व बने विलस रहे हैं। सभी सन्त एव शास्त्र एकमतसे एक ही बात कहते हैं कि जिस दिन प्रभु हमारे परमावश्यक पूर्ण विश्वासकी वस्तु बन जावेगे, उसी क्षण वे इस विश्वके कण-कणके अन्तरालसे हमारे सम्मुख फूट पडेगे परन्तु यह होगा तभी जब हमारे लिये सब तरफका आकर्षण फीका पड जायेगा ओर वे ही सर्वोपरि परमप्रिय लगने लगेगे । इसका उपाय भी यही है कि हम उनका स्मरण करें । यह स्मरण बार-बार अन्य वस्तुओंकी चाह वश छूटता है, परन्तु चेष्टा बार-बार पुन-पुन ऐसी ही हो कि

उनकी स्मृति नित्य नियमित बढ़ती ही जाय ।

मैं मानता हूँ, जिस प्रकार हम ससारके छिन जानेपर विकल होते हैं वैसी विकलता हमारी उन्हे विस्मृत करदेनेपर कदापि नही होती । भावपूर्ण सच्चे मनसे उनको पानेकी पुकार होनेपर तो वे प्रकट हो ही जावेगे परन्तु उनको सच्चे मनसे पुकारना भी हमे तभी आवेगा, जब उनकी हमे आत्यतिक आवश्यकता होगी । जबतक किसीको प्यास नही लगती, तभीतक वह कूएसे दूर, इधर उधर भटकता है। आत्यन्तिक प्यासेका पानीकी पुकार किसीको सिखानी नही पडती । इसी प्रकार जबतक प्रभुकी हमे प्यास नही है, तभी तक यह कहना -सुनना, उपदेश एव सत्सग लिखना ओर छापना सब है । ज्यो ही प्रभुकी प्यास लगी, फिर सभी ऊपरी व्यवहार स्वभावत ही छूट जावेगे । एक मात्र उन्हीकी एकान्त लगन लग जायगी ।

आपने लिखा कि मान, प्रतिष्ठा, यशस्विता, धन, सम्पदा, खाने-पीने एव परिवारमे पुत्र-कलत्रादि सभीकी आसक्तियॉ भरी हैं । सो इनके हटानेका उपाय भी मुझे तो यही समझमें आता है कि प्रभुकी आसक्ति बढायी जाय । मेरा तो यही विश्वास है कि प्रभुकी आसक्ति बढ जानेपर मोक्षसुखसे भी वैराग्य हो जाता है, फिर ये मोहजन्य असक्तियॉ तो तुच्छातितुच्छ हैं । मैने पूर्वत ही उल्लेख किया है कि मेरी दशा तो आपसे भी हीन है, परन्तु अनुभवी लोगोसे जैसा सुना-समझा है, वह यही है कि भगवान्के प्रति आसक्ति बढ जानेपर मनमे ही नहीं, बाहरकी ऑख भी जहॉ जाती है, वहॉ भगवान् दिखते हैं । आपको तो ज्ञात ही है कि श्रीभाईजी को सिमलापालमे खुली ऑखोसे गायमें, खभेम, जहॉ भी उनकी दृष्टि पडती, भगवान् दिखते थे ।

आपका यह कहना भी सर्वांशत सत्य है कि भगवान्के अतिरिक्त और कोई वस्तु देखने लायक है भी नहीं, परन्तु क्या कहूँ अभी तो मेरा मन भी इसे पूरी तरह नही स्वीकारता । फिर भी यह सब होना तो पुरुषार्थसे ही सम्भव है, जब हमने ही अपने मनको ससारसे जोड रखा है, तो हम ही उसे जब प्रभुसे जोडेगे, तो वह जुडेगा , प्रभु जैविक स्वाधीनताका हनन तो करेगे नही । अत व्यर्थकी चिन्ता और हताशाको त्यागकर मनको क्षण-क्षण प्रभुके नामजप, स्वाध्याय, सत्सग, सत्कर्म आदि किसी भी साधनमे लगावे, यही मार्ग है । जीवनका प्रत्येक क्षण प्रभुके ही स्मरण चिन्तन अथवा प्रभुके निमित्त निष्काम-कर्म करते बीते, इसीकी सतत चेष्टा बनी रहे ।

यह अनमोल मानव जीवन समाप्त होनेके पूर्व प्रभुस्मृतिमे आपातत डूब गया एव मनमे प्रभु पूरे बस गये, तब तो सब कुछ हो गया, नही तो सब करके भी

जीवन व्यर्थ ही समाप्त हो गया, यह सर्वथा सच्ची बात है ।

आपने मेरे स्वास्थ्यके बारेमे पूछा, सो अब चौदह आने ठीक है । रोगके रूपमे प्रभु ही आये थे, जिस तीव्रतासे वे आये, उसी तीव्रतासे वे चले भी गये अवश्य ही इस कष्टभोगके रूपमें उनका मगलमय विधान ही पूर्ण हुआ है ।

आपका श्रीसूरदासजीका एक पद भेज रहा हूँ । इस पदसे मुझे बहुत लाभ हुआ है ।

मना रे, माधव सौं करु प्रीत ।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू छाँडि सबै विपरीत ।।१।।
भौंरा भोगी बन भ्रमैरे, मोद न माने ताप ।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, कमल बँधावै आप ।।२।।
सुनि परिमिति पियप्रेमकी, चातक चितवन पारि ।
धन आसा सब दुख सहै, अनत न जाँचे बारि ।।३।।
देखो करनी कमल की, कीन्हो रवि सौं हेत ।
प्रान तज्यौ, प्रेम न तज्यो, सूख्यौ सरहिं समेत ।।४।।
दीपक पीर न जानई, पावक जरत पतग ।
तनु तौ तिहि ज्वाला जरयौ (पै) चित न भयौ रसभग।।५।।
मीन वियोग न सहि सकै, नीर न पूछे बात ।
देखिजु तू ताकी गतिहि, रति न घटै तन जात ।।६।।
प्रीति परेवाकी गनौ, चित लै चढत अकास ।
तहँ चढि तीय जु देखई, परत छाँड़ि उर स्वास ।।७।।
सुमिरि सनेह कुरगको, स्रवननि राच्यौ राग
धरि न सकत पग पछमनौ सर सनमुख उर लाग ।।८।।
देखि जरनि जड नारिकी जरत प्रेतके सग ।
चिता न चित फीकौ भयो, रची जु पियके रंग ।। ९।।
लोक-वेद बरजत सबै, नैननि देखत त्रास ।
चोर न जिय चोरी तजै, सरबस सहै बिनास ।।१०।।
सब रसको रस प्रेम है, विषई खेलै सार ।
तन मन धन जोबन खसै, तऊ न मानै हार ।।११।।
तैं जु रतन पायौ भलौ, जान्यौ साधु समाज ।
प्रेम कथा अनुदिन सुनी, तऊ न उपजी लाज ।।१२।।
सदा सँगाती आपनौ जियको जीवन प्रान ।

सु तैं बिसार्यौ आपनो हरि, ईश्वर भगवान् ।।१३।।
वेद पुरान सुमृति सबै, सुर–नर सेवत जाहि ।
महामूढ अग्यान–मति, क्यों न सँभारै ताहि ।।१४।।
खग–मृग मीन-पतंग लौं, मैं सोधे सब ठौर ।
जल–थल जीव जिते–तिते, कहौं कहाँ लगि और ।।१५।।
प्रभु पूरन पावन सखा प्राननहू के नाथ ।
परम दयालु, कृपालु है जीवन जाके हाथ ।।१६।।
गर्भवास अति त्रासमें जहाँ न एकौ अंग ।
सुन सठ तेरो प्रान–पति तहँउ न छाँड्यौ संग ।।१७।।
दिना रात पोषत रह्यौ, ज्यौं तम्बोली पान ।
वा दुखतै तोहि काढिकैं, लै दीनो पय–पान ।।१८।।
जिन जडतैं चेतन कियो, रचि गुन तत्व विधान ।
चरन, चिकुर, कर, नख दिये नयन, नासिका, कान ।।१९।।
असन–बसन बहु विधि दिये, औसर-औसर आनि ।
मात-पिता, भैया मिले, नइ रुचि नइ पहचान ।।२०।।
सजन, कुटुँब, परिजन बढे सुत–दारा, धन–धाम ।
महामूढ विजयी भयो चित आकर्ष्यौ काम ।।२१।।
खान पान परिधानमे, जोबन गयौ सो बीत ।
ज्यौं बिट परतिय सँग बस्यौ भोर भये भइ भीति ।।२२।।
जैसे सुखासौं तन बढ्यौ, तैसे तनहिँ अनंग ।
धूम बढ्यौ लोचन खस्यौ सखा न सूझ्यौ संग ।।२३।।
जमजान्यौ, सब जग सुन्यौ बाढ्यौ अजस अपार ।
बीच न काहू तब कियौ (जब) दूतनि दीनी मार ।।२४।।
कह जानौं कहवाँ मुऔ ऐसो कुमति कुमीच ।
हरिसौं हेत बिसारि कै सुख चाहत है नीच ।।२५।।
जो पै जिय लज्जा नही, कहा कहौं सौ बार ।
एकहु अंक न हरि भजे, रे सठ 'सूर' गँवार ।।२६।।

इस पदको आप बार–बार स्मरण रखैंगे, तो निश्चय ही आपको लाभ हो सकता है । शेष क्या कहूँ ? राधा–राधा ।

(पूज्य राधाबाबाका इतना ही पत्र है । उपरोक्त पदका सकलनकर्त्ता

द्वारा भावार्थ पाठकोकी सुविधार्थ नीचे दिया जा रहा है ।)

रे मन ! तू माधव, भगवान् श्रीकृष्णसे प्रेम कर । भाई ! ये काम, क्रोध, लोभ एव मोहादि जिन्हें तू अपने अनुकूल (मित्र) मान रहा है, ये तेरे सर्वथा विपरीत अर्थात् शत्रु, तेरा अहित करनेवाले हैं, अत इन्हे आजसे ही छोड दे । देख भाई! तनिक इस भ्रमरकी दशापर विचार कर । यह भोगासक्तिवश वन–वन कली कलीका रस सचय करता निरन्तर भटकता रहता है, यह भोग–सुखकी वासनाके मोदमे ग्रीष्मऋतुके तापकी भी परवाह नहीं करता, किन्तु जब इसका प्रेम कमलसे हो जाता है, तो उसकी सुकोमल पखुडियोमे यह स्वय अपने आपको बँधा लेता है उससे मुक्त नहीं हो पाता। इसी प्रकार, हे जीव ! तू अनादिकालसे भोगोकी वासनाओमे सुख मानता हुआ अनेकानक अच्छी–बुरी योनियोमे आवागमन कर रहा है । तू भीषण त्रितापोंकी (आध्यात्मिक, आधिदैविक एव आधिभौतिक कष्टोंकी) भी परवाह नहीं करता किन्तु भ्रमरकी तरह अन्तत मानव जन्म पाकर अब तो भगवान् श्रीकृष्णके चरण–कमलोसे स्थायी प्रेम कर ले, उनके प्रेमबन्धनम स्वत बँधना स्वीकार कर ले । यही तेरी चिरशान्तिका एकमात्र उपाय है ।।१ २।।

देख भाई ! तू चातककी दृष्टिको अपना आदर्श मान । चातककी चितवनि (दृष्टि) अपने प्रियतम मेघके प्रेमकी सीमाके पार जा ही नहीं पाती। वह अपने प्रिय मेघकी आशामे सभी दु खोको सहता रहता है, वह प्याससे तडपकर मृत्युको वरण कर लेता है किन्तु अन्यत्र पानी नही ढूँढता ।। ३।।

अब तुझे कमलके प्रेमकी कथा कहता हूँ । कमल सूर्यसे हित, प्रेम करता है। सूर्यके तापमे ही वह खिलता है । यद्यपि सूर्य उसके आधार, सरोवरके जलको सुखा देता है, वह जलके नहीं रहनेपर सूखकर सरोवर के साथ-ही साथ मृत्युको प्राप्त हो जाता है, परन्तु अपने रविके प्रति प्रेमको नहीं त्यागता ।।४।।

अब फतंगेका उदाहरण देखो । वह दीपकसे प्रेम करता है, दीपक फतगेकी पीडाको नहीं समझता । वह फतगेको जला डालता है, परन्तु फतगा बार-बार दीपककी अग्निपर ही गिरता है । वह अपन तनको दीपककी ज्वालामे जला देता है, परन्तु अपने प्रेम-रसको भग नहीं होने देता ।। ५।।

अब मीनका उदाहरण लो । मीन जलका वियोग सह नहीं सकता, वह जलसे पृथक् होते ही प्राण त्याग देता है, परन्तु जल उसकी बात ही नही पूछता।

मीनका प्रेम तनिक भी नहीं घटता, चाहे उसके प्राण भले ही जावें । मीन जलकी गतिकी ओर देखकर अपना प्रेम नहीं घटाता ।।६।।

इसी प्रकार, अब परेवा (कबूतर) पक्षीको देखो । वह ऊँचे आकाशमे बहुत ऊपर उडता है । परन्तु जैसे ही अपनी प्रिया कबूतरीको नीचे उडती देखता है, अपनी श्वास ओर उडनकी क्रियाको बन्दकर ऊपर आकाशस नीचे गिरता है । उसे अपनी नीचे गिरनेसे होनेवाली क्षतिका भय ही नहीं होता ।।७।।

अब हरिण, कुरगके प्रेमका उदाहरण देख । वह अपने कानाके (सगीत) स्वरसे प्रेम करता है । बहेलिया बीन बजाता उसके हृदयको सामने होकर बाणसे बेध देता है, परन्तु वह पैर पीछे नही करता, भागता नहीं । सम्मुख बाण खा लेता है ।।८।।

अब जड, मूर्ख स्त्रीके प्रेमकी बात देखो । वह प्रेतके (अपने पतिके शवके) साथ जल जाती है, चिताकी ज्वाला उसके प्रेमको फीका नहीं कर पाती, वह अपने प्रियके प्रेमके रगमें रँगी हुई जो है ।।९।।

अब चोरका उदाहरण देखे । उस लोक–वेद (शास्त्र) सब निषेध करते है कि चोरी मत करो । वह दूसरे चोरोंकी दशा अपनी ऑखो से भी देखता है कि पकडे जानेपर उनकी किस प्रकार निर्मम पिटाई होती है, किन्तु वह अपने मनसे चोरी करना नही छोडता, चाहे इस चोरीके पीछे उसका सर्वस्व ही नष्ट हो जाता है । ।।१०।।

अब विषयी, भोगी मनुष्यकी बात सुनो । वह सब रसोमे स्त्री–भोगरूपी प्रेमको ही सर्वोपरि मानता है । इसमें उसका अति भोगसे तन क्षीण हो जाता है, मन भी शिथिल हो जाता है, धन नाश होता है, साथ ही उसकी जवानी भी समाप्त हो जाती है, परन्तु विषयी विषय भोगसे हार नहीं मानता, उसे छोडता नहीं।।११।।

अरे मूर्ख ! तूने तो भगवान् श्रीकृष्णरूपी अनमोल रत्न प्राप्त किया है। सभी साधु समाज जिन श्रीकृष्णका निरन्तर गुणवर्णन करते हैं और उन्हें सर्वोत्तम धन बताते हैं, तू रात दिवस सत्सगमे उनके प्रेमकी कथाएँ भी सुनता रहता है, फिर भी तू उनसे प्रेम नहीं करके ससारमे फँसा है, इस पर भी तुझे लज्जा नहीं आती ।।

मना रे करु माधवसौं प्रीत
पत्र–प्रेषिति : श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया

भाई ! भगवान् श्रीकृष्ण, जो सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्डके ईश्वर {परम नियामक} हैं, इन्हींने श्रीहरिके रूपमे अवतार लेकर भक्तराज ध्रुवको कृतार्थ किया था । ये तेरे नित्यके सगी हैं । ये तेरे जीवके जीवत्व हैं, तेरे जीवन हैं, प्राण हैं, इनका तूने विस्मरण किया हुआ है । तुझे मैं क्या कहूँ ? ।।१३।।

वेद पुराण एव सभी स्मृतियॉ, जिनका गुणगान करती हैं, देवता और श्रेष्ठ मनुष्य सभी जिनका भजन करते हैं, अरे मूढ ! अज्ञानी !! उन्हें तू क्यो नहीं सॅभालता ? ।।१४।।

सूरदासजी कहते हैं—मैने खग {परेवा}, मृग {हरिण}, मीन {मच्छी}, पतग {भ्रमर}, सभीको सर्वत्र अच्छी प्रकार परखा है, जल–थलमे इतस्तत जितने भी जीवधारी हैं और मैं क्या कहूँ, सबके एकमात्र हितू, मित्र, प्रभु श्रीकृष्ण हैं वे सबमे परिपूर्ण भरे हैं, और सभीके प्राणोके वे ही स्वामी हैं, वे परम दयालु कृपाके सागर हैं और सबकी जीवन–मृत्यु उनके ही हाथमें हैं।।१५–१६।।

गर्भवासके समय जब जीवका एक भी अग ऑख, कान, हाथ, कुछ भी पुष्ट नहीं होता, जब जीव अतिशय पीडामें असहाय होता है, रे मूर्ख सुन ! उस समय भी तेरा वे प्राणपति श्रीकृष्ण सग नहीं छोडते ।।१७।।

जैसे तम्बोली दिन–रात सजग रहकर पानकी रक्षा करता है, उसी प्रकार जो पूर्ण सजग रहकर सदा तेरा पोषण करते रहते हैं वे तुझे दु ख भरे गर्भगृहसे बाहर निकालते हैं और माँके स्तनोमे अमृतवत् दूध देकर दुग्धपान कराते हैं ।।१८।।

जिन्होने तुझे जडसे चेतन किया है एव तीनों गुणों {सत्त्व, रज एव तम} तथा चौबीस तत्त्वों–(पॉच तन्मात्रा–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पॉंच भूत आकाश, वायु, अग्नि, जल एव पृथ्वी, दस ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियॉ तथा मन, बुद्धि, चित्त, एव अहकार) की जिन्होने रचनाकी, साथ ही पैर, हाथ, बाल, नख, नेत्र, नासिका और कान देकर तेरी सब सुरक्षाकी है, यथावसर जिन्होने तुझे भोजन, वस्त्र, बहुत प्रकार की सामग्रियॉ दी हैं, तुझे उनके ही द्वारा माता पिता भाई आदिके रूपमें नए–नए व्यक्तियोंकी पहचान मिली है । प्रभुकी कृपासे सहज ही तेरे कुटुम्बी और

सम्बन्धी बढ गये, तेरे पत्नी-पुत्र हुए, महामूर्ख ! तू जगत्में विजयी होकर अहंकारमें फूल रहा है और तेरे चित्तको अनेक कामनाओंने आकर्षित कर लिया है । तेरी सारी जवानी खाने पीने और वस्त्रादि पहननेमें ही व्यतीत हो गयी । जैसे परस्त्रीके साथ रात बितादेनेपर जब भोर होता है, तो पहचाने जाने और लोकापवादका भय होता है, उसी प्रकार तुझे वृद्धावस्था होनेपर अब अपने पुराने किये कर्मोंका पश्चात्ताप हो रहा है। सुख पाकर जैसे-जैसे तेरा शरीर सुपुष्ट होता गया, वैसे-ही-वैसे तेरे भीतर काम भी बढता गया, किन्तु वृद्धावस्थाके कारण आँखोके आगे जब अँधेरा आने लगा और नेत्रोंसे सूझ समाप्त हो गयी, इस समय तेरा कोई मित्र नहीं रहा ।।२३।।

यमराज तेरे सब कर्मोंको जान रहा है, सारे संसारमे तेरा अपना अपयश हो गया है और जब यमके दूतोने तुझे मार लगाना प्रारम्भ किया तो कोई तुझे बचाने मध्यमे नहीं आया । अरे मूर्ख ! इस कुबुद्धिके कारण तेरी बुरी मृत्यु होगी और कोई नही जान पायेगा कि तू कहाँ मृत्युको प्राप्त हुआ। अरे नीच ! तू भगवान्को विस्मृत कर सुख चाहता है ? ।।२४-२५।।

यदि अब भी तेरे हृदयमे अपने कुकर्मोंका कुछ भी परिताप नहीं है, तो तुझे सैकडों बार चेतावनी देने से भी क्या लाभ है ?

श्रीसूरदासजी कहते हैं कि अरे गँवार शठ ! तूने भगवान्का एक अंक (अक्षर) भी नहीं भजन किया, तुझे क्या कहा जाय ? ।।२६।।

# महाभाव–दिनमणि श्रीराधाबाबा

## (तृतीय खण्ड)

### (पत्राचार एवं मातृ–साधना)

### अध्याय दूसरा

पत्र–प्रेषक

**प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज**

{प. पू. श्रीराधाबाबा}

पत्र–प्राप्ति

**श्रीशिवभगवानजी फागला**

{सत्संग–सुधा माला}

प्रेषण–स्थल
पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
की हवेली
ग्राम पो. रतनगढ
{बीकानेर राज्य}
प्रेषणकाल
ई. सन् १९४१ से १९४३ तक

प्राप्ति–सूत्र
श्री शिवकिसनजी डागा
के पत्र–संग्रहसे
श्रीमुकुन्दजी गोस्वामी
द्वारा की गयी प्रतिलिपि

# सार–संक्षेप

मन जब भगवान्मे स्थिर हो जाता है, तब ऐसा विलक्षण, नित्य सुख मिलता है कि फिर वह कभी मिटता नहीं । वह आनन्द नित्य है, उसे प्राप्तकर जीव निहाल हो जाता है ।

x x x x

विषय–वासनाओंसे अपने मनको जब धुंधकारी हमने ही बनाया है, तो इसे सुधारना हमे ही पडेगा । जब संसारके अनर्थयुक्त सारे लंद–फंद हम कर सकते हैं, तो साधनागत थोडा सा अभ्यास हमसे नहीं होता, इसका अर्थ ही है, हमारे मनने अभी भगवान्की सत्ताको महत्त्व ही नहीं दिया है ।

x x x x

यहाँ घड़ी दिख रही है, परन्तु यह सर्वथा नितान्त सत्य है कि श्रीकृष्ण ही अपनी मायासे घडी रूपमें दिख रहे है, घडीके स्थान पर हैं- साक्षात् श्रीकृष्ण ही । परन्तु जबतक हमारी घड़ीकी वासना नहीं मिटेगी तब तक श्रीकृष्ण घड़ी ही बने रहेंगे ।

x x x x

दुकान, मकान, कोठी, गदीकी जगह यदि हम श्रीकृष्णके उन कुजोंको याद कर सके, जो एक से बढ़कर एक सुन्दर हैं, जिनकी सुन्दरताकी छायाको सृष्टिकी समग्र सुन्दरता छू नही सकती, उन निकुंजोके चिन्तनसे हम स्वय तो शान्ति पावेगे ही अपने आस- पास सम्पर्क में आये सभीको शान्ति दे सकेगे ।

x x x x

संसारकी दृष्टिसे सर्वथा निकम्मा हुए बिना परमार्थका रास्ता तय नहीं हो सकता ।

x x x x

मनमें भी चिन्तन–मननके रूपमे जो कुछ आ र॰ है, वह सब मात्र श्रीकृष्ण हैं, परन्तु इसे प्रत्यक्ष तभी किया जा सकता , जब हमारी चाह मायिक नहीं होकर मात्र भगवान्की हो ।

।।श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र सख्या–९

# आपका मन जहाँ है, वहीं आप हैं

रतनगढ
३ मार्च १९४१ ई

श्रीशिवभगवानजी फोगला, राधाकृष्णौ वन्दे ।
(पू.श्रीस्वामीजी चक्रधरजी महाराजने यह पत्र लिखाया है)

आप पर भगवान् श्रीकृष्णकी हेतुरहित अपार अनन्त कृपा है । आपको श्रीसेठजी (जयदयालजी गोयन्दका) एव श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे **महापुरुषोका दुर्लभ संग मिला है, उनकी** आत्मीयता प्राप्त हुई है, और आपके मनमे **इनसे सत्संग प्राप्त करनेकी इच्छा भी** जाग्रत हुई है । असीम भगवत्कृपा बिना यह **सब होना सभव नही है।**

**भक्त बालक ध्रुव भगवान्से प्रार्थना** करते हैं – "मुझे आप उन निर्मलहृदय महात्मा भक्तोका सग दीजिये जिनका आपमे अविच्छिन्न भक्तिभाव है । उनके सगमे रहकर मैं आपके गुणो, आपकी लीलाओकी कथा– सुधाका पान करके उन्मत्त होजाऊँगा·और सहज ही विविध भाँतिके दु खोसे पूर्ण भयकर ससार–सागरके उस पार पहुँच जाऊँगा ।"

भक्तराज प्रह्लादजीकी भी ऐसी ही भगवान्से कामना है । वे कहते हैं – "मैं ब्रह्मलोक तककी आयु, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, और इन्द्रियभोग सर्वथा नहीं चाहता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि अनन्त शक्तिशाली कालका रूप धारण करके आपने उन सभीको ग्रस रखा है । अत मुझे तो आप अपने दासोकी सन्निधि प्रदान कर दीजिये, जिससे मैं आपकी लीला–कथाओका पान करता हुआ आपके भक्ति रसमे आपाततः डूबा रहूँ ।

कहनेका इतना ही मन्तव्य है कि जिन महापुरुषोकी सन्निधिकी कामना भक्तराज प्रह्लाद एव भक्तबालक ध्रुव करते हैं, उन सच्चे सिद्ध सन्तोकी सन्निधि एव आत्मीयता आपको सहज ही प्राप्त है, ऐसी महान् भगवत्कृपाके आप सहज ही भाजन हैं । कठिनाई यही है कि इसके उपरान्त भी आपका मन इन सन्तोकी सीखको महत्व नहीं देता ।

इसे निश्चय ही सत्य मान लीजिये कि आपका मन जहाँ है, वहीं आप हैं।

## आपका मन जहां है, वहीं आप हैं
पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

इस बातको गॉंठमे बॉंध ले । श्रीभाईजीके पास रतनगढमे अथवा स्वर्गाश्रममें बैठे हुए आप यदि कलकत्तेके व्यापारका, वहॉंकी दूकानका चिन्तन करते हैं, अथवा तार-चिट्ठीसे व्यापारमे उलझे हैं तो आप असलमे कलकत्तेमें ही हैं । इसी प्रकार यदि आपका शरीर कहीं भी हो और आपका मन शरीरको छोडकर दिव्य वृन्दावन-धामकी लीलामे है, तो आप वृन्दावन धाममे ही हैं । प्रारब्ध पूरा होने पर शरीर गिर जायगा और आप सदाके लिये उसी लीलामे सम्मिलित हो जावेगे। सब कुछ आपकी इच्छा और आपके मन पर निर्भर है । शिवभगवान्‌जी ! इस अटूट सिद्धान्तको मानकर साधनामे लगे रहनेसे ही उन्नति सभव है ।

आपके मनकी दशाका तो मुझे ज्ञान है नहीं, किन्तु मेरा यह सुदृढ विश्वास है कि जिस दिन आप या कोई भी यथार्थमें चाहने लगेगा कि मेरा मन व्रजलीलामें फॅंस जाय, उसी क्षण अपने-आप आपको, मनको अन्यत्र प्रमादसे रोकनेकी और भगवान् तथा भगवान्‌की मधुरतम रसमयी लीलाओमे लगानेकी नयी-नयी युक्तियॉं सूझने लगेंगी । आप स्वय अपने मनको कैसे-क्या करे, यह सब समझ जावेगे । उत्कट चाह होने पर सारी राहे अपने-आप ज्ञात हो जाती हैं। क्योंकि आपके अन्त करणमे अन्तर्यामी प्रभु निरन्तर अविच्छिन्न निवास करते हैं। ये सभी युक्तियॉं अभी नहीं उपजतीं, इसमें प्रधान कारण चाहमें कमी ही है । अभी भगवान्‌की, व्रजभावकी चाह अति क्षीण है। उत्कट चाह होने पर चाहकी पूर्तिके लिये व्याकुलता अवश्यभावी है । जिस सीमातक व्याकुलता अपेक्षित है, वह नहीं होनेके कारण ही प्रमाद बना है । यह अवश्य है कि कभी-कभी सोडावाटरके उफानकी तरह चित्त व्रजरसकी बातें सुनना चाहता है, फिर ठडा पडकर पुन ससारमे रच-पच जाता है ।

उदाहरणके रूपमें देखे-यहॉं घडी दीख रही है, परन्तु यह बिलकुल सत्य बात है कि इस घड़ीकी जगह श्रीकृष्ण हैं । अब जबतक आप घडी देखनेकी वासना नहीं मिटायेंगे तबतक श्रीकृष्ण कैसे दीख सकते हैं ? मन तो एक है और वह एक ही काम करेगा - चाहे घडीको देखे चाहे श्रीकृष्णको । श्रीकृष्णको देखने पर घडी नहीं दीखेगी और घडीको देखने पर श्रीकृष्ण नहीं दीखेंगे । इसी प्रकार मनसे या तो जगत्‌का चिन्तन होगा या श्रीकृष्णका । यहॉं जिस किसी पदार्थकी सत्ता है, जिसका चिन्तन आपका मन करता है, वे सभी पदार्थ भगवान्‌की मायाकी रचना हैं । यह सब उनकी लीला है । उनकी लीला भी दो प्रकार की हैं । एक अविद्या, मायामयी लीला और दूसरी चिन्मयी लीला । जबतक हम, आप या कोई भी इस मायामयी लीलाको छोडकर उनकी उस दिव्य चिन्मयी लीलामें मन नहीं ले

## आपका मन जहाँ है, वहीं आप है

पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

जायेगे, तबतक यह मायामयी लीला आपको उलझाये ही रखेगी । इसमे दूसरेका कही कोई वश नही है । आप कहे कि हमसे ऐसा होता नहीं है–इसका सीधा –स्पष्ट उत्तर है कि आपके मनकी अभी चाह इस नाशमान, दुखपूर्ण क्षणभगुर मिथ्या, मायाको छोडकर उस परम दिव्य शाश्वत सुखमयी लीलामे जानेकी नही है।

जहाँ चाह है, वही राह है । वास्तवमे यदि आप चाहते हैं तो आपको यह करना ही पडेगा । मनकी बदमाशी तो मिटानी ही पडेगी । चाहे शीघ्रातिशीघ्र अथवा धीरे–धीरे । आप विचार कर, मन तो जैसे आज बदमाशी कर रहा है, वह मरते समय और भी अधिक बदमाशी कर सकता है और इसका भी क्या भरोसा कि पता नही मन कब किसके सग फॅसकर किस रगमे रॅग जाय । अनादि कालसे उस पर चढे रगोके ही कारण तो हमारी वर्त्तमानमे गयी–बीती दशा है । अत मृत्युके पहले ही मनकी बदमाशीको पूरी तरह मिटा दे ।

प्रारभमे कठिनाई होती है, परन्तु ऐसी-ऐसी युक्तियॉ है कि जिनके करने से मन वशमे होता ही है । आप करना चाहे तो मै एक युक्ति बतलाता हूँ । परन्तु होगा सब करनेसे ही । मानले आप 'हरे राम' महामन्त्रका जाप करते हैं इसका जपते रहे परन्तु प्रत्येक मन्त्रके उच्चारणके बाद एक बार आप ध्यान करे कि श्रीप्रिया–प्रियतम एक वृक्षके नीचे खडे हैं ।

मानलो आप देसमे रतनगढ ग्राममे हैं । अब सायकाल किसी एकान्त रेतके टीबे पर चले गये । टीबे पर बैठकर देखिये–एक सडक है अत्यन्त सुन्दर वृक्ष लगे हैं । अब प्रत्येक वृक्ष ही वृक्ष लगे हैं । अब प्रत्येक वृक्षके नीचे आप एकबार श्रीकृष्ण एव श्रीराधारानीको देखिये । मालाके मनके फेरते जाइये । इस प्रकार तीन माला अर्थात् वृक्षोके नीचे ३०० बार श्री प्रिया–प्रियतमको देखकर दिव्य चिन्तन कीजिये । परन्तु आपका निश्चय इतना सुदृढ हो कि यह करना ही है । यदि एकमात्र यह अभ्यास ही सुपुष्ट होगया और कहीं १६ माला 'हरे राम' षोडश नाम महामन्त्रकी हो गयी तो आगे मनको टिकानेमें बहुत सुविधा हो जायगी ।

युक्तियॉं तो अनेक हैं परन्तु पहले आप एक इसी युक्तिसे करना प्रारभ करें । आगेकी युक्तियाँ भी पीछे बतायी जा सकती हैं ।

नामजपका जो नियम चल रहा है, वह खूब कडाईसे पालन करे। घरमे सबको यथायोग्य । आज इतना ही ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–१०

# व्रज–सम्बन्धी पाँच हजार वस्तुओंका ध्यान करें

रतनगढ़
ता. १५–३–१९४१ ई

प्रिय श्रीशिवभगवानजी फोगला, मोतीलाल पारीकके यथायोग्य
(पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराजने लिखाया है)

आपका पत्र मिला। आप तत्परतापूर्वक चिन्मय दिव्य लीलाभावना करते हैं एवं कलकत्तेमें गंगाके किनारे प्रातः–सायं बैठकर गंगाजीमें दिव्य चिन्मय यमुनाकी भावना करते हैं, सो उत्तम बात है।

आप षोड़श नाम महामंत्रकी बत्तीस मालाका नियम अनवरत पालन कर रहे हैं, वह करते रहें, किन्तु लगातार तीन–चार घण्टे बैठकर ब्रज– सम्बन्धी पाँच हजार चीजोंको अवश्य याद करें। चाहे मन कितनी ही बदमाशी करे, एक–एक, दो–दो सैकिण्डके लिये ही सही, इन पाँच हजार ब्रज-भाव सम्बन्धी वस्तुओंको अवश्य स्मरण करें। इसके लिए एक किताब बनाकर अपने पास रख लेनी चाहिये। साथ ही एक–दो–तीन ऐसे अंक लगाकर, जैसे पाठ किया जाता है, वैसे एक–एक चीजको पढ़ते जाना चाहिये। इन सभी वस्तुओंका चाहे एक एक सेकिण्डके लिये ही सही, मनमें चित्र बाँधते जाना चाहिये। जिह्वासे भगवन्नाम महामंत्रका जाप तो होता ही रहे। होता यह है कि मन भागने लगता है, परन्तु यदि नियमपालनमें कठोरता एवं दृढ़ता रही और वर्षभर भी दृढ़तापूर्वक नियम पालन किया तो नियमके कारण अभ्यासवश मनको ठीक उसी समय प्रतिदिन इन पाँच हजार वस्तुओं और स्थानों पर आकर क्षणभरके लिये ही सही, ठहरना ही पड़ेगा। पर बिना नागा इस नियमको निबाहनेसे ही सफलता मिलेगी। हाजिरी, मुलाहिजा, शिष्टाचारके फेरमें पड़नेसे तो कोई नियम सध नहीं सकता।

**व्रज–सम्बन्धी पाँच हजार वस्तुओंका ध्यान करे**
**पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला**

---

आपने लिखा कि पॉच हजार वस्तुओकी सूची मै बना दूँ, सो पहले आप यह पूर्व–पत्रमे लिखा तीन माला वाला नियम तो आज या कलसे प्रारभ कर ही दे और इसे खूब कड़ाईसे बिना नागा पालन करें ।

शिवभगवानजी ! विषयोमें सर्वथा सर्वांशमे सुख नहीं है, फिर यह सुखकी भ्रान्ति भी क्यो होती है, इसका रहस्य मैं आपसे निवेदन करता हूँ । मानले, खूब जोरसे भूख लगी है, अब भोजनके समय बहुत आनन्द मिलता है। वस्तुत यह जो आनन्द मिलता है वह भोजनकी वस्तुओंसे सर्वथा नही मिल रहा, वह मिलता है भगवान्‌से, जो हमारे अन्त करणमे बैठे हैं। होता यह है कि मनमे जब अति उत्कट इच्छा होती है कि कुछ भोजन मिले तो जब इस इच्छाकी पूर्ति होती है तो कुछ देरके लिये मनकी चचलता मिट जाती है। अब तक जो मन भोजनके लिये व्याकुलतावश चचल था, अब भोजन पाकर शान्त स्थिर हो जाता है । स्थिर मन पर आत्माका सुख प्रतिबिम्बित होने लगता है । बस, मनुष्यको आनन्दका अनुभव होने लगता है । वास्तवमे आनन्द जो आया है, यह भोजनसे नहीं– परमात्माके आनन्दकी छाया मन पर पडी है, इससे अनुभव हुआ है ।

इसी बातको सभी विषयोके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये । किसी भी विषयकी इच्छा हुई और जब वह इच्छा पूर्ण होने लगती है, तब उतनी देरके लिये मन स्थिर हो जाता है । मन स्थिर होते ही आत्माकी छाया उस पर पडने लगती है, मनुष्य मूर्खतावश मान लेता है कि अमुक विषयसे मुझे सुख मिला । अवश्य ही इस बात पर विश्वास होना कठिन है, परन्तु सत्य यही है कि ससारमे जितना भी सुख किसीको भी यदि कभी मिला था, मिलेगा अथवा मिल रहा है, सब घन आनन्द–स्वरूप परमात्मासे ही प्राप्त होता है ।

इसीलिये शिवभगवानजी, मनको स्थिर करनेकी आवश्यकता है । यही मन जब भगवानमें स्थिर हो जाता है, तब तो ऐसा विलक्षण नित्य सुख मिलता है कि फिर वह कभी मिटता ही नही । वह आनन्द नित्य है, उसे प्राप्त कर जीव निहाल हो जाता है । इसलिये मैंने जो आपको उपाय पूर्व पत्रमे लिखा है, वह प्रतिदिन अवश्य करे । लीलामे मन लगानेमें कोई परिश्रम नहीं है, परन्तु यदि कोई कहे कि हमसे नहीं होता, इसका मेरे पास कोई उत्तर नही है ।

जब ससारके सारे अर्थजन्य लद–फद आप कर सकते हैं, और यह साधारण सा अभ्यास आपसे नहीं होता, इसका अर्थ ही है कि आपके मनने अभी भगवान्‌की सत्ता और साधनाको महत्व ही नहीं दिया है । विषय वासनाओसे अपने मनको जब धुधकारी हमने ही बनाया है तो इसे सुधारना हमें ही पडेगा।

सेठजी ( श्रीजयदयालजी गोयन्दका ) एव भाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी

पोद्दार ) सचमुचमे ही भगवत्कोटिके बहुत ही उच्च महापुरुष है, परन्तु शास्त्र कहते हैं कि भगवानमें मन लगाये बिना तो ससार–सागरसे पार होना असभव ही है ।

> वारि मथे घृत होउ बरु सिकताते बरु तेल ।
> बिनु हरि–भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल ।।

मेरा तो इतना ही नम्र निवेदन है कि भजन करिये । नाम-जपके समान सारे कलिमलको तुरन्त धोनेका साधन मेरी दृष्टिमे अन्य कोई नहीं । सन्त सब कुछ कर सकते हैं, परन्तु वे हमारे आधीन तो हैं नही । वे तो भगवान्के हाथके यत्र हैं और भगवान्के मनसे वे मनवाले हैं । वे एक क्षणमें सहज ही सारे ससारका कल्याण कर सकते हैं, परन्तु उनकी सामर्थ्य हमारे प्रयोजनमे कब आयेगी, इसका क्या भरोसा ? नाम–भगवान् तो हम पर अभी कृपा करनेको तत्पर खड़े हैं । अतः उनका सत्कार करिये और सब प्रमाद त्यागकर नामरसमें डूब जाइये ।

आज इतना ही । शेष दूसरे किसी दिन लिखूँगा ।

राधा राधा राधा राधा

। । श्रीराधाकृष्णौ वन्दे । ।
पत्र संख्या–११

# जपके साथ लीलाओंका ध्यान करें

रतनगढ
तिथि अज्ञात

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधास्मरण । (पू. श्रीस्वामीजीने लिखाया है) अनादिकालसे विषयोंके सस्कार मनमे हैं । इसीसे विषयाकी इच्छा बरबस मनको झकझोरती है। प्रत्येक विषयकी कामनाके साथ ही मन उसकी पूर्त्तिके लिये व्याकुल हो उठता है। पूर्ति हुई, व्याकुलता मिटती है, परन्तु वह थोडी ही देरके लिये मिट पाती है । बात यह है कि मन तो एक दर्पण की तरह है । जैसे हिलते हुए दर्पणमे मुख नही दिखाता, स्थिर होने पर दीखने लग जाता है, वैसे ही चचल मनमें आत्माका सुख प्रतिबिम्बित नही होता । विषय कामनाकी पूर्त्ति होने पर मात्र थोडेस कालके लिये मन–दर्पण हिलना स्थगित करता है, जब वह शान्त होता है तो उस पर आत्माका प्रतिबिम्ब पडता है । परन्तु कुछ ही क्षणके बाद दर्पण पुन हिलने लगता है। इसी तरह विषयकी पूर्ति, सुख, फिर विषयेच्छा, फिर व्याकुलता यह चक्कर चलता ही रहता है । असलमे मन दर्पण पर आत्माकी मात्र छाया ही पड़ती है, अत सुखकी भी छाया ही जीवको मिलती है असली सुख नही । असली सुख–स्वरूप तो वह स्वय आत्मवस्तु है जिसकी छाया जीवके मन–दर्पण पर पडती है । यह परम वस्तु है स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ।

अत अपने मनका लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्णको ही बनाना चाहिये । मनमे ससार और विषय तो पहलेसे ही पूरे भरे हुए हैं । अब इन्हें और अधिक भरनेसे लाभ ही क्या है ? यह नया मैल ही तो और बढेगा । इन दुकान मकान–कोठी–गद्दीकी जगह यदि श्रीकृष्णके उन कुजोको याद कर सके, जो एक–से–एक बढकर सुन्दर हैं, जिनकी सुन्दरताकी छायाको भी ससारके सुन्दर से–सुन्दर बगीचे नहीं छू सकते, उन निकुजोमें आप मन फॅसायें तो कितना लाभ हो । उस अवस्थामें आप स्वय तो शान्ति पावेगे ही, अपने पास रहनेवालोंको भी शान्ति दे सकेंगे।

इसके लिये लीला-वस्तुओके पाठका नियम लेकर साधना करनी पडती है।

## जपके साथ लीलाओंका ध्यान करें
### पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

एक वाक्य पढा और फिर उस चीजका एक सैकिण्ड मनमे चित्र बाँधकर देख लिया। फिर दूसरा वाक्य पढा, उस वस्तुका चित्र बॉधकर देख लिया। यह पाठ जिस दिन पॉच हजार वस्तुओंका लगातार पूरा हुआ कि लगातार छः घण्टे लीलाका ध्यान हो जायगा। जैसे –

१ राधाकुण्डका जल चमचमा रहा है।
२. कुण्डपर कमलके फूल हैं।
३. कमलके पत्ते हरे-हरे चौडे हैं।
४ नीले-लाल-उजले-तीन तरहके कमल हैं।
५ कमलके फूलों पर काले-काले भौंरे मॅडरा रहे हैं।
६ पवनके कारण कमलकी डडी हिल रही है।
७ कमलके फूलके पास एक हस बैठा है।
८ हंस उजले रगका है।
६ हंस बोल रहा है।
१०. राधाकुण्ड बहुत लम्बा-चौड़ा है।
११ पूर्वकी ओर करीब एक फर्लांग लम्बा है।

इस प्रकार प्रतिदिन नियम करना चाहिये, आनन्द आये या नही आये। मनकी बदमाशीसे कभी-कभी जी ऊबेगा। परन्तु तुले रहने पर मन फिर लगने लगेगा।

और भी युक्तियॉ हैं, जैसे भागवतका पाठ करना है। पाठ करते समय निश्चय कर लीजिये कि प्रत्येक श्लोक पर एकबार प्रिया-प्रियतमकी छविका चित्र मन पर अकित करना ही है। जब एक बार प्रिया प्रियतमकी छबिका चित्र बॅध जाय, तब आगे दूसरा श्लोक पढना प्रारभ करेगे। इस प्रकार यदि बारह अध्याय पाठका नियम हो तो तीन घण्टे ध्यान हो जायगा। परन्तु होगा लगनसे करने पर ही।

आपने लिखा कि जितनी लगन व्यापारकी उलझनोमे होती है उसका एक प्रतिशत भी प्रिया-प्रियतमके चिन्तनमे नहीं होती। सो लगनके लिये, तत्परताके लिए भगवान्‌से प्रार्थना ही मात्र उपाय है।

नीद खुलते ही हृदयसे श्रीप्रियाप्रियतमसे निवेदन करें कि अब जीवन आपके हाथमे है और फिर एक रूमाल बराबर पास रखें, उसमें गॉठ बॉध दे। गॉठ देते समय यह पद गाते रहें –

नदलाल सौं मेरो मन मान्यौ, कहा करैगो कोयरी।
हौं तो चरन कमल लिपटानी, होनी होय सो होयरी।।

गृहपति मात पिता मोहि त्रासत, हँसत बटाऊ लोगरी ।
अब तो जिय ऐसी बनि आई, विधना रच्यौ सयोगरी ।।
जो मेरो यह लोक जायगो अरु परलोक नसाय री ।
नदनदनकौं तऊ न छोंडौं मिलूँगी निसान बजायरी ।।
यह तनु धरि बहुरौ नहि पैये बल्लभ वेष मुरार री ।
परमानन्द स्वामीके ऊपर सरबस डारौं वार री ।।

यह परमानदजी का पद पढकर रूमालमे बँधी गॉठ पर ध्यान रहे । अब जहॉ जाये, कही बैठें, रूमालको सामने रखे रहे । बार–बार निश्चय दृढ करते रहें, हम यही करना है । चाहे सारा ससार जल जाय, हमारा सबकुछ नष्ट होजाय, परन्तु हमें प्रियाप्रियतमको रिझानका बस यह एक ही काम करना है । दिन भर वह गाँठ सामने रहे, प्रातकाल फिर उठकर उसे खोले। खोलकर पदगान करते हुए गॉठ बॉध दे । इससे बडी सहायता मिलती है। किसीको पता भी नही चलता कि गाँठ किसलिये है । रूमाल है, किसी कामके लिये गॉठ दी होगी अथवा कोई चीज बॉधी हुई होगी – लोग यही समझेगे । परन्तु वह रूमाल अपने हाथमें रहे अथवा सदा सामने पडा रहे। जहॉ गये हाथमें लेकर बैठे रहे। इससे प्रियतम श्रीकृष्णसे आप घुलमिल जायेगे ।

*जब मैं था तब हरि नही, अब हरि हैं, मैं नाहि ।*
*प्रेम गली अति साँकरी ता में द्वै न समाहिं ।।*
*प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।*
*राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय ।।*
*कबिरा खडा बजारमें लिये लुकाठी हाथ ।*
*जो घर फूँकै आपनो चलै हमारे साथ ।।*
*प्रेम पथ अतिही विकट, देखत भाजैं लोग ।*
*कोउक बिरले चलि सकैं जिन त्यागे सब भोग ।।*

शिवभगवानजी ! ससारकी दृष्टिसे बिलकुल निकम्मा हो जाना पडता है, तब परमार्थका रास्ता तय होता है । एक दिन तो सब छूटेगा ही, फिर इससे बडी मूर्खता क्या होगी कि हम ऐसे नश्वर पदार्थोंके पीछे अनमोल मानवजन्म व्यर्थ खो दे । पर खो रह ही हैं । विषय अनादिकालसे मनमें धँसे हुए हैं । अनादिकालसे लिये जारहे अनन्त जन्मोमे मन एक बार भी भगवान्में नहीं फॅसा। नही तो अबतक कबके विषय स्वाहा होगये होते। श्रीललितकिशोरी पहले करोडपति थे । परन्तु जब वैराग्य हुआ और प्रिया–प्रियतमका रग चढा तब उन्होंने गाया -

जपके साथ लीलाओंका ध्यान करे

पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

बन बन फिरना बेहतर हमको, रतन भवन नहि भावै है ।
लता तरे पड़ रहनेमें सुख नाहिन सेज सुहावै है ।।

श्री नारायणस्वामी तो कहते हैं –

*जाहि लगन लगी घनश्याम की ।*
धरत कहूँ पग परत कितैहू, भूलि जाय सुधि धामकी ।।
छबि निहार नही रहत सार कछु, निसि दिन पल–छिन–जामकी ।
जित मुँह उठै तितै ही धावै, सुरति न छाया–घाम की ।।
अस्तुति निंदा करो भले ही, मेंड तजी कुल–ग्राम की ।
नारायन बौरी भई डोलै, रही न काहू कामकी ।।

शिवभगवान जी ! इन सबको जीवनमें उतारनेसे काम बनता है । बातें करनेसे नहीं । हम, आप दिन रात ससार मे रचे–पचे हैं । ससारमें तनिक भी खरौंच नही लगे और हलुवेकी तरह भगवान् और प्रिया–प्रियतमकी प्रीतिको गटक लेना चाहते हैं, सो वर्त्तमानमें तो ऐसा होना लगता नहीं है ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–१२

# भगवान् सर्वत्र हैं

श्री शिवभगवानजी फोगला ! रतनगढ़
७–४–४१

आपका पत्र मिला । श्रीभाईजीका स्वास्थ्य इधर कुछ ठीक नहीं है। मरसेकी तकलीफ रहती है । उन्होने आपका पत्र पढ लिया है ।

मेरा तो यह सुदृढ मत है कि मनसे एक ही काम होगा । भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन अथवा विषयोका चिन्तन । आपको विश्वास कैसे करादूँ ? परन्तु यदि किसीका शास्त्रो पर विश्वास हो तो वह भली प्रकार मान सकता है कि भगवान् सर्वत्र हैं । "भगवान् सर्वत्र हैं" – इस सिद्धान्तसे प्राय सभी शास्त्र भरे पडे हैं । भक्तराज प्रह्लादजीके लिये वे भगवान खभेमे से निकल पडे । यदि कोई सच्चा विश्वासी भक्त हो तो आज भी भगवान् श्रीकृष्ण अपने मुरली–मनोहर रूपमे खभेसे निकल सकते हैं । आपके कलकत्तेकी गद्दी अथवा रतनगढकी हवेलीके प्रत्येक खभेमे श्रीकृष्ण हैं, परन्तु जबतक मै अथवा आप खभेमे, मकानमे, गद्दीमे मन फँसाये रखेंगे, तबतक श्रीकृष्ण क्यों आने लगे ? वे तो चाहने वालेके सामने आते हैं । आप या कोई भी जब कहता है कि "हे भगवान् ! मकान नही छूटे, धन नही छूटे, रुपये–पैसे, पुत्र-परिवार बने रहे, बढते रहें"–तो श्रीकृष्ण कहते हैं "यह मुझसे मेरे श्रीकृष्ण रूपमें प्रेम नहीं करता, यह तो मेरा मायावी क्षणभगुर रूप धन, पुत्र, मकानको चाहता है, तब मै अपने असली रूपमें क्यों आऊँ ?"

साराश यही है कि भगवान् श्रीकृष्णको कहीं अन्यत्र ढूँढने जानेकी आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है मनसे सब कुछ निकालकर उनमे मन फँसा देनेकी । फिर जो भी यथार्थ वस्तु है, वह सामने आ ही जायेगी–ससारमें जो कुछ भी देखने -सुननेमे अथवा मनसे भी चिन्तन–मननके रूपमें आरहा है – सब श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं, दूसरी वस्तु है ही नहीं, परन्तु इसे प्रत्यक्ष तभी किया जा सकता है, जब हमारी चाह मायिक ससारसे सर्वथा हटकर भगवान्के प्रति होजाय ।

ऐसा होते ही तो भगवान् प्रत्यक्ष हो जायेगे और आप निहाल हो जावेगे। श्रीगोपीजनोंकी यही दृष्टि थी । उन्हें भगवान्की एकागी चाह थी अत उनकी

जहाँ दृष्टि पडती थी, वहीं श्रीकृष्ण उन्हे प्रत्यक्ष होजाते थ ।

जहाँ तक हमारा एव आपका सवाल है सर्वथा ही अधेरखाता है । हम गीताका पाठ करते हैं, परन्तु उसके श्लोको पर विश्वास नही । विश्वास होना भी कठिन है, क्योकि हमारी जब चाह ही ससार है, भगवान्‌के स्थान पर दिन–रात भोगोंको प्राप्त करनेकी लगन लगी है, तब चाह हो भी कैसे ? मनमे परिताप एव जलन होती, तब तो भगवान्‌के सम्मुख प्रार्थना भी निकलती । भगवान्‌के सम्मुख तो हम रो रहे हैं ससार जनित बढोतरीके लिये । ससार बना रहे, वह नष्ट नहीं हो, इसकी चिन्ता हमें दिन -रात घेरे रहती है । तब भगवान्‌के लिये रोना भी कैसे हो ? भगवान्‌के भजन–ध्यानकी बात सुननेपर केवल मुखसे भलेही कोई कहे–"अच्छी बात है ।" परन्तु भीतरसे वह उन बातोको अपने लिये फालतू और बेकार ही समझता है। अधिकाश तो भगवान्‌को झूठ ही समझते हैं । नहीं तो, विषय नहीं छूटने पर मन चौबीसो घण्टे रोता रहे।

देखिये ! आप, हम, सभी इस बातका अनुभव करते हैं कि ज्योंही हम भगवान्‌से हटते हैं, हमारी अशान्ति बढ जाती है । एक बार ही नही, करके देखलें, बार–बार यही बात होगी । ससारमे लगते ही घोर अशान्ति, चिन्ता, दु:ख एव कामनाओकी ज्वालासे हम घिर जाते हैं । पर फिर भी जैसे कुत्तेकी पूँछ सीधी होती ही नहीं, वैसे ही हम विषयोके मैलेसे निकलना ही नही चाहते। वस्तुत हम सभीकी बड़ी ही दयनीय स्थिति है ।

अभी तो हमारी इन्द्रियाँ क्रियाशील हैं, थोडी–बहुत साधना हमसे हो सकती है – सफलता भी मिल सकती है । मानले कुछ भी सफलता नहीं मिले फिर भी रातको सोते समय मनमे यह अपूर्व शान्ति तो रहेगी ही कि हमने भगवान्‌में मन लगानेकी आज दिनभर इतनी चेष्टा तो कर ली ।

इसीलिये जपमे सख्या रखनेकी बात कही जाती है । आप करके देखें – जिस दिन भी बीस माला जपते हुए ध्यानकी चेष्टा होगी, उस दिन मन सात्विक आनदसे भर जायगा कि आज मैंने श्रीप्रिया–प्रियतमको दो-हजार बार याद करनेकी चेष्टा तो की । कमसेकम पन्द्रह सौ बार स्मरण तो हुआ ही होगा। "ओह ! पन्द्रह सौ बार आज भगवान् याद आये ।" बस, यह सख्या आनन्दमें डुबो देगी । फिर सख्या बढेगी । जिस दिन पाँच–हजार बार या अधिक सफल चेष्टा होगयी तब तो और भी आनन्द आयेगा । आप जाँच करके देख लीजिये। सचमुच बहुत ही आनन्द आयेगा। परन्तु होगा सब कुछ मात्र जैसे बताया है, उस प्रकार करनेसे । मालाका नाम–जपके साथ एक मनका गिरा कि उसके साथ–ही–साथ भगवान्‌के ध्यानकी एक झाँकी चित्तमे बाँधनेकी चेष्टा हुई । इस प्रकार एक माला

पूरी होते ही मनमें यह स्फुरणा होगी कि "सौ बार भगवान्‌के स्मरणकी चेष्टा हुई अच्छा, बीस बार ठीक नहीं हुई होगी, अस्सी बार तो ठीक हुई ही होगी । अहा, कितना आनन्द है, कितने सौभाग्यकी बात है – मुझे अस्सी बार श्यामसुन्दर और राधारानी याद आये । नहीं, नहीं, आज अस्सी बार प्रिया-प्रियतम मेरे मनमें आ गये ।" इस प्रकार प्रत्येक माला आपके जीवन को उत्तरोत्तर आनन्दसे भर देगी। पर यह बात होगी लगनसे करने पर तथा विषयोको भस्म कर डालनेकी दृढ़ धारणा करके चलने पर ।

शिवभगवान जी ! केवल बातोसे कुछ नहीं होता । पथ चलकर ही पूरा किया जा सकता है । भांईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) एव सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) जैसे व्यक्ति भी अपनी यात्रा चलकर ही पूरा किये हैं । हम जहॉ है, जो भी हमारी स्थिति है, वहींसे हम सभीको उठना है और भगवत्कृपाका आश्रय लेकर कदम आगे बढाने पर ही लक्ष्य हमारे सामने आवेगा। और क्या कहूँ ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र सख्या–१३

# अपने तो मात्र भगवान् हैं

रतनगढ़

प्रिय श्रीशिवभगवान जी ! ता. २०–४–४१

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे ।

आपका पत्र मिला । आपने मेरे बारेमें कुछ व्यक्तिगत प्रश्न किये, उनका उत्तर आपको क्या दूँ । मैं अपने बारेमे अधिकाशत सोचता ही नही हूँ। कभी–कभी लोग पूछते हैं कि आपका स्वास्थ्य कैसा है ? कभी–कभी भाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) भी पूछ बैठते हैं – "बाबा ! आप स्वस्थ हैं न ?" तब मनमे आता है 'स्वस्थका क्या' अर्थ है ? फिर सोचता हूँ , व्याकरणके अनुसार तो 'स्व' 'स्थ' अर्थात् जो 'स्व' में स्थित हो, वह स्वस्थ है। फिर सोचता हूँ मेरे 'स्व' कौन हैं ? मेरे अपनेके अपने तो श्रीकृष्ण हैं । दूसरी श्रीराधारानी हैं । और कौन हैं ? मन उत्तर देता है–श्रीगोपीजन हैं, और कौन है ? श्रीनित्य- दिव्य वृन्दावन धाम है । और भी अनेक बातें मनमे लहरकी तरह उठती हैं । सब बाते तो मैं किसीको भी बता ही नहीं सकता। परन्तु इन्हीं बातो पर आप भी विचार करें तो आपको ठीक लगेगा कि इन चारोके सिवा और कोई भी वस्तु आपकी भी नहीं है । जो आपकी है, वह मरनेके बाद भी आपकी रहनी चाहिये । यहाँके तो धन, पुत्र स्त्री, पद, गौरव–सभी यहीं छूट जायेंगे, यहाँ तक कि शरीर भी छूट जायगा। ये वस्तुएँ आपकी तो हैं नहीं । किन्तु श्रीकृष्ण, राधारानी, गोपीजन एव वृन्दावनधाम–इन चारोको देखिये – श्रीश्यामसुन्दर कभी नहीं छूटेंगे, राधारानी कभी नहीं छूटेगी, श्रीगोपीजन कभी नहीं छूटेगे, वृन्दावन भी कभी नहीं छूटेगा । ये नित्य हमारे साथ रहते हैं । इनका कभी विनाश, वियोग होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं । वे बार–बार हमारे मनमें आते हैं, यह इनकी हम पर अपार दया है । परन्तु जब हम इन्हें पराया मानकर छोड देते हैं और सर्वथा परायी मायाजनित वस्तुओको अपनी मान इनके स्थान पर उनकी चिन्ता करते हैं तब फिर ये छिप जाते हैं । ये सोचते हैं – अच्छी बात है, भाई ! तुम हमें चाहते ही नहीं तो क्या करें । तुम याद करते हो, याद करते ही हम तुम्हारे मनमे आकर उपस्थित हो जाते हैं, परन्तु हमारे आनेके बाद भी फिर तुम हमको तो मायास ढक देते हो, और हमारी जगह स्त्री–पुत्र -धनको बैठा देते हो । तब बोलो हमारा क्या

अपराध है ?

आपने लिखा कि श्री जयदयालजी निष्काम भावको सर्वोत्तम मानते है किन्तु आपका मन सकाम भावसे निज सुख और कल्याणके लिये ही भगवान्को पकडता है, सो मेरी रायमे भगवान् पर विश्वास होना चाहिए । भगवान् पर विश्वास होते ही सब काम बना–बनाया है । सकाम–निष्कामकी बात नही है । बात है भगवान्का भजन करनेकी । विश्वासपूर्वक भगवान्को स्मरण करनेकी । फिर चाहे किसीभी कामनासे हम भगवान्को क्यो न भजे, हमको भगवान् ही मिलेगे ।

श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवके समान प्रेमकी शिक्षा देनेवाला तो और कौन हो सकता है ? उन्होने एक जगह स्वय अपने प्रिय–से–प्रिय शिष्य श्री सनातन गोस्वामीको शिक्षा देते हुए कहा था –

> **अन्य कामी यदि करे कृष्णेर भजन ।**
> **ना मॉगिलेओ श्रीकृष्ण तारे देन स्वचरण ।।**
> **कृष्ण कहे आमाय भजे मॉगे विषय सुख ।**
> **अमृत छॉड़ि मॉंगे विष एइ बड़ मूर्ख ।।**
> **आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय केन दिब ।**
> **स्वचरण दिया एइ विषय भुलाइब ।।**

यदि मनुष्य किसी दूसरी कामनासे भी श्रीकृष्णका भजन करे तो श्रीकृष्ण न मॉगने पर भी उसे अपन चरण ही दे डालते हैं । श्री कृष्ण कहते हैं यह मेरा भजन तो करता है पर मॉगता है विषय–सुख ! यह अमृत छोडकर विष मॉगता है । देखो तो, यह कितना मूर्ख है । किन्तु मैं तो मूर्ख नही हूँ, मैं तो सबकुछ जानता हूँ । किस बातमें इसका मगल है किसमे अमगल है, मुझसे तो कुछ भी छुपा नही है । मैं भला जान–बूझकर इसका हितैषी होकर भी इस मूर्खको विषय देकर कैसे टाल दूँ ? मैं तो इसे अपने चरणोंका प्रेम देकर इसके विषय प्रेमको नष्ट कर दूँगा ।

श्रीशिवभगवान जी ! आप पर अनन्त भगवत्कृपा होते हुए भी आपको प्रभुमार्गमे सफलता तो तभी मिलेगी जब उनका निरन्तर भजन आपके द्वारा होगा। उनका स्मरण किये बिना ओर अन्य कोई मार्ग है ही नहीं । आप करते नही, यही कमी है । वास्तवमे आप चाहते ही नहीं, तब क्या हो ?

सभी इष्ट मित्रोको मेरा राधाकृष्ण स्मरण।

राधा राधा राधा राधा

। । श्रीराधाकृष्णौ वन्दे । ।
पत्र संख्या–१४

# नाम–जप सब कार्य कर देगा

रतनगढ़
श्रीशिवभगवानजी फोगला ! ता ७ मई १९४१

सादर सस्नेह राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र यथासमय मिल गया था। मैंने उसे बहुत मनोयोगपूर्वक पढ़ा है । आपने लिखा कि सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका जैसे सन्तको पाकर भी आपका जीवन क्यों नहीं सुधर रहा ? सो दो ही बाते हो सकती हैं । श्री सेठजी जयदयालजी सच्चे सिद्ध सन्त है इसमें तो कोई सन्देह नहीं है । हाँ ! आपकी भगवान्की चाहमें ही कमी हो सकती है। सत्यमें कोई विकल्प हो यह सम्भव ही नहीं है । या तो हम जिसे सन्त मानते हैं, वह सन्त ही नहीं है । या हमारी चाहमें कमी है । श्री गौराग महाप्रभुकी कोटिका शक्तिवाला कोई सन्त हो तो आपका काम बन सकता है । परन्तु उसमे भी "सब धान बाईस पसेरी" नही होगा। अधिकारीके अनुरूप एवं श्रद्धा तत्परताके कारण तारतम्य हो ही जायगा । श्री गौराग महाप्रभुने मल्लाहको भी प्रेम-दान दिया और रूप, सनातन, रघुनाथ – इन तीनो गोस्वामियोको भी । परन्तु क्या इन सबको समान भगवत्प्रेम मिला ? मल्लाहमें बीज बोया गया और गोस्वामियोमें फल लगा दिया गया ।

एक व्यक्ति मानलें, सर्वशक्तिमान है । उससे एक व्यक्ति चाहता है बस अपना सबकुछ न्यौछावर भले हो जाय, परन्तु उस व्यक्तिकी सच्ची आत्मीयता उसे मिल जाय । दूसरा चाहता है – हम तो उस सर्वशक्तिमान व्यक्तिसे मात्र रोटी कपडा मिलता रहे । तीसरा चाहता है - हम तो खूब मान–सम्मान प्राप्त हो । चौथा केवल उसकी सेवा चाहता है । अब वह व्यक्ति है तो बडा ही प्रेमी। उसके पास जो बढियासे बढिया चीज है, वही वह सबको देना चाहता है, परन्तु लेनेवाला जब उसकी अनमोल प्रेमभरी वस्तुका ग्राहक ही नही तो वह व्यक्ति सोचता है – "क्या हर्ज है, तुम जो चाहोगे वही हम तुम्हे देंगे ।' अब बताओ, इसमे उसका क्या अपराध है ?

नाम–जप सब कार्य कर देगा
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

आपने लिखा कि आपमे तो मात्र प्रेमकी ही चाह है । सन्त से अन्य कोई चाह नहीं है । यदि ऐसी बात है तो यह बडे ही सौभाग्यकी बात है। परन्तु उस इच्छाको छिपाये रखकर जीभसे निरन्तर भगवन्नाम लीजिये । इसमें कोई परिश्रम नही । फिर देखियेगा, यह इच्छा आगकी तरह बढने लगेगी । इसमे प्रयत्न करने पर निश्चय सफलता होगी । आप कहेंगे–मन लगना कठिन है, ठीक है, मन नहीं लगे न सही, परन्तु जीभसे भगवन्नामका उच्चारण तो चाहने पर अवश्य होगा । आप एक ही काम करे, शेष सब भगवान् करेंगे यह काम है जीभसे निरन्तर भगवन्नाम जप । अवश्य ही यह भगवत्कृपा पर निर्भर है । परन्तु विश्वास कीजिये, भगवान्की आप पर पूर्ण कृपा है और आप दृढतापूर्वक चाह भर करले तो यह भगवन्नामकी साधना आपसे निश्चय ही हो सकती है । यदि कोई कहे कि हमसे तो नहीं होरही तो समझ लीजिये कि वह ऐसा कहनेवाला नाम लेना ही नहीं चाहता। श्रीभाईजी {हनुमानप्रसादजी पोद्दार} ने मुझसे एक बार स्पष्ट कहा था कि "भगवान् भले ही दूसरी प्रार्थनाऐं सुननेमे थोडी देर भी करदे, परन्तु यदि कोई सचमुच चाहे कि मुझसे निरन्तर नाम–जप हो और इसके लिये भगवान्से प्रार्थना करे तो वह प्रार्थना निश्चय ही तत्क्षण पूरी हो जायेगी ।" अत भगवत्कृपाका अवलम्बन लेकर आप पूरी शक्ति लगाकर जुट जाइये । शक्ति लगाने पर निश्चयही नाम–जप होगा । जो ऊँची से ऊँची वस्तु है, जिससे परे कुछ भी नहीं है, वह सब बिना परिश्रमके मिल जायेगी । आप तो शिवभगवानजी, मात्र एक व्रत लेले। चलते–फिरते, सोते–जागते, उठते–बैठते, खाते–पीते, बस जीभ आपकी मशीनकी तरह नामका उच्चारण करती रहे । फिर अपने आप सब हो जायेगा । सारी बात भगवत्कृपासे हो जायगी । मनका पाप धुल जायेगा । मनकी चचलता मिट जायेगी । विषयानुराग नष्ट हो जायेगा । श्रीसेठजी {जयदयालजी गोयन्दका} अथवा जिस किसीभी सन्तके प्रति आपकी श्रद्धा–निष्ठा है, उनके प्रति निश्छल, निःस्वार्थ प्रेमभरा आकर्षण उत्पन्न होगा, भगवान् पर सशयहीन विश्वास उत्पन्न होगा । इस प्रकार सबकुछ अपने–आप होकर अत्यन्त दुर्लभ वस्तु, जो भगवत्प्रेम है, वह भी सच्ची इच्छा होने पर मिल जायगा । केवल एक व्रत – निरन्तर जीभसे नाम । जैसे किसी मशीनका स्विच दबा देनेसे वह अविराम चलती रहती है – बडी–बडी मिलोंमें देखा होगा, वैसे ही जीभको भगवान्के नामकी मशीन बनादे । अच्छी बात जो भी मनमे आये वह कीजिये, परन्तु जीभसे नाम लेते रहिये । इसके बिना साकार अथवा निराकार किसी भी प्रकारके भगवत्तत्व पर चित्त जमाकर ध्यान लगाना बडा ही कठिन है। होता क्या है कि अधिकाशत वृत्तियाँ शून्यमे लीन हो जाती हैं और लोग उसे ध्यान मान लेते हैं । मनमे भगवान्का जो भी भाव आपने

नाम–जप सब कार्य कर देगा
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

निर्धारित किया है वही रखें, परन्तु जिह्वा भगवन्नाम लेती रहे । केवल एक नामकी शर्त्त आप पूरी करदे, शेष सभी बातें भगवत्कृपा पूरी करदेगी ।

श्री शिवभगवानजी, इससे और बड़ी बात अभी इस समय तो मेरे मनमें आपके लिये आ नही रही है । फिर भी कोई बात श्रीकृष्ण प्रेरित करेंगे तो आगे पत्रोंमें कहने–लिखने का मन है ।

इधर मेरा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है । अर्ध–रात्रि हो रही है । शरीर कुछ काल विश्राम माँग रहा है ।

{श्रीशिवभगवानजीको मोतीलाल पारीकका जय श्रीराधे}

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या–१५

# या तो जगतको सर्वथा भूल जायें या मनके सामने वृन्दावन नाचता रहे

रतनगढ़

ता0 २० मई १९४१

प्रिय श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम श्री राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र मिला । आपने लिखा कि मै जो मुझे सर्वोत्तम जँचे वह साधना आपको लिखूँ । आप उसी साधनाको जीवनमें अपनाना चाहते हैं । सो फोगलाजी, हमारे जँचनेकी तो एक ही बात है । चाहे जैसे सभत हो, दो कामोमे एक काम मृत्युके पूर्व अवश्य ही कर लेना चाहिये। या तो इस ससारको सर्वथा भूल जाये तथा मनके सम्मुख श्रीराधारानी, श्रीवृन्दावन धाम, श्रीगोपीजन निरन्तर नाचते रहे अथवा जहाँ–जहाँ दृष्टि जाय, वही–वही यह भाव कभी भी नही टलने वाला अटल, सुदृढ हो जाय कि जो कुछ दीखता सुनता है, सब कुछ श्रीकृष्ण हैं। सब उन्हीकी लीला है । दोनोमें से एक हुए बिना मनका राग–द्वेष मिटना अत्यन्त कठिन है और जब तक राग–द्वेषका समूल नाश नहीं होगा, वहाँ तक शान्ति मिलनी कठिन है । इन दोनो स्थितियोकी प्राप्तिमे अत्यन्त सहायक होता है–निरन्तर भगवान्का नाम–जपका अभ्यास ।

नाम जप पर हमारा रुझान तभी सभव है, जब हमारे जीवनका एकमात्र [illegible]क्ष्य [illegible]गवान् होगे । यह बात ठीक–ठीक समझले कि जबतक अनेक और–और [illegible] तबतक रास्ता कट जाने पर भी वह स्थिति सम्मुख आनेमें बहुत विलम्ब [illegible] जीवन भर कुछ न कुछ अशान्ति बनी ही रहेगी। यदि आपके एकमात्र [illegible] न [illegible]गये ओर फिर जो जो भी आपके द्वारा चेष्टाएँ हुई उनपर यह [illegible] यह चेष्टा मुझे अपने लक्ष्य भगवान्से जोडने वाली है अथवा लक्ष्यसे [illegible] फिर [illegible] ही शीघ्रतासे कटेगा । उदाहरणके लिये जैसे

## या तो जगतको सर्वथा भूल जायें या मनके सामने वृन्दावन नाचता रहे

पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

आप कलकत्तेसे बाँकुड़ा गये। वहाँ जाकर दिन–रातमें आपने अनेकों चेष्टाएँ कीं, खाया–पिया, घूमे–सोये, लोगोंसे मिले । अब विचार करके देखें कि आपने जो भी चेष्टाएँ की, उनमे कौन–कौनसी एवं कितनी चेष्टाएँ किस–किस उद्देश्यसे हुईं । आपने रास्तेमें किसी सज्जनसे बात की । अब बात करते समय आपके एकमात्र लक्ष्य यदि श्रीकृष्ण होंगे तो आपके मनकी दशा दोमें से एक प्रकारकी होगी । या तो आपको उक्त सज्जनके रूपमें भगवान् श्रीकृष्णकी अनुभूति होगी और बात करते–करते आप आनन्दमें मुग्ध होते रहेंगे अथवा मन बिल्कुल उपराम रहनेसे उस समय ऊपरी मनसे तो आप बात करेंगे, किन्तु भीतरी मनसे आपका ध्यान श्रीकृष्णके रूपमें, गुणोंमें, लीलाओंमें लगा रहेगा। ऐसा न होकर यदि आपका और कुछ भाव रहता है तो साफ–साफ यह बात आप समझ सकते हैं कि आपका लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा नहीं हैं।

कलकत्ते–बम्बईमें आप सुन्दर महलनुमा मकान देखते हैं, परन्तु ये दिव्य वृन्दावनसे सुन्दर स्थान कदापि नहीं हैं । दिव्य वृन्दावनके महलोंसे अधिक सुन्दर यहाँका कोई भवन नहीं है । परन्तु जब हमारा मन इन भवनों पर चलता है, तब फिर यह समझ लेना चाहिये कि अभी तो यह दिव्य वृन्दावन देखना ही नहीं चाहता । क्योंकि लक्ष्य दिव्य वृन्दावन अथवा श्रीकृष्ण होजानेपर दिन–रात मस्तिष्क यही सोचता रहेगा कि कैसे रास्ता तय हो और श्रीकृष्णसे हमारा मिलन हो, दिव्य वृन्दावनमे प्रवेश हो । उस समय यहाँका कुछ भी हमें सुहायेगा ही नहीं। हाँ, यदि यह भाव हो कि यहाँ भी सबकुछ श्रीकृष्णकी ही लीला है, तब तो कुछ कहना बनता ही नही, परन्तु इसमे भी एक सावधानी तो आवश्यक है ही । बढ़िया–बढ़िया चीजोंको लीला मान लेना तो आसान है, परन्तु परीक्षा तो तब होती है, जब भीषण गरमी पड़ रही हो, पानी मिले नहीं और मन भीतरसे कहे, यह भी श्रीकृष्णकी लीला है। खूब ठंडाई पीनेको मिले, मोटर घूमनेको हो, हाथ जोड़े सेवा करनेवाले खडे हों, तब श्रीकृष्णकी लीला मानना सरल है । इसलिये आपसे प्रेमवश निवेदन किया है कि कहीं भी जायें, कुछ भी करें, अपना लक्ष्य नहीं भूलें ।

हम किसीके यहाँ जीमने बैठे हैं । यदि श्रीकृष्ण हमारे जीवनके लक्ष्य हैं तो उस समय भी यह ध्यान रहेगा कि हम श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये खा रहे हैं अथवा भोग भोगनेके लिये खा रहे हैं ? भोग भोगनेके लिये भोजन करना दूसरी तरहका होता है तथा श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये भोजन दूसरी तरहका । आप एवं हम खायेगे वही वस्तुएँ और जितना खाते हैं, उतनी मात्रामें ही खावेंगे, परन्तु श्रीकृष्ण लक्ष्य होने पर हमारा–आपका मन उस समय श्रीकृष्णका ही चिन्तन करता रहेगा । उस समय परोसनेवालेमे भी हमको आपको

श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण दिखाई देंगे । हमारा मन भी प्रत्येक ग्रासके साथ आनन्दसे भरता रहेगा ।

यदि हमारे लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं तो फिर हम अपने मनमें ससारके चित्र कदापि नहीं भरेंगे । वे तो पहलेसे ही बहुत अधिक भरे हैं । अब यहाँके इन नाशमान भवनोको और भरनेसे नया मैल ही तो बढ़ेगा -- इस भावसे हम उनकी जगह श्रीकृष्णके उन निकुजोंको जितना याद कर सके -- करेंगे। जो एकसे-बढकर-एक सुन्दर हैं, जिनकी छायाको भी ससारके समस्त बगीचोंकी सुन्दरता छू नहीं सकती, उन निकुजोंमें ही हम अपना मन फँसायेंगे । उसीमें अपना पूरा लाभ समझेंगे । उस अवस्थामें हमारा मन दूसरोके गृह-मकान, धन-वैभव देखकर कदापि ईर्ष्यासे जलेगा नहीं, अशान्त नहीं होगा । हम स्वयं शान्ति पायेंगे और दूसरोंको भी जो अपने पास रहनेवाले हैं, शान्ति देंगे। परन्तु हाँ ! यह मन बदमाश है । यह बहुत शीध्र शुभ बातको पकडले, ऐसा होना कठिन है । वह रुके नहीं, तो एक और उपाय है ।

जैसे आप उस महलको देखने गये थे । मुझे पता नहीं आपने वहाँ क्या-क्या देखा ? परन्तु जो-जो चीज आपने देखी, उसी-उसीके आधार पर यदि हम दिव्य वृन्दावनकी कल्पना तुरन्त साथ-ही-साथ करते जाते तो जैसे जहरके साथ अमृत भरा जाय, वैसे ही इन सस्कारोके साथ एक ऐसी दिव्य वस्तु मस्तिष्कमें घुसती चली जाती कि वह बहुत ही काम देने लायक लाभदायी हो जाती ,

आपकी बात नहीं, सभव है आप उस समय भगवान्‌को याद करते रहे हों, परन्तु प्रायः ऐसा ही होता है कि इन वस्तुओंको देखते समय हम भगवान्‌को भूल जाते हैं और केवल माया ही माया पर हमारी दृष्टि लुब्ध रहती है । इसका परिणाम होता है घोर दुःख ।

हमें इस मनसे ही तो लड़ना है । इसीमें हमारी बहादुरी है। इस मनसे कहिये -- यार ! अनादि कालसे तेरे कारण ही मैं मेरे प्राण-प्रियतम श्रीकृष्णसे बिछुड़ा हुआ हूँ । पर अब श्रीकृष्णकी कृपासे तुझे मैं श्रीकृष्णके पास ले जाकर निहाल करूँगा । साथ ही स्वय भी निहाल हो जाऊँगा ।

यह न करके यदि हम मनका कहा करेंगे तो, फिर तो आज यह आपका भवन देखनेके लिये कहेगा, कल बाजार देखनेके लिये और परसों व्यापार-दुकान देखनेकी जिद करेगा । इस पर तो शासन करना ही होगा। चतुराईसे जैसे यह आपको धोखा देता है, वैसी ही चतुराईसे इसे आप भी बाँध लीजिये । जब यह बहुत ही अड़ जाय कि मैं तो अमुक वस्तु देखूँगा ही, तो यदि वह पाप-पूर्ण नहीं हो तो इसे दिखा दीजिये । परन्तु उसके साथ सावधानीपूर्वक श्रीकृष्णको जोडे

रखिये । जिससे उस जहरका असर नहीं हो।

जीवन तो शिवभगवानजी, अनवरत चेष्टा करते हुए सावधानीपूर्वक बनानेसे बनेगा । शेष भगवत्कृपा ।

{श्रीशिवभगवानजीको मोतीलाल पारीकका जय श्रीराधे}
राधा राधा राधा राधा राधा

पुनश्च – मैने सभी बातें आपको अत्यन्त प्रेमसे कही है । इस शरीरका मनसे सर्वथा उतार देनेकी चेष्टा करनी चाहिये । मामूली सर्दी–गर्मी सहन नही होगी तो फिर वृन्दावनमें जीवन कैसे बीतेगा ? वहाँ तो खूब मच्छर काटेगे । पानी गरम–गरम पीनेको मिलेगा । पासमे पैसा यदि नहीं रहा तो भोजनका भी ठिकाना नही कि रोज मिले ही । फिर यदि पित्त गरम होनेकी परवाह बनी रही तो व्रजमे वास कैसे कर सकेंगे। इससे मेरा यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि खाये–पीयें नहीं । अच्छी प्रकार भोजन करिये, किन्तु मनसे ये सभी वस्तुएँ उतर जावे । लू चल रही है, अब बार–बार सोचिये– "अरे बापरे ! बहुत लू चल रही है ।" तो अशान्ति बढ जायगी । यह न करके यदि यह सोचा जाय कि क्या ही सुन्दर जीवन है, दो दिनके लिये तो तप करनेको मिला, घरमें इस लूका आनन्द कहाँसे मिलता । बस, चित्तमें आनन्द ही आनन्द भर जायगा।

जीवनकी हर परिस्थिति आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णसे भरे रहें, यही सार–की–सार बात है ।

राधा राधा राधा राधा राधा

। । श्रीराधाकृष्णौ वन्दे । ।
पत्र सख्या–१६

# नित्य वस्तुमें मन डुबोइये

रतनगढ
ता. ५ जून १९४१

प्रिय श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधाकृष्णा वन्दे । आपका पत्र मिला । आपको मेरे पत्रोंसे बहुत उत्साह होता है और साधनामें रुचि बढती है, सो यह आपका मेरे प्रति प्रेम है । मैं तो आपको खरी–खोटी जो मनमें श्रीकृष्ण प्रेरणा देते हैं, निस्संकोच लिख देता हूँ । अनेक बार बादमें परिताप भी होता है कि भावोंको आदरकी पुट देकर मुझे लिखना चाहिये था । आप अपने प्रेमवश मेरे रूखे पत्रोंसे भी उत्साहित होते हैं, यह आपका सरल स्वभाव है ।

मुझे तो एक ही बात घुमा–फिराकर कहनी है कि जैसे हो, हमारा भजन बढना चाहिये ।

श्रीमद्भागवतमे कहा है – आकाश, वायु, अग्नि, जल, नक्षत्र, सभी प्राणी, सभी दिशायें, सभी वृक्ष, नदियाँ, नद–समुद्र – ये सबके सब, चाहे अचर हों या चर हो – कोई भी भूत हो सभी श्रीकृष्णके शरीर हैं । यों मानकर अनन्य भावसे सबको प्रणाम करे । अब लू चलरही है, गरमी है, उसमें आग है ही तथा वायु भी है । यदि यह भावना हो जाय कि अग्नि एव वायु रूपसे मेरे शरीरको श्रीकृष्ण ही छू रहे हैं तो कितना आनन्द हो । नित्यवस्तु तो सभीमें श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण भरे हैं। शेष अनुकूलता–प्रतिकूलताके रूपमें जो कुछ बाह्य अनुभवमे आरहा है, वह तो अनित्य, क्षण–क्षण परिवर्तनशील माया ही है ।

अत मेरी बात मानें तो नित्य वस्तुमें मन डुबोइये । अभी यह नहीं हुआ तो भविष्यमे इतना पश्चात्ताप हो सकता है कि उसकी कोई सीमा ही नहीं । मेरी बात बिलकुल गाँठ बाँधकर रख लें ।

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके सिवा यदि मन कुछ भी चिन्तन

नित्य वस्तुमें मन डुबोइये
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

करता है, तो समझ लें, घाटेका कोई हिसाब ही नहीं है । अभी पता नहीं लगता। अभी चेष्टा नहीं होती, परन्तु मरनेके समय इन्द्रियाँ इतनी अधिक व्याकुल हो जाती हैं कि बिना अभ्यास भगवान्में मन स्थिर होना बहुत ही कठिन होता है ; अतः जीवनका शेष सभी समय भगवान्मे लगाइये । बडी तेजीसे रास्ता काटिये। परिवारमें धन–जनमें कहीं मन फँसा रहा और मृत्यु हो गयी तो जीवन बिलकुल व्यर्थ ही हो गया, समझिये ।

शिवभगवान्जी ! एक भगवान्ही ऐसे है जिनको पकड लेने पर फिर कभी किसी भी अवस्थामें तनिक भी दुःख नही होता । जो जितने अंशमें पकड़ लेता है, उतने अंशमें उसका दुःख कम हो जाता है । पूरा पकड़ लेने पर तो दुःख बिलकुल ही नहीं रह जाता ।

अब आप देखें, लोग बिचारे कितने दुखी रहते हैं । यदि इनमेंसे कोई भगवान्को पकड़ ले तो वह कदापि दुखी नहीं होगा । क्योकि उसके मनमे यह दृढ विश्वास रहेगा कि सर्वशक्तिमान् भगवान् मेरे परम सुहृद हैं । वे भगवान् जब मेरे साथ हैं तो फिर मुझे क्या डर है ? आप निश्चय समझिये जो काम हमारे–आपके लिये सर्वथा असभव है, भगवान् एवं सन्त उसे क्षणभरमें कर सकते हैं । भगवान् एव सन्तोके लिये ऐसा कोई काम नहीं है जो असभव हो, जिसे वे नही कर पावें केवल विश्वास चाहिये ।

एक कथा आती है । महाप्रभु चैतन्यदेव, श्रीवास पडितके घर कीर्त्तन कर रहे थे । कीर्त्तनके मध्य ही श्रीवासजीका लड़का मर गया। श्रीवासजीको उनके घरके लोगोंने कीर्त्तनके मध्य बुलाकर सूचना दी, परन्तु श्रीवासजीने स्त्रियोंसे कहा –"यदि रोओगी तो महाप्रभुका कीर्त्तन भग हो जायगा और यदि ऐसा हुआ तो लडका तो गया ही, मैं भी गंगामें डूबकर प्राण दे दूँगा ।" स्त्रियाँ डर गयीं । अब बेटा तो भीतर मरा पड़ा है और आँगनमे कीर्त्तन करते महाप्रभु नाच रहे हैं।

किन्तु धीरे–धीरे और लोगोको भी यह बात मालूम होगयी । सबका उत्साह कम होने लगा । धीरे–धीरे एक–एक कर सब नाचना छोडकर बैठ गये। महाप्रभुको बहुत काल पश्चात् बाह्य ज्ञान हुआ । वे बोले – "क्या बात है ? कोई अनिष्ट घटना घट गयी है ?" लोगोंने सारी बात कह दी । महाप्रभुने लडकेके शवको मँगाया और लगे नाचने । लडकेमे प्राणोका संचार हो गया ।

श्रीवासने देखा, यह तो उचित नहीं हुआ ! इस लडकेका बड़ा सौभाग्य था कि वैष्णवोंके कीर्त्तनके मध्य उसकी मृत्यु हुई थी । श्रीवासने महाप्रभुसे प्रार्थना की –"महाप्रभु ! ऐसा नहीं करें ।" इसके पश्चात्की ठीक घटना मुझे स्मरण नहीं । परन्तु शायद जब घरके सभी लोगोंमें सन्तोष हो गया कि इसको मरनेका ऐसा

सौभाग्य फिर क्या पता मिले या नहीं मिले तो महाप्रभुने कहा –"अच्छा, यही सही।" यह इसलिये हुआ था कि श्रीवासका यह भाव था कि महाप्रभु साक्षात् भगवान् हैं। परन्तु श्रीवासके लिये महाप्रभुने वैसा किया भी नहीं था, किया था उस लडकेकी माताके सन्तोषके लिये । कहनेका इतना ही अर्थ है कि ऐसी कोई घटना नहीं जिसे सन्त अथवा भगवान् नहीं कर सकें ।

जहाँ भगवान्मे एव सन्तमें विश्वास है, वहाँ सब कुछ संभव है हमारा–आपका भी ऐसा सौभाग्य निश्चय ही है कि हमें उच्चतम कोटिके सन्त मिले हैं , परन्तु हमारा उनपर भगवत्तुल्य विश्वास नहीं है । हम उन्हें मात्र एक अच्छे साधक, महापुरुष ही मानते हैं, अत हमारे लिये उनके माध्यमसे भगवानकी वैसी अलौकिक कर्तृत्व शक्ति प्रकट नहीं होती। गोपी–प्रेमके एक सर्वोत्तम उपासक बहुत बडे सन्त नरोत्तमदासजी हो गये हैं । वे जातिके कायस्थ थे । किन्तु ब्राह्मण लोगोंकी भी उन पर बहुत श्रद्धा थी । उनके अनेक ब्राह्मण शिष्य थे । ब्राह्मण समाजमें अनेक टोलियाँ थीं । इनमें से एक ब्राह्मण टोलीने कायस्थ द्वारा ब्राह्मणोको शिष्य बनाये जानेका बहुत विरोध किया । उन्हे इसका भी बहुत दुःख था कि ब्राह्मणोंने कायस्थको गुरु बनाया ।

आखिर नरोत्तमदासजीकी आयु समाप्त हुई । वे गगातट पर मरे । मरते समय उनकी बोली बन्द होगयी थी । फिर तो ब्राह्मणोकी बडी भीड़ने मजाक उडाना शुरू किया । कोई कुछ कहता, कोई कुछ । किसीने कहा -- "बहुत ठीक हुआ, बड़ा भक्त बना फिरता था ।" उनके ब्राह्मण शिष्योंको बडा दुःख हुआ । एक शिष्य बहुत ही विश्वासी था । वह भी ब्राह्मण था । उसने मन–ही–मन प्रार्थना की –"गुरुदेव ! एक बार जी उठिये तथा इन सभी ब्राह्मणोंका उद्धार करके जाइये।" उसकी प्रार्थना सच्चे हृदयकी थी ।

नरोत्तमदासजीको एकदम जलाये जानेकी तैयारी होरही थी कि नरोत्तमजी धीरे–धीरे उठ बैठे और हँसने लगे । अब तो ब्राह्मणोंके होश गुम होगये क्योंकि उन्होंने बहुत गालियाँ दी थीं । आखिर एक–एक ब्राह्मणने आकर क्षमा माँगी । सभी उनके शिष्य हो गये । सभीने उनसे श्रीकृष्ण मन्त्रकी दीक्षा ली । इसके पश्चात् सात दिन तक वे जीवित रहे । अन्तिम दिन बोले –"मुझे गंगामें ले चलो।" गगामे जाकर खड़े हुए शिष्योंसे कहा – मेरा शरीर मलो ।" शिष्योंने शरीर मलना प्रारभ किया । ऐसा मालूम हुआ, मानो शरीर दूधका पुतला था । वह शरीर पूरा पानीमें घुल गया ।

शिवभगवानजी ! ससारमें चार ऐसी वस्तुएँ हैं जो बिना श्रद्धाके भी फल देती हैं । {१} भगवन्नाम, {२} भगवद्धाम, {३} भगवत्लीला तथा {४} भगवानका अखण्ड

नित्य वस्तुमें मन डुबोइये
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

भजन करनेवाले सन्त । इनमेसे किसीके भी साथ प्राणोंकी बाजी लगाकर जु़ः जायँ । भगवन्नामसे जुड़ें तो फिर ऐसा हो जाय कि प्राण छूटें, पर नाम नहीं छूटे । धामसे जुड़ें तो इस प्रकार कि चाहे बम बरसें, धाममें ही प्राण ब्रजरजमे छोड़ेंगे । वहाँसे बाहर पैर नहीं उठें । लीलासे जुडे तो इस जगतको सर्वथा ही भूल जाये । आँखोसे हर स्थान पर लीला ही लीला दिखे। सन्तसे जुड़ें तो ऐसे कि प्राण रहते अलग नहीं हों । मुर्दा शरीर भले ही अलग हो। यदि ऐसा हो तो प्रिया–प्रियतमकी कृपा अवश्य प्रकट होती है।

शिवभगवानजी ! आवश्यकता निष्ठाकी है । हमारी निष्ठा न तो सच्ची है, न ही अखण्ड है । एक क्षण हम जिसे सन्त मानते हैं, दूसरे ही क्षण उसे साधारण व्यक्ति समझने लगते हैं । हमारे पास सन्तको जाँचनेका माध्यम है हमारी बुद्धि, वह हमारी बुद्धि ही जब पूरी मलिन, स्वार्थभरी, अहकारकी अनुगामिनी है तो हमारी यावज्जीवन सुदृढ़ निष्ठा कैसे रह पावे । एक क्षण हम नाम–जपका विचार करते हैं, दूसरे ही क्षण हम सत्संगको महत्त्व देने लगते हैं । तीसरे ही क्षण हमें वृन्दावन आकर्षित करता है और कुछ ही कालमे हम व्यापारको आवश्यक समझ कलकत्तेकी सैर करने लगते हैं ।

इसी कारण जैसे लुढ़काऊ पत्थर काई नहीं पकड पाता, हमारी निष्ठाकी कमी हमारी उन्नति नहीं होने देती । हमारे चित्तमें भजनके संस्कार जम नहीं पाते जो स्थिति समझमें आयी वह लिख दी है । आप प्रसन्न होंगे। प्रेमभाव बढ़ाते जायें ।

{श्रीशिवभगवानजी फोगलाको मोतीलाल पारीकके जय श्रीराधे }

राधा राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–१७

# भगवान् स्वयं सबकी सँभाल करते हैं

रतनगढ़
२० जून १९४१ ई०

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र यथा समय मिल गया था। इससे पूर्व उत्तर लिख पाना मेरे लिये असभव–सा है । अपनी नियमित साधनाके उपरान्त रात्रिमें पत्र लिखना प्रारम्भ करता हूँ । अनेक लोगोंको कभी–कभी पत्र देने होते हैं । अतः इतना शीघ्र मुझसे उत्तर पानेकी आशा छोड़ दें । आगे भविष्यमें पत्राचारमें बहुत विलम्ब भी हो सकता है और सभव है, कभी पत्र नहीं लिखनेका भी नियम लेना पडे। यथा सभव जबतक किसी एकको भी पत्र दूँगा तो आपको प्राथमिकता ही दूँगा । आपके प्रश्नोंके उत्तर निम्न हैं :–

भगवान् सबकी सँभाल करते है, फिर जो उनका हो गया है, उस भक्तकी सँभाल करें इसमे कहना ही क्या है । एक संतकी कथा आपको कहता हूँ। यह सर्वथा सत्य घटना है। वे बदरीधाम जा रहे थे। रास्तेमें टट्टी लगने लगी । चालीस–पचास टट्टियाँ लगीं । अब साथियोने तो उन्हे छोड़ दिया। वे बेचारे रास्तेसे कुछ हटकर जंगलमें एक गुफामें जाकर पड़ रहे । दूसरे दिन एक बूढा आया एक पुड़िया दवा और दही–भात लेकर । सतने दवा खा ली और दही–भात खा लिया । तीन–चार दिन वह रोज दवा और दही–भात लाता रहा और वे खाते रहे। तीन–चार दिन बाद उनके मनमें कौतूहल हुआ कि यह कौन है, अत जब वह दही–भात लेकर आया, तब उन्होंने उससे पूछा–"तुम कौन हो।" उसने कहा –"इससे तुम्हें मतलब ? दवा ले लो, दही–भात खा लो ।" संत बोले–"पहले बताओ कि तुम कौन हो।" वह बोला कि –"यह नहीं बताऊँगा।" बाबा बोले "मैं भी दही–भात नहीं खाऊँगा ।" उसने कहा–"मत खाओ" और यों कहकर वह लौटने लगा पुनः कुछ देर बाद आया और बोला–"खा लो ।" बाबा बोले–"बताओ ।" आखिर वहीं उस बूढ़ेकी जगह भगवान् प्रकट हो गये । संत बोले–"महाराज !

कुछ अनुमान हो गया था कि इस भयानक जगलमें आपके सिवा और कौन होगा। पर नाथ ! क्या स्वयं आप इस प्रकारकी सेवा भी करते हैं ?" भगवान्ने कहा-"जहाँ कोई होता है, वहाँ तो प्रेरणा कर देता हूँ, नही होता तो स्वय आता हूँ ।" यह सच्ची घटना है और कुछ ही समय पहलेकी बात है ।

दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं, वे भगवान्के बहुत ही विश्वासी थे, गाँवके जमीदार थे । एक साल अकाल पडा । कोठेका अनाज तो बाँट ही दिया, अपना मकानतक बेचकर गरीबोको लुटा दिया । स्त्री-पुरुष पेड़के नीचे रहने लगे । उनका नियम था-एकादशीका उपवास करना फिर द्वादशीके दिन ब्राह्मण-भोजन कराके तब पारण करना । एकादशीके दिन वे पंढरपुर जाया करते थे । इस बार भी गये, दर्शन किया, किन्तु पासमें कुछ नहीं था। कुछ दिन पहले बहुत धनी थे, पर आज फूटी कौडी भी पास नहीं थी । लकड़ी बेचनेसे तीन पैसे मिले । एक पैसेकी फूल-माला ली, एक पैसेका प्रसाद चढ़ा दिया तथा एक पैसा दक्षिणामे दे दिया । दूसरे दिन लकडी बेचने पर फिर तीन पैसे मिले । उनका आटा ले लिया, पर केवल आटेका निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये कोई ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ । दो पहर हो गया । एक-एक करके ब्राह्मण आते, पर खाली आटा देखकर अस्वीकार कर देते । अन्तमें भक्त-दम्पत्ति मनमे सोचने लगे-"प्रभो ! हमारा नियम क्या आज भग होगा ?" इतनेमें एक ब्राह्मण आया, जो अत्यन्त बूढा था । बोला-"पटेल ! बड़ी भूख लगी है ।" उस बेचारेने लजाकर कहा-महाराज ! मेरे पास तो केवल आटा है ।" ब्राह्मणने कहा-"फिर क्या चाहिये । यहाँसे थोडे कडे इकट्ठे कर ले । मैं बाटी बनाकर खा लूँगा ।" यही हुआ, बाटी बनने लगी। इतनेमे एक बुढिया आयी । ब्राह्मण बोले-बडा अच्छा हुआ, पटेल ! यह मेरी स्त्री है, हम दोनो प्रसाद पा लेगे ।" पटेल लज्जित हो गये, सोचने लगे-'एक आदमीके लिये भी आटा पर्याप्त नही है, दो कैसे जीमेंगे । पर भगवान्की लीला थी, बाटी बनायी गयी और ब्राह्मणने कहा- 'एक पत्तल तुम अपने लिये भी ले लो। पटेल बड़े विचारमें पड़ गये । अन्ततोगत्वा बहुत कहने-सुननेके बाद ब्राह्मण-ब्राह्मणी जीमने लगे । कुछ खाकर अन्तर्धान हो गये । पटेल बडे चकित हुए । प्रसाद पाकर मन्दिरमे दर्शन करने गये । वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष चिन्मय रूप धारणकर बात करने लगे । बहुत बातें हुईं। अन्तमें भगवान् बोले-'भाई ! हमें ऐसी ही बाटियाँ खानेमें आनन्द आता है ।' पटेलने पूछा-'महाराज ! तब क्या आप बडे-बडे यज्ञोमें नहीं जाते ?' भगवान्ने कहा-'वे लोग हमको खिलाना ही नही चाहते ।' पटेलसे भगवान्ने फिर कहा-'कल तमाशा देखना, उसी ब्राह्मणके वेषमें मैं कल अमुक जगह जाऊँगा, देखना, मेरी कैसी पूजा वहाँ होती है ।'

भगवान् स्वयं सबकी सँभाल करते हैं

पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

एक बहुत बडे धनीके यहाँ यज्ञ था । हजारों ब्राह्मणोंका निमन्त्रण था। ठीक जीमनेके अवसरपर वे ही बूढे बाबा पहुँचे और बोले-'जय हो दाताकी! एक पत्तल हमें भी मिल जाये । बहुत भूखा हूँ ।' लोगोंने पूछा-"आपको निमन्त्रण मिला है ?" ब्राह्मण बोले-'निमन्त्रण तो नहीं मिला, पर हूँ बहुत भूखा, बडा पुण्य होगा।' ब्राह्मणकी एक बात भी उन लोगोंने नहीं सुनी । आखिर ब्राह्मण जबर्दस्ती एक पत्तल लेकर बैठ गये । अब तो धनिक बाबूके क्रोधका पार नहीं रहा। उन्होने हाथ पकडकर ब्राह्मणको निकलवा दिया । पटेल देख रहे थे । बूढे ब्राह्मण पटेलको इशारा करके कह रहे थे-"देखा, हमारा सत्कार कैसा होता है?" फिर कहा-'अब देखो क्या होता है ' उसी समय बहुत जोरकी आँधी आयी, बड़े-बड़े ओले गिरने लगे। सारा यज्ञ नष्ट हो गया । एक ब्राह्मण भी भोजन नही कर सका । कथा बहुत विस्तारसे एवं बहुत लंबी है । सारांश यह कि किसी भी दुखीको देखकर उसमें विशेष रूपसे भगवान्को देखना चाहिये ।

असलमे तो आर्त्तभक्त, अर्थार्थी भक्त भी बनना बडा कठिन है । कोई सच्चा आर्त्त, सच्चा अर्थार्थी हो जाय, तब तो फिर क्या पूछना ! उसका दु ख भी मिट जाय एवं भगवान्को पाकर वह कृतार्थ भी हो जाय-इसमें तनिक भी संदेह नही है । आर्त्त भक्त हो चाहे अर्थार्थी, उसमें अनन्य निष्ठा होनी ही चाहिये । अनन्य निष्ठाका अर्थ यह कि और सभीपरसे-सभी साधनोंपरसे भरोसा उठाकर मनमें यह निश्चय कर ले कि 'मेरा यह काम तो भगवान् ही पूरा करेंगे ।"मान लें हमें कोई बीमारी है । अब यदि ठीक-ठीक मनमें यह निश्चय हो कि यह बीमारी प्रभुसे ही दूर करवानी है तो निश्चय मानिये प्रभु उसे दूर कर देगे । पर यदि कोई कहता है कि प्रभु तो दूर करेगे ही, पर निमित्त तो दवा बनेगी । तो समझ लीजिये कि असलमे उसका विश्वास भगवान्पर नही है, विश्वास दवापर है । फिर भगवान् भी जब अच्छा करेंगे तब सीधे जादूकी तरह नहीं करेंगे किसी दवासे ही करेंगे । ऐसा न होकर यदि यह धारणा कर लें कि दवासे क्या होगा, प्रभु अच्छा करेंगे, तो सच मानिये बिना दवाके कठिन-से-कठिन रोग-जिसका अच्छा होना असम्भव मान लिया गया है, अच्छा हो सकता है और एक क्षणमें ऐसा हो सकता है मानो, उस बीमारीका कोई चिन्ह भी नहीं रह गया हो-मानो वह बीमारी कभी हुई न थी।

इसी प्रकार अर्थार्थी भक्त भी भगवान्की कृपा पाकर एक क्षणमें निहाल हो सकता है तथा एक क्षणमें एक अत्यन्त दरिद्रको भगवान् अरबपति, असंख्यपति बना सकते हैं । कोई कहे कि 'मैं धनके लिये भजन करता हूँ, तो उसे सोचना चाहिये कि मेरी निष्ठा भगवान्पर है या नहीं । यदि निष्ठा है तो उसकी यह पहचान है। कोई उसे आकर यह कहे कि "हम गारंटी करते हैं-तुम यह सौदा कर लो, तुम्हें

जरूर लाख रुपये मिल जायेंगे । नहीं मिलें तो हम लाख रुपये तुम्हें अपने पाससे देगे ।" इसपर भी यदि उसका मन न डिगे तथा वह यह न स्वीकार करके भजन ही करता रहे, तब वह सच्चा अर्थार्थी भक्त है और उसके लिये फिर भगवान् अपना सम्पूर्ण भंडार खोलकर उसे निहाल कर देगे। आजकल लोग भजन तो करते हैं, दो–चार माला जपते हैं, पर साथ ही सौदे–सट्टेमें भी रुपया लगाते रहते हैं । यह अर्थार्थी भक्तका लक्षण तो है नहीं, इसी कारण आजकल न तो आर्त्त भक्तके लिये जादूका सा खेल भगवान् करते हैं और न अर्थार्थीको ही जादूकी तरह कोटिपति बनाते हैं ।

शिवभगवानजी ! हम सबको धोखा दे सकते हैं, परन्तु हम सबके अन्त.करणकी एक–एक स्फुरणाको जानने और पहचानने वाले भगवान्को धोखा नही दे सकते। भगवान् हमारे भीतरकी सच्चाईको देखते हैं । यदि हमारा उन पर अटूट सच्चा विश्वास है तो भगवान् हमारे लिये सबकुछ करनेमें समर्थ हैं । आवश्यकता है, मात्र सच्चे हृदयके विश्वासकी। सभी इष्ट मित्रोंको यथायोग्य।

{श्रीशिवभगवानजीको मोतीलाल पारीकका जय श्रीराधे}

राधा राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–१८

# प्रार्थनासे दोषोंको दूर करें

रतनगढ़
तिथि उल्लेख नहीं है

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र मिला । आपने अपने मनकी सम्पूर्ण स्थिति निश्छल होकर मेरे सम्मुख रखी । यह आपका मेरे प्रति विश्वास ही है, मैं आपके प्रेमके लिये आभारी हूँ । बिना प्रेमके ये बाते किसीको भी नहीं कही जा सकतीं । आपने लिखा कि मैं अन्य किसीके सम्मुख ये बातें नही प्रकट करूँ, सो आपका यह लिखना उचित ही है । मैं अन्य किसीके सम्मुख तो आपकी ये दुर्बलताएँ व्यक्त नहीं ही करूँगा, परन्तु मेरा अपना एक सम्बन्ध भाईजी (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) से ऐसा है कि उनसे मैं अपने हृदयकी कोई भी जानकारी कभी भी बतला सकता हूँ । आप जो बातें श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) से भी छिपाना चाहें, उन्हें मुझे नहीं ही कहें, यही उचित होगा । यथाशक्ति इन बातोंको तो मैं आपके विश्वासकी रक्षाके लिये उन्हे नहीं कहूँ–ऐसा ध्यान रखूँगा । परन्तु मैं आपसे यही विनीत प्रार्थना करता हूँ कि मैं श्रीभाईजीसे जो भी मेरी जानकारी है उनके द्वारा पूछे जाने पर कभी भी बतला सकता हूँ । या तो मुझे आप श्रीभाईजीको जो कुछ मुझे आप कहते हैं–वह कहनेकी छूट दे दे और यदि यह छूट नहीं दे पावे तो मुझे ऐसी बातें कहें ही नहीं । मैं आपको यह बात स्पष्टतया पूर्वतः ही कह देना उचित समझता हूँ ।

जहाँतक दोषोंको हटानेकी बात है, आप विश्वास पूर्वक भगवान्‌से सच्चे मनसे प्रार्थना कीजिये–'मेरे नाथ ! यदि आप मुझे इसी गिरी अवस्थामें देखना पसंद करते हैं, इस प्रकारसे निरन्तर मेरे मनमें अशान्ति बनी रहने देनेमें ही आपका चित्त प्रसन्न होता है–बार–बार मेरे सामने आप आते हैं और आपका मैं तिरस्कार कर देता हूँ, यदि इसी घृणित अवस्थामें मुझे रखकर आप प्रसन्नताका अनुभव करते हैं तो फिर अपनी इच्छा पूर्ण करते रहो, नाथ ! क्योंकि आप यदि ऐसा चाहते हैं तो इसीमें मेरा परम मगल है। पर यदि ये सब दोष मेरी कमीके कारण होते हों–मेरी

तत्परताकी कमीके कारण, मेरे अविश्वासके कारण होते हों तो प्रभो ! अब बहुत हो चुका । नाथ! अब कृपा करके इसी क्षण इन्हें मिटा दो । मैं अबोध हूँ, अज्ञानी हूँ,पतित हूँ, मुझे पता नहीं कि मेरे मनमें ये दोष किस कारणसे आते हैं । इनके मिटानेका उपाय तो सुनता हूँ, पर उसका आचरण मुझसे नहीं होता। क्यों नहीं होता, इसका कारण भी मैं नहीं जानता। अतएव हे दयाके सागर ! अब मेरी ओर निहारो और फिर जो उचित हो, करो । शान्ति यदि मेरी कमीके कारण मुझे नहीं मिल रही है तो फिर मेरी कमीको मिटा दो, इसी क्षण मिटा दो और यदि तुम्हारी इच्छासे शान्ति नही मिल रही हो, तब तो मुझे कुछ कहना है ही नहीं, यह अशान्ति ही मेरा परम प्रिय धन है–मैं ऐसा अनुभव करने लगूँ, क्योंकि तुम मेरे स्वामी हो, तुम्हारा मुझपर पूर्ण अधिकार है । मैं तुम्हारी वस्तु हूँ, तुम जैसे रखना चाहो, वैसे ही रक्खो ।"

यह है प्रेम मिश्रित भावकी प्रार्थना । यह नहीं हो और शान्ति चाहिये – जैसे भी हो, शान्ति मिलनी चाहिये तो फिर यह कामना सीधे शब्दोमें करके यही माँगना चाहिये कि "हे नाथ ! मुझे शान्ति चाहिये, शान्ति दो ।" शान्ति पानेके लिये मैं तो सर्वोत्तम उपाय यही जानता हूँ। मैं स्वयं भी यही उपाय करता हूँ । वही मैंने आपको भी बतला दिया ।

यदि आप कहे कि मुझे तो भगवान् पर विश्वास ही नहीं है, मैं कैसे सच्चे मनसे प्रार्थना कर पाऊँगा, तो यह भी उन्हींसे कहिये । उन्हींसे पूछिये–"नाथ! कहाँसे विश्वास लाऊँ ? पैसेसे खरीदनेकी चीज तो यह है नही। तुम कह सकते हो, उपाय बतलाता हूँ, उसे करो। पर नाथ ! उपाय, पता नहीं, क्यों मुझसे नहीं होते । सुन लेता हूँ, यत्किंचित् करनेकी भी चेष्टा करता हूँ, पर वे मुझसे हो नहीं पाते, ठीक मौकेपर मैं फेल हो जाता हूँ , अब तुम्ही बताओ, नाथ ! क्या करूँ ? यदि तुम कहो कि काम, क्रोध, लोभको मेरे बलपर डाँटो तो नाथ ! मेरा आपके बलपर यथार्थ विश्वास ही नहीं होता। क्या करूँ ?"

सोचकर देखिये, हृदयकी बात किससे कहें ? कौन ऐसा है, जो सर्व–समर्थ है और हमारी सहायता कर सकता है ? तो यही उत्तर मिलेगा–एकमात्र प्रभु ही ऐसे हैं । उनमें शक्तिकी कमी नहीं । वे हमारे मित्र भी हैं तथा उन्हें हमारी इस घृणित दशाका पूरा–पूरा पता भी है । फिर उनको छोड़कर और किसकी शरणमें जायँ ? सूरदासने गाया है -"तुम तजि और कौन पै जाऊँ ?" काम, क्रोध, लोभसे तंग आकर कहिये काम, क्रोध, लोभ–ये तीनों, क्या नाथ ! आपसे अधिक शक्तिशाली हैं ? नहीं हैं । आपको यह पता भी है कि इसको ये तग करते हैं । आप मेरे मित्र भी हैं तथा आपमें इन्हें मार डालनेकी शक्ति भी है–फिर मेरी ऐसी घृणित दशा

क्यों है ? मैं नही जानता, आप ही जाने । सार बात यह है कि किसी प्रकार भगवान्से जुडिये, चाहे सकाम भावसे ही सही।

सभी दु:ख-मूलक समस्याएँ हमें मात्र इसीलिये घेरे हैं कि हमें न तो भगवान्पर विश्वास है और न ही हम उनसे जुड हैं । निष्काम–सकाम भावकी बातें ऊँचे भक्तोके लिये हैं । नरकमें पड़े प्राणीको तो पहले नारकीय गतिसे त्राण चाहिये । अत भगवान्की सत्ता पर, उनके हमारे प्रति असीम सौहार्द पर, उनकी अनन्त शक्ति पर विश्वास करिये और निरन्तर उनकी ओर देखना प्रारभ करिये ।

श्रीशिवभगवानजी ! आप अपनी दयनीय दशा मुझे इसी प्रेम भरे विश्वाससे कहते हैं कि सभव है मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ । परन्तु मैं तो आपकी ही तरह निर्बल जीव हूँ । हाँ ! मेरे विश्वासानुसार श्रीभाईजी {हनुमानप्रसादजी पोद्दार} चाहे तो आपकी सम्पूर्ण अशान्ति एक क्षणमे ही मिटा सकते हैं । परन्तु पहले तो आपकी उनपर श्रद्धा हो ही, यह मेरे वशकी बात नहीं । दूसरे वे करना चाहें नहीं चाहे, इस पर भी मेरा वश नहीं । परन्तु यह तो परम सत्य है कि श्रीभाईजी {हनुमानप्रसादजी पोद्दार} भगवानकी ही शक्तिके अशको पाकर सिद्ध -सन्त हैं अत हम भगवान्के रहते, भगवान्के दानसे दानी बने, किसी भी व्यक्ति चाहे वह सिद्ध सन्त ही हो क्यों आशा करें। सत भगवान्के यत्र होते हैं उनका स्वतन्त्र मन नहीं होता । वे भगवान्के मनसे ही मनवाले होते हैं । भगवान्को कृपा करनी होती है, तो सन्त भी पिघलते हैं अन्यथा सन्त भी अनसुनी कर देते हैं, बेरुखी दिखा देते हैं । अत आप तो भगवान्का ही कसकर पल्ला पकडिये । यही एकमात्र उपाय है।

और क्या कहूँ । आपकी सभी बातोंको भगवान्को समर्पित करके उनकी हृदयमें जैसी प्रेरणा हुई, उसके अनुसार उत्तर दे दिया है। मेरी तो आपसे एक ही प्रार्थना है कि प्रेम बनाये रखें ।

राधा राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–१९

# प्रेम–प्राप्तिके लिये परमावश्यक सात साधनायें

१५ जुलाई १९४१ ई०

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम श्रीराधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र मिला । आपने लिखा कि मै भगवान श्रीकृष्णकी महिमा पर कुछ कहूँ । उनकी महिमा सुननेसे आपका मन उन पर विश्वास करने लगे–यह आपकी बात मुझे समुचित लगी। आप गीताप्रेससे निकले भक्त-चरित्र पढ़िये , इन भक्त चरित्रोमें आपको पर्याप्त भगवान्‌की महिमा मिलेगी ।

वैसे पद्मपुराण पातालखण्ड का एक प्रसंग मैं उल्लेख कर दे रहा हूँ

"एक बार भगवान् शंकरजीसे भगवती पार्वतीजीने पूछा – "प्रभो! मुझे भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा बताइये ।" भगवान् शकरजीने कहा – "देवी ! जिनके चरण नखकी महिमाका वर्णन भी असम्भव है, उसकी स्वयकी महिमा मै क्या और कैसे बताऊँ ?" फिर कुछ सोचकर बोले–"अच्छा सुनो !"

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक मैं–शकर रहते हैं। हम तीनोंके तीनों उन श्रीकृष्णकी कलाके करोडवें अशसे उत्पन्न होते हैं । इतने तो वे प्रभावशाली हैं । प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक कामदेव रहता है । वह इतना सुन्दर है कि समस्त ब्रह्माण्डको मोहित किये रहता है। पर उसमें जो सुन्दरता है, वह श्रीकृष्णकी सुन्दरताका करोडवाँ–करोडवाँ अश है । वे इतने सुन्दर हैं । उनके शरीरसे इतना तेज, इतनी चमक निकलती है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें जितने सूर्य हैं, सब–के–सब उस चमकके करोडवें अशसे प्रकाशित होते हैं । उनमें श्रीकृष्ण अंग-प्रभाके करोडवे अंशसे प्रकाश आता है । जगत्‌मे जितनी मनको मोहने वाली सुगन्धियाँ है, सुगन्धित फूल हैं, सबमें श्रीकृष्णके अग–गन्धके करोडवे अशसे गन्ध आती है और बहुत–सी बातें बतायी हैं वे सब कविकी कल्पना नही, ध्रुव सत्य हैं

तथा सचमुच ही किसीको श्रीकृष्णके ऐश्वर्य–सौन्दर्य–माधुर्यपर विश्वास हो जाय तो फिर उसको जीवनमें केवल श्रीकृष्णकी ही चाह रहेगी, बाकी चाहें सब मिट जायेंगी।"

शिवभगवानजी ! आप निम्न सात बातोंके लिये प्राणोंकी बाजी लगाकर चेष्टा कीजिये ।

प्रेम उत्पन्न होनेके पहिले ये सात बातें अवश्य हो जाती हैं, तब प्रेम प्रकट होता है । नहीं तो, आप हों या कोई हो, रास्ता तय करना बडा कठिन है ।

**प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय ।**
**राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय ।।**

यह बिल्कुल सत्य है । बहुत बात कर लेंगे, लीला भी सुन लेगे, लाभ भी थोड़ा होगा ही, पर इन सात बातोंके आये बिना वास्तविक प्रेम प्रकट ही नहीं होता । यह ठीक है कि पूर्णरूपसे ये सात बातें तो तभी होती हैं, जब भगवान्‌का **साक्षात्कार हो जाता है, पर उसके पहले** साधकको चाहिये कि वह इनको अपने अंदर **पूरी-पूरी उतारनेके लिये सम्पूर्ण** प्रयत्न करे । वे बातें ये हैं –

**(१) अखण्ड शान्ति बनाये रखना**–इसके लिये शास्त्रमें दृष्टान्त आता है कि **राजा परीक्षित् बिना अन्न–जलके सात** दिन कथा सुनते रहे, पर उनमें शान्ति इतनी थी कि अन्न–जल उन्हें याद ही नहीं आता था ।

(२) भगवान्‌के भजनके सिवा और किसी काममे समय बिल्कुल नहीं लगाना।

(३) संसारके समस्त भोगोंसे ऐसा वैराग्य हो जाय कि ये विष्ठासे दीखने लग जायें । जिस प्रकार विष्ठाको देखकर घृणा होने लगती है, मुँह–नाक बद करके हम चलते हैं कि कहीं दुर्गन्ध न आ जाय, ठीक उसी प्रकार समस्त भोगोंसे आन्तरिक घृणा हो जाय ।

(४) मनमे अपने अंदर मानका बिल्कुल भाव ही न रहे । शास्त्रोंमें दृष्टान्त आता है कि राजा भरत जब प्रेमके लिये व्याकुल हुए तब वे इतने अधिक मानशून्य हो गये थे कि राज्य करते समय जिन–जिन राजाओं पर विजय प्राप्त की थी, जिन जिनसे उनकी शत्रुता थी, उन्हींके घरमें जाते थे और उनकी दी हुई रोटीके टुकड़े माँग–माँगकर पेट भरते हुए भजन करते थे–और अपने शत्रुको ही नहीं, चाण्डालतकको प्रणाम करते थे ।

(५) दिन–रात मनमें यह विश्वास, यह भरोसा बढता रहे कि मुझे श्रीकृष्ण अवश्य–अवश्य मिलेंगे । यह विश्वास मनसे एक क्षणके लिये भी दूर न हो ।

(६) निरन्तर नामका गान अतिशय प्रेमसे हो, भाररूपसे नही मालाकी सख्या पूरी करनेके लिये नहीं, बल्कि नाम इतना प्यारा लगे कि प्राण भले छूट

जायें, पर नाम नहीं छूटे ।

(७) जहाँ–जहाँ भगवान्‌की लीलाएँ हुई हैं, उन–उन स्थानों के प्रति अतिशय प्रेम हो ।

ये सात बाते तो धारण करनेकी हैं और चार बातें विघ्नरूप हैं, जिनसे बचनेकी चेष्टा प्राणोकी बाजी लगाकर करनी चाहिये । ये चार बातें ही प्रेमकी प्राप्तिमें बाधक होती हैं । जहाँ ये छूटीं कि बस, प्रेमका रास्ता बड़ी शीघ्रतासे तय होने लगता है । इनको शास्त्रमें 'अनर्थ' कहते हैं, जो असलमें भगवान्‌से हटाते रहते हैं । वे चार ये हैं –

(१) दुष्कृतजात अनर्थ – अर्थात् पूर्वजीवनमें तथा इस जीवनमें जो–जो बुरे कर्म किये हैं, उनके संस्कार मनपर जमा रहते है और वे बार–बार बुरे कर्मोंकी स्फुरणा कराकर साधकको बुराईकी ओर घसीट ले जाते हैं। अतः पहले जो हो चुके उनके लिये तो क्या किया जाय, पर अब यह पूरा ध्यान रखना चाहिये कि बुरे कर्म हमारे द्वारा भूलसे भी, कभी भी न हो। झूठ–कपट आदि सभी बुरे कर्मोंके मार्गसे हम बहुत दूर हट जायें ।

(२) सुकृतजात अनर्थ – आपने जो पूर्वजीवनमें एव इस जीवनमें पुण्य किये हैं, उनके फल आकर बाधा डालते हैं–जैसे पुण्यके फलसे आपको धन–मान प्राप्त हो गया है, जो आपके मार्गमे बाधा दे रहा है । इससे बचनेका उपाय यह है कि सच्चे मनसे भगवान्‌को अपने सब पुण्य समर्पण कर दिये जायँ तथा भीतरी हृदयसे उनका फल नहीं चाहा जाय ।

(३) अपराधजात अनर्थ – दस प्रकारके नामापराध एव चौसठ प्रकारके सेवापराधोंसे, जहाँतक हो बचना चाहिये । ये इतने भयानक दोष हैं कि बहुत ऊँचे उठे हुए साधकोको भी नीचे गिरा देते हैं । इनसे बचनेका उपाय है–सच्चे मनसे भगवान्‌से प्रार्थना करना कि 'हे नाथ ! मुझे अपराधोंसे बचाओ' तथा जान–बूझकर कभी अपराध न करनेकी पूरी चेष्टा करना । अबतक बहुत अपराध हो चुके हैं और अब भी होते हैं, इसीलिये रास्ता रुक रहा है ।

(४) भक्तिजात अनर्थ – यह विघ्न आपको कम सतायेगा । यह हमारे–जैसे सन्यासी तथा साधकोंको बहुत तग करता है । यह है भक्ति करके उसके द्वारा सम्मान–बड़ाई, पूजा–प्रतिष्ठा चाहना । इससे भी मार्ग रुक जाता है।

इन चारों अनर्थोंसे बचते हुए उपर्युक्त सातों बातोंको धारण करनेकी चेष्टा करें । खुशामदकी बात दूसरी है. पर सच बात तो यह है कि रास्ता तय करना हो तो फिर ये काम अवश्य कीजिये । मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, मैं आपसे जो बातें कहूँगा, उनसे मेरा तो लाभ ही होगा । पर आपका रास्ता मेरी समझसे तो

तभी तय होगा, जब आप कमर कसकर चलनेकेलिये तैयार हो जायेंगे।

धन, स्त्री, शरीरका अभिमान रत्ती–रत्ती चूर हुए बिना रास्ता नहीं कटेगा। खूब तेजीसे चलिये, नहीं तो मर जाइयेगा । मरते समय चित्तकी वृत्ति जहाँ रहेगी वहीं आप चले जायँगे । मकान, रुपया, धन, परिवार, मान–बडाई, सब–के–सब या तो आपको पहले ही छोड देंगे या आप इनको छोडकर चले जायँगे । विष्ठा–मूत्रसे भरा हुआ यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा । इसे जानवर खा जायँगे तो यह विष्ठा बन जायगा । जलाया जायगा तो इसकी राख हो जायगी और गाड दिया गया तो सडकर कीड़ोंके रूपमें परिणत हो जायगा । इसके आरामकी तथा विलासकी चिन्ता छोडिये।

ये बातें केवल सुननेकी नहीं हैं, करनेसे होगा, बडी तत्परतासे करनेपर होगा । नहीं तो सुनते रहिये–न शान्ति मिलेगी, न दु ख मिटेगा । प्रेम तो कहाँसे मिलेगा ।

आप नित्य ये सब बात सुनते हैं, फिर भी आपकी रुपये एव परिवारकी ममता तथा अभिमान नहीं मिटते । इसका अर्थ यह है कि अभी आप रास्तेपर चलनेकेलिये तैयार नहीं हैं । यदि प्रत्येक बार आप मनको दण्ड देने लगें तो फिर यह मन सीधा हो जाय ।

असल बात है–सच्ची तीव्र–से–तीव्र लालसाका होना । यह हुई कि उसी क्षण सारा नक्शा पलट जायगा । अभी चाह है, पर मन्द–से–मन्द है। जितनी परवाह ससारकी वस्तुओके लिये है, भगवान्‌के लिये उतनी भी नहीं है। आप कुछ भी करे–देखें, श्रीकृष्णसे छिपा तो कुछ है नहीं, वे सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वसमर्थ हैं और उनमें अपार करुणा भी है । फिर आप उनके सामने रोते क्यों नहीं, रोना क्यों नही आता ?, का लडका बीमार था । मनमें कितनी व्याकुलता थी, रात–दिन मस्तिष्कमे एक ही बात थी । 'हे राम ! लड़का ठीक हो जाय ।' रोना सीखना नहीं पड़ता था । अपने–आप रोना आता था। जिस दिन जीवन श्रीकृष्ण–प्रेमके बिना सूना दीखेगा, उनका वियोग असह्य हो जायगा, उस दिन रोना स्वयं अपने–आप आने लग जायगा। वैसी लालसा ही नहीं है । इसीलिये न तो रोना आता है और न उतनी परवाह ही होती है । बिल्कुल ठीक मानिये–घर, धन, परिवार, पुत्र–सभी फिर, इतने फीके लगने लगेंगे कि मानो इनसे कैसे हमारा पिण्ड छूट जाय । पर अभी तो आप स्वयं इच्छा करके मन चलाकर इनको पकडते हैं । इसका अर्थ यही है कि आपको उनकी लालसा नहीं है, और जब लालसा ही नहीं है तब फिर कहाँसे लाये ! मोल तो वह मिलती नहीं । इसके ळिये संतलोग अपने अनुभवसे यह कहते है कि 'मलिन अन्त करणमें यह लालसा उत्पन्न ही नहीं होती।'

हमारा अन्तःकरण मलिन है, इसीलिये यह लालसा उत्पन्न नही हो रही है । जिस क्षण यह लालसा उत्पन्न हुई कि उसी क्षण भगवान् में भी लालसा उत्पन्न हो जायगी । अतः अन्तःकरणको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही कर्तव्य होता है, पर हमारा अन्तःकरण निर्मल हो, यह लालसा भी तीव्र नही है, क्योकि उसके जो उपाय हैं, उनका आचरण जब हमसे नहीं होता, तब कैसे कहा जाय कि हम चाहते हैं कि हमारा अन्तःकरण निर्मल हो। फिर भी सतलोग तथा शास्त्र कहते हैं कि 'घबराओ मत । यदि एक बार भी भगवान्‌की ओर झूठी–मूठी प्रवृत्ति भी तुम्हारी हो गयी है तो फिर तुम भले ही भगवान्‌को छोड़ दो, भगवान् तुम्हारा पिण्ड नही छोड़ेंगे ।'

शिवभगवानजी ! यह नितान्त सत्य है कि अब भगवान् आपका कल्याण तो करेंगे ही, परन्तु यदि आप अच्छे बच्चेकी तरह शास्त्र और सन्तोंका कहना मानते हुए शुभ आचरण एव भजन करेंगे तो आपकी राह सुखपूर्वक कटेगी, अन्यथा भगवान् आपको सुधारनेकेलिये दुःख रूपी दण्ड– विधान कर देंगे, अशान्तिकी चाबुक लगायेंगे । तब आपको रोते हुए, विलख–बिलख कर सीधे रास्ते आना ही पड़ेगा । अन्य तो आपकी गति हो ही नहीं सकती । यह निश्चय ही सत्य मान लीजिये ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र सख्या–२०

# मात्र भगवान्‌का एक नाम लेनेसे ही जीव तर जाता है

रतनगढ़
ता. ३ अगस्त १९४१ ई.

प्रिय श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सस्नेह राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र मिला । मैने पूरे मनोयोगसे उसे दो–तीन बार पढ़ा है।

आपको विश्वास करा देना तो कठिन है, पर एक बिल्कुल सच्ची बात आपको बतला रहा हूँ । बहुत ही मर्मकी बात है कि कैसे एक नाम लेनेसे ही मनुष्य तर जाता है । भगवान्‌मे नाम–नामी, देह–देहीका भेद नहीं है । जो इस बातको मान लेता है, उसको समझानेका तरीका तो दूसरा है, पर जो यह नही मानता, उसके लिये दूसरा तरीका है । अवश्य ही उसे शास्त्र एवं भगवद्वचनोपर कुछ–न–कुछ विश्वास तो होना ही चाहिये । नहीं तो, फिर नास्तिकको समझाना तो बडा ही कठिन है । भगवान् कहते हैं –

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

अब इसके अनेक अर्थ होते हैं । एक यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि 'जो मेरा नाम निरन्तर लेगा, उसका नाम मैं निरन्तर लूँगा ।' अच्छी बात है–नाथ ! मुझसे निरन्तर नाम नही लिया जाता, मैंने जीवन भरमें एक बार आपका नाम लिया हैं तो एक बार बदलेमें आपने भी मेरा नाम लिया होगा। अब यदि यह प्रश्न होता है कि तुमने मनसे नहीं लिया था, वाणीसे यों ही निकल गया था, तो ठीक है, आपने भी बदलेमें एक बार वाणीसे ही मेरा नाम लिया होगा, पर नाथ! आपमें मेरी तरह वाणी और मनका भेद तो है नहीं । (भगवान् की वाणी और मन एक हैं ) आप मेरे नाम लेनेके बदलेमें केवल वाणीसे भी मेरा नाम लेते हैं, तो मेरा निश्चय ही उद्धार हो गया ।

अब असल बात भी यही है । जिस क्षण हमारे मुखसे एक नाम निकलता

है, उसी क्षण भगवान्‌की सारी कृपा हम पर प्रकट होनेके लिये विधान बन जाता है, परंतु वह कृपा जब तक प्रकट नहीं होती, तभी तक इधर-उधर भटकना जारी रहता है । यदि किसी प्रकार भगवान् या किसी सच्चे संतके प्रति सच्चे हृदयसे अत्यन्त कातर प्रार्थना हो जाय तो उसी क्षण इस बातपर उसे विश्वास हो जाता है और उसकी सारी अशान्ति मिट जाती है, परंतु यह प्रार्थना होती नहीं । हो तो, देखियेगा-सचमुच भगवान् इतने करुणामय हैं, उनका हृदय इतनी जल्दी पिघल जाता है कि जगत्‌में उसकी तुलना ही असम्भव है । जो चाहियेगा, जैसे चाहियेगा वही उसी प्रकार वे कर सकते हैं । यह नियम केवल लौकिक बातोंमें ही नहीं, परमार्थमें भी यही नियम है । मान लें, कि आप प्रार्थना करें कि 'हे भगवान् ! मुझे धन दो, मान दो ।' इस प्रार्थनाको वे जैसे जल्दी-से-जल्दी सुन सकते हैं, पूरी कर सकते हैं, वैसे ही उतनी ही जल्दीसे जल्दी 'हे भगवान् ! मेरा आपमें दृढ़ विश्वास हो जाय, आपमें मेरा प्रेम हो जाय' इस प्रार्थनाको भी सुन सकते हैं, पूरी कर सकते हैं । पर धनके माँगनेके समय तो आपका हृदय ठीक-ठीक उस धनको भीतरी हृदयसे माँगता है, और विश्वास, प्रेम माँगते समय ऊपरी मनसे मात्र-नियम पूरा करता है । पूजापर बैठकर यह भी एक नियम है-कर लेते हैं, पर सचमुच वह व्याकुलता नहीं होती ।...... के लड़केकी बीमारीको लेकर जैसी व्याकुलता थी, क्या उन लोगोंमें कोई भी उतना ही व्याकुल होकर यह चाहते हैं कि 'हमारा मन भगवान्‌में लगे, भगवान्‌पर हमारा विश्वास हो ।' विश्वासकी अपेक्षा भी हृदयकी व्याकुलताकी अधिक आवंश्यकता है, क्योंकि व्याकुलता विश्वास करा देगी । अब उस लडकेकी बीमारीमें जो आदमी जो उपाय बतलाता था, वही वे करते थे । विचार भी नहीं रहा था कि यह ठीक कहता है या झूठ । ऐसा इसीलिये था कि व्याकुलता थी । उसी प्रकार जिस दिन आप सच्चे मनसे चाहने लगेंगे, व्याकुल हो जायँगे कि हमारी साधनाकी वैसी स्थिति एक घंटे ही रहकर क्यों छूट जाती है, क्यों नहीं निरन्तर बनी रहती है, उसी दिन, उसी क्षण भगवान् सुन लेंगे । अभी आपको यह सहन हो रहा है कि स्मरण छूट गया तो क्या हुआ । दिनभर मौजसे रहे, भोजन किया, साँझको यहाँ आ गये, बातें कर रहे हैं । पर जब व्याकुलता होगी तब पागलकी-सी अवस्था होकर स्मरणकी स्थिति छूटते ही उसी क्षण, वहींपर लाज-शरम छोडकर आप रोने लगियेगा और जबतक वह पुनः स्थिति नहीं हो जायगी, तबतक आपका रोना बंद नहीं होगा।

जो हो, ऐसी सच्ची व्याकुलताका उपाय यही है जो आप कर रहे हैं । निरन्तर अपनी जानमें यही चेष्टा रखें कि नाम-लीला-गुण-रूप सुनें, पढें, कहें, स्मरण रखें । करते करते जैसे-जैसे अन्तःकरण पवित्र होगा, वैसे-वैसे, व्याकुलता

उत्पन्न होनेकी, सच्ची लालसा उत्पन्न होनेकी भूमि तैयार होती जायगी । जिस दिन पूर्ण–रूपसे वह भूमि तैयार हो गयी कि कोई सच्चा संत या स्वयं भगवान् उसमें प्रेमके बीज बो देंगे । फिर वह उगेगा, बढ़ेगा, फूलेगा, फलेगा और निरन्तर फूलता–फलता ही रहेगा उसका कभी फूलना फलना बंद नही होगा ।

श्रीशिवभगवानजी, प्रभु जो प्ररणा देते हैं वह निष्कपट भावसे आपके प्रेम वश आपके सम्मुख निवेदित करदेता हूँ । आपको मेरी वाते लाभकी, दामी समझमे आवें तो स्वीकार कर लें, अन्यथा मेरे पत्र रद्दीकी टोकरीमें डाल दे ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या–२१

# असली सन्तोंकी पहचान

रतनगढ़

ता० १२/८/१९४१

प्रिय श्रीशिवभगवानजी !

सादर सस्नेह श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ! देखिये ! भगवान्‌का कही अभाव नहीं है। जिस कलमसे आप मुझे पत्र लिखते हैं, उस कलममे भी पूर्ण भगवान् हैं । और जहाँ भगवान हैं, वहीं उनकी आजतक जितनी लीला हुई है, हो रही है, एव होगी, सबकी सब नित्य मौजूद हैं ।

आप जिस लीलाको देखना चाहे, जिस रूपको देखना चाहें, उसी रूपमे, उस लीलाके साथ इसी कलमसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं । यह बात नहीं है कि भगवान्‌के यहाँ भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल हो । वहाँ तो सब वर्तमानकाल ही है । अर्थात् जैसे पाँच हजार वर्ष पहले वृन्दावनमें लीला हुई थी तो इसका यह मतलब नहीं कि वह लीला तो भूतकालकी है । इसका अर्थ यह है कि आजसे पाँच हजार वर्ष पहले वृन्दावनकी लीलावाली फिल्म लोगोके सामने आयी थी । वह फिल्म तो आज भी ज्यों–की–त्यो है, केवल छिप गयी है । सिनेमा देखते हैं, वह आरम्भसे लेकर अन्ततकका खेल सजाया हुआ रखा है । उसी प्रकार भगवान्‌के विराट् दिव्य शरीरमें अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल तक होने वाली सभी लीलाएँ सजायी हुई हैं । अर्जुनने चाहा विश्वरूप देखना, उसके सामने उसके अधिकार भरका आया ।

चाह सच्ची होनी चाहिये। फिर तो पहले–से–पहले भगवान् मामूली–से–मामूली बात भी करके रख देते हैं । मनमें विचार तो पीछे आयेगा, पर भगवान् जानते हैं कि यह उस दिन उस समय यह चीज चाहेगा तथा पहलेसे ही उसकी पूरी व्यवस्था करके रख देते हैं । एक मामूली–सी बात बतला रहा हूँ–मैं . . . था, दिनमे किसी कारणसे भोजन कम किया था, इसीलिये जोरसे भूख लग रही थी । मनमें बार–बार भूखका ख्याल आता था। मनमें आया कही–से कोई वृन्दावनका प्रसाद लाकर देता तो थोडा खा लेता–खानेकी तीव्र इच्छा थी । वहाँसे सत्सगमें आया । आते ही एक आदमीने वृन्दावनका प्रसाद देना आरम्भ किया । मैं तो चकित रह गया ! क्योकि मेरे पेटकी बात किसीको मालूम थी ही नहीं । सुना कि मोहनलालजी वृन्दावनसे आये है और प्रसाद ले

आये हैं ।

आपने ब्रजभावकी बात पूछी सो पहले तो ब्रजभावके अधिकारी ही बहुत बिरले होते हैं, फिर व्रजके मधुर भावके वास्तविक अधिकारी तो बहुत कम ही होते हैं । जिसके लिये गीता कही गयी, जिस गीताके जोड़का ग्रन्थ मिलना कठिन है, उसी अर्जुनने एक बार भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की–'प्रभो! आप गोपसुन्दरियोंके साथ होनेवाली अपनी लीलाकी बात हमें बतायें ।' भगवान् नट गये और बोले–उसे सुनकर तुम्हें देखनेकी इच्छा हो जायगी, इसीलिये इस बातको जाने दो।' अर्जुन व्याकुल होकर चरणोंमें गिर पडे । इसपर श्रीकृष्णने कहा–'उसके लिये तो साधना करनी पड़ेगी । तुम्हें त्रिपुरसुन्दरीकी उपासना करनी पड़ेगी । वे यदि प्रसन्न होकर तुम्हें दिखाना चाहेंगी, तभी देख सकते हो। दूसरा उपाय नहीं ।' कथा पद्मपुराणमें विस्तारसे है– अर्जुन गये हैं वहाँ देवीने स्पष्ट कहा है कि 'अर्जुन ! जो भक्त श्रीकृष्णको प्राणके समान प्यारे हैं, उनमें भी सबको इस लीलाके दर्शन नहीं होते । कोई–कोई विरले ऐसे भक्त होते हैं, जिन पर श्रीकृष्ण यह कृपा कर देते हैं । तुम धन्य हो, जो तुम पर उन्होंने कृपाकी है और उस लीलाके दर्शनके लिये तुम्हें मेरे पास भेजा है ।' इसके बाद अर्जुनने बड़ी–बड़ी साधना, जैसे देवीने बतायी, की है, और फिर जब वे गोपी बन गये हैं, तब श्रीराधाजी आकर उन्हें श्रीकृष्णके उस परम दिव्यधाममें जिसके परे और कुछ भी नहीं है, ले गयी हैं और वहाँका आनन्द पाकर अर्जुन कृतार्थ हुए हैं। जो अर्जुन दिन–रात भगवान्के साथ खाते–पीते, बैठते थे, जिन्हें गीताका ज्ञान हो गया था, उनकी यह हालत है । हमारे–जैसे तुच्छ पामर प्राणी तो इस लीलाके कहनेके भी अधिकारी नहीं हैं ।

एक रत्नावती देवी थी । यह आमेर ( जयपुर ) की रानी थी, उसको मारनेके लिये सिंह छोड़ा गया । सिंह महलमें गया, वह ध्यानस्थ बैठी थी । सिंह पहुँचा । वह बोली–'आइये, प्रह्लादके भगवान् ! बड़ी कृपा की।' थाल लिया, प्रसाद सजाया, आरती सजायी । सिंह चुपचाप पूजा ग्रहण करता रहा। धूप, दीप, नैवेद्यसे पूजा करके एवं विधिपूर्वक आरती उतारकर रत्नावतीने प्रणाम किया। फिर सिंह वहाँसे उछला तथा पिंजरेमें घुसनेसे पहले दो–तीन पहरेदारोंको खा गया । सिंह तो एक ही था, पर उसने रत्नावतीकी पूजा स्वीकार की और पहरेदारोंको मार डाला । ऐसा क्यों ? ऐसा इसलिये कि रत्नावतीका तो सच्चा भगवान्का भाव था और पहरेदार सिंहको सिंह मान रहे थे।

ऐसे ही प्रत्येक चोर, बदमाश, डाकू भी भगवान् बन सकता है । लाला बलदेवसिंह नामके एक सज्जन देहरादूनमें थे । उनको मरे कई वर्ष हो

गये। भगवान्के बडे भक्त थे, असली भक्त थे । बहुत रुपयेवाले थे । एक दिन डाकुओंने नोटिस दी कि 'आज रात्रिको हम लोग लूटने आयेंगे । आप तैयार हो जाइये ।' यही नोटिस उनके भतीजेको भी मिला । भतीजे तो पुलिस सुपरिटेंडेंटके पास गये तथा बलदेवसिहने रसोइयोंको कहा कि 'खूब बढ़िया–बढ़िया माल बनाओ । आज भगवान्के पधारनेकी बात है ।' भतीजेसाहब आये । बोले–'चाचाजी! क्या इन्तजाम किया ?' बलदेवसिंहजीने कहा–'खूब बढ़िया–बढ़िया रसोई बनवा रहे हैं उनके स्वागतके लिये ।' भतीजेसाहब तो पागल समझकर चले गये । उनके घरपर पुलिसका पहरा बैठा और बलदेवसिंह सचमुच बहुत बढ़िया–बढ़िया बहुतसे आदमियोंके खानेभरकी बहुतसी रसोई बनवाकर रातभर प्रतीक्षा करते रहे कि अब आयें, तब आयें । स्वयं भी नहीं खाया । आखिर कुछ हुआ नहीं, पर यदि होता भी तो उनके घर तो डाकू नहीं आते, भगवान् ही आते।

भगवत्प्राप्ति बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है । बाघ, सिह, हिरन, बकरीको साथ बैठा देनेसे यह नहीं माना जा सकता कि ऐसा कर देनेवाले भगवान्को प्राप्त हुए पुरुष हैं, क्योंकि ये बातें तो बहुत ही तुच्छ एवं नीचे दर्जेकी ही हैं । सर्कसवाले भी पशुओंको शिक्षण देकर वशमें कर लेते हैं। भगवत्प्राप्ति असलमें क्या चीज है, इसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही जानते हैं । संसारी मनुष्य तो देखता है कि किसमें क्या चमत्कार है, पर चमत्कार होना भगवत्प्राप्तिका लक्षण नहीं है। दक्षिणमें एक सत हुए थे ज्ञानदेवजी । उन्हींके समय एक योगी थे चाँगदेव। वे सिंहपर सवारी करते थे । १४०० वर्षकी उनकी आयु थी । प्रत्येक १०० वर्ष पर जब मृत्युका समय आता, तब योगबलसे समाधिमें बैठ जाते और फिर १०० वर्षके लिये नया जीवन बना लेते । इतनी शक्ति थी ! ज्ञानदेवजी तीन भाई थे तथा एक उनके बहन थी, सभी भगवत्प्राप्त पुरुष थे । चाँगदेवके पास उनकी खबर पहुँची, बहुत लोग उनकी प्रशसा करते । चाँगदेवजीको अभिमान था । सिह पर चढ़कर मिलने चले । लोग तो बाहरको देखते हैं । बाप रे! कितना बड़ा महात्मा है कि सिंह पर सवारी करता है । लोगोंने कहा– 'ज्ञानदेवजी महाराज ! एक बहुत बड़े महात्मा आपसे मिलने आ रहे हैं, आप चलिये ।' ज्ञानदेवजीके मनमें आया कि 'अच्छा, देखें ।' उस समय तीनों भाई–बहन एक टूटी हुई दीवालपर बैठे थे, भगवत्–चर्चा हो रही थी । जब लोगोंने बहुत कहा–'महाराज ! बहुत भारी महात्मा आ रहे हैं, अगवानीके लिये चले चलिये ।' तब ज्ञानदेवजीने कहा–'ठीक है ।' फिर दीवालसे बोले—'री दीवाल ! तू चल।' कहनेकी देर थी कि वह दीवाल जमीनसे उखड़कर चल पडी। चाँगदेवने देखा—बाप रे ! आजतक योगके द्वारा मैं चेतन प्राणीको ही वशमें करके इच्छानुसार नचा सकता था, पर यह तो जड़पर शासन

करता है । उसी क्षण अभिमान टूट गया और चरणोंमें जा गिरे । उसी समय ६४ ( अभंग ) छन्दोंमें उन्हें ज्ञानदेवजीने उपदेश दिया तथा रामनामकी महिमा बतायी कि भगवान्‌के नामके सामने ये सभी बाते तुच्छ हैं । फिर उनकी छोटी बहिनने उन्हें दीक्षा दी, तब उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति हुई ।'

असली संतोंकी पहचान किसी बाहरी चेष्टासे नही हो सकती । एक साँईबाबा थे । उनको लोग रजाई ओढ़ा देते । साथमें कुत्ता आता, वे रजाईसे खिसकते-खिसकते बाहर हो जाते । अब इस चेष्टासे ही किसीको भगवत्प्राप्त मान लेना नहीं बनता । साँईबाबाकी बात नहीं है । उनके विषयमे तो एक विश्वस्त सूत्रसे मैंने सुना है कि वे भगवत्प्राप्त पुरुष थे । यद्यपि मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं जानता । पर ऐसी चेष्टा देखकर किसीको भगवत्प्राप्त मान लेना भूल है । संतका असली स्वरूप इससे अत्यन्त विलक्षण है । वृन्दावनमें ग्वारियाबाबा थे, कुछ ही वर्ष पहले शरीर छूटा है, उनका विचित्र ढंग था । वे अपनेको श्यामसुन्दरका सखा मानते थे और सचमुच थे भी । उनकी विचित्र-विचित्र बाते आती है । दिनभर, पता नहीं कहाँ-कहाँ घूमते रहते थे । एक दिन रास्तेमे पडे थे । रात्रिका समय था। कई चोर उस रास्तेमें जा रहे थे । चोरोंने पूछा कौन हो ? वे बोले-'तुम कौन हो ? उन सबने कहा-'हम तो चोर हैं ।' इन्होने कहा-'हम भी चोर हैं ।' उन्होने कहा-'चलो, तब चोरी करें ।' इन्होंने कहा-'चलो ।' सब एक व्रजवासीके घरमें चोरी करने घुसे । वे सब तो चोर थे ही, उन सबने सामान बाँधना आरम्भ कियां । ये कुछ देर तो खड़े रहे। फिर वहीं एक ढोलक पडी थी । उसे लगे जोरसे ढम-ढमा-ढम बजाने। घरके आदमी जाग गये । वे सब तो भागे, पर ये ढोलक बजाते रहे। घरवालोंने आकर चार-पाँच डडे बाबाको लगाये । अन्धकार था । रोशनी जलायी तो देखा कि ग्वारियाबाबा हैं । उन सबको बड़ा दुःख हुआ कि महात्माको डंडे मार दिये । पूछा-'बाबा ! तुम कैसे आये ?' बोले-'चोरी करबे ताँई आये ।' उन सबने पूछा-'और कौन-कौन हते ?' बोले-श्यामसुन्दरके सखा सब हते ।' अब देखिये, इन लोगोंकी कैसी चेष्टाएँ होती हैं ।

ग्वारियाबाबा मरनेके कुछ दिन पहले बोले-'अब नोटिस आय गयी है, अब नहीं रहूँगो ।' मरनेके दो दिन बाद वहाँसे कुछ दूर एक भक्त था, उसके यहाँ गये और दूध पीया । बाबाका एक भक्त था , बडा बीमार था । रोने लगा कि 'बाबा, या तो अच्छा कर दो या अब पासमें बुला लो ।' स्वप्नमें आये मरनेके दूसरे दिनकी यह बात है । उससे कहा-'रोते क्यों हो ? चल, हमारा उत्सव मनाया जा रहा है, देखो ।' फिर स्वप्नमे ही उसे ले गये । जो-जो था, दिखलाया । फिर

कहा–'अमुक दिन तुम्हें ले जायँगे ।' नींद खुलनेपर उसने जाँच की । ठीक–ठीक जैसे उत्सव हुआ था, वैसे ही उसने स्वप्नमे देखा था और फिर उसी बतायी हुई तिथिको मर गया ।

उनकी ऐसी–ऐसी विलक्षण बातें हैं कि सबका समझना कठिन हो जाता है। पर वे थे सचमुच श्यामसुन्दरके सखा । सच्चे महात्मा थे । उनकी कई चेष्टाओंका कुछ भी अर्थ नहीं लगता था । दो महीने मरनेके पहले हाथोंमें हथकड़ी डालकर घूमते रहते थे कि श्यामसुन्दरने कैद कर दिया है । बडे भारी सगीतज्ञ थे । कहनेका सारांश यह है कि बाहरी चेष्टा भगवत्प्राप्तिका प्रमाण नहीं बन सकती । बहुत ऊँची चेष्टा करनेवालेमे भी त्रुटि रह सकती है तथा कोई बावला–सा नगण्य व्यक्ति भी बहुत बड़ा महात्मा हो सकता है ।

व्रजके प्रेमी सतोका जीवन सुननेपर तो ऐसा मालूम होगा कि कोई रोते हैं, कोई हँसते हैं, कोई पागल हैं । कितनोंमें बाहरसे कुछ भी प्रेमके लक्षण नही दीखते, पर उनके भीतर श्रीकृष्ण–प्रेमका अनन्त सागर लहराता रहता है । इन प्रेमी सतोकी पहचान बाहरसे हो ही नही सकती ।

व्रजजीवन कुछ इतना पवित्रतम जीवन है कि उसका कण ही यदि किसीको कल्पनामे आ जाय तो फिर सासारिक भोगोंकी तो बात ही क्या, ऊँची–से–ऊँची मर्यादाकी पारमार्थिक स्थितियोसे भी वह सर्वथा उपरत हो जाता है । परंतु यह करनेसे नही होता, यह तो भजनके फलस्वरूप– भगवत्कृपाके प्रभावसे किसी भाग्यवान् साधकमें प्रकट होता है । निरन्तर गुण–लीलाका श्रवण करते–करते, नाम लेते–लेते उस कृपाका प्रकाश होकर किसी–किसी भाग्यवान्‌के अनर्थकी जब पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है, तब व्रजप्रेमकी साधना वस्तुत: आरम्भ होती है । उसके पहलेकी साधना तो जबरदस्ती होती है, रुचिपूर्वक नहीं, पर जबर्दस्ती करना भी बडा उत्तम है । किसी तरह भी चलनेवालेका रास्ता तो कटता ही है ।

श्रीकृष्ण इतने सुन्दर हैं कि कहीं एक बार वे कृपा करके स्वप्नमें भी किसीको एक अपनी हल्की–सी झाँकी दिखा दें तो अनन्त जन्मोंकी आसक्ति उसी क्षण मिटकर वह उस रूपके पीछे पागल हो जाय, पर वे किसीके वशमें तो हैं नहीं। शास्त्रमे एक श्लोक है, जिसमे यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण कितने स्वतन्त्र हैं । कालियनागके फणपर तो नाचते हैं और उनके चरणोके दर्शनके लिये बडे–बडे योगी बेचारे अनन्त जन्मोसे बाट देखते हैं, पर वे सामने नहीं आते। वे श्रीकृष्ण बड़े ही मौजी हैं । एक अनुभवी भक्त कहते हैं–

गोपालांगणकर्दमेषु विहरन् विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोकुलहुंकृतै. स्तुतिशतैर्मौनंविधत्से सताम् ।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवांघ्रिपंकजयुगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः ।

'श्रीकृष्ण ! तुम ग्वालोंके आँगनकी कीचड़में लोटते हो, पर विप्रवरोंके यज्ञोंमें जाते हुए लजाते हो, गौ-बछडोंके हुंकारका उत्तर देते हो, पर सत्पुरुषोंकी सैकड़ों स्तुतियाँ सुनकर भी मौन धारण किये रहते हो, गोकुलकी पुंश्चलियोंकी दासता करते हो, पर जितेन्द्रिय पुरुषोंके चाहनेपर भी उनके स्वामी नहीं बनते। इससे यह पता लग गया कि तुम्हारे चरण-पंकज-युगल केवल प्रेमसे ही प्राप्त हो सकते हैं।' तात्पर्य यह है कि परम-असीम सुन्दर होकर भी वे परम स्वतन्त्र हैं । उनकी हल्की-सी झाँकी भी स्वप्नमें वही कर सकता है, जिसे वे कराना चाहें । खेलना उनका स्वभाव है । उनका खेल भी विचित्र है । राजाको रंक, रंकको राजा, पापीको संत, संतको पापी, श्मशानको महल, महलको श्मशान- ऐसी ही विचित्र लीला वे करते हैं । किस क्षण, किसके जीवनमें क्या होगा, यह किसको पता ? पर भक्तको डरनेकी आवश्यकता नहीं है । उसे तो उनकी ओर आशा लगाकर भजन करते रहना चाहिये । एक श्लोक है-

प्रतिज्ञा तव गोविन्द न मे भक्तः प्रणश्यति ।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम् ।।

'गोविन्द ! आपकी यह प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्तका पतन नहीं होगा । मैं इसी बातको याद कर-करके प्राणोंको धारण कर रहा हूँ ।'

यहीं श्रीकृष्ण हैं । अणु-अणुमें श्रीकृष्ण हैं और जहाँ है, अपनी सम्पूर्ण शक्ति, समग्र ऐश्वर्यको लेकर ही वर्तमान हैं । अब यदि हमारा इस बातपर विश्वास हो जाय तो हम दूसरेका मुँह फिर क्यों ताकें । किसीकी भी सहायताकी आवश्यकता नहीं । आजतक जितने भी संत हुए हैं, हैं और होंगे-सब उनके अंदर हैं, सब उन श्रीकृष्णके अंदर ही हैं जो अणु-अणुमें स्थित हैं । यहाँ तक कि हम जिस मनसे सोचते हैं, उस हमारे मनमें ही वे स्थित हैं। पर हमारा विश्वास नहीं, तब क्या हो ? यह घड़ी है, इसी घड़ीके अणु-अणुमें श्रीकृष्ण हैं । श्रीकृष्ण ही घडी बने हुए हैं । यदि विश्वास हो, ठीक-ठीक संशयहीन विश्वास हो तो यहीं इस घड़ीमें ही वे प्रकट हो जायँ और आपसे बातें करने लग जायँ । समस्त वृंदावनकी लीला आप यहीं इस घडीके स्थानपर ही देख सकते हैं । प्रह्लादका निश्चय था-खंभेमें भगवान् हैं, खंभा-जैसे जड़ पदार्थमें भी वह ठीक-ठीक भगवान्‌को देखता था । इसलिये भगवान् वहीं प्रकट हो गये, नृसिंह-रूपमें इसलिये कि उन्हें

हिरण्यकशिपुको मारना था । पर कोई चाहे कि श्रीकृष्णरूपमें ही प्रकट हों तो श्रीकृष्णरूपसे खभेमें प्रकट होंगे और पूछेंगे– 'प्यारे ! बोलो क्या चाहते हो ?' आप खूब मजेमें कह सकते है ––'हमें व्रजकी लीलाके दर्शन कराइये ।' और उसी क्षण वे चाहे तो दिखा सकते हैं । अर्जुनने प्रार्थना की–'नाथ ! मैं आपका विश्वरूप देखना चाहता हूँ,' 'तो ठीक है, देखो ।' वहीं रथपर सारथीके रूपमे जो श्रीकृष्ण थे, उन्हींके शरीरमें विश्वरूप दीखने लग गया, सारथी ही बदल गया । यदि अर्जुनके मनमें प्रेममयी लीला देखनेकी इच्छा होती तो भगवान् उन्हें वहीं उसी क्षण प्रेममयी लीला भी दिखा सकते थे । यह ठीक है कि बहुत भारी कड़ी साधनासे प्रेममयी लीलाके दर्शन होते हैं, पर साधनाका बन्धन साधकके लिये है, न कि श्रीकृष्णके लिये । वे चाहें तो बिना किसी भी साधनाके उसी क्षण लीला दिखा दें। साधना श्रीकृष्ण ही करवाते हैं, पर यह बन्धन नहीं कि साधना होगी, तभी दर्शन होगा । वे जो चाहे, वही नियम बन सकता है।

बस, विश्वास होना चाहिये–यहाँ श्रीकृष्ण हैं । बस, इतना ही । फिर हाथ जोड़कर कभी बात करें, कभी प्रार्थना करें, कभी रोये, कभी रीझें। उनसे कहे-क्यों प्रभो ! केवल गीतामे कहते ही हो कि वैसी बात भी है ? तुमने ही तो कहा है कि मेरे लिये सब समान हैं, तो मैं भी तुम्हारे लिये सबके समान ही हूँ, फिर मुझे क्यों नही स्वीकार करते ? यदि कहा कि तुम चाहते नही तो तुम्हीं बताओ मैं क्यों नहीं चाहता ? मेरे अदर चाह उत्पन्न करो । नाथ ! यह तो जानते ही हो, तुमसे छिपा नही है कि मैं सुख चाहता हूँ, दु ख कदापि नही चाहता, भीतरी मनसे सुख चाहता हूँ । यदि तुम कहो कि फिर मुझे भजो, मुझमें ही सुख है और कहीं भी सुख नहीं है तो बताओ, मेरे मनमें तुम्हारी इस बातपर विश्वास क्यों नहीं होता? क्यों मै विषयोका भजन करता हूँ ? तुम्ही आकर एक बार बता जाओ-बस, एक बार ही सामने आकर बता जाओ, फिर चले जाना । तुम कहोगे कि मैं तो उसके सामने आता हूँ जो मेरे लिये अत्यन्त व्याकुल होता है तो फिर मेरे अदर वही व्याकुलता उत्पन्न कर दो । यदि कहो कि तुम यह भी नहीं चाहते कि मेरे अदर व्याकुलता उत्पन्न हो तो तुम्हीं बताओ, मैं ऐसा क्यों नहीं चाहता ? इस प्रकार बातें कीजिये । पर यह तभी होगा, जब आपका यह विश्वास हो कि श्रीकृष्ण यहाँ हैं, अवश्य हैं विश्वासके लिये भी उपाय है–बार–बार कहें कि 'मेरे नाथ ! मुझे क्यों विश्वास नहीं होता कि तुम यहाँ हो, तुम्ही बताओ। मैं कहाँसे विश्वास लाऊँ ? मैं दु ख चाहता नहीं, सुख चाहता हूँ–इसमें तनिक भी झूठ नहीं । तुम भी कहते हो- सुख मिलेगा 'मुझपर विश्वास करनेसे, तो फिर तुमपर मेरा विश्वास क्यों नहीं होता ? क्या मैं तुम्हारे लिये दूसरा हूँ ?'

ऊँचे प्रेमका एक उदाहरण है–पतिव्रता स्त्री । पति परदेशमे है । अब मन नहीं लगता, तो वह मन नही लगनेपर एकान्तमे बैठकर रोने लग जायगी, पर उसके मनमें यह नहीं आ सकता कि 'चलें, बाहर घूम–फिरकर मन लगायें।' इसी प्रकार भक्तका मन न लगनेपर वह एकान्तमें बैठकर भगवान्‌को याद करके रोने लगता है, रोकर ही मन शान्त करता है, उसके मनमें यह नहीं आता कि चलो, चार दोस्तोमे बैठकर ज़गत्‌की–विषयोंकी चर्चा करके मन बहला लें । यहाँका पति अल्पज्ञ है, पर श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं और जहाँ भक्त रो रहा है, वही वे अणु–अणुमें छिपे हुए हैं । उसका रोना उनमें करुणाका संचार कर देता है और उनको यह व्यवस्था करनी पड़ती है कि जबतक मैं नही मिलता, तबतक इसका मन थोडा–बहुत लगा रहे । जैसे स्त्रीको पतिका सदेश सुननेपर बड़ी शान्ति मिलती है, वैसे ही भक्तको भगवद्‌गुणानुवाद तथा आश्वासनकी बातें अर्थात् 'वे मिलेगे, निश्चय मिलेंगे,' सुनकर शान्ति मिलती है । इसीलिये ऐसे भक्तके लिये भगवान् सतपुरुषोंका सग देते हैं । सत दूत हैं, वहाँ उनसे मिलकर सारी बाते लाते हैं और भक्तको सन्तोष कराते हैं ।

परन्तु हमारी तो दशा बहुत ही निम्न कोटिकी है । हमे तो साक्षात् सन्तों पर भी विश्वास नहीं है । हम अनेकों बार सुन चुके हैं कि सेठजी (जयदयालजी गोयन्दका ) भगवत्प्राप्त सन्त हैं । श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार ) को भी भगवान्‌के दर्शन अनेकों बार हुए हैं । हमारा इतना सौभाग्य है कि उनके परमोच्च पारमार्थिक अनुभवोकी बात हम उनके मुख से भी सुन चुके हैं फिर भी हमारा उन पर विश्वास नहीं है । हम इन्हे छोड़कर व्यापार और विषयभोगोंके लिये कलकत्ते–बम्बई भागते हैं । यदि हमें इतना ही विश्वास हो जाय कि ये सन्त भगवान्‌के दूत हैं, भगवान्‌का कार्य करने विश्वमें आये हैं और भगवान्‌से इनका नित्य सपर्क है, तब भी हमारा जीवन पवित्र हो जाय और हम कल्याण पथके राही हो जावें ।

परन्तु हमारा तो उद्देश्य ही अभी भगवान् नहीं हैं । हमारा उद्देश्य धन, सम्मान और संसार है । फिर केवल बातें करनेसे बातें ही होती है, हमारे भीतरका भरा संसार हमारी प्रगति भगवान्‌की ओर होने नहीं देता । क्या कहूँ। सभी इष्ट मित्रोंको यथायोग्य ।

राधा राधा

।।श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र सख्या–२२

# मनसे, वचनसे एवं दृष्टिसे जो कुछ ग्रहण होता है – सब भगवान् हैं

स्थान एवं तिथि
कुछ भी उल्लेख नही

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र यथा समय मिल गया था। आपने लिखा कि बहुत मना करने पर भी आपकी दृष्टि सुन्दर स्त्रीकी ओर चली ही जाती है । भोले–भोले सुन्दर बच्चे भी आपको मोहाकृष्ट कर ही लेते हैं । सो यह आपका मेरे प्रति प्रेम एव विश्वास है, साथ ही आप पर भगवान्‌की महती कृपा है कि आपको अपने दोष, दोषरूपमे दीख रहे हैं । यह दशा आपकी ही नहीं, सभीकी है, परन्तु दूसरे लोग इसे दोष ही नही समझते । जो भगवत्कृपावश इसे दोष मानते हैं, वे भी उन्हें अपने भीतर छुपाकर ऊपरसे उजले साफ–सुथरे बने रहना चाहते हैं ।

आप विचार कर देखिये -जितने भी सुन्दर शरीर हैं, चाहे वे स्त्रीको पुरुषके अनुभवमें आवें अथवा पुरुषको स्त्रियोंके सुन्दर दीखें, सभीमे मात्र हाड़, मांस, मल मूत्र, गदी–से–गंदी चीजें भरी हैं । फिर भी भ्रम हो जाता है और आँखें बरबस चली जाती है तथा मन भी यह कहता है कि देखो, कैसे सुन्दर हैं ? अब सोचिये कि यह भ्रम क्यों होता है ? इनमे आशिकरूपसे श्रीकृष्ण मौजूद हैं और वे हैं, इसलिये यह भ्रम हो जाता है कि सुन्दर हैं। फिर भला, स्वयं श्रीकृष्ण जिस समय नटवरनागर मुरलीधरके रूपमें किसीके सामने आ जाते होंगे, उसकी क्या दशा होती होगी । जिनकी एक चमक मात्रसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि हाड़, मांस, मल, मूत्रका थैला इतना सुन्दर प्रतीत होने लगता है, फिर जब वे ही स्वयं निज रूपसे जिस समय दर्शन देते होगे, उस समयकी दशा कितनी विचित्र होती होगी ।

सचमुच ही यह जो कुछ है–सभी श्रीकृष्ण हैं । एक श्लोक भगवान्‌ने भागवत्‌में कहा है–इतना साफ कि क्या बताऊँ । पर हमारा विश्वास नहीं है,

इसीलिये हम दुखी हैं । कहते हैं–'मनसे, वचनसे, दृष्टिसे तथा और सभी इन्द्रियोंसे जो भी ग्रहण होता है, वह मैं हूँ–इस बातको जान लो।' अब विश्वास हो तो अपने पुत्र या स्त्रीको तो आँखसे आप देखते ही हैं और आँखसे देखी हुई चीज श्रीकृष्ण कहते हैं 'मैं हूँ ।' फिर उनके व्यवहारसे दुःख क्यो होगा ?

श्रीकृष्णका स्पष्ट ध्यान नहीं होता हो, श्रीकृष्णकी सेवाके उपकरणोका ही ध्यान कीजिये । भावना कीजिये–भगवान्को धूप दे रहे हैं, धूपकी कटोरीका ध्यान करते अथवा धूपके धूएँका ध्यान करते हुए ही मर गये तो आपको निश्चय–निश्चय भगवत्प्राप्ति हो जायगी । व्रजके पेडका ध्यान करते हुए ही मरे, पर आपको प्राप्ति होगी श्रीकृष्णकी ही, क्योकि वहाँका पेड श्रीकृष्ण ही है। वह पेड यहाँकी तरह जड नहीं । मान लें, कोई ध्यान करता है–वनसे श्रीकृष्ण लौट रहे हैं, संगमरमरकी सड़क है, आगे–पीछे गाय हैं । सड़कके दोनों किनारे बडे–बडे आलीशान महल हैं, महलके नीचे फुटपाथ है, उसपर हरे–हरे वृक्ष लगे हैं । अब यदि श्रीकृष्णके रूपका ध्यान न होकर फुटपाथ, सडक, वृक्ष आदि–इनमेसे किसी भी वस्तुका ही ध्यान क्यों न हो, पर मन फँस गया तो यहीं जीवित अवस्थामें ही उसे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे । साधना पूरी होनेके पहले ही मरना पड़े तो मरते समय चाहे किसी भी वस्तुका ध्यान क्यो न हो, यदि वह श्रीकृष्णके वृन्दावन–भावसे भावित वस्तु है, चाहे पेड पौधा ही क्यो न हो, तो उसे निश्चय ही श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही होगी । इसका कारण यह है कि वृन्दावनमें पेड, सडक, डंडा, पत्ता, मकान, खभा–जो कुछ भी है, वह सर्वथा सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णरूप ही है । इसलिये लीलाके ध्यानमें बहुत आसानी है।

चाहे ध्यान न लगे, पर अपनी जानमें जो कुछ समय निकालकर सच्चे हृदयसे पूरी चेष्टा करता है कि मेरा मन भगवान्मे लग जाय, उसका ध्यान न होनेपर भी भगवान् उसे अपना भक्त मान लेते हैं । ध्यान न लगे, उतनी देर जीभसे नाम जप तो हो ही सकता है । चेष्टा हुई या नहीं–इसकी यही पहचान है कि आप जैसे दो घंटे रोज बैठें और उतनी देर यह खयाल आयेगा कि 'अरे, मन तो भाग गया ।' बस, यह खयाल आते ही यदि आपने उतनी बार सच्चाईके साथ उसे जोडनेकी चेष्टा की, तब तो समझना चाहिये कि पूरी चेष्टा हुई । यह न होकर जब ध्यान करने बैठे और दूसरी व्यापार–सम्बन्धी बातोंमें मन भाग गया तथा फिर [illegible] याद आया तो याद आनेपर भी उन्हीं बातोंको सोचने लग गये और यह कहने लगे कि 'क्या करें, जब ध्यान नही होता, तब व्यापारकी ही बात सोच ले–' [illegible]ा करना ही 'पूरी चेष्टा नहीं करना' है । मान लें दो घटेमें ५०० बार मन भाग [illegible] ५०० बार ही जब–जब याद आयी, तब–तब पूरी तत्परतासे उसे

भगवान्‌में जोड देनेकी क्रिया करके यह निश्चय करना कि अब नहीं भागने दूँगा–यही पूरी चेष्टा है ।

भागवतमे महापुरुषकी उच्च स्थिति के लक्षण बतलाते हुए यह कहा गया है कि जिसे सचमुच ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, उसे यह ध्यान भी नहीं रहता कि मेरा शरीर बैठा है कि खा रहा है कि टट्टी-पेशाब कर रहा है । उसे अपने शरीरका बिल्कुल ही ज्ञान नहीं रहता । जैसे शराब पीकर मनुष्य पागल हो जाय और फिर उसके ऊपर वस्त्र है या नहीं–इस बातका उसे ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मप्राप्त पुरुषको अपने शरीरका ज्ञान नहीं होता कि यह छूट गया है कि है। वह तो सदाके लिये आत्मानन्दमें डूब जाता है। शरीर लोगोंकी दृष्टिमें प्रारब्ध रहनेतक काम करता है, फिर वह भी प्रारब्ध समाप्त होते ही गिर पडता है । ये स्वय भगवान् श्रीकृष्णके वाक्य हैं । अब आप सोचें यदि कोई सचमुच ब्रह्मप्राप्त पुरुष आपको मिला है तो उसमें यदि वह सच्चा प्राप्त पुरुष है, तो ये लक्षण घटेंगे ही, पर यदि दीखता है कि वह महापुरुष पेशाब करता है, भोजन करता है, सबसे बातचीत करता है, व्यवहारमे सलाह देता है और कहीं भी पागलपन नहीं दीखता तो फिर दोमें एक बात होनी चाहिये–या तो वह प्राप्त पुरुष नहीं है, साधक है, या वह इतने ऊँचे स्तर पर पहुँचा हुआ पुरुष है कि उसके प्रारब्धको निमित्त बनाकर उसके अन्त करणमे स्वय भगवान् ही उसकी जगह काम करते हुए जगत्‌में अपनी भक्ति, अपने तत्त्वज्ञानका प्रचार कर रहे हैं। इन दो बातोंके अतिरिक्त तीसरी बात मेरी समझमें नही आती । या तो उसमे कमी है या वह इतना ऊँचा है कि स्वयं भगवान् उसके शरीररूप खोलीके अन्दरसे काम कर रहे हैं।

देखिये, आपने भगवान्‌को देखा है ? नहीं देखा है । पर फिर उन्हे मानते क्यो है ? इसीलिये मानते हैं कि संतोने उन्हें देखा है और शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं' अत. उसी शास्त्रकी यह बात है कि सत–असली सतका स्वरूप ऐसा होता है । विश्वास होना तो कठिन है, क्योकि अन्त करण सासारिक वासनाओंसे इतना भरा होता है कि सत्यका प्रकाश उसमें छिपा रहता है । पर सच मानिये–जिस दिन आपका अन्त करण तैयार हो जायगा अर्थात् ससारसे बिल्कुल उपरत हो जायगा, उस दिन सतमे ही नहीं, आपकी जहाँ दृष्टि जायगी वहीं एक भगवान् ही–भगवान् दीखेगे । पर अभी तो जो आपको दीखता है, उसीको लेकर आपके प्रश्न पर विचार करना है । अस्तु ! आपको जहाँ संत दीखते हैं, केवल वहाँ ही नही, जहाँ यह घडी दीखती है, वहाँ भी श्रीभगवान् है और पूर्णरूपसे हैं। आपमे, मुझमें, इनमें और सब वस्तुओमे हैं । आपमें, इनमे, हममें प्रकट नहीं हैं -यहाँ छिपे हुए हैं । ये ही भगवान् जहाँ आपको सतका शरीररूप खोली दीखती

है वहाँ प्रकट रहते हैं । अवश्य ही इस बातको समझ लेना थोड़ा कठिन है, क्योंकि वास्तवमें इस बातको बतानेके लिये कोई दृष्टान्त नहीं है । पर ऐसे समझनेकी चेष्टा करें कि जिस दिन श्रद्धा हो जायगी, उस दिन तो यह घडी ही भगवान् बन जायगी । दीवाल, खंभे—सब भगवान् बन जायँगे और प्रह्लादकी तरह फिर सबमें भगवान्के ही दर्शन होंगे। यह तो श्रद्धाकी बात है; क्योंकि इन चीजोंमें भगवान् प्रकट नहीं है । पर जहाँ प्रकट हैं, वहाँ श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं होती । वहाँ जरूरत होती है केवल देखनेकी, सम्पर्कमें आनेकी । घडी देखनेसे अपनेको भगवान्की अनुभूति नहीं हो सकती, न घडी आपका कल्याण ही कर सकती है । पर संतको देखनेमात्रसे ही, सम्पर्कमें आनेमात्रसे ही, आपको भगवान्की अनुभूति होनी प्रारम्भ हो जायगी और सतका दर्शन आपका कल्याण कर देगा, क्योंकि वहाँ भगवान् प्रकट हैं।

जैसे आग इस कलममें भी है, इस चौकीमें भी है और हमारे शरीरमें भी है, पर फिर भी संध्या होते ही हमें ठंड लगेगी ही । पर यहीं पर यदि इस कलम, इस चौकीको घिसनेसे आग प्रकट हो जाय तो फिर तो श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं होगी कि हमारी ठंड दूर हो; इसके पास बैठते ही ठंड दूर हो जायगी, चाहे आँख मूँदकर ही क्यों न बैठें । एक अंधेको भी बाहरसे लाकर यदि यहाँ बिठा देंगे, जो आग देख नहीं सकता, श्रद्धा भी नहीं कर सकता कि आग ऐसी होती है, पर ठढ उसकी भी दूर होगी । इसी प्रकार भगवान् जहाँ—जहाँ अप्रकट हैं, वहाँके लोग दु:खसे त्राहि-त्राहि करते हैं, पर वे ही लोग यदि संतके पास जा पहुँचें, तो फिर उनको श्रद्धा नहीं करनी पड़ेगी, बिना श्रद्धाके ही, बिल्कुल बिना भावके ही उनका दु:ख दूर हो जायगा। अब प्रश्न होता है कि कोई कहे कि 'हमें तो सच्चा संत मिल गया और यदि बिना भावके ही कल्याण होता है तो हमारा क्यों नहीं हुआ ? हमारे मनमें अशान्ति क्यों है ? हमें दु:ख क्यों है ?' तो इसका उत्तर यह है कि आप सचमुच ही संतके सम्पर्कमें नहीं आये । नहीं तो, कल्याण हो ही जाता । श्रद्धाकी बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल सम्पर्कमें आनेकी । आप नहीं आये, इसीलिये आपका दु:ख नहीं मिटा। सम्पर्कमें आनेका अर्थ है यह कि आपका मन, आपकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं बुद्धि तथा शरीर, सब-के सब उस संतसे जुड जायँ, बिना भावके ही जुड जायँ । फिर देखो, एक क्षणमें ही आपकी सारी अशान्ति मिट जायगी । आप एक ऊँचे साधकसे भी जुड़ सकते हैं, पर यदि वह भगवत्प्राप्त पुरुष नहीं है, तो उससे जुड़ने पर यद्यपि इस रूपमें भी भगवान् हैं, आपका कल्याण बिना श्रद्धाके नहीं होगा । किन्तु सच्चे संत महापुरुषको बिना जाने, बिना पहचाने, बिना उनपर श्रद्धा किये, पूरा-पूरा उनसे जुड़ जायँ तो फिर

निश्चय ही उसी क्षण कल्याण हो जायगा ।

संक्षेपमें बात यह है कि श्रद्धा होनी और जुडना–सम्पर्कमें आना दो वस्तुएँ हैं । किसीमें श्रद्धा होना एवं उससे जुड़ना-ये दो कियाएँ हैं । इसे ऐसे समझे–कल्पना करें, यहाँ दो व्यक्ति बैठे हैं । एक सदाचारी साधक है, दूसरा भगवत्प्राप्त महापुरुष है । अब जहाँ वह साधक आपको दीखता है–वहाँ भी असलमें भगवान् है, पूर्ण रूपसे हैं, पर यहाँ श्रद्धा करनी पड़ेगी कि ये भगवान् हैं तथा उनसे जुडना पडेगा अर्थात् मन, वाणी, समस्त इन्द्रियाँ आदिको इनसे जोडना पडेगा, तब आपका कल्याण होगा । पर महापुरुषके लिये यह बात नहीं है । वहाँ श्रद्धा चाहे बिल्कुल ही न हो कि ये भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, केवल इन्द्रियाँ–मन–बुद्धि आदि जुड जायँ, बस, आपका काम बन जायगा । कोई कहे कि 'हम तो महापुरुषसे जुड़े हुए हैं' तो मैं आपको कसौटी बताता हूँ कि वे जुडे हैं या नहीं–इसकी जाँच कर लीजिये । मनका जुडना–मनका रूप है दिनभर चिन्तन करना, कुछ–न–कुछ सकल्प–विकल्प करते ही रहना । इसका यही स्वरूप दर्शनशास्त्रमे बताया गया है । अब आप सोचें कि आपका मन दिनभरमें कितना सकल्प–विकल्प महापुरुषके सम्बन्धमें करता है और कितना सकल्प–विकल्प उनके अतिरिक्त पदार्थोंसे । आँखका जुड़ना क्या है ? आँख देखती है । दिनभरमें आप कितनी देर उन्हें देखते हैं, उनकी लिखी हुई पुस्तकोंको देखते हैं ? इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों एवं बुद्धिकी चेष्टाको औसत पर जाँच लें कि वे किस पदार्थसे जुड़ी हैं ।

जिस दिन किसीका मन वैर–भावसे भी महापुरुषसे सोलहों आने जुड़ जायगा, उस दिन उसका कल्याण हो जायगा, क्योंकि श्रद्धाकी बिल्कुल आवश्यकता ही नहीं है, आवश्यकता है जुडने की । श्रद्धाकी वहाँ आवश्यकता होती है, जहाँ भगवान् छिपे रहते हैं । जहाँ प्रकट हैं, वहाँ श्रद्धाकी आवश्यकता बिलकुल ही नही है । प्रेमसे या वैरसे किसी प्रकार जुडना चाहिये । जुडते ही काम बन जाता है । यह ठीक है कि महापुरुषसे वैर–भावसे जुडना आदर्श नहीं हो सकता तथा वैर–भावसे जुड़नेवालेको मोक्षरूप ही कल्याण मिलता है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति महापुरुष–द्वेषीको प्राय: नहीं ही होती । मुझे इसमें तनिक भी सदेह नहीं है कि सत बिना श्रद्धाके ही काम कर देते है, पर जुडनेकी आवश्यकता तो होगी ही । यह भी एक परम आश्वासनकी बात है कि जिसका एक क्षणके लिये भी किसी इन्द्रियसे वास्तविक महापुरुषके साथ जुड़ना हो गया; उसका कल्याण हो ही जायगा, क्योंकि धीरे धीरे उसकी समस्त इन्द्रियाँ जुड ही जायँगी और जिस दिन समस्त जुड गया कि बस, काम बन गया । यही

महापुरुषकी विशेषता है । स्त्री बच्चोसे तो आप अनन्त जन्मोमें–अनन्त योनियोंमें जुड़ चुके हैं । उन स्त्री बच्चोंके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही थे, पर अभी तक आपका उद्धार नहीं हुआ । उनसे जुड़े भी भीतरी मनसे ही थे, प्रत्येक योनिमें आप जुड़े रहे हैं, पर काम नहीं बना । इसीलिये भगवान्की यही अनन्त कृपा जीवपर होती है कि वे अवताररूप तथा सतरूपमें प्रकट हो जाते हैं और उनके प्रकट स्वरूपसे बिना भावके ही जो कोई एक क्षणके लिये भी जुड़ जाता है, उसका कल्याण हो ही जाता है । जुडना पूरा-पूरा हुए बिना कल्याणमे देर होती है चाहे एक जन्ममें हो या एक और जन्म धारण करके, पर यह सर्वथा सत्य है कि महापुरुषसे एक क्षणके लिये जुडा हुआ भी आगे चलकर पूरा–पूरा जुड ही जाता है तथा उसका पूर्ण कल्याण हो ही जाता है ।

यह मार्ग ही ऐसा है कि इसपर सर्वथा अहकारशून्य होकर सारी ममता–माया छोडकर, बस, श्रीकृष्णको ही एकमात्र जीवनका सार–सर्वस्व बनाकर चलना पड़ता है । जबतक बिल्कुल अपनपा मिटा नही दिया जाता, तबतक प्रेम प्रकट ही नही होता । आप एक भी सच्चे व्रजप्रेमीके जीवनमे भी यह बात नहीं देखेगे कि उनके मनमे ससार भी हो और श्रीकृष्णप्रेम भी हो। अन्धकार और प्रकाश दोनो साथ रह ही नहीं सकते या तो ससार रहेगा या श्रीकृष्ण रहेंगे ।

श्रीकृष्णकी कृपासे आपके मनमे एक धुँधली चाह उत्पन्न हुई है, पर यह चाह इतनी मन्द है कि इसको बहुत तेजीसे बढ़ानेकी तथा यह सूख न जाय इसके लिये चेष्टा करनेकी पूरी आवश्यकता है । बात यह है कि जबतक मन श्रीकृष्ण–प्रेम–रससे सिक्त नहीं होगा, तबतक कोई भी वस्तु सदा रहनेवाली शान्ति दे ही नही सकती । इसे आप अपने जीवनमें अनुभव करेंगे, पर धीरे – धीरे ।

एक खास बात और है वह यह है कि आप खूब तेजीसे वैराग्य बढाइये। आपके लिये ही नही, किसी भी प्रेम चाहनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक है कि विषयोंसे तीव्र वैराग्य तथा मनके द्वारा निरन्तर भगवत्–चिन्तन हो । यह नहीं होगा तथा कोई आपको कहे कि शान्ति मिल जायगी तो समझ ले कि या तो वह कहनेवाला स्वय भ्रममें है, या जान बूझकर आपको धोखा दे रहा है । ससारमे जबतक भगवद्बुद्धि बिल्कुल स्थिर नहीं हो जायगी, तबतक यदि ससारका तनिक भी चिन्तन होगा तो वह अशान्ति करेगा ही । आगको पकडकर मनुष्य जले नहीं, यह असम्भव है । इसी तरह ससारको ससारके रूपमें देखते रहनेपर इसके चिन्तनसे जलन बढेगी ही, चाहे आप कही भी–किसी भी देशमे चले जायँ । आपको पता नही है–शायद वृन्दावनमें रहने वाले भी कई व्यक्ति बहुत अशान्त रहते हैं जिन्हें वे आँखें प्राप्त नही हैं, वे वृन्दावनमे भी जाकर राग–द्वेषसे बचे नही

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एव तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या
101-200
तक

साधु कृष्णप्रेम

रह सकते । वहाँ भी उन्हें क्षणिक शान्ति ही मिलेगी। वृन्दावनकी चिदानन्दमयताका अनुभव उन्हें नही ही होगा । धामके वस्तुगुणसे अन्तमें उनका कल्याण हो जाय, यह बात दूसरी है ।

रास देखकर भगवद्भाव हो तो वह वस्तुतः भगवत्–प्राप्तिकी परमोच्च साधना होती है, पर आप नाराज न हों, आपका मन भगवान्‌की ओर नहीं लगता। वह लगता है वहाँकी सजावटपर । जिस मनमें कूड़ा (विषय) है, वह गंदा मन रासके भगवत्–स्वरूपोमें ज्यादा दिन टिकेगा ही नहीं । रही वृन्दावनकी बात, सो वृन्दावन असलमे जड़ वस्तु नहीं है कि वह एक देशमें सीमित है, वह भगवान्‌का स्वरूप–तत्व है, सर्वव्यापक है । श्रीराधारानी–श्रीकृष्णकी कृपासे जिनकी वह दृष्टि हो जाती है, उन्हें अणु–अणुमें श्रीधामके दर्शन हो सकते हैं, होते हैं । भूलोकमें आप जिस वृन्दावनका दर्शन करते हैं, वह सर्वथा निस्सदेह सच्चिदानन्द विभुतत्व है, पर जिन्हें उस स्वरूपका अनुभव या उसपर श्रद्धा नहीं है, उन्हें वहाँ रहकर भी शान्ति नहीं ।

सच मानिये–कहीं भी जायँ, शान्ति तभी मिलेगी जब कि मनसे ससार निकलेगा । यह नियम ऐसा है कि कभी टलेगा नहीं । आपके प्रति जो मैं प्रार्थना करता हूँ, उसमे यह न समझें कि मैं कोई अपनी बात आप पर लादना चाहता हूँ। केवल इतनी बात आपसे निवेदन कर देता हूँ कि मेरी समझमें आपको संसार मनसे निकालना ही पडेगा । यह न करके चाहेंगे कि अशान्ति मिट जाय तो नहीं मिटेगी । अशान्ति तो ससारकी सत्ता मिटनेसे ही मिटेगी । आपके लिये यह एक बात जँच रही है कि आप पूरे निश्चयके साथ चौबीसों घंटे लीलाका श्रवण, चिन्तन, मनन–जब जैसा सम्भव हो, करते रहें । युक्ति मैं आपको बतला रहा हूँ, कुछ दिन करेंगे तो मेरा विश्वास है कि उन्नति होनी ही चाहिये । करनेपर चौबीस घटे यह अनुभव होगा कि श्वासके साथ पावन वृन्दावनकी वायु मेरे हृदयमें प्रवेश कर रही है । फिर इतनी निश्चिन्तता आयेगी कि शरीर रहे या जाय, मैं तो वृन्दावनमें ही हूँ । साथ ही लीलाका चिन्तन जितनी देर कीजियेगा वह और भी आनन्द बढ़ायेगी, पर यह सब करनेसे होगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वय आपके अन्तःकरणमें ही बैठे है । जब उनसे आपको शान्ति नहीं मिली, तब मुझ–जैसे मलिन मनवाले प्राणीकी बातसे कैसे शान्ति मिलेगी । शान्ति तो तभी मिलेगी जब कि या तो ससारके प्रत्येक अन्तःकरणमें आप श्रीकृष्णको देखें; पुत्र, स्त्री, माँ–ये सब–के–सब बिल्कुल उनके ही रूपमें दीखने लग जायँ । या इन सबको भूलकर पावन वृन्दावनमें मन इतना रम जाय कि बस, ये हैं कि नहीं, इसकी स्मृति भी मनमें न रहे ।

मनसे, वचनसे एव दृष्टिसे जो कुछ ग्रहण होता है-सब भगवान् हैं
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

ये दो बातें जीवनमें उतरनी परम आवश्यक हैं । मृत्युके पूर्व यह स्थिति प्राप्त कर ली तो सब कुछ पा लिया, अन्यथा फिर एक बार अवसर चूकने पर कृपाकी लहर फिर कब आवेगी, कहा नहीं जा सकता । सभी इष्ट मित्रोंको यथायोग्य ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–२३

# भगवान्में सुखही सुख है

रतनगढ
दिनांक उल्लेख नहीं

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सस्नेह राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र यथा समय मिलगया था । मैं भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) के साथ रतनगढके बाहर प्रवासमें था । प्रवासमें उत्तर लिखनेवालेकी समुचित व्यवस्था नहीं होनेसे पत्रोत्तर समय पर नहीं लिखाया जा सका ।

एक दिन श्रीभाईजीने सत्संगमें बहुत ही मर्मकी बात कही थी । एक विषयोंके लिये रोता है और एक भगवान्के लिये रोता है । जो विषयोंके लिये रोता है, उसके तो आदि–मध्य–अन्तमें दुःख–ही–दुःख हैं, क्योंकि विषयोंमें दुःख ही दुःख है और जो भगवान्के लिये रोता है, उसके आदि–मध्य–अन्तमें सुख–ही–सुख है, क्योंकि भगवान्में सुख–ही–सुख हैं । विषयीका मन रोते समय विषयमें तदाकार होता है । इसका अर्थ है कि उसका मन दुःखमें तदाकार होता है और भगवान्के लिये विरहमें रोनेवालेका मन भगवान्में तदाकार होता है । इसका अर्थ यह है कि उसका मन आत्यन्तिक सुखसे तदाकार हो रहा है ।

आपने अभी व्रज–प्रेमका साधन कदाचित् आरम्भ ही किया है । यह खाँडेकी धार है । ज्ञान और भक्ति दोनोंसे ही यह न्यारी चीज है । यह इतनी ऊँची चीज है कि इसके मार्गमें पैर रखकर चलनेपर संसारको छोड ही देना पड़ता है । पर आपका मन अभी संसारकी उन्नतिमें फँसना चाहता है, घर–गृहस्थीके झझटमें आप कूद–कूदकर पड़ते हैं । मामूली–से–मामूली तुच्छ बातके लिये उखड़कर लोगोंसे चिढ जाते हैं तथा परिवार इतना प्यारा है कि इसके लिये आपको बुरा–भला करनेमें कोई ग्लानि नहीं होती । आप ही सोचें, श्रीकृष्ण -प्रेमके मार्गपर चलनेवालेका भला, यह ढंग हो सकता है ? देखें, चित्तकी बदमाशी नहीं छूटना एक बात है, तथा उसके लिये परवाह न होना दूसरी बात है । पर मेरी दृष्टिमें चाहे गलत हो, मुझे ऐसा लगता है कि अभी आपके मनमें यह पूरी लालसा ही नहीं है कि हमारा मन व्रजमें रमे; क्योंकि उसका लक्षण यह है कि मनके

भागनेपर, जैसे याद आया कि मन व्रजसे कहीं अन्यत्र गया है, बस, वैसे ही तीव्र व्याकुलता होगी और तुरत आप उसे व्रजसे जोड़ देंगे, किंतु आप तो शायद जान-बूझकर व्रजप्रेमका चिन्तन छोड़कर दूसरा काम करते हैं । ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्ण ही आपकी सहायता करें, मैं और क्या कहूँ ।

व्रजप्रेमी जितने हुए हैं, जिलनोंका जीवन मैने पढ़ा है, प्राय सभी कहते हैं कि हमारी शक्ति नहीं है कि हम अपना सुधार करे और सचमुच ऐसा ही मानते हैं। पर सुधार न होनेके कारण वे दिन-रात रोते हैं, उनमें कड़ापन, खासकर संतोंके प्रति अकड़ किसीके भी जीवनमें नही मिलेगी । अभिमानको तो वे लोग जड़से ही छोड़ देते हैं । इस प्रेमके पीछे न जाने कितने करोडपति भिखारी बनकर रोटीके सूखे टुकड़े माँगते मारे-मारे फिरे हैं । न तन पर वस्त्र है, न खानेको अन्न । परिवारसे छिपकर अपना जीवन भजनमें बिता चुके हैं । पर आपके जीवनमें अभी तक मुझे नहीं दीखता है कि आपमें व्रजभक्तोंकी निरभिमानता आ गयी है, रुपयेका महत्त्व कम हो गया है । रुपयेको आप धूलि समझते हों और मानको विष समझते हों-ऐसी बात मुझे अभी नहीं दीखती। उलटे मुझे तो यह दिखता है कि अभी आपके मनमें धन प्राप्त करनेकी चाह है । और यदि चालू रही तो मेरी समझमें आपका उद्धार तो हो सकता है, पाँच प्रकारकी मुक्ति भी आपको मिल सकती है, पर, यह ढग रखकर, शास्त्रोंको, जो मैने पढे हैं, सुने हैं, उनके आधार पर कहता हूँ-आपको यह व्रजप्रेम प्राप्त हो जाना तो बडा ही कठिन दीखता है । व्रजप्रेम केवल उसीके लिये है, जो उसके पीछे अपना सबकुछ जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छा रखता हो । संस्कृतमें प्रेमके सिद्धान्तपर बड़े-बड़े सुन्दर ग्रन्थ हैं, इस मार्गके बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं और उन्होंने इस व्रजप्रेमके मार्गको अलग छाँटकर बडे विलक्षण ढगसे समझाया है । उन्हें देखनेपर पता चलता है कि यह हँसी-खेल नहीं है, इसमें भीतरी मनसे अनन्त जन्मोंतक नरक तकमें सड़नेकी तैयारी जिसके मनमें होती है, वही बढ़ सकता है। वास्तवमें जो श्रीकृष्णप्रेम है, वह कुछ ऐसी दुर्लभ वस्तु है कि उसके लिये सर्वस्व त्याग करना ही पड़ता है, तुच्छ परिवार, धन-जनकी तो बात ही क्या है। शान्ति मिले, आनन्द मिले, हमें शान्ति नहीं मिलती, नहीं मिली-ये बातें जिसके मनमें हैं, उसके लिये व्रजप्रेमकी बात करना, कहना, सुनना तो मजाक उडानेकी तरह है ।

नारायन घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम ।
बिकल मूरछा सिसकिबो ये मगके विश्राम ।।

श्रीकृष्ण आपपर कृपा करें-और कुछ नहीं, केवल आपके मनमें किसी प्रकार इस संसारसे छूटनेकी लालसा जाग जाय और दीनता आ जाय, फिर काम बने,

नहीं तो यो ससारको पकडे रहना और व्रजप्रेम पाना आजतक तो कहीं हुआ नही है ।

यह जो अशान्ति है और साधना नहीं बनती--इसमें हेतु यही है कि आपको संत एवं भगवान्‌पर श्रद्धा नही है । पापके संस्कार श्रद्धा होनेमें बाधक होते हैं। इसीलिये संत कहते हैं-'भजन करो, निरन्तर भजन करो ।' भजन करनेसे अन्त:करणका मल मिट जायगा और मल मिटा कि बस, विक्षेप और आवरण तो बहुत ही आसान चीजे हैं । श्रीभाईजीने एक बार बडे प्रेमसे कहा था-मनुष्यको केवल एक काम करना है, भजनके द्वारा मलका नाश कर देना; बिल्कुल इतना ही काम उसको करना पड़ेगा और यह काम उसे ही करना पडेगा । रहा विक्षेप अर्थात् मनकी चंचलता, इसे दूर कर देगे सत तथा भगवान्‌ने जो पर्दा डाल रखा है, उसे हटाकर वे सामने आ जायँगे । यही आवरणभग है।' दृष्टान्त दिया था-जैसे दर्पण है, उसपर चिकटा मल चढा है, वह हिल रहा है और पर्दे लगे हैं। अब रगड़-रगड़कर साफ कर दो-बस, तुम्हारा इतना ही काम है । सत नीचे-ऊपर पेंच कसकर हिलना-भटकना नष्ट कर देंगे । भगवान् पर्दा हटा देंगे। बस, फिर मुख स्पष्ट दीखने लग जायगा । रगडनेसे यदि परिश्रमका अनुभव हो तो साबुनसे धो दो । निरन्तर नामका जप सहज साबुन है । मनकी मलिनता ही भगवान्‌का आनन्द नहीं लेने देती । अभी आपने लीलाकी, तत्वकी इतनी बातें सुनीं, पर इनका आनन्द सबको एक समान नहीं मिला होगा । इसमें एकमात्र हेतु है मनकी मलिनताकी घनता । जिसका मल जितना अधिक घन है, उतना ही इन बातोंका आनन्द वह नहीं उठा सकेगा । नही तो, इतनी देरकी बातचीतमें श्रीकृष्णका नाम जितनी बार आया, जब-जब उनके गुणोंकी बात आयी और वृत्तिने उसे पकड़ा, उतनी-उतनी बार हृदय पिघलकर बहने-सा लगा होता । आप पद सुनते हैं---

'कृष्ण नाम जबते श्रवन सुन्यौं री आली,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री ।'

इसमें रत्तीभर भी अत्युक्ति नहीं, न यह निरी भावुकताकी बात है । बिल्कुल सत्य है । यही दशा श्रीगोपीजनोंकी श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुणकी स्मृति-श्रवणसे हो जाती है ।

आन्तरिक प्रेमके चिन्ह बाह्य शरीरपर प्रकट हो जाते हैं और उनका शास्त्रोंमें विस्तारसे वर्णन है । आज भी सच्चे प्रेमियोंमें वे चिन्ह प्रकट होते हैं । एक रघुबाबा गोरखपुरमें थे । उनमें 'तनुता' का प्रकाश हुआ था । और भी कई प्रेमविकार उनके शरीरपर स्वयं भाईजीने समय-समयपर देखे । प्रेमपथकी बात

ही निराली है । साध्य-साधन एकमात्र श्रीकृष्ण होगे, वहाँसे पथ शुरू होगा । अभी तो जड 'शरीरका आराम' और 'नामका मोह' पग-पगपर पछाड रहा है ।

प्रेम उत्पन्न होनेपर बिल्कुल -'रही न काहू कामकी'-सी दशा भीतर-भीतर हो जायगी, संसारमें कोई भी आकर्षण आपके लिये नहीं रहेगा । इसकी साधना अपने-आप होती है । अपने-आप परिवारसे, धनसे सभी प्राणियोसे मोह हटकर दृष्टि निरन्तर श्रीकृष्णकी ओर लग जाती है । केवल श्रीकृष्ण-चर्चा, केवल श्रीकृष्ण-भजन ही जीवनका उद्देश्य नहीं, स्वभाव हो जाता है । प्रेमकी इतनी पवित्र अवस्था प्रारम्भमे ही होती है कि उसमें किसी प्रकारका स्वार्थ, किसी प्रकारका आकर्षण ( प्रेमास्पदके अतिरिक्त और किसीके प्रति ) रहता ही नहीं । इसकी प्रारम्भिक साधना है--

पर्वतकी तरह दृढ निश्चय लेकर मनसे श्रीकृष्णका स्मरण, जीभसे भजन, कानोसे श्रवण एव निरन्तर सजातीय वासना-विशिष्ट सत्सगमें जीवन-यापन।

महाप्रभुने पाँच उपाय बतलाये हैं--

(१) निरन्तर नाम-जप, (२) सजातीय वासनाविशिष्ट सत्संग, (३) श्रीमद्भागवतका आस्वाद, (४) श्रीविग्रहसेवा, (५) श्रीव्रजवास ।

श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है कि ये पाँचों इतनी विलक्षण शक्ति सम्पन्न साधनाएँ है कि कल्पनातीत शीघ्रतासे भाव, जो प्रेमकी पूर्वकी अवस्था है और जिसका एक नाम 'रति' भी है, उत्पन्न हो जाता है । पर 'सद्धियाम्' इसकी टीका की गयी है 'अपराधविहीनानाम्'। अर्थात् जो भगवत्सेवापराध एवं नामापराधसे रहित हैं, उनमें इस साधनासे एक क्षणमें ही भाव उत्पन्न हो जाता है, अपराधयुक्त प्राणीमें नहीं ।

जैसे लकडीके दो टुकडे हैं । उन दोनोंमें अग्नि तो पर्याप्त है । न विश्वास हो तो रगडकर देख लें, उसमेंसे आग निकलेगी । इसी प्रकार भगवान् प्रत्येक प्राणीमें बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर व्याप्त हैं । अब जैसे आग कहीं प्रकट हो जाय और प्रकट होकर किसी लकडीके खण्डको पकड ले तो फिर लकडी उसी आगमें जलकर स्वयं आग बन जाती है । जहाँ अग्निका संयोग हुआ कि वह लकडी फिर लकडी रह ही नहीं सकती । वह निश्चय-निश्चय आग बन जाती है। ठीक इसी प्रकार, जिस समय भगवान्का वास्तविक साक्षात्कार सतको होता है, उसी क्षण वह भगवान्में मिल जाता है । ठीक भगवान्के रूपका बनकर ही वह तब भगवान्का अनुभव करता है । उसे किसी भी दृष्टान्तसे समझाया नहीं जा सकता, क्योकि सभी दृष्टान्त जड-जगत्के हैं और सत एव भगवान्के मिलनकी बात चिन्मय जगत्की है । पर यदि इस दृष्टान्तको कोई ध्यानमें रखें तो वह

कुछ कुछ कल्पना कर सकता है । भगवान् हैं तो प्रत्येक प्राणीमें, पर कहाँपर किसी कारण से ( प्रेमकी रगडसे) प्रकट हुए और प्रकट होते ही उन्होंने अपने आधारको अर्थात् जिसके लिये जिसमें प्रकट हुए थे उसे बिल्कुल पूरा–पूरा अपने समान बना लिया । जलनेके बाद जिस तरह काठ बिल्कुल काठ न रहकर अग्नि हो जाता है, ठीक वैसे ही सत देखनेमें तो मामूली मनुष्यकी तरह खाता–पीता, व्यवहार करता है, हँसता–रोता है, संन्यासी न हो तो घर गृहस्थी भी करता है, परतु वस्तुतः वह भगवान्की ही एक लीला है, जिससे वे अपनेको छिपाये रहते हैं। प्रश्न यह होता है कि फिर उस शरीरको भगवान् रखते क्यो हैं ? रखते है इसीलिये कि उसके स्पर्शमें आकर कुछ और भी प्राणी उस आगमे जलकर उसीकी तरह बन जायँ, इसीलिये प्रारब्धकी लीलाका निर्वाह होता है ।

शास्त्र पढ़नेसे तो अनेक प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि सच्चे भगवत्प्राप्त सत भगवान्से अभिन्न हो जाते हैं । युक्तियोके द्वारा भी मनुष्य इसे समझ सकता है । पर वही समझेगा कि जिसने जीवनका एकमात्र उद्देश्य बनाया है कि 'मुझे प्रभुसे मिलना है ।' फिर होता क्या है कि सत स्वय अपनी गरमी–अपना तेज उसे प्रकट करके दिखलाना शुरू कर देते हैं । उनके तेजका असर तो सबपर होता है, पर बीचमें अहंकार, ससारकी वासना, विषय–सुखकी चाह, उनसे लौकिक स्वार्थपूर्तिकी वासना–ये सब खड़े होकर उनके तेजको देरसे ग्रहण होने देते हैं । जिस दिन जीवनका उद्देश्य एकमात्र भगवान् हो जाते हैं, उस दिन ये सब व्यवधान झड़ जाते हैं, साधक इनको फेंककर अकिंचन बन जाता है।

फिर जहाँपर सत दीखते हैं, उस स्थानपर श्रीकृष्ण दीखे–इसमे तो कहना ही क्या है, उसकी दृष्टिमें सर्वत्र एक श्रीकृष्ण ही रह जाते हैं और वह दिव्य पावन आनन्दके समुद्रमें डूब जाता है । जबतक यह हो, तबतक शास्त्र आज्ञा देते हैं कि 'चाहे किसी भावसे हो, सम्बन्ध जोडे रहो।' भगवान्की करुणा जैसे अहैतुकरूपसे भगवान्में रहती है, सन्त रूप भगवान्की मूर्तिमें भी वह करुणा वैसे ही रहती है और वह करुणा किसी दिन एक क्षणमें तुम्हारे व्यवधानको दूर कर देगी । अवश्य ही अलग हटोगे तो भी निस्तार तो होगा ही; क्योकि एक बारका सम्बन्ध ही निस्तारके लिये पर्याप्त है । पर कुछ देर लगेगी, क्योकि आखिर नियमसे सब होता है । कोई कहे कि सत अपने–आपको प्रकट करके जीवोंका उद्धार क्यों नहीं करते तो उसका उत्तर यह है कि, यदि इसमें लाभ होता तो आप ठीक समझें, वे प्रकट होकर नाचते । जिस समय प्रकट होनेसे लाभ होता है, उस समय प्रकट भी होते हैं–हुए हैं । पूर्वकालमें महाप्रभु चैतन्यदेव प्रकट हुए थे और खुलेआम प्रेमका वितरण उन्होने किया था । उस दिन पेटमे प्रेमकी भूख थी । आज तो

भगवान्‌में सुखही सुख है
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

जगत्‌के प्राणी चाहते हैं–हमको धन मिले, मान मिले । यह देना उन्हें अभीष्ट है नहीं । अधिकाश जगत्‌का वातावरण आज इसी कामनासे कलुषित हो रहा है । फिर इससे भी ऊपरकी एक बात यह है कि भगवान् कब कौन–सा ढंग स्वीकार करते हैं–इसका रहस्य यदि हम समझ जायँ तो फिर भगवान् भी हमारी तरह मामूली ही सिद्ध हों, उनकी भगवत्ता ही क्या रह जाय । अत शास्त्र एव सत स्वयं कहते हैं कि चाहे उनकी कोई चेष्टा ऐसी हो कि जिससे जगत्‌को कम लाभ होता हुआ दीखे, पर निश्चय–निश्चय मान लीजिये कि इसी चेष्टासे इस समय अधिक लाभ होगा। यदि न होता तो वे वैसी चेष्टा करते ही नहीं, क्योंकि उनमें भ्रम–प्रमादकी गुजाइश ही नहीं है । इसपर विश्वास करवा देना बडा कठिन है; पर बात बिल्कुल सत्य है–शास्त्रकी है, मेरी नहीं । उन ऋषियोंकी बात है, जिनकी बातें त्रिकाल–सत्य हैं ।

बिल्कुल उनकी कृपासे ही कोई उन्हे जान सकता है । मुझ–जैसे मलिन प्राणी तो संत एवं भगवान्‌के तत्त्वकी वास्तविक कल्पना भी नहीं कर सकते। बंगालकी बात है–हालकी ही । एक माई थी–विधवा हो गयी, पर भगवान्‌में उसका वात्सल्य भाव हो गया । फिर गोपालको पुत्र मानकर उसने तीस वर्षतक उपासना की । प्रतिदिन गोपालकी भावनासे भोजन कराया करती थी । अब गोपालको दया आ गयी । एक दिन आये और सचमुच खाने लग गये । पर आधा खाकर ही भाग गये । वह तो प्रेमसे पगली हो गयी । 'गोपाल', 'गोपाल' चिल्लाती हुई मारी–मारी फिरती । उन्हीं दिनों रामकृष्ण परमहस नामके कलकत्तेमें एक बहुत बड़े महात्मा हुए थे । कुछ लोग उन्हींके पास जा रहे थे । लोगोंने उस माईसे कहा–'चल, बुढ़िया ! गोपाल वहाँ मिलेंगे।' यह तो पगली थी ही, थोडा चावल और नमक बाँध लिया कि गोपाल मिलेगा तो खिलाऊँगी । वहाँ पहुँची । लोगोंकी भीड़ थी । परमहंस उपदेश कर रहे थे । तरह–तरहके उपहार, मिठाई, फल आदि लोग लाये थे । सब सामने रखा हुआ था । बुढिया गयी। परमहंसको देखते ही बिल्कुल शान्त हो गयी । परमहंसने उपदेश बंद कर दिया । बोले–'मैया, मैं तो खिचडी खाऊँगा ।' खिचडी बनी । बुढियाको होश हो गया था । वह सोचने लगी कि 'मैं पगली हो गयी थी। ये महात्मा हैं, इनकी कृपासे अच्छी हो गयी हूँ ।' इसको आज्ञा हुई–लोगोंने देखा बुढ़ियाका अहोभाग्य है । बुढ़िया लजा गयी, पर लोगोंने कहा–'परमहस तुम्हारी खिचडी खाना चाहते हैं ।' परमहस रामकृष्ण भी पागलकी तरह रहते थे । बुढियाने खिचडी बनायी। पर सकोच था, केवल नमक–चावलकी खिचड़ी महात्माको कैसे खिलाऊँ । रामकृष्ण सभामण्डपसे उछले तथा कूदते–फाँदते वहाँ पहुँचे । 'मैया ! खिला, भूख लगी

है ।' रामकृष्ण बैठ गये, बुढियाने परोस दिया । परोसते ही रामकृष्ण गोपालके रूपमें हो गये। बुढिया फिर गोपाल, प्यारा गोपाल—कहकर चिल्लाने लगी । उस दिनसे बुढिया एवं गोपालका सम्बन्ध नित्य हो गया । कहनेका मतलब यह है कि एक नहीं—ऐसी कितनी घटनाएँ प्रत्यक्षमें होती हैं कि जिनसे सत एव भगवान् बिल्कुल अभिन्न हैं — यह तो सिद्ध हो जाता है, साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि ग्राहक नहीं हैं, इसीलिये सत उस रूपमें प्रकट नही होते । ऐसे—ऐसे संत हुए हैं कि जिन्होंने केवल एक दृष्टि डालकर मलिन—से—मलिन प्राणीमें उसी क्षण प्रेमका संचार कर दिया है ।

एक बात और समझ लेनेकी है । सत एव भगवान्में भेद न होनेपर भी जो प्रेमी सत होते है, उनमे 'प्रेमी एव प्रेमास्पद' ये दो भाव रहते हैं ।

जिस प्रकार राधारानी एव श्रीकृष्ण तत्त्वत· एक हैं, पर फिर भी दोनों दो बने रहते है उसी प्रकार प्रेमी सत भगवान्से अभिन्न होते हुए भी पृथक् बने रहते है और जैसे राधारानीको प्रसन्न करनेका गुर श्रीकृष्णकी सेवा और श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेका गुर राधारानीकी सेवा है, वैसे ही भक्त और भगवान्का भी जोड़ा है ।

या तो सतकी अनुभूति सर्वथा मिटा दीजिये और उसकी जगहपर भगवान्की ऊँची—से—ऊँची कल्पना जो आपके मनमे हो, उसके अनुसार, उसी भगवत् सत्ताको अभिव्यक्त देखिये, अथवा भगवानको भी भूलकर सर्वथा एकाग्रचित्तसे एकमात्र यही उद्देश्य बना लीजिये कि सतके चरणारविन्दमे कैसे प्रेम हो । दोनोका फल एक ही होगा । दोनोको एक साथ लेकर चल सकें, तो भी एक बात है । पर इन दोनो बातोंके अतिरिक्त जो चीज है—वह व्यवधान है, उसे हटा दीजिये । विषयासक्ति, लौकिक स्वार्थ, पारिवारिक मोह ये व्यवधान हैं । जितनी श्रद्धा है, काफी है । यह नियम है कि वस्तुत सत यदि कोई हो तो उसमे श्रद्धाकी जरूरत नही है, उसकी ओर तो उन्मुख होनेकी जरूरत है । श्रद्धासे तो पत्थरकी मूर्ति भी कल्याण कर देती है । श्रद्धा न हो और फिर ऊँची—से—ऊँची चीज मिल जाय, यही महापुरुषकी विशेषता है । यहाँ फैसला श्रद्धाके तारतम्यसे नहीं होता, उन्मुखताके तारतम्यसे होता है । यही उन्मुखताका तारतम्य ही पारमार्थिक स्थितिके ऊँचे—नीचे स्तरकी प्राप्तिमें हेतु हो जाता है । यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि आप संतके वास्तविक स्वरूपको जाने, बिना जाने सर्वथा अधकारमे ही रहकर यदि अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दे तो स्थिति आपको वही मिलेगी, जो जाननेवालोंको मिलेगी । जाननेवालेको कुछ विशेष मिले, यह बात नहीं है, उन्मुख कौन अधिक है—इस बातपर ही स्थिति निर्भर है। कोई भी हो, वह कितनी मात्रामें अपने आपको

मिटाकर उसकी जगह संतको बैठा देनेके लिये तैयार है-यह प्रश्न है । फिर वहाँ जो वास्तविक अभिव्यक्ति अचिन्त्यशक्ति है, भगवत्-सत्ता है, वह उसको उस मात्रामें अपना लेगी । इसलिये उपर्युक्त दो बातोंमें एक बात कीजिये-मेरे कहनेसे नहीं, सर्वथा शास्त्रीय प्रमाणको देखकर। 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' – सूत्रको रटकर संतके ढाँचेकी जगह भगवान्को देखिये । अथवा 'हे संत, हे संत, हे संत -' यह रट लगाकर बस, सर्वथा ' अनन्यममता विष्णौ' की जगह 'अनन्यममता संतचरणेषु' – कर लें । सच मानिये, एक ही फल मिलेगा ।

मनुष्यका स्वाभाविक हृदय ऐश्वर्यप्रवण होता है और वह ज्यों-ज्यों आगे बढेगा-मान लें, किसीने संतकी जगह सर्वथा भगवान्को देखकर चलना प्रारम्भ किया-त्यों-ही-त्यों स्वाभाविक ही उसके मनमें भगवत्-ऐश्वर्यका उदय होगा और वह सोचेगा कि ये सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं । पर इस सम्बन्धमें एक नियम याद रखना चाहिये, वह यह कि कल्याण-गुणताके अंशमें ( अर्थात् जगत्-उद्धारकी क्रियाके संपादन रूप अंशमें) महापुरुषकी ज्यों-की-त्यों वही शक्ति है जो शक्ति **अवतारमें अभिव्यक्त होती है । परन्तु** ऐश्वर्यके प्रकाशकी शक्ति श्रद्धालुकी श्रद्धापर **निर्भर है । ऐश्वर्यका प्रकाश केवल उस श्रद्धालुके लिये ही** होगा कि जिसका **सर्वथा संशयहीन विश्वास, परिपूर्ण विश्वास संतमें एकमात्र** भगवान्के ही होनेका हो चुका **है, जिसके मनमें जरा भी संतपनेकी अनुभूति अलग अवशिष्ट** है, उसके लिये बेधडक प्रकाश नहीं होगा । **हमलोगोंमेंसे ऐसा अभी कोई नहीं** है, जो किसी संतके प्रति सर्वथा इस श्रद्धाके स्तरपर पहुँचा हो अतः उसे यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐश्वर्य-अंशमें भगवत्ताके प्रकाश अर्थात् सर्वज्ञता, सर्वसमर्थताकी अभिव्यक्तिकी ओरसे दृष्टि मोड़ ले । अन्यथा होगा यह कि उसकी श्रद्धाकी कमीके कारण इस शक्तिके प्रकाशमें उसे त्रुटि दीखेगी और वह फिर उधेड़-बुनमें पड़ेगा। इस भागवतीय नियमको याद रखना चाहिये । अवतारमें और भगवद्रूप संतमें, जो जीवभावको लिये हुए जन्मे थे और फिर भगवत्-सत्तामें विलीन हो गये-( दोनोंमें ) अन्तर यही है कि जो अनादिसिद्ध भगवान्का अवतार है, उसमें तो दोनों शक्तियोंकी अभिव्यक्ति अर्थात् कल्याण-गुणता एवं ऐश्वर्यकी शक्तियोंकी अभिव्यक्ति बिना श्रद्धाके ही होती है । पर सर्वोच्च संतमें केवल कल्याणगुणता ही प्रकाशित होती है, ऐश्वर्य श्रद्धालुकी संशयहीन श्रद्धा होनेपर ही कहीं प्रकाशित होता है ।

काम करते समय जिस-किसी वस्तुपर दृष्टि जाय उसीमें एक बार श्रीश्यामसुन्दरकी उस मधुर छविको देखनेका अभ्यास कीजिये । साथ ही 'नाम' निरन्तर चलता रहे । छूटे, फिर पकड़ें, इस प्रकार अपनी जानमें ईमानदारीके साथ

जीभसे नाम एव मनके द्वारा लीलाका या रूपका चिन्तन करनेकी पूरी चेष्टा करें। फिर यदि एक पाई भी सफलता न हो तो कोई आपत्ति नहीं, बिल्कुल आपत्ति नहीं, साधना न हो तो दोषकी बात बिल्कुल नही है, पर उसके लिये मनमे महत्त्व न होकर उसे छोड़ देना दोष है। मान लें–समस्त जीवन चेष्टा करते रह गये, न वृत्ति सुधरी, न भाव हुआ, न विश्वास, यहाँतक कि रूपकी मामूली धारणाकर मन एक सेकडके लिये भी स्थिर नहीं हुआ। पर यह लालसा लगी रही और बार–बार करते ही गये तो फिर मैं तो सशयहीन होकर ही यह कहता हूँ कि आपको ठीक वही चीज भगवान् देगे, जो सर्वथा साधनाकी परिपक्व अवस्थामें ऊँचे साधकोको मिलती है। ध्यान करते समय कोई चित्र नही बँधता, तो घबराइये मत। कभी वृन्दावनमे गये ही है। वहाँका सर्वोत्तम दृश्य, जो आपके मनमें हो उसको, उन पेड़–पत्तोंकी धुँधली–सी स्मृति मानस–पटलपर क्या नहीं ला सकते? मैं ठीक कहता हूँ–मस्तिष्क यदि पागल हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा निश्चय ला सकते हैं। प्रतिदिन नियमसे एक बार ही स्मरण कीजिये, पर कीजिये अवश्य। फिर देखेगे वह एक बारकी स्मृति–उन वृक्षोंकी स्मृति ही आगे चलकर अनन्तगुनी हो जायगी तथा मरते समय यदि उन लता आदिकी ही कोई धुँधली–सी स्मृति हो गयी तो निश्चय समझें, आप निहाल हो गये। व्रजमें लता बनेगे और स्वयं राधारानी एवं श्रीकृष्ण उस लतारूप, सच्चिदानन्दमय लतारूप आपके समीप आकर अपने हाथोंसे फूल तोडेंगे तथा आप चाहे तो उसी क्षण अपने इच्छानुसार रूप धारण करके उनकी सेवा कर सकते हैं, ब्रजकी लताका ध्यान करके लता बननेवाला ब्रह्मप्राप्त पुरुषसे कम नहीं है। यह भावुकताकी बात हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस सिद्धान्तको श्रीकृष्णकी अतिशय कृपासे ही आप समझेगे और विश्वास कर सकेगे।

स्वयं तो पहले तत्त्वत श्रीकृष्ण बनकर ही तब व्रजकी लता बनेंगे, क्योंकि श्रीकृष्णके व्रजकी लता स्वरूपतः जड वस्तु नही है, वह सच्चिदानन्दमय है। सोचिये, श्रीकृष्णकी कितनी कृपा है – बिना उस दिव्य लताको देखे ही प्राकृत धारणामें आयी हुई लताका आप ध्यान करते हैं, पर वे इसीको अपना ध्यान मान लेते हैं, इसीको निमित्त बनाकर वे आपको सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर देते हैं! आपसे क्या लता, पेड़, पत्ते, मिट्टीके घडे, पीतलके कलसेका भी ध्यान नही हो सकता? और मजा यह है कि इनमेंसे किसीका व्रजभावसे भावित होकर ध्यान करनेपर बिल्कुल सच्चिदानन्दमय राज्यमे ही प्रवेशाधिकार मिल सकता है।

संध्या–समय आपने देखा होगा, गायें वनसे लौटती हैं। ठीक उसी तरहका एक धुँधला चित्र व्रजभावसे भावित होकर इस समय अपने मानस–पटलपर

लाकर देखिये—गाये आ रही हैं, बस, श्रीकृष्ण मान लेंगे कि यह मेरा ध्यान कर रहा है ।

योगीके लिये मन लगाना, मन स्थिर करना कठिन है, क्योकि उसे तन्मय करना है एक वस्तुमें । पर यहाँ तो गायसे मन उचटे तो पेडमें, पेडसे मन उचटा तो यमुनाके जलमें, वहाँसे मन उचटा तो वनकी पगडंडीमें, वहाँसे मन गया तो गोबरमे, धूलिमें ( सब सच्चिदानन्दमय हैं ) मन लगाकर कहीं— कुछ भी ध्यान करके कृतार्थ हो सकते हैं । क्या परिश्रम है ? केवल चाहकी कमी है ।

यहाँ बैठे—बैठे इस कलममें देखें, भावना करे—यह पेड—सा दीखता है, वृन्दावनमे हरे पेडोंका रग इससे कुछ भिन्न है । अब इस प्रकारके चिन्तनको ही श्रीकृष्ण अपना चिन्तन मान लेगे और ठीक इसे निमित्त बनाकर मरते समय आपको सर्वोच्च स्थितिका दान कर देगे । वे देखेगे, अपनी जानमे इसने मनको मेरी प्यारी वस्तुओंमें लगाया है । गायें मुझे प्यारी हैं, वन मुझे प्यारे हैं, पेड—लता मुझे प्यारे है - इसने मेरी प्यारी वस्तुओका चिन्तन किया है । इसका तो मैं ऋणी हूँ । यह भी जाने दें, और कुछ न सही, एक बार कहिये—राधा—राधा । ये शब्द—भावुकताकी बात नहीं है — श्रीकृष्णको ऋणी बना देंगे :—

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदापराधान् मधुपति—
र्महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति ।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरस
महिम्न: क: सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम् ।।

आपकी समस्त अशान्ति एक क्षणमें दूर हो जायगी । आप केवल व्रज लीलामें मनको थोडा—सा भी ले जानेका अभ्यास डाल लें, यद्यपि यह है सर्वथा कृपासाध्य। बडे—बडे ऊँचे अधिकारी हो सकते हैं, पर उनकी अभिरुचि ही इस ओर नही होती। समस्त जीवन रचे—पचे रहनेपर भी आनन्द-शान्ति उनके भागमें बहुत ही कम हाथ लगते हैं, क्योकि उन्हें भगवत्कृपाका अवलम्बन प्राय: नहीं रहता । पर यह व्रज—लीला ऐसी है कि इसमे रुचि यदि हुई तो यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त मान लें कि किसी विलक्षण महात्माकी अहैतुकी कृपा आपको उस स्तरमें ले जानेके लिये हो चुकी है । नहीं तो, रुचि असम्भव है । आप तो अपना परम सौभाग्य समझे । अब केवल थोडा—सा और आगे बढ जाइये। इस व्रज—लीलाकी कल्पनामें अपने मनको तदाकार कर दे । यह इतना आसान है कि इसकी कल्पना भी बिना लगे हो नहीं सकती अवश्य ही यह होनी चाहिये सच्ची । व्रजभावसे भावित चित्तसे लता पेड, पत्ते, पगडडी, वन, गाये, गोशालाकी भीत, साडी, साफा देखते—देखते ही मन इस नश्वर राज्यसे उठकर वहाँ चला जायगा, वहाँ जाकर आप यहाँकी परिस्थितिके

लिये सर्वथा चिन्ताहीन हो जायँगे, यहाँकी उधेड–बुन रहेगी ही नही, मन एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर जायगा ।

अत्यन्त तुच्छ–से–तुच्छ पदार्थ, गंदी–से–गदी चीज आगमें पड़कर अपना समस्त मैल–अपनी समस्त दुर्गन्ध त्यागकर ठीक आगका रूप धारण कर लेती है, वह इतनी तेज हो जाती है कि वह स्वयं अपने सम्पर्कमें आनेवाली वस्तुको भी भस्म कर देती है । इसी प्रकार किसी भी भगवत्–प्रेमी संतसे मिलिये तो सही, मिलते ही थोडा नहीं, पूरा–का–पूरा–सब कुछ, जो भी वे है, जो भी उनका है, सब आपमें उतर आयेगा । आग ता जड है और सत चेतन ही नही, इस विलक्षण जातिके चेतनके रूपमें रहते हैं कि उसकी कोई उपमा ही नहीं है । कोई दृष्टान्त नही है कि उस स्थितिको हम या आप बुद्धिके द्वारा समझ लें । जबतक आप ठीक–ठीक उस रसमें ढलकर अपने–आपको मिटाकर उसी रसके अनुरूप नहीं हो जायँगे, तबतक स्थिति क्या है–यह समझना सम्भव ही नहीं है । बस, रस सच्चिदानन्दमय है, आप स्वय जबतक समस्त जडतासे सम्बन्ध नहीं तोड लेगे, तबतक उस रसका आस्वाद नही हो सकता । अभी तो मान प्यारा लगता है । पुत्र, परिवार धन प्यारे लगते हैं । जड वस्तुओकी तह–की–तह चारों ओरसे लिपटी हुई है । वास्तविक आनन्दकी बात छोड दे, सतके प्रति साधारणसे सम्बन्धका जो फल होना चाहिये, वह भी हम लोगोमेंसे शायद ही किसीमें अभिव्यक्त हुआ हो । देखें, मैं कहता हूँ -'आप यह कार्य कर दें,' और सत भी मेरी तरह ठीक यही बात कहते हैं । दोनो ही शब्द हैं, पर दोनोमें इतना अन्तर है कि उसकी कल्पना भी नही हो सकती । मेरा कहना, मेरी आवाज, उस चेतन सत्ताके आधारपर है, जिसकी संज्ञा 'जीव' है और जिसमे यह अहंकार वर्तमान है कि मैं हूँ, परतु आप यह कार्य कर दें सतके मुखके निकले हुए ये शब्द उस विलक्षण अनिर्वचनीय चेतन सत्ताके आधारपर हैं जो कहता है

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय ।।'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'
'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।'

परतु क्या आपको वह आनन्द मिलता है ? निश्चय ही नही मिलता मिलता होता तो आपकी स्थिति ही बदल जाती । वहाँ सतके ढाँचेके अन्तरालमें वह बोलता है, जो सर्वेश्वर है, जो 'सुहृद सर्वभूतानाम्' की घोषणा करता है, जिसमे केवल आनन्द ही आनन्द है । पर आपको तो डर लगता है, प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है । जहाँ प्राणकी व्याकुलता लेकर सदाके लिये उसीमें समा जानेकी इच्छा [illegible] चाहिये थी, वहाँ उपरामता भी आती है । ऐसा क्यों होता है ?

भगवान्‌में सुखही सुख है
पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

इसलिये कि उसमें मिले नही । आगकी तरह उसकी कृपा आपको चारो ओरसे घेर रही है, घेरे हुए है और आगे चलकर मिला भी लेगी निश्चय, परतु अभीतक आप अपनी ओरसे मिले नही। अपनी दुर्गन्धसे आपको घृणा नहीं है। आप उससे मिल जानेकी तीव्र लालसा नही रखते। विश्वास कीजिये– 'आप चाहे मलिन–से–मलिन प्राणी क्यों न हो, केवल मैलेकी तरह आपमें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे ऊपर, केवल बदबू आ रही हो, पर 'सत' नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही आप बिल्कुल उसी ढाँचेमें ढल जाइयेगा । आग क्या यह देखती है कि यहाँ मैला है? मैला आगमें पड़ा कि सारा–का सारा अगारा हो जायगा । अस्तु, मिलिये, उसमे मिलिये । अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलिये ! दिन–रात उसके इशारे पर चलनेकी चेष्टा कीजिये । दिन–रात सोचिये, सत कितने कृपालु हैं । दिन रात यह विचार कीजिये – 'कृपामय ! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले अपना ले, मुझमे तो बल नही ।' दिन रात नाम लीजिये, चलते–फिरते नाम लीजिये इससे बडी सहायता मिलेगी। दिन–रात यही इच्छा कीजिये कि सतका सग छूटे नही। दिन–रात यही सोचिये कि सतके लिये परिवार, सत के लिये इज्जत यदि बाधक है तो सतके चरणोमे इनको भी समर्पण कर देना है । इसका यह अर्थ नहीं कि मैं किसीको सन्यासी बननेकी उत्तेजना देता हूँ । बाहर कपडा रँगकर भी क्या होगा परतु यह ठीक है, नितान्त सत्य है, सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पडेगी . बाहरका ढाँचा ज्यो–का–त्यो रहकर मन बिल्कुल खाली हो जायगा, तभी आपकी अभिलाषा पूर्ण होगी । यदि किसी सतकी दृष्टि–अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड चुकी है तो आपके लिये परवाना काटा जा चुका, परतु आप यदि अपनी ओरसे देनेके लिये जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान ले तो फिर शीघ्र से शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायगी । आपने पूछा और मेरे ऊपर आपका प्रेम भी है इसीलिये कहता हूँ–रोटी मुझे भी भगवान् ही देते हैं, कपड़े भी वे ही देते है, आपको भी वे ही देते हैं और देगे । फिर अपनी एव परिवारकी चिन्ता क्यों करते हैं ? मैं जिस दिन उनका होऊँगा, उसी दिन मेरा मन यह ठीक कहेगा कि 'मुझसे सम्बद्ध समस्त चीजें उनकी हैं–वे उन्हे नष्ट कर दें, तोड दें, फेंक दें या जो भी चाहे करें–मैं क्यो कहूँ ऐसा करे, वैसा करें। मेरी कोई चाह नहीं – उनकी चाह ही, बस आपकी चाह ।' यह भाव ही सत–चरणोमें प्रेम होनेकी पहली सीढ़ी है ।

भगवान्‌में सुखही सुख है
पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

आप पाँच सूत्रोंको याद रखें –

१. विषय-त्यागसे प्रेम ।
२. लीला-गुणोंके श्रवणसे प्रेम ।
३ अखण्ड-तैलधारावत् भजनसे प्रेम ।
४ मुख्यत भगवान्‌के भक्तकी कृपासे ही प्रेम होता है । और-
५ यह कृपा उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है ।

पर निमित्तरूप उपाय है रोना, भगवान्‌के सामने रोते जाना । मनमें केवल श्रीराधाकृष्णके चरणोंमे न्योछावर होनेकी लालसा रहकर बाकी सब लालसा मिट जानी चाहिये ।

पुत्र, स्त्री, बच्चे, परिवारका चित्र बहुत आग्रहपर ही मनमें आये, अन्यथा वे कैसे हैं, उनका क्या हो रहा है, उनका भला-बुरा किस बातमें है-इन सबको सर्वथा विश्वासके साथ भगवान्‌पर छोडकर सर्वथा निश्चिन्ततापूर्वक जागनेसे सोनेतक केवल भजन-स्मरणमे समय बिताना यही ऊँचे स्तरके त्यागका बाहरी रूप है।

एक मित्रको मैंने उनके जीवन-सुधारका यही उपाय बतलाया है कि पापसे बचो, बचनेकी चेष्टा करो, परन्तु जब भी, जिस प्रकार भी बुरे विचार मनमे आयें, उन्हें साफ-साफ लिखकर किसी सन्तके पास भेजते रहो, फिर कोई परवाह नहीं।

विज्ञानका नियम है- कॉच ही नही, समस्त धातु बनते ही है सूर्यसे। सूर्यकी किरणोसे ही समस्त धातुओंका निर्माण होता है । सूर्यकान्तमणि भी बनती है सूर्यसे ही । उसी प्रकार ठीकसे कोई भी भगवान् एव सतकी कृपाको ग्रहण करके एक क्षणमें ही उच्च-से उच्च अधिकारी बन सकता है । आज व्याख्यानमें सुना लाखो वर्षके अन्धकारको मिटानेके लिये लाख वर्षकी जरूरत नहीं है । जरूरत है प्रकाश पहुँचनेकी, प्रकाश आते ही उसी क्षण उजाला हो जायगा । ठीक इसी प्रकार रत्तीभर भी कोई साधना नहीं चाहिये, जरूरत है-बस, आप सच्चे मनसे चाह लें, उनकी कृपाको ग्रहण करना । निश्चय समझें, फिर वह उसी क्षण प्रकाशित हो जायगी । उसी सच्ची चाहका स्वरूप यही है कि कोई भी चाह मनमें न रहे और वह चाह किसी अन्य द्वारा अन्य साधनसे मिटे नहीं ।

सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा महापुरुषोंके प्रति तीव्र आकर्षण, दोनों ही बातोंकेलिये जिस क्षण तीव्र उत्कण्ठा, तीव्र चाह उत्पन्न होगी, उसी क्षण आपकी दशा बडी विलक्षण हो जायगी । जीवनमें केवल एक ही उद्देश्य रह जायगा-कैसे ये दो बातें पूरी हों, कैसे किस उपायसे जल्दी-से-जल्दी यह हो जाय । उस समय जो भी उपाय आपको बताया जायगा, कोई मामूली व्यक्ति ...वनादमें भी आपको बता देगा

तो आप वही करने के लिंये पागलकी तरह तैयार हो जाइयेगा । वह करना नहीं पडता, स्वाभाविक मनकी ऐसी दशा हो जाती है । पर अभी क्या दशा है विचारें, चेष्टा करनेके लिये मन बहुत कम तैयार है । भगवद्दर्शनके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय–सबसे सरल उपाय जिसमें मनकी बहुत कम जरूरत है, ऐसा भगवान कृष्णने उद्धवको श्रीमद्भागवत–समाप्तिके समय बताया, पर उसे कौन करनेकेलिये तैयार है ? भगवान्‌ने कहा है –

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ।।
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्‌भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ।।
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्‌भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ।।

(श्रीमद्‌भा० ११/२१/१६–१७)

'हँसनेवालोकी परवाह छोड दो, लज्जा एव देहाभिमान भी छोड़ दो तथा कुत्ते, चाण्डाल, गौ, गधेतकको भूमिपर गिर कर साष्टाग दण्डवत् करो । जबतक सभी भूतोमें मेरी अभिव्यक्ति न दीखे, तबतक शरीर, मन एव वाणीकी वृत्तिसे यह उपासना करो । भगवत्प्राप्तिके जितने उपाय हैं, उनमे सबसे सुन्दर उपाय मेरी रायमें यही है कि सभी भूतोमें मन, वाणी एव शरीरकी वृत्तिसे मेरी भावना जाय।

ये भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखके वाक्य हैं । भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर उपदेशक न कोई है, न हुआ, न होगा । पर कौन उपर्युक्त उपायको करनेके लिये तैयार है ? आपका शरीर इसे कर ही नहीं सकेगा । तरह–तरहकी युक्ति का, योग्यताका, महापुरुषकी रायका बहाना बताकर आप इसे टाल देगे । इसी प्रकार महापुरुषोमे श्रद्धाके लिये जिस समय सर्वस्व–त्यागका प्रश्न खडा हो जाय, उस समय इतने ऊँचे त्यागकी बात छोड दीजिये, तुच्छ–सा तुच्छ त्याग भी सहन नही होगा । आपको जीवन–निर्वाहके लिये कमी नही है, मनमें रुपयेका महत्त्व रहनेके कारण होता यह है कि जरासा कही भी उसमें नुकसान पहुँचनेकी बात ध्यानमें आ जाय सबसे पहले उसकी रक्षाका प्रश्न उठ खड़ा होता है । ऐसे ही जिस दिन भगवद्दर्शन, सतप्रेमका महत्त्व मनमें घर कर जायगा, उस दिन अपने आप सभी उपाय आप करने लग जायँगे।

जैसे जब युवक बड़ा होता है और पिताकी गद्दीमें बैठने लगता है तो अपने

---

आप पैसे कमानेके गुण सीख लेता है, उसी प्रकार जब लगन लगती है तो अपने–आप सभी साधन ध्यानमें आ जाते हैं और उनपर कैसे चला जाय – यह सब भी समझमें आ जाता है । मनमें भगवान्की लगन लगे, यही आवश्यक है और क्या कहूँ, सभी इष्ट मित्रोंको सादर सप्रेम यथायोग्य ।

राधा राधा राधा राधा

।।श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।
पत्र संख्या–२४

# ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे भगवान् न दे पावें

रतनगढ़
२ अक्टूबर १९४१

प्रिय श्रीशिवभगवानजी।

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे। आपका पत्र मिला। आपने जो लिखा, उसके उत्तरमें मुझे यही कहना है कि वास्तवमें हमलोग भगवान्की महिमा जानते ही नहीं। हमारा जब भगवान्के अस्तित्वके संबंधमें भी विश्वास डगमगाता है, तो फिर उनकी अपार अनन्त सर्वकर्तुम् सामर्थ्य और महिमा पर हमारा चित्त पूर्ण विश्वस्त और स्थिर होजाय, यह कैसे सभव है। यदि हम भगवान्की महिमा जानते होते तो उनके साथ नये–नये प्रेमका व्यवहार करनेवाले महापुरुषोको देखकर हमारे जीवनकी ऐसी विलक्षण दशा हो जाती कि उसका वर्णन करना ही असंभव होता। विचारे, भारतवर्षके प्रधानमंत्रीसे ही जब कोई मिलकर उसके बॅंगलेसे बाहर आता है और वह यदि किसीसे हाथ मिला लेता है अथवा किसीकी ओर देखकर मुसकुरा देता है तो वह आदमी समझता है, मानो हम तो बस, निहाल ही हो गये, तथा कही वह किसीको मोटरमें साथ बैठाले, उस समय तो उसके गौरवकी, उसके मनमे अपने ऊँचे होनेकी जो तरगें उठती हैं, उसकी कोई सीमा ही नहीं है। अब भला, ऐसे–ऐसे अनन्त मुख्यमंत्री ही नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके इशारेसे एक क्षणमें पलक मारते–मारते बन जाते हैं और दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते हैं, वे अखिल ब्रह्माण्डपति स्वयं जिसके सामने आकर अत्यन्त प्रेमसे बातें करें, जिनके साथ तरह–तरहकी लीलायें करें, तो ऐसे पुरुषसे बढकर जगतमें और कौन है? मानलें, जैसे भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) ही हैं, वे एकान्त कमरेमें बैठे विष्णु भगवान्से बातें कर रहे है, उसी समय आप आये, आपने कमरेके बाहरसे पुकारा और पुकारतेही उन्होंने आपसे बड़े प्रेमसे कहा–आओ! पधारो!! अब आप

ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे भगवान् न दे पावें
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

रत्तीभर भी इस बातका महत्त्व जानते तो आपको निश्चय ही अनुभव होता कि जगत्मे आपसे बढकर कोई नहीं है । क्योंकि वे ही भाईजी हैं, जिनसे भगवान् विष्णु बात करने आ चुके हैं, जिनसे नारद एव अंगिरा ऋषि मिलने आ चुके हैं, यह हम सब जानते हैं, उन्हीं भाईजीसे हम भी तो अति निकटकी आत्मीयता पा रहे हैं। हमसे बढकर भाग्यवान् और कौन हो सकता है ? अशान्तिकी तो छाया भी हमको छू नही सकती हमारा मन तो ऐसे अतुलनीय आनन्दसे छलकते रहना चाहिये कि जगत् हमको देखकर दंग रह जाये ।

जिस शरीरसे भाईजीने भगवान्की ( सेठजीके कथनानुसार ) पूजाकी है, जिस भाईजीके शरीरको भगवान् विष्णुके शरीरका संस्पर्श मिल चुका है, उसी शरीरसे भाईजी आपको स्पर्श करते हैं, जिन आँखोसे सेठजी भगवान् नारायणका दर्शन करते हैं, उन्ही आँखोसे हम सबको भी देखते हैं, सच मानिये – यदि किसी दिवस भगवान्की कृपासे उनकी अनन्त महत्ता पर आप विश्वास कीजियेगा, उसी दिवस श्रीसेठजी एव श्रीभाईजी जैसे महापुरुषके मिलनेका क्या आनन्द होता है – यह समझ सकियेगा ।

शिवभगवानजी ! हम सभीका मन विषयोंसे कूट–कूटकर भरा है । हम लोगोंका मन एकदम गंदा है । इसीलिये महापुरुषोंके दर्शनका हमें आनन्द नहीं मिलता । समझना-समझाना कठिन है । वस्तुत: भाईजी–सेठजी जैसे महापुरुषोके सगका आनन्द इतना दिव्य, इतना विलक्षण, इतना असीम है कि बस, इस आनन्दकी कहीं भी, किसी भी सुखसे तुलना हो ही नहीं सकती । इन महापुरुषोका सग–जनित आनन्द ऐसा है जो क्षण-क्षण नवीन–नवीन मगलका सृजन करेगा । वह क्षण प्रतिक्षण बढता ही जायेगा, एव कभी समाप्त नहीं होगा । हाथ जोड़कर, दीन होकर रोते हुए हम लोग प्रार्थना करे "प्रभो ! अत्यत पामर, दीन, हीन मलीन, विषयोके कीट हमलोगोंपर अपनी कृपा प्रकाशित करो । नाथ ! तुम्हारे जन सन्तोंके प्रति निस्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो ।" यह प्रार्थना बिना किसी व्यवधानके प्रतिदिन ही हो और यदि दिनमे भी अनेक बारकी जा सके, और भी उत्तम हो ।

शिवभगवानजी ! प्रार्थनासे बडा काम होता है । सच मानिये – ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे भगवान् नहीं दे सकें । ऐसी कोई प्रार्थना नही, जिसे भगवान् पूरी नहीं कर सके । वे एक क्षणमें असभव को सभव कर सकते हैं । हमारी कठिनाई यही है कि उन पर हमारा विश्वास नहीं । यही हमारा सबसे भीषण दुर्भाग्य है।

**ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे भगवान् न दे पावें**
**पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला**

हरिसे लागा रहु रे भाई ।
तेरी बनत बनत बनि जाई ।।

जिसकी अपार कृपासे, अहैतुकी कृपासे, आप यहाँ पारमार्थिक पवित्रतम वातावरणमे आ पहुँचे हैं, उसीकी अपार कृपा निश्चय ही बिना किसी भी शंका–संदेहके आपके आगेका रास्ता भी तय करा देगी, भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पंक्तियाँ हैं –

जो हम बुरे होइ नहिँ चूकत नितकी करत बुराई ।
तो तुम भले होइ छाँडत हौ काहे नाथ भलाई ।।

'नाथ ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है, मैं नित्य–निरन्तर बुराई ही करता रहा हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नही चूकता, अपना स्वभाव मैं नहीं छोड़ता, तब मेरे नाथ ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोडते हो ? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोडो।'

बिल्कुल ऐसी ही बात भगवान् करते है निश्चय मानिये – जैसे सूर्यमे यह शक्ति ही नहीं कि वह किसीको अन्धकार दे सके, वैसे ही भगवान्मे, विनोदकी भाषामे कहनेपर, यह कहा जा सकता है कि उनमे यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें । अब आप ही सोचें, जीत किसकी होगी ? एक ओर अखिल ब्रह्माण्डपति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा । इन दोनोंमे निश्चय ही जीत भगवान्की होगी ।

सूर्यसे ही सब वस्तुएँ बनती हैं । काँच, सोना, चाँदी और मणियाँ–सब सूर्य ही बनाते है । सूर्यकी किरणोंसे ही सब बनता है परन्तु उन्हींकी बनायी हुई चीजोंमें किसी पर तो किरण खूब चमकती है, किसी पर किरण पडकर थोडा गरम होकर ही रह जाती है । इसी प्रकार भगवान्की अहैतुकी कृपा ही सबमें भगवद्विश्वास पैदा कराती है । धीरे–धीरे यह कृपा ही पूर्ण विश्वास कराती है। कृपामे पड रहकर अपने आप अन्तःकरण पूर्ण कृपा–प्रकाशका अधिकारी बन जाता है । इसलिये घबराना नहीं चाहिये–बस, पड़े रहना चाहिये कृपारूप किरणोंके प्रकाशमें । फिर अपने आप ही सर्वोत्तम बन जाइयेगा ।

यदि आप अभी किसी दूरस्थित मित्रको याद करें तो उसकी मानसिक मूर्ति तो सामने आ जायगी, पर उसका शरीर यहाँसे बहुत दूर किसी अन्य स्थानमें होनेके कारण नहीं दीखेगा, परंतु भगवान्में यह बात नहीं है । भगवान् और भगवान्का स्मरण दो वस्तु नही हैं । जिस समय आप भगवान्की मूर्ति अपने मानसपटलपर लाते हैं, उसी समय वहीं पूर्णरूपसे भगवान् आपके मनमे आ जाते हैं । पर वे बोलते इसलिये नही हैं कि आप उन्हें भावनाका चित्र मान लेते हैं और

थोडी देर बाद फिर दूसरे काममें लग जाते है । अब कोई एक भी लीला चित्र बाँधकर मनको उसमें डुबाये रक्खें तो उसी भगवान्‌की मूर्तिमें भगवान् प्रकट हो जायँगे, क्योकि भगवान् वहाँ पहलेसे ही हैं । जबतक मन नही लगायेंगे, तबतक 'मैं भगवान्‌को चाहता हूँ' यह कहना बनता नहीं । आप ही सोचें धन चाहनेपर मन उसमे कैसे लगता है ? कौन -सी युक्ति मन लगानेकी आपने किसी से पूछी थी ? नही पूछी थी, मनकी स्वाभाविक गति धनकी ओर लग रही थी, क्योकि धनकी चाह थी । इसी प्रकार जहाँ भगवान्‌की चाह है, वहाँ मनकी गति उसी ओर दौडेगी । धन तो चाहने मात्रसे नहीं मिलता, उसके लिये न जाने कितने उद्योग करने पड़ते हैं, फिर उद्योगके सफल होनेका निश्चय नहीं । पर इसमें केवल चाहकी जरूरत है । 'हे नाथ ! तुम मुझे मिल जाओ – यह चाह होते ही वे मिल जायँगे । आप ही सोचें–जब भगवान्‌का चिन्तन छोड़कर मन दूसरी चीजपर जाता है, तब उसके लिये भगवान्‌से अधिक मूल्य उस वस्तुका है या नहीं ? और जब उसकी कीमत आपके मनमें अधिक है तो भगवान् क्यों आये ? मुझे सचमुच ज्ञात नहीं कि भगवान्‌के लिये सच्ची चाह कैसे उत्पन्न होती है, पर यह ठीक-ठीक जानता हूँ कि सच्ची चाह उत्पन्न होते ही वे मिल जायँगे। मैं तो अपनी बात कहता हूँ–सचमुच मुझे यही लगता है कि चाह होते ही भगवान् उस चाहको पूर्ण कर देंगे ।

मोहन मुखारबिंद पर मनमथ कोटिक वारौं री माई ।
जहँ जहँ अंगन दृष्टि परति तहँ तहँ रहत लुभाई ।।
अलक तिलक कुंडल कपोल छबि, इक रसना मो पै बरनि न जाई ।।
गोबिंद प्रभुकी बानिक ऊपर, बलि बलि रसिक चूडामनि राई ।।

जगत्‌का समस्त सौन्दर्य इकट्‌ठा कर लेनेपर भी श्याम–सुन्दरके श्रीविग्रहके सौन्दर्यसागरकी एक बूँदके भी बराबर नहीं होता । त्रिभवनमे सबसे सुन्दर कामदेव माने जाते है, पर शास्त्रमे ऐसा वर्णन मिलता है कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके रूपके करोडवें अशके करोडवें अशसे कामदेवमें सुन्दरता आती है । श्रीकृष्णके एक–एक अगपर करोडों कामदेवोंकी छबि फीकी पड़ जाती है । यह केवल भावुकताकी बात नहीं है । सचमुच ही जिन सतोंको उनकी हल्की–सी झाँकी मिल जाती है, वे बिल्कुल पागलसे हो जाते हैं । इसी त्रिभुवनमोहन नामको सुनकर श्रीकृष्णके प्रति श्रीगोपीजनोका हृदय बिक जाता है । साधनाके बाद जब गोपीभावके साधकोंका नित्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममें जन्म होता है और गोपीदेहमें जब किशोर अवस्थाका प्रादुर्भाव होता है, तब श्रीकृष्णका रूप देखनेका, श्रीकृष्ण–नाम सुननेका एव उनकी वंशीध्वनि सुननेका सुअवसर उन्हे प्राप्त होता

है । बस, एक बार इन तीनोंमेंसे किसीको देखने या सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ कि एक अनिर्वचनीय दशा प्रारम्भ होती है, जिसकी जगत्में कहीं कोई तुलना ही नहीं है । सूरदास, नन्ददास आदि महात्माओंने इसी दशाका वर्णन करते हुए जो पद लिखे हैं, उन्हे 'हिलग'के पद कहते हैं । यथार्थ दशाका वर्णन तो वाणीमें आ ही नहीं सकता । जो आता है, वह भी उसीको अनुभव हो सकता है कि जो निरन्तर भजन स्मरण करते-करते अपनी सारी विषयासक्ति खो चुका है । अस्तु, जब गोपियोकी व्याकुलता-श्रीकृष्णसे मिलनेकी व्याकुलता, चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब पहले-पहल उनका रासलीलामें श्रीकृष्णके साथ मिलन होता है और इसके बाद उन्हे सेवाका अधिकार मिलता है । फिर एक लीला होती है – विरहकी लीला, अर्थात् श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियोको छोडकर मथुरा चले जाते है और वहाँसे द्वारका चले जाते हैं । इसी वियोगकी दशामें प्रेमका यथार्थ स्वरूप खिलता है। प्रेम क्या वस्तु है ? यह व्रजसुन्दरियोंकी दशासे कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । इसी दशाका वर्णन करते हुए महात्माओने लीला देख-देखकर जो पद लिखे हैं, वे विरहके पद कहे जाते है । महात्माओंके जो पद मिलते है, उनमे भी कुछ ऐसे है, ज कल्पनासे लिखे गये हैं और कुछ लीला देखकर-अनुभव करके लिखे गये है यह निर्णय पहुँचे हुए सतलोग ही कर सकते हैं कि कौन अनुभवका है, कौ । कल्पनाका । पर हमारे-जैसे तुच्छ प्राणियोकेलिये, पामर प्राणियोके लिये तो सभी पद-चाहे कल्पनाके हों, चाहे अनुभवके हों पवित्र करनेवाले ही है , अत श्रद्धासे यु क होकर व्रजसुन्दरियोंकी चरणधूलिकी वन्दना करते हुए, उनकी कृपाके एक कणव । भीख माँगते हुए हमलोग उनकी विरह चर्चा करें, सुनें । मन लगानेके उद्देश ।से नही, मनको पवित्रतम करनेके उद्देश्यसे विरहकी चर्चा सुनें, करें ।

उन विरहके पदोमे भी कई त श्रीराधाजीके विरहके पद हैं और कई उनकी सखियोंके विरहके । पर यह भी निर्णय करना कठिन है कि कौन किसके हैं । अस्तु किसीके भी हो, हमारे जैसोको चरणोमें स्थान देकर, हमारी मलिन आत्माओको अपनी कृपाकी बूँद देकर कृतार्थ करें-यही राधारानीसे, व्रज-सुन्दरियोसे एव श्रीकृष्णसे प्रार्थना है ।

प्रेमकी सब अवस्थाओंका, ऊँचे-से-ऊँचे भावोंका विकास श्रीराधारानीमे होता है । रसशास्त्रके पण्डितोंने तथा भावुक, अनुभवी वैष्णवोंने इन बातोंकी विस्तारसे आलोचना की है ।· उसी प्रेमकी एक अवस्थाका नाम है-प्रेम-वैचित्त्य। इसका प्रकाश प्रायः राधारानीमें ही होता है तथा उनकी अष्टसखियोमें ही होना सम्भव है। इसमे होता है यह कि श्रीकृष्ण पासमें रहते हैं, राधारानी स्वयं श्रीकृष्णकी

गोदमे सिर रखकर लेटी रहती हैं, पर उन्हें यह भान होने लग जाता है कि श्रीकृष्ण हमे छोडकर कहीं चले गये और रोने लगती हैं—इतनी व्याकुलता हो जाती है कि फिर सर्वथा मरणकी दशा उपस्थित हो जाती है । श्रीकृष्णकी गोदमें रहकर ही ऐसी दशा होती है। श्रीकृष्ण यह देखकर आनन्द निमग्न होते है तथा राधाप्रेमकी अतुलनीय दशाका आस्वाद लेते हैं ।

रासलीलामें सब गोपियोको छोडकर श्रीकृष्ण राधारानीको एकान्तमे ले चले । वे दो ही रह गये और उच्चतम प्रेमकी तरगोंका प्रवाह आरम्भ हुआ । श्लोकोंमें उसका सकेत श्रीशुकदेवजीने किया है । इसके बाद अत्युच्च अवस्था, मानकी अवस्था आरम्भ हुई । यह मान यहॉका निकृष्ट अभिमान नहीं है, लोग सोचते हैं कि श्रीराधारानीने अभिमान कर लिया, इसीलिये श्रीकृष्ण उन्हे छोड़कर चले गये, पर वहाँ तो बात ही अत्यन्त विचित्र हुई थी । यह मैं केवल अपने अनुभवहीन ज्ञानपर नही कह रहा हूँ, परम रागमार्गीय भक्त सनातन गोस्वामीको इस लीलाका सकेत प्राप्त हुआ था और उन्होने अपनी रासकी टीकामें इसका संकेत भी किया है । अस्तु, प्रेमकी उच्चतम अवस्था बढ़ते बढ़ते वैचित्त्यकी अवस्था आरम्भ हो गयी और राधारानी ठीक श्रीकृष्णके पास रहकर भी यह अनुभव करने लगी कि श्रीकृष्ण मेरे पास नहीं हैं । 'हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ !' आदि उस प्रेम-वैचित्त्यकी अवस्था है, जहाँ श्रीकृष्णकी गोदमे पडी हुई राधारानी यह श्लोक कह रही है और श्रीकृष्ण आनन्दमे डूब रहे हैं । श्रीराधारानी मूर्च्छित हो जाती है उसी क्षण गोपियाँ खोजती हुई वहाँ आ पहुँचती है । श्रीकृष्णको उनकी आहट मिल जाती है और इसके पहले कि वे राधारानीको सचेत कराकर दूसरी अवस्थामे ले चलें, उन्हे गोपियाँ दीखने लग जाती हैं । इसलिये श्रीकृष्ण वही वृक्षोंकी आडमें खडे हो जाते हैं, गोपियाँ आती हैं, श्रीराधारानीको मूर्च्छित अवस्थामे पाती है, उनको चेत कराती है । राधारानी समझती है कि श्रीकृष्ण मुझे छोडकर बहुत पहले चले गये हैं, पर श्रीकृष्ण तो उन्हे अभी-अभी छोडकर गये हैं, इसके पहले तो प्रेम-वैचित्त्यके कारण वे वियोगका अनुभव कर रही थीं ।

यह अत्यन्त ऊँचे स्तरके प्रेमकी बात है, जिसका विकास श्रीप्रियाजी में ही होता है । हमलोग तो केवल एक अत्यन्त निम्नस्तरमें भी जा पहुँचे तो जगत्की सभी पारमार्थिक स्थितियाँ उसके सामने फीकी हो जायँ।

दो प्रकारकी लीलाएँ होती हैं – एक सखियोके साथ, सखियोकी उपस्थितिमें और दूसरी केवल दोके बीचमे, जहाँ श्रीकृष्ण और श्रीराधा दो ही रहते हैं । प्रेमके ऊँचे ऊँचे स्तरोंका विकास जब दो रहते हैं, तभी होता है उनमेंसे कुछका आस्वाद अर्थात् दर्शन मजरियोंको, दासियोंको, सहेलियोको, सखियोंको निकुजछिद्रोंसे

होता है और कुछका तो बिल्कुल ही नहीं होता ।

ऐश्वर्य, गुण–ज्ञान आदि समस्त भगवत्ता राधारानीमें ज्यों–की–त्यो रहती है, पर मुग्धताका इतना सुन्दर आवरण वे अपनी इच्छासे ही धारण किये रहती हैं कि लीला अनुपम–सर्वथा सब ओरसे अनुपम हो जाती है ।

परन्तु इस राधारानीके राज्यकी गध भी हमें तभी प्राप्त होगी जबकि हमारे जीवनका एक मात्र उद्देश्य श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो जायगा । मनसे अधिकसे अधिक श्रीकृष्णका चिन्तन करे । जब यह चिन्तन अखण्ड होने लगेगा तभी श्रीराधारानी एव गोपियोके प्रति आकर्षण बढेगा । आकर्षण जबतक विषयोके प्रति है और वह कूट–कूटकर भरा है, तब तक मात्र बाते करनेसे क्या होता है। मानव जीवनकी सफलता इसी बातमें है कि जिस किसी भी प्रकारसे मनमें श्रीकृष्णके गुणोकी, लीलाकी, नामकी मधुर–मधुर स्मृति बनी रहे । बस, इसी बातकी चेष्टा करें, इसीमें आपका एव मेरा दोनोका हित, कल्याण, सुख, मंगल कुछ भी कहें, है । सब इष्ट मित्रोंको यथायोग्य ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–२५

# अन्तर्मुख रहकर प्रत्येक वृत्तिको भगवान्‌से जोड़ें

रतनगढ़
तिथि अज्ञात

श्रीशिवभगवानजी !

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र मिला । आँखोके सामने आप यह स्थान देख रहे हैं । पाल तना हुआ दिख रहा है । यही पर दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन–राज्य है, यहीपर श्रीकृष्ण हैं और समस्त लीला ठीक यहीपर चल रही है । मनसे चिन्तन कीजिये–'संध्याका समय है । वनसे श्रीकृष्ण गायें चराकर लौट रहे हैं । आगे गायोंकी कतार है, गायें हुमग–हुमगकर श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हैं । पीछे भी गायोकी कतार है । बीचमे श्रीकृष्ण अत्यन्त मधुर स्वरसे वशी बजा रहे हैं । ध्वनिकी मधुरताके कारण गायोमें भी एक अत्यन्त शान्ति सी बीच–बीचमें आ जाती है । श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हुए हैं । घुँघराले केश मन्द–मन्द हवाके झोकोंसे ललाटपर आ जाते हैं । उन्हें वे बाये हाथसे हटा देते हैं । सडकके किनारे श्रीगोपीजनोंकी कतार लगी हुई है। श्रीकृष्ण अपने बालोंको हटाकर कभी किनारेकी ओर, कभी पीछेकी ओर ताक देते हैं, मुसकरा देते हैं । थोडा आगे बढते हैं, गाये भी आगे बढती है । ग्वालबाल कभी उनके पीछे हो जाते हैं, कभी आगे. . इस प्रकार मनको कभी गायमें, कभी ग्वालबालमे, कभी श्रीकृष्णमे, कभी श्रीकृष्णके मुकुटमें, कभी उनकी घुँघराली अलकोमे, कभी वशीमें, कभी चरणोमें, कभी वृन्दावनके कदम्बके पेडमें, कभी आमके पेडमें और कभी अमरूदके पेडमे स्थिर करनेकी चेष्टा करे । मनको मुकुट देखनेमें लगाया और फिर आसानीसे जितनी देर वह टिक सके उतनी देर उसे

टिकाकर, जब हटने लगे तो उनके किसी दूसरे अगमें लगा लें, फिर वहाँसे उचटे तो तीसरे अगमे लगाते रहिये । वन, नदी, पर्वत, गाय, सडक, गोपी, ग्वाल बाल, आम, अमरूद, छीके, डडे, बॉसुरी ऐसी अनन्त चीजें हैं, जिनमें चाहियेगा, तो मन लगा सकते हैं । बस, मनको फुरसत मत दीजिये। जीभ तो मशीनकी तरह नाम लेती रहे और मन वृन्दावनके किसी भी पदार्थका चिन्तन ही करता रहे । बहुत जरूरी हो तभी मनको बाहर लाइये । नही तो, अन्तर्मुख रहकर प्रत्येक वृत्तिको वृन्दावनीय किसी भी पदार्थमें तदाकार करते रहिये । अभ्यास करनेसे होगा, खूब आसानीसे होने लगेगा । सब भूलकर इसकी चेष्टा कीजिये, नहीं करेगे तो फिर कोई उपाय नहीं है ।

जहाँ भीत दीखती है, मकान दीखते है, टीले दीखते हैं, कुँआ दीखता है, पेड दीखते हैं, वहाँ आँख मूँदकर एक वार खूब दृढतासे निश्चय कीजिये - 'ओह ! यहाँ तो वृन्दावन है, बस, वे पेड, वे दृश्य हैं । बस, सामने श्रीकृष्ण हैं, गायें है, बस बस यही है । इस प्रकार जितनी लीलाएँ पढी हैं, सुनी है, जितनी सुनेगे, पढेगे, उनमेसे जिसकी ओर मन टने, उसीमें रम जाइये । तभी रास्ता तय होगा। मनको तन्मय करना पडेगा ही, चाहे कैसे भी करें । उनकी कृपाका आश्रय लेकर करें तो कुछ भी असम्भव नहीं ।

घबराना नही चाहिये । जिनकी अनन्त कृपासे मनमे धुँधली लालसा पैदा हुई है, उनकी कृपा निश्चय ही आगे भी बढा ले जायगी , जल्दी या देरी, पहुँचना तो है ही ।

अभ्याससे सफलता मिलेगी ही । नाम तो खूब जल्दी सध जायगा । हाँ, मनको खास स्वरूपकी ओर अथवा लीलाकी ओर लगाकर दूसरा काम करनेमे विशेष गाढे अभ्यासकी आवश्यकता है । बीच-बीचमे जल्दी-जल्दी स्मृति तो थोडे ही अभ्याससे सम्भव है ।

छिनहिं छिन सुरति होति री माई।
बोलनि मिलनि चलनि हँसि चितवनि प्रीति रीति चतुराई ।।
साँझ समय गोधन सँग आवनि परम मनोहरताई
रूप सुधा आनंद सिधुमें झलमलात तरुनाई ।।
अंग अग प्रति मैन सैन सजि धीरज देत छुडाई ।
उड़ि उड़ि लगत दृगनि टोना सो जगमोहनी कन्हाई ।।
मरियत सोचि सोचि बिन बातनि हौ बन गहन भुलाई ।
बल्लभ औचक आय मद हँसि गहि भुज कंठ लगाई ।।

पद्यका भावार्थ यह है श्रीगोपी अथवा श्रीराधाजी कहती है-'सखि !

बार बार स्मृति हो रही है । वह बोलना, मिलना, चलना, मुसकाते हुए देखना, प्रीतिकी रीति, प्यारभरी चतुरता बार-बार याद आ जाती है । सध्याके समय श्यामसुन्दर गायोंके साथ आते थे, उस समय उनकी मनोहर छवि देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो सुन्दरतारूपी आनन्दमय अमृतमय समुद्र लहरा रहा हो और तरुणता ( किशोरावस्था ) रूपी तरगें उसमें झलमल-झलमल कर रही हों। श्यामसुन्दरका एक-एक अंग क्या था, मानो कामदेवकी सेना हो । धीरज बरबस छूट जाता था । आँखोंपर किसी अगकी छवि पडते ही मालूम पड़ता था मानों श्यामसुन्दर-रूप जादूगरने टोना फेका हो, समस्त जगत्को मोहनेवाले कन्हाई अपने अगोकी छबिका टोना फेककर हमें मोहित कर लेते थे । एक दिन मैं वनमें, गहन वनमें भूल गयी थी – उन प्रसगोकी याद कर-करके मृत्युका सा दु ख होता है । इतनेमे ही अचानक श्यामसुन्दर आये और मन्द-मन्द मुसकाकर मेरी भुजाओको पकड़कर मुझे कण्ठसे लगा लिया ।'

पदके इन भावोपर एकान्तमे बैठकर विचार कीजिये । विचार करते समय मनमें एक रसकी धारा बह उठेगी । आप उसमे न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जायँगे ।

सभी प्रेममयी लीला तथा सभी ऐश्वर्यमयी लीला, समस्त लीलाओका आधार भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही है । श्रीकृष्ण लीलाका आस्वाद लेते हैं और श्रीराधाजी लीलाका आस्वाद कराती है । ऐश्वर्यमयी लीलाके भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाके भी अनन्त स्तर हैं व्रजलीलामे ग्वालबालोंके साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनोके साथ जो लीला होती है तथा श्रीराधाजीके साथ- केवल एक श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, इन तीनोमे बड़ा अन्तर होता है ।

इन तीनों लीलाओंमें भी कई स्तर हैं । इन स्तरोंका अनुभव प्रेमी साधककी साधनापर ही निर्भर रहता है । जो जितना ऊँचा होता है, वह उतने ही ऊँचे स्तरका अनुभव करता है । इन तीनों लीलाओंमे जो गोप-ग्वाल-बालके सगकी लीला है, उसका अनुभव तो कुछ भाग्यवान् सत कर पाते है, यद्यपि उनकी सख्या भी बहुत कम ही है । पर श्रीगोपीजनोंके साथकी लीलाका अनुभव करनेवाले सत तो बहुत ही थोडे होते हैं तथा श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, उस लीलाका अनुभव करनेवाले तो इने-गिने कुछ विरले ही होते हैं । बात कर लेना आसान है । शास्त्र पढकर हम बहुत-सी बातें, लोगोको चकित कर देनेवाली बातें बता सकते हैं, परतु सचमुच इन लीलाओका दर्शन होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य, इनमें स्वय सम्मिलित होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य, तो श्रीराधारानीकी, श्रीकृष्णकी

महान् कृपासे किसी-किसीको ही होता है । जहाँ समस्त परमार्थ साधना एवं साध्यतत्त्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीला-तत्त्वका श्रीगणेश होता है । पर यह बात दिमागमें तबतक नहीं आ सकती, जबतक कि भगवत्कृपासे अन्तःकरण सर्वथा निर्मल होकर कृपाके ही परायण नहीं हो जाता ।

वेदान्तकी सच्ची साधना यदि हो और सचमुच हम ब्रह्मप्राप्तिकी स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके बाद वस्तुतः आगे जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दमय साधनाका मार्ग है, वह आरम्भ हो, तब कहीं सम्भव है कि मनुष्य असली सगुण-तत्त्वका रहस्य समझ सके । नहीं तो, होता क्या है कि दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्दकी अनुभूति हो जाती है । पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें हैं, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्त्व है, जो सर्वथा किसी भी साधनाके द्वारा नहीं समझा जा सकता । उस स्थितिकी प्राप्ति सभी ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंको भी हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है । हो भी सकती है, नहीं भी ।

ये सब उल्टी-सीधी बातें-शास्त्रीय ज्ञान, तत्त्वज्ञानकी चर्चा आदि तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाय यदि स्वप्नमें भी उसे एक हल्की-सी श्रीकृष्णके रूपकी झाँकी देखनेको मिल जाय । वह जबतक नहीं मिलती, तभीतक सारी बहस, सारी उधेड़-बुन है ।

भाई श्रीशिवभगवानजी ! प्रेम उत्पन्न होनेपर तो एक क्षणकी भी विस्मृति हो ही नहीं सकती । हमें विस्मृति इसीलिये होती है क्योंकि भगवान्से हमारा प्रेम नहीं है । भगवान्की सत्ताका उनकी महत्ताका हमें ज्ञान नहीं है । परन्तु जब तक चित्त अशुद्ध है तबतक ब्रह्माजी भी हमें समझाने आ जायें, हम भगवान्की ओर उन्मुख नहीं हो पावेंगे । और यह चित्त हमने ही अशुद्ध किया है, इसमें जितना विषय-कीच है, सब हमने बटोर-बटोरकर इसमें इकट्ठा किया है । अतः जबतक हम इन वासनाओंके मलको स्वयं स्वच्छ नहीं करेंगे, कोई चाहे कितना ही बड़े से-बड़ा सन्त-महात्मा हो, हमारा कल्याण नहीं कर सकता । अतः हम चाहे आज अभी इसे स्वच्छ कर लें, चाहे अनन्त कालमें कभी इसे स्वच्छ करें, यह जब कभी भी करना होगा, हमें ही करना है । यह मेरी बात गाँठ बाँध लें ।

सभी इष्ट मित्रों एवं सत्संगियोंको जय श्रीराधे ।

( श्री शिवभगवानजी फोगलाको मोतीलाल पारीकका जय श्रीराधे )

राधा राधा राधा राधा

।।श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र सख्या–२६

# प्रेम ही सचमुच सार है

रतनगढ

५ नवम्बर १९४१ ई.

श्रीशिवभगवानजी फोगला

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे। आपका पत्र मिला। आप ज्यौनार करना चाहते है करिये। सारा जगत्का व्यवहार जागतिक शरीर करे, परन्तु मन श्रीकृष्णके पास, श्रीराधारानीके पास ही रहे। मात्र कुछ कालके लिये मनको शुद्ध करनेके लिये ही मन लगानेकी आवश्यकता है। जैसे ही मनमें किसी क्षण श्रीकृष्ण आये फिर यह पूछने–सुननेकी सारी प्रक्रिया समाप्त हो जायगी। फिर तो उन्हे देखते ही रहियेगा और सब भूल जायेंगे।

नारायणस्वामी थे। एक बार वे बैठे हुए थे, सामने श्रीकृष्ण दीखे। वे लगे दौडने। दौडते – दौडते कुसुमसरोवर पर जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर देखा – श्रीकृष्ण पीठकी ओर आगये। फिर पीछे दौडे, दौडते-दौडते अपने स्थानपर आगये। इसी प्रकार दिनभर दौडते देखकर पुजारीने पूछा 'बाबा! क्यो दौडते हो?' उन्होने कुछ उत्तर नही दिया। बहुत आग्रह करनेपर बोले 'भैया श्रीकृष्ण दीखते है, दीखनेपर ऐसी इच्छा होती है कि पकडकर उनके हृदयमें समा जाऊं, पर वे भागने लगते है। मैं भी दौडने लगता हूँ। दौडते दौडते जब थक जाता हूँ तब वे पीछे दीखने लग जाते है। मैं फिर पीछेकी ओर दौडने लगता हूँ। सारे दिन यही लीला चलती रहती है।' पुजारीने पूछा–'बाबा! उनसे कुछ पूछते नहीं?' स्वामीजीने कहा–'पहले तो बहुत सी बाते याद रहती हैं और सोचता हूँ यह बात पूछूँगा, वह शास्त्रीय बात जान लूंगा, पर रूप देखते ही सब भूल जाता हूँ। बस देखते ही रह जानेकी इच्छा छोडकर बाकी सब भूल जाता हूँ।'

श्रीकृष्ण श्रीगोपीजनोंसे कुरुक्षेत्रमें मिलनेपर कहते है 'गोपियो! तुमने हमें कृतघ्न समझा होगा, क्या करें, कामकाजकी भीडमें लग गये। देखो ईश्वर ही प्राणियोका सयोग करता है और वही पुनः वियोग करता है। ... सौभाग्यकी

बात है कि हमारे प्रति तुमलोगोंका प्रेम निश्चल रहा ।' बस, यह प्रेम ही सचमुच सार है । इस प्रकार श्रीमद्भागवतमे वर्णित है । पर वास्तवमे श्रीकृष्ण गोपीजनोसे हटकर भी नही हटे थे, श्रीकृष्ण हटते ही नहीं । उद्धवजीके ज्ञानका गर्व शान्त होनेपर जब वे श्रीकृष्णके पास लौटे हैं, उस समयका बडा ही सुन्दर वर्णन नन्ददासजीने किया है –

गोपी गुन गावन लग्यौ मोहन गुन गयौ भूलि ।

x x x x x

करुणामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूठी ।
जब ही लौं नहि लख्यौ तबहि लौं बाँधी मूठी ।।
मैं जान्यौ ब्रज जाय कै तुम्हरो निर्दय रूप ।
जे तुम कौं अवलंबहीं तिन कौं मेलौ कूप ।।
कौन यह धर्म है ।
पुनि पुनि कहै अहो स्याम ! जाय वृंदावन रहिये।
परम प्रेमकौ पुंज जहाँ गोपिन सँग लहिये ।।
और काम सब छाँडि कै उन लोगन सुख देहु ।
नातरु टूट्यो जात है अबहीं नेहु सनेहु ।।
करौगे फिरि कहा ।
सुनत सखा के बैन नैन भरि आए दोऊ ।
बिबस प्रेम आबेस रही नाहीं सुधि कोऊ ।।
रोम रोम प्रति गोपिका है रहि साँवर गात ।
कल्पतरोरुह साँवरौ ब्रजबनिता भईं पात ।।
उलहि अँग–अग ते ।
है सचेत कहि भले सखा ! पठए सुधि ल्यावन ।
अवगुन हमरे आइ तहाँ ते लगे बतावन ।।
मोमें उन मैं अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं ।
ज्यौं देखौ मो माहिं वे त्यों हौं उनही माहिं ।।
तरंगनि वारि ज्यों ।
गोपी रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी ।
ऊधौ भ्रमहि निवारि डारि मुख मोह की जारी ।
अपनो रूप दिखाय पुनि गोपी रूप दुराय ।
'नंददास' पावन भये जो यह लीला गाय ।।
प्रेम रस पुंजनी ।

## प्रेम ही सचमुच सार है
### पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

श्रीकृष्ण ही श्रीराधा हैं, श्रीगोपियाँ हैं । श्रीराधा श्रीगोपियाँ ही श्रीकृष्ण हैं। पर वियोगके बिना प्रेमका विकास नही होता-यह दिखानेके लिये, जगत्के साधकोको कृतार्थ करनेके लिये, प्रेमसाधनाकी पद्धति सिखानेके लिये वियोगका अभिनय मात्र किया गया था ।

व्रजमे आज भी लीला चलती रहती है, नित्य रसमयी लीलाका प्रवाह अनादिकालसे चलता आ रहा है, अनन्त कालतक चलता रहेगा । साधक जब उस लीलामे प्रवेश करता है, तब पहले कुछ दिन वहाँ नित्य सखियोके सगमे रहकर पकाया जाता है । वही हिलगकी स्थिति है । इसके बाद जब व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब रासमें सर्वप्रथम मिलन होकर – अनन्तकालके लिये स्वय भी सेवामे अधिकार पाकर निहाल हो जाता है यह एक साधारण नियम है ।

यो तो यह व्रजराज्य ऐसा है, जहाँ श्रीकृष्ण जब चाहे, जो चाहे, वही नियम बन जाता है प्रेमका साधक तो श्रीकृष्णका अपने का-अपना होता है। उसके लिये कौन-कैसा नियम ! परन्तु प्रेममे त्याग-ही त्याग है । जिसके जीवनमे एकमात्र श्रीकृष्ण ही साध्य साधन हैं उसीके लिये यह पथ है, दूसरेके लिये इसकी गुजाइश नही है । पतिव्रताकी तरह उसे बाट देखनी पडती है कि पतिका सदेश लेकर कौन आता है स्वय चलकर दूतकी तलाशमें पतिव्रता नही जाती । स्वामीका दूत ही पतिव्रताके पास आता है । उसी प्रकार साधक श्रीकृष्णका नाम लेकर निरन्तर आँसू बहाता रहता है और श्रीकृष्णकी ओरसे समयोचित अधिकारोचित चेष्टा होती है ।

मनमें तीव्र लगन, तीव्र चाह, उत्कण्ठाकी तीव्र आग है, पर बाहर किससे कहें ? साधक समझता है – 'मेरे नाथ ! तुम्हे ज्ञात है तुम्हारे पास साधन है, तुम चाहो तो आ सकते हो, पर मैं चलकर भी तुम्हारे पास नही पहुच सकता । मेरे जीवनधन ! अनन्त जीवनकी चाह लेकर बैठा हूँ, कृपाकी डोरीको स्वय कृपा करके पकडा दो । अधा हूँ, पथ नही जानता । मेरे प्रियतम ! जिस पथसे चलना चाहता हूँ, उसमे कोई साथी नहीं । तुम्हारे सिवा अवलम्बन नही, एकमात्र तुम्ही सम्हाल सकते हो । सम्हाल लो नाथ ! ऐसी प्रार्थना हो, निरन्तर मशीनकी तरह नाम मुँहसे निकलता रहे तथा मन लीलाकी तरगोमे डूबता उतराता रहे-यही करना चाहिये।

आप सायकाल ज्योनारमें बैठे रह सकते हैं, पर मनसे अपनेको बरसानेके सरोवरपर रख सकते है, देख सकते हैं । वहाँ श्रीराधारानी हैं ललिता हैं, श्रीकृष्ण है, मधुर वशी बज रही है । सब हो सकता है, पर चलना होगा आपको ही, इसकी तैयारी करनी पडेगी आपको ही । सारा प्रपच सारा व्यवहार इसीके

अनुकूल होनेपर ही स्वीकार्य है, अन्यथा तुरत सबकी आहुति देनेके लिये सच्ची लगन रखनी पडेगी । मित्र रहेगे, परिवार रहेगा, माँ रहेंगी, पुत्र रहेगे; आपके सिरपर पगडी, टोपी, बदनपर कोट भी ऐसा ही रहेगा, पर मनमे एक विलक्षण व्याकुलताकी आग जलती रहेगी । यह जलन बढती ही चली जायगी । 'कैसे श्रीकृष्ण–चरणोंमें न्यौछावर हो जाऊँ, क्या करूँ, कैसे करूँ ?' एकान्तमे बैठकर रो पडियेगा । यह होगा उनकी कृपासे ही, पर उसके पहले आप भावना कीजिये, उनकी कृपा अनन्त है । कृपाको ग्रहण करते चले जाइये । 'प्रेमगली अति साँकरी, तामें द्वै न समाय ।' संसार और श्रीकृष्णप्रेम दोनों साथ नहीं रह सकते। या तो ससार ही रहेगा अथवा भगवान् ही रहेंगे । और क्या कहूँ । सबको राधे राधे ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र सख्या–२७

# ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंमें व्रजभावका उन्मेष हो – यह आवश्यक नहीं है

रतनगढ़

तिथि अज्ञात

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधाकृष्णौवन्दे । आपका पत्र मिला । यहाँ आप जो वन, पर्वत नदी झरने स्त्री, पुरुष, हिरन, गाय, पक्षी, महल, सडक देखते हैं, जो कुछ भी स्त्री–पुरुषोंमे, पिता–पुत्रमें, मित्र–मित्रमे प्रेमका भाव देखते हैं, इन्हे देखकर उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी कुछ कल्पना की जाती है । पर वास्तवमे वह राज्य नहीं है ऐसी बात नही है । बल्कि उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी उन–उन चीजोंके आधार पर ही ये चीजे भी कल्पित हुई है, उसके आधार पर ही चीजें हैं, उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी छाया जैसी हैं । समझने समझानेके लिये कोई दृष्टान्त ही नही है एक दिन सोच रहा था कैसे समझाऊँ ? पासमें कमण्डलु पड़ा था, सूर्यकी किरणोमें उसकी छाया पड रही थी । मैने कमण्डलुको घुमाना शुरू किया । विचित्र–सी छाया बनती गयी । उस छायाको देखकर कभी तो यह अनुमान हो सकता था कि कमण्डलु इस छायाका आधार है, पर कभी-कभी तो यह पता ही नही लग सकता था कि ऐसी छायाका आधार भी कमण्डलु हो सकता है। कुछ ऐसे ही यहाँ भी समझ सकते है । यहाँ जो कुछ दीख रहा है––पहाड़, नदी, वन, सूर्य, चन्द्र, गाय, सरोवर, बर्तन, साडी, डंडा, स्त्री–पुरुषका ढाँचा, आपसमें प्रेमका व्यवहार सब की सब चीजे उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी नकल हैं। इन सबका आधार वह सच्चिदानन्दमय राज्य ही है । पर वह दिव्य राज्य त्रिगुणात्मक मायाके आवरणके अन्तरालसे प्रतिभासित होकर विकृत हो जाता है । जहाँ आपको ये चीजें दीखती हैं, वहींपर महान अनिर्वचनीय दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन है । पर अभी तो उसकी कल्पना सर्वथा असम्भव है। हाँ, इनको न देखकर इसके आधारपर दृष्टि डालते ही, मन टिकाते ही, इस भ्रान्तिमय छाया–स्वरूप

ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंमें व्रजभावका उन्मेष हो–यह आवश्यक नहीं है
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

राज्यकी निवृत्ति हो जायगी, फिर वह चीज देखनेको मिलेगी, जो सर्वथा सब ओरसे विकारहीन सच्चिदानन्दमय है।

सच्चे वेदान्ती तो साधना करके सत्तास्वरूप सच्चिदानन्दमय राज्यमें विलीन हो जाते हैं । पर जो लडने–झगडनेवाले हैं, उन्हे यह समझना ही कठिन है कि ऐसी भ्रान्ति इस रूपमें क्यों होती है । उनकी बुद्धि यह समझ ही नहीं सकती कि ठीक इस भ्रान्तिके अन्तरालमें कुछ न कुछ ऐसी ही, ज्यों की त्यों चीज है, जिसके कारण यह भ्रान्ति है ।

यहाँ आप पदोंमें सुनते हैं––श्रीकृष्ण गोपियोंको छेडते हैं, किसीका हाथ पकड़ लेते हैं । अब ये चेष्टाएँ यद्यपि हैं ठीक ऐसी ही, पर ऐसी होकर भी ये लौकिक नहीं, परम दिव्य हैं, सर्वथा चित्–आनन्दसे सब ओरसे ओतप्रोत है । उन्हे बुद्धिसे समझा ही नहीं जा सकता । उनका तो कोई बिरले भाग्यवान् महात्मा ही अनुभव करते हैं । अनुभवके पहले तो इन लीला–प्रसगोमे यहाँकी विकारमयी चीजोंके विकारमय भावोका ही अधिकाश आरोप हो जाता है । महात्मा लोग ऐसी लीलाको चीनीके तूँबेसे उपमा देते है । चीनीका बनाया हुआ तूँबा देखकर कोई भी समझ नहीं सकता कि यह कडुवे तूँबेके अतिरिक्त कोई और चीज है , वह उसकी कटुताकी ही कल्पना करता है । ऐसे ही उस लीलाकी अत्यन्त माधुर्यमयी, सच्चिदानन्दमयी बातें भी अनधिकारियोके द्वारा विकृत हो जाती हैं । खूब सोच लें, यह दृढ सिद्धान्त मान लें– समस्त जागतिक आसक्ति मिटाकर, समस्त आश्रय त्यागकर श्रीकृष्णको पकड़ना होगा, केवल तभी इस लीलाका उन्मेष सम्भव है । नहीं तो ब्रह्म प्राप्त पुरुषोमेभी इसका उन्मेष हो ही, यह नियम नही है ।

जितनी चीजें आप देखते है, जो आपको प्यारी लगती हैं, जो भाव आपको प्यारा लगता है, यहाँ इस राज्यके सम्बन्धसे तोडकर उसे दिव्य राज्यसे जोड दीजिये । सुन्दर–से–सुन्दर बगीचा देखा है, कुंज देखी है, उसीके आधार पर उसमें दिव्यताका भाव करके उसे वृन्दावन–कुजके रूपमे बढिया–से–बढिया घडेकी जो कल्पना हो, उसका मानसिक चित्र खींचकर उससे श्रीकृष्णका हाथ धुलाना है–यह समझकर उस कलशका ध्यान कीजिये। इसी प्रकार जिस लीलाका भी वर्णन पढते हैं, उसके प्रत्येक वाक्यमें एक–एक, दो–दो, वस्तुओका अवश्य ही उल्लेख मिलेगा, जिन्हें आपने देखा है । बस, उन्हीका चिन्तन कीजिये। एकसे मन उचटते ही दूसरेसे जोड दीजिये । जिस प्रकारसे भी हो, मनको उसी राज्यकी किसी वस्तुसे जोड़े रहिये । फिर निश्चय मानिये कि उसीको निमित्त बनाकर

श्रीकृष्णके दिव्य राज्यमें प्रवेशाधिकार मिल जायगा । मन टिकते ही इस भ्रान्तिमय राज्यकी निवृति हो जायगी और फिर ठीक इसी जगह सत्यवस्तु जो पहले ही है, निरन्तर है, प्रकाशित हो जायगी । पूरी चेष्टा करके मनको इस जगत्से निकालकर यहीं पर चलती हुई लीलामें, परम रमणीय रूपमें, वृक्ष, साडी, पगडी, बर्तन बगीचे, महल आदिमें जोड दें, फिर निश्चय ही अभूतपूर्व शान्तिका अनुभव होगा । अभी मन दिन–रात चिन्तन करता है, कलकत्ता, बम्बई, तिजोरी, पेटी, कागज, पेसिल यहॉके कपडे–लत्ते का । इनके बदले उसे वृन्दावनीय पदार्थों मे जोडना है । यही करना, बस इतना ही करना है । फिर भगवत्कृपा का समुद्र उछलकर आपके सम्मुख सत्य वस्तुको प्रकट कर देगा और एक बार सत्य प्रकट हुआ नहीं, वह इतना आकर्षक है कि वह मनको अपने आकर्षणमे ऐसा जकडेगा कि मन हिलेगा ही नही, उसीमें पूर्णतया रससिक्त हुआ डूबा रहेगा । परन्तु यह सब होगा करने से ही । और क्या कहूँ । सभी इष्ट मित्रों, सत्संगी बन्धुओंको राधे–राधे ।

राधा राधा राधा राधा

।।श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–२८

# जो राधा हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं

रतनगढ
१५ दिसम्बर १९४१ ई.

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सस्नेह राधे राधे । आपका पत्र मिला । भगवानकी समस्त लीलाओंका आधार ( मूल ) एकमात्र श्रीराधिकाजी ही है । ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं । स्वरूपा–शक्ति है । ये ही अनन्त रूप धारण करके श्रीकृष्णलीलाका सामञ्जस्य करती हैं । श्रीराधाजीकी प्रेम–लीला इतनी ऊँची है कि वस्तुतः वे जिसे कृपा करके कुछ दिखाना चाहे वही देख सकता है, दूसरा कोई उपाय नही है । वे आज भी है और भावनाके अनुसार जैसी भी इच्छा कीजियेगा वैसी ही उसी क्षण उस इच्छाकी पूर्ति कर सकती है । जो श्रीकृष्ण है, वे ही राधा हैं । इनमें तनिक भी, रत्तीभर भी किसी भी प्रकारका अन्तर नहीं है। एक सच्ची घटना सुनाता हूँ, व्रजमे हुई थी ।

तीन महात्मा घूम रहे थे । घूमते घूमते उनमें जो कुछ अधिक आयुके थे, वे तो थक गये । उन्होने कहा 'भैया ! अब तुमलोग जाओ, मै तो अब यही आराम करूँगा ।' तीनोंने दिनभर कुछ भी नहीं खाया था । अतः एक तो ठहर गये, दो आगे बढे । बरसाना निकट आ गया । दोनो बडे श्रद्धालु थे । दोनोंने आपसमें सलाह करके यह निश्चित किया कि आज चलो, श्रीजीके अतिथि बने । बात विनोदमें हुई थी, अतः उन लोगोंने फिर इसपर विचार नही किया । सोचा––अब रात हो गयी है, कहाँ माँगने जायँ, यही रातमे, मन्दिरमें, जो कुछ प्रसाद मिल जायगा, उसे खाकर पानी पी लेंगे । उस दिन मन्दिरमें उत्सव था । उत्सव देखनेमें लग गये । उत्सव समाप्त हुआ, लोग चले गये । करीब ग्यारह बजे मन्दिरके पुजारीजी जोर–जोरसे पुकारकर कहने लगे–––'अरे, यहाँ दो आदमी

श्रीजीके अतिथि कौन हैं ?' इन लोगोने आवाज सुनी, वह विनोदकी बात याद आगयी । फिर प्रेममे निमग्न हो गये । दोनोंने कह दिया--'कोई होगा ।' पश्चात् पुजारीजी इन दोनोको ले गये और प्रसादमे जो जो बढ़िया से-बढ़िया चीजें थी, भरपेट खूब प्रेमसे दोनोंको खिलायीं । इन लोगोंने प्रेममे भरकर खूब आनन्दसे प्रसाद पाया तथा पूर्ण तृप्त होकर फिर एक छतरीमें जाकर सो रहे, जो वहाँसे कुछ ही दूर हटकर थी । सोनेके बाद दोनोको एक ही समय एक ही स्वप्न आया । दोनोने देखा, एक अत्यन्त सुन्दर बारह वर्षकी बालिका आयी है और पूछ रही है-'क्यों, तुम लोगोने भरपेट भोजन तो किया ? हमारे अतिथि हो न ?' उन लोगोने स्वप्नमे ही कहा--'खूब छककर खाया।' बालिका बोली--'पर आज प्रसादमे खूब बढ़िया पान था, पुजारी वह देना भूल गया । वही पान लेकर मै आयी हूँ ।' यह कहकर उसने दोनोके पास दो-दो खिल्लियाँ पानकी रख दीं। उसी समय दोनोकी नीद खुल गयी । उठकर देखा तो सिरहाने दो-दो बीड़े पानके रखे हुए हैं । दोनो रोने लगे, प्रेमसे व्याकुल हो गये पानकी बीड़ी मुँहमे रखकर प्रेममे अधीर हो गये । दोनोने अपना स्वप्न एक दूसरेको सुनाया -एक ही समयमें दोनोंको एक ही स्वप्न हुआ था ।

यह सच्ची घटना है और जिनको ऐसा अनुभव हुआ है, वे शायद जीवित हैं। बात इतनी ही है कि श्रीराधारानी, श्रीकृष्ण केवल विश्वास देखते है फिर जैसे भरपेट भोजन देकर उनको अतिथिके रूपमें स्वीकार कर लिया, वैसे ही सच्चे विश्वासके साथ उनका दर्शन चाहनेवाले, उनकी लीलाको देखकर कृतार्थ होनेकी इच्छा रखनेवालेको वे अतिथि बनाकर उसका वैसा ही अतिथिसत्कार कर सकते हैं । उनके लिये सभी समान हैं, किसीके प्रति भेदभाव नही है । अत आप यदि अनन्य मनसे आतुर होकर श्रीकृष्णसे, श्रीराधारानीसे चाहें कि 'बस, आपका निरन्तर चिन्तन हो, निरन्तर आपकी लीला सुननेको मिले, तो सच मानिये, देरका काम नही है । अवश्य इस प्रार्थनाको वे सुनेंगे । पर प्रार्थना सच्ची हो तब । जबतक आपकी प्रार्थना सच्ची न हो, तबतक झूठे ही मनसे बार-बार कहते रहिये। झूठी प्रार्थनाको भी वे कृपा करके समयपर सच्ची बना देते हैं ।

आपकी यह चाह बड़ी उत्तम है कि निरन्तर श्रीकृष्णका स्मरण बना रहे और लीला सुननेको मिले । यह बहुत ही उत्तम चाह है । बस, चाहते चले जाइये, झूठी सच्ची जैसी भी चाह हो-चाहते ही चले जाइये । चाह बनी रहेगी तो वह कभी सच्ची भी हो जायगी और किसी-न-किसी दिन पूर्ण कृपाका प्रकाश होगा ही ।

श्रीगोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं--

नाहिन रह्यो हिय मैं ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसैं आनिये उर और ।।
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात ।
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ।।
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक–लाज दिखाय ।
कहा करौ तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समाय ।।
श्याम–गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।।

इस पदके आधार पर ऐसी भावना कीजिये कि सचमुच सामने उद्धव–लीला हो रही है तथा एक प्रेम–रसनिमग्ना व्रजसुन्दरी कह रही है––'उद्धव ! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है, पर हृदयको तुम देख लो,इसमे तो केवल श्यामसुन्दर–ही–श्यामसुन्दर भरे हैं । मै चाहूँ, तो भी क्या करूँ, जब कि जगह ही नही बच रही है । उद्धव ! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दरको छोडकर उनकी जगह दूसरे किसीको कैसे बैठाऊँ? मेरे श्यामसुन्दरने मेरे हृदयको चारों ओरसे घेरकर छा लिया है, उनके रहते हृदयमे दूसरेको कैसे बैठाऊँ ? नही––नही, उद्धव ! असम्भव है । प्राण भले ही चले जायँ, पर अब इस हृदयमे दूसरेका प्रवेश नही हो सकता, यहां तो बस नित्य–निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेगे ।'

'उद्धव ! तुम्हे विश्वास नही होगा––वह मूर्ति, प्यारे श्यामसुन्दरकी मूर्ति कभी एक क्षणके लिये भी हृदयसे नहीं हटती । मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरकी छवि मेरे हृदयमे रहती है । मै जिस क्षण अपनी दृष्टिको बाहर किसी और पदार्थकी ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दरकी छवि है, हृदयमे भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं । दिनभर जबतक जागती रहती हूँ, तबतक श्यामसुन्दर, एकमात्र श्यामसुन्दर ही नजरोके सामने रहते है । रातमें जिस क्षण सोनेकी चेष्टा करती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरका तिरछी चितवनयुक्त मुखारविन्द सामने रहता है । स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ -श्यामसुन्दर आये है, मेरे सामने खडे हैं, मेरी ओर तिरछी चितवनसे देख रहे हैं मैं पकडने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते है, मैं सहम जाती हूँ वे भी खडे हो जाते हैं । फिर पकडनेके लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं । इस प्रकार उनको न पकड पानेपर मै जब रोने लगती हूँ, तब बस, हँसते हुए आकर मुझे हृदयसे लगा लेते है । आँखे खुल जाती हैं मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, स्वप्न था, पर फिर सामने देखती हूँ नही, नहीं, वे तो सामने खडे हैं, ये हैं, ये हैं । इस

प्रकार उद्धव ! एक क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरकी वह घुँघराली अलकोंवाली छबि मेरे मनसे नही हटती । उद्धव ! एक क्षणके लिये भी प्यारे श्यामसुन्दरके सिवा और कोई वस्तु नजर ही नहीं आती । नाराज मत होना - तुम श्यामसुन्दरके प्यारे सखा हो, तुम्हारी बात मै नहीं सुन पा रही हूँ, पर न सुननेके लिये लाचार हो गयी हूँ । उद्धव ! कोई उपाय नहीं रह गया है । उद्धव ! न जाने श्यामसुन्दरने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मनसे ही इस योगकी बात सुना रहे हो, पर कुछ भी हो, तुम्ही सोचो, हम गाँवकी ग्वारिनें योग लेकर क्या करेंगी । सचमुच तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो, अरे, तुम जिस श्यामसुन्दरकी बात सुना रहे हो, उसके हृदयकी बात ही तुम नही जानते । तुम कहते हो श्यामसुन्दर सर्वेश्वर है, समस्त ससारके एकमात्र स्वामी हैं ।' तुम्हे पता नही, वही सर्वेश्वर वही अखिल ब्रह्माण्डनायक अपने आपको व्रजमें आकर भूल गया । तुम्हे एक दिनकी बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे । विश्वास करो, उद्धव ! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं । मेरा सब कुछ उनका है और उनका सब कुछ मेरा है । तुम्हे सुनाती हूँ–

'मथुरा जानेके कुछ ही दिनो पहले मै उनसे रूठ गयी थी । श्यामसुन्दरके सखा ! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं । आँखोके सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुँह फेरकर बैठ गयी । वे आये, बडे प्रेमसे मेरे हाथो को पकडकर बोले–'प्रियतमे अपराध क्षमा करना, मैं देरसे आया, तुम मेरी प्रतीक्षामें व्याकुल थी, पर क्या करूँ ? तुम्हारा ध्यान करते–करते मैं भूल गया था कि मैं तुमसे दूर हूँ, मैं तुम्हे पास ही अनुभव कर रहा था, सब कुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था । विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी ! मेरे हृदयमें तुम्हारे सिवा और किसीके लिये तिलभर भी जगह नही; तुम मेरी जीवन हो, तुम मेरी प्राण हो, प्रिये . ' उद्धव ! अब बोला जाता नहीं, कण्ठ भर आया, अब आगे तुम्हे उस दिनकी बात नहीं सुना सकूँगी । मेरे प्यारे श्यामसुन्दरकी उस दिनकी झाँकी, उस दिनकी लीला तुम्हें अब आगे नही सुना सकूँगी, चाहनेपर भी तुम्हे नही सुना सकूँगी । नाराज मत होना, सुननेपर भी तुम समझ नहीं सकोगे । उद्धव ! उद्धव ! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये–मेरे प्रियतमके हृदयकी बात, हृदयका रहस्य तुम नही जान सके। तुम्हारे सर्वेश्वरके हृदयमे क्या–क्या है, वे इसे नहीं जानते । उद्धव ! उनका हृदय ओह क्या बताऊँ, वह तो मेरे पास है । यह देखो, देख सको तो देखो, तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदयमे क्या कर रहा है, पर तुम अभी नही देख सकोगे । जाने दो, उद्धव ! हम गँवारी ग्वालिनोको मरने दो, श्यामसुन्दरका नाम ले लेकर

मरजाने दो । उद्धव ! उद्धव ! तुम भूलते हो—लोक—लाजको, कुलकानको, यश अपयशको तो आजसे बहुत पहले मैं जला चुकी हूँ, सबको भस्म कर चुकी हूँ। वे सब के सब न जाने कभीके जलकर खाक हो गये और बह गये उस अजस्र धारामें, श्यामसुन्दरके प्रेमकी प्रबल रसधारामें । उनकी गन्ध भी नहीं बच रही है । उद्धव ! यदि तुम देख सकते तो देख पाते कि मेरे हृदयमे क्या भरा है, प्यारे सखा ! श्यामसुन्दरके सखाके नाते तुम मेरे भी सखा हो, पर सखा ! क्या करूँ, तुम्हारी आँखे वहाँ नही पहुँच रही है । देखो, मेरे शरीरके सूखे ढाँचेके भीतर दृष्टि ले जाओ—वहाँ देखो, देखो केवल श्यामसुन्दरका प्रेम—समुद्र लहरा रहा है, तरग-पर तरग उठ रही है । उनमे मैं हूँ और श्यामसुन्दर है, दोनो ही उस असीम अगाध प्रेम समुद्रके अतल तलमें डूबे हुए है। वहाँ और कोई नही है, केवल मै हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर ! वह देखो, मैं श्यामसुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर ओह तुम नही देख पाते । क्या करूँ, जाने दो ।'

'उद्धव ! उस प्रेम समुद्रमे डूबे हुएको, बिल्कुल तलमें जाकर विलीन हो जानेवालेको तुम बाहर लाना चाहते हो ? प्रेमके समुद्रको तुम घडेमे अंटाकर रखना चाहते हो ? सोचो, कितनी भूल कर रहे हो, देखो, उद्धव ! तुम चाहो मैं चाहूँ तो भी समुद्र घडेमे नहीं समा सकता ! अरे, मैं पगली हो गयी हूँ——क्या कहते—कहते क्या कह जाती हूँ ! मैं भूल गयी, उद्धव ! बस इतना ही कहना है, व्यर्थकी चर्चा हमे मत सुनाओ । हम ग्वालिने योग की बात, ज्ञानकी बात सुनकर क्या करेगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं नहीं, उद्धव ! ठग नही सकोगे, तुम्हारा यह योग हमे भुला नही सकेगा । तुम्हारा यह ज्ञान हमे भुला नही सकेगा । मै चाहूँ तो भी नही भूल सकती ।'

सुनो प्यारे सखा ! बडी छिपी बात बतलाती हूँ । आजसे बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे उन्होने मेरे इस शरीररूपी घडेको अपने प्रेमसे भर दिया। भरकर फिर क्या किया, बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर—भीतर, नीचे ऊपर, दाहिने—बाये, सब जगह पहरा देने लगे । उद्धव ! प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीरके भीतर देखो तब पता चलेगा—देखो, श्यामसुन्दर रसरूप होकर भीतर भरे हैं । यह शरीरका घडा भरा है प्रेमसे और सर्वथा सब ओरसे बंद है। इसे तुम क्षारसमुद्रमें, योगकी खारी चर्चामे डुबाना चाहते हो ? यह भी कभी सम्भव है ? उद्धव ! इस प्रयासको छोड दो । यह प्रेमका घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमे कभी डूबनेका नहीं है । यह तो डूबेगा श्यामसुन्दरके मधुर सुधामय प्रेमसमुद्रमें । स्वयं श्यामसुन्दर आयेगे, स्वय इसका मुँह खोलकर इसे अपनेमें मिलाकर एक कर लेंगे। प्यारे सखा ! उपाय नहीं है । लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दरके हाथोंसे भरा हुआ

प्रेममय घट, अमृतमय घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें डूबेगा ही नहीं । ओह ! मैं सचमुच पागल हो गयी हूँ, क्या–क्या बक रही हूँ । क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होशमे नहीं हूँ, यह पगलीका प्रलाप है । मेरे जले हुए––झुलसे हुए हृदयमें ज्ञान नहीं बच गया है कि मैं विचारकर तुमसे बात करूँ । कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ ।'

'प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! तुम देख नहीं पाओगे, पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँसे कभी कहीं गये ही नही, एक क्षणके लिये भी कहीं बाहर नही गये । वे यहीं है, सदा यही रहते हैं और यही रहेगे। मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेगे । अनन्त कालतक रहेगे । अभी–अभी कलकी बात है । तुम्हे सुनाती हूँ, कल सायकालकी बात है । मेरे प्रियतम प्राणनाथ वनसे गाय चराकर लौट रहे थे । मैं उस क्षण घरके भीतर बैठी थी अनुभव कर रही थी कि श्यामसुन्दर तो पास ही हैं । इतनेमे वशी बजी चेत हुआ, सोचा, भ्रम हो गया है श्यामसुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं । मै सुनने लगी उस मुरलीकी मधुर ध्वनिको । मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु मेरा नाम ले लेकर मुरलीमें सुर भर रहे थे । बाहर आयी, देखा आह ! कैसी अनुपम छवि थी । नील कमलके समान सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघके समान समस्त शरीर सध्याकालीन सूर्यकी रश्मियोमे झलमल झलमल कर रहा था, मुखपर धूलिके कण उड–उडकर पड रहे थे स्वेदकी कुछ बूँदे झलक रही थीं, घुँघराली अलकें बार–बार मुखपर आ जाती थी और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकोंको बार-बार बाये हाथसे हटाते रहते थे, आह, उन आँखोकी शोभा क्या बताऊँ ! तुरतका खिला कमल उस शोभाके सामने फीका पड जाता था । मेरे हृदयेश्वर बार -बार तिरछी चितवन डालकर मुझे देख लेते थे । मैं देख रही थी और वे मस्तानी चालसे, अत्यन्त मधुर चालसे चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे। उद्धव ! उद्धव !! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी, मुझपर उनकी मनोहर मुसकान जादूका काम कर रही थी । इतनेमे ही वे बिल्कुल मेरे पाससे होकर निकले । मित्र ! क्या बताऊँ ? रोक न सकी मै अपनेको, उनमे मिल जानेके लिये, अपने आपको उनमे मिला देनेके लिये दौड पडी वे हँसने लगे, हँसते हँसते लोट–पोट–से होने लगे । अपने सखा सुबलको उन्होंने कुछ सकेत किया, मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढे, मैं भी आगे बढी । मै और वे दोनो आमने सामने थे । मैं झमूरेकी तरह नाच रही थी वे आगे बढते मे आगे बढती, वे पीछे हटते, मै पीछे हटती, वे हँसते, मैं हँसती । इस प्रकार न जाने कितनी देर [illegible] खेलते रहे । पर मैं अब अपनेको सम्हाल न सकी । मूर्च्छित होकर भूमिपर गिरने ही जा रही थी, बस गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौडे आये

और उन्होने अपनी सुकुमार भुजाओंका सहारा देकर मुझे बैठा दिया । पास ही मेरी सखी खडी थी, उसे सकेत करके उन्होने कहा—री! नेक इस बावलीको सम्हाल ।' उद्धव ! अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस, उस आनन्दको व्यक्त करनेकी शक्ति नहीं । आह, उद्धव ! मेरे प्यारे सखाके मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ ।'

नही, नही, मित्र ! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए है, कल नही, कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी । सचमुच उद्धव ! मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कि कल ही वह घटना घटी थी, इसलिये सुनाती गयी । पर प्यारे सखा ! प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! मोहनके सखा ! वह घटना रोज ठीक शाम होते ही आँखोके सामने नाचने लगती है । ठीक ठीक अनुभव करती हूँ, वैसे ही हो रहा है । अब कुछ होश हुआ है, सोचती हूँ प्राणनाथ मथुरामे हैं, मैं तो पगली हो रही हूँ, इसीलिये उन्हे पास अनुभव करती हूँ । जो हो, मित्र ! वह मुखसरोज वह श्याम मेघ-सा शरीर, वे कमलके समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मोहन मुसकान कभी भूली नही जाती । निरन्तर वे ही, वे ही ऑखोके सामने नाचते रहते हैं । प्यारे मित्र ! श्यामसुन्दरके सखा ! मेरे प्राणनाथका हृदय अत्यन्त उदार है, उसमे निष्ठुरता नामको भी नही है । उन्हें मेरी दशाका पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे है । इसीलिये प्यारे उद्धव ! मैं हाथ जोडकर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ इतनी ही कृपा, बस, इतनी कृपा करना, जाकर मेरे श्यामसुन्दरसे, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वरसे कह देना—आँखे तरस रही है, झुलसती जा रही है, उसी मुखसरोजको, उसी श्यामसुन्दर शरीरको ही, कमलदल से नेत्रोंको, उसी ललित मस्तानी चालको, उसी मन्द मुसकानको आँखे खोज रही है, आँखोको बस, इतनी ही प्यास है। प्यारे उद्धव ! मेरी ओरसे कह देना-बस, एक बारके लिये, एक ही बारके लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जायें, खूब सुखसे रहे ! एक बार बस, एक बार दासीके नयनोकी प्यास बुझाकर चले जायँ । उद्धव ! इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ तुम मेरे प्राणनाथको, मेरे हृदयेश्वरको मेरे हृदयका यह संदेश सुना देना ।'

मन लगाना कोई बडी बात नही है । कई बार कहा जा चुका है कि यदि आप सचमुच व्रजलीलामे मन लगाना चाहेगे तो श्रीकृष्णकी कृपासे यह इतना आसान है कि बस, चकित रह जाइयेगा । सोचिये—यमुना है, यमुनाका जल हवाके झोकोसे हिल रहा है, इसका बीस सेकड चिन्तन कीजिये । फिर देखिये सुन्दर घाट है, नीलम, पन्ने, माणिक्यसे जडा हुआ घाट सध्याकालीन सूर्यकी किरणोंमे चम चम कर रहा है, इसमे भी बीस सेकड लगाइये । फिर देखिये——घाटकी चार

सीढियाँ है, एक, दो, तीन, चार इस प्रकार सीढियोंको गिननेमें बीस सेकड। फिर देखिये-घाटपर व्रजसुन्दरियाँ घडे भर रही हैं । घडोमें पानी भर रहा है, यमुनाके जलसे घडे भर रहे हैं––इसके चिन्तनमे बीस सेकंड । फिर देखिये व्रजसुन्दरियाँ घडोको सिरपर उठा–उठाकर रख रही है, इस उठानेकी कियाको बीस सेकडतक देखिये । फिर सोचिये, दूरपर श्रीकृष्ण खड़े है और गोपियाँ आपसमें उनकी ओर इशारा कर रही हैं । इस इशारेकी कियामे बीस सेकड । इस प्रकार अनन्त चीजें आपको मिलेगी, जिनमें मनको निरन्तर फँसाये रख सकते हैं । कभी कुछ, कभी कुछ कभी कुछ । फिर होगा यह कि आपका मन ही वृन्दावन बन जायगा । वहाँ दिन–रात मधुरतम लीला चलती रहेगी । यहाँ भले ही प्रलय होता रहे पर आपका मन मधुर वृन्दावनमे सैर करता रहेगा, किंतु चाह रखकर, लगनसे, तत्परतापूर्वक करनेस यह होगा । फिर कुछ भी हो, आपका शरीर और मन सब वृन्दावनमे हैं, आपको क्या फिक्र है ? भावना दृढ होनेपर बडी सुन्दर अनुभूति होगी । दाहिने दृष्टि डालियेगा, ऐ, यहाँ तो मेहदीकी कतार है । बाये देखियेगा, ऐ, यहाँ तो जूही–बेला खिल रहे हैं । पीछे देखियेगा यहाँ तो यमुना लहरा रही हैं, और सामने –– यहाँ तो श्रीराधाजीका महल है। यही आकाश आपको वृन्दावनका आकाश दीखेगा।

बस ! फिर क्या है, कुछ ही कालमें श्रीकृष्ण ऐसी कृपा करेगे कि यहीं इसी नश्वर, क्षणभगुर, दुःखालय ससारके अन्तरालसे, इसके कण कणके भीतरसे श्रीकृष्ण और उनका लीला–राज्य इस प्रकार अभिव्यक्त हो उठेगा जैसे यह ससार कभी था ही नही, है नही और होगा भी नहीं । आप निहाल हो जाइयेगा। बस, मेरा तो इतना ही कहना है कि बढ चलिये । भगवानकी कृपासे असभव सभव हो सकता है । विश्वास रखिये ।

राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–२९

# तत्त्व–निर्णयके झगड़ेमें कभी नहीं पड़ें

रतनगढ
१ जनवरी १९४२

श्रीशिवभगवानजी फोगला।

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि आपको लीलाये सुननेसे बहुत तृप्ति एव शान्ति मिलती है, मन बराबर लीलाये सुननेको व्याकुल रहता है, सो बहुत उत्तम बात है। देखिये गोपियोकी कैसी सुन्दर रहनी है। जैसे ही सध्या होती है, बस वैसे ही गोपियॉ श्रीकृष्णसे मिलनके लिये अपने प्राणोकी व्याकुलता लेकर अपना श्रृगार प्रारभ करती है। परन्तु उनका यह श्रृगार कभी भी अपने सुखके लिये नही होता। उनके मनमे अपने सुखकी कोई वासना ही नही होती। गोपीप्रेमका यही विशेषत्व है, वहाँ अपने सुखकी कामनाकी गन्ध भी नही है। उन प्रेमवती व्रज–सुन्दरियोके जीवनकी समस्त चेष्टाएँ एकमात्र इसी उद्देश्यसे स्वभावत होती है कि हमारे प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचे। उन्हे चेष्टा नही करनी पडती, यह उनका स्वभाव बना हुआ है। अत उनका अपने शरीरको सजाना भी अपने लिये बिल्कुल नही होता। अस्तु, सध्या होते ही व्रजसुन्दरियॉ अपनेको सजाना आरम्भ करती है, पर यह सजाना जहॉ आरम्भ हुआ कि उसी क्षण श्रीकृष्णकी गाढ स्फूर्ति होकर वे इस बातको भूल जाती है कि मै कहॉ हूँ, क्या कर रही हूँ। उन्हें ऐसा अनुभव होता है यह सामने बिल्कुल मेरे सामने मेरे प्रियतम खडे है, मुझसे थोडी ही दूरपर खडे हैं। फिर थोडा बाह्यज्ञान होता है, सजाना आरम्भ करती हैं, पर सजाने जाकर अपने आपको विचित्र बना लेती हैं। ओढनीको पहन लेती हैं, साडीको ओढ लेती है, ऑखोमे लगानेका काजल तो चरणोमें लगा लेती है और चरणोमे लगानेका महावर ऑखोंमे लगा लेती हैं। कानकी बालीको नाकमे पहन लेती है और नाकके बुलाकको कानमे पहन लेती हैं। गलेका हार कमरमें एव कमरकी करधनीको गलेमें धारण कर लेती है। इस प्रकार उनका वेष विचित्र बन जाता है किसी दिन कैसा, किसी दिन कैसा, प्रतिदिन ही कुछ–न–कुछ गडबडी हो ही जाती है। परतु

तत्त्व–निर्णयके झगड़ेमें कभी नहीं पड़ें
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

श्रीकृष्ण उनके इस वेषको देखकर अप्रसन्न होनेकी बात तो कल्पनासे भी दूर है, प्रेमानन्द–रस सागरमे डूब जाते हैं । उनको देखकर श्रीकृष्णकी आँखोसे विमल प्रेमकी अश्रुधारा बहने लगती है । वे अपने हाथोसे उन गोपसुन्दरियोंके वस्त्र–आभूषण ठीक करते हैं, उन्हे यथास्थान पहना देते है। यह है प्रेमकी महिमा–इसमें बाहरके साज–श्रृगारके लिये कोई स्थान नही है । श्रीकृष्ण तो हृदयके प्रेमका रसास्वादन करते हैं, बाहरका रूप उनकी आस्वाद्य वस्तु नही है। उनकी आस्वाद्य वस्तु है–प्राणोंकी व्याकुलतासे भरा निर्मल प्रेम ।

साधक साधना प्रारम्भ करता है, तब उसके मनमें यही बात एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि मेरे प्रभु जिस बातसे प्रसन्न हो, वही करना है । वह पहले प्रत्येक चेष्टा भलीभॉति विचार–विचारकर करता है कि वे अधिक–से–अधिक किस बातसे प्रसन्न होते हैं । फिर यह उसका स्वभाव बनता चला जाता है । " बातके लिये ही पहले उसकी प्रार्थना होती है -'मेरे नाथ ! मैं तुम्हारे हाथोंका यन्त्र बन जाऊँ ।' यह प्रारम्भमें होता है–आगे तो प्रेमीकी ऐसी दशा होती है कि उसे केवल वही जानता है ।

यह सिद्धान्ततः ठीक है कि महापुरुषोंको साक्षात् भगवान् मानकर उनके चरणोंमे न्योछावर होनेसे भगवत्–प्रेमकी प्राप्ति बड़ी शीघ्रतासे होती है पर किसी मनुष्य–विशेषके प्रति प्रथम तो भगवद्‌बुद्धि होना कठिन है, हुई भी तो वह आगे चलकर हट सकती है और इसप्रकार अपराध बननेसे उसकी उन्नति रुक सकती है, और कही वह आदमी, जिसमें भगवद्‌बुद्धि की गयी, भगवत्प्राप्त न हो ( अधिकाशमे ऐसा ही होता है, भगवत्प्राप्त महात्मा तो विरल ही होते हैं ), साधक मात्र है, तो उससे कोई खास लाभ नही होता और यदि ऊपरसे बना–बना हुआ प्रेमी हो, तब तो निश्चय ही साधकके लिये पश्चात्ताप होनेके लिये अवकाश है । इसलिये सर्वोत्तम, सबसे श्रेष्ठ निर्भय मार्ग यह है कि भगवान्‌के चरणोंमे जीवनको समर्पित करके उनका पवित्र मधुर स्मरण, उनका प्रेममय भजन तथा सत्सगमें रहकर जीवन बिताते हुए समस्त विश्वको ही अपने इष्टका रूप समझकर यथायोग्य सबकी सेवा की जाय । यही आत्मसमर्पणकी तैयारी है । फिर पूर्ण आत्मसमर्पण तो भगवान् कराते हैं।

एक और आवश्यक प्रार्थना यह है कि जीवनमें किसीको तत्त्व -निर्णयके झगडेमें नहीं पडना चाहिये। ऐसा करनेवालोका रास्ता प्राय बंद–सा हो जाता है, क्योंकि वास्तविक तत्त्व तो अनिर्वचनीय है । श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन, उनका प्रेम और उनकी परम पवित्र लीला मन–वाणीके विषय नही हैं । जो भी वाणीसे कहा जाता है, शास्त्रोंमे सुननेको मिलता है, वह तो शाखा–चन्द्रन्यायकी भाँति

सकेत है । भक्तको चाहिये कि वह सिद्धान्त–निर्णयके फेरमे बिलकुल न पडकर सरल श्रद्धासे आत्मसमर्पणकी तैयारी श्रीकृष्ण, श्रीराधारानीके चरणोंमे न्यौछावर हो जानेकी तैयारी करे । वह केवल तैयारी ही कर सकता है, असली आत्मसमर्पण तो होगा तब, जब श्रीकृष्ण स्वयं इस आतमसमर्पणको स्वीकार करेगे । उसके पहले प्राणोकी समस्त व्याकुलता लेकर तैयारी करनी होगी कोई ज्ञानी कहे कि ब्रह्म-प्राप्ति ही सबसे ऊँची स्थिति है तो उसमे भगवद्‌भाव करके, प्रभु हमारी परीक्षा ले रहे हैं–यो समझकर उसे प्रणाम करके उपरत हो जाना चाहिये, भूलकर भी कभी वाद विवाद या बहस नहीं करनी चाहिये । करने चाहियें केवल दो काम जीभसे अखण्ड .मोच्चारण एव मनसे अखण्ड श्रीकृष्ण -लीलाओंका चिन्तन। इसमें जो सहायक हो, उन्हे जोडते चले जाना चाहिये । बाधक हो, उन्हे तुरत फेंकते जाना चाहिये ।

एक ही भगवान् अपनेको दो रूपोमे बाँटकर लीलाका आस्वादन करते हैं। श्रीराधाजी श्रीकृष्ण हैं ओर श्रीकृष्ण ही राधिकाजी है । उनमे सर्वथा सब ओरसे नित्य एकत्व ही है । ऐसा होते हुए भी अनादिकालसे लीलाका आस्वादन करनेके लिये श्रीकृष्ण एव श्रीराधाके रूपमे वे नित्य सच्चिदानन्दमय, रसमय प्रेमका घनीभूतविग्रह धारण किये हुए हैं । श्रीगोपियाँ श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा हैं, अर्थात् स्वय श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णको लीला रसका आस्वादन करानेके लिये अनन्त गोपीरूप धारण किये हुए हैं तथा अनादिकालसे वह सच्चिदानन्दमयी लीला श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्री गोपीजनकी लीला चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी । साधनाके द्वारा मनुष्य पहले इन लीलाओंका प्रत्यक्ष दर्शन करता है, फिर भगवान् श्रीकृष्णकी बडी कृपा होनेपर ही उस लीलामें स्वय भी सम्मिलित हो जाता है । इस दुर्लभ लीलाका दर्शन किसी–किसी ज्ञानयोगीको भी ब्रह्मप्राप्तिके बाद ही होता है । पर प्रेमपथी भक्तके लिये भगवान्‌की कृपासे सीधा रास्ता निकल जाता है और वह बिल्कुल सीधे एक विलक्षण ढगसे इस लीलाका दर्शन करके कृतार्थ हो जाता है । इसे इस प्रकार समझ सकते हैं ।

श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन

ब्रह्मप्राप्ति –

ज्ञानी भक्त
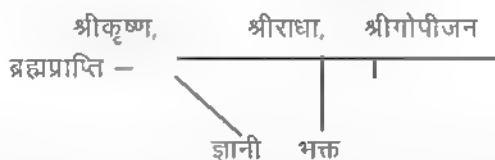
श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, हृदय हैं अर्थात् श्रीकृष्ण एव श्रीराधा दोनों सर्वथा सब प्रकारसे एक ही हैं । लीलाके लिये दो रूपोंमें अनादिकालसे बने हुए

हैं और अनन्त कालतक बने रहेंगे ।

श्रीकृष्णका स्वरूप है सत्–चित्–आनन्द । सत्में सधिनीशक्ति रहती है, चित्मे चितिशक्ति (ज्ञानशक्ति) रहती है तथा आनन्द–अशमे ह्लादिनी श्रीराधा हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण जो सत्–चित्–आनन्द हैं, वे ही वृन्दावन बने हुए हैं, वे ही योगमाया बने हुए हैं और वे ही श्रीराधा बने हुए हैं तथा श्रीराधा ही अनन्त गोपियाँ बनी हुई हैं और यही सत् –चित्–आनन्दमयी लीला अनादि कालसे चल रही है एवं अनन्त कालतक चलती रहेगी ।

वृन्दावन, योगमाया, श्रीराधा एक ही श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ, तीन रूपोंमें हैं । असली बात तो श्रीकृष्ण जाने, पर मैंने एक दिन निवेदन किया था कि उसी सत्–चित्–आनन्दमयी लीलाकी छाया यहाँ पडती है और वही छाया इस विश्वके रूपमे दीखती है । यहाँके स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, वन, पर्वत, समुद्र, नदी–सब उसी दिव्य सत् चित्–आनन्दमय दिव्य राज्यकी छाया है ।

व्रजप्रेमकी प्रत्येक लीलामें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वहाँ किसी भी गोपीके मनमें अपने सुखकी बिल्कुल इच्छा नहीं रहती तथा वहाँके जो श्रीकृष्ण हैं, वे ऐसे नहीं है कि उनको सुख नहीं चाहिये । वहाँ उनकी भगवत्ता छिपी रहती है तथा प्रत्येक गोपी यह समझती है कि श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ हैं, इनको सुख होता है, दु ख होगा । व्रजसुन्दरियोंकी चेष्टाओंमे यह भाव नहीं होता कि हमे सुख मिले, अपने से अपने जो प्राणबल्लभ हैं, उनको सुख कैसे मिले–केवल यही इच्छा रह जाती है ।

यह भी यहाँ समझनेकी बात है कि वृन्दावनमे जो चिन्मयलीला होती है, वहाँ जो गोपियोंके पति हैं, वे भी हाड–मासवाले नहीं हैं, वे तो श्रीकृष्णकी ही एक एक मूर्ति हैं । पति–रूपमें भी श्रीकृष्ण ही रहते है । पर पतिसे इनका कुछ भी कभी भी बिल्कुल कोई सम्बन्ध नही होता । यहाँ तो गोपियाँ पतितकका त्याग करके श्रीकृष्णको भजती हैं, यह लीला दिखलानी है, इसीलिये यद्यपि स्वय श्रीकृष्ण ही उनके पति हैं, पर उस रूपमें उनके साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नही होता। वह लीला कुछ इतनी विचित्र है कि वाणीसे समझायी नही जा सकती। किसी दृष्टान्तसे भी समझाना बड़ा कठिन ही नहीं, असम्भव–सा है । मान लीजिये, जैसे स्त्री पुरुषका एक जोडा है । उनका गुप्त–रूपसे विवाह हो जाय, पर इस बातका किसीको पता लगे नहीं । अब स्त्री तो पतिव्रता है, वह पर–पुरुषका मुँह भी नहीं देख सकती, बात करना तो दूर रहा । अब वह प्रेममें पागल हो जाय , लोगोको तो यह मालूम नहीं कि इसका विवाह हो गया है । इसलिये उसी पागलपनकी अवस्थामें उसका विवाह फिरसे किसीके साथ कर दिया जाय । उसे पता भी न

चले । कुछ दिन बाद उसे जब कुछ होश होता है, तब क्या वह अपने पहले पतिको छोड़कर दूसरे का मुँह भी देख सकती है ? कुछ–कुछ इस दृष्टान्तसे श्रीगोपीजनोके प्रेमके स्वरूपका अनुमान हो सकता है । असली बातको समझना, बिना दर्शन हुए कठिन है ।

बहुत सी ऐसी बाते हैं कि जिनकी दिव्यताको मलिन मनका प्राणी कदापि समझ ही नहीं सकता । आप पढ चुके होंगे भागवतमें–श्रीकृष्ण किसी गोपीका चुम्बन करते हैं, किसीका हृदय स्पर्श करते हैं । पर ये सभी लीलाएँ इतने परेके स्तरकी है, इतने ऊँचे दिव्यराज्यकी है कि जबतक मनुष्यकी सारी कामवासना सर्वथा मिटकर मन एव ऑखे दोनो चिन्मय न हो जायँ, तबतक वह समझ ही नहीं सकता कि असलमे क्या रहस्य है । ससारमें भी देखा जाता है कि पिता अपनी छोटी पुत्रीका मुख चूमता है । बहिन भाईका हृदयस्पर्श करती है । बेटीको बाप हृदयसे चिपका लेता है, पर क्या वहॉ कभी कामविकारकी कल्पना भी होती है? फिर सच्चिदानन्दमय दिव्य पवित्रतम भगवत्–प्रेम राज्यमें कितनी निर्विकार तथा सर्वथा भगवन्मयी लीला होती होगी, इसका जरा अनुमान करना चाहिये । वहाँ स्त्रीका अग दीखता मात्र है, असलमे तो वह सर्वथा सब ओरसे चिदानन्दमय है । वहॉ जडताकी, कामकी तो गन्ध भी नही है । वहाँ उस लीलाके पढ़नेका इतना माहात्म्य है कि पढनेवाला यदि श्रद्धासे पढेगा तो उसका काम–विकार नष्ट हो जायगा ।

इस ब्रजलीलाका भी एक रूप नही है । एक–से–एक बढकर ऊँचे–से–ऊँचे स्तरकी लीला होती है। अब कई लीलाएँ इतनी मधुर होती है कि उनमें श्रीकृष्ण अपनी भगवत्ताको सर्वथा छिपाकर लीला करते हैं । उन बातोको पढकर साधारण आदमी तो यही समझेगा कि यह तो किसी कामी पुरुषकी बात है, परतु वह है असलमे उन भगवान्‌की लीला कि जिनके सकल्पसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते–बिगडते हे । वहां ऐश्वर्य सर्वथा छिप जाता है, वहाँ तो बैठकर श्रीराधाके लिये रोते हैं । 'हाय रे, भगवान्‌की स्मृति नही छूटे'–इस प्रकार जिनकी स्मृतिके लिये इतनी व्याकुलता ऋषि मुनियोको होती है, वे ही प्रभु निरन्तर श्रीराधाजीके लिये व्याकुल होते, रोते रहते हैं ।

जैसे भी हो, पूर्ण चेष्टा करके मनुष्य इस संसारको भूलकर श्रीकृष्णकी चिन्मयी लीलामे मनको तन्मय कर दे, तभी वास्तवमें जीवनकी कृतकृत्यता है और यह तभी होगा, जब ठीक–ठीक पूरी लगनके साथ इसमें जुडकर साधनामय जीवन बना लिया जाय ।

व्रज प्रममे मधुरभावकी सेवाका अधिकार पानेके लिये दो तरहकी साधना

करनी पडती है । एकको बाह्य साधना कहते हैं, दूसरीको आन्तरिक साधना। बाह्य साधनाका रूप यह है कि इस शरीरके द्वारा जो पाञ्चभौतिक है, निरन्तर जप, कीर्तन श्रवण, पूजन आदिमें मनुष्य लगा रहे, सासारिक झझटोमे कम से -कम समय लगाये । आन्तरिक साधनाका यह रूप है कि मनसे दिव्य चिन्मय शरीरकी भावना करके उस शरीरके द्वारा निरन्तर चौबीसों घंटे सेवामे जुटा रहे । यही करते–करते जब प्रेम प्रकट हो जाता है, तब भगवान् भावनाको ही असली बनाकर दिखा देते हैं । दूसरे शब्दोंमे, तब भगवान्की वास्तविक चिन्मयी लीला प्रकट हो जाती है तथा जब पाञ्चभौतिक शरीर छूट जाता है, तब फिर प्रेमके और भी ऊँचे ऊँचे स्तरोका विकास होता है और अधिकारके अनुसार साधक जब प्रेमकी ऊँची से–ऊँची अवस्थामे पहुँचता है, तब उसे सेवाका अधिकार मिलता है । यही वैष्णव आचार्योंका, शास्त्रोका एव प्रेमी सतोका सिद्धान्त एव अनुभव है ।

यहाँ जिस दिव्य शरीरकी भावना की जाती है, वही दिव्य शरीर सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममें योगमायाके द्वारा पहुँचा दिया जाता है । वह शरीर किसी गोपीके गर्भसे जन्म धारण करता है तथा फिर थोडी सी उम्र होते ही श्रीकृष्णके दर्शन होकर प्रेमकी ऊँची ऊँची अवस्थाएँ -प्रेमके बाद स्नेह, स्नेहके बाद मान, मानके बाद प्रणय, प्रणयके बाद राग, रागके बाद अनुराग, अनुरागके बाद भाव और भावके बाद महाभाव इन अवस्थाओंमें पहुँचते ही श्रीकृष्णकी वशी बजती है । वहाँ श्रीकृष्णकी रासलीलामें पहले–पहल उसे सेवाका अधिकार मिलता है । उसके बाद सदाके लिये वह साधक नित्य लीलामे सम्मिलित हो जाता है । यह एक क्रम है जो गोपीभावसे साधना करते हैं, उनके लीलामें सम्मिलित होनेका क्रम है ।

जो सखाभावसे सेवाकी भावना करते हैं, उनका क्रम भी मिलता–जुलता ही होता है, पर सखागण रासलीलामें अधिकार नहीं पाते, उन लोगोकी अन्तिम स्थिति वनमे गाय चराने, साथ खाने, मौज उडाने, कधे चढनेतक ही है । इनका क्रम भी ऐसा होता है कि बाहर एवं अन्तर साधना करते–करते जब प्रेम प्रकट होता है, तब वे भगवान्के सखा बनकर यही लीला शुरू कर देते हैं, फिर उनका पाञ्चभौतिक शरीर छूटनेपर व्रजके किसी गोपके घर वे बालकके रूपमें जन्म लेते हैं । इसी प्रकार प्रत्येक भावकी साधनाका यह क्रम है, पर इतना ही हो, ऐसी बात नहीं है, यह तो एक नियम है । श्रीकृष्णके चाहनेपर तो वे जो चाहें, वही नियम बन सकता है, पर प्राय. इसी तरहसे साधकलोग साधनामे अग्रसर होते हैं।

आपपर भगवान्की बडी कृपा है कि आपके मनमें व्रजप्रेमकी बात सुननेकी इच्छा होती है । आप निकुंज–लीला सुनना चाहते हैं और मै सुनाऊँ–इससे बढकर मेरा एवं आपका सौभाग्य और क्या हो सकता है ? पर मै जो सुनाने जा

रहा हूँ, वह सबके सुननेकी वस्तु सर्वथा नही है । मेरी तो यह धारणा है तथा अनुभवी सतोसे भी बार बार यह सुन चुका हूँ कि जिसके मनमें तनिक भी कामविकार है, उसे इसे कहने–सुननेका अधिकार ही नही है। अतः कम–से–कम इस लीलाके सम्बन्धमे सावधानी रक्खेंगे । मैं सच्चे हृदयसे कहता हूँ कि जिसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीराधाकृष्ण नहीं हो गये हैं । जिसके मनमें कभी भी श्रीकृष्ण एव श्रीराधाकी मधुमयी लीलाओंको सुनकर किसी प्रकार भी तनिक भी,, कोई सा भी संदेह होता हो, जो प्रिया–प्रियतमके प्रेमके लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करनेके लिये तैयार न हो, जिसका श्रीकृष्ण एव श्रीराधाकी अपार, असीम, अनन्त भगवत्तापर, उनकी अपार असीम कृपापर दृढ, अटूट, अडिग, अचल, अटल विश्वास नहीं हो गया हो, उसे ये बातें जो मैं मधुर लीलाके सम्बन्धमें आगे लिख रहा हूँ, कभी नहीं पढनी चाहिये ।

ऊँचे स्तरकी एक लीला होती है और वह नित्य चलती रहती है वह है परकीया भावकी लीला। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही विलक्षण प्रेमलीला होती है तथा श्रीराधारानीका प्रेम कितना ऊँचा है, यह दिखलाया जाता है । इस परकीया भावकी लीलामें होता क्या है कि भगवान् सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण अनन्त रूपोंमें प्रकट होकर सभी गोपियोके एक–एक पति बनते हैं तथा राधारानीके भी एक पति श्रीकृष्ण ही अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं । फिर वहाँकी प्रत्येक लीलाके द्वारा सिद्ध किया जाता है कि पवित्र प्रेम क्या वस्तु है, प्रेममें कितना त्याग होता है । सबसे कठिन जो आर्य–पथ कुल धर्म है, उसका त्याग भी श्रीराधा एव श्रीगोपीजन सहज ही कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठाकी लीला है तथा प्रेमप्राप्त कतिपय वैष्णव आचार्योने एक-से–एक बढकर लीलाएँ लिखी है और अनुभव करके लिखी हैं । अवश्य ही यह इतनी ऊँची प्रेममयी लीला है कि सबके कहने-सुननेकी चीज बिल्कुल नही है । यह इतनी ऊँची बात है तथा इसमे इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि असलमे तो श्रीकृष्णकी कृपासे ही कोई बिरला प्रेमी साधक इसे थोड़ा–बहुत समझ सकता है ।

व्रजप्रेममें केवल त्याग ही त्याग है । उसमें रत्तीभर भी कहीं अपने सुखकी वासना नही है । यद्यपि स्वय श्रीकृष्ण ही राधारानी बने हुए हैं तथा श्रीराधारानी ही अनन्त असख्य गोपियाँ बनती हैं । वहाँ श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनोंमे तिलभर भी कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वहाँ सब कुछ सर्वथा सच्चिदानन्दमय है, श्रीकृष्ण ही उतने रूपोंमें प्रकट रहते हैं, फिर भी लीलाकी सिद्धिके लिये सब गोपीजनोंका अपना–अपना एक भाव रहता है । श्रीकृष्णको सभी अपना प्राणवल्लभ मानती हैं, परतु किसी भी गोपीके हृदयमे अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नही

रहती, सभीकी चेष्टा इसीलिये होती है कि कैसे हमारे प्रियतम प्राणवल्लभको सुख हो। तथापि सबकी सेवा करनेका अलग-अलग ढग होता है और सबका ढग मिलकर इतनी सुन्दर विलक्षण लीला बन जाती है कि उसकी कोई उपमा नही, कोई दृष्टान्त नहीं कि उसे समझा जाय।

प्रेमका वर्णन करते हुए वैष्णव आचार्य जो कहते हैं, वह सक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) जहाँ अपनी इन्द्रियोके सुखकी वासना होती है, वहाँ प्रेम नही है, वहाँ काम है ।

(२) जहाँ एकमात्र श्रीकृष्णको ही सुख मिले, यह आन्तरिक इच्छा है, उसका नाम प्रेम है ।

(३) काम और प्रेमको इसी कसौटीपर कसना चाहिये कि काममें प्रत्येक चेष्टा होगी इस उद्देश्यसे कि हमे सुख मिले, अधिक-से-अधिक हमे आनन्द मिले, और प्रेममे प्रत्येक चेष्टा इस उद्देश्यको लेकर होगी कि श्रीकृष्णको सुख हो, चाहे हमें सदा ही दुःख क्यों न मिले ।

(४) उदाहरणके लिये एकमात्र श्रीगोपीजन ही है जिनमे अपने सुखकी कोई वासना ही नही है और उनका समस्त व्यवहार ही श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेवाला होता है ।

(५) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके लिये लोकधर्मका परित्याग कर देती है ।

(६) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये वेदधर्मका परित्याग कर देती हैं।

(७) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये अपनी देहके सुखका त्याग कर देती हैं ।

(८) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये समस्त संसारके व्यवहारको भी आवश्यकता पड़ते ही छोड देती हैं।

(९) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये लज्जाका सर्वथा परित्याग कर देती हैं ।

(१०) श्रीगोपियोमे श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इतनी प्रबल उत्कण्ठा रहती है कि वे अपना धैर्य भी छोड़ देती हैं ।

(११) श्रीगोपियाँ अपने-आपतकको भी भूलकर केवल श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं ।

इस प्रकार उनके जीवनमे एकमात्र श्रीकृष्णका सुख ही उद्देश्य होता है। यहाँतक कि वे अपने कुलधर्मका भी त्याग कर देती हैं, इसलिये कि हमारे प्रियतमको सुख पहुँचे । उनका श्रीकृष्णके पास जाना इसलिये नहीं होता कि वहाँ

जानेसे हमे सुख मिलेगा, बल्कि इसलिये कि श्रीकृष्णको हमारे जानेसे सुख मिलेगा।

इस गोपीप्रेमके राज्यमें सब कुछ सच्चिदानन्दमय होते हुए भी श्रीगोपियोके कई भेद हैं । मुख्य चार भेद हैं ––

(१) नित्य–गोपियाँ अर्थात् श्रीराधारानी, उनकी सखियाँ, दासियाँ एव सहचरियाँ, श्रीचन्द्रावली एवं उनकी दासियाँ, सखियाँ, सहचरियाँ आदि । ये अनादिकालसे हैं । इनमें कोई हेर–फेर अब हुआ हो या होगा–यह बात बिल्कुल नहीं है । जैसे श्रीकृष्ण अनादिकालसे हैं, वैसे श्रीराधा एव नित्य–सखियॉ भी अनादिकालसे हैं और अनन्त कालतक रहेगी । इनके अतिरिक्त जो भी गोपियाँ हैं, वे सब-की सब साधनासे वहाँ पहुँची हुई हैं । कोई कभी, कोई कभी, इसी प्रकार साधनासे सम्मिलित हुई हैं । उनमें––

(२) कुछ तो श्रुतियाँ हैं, जो साधना करके गोपी–देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं ।

(३) कुछ देवताओंकी स्त्रियाँ हैं, जो समय–समयपर साधनाके द्वारा गोपी–देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं ।

(४) कुछ ऋषि हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपीदेह पाकर सम्मिलित हुए हैं । अब आगे भी जो मनुष्य, जो साधक साधना करेगा और साधनामें सफल होगा, वह भी गोपीदेह पाकर उस लीलामे सम्मिलित होगा।

अब तीन प्रकारकी तो हैं साधनाके द्वारा बनी हुई गोपियाँ । इन्हीं नित्य गोपियोंके साथकी अत्यन्त विलक्षण लीला नित्य चलती रहती है और उसीके किसी एक अशमें, जो साधना करते हैं, वे प्रवेश करते हैं । जितने ऊँचे अधिकारी होते हैं, उतनी ही ऊँचे अंशकी लीलामें प्रवेश करते हैं, ऊँचे स्तरोंकी लीलाओंको देखकर कृतार्थ होते हैं तथा उसमे स्वय भी सेवाके अधिकार पाकर जीवन सफल करते हैं। अब जो नित्य सखियाँ हैं, दासियाँ हैं तथा स्वय श्रीराधारानी एव श्रीचन्द्रावलीजी हैं, इन सबका अलग–अलग भाव होता है अर्थात् एक से–एक बढकर श्रीकृष्णका प्रेम इनमें होता है । सबसे ऊँचा एवं सर्वोत्तम जो प्रेमका रूप है, उसका विकास एकमात्र श्रीराधामें ही हुआ है।

इस प्रेम -लीलामें स्वकीया एवं परकीया–ये दो भाव होते हैं स्वकीया सर्वथा निकुजकी लीला है, महावाणीमें इसीका संक्षिप्त वर्णन है । परकीयामें गोष्ठ एव निकुञ्जकी दोनों लीलाएँ सम्मिलित रहती हैं । अस्तु, इस गोष्ठ–निकुञ्जकी सम्मिलित लीलामें जितनी गोपियाँ हैं, सब परकीयाभावकी हैं। उस दिन मैने आपसे कहा था कि स्वयं श्रीकृष्ण ही अपनी एक–एक छायाका निर्माण करके उन

गोपियोके एव स्वय श्रीराधारानीके भी स्वामी बनते हैं तथा फिर वहाँ अति पावनी, अति उच्च स्तरके त्यागकी लीला होती है । श्रीगोपीजन सभी कुछका त्याग श्रीकृष्णके लिये कर देती हैं । यही प्रेमकी पराकाष्ठा है कि प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके लिये सब कुछका त्याग बिना हिचकके हो जाय ।

अब एक बात याद रखिये जैसे मूलमे एक श्रीकृष्ण है, वैसे मूलमें केवल एक राधारानी ही है । पर राधारानी ही स्वय श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ललिता, विशाखा, चित्रा एव अनन्त सखियों दासियो तथा चन्द्रावलीजीका रूप धारण कर लेती है । इसको कायव्यूह–निर्माण कहते हैं । अर्थात् श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये, तरह–तरहकी लीला रच रचकर सुख पहुँचानेके लिये राधारानी कायव्यूहकी रचना करके अपनेको अनन्त नित्य गोपियोके रूपमे अनादिकालसे प्रकट किये हुए हैं । इन नित्य गोपियोके यो तो अनन्त विभाग हैं, पर मुख्य विभाग श्रीराधा एव चन्द्रावलीजीका है । श्रीराधा ही चन्द्रावलीजी हैं, पर इन दोनोंके दल अलग–अलग होते है। उस दिन जो खण्डिताके पद पढे थे, वह इन्हीं दो दलोको लेकर होनेवाली लीलाका वर्णन था । श्रीकृष्ण जब राधारानीके पास आते हैं, तब चन्द्रावलीजी रूठकर मान करती हैं और जब चन्द्रावलीजीके पास श्रीकृष्ण चले जाते हैं, तब श्रीराधाजी रूठकर मान करती हैं। यही सक्षेपमे मानलीलाका सूत्र है । इसके अत्यन्त सुन्दर सुन्दर रूप हैं एव अत्यत विलक्षण–विलक्षण लीलाएँ होती हैं, सबका वर्णन कोई भी कर ही नही सकता, क्योंकि ये अनिर्वचनीय और अनन्त हैं ।

पर असलमे बात क्या है, यह भी समझ लेना चाहिये । श्रीकृष्णको अधिक से अधिक सुख मिले, इसलिये श्रीराधाजी एवं श्रीचन्द्रावलीजी मान करती हैं, तथा मान करनेमें भी कितना ऊँचा–ऊँचा भाव होता है यह आपको श्रीराधाजीके प्रेमप्रलापकी कुछ बाते लिखकर कभी समझानेकी चेष्टा कर सकता हूँ । बीचमे यह लिखना भूल गया कि श्रीराधाकी सखियाँ ललिता आदि एव श्रीचन्द्रावलीकी सखियाँ शैव्या आदि दोनों इस चेष्टामें रहती हैं कि कैसे श्रीकृष्णको अपनी–अपनी सखीके कुजमे ले जायँ । श्रीचन्द्रावलीकी सखी राधारानीकी सखियोंकी दिव्य प्रेममयी वञ्चना करती रहती हैं और राधारानीकी सखियाँ चन्द्रावलीकी सखियोकी वंचना करके श्रीकृष्णको ले जाती हैं । श्रीकृष्णको दोनोको ही प्रसन्न करना पडता है । उसके सामने उसकी सुननी पड़ती है, उसके सामने उसकी ।

यो तो यह लीला अनिर्वचनीय है और उसके किसी भी अशको पूरा–पूरा समझना असम्भव है । पर पढ़ सुनकर जीवन पवित्र करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका दर्शन करनेके लिये ही साधना करनी पडती है तथा जिन सतोंको जो

अनुभव हुआ है तथा ऋषि–महर्षि जो इस प्रकारकी लीलाएँ शास्त्रमें लिख गये हैं, उन्हीको आधार बनाकर मेरी तुच्छ बुद्धिमे जो कुछ आया है, लिख गया हूँ और भविष्यमें भी भगवत्कृपावश जो भी प्रेरणा होगी, लिख सकता हूँ ।

बस आपकी ओरसे निरन्तर भगवन्नाम–जपकी रट लगी रहे और मन श्रीकृष्णकी किसी भी लीलाको आधार बनाकर उसमे डूबा रहे और क्या कहूँ। सभी सत्संगी इष्ट मित्रोंको भी भजनमें लगनेकी प्रेरणा करें।

राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–३०

# व्रजलीला अनन्तानन्त है

रतनगढ
तिथि उल्लेख नहीं

प्रिय श्रीशिवभगवानजी फोगला,

सादर सप्रेम जय श्रीराधे ।

आपका पत्र मिला । व्रजलीलाके सम्बन्धमें आपकी अतिशय जिज्ञासा देखकर मुझे हर्ष होता है, परन्तु आपकी धन पर अतिशय महत्वबुद्धि, दूसरे अतिशय बढे अहकारको देखकर यही अनुभव होता है कि भूमि अतिशय बजर है इसमें तो ज्ञानके अकुर भी तत्क्षण उगने असभव हैं, सो प्रेमाकुर तो सर्वथा ही पनप नहीं सकते । परन्तु प्रभु–कृपा पर आशा लगाकर आपकी इच्छा एव आपका मान रखता हुआ जो कुछ प्रभु प्रेरणा दे रहे है, लिख रहा हूँ ।

यह व्रज लीला जितनी एव जैसी मैं लिख रहा हूँ, उतनी एव वैसी नही वर अनन्तानन्त है । नित्य नव नवायमान रसमयी एव नित्य नूतन है ।

जो भक्त जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसे उतने ऊँचे दर्जेकी लीलाका दर्शन होता है । उसी लीलामेसे एक प्रकारकी लीलाका उदाहरण देकर आपको समझाता हूँ । श्रीकृष्णकी एक लीला है; जिसे दैनन्दिनी लीला कहते है, अर्थात् वह प्रतिदिन प्रात से लेकर राततक चौबीस घटे एक–एक प्रकारकी होती है । इसीको अष्टकालीन लीला भी कहते हैं । स्वकीयाभावकी अष्टकालीन लीला दूसरी है । यहाँ परकीयाभावकी अष्टकालीन लीला बता रहा हूँ । इस लीलाका बहुत सक्षेपमें यह रूप है–श्रीकृष्णकी उम्र चौदह वर्ष कई महीने रहती है । श्रीराधारानी उनसे कुछ छोटी रहती हैं । यही उम्र इनकी अनादिकालसे है और अनन्तकालतक रहेगी । इसी रूपको 'नित्य–किशोर एवं नित्य–किशोरी'का रूप कहते हैं तथा इतने ही रूपमें सदा रहकर यह लीला अनादिकालसे चलती आ रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी । पर विलक्षणता यह है कि यद्यपि आधार तो एक रहेगा, पर यह नित्य नयी–नयी होती रहती है और नयी–नयी ही होती रहेगी, क्योकि असलमें यह जड–जगत्की लीला नहीं है, यह है स्वय भगवान् श्रीकृष्णकी

## व्रजलीला अनन्तानन्त है

पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

स्वरूपभूत लीला । अतएव इसमे नित्यनूतनता रहेगी ही ।

सूत्ररूपसे ही सक्षेपमे लिख दे रहा हूँ, विस्तार तो सारा जीवन लिखा जाय तो भी समाप्त होनेका नहीं है । यह लीला ऐसे प्रारम्भ होती है प्रात काल निकुञ्जमे श्रीप्रियाप्रियतम सोये रहते हैं, वृन्दादेवीके संकेतसे शुक सारिका आदि पक्षी उन्हें जगाते हैं । जगानेके बाद सखियाँ दोनोंकी तरह–तरहसे सेवा करती हैं । सेवा होने के बाद श्रीकृष्ण अपने घर चले जाते हैं तथा रातके समय मैया यशोदा जहाँ उन्हे सुला गयी थीं, वही जाकर चुपचाप सो जाते है । राधारानी भी घर आकर सो जाती है । फिर वहाँ श्रीकृष्णको मैया उठाती हैं । वे हाथ–मुँह धोकर दतुवन करते हैं और गोशालामे जा कर गाय दुहते हैं । फिर स्नान करते हैं । इधर सखियाँ राधारानीको उठाती है ! मुँह धुलाकर दतुवन आदि कराकर उबटन लगाती हैं, फिर स्नान कराती हैं, फिर शृंगार करती हैं । इसी समय मैया यशोदाकी एक सखी राधारानीको बुलाने आ जाती है कि 'चलो, मैया तुम्हे रसोई बनानेके लिये बुला रही है ।' उनकी साससे कहकर वह उन्हे ले जाती है, वहाँ राधारानी रसोई बनाती हैं । उनके बनाये हुए भोजनको श्यामसुन्दर आरोगते हैं। राधारानीके द्वारा मैया रसोई इसीलिये बनवाती हैं कि इनके हाथकी रसोईको श्यामसुन्दर बड़े प्रेमसे खाते है तथा राधारानीको यह वर मिला हुआ है कि जो इसके हाथकी रसोई खायगा, उसकी आयु बढेगी । यशोदा सोचती है कि मेरा लल्ला बहुत दिन जीयेगा, इसिलिए नित्य इन्हें प्रार्थना करके बुलवाती है । इसके बाद मैया स्वय बहुत तरहसे करकर राधारानीको भोजन कराती हैं । फिर श्यामसुन्दर गाय चरानेके लिये वनमे जाते है तथा राधारानी एव सखियाँ वनमे फूल चुननेके बहाने तथा सूर्य पूजाके बहानेसे वनमे चली जाती हैं । वहाँ वृन्दादेवीका सारा प्रबन्ध ठीक रहता है । श्रीकृष्ण भी सकेतपर पहुँच जाते हैं वहाँ मिलन होता है एव ढाई पहरतक तरह–तरहकी लीला होती है । इसके बाद श्यामसुन्दर वनमें अपने सखाओंके पास चले जाते हैं और राधारानी घर लौट आती है । वे फिर श्यामसुन्दरके लिये रसोई बनाती है, स्नान करती हैं तथा शृंगार करके अपने महलकी अटारीपर चढकर श्यामसुन्दरके वनसे लौटनेकी बाट देखती हैं । सायकाल होनेपर श्यामसुन्दर लौटते हैं, सखियोंकी भीड़ लग जाती है । मैया श्यामसुन्दरको गोदमे लेकर उनका मुँह चूमती है, शरीर पोंछकर स्नान कराती हैं, सखाओंके साथ उन्हे कुछ जलपान कराती हैं । श्यामसुन्दर गाय दुहने चले जाते हैं, गाय दुहकर लौटते हैं तथा नन्दबाबा आदि बडे बडे गोपोंके साथ बैठकर भोजन करते हैं । भोजन करनेपर नन्दबाबाका दरबार लगता है, उसमे खूब नाच–गान होता है । नन्दबाबाके दोनों बगलमे बैठकर श्रीकृष्ण एव दाऊजी

तमाशा देखते हैं । फिर मैया श्यामसुन्दरको बुला लेती हैं तथा दूध पिलाकर एक कमरेमे सुला देती हैं । जब मैया चली जाती हैं तब श्यामसुन्दर चुपकेसे निकलते हैं और जहाँपर सकेत बॅधा होता है, वहाँ जा पहुँचते हैं । इधर राधारानीके पास मैया यशोदा बहुत -सी भोजन -सामग्री भेजती हैं । सखियाँ चालाकीसे श्यामसुन्दरका अधरामृतसिक्त प्रसाद भी ले जाती है । राधारानी एव सखियाँ भोजन करती हैं, फिर श्रृगार करके वृन्दादेवीकी दासीके पीछे-पीछे छिपी हुई वहाँ पहुँचती हैं । श्रीश्यामसुन्दर एव राधारानीका मिलन होता है । वहाँ ढाई पहर राततक तरह-तरहकी लीलाएँ, वनविहार, जलविहार एव भोजन आदि करके किसी कुञ्जमे प्रिया-प्रियतम विश्राम करते हैं । दूसरे दिन प्रात. उठनेकी लीला पहले लिखी ही गयी है । इस प्रकार प्रतिदिन अनादिकालसे यह लीला चल रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी । जिन भक्तोको इस लीलाके दर्शन हुए है, उन्होने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है तथा बहुतोने साधनाके लिये भी इस लीलाका विस्तार किया है । ग्रन्थ भरे पडे हैं। अगणित साधक अबतक हो चुके है और न जाने किन-किनको दर्शन भी हो चुके हैं । जो वाणीमें आ सका है, उसका भी बडे सकोच और सक्षेपसे उन्होने वर्णन किया है । वास्तवमें तो यह सर्वथा अनिर्वचनीय लीला है । मन-बुद्धिकी सामर्थ्य नहीं कि इसे समझ सके । भगवान्‌की असीम कृपा प्राप्त करके लाखों-करोडों भक्तोमें कोई विरले भक्त इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं । बडे बडे ऋषि-महर्षि न जाने कितनी तपस्या करते है, तब कही जाकर इसमे प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है । अवश्य ही जो सर्वथा सम्पूर्ण रूपसे अपने-आपको श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोमें न्योछावर कर देता है, उन्हीकी कृपापर ही एकमात्र निर्भर हो जाता है, उसके लिये उनकी कृपासे ही इसका दर्शन सुलभ हो जाता है ।

प्रतिदिन नयी-नयी लीला होती रहती है और जब साधकका मन फँस जाता है, तब तो एक लीला ही प्रतिदिन नयी हो जाती है, उसका मन हटना ही नही चाहता । यह तो ध्यान होनेपरकी अवस्था है । मैं तो बहुत साधारण व्यक्ति हूँ न मेरा मन स्थिर हुआ है, न ध्यान ही लगा है, न दर्शन हुए है । श्रीकृष्णकी कृपासे ये बाते सुनने-पढ़नेको मिल गयीं, यही मैं अपने लिये अत्यन्त सौभाग्यकी बात समझता हूँ तथा जीवनको पवित्र करनेके लिये एव आप प्रेमसे सुनते हैं, इसलिये सुनाता हूँ ।

अनादिकालसे जो लीलाएँ हुई है और अनन्त कालतक जो लीलाएँ होंगी, वे सब -की-सब भगवान्‌के शरीरमे वर्तमानकी तरह फिल्मकी भाँति सजी रक्खी हैं। अब यही फिल्म घूमेगी और भक्तकी जो इच्छा होगी, जो लीला वह देखना चाहेगा,

## व्रजलीला अनन्तानन्त है
### पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

भगवान्‌की इच्छासे उसी लीलावाला हिस्सा घूमकर उसके सामने आ जायगा । जब उद्धव पहले मिले, तब उनका अधिकार कुछ कम था। इसलिये पहले वियोगकी लीला उन्हें दिखायी पडी। फिर श्रीगोपीजनोका दर्शन होनेके बाद उससे भी परे एक अत्यन्त विचित्र लीला है, जिसमें यद्यपि संयोग–वियोग दोनों होते हैं, फिर भी जो अत्यन्त विलक्षण है, उसीमें की पहली, सयोगकी लीला उन्हें देखनेको मिली और उन्होने देखा कि श्रीकृष्ण तो यहीं है, यहॉसे कहीं गये ही नहीं । इससे और भी परेकी लीला थी, किंतु सबको उद्धवने थोडे ही देखा था।

जब श्रीगोपीजनोंकी कृपासे वह अधिकार प्राप्त हुआ, श्रीकृष्ण एव गोपीजनोंके प्रेमका प्रभाव कुछ–कुछ विदित हुआ एवं श्रीकृष्णकी कुछ अत्यन्त परेकी लीलाओंके दर्शन उन्हे होते हैं, तब उद्धवकी ऑंखें खुलती हैं और वे यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे विधाता ! व्रजमे मनुष्यका शरीर मिलना तो दुर्लभ है, यदि मुझे तुम एक झाडी, लता, घासका तिनका ही बना दो तो फिर तो मेरा काम बन जाय । श्रीगोपीजनोके चरणोकी धूलि मुझपर उड उडकर पडे और मैं कृतार्थ हो जाऊँ, बस, इतनी दया कर दो——

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।।

x x x x

कैसे होउँ द्रुम लता बेलि कुजन बन माहीं ।
आवत जात सुभाय परै मो पै परछाहीं ।।
सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय ।
मोहन होहिं प्रसन्न जो, तौ बर माँगउँ जाय।।
कृपा करि देहिं जो ।

"हाय ! मैं कैसे इस व्रजमे लता बन जाऊँ ? अरे, कम–से कम मुझपर श्रीगोपियोंकी परछाहीं तो इस प्रकार पड जायगी, बस, इतना ही मेरे लिये बहुत है । पर हे भगवन् ! मैं क्या करूँ, यह तो मेरे वशकी बात नहीं है । मेरा अधिकार होता तो अभी यहीं लता बनकर मैं सदाके लिये रह जाता । हाँ, यदि मोहन, प्यारे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो जायँ तो मेरा काम बन जाय । मैं उनसे जाते ही यही वर माँगूँगा कि 'हे गोपीनाथ ! मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता, केवल इतनी कृपा कर दो कि मैं व्रजमें एक लता बन जाऊँ ।' पर मेरा भाग्य, पता नहीं, ऐसा होगा या नही । पता नहीं श्यामसुन्दर मुझे यह वर देंगे कि नही ।" यह दशा हुई

थी तब, जब श्रीगोपीजनोंके दर्शन उद्धवको हुए । इतना होनेपर भी उद्धवको लीलामें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं प्राप्त हुआ, केवल दर्शन दर्शन हुए, सो भी थोड़े–से अंशके ही ।

यह बडी विलक्षण बात है कि ये व्रजलीलाएँ एक–से–एक बढ़कर हैं इनके विषयमें यह कहा ही नही जा सकता कि अमुक सबसे परेकी लीला है, क्योंकि सबसे परेकी लीला तो कोई तब कही जाय जब कि कोई सीमा हो । जब लीला अनन्त है, भगवान्‌की सर्वथा स्वरूपभूता है, तब वह नयी–ही–नयी होती जायगी,एक–से एक विलक्षण आती जायगी, जितना ऊँचा अधिकारी होगा, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला आयेगी । शास्त्रमे आजतक जिन–जिन लीलाओका वर्णन हुआ है, वह तो बहुत ही थोडा है । बहुत–सी ऐसी लीलाएँ हैं कि जिनका वर्णन होना ही असम्भव है । तथा ऐसी भी बहुत सी लीलाएँ है, जिन्हे आजतक किसीने नही देखा है । वैसा कोई ऊँचा भक्त हो जाय तो वह बिल्कुल नयी और सबसे ऊँचे स्तरकी लीला भी देख सकता है । हाँ, एक बात अवश्य है कि जिसको जिस लीलाका दर्शन होता है, उसको यह प्रतीति नही होती कि 'हमे अब कुछ देखना बाकी रह गया है ।' जैसे समुद्रमे डूब जानेपर ऊपर–नीचे, बाहर–भीतर जल–ही–जल दीखता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय लीला–सिन्धुमे डूब जानेपर वह स्वय लीलामे तन्मय हो जाता है, अब उसे यह ज्ञान थोडे रहता है कि अभी कुछ बाकी है । पर जैसे समुद्रमे विचित्र विचित्र इतनी बडी तरगे आती है कि वैसी हजारो वर्षके इतिहासमें नही मिलती । वैसे ही लीलासिन्धुमे भी ऐसी–ऐसी तरगे आती हैं कि उनके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती है, फिर दूसरी लीलाओके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती है, तीसरी लीलाओके प्रकट होनेपर दूसरी फीकी पड जाती हैं, और चौथी प्रकट हुई कि तीसरी फीकी पड जाती हैं । तरगोकी कोई सीमा नही कि कब कैसी तरग आकर पहलेवालीको फीकी–छोटी बना दे। वैसे ही भगवान्‌की लीलाका कोई हिसाब नही । न जाने कब कोई ऐसी विलक्षण लीला भगवान् प्रकट करेगे कि पहलेवाली सब की–सब फीकी हो जायँगी । पर फीकीका यह अर्थ नहीं कि पिछली लीलासे मन उपरत हो जाय। भगवान्‌की प्रत्येक लीला ही अनन्त असीम सौन्दर्यसे भरी है । यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टिसे यह बात कही गयी है ।

इसीलिये साधना इसी बातकी करनी पडती है कि चाहे जैसे हो, एक बार लीला–समुद्रमें जाकर डूब तो जायँ । फिर तो तरगें आयेगी ही । उद्धव भगवान्‌के सखा थे, उन्हे सख्यरसका आनन्द प्राप्त था । पर भगवान् तो कृपालु है । उन्होने देखा–बिचारा केवल सूखा ज्ञानका आनन्द एवं मेरे सखापनका

## व्रजलीला अनन्तानन्त है

### पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

आनन्द ही पाता है, अब इसे व्रज भेजकर कुछ इससे भी परेका जो आनन्द है, वह दिखलाऊँ । उद्धव गये । पहले तो उन्होने ज्ञानकी चर्चा की, पर इसके बाद जब गोपियोकी कृपासे गोपियोकी विरह लीलाके दर्शन हुए, तव उनके होश उड गये– हाय ! मेरा जीवन तो व्यर्थ गया । उस पश्चात्तापका यह फल हुआ कि श्रीगोपियोने और भी कृपा की तथा उन्हे उससे भी ऊँची एक लीलाका थोडा–सा अश दिखलाया । इसके बाद और भी कृपा हुई होगी हम लोगोको उसका क्या पता ।

पर इतनी बात इसीलिये हुई थी कि उद्धवको श्रीकृष्णका साक्षात् हो चुका था । फिर भगवान्ने कृपा करके ऊँचे ऊँचे स्तरोकी बात उन्हें दिखायी, सुनायी। इसी प्रकार जेसे भी हो, एक बार श्रीकृष्णका साक्षात्कार मनुष्यको कर लेना चाहिये। फिर मुहर लग जाती है । जब एक बार श्रीकृष्णका साक्षात् हो जाता है, तब उसे 'पास' मिल जाता है कि अब यह हमारी लीला देख सकता है । वह जितना अधिक समय लगायेगा, उतनी ही अधिक लीला देख सकेगा। यहाँ समय लगानेका अर्थ है–लालसा बढाना तथा श्रीकृष्णकी कृपापर अपने–आपको न्योछावर कर देना । वहाँ किसी राजाके सीमित महलमे देखनेकी वस्तुएँ थोडे ही हैं । भगवान्की लीलावाले महलमे एक बार प्रवेश कर जानेके बाद फिर तो अनन्त कालतक देखने पर भी वहाँकी वस्तुएँ समाप्त नही हो सकती

मान लीजिये एक बहुत बडा सम्राट् है । अब वह जिस समय दरवारमे रहता है, उस समय उसका रोब सबपर छाया रहता है । पर जब वह महलमे जाता है, तब बच्चा उसकी दाढी पकडकर खीचता है और रानी उसकी सेवा करती है । रानी यह जानती अवश्य है कि मेरे पति बड़े भारी सम्राट् हैं, पर वहाँ रानीके मनमें उसके सम्राटपनका रोब नही रहता । वहाँ तो सम्राट् उसके प्रियतम पति है । सम्राट् हैं दरबारमें, महलमे तो उसके स्वामी हैं, उनपर उसका अधिकार है । राजदरबारका कानून, बैठना उठना, बातचीत, हँसना–बोलना, सब मर्यादासे सीमित रहता है, वहाँ सम्राटपन (ऐश्वर्य) बात–बातमें रहेगा । पर महलमे सब नियम ही दूसरे होते हैं, वहाँ केवल घर–गृहस्थीका प्रेममय नियम होता है । भगवान्के बडे–बडे ऊँचे–ऊँचे भक्त कोई राजमन्त्रीकी तरह समस्त विश्वकी सँभाल रखते हैं, कोई बहुत बडे अधिकारीकी तरह काम करते हैं, यहाँतक कि युवराजकी तरह, भगवान्के पुत्रकी तरह अधिकार रख सकते हैं, पर इतना अधिकार रखकर भी राजमहलकी निर्बाध प्रेममयी स्थितिका उनको कुछ भी पता नही हो सकता, वे राजरानी, पटरानीको देखतक नहीं सकते–जानतक नही सकते कि उनकी शकल–सूरत कैसी है ?

## व्रजलीला अनन्तानन्त है
### पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

भगवान्‌का द्वारकाका रूप, मथुराका रूप, अयोध्याका रूप -ये सब ऐश्वर्यके रूप हैं बहुत ऊँचे ऊँचे सत उनकी इस ऐश्वर्यलीलामें स्थान पाकर भगवान्‌की तरह–तरहकी सेवा करते हैं । पर वृन्दावनका जो रूप है, वह राजमहलका रूप है तथा जैसे राजमहलकी एक दासी भी राजमन्त्रीको ही नहीं, युवराजतकपर आज्ञा चला देती है, वैसे ही श्रीगोपीजनोंकी आज्ञा ब्रह्मा–विष्णु–महेशतकपर चलती है । अवश्य ही जिस प्रकार राजमहलमें दिन–रात आनन्दित रहनेवाली राजरानियोंको, दासियोंको यह अवकाश नही कि राज्यमें क्या हो रहा है यह देखे, वैसे ही मधुर लीलामें जिन्हें स्थान प्राप्त हो जाता है, उनको उस अनिर्वचनीय आनन्दसे छुट्टी ही नही मिलती कि जाकर देखें–बाहर राज्यमें क्या कैसे हो रहा है ।

जो रात-दिन श्रीकृष्णको रोबमें बैठे देखता है, उसे क्या पता कि य ी श्रीकृष्ण महलमें जाकर न जाने क्या–क्या करते हैं । वह तो दिन–रात दरबारी कानूनकी मर्यादामे रहता है । मर्यादाकी जो लीला होती है, उसीमें उसका मन पगा हुआ होता है ।

जैसे साँझ हुई कि महलकी रानियाँ अटारीपर चढकर राज्यमे क्या हो रहा है यह देखना चाहें तो देख सकती हैं, पर राज्यवाला कोई भी उनको देख नहीं सकता । वैसे ही जो मधुर लीलाके भक्त हे, वे कभी इस प्रापचिक जगत्‌की लीला तथा ऐश्वर्यमयी लीलाको देखना चाहें तो देख सकते हैं । पर जो दिन–रात मिश्रीके रसको चख रहा है, उसका गुडपर मन थोडे ही चलता है । वह तो ऐसे विलक्षण आनन्दमे छका रहता है कि क्या पूछना । उसको ऐश्वर्यकी बात सुनने–कहनेकी भी फुरसत नहीं होती ।

यद्यपि इसके लिये लोकमें कोई दृष्टान्त नहीं, फिर भी समझनेके लिये समझे कि जैसे राजाकी रानीकी स्पेशल गाडी कहीं जाय तो राज्यके मन्त्री आदि बडे बडे अफसर सब प्रबन्ध करते है । सारा प्रबन्ध उन्हीका रहता है तथा उनके प्रबन्धमें ही स्पेशल जाती है । पर राजमन्त्री यह जानता है कि मेरा प्रबन्ध रहनेसे क्या हुआ, ये हैं तो राजमहलकी पटरानी । मेरा अधिकार तो ये इसलिये मानती हैं कि मेरा आदर बढे । पर वस्तुत मैं तो इनका चाकर हूँ । ठीक उसी प्रकार यदि मधुर लीलामें स्थान पाया हुआ कोई भक्त या उसका अवतार हो तो उसकी देख–रेख ब्रह्मा, विष्णु, महेश एव बडे–बडे देवता ही करते हैं, पर यह समझते हुए कि ये तो हमारे प्रभुके प्रेमी हैं ।

जो वैसे भक्त हैं या अवतार लिये हुए है, वे सब कानून मानते हैं, पर उनका यहाँका कानून मानना वैसे ही है, जैसे राजरानी सैर करने निकले और मन्त्रीके प्रबन्धमें उसे रहना पडे । मन्त्रीने जहाँ जैसे रहनेकी, खानेकी व्यवस्था की है, उसी

व्यवस्थाका राजरानी पालन करती है । पर यह सब करते हुए भी जैसे वह अपनेको इनके शासनसे सर्वथा परे समझती है, वैसे ही जो कोई ऐसे बिरले भाग्यवान् संत होते हैं अथवा अवतार लिये होते हैं, वे यहाँ इस संसारके कानूनका ठीक-ठीक पालन तो करते हैं, पर वस्तुतः वे अपनेको इस राज्यके शासकोंकी शासनव्यवस्थासे परे अनुभव करते हैं ।

कल्पना कीजिये-सम्राट्को मजाक सूझे और उसकी इच्छासे कोई महलकी रानी वेष बदलकर राज्यमे घूमे । अब कोई राजाका चपरासी हो, उस बेचारेको तो पता है नही कि यह महलकी रानी है, वेष बदले हुए है । अब सम्राट्का रानीके लिये संकेत है कि 'तुमको वेष बदले हुए जब दरबारमे हम हों तो आना होगा ।' अब जब वह रानी जायेगी तब चपरासी तो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करेगा, जो वह सबके साथ करता है । ठीक, उसी तरह पहले आदेश लायेगा, तब दरबारमे प्रवेश करने देगा । वहाँ दरबारमे केवल सम्राट्को ही पता है कि यह तो हमारी रानी है वेष बदले हुए यहाँ आयी है, और लोग तो जानते भी नही कि यह कौन है ? रानी वहाँ दरबारमे खूब ठाटसे, ढंगसे बात करती है, पर मन-ही-मन वह भी हँसती है तथा सम्राट् भी उसपर हुकुम तो चलाते है, पर मन-ही-मन खूब हँसते हैं । इसी प्रकार भगवान् भी कभी कभी लीला किया करते हैं ।

एक बहुत सुन्दर लीला आती है--भगवान् द्वारकामें गद्दीपर बैठे हैं तथा कुछ ग्वालिने दहीके मटके लिये दरबारमे आती हैं । भगवान् तो सब जानते हैं-पहले अदबसे बात होती है । फिर गोपियाँ कहती हैं कि 'चलो वृन्दावनमे, यहाँ गद्दीसे उतरो ।' सारा दरबार ठक् हो जाता है कि भला, ये गंवारी ग्वालिनें कितनी बढ़ बढ़कर बाते कर रही हैं । श्रीकृष्ण थोड़ा और भी रंग जमाते है । गोपियाँ कहती हैं कि 'हम राधारानीकी दासियाँ हैं, यदि सीधे मनसे नही चलोगे तो फिर दस्तावेज निकालना पड़ेगा ।' (श्रीकृष्णने एक दस्तावेज लिख दिया था कि मैं आजीवन राधारानीका गुलाम रहूँगा ।) श्रीकृष्ण खूब हुज्जत करते हैं कि हमे याद नही कि हमने कहाँ क्या दस्तावेज लिखा है। फिर गोपियाँ दस्तावेज निकालकर श्रीकृष्णकी सही दिखलाती हैं और गद्दीसे उतार देती हैं । सारा दरबार चकित रह जाता है । श्रीकृष्ण पीछे-पीछे चल पड़ते हैं । अब सोचिये, वृन्दावनके महलकी दासी उनकी इच्छासे ही दरबारमे आती हैं तथा तरह तरहकी लीला करती है, पर लीला देखकर यह अनुमान भी नही हो सकता कि ये ही राजराजेश्वर श्रीकृष्ण वृन्दावनकी गोपियोके दास है । ये अप्रकट लीलाएँ प्रेमी भक्त संतोंके नेत्रगोचर होती हैं, ग्रन्थोंमें पूरी नहीं पायी जाती । और ये लीलाएँ कुछ इतनी ऊँची हैं कि मन जबतक बिल्कुल पवित्र नहीं हो जाता, तबतक इनके

रहस्यका अनुमान लगाना भी बडा ही कठिन होता है । किसी भी दृष्टान्तसे इनके वास्तविक रहस्यको समझा नही जा सकता ।

भगवान्‌की लीलाएँ अनन्त हैं । उनमे किसीमे भी मन लग जानेपर तो महीने–के–महीने बीत जाते है, एक ही ध्यान बँधा रह जाता है । पता ही नहीं लगता कि क्या हो रहा है । समाधि हो जाती है । परतु जबतक ऐसी अवस्था नहीं हो जाती तबतक चञ्चल मनको वशमे करनेके लिये दस–बारह लीलाएँ चुन लेनी चाहिये तथा खूब कडाईसे समय बाँध लेना चाहिये कि इतने समयसे लेकर इतने समयतक यह लीला, फिर यह लीला, फिर यह । इस प्रकार जागनेसे सोनेतक मन–ही–मन चिन्तनका तार चलता रहे । बाहर तो सुन रहे हैं, पोथी पढ़ रहे हैं पर भीतरका काम भी चलते ही रहना चाहिये । खूब चेष्टा करनेसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ऐसा बडी आसानीसे हो सकता है ।

वैष्णव–सिद्धान्तका तो यह एक निचोड है कि भक्त भगवान्‌से अपना एक सम्बन्ध जोड ले । भगवान् हमारे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूँ । भगवान् हमारे सखा है, मैं उनका मित्र हूँ । भगवान् हमारे पुत्र है, मैं उनका पिता हूँ । भगवान् हमारे पति है, मैं उनकी पत्नी हूँ । भगवान् हमारे प्रेमास्पद प्राणनाथ हैं, मैं उनकी प्रेयसी हूँ । कहनेका अभिप्राय यह है कि जो सम्बन्ध प्यारा लगे, मनको खीचे--बस, उसीको एक बार दृढ करके जोड़ लें और फिर ठीक उसी भावके अनुसार चौबीसो घटे सेवामें लगा रहे । भगवान् तो सर्वज्ञ है, जिस क्षण कोई उनसे सम्बन्ध जोडता है, ठीक उसी क्षण वे उसके उसी सम्बन्धको स्वीकार करके उसके लिये वही बनकर आनेके लिये तैयार हो जाते हैं । विलम्ब तो होता है हमारी उत्कण्ठाकी कमीके कारण । यही उत्कण्ठा जैसे–जैसे भजन–स्मरण बढता है वैसे वैसे अन्त करण शुद्ध होनेपर बढने लगती है और जिस क्षण उत्कण्ठा पूरी हुई, ठीक उसी क्षण वही बनकर भगवान् उसके सामने प्रत्यक्ष आ जाते है ओर फिर उस दिनसे वह भगवत्प्राप्त पुरुषोकी गणनामें आ जाता है ।

लीलाचिन्तन करते करते बीचमें भगवान्‌की कृपासे कई विचित्र–विचित्र घटनाएँ हो जाती हैं । मान ले, आप ध्यान कर रहे हैं भोजनकी लीला चल रही है । बड़े, पकौडी, साग एव तरह–तरहकी मिठाइयॉ मन ही–मन परस रहे हैं और भावना कर रहे है --श्रीकृष्णके भोजन कर लेनेके बाद अब मुझे प्रसाद मिला है, उसे म खा रहा हूँ । अब वहाँ मनमे खानेका चिन्तन हो रहा था, पर ठीक वही मिठाई यहॉ इस मुँहमें आ जायगी । इसका अर्थ यह हुआ कि आज ध्यान नही हुआ, आज थोडी देरके लिये प्रत्यक्ष दर्शन हुआ ।

कभी कभी भक्तोका ऐसा हुआ है कि भावनासे खीर बना रहे हैं । वह

ब्रजलीला अनन्तानन्त है
पत्र–प्रेषिति श्रीशिवभगवानजी फोगला

गरम ज्यादा थी, चूल्हेसे उतारते समय हाथपर पड गयी । वहाँ भान हुआ कि अँगुली जल गयी और खीरका बर्तन हिलकर गिर गया । अब हो तो रहा था ध्यान, पर ठीक खीरका गरम कटोरा हाथमेंसे गिर जायगा और हँसते हुए भगवान् प्रकट हो जायँगे । ध्यानमें ही भक्त चूल्हेपर खीर बना रहा था, लकडी जल रही थी । खीर उतारी, कटोरेमे डाली कटोरेको उठाया, उठाते ही अँगुली हिली हिलनेसे कटोरा गिर गया । आँख उसी समय खुल जाती है तथा देखता है कि एक कटोरेमें खीर गिर गयी है और भगवान् हँसते हुए सामने खडे हैं ।

मधुर भावके, गोपीभावके सतलोग तो विचित्र–विचित्र तरहकी लीला करते हैं । वहाँ तो बडे–छोटेका सकोच ही नही । कभी चपत लगा देते हैं । श्रीकृष्ण चपत खाकर रूठ जाते हैं । अब वे गोपीभावापन्न सत उन्हे मनाते हैं। मनाते समय श्यामसुन्दर तरह–तरहकी शर्त पेश करते है । यह ला दो तो मानकर फिर तुम्हारे साथ खेलूँगा । वहाँ अत्यन्त सुन्दर लीला हुई । अब उसमे कुछ श्यामसुन्दरको वह लेकर देने जा रहे हैं । वह चीज तो मानसिक थी, पर आँख खुल जाती है और वे देखते हैं कि वही चीज यहाँ इस हाथमे है।

एक बार दो भक्त थे । वृन्दावनकी बात है । दोनों अपनेको श्यामसुन्दरकी सखी मानकर सखीका शरीर धारण करके सेवाकी भावना करते थे सेवाकी साधनामें बहुत ऊँचे उठ गये थे । एक दिनकी बात है कि राधाकुण्डमें जल विहारकी लीला चल रही थी । वे उसीके ध्यानमे लगे हुए थे । लीला होते होते श्रीप्रियाजीके कानोका कुण्डल जलमें गिर गया । अब सत तो वहाँ सखीके वेषमे थे । अत उनकी सखी राधारानीका कुण्डल गिरनेसे वे घबडाकर पानीमें डुबकी मारकर खोजने लगे । इधर ध्यानमें तो एक दो मिनट ही बीता था, पर यहाँ सात दिन बीत गये । लोगोने देखा कि आँखे बद है, श्वास धीरे–धीरे चल रहा है, सात दिन एक आसनसे बैठे बीत गये हैं । उनके एक मित्र थे । उनका नाम शायद रामचन्द्रजी था । उनको लोगोने समाचार दिया । वे स्वय भी पहुँचे हुए थे । उन्होंने आकर देखा देखते ही समझ गये कि यहाँ तो कुण्डलकी खोज चल रही है । बस, चटसे वे उन्हीके बगलमे बैठ गये । ध्यानमे ही वहाँ पहुँचे तथा कुण्डल, जो एक कमलकी जडमें छिपा हुआ था, उठाकर इनके हाथोंमें दे दिया । पहनानेपर प्रियाजीने प्रसन्न होकर अपने मुँहमेंका पान उनके मुँहमें दे दिया । अब पान तो ध्यानमे दिया था, पर उसी समय आँखें खुली । देखते हैं कि मुँह पानसे भरा हुआ है । दोनो मित्र हँसने लग गये और लोगोंने कुछ नहीं समझा । केवल इतना ही देखा कि सात दिन बाद पान चबाते हुए उठे जब दो प्रेमी साथी मिलकर ऐसी सेवाकी साधना एक साथ करते हैं तथा दोनों ही जब

ऊँची स्थितिमे पहुँच जाते है, तब एक–दूसरेकी क्या अवस्था है, यह भगवान्‌की कृपासे वे जान लेते है । यह योगकी बात नहीं है । यह तो साधनके साम्यकी बात है तथा भगवदिच्छासे ऐसा हो जाता है ।

जैसे गोपियाँ श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिये एक साथ मिलकर कात्यायनीकी उपासना करती थी । वैसे ही यहाँ भी कोई–कोई ऐसे मित्र होते है, जो मिलकर एक–दूसरेसे हृदयकी बात बताते हुए साधना करते हैं । फिर उनसे एकको दूसरेकी अवस्थाका श्यामसुन्दरकी इच्छासे ही कभी भी पता लग जाता है, सदा ही लगे, यह आवश्यक नहीं है ।

किसीकी सच्ची लगन हो तो आसानीसे सफलता मिल सकती है, क्योंकि भगवान् सर्वथा सर्वदा उपस्थित है । जो चाहिये, वही कर देगे । पहले तो चिन्तनमे जहाँ मन लगा कि सब चाह ही मिट जायगी । पता ही नहीं लगेगा कि चिन्तन है या असली । चिन्तनका अभ्यास होते ही मन दिन–रात वही फँसा रहेगा आपके मनमे जो चित्र आता है, उसमे भी आपकी ही कमीके कारण सब त्रुटि है, क्योकि आप उसे ऐसा मानते है कि यह तो भावनाका चित्र था । सेवा हुई, नहीं हुई, चलो, कोई आ गया है तो उससे बात कर लेगे । भगवान् देखते हैं कि यह तो हमे भावनाका चित्र मानता है, तब हम असली क्यो बने ? नही तो, फिर गरमीके दिनोमे आपको राधारानी एवं श्रीकृष्णको पखा झलनेसे फुरसत नही मिले । बाहर कुछ भी करते रहेगे, पर मनमें सिद्धदेह धारण किये हुए पखा झलते ही रहेगे, बाहरके काममे भले ही त्रुटि हो, पर पखा झलना एक मिनट भी नहीं छूटेगा । कही किसी झझटके काममे फँस गये तो इतना दुःख होगा कि बाप रे, हम तो मर गये । जैसे हम गरमीके कारण छटपटा रहे थे, ठीक उसी तरह यह मालूम होगा कि ओह ! आज बहुत गरमी है, देखो तो कितना पसीना श्यामसुन्दरको आ रहा है। और फिर यहाँ शरीरका ध्यान छूटकर मनमे ही पखा झलना चलता रहेगा । पर यह इसीलिये नहीं होता कि न तो चित्र बाँधनेका अभ्यास सधा है और न उसमें असली श्रीकृष्णभाव है । भोजन करानेकी लीला चिन्तन करते हुए जैसे धीरे–धीरे चबा–चबाकर हम प्रत्येक ग्रासको खाते हैं, वैसे अनुभव होगा कि यह लड्डू है, इसे श्यामसुन्दरने तोडा नमकीन खाते तो ठीक रहता ! बस, उसी समय अनुभव होगा कि दही–बडेको तोडकर मुँहमे रख रहे हैं । पर वह करनेसे होगा । आप जो भाव करेगे, उसी लीलाको वे सच्ची बना देंगे । पहले तो सुन–पढकर दस–बारह लीलाओंका कोर्स बनाइयेगा, फिर पीछे उनकी कृपासे नयी–नयी लीलाएँ अपने–आप ध्यानमें आने लग जायँगी । आप जिन श्रीविग्रहकी सेवा करते हैं, उनके साथ भी ऐसी घटना हो सकती है । वे सचमुच आपका भोग खा सकते हैं सामने बैठकर

खा सकते है, पर सारी बात इसपर निर्भर है––अटल विश्वासके साथ सच्चे मनसे चाहकर पूरी लगनसे चिन्तनमे लग जायँ । फिर कुछ भी करना नही पड़ेगा । मधुर–से–मधुर लीला एक–पर–एक मनमें उनकी कृपासे आयेगी और आप बस, देख देखकर निहाल होते रहियेगा । फिर एक दिन यह शरीर छूट जायगा और उसीमें सदाके लिये शामिल हो जाइयेगा । पर यह सब अनन्य लगनके साथ करनेसे होगा ।

नन्ददासजी जब मरने लगे––अन्तमे यह पद गाते हुए मरे

देखो, देखो री नागर नट निरतत कालिंदी तट
गोपिनके मध्य, राजैं मुकुट लटक ।
काछिनि किंकिणि कटि,
पीताम्बरकी चटक
नंददास गावैं तहाँ निपट निकट ।

अर्थात् मैं बिल्कुल नजदीक खडा होकर यह लीला देख रहा हूँ । यह कहते हुए प्राण छोड दिये । आप यदि श्रीकृष्णपर निर्भर होकर साधना [illegible] तो नन्ददासजीकी तरह मृत्यु होना कौन बडी बात है ।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण सबके सामने आते हैं, पर सबको एक प्रकारकी लीलाके ही दर्शन नही होते। जो जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला प्रकट होती है । पर एक रहस्यकी बात यह है कि जो भी लीला होती है, उसमे यह अनुभव नही होता कि हमे कुछ कम दर्जेकी लीला देखनेको मिली है, जिसे भी जो लीला देखनेको मिलती है, यदि यथार्थ मिलती है तो वह इतनी विलक्षण होती है कि उसके लिये उसके सिवा और कुछ भी बच नहीं रहता । न यह जगत् रहता है, न ससार, न कुछ और बात, बस, वही–वही रह जाती है । और फिर उसीपर नया–नया रंग चढता जाता है तथा वह रग इतना चढता है कि बस, उसकी कोई सीमा नहीं, नित्य नया–नया हो जाता है ।

जो लीलाएँ बहुत ही उच्च कोटिकी होती हैं, उनमें ऐश्वर्य बिल्कुल नही होता । जिसके मनमें जरा भी ऐश्वर्यकी ओर टान रहती है, उसे उन लीलाओंको सुनकर आश्चर्य होता है । भजन करते करते पहले पूर्ण ज्ञान हो जाता है, इसके बाद वह ज्ञान धीरे धीरे छिपने लगता है, तब मधुर लीलाओंका प्रकाश होता है । श्रीराधा–कृष्णकी लीला एक से एक मधुर है, जितना भक्त ऊँचा उठता है, उतनी ही वह मधुरता गहरी होती जाती है । इसकी कोई सीमा नहीं है । आजतक जितने भक्त हुए हैं, उन्हें जो–जो अनुभव हुए हैं और वे जितना वाणीमें कह सके हैं उसीका वर्णन हम लोगोको प्राप्त होता है । पर वह उतना ही हो, यह बात

ब्रजलीला अनन्तानन्त है

पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

नहीं। वह तो अनन्त है, असीम है । कोई उससे भी ऊँचा भक्त हो तो उससे भी ऊँची तथा और भी विलक्षण मधुर लीला भगवान् उसे दिखा सकते हैं ।

मन किसी प्रकार भी लीलामें फँस जाय तो काम बन गया । सोचिये–गायोंकी कतार खडी है, श्यामसुन्दर हाथमे दोहनी (दूध दुहनेका पात्र) लेकर खडे हैं । गाये हरी–हरी दूब चर रही है । श्यामसुन्दरका सखा सुबल पासमे खडा है । प्रत्येक गाय रभा रही है तथा चाहती है कि श्रीकृष्ण पहले उसे दुहें । श्रीकृष्ण तो भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं । एक ही समय एक क्षणमे जितनी गायें हैं, उतने रूपोमें प्रकट होकर दुहने बैठ जाते हैं । बछडा श्रीकृष्णकी पीठ सूँघ रहा है । गाय श्रीकृष्णका सिर सूँघ रही है । दूर पर श्रीराधारानी सखीके कधे पर हाथ रखकर यह छवि निहार रही हैं । उनकी आँखोमे प्रेमके आँसू झरते जा रहे हैं। अब इन्ही गाय, दूध, बछडा किसीमें भी मन लगा रहे और मृत्यु हो जाय तो इससे बडी सुन्दर मृत्यु और क्या होगी ?

निराश नही होना चाहिये । कभी किसी दिन एक क्षणमें ऐसी घटना हो जायगी कि बस, उस रस–समुद्रमें बह जाइयेगा । उसमे यह नियम नही कि धीरे–धीरे उठते–उठते तब होगा । किसी दिन हठात् कोई ऐसी कृपा की आँधी आयेगी कि उडाकर, बिलकुल जमीनपरसे उठाकर रस–समुद्रके ठीक मध्यमें ले जाकर पटक देगी । वहाँ से फिर लौटना असभव होगा । किनारे जबतक पडे हैं तभी तक आगे बढना, पीछे लौटना बन रहा है । परन्तु यह आँधी इतनी दूर उडा ले जायगी कि फिर जमीन का ओरछोर भी दिखना बन्द हो जायगा।

बस इतना ही कहना है कि जबतक यह कृपाकी आँधी न आवे तबतकका काल-क्षेप निरन्तर नाम जप करते हुए बिताइये, साथमें मानसिक लीला–चिन्तन चलता रहे ।

राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र सख्या–३१

# कृपाकी बाट जोहैं

रतनगढ़

तिथि उल्लिखित नही

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे ।

आपका पत्र मिला । कृपाके सम्बन्धमे श्रीमद्भागवतमें तीन उपाय बताये हैं।

१ ऐसी कृपा होनेकी बाट देखता रहे । अब हुई, अब हुई, अब हो जायगी, कल हो जायगी, इस महीनेमे तो हो ही जायगी, इस वर्षमे तो निश्चय हो ही जायगी, हो ही जायगी – इस प्रकार प्रतिक्षण जिस प्रकार एक दरिद्र दिवालिया जूएकी बाजी जीतजानेकी बाट जोहता है तथा सौदा करता ही चला जाता है, वैसे ही भगवत्कृपाकी आशामें जो अपने पास है, सब फूँकता चला जाय। समस्त वस्तुओको भगवत्प्रेमके लिये होमकर कृपाकी बाट जोहे । यहाँके जूएमें तो जीत चाहे न भी हो, पर वह कृपा तो आयेगी ही, भगवान्‌की कृपाकी इस बाजीमें तो जीत होगी ही ।

२ जो सुख–दुःख आकर प्राप्त हो जाय, उसे खूब प्रसन्नतासे ग्रहण करे–यह समझकर कि हमारा ही तो किया हुआ है ।

(३) हृदयसे, वाणीसे, शरीरसे निरन्तर भगवान्‌को नमस्कार करता रहे।

जो इस प्रकार जीवन बिताता है, उसे मुक्ति तो उत्तराधिकारके रूपमें ही मिल जाती है, भगवप्रेम भी उसे मिल जाता है ।

जब श्रीवनवास मिल्यौ सजनी<br>
तब तीरथ आन गए न गए ।<br>
जब लाड़िलि लाल कौ नाम लियौ,<br>
तब नाम न आन लए न लए ।<br>
पदकंज किसोरिहि चित्त पग्यौ,<br>
तब पायन आन नए न नए ।।<br>
जब नैन लगे मन मोहन सौं<br>
तब औगुन आन भए न भए ।।

## कृपाकी बाट जोहैं
### पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

व्रजके एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए हैं—श्रीललितकिशोरीजी, उन्हीका यह पद है । ऐसी ही निष्ठा आगे चलकर रसिक भक्तोंकी हो जाती है । पदका भाव यह है -यदि श्रीप्रियाजीके कुञ्जमे बसनेका- बृन्दावनमे बसनेका सौभाग्य मिल गया तो फिर दूसरे तीर्थोमे गये अथवा न गये । जाना, नहीं जाना बराबर है । समस्त साधनाका फल तो व्रज—वासके रूपमें मिल गया । अब और तीर्थोमे जाकर क्या होगा । दूसरी बात यह कि जब प्रिया प्रियतम, लाडिली लालका नाम मुँहसे निकल गया, तब फिर दूसरे नाम, दूसरी चर्चा मुँहसे निकली या न निकली आवश्यकता ही कुछ नहीं है । तीसरी बात, जब श्रीप्रियाजीके चरणकमलोंमे चित्त झुककर उसमे फँस गया—उस रगमे पग गया तब फिर और किसीके चरणोमें सिर नवाया या नही नवाया—दोनो बराबर हैं । चौथी बात—जब दृष्टि मनमोहनसे लग गयी, नैन मोहनसे जा लगे, तब फिर दूसरा कोई अवगुण हुआ या नहीं हुआ, दोनो बराबर है । किसी परपुरुषमें दृष्टि लगाना बडा अवगुण है, पर जब वही दृष्टि श्रीमनमोहन रूप सुधाचन्द्रमें लग जाती है, तब वह परम सद्‌गुण बन जाता है ।

इस प्रकार श्रीकृष्णप्रेमका भिखारी बस, चार लक्ष्य सामने रखकर बढता है—जगत्‌की परवाह मिटाकर बढता है । कौन क्या कहता है, इसकी ओर उसकी दृष्टि नही रहती । वह बिल्कुल सर्वथा जगत्‌की ओरसे, समस्त योग्यताकी ओरसे मुँह मोडकर रम जाता है प्रियतम प्रभुके नाम, रूप, लीला, धाम इन चार चीजोमे अभ्यासके द्वारा जैसे हो, जिस प्रकार हो, बस, एक ही चर्चा, एक ही वातावरण निरन्तर बनाये रखें । लीला सुननेके लिये मिले, सुनें नहीं मिले तो पढे, चिन्तन करे । बस, मन उन्ही बातोमे रमता रहे । श्रीगोपीजनोके प्रेमकी कैसी दशा होती है, इसे लिखकर तो कोई बता ही नहीं सकता । जैसे बिजलीका प्रकाश है, उसे देखकर जिसने कभी सूर्यके निर्मल प्रकाशको नही देखा है, वह अनुमान ही नही कर सकता कि वह कितना निर्मल प्रकाश है । ठीक इसी प्रकार आप जितनी बातें सुनते हैं, उनको सुनकर वास्तविक श्रीगोपी प्रेमका क्या रूप है, यह ठीक ठीक अनुमान ही आपको नही हो सकता । वह तो सूर्यकी किरणोकी तरह अत्यन्त निर्मल प्रकाशमय वस्तु है, ज्ञानके परेकी चीज है। उसे तो देखकर उनकी अनन्त कृपा होनेपर ही उसका यत्किंचित् स्वरूप समझा जा सकता है ।

निरन्तर उनके चरणोंमें रो -रोकर प्रार्थना करनेसे ही कुछ अनुभवमे, कल्पनामे आ सकता है । इसलिये लीला पढें, सुनें, प्रार्थना करें, निरन्तर कृपाकी भीख माँगते ही चले जायँ और जहाँतक बने, अब मनको प्रपञ्चके कामोसे दूर रखनेकी चेष्टा करे । एकान्तमे बैठकर रोयें, श्रीप्रिया -प्रियतमके चरणोमे बैठकर उनके सामने रोये । सच्चा रोना न हो, न सही । झूठे ही जैसा भाव हो, उसीको लेकर

## कृपाकी बाट जोहैं
### पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

रोयें–नाथ ! इस नीरस हृदयको सरस बनाओ, इस सूखे हृदयमे अपने प्रेमका एक कण देकर इसे भर दो । प्रभो ! अपनी ओर, अपनी कृपाकी ओर देखकर ऐसा करो । निश्चय मानिये, बार बारकी प्रार्थना व्यर्थ जा ही नहीं सकती । झूठीको वे अपनी कृपासे सच्ची बना देते हैं ।

अभ्यास करनेके साधन पहले भी बताये गये हैं । पुनः समझ लें –

(१) कुञ्जोका नकशा आपने देखा था । उसमें पहले श्रीविशाखाका कुञ्ज कहाँ है, यह देखकर कुछ क्षण उस समूचे कुञ्जका चित्र बाँधिये ।
(२) फिर एक कदम्बके वृक्षका सुन्दर–से–सुन्दर कल्पना कीजिये ।
(३) फिर उसकी डालियोंको देखिये ।
(४) फिर उसमें पत्ते लगे हैं, उन्हें ।
(५) कदम्बके अन्यन्त सुन्दर फूल हैं, उन्हें ।
(६) कदम्बके फूलोपर झुंड–के–झुंड काले भौंरे है, उन्हें ।
(७) कदम्बकी जड़के नीचे उजला चमचम करता हुआ सगमरमरका गट्टा है, उसे।
(८) सगमरमरका गोलाकार गट्टा चारों ओर फैला है, उस गोलाईका कुछ क्षण चिन्तन कीजिये ।
(९) अदाज दो दो गज चारो ओरसे चम–चम कर रहा है, उसका ।
(१०) उसके नीचेकी जमीन भी सगमरगरके फर्शकी बनी हुई है, वह खूब चमक रही है, इसे देखें ।
(११) फर्शके चारों ओर बेलाके वृक्ष लगे है, उन्हे ।
(१२) उनमें बडे–बड़े फूल खिले हैं, उन्हें ।
(१३) फिर चमेलीके वृक्ष हैं, उन्हें ।
(१४) चमेलीमें फूल लगे हैं, उन्हें ।
(१५) हरी हरी दूबकी जमीन चारों ओर फैली है, उसे ।
(१६) उसपर कहीं स्थलकमल हैं, उन्हें ।
(१७) कहीं तगर, कहीं कुन्द, उन्हें ।
(१८) चारों ओर हरी–हरी झाडी दीख रही है, उसे ।
(१९) गट्टेके सहारे श्रीराधारानी बैठी है, उन्हे ।
(२०) नीली साड़ी है, यह ।
(२१) हाथमें कंकण हैं, यह ।
(२२) दोनों हाथोंमें कंकण हैं, उन्हें ।
(२३) इसके बाद अत्यन्त सुन्दर चूडियोंको ।

## कृपाकी बाट जोहैं
### पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

(२४) इसके बाद भी एक अत्यन्त सुन्दर आभूषण है, उसको ।
(२५) बाँहके पास भी सुन्दर आभूषण हैं, उन्हे ।
(२६) पैर साडीसे ढका है, यह ।
(२७) मुखारविन्द शोभा पा रहा है, यह ।
(२८) सिरपर चन्द्रिका है, उसे ।
(२९) चन्द्रिकामें मोतीकी झालर लटक रही है, उसे ।
(३०) ललाटपर सुन्दर कुंकुमका गोल लाल बिन्दु है, उसे ।
(३१) सिरके पास अञ्चल कुछ बायीं ओर ऊपर चढ गया है, उसे ।
(३२) श्यामसुन्दर उनके दाहिनी ओर हैं, उन्हें ।
(३३) सिरपर मोर-मुकुट है, उसे ।
(३४) बडा ही सुन्दर मुख है, इस झाँकीको ।
(३५) आँखें बड़ी-बड़ी हैं, उस सौन्दर्यको ।
(३६) आँखे नीचेकी ओर है, इस लावण्यको ।
(३७) अलकावलि कुछ बिखरी हुई मुखपर आ गयी है, इस झाँकीको ।
(३८) दुपट्टा दोनो कधोपर लटक रहा है, यह
(३९) दोनो हाथोसे एक तागेमे फूल पिरो रहे हैं, यह ।
(४०) श्रीप्रियाजी भी दोनो हाथोसे फूल पिरो रही हैं, इस मनोहर दृश्यको ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक लाइन पढकर उसमे क्या क्या चीज आयी है, यदि उन सबपर एक-एक सेकंड भी मन रुककर उन्हे देख ले तो फिर छोटी लीलामे भी चार छः घटे लग जायँ । अभ्यास करनेसे होता है । मेरी समझमें यही बात आती है तथा समस्त शास्त्रोमें एव वैष्णव संतोके बचनोंमें यही बात मिलती है कि मनको स्थिर करना ही पड़ेगा और स्वय भगवान्ने जैसा कहा है अभ्यास और वैराग्य दोनोके साथ-साथ पूरी तत्परतासे करनेसे ही काम बनता है। सच मानिये, इस व्रजलीलामे मन फँसानेके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता ही नही है। यहाँ तो एकके बाद एक, एकके बाद एक इस प्रकार मन जहाँ जाय, कुछ भी सोचे, उसी स्फुरणाके साथ व्रजकी किसी चीजको जोड देनेसे ही ध्यान होने लग जाता है ।

मनकी जिस समय विशेष चञ्चलता हो, उस समय उसे खूब तेजीसे नचाना आरम्भ करें । हमें लिखनेमें तो देर लगती है, पर चञ्चलताके समय उसकी बडी सुन्दर दवा यह है कि जोरसे उच्चारण करे, हरे राम, कृष्ण, गोविन्द। फिर प्रारम्भ करे राधाकुण्ड, निकुञ्ज, ललिता, विशाखा, चित्रा, वेदी, नदी, यमुना, गोवर्धन,गाय।

## कृपाकी बाट जोहैं

पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

इस प्रकार पागलकी तरह मनके सामने जो भी कोई चीज आये, उसे व्रजके भावमे जोड़ दे । मन जब कुछ भी सोचेगा, आप विचारकर देख लें, देखी सुनी हुई बातको ही सोचेगा । जिस समय किसी स्त्रीपर ध्यान जाय उस समय पागलकी तरह गोपी, गोपी, गोपी रटने लग जायँ ! लडकेपर ध्यान जाय–बस, ठीक उसी समय सुबल, श्रीदाम, स्तोक मधुमगल पागलकी तरह रटे । इसके बाद ध्यानमे आया घर–मकान बस, ठीक वहीं, उसी स्थानपर देखें, ना, यहाँ तो कुञ्ज है, महल है, ना, वह देखो, ललितारानीका कुञ्ज है । अहा ! कैसी झाडी है, कैसा सुन्दर सरोवर है, कैसा उपवन है । यह शब्द उच्चारण होते ही फिर आगे चलकर वह चित्र भी सामने आ जायगा। पर यह तभी होगा जब कि जीवनका उद्देश्य बस, एक ही रह जाय चाहे मरेंगे या जीयेंगे, अब तो चौबीसो घटे व्रजमण्डलमे ही मन रमेगा, व्रजके लता-पत्र कुछ भी बनेगे, पर अब तो बनेगे ही ।

इस प्रकार दृढ निश्चय होते ही श्रीकृष्णकी सारी कृपा साधकके ऊपर बहने लगती है । लीला एक से–एक सुन्दर तथा एक से–एक आकर्षक–बढिया हैं, आकर्षक हैं, पर सभीमे मनकी आवश्यकता होगी ही। आप–जैसे मेरे पास आते है, अब यदि ऐसा नियम कर ले कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक डेढ घटा जबतक इनके पास बैठूँगा, तबतक ये जैसे जैसे लिखते जायँगे, उसका पूरा–पूरा चित्र बाँधनेकी चेष्टा करूँगा ही तो फिर चौबीस घटोमे डेढ घटा आपका ध्यान हो गया इसके बाद यदि घरपर नियमसे, आज जिस लीलाको सुने, कल ठीक चार घटे उसमे मन लगाना ही है, इस भावनासे दृढतापूर्वक साधन करे, तब तो फिर पाँच-छ: घटे प्रतिदिन साधन होगा । तथा यदि विषयका सग नहीं हुआ, उससे बचे रहे, तब तो फिर उन्नति होनी ही चाहिये । पर बिना तत्परताके कुछ भी होना कठिन है।

विषयोका सग वह है, जो भगवान्‌से हटाये । जो भी वस्तु भगवान्‌के प्रति आकर्षण कम करें, वही विषय है ।

श्रीकृष्ण तो कृपाके समुद्र हैं, उनके उन्मुख होना चाहिये, फिर उनमें पक्षपात थोडे है कि उसपर कृपा करूँ, इसपर नहीं करूँ ।

अब सोचिये इस समय अँधेरा हो गया है, यहीपर एक नहीं, एक साथ अनत लीलाएँ चल रही हैं । किसीके एक कणमे मनको डुबाइये । सोचिये, श्रीराधाजीके हाथकी बनी हुई रसोईको नन्दबाबाके साथ श्रीकृष्ण आरोगनेकी तैयारीमे खडे हैं, मैया यशोदा जल्दी–जल्दी कभी भीतर आती है, कभी बाहर जाती हैं ! कभी सोचती है ओह ! दूधमें मिश्री डालना भूल गयी हूँ और चूल्हेके पास दौड़कर जाती हैं । श्रीकृष्ण अन्यमनस्क–से होकर अपने महलमे बाहरके बरामदेमें

कृपाकी बाट जोहैं
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

खडे ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं मानो उनकी दृष्टि अन्धकारको चीरकर किसीको देखना चाहती हो ।

इधर नन्दबाबाके दरबारकी तैयारी होने जा रही है । कोई बाजा लेकर, कोई पोशाककी पेटी लेकर दरबारकी ओर जा रहा है । नन्दबाबाकी पगडी हिल जाती है । श्रीकृष्णका हाथ नन्दबाबा पकड़े हैं, अब वे चल रहे हैं, सीढियोंसे चढ रहे हैं । अब एक एक वस्तुको यदि मन देखने लगे तो इतनी–सी बातमें दो घटे बीत जायँगे । प्रतिदिन तीन–चार घटे लीला चिन्तन में बिताना कौन बडी बात है और तारीफ यह है कि कहीं किसी चीजमें मन डूबा कि श्रीकृष्णकी कृपा लीलाका प्रकाश करके मनको खीच लेगी । श्रीकृष्णकी धारणा नहीं होती, न सही, वैजयन्तीमालाकी धारणा नही होती, न सही, वैजयन्तीमालाकी धारणा, उनके किसी अगकी धारणा, सीढियोकी धारणा, नन्दबाबाकी पगडीकी धारणा भी नही होगी ? होगी, अवश्य होगी । खूब शान्तिसे, अखण्ड उत्साह लेकर उनकी कृपासे किसी व्रज–भाव–भाक्ति वस्तुको सोचते चले जाइये, फिर तो श्रीकृष्ण खिचे हुए, बँधे हुए उसीके साथ प्रकट होंगे ही ।

जैसे–जैसे वृत्तिकी मलिनता दूर होगी, वैसे वैसे जो राधाभाव, श्रीराधाजीका रूप, श्रीकृष्णका रूप है, उसपर नया नया रग चढता जायगा और यह रग चढना कभी समाप्त ही नहीं होता–चढता ही चला जाता है, क्योकि वह रूप अनन्त है ।

अभी मान लें आप ध्यान कर रहे है -मीठे झीने सुरमें श्रीकृष्ण बाँसुरीमे सुर भर रहे हैं, गायें पूँछ उठा–उठाकर गोशालामें इधर–उधर दौड रही हैं, नन्दबाबाके हजारों दास गायोकी खडी हुई कतारके पास बैठकर दूध दुह रहे है, श्रीकृष्णकी दृष्टि दूरपर खडी हुई श्रीराधारानीपर लग रही है । x x x बस, इतना–सा ही ध्यान प्रतिक्षण नये–नये रगमे, नये–नये भावमे रँगता चला जायगा । इसका स्वरूप कुछ दिनोंके बाद ऐसा हो जायगा, उस ध्यानमे और पहलेके ध्यानमें इतना गहरा अन्तर हो जायगा कि आप चकित रह जायँगे । ऐसे ही किसी भी लीलाका रग, भाव सब बदल जायगा । एक बार पूरी चेष्टा करके मनको डूबनेका अभ्यासी बनाइये फिर देखेंगे–नया–नया रस मिलेगा ।

रासलीलाकी फलश्रुति है कि 'इसे श्रद्धापूर्वक सुननेवाला पराभक्ति प्राप्त करता है ।' पर 'अनुश्रृणुयात्' अर्थात् निरन्तर श्रवण करना चाहिये तथा श्रद्धान्वितः' अर्थात् इसे ही एकमात्र साधन बनाकर, इसपर दृढ विश्वास करके सुनें। यदि लीला–श्रवणका ही आप व्रत ले लें तो केवल एक यही उपाय कृपाको प्रकाशित कर देगा, परतु यह भी होगा पूरी लगनसे, पूरी तत्परतासे

## कृपाकी बाट जोहैं
### पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

एक बात सदाके लिये सभीको ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवत्कृपाका प्रकाश होकर अधिकारानुसार प्रेम प्राप्त कर लेना चेष्टाकी सफलतापर बिल्कुल निर्भर नही है । यह निर्भर है भावपर अर्थात् इसने कितनी सत्यतासे साधनको पकडे रहनेकी चेष्टा की है । बेईमानी की है कि नहीं–इसीपर फैसला होता है।

एक बार एक सतने कहा था कि सतोके सगमे किसी प्रकार टिके रहो। प्रेमी सतोके अदर जो प्रेमसमुद्र लहराता रहता है, वह बराबर प्रकट नहीं रहता, छिपा हुआ रहता है । किसी दिन उसमे उफान आया, तुम पासमें रहे और तुमपर एक छीटा भी पड गया कि उसी क्षण बिना किसी परिश्रमके भगवत्प्रेम प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे ।' भाव यह था कि प्रेमी सतोके सगका लाभ तो अमूल्य होता ही है, पर कभी कभी उनका जो भगवत्प्रेम है, वह बाहर प्रकट होकर बहने लग जाता है । सदा ऐसा नही होता, अब कल्पना करे, कोई सदासे सगमे रहता आया है । वह यदि उस क्षण वहाँ उपस्थित रहता तो उसे उस प्रेमके प्रभावसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी । इसलिये कोई भी दूसरी लालसा, दूसरी शर्त न रखकर,, धैर्य रखकर सतोका सग करना चाहिये ।

वास्तवमे बात यह है कि भगवत्प्रेम साधनासे नहीं मिलता । यह तो उसीको मिलता है, जिसे भगवान् या कोई प्रेमी सत दे दे । मोक्ष साधनासे मिल सकता है पर प्रेम नही , महाप्रभुके जीवनसे यह बात भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है । एक भक्त थे, वे बेचारे सबको प्रेममे विभोर होते देखते, पर उनको प्रेम नहीं होता । एक दिन वे महाप्रभुका चरण पकडकर रोने लग गये । महाप्रभुने कहा–'अच्छा, कल गगा–स्नान करके आना ।' कल हुआ, वे गगा–स्नान करके आये । प्रभुने उन्हे छू दिया । उसी क्षण वे प्रेमावेशसे मूर्च्छित होकर गिर पडे । सचमुच प्रेम कुछ इतनी विलक्षण वस्तु है कि जहाँ कही भी वह प्रकट होता है वहाँ प्रायः ऐसे ही एकाएक प्रकट होता है । श्रद्धा होनी चाहिये ।

पद्मपुराणमें एक कथा आती है–एक राजकुमार था । उसके मनमे आया–कैसे भजन होता है, श्यामसुन्दरका प्रेम क्या वस्तु है, किससे जाकर पूछूँ, कौन बताये ! इसी चिन्तामे वह सो गया । उसके घरमें एक ठाकुरजीका विग्रह था । उन्हीके विग्रहके सम्बन्धमे स्वप्न आरम्भ हुआ । स्वप्नमे उसने देखा कि वह विग्रह राधा कृष्णके रूपमे बदल गया । वहाँ उसे साक्षात् श्रीराधा–कृष्ण दीखने लगे , सखियाँ भी दीखने लगी । फिर श्रीकृष्णने अपनी बायीं ओर बैठी हुई एक सखीसे कहा 'प्रिये ! उसे अपने समान बना लो ।' वह गोपी आज्ञा पाकर आयी राजकुमारके पास खडी हो गयी तथा अभेद भावसे राजकुमारका चिन्तन करने लगी । राजकुमारने देखा कि एक क्षणमें ही उसके सारे अग बदल गये, उसके

## कृपाकी बाट जोहैं
### पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

हाथ, पैर, सिर, मुँह, नाक–सब बदल गये और वह एक अत्यन्त सुन्दर गोपी बन गया । उसके बाद उस गोपीने इसे एक वीणा दे दी और कहा कि 'यह लो, श्यामसुन्दरको भजन सुनाओ ।' उसने भजन सुनाना आरम्भ किया, भजन सुनानेपर श्यामसुन्दरने प्रसन्न होकर उसका आलिगन किया, उसे हृदयसे लगा लिया । उसी समय राजकुमारकी नींद खुल गयी । राजकुमार रोने लग गया, निरन्तर एक महीनेतक रोता रहा । फिर उसने घर छोड दिया और वनमे जाकर कई कल्पोतक एक मन्त्रका जप एव युगलसरकारका ध्यान करता रहा तब उसे सचमुच गोपीका देह प्राप्त हुआ और उसे भजन सुनानेकी वही सेवा मिली ।

नारदजीको जब दर्शन हुआ, तब एक सखीने सब सखियोका परिचय दिया कि पूर्वजन्ममें यह अमुक ऋषि थे । उन्होने यह मन्त्र जपा था, यह ध्यान किया था उसी प्रसगमे नारदजीको उस सखीने बताया कि जिस सखीके हाथमे वीणा देख रहे हो, वह पहले जन्ममे राजकुमार रह चुकी है ।'

सारांश यह है कि यो तो प्रेम कल्पोंकी साधनाके बाद कभी किसी बडभागीको मिलता है, पर जब वह प्रेम मिलनका उपक्रम होता है, तब एकाएक होता है । उसके लिये कोई साधना है, प्रेम मिल ही जायगा–यह कहना नही बनता । हॉ, यह ठीक है कि सच्चे प्रेमियो या सतोका सग अमोघ होता है। वह किसी न किसी दिन प्रेम उत्पन्न कर ही देता है । आपको प्रेमी सन्तोंका संग मिला है–ऐसा आपका विश्वास है, तो निश्चय ही आपको किसी न किसी दिन भगवत्प्रेम मिलेगा, यह विश्वास रखिये । सभी इष्ट मित्रोंको यथायोग्य।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या–३२

# भगवद्गुणानुवाद श्रवणसे प्रेम प्रकट होता है

रतनगढ़

तिथि उल्लेख नहीं

श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सस्नेह राधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र मिला । सबसे ऊँचा प्रेम श्रीगोपीजनोंका ही है । इसी प्रेममें रासलीलामें सम्मिलित होनेका अधिकार मिलता है और किसी भी प्रेममें नहीं । पर यह गोपीप्रेम भी सचमुच साधनाका फल नहीं । यह तो किसी गोपी भावापन्न संत, किसी गोपी अथवा श्रीकृष्णकी कृपासे ही प्राप्त होता है । हाँ, कृपा प्राप्त करनेके अधिकारी सभी है । श्रीकृष्णकी निन्दा करनेवाला भी कभी -कभी विलक्षण कृपा प्राप्त करके निहाल हो जाता है । फिर कृपा चाहनेवाला निहाल हो, इसमें संदेह ही क्या है । काशीमें भारतके एक बडे भारी वेदान्ती थे । उनसे बडा उस समय कोई नही था । नाम था स्वामी प्रकाशानन्दजी । दिन--रात भक्तोंका मजाक उडाया करते थे । महाप्रभु काशीमे आये दर्शन हुए। दर्शन करते ही चित्तमें उथल–पुथल मच गयी । लंबी कथा है। फिर वे ऐसे प्रेमी बने कि दिन–रात सखीभावसे राधा कृष्णके प्रेममें डूबे रहते । जब जीवन पलटता है, तब ऐसे ही पलट जाता है ।

भगवद्गुणानुवाद सुननेसे मन इस योग्य होता है कि उसमें प्रेम प्रकट हो सके । पर सुननेसे प्रेम होगा, सुननेसे प्रेम खरीद लिया जायगा–यह बात नही है। वह तो तभी मिलेगा, जब स्वयं भगवान् या उनका कोई प्रेमी संत दे दे ।

ज्ञान हो सकता है, मोक्ष हो सकता है, बडे–से–बडा पुरुषार्थ साधनसे सिद्ध हो सकता है, पर प्रेम इतनी दुर्लभ वस्तु है कि साधनाके मोलमे नहीं मिलता । यदि किसीको इसका एक कण भी मिल जाय तो उसकी ऐसी दशा हो जाय कि सब चकित रह जायँ । मुझे तो प्रेम मिला नहीं और पता नही, इस जीवनमें मिलेगा या नहीं क्योंकि वह सौदेकी चीज नही है । वह तो श्रीकृष्ण दे या कोई प्रेमी दे, तब मिले ।

प्रेमी भक्तोंकी दशा विचित्र होती है । कोई कोई चाहते हैं कि मैं लता बन

जाऊँ । ऐसा होनेपर फिर उसमें फूल लगेंगे और श्रीकृष्ण आयेंगे तथा अपने हाथसे उसे पकड़ कर फूल तोडेंगे । फूल तोडकर श्रीगोपीजनोके अञ्चलमें बाँधेगे । राधाजीके साथ मेरी पत्तियोंको पकड़कर खेल करेंगे और मैं देखूँगा । धन्य है उनकी चाहना ।

व्रजकी लता बनना भी अनन्त सौभाग्यसे ही होता है । वे लताएँ यहाँकी तरह जड लताएँ नही है। वे लताएँ चाहते ही गोपी बन सकती हैं, क्योंकि वृन्दावनकी सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं । वहाँ केवल रूप भिन्न–भिन्न है, तत्त्वत सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं । लीलाके लिये कोई पेड, कोई लता, कोई पक्षी, कोई हिरन -इस प्रकार दिखायी पडते हैं ।

इसलिये मैं बार–बार कहता हूँ कि वृन्दावनकी किसी भी वस्तुका चिन्तन कीजिये । चिन्तन करते–करते, मान लें पेडका चिन्तन करते–करते ही आप मर गये और पेड़ बने तो ऐसा–वैसा पेड, मामूली पेड़ नहीं बनियेगा । वृन्दावनका सच्चिदानन्दमय पेड बनियेगा और चाहते ही गोपी बनकर, सखा बनकर, जैसा रूप चाहियेगा, वैसा ही बनाकर साक्षात् सेवा कीजियेगा ।

जैसे–जैसे साधक ऊपर उठता है, वैसे–वैसे ही भगवान्का ऐश्वर्य छिपता चला जाता है तथा शुद्ध पवित्रतम मधुर राज्यकी लीला एक से–एक बढ़कर चित्तमें आती रहती है । अब श्रीकृष्ण राधाके लिये रोयें यह लीला उसे आनन्द दे ही नहीं सकती, जिसका मन अभी ऐश्वर्यके आनन्दकी ओर आकृष्ट होता है और सच्ची बात तो यह है कि वर्णन इसीलिये किया जाता है कि किसी प्रकार मन पवित्र हो, नहीं तो वे लीलाएँ वाणीमें आ ही नहीं सकतीं, उन्हें तो कोई बिरला भाग्यवान् बहुत ऊँचा संत ही अनुभव करता है ।

उस मधुरलीलामें श्रीकृष्ण अपने समस्त ऐश्वर्यको भूलकर, छिपाकर प्रियतमरूपसे लीला करते तथा व्रजसुन्दरियाँ भी उन्हें सर्वथा अपना 'प्राणेश्वर' ही मानती हैं । यह बात नहीं है कि उन्हें भगवान्के स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। बात यह है कि जब प्रेमका समुद्र उमडता है, तब ज्ञान छिप जाता है । वह कुछ ऐसी स्थिति है कि जिसकी कल्पना बडे ही भाग्यवान् बिरले प्रेमी अपने अन्तरमे ही कर पाते हैं ।

'कालाचाँद गीता' एक छोटी–सी पुस्तक है । बड़ी ही सुन्दर पुस्तक है । उसमें एक स्थलपर श्रीकृष्णको रोते देखकर गोपी रोनेका कारण पूछती है। उसीके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं–'सुनो, सखि ! जहाँ प्रेम है, वहाँ निश्चय ही आँखोसे आँसुओंकी धारा बहती रहेगी । प्रेमीका हृदय पिघलकर आँसओंके रूपमें निरन्तर बहता रहता है और उसी अश्रु–जल, प्रेमजलमें प्रे .का पौधा अंकुरित होकर

निरन्तर बढ़ता रहता है । सखि ! मैं स्वयं प्रेमीके प्रेममें निरन्तर रोता रहता हूँ । मेरी आँखोंसे निरन्तर आँसुओंकी धारा चलती रहती है । मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं बताऊँ, पर तुमने बार–बार पूछा–तुम क्यो रोते हो ? तो आज बात कह दे रहा हूँ । मैं अपने प्रेमीके प्रेममे रोता हूँ, जो मेरा प्रेमी है, वह निरन्तर रोता है और मैं भी उसके लिये निरन्तर रोता ही रहता हूँ । सखि ! जिस दिन मेरे–जैसे प्रेमके समुद्रमें तुम डूबोगी, जिस दिन तुम्हारे हृदयमें प्रेमका समुद्र–उसी प्रेमका समुद्र जो मेरे हृदयमें नित्य निरन्तर लहराता रहता है, लहराने लगेगा, उस दिन तुम भी मेरी ही तरह बस, केवल रोती ही रहोगी । सखि ! उन आँसुओंकी धारासे जगत् पवित्र होता है, वे आँसू नहीं, वे तो गगा एवं यमुनाकी धारा हैं । उनमें डुबकी लगानेपर फिर त्रिताप नही रहते । सखि ! मैं देखता हूँ, मेरी गोपी, मेरे प्राणोके समान प्यारी गोपी रो रही है, मेरी प्रियतमा रो रही है, बस मैं भी यह देखते ही रोने लग जाता हूँ । मेरा हृदय भी रोने लग जाता है । मेरी प्रिया–प्राणोसे बढ़कर प्यारी गोपी जिस प्रकार एकान्तमें बैठकर रोती है, वैसे ही मैं भी एकान्तमें बैठकर रोता हूँ और रो–रोकर प्राण शीतल करता हूँ । यह है मेरे रोनेका रहस्य ।'

सोचकर देखिये – जिस साधकका, सिद्धका, भक्तका मन श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको ही ग्रहण कर पाया है, वह इस परम मनोहारिणी लीलाका रस ले ही नहीं सकता। उसे भगवान्‌के यों रोनेकी ये बाते समझमें ही नहीं आयेंगी ।

जो शान्तभावसे उपासना करते हैं, उनके लिये केवल श्रीकृष्णका ऐश्वर्यमय रूप प्रकाशित होकर रह जाता है । उन्हे यह नही ज्ञात होता कि इससे परे भी कुछ और है, क्योकि भगवान् जिस किसीको भी जिस रूपमें मिलते हैं, उसीमे उसको पूर्णताका अनुभव हो जाता है, कारण भगवान् सर्वत्र सब ओरसे परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार दास्य, सख्य, वात्सल्यभावतककी प्राप्ति हो जाती है । पर यहाँतक श्रीराधाजी एव उनके दिव्यभावका प्रकाश नहीं होता । वे प्रकट नहीं होतीं । जो इससे ऊपर उठते हैं, मधुरभावसे उपासना करते हैं और साधनाकी सिद्धि प्राप्त करते हैं, उन्हींके लिये श्रीराधाजी प्रकट होती हैं । वे ही इस ऐश्वर्यविहीन परम–मनोहारिणी लीलाका रस ले पाते हैं ।

एक बड़ा सुन्दर पद है –

स्याम स्याम रटत राधा, स्याम ही भई री ।
पूछत सखियन सौं प्यारी कहाँ गई री ।।

यहाँ प्रेमकी बड़ी विलक्षण अवस्था होती है । श्रीराधा श्रीकृष्ण बन जाती है और श्रीकृष्ण श्रीराधा बन जाते हैं । यह कविकी कोरी कल्पना नहीं, यह दिव्य चिन्मय प्रेमधाममे होनेवाली लीलाको अनुभव करके उसकी झाँकीका वास्तविक

चित्र खींचा गया है । प्रेमरसमे डूबे हुए व्रजके कई सतोंने सचमुच इस दिव्य लीलाका साक्षात्कार किया था और तब पदरचना की थी ।

सूरदासजीका प्रयाण-काल जब निकट आया, तब गोस्वामी विट्ठलनाथजीने पूछा-'सूरदास ! मनकी वृत्ति कहाँ है ?

सूरदासने गाया है-

बलि बलि बलि बलि कुँअरि राधिके,
स्याम सुँदर जिन सौं रति मानी ।

पदका भाव यह है कि 'धन्य राधिके ! समस्त जगत्, समस्त ब्रह्माण्डको आनन्द देनेवालेको भी तुमसे आनन्द मिलता है ।' आगे कहते हैं कि 'तुम लोगोका रहस्य बड़ा ही विलक्षण है । श्यामसुन्दर पीताम्बर इसलिये पहनते है कि उसे देख-देखकर तुम्हारी स्मृतिमे डूबते रहे और तुम नीली साडी इसलिये पहनती हो कि श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें ही डूबी रहो ।' अन्तिम क्षणमें पूछा गया-'सूरदास ! नेत्रकी वृत्ति कहाँ है ?' उसपर गाया -

खंजन नैन सुरँग रस माते ।

यही पद गाकर उन्होंने प्राण छोड दिये । ऐसी ही मृत्यु श्रीकृष्ण हम सबको दें ।

प्रेमका आरम्भ यहाँसे होता है - 'भगवान्की इच्छा पूर्ण हो, वे जिस बातसे प्रसन्न हों वही हो, अनन्त जन्मों तक नरकमें रखकर वे प्रसन्न हों, तो मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, मुझे नरकमे भिजवा दे, मुझे जलानेमे उनको सुख हो तो सदा जलाये।' यह बात नही कि प्रेमी ऊपरसे खाली कहता ही हो, वह सचमुच नरकमें जानेके लिये तैयार रहता है तथा यह बात भी नहीं है कि वह जानता है कि हमें नरक तो जाना ही नहीं पडेगा, कह दो, कहनेमें क्या लगता है । वह सचमुच ही नरककी ज्वालामे जलकर प्रियतमके सुखसे सुखी होनेके लिये तैयार रहता है । यह ठीक है कि वह नरकमें नहीं जाता, पर उसके मनमें यह बात नहीं रहती कि मैं नरकमें नहीं जाऊँगा ।

उसके मनमें स्वय शान्ति पानेकी, स्वय सुख पानेकी बिलकुल-रत्तीभर भी इच्छा नहीं रहती । इसीलिये शास्त्रोंमें प्रेमको पचम पुरुषार्थ कहते हैं इससे परे अब कोई और पुरुषार्थ नहीं है ।

श्रीकृष्ण स्वयं किसी दिन गाकर सुना दे, फिर तो जगत्का समस्त सगीत, सारी राग-रागिनियाँ अत्यन्त तुच्छ हो जायँ [illegible] यहाँकी समस्त मधुरता उनकी मधुरताके समुद्रकी एक बूँदके बराबर भी [illegible] दर्शाये - गानेवालेके गलेकी आवाजमें मिठास कहाँसे आती है [illegible] रेडियोमें, इतने गानेवालोके

**भगवद्गुणानुवाद श्रवणसे प्रेमप्रकट होता है**
**पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला**

गलेमे जो इतना मिठास भरता है, वह स्वयं कितना मधुर गाना गाता होगा । यदि श्रीकृष्णकी मधुरतापर सचमुच विश्वास हो जाय तो प्राण व्याकुल हो जायँ कि वे कैसे मिलें ।

नन्ददासजी व्रजके एक बडे प्रेमी महात्मा हो गये हैं । ये तुलसीदासजीके गुरुभाई थे । पीछे रामप्रेमीसे कृष्णप्रेमी बन गये । एक दोहा प्रसिद्ध है, गोस्वामी तुलसीदासजीने यह लिखकर भेजा –

**कहा कमी रघुनाथमें छाँड़ी अपनी बान ।**

श्रीरामचन्द्रमे क्या कमी थी कि अपनी बान छोड दी अर्थात् रामको छोडकर कृष्णको भजने लगे । उसीके नीचे नन्ददासजीने लिखकर भेजा -- (कमी कुछ नहीं, राम–कृष्ण सर्वथा एक हैं; पर)

**मन बैरागी ह्वै गयौ सुन बंसी की तान ।**

कहनेका मतलब यह है कि कब भगवत्कृपा प्रकाशित होकर जीवन ऊपर उठ जायगा–यह कोई नही कह सकता । अत कृपाकी आशा लगाये रहना चाहिये चाहे किसीका जीवन कितना ही पतित क्यो न हो, कभी निराश नहीं होना चाहिये । उनकी कृपा होगी तब एक क्षणमें सारा नकशा पलट जायगा । इससे अधिक और क्या कहूँ !

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–३३

# महात्माओंकी दृष्टि पड़ते ही जीवन सुधर सकता है

रतनगढ़
तिथि अज्ञात

प्रिय श्रीशिवभगवान जी

सादर सस्नेह श्रीराधाकृष्णौ वन्दे । आपका पत्र मिला ।

महात्माओकी दृष्टि पडते ही क्षणभरमे जीवन सुधर सकता है । दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं उनका नाम धनुर्दास था । एक वेश्या थी–हेमाम्बा नाम था उसका । बडी सुन्दरी थी । उसके रूपपर वे मुग्ध थे। भगवान्मे भक्ति बिल्कुल नही थी । शरीर खूब हट्टा-कट्टा था । लोग उन्हे पहलवान कहते थे विचारेके अन्दर कामवासना नही थी, रूपका मोह था । उसे रूप बडा प्यारा लगता था । दिन बीतने लगे । रंगजीके मन्दिरमें उत्सव प्रतिवर्ष हुआ करता था और वैष्णवाचार्य श्रीरामानुजजी महाराज मन्दिरमे आया करते थे । लाखोकी भीड होती थी । कीर्तनका दल निकलता था । पहलवानजी और वेश्याके मनमें भी उत्सव देखनेकी एक साथ इच्छा हुई। वे लोग भी आये । कीर्तनमे लोग मस्त थे भगवान्की सवारी सजायी गयी थी । हजारो आदमी आनन्दमें पागल होकर नाच रहे थे । पर पहलवानजीको उस वेश्याके मुखकी शोभा देखनेसे ही फुरसत नहीं थी । वे वहाँ भी एकटक उस वेश्या हेमाम्बाको ही देख रहे थे । श्रीरामानुजाचार्यजीकी दृष्टि पड गयी । इतने बडे महात्माकी दृष्टि पडी । भाग्य खुल गया । श्रीरामानुजाचार्यजी बोले-यह कौन है ? उनको दया आ गयी थी। लोगोमे यह बात प्रसिद्ध थी ही । सबने सारा हाल कह सुनाया । श्री रामानुजाचार्यजी डेरेपर गये और कहा, उसे बुला लाओ । पहलवानजी आये । श्रीरामानुजाचार्यजीने पूछा 'भैया ! लाखो आदमी भगवान्के आनन्दमें डूब रहे थे, पर तुम मल मूत्रके भाण्डपर दृष्टि लगाये हुए थे । ऐसा क्यों ?' पहलवानने बताया 'महाराजजी ! मैं कामवासनाके कारण उस वेश्याको प्यार नहीं करता, मुझे तो सुन्दरता प्रिय है । हेमाम्बा जैसी सुन्दरता मैंने और कही भी नहीं देखी।

इसीलिये मेरा मन दिन रात उसीमे फँसा रहता है।' आचार्यजी बोले–'भैया ! यदि इससे भी सुन्दर कोई वस्तु तुम्हें देखनेको मिले तो इसे छोड दोगे ?' पहलवान बोले – 'महाराजजी ! इससे भी अधिक सुन्दर कोई वस्तु है, यह मेरी समझमे नही आता ।' आचार्यजी बोले–'अच्छा, संध्याको मन्दिरकी आरती समाप्त होनेके बाद आ जाना । केवल मै रहूँगा ।' पहलवानजी 'अच्छा' कहकर चले गये । श्रीरामानुजाचार्यजी मन्दिरमें गये, भगवान्‌से प्रार्थना की 'प्रभो ! आज एक अधमका उद्धार करो । एक बारके लिये उसे अपने त्रिभुवन–मोहनरूपकी एक हल्की सी झाँकी दिखा दो।' इतने बडे महात्माकी प्रार्थना खाली थोडे जाती । अस्तु, सध्या समयको पहलवान आये । श्रीरामानुजाचार्यजी पकडकर भीतर ले गये और श्रीविग्रह (मूर्ति) की ओर दिखाकर बोले–'देखो, ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है ?' पहलवानने दृष्टि डाली । एक क्षणके लिये जन–साधारणकी दृष्टिमें दीखनेवाली मूर्ति मूर्ति नहीं रही, स्वयं भगवान् ही प्रकट हो गये और पहलवान उस अलौकिक सुन्दरताको देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पडे । बहुत देरके बाद होश हुआ । होश होनेपर श्रीरामानुजाचार्यजीके चरण पकड लिये और बोले – 'प्रभो अब वह रूप ही निरन्तर देखता रहूँ – ऐसी कृपा कीजिये।' फिर श्रीरामानुजाचार्यजीने उन्हें मन्त्र दिया । वे उनके बहुत प्यारे शिष्योमे तथा एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए।

आज भी ऐसी घटनाएँ होती हैं, पर लोग जान नहीं पाते, यत्किंचित् जाननेपर भी अन्तःकरणकी मलिनताके कारण विश्वास नही कर पाते ।

सूरदासके पूर्वजन्मकी एक विचित्र बात आती है । उद्धव जब व्रजसुन्दरियोको ज्ञान सिखाने गये थे, तब अन्तमें खूब फटकारे गये । वहाँ फिर गोपियोंने दिखाया कि देखो, श्यामसुन्दर यहाँसे एक क्षणके लिये भी नहीं गये हैं । जब उद्धवने यह देखा, तब वे दग रह गये । फिर चेष्टा की कि भीतर निकुञ्जमें प्रवेश करें । पर ललिताजीकी आज्ञासे रोक दिये गये । उद्धवने खीझकर शाप दे दिया कि जाओ मर्त्यलोकमें । ललिताजीने भी कहा कि तब तुम भी अधे बनकर वहीं चलो । यह प्रेमका विनोद था । पर आखिर जबान तो उनकी सच होकर ही रहती । इसीलिये एक अशसे ललिताजीने अवतार धारण किया, उद्धवने भी एक अशसे सूरदासके रूपमें जन्म लिया ।

ये ललिताजी अकबर बादशाहके यहाँ एक हिदू बेगमके पास पली । बेगम उन्हे बहुत छिपाकर रखती थीं । पर एक दिन बादशाहने देख लिया । उसने जीवनभरमें ऐसी सुन्दरता देखी नही थी । बेगम उस लडकीको बहुत प्यार करती थी तथा सचमुच अपनी लडकीके समान ही मानती थी ।

महात्माओंकी दृष्टि पडते ही जीवन सुधर सकता है
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

एक दिन बेगमने उस लडकीसे कहा कि 'बेटी ! तू एक दिन मेरा श्रृंगार कर दे, क्योंकि तुझे जैसा श्रृंगार करना आता है, वैसा मैंने कभी नहीं देखा ।' उस लड़कीने मामूली श्रृंगार कर दिया । बेगम बादशाहके पास गयी । उस दिन अकबरने बेगमको ऊपरसे नीचेतक देखा तथा उसके रूपको देखकर चकित हो गया वह बोला 'बेगम ! आज तो मैं तुम्हें देखकर हैरान हूँ, सच बताओ, आज तुमने कोई जादू तो नहीं किया है ।' अन्तमे बेगमने सच बता दिया कि 'मेरी एक बेटी है, उससे मैने श्रृंगारके लिये प्रार्थना की । उसने मुझे मामूली ढगसे सजा दिया यदि मनसे सजाती तो पता नहीं क्या होता ।' बादशाहके मनमे पाप आ गया । बेगम उसे लडकी मानती थी, पर बादशाहने एक नहीं सुनी । किंतु मनमे पाप आते ही अकबरके सारे शरीरमें जलन आरम्भ हो गयी । बडे–बडे हकीम उपचार करके हार गये, पर कोई भी लाभ नहीं हुआ। फिर बीरबलने कहा कि यह दैवी कोप है, किसी महात्माकी कृपाके बिना यह दूर नहीं होगा । उस समय सूरदास सबसे बड़े महात्मा माने जाते थे । वे बुलाये गये । सूरदासने कृपापरवश होकर जाना स्वीकार कर लिया । वे आये तथा अकबरको देखकर कहा – 'तुम्हारे पापोंके कारण ही यह हुआ है । तुमने जिस बालिकापर बुरी दृष्टिकी है, उसीके कारण यह हुआ है ।' फिर सूरदासने कहा, 'अच्छा, तमाशा देखो ।' उस बालिकाके पास खबर भेजी गयी कि एक सूरदास आया है, वह बुलाता है । बालिका हँसी और राजसभामें पहुँची । दोनो एक दूसरेको देखकर हँसे तथा बालिका देखते–ही–देखते अपने–आप जलकर खाक हो गयी । सबको बड़ा अचभा हुआ अकबरने प्रार्थना की । उसी पर सूरदासने एक पद गाकर उसे सारा रहस्य बतलाया कि 'यह बालिका ललिताजीके अंशसे उत्पन्न हुई थी और मैं उद्धवके अंशसे ।'

पता नहीं यह घटना कहाँतक सत्य है, पर सिद्धान्ततः यह सर्वथा सत्य है कि दिव्यलोकके प्राणी एवं भगवान्‌की लीलाके परिकर इस युगमें भी अपने अंशसे भगवदिच्छासे प्रकट होते हैं । इसलिये यह कहा नही जा सकता कि किस वेषमें कौन है, सबको साक्षात् भगवान् मानकर सम्मान करनेमें ही लाभ है।

जो ईमानदार नास्तिक होते हैं अर्थात् ठीक–ठीक जैसा भीतर मानते हैं वैसा ही कहते हैं, दम्भ नहीं करते, उनपर भगवान्‌की कृपा दाम्भिकोंकी अपेक्षा शीघ्र प्रकाशित होती है ।

हालकी बात है । वृन्दावनमें एक महात्मा थे । वे इस समय हैं या नहीं पता नही । खूब भजन करते थे, पर पहले बहुत नास्तिक थे, कलकत्तेमें रहते थे, दलाली करते थे । श्रीकृष्णकी लीला एवं रासलीलाका मजाक उड़ाया करते

थे, बुरी तरह नास्तिक थे । कलकत्तेमें किसीके घरपर रासलीला हो रही थी वे भी मजाक उडानेके लिये देखने गये । रासलीला हो रही थी । कौन-सी लीला थी, यह मुझे याद नही है । मुझे एक अत्यन्त विश्वासी आदमीने सब बाते बतायी थीं । पर अब पूरी तरह याद नहीं है। जो हो, रासलीला देखते-देखते हठात् श्रीजी जो बने थे, उनकी जगह एक क्षणके लिये वास्तविक राधारानी प्रकट हो गयीं और केवल उन्हीको दर्शन हुए । बस, उसी क्षण सब छोड-छाडकर वृन्दावन चले आये और माला फेरते रहे ।

वृन्दावनके वृक्षोकी भी बडी विचित्र बात है । एक महात्माने अत्यन्त विश्वासपूर्ण स्वय जाँच की हुई कई घटनाएँ हमको एव भाईजीको सुनायी थीं ।

एक पेड था । उसे काटनेकी तैयारी हुई । रातमें एक मुसलमान दारोगाको स्वप्न हुआ कि देखो, 'मैं काशीमें एक विद्वान् ब्राह्मण था, बहुत तपस्या करनेपर मुझे व्रजमे पेड होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है । लोग कल मुझे काटनेकी तैयारी कर रहे है, तुम बचाओ । वह मुसलमान था, पर सब पता ठिकाना आदमीका नामतक स्वप्नमें बताया गया था । इसलिये उसे जाँचनेकी इच्छा हुई । जाँचनेपर सब बातें ज्यो की-त्यो मिलीं । उसे पहले कुछ भी इस विषयमें ज्ञात नही था ।

दूसरी घटना उन्होने सुनायी थी-एक साधु जगलमे एक लताके नीचे शौच होने जाते थे । वहाँ कुछ आवाज आती, पर वे समझ नहीं पाते । फिर उनको या शायद उनके साथीको स्वप्न हुआ या दर्शन हुआ-ठीक याद नही, जिससे पता लगा कि उस लताके रूपमें कहीकी एक चमारिनने बडी भक्तिकी, उसके फलस्वरूप जन्म धारण किया था । उसने बताया कि 'तुम्हें स्त्रीके पास जाकर शौच होनेमे लाज नहीं आती ? प्रतिदिन तुम्हें चेतावनी देती हूँ, पर तुम समझते नही । देखो, व्रजकी लता एव वृक्षोके नीचे शौच मत जाया करो ।' भागवतमें तो स्वय भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही है कि यहाँके पेड़ प्राय बडे-बडे ऋषि हैं, जो वृक्ष बनकर मेरा और श्रीबलरामजीका दर्शन करते हैं ।

व्रजमें अब भी बहुतोंको बहुत सुन्दर-सुन्दर अनुभव होते हैं । एक साधु थे । भगवान्के दर्शनके लिये सब जगह घूमे, पर कहीं कोई अनुभव नही हुआ । सोचा, अब अन्तिम जगह गिरिराज चलें । वहाँ किसी न किसी रूपमे दर्शन देनेकी भगवान् अवश्य कृपा करेगे । व्रजमें आये । न जान, न पहचान । एकादशीका दिन था । फलाहार कहाँ मिले ?' एक बालक आया । बोला, बाबाजी! मेरी माँ एकादशी करती है ब्राह्मण जिमानेके लिये आपको बुला रही है । बाबाजी गये । बुढियाने प्रसाद बड़े प्रेमसे दिया । भरपेट खाकर बोले - "वह बालक कहाँ गया माई ? बुढिया बोली-'बालक कौन ?' वे बोले जो हमें लाया था ।' बुढिया

महात्माओंकी दृष्टि पडते ही जीवन सुधर सकता है
पत्र–प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

बोली 'मेरा न तो कोई लडका है, न मैंने किसी को भेजा था । आप आ गये । मैने अतिथि समझकर आपका सत्कार कर दिया।' ऐसी बहुत–सी घटनाएँ होती रहती हैं ।

श्रीकृष्ण-कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है । श्रीकृष्णकी वशीध्वनि सुनकर वृन्दावनके पत्थर पिघल जाते थे । आप तो फिर भी मनुष्य हैं । किसी दिन कृपा करके यदि एक हल्की–सी स्वप्नमे झलकी उन्होने दिखायी तो बस, पागल होकर जीवनभर रोते ही रह जायँगे ।

महाप्रभु सन्यासके बाद जब शान्तिपुरसे नीलाचल रहनेके लिये चलने लगे, तब सब कोई रो रोकर बेहोश होने लगे । बडा विचित्र दृश्य था ! सभी धूलिमें लोटकर छाती फाडकर रो रहे थे । ऑखोसे ऑसूका फव्वारा छूट रहा था । एक श्रीअद्वैताचार्य ऐसे थे कि उनकी ऑखोंमे ऑसू नही थे । ये अद्वैताचार्य कोई साधारण पुरुष नहीं थे । ऐसा इतिहास मिलता है कि चालीस पचास वर्षतक लगातार इन्होने तुलसी–गगाजलसे भगवान्‌की पूजा की थी और केवल यही वर मॉगते रहे थे कि 'हे नाथ ! जीवोका दुःख देखा नही जाता, अवतार लेकर जीवोको भक्त बनाओ और सबका दुःख मिटा दो ।' कहा जाता है कि इनकी प्रार्थनासे ही चैतन्य महाप्रभुका अवतार हुआ था । सब रो रहे थे, पर इनकी ऑखामेंसे ऑसूकी एक बूँद भी नही निकली । महाप्रभु सबको छोडकर आगे बढ गये केवल अद्वैताचार्य पीछे चलते रहे । महाप्रभु सबसे अधिक इनकी बात मानते थे । जब बहुत काल तक ये नही लौटे तो महाप्रभुने इनसे कहा आचार्य ! अब लौट जाइये। अद्वैताचार्यने उत्तर दिया "प्रभो ! मै साथ चलनेके लिये नही चल रहा हूँ, मुझे तो आपसे इतना ही निवेदन करना है कि मेरे-जैसा अधम, पत्थर–हृदयवाला, नीरस प्राणी ससारमें दूसरा आपको नहीं मिलने वाला है। देखिये ! आपके जाते समय ऐसा कोई भी नही कि जिसकी ऑखोसे ऑसूकी धारा न बह रही हो, पर मेरी ऑखोमें एक बूँद भी ऑसू नहीं।'

चैतन्य महाप्रभु हँसे और बोले– 'देखिये, आपको इसका रहस्य बता देता हूँ मुझे आपसे काम लेना था । मैंने देखा कि सब लोग तो बेहोश होकर गिर जायँगे। कोई एक आदमी ऐसा चाहिये, जो सबको सम्हाल सके। इसलिये यह देखिये मैने अपने कौपीनमें एक गाँठ बॉधकर आपके प्रेमको रोक रखा है पर अब जब आप रोना चाहते हैं तो लीजिये, जी भरकर रो लीजिये ।" यह कहकर महाप्रभुने गाँठ खोल दी । खोलते ही अद्वैताचार्य बेहोश होकर पछाड खाकर गिर पडे और रोने लगे ।

देखे, भगवान्‌की लीला कोई भी नहीं समझ सकता । पर यह ठीक है कि

## महात्माओंकी दृष्टि पड़ते ही जीवन सुधर सकता है

पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

---

जो प्रेममे रोना चाहेगा, नही रोनेके कारण जिसके हृदयमे पीडा होती होगी, उसे भगवान्का प्रेम मिलेगा ही और वह रोयेगा ही । पर सम्भव है, उन्हें किसीसे कुछ काम कराना हो, कुछ लीला करानी हो-इसके कारण ही हृदयको सूखा बनाये रखते हो। उनके रहस्योंको कौन जाने । मनुष्यको अपनी ओरसे एक ही काम करते रहना चाहिये अत्यन्त प्रेमसे निरन्तर उनका स्मरण ।

कुछ साल पहले एक प्रेमी सज्जन वृदावन गये थे । नावपर घूमते हुए वृन्दावनकी सैर कर रहे थे । वर्षाका मौसम था । यमुनाजीमे खूब पानी था सध्याका समय था इतनेमे खूब वर्षा हुई । टीले, जमीन, रास्ता दीखना बद हो गया नावसे उतरकर वे बिचारे अकेले एक किनारे जंगलके पास खडे थे इतनेमें देखा कि कुछ गाये आ रही हैं तथा दो बच्चे काली कमली ओढे हुए पीछे-पीछे आ रहे है । मुझे घटना ठीक ठीक याद नही है । वे शायद रास्ता भूल गये थे । बच्चोंसे पूछा । एक बच्चा बडा सुन्दर था। मन बरबस उसकी ओर खिचता चला जा रहा था । कुछ बात होनेके बाद उसने रास्ता बता दिया और आगे चलने लगा । ये पीछे पीछे चले । उसने मना किया, पर ये माने नहीं उसी समय गाय, बच्चे आदि सभी अन्तर्धान हो गये ।

कहनेका भाव यह है कि भगवान्का दर्शन तो वे जब ठीक समझेगे, आवश्यक समझेगे, तब हो जायेगा। आपको तो केवल प्रेमपूर्वक भजन करते रहना चाहिये ।

सभी इष्ट मित्रोंको यथायोग्य ।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।
पत्र संख्या–३४

# भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं

रतनगढ़
तिथि अज्ञात

प्रिय श्रीशिवभगवानजी फोगला !

सादर सप्रेम राधाकृष्णौ वन्दे ! आपका पत्र मिला । आपने लिखा कि मुझे तो भगवान्का मात्र निष्काम प्रेम चाहिये । सांसारिक कार्योंके लिये सहायता माँगना तो बहुत नीचे दर्जेकी वस्तु है । सो आपका भाव अच्छा है, परन्तु सांसारिक कार्योंमे सहायता देना और अपना प्रेम देना भगवान्के लिये तो दोनो ही समान हैं । असलमे भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं , उनसे हम जो चाहें वही वे करनेको तैयार हैं । हाँ, चाह सच्ची और दृढ विश्वासयुक्त होनेसे ही काम होता है ।

चटगाँवमे एक कृष्णानन्दजी साधु थे । उनका भगवान श्रीकृष्णके प्रति सखाका भाव था । उन्होने पूजा करनेके लिये एक श्रीकृष्णकी पत्थरकी प्रतिमा मँगवायी । मँगानेपर उनको पसद नही आयी बोले–'तुम गडबड करते हो, यह नही चल सकती । मैं तुमको तीन दिनका समय देता हूं, जो मूर्ति मेरे हृदयमे है वही मूर्ति मुझे चाहिये । नही तो, तीन दिन बाद मैं तुम्हें गगामे फेक दूँगा ' भगवान्को तो विश्वास चाहिये । वे देखते हैं केवल सच्चा विश्वास उनका विश्वास ठीक था । तीन दिनमे पत्थरकी वही मूर्ति बदलकर इतनी सुन्दर हो गयी कि क्या पूछना है । इस बार गोरखपुरमे उस मूर्तिके फोटोका हमने दर्शन किया था । ऐसा जान पडता है, मानो जीवित पुरुषका फोटो हो। ऐसे ही आपके ध्यानकी मूर्ति भी विश्वाससे साक्षात बन सकती है ।

भगवान्के विषयमें एक विलक्षण बात है । वह यह कि जो व्यक्ति जिस बातके लिये जिस रूपमें विश्वास कर ले कि भगवान् हमारे लिये यह इसी रूपमें कर देगे, फिर निश्चय समझिये बिना कुछ भी किये भगवान् उसके लिये वही उसी प्रकार कर देगे । यह नही कि भजन करो, स्मरण करो । केवल मनमे यह धारणा कर ले कि बस, भगवान् हमारे लिये तो यह कर ही देंगे । भगवत्प्रेमसे लेकर तुच्छ संसारके विषयोंतकके लिये यह नियम लागू है -सबके लिये लागू है

## भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं

पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

कोई कहे कि 'अमुक कार्यमे आजतक तो ऐसा नही हुआ, क्या तुम्हारे लिये पहले पहल होगा ?' इसका जवाब यह है कि यदि तुमने सचमुच यह बात उनपर ढार दी है तो ससारके इतिहासमे पहले-पहल तुम्हारे लिये होगा और अवश्य होगा।

व्रजप्रेमका नियम है अमुक बात होनेपर ही यह प्राप्त हो सकता है । पर यदि सचमुच उनपर कोई ढार दे कि हमे तो यह हुए बिना ही प्रेम देना पडेगा, तो ठीक मानिये उसके लिये ही नया नियम बनेगा । ठीक उसकी मान्यताके अनुरूप नियम बनाकर भगवान् उसे व्रजप्रेमका दान कर देगे ।

जब दिव्य वृन्दावन-लीलाका प्रापञ्चिक जगत्मे प्रकाश होता है, तब उसमे भी कई रहस्यकी बाते होती है । गत बार जो नन्द यशोदा हुए थे, उनके विषयमे भागवतमे लिखा मिलता है कि वे दोनो तपस्यासे नन्द-यशोदा बने थे । होता यह है कि जो नित्य लीलावाले नन्द यशोदा है, वह भी सच्चिदानन्दमयी ही हैं, पर किसी किसी अशमे उसमे प्राकृत सयोग भी रहता है, क्योकि यह लीला प्रकट ही इसलिये की जाती है कि इसके द्वारा और ओर भक्तोको इसमें शामिल किया जाय जो नित्यलीला है, उसमे कस आदिका वध नही होता । वह लीला सर्वव्यापक है, पर प्रत्येक द्वापरके अन्तमे उसी वृन्दावनके स्थानपर प्रकट होती है। वह लीला है तो यहाँ भी, इस कलममे भी है, विश्वके अणु अणुमे है, पर प्रकट वही उस वृन्दावनमे हुआ करती है । नित्य लीलाके जो-जो पार्षद हैं, या तो उनका साक्षात् प्राकट्य होता है या यहाँके जीवोंमे उनका आवेश हो जाता है । श्रीकृष्ण एव श्रीराधा एव नित्य सखियाँ तथा नित्य सखा तो साक्षात् आते हैं तथा नन्द-यशोदा-ये दोनो भी कभी साक्षात् आते है, पर कभी उनका आवेश भी होता है । जैसे इस बार जो लीला हुई थी, उसमे नित्य नन्द-यशोदाका तपस्यासे बने हुए नन्द-यशोदामें आवेश हो गया था ।

असल बात तो यह है कि इसका तत्व समझना असम्भव-सा है, क्योंकि असली बात पूछें तो यह प्रश्न वहीतक बनता है जबतक वह लीला सामने नही आती । सामने आनेपर फिर उसके सिवा कुछ बच ही नहीं जाता , केवल वह लीला-ही-लीला रह जाती है । भगवान्‌की यही तो अचिन्त्य शक्ति है कि एक ही स्थानपर एक ही समय इतनी लीलाएँ चल रही हैं । जहाँपर आपको यह घडी दीख रही है, वहीं अनादि कालसे जो लीला हुई है, अनन्त काल तक जो होगी, वे सभी लीलाये वर्त्तमान हैं, क्योकि वस्तुत घडीकी जगह स्वय भगवान् ही हैं और पूर्णरूपमे हैं । जबतक आपको घडी दीखेगी, तबतक भगवान् नहीं दीखेगे और जब घडीका दीखना बद हो जायगा और वहाँ भगवान् दीखेगे, उस समय यह ज्ञान

भी सर्वथा लुप्त हो जायगा कि यहाँ पहले घडी थी । यह घडीका दीखना एव घड़ीका ज्ञान तो तभीतक है, जबतक भगवान् नही दीखते । उनके दीखनेपर तो वे–ही–वे रह जायँगे । इसी प्रकार उनकी कोई–सी लीला दीख जानेपर यह प्रश्न नही बनेगा कि कौन नित्य है और कौन पीछेकी है, क्योकि असलमे तो जो कुछ भी है , वह सब भगवान् हैं, यह तो समझानेके लिये है । जबतक भगवान् नहीं दीख रहे है, तबतक भेदज्ञान यह ऊँचा, यह नीचा यह परेकी लीला, यह इधरकी लीला आदि विचार हैं ।

आपने जो प्रश्न किया कि 'वे ग्वाले, जिन्हे ब्रह्माजीने छिपा दिया था तथा वे ग्वालबाल, जो स्वय भगवान् ही बने थे–इन दो प्रकारके ग्वाल–सखाओमे क्या भेद था ?' तो वास्तवमें तो कोई भेद नही है, क्योकि पहले भी स्वय श्रीकृष्ण ही उतने ग्वाले बने हुए थे और फिर ब्रह्माजीके ले जानेपर वे ही उतने और बन गये। इतना कहा जा सकता है कि पहलेवाले जो ग्वालसखा थे, उनमे कई साधनसिद्ध भी सखा थे, दूसरी बार ब्रह्माके ले जानेपर जो सखा प्रकट हुए, वे सब केवल स्वय श्रीकृष्ण ही बने थे, सखाओंमे भी नित्यसखा एव साधनसिद्ध सखा–ये दो भेद तो हैं ही । आज जिसने साधन किया और साधनसे भगवान्की नित्य–लीलामे सम्मिलित हुआ, वह साधनसिद्ध सखा माना जायगा । पर यह मानना भी हमारी–आपकी दृष्टिसे है, श्रीकृष्णकी दृष्टिसे तो स्वय वे सदासे है और सदा रहेंगे।

यही उनकी विलक्षण, मन–बुद्धिसे अत्यन्त परेकी लीला है कि वे ही जीव, वे ही जगत्, वे ही जगत्के मालिक–तीनों बने हुए है, परतु जबतक हम अपने–आपको अनुभव करते हैं तबतक यह ऊँच–नीचका भेद बना ही रहेगा । इसका रहस्य वाणी एवं मनसे समझा ही नहीं जा सकता ।

शास्त्र एव सत कहते हैं– जो है, भगवान् है, जो नहीं है, वह भगवान् है, तथा है, नहीं है–इन दोनोंसे परे भी भगवान्का रूप है, जो अनिर्वचनीय है । पर यह स्थिति भी तो वाणीमे आ गयी, इसलिये असली नहीं है। वह इतनी विलक्षण स्थिति है कि कुछ भी कहना नहीं बनता । यही बात दिव्य लीलाके रहस्यमे भी है । देखनेपर ही कोई यत्किंचित् समझ सकता है कि वह क्या वस्तु है ।

सब भगवान् हैं, यही पहली स्थिति है जो साधनासे प्राप्त होती है और तब फिर असली स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अनिर्वचनीय है ।

बिलकुल कोई वस्तु भगवान्के सिवा है ही नहीं, यह ज्ञान जिसे है, और जिसे नहीं है, वे दोनों भी भगवान् ही बने हुए हैं । पर यह बात कही जाती है कि जबतक सुख दु ख होता है, अहकार है, तबतक साधना करो । परतु यह

भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं
पत्र-प्रेषिति : श्रीशिवभगवानजी फोगला

अहंकार, यह सुख-दुःख भी उन्हींका रूप है, फिर साधना क्यों करें ? इसीलिये कि प्राणीकी इच्छा है कि मेरा दुःख मिट जाय ।

मेरी राय तो यह है कि मनुष्य सृष्टितत्त्वका, भगवान् के लीला-तत्त्वका निर्णय करने, रहस्य समझनेके फेरमे न पडकर सरल चित्तसे भगवानका चिन्तन करे, साधनामे जुट जाय । बाह्य साधनाके अतिरिक्त मानसिक भगवत्सेवाकी साधनामे जुट जाय । नियम बाँध ले कि इतनी-इतनी सेवा तो करनी ही पड़ेगी। यदि यह नही हुआ तब तो फिर आज हमारा सबसे खराब दिन बीता । नही होनेपर कुछ प्रायश्चित्तका नियम ले ले, तब होगा ।

व्रजप्रेमकी साधनाका जहाँ शास्त्रोमे वर्णन है, वहाँ यह आता है कि साधकको स्वय ठीक उसी प्रकारकी देहकी भावना करके चौबीसो घटे वही साथ रहनेका ध्यान करना चाहिये । उसमें नियम बँध जाता है कि यह सेवा हमें करनी है । जैसे मान ले एक सेवा है हाथ-पैर धुलाना । अब दिनभरमे न जाने कितनी बार इस सेवाका समय आयगा, उस समय तो मनको आना ही पडेगा, लगन होनेपर चाहे और सब काम बिगडे, पर साधक उतनी देरके लिये चाहे बीस सेकड ही क्यों न हो, सब काम छोडकर जहाँ बैठा हुआ है, जो कर रहा है, सबको गौण करके ध्यानस्थ हो जायगा । अभ्यास होनेपर लोगोको पता नही चलेगा । लिखते-पढ़ते, बातचीत करते हुए वह मन-ही-मन वहाँकी सेवा करते रह सकता है

निरन्तर भगवत्सेवाकी मानसिक भावना करते रहनेसे मनकी क्या अवस्था होती है, यह कुछ इतनी विलक्षण बात है कि मेरा अनुमान है आपने जो समझा होगा, उससे बिल्कुल नयी बात है । उसकी कल्पना भी अभी नही हो सकती कि कैसे क्या-क्या होता है । वह तो केवल वही जान सकता है, जो स्वय इस ओर पैर बढाये और श्रीकृष्णकी कृपाका आश्रय करके आगे पाँव रखता चला जाय, फिर सारी बात समझमे आती जायगी और बिल्कुल ऐसी अवस्थाका ज्ञान होगा कि वह स्वय केवल अनुभव कर सकेगा, दूसरोंको समझा नहीं सकेगा।

जैसे भी हो एक बार चेष्टा करके भगवान्की लीलामें मनको अच्छी तरह फँसा दें । जब मन टिकेगा, तब फिर स्वयं नयी-नयी चीजें, नये-नये दृश्य मनके सामने भगवान्की दयासे आने लग जायँगे । फिर यह आवश्यकता नहीं रहेगी कि किसीसे चलकर लीला सुने । भगवान्की कृपासे स्वयं ऐसी विलक्षण-विलक्षण झाँकी प्रेमसे भरी हुई झाँकी आयेगी कि मन आनन्दमे डूबा रहेगा । केवल आप ही उसका आनन्द लेगे, दूसरेको समझा भी नहीं सकेगे । भगवान्की कृपा सहायता करेगी । जहाँ चेष्टा करने लगे कि नया-नया कुछ-न-कुछ दृश्य दिखा-दिखाकर वे मनको खींचने लगेगे । आरम्भिक साधनामें किसी दिन ए

बेगार सा बडा बुरा माल्रूम होगा, क्योंकि मन भागना चाहेगा । पर यदि लगन रही तो फिर स्वयं मन लगने लग जायगा और फिर यह चेष्टा नहीं करनी पडेगी कि चलो, पन्ना उलटकर लीला पढ़े, अपने–आप ठीक समयपर वह फिल्मकी तरह माथेमें नाचने लग जायगी । कोई बात करेगा, उसके साथ गौणरूपसे बात भी कर लीजियेगा, पर मन भाग–भागकर वहीं चला जायगा । बिल्कुल [illegible] जायगा मानो अपने आप लीलाकी फिल्म आती चली जा रही हो, एक [illegible] एक आती रहेगी । पर प्रारम्भमें थोडी साधना करनी पडेगी । फिर आगे चलकर सच मानिये, भगवान्‌की कृपासे आपके लिये यह बहुत ही आसान हो जायगा

राधे राधे राधे राधे

ललिताम्बामयीं धर्ममातरम्

# प्रथम अध्याय

## {मातृसाधनाका प्रथम सोपान गुरुवरण}

पूज्य गुरुदेवको जून १९३९ ई० मे भगवती आद्याशक्ति अखिललीलाविधातृ महात्रिपुरसुन्दरीके दर्शन श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नीकी दिव्य आकृतिमे स्वप्नमे हुए थे । {जीवनीके प्रथम भागमें गुरुदीक्षा प्रकरणमे इस प्रसंगको विस्तारसे देखें ।} इस दर्शनसे उन्हे यही सकेत मिला था कि उनके भविष्य जीवनका विकास इन भगवती योगमाया त्रिपुराके संरक्षणमें ही होगा ।

वि०सं० २०००-२००१ मे भगवान् श्रीकृष्णने साक्षात् प्रकट होकर उन्हे भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरीकी उपासना करनेका आदेश दिया था ।

वर्तमान वैष्णव सम्प्रदायवादी लोगोकी बुद्धिमे भले ही यह बात नही उतरे कि राधाकृष्ण प्रीतिकी रसमयी साधनामे तन्त्र-साधना भी कोई महत्व रखती है, परन्तु परमोच्च पारमार्थिक सत्य यही है कि समस्त अप्राकृत एवं प्राकृत विश्व इन परमोच्च लीलामहाशक्ति त्रिपुरामे ही परिकल्पित हो रहा है। विश्वतत्रमे कही कोई भी सल्लोक, चिल्लोक अथवा परिपूर्ण आनन्दलोक ही क्यो न हो, उन सबकी सचालिका, साथ ही वहाँ जो भी भागवती लीलाएँ सघटित हो रही है, उन समग्र लीलाओकी सूत्रधार भगवती त्रिपुरा योगमाया ही है । फिर पू० गुरुदेवकी तो परम अद्वैत दृष्टि थी । उन्हे तो ये भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही गोलोकमे रसराज श्रीकृष्ण सज्ञक पुरुषरूपमे लीलायमान दृष्टिगोचर होती थीं । वे शक्तिसगम तन्त्रका निम्न श्लोक इस विषयमे शास्त्र-प्रमाण मानते थे ।

*"कदाचिदाद्या ललिता पुरूपा कृष्णविग्रहा ।*

ये भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही गोलोकमे श्रीकृष्ण हैं और "एक ज्योति द्विधा भिन्न राधामाधव रूपकम्" एक ही प्रकाश दो, भिन्न राधामाधव रूपमे प्रकाशित है, पू० गुरुदेवकी यही सुदृढ आत्मनिष्ठा थी ।

अब पू० गुरुदेवके सम्मुख बडी समस्या किसी महासिद्ध तान्त्रिक सद्गुरुकी प्राप्तिकी खडी हो गयी। गुरुवरणके बिना तो तत्र साधना प्रारंभ करना सर्वथा अपराध माना जाता है ।

*"पुस्तके लिखितान् मन्त्रानवलोक्य जपेत्तु यः ।*
*स जीवन्नेव चाण्डालो मृत श्वा चाभिजायते ।।"*

*(सांख्यायन तंत्र)*

"जो भी व्यक्ति तन्त्रशास्त्रकी साधनाके मन्त्र पुस्तकोंमे लिखे पढ़कर जपता है, वह जीवितावस्थामें तो चाण्डालवत् है ही, मृत्युके पश्चात् कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है ।"

इस सांख्यायन तत्रके वचनानुसार गुरुमुखके बिना यह साधना कैसे प्रारम्भ की जाय ? – इस चिन्तासे पू0 गुरुदेव व्यग्र हो उठे ।

यद्यपि पू0 गुरुदेवकी श्रीपोद्दार महाराज द्वारा रसदीक्षा हो चुकी थी, परन्तु रसदीक्षा एवं तंत्रदीक्षा दो भिन्न भिन्न स्वतत्र मार्ग है । पू0 गुरुदेवने बहुत चेष्टा की कि दक्षिण तत्रोपासना करनेवाला कोई गुरु उन्हे तत्रदीक्षा प्रदान कर दे, परन्तु बात नही बनी । गुरुदीक्षाके बिना तत्रमार्गमे प्रवेश ही सभव नही था । अन्ततः पूज्य गुरुदेवने इस समस्याका समाधान भगवान् श्रीकृष्णसे ही पूछा । भगवान श्रीकृष्णने पू0 गुरुदेवको यही आदेश दिया कि "समग्र गुरुतत्वके मूल बीज उद्गम भगवान् दक्षिणा मूर्ति है । ये भगवान् दक्षिणामूर्त्ति भगवान् शिवके विशुद्ध ज्ञानात्मा स्वरूप हैं । अत भगवान् दक्षिणामूर्त्तिके आदि शकराचार्य स्वामी द्वारा विरचित स्तोत्रका पाठ कर उन्हे मानसिक भावसे गुरुरूपमे वरण कर लो और तत्रसाधना प्रारभ कर दो। साधनाकी सिद्धिके रूपमे भगवती त्रिपुरा स्वय प्रकट होकर तुम्हे मूल षोडशाक्षरी मत्र दान करेगी ।" भगवान् श्रीकृष्णके इस आदेशको पाकर पू0 गुरुदेव परम सतुष्ट हो गये । तत्र शास्त्रमे आत्मस्वरूपिणी देवता भगवती त्रिपुरा, उनका षोडशाक्षरी महामन्त्र और उसके उपदेष्टा सिद्धगुरु इन तीनोमे अभेद, दृढ भावना करनी परमावश्यक है । भगवान् दक्षिणामूर्त्तिको तत्रमार्गका गुरुवरण करने पर उन्हे उनके साथ अपनी अभेद भावना करनेमे भी कोई कठिनाई नहीं होनी थी और भगवतीके साथ पूर्ण अभेद प्राप्त करनेमे गुरुकृपा रूपमे यह स्तोत्र स्वत महासामर्थ्यसे पूर्ण था ।

श्रीसुन्दरीतापनीयमें कहा गया है :–

*यथाघटश्च कलश कुम्भश्चैकार्थ वाचका ।*
*तथा मत्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचकाः ।।*

"जैसे घट, कलश और कुम्भ – ये तीनो शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, वैसे ही देवता, मत्र और गुरु – ये तीनो शब्द भी एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भगवान श्रीकृष्णका आदेश पाकर पूज्य गुरुदेवने भगवान् दक्षिणामूर्तिका निम्नलिखित स्तोत्र उनकी मानसपूजा करके पाठ करना प्रारभ कर दिया ।

पू0 गुरुदेवने मुझे यह रहस्य सन् १९४८ ई0 में बताया था । उन दिनो मै राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रचारक–पद त्याग कर पू0 गुरुदेवके चरणोमे समर्पित होने की लालसा लेकर गोरखपुर चला आया था। पू0 गुरुदेवके सम्मुख मैंने जब पूर्ण सद्गुरु द्वारा स्वीकार किये जानेका उपाय पूछा तो उन्होंने मुझे इसी स्तोत्रके दस पाठ रोज करनेका नियम दिया था।

इस स्तोत्रके माहात्म्यमें उन्होंने यह भी बताया था कि यह स्तोत्र पाठ करने पर अमोघ रूपसे सच्चे सद्गुरुकी प्राप्ति कराने वाला है । उन्होने यह भी कहा था कि जो भी तंत्र–साधक सच्चे सद्गुरुके अभावमे भगवान् दक्षिणामूर्तिको गुरु–रूपमें वरण कर लेते है उन्हे तत्र साधना करनेमें कोई भी हानि नहीं होती । साधकोके लाभार्थ भगवान् दक्षिणामूर्तिका यह स्तोत्र पदच्छेद, अन्वय एव हिन्दी अर्थ सहित यहाँ दिया जा रहा है ।

## श्रीमदादिशंकरस्वामि–विरचित
## श्रीदक्षिणामूर्त्ति स्तोत्रम्

(१)

*विश्व दर्पणदृष्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गत*
*पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूत यथा निद्रया ।*
*यः साक्षीकुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।*

**पदच्छेद**

विश्वम्, दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम्, निजान्तर्गतम्, पश्यन्, आत्मनि, मायया, बहि इव उद्भूतम्, यथा, निद्रया, य साक्षीकुरुते, प्रबोधसमये, स्वात्मानम्, एव, अद्वयम्, तस्मै, श्री गुरुमूर्त्तये, नमः, इदम् श्रीदक्षिणामूर्त्तये।

**अन्वय**

यथा निद्रया (प्राणी) विश्वं निजान्तर्गतं बहि उद्भूत इव पश्यन्, (तथैव) य आत्मनि मायया (विश्व) दर्पणदृष्यमान नगरीतुल्यम् (पश्यन्) प्रबोधसमये स्वात्मान एव अद्वय साक्षीकुरुते तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इद नम ।।

**(हिन्दी शब्दार्थ)**

जैसे निद्राके समय (स्वप्न कालमे) प्राणी सम्पूर्ण विश्वको अपने भीतर उद्भूत होने पर भी बाहर उत्पन्न हुएके समान देखता है, इसी प्रकार जो अपनी मायाशक्तिके द्वारा विश्वको दर्पणमे जिस प्रकार नगर प्रतिबिम्बित हो रहा हो, इस प्रकार अपने ही संकल्पमें प्रतिबिम्बित देखते हुए समाधिकालमे

अपने आपको ही एकमेव अद्वितीय साक्षीरूपमे अनुभव करत हैं -- उन श्रीगुरुस्वरूप भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्तिके लिये यह मेरा नमस्कार है ।

{२}

*बीजस्यान्तरिवाकुरो जगदिद प्राड्निर्विकल्प पुनः ।*
*मायाकल्पितदेशकालकलना वैचित्र्यचित्रीकृतम् ।।*
*मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया ।*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

बीजस्य, अन्तर्, इव अकुरः, जगत्, इद, प्राड्, निर्विकल्पम्, पुनः, मायाकल्पितदेशकालकलना वैचित्र्यचित्रीकृतम, मायावी इव, विजृम्भयति, अपि, महायोगी, इव, य, स्वेच्छया, तस्मै, श्रीगुरुमूर्त्तये, नमः, इदम्, श्रीदक्षिणामूर्त्तये।।

अन्वय

य. इदम् जगत् प्राड् बीजस्य अन्तरि अंकुरः इव, निर्विकल्पम् पुन मायावी इव महायोगी इव मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् स्वेच्छया विजृम्भयति तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इदम् नमः।।

{हिन्दी शब्दार्थ}

जो इस जगतको जो पहले बीजके अन्तरालमे अंकुर रहता है, इस प्रकार अव्यक्त था, फिर जैसे मायावी जादूगर जादूकी वस्तुओको उत्पन्न करता है अथवा महायोगी जैसे अपने योगबलसे अपनी योगसृष्टिको जो उसके सकल्पमे रहती है, व्यक्त कर देता है इस प्रकार जो अपनी माया द्वारा देशकाल एव कलाओंसे युक्त अनेक आश्चर्यजनक विचित्रताओंके रूपमें अपनेको ही सकल्पसे प्रकाशित कर देते हैं, उन श्रीगुरुमूर्त्तिके रूपमे प्रकट भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्तिके लिये यह मेरा नमस्कार है ।

{३}

*यस्यैव स्फुरण सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते ।*
*साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान् ।।*
*यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ ।*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इद श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

यस्य, एव, स्फुरणम् सदात्मकम्, असत्कल्पार्थकम्, भासते, साक्षात्, तत्त्वम्, असि, इति, वेदवचसा, यः, बोधयति, आश्रितान्, यत्, साक्षात्करणात्, भवेत्, न, पुनरावृत्तिः, भवाम्भोनिधौ, तस्मै, श्रीगुरुमूर्त्तये, नमः, इदम्,

श्रीदक्षिणामूर्त्तये।

अन्वय

यस्य सदात्मकम् स्फुरणम् एव असत्कल्पार्थकम् जगत् भासते यः आश्रितान्, साक्षात् तत् त्वम् असि इति वेदवचसा बोधयति यत् साक्षात् करणात् भवाम्भोनिधौ न पुनरावृत्ति भवेत् तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इदम् नमः।

हिन्दी शब्दार्थ

जिनके सत्य आत्मस्वरूपके स्फुरण मात्रसे ही यह असत्, मिथ्या एवं नाशमान् मात्र कल्पित प्रयोजनोसे निर्मित जगत् प्रकाशित हो रहा है । जो अपने आश्रित जनोको तुम साक्षात् वह परमात्मा ही हो, इस प्रकार वेद वाणीका उपदेश करते है, जिसके अनुभव रूप ज्ञान हो जानेपर इस भवसागरमें पुनः आगमन कदापि नहीं होता उन श्रीगुरुमूर्त्ति भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्तिके लिये यह मेरा नमन है । .

(४)

*नानाछिद्र घटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरम्*
*ज्ञान यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते ।*
*जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्त जगत्*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

नानाछिद्रघटोदर स्थित महादीपप्रभाभास्वरम्, ज्ञानम्, यस्य, तु, चक्षुः, आदि, करण, द्वारा, बहिः, स्पन्दते। जानामि, इति, तम्, एव, भान्तम्, अनुभाति, एतत्, समस्तम्, जगत्, तस्मै, श्रीगुरुमूर्त्तये, नमः इदम्, श्रीदक्षिणामूर्त्तये।

अन्वय

नानाछिद्र घटोदर स्थित महादीप प्रभाभास्वर यस्य ज्ञानं तु चक्षुः आदि करण द्वारा एतत् समस्तं जगत् बहिः स्पन्दते । एवं तम् जानामीति भान्त एव एतत् समस्त जगत् अनुभाति तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इदं नमः ।

हिन्दी शब्दार्थ

जैसे एक बहुत बडे घड़ेके भीतर जिसमे अनेक छिद्र हैं तथा भीतर दीपक रखे होनेसे छिद्रोके द्वारा अनेक रूपोंमें प्रकाश निकलता रहता है उसी प्रकार जिनका ज्ञान ही कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका आदि ज्ञानेन्द्रियो द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गन्धात्मक इस समस्त जगत्के रूपमें बाहर स्पन्दित होता है एवं उन दक्षिणामूर्ति भगवानके "मैं जानता हूँ"

इस प्रकारके ज्ञानके प्रकाशित होनेसे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है। उन श्रीगुरुतत्वस्वरूप भगवान् श्रीदक्षिणामूर्तिके लिये यह मेरा नमन है ।

{५}

*देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः ।*
*स्त्रीबालान्धजड़ोपमास्त्वहमिति भ्रान्ताः भृशं वादिनः।*
*मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे ।*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इद श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

देहम्, प्राणम्, अपि, इन्द्रियाणि, अपि, चलाम्, बुद्धिम्, च, शून्यम्, विदु, स्त्रीबालान्धजड़ोपमाः, तु, अहम्, इति, भ्रान्ताः भृशम्, वादिनः, मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे, तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये, नम, इदम्, श्रीदक्षिणामूर्त्तये।

अन्वय

भृशवादिनः भ्रान्ताः स्त्रीबालान्धजड़ोपमाः तु अहम् देहम् प्राणम् अपि इन्दियाणि अपि चलाम् बुद्धिं च एव शून्यं विदु· तस्मै मायाशक्ति विलास–कल्पित–महा–व्यामोह–सहारिणे श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इदं नमः।

हिन्दी शब्दार्थ

बहुत बुद्धिमान बनकर नाना प्रकारके ज्ञान बघारने वाले मायाभ्रमगें फँसे लोग जो स्त्रियों, बालको, अन्धे व्यक्तियों एव जड वस्तुओकी उपमाके योग्य हैं, वास्तवमे मै देह हूँ, प्राण हूँ, इन्द्रियाँ भी हूँ एवं अति चचंल बुद्धि हूँ, साथ ही शून्य प्रकृति हूँ, ऐसा जानते है । यह माया–शक्ति–विलाससे कल्पित जो व्यामोह है, उसे सम्यक् प्रकारसे नाशकरनेवाले श्रीगुरुमूर्त्ति भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्तिके लिये यह मेरा नमन है ।

{६}

*राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्*
*सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत्सुषुप्तः पुमान् ।।*

*प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशः, मायासमाच्छादनात्, सन्मात्रः,

करणोपसहरणत., य, अभूत्, सुषुप्तः पुमान्। प्राग्, अस्वाप्सम्, इति, प्रबोधसमये, यः, प्रत्यभिज्ञायते, तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये, नमः, इदम्, श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।

अन्वय

यः सन्मात्रः राहुग्रस्तदिवाकरेन्दु सदृशः मायासमाच्छादनात् यः सुषुप्तः पुमान् करणोपसहरणत अभूत्। प्रबोधसमये प्राक् अस्वाप्सम् इति प्रत्यभिज्ञायते तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इदम् नमः ।

हिन्दी शब्दार्थ

जो सत्तामात्र है (परन्तु) राहुद्वारा ग्रस्त चन्द्रमा एव सूर्यकी तरह मायासे सम्यक् प्रकारसे ढके हुए हैं तथा जो सोयेहुए पुरुषमे समस्त इन्द्रियोके उपसंहार होने पर भी शेष रहते हैं एवं जाग्रत् होने पर पहले मैं सोया था, इस प्रकार विचार करते हैं उन श्रीगुरुरूप भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्तिको यह मेरा नमन है ।

(७)

*बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि*
*व्यावृत्तास्वनुवृत्तमानमहमित्यन्तस्फुरन्तं सदा ।।*
*स्वात्मानप्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

बाल्यादिषु, अपि, जाग्रत्, आदिषु, तथा सर्वासु, अवस्थासु, अपि, व्यावृत्तासु, अनुवृत्तमानम्, अहम्, इति, अन्तस्फुरन्तम्, सदा, स्वात्मानम्, प्रकटीकरोति, भजताम्, यः, मुद्रया, भद्रया, तस्मै, श्रीगुरुमूर्त्तये, नमः इद, श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।

अन्वय

यः बाल्यादिषु जाग्रदादिषु सर्वेषु अवस्थास्वपि व्यावृत्तासु अनुवृत्तमानम् अहम् इति सदा अन्तःस्फुरन्त य भजताम् स्वात्मानम् भद्रया मुद्रया प्रकटीकरोति तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इद नमः ।

हिन्दी शब्दार्थ

जो बालकपन, जवानी एवं बुढापा आदि परिवर्तनशील वयोंमें, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीयादि सभी अवस्थाओमे भी व्यावृत्त एवं अनुवृत्त होते हुए भी "मैं हूँ" – इस प्रकार सदैव अखण्ड एकरस अन्तःकरणमें स्फुरण कराते रहते हैं, जो भजन करनेवाले अपने शिष्योके सम्मुख अपने आपको भद्र मुद्राके द्वारा प्रकट करते हैं, उन श्रीगुरुमूर्त्ति श्रीदक्षिणामूर्त्ति भगवान्को

मेरा नमन है ।

{८}

*विश्व पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामि सम्बन्धतः*
*शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मनाभेदतः ।।*
*स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

विश्वम्, पश्यति, कार्यकारणतया, स्वस्वामिसम्बन्धत, शिष्याचार्यतया तथा, एव, पितृपुत्रादि आत्मना भेदतः, स्वप्ने, जाग्रति, वा, य., एष पुरुषः, मायापरिभ्रामितः, तस्मै, श्रीगुरुमूर्त्तये, नमः, इदम्, श्रीदक्षिणामूर्त्तये।

अन्वय

य एष पुरुष मायापरिभ्रामित- स्वप्ने जाग्रति विश्व कार्यकारणतया स्वस्वामि सम्बन्धत शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मन भेदत पश्यति तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इद नमः ।।

हिन्दी शब्दार्थ

जो साक्षात् परम पुरुषोत्तम होते हुए अपनी मायाके प्रवाहमे परिभ्रमित हुए स्वप्न एव जाग्रत् अवस्थामे इस विश्वको कार्य एव कारणके, शिष्य एव आचार्यके, इसी प्रकार पिता पुत्र आदि अनेक आत्म भेदोंके रूपमे देखते है उन श्रीगुरुमूर्तिस्वरूप भगवान् श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

{९}

*भूरम्भास्यनलोऽनिलोम्बरमहर्नाथोहिमांशुःपुमान्*
*इत्याभाति चराचरात्मकमिद यस्यैव मूर्त्यष्टकम् ।।*
*नान्यत् किंचन विद्यते विमृशता यस्माद परस्माद्विभो*
*तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इद श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।*

पदच्छेद

भू., अम्भासि, अनल, अनिल., अम्बरः, महर्नाथ., हिमाशु, पुमान् इति आभाति चराचरात्मकम्, इदम्, यस्य, एव मूर्त्ति., अष्टकम्, न, अन्यत्, किञ्चन, विद्यते, विमृशताम् यस्मात्, परस्मात्, विभो, तस्मै, श्रीगुरुमूर्त्तये, नमः, इदम्, श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।।

अन्वय

यस्य भू., अम्भासि, अनल, अनिलः, अम्बरः, महर्नाथ- हिमाशु पुमान्, इति अष्टकम् मूर्त्तिः एव इदं चराचरात्मकम् {विश्व} आभाति । विमृशता

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या 201-300 तक

साधु कृष्णप्रेम

यस्मात् विभो परस्मात् न अन्यत् किचन विद्यते तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये श्रीदक्षिणामूर्त्तये इदं नमः ।।

हिन्दी शब्दार्थ

जिनकी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र एव पुरुष–ये आठ मूर्त्तियाँ ही चर एवं अचर समस्त विश्वको प्रकाशित कर रही हैं । विचार विमर्श करने वाले लोगोके लिये जिन सर्वव्यापी परमात्माके न रहने पर अन्य कुछ भी नही रहता उन श्रीगुरुमूर्त्तिस्वरूप भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

{१०}

*सर्वात्मत्व स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुस्मिन्स्तवे ।*
*तेनास्य श्रवणात्तदर्थमननाध्यानाच्च सकीर्त्तनात् ।।*
*सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्व स्वतः ।*
*सिद्ध्येतत् पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम् ।।*

पदच्छेद

सर्वात्मत्व स्फुटीकृतम्, इदम्, यस्मात्, अमुस्मिन्, स्तवे, तेन, अस्य, श्रवणात्, तत्, अर्थमननात्, ध्यानात्, च, सकीर्त्तनात्, सर्वात्मत्व महाविभूति सहितम्, स्यात्, ईश्वरत्वम्, स्वत सिद्ध्येतत्, पुन, अष्टधा, परिणतम्, च, ऐश्वर्यम्, अव्याहतम् ।

अन्वय

यस्मात् अमुष्मिन् स्तवे इदम् सर्वात्मत्वं स्फुटीकृत तेन श्रवणात् तदर्थमननात् च ध्यानात् सकीर्त्तनात् महाविभूतसहित ईश्वरत्वं, सर्वात्मत्व स्वत स्यात् पुन अष्टधा सिद्ध्येतत्, च अव्याहताम् ऐश्वर्यम् परिणतम् ।।

हिन्दी शब्दार्थ

क्योकि इस भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्तिके स्तावनमे इस जगतके साथ सम्पूर्ण आत्मतत्त्वको स्पष्ट कर दिया गया है इसलिये इसके श्रवणसे, अर्थके मननसे एव ध्यानसे, साथ ही सम्यक् प्रकारसे बार बार उच्चारण करनेसे महाविभूतियोके साथ–साथ ईश्वरत्व तथा सर्वात्मभाव अपने आप प्राप्त हो जाता है । पुनः इस सबके साथ–साथ फिर आठो सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं एव अव्याहत {अविनाशी} ऐश्वर्य की भी प्राप्ति होती है ।

{११}

*वटविटपसमीपे भूमिभागे निषण्णं*
*सकलमुनिजनाना ज्ञान दातारमारात् ।*

*त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्तिदेवं*
*जनममरणदुःखच्छेददक्षं नमामि ।।*

पदच्छेद

वट, विटप, समीपे, भूमिभागे, निषण्णम्, सकल, मुनिजनानाम्, ज्ञानदातारम्, आरात्, त्रिभुवनगुरुम्, ईशम्, दक्षिणामूर्त्तिदेवं, जनममरण, दु खच्छेद, दक्षम्, नमामि ।।

अन्वय

वट विटप-समीपे भूमिभागे निषण्णम् सकल मुनिजनानाम् आरात्, ज्ञानदातारम्, त्रिभुवन गुरुम् ईशम् दक्षिणामूर्त्तिदेवम् जनममरणदु खच्छेदम् दक्षम् नमामि ।।

हिन्दी शब्दार्थ

वट वृक्षके समीप खुली भूमि–खण्डके ऊपर बैठे हुए सम्पूर्ण मुनिजनोको आद्योपान्त ज्ञान देते हैं, ऐसे सम्पूर्ण त्रिलोकीके गुरु रूप भगवान् श्रीदक्षिणामूर्त्ति देवको जो जन्म–मृत्यु एव दु खोको उन्मूल करदेनेमे चतुर है, मैं नमस्कार करता हूँ ।

(१२)

*चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा ।*
*गुरोऽस्तु मौनव्याख्यानम् शिष्यास्तु छिन्नसशयाः ।।*

हिन्दी शब्दार्थ

आश्चर्य है कि वटवृक्षके नीचे सभी शिष्य अति वृद्ध है और गुरु युवक हैं । गुरु मौन रहकर व्याख्यान कर रहे हैं और शिष्योके सभी सन्देह स्वतः छिन्न हो रहे हैं ।

*ॐ नमः प्रणवार्थाय शुद्धज्ञानैकमूर्तये*
*निर्मलाय प्रशान्ताय दक्षिणामूर्त्तये नमः ।।*
*निधये सर्वविद्यानाभिषजे भवरोगिणा*
*गुरवे सर्वलोकाना दक्षिणामूर्त्तये नमः ।।*

जो प्रणवकी व्याख्या हैं एव विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति हैं, परम निर्मल है, प्रशान्त गंभीर हैं, उन दक्षिणामूर्त्ति भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ । जो सर्व विद्याओके निधान हैं, सम्पूर्ण भवरोगकी औषधि हैं, सर्व लोकोंके गुरु हैं, उन दक्षिणामूर्त्ति भगवान्‌को मेरा नमस्कार है ।

भगवती परा अम्बिकादेवी
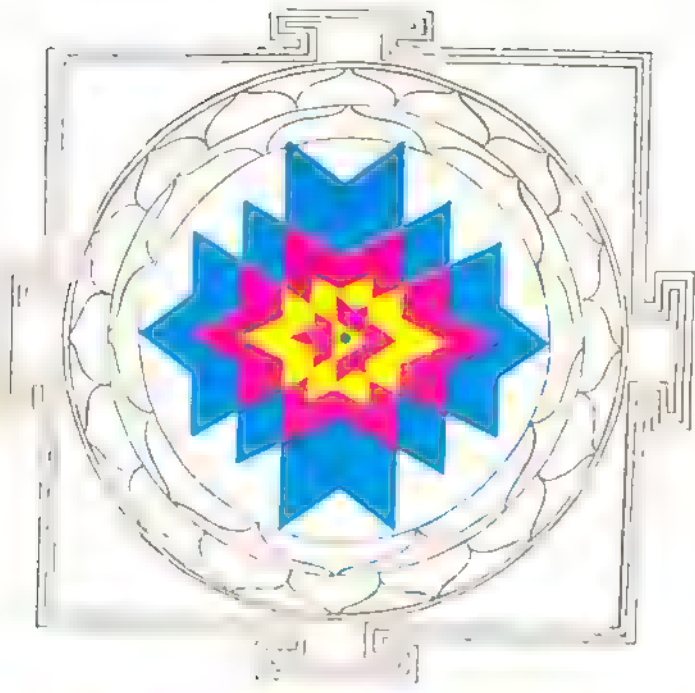
श्रीराधाबाबा द्वारा पूजित श्रीयंत्रराज

# अध्याय दूसरा

## {भगवती महात्रिपुरसुन्दरीका संक्षिप्त परिचय}

स्वात्मशक्ति श्रीविद्या ही ललिताकामेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी हैं। ये महाकामेश्वरके अंकमें नित्य विराजमान रहती हैं । उपाधिरहित विशुद्ध ह्लादात्मा ही महाकामेश्वर हैं और सदानन्दरूपा ह्लादिनी–उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही परदेवता महात्रिपुरसुन्दरी ललिता है । सत्व, चित्व, एव आनन्दत्वरूप धर्मत्रयविनिर्मुक्त विशुद्ध धर्मी मात्र अपना आत्मा ही महाकामेश्वर हैं जो भगवती महात्रिपुरसुन्दरी, कामेश्वरी, राजराजेश्वरीके आधारभूत हैं ।

## {श्रीराधाकृष्ण एवं भगवान् श्रीकामेश्वर–कामेश्वरीकी एकता}

श्रीराधाकृष्ण जहाँ कचनद्युति एव नीलमेघवर्ण है, वहाँ श्रीकामेश्वर-कामेश्वरीके रक्तवर्णका ध्यान किया जाता है । श्रीपोद्दार महाराज एव पूज्य गुरुदेव दोनोंकी ही मान्यता थी कि महाकामेश्वर कामेश्वरी भगवान् राधाकृष्णके ही ऐश्वर स्वरूप हैं । असीम प्रेमका प्रकाश जहाँ भगवती श्रीराधामे है, वहीं असीम सामर्थ्यका प्रकाश पूर्ण ऐश्वर्यावतार भगवती कामेश्वरीमे हैं । वैसे तो भगवती त्रिपुराके तत्वकी गूढ अभिसधिको उनके सिवाय दूसरा कोई जाने यह सर्वथा असंभव है ।

इस विषयमें यह कथा मुझे पू0 गुरुदेवने सन् १९५२ ई0 में सुनायी थी । मेरे साथ श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव भी थे, जो "कल्याण–कल्पतरु" में सह–सम्पादक रहे ।

पू0 गुरुदेव कह रहे थे कि भगवान् शिवजी {जो भगवान् महाकामेश्वरके ही स्वरूप हैं} परम लीलामय हैं । वे एक बार भगवती पार्वतीके साथ कैलाश पर्वत पर विराजित थे । ये भगवती पार्वती पराशक्ति भगवती ललिताका ही स्वरूप हैं । तो शिवजी महाराजने उनसे कहा "देवि ! यदि तुम मुझ पर पूर्ण प्रसन्न हो तो तुम पृथ्वीतल पर कहीं पुरुषरूपमें अवतार लो और मैं स्त्रीरूप धारण करूँगा । यहाँ कैलाशमें जहाँ मै तुम्हारा प्रियतम और तुम मेरी प्राणप्यारी भार्या हो, उसी प्रकार वहाँ तुम मेरे स्वामी तथा मैं

तुम्हारी भार्या बनूँगा । बस, यह लीला करना ही मुझे अभीष्ट है । तुम मेरी सर्वेच्छापूर्तिकर्त्री हो, इस इच्छाको भी पूर्ण करदो ।"

भगवान् शिवजी (कामेश्वर भगवान्) की इच्छा पूर्ण करनेकी स्वीकृति भगवती पार्वती (भगवती कामेश्वरी) ने तथास्तु कहकर दे दी । वे बोलीं "मेरी नवीन मेघके वर्ण वाली जो भद्रकाली मूर्ति है, वह श्रीकृष्ण रूपमे पृथ्वी पर अवतार लेगी अब आपभी अपने स्वरूपसे स्त्रीरूप धारण करिये ।"

भगवान् शंकर बहुत ही सतुष्ट हुए । उन्होने अपनेको नौ रूपोमे प्रकट किया । आठ रूपोसे तो उन्होने ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, इन्दुलेखा, रगदेवी, तुगविद्या एवं सुदेवी सखीरूप धारण किये एव वे स्वय श्रीराधाके रूपमें अवतरित होगये । वे अपने शिखण्डी स्वरूपसे ललिता, श्रीकण्ठ रूपसे विशाखा, त्रिमूर्त्ति रूपसे चित्रा, एकनेत्र रूपसे चम्पकलता, एकरुद्र रूपसे इन्दुलेखा, शिवोत्तम रूपसे रगदेवी, सूक्ष्म रूपसे तुगविद्या एव अनन्त रूपसे सुदेवी जी हुए । यही अष्ट मूर्तियॉ द्वारका लीलामे रुक्मिणी, सत्यभामादि भगवान्की आठ मुख्य पटरानियॉ रहीं । इनके अतिरिक्त भगवान् शकरके भैरवगण भी स्त्रियोके रूपमे भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह सहस्र रानियॉ हुए । अब भगवती बोली –"प्रभो ! आपकी इच्छाकी सदैव जय हो, मेरी जया एव विजया नामकी जो दोनो सखियॉ हैं, वे पुरुषरूपमें श्रीदाम एव सुदाम गोप होगीं । श्रीविष्णु भगवान् के साथ मेरा पहलेही निश्चय हो चुका है कि वे ही बलराम (हलायुध) के रूपमे मेरे बडे भाई होंगे। वे सदा ही मेरा प्रिय कार्य करने वाले हैं अत वहॉ भी मेरे सहायी होंगे । उनका नाम महाबली राम होगा इस प्रकार आपकी महती कीर्त्तिका पूर्ण विस्तार करती हुई, आपकी इच्छा पूर्ण कर मैं पुन. अपने स्वधाम लौट आऊँगी ।

इसी निश्चयके अनुसार भगवती धरा और भगवान् ब्रह्माजीकी प्रार्थनाको निमित्त बनाकर भगवान् कामेश्वर–कामेश्वरी ही राधाकृष्ण एव इनकी सहस्रों सखियोंके रूपमें लीलायमान हुए ।

इसका वर्णन गौडीय वैष्णवाचार्योने भी अपने महाभागवत ग्रन्थमें किया है ।

(भगवान् कामेश्वर–कामेश्वरी ही सम्पूर्ण अवतारोंके परम कारण अवतारी परात्पर परब्रह्म परमात्मा हैं)

आगम शास्त्रोमें ऐसा वर्णन भी आता है कि पराशक्ति भगवती ललितासुन्दरीके कर नखकी एक–एक कलासे एक–एक अवतारकी उत्पत्ति

हुई है ।

*"करांगुलि नखोत्पन्न नारायण दशाकृतिः"* {ललिता सहस्त्रनाम}

उनके दक्षिण करांगुष्ठके नखसे कल्पका प्रथम अवतार मत्स्यावतार हुआ । इस मत्स्यावतारमे भगवान्ने शखासुरका वध करके वेदोकी रक्षाकी थी। भगवती ललिता {कामेश्वरी} की दक्षिण हस्तकी तर्जनीके नखसे दूसरा कूर्मावतार हुआ । इसी अवतारमें भगवान्ने अपनी पीठ पर मन्दराचलको धारण किया। इनकी ही कृपासे अमृत-मंथन संभव हो सका । भगवती कामेश्वरी ललिता त्रिपुरसुन्दरी पराम्बाके दक्षिण हस्तकी मध्यमा अँगुलीके नखसे तीसरा वराह अवतार हुआ । ये भगवान् वराह ही अपनी दाढके ऊपर रखकर डूबी हुई पृथ्वीको कारण समुद्रके ऊपर लाये थे । इन्होने ही हिरण्याक्ष दैत्यका वध किया था। भगवती पराम्बाके दक्षिण हस्तकी अनामिकासे भगवान् नृसिंहका अवतार हुआ । इसी अवतारमे भगवान्ने हिरण्यकशिपु दैत्यका अपने नखोसे फाडकर वध किया था और प्रह्लाद भक्त की रक्षा की थी । भगवती की दक्षिण हस्तकी कनिष्ठिकाके नखसे पॉचवॉ वामनावतार हुआ । इस अवतारमे भगवान्ने राजा बलिसे तीन पग पृथ्वी दानमे मॉगी थी और विश्वातीत रूप रखकर तीनों लोकोको अपने तीन पगोसे नाप लिया था ।

इसी प्रकार जगज्जननी पराम्बाके वाम करागुष्ठके नखसे छठा परशुराम अवतार हुआ । श्रीपरशुरामने सहस्त्रार्जुन पर क्रोध करके पृथ्वीको इक्कीस बार नि.क्षत्रिय कर दिया । भगवतीके बायें हाथकी तर्जनी अॅगुलीसे सातवॉं भगवान् रामका अवतार हुआ । इन्होने युद्धमे लंका जाकर आततायी रावणको मारा । इस रामावतारमें देवताओने वानररूप रखकर भगवान्की सहायता की । भगवती पराम्बा ललिताकी वाम करागुलिकी मध्यमाके नखसे आठवॉ श्रीकृष्णावतार हुआ । इस अवतारमे भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोके सग महारासादि, अनेक केलि–क्रीडाये की एव अनगको परास्त कर उसे अपनी सेवामें स्वीकार किया । भगवान् श्रीकृष्णकी प्रथम पटरानी रुक्मिणीके गर्भसे, जो साक्षात् लक्ष्मी स्वरूपिणी थी, अनगने जन्म लेकर भगवान् शिवके तृतीय नेत्रसे दग्ध शरीरको पुनः प्राप्त किया । भगवती पराम्बा ललिताके वाम हस्तकी अनामिका अँगुलीके नखसे नौवॉ श्रीबुद्धावतार हुआ । इसी अवतारमें इन्होने दीक्षा देकर हजारों मनुष्योको भिक्षु आश्रमगामी बनाया । भगवतीकी वामहस्तकी कनिष्ठिका अँगुलीके नखसे दसवॉं अवतार कल्किका होगा । इनकी प्रख्याति अश्वावतारके रूपमे भी होगी, क्योकि

इनके अश्वके खुरोके आघातसे पृथ्वी पवित्र होगी । इसी अवतारमे कलियुग पलायन करेगा ।

इन्हीं महाशक्तिके करागुलिके नखोंकी ज्योतिसे जहाँ भगवानके दशावतार होते हैं, वही ये महाशक्ति दस महाविद्याओंके रूपमें भी प्रादुर्भूत होती हैं ।

काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातगी एव कमला इन दस महाविद्याओका भी भगवान्‌के दस अवतारोंसे सम्बन्ध आगम शास्त्रोंमे वर्णित है । शास्त्र भगवती कालीसे कृष्णावतार, तारासे रामावतार, भगवती छिन्नमस्तासे नृसिहावतार, भगवती भुवनेश्वरीसे वामनावतार, बगलामुखीसे कूर्मावतार, धूमावतीसे मत्स्यावतार, भगवती त्रिपुराषोडशीसे परशुरामावतार एव त्रिपुरभैरवीसे बलरामजीका अवतार, भगवती कमलासे बुद्धावतार और भगवती दुर्गासे त्रितापनाशी भगवान् कल्किका अवतार मानते हैं ।

इस प्रकार पू० गुरुदेवकी परमाद्वैत दृष्टिमे परात्पर श्रीकृष्ण एव भगवती ललिताम्बा दो थे ही नही । एक ही तत्वका जहाँ रसात्मक स्वरूप श्रीराधाकृष्ण थे, वे ही अपने ऐश्वर रूपमे भगवान् कामेश्वर-कामेश्वरी थे ।

## {भगवान् कामेश्वर एवं कामेश्वरीके रक्तवर्णकी वासना और दोनोंकी एकता}

निरुपाधिक कहनेसे केवलत्व और सदानन्दपूर्ण कहनेसे धर्म विशिष्टत्वकी प्रतीति होती है । विशिष्ट और केवल अवयव–अवयवीके समान अयुत सिद्ध हैं। इनका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध ही हो सकता है, न कि भेद घटित सयोगादि सम्बन्ध । प्रकृतमे कामेश्वर–कामेश्वरी विग्रहात्मक स्थूल दो रूपोंका सम्बन्ध भगवान् कामेश्वरके अकमे स्थित कामेश्वरीके विराजमान होनेमे ही पर्यवसित है। स्थूल दृष्टिसे तो यह भेद सम्बन्ध ही प्रतीत होता है, परन्तु रहस्य दृष्टिमे यह स्वरूप शिवशक्ति सामरस्यात्मक ही है । इस प्रकारकी वासना ही इनके रक्तवर्णकी भावना है ।

जैसे भगवान् श्रीकृष्णका कृष्णत्व और भगवती श्रीराधाका राधात्व ह्लादिनीसार महाभाव से ही है, ठीक उसी प्रकार महाशक्ति भगवती कामेश्वरीके उल्लासरूप सान्निध्यसे ही भगवान् कामेश्वर शिवकी शिवता स्फुरित होती है।

भगवान् शकर स्वामी सौन्दर्यलहरी स्तोत्रमें कहते है –

*"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।*
*न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।।*

हिन्दी अर्थ

भगवान शिव परमात्मा यदि शक्ति सहित होते हैं, तभी सृजन, पालन, सहार आदि करनेमे समर्थ होते है । यदि ऐसा नहीं हो तो अपने नेत्र हिलानेकी भी सामर्थ्य उनमे नही सभव है ।

{पंच प्रेतासन}

श्रीविद्या भगवती कामेश्वरी पच प्रेतासन पर विराजमान है । इसका **रहस्य इस प्रकार है :–**

भगवती ब्रह्मशक्ति कामेश्वरी जो ललिता, राजराजेश्वरी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी, षोडशी, भगवती श्रीराधा, सीता आदि नामोसे विख्यात हैं, स्वशक्ति विलासके द्वारा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र एव सदाशिव पॉच नामोको प्राप्त कर वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, आदि तत्तत् शक्तिके सान्निध्यसे सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह ओर अनुग्रह रूप पचकृत्योको सम्पादित करती हैं। जब ब्रह्मादि देव अपनी वामादि शक्तियोसे रहित होते है और जिन कार्योमे अक्षम होजाते हैं तब वे प्रेत कहे जाते है । ये प्रेत ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एव इन्द्र ही भगवतीके सिहासनके चार पाद हे और सदाशिव फलक हे, उसपर महाकामेश्वरके अकमे भगवती महाकामेश्वरी विराजित हैं ।

## {भगवती कामेश्वरीके चार आयुध}

भगवती कामेश्वरीकी चार भुजाये है । इनमे पाश, अकुश, इक्षु, धनुष और पॉच पुष्प बाणोके आयुधोका ध्यान किया जाता है । उनका वास्तविक स्वरूप इस प्रकार है छत्तीस तत्वोमे राग ही उनका पाश नामक आयुध है। "राग पाश" {भावोपनिषद् सूत्र २३} । ये छत्तीस तत्व निम्न हैं शिव तत्व, शक्ति तत्व, सदाशिव तत्व, ईश्वर तत्व, शुद्ध विद्यातत्व, माया, काल, कला, विद्या, नियति, राग, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि {तेजस्}, जल, पृथ्वी । इनमें राग होना ही पाश नामक आयुध है । "द्वेषोऽकुशः" {भावोपनिषद् सूत्र २४} इन छत्तीस तत्वोसे द्वेष, वैराग्य ही अकुश नामक आयुध है। इक्षु धनुः । मन इक्षु धनु {भावोपनिषद् सूत्र २२} । सकल्पविकल्पात्मक मनही भगवतीका इक्षु धनुष है ।

शब्दादि तन्मात्राः पच पुष्प बाणा {भावोपनिषद् सूत्र २.} । शब्द, रपर्श, रूप, रस एवं गन्ध – पच तन्मात्राये ही भगवतीके हाथमे पॉच पुष्प बाण हैं।

उत्तर चतु:शती शास्त्रमें इन आयुधोका यथार्थ स्वरूप इस प्रकार कहा है –

*इच्छा शक्तिमय पाशमकुशज्ञान रूपिणम् ।*
*क्रियाशक्तिमये बाणा· धनुषदधदुज्ज्वलम् ।।*

अर्थात् पाश – इच्छाशक्ति, अकुश – ज्ञानशक्ति एव बाण तथा धनुष क्रियाशक्ति स्वरूप हैं ।

## {भगवतीकी पूजा}

पू0 गुरुदेव सन्यासी होनेके नाते उपचार विधियोको पूर्ण नहीं कर पानेके कारण बाह्य पूजा सम्पादित नहीं करते थे । वैसे बाह्य पूजा अनेक पद्धतियोमे अनेक प्रकारसे वर्णित है । इसके बारेमे विस्तार भय से यहॉ वर्णन नहीं किया जा रहा है । पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबा रहस्य पूजा ही किया करते थे, अत· उसका ही अति सक्षेपमे दिग्दर्शन किया जा रहा है ।

पूर्ण सर्वव्यापक आह्लादमयी चित् शक्तिकी अपनी महिमामें प्रतिष्ठा ही भगवतीको आसन प्रदान करना है । वियत्, व्योम, तेज, रस एव गन्ध {जल एव पृथ्वी} इन स्थूल प्रपच रूपोके नाम रूपात्मक मलका सच्चिदानन्दैकरूपत्व भावना रूप जलसे चिच्छक्तिके चरणोमे प्रक्षालन करना ही पाद्यार्पण करना है। भगवती चित्शक्तिके करोमे सूक्ष्म प्रपचके नामरूपात्मक मलका सच्चिदानन्दैक रूप भावना जलसे प्रक्षालन करना ही अर्घ्य प्रदान करना है । सच्चिदानन्द रूप भावनाका जो भी कवली करण है वही आचमन प्रदान करना है ।

अखिल अवयव अवच्छेदसे सत्व, चित्व, आनन्दत्वादि भावना जल संपर्क ही भगवतीका स्नान है । उक्त अवयवोमे प्रसक्त भावनात्मक वृत्ति विषयताकी वृत्ति अविषयत्व भावना रूप वस्त्रसे प्रोञ्छन ही देह प्रोञ्छन है । निर्विषयत्व, निरञ्जनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्वादि अनेक धर्मरूप आभरणोमें धर्मीसे अभेद भावना करना ही आभरणार्पण है । स्वशरीर घटक पार्थिव भावोकी जडता हटाते हुए उनमे चिन्मात्र भावना करना ही गन्ध विलेपन है । इसीतरह स्वशरीर घटक आकाश भागोकी चिन्मात्र भावना करना ही पुष्पार्पण है । वायवीय भागोकी चिन्मात्र भावना करना ही धूपार्पण

है । तेजस भागोकी चिन्मात्र भावना करना दीप दर्शन है । अमृत भागोंकी चिन्मात्र भावना करना नैवेद्य अर्पण करना है । षोडशान्त इन्दु मण्डलकी चिन्मात्रता भावना करना ही ताम्बूलार्पण है । परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी आदि निखिल वाणीका नादरूपसे परात्पर परब्रह्ममे उपसहार करनेकी भावना ही भगवतीकी स्तुति करना है । विषयोकी ओर दौडने वाली चित्तवृत्तियोका विषय जड़ता निरसन पूर्वक ब्रह्म शक्तिमें विलय करनाही प्रदक्षिणी करण है । चित्तवृत्तियोको विषयोसे परावर्तित कर ब्रह्मैक प्रवण करना ही प्रणाम करना है ।

यह अत्यन्त सक्षेपमे पू० गुरुदेव द्वाराकी जानेवाली भगवती पराम्बाकी पूजाका दिग्दर्शन है । आगे पू० गुरुदेव महायागक्रमसे जो पूजा किया करते थे, उसे अलग परिच्छेदके रूपमे दिया जायगा ।

पू० गुरुदेव महायागक्रमसे हजारो लोगोको स्मरण करके अपने साथ एकात्म करके प्रति दिवस भगवतीकी चारो प्रहरकी पूजा सम्पादित किया करतें थे । इसीको वे कहा करते थे कि भैया ! मैं तेरे लिये प्रतिदिन चार बार विशुद्ध प्रेमामृतसे भरी थाली परोसकर लाता हूँ परन्तु तुम मेरे प्रेमको स्वीकार ही नहीं करते ।

## {भगवतीका साक्षात् विग्रह}

## भगवती आद्याशक्ति ललिताके चतुर्विध रूप

{१} भक्तोकी उपासनाके फलीभूत होनेपर भगवती अपने स्थूल रूपमे भक्तोंको प्रत्यक्ष होती है । पू० गुरुदेव के सम्मुख ई० ९-५-५१ तदनुसार अक्षय तृतीया स० २००८ वि० के दिन कर चरणादि अवयवासे भूषित निरतिशय सौन्दर्य विग्रह धारणकर भगवती ललिता प्रकट हुई थी । पू० गुरुदेवके नेत्रोके सम्मुख उनका लोकोत्तर आह्लादक महातेजोराशि समन्वित रूप जब प्रत्यक्ष हुआ तो पू० गुरुदेव अति चमत्कृत एव रोमाञ्चित हो उठे थे। पू० गुरुदेवने उनका यथाविधि भावात्मक पूजन किया एव अपने हाथोसे उनके चरण स्पर्श किये । पू० गुरुदेव कहते थे कि इन हड्डी-मास युक्त हाथोसे भगवतीके परम सुकोमल, निराविल, पवित्र चरणोंको स्पर्श करनेमे मुझे उसी प्रकार हिचक हो रही थी, जैसे कोई मलिन शूकर परम पवित्र देव-प्रतिमा का सस्पर्श करे । उनकी हिचकिचाहट देखकर भगवती मुसकायीं। तत्पश्चात् उनका समग्र शरीर ही परम दिव्य होगया और उस दिव्य शरीरसे पू० गुरुदेव द्वारा भगवतीका परम दिव्य उपचारोंसे पूजन सम्पन्न हुआ ।

## {भगवतीका मंत्रात्मक विग्रह}

{२} पू0 गुरुदेवके सम्मुख परम भट्टारिका राजराजेश्वरी भगवती महात्रिपुर सुन्दरीका दूसरा षोडशाक्षरी मन्त्रात्मक रूप भी उसी दिवस जिस दिवस पू0 गुरुदेवको उनके दिव्य दर्शन हुए थे, भगवतीने प्रकट किया था । बहुत काल पश्चात् पू0 गुरुदेवने श्रीमुखसे इन मत्रका दान श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री सावित्रीबाई फोगलाको दिया ।

ललिता सहस्रनाममे भगवती त्रिपुरसुन्दरीके मत्रात्मक विग्रहका निम्न प्रकारसे वर्णन आता है —-

*श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपकजा ।*
*कण्ठाधःकटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी ।*
*शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिणी ।*
*मूलमत्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा ।।*

वाग्भव कूट एव पञ्चदशी अथवा षोडशाक्षरी मत्रके प्रथम पॉच अथवा छ अक्षरोका वाग्भव कूट इनका मुख--कमल है । द्वितीय मध्यकूट इनका कण्ठके नीचेका कटिपर्यन्त भाग है और तृतीय शक्तिकूट इनका कटिसे नीचे चरणतकका भाग है ।

मत्रमय देवताके मत्रवर्णोमे ही देवताके शरीर अवयवोकी कल्पना मत्रद्रष्टा महासिद्ध ऋषियोने की है, अतः यह मंत्रात्मक स्वरूप मन्त्रध्वनि श्रवण रूपमें कर्णेन्द्रियोसे तथा मत्रोच्चारण रूपमें वागिन्द्रियसे गोचर होता है। जैसे रूप नेत्रोसे प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार कर्णेन्द्रियो एव वागिन्द्रियोसे गोचर होनेके कारण मत्रमयस्वरूपको, देह अवयवो सहित रूपसे किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नही आँकना चाहिये अथवा मत्र पर अश्रद्धा होनेके फलस्वरूप मंत्र अपराध घटित होता है ।

इसी प्रकार सर्व मत्रोका मूल मातृका सरस्वत्यात्मक अथवा भारती विद्या रूप भी मत्रात्मक रूप कहा जाता है । जैसे उदाहरण रूपमे स्वर एव व्यंजन रूप पचास वर्णोसे ही विश्वके सभी देवताओंके मत्र निकले हैं, अत इन वर्णोंको भी देवताका मंत्रात्मक रूप माना जाता है ।

पूज्य गुरुदेव पूजा करते समय इन मातृकाओसे अपने अगोमें न्यास करते थे ।

ऐं ह्रीं श्री ऐं क्लीं सौ अं नमः शिरसि {सिरमें}
ऐं ह्रीं श्री ऐं क्लीं सौ आं नमः मुखवृत्ते {मुखमें}

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः इं नमः दक्षनेत्रे {दक्षिण नेत्रमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ईं नमः वामनेत्रे {वाम नेत्रमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः उं नमः दक्षकर्णे {दक्षिण कानमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऊँ नमः वामकर्णे {वाम कानमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऋ नमः दक्षनासापुटे (दाहिने नासापुटमे)
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ॠ नमः वाम नासापुटे {बायें नासापुट मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः लृं नमः दक्ष कपोले {दक्षिण कपोल मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः लॄं नमः वाम कपोले {वाम कपोल मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः एं नमः ऊर्ध्वोष्ठे {ऊपर के ओष्ठ में}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं नमः अधरोष्ठे {नीचे के अधर मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ओं नमः ऊर्ध्व दत पक्तौ {ऊपर दत पक्ति मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः औं नमः अधः दत पक्तौ {नीचे दत पक्ति मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः अं नमः जिह्वाग्रे {जीभ के अग्रभाग मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः अः नमः कण्ठे {कण्ठ मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः कं नमः दक्ष बाहुमूले {दक्षिण बाहु के मूल मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः खं नमः दक्ष कूर्परे {दषिण बाजू मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः गं नमः दक्ष मणिबन्धे {दक्षिण मणिबन्ध मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः घं नमः दक्ष करागुलिमूले {दक्षिण हाथ की अगुलियो के मूल में}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ङं नमः दक्ष करागुल्यग्रे {दक्षिण हाथ की अँगुलियो के अग्र भाग में}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः चं नमः बाम बाहुमूले {वाम बाहुमूल मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः छं नमः वाम कूर्परे {बाम बाजू मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः जं नमः वाम मणिबन्धे {वाम मणिबन्ध मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः झं नमः वाम करांगुलिमूले {वामकर की अँगुलियों के मूल में}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ञं नमः वाम करागुल्यग्रे{ ,, ,, अग्रभाग मे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः टं नमः दक्षोरुमूले (दक्षिण जघाके मूलमे)
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ठं नमः दक्ष जानुनि (दक्षिण जानुमे)
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः डं नमः दक्ष गुल्फे (दक्षिण गुल्फमे)
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ढं नमः दक्ष पादागुलिमूले (दाहिने पैरकी अँगुलियोके मूलमें)

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः णं नमः दक्ष पादागुल्यग्रे (दाहिने पैरकी अँगुलियोंके अग्रभागमें)
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः तं नमः वामोरुमूले (बायें जंघामूलमे)
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः थं नमः वाम जानुनि (बायें जानुमे)
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः दं नमः वाम गुल्फे {वाम ऐडीके ऊपर की गाँठमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः धं नमः वाम पादांगुलिमूले
{वाम पैरकी अँगुलियोंके मूलमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः नं नमः वामपादांगुल्यग्रे
{वाम पैरकी अँगुलियोंके अग्रभागमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः पं नमः दक्ष पार्श्वे {दक्षिण बगलमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः फं नमः वाम पार्श्वे {वाम बगलमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः बं नमः पृष्ठे {पीठमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः भं नमः नाभौ {नाभिमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः मं नमः जठरे {पेटमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः यं नमः हृदये {हृदयमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः रं नमः दक्षकक्षे {दक्षिण काँखमे}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः लं नमः गलपृष्ठे {गलेके पीछेके भागमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः वं नमः बामकक्षौ {बायीं काँखमें}
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः शं नमः हृदयादि दक्षकरांगुल्यन्ते
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः षं नमः हृदयादि वामकरागुल्यन्ते
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः सं नमः हृदयादि दक्षपादागुल्यन्ते
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः हं नमः हृदयादि वामपादांगुल्यन्ते
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ळं नमः हृदयादि कट्यादि पादांगुल्यन्ते
ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः क्षं नमः हृदयादि ब्रह्मरधान्ते

"एतस्या साधितायां तु सिद्धास्यान्मातृका यतः"

इस न्यासको करनेसे पू० गुरुदेव सर्व मन्त्रमय और सृष्टिके सर्व देवतामय होकर भगवतीकी पूजा करते थे ।

## {भगवतीका वासनात्मक रूप}

तीसरा भगवतीका वासनात्मकरूप है, जिसमें ललिता देवी नित्य अखण्ड एकरस निवास करती हैं, महा पुण्यवान् साधकोके लिये केवल मन इन्द्रियोसे ही यह ग्रहीत होता है । आगम शास्त्रोमें कहा है - "चैतन्यमात्मनो रूपम्" । आनन्दोल्लास स्वरूपिणी जगदम्बाका स्वात्मशक्ति चैतन्यही स्वरूप है । आत्म चैतन्यका अनुभव मन ही कर पाता है । उत्तम मध्यमादि

अधिकारी भेदसे ये तीनो रूप साधकोकी उपासनाके योग्य हैं । इनसे अतिरिक्त तुरीय रूप जो वाक्, मन आदि सभी इन्द्रियोसे अतीत है, उसका केवल परम पूज्य गुरुदेव जैसे महासिद्ध मुक्त लोग ही अखण्ड अहताके रूपमें अनुभव करते हैं । वह रूप भी अनन्तानन्त है ।

## {गुरु, मंत्र एवं देवतामें अभेद भावना}

आत्मस्वरूपिणी भगवती श्रीविद्या ललिता, उसका मत्र ओर उस मत्रके उपदेष्टा महासिद्ध गुरु इन तीनोमें दृढ़ अभेद भावनाकी पूर्णता होना ही परम सिद्धिलाभ है । पू0 गुरुदेव श्रीराधाबाबाने तो भगवान् दक्षिणामूर्तिको ही गुरु रूपमे स्वीकार कर उपासनाक्रम प्रारम्भ किया था अत उन्हे अपनी आत्मशक्तिकी उनसे अभेद भावना करनेमे कही कोई कठिनाई नही थी । भगवान् आदि शकर स्वामिकृत स्तुति ही पूर्ण अभेदात्मक है अत भगवान् दक्षिणामूर्ति एव भगवतीमे अभेद भावनाकर उन्हे अपनी स्वात्मा समझनेमे पू0 गुरुदेवको कही कोई कठिनाई नही थी और गुरुदेवको श्रीविद्या भगवतीके साथ तत्क्षण ही पूर्ण अभेदकी सिद्धि हो गयी थी । फिर पूज्य गुरुदेव तो गुरुकृपाके पूर्ण अधिकारी थे ही । सुन्दरी तापनीयोपनिषद्मे कहा गया है

*यथा घटश्च कलश कुम्भश्चैकार्थवाचका ।*
*तथा मत्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचका ।।*

जैसे घट, कलश और कुम्भ–ये तीनो शब्द एकही अर्थके वाचक हैं, वैसे ही देवता, मत्र और गुरु - ये तीनो शब्द भी एक ही अर्थके द्योतक है।

## श्रीविद्याके बारह सम्प्रदाय तथा कामराज विद्याका महत्व

भगवती श्री विद्याके बारह उपासक प्रसिद्ध है । {१} भगवान मनु, {२} चन्द्रमा, {३} कुबेर, {४} लोपामुद्रा, {५} कामदेव {मन्मथ}, {६} अगस्त्य, {७} अग्नि, {८} सूर्य, {९} इन्द्र, {१०} स्कन्द, {११} शिव, {१२} दुर्वासा {क्रोध भट्टारक मुनि} ।

इनमेसे प्रत्येकका पृथक्–पृथक् सम्प्रदाय था । इस समय भारतमे मन्मथका कादि एव लोपामुद्राका हादि सम्प्रदाय ही प्रचलित है । त्रिपुरा रहस्य माहात्म्य खण्डके अनुसार भगवान् मन्मथानन्दनाथने अपनी निर्व्याज आराधनासे भगवती ललिता महाभट्टारिकासे अनेक दुर्लभतम वर प्राप्त किये और स्व उपासित कामराज विद्याके उपासकोंके लिये भी बहुतसी सुविधायें प्राप्त कर ली । तबसे कामराज विद्याका ही विशेष प्रचार है ।

## {कामराज विद्याका स्वरूप}

कामराज विद्या ककारादि पञ्चदश वर्णात्मक है । इसीको कादि विद्या भी कहते हैं । तत्रराजमें भगवान् शिव देवीसे कहते हैं - हे

पार्वती । कादि विद्या तुम्हारा स्वरूप ही है और उससे सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

कादि विद्याका उद्धार अथर्वण त्रिपुरोपनिषद्में इस प्रकार है —

*कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।*
*पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्यैषा विश्वमातादि विद्या ।।ॐ।।*

काम {क}, योनि {ए}, कमला {ई}, वज्रपाणि इन्द्र {ल}, गुहा {ह्रीं} ह, स, मातरिश्वा वायु {क}, अभ्र {ह}, इन्द्र {ल}, पुनः गुहा {ह्रीं}, स,क,ल और माया {ह्रीं} यह सर्वात्मिका जगन्माताकी मूल विद्या है और यह ब्रह्मस्वरूपिणी है ।

## {भावार्थ}

शिवशक्ति अभेदरूपा, ब्रह्म–विष्णु–शिवात्मिका, सरस्वती–गौरी–लक्ष्मीरूपा, अशुद्ध मिश्र शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूत शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्प ज्ञान देने वाली, सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी - यही इस मंत्रका भावार्थ है ।

यह मंत्र सब मन्त्रोंका मुकुटमणि है एवं मंत्रशास्त्रमें पंचदशी, कादि श्रीविद्याके नामसे प्रसिद्ध है । नित्य षोडशिकार्णव ग्रन्थमें इसके विस्तारसे अनेक भेद बताये हैं । "वरिवस्या रहस्य" नामक ग्रन्थमें भी इसके विस्तृत अर्थ अवगम्य हैं । श्रुतियोंमें भी ये मन्त्र क्वचित् स्वरूपोच्चार, क्वचित् लक्षणा, लक्षितलक्षणासे और कहीं वर्णके पृथक् पृथक् अवयव दरसाकर जानबूझकर विश्रृंखल रूपसे कहे गये हैं । इससे यह मालूम होता है कि ये मन्त्र परम गोपनीय और महत्वपूर्ण हैं ।

षोडशाक्षरी मन्त्र इससे भी परम गुह्य है जो मात्र गुरुमुखसे परम्परासे प्राप्त होना संभव है । पू0 गुरुदेवको साक्षात् भगवतीने षोडशाक्षरी मन्त्रका उपदेश किया था ।

## {भगवती लोपामुद्रा ही हादि विद्या हैं}

यह हादि विद्या भी पञ्चदश वर्णात्मिका है । भगवती कामेश्वराङ्कस्थिता कामेश्वरीके पूजा मन्त्रोंमे यह प्रचलित है । अवशिष्ट मनु चन्द्रादि दस विद्याएँ केवल आम्नाय पाठमें ही उल्लिखित हैं । प्रचलित उपासना पद्धतियोंमें उनका विशेष उपयोग नहीं है ।

## {श्रीविद्या ही त्रिपुरा हैं}

श्रीकामराज विद्याकी अधिष्ठातृ "श्रीविद्या" का ही नामान्तर त्रिपुरा है। त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा सरस्वती, लक्ष्मी एवं पार्वतीसे भी पुरा

अर्थात आद्या जो शक्ति हैं, वे त्रिपुरा है । ये गुणत्रयातीता हैं, त्रिगुण नियन्त्री शक्ति है, इसलिये ये भगवती ब्रह्माणी, लक्ष्मी एव पार्वतीकी भी आराध्या हैं । गौडपादीय सूत्रमे कहा है "तत्वत्रयेण भिदा" । त्रिमूर्ति {ब्रह्मा, विष्णु एव महेश} की जननी होनेसे, त्रयी {ऋक्, यजु एव साम} त्रिवेदमयी होनेसे, महा प्रलयमे त्रिलोकीको अपनेमे लीन करलेनेसे, जगदम्बा श्रीविद्याका त्रिपुरा अथवा त्रिपुरसुन्दरी नाम प्रसिद्ध हुआ है । नामकेश्वर तत्रमे इनको ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति एव क्रियाशक्ति स्वरूपिणी बताया है । इच्छाशक्ति इनका शिरोभाग है, ज्ञानशक्ति मध्यभाग एव क्रियाशक्ति इनका अधो भाग है। शक्ति–त्रयात्मक होनेसे ये त्रिपुरा कहलाती है ।

## {भगवती त्रिपुरसुन्दरीका माहात्म्य}

इन पराशक्तिका माहात्म्य अवर्णनीय है । सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, त्रिलोकेश्वर ब्रह्मा, विष्णु एव महेश भी अभीतक इनका न तो पूर्ण स्वरूप पहचानते जानते है, न ही इनका धाम कहॉ है, उसका इनको ज्ञान है ।

जैसे भगवान् श्रीकृष्णकी गति ब्रह्मा ब्रह्माणी, शिव–पार्वती, भगवान् विष्णु एव लक्ष्मी, इन्द्रादि लोकपालो, मरीचि आदि प्रजापतियो, बडे–बडे ऋषियो मुनियोके लिये अगम्य रही – वे भगवान् श्रीकृष्णका महा प्रस्थान देखने बडी उत्सुकतासे वहॉ एकत्रित हुए, परन्तु जब भगवान् श्रीकृष्णने अपने धाममे प्रवेश किया, कोई भी न तो उनके धामका अनुसन्धान पा सका और न ही उनकी गति जान सका, इसी प्रकार भगवती भी अविज्ञात गति है। जैसे अग्निकी ज्वाला प्रज्ज्वलित अगार रूपमे समष्टिमे आविर्भूत होकर जब शान्त होती है, तब वह कहॉ गयी अथवा किसमे अन्तर्भूत है - यह ज्ञात नही होता, वैसे ही समस्त मातृमण्डल सघट्टरूपिणी महाचैतन्यात्मिका श्रीविद्याका क्या स्वरूप है, वे कहाँसे कैसे आविर्भूत होती है और किसमे अन्तर्भूत होती है–यह किसीको भी ज्ञात नहीं है । युक्ति एव तर्कका तो उनमे प्रवेश ही वर्जित है । "अहमस्मि" मै हूँ, इस प्रतीतिके सिवा उनकी उपलब्धिका दूसरा प्रमाण असभव है । वेद, शास्त्र, तन्त्र, पुराण सभी इनके वर्णनमे असमर्थ हैं । "वस्तुतः ये भगवती ऐसी हैं" इस प्रकार वर्णन करनेकी किसीमे सामर्थ्य सभव ही नही । प्रत्यक्षादि प्रमाण तो प्रमेय मात्रका ही ग्रहण करते हैं, उन अप्रमेय शक्तिके स्वरूप तक तो उनकी पहुँच ही नही हो सकती । "मै हूँ" इसी आह्लादमे ये सदा निमग्न रहती हैं । शास्त्रोमे जहाँ जो भी वर्णन है, वह सब इनके लीला विग्रहोका ही वर्णन है । इनके

असख्य लीला-विग्रह है और उनका महात्म्य भी अनन्त है ।

## {श्रीविद्याके लीला-विग्रह}

वैसे तो भगवतीके अनन्त लीला विग्रह है, परन्तु त्रिपुरारहस्य माहात्म्य खण्ड तथा ब्रह्माण्ड पुराण, उत्तरखण्ड आदि इतिहासोमें इनके मुख्य विग्रहोंकी परिगणना इस प्रकार है –

{१} कुमारी – इन्द्रादि देवोका गर्व परिहार करनेके लिये भगवती कुमारी रूपमें प्रकट हुई थीं ।

{२} त्रिरूपा कारण पुरुष ब्रह्मा, विष्णु एव महेशको उनके अधिकृत सृष्टि, स्थिति एव प्रलय कार्योमे सहायता करनेके लिये भगवतीने वाणी, लक्ष्मी, रुद्राणी आदि शक्तियोको अपने शरीरसे प्रकटकर उन तीनोसे इनका विवाह करा दिया ।

{3} काली, चण्डिका, कात्यायनी एव दुर्गा इन चारो अवतारोकी कथा सप्तशतीमें आती है ।

{4} भारती एव भगवती ललिताकी कथा त्रिपुरारहस्य माहात्म्य खण्डमे वर्णित है – विस्तार भयसे यहाँ नही दी जारही है । भगवती ललिताकी कथा सक्षेपमे इतनी ही है कि भण्ड नामके असुरने भगवान् शिवसे अभय रूप वर प्राप्त कर लिया था । वह त्रिलोकाधिपति हो गया । वह इन्द्रादि देवताओसे अपनी पालकी कहारोकी तरह उठवाया करता था । उसने असुरोंकी राजधानी शोणितपुरको मयासुर द्वारा स्वर्गसे भी सुन्दर बनवायी । उसका नाम शून्यकपुर रखा । उसके भयसे इन्द्राणी भगवती गौरीके आश्रयमे कैलाश चली गयीं । उसने कैलास जाकर इन्द्राणीकी माँगकी । भगवान् गणेशजी अपने प्रमथ गणो सहित उससे युद्ध करने लगे । अपने पुत्रकी सहायतामे भगवती गौरीने भी उससे युद्ध किया । भगवती गौरी जब उसका सहार करने जा रही थी, तभी ब्रह्माजीने गौरीसे भगवान् शकर द्वारा दिये उसे अमरत्वके वरदानकी बात कही। लाचार गौरीको उसे छोडना पडा ।

अब देव लोगोने असहाय होकर भगवती त्रिपुराकी शरण ली । जब देवलोग माताकी स्तुति कर रहे थे उस समय ज्वालाके मध्यसे महा घोर शब्द करती तेजस्विनी भगवती प्रकट हुई । उन्होने देवताओसे विशेष तप करनेकी बात कही । देवलोग तप करने लगे । इसी समय भण्डासुरने पुनः उनपर आक्रमण कर दिया । देवताओने भगवतीकी प्रार्थना करते हुए

अपनेको यज्ञकुण्डमे होम कर दिया । देवोको भस्मीभूत समझ वह असुर चला गया । इसके पश्चात् तडित्प्रभा-सी भगवती त्रिपुरा प्रकट हुईं । श्रीमाताने देवोकी प्रार्थनापर सुमेरु पर्वत पर रहना स्वीकार कर लिया । भगवान् विश्वकर्माने ब्रह्माजीके कथनानुसार श्रीपुरका निर्माण किया । फिर माता श्रीचक्रात्मक रथ पर आरूढ होकर भस्मासुरको मारनेको उद्यत हुई । भगवतीकी दो शक्तियो मन्त्रिणी एवं दण्डिनी {राजमातंगी एवं वाराही} और इतर अनेक शक्तियोने अपने प्रबल पराक्रमसे दैत्य सैन्यमे खलबली मचा दी। अन्तमे भगवतीने पाशुपतास्त्रका प्रयोगकर समस्त असुर सैन्यको शून्यकर दिया और महा कामेश्वरास्त्रसे समस्त शून्यपुर एव भण्ड को अपने पुत्र पौत्रो सहित शून्यमे विलीन कर दिया । यह भगवती श्रीविद्याका अति सक्षेपमे परिचय है । सामान्यत 'श्री' शब्द लक्ष्मीके अर्थमे ही प्रयुक्त होता है । परन्तु पुराणेतिहासोमे वर्णित "श्री" शब्दका मुख्यार्थ महा त्रिपुरसुन्दरी देवी ही है।

महालक्ष्मीने भगवतीकी चिरकाल आराधनाकर जो अनेक वर प्राप्त किये थे उनमे "श्री" शब्दसे ख्यात होनेका भी उन्हे एक वर प्राप्त हुआ था । तभीसे "श्री" शब्दका अर्थ महालक्ष्मी होने लगा । मुख्यतया "श्री" नाम तो भगवती परम आद्याशक्ति भगवतीका ही है । इनकी प्रतिपादिका विद्या अथवा मन्त्र "श्रीविद्या" है। वाच्य वाचकको अभेद मानकर इस मन्त्रकी अधिष्ठातृ देवी "श्रीविद्या" कही जाती हैं ।

---

# अध्याय तीसरा

## {पू० गुरुदेवकी साधनामे भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी साधनाका प्रयोजन}

किसीके भी मनमे यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठ सकता है कि पू० गुरुदेव राधाबाबाको जब भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हो चुके थे, उनका उनके लीला-राज्यमे प्रवेश हो चुका था, वे मजरीभावमे भगवानकी अष्टयाम सेवामे सम्मिलित हो चुके थे, फिर उन्हे भगवान् श्रीकृष्णद्वारा भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी उपासनाका आदेश किस हेतुसे दिया गया ।

इस सम्बन्धमे पू० गुरुदेव द्वारा जो कुछ बताया गया है, उसे यहाँ उल्लेख किया जा रहा है :-

विश्वके सभी सन्तोमे अथाह करुणावृत्तिकी प्रधानता रहती ही है । वे जिस प्रकार स्वय आत्यन्तिक सुखसिन्धुमे डूबे रहते है, उसी प्रकार जगत्‌के समस्त प्राणियोको और विशेषतया उनसे जुडे हुए जीवोको तो उसमें निमग्न करनेकी चाह करते ही हैं ।

एकबार सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी अन्तरग सत्सग गोष्ठीमे पू० गुरुदेव बैठे थे । यद्यपि पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराजके पास ही व्रत लेकर अखण्ड रूपसे रह रहे थे, परन्तु जब श्रीसेठजी एव श्रीपोद्दार महाराज एक ही नगरमे होते और श्रीसेठजी सत्सग कराते होते तो उन दिनोमे श्रीसेठजीके सत्सगमे गुरुदेव अवश्य सम्मिलित होते थे । श्रीसेठजी कह रहे थे कि -"शास्त्रोमें उल्लेख है कि रामजी अपने साथ सभी अयोध्यावासियोको सशरीर जीवन्मुक्ति पद देकर साकेतधाम लेगये । मात्र अयोध्याके राजा होनेका उन्होने सम्पूर्ण प्रजाको मुक्त करके कर्त्तव्य निर्वाह किया । अपनी प्रजाको तो उन्होंने साकेत-धाम दिया ही, रावण, खरदूषणादि जितने राक्षसोका उनके द्वारा वध हुआ, वे भी उनकी अहैतुकी कृपासे साकेत-धामको गये ।"

"इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्णने भी जितने असुर राजाओ और सेनाओका वध किया, यहाँ तक कि जरासन्ध सत्रहबार तेईस-तेईस अक्षोहिणी सेना लेकर आया और महाभारतमे भी जो लाखो प्राणी मारे गये, सभीको अपनी

अमोघ कृपा दृष्टिसे मुक्त कर दिया । जितने असुर कस, शिशुपाल, दतवक्रादि उनके हाथो मारे गये थे, वे सभी उनसे स्वरूपदान पाकर कृतार्थ होगये। ब्रजमण्डलको तो वे अपने साथ ही गोलोक धाम लेगये । ये कुछ परमार्थ जगत्‌मे भगवदवतारो द्वारा बहायी जाने वाली कृपासमुद्रकी सर्वोच्च लहरे हैं। परन्तु भागवती करुणा–समुद्रका ऐसा उच्छलन अभीतक नहीं हुआ है कि कोई अवतार अथवा सन्त अपने समग्र दृष्य जगत्‌का ही कल्याण कर देता । आजतक तो ऐसा हुआ नहीं है । क्योकि यदि किसीने ऐसा किया होता तो हम सभी विषयी प्राणी इसभवसागरमे पडे नही होते ।"

श्रीसेठजी श्रीमद्भगवद्गीता पर बहुत निष्ठा रखते थे । अत उनका कथन था कि यदि विश्वमे घर घर गीताका तत्व एव रहस्य सहित अध्ययन–मनन होने लगे एव इसका प्रचार होजाय तो भगवती गीता महारानी सम्पूर्ण मनुष्य जातिको मुक्त कर सकती है ।

जबतक पू0 गुरुदेव विवर्तवादी अद्वैत मतावलम्बी वेदान्ती सन्यासी थे तबतक तो वे भी श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाकी तरह प्रपञ्चको अपनी ही मिथ्या भ्रम मूलक प्रतीति मानते थे । उनके सम्मुख कोई जीव था ही नही, मात्र ब्रह्म ही ब्रह्म था । जैसे श्रीसेठजीकी तात्विक दृष्टिमे सर्वत्र अखण्ड घन आनन्द ही सत्य था, पू0 गुरुदेव भी एकीभावमे स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोमे आत्मरूपसे स्थित सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेवको ही देखते थे ।

परन्तु इधर उनके मनमें यह बात दृढ होगयी थी कि यह सम्पूर्ण जगत् अघटन–घटना–पटीयसी भगवान् श्रीकृष्णकी योगमाया शक्तिका परम स्वातन्त्र्यमूलक सकल्प भर है । अत. वे अपने आराध्य सगुण साकार भगवान् श्रीकृष्णसे ही प्रार्थना करने लगे –

*"सो दासी रघुवीर कै समुझै मिथ्या सोपि ।*
*छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि ।।"*

"हे प्रभो ! मायाकी प्रचण्ड सेना ससार भरमे छायी हुई है । कामादि {काम, क्रोध एव लोभ} उसके सेनापति हैं और दम्भ, कपट और पाखण्ड योद्धा हैं, परन्तु यह माया तुम्हारी दासी है । यद्यपि समझ लेने पर यह मिथ्या ही है, किन्तु समझना इतना सरल नही है, जैसा कहा जाता है । यह आपकी कृपाके बिना छूटनी असभव है । अत हे प्रभो ! जिस प्रकार आप भक्तराज प्रह्लादके सम्मुख उसके सम्यक् दर्शन मात्रसे उसके तात्विक

कथनको सत्य करनेके लिये नृसिंह रूपमे प्रकट होगये, उसी प्रकार मेरी प्रार्थनाके फलस्वरूप मेरे सम्पूर्ण दृष्यमे अपनेको अभिव्यक्त कर दीजिये । जैसे ही आप मेरी सत्य दृष्टिके फलस्वरूप मेरेसे जुडे सम्पूर्ण जीव समुदायमे व्यक्त होओगे वे सम्पूर्ण प्राणी मायामुक्त होकर आपके अनन्त सौन्दर्य माधुर्ययुक्त स्वरूपका दर्शन प्राप्त करके विषयान्धतामुक्त हो जावेगे । उन्हे सर्वत्र आपका रस–विलास अनुभव होने लगेगा ।

पू0 गुरुदेवका आराध्य प्रियतम श्रीकृष्ण पर इतना अटूट अखण्ड विश्वास था कि वे अनहोनीको भी सभव करने के लिये उनसे प्रार्थना करने लगते थे ।

पू0 गुरुदेवकी प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण सचमुचही करुणार्द्र हो उठे । भगवान् श्रीकृष्णने पू0 गुरुदेवके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर यह कहा कि –"तुम मेरी ऐश्वर रूपा लीलाविधातृ शक्ति भगवती राजराजेश्वरी योगमाया त्रिपुरसुन्दरी ललिताकी उपासना करो । वे सर्वाभीष्ट फलदात्री है। तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा ।"

भगवान् श्रीकृष्णने पू0 गुरुदेवके सम्मुख यह तथ्य भी उद्घाटित किया कि भगवती श्रीविद्या ललिताकी उपासना अनादिकालीन है । आदि शकराचार्यके परमगुरु गौडपाद स्वामी, स्वय शकराचार्य एव उनके तदनुवर्त्ती सुरेश्वर, पद्मपाद विद्यारण्य स्वामी प्रभृति सभी अद्वैत वेदान्ती आचार्य इनके उपासक थे । मीमासकोमे आचार्य प्रवर खण्डदेवके शिष्य शम्भु भट्ट, भास्कर भट्ट प्रभृति इसी विद्याके उद्भट उपासक थे । महाप्रभु चैतन्यदेवके अभिन्न हृदय माने जानेवाले नित्यानन्द महाप्रभु भी श्रीविद्याके उपासक थे । शैवाचार्य अभिनवगुप्त प्रभृति भी शिवोपासनाके साथ श्रीविद्योपासना किया करते थे । आज भी यह सम्प्रदायक्रम म्लानभावसे ही सही परन्तु चल रहा है ।"

भगवान् श्रीकृष्णकी यह कृपामयी उक्ति सुनकर पू0 गुरुदेव समझ गये कि वास्तवमे जीवको भगवान्के स्वरूपतत्वका ज्ञान यथार्थ रूपमे उनकी अघटन घटना-पटीयसी योगमाया शक्तिकी कृपासे ही सभव है ।

भगवान् श्रीकृष्णका पू0 गुरुदेवको भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी उपासनामे लगानेका एक और अति अन्तरग प्रयोजन भी था । यद्यपि पू0 गुरुदेवका भगवान्की अति अन्तरग लीलाओमें प्रवेश होगया था, परन्तु उन्हे अभी महाभावकी अति उच्च मोहन मादनादि अवस्थाओसे परिचय भी नहीं था । फिर इनसे भी उच्चातिउच्च भावावस्थाओंका जिनका रसिकाचार्योंने अपने

रसग्रन्थोमे उल्लेख ही नहीं किया है, उनका तो उन्हे परिचय भी नहीं था । जिन प्रेम अवस्थाओकी गन्ध भी पू0 गुरुदेवको नही लगी थी, उन अपूर्व अलौकिक स्थितियोंका दान भगवान् श्रीकृष्ण उन्हे कराना चाहते थे । पू0 गुरुदेव जब इन रहस्योका बखान करते थे, तब उनके नेत्र प्रेमाश्रुओसे छलक पडते थे । वे बतलाते थे कि –"मैं सोच–सोचकर हार जाता था कि श्रीकृष्णका इतना प्रेम मुझ पर क्यो था, किन्तु इसका कोई हेतु कभी भी मेरी समझमे नही आया । मैं तो जानता ही नहीं था कि महाभाव क्या होता है? जब मुझे इन भावोके ककहरेका भी ज्ञान नही था तो उसकी उच्च मोहन, मादनादि अवस्थाओके ज्ञानका तो प्रश्न ही नही था । फिर उनसे भी ऊँची अनुभूतियाँ जिनका शब्द–परिचय भी असभव मान रसिकाचार्योने जिनका अपने रसशास्त्रोमे सकेत तक नहीं किया, उन भावदशाओकी मै अथवा कोई भी कल्पना भी किस प्रकार कर पाता । जिन प्रेम–जन्य उच्चातिउच्च अवस्थाओका मुझे ज्ञान नही, परिचय नही, उन्हें श्रीकृष्णने स्वेच्छासे मुझे दान किया ।"

वे एक स्वरचित दोहा बोला करते थे –

*नियम हुतौ गुन–देहमे महाभाव नहिं हौन ।*
*मेरे हित पिय साँवरो सोहू कीनौ गौन ।।*

अर्थात् यह नियम था कि प्राकृत त्रिगुणात्मक देहमे महाभावकी उच्च अवस्थाएँ प्रकट नहीं हो, परन्तु मेरे लिये मेरे प्रियतम श्रीकृष्णने इस नियमको भी गौण कर दिया और मुझे इस प्राकृत त्रिगुणात्मक शरीर रखते हुए ही इन उच्चाति उच्च महान् प्रेम भावोका अनुभव करा दिया ।"

कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि प्राकृत अप्राकृत लीलाविधातृ महाशक्ति भगवती योगमाया त्रिपुराम्बाकी कृपा एव उनके "तथास्तु" के बिना पू0 गुरुदेवका मंजुश्यामा भावसे भगवती श्रीराधाके परमोच्च मोहन, मादन भावमे लहराना - जो श्रीकृष्णको अभिप्रेत था, असभव था । अतः उन्हे इस परमोच्च स्थितिका दान करानेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने उनसे भगवती आद्याशक्ति योगमाया त्रिपुरसुन्दरीकी उपासना करायी । इस उपासनाके फलस्वरूप ही पू0 गुरुदेवको अक्षय तृतीया स0 २००८ वि0 के पावन दिन भगवती त्रिपुराके साक्षात् दर्शन हुए और उनमे ऐसी अदम्य शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ जिससे वे दसों हजार व्यक्तियोंको भगवान्‌के साक्षात् दर्शनोका भविष्यमे विधान सृजन करनेके हेतु हो पाये एव लगभग पैंतीस सौ लोगोको अप्राकृत

लीला राज्यमे प्रवेश करानेका भविष्य निर्माण करनेमे वे हेतु हो गये ।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि पू0 गुरुदेवके मतमे सृष्टि दो प्रकारकी है । प्रथमत आत्मार्थ सृष्टि एव दूसरी जीवार्थ सृष्टि । श्रीमद्भागवतके प्रख्यात टीकाकार श्रीमद्वल्लभाचार्य अपनी सुबोधिनी टीका मे कहते हैं –

सा च माया द्विविधा । स्वप्रतिकृत्या सम्बन्धं भगवन्तं जगद्रूपेण करोति, स्वेच्छया प्रादूर्भूतां जीवांश्च व्यामोहयति । तदेवं सृष्टि जीवार्था भवति। अतो मायया इदानींतनाया जीवमायेति नाम ।१।१०।२२।।

प्रथम योगमाया शक्ति जिसे पू0 गुरुदेव आत्मार्थ सृष्टि कहा करते थे, अपनी अनन्त प्रतिकृतिका स्पर्श करने पर भगवान्को ही जगद्रूपसे प्रकाशित करती है और दूसरी जीवार्थ सृष्टि, मोहिनी मायाशक्ति जो जीवोका व्यामोह करके उसे सृष्टिमें आसक्त कर देती है ।

जीवार्थ सृष्टि अविद्यारूपिणी होती है । इसी जीवार्थ सृष्टिमे भगवान् अवतार ग्रहण करते है अथवा सन्तरूपमे अपनी कृपाका प्रकाश करते हैं और जीवोका कल्याण करते है । यह जीवार्थ सृष्टि भगवान्की आत्मार्थ सृष्टिकी अविद्या, मायामें छाया है ।

पू0 गुरुदेव इस रहस्यका प्रकाश अपनी "प्रेम–सत्संग–सुधा माला" नामक पुस्तकमे भी करते हैं । वे लिखते हैं कि इस माया राज्यमें जो भी नदी, वन, पर्वत, झरने, स्त्री पुरूष, हरिण-गाय, पक्षी, कीट–पतंग, पथ-राजपथ, प्रासाद, गृह, तालाब, सरोवर, वन–उपवन, लताएँ, पुष्प आदि देखते है, यह सब भगवान्के अप्राकृत राज्यकी अथवा आत्मार्थ सृष्टिकी अविद्या मायामे छाया है । अप्राकृत राज्यकी छाया इस मायामे पड रही है। अब कोई इस विकृत छायाको देखकर अनुमान ही नही लगा सकता कि सच्चिन्मय बिम्ब इस छायाका आधार हो सकता है । कुछ ऐसी ही यहाँ–वहाँकी समता है ।

साराश यही है कि भगवती आद्याशक्ति त्रिपुराकी कृपा प्राप्त कर पू0 गुरुदेव अप्राकृत लोकके सर्वोच्च पद भगवती श्रीराधासे अपरोक्ष तादात्म्य लाभ कर सके, साथ ही इस अविद्या राज्यके हम जैसे हजारो नारकीय जीवोके उद्धारके भी हेतु हो गये ।

# अध्याय चौथा

## (प्रातः स्मरण)

पू0 गुरुदेव भगवती परमाद्या योगमाया त्रिपुरसुन्दरीकी यह स्तुति अपने उपासना कालमें प्रतिदिन प्रातः किया करते थे । पू0 गुरुदेवने अनेक साधकोको भी प्रतिदिन यह स्तुति करनेका नियम दिया था । इस भगवती पराम्बाके निम्नलिखित प्रातःस्मरणका तंत्र जगत्मे बहुत ही माहात्म्य है ।

*प्रातः स्मरण*

*प्रातः स्मरामि ललिता वदनारविन्दं*<br>
*बिम्बाधरं पृथुलमौक्तिकशोभिनासम् ।*<br>
*आकर्ण दीर्घ नयनं मणिकुण्डलाढ्यं*<br>
*मन्दस्मितं मृगमदोज्ज्वलभालदेशम् ।।*

### भावार्थ

मै प्रातः (ब्राह्म मुहूर्तमे शय्या त्याग करके, भू प्रार्थनादि, करके, मुख प्रक्षालनके पश्चात्) हे भगवती ललिते ! तेरा स्मरण करता हूँ । अहा तेरे पूर्ण विकसित अरविन्दके समान मुख सरोजकी कैसी निर्मल शोभा है । तेरे लाल-लाल अधर बिम्बफलके सदृश हैं और तेरी सुघड नासिकामें अत्यन्त मोटा (पृथुल) मोती जडा आभूषण नथ है । तेरे नेत्र कानो तक पहुँचते दीर्घ हैं और कान मणिजटित कुण्डलोसे सुशोभित है । तेरे अधरो पर मन्द मुसकान शोभायमान हैं और तेरा उज्ज्वल चौडा भालदेश कस्तूरीसे चर्चित है ।।१।।

### "काव्यार्थ"

*मैं प्रातः समय स्मरण करता हूँ, माँ ललिताका वदन-कमल ।*<br>
*जिनकी नासामें पृथुल सुमुक्ता युत नथ शोभित शुचि निर्मल ।।*<br>
*हा ! कैसे निर्मल अरुण अधर मानो द्वय विकसित बिम्ब सुफल ।*<br>
*आकर्ण विलम्बी दीर्घ नयन करुणा कज्जल युत तीक्ष्ण अमल ।।*<br>
*कानोमें शोभित हैं कुण्डल द्युति दमक कपोल रहे झलमल ।*<br>
*है उन्नत उज्ज्वल भाल तिलक युत चर्चित-मृगमद अति सुविमल ।।*<br>
*सर्वत्र बिखेर रही है शुभ शुचि मद मधुर मुसकनि निश्छल ।*<br>
*अति करुणा भरी कर रही हेतुरहित सुप्रीति वर्षा अविरल ।।१।।*

{२}

*प्रातर्भजामि ललिता भुजकल्पवल्ली*
*रक्तागुंलीयलसदगुलिपल्लवाढ्यम् ।*
*माणिक्य हेम वलयांगदशोभमानाम्*
*पुण्ड्रेक्षुचापकुसुमेषु सृणीर्दधानम् ।। २।।*

*भावार्थ*

हे ललिते महारानी ! मैं प्रात- नित्य तेरी कल्पवल्लरियोकी शोभा अपहृत करनेवाली भुजाओंका भजन करता हूँ, जिनमे नव पल्लवोके समान लाल लाल कोमल अँगुलियाँ है और उनमे लाल माणिक्य मणियोसे जटित लाल अँगूठियाँ आभूषणके रूपमे दमक रही है । आपकी भुजाओमे स्वर्णके वलय एव अगद शोभायमान है, साथही इन भुजाओमे स्वर्णिम इक्षु धनुष और कुसुमोके बाण धृत हैं एव भ्रमरोकी प्रत्यंचा लगी है ।।२।।

*पद्यभाव {२}*

*मै प्रात भजन करूँ अविरल माँकी द्वय युगल भुजाओका ।*
*जो मूलोच्छेदन निरत नित्य मम अति दुष्कर विपदाओका ।*
*है कल्पवल्लरीसी कोमल पल्लव सम अगुलियाँ जिनमे ।*
*शोभित स्वर्णिम माणिक्य जटित अँगुलीयक आभूषण उनमें ।*
*माणिक्य हेम वलयागद है अतिशय सुगोल वरदायक जो ।*
*धृत पाशाकुश पुण्ड्रेक्षु चाप कुसुमेषु सृणी शुभदायक सो ।। २।।*

{३}

*प्रातर्नमामि ललिता चरणारविन्द भक्त्येशदाननिरतं भवसिन्धुपोतम्*
*पद्मासनादि सुरनायक पूजनीय पद्माकुशध्वज सुदर्शन लाञ्छनाढ्यम्*

*{भावार्थ}*

हे मातेश्वरी ललिते ! मैं तेरे विकसित अरविन्दके समान चरणोका निरे प्रातःकाल नमन करता हूँ । भवसिन्धुको पार करनेके लिये जो जहाज सदृश है और अपने भक्तोका निरन्तर इष्ट सम्पादित करते रहते हैं । जो पद्मासन ब्रह्माजी एव सुराधिपति इन्द्रके द्वारा नित्य पूजनीय है और जिनमे पद्म, अकुश, ध्वज, एव सुदर्शन चक्रके चिन्ह शोभा पा रहे हैं ।।३।।

*पद्यार्थ*

*मैं प्रातः नित्य नमन करता माँ तव शुभदायक चरण कमल ।*
*भक्त्येष्ट दान सुनिरत भव सिन्धु पार करते जो पोत सदृश ।*

*है परमवंद्य सुरनायकके पद्मासन भी हैं नित्य प्रणत ।*
*पद चिन्ह सुदर्शन चक्र ध्वजा पद्मांकुश जिनमे परिलक्षित ।।३।।*

{४}

*प्रातस्स्तुवे परशिवां ललिता भवानीं*
*त्रय्यन्तवेद्य विभवां करुणानवद्यां ।*
*विश्वस्य सृष्टि विलय स्थिति हेतुभूतां*
*विद्येश्वरी निगम वाङ्मनसातिदूराम् ।।४।।*

*भावार्थ*

हे ललिते ! हे शिवे !! हे भवानी !!! माँ, मैं तेरी प्रातः नित्य स्तुति करता हूँ । तू निराविल करुणाकी मूर्ति है । माँ ! तेरा वैभव मात्र वेदान्त वेद्य है, तू ही समस्त सृष्टिकी सृजन, पालन एवं विलय क्रियाकी एक मात्र कारण है । हे समस्त विद्याओकी ईश्वरी श्रीविद्ये ! तू इन्द्रिय, मन एव वाणीसे अगोचर है । समस्त श्रुतियाँ अपनेको तेरे गुण वर्णनमे अक्षम समझ शान्त एवं मौन हैं ।

*पद्यार्थ {४}*

*मै प्रात नित्य स्तवन करता परशिवा, भवानी ललिताका ।*
*वेदान्त वेद्य पर विभवाका करुणा प्रतिमा अनवद्याका ।।*
*जो विलय–सृजन सपालनकी है एक मात्र कारण भूता ।*
*सब विद्याओकी जो जननी श्रुति अगम–निगम वदिता स्तुता ।।४।।*

{५}

*प्रातर्वदामि ललिते तव पुण्य नाम कामेश्वरीति कमलेति महेश्वरीति ।।*
*श्री शाम्भवीति जगता जननी परेति वाग्देवतेति वचसा त्रिपुरेश्वरीति।।५।*

*भावार्थ*

हे माते ! मै तेरी पावनतम नामावलीका नित्य प्रात गायन करता हूँ। अहा कैसी कल्याणकारी नामावली है । हे माँ कामेश्वरी ! हे कमले !! हे महेश्वरी !!! हे श्रीविद्ये !!!! हे शाम्भवी !!!!! माँ जगज्जननी ! हे वाग्देवी, हे त्रिपुरेश्वरी करुणामयी तुम्हारी सदा जय हो ।

*पद्यार्थ*

*माँ तव पावनतम नामावलि मै नित प्रात गायन करता ।*
*कहते ही कमले, शिवे जननि मम तन–मनमे अमृत भरता ।।*

*हे कामेश्वरी, महेश्वरि, शिवे, शाम्भवी श्री वरदायिनि माँ ।*
*त्रिपुरे वाग्देवी, पराशक्ति तव चरण बिना गति मुझे कहाँ ? ।।५।।*

{६}

*यः श्लोक पञ्चकमिदं ललिताम्बिकायाः ।*
*सौभाग्यदं सुललितं पठति प्रभाते ।।*
*तस्मै ददाति ललिता झटिति प्रसन्ना ।*
*विद्यां श्रियं विमलं सौख्यमनन्त कीर्तिम् ।।*

## भावार्थ

जो भी व्यक्ति माँ ललिताम्बाके इन महा सौभाग्यदायी सुललित पांच श्लोकोका नित्य प्रातःकाल पाठ करता है उसे भगवती श्रीसुन्दरी शीध्र ही प्रसन्न होकर विद्या, श्री {लक्ष्मी} एवं निर्मल पाप रहित सुख, साथ ही अनन्त कीर्ति दान करती हैं ।

## पद्यार्थ

*अति सौभाग्यप्रद पाँच श्लोक जो जननीके प्रातः पढ़ता ।*
*सुर–मुनि–ऋषिवंदित पद पाता नित जननी सान्निधिमे रहता ।।*
*झटसे प्रसन्न होकर माता उसको देती शुभ कीर्ति विमल ।*
*विद्या, श्री, सुख, अखण्ड जीवन सेवनरत माँके चरण कमल ।।*

{७}

*प्रातः प्रभृति सायांन्त सायांदि प्रातरन्ततः ।*
*यत्करोमि जगद्योने तदस्तु तव पूजनम् ।।*
*मञ्जु शिञ्जित मञ्जीर वाममर्ध महेशितु ।*
*आश्रयामि जगन्मूलं यन्मूलं सचराचरम् ।।७।।*

## भावार्थ

हे पराम्बे ! सम्पूर्ण सृष्टिकी आदि–योनि स्वरूपे !! मैं प्रातःकालसे लेकर सायंकाल तक और सायकालसे प्रातःकाल तक अष्ट पहरमें जो कुछ भी करता हूँ, वह सब तुझमे ही पर्यवसित है, अतः वह सबकुछ तेरा पूजन ही है । हे माँ ! तेरे अतिशय सुभग मञ्जीर {नूपुर} झंकार कर रहे है, तू भगवान् महेश {कामेश्वर} के वामार्ध भागमे सुशोभित है, मै तेरी, हे जगन्मूले! शरण ग्रहण करता हूँ क्योकि सचराचरकी तू ही परमाश्रया, परमाधार है ।

# अध्याय पाँचवाँ
## {भगवती पराम्बाका ध्यान एवं स्तुति}

{प0पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाके भगवतीकी,उपासनाके ध्यानके कुछ अनमोल श्लोक यहाँ दिये जा रहे हैं। उनकी अपनी एक विशेष डायरी थी, जिसमे उनकी विशेष उपासनाकी वस्तुएँ लिखी रहती थी । लेखकने पू. गुरुदेवसे अनुमति प्राप्तकर पू गुरुदेवके काष्ठ मौनके पूर्व ये भगवतीके ध्यानके श्लोक उसीमेसे उतारे थे । यहाँ ये श्लोक पाठकोके लाभार्थ दिये जारहे हैं । इनके भावार्थ लेखकने स्वय किये हैं, अत उसमे यदि कोई त्रुटि विद्वज्जनोको समझमे आवे तो यह लेखकके अल्प संस्कृत–ज्ञानका परिणाम है । ऐसा अनुमान है कि इनमे एकाध श्लोक भगवान् आदि–शकराचार्य विरचित 'सौन्दर्य लहरी' नामक भगवतीकी स्तुतिमेसे है, शेष किस शास्त्रसे उद्धृत है, कुछ कहा नही जा सकता । इतना निश्चित है कि उपासकोके लिये ये ध्यानके अमृतश्लोक बहुत ही उपयोगी है ।}

## {भगवती पराम्बाका ध्यान}

*ध्यायेत् कामेश्वराकस्था कुरुविन्दमणिप्रभां*
*शोणाम्बर स्रगालेपा सर्वांगीण विभूषणाम् ।।*
*सौन्दर्य शेवधि सेषू चाप पाशांकुशोज्ज्वला*
*स्वभाभिरणिमाद्याभिः सेव्या सर्वनियामिकाम् ।।*

## {हिन्दी भावार्थ}

मै उन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोकी, लौकिक अलौकिक सम्पूर्ण लीला -जगतकी एकमात्र नियामिका भगवती जगदम्बाका ध्यान करता हूँ, जो भगवान् कामेश्वरके अकमें स्थित रहती हैं, जिनके कलेवरसे कुरुविन्द मणिकीसी रक्तिम आभा, लालप्रभा {ज्योत्स्ना} छिटकती रहती है ।

जो अपने ही वर्णके समान लाल वस्त्र धारण करती है और जिनके अग प्रत्यग उत्तमोत्तम आभूषणोसे भूषित हैं, जिनके अनन्त सौन्दर्यकी कही सीमा {अवधि} ही नहीं है जो अपनी चारो भुजाओंमे क्रमशः इक्षुका चाप, पुष्पोके बाण, उज्ज्वल आभासे झलमलाता अकुश और पाश धारण किये हैं। जिनकी अग–प्रभा {प्रकाश}से अणिमा–महिमादि अष्ट सिद्धियाँ प्रकट होकर सेवारत रहती हैं, उन सर्व सेव्या माँका मै ध्यान करता हूँ ।

{२}

*सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपवाटीपरिवृते*
*मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।*
*शिवाकारे मञ्चे परम शिव पर्यंकनिलयां*
*भजन्ति त्वां धन्या कतिचन चिदानन्दलहरीं ।।*

{भावार्थ}

मैं परमातिपरम धन्या चिदानन्दलहरी {सच्चिदानन्दमयी} माँ ! तेरा भजन करता हूँ, तू अमृत समुद्रके मध्य स्थित मणिद्वीपम वृक्षाकी वाटिकासे घिरे कदम्ब-कल्पवृक्षोके उपवनमे चिन्तामणियोसे निर्मित गृहमे शिवाकार मञ्चके ऊपर परम शिवके पर्यंकमे आसीन है ।

{३}

*ध्यायेन्निरामय वस्तु जगत्त्रयविमोहिनी*
*अशेष व्यवहाराणा स्वामिनी सविद पराम् ।*
*उद्यत् सूर्य सहस्राभा दाडिमी कुसुमप्रभा*
*जपाकुसुम सकाशा पद्मराग मणि प्रभाम् ।।*

{भावार्थ}

मैं उस निरामय {शोक, दुःख, व्याधि रहित} वस्तुका ध्यान करता हूँ जो तीनो लोको {ऊर्ध्व, मध्य एव अध स्थित}को मोहित करने वाली है । जो परासंवित {संवित्} स्वरूपा है और विश्वके समस्त लीला उपक्रमो {व्यवहार}की एकछत्र स्वामिनी विधाता है । सद्योदित सहस्रो बाल सूर्योके समान रक्तवर्ण जैसी जिनकी आभा है और जो जपापुष्प एव दाडिम कुसुमोके रगवाली है, पद्मराग मणिकी सी ज्योतिर्मान हैं ।

{४}

*स्फुरत्पद्मनिभा तप्तकाञ्चनाभा सुरेश्वरी*
*रक्तोत्पलदलाकारां पादपल्लव राजिताम् ।*
*अनर्घ रत्नखचित मञ्जीरचरणद्वयाम्*
*पादागुलीयकक्षिप्त रत्नतेजोविराजिताम् ।।*

{भावार्थ}

जो समस्त सुरमण्डलकी ईश्वरी है, जिनकी आभा तपाये हुए स्वर्णके सदृश है एव जिनके विकसित कमलके समान कोमल एव सुन्दर अथवा लाल-लाल सुकोमल नवपल्लवोके समान चरण हैं । दोनो चरणोमें अनमोल

रत्न खचित मंजीर आभूषण है, चरणोकी अंगुलियोमे जो रत्न जडे है, उनसे तेजस्वी प्रभा निकल रही है ।

{५}

*कदली–ललित–स्तभ सुकुमारोरु कोमला*
*नितम्ब–बिम्ब–विलसद्रक्तवस्त्र परिष्कृता ।*
*मेखलाबद्ध माणिक्य–किंकिणी–नाद–विभ्रमा ।*
*अलक्ष्य मध्यमा निम्न नाभि शातोदरी पराम् ।।*

{भावार्थ}

जैसे कदली वृक्षके स्तभ खडे हो ऐसी सुकुमार जिनकी जघाएँ हैं । बिम्बफलके समान लाल लाल रगके वस्त्रोसे आवृत जिनके नितम्ब है माणिक्यकी मेखला {करधनी}मे लगे घुघुरुओके किकण नादसे वे सर्वलोकोको विभ्रमित कर रही है । जिनकी गभीर नाभि है, ऐसे लघु उदर वाली, अलक्ष्य मध्यमा परादेवीका मै ध्यान करता हूँ ।

{६}

*रोमराजिलतोद्भूत महाकुचफलान्विता ।*
*सुवृत्त निविडोत्तुग कुचमण्डल राजिता ।।*
*अनर्घ मौक्तिकस्फारहारभार विराजिता ।*
*नवरत्नप्रभाराजत् ग्रैवेयक विभूषणा ।।*
*श्रुतिभूषा मनोरम्य कपोलस्थल मजुला ।*
*उद्यदादित्य सकाश ताटकसुमुख प्रभा ।।*

{भावार्थ}

जिनकी रोमावली रूप लतामे दो बडे–बडे कुच {स्तन} रूपी फल लगे हो इस प्रकार सुवृत्त {गोलाकार}, घने एव ऊँचे उठे हुए स्तन मडलसे जो शोभायमान हैं । उनकी ग्रीवामे परम निर्मल मुक्ताहारोका भार है साथ ही ग्रैवेयक आभूषणमे जटित नौ प्रकारके रत्नोकी प्रभा बिखर रही है । कानोके आभूषण परम मनोरम हैं, जो कपोलोकी शोभाको मजुल बना रहे हैं एव जैसे बाल–रवि उदय हुआ हो, ऐसी प्रभा उनके कुण्डलोसे निकल रही है।

{७}

*पूर्णचन्द्रमुखी पद्मवदना वरनासिका*
*स्फुरन्मदनकोदण्ड सुभ्रुवं पद्मलोचना ।।*

*ललाट पट्ट सराजद्रत्नाढ्य तिलकांकिता ।*
*मुक्तामाणिक्य घटित मुकुटस्थल किंकिणीम् ।।*

{भावार्थ}

पूर्ण राकाचन्द्रके समान मुखवाली माँ जिनका आनन खिले पद्मके समान शोभायुक्त है एव जिनकी श्रेष्ठ नासिका है, जिनकी सुन्दर भौंहे कामदेवके धनुषके समान धीरे धीरे सचारित हो रही है, जिनके ललाट स्थलमे बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्नका तिलक अंकित हुआ शोभा पा रहा है एव मुकुटमे मुक्ता एव माणिक्यकी लडे किंकिणीकी तरह शोभित हैं ।

{८}

*स्फुरच्चन्द्रकलाराजन्मुकुटां च त्रिलोचना ।*
*प्रवालवल्लीविलसद्बाहुवल्ली चतुष्टयाम् ।।*
*इक्षुकोदण्डपुष्पेषु पाशांकुश चतुर्भुजा ।*
*सर्वदेवमयीमम्बा सर्व-सौभाग्य-सुन्दरीम् ।।*

{भावार्थ}

त्रिनयना माँके मुकुटमे चन्द्रकला विराजित है । उनकी चारों भुजाओंकी ऐसी शोभा है मानो प्रवाल मणियोकी लताएँ हो । वे चारो भुजाओमे इक्षुका धनुष, पुष्पोके बाण, पाश तथा अंकुश धारण किये हैं, वे श्रीसुन्दरी अम्बा सर्वदेवमयी है एव सर्वसौभाग्यदात्री है ।

{९}

*सर्वतीर्थमयीं दिव्या सर्वकामप्रपूरिणीं ।*
*सर्वमन्त्रमयीं नित्या सर्वागमविशारदा ।।*
*सर्वक्षेत्रमयी देवी सर्वविद्यामयी शिवा ।*
*सर्वयागमयीं विद्या सर्वदेवस्वरूपिणीम् ।।*

{भावार्थ}

हे माता ! आप सर्व तीर्थमयी हैं, आप परम दिव्य स्वरूपा हो, सब कामनाओको पूर्ण करदेनेवाली हो, सर्व मन्त्रमयी हो, सनातनी नित्या हो, सारे आगम शास्त्रोकी विशारद हो, सर्व क्षेत्रमयी भगवती धरा आपका ही स्वरूप है और सर्व विद्यामयी शिवा भी आप ही हो । आप सर्व यज्ञमयी है एव सर्व देवस्वरूपिणी महाविद्या भी आप ही हो ।

{१०}

*सर्वशास्त्रमयी नित्या सर्वागमनमस्कृता ।*
*सर्वाम्नायमयीं देवीं सर्वायतन सेवितां ।।*
*सर्वानन्दमयी ज्ञानगह्वरा संविद परा ।*
*एवं ध्यायेत् परामम्बां सच्चिदानन्दरूपिणीम् ।।*

{भावार्थ}

माता ! आप सर्वशास्त्रमयी हो, आप शाश्वत, नित्य एव सनातन हो । सारे आगम आपकी स्तुति करते हैं । आप उत्तर, दक्षिण, पूर्व पश्चिम, ऊर्ध्व, अध सर्वआम्नायमयी हो । सम्पूर्ण प्रयत्नोंसे मात्र आपका भजन करना ही जीवमात्रका कर्त्तव्य है । सर्व–आयतनों {मन्दिरों}मे आपकी ही सेव्य मूर्त्तियाँ है, जहाँ आपकी ही पूजा सेवा हो रही है । आप सर्वानन्दमयी हैं । आप ज्ञानाग्निकी कुण्ड है एव परा--संविद् {बोधस्वरूप चेतन सत्ता} स्वरूपिणी हैं । इस प्रकार उन सच्चिदानन्द स्वरूपिणी परामबाका नित्य ध्यान करना चाहिये ।

## भगवती पराम्बाकी स्तुति

{ये स्तुतिके पद भी पू. गुरुदेवकी डायरीसे उद्धृत है। इनमेंसे भी कतिपय पद भगवान् आदि शंकरस्वामिकृत "सौन्दर्य लहरी" स्तोत्र मे से है ।}

*भवानि स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्नवदनैः*
*प्रजानामीशान त्रिपुरमथनः पञ्चभिरपि ।*
*न षड्भिः सेनानीर्दशशतमुखैरप्यहिपति-*
*स्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नवसर ।।१।।*

{भावार्थ}

हे माता भवानी ! औरोकी तो बात ही क्या, अखिल सृष्टिके रचयिता प्रजापति ब्रह्माजी अपने चारों मुखोंसे भी तुम्हारी स्तुति नहीं कर सकते, त्रिपुरहर भगवान् शकर पाँच मुखके रहते हुए भी इस विषयमें मूक होकर रह जाते हैं । देव–सेनापति भगवान् कार्त्तिकेय छ मुखवाले हैं, परन्तु वे भी मन–मारकर बैठ जाते हैं । इन सबके ऊपर भगवान् शेष हजार मुख रखते हैं, परन्तु वे भी तुम्हारी स्तुति करनेमे असमर्थ हैं। कोई करे भी तो कैसे, तुम्हारे गुणोंकी थाह पावे, तब न ! फिर मेरे जैसे साधारण जीवकी तो सामर्थ्य ही क्या है ?

{२}

*ईशित्व भाव कलुषाः कतिनाम सन्ति*
*ब्रह्मादयः प्रतियुग प्रलयाभिभूताः ।।*
*एकः स एव जननी स्थिर सिद्धिरास्ते*
*यः पादयोस्तव सकृत् प्रणतिं करोति ।।*

{भावार्थ}

हे माते ! ईश्वरत्वके भावको कलुषित करनेवाले अनेक ब्रह्मादि देवता हैं, जो अपनेको समझते ईश्वर है परन्तु प्रत्येक युगमे प्रलयकाल होने पर नष्ट होजाते हैं । हे मां ! एक तू ही सबको जन्म देनेवाली है, जिसका अनन्त महाप्रलय भी कुछ भी बाल-बॉका भी नहीं कर सकते, तू माँ, उस महा–प्रलयकी भी साक्षी–द्रष्टा बनी रहती है । माँ ! तेरे चरणोको मैं सदैव प्रणाम करता हूँ।

{३}

*त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण*
*स्त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया ।*
*भयात् त्रातु दातु फलमपि च वाञ्छासमधिक*
*शरण्ये लोकाना तव हि चरणावेव निपुणौ ।*

{भावार्थ}

हे सर्वशरणदात्री माँ ! तुम्हे छोड़कर जितने दूसरे देवता हैं, सभी अपने हाथोसे ही अभय–दान करते है, वे वरदान भी हाथो द्वारा ही देते है। इसीलिये प्रायः सभी वरद अथवा अभय मुद्रा धारण किये रहते ही है । तुम्हीं एक ऐसी हो जो इन दोनो मुद्राओको धारण करनेका स्वॉग नही रचती । तुम्हें इसकी आवश्यकता भी नहीं । तुम्हारे दोनों चरण ही आश्रितोको सब भयोंसे मुक्त करने तथा उन्हे इच्छित फलसे अधिक देनेमे समर्थ हैं । तुम्हारे हाथ तो निरन्तर शत्रु–सहारके कार्यमे लगे रहते हैं । भक्तोके लिये तो तुम्हारे चरण ही पर्याप्त हैं ।

{४}

*दृशा द्राधीयस्या दरदलित नीलोत्पलरुचा*
*दवीयासं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे ।*
*अनेनाय धन्यो भवति न च ते हानिरियता*
*वने वा हर्म्ये वा समकर निपातो हिमकरः ।।*

## {भावार्थ}

हे शिवे ! अधखिले नील कमलके समान कान्तिवाले अपने विशाल नेत्रोंसे तुम्हारे सुर-मुनि-दुर्लभ चरणोंसे बहुत दूर पडे हुए मुझ दीन पर भी अपने कृपा पीयूषकी वर्षा कर दो । तुम्हारे ऐसा करनेसे मै तो कृतार्थ हो जाऊँगा ही और तुम्हारी कुछ भी क्षति नहीं होगी, क्योंकि तुम्हारा कृपाका भण्डार अटूट, अक्षय है। मुझ पर कुछ छींटे डाल देनेसे उसका दिवाला नही निकलने वाला है । माँ ! तुम क्यों नही मुझे एक बार ही सदाके लिये निहाल कर दे रही । चन्द्रमा अपनी शीतल किरणोंसे सभी जगह समान रूपसे अमृतवर्षा करता है। उसकी दृष्टिमे एक वीरान जगल और राजाधिराजकी गगनचुबिनी अट्टालिकामें कही कोई अन्तर नही है । फिर तुम्ही मुझ दीन पर क्यो नहीं ढरतीं। मुझसे इतना अलगाव क्यो कर रखा है ? क्या इस प्रकारका वैषम्य तुम्हे शोभा देता है? नही, नहीं, कदापि नहीं। कृपया शीघ्र मुझे अपनाकर अपने शीतल चरणतलका आश्रय दो । जिससे सदाके लिये मै तुम्हारा क्रीतदास बन जाऊँ, तुम्हे छोडकर दूसरी ओर कभी भूलकर भी नहीं ताकूँ ।

{५}

*ह्रींकारमेव तव नाम गृणन्ति वेदा मातस्त्रिकोणनिलये त्रिपुरे त्रिनेत्रे*
*यत्सस्मृतौ यमभटादिभय विहाय दीव्यन्ति नन्दनवने सह लोकपाल*

## {भावार्थ}

हे माते ! चारो वेद तेरे ह्रींकार नामकी महिमा गाते है । हे त्रिनयने, त्रिपुरे, जगज्जननी तू त्रिकोणमे निवास करती है । तेरे स्मरण करने मात्रसे यमके शूरवीर दूत भयसे भाग जाते है और जीवोके सम्मुख लोकपाल देवताओके साथ नन्दनवन स्वर्ग प्रकाशित हो उठता है ।

{६}

*जपो जल्पः शिल्प सकलमपि मुद्रा विरचन*
*गतिः प्रादक्षिण्यक्रमण मदनाद्याहुति विधिः ।*
*प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा*
*सपर्या पर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितुम् ।।*

## {भावार्थ}

हे माते ! जब मैं हूँ ही नही, मात्र तू ही तू है तो मेरा हिलना-चलना, विलसना सभी तेरी जप मुद्रा है एवं खाना-पीना सब मात्र तेरी सपर्याका

पयार्थ ही तो है । मेरा भाषण, बोलना तेरा जप एव गुण कीर्तन है । मेरी सब अग-प्रत्यगरो सेवाके लिये की गई शरीर क्रिया तुम्हारी पूजाके लिय करणीय मुद्राये है । माँ ! तेरी सेवाके लिये मेरा गमनागमन तेरी प्रदक्षिणा करना ही है। तेरी नेवेद्य वस्तुओको खाना, खाद्य पेय लेह्य चाष्यादि भोजन आहुति विधिसे हवनमें आहुति दिया जाना है । मेरा शयन तेर चरणोमे प्रणाम है । इस प्रकार मेरा सम्पूर्ण सुख सर्वानन्द धन तुझमे मेरा समर्पण ही है ।

{७}

*ह्रीकार त्रय संपुटेन महता मन्त्रेण सन्दीपित*
*स्तोत्र य प्रतिवासरं तव पुरो मातर्जपेन्मन्त्रवित् ।।*
*तस्य क्षोणिभुजो भवन्ति वशगाः लक्ष्मीश्चिरस्थायिनी*
*वाणी निर्मल सूक्तिभारभरिता जागर्ति दीर्घ वयः ।।*

{भावार्थ}

हे माते ! जो भी मत्रवेत्ता व्यक्ति प्रति दिवस इस स्तोत्रको जिसमे तीन बार "ह्री" मन्त्र सम्पुटित है एव भगवतीके मत्रस दैदीप्यमान है तेरे सम्मुख जप {पाठ} करता है, उसके समस्त पृथ्वीके सम्राट् वशवर्त्ती हो जाते है एव उसके यहाँ भगवती लक्ष्मी चिरस्थायिनी होकर निवास करती है, उसकी वाणी परम निर्मल एव विशिष्ट ऋषियोकी उक्तियोसे सम्पन्न होजाती है और वह दीर्घ आयुको भोगता हुआ जीवित रहता है ।

{८}

*निमेषोन्मेषाभ्या प्रलयमुदय याति जगती*
*तवेत्याहु सन्तो धरणिधर राजन्य तनये ।*
*तदुन्मेषाज्जात जगदिदमशेषं प्रलयत*
*परित्रातु शके परिहृतनिमेषा स्तव दृशः ।।*

{भावार्थ}

हे शैलेन्द्रतनये ! शास्त्र एव सन्त यह कहते है कि तुम्हारे पलक मारते ही यह ससार प्रलयके गर्भमे लीन हो जाता है और पलक खोलते ही वह फिरसे प्रकट हो जाता है । ससारको बनाना तथा बिगाडना तुम्हारे लिये एक पलकका खेल है । तुम्हारे मात्र पलक उघाडनेसे जो यह ससार खडा होगया है, वह पुनः नष्ट नहीं हो जाय, प्रतीत होता है, इसीलिये तुम कभी

पलक गिराती नही, सदा निर्निमेष दृष्टिसे अपने भक्तोकी ओर निहारती ही रहती हो ।

(९)

*घृत द्राक्षाक्षीर मधु मधुरिमा कैरपि पदै*
*विशिष्यानाख्येयो भवति रसना मात्र विषय ।*
*तथा ते सौन्दर्य परम शिव दृङ्मात्र विषय*
*कथंकार ब्रूम सकलनिगमागोचरगुणे ।।*

{भावार्थ}

हे माता ! घी, दूध, दाख अथवा शहदका स्वाद कैसा है उनके स्वादमे क्या–क्या अन्तर है इसे शब्दोके द्वारा पृथक्–पृथक् करके किसी प्रकार भी नही समझाया जा सकता । इसका सही ज्ञान तो केवल रसनाका ही विषय है । इसी प्रकार हे देवि, तुम्हारी अनुपम छवि का कोई वर्णन नही कर सकता, वह तो केवल परमशिवके प्रत्यक्षका ही विषय है । सौन्दर्यकी तो बात ही क्या तुम्हारे और और गुणोका भी कोई वर्णन नही कर सकता। वेद और उपनिषत् भी हार मान जाते हैं और "नेति" नेति कहकर ही अपना पिण्ड छुडाते हैं ।

{१०}

*कृपापागालोक वितर तरसा साधुचरिते*
*न ते युक्तोपेक्षा मयि शरणदीक्षामुपगते ।*
*न चेदिष्ट दद्यादनुपदमहो कल्पलतिका*
*विशेष सामान्यै कथमितरवल्ली परिकरै ।।*

{भावार्थ}

हे देवि ! मुझ शरणागत पर शीघ्र ही अपने कृपा–कटाक्षका निक्षेपकर मुझे कृतकृत्य करो । माना कि मेरे आचरण साधुओके से नही है, किन्तु मै तेरी शरणमे तो चला ही आया हूँ । क्या शरणमे आये हुएकी तुम्हे उपेक्षा करनी चाहिये? यदि शरणमे चले आने पर भी तुम यह विचार करोगी कि इसके आचरण उत्तम है या नही और मुझ–जैसे मन्द आचरण वालोसे बेरुखीका व्यवहार करोगी तो फिर तुममे और दूसरे देवताओमे अन्तर ही क्या रहा ? कल्पवृक्षके नीचे चले आने पर भी यदि किसीकी इच्छा पूरी नही हो तो फिर उसमे और साधारण वृक्षोमे अन्तर ही क्या रहा ? कल्पवृक्षका धर्म ही है अर्थार्थीकी कामनाको पूर्ण करना । फिर तुम अपने धर्मको कैसे

छोड सकती हो? तुम्हें अपने बिरदकी रक्षाके लिये ही मेरी बॉंह पकड़नी होगी, मुझे अपनी शरणमे लेना होगा । यदि मेरा परित्याग करती हो तो साथ-ही-साथ अपनी शरणागतवत्सलताका बाना भी छोड़ना होगा ।

{११}

*अयःस्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवी*
*यथारथ्यापाथः शुचि भवति गङ्गौघमिलितम् ।*
*तथा तत्तत्पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि*
*त्वयि प्रेम्णासक्तं कथमिव न जायेत विमलम् ।।*

{भावार्थ}

हे माते ! पारसमणिका स्पर्श पाते ही लोहा तत्काल सोना बन जाता है और नालेका गन्दा पानी भी जगत्पावनी गंगाजीकी धारामे मिलकर स्वयं जगत्पावन हो जाता है । फिर अनेक प्रकारके पापोसे कलुषित हुआ मेरा मन क्या तुम्हारे प्रेमको प्राप्त करके भी निर्मल नही होगा ?

{१२}

*त्वदन्यस्मादिच्छा विषय-फल-लाभे न नियम*
*स्त्वमज्ञानामिच्छाधिकमपि समर्था वितरणे ।*
*इति प्राहुः प्राञ्चः कमलभवनाद्यास्त्वयि मन*
*स्त्वदासक्तं नक्तन्दिवमुचितमीशानि कुरु तत् ।।*

{भावार्थ}

तुम्हारे अतिरिक्त जो दूसरे देवता है, उनके द्वारा उनके उपासकोको इच्छित फलकी प्राप्ति हो ही, ऐसा नियम नही है क्योकि प्रथम तो वे सर्वसमर्थ नही हैं, वे अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार ही अपने उपासकोकी इच्छाको पूर्ण कर सकते हैं । अपनी सामर्थ्यसे अधिक वे नही दे सकते फिर जो कुछ भी वे देते है, उसके लिये मूल्य भी पूरा-पूरा वसूल करते है। मूल्य पूरा अदा नहीं करनेसे अथवा साधनमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह जाने पर अथवा विधिमे वैगुण्य होनेसे वे इच्छित फल सामर्थ्य होने पर भी नही देते । माँ ! तुम्हारी बात तो कुछ दूसरी ही है। तुम तो अपने भक्तोंको उनकी इच्छासे अधिक भी दे सकती हो ।

बात यह है कि हम अल्पज्ञ जीव तुम्हारी अतुल सामर्थ्यको न जानकर तुमसे बहुत ही छोटी-छोटी चीजें मॉंग बैठते हैं । तुम तो इतनी दयालु हो कि हमे आशातीत फल प्रदान करती हो और देवता तो हमारी सासारिक

इच्छाओकी पूर्तिको अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री समझ लेते हैं । तुम हमारी सासारिक कामनाओको भी पूर्ण करती हो, साथ ही साथ अपनी विमल भक्ति भी देती हो । ब्रह्मादिक पूर्वजोंने तुममें और अन्य देवताओमे यही अन्तर् बतलाया है । इसीलिये मेरा मन रातदिन तुम्हारा ही चिन्तन करता है ।

हे परमश्वरि ! अब जैसा उचित समझो करो । मैं तो तुम्हारी शरणमे पडा हूँ । मुझ–जैसे अधमोंका अब और कहाँ ठौर ठिकाना है ? आश्रयहीनको आश्रय देनेवाली तुमसे बढकर अब किसको कहाँ पाऊँगा ?

{१३}

*पिता माता भ्राता गुरुरथ सुहृद्बान्धव जन*
*प्रभुस्तीर्थं कर्माविकलमिह चामुत्र च हितं ।*
*विशुद्धा विद्या वा पदमपि च तत्प्राप्यमपि मे*
*त्वमेव श्रीमात स्वपिमि गतशक सुखतम ।।*

{भावार्थ}

हे मेरी माँ ! तू ही मेरी पिता है, माता है, भ्राता, गुरु, सुहृद् एव बन्धुजन तू ही है । तू ही मेरी प्रभु {ईश्वर}, तीर्थ, इस ससारके अविकल कर्म है एव तू ही मेरा हित है । मेरी विशुद्ध विद्या, मेरा प्राप्तव्य पद भी तू ही है । माँ ! एक तू ही है जिसकी गोदमे मैं परम सुखसे सब शकाओसे पर हुआ विश्राम कर सकता हूँ, शयन कर सकता हूँ ।

{१ ४}

*हे सद्रूपिणि हे चिदर्चिरुचये हे कामराजप्रिये*
*हे भण्डासुरहन्त्रि हेऽद्भुतनिधे हेऽनगसजीवनी ।*
*हे विश्वप्रसविनी हे सकरुणे हे दीन रक्षामणे*
*हे श्रीमल्ललिताम्ब हे परशिवे मा पाहि डिम्भं जनम् ।।*

{भावार्थ}

हे सत्स्वरूपिणी माँ ! तेरी शोभा ऐसी है मानो चैतन्य अग्निदेवकी तेजोराशि हो, हे कामेश्वर भगवान्की प्रिये, हे भण्डासुरका वध करनेवाली हे परमाद्भुत लक्ष्मीस्वरूपे, हे कामदेवको जीवनदान देनेवाली, हे सम्पूर्ण विश्वको उत्पन्न करनेवाली, हे करुणापूर्णे, हे दीनजनोकी रक्षा करनेवाली महा सामर्थ्यवान् मणि, हे समग्र श्रीस्वरूपे माँ ललिते, हे परशिवे, मुझ अपने मूर्ख बालककी रक्षा करो ।

{१५}

*नमो हेमाद्रिस्थे शिव सति नमः श्रीपुरगते*
*नमः पद्माटव्यां कुतुकिनि नमो रत्नगृहगे ।*
*नमः श्रीचक्रस्थेऽखिलमयि नमो बिन्दुनिलये*
*नमः कामाकस्थितिमति नमस्तेऽम्ब ललिते ।।*

{भावार्थ}

हे माता ! तू सुमेरु पर्वतके स्वर्ण शिखर पर वास करती है तुझे मेरा नमस्कार है । हे श्रीपुरमे निवास करनेवाली शिव-सती आपको मेरा नमन है। हे पद्माटवीमे रसविलास कौतुक करती चिन्तामणि रूप रत्नभवनमें निवास करनेवाली मॉ, तुझे मेरा नमन है । हे श्रीचक्रराजमें स्थित अखिल सृष्टिमयी, हे बिन्दुनिलये, हे कामेश्वरअकस्थिते, चिदाकाररूपिणी अम्ब ललिते तुझे मेरा नमस्कार है ।

{१६}

*जय जय जगदम्ब भक्तवश्ये*
*जय जय सान्द्रकृपावशान्तरंगे ।*
*जय जय निखिलार्थ दानशौण्डे*
*जय जय हे ललिताम्ब चित्सुखाब्धे ।।*

{भावार्थ}

हे जगदम्बे ! निज भक्तोके वशमे रहनेवाली तेरी जय हो ! हे घनीभूत कृपाके वशमें रहनेवाली, परम समीप रहनेवाली आत्मस्वरूपे- तेरी जय जय हो, हे सम्पूर्ण सौभाग्य-दान करनेवाली, तुम्हारी जय जय हो हे चित्सुखकी अगाध उदधि तेरी जय-जय, परम जय हो । हे मॉ ललिते ! तेरी जय हो

{१७}

*भूमौ स्खलितपादाना भूमिरेवावलम्बनम् ।*
*त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं शिवे ।*

{भावार्थ}

हे शिवे ! भूमिमें यदि किसीका पैर स्खलित हो जाये तो वह गिरकर भूमिमे ही पडेगा, उसका भूमिके अतिरिक्त अन्य अवलम्बन तो सभव ही नहीं। इसी प्रकार हे माँ शिवे ! तेरे प्रति अपराधोकी मुक्ति मात्र तेरी ही शरणागतिसे संभव है । अन्य उपाय तो संभव ही नही ।

# अध्याय छठा

## {श्रीमत् त्रिपुरसुन्दरी मानस पूजा स्तोत्रम्}

{पाठकोंके मनमे स्वाभाविक ही जिज्ञासा हो सकती है कि पू0 गुरुदेव श्रीराधाबाबा भगवती महात्रिपुरसुन्दरीकी उपासना किस विधिसे किया करते थे ? पू0 गुरुदेव चतुर्थाश्रमी सन्यासी होनेके नाते क्रियात्मक पूजा पद्धतिका अवलबन साधनोंके अभाववश ले नही सकते थे, अत एव नित्य बार बार माँ आद्याशक्तिकी मानस -पूजा किया करते थे । यहाँ नीचे अर्थ सहित व शताधिक श्लोक भावार्थसहित दिये जा रहे है जो भगवान् आदिशंकर स्वामी द्वारा विरचित हैं और इन्ही श्लोकोसे पू0 गुरुदेव राधाबाबा की सम्पूर्ण पूजा पुष्पार्चनसे सम्पादित होती थी ।}

*मम न भजनशक्तिः पादयोस्ते न भक्तिः*
*न च विषयविरक्तिर्ध्यानयोगे न सक्तिः ।*
*इति मनसि सदाऽहं चिन्तयन्नाद्यशक्ते*
*रुचिरवचनपुष्पैरर्चनं सञ्चिनोमि ।।१।।*

हे आद्याशक्ते ! मुझमे न तो तेरा भजन करने योग्य सात्विक बल है, न ही तेरे चरणोमे इस प्रकारकी तीव्र भक्ति ही है जिसके प्रतापसे वह सात्त्विकबल उपलब्ध हो जाये, न ही मेरे हृदयमे विषयोसे पूर्णतया विरक्ति ही हुई है, अत विरक्ति नहीं होनेसे मेरा विषयासक्त मन चचल रहता है और इसीलिये ध्यानयोगमे मनकी रुचि ही नहीं होती, इन सभी असमर्थताओका अपने भीतर पाते हुए मैंने मनमे निरन्तर विचार करके यही निर्णय लिया है कि मैं आपका अर्चन अपनी वाणीके पुष्पोंसे ही सम्पन्न करूँ ।

### {मणिद्वीपके महाकाशका अर्चन}

*व्याप्तं हाटकविग्रहैर्जलधरैरारूढदेवव्रजैः*
*पोतैराकुलितान्तरं मणिधरैर्भूमीधरैर्भूषितम् ।*
*आरक्तामृतसिन्धुमुद्धुरचलद्वीचीचलव्याकुल*
*व्योमान परिचिन्त्य सन्ततमहो चेतः कृतार्थीभव ।।२।।*

### {भावार्थ}

जिसमे स्वर्णमूर्त्तियोंके समान शोभा ग्रहण करनेवाले बादल घिरे है और इन बादलोंको अपना वाहन बनाकर उनमे देववृन्द आरूढ़ हैं, इन

बादलोंके नीचे रक्तिम वर्णवाला अमृतसिन्धु उत्ताल तरंगें लेता लहरा रहा है, इस समुद्रकी लहरोके आघातसे, आकुल हृदय जहाजकी तरह, अनन्त बहुमूल्य अलौकिक मणियोसे आच्छादित भूमि एव उन्नत शिखर पहाडोसे युक्त मणिद्वीप नामक भगवती का श्रीधाम है - अहा मेरा चित्त इस परम चिन्मय महाकाशको देखकर परम कृतकृत्यता लाभ कर रहा है ।

{मणिद्वीपको नमस्कार}

*तस्मिन्नुज्वलरत्नजालविलसत्कान्तिच्छटाभि स्फुट*
*कुर्वाणं वियदिन्द्रचापनिचयैराच्छादित सर्वतः ।*
*उच्चै शृ गनिषण्णादिव्यवनितावृन्दाननप्रोल्लसद्*
*गीताकर्षणनिश्चलाखिलमृग द्वीपं नमस्कुर्महे ॥३॥*

{भावार्थ}

इस द्वीपमे सर्वत्र देदीप्यमान अलौकिक रत्नोकी कान्तिसे चतुर्दिक् शोभाका स्फोट हो रहा है, ऐसा अनुभव होता है, मानो सर्वत्र आकाशके इन्द्रधनुषोके समूहोने इस पृथ्वीको आच्छादित कर लिया हो, पहाडोकी ऊँची चोटियोमे आसीन भगवतीकी दिव्य सेविकाओ – स्त्री समूहोकी मुख शोभासे यह द्वीप नित्य उल्लसित है। उनके गायनके आकर्षणसे इस द्वीपमे विचरण करते मृग एकटक ऊर्ध्व कर्ण किये निश्चल हैं, ऐसे भगवती पराम्बाके श्रीद्वीपको मैं नमस्कार करता हूँ ।

*जातीचम्पकपाटलादिसुमनस्सौरभ्यसम्भावित*
*ह्रीकारध्वनिकण्ठकोकिलकुहूप्रोल्लासिचूतद्रुमम् ।*
*आविर्भूतसुगन्धिचन्दनवनं दृष्टिप्रिय नन्दनम्*
*चञ्चच्चञ्चलचञ्चरीकचटुल चेतश्चिर चिन्तय ॥४॥*

{भावार्थ}

जहाँ जाती, चम्पक एव पाटल पुष्पोकी सुरभि सर्वत्र सम्यक् रूपसे व्याप्त है आम्रवृक्षोमें आसीन कोकिलाये अत्यन्त उल्लसित हुई ह्रीकार स्वरमे कूहक रही है । सर्वत्र मानो चन्दनवनकी सी सुगन्ध व्याप्त है और दृष्य ऐसा मनोहर है मानो नन्दनवन हो । चतुर्दिक् चचल भ्रमरोका चटुल निनाद हो रहा है । हे मेरे चित्त, तू अनन्तकाल तक इस भगवतीके मणिद्वीप श्रीधामके चिन्तनमें रमा रह ।

{कल्पोद्यानराज वर्णन}

*परिपतितपरागैः पाटलक्षोणिभागो*
*विकसितकुसुमोच्चैः पीतचन्द्रार्करश्मिः*
*अलिशुकपिकराजीकूजितैः श्रोत्रहारी*
*स्फुरतु हृदि मदीये नूनमुद्यानराजः ॥५॥*

{भावार्थ}

जहाँ सर्वत्र पुष्पोका पराग परिपूरित है, भूमिभाग पाटल पुष्पके वर्णका है, जहाँ सर्वत्र ऊँची–ऊँची कुसुम लताओमेसे सूर्यकी किरणे चन्द्रमाके तुल्य पीले रगकी प्रतीत हो रही हैं, जहाँ भ्रमर, शुक एव कोकिलाओके समूह श्रवणोंको मोहित करनेवाली ध्वनिमे कूजन कर रहे हैं उस भगवती पराम्बाका महामहिम वह उद्यानराज मेरे हृदयमे स्फुरित होवे ।

{कनक प्राकार वर्णन}

*रम्यद्वारपुरप्रचारतमसां संहारकारिप्रभ–*
*स्फूर्जत्तोरणभारहारकमहाविस्तारहारद्युते ।*
*क्षोणीमण्डलहेमहारविलसत्संसारपारप्रद–*
*प्रोद्यद्भक्तमनोविहारकनकप्राकार तुभ्य नमः ॥६॥*

{भावार्थ}

जिस प्राचीरमे अतिरमणीय बडे–बडे कपाटयुक्त द्वार हैं, जो श्रीपुरमे व्याप्त रात्रिगत तमके सहारार्थ प्रभा बिखेर रहे है । प्राकारमे बन्दनवारे बँधी है, इन हारोसे सुशोभित स्वर्णिम बन्दनवारोकी द्युतिके सम्मुख प्राकारका विस्तार लघु हो जाता है । यह प्राचीर यहाँ मणिद्वीपके भूमिमण्डलके चतुर्दिक् मानो हेम हार पहनाया गया हो, इस प्रकार प्रतीत होता है और ससारके पार पहुँचानेवाला मोक्ष प्रदाता है । जो प्राचीर देवी भक्तोंके मनोविहारके लिये सदा उद्यत रहता है, ऐसे प्राचीरको हमारा नमस्कार है ।

{श्री मण्डप वर्णन}

*उद्यत्कान्तिकलापकल्पितनभ स्फूर्जद्वितानप्रभ*
*सत्कृष्णागरुधूपवासितवियत्काष्ठान्तरे विद्युतः ।*
*सेवायातसमस्तदैवतगणैरासेव्यमानोऽनिशम्*
*सोऽयं श्रीमणिमण्डपोऽनवरत मच्चेतसि [illegible]ताम् ॥७॥*

{भावार्थ}

मानो उदय होते हुए सूर्यकी कान्ति–क[illegible] नभ [illegible]

हो, इस प्रकार जिस मण्डपके चन्दौवेकी प्रभा छिटक रही है, जिसका आकाश कृष्णागरु एव धूपसे सुवासित है एव जिसके सभी काष्ठ ऐसे दैदीप्यमान हैं, मानो विद्युत् इनके भीतरसे चमक रही हो । जो निरन्तर दिन रात सेवातत्पर सम्पूर्ण देवतागणों द्वारा सेव्य है, ऐसा भगवती त्रिपुरादेवीका महामहिमामय मडप अनवरत मेरे चित्तमे प्रकाशित हो ।

{मणि मन्दिर वर्णन}

*क्वाऽपि प्रोद्भटपद्मरागकिरणव्रातेन सन्ध्यायितं*
*कुत्राऽपि स्फुटविस्फुरन्मरकतद्युत्या तमिस्रायितं ।*
*मध्यालम्बिविशालमौक्तिकरुचा ज्योत्स्नायितं कुत्रचित्*
*मात श्रीमणिमन्दिरं तव सदा वन्दामहे सुन्दरम् ।।८।।*

{भावार्थ}

हे माँ, मैं तेरे परम सुन्दर मणिमन्दिरकी सदा वन्दना करता हूँ, जहाँ कही तो विशाल एवं अतिश्रेष्ठ पद्मराग मणियोकी ज्योत्स्नाके कारण अरुण सन्ध्याकाल हो गया हो, ऐसा प्रतीत होता है एवं कहीं–कहीं मरकत मणियोकी कृष्णद्युतिसे अन्धकारसा प्रतीत होता है, मध्यमें विशाल मुक्तामणियोकी मौक्तिक ज्योत्स्ना छिटकती दीखरही है ।

*मणिसदनसमुद्यत्कान्तिधारानुरक्ते*
*वियति चरमसंध्याशकिनो भानुरथ्याः ।*
*शिथिलितगतकुप्यत्सूतहुंकारनादैः*
*कथमपि मणिगेहादुच्चकैरुच्चलन्ति ।।९।।*

{भावार्थ}

मणिसदनसे उठी हुई लालरंगकी कान्ति-धाराको आकाशमे देखकर सूर्यके घोड़ोको सन्ध्या हो जानेका भ्रम हो जाता है, वे अपनी गतिको शिथिलकर देते हैं, जिससे कुपित होकर सूत हुकार करने लगता है, तब वे अश्व मणिगेहको किसी प्रकार ऊपरसे फॉद कर पार करके तब अपनी चालमें आते हैं ।

*विदूरमुक्तवाहनैर्विनम्रमौलिमण्डलै–*
*र्निबद्धहस्तसम्पुटैः प्रयत्नसंयतेन्द्रियैः ।*
*विरिञ्चविष्णुशंकरादिभिर्मुदा तवाम्बिके*
*प्रतीक्षमाणनिर्गमो विभाति रत्नमण्डपः ।।१०।।*

{भावार्थ}

अपने वाहनोंको दूरतः ही छोडकर, अत्यन्त विनम्र भावसे अपने मस्तकोको झुका कर, दोनो हाथोको जोडकर प्रयत्नपूर्वक अपनी सभी इन्द्रियोको संयतकर ब्रह्मा, विष्णु, शंकरादि, हे माँ ! तेरे आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए अति प्रसन्न मुद्रामे जहाँ स्थित हैं, ऐसे तेरे रत्नमण्डपकी शोभा है।

*ध्वनन्मृदंगकाहलः प्रगीतकिन्नरीगणः*
*प्रनृत्यदिव्यकन्यकः प्रवृत्तमंगलक्रमः ।*
*प्रकृष्टसेवकव्रजः प्रहृष्टभक्तमण्डली*
*मुदे ममाऽस्तु सन्ततं त्वदीयरत्नमण्डपः ।।११।।*

{भावार्थ}

जहाँ मृदंगकी ध्वनन् ध्वनि हो रही है, किन्नरीगण गायन कर रही है, दिव्य कन्यायें जहाँ मंगलक्रममे प्रवृत्त हुई नृत्य कर रही हैं, बलशाली सेवकवृन्द जहाँ सन्नद्ध हैं और भक्तमण्डली जहाँ पूर्ण हर्षसे भरी है, ऐसा तेरा रत्न मण्डप हे माता ! मेरे संतत आनन्दको बढ़ानेवाला हो ।

{तोरण द्वार}

*सुवर्णरत्नभूषितैर्विचित्रवस्त्रधारिभिः*
*गृहीतहेमयष्टिभिर्निरुद्धसर्वदेवतैः ।*
*असंख्यसुन्दरीजनैः पुरःस्थितैरधिष्ठितो*
*मदीयमेतु मानस त्वदीयतुंगतोरणः ।।१२।।*

{भावार्थ}

स्वर्ण एव रत्नोंके आभूषणोंसे भूषित, विचित्र वेषभूषाओमे सजी, हाथोंमें स्वर्णके रत्नजटित दंड लिये हुए, सर्वदेवताओंकी भीडको प्रवेश करनेसे रोकती हुई, असख्य सुन्दरी स्त्रियाँ जिस पुरके आगे अधिष्ठित हैं, हे माँ, मेरे मनमें तेरा वह विशाल ऊँचा तोरण द्वार बसा रहे ।

{भगवती मातंगीका स्मरण}

*कस्तूरिकाश्यामलकोमलांगीं कादम्बरीपानमदालसांगीं ।*
*वामस्तनालिंगितरत्नवीणां मतंगकन्यां मनसा स्मरामि ।।१३।।*

{भावार्थ}

मैं उन मतंग मुनिकी कन्याका मनसे स्मरण करता हूँ, जो कस्तूरीके वर्णकी श्यामरंगकी हैं, परन्तु परम सुकोमल जिनका गात्र है, जो कादम्बरी {कदम्बवृक्षके फलसे बननेवाली} सुरा पान कर मदसे अलसाये अंग वाली हो

रही हैं, जिनके वामस्तनसे सटी हुई रत्नजटित वीणा है ।

{दूतिका देवीका स्मरण}

*प्रमत्तवारुणीरसैर्विघूर्णमानलोचनाः*
*प्रचण्डदैत्यसूदनाः प्रविष्टभक्तमानसाः ।*
*उपोढकज्जलच्छबिच्छटाविराजिविग्रहाः*
*कपालशूलधारिणीःस्तुवे त्वदीयदूतिकाः ।।१४।।*

{भावार्थ}

जो वारुणी रसपानके कारण प्रमत्त हो रही हैं, जिनके लाल लाल लोचन मदसे विघूर्णित हो रहे हैं, जो दैत्योंका नाश करनेमे अति प्रचण्ड हैं, साथ ही निज भक्तोके मानसमे प्रविष्ट रहती है, जिनकी कृष्ण कज्जल छवि है एव जिनके विग्रहमें शोभा समायी रहती है, उन कपाल एव शूल धारण करनेवाली तेरी दूतिका देवीकी मै स्तुति करता हूँ ।

{श्रीमण्डपके आभ्यन्तर मन्दिरका वर्णन}

*आस्तीर्णारुणकंबलासनयुत पुष्पोपहारान्वितं*
*दीप्तानेकमणिप्रदीपसुभग राजद्वितानोत्तमम् ।*
*धूपोद्गारिसुगन्धिसंभ्रमिलदभृगावलीगुंजित*
*कल्याण वितनोतु मेऽनवरतं श्रीमण्डपाभ्यन्तरम् ।।१५।।*

{भावार्थ}

जिसमे ऊनके अरुण गलीचे बिछे हैं एव पुष्पोंकी परम सुगन्धित मालाये लटक रही है, अनेक सुभग मणि प्रदीप जहाँ प्रकाश फैला रहे हैं, जहॉ उत्तम चँदोवा शोभा पा रहा है, चारों ओर धूपकी सुगन्ध महक रही है एव उससे सभ्रमित भृगावली गुजन कर रही है, ऐसा शोभाशाली, मॉ, तेरे मण्डपका भीतरी भाग अनवरत मेरे लिये कल्याणकारी होवे ।

{परदेवताका स्मरण}

*कनकरचिते पंचप्रेतासनेन विराजिते*
*मणिगणचिते रक्तश्वेताम्बरास्तरणोत्तमे ।*
*कुसुमसुरभौ तल्पे दिव्योपधानसुखावहे*
*हृदयकमले प्रादुर्भूतां भजे परदेवता ।।१६।।*

{भावार्थ}

जो स्वर्ण रचित मचमे प्रेतासनोंसे युक्त आसन पर विराजित हैं उस आसन पर अनन्त मणियाँ खचित हैं एव लाल एव श्वेत उत्तम अम्बरका

बिछौना लगा है, उस शय्यामें कुसुमोकी विलक्षण महक उठ रही है एव सुख देने वाले दिव्य तकिये लगे हैं, हे माँ ! मेरे हृदय कमलमें प्रादुर्भूत परदेवताकी इस छविका मैं भजन करूँ ।

*सर्वांगस्थितिरम्यरूपरुचिरां प्रातः समभ्युत्थिता*
*जृम्भामञ्जुमुखाम्बुजां मधुमदव्याघूर्णदक्षत्रयां ।*
*सेवायात समस्तसन्निधिसखीस्सम्मानयन्तीं दृशा*
*सम्पश्यन् परदेवतां परमहो मन्ये कृतार्थं जन. ।।१७।।*

{भावार्थ}

प्रात जो सद्य जाग्रत होकर उठी हैं, फिर भी जिनके सर्वांग अति मनोहर रुचिर है, मुख सरोजमे जँभाई आरही है, वह अति सुन्दर लग रहा है, मधु पानके मदसे तीनो नेत्र चलायमान चचल है, सेवाकरनेवाली समस्त सखियोका जो उनकी सन्निधिमे हैं वे अपने नेत्रोसे ही सम्मान कर रही हैं, ऐसी शोभामयी परदेवताके दर्शनसे मैं अपने आपको परम भाग्यवान मानता हुआ कृतार्थ जान रहा हूँ ।

{मंगल – आरती}

*उच्चैस्तोरणवर्तिवाद्यनिवहध्वाने समुज्जृम्भिते*
*भक्तैर्भूमिविलग्नमौलिभिरलं दण्डप्रणामे कृते ।*
*नानारत्नसमूहनद्धकथनस्थालीसमुद्भासिता*
*प्रातस्ते परिकल्पयामि गिरिजे नीराजनामुज्ज्वलाम् ।।१८।।*

{भावार्थ}

महलके बाहरी मुख्य द्वार पर सुमधुर वाद्य ध्वनि विकसित हो रही है, भक्त लोग अपने मस्तकोको पृथ्वी पर टेक–टेककर दण्डवत् प्रणाम कर रहे हैं, ऐसे समय प्रभातकालमें नाना प्रकारके रत्नसमूहोंसे भरी अत्यन्त प्रकाशमान थाली लेकर हे गिरिजे ! मैं आपका उज्ज्वल नीराजना करनेका संकल्प {परिकल्पना} करूँ ।

{पाद्य–अर्घ्य, मधुपर्क, आचमन एवं प्रणिपात}

*पाद्य ते परिकल्पयामि पदयोरर्घ्यं तथा हस्तयोः*
*सौधीभिर्मधुपर्कमम्ब मधुरं धाराभिरास्वादय ।*
*तोयेनाचमन विधेहि शुचिना गांगेन मत्कल्पितं*
*साष्टांगप्रणिपातमीशदयिते दृष्ट्या कृतार्थीकुरु ।।१९।।*

{भावार्थ}

मॉ ! मैं तेरे चरणोमे पाद्य देनेका संकल्प कर रहा हूँ तथा हाथोंमे अर्घ्य देनेका संकल्प कर रहा हूँ । सुधाके समान धाराके रूपमे प्रदान किये मधुर मधुपर्कका हे मॉ, आप स्वाद लें । मेरे द्वारा संकल्प करके लाये पवित्र गंगाजल से मॉ ! आप आचमन करें, इसके उपरान्त मेरे साष्टाग प्रणामको स्वीकार करके हे भगवान शिवकी प्रिये, मुझे कृतार्थ करें ।

{दर्पण–दर्शन, दन्तधावन, मुखधोना–पौंछना तथा ताम्बूल समर्पण}

*मातः पश्य मुखाम्बुजं सुविमले दत्ते मया दर्पणे*
*देवि स्वीकुरु दन्तधावनमिद गंगाजलेनान्वितम् ।*
*सुप्रक्षालितमाननं विरचयन्स्निग्धाम्बरप्रोञ्छनं*
*द्रागंगीकुरु तत्वमम्ब मधुरं ताम्बूलमास्वादय ।।२०।।*

{भावार्थ}

हे माता ! मेरे द्वारा दिये दर्पणमे अपने विमल मुखकमलका दर्शन करे, साथ ही दन्तधावनके लिये मेरे द्वारा लाये इस गंगाजलको भी हे देवि! स्वीकार करें । अपने मुखको अच्छी प्रकार धोकर एव अत्यन्त सुकोमल वस्त्रसे पौंछकर हे अम्बे ! आप परम मधुर ओठ लाल करनेवाला ताम्बूल आस्वादन करें ।

{पादुका–समर्पण एव स्नानगृहकी ओर गमन}

*निधेहि मणिपादुकोपरि पदाम्बुजं मज्जना*
*लयं व्रज शनैः सखीकृतकराम्बुजालम्बनम् ।*
*महेशि करुणानिधे तव दृगन्तपातोत्सुकान्*
*विलोकय मनागमूनुभयसंस्थितान्देवतान् ।।२१।।*

{भावार्थ}

हे माता ! अपने चरणकमलोंमें इस मणिपादुकाको पहन ले तथा धीरे धीरे सखी द्वारा दिये आलम्बनको स्वीकार कर उसका हाथ पकड स्नानगृहकी ओर चलें । हे महेशि ! करुणामयी, आपकी दृष्टिकी कोरकेद्वारा देखे जानेको लालायित इन भयग्रस्त देवताओंको क्षणभर देख लीजिये ।

{स्नानगृह दर्शन}

*हेमरत्नवरणेन वेष्टित विस्तृतारुणवितानशोभितं*
*सज्जसर्वपरिचारिकाजनं पश्य मज्जनगृहं मनो मम ।।२२।।*

{भावार्थ}

हे मेरे मन ! तू स्वर्ण एवं रत्नोंके आवरण {दीवार} से घिरे एव सुन्दर चँदोवेसे सुशोभित, बहुतसी परिचारिकाओसे सब प्रकारसे सुसज्जित, जगदम्बाके स्नानगृहका दर्शन कर ।

{स्नानगृहमें प्रवेश}

*कनककलशजालस्फाटिकस्नानपीठाद्युपकरणविशालं गन्धमत्तालिमालं ।*
*स्फुरदरुणविताने मञ्जुगन्धर्वगान परमशिवमहेले मज्जनागारगेहि ।।२३।।*

{भावार्थ}

जहाँ पर स्वर्णके जलकलशोकी पक्तियाँ रखी हैं एव स्फटिककी स्नानचौकी बनी है, स्नानके सभी विशाल उपकरण, जैसे फव्वारे, स्नानके लघु कुण्डादि, सभी बिल्लौरी पत्थरसे निर्मित हैं, जहाँ चतुर्दिक् इत्रादि पुष्पसारोकी गन्धसे मत्त भ्रमरोंकी टोलियाँ गुजार कर रही हैं, जिसपर अरुण वर्णका चन्दौवा तना है, गर्न्धवगण सुमधुर स्वरोमे गायन कर रहे है, शिव महलके इस स्नानघरमें आप प्रवेश करें ।

{दासियोंकी वंदना}

*पीनोत्तुंगपयोधराः परिलसत्सम्पूर्णचन्द्रानना*
*रत्नस्वर्णविनिर्मिताः परिलसत्सूक्ष्माम्बर प्रावृताः ।*
*हेमस्नानघटीस्तथा मृदुपटीरुद्वर्तनं कौसुमं*
*तैलं कंकतिका करेषु दधतीर्वन्देऽम्ब ते दासिकाः ।।२४।।*

{भावार्थ}

जिनके बडे–बडे ऊँचे उठे हुए स्तन हैं, जिनका पूर्ण राकाचन्द्रके समान मुख परम शोभामय है, जो हाथोमे तैल, कंघे आदि लिये हैं, साथ ही स्नान करानेके उपरान्त पहनानेके लिये अनेक स्वर्णखचित रत्नजटित सूक्ष्म अम्बर हाथोमे लिये हुए हैं, स्नानके लिये स्वर्णके घडे जो उठाये हैं और उबटनके लिये लाल उबटन भी लिये हैं, माते ! मै उन तेरी दासियोकी वन्दना करता हूँ ।

{स्नान करती भगवतीका ध्यान}

*तत्र स्फाटिकपीठमेत्य शनकैरुत्तारितालंकृति–*
*र्नीचैरुज्झित कञ्चुकोपरिहिता रक्तोत्तरीयाम्बरा ।*
*वेणीबन्धमपास्य ककतिकया केशप्रसादं मनाक्*
*कुर्वाणा परदेवता भगवती चित्ते मम द्योतताम् ।।२५।।*

{भावार्थ}

वहाँ स्फटिक पत्थरकी स्नानपीठ पर पहुँचकर निर्मित तालमे उतरकर लाल रगकी ओढनी' {उत्तरीय} एवं चोली उतार देती हैं, तब वेणीबन्ध खुलवाकर जो कघीसे केश-प्रसाधन करवा रही हैं – इन परदेवता भगवतीकी छवि मेरे चित्तमे प्रकाशित होती रहे ।

{अभ्यग, उद्वर्त्तन, नृत्य–संगीत एवं वाद्य–सेवा}

*अभ्यगं गिरिजे गृहाण मृदुना तैलेन सम्पादित*
*काश्मीरैरगरुद्रवैर्मलयजैरुद्वर्त्तनं कारय ।*
*गीते किन्नरकामिनीभिरभितो वाद्ये मुदा वादिते*
*नृत्यंतीमिह पश्य देवि पुरतो दिव्यांगनामण्डलीम् ।।२६।।*

{भावार्थ}

हे माता ! सखियॉ सुगन्धित तैलके द्वारा अपने मृदु हाथोसे तेरे अगोंमे अभ्यंग करे, इस सेवाको स्वीकार करे, इसके पश्चात् केसर, अगरु एवं मलयज चन्दनसे अपने अगोमे उद्वर्तन {पीठी} करावे । हे देवि ! आपके सम्मुख किन्नर कामिनियाँ अति प्रसन्न हुई वाद्योका वादन एव गीतोका गायन कर रही हैं । हे देवि ! देखिये दिव्यागना मण्डली आपके सम्मुख नृत्य कर रही है ।

{स्नान–सेवा}

*उद्गन्धैरगरुद्रवैस्सुरभिणा कस्तूरिकावारिणा*
*स्फूर्जत्सौरभयक्षकर्दमजलैः काश्मीरनीरैरपि ।*
*पुष्पाम्भोभिरशेषतीर्थसलिलैः कर्पूरपाथोभरैः*
*स्नान ते परिकल्पयामि गिरिजे भक्त्या तदगीकुरु ।।२७।।*

{भावार्थ}

हे गिरिजे ! जिसकी गन्ध महक रही है ऐसे सुरभित अगरुके द्रवसे एवं कस्तूरीके घोलसे सुगन्धित किये जलसे एव बहुत ही सुगन्धित अगराग {यक्षकर्दम} के जलसे और केसरके जलसे, फिर गुलाबजल एवं केवडाजल आदि पुष्पाम्भोसे तथा अंतमे समग्रतीर्थोंके जलमें कर्पूर घोलकर उससे, मैं तेरे स्नानकी भक्तिपूर्वक परिकल्पना कर रहा हूँ, कृपया स्वीकार करें ।

{स्नानाम्बर मोचन}

*प्रत्यंगं परिमार्जयामि शुचिना वस्त्रेण संप्रोञ्छनं*
*कुर्वे केशकलापमायततरं धूपोत्तमैर्धूपितम् ।*

*आलीवृन्दविनिर्मिता यवनिकामास्थाय रत्नप्रभ*
*भक्तत्राणपरे महेशगृहिणी स्नानाम्बरं मुच्यताम् ।।२८।।*

{भावार्थ}

हे महेशगृहिणि ! मैं आपके प्रत्येक अगको स्वच्छकर अति स्वच्छ वस्त्रसे उन्हे पौछना चाहता हूँ । आपके गील केशोको उत्तमोत्तम धूप से धूपितकर-सुखाकर घने केशोकी कघीकर केशरचना करना चाहता हूँ । सखियोने खचित रत्नोकी ज्योतिसे दैदीप्यमान यवनिका निर्माण कर तान दी है, हे भक्तोको सकटसे त्राण दिलाने वाली माँ ! अपने स्नानके समय वस्त्रोंको त्याग दें ।

{वस्त्र एवं कंचुकी पहनना}

*पीत ते परिकल्पयामि निविडं चण्डातक चण्डिके*
*सूक्ष्म स्निग्धमुरीकुरुष्व वसनं सिन्दूरपूरप्रभम् ।*
*मुक्तारत्नविचित्रहेमरचनाचारुप्रभाभास्वर*
*नील कञ्चुकमर्पयामि गिरिशप्राणप्रिये सुन्दरि ।।२९।।*

{भावार्थ}

हे चडिके ! मैने आपके लिये घना पीले रगका चण्डातक परिकल्पित किया है । आप सूक्ष्म, स्निग्ध सिन्दूरकी प्रभावाला पहनने का वसन स्वीकार करे, मुक्ता, रत्न एव स्वर्णके विचित्र मेलसे रची सिन्दूर प्रभासे ज्योतित नीली कचुकी हे गिरीशप्राणप्रिये ! मैं आपको अर्पित कर रहा हूँ ।

{भूषा मण्डप प्रवेश}

*विलुलित चिकुरेणच्छादितांसप्रदेशे*
*मणिनिकरविराजत्पादुकान्यस्तपादे ।*
*सुललितमवलम्ब्य द्राक्सखीमंसदेशे*
*गिरिशगृहिणि भूषामण्डपाय प्रयाहि ।।३०।।*

{भावार्थ}

हे गिरीश गृहिणी ! अतुलनीय सौन्दर्यशाली केशोसे आपकी ग्रीवा और स्कध प्रदेश ढँका हुआ है, आपके चरणोमें मणि समूहोसे जटित पादुका पहनी हुई है, द्राक् सखीके स्कंधदेशमें हाथ रखे हैं एवं अत्यन्त ललित रूपमें उसका अवलबन लिये हैं-- आप भूषा मण्डलकी ओर गमन करे।

{श्रृंगार कक्षमें हेम सिंहासनमे विराजना}

*लसत्कनककुट्टिमस्फुरदमन्दमुक्तावली*
*समुल्लसितकान्तिभिः कलितशक्रचापव्रजे ।*
*महाभरणमण्डपे निहितहेमसिंहासनं*
*सखीजनसमावृत रामधितिष्ठ कात्यायनि ।।३१।।*

{भावार्थ}

अहा ! श्रृंगारकक्ष कुटीकी कैसी विलक्षण सुन्दर शोभा है । वह कुटी कनकसे निर्मित है, वहाँ मुक्तावलीके असंख्य हार पड़े है, जिनसे मन्द ज्योत्स्ना प्रसरित है । कहीं नील मणियाँ, कहीं प्रवाल, कहीं माणिक्यराशि बिखरी होनेसे शक्रचाप {इन्द्र धनुष} की कान्ति सर्वत्र समुल्लसित है । इस महाभरणमण्डपमे हेम सिंहासन रखा है । हे कात्यायनि माँ ! सखीजनोंसे घिरीं आप इस पर विराजमान होवें ।

केशरचना, सीमन्त–विरचन, स्वर्णसूत्र एवं
मुक्ताओंसे अलकावलि गूँथना एवं वेणी–संरचना}

*स्निग्ध ककतिकामुखेन शनकैस्संशोध्य केशोत्करं*
*सीमन्त विरचय्य चारु विमल सिन्दूररेखान्वितम् ।*
*मुक्ताभिर्ग्रथितालका मणिचितैस्सौवर्णसूत्रै स्फुट*
*प्रान्ते मौक्तिकगुच्छकोपलतिकां ग्रथ्नामि वेणीमिमां ।।३२।।*

{भावार्थ}

अत्यन्त सुकोमल कंघीके दाँतोसे धीरे–धीरे केशोको सुलझाकर एवं अलकोंमें मोतीमालाये गूँथकर, मणियों एवं स्वर्णसूत्रसे वेणी बाँधकर एव पीछे मुक्ताओके गुच्छ बाँधकर मैने आपकी वेणी गूँथी है एव केशोको सीमन्तरेखाके पाससे दो भागोमे करके मध्य रेखामें सिन्दूर रेखा अंकित कर दी है ।

{चूड़ामणि समर्पण}

*विलम्बिवेणीभुजगोत्तमागस्फुरन्मणिश्रान्तमुपानयन्तम् ।*
*स्वरोचिषोल्लासितकेशपाशं महेशि चूड़ामणिमर्पयामि ।।३३।।*

{भावार्थ}

अत्यन्त लम्बी वेणी जिसकी उपमा उत्तम सर्पसे की जा सकती है, उसपर हे महेशी ! मैं चूडामणि लगाना चाहता हूँ जो अपनी ज्योत्स्नासे केश पाशको और अधिक उल्लासयुक्त शोभा प्रदान करदे ।

{अंग–वन्दना}

*त्वामाश्रयद्भिः कबरीतमिस्रैर्बन्दीकृत द्रागिव भानुबिम्ब ।*
*मृडानि ! चूड़ामणिमादधान वन्दामहे तावकमुत्तमांगम् ।।३४।।*

{भावार्थ}

हे मृडानि ! आपके आश्रयका कैसा माहात्म्य है कि उसे पाकर कबरी रूपी अन्धकारने चूड़ामणि रूप भानुबिम्बको बन्दी कर लिया है । मैं आपके उन उत्तम अगोकी जहाँ चूडामणि सुशोभित है, वन्दना करता हूँ।

{भाल–भूषण}

*स्वमध्यनद्धहाटकस्फुरन्मणिप्रभाकुल*
*विलम्बिमौक्तिकच्छटाविराजितं समन्ततः ।*
*निबद्धलक्षचक्षुषा भवेन भूरि भावितं*
*समर्पयामि भास्वरं भवानि भालभूषणम् ।।३५।।*

{भावार्थ}

जो स्वर्णसे निर्मित है, परन्तु मध्यमे जिसके मणियाँ जडी है, जो मणिकी प्रभासे आकुल है एव सीमन्तमे विराजित मुक्ताओकी लडियोकी घटाको जो पूरी तरहसे हतप्रभ कर रहा है, आँखोको अपने रूपमें जो बॉध लेता है एव भगवान् शकर जिसके सौन्दर्यकी भूरि–भूरि भावना करते है, ऐसा तेजोमय भाल–भूषण हे भवानी ! मै आपको समर्पित करता हूँ ।

{दिव्यांजन प्रदान}

*मीनाम्भोरुहखञ्जरीटसुषमाविस्तारविस्मारके*
*कुर्वाणे किल कामवैरिमनसः कन्दर्पबाणप्रभां ।*
*माध्वीपानमदारुणेऽतिचपले दीर्घे दृगम्भोरुहे*
*देवि ! स्वर्णशलाकयोर्जितमिदं दिव्याजन दीयताम् ।।३६।।*

{भावार्थ}

जो मीन, कमल, खञ्जन पक्षीकी सुषमासे भी अधिक शोभा सम्पन्न हैं एवं जो कामवैरी, भगवान शकरके मनमें कन्दर्प बाणके दुर्धर्ष तेजको प्रकट कर देते हैं, जो कदम्ब–माध्वीके पानसे अरुणाई लिये रहते हैं, अत्यन्त चपल हैं, दीर्घ हैं, ऐसे आपके नेत्रकमलोमें हे देवि ! मै स्वर्णकी शलाका अर्जित दिव्य अजन लगाना चाहता हूँ ।

{नथ–आभूषण समर्पण}

*मध्यस्थारुणरत्नकान्तिरुचिरां मुक्तामुगोद्भासिता ।*
*दैवाद्भार्नवजीवमध्यगरवेर्लक्ष्मीमधः कुर्वती ।*
*उत्सिक्ताधरबिम्बकान्तिविसरैर्भौमीभवन्मौक्तिकां*
*मद्दत्तामुररीकुरुष्व गिरिजे नासाविभूषामिमाम् ।।३७।।*

{भावार्थ}

जिसके मध्य अरुण रत्नकी रुचिर कान्ति दमक रही है एवं इधर–उधर मोती, मूँगा आदि रत्न उद्भासित हो रहे हैं, जो लक्ष्मीकी शोभाको तुच्छ कर रहा है तथा जिसका रत्न, शुक्रके नक्षत्रकी तरह चमक रहा है, अधर बिम्बकी लाल आभासे बेसरका मोती मंगल नक्षत्रकी तरह प्रतीत हो रहा है, हे गिरिजे ! ऐसा यह मेरे द्वारा प्रदान किया, नासिकाका आभूषण आप ग्रहण करें ।

{स्वर्ण ताटंक प्रदान}

*उडुकृतपरिवेषस्पर्द्धया शीतभानोरिव*
*विरचितदेहद्वन्द्वमादित्यबिम्बं ।*
*अरुणमणिसमुद्यत्प्रान्तविभ्राजिमुक्तं*
*श्रवसि परिनिधेहि स्वर्णताटंकयुग्मम् ।।३८।।*

{भावार्थ}

हे ! माता नक्षत्रोकी शोभाकी स्पर्द्धामें, शीतल सूर्यके बिम्बके समान जिनकी आकृतिका निर्माण किया गया है, बीचमे अरुण मणि है और चारो ओर मुक्ता शोभित हैं, ऐसे कानोमें युगल स्वर्ण ताटक आभूषण, माँ ! आप ग्रहण करें।

{कण्ठाभरण प्रदान}

*मरकतवरपद्मरागहीरोत्थितगुलिकात्रितयावनद्धमध्यम् ।*
*विततविमलमौक्तिकञ्च कण्ठाभरणमिदं गिरिजे समर्पयामि ।।३९।।*

{भावार्थ}

श्रेष्ठ नीलम {मरकत} मणि, पद्ममणि एव हीरामणियोकी तीन लड़ियोके मध्यमे, विमल मोतियोसे निर्मित इस कण्ठाभरणको, हे गिरिजे ! मैं आपको समर्पित करता हूँ ।

{चतुष्किका हार प्रदान}

*नानादेशसमुत्थितैर्मणिगणप्रोद्यत्प्रभामण्डल–*
*व्याप्तैराभरणैर्विराजितगला मुक्ताच्छटालकृतां ।*
*मध्यस्थारुणरत्नकान्तिरुचिरां प्रान्तस्थमुक्ताफल*
*ब्रातामम्ब चतुष्किकां परशिवे वक्षस्थले स्थापय ।।४०।।*

{भावार्थ}

देश-विदेशके नाना प्रकारके अनमोल मणियोंसे जिसका प्रभा मण्डल दिप–दिपा रहा है, गलेमे अनेक आभरणोके मध्य अपने निर्मल मोतियोकी छटा बिखेरता हुआ, चारों ओर मुक्ता एव मध्यमे अरुण कान्तिके रुचिर रत्नोके समूहसे निर्मित, इस चतुष्किका नामक आभूषणको, हे माता ! आप वक्षस्थलमें धारण करें।

{त्रिवली हारत्रयी समर्पण}

*अन्योन्य प्लावयन्ती सततपरिचलत्कान्तिकल्लोलजालैः*
*कुर्वाणा मज्जदन्तःकरणविमलता शोभितेव त्रिवेणी ।*
*मुक्ताभिः पद्मरागैर्मरकतमणिभिर्निर्मिता दीप्यमानै–*
*र्नित्य हारत्रयी ते परशिवरसिके चेतसि द्योतता नः ।।४१।।*

{भावार्थ}

अपने भीतरसे उद्भमित कान्तिकी हिलोरोके जालसे जो अन्य–अन्य आभूषणोको आप्लावित कर दे रही हैं, जो त्रिवेणीकी शोभा बिखेरती हुई विमलतासे अन्तःकरणको नहला रही हैं, ऐसी मुक्ता {गगा}, पद्मराग {सरस्वती}, मरकत {यमुना} मणियोसे निर्मित त्रिवेणीकी शोभा धारण करने वाली आपकी हारत्रयी, हे परशिवरसिकिनी ! मेरे हृदयको नित्य प्रकाशमान करती रहे ।

{युग्म कनक–कटक {कडे} समर्पण}

*करसरसिजनाले विस्फुरत्कान्तिजाले विलसदमलशोभे चञ्चदीशाक्षिलोभे*
*विविधमणिमयूखोद्भासितं देवि दुर्गे कनककटकयुग्म बाहुयुग्मे निधेहि ।।४२*

{भावार्थ}

जो कर कमल नाल-रूपी बाहुओमे शोभाजाल प्रस्फुटित कर रहे है, अपनी परम निर्मल शोभाके विलाससे भगवान् शकरकी चञ्चल आंखोमे लुब्धताका सृजन कर रहे हैं, अनेक प्रकारकी मणियोकी ज्योत्स्नासे जो दमक रहे हैं, हे देवि दुर्गे ! आपकी बाहुओमे ऐसे इन स्वर्णके दोनो कडोको धारण कर लीजिये ।

{वलय श्रेणी {चूड़ियाँ} समर्पण}

*वितत निजमयूखैर्निर्मितामिन्द्रनीलै*
*विजितकमलनालालीनमत्तालिमाला*
*मणिगणखचिताभ्या ककणाभ्यामुपेतां*
*कलयवलयराजीं हस्तमूले महेशि ।।४३।।*

{भावार्थ}

जो इन्द्रनील मणियोसे निर्मित हैं और जिन्होने अपनी कान्तिसे कमलनालमे रसपान निमग्न मत्त–भ्रमर पक्तियोकी शोभाको पराजित कर दिया है एवं जिनमे अनेक अन्य बहुमूल्य मणियाँ भी खचित हैं तथा जो ककणोसे मिली हुई हैं, ऐसी वलय {चूडियो}की पक्ति हे महेशि ! आपके हाथोंके मूलदेशको सुशोभित करें ।

{अंगुलीयक {अँगूठी समर्पण}

*आलवालमिव पुष्पधन्वना बालविद्रुमलतासु निर्मितम् ।*
*अगुलीषु विनिधीयतां शनैरगुलीयकमिदं मदर्पितम् ।। ४४।।*

{भावार्थ}

भगवान् कामदेवसे जो आलवालकी तरह घिरी रहती है, बाल विद्रुमकी लताकी तरह जो निर्मित है, ऐसी मेरे द्वारा समर्पित अँगूठी, हे माता ! आप अँगुलियोंमें धारण करें ।

{कटिमेखला समर्पण}

*विजितहरमनोभूमत्तमातंगकुभ–स्थलविलुलितकूजत्किंकिणीजालतुल्यां ।*
*अविरतकलनादैरीशचेतो हरन्तीं विविधमणिनिबद्धां मेखलामर्पयामि ।। ४५।।*

{भावार्थ}

जिसने भगवान् शकरका मन हरण कर लिया है एवं जो मत्त हाथीके मस्तक पर सुशोभित किकिणीकी तरह शब्द कर रही हैं, जिनकी अविरत सुन्दर झकारसे भगवान् शकरका चित्त हरण किया जा रहा है, ऐसी विविध मणियोसे गुँथी मेखला मैं आपको समर्पित कर रहा हूँ ।

{नीवी–बंधनकी डोरी}

*व्यालम्बमानवरमौक्तिकगुच्छशोभि विभ्राजिहाटकपुटद्वयरोचमानम् ।*
*हेम्ना विनिर्मितमनेकमणिप्रबन्धं नीवीनिबधनगुण विनिवेदयामि ।। ४६।।*

{भावार्थ}

जो लम्बी आकृतिकी है एव श्रेष्ठ मुक्ताओंके गुच्छ जिसमें शोभा दे रहे हैं, जिनके दोनो ओर स्वर्णकी पुट दी गयी है, जिससे उनकी शोभा बढ रही है, जो स्वर्णसे निर्माणकी गयी हैं एव अनेक मणियॉ जिनमे गुँथी हैं, ऐसी नीवी निबन्धनकी डोरी मै माँ आपको अर्पित कर रहा हूँ ।

{चरण–सरोजकी अँगुलियोंमे बिछुआ आभूषणका ध्यान}

*विनिहतनवलाक्षा पकबालातपौघे मरकतमणिराजीमञ्जुमञ्जीरघोषे ।*
*अरुणमणि समुद्यत्कान्तिधाराविचित्रस्तवचरणसरोजे हसकः प्रीतिमेतु ।।४७।।*

{भावार्थ}

जिनमे बाल रविकी शोभा वाली नई लाक्षा–पक बहुतायतसे लगी है एवं मरकत मणियोकी अवलियो {लडियो}से युक्त मञ्जुल मजीर निनादित कर रही हैं, जिनकी कान्ति ऐसी है मानो अरुण मणियोकी विचित्र शोभा धारा प्रवाहित हो रही हो, ऐसे आपके चरण कमलोमे सलग्न हसक {पैरकी अँगुलियोंके बिछुए} नामक आभूषणमे मेरी प्रीति बढे ।

{कनक–घुघुरुओं का ध्यान}

*निबद्धशितिपट्टकप्रवरगुच्छसंशोभिता*
*कलक्वणितमंजुलां गिरिशचित्तसम्मोहिनीम् ।*
*अमन्दमणिमंडलीविमलकान्तिकिम्मीरितां*
*निधेहि पदपंकजे कनकघुघुरुमम्बिके ।।४८।।*

{भावार्थ}

शुभ्र कपडेमे जो बँधे एवं जिनमें श्रेष्ठ गुच्छ शोभा दे रहे है जो मंजुल रुचिर ध्वनि कर रहे हैं एव भगवान् शिवके चित्तमे सम्मोहिनी डाल रहे हैं, जिनमें तेजस्वी मणि–समूह खचित है, जिनकी परम निर्मल कान्ति सर्वत्र फैल रही है, ऐसे कनक घुँघुरू हे अम्बे ! आपके चरणोमे धारण कर लीजिये।

{पद्मरागमणि नूपुर–द्वयी समर्पण}

*विस्फुरत्सहजरागरंजिते शिञ्जितेन कलितां सखीजनैः ।*
*पद्मरागमणिनूपुरद्वयीमर्पयामि तव पादपकजे ।।४९।।*

{भावार्थ}

चरणोंकी लालिमासे जो सहज ही रजित हैं एवं जिनकी शिञ्जन ध्वनिको सुनकर सखीगण आनन्दसे विकसित हो उठती हैं, हे माते ! मैं

आपके दोनों चरणकमलोमे ऐसी शोभामयी पद्मराग मणियोकी नूपुर-द्वयी समर्पण करता हूँ ।

{नखमण्डलीकी शोभा}

*पादाम्बुजमुपासितं परिगतेन शीतांशुना*
*कृतां तनुपरस्परामिव दिनान्तरागारुणाम् ।*
*महेशि नवयावकद्रवभरेण शोणीकृतां*
*नमामि नखमण्डलीं चरणपंकजस्थां तव ।।५०।।*

{भावार्थ}

चरण कमलोकी जो अपनी शीत-किरणोंसे उपासना करते रहते हैं एव दिनान्त समयके (संध्याकाल) सूर्यकी लाल-किरणोकी घटासे शोभायमान रहते है, हे महेशि ! मैं आपके चरण कमलोमे स्थित आपकी नखमण्डलीको नमन करता हूँ, जो गीली नवीन यावक (अलक्तक) के द्रवसे लाल हो रहे हैं।

{कल्हार माला समर्पण}

*आरक्तश्वेतपीतस्फुरदुरुकुसुमैश्चित्रितां पट्टसूत्रैः*
*देवस्त्रीभिः प्रयत्नागरुसमुदितैर्धूपितां दिव्यधूपैः ।*
*उद्यद् गन्धान्धपुष्पन्धयनिवहसमारब्धझंकारगीता*
*चंचत्कल्हारमालां परिपरशिवरसिके कण्ठपीठेऽर्पयामि ।।५१।।*

{भावार्थ}

जो लाल, श्वेत एवं पीत शोभाशाली कुसुमोको पट्टसूत्रमे पिरोकर गूँथी गई है, देवांगनाओ द्वारा जो अगरु एव दिव्य धूपसे सुवासित हुई समुदित है, जिसकी गन्धसे आकृष्ट अन्धे हुएसे भ्रमरोकी झंकार गीतोसे जो स्तुत्य है, ऐसी चपल कल्हार माला हे परशिवरसिके अम्बे ! मै तेरी कण्ठ-पीठ पर अर्पित करता हूँ ।

{अमृत-पान, ताम्बूल वीटिका-ग्रहण, मुकुर-दर्शन,
मणि पादुका समर्पण}

*गृहाण परमामृतं कनकपात्रसंस्थापितं*
*समर्पयमुखाम्बुजे विमलवीटिकामम्बिके ।*
*विलोकय मुखाम्बुज मुकुरमण्डले निर्मले*
*निधेहि मणिपादुकोपरि पदाम्बुजं सुन्दरि ।।५२।।*

{भावार्थ}

हे माते । सुन्दर रत्न जटित कनक–पात्रमे रखी हुई यह विमल वीटिका {ताम्बूल बीड़ी} अपने मुख कमलमे ग्रहण करो, इसके पश्चात् निर्मल मुकुरमण्डलमें अपने आननसरोजको आप निरखे, हे सुन्दरि ! मणि–पादुकाओंको अपने चरणकमलोंमें धारण करें ।

{सभा मडपकी ओर प्रस्थान करती माँकी शोभा}

*आलम्ब्य स्वसखीं करेण शनकैस्सिंहासनादुत्थिता*
*कूजन्मन्दमरालमञ्जुलगतिप्रोल्लासिभूषाम्बरा ।*
*आनन्दप्रतिपादकैरुपनिषद्वाक्यैःस्तुता वेधसा*
*मच्चित्ते स्थिरतामुपैतु गिरिजा यान्तीसभामण्डपम् ।।५३।।*

{भावार्थ}

अपनी प्रिय सखीके हाथका सहारा लेती हुई जो शनैः सिंहासनसे खडी हो गयी है, जिनकी गति हंसिनीकी तरह अति मन्द–मन्द एव अति मजुल है, साथ ही जो अपनी वस्त्रभूषासे उल्लसित प्रतीत हो रही है जिनके स्वरूपभूत आनन्दकी उपनिषद्वाक्यों द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, रुद्र एव इन्द्रादि स्तुति कर रहे हैं – वे भगवती गिरिजा सभामण्डपकी ओर जाती हुई, मेरे चित्तमें स्थिरता पूर्वक निवास करें ।

{भगवतीकी विभूति महिमा}

*वेधाः पादतले पतत्ययमसौ विष्णुर्नमत्यग्रतः*
*शम्भुर्देहिदृगञ्चल सुरपतिं दूरस्थमालोकय ।*
*इत्येव परिचारिकाभिरुदिते सम्मानना कुर्वती*
*दृग्द्वन्द्वेन यथोचितं भगवती भूयाद्विभूत्यैः मम ।।५४।।*

{भावार्थ}

ब्रह्माजी {विधाता} जिनके चरणोमे पडे है, भगवान् विष्णु आगेसे विनम्र होकर नतमुख नमन कर रहे है, भगवान् शिव नयन बिछाये हैं एव इन्द्र दूरसे दर्शन कर रहे हैं, {निकट प्रवेश नहीं पा रहे है}– इस प्रकार परिचारिका द्वारा सभीकी भक्तिभावनाकी सूचना दिये जाने पर जो अपने युगलनत्रोसे ही यथोचित सबके सम्मानको ग्रहण कर रही हैं, वे भगवती और उनकी महामहिमा मुझ पर कृपालु हो ।

*अग्रे गायति किन्नरी कलपद्र गन्धर्वकान्ताश्शनै–*
*शतोद्यानि च वादयन्ति मधुर सव्यापसव्यस्थिताः ।*

*कूजन्नूपुरवादमञ्जु पुरतो नृत्यन्ति दिव्यांगना*
*गच्छन्तः परितः स्तुवन्ति निगमस्तुत्यां विरिञ्चादयः ।।५५।।*

{भावार्थ}

जिनके आगे किन्नरियाँ सुन्दर भावोके पद गायन कर रही है एवं गन्धर्वपत्नियाँ अत्यन्त मन्द स्वरमे मधुर स्वरमे बायें एवं दाहिने खडी हुई आतोद्य {वीणा, मुरज, बंशी आदि वाद्य} बजा रही हैं एव सम्मुख दिव्यागनाएँ नूपुरकी मजुल झंकार करती नृत्य कर रही हैं एव आगे बढने पर जिनके सम्मुख विरिञ्चादि देवगण वेद -स्तुति करते खडे है ।

{मिथुन शरभकी वन्दना}

*तव दहनसदृक्षैरीक्षणैरेव चक्षु*
*र्निखिलपशुजनानांभीषयद्भीषणास्यं ।*
*कृतवसति परेशप्रेयसि द्वारि नित्य*
*शरभमिथुनमुच्चैर्भक्तियुक्तो नतोऽस्मि ।।५६।।*

{भावार्थ}

जिनका मुख ही इतना भीषण है कि जो समग्र पशुजातिको भयभीत करता है एवं अग्नि के समान जलती आँखोसे जो देखते है किन्तु जो तेरे द्वारमे सदा {दरबानकी तरह} स्थित रहते हैं, हे परेशप्रेयसी ! मैं उन शरभोके जोडेको भक्तिभावसे नमस्कार करता हूँ ।

{सिंहासनकी वन्दना}

*स्वस्थानस्थितदेवतागणवृते बिन्दौ मुदा स्थापितं*
*नानारत्नविराजिहेमविलसत्कान्तिच्छटादुर्दिनम् ।*
*चञ्चत्कौसुमतूलिकासनयुत कामेश्वराधिष्ठित*
*नित्यानन्दनिदानमम्ब ! सततं वन्दे च सिंहासनम् ।।५७।।*

{भावार्थ}

जो अपनी महिमारूप स्वस्थानमें स्थित है, देवगणोंसे जो सदा घिरा रहता है, आनन्द बिन्दुमें जिसकी संस्थापना है, नानाप्रकारके रत्नोको स्वर्णमे खचित {विलसित} करनेके कारण जिसकी ऐसी शोभा हो रही है, मानो दिन उदय हो गया हो, सेमर, अरण्डकी रूईसे भरा कुसुम्भी रंगके आसनसे युक्त जिसमे भगवान् कामेश्वर विराजित हैं, नित्य आनन्दका जो मूलकारण है, हे अम्बे! मैं आपके ऐसे सिहासनकी सतत वन्दना करता हूँ ।

{हेम छत्र-समर्पण}

*प्रान्तस्फुरद्विमलमौक्तिकगुच्छजालं चञ्चन्महामणिविचित्रितहेमदण्डं ।*
*उद्यत्सहस्रकरमण्डलचारुहेमच्छत्रं महेशमहिले विनिवेशयामि ।।५८।।*

{भावार्थ}

जिसके किनारोमे निर्मल मुक्तामणियोके गुच्छोका जाल लगा है एवं जो चमचमाती महामणियोसे विजडित स्वर्णके दण्डसे युक्त है, जैसे हजारो किरणोसे युक्त सूर्य उदय हो रहा हो, ऐसी जिसकी शोभा है, हे महेशमहिले! मै ऐसा हेम-छत्र आपको समर्पित कर रहा हूँ ।

{देवता वन्दन}

*संतुष्टां परमामृतेन विलसत्कामेश्वराङ्कस्थितां*
*पुष्पौघैरभिपूजितां भगवतीं त्वां वन्दमाना मुदा ।*
*स्फूर्जत्तावकदेहरश्मिकलनाप्राप्तस्वरूपाभिदाः*
*श्रीचक्रावरणस्थितास्सविनयं वन्दामहे देवताः ।।५९।।*

{भावार्थ}

जो अमृतपानसे परम संतुष्ट है, कामेश्वर भगवान्के अंकमे जो विहरती रहती हैं, जो पुष्पोके ढेरसे पूजित होती हैं, जो वन्दना द्वारा अति प्रसन्न हैं, जिनके देहसे निकली रश्मि समूहसे अभेद स्वरूपकी प्राप्ति होती है, उन श्रीचक्रावरणमे स्थित देवताकी मैं वन्दना करता हूँ ।

{भगवतीके चतुष्टय स्वरूपकी वन्दना}

*आधारशक्त्यादिकमाकलय्य मध्ये समस्ताधिक योगिनीं च।*
*मित्रेशनाथादिकमत्र नाथचतुष्टयं शैलसुते नतोऽस्मि ।।६०।।*

{भावार्थ}

आधार शक्तियोको लेकर, मध्यमे समस्त योगिनियो सहित तथा मित्रेशनाथादि नाथ-चतुष्टय सहित हे शैलसुते! मैं सबको नमन करता हूं।

{आसन षटक की वन्दना}

*त्रिपुरासुधार्णवासनमारभ्य त्रिपुरमालिनी यावत् ।*
*आवरणाष्टकसंस्थितमासनषटकं नमामि परमेशि !।।६१।।*

{भावार्थ}

हे परमेशि ! त्रिपुरासुधार्णवासन से लेकर त्रिपुरमालिनी पर्यन्त आठ आवरण एवं इनमे संस्थित आसन षटककी मैं वन्दना करता हूँ ।

{दिशाधिपति देवताओंकी वन्दना}

*ईशाने गणपं स्मरामि विचरद्विघ्नान्धकारच्छिद*
*वायव्ये बटुकञ्च कज्जलरुचिं व्यालोपवीतान्वितम् ।*
*नैऋत्ये महिषासुरप्रमथिनीं दुर्गाञ्च सम्पूजय*
*नाग्नेयेऽखिलभक्तरक्षणपरं क्षेत्राधिनाथं भजे ।।६२।।*

{भावार्थ}

ईशान कोणमे भगवान् गणेशको मैं स्मरण करता हूँ जो समग्र विघ्न अन्धकार का समूल नाश करने वाले हैं । वायव्य कोणमे मैं बटुक भैरवकी वन्दनाकरता हूँ जो सर्पका उपवीत धारण करते है एव कृष्ण कज्जल की सी आकृति वाले है । नैऋत्यमे महिषासुरमर्दिनी दुर्गाकी मै सम्यक् प्रकारसे पूजा कर रहा हूँ एव आग्नेय में अखिल भक्तोकी रक्षा करने वाले क्षेत्राधिनाथ भगवान्का मैं भजन करता हूँ ।

{सर्व पीठोंकी स्तुति}

*उड्याणजालन्धरकामरूपपीठानिमान्पूर्णगिरिप्रसक्तान् ।*
*त्रिकोणदक्षाग्रेमसव्यभागमध्यस्थितान् सिद्धिकरान्नमामि ।।६३।।*

{भावार्थ}

उड्डीयान, जालन्धर, कामरूप एव पूर्णगिरि आदि सम्पूर्ण पीठोको जो भगवतीके स्वरूपभूत त्रिकोणके दक्षिण, आगे, बॉये एव मध्यमे स्थित है – जो सर्व सिद्धियोको देने वाले हैं, मैं नमस्कार करता हूँ ।

{पंचप्रेतोंकी वन्दना}

*लोकेशः पृथ्वीपतिर्निगदितो विष्णुर्जलाना प्रभु*
*स्तेजोनाथ उमापतिश्च मरुतामीशस्तथा चेश्वर ।*
*आकाशाधिपतिस्सदाशिव इति प्रेताभिधामागता –*
*नेतांश्चक्रबहिःस्थितान्सुरगणान्वन्दामहे सादरम् ।।६४।।*

{भावार्थ}

जिन्हे पृथ्वीपति लोकेश (ब्रह्मा) कहा जाता है और जलके अधिदेवता प्रभु भगवान् विष्णु, तेजोनाथ उमापति भगवान् रुद्र, मरुतोंके ईश स्वामी इन्द्र एव आकाशाधिपति भगवान् सदाशिव – ये सभी प्रेत नामसे विख्यात देवगण जो चक्रके बाहर स्थित हैं, इन सभीकी मैं आदरपूर्वक वन्दना करता हूँ ।

{भगवान् चन्द्रमाकी षोडश कलाओकी वन्दना}

*तारानाथकलाप्रवेशनिगमव्याजाद्गतासुप्रथ*
*त्रैलोक्ये तिथिषु प्रवर्त्तितकलाकाष्ठादिकालक्रमम् ।*
*रत्नालकृतिविचित्रवस्त्रललितं कामेश्वरीपूर्वक*
*नित्याषोडशकं नमामि लसितं चक्रात्मनोरन्तरे ।। ६५ ।।*

{भावार्थ}

भगवान् चन्द्रदेव अपनी सुन्दर चालसे अपनी कलाओमे प्रवेश कर वेदोक्त विधिसे गमन करते है, इसीसे त्रिलोकीमे तिथियाँ प्रवर्त्तित होती है एव कला-काष्ठादि काल क्रम बनता है । वे सभी षोडश कलाएँ जो रत्नालकारों से एव विचित्र रगोके ललित वस्त्रोमे राजी हैं एवं भगवती कामेश्वरीके राहित हैं, उन नित्या षोडश चक्रात्मक कलाओको मैं अपने हृदयमें नमन करता हूँ ।

{श्री गुरु वन्दना}

*हृदि भावितदैवत प्रयत्नाभ्युपदेशानुगृहीतभक्तरागम् ।*
*स्वगुरुक्रमराजचक्रराजस्थितगोघत्रयमानतोऽस्मि मूर्ध्ना ।।६६ ।।*

{भावार्थ}

जिन्होने अपने हृदयमें देवताको प्रयत्नपूर्वक भावित कर लिया है तथा जो अपने सगी भक्तोको उपदेशसे अनुगृहीत करते रहते हैं उन स्वगुरु क्रमसे, गुरु, परम गुरु एव परमेष्ठी गुरुरूप त्रय समूहको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ ।

दिव्यौघ एव मानवौघो का शास्त्रक्रमानुसार वर्णन दिया जा रहा है —

ये दिव्यौघ है - परप्रकाशानन्दनाथ, परमेशानन्दनाथ, परशिवानन्दनाथ, कामेश्वर्यम्बानन्द, मोक्षानन्द, कामानन्द, अमृतानन्दनाथ ।

ये सिद्धौघ है - ईशानन्दनाथ, तत्पुरुषानन्दनाथ, अघोरानन्दनाथ, वामदेवानन्दनाथ, सद्योजातानन्दनाथ ।

ये मानवौघ हैं - पञ्चोत्तरानन्दनाथ, परमानन्द, सर्वज्ञानन्द, सर्वानन्द, सिद्धानन्दनाथ, गोविन्दानन्दनाथ, शकरानन्दनाथ ।

{षडग वन्दना}

*हृदयमथशिरःशिखाखिलाद्ये कवचमथो नयनत्रयञ्च देवि ।*
*मुनिजनपरिचिन्तितं तथास्त्रं स्फुरतु सदा हृदयं षडगमेतत् ।।६७ ।।*

{भावार्थ}

जिन छः अंगोमे भगवतीका क्रमश मंत्रन्यास किया जाता है, वे हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र त्रय एव अस्त्र जिन्हे मुनिजन भली प्रकारसे चिन्तन करते हैं ये मेरे हृदयमें सदा विकसित हों ।

{अणिमादि सिद्धियों का नमन}

*त्रैलोक्यमोहनमिति प्रथिते तु चक्रे*
*चञ्चद्विभूषणगणत्रिपुराधिवासे ।*
*रेखात्रये स्थितवतीरणिमादिसिद्धी*
*र्मुद्रा नमामि सतत प्रकटाभिधारता: ।।६८।।*

{भावार्थ} {प्रथम आवरण में}

त्रैलोक्यमोहन नामसे कहे जाने वाले चक्रमे, भगवती त्रिपुराके निकट जो विभूषणोसे भूषित रहती हैं एव तीन रेखाओमे जिनका वास है उन अणिमा, लधिमा, महिमा, ईशत्व, वशित्व, प्राकाम्य, मुक्ति, इच्छा, प्राप्ति एव सर्वकाम नामक सिद्धियो, ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा एव महालक्ष्मी नामक मातृ शक्तियो एव सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशकरी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहांकुशा, सर्वखेचरी, सर्वबीज, सर्वयोनि एव सर्व त्रिखण्डा मुद्राशक्तियोको जो अपने-अपने नामसे प्रकट हैं, मै सतत वन्दना करता हूँ ।

## {कामाकर्षिणी योगिनियों की वन्दना}
## {द्वितीय आवरण में}

*सर्वाशापरिपूरके वसुदलद्वन्द्वेन विभ्राजिते*
*विस्फूर्जत्त्रिपुरेश्वरीनिवसतौ चक्रे स्थिता नित्यशः ।*
*कामाकर्षिणिकादयो मणिगणभ्राजिष्णुदिव्याम्बरा*
*योगिन्यः प्रदिशन्तु कांक्षितफलं विख्यातगुप्ताभिधा ।।६९।।*

{भावार्थ}

सर्वाशापरिपूरक नामसे शोभामय व सुदल द्वन्द्वके रूपमे जो विस्फूर्जित हैं एव भगवती त्रिपुरेश्वरीके साथ श्रीचक्रमें नित्यश स्थित हुई निवास करती है, उन मणिमय आभावाली दिव्याम्बरा कामाकर्षिणि, बुद्ध्याकर्षिणि, अहंकाराकर्षिणि, शब्दाकर्षिणि, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, चित्त, धैर्य, स्मृति, नाम, बीज, आत्मा, अमृत एव शरीराकर्षिणि नित्याकलादेवियो योगिनियोको जिनका

नाम गुप्त रूपमे विख्यात है, कांक्षित फल प्रदान करनेके लिये प्रणाम करता हूँ ।

## {तृतीय आवरण में अनंगकुसुमादि देवियोंका पूजन}

*महेशि ! वसुभिर्दलैर्लसति सर्वसंक्षोभणे*
*विभूषणगणस्फुरत्त्रिपुरसुन्दरीसद्मनि ।*
*अनंगकुसुमादयो विविधभूषणोद्भासिता*
*दिशन्तु मम कांक्षितं तनुतराश्च गुप्ताभिधाः ।।७०।।*

{भावार्थ}

हे महेशि ! वसुदलोमें सर्व संक्षोभणमे शोभायमान विभूषण गुणोसे विकसित भगवती त्रिपुरसुन्दरीके प्रासादमे विविध भूषणोसे उद्भासित, अनंगकुसुमादेवी, अनंगमेखलादेवी, अनंगमदनादेवी, अनंगमदनातुरा, अनंगरेखा, अनंगवेगिनी, अनंगांकुशादेवी एवं अनंगमालिनीदेवी हैं, वे मेरी इच्छा {कांक्षित पद} को पूर्ण करे, जिनका स्वरूप परम गुप्त है ।

{तुरीयावरण}

## {सर्वसंक्षोभिणी आदि शक्तियोंकी वन्दना}

*लसद्युगदशारके स्फुरतिसर्वसौभाग्यदे*
*शुभाभरणभूषितत्रिपुरवासिनीमन्दिरे ।*
*स्थिता दधतु मंगलं सुभगसर्वसंक्षोभिणी*
*मुखास्सकलसिद्धयो विदितसम्प्रदायाभिधाः ।।७१।।*

{भावार्थ}

शुभाभरण भूषित भगवती त्रिपुरवासिनीके मन्दिरमे जो दशारक युगल है जिसमें सर्व सौभाग्यदायक चक्र है उसमें स्थित सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणि, सर्वाह्लादिनी, सर्वसम्मोहिनी, सर्वस्तंभिनी, सर्वजृम्भिणी, सर्ववशकरी, सर्वरञ्जिनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसंपत्तिपूरिणी, सर्वमन्त्रमयी, सर्वद्वन्द्वक्षयंकरी ये चौदह शक्तियाँ हैं, सम्प्रदाय योगिनियाँ नामसे जानी जाने वाली ये सकल सिद्धियाँ मेरा परम मंगल करें।

{पंचमावरण}

## {सर्वार्थ साधक चक्रस्थित कुलोत्तीर्ण योगिनियों की वन्दना}

*बहिर्दशारे सर्वार्थसाधिके त्रिपुराश्रयाः ।*
*कुलकौलाभिधाः पान्तु सर्वसिद्धिप्रदायिकाः ।।७२।।*

{भावार्थ}

बहिर्दशार चक्रमे भगवती त्रिपुराके आश्रयमें सर्वार्थ साधकचक्रमे सर्वसिद्धिप्रदादेवी, सर्वसपत्प्रदादेवी, सर्वप्रियंकारीदेवी, सर्वमगलकारिणीदेवी, सर्वकामप्रदादेवी, सर्वदु:खविमोचिनीदेवी, सर्वमृत्युप्रशमिनीदेवी, सर्वविघ्ननिवारिणीदेवी, सर्वांगसुन्दरीदेवी, सर्वसौभाग्यदायिनीदेवी आदि कुलोत्तीर्ण योगिनियाँ जो सर्व सिद्धि प्रदायिका हैं, वे मेरी रक्षा करे ।

{षष्ठावरण}

{अन्तर्दशारमे स्थित सर्वरक्षाकर चक्रमें सर्वज्ञादि देवियोका नमन}

*अन्तःशोभिदशारकेऽतिललिते सर्वादिरक्षाकरे*
*मालिन्या त्रिपुराद्ययाविरचितावासे स्थितं नित्यशः ।*
*नानारत्नविभूषणं मणिगणभ्राजिष्णु दिव्याम्बरं*
*सर्वज्ञादिकशक्तिवृन्दमनिश वन्दे निगर्भाभिधम् ।।७३।।*

{भावार्थ}

अन्तर्दशारमे स्थित सर्वरक्षाकर चक्रमे त्रिपुरमालिनी आदिके निर्मित अति ललित महलमे जो नित्यशः स्थित है, नाना प्रकारके रत्नोंके आभूषणोसे मणिगण खचित दिव्याम्बरोसे शोभायमान हैं, वे सर्वज्ञादेवी, सर्वशक्तिदेवी, सर्वेश्वर्यप्रदादेवी, सर्वज्ञानमयीदेवी, सर्वव्याधिविनाशिनीदेवी, सर्वाधारस्वरूपादेवी, सर्वपापहरादेवी, सर्वानन्दमयीदेवी, सर्वरक्षास्वरूपिणीदेवी, सर्वेप्सितफलप्रदादेवी आदि शक्तिवृन्द जिन्हे निगर्भयोगिनी नामसे जाना जाता है – इन सबकी मैं दिवानिशि निरन्तर वन्दना करता हूँ ।

{सप्तावरण}

{सर्वरोगहरचक्रस्थित वशिनी वाग्देवता देवियोंकी वन्दना}

*सर्वरोगहरेऽष्टारे त्रिपुरासिद्धयान्विते*
*रहस्ययोगिनीर्नित्यवशिन्याद्या नमाम्यहम् ।।७४।।*

{भावार्थ}

सर्वरोगहर अष्टार चक्रमें त्रिपुरासिद्धाके निकट रहनेवाली वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी, कौलिनी आदि रहस्य योगिनियोकी मैं नित्य वन्दना करता हूँ ।

{आयुध वन्दना} {अष्टमावरण}

*चूताशोकविकासिकेतकरजः प्रोद्भासिनीलाम्बुज–*
*प्रस्फूर्जन्नवमल्लिकासमुदितैः पुष्पैः शरन्निर्मितान् ।*

*रम्यं पुष्पशरासन सुललितं पाश तथा चाकुश*
*वन्दे तावकमायुध परशिवे चक्रान्तराले स्थितम् ।।७५।।*

{भावार्थ}

आम्र, अशोक, विकसित केतकी, दैदीप्यमान नीलाम्बुज एवं विकसित नवमल्लिका पुष्पोके निर्माण किये बाण, अति रमणीय धनुष, सुललित पाश तथा अकुशादि जो चक्रके अन्तरालमे स्थित हैं, आपके आयुधोकी हे परशिवे ! मैं वन्दना करता हूँ ।

{वनेश्वरी एव भगमालिनी देवीकी वन्दना}

*त्रिकोण उदितप्रभे जगति सर्वसिद्धिप्रदे*
*युते त्रिपुरयाम्बया स्थितवती च कामेश्वरी ।*
*तनोतु मम मगलं सकलशर्म वज्रेश्वरी*
*करोतु भगमालिनी स्फुरतु मामके चेतसि ।।७६।।*

{भावार्थ}

जिनकी प्रभा उदय होते सूर्यके समान है, ऐसे त्रिकोणमे जो ससारमे सर्वसिद्धिप्रद विख्यात है, जो भगवती त्रिपुराम्बा एव कामेश्वरीके साथ सयुक्त रहती हैं, जो सकल आनन्दमयी हैं, वे वज्रेश्वरी एव भगमालिनीदेवी मेरा परम मगल करने वाली मेरे चित्तमें सदा उदित हो ।

{परापरातिरहस्य योगिनी वन्दना}

{नवमावरण}

*सर्वानन्दमये समस्तजगतामाकाक्षिते वैन्दवे*
*भैरव्या त्रिपुराद्यया विरचितावासे स्थिता सुन्दरी ।*
*आनन्दोल्लसितेक्षणा मणिगणभ्राजिष्णु भूषाम्बरा*
*विस्फूर्जद्वदना परापररहः सा पातु मां योगिनी ।।७७।।*

{भावार्थ}

सर्वानन्दमय चक्रमें जो स्थित है, सम्पूर्ण जगतमें जिनके लिये आकाक्षा {कामना}की जाती है, जो बिन्दुमे स्थित हैं एवं त्रिपुरभैरवी आदिके द्वारा आवासमें जो रहती हैं, जिनके नेत्र आनन्दसे उल्लसित रहते है, विजड़ित मणिगणोकी शोभासे युक्त अम्बरकी जो भूषा धारण किये हैं, वे विस्फूर्जितवदना भगवती परापररहस्य योगिनी मेरी रक्षा करे ।

{चम्पक पुष्पार्पण} {केतकी–पुष्पार्पण}

*उल्लसत्कनककान्तिभासुरं सौरभस्फुरणवासिताम्बरम् ।*
*दूरतः परिहृतं मधुव्रतैरर्पयामि तव देवि चम्पकम् ।।७८।।*
*वैरमुद्धतमपास्य शंभुना मस्तके विनिहितं कलाच्छलात्*
*गन्धलुब्धमधुपाश्रित सदा केतकीकुसुममर्पयामि ते ।।७९।।*

{भावार्थ}

उल्लसित कनककी कान्तिसे दीप्यमान अपनी सौरभ के विकाससे आकाशको सुवासित कर देने वाला दूरसे ही भ्रमरोंको निवारण करके, हे देवि ! मै तुझे यह चम्पापुष्प अर्पण कर रहा हूँ ।

भगवान् शकर से उग्र वैरको त्यागकर उनके मस्तकमे चन्द्रकलाके छलसे बढ जाने वाले, अपनी गन्धसे लुब्ध मधुपोके आश्रयमे ही रहनेवाले केतकी कुसुमको, हे देवि ! मैं तुझे अर्पण कर रहा हूँ ।

{बकुलमाला समर्पण}

*अगरुबहुलधूपाजस्रसौरम्यरम्यां*
*मरकतमणिराजीराजिहारिस्रगाभां ।*
*दिशि विदिशि विसर्पद्गन्धलुब्धालिमाला*
*बकुलकुसुममालां कण्ठपीठेऽर्पयामि ।।८०।।*

{भावार्थ}

हे माते ! जो अगुरु बहुल धूपकी अजस्र सुरभिसे अधिक रम्य गन्ध वाली है, मरकण मणियोके समूह से भी जिस मालाकी आभा उत्कृष्ट है, जो देश विदेशोकी भ्रमर पक्तियोको अपनी गन्धसे आकृष्ट एव लुब्ध कर रही हैं, ऐसी बकुल कुसुममाला आपके कंठपीठमें समर्पित करना चाहता हूँ ।

{धूप–दीप–नैवेद्य समर्पण}

*धूप तेऽगरुसभव भगवति ! प्रोल्लासिगन्धोद्धुरं*
*दीप चैव निवेदयामि महसा हार्दान्धकारच्छिदम् ।*
*रत्नस्वर्णविनिर्मितेषु परितः पात्रेषु संस्थापित*
*नैवेद्यं विनिवेदयामि परमानन्दात्मिके सुन्दरि ।।८१।।*

{भावार्थ}

अगुरुसे निर्माणकी हुई धूप जिसकी गन्ध अत्यधिक तीव्र है और जो तुझे उल्लसित करने वाली है, साथ ही दीप जो हृदयगत अन्धकारका मूलोच्छेदन करने वाला है, मैं आपको समर्पित कर रहा हूँ । हे परमानन्दात्मिके

सुन्दरी ! मै आपको स्वर्णनिर्मित एवं रत्नजड़ित चौडे पात्रोमे स्थापित करके नैवेद्य निवेदन करता हूँ ।

{नैवेद्य का वर्णन}

*जातीकोरकतुल्यमोदनमिदं सौवर्णपात्रे स्थितं*
*शुद्धान्नं शुचि मुद्गमाषचणकोद्भूतास्तथा सूपकाः ।*
*प्राज्यं माहिषमाज्यमुत्तममिदं हैयगवीनं पृथक्*
*पात्रेषु प्रतिपादितं परशिवे तत्सर्वमंगीकुरु ।। ८२।।*

{भावार्थ}

मानो जाती पुष्पकी छोटी कलियाँ हों, इस प्रकार सुन्दर चावलोको निर्माणकर सुवर्णके पात्र मे रखे है एवं सूप {दाल} मूँग, मसूर, चनेकी निर्मित है, महिषीके घीमे सब पकाया गया है और पृथक्से नवनीतको भी पात्रोमे प्रतिपादित किया है, हे परशिवे ! इस सबको अंगीकार करें ।

{शाकादिका वर्णन}

*शिम्बीसूरणशाकबिम्बबृहतीकूष्माण्डकोशातकी*
*वृन्ताकानि पटोलकानि मृदुना ससाधितान्यग्निना ।*
*सम्पन्नानि च वेसवारविसरैर्दिव्यानि भक्त्याकृता*
*न्यग्रे ते विनिवेदयामि गिरिजे सौवर्णपात्रव्रजे ।।८३।।*

{भावार्थ}

सेमफली, जमीकन्द, पालक, बथुआदि, कुदरू, अतिवृहत्, कूष्माण्ड {कद्दू}, कटहल, बैगन, परवल इन सभी शालकोको अग्निमें पकाकर, बेसवार आदि डालकर दिव्य भक्तिपूर्वक आपके आगे, हे गिरिजे ! अनेक स्वर्ण पात्रोंमें निवेदित किया जा रहा है ।

{अचारों का वर्णन}

*निम्बूकार्द्रकचूतकन्दकदली कोशातकीकर्कटी*
*धात्रीबिल्वकरीरकैर्विरचितान्यानन्दचिद्विग्रहे ।*
*राजीभिः कटुतैलसैन्धवहरिद्राभिःस्थितान्पातये*
*सन्धानानि निवेदयामि गिरिजे भूरि प्रकाराणि ते ।।८४।।*

{भावार्थ}

नींबू, अदरक, आम, कन्द, कदली, कटहल, ककडी, आँवला, बिल्व, करीर, कैर आदि के अनेक प्रकारके कडुवे तैल, नमक, हल्दी आदि डालकर

अचार निर्माण किये गये हैं, हे गिरिजे ! आनन्द चिद्विग्रहे ! इन्हे मैं आपको निवेदन कर रहा हूँ ।

{लड्डू–पूरी–पूवे का समर्पण}

*सितयाञ्चितलड्डुकव्रजान्मृदुपूपान्मृदुलाश्च पूरिकाः ।*
*परमान्नमिदं च पार्वति ! प्रणयेन प्रतिपादयामि ते ।।८५।।*

{भावार्थ}

शर्करासे पागकर लड्डू, मीठे पूए एव कोमल पूडियाँ आदि हे पार्वति ! इस परम सुस्वादु अन्नको, मैं आपके लिये प्रतिपादित कर रहा हूँ ।

{दूध दधि–शिखरिणी अर्पण}

*दुग्धमेतदनले सुसाधित चन्द्रमण्डलनिभं तथा दधि ।।*
*फाणित शिखरिणी सितासिता सर्वमम्ब विनिवेदयामि ते ।।८६।।*

{भावार्थ}

यह दूध अग्निमे गरम किया हुआ है, चन्द्र मण्डल की तरह सुन्दर दही भी तैयार है, इनको मिलाकर {फेटकर} चीनी मिलाकर शिखरिणी तैयार है, मै हे माँ ! यह सब तुझे निवेदन कर रहा हूँ ।

{अन्य शक्तियोंको नैवेद्यार्पण}

*अग्रे ते विनिवेद्य सर्वममित नैवेद्यमंगीकृतं*
*ज्ञात्वा तत्वचतुष्टय प्रथमतो मन्ये सुतृप्ता तत ।*
*देवी त्वा परिशिष्टमम्ब कनकामत्रेषु संस्थापित*
*शक्तिभ्यः समुपाहरामि सकलं देवेशि शंभुप्रिये ।।८७।।*

{भावार्थ}

यह सब नैवेद्य सम्पूर्ण रूपसे आपके आगे निवेदन करके जब आप इसे अगीकार कर लेती हैं, उस समय आपके ही रूपमे आपके चतुष्टय तत्वको जानती हुई {गणाधिनाथ, बटुक, योगिनी, क्षेत्राधिनाथ} तथा प्रथमत. इन्हें सुतृप्त हुआ मानकर, हे देवी ! आपसे जो भी बचा हुआ प्रसाद है वह कनक पात्रो में संस्थापित कर, हे देवेशि ! शभुप्रिये, माँ ! मै सभी शक्तियोको इसे सम्यक् प्रकारसे वितरित कर दूँगा ।

{भगवती अन्नपूर्णाकी वन्दना}

*वामेन स्वर्णपात्रीमनुपमपरमान्नेन पूर्णा दधाना–*
*मन्येन स्वर्णदर्वीं निजजनहृदयाभीष्टदां धारयन्तीम् ।*

*सिन्दूरारक्तवस्त्रा विविधमणिलसद्भूषणां मेचकांगीम्*
*तिष्ठन्तीमग्रतस्ते मधुमदमुदितामन्नपूर्णां नमामि ॥८८॥*

{भावार्थ}

वाम हस्तमे स्वर्णपात्र जिसमे पूर्णरूपसे अन्न भरा है, लिये हैं, दूसरे हाथमें परोसनेकी कलुछी धारण किये हैं, जिससे अपने भक्तजनों को अभीष्ट दान देती रहती हैं, जिनके सिन्दूरवर्णी रक्तवस्त्र है, विविध मणिजटित भूषण जो धारण किये हैं एवं श्यामवर्णकी हैं, वे मधुमदमुदिता अन्नपूर्णा माताके आगे बैठा हुआ, मै उन्हे नमस्कार करता हूँ ।

## {पार्षदों की पूजा}

*पक्त्योपविष्टान्परितस्तु चक्रे शक्त्यास्वयालिगितवामभागान् ।*
*सर्वोपचारैः परिपूज्य भक्त्या तवाम्बिके पारिषदान्नमामि ॥८९॥*

{भावार्थ}

श्री चक्रराजमे पक्तिमे बैठी हुई अपनी शक्तियो से जो आपके वाम भागमे आलिगित रहती हैं–घिरी हुई हैं, आपको मैं सर्वोपचारसे पूजित कर, हे अम्बिके ! मैं आपकी पार्षदोको प्रणाम करता हूँ ।

{ज्योति–स्वरूपा भगवती का नमन}

*परमामृतमत्तसुन्दरीगणमध्यस्थितमर्कभासुरम् ।*
*परमामृतघूर्णितेक्षणं किमपि ज्योतिरुपास्महे परम् ॥९०॥*

{भावार्थ}

परमामृत पानकर मत्त हुई सुन्दरी गणोके मध्य सूर्यके समान तेजस्वी परम अमृतपानसे लाल घूमते हुए नेत्रोवाली भगवती परम ज्योति स्वरूपाका मैं स्मरण करता हूँ ।

{भगवतीके दर्शनसे प्राप्त स्थिति}

*दृश्यते तव मुखाम्बुजं शिवे श्रूयते स्फुटमनाहतध्वनिः ।*
*अर्चने तव गिरामगोचरे न प्रयाति विषयान्तरं मनः ॥९१॥*
*त्वन्मुखाम्बुजविलोकनोल्लसत्प्रेमनिश्चलविलोचनद्वयीम् ।*
*उन्मनीमुपगता सभामिमां भावयामि परमेशि तावकीम् ॥९२॥*
*चक्षुः पश्यतु नेह किञ्चन परं घ्राणं न वा जिघ्रतु ।*
*श्रोत्रं हन्त शृणोतु न त्वगपि न स्पर्शं समालम्बताम् ।*
*जिह्वा वेत्तु न वा रसं मम परं युष्मत्स्वरूपामृते ।*
*नित्यानन्दविघूर्णमाननयने नित्यं मनो मज्जतु ॥९३॥*
*यस्त्वां पश्यति पार्वति प्रतिदिनं ध्यानेन तेजोमयीं ।*
*मन्ये सुन्दरि तत्त्वमेतदखिलं वेदेषु निष्ठां गतम् ।*

*यस्तस्मिन्समये तवार्चनविधावानन्दसान्द्राशयो ।*
*यातोऽहं तदभिन्नतां परशिवे सोऽय प्रसादस्तव ।। १४।।*

{भावार्थ}

हे अनिर्वचनीया माँ ! तेरे मुख कमलके जबसे मुझे दर्शन हुए है एव जबसे तेरी अत्यन्त गम्भीर अनाहत ध्वनि {शब्दावली} सुननेको मिली है, उसके उपरान्तसे तेरे अर्चनके अतिरिक्त मेरा मन विषयान्तरको सर्वथा प्राप्त होता ही नहीं है ।

तेरे मुखकमलको देखनेके फलस्वरूप उल्लसित हुए मेरे दोनो नेत्र प्रेममे निश्चल हो जाते हैं । यह सारी सभा ही आपके आगमन मात्रसे उन्मनी भावको प्राप्त हो जाती है, हे परमेशि ! ऐसी आपकी महिमाकी मैं भावना करता हूँ ।

आँखे कुछ भी नहीं देखे, त्वचा किसी भी अन्य स्पर्शका आश्रय नहीं ले, घ्राणेन्द्रिय भी अन्य गन्धको न ग्रहण करे । हाय ! कान कुछ भी नही सुने, त्वचा किसीभी स्पर्शको नहीं ग्रहण करे । आपके स्वरूपामृतमे मत्त हुई मेरी वाणी मेरे–तेरेका कोईभी रस नहीं ग्रहण करे, मेरे नयन नित्य अखण्ड आनन्दमे विघूर्णित रहें एवं मेरा मन उसीमे नहाया रहे । हे माँ पार्वती ! जब मैं आपको ध्यानमे तेजोमयी रूपमे प्रतिदिन देखता हूँ तभी मेरी वेदोमें वास्तविक निष्ठा उत्पन्न होती है एव उनमे वर्णित इस अखिल तत्वको मैं मानने लगता हूँ, उस समय तुम्हारा अर्चन करते हुए जो मुझे घनीभूत आनन्द होता है, उससे, मै हे पराशिवे ! तेरे प्रसाद {कृपा} से तुझसे पूर्ण अभिन्नताका अनुभव करता हूँ ।

{गणाधिनाथ, बटुक, योगिनी एव क्षेत्राधिनाथ
रूपमें तत्त्व चतुष्टय की पूजा}

*गणाधिनाथ बटुकञ्च योगिनी क्षेत्राधिनाथञ्च विविक्तचतुष्टये ।*
*सर्वोपचारैः परिपूज्य भक्तितो निवेदयामो बलिमुक्तयुक्तिभिः ।।१५।।*

{भावार्थ}

भगवान् गणाधिनाथ, बटुक, योगिनी एवं क्षेत्राधिनाथ रूपमे तत्व चतुष्टयको सर्वोपचारोंसे भक्तिपूर्वक परिपूजन करके मैं उक्त प्रकारकी बलि निवेदित करता हूँ ।

{आचमन समर्पण}

*वीणामुपान्ते खलुवादयन्त्यै निवेद्य शेषं खलु शेषिकायै ।*
*सौवर्णभृंगारविनिर्गतेन जलेन शुद्धाचमनं विधेहि ।।१६।।*

{भावार्थ}

हे माते ! कभी आपके सम्मुख वीणा वादन करते हुए फिर जो कुछ शेष नैवेद्य बचा है वह अन्य बचे हुए भक्तोंमें वितरित करती हुई, मैं आपके स्वर्ण निर्मित भोजन शालाके बाहर आने पर आपको शुद्ध जलसे आचमन निवेदित कर रही हूँ ।

{ताम्बूल–समर्पण एवं आरती निवेदन}

*ताम्बूलं विनिवेदयामि विलसत्कर्पूरकस्तूरिका*
*जातीपूगलवंगचूर्णखदिरैर्भक्त्या समुल्लासितम् ।*
*स्फूर्जद्रत्नसमुद्गकप्रणिहितं सौवर्णपात्रे स्थितै–*
*र्दीपैरुज्ज्वलमन्नचूर्णरचितैरारार्तिकं गृह्यताम् ॥९७॥*

{भावार्थ}

हे माँ ! मै आपको कपूर, कस्तूरी, सुपारी, जाती, कत्था एव चूना तथा लवग चूर्ण डाला हुआ अति भक्ति सहित उल्लसित हुई ताम्बूल निवेदन कर रही हूँ । रत्नोकी ज्योतिसे चमकते हुए स्वर्ण -पात्रमें उज्ज्वल अन्न चूर्णकी आरतीमें दीपक जलाकर मैं आपकी आरती करती हूँ, कृपया स्वीकार करें ।

## {उल्लसित मुख दर्शन}

*क्वचिद्गायति किन्नरी कलपद वाद्य दधानोर्वशी*
*रम्भा नृत्यति केलिमञ्जुलपद मातः पुरस्तात्तव*
*कृत्य प्रोज्भ्य सुरस्त्रियो मधुमदव्याघूर्णमानेक्षण*
*नित्यानन्दसुधाम्बुधि तव मुख पश्यन्ति हृष्यन्ति व ॥९८॥*
ताम्बूलोद्भासिवक्त्रैस्त्वदमलवदनालोकनोल्लासिनेत्रै
श्चक्रस्थैः शक्तिसंघैः परिहृतविषयासंगमाकर्ण्यमानं ।
गीतज्ञाभिः प्रकामं मधुरसमधुरं वादित किन्नरीभि–
र्वीणाझंकारनादं कलय परशिवानन्दसंधानहेतो· ॥९९॥

{भावार्थ}

कहीं तो किन्नरीगण सुन्दर गीतोंके मंजुलपद गायन कर रही हैं, उर्वशी वाद्य धारण किये है, रम्भा केलिके मन्जुल पदों पर, हे माँ तेरे सम्मुख नृत्य कर रही हैं, इन देवागनाओंके इन कृत्योको अपने सम्मुख करते देखती हुई, साथ ही मदपानसे घूर्णित नेत्रोंवाली आपके नित्यानन्द सुधासमुद्र मुखको देख देखकर मैं प्रसन्न होती हूँ ।

आपका मुख ताम्बूल से लाल हो रहा है, ऐसे परम निराविल मुखको देखनेसे उल्लसित मेरे नेत्र हैं, श्रीचक्रस्थित अनेक शक्तियोके संगमे आप

अनेक विषयों पर विचार कर रही हैं, उसे सुनती हुई मधुरस मधुर संगीत ज्ञानसे परितृप्त होती हुईं, किन्नरियों द्वारा वीणाकी झंकार नादको सुनती हुई भी आपके भीतर जो परशिवानुभव स्वरूप आनन्द है, उसका हेतु अनुसंधानित नहीं हो पाता ।

{प्रदक्षिणोपरान्त पंचोपचार पूजन}

*अर्चाविधौ ज्ञानलवोऽपि दूरे दूरे तदापादकवस्तुजातम् ।*
*प्रदक्षिणीकृत्य ततोऽर्चनं ते पञ्चोपचारात्मकमर्पयामि ।।१००।।*

{भावार्थ}

अर्चाविधिका मुझे तनिक भी ज्ञान नहीं है, अर्चनके उपयोगी पदार्थोंका भी मुझे दूरका भी अनुभव नहीं है, तब भी तेरे अर्चनके पश्चात् प्रदक्षिणा करके मैं पचोपचारात्मक पूजा निवेदन कर रहा हूँ ।

{साष्टांग प्रणाम}

*यथेप्सितमनोगतप्रकटितोपचारार्चिता*
*निजावरणदेवतागणवृतां सुरेशस्थिताम् ।*
*कृताञ्जलिपुटो मुहुः कलितभूमिरष्टांगकै*
*र्नमामि भगवत्यह त्रिपुरसुन्दरि त्राहि माम् ।।१०१*

{भावार्थ}

मैंहे माँ त्रिपुरसुन्दरि ! तेरी आवरण देवगणोसे युक्त इन्द्रादि देवोके साथ यथा मनोरथ मनमे उत्पन्न हुए भावजनित उपचारोसे अर्चनाकी है, अब मे कृताञ्जलि {हाथ जोडे} पुनः भूमिमें साष्टाग निपतित हुआ, हे भगवति ! तेरी वन्दना कर रहा हूँ । माँ त्राहि माम्, त्राहि माम् ।

{प्रार्थना}

*विज्ञप्तीरवधेहि मे सुमहता यत्नेन ते सन्निधिम् ।*
*प्राप्तं मामिह कान्दिशीकमधुना मातर्न दूरीकुरु ।*
*चित्तं त्वत्पदभावने व्यभिचरेद् दृग्वाक्यमे जातुचेत् ।*
*तत्सौम्ये स्वगुणैर्बधान न यथा भूयो विनिर्गच्छति ।।*
*क्वाऽहं मन्दमतिः क्वचेदमखिलैरेकान्तभक्तैः स्तुतं ।*
*ध्यातं देवि तथापि ते स्वमनसा श्रीपादुकापूजनम् ।।*
*कादाचित्कमदीयचिन्तनविधौ सन्तुष्टया शर्मदं ।*
*स्तोत्रं देवतया तया प्रकटितं मन्ये मदीयानने*

*नित्यार्चनमिदं चित्ते भाव्यमानं सदा मया*
*निबद्धं विविधैः पद्यैरनुगृह्णातु सुन्दरी ।।*

{भावार्थ}

हे माता ! यह मेरी विज्ञप्ति आप विचारकर ध्यानसे सुने, मैंने अति यत्नपूर्वक आपकी सन्निधिमें निवेदित की है । मधुके कन्दमे सिक्त हुएके समान तुझे प्राप्त को हे माँ ! अपनेसे दूर मत करो । यदि मेरा चित्त तेरी चरणचिन्तनासे व्यभिचारी हुआ दूर भागता है एव मेरे नेत्र एव वाणी तेरे विपरीत चलती है तो हे सौम्ये ! अपने गुणोंसे मुझे बाँधलो, जिससे मैं पुनः इधर–उधर नहीं हो सकूँ ।

कहाँ तो मैं मन्द–बुद्धि, कहाँ यह एकान्त भक्ति युक्त स्तुति और ध्यान, साथ ही मेरे मन द्वारा श्रीपादुका पूजन, ऐसा लगता है कि कदाचित् [illegible] चिन्तन विधिसे सतुष्ट हुई, आपने मेरे स्तोत्रको आदर देनेके लिये मेरे शरीरमें अपने देवत्वको प्रकट कर दिया है ।

यह नित्यार्चन जो मेरे द्वारा चित्तमे सदा भावना किया गया है, इसे विविध पद्योमे निबद्ध कर दिया गया है, हे सुन्दरी ! इसे गृहण करें ।

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द भगवत् पूज्यपाद शिष्यस्य श्रीमच्छकर भगवतः कृतौ श्रीत्रिपुरसुन्दरी मानस–पूजा–स्तोत्र समाप्तं।।

यह श्रीमत्परमहस परिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादके शिष्य श्रीमत् शंकर भगवत्पाद द्वारा विरचित श्रीत्रिपुरसुन्दरी–मानस–पूजा स्तोत्र समाप्त है ।

---

# अध्याय सात

## (श्रीपुर–मणिद्वीप–वर्णन)

गोरखपुर पत्तनकी गीतावाटिकाके उपवनके पिछवाड़े पू. गुरुदेव बिल्ववृक्षके नीचे बैठे थे । सन् १९५१ ई. की सर्दियोंकी बात है । आधा धूप एव आधी छायामे ही पू गुरुदेव आसन लगाये थे । बिल्ववृक्षके नीचेकी भूमि गोबरसे लीपी गयी थी । काली मोटी कम्बले जो बिछानेके काम आती थीं, उन पर ही पू गुरुदेवका आसन लगा था । मैं उस दिवस अवकाशमे था, अतः उनके पास जाकर बैठ गया था ।

कुछ काल तो हम दोनो ही शान्त बैठे रहे, उसके पश्चात् पू गुरुदेवने स्लेट पट्टीपर लिखकर मुझसे पूछा - "भैया ! कैसे आना हुआ ?"

वे उनदिनों मौनव्रती थे ।

उन दिनो मुझे भगवत्सेवाका जोश चढा था । अपने हाथसे ही भोजन बनाकर भगवान्‌को भोग लगाकर तब भोजन पाता था । भगवान्‌की वल्लभ–सम्प्रदायानुसार सेवा–पद्धतिसे सूक्ष्म–सेवाका क्रम बना रक्खा था । मैं पू गुरुदेवसे अपने मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको यह कहलवाना चाहता था कि वे मेरे भगवान्‌के लिये सिंहासननुमा एक काष्ठका छोटा मन्दिर बनवा दे, जिसमे सेवाके समय भगवान् गद्दा, तकिया लगाकर विराजित हो जावे और विश्रामके समय उसमे फाटक भी लग जाये । ऐसे निर्माणमें थोडे अर्थ–व्ययकी सम्भावना थी, अत मैं गुरुदेवसे ही अपने मामाजीको कहलवाना चाहता था । मेरी बात बहुत मनोयोगपूर्वक सुनकर पू गुरुदेव शान्त हो गये। जब मैंने पुन. अपनी इच्छा निवेदन की और उससे होने वाली भगवत्सेवाजन्य सुविधाओका वर्णन भी किया तो वे कहने लगे – "भैया ! मैं भी तेरी ही तरह अपनी इष्टदेवीकी सब पूजा अर्चना करता हूँ, तेरे ठाकुरकी तरह मेरी माँ भी राजराजेश्वरी हैं, परन्तु मै पोद्दार महाराजको (भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दारको) कहाँ कहता हूँ कि मेरी राजराजेश्वरी इष्टदेवीके लिये मन्दिर अथवा स्वर्ण सिंहासन बनवा दे ।

यद्यपि मेरे कहने पर वे निश्चय ही ऐसा कर देगे, परन्तु मुझ सन्यासीके लिये क्या ऐसा कहना उचित होगा ? देख ! मैं तुझे मेरी पूजा -

पद्धति बता देता हूँ, तू भी मेरी पूजाकी पद्धतिका अनुकरण करता हुआ इसी प्रकार अपनी पूजा कर ।"

उन्होंने कहा – "देख ! ऐं" बीज वाग्भव कूट है यह महासरस्वतीका स्वरूप है । सम्पूर्ण सृष्टिका उद्भव इसी एक परावाक्से होता है । ये ही सम्पूर्ण ज्ञान–विज्ञानकी महाशक्ति हैं । अपनी स्वच्छन्द विमर्श शक्तिसे ये ही इच्छाशक्ति एव क्रियाशक्तिमें परिणत हो जाती हैं । इनकी इच्छाशक्ति का "श्रीं" बीज है और क्रियाशक्तिका "ह्रीं" बीज है । ये मन्त्रात्मक "ऐं", "ह्रीं" व "श्रीं" रूपा शक्तियाँ सम्पूर्ण विश्व प्रपंचका सृजन, परिपालन एवं विलय कर रही है । अब इन तीन सर्वसमर्था, सर्वकारणभूता, सर्वप्रपचकी व्यवस्थापिका शक्तियो "ऐं", "ह्रीं" व "श्रीं" से तू जो भी माँगना हो, माँग ले । इस त्र्यक्षरी बीजके जप मात्रसे वे जो भी तेरी पारमार्थिक उन्नतिके लिये परमावश्यक होगा, अपने आप बिना किसीसे भी कहे–सुने तुझे प्रदान कर देगी।" मैं मूक स्तब्ध उनकी वार्त्ता सुन रहा था और वे लिखकर कहते जा रहे थे – "देख! बचुआ !! जैसे ही मैं कहता हूँ – "ऐं", "ह्रीं" "श्रीं" अमृताम्भोनिधये नमः" – बस, यह कहते ही मेरे सम्मुख भगवती श्रीसुन्दरीके परम चिन्मय लोकका अमृत–समुद्र प्रकट हो जाता है । मैं इस चिन्मय परम कारण–कारण सृष्टिके परमाद्य बीज सुधा-सिन्धुकी स्तुति-पूजा वन्दना सभी करता हूँ । अब देख! ज्योही मैंने उच्चारण किया – "ऐं", "ह्रीं" व "श्रीं" रत्न द्वीपाय नमः देख, मेरे सम्मुख परम दिव्य चिन्मय श्रीद्वीप प्रकट हो जाता है ।

वे मुझे समझाने लगे – "भैया ! ऊपरसे देखनेवाला कोई भी प्राणी यह समझेगा कि यह बाबा ऐसे ही प्रमादमे समय व्यतीत करता है, भजन तो करता नही है, परन्तु मै क्या भजन करूँ ? जो दिव्य श्रीलोक देवशिल्पी भगवान् विश्वकर्माके सम्मुख भी प्रकट नही हुआ – जो वृन्दावन, अयोध्या, मथुरा, काशी आदि सभी दिव्य सप्तपुरियोंके रचनाकर्ता हैं वह लोक माँ मेरे सम्मुख मात्र इस त्र्यक्षरी प्रणवकी कृपासे मूर्त्तिमान प्रकट कर देती है ।" इस प्रकार वे मन्त्र बोलते जाते थे और भगवतीके अलौकिक चिन्मय राज्यमे प्रविष्ट हुए– से उसका प्रत्यक्ष वर्णन भी करते जा रहे थे । उनकी विलक्षण दशा यह थी कि वे सहज स्वाभाविक जाग्रत् दशामे थे, बिना देह ज्ञान लुप्त हुए मुझसे व्यवहार दशामें वार्त्ता भी कर रहे थे, साथ ही अप्राकृत राज्यका आँखो देखेकी तरह सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन भी करते जा रहे थे । यह उनकी विलक्षण योगस्थ स्थिति थी ।

उनका यह मन्दिर–प्रवेश प्रतिदिन ही होता था । वे अपने काष्ठके तखत पर आसीन रहते एवं भगवतीके चिन्मय मन्दिरके सभी अंग उनके सम्मुख व्यक्त होते रहते थे ।

यहाँ उनके द्वारा वर्णन किया गया सम्पूर्ण "श्रीपुर" धामका वर्णन दिया जा रहा है ।

## (प्रथम मंत्र)

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अमृताम्भोनिधये नमः ।।१।।

## *(वर्णन)*

भैया ! यह परमपद श्रीधाम कोई इदमित्थं देश (लोक) नहीं है, न ही यह कोई अमृत समुद्र, कोई प्राकृत समुद्र की तरह ही है । जब चित्तवृति सम्पूर्ण लोक–लोकान्तरोका अतिक्रमणकर उनके समग्र लौकिक भोगोको तुच्छ काकविष्ठावत् मलिन हेय मानकर उनसे पूर्णतया विरत हो जाती है, तो जिस चिन्मय भूमिमें वह बिहरती है, वह भूमि साधककी उच्च भावनानुसार एक विलक्षण अप्राकृत धामके रूपमे परिणत होकर उसके सम्मुख प्रकट होती है । सगुण–साकारोपासक साधकका इष्ट क्योकि अप्राकृत चिन्मय किन्तु परिछिन्न नाम–रूपात्मक होता है, अतः वह उस सिद्ध भूमिमें भी अपने इष्टके महल, वन, तडाग, नदी–पर्वत, झरने, वृक्ष–लताएँ, सूर्य -चन्द्र, पृथ्वी, जल सब कुछ लोकवत् ही देखता है । वह लोक जो साधकके सम्मुख उस चिन्मय अवस्थामे प्रकट होता है, वह यद्यपि साधककी इष्ट मूर्तिकी तरह ही सच्चिदानन्दमय होता है, वह लोक परमसत्य, एकमेव, अखण्ड, नित्य, भूमा ही होता है, परन्तु फिर भी भिन्न–भिन्न साधकोकी रुचि, प्रकृति एव अधिकारके कारण सभी महात्माओ द्वारा उसका वर्णन भिन्न–भिन्न रूपमे ही किया जाता है । परन्तु ये सभी भेद इतनी उच्च अभेद भूमिमे परिलक्षित होते हैं कि वास्तवमे वे भेद रहते नही । एक अप्राकृत परिपूर्ण सच्चिदानन्द रस वहॉ असमोर्ध्व रूपमें सब भेदोको अभेद बनाता वर्तमान रहता है ।

पू. गुरुदेव बता रहे थे कि उनकी भगवती त्रिपुरसुन्दरीका परमधाम मणिद्वीप भगवान् श्रीकृष्णके द्वारका धामकी तरह चतुर्दिक् समुद्रसे आवृत घिराहुआ है । यहाँ द्वारका लीला तो मृत्यु लोकमे आजके पाँच हजार वर्ष पूर्व अवतार रूपमें हुई थी, अतः यहॉ तो प्राकृत अथाह समुद्र उसे घेरे था, परन्तु इस मणिद्वीप को आवृत किये चिन्मय -सुधा सिन्धु प्राकृत समुद्रवत् सर्वथा नहीं है । अमृत यहॉ जन्म–मृत्यु–हीन अवस्थाका परिचायक है यह सुधा–सिन्धु कोई पानीय द्रव्यसे भरा सर्वथा नहीं है परन्तु फिर भी प्राकृत

विश्वमें जितनी सुमिष्ट पानीय पदार्थकी कल्पना की जा सकती है, वे सभी इस अमृत समुद्रकी छायाकी छायाके अशमात्र ही हैं । जैसे छायाको देखकर कोई उसके बिम्बकी कल्पना करना चाहे तो उसका उपहासास्पद मिथ्या प्रयास ही होगा, इसी प्रकार किसी प्राकृत समुद्रको देखकर कोई उससे इस मणिद्वीपको आवृत करने वाले (अमृत) सुधा–सिन्धुकी कल्पना करना चाहे तो वह उसका आकलन सर्वथा मिथ्या ही होगा । शब्द इस सुधासिन्धुका परिचय दे ही नहीं सकते ।

किसीको निर्विकल्प समाधिमे जैसे अपार चेतन समुद्रका अनुभव हो तो वह यही कहेगा "अखण्ड, अपार, आनन्द सिन्धु" "असीम-आनन्द-सिन्धु", "घन–बोध सिन्धु", परन्तु क्योकि उस समयकी उसकी अनुभूतिमें वह आनन्दका उमडता–उफनता प्रवाह, इस प्राकृत समुद्रकी तरह सर्वथा नहीं है, इसी तरह अथर्वण महर्षि जब अमृत सिन्धुका कथन करते हैं तो उनकी चिद्भूमिमे अवतरित यह सुधा-सिन्धु इस प्राकृत समुद्रकी तरह सर्वथा सर्वाशमें ही नही है । चिन्मयता अमृत ही है, परन्तु वह पानीय जल पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार इस अमृत समुद्रको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

पू. गुरुदेव बारबार इसी बात पर जोर दे रहे थे कि अचिंत्य भावोंको जैसे शब्द देना मूलवस्तुको विकृत करना ही है, उसी प्रकार तर्कोंको सर्वथा तिलाजलि देकर श्रद्धापूत चित्तसे कोई भगवतीकी आराधना करे तो उनकी कृपा वारिकी कणिका मात्रके सबलसे वे हेतुरहित करुणामयी किसी परम भाग्यवान्के मानसमे सत्यको व्यक्त कर दे – तभी वह इस अमृत सुधा–सिन्धुका परिचय पाकर कृतार्थ हो सकता है । वाणी तो इतना ही कह सकती है कि इस द्वीपको घेरे अनन्तानन्त सख्या वाले सुधा समुद्र सुमेरुके शिखरोके समान आवर्त्त उत्पन्न करते, लहरा रहे है ।

## (दूसरा मंत्र)

**ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रत्नद्वीपाय नमः ।।२।।**

पू. गुरुदेव मुझे समझा रहे थे कि शास्त्रमें ऐसी भाषा है कि ब्रह्मलोकसे ऊपरके भागमें जो सर्वलोक सुना जाता है, वही मणिद्वीप श्रीपुर है । परन्तु यह ब्रह्मलोक भी कोई प्राकृत जगत् नहीं है । चित्तकी शुद्ध सत्वावस्थामें ही ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ एव कैलाशादिका प्रकाश होता है । परन्तु जब चित्तभूमि विशुद्ध सत्वावस्थाका उल्लंघन कर जाती है और परमोच्च चिन्मय भूमिमें प्रवेश कर जाती है, तब यह श्रीसुन्दरी लोक मणिद्वीप प्रकट होता है । इसीलिये इसके समान कोई सुन्दर धाम त्रिलोकीमे सभव ही नहीं है ।

पू. गुरुदेवका कथन था कि यही "श्रीधाम" अपनी सम्पूर्ण अलौकिताओंको लेकर श्रीकृष्णभक्त वैष्णवोंके लिये चिन्मय गोलोक वृन्दावन धामके रूपमें प्रकट होता है । लीलामहाशक्ति इस निर्मलतम चित्तभूमिकी भूतिको जहाँ मणिद्वीप श्रीधाम महाऐश्वर्यलोकके रूपमें व्यक्त करती है, वहीं यही चित्तभूमिकी भूति लीलामहाशक्तिके द्वारा परम रसमय साज–सज्जासे वृन्दावन धामके रूपमें सजी है । यद्यपि वृन्दावन धाममें भी ऐश्वर्य है, परन्तु वह रसकी सेवार्थ है, उसी प्रकार मणिद्वीप श्रीधाममें भी रस है परन्तु वह ऐश्वर्यकी सेवार्थ है ।

इस मणिद्वीपका दर्शन प्रयत्न–साध्य नहीं है, मात्र कृपा–साध्य है। श्रीत्रिपुरा रहस्य (माहात्म्य खण्ड) में वर्णन आता है कि जब भगवान् देवशिल्पी त्वष्टा (विश्वकर्मा) प्रयत्न करते–करते सर्वथा निराश हो गये और उनके ध्यान–पथमें यह लोक आया ही नहीं, तब वे श्रीब्रह्माजीसे बोले – प्रभो ! भगवतीके श्रीपुरका निर्माण सुमेरु पर्वतपर आपकी आज्ञानुसार मेरे द्वारा नहीं हो सकता । यह महालीला– धाम मेरे ध्यान पथमे ही नही आ रहा है ।

जबतक भगवती श्रीसुन्दरी अपनी हेतुरहित कृपासे मेरे चित्तपटल पर इसे प्रकाशित नही करेगी, वह कार्य मेरे द्वारा होना असंभव है । भगवतीका धाम भगवतीका ही स्वरूप है, अत उनकी कृपाके बिना उनकी मायाके आवरणको चीरना सभव नही है एव जो वस्तु मेरी कल्पनामे ही नहीं आ रही, उसे प्राकृत अथवा दिव्य पटल पर उतारना मेरे द्वारा कैसे सभव है ?

यह सत्य ही था । देवशिल्पी तो बिचारे प्राकृत देवलोकके ही तो शिल्पी हैं । भगवतीकी अशेष शुभ विधायिनी कृपा–दृष्टि ही उनकी वृत्तियोंको जडताके आवरणसे मुक्तकर परमोच्च चिन्मय–भूमिमे प्रवेश करा सकती है । देवशिल्पी ध्यान करते हैं, परन्तु एक घोर अवरोधमय आवरण उन्हे घेर लेता है। इस सतहका भेदनकर ऊपर उठना अनुग्रह शक्तिके विशिष्ट प्रभावके बिना सर्वथा असंभव ही था । शास्त्रमें यह अवस्था रोधिनीनामसे प्रसिद्ध है । इस आवरणका भेदन करनेके पश्चात् ही साक्षात् चित्शक्तिका आविर्भाव होता है । इसी चित् शक्तिसे ही समस्त भुवन विधृत हो रहे हैं ।

देवशिल्पीको तो अभी बहुत स्तर लाँधने हैं । वे पहले विशुद्ध चित्शक्तिकी भूमिमें पहुँचे तब उनका त्रिकोणस्वरूपा व्यापिका बिन्दुमें प्रवेश हो, यह बिन्दु वह स्थान है जो त्रिकोणकी तीन रेखाये ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश – तीन प्रकारके शिवाशोंकी किंवा इनकी ही वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री, इन तीन शक्तियोंकी प्रतिनिधि है । इसके पश्चात् सर्वकारणभूता समना शक्ति पर आरूढ परम शिवके दर्शन होते हैं जो सृजन, पालन, संहार अनुग्रह एव

विग्रह पंच कृत्यकारी हैं । यहाँ मनोराज्यका अन्त हो जाता है । इसके आगे मन, काल, देशतत्व, देवता तथा कार्य–कारण भाव सब तिरोहित हो जाते हैं । तब निर्विकल्पक निवृति भावका उदय होता है । इसके उपरान्त भगवतीकी जिस पर कृपा होती है, उसके सम्मुख यह अप्राकृत जगत्का भी छत्रस्वरूप मणिद्वीप धाम प्रकाशित होता है । जितनी भी जहाँ–जहाँ सृष्टि है सभी इसीकी छत्रछायामें हैं । अतः असहाय देवशिल्पी अपनी पहुँच वहाँ न पाकर शान्त मौन हो गये थे ।

पू. गुरुदेव कह रहे थे कि देवशिल्पीके इस प्रकार निराश हो जाने पर श्रीब्रह्माजी भगवतीसे प्रार्थना करते हैं कि यदि वे देवशिल्पीको अधिकारी नहीं समझती हैं तो वे उनके स्वयके अनाविल हृदयमे अपने परम चिन्मय लोकको प्रकाशित कर दें और सामर्थ्य दें कि वे उस अनन्तानन्त वैभवकी एक कणिकाकी झाँकीका भगवती सरस्वतीके सहयोगसे देवशिल्पीके सम्मुख बखान कर सकें और तदनुसार देवशिल्पीका निर्माण–कार्य सभव हो सके ।

पू. गुरुदेव कह रहे थे–मेरे सम्मुख तो भगवतीके त्र्यक्षरी प्रणवकी कृपासे वह परमाद्य विशुद्ध लोक प्रत्यक्षवत् व्यक्त हो रहा है ।

(३) ऐं ह्रीं श्रीं नानावृक्षमहोद्यानाय नमः
(४) ऐं ह्रीं श्रीं कल्पवाटिकायै नमः
(५) ऐं ह्रीं श्रीं सन्तानवृक्षवाटिकायै नमः
(६) ऐं ह्रीं श्रीं हरिचन्दन वाटिकायै नमः
(७) ऐं ह्रीं श्रीं मन्दार वाटिकायै नमः
(८) ऐं ह्रीं श्रीं पारिजात वाटिकायै नमः
(९) ऐं ह्रीं श्रीं कदम्ब वाटिकायै नमः
(१०) ऐं ह्रीं श्रीं पुष्पराग रत्न प्राकारायै नमः
(११) ऐं ह्रीं श्रीं पद्मराग रत्न प्राकारायै नमः
(१२) ऐं ह्रीं श्रीं गोमेधक रत्न प्राकारायै नमः
(१३) ऐं ह्रीं श्रीं वज्ररत्न प्राकारायै नमः
(१४) ऐं ह्रीं श्रीं वैदूर्यरत्न प्राकारायै नमः
(१५) ऐं ह्रीं श्रीं इन्द्रनीलरत्न प्राकारायै नमः
(१६) ऐं ह्रीं श्रीं मुक्तारत्न प्राकारायै नमः
(१७) ऐं ह्रीं श्रीं मरकतरत्न प्राकारायै नमः
(१८) ऐं ह्रीं श्रीं विद्रुमरत्न प्राकारायै नमः

## श्रीपुर वर्णन

पू. गुरुदेव कह रहे थे कि यह मणिपुर श्रीधाम अप्राकृत अनिर्वचनीय सृष्टि है । यह अघटना-घटना-पटीयसी योगमायाका पूर्ण स्वतन्त्र आत्मविलास है । भगवतीकी वृन्दावन-लीलाकी तरह कोई रसमयी लीला तो थी नहीं, उन्होंने तो भण्डासुरसे युद्ध किया था, अतः "श्रीपुर" का वर्णन शास्त्रोंने द्वारकाकी तरह एक किलेके रूपमें किया है । जैसे द्वारका चतुर्दिक् समुद्रसे घिरी थी, इसी प्रकार मणिपुर श्रीधाम भी चतुर्दिक् चिन्मय सुधा समुद्रसे घिरा है । श्रीब्रह्माजी एवं सभी ऋषियोंको इसके इसी प्रकार दर्शन मिले हैं ।

इन अनन्त सिन्धुओंके मध्य अपनी विशुद्ध चिज्जोतिसे सतत उद्भासित, समग्र तम एवं अज्ञानका मूलोच्छेदन करनेमें समर्थ अप्राकृत मणिद्वीप लोक अपनी महिमामें ही नित्य विराजित है । चतुर्दश भुवनोंमें जितना भी जो कुछ है - स्थल, जल अग्नि, वायु, आकाश, प्राण, मन, इन्द्रियाँ, अण्डज, उद्भिज, जरायुज एवं स्वेदज सृष्टि, वन, उपवन, नदियाँ, निर्झर, तालाब, वाटिकाएँ, पुष्प, फल, वनस्पतियाँ, वृक्ष, लताएँ, वाटिकाएँ, भवन, महल, स्वर्ण, रजत, सर्वधातुएँ, सर्व अनमोल रत्न, मुक्ता, माणिक्य, नीलम, पुखराज - सब कुछ इस ज्योतिर्मान द्वीपकी माया-दर्पणमें छाया मात्र है । यहाँ सब कुछ परम सत्य है । प्राकृत विश्वकी सम्पूर्ण रत्न-राशिका सौन्दर्य इस द्वीपकी रजकणके सौन्दर्यकी छायाकी छायाका परिणाम मात्र है ।

जैसे द्वीपमें वनस्पतियाँ होती ही हैं , इसी प्रकार इस द्वीपमें वृक्षोंसे चिन्मय कल्पलतायें कल्प -प्रसूनोंकी असीम शोभा लिये लिपटी हैं । ये सभी अतुलनीय हैं । इन्हे मात्र नाम ही कल्पवाटिका दिया गया है, वैसे इनकी फलदानमें, सौन्दर्यमें, स्वर्गस्थ नन्दनकाननके कल्पवृक्षोंसे तुलना हो ही नहीं सकती । जहाँ स्वर्गस्थ कल्पवृक्ष एक प्राकृत सत्व-प्रधान जड वृक्ष है, यहाँका सब सृजन सच्चिदानन्दमय है । कहाँ त्रिगुणात्मक स्वर्ग और कहाँ त्रिगुणातीत विशुद्ध भागवती लोक मणिद्वीप । इस चिन्मयधामका एक रजकण भी भगवतीके पूर्ण तत्वका प्रज्ञाता है, साक्षात् भगवतीका स्वरूप-विलास है एवं दुर्वासादि भगवतीके सर्व महासिद्ध भक्तोंका भी परम वन्द्य है । इन कल्पवृक्षावलियोंके एक पत्तेमें इतनी सामर्थ्य है कि भगवतीका साक्षात्कार करा सके। इन सभीकी अतुलनीय अचिन्त्य श्री है । एक ही वृक्षकी एक ही डालमें आम्र, नारिकेल, नारंग, बदरी, खर्जूर, कदली, दाडिम सभी फल यहाँ पूर्ण सुमिष्ट उपलब्ध हैं । मालती, मल्लिका, कुन्द, केतकी, दूधी, माधवी सभी लताएँ सभी प्रकारके सौरभपूर्ण पुष्पोंसे लदी अपना सुवास चतुर्दिक् महका रही है । पू. गुरुदेव बारबार यही स्मरण दिलाते रहते थे कि यदि

कही किसी भी वनस्पतिकी सत्ता है तो उसकी स्थिति उद्भव एवं लय, इनकी छायाके कणसे ही है ।

यहाँ कल्पवृक्ष, सन्तानवृक्ष, हरिचन्दन, मन्दार, पारिजात एव कदम्बकी असख्य वाटिकाएँ हैं । ये सभी वाटिकाएँ मणिद्वीपके रत्नमय वालुकासे भरे समुद्र–तटकी शोभा सहस्रगुनी कर रही हैं । अमृतसमुद्रमें अति सुन्दर छोटी मछलियाँ भरी हैं, साथ ही बडे -बडे विशाल मत्स्य हैं। परन्तु ये सभी एक दूसरेके हिसक सर्वथा नहीं है । यहाँ सभी भगवतीकी भक्त हैं और उनमें पूर्ण आनन्द भरा है । यहाँ समुद्रमे असख्य रत्नमय शख तैरते रहते हैं । तरंगोंसे सौम्य किन्तु उत्तुग बडी–बडी लहरे चतुर्दिक् इन वाटिकाओं पर परम सुवासित अमृतजलके कण बिखेरती रहती है, इन जलकणोसे ही ये सभी वाटिकाएँ सिंचित होती हैं ।

अनेक प्रकारकी रत्नमयी नौकाएँ विलक्षण ध्वजाओसे युक्त इस सुधा-सागरकी शाभा बढाती है । इन नौकाओंमे आरूढ भगवतीके पार्षद एवं भक्त इस अमृत समुद्रकी नित्य नूतन प्रतिपल अभिवर्धनशील शोभा निरखते रहते हैं ।

इस सम्पूर्ण द्वीपको एक पुष्पराग रत्नकी चारदीवारीसे घेरा गया है । इसके पश्चात् क्रमश आठ और प्राकार है । ये प्राकार क्रमश पद्मराग रत्न, गोमेद रत्न, वज्र रत्न (हीरा), वैदूर्य, इन्द्रनील, मुक्ता, मरकत एव विद्रुमके रत्नोके है । इन महान् परकोटो का भगवतीकी कृपाके बिना कोई भी उल्लघन नही कर सकता । इनके चारो ओर अति दुर्लंघ्य खाई है । इन सभी परकोटोके चार–चार विशाल द्वार हैं। इन परकोटोंमें अनेक प्रकार के अस्त्रों, शस्त्रोंसे युक्त, युद्ध–सम्बन्धी अनेक विद्याओमे पारगत असख्य भगवतीके गण निवास करते है । यहाँ सर्वत्र आनन्दका ही साम्राज्य रहता है । भगवती जगदम्बाका दर्शन करने आनेवाले असख्य देवगणोंके निवासके लिये यहाँ स्थान बने हैं । उनके वाहन एव विमान यहाँ रहते हैं । विमानोकी सचालन ध्वनिसे यहाँका कोना–कोना भरा रहता है । यहाँ स्थान स्थान पर मीठे जलसे भरे असंख्य सरोवर हैं ।

पू गुरुदेवका इस लोकका वर्णन करते समय बराबर यह जोर रहता था कि महान् ऐश्वर्यमय होते हुए भी यहाँकी शोभा सच्चिदानन्दमयी है । यहाँ मणि, मुक्ता, रत्न, साथ ही लोह, कॉस्य, ताम्र, रजत, स्वर्ण, शीशा, पीतल आदि धातुएँ, जहाँ कठोरता अपेक्षित है, वज्रसे भी अधिक कठोर है, परन्तु माताके भक्तोंके लिये ये सभी परम सुकोमल परमानन्ददायक हैं किसी भी

वस्तुका कोई इत्थंभूत रूप नहीं है । इतना है, ऐसा है, ऐसा नहीं है, इस प्रकारकी विधि–निषेध जन्य वर्जना इस चिन्मय द्वीपके किसी भी पदार्थ एव वस्तुमे नहीं है । ये सब सभी प्रकारसे स्वातन्त्र्य युक्त स्वभावके हैं । यहॉकी प्रत्येक वस्तुका अणु–अणु अनन्त वात्सल्यमयी जगज्जननीकी स्वरूप परिणति ही है । ये सभी चाहे वृक्ष, वल्लरी, भूमि, गृह जो भी हो सभी कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्तुम् सामर्थ्य युक्त हैं । यहॉके कीट–पतग, भृंग, पशु–पक्षी, इनके रूप, रग, आकार, स्थिति, गुण, चेष्टा, भावकी इयत्ता नहीं है । ये सभी भगवती परमाद्या पराभट्टारिका भगवतीके भृकुटि–सकेत, उनके रुचि–सकल्प पर थिरकते हैं । भगवतीकी जैसी लीलाका जब जहॉ प्रकाश होता है, उसके लिये जो जैसा रूप–स्वभाव बनाना होता है, ये सभी स्वय उसके अनुसार स्वतः ही ढल जाते है । यथालीला जो भी कठोरता, उग्रता, दुर्धर्षता अथवा कोमलता, सरसता इनमें व्यक्त होनी चाहिये, सब स्वतः ही संघटित हो जाती है । वज्रसम कठोर, पदार्थोमे भी भगवतीके भक्तोंके लिये अपार वात्सल्य यहॉ फूट पड़ता है और सुकोमलतम पुष्प पखुडी भी यहॉ आवश्यकता पडने पर वज्रकी कठोर उग्रता भी ग्रहण कर लेती है । यह विलक्षण धाम अपना विस्तार एव सकोच भी जहॉ जब जैसी आवश्यकता होती है, कर लेता है । जहॉं अभी कोई विस्तार चार लाख योजन है, वह आवश्यकता होने पर अनन्त कोटि योजन हो जाता है और पुन सिकुडकर चार योजन ही रह जाता है । जहॉ पुष्पराग मणिके प्राचीर है, वहॉ दुर्धर्ष लोह–सारके बन जाते है और जहॉ लोह–सारके दुर्ग हैं वे तत्क्षण ही कुसुमोंके कुञ्ज हो जाते हैं ।

यह सम्पूर्ण लोक ही एक क्षणमें अदर्शित हो जा सकता है और भगवतीका सकल्प हो तो कहीं भी व्यक्त हो जाता है । यह सर्व–भवन–समर्थ है । यह सम्पूर्ण लोक एक पुष्पमे भी परिणत हो सकता है और सारे ब्रह्माण्डोंको अपनेमें आवृत कर सकता है । जैसे भगवती त्रिपुराका स्वरूप अवाङ्मनस् अगोचर है, वैसे ही उनके धामका तत्व भी मन, बुद्धिसे परेका है। वैसे यदि सत्य कहा जाये तो अरूप ही इसका महामहिमामय रूप है और सर्वरूपता ही इसकी अरूपता है, साथ ही यह रूप, अरूप दोनोंसे ही पूर्णतया अतीत, निरपेक्ष, अनिर्वचनीय विलक्षण है ।

पू. गुरुदेव कहते थे कि इस मणिद्वीपमें प्रवृत्ति समूहका आत्यन्तिक उच्छेद होने पर ही प्रवेश प्राप्त होता है । जीव–कोटि ईश्वर–कोटिमें जब तक प्रविष्ट नहीं होता, मणिद्वीप तो दूर रहा, ब्रह्माण्डोंमें भटकना ही स्थगित नहीं होता । अतः जब परम सौभाग्यवान् कृपापात्र जीव सभी प्राकृत सृष्टिको

अतिक्रमणकर अमृत समुद्रको भी पार कर जाता है, तभी दिक् कालातीत चिन्मय भूमिमें प्रवेश पाता है ।

पू. गुरुदेव कह रहे थे कि कल्पवृक्ष वाटिकाओंको घेरे कॉसे एव तॉबे के अरुणवर्णके प्राचीर हैं एव इनके चारों ओर विशाल बावडियॉ हैं और सुन्दर द्वार-युक्त रत्नोंके महल हैं । इनमें वसन्त ऋतु अपनी मधु एव माधवी शक्तियों सहित निवास करती है । कल्पवृक्ष-उद्यान एव वाटिकाएँ है । इन अपने स्व-परिजनों सहित पराम्बिकाकी सेवा करता यहॉ वसन्त परम शोभा को प्राप्त करता है । सुन्दर बावडियोमें विशाल पद्मिनी खिली रहती हैं । इनकी विशेषताएँ शास्त्रोंमें जैसा वर्णन है उससे अधिक ही हैं, उनसे न्यून सर्वथा नहीं है । शास्त्रोंमें लिखी बातोको कभी अतिशयोक्ति नहीं माननी चाहिये । ऋषियोने सत्य अनुभव करके सब लिखा है ।

### (सन्तान-पारिजात वाटिकाएँ)

सन्तान वाटिकाओ एवं पारिजात वाटिकाओके रूप एव शोभामें थोडा ही अन्तर है । ये सन्तान वाटिकाएँ शीशेके प्राकारोसे घिरी हैं । यहॉ ग्रीष्मऋतु अपनी शुक्र एव शुचि (ज्येष्ठ तथा आषाढ) नामक शक्तियों सहित रहती है । अमृतके समान मीठे रसोसे भरे फलोंकी यहॉ प्रचुरता है । फलोमें अति सुमिष्ट आम्र एव जामुन बहुतायतसे होते हैं । सताप-तप्त प्राणियोको यहॉ वृक्षोंकी छायामें बहुत ही सुख-शान्ति प्राप्त होती है । सिद्धों एव देवताओंसे सन्तान वाटिकाका कोना-कोना भरा रहता है ।

### (हरिचन्दनकी वाटिकाएँ)

पीतलके परकोटेसे आवृत हरिचन्दनकी वाटिकाएँ हैं । यह मलय चन्दनसे विकसित मलय पर्वत है । यहॉ वर्षा-ऋतु रत्नखचित स्वर्ण-महलोमे रहती है । वर्षा ऋतुकी श्रावण एव भाद्रपद (नभ श्री अथवा नभस्य श्री) नामक दो प्रमुख शक्तियॉ हैं । यहॉ मलय-चन्दन वृक्षोंकी शोभा दर्शनीय है। वर्षा ऋतुके नेत्र पिगलवर्णी हैं और वह मेघरूपी कवचको धारण किये रहती है । धाराकी तरह बरसती वर्षाकी बूँदे इसके बाण हैं । अपने गणोंको लेकर जलधारा बरसाना इसका कार्य है । इसके अतिरिक्त वर्षा ऋतुकी दस और शक्तियॉ यहॉ निवास करती है । इन शक्तियोंके नाम क्रमश निम्न हैं स्वरस्या, रस्यमालिन, अम्बादुला, निरत्नि, अभ्रमन्ती, मेघयन्तिका, वर्षयन्तती, चिबुणिका, वारिधारा एवं सम्मता । वापी, कूपादि बनवाकर जो लोग पुण्यलाभ करते हैं, वे देवीभक्त यहॉ आनन्दपूर्वक निवास करते हैं ।

### (मन्दार वाटिका)

इसके पश्चात् पच लोहमय परकोटेसे घिरी मन्दार वाटिका है । यह ताम्र, पीतल, रागा, शीशा एवं लोहेके मिश्रणसे बना विचित्र परकोटा है । शरद ऋतु अपनी इव (आश्विन) एव ऊर्ज (कार्त्तिक) इन दो शक्तियो सहित यहाँ विराजमान रहती हैं ।

### (पारिजात वाटिका)

चाँदीके परकोटोसे घिरी पारिजात वाटिका है, यहाँ हेमन्त ऋतु अपनी मार्गशीर्ष (सहश्री) एव कार्तिक (सहस्यश्री) शक्तियों सहित सुशोभित है । देवी भागवतानुसार भगवतीके भक्त जो कृच्छ्र एव चान्द्रायण आदि व्रत करते हैं, यहाँ निवास करते हैं ।

### (कदम्ब वन–वाटिका)

चाँदीके परकोटेके पश्चात् सुवर्ण निर्मित प्राचीर है । इसके मध्य कदम्ब–वन है । कदम्बके फलोसे रसमयी हाला टपकती रहती है, जिसकी सुगन्ध सर्वत्र व्याप्त रहती है । यहाँ भ्रमरोंका सुमधुर सगीत गुजारित रहता है। आनन्दपूर्ण गीतोके मधुर लास्यसे यह समृद्ध है । पक्षियोंका चाटुकारितापूर्ण कलरव यहाँ सर्वत्र होता रहता है । यहाँ सर्वमोहनकारिणि मंत्रिणी देवी निवास करती है । इनका नाम सगीतमातृका मातगीदेवीके नामसे भी विख्यात है । इन देवीके पार्श्वमें शुकी, आद्या, श्यामला (काली चिडिया) सारिकाएँ एव हर्षान्तिका नामक स्त्री जातिकी पक्षी चहकती रहती है । ये पक्षी वीणा एव वेणुकी हूबहू नकल कर लेती हैं । मातेश्वरी मत्रिणीदेवी को श्यामला राजपूर्वा भी कहते हैं । लघुपूर्विका श्यामला जो इनकी ही कोटिकी मातेश्वरी है, यहाँ मन्द मधुर स्वरमे गायन करती रहती हैं । इन मत्रिणीदेवीको आठो दिशाओसे श्रीमातृका एव उनकी प्रिय–पात्री देवियाँ घेरे रहती हैं। ये सभी समान कोटिकी देवियाँ हैं ।

शिशिर ऋतु एव इसके आदरणीय देवता यहाँ निवास करते है । "तपश्री" एव "तपस्यश्री" इन दो भार्याओं सहित ये परम प्रसन्न रहते हैं । जो गो एव भूमिदान करते हैं उन भगवतीके उपासक सिद्ध पुरुषोको यह लोक प्राप्त होता है ।

### (पुष्पराग रत्नप्राकार)

इस पुष्पराग रत्नप्राकारके अन्दर भगवान् सिद्धेश अपने सिद्धों सहित भगवती परादेवीका ध्यान करते रहते हैं । यहाँकी भूमि एव वन उपवन सभी पुखराजकी शोभा वाले प्रतीत होते हैं । यहाँकी बालुका पुष्पराग रत्नमय है।

जिस रत्नका प्राचीर है, उसी रत्नके यहाँ वृक्ष, पृथ्वी, जल, मण्डप, खम्भे, सरोवर आदि हैं । यहाँ सभी वस्तुएँ पुष्पराग मणि निर्मित है । इन सभी परकोटोकी शोभा, एक दूसरेसे लाखगुनी अधिक शोभामयी है । प्रत्येक ब्रह्माण्डमे रहने वाले इन्द्रादि दिक्पाल अपना -अपना समाज बनाकर हाथोमें उत्तम आयुध लिये यहाँ निवास करते हैं ।

(पद्मराग मणि प्राकार)

पुष्पराग मणिके प्राकारके आगे कुकुमके समान अरुण–विग्रहवाला पद्मरागमणिका एक परकोटा है । इसके मध्यकी भूमि भी इसी पद्मरागमणि के वर्णकी है । अग्नि शिखाके समान तेजोमयी ज्योति इससे झलमल -झलमल निकलती रहती है । यहाँ चारणगण अपनी पत्नियों सहित निवास करते हैं और बहुल सी भाषाओंमें भगवतीकी अनवरत स्तुति करते रहते है ।

कुछ शास्त्रोमें ऐसा वर्णन आता है कि रत्नमय भूषणोसे भूषित भगवतीकी कलाएँ चौसठ रूपोमें यहाँ निवास करती हैं । इन कलाओके नाम हैं – पिगलाक्षी, विशालाक्षी, समृद्धि, वृद्धि, श्रद्धा, स्वाहा, स्वधा, अभिख्या, माया, सज्ञा, वसुधरा, त्रिलोकधात्री, सावित्री, गायत्री, त्रिदशेश्वरी, सुरूपा, बहुरुपा, स्कन्दमाता, अच्युताप्रिया, विमला, अमला, अरुणी, आरुणी, प्रकृति, विकृति, सृष्टि, स्थिति, सहृति, माता, सध्या, परमसाध्वी, हरी, मर्दिका, वज्रिका, देवमाता, भगवती देवकी, कमलासना, त्रिमुखी, सप्तमुखी, सुरासुर विमर्दिनी, लम्बोष्ठी, ऊर्ध्वकेशी, बहुशीर्षा, वृकोदरी, रथरेखा, शशिरेखा, गगनवेगा, पवनवेगा, भुवनपाला, मदनातुरा, अनग, अनगमथना, अनगमेखला, अनगकुसुमा, विश्वरूपा, सुरादिका, क्षयकरी, शक्ति अक्षोभ्या, सत्यवादिनी, बहुरूपा, शुचिव्रता, वागीशी और उदारा ।

(गोमेद–रत्न प्राकार)

यहाँ सकर्षिणीदेवी अपने बटुकोंसे घिरी रहती हैं । इन बटुकोके असख्य भैरव नायक हैं । इनका ही नाम कराला भी है । ये काले मेघकी सी कान्तिवाली हैं एव करवाल आयुध धारण किये हैं । ये आठ कोटि भैरवो, बतीस कोटि बटुकों एवं अष्ट सुभैरवोंकी स्वामिनी हैं । ये महाराज्ञी त्रिपुराका ध्यान करती विराजमान रहती हैं ।

(वज्ररत्न प्राकार)

इसके आगे हीरेका बना प्राकार है । इसके अनेक गोपुर एव द्वार हैं। इसके मध्यकी भूमि वज्रमयी है । बडे–बडे महल, गलियाँ, चौराहे, राजमार्ग, वृक्ष, लतायें, पक्षी, सभी वज्रमणिकी आभा लिये यहाँ चमकते रहते हैं । यहाँ

भगवतीकी परिचारिकाएँ रहती हैं । एक–एक परिचारिकाकी सेवामें नाना सामग्रियों से युक्त लाखो दासियाँ रहती हैं। ये देवीकी दूतिका कहलाती हैं। ये नित्य अक्षुण्णयौवना हैं और अति सुन्दर वस्त्र पहनती हैं । इनके अंग विद्युत्के समान द्युतिमान हैं ।

ये सभी कलाओमे कुशल है । इस वज्रमणि रचित चार–दीवारीकी आठों दिशाओमे भाँति–भाँतिके वाहनोंसे सम्पन्न दूतियोंके निवास हैं ।

यहाँ वज्रा नदी हीरोसे भरी बहती है । यह इस प्राकारकी परिक्रमा करती सुधा–समुद्रमे मिल जाती है । यहाँ वज्रश्वरीदेवी निवास करती हैं । ये वज्रमणिके भूषणोसे भूषित है । इन्द्रप्रमुख वज्रधारी देवगणोंसे ये सुपूजित है । ये अपने उपासकों को वज्रस्थिति का दान करती हैं । इनके साधक साधनामे अडिग, अचल, स्थाणु एव स्थिर रहते हैं । जब चित्त निष्काम हुआ निस्पन्द हो जाता है, तभी वज्रदान मानना चाहिये ।

### (वैदूर्य रत्न प्राकार)

इसके पश्चात् वैदूर्य रत्नका प्राकार है । गोपुर एवं विशाल द्वारोसे युक्त इसके ऊँचे शिखर हैं । यहाँ कद्रूके पुत्र नागगण पराम्बाके चरणकमलोका ध्यान करते है । यहाँ ब्राह्मी आदि सप्त -मातृकाओंका भी निवास है । इनके नाम हैं ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा । ये सप्त मातृकाओके नामसे विख्यात है । आठवीं मातृका महालक्ष्मी हैं । इनके आकार प्रकार ब्रह्मा, रुद्र, कुमार (भगवान कार्त्तिकेय) विष्णु, वाराह, इन्द्र और दुर्गाके समान हैं । इनके वाहन भी हस, वृषभ, मयूर, गरुडादि है ।

### (इन्द्रनीलमणि प्राकार)

श्रीदेवीभागवतानुसार इस इन्द्रनीलमणि प्राकारमे अनेक योजन विस्तृत कमल है । यह परम प्रकाशमान है, मानो सोलह अरोवाला सुदर्शन चक्र ही हो। इन सोलह दलोमे परम प्रकाशमान सोलह देवियाँ निवास करती हैं । इनके नाम हैं – कराली, विकराली, उमा, सरस्वती, श्री, दुर्गा, उषा, लक्ष्मी, श्रुति, स्मृति, धृति, श्रद्धा, मेधा, मति, कान्ति एव आर्या ।

ये सोलहो शक्तियां नीले मेघके समान श्यामवर्णा हैं । ये भगवती जगदम्बा श्रीदेवीकी सेना नायिकाएँ हैं । सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंकी समग्र शक्तियोंकी ये स्वामिनी हैं । सहस्र मुखवाले शेष भगवान् भी इनके पराक्रमका बखान नहीं कर सकते ।

### (मुक्तामणि प्राकार)

इसके पश्चात् मुक्ता मणियोंका प्राकार है । इसमें दसों दिशाओके

दिक्पाल निवास करते है । यहॉ स्वर्णताल वृक्षोंका वन है । यहॉ के तालवृक्ष स्वर्णिम शोभा लिये हैं । इनमेंसे माध्वीक झरती रहती है । इस माध्वीककी महकसे सम्पूर्ण वन महक रहा है । यहॉ श्रीदण्डिनीदेवी (यमशक्ति) दण्ड विधान करती विराजित रहती हैं । इनके नेत्र तालमधुके सेवनसे सदा ऊन्मिषित रहते हैं । इनका मन आनन्द -सिन्धुकी ऊर्मियोमें लहराता मस्त रहता है । ये सदा स्वप्न देखती रहती हैं स्वप्न यहॉ सूक्ष्मदशाका ही प्रतीक है । दण्ड– विधान मृत्युके उपरान्त सूक्ष्म शरीर पर ही होता है ।

**(मरकतमणि प्राकार)**

यहॉ भगवती भुवनेश्वरीका षट्कोण वाला यत्र है । इस यत्रके पूर्व कोणमे चतुर्मुख ब्रह्माजी अपनी शक्ति गायत्रीके साथ निवास करते हैं । ये कमण्डलु, अक्षसूत्र, अभय मुद्रा, दण्ड एव श्रेष्ठ आयुध धारण किये रहते हैं। भगवती गायत्रीके भी इनके समान ही आयुध है । वेद एव सभी शास्त्र यहॉ मूर्तिमान विराजते है । सम्पूर्ण स्मृतियॉ और पुराण भी यहॉ जीवन्त स्थित है। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण व्याहृतियॉ भी यहॉ मूर्त रूपसे उपस्थित रहती हैं ।

इस यत्रके नैऋत्य कोणमे शख, चक्र, गदा एव पद्म धारण करने वाली भगवती सावित्री निवास करती है । उनके साथ भगवान् विष्णु भी निवास करते हैं । मत्स्य, कूर्म आदि जो महा विष्णुके अवतार हैं वे सभी अपने–अपने निश्चित स्थानोमे यहॉं निवास करते है।

वायव्य कोणमें भगवान् रुद्रका निवास है । वे फरसा, अक्षमाला, अभय एव वर मुद्रा धारण किये निवास करते हैं । इनके साथ भगवती सरस्वती इसी वेषमे विराजती है । दक्षिणामूर्त्ति भेदसे जितने भी रुद्र हैं एव गौरी आदि भदसे जितनी पार्वती है सभी यहॉ निवास करती हैं । चौसठ प्रकारके आगम शास्त्र एव अन्य शास्त्र सभी मूर्तिमान होकर यहॉ निवास करते हैं ।

अग्निकोणमे धनके स्वामी कुबेर अपने दोनो हाथोंसे रत्नमय कलश एव मणि करण्ड लिये रहते हैं । ये अनेक प्रकारकी महालक्ष्मियोसे सयुक्त हैं । अपने गणों सहित ये कुबेर भगवती जगदम्बाके कोषकी रक्षा करते हैं ।

वरुण कोणमे (पश्चिम) रतिके साथ कामदेव विराजित है । ये अपने हाथमे पाश, अकुश, धनुष एव पचबाण रखते हैं । श्रृगार मूर्त्तिमान हुआ यहॉ निवास करता है ।

ईशान कोणमें विघ्नों पर शासन करने वाले गणेशजी भगवती पुष्टिदेवीके

सहित निवास करते हैं श्रीगणेशजीकी जितनी भी विभूतियॉ हैं, सभी महान् ऐश्वर्योसे सम्पन्न यहॉ सुशोभित हैं । यहॉ जो ब्रह्मादि देवता हैं उनकी छायासे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मा सत्ता पाते हैं । इसी प्रकार सभी देवताओंकी सत्ता समझनी चाहिये । इन सभीके द्वारा भगवती जगदीश्वरीकी सेवा होती रहती है।

(विद्रुम प्राकार)

इसके पश्चात् विद्रुमका प्राचीर है । इस प्रवालके प्राकारका विशुद्ध कुकुम वर्ण है । इसके मध्य भागमे पचभूतोके आकाशाभिमानी, वायु अभिमानी, तेजाभिमानी, जल एवं धराके अभिमानी देवता निवास करते हैं । इनकी पॉच शक्तियॉ हैं – आकाश की गगना शक्ति है, वायुकी करालिका शक्ति है, तेजकी महोच्छुष्मा शक्ति है एव जलकी रक्ता तथा पृथ्वीकी हृल्लेखा शक्ति है । ये सभी शक्तियॉ पाश, अकुश, वर एव अभय मुद्रा धारण करने वाली चतुर्भुजा हैं। ये आभूषणोंसे सदा अलकृत रहती हैं । इनमें नूतन तारुण्यका गर्व भरा रहता है। वेषभूषामें ये भगवती जगदम्बाके समान है ।
श्रीमणिद्वीप धामको प्रकट करनेके पूज्य गुरुदेवके आगेके मन्त्र निम्न थे
(१९) ऐं ह्रीं श्रीं माणिक्य मण्डपाय नम
(२०) ऐं ह्रीं श्रीं सहस्रस्तभ मण्डपाय नम
(२१) ऐं ह्रीं श्रीं अमृतवापिकायै: नम
(२२) ऐं ह्रीं श्रीं आनन्द वापिकायै नम
(२३) ऐं ह्रीं श्रीं विमर्श वापिकायै नम
(२४) ऐं ह्रीं श्रीं बालातपोद्गाराय नम
(२५) ऐं ह्रीं श्रीं चन्द्रिको द्गाराय नम
(२६) ऐं ह्रीं श्रीं महा श्रृगार परिधायै नम
(२७) ऐं ह्रीं श्रीं महापद्माटव्यै नम.
(२८) ऐं ह्रीं श्रीं चिन्तामणि गृहराजाय नम
(२९) ऐं ह्रीं श्रीं पूर्वाम्नाय मय पूर्व द्वाराय नम
(३०) ऐं ह्रीं श्रीं दक्षिणाम्नाय मय दक्षिण द्वाराय नमः
(३१) ऐं ह्रीं श्रीं पश्चिमाम्नाय मय पश्चिम द्वाराय नमः
(३२) ऐं ह्रीं श्रीं उत्तराम्नायमय उत्तर द्वाराय नमः
(३३) ऐं ह्रीं श्रीं रत्नप्रदीप वलयाय नम
(३४) ऐं ह्रीं श्रीं मणिमय सिहासनाय नमः
(३५) ऐं ह्रीं श्रीं ब्रह्ममयैक मञ्चपादाय नम

(३६) ऐं ह्रीं श्रीं विष्णुमयैक मञ्चपादाय नमः
(३७) ऐं ह्रीं श्रीं रुद्रमयैक मञ्चपादाय नमः
(३८) ऐं ह्रीं श्रीं ईश्वरमयैक मञ्चपादाय नम
(३९) ऐं ह्रीं श्रीं सदाशिवमयैक मञ्चपादाय नम
(४०) ऐं ह्रीं श्रीं हंसतूलिका तल्पाय नम
(४१) ऐं ह्रीं श्रीं हंसतूलिका महोपधानाय नम
(४२) ऐं ह्रीं श्रीं कौसुम्भास्तरणाय नम
(४३) ऐं ह्रीं श्रीं महा वितानकाय नम
(४४) ऐं ह्रीं श्रीं महा माया यवनिकायै नम

(माणिक्य मण्डप)

विद्रुमके आकारके अन्तर्गत ही माणिक्य मडप है । यह माणिक्य मंडपकी छत ऐसी ज्योतिर्मान है कि इनको देखकर ऊपर निकलने वाले भगवान् सूर्यदेवके घोडे संध्याकाल हो गया, मानकर मध्याकाशमे ही अपनी गति धीमी कर देते हैं।

(सहस्रस्तंभ मण्डप)

श्रीदेवीभागवतानुसार विद्रुम प्राकारमें ही भगवतीके हजार–हजार स्तभोंसे युक्त चार मण्डप हैं । पहला श्रृगार मण्डप है, दूसरा मुक्ति मण्डप है, तीसरा ज्ञान मण्डप और चौथा एकान्त मण्डप है । इन मण्डपोमें अनेक प्रकारके रत्नोसे जडी चॉदनियॉ तनी हैं । भॉति-भॉतिके सुन्दर धूपसे ये मण्डप नित्य सुवासित रहते है । ये सुन्दर मण्डप कान्तिमे करोडो सूर्योके समान प्रकाशमान है । इन मण्डपोके चतुर्दिक् केसर, मल्लिका एव कुन्दकी वाटिकाएँ हैं । इन वाटिकाओंमें पुष्कल गन्धवाले, परिपूर्ण मदस्रावी असख्य दिव्य भृग विराजमान है । चारो मण्डपोके सभी ओर महा पद्माटवी है ।

पहला श्रृगार मण्डप है, उसके मध्य भागमें एक दिव्य सिहासनपर देवी विराजमान है । वहॉ सभासदके रूपमे रहने वाले प्रधान देवता, देवागनाएँ तथा अप्सराएँ विविध स्वरोमे भगवती जगदम्बाके सामने गान करती हैं । दूसरा मुक्तिमण्डप है । इसके मध्यभागमें कल्याणमयी भगवती शिवा प्रत्येक ब्रह्माण्ड-निवासी भक्तोको सदा मुक्ति प्रदान करती है । तीसरे मण्डपका नाम ज्ञान मण्डप है । भगवती वहॉ विराजमान होकर ज्ञानका उपदेश करती हैं। एकान्त सज्ञक चौथे मण्डपमें भगवती जगदम्बा अनगकुसुमा आदि सचिवा शक्तियोके साथ बैठकर जगत्की रक्षाके विषयमें सदा परामर्श करती हैं ।

### (अमृत वापिका)

श्रीत्रिपुरा रहस्य नामक ग्रन्थके माहात्म्य खण्डके अनुसार अरुणारुण वर्णका मनोमय शिखर है । सम्पूर्ण विश्व सृष्टिमे जहॉ कहीं भी मनकी सत्ता है इस मनोमय शिखरसे ही है । यहॉ इसके बीचोबीच खाईकी आकृतिकी एक अमृतसे भरी बावडी है । इसके तीन अशमें जलमे पद्म प्रफुल्लित है और एक स्थानमे पृथ्वी है । यहॉ हस कारण्डव, सारस और कोकपक्षी विराजित हैं । इस सुन्दर शोभायुक्त हृदमें नवरत्नोंसे जिजडित नौकामे भगवती तारादेवी पद्मासनमे विराजित रहती हैं । ये भक्तोंको मोक्ष-प्रदायिनी हैं । इनकी नौकाके चतुर्दिक् असख्य रत्नमयी नौकाएँ हैं । इन नौकाओंमे भगवती तारादेवीकी असंख्य शक्तियॉ सुविराजित रहती है । ये सभी शक्तियॉ तभी क्रियाशील होती हैं जब इन्हें जीवको तारनेकी दण्डिनी शक्ति द्वारा अनुमति प्राप्त हो जाती है । श्रीदण्डिनीशक्तिकी अनुमतिके बिना तो जीव इन तक पहुँच ही नहीं पाता ।

### (आनन्द वापिका)

इस मनोमय शिखरके पश्चात् बुद्धिमय शिखर है । देव, दनुज, मानव, ऋषि, मुनि, सिद्ध कहीं भी किसी भी प्राणी मे जो बुद्धिकी सत्ता है, सबका मूल उद्गम-स्थल स्रोत ये ही शिखर हैं । यह शिखर चन्द्र बिम्बके समान विशद शोभाशली है । यहॉ सम्पूर्ण मनोहारी दृश्यावलियोसे सुशोभित आनन्दकी स्रोतस्विनी, "आनन्दवापी" है । यहॉ अमृतेशी देवी नौका स्थित निज स्वरूपभूता शक्तियोसे घिरी रहती हैं । इस आनन्दवापिकामे आमोदसे परिपूर्ण सुरानन्दमयी देवी भी निवास करती हैं । अमृतेशानीदेवीकी कृपाके बिना दिव्य चिन्मयी ज्ञान सुराका कोई भी पान नहीं कर सकता । अमृतेशानी देवी द्वारा अभिरक्षित इस आनन्दवापीको पार करना असभव सा ही है ।

### (विमर्श नाम्नी अन्तर्वापिका)

इसके आगे कृष्ण वर्ण वाला नील मेघके समान प्रकृष्ट शोभाशाली अहकारमय प्राचीर है । विश्व-सृष्टिमें समस्त जीवोंमे जो "अहकार" है, उसका उद्गम इसी प्राचीरसे है । इसके भीतर ज्ञान रूपी रससे निरन्तर भरी प्रवहमान अत्यन्त एव शीतल विमर्श नाम्नी अन्तर्वापिका है। यहॉ इस विमर्श वापिकामें नौकामें स्थित माहेश्वरी कुरुकुल्लादेवी विराजित है । उनकी आज्ञाके बिना इस रसका कियदश भी कोई नही पा सकता । इस विमर्श रूपी रसका लेश मात्र भी कोई पान कर ले तो उस व्यक्तिके समस्त अज्ञान जन्य

ताप सदा–सदाके लिये मिट जाते हैं । वह कृपापात्र जगत्तत्वका रहस्य अनावृत देखता है ।

(बाला–तपोद्वार)

इसके पश्चात् सूर्यात्मक प्राचीर है । यहाँ कमलासन पर बारह रूपधारी मूर्तिमान मार्तण्ड भैरव अपने गण सूर्यो सहित विराजित है । इनके दुर्धर्ष प्रकाश-पुञ्जोसे यह नित्य द्योतित है । ये अनन्त सूर्योके समान परम तेजस्वी मार्तण्ड भैरव भगवतीकी उपासना करते हुए यहाँ तप करते है ।

(चन्द्रिका द्वार)

यहाँ चन्द्रमाके आवरणमे ही एक श्रृगार प्रासाद है, जो अनन्त अलौकिक विचित्रताओंको लिये है । यह प्रासाद कौस्तुभ मणियोंसे विजडित है । इसके मध्य मूर्तिमान श्रृगार रससे परिपूर्ण एक खाई है । इसमें कौस्तुभ मणियोसे जटित एक बडी नौकामे जिसका नाम ही श्रृगार है भगवान् (कामदेव) कन्दर्प परम प्रेमपूर्वक भगवती रतिसे आलिंगित विराजमान है । ये दोनों रति कन्दर्प भगवती त्रिपुराके अग्रगण्य भक्त है । ये अपने गणोंसे सेवित और सदा आनन्दित रहते है ।

(पद्माटवी)

इन सभी प्राचीरोंको घेरे हुए महासौरभसे पूर्ण महापद्मोंसे भरा पद्मवन है । इस पद्मवनमें जो कमल खिले है– उनके नाल, दण्ड, पत्र, केसर एवं कर्णिकाएँ अत्यत ही दीर्घाकार हैं ।

(चिन्तामणि गृहराज)

इस पद्मवनमें भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरीदेवीका अत्यन्त प्रकाशमान उज्ज्वल प्रभायुक्त गृह है । यह चिन्तामणियोंसे निर्मित है । यह अलौकिक विचित्रताओसे भरा है । इसके चार द्वार हैं । इन दरवाजोंके परम पुष्ट दिव्य आधार हैं। इस गृहकी आधार भगवतीकी कला अग्नि है जो यहाँ मूर्तिमती हैं । यह चिन्तामणि गृहराज गोलाकार है और यहाँ बारह कलाओंसे युक्त सूर्य रूप पात्र रखे हैं । यहाँ एक हजार योजन विस्तार वाला षोडश कलाओंसे युक्त चन्द्रमा है । इस चन्द्रमामें पूर्ण सुस्वादु अमृतासव भरा है । अति मनोहर सुगन्ध इसमे महक रही है । इन आसवामृत तरंगोंसे क्रीडा करता चन्द्रमा जलयानमें आसीन भगवतीके गुण गान गाता है ।

मूल–प्रकृति भगवती श्रीसुन्दरीके इस शक्ति तत्व किंवा उनकी दस महाविद्याएँ सोपान रूपसे यहाँ उपस्थित हैं । इनसे युक्त भगवतीका परमोच्च मंच महान् शोभा पाता है ।

इसके चार द्वार है । पूर्व द्वारमें पूर्वाम्नाय संज्ञक आगम प्रसिद्ध देवताओंके भव्य भवन हैं ।

### (पूर्वाम्नायमय पूर्वद्वार)

यहाँ समस्त देवगण मुक्ता-पत्र छायामें बैठे है एवं पद्मरागारूण वस्त्र धारण किये हैं, मुक्ताके आभरण धारण किये हैं, मालाएँ और चन्दनादि लेपन किये है-पाश, अंकुश, वर एवं अभयमुद्रा धारण किये हैं, रत्नमुकुट उनके सिर पर जगमगा रहे है और उस पर चन्द्रलेखा विराजित है ।

पूर्वाम्नायमय पूर्व द्वारमे गुरु, परमगुरु एवं परमेष्ठिगुरुका स्थान है । फिर महागणपति देवका निवास है । पूर्व द्वारमे कामगिरिपीठ ब्रह्मात्मशक्ति, पूर्णगिरिपीठ विष्णुरूप आत्मशक्ति एवं जालन्धरपीठमें रुद्रात्मशक्तिका निवास है ।

यहाँ शुद्ध विद्याम्बा, बाला भगवती, द्वादशार्घाम्बा, मातंगिनी देवी, हसन्ती श्यामला देवी अम्बा, श्रीशुक श्यामलाम्बा, श्रीसारिका श्यामलाम्बा, श्रीवीणा श्यालाम्बा, श्रीवेणु श्यामलाम्बा, श्रीलघु श्यामलाम्बा, गायत्र्यम्बा, क्षिप्र गणपति, सिद्ध गणपति, नवनीत गणपति, शक्ति गणपति, उच्छिष्ट गणपति, एकाक्षरी गणपति, भगवान् कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य, स्कन्द, मृत्युञ्जय मनु, नीलकण्ठ मनु, त्र्यम्बक मनु, जातवेदो मनु, प्रत्यंगिरा मनु, ब्राह्मी प्रत्यंगिरा, नारायणी प्रत्यंगिरा, रौद्री प्रत्यंगिरा, उग्रकृत्या प्रत्यंगिरा, अथर्वण भद्रकाली प्रत्यंगिरा, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, विद्येश्वरी उन्मोदिनी देव्यम्बा आदि देवता निवास करते हैं । इन सभी देवताओंके भव्य भवन चिन्तामणियोंसे ही बने हैं । यहाँ तडाग पोखरे सब चिन्तामणि निर्मित हैं । इन सबके करोडों मंत्र यहाँ मूर्त्त हुए निवास करते है।

### (दक्षिणाम्नायमय दक्षिणद्वार)

यहाँ दक्षिणद्वार गुरुमण्डल, अष्टभैरव-(महामन्थान भैरव, खचक्र भैरव, फट्कार भैरव, एकात्मानन्द भैरव, रविभक्षण भैरव, चण्ड भैरव, नभोनिर्मल भैरव, डमर भास्कर भैरव) सिद्धौघ-(महादुर्मनाम्बा सिद्ध, सुन्दर्यम्बा सिद्ध, विश्वदलनाम्बा सिद्ध, कपालिकाम्बा सिद्ध, बडवाम्बा सिद्ध, भीमाम्बा सिद्ध, कराल्यम्बा सिद्ध, खराननाम्बा सिद्ध, शालिनाम्बा सिद्ध) बटुक त्रय (स्कन्द वटुक, चित्रवटुक विरञ्चिबटुक) पदयुग (प्रकाश एवं विमर्श) सौभाग्य विद्याम्बा, बगलामुखी देवी, वाराही मनु, वटुक मनु, तिरस्करिणी मनु, महामाया, अघोर मनु, शरभ मनु, भेताल मनु, खड्गरावण मनु, वीरभद्र मनु, रौद्रमनु, शास्तृ मनु, पाशुपतास्त्र मनु, ब्रह्मास्त्र मनु, वायव्यास्त्र मनु, भैरव (उग्र भैरव, अंग भैरव,

अघोर भैरव, भीम भैरव, विजय भैरव, रक्त भैरव, स्वर्णाकर्षण भैरव) दक्षिणामूर्ति (मेधा दक्षिणामूर्ति, लक्ष्मी दक्षिणामूर्त्ति, कीर्त्ति दक्षिणामूर्त्ति, ज्ञान दक्षिणामूर्त्ति, साम्ब दक्षिणामूर्त्ति, वीर दक्षिणामूर्त्ति, संहार दक्षिणामूर्ति, अपस्मारनिवर्तक दक्षिणामूर्त्ति, विष्णु, दक्षिणाम्नाय समय विद्येश्वरी भोगिनी देव्यम्बा, आदि देवता एव इनके सभीके मत्र मूर्त्तिमान हुए दक्षिण द्वारमें निवास करते है ।

**(पश्चिमाम्नाय द्वार)**

पश्चिमाम्नाय के निम्न अधिदेवता हैं– गुरुमण्डल (योनि–अम्बा–दूती, योनिसिद्धनाथाम्बादूती, महायोनि अम्बादूती, महायोनि सिद्ध नाथाम्बा दूती, दिव्ययोनि अम्बादूती, दिव्ययोनि सिद्धनाथाम्बा दूती, शखयोनि अम्बादूती, शखयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती, पद्मयोनि अम्बादूती, पद्मयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती) मण्डल (वह्निमण्डल, सूर्यमण्डल, सोममण्डल) वीर द्वि अष्टक (सृष्टिवीरभैरव, स्थितिवीरभैरव, सहारवीरभैरव, रक्तवीरभैरव, यमवीरभैरव, मृत्युवीर भैरव, भद्रवीरभैरव, परमार्कवीरभैरव, मार्तण्डवीरभैरव, कालाग्निवीरभैरव) चौसठ सिद्ध– मगलानाथ, चाण्डिकानाथ, ज्येष्ठानाथ, कन्तुकिनाथ, पटहानाथ, कूर्मानाथ, धनदा, गन्धा, गगना, मतगा, चम्पका, कैवर्ता, मातगगमना, सूर्यभक्षा, नभोभक्षा, स्रोतिका, रूपिका, दष्ट्रा, धूम्राक्षा, ज्वाला, गान्धारा, गगनेश्वरा, माया महामाया, नित्या, शान्ता विश्वा, कामा, उमा, श्रिया, सुभगा, विद्या, महाविद्या, अमृता, चन्द्रानाथ, अन्तरिक्षानाथ, सिद्धा, श्रद्धा, अनन्ता, शम्बरा, उल्का, त्रैलोक्या, भीमा, राक्षसी, मलिनानाथ, प्रचण्डानाथ, अनगा, त्रिविधा, अनभिहिता, नन्दि, महामना, सुन्दरा, विश्वेश्वरा, काला, महाकाला, अभया, विकारा, महाविकारा, सर्वगा, सृगाला, पूतना, शर्वरी, व्योमा, पूर्णानाथ । लोपामुद्रामनु, भुवनेश्वरीमनु, अन्नपूर्णामनु, कामकलामनु, सुदर्शनमनु, गरुडमनु, कार्त्तवीर्यमनु, नृसिंह मनु, नामत्रय मनु, (अच्युत, अनन्त एव गोविन्द) राममनु, सीतामनु, गोपालमनु, सौरमनु, धन्वन्तरिमनु, इन्द्रजालिमनु, इन्द्र, अग्नि, यम, चित्रगुप्त, निऋति, वरुण, वायु, कुबेर, रुद्र मनु, इन्द्राक्षीमनु, दत्तात्रेय, वासुदेव, नारायण, रुद्र, विद्येश्वरी कुब्जिकादेवी अम्बा–ये सभी देवगण अपने अपने मन्त्रो सहित पश्चिमाम्नाय रूप पश्चिम द्वार में स्थित हैं ।

**(उत्तराम्नाय रूप उत्तर द्वार)**

नवमुद्रा, (सर्वसक्षोभिणी मुद्रा, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशकरीमुद्रा, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहाकुशा, सर्वखेचरी, सर्वबीज, सर्वयोनि) वीरावली पचकमनु (ब्रह्म वीरावली, विष्णुवीरावली, रूद्रवीरावली, ईश्वरवीरावली, सदाशिववीरावली) तुरीयमनु, महार्घामनु, अश्वारूढ़मनु, विश्राम्बामनु, वाग्वादिनीमनु, दुर्गामनु (वन

दुर्गाम्बा, शूलिनी दुर्गाम्बा, जातवेदो दुर्गाम्बा, शान्तिदुर्गाम्बा, शबरि दुर्गाम्बा, ज्वल दुर्गाम्बा, लवण दुर्गाम्बा, दीप दुर्गाम्बा, असुर दुर्गाम्बा) कालीमनु, चण्डीमनु, नकुलीमनु, पुलिन्दिनीमनु, रेणुकामनु लक्ष्मीमनु, बागीशामनु, मातृकामनु, स्वयवरामनु आदि देवता अपने मंत्रों सहित उत्तराम्नायमे विराजित हैं ।

यहॉ यह ध्यान करनेका विषय है कि पञ्च दशाक्षरी मंत्रोपासकोंके लिये मात्र चतुराम्नायपूजाका विधान है, किन्तु जो साधक परम्परासे षोडशाक्षरीमत्र प्राप्त हैं, उन्हें षडाम्नाय पूजाका विधान है । पू गुरुदेव षोडशाक्षरी मत्रोपासक थे, अत उन्होंने षडाम्नाय देवताओंका भी वर्णन किया था, जो यहॉ दिया जा रहा है ।

(ऊर्ध्वाम्नाय रूप ऊर्ध्व द्वार)

अमृतार्णवमध्योद्यत्स्वर्णदीपे मनोरमे,
कल्पवृक्षावनान्तस्थे नवमाणिक्यमंडपे ।।
नवरत्नमय श्रीमत्सिंहासनगताम्बुजे,
त्रिकोणान्त समासीनं चन्द्रसूर्यायुतप्रभम् ।।
अर्धाम्बिकारामायुक्तं प्रविभक्त विभूषणं,
कोटिकन्दर्पलावण्यं सदा षोडशवार्षिकम् ।।
मन्दस्मित मुखाम्भोजं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरं,
दिव्याम्बर स्रगालेपं दिव्याभरणभूषितम् ।।
पानपात्रं च चिन्मुद्रा त्रिशुलं पुस्तकं करैः,
विद्यासंसदि विभ्राण सदानन्दमुखेक्षणं ।।
महाषोढोदिता शेष देवता गण सेवितं,
एव चित्ताम्बुजे ध्यायेदर्धनारीश्वरं शिवम् ।।
पुरुषं वा स्मरेद्देवि स्त्री रूपं वा विचिन्तयेत्
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ।।
सर्वतेजोमयं ध्यायेत् सचराचरविग्रहम् ।।

भगवान् अमृतसमुद्रके मध्य परम मनोरम स्वर्णद्वीपमें विराजते हैं । कल्पवृक्षोंके वनमें नवमाणिक्य मंडपमें, नवरत्नमय श्रीमत्सिंहासनमें अम्बुजके ऊपर त्रिकोणान्तमें करोडों चन्द्र सूर्यकी प्रभाको फीकी करने वाली तेजस्वितासे युक्त हैं । वे अपने आधे अगमें भगवती पराम्बा मॉको विराजित किये हैं, उनके आभूषण आधे आधे अंगों के भिन्न भिन्न हैं, वे कोटि कन्दर्पोके समान लावण्यशाली हैं एव सदा सोलहवर्षके ही रहते है ।

वे दिव्य अम्बर (वस्त्र) धारण किये हैं एव कुकुम केसरका घोल लेप किये हैं । उनके आभूषण भी परमदिव्य हैं । उनके आयुधरूपमे चारों हाथोंमे पान पात्र, चिन्मुद्रा (ज्ञानमुद्रा), त्रिशूल एव पुस्तक हैं । सम्पूर्ण विद्याओकी सभामें वे सुशोभित है और सदानन्द उनके मुख एव नेत्रोमे छलक रहा है । वे महा षोढासे उत्पन्न अशेष देवतागणो द्वारा सेवित हैं । इस प्रकार अपने हृदयकमलमें अर्धनारीश्वर भगवान् शिवका ध्यान करना चाहिये । भगवान्को पुरुषमे एव भगवतीको स्त्री रूपमें ही चिन्तन करे अथवा दोनोंको ही निष्कल, सच्चिदानन्द लक्षणोसे युक्त सर्वतेजोमय चर–अचर सम्पूर्ण विश्वमूर्तिके रूपमें ध्यान करें ।

इस ऊर्ध्वाम्नायमे मालिनी गुरुमण्डल, मन्त्रराज पराषोडशी, पराभट्टारिका मनु, पराशाभवमनु, पराशाभवी देवी, प्रासाद पराम्बा, पराप्रासाद पराम्बा, दहरविद्याम्बा, हस महावाक्य, (प्रज्ञान ब्रह्म, अह ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म) पचाक्षरी (ॐ नम शिवाय), शक्ति पचाक्षरी (ॐ ह्री नम शिवाय) तारक मत्र, (ॐ ह्री) अनुग्रहकर्त्ता सदाशिव (ईशान सर्व विद्याना ईश्वर सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपति ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोऽम् आदि देवता निवास करते है । इनके सभीके मूल मंत्र भी यहाँ निवास करते हैं ।

### (अनुत्तराम्नाय)

इसके उपरान्त अनुत्तराम्नाय रूप अनुतर द्वार है । यहाँ महापादुका (श्रीविद्यानन्दनाथात्मक चर्यानन्दनाथ पादुका) सम्प्रदायपादुका (अमृतवर्षिणी पादुका परमेश्वरी), कादि विद्या गुरु परम्परा (परप्रकाशानन्दनाथ, परशिवानन्दनाथ, पराशक्त्याम्बा, कौलेश्वरानन्दनाथ, शुक्लदेव्यम्बा, कुलेश्वरानन्दनाथ, कामेश्वरी अम्बा, भोगानन्दनाथ, विलम्नानदनाथ, सहजानन्दनाथ, गगनानन्दनाथ, विश्वानन्दनाथ, विमलानन्दनाथ, मदनानन्दनाथ, भुवनानन्दनाथ, लीलाम्बा, स्वात्मानन्दनाथ, प्रियानन्दनाथ) कामराज चरण (महाप्रकाशपरिपूर्णानन्दनाथ पादुका, रक्तचरण श्रीपादुका, रक्तचरणाम्बा, शुक्लचरण, शुक्लचरणाम्बा, मिश्रचरण, मिश्र चरणाम्बा, निर्वाणचरण,, निर्वाणचरणाम्बा), पचाम्बा (आदिनाथ, व्योमातीताम्बा, आदिनाथ, व्योमेश्वरी अम्बा, अनामयानन्दनाथ व्योमगाम्बा, अनन्तानन्दनाथ व्योमचारिणी अम्बा, चिदाभास व्योमस्थाम्बा) मूलविद्यायें, (ह्रीं मूलविद्याम्बा, प्रासाद परामूल विद्याम्बा, अतिरहस्य योगिनी मूल विद्याम्बा, शाम्भवी मूल विद्याम्बा, हल्लेखामूल विद्याम्बा, समय विमला मुल विद्याम्बा, परबोधिनी मूल विद्याम्बा, कौल पञ्चाक्षरी मूल विद्याम्बा, चैतन्य मूल विद्याम्बा, शाभवानन्द नाथानुत्तरकौलिनी मूल विद्याम्बा,

गुरूत्तम विमर्शिनी मूल विद्याम्बा, अनामाख्य मूल विद्याम्बा, सकेतसार मूल विद्याम्बा, अनुत्तर वाग्वादिनी मूल विद्याम्बा), पञ्चदशाक्षरी, महाषोडशी, पूर्तिविद्या, षडाधार विद्यामनु, प्रकाशचरण एव विमर्श चरण, अनुत्तर शाकरी अम्बा, आदि देवगण एव इनके मत्र मूर्तिमान निवास करते हैं ।

ऐसा विलक्षण परम शक्तिसम्पन्न पू गुरुदेवका मातृमन्दिर था, जो प्रतिदिन पूजा के समय उनके सम्मुख "ऐं ह्रीं श्री" त्र्यक्षरी प्रणव मन्त्रसे प्रकट होता था, उनकी पूजाकाल तक स्थित रहता था, एव तब वह अपने साथ प्रकट हुए सभी सृष्टिकी देव–शक्तियों, मत्रशक्तियो के सहित अपनी महिमामे विलीन हो जाता था ।

आम्नायों का वर्णन करने के पश्चात् पू गुरुदेव मत्र बोलने लगे

१. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रत्न प्रदीप वलयाय नम
२ ॐ ऐ ह्रीं श्रीं मणिमय सिंहासनाय नम
३ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ब्रह्ममयैक मञ्चपादाय नम
४ ॐ ऐ ह्रीं श्रीं विष्णुमयैक मञ्चपादाय नमः
५ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रुद्रमयैक मञ्चपादाय नमः
६ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ईश्वरमयैक मञ्चपादाय नमः
७ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सदाशिवमयैक मञ्चपादाय नम
८ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हंसतूलिका तल्पाय नमः
९. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हंसतूलिका महोपधानाय नमः
१० ॐ ऐं ह्रीं श्री हंसतूलिका कौसुम्भास्तरणाय नम
११. ॐ ऐं ह्रीं श्री हंसतूलिका महावितानकाय नम
१२ ॐ ऐं ह्रीं श्री हंसतूलिका महामायायवनिकायै नम

श्रृगार मण्डपके मध्यभागमे एक परम दिव्य मणिमय सिंहासनमें भगवती विराजमान हैं । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एव ईश्वर ये चारो देवता उस ब्रह्ममयैक मंच के चार पाये हैं । भगवान् सदाशिवको उस मञ्चका पटरा कहा जाता है । उस मञ्चके ऊपर महान् देवता परम आदरणीय भगवान् कामेश्वर विराजित है । सृष्टिके आदि में अपनी लीला करनेके लिये स्वय भगवती ही दो रूपोंमें विराजित हुई । उस समय दाहिने भागमे भगवान् कामेश्वर एव बायें भागमें शबल ब्रह्मस्वरूपिणी भगवती कामेश्वरी प्रकट हुई । भगवतीके अर्धांग स्वरूप वे ही ये महान् ईश्वर हैं । कामदेवके मदका मर्दन करनेमे परम कुशल ये महेश्वर करोड़ों कामदेवके समान सुन्दर हैं । सर्वोपरि उन महान् देवेश्वरकी आयु सदा सोलह वर्षकी ही रहती है । वे करोडो सूर्योके समान

प्रकाशमान हैं । शीतल ऐसे है मानो करोडो चन्द्रमा । विशुद्ध स्फटिक मणिके समान दैदीप्यमान हैं । उनके श्रीविग्रहसे शीतल प्रकाश फैलता है । उनके वामांगमें भगवती विराजमान हैं ।

इस मणिमय सिहासन पर भगवान् सदाशिवरूप पटरेपर हस के सुकोमल सुन्दर पखों का बिस्तर (तल्प) है, और 'अह स' यह ज्ञान ही वहॉ पर उपधान (तकिये हैं) । इसके ऊपर कुसुम्भी रगका आस्तरण बिछा है । इस सिहासन पर अनन्ततागुणयुक्त चन्दौवा, बितान तना है एव महामायाकी यवनिका पडी हुई है । महामायारूप यवनिकाके हटनेके बिना भगवतीके दर्शन असभव हैं ।

इसके पश्चात् पूज्य गुरुदेव भगवतीके श्रृगारका वर्णन करने लगे । नवरत्नोसे निर्मित करधनी भगवतीके कटिभागमे सुशोभित है । सतप्त सुवर्ण और वैदूर्य मणिसे सम्पन्न बाजूबन्द देवीकी भुजाओंको सुशोभित किये हैं । जिनकी आकृति श्रीचक्र जैसी है, ऐसे छतरीवाले कर्णफूल उनके कानोमें विभूत हैं । इनकी दमकसे भगवती का मुखकमल देदीप्यमान है । अर्धचन्द्रमा उनके मस्तक पर सुशोभित है परन्तु भगवतीके ललाटकी शोभा उसके स्वरूपको तुच्छ बनादेरही है । बिम्बफलको तिरस्कृत करनेवाले उनके लाल लाल ओठ हैं और विशुद्ध ज्ञानकी ज्योति भगवतीकी दत पक्तिसे छिटक रही है । कुकुम एव कस्तूरीका लेप उनके सर्वागोमे है । इसीका तिलक भी वे अपने ललाट पर लगाये हैं । उनके परम सुन्दर त्रिनेत्र हैं । चन्द्रमा एव सूर्यकी आकृति वाली दिव्य चूडामणि मस्तक पर धारण किये हैं । शुक्र नक्षत्रके समान परम स्वच्छ नासिका भूषण है, उनका कण्ठदेश, अनमोल मोतियोकी लडियोंसे सुशोभित है । उनके मुखकमल पर अलकावली छायी है । चन्दन-पक, कर्पूर, कुकुम एव कस्तूरीकी समभात्राके लेपको वे अपने वक्षोजों पर लेप किये हैं । उनकी ग्रीवा शखकी आकृतिकी परम सुन्दर है ।

भगवतीके मुख पर छितराती उनकी अलकावलिसे ऐसी निर्मल सुगन्ध फैलरही है, जिससे भ्रमर चतुर्दिक् मॅडराते गुञ्जार कर रहे हैं । मस्तक अमूल्य रत्नोंका मुकुट है । कलककी कालिमासे रहित चन्द्रमाकी भॉति स्वच्छ उनका मुखमण्डल है । गगाकी जल तरगोकी तरह सुन्दर नाभि है । मण्यिोंसे जटित मुद्रिका वे धारण किये हैं । कमलकी शोभाको हेय बनाने वाले तीन नेत्र हैं, जो उनकी मनोहरता को सहस्र गुणी कर रहे हैं । पद्मराग मणिके समान उनकी उज्वल कान्ति है । रत्ननिर्मित किंकिणी और

कंकणसे वे विचित्र शोभा शालिनी हो रही हैं । मणियों और मोतियोकी मालाओंमें जो शोभा है वह सब शोभा उनके चरण–नखोंकी ज्योतिके सम्मुख तुच्छ है । उनकी कंचुकीमें असंख्य अनमोल रत्न प्रकाश फैला रहे हैं । धम्मिल मल्लिका पुष्पोंसे गुंथी है, और उसमें अनमोल रत्न समूह विजडित हैं। उनकी चार भुजाएँ है और उनमे पाश, अंकुश, इक्षुधनु और पुष्पबाण सुशोभित है । उनका मधुर स्वर इतना सुमधुर है कि अनन्त वीणाओंसे निस्सृत राग उस मधुरताके सम्मुख तुच्छ हो जाते हैं । इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति एव क्रियाशक्तियोको वे आत्मसात् किये है । लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, कीर्ति, क्रान्ति, क्षमा, दया, बुद्धि एव मेधा–ये मूर्त्तिमती होकर भगवतीके चॅवर डुलाती हैं । जया, विजया, अजिता, अपराजिता, नित्या, विलासिनी, दोग्ध्री, अघोरा, अमंगला, ये नौ पीठ--शक्तियॉ भगवती पराम्बाकी सेवामें सदा तत्पर रहती है । शंखनिधि, एव पद्मनिधि–ये निधियॉ भगवतीके पार्श्वमें विद्यमान हैं । नवरत्नवहा, काञ्चनस्रवा एव सप्तधातुवहा, संज्ञक नदियॉ सुधासिन्धुमें मिल रही हैं । इन्ही भगवतीके संयोगसे भगवान् कामेश्वरको सर्वेश्वर होनेका सौभाग्य मिला है ।

# अथ महायागक्रमः
## {भावनोपनिषद् प्रयोगविधि समेत}

अधिकांशतः सन्यासी परिव्राजक श्रीविद्योपासक श्रीक्रमानुसार बाह्य क्रियात्मक पूजा सम्पादित करनेमें असमर्थ रहते हैं, वे न्यासपद्धतिसे महायागक्रमानुसार भावना पूजा किया करते हैं । पू. गुरुदेव भी अपने काष्ठमौन कालमें जब उन्होंने सम्पूर्ण क्रिया त्याग कर दी थी, भावनोपनिषद्के महायाग क्रमानुसार ही पूजा सम्पादित करते थे । पहले यह पूजा प्रतिदिन ही सम्पादित होती थी, तत्पश्चात् जब पू. गुरुदेव अपने भावराज्यमें सर्वथा ही डूब गये और उन्हें बाह्य संसारका होश ही नहीं रहता था, उस समय प्रति शुक्रवारके दिन वे यह महायाग क्रम पूजन सम्पादित कर लेते थे । पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबा इस भावनोपनिषद्के तत्वमें पूर्ण सिद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित थे और निरन्तर अखण्ड महात्रिपुरसुन्दरी भावमें ही रहते थे ।

यह बात साधकोंके सम्मुख और स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि पू. गुरुदेवकी विलक्षण अद्वैतसिद्ध दृष्टि थी । उनके लिये भगवती श्रीराधा ही सर्वांशतः भगवती त्रिपुरसुन्दरी थीं । गौडीय आचार्योंने जैसे रुक्मिणीजीको चन्द्रावली एवं श्रीमती सत्यभामाजीको भगवती राधारूपमें मान्यता दी है, पू. गुरुदेवकी ठीक मान्यता थी– श्रीराधा ही ऐश्वर्य रूपमें भगवती आद्याशक्ति त्रिपुरसुन्दरी है । अतः उनके लिये "मैं राधा हूँ" यह कहना और "मैं ही महालक्ष्मी कमला" अथवा "मैं ही महात्रिपुरसुन्दरी हूँ" यह कहना कोई भेदमूलक उक्ति नहीं थी ।

मुझे तो अनेकों बार पू. गुरुदेवने यही कहा है – "अरे ! तू क्यों भगवतीकी उपासनाके लिये लालायित है, मेरा यह देह ही मणिद्वीपधाम अथवा श्रीचक्रराज है और मैं ही भगवती त्रिपुरसुन्दरी हूँ। कर ले मेरी आराधना ।" – वे यह कहते हुए अपने वाम चरण बढा देते थे । वे कहते – "मेरा वामचरण भगवती कामेश्वरी है और दक्षिण चरण भगवान् कामेश्वर है ।" कभी यदि भूलसे प्रमादवश मैं उनके एक ही चरणमें प्रणाम कर लेता, तो वे दूसरा चरण बढाकर कहते – "मूर्ख ! इस चरणको प्रणाम नहीं किया ? अरे ! शिवस्वरूप मेरे इस चरणको प्रणाम कर ।"

वैसे तो प्रत्येक श्रीसुन्दरी विद्योपासक ऐसी ही भावना करता है, परन्तु साधकोंकी भावना मात्र वाचिक अथवा भावुक कल्पना भर होती है । एक भूखा प्राणी मात्र कल्पना करे कि मैं षट्रस भोजन कर रहा हूँ, इससे जैसे उसकी क्षुधा निवृत्त नहीं होती, ठीक इसी प्रकार मात्र शेखचिल्लीकी कहानीकी तरह उड़ान भरने वाले और सत्य वस्तुको प्राप्त किये प्राणीमें जितना अन्तर है, वैसी ही बात पू. गुरुदेवकी सिद्ध स्थिति तथा नये उपासककी भावनामें अन्तर मान लेना

चाहिये। पू. गुरुदेव जब "मैं ही आद्याशक्ति त्रिपुरा हूँ" यह कहते थे तो वहाँ वे भगवतीके पूर्ण स्वातन्त्र्यमूलक अनन्त विमर्श शक्तियोंका अपनेमें पूर्ण प्रकाश अनुभव करते थे । उनकी भावना मात्र थोथी काल्पनिक उड़ान नहीं थी। जब वे ऐसा बोलते थे, उनमें उस समय भगवती आद्याशक्तिकी सम्पूर्ण शक्तियाँ अनुगत होती थीं और वे सृष्टितन्त्रका अनन्त मंगल करनेकी अपनेमें सामर्थ्य सँजोये रहते थे । उस काल में वे एक शरीरधारी कीड़े नहीं होते थे । विष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्रादि ईश्वरोंके पूज्य पद पर प्रतिष्ठित बैठे होते थे ।

यहाँ यह बात सदा ध्यानमें रखनेकी है कि पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा पराम्बा भगवतीके साक्षात्कारप्राप्त पूर्ण सिद्ध महापुरुष थे ।

यह भावनोपनिषद् भगवती पराम्बाके पूर्ण कृपापात्र महर्षि अथर्वण पर भगवतीकी कृपासे प्रकाशित हुआ था । इसलिये इस उपनिषद् के महर्षि अथर्वण ही ऋषि हैं । श्रीदेव्यथर्वशीर्ष नाम श्रीदेव्युपनिषद्के भी ये ही अथर्वण महर्षि प्रणेता हैं । श्रीविद्योपासकोंकी दृष्टिमें भावनोपनिषद् इतना ही महत्वपूर्ण है, जितना श्रीदुर्गासप्तशतीके उपासकोंके लिये देव्यथर्वशीर्ष है ।

पू. गुरुदेव कादि विद्योपासक थे, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने जब साक्षात् प्रकट होकर उन्हें श्रीविद्योपासनाका आदेश दिया था, उस समय पू. गुरुदेवने भगवान् कामदेवको प्राप्त 'श्रीसौभाग्य अष्टोत्तर शत नामावली' से ही उपासना प्रारम्भकी थी । यह स्तोत्र भी श्रीपोद्दार महाराजने ही पू. गुरुदेवके पास भेजा था। पू. गुरुदेव तो चिन्तामग्न थे कि भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार वे इस उपासनाको कैसे प्रारंभ करें । उसी दिन श्रीपोद्दार महाराजने मद्राससे प्रकाशित एक पुस्तक उनके पास यह कहकर भेजी थी कि संभव है, यह पुस्तक उनके कोई कामकी हो । पू. गुरुदेवने ज्योंही पुस्तक खोली, उन्हें यह उपरोक्त स्तोत्र दृष्टिगोचर हुआ । पू. गुरुदेव इस स्तोत्रको पढ रहे थे, तभी पू. गुरुदेवकी हृदयस्थ श्रीकृष्ण मूर्ति मुसका उठी । पू. गुरुदेवने उनकी सम्मति मानकर सौभाग्य अष्टोत्तरशत–नामावलि–स्तोत्रके हजारों पाठ किये थे । बादमें लगभग सात वर्ष तक पू. गुरुदेवने चतुःप्रहर भगवती श्रीललिताकी स्वरचित सहस्र नामावलिसे अर्चनाकी थी । पू. गुरुदेवकी स्वयं रचित सहस्रनामावलि पुस्तकाकार रूपमें गीता–वाटिकामें है । यह श्रीपोद्दार महाराजके घरमें उनके नित्य पूजित ठाकुरोंके साथ पूजित होती है । कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि पू. गुरुदेव ऋषि थे और मंत्रार्चनमें अपने ही रचित मंत्र प्रयोग करते थे ।

कादि विद्याके श्रीभास्कर भट्ट प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं । श्रीअन्नपूर्णा मन्दिर, काशीमें उनके द्वारा प्रतिष्ठापित श्रीचक्रराज यंत्र है जो भगवान नर्मदेश्वरके शिरोदेशमें अंकित हैं । इस यंत्रको सच्चे साधक साक्षात् देवता तुल्य महत्त्व देते

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या 301-400 तक

साधु कृष्णप्रेम

हैं । पू. गुरुदेव जब श्रीपोद्दार महाराजके साथ गीताप्रेस, गोरखपुरसे निकली दूसरी तीर्थयात्रा ट्रेनमें काशी पहुँचे थे तो श्रीअन्नपूर्णा मन्दिरमें उन्हें भगवती अन्नपूर्णाके दर्शन हुए थे । इसी यात्रामें पू. गुरुदेवने लेखकके पूर्वाश्रमके पू. मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा इस महासिद्ध श्रीयन्त्रराजका पूजन कराया था । इसी पूजनके क्रममें यह उपनिषद् एवं ये प्रयोग विधिके मंत्र पू. गुरुदेवने मेरे मामाजीको बताये थे । पू. मामाजीसे पूर्ण श्रीक्रमकी क्रिया न कराकर भावनोपनिषद् द्वारा ही उन्होंने पूजा सम्पादित करायी थी । जब यह तीर्थयात्रा मद्रास पहुँची तो वहाँ भी भगवती त्रिपुरसुन्दरीका पूजन इसी भावनोपनिषद्की इसी प्रयोग पद्धतिसे हुआ था । इसी पूजा प्रसंगमें ही पू. गुरुदेव ने यह रहस्य भी मेरे मामाजीके सम्मुख प्रकट किया था कि क्रिया पूजाके अभावमें वे इसी प्रयोग पद्धतिसे जो उन्हें कण्ठस्थ है, पूजा करते हैं । मेरे मामाजीने सन् १९५८ ई. में जब पू. गुरुदेव काष्ठमौन की गंभीर स्थितिमें थे एवं श्रीपोद्दार महाराजके साथ रतनगढ चले गये थे, तो यह पूजा पद्धति मुझे दिखायी थी और मैंने उसे अपनी कापीमें नोट कर ली थी ।

इसीलिये लेखकको ज्ञान था कि सब पूजाएँ विसर्जित करनेके उपरान्त पू. गुरुदेव इस महायाग पद्धतिसे ही श्रीविद्या -उपासना करते थे । इस भावनोपनिषद्के कुल छत्तीस सूत्र हैं, जिनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है ।

### ।। अथ श्री भावनोपनिषद् ।।

सूत्र {१}

*श्रीगुरुस्सर्वकारणभूता शक्तिः*

**{श्रीगुरु ही सर्वकारणभूता शक्ति हैं}**

**{प्रयोग विधि}**

मूलसे प्राणायाम करके ऋष्यादि न्यास करे, इसके उपरान्त विवेक वृत्ति अवच्छिन्न विच्छक्ति स्वरूप सुषुम्ना रूप भगवान् दक्षिणामूर्त्ति गुरुको नमस्कार करें।

सूत्र {२}

*तेन नवरन्ध्ररूपो देहः ।।*

भगवान् गुरुदेवसे ही यह नवरंध्रों युक्त देह है ।

ब्रह्मरध्रको स्पर्श करके यह भावना करे, शरीरमे नौ ही नाडियाँ हैं एव नौ रंध्र हैं वे ही कादि सम्प्रदायके नौ गुरु हैं । ये नौ गुरु हैं —प्रकाश, विमर्श, अनन्तत्व, ज्ञान, सत्य, पूर्णत्व, स्वभाव, प्रतिभा एवं सहजता ।

मंत्र {१}

*दक्षश्रोत्ररूपपयस्विन्यात्मने प्रकाशानन्दनाथाय नमः*

{दक्षिण श्रोत्र रूप रध्र {छेद} पयस्विनी नाडी सहित प्रकाशानन्दनाथ रूप गुरु है, उन्हें नमस्कार है ।}

*{२} वामश्रोत्ररूपशखिन्यात्मने विमर्शानन्दनाथाय नमः ।*
*{३} जिह्वा {रध्र} रूप सरस्वत्यात्मने अनन्तानन्दनाथाय नमः ।*
*{४} दक्षनेत्र {रध्र} रूप पूषात्मने श्रीज्ञानानन्दनाथाय नमः ।*
*{५} वामनेत्र {रंध्र} रूपगान्धार्यात्मने श्रीसत्यानन्दनाथाय नमः ।*
*{६} छत्ररूप {रध्र} कुह्वात्मने श्रीपूर्णानन्दनाथाय नमः*
*{७} दक्षनासा रूप {रध्र} पिंगलात्मने {नाडी} स्वभावानन्दनाथाय नमः ।*
*{८} वामनासारूप इडात्मने प्रतिभानन्दनाथाय नमः*
*{९} पायुरूपालम्बुसात्मने सहजानन्दनाथाय नमः ।*

*{इति तत्तत् स्थानानि संस्पर्श्य}*

{इस प्रकार इन–इन स्थानोको सस्पर्श करें}

{सूत्र ३ एवं ४}

*{३} नवचक्ररूपं श्रीचक्रम् ।*
*{४} वाराहीपितृरूपा, कुरुकुल्ला वलिदेवता माता*

{नवचक्र रूप देह ही श्रीचक्रराज है, वाराही पिता स्वरूप है एव वलिदेवता कुरुकुल्लादेवी माता स्वरूपा हैं}

{प्रयोग}

*नवचक्ररूपश्रीचक्रात्मने देहाय नमः*

{नवचक्ररूप श्रीचक्र स्वरूप इस देहको नमस्कार है ।}

*पितृरूप मांसाद्यवयवात्मने वाराह्यै नमः*

{पितृ रूप मासादि अवयव स्वरूप भगवती वाराहीको नमस्कार है}

*मातृरूप अस्थ्याद्यवयवात्मने बलिदेवतायै कुरुकुल्लायै नमः ।*

{मातृ रूप अस्थि आदि अवयवोंकी स्वरूपभूता भगवती बलिदेवता कुरुकुल्लादेवीको नमस्कार है ।}

*{इति त्रिर्व्यापकं कृत्वा}*

{इसी प्रकार तीन बार सम्पूर्ण शरीरमें व्यापक रूपसे ऐसी भावना करे}

सूत्र {५}

*पुरुषार्थास्सागराः*

{चारों पुरुषार्थ ही मणिद्वीप धामको घेरे चार सागर हैं }

{प्रयोग}

{१} *देहपश्चाद्भागरूपधर्मात्मने इक्षुसागराय नमः ।*

{देहकी पीठादि पीछेका भाग धर्मस्वरूप इक्षुसागर है, उसे नमस्कार है}

{२} *देहदक्षिणभागरूपार्थात्मने सुरासागराय नमः ।*

{देहका दाहिना भाग अर्थस्वरूप सुरासागर है, उसे नमस्कार है}

{३} *देहप्राग्भागरूपकामात्मने घृतसागराय नमः*

{देहका आगेका भाग कामस्वरूप घृतसागर है, उसे नमस्कार है }

{४} *देहोदग्भागरूपमोक्षात्मने क्षीरसागराय नमः*

{देहका ऊपरका भाग मोक्षस्वरूप क्षीरसागर है, उसे नमस्कार है}

सूत्र {६}

*देहात्मने नवरत्नद्वीपाय नमः*

{देह रूप नवरत्नद्वीप {मणिद्वीप}श्रीधामको नमन ।

*इति त्रिर्व्यापकं कृत्वा*

{इस प्रकार तीन बार सम्पूर्ण शरीरमें इस भावनाको व्याप्त करें }

{प्रयोग विधि}

१} *मांसात्मने पुष्परागरत्नद्वीपाय नमः ।*

{मांस रूप पुष्पराग रत्नद्वीप को नमस्कार}

२} *रोमात्मने नीलरत्नद्वीपाय नमः ।*

{रोम रूप नीलरत्न द्वीपको नमस्कार}

३} *त्वगात्मने वैदूर्यरत्नद्वीपाय नमः ।*

{त्वचारूप वैदूर्यरत्न द्वीपको नमस्कार}

४} *रुधिरात्मने विद्रुमरत्नद्वीपाय नमः ।*

{रुधिर रूप विद्रुम रत्न द्वीपको नमन}

५} *शुक्रात्मने मौक्तिकरत्नद्वीपाय नमः ।*

{शुक्ररूप मौक्तिक रत्न द्वीपको नमन}

६} *मज्जात्मने मरकतरत्नद्वीपाय नमः ।*

{मज्जारूप मरकत रत्न द्वीपको नमन}

७} *अस्थ्यात्मने वज्ररत्नद्वीपाय नमः ।*

{अस्थिरूप हीरा रत्न द्वीपको नमस्कार}

८} *मेद आत्मने गोमेदकरत्नद्वीपाय नमः ।*

{मेदरूप गोमेदकरत्नद्वीप को नमन}

९} *ओजात्मने पद्मरागरत्नद्वीपाय नमः ।*

{ओज स्वरूप पद्मराग रत्नद्वीपको नमन}

सूत्र (७)

*त्वगादिसप्तधातुरोमसयुक्त*

{त्वचादि सातों धातुएँ रोम सहित चक्रेश्वरी अधिदेवता रूप हैं}

{प्रयोग}

१} *मांसाधिदेवतायै कालचक्रेश्वर्यै नमः*

{मांसकी अधिदेवता कालचक्रेश्वरीको नमस्कार}

२} *रोमाधिदेवतायै रुद्रचक्रेश्वर्यै नमः*

{रोमकी अधिदेवता रुद्र चक्रेश्वरीको नमस्कार}

३} *त्वगधिदेवतायै मातृचक्रेश्वर्यै नमः*

{त्वचाकी अधिदेवता मातृचक्रेश्वरीको नमस्कार}

४} *रुधिराधिदेवतायै रत्नचक्रेश्वर्यै नमः*

{रुधिरकी अधिदेवता रत्नचक्रेश्वरीको नमस्कार}

५} *शुक्राधिदेवतायै दशाचक्रेश्वर्यै नमः*

{शुक्रकी अधिदेवता दशाचक्रेश्वरीको नमस्कार}

६} *मज्जाधिदेवतायै गुरुश्चक्रेश्वर्यै नमः*

{मज्जाकी अधिदवेता गुरुचक्रेश्वरीको नमस्कार}

७} *अस्थ्यधिदेवतायै तत्वचक्रेश्वर्यै नमः*

{अस्थिकी अधिदेवता तत्त्वचक्रेश्वरीको नमन}

८} *मेदोऽधिदेवतायै ग्रहचक्रेश्वर्यै नमः*

मेदकी अधिदेवता ग्रहचक्रेश्वरी को नमन}

९} *ओजोऽधिदेवतायै मूर्तिचक्रेश्वर्यै नमः*

{ओजकी अधिदेवता मूर्ति चक्रेश्वरीको नमस्कार}

{मतान्तरमे इन चक्रेश्वरियोंके निम्न नाम भी हैं }

त्रिपुरा, त्रिपुरेशी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुराश्री, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुरासिद्धा, त्रिपुराम्बा एव महात्रिपुरसुन्दरी ।

सूत्र (८)

*संकल्पा कल्पतरव तेजः कल्पकोद्यानम्*

{अपने सकल्प ही कल्पतरु वृक्ष है और अपना तेज कल्पतरु वाटिका है}

{प्रयोग}

*सकल्पात्मभ्य कल्पतरुभ्यो नमः तेज आत्मने कल्पकोद्यानाय नमः*

{अपने संकल्पोंको कल्पतरु वृक्ष मानकर नमन करें, अपने तेज समूहको कल्पतरु वाटिका मानकर नमस्कार करें}

## सूत्र (९)

रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणरसा ।

(रसनासे अनुभव होने वाले मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय, लवण इन छ रसोको ही छः ऋतु जाने)

(प्रयोग)

१) *मधुररसात्मने वसन्तर्तवे नमः*

(मधुर रस रूप वसन्त ऋतुको नमस्कार है)

२) *अम्लरसात्मने ग्रीष्मर्तवे नमः*

(अम्ल रस रूप ग्रीष्म ऋतुको नमस्कार है)

३) *तिक्तरसात्मने वर्षर्तवे नमः*

(तिक्त रस रूप वर्षा ऋतुको नमस्कार है)

४) *कटुरसात्मने शरदृतवे नमः*

(कटु रस रूप शरद ऋतुको नमस्कार है)

५) *कषायरसात्मने हेमन्तर्तवे नमः*

(कषाय रस रूप हेमन्त ऋतुको नमस्कार है)

६) *लवणरसात्मने शिशिरर्तवे नमः*

(लवण रस रूप शिशिर ऋतुको नमस्कार है)

## सूत्र (९)(अ)

इन्द्रियात्मभ्योऽश्वेभ्यो नमः ।

इन्द्रियार्थात्मभ्यो गजेभ्यो नमः ॥

*करुणात्मिकायैतोयपरिखायै नमः ।*

*ओजःपुंजात्मने माणिक्यमडपाय नमः ॥*

(इन्द्रियाँ ही भगवतीके रथके अश्व हैं एवं इन्द्रियोके अर्थ विषय भगवतीके हाथी हैं। अपने भीतर जो करुणा उत्पन्न होती है, वह जलसे भरी खाई (परिखा) है और जो ओजसमूह है वह माणिक्यमडप है)

## सूत्र (१०)

*ज्ञानमर्घ्यम् ज्ञेय हविः ज्ञाता होता ज्ञातृज्ञानज्ञेयाना*

*अभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम् ।*

(ज्ञान अर्घ्य है, ज्ञेय हवि है, ज्ञाता होता है तथा ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेयमे जो अभेद भावना करना है, वही श्रीचक्रराज पूजन है)

(प्रयोग)

*ज्ञानात्मने विशेषार्घ्याय नमः*

(अपने ज्ञानको ही विशेष अर्घ्य समझें)

*ज्ञेयात्मने हविषे नमः*

{ज्ञेयको हविष्य सामग्री माने}

*ज्ञात्रात्मने होत्रे नमः*

{ज्ञाताको होम करने वाला होता समझे}

*चिदात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः*

{चिदात्मा रूपमें भगवती महात्रिपुरीसुन्दरीको ही जाने}

इस प्रकार अनुसन्धानपूर्वक अपने नाम रूपकी विलुप्तताका अनुभव करे एव चिन्मात्र रूपताका अनुभव करता हुआ एक क्षण शान्त विश्राम करे तत्पश्चात् पञ्चदश नित्याओ का यजन करे ।

*हृदि हस्त निधाय* {अपने हाथको हृदयमें रख}

*चत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने प्रतिपत्तिथिरूप कामेश्वरीनित्यायै नमः*

{चौदहसौ चालीस श्वासरूप प्रतिपदा तिथि स्वरुप भगवती कामेश्वरी नित्याको प्रणाम}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने द्वितीयातिथिरूप भगमालिनीनित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वासरूप द्वितीया तिथि स्वरूप भगमालिनी नित्याको प्रणाम}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने तृतीयातिथिरूप नित्यक्लिन्नानित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वास रूप तृतीया तिथि रूप नित्यक्लिन्ना नित्याको प्रणाम}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मनेचतुर्थीतिथिरूप भेरुण्डानित्यायै नमः*

{इसके बादकी चौदहसौ चालीस श्वास रूप चतुर्थी तिथि रूप भेरुण्डा नित्याको नमस्कार}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने पञ्चमीतिथिरूप वन्हिवासिनीनित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वास रूप पचमी तिथि रूप वन्हिवासिनी नित्याको नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने षष्ठीतिथिरूप महावज्रेश्वरीनित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वास रूप षष्ठी तिथि रूप महावज्रेश्वरी नित्याको नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने सप्तमीतिथिरूप शिवदूतीनित्यायै नमः*

{इसके पश्चात की चौदहसौ चालीस श्वास रूप सप्तमी तिथि रूप शिवदूती नित्याको नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मनेअष्टमीतिथिरूप त्वरितानित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वास रूप अष्टमी तिथि रूप त्वरिता नित्याको नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने नवमीतिथिरूप कुलसुन्दरीनित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वास रूप नवमी तिथि रूप कुलसुन्दरी नित्याको नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मनेदशमीतिथिरूप नित्यानित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वास रूप दशमी तिथि रूप नित्या नित्याको नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मनेएकादशीतिथिरूप नीलपताका नित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वास रूप एकादशी तिथि रूप नीलपताका नित्याको नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मनेद्वादशीतिथिरूप विजयानित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वासात्मक द्वादशी तिथि रूपं विजया नित्याको नमस्कार}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने त्रयोदशीतिथिरूप सर्वमंगलानित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वासात्मक त्रयोदशी तिथि रूप सर्व मंगला नित्याको नमस्कार}

*तदुत्तर चत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने चतुर्दशीतिथिरूप ज्वालामालिनीनित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वासात्मक चतुर्दशी तिथि रूप ज्वालामालिनी नित्याको मेरा नमन}

*तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मनेपौर्णमासीतिथिरूप चित्रानित्यायै नमः*

{इसके पश्चात्‌की चौदहसौ चालीस श्वासात्मक पौर्णमासी तिथि रूप चित्रा नित्याको मेरा नमन}

## सूत्र {११}

*नियतिश्रृंगारादयो रसा अणिमादिसिद्धय कामक्रोधलोभमोहमद –मात्सर्यपुण्यपापमय्यो ब्राह्मयाद्यष्टशक्तय.*

{प्रकृतिमे श्रृगार आदि जो रस हैं, वे अणिमादि सिद्धियॉ हैं एव काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सार्य, पाप, पुण्यमयी ब्राह्मी आदि आठ शक्तियॉ हैं ।

## {प्रयोग}

*चतुरस्राद्यरेखायै नम इति वक्ष्यमाणस्थानेषु व्यापक न्यस्य ।*

{चतुरस्रकी आद्यरेखाको नमस्कार, इस प्रकार कहे गये स्थानोमे व्यापक रूपमें न्यास करें ।

*दक्षांसपृष्ठरूपशान्तरसात्मने अणिमासिद्धये नमः ।*

{दाहिने कंधेके पृष्ठदेश रूप शान्त रसात्मक अणिमा सिद्धिको नमस्कार}

*दक्षपाण्यंगुल्यग्ररूपाद्भुतरसात्मने लघिमा सिद्धयै नमः ।*

{दक्षिण हाथकी अँगुलियोके अग्रभाग रूप अद्भुतरसात्मक लघिमा सिद्धिको मेरा नमस्कार}

*दक्षस्फिग्रूपकरुणरसात्मने महिमासिद्धये नमः ।*

{दक्षिण स्फिग रूप करुणरसात्मक महिमासिद्धिको नमस्कार}

*दक्ष पादांगुल्यग्ररूपवीररसात्मने ईशित्वसिद्धये नमः ।*

{दक्षिण पैरोकी अगुलिके आगेके भाग रूप वीर रसात्मक ईशित्व सिद्धिको मेरा नमस्कार}

*वामपादांगुल्यग्ररूपहास्यरसात्मने वशित्वसिद्धये नमः ।*

{वाम पैरकी अँगुलियोके आगेके भाग रूप हास्य रसात्मक वशित्व सिद्धिको नमन}

*वामस्फिग्रूपवीभत्सरसात्मने प्राकाम्यसिद्धये नमः ।*

{वाम स्फिग् रूप वीभत्स रसात्मक प्राकाम्य सिद्धिको मेरा नमस्कार है }

*वामपाण्यंगुल्यग्ररूपरौद्ररसात्मने भुक्तिसिद्धये नमः ।*

{बाये हाथकी अँगुलियोके अग्रभाग रूप रौद्ररसात्मक भुक्ति सिद्धिको नमन}

*वामांसपृष्ठरूपभयानकरसात्मने इच्छासिद्धये नमः ।।*

{बाये कधेके पीछेके भाग रूप भयानक रसात्मक इच्छा सिद्धिको मेरा नमस्कार है}

*चूलीमूलरूपश्रृंगाररसात्मने प्राप्तिसिद्धये नमः ।*

{शिखा मूल रूप श्रृगार रसात्मक प्राप्ति सिद्धिको मेरा नमस्कार है}

*चूलीपृष्ठरूपनियत्यात्मने सर्वकामसिद्ध्यै नमः ।*

{शिखाके पृष्ठ रूप {नियति} प्रकृत्यात्मक सर्वकाम सिद्धिको मेरा नमन}

*चतुरस्र मध्यरेखायै नमः इति तदन्तर्व्यापक न्यस्य*

{चतुरस्रकी मध्य रेखाको नमस्कार, इस प्रकार अपने भीतर उसे व्यापक अनुभव करते हुए न्यास करें} –

*पादाङ्गुष्ठद्वयरूपकामात्मने ब्राह्म्यै नमः*

{दोनों पैरोके दोनो अँगूठोंके रूपमें कामात्मक ब्राह्मी शक्तिको नमस्कार}

*दक्षपार्श्वरूपक्रोधात्मने माहेश्वर्यै नमः*

{दाहिने भागके रूपमे क्रोधात्मक माहेश्वरी शक्तिको नमन}

*मूर्धभागरूपलोभात्मने कौमार्यै नमः*

{मूर्धा भाग रूप लोभात्मक कुमारी शक्तिको मेरा नमन}

*वामपार्श्वरूपमोहात्मने वैष्णव्यै नमः*

{बाये भाग रूप मोहात्मा वैष्णवी शक्तिको मेरा नमस्कार}

*वामजानुरूपमदात्मने वाराह्यै नमः*

{बायी जघा रूप मदात्मक वाराही शक्तिको नमस्कार}

*दक्षजानुरूपमात्सर्यात्मने इन्द्राण्यै नमः ।*

{दक्षजानु रूप {दाहिनी जघा रूप}मात्सर्यात्मक इन्द्राणीशक्तिको नमन}

*दक्षबहिरसरूपपुण्यात्मने चामुण्डायै नमः ।*

{दाहिनी बाहरी भाग रूप पुण्यात्मक चामुण्डादेवीको नमस्कार}

*वामबहिररारूपपापात्मने महालक्ष्म्यै नमः ।*

{बायें बाहिरी स्कन्ध रूप पापात्मक महालक्ष्मीदेवीको नमस्कार}

## सूत्र {१२}

*आधार नवकं मुद्राशक्तयः*

{मूलाधार चक्रादि नौ चक्र, नौ मुद्रा शक्ति यॉ है}

*चतुरस्रान्त्यरेखायै नमः इति तदन्तर्व्यापक न्यस्य*

{चतुरस्रकी अन्तिम रेखाको नमस्कार । इस प्रकार अपने भीतर उसे व्यापक मानते हुए न्यास करे}

*पादाङ्गुष्ठद्वयरूपाधस्सहस्रदलकमलात्मने सर्वसंक्षोभिणीमुद्रायै नमः ।*

{पैरोके दोनों अँगूठोंके रूपमें अध, सहस्र दल कमलात्मक सर्वसंक्षोभिणी मुद्राको मेरा नमस्कार है}

*दक्षपार्श्वरूपमूलाधारात्मने सर्वविद्राविणीमुद्राशक्त्यै नमः ।*

{दाहिने पक्ष रूप मूलाधारात्मक सर्वविद्राविणी मुद्राशक्तिको नमस्कार}

*मूर्धरूपस्वाधिष्ठानात्मने सर्वाकर्षिणीमुद्राशक्त्यै नमः ।*

{मूर्धरूपम स्वाधिष्ठानात्मक सर्वाकर्षिणी मुद्राशक्तिको मेरा नमस्कार}

*वामपार्श्वरूपमणिपूरात्मके सर्ववशकरीमुद्राशक्त्यै नमः ।*

{बायें भाग रूप मणिपूरात्मने सर्ववशकरी मुद्राशक्तिको मेरा नमस्कार}

*वामजानुरूपानाहतात्मने सर्वोन्मादिनीमुद्राशक्त्यै नमः*

{वाम जंघा एवं पिण्डलीके मध्य भाग रूप अनाहतात्मक सर्वोन्मादिनी मुद्राशक्तिको मेरा नमस्कार}

*दक्षजानुरूपविशुद्ध्यात्मने सर्वमहाकुशामुद्राशक्त्यै नमः ।*

{दाहिनी जानुरूप विशुद्ध्यात्मक सर्वमहाकुशा मुद्राशक्तिको नमन}

*दक्षोरुरूपइन्द्रयोन्यात्मने सर्वखेचरीमुद्राशक्त्यै नमः ।*

{दाहिनी जंघा रूप इन्द्रयोन्यात्मक सर्वखेचरी मुद्राशक्तिको मेरा नमस्कार है}

*वामोरुरूपआज्ञात्मने सर्वबीजमुद्राशक्त्यै नमः*

{वामजंघारूप आज्ञाचक्रात्मक सर्वबीज मुद्राशक्तिको मेरा नमस्कार}

*द्वादशान्तरूपोर्ध्वसहस्रदलकमलात्मने सर्वयोनिमुद्राशक्त्यै नमः ।*

{द्वादशान्त रूप ऊर्ध्व सहस्रदल कमलात्मक सर्वयोनि मुद्राशक्तिको नमस्कार}

*पादांगुष्ठरूपाधारचक्रात्मने सर्वत्रिखण्डामुद्रायै नमः ।*

{पादांगुष्ठ रूप आधार चक्रात्मक सर्वत्रिखण्डा मुद्राको मेरा नमस्कार}

*हृद्रूप त्रैलोक्यमोहनचक्रेश्वर्यै त्रिपुरायै नमः ।*

{हृदय रूप त्रैलोक्यमोहन चक्रेश्वरी भगवती त्रिपुराको मेरा नमस्कार}

*इति तत्तत्स्थानानि स्पृष्ट्वा एतास्सर्वास्स्वात्माभिन्नत्वेन विभाव्य आत्मनः अपरिच्छिन्नत्वं भावयेत् ।*

{इस प्रकार उन उन स्थानोंको स्पर्श करते हुए इन सभीको अपनी आत्मासे अभिन्न मानते हुए अपनेको अपरिच्छिन्न अनुभव करे ।}

*प्रकटयोगिनीरूपस्वात्मने अणिमासिद्ध्यै नमः ।*

{अपनी आत्माके रूपमे प्रकट योगिनी रूप अणिमा सिद्धिको नमस्कार}

*अपरिच्छिन्नस्वात्मात्मने सर्वसंक्षोभिणीमुद्रायै नमः*

***इति प्रयोगपूर्वकं वा विभावयेत् ।***

{अपनी आत्माके अपरिच्छिन्नरूप सर्वसंक्षोभिणी मुद्राको नमस्कार । इस प्रकार प्रयोगपूर्वक भावना करें}

सूत्र {१३}

*पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थानि मनोविकारः कामाकर्षिणि आदि षोडशशक्तयः ।।*

{पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, एवं वाक्, हाथ, पैर, पायु, उपस्थादि, मनोविकार, कामाकर्षिणी आदि सोलह शक्तियाँ हैं}

{प्रयोग विधि}

*षोड़शदलपद्माय नमः इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य ।*

{इस प्रकार षोड़शदल पद्मोको नमस्कार करता हुआ अपने भीतर उसे व्यापक समझे एवं न्यास करे}

*दक्षश्रोत्रपृष्ठपृथिव्यात्मने कामाकर्षिणीनित्याकलायै नमः*

{दाहिने कानके पीछेके हिस्सेके रूपमें पृथ्वी स्वरूप कामाकर्षिणी नित्याकलाको नमन}

*दक्षांसरूप वार्यात्मने बुद्ध्याकर्षिणी नित्याकलायै नमः ।*

{दाहिने स्कन्धरूप जलात्मक बुद्ध्याकर्षिणी नित्याकलाको नमस्कार}

*दक्षकूर्परूपतेजात्मने अहंकाराकर्षिणीनित्याकलायै नमः*

{दाहिने कूर्पर रूप तेजात्मक अहंकाराकर्षिणी नित्याकलाको नमस्कार}

*दक्षकरपृष्ठरूपवाय्वात्मने शब्दाकर्षिणीनित्याकलायै नमः ।*

{दाहिने कर पृष्ठ रूप वायुस्वरूप शब्दाकर्षिणी नित्याकलाको मेरा नमस्कार}

*दक्षोरुरूपाकाशात्मने स्पर्शाकर्षिणीनित्याकलायै नमः*

{दाहिनी जाँघ रूप आकाशात्मक स्पर्शाकर्षिणी नित्या कलाको नमन}

*दक्षजानुरूपश्रोत्रात्मने रूपाकर्षिणीनित्याकलायै नमः*

{दाहिनी जाँघरूप श्रोत्रात्मक रूपाकर्षिणी नित्याकलाको नमस्कार है }

*दक्षगुल्फरूपत्वगात्मने रसाकर्षिणीनित्याकलायै नमः ।*

{दाहिनी ऐड़ीके ऊपरकी गाँठरूप त्वगात्मक रसाकर्षिणी नित्याकलाको नमन}

*दक्षपादतलरूपचक्षुरात्मने गंधाकर्षिणीनित्याकलायै नमः*

{दक्षिण पादतल {पगथली} रूप चक्षुआत्मक गन्धाकर्षिणी नित्याकलाको नमस्कार}

*वामपादतलरूपजिह्वात्मने चित्ताकर्षिणीनित्याकलायै नमः*

{बायीं पगथली रूप जिह्वात्मक चित्ताकर्षिणी नित्याकलाको नमस्कार}

*वामगुल्फरूपघ्राणात्मने धैर्याकर्षिणी नित्याकलायै नमः ।*

{वाम ऐड़ीके ऊपरकी गाँठ रूप घ्राणात्मक धैर्याकर्षिणी नित्या कलाको नमन}

*वामजानुरूपवागात्मने स्मृत्याकर्षिणी नित्याकलायै नमः ।*

{वाम पिंडलीके ऊपर एवं जाँघके नीचेके भागरूप वाक् स्वरूप स्मृत्याकर्षिणी नित्याकलाको मेरा नमस्कार}

*वामोरुरूपपाण्यात्मने नामाकर्षिणीनित्याकलायै नमः ।*
{वाम जघारूप हस्तात्मक नामाकर्षिणी नित्याकलाको मेरा नमस्कार है}
*वामकरपृष्ठरूपपादात्मने बीजाकर्षिणी नित्याकलायै नमः ।*
{बायें हाथके पीछेके भाग रूप पादात्मक बीजाकर्षिणी नित्याकलाको मेरा नमस्कार है}
*वामकूर्पररूपपाय्वात्मने आत्माकर्षिणीनित्याकलायै नमः ।*
{बायें कूर्पर रूप पायु इन्द्रियात्मक आत्माकर्षिणी नित्याकलाको मेरा नमन}
*वामासरूपोपस्थात्मने अमृताकर्षिणीनित्याकलायै नमः*
{वाम स्कन्धरूप उपस्थात्मक अमृताकर्षिणी नित्याकलाको मेरा नमन}
*वाम श्रोत्रपृष्ठरूपविकृतमन आत्मने शरीराकर्षिणीनित्याकलायै नमः ।*
{वाम-श्रोत्रके पीछेके भागके रूपमें विकृत मन स्वरूप शरीराकर्षिणी नित्याकलाको मेरा नमस्कार है}
*हृद्रूपसर्वाशापरिपूरकचक्रेश्वर्यै त्रिपुरेश्वर्यै नमः ।*
{हृदय रूप सर्वाशापरिपूरक चक्रेश्वरी भगवती त्रिपुरेशीको मेरा नमस्कार है}
*गुप्तयोगिनीरूपस्वात्मने लघिमासिद्धयै नमः ।*
{गुप्तयोगिनीरूप अपनी आत्मास्वरूप लघिमा सिद्धिको मेरा नमस्कार है}
*अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वविद्राविणीमुद्रायै नमः ।*
{अपनी स्वात्मा ही अपरिच्छिन्नस्वरूप सर्वविद्राविणी मुद्राशक्तिको नमस्कार है}

*सूत्र (१४)*

*वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपादानोपेक्षारूपबुद्धयो अनंगकुसुमाद्यष्टौ ।।*

{वचन, आदान, गमन, विसर्ग, आनन्द, हान, उपादान, उपेक्षा रूप बुद्धियाँ अनंग कुसुमादि आठ शक्तियाँ हैं}

**{प्रयोग विधि}**

*अष्टदलपद्माय नमः इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य*
{आठ दलके पद्मको नमस्कार, इस प्रकार उसे अन्तरमें व्यापक देखते हुए न्यास करें }
*दक्षशंख (कपालास्थि) रूप वचनात्मने अनंगकुसुमायै नमः*
{दक्षिण कपालास्थि वचनात्मक अनंगकुसुमा शक्तिको नमस्कार}
*दक्षजत्रुरूप (स्कंध संधि) आदानात्मने अनंगमेखलायै नमः ।*
{दक्षिण कंधेकी संधि रूप आदानात्मक अनंगमेखलादेवीको नमस्कार}
*दक्षोरुरूपगमनात्मने अनंगमदनायै नमः ।*
{दक्षिण जंघा रूप गमनात्मक अनंगमदनादेवीको मेरा नमस्कार है}

*दक्षगुल्फरूपविसर्गात्मने अनंगमदनातुरायै नमः ।*
(दक्षिण गुल्फरूप विसर्गात्मक अनगमदनातुरा देवीको नमस्कार)
*वामगुल्फरूपआनन्दात्मने अनंगरेखायै नमः ।*
{वाम गुल्फ {एडीकी ऊपरकी गाँठ} रूप आनन्दात्मक अनगरेखा शक्तिको नमस्कार}
*वामोरुरूपहानाख्यबुद्ध्यात्मने अनंगवेगायै नमः ।*
{वाम जंघा रूप हानाख्या बुद्धयात्मक अनगवेगादेवीको मेरा नमस्कार}
*वामजत्रुरूपोपादानाख्यबुद्ध्यात्मने अनंगाकुशायै नमः ।*
{वाम हँसुली रूप उपादानाख्य बुद्धयात्मक अनगाकुशादेवीको नमस्कार}
*वामशखरूपोपेक्षाख्यबुद्ध्यात्मने अनंगमालिन्यै नमः ।*
{वाम शख रूप उपेक्षाबुद्धि आत्मक अनगमालिनीदेवीको मेरा नमन}
*हृद्रूपसक्षोभिणीचक्रेश्वर्यै त्रिपुरसुन्दर्यै नमः ।*
{हृदय रूप सक्षोभिणी चक्रेश्वरी भगवती त्रिपुरसुन्दरीको मेरा नमस्कार}
*गुप्ततरयोगिनीरूपस्वात्मात्मने महिमासिद्ध्यै नमः ।*
{गुप्ततर योगिनी रूप अपनी आत्मा ही महिमासिद्धि स्वरूप है, उसे नमस्कार}
*अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वाकर्षिणीमुद्रायै नमः ।*
{अपरिच्छिन्न रूपमे अपनी आत्मा ही सर्वाकर्षिणी मुद्राशक्ति है उसे नमस्कार}

सूत्र {१५}

*अलम्बुषाकुहूर्विश्वोदरावारुणी हरितजिह्वायशोवतीपयस्विनीगान्धारी पूषाशखिनीसरस्वतीइडापिंगलासुषुम्नाचेति चतुर्दश नाड्यः सर्वसंक्षोभिणी आदि चतुर्दश शक्तयः ।।*

{अलम्बुसा, कूहू, विश्वोदरा, वारुणी, हस्तिजिह्वा, यशोवती पयस्विनी, गान्धारी, पूषा, शखिनी, सरस्वती, इडा, पिगला, सुषुम्ना – ये चौदह नाडियाँ सर्वसक्षोभिणी आदि चौदह शक्तियाँ हैं । }

*चतुर्दशार चक्राय नमः इति तदन्तर्व्यापक न्यस्य*
{चतुर्दशार चक्रको नमस्कार । इस प्रकार उसे अपने अन्तरमे व्यापक समभता हुआ न्यास करे ।}
*ललाटमध्यभागरूपअलम्बुसात्मने सर्वसंक्षोभिणीशक्त्यै नमः*
{ललाटके मध्य भाग रूप अलम्बुसात्मक सर्वसक्षोभिणी शक्तिको मेरा नमन}
*ललाटदक्षभागरूपकुह्वात्मने सर्वविद्राविणीशक्त्यै नमः ।*
{ललाटके दक्षिण भाग रूप कुहू नाडी स्वरूप सर्वविद्राविणी शक्तिको नमस्कार}
*दक्षगण्डरूपविश्वोदरात्मने सर्वाकर्षिणीशक्त्यै नमः ।*

{दाहिने गाल {गण्ड} रूप विश्वोदरा नाडी स्वरूप सर्वाकर्षिणी शक्तिको मेरा नमस्कार है}

*दक्षांसरूपवारुण्यात्मने सर्वाह्लादिनीशक्त्यै नमः ।*

{दाहिने स्कन्धरूप वारुणी स्वरूपा सर्वाह्लादिनी शक्तिको मेरा नमस्कार}

*दक्षपार्श्वरूपहस्तिजिह्वात्मने सर्वसंमोहिनीशक्त्यै नमः ।*

{दाहिने बगलके रूपमें हस्तिजिह्वास्वरूपिणी सर्वसमोहिनी शक्तिको मेरा नमस्कार}

*दक्षोरुरूपयशोवत्यात्मने सर्वस्तम्भिनीशक्त्यै नमः ।*

{दाहिनी ऊरु रूप यशोवती नाडी स्वरूपिणी सर्वस्तम्भिनी शक्तिको मेरा नमन}

*दक्षजंघारूपपयस्विन्यात्मने सर्वजृम्भिणीशक्त्यै नमः ।*

{दाहिनी जंघारूप पयस्विनी नाडीरूप सर्वजृम्भिणी शक्तिको मेरा नमन}

*वामजंघारूपगान्धार्यात्मने सर्ववशंकरीशक्त्यै नमः ।*

{वाम जंघारूप गान्धारी नाडी स्वरूपा सर्ववशंकरी शक्तिको नमन}

*वामोरुरूपपूषात्मने सर्वरञ्जिनीशक्त्यै नमः ।*

{वाम ऊरुरूपा पूषास्वरूपा सर्वरञ्जिनी शक्तिको नमन}

*वामपार्श्वरूपशंखिन्यात्मने सर्वोन्मादिनीशक्त्यै नमः ।*

{वाम पार्श्वरूप शंखिनी स्वरूपा सर्वोन्मादिनी शक्तिको मेरा नमस्कार है}

*वामांसरूपसरस्वत्यात्मने सर्वार्थसाधिनीशक्त्यै नमः ।*

{वाम भाग रूप सरस्वती नाडी स्वरूपा सर्वार्थसाधिनी शक्तिको मेरा नमस्कार}

*वामगण्डरूपेडात्मने सर्वसंपत्तिपूरणीशक्त्यै नमः ।*

{बाय गाल रूप इडा नाडी स्वरूपा सर्वसंपत्तिपूरिणी शक्तिको मेरा नमस्कार है}

*ललाटवामभागरूपपिंगलात्मने सर्वमंत्रमयीशक्त्यै नमः*

{ललाटके बाये भाग रूप पिंगला नाडी रूपा सर्व मंत्रमयी शक्तिको नमन}

*ललाटपृष्ठभागरूपसुषुम्नात्मने सर्वद्वन्द्वक्षयकरीशक्त्यै नमः ।*

{ललाटके पीछके भाग रूप सुषुम्ना नाडी स्वरूपा सर्वद्वन्द्वक्षयकारी शक्तिको नमन}

*हृद्रूपसर्वसौभाग्यदायकचक्रेश्वर्यै त्रिपुरवासिन्यै नमः ।*

{हृदय रूप सर्वसौभाग्यदायक चक्रेश्वरी त्रिपुरवासिनीदेवीको नमन}

*सम्प्रदाययोगिनीरूपस्वात्मात्मने ईशित्वसिद्ध्यै नमः ।*

{सम्प्रदाय योगिनी रूप अपनी आत्मा ही ईशित्व सिद्धि है, उसे नमन}

*अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्ववशंकरीविद्यायै नमः ।*

{अपरिच्छिन्न रूप अपनी आत्मा ही सर्ववशंकरी विद्या है, उसे नमस्कार}

सूत्र {१६}

*प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयादि दशवायव सर्वसिद्धिप्रदादिबहिर्दशारदेवताः ।।*

{प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त धनञ्जय आदि दस प्रकारके प्राण ही सर्वसिद्धिप्रद बहिर्दशार देवता है }

*बहिर्दशार चक्राय नमः इति व्यापक न्यस्य*

{बहिर्दशार चक्रको नमस्कार । इस प्रकार उसे सर्वव्यापक समझकर न्यास करें।

*दक्षाक्षिरूपप्राणात्मने सर्वसिद्धिप्रदादेव्यै नमः ।*

{दाहिनी ऑखरूप प्राणात्मक सर्वसिद्धिप्रदादेवीको नमस्कार}

*नासामूलरूपापानात्मने सर्वसम्पत्प्रदादेव्यै नमः ।*

{नासिकाके मूलभाग रूप अपानप्राण स्वरूपा सर्वसम्पत्प्रदा देवीको नमन।}

*वामनेत्ररूपव्यानात्मने सर्वप्रियंकरीदेव्यै नमः ।*

{वाम नेत्र रूप व्यानप्राण स्वरूपा सर्वप्रियंकरी देवीको नमस्कार}

*कुक्षीशकोणरूपोदानात्मने सर्वमंगलकारिणीदेव्यै नमः ।*

{कुक्षीके ईशानकोण रूप उदान प्राणात्मक सर्व मंगलकारिणी देवीको नमस्कार}

*कुक्षिवायुकोणरूपसमानात्मने सर्वकामप्रदादेव्यै नमः ।*

{कुक्षिके वायुकोण रूप समान प्राणात्मक सर्वकामप्रदादेवीको नमन}

*वामजानुरूपनागात्मने सर्वदुःखविमोचिनीदेव्यै नमः ।*

{वाम जानु रूप नाग प्राणस्वरूपा सर्वदुःखविमोचिनीदेवीको मेरा नमन}

*गुदरूपकूर्मात्मने सर्वमृत्युप्रशमिनीदेव्यै नमः ।*

{गुदा रूप कूर्मप्राणस्वरूपा सर्वमृत्युप्रशमिनी देवीको मेरा नमस्कार}

*दक्षजानुरूपकृकरात्मने सर्वविघ्नविनाशिनीदेव्यै नमः ।*

{दाहिनी जानुरूप कृकरप्राण स्वरूपा सर्वविघ्नविनाशिनी देवीको नमन}

*कुक्षिनिऋतिकोणरूपदेवदत्तात्मने सर्वांगसुन्दरीदेव्यै नमः ।*

{कुक्षिके नैऋत्यकोण रूप देवदत्त प्राणस्वरूपा सर्वांग सुन्दरी देवीको नमन}

*कुक्षिवह्निकोणरूपधनजयात्मने सर्वसौभाग्यदायिनीदेव्यै नमः ।*

{कुक्षिके अग्निकोण रूप धनजय स्वरूपा सर्वसौभाग्यदायिनी देवीको नमन}

*हृद्रूपसर्वार्थसाधकचक्रेश्वर्यै त्रिपुराश्रियै नमः ।*

{हृदय रूप सर्वार्थ साधक चक्रेश्वरी त्रिपुराश्रीको नमस्कार}

*कुलकौलयोगिनीरूपस्वात्मात्मने वशित्वसिद्ध्यै नमः ।*

{कुल कौलिनी योगिनी रूपा अपनी आत्मा ही वशित्वसिद्धि है, उसे नमस्कार}

*अपरिच्छिन्नस्वात्मात्मने सर्वोन्मादिनीमुद्रायै नमः ।*

{अपरिच्छिन्न अपनी आत्मा ही सर्वोन्मादिनी मुद्रा है, उसे नमस्कार}

सूत्र {१७–१८–१९}

*एतद्वायुसंसर्गकोपादिभेदेन रेचकःपाचकश्शोषकोदाहकःप्लावक इति प्राण मुख्यत्वेन पचधा जठराग्निर्भवति ।।१७।। क्षारकः उद्गारकः क्षोभको जृम्भको मोहकः इति नागप्राधान्येन पञ्चविधास्ते मनुष्याणां देहगाः भक्ष्य भोज्य चोष्यलेह्यपेयात्मकपञ्चविधमन्नं पाचयन्ति ।।१८।। एता दशवह्निकलारसर्वज्ञाद्या अन्तर्दशारगा देवता ।।१९।।*

*{अर्थ}*

{ये वायु ससर्ग एव प्रकोपको प्राप्त करनेके भेदसे रेचक, पाचक, शोषक,दाहक एव प्लावक इस प्रकार प्राणोकी प्रमुखतासे पॉच जठराग्नि बन जाते है ।।१७।। मनुष्योके देहमे जाने पर क्षारक, उद्गारक, क्षोभक, जृभक एव मोहक इस प्रकारकी प्रधानतापूर्वक ये भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य एव पेयात्मक पॉच प्रकारके अन्नोको पचाते हैं ।।१८।। ये दस वह्नि कलाये सर्वज्ञा आदि दस अन्तर्दशार चक्रके दस देवता हैं ।।१९।।

{प्रयोग विधि}

अन्तर्दशारचक्राय नमः इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य

{अन्तर्दशार चक्रको नमस्कार इस प्रकार उसे अपने भीतर व्यापक जानते हुए न्यास करें }

*दक्षनासारूपरेचकाग्न्यात्मने सर्वज्ञादेव्यै नमः ।*

{दक्ष नासारूप रेचक अग्नि स्वरूपा सर्वज्ञा देवीको नमस्कार}

*दक्षसृक्कि {ओष्ठ प्रान्ते} रूपपाचकाग्न्यात्मने सर्वशक्तिदेव्यै नमः ।*

{दक्षिण ओठ प्रान्तमें पाचक अग्नि स्वरूपा सर्वशक्तिदेवीको नमस्कार}

*दक्षस्तनरूपशोषकाग्न्यात्मने सर्वैश्वर्यप्रदादेव्यै नमः ।*

{दक्ष स्तन भागमें शोषक अग्निस्वरूपा सर्वैश्वर्यप्रदा देवीको नमस्कार}

*दक्षवृषणरूपदाहकाग्न्यात्मने सर्वज्ञानमयीदेव्यै नमः ।*

{दक्षिण वृषण रूप दाहकाग्नि स्वरूपा सर्वज्ञानमयीदेवीको नमस्कार}

*सीविनीरूपप्लवकाग्न्यात्मने सर्वव्याधिविनाशिनीदेव्यै नमः ।*

{सीविनी रूप प्लावकाग्नि स्वरूपा सर्वव्याधिविनाशिनी देवीको नमस्कार}

*बामवृषणरूपक्षारकाग्न्यात्मने सर्वाधारस्वरूपादेव्यै नमः ।*

{बाम वृषणरूप क्षारक अग्निस्वरूपा सर्वाधारस्वरूपादेवीको नमन}

*वामस्तनरूपोद्गारकाग्न्यात्मने सर्वपापहरादेव्यै नमः ।*

{वामस्तनरूप उद्गारक अग्नि स्वरूपा सर्वपापहरा देवीको नमस्कार}

*बामसृक्विरूप (ओष्ठ प्रान्त) क्षोभकाग्न्यात्मने सर्वानन्दमयीदेव्यै नमः ।*

(वाम ओष्ठ प्रान्त रूप क्षोभक अग्निस्वरूपा सर्वानन्दमयी देवीको नमस्कार)

*वामनासारूपजृम्भकाग्न्यात्मने सर्वरक्षास्वरूपिणीदेव्यै नमः ।*

(वाम नासारूप जृम्भक अग्नि स्वरूपा सर्वरक्षास्वरूपिणी देवीको नमस्कार)

*नासाग्ररूपमोहकाग्न्यात्मने सर्वेप्सितफलप्रदादेव्यै नमः ।*

(नासिकाके अग्रभाग रूप मोहक अग्निस्वरूपा सर्वेप्सितफलप्रदा देवीको नमस्कार)

*हृद्रूपसर्वरक्षाकरचक्रेश्वर्यै त्रिपुरमालिन्यै नमः ।*

(हृदय रूप सर्वरक्षाकर चक्रेश्वरी त्रिपुरमालिनी देवीको नमस्कार)

*निगर्भयोगिनीरूपस्वात्मात्मने प्राकाम्यसिद्ध्यै नमः ।*

(निगर्भ योगिनी रूप स्वात्मास्वरूपा प्राकाम्य सिद्धिको नमस्कार)

*अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वमहाकुशामुद्रायै नमः ।*

(अपरिच्छिन्न रूपमें अपनी आत्मा ही सर्वमहाकुशा मुद्राशक्ति है, इन्हें नमस्कार)

सूत्र (२०–२१–२२–२३–२४)

*शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्त्वरजस्तमोगुणाः वशिन्यादिशक्त्योऽष्टौ ।।२०।। शब्दादितन्मात्रा पंचपुष्पबाणाः ।।२१।। मन इक्षुधनुः ।।२२।। रागः पाशः ।।२३।। द्वेषोऽकुशः ।।२४।।*

(शीत, उष्ण, सुख, दुख, इच्छा, सत्व, रज, तम आदि गुण, वशिन्यादि आठ शक्तियाँ हैं ।।२०।। शब्दादि तन्मात्रा पंच पुष्पबाण हैं ।।२१।। मन इक्षुधनुष है ।।२२।। राग ही पाश आयुध है ।।२३।। द्वेष अंकुश आयुध है।।२४।।)

(प्रयोग विधि)

*अष्टकोणचक्राय नमः इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य*

(अष्टकोण चक्रको नमस्कार करके उसे अपने भीतर व्यापक अनुभव करता हुआ न्यास करे )

*चिबुकदक्षभागरूपशीतात्मने वशिनीवाग्देवतायै नमः*

(चिबुकके दक्षिण भाग रूप शीत स्वरूपा वशिनी वाग्देवताको मेरा नमस्कार है)

*कण्ठदक्षभागरूपउष्णात्मने कामेश्वरीवाग्देवतायै नमः*

(कण्ठके दक्षिण भागरूप उष्ण स्वरूपा कामेश्वरी वाग्देवताको नमन)

*हृदयदक्षभागरूप सुखात्मने मोदिनीवाग्देवतायै नमः*

(हृदयके दक्षिण भागरूपसुखस्वरूपा मोदिनी वाग्देवताको नमन)

*नाभिदक्षभागरूपदुःखात्मने विमलावाग्देवतायै नमः*

{नाभि देशके दाहिने भागरूप दुखस्वरूपा विमला वाग्देवताको नमन}

*नाभिवामभागरूपइच्छात्मने अरुणावाग्देवतायै नमः*

{नाभि देशके वाम भागरूपमें स्थित इच्छास्वरूपा अरुणा वाग्देवताको नमन}

*हृदयवामभागरूपसत्वगुणात्मने जयिनीवाग्देवतायै नमः*

{हृदयके वाम भागरूपमें स्थित सत्वगुणस्वरूपा जयिनी वाग्देवताको नमन}

*कण्ठवामभागरूपरजोगुणात्मने सर्वेश्वरीवाग्देवतायै नमः*

{कण्ठके वाम भाग रूप रजोगुणस्वरूपा सर्वेश्वरी वाग्देवताको नमन}

*चिबुकवामभागरूपतमोगुणात्मने कौलिनीवाग्देवतायै नमः*

{चिबुकके वाम भाग रूप तमोगुणस्वरूपा कौलिनी वाग्देवताको नमन}

*हृद्रूपसर्वरोगहरचक्रेश्वर्यै त्रिपुरासिद्धायै नमः*

{हृदय रूप सर्व रोगहर चक्रेश्वरी स्वरूपा त्रिपुरा सिद्धा भगवतीको नमन}

*रहस्ययोगिनीरूपस्वात्मात्मने भुक्तिसिद्ध्यै नमः*

{रहस्य योगिनी रूपा अपनी स्वात्मा ही भुक्ति सिद्धि है, उसे नमन}

*अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वखेचरीमुद्रायै नमः*

{अपरिच्छिन्न रूपमें अपनी आत्मा ही सर्वखेचरी मुद्राशक्ति है, उसे नमस्कार}

*हृदयत्रिकोणाधोभागरूप पंचतन्मात्रात्मकेभ्य सर्वजभनवाणेभ्यो नमः ।*

*तद्दक्षभागरूपमनआत्मकाभ्या सर्वमोहनधनुर्भ्याम् नमः ।*

*तदूर्ध्वभागरूपरागात्मकाभ्या सर्ववशकरपाशाभ्या नमः ।*

*तद्वामभागरूपद्वेषात्मकाभ्या सर्वस्तंभकरांकुशाभ्या नमः ।*

{हृदय त्रिकोणके अधोभागरूप पंचतन्मात्राओंके रूपमें सर्वजभन बाणोंको नमस्कार}

उसी हृदयके दाहिने भाग रूप मनस्वरूप सर्वमोहन धनुषको नमन}

{उसी हृदयके ऊपरके भागरूप, रागस्वरूप सर्ववशकर पाशको नमस्कार}

{उसीके वाम भागरूप द्वेषस्वरूप सर्वस्तम्भकर अंकुशको नमन}

सूत्र {२५}

*अव्यक्तमहदहंकारा कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्यो अन्तस्त्रिकोणगा देवताः ।*

{अव्यक्त, महत्तत्व, अहकार, कामेश्वरी, बज्रेश्वरी, भगमालिनी आदि अन्त त्रिकोणान्तर्गत देवता हैं }

{प्रयोग विधि}

*त्रिकोणचक्राय नमः इति व्यापकं न्यस्य*

{त्रिकोण चक्रराजको नमस्कार, इस प्रकार इसे व्यापक मानकर न्यास करें}

*हृदयत्रिकोणाग्रभागरूपमहत्तत्वात्मने कामेश्वर्यैदेव्यै नमः ।*

{हृदय त्रिकोणके अग्रभाग रूप महत्तत्व स्वरूपा कामेश्वरी देवीको नमन}

*तद्दक्षकोणरूपाहंकारात्मने बज्रेश्वर्यैदेव्यै नमः ।*

{उसके दाहिने कोण रूप अहंकारस्वरूपा बज्रेश्वरी देवीको नमस्कार}

*तद्वामकोणरूपाव्यक्तात्मने भगमालिनीदेव्यै नमः ।*

{हृद्रूप वाम कोणरूप अव्यक्त प्रकृतिस्वरूपा भगमालिनी देवीको नमन}

*हृद्रूपसर्वसिद्धिप्रदचक्रेश्वर्यै त्रिपुराम्बायै नमः*

{हृद्रूप सर्वसिद्धिप्रद चक्रेश्वरी भगवती त्रिपुराम्बाको नमस्कार}

*अतिरहस्ययोगिनीरूपस्वात्मात्मने इच्छासिद्धयै नमः ।*

{अति रहस्य योगिनी रूप अपनी आत्मा ही इच्छा सिद्धि है, उसे नमन}

*अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वबीजमुद्रायै नमः ।*

{अपरिच्छिन्न रूप अपनी स्वात्मा ही सर्वबीज मुद्रा है, उसे नमस्कार}

सूत्र {२६–२७–२८–२९–३०}

*निरुपाधिकीसंविदेव कामेश्वरः ।।२६।। सदानन्दपूर्णः स्वात्मैव परदेवता ललिता ।।२७।। लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः ।।२८।। अनन्यचित्तत्वेन च सिद्धिः ।।२९।। भावनायाः क्रिया उपचाराः ।।३०।।*

{अर्थ}

{निरुपाधिकी संविद ही भगवान् कामेश्वर हैं ।।२६।। सदानन्द पूर्ण अपनी आत्मा ही भगवती परदेवता ललिता है ।।२७।। इनकी सर्वांग लालिमा ही सर्वविमर्श है ।।२८।। अनन्य चित्स्वरूप तत्त्वसे ही सिद्धिलाभ है ।।२९।। भावनामूलक क्रिया ही सिद्धिको प्राप्त करनेका उपाय है ।।३०।।

{प्रयोग विधि}

*हृन्मध्यरूपनिरुपाधिकसंविन्मात्ररूपकामेश्वराङ्कनिलयायै सच्चिदानन्दैक-ब्रह्मात्मिकायै परदेवतायै ललितायै महात्रिपुरसुन्दर्यै नमः ।।*

{हृदयके मध्य रूप निरुपाधिक संविन्मात्र रूप कामेश्वर भगवान्के अंकमें विराजित सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपा परदेवता ललिता महात्रिपुरसुन्दरीको नमस्कार}

*निरुपाधिकचैतन्यमेव सच्चिदानन्दात्मकमन्तःकरणप्रतिबिंबित सत्तदहमेव इति अनुसंधानं ललितायालौहित्यमिति विभाव्य ।।*

{निरुपाधिक चैतन्य ही सच्चिदानन्दात्मक अन्तःकरणमें प्रतिबिंबित होकर जो सत्ता एव "मैं" है इस प्रकार अनुसंधान होना ही भगवती ललिताका लौहित्य है, ऐसा विचार कर

*अभेदसम्बन्धेन सत्वचित्वादिविशिष्टसंविद : केवलसविदश्च तादात्म्य सम्बन्धरूप कामेश्वराकयंत्रणं विशेषणं विभाव्य ।।*

{अभेद सम्बन्धसे सत्त्व, चित्त्व, आनन्दत्वादि विशिष्ट सविद और केवल सविद दोनोंमें तादात्म्य सम्बन्धरूप कामेश्वर भगवान्‌के अक रूपी यंत्रमें विशेषणोको देखें }

*उपाध्यभावरूपशुक्लत्वोपलक्षिता सती शुद्धसविदेव शुक्लचरणः ।*

{उपाधियोंका सर्वथा अभाव होना ही शुक्लत्व समझे एव शुद्ध सविद ही भगवतीके शुक्ल चरण हैं।}

*चित्वविशिष्टसवित्प्राथमिकपराहन्तात्मकमृत्युरूपेणरागेणउपलक्षिता सतीरक्तचरणः ।।*

{चित्व विशिष्ट संवित् एव प्राथमिक पर अहत्ता स्वरूपत्ता मृत्युरूप रागसे उपलक्षित हुई ही रक्तचरण हैं}

*अहमाकारवृतिनिरूपिता विषयता चरणयोर्मिथो विशेष्यविशेषणभावरूपैव तदुभयसामरस्यमिति विभाव्य ।।*

{अहमाकार वृत्तिमे विषयता निरूपित करना ही चरणोंमें उर्मियाँ हैं, विशेष्य विशेषण भावरूप इन दोनोंके सामरस्यको विचारे ।}

*हृद्रूपसर्वानन्दमयचक्रेश्वर्यै महात्रिपुरसुन्दर्यै नम ।*

{हृदय रूप सर्वानन्दमय चक्रेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरीको नमस्कार है}

*परापररहस्ययोगिनीरूपस्वात्मात्मने प्राप्तिसिद्ध्यै नमः ।*

{पर, अपर रहस्य योगिनी रूप अपनी आत्मा ही प्राप्तिसिद्धि है, उसे नमन}

*अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वयोनिमुद्रायै नमः ।*

{अपरिच्छिन्नरूपा अपनी आत्मा ही सर्वयोनिमुद्रा है, उसे नमन}

*भावनायाः क्रिया उपचाराः ।।३०।।*

{भावनारूप क्रिया करना इसका साधन उपचार है}

*इति तत्तत्स्थान स्पर्शपूर्वक सम्यक् अनुसधायोपचारान् समर्पयेत् ।।*

{इन स्थानोंको स्पर्श करते हुए सम्यक् अन्वेषण करते हुए उपचार समर्पित करें}

*तद्यथा एवम् अपरिच्छिन्नतया भाविताया ललितायाः ।*
*स्वमहिम्न्येव प्रतिष्ठितिमासनमनुसन्दधामि ।*

{इसी प्रकार अपरिच्छिन्नताकी भावना करते हुए भगवती ललिताकी निज महिमामे प्रतिष्ठित रहना ही उनके आसनका अनुसधान करना है ।}

*वियदादिस्थूलप्रपचरूपपादगतनामरूपात्मकमलस्य सच्चिदानन्दैक– रूपत्वभावनाजलेन क्षालन पाद्यं भावयामि।।*

{वियदादि स्थूल प्रपच रूप चरणोंके नामरूपात्मक मलका सच्चिदानन्दैक रूपता भावना रूपी जलसे स्वच्छ करना, धोना ही पाद्यकी भावना है}

*सूक्ष्मप्रपंचरूपहस्तगतस्य तस्य क्षालनं अर्घ्यं चिन्तयामि ।*

{सूक्ष्म प्रपंच रूप हाथोको सच्चिदानन्दैकरूपता भावना रूपी जलसे स्वच्छ करना, धोना ही अर्घ्य का चिन्तन करें}

*भावनारूपाणामपामपि कवलीकाररूपमाचमनं भावयामि ।*

{सच्चिदानन्दैकरूपता भावना रूपी जलका कवलीकार रूप आचमन समझें}

*सत्वचित्वानन्दत्वाद्यखिलावयवावच्छेदेन भावनाजलसम्पर्करूपं स्नानमनु चिन्तयामि ।।*

{सत्व, चित्व एव आनन्दत्वादि अखिल अवयव अवच्छेदोंसे सच्चिदानन्दैक भावनाजल का सम्पर्क करना ही स्नानका अनुचिन्तन करे}

*तेषु एवावयवेषु प्रसक्ताया भावनात्मकवृत्तिविशेष्यतायाः प्रोञ्छन वृत्यविषयत्वभावनेन वस्त्रं कल्पयामि ।।*

{इन अवयवोंमे प्रसक्त भावनात्मक वृत्ति विशेष्यताको वृत्ति अविषयत्व भावनासे पोंछना ही वस्त्रोंकी कल्पना करना है}

*निर्विषयत्वनिरञ्जनत्वाशोकत्वामृतत्वाद्यनेकधर्मरूपाख्याभरणानि धर्म्यभेदभावनेन समर्पयामि ।।*

{निर्विषयत्व, निरञ्जनत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि धर्म रूप कहे जाने वाले आभरणोंको धर्मीसे अभेद भावनापूर्वक समर्पण करना आभरण समर्पण करना है।}

*स्वशरीरघटकपार्थिवभागानाजडतापनयेन चिन्मात्रतावशेषरूप भावनेन गन्धं प्रयच्छामि।*

{अपने शरीर घटकके पार्थिव भागोकी जडता नष्ट कर शेष बची चिन्मात्रता रूपता भावको समर्पित करना ही गन्ध समर्पित करना है}

*स्वशरीरघटकआकाशभागानाजडतापनयेन चिन्मात्रतावशेषरूप भावनेन पुष्पाणि समर्पयामि ।*

{हे भगवती मै अपने शरीरके आकाश भागकी जडता दूर करता हुआ बची हुई चिन्मात्रताके भाव पुष्प आपको समर्पित करता हूं}

*वायव्यभागानां तथाभावनया धूपयामि ।*

{वायव्य भागोंकी तथैव भावना रूप धूप समर्पित करता हूं}

*तैजसभागानां तथाकरणेनोद्दीपयामि ।*

{तैजस भागोंकी तथैव भावना रूप दीपक [illegible] हूं}

*अमृतभागानां [illegible] नैवेद्यं निवेदयामि ।*

{अमृत भागोंको इसी प्रकार देखते हुए उनको नैवेद्य रूपमें समर्पित करता हूँ}

*षोडशान्तेन्दुमण्डलस्य तथा भावनेन ताम्बूलकल्पमाचरामि ।*

{षोड़श कलाओ युक्त इन्दुमण्डलकी इसी प्रकार भावना द्वारा ताम्बूल कल्पित कर उसे समर्पित करता हूँ}

*परापश्यन्त्यादिनिखिलशब्दानां नादद्वारा ब्रह्मण्युपसहारचिंतनेन स्तवीमि ।*

{परापश्यन्ती आदि निखिल शब्दोंके नाद द्वारा ब्रह्म भावमे उपसहार करना ही स्तुति करना है । ऐसी मैं स्तुति करता हूँ ।}

*विषयेषु धावमानाना चित्तवृत्तीनां विषयजडतानिरासेन ब्रह्मणि प्रविलापनेन प्रदक्षिणी करोमि ।*

{विषयोंमें दौड़ती हुई चित्तवृत्तियोंकी विषयजड़ता हटाकर ब्रह्मचिन्तनमे उनका प्रविलापन ही प्रदक्षिणा समर्पण है, मैं इस प्रकार प्रदक्षिणा करता हूँ}

*तासां विषयेभ्यः परावर्त्तनेन ब्रह्मैकप्रवणतया प्रणमामि ।*

{उनका {चित्तवृत्तियोंका} विषयोंसे परावर्त्तन एवं ब्रह्मप्रवणता ही प्रणाम करना है, मैं इस प्रकार प्रणाम निवेदन करता हूँ}

{इति उपचर्य जुहुयात्}

{इसी प्रकार उपचारोंसे {पूजन} करके तत्पश्चात् होम करे}

सूत्र {३१–३२–३३}

*अहं त्वमस्ति नास्ति कर्त्तव्यमकर्त्तव्यमुपासितव्यमित्यादि विकल्पाना आत्मनि विलपनं होमः ।।३१।।*

{मैं, तू, है, नहीं है, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, उपासना करनी चाहिये आदि विकल्पोंका अपनी आत्मामे विलोप हो जाना ही होम है ।}

*भावनाविषयाणामभेदभावनतर्पणम् ।। ३२ ।।*

{विषयोमें एव ब्रह्मरूप भावनामे अभेदत्व विचार करना ही तर्पण है}

*पचदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनं पञ्चदश नित्याः ।।३३।।*

{पंचदश तिथियोंके रूपसे कालकी परिणामताका अवलोकन पन्द्रह नित्या हैं}

सूत्र {३४}

*एव मुहूर्त्तत्रितयं, मुहूर्त्त द्वितयं, मुहूर्त्तमात्रं वा भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति, स एव शिवयोगीति गद्यते ।।*

{इस प्रकार उसकी नित्य भावना करता हुआ ही एक मुहूर्त्त, दो मुहूर्त्त, तीन मुहूर्त्त, निरन्तर इसी भावनामें रम जाय । वह जीवन्मुक्त हो जाता है, वही शिवयोगी कहलाता है}

सूत्र {३५}

*कादिमतेनअन्तःश्चक्रभावना प्रतिपादिताः ।*

{कादि मतसे अन्तः चक्र भावना प्रतिपादितकी गयी है ।}

सूत्र {३६}

*यः एवं वेद सोऽथर्वशिरोऽधीते । इति भावनोपनिषद् ।*

{जो इस प्रकार जानता है, वह अथर्वशिर विद्याका पंडित है ।
यह भावनोपनिषद् है ।}

{प्रयोग विधि}

**विहिताविहितविषयावृत्तयः उत्पन्नाः अहं त्वं गुरुर्देवतेत्यादयः तास्सर्वाश्चक्रराजस्थानन्ताशक्तिकदम्बरूपास्तत्तत्सूक्ष्मरूपा ये ये संस्कारा तत्सर्वं चिन्मात्रमेवेति विभावनया निर्व्युत्थानं स्वात्मनि जुहोमि ।।३१।।**

{यह विहित है, यह अविहित {निषिद्ध} है, इन विषयोंमें जो वृत्ति उत्पन्न होती है, उनसे उत्पन्न मैं, तू, गुरु, देवता आदि जो संस्कार {अवधारणायें} हैं वे सभी श्रीचक्रराजस्थ अनन्त कदम्ब रूप हैं, उनके जो सूक्ष्म संस्कार हैं, उन सबको चिन्मात्र समझते हुए सब भावनाओंसे अपनेको विरहित करना एवं निर्व्युत्थान दशा प्राप्त करना ही अपने आपको होम करना है ।}

*प्रकृतभावनासु ये गुरुचरणादिशक्तिकदम्बान्ताविषयास्ते सर्वेऽपि चिन्मात्ररूपा न परस्परं भिद्यन्ते इति भावनया तर्पयामि ।।३२।।*

{प्रकृत भावनामें जो गुरुचरणादि शक्तियाँ हैं, वे कदम्ब वृक्षोंके नीचे प्राप्त होने वाले विषय हैं, वे सभी चिन्मात्र रूप हैं, इनमें परस्पर कोई भी भेद नहीं है, इस प्रकारकी भावना ही तर्पण करना है और मै इस भावनासे ही तर्पण करता हूँ}

*तिथिचक्रमुक्तरूपं कालचक्रं देशचक्रं च सर्वमस्ति भाति प्रियं च न तु नामरूपवदेतत्सर्वं ब्रह्मैवेति विभावयामि ।।३३।।*

{तिथि चक्रका जो उक्त रूप है, प्रतिपदा, द्वितीया आदि तथा कालचक्र, वर्ष, मास, संवत्सरादि, देशचक्र तथा सबकुछ जो भी है, अनुभवमें आ रहा है अथवा प्रिय लग रहा है, यह सब नामरूपात्मक न होकर केवल ब्रह्म ही है - इस प्रकार विचार करता हूँ।}

{अथवा}

{पूर्व जैसा लिखा गया है, उसकी नित्य भावना करता हुआ ही श्वास प्रश्वास लेता रहे, इस प्रकार मनको श्वास प्रश्वासके साथ एकीकृत अनुभव करता हुआ तीन मुहूर्त, दो मुहूर्त अथवा एक मुहूर्त निरन्तर इसी

भावनामें रम जाये एव व्यापक हो जाये । इस प्रकार करनेवालेकी देवतात्म आत्मैक्यसिद्धि हो जाती है और वह जो भी कार्योंका चिन्तन करता है, वे सभी स्वतःसिद्ध हो जाते हैं।}

इस प्रकार नीचे उतरकर मूलमत्रसे पुनः तीन बार प्राणायाम करे, ऋष्यादिन्यास तीन बार करें, तब गुरुदेवकी स्तुति करें ।

*सर्व शिवम् ।*

*अथर्वशिरसि प्रोक्तभावनाना सता मुदे ।*

{सन्तोंकी प्रसन्नताके लिये यह अथर्वशीर्षमें कही गयी भावनाका वर्णन हुआ है ।

## भगवतीकी स्तुति

*श्यामे सगीतगात परशिवनिलये मुख्यसाचिव्यभारो–*
*द्वाहे दक्षे दयापूरित निज हृदये मामकी दैन्यवृत्तिम्।*
*श्रीमत्सिंहासनेश्यां भववनपतितान्दावदग्धान्नमस्ते*
*त्रातु पीयूषवर्षैः कथय परिकर बद्धवत्या विविक्ते ।।*

{भावार्थ}

हे मात ! श्यामा सगीत मातृका देवी !! आप परशिव भगवान् कामेश्वरके चिन्तामणि मन्दिरमे भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी सचिव हैं, उन्हें मत्रणा देती हैं आप सचिव पदको निर्वाह करनेमें परम कुशल है । आप कृपा कर अपने दयापूरित हृदयमे मेरी दीन अवस्था पर विचार कर । हे अनन्त लक्ष्मियोंसे युत, श्रीमान सिंहासनासीने ! आप इस ससार रूपी वनमे पडे, त्रितापकी ज्वालामे जलते हुए मुझ पर त्राण करनेके लिये अपनी कृपादृष्टिकी पीयूषवर्षा करे एव अपने परिकरको आदेश दे कि वे मुझको कष्ट ना छोडें मै आपको नमस्कार करता हूँ ।

*यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्ष यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोग ।*
*श्रीसुन्दरीसाधकपुगवाना भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ।।*

{भावार्थ}

जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है एव जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है । श्रीसुन्दरीके जो श्रेष्ठ साधक हैं, उनके लिये भोग एव मोक्ष दोनों करतलगत हैं।

*स्वर्गे वा पाताले स्थापय वा सकल भुवनसाम्राज्ये ।*
*तव चरणाब्जयुगल नाहं मुञ्चामि नैव मुञ्चामि ।।*
*अखिला नामरूपाभ्या या देवी सर्वमगला ।*
*तस्या सस्मरणात् पुसा सतता जय मगलम् ।।*

(भावार्थ)

हे माता ! आप चाहे मुझे पातालमें गिरा दें, चाहे सम्पूर्ण लोकोंका साम्राज्य प्रदान करें, मैं आपके चरणकमलोंको न तो छोडूँगा न ही कभी भी छोड पाऊँगा । जहाँ भी शिव नाम एव रूप है एवं जहाँ भगवती सर्वमगला देवी है, इनके स्मरण मात्रसे मनुष्यका सदा मगल ही मंगल है ।

----

# {पुष्पांजलि मंत्र}

{पूजनके पश्चात् पुष्पाञ्जलि देनेका तो नियम है ही । ये पुष्पाजलिके मत्र भी पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके द्वारा ही मेरे पूर्वाश्रमके पू. मामाजी श्री चिम्मनलाल गोस्वामीको बताये गये थे । अतः उनकी उपासनाके क्रमके ही हैं । ये सभी विधियाँ मुझे लगभग ई० सन् १९५८ मे प्राप्त हुई थी । पू गुरुदेव काष्ठमौनके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजके साथ ही रतनगढ चले गये थे । मै गोरखपुर ही रह गया था । पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी बाते मैं पू मामाजीसे मध्याह्नमे किया करता था । उन्ही प्रसगोमे पू मामाजी श्रीचिम्मनलालजी द्वारा ये सब विधियॉ मुझे मिली थी ।

संस्कृतके सभी श्लोकोंका अनुवाद मैंने मेरी अल्प बुद्धि द्वारा किया है, अत भूल हो तो मेरी संस्कृतकी अज्ञानता समझकर क्षमा करेगे ।}

{१}

*शिवे शिवसुशीतलामृततरंगगन्धोल्लसन्नवावरणदेवते*
*नवनवामृतस्यन्दिनी*
*गुरुक्रमपुरस्कृते गुणशरीरनित्योज्ज्वले षडगपरिवारिते*
*कलित एष पुष्पांजलिः ।।*

{भावार्थ}

हे शिवे ! हे भगवान् सदाशिवको सुशीतल कर देने वाली अमृत तरग ! हे निजागगन्धोल्लाससे उल्लसित नौ आवरणो वाली भगवती !!! हे नव नवामृतस्यदिनी !!!! हे नित्योज्ज्वले !!!!! हे त्रिगुणात्मक शरीर धृते !!!!!! हे षडग परिवार वाली, हे स्वामिनी !!!!!!! मेरी इस पुष्पाञ्जलिको स्वीकार करें।

{२}

*समस्तमुनियक्षकिम्पुरुषसिद्धविद्याधर–*
*गुहासुरसुराप्सरोगणमुखैर्गणैर्सेविते ।*
*निवृत्तितिलकाम्बरप्रकृतिशान्तिविद्याकला–*
*कलापमधुराकृते कलित एष पुष्पाजलि ।।*

{भावार्थ}

हे मुनि, यक्ष, किम्पुरुष, सिद्ध, विद्याधर, गुह, असुर, सुर, अप्सराओंके प्रमुख गणाधिपतियों द्वारा सेव्यमाने ! हे निवृत्तिका तिलक एव प्रवृत्तिका अम्बर धारण करने वाली !! हे शान्ति एव विद्या कलाओकी कलाप, परम मधुर आकृति वाली माँ, मेरी इस पुष्पांजलिको स्वीकार करें ।

{३}

*त्रिवेदकृतविग्रहे त्रिविधकृत्यसन्धायिनि*
*त्रिरूपसमवायिनि त्रिपुरमार्ग - संचारिणि ।*
*त्रिलोचनकुटुम्बिनि त्रिगुणसंविदुद्यत्पदे*
*त्रयि त्रिपुरसुन्दरि त्रिजगदीशि पुष्पाञ्जलिः ।।*

{भावार्थ}

हे ऋक्, यजु एव साम–तीनों वेदोमे ही अपनी मूर्त्ति स्थापित करने वाली सृष्टि, स्थिति एव प्रलय–तीनो प्रकारके कर्म करने वाली, ब्रह्मा, विष्णु एव महेश त्रिरूपोंकी समवायिनी, त्रिपुर {श्रीपुर} निज श्रीलोकमे सचरण करने वाली, भगवान् त्रिलोचन शंकरजीकी कुटुम्बिनी, त्रिगुण रूप सविद्‌को अपनी चरणप्रभासे उत्पन्न करने वाली {सत्वको चरणनखचन्द्रिकासे, रजको चरण तलकी मनोहर लालिमासे एव तमको चरणोंकी पगथलीकी कठोरतासे} हे त्रयि ! त्रिपुरसुन्दरी, माँ ! हे स्वर्ग, धरा एव पाताल तीनो लोकोकी ईश्वरी!!! तेरे लिये यह पुष्पाञ्जलि अर्पित है ।

{४}

*पुरन्दरजलाधिपान्तककुबेररक्षोहर*
*प्रभञ्जनधनञ्जय प्रभृति वन्दनानन्दिते ।*
*प्रवालपदपीठिकानिकटनित्यवर्तिस्वभू–*
*विरञ्चिविहितस्तुते विहित एष पुष्पांजलिः ।।*

{भावार्थ}

इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, राक्षसोका नाश करने वाले भगवान् राम अर्जुन प्रभृतिके द्वाराकी हुई वन्दनासे आनन्दित होने वाली, अपनी प्रवाल रत्नखचित चरण-पीठिकाके निकट बैठे स्वयंभू ब्रह्माजी द्वारा जो स्तुत्य है, वे पराम्बा मेरी यह पुष्पाञ्जलि स्वीकार करें ।

{५}

*तरंगयति सम्पदं तदनु संहरत्यापदं*
*सुख वितरति श्रिय परिधिनोति हन्ति द्विषः ।*
*क्षिणोति दुरितानि यत्प्रणतिरम्ब तस्यै सदा,*
*शिवङ्करि शिवे परे शिवपुरन्ध्रि तुभ्यं नमः ।।*

{भावार्थ}

हे शिवे ! जो भक्त तुझे प्रणाम करता है, उसके तू दुरित क्षीण करती है, हे शिवकरि !! उसकी सुख समृद्धि बढाती है, हे शिवपुरन्ध्रि !!! उससे द्वेष करने वालोका नाश भी तू ही करती है, हे परे !!!! तू उसे निरन्तर सुख

वितरित करती है एव उसकी आपदाओको समूल नष्ट करती है, तेरी अनुकूलता से सर्व शुभ सम्पदाएँ उसके ऊपर उमड–उमडकर लहराकर पडती हैं, हे माँ! मैं तुझे प्रणाम करता हूँ ।

{६}

*त्वमेव जननी पिता त्वमथ बान्धवस्त्वं सखा*
*त्वमायुरपर त्वमाभरणमात्मनस्त्वं कला ।*
*त्वमेव वपुष स्थितिस्त्वमखिलायतिस्त्वं गुरु*
*प्रसीद परमेश्वरि प्रणतपात्रि तुभ्य नम ।।*

{भावार्थ}

हे माते ! तू ही मेरी माता-पिता है, तू ही बन्धु–बान्धव एव सखा है, तू ही मेरा जीवन {आयु} है और तू ही मृत्यु है, तू ही मेरे आभरण है और तू ही मेरी आत्मा है, तू ही कला है और तू ही मेरा शरीर {तन} है, तू मेरी अस्तित्व {स्थिति} है, तू ही यह अखिल विश्व है और तू ही उत्तम बुद्धि रूप गुरु है । हे देवि !! तू ही मेरे लिये प्रणामकी पात्री है, हे परमेश्वरी !!! आप मुझ पर प्रसन्न हों ।

{७}

*कञ्जासनादिसुरवृन्दलसत्किरीट कोटिप्रघर्षणसमुज्ज्वलदघ्रिपीठे ।*
*त्वामेव यामि शरण विगतान्यभाव दीनं विलोकय दयार्द्र विलोचनेन ।।*

{भावार्थ}

हे माते ! तेरी चरणपीठ {जिस पर तू चरण रखती है} करोडों ब्रह्मादि सुरवृन्दोंके मस्तक पर विराजित मुकुटोके–तुझे नमन किये जानेसे हुए घर्षणसे घिस–घिसकर समुज्ज्वल हो गयी है । मैं अन्यभाव त्याग अनन्यरूपसे तेरी शरण ग्रहण करता हूँ, तू दयार्द्र नेत्रोंसे मुझ दीनकी ओर देख ।

----

# पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी तंत्र साधनाके मुख्य स्तोत्र

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाकी तंत्र-साधनाका प्रारम्भ ही श्रीपोद्दार महाराज द्वारा उन्हे प्रेषित मद्राससे छपी "श्रीसौभाग्याष्टोत्तरशतनाम स्तोत्रम्" नामक पुस्तकसे हुआ था । उस पुस्तकमे मुद्रणगत अनेक अशुद्धियाँ थी, अतः उस पुस्तकका शोधन पू. गुरुदेवके सान्निध्यमे श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एव श्रीरामनारायणदत्त शास्त्रीने किया था । यह बात सभवत १९४५ ई० के आसपासकी है । उन्ही दिनों मद्राससे पू. गुरुदेवने श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम् पुस्तक भी मँगायी थी और इन सब पुस्तकोंमे जिनमे श्रीललिताअष्टोत्तरशतनामावलि तथा श्रीललितात्रिशतीस्तोत्ररत्नावली भी थी – बहुत अशुद्धियाँ पाकर पू. गुरुदेवने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके साथ बैठकर चतुर्थ्यन्त पदसे इन सभी स्तोत्रोकी नामावलियाँ तैयार करायी थी । श्रीललिताअष्टोत्तरशतनामावली तो श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा सशोधित कर। कल्याणके शक्ति अकमे प्रकाशित भी करा चुके थे ।

आजकल भी वे नामावलियाँ वाराणसीके अनेक मुद्रक एव प्रकाशक प्रकाशित करते है परन्तु इनमे अशुद्धियोकी भरमार रहती है, अत पू. गुरुदेव द्वारा इन परमोच्चसाधनाके सोपान रूपमे प्रयुक्त नामावलियोका पूर्ण शुद्ध सस्करण प्रकाशित करनेका प्रयास किया जा रहा है । उनकी जीवनीके इस प्रसगमें ये नामावलियाँ शुद्ध रूपमे पाकर पाठक प्रसन्न ही होगे ।

इन नामावलि-स्तोत्रोमेसे "श्रीसौभाग्यअष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्" तो गीताप्रेस, गोरखपुरसे श्रीपोद्दार महाराजने पू. गुरुदेवके अनुमोदन पर प्रकाशित करवा दिया था । उसका उस समय मूल्य मात्र पाँच पैसे था ।

इन सबके अतिरिक्त इस उपासनामे पू. गुरुदेव "श्रीसूक्त" के अनगिनत पाठ कर चुके थे, अत वह स्तोत्र भी यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है

पू. गुरुदेव यह कथा बताया करते थे कि भगवती आद्याशक्ति त्रिपुराने भगवती लक्ष्मीजीकी तपस्या साधनासे प्रसन्न होकर उन्हे सम्पूर्ण रूपसे अपना बना लिया था । तभीसे उनका "श्री" नाम भगवती त्रिपुराने अपना "नाम" घोषित कर दिया । तभीसे भगवतीकी उपासना "श्रीविद्योपासना" कही जाने लगी । भगवती त्रिपुराके धामका नाम भी "श्रीधाम" और उनके यत्रराजको "श्रीयत्रराज" कहा जाता है । इसी प्रकार भगवती लक्ष्मीजीके श्रीसूक्तको भी

उन्होने अपना सूक्त घोषित कर दिया । पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी साधनामे "श्रीसूक्त" का भी विशेष स्थान था । अतः यहाँ "श्रीसूक्त" भी प्रथमतः दिया जा रहा है । शेष सभी स्तोत्र क्रमशः हैं ।

# श्रीसूक्तमूलपाठः

ॐ हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।१।।
तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ।।२।।
अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवीर्जुषताम् ।।३।।
कांसोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।४।।
चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् ।
तां पद्मिनीं ॐ शरणमहं प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे ।।५।।
आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथबिल्वः ।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः ।।६।।
उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह ।
प्रादुर्भूतोस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ।।७।।
क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ।।८।।
गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।९।।
मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ।।१०।।
कर्दमेन प्रजाभूता मयि संभव कर्दम ।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ।।११।।
आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे ।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ।।१२।।
आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिंगलां पद्ममालिनीम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।१३।।

आर्द्रां यष्करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।१४।।
तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीं ।
यस्या हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान्विन्देयं पुरुषानहम् ।।१५।।
य शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।
श्रियं पञ्चदशर्चञ्च श्रीकामः सततं जपेत् ।।१६।।
सरसिजनिलये सरोजहस्ते धवलतरांशुकगंधमाल्यशोभे ।
भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे त्रिभुवनभूतिकरि प्रसीद मह्यम् ।।१७।।
धनमग्निर्धनं वायुर्धनं सूर्योधनं वसुः ।
धनमिन्द्रो बृहस्पतिर्वरुणं धनमश्विनौ ।।१८।।
वैनतेय सोमं पिब सोमं पिबतु वृत्रहा ।
सोमं धनस्य सोमिनो मह्यं ददातु सोमिनः ।।१९।।
न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मति
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां श्रीसूक्तं जपेत् ।।२०।।
पद्मानने पद्मऊरु पद्माक्षि पद्मसंभवे ।
तन्मे भजति पद्माक्षि येन सौख्यं लभाम्यहम् ।।२१।।
विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रिया ।
विष्णुप्रिय सखीं देवीं नमाम्यच्युतवल्लभाम् ।।२२।।
महालक्ष्मी च विद्महे विष्णुपत्नी च धीमहि
तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् ।।२३।।
पद्मानने पद्मिनि पद्मपत्रे, पद्मप्रिये पद्मदलायताक्षि ।
विश्वप्रिये विश्वमनोनुकूले, त्वत्पादपद्मं मयि सन्निधत्स्व ।।२४।।
आनन्दः कर्दमः श्रीदः चिक्लीत इति विश्रुताः ।
ऋषयः श्रियपुत्राश्च मयि श्रीर्देवी देवता ।।२५।।
ऋण रोगादि दारिद्रय पापक्षुदयमृत्यवः ।
भयशोकमनस्तापा नश्यन्तु मम सर्वदा ।।२६।।
श्रीर्वर्चस्वमायुष्यमारोग्यमाविधात्पवमानं महीयते ।
धन धान्य पशु बहुपुत्रलाभं शत संवत्सरं दीर्घमायु ।।२७।।

इति फलश्रुतिसहितं श्रीसूक्तं समाप्तं

श्रीहरिः

# अथ सौभाग्याष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्

निशम्यैतज्जामदग्न्यो माहात्म्यं सर्वतोऽधिकम् ।
स्तोत्रस्य भूयः पप्रच्छ दत्तात्रेयं गुरूत्तमम् ॥१॥
भगवंस्त्वन्मुखाम्भोजनिर्गमद्वाक्सुधारसम् ।
पिबतः श्रोत्रमुखतो वर्धतेऽनुक्षणं तृषा ॥२॥
अष्टोत्तरशतं नाम्नां श्रीदेव्या यत्प्रसादतः ।
कामः सम्प्राप्तवाँल्लोके सौभाग्यं सर्वमोहनम् ॥३॥
सौभाग्यविद्यावर्णानामुद्धारो यत्र संस्थितः ।
तत्समाचक्ष्व भगवन् कृपया मयि सेवके ॥४॥
निशम्यैवं भार्गवोक्तिं दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
प्रोवाच भार्गवं रामं मधुराक्षरपूर्वकम् ॥५॥
शृणु भार्गव यत्पृष्टं नाम्नामष्टोत्तरं शतम् ।
श्रीविद्यावर्णरत्नानां निधानमिव संस्थितम् ॥६॥
श्रीदेव्या बहुधा सन्ति नामानि शृणु भार्गव ।
सहस्रशतसंख्यानि पुराणेष्वागमेषु च ॥७॥
तेषु सारतरं ह्येतत् सौभाग्याष्टोत्तरात्मकम् ।
यदुवाच शिवः पूर्वं भवान्यै बहुधार्थितः ॥८॥
सौभाग्याष्टोत्तरशतनामस्तोत्रस्य भार्गव ।
ऋषिरुक्तः शिवश्छन्दोऽनुष्टुप् श्रीललिताम्बिका ॥९॥
देवता विन्यसेत् कूटत्रयेणावर्त्य सर्वतः ।
ध्यात्वा सम्पूज्य मनसा स्तोत्रमेतदुदीरयेत् ॥१०॥

अथ नाममन्त्राः

ॐ कामेश्वरी कामशक्तिः कामसौभाग्यदायिनी ।
कामरूपा कामकला कामिनी कमलासना ॥११॥
कमला कल्पनाहीना कमनीयकलावती ।
कमलाभारतीसेव्या कल्पिताशेषसंस्कृतिः ॥१२॥
अनुत्तरानघानन्ताद्भुतरूपानलोद्भवा ।
अतिलोकचरित्रातिसुन्दर्यतिशुभप्रदा ॥१३॥
अघहन्त्र्यतिविस्तारार्चनतुष्टामितप्रभा ।
एकरूपैकवीरैकनाथैकान्तार्चनप्रिया ॥१४॥

एकैकमावतुष्टैकरसैकान्तजनप्रिया ।
एधमानप्रभावैधद्भक्तपातकनाशिनी ।।१५।।
एलामोदमुखैनोऽद्रिशक्रायुधसमस्थितिः ।
ईहाशून्येप्सितशादिसेव्येशानवरागना ।।१६।।
ईश्वराज्ञापिकेकारभाव्येप्सितफलप्रदा ।
ईशानेतिहरेक्षेषदरुणाक्षीश्वरेश्वरी ।।१७।।
ललिता ललनारूपा लयहीना लसत्तनुः ।
लयसर्वा लयक्षोणिर्लयकर्त्री लयात्मिका ।।१८।।
लघिमा लघुमध्याढ्या ललमाना लघुद्रुता ।
हयारूढा हतामित्रा हरकान्ता हरिस्तुता ।।१९।।
हयग्रीवेष्टदा हालाप्रिया हर्षसमुद्धता ।
हर्षणा हल्लकाभागी हस्त्यन्तैश्वर्यदायिनी ।।२०।।
हलहस्तार्चितपदा हविर्दानप्रसादिनी ।
रामा रामार्चिता राज्ञी रम्या रवमयी रतिः ।।२१।।
रक्षिणी रमणी राका रमणीमण्डलप्रिया ।
रक्षिताखिललोकेशा रक्षोगणनिषूदिनी ।।२२।।
अम्बान्तकारिण्यम्भोजप्रियान्तकभयकरी ।
अम्बुरूपाम्बुजकराम्बुजजातवरप्रदा ।।२३।।
अन्तःपूजाप्रियान्तःस्थरूपिण्यन्तर्वचोमयी ।
अन्तकारातिवामाङ्कस्थितान्तस्सुखरूपिणी ।।२४।।
सर्वज्ञा सर्वगा सारा समा समसुखा सती
संतति संतता सोमा सर्वा साख्या सनातनीॐ ।।२५।।

फलश्रुति

एतत् ते कथितं साग नाम्नामष्टोत्तर शतम्
अतिगोप्यमिदं नाम्न सर्वतः सारमुद्धृतम् ।।२६।
एतस्य सदृशं स्तोत्रं त्रिषु लोकेषु दुर्लभम् ।
अप्रकाश्यमभक्तानां पुरतो देवताद्विषाम् ।।२७।।
एतत् सदाशिवो नित्यं पठन्त्यन्ये हरादयः ।
एतत्प्रभावात् कन्दर्पस्त्रैलोक्यं जयति क्षणात् ।।२८।
सौभाग्याष्टोत्तरशतनामस्तोत्रं मनोहरम् ।
यस्त्रिसन्ध्यं पठेन्नित्यं न तस्य भुवि दुर्लभम् ।।२९।
श्रीविद्योपासनवतामेतदावश्यकं मतम् ।
सकृदेतत् प्रपठतां नान्यत् कर्म विलुप्यते ।।३०।

अपठित्वा स्तोत्रमिदं नित्यं नैमित्तिकं कृतम् ।
व्यर्थीभवति नग्नेन कृतं कर्म यथा तथा ।।३१।।
सहस्रनामपाठादावशक्तस्त्वेतदीरयेत् ।
सहस्रनामपाठस्य फलं शतगुणं भवेत् ।।३२।।
सहस्रधा पठित्वा तु वीक्षणान्नाशयेद्रिपून् ।
करवीररक्तपुष्पैर्हुत्वा लोकान् वशं नयेत् ।।३३।।
स्तम्भयेत् पीतकुसुमैर्नीलैरुच्चाटयेद् रिपून् ।
मरिचैर्विद्वेषणाय लवंगैर्व्याधिनाशने ।।३४।।
सुवासिनीर्ब्राह्मणान् वा भोजयेद् यस्तु नामभिः ।
यश्च पुष्पैः फलैर्वापि पूजयेत् प्रतिनामभिः ।।३५।।
चक्रराजेऽथवान्यत्र स वसेच्छ्रीपुरे चिरम् ।
यः सदाऽऽवर्तयन्नास्ते नामाष्टशतमुत्तमम् ।।३६।।
तस्य श्रीललिता राज्ञी प्रसन्ना वाञ्छितप्रदा ।
एतत्ते कथितं राम शृणु त्वं प्रकृतं ब्रुवे ।।३७।।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये श्रीसौभाग्याष्टोत्तरशतनामस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।।

# श्रीललिताष्टोत्तरशतनामावलिः

अथ ध्यानम्

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुरत्
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ।
पाणिभ्यामतिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीम्
सौम्यां रत्नघटस्थरक्तचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम् ॥

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं

श्लोकोऽनुष्टुप्

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रजताचलशृंगाग्रमध्यस्थायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हिमाचलमहावंशपावनायै नमोनमः ॥१॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शंकरार्द्धांगसौन्दर्यशरीरायै नमो नमः
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं लसन्मरकतस्वच्छविग्रहायै नमो नमः ॥२॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं महातिशयसौन्दर्यलावण्यायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शशांकशेखरप्राणवल्लभायै नमो नमः ॥३॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सदा पञ्चदशात्मैक्यस्वरूपायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं वज्रमाणिक्यकटककिरीटायै नमो नमः ॥४॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं कस्तूरीतिलकीभूतनिटिलायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं भस्मरेखांकितलसन्मस्तकायै नमो नमः ॥५॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं विकचाम्भोरुहदललोचनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शरच्चाम्पेयपुष्पाभनासिकायै नमो नमः ॥६॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं लसत्काञ्चनताटंकयुगलायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं मणिदर्पणसंकाशकपोलायै नमो नमः ॥७॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ताम्बूलपूरितस्मेरवदनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सुपक्वदाडिमीबीजरदनायै नमो नमः ॥८॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं कम्बुपूगसमच्छायकन्धरायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं स्थूलमुक्ताफलोदारसुहारायै नमो नमः ॥९॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं गिरीशबद्धमांगल्यमंगलायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पद्मपाशांकुशलसत्कराब्जायै नमो नमः ॥१०॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पद्मकैरवमन्दारसुमालिन्यै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सुवर्णकुम्भयुग्माभसुकुचायै नमो नमः ॥११॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रमणीयचतुर्बाहुसंयुक्तायै नमो नमः ।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं कनकांगदकेयूरभूषितायै नमो नमः ॥१२॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं बृहत्सौवर्णसौन्दर्यवसनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं बृहन्नितम्बविलसज्जघनायै नमो नमः ॥१३॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सौभाग्यजातशृंगारमध्यमायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं दिव्यभूषणसन्दोहराजितायै नमो नमः ॥१४॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पारिजातगुणाधिक्यपदाब्जायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सुपद्मरागसंकाशचरणायै नमो नमः ॥१५॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं कामकोटिमहापद्मपीठस्थायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीकण्ठनेत्रकुमुदचन्द्रिकायै नमो नमः ॥१६॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सचामररमावाणीवीजितायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं भक्तरक्षणदाक्षिण्यकटाक्षायै नमो नमः ॥१७॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं भूतेशालिंगनोद्भूतपुलकांग्यै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अनंगजनकापांगवीक्षणायै नमो नमः ॥१८॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ब्रह्मोपेन्द्रशिरोरत्नरञ्जितायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शचीमुखामरवधूसेवितायै नमो नमः ॥१९॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं लीलाकल्पितब्रह्माण्डमण्डितायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अमृतादिमहाशक्तिसंवृतायै नमो नमः ॥२०॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं एकातपत्रसाम्राज्यदायिकायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सनकादिसमाराध्यपादुकायै नमो नमः ॥२१॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं देवर्षिभिस्स्तूयमानवैभवायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं कलशोद्भवदुर्वासःपूजितायै नमो नमः ॥२२॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं मत्तेभवक्त्रषड्वक्त्रवत्सलायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं चक्रराजमहायन्त्रमध्यवर्त्यै नमो नमः ॥२३॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं चिदग्निकुण्डसम्भूतसुदेहायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शशांकखण्डसंयुक्तमुकुटायै नमो नमः ॥२४॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं मत्तहंसवधूमन्दगमनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं वन्दारुजनसन्दोहवन्दितायै नमो नमः ॥२५॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अन्तर्मुखजनानन्दफलदायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पतिव्रतांगनाभीष्टफलदायै नमो नमः ॥२६॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अव्याजकरुणापूरपूरितायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं नितान्तसच्चिदानन्दसंयुक्तायै नमो नमः ॥२७॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सहस्रसूर्यसंयुक्तप्रकाशायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रत्नचिन्तामणिगृहमध्यस्थायै नमो नमः ॥२८॥

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हानिवृद्धिगुणाधिक्यरहितायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं महापद्माटवीमध्यभागस्थायै नमो नमः ॥२९॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनासाक्षिमूर्त्यै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं महातापौघपापानांविनाशिन्यै नमो नमः ॥३०॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं दुष्टभीतिमहाभीतिभञ्जनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं समस्तदेवदनुजप्रेरकायै नमो नमः ॥३१॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं समस्तहृदयाम्भोजनिलयायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अनाहतमहापद्ममन्दिरायै नमो नमः ॥३२॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सहस्रारसरोजातवासितायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पुनरावृत्तिरहितपुरस्थायै नमो नमः ॥३३॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं वाणीगायत्रिसावित्रीसन्नुतायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रमाभूमिसुताराध्यपदाब्जायै नमो नमः ॥३४॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं लोपामुद्रार्चितश्रीमच्चरणायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सहस्ररतिसौन्दर्यशरीरायै नमो नमः ॥३५॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं भावनामृतसंतुष्टहृदयायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सत्यसम्पूर्णविज्ञानसिद्धिदायै नमो नमः ॥३६॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं त्रिलोचनकृतोल्लासफलदायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीसुधाब्धिमणिद्वीपमध्यगायै नमो नमः ॥३७॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं दक्षाध्वरविनिर्भेदसाधनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीनाथसोदरीभूतशोभितायै नमो नमः ॥३८॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं चन्द्रशेखरभक्तार्तिभञ्जनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तचैतन्यायै नमो नमः ॥३९॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं नामपारायणाभीष्टफलदायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सृष्टिस्थितितिरोधानसंकल्पायै नमो नमः ॥४०॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीषोडशाक्षरीमंत्रमध्यगायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अनाद्यन्तस्वयंभूतदिव्यमूर्त्यै नमो नमः ॥४१॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं भक्तहंसपरीमुख्यवियोगायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं मातृमण्डलसंयुक्तललितायै नमो नमः ॥४२॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं भण्डदैत्यमहासत्वनाशनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्रूरभण्डशिरच्छेदनिपुणायै नमो नमः ॥४३॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं धात्रच्युतसुराधीशसुखदायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं चण्डमुण्डनिशुम्भादिखण्डनायै नमो नमः ॥४४॥

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं रक्ताक्षरक्तजिह्वादिशिक्षणायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं महिषासुरदोर्वीर्यनिग्रहायै नमो नमः ॥४५॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अभ्रकेशमहोत्साहकरणायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं महेशयुक्तनटनतत्परायै नमो नमः ॥४६॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं निजभर्तृमुखाम्भोजचिन्तनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं वृषभध्वजविज्ञानभावनायै नमो नमः ॥४७॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं जन्ममृत्युजरारोगभञ्जनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं विदेहमुक्तिविज्ञानसिद्धिदायै नमो नमः ॥४८॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं कामक्रोधादिषड्वर्गनाशनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं राजराजार्चितपदसरोजायै नमो नमः ॥४९॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सर्ववेदान्तसंसिद्धसुतत्त्वायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीवीरभक्तविज्ञाननिदानायै नमो नमः ॥५०॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अशेषदुष्टदनुजसूदनायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं साक्षाच्छ्रीदक्षिणामूर्तिमनोज्ञायै नमो नमः ॥५१॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं महामेधाग्रसम्पूज्यमहिमायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं दक्षप्रजापतिसुतावेषाढ्यायै नमो नमः ॥५२॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सुमबाणेक्षुकोदण्डमण्डितायै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं नित्ययौवनमांगल्यमंगलायै नमो नमः ॥५३॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं महादेवसमायुक्तमहादेव्यै नमो नमः ।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं चतुर्विंशतितत्त्वैकस्वरूपायै नमो नमः ॥५४॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं (पाठभेद) -महादेवरतौत्सुक्यमहादेव्यै नमो नमः ।

(श्रीजगदम्बार्पणमस्तु ।)

# श्रीललितासहस्रनामावलिः
# (चतुर्थ्यन्त)

अस्य श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रमालामन्त्रस्य वशिन्यादिभ्यो वाग्देवताभ्य ऋषिभ्यो नम शिरसि । अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे । श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै देवतायै हृदये । 'क' ५ बीजाय गुह्ये (षोडशाक्षरी साधकानातु 'क' ६) । स० ४ शक्तये पादयोः । 'ह' ६ कीलकाय नाभौ । चतुर्विध पुरुषार्थ–सिद्ध्यर्थे जपे (श्रीललिताम्बाप्रीत्यर्थे) पूजने, अर्चने विनियोगाय सर्वांगे ।

कूटत्रय द्विरावृत्य बाला वा षडगद्वयम् ।

## ध्यानश्लोकः

सिन्दूरारुणविग्रहा त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुरत्
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहां ।
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थरक्तचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम् ।

मानसैः पञ्चोपचारैः सम्पूज्य,
ॐ – ऐं – ह्रीं – श्रीं

ॐ श्रीमात्रे नम
ॐ श्रीमहाराज्ञ्यै नम
ॐ श्रीमत्सिंहासनेश्वर्यै नम
ॐ चिदग्निकुण्डसंभूतायै नमः
ॐ देवकार्यसमुद्यतायै नम
ॐ उद्यद्भानुसहस्राभायै नम
ॐ चतुर्बाहुसमन्वितायै नमः
ॐ रागस्वरूपपाशाढ्यायै नम
ॐ क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वलायै नम
ॐ मनोरूपेक्षुकोदण्डायै नम ।१०।
ॐ पचतन्मात्रसायकायै नम
ॐ निजारुणप्रभापूरमज्जद्ब्रह्माण्डमण्डलायै नम
ॐ चम्पकाशोकपुन्नागसौगन्धिकलसत्कचायै नम
ॐ कुरुविन्दमणिश्रेणीकनत्कोटीरमण्डितायै नम
ॐ अष्टमीचन्द्रविभ्राजदलिकस्थलशोभितायै नमः ।।१५।।
ॐ मुखचन्द्रकलंकाभमृगनाभिविशेषकायै नम
ॐ वदनस्मरमांगल्यगृहतोरणचिल्लिकायै नम
ॐ वक्त्रलक्ष्मीपरीवाहचलन्मीनाभलोचनायै नम
ॐ नवचम्पकपुष्पाभनासादण्डविराजितायै नम
ॐ ताराकान्तितिरस्कारिनासाभरणभासुरायै नमः ।।२०।।

ॐ कदम्बमञ्जरीक्लृप्तकर्णपूरमनोहरायै नमः ।
ॐ ताटंकयुगलीभूततपनोडुपमण्डलायै नमः ।
ॐ पद्मरागशिलादर्शपरिभाविकपोलभुवे नमः ।
ॐ नवविद्रुमबिम्बश्रीन्यक्कारिदशनच्छदायै नमः ।
ॐ शुद्धविद्यांकुराकारद्विजपंक्तिद्वयोज्ज्वलायै नमः ।।२५।।
ॐ कर्पूरवीटिकामोदसमाकर्षिदिगन्तरायै नमः ।
ॐ निजसल्लापमाधुर्यविनिर्भर्त्सितकच्छप्यै नमः ।
ॐ मन्दस्मितप्रभापूरमज्जत्कामेशमानसायै नमः ।
ॐ अनाकलितसादृश्यचिबुकश्रीविराजितायै नमः ।
ॐ कामेशबद्धमांगल्यसूत्रशोभितकन्धरायै नमः ।।३०।।
ॐ कनकांगदकेयूरकमनीयभुजान्वितायै नमः ।
ॐ रत्नग्रैवेयचिन्ताकलोलमुक्ताफलान्वितायै नमः ।
ॐ कामेश्वरप्रेमरत्नमणिप्रतिपणस्तन्यै नमः ।
ॐ नाभ्यालवालरोमालिलताफलकुचद्वय्यै नमः ।
ॐ लक्ष्यरोमलताधारतासमुन्नेयमध्यमायै नमः ।
ॐ स्तनभारदलन्मध्यपट्टबन्धवलित्रयायै नमः ।
ॐ अरुणारुणकौसुम्भवस्त्रभास्वत्कटीतट्यै नमः ।
ॐ रत्नकिंकिणिकारम्यरशनादामभूषितायै नमः ।
ॐ कामेशज्ञातसौभाग्यमार्दवोरुद्वयान्वितायै नमः ।
ॐ माणिक्यमुकुटाकारजानुद्वयविराजितायै नमः ।
ॐ इन्द्रगोपपरीक्षिप्तस्मरतूणाभजंघिकायै नमः ।
ॐ गूढगुल्फायै नमः ।
ॐ कूर्मपृष्ठजयिष्णुप्रपदान्वितायै नमः ।
ॐ नखदीधितिसञ्छन्ननमज्जनतमोगुणायै नमः ।
ॐ पदद्वयप्रभाजालपराकृतसरोरुहायै नमः ।।४५।।
ॐ शिञ्जानमणिमंजीरमण्डितश्रीपदाम्बुजायै नमः
ॐ मरालीमन्दगमनायै नमः
ॐ महालावण्यशेवधये नमः
ॐ सर्वारुणायै नमः
ॐ अनवद्यांग्यै नमः
ॐ सर्वाभरणभूषितायै नमः
ॐ शिवकामेश्वरांकस्थायै नमः
ॐ शिवायै नमः

ॐ स्वाधीनवल्लभायै नमः
ॐ सुमेरुमध्यशृंगस्थायै नमः ।।५५।।
ॐ श्रीमन्नगरनायिकायै नमः
ॐ चिन्तामणिगृहान्तस्थायै नमः
ॐ पञ्चब्रह्मासनस्थितायै नमः
ॐ महापद्माटवीसंस्थायै नमः
ॐ कदम्बवनवासिन्यै नमः
ॐ सुधासागरमध्यस्थायै नमः
ॐ कामाक्ष्यै नमः
ॐ कामदायिन्यै नमः
ॐ देवर्षिगणसंघातस्तूयमानात्मवैभवायै नमः ।
ॐ भण्डासुरवधोद्युक्तशक्तिसेनासमन्वितायै नमः ।।६५।।
ॐ सम्पत्करीसमारूढसिन्धुरव्रजसेवितायै नमः ।
ॐ अश्वारूढाधिष्ठिताश्वकोटिकोटिभिरावृतायै नमः ।
ॐ चक्रराजरथारूढसर्वायुधपरिष्कृतायै नमः ।
ॐ गेयचक्ररथारूढमन्त्रिणीपरिसेवितायै नमः ।
ॐ किरिचक्ररथारूढदण्डनाथापुरस्कृतायै नमः ।।७०।।
ॐ ज्वालामालिनिकाक्षिप्तवह्निप्राकारमध्यगायै नमः ।
ॐ भण्डसैन्यवधोद्युक्तशक्तिविक्रमहर्षितायै नमः ।
ॐ नित्यापराक्रमाटोपनिरीक्षणसमुत्सुकायै नमः ।
ॐ भण्डपुत्रवधोद्युक्तबालाविक्रमनन्दितायै नमः ।
ॐ मन्त्रिण्यम्बाविरचितविषंगवधतोषितायै नमः ।
ॐ विशुक्रप्राणहरणवाराहीवीर्यनन्दितायै नमः ।
ॐ कामेश्वरमुखालोककल्पितश्रीगणेश्वरायै नमः ।
ॐ महागणेशनिर्भिन्नविघ्नयन्त्रप्रहर्षितायै नमः ।
ॐ भण्डासुरेन्द्रनिर्मुक्तशस्त्रप्रत्यस्त्रवर्षिण्यै नमः ।
ॐ करांगुलिनखोत्पन्ननारायणदशाकृत्यै नमः ।।८०।।
ॐ महापाशुपतास्त्राग्निनिर्दग्धासुरसैनिकायै नमः ।
ॐ कामेश्वरास्त्रनिर्दग्धसभण्डासुरशून्यकायै नमः ।
ॐ ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रादिदेवसंस्तुतवैभवायै नमः ।
ॐ हरनेत्राग्निसंदग्धकामसंजीवनौषध्यै नमः ।
ॐ श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपंकजायै नमः ।
ॐ कण्ठाधःकटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिण्यै नमः ।

ॐ शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिण्यै नमः ।

ॐ मूलमंत्रात्मिकायै नमः
ॐ मूलकूटत्रयकलेवरायै नमः
ॐ कुलामृतैकरसिकायै नमः ।।९०।।
ॐ कुलसंकेतपालिन्यै नमः
ॐ कुलागनायै नमः
ॐ कुलान्तस्थायै नमः
ॐ कौलिन्यै नमः
ॐ कुलयोगिन्यै नमः
ॐ अकुलायै नमः
ॐ समयान्तस्थायै नमः
ॐ समयाचारतत्परायै नमः
ॐ मूलाधारैकनिलयायै नमः
ॐ ब्रह्मग्रन्थिविभेदिन्यै नमः ।।१००।।
ॐ मणिपूरान्तरुदितायै नमः
ॐ विष्णुग्रन्थिविभेदिन्यै नमः
ॐ आज्ञाचक्रान्तरालस्थायै नमः
ॐ रुद्रग्रन्थिविभेदिन्यै नमः
ॐ सहस्राराम्बुजारूढायै नमः
ॐ सुधासाराभिवर्षिण्यै नमः
ॐ तडिल्लतासमरुच्यै नमः
ॐ षट्चक्रोपरिसंस्थितायै नमः
ॐ महाशक्त्यै नमः
ॐ कुण्डलिन्यै नमः ।।११०।।
ॐ विसतन्तुतनीयस्यै नमः
ॐ भवान्यै नमः
ॐ भावनागम्यायै नमः
ॐ भवारण्यकुठारिकायै नमः
ॐ भद्रप्रियायै नमः
ॐ भद्रमूर्त्तय नमः
ॐ भक्तसौभाग्यदायिन्यै नमः
ॐ भक्तिप्रियायै नमः
ॐ भक्तिगम्यायै नमः
ॐ भक्तिवश्यायै नमः ।।१२०।।
ॐ भयापहायै नमः
ॐ शाम्भव्यै नमः
ॐ शारदाराध्यायै नमः
ॐ शर्वाण्यै नमः
ॐ शर्मदायिन्यै नमः
ॐ शांकर्यै नमः
ॐ श्रीकर्यै नमः
ॐ साध्व्यै नमः
ॐ शरच्चन्द्रनिभाननायै नमः
ॐ शातोदर्यै नमः ।।१३०।।
ॐ शान्तिमत्यै नमः
ॐ निराधारायै नमः
ॐ निरञ्जनायै नमः
ॐ निर्लेपायै नमः
ॐ निर्मलायै नमः
ॐ नित्यायै नमः
ॐ निराकारायै नमः
ॐ निराकुलायै नमः
ॐ निर्गुणायै नमः
ॐ निष्कलायै नमः ।।१४०।।
ॐ शान्तायै नमः
ॐ निष्कामायै नमः
ॐ निरुपप्लवायै नमः
ॐ नित्यमुक्तायै नमः
ॐ निर्विकारायै नमः
ॐ निष्प्रपञ्चायै नमः
ॐ निराश्रयायै नमः
ॐ नित्यशुद्धायै नमः
ॐ नित्यबुद्धायै नमः
ॐ निरवद्यायै नमः ।।१५०।।

ॐ निरन्तरायै नमः
ॐ निष्कारणायै नमः
ॐ निष्कलंकायै नमः
ॐ निरुपाधये नमः
ॐ निरीश्वरायै नमः
ॐ नीरागायै नमः
ॐ रागमथन्यै नमः
ॐ निर्मदायै नमः
ॐ मदनाशिन्यै नमः
ॐ निश्चिंतायै नमः
ॐ निरहंकारायै नमः
ॐ निर्मोहायै नमः
ॐ मोहनाशिन्यै नमः
ॐ निर्ममायै नमः
ॐ ममताहन्त्र्यै नमः
ॐ निष्पापायै नमः
ॐ पापनाशिन्यै नमः
ॐ निष्क्रोधायै नमः
ॐ क्रोधशमन्यै नमः
ॐ निर्लोभायै नमः ।।१७०।।
ॐ लोभनाशिन्यै नमः
ॐ निःसंशयायै नमः
ॐ संशयघ्न्यै नमः
ॐ निर्भवायै नमः
ॐ भवनाशिन्यै नमः
ॐ निर्विकल्पायै नमः
ॐ निराबाधायै नमः
ॐ निर्भेदायै नमः
ॐ भेदनाशिन्यै नमः
ॐ निर्नाशायै नमः ।।१८०।।
ॐ मृत्युमथन्यै नमः
ॐ निष्क्रियायै नमः
ॐ निष्परिग्रहायै नमः
ॐ निस्तुलायै नमः
ॐ नीलचिकुरायै नमः
ॐ निरपायायै नमः
ॐ निरत्ययायै नमः
ॐ दुर्लभायै नमः
ॐ दुर्गमायै नमः
ॐ दुर्गायै नमः ।।१९०।।
ॐ दुःखहन्त्र्यै नमः
ॐ सुखप्रदायै नमः
ॐ दुष्टदूरायै नमः
ॐ दुराचारशमन्यै नमः
ॐ दोषवर्जितायै नमः
ॐ सर्वज्ञायै नमः
ॐ सान्द्रकरुणायै नमः
ॐ समानाधिकवर्जितायै नमः
ॐ सर्वशक्तिमय्यै नमः
ॐ सर्वमंगलायै नमः ।।२००।।
ॐ सद्गतिप्रदायै नमः
ॐ सर्वेश्वर्यैः नमः
ॐ सर्वमय्यै नमः
ॐ सर्वमंत्रस्वरूपिण्यै नमः
ॐ सर्वयंत्रात्मिकायै नमः
ॐ सर्वतन्त्ररूपायै नमः
ॐ मनोन्मन्यै नमः
ॐ माहेश्वर्यै नमः
ॐ महादेव्यै नमः
ॐ महालक्ष्म्यै नमः ।।२१०।।
ॐ मृडप्रियायै नमः
ॐ महारूपायै नमः
ॐ महापूज्यायै नमः
ॐ महापातकनाशिन्यै नमः
ॐ महामायायै नमः
ॐ महाशक्त्यै नमः
ॐ महासत्त्वायै नमः

ॐ महारत्यै नमः
ॐ महाभोगायै नमः
ॐ महैश्वर्यायै नमः ।।२२०।।
ॐ महावीर्यायै नमः
ॐ महाबलायै नमः
ॐ महाबुद्ध्यै नमः
ॐ महासिद्ध्यै नमः
ॐ महायोगीश्वरेश्वर्यैः नमः
ॐ महातन्त्रायै नमः
ॐ महामन्त्रायै नमः
ॐ महायन्त्रायै नमः
ॐ महासनायै नमः
ॐ महायागक्रमाराध्यायै नमः ।।२३०।।
ॐ महाभैरवपूजितायै नमः
ॐ महेश्वरमहाकल्पमहाताण्डव
साक्षिण्यै नमः
ॐ महाकामेशमहिष्यै नमः
ॐ महात्रिपुरसुन्दर्यै नमः
ॐ चतुःषष्ट्युपचाराढ्यायै नमः
ॐ चतुःषष्टिकलामय्यै नमः
ॐ महाचतुःषष्टिकोटियोगिनी–
गणसेवितायै नमः
ॐ मनुविद्यायै नमः
ॐ चन्द्रविद्यायै नमः
ॐ चन्द्रमण्डलमध्यगायैनमः ।।२४०।।
ॐ चारुरूपायै नमः
ॐ चारुहासायै नमः
ॐ चारुचन्द्रकलाधरायै नमः
ॐ चराचरजगन्नाथायै नमः
ॐ चक्रराजनिकेतनायै नमः
ॐ पार्वत्यै नमः
ॐ पद्मनयनायै नमः
ॐ पद्मरागसमप्रभायै नमः
ॐ पञ्चप्रेतासनासीनायै नमः
ॐ पञ्चब्रह्मस्वरूपिण्यैनमः ।।२५०।।
ॐ चिन्मय्यै नमः
ॐ परमानन्दायै नमः
ॐ विज्ञानघनरूपिण्यै नमः
ॐ ध्यानध्यातृध्येयरूपायै नमः
ॐ धर्माधर्मविवर्जितायै नमः
ॐ विश्वरूपायै नमः
ॐ जागरिण्यै नमः
ॐ स्वपन्त्यै नमः
ॐ तैजसात्मिकायै नमः
ॐ सुप्तायै नमः ।।२६०।।
ॐ प्राज्ञात्मिकायै नमः
ॐ तुर्यायै नमः
ॐ सर्वावस्थाविवर्जितायै नमः
ॐ सृष्टिकर्त्र्यै नमः
ॐ ब्रह्मरूपायै नमः
ॐ गोप्त्र्यै नमः
ॐ गोविन्दरूपिण्यै नमः
ॐ संहारिण्यै नमः
ॐ रुद्ररूपायै नमः
ॐ तिरोधानकर्यै नमः ।।२७०।।
ॐ ईश्वर्यै नमः
ॐ सदाशिवायै नमः
ॐ अनुग्रहदायै नमः
ॐ पञ्चकृत्यपरायणायै नमः
ॐ भानुमण्डलमध्यस्थायै नमः
ॐ भैरव्यै नमः
ॐ भगमालिन्यै नमः
ॐ पद्मासनायै नमः

ॐ भगवत्यै नमः
ॐ पद्मनाभसहोदर्यै नमः ॥२८०॥
ॐ उन्मेषनिमिषोत्पन्नविपन्न-
भुवनावल्यै नमः
ॐ सहस्रशीर्षवदनायै नमः
ॐ सहस्राक्ष्यै नमः
ॐ सहस्रपदे नमः
ॐ आब्रह्मकीटजनन्यै नमः
ॐ वर्णाश्रमविधायिन्यै नमः
ॐ निजाज्ञारूपनिगमायै नमः
ॐ पुण्यापुण्यफलप्रदायै नमः
ॐ श्रुतिसीमन्तसिन्दूरीकृत-
पादाब्जधूलिकायै नमः
ॐ सकलागमसंदोहशुक्ति-
सपुटमौक्तिकायै नमः ॥२९०॥
ॐ पुरुषार्थप्रदायै नमः
ॐ पूर्णायै नमः
ॐ भोगिन्यै नमः
ॐ भुवनेश्वर्यै नमः
ॐ अम्बिकायै नमः
ॐ अनादिनिधनायै नमः
ॐ हरिब्रह्मेन्द्रसेवितायै नमः
ॐ नारायण्यै नमः
ॐ नादरूपायै नमः
ॐ नामरूपविवर्जितायै नमः
ॐ ह्रींकार्यै नमः
ॐ ह्रीमत्यै नमः
ॐ हृद्यायै नमः
ॐ हेयोपादेयवर्जितायै नमः
ॐ राजराजार्चितायै नमः
ॐ राज्ञ्यै नमः
ॐ रम्यायै नमः
ॐ राजीवलोचनायै नमः
ॐ रञ्जन्यै नमः
ॐ रमण्यै नमः ॥३१०॥
ॐ रस्यायै नमः
ॐ रणत्किंकिणिमेखलायै नमः
ॐ रमायै नमः
ॐ राकेन्दुवदनायै नमः
ॐ रतिरूपायै नमः
ॐ रतिप्रियायै नमः
ॐ रक्षाकर्यै नमः
ॐ राक्षसघ्न्यै नमः
ॐ रामायै नमः
ॐ रमणलम्पटायै नमः ॥३२०॥
ॐ काम्यायै नमः
ॐ कामकलारूपायै नमः
ॐ कदम्बकुसुमप्रियायै नमः
ॐ कल्याण्यै नमः
ॐ जगतीकन्दायै नमः
ॐ करुणारससागरायै नमः
ॐ कलावत्यै नमः
ॐ कलालापायै नमः
ॐ कान्तायै नमः
ॐ कादम्बरीप्रियायै नमः
ॐ वरदायै नमः
ॐ वामनयनायै नमः
ॐ वारुणीमदविह्वलायै नमः
ॐ विश्वाधिकायै नमः
ॐ वेदवेद्यायै नमः
ॐ विन्ध्याचलनिवासिन्यै नमः
ॐ विधात्र्यै नमः
ॐ वेदजनन्यै नमः
ॐ विष्णुमायायै नमः
ॐ विलासिन्यै नमः ॥३४०॥

ॐ क्षेत्रस्वरूपायै नमः
ॐ क्षेत्रेश्यै नमः
ॐ क्षेत्रक्षेत्रज्ञपालिन्यै नमः
ॐ क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तायै नमः
ॐ क्षेत्रपालसमर्चितायै नमः
ॐ विजयायै नमः
ॐ विमलायै नमः
ॐ वन्द्यायै नमः
ॐ वन्दारुजनवत्सलायै नमः
ॐ वाग्वादिन्यै नमः ॥३५०॥
ॐ वामकेश्यै नमः
ॐ वह्निमण्डलवासिन्यै नमः
ॐ भक्तिमत्कल्पलतिकायै नमः
ॐ पशुपाशविमोचिन्यै नमः
ॐ संहृताशेषपाखण्डायै नमः
ॐ सदाचारप्रवर्तिकायै नमः
ॐ तापत्रयाग्निसंतप्तसमाह्लादन–
चन्द्रिकायै नमः
ॐ तरुण्यै नमः
ॐ तापसाराध्यायै नमः
ॐ तनुमध्यायै नमः ॥३६०॥
ॐ तमोपहायै नमः
ॐ चित्यै नमः
ॐ तत्पदलक्ष्यार्थायै नमः
ॐ चिदेकरसरूपिण्यै नमः
ॐ स्वात्मानन्दलवीभूतब्रह्माद्या–
नन्दसंतत्यै नमः
ॐ परायै नमः
ॐ प्रत्यक्चितिरूपायै नमः
ॐ पश्यन्त्यै नमः
ॐ परदेवतायै नमः
ॐ मध्यमायै नमः ॥३७०॥
ॐ वैखरीरूपायै नमः
ॐ भक्तमानसहंसिकायै नमः
ॐ कामेश्वरप्राणनाड्यै नमः
ॐ कृतज्ञायै नमः
ॐ कामपूजितायै नमः
ॐ शृंगाररससम्पूर्णायै नमः
ॐ जयायै नमः
ॐ जालन्धरस्थितायै नमः
ॐ ओड्याणपीठनिलयायै नमः
ॐ बिन्दुमण्डलवासिन्यै नमः ॥३८०॥
ॐ रहोयागक्रमाराध्यायै नमः
ॐ रहस्तर्पणतर्पितायै नमः
ॐ सद्यःप्रसादिन्यै नमः
ॐ विश्वसाक्षिण्यै नमः
ॐ साक्षिवर्जितायै नमः
ॐ षडंगदेवतायुक्तायै नमः
ॐ षाड्गुण्यपरिपूरितायै नमः
ॐ नित्यक्लिन्नायै नमः
ॐ निरुपमायै नमः
ॐ निर्वाणसुखदायिन्यै नमः ॥३९०॥
ॐ नित्याषोडशिकारूपायै नमः
ॐ श्रीकण्ठार्धशरीरिण्यै नमः
ॐ प्रभावत्यै नमः
ॐ प्रभारूपायै नमः
ॐ प्रसिद्धायै नमः
ॐ परमेश्वर्यै नमः
ॐ मूलप्रकृत्यै नमः
ॐ अव्यक्तायै नमः
ॐ व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिण्यै नमः
ॐ व्यापिन्यै नमः ॥४००॥
ॐ विविधाकारायै नमः
ॐ विद्याविद्यास्वरूपिण्यै नमः
ॐ महाकामेशनयनकुमुदाह्लाद
कौमुद्यै नमः

ॐ भक्तहार्दतमोभेदभानुमद्भानु–
संतत्यै नमः
ॐ शिवदूत्यै नमः
ॐ शिवाराध्यायै नमः
ॐ शिवमूर्त्यै नमः
ॐ शिवंकर्यै नमः
ॐ शिवप्रियायै नमः
ॐ शिवपरायै नमः ।।४१०।।
ॐ शिष्टेष्टायै नमः
ॐ शिष्टपूजितायै नमः
ॐ अप्रमेयायै नमः
ॐ स्वप्रकाशायै नमः
ॐ मनोवाचामगोचरायै नमः
ॐ चिच्छक्त्यै नमः
ॐ चेतनारूपायै नमः
ॐ जडशक्त्यै नमः
ॐ जडात्मिकायै नमः
ॐ गायत्र्यै नमः।।४२०।।
ॐ व्याहृत्यै नमः
ॐ संध्यायै नमः
ॐ द्विजवृन्दनिषेवितायै नमः
ॐ तत्वासनायै नमः
ॐ तस्मै नमः
ॐ तुभ्यं नमः
ॐ अय्यै नमः
ॐ पञ्चकोशान्तरस्थितायै नमः
ॐ निस्सीममहिम्ने नमः
ॐ नित्ययौवनायै नमः ।।४३०।।
ॐ मदशालिन्यै नमः
ॐ मदघूर्णितरक्ताक्ष्यै नमः
ॐ मदपाटलगण्डभुवे नमः
ॐ चन्दनद्रवदिग्धांग्यै नमः
ॐ चाम्पेयकुसुम प्रियायै नमः
ॐ कुशलायै नमः
ॐ कोमलाकारायै नमः
ॐ कुरुकुल्लायै नमः
ॐ कुलेश्वर्यै नमः
ॐ कुलकुण्डालयायै नमः ।।४४०।।
ॐ कौलमार्गतत्परसेवितायै नमः
ॐ कुमारगणनाथाम्बायै नमः
ॐ तुष्ट्यै नमः
ॐ पुष्ट्यै नमः
ॐ मत्यै नमः
ॐ धृत्यै नमः
ॐ शान्त्यै नमः
ॐ स्वस्तिमत्यै नमः
ॐ कान्त्यै नमः
ॐ नन्दिन्यै नमः ।।४५०।।
ॐ विघ्ननाशिन्यै नमः
ॐ तेजोवत्यै नमः
ॐ त्रिनयनायै नमः
ॐ लोलाक्षीकामरूपिण्यै नमः
ॐ मालिन्यै नमः
ॐ हंसिन्यै नमः
ॐ मात्रे नमः
ॐ मलयाचलवासिन्यै नमः
ॐ सुमुख्यै नमः
ॐ नलिन्यै नमः ।।४६०।।
ॐ सुभ्रुवे नमः
ॐ शोभनायै नमः
ॐ सुरनायिकायै नमः
ॐ कालकण्ठ्यै नमः
ॐ कान्तिमत्यै नमः
ॐ क्षोभिण्यै नमः
ॐ सूक्ष्मरूपिण्यै नमः
ॐ वज्रेश्वर्यै नमः

ॐ वामदेव्यै नमः
ॐ वयोवस्थाविवर्जितायै नमः ।।४७०।।
ॐ सिद्धेश्वर्यै नमः
ॐ सिद्धविद्यायै नमः
ॐ सिद्धमात्रे नमः
ॐ यशस्विन्यै नमः
ॐ विशुद्धचक्रनिलयायै नमः
ॐ आरक्तवर्णायै नमः
ॐ त्रिलोचनायै नमः
ॐ खट्वांगादिप्रहरणायै नमः
ॐ वदनैकसमन्वितायै नमः
ॐ पायसान्नप्रियायै नमः ।।४८०।।
ॐ त्वक्स्थायै नमः
ॐ पशुलोकभयंकर्यै नमः
ॐ अमृतादिमहाशक्तिसंवृतायै नमः
ॐ डाकिनीश्वर्यै नमः
ॐ अनाहताब्जनिलयायै नमः
ॐ श्यामाभायै नमः
ॐ वदनद्वयायै नमः
ॐ दंष्ट्रोज्ज्वलायै नमः
ॐ अक्षमालादिधरायै नमः
ॐ रुधिरसंस्थितायै नमः ।।४९०।।
ॐ कालरात्र्यादिशक्त्योघवृतायै नमः
ॐ स्निग्धौदनप्रियायै नमः
ॐ महावीरेन्द्रवरदायै नमः
ॐ राकिण्यम्बास्वरूपिण्यै नमः
ॐ मणिपूराब्जनिलयायै नमः
ॐ वदनत्रयसंयुतायै नमः
ॐ वज्रादिकायुधोपेतायै नमः
ॐ डामर्यादिभिरावृतायै नमः
ॐ रक्तवर्णायै नमः
ॐ मांसनिष्ठायै नमः ।।५००।।
ॐ गुडान्नप्रीतिमानसायै नमः
ॐ समस्तभक्तसुखदायै नमः
ॐ लाकिन्यम्बास्वरूपिण्यै नमः
ॐ स्वाधिष्ठानाम्बुजगतायै नमः
ॐ चतुर्वक्त्रमनोहरायै नमः
ॐ शूलाद्यायुधसम्पन्नायै नमः
ॐ पीतवर्णायै नमः
ॐ अतिगर्वितायै नमः
ॐ मेदोनिष्ठायै नमः
ॐ मधुप्रीतायै नमः ।।५१०।।
ॐ बन्दिन्यादिसमन्वितायै नमः
ॐ दध्यन्नासक्तहृदयायै नमः
ॐ काकिनीरूपधारिण्यै नमः
ॐ मूलाधाराम्बुजारूढायै नमः
ॐ पंचवक्त्रायै नमः
ॐ अस्थिसंस्थितायै नमः
ॐ अंकुशादिप्रहरणायै नमः
ॐ वरदादिनिषेवितायै नमः
ॐ मुद्गौदनासक्तचित्तायै नमः
ॐ साकिन्यम्बास्वरूपिण्यै –
नमः ।।५२०।।
ॐ आज्ञाचक्राब्जनिलयायै नमः
ॐ शुक्लवर्णायै नमः
ॐ षडाननायै नमः
ॐ मज्जासंस्थायै नमः
ॐ हंसवतीमुख्यशक्ति–
समन्वितायै नमः
ॐ हरिद्रान्नैकरसिकायै नमः
ॐ हाकिनीरूपधारिण्यै नमः
ॐ सहस्रदलपद्मस्थायै नमः
ॐ सर्ववर्णोपशोभितायै नमः
ॐ सर्वायुधधरायै नमः ।। ५३०।।
ॐ शुक्रसंस्थितायै नमः

ॐ सर्वतोमुख्यै नमः
ॐ सर्वौदनप्रीतिचित्तायै नमः
ॐ याकिन्यम्बास्वरूपिण्यै नमः
ॐ स्वाहा नमः
ॐ स्वधा नमः
ॐ अमत्यै नमः
ॐ मेधायै नमः
ॐ श्रुत्यै नमः
ॐ स्मृत्यै नमः ।।५४०।।
ॐ अनुत्तमायै नमः
ॐ पुण्यकीर्त्यै नमः
ॐ पुण्यलभ्यायै नमः
ॐ पुण्यश्रवणकीर्तनायै नमः
ॐ पुलोमजार्चितायै नमः
ॐ बन्धमोचन्यै नमः
ॐ बर्बरालकायै नमः
ॐ विमर्शरूपिण्यै नमः
ॐ विद्यायै नमः
ॐ वियदादिजगत्प्रसुवे नमः ।।५५०।।
ॐ सर्वव्याधिप्रशमन्यै नमः
ॐ सर्वमृत्युनिवारिण्यै नमः
ॐ अग्रगण्यायै नमः
ॐ अचिन्त्यरूपायै नमः
ॐ कलिकल्मषनाशिन्यै नमः
ॐ कात्यायन्यै नमः
ॐ कालहन्त्र्यै नमः
ॐ कमलाक्षनिषेवितायै नमः
ॐ ताम्बूलपूरितमुख्यै नमः
ॐ दाडिमीकुसुमप्रभायैनमः ।।५६०।।
ॐ मृगाक्ष्यै नमः
ॐ मोहिन्यै नमः
ॐ मुख्यायै नमः
ॐ मृडान्यै नमः

ॐ मित्ररूपिण्यै नमः
ॐ नित्यतृप्तायै नमः
ॐ भक्तनिधये नमः
ॐ नियंत्र्यै नमः
ॐ निखिलेश्वर्यै नमः
ॐ मैत्र्यादिवासनालभ्यायै –
नमः ।।५७०।।
ॐ महाप्रलयसाक्षिण्ये नमः
ॐ परस्यैशक्त्यै नमः
ॐ परायैनिष्ठायै नमः
ॐ प्रज्ञानघनरूपिण्यै नमः
ॐ माध्वीपानालसायै नमः
ॐ मत्तायै नमः
ॐ मातृकावर्णरूपिण्यै नमः
ॐ महाकैलासनिलयायै नमः
ॐ मृणालमृदुदोर्लतायै नमः
ॐ महनीयायै नमः ।।५८० ।।
ॐ दयामूर्त्यै नमः
ॐ महासाम्राज्यशालिन्यै नमः
ॐ आत्मविद्यायै नमः
ॐ महाविद्यायै नमः
ॐ श्रीविद्यायै नमः
ॐ कामसेवितायै नमः
ॐ श्रीषोडशाक्षरीविद्यायै नमः
ॐ त्रिकूटायै नमः
ॐ कामकोटिकायै नमः
ॐ कटाक्षकिंकरीभूतकमला–
कोटिसेवितायै नमः ।।५९०।।
ॐ शिरः स्थितायै नमः ।
ॐ चन्द्रनिभायै नमः
ॐ भालस्थायै नमः
ॐ इन्द्रधनुप्रभायै नमः
ॐ हृदयस्थायै नमः

ॐ रविप्रख्यायै नमः
ॐ त्रिकोणान्तरदीपिकायै नमः
ॐ दाक्षायण्यै नमः
ॐ दैत्यहन्त्र्यै नमः
ॐ दक्षयज्ञविनाशिन्यै नमः ।।६००।।
ॐ दरान्दोलितदीर्घाक्ष्यै नमः
ॐ दरहासोज्ज्वलन्मुख्यै नमः
ॐ गुरुमूर्त्तये नमः
ॐ गुणनिधये नमः
ॐ गोमात्रे नमः
ॐ गुहजन्मभुवे नमः
ॐ देवेश्यै नमः
ॐ दण्डनीतिस्थायै नमः
ॐ दहराकाशरूपिण्यै नमः
ॐ प्रतिपन्मुख्यराकान्ततिथि–
मंडलपूजितायै नमः ।।६१०।।
ॐ कलात्मिकायै नमः
ॐ कलानाथायै नमः
ॐ काव्यालापविनोदिन्यै नमः
ॐ सचामररमावाणीसव्य–
दक्षिणसेवितायै नमः
ॐ आदिशक्त्यै नमः
ॐ अमेयायै नमः
ॐ आत्मने नमः
ॐ परमायै नमः
ॐ पावनाकृतये नमः
ॐ अनेककोटिब्रह्माण्ड–
जनन्यै नमः
ॐ दिव्यविग्रहायै नमः
ॐ क्लींकार्यै नमः
ॐ केवलायै नमः
ॐ गुह्यायै नमः
ॐ कैवल्यपददायिन्यै नमः
ॐ त्रिपुरायै नमः
ॐ त्रिजगद्वन्द्यायै नमः
ॐ त्रिमूर्त्तये नमः
ॐ त्रिदशेश्वर्यै नमः
ॐ त्र्यक्षर्यै नमः ।।६३०।।
ॐ दिव्यगन्धाढ्यायै नमः
ॐ सिन्दूरतिलकाञ्चितायै नमः
ॐ उमायै नमः
ॐ शैलेन्द्रतनयायै नमः
ॐ गौर्यै नमः
ॐ गन्धर्वसेवितायै नमः
ॐ विश्वगर्भायै नमः
ॐ स्वर्णगर्भायै नमः
ॐ अवरदायै नमः
ॐ वागधीश्वर्यै नमः ।।६४०।।
ॐ ध्यानगम्यायै नमः
ॐ अपरिच्छेद्यायै नमः
ॐ ज्ञानदायै नमः
ॐ ज्ञानविग्रहायै नमः
ॐ सर्ववेदान्तसंवेद्यायै नमः
ॐ सत्यानन्दस्वरूपिण्यै नमः
ॐ लोपामुद्रार्चितायै नमः
ॐ लीलाक्लृप्तब्रह्मांड–
मंडलायै नमः
ॐ अदृश्यायै नमः
ॐ दृष्यरहितायै नमः ।।६५०।।
ॐ विज्ञात्र्यै नमः
ॐ वेद्यवर्जितायै नमः
ॐ योगिन्यै नमः
ॐ योगदायै नमः
ॐ योग्यायै नमः
ॐ योगानन्दायै नमः
ॐ युगन्धरायै नमः

ॐ इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्ति–
स्वरूपिण्यै नमः
ॐ सर्वाधारायै नमः
ॐ सुप्रतिष्ठायै नमः ।।६६०।।
ॐ सदसद्रूपधारिण्यै नमः
ॐ अष्टमूर्त्यै नमः
ॐ अजाजेत्र्यै नमः
ॐ लोकयात्राविधायिन्यै नमः
ॐ एकाकिन्यै नमः
ॐ भूमरूपायै नमः
ॐ निर्द्वैतायै नमः
ॐ द्वैतवर्जितायै नमः
ॐ अन्नदायै नमः
ॐ वसुदायै नमः ।।६७०।।
ॐ वृद्धायै नमः
ॐ ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपिण्यै नमः
ॐ बृहत्यै नमः
ॐ ब्राह्मण्यै नमः
ॐ ब्राह्म्यै नमः
ॐ ब्रह्मानन्दायै नमः
ॐ बलिप्रियायै नमः
ॐ भाषारूपायै नमः
ॐ वृहत्सेनायै नमः
ॐ भावाभावविवर्जितायै नमः ।।६८०।।
ॐ सुखाराध्यायै नमः
ॐ शुभकर्यै नमः
ॐ शोभनायैसुलभायैगत्यै नमः
ॐ राजराजेश्वर्यै नमः
ॐ राज्यदायिन्यै नमः
ॐ राजवल्लभायै नमः
ॐ राजत्कृपायै नमः
ॐ राजपीठनिवेशितनिजाश्रितायै नमः
ॐ राज्यलक्ष्म्यै नमः
ॐ कोशनाथायै नमः ।।६९०।।
ॐ चतुरंगबलेश्वर्यै नमः
ॐ साम्राज्यदायिन्यै नमः
ॐ सत्यसन्धायै नमः
ॐ सागरमेखलायै नमः
ॐ दीक्षितायै नमः
ॐ दैत्यशमन्यै नमः
ॐ सर्वलोकवशकर्यै नमः
ॐ सर्वार्थदात्र्यै नमः
ॐ सावित्र्यै नमः
ॐ सच्चिदानन्दरूपिण्यै नमः।।७००।।
ॐ देशकालापरिच्छिन्नायै नमः
ॐ सर्वगायै नमः
ॐ सर्वमोहिन्यै नमः
ॐ सरस्वत्यै नमः
ॐ शास्त्रमय्यै नमः
ॐ गुहाम्बायै नमः
ॐ गुह्यरूपिण्यै नमः
ॐ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तायै नमः
ॐ सदाशिवपतिव्रतायै नमः
ॐ सम्प्रदायेश्वर्यै नमः ।।७१०
ॐ साधुने नमः
ॐ यै नमः
ॐ गुरुमण्डलरूपिण्यै नमः
ॐ कुलोत्तीर्णायैः नमः
ॐ भगाराध्यायै नमः
ॐ मायायै नमः
ॐ मधुमत्यै नमः
ॐ मह्यै नमः
ॐ गणाम्बायै नमः
ॐ गुह्यकाराध्यायै नमः ।।७२०।।
ॐ कोमलाग्यै नमः

ॐ गुरुप्रियायै नमः
ॐ स्वतन्त्रायै नमः
ॐ सर्वतन्त्रेश्यै नमः
ॐ दक्षिणामूर्त्तिरूपिण्यै नमः
ॐ सनकादिसमाराध्यायै नमः
ॐ शिवज्ञानप्रदायिन्यै नमः
ॐ चित्कलायै नमः
ॐ आनन्दकलिकायै नमः
ॐ प्रेमरूपायै नमः ।।७३०।।
ॐ प्रियंकर्यै नमः
ॐ नामपारायणप्रीतायै नमः
ॐ नन्दिविद्यायै नमः
ॐ नटेश्वर्यै नमः
ॐ मिथ्याजगदधिष्ठानायै नमः
ॐ मुक्तिदायै नमः
ॐ मुक्तिरूपिण्यै नमः
ॐ लास्यप्रियायै नमः
ॐ लयकर्यै नमः
ॐ लज्जायै नमः ।।७४०।।
ॐ रम्भादिवन्दितायै नमः
ॐ भवदावसुधावृष्ट्यै नमः
ॐ पापारण्यदवानलायै नमः
ॐ दौर्भाग्यतूलवातूलायै नमः
ॐ ज्वराध्वान्तरविप्रभायै नमः
ॐ भाग्याब्धिचन्द्रिकायै नमः
ॐ भक्तचित्तकेकीघनाघनायै नमः
ॐ रोगपर्वतदम्भोलये नमः
ॐ मृत्युदारुकुठारिकायै नमः
ॐ महेश्वर्यै नमः ।।७५०।।
ॐ महाकाल्यै नमः
ॐ महाग्रासायै नमः
ॐ महाशनायै नमः
ॐ अपर्णायै नमः
ॐ चण्डिकायै नमः
ॐ चण्डमुण्डासुरनिषूदिन्यै नमः
ॐ क्षराक्षरात्मिकायै नमः
ॐ सर्वलोकेश्यै नमः
ॐ विश्वधारिण्यै नमः
ॐ त्रिवर्गदात्र्यै नमः ।।७६०।।
ॐ सुभगायै नमः
ॐ त्र्यंबकायै नमः
ॐ त्रिगुणात्मिकायै नमः
ॐ स्वर्गापवर्गदायै नमः
ॐ शुद्धायै नमः
ॐ जपापुष्पनिभाकृतये नमः
ॐ ओजोवत्यै नमः
ॐ द्युतिधरायै नमः
ॐ यज्ञरूपायै नमः
ॐ प्रियव्रतायै नमः ।।७७०।।
ॐ दुराराध्यायै नमः
ॐ दुराधर्षायै नमः
ॐ पाटलीकुसुमप्रियायै नमः
ॐ महत्यै नमः
ॐ मेरुनिलयायै नमः
ॐ मन्दारकुसुमप्रियायै नमः
ॐ वीराराध्यायै नमः
ॐ विराड्रूपायै नमः
ॐ विरजसे नमः
ॐ विश्वतोमुख्यै नमः ।।७८०।।
ॐ प्रत्यक्रूपायै नमः
ॐ पराकाशायै नमः
ॐ प्राणदायै नमः
ॐ प्राणरूपिण्यै नमः
ॐ मार्तण्डभैरवाराध्यायै नमः
ॐ मन्त्रिणीन्यस्तधुरे नमः
ॐ त्रिपुरेश्यै नमः

ॐ जयत्सेनायै नमः
ॐ निस्त्रैगुण्यायै नमः
ॐ परापरायै नमः ।।७९०।।
ॐ सत्यज्ञानानन्दरूपायै नमः
ॐ सामरस्यपरायणायै नमः
ॐ कपर्दिन्यै नमः
ॐ कलामालायै: नमः
ॐ कामदुहे नमः
ॐ कामरूपिण्यै नमः
ॐ कलानिधये नमः
ॐ काव्यकलायै नमः
ॐ रसज्ञायै नमः
ॐ रसशेवधये नमः ।।८००।।
ॐ पुष्टायै नमः
ॐ पुरातनायै नमः
ॐ पूज्यायै नमः
ॐ पुष्करायै नमः
ॐ पुष्करेक्षणायै नमः
ॐ परस्मैज्योतिषे नमः
ॐ परस्मैधाम्ने नमः
ॐ परमाणवे नमः
ॐ परात्परायै नमः
ॐ पाशहस्तायै नमः ।।८१०।।
ॐ पाशहन्त्र्यै नमः
ॐ परमन्त्रविभेदिन्यै नमः
ॐ मूर्त्तायै नमः
ॐ अमूर्त्तायै नमः
ॐ अनित्यतृप्तायै नमः
ॐ मुनिमानसहंसिकायै नमः
ॐ सत्यव्रतायै नमः
ॐ सत्यरूपायै नमः
ॐ सर्वान्तर्यामिन्यै नमः
ॐ सत्यै नमः ।।८२०।।
ॐ ब्रह्माण्यै नमः
ॐ ब्रह्मणे नमः
ॐ जनन्यै नमः
ॐ बहुरूपायै नमः
ॐ बुधार्चितायै नमः
ॐ प्रसवित्र्यै नमः
ॐ प्रचण्डायै नमः
ॐ आज्ञायै नमः
ॐ प्रतिष्ठायै नमः
ॐ प्रकटाकृतये नमः ।।८३०।।
ॐ प्राणेश्वर्यै नमः
ॐ प्राणदात्र्यै नमः
ॐ पञ्चाशत्पीठरूपिण्यै नमः
ॐ विश्रृंखलायै नमः
ॐ विविक्तस्थायै नमः
ॐ वीरमात्रे नमः
ॐ वियत्प्रसुवे नमः
ॐ मुकुन्दायै नमः
ॐ मुक्तिनिलयायै नमः
ॐ मूलविग्रहरूपिण्यै नमः ।।८४०।।
ॐ भावज्ञायै नमः
ॐ भवरोगघ्न्यै नमः
ॐ भवचक्रप्रवर्त्तिन्यै नमः
ॐ छन्दसारायै नमः
ॐ शास्त्रसारायै नमः
ॐ मन्त्र सारायै नमः
ॐ तलोदर्यै नमः
ॐ उदारकीर्त्तये नमः
ॐ उद्दामवैभवायै नमः
ॐ वर्णरूपिण्यै नमः ।।८५०।।
ॐ जन्ममृत्युजरातप्तजन–
विश्रान्तिदायिन्यै नमः
ॐ सर्वोपनिषदुद्घुष्टायै नमः

ॐ शान्त्यतीतकलात्मिकायै नमः
ॐ गंभीरायै नमः
ॐ गगनान्तस्थायै नमः
ॐ गर्वितायै नमः
ॐ गानलोलुपायै नमः
ॐ कल्पनारहितायै नमः
ॐ काष्ठायै नमः
ॐ अकान्तायै नमः ।।८६०।।
ॐ कान्तार्धविग्रहायै नमः
ॐ कार्यकारणनिर्मुक्तायै नमः
ॐ कामकेलितरंगितायै नमः
ॐ कनत्कनकताटंकायै नमः
ॐ लीलाविग्रहधारिण्यै नमः
ॐ अजायै नमः
ॐ क्षयविनिर्मुक्तायै नमः
ॐ मुग्धायै नमः
ॐ क्षिप्रप्रसादिन्यै नमः
ॐ अन्तर्मुखसमाराध्यायै नमः ।।८७०।।
ॐ बहिर्मुखसुदुर्लभायै नमः
ॐ त्रय्यै नमः
ॐ त्रिवर्गनिलयायै नमः
ॐ त्रिस्थायै नमः
ॐ त्रिपुरमालिन्यै नमः
ॐ निरामयायै नमः
ॐ निरालम्बायै नमः
ॐ स्वात्मारामायै नमः
ॐ सुधासृत्यै नमः
ॐ संसारपंकनिर्मग्नसमुद्धरण–
पण्डितायै नमः ।।८८०।।
ॐ यज्ञप्रियायै नमः
ॐ यज्ञकर्त्र्यै नमः
ॐ यजमानस्वरूपिण्यै नमः
ॐ धर्माधारायै नमः

ॐ धनाध्यक्षायै नमः
ॐ धनधान्यविवर्धिन्यै नमः
ॐ विप्रप्रियायै नमः
ॐ विप्ररूपायै नमः
ॐ विश्वभ्रमणकारिण्यै नमः
ॐ विश्वग्रासायै नमः ।।८९०।।
ॐ विद्रुमाभायै नमः
ॐ वैष्णव्यै नमः
ॐ विष्णुरूपिण्यै नमः
ॐ अयोन्यै नमः
ॐ योनिनिलयायै नमः
ॐ कूटस्थायै नमः
ॐ कुलरूपिण्यै नमः
ॐ वीरगोष्ठीप्रियायै नमः
ॐ वीरायै नमः
ॐ नैष्कर्म्यायैनमः ।।९००।।
ॐ नादरूपिण्यै नमः
ॐ विज्ञानकलनायै नमः
ॐ कल्यायै नमः
ॐ विदग्धायै नमः
ॐ वैन्दवासनायै नमः
ॐ तत्त्वाधिकायै नमः
ॐ तत्वमय्यै नमः
ॐ तत्त्वमर्थस्वरूपिण्यै नमः
ॐ सामगानप्रियायै नमः
ॐ सौम्यायै नमः ।।९१०।।
ॐ सदाशिवकुटुम्बिन्यै नमः
ॐ सव्यापसव्यमार्गस्थायै नमः
ॐ सर्वापद्विनिवारिण्यै नमः
ॐ स्वस्थायै नमः
ॐ स्वभावमधुरायै नमः
ॐ धीरायै नमः
ॐ धीरसमर्चितायै नमः

ॐ चैतन्यार्घ्यसमाराध्यायै नमः
ॐ चैतन्यकुसुमप्रियायै नमः
ॐ सदोदितायै नमः ॥९२०॥
ॐ सदातुष्टायै नमः
ॐ तरुणादित्यपाटलायै नमः
ॐ दक्षिणादक्षिणाराध्यायै नमः
ॐ दरस्मेरमुखाम्बुजायै नमः
ॐ कौलिनीकेवलायै नमः
ॐ अनर्घ्यकैवल्यपददायिन्यै नमः
ॐ स्तोत्रप्रियायै नमः
ॐ स्तुतिमत्यै नमः
ॐ श्रुतिसंस्तुतवैभवायै नमः
ॐ मनस्विन्यै नमः ॥९३०॥
ॐ मानवत्यै नमः
ॐ महेश्यै नमः
ॐ मंगलाकृतये नमः
ॐ विश्वमात्रे नमः
ॐ जगद्धात्र्यै नमः
ॐ विशालाक्ष्यै नमः
ॐ विरागिण्यै नमः
ॐ प्रगल्भायै नमः
ॐ परमोदारायै नमः
ॐ परमोदायै नमः ॥९४०॥
ॐ मनोमय्यै नमः
ॐ व्योमकेश्यै नमः
ॐ विमानस्थायै नमः
ॐ वज्रिण्यै नमः
ॐ वामकेश्वर्यै नमः
ॐ पञ्चयज्ञप्रियायै नमः
ॐ पञ्चप्रेतमञ्चाधिशायिन्यै नमः
ॐ पंचम्यै नमः
ॐ पंचभूतेश्यै नमः
ॐ पंचसख्योपचारिण्यै नमः ॥९५०॥
ॐ शाश्वत्यै नमः
ॐ शाश्वतैश्वर्यायै नमः
ॐ शर्मदायै नमः
ॐ शम्भुमोहिन्यै नमः
ॐ धरायै नमः
ॐ धरसुतायै नमः
ॐ धन्यायै नमः
ॐ धर्मिण्यै नमः
ॐ धर्मवर्धिन्यै नमः
ॐ लोकातीतायै नमः ॥९६०॥
ॐ गुणातीतायै नमः
ॐ सर्वातीतायै नमः
ॐ शमात्मिकायै नमः
ॐ बन्धूककुसुमप्रख्यायै नमः
ॐ बालायै नमः
ॐ लीलाविनोदिन्यै नमः
ॐ सुमंगल्यै नमः
ॐ सुखकर्यै नमः
ॐ सुवेषाढ्यायै नमः
ॐ सुवासिन्यै नमः ॥९७०॥
ॐ सुवासिन्यर्चनप्रीतायै नमः
ॐ आशोभनायै नमः
ॐ शुद्धमानसायै नमः
ॐ बिन्दुतर्पणसंतुष्टायै नमः
ॐ पूर्वजायै नमः
ॐ त्रिपुराम्बिकायै नमः
ॐ दशमुद्रासमाराध्यायै नमः
ॐ त्रिपुराश्रीवशंकर्यै नमः
ॐ ज्ञानमुद्रायै नमः
ॐ ज्ञानगम्यायै नमः ॥९८०॥
ॐ ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्यै नमः
ॐ योनिमुद्रायै नमः
ॐ त्रिखण्डेश्यै नमः

ॐ त्रिगुणायै नमः
ॐ अम्बायै नमः
ॐ त्रिकोणगायै नमः
ॐ अनघायै नमः
ॐ अद्भुतचारित्र्यै नमः
ॐ वाञ्छितार्थप्रदायिन्यै नमः
ॐ अभ्यासातिशयज्ञातायै नमः ।।९९०।।
ॐ षडध्वातीतरूपिण्यै नमः
ॐ अव्याजकरुणामूर्त्तये नमः
ॐ अज्ञानध्वान्तदीपिकायै नमः
ॐ आबालगोपविदितायै नमः
ॐ सर्वानुल्लंघ्यशासनायै नमः
ॐ श्रीचक्रराजनिलयायै नमः
ॐ श्रीमत्रिपुरसुन्दर्यै नमः
ॐ श्रीशिवायै नमः
ॐ शिवशक्त्यैक्यरूपिण्यै नमः
ॐ श्रीललिताम्बिकायै नमः ।।१०००।।

इति श्रीललितासहस्रनामावलिः सम्पूर्णा

# श्रीललितात्रिशतीस्तोत्रनामावलिः

अस्य श्रीललितात्रिशतीस्तोत्रमन्त्रस्य हयग्रीवऋषये नमः शिरसि १। अनुष्टुप् छन्दसे नमः मुखे २। श्रीललिताम्बादेवतायै नमः हृदये । षोडशाक्षरी साधकानान्तु क ६ बीजाय गुह्ये । स ४ शक्तये पादयोः ह ६ कीलकाय नाभौ । श्रीललिताम्बाप्रसादसिद्धये जपे {पूजने, अर्चने} विनियोगाय सर्वांगे।।

कूटत्रय द्विरावृत्य बालया वा षडगद्वयम् ।।

अथ ध्यानम्

*अतिमधुरचापहस्तामपरिमितमोदबाणसौभाग्याम् ।*
*अरुणागतिशयकरुणामभिनवकुलसुन्दरीं वन्दे ।।१।।*

लमितिपचोपचारैः सम्पूज्य

ऐं ह्रीं श्रीं

ॐ ककाररूपायै नमः
ॐ कल्याण्यै नमः
ॐ कल्याणगुणशालिन्यै नमः
ॐ कल्याणशैलनिलयायै नमः
ॐ कमनीयायै नमः
ॐ कलावत्यै नमः
ॐ कमलाक्ष्यै नमः
ॐ कल्मषघ्न्यै नमः
ॐ करुणामृतसागरायै नमः
ॐ कदम्बकाननावासायै नमः।।१०।।
ॐ कदम्बकुसुमप्रियायै नमः
ॐ कंदर्पविद्यायै नमः
ॐ कंदर्पजनकापांगवीक्षणायै नमः
ॐ कर्पूरवीटीसौरभ्यकल्लोलितककुप्तटायै नमः
ॐ कलिदोषहरायै नमः
ॐ कञ्जलोचनायै नमः

ॐ कम्रविग्रहायै नमः
ॐ कर्मादिसाक्षिण्यै नमः
ॐ कारयित्र्यै नमः
ॐ कर्मफलप्रदायै नमः ।।२०।।
ॐ एकाररूपायै नमः
ॐ एकाक्षर्यै नमः
ॐ एकानेकाक्षराकृत्यै नमः
ॐ एतत्तदित्यनिर्देश्यायै नमः
ॐ एकानन्दचिदाकृत्यै नमः
ॐ एवमित्यागमाबोध्यायै नमः
ॐ एकभक्तिमदर्चितायै नमः
ॐ एकाग्रचित्तनिर्ध्यातायै नमः
ॐ एषणारहितादृतायै नमः
ॐ एलासुगन्धिचिकुरायै नमः ।।३०।।
ॐ एनःकूटविनाशिन्यै नमः
ॐ एकभोगायै नमः
ॐ एकरसायै नमः
ॐ एकैश्वर्यप्रदायिन्यै नमः
ॐ एकातपत्रसाम्राज्यप्रदायै नमः
ॐ एकान्तपूजितायै नमः
ॐ एधमानप्रभायै नमः
ॐ एजदनेकजगदीश्वर्यै नमः
ॐ एकवीरादिसंसेव्यायै नमः
ॐ एकप्राभवशालिन्यै नमः ।।४०।।
ॐ ईकाररूपायै नमः
ॐ ईशित्र्यै नमः
ॐ ईप्सितार्थप्रदायिन्यै नमः
ॐ ईदृगित्यविनिर्देश्यायै नमः
ॐ ईश्वरत्वविधायिन्यै नमः
ॐ ईशानादिब्रह्ममय्यै नमः
ॐ ईशित्वाद्यष्टसिद्धिदायै नमः
ॐ ईक्षित्र्यै नमः
ॐ ईक्षणसृष्टाण्डकोट्यै नमः
ॐ ईश्वरवल्लभायै नमः ।।५०।।
ॐ ईडितायै नमः
ॐ ईश्वरार्धांगशरीरायै नमः
ॐ ईशाधिदेवतायै नमः
ॐ ईश्वरप्रेरणकर्यै नमः
ॐ ईशताण्डवसाक्षिण्यै नमः
ॐ ईश्वरोत्संगनिलयायै नमः
ॐ ईतिबाधाविनाशिन्यै नमः
ॐ ईहाविरहितायै नमः
ॐ ईशशक्त्यै नमः
ॐ ईषत्स्मिताननायै नमः।।६०।।
ॐ लकाररूपायै नमः
ॐ ललितायै नमः
ॐ लक्ष्मीवाणीनिषेवितायै नमः
ॐ लाकिन्यै नमः
ॐ ललनारूपायै नमः
ॐ लसद्दाडिमपाटलायै नमः
ॐ ललन्तिकालसत्फालायै नमः
ॐ ललाटनयनार्चितायै नमः
ॐ लक्षणोज्ज्वलदिव्यांग्यै नमः
ॐ लक्षकोट्यण्डनायिकायै नमः।।७०।।
ॐ लक्षार्थायैः नमः
ॐ लक्षणागम्यायै नमः
ॐ लब्धकामायै नमः
ॐ लतातनवे नमः
ॐ ललामराजदलिकायै नमः
ॐ लम्बिमुक्तालताञ्चितायै नमः
ॐ लम्बोदरप्रसुवे नमः
ॐ लभ्यायै नमः
ॐ लज्जाढ्यायै नमः
ॐ लयवर्जितायै नमः ।।८०।।
ॐ ह्रींकाररूपायै नमः

ॐ ह्रींपदप्रियायै नमः
ॐ ह्रींकारबीजायै नमः
ॐ ह्रींकारमंत्रायै नमः
ॐ ह्रींकारलक्षणायै नमः
ॐ ह्रींकारजपसुप्रीतायै नमः
ॐ ह्रींमत्यै नमः
ॐ ह्रींविभूषणायै नमः
ॐ ह्रींशीलायै नमः ॥९०॥
ॐ ह्रींपदाराध्यायै नमः
ॐ ह्रींगर्भायै नमः
ॐ ह्रींपदाभिधायै नमः
ॐ ह्रींकारवाच्यायै नमः
ॐ ह्रींकारपूज्यायै नमः
ॐ ह्रींकारपीठिकायै नमः
ॐ ह्रींकारवेद्यायै नमः
ॐ ह्रींकारचिन्त्यायै नमः
ॐ ह्रीं नमः
ॐ ह्रींशरीरिण्यै नमः ॥१००॥
ॐ हकाररूपायै नमः
ॐ हलधृत्पूजितायै नमः
ॐ हरिणेक्षणायै नमः
ॐ हरिप्रियायै नमः
ॐ हराराध्यायै नमः
ॐ हरिब्रह्मेन्द्रसेवितायै नमः
ॐ हयारूढासेवितांघ्र्यै नमः
ॐ हयमेधसमर्चितायै नमः
ॐ हर्यक्षवाहनायै नमः
ॐ हंसवाहनायै नमः ॥११०॥
ॐ हतदानवायै नमः
ॐ हत्यादिपापशमन्यै नमः
ॐ हरिदश्वादिसेवितायै नमः
ॐ हस्तिकुम्भोत्तुंगकुचायै नमः
ॐ हस्तिकृत्तिप्रियांगनायै नमः
ॐ हरिद्राकुंकुमादिग्धायै नमः
ॐ हर्यश्वाद्यमरार्चितायै नमः
ॐ हरिकेशसख्यै नमः
ॐ हादिविद्यायै नमः
ॐ हालामदालसायै नमः ॥१२०॥
ॐ सकाररूपायै नमः
ॐ सर्वज्ञायै नमः
ॐ सर्वेश्यै नमः
ॐ सर्वमंगलायै नमः
ॐ सर्वकर्त्र्यै नमः
ॐ सर्वभर्त्र्यै नमः
ॐ सर्वहर्त्र्यै नमः
ॐ सनातन्यै नमः
ॐ सर्वानवद्यायै नमः
ॐ सर्वांगसुन्दर्यै नमः ॥१३०॥
ॐ सर्वसाक्षिण्यै नमः
ॐ सर्वात्मिकायै नमः
ॐ सर्वसौख्यदात्र्यै नमः
ॐ सर्वविमोहिन्यै नमः
ॐ सर्वाधारायै नमः
ॐ सर्वगतायै नमः
ॐ सर्वावगुणवर्जितायै नमः
ॐ सर्वारुणायै नमः
ॐ सर्वमात्रे नमः
ॐ सर्वभूषणभूषितायै नमः ॥१४०॥
ॐ ककारार्थायै नमः
ॐ कालहन्त्र्यै नमः
ॐ कामेश्यै नमः
ॐ कामितार्थदायै नमः
ॐ कामसञ्जीविन्यै नमः
ॐ कल्यायै नमः
ॐ कठिनस्तनमण्डलायै नमः

ॐ करभोरवे नमः
ॐ कलानाथमुख्यै नमः
ॐ कचजिताम्बुदायै नमः ॥१५०॥
ॐ कटाक्षस्यन्दिकरुणायै नमः
ॐ कपालिप्राणनायिकायै नमः
ॐ कारुण्यविग्रहायै नमः
ॐ कान्तायै नमः
ॐ कान्तिधूतजपावल्यै नमः
ॐ कलालापायै नमः
ॐ कम्बुकण्ठ्यै नमः
ॐ करनिर्जितपल्लवायै नमः
ॐ कल्पवल्लीसमभुजायै नमः
ॐ कस्तूरीतिलकाञ्चितायै नमः ॥१६०॥
ॐ हकारार्थायै नमः
ॐ हंसगत्यै नमः
ॐ हाटकाभरणोज्ज्वलायै नमः
ॐ हारहारिकुचाभोगायै नमः
ॐ हाकिन्यै नमः
ॐ हल्यवर्जितायै नमः
ॐ हरित्पतिसमाराध्यायै नमः
ॐ हठात्कारहतासुरायै नमः
ॐ हर्षप्रदायै नमः
ॐ हविर्भोक्त्र्यै नमः ॥१७०॥
ॐ हार्दसन्तमसापहायै नमः
ॐ हल्लीसलास्यसन्तुष्टायै नमः
ॐ हसमंत्रार्थरूपिण्यै नमः
ॐ हानोपादाननिर्मुक्तायै नमः
ॐ हर्षिण्यै नमः
ॐ हरिसोदर्यै नमः
ॐ हाहाहूहूमुखस्तुत्यायै नमः
ॐ हानिवृद्धिविवर्जितायै नमः
ॐ हय्यंगवीनहृदयायै नमः
ॐ हरिगोपारुणांशुकायै नमः ॥१८०॥

ॐ लकाराख्यायै नमः
ॐ लतापूज्यायै नमः
ॐ लयस्थित्युद्भवेश्वर्यै नमः
ॐ लास्यदर्शनसंतुष्टायै नमः
ॐ लाभ्येभालाभविवर्जितायै नमः
ॐ लंघ्येतराज्ञायै नमः
ॐ लावण्यशालिन्यै नमः
ॐ लघुसिद्धिदायै नमः
ॐ लाक्षारससवर्णाभायै नमः
ॐ लक्ष्मणाग्रजपूजितायै नमः॥१९०॥
ॐ लभ्येतरायै नमः
ॐ लब्धभक्तिसुलभायै नमः
ॐ लांगलायुधायै नमः
ॐ लग्नचामरहस्तश्रीशारदा-
परिवीजितायै नमः
ॐ लज्जापदसमाराध्यायै नमः
ॐ लम्पटायै नमः
ॐ लकुलेश्वर्यै नमः
ॐ लब्धमानायै नमः
ॐ लब्धरसायै नमः
ॐ लब्धसम्पत्समुन्नत्यै नमः ॥२००॥
ॐ ह्रींकारिण्यै नमः
ॐ ह्रींकाराद्यायै नमः
ॐ ह्रींमध्यायै नमः
ॐ ह्रींशिखामणये नमः
ॐ ह्रींकारकुण्डाग्निशिखायै नमः
ॐ ह्रींकारशशिचन्द्रिकायै नमः
ॐ ह्रींकारभास्कररुच्यै नमः
ॐ ह्रींकाराम्भोदचंचलायै नमः
ॐ ह्रींकारकन्दांकुरिकायै नमः
ॐ ह्रींकारैकपरायणायै नमः ॥२१०॥
ॐ ह्रींकारदीर्घिकाहंस्यै नमः

ॐ ह्रींकारोद्यानकेकिन्यै नमः
ॐ ह्रींकारारण्यहरिण्यै नमः
ॐ ह्रींकारावालवल्लर्यै नमः
ॐ ह्रींकारपंजरशुक्यै नमः
ॐ ह्रींकारांगणदीपिकायै नमः
ॐ ह्रींकारकन्दरासिंह्यै नमः
ॐ ह्रींकाराम्भोजभृंगिकायै नमः
ॐ ह्रींकारसुमनोमाध्व्यै नमः
ॐ ह्रींकारतरुमञ्जर्यै नमः ॥२२०॥
ॐ सकाराख्यायै नमः
ॐ समरसायै नमः
ॐ सकलागमसंस्तुतायै नमः
ॐ सर्ववेदान्ततात्पर्यभूम्यै नमः
ॐ सदसदाश्रयायै नमः
ॐ सकलायै नमः
ॐ सच्चिदानन्दायै नमः
ॐ साध्व्यै नमः
ॐ सद्‌गतिदायिन्यै नमः
ॐ सनकादिमुनिध्येयायै नमः ॥२३०॥
ॐ सदाशिवकुटुम्बिन्यै नमः
ॐ सकलाधिष्ठानरूपायै नमः
ॐ सत्यरूपायै नमः
ॐ समाकृत्यै नमः
ॐ सर्वप्रपंचनिर्मात्र्यै नमः
ॐ समानाधिकवर्जितायै नमः
ॐ सर्वोत्तुगायै नमः
ॐ संगहीनायै नमः
ॐ सगुणायै नमः
ॐ सकलेष्टदायै नमः ॥२४०॥
ॐ ककारिण्यै नमः
ॐ काव्यलोलायै नमः
ॐ कामेश्वरमनोहरायै नमः
ॐ कामेश्वरप्राणनाड्यै नमः
ॐ कामेशोत्संगवासिन्यै नमः
ॐ कामेश्वरालिंगितांग्यै नमः
ॐ कामेश्वरसुखप्रदायै नमः
ॐ कामेश्वरप्रणयिन्यै नमः
ॐ कामेश्वरविलासिन्यै नमः
ॐ कामेश्वरतपस्सिद्ध्यै नमः ॥२५०॥
ॐ कामेश्वरमनःप्रियायै नमः
ॐ कामेश्वरप्राणनाथायै नमः
ॐ कामेश्वरविमोहिन्यै नमः
ॐ कामेश्वरब्रह्मविद्यायै नमः
ॐ कामेश्वरगृहेश्वर्यै नमः
ॐ कामेश्वराह्लादकर्यै नमः
ॐ कामेश्वरमहेश्वर्यै नमः
ॐ कामेश्वर्यै नमः
ॐ कामकोटिनिलयायै नमः
ॐ कांक्षितार्थदायै नमः ॥२६०॥
ॐ लकारिण्यै नमः
ॐ लब्धरूपायै नमः
ॐ लब्धधियै नमः
ॐ लब्धवांछितायै नमः
ॐ लब्धपापमनोदूरायै नमः
ॐ लब्धाहंकारदुर्गमायै नमः
ॐ लब्धशक्त्यै नमः
ॐ लब्धदेहायै नमः
ॐ लब्धैश्वर्यसमुन्नत्यै नमः
ॐ लब्धवृद्ध्यै नमः ॥२७०॥
ॐ लब्धलीलायै नमः
ॐ लब्धयौवनशालिन्यै नमः
ॐ लब्धातिशयसर्वांगसौन्दर्यायै नमः
ॐ लब्धविभ्रमायै नमः

ॐ लब्धरागायै नमः
ॐ लब्धपत्यै नमः
ॐ लब्धानानागमस्थित्यै नमः
ॐ लब्धभोगायै नमः
ॐ लब्धसुखायै नमः
ॐ लब्धहर्षाभिपूरितायै नमः ॥२८०॥
ॐ ह्रींकारमूर्त्तये नमः
ॐ ह्रींकारसौधश्रृंगकपोतिकायै नमः
ॐ ह्रींकारदुग्धाब्धिसुधायै नमः
ॐ ह्रींकारकमलेन्दिरायै नमः
ॐ ह्रींकारमणिदीपार्चिषे नमः
ॐ ह्रींकारतरुशारिकायै नमः
ॐ ह्रींकारपेटकमणये नमः
ॐ ह्रींकारादर्शबिंबितायै नमः
ॐ ह्रींकारकोशासिलतायै नमः
ॐ ह्रींकारस्थाननर्तक्यै नमः ॥२९०॥
ॐ ह्रींकारशुक्तिकामुक्तामणये नमः
ॐ ह्रींकारबोधितायै नमः
ॐ ह्रींकारमणिसौवर्णस्तम्भविद्रुमपुत्रिकायै नमः
ॐ ह्रींकारवेदोपनिषदे नमः
ॐ ह्रींकाराध्वरदक्षिणायै नमः
ॐ ह्रींकारनन्दनारामनवकल्पकवल्लर्यै नमः
ॐ ह्रींकारहिमवद्गंगायै नमः
ॐ ह्रींकारार्णवकौस्तुभायै नमः
ॐ ह्रींकारमंत्रसर्वस्वायै नमः
ॐ ह्रींकारपरसौख्यदायै नमः ॥३००॥
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीमद्राजराजेश्वर्यै नमः

समाप्तम्

---

{इस भगवती ललिताके त्रिशती-स्तोत्रका पू. गुरुदेव इतना अधिक आदर करते थे कि उन्होंने श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीसे इसकी भगवत्पाद आदिशंकराचार्य कृत टीकाका हिन्दी अनुवाद कराके उसे राधामाधव सेवा संस्थान, गोरखपुरसे प्रकाशित कराया था}

# दुर्वासा ऋषिका दर्शन

बात लगभग १९५१ ई की है । दुपहरीमें, दिनमें, जब पू. गुरुदेव अपनी द्वितीय प्रहरकी पूजाके क्रमसे निवृत्त होते, हम लोग उनके पास चले जाते । कभी-कभी तो वे किसीसे बात करते होते एव कभी अकेले ही होते। जब वे अकेले मिल जाते, उस दिन वे मुझे अपनी विलक्षण अनुभूतियाँ बताया करते ।

पू. गुरुदेव जब मातृसाधनामे होते तो उसमे पूर्णतया इतने तल्लीन हो जाते थे कि उस समय उनकी निमग्नता चरम सीमा बिन्दुको ही छूती रहती थी। उनकी श्रीक्रमकी पूजा तो प्रत्येक प्रहर लगभग सवा घण्टे अथवा डेढ घंटेकी होती थी । वह पूजा ज्योही समाप्त होती, वे फिर अपनी मधुरभाव साधनामे तल्लीन हो जाते थे । मुझको अथवा राधेश्याम पालडीवालको वे अपनी मधुर अनुभूत लीलाये सुनाया करते । उनसे लीला सुनते समय हमे भी बाह्य जगत अथवा अपने किसी प्रापचिक परिवेशकी स्मृति ही नही होती थी । गोपियाँ, नन्दभवन, यशोदाजी, वृषभानुपुर, कीर्तिदा मैया, वन, कुजो, महलो, सभीके चित्र वे अपनी पट्टी पर लिख लिखकर इस तरह जीवन्त वर्णन करते थे, मानो वे वही बैठे-बैठे सब प्रत्यक्ष नेत्रोसे देख रहे हो और कह रहे हों । इस प्रकार घण्टो बीत जाते । बीचमे कभी किसी आगत व्यक्तिका व्यवधान होता तो उसे टाल दिया जाता । सायकाल होने पर भिक्षाके लिये जब बुलावा आता तो वह क्रम भिक्षाके पश्चात् पुन प्रारम्भ हो जाता था । जब लीला कथाये चलती होती तो उन्हें पहचानना मुश्किल होता कि वे अभी डेढ़ घण्टे तक तन्त्र साधना करके उठे हैं ।

पू गुरुदेवके सम्मुख गोपियाँ, उनकी बोली, हाव भाव, चेष्टाएँ, उनकी सवेदनाएँ, दुख-सुख, ग्लानि, मान-अपमानके भाव, सब जीवन्त स्पष्ट होते थे। उस समय पू गुरुदेव पूर्णतया भाव-देह गोपी ही होते थे । बात यह है- यथार्थ प्रेम साधनाके लिये भाव-देह आवश्यक होती है । इस भाव-देहमे शास्त्रका कोई भी विधि-निषेध लागू ही नही होता । इस भाव देहकी मायिक देहसे कोई तुलना ही नही होती । जब तक मायिक देहमे अभिमान रहता है, तब तक भाव-देह अथवा प्रेम-साधनाकी कल्पना ही करना नितान्त मूर्खता ही है ।

अत पू. गुरुदेव जब भाव-देहमे होते थे, वे मायिक-आवरण अर्थात्

पांचभौतिक देहसे सर्वथा मुक्त, हटे हुए होते थे ।

पू. गुरुदेव इस पाचभौतिक आवरणसे सर्वथा मुक्त केसे हुए ? यह प्रश्न मैने उनसे किया था । उन्होंने इसका उत्तर यही दिया था कि इसमें भगवन्नाम–जप ही प्रधान साधना है । नाम–साधनासे ही (उच्चत्तम कोटिके सत) अथवा सद्गुरुकी प्राप्ति अथवा उनसे सम्बन्ध होता है । सद्गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना अन्तरात्मामे प्रवेश होता ही नही । निरन्तर नाम जप ही उच्चत्तम श्रेणीके सत या सद्गुरुकी कृपामें हेतु होता है । उच्चत्तम कोटिके सिद्ध सन्तकी प्राप्तिके पश्यात् मत्रादि अथवा किसी भी क्रमसे दीक्षा होती है। दीक्षाके अनन्तर किसी न किसी प्रकारकी उपासनाका कार्य चलता है। इस उपासनासे भौतिक देहकी शुद्धि होती है । चित्त शुद्ध होने पर मायाका आवरण हट जाता है । इस आवरणके कारण ही प्रत्येक जीवका जो अपना भाव है, वह ढॅका रहता है । आवरण हटते ही जीवका निज भाव खुल जाता है । आवरण हटने पर जो भाव देह प्राप्त होती है, उसका स्वरूप कैसा होता है, इसका पता शास्त्रोसे, उपदेशसे, दृष्टान्तोसे समझाया नहीं जा सकता । यह भाव देह प्रत्येक आत्माकी पृथक्-पृथक् होती है । "क" की जो भाव–देह है वह "ख" की हो ही नही सकती ।

भावकी भी दो कोटियॉ है । भाव आश्रय एव विषयका आलम्बन लेकर ही स्फुरित होता है । भावका जो आश्रय है, वही गोपी है, भक्त है। यह गोपी अथवा भक्त देहधारी है, परन्तु इसका देह मायिक नहीं है । यह अनिर्वचनीय विलक्षण देह है । न यह शास्त्रोंमे वर्णित स्थूल देह है, न ही सूक्ष्म देह है और न ही इसे कारण कहा जा सकता है । जैसे आत्माका स्थूल देहमें पूरा अभिमान होता है, उसी प्रकार भाव जागरणके अनन्तर उस आत्माका भाव देहमे भी अभिमान रहता है । पू. गुरुदेवकी भी भावदेह थी, उसका स्वभाव था, उसमें उनका पूरा अभिमान था । उसका रूप था, रग था, उसमे कैशोर वय थी, अगोंमें कैशोर वय के सभी लक्षण प्रकट थे । परन्तु उनके इस भावदेहमे उनका जागतिक स्थूल देह तनिक भी विक्षेप नहीं करता था ।

पू. गुरुदेव उन दिनो मजुश्यामा भावमे थे । ये सभी बातें सन् १९५१ की हैं । पू. गुरुदेवकी उस समय स्थूलदेहसे वय मात्र ३६ वर्षके युवककी थी। परन्तु वे अपने भावदेहसे कभी उन दिनों मात्र पॉच वर्षकी बालिका होते थे, कभी किशोरी । आश्रय भावसे जब वे मजुश्यामा थे, तो उनके सम्मुख उनके माता–पिता, धाम, महल, वन, उपवन सभी इस प्रकार प्रकट थे, जैसे उनके स्थूलदेहके सम्मुख गोरखपुरकी वाटिका थी ।

यह भाव ही परिपक्व होकर पू. गुरुदेवके चित्तमे "प्रेम" के रूपमे परिणत

हो गया था । इस प्रेमकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसी पुष्पमें सुवास या सुगन्धकी । भाव–गन्ध जब परिणत होकर प्रेम रसका रूप धारण कर लेती है, भाव–मकरन्द प्रेम–मधुमे परिणत हो जाता है, तब वह प्रेम–पद वाच्य हो जाता है ।

पुष्पमें मधु अथवा रसका उद्‌गम होनेसे जैसे भृंगको आकर्षित करना नही पडता, वह आप ही आप स्वत आता है उसी प्रकार भावके प्रेम–रूपमें प्रकट होते ही उसका विषय भगवत्स्वरूप प्रियतम स्वत आविर्भूत हो जाता है, उसे पुकारना नहीं पड़ता ।

पू गुरुदेवकी यही स्थिति थी । पू गुरुदेव उस दिवस जब लीला सुना रहे थे तब उनकी देह मात्र पॉच वर्षकी बालिकाकी थी । वे उस दिन भक्तराज दुर्वासा ऋषिके ब्रज आगमनका वर्णन कर रहे थे । वे कह रहे थे – "एक बार श्रीदुर्वासाजी विचरण करते कालिन्दी परिसरमें नन्द भवनके पीछे पहुँच जाते हैं । ध्याननिष्ठ, परम तपस्वी, क्रोध–भट्टारक, अनुसूया जैसी महासतीके पुत्र महर्षि दुर्वासा परमाद्या भगवती त्रिपुरसुन्दरीके सर्वोच्च बारह उपासकोमें से एक है । उनकी सर्व लोकोमे निर्बाध गति है । महर्षि दुर्वासाने सिद्ध लोकोमे चर्चा सुनी कि उनकी परमाराध्या भगवती ही श्रीकृष्ण रूप धारण करके ब्रजमें नन्दरायके पुत्र रूपमें अवतीर्ण हुई हैं । अतः वे जिज्ञासावश दर्शनार्थ ब्रजमें चले आये थे । वे अपनी इष्टदेवीके अवतार रूपको इधर–उधर अन्वेषण कर रहे थे ।

यह वर्णन श्रीकृष्णलीलाचिन्तनमेसे अविकल उद्धृत है, क्योंकि उसे पू. गुरुदेवके शब्दोमें ही देने की प्रामाणिकताका मोह सवरित नहीं कर पा रहा हूँ । पाठकोंके सम्मुख यह रहस्य प्रकट कर देनेमें मुझे हर्ष है कि श्रीकृष्णलीलाचिन्तनमें पू गुरुदेवने जो कुछ वर्णन किया है, वह सब उनका स्वयका प्रथमत अनुभूत है और अपनी अनुभूतिको ही उन्होने लिपिबद्ध किया है ।

"श्रीदुर्वासा देखते हैं कि यमुना पुलिनके सैकत–तट पर पजर–मुक्त विहगम शावकोंकी तरह गोप बालक चपल बाल क्रीडामें रत हैं । छोटे–छोटे अबोध शिशुओका परस्पर धूलि–बिखेरकर खेलना परम स्वाभाविक ही है । उनकी दृष्टि कुछ परिचारिकाओं पर भी पडी जो इनकी रखवाली भी कर रही थीं । साथ ही इनकी मनोहर बाल क्रीडा देखकर मुग्ध हो रही थीं ।

महर्षिको देखकर इन परिचारिकाओने उन्हें प्रणाम किया और निश्चिन्त होकर पुन इन बालकोंकी क्रीड़ा रसपानमें लग गयीं ।

महर्षिकी दृष्टि एक परम सुन्दर नव मेघ वर्ण बालक पर पडती है ।

वह अति चचल बालक अजलिमे बालू भरकर लाता है और अपने एक गौरवर्ण सखाके सिर पर वह बालू पीछेसे चुपचाप डाल देता है । बालूकी एक कणिका इस गौरवर्ण बालक श्रीदामकी ऑखोंमें गिर जाती है । अत वह अपनी ऑख मलता हुआ श्रीकृष्णको पकडने चलता है । श्रीकृष्ण इस बालकको अपने पास आया जान अपनी ऑख मूँद कर बैठ जाते हैं । अब वह बालक श्रीकृष्णके सिर एवं पीठ पर बहुतसी बालू डाल देता है । मुनिवर दुर्वासा श्रीकृष्णचन्द्रकी बाल क्रीडा देखते हुए विचारने लगते हैं – "क्या ये ही मेरी परात्पर चिज्ज्योतिका पूर्णावतार हैं ? ओह ! यह तो धूलिमे लोट रहा है । अनन्तानन्त ब्रह्माण्डोंको अपने उन्मेष एव निमेषमे उदय और अस्तमित करनेवाली महाशक्तिको एक साधारण गोप बालकके भयसे ऑख मूँदकर बैठा पाकर दुर्वासाजी विस्मित हो जाते हैं ।

समस्त अग धूलि धूसरित हो रहे हैं, केश टेढे–मेढे हैं, श्रीअगोंमें कोई वस्त्र नहीं, सर्वथा नग्न दिगम्बर वेश है, बालकोंके साथ दौड रहे हैं, भला परात्पर महाकामेश्वरांक–निलया, पचप्रेतासनासीना, महासरस्वती महालक्ष्मी, महागौरी सरोव्या भगवतीको इस रूपमे पाकर महर्षि अनिश्चयमे भर गये उनके तप पूत मनमें एक सन्देहकी रेखा झॉक ही गयी । भगवतीकी ही सर्व भुवन–मोहिनी महामायाने अपने ही पुत्र पर अपने अचलकी यवनिका डाल हीदी । मुनिवर शान्त होकर विचार निमग्न हो गये ।

*स ईश्वरोऽयं भगवान् कथ बालैर्लुठन भुवि ।*
*अयं तु नन्दपुत्रोऽस्ति न श्रीकृष्ण परात्परः ।।*

यह मेरी परमाराध्या परमेश्वरी कदापि नहीं हो सकता । यदि यह परात्पर परमतत्व होता तो भूमि पर इस प्रकार पराजित हुआ क्यों लोटता ? एक साधारण गोप–बालकके भयसे नेत्र क्यो मूँद लेता ? यह बालक मात्र नन्दरायका पुत्र श्रीकृष्ण है, ईश्वर सर्वथा सर्वथा नही है ।

इस प्रकार मुनिवर दुर्वासा सशयके झूलेमे झूलते हुए सत्यकी सीमाके उस पार अत्यन्त दूर जा गिरे ।

परन्तु धन्य भगवतीकी कृपा -वत्सलता ! अपने पुत्र को वे भ्रममें भी डालती है, परन्तु साथ ही उसका भ्रम निवारण भी वे ही करती हैं । अपने पुत्रको भला वे सत्य दर्शनसे कितने काल वचित रखती ? सर्वज्ञता शक्ति श्रीकृष्णचन्द्रके नव पल्लव जैसे परम सुकोमल कोनोमें एक सकेत कर देती हैं, और लो, श्रीकृष्णचन्द्र दौड़ पडते है । महर्षिके पीछे और सखामण्डली भी श्रीकृष्णके पीछे उनका अनुगमन करती, वहीं पहुँच जाती है ।

एक विशाल कदम्बकी छायामे महर्षि शान्त खडे हैं, उनकी अतिशय

गभीर मुद्रा है । तपका तेज अगोसे झर रहा है । अतिशय गभीर मुद्रा है। नेत्रोंमे एक विचित्र ज्योति है, किन्तु जैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र समीप आते हैं, मुनिका सब कुछ बदल जाता है । शरीर कॉपने लगता है । मुद्रा चञ्चल हो जाती है। अगोंकी वह दीप्ति, नेत्रोंकी वह दिव्य ज्योति, विलीन हो जाती है । मुनि अनुभव करते हैं, मानो श्रीकृष्णचन्द्रके अगोंकी महा–मरकत द्युतिमे उनका सर्वस्व घुल–मिल रहा है । महर्षि एक अनिर्वचनीय अवस्थामे समाहित होते जा रहे हैं ।

श्रीकृष्ण अत्यन्त निकट जाकर उनसे पूछते हैं – "साधुबाबा ! तुमने तो मेरा खेल देखा है, तुम्हीं बताओ, श्रीदाम मुझसे हार गया, न ?" श्रीकृष्णकी यह मधुर वाणी सुनकर तो महर्षिमें खडे रहनेकी भी सामर्थ्य नहीं रहती । गिरते हुए से वे पुलिन रेणुकामे बैठ जाते हैं । अब तो श्रीकृष्ण अपनी नन्ही–नन्ही भुजाओंको उठाकर उनकी गोदमें चले जाते हैं । महर्षिकी श्वेत शुभ्र कूर्च देखकर उन्हें हँसी आ जाती है । वे खिल–खिलाकर हँसने लगते है । परन्तु यह क्या, इस मुसकानमें तो दुर्वासाको अघटन घटना -पटीयसी परमाद्या महाशक्ति सर्वभवनसमर्था जगदम्बाके दर्शन हो जाते हैं । वे अनन्त ऐश्वर्य–निकेतना योगमाया मुनिराजको श्रीकृष्णतत्वका किंचित् प्रत्यक्ष कराने इस समय प्रकट होकर श्रीकृष्णके अधरोकी मुसकानके रूपमें उन्हे दर्शन देती हैं । श्रीदुर्वासाको, श्रीकृष्णके अधरो पर विराजित वे महादेवी मात्र निज दर्शन ही नहीं देतीं, उन्हे अपने भीतर खींचकर अपने विलक्षण दिव्य धामका दर्शन भी कराती हैं । श्रीदुर्वासाजीके सम्मुख भगवती आद्याशक्ति का परमधाम श्रीपुर अपनी सम्पूर्ण विभुता लिये किंचित् परिवर्तनके साथ सर्व वैष्णवजनसेव्य गोलोक धामके रूपमे प्रकट हो जाता है। विस्तार भयसे यहॉ उसका वर्णन नहीं किया जा रहा है । वैष्णव पाठक इसे गर्गसंहिता एवं शाक्तजन इसीको त्रिपुरारहस्य {माहात्म्य खण्ड} मे देख सकते हैं । इसका अतिसंक्षिप्त आंशिक विवरण पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा रचित श्रीकृष्णलीलाचिन्तन ग्रन्थमें जो गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित है, देखा जा सकता है ।

देखते–देखते ही श्रीदुर्वासा श्रीकृष्णके मुखविवरमें प्रवेश कर जाते है। भगवती पराम्बा पीछेकी ओर कपाट लगा देती हैं । आगेका द्वार उन्मुक्त हो जाता है । शाक्त आगम शास्त्रोंमें महामायाके इसी कपाटको रोधिनी शक्ति कहा गया है । इस रोधिनी शक्तिके निवृत्त हुए बिना सत्य परतत्व अथवा अप्राकृत चिन्मय राज्यमे प्रवेश मिल ही नहीं सकता । श्रीदुर्वासाजी अपनेको सर्व ब्रह्माण्डोके शिरोदेशमे अवस्थित, चिन्मय अप्राकृत गोलोक धामको घेरे, अनन्त अमृत समुद्रमे प्रवाहित पाते हैं । इस अमृतसमुद्रमें बहते–बहते वे पुनः

समाधिस्थ हो जाते हैं । वे इस अमृत जलराशिमे सन्तरण करते कोटि–कोटि ब्रह्माण्डोको देखते हैं। फिर उन्हें विरजा तरगिणीके दर्शन होते है । वृन्दारण्यके दर्शन होते है । शतश्रग समन्वित गिरिराज गोवर्धनको वे नमन करते हैं । पारिजात वन श्रेणीसे भरे वनोंका दर्शन करते करते वे चकित हो उठते हे । विचरणशील कामधेनु समूहको वे प्रणाम करते हैं । फिर वे अम्बिकावन, बहुलावन, काम्यवन, भाण्डीरवन, मधुवन, तालवन आदि तीस श्रीकृष्ण–लीला -स्थलियोंमें विचरण करते हुए ब्रह्मपर्वत चले आते हैं । ब्रह्मपर्वत स्थित वृषभानुबाबाके राजप्रासादका दर्शन करते करते तो वे परम कृत–कृत्य हो उठते हैं । पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाके कथनानुसार श्रीदुर्वासा महर्षि वृषभानुपुरमें वृषभानुबाबाके अनेक दिवसो तक अतिथि रहे थे । उस समय वृषभानुबाबाने अपनी दोनो पुत्रियो–राधा एव मञ्जुश्यामा पर ही उनकी सब सेवा सभालका भार दिया था। प्रथम बार ही ज्यो ही महर्षिकी दृष्टि इन दोनों राज–पुत्रियो पर पडती है, वे पूर्णतया चमत्कृत हो जाते है।

उन्हें स्पष्ट अनुभव होता है कि वे मात्र साधारण राज–पुत्री नहीं हैं, वे साक्षात् उनकी परदेवता पराम्बाका निजलीलागीकृत ललित वपु है । श्रीदुर्वासाजी वृषभानुबाबासे सकेत करते हैं कि उन्हें इन दोनो बालिकाओ सहित कुछ काल एकान्तमे रहने दिया जाय । तत्पश्चात् परम एकान्त हो जाने पर दोनो बालिकाओंको अपने सम्मुख समासीन करके वे उनका परमाद्याशक्तिके रूपमें चतुषष्ट्युपचार पद्धतिसे पूजन करने लगते हैं । पू. गुरुदेवको यह दर्शन इतना प्रत्यक्ष हुआ था कि जब वे इसका वर्णन मेरे सम्मुख कर रहे थे तो श्रीदुर्वासा ऋषिके अगोंकी सूक्ष्म आकृति तकका, उनके वस्त्रोंका, हावभाव तकका स्पष्ट चित्रण वे करते जा रहे थे । वे खुली ऑखों चिन्मय, अप्राकृत आकृति दोनो बालिकाओकी भी सभी भावदशा बतला रहे थे। उनमें एक बालिका मजुश्यामा तो वे ही स्वयं अपने भावदेहसे थे, अत उन्हें सब कुछ प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहा था ।

पू. गुरुदेवने आगे जाकर ५–६ वर्ष पश्चात् अपने स्वरचित "जय जय प्रियतम" काव्यमें भी इस लीलाका वर्णन किया है । इसे यहॉ ज्यों का त्यों उद्धृत किया जा रहा है ।

पाकर मुनिका संकेत नृपति, रानीको लिये हुए प्रियतम ।
बाहर उस सदन कक्षसे थे, आ गये हाथ जोडे प्रियतम ।।
भीतर रह गयी पुत्रियॉ दो, मुनिने आरंभ किया प्रियतम ।
अर्चन उनका विह्वल होकर वाणीके पुष्पोंसे प्रियतम ।।
गम्भीर हुई गोरी छोरी सुनती थी श्लोकोंको प्रियतम ।

उनकी भगिनी साँवरी किन्तु रह–रह कर हँस देती प्रियतम ।।
दो दण्ड बीतने पर सहसा मुनिकी जब गिरा रुकी प्रियतम ।
श्यामा छोरी चपला उनसे बोली मीठे स्वरमें प्रियतम ।।

उस समय पूजा करते समय मुनि दुर्वासाने किन श्लोकोंसे पूजा की थी ये मन्त्र पू. गुरुदेवने अपने जय–जय प्रियतम काव्यमें उल्लेख नहीं किये हैं, परन्तु मेरे सम्मुख इस लीलाका वर्णन करते समय वे दुर्वासाजी द्वारा बोले गये श्लोकोंका भी उच्चारण कर रहे थे ।

मैंने उनसे प्रार्थना करके उन महर्षि दुर्वासा द्वारा की हुई भगवती पराम्बाकी पूजाके सब मन्त्र लिख लिये थे । श्री दुर्वासाजी द्वारा जो पूजाक्रम {पद्धति} बोली गयी थी, उसका हिन्दी भावार्थ भी यहाँ दिया जा रहा है –

"ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सैं ह्स्क्लीं ह्सौः महापद्मवनान्तस्थे कारणानन्दविग्रहे सर्वभूतहिते मातः ऐह्येहि परमेश्वरि ! श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरी पराभट्टारिकां आवाहयामि नमः ।।

मंत्र – ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सैं ह्स्क्लीं ह्सौ

{ हे परम चिन्मय महापद्मवनमें निवास करने वाली ! हे कारणानन्द विग्रहा !! हे सर्वभूतोंका हित करनेमें निरन्तर निरत, माते !!! हे परमेश्वरि !!!! यहाँ उपस्थित होओ । मैं महात्रिपुरसुन्दरी पराभट्टारिका भगवती ललिताका आवाहन करता हूँ । परम प्रणाम । }

इसके पश्चात् श्रीदुर्वासाजी श्रीलोक मणिद्वीपके अन्तःकरणमें विराजित श्रीकामेश्वर भगवान्का -जो भगवती महात्रिपुरसुन्दरीके समान ही वेष, भूषण एवं आयुध धारण किये हैं, ध्यान करते हैं । श्रीचक्रराजका स्मरण करते हैं। वे अपनी गुरु परम्पराका स्मरण करते हैं और तब अपनी स्वामिनी स्वरूपा इन दोनों बालिकाओंके समीप खड़े हो जाते हैं ।

{यहाँ मूलविद्याका उल्लेख नहीं है । मूलविद्या मात्र गुरु–मुखसे दीक्षाके समय ही प्राप्त होती है । पू. गुरुदेवने भी मूल विद्याका प्रकाश नहीं किया था । श्रीदुर्वासा ऋषिने मन्त्रोच्चारण करते समय मूल विद्याका मानसी जप ही किया था । वैसे श्रीविद्याके द्वादश आचार्योंकी मूल विद्या भी भिन्न है। भारतवर्षमें भगवती लोपामुद्राकी हादि विद्या एवं भगवान् कामदेवकी कादि विद्याका ही सम्प्रदायोंमें प्रमुखतया प्रचलन है । आम्नाय मन्त्रोंमें यद्यपि दुर्वासा विद्याका उल्लेख है, परन्तु वह मूल विद्या यहाँ दी नहीं जा रही है । यह सब भेद भी पू. गुरुदेवने ही प्रकट किया था । लेखक तो मात्र उनका ही चरणाश्रित रहा है ।}

शेष पूजा मंत्र ये हैं –

ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या आवाहिता भव !
ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या संस्थापिता भव !!
ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या संन्निधापिता भव !!!
ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या सन्निरुद्धा भव !!!!
ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या सम्मुखी भव !!!!!
ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या अनवगुण्ठिता भव !!!!!!

(हिन्दी भावार्थ)

हे महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी स्वरूपा भगवती परमाद्या, पराम्बा, मूल विद्यामंत्रस्वरूपा यहाँ आवाहित, संस्थापित, सनिधापित, सन्निरुद्ध, सम्मुख एव अवगुण्ठन रहित होकर प्रकट होओ ।

इसके पश्चात् श्रीदुर्वासाजीने भगवतीको छः मुद्राओंका प्रदर्शन करते हुए प्रणाम किया । इन सभी मुद्राओंके मंत्र भी थे ।

ये मुद्रा मंत्र भी गुरुमुखसे प्राप्त होते है, अतः गोपनीय होनेसे प्रकट नहीं किये जा रहे हैं ।

(पू. गुरुदेवने यह पूजा वर्णन करते हुए मुझसे यह भी कहा था कि भावसे प्रतिदिन ही यह पूजा करनी चाहिये । चौसठ उपचारोमे वर्णित सामग्री यदि अर्थाभाववश व्यवस्थित नही हो पावे तो वर्षमे एक दिवस धन्या–त्रयोदशीके दिन तो अवश्य ही इन उपचारोंसे पूजन किया जाना चाहिये । अशक्ततावश यह भी कोई नही कर पावे तो पुष्पोको अथवा अक्षतोंको उपचारोके रूपमे परिकल्पित करके मानसिक पूजन अवश्य करें ।

१) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै पाद्यं कल्पयामि नमः
२) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै आभरणावरोपण कल्पयामि नमः
३) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै सुगन्धितैलाभ्यंगं कल्पयामि नमः
४) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै मज्जनशाला प्रवेशनं कल्पयामि नमः
५) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै मज्जन शालायाम् मणिपीठोपवेशनं कल्पयामि नमः
६) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै दिव्य स्नानीयोद्वर्त्तन

कल्पयामि नम

७) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै उष्णोदक स्नानं कल्पयामि नम

८) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै कनक कलशच्युत सकल तीर्थोदक स्नानं (अभिषेकं) कल्पयामि नम.

(इस अभिषेकको करते समय पू. गुरुदेवने श्रीसूक्तके पाठका विधान बतलाया था । श्रीदुर्वासाजीने दोनों वृषभानु राजकन्याओंका अभिषेक अपने कमण्डलु जलसे किया था एव श्रीसूक्तका ही पाठ किया था)

९) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै धौतवस्त्र परिमार्जन कल्पयामि नम

१०) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै अरुणदुकूल परिधानं कल्पयामि नमः

११) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै अरुण कुचोत्तरीयं कल्पयामि नम

१२) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै आलेपमण्डपे प्रवेशनं कल्पयामि नम

१३) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै आलेपमण्डपे मणिपीठोपवेशनं कल्पयामि नम

१४) ऐं ह्रीं श्रीमूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै दिव्यगध सर्वांगीण विलेपनं कल्पयामि नम

१५) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै केशभारार्थम् कालागरु धूपं कल्पयामि नमः

१६) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै कुसुममाला कल्पयामि नम

१७) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै भूषणमण्डपे प्रवेशनं कल्पयामि नम

१८) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै भूषणमण्डपे मणिपीठोपवेशनं कल्पयामि नम

१९) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै नवमणिमुकुट कल्पयामि नम

२०) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै चन्द्रशकल कल्पयामि नम

२१) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै सीमन्तो सिन्दूरं

कल्पयामि नमः

२२} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै तिलकरत्नम् कल्पयामि नमः

२३} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै कालाञ्जनम् कल्पयामि नमः

२४} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै बाली युगलम् कल्पयामि नमः

२५} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै मणिकुण्डल युगलम् कल्पयामि नमः

२६} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै नासाभरणम् कल्पयामि नमः

२७} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै अधर यावक कल्पयामि नमः

२८} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै प्रथमभूषणं {मांगल्य सूत्रं} कल्पयामि नमः

२९} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै कनक चिन्ताकं कल्पयामि नमः

३०} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै पदक कल्पयामि नमः

३१} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै महापदकं कल्पयामि नमः

३२} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै मुक्तावलि कल्पयामि नमः

३३} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै एकावलि कल्पयामि नमः

३४} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै छत्रवीरम् कल्पयामि नमः

३५} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै केयूर युगल चतुष्टयम् कल्पयामि नमः

३६} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै वलयावलिम् कल्पयामि नमः

३७} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै उर्मिलावलिम् कल्पयामि नमः

३८} ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराभट्टारिकायै काञ्चीदामम् कल्पयामि

नमः

३९) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै कटिसूत्रम् कल्पयामि नमः

४०) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै सौभाग्याभरणं कल्पयामि नमः

४१) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै पादकटकं कल्पयामि नमः

४२) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै रत्ननूपुरं कल्पयामि नमः

४३) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै पादांगुलीयकं कल्पयामि नमः

४४) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै एक करे पाशं कल्पयामि नमः

४५) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै अन्य करे अंकुशं कल्पयामि नमः

४६) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै इतर करे पुण्ड्रेक्षुचापं कल्पयामि नमः

४७) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै अपर करे पुष्पबाणान् कल्पयामि नमः

४८) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै श्रीमन्माणिक्य पादुके कल्पयामि नमः

४९) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै स्वरागानवेषाभि आवरणदेवताभि:सह महाचक्र अधिरोहणं कल्पयामि नमः

५०) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै कामेश्वरांक पर्यंकापवेशनं कल्पयामि नमः

५१) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै अमृतासव चषकं कल्पयामि नमः

५२) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै आचमनीयं कल्पयामि नमः

५३) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै कर्पूर वीटिकां कल्पयामि नमः

{एला लवंगकर्पूरकस्तूरीकेसरादिभिः जातीफलदलैः पूगैः लांगल्यूषण नागरैः चूर्णैः खदिरसारैश्च युक्ता कर्पूरवीटिका}

५४) ऐं ह्रीं श्री मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै आनन्दोल्लास विलासहासं कल्पयामि नमः

५५) ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्या श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै मंगल आरार्त्तिकम् कल्पयामि नमः

{कलधौतादिभाजने कुकुम चन्दनादि लिखितस्य अष्टदल षट्दल वा चतुर्दलादि अन्यतमस्य कमलस्य चन्द्राकार चरु गोलकवत्यां चणक मुद्गजुषि वा कर्णिकायां दलेषु च पय शर्करा पिण्डीकृत यव गोधूम पिष्टो पादानकानि त्रिकोण शिर डमर्वाकृतीनि चतुरगुलोत्सेधानि घृत पाचितानि नव सप्त पञ्च अन्यतम संख्यानि दीप पात्राणि निधाय तेषु गोघृत कर्णप्रमित आपूर्य कर्पूर गर्भितां वर्तिका हृल्लेखया प्रज्ज्वाल्य--}

{हिन्दी भावार्थ}

श्रीदुर्वासाजी ने पहले स्वर्ण पात्रमें कुकुम चन्दनादिसे अष्टदल, षट्दल अथवा चतुर्दलका कमल निर्माण किया, उसके चारो कोनोमे चन्द्रमा, चरु, गोलक निर्माण किया तथा कमलके दलोको एवं कर्णिकाको चना, मूँग, चावलसे भरा, जव एव गेहूँके आटेमें दूध एव चीनी मिलाकर उससे डमरूकी आकृतिके नौ, सात अथवा पॉच दीप पात्र निर्माण किये, उनको चार अगुल घृतसे भरा फिर कर्पूर गर्भित बातीसे हृल्लेखासे जाज्वल्यमान किया इसके पश्चात्

{रत्नेश्वरी मंत्र}

ऐ ह्री श्री श्रींह्री ग्लू स्लू ग्लूं प्लूं न्लूं ह्रीं श्रीं इस त्र्यक्षरी प्रणव सहित नवाक्षरी रत्नेश्वरी विद्यासे उस आरतीको अभिमन्त्रित करके श्रीदुर्वासाजीने उस आरतीको चक्रमुद्रा प्रदर्शित करके मूलमन्त्रसे उसकी अभ्यर्चना करते हुए तत्पश्चात् ऐ ह्री श्रीं जगध्वनि मन्त्र मातः स्वाहा, इस मन्त्रसे गन्धाक्षतादिसे घटा {उपकरण} की पूजा करके उसको बजाते हुए उस आरती पात्रको सिरसे लगाकर इसके पश्चात् स्तुति करते हुए

समस्त चक्रेशीयुते देवि नवात्मिके
आरार्त्तिकमिद तुभ्य गृहाण मम सिद्धये

नौ बार दोनों बालिकाओकी मस्तकसे लेकर चरणोंतक घुमाते हुए आरतीकी । तत्पश्चात् उस आरती पात्रको दोनों बालिकाओके दक्षिण भागमें रख दिया ।

५६) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै छत्र कल्पयामि नमः

५७) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै चामर युगलं कल्पयामि नमः

५८) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै दर्पणम् कल्पयामि नमः

श्रीपोद्दारमहाराज एवं राधाबाबा

था खेल मनोहर वह, जिसमें गुरुदेव बने तुम थे, प्रियतम !

५९) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै तालवृन्तं कल्पयामि नमः
६०) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै गन्धम् कल्पयामि नमः
६१) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै पुष्पं कल्पयामि नमः
६२) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै धूप कल्पयामि नमः
६३) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै दीप कल्पयामि नमः
६४) ऐं ह्रीं श्रीं श्रीललिता पराम्बायै पराभट्टारिकायै नैवेद्यं कल्पयामि नमः

श्रीदुर्वासाजीने दोनों बालिकाओंके सम्मुख अपने दक्षिण हाथकी ओर चतुरस्त्र मण्डलका निर्माण किया, उसके ऊपर अपने योगबलसे उत्पन्न नैवेद्यको रत्नाधार पर रखकर उसे मूलमन्त्रसे जलसे छिड़ककर 'व' अमृत बीजसे धेनुमुद्रा दिखाकर अमृत बनाते हुए मूलमन्त्रसे तीन बार अभिमन्त्रित किया, फिर आपोशन देकर उपरोक्त मन्त्रसे नैवेद्य अर्पित किया । इसके बाद पानीय एवं उत्तरापोषण एवं हस्त प्रक्षालन कराके आचमन कराया एवं तब ताम्बूलार्पण किया ।

वृषभानुबाबाकी कन्याओंके रूपमें श्रीदुर्वासाजी द्वारा इस प्रकार अपनी परमेष्ठी भगवती श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीकी चौसठ उपचारोंसे मानस पूजाकी गयी थी । श्रीदुर्वासाजी एक एक उपचारका ध्यान करते हुए उन बालिकाओंके मस्तक पर पुष्पार्चन कर रहे थे और बालिकाएँ खड़ी खड़ी हँस रही थीं ।

इस प्रकार सम्पूर्ण वृन्दावनका दर्शन करके श्रीदुर्वासा पुनः भगवती लीलाशक्तिकी प्रेरणासे श्रीकृष्णके मुखविवरसे बाहर आते हैं । वे देखते हैं कि गोपराज नन्दरायका पुत्र वैसे ही विलक्षण हँसी हँस रहा है । अब तो श्रीदुर्वासाजी परम कृतकृत्य हुए मन ही मन भगवतीके इस विलक्षण निजलीलागीकृत ललित बाल नर विग्रहको नमन करते गहन वनमें बिदा हो जाते हैं ।

---

# न्यासविद्याके परमाचार्य
# पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा

ये सभी बाते पैंतालीस वर्ष पूर्वकी हैं । उन दिनो सत्सगियोंमे सर्वत्र सुननेमें आता था कि श्रीसेठजी जयदयालजी गोयनका निष्काम कर्मयोगके सूर्य हैं । श्रीपोद्दार महाराजको लोग भक्तमुकुटमणि मानते थे, श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी सकीर्त्तन सम्राट् कहलाते थे एव श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती, श्रीमद्भागवतके मूर्धन्य पण्डित माने जाते थे । श्रीउडियाबाबा ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, माँ आनन्दमयी सिद्ध तान्त्रिक, स्वामी रामसुखदासजी गीताके मर्मज्ञ, श्रीशरणानन्दजी (प्रज्ञाचक्षु) तार्किक आस्तिक कहे जाते थे । एक दिवस मैंने अपने पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे प्रश्न किया – "मामाजी! अपने श्रीराधाबाबामे भी कोई न कोई ऐसी अद्वितीयता तो होगी, जिससे उपरोक्त अग्रगण्योमें उन्हें भी कोई स्थान दिया जा सके ?"

मेरे (पूर्वाश्रमके) मामाजीने उत्तर दिया - "भैया, राधाबाबा न्यास–विद्याके असमोर्ध्व पण्डित हैं ।"

यह न्यासविद्या क्या होती है ? मेरी बात समझी हुई नही थी । वैसे ब्राह्मण होनेके नाते मुझे सध्या–गायत्रीकी शिक्षा देते समय अगन्यास, करन्यास, हृदयन्यास सिखाया गया था, परन्तु उसमे असमोर्ध्वता सम्पादन कैसे सभव है, कुछ भी समझमें नहीं आ रहा था ।

मैं पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाके पास पहुँचा और उनसे मैंने न्यास विद्याकी शिक्षा देनेकी प्रार्थनाकी ।

पू गुरुदेव उन दिनों मौन रहते थे, वे मात्र दो ही शब्द "राधा" ही बोला करते थे। उन्हे जो कुछ भी कहना होता स्लेट–पट्टी पर लिखकर समझाया करते थे । लम्बी वार्त्ता होने पर पहले वे अनेक स्लेट–पट्टियो पर अपना वक्तव्य लिख लेते, फिर पढ़नेको देते थे । उन्होंने कहा – "भैया, श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने एक श्लोककी अर्धालीमें यह बात स्पष्ट रूपसे समझायी है । भगवान् कहते हैं -"ज्ञानात् ध्यान विशिष्यते, ध्यानात् कर्मफलस्त्यागः, त्यागात् शान्तिरनन्तरम् ।"

भगवान्का वक्तव्य यह है कि किसीको ज्ञान तो हो जाय, किन्तु ज्ञानका ध्यान न रहे, वह ज्ञानको विस्मृत कर दे और प्रवाहमे पतितकी तरह

मन इन्द्रियोके विषयोमे ही रमता रहे तो उसका ज्ञान मात्र वाचिक ही रह जाता है और उसकी गति विषयीके समान ही दुःख सुखसे भरी होती है, इसीसे भगवान् इस वक्तव्यमें ज्ञान होने पर भी निरन्तर ज्ञानका ध्यान रखने पर जोर दे रहे है । अब ज्ञानका ध्यान करता हुआ भी प्राणी यदि कर्मफल रूपमें प्राप्त इस देहके अध्यासका त्याग नहीं करता है, तो उसे परम शान्तिकी उपलब्धि नहीं होती । कर्मफल, सुख–दुख, रोग–शोक, हानि–लाभ, यश अपयश उसे अशान्त बनाये ही रहते है, अतः इस कर्मफल अर्थात देहके अध्यासका त्याग परमावश्यक है । यह देहाध्यासका विस्मरण ही न्यास है । अपनेमे पूर्णशक्ति, पूर्ण विभुत्व, पूर्ण समृद्धि, पूर्ण एव नित्य जीवनको न्यस्त करना और अशक्तता, परिच्छिन्नता, दारिद्रय, अनित्यता (क्षणभगुरता)का विस्मरण कर देना ही न्यास शिक्षाकी प्राथमिकी है ।

पू. श्रीगुरुदेवने श्रीशुकदेव–परीक्षित् सवादका सदर्भ देते हुए अपने वक्तव्यको अग्रसर किया । वे कहने लगे–जब व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी सर्वथा अनाहूत ही मुमुक्षु परीक्षितके पास अवधूतवेशमे पहुँचे तो आश्चर्य एव हर्षमे भरे श्रीपरीक्षितजी, श्रीशुकदेव महाराजसे गगातट पर आसीन ऋषियोके मध्य अति मार्मिक प्रश्न करते हैं –

"अतः प्रच्छामि ससिद्धि योगिना परम गुरु ।
पुरुषस्येह यत्कार्य म्रियमाणस्य सर्वथा ।।
यच्छ्रोतव्यमथो जप्य यत्कर्त्तव्य नृभिः प्रभो ।
स्मर्त्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ।।

हे प्रभो ! आप योगियो (भगवान्से युक्त प्राणियो) के भी परम गुरु हैं, इसलिये मैं आपसे परम सिद्धिके स्वरूप और उसकी प्राप्तिके साधन–सम्बन्धमें यह प्रश्न (जिज्ञासा) कर रहा हूँ । प्रभो ! कृपाकर यह बताये कि जो पुरुष मरणासन्न है, उनको क्या करना चाहिये ? वे किसका श्रवण, किसका जप करे। साथ ही मनुष्य मात्रके लिये क्या स्मरण करने योग्य एवं भजनीय है तथा उनका क्या कर्त्तव्य है, वे किन–किन अकर्त्तव्योका त्याग करें ?"

इस समय श्रीपरीक्षितजी तक्षक नामक विषधर सरीसृप कीटसे भयभीत एव मृत्यु मोहसे ग्रस्त थे । श्रीशुकदेवजी उन्हें अपनेमें भगवान्के विराट् स्वरूपका न्यास करनेका उपदेश करते हैं । पू. गुरुदेवका वक्तव्य था कि अपना वास्तविक जो स्वरूप भगवद्मायाजन्य अज्ञानसे विस्मृत हो चुका है, उसकी अपने भीतर अवधारणा करना ही न्यास है । यह न्यास अपने भीतर अपने ही परम सत्यको आवाहित करना ही है । प्रत्येक विराट् स्वतः जब अपने अल्पतममें निहित होता ही है तो अपनेको अल्प, मृत्युग्रस्त मानना घोर

अज्ञान ही है ।

अब पू. गुरुदेव मुझे न्यासकी शिक्षा देने लगे । वे मुझे समझा रहे थे कि "तेरे शरीरका जलांश विराट् समुद्र-देवताका ही अंश है, अतः अपने जलांशको समुद्रमें न्यास करके अपने भीतर विराट् समुद्रको अनुभव कर । अपनेमें ठीक इसी प्रकार क्रमशः समग्र विराट् पंचभूतोंको एवं समग्र प्रकृतिको न्यस्त मान ले और इस सत्य अवधारणामें एक घड़ी, दो घड़ी स्थिर हो जा ।" पू. गुरुदेव जब मुझे यह शिक्षा दे रहे थे, तब श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव भी वहाँ थे । पू. गुरुदेवने श्रीमाधवशरणजीसे श्रीशुकदेवोक्त श्लोकोंको शनैः शनैः मन्दगतिसे पढ़नेको कहा । पू. गुरुदेवने मुझसे एवं श्रीमाधवजी दोनोंसे कहा कि इस विराट् रूपमें स्थिर हुए हम श्रीशुकदेवजी महाराजकी अनुभूतिसे अपनी एकात्मता करें ।

श्रीमाधवशरणजी श्रीमद्भागवतके श्लोक उच्चारण कर रहे थे और हम दोनों ही अपने सर्वांगोंमें भगवान्‌के विराट् स्वरूपको न्यस्त देख रहे थे ।

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलं ।
महातलौ विश्वसृजोऽथ गुल्फौ, तलातलं वै पुरुषस्य जंघे ।।
द्वै जानुनी सुतलं विश्वमूर्त्तेरुरुद्वयं वितल चातल च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते, नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ।।

हम दोनों गहन विचारमें डूबे थे और अनुभव कर रहे थे कि हमारे पैरोंमें विराट् पुरुषके तलवे, एड़ियाँ, एडीके ऊपरकी गाँठें (गुल्फ), जंघाएँ, जानु, उरु, पेड़ू एवं नाभि आदि सभी अंग न्यस्त हो चुके हैं और विश्व ब्रह्माण्डके रसातल, सुतल, पाताल, महातल, तलातल, महीतल सभी लोक हमारे तत्तद् अंगोंमें न्यस्त हैं । अपनेमें सभी लोक लोकान्तरोंका न्यास करते हुए यद्यपि हम भावना ही कर रहे थे, परन्तु हमारी भावना परम सत्यका ही प्रकाश थी, अतः उसे सत्य कहनेमें संकोच ही क्या था ? असत्य तो हमारी क्षणभंगुर, परिच्छिन्न, अल्प देह कीटबुद्धि ही थी ।

तनिकसे गंभीर विचारके उत्थित होते ही यह बात तो स्पष्ट ही समझमें आ रही थी कि यह मानव नरदेहका परम कारण तो परमात्माका विराट् स्वरूप ही है । किरणके अल्पतम प्रकाशका उद्गम जैसे निश्चय ही सूर्य है, वैसे ही प्रत्येक अल्पतम आकृति रखने वाला कीट भी परमात्माकी ही अनन्त गति शक्तिसे गतिमान है । परमात्मामें निहित जीवशक्ति ही उसे जीवन्त कर रही है और परमात्मामें निहित कालशक्तिमें ही उसका अस्तित्व विलयको प्राप्त होता है ।

कोई भी अल्प किरण अपनेको प्रकाशकी स्रष्टा समझने लगे, यह तो

उसकी वज्रमूढता ही है, किरण सूर्यमें है, सूर्यसे है और सूर्य रूप ही है । यह बात तो जरासा ध्यान देते ही हम दोनोकी बुद्धिमे उजागर हो उठी थी।

श्रीमद्भागवतका आगेका श्लोक अब मै पढने लगा

उरः स्थलं ज्योतिरनीकमस्य, ग्रीवा महर्वदन वै जनोऽस्य ।
तपोरराटीं विदुरादि पुंसः सत्यंतु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ।।

*{भावार्थ}*

उन सहस्रशीर्ष्ण आदिपुरुष परमात्माके उरस्थल {वक्ष}मे स्वर्गलोक, ग्रीवामे महर्लोक, आननमें जनलोक, ललाटमे तपोलोक एव उनके मस्तकमे सत्यलोक स्थित है ।

पू. गुरुदेवकी कृपासे मेरी प्रज्ञा खुल गयी थी और मुझे ठीक अनुभव हो रहा था कि सर्वत्र विश्वमूर्ति परमात्मा ही परमात्मा है । जैसे गगनस्थ सूर्य, चन्द्रादिकी प्रकाशमान सत्ता, समुद्रादिकी असख्य लहरोमे असख्य प्रकाशमान प्रतिबिब निर्माण कर देती है और वे सभी प्रतिबिम्ब सूर्य, चन्द्रादिवत् प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार मायाकी लहरियोमे व्यक्त अनन्त लोक और इनके अन्तर्गत अनन्तानन्त जीव सृष्टि एक परमात्मामे ही विधृत हैं, उनकी सत्तासे ही सत्तान्वित हो रही है, उनकी ही चिच्छक्तिसे चैतन्य एव जीवन्त है और उनके ही आनन्दसे आह्लादित है । श्रीमद्भागवतकारका यह सब कहनेका एकमात्र उद्देश्य यही था कि मुमुक्षु परीक्षित अपने भीतर प्रवाहित परमात्माकी अपरिच्छिन्न अखण्ड नित्य सत्ताको न्यस्त समझ ले और अपनी अज्ञानमयी देहजनित मोहदृष्टिको त्याग दें और पूर्ण भयमुक्त हो जाय । एक तक्षक क्या, तक्षक जैसे अनन्त कीडे और उनका विष इस महाविराट् सत्ताका बाल बॉका भी करनेमें समर्थ नही है । परन्तु यह परम निर्भय दृष्टि परीक्षितकी तभी सभव है जब वह अपनेमें विराट् परमात्माको सत्य सत्य न्यस्त समझ ले।

आगेके श्लोक थे --

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्यशब्दः ।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ।।

*{भावार्थ}*

भगवान्की भुजाये ही इन्द्रादि देवता हैं, उनके कान ही दिशायें हैं, उनके श्रोत्रोंके कारण ही अनन्त शब्द ध्वनियॉ अस्तित्व पा रही है । उनकी नासा ही सर्व गंधोकी कारण है और घ्राणेन्द्रिय ही सर्वगन्धकी अनुभव कर्त्ता है । परमात्माके मुखसे ही धधकती अग्निकी सत्ता है ।

पू. गुरुदेव इतने मेधावी थे कि उन्हे श्रीमद्भागवत अधिकाशत कण्ठस्थ थी । अत वे श्रीमद्भागवतके भावानुसार सम्पूर्ण विराट् स्वरूपका न्यास कराते

जा रहे थे ।

मैं एवं श्रीमाधवशरणजी दोनों निस्संशय अनुभव कर रहे थे भगवान्की भुजाओंका बल ही अधिदेवता इन्द्रको बलयुक्त कर रहा है और इन्द्रसे वही भगवान्का बल ही समग्र जीव समुदायका ओज बन रहा है । भगवान्की वाणीके शब्द ही वाणीकी अधिदेवी सरस्वतीकी सत्ता हैं और उस सत्तासे ही सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्डके जीव समुदाय अपनी वाणी द्वारा निज निज भावोंकी अभिव्यंजना कर रहे हैं । भगवान् विराट् पुरुषकी कर्णेन्द्रियाँ ही दिशाओंके अधिदेवता दिक् देवताओंके रूपमें शब्दोंको प्रतिध्वनित कर रहे हैं और जीव समुदाय इन शब्दोंको श्रवण करनेकी सामर्थ्य पा रहा है । भगवान्का मुख ही सम्पूर्ण धधकती अग्निका निवास है और उसी अग्नि देवताकी कृपासे जीव समुदायकी जठराग्नि पाचन क्रिया कर रही है । भगवान्के नेत्रोंसे ही दृष्टिके अधिदेवता सूर्य अस्तित्व पा रहे हैं और समग्र जीव समुदाय दृष्टा, दृष्टि एवं दृष्यकी त्रिपुटीमें भ्रमित हो रहा है ।

पू. गुरुदेव कहते जा रहे थे—"भगवान् विराट् पुरुषकी पलकोंके उन्मेष एवं निमेषसे ब्रह्माण्ड जाग्रति और सुषुप्ति हो रही है एवं विश्व सृष्टिमें, सृष्टि एवं प्रलयका क्रम चल रहा है साथ ही अनन्त जीव समुदाय उत्पन्न होते हैं, काल गालमें स्थिति अनुभव करते हैं एवं मृत्यु (विनाश)को प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् विराट्के भ्रूविलासमें ही ब्रह्मलोक, कैलाश एवं बैकुण्ठ लोक स्थित हैं । भगवान् विराट्के तालुसे जलकी सत्ता है और सम्पूर्ण जीव समुदायको जो स्वाद एवं रस आता है, उसकी मूल स्थिति भगवान्की जिह्वा है । यह सम्पूर्ण चित्र विचित्र लोक विलास करनेवाली जो माया नटी है, वह भगवान्की मुसकानमें निरंतर निवास करती है । भगवान्के कटाक्ष निक्षेपसे ही यह चौदहों भुवनोंकी अनन्तानन्त सृष्टि है ।

विश्वमें जितनी, जहाँ भी लज्जा है, उसका कारण भगवान् विराट् पुरुषका ऊपरी ओष्ठ है और लोभका कारण उनका अधर है । धर्म भगवान्के स्तनमें निवास करता है और अधर्मका कारण उनकी पीठ है । भगवान्की मूत्रेन्द्रिय ही प्रजापतिकी कारण है और ये ही प्रजापति समग्र विश्वसत्तामें सृजन रूपमें व्यक्त हो रहे हैं । भगवान् विराट्की कोख ही समुद्र है, जो सम्पूर्ण जीव समुदायकी उत्पत्तिमें हेतु है । भगवान्की अस्थियोंसे समग्र विशाल पर्वतोंका सृजन हुआ है ।

पू. गुरुदेव समझा रहे थे और हम दोनों (श्रीमाधवजी एवं मैं) उनके पार्श्वमें स्थित उनकी व्याख्यासे चमत्कृत विमुग्ध उनकी ओर टकटकी लगाये दत्तचित्त थे । हमारी उस विराट् पुरुषसे निश्चय ही एकता है, वह हमारा

मात्र कारण है, अतः हममें पूर्णतया एकमेक, अनुस्यूत है, यह तथ्य हमारी दृष्टिमें स्पष्ट था ।

पू. गुरुदेव कह रहे थे, नदियोंके रूपमें उस विराट्की नाड़ियाँ हैं, वृक्षोंके रूपमें उनके रोम हैं, परम प्रबल वायु उनकी श्वास है एवं काल उनकी चाल (गति) है । स्वप्न, सुषुप्ति एवं जागरण रूप चक्र चलाना ही उनका कर्म है, बादल उनके केश हैं, सन्ध्या एवं ऊषा उनके वस्त्र हैं । महात्माओंकी करुणामयी प्रकृति ही उनका हृदय है, चन्द्रमा उनका मन है, अखिल सृष्टिगत विज्ञान ही उनकी बुद्धि है, और भगवान रुद्र उनके अहंकार हैं । विशुद्ध सत्वजनित करुणाकी जो छाया जीव समुदायमें यत्किंचित कहीं भी दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब उनके हृदयका क्षीणतम ही सही, जीव हृदयमें प्रकाश है । उन विराट्का निवास मनुष्यका चित्त है, गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएँ उनके सप्त स्वर हैं ।

पू. गुरुदेव हम लोगोंको सम्बोधित करते हुए कह रहे थे - "भैया ! यह विराट पुरुषके स्वरूपका न्यास है, इसी प्रकार जिस देवताकी भी पूजा की जाती है, पहले उसे अपने अंगोंमें न्यास किया जाता है, फिर ठीक उस देवतारूपमें अपनेको पूर्णतया विसर्जितकर देवता होकर ही देवार्चनका विधान है ।

मैंने प्रश्न किया - "बाबा ! फिर ध्यान एवं न्यासमें क्या अन्तर है ?

उन्होंने कहा - भैया ! ध्यानमें ध्याता रहता है, वह ध्येयसे अपनेको विलग अनुभव करता हुआ स्वयंको ध्यानकर्ता अनुभव करता रहता है । न्यासमें ध्याता ध्येयमें पूर्णतया न्यस्त हो जाता है । विराट् समुद्रमें जलकी बूँदका न्यस्त हो जाना समुद्र ही हो जाना होता है । न्यस्त साधक फिर कभी इष्टसे पृथक्ता अनुभव कर ही नहीं सकता । वह तो इष्ट हुआ ही इष्टमें पूजनरत रहता है । वह इष्टके समान वेष, रूप और आयुधों वाला इष्टका आवरण रूप ही होता है । न्यासका अर्थ ही है कि न्यस्त साधक ध्येयका आश्रयालम्बन हो जाय और ध्येय ही द्विधा हुआ उस आश्रयालंबनका विषय बना रहे ।

जैसे इष्टके स्वरूपका अपने स्वरूपमें न्यास होता है, उसी प्रकार इष्टके मंत्रका भी साधकके अंगोंमें, हृदयमें न्यास किया जाता है ।

तंत्र शास्त्रमें इष्ट, मंत्र एवं मंत्रद्रष्टा गुरु जो मंत्रमय होकर मंत्रदान करता है, तीनोंमें कोई भेद नहीं होता । वे तीनों एक ही होते हैं । जिसे मंत्रका ज्ञान होता है, उसमें मंत्र पूर्णतया न्यस्त है । जब मंत्र न्यस्त है तो गुरु मंत्रमय ही है । इष्ट तो पूर्णतया मंत्राधीन है ही । मंत्र एवं इष्ट भिन्न

होते ही नहीं । मत्र ही इष्टका वाड्मय स्वरूप ही है । जैसे ध्यान करते समय मन और इष्टका रूप एकत्व लाभ करता है, तभी ध्यान होता है अन्यथा ध्यान नहीं हो सकता, इसी प्रकार मत्र जो इष्टका वाड्मय स्वरूप है, वह साधकको मिलते ही इष्ट उसमे न्यस्त हो जाता है एव जिसमे इष्ट न्यस्त है, वही गुरु है । जिसमे इष्ट न्यस्त नहीं है, वह तो मत्र द्रष्टा भी नहीं है । इसीलिये मत्र, मत्रद्रष्टा एव इष्ट एक रूप ही होते हैं । इसी प्रकार शिष्यको वरण करते ही शिष्य एव गुरु भी एक ही हो जाते है, यह तंत्र शास्त्रकी अमोघ निष्ठा है । इसीलिये तत्रशास्त्रमे प्रवेश गुरुके द्वारा ही सम्भव है ।

तत्र शास्त्रमे मत्रदीक्षाके पश्चात् मत्रका साधक द्वारा पुरश्चरण किया जाता है । पुरश्चरणका अर्थ है कि उस मत्रको लाखों बार देहमे न्यास किया जाय । जप विधान पूर्ण करते समय शिष्य लाखो बार ही अनुभव करे कि मेरे रोम-रोममें मंत्र न्यस्त है । इस प्रकार साधकका मंत्रमय हो जाना ही सही पुरश्चरण है । यही दीक्षा रहस्य है । जैसे ही दीक्षा दी जाती है, दीक्षा देते ही साधकका अहकार सचित एव प्रारब्ध कर्मराशि सहित नष्ट हो जाता है और वह मत्रमय इष्टस्वरूप ही हो जाता है ।

पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाको सचमुच ही हम लोग जीवनकालमे नही पहचान पाये । वे पूर्णतया मत्रमय थे । उनका रोम-रोम अपने इष्टमें पूर्णतया न्यस्त था । वे साक्षात् शिव स्वरूप थे, पराशक्ति स्वरूप थे और परम शिव एव पराशक्तिके सामरस्यका परमाधार थे ।

एक बार मैने श्रीमाधवजीके साथ ही उनसे प्रश्न पूछा था - बाबा ! आपका शरीर क्या है ? पू गुरुदेव उस दिवस अनुग्रह भावसे भरे थे । मुझसे कहने लगे - "भैया ! सच्ची बात तो यह है कि अधिकाश काल तो मुझे इस शरीरका भाव ही नही रहता । मै जिस भावजगतमे खो या रहता हूँ, उस भाव जगतका इस सृष्ट विश्वतत्रकी न तो स्थूल अवस्थासे कोई सम्बन्ध है, न ही इसकी कोई सूक्ष्म अथवा कारणात्तरशारो । उस मेरे भाव शरीरके सबधमें यदि तेरी यह जिज्ञासा है तो उसका प्रकाश तो वाणी कर ही नही सकती ।

हाँ ! यदि तेरा इस सृष्टि तत्रमें जन्मे मेरे इस शरीरको लेकर प्रश्न है, तो जो सत्य बात मैं वाणीके द्वारा कह पाऊँगा वह भी तू अभी तेरी वर्त्तमान बुद्धिसे समझ नही सकेगा । यहाँ, इस बगीचेमें अभी तो कोई भी व्यक्ति ऐसा नही है, (श्रीपोद्दार महाराजको छोडकर) जो इस सत्यकी अवधारणा कर पावे।

मैने पुन कहा - बाबा ! आप मेरे कानोमें बीजाक्षर तो डाल ही दीजिये। आज नहीं, कल जब कभी आपकी कृपा प्रतिफलित होगी और प्रज्ञाका विकास होगा, तभी सही, उस समय ये बीज पल्लवित होकर अपना

स्वरूप दिग्दर्शन तो करावेंगे ही ।

उस दिन पू गुरुदेवने जो विलक्षण परम गूढ आगम शास्त्रीय शारीरिक विवेचन किया था, वह वास्तवमे ही विलक्षण था । इस सभी वक्तव्यको उस दिन मैं एव माधवजी सुनकर चकित हो गये थे । सचमुच ही उस दिन तो हम दोनोंके ही, जो समझदारीका अभिमान लिये बैठे थे, कुछ भी पल्ले नही पडा था । मैं श्रीमाधवजीकी ओर देख रहा था और वे मेरी ओर, परन्तु दोनो ही अपनी अपनी अल्पज्ञतासे चूर्ण अभिमान थे ।

पू गुरुदेवने वह सब वक्तव्य तीन-चार स्लेट पट्टियोमें लिखा था । हम पू गुरुदेवसे उनके वक्तव्यका अर्थ समझे, इसके पूर्व ही पू गुरुदेवको भिक्षा का बुलावा आ गया । वे लिखी पट्टियॉ पू गुरुदेवकी कुटियामें ज्यों-की-त्यो रख दी गयी । जब पू गुरुदेव भिक्षार्थ पू पोद्दार महाराजके निवासकी ओर चले गये, उस समय मैने वह वक्तव्य अपनी कापीमे उतार लिया था । आज मै पैंसठ सत्तर वर्षका वृद्ध संन्यासी हूँ । उन दिनो २०-२५ वर्षका युवक था । आज भी प्रज्ञा इतनी समर्थ नही है कि पू गुरुदेव के वक्तव्यका साक्षात्कार कर सकूँ । भले ही शब्दोका अर्थ लगा लूँ ।

जिन दिनो पू गुरुदेवने यह वक्तव्य दिया था, उस दिवस तो इनका शब्दार्थ भी न मेरी समझमे आया था न ही हिन्दीके सुविज्ञ लेखक श्रीमाधवशरणजीके।

पू गुरुदेवका वक्तव्य था - भैया ! जब यह पराशक्ति आत्मगर्भस्थ एव अपने साथ एकीभूत विश्वको देखनेके लिये उन्मुख होती है, तब मात्रावच्छिन्न शक्ति और शिव साम्य भावापन्न होकर एक बिन्दु रूपमे परिणत होते हैं , इसीसे पारमार्थिक चैतन्य प्रतिफलित होता है । यह पारमार्थिक चैतन्य ज्योतिर्लिंगके रूपमें प्रकटित होता है । इस पारमार्थिक चैतन्यको ही शैव ज्योतिर्लिंग कहते है और शाक्त कामरूप पीठ । यही मेरा कारण है । इस कामरूप पीठमे अभिव्यक्त चैतन्य ही स्वय भू ज्योतिर्लिंग है । इसमे एक मात्रा शक्तिअश एव एक मात्रा शिवाशकी समभावमे सघटना है । शक्ति एव शिवके इस अश द्वयको आगम आचार्य शान्ता शक्ति एव अम्बिका शक्तिके नाम एव रूपमें वर्णन करते हैं । ये पराम्बा हैं ।

इस कामरूप पीठमें महाशक्तिका आत्मप्रकाश परावाक् रूपमें प्रख्यात है । जिन्होने तन्त्रानुमोदित योगसाधनाका यथाविधि अभ्यास किया है, वे मानत है कि यहींसे शब्द राज्यकी सूचना होती है । यही प्रणवका परम रूप अथवा वेदका स्वरूप है ।

यह मेरी कारणावस्थाका सक्षिप्त परिचय है ; वैसे सही अवस्थाका

आकलन तो मात्र समाधिकी उच्च अवस्थामें आगम महर्षियोकी संविद्भूमि ही कर पायी है, परन्तु शास्त्रोमे जो वर्णन है और जिसका मेरी अनुभूतिसे साम्य है, मैने वर्णन कर दिया है ।

पू. गुरुदेव कहने लगे – "मेरी कारण भूमिमें अर्थात् कामरूप पीठमे पराशक्ति आत्मगर्भस्थ विश्वको नित्य वर्त्तमान रूपमे देखती है । यहाँ अतीत एवं अनागत रूप खण्डकालकी सत्ता नहीं है । यहॉ दूर और निकटका व्यवधान भी नहीं है । कौन कार्य है और कौन कारण है, यह सब यहॉ अपरिज्ञात है। इस मेरे नित्य कारण मण्डलमें किसी प्रकारका आवरण नही है । सब निरावरित स्वच्छ दर्पण है । यहाँ किसी भी प्रकारका क्षोभ एव चंचलता दिखती ही नही। पूर्ण परम शान्त यह अवस्था है । यही मेरी निद्रा है ।

इसके पश्चात् इच्छा शक्तिके उन्मेषके साथ शब्दके द्वितीय स्तरमे सृष्टिका विकास होता है । मेरे कारणमें किञ्चित् क्षोभ होता है । इस क्षोभको विकारमूलक परिणाम सर्वथा नहीं मानना चाहिये । यह मेरी स्वतन्त्र सत्तामें स्वाभाविक गति है । मेरा पूर्ण स्वातन्त्र्य विलास ही इसे मानना चाहिये। मेरे पूर्ण स्वतन्त्र विलासका नर्त्तन अथवा गति भी इसे कहा जा सकता है । अब पूर्ण शान्ता शक्ति इच्छा रूपमे परिणत होती है । शिवांश सहित अम्बिका शक्ति अब वामा रूपमे आविर्भूत होती है । अब इच्छा शक्तिके उन्मेषके साथ शब्दके द्वितीय स्तरमे सृष्टिका विकास होता है । इसे आगम शास्त्र नित्य मण्डल कहता है । इन दोनों अम्बिका शक्ति एव वामाशक्तियोंके प्रारस्परिक वैषम्यका परिहार होने पर जिस अद्वय सामरस्य बिन्दु का आविर्भाव होता है उससे तदनुरूप जो चैतन्यका स्फुरण होता है, इसे पूर्ण गिरिपीठ रूपमें शाक्त अभिधान करते हैं एव शैव इस चिद्विकासको बाण लिंगके नामसे जानते है । यह मेरी कारण एव सूक्ष्म शरीरके मध्यकी अवस्था है और शास्त्रदृष्टिसे यह पश्यन्ती वाक्‌की अवस्था है।

अभी विश्व गर्भस्थ बीजरूप है । अब इच्छाके प्रभावसे उस बीजकी गर्भके एक देशमें विसृष्टि होती है । तब उसे सृष्टि नाम प्राप्त होता है ।

इस भूमिसे ही कालका प्रभाव प्रारम्भ हो जाता है । कालका उदय होने से सृष्टि क्रियामें भी क्रम आ जाता है । देशका और कार्यकारण भावका स्फुरण भी यहींसे समझना चाहिये । यह मेरा सूक्ष्म शरीर है ।

मेरे सूक्ष्म शरीरकी परावस्थामे इच्छा शक्तिके उपराम होने पर ज्ञान शक्तिका उदय होता है । अब वामा शक्ति ज्येष्ठा शक्तिके रूपमे विकसित होती है । ज्येष्ठा शक्तिके साथ शिवांश अद्वैत भावमे मिलित हुआ जालन्धर

पीठ रूप सामरस्य बिन्दुकी सृष्टि करता है । इस बिन्दुसे अभिव्यक्त चैतन्य इतर लिंग नामसे अभिहित है । शक्तिके इस स्तरमें मध्यमा वाक् आविर्भूत होती है। इसे ही मेरा सूक्ष्म शरीर मानना चाहिये।

अब स्थिति स्थूल शक्ति हो जाती है । अपने स्वतन्त्र स्वभावके नियमसे ही अन्तर्मुखी आकर्षणकी प्रबलता होनेके कारण सहार शक्ति क्रियाशील हो उठती है । ज्ञानशक्ति क्रियाशक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है । शिवाश रौद्री शक्तिके साथ साम्य भावको प्राप्त हो जाता है । अब इसके फलस्वरूप जिस अद्वैत बिन्दुका अविर्भाव होता है, उसे उड्डीयान पीठ कहते हैं । यह सामरस्य बिन्दुसे चित् शक्ति पर लिग रूपमें अभिव्यक्त होती है। यह शब्दकी वैखरी नाम चतुर्थ भूमि है। जिस सहारशील क्षयवर्धक चक्रधर अथवा राधाबाबा अभिहित शरीरका जो तू अनुभव कर रहा है, यह इस वैखरी शब्दकी ही विभूति है ।

आज जब मैं तन्त्र साधना करते–करते तान्त्रिक शब्दावलियोंसे परिचित हो गया हूँ एव पू. गुरुदेवकी कृपासे अनुभूतिकी परिपक्वतामें पदार्पण कर रहा हूँ, तब सोचता हूँ कि पू. गुरुदेवने अपनेमे समग्र शक्ति तत्वको न्यास करके कैसा रहस्यमय विवेचन किया है । कामरूप पीठ एव स्वय भू लिगका सामरस्य सृष्टिके पूर्वकी परावाक् अवस्था है । यही तो वाणी (सरस्वती)को उत्पत्तिके भी परेकी अवस्था है । यहाँ न ब्रह्मा हैं, न महा सरस्वती । सब सृष्टि शक्तिमें आत्मगर्भस्थ है ।

त्रिलोक, त्रिदेव, त्रिकाल, प्रभृति सभी परा एव तुरीय वाक्के पश्चात्की ही अवस्थाएँ हैं । बिन्दु गर्भित जो महात्रिकोण समस्त ब्रह्माण्डके मूल रूपमें शास्त्रोमे सर्वत्र व्याख्यात हुआ है, वह शब्दके इसी चतुर्विध सम्बन्धसे ही प्रकट होता है । इस त्रिकोण की तीन रेखायें पश्यन्ती, मध्यमा एव वैखरी रूप, तीन प्रकारके शब्द सृष्टि, स्थिति एव सहार रूप, तीन प्रकारके व्यापार, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री तीन प्रकारकी शक्तियाँ, किवा ब्रह्मा, विष्णु एव रुद्र तीन प्रकारके शिवाश अथवा इच्छा, ज्ञान एव क्रियारूप तीन शक्त्यशके ही प्रतीक है और यह पूर्ण शक्ति मेरे पू. गुरुदेव राधाबाबामे नित्य न्यस्त थी । इसीको सकेत करते हुए मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी ने मुझसे कहा था कि पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबा न्यास विद्यामें असमोर्ध्व पण्डित है । पू. गुरुदेव कैसी परमोच्च गरिमामयी स्थितिमे नित्य प्रतिष्ठित थे, इसकी एक झाँकी भर आगम विद्वज्जनोंके सम्मुख रख रहा हूँ ।

# शक्ति साधनाके सम्बन्धमें विविध प्रश्न एवं उनके पू. गुरुदेव द्वारा उत्तर

{पू. गुरुदेव श्री राधाबाबाके पास कभी-कभी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, सम्पादक कल्याण-कल्पतरु, श्रीरामनारायणजी शास्त्री, सम्पादक मण्डलके वरिष्ठ सदस्य एव सस्कृतके उद्भट विद्वान्, श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव, कल्याण कल्पतरुके सम्पादक मण्डलके प्रमुख आदि विद्वान् लोग जब एकत्रित होते थे तो गूढ तान्त्रिक शब्दावलियो, दर्शनशास्त्रके गूढ़ विषयों पर प्रश्न किया करते थे, उस समय जो उत्तर पू. गुरुदेव द्वारा दिये जाते थे, उन्हे यथाश्रुत यथागृहीत यहाँ लिखा जा रहा है । यह पूर्वत भी अनेक बार उल्लिखित हो चुका है कि पू. गुरुदेव मौन रहते थे, वे मात्र "राधा""राधा" ये दो शब्द ही बोलते थे । वे जो भी उत्तर देते थे उसे स्लेट पट्टियोंमें लिख दिया करते थे, जिसे पढकर ही उनका वक्तव्य ज्ञात होता था।

{त्रिकोण एवं महाकारण बिन्धु} {त्रिकोण का भाव}

**प्रश्न बाबा ! तंत्र शास्त्रोके यन्त्रोमें सर्वत्र त्रिकोण देखनेको मिलता है। इस त्रिकोणके मध्यमें बिन्दु रहता है । अत इस त्रिकोण एव बिन्दुसे शास्त्र किस गूढ पारमार्थिक रहस्यका संकेत दे रहे है, कृपया इस पर प्रकाश डालें ।**

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाका उत्तर – "देखिये ! यह जीव अपने इन्द्रिय द्वारोके ज्ञानसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धात्मक जगत्का अनुभव कर रहा है । कोई भी जीव जब शयन करता है तो निद्राके पूर्व उसे इन्द्रियोका प्रत्याहार करना ही पडता है । शान्त होकर नेत्र मूँदने पडते हैं, श्रवणेन्द्रियोंको भी शब्द निक्षेपसे निवृत्त करना पडता है । इस प्रकार प्रत्याहार करने पर इन्द्रियोकी उपशान्त अवस्था होते ही यह पचभूतात्मक जगत् निद्रामे विलीन हो जाता है । यह प्रत्याहार निद्रित होनेके पूर्व एक मच्छर भी करता है, अत यह क्रिया सभीके द्वारा स्वत प्रतिफलित होती है । यह सिद्ध कर रहा है कि बाह्य जगत् इन्द्रियोंका ही बहिर्विलास मात्र है । चक्षु इन्द्रिय ही रूपका विकास करती है और चक्षु ही रूपका दर्शन करती है । चक्षु इन्द्रियका

बहिर्विलास यदि रोक दिया जाय तो रूप लुप्त हो जाता है । क्योंकि रूप सर्वव्यापी है, अत यही समझमें आता है कि समष्टि चक्षु समग्र रूपका विकासकर्त्ता है और व्यष्टि चक्षु भोक्ता है । इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी विचार किया जाय तो यही तथ्य उजागर होता है कि समष्टि भावापन्न पचेन्द्रियॉं उसका भोग कर रही हैं ।

अब यदि हम अपनी इन्द्रियोंका समाहार कर लें और उन्हें केन्द्रीभूत किसी मूल सत्तामें लीन कर लें तो उस समय यह स्थूल जगत तो दिखना एव अनुभव होना स्थगित हो ही जाता है साथ ही इन्द्रियोंका अभाव हो जानेसे उनकी स्थूल सम्भोग सम्भावना भी समाप्त हो जाती है । परन्तु क्योंकि अभी भी चित् क्षेत्रोंमे ज्ञानका सचार है, अत बहि कारणोंका अभाव होकर अन्त करणका आविर्भाव हो जाता है । इस अन्त करणका भी क्योकि समष्टि जीव समुदाय अनुभव करता है, अत यही अनुभव होता है कि समष्टि अन्त करणका अभिमानी तत्व तो उसका द्रष्टा है और व्यक्ति इस अन्त करणका ज्ञाता है । यह अन्त करण ही अन्तर्जगतको स्फुरित करता है और जीव स्वप्न जगत या आतिवाहिक सूक्ष्म जगतमें प्रविष्ट होता है ।

अब बाह्य इन्द्रियोंकी भॉति अन्त करण भी निरुद्धवृत्तिक अवस्थाको जब प्राप्त होने लगता है तो अन्तर्जगत या आतिवाहिक सूक्ष्म जगत भी लुप्त हो जाता है । इस समय आतिवाहिक जगत का भोक्ता भी घोर अज्ञानमें, चाहे निद्रामे कहो, डूब जाता है । इस समय भोक्ताके न रहने पर जीव शुद्ध कारण भूमिमें स्थान पाता है । इस समय समष्टि कारण बिन्दुका स्फुरणात्मक कारण घोर अज्ञान ही दृष्य होता है और व्यष्टि कारण बिन्दु तदात्मक भावमें उसका दर्शन करता है । अब सौभाग्यवश यदि कोई भाग्यवान् जीव इस मूल ग्रन्थिको भी भेद कर पाता है तो वह मूल अविद्याके विलास स्वरूप इस मिथ्या प्रपञ्चके पाश जालसे सदा–सदाके लिये निवृत्त हो जाता है, छुटकारा पा जाता है ।

उपर्युक्त विचार से यह प्रतीत होता है कि स्थूल, सूक्ष्म एव कारण जगत तदनुरुप शक्तिके ही विकास मात्र हैं । शक्तिके तीन विभागों अर्थात् कारण जगतका प्रकाशक आधार आत्मा, सूक्ष्म जगत्के आधार, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाशके अधिष्ठातृ देवता और स्थूल जगत्के आधार पच स्थूल भूल – शक्तिकी तीन प्रकारकी अवस्थितिका अनुसरण करते हुए उसके परिणाम स्वरूप कारण, सूक्ष्म और स्थूल–इन त्रिविध रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं। इससे ठीक अनुभव होता है कि शक्तिके बहिर्मुख होकर घनीभूत अथवा स्थूलत्वको प्राप्त करने पर एक ओर जहॉं भौतिक तत्वोंका अविर्भाव होता है दूसरी ओर शक्तिके इसी प्रकार क्रमश विरल होते–होते अन्तःसंकोच अवस्थाको प्राप्त होनेसे वही शक्ति आत्मा

अथवा बिन्दु वाच्य हो जाती है ।

अतएव यही स्पष्ट परिलक्षित होता है कि तथाकथित आत्मा, देवता {आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी} और स्थूल भूत प्राणि–पदार्थ, धन, जन, महल, मकान, खेत, खलिहान, कीट, पशु,–पक्षी, मानव एक ही आद्या शक्तिकी त्रिविध अवस्थाएँ हैं । स्थूल, सूक्ष्म एव कारण यह त्रिविध जगत एक ही मूल सत्ताके तीन प्रकारके परिणामके सिवा और कुछ नही है । यह स्थूल, सूक्ष्म एव कारण जगत ही इस त्रिकोणके रूपमें आगम शास्त्रोंमें वर्णित है और मूल आद्यासत्ता ही यह बिन्दु है ।

अब इसे और दूसरी तरह समझ ले । स्थूल जगत जिसे हम निरन्तर मृत्युपर्यन्त अनुभव करते हैं, बिन्दु {बोध प्रकाश} का बाह्य प्रसारण अथवा विकिरण मात्र है । इन्द्रियोके प्रत्याहारसे इस रश्मि मालाको उपसहृत कर सकने पर बाह्य जगत स्वभावत बाह्य बिन्दुमें विलीन हो जाता है । इसी प्रकार लिगात्मक अथवा आभ्यन्तरिक आतिवाहिक जगत् भी जो विक्षुब्ध अन्त करणका बाह्य विलास मात्र है, वह भी विलीन होने पर तदनुरुप बिन्दु स्वरूपमे अव्यक्त हो जाता है । इसी प्रकार कारण जगत् भी उपसहारको प्राप्त होकर कारण बिन्दु में पर्यवसित हो जाता है । ये तीनो जगत ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाके द्योतक हैं । अतएव स्थूल सूक्ष्म एव कारण–ये तीनों बिन्दु ही त्रिकोणके तीनों प्रान्तोके बिन्दु हैं । इन्हे "अ" कार कारणात्मक, "उ"कार सूक्ष्मात्मक एव "म" स्थूलात्मकके नामसे भी साकेतिक भाषामें अभिहित किया जा सकता है । अन्तर्मुखी होनेकी प्रेरणासे जब ये तीनों बिन्दु रेखा रूपमें भीतरकी ओर सकुचित होते हुए जब महाबिन्दुमें पर्यवसित होते हैं, वही तुरीय रूपमें तुरीयबिन्दु महा कारण रूपमें अभिहित होता है । त्रिकोण रचना करके इसे और स्पष्ट समझ लें ।

सूक्ष्मात्मक बिन्दु "उ" कार — "म" कार स्थूलात्मक बिन्दु

{महाकारण बिन्दु}

"अ" कार
{ कारणात्मक बिन्दु }
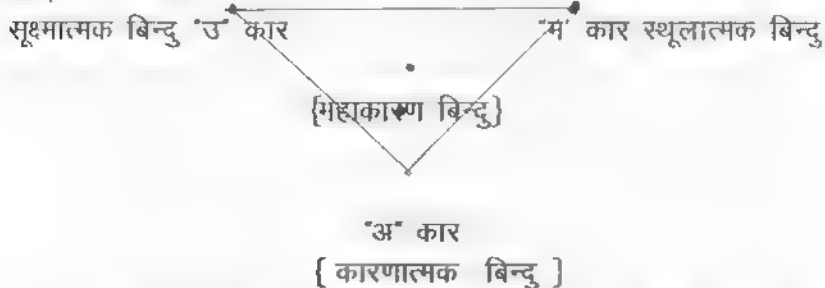
दूसरा प्रश्न . बाबा ! आपने त्रिकोणके तीनो बिन्दुओंको स्थूल जगत रूप बिन्दु जो बहिरिन्द्रियोंसे अनुभव में आ रहा है, सूक्ष्म जगत रूप बिन्दु जो स्वप्नमें दिखता है तथा कारण बिन्दु जो निद्रा एव सुषुप्तिमें घोर

अज्ञानके रूपमें व्यक्त होता है, स्पष्टतया समझा दिया । अब यह महाकारण रूप मध्य बिन्दु भी तनिक और खोलकर स्पष्ट समझा दें।

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा उत्तर - "सृष्टिके आदिमें अनादिकालसे जो अव्यक्त, पूर्ण निराकार शून्य स्वरूप वस्तु विराजमान है, वह तत्वातीत, प्रपचातीत तथा व्यवहार पथके भी अतीत है । वही शाक्तोंकी महाशक्ति, शैवोकी परम शिव है । वाणी एव मनके अगोचर होनेके कारण उसे निर्गुण निराकार निर्विशेष कहते हैं । परन्तु अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेके कारण वह सगुण सविशेष भी है । अप्राकृत आकार होनेके कारण वे साकार भी है। वस्तुत उनका वर्णन तो न कोई कर सका है, न आगे कोई कर सके, ऐसी सभावना ही है । इसे विशुद्ध प्रकाश-निर्गुण निराकार निर्विशेष ब्रह्म कहे तो भी कहना नही बनता क्योंकि अन्तर्लीन विमर्शके कारण यह तत्व अप्रकाशमान है । निद्रा अप्रकाशमान इसीलिये है कि उसमें विमर्श अन्तर्लीन है । उसकी विमर्श शक्ति ही स्वप्न एव जागरणका खेल कर रही है । इसे विशुद्ध विमर्श भी नही कहा जा सकता क्योकि इसमें स्वय प्रकाशतत्व भाव भी है । प्रकाशहीन विमर्श तो सर्वथा ही असत्-कल्प है । इस तत्वातीत और अनुत्तर अवस्थाको आगम शास्त्र "अ" कार प्रयोग करके वाच्य करता है। इसके उत्तर-परे कुछ भी नहीं इसलिये वह "अ" है । "अ" कार रूप प्रकाशके साथ "ह" कार रूप विमर्शका सामरस्य ही शिव शक्तिका साम्य है । "अ" शिव है और "ह" शक्ति है । बिन्दु रूपमें यही "अह" ही, अर्थात् पूर्ण अहता ही शिव शक्तिका सामरस्य है । इस पूर्ण अहता रूप बिन्दुको न तो ब्रह्म कहा जा सकता है, न ही ईश्वर, एवं न ही देवी-देवता, ऋषि, मुनि, जीव। यहाँ विराट् एव अल्प, लघु एव महान्, ईश्वर एव जीवका भेद ही तिरोहित रहता है । एक सूक्ष्मतम कीट-भृग भी जहाँ अपनेको "अह" ही मानता है। इस अहकी भूमिमे जीव-ईश्वर, ज्ञानी-अज्ञानी, विराट्-अल्प सभी भेद तिरोहित हैं । यहाँ दृष्टि एव सृष्टि भी एकार्थ बोधक व्यापार हो जाते हे। अहकी भूमि सब कुछ मात्र "अहं" ही "अहं" है ।

जो शक्ति एवं सत्ता पच भूतोकी स्थूल भूमिके रूपमें आत्म प्रकाश किये है, उसका साम्य प्रथम साम्य है, उसी प्रकार सूक्ष्म एव कारण जगत के रूपमे सम्पर्क करने वाली शक्ति और सत्ताका साम्य क्रमश द्वितीय एव तृतीय यह त्रिविध साम्य पारस्परिक भेदका परिहार कर जिस महासाम्यमे एकत्व लाभ करता है, वही परमाद्वैत या ब्रह्म तत्व है । यह परम पद ही वह बिन्दु है जहाँ त्रिविध साम्यके पश्चात् परमाद्वैत अथवा महा साम्यका आविर्भाव होता है । महाशक्तिके उद्बोधनके बिना इस परमाद्वैत परम पद पर प्रवेशाधिकार पाना

असंभव ही है ।

{विमर्शकी व्याख्या}

तीसरा प्रश्न - आपने अपने वक्तव्यमें "विमर्श" शब्द का उल्लेख किया है । विमर्श किसे कहते हैं ? इस पर तनिक विस्तारसे प्रकाश डालें।

पू. गुरुदेवका उत्तर – शक्ति सद्रूपा, चिद्रूपा एव आह्लाद रूपा है । सच्चिदानन्द परमात्मामे सत्, ज्ञान एव आनन्दका स्फुरण यह विमर्श शक्ति ही कराती है । एक सुन्दर कथा मेरे सुननेमे आयी है । एक भिखारी यावज्जीवन एक शहरमें एक स्थानमे रहा । उस स्थानकी भूमिके ठीक पॉच फुट नीचे अकूत सम्पत्ति गडी हुई थी । हीरे, जवाहरात और अनमोल रत्न स्वर्ण पात्रोमे भरे थे। वह भिखारी उस अनन्त अनमोल सम्पत्तिका एक मात्र स्वामी था क्योकि उसकी झौंपडी पीढियोसे उसके पिता–पितामह, प्रपितामहके पास रही थी और वे सभी उस पर घासकी झौंपडी बनाकर यावज्जीवन भीख मॉगकर पेट भरते रहे थे । अकूत सम्पत्ति पर स्वामित्व रखता हुआ भी परम्परासे यह परिवार भीखसे दोनो जून भर पेट भोजन भी नही जुटा पाता था और सायकाल तो प्राय भूखे पेट ही पानी पीकर उन्हें सोना पडता था । अब जैसे उस धन सम्पत्तिके विषयमे बोध नही रहनेसे वस्तुत धनी होने पर भी व्यवहार भूमिमें उस भिखारी की तीन पीढी निर्धनवत् रही, उसी प्रकार आत्म प्रकाश स्वरूप होने पर भी उस प्रकाशकी प्रकाश मानताका बोध न रहे तो वह अप्रकाश ही माना जायेगा । इसीसे कहा जाता है कि शिवसे यदि "इ" कारात्मक शक्ति हट जाय तो शिव मात्र "शव" हो जाता है । ब्रजमें एक रसिया गाया जाता है –"जो "राधा" नाम न होतौ तो, कृष्ण बिचारो रोतो"। यह विमर्श शक्ति ही परावाक् स्वरूपिणी है । यही ब्रह्ममे अपने आपका "अह" रूपमे बोध कराती है । "अह ब्रह्मास्मि" पद - "अह" सत्तात्मक, "ब्रह्म" चिदात्मक और अस्मि आनन्दात्मक बोध युक्त है । यह बोध विमर्शात्मक है । यदि यह न हो तो सत् स्वरूप ब्रह्म असत्, चिदात्मक ब्रह्म अचित् और आनन्दात्मक ब्रह्म आनन्द शून्य ही रह जाता है । इस विमर्शके बिना प्रकाश भी प्रकाशमानताके अभावमें अप्रकाशवत् ही प्रतीत होगा । इसीलिये चिद्रूप विमर्श शक्ति मानना ही पडता है ।

{अप्राकृत देह, आकार, गुण एवं स्वभाव}

चौथा प्रश्न बाबा, आपने अप्राकृत गुण एवं अप्राकृत आकारकी बात तत्वातीत वस्तुका उल्लेख करते समय कही है । तत्वातीत वस्तु अप्राकृत देह एव उसके स्वभावको कैसे ग्रहण करती है, इसे तनिक

विस्तारसे समझाइये ।

पू. गुरुदेवका उत्तर – जीव समुदायके जन्मोंकी अनेक श्रेणियाँ हैं । पिता -मातासे जन्म लेने वाले प्रकृति राज्यके सम्पूर्ण देह प्राकृत हैं । प्राकृत देहोका निर्माण स्थूल, सूक्ष्म और कारण–इन तीन भेदोंसे होता है । जब तक "कारण" देह रहता है तब तक प्राकृत देहसे मुक्ति नही मिलती । इस त्रिविध देह समन्वित प्राकृत देहसे छूटकर प्रकृतिसे विमुक्त होकर केवल आत्मरूपमे ही स्थित होने या चिन्मय पार्षदादि दिव्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेका नाम ही मुक्ति है। मैथुनी, अमैथुनी, योनिज–अयोनिज सभी प्राकृत शरीर वस्तुत योनि एव बिन्दुके सयोगसे ही बनते हैं । इनमे अनेक स्तर हैं । अधोगामी बिन्दुसे उत्पन्न शरीर जहाँ अधम है, वहाँ ऊर्ध्वगामी बिन्दुसे निर्मित उत्तम । कामप्रेरित मैथुनसे उत्पन्न शरीर सबसे निकृष्ट है । किसी प्रसग विशेष पर ऊर्ध्वरेता पुरुषके सकल्पसे बिन्दुके अधोगामी होने पर उससे उत्पन्न होने वाला शरीर सबसे उत्तम द्वितीय श्रेणीका है । ऊर्ध्वरेता पुरुषके सकल्प मात्रसे केवल नारी–शरीरके मस्तक, कण्ठ, कर्ण, हृदय या नाभि आदिके स्पर्श मात्रसे उत्पन्न शरीर द्वितीय की अपेक्षा भी उत्तम तृतीय श्रेणी है । इसमें भी नीचेके अगोकी अपेक्षा ऊपरके अगोके स्पर्शसे उत्पन्न शरीर अपेक्षाकृत उत्तम है । बिना स्पर्शके केवल दृष्टि द्वारा उत्पन्न शरीर उससे भी उत्तम चतुर्थ श्रेणीके है । बिना ही देखे सकल्प मात्रसे उत्पन्न शरीर उससे भी श्रेष्ठ पचम श्रेणीके हैं । प्रेतादि लोकोमें वायु प्रधान एव देवलोकादिमे तेज प्रधान तत्तत्–लोकानुरूप देहभी प्राकृत एव भौतिक ही है । योगियोके सिद्धि जनित "निर्माण शरीर" बहुत शुद्ध है, परन्तु वे भी प्रकृतिसे अतीत नहीं है ।

आध्यात्मिक जगतमे प्रवेश करनेके लिये एक आध्यात्मिक देहका निर्माण आवश्यक होता है । इसको दिव्य देह, ज्ञान देह आदि का नाम दिया जाता है। खीष्टीय कैथोलिक सम्प्रदायमें इसे SPIRITUAL BODY कहा जाता है । भारतीय तन्त्र इसे "बैन्दव देह" कहता है । इस देह की उत्पत्ति आध्यात्मिक सिद्ध गुरु अथवा इष्ट देवता या देवीसे होती है । दीक्षा प्राप्तिके साथ ही देह बीजकी प्राप्ति होती है और यह बीज क्रमश देह रूपेण परिणत होता है । उच्च कोटिके साधकोमे यह विकास प्राप्त देह रूप मे ही उपलब्ध होता है, केवल बीज मात्र रूपमें नहीं ।

वैदिक युगमे उपनयनके अनन्तर गायत्री मत्र दीक्षाके साथ ही इस देहकी प्राप्ति रूप द्वितीय जन्म होता था । इसीलिये जातकको द्विज कहा जाता था । इस देहका क्रम विकास भी होता है और पूर्ण विकास आध्यात्मिक सिद्धिके रूपमें ही प्रकट होता है । स्वरूपका यह आत्यात्मिक परिवर्तन गुरु

शक्तिसे होता है। यह द्वितीय जन्म Regeneration के नामसे प्रसिद्ध है और इसमें प्रकृतिका अंश जितना जितना शोधित होता जाता है वह "रिजेनेरेटड" माना जाता है और जो शोधनमे शेष रह जाता है वह Un-regenerated "अनरिजेनेरेटेड" कहा जाता है। जिस क्षणमे पहली बार पूर्णतामें दिव्य प्रकाश होता है, वही सिद्धावस्था है।

वास्तवमें काल प्रवाहके दो क्रम हैं आरोहण और अवरोहण। जिस क्रमसे चलने पर संकुचन क्रमशः छूटता जाता है, वह आरोहिणी धारा है और जिस क्रमसे चलने पर संकुचनकी क्रमशः वृद्धि होती है वह अवरोहिणी धारा है। अवरोहकी स्थितिमें बन्धन क्रमशः उत्तरोत्तर प्रगाढ होता जाता है और आरोहमें क्रमशः क्षीण–क्षीणतर–क्षीणतम होता हुआ जीव बन्धनमुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार आरोह क्रममे जीव काल राज्यका अतिक्रमण करता है। समग्र विश्व जो परिणामका अनुभव कर रहा है, कालके आधीन है। कोटि कोटि ब्रह्माण्ड, स्वर्गसे लेकर पाताल तक चतुर्दश भुवनोंमे रहने वाले जीव सभी कालान्तर्गत है। ब्रह्माण्डोसे अतीत प्रकृति अण्ड एव मायाण्ड भी हैं। यह सब सृष्टि कालान्तर्गत है। मायासे अतीत शाक्ताण्डमें भी काल है, परन्तु वहाँ काल महाकालके रूपमें है। इन शाक्ताण्डोंमें मायिक राज्योंकी भांति क्षणिक परिणाम नहीं होते। इस कालराज्यके बाहर ले जाना ही सद्‌गुरुका लक्ष्य है। अतः सद्‌गुरु प्रदत्त ज्ञानदेह कालके प्रभावसे मुक्त होती है।

दीक्षाके पश्चात् सद्‌गुरु शिष्यके अन्तरमे प्रविष्ट होकर अन्तर्यामी रूपसे शब्द ब्रह्ममय ज्ञानदेहका बीज डालते हैं। ज्ञानदेहका आकार ज्ञानात्मक है और इस देहमें ज्ञानका स्फुरण निरन्तर होता रहता है। यहाँ ज्ञान शब्दसे सामान्य ज्ञान समझना चाहिये। जब विशेष ज्ञानकी अपेक्षा होती है, उसका नाम होता है विज्ञान, ज्ञान होने पर विज्ञान नही भी हो सकता है। ज्ञान स्वरूपमें क्रिया नही होती। क्रियामें ज्ञान नही होता परन्तु विज्ञानमें क्रिया और ज्ञान दोनोंसे सम्बन्ध रहता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञानदेह शब्दज होती है। यह शिष्यके हृदयमे परोक्ष रूपसे उद्‌भूत होती है। यह ज्ञानदेह पर्यवसित हो जाती है, विवेकज अनुभूतिमे जो शब्दाश्रित नहीं होती। यह अनुभूति शिष्यके विवेकसे अपने आप उद्भूत होती है। प्रातिभ ज्ञान इसका नामान्तर है। यह अनुभूति अनौपदेशिक है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान है। सद्‌गुरुकी विशिष्ट कृपा होने पर ही यह आविर्भूत होता है। इसे ही तारक ज्ञान कहते हैं। गुरुके मौखिक उपदेशसे इस प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस महाज्ञानका सचार गुरु अलक्षित रूपसे करते हैं। इससे

हृदयके मर्ममें प्रविष्ट सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं ।

*"गुरोऽस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्न संशय: ।।"*

पू. गुरुदेव कहते जा रहे थे, सद्‌गुरुकी महाकरुणाके बिना प्रत्यक्ष आत्मप्रकाश असभव है । यह गुरु-करुणा ही शान्ति एव चैतन्यकी ज्योति साधकके जीवनमें प्रस्फुटित करती है । तभी अपरोक्ष ज्ञान सभव है । उस समय ज्ञानमें कहीं संशय अथवा विकल्पके लिये अवकाश नही रहता । यह शब्दातीत ब्रह्म पर प्रतिष्ठा होती है । जो सर्वदा, सर्वत्र समभावसे विद्यमान है, यह उसीका साक्षात्कार है । "चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम" की उक्तिमें यही सत्य उजागर है । यह अवस्था भी पूर्ण आत्मदर्शनकी नहीं है। इस अवस्थामे स्थित होना भी आत्मरूपमें स्थित होना नही है ।

इसके पश्चात् साधकके जीवनमे प्रेमकी प्रक्रियाका प्रारम्भ होता है । वास्तविक रस–साधनाका सूत्रपात ही ज्ञानोत्तर है । किन्तु केवल प्रत्यक्ष ज्ञानके उदय हो जानेसे ही भावका उदय नही होता । भावोदयके लिये पूर्ण काम दहनकी आवश्यकता अनिवार्य होती है । मदनका सम्पूर्ण दहन भगवान् शिवके तृतीय नेत्र अथवा ज्ञान चक्षुसे निःसृत अग्निसे होता है । इसका तात्पर्य यही है कि अज्ञानका बीज तक भस्म हो जाय । बीज रूप अज्ञान रहने तक तो कामदेवका अस्तित्व रहता ही है । अज्ञान ही तो पशुभाव है । दिव्य ज्ञानसे पशुभाव पूर्ण निवृत्त होकर पशुपति या शिवभाव होता है । इसके अभिव्यक्त होने पर कामका समग्र नाश होता है । यह शिवरूप सत्ता भी ज्ञानातीत परिपूर्णत्व तभी लाभ करती है जब प्रेम भावकी पराकाष्ठा लाभ करके प्राकृत कामके आकर्षणसे अतीत हुई, परम भावको प्राप्त करती है । यह परम भाव ही राधा महाभाव है । ये भगवती राधा और भगवान् श्रीकृष्ण दो नही है । एक ही "कन्दर्पदर्पहा" तत्वके द्विधा स्वरूप है। इसीलिये श्रीकृष्णका बीज मन्त्र काम बीज है । इनके सम्मुख काम तिरोहितवत् हो जाता है, वह इनका प्रमुख उपासक हो जाता है । प्राकृत कामका सब वैभव इनके सम्मुख तुच्छीकृत हुआ नगण्य म्लान हो जाता है और म्लान होते होते लुप्त हो जाता है । प्राकृत काम महाज्ञानके नीचे है और ये दिव्य काम मन्मथ मन्मथ श्रीकृष्ण तथा मन्मथ–मन्मथ–मानस–मन्थिनि श्रीराधा महाज्ञान से अतीत है । महा ज्ञान वह है जिसमे प्राकृत–अप्राकृत अध–ऊर्ध्व, प्रभृति भेद मिट जाते हैं और समग्र विश्व कालातीत अखण्ड अद्वय रूपमे भान होता है और महाभाव एव महारसराजका तो कोई वर्णन ही नहीं कर सकता, वहाँ अप्राकृत जगतका प्रारम्भ होता है ।

श्रीराधाकृष्ण तत्व सर्वथा अप्राकृत है, इनका विग्रह, नेत्र-मुखादि इन्द्रियाँ,

इनके अग–अवयव, रूप–स्वभाव, इनके महल निवास, इनकी विहार स्थलियॉ, वन कुज, निकुज इनकी सम्पूर्ण लीलाऍ अप्राकृत हैं–जो अप्राकृत क्षेत्रमे, अप्राकृत मन–बुद्धि–शरीरसे अप्राकृत पात्रोमे होती हैं ।

ये राधाकृष्ण परिपूर्णतम परमात्मा हैं । इनके धाम, लीला–पात्र, नन्द -यशोदा, सखागण, गोपियॉ, इनके घरके पशु–पक्षी, यहॉ तक कीट–भृग तृण गुल्म भी सच्चिदानन्दघन निखिल ऐश्वर्य माधुर्य और सौन्दर्यके सागर है। इन श्रीराधाकृष्णका एश्वर रूप ही भगवान् सुन्दरेश्वर एव भगवती त्रिपुरसुन्दरी कामेश्वर–कामेश्वरी है । इन श्रीराधाजी, श्रीरुक्मिणीजी, श्रीसीताजी आदिमे भी कोई भेद नही है । भगवान्के विभिन्न सच्चिदानन्दमय दिव्य लीला विग्रहोमे विभिन्न नाम रूपोसे उनकी ह्लादिनी शक्ति साथ रहती ही है । नाम रूपों एव लीलामे पृथकता दीखने पर भी वस्तुत वे सब एक ही हैं ।

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है –

यथा त्व राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा ।
वैकुण्ठे च महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती ।।
भवती मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिन प्रिया ।
धर्मपुत्रवधूस्त्व च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी ।।
कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती ।
द्वारवत्या महालक्ष्मी भवती रूक्मिणी सती ।।
त्व सीता मिथिलाया च त्वच्छाया द्रोपदी सती ।।

हे राधे जिस प्रकार तुम गोलोक एव गोकुलमे श्रीराधा रूपसे रहती हो, उसी प्रकार बैकुण्ठमे महालक्ष्मी और ब्रह्मलोकमे महासरस्वतीके रूपमे निवास करती हो । तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो । तुम ही धर्म पुत्रकी कान्ता लक्ष्मीस्वरूपिणी शान्ति हो । तुम ही भारतमें भगवान् कपिलकी कान्ता सती भारती हो, तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो, तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है । तुम ही मिथिलामे सीता हो ।

भगवान्के दिव्य अप्राकृत लीला विग्रहोंका प्राकट्य ही वास्तवमे आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही है । प्रधानतया भगवान्के अवतारोंके चार स्वरूप माने गये है–पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार एवं मन्वन्तरावतार। भगवान्ने आदिमे जब लोक सृष्टिकी इच्छाकी तो महत्तत्वादि–सम्भूत षोडश कलात्मक पुरुषावतार धारण किया था । भगवान्के चतुर्व्यूह है, श्री वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न एव अनिरुद्ध । भगवान् शब्द मात्र श्रीवासुदेवके लिए ही प्रयुक्त होता है । इन्ही पुरुषावतारको आदिदेव नारायण भी कहा जाता है । इन पुरुषावतार भगवान् आदिदेव नारायणके तीन भेद हैं । ये आद्यपुरुषावतार

जहाँ षोड्श कलायुक्त पुरुष हैं, ये ही सकर्षण, बलरामजी अथवा लक्ष्मणजी हैं। इन्हीं संकर्षण भगवान्‌को ही कारणार्णवशायी या महाविष्णु भी कहते हैं । पुरुष सूक्तमे वर्णित सहस्रशीर्षा पुरुष ये ही हैं । ये अशरीरी प्रथम पुरुष कारण सृष्टिके {तत्त्व समूहके} आत्मा है । आद्य पुरुषावतारका द्वितीय पुरुषावतार श्री प्रद्युम्न {श्रीभरत} है। ये ब्रह्माण्डमे अन्तार्यामी रूपसे प्रविष्ट रहते हैं । ये ही गर्भोदकशायी हैं। इन्ही पद्मनाभ भगवान्‌के नाभि कमलसे हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव होता है ।

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वत
नाभिह्रदाम्बुजासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ।।
{श्रीमद्भागवत १।३।२}

तृतीय पुरुषावतार श्री अनिरुद्ध {श्रीशत्रुघ्न} हैं । ये अपने प्रादेश मात्र विग्रहसे समस्त जीवोंमे अन्तर्यामी रूपसे स्थित हैं, प्रत्येक जीवमे अधिष्ठित हैं । ये क्षीराब्धिशायी सबके पालनकर्त्ता हैं ।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्र पुरुष वसन्तम् ।
चतुर्भुज कञ्जरथाग शख गदाधर धारणाया स्मरन्ति ।।
{श्रीमद्भागवत २।२।८}

## गुणावतार

श्रीविष्णु, ब्रह्मा एव रुद्र {सत्व, रज एव तमकी लीलाके लिये} गुणावतार रूपमें प्रकट हैं । इन गुणावतारका प्रादुर्भाव द्वितीय पुरुषावतार श्री प्रद्युम्न {श्रीभरतजी} से होता है ।

द्वितीय पुरुषावतार लीलाके लिये स्वय ही इस विश्वकी स्थिति, पालन तथा सहारके निमित्तसे तीनों गुणोको धारण करते हैं । वे गुणोके अधिष्ठाता होकर विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र नाम ग्रहण करते हैं । वस्तुत गुण इन्हे लेश मात्र भी वशमे नहीं कर सकते । ये नित्य स्वरूप स्थित ही रहते है और अपनी स्वरूपस्थितिमे अच्युत स्थित त्रिविध गुणमयी लीला करते हैं ।

## लीलावतार

भगवान् जो अपनी मगलमयी इच्छासे विविध दिव्य मगलमयी अनेक विधि विचित्रताओसे युक्त नित्य नवीन पूर्ण रसमयी क्रीडा करते है, उस क्रीड़ाका नाम "लीला" है । ऐसी लीलाके लिये भगवान् जो मगल विग्रह प्रकट करते हैं, उन्हे "लीलावतार" कहा जाता है । चतुस्सन {सनकादि चारो मुनि}, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, हस, ध्रुव प्रिय विष्णु, ऋषभदेव, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, श्रीराम, व्यासदेव, श्रीबलराम, बुद्ध एवं कल्कि ये भगवान्‌के लीलावतार

हैं । इन्हें कल्पावतार भी कहते हैं ।

### मन्वन्तरावतार

स्वायंभुव आदि चौदह मन्वन्तरोमें होने वाले मन्वन्तरावतार कहलाते हैं।

### शक्ति–अभिव्यक्तिके भेदसे नाम भेद

भगवानके सभी अवतार परिपूर्णतम हैं । तत्वत तथा स्वरूपतः इनमे न्यूनाधिकता सर्वथा नहीं है । शक्तिकी अभिव्यक्ति इनमे न्यूनाधिक संभव है । इस न्यूनाधिकतासे इनके चार भेद माने गये हैं – आवेश, प्राभव, वैभव और परावस्थ ।

इनमे सनकादि चारों ऋषि, नारद, पृथु, परशुराम एव कल्किको आवेशावतार कहा जाता है ।

प्राभव अवतारोंके दो भेद हैं । इनमें प्रथम तो बहुत ही थोडे काल तक रहते है, जैसे मोहिनी और हंसावतारादि । वैसे पुराणादिकके प्रणेता वेदव्यास, साख्यशास्त्रके प्रणेत्ता कपिल, दत्तात्रेय, धन्वन्तरि, ऋषभ आदि इनकी दूसरी श्रेणीमें आते हैं ।

कूर्म, मत्स्य, नर नारायण, वराह, हयग्रीव, प्रश्निगर्भ, बलभद्र और चतुर्दश मन्वन्तरावतार ये सभी वैभवावतार माने जाते हैं । इनमे कुछ की गणना अन्य श्रेणियोंमें भी है ।

श्रीनृसिंह, श्रीराम एव श्रीकृष्ण–ये षडैश्वर्यपूर्ण परावस्थावतार हैं । इनमे श्रीनृसिंहका कार्य भी प्रह्लाद रक्षण और हिरण्यकशिपु वध ही है । ये भी अल्पकाल स्थायी हैं । अतएव मुख्य श्रीराम एव श्रीकृष्ण ही परावस्थावतार कहे जा सकते हैं ।

*"एते चांशकला पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयं"*

श्रीकृष्णको इनमे स्वय भगवान् कहा गया है । विभिन्न कल्पोंमे भगवान् श्रीकृष्णको "सितकृष्णकेश" पुरुषावतार का केशावतार भी कहा गया है। महाभारतमें भी अनेक स्थानोमे इन्हें "नारायण" ऋषिका अवतार भी कहा गया है। विभिन्न कल्पोंमें भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे अशावतारोंके रूपमें भी प्रकट हुए हैं।

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि ये सभी भगवान्के सच्चिन्मय अप्राकृत विग्रह हैं । जैसे ये अप्राकृत विग्रह है, उसी प्रकार भगवान्का सच्चिदानन्दमय अप्राकृत नित्य परधाम सबसे विलक्षण और सर्वोपरि है । इस अप्राकृत नित्य परधामसे अनन्त ब्रह्माण्ड नित्य अनुप्राणित होते रहते हैं। यह धाम सर्वधाम मुकुटमणि होने पर भी सर्वत्र सभीमे व्याप्त और स्थित है । इसकी पाद

विभूतिके एक अशमें ही समस्त प्राकृत लोकोंकी परिसमाप्ति हो जाती है । इनसे सर्वथा अस्पृष्ट जो त्रिपाद विभूति है, वह अनैसर्गिक, अप्राकृत सच्चिदानन्दमय परम धाम है । इसी परमधामको भक्तजन साकेत, गोलोक, बैकुण्ठ, कैलास, मणिद्वीप आदि अनेक नामोसे पुकारते हैं । इस परमोज्ज्वल, परम मधुर, परम कल्याणमय, परम सुन्दर, अप्राकृत गोलोक धाम में, वृन्दावन, मथुरा, गोकुल, नन्दग्राम, बरसाना, गिरिराज, विरजा आदि दिव्य शाश्वत अप्राकृत प्रदेश हैं । यह धाम भी भगवान् की भांति ही सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, दिव्य, स्वप्रकाश, नित्य सत्य भावमय है । ये साकेत, कैलास, बैकुण्ठादि भेदोंसे अनेक होते हुए भी सत्य-सत्य एक ही है ।

इस चिन्मय धामकी विशेषताओंका वर्णन पूर्वत: किया जा चुका है । भगवान् सत्-चित्-आनन्द पूर्ण हैं । उनके सत् अशकी शक्तिसे ये चिन्मय अप्राकृत धाम प्रकट होते है । ये धाम भगवान्की सन्धिनी शक्तिका विलास होनेसे पूर्णत: भगवद्रूप है । इसी प्रकार भगवान्के चिदशकी शक्तिके विलाससे भगवान्के सभी लीला पात्र और उनकी लीला प्रकट होती है, अत: वह समग्र लीला भी भगवन्मयी ही है । भगवान्की आनन्दाशकी शक्तिका नाम है ह्लादिनी । भगवान् श्रीकृष्ण स्वय परमाह्लाद स्वरूप हैं और जिसके द्वारा वे स्वय आह्लादित होते है और दूसरोको आह्लादित कर सकते हैं, उसका नाम ह्लादिनी श्रीराधा है।

यहाँ प्राकृत तत्त्व, तत्त्वातीत वस्तु और अप्राकृत राज्यमे प्रवेश , अप्राकृत देह, स्वभाव, स्वरूप आदिकी सभी बाते सक्षेपमे कह दी गयी है। वैसे इसका विस्तृत विवरण देने पर तो एक सम्पूर्ण ग्रन्थ ही निर्मित हो सकता है ।

{गोष्ठ, कुञ्ज एवं निकुंज}

पाँचवाँ प्रश्न बाबा, यह गोष्ठ, कुंज एवं निकुन्जमें क्या भेद है और निभृत निकुज किसे कहते है ? इसे तनिक समझाइये ।

पू. गुरुदेवका उत्तर – भगवल्लीला अर्थात भगवान् श्रीकृष्ण एव उनकी ह्लादिनी शक्ति राधाजीकी ब्रजराज्यमे तीन प्रकारकी लीलाएँ होती है । प्रथम गोष्ठ लीलाका अर्थ यह है कि भगवान् माता यशोदा एव नन्दजीके साथ नन्दभवनमे रहकर अथवा श्रीराधारानी वृषभानुपुरमें अपनी माता एव अन्य गोपियोंके संग जो लीला–व्यवहार करती हैं, वे गोष्ठ–लीलाके अन्तर्गत हैं । गोष्ठलीलाके अन्तर्गत गो–दोहन, दास–दासियों और गोप–गोपियो द्वारा भगवानकी सेवा, सख्य रसकी भगवान्के साथ तुल्यतामयी रति, ग्वाल बालोंके साथ भगवान्की परम रसमयी क्रीडाये, इसी प्रकार राधारानीकी भी वृषभानुपुरमें दास दासियो एवं सखियो, मजरियों आदि द्वारा सेवा सन्निहित है । माखन

चोरी आदि सभी लीलायें गोष्ठान्तर्गत ही है । इसी प्रकार वात्सल्य रस घन मूर्त्ति नन्द यशोदाको जो भगवत्कृपा प्रसाद वितरण है, वह सब गोष्ठान्तर्गत ही है ।

अब मधुर भाव या माधुर्य रसकी जितनी भी लीलायें सखियो एवं श्रीराधारानीके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी होती हैं, उनका पर्यवसान कुन्ज अथवा निकुजमे ही होता है । कुज लीलामे सखियोके साथ सम्बन्ध रहता है, किन्तु निकुज लीलामे सखियोके लिये स्थान नही होता । सखी मात्र श्रीराधारूपी महाभावकी कायव्यूहा है । निकुज लीलामे प्रवेशके पहले ही ये सभी कायव्यूह रूपा सखियॉ–मजरियॉ अपनी मूलकाया अर्थात् श्रीराधारानीके अगोंमे आभूषणोंमें लीन हो जाती है । श्रीराधा सर्वसखियोको अपनेमें समन्वितकर पुष्ट एव अन्तर्मुखी हुई श्रीकृष्णके चरणोमें आत्म समर्पण करती हैं । इस लीलाकी द्रष्टा मात्र एक सारिका पक्षी रहती है । निभृत निकुंजमें तो यह सारिका भी श्रीराधारानीके केश-समूहमें लीन हो जाती है । यह अत्यन्त निगूढतम लीला है। निकुज लीलामे राधाकृष्ण दोनोका स्वरूप विलास चलता है, परन्तु इसके अन्तमे भगवती श्रीराधा श्रीकृष्ण स्वरूपमें अन्तर्लीन हो जाती हैं । परन्तु आश्चर्य यह होता है कि ज्यों ही महाभाव रसराजमें डूबता है, महाभाव के रसराज होते ही रसराज महाभाव होकर सुप्रकटित हो जाता हैं । जब तक कुज भग नही होता तब तक महाभाव रसराजमे पर्यवसित होता रहता है और रसराज महाभाव होकर पुन व्युत्थित होता जाता है । यह स्थिति कब तक होती है कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योकि तब देश–काल किसीकी सत्ता नही रहती ।

{कामेश्वरी, कामशक्ति, कामसौभाग्यदायिनी,
कामरूपा एवं कामकलाका अर्थ}

छठा प्रश्न - बाबा, भगवती आद्या शक्तिको कामेश्वरी आदि उपरोक्त नामोंसे क्यों अभिहित किया गया है । इनको इन नामोसे अभिहित करनेके पीछे कौनसा तत्व–रहस्य है, कृपया इसे समझावें ।

पू गुरुदेव द्वारा उत्तर – काम सृष्टिका जनक है । यह काम कारण जगतका सर्वोपरि देवता है । भगवती कामेश्वरीकी कृपासे ही जीव प्राकृत कामके आकर्षणसे अतीत हो पाता है । काम पशुको आक्रान्त किये रहता है, परन्तु पशुपतिके सम्मुख आने पर वह भस्म हो जाता है । भगवती कामेश्वरीने कामदेवके भस्म हो जाने पर उसकी राखको अपने नेत्रोंमें अंजनकी तरह लगाकर उसे प्रेमरूपमें परिणत कर दिया था । कामकी प्रेमरूपमें परिणति ही उसकी सर्वोच्च कृतकृत्यता है । इसीलिये भगवती आद्याशक्तिका नाम

कामेश्वरी पड़ा है । भगवतीके सर्वोच्च बारह उपासकोंमें कामदेव प्रमुख हैं और भगवतीकी उपासना कामदेवके आचार्यत्वके कारण काम-विद्या अथवा कादि विद्याके नाम से प्रचलित है ।

इन कामेदवमें जो सर्वजयित्व शक्ति है यह भगवतीकी उपासनाके फलस्वरूप ही है । इसलिये भगवती ही कामदेवमें शक्ति रूपमें निहित हैं । कामदेवको सर्वजयित्व सौभाग्य पद दान देनेके कारण ही इनका नाम सौभाग्यदायिनी पड़ा है ।

भगवती महालक्ष्मीके गर्भसे कामदेवकी भगवान् शिवके द्वारा दहन किये जाने के पश्चात् अनंग भावको प्राप्त करने पर उत्पत्ति हुई थी अत भगवतीको कामदेवको रूप (आकार) देनेवाली कामरूपा कहा जाता है । भगवती जगदम्बा उन्हे अपनी कलाके रूपमें नेत्रोमे अजनवत् धारण करती है, इसलिये इन्हें काम कला भी कहा जाता है ।

किसी सत्ताके चरम अशको आगमशास्त्रमें कला कहा जाता है । कलाये विभिन्न प्रकारकी होने पर भी स्थूल दृष्टिसे दो प्रकार की है–चित् एव अचित् । विश्व सृष्टिमे कामदेवका अतिशय महत्वपूर्ण स्थान है । कामदेव भी भगवतीकी सृष्टिकी कारण कला है । विश्वमे चित् कला एव अचित् कला दोनोके सहयोगसे ही सृजन पालन होता है । आगम शास्त्रोमे कलाओसे तत्व रचना होती है और तत्वोसे भुवनादिकी । पूर्ण अखण्ड सत्ता निष्कल है। शक्ति चिदात्मक होनेसे शक्तिकी शान्तिकला चित्कला है शिवकी शान्ति अतीत कला भी चित्कला है ।

## अनुत्तर शब्दका अर्थ

**प्रश्न सातवाँ – बाबा, तंत्र शास्त्रमे अनुत्तरा शब्द भी भगवतीके नामके रूपमें प्रयुक्त है । सौभाग्य अष्टोत्तर शत नामावलीमे अनुत्तरा शब्द आया है । इसे स्पष्ट करें । इसी तरह इस अष्टोत्तर शत नामावलिमें "अनलोद्भवा" शब्द भी आया है । इसे भी जरा खोलकर समझावें । इसी तरह "स्वातंत्र्य" शब्द पर भी तनिक प्रकाश डाले ।**

पू गुरुदेव द्वारा उत्तर पूर्ण सत्ताका जो चिद्रूप भान है, वही अनुत्तर है । जगतमें ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेय रूप जो त्रिपुटी है उसमें ज्ञाताके साथ जो सम्बन्ध रहता है, उसमें मूलमें भेद रहता है । इसीलिये ज्ञाताका ज्ञेय विषयक जो अनुभव होता है, वह "इद" रूपमें होता है । जैसे "मै घर देखता हूँ" यह घर है इदं और "मैं है" अह । इन दोनोंका सम्बन्ध "देखता हूँ" क्रियासे सम्बद्ध होता है । परन्तु इस ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेयकी पृष्ठभूमिमे एक परम द्रष्ट है, जो इन्न तीनोंको अभिन्न रूपसे ग्रहण करता है । वह द्रष्टा इन्हें अखण्ड

अद्वय रूपमें जानता है । उसका सर्वत्र अह रूपमे ही प्रकाश होता है । वह विश्वातीत होने पर भी विश्वात्मक है । लौकिक ज्ञानमें ज्ञाता देहादि द्वारा अविच्छिन्न चैतन्य है । इसलिये उस ज्ञानमें स्थितिके अनुसार इन्द्रियों तथा मन की भी आवश्यकता होती है । परन्तु लोकोत्तर प्रकाशमें जो अनुत्तर स्वरूप स्वत. भान होता है उसमे विशुद्ध पूर्ण अहका बोध होता है । इसमें मन–इन्द्रियादि प्रमेयकी आवश्यकता ही नहीं । इसमें मन–इन्द्रिय न होकर भी अखण्ड ज्ञान है । यह ज्ञान अद्वैत है । तत्र शास्त्रमे इस अनुत्तर दशाकी "अ" मातृकासे व्याख्याकी गयी है ।

शक्तिका प्रादुर्भाव ज्ञानसे ही सभव है । भगवती चित् शक्ति हैं । "विमर्श" शब्दकी व्याख्या करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्ता, ज्ञान एव आनन्दमें सत् शक्ति साधिनी, चिच्छक्ति चिति एव ह्लादिनी शक्ति निहित रहती है । इसीलिये भगवती "चिदग्नि कुण्ड सम्भूता" नाम दिया गया है । ये ज्ञान स्वरूप चिज्ज्योतिके कुण्डसे ही प्रादुर्भूत होती हैं । अनल शब्द इस ज्ञानाग्नि, चिदग्निका ही परिचायक है । अनलोद्भवाका अर्थ ज्ञानाग्निकुण्ड सम्भूता ही मानना चाहिये ।

इसी प्रकार आत्माका जो निरपेक्ष भाव है, उसे स्वातत्र्य कहा जाता है। भगवती आद्याशक्ति पूर्ण परमात्मा हैं । उनकी ही इच्छा मात्रसे सब कुछ होता है, उनकी इच्छामें बाधा देने वाली कोई शक्ति न तो हुई थी, न हुई है और न ही होनी सभव है । जो स्वत स्फूर्तिशील एव नित्य वर्त्तमान है, वही स्वातंत्र्य है ।

---

# पू. गुरुदेव श्री राधाबाबाकी मातृ साधना एवं पराम्बाका साक्षात्कार

पू. गुरुदेवकी तन्त्र साधना दक्षिण मार्गकी साधना थी । सन् १९४५ ई. तदनुसार विक्रम स. २००१–२००२ मे मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके साथ मैं गोरखपुर चला आया था । इन्हीं दिनों मैंने उनकी पूजा देखी थी । वे चतु प्रहर चार पूजा प्रतिदिन किया करते थे । रात्रिके द्वितीय प्रहरमे उनकी तुरीय पूजा हुआ करती थी ।

मै उनकी पूजा देखकर मुग्ध हो जाता था । पू गुरुदेव मौन रहा करते थे । वे मात्र "राधा राधा" शब्द ही बोला करते थे मानसिक रूपसे वे सभी मत्र अवश्य बोलते थे, परन्तु इन मंत्रोके पीछे भी उनका "राधा राधा" सम्पुट अवश्य लगता था । पूजा करते करते पू गुरुदेव इतने तल्लीन हो जाते थे कि उनके सम्मुख उनके इष्टकी ध्यान जन्य मानस मूर्त्ति प्रत्यक्षावत् प्रकट हो जाती थी ।

पू. गुरुदेव पूजामे इतने एकाग्र रहते थे कि उन्हे किसी भी बाह्य व्यक्तिके आने–जानेका ध्यान ही नहीं रहा करता था । वे पूजा करते समय अपनी कुटियाका द्वार उढका लेते थे, उनकी कुटियामें भीतरसे कुण्डी लगाने का यद्यपि साधन था, फिर भी भीतरसे वे कुटिया कभी बन्द नहीं करते थे। एक दिन जब मै उनके पास पहुँचा वे पूजा कर रहे थे । कुटिया उढकी पाकर मैं बाहर बैठ गया एव उनकी पूजा समाप्तिकी प्रतीक्षा करने लगा । प्रति प्रहर पूजामें उनको सवा डेढ घन्टेका समय लगा करता था । मैंने उनकी कुटियाके बाहर बिछे एक लकडीके तख्ते पर बैठकर नाम जप करना प्रारम्भ कर दिया ।

अचानक श्रीपोद्दार महाराज आये । उन्हें अचानक किसी कार्यवश गोरखपुर शहरसे बाहर दूसरे नगर जाना पड़ रहा था । श्रीपोद्दार महाराजने श्री गुरुदेवको पूजाके मध्य ही कुटियाका द्वार खोलकर सूचना देदी कि वे गोरखपुरसे बाहर जा रहे हैं एव गुरुदेव पूजा समाप्त करके उनके साथ चलनेकी रेलयात्राकी तैयारी कर लें । पू. गुरुदेव पूजामें इतने तल्लीन थे कि उन्होंने न तो कुछ सुना और न ही उन्हें श्रीपोद्दार महाराजके आनेका ही भान हुआ। पू गुरुदेवको यदि पोद्दार महाराज द्वारा दी गई सूचना सुनाई प

जाती तो सभव है वे संक्षेपमें अपनी पूजा सम्पादित कर लेते । जब उन्हे कुछ सुनायी ही नहीं पडा तो सम्भवतः उन्होंने अपनी पूजा यथाक्रम ही सम्पादित की । पू. गुरुदेव जैसे ही पूजा करके उठे, श्री पोद्दार महाराज उन्हे ले चलनेकी त्वरा करने लगे । उनकी ट्रेन छूटनेका समय हो रहा था। अभी तो गुरुदेव ने अपना सामान भी नहीं समेटा है, यह देखकर दोनो में विवाद हो गया । श्रीपोद्दार महाराज कहें कि मैं स्वय आकर सूचना दे गया था और श्री गुरुदेव कहें कि मुझे सूचना मिली ही नही, यदि मिल जाती तो मुझसे यह असावधानी होती ही नहीं, मैं आपसे पूर्व तैयार मिलता । अन्तमें अत्यन्त संकोचपूर्वक मुझे मध्यस्थ होना पड़ा । मैंने पू. गुरुदेवसे कहा – "बाबा ! श्रीपोद्दार महाराज आये थे, परन्तु आप पूजामें सलग्न थे ।" तब जाकर यह रहस्य खुला कि अर्चना करते समय बाह्य क्रिया सम्पादित होते हुए भी उनकी तल्लीनता इतनी अधिक थी कि खुली ऑखों वे पोद्दार महाराजको न तो देख सके, न ही उनकी बात हृदयगम कर सके ।

पू. गुरुदेवने एक बार अंग न्यास कर न्यासकी साधना समझाते हुए मुझे स्पष्ट कहा था कि न्यास करते समय उनके सम्मुख मंत्र तेजोमय वर्णरूपसे शरीरमें सन्निविष्ट दृष्टिगोचर होते हैं । उन्हें पुस्तक, माला, पूजापात्र सभी दिव्य चिन्मय रूप धारण किये सम्मुख उपस्थित दिखते हैं ।

पू. गुरुदेव सम्पूर्ण अक्षरोंकी अधिदेवी भारतीकी पूजा पंचोपचारसे करते, तत्पश्चात् सम्पूर्ण मातृकाओंको शक्ति–प्रणवमें और प्रणवको ब्रह्मरध्रमे प्रविलुप्त कर लेते थे । वे जब "ल" बीजका उच्चारण करते तो भूमि देवी कनकके अण्डेके समान दैदीप्यमान हुई उनके सम्मुख उपस्थित होती थीं, तत्पश्चात् विशुद्ध मुकुरके समान परम स्वच्छ निर्मल सच्चिन्मय ब्रह्मरध्रमे विलीन हो जाती थी । इसी प्रकार "व" बीजका उच्चारण करने पर चन्द्रार्ध प्रकट होता था, उसके पश्चात् उसमेसे दो पद्म प्रकट होते थे जिनमें अमृत सपुटित होता था । यह अमृत भी उनके ब्रह्मरध्रमें विलीन हो जाता था । इसी प्रकार "र" उच्चारण करने पर सर्वत्र विलक्षण अग्निमण्डल प्रकट होता था । परन्तु यह परम चिन्मय अग्निमण्डल उनके रोम रोमको विलक्षण तेज सम्पन्न करता हुआ ब्रह्मरंध्रमें विलीन हो जाता था । वे जब "य" बीजका उच्चारण करते तो धूम्राभा धारण किये वायुदेव प्रकट होते थे, वे भी उनके प्राणोंसे एकात्म हुए उनके दसों प्राणोंको ऊर्ध्व गति देते ब्रह्मरध्रमें विलीन हो जाते । "हं" बीज उच्चारण करने पर पू. गुरुदेव सर्वव्यापी शून्यसे एकात्म हुए पूर्ण चिदात्मक हो उठते थे । इस चिदात्मकताके महासमुद्रसे उनका भाव शरीर व्यक्त होता था, इसी पूजनोपयोगी भाव शरीरसे पू. गुरुदेव आद्याशक्ति त्रिपुराकी सेवामे संलग्न

होते थे । भगवतीका पूजन उनका यह चिन्मय पूजनशरीर ही किया करता था ।

पू. गुरुदेवकी मन्दिर पूजाका वर्णन पिछले अध्यायमें किया ही जा चुका है । पू. गुरुदेव कभी–कभी पूजा करते–करते बहुत ही सुन्दर गाने लगते । उनका कण्ठ अतिशय सुरीला था । वास्तवमें पू. गुरुदेव जब बहुत ही विरहमें होते तभी गाया करते । अपनी विरहव्याकुल दशाका हाहाकार कही उनके बाह्य शरीरमें व्यक्त नहीं हो जाय, उसे संगोपित करनेके लिये ही गुरुदेव गाने लगते । जिसने भी पू. गुरुदेवका गायन सुना है, वह उसे कभी भी विस्मृत नहीं कर पावेगा । अतिशय मधुर कोकिलकण्ठी ध्वनिमें वे गाते थे । यद्यपि उनके गायनके वास्तविक बोल तो प्रच्छन्न ही रहते थे, बैखरी वाणीमें उनका "राधा" "राधा" शब्दोच्चारण ही सबको श्रवणगोचर होता था । सुनने वाला व्यक्ति मन्त्र मुग्ध हुआ सा उनके गायनमें डूब जाता था । पू. गुरुदेव तभी तक गाते थे जब तक वे ऐसा समझते कि वे गा रहे हैं और उनका इष्ट उनका गायन सुन रहा है । किसी दूसरेका अस्तित्व आस–पासमें सुनने वालेके रूपमें अनुभव होते ही वे तुरन्त गाना बन्द कर देते थे । पू. गुरुदेव जब गायन करते होते उस समय वे इस विश्व और अपने विगत शरीरको सर्वथा भूले रहते थे । अनेक अवसरों पर मैं चुपचाप निष्पन्द उनके पास घण्टों बैठा रहता और उनकी सुमधुर स्वरलहरीमें डूबा रहता । उन्हें मेरे आगमनका बोध ही नहीं होता था । मैं देखता, गाते समय उनकी ऑखोंसे लगातार अश्रुधारा बहती जाती थी । अश्रुओंसे उनका वक्षस्थल भीग जाता था ।

पू. गुरुदेव यद्यपि श्रीराधाकृष्णके मधुरोपासक थे, परन्तु मातृ उपासनाके समय वे पूरे तान्त्रिक आचार्य होते थे । तंत्र शास्त्रकी गोपनीयसे गोपनीय बातें और उपासनाके अंग उन्हें ज्ञात थे । यही दशा श्री पोद्दार महाराजकी भी थी । श्री पोद्दार महाराजको ऊपरसे देखकर कोई नहीं पहचान पाता था कि वे सिद्ध तान्त्रिक भी हैं ।

पू. गुरुदेवकी श्रीक्रमकी पूजा तो प्रत्येक प्रहर डेढ़ घन्टे होती थी, इस प्रकार उन्हें लगभग दिनभरमें छः घण्टेका काल तो भगवतीकी पूजामें ही लगता था, शेष समयकी साधनामें उन्होंने कोटि नामावलि जपका संकल्प किया हुआ था । अपनी कुटियामें वे ऊनी आसन पर उत्तराभिमुख बैठकर पूजन किया करते थे । नामावलि जपके दैनिक क्रमको पूर्ण करनेके लिये उन्हें चौदह-चौदह घण्टे आसन पर बैठना पडता था । प्रत्येक उपासनाके लिये उन्हें कम–से–कम एक सहस्र सुगन्धित पुष्पोंकी आवश्यकता होती थी।

उन दिनों श्रीकेदारजी कानोडिया अपनी पत्नी सहित गीतावाटिकामे ही श्री पोद्दार महाराजके पास ठहरने आये हुए थे । ये गीताप्रेसके ट्रस्टी श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडियाके छोटे भ्राता थे । श्री पोद्दार महाराजने इनके जिम्मे वाटिकाका पुष्प प्रबन्ध दे रखा था। इनके संरक्षणमें चार माली केवल इसीलिये नियुक्त थे जिससे सभी को पूजनार्थ पुष्प प्राप्त हो जावे । पू. गुरुदेवके लिये प्रतिदिन चार हजार सुगन्धित पुष्प गिनकर तुडवाकर टोकरियोमें भरकर भिजवाना श्रीकेदारजीकी ही सेवा थी । यद्यपि इन्होंने बहुत दिनो तक अति अध्यवसाय पूर्वक सेवाकी, चेष्टाकी, परन्तु मालियोंके प्रमादवश कभी–कभी सुगन्धित पुष्पोका अभाव हो उठता था । पू. गुरुदेव अपने कारण मालियोंको अनुशासित करवाना भी नहीं चाहते थे और बिना अनुशासन एव भयके कोई नियमित कार्य करना नही चाहता था । गीताप्रेस पुष्पोके लिये अधिक अर्थ भार सहने को भी तैयार नही था । इन उलझनोमें पू. गुरुदेवको अपनी उपासना विधिमे परिवर्तन करना पड़ा और पुष्पोके स्थान पर अक्षतार्चन प्रारम्भ किया गया । अक्षतार्चनमें भी क्षत चावलोका प्रयोग नही होनेके कारण अक्षत चावल छॉटनेके कार्यमें कठिनाई आने लगी । चावल चुननेमे घण्टा समय लगता और यह कार्य करनेमें गृहस्थ स्त्रियाँ किनारा करने लगीं। पू. गुरुदेवने इस कठिनाईको देखकर रक्त चन्दन एवं कुंकुमका प्रयोग प्रारम्भ किया । कुकुम पू. गुरुदेव स्वय ही निर्माण करते थे, क्योकि बाजारोमें उपलब्ध कुकुम शुद्धतापूर्वक तैयार नहीं होती थी, उसमें अन्य वर्जित केमिकल और रग मिलाये जाते थे । पू. गुरुदेव हल्दीको चूनेके सयोगसे रॅग कर गगाजलमें शुद्ध कुकुम निर्माण करते थे ।

लालचन्दन घिसना एव सभी पूजा सामग्री सयोजन करनेका उत्तरदायित्व भाई श्रीरामसनेहीजीने वरण कर रखा था । अब पू. गुरुदेवका जप एव अर्चन सुव्यवस्थित होने लगा ।

पू. गुरुदेवका जीवन उन दिनो उपासना, ज्ञान एव प्रेमयोगकी त्रिवेणीका अभूतपूर्व सगम था । यद्यपि भावसे वे पूरी प्रेमयोगमे डूबी गोपी थे जो पूर्ण रस–विलासमे आपाततः निमग्न थी, परन्तु उनकी जीवनचर्या इतनी तपक्लिष्ट थी कि रस निर्झरिणी कहॉ बह रही है, बाहर से कुछ भी पता नहीं चलता था। श्रीकृष्ण प्रेमलीला राज्यमें उनकी अवस्थिति यद्यपि बहुत ही प्रगाढ़ थी, उससे विचलित होनेका तो प्रश्न ही नहीं था, परन्तु साथ ही साथ उनकी मातृ साधना भी अति वेग पूर्वक बढ़ रही थी जिसका दिग्दर्शन मात्र उनकी दैनिक जीवनचर्या ही कराती थी ।

पू. राधाबाबा प्रायः रात्रिमें प्रतिदिन डेढ दो बजे उठ जाते थे । वे शौच जाकर स्नान कर ध्यानादिमें बैठ जाते थे । प्रातः लगभग पॉच बजे वे पुनः शौच जाकर स्नान कर लेते । दिनमें वे पॉच बार शौच जाते थे और चाहे सर्दी, गर्मी, बरसात कैसी भी ऋतु क्यों न हो, पॉचों बार उनकी स्नान क्रिया आवश्यक होती। अपने हाथों कुएसे पानी निकालकर अथवा हैण्डपम्प चलाकर कमण्डलु भरकर स्नान करनेका उनका नियम था । प्रातः स्नान करके वे श्रीपोद्दार महाराजके अपने निवाससे बाहर आनेकी प्रतीक्षा किया करते थे । श्रीपोद्दार महाराजको महासिद्ध सन्त माननेके कारण वे प्रतिदिवस प्रातः ही उनके दर्शन किया करते थे । ज्योंही श्री पोद्दार महाराजके कलेवर पर उनकी दृष्टि पडती, उनके इस प्रथम दर्शनसे ही दिवस भरकी साधनाका उनका क्रम प्रारम्भ हो जाता । भगवतीका प्रातःकालीन पूजन अर्चन वे सर्वथा एकान्तमें अपनी कुटियाका दरवाजा ढकाकर किया करते । प्रतिदिवस चार हजार पुष्पार्चन करनेके कारण ये निर्माल्य पुष्प उनकी कुटियाके पार्श्वमे एक गड्ढेमे डाल दिये जाते, आगे जाकर इसी गड्ढेमेसे स्वतः ही एक अमरुदका वृक्ष प्रकट हो गया । यह गड्ढा पट जाने पर फिर दूसरा गड्ढा बनाया गया, वहॉं भी एक बिल्व वृक्ष लग गया । इन वृक्षोंके फल अपूर्व सुगन्धि एवं विलक्षण मधुर स्वादसे भरे होते थे। ये वृक्ष आज भी सर्वपूज्य एवं दर्शनीय हैं ।

चौबीस घंटोमें मात्र एक बार ही मध्यान्हमे अथवा सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व पू. गुरुदेव भिक्षा किया करते थे । भिक्षामें गाढा तीन चार सकोरे दधिका मट्ठा वे अवश्य पिया करते थे । अन्न भोजनके पश्चात् सेव आदि फल भी वे अवश्य लेते थे । भोजनमें शाक एवं चावलकी मात्रा पर्याप्त रहती थी । वे एक ही प्रकार का शाक परवल, लौकी एवं बथुआ अथवा चौलाई या पालक का मिश्रणकर उबालकर खाते थे । इनकी भिक्षामे नमक सर्वथा ही नहींके बराबर होता था । भिक्षाके पश्चात् वे अपनी पत्तल स्वयं ही उठाकर फैंकते थे । भिक्षाके पूर्व तुलसीदलसे वे भोग लगाया करते और भोग लगा प्रसाद कभी उच्छिष्ट नही छोडते । एक बारकी घटना है कि जमीकन्दकी सब्जी उनकी पत्तलमें किसीने प्रमादवश कच्ची ही परोसदी । वे उसे भोग लगा चुके तब किसीके द्वारा उसके कच्चेपनकी बात ज्ञात हुई । उसने मना भी बहुत किया परन्तु फिर भी समूची कच्ची जमीकन्द पू. गुरुदेवने उदरस्थ कर ली । इसके फलस्वरूप उनकी भोजन नली और आमाशयमें घाव हो गये। वे उस घावके कारण तीन दिवस तक पानी पीनेमें भी कठिनाई अनुभव करते रहे । भोजनतो उनसे निगला ही नहीं गया । चौबीस घण्टोमे मात्र एक बार भिक्षा के अतिरिक्त वे कभी भी कोई वस्तु मधु, नीबू, शिकन्जी, फलोंका रस कुछ भी

ग्रहण नहीं करते थे । उनके पानी पीनेका निश्चित्त समय हुआ करता था और एक बारमे वे ढाई–तीन किलो पानी धीरे धीरे अवश्य पिया करते थे । प्रत्येक एकादशीके दिवस वे फलाहार करते और प्रत्येक सोमवारका व्रत करते समय सायकाल पूजा होने तक वे जल भी ग्रहण नही करते, निर्जल निराहार रहते । इसी प्रकार प्रदोष के दिन भी वे सायकाल प्रदोष पूजन करके ही जल ग्रहण करते थ । वे चतुर्थी व्रत भी करते थे और मास में कृष्ण पक्षकी चतुर्थीको चन्द्रमा देखकर ही भिक्षा किया करते थे । अनेक बार ऐसा होता था कि वर्षा ऋतुमें बादलोंके कारण चतुर्थीका चन्द्रमा दिखता ही नहीं था, उस दिन जब तक चन्द दर्शन न हो वे भिक्षा नही करते थे । वे मुद्रा स्पर्श नहीं करते थे और यदि कोई मुद्रा स्पर्श करा देता उस दिन वे निराहार उपवास करते । इसी प्रकार किसी भी स्त्रीका यदि कभी भी असावधानीसे भी उनसे वस्त्र स्पर्श हो जाता तो वे उस दिन अवश्य उपवास करते । उन्हें महीनो मलेरिया बुखार आता था, उस समय भी उनका सब पूजन क्रम, पॉचो प्रहरका स्नान उसी प्रकार चलता था । भयानक रूपसे रोगाक्रान्त होने पर भी उनके उपासना क्रममे व्यवधान कभी नहीं हो पाता था ।

पू. गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराजके शरीरको सचल वृन्दावन मानते थे और उन पर उनकी अटूट श्रद्धा यावज्जीवन रही । उनका अमोघ विश्वास था कि जो वस्तु जन्म जन्मान्तरकी साधना सम्पन्नता नही प्रदानकर सकती, वह चिन्मय वस्तु श्रीपोद्दार महाराजके शरीर सान्निध्यसे प्राप्त हो सकती है । जो परमातिपरम दुर्लभ श्रीकृष्ण प्रीतिपद उच्च साधना सम्पन्न महायोगियोके लिये अलभ्य है, वह श्रीपोद्दार महाराज अपने सहज अनुग्रहसे किसी अधमाधम जीवको भी दान कर सकते हैं । श्रीपोद्दार महाराजके प्रति ऐसी उत्कट माहात्म्य बुद्धि एव श्रद्धा होनेके फलस्वरूप पू. गुरुदेव यावज्जीवन उनके छायावत् साथ रहे और उनकी मृत्युके पश्चात् भी उनकी चितास्थलीमें ही उनका जीवन व्यतीत हुआ ।

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके अगोंसे एक दिव्य गध सदैव निकला करती थी । वह मूलत. पद्मगन्धके समान होती थी । मैंने वैसी मीठी गन्ध वल्लभ सम्प्रदायके मन्दिरोमे भी नहीं पायी, जहॉ ग्रीष्म ऋतुमें ढेरो गुलाब, केवडा और कमलोकी भगवान्के श्रीविग्रहोंके श्रृगारके समय बहार रहती है। पू. गुरुदेवकी अग गध परिवर्त्तित होती रहती थी । प्रात.काल जब मैं उनके पास जाता तो अति भीनी कस्तूरी महकती होती, कभी तुलसी वनकी सी गन्ध प्रवाहित होने लगती । मध्यनिशाके पश्चात् मैं प्राय उन्हें व्रजरसके कीर्त्तन सुनाने जाता तो इतनी मधुर सुगन्ध उनकी कुटियामें परिव्याप्त रहती कि मैं

चकित हो जाता था । मैं सोचता आसपासमें कहीं रजनीगन्धा महक रही होगी, परन्तु इस सुगन्धके परिवर्तन होने पर ऐसा अनुमान होता था कि संभव है बहुत सी गोपियाँ भावदेहसे वहाँ अवस्थित हों और उनकी भिन्न-भिन्न अगगध मेरी घ्राणेन्द्रिय में प्रवेश पा रही हों ।

पू. गुरुदेव जिस कुटियामे रहते थे वहाँ उनके सिरहाने की खिड़कीके तलमे एक बिलमे घोर करैत सर्प निवास करता था । वह पूज्य गुरुदेवके आसपास कभी घूमता फिरता भी था । पूज्य गुरुदेव अनवरत बारह वर्ष तक उसके सहवासी रहे । न तो गुरुदेवने उसे वहाँसे हटाया न ही वह भी पूज्य गुरुदेवके सामीप्यको छोड़कर कहीं गया । हम लोग कभी--कभी रात्रिमे जब उनकी कुटियामे जाते तो गुरुदेव कह दिया करते थे--"भाई ! यहाँ मेरा सहवासी सर्प अभी नीचे घूम रहा है, उसे पैरोसे कुचलना मत, वह तुमको कुछ नही कहेगा । डरना मत । एक बार पू. गुरुदेव जब बारह माह गोरखपुरसे दूर राजस्थान श्रीपोद्दार महाराजके साथ उनके ग्राम रतनगढ आ गये तो पीछेसे गीतावाटिकाके प्रबन्धकोंने पू. गुरुदेवकी कुटिया मरम्मतके लिये उखाड़ दी । उस अवसर पर नयी खिडकी एव दरवाजे भी लगाये गये । तब उस विषधर सर्पको मजदूरोंने मार डाला । पू. गुरुदेव उसकी मृत्यु पर बहुत ही दुखी हुए और उन्होने उसके लिये गीता एव विष्णु सहस्रनामके अनेकों पाठ कराये ।

पू. गुरुदेवकी कुटिया गीतावाटिकाके बहुत पिछवाड़े वन क्षेत्रमे थी । वहाँ चतुर्दिक वृक्षोके सूखे पत्ते बिखरे रहते थे । अस्तव्यस्त वन क्षेत्र वर्षा ऋतुमे असख्य मच्छरो, विशाल सर्पो और विषैले बिच्छुओका आवास बना रहता। रातको प्राय. लघु चहार दिवारी लाँघकर सियारों एव भेड़ियोंका पदार्पण भी हुआ करता । ऐसे विषम वातावरणमे अकेले पू. गुरुदेव बिना मछहरीके अपनी कुटियाके आगे खुले दालानमे सोते रहते थे । उन दिनों उस क्षेत्रमें बिजली भी नही थी, अत. मात्र लालटेनके टिमटिमाते प्रकाशमे ही सारी रात बितानी पडती । वर्षा ऋतुमें जब वायु प्रवाह रुक जाता, भीषण डॉस और विशाल सूँडी मच्छर असख्य झुण्डोंमें देह पर आक्रमण करते, उस समय बिना मछहरी वहाँ रहना, सोना और रात बितानी असंभव एवं सर्वथा असहज थी, फिर भी गुरुदेव ने अपने जीवनके पन्द्रह वर्ष इन्हीं मच्छरोंके मध्य बिताये और कभी भी मछहरीका प्रयोग नहीं किया । उनके शरीरमे ऐसा कोई अलौकिक तेज था, सभव है जिससे ये विषैले जन्तु उन्हें नहीं काटते थे ।

एक बार श्रीपोद्दार महाराज गोवर्धन परिक्रमा करने गये थे । उनके साथ सैकडों व्यक्ति परिक्रमा कर रहे थे। भगवन्नामकी तुमुल ध्वनिमें सकीर्त्तन

करते हुए परिक्रमा यतीपुरा ग्राममे श्रीमथुराधीशके दर्शनार्थ पहुँची । श्रीमथुराधीश उन दिनों ब्रजमें ही विराजित थे । अचानक सकीर्तनमें ढोल, झॉझ, मृदगके बजनेसे एक स्थान पर छाता लगाये बड़ी सख्यामें मधुमक्खियॉ बिफर गयीं । यात्रियोंको मधुमक्खियोंने इस बुरी तरह से काटा कि अनेक लोगोंको अस्पताल ले जाना पड़ा । मैं पू गुरुदेवके पास ही खडा था । मैंने देखा सैकडो मधुमक्खियॉ पू गुरुदेवके आसपास क्रुद्ध हुई मॅडरा रहीं थीं परन्तु एक भी उनके अंगोमें दशतक नहीं कर रही । यहॉ तक कि उन्होंने मुझे भी भागनेसे मना कर दिया और कहा कि बचना चाहता है तो निर्भीक मेरे पास बिना प्रतिरोध किये खड़ा रह । मै आश्चर्य चकित था । पू. गुरुदेवकी देहमें एक ऐसा विलक्षण तडित्प्रवाह सदा रहता था, जिसके फलस्वरूप हिसक जीवोंका क्रोध उनके सम्मुख शान्त हो जाता था ।

पू गुरुदेव काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सभी बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त तो थे, उनमे भगवती आद्या शक्तिके प्रति शुद्धा भक्ति एव पूर्ण प्रेममय समर्पण व्यक्त हो ही चुका था । गुरुदेव सत्ताईस लाख अर्चन भी सम्पादित कर चुके थे । अब वह काल भी अति सन्निकट आ गया जब उन्हे भगवती त्रिपुरसुन्दरीका पूर्ण कृपा प्रसाद प्राप्त होना अवश्यभावी था । मॉके परम मगलमय दर्शन होनेकी बेला समुपस्थित हो, उनके पूर्व भगवती आद्याशक्तिने उनकी भीषण परीक्षा ली।

घटना बीस जनवरी १९५१ की है । पू गुरुदेव स्वय ही जल निकालकर कूएकी जगत पर खडे स्नान करने जा रहे थे । गोरखपुरमें सर्दियोंमें प्राय· वर्षा होती ही है । उस दिन भी आकाश मेघाच्छन्न था । कुएँकी जगत पर पर्याप्त काई वर्षाके कारण जम गयी थी । पू गुरुदेव काष्ठ निर्मित खडाऊ पहने दतुअन करके जैसे ही स्नानार्थ कुएँ पर चढे कि काईसे उनकी खडाऊ फिसल गयी । वे धडामसे पृथ्वी पर गिर पडे । गिरते ही एक बार तो उन्हें मूर्च्छा आ गयी । श्रीरामसनेहीजी नामक परिचारकने उन्हें उठानेकी चेष्टा की, परन्तु उसकी वह चेष्टा सफल नहीं हो पायी । श्रीरामस्नेहीजीकी पुकार पर अनेक लोग दौडे आये, श्री पोद्दार महाराज भी आये । पू. गुरुदेवको जब चेतना हुई तो उनके दाहिने कन्धेमे भीषण पीड़ा थी । यह पीडा ही स्वय बता रही थी कि उनकी कोई हड्डी टूट गई है ।

पू. गुरुदेवको उठाया गया । उनके कीचड सने वस्त्र बदले गये । श्रीपोद्दार महाराज गुरुदेवको अस्पताल ले गये । वहॉ डाक्टर श्रीमाथुर साहबने एक्सरे किया तो पता चला कि उनकी हॅसुलीकी हड्डी (Collar Bone) टूट गयी है । सभी सन्देह दूर हो गये और सही स्थिति सामने आ गयी ।

पू. गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराजके साथ गीता वाटिका चले आये । अब चिकित्साका प्रश्न उठा । चिकित्सा पू. गुरुदेवको यति धर्मके अनुसार स्वीकार थी नहीं । श्रीमाथुर साहबका आग्रह प्लास्टर बँधवानेका स्वाभाविक ही था, जो पू. गुरुदेवको कदापि स्वीकार्य नहीं था । अब यही मध्यम मार्ग निर्धारित हुआ कि कम्बलको पट्टीकी तरह प्रयोग लेते हुए गेरुए वस्त्रसे उसे कॉखमे बॉधा जाये, जिससे हड्डी इधर–उधर नही हो, ठीक स्थिति पर बनी रहे । परन्तु पू. गुरुदेव प्रतिदिन चार बार स्नान करते ही थे। प्रतिदिन चार बार स्नानके पूर्व पट्टी हटा दी जाती थी और पुन उसे स्नानके पश्चात् बॉधी जाती थी । इन दिनों श्रीमाथुर साहबने पू. गुरुदेवकी अतिशय सेवाकी ।

पू. गुरुदेव अपने नियमो एव आचारमे अटल थे । इस अवस्थामे भी उन्हे प्रति दिवस बार बार चारों पहर सहस्रार्चन करना ही था । शरीरमे भीषणतम पीडा थी । हँसुली की भग्न हड्डी स्नान करते समय एव पूजार्थ हिलनेके कारण असह्य वेदना देती थी, इसे भला शब्द किस प्रकार प्रकट करें। मस्तिष्क पीडासे अतिशय सिहर उठता था, फिर भी अर्चना चारो पहर अक्षुण्ण चलती रही ।

पीडाके कारण पू. गुरुदेवको रात्रिमें भी नीद नहीं आती थी । भूख प्यास भी बिदा हो गयी थी । परन्तु उनकी अखण्ड आन्तरिक अनुभूति यही बनी रहती थी कि इस भीषण पीडाके रूपमे भगवतीका असीम परम मगलमय करुणा समुद्रही हिलोरे ले रहा है । जब उन्हें भीषण कष्ट होता तो वे "राधा" "राधा" गान करने लगते । उनकी इस प्रेम–आकुल "राधा""राधा" नाम ध्वनिमें ऐसी अलौकिक माधुरी भरी होती थी कि वनके वृक्ष, लता–पता, समग्र पचभूत ही शान्त स्तब्ध मानो श्रवणेच्छुक हो उठते थे । पू. गुरुदेवका रोम रोम उस गायन कालमें मातृप्रेमसे पूर्ण पगा रहता था ।

मै उन दिनो अपनी जन्मभूमि गया हुआ था । सन्यस्त तो लगभग बाईस वर्ष पश्चात् हुआ था । जैसे ही मुझे उनकी इस दुर्घटनाकी सूचना हुई, मै गोरखपुर आया । मैं जब गोरखपुर पहुॅचा तो वे थोडे स्वस्थ हो चुके थे। उन्होने उस भीषण कष्टके समय अपने चित्त की स्थिति और मनकी अवस्थाका वर्णन मुझे सुनाया था ।

वे कह रहे थे "उस दशामें बाह्य होश मुझे बहुत ही कम रहता था। कष्ट सहनशक्तिके बहुत आगे पहुँच चुका था, फिर भी किसी अज्ञात शक्तिकी सहायतासे सहन तो हो ही रहा था, साथ सम्पूर्ण पूजा अर्चन पूर्ववत् निर्विघ्न सम्पन्न हो रहा था । उस कष्टजनित उन्मत्त अवस्थामे जड सृष्टि मेरे सम्मुख चेतन हो उठती थी । ठीक ऐसा अनुभव होता मानो साक्षात् भगवती

ही समग्र पचभूतात्मक जडताके वस्त्र पहने सम्मुख खडी हँस रही हैं । वे ही पीडाके वस्त्र पहने किसी परम विशेष अनुग्रहकी अदम्य इच्छा लिये मेरे मस्तिष्कको मथ रही हैं । इस प्रकारके प्रगाढ घने विचार कुछ क्षण आते फिर सम्पूर्ण तामसिकता छँटने लगती । विशुद्ध सत्व निखरने लगता । माँ महामाया जो चराचरमे ओत–प्रोत है निरावरित मेरे सम्मुख अभूतपूर्व वात्सल्यरा भरी सम्मुख आ जाती। उस समय उनसे मिलकर एक होनेकी उत्कण्ठा इतनी तीव्र हो उठती थी कि रोम–रोम विरहकी भीषण ज्वालामें दहकने लगता । उस विरह ज्वालाका ऐसा ताप होता था कि उसके सम्मुख हड्डी टूटने का शारीरिक कष्ट तुच्छातितुच्छ प्रतीत होता था । ऐसा लगता मानो अथाह विरह समुद्र है और उसे पार करना मानो पूर्णतया असभव ही है । वह विरह व्यथा शब्दोके द्वारा कोई प्रकट कर ही नहीं सकता ।

जब टूटे हुए अवयवोसे भी अर्चन प्रारम्भ करने बैठता तो शरीरके सभी चक्रोंमे ध्येय मूर्ति व्यक्त हो जाती थी। ऊपरसे तो मै "राधा" "राधा" गाता होता, परन्तु भीतरसे मै माँ–माँ, मैया–मैया, जननी–जननी, अम्बे अम्बे, जगदम्बे जगदम्बे गाता । उस समय अपने विश्वरूपके सभी वस्त्र माँ मुझे पहना देती और मै अनन्त ब्रह्माण्डोसे एकात्म एकरूप हो जाता था । फिर मै अपना सब चोला माँको पहन देता उस समय मेरी ऐसी विलक्षण दशा होती कि क्या कहूँ । चार–पाँच सप्ताहमे पू गुरुदेव की हड्डी जुड गयी थी। वे क्रमश स्वस्थ होते गये तीन माहके लगभग उसके पश्चात् उनका अर्चन क्रम और चला होगा तब तक पू गुरुदेवके लगभग सत्ताईस लाख अर्चन पूर्ण हो चुके थे ।

उस दिन अक्षय तृतीया का पावन दिन था । नित्य नियमानुसार प्रात. स्नान कर पू गुरुदेव अर्चन करने अपने आसनमें बैठे थे । उनका आसन उत्तराभिमुख था । आसनके सम्मुख उनका पूजा चित्र स्थित था । अचानक वहाँ एक दिव्यालोक प्रकट हुआ । उस दिव्यालोकमें पू. गुरुदेवके सम्मुख भगवती प्रकट हो गयी । उस अत्यन्त रूपमयीकी वात्सल्य दृष्टिसे सराबोर गुरुदेव वहीं समाधिस्थ हो गये । जब पू. गुरुदेवकी समाधि भंग हुई तो दो बातें पूर्ण आश्चर्यमयी हुईं ।

एक तो अब तक पू. गुरुदेव बहुत प्रयत्न करने पर भी भगवतीके षोडशाक्षरी महामत्रका उद्धार नहीं कर पाये थे, वह मंत्र उनके सम्मुख श्री सौभाग्य अष्टोत्तर शत नामावलीसे प्रकट हो गया । इतना ही नहीं षोड़शाक्षरी मत्रका अपेक्षित अर्थ भी उनकी धारणामे परिपुष्ट हो गया । बादमें पू. गुरुदेव ने श्रीमद् आदि शकर रचित मंत्रार्थका जब अध्ययन किया तो उन्हे अपने अर्थ

से उसका साम्य पाकर बहुत ही समाधान हुआ । इसके अतिरिक्त दूसरे यावज्जीवन भविष्यमें उन्हें कभी आध्यात्मिक आधिदैविक एव आधिभौतिक कोई कष्ट न हो, इस प्रकारकी दु खविघातकसिद्धिकी प्राप्ति भगवतीकी कृपासे हुई। पू. गुरुदेवको भगवतीके दर्शन होते ही सर्वज्ञत्व सामर्थ्य एवं सर्वकर्तृत्व शक्तिकी भी सिद्धि हो गयी । परम पारमार्थिक लाभ जो शब्दातीत था वह तो यह था कि वे पूर्ण शिवत्व एव शक्तिके सामरस्यसे युगपत् एकात्म हो गये । पू. गुरुदेवके पचभूतात्मक देहके सारे अग, वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि सभी ज्ञानेन्द्रियॉ, कर्मेन्द्रियॉ, प्राणसमूह, सम्पूर्ण मानसिक एव शारीरिक ओज समग्र रूप ही शिव शक्त्यात्मक सामरस्यके परिणामके रूपमें अभिव्यक्त हो उठा । वह सर्वदेवमयी, सर्व कल्याण निलया, परमाद्या, पराभट्टारिका, सनातनी, भगवती ही उनका स्वरूप है, स्वरूप थी और स्वरूप रहेगी यह उन्हे स्पष्ट–स्पष्ट निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष हो रहा था। मॉ जगद्योनि, सर्वगर्भा, सर्व निलयासे उनकी एकात्मता अखण्ड, अक्षुण्ण प्रतिभात हो रही थी ।

वही सनातनी अनादि अनन्त काल तक निरवधि उनके अणु अणुसे साक्षात् हो उठीं । पू गुरुदेव गुरुदेव रहे ही नहीं वे सर्वकारणभूता सच्चिदानन्दमयी परमात्म शक्ति हो गये । पू. गुरुदेवका समग्र व्यक्तित्व ही उस दिन अपनी अनादिकालीन सर्व परिच्छिन्नताओसे मुक्त हुआ अक्षय, असीम आह्लाद सिन्धुमे पूर्ण स्वातंत्र्य समन्वित हुआ विलीन हो गया ।

स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि ।
कथमिव तस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञात मुच्यते वेदे ।।

उस महा प्रकाशकी जय हो, जिसके दर्शन होने पर बस वही दृश्य रहता है और सम्पूर्ण इतर दृश्य बाधित हो उठते हैं, जिसको किंचित् भी जान लेने पर सब जान लिया जाता है, यह बात वेद प्रमाण पूर्वक कहते हैं।

---

# व्रजरज उडि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय

श्रीराधाकृष्ण तत्व सर्वथा अप्राकृत है । इनका विग्रह अप्राकृत है, इनकी समस्त लीलाएँ अप्राकृत है और ये लीलाये भी अपने असमोर्ध्व रस-सौन्दर्यसे अप्राकृत क्षेत्र ब्रज-प्रदेशमे ही सम्पादित होती है । प्रेम भक्तिके चरम स्वरूपको यह व्रज प्रदेश अनादिकालसे प्रस्फुटित करता आया है । विलक्षण है यह भूमि जिसमें निवास करने वाले मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी, तृण गुल्म लतादि भी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति शका, सकोच, सशय, सम्भ्रम आदि भावोसे शून्य परम आत्म निवेदनकी पराकाष्ठाके भावोसे सदैव भरे रहते है । धन्यातिधन्य है यह भूमि और परम कल्याणमयी है, इस परम अप्राकृत लीला क्षेत्रकी रज, जो युगों-युगोसे सन्तो एव महज्जनो द्वारा सेवनीय रही है ।

इस ब्रजरजकी कैसी अभूतपूर्व महिमा है कि ब्रह्माजी भी इस रजकी अभिलाषा करते हैं, महात्मा उद्धव इस ब्रजरजके सेवनके लोभवश इस प्रदेशमे लता पता बनकर जन्म लेना चाहते है । यह ब्रजरज अपने सेवन करने वाले भक्तोको वह अनिर्वचनीय कृपा प्रसाद दान करती है जो पुत्र होने पर भी ब्रह्माजीको, आत्म स्वरुप होने पर भी शकरजीको, और वक्षस्थल पर नित्य विराजित रहने वाली अर्धांगिनी होने पर भी लक्ष्मीजीको भगवान् श्रीकृष्ण तक नहीं दे पाये ।

यह व्रजरज भावकुभाव किसी भी प्रकारसे किसीके अगोमें लग भर जाय, नेत्रोमे अजनकी तरह बस क्षण भरके लिये ही सही ऑज भर जाय, रसनाके माध्यमसे बस एक बार ही सही, उदरमे इसका प्रवेश भर हो जाय, फिर तो यह अवश्यभावी रूपसे उस महाभाग्यवान्‌को उस श्रीकृष्ण रूप-माधुरीका पान कराती है जो अनन्त ब्रह्माण्डोमे सर्वजयी एव असमोर्ध्व है । जो श्रीकृष्ण रूप माधुरी लावण्यकी सार है और जो किसी सज्जासे सजायी सँवरी नहीं जाती अपितु स्वय सिद्ध है । जो प्रतिक्षण नित्य नव नूतन होती है और जिसे अनादि अनन्त काल तक देखते रहने पर भी कभी तृप्ति होती ही नहीं।

जिसे पाकर फिर कुछ भी पानेकी लालसा नहीं रहती और स्वर्गादि लोकोकी समग्र श्री, और बैकुण्ठादि लोकोका परम वैभव भी जिसके सम्मुख तुच्छातितुच्छ हो जाता है । ऐसी मुकुन्द–प्रीति–प्रदाता यह ब्रजरज है ।

पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा इस ब्रज रजको देहके द्वादश स्थानोमें प्रतिदिन लगाते थे और प्रतिदिवस पाँच बार स्नान करनेके उपरान्त पाँचों बार ही इसका सेवन करते थे । वे त्रिपुण्डकी तरह इसे शरीरके द्वादश स्थानोंमें जलसे गीलीकर मला करते थे । ललाट, कण्ठ, वक्षास्थलके दोनों ओर एव नाभिस्थान, दोनों भुजाओमे कन्धे सहित तीनो स्थानोमे एव पृष्ठदेशमे-इस प्रकार बारह स्थानोमें प्रतिदिन पाँच बार वे इस ब्रजरजका ही त्रिपुण्ड्रवत् सेवन करते थे । वे यात्रा में जाते समय भी इस ब्रजरजकी वटिका बनाकर एक पोटलीमे साथ ले जाया करते थे एव एक वटिका तो अपने उत्तरीय वस्त्रमें सदा छोर पर बाँधे रखते थे ।

यह ब्रजरज जो पू गुरुदेव प्रयोग करते थे उन्हे वल्लभ सम्प्रदायके एक वैष्णवने इक्कीस प्रकारके अति महत्वपूर्ण तीर्थ स्थलोसे एकत्रित करके भेजी थी। इसका पूर्ण विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

{प्रथम स्थान}

पुष्टिमार्गीय वल्लभ सम्प्रदायके भिन्न–भिन्न पीठोंके आचार्यगण ब्रज चौरासी कोसकी यात्रा शरद ऋतुमें उठाया करते हैं । इस यात्रामे सम्मिलित वैष्णव यात्री यह यात्रा ४९ दिनोंमें पूर्ण करते है एवं लगभग ३४०–३५० मील पैदल यात्रा करते हैं ।

गोस्वामी श्री १०८ ब्रजरत्नलालजी महाराजकी तीर्थ यात्रामे सम्मिलित इन महाभाग वैष्णव महानुभावने ३४० मील ब्रज भूमिकी मिनट–मिनटके अन्तरालमें रज एकत्रित करके इस ब्रजवाटिकाका निर्माण किया था ।

{द्वितीय स्थल}

इस चौरासी कोस ब्रज यात्रामे जो–जो सरोवर आये, उन सभीकी गीली रज इसमे सम्मिलितकी गयी । इस यात्रामे प्रतिदिन पाँच सात कुण्ड प्रतिदिवस ही आते हैं, समग्र ब्रजमे प्रकट अप्रकट इन कुण्डोका वैष्णवशास्त्र गर्ग सहितादिमें बहुत महत्व प्रदर्शित किया गया है । इनमें राधा कुण्ड, कृष्ण कुण्ड, गोविन्द कुण्ड, प्रेम सरोवर, क्षीर सागर, वृषभानुसर, कुसुम सरोवर, नारद कुण्ड, उद्धव कुण्ड आदि स्थल प्रसिद्ध हैं ।

{तृतीय स्थल}

इस यात्रामे प्रति दिवस ही कम–से कम पाँच–सात मन्दिर आया करते थे, उन स्थलोंकी रज भी इसमे सम्मिलितकी गयी ।

{चतुर्थ स्थल}

जिन मन्दिरोके ऑगनमें तुलसी वन होते थे अथवा यात्राके पथमें जहॉ भी वन–तुलसी दिखाई पड जाती थी, उन वृन्दादेवी {तुलसी}के जड मूल स्थलकी रज भी इसमें मिलायी गयी ।

{पंचम स्थल}

व्रजमे अनेक गगा है, जैसे मानसी गंगा, कृष्ण गगा, पाण्डव गगा, अलकनन्दागगा, चरणगंगा इन सबकी गीली मिट्टी भी इसमे मिलायी गयी ।

{षष्ठ स्थल}

इस चौरासी कोसी यात्रामें जहॉ–जहॉ यमुनाजी मिलती गई, वहॉ–वहॉसे लगभग सैकड़ों स्थानोंसे ही गीली यमुनाजीकी रज इसमे समाहित की गयी।

{सप्तम स्थल}

जहॉ–जहॉ यात्रामे भगवान श्रीकृष्णके अथवा बलदेवजीके चरण चिन्ह उपलब्ध हुए–जैसे चरण पहाडी, व्योमासुरकी गुफा, भोजन थाली इत्यादि वहॉकी रज भी लेकर इसमें मिला दी गयी ।

{अष्टम स्थल}

भगवानकी जिन–जिन स्थलोमे प्रमुख लीलाऍं सघटित हुई, जैसे ऊखल–बन्धन, मृद् भक्षण, दान लीला, मान लीला, रास लीला–इन सभी स्थलोंकी रज भी इसमें मिला ली गयी । व्रज यात्रामे जितने वन और कदम्बखडियॉ आती हैं, जहॉ भगवान्‌ने गोचारण, ऑखमिचोनी, प्रलम्ब वध, धेनुक-वध आदि असख्य लीलाऍं सम्पादित की हैं, लीला सम्बन्धी अनेक प्रमुख वृक्ष जैसे टेरकदम्ब, अक्षयवट, ऐंठाकदम्ब, सकेतवट इत्यादि इनके मूलकी, इनके छाया स्थलकी अथवा इनके पेडोंमें लगी रज भी इसमें निहितकर ली गयी ।

{नवम स्थल}

व्रज मण्डलमें बहुतसे महात्माओंकी तपोभूमि हैं, उनके समाधि–स्थान हैं, उनकी रज भी इसमें मिला ली गयी। इनमें सूरदासजीकी तपोभूमि चन्द्रसरोवर, नारायण स्वामीकी तपोभूमि, कुसुम सरोवर, रघुनाथ गोस्वामीका समाधि स्थल, राधाकुण्ड परम प्रसिद्ध हैं ।

{दशम स्थल}

साक्षात्कारी प्रसिद्ध जीवित महात्माओंकी चरण रज भी इसमे सम्मिलित कर ली गयी थी, जैसे रामकृष्णदासजी महाराज वृन्दावनमें उन दिनों जीवित निवास कर रहे थे ।

{एकादश स्थल}

प्रिया प्रियतम सखीवृन्द सहित रासधारी रूपमें यात्रामें सग–सग थे, उनके चरणारविन्दकी रज भी इसमें निहितकी गयी ।

{द्वादश स्थल}

ब्रज चौरासी कोसमें महाप्रभु वल्लभाचार्यजीकी बैठकें, जहाँ उन्होने श्रीमद्भागवतके पारायण किये हैं, वहाँकी रज भी इसमें निहित है ।

{त्रयोदश स्थल}

हरिद्वारसे गगाजीकी नहर जो ब्रजमें आयी है, उसके विभिन्न स्थलकी रज भी इसमें निहित है ।

{चतुर्दश स्थल}

श्रीगिरिराज गोवर्धनकी परिक्रमा स्थलीकी मिनट मिनट पर ली गयी रज भी इसमें निहितकी गयी । श्रीगिरिराज पर्वत पर स्थित श्रीनाथजीके प्राकट्य स्थलकी रज एव श्रीमुखारविन्दके स्थानकी रज भी इसमे निहित की गयी ।

{पंचदश स्थल}

श्रीगोवर्धन ग्राममे श्रीगिरिराजजीके मुख्य मन्दिर एव अन्य मन्दिरोंकी रज भी इसमे निहित है । श्रीमानसीगगाकी परिक्रमाकी रज भी इसमे सम्मिलित है ।

{षोड़श स्थल}

श्रीवृन्दावन धामकी सैकडों स्थानोंसे रज ली गयी । घाटोंकी, सरोवरोकी, लीलास्थलियोकी, महात्माओंके स्थानोकी, समाधियोंकी, श्रीबिहारीजीके प्राकट्य स्थलकी, निधिवनकी, श्रीयुगलसरकारके सेवाकुञ्जकी, श्रीयमुनाजीके विभिन्न स्थानोकी, श्रीवृन्दावनके चारों ओर परिक्रमा करके छ. मीलके मार्गकी, मिनट–मिनट पर रज एकत्रितकी गयी एव इसमे मिलायी गयी ।

{सप्तदश स्थल}

श्रीमथुराजीके घाटोकी, मन्दिरोंकी, सरोवरोकी, कसके टीलेकी, जन्म–स्थान आदिकी, साथ ही आठ मीलके परिक्रमा मार्गकी भी मिनट–मिनट पर रज लेकर इसमें समाहित की गयी ।

{अष्टदश स्थल}

श्रीनाथजीके चरणोदक एव स्नानीय सम्पूर्ण जलको पवित्ररज मिलाकर चरणामृत पेड़े बनाये जाते हैं, बहुतसे भक्त इनको घोलकर नियमपूर्वक प्रतिदिन चरणामृतके रूपमे लेते हैं अथवा मस्तक पर लेपन करते हैं । ये पेडे भी इस

वटीमें पर्याप्त मात्रामें मिलाये गये थे ।

{एकोनविंश स्थल}

श्री वृन्दावनके बॉके बिहारीजीके सर्वांगमें लेपन किया गया, अक्षय तृतीयाका प्रसादी चन्दन भी इसमें मिलाया गया ।

{विंश स्थल}

श्रीद्वारकाधामसे आया हुआ गोपी तलाईका गोपीचन्दन भी इसमे निहित किया गया ।

{एकविंश स्थल}

श्रीवृन्दावनके १०८ मन्दिर, श्रीमथुराधाम के १०८ मन्दिर, श्रीब्रजमण्डल के १०६ मन्दिर, श्री चौरासी कोस यात्रामें पडने वाले १०८ मन्दिरोंका प्रसादी चन्दन भी इसमें सम्मिलित किया गया है ।

इस प्रकार उपरोक्त इक्कीस स्थलोसे एकत्रितकी गई यह पावनतम ब्रजरज जो किसी महाभाग वैष्णव द्वारा भेजी गयी थी, पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके अंगोंमे नित्य लिप्त होती थी ।

---

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(चतुर्थ खण्ड)

पृष्ठ संख्या
001-100
तक

- साधु कृष्णप्रेम

## श्रीपोद्दार महाराजके श्रीचरणोंमें

प्रेरक तुम, प्रेरणा तुम्हारी, रस-रति-भाव तुम्हारे रूप ।
करके तुम्हीं दिखाते, स्वयं लिखाते लीला तुम्हीं अनूप ॥
देते खोल भाव अनुपम, शब्दोंका शुचितम तुम भण्डार ।
रचना तुम करवाते, सुनते तुम्हीं उसे फिर कर मनुहार ॥
विमल भाव-मुख निज दर्शनका यह अपना ही कृति-दर्पण ।
ज्योति बढ़ाना सहज परस्पर, तुम्हें हो रहा है अर्पण ॥
भली-बुरी यह वस्तु तुम्हारी, तुम्हीं सर्वथा स्वामि अनन्य ।
तुच्छ अबोध मलिन इस जनको बना निमित्त कर दिया धन्य ॥

साधु कृष्णप्रेम

(पुस्तकका सार-संक्षेप)

# इस रस-कालिन्दीके तटके नौ सोपान

## प्रथम अध्यायमें

*अनुशीलन करें* महासिद्ध सन्तोंकी कृपाको अपने भीतर अवतरित करानेका अमोघ साधन जान लें। बस, अपना 'आत्म समर्पण' किसी भी सच्चे सिद्ध सन्तको करें और पलक झपकते,अविलम्ब विलक्षण रसके सम्प्लावनमें डूबकर उस सिद्ध सन्तसे एक हो जावें।

## द्वितीय अध्यायमें

*अवगाहन करें* -- उस दुर्दान्त पुलिस-इन्सपेक्टरके अश्वकी लगाम पू. गुरुदेवने उछलकर पकड ली। उनके नेत्रोंमें सात्त्विक शौर्यकी जैसे ज्वाला फूट रही थी। पू.गुरुदेवने घोड़ेको इतने जोरसे धक्का दिया कि वह आठ-दस कदम पीछे हटनेको बाध्य हो गया। मैं चीत्कारकर पू.गुरुदेवकी रक्षार्थ आगे बढ़ूँ इससे पहले तो पुलिस अफसर घोड़ेसे उतर गया था। उसने टोपी उतारकर वर्दीके बटन उन्मुक्त किये और पू.गुरुदेवके चरणोंमें झुक गया।

## तीसरे अध्यायमें

*देखें* -- संसारसागरमें असंख्य विपदायें जीवको घेरे रखती हैं। उन विपत्तियोंसे जीव घबड़ा जाता है। कोई ओर-छोर नहीं, सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार, सहयोग और प्रकाशकी दूर-दूरतक कहीं कोई क्षीण-सी रेखा भी नहीं। जीव उसका निस्तार चाहता है। क्या कोई उसका अमोघ उपाय सम्भव है ? भगवन्नाम-संकीर्त्तन अथवा जपका आश्रय लो, सम्पूर्ण विपत्तियोंका सदाके लिये समूल विनाश हो जायेगा।

## चतुर्थ अध्यायमें

*अवगाहन करें* - श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवाल मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे कि आज मेरी दीक्षा हो गयी। सन्त कबीरदासजीकी दीक्षा भी तो इसी प्रकार हुई थी।श्रीकृष्णचन्द्रजीके पोद्दार महाराजके धर्मपुत्र होनेके एवं श्वेतवस्त्रोंमें संन्यासीवत् जीवन व्यतीत करनेके कुछ विलक्षण कृपाप्रसंग।

## पाँचवें अध्यायमें

*देखिये रासलीलाकी महाभावमयी सत्य अनुभूतियाँ जिनमें पोद्दार महाराज एवं प.गुरुदेव श्रीराधाबाबा अनवरत अनेक दिनोंतक आपाततः निमज्जन करते रहे।*

## छठे अध्यायमें

*अवलोकन करें -- उस अनुष्ठानका जीवन्त वर्णन जिसके द्वारा पू. पोद्दार महाराजकी बीस वर्षकी आयुवृद्धि हुई ।*

## सातवें अध्यायमें

*देखें ---प्रयागकुम्भमें नावमें मात्र एक गीतपंक्तिके गुनगुनानेसे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको हुआ विलक्षण उद्दीपन, सिद्धजगत्का सन्देश।*

## आठवें अध्यायमें

*अनुशीलन करें --पू.पोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके सम्मुख तीर्थयात्रामें साक्षात् भगवद्विग्रहोंके प्राकट्यके प्रसंग, काशीमें बिन्दु-माधवतीर्थ, गोपालमन्दिर एवं भगवती विशालाक्षी मन्दिरमें चमत्कार, अन्नपूर्णामन्दिरमें साक्षात् भगवतीके दर्शन। चित्रकूटमें मन्दाकिनी घाट एवं कामदगिरिपर चिन्मय चित्रकूटका प्राकट्य। अयोध्यामें सीताजी एवं उर्मिलाजीके दर्शन। हरद्वारमें गंगाजीका प्रत्यक्ष दर्शन। मथुरा एवं ब्रजयात्रामें दिव्यानुभव। महासिद्धसन्त मोहिनीश्यामजीके विवरण। उज्जैनमें पूर्वजन्मोंकी स्मृति। चित्तौड़में श्रीकृष्णसे हठ । कृपावतार श्रीनाथजीकी झाँकी। काँकरोलीमें भक्तराज अम्बरीषके दर्शन। सिद्धपुरमें भगवान् कपिल एवं माता देवहूतिकी झाँकी, कर्दमऋषिका विन्दुसरोवरमें साक्षात्कार । द्वारका, जूनागढ़, डाकोर, पञ्चवटी, पंढ़रपुर, तिरुपति, जम्बुकेश्वर, श्रीविल्लीपुत्तूर आदि सभी तीर्थोंमें जीवन्त चमत्कारिक अनुभवों के विवरण।*

## नौवें अध्यायमें

पू.गुरुदेव राधाबाबाके काष्ठमौनका हृदयद्रावक प्रसंग ।

---

## आत्मकथ्य

नृसिंह जयन्ती, वि.सं.२०५४
तदनुसार मंगलवार,दिनांक २०।५।१९९७ ई०

प्राणवल्लभ परमप्रेष्ठ प्रियतम रससागर ब्रजेन्द्रनन्दनके चरणोंमें कृतज्ञताके अश्रु ढलकाता यह **महाभाव–दिनमणि श्रीराधाबाबा** – नामक पू.गुरुदेवकी जीवनीका **चतुर्थ खण्ड** समर्पित कर रहा हूँ। चिन्मय सरस कालिन्दीके श्यामल जलसे भरा – **महाभाव–दिनमणि श्रीराधाबाबा** –जीवनीका **प्रथम खण्ड,** गंगाकी मुक्तिदायिनी पुण्यधाराके तुल्य पू.गुरुदेवकी ज्ञानोत्तर विशुद्ध भक्तिमें सराबोर उनके सैकड़ों अलभ्य पत्रोंका संग्रह – **महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा** – उनकी जीवनीका **दूसरा खण्ड** और यह सरस्वतीके समान पूर्णतया गोपन रस–रहस्योंका प्रकाश करता –**महाभाव दिनमणि श्रीराधा बाबा** – पू.गुरुदेवकी जीवनीका **तीसरा खण्ड** जिस समय सन् १९४९ ई. से लेकर १९५६ ई.तकके उनके सात वर्षोंके रस–साधनाकालकी विलक्षण। पारमार्थिक उपलब्धियोंका जीवन्त चित्रण है। इस त्रिवेणीकी पथयात्राके लक्ष्य तो हे प्राणाधिक ! आपके रस–सिन्धु चरण ही हैं, अतः इसे आपके चरणोंमें ही स्वीकार करलें।

वल्लभ ! इस पुण्यक्षेत्र भारतमें सप्त गंगायें भी तो प्रसिद्ध हैं। अभी तो गंगा–यमुना–सरस्वती इस त्रिवेणी तक ही पहुँच पाया हूँ। सरयू, नर्मदा, गोमती एवं गोदावरी – इन चारों पुण्यसलिलाओंमें अवगाहन तो अभी शेष ही है। ऐसा लगता है पू.गुरुदेवके भी जीवनचरित्रके सप्त मुख्य खण्ड एवं अनेकों उपखण्ड लिखे जावें, ऐसा भगवद्विधान है। यह प्रयास चाहे इस नश्वर शरीरके द्वारा करानेका प्रभु सौभाग्य दे अथवा वे अपना अन्य कोई यन्त्र चयनित करें – सब उनकी अनन्त कृपायोजनाके अन्तर्गत है। पू. गुरुदेवके स्वरचित एक सौ आठ चौपदोंपर तो कार्य प्रारम्भ हो गया है। विचार तो इस सामग्रीको इसी खण्डके साथमें जोड़कर इस खण्डका कलेवर लगभग हजार पृष्ठोंका करनेका था परन्तु जीवनका कोई भरोसा नहीं, शीघ्रतामें जो पुण्यकार्य सम्पन्न हो जाय उसे पूरा कर दूँ , ऐसा मानकर लगभग पाँच सौ पृष्ठोंकी यह सामग्री तो पाठकवर्गके सम्मुख है ही,

अवशिष्ट कार्यमें जुट गया हूँ।

दूषित कर्मोंको क्षय करने इस वर्ष प्रभु भीषण रोग बनकर दर्शन देने पधारे । मेरे कष्टोंपर तनिक ध्यान नहीं देते हुए उन्होंने अपना निरंकुश स्वच्छता–कृपाभियान चलाये रखा । कभी–कभी तो ऐसा लगता था कि वे कलेवर ही बदलनेका मानस बना लिये हैं । जीवका दूषित कर्मोंसे गन्दा होते रहना तो हस्तिस्नानवत् स्वभाव ही है। हाथी नदीमें खूब मनोयोगपूर्वक स्नान करता है, उसका घण्टों जलविहार चलता है, किन्तु जैसे ही विहारोपरान्त वह बाहर आता है, उसका पुनः अपने ऊपर कीचड़ और रज डालनेका तामस कर्म प्रारम्भ हो जाता है। मेरी भी ऐसी ही दशा है। पू. गुरुदेवके पावन चरित्रोंमें अनेकों घण्टों रमण करता हूँ, किन्तु पुनः जगत्पकमें लिप्त हो ही जाता हूँ। अतः कृपाविधान करने हेतु प्रभु पीड़ारूप धारणकर पधारे । निरन्तर पित्तके रुद्ध द्रवसे मस्तिष्कतक जलसे सराबोर किये रखना मात्र जल पीनेसे ही अल्सरकी पीड़ा, रात्रिभर श्वासावरोधसे निद्रा नहीं लेने देना, बैठे–बैठे रात्रि व्यतीत कराना, फेफडोंमें से श्वासमार्गमें रक्तके थक्के जमाना – ऐसे कष्टोमें पूर्ववर्ती चार माहका कालक्षेप हुआ । यह पवित्र कार्य बार–बार प्रारम्भ करनेका साहस जुटाता पर असफल ही रहता। ऐसे कष्टोंमें मनुष्य स्नेही आत्मीयजनोंके सेवा–सहयोगकी अपेक्षा करता ही है परन्तु अपने–से–अपने जनोंका भी किनारा कर लेना, सभी कोनोंसे प्रभुने ऐसा व्यवहार दिखाया कि जगत्का पूरा स्वरूप ही उजागर हो गया। विश्वमे क्या सभी पराये हैं ? सभी क्या दिखावेके मुखौटा लगाये हैं ? इस कठोर सत्यके थपेड़े खाता प्रवाह–पतितकी तरह जहाँ सींग समाये, भटकता रहा। अन्ततः प्रभुसे दयाकी याचना की । "इन विलक्षण प्रेमीयुगल – श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके जीवन–चरित्र लिखनेकी इस मेरी वासनाके पूरी होने तककी अवधिके लिये श्वास–कष्ट निवारण कर दीजिये न !" श्रीकबीरदासजीकी उक्ति तो हम सभीको स्मरण है ही –**'चींटीके पग नेवर बाजै , ताकौ साईं सुनता है।"** प्रभुके द्वारा प्रार्थना सुन ली गयी। प्रभु एक डाक्टरका रूप लेकर इलाजको तत्पर हो गये। क्या ही लीला है स्वयं ही रोग बनें और स्वयं ही उसे दूर करनेका संकल्प करें ! एक अकिंचन भिक्षुके इलाजके लिये, जिससे एक फूटी कौड़ी प्राप्त करनेकी आशा नही, इतना आदरसहित उत्साह और वह भी एक ऐसे डाक्टरका जिससे पूर्वमें पहले कभी सम्पर्क नहीं हो, और जिनकी मात्र एक

घण्टेकी आय हजारो रुपयोमे हो, एक चमत्कार ही था। जहाँ अपने लोग मुख मोड़ लें पराये–अनजाने कण्ठ लगावें – कैसा विलक्षण विधान प्रभुने बनाया था ? सारे रोगोंकी – मधुमेहसे लेकर फेफडोकी आन्तरिक क्रिया किडनी, लीवर एवं हृदयकी धड़कनतककी सूक्ष्मतम जाँच, हृदयके आकार–वृद्धिकी एव उसके द्वारा फेफडोंपर पड़नेवाले दबावकी सभी जाँचें डाक्टर–प्रभुने अपनी निगरानीमें अपने अति विश्वस्त लोगोंसे करायी। रिपोर्टें लेकर डाक्टर महोदय स्वयं अपने विश्वस्त मित्र कार्डियोलोजिस्टके पास अहमदाबाद गये और तब पता चला कि हृदयका बायाँ वर्टिकल वाल्व खराब हो गया है, उसे बदलना आवश्यक है। अब डाक्टर महोदय बाल्व बदले जानेके समय स्वय उपस्थित रहनेका आश्वासन दे, व्यय नि शुल्क करवा देनेका उत्साह प्रदर्शित करें – यह सब बात प्रभु–कृपाके अतिरिक्त कुछ भी समझमे नही आई । प्रभु–कृपाके सहित विरुद्धगुणधर्माश्रयी स्वभावको देख–देखकर मैं चकित था।

इतना सब देखते हुए भी आपरेशन नहीं कराया। इस नश्वर शरीरके लिये किसी अनजान व्यक्तिका इतना सेवा–ऋणबोझ लेनेका मन ही नहीं हुआ। अपने पास तो ऐसी पुण्यराशि भी नही जिससे उस अनजान डाक्टरका सेवा–ऋण उतार पाता । अन बस, बिना आपरेशन, मात्र दवाका सहारा लिया और प्रभु–कृपासे दवा द्वारा ही श्वासावरोध मिटता गया, और अब तो केवल अल्सर एव पित्तरसका उद्रिक्त हो उठना ही अवश्य कष्ट देता है, शेष, हृदय सम्बन्धी सभी कष्ट–धड़कन अत्यधिक हो उठना , रक्तचाप बढ़ जाना, नाकसे रक्तके कण निकलना – स्वत: सब सामान्य हैं।

इस सब कष्टमें चार माह व्यय हो जानेसे जितनी सामग्री लिखी जानी चाहिये थी लिखी नहीं जा सकी है। वैसे अभी दो माह शेष हैं। यदि स्वास्थ्य सामान्य रहा और प्रभुने लेखनीमें गति दे दी तो पू गुरुदेव रचित चौपदोंकी विस्तृत भावानुवाद सहित व्याख्या पाँचवें खण्डके रूपमे प्रकाशित कर देनेका पूरा मन है।

इस ग्रन्थमें सामग्री चालीससे पचास वर्ष पुरानी है, उन दिनोंके विवरणोका मेरे पास कोई लिखित सकलन तो था ही नही, फिर भी प्रभुकृपाका आश्रय लेकर लिखनेका साहस कर बैठा। रासलीलाके सब प्रसंग सन् १९४९ ई.के हैं। किन्तु प्रभु अक्षरश एक–एक घटनाका जीवन्त चित्र वर्तमानके तुल्य नेत्रोंके समक्ष प्रत्यक्ष करते चले गये। अनेक विस्मृत घटनाएँ

तो प्रभुने स्वप्नमे स्मृति करायीं । भाषा—संरचनामे भी मैं तो पूर्णतया अनभ्यस्त हूँ। किन्तु लीला एवं घटनाचक्रके यथानुरूप प्रभुकी कृपा भाषारूपमे ढलती गयी और यन्त्रावत् मेरी कलम चलती गयी।

प्रभुनें सब प्रकारसे हीन, असमर्थ, रोगी व्यक्तिको इस अपने स्वरूपगत पावन चरित्रको लिखनेका यह सौभाग्य दिया, इसके लिये प्रभुका रोम—रोमसे कृतज्ञ हूँ।

मैं श्रीराजेन्द्रप्रसादजी स्वामी, स्वामी कम्प्यूटर्स, बीकानेरका बहुत आभारी हूँ जिन्होने प्रभुकृपासे हमें कम्प्यूटरमुद्रणमें मार्गदर्शन एवं सहयोग किया जिनसे यह सामग्री समयबद्धरीतिसे मुद्रण हो सकी।

जिन लोगोने भी इस कार्यमे सहयोग दिया है वे सभी प्रभुकार्यमें यंत्र हुए हैं उनका यह सहयोगकार्य परममगलकारी होगा इसमें तो कोई सशय है ही नहीं। मैं तो उनके इस सहयोगको अपने ऊपर हुआ परम अनुग्रह ही मानता हूँ।

पर्याप्त सावधानी रखने के उपरान्त भी भूलें रह जाना अवश्य सभाव्य है। सुधी पाठकोसे निवेदन है कि वे इनका हमे इगित करें जिससे उनका परिष्कार किया जा सके। स्खलन तो जीवगत दौर्बल्य है ही, किन्तु रसिकजन उसे उपेक्षणीय ही गिनते हैं। आस्वादनीय तो भगवदीयजनका रसमय चरित्र ही है जिसमें मात्र रस—ही—रस है, छिलका, गुठली आदि निःसार वस्तु है ही नहीं।

किमधिकम् सुविज्ञेषु,

भक्तोंकी चरणरेणु,
साधु कृष्णप्रेम

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## चतुर्थ खण्ड

(रासलीला-दर्शन तथा तीर्थयात्राके अनुभव एवं काष्ठमौन)

## अनुक्रमणिका

| क्रमांक | विषय | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|

| क्रमांक | विषय | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|



## नवम अध्याय

# प्रकाशकीय वक्तव्य

*भगवान श्रीराधा-माधवकी असीम कृपाका यह प्रत्यक्ष चमत्कार है कि* ***महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा*** नामक पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी जीवनीका यह **चतुर्थ खण्ड** प्रकाशित होकर राधा-परिवारके सम्मुख है। यद्यपि हमारा इसी ग्रन्थमें पू. गुरुदेवके अप्रकाशित काव्य-सग्रह-चौपदोको विस्तृत भावार्थ सहित देनेका मन था, किन्तु भावार्थ-लेखनके मध्य ही लेखकका शरीर हृदयाघातकी बीमारीसे आक्रान्त हो गया। स्वास्थ्यजनित अवशतासे इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यसे मध्यमें ही निवृत्त होना पडा और तबसे अनवरत पुनः-पुनः कार्य-प्रारम्भ करनेकी इच्छा रखनेपर भी हाथोंके कम्पन और मस्तिष्ककी बेचैनीसे यह कार्य आजतक तो प्रारम्भ नहीं हो पाया। सन्तोष इसी बातका है कि इस रुग्णताके पूर्व ही चतुर्थ खण्डकी ५०० पृष्ठकी सामग्री प्रेसमें देने लायक हो गई थी। यह सामग्री स्वयंमें भी इतनी महत्त्वपूर्ण है और इसमें पू.गुरुदेव एवं पू.पोद्दार महाराजके प्राथमिक रासलीलादर्शन और तीर्थयात्रा-प्रसंगोंका ऐसा रहस्योद्घाटक और रोचक वर्णन है कि पाठक इन्हें पढ़कर अवश्यमेव कृतकृत्य हो उठेंगे । उन्हे पू. श्रीपोद्दार महाराज एवं पू. श्रीगुरुदेवके अति गरिमामय आध्यात्मिक जीवनके मौलिक रहस्योंका परिचय प्राप्त होगा। यदि प्रभुने कृपावश स्वास्थ्य प्रदान किया तो आगामी **पाँचवें खण्डमें** पू. गुरुदेवका उपलब्ध काव्य एवं नाटक-सग्रह एक साथ प्रकाशित करनेका मन है ।

यह अप्रकाशित दुर्लभ काव्य एवं नाटक-संग्रह इतना भाव-शब्द-दुरूह और रस साहित्यगुणोसे भरपूर है कि इसकी गरिमाका आकलन हिन्दी साहित्यके मूर्धन्य विद्वज्जन ही कर पावेगे । निश्चय ही वे इसमे महाकवि सूरदासादिकी कोटिका एवं कहीं-कहीं उससे भी उत्तम रस पाकर चमत्कृत हो उठेगे । इस ग्रन्थको जिसमे कुछ रसमय नाटक भी हैं संभव है दो खण्डोंमें प्रकाशित किया जा सके । इसमे सुबोध भावार्थ भी देने की

योजना है । यह सम्पूर्ण ग्रन्थ बहुमूल्य आर्ट पेपरपर छपानेका प्रयास होगा और इसकी छपाई उत्तम कोटिकी होगी । इसमें राधाकृष्णकी लीलाओके पू. राधाबाबाके यथा-भाव चित्र भी संयुक्त करनेका मन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सज्जाकी दृष्टिसे बहुत ही आकर्षक, उपादेय तथा संग्रहणीय होगा । वर्तमानमें इस खण्डमें इन पदोंमें से दो पद अर्थ सहित नमूनेके रूपमें दिये जा रहे हैं। इन पदोंको पढ़कर पू. गुरुदेवके काव्यसाहित्यकी झाँकी पाकर निश्चय ही पाठक कृतकृत्य हो उठेंगे । आगामी प्रकाशनमें तीन-चार लाख रुपयों तक का व्यय होनेकी संभावना है। अनेक चित्र तो पदोंके भावानुसार बनवाने भी पड़ सकते हैं । आजकल चित्रों को बनवानेके लिए जयपुरसे कलाकारों को बुलवाकर प्रति चित्र ५०००/- रु. तक देना पड़ जाता है । इस महगाईका कारण विदेशी यात्रियोंकी पुरातन दुर्लभ चित्रोंकी प्रतिलिपि करानेकी अत्यधिक माँग होना है । जो हो, ग्राहकोंसे निवेदन है कि इस ग्रन्थकी अग्रिम बुकिंग करानेके लिए कृपया अपना नाम एवं पता संलग्न कार्डमें लिख भेजें जिससे हम माँगके अनुसारही इस ग्रंथका प्रकाशन कर सकें। हमारे पते सहित छपा कार्ड इस चतुर्थखण्डमें संलग्न मिल जायेगा । आशा है ग्राहकोंका सहयोग पाकर हम उनकी सेवासे निश्चित ही कृतार्थता प्राप्त करेंगे, ऐसी प्रभुसे प्रार्थना है।

*विनीत -*

**साधुकृष्णप्रेम**

# झूलन के पद

॥१॥

झूलत लालबिहारी, प्यारी।
द्रुम कदंब कन-कन भासित छबि
पीत अतुल हरियारी ॥१॥
फूल-फूल, तरु पात-पात ज्यौं
द्वै दरपन दुतिधारी।
झोंटा देत परस्पर इंगित
करत आपु मतिहारी ॥२॥
ऐसिय अरुन कंचुकी देखिय,
ऐसिय लहरत सारी।
ऐसिय उपरैना पियरौ उड़ि
उरझि न जात निवारी ॥३॥
हम सोंचे, कै ये जो झूलहिं,
कोउ न निरनयकारी।
'तुम, तुम' बोलि बतावन हारे
धन्य सुआ री। सारी ॥४॥

राधा

पद संख्या १

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाका जन्मनक्षत्रके अनुसार 'लालमणि' नामकरण हुआ था। प्रस्तुत पदोंमें प्रियतम श्रीकृष्णको कहीं-कहीं 'लाल' अथवा 'लालबिहारी' आदि नामोंसे वर्णित किया गया है जिससे कविके नामकी भी ध्वनि प्रकट होती है।

अहा ! कैसे अनुपम दृश्य हैं। कैसी अनुपम शोभा है। नित्य विहार ही जिनका जीवन है, जीवन चर्या है वे लालविहारी प्रियतम श्यामसुन्दर एवं नित्यविहारिणी किशोरी प्यारी श्रीराधा कदम्बवृक्षकी डालीपर पड़े झूलेपर झूल रहे हैं। श्रीवृन्दावनके उस दिव्य कदम्ब वृक्षकी शाखा शाखा, टहनी-टहनी तथा पत्र-पत्र, यहाँ तक कि वृक्षके कण कणमें प्रिया श्रीराधाके अंगोंकी पीली झाँई तथा प्रियतम श्रीकृष्णके अंगोंकी नीलद्युति तथा इन प्रेमीयुगलोंकी पीत एवं नील अंगोंकी द्युतिकी समन्वित छटा हरित आभाके रूपमें द्युतिमान हो रही है ॥१॥

यह दिव्य कदम्ब वृक्ष भी अलौकिक है। इसका प्रत्येक पुष्प एवं पत्ता-पत्ता उज्ज्वल दर्पणके समान चमकीली आभा धारण किये है, जिससे प्रिया प्रियतमकी शोभा कण-कणमें प्रतिबिम्बित हो रही है। दोनों ही प्रिया-प्रियतममें स्वयं न झूलकर एक-दूसरेको झुलानेकी होड़-सी लगी है। वे इंगित करके एक-दूसरेको झोंटा देनेकी मनाही करते हैं तथा झूलेसे स्वयं उतरकर झोंटा देकर झुलाना चाह रहे हैं ॥२॥

लाल रंगकी चोली जो प्रियाने धारण की है अनुपम

शोभायमान है। इसी भाँति प्रियाजीकी (नील) साड़ी जो झूलते-झुलाते समय लहरा रही है उसकी भी चमक अद्वितीय है। ऐसा ही प्यारे श्यामसुन्दरके अंगोंपर पीले रंगका अंग-वस्त्र उपरैना(पीताम्बर) है जो उड़-उड़कर प्रियाजीके अंगोंसे लिपट जा रहा है तथा छुड़ानेपर भी नही छूट पाता ॥३॥

श्रीवृन्दावनके निभृत निकुंजधामकी यह झूलन-लीला वहाँ स्थित परम सौभाग्यभरे दो प्राणी निरख रहे हैं -वे हैं निकुंजधामके बड़भागी शुक एवं सारिका। वे भी इस अनुपम लीलाछविको निहारकर अपनी आँखोंपर विश्वास ही नही कर पा रहे हैं। वे सोचते हैं कि सचमुच ही प्रियाप्रियतम झूला झूल रहे हैं कि यह हमारे नेत्रोंका भ्रममात्र ही है। यहाँ कोई तीसरा है भी नही जो इस बात का निर्णय करे कि कदम्बके वृक्षके कण-कणमें सचमुच ही अगणित राधाकृष्ण झूला झूल रहे हैं— यह बात सत्य है कि हमारी यह धारणा सत्य है कि प्रियाप्रियतम तो दो ही हैं, कदम्बवृक्षके दर्पण-सरीखे कलेवरमें उनके अगणित प्रतिबिम्ब ही हमें दिखाई दे रहे हैं।

अचानक दिव्य शुक एवं दिव्य सारिका बोल पड़ते हैं कि हे प्रिया प्रियतम! तुम दो ही झूला झूल रहे हो तथा कदम्बवृक्षके कण कणमें प्रतिभासित हमारे नेत्रोंके विषय तुम्हारी अगणित छवियाँ तुम्हारी प्रतिच्छायायें हैं, यही सत्य है। इस सनातन दिव्य शाश्वत सत्यकी 'तुम-तुम' शब्दोंसे घोषणा करने वाले शुक एवं सारिकाकी बलिहारी है। धन्य है वह महाभाग्यवान शुक एवं महाभाग्यवती सारिका ॥४॥

राधा

॥२॥

झूलत लाल निकुंज-बिहारी।

प्रान-अधीसुरि सुंदरि राधा

निज कर रुचिर सिँगारी ॥१॥

नित्य बिहारिनि नील डोर गहि

पिंगल उत बनवारी।

मंद-मंद मुसकाइ मनोहर,

रीति बिलास बिसारी ॥२॥

निभृत बनस्थल, रबिनंदिनि जहँ

उमगत देत बुहारी।

पौन छुवत चल चंचल घाँघर

पीत दुकूल किनारी ॥३॥

बंकिम नैन हेरि दयिता-तन

तान समय-अनुहारी।

साँवर भरत जात, 'जय-जय' कहि

कीर-सारि बलिहारी ॥४॥

श्रीपोद्दार महाराज

*पता नहीं कछ रात-दिवसका, पता नहीं कब संध्या-भोर*

# महाभाव–दिनमणि श्रीराधाबाबा

## (चतुर्थ–खण्ड)

### प्रथम अध्याय

### सन्त-समर्पण-तत्त्व एवं सेठजी श्रीजयदयालजी गोयनकाकी महिमा

उस दिवस राधाष्टमी महोत्सव था। बात सन् १९४९ई०की है। पू० श्रीराधाबाबा इस निशामें नियमतः जागरण किया करते थे। उन दिनों जन्माष्टमी-राधाष्टमी महोत्सव इतने बृहद् रूपमें तो नहीं होते थे, जैसे आज होते हैं, किन्तु पद-गायनादिमें ज्यों-की-त्यो आजकी ही परिपाटीका वर्त्तन होता था। बाह्यावेशी जनसमुदायके न होनेसे वातावरण अतिशय सात्त्विक रहता था। इन सभी उत्सवोंमें कीर्त्तन-बधाई, पद-गायनादिका उत्तरदायित्व मेरे पूर्वाश्रमके मातुल श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी निर्वाह करते थे और उद्दाम नाम-सकीर्त्तन, जो उन दिनोंके उत्सवोंका प्राण कहा जाता था – का नेतृत्व एवं संचालन पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा स्वयं किया करते थे। वह संकीर्त्तन इतना अधिक रसोच्छलन करता था कि उसे शब्दोंमें व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। संकीर्त्तनमें सम्मिलित होनेवाले प्रायः अधिकांश लोगोंको न तो कालज्ञान रहता था और न ही देह-सुधि। यह उद्दाम नाम-वारिधि गरजता-उछलता तीन-साढे तीन घंटेके पूर्व विरमित नहीं होता था और इसके रसमें निपतित लोगोंको इसका विराम होना इतना कटु लगता था, जैसे उनको अपने जीवनरससे ही वंचित कर दिया गया हो। प्रायः स्वयं पोद्दार महाराज अपने सम्पादन-कक्षसे उत्सव-स्थलमें आकर ही, अतिकाल हुआ मान इसे विराम दिलाया करते थे। उनकी वह आशीर्वादसे भरी, अनुग्रह प्रवाहित करती छवि, उनके वे बिशुद्ध सत्वकी वर्षा करते नेत्र, जब संकीर्त्तन करते लोगोंको संकीर्त्तन-विरामका संकेत देते थे, उस समय अनेक बार तो रसोर्मियाँ इतनी उमड़ उठती थीं कि घण्टे-पौन घण्टेतक तो उस रस-स्रोतका रुकना असंभव ही लगता था। फिर जब स्वयं पू०गुरुदेव ही संकीर्त्तन-निवृत्त हो जाते और

विराम कर देते तब सहयोगी अनुसरणकर्त्ताओंको रुकना ही पडता था।

मेरे पूर्वाश्रमके मामाजीका कण्ठ इतना सुरीला था कि उनके द्वारा गाये गये बधाई और श्रीराधामहिमाके पदोंकी बन्दिश एवं स्वरमाधुरी सारे वातावरणको किसी अपूर्व रसमय लोकमें पहुँचा देती थी। मुझे हारमोनियम वाद्यमें साथ देकर मेरे मामाजीके अनुगत हो पदगायन भी करना होता था एवं पू०गुरुदेवके साथ भी ढोलक अथवा बंगाली मृदग (खोल) बजाकर सकीर्त्तनमें सम्मिलित होना होता था । दिनभरका उपवास, फिर संकीर्त्तनमें निरन्तर अथक परिश्रम – सायंकाल पू०गुरुदेवकी भिक्षा(शाकाहार)मे प्रसाद लेकर मैं इतना अधिक श्रान्त होगया था कि सोच रहा था, जाकर गहरी निद्रामें डूब जाऊँ। आगामी दूसरे दिवस भी तो दधिकर्दमोत्सव सम्पन्न करना था, और उसमे आजकी अपेक्षा भी अधिक उत्साह और श्रमपूर्वक योगदान करना था ही। कल भी इसी प्रकार पुनः उद्दाम संकीर्त्तन भी होना था और पदगायनादि भी सभी पूर्वक्रमसे ही होने थे । ऐसी ही प्रतिवर्षकी परम्परा थी, अस्तु।

मैं शयन करनेका उपक्रम कर ही रहा था कि पू०गुरुदेवका बुलावा आगया। पू०गुरुदेवका आदेश था कि आज निशापर्यन्त उनके साथ मुझे भी जागरण करना है । उनकी ऐसी रोमाञ्चकारी उत्प्रेरणा थी कि जहाँ-जहाँ भी राधाष्टमी महोत्सव मनाया जाता है, इस निशाकालमें प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधव स्वय उस उत्सव-स्थलीका निरीक्षण करने पधारते हैं और जिन्हें इस निशामे भी जाग्रत्, सत्वपरायण एवं भजनरत पाते हैं, उनपर अपनी कृपादृष्टि एवं अनुग्रहकी वर्षा कर जाते हैं ।

पू०गुरुदेवके इस कथनके पश्चात् फिर शयनका तो प्रश्न ही नहीं था, फिर भी अतिशय श्रमसे हुई शारीरिक थकानसे नयनोमें खुमारी आरही थी । पू०गुरुदेवने मुझे सर्वथा तमोगुणमुक्त रखनेके लिये ऐसा रोचक प्रसंग छेड दिया कि मैं पूर्ण समुत्सुक हो उठा । वे मौनव्रती थे, अतः अपनी स्लेटपट्टी पर लिखकर ही सभी वार्त्ता किया करते थे । वे लिखकर कहने लगे–"भैया ! आजकी इस परम पुनीत निशामें मैं तुम्हे महासिद्ध सन्तोंकी कृपाको अपने भीतर अवतरित करनेके ऐसे अतिशय सरल साधन बतलाऊँगा कि यदि तू इन साधनोंको अपनाकर सर्वोच्च कोटिके सन्तोंको अपना आत्म-समर्पण कर दे तो इसी क्षण तेरी पारमार्थिक स्थिति श्रीपोद्दार महाराजके समकक्ष होजाय।"

पू०गुरुदेवकी कहनेकी शैलीने मुझे इतना समुत्सुक कर दिया था कि मैं अतिशय जागरूक हुआ, दत्तचित्त होकर उनकी बात सुनने लगा ।

वे कहने लगे "देख भैया ! चाहे कितना ही घना अन्धकार हो, घनघोर तमसाच्छन्न निशा हो, किन्तु रविकी प्रथम किरणके संस्पर्श होते ही क्षण भी नहीं लगता, पलक झपकते ही समग्र अन्धकार विनष्ट हो जाता है । अतः बस, तू अपना पूर्ण आत्मसमर्पण किसी भी सच्चे सिद्ध सन्तको कर दे, इसी क्षण तेरे जीवनमें ऐसा रस-सम्प्लावन होगा कि उस महासिद्ध सन्तसे तेरा एकात्म मिलन हो जायगा और जो वे हैं, जैसे वे हैं, इसी पल तू भी वही और वैसा ही हो जायगा । तुझमें और उन महासिद्ध सन्तमें कहीं, कोई, किसी भी प्रकारका लेश मात्र भी अन्तर नहीं रह पावेगा ।"

पू०गुरुदेव कह रहे थे " भैया ! देवमणि पारसका एक लघु-सा खण्ड मात्र यदि लोहेके विराट-से-विराट आगारसे संस्पर्शित करा दिया जाय, लोहेकी सर्वदेशमे विस्तृत रेललाइनसे भी उसका संस्पर्श हो जाय तो समग्र लोहा एक क्षणमें मूल्यवान् स्वर्णमें परिवर्तित हो सकता है , उस देवमणि पारसमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि संस्पर्शित होने वाले लोहखण्डको वह अपने समान पारस बना सके । किन्तु सन्त अपनेसे जुड़े पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारीको भी त्रिजगन्मंगलकारी संत बनानेमें पल भर भी विलम्ब नहीं करते और इस प्रकार वे सन्तत्वकी परम्परा निर्माणकर, अनादि, अनन्तकाल तक भगवत्प्रीति की गंगा प्रवाहित करते रहते हैं। इस प्रकार यह सन्तत्वकी धारा इस त्रिलोकीमें अक्षुण्ण, निर्बाध, सतत प्रवाहित रहती है, कभी भी सूख नहीं पाती ।"

"भैया ! सच मान लेना, लोक-परलोकके कल्याणके लिये ऐसे सन्तोंके समान परोपकारी कोई नहीं है। जीवके लिये सन्त-मिलन जन्म-जन्मान्तरोंका शुभ फलोदय है । ऐसे महासिद्ध सन्तोंका सेवन, आज्ञापालन ही जीवका सबसे बड़ा सदाचार है । इन सन्तोंकी रुचिपर अपना सर्वस्व बलिदान करना ही जीवकी सबसे बड़ी महत् धर्म-साधना है। इन सन्तोंकी कृपा ही ज्ञान, भक्ति एवं प्रेमानुराग प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है ।"

पू० गुरुदेवका वक्तव्य चल ही रहा था कि इतनेमें मैंने देखा कि मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी भी मन्द-मन्थर गतिसे चलते हुए हमारी ही ओर आ रहे हैं । उनके आगमनसे तो पू०गुरुदेवके रस एवं उत्साहमें

जैसे उच्छलन आ गया ।

श्रीगोस्वामीजी भी निशा-जागरणार्थ ही पू०गुरुदेवके पार्श्वमें आये थे। अब तो पू०गुरुदेवके सम्बोधनका लक्ष्य मैं न होकर मेरे मामाजी श्रीगोस्वामीजी ही हो गये थे ।

पू० गुरुदेवका वक्तव्य अग्रसर हो उठा –"गोस्वामीजी ! अभी मैं महासिद्ध सन्तोंकी महिमा इस बालकको श्रवणगोचर करवा रहा था कि आपका आगमन हो गया। आज इस परम पावन निशा-जागरणके क्षणोंमें मैं आपको सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका महाप्रभुके अमोघ कृपावात्सल्य-प्रवाहके कुछ प्रसंग सुनाऊँगा। ऐसे अनेक अनुभव मुझे हुए हैं, जहाँ इनमें अकर्त्तुम्-सामर्थ्यका प्रकाश हुआ है। श्रीपोद्दार महाराज अब तो महाभाव-सिन्धुमें लहरा रहे हैं, परन्तु जिन दिनों श्रीपोद्दार महाराज विशुद्ध जीव-लीला कर रहे थे, उन दिनों उन्हें किस प्रकार अपनी अमोघ कृपाशक्तिसे सेठजी गोयन्दकाजीने घेरकर परमार्थ-तटपर खड़ा किया और हरहराते ज्ञानरस और भक्तिरसके संप्लावनसे आप्यायित किया, ये सत्य तथ्य आज आपके सम्मुख इसीलिये प्रकाशित कर दे रहा हूँ कि कहीं मेरे अतिरिक्त इनको जाननेवाला एक साक्षी व्यक्ति तो और हो जावे। '

"गोस्वामीजी ! आपको मेरी बात सुनकर समाश्चर्य होगा, किन्तु मेरी बात सौ-टंच खरी है। श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका प्रभु ज्ञानी संत हैं, किन्तु इनकी ब्रह्मसे एकात्मता जीव-ब्रह्मके अभेदज्ञानके समान अद्वैतपरक नहीं है । यद्यपि मैं इन्हें ज्ञानकी चतुर्थ भूमिकामें प्रतिष्ठित एवं पाँचवीं भूमिकाको संस्पर्श करनेवाला दुर्लभ महात्मा मानता हूँ, परन्तु ये ऐसे प्रेमी सन्त हैं, जो भगवान्से लेशात्मक पृथक्ता रखते हुए भी उनसे नित्य एकात्म भी हैं। श्रीसेठजीके द्वारा भगवान् नारायणके रसास्वादन और चिन्मय विलासमें क्योंकि स्वसुख भावका लेश भी नहीं है, अतः ये अपने इष्ट भगवान्के हाथोंके पूर्णतया खिलौना बने हैं । इसीलिये इनकी भगवान्से तात्विक एकात्मता अक्षुण्ण बनी रहती है। भगवान् और सेठजीमें परस्पर एक दूसरेके सुखमें सुखी होनेकी समचित्त सत्ता है, अतः कोई पृथक्ता है भी नहीं । इस प्रकार ये भगवान् नारायणमें सने-पगे रहते हैं ।"

"ये महाप्रभु सेठजी शान्तरसके अगाध वारिधि हैं, जैसे ही कोई अधिकारी-अनधिकारी जीव इनके सम्पर्कमें आता है, दृष्टिपात मात्रसे ये अपने

शान्तरस भावके बीज उसमें वपन कर देते हैं । इन सन्तोंमें त्रिगुणात्मक शरीरधारी होनेसे भले ही हमें रक्त प्रवाहित होता दीखे, किन्तु इनके आन्तरिक जीवनमें परमात्मा ही परमात्मा प्रवाहित होता रहता है, इनका किसी भी जीवकी ओर देखना, उसे सस्पर्श करना, उससे बोलना, सम्पूर्ण व्यवहार ही भगवन्मय, भगवन्नियन्त्रित होता है । अतः इनको स्पर्शकर बहनेवाली वायु भी भगवद्बीज-वितरणकारिणी होती है ।"

"हॉं, उस बीजका पल्लवन, उसका कुसुमित होना, साथ ही फलान्वित होना तभी सम्भव होता है, जब कोई महाभाग्यवान् संबीजित व्यक्ति ऐसे महापुरुषोको अपना सर्वात्मसमर्पण कर देता है । इस पूर्ण समर्पणमें जितनी भी न्यूनता रहती है, उसके फलस्वरूप ही जीवका प्रथक् व्यक्तित्व उसे माया-जजालमें उलझाये-फँसाये रखता है ।"

"गोस्वामीजी ! सच्ची बात यही है कि प्रथक् व्यक्तित्वका यह तट-बन्ध ही महासिद्ध सन्तोंके द्वारा निर्बाध, सतत प्रवाहित, चिन्मय रस-सम्प्लावनसे हमे शुष्क, अछूता एव अस्पृश्य रखे है । यह तटबन्ध ऐसा अभेद्य अवरोधक है, जिसे जीव स्वयं ही मात्र अपनी स्वेच्छा, चाहसे तोड सकता है। क्योंकि यह अहम्मूलक तटबन्ध जीवको जैविक स्वाधीनताके रूपमें भगवत्प्रदत्त है। यह अह जब एव जिसका, जितना समर्पित होता है, उतनी ही इन सन्तोंकी कृपा-धारा उसे संप्लावित कर पाती है। "

" ऐसा नियम तो हम प्रकृतिमे भी सर्वत्र देखते हैं । हिमालयसे प्रवाहित अनन्त जलधाराएँ उसी भूमिकी ओर प्रवाहित होती हैं, जो नमित है। ऊँची भूमिके एक कणको तो वे संसिक्त भी नहीं कर पातीं । अत इसे अटल अमोघ नियम ही मान लेना चाहिये कि भगवान्के पथमें अग्रसर होनेवाले साधकके लिये बढे हुए अहकारसे बढकर दूसरा कोई प्रबल अवरोध नहीं है। इस भगवत्प्राप्तिरूप साधनामें सिद्ध सन्तोको आत्मसमर्पण अवश्यंभावी है इसके सिवा इस साधनामें प्रवेशका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। "

"गोस्वामीजी ! मेरी इस बातको निश्चय ही गॉठकी तरह बॉंध लीजिये कि भगवत्प्राप्तिकी साधनाका प्रथम सोपान ही यह है कि महासिद्ध सन्तोंका दर्शन प्राप्त हो जाय, फिर किसी भी हेतुसे उनकी कृपा-निलय आत्मीयताके घेरेमे हमारा प्रवेश हो जाय, और तब उनके प्रति सर्वात्मसमर्पणकी प्रेरणा और योग्यता प्राप्त हो जाय। "

"गोस्वामीजी ! आज इस परम पवित्र निशाजागरणमें जब आप मेरे संग हो ही गये हैं, तो आपको मैं पोद्दार महाराजके जीवलीलाके उन प्रारंभिक साधनामय क्षणोंका चिन्तन-मनन कराता हूँ , जब श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका-रूपधारी साक्षात् भगवान् नारायणको उन्होंने अपना आत्मसमर्पण किया था। उस आत्मसमर्पणके कारण श्रीजयदयालजी महाप्रभुमें कृपा-वात्सल्यका ऐसा अथाह प्रवाह उमड उठा, जो श्रीपोद्दारजीके अभ्युदयका हेतु हो गया।

"गोस्वामीजी ! सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका-रूप महाप्रभु एक ऐसे मारवाड़ी बनिया सत हैं कि जिन्हे लोग सम्पर्कमे आकर भी ठीक प्रकारसे नहीं पहचान पाते । उनका रहन-सहन, वेषभूषा, मारवाडी-मिश्रित ठेठ ग्राम्य बोली सब कुछ इतना साधारण गृहस्थोचित है कि लोग उन्हें निकटसे देख कर भी मात्र कुशल व्यापारी ही परिलक्षित कर पाते हैं, इन्हे सन्तके रूपमे मान्यता नहीं दे पाते । किन्तु वस्तुतः ये भक्तिमिश्रित ज्ञानके सूर्य हैं । इनपर ऐसी अद्‌भुत भगवत्कृपा है कि यदा-कदा सहज स्वाभाविक ही इनमे अकर्त्तुम् आध्यात्मिक सामर्थ्यका प्रकाश हो जाता है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने त्यागकी आवश्यकता होती है, उससे भी अधिक त्याग इनमें सहज है । "त्यागसे भगवत्प्राप्ति " नामक पुस्तिका इनके आन्तरिक त्यागकी ही प्रकाशिका समझनी चाहिये। इनका अपना न तो कोई काम है, न ही काम्य पद । ये केवल भगवान् नारायणको ही जानते है और अपने सहज समर्पण द्वारा सदैव उनके यत्र बने उनसे ही सचालित होते रहते हैं । यही इनका आन्तरिक जीवन है। इनकी कृपा-सिन्धुके उद्वेलनका मैंने स्वय अपने जीवनमें अनुभव किया है। इन्होने अपने प्रथम परिचय और सत्संगमे ही मेरे माया-आवरणका समूल नाश कर दिया था। "

"कोई यह प्रश्न कर सकता है कि श्रीसेठजीके सम्पर्कमें तो सैकडों साधक आये हैं और घनश्यामदासजी जालान आदि अनेकों लोगोंने उन्हें पूर्ण जीवन ही सौंप दिया है, फिर वे सभी क्यों नहीं पूर्ण ज्ञानी हो गये, मात्र आप और श्रीपोद्दार महाराज आदि एक-दो व्यक्ति ही क्यों उनकी कृपा-वारिधिमें डूबे, तो इसका यही उत्तर है कि आत्मसमर्पणकी तरतमता ही इसमे मात्र हेतु है । शरीर-समर्पण कर देना एक बात है और आत्मसमर्पण भिन्न बात है । आत्मसमर्पणमे अहं पूर्णतया विगलित होकर जहाँ सन्तमे मिल जाता है , वहाँ मात्र शरीर और जीवन-समर्पणमें अहं ज्यो-का-त्यों बना रहता है । अध्यात्म

वस्तुका संप्रवाह मात्र आत्मसमर्पणमें ही संभव है। इसे पूरी तरह जान लेना चाहिये। ''

''श्रीपोद्दार महाराजको अध्यात्म पथप्रदर्शकके रूपमे ये श्रीसेठजी सन् १९१०–१९११ ई०में ही मिल गये थे। वस्तुतः भगवत्कृपा ही सन्तमिलनका प्रारब्ध संरचना करती है । जैसा मैंने श्रीपोद्दार महाराजके मुखसे सुना है श्रीसेठजीका इन्हीं दिनों कलकत्ते आगमन हुआ था और उनके सत्संगका आयोजन पगैयापट्टीमें पोद्दार महाराजकी दुकानके ठीक सामने ही श्रीहरिबक्शजी सॉवलकाकी दुकानपर हुआ था । मात्र उत्सुकतावश पोद्दार महाराज इनके सत्संगमें गये थे । किन्तु प्रथम मिलनमें ही श्रीसेठजीके प्रेमिल स्वभाव, मौलिक चिन्तन, दम्भहीन अन्तःकरणने इन्हें बहुत ही प्रभावित कर लिया और इन्होंने उन्हें एक सच्चे सन्तके रूपमें मान्यता दे दी । ''

''उन दिनो श्रीपोद्दार महाराजकी भगवान्की मॉग ही नहीं थी, उनकी रुचि ही सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियोमें पूरी उलझी थी। उनका कार्यक्षेत्र ही वैश्य-सभा, हिन्दू-क्लब, हिन्दी-साहित्य-परिषद, कन्या-पाठशालाएँ, मारवाडी-रिलीफ-सोसाइटी, कलकत्ता-हिन्दू-महासभा आदि संस्थाएँ थीं । उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन चल रहा था, और बंगालके उग्रवादी वातावरणमें नवयुवक पोद्दार महाराज-जैसे संवेदनशील व्यक्तिके लिये उससे अपनेको असपृक्त रखना असभव था । उस समय उन्हें भगवान्की प्राप्तिके स्थानपर यह कार्यशीलता ही समयोचित प्रतीत हो रही थी। अतः ये इसमे पूरे रत थे।''

श्रीसेठजीने श्रीपोद्दार महाराजकी पारमार्थिक मूल भूमिकी उर्वरकताको पहचान लिया, और इनकी पूर्वजन्मकी परिपक्व साधन-सम्पन्नता भी परिलक्षित कर ली। किन्तु फिर भी उन-जैसे अतिशय शक्तिशाली संतको भी इस प्रापंचिक आवरणके कारण श्रीपोद्दार महाराजको पूर्णतया आत्मसात् कर लेनेमे पॉच-छः वर्ष लग गये। सच्चे महासिद्ध सन्तसे मिलन और उनसे हुई आत्मीयताका वस्तुगुण यद्यपि श्रीपोद्दार महाराजको बार-बार भगवद्भजनकी प्रेरणा देता था, किन्तु राजनीतिक और सामाजिक कार्योंकी रुचि उधर भटका ही देती थी । अन्ततः भगवत्कृपा और महासिद्ध सन्तका अनुग्रह उनपर क्रियाशील हो उठा । और भगवान् घोर विपत्तिके रूपमें श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख प्रकट हो गये । भगवान् श्रीमद्भागवतमें अपने श्रीमुखसे कहते हैं:

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ।।
स यदा वितथोद्योगा निर्विण्णः स्याद्धनेहया
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्।।
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।।
१०/८८/८–१०।।

"जिस जीवपर मैं कृपा करता हूँ , उसका सब धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ । तब उसके बन्धुगण उसे निर्धन और दुःख-पर-दुःख उठाते देख छोड देते हैं । फिर जब बार-बार उद्योग करनेपर भी वह धन-संग्रह करनेमें समर्थ नहीं होता, तब धनकी चेष्टासे विरक्त होकर वह मेरे भक्तोंसे मेल करता है। उस समय मैं उसपर कृपा करता हूँ और तब उसे परम सूक्ष्म चिन्मात्र, सत्यस्वरूप, अनन्त ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।"

"ठीक, इसी भगवद्वाक्यानुसार श्रीपोद्दार महाराज चतुर्दिक् विपत्तिरूप भगवदनुग्रहसे घिर गये। इनकी पैतृक सम्पत्ति तो शिलांगके भूकम्पमें १८९६ई. मे ही नष्ट हो गयी थी। कलकत्तेके व्यापारसे जो कुछ प्राप्त होता था, वह राजनीति, समाजसेवा और सन्त महात्माओंकी सेवामें समर्पित हो जाता था। फिर घरखर्चमे भी दादीजीका उदारस्वभाव, उनकी ब्राह्मणोंकी भक्ति बढोतरी ही करती थी, अतः दुकानमें निजकी पूँजी थी ही नहीं, मात्र कर्ज था। सन्तोषकी इतनी ही बात थी कि पत्नी परम अनुकूल थी और दादीजी भी सहिष्णु थीं ।"

"अब घोर विपतिरूप प्रभुकृपाका जब इन्हें साक्षात्कार हुआ तो सरकारने इन्हें राजद्रोहके मुकदमेमे फँसा लिया । क्रान्तिकारी गुप्त समितियोमें सक्रिय भाग लेनेके कारण पुलिसकी डायरीमे तो इनका नाम था ही , ये क्रान्तिकारियोंके मुकदमोमें सहयोग करते ही थे, अतः एक दिवस सदल-बल पुलिस इनकी दुकानपर पहुँच गयी और २० जुलाई १९१६ई०को इन्हें राजद्रोहके अपराधमें बन्दी बना लिया गया । अभी इनका विवाह हुए तीन मास भी नहीं हुए थे, घरमे अकेली स्त्रियाँ थीं , कारावासमे कितने दिन रहना होगा, पता नहीं था, घरमे अन्नवस्त्र भी कहाँसे कैसे आवेगा, कर्जदार यदि अपने कर्जकी माँग कर बैठे तो स्त्रियाँ कैसे व्यवस्था करेगी,आदि चिन्ताओंने इन्हें पूरा आवृत कर लिया। इनका हृदय तडफडाने लगा। चारों ओर अन्धकार ही दिखाई पडने

लगा। जब कोई कहीं सहारा नहीं दिखा तो श्री सेठजीका सत्संग याद आया। प्रथम मिलनसे ही श्रीसेठजीके प्रति आत्मीयता तो हो ही गयी थी, उनके सत्सगमें नियमित जाना होता ही था । श्रीसेठजी नाम-माहात्म्यपर अनेकों बार सत्संग करा चुके थे , अत: अशरणशरण भगवान्‌के नामका ही अवलम्ब ग्रहण करना उन्हे अन्तिम उपाय समझमें आया। श्रीपोद्दार महाराजने भगवन्नामकी रट लगा दी। भजन करनेकी देर थी कि शान्तिका आविर्भाव होने लगा। शनैः-शनैः व्याकुलता दूर हो गयी। उनकी पारमार्थिक उन्नतिका सूत्रपात प्रारंभ हो गया।'

श्रीपोद्दार महाराजकी जागतिक मित्रमंडली तो बहुत बड़ी थी । श्रीअरविन्द, श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीविपिनचन्द्र पाल, श्रीचित्तरंजनदास, श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीश्यामसुन्दर चक्रवर्ती, श्रीसखाराम गणेश देउस्कर, सभीके साथ तो पोद्दार महाराजका अन्तरंग सम्पर्क था। ये सभी कलकत्तेके उस समयके धुरीण नेता, धनीमानी और समाजमे पूरी प्रतिष्ठा पाये महानुभाव थे। परन्तु विपत्ति पडनेपर इनमेंसे किसी एकने भी इनके परिवारकी ओर या इनकी ओर झॉका भी नहीं। मानव सोचता है – प्रभावशाली लोगोंकी मिताई मेरे किसी विपत्तिके निवारणमें हेतु होगी, धनी-मानी परिचित मित्र-समुदाय मेरी सपत्तिमे हेतु होगा, परन्तु होता है सर्वथा ही विपरीत। जब घोर विपत्ति आती है तो प्रभावशाली लोग देखते ही नहीं, परिवारके निकटसे निकट, रक्तके सम्बन्धी निकम्मा समझ त्याग देते हैं, लोभनीय वस्तुओके छिनते ही मनुष्य सभीकी दृष्टिमे हेय, उपेक्षणीय और घृण्य हो जाता है। हॉ ! उस समय उसे सच्ची आत्मीयता ,मिताई, अपनत्व एकमात्र सच्चे सन्त-जगत्‌से ही मिलती है। इस घोर विपत्तिके समय भी श्रीसेठजी जयदयालजी ही ऐसे थे जो अंग्रेज सरकारके भयसे सर्वथा न घबडाते हुए श्रीपोद्दार महाराजकी पारिवारिक स्त्रियोकी सक्रिय एवं सब प्रकारकी सहायता करते रहे। बराबर वे जब-जब कलकत्ते आते उनसे मिलते, उन्हें आत्मीयता, सांत्वना, और यथावश्यक सहयोग देते। श्रीपोद्दार महाराजको श्रीसेठजीने लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारसे सम्हाला । "

"श्रीपोद्दार महाराजको सेठजीकी यही अनुपम अनमोल पारलौकिक सहायता मिली कि उनका उस समयका घोर मानसिक विपत्तिपूर्ण जीवन एक कठोर साधनाका उपक्रम हो गया। भगवन्नामकी कृपासे सरकारके द्वारा पूरी

चेष्टा करनेपर भी, ठोस आधार नहीं मिलनेसे राजद्रोहका मुकदमा चलाना संभव नहीं हो पाया। सन्देहके आधारपर सरकार लम्बे समयतक जेलमें भी नहीं रख सकी । अतः भारत-रक्षा-कानूनका सहारा लेकर इन्हे अनिश्चित कालके लिये नजरबन्द करनेका आदेश दे दिया गया। इनको बाँकुडासे २४ मील दूर शिमलापाल नामक ग्राममें जानेका आदेश मिला। "

" शिमलापालका जीवन एक कठोर साधनाका सोपान होगया। थोडे ही दिवसोंमें उनकी वृत्ति ध्येयाकार होने लगी। भगवान्के ध्यानमे श्रीपोद्दार महाराजको इतना रस आने लगा कि प्रातः, दुपहरी एव सध्या, तीन-तीन घण्टे ध्यानमे व्यतीत होने लगे। मात्र जो भी अल्प समय शारीरिक आवश्यक कार्यों शौच, स्नान, भोजनादिमें लगता, उसे छोड़कर शेष सभी समय नामजप एव स्वाध्यायमे लगने लगा। इसका फल यह हुआ कि इन्हें ऑखें खुली रहते विष्णु भगवान्की मूर्तिका ध्यान होने लगा। नामजपमें इतना रस आने लगा कि नामजप छूटना असह्य हो जाता। जीभ सतत बिना प्रयास नामजपमें लगी रहती। आध्यात्म-साधनाको जहाँ इतना दुरूह कहा जाता है कि

**जनम जनम मुनि जतन कराहीं ।**
**अन्त राम कहि आवत नाहीं।।**

वहाँ श्रीपोद्दार महाराज मात्र एक-डेढ वर्षके अत्यल्प साधन कालमें ही सन्तप्रवर श्रीसेठजीकी कृपासे उस उत्तम स्थितिमें पहुँच गये कि इन्होने इस शिमलापालकी नजरबन्दीके कालमे "प्रेम दर्शन" नामसे देवर्षि नारद-प्रणीत भक्तिसूत्रोंकी अत्युत्कृष्ट टीका लिख ली । इसका प्रकाशन कुछ संशोधनो सहित आगे जाकर गीताप्रेससे हुआ। इस ग्रन्थमें प्रेमरूपा भक्तिकी इनके द्वारा की गयी ऐसी सरल एव गभीर व्याख्या है जो कि चिरकालके लिये विश्वके भक्तिमार्गी जीवोके मननमें पथ-प्रदर्शकका कार्य करेगी । यह टीका इतनी अनमोल भक्तिग्रन्थ हो गयी कि स्वयं श्रीनारदजीने जब श्रीपोद्दार महाराजको सन् १९३६ ई०में दर्शन दिये तो इस पुस्तककी सराहना की। "

"इस नजरबन्दीकी अवधि मात्र इक्कीस मास चली। इस अवधिके पश्चात् इन्हें बगालसे निष्कासित कर दिया गया। बंगाल त्यागकर ये अपने ग्राम रतनगढ आ गये और कुछ दिन पश्चात् श्रीजमनालालजी बजाजने इन्हें कोई काम काज करानेके निमित्तसे बम्बई बुला लिया। "

"श्रीपोद्दार महाराजके देश–सेवा और समाज–सेवाके सस्कार अब भी पूरी तरहसे निर्मूल नहीं हुए थे। श्रीजमनालालजी बजाजके बम्बईके सगने इन्हे पुनः उभार दिये। श्रीबजाज उस समय राष्ट्रनेताओके एक प्रकारसे आश्रयदाता ही थे। अतः श्रीपोद्दार महाराजका इन नेताओंसे सम्बन्ध घनिष्ठतर, घनिष्ठतम होता गया। श्रीगॉधीजीसे तो इनकी आत्मीयता इतनी बढ गयी कि वे जब भी बम्बई आते, पोद्दार महाराजके घर उनकी दादी रामकौरसे मिलने अवश्य आते। श्रीबालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, श्रीविनायक दामोदर सावरकर, श्रीवल्लभभाई पटेल, श्रीअब्दुलगफ्फार खॉ, श्रीमुहम्मदअली जिन्ना आदि सभी नेता श्रीपोद्दार महाराजकी सेवासे प्रभावित थे। ये सन् १९१९के कांग्रेस–अधिवेशनमें अमृतसर, सन् १९२० के अधिवेशनमें कलकत्ता, सन् १९२१ ई० के अधिवेशनमें अहमदाबादमें सम्मिलित हुए।"

"गोस्वामीजी! यह परम सत्य है कि सच्चे महासिद्ध सन्त एवं स्वय भगवान् यदि किसी जीवको एक बार अपना लेते हैं तो फिर कभी त्यागते नहीं। ऐसा ही सयोग श्रीपोद्दार महाराजके जीवनमे भी घटित हुआ। श्रीपोद्दार महाराज नेताओकी राजनीतिमे उलझ गये थे , सन्तकृपा तो उनकी प्रतीक्षा कर ही रही थी । इधर जुलाई–अगस्त सन् १९२०मे श्रीजमुनालालजी बजाज किसी कार्यवश सेठजीसे मिलने चक्रधरपुर गये तो इन्हें भी उनके साथ जाना पड़ा। इस समय इन्हे उनकी एक सेवा भी करनेका सुअवसर प्राप्त हो गया। जैसा कि पूर्वतः उल्लेख हो चुका है श्रीसेठजी का हिन्दी भाषाज्ञान सर्वथा नगण्य था। वे मारवाडी -मिश्रित साधारण हिन्दीमें ही बोलते थे और उनका वैसा ही लेखन भी था । उन्होने श्रीपोद्दार महाराजको चक्रधरपुरमें अपनी दो लघु पुस्तकें 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' और 'प्रेम भक्तिप्रकाश' भाषासुधार एवं संशोधनके लिये दीं । श्रीसेठजी अपने मूल भावोंको अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रभावशाली शैलीमें अभिव्यक्त देखकर गद्गद् हो गये। भगवान् एवं सन्त तो भावके भूखे होते हैं , वे अपनी तनिक सी सेवाको बहुत करके मानते हैं । गोस्वामीजी! श्रीपोद्दार महाराजने मुझसे अनेक बार कहा है कि इस प्रथम अति अल्प एवं नगण्य–सी सेवासे ही महासिद्ध सन्त सेठजीने मेरी परमार्थ–उन्नतिके भीषण अवरोधात्मक कपाट उन्मुक्त कर दिये।' "गोस्वामीजी! यह केवल श्रीपोद्दार महाराजके साथ हुई घटना ही नहीं है, मेरे साथ भी ठीक ऐसी ही घटना घटित हुई। श्रीस्वामी रामसुखदासजी द्वारा प्रेरित मैं श्रीसेठजीसे मिलने सर्वप्रथम बॉकुड़ा

गया था। हम लोगोके मध्य लगभग चौदह–पन्द्रह दिवसोंतक सत्संग–चर्चा हुई। उस सत्संगके आधारपर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि श्रीमद्भगवद्गीता–सम्बन्धी सेठजीके जो भाव हैं, वैसे अन्यत्र देखनेमें नहीं आते । श्रीसेठजीका यह गहन चिन्तन यदि लिपिबद्ध नहीं हुआ तो जगत् एक दिव्य एवं दुर्लभ निधिसे वंचित रह जायगा। मैंने उस समय श्रीसेठजीसे कहा – "आप गीता-सम्बन्धी अपने विचारोंको लिपिबद्ध करा दें।" अपनी विवशता व्यक्त करते हुए श्रीसेठजीने मुझसे कहा -"कौन करे, और कैसे होगा, मैं तो शुद्ध हिन्दी भी बोल नहीं पाता।"मेरे मनमे भगवत्कृपाप्रेरित अचानक सेवाभाव उदय हो उठा। मैंने इस कार्यके लिये अपनेको प्रस्तुत करते हुए कह दिया –"आप अपने विचार मुझे बतलाये। उनको लिखकर मैं आपको दिखलाता हूँ। यदि आपको ऐसा प्रतीत हो कि मेरे द्वारा ठीक लिखा गया है, तो फिर लेखनकार्य हो । मैने श्रीसेठजीके एक प्रवचनको शुद्ध हिन्दी भाषामें लिपिबद्ध करके श्रीसेठजीके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। मेरी अभिव्यक्ति, भाषा और विषय-प्रस्तुतिसे श्रीसेठजी बहुत ही प्रसन्न हुए । गोस्वामीजी ! मात्र मेरी इतनी–सी सेवाके फलस्वरूप श्रीसेठजीने मुझे अद्वैत साधनाके अनुसार पूर्ण ब्राह्मी–स्थितिमें प्रतिष्ठित कर दिया। वैसे मेरी साधन स्थिति पहलेसे ही पूर्ण थी परन्तु मेरी एक ऐसी गुत्थी थी, जो सुलझ नहीं रही थी। श्रीसेठजीने मेरी इस गुत्थीको कुछ–एक क्षणोमे ही हल कर दिया और मुझे उनका महापुरुषत्व स्वीकार करना पड़ा।"

"गोस्वामीजी ! सच्चे सन्त जिस किसी भी प्राणीको जब स्वीकार कर लेते है, तो उसके हृदय और अन्तरात्मामेंसे वे स्फुटित होते हैं । वे अपनी आत्मीयता और स्नेह स्मृतिकी ऐसी बाढ छोड़ते हैं कि ग्रहीत व्यक्ति उनके बिना रह नही पाता। वह उनके संगके लिये विवश हो जाता है। "

"श्रीपोद्दार महाराजकी भी यही स्थिति हुई। श्रीसेठजीसे सत्संग सुननेकी अचानक ही उनकी इतनी तीव्र रुचि हो उठी कि उनसे रहा ही नहीं गया और वे सेठजीको बम्बई बुलाकर सत्संग आयोजन करनेकी बात सोचने लगे। उन्होने अपने सभी मित्रोसे श्रीसेठजीको पत्र एव तार दिलाये एव श्रीसेठजीको बम्बई आनेका निमंत्रण दिया । अन्ततः सत्संग कराये जानेकी योजना सफल हो ही गयी। सन् १९२२ की शरद ऋतुमे श्रीसेठजी अपने बीस पच्चीस साथियों सहित बम्बई पधारे। श्रीपोद्दार महाराजकी प्रेरणासे सैकड़ो प्रतिष्ठित व्यक्ति स्टेशन आये एवं श्रीसेठजीका भव्य स्वागत हुआ। श्रीसेठजीका लगातार

दस दिनोंतक श्रीसुखानन्दजीकी धर्मशाला और नरनारायणके मन्दिरमे सत्संग हुआ। दस दिनोतक सत्सगकी धारामें कितने ही व्यक्तियोंने निमज्जन किया। अनवरत इन दस दिवसोंमें श्रीसेठजीकी सारी सार–सँभाल, व्यक्तिशः सभी सेवा श्रीपोद्दार महाराजने स्वयं की। श्रीसेठजीने विदा होते समय प्रतिदिन सत्सग होता रहे, इसका दायित्व श्रीपोद्दार महाराजपर ही डाल दिया।

गोस्वामीजी ! श्रीसेठजीकी इन दस दिनोकी सेवाका फल श्रीपोद्दार महाराजको श्रीसेठजीने इतना अनमोल दिया कि उनकी साधनामें अतिशय तीव्रता आ गयी। क्योंकि स्वयं श्रीसेठजी प्रधानतया निर्विशेष ब्रह्मवादी थे अतः श्रीपोद्दार महाराजकी भी प्रवृत्ति प्रथमतः निर्विशेष ब्रह्ममें ही रही। श्रीसेठजीको श्रीपोद्दार महाराज द्वारा लिखे पत्र ही इस विषयके प्रमाण हैं।। श्रीपोद्दार महाराजने मुझसे एकान्त सत्संगमे अनेकों बार यह भी कहा है कि श्रीसेठजीकी आज्ञानुकारिता और उनके सकल्पसे ही उनमें सफल सम्पादनकला एवं आध्यात्मिक वक्तृत्वका प्रकाश हुआ ।"

श्रीशिवनारायणजीकी बाड़ीमें श्रीपोद्दार महाराज सत्सग कराने लगे। श्रीपोद्दार महाराज सदैवसे ही आत्मगोपन प्रवृत्तिके थे । उनकी वाणी भी बोलते समय हकलाती थी। परन्तु अपने आध्यात्मिक गुरुके संकेतका उल्लंघन वे कैसे करते। इस सन्त–आज्ञापालनरूप सेवाने श्रीपोद्दार महाराजको भविष्यमें आध्यात्म जगत्का अतिशय गंभीर, सारगर्भित प्रवक्ता बना दिया। वे अति सरल भाषामें कूट–से–कूट आध्यात्मिक गुत्थियोंको सुलझा देते थे। बम्बईमें मात्र मारवाडी ही नहीं, मराठी एवं गुजराती भाषाभाषी लोग भी उन्हें सुनने आते। श्रीपोद्दार महाराज बादमें श्रीरामचरितमानस पर भी प्रवचन करने लगे। उनके सत्संगमें प्रतिदिवस ही, यदि वे बम्बई होते, श्रीजमुनालालजी बजाज, श्रीकृष्णदास जाजू आदि भी अवश्य आते थे। उनका सत्संग अतिशय भावपूर्ण होता और सभी श्रोता प्रवचन सुनते समय मंत्रमुग्ध हो जाया करते थे। अनेक बार देशके सर्वप्रतिष्ठित उच्चकोटिके महात्माओंके सम्मुख भी श्रीपोद्दार महाराजने अपने विचार रखे हैं, इनमे स्वामी अच्युतमुनिजी,श्रीभोलेबाबाजी, श्रीउडियाबाबाजी, श्रीहरिबाबाजी, माँ आनन्दमयी ,श्रीशिवानन्दजी, स्वामी एकरसानन्दजी, रामानुज सम्प्रदायके परमाचार्य श्रीअनन्ताचार्यजी, वल्लभसम्प्रदायके आचार्य श्रीगोकुलनाथजी, श्रीदीक्षितजी महाराज आदि प्रमुख हैं । श्रीपोद्दार महाराजके आध्यात्मिक विचार सदैव उनके सच्चे आन्तरिक विश्वाससे ओतप्रोत होनेके

कारण सदा सभीके लिये श्रोतव्य और आत्मप्रेरक होते थे।''

''गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराजकी श्रीसेठजीके प्रति सदा नारायण–भावमयी ही दृष्टि रही। यद्यपि श्रीसेठजी प्राकृत–शरीरधारी एक मारवाड़ी व्यक्ति ही थे, परन्तु श्रीपोद्दार महाराज इन्हे कृमि, विष्ठा, मल–मूत्रका आगार सर्वथा नहीं देखते थे। श्रीपोद्दार महाराजकी इस विशुद्ध भगवन्मयी दृष्टिका प्रमाण उनका यह पद है जो उन्होंने सन् १९२२ ई.में श्रीसेठजीकी वन्दनाके रूपमें लिखा था :–

जयति देव,जयति देव, जयदयालु देवा ।
परम गुरू, परमपूज्य, परम देव,देवा ।।
सब विधि तव चरन–सरन आइ पर्यौ दासा ।
दीनहीन, अति मलीन तदपि सरन आसा ।।
पातक अपार किन्तु दया को भिखारी ।
दुखित जान राखु सरन पापपुंजहारी ।।
अबलौं के सकल दोष छमा करहु स्वामी।
ऐसौ करु जाते पुनि हौं न कुपथगामी ।।
पात्र हौं, कुपात्र हौं , भले अनधिकारी ।
तदपि हौं तुम्हारौ अब लेहु मोहि उबारी ।।
लोग कहत तुम्हरो सब, मनहु कहत सोई ।
करिय सत्य सोइ नाथ भव–भ्रम सब खोई ।
मोरि ओर जनि निहारि , देखिय निज तनही ।
हठ करि मोहि राखिअ हरि ! संतत निज पनही ।।
कहौं कहा बार–बार जानहु सब भेवा ।
जयति जयति जयदयालु जयदयालु देवा ।।

यहाँ श्रीपोद्दार महाराजने जो 'हरि' शब्दका प्रयोग किया है, यह स्पष्ट उनकी अपने गुरु–सन्तके प्रति भगवन्मयी निष्ठाका ही द्योतक है।''

उत्कृष्ट साधककी दृष्टि तो जड़–चेतन समग्र जगतके प्रति भी भगवन्मयी 'वासुदेव:सर्वम्' की होती है, फिर अपने गुरु एवं संतके प्रति कृमि, विष्ठाभाण्डकी दृष्टि रखना तो पूर्ण अधर्म एवं पाप ही है। श्रीपोद्दार महाराजकी इस विशुद्ध, परम पूत दृष्टिका ही परिणाम था कि उनकी इतनी शीघ्र उन्नति हुई। उन्हे पहले नित्य, अखण्ड, निरवयव, निर्विशेष ब्रह्मकी अपरोक्ष अनुभूति होने लगी

पहले नित्य, अखण्ड, निरवयव, निर्विशेष ब्रह्मकी अपरोक्ष अनुभूति होने लगी और साथ ही-साथ बम्बईके अपने व्यापारी जीवनमें ही उन्हे वनवासी वेषमे श्रीलक्ष्मणजी एवं सीताजी सहित भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए। गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराज द्वारा ये सभी बातें मुझे अपने मुखसे कही गयी हैं । उनकी सन् १९२२ ई० में ही ऐसी सहज स्थिति थी कि चलते-चलते हठात् उनका बाह्य-ज्ञान जाता रहता था । नेत्र खुले रहते थे और वे स्थिरदृष्टि रात्रिमें नौ-नौ घण्टे अधिकांशतः समाधिस्थ रहते थे ।"

"सन् १९२१ ई० में भिवानीके भक्त श्रीलक्ष्मीनारायणजी हरिनामप्रचारके लिये बम्बई आये थे । ये नवद्वीपवासी गौड़ीय सन्त श्रीरामकरणजीके अनुगत थे। भगवन्नाम-संकीर्त्तनके प्रचारमें ये मस्त होकर घूम-घूमकर नृत्य करते और अनेको बार मूर्च्छित हो जाते थे। श्रीपोद्दार महाराजके हृदयमें गौडीय राधा-माधवकी दिव्य महाभावधाराका उन्मेष बीजरूपमें इनके द्वारा ही हुआ, यह एक प्रकारसे कहा जा सकता है। इनके संगसे श्रीपोद्दार महाराजके मन, प्राण, वाणी और शरीर सभी कुछ पूर्ण रूपसे भगवद्रसमें डूब गये ।"

"गोस्वामीजी ! मैं आपको अत्यन्त मित्रोचित यही राय दे सकता हूँ कि आपको प्रेमाभक्तिकी उपलब्धि यदि अपेक्षित है, तो श्रीपोद्दार महाराजरूप महासिद्ध सन्तकी यावज्जीवन सेवा और उन्हें अपना पूर्ण आत्मसमर्पण ही मात्र इसका उपाय है।"

" गोस्वामीजी ! जसीडीहमें श्रीपोद्दार महाराजको भगवान विष्णु अथवा नारायणदेवके जो दर्शन हुए, उसके विषयमे उन्होंने मुझे जो कुछ कहा वह शब्दशः मुझे याद है । उन्होंने मुझे जो कहा था, उसे सुनिये –" जिस जगह श्रीसेठजी विद्यमान थे, उस जगह मुझे खुली ऑखो भगवान्की चतुर्भुज मूर्त्तिके – जैसे दो व्यक्ति आमने-सामने बैठे हों, उस प्रकार दर्शन होने लगे । मेरे आनन्दका पार नहीं रहा। मैंने थोडी देर भगवान्के रूपका वर्णन किया। वृत्तियाँ फिर बाहरसे सर्वथा हट गयीं। मैंने भगवान्के चरणोंको स्पर्श करनेकी चेष्टा की। किन्तु पहले तो हाथ आगे बढे नहीं । जब हाथ आगे बढ़े, और मैं चरणस्पर्शको उद्यत हुआ तो भगवान् अन्तर्धान हो गये और जहाँ साक्षात् भगवान्के दर्शन हो रहे थे , उस जगह श्रीसेठजी दिखने लगे। तब मैंने श्रीसेठजीसे प्रार्थना की कि चरणोंका स्पर्श होना चाहिये। श्रीसेठजीने उत्तर दिया कि ध्यान होना तो तुझे सहज है, पर चरणोंका स्पर्श होना अगलेकी

मर्जीपर है । इतना कहनेके साथ ही अकस्मात् अनन्त प्रकाश हो गया। फिर मुझे उसी तरह दर्शन होने लगे । मैंने आनन्दसे विह्वल होकर भगवान्‌के दाहिने चरणको पकड लिया और चरणोंमें बलात्कारसे जा पडा । भगवानने मेरे मस्तकपर हाथ रख दिया। तब पीछेसे लोगोंने कहा कि तुम तो श्रीजयदयालजीके चरणोंमें पडे थे। मेरी दृष्टिमें तो उस जगह भगवान् नारायणके सिवाय और कोई भी नहीं था । श्रीजयदयालजी मेरी दृष्टिमें सर्वथा नहीं थे । केवल नारायणदेव ही थे । इस स्थितिमें मैं बहुत देरतक पड़ा रहा। भगवान् मेरे मस्तकपर हाथ रखे हँसते रहे । फिर भगवानके अन्तर्धान होते ही मेरे चित्तमें व्याकुलता होकर मेरी ऑखें खुल गयीं । मैंने देखा – मेरा मस्तक श्रीज्वालाप्रसादजीकी गोदमे था। मेरे अन्दर आनन्दकी इतनी बाढ थी कि मेरा बाह्य ज्ञान बार-बार जाता रहा। मैं बडे आनन्दके साथ चलता तो मुझे प्रत्यक्ष दिखता भगवान् मेरे साथ चल रहे हैं । फिर मुझे भवनमें लाकर बिठा दिया गया। वहॉ भी मुझे भगवानके दर्शन होते रहे। फिर मुझे सेठजीके पास लोग ले गये, वहाँ भी मुझे उन्हींके रूपमें भगवान्‌के दर्शन होते रहे । तब मैंने दण्डवत् की । उसके पश्चात् मुझे बाहरी ज्ञान हुआ।''

''इस वर्णनको श्रीपोद्दार महाराजके मुखसे सुननेके पश्चात् मेरे चित्तमें यह बात पूर्णतया सुदृढ हो गयी कि भगवान् चाहे निर्गुण हों अथवा सगुण, वे महापुरुषोंके स्वयंके ही मात्र निज स्वरूप हैं और महापुरुष एवं भगवान्‌में स्वरूपत: किंचित् भी भेद हो ही नहीं सकता। महापुरुषका देह ही प्राकृत भले दीखे, शेष उसके अन्तःकरणका पूर्ण विलय भगवानमें हो जाता है । और ऐसा भी संभव है कि कुछ महात्मा मात्र हमारी चर्मचक्षुओंसे प्राकृत दीखते रहे हों, वस्तुतः उनका शरीर भी चिन्मय हो । मेरी तो यह निर्विवाद मान्यता है कि तत्व चाहे निर्गुण, निराकार, निर्विशेष हो, चाहे सगुण, साकार, सविशेष, यदि किसीको भी वितरित होता है, तो महापुरुषोंके द्वारा ही। उसको पानेका अन्य कोई उपाय ही नहीं है । इसमें प्राथमिक आवश्यकता इतनी ही है कि बस, एक बार साधक आत्मसमर्पित हो जाय । उसका अहं विगलित होकर महापुरुषके चरणोमें विलीन होनेको उत्सुक हो उठे , इतना होते ही महासिद्ध सन्तोंका निज स्वरूप – वह चिन्मय परम सरस रसप्रवाह साधकके कठोर प्राकृत अहंको प्रथमतः चतुर्दिक् घेर लेता है, फिर शनैः-शनैः उसे मसृण करता है, उसमें प्रवेशके लिये छिद्र संघटित करता है और तब उसे ध्वंसकर अपनेमें

लीन कर लेता है। महापुरुषोंके निज स्वरूपसे एक होना ही भगवत्साक्षात्कार है,क्योंकि भगवान् और महापुरुष दो होने सभव ही नहीं हैं। "

"गोस्वामीजी ! सेठजी जयदयालजी गोयन्दका ऐसे ही सन्त हैं, जिनमे त्याग एवं समर्पणकी पूर्णता है । कोई लौकिक भाव उनकी आन्तरिक प्रीतिधाराको अवरुद्ध कर ही नहीं सकता। श्रीपोद्दार महाराजको जब उन्होंने भगवद्दर्शन कराये, उस समय वे रुग्ण थे। उनके चारों ओर जो वैश्य-समुदाय है, वह भी बहुत ही धन एवं विषयलुब्ध है। परन्तु उनमें भगवद्रुचिरूप गीताके प्रचारकार्यकी ऐसी अदम्य तेजस्वी वृत्ति है , जिसे तनके रोग-शोक, अभाव-व्याधि, बहु भोगजनित सुख-दुखोंका प्राबल्य लेशमात्र भी प्रभावित नहीं कर पाता। उनका चित्त भगवत्प्रेमका पारावार है। उनमें भगवत्प्रेम एवं त्यागकी अनुपम लहरें अविराम उच्छलित होती रहती हैं । "

"श्री सेठजीका मत है कि सगुण-साकार भगवानके दर्शनके पश्चात् तत्वज्ञान तत्क्षण ही होना चाहिये। वे तत्वज्ञानको साध्य एवं भगवद्दर्शनको साधन मानते हैं, परन्तु श्रीपोद्दार महाराजको ठीक इसके विपरीत प्रथमतः तत्वज्ञान और तब भगवद्दर्शन हुए। उन्हें ऐसे ही भगवानकी कृपा तथा अनुभूति हुई जो ब्रह्मतत्वकी प्रतिष्ठा हैं। अतः चाहे उन्हें भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए हों, चाहे विष्णु अथवा नारायणदेवके और आगे जाकर चाहे भगवान् राधा-कृष्णके परम चिन्मय लीला-विहारके, किन्तु उन्हे भगवान्ने अपने उस सगुण साकार परमतत्वका अनुभव कराया, जो ज्ञानोत्तर है । ब्रह्मज्ञानके पश्चात् महाराज जनक कहते हैं – **"बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा"**– श्रीपोद्दार महाराज उस अप्राकृत सगुण-साकार भगवत्तत्वके कृपाभाजन रहे । "

"इसे पुन. ठीकसे समझ लें – सगुण-साकार भगवत्तत्व भी अधिकारी-भेदसे दो प्रकारके साधकोंके सम्मुख प्रत्यक्ष होता है । एक मुक्तिकामी भक्त साधक होते हैं और दूसरे प्रीतिरसके लोलुप भक्त साधक भी होते हैं। मुक्तिकामी भक्त साधकोंको क्योंकि प्रकृतिके बन्धनसे मुक्ति चाहिये, अतः उन्हे उन्हीं भगवान्के दर्शन होते हैं, जिनके अवतारी त्रिदेवोंमेंसे एक भगवान् नारायणदेव हैं । जैसे पृथ्वी जब आसुरी भावोंके भारसे मुक्तिकामिनी हुई तो वह त्रिदेवोंमेंसे एक, श्रीब्रह्मदेवके पास गयी और तब श्रीब्रह्माजी उसे लेकर त्रिदेवोंमेंसे ही एक – भगवान् नारायणदेवके पास पहुँचे। ये विराट पुरुष नारायणदेव शेषशायी भगवान हैं । अनेक कल्पोंमें ये शेषशायी नारायणदेव ही

अपने अंशसे श्रीराम एव कृष्णका भी अवतार ले लेते हैं। उस समय ये रामकृष्णादि अवतार भी मात्र असुरसंहारका कार्य कर विदा हो जाते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसे साधक भी इस विश्वसृष्टिमें भगवानकी कृपासे जन्म ले लेते हैं, जो मुक्तिकामी न होकर विशुद्धतम भगवत्प्रीतिरसके पिपासु होते हैं । इन विशुद्ध अप्राकृत चिन्मय भगवत्प्रीतिरसके पिपासु साधकोंके लिये उन अप्राकृत गुण और अप्राकृत चिन्मय आकारधारी विशुद्ध प्रीतिरसके उत्स एकमात्र भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनको ही अवतरित होना पड़ता है । ये ब्रजेन्द्रनन्दन पूर्ण, पूर्णतम , अखिल रसामृतमूर्ति हैं। यह प्रेमरस इन ब्रजेन्द्रनन्दन और उनकी प्राणप्रिया भानुराजदुहिता श्रीराधाका ही निजस्व है। यह विलक्षण प्रेमरस स्वरूपगत तात्त्विक भेद नहीं होनेपर भी निर्विशेष परब्रह्म परमात्मामें अनभिव्यक्त है। अन्तर्यामी परमात्मामें यद्यपि इसका आंशिक विकास है, फिर भी साक्षीरूपमे उदासीनताकी लीलामें प्रवृत्त रहनेके कारण वे भी इस रसके रसिक नहीं ही कहे जा सकते। इसी प्रकार श्रीराम, नृसिंहादि अन्यान्य भगवद्रूपोंमें भी इसकी अनभिव्यक्ति है । एकमात्र प्रेमविलासरूप श्रीराधाकृष्णकी लीला ही इस विशुद्ध प्रेमरसकी स्वरूपभूता है । यह प्रेमरस परस्पर इन दोनो प्रिया-प्रियतम दम्पतीमें ही अभिव्यक्त होता है। यह मात्र उनका ही स्वरूप विलास है, निज स्वरूप है।''

''गोस्वामीजी ! मैं यद्यपि पूर्ण ,परिपूर्णतम ब्रह्मतत्वके ज्ञानी होनेके कारण श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका रूप महाप्रभु नारायणदेवकी अनन्त वन्दना करता हूँ , फिर भी यह सत्य है कि यह विशुद्ध मधुर प्रेमरस उनमे स्वयंमें भी अनभिव्यक्त है। वे अपनेको पूर्ण समझते हैं, अतः कभी-कभी गोपीप्रेमपर लिख-बोल भी जाते हैं परन्तु उनका इस प्रेमतत्त्वपर लिखना-बोलना उसी प्रकार है जैसे कोई राजनेता, सरकारी मंत्री श्रीमद्भगवद्गीता या ब्रह्मज्ञान पर प्रवचन करे। यह विशुद्ध मधुर प्रेमरस तो, सच्ची बात यह है कि ब्रजभूमिमे भी गोपराज नन्दबाबा, यशोदा मैया, श्रीवृषभानुजी एवं कीर्तिदा मैया, साथ ही सखावर्गके अनेक पात्रोंसे भी अज्ञात है। यह विशुद्ध प्रीतिरस तो भगवान् श्रीराधाकृष्ण और भगवती श्रीराधाजीकी कायव्यूहरूपा कुछ सखी-मंजरियों तक ही सीमित है, मात्र उनमें ही अभिव्यक्त है । सनकादि ऋषि भी इससे अछूते हैं। उनका भी इस रसमें प्रवेश नहीं , स्वयं श्रीराम, नृसिंहादि भगवत्तत्व भी इसे संस्पर्श नहीं कर पाते । ''

"क्योंकि श्रीपोद्दार महाराज इस विशुद्ध प्रीति समुद्रमें विहरें – यह पूर्व निर्धारित नियति थी, अतः वे अपने साधनकालके प्रारम्भमें ही इन्हीं ज्ञानोत्तर अप्राकृत विशुद्ध ब्रह्म-विमोहन सगुण साकार प्रेमविग्रह श्रीराधामाधवके कृपाभाजन हुए। श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख तो प्रेमविग्रह श्रीकृष्ण ही सन्धिनी शक्तिके विलासरूपमें परतत्व ब्रह्म बनकर आये । यह ब्रह्म परतत्व इन श्रीकृष्णचन्द्रकी नखचन्द्रोकी चिज्ज्योति मात्र ही तो है। इसी प्रकार ये सर्वभवनसमर्थ श्रीकृष्ण ही इनके सम्मुख त्रिदेवोंमेंसे एक, श्रीनारायणदेव बन गये थे। ये ही कौशल्यानन्दन राम बनकर इनको अपनी दर्शनकृपासे परिस्नात करने प्रकट हो गये। क्योंकि इन सभी रूपोंमें प्रेमरसरसिक भगवान् श्रीकृष्ण ही इनके सम्मुख अभिव्यक्त हुए थे अतः इस प्राकट्यकी क्रमशः यही परिपाटी रही कि पहले भगवान्के चरणनखकी चिज्ज्योति परब्रह्म परमात्मा श्रीपोद्दार महाराजके हृदयधामको आलोकित करे, और तब इन सभी अंशावतारोके द्वारा इनका हृदय भक्तिभूमि बने और तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण इनके हृदय-वृन्दावनमे विहरें। "

"गोस्वामीजी ! कोई यह पूछ सकता है श्रीपोद्दार महाराजमें ऐसी क्या विशेषता थी जिससे उनमें इन सर्वोच्च प्रेमधाम भगवान् श्रीराधामाधवका अवतरण एवं कृपा-प्रकाश हुआ। इसका उत्तर वैसे तो कुछ भी नहीं हो सकता, क्योकि भगवत्कृपा साधन-साध्य अथवा योग्यता-सापेक्ष नहीं है, हेतुरहित है, किन्तु यदि पात्रताकी बातका अन्वेषण किया ही जाय तो इस मार्गमें यही कहा जा सकता है कि श्रीपोद्दार महाराजमें भगवदिच्छाकी पूर्ति एवं तत्सुखसुखियाभावका प्राधान्य एव प्रबल वेग इतना अधिक था कि भगवल्लीला महासिन्धुने उन्हें पूर्णतया रसाप्लावित कर दिया। उनके मनका निर्माण ही ऐसा था कि उसमें भगवद्रुचिके अतिरिक्त अपनी कोई भी स्वतंत्र रुचि , स्वतंत्र इच्छा साधन-कालमें भी नहीं रही थी । वे जब भी साधनामें प्रवृत्त हुए तो वे भगवान्की महदिच्छासे एकमेक हो गये। उनका भगवान्की रुचिसे प्रथक् कोई अपना स्वयंका व्यक्तित्वमूलक तटबन्ध था ही नहीं। अतः भगवान् श्रीराधा-माधवका अप्राकृत सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य एवं लीला-महासिन्धु उनके चित्तमें जैसे ही संस्पर्शित हुआ, होते ही ऐसा उमड़ा कि उसने उंन्हें पूरा रस-आप्यायित कर दिया। "

"पू. पोद्दार महाराजका हृदय स्वभावतः ही ऐसा था कि वे सेवाको ही साधनरूपा और उसे ही सिद्धिरूपा मानते थे । श्रीसेठजी जयदयालजी

उसकी गूँज नहींके बराबर थी। हारमोनियमकी भी धौंकनी फट गयी थी, वह भी पूरी मरम्मत माँग रहा था। झाँझोंमें भी न तो गद्दे थे और उनकी डोरी भी बदलनी आवश्यक थी । कांस्य झालरका हत्था लापता था। उसे लटकानेका तार भी खण्डित था। मैंने तत्क्षण ही साइकलके कैरियरमें हारमोनियम बाँधा, उसके हैण्डिलमें ढोलक लटकायी, झोलेमें झालर, झाँझें भरीं और सभीकी मरम्मत कराने बाजारकी ओर चल पडा। समयके पूर्व ही यह कार्य सम्पन्न करके ही मुझे लौटना था।

भगवत्कृपावश सभी निर्माणकार्य समयपर हो गये। हारमोनियम एवं ढोलक कुछ समय माँग रहे थे, अतः मैंने इनकी एवजमें मरम्मत करनेवालेकी दुकानसे दूसरा अच्छा हारमोनियम और ढोलक ले लिये। इस प्रकार संकीर्त्तनकी पूरी तैयारी करके मैं समयसे पाँच–दस मिनट पूर्व ही गीतावाटिका पहुँच पाया।

मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा जबकि मैंने देखा कि वहाँ संकीर्त्तन रागारभ करनेकी सभी तैयारी पूरी हो गयी है । लोग मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। भगवान्‌की पूजाके लिये मेरे मामाजी श्रीचिम्मनलालजी भी उपस्थित हैं। चन्दन, केसर आदि घिसे हुए तथा सभी पदार्थ यथास्थान पात्रोंमें रखे हैं । दीपक भी प्रज्वलित है। निर्मल धूपकी सुगन्ध सर्वत्र परिव्याप्त है। गीताप्रेससे पहलवान दरबान ढोलक बजानेके लिये फोन करके बुलाया जा चुका है। संकीर्त्तनकी सभी तैयारी भगवत्कृपासे मेरे आगमनके पूर्व ही सम्पन्न हो चुकी थी।

भगवद्विग्रहका यथासमय पंचोपचार विधिसे मेरे पूर्वाश्रमके मामाजीने पूजन किया और "अच्युतं केशवं रामनारायणं,कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरिम् " श्रीमदादिशंकरस्वामि–विरचित नामावलिसे यथासमय संकीर्त्तन प्रारंभ होगया।

विद्युत्‌की भाँति यह समाचार वाटिका एवं आसपासके सभी परिजनोंके घरोंतक पहुँच गया था कि उन सबके प्राणप्यारे जीवनसर्वस्व भाईजी श्रीपोद्दार महाराजके सकुशल लौट आनेके लिये संकीर्त्तन प्रारंभ होगया है। यह समय गृहस्थ स्त्रियोके लिये भोजन–निर्माणका रहता था, परन्तु सभी स्वजन लोग सुविधा असुविधाका बिना ध्यान किये एकत्र होते गये। थोड़े ही समयमें मैंने देखा, संकीर्त्तन करनेवालोंकी संख्या शताधिक हो चुकी थी।

मैं आश्चर्य कर रहा था कि वाटिका–निवासियोंमें इतना उत्साह कैसे समाया हुआ है। सभी संकीर्त्तन करनेवाले ठीक ताल–सुरमें लय बाँधकर

है, उससे इन सन्तोंकी सेवा करके इन्हें अपने अन्तःकरणमे पूरा भरें । यदि यह हमने कर लिया तो हमारा जीवन स्वतः ही इनके वस्तुगुणसे जुड जायगा। और इन संतोंका जो वस्तुगुण है वह हमें आप्यायित करनेमें फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं करेगा।"

"गोस्वामीजी। जब नदीमें बाढ़ आती है तो मात्र तटवर्ती ग्राम ही डूबते हैं, परन्तु यदि समुद्र उफन उठे तो फिर क्या बचेगा, कुछ भी नहीं । हम सभी राधामाधव-प्रीतिरस-समुद्रसे अभी इसी एक क्षणमें ही एकमेक हो सकते हैं, यदि हम अपना पूर्ण आत्मसमर्पण किसी भी सिद्ध सन्तको करदें।"

——

# सात्विक शौर्य

## दूसरा अध्याय

बात सन् १९४८ ई० की है। महात्मा गॉधीकी हत्या हो चुकी थी। भारत सरकारने निर्दोष हिन्दू-मतावलम्बी नेताओको भी इस हत्याकाण्डमे फॉसनेकी कुत्सित नीति अपना ली थी। गोरखनाथ-पीठके महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी गिरफ्तार कर लिये गये थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिन्दू महासभा आदि संस्थाओंपर निषेधाज्ञा लग गयी थी। गीताप्रेस, 'कल्याण' पत्रका प्रकाशन भी रोक दिया जाय, इसके राजनैतिक प्रयास चल रहे थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सरसंघचालक गोलवलकरजी गिरफ्तार थे ही। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघने अपनेको निर्दोष स्थापित करने एवं अपनी संस्थापर निषेधाज्ञा हटानेके लिये सत्याग्रह-आन्दोलन छेड रखा था। प्रतिदिन हजारों स्वयंसेवक जेल भर रहे थे । जेलोमें इतने व्यक्ति गये थे कि स्थानका अभाव हो गया था। सभी जेलें पूरी भरी थीं। जगह-जगह संघके अल्पवयस्क किशोर स्वयंसेवक संघका भगवाध्वज लगाकर शाखायें लगाते थे और राष्ट्रभक्तिके भावपूर्ण गीत गाते थे। घुडसवार पुलिस आती थी और निहत्थे बालकोपर घोडे चढा देती थी । अनेक स्थानोंपर बेतोंसे बच्चोंको पीटा जाता था।

उस दिवस श्रीपोद्दार महाराजसे आशीर्वाद लेकर स्वयंसेवकोंका एक विशाल जत्था सत्याग्रह करने जा रहा था। इस सर्वदेशव्यापी सत्याग्रहमें सभी प्रमुख संचालक श्रीपोद्दार महाराजके प्रति अतिशय श्रद्धाभाव रखते थे। स्वयं श्रीगोलवलकरजी भी इनसे प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषयोंमें परामर्श लेते थे।

संघके प्रान्तीय एकत्रीकरणों, सम्मेलनों और वार्षिक उत्सवोंमें श्रीपोद्दार महाराजको अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था। क्योंकि श्रीपोद्दार महाराजका स्वास्थ्य इन दिनों इस योग्य नहीं था कि वे सत्याग्रही स्वयंसेवकोंकी इस विराट् त्रिवेणीको स्वयं जाकर आशीर्वाद देते, सत्याग्रही उनके द्वारपर चले आये थे। पूर्ण अनुशासित स्वयंसेवक अपने गणवेशमें खडे प्रार्थना गा रहे थे। किसी अप्रिय घटनासे पोद्दार महाराजको बचानेके लिये पू. गुरुदेवने उस दिवस आशीर्वाद देने जानेसे उन्हें रोककर उनसे यह अनुमति ले ली थी कि उनके स्थानपर स्वयंसेवकोंको सत्याग्रहकी विदाई वे एवं श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी स्वयं दे देंगे। गीतावाटिकाका फाटक भीतरसे बन्द था, स्वयंसेवक बाहर सडकपर शाखा लगा रहे थे। श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी बाहर आकर सभी स्वयंसेवकोंको रोलीका तिलक लगा चुके थे। स्वयंसेवक अपने गैरिकध्वजको प्रणाम करते हुए प्रार्थना गा रहे थेः–

**"नमस्ते सदावत्सले मातृभूमे"**

प्रार्थना प्रारंभ हुई ही थी कि पुलिस घोड़ोंमें चढी आ गयी। छोटे-छोटे किशोर एवं बाल स्वयंसेवकोंकी पंक्तिबद्ध टुकडीको यह पुलिसदल निर्ममतापूर्वक कुचलने लगा। मैं पू.गुरुदेवके पास ही खडा था। पुलिसदल स्वयंसेवकोंको छिन्न भिन्न करनेपर उतारू था। उन्होंने उन्हें भगा देनेके लिये बेंत चलाना भी प्रारंभ कर दिया था। जैसे ही एक बाल स्वयंसेवककी पीठपर बेंतका प्रहार बरसा कि सभी स्वयंसेवक जोरसे **'भारतमाताकी जय'** का नारा लगा उठे। मैंने अचानक देखा कि पू.गुरुदेव दौड़कर पुलिसके अफसरके घोड़ेकी लगाम पकड चुके थे। उनके नेत्रोंमें सात्विक शौर्यकी जैसे ज्वाला फूट रही थी। उन्होने उस पुलिस अफसरके घोड़ेको इतना जोरसे पकडकर धक्का दिया कि वह घोडा आठ-दस पैर पीछे हट गया। पू. गुरुदेवने अचानक अपने वस्त्रोंको अनावृत करके नगी पीठ करके उस अफसरसे जोरसे कहा "जितने हण्टर बरसाना चाहो, बरसाओ मेरी पीठपर। तुम इस वर्दीके मोहमे कितने निरंकुश और निर्मम हो सकते हो, मैं देखता हूँ। करो अत्याचार मुझपर। इन भोलेभाले, देशभक्तिसे भरे गीत गाते हुए, निहत्थे छोटे-छोटे शिशुओंपर अपना शौर्य दिखा रहे हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती ? " इधर तो उस पुलिस अफसरसे पू. गुरुदेव उलझे थे, उधर मैंने देखा गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी भी सभी स्वयंसेवकोंके आगे खडे हैं और घोडोंकी टापोंको अपनी छातीपर झेलनेको आतुर हैं।

मैं सचकित देख रहा था। क्या अभिनव चैतन्य पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा काजी-उद्धारलीलाकी पुनरावृत्ति करने जा रहे हैं ? ठीक वही सात्विक शौर्य तो उनके नेत्रोंसे प्रज्ज्वलित तेजपुञ्जके रूपमें व्यक्त हो रहा था, जो महाप्रभु चैतन्यदेवमे आजके पॉच सौ वर्ष पूर्व व्यक्त हुआ था। उस दिवस यवन हरिदास हरिनाम-सकीर्तन करते हुए काजीके एवं उसके सहयोगियोंके हाथो बेंतप्रहार सह रहे थे, और आज ये बाल स्वयंसेवक काली टोपी, खाकी निकर और श्वेत कमीज पहने **'भारत माताकी जय'** एवं **'वन्दे मातरम् '** का उद्घोष करते भारतीय पुलिससे निर्मम बेतप्रहार सहन कर रहे थे। भारत देशमें स्वतंत्र भारतकी पुलिसद्वारा **'भारत माताकी जय'** का उद्घोष करनेवाले और **'वन्दे मातरम्'** का नारा लगानेवाले राष्ट्रभक्त निर्दोष बालकोंपर जिनकी सुदृढ भुजाये राष्ट्रके पुरातन अदम्य शौर्यकी प्रतीक गैरिक ध्वजा धारण किये थीं यह निर्मम बेंतप्रहार एक गैरिकवस्त्रधारी सदय सन्यासी भला कैसे सह पाता? पू. गुरुदेवने उस घुडसवार पुलिस अफसरके घोडेकी रास पकड़ली थी। पू गुरुदेव कहीं घुडसवारद्वारा आहत नहीं कर दिये जावे , इस आशकासे ग्रस्त मैं गुरुदेवकी ओर चीत्कार करता दौड़ पडा था। किन्तु मैं पू गुरुदेवतक पहुॅचूॅ तबतक तो घुडसवार पुलिस अफसर घोडेसे उतर गया था। उसने अपने सिर पर धारण की हुई पुलिस टोपी उतारकर अपनी वरदीके बटन उन्मुक्त कर दिये थे और क्षीणकाय सन्यासीके तेजस्वी शौर्य-प्रदर्शनसे हतप्रभ हुआ उनके चरणस्पर्श करनेको झुक गया था। बलिष्ठ घोडा कोई पशु-आचरण न कर बैठे, पुलिस अफसरके सहयोगीने उस घोडेकी रास पकड ली थी। अफसरने पू गुरुदेवके चरण छूकर अति विनम्रतापूर्वक अपनी भूल स्वीकार की। थोडी ही देरमें एक पुलिस वान (छोटी बस ) आयी और अधिकांश स्वयसेवकोको उसमे भरकर जेलकी ओर ले गयी। मैं सचकित देख रहा था पशुबलपर पू गुरुदेवका सात्विक आत्मबल किस प्रकार क्षणोमें ही विजयी हो उठा था।

———

# भगवन्नाम-संकीर्तनसे समग्र विपत्तियोंका निरसन

## तीसरा अध्याय

सन् १९४८ ई.के फरवरी मासकी बात है। मैं गीतावाटिकामें वैसे ही इधर-उधर टहल रहा था। अचानक मैंने देखा एक मोटरगाडी बगीचेमे (श्रीपोद्दार महाराजके निवासमें) प्रवेश कर रही है। गाडीमें लाल पट्टीपर उत्तरप्रदेश सरकारका राज्यचिह्न अंकित था। इसका स्पष्ट अर्थ था कि गाड़ी किसी राज्य सरकारके मंत्री महोदयकी है।

स्वाभाविक उन सम्मान्य अतिथिका स्वागत करना मेरा धर्म ही था। अतः मैंने उस गाड़ीके दरवाजेकी ओर कदम बढाये। उस राज्य सरकारकी गाडीमे किसी मंत्री महोदयके व्यक्तिगत-सचिव थे और उन्होने मुझसे श्रीपोद्दार महाराजके सम्बन्धमे पूछा। मैं उन सचिव महोदयको सीधे पोद्दार महाराजके सम्पादकीय कक्षमें लेगया। श्रीपोद्दार महाराज नयन-मूँदे मानो किसी दूसरे ही लोकमें चले गये हो, शान्त बैठे थे। उनकी लेखन-चौकीमें एक लेख पडा था जिसकी अग्रिम पंक्तिपर उनकी कलम स्थिर थी। उस लेखपर स्थिर कलम लिये उनके हाथकी मुद्रा यह स्पष्ट प्रकट कर रही थी कि उन्होने उस लेखकी मात्र ऊपरी पंक्ति पढी है और वे उस पंक्तिके पढने मात्रसे उसे संशोधित करना तो सर्वथा विस्मृत कर गये हैं एवं उद्दीपित हुए किसी अन्य अलौकिक देशमे ध्यानावस्थामें पहुँच गये हैं। मैंने उन सज्जनको पूर्ण आदरसहित उस कक्षमें बैठाया और उनके लिये जल एवं कुछ जलपानकी व्यवस्था करने चला गया।

वे सज्जन तबतक श्रीपोद्दार महाराजकी वह ध्यानावस्थित सहज आनन्दमयी मुखमुद्रा देखते रहे। मैं जब उनके पास जलपान एवं जलकी ग्लास लेकर पहुँचा तबतक तो उन सज्जनने उस श्लोकको पढ लिया था, जिसे संशुद्ध करनेके लिये पोद्दार महाराज प्रयत्नरत थे किन्तु उस श्लोकके प्रथम अक्षरके पढते ही वे किसी अलौकिक भावदेशकी यात्रापर निकल चले थे। उनके नयन मुँद गये थे, उनके नयनोंने इस प्राकृत जगत्‌के अति मलिन स्वरूपसे विरक्ति ले ली थी और वे अपने इष्ट प्राणपति प्रियतमकी रूपसुधाका

पान करनेमें तन्मय हो गये थे ।

समागत अतिथि स्वय सस्कृतके एवं साथ ही श्रीमद्भागवतके भी अवश्यमेव पण्डित थे, अत. उन्हें वह श्लोक जो उस लेखमें लिखा था , पूरा याद था। वे मेरे द्वारा प्रदत्त जलपान करते-करते उसे ही उच्चारण कर रहे थे। लेखमे ये ही तीन पंक्तियॉ सर्वोपरि लिखी थीं :–

**अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्**
**अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम् ।।**
**अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।**
**जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतंगवत् ।।**
**अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।**
**गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ।।**

श्रीमद्भा०१० ।११ ।५५–५७ ।।

" अहो ! कितने रामाश्चर्यकी बात है ! अबतक इस बालकके लिये मृत्युके कारण तो बहुतसे उपस्थित हुए, परन्तु हुआ यह कि जो भी इसका अनिष्ट करने आये, उन्हींका अनिष्ट होगया। " श्रीपोद्दार महाराजने इतनी पंक्ति ही पढ़ी थी, और उनके हाथकी प्रूफ देखनेके उद्देश्यसे उठायी कलम यहीं आकर ज्यो-की-त्यो स्थिर हो गयी थी, उनके नयन मुँद गये थे, वे तन्मयताकी इस गंभीर दशामें प्रविष्ट हो गये थे ।

वे सचिव जो आये थे, श्रीपोद्दारजीकी दशा देख-देखकर आश्चर्यमे स्तब्ध थे। उन्होने मुझसे धीरेसे पूछा – क्या भला ऐसे भी सन्त संसारमें हैं ? मै उन्हें क्या उत्तर देता। धीरेसे इतना ही कह पाया, आप परम भाग्यवान है जो आज इन्हे इस दशामें देख सके, अन्यथा इनके बाह्य प्रकट गृहस्थरूपको देखकर तो आप इन्हे मात्र साधारण अच्छा लोकोपकारी मानव ही मानते।

हम लोगोद्वारा मन्द-मन्द स्वरसे की जानेवाली वार्तासे कुछ ही काल पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजका ध्यान किंचित् खण्डित हुआ। ज्योही उनके नेत्र उन्मीलित हुए, उन समागत सचिव महोदयने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। अभी भी उनकी ध्यान-दशा पूरी निवृत्त नहीं हो पायी थी। उन्हे वे सन्देशवाहक सचिव एवं स्वयं मैं भी उनके आराध्य श्रीकृष्णके रूपमे ही दीख रहे थे। अतः उन्होंने अतिशय विनम्रतापूर्वक हम दोनोको ही भूमिपर सिर टेककर नमन किया। वे सन्देशवाहक तो उनकी इस क्रियापर गदगदा गये थे,

परन्तु मैंने उन्हें समझाया कि अभी पोद्दार महाराज पूरे होशमें नहीं हैं, उन्हें अभी हम सभीमें अपने इष्टकी ही स्फूर्ति हो रही है। अतः चुपचाप शान्त रहिये। श्रीपोद्दार महाराजके नेत्र पुनः निमीलित हो गये थे । शनैः-शनैः उन्हें होश आया। इसबार पूरे नेत्र खोलकर वे हमे देखकर मुसकाये। वे समागत सन्देशवाहकको पहचान गये थे। उन्होने उन मत्री महोदयकी कुशल-क्षेम पूछी और सन्देशवाहक महोदयसे उनका पत्र लेकर पढ़ने लगे। ज्योंही पत्रकी दो-चार पंक्ति ही वे पढ़ पाये कि उनके नेत्रोंमें एक साथ भीति, ग्लानि, उत्कण्ठा एवं अनिष्टाशंकाकी छाया झलमल कर उठी थी। उन्होंने एक बार पुनः पूरा पत्र पढा और थोडे संवरित्त होकर मंत्री महोदयके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन सचिव महोदयको भोजनादि करनेका आग्रह किया। सचिव महोदय जलपान तो कर ही चुके थे, उन्हें अन्यत्र कहीं और कार्य भी करने थे, अतः वे शीघ्र बिदा लेना चाहते थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि पोद्दार महाराज भी उन महोदयको अब विदा ही देना चाह रहे हैं । अतः उन्होंने मुझसे उन्हें गाडीतक छोड आनेका आग्रह कर दिया। मैं उन्हें गाडीतक छोड़ आया। उनके गमनका समाचार देते ही उन्होने मुझसे पू.राधाबाबा एवं श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको बुला लानेकी बात कही। मैं इन दोनोंको सूचना देने चला गया। मैं समझ गया था कि अब कोई गोपनीय मत्रणा होनी संभव है , अतः मुझे पुनः उनके कक्षमे नहीं ही जाना चाहिये।

श्रीगोस्वामीजी द्वारा बादमें मुझे पता चला कि "भारत सरकार महात्मा गॉधी-हत्याकाण्डमे श्रीपोद्दारजी एवं श्रीबजरंगलालजीको षड़यन्त्रकारी मानकर गिरफ्तार करना चाह रही है। श्रीबजरंगलालजी चॉदगोटिया,जो गीताप्रेसके मैनेजर थे, उन दिनों हिन्दू महासभाके भी उच्च पदाधिकारी थे। गीताप्रेसको भी जब्त करके धार्मिक 'कल्याण' मासिक पत्रको श्रीविनोबाजी भावेके विचारोका प्रतिनिधि पत्र बना दिया जाय – ऐसी सरकारकी भीतरी इच्छा है । यह सब कार्यवाही सीधे प्रधानमत्री कार्यालयसे संचालित हो रही है एव तत्कालीन गोरखपुर-कलक्टर जो अन्य धर्मावलम्बी है, इस प्रकारके आदेश सीधे दिल्लीसे प्राप्त कर रहा है। इस सब कार्य-योजनामें उत्तरप्रदेश सरकारसे भी गोपनीयता बरती जा रही है" इसी आशयका परम गोपनीय पत्र लेकर उत्तरप्रदेश सरकारके किसी प्रमुख मंत्रीने श्रीपोद्दार महाराजको गोरखपुरसे तत्क्षण ही कहीं अन्यत्र चले जानेकी आत्मीयतापूर्ण व्यक्तिगत राय दी है। और

वे शीघ्र ही गोरखपुरसे किसी अज्ञात स्थानको जा रहे हैं ।"

मेरे पूर्वाश्रमके मामा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी अत्यन्त दुखी होकर कह रहे थे — "जिन श्रीगाँधीजीका श्रीपोद्दार महाराजके प्रति पुत्रवत् परम आत्मीय प्रेम था और जो उन्हें अतिशय अपने-से-अपना पारिवारिक स्वजन मानते थे , वर्षों श्रीजमनालालजी बजाजकी कोठीमें बम्बईमें श्रीपोद्दारजीने उनकी सेवा की है, उन पोद्दारजी पर अपने पितातुल्य गाँधीजीकी हत्याका लाञ्छन श्रीजवाहरलालजी लगावें, — इस बातसे श्रीपोद्दार महाराज बहुत ही व्यथित हैं। वे तो गिरफ्तार होना भी चाह रहे हैं, परन्तु पू.राधाबाबाकी ऐसी राय है कि उन्हें उन परमात्मीय मंत्री महोदयकी रायकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये और एक बार किसी अनुकूल स्थानमें चले जाना चाहिये, जहाँ उनके हितू एव अनुकूल राज्याधिकारी हों। मंत्री महोदयके पत्रमें स्पष्ट आदेश है कि आज रात्रिमें ही संभवतः कलक्टर उन्हें गोरखपुर रहनेपर गिरफ्तार करले, अतः उन्हें तत्क्षण ही गोरखपुरसे हट जाना है।"

अति शीघ्र श्रीपोद्दार महाराज अपनी धर्मपत्नी, परम सेवक श्रीराम-सनेहीजी एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको अपने साथ लेकर परमावश्यक वस्त्रोपकरण सहित श्रीबजरंगलालजी चाँदगोठियाके साथ अपनी मोटरकारमें किसी गोपनीय अज्ञात स्थानको चले गये। 'कल्याण' मासिक पत्रके सम्पादनका कार्य उन्होंने अपने धर्मभ्राता एवं अनन्य सहयोगी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके कंधोंपर डाल दिया। बिदाईके समय मैं साश्रुनयन खड़ा एकटक पू. गुरुदेवकी ओर देख रहा था। प्रेमजनित अनिष्टाशंकासे सभी सम्पादकीय विभागके लोग और वाटिकाके अन्तेवासी अश्रु टपका रहे थे।

विदा होते समय अचानक पू.गुरुदेवने मुझे अपने निकट बुलाया। अतिशय प्यारसे उन्होंने मेरे कन्धेपर अपना हाथ रखा और कहने लगे — "भैया ! विदा होते समय तुमपर मैं एक गुरुतर दायित्व दे जा रहा हूँ। इस आसन्न विपद्कालमें यदि श्रीपोद्दारजी गिरफ्तार कर लिये जाते हैं, तब तो मैं खुली राजनीतिमें उतर आऊँगा और तू मेरे पास चले आना। और यदि वे गिरफ्तार नहीं किये जावें तो इस आसन्न विपत्तिका निराकरण व्यावहारिकरूपसे उनके अनेक प्रभावशाली सहयोगी मित्रगण करेंगे ही । फिर भी उनके प्रयास सफल होंगे ही, यह इस समय कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, तू मेरा प्रतिनिधि होकर यदि प्रतिदिन आजसे ही दो घण्टे सायंकाल निश्चित् ठीक

पॉच बजेसे सात बजेतक समयपर भगवन्नाम-सकीर्त्तन प्रारंभ कर देगा और जबतक हम सुरक्षित नहीं लौट आवें, तबतक विना व्यवधान संकीर्त्तन करता रहेगा, तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि अमोघ भगवत्कृपा तेरी भावनाकी रक्षार्थ क्रियाशील हो उठेगी, और हममेंसे किसीका बाल भी बॉका नहीं होगा। 'कल्याण', गीताप्रेस, सब सुरक्षित रह जावेंगे।"

पू गुरुदेवके मेरे प्रति वात्सल्यपूर्ण विश्वासको देखकर मैं पुलकित हो उठा। मैने उसी समय उनके चरण छूकर प्रतिज्ञा की कि जबतक वे सकुशल नहीं लौटेगे, मैं उनके द्वारा निर्धारित समयपर बिना व्यवधान नियमित सकीर्त्तन प्रारभ कर दूँगा। मेरा आश्वासन पाकर पू गुरुदेव प्यारसे मेरा सिर सहलाते हुए पू पोद्दार महाराजके साथ प्रस्थान कर गये।

पू.गुरुदेवके प्रस्थानके उपरान्त मैं विचारोंमे खो गया – "श्रीपोद्दार महाराज तो भक्ति एव भगवत्प्रेमकी जीवन्त प्रतिमा है। जिनके अन्तःकरण एव बहिःकरण दोनों सदैव नराकृति परब्रह्मको अपने भीतर-बाहर सर्वत्र अपरोक्ष प्रत्यक्ष निरखते रहते हैं ,जो एक अभिनव चिन्मय रससे सदैव प्लावित रहते हैं, जिनकी निद्रा एव स्वप्न भी उस चिन्मय रसमे सदा निमग्न रहते हैं, उन विशुद्ध चिदानन्द-रस-सुधा-सरोवर श्रीपोद्दार महाराजके रोमका भी भला कौन अनिष्ट कर पावेगा ? जिनके प्राकृत त्रिगुणात्मक हृदयरूप मायिक कीचमें भी अनिन्द्यसुन्दर श्रीकृष्णरूप पद्म विकसित रहता है, उस कृष्णपद्मका माधुर्य इतना असमोर्ध्व है कि जिसे उनके पूर्ववर्ती सन्त अनुभव कर पाये या नहीं, कहना सदिग्ध है । सच्चिदानन्दकन्द नवनीरदवपु श्रीकृष्णचन्द्रकी अनुपम रूपमाधुरीका विस्तार जैसा श्रीपोद्दार महाराजके हृदयमे सदैव निर्बाध झलमलाता रहता है, वैसा मधुर मनोहर रूप धारण करके वे प्रापञ्चिक जगत्मे आजके पॉच हजार वर्ष पूर्व भी गोकुल-वृन्दावनमें प्रकटे थे या नहीं, द्रष्टा, साक्षीके अभावमे कुछ भी नहीं कहा जा सकता, ऐसे राधा-भाव-भावित-मति सन्तका ये आसुरी प्रापंचिक राजनेता क्या कुछ भी अनिष्ट कर पायेगे ? कदापि नहीं, कदापि नही।"– इस प्रकार सोचता हुआ मैं अपने निवासकी ओर बढ गया । इस समय मध्याह्नके दो ही बजे थे।

मुझे सायकालीन संकीर्त्तनकी तैयारी करनी थी। सकीर्त्तनमें प्रयोगमे आनेवाली ढोलक अनेक दिवसोसे कसी नहीं गयी थी, उसकी रज्जु भी अनेक स्थानोंसे विच्छिन्न थी । ढोलककी स्याही भी पुरानी पड गयी थी जिससे

उसकी गूँज नहींके बराबर थी। हारमोनियमकी भी धौंकनी फट गयी थी, वह भी पूरी मरम्मत माँग रहा था। झाँझोंमें भी न तो गद्दे थे और उनकी डोरी भी बदलनी आवश्यक थी । कांस्य झालरका हत्था लापता था। उसे लटकानेका तार भी खण्डित था। मैंने तत्क्षण ही साइकलके कैरियरमें हारमोनियम बाँधा, उसके हैण्डिलमें ढोलक लटकायी, झोलेमें झालर, झाँझे भरीं और सभीकी मरम्मत कराने बाजारकी ओर चल पड़ा। समयके पूर्व ही यह कार्य सम्पन्न करके ही मुझे लौटना था।

भगवत्कृपावश सभी निर्माणकार्य समयपर हो गये। हारमोनियम एवं ढोलक कुछ समय माँग रहे थे, अतः मैंने इनकी एवजमें मरम्मत करनेवालेकी दुकानसे दूसरा अच्छा हारमोनियम और ढोलक ले लिये। इस प्रकार संकीर्त्तनकी पूरी तैयारी करके मैं समयसे पाँच-दस मिनट पूर्व ही गीतावाटिका पहुँच पाया।

मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा जबकि मैंने देखा कि वहाँ संकीर्त्तन समारभ करनेकी सभी तैयारी पूरी हो गयी है । लोग मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। भगवान्‌की पूजाके लिये मेरे मामाजी श्रीचिम्मनलालजी भी उपस्थित हैं। चन्दन, केसर आदि घिसे हुए तथा सभी पदार्थ यथास्थान पात्रोंमें रखे हैं । दीपक भी प्रज्वलित है। निर्मल धूपकी सुगन्ध सर्वत्र परिव्याप्त है। गीताप्रेससे पहलवान दरबान ढोलक बजानेके लिये फोन करके बुलाया जा चुका है। सकीर्त्तनकी सभी तैयारी भगवत्कृपासे मेरे आगमनके पूर्व ही सम्पन्न हो चुकी थी।

भगवद्विग्रहका यथासमय पंचोपचार विधिसे मेरे पूर्वाश्रमके मामाजीने पूजन किया और"अच्युतं केशवं रामनारायणं,कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरिम् " श्रीमदादिशंकरस्वामि-विरचित नामावलिसे यथासमय संकीर्त्तन प्रारंभ होगया।

विद्युत्‌की भाँति यह समाचार वाटिका एवं आसपासके सभी परिजनोंके घरोंतक पहुँच गया था कि उन सबके प्राणप्यारे जीवनसर्वस्व भाईजी श्रीपोद्दार महाराजके सकुशल लौट आनेके लिये संकीर्त्तन प्रारंभ होगया है। यह समय गृहस्थ स्त्रियोंके लिये भोजन-निर्माणका रहता था, परन्तु सभी स्वजन लोग सुविधा-असुविधाका बिना ध्यान किये एकत्र होते गये। थोड़े ही समयमें मैंने देखा, संकीर्तन करनेवालोंकी संख्या शताधिक हो चुकी थी।

मैं आश्चर्य कर रहा था कि वाटिका-निवासियोमें इतना उत्साह कैसे समाया हुआ है। सभी संकीर्त्तन करनेवाले ठीक ताल-सुरमें लय बाँधकर

संकीर्त्तन कर रहे थे। कहीं कुछ भी असंबद्ध नहीं, असगत नहीं, आज तो प्रत्येक व्यक्ति पूरा नाम–रसमें डूबा दत्तचित्त हो, संकीर्त्तन कर रहा था। किसीका उत्साह शिथिल नहीं था। मैं अनेको बार गीतावाटिकामें नाम संकीर्त्तन संचालित कर चुका था, परन्तु मैं देख रहा था कि आज प्रथम अवसर है कि प्रत्येक वाटिकावासीके नेत्र नामानन्दातिरेकसे रह-रहकर छलक रहे हैं। सभी अपने भीतरी मनसे अपने आराध्य नन्दनन्दनके सम्मुख अपने मनकी मंगलकामना निवेदन कर रहे हैं और सभीके दृगोंसे अश्रुका निर्झर झर रहा है। मैं एक–एक प्राणीके मुखोंको निहार रहा था, इधर केदारनाथजी कानोड़ियाके नेत्रोंसे अश्रुकी लोर प्रवाहित है, तो पासमे ही बैठी उनकी धर्मपत्नी 'पानकी भैया' भी सुबुक रही है । इधर पूरण महाराज, रसोइया सिसकते है तो उधर बर्तन मलनेवाला, गब्बू कहार ताली बजा-बजाकर नृत्योत्सुक है । श्रीसुदर्शनसिहजी 'चक्र' अपनी मौजमें ताली बजा रहे हैं तो श्रीशिवनाथजी दुबे भी नयन मूँदे स्थिर, शान्त, प्रार्थनारत हैं।

श्रीगोस्वामीजीकी मधुरतम परम सुरीली स्वरलहरी संकीर्त्तनका अन्तरा गा रही थी –"श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभ , राधिकानायकं कृष्णचन्द्रं भजे। जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे।" श्रीगोस्वामीजीका करुणारसपूरित स्वर–स्पर्श सभी वाटिकावासियोको रक्षोघ्न मंत्रवत् प्रतीत हो रहा था। सभी वाटिकावासी जो इस संकीर्त्तनमें बैठे थे, मानो मन–ही-मन श्रीपोद्दार महाराजके सकुशल लौट आनेके लिये अपने–अपने इष्टसे करुण, मूक, क्रन्दन–भाषामें निवेदन कर रहे थे – हे अच्युत ! हे केशव ! हे नारायण ! हे राम ! त्राहि, त्राहि प्रभो ! हे दयासिन्धो ! करुणामय ! जगत्पते ! रक्षा करो ! रक्षा करो ! हे श्रीधर ! हे माधव ! रक्षा करो ! अभयदान करो !

उस दिवस संकीर्त्तन करते–करते श्रीगोस्वामीजीको प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि एक बालक जिसका समुदित चन्द्रके समान तो मुख है, विद्युत्‌रेखा–सी जिसके नेत्रोंकी शोभा है, दुष्प्रधर्ष तेज जिसके रोम–रोमसे छिटक रहा है, जिसके सिर पर घनकृष्ण केश हैं, समस्त अंगोंकी आभा शारदीय मेघके समान है, उस कीर्तनमण्डपमें विराजित चतुर्दिक् इतस्ततः सभीकी मुखमुद्रायें देखता, मुसका रहा है। श्रीगोस्वामीजी उसे देखकर विस्मित हो रहे थे, क्योंकि उन्हें वह गौरवर्ण बालक अस्थिमज्जा–मेदमांस–निर्मित प्राकृत प्रतीत नहीं हो रहा था। उन्हें यह भी विस्मय हो रहा था कि संकीर्त्तन करनेवाले लोग

यदाकदा नृत्य करते उस बालकके भीतर भी प्रवेश कर जाते हैं और तब उसके आरपार मिकल जाते हैं । जो ऐसा करते हैं उनपर वह बालक और अधिक प्रेमिल हो उठता है । गोस्वामीजीने मन-ही-मन उस बालकको भगवान् हलधर या बलदेवजीके रूपमें पहचान लिया एवं उसे प्रणाम किया। वह कथन मात्रका ही बालक था। सहसा वह संकीर्त्तनध्वनिमें स्वयं भी नृत्य करता उनके पास आया और उनके कानोंमें अतिशय मधुर स्वरमें यह सन्देश देने लगा कि 'भक्तराज पोद्दार महाराजका कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा, निश्चिन्त रहें। गीताप्रेस एव कल्याणका कार्य भी यथावत् ज्यों-का-त्यों चलता रहेगा।''

यह आश्वासन पाकर श्रीगोस्वामी महाराज तो आनन्दसे खडे हो गये। मैं उनका भाव-परिवर्तन देख रहा था। उनके खड़े होते ही मैंने भी हारमोनियम-वादन स्थगित कर झालर बजानी प्रारंभ कर दी । श्रीगोस्वामी महाराजने **''अच्युतं केशवं''** संकीर्त्तन स्थगित कर **'जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द''** नामध्वनि प्रारभ कर दी थी। अब तो संकीर्तनमें ऐसा रग जमा कि सभी देह-विस्मृत हो गये।

बाबू गगासिंहजीका अति भावपूर्ण कबूतरीनृत्य कुछ भाव-विक्षेप अवश्य कर रहा था, परन्तु उन्हें निवृत्त करना किसीके भी वशकी बात नहीं थी। श्रीरघुवरदयालजी, श्रीमुरलीधरजी, श्रीरामदासजी जालान, श्रीसुखदेवबाबू आदि सभी व्यक्ति जो गीताप्रेससे पू पोद्दार महाराजको विदा देने आये थे इतने भाव-विभोर हो रहे थे कि सब कुछ अनिर्वचनीय लग रहा था।

यह सकीर्त्तन कुछ कालतक तो **'जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द'** होता रहा पश्चात् **'राधे-राधे'**की नामध्वनिमें पर्यवसित हो गया। उस संकीर्त्तनको हुए आज लगभग ४८ वर्ष हो गये हैं परन्तु उसकी स्मृति अबतक ज्यों-की-त्यों बनी है । दिवसका पर्यवसान समीप था। परन्तु वाटिकावासियोंका उत्साह शिथिल नहीं हुआ था, संकीर्त्तनानन्द एकरस चल रहा था। मैं तो आज भी जब अपनी किशोरावस्थाके अति सुभग दिवसोंकी स्मृति करता हूँ तो गीतावाटिकाको अणु-अणुसे उसी विशुद्ध सत्वमयी आनन्दधारामें झूमती, मुखरित देखने लगता हूँ । आज तो वह निष्प्राण, मृतप्राय है, क्योंकि उसकी आत्मा श्रीपोद्दार महाराज और उसके प्राण पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा दोनों ही अपनी इहलीला समाप्त कर गये हैं ।

यह संकीर्त्तन अनवरत तबतक होता रहा, जबतक पू.गुरुदेव एवं

पोद्दार महाराज लौटकर गोरखपुर नहीं आ गये। जैसी कि आशंका थी विपत्तियाँ तो आनी ही थीं । वाटिकाके लिये पुलिसने तलाशी वारंट जारी कर दिया। श्रीपोद्दार महाराज एव चाँदगोठियाजीकी अनुपस्थितिमें सारे गीताप्रेसका चप्पा-चप्पा पुलिसद्वारा तलाशा गया। वाटिका और श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके घरतककी तलाशी ली गई । वाटिकामें श्रीपोद्दार महाराजके पुस्तकालयकी प्रत्येक पुस्तकतक पुलिसने छान मारी किन्तु उसे कोई भी वस्तु सन्देहप्रद नहीं मिली। मिलती तो तभी, जब कुछ सन्देहास्पद कार्य होता।

जो गीताप्रेस अपनी अपरिसीम भक्तिभावमयी सुख-शान्ति और कल्याण-भावनासे विश्वको आप्यायित कर रहा था, उसके पास कल्याण, शिव, आनन्द, मंगल एवं शुभके सिवा हो भी क्या सकता था ? श्रीपोद्दार महाराजके पास तो पोत(खजाना) ही भगवान्के पावनतम नामका था, वे तो इसी पवित्रतम शिव-साधनसे जीवमात्रको परमानन्दसिन्धुमे निमग्न कर देनेका संकल्प लिये थे, उनके पास ऐहिक-आमुष्मिक(लोक-परलोक सम्बन्धी) मंगल, परम मंगलमयी सम्पादन-सामग्रीके सिवाय हो भी क्या सकता था ? दैत्यविदलित इस भारतको जो भगवद्बलसे बलान्वित होकर दैवी सम्पदासे आपूरित करनेका व्रत लिये थे, उन श्रीपोद्दार महाराजके पास विशुद्ध सेवाभाव, परोपकार, सर्वहित, निर्मल चरित्र, कारुण्य, अनन्त भक्तिभाव-परिभावित मसृण हृदय, भगवदैश्वर्य-संकीर्त्तन, आत्मभाव, विशुद्ध प्रेम आदि अलौकिक दैवी भावोंके अतिरिक्त होगा भी क्या ? जो भी पुलिस अधिकारी तलाशी लेने आये थे, सभी भक्ति-साहित्यको पढ-पढकर सुख-सागरमें निमग्न हुए, वाटिकाके परिजनोंके निर्मल सेवा-व्यवहारसे आप्यायित हो, विदा हुए।

वस्तुतः उन दिनों जैसी विशुद्ध प्रीति, निष्कपट सेवाभाव, अगाध शान्ति गीतावाटिकामें प्रवाहित थी, वह सर्वथा स्वसंवेद्य एवं अत्यन्त अनोखी ही थी। श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीको जो प्रथम दिवसके संकीर्तनमें अनुभूति हुई थी, वह उन्हींने जब पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा, श्रीपोद्दार महाराजके सहित पुनः गीतावाटिकामें लौटे थे , तब सुनाई थी। श्रीपोद्दार महाराजने लौटकर जब दूसरे दिवस सत्संग कराया था, तब मुझसे एक पद गाकर सुनानेको कहा था और मैंने उस दिवस गाया था–

**जो सुख ब्रजमें एक घरी ।**
**सो सुख तीन लोकमें नाहीं, धनि यह घोषपुरी।।**

**अष्टसिद्धि नवनिधि कर जोरे, द्वारैं रहति खरी ।**
**शिव, सनकादि शुकादि अगोचर,जहँ अवतरे हरी ।।**
**धन्यधन्य बड़भागी गोपी निगमनि सही परी ।**
**ऐसे सूरदासके प्रभुकौं लीन्हौ अंक भरी ।।**

{श्रीसूरदासजीके इस पदको मेरे द्वारा सुनाये जानेका भीतरी भाव जो था उसे परम चतुर श्रीपोद्दार महाराजने पहचान लिया था अतः श्लेषात्मक अर्थ एवं भावार्थ दोनों नीचे दिये जा रहे हैं}

जो सुख (अभूतपूर्व आत्मीयताभरी शान्ति) इस ब्रजमें(गीतावाटिकामे)इन दिनों एक घडी(मात्र२४मिनट )निवास करनेमे है, वह त्रिलोकी(स्वर्ग, पृथ्वी एवं पाताल)में कहीं नहीं है। यह भगवान् श्रीकृष्णके परमात्मीय प्रेमी जन नन्दादि गोपोंकी पुरी ब्रजभूमि(श्रीपोद्दार महाराज एवं श्रीराधाबाबा-जैसे ब्रजभावभावित सन्तोंकी निवासभूमि, गीतावाटिका)सचमुच धन्य है, धन्यातिधन्य है। यहाँ इस ब्रजभूमि(गीतावाटिका) मे आठों सिद्धियाँ, एवं नवों निधियाँ हाथ जोडे सेवार्थ खडी रहती हैं। {परन्तु भगवत्प्रेमरूपी परम दुर्लभ सम्पदाको प्राप्त कर श्रीपोद्दार महाराज एव श्रीराधाबाबा निरन्तर भगवानके निर्मल ध्यान और भगवद्यशगानमें ही मस्त रहनेके कारण इनकी ओर ताकते भी नहीं हैं} सत्य है जहाँ शिव-सनकादि एवं शुकदेवादिको भी दुर्लभ, अप्राप्त, अगोचर भगवान् श्रीकृष्ण नराकृतिरूपमे अवतरित हुए हो, वहाँ दृष्टि भगवान्पर केन्द्रित रहेगी न कि इस नाशमान् क्षणभगुर दुःखयोनि अष्टसिद्धियों एवं नवनिधियों(सम्पदाओं) पर। वेदोंने जिसके महासौभाग्यकी साक्षी दी है, ऐसी गोपी (गोपीभावापन्न ये दोनो महाप्रेमावतार सिद्ध सन्तद्वय)धन्य है, धन्यातिधन्य है। श्रीसूरदासजी कहते हैं कि इस गोपी(गोपी-भावसम्पन्न इन सन्तों)ने मेरे प्रभु श्रीकृष्णको अपने अंकमें(हृदय, मन आदि अन्तःकरण-चतुष्टय एव बहिःकरणों – नेत्र, कान, रसना, त्वचादिमें)धारण किया हुआ है।

---

# श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवालको पू.गुरुदेव द्वारा आत्म-प्रतिनिधित्वका दान

## चौथा अध्याय

पूर्व प्रसगमें मैं उन हेतुओंपर प्रकाश डाल चुका हूँ, जिन हेतुओंसे श्रीपोद्दार महाराजको पू. गुरुदेवको साथ लेकर अज्ञातवासकी तरह ही अनेक स्थानोंमें जाना पड़ा। इस अवसरपर वे कभी बाबा राघवदासजीके पास बरहज, कभी उत्तर प्रदेशके तत्कालीन मुख्यमंत्री श्रीगोविन्दवल्लभजी पंतके पास लखनऊ, कभी दिल्ली, अयोध्या एवं डालमिया दादरी गये।

एक दिवस जब वे मोटरगाडीमें बैठे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके साथ यात्रा कर रहे थे, तो अचानक ही उनसे बोल उठे –"बाबा ! यदि कहीं मेरी मृत्यु हो गयी तो आप तो तुरन्त ही अवधूतव्रत लेकर वृन्दावनकी ओर चल पड़ेंगे और वहाँ रूप-सनातन गोस्वामी-बन्धुओंकी जीवनशैली अपनाते हुए एक दिवस एक वृक्षके नीचे, तो दूसरे दिवस, दूसरे वृक्षके तले रहकर शेष जीवन व्यतीत करेंगे। किन्तु मेरी तो ऐसी रुचि है कि मेरा देहावसान होनेके पश्चात् आप सावित्रीकी माँ, (मेरी धर्मपत्नी)की जब तक वह जीवित रहे सम्हाल करें।"

श्रीपोद्दार महाराजने उस समय पू.गुरुदेवसे यह बात इस गम्भीरता और अवसादसे भरकर कही थी कि पू. गुरुदेव उसे हलकी-फुलकी विनोदकी बात न मान, सत्य ही उनकी रुचि मान बैठे। फिर भी उन्होंने उसकी गभीरताको ठोक-बजाकर जान लेनेके उद्देश्यसे श्रीपोद्दार महाराजके मुखकी ओर अपनी दृष्टि उठायी।

जैसे ही पू.गुरुदेवकी दृष्टि श्रीपोद्दार महाराजके आननपर पहुँची, वे चकित, हतप्रभ हो उठे। पू.गुरुदेवकी सतत यही प्रगाढ़ आस्था थी कि उनके दृश्यमात्रको धारण किये, उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ही सर्वत्र लीलायमान हैं, किन्तु वे श्रीकृष्ण इन पोद्दार महाराजके कलेवरमें और अधिक सुस्पष्ट, सुव्यक्त हो उठते हैं। किन्तु आज उनकी दृष्टि जैसे ही श्रीपोद्दार महाराजके आननपर ठहरी, उन्हे कुछ और ही चमत्कार दृष्टिगोचर हो रहा था।

पू. गुरुदेव यह देखकर दंग थे कि श्रीपोद्दार महाराजका समग्र प्राकृत पृथ्वीतत्व जलतत्वमें, जलतत्व तेजतत्वमें, तेजतत्व वायुतत्वमें, और वायुतत्व

आकाशतत्वमें सुविलीन होकर, उनका आकाशतत्व उस क्षण महासत्वसिन्धुमें संसिक्त, आप्यायित, पूर्णतया विलीन ही हो चुका है। श्रीपोद्दार महाराज कोई प्राकृत पिण्ड, कलेवर रहे ही नहीं हैं, बस, महारससिन्धु होकर लहरा रहे हैं।

पू.गुरुदेव विचार कर रहे थे कि यह तो महाप्रलयमें भी नहीं होता। किसी ऋषि-महर्षिकी भी अव्याकृत प्रकृति अपनी सत्ता ही महासत्व-रससिन्धुमें विलीन कर दे, यह तो किसी शास्त्रमें उदाहरण रूपमें भी आजतक मेरे द्वारा पढने-सुननेमे नहीं आया। फिर मेरे प्रियतम नन्दनन्दन मुझे यह दर्शन कैसे करवा रहे हैं ?

पू.गुरुदेव इस प्रकार चकित हो ही रहे थे कि श्रीपोद्दार महाराज- रूप लहराता महारससिन्धु पुनः गर्जन कर बैठा —"बाबा ! आप तो मेरे देहावसानके पश्चात् तत्क्षण ही अपनी दृष्टि झुका लेंगे और अवधूतवृत्ति लेकर वृन्दावनकी ओर प्रस्थान कर जावेंगे, किन्तु मैं तो यही चाहता हूँ कि आप मेरी मृत्युके पश्चात् सावित्रीकी मॉकी सम्हाल करे। "

पू.गुरुदेव साश्चर्य देख रहे थे उनके सम्मुख मोटर, पथ, ड्राइवर —सभीकी सत्ता विलीन है और पोद्दार महाराज-रूप प्राकृत कलेवर जहॉ उनके समीप आसीन था, वहॉं सम्पूर्ण माधुर्यरसके आधार उनके प्रियतम श्रीकृष्ण, उनकी प्रिया, साथ ही समग्र वृन्दावनधाम पूर्णतया व्यक्त है। वे मुग्ध थे, सत्य तो सत्य ही है, यह किसी मान्यता अथवा ज्ञानकी अपेक्षा थोडे ही रखता है ?

फिर भी पू.गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराज-रूप उमड़ते लीला-महाभावसिन्धुसे तीन बार लगातार प्रश्न किये — "प्रभो ! आप सत्य-सत्य अपने अन्तर्की रुचि बताइये, क्या आप मुझसे ऐसा ही चाहतें ? तीनों ही बार वह महाभावसिन्धु पू.गुरुदेवके सम्मुख इसी प्रकार गर्जन कर उठा — " मेरी तो ऐसी ही रुचि है कि आप मेरे स्थूल कलेवरके अवसानके पश्चात् सावित्रीकी मॉंकी सम्हाल करें।"

अब तो पू.गुरुदेवके सम्मुख केवल अपना निर्णय परिवर्तन कर लेना ही एकमात्र अवलम्ब रहा था। तीनों बार इस स्पष्ट आदेशको सुननेके पश्चात् पू.गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजका रूप धरे अपने आराध्य-देवको तथास्तु कह दिया।

पू.गुरुदेवके मुखसे जैसे ही यह 'तथास्तु' उच्चारण हुआ, उसी समय उनके सम्मुख श्रीपोद्दार महाराज, मोटरगाड़ी, और सभी जागतिक, प्राकृत देश

एव काल व्यक्त होगये। पू. गुरुदेवने इसी क्षण संकल्प कर लिया कि अब वे श्रीपोद्दार महाराजके देहावसानके पश्चात् वृन्दावन नहीं जावेगे और जहां भी इनके प्राकृत पचभूतोकी चिता जलायी जायेगी, वे उसी चितास्थलीको वृन्दावन मान, वहीं रह जावेंगे। साथ ही यदि श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी उस समयतक दिवगत नहीं हुई तो वे उनकी पुत्रवत् उसी सम्मानसे संभाल करेंगे, जैसी सॅभाल श्रीपोद्दार महाराज करते थे।

श्रीपोद्दार महाराज द्वारा सौंपे गये इस दायित्वको पूरी शक्तिसे वहन करनेको पू गुरुदेव तत्पर तो हो गये, किन्तु जैसे ही उनका यह संकल्प हुआ, उसकी पूर्त्ति एव अपने भावानुसार उसे निर्वाह करनेमे उन्हें अनेक कठिनाइयॉ भी मुख-बाये खडी दृष्टिगोचर होने लगीं।

प्रारभिक कठिनाई तो श्री माताजी(श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी)का स्वभाव ही था। श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी साधु-ब्राह्मणोके प्रति अतीव श्रद्धा रखनेवाली, धर्मभीरु, आस्तिक महिला थीं। उन्हें पुराणो, स्मृतियो और साधु-महात्माओके उपदेशोंपर शब्द-शब्दशः अगाध श्रद्धा थी। अत यह उनके लिये संभव ही नहीं था कि वे पू.गुरुदेव-जैसे ब्राह्मणवंशोत्पन्न चतुर्थाश्रमी सन्यासीसे मरणान्तक कष्ट-पीडामे भी शरीरसेवा स्वीकार करलें। उन्होंने जिस संन्यासीको यावज्जीवन पुत्रवत् भिक्षा करायी है, वह ब्राह्मण विद्वान् सन्यासी उनकी सेवा करे, उन्हे यह स्वीकार होना कदापि सभव नहीं था।

दूसरे पू गुरुदेव संन्यास-मर्यादाके कट्टर समर्थक थे और किसी भी स्त्रीदेहके सस्पर्शसे यावज्जीवन विवर्जित रहे थे। वे किसी आसन्न भीषण रोगके समय, अपने दायित्वके निर्वाह करनेमें, मॉकी सेवार्थ उन्हं अपने हाथोंसे कैसे संस्पर्श कर पावेंगे, यह हिमालयके समान दूसरी कठिनाई उनके पथको रोके खड़ी थी।

अपनी इन गभीर विवशताओंका हल अन्तत क्या हो ? पू.गुरुदेवने इन सभी दुरूह प्रश्नोंको अपने आराध्य श्रीकृष्णके सम्मुख रख देना ही उचित माना ।

पू.गुरुदेवके आराध्य श्रीकृष्णने उनका यही कहकर समाधान कर दिया कि " तुम अपना कोई प्रतिनिधि इन सेवाओके लिये नियुक्त कर दो । उस तुम्हार प्रतिनिधि द्वारा की जाने वाली सेवाका अर्थ यही होगा कि वह सेवा कृत, कारित एवं अनुमोदित-न्यायसे, प्रच्छन्नरूपसे तुम्हारे द्वारा ही हो रही है,

यही माना जायगा। प्रथमतः वह व्यक्ति वैश्य होना चाहिये क्योंकि किसी भी वैश्येतर उत्तम कुलके व्यक्तिसे श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी सेवा कदापि स्वीकार नहीं करेंगी।"

"अभी तो श्रीपोद्दार महाराज गृहस्थ होनेके नाते अपनी धर्मपत्नीका समग्र आर्थिक दायित्व निर्वाह कर रहे है, किन्तु जब वे नहीं रहेंगे, उस समय माताजीका आर्थिक दायित्व कौन निर्वाह करेगा ? माताजी स्वभावसे उदार और अपने परिजनोंके प्रति पर्याप्त मोही हैं। जिस सम्मान और सम्पन्नतासे वर्तमानमें उन्हे श्रीपोद्दार महाराज रख रहे हैं, उसी सम्मान और सम्पन्नताके सहित तुम उनका दायित्व निर्वाह कर पाओ, तभी उनकी संभाल कोई अर्थ रखेगी। अतः जिसे तुम अपने दायित्वका प्रतिनिधित्व देना चाहो, वह व्यक्ति सभी प्रकारसे कर्मठ एवं विविध रजोगुणी प्रवृत्तियोमे कुशल अवश्य हो।"

पू.गुरुदेव अपने आराध्य श्रीकृष्णसे यह समाधान पाकर कुछ आश्वस्त तो हुए परन्तु ऐसा त्यागी तथा कुशल व्यक्ति कौन सम्भव है जो उन्हे अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर दे । यह समर्पण भी कोई एक-दो दिवसका भावुक प्रयास तो था नहीं, अतः उनकी यह समस्या ज्यों-की-त्यों सम्मुख खड़ी ही थी।

एक दिवस उन्होने इस विषयमे अपने सर्वाधिक विश्वस्त गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे राय की । श्रीचिम्मनलालजीके मतमें इस कार्यके लिये सर्वाधिक उपयुक्त दो ही व्यक्ति थे प्रथम, श्रीपोद्दार महाराजके जामाता श्रीपरमेश्वरप्रसाद फोगला, तथा दूसरे, श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल । श्रीपरमेश्वर प्रसाद फोगला पू.गुरुदेवको पूर्णतया समर्पित थे और पू.गुरुदेवकी इच्छापर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देनेको सदैव समुत्सुक भी थे, किन्तु जामाता होनेके नाते न तो पुत्रीसे अर्थसेवा लेना माताजीको स्वीकृत हो सकता था, न उनसे शरीरसेवा ग्रहण करनेकी भी मानसिकता उनमें थी। फिर पोद्दार महाराजको भी यह दायित्व अपने जामातापर ही डालना रुचिकर होता तो वे पू.गुरुदेवको यह दायित्व सौंपते ही क्यो ? इन विचारोंके कारण श्रीपरमेश्वर प्रसादजी फोगलाका नाम तो पूर्णतया निरस्त ही होगया।

अब अन्य विकल्प मात्र श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवालका ही बचा था। इसी विकल्पको पू.गुरुदेवने शत प्रतिशत स्वीकार भी कर लिया।

पू.गुरुदेवने श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवालकी रुचि भी जाननी चाही और उन्हें पूरा सन्तोष तब हुआ, जब श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवालने इस दायित्वको वहन करनेकी अपनी पूरी समुत्सुकता प्रकट करदी।

यहाँ श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवालके जीवनके सम्बन्धमें मैं दो शब्द लिखना उपयुक्त समझ रहा हूँ।

श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवालका जन्म राजगढ़, जिला चूरू (राजस्थान)में हुआ था। राजगढ़ तत्कालीन बीकानेर स्टेटकी, रतनगढकी तरह ही एक तहसील थी तथा चूरू जिलाके अन्तर्गत थी। राजस्थानमें वैश्य परिवारके अग्रवाल लोग अधिकाशमे व्यापार ही करते हैं, परन्तु श्रीकृष्णचन्द्रजीके परिवारके लोग सुशिक्षित, सुसंस्कृत तथा ऊँचे पदोंपर आसीन थे। इनके एक अग्रज बीकानेरमें वकील थे तथा एक अग्रज चूरूमें प्रोफेसर थे। इनके दो छोटे भ्राताओंने आगरा विश्वविद्यालयसे सवोच्च अंकोंसे प्रथम श्रेणीमें डिग्री ली थी तथा इनका सभी परिवार गाँधीजीका अनुयायी होनेके कारण सच्चाई, ईमानदारी, सादगी एवं परिश्रमशीलताका ही आदर्श अपनाये हुए था। यद्यपि ये सभी ही आस्तिक थे किन्तु कर्मको ही भगवान्की पूजा मानकर अपने कर्तव्यकर्ममें पूर्णतया संलग्न रहते थे।

गोसेवाके कार्यसे सन् १९३९ई.में श्रीपोद्दार महाराज जब रतनगढसे राजगढ पहुँचे तो श्रीकृष्णचन्द्रजीके पिता एवं अग्रज उनसे मिलने आये थे। उस वर्ष राजस्थानमें भीषण अकाल पडा था और गीताप्रेसकी ओरसे अनेक नगरो एव स्थानोंमें सहायता-कार्य चल रहा था। श्रीपोद्दार महाराज स्थान-स्थानपर घूम-घूमकर गोसेवाके कार्यकी सँभाल कर रहे थे। इस निमित्त ही वे राजगढ आये थे। इस यात्रामें पू.श्रीराधाबाबा भी श्रीपोद्दार महाराजके साथ थे। इस अवसरपर श्रीकृष्णचन्द्रजीके पिता एवं भाईको राजगढ़में श्रीराधाबाबाके भी दर्शनोंका सौभाग्य मिला। दोनों पिता-पुत्र पू श्रीराधाबाबाके दर्शनोंसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने घर आकर श्रीकृष्णचन्द्रके सामने श्रीराधाबाबाके गौरवर्ण, लघु वयसमें भी अति उत्कट वैराग्य, संन्यासी वेष, आकर्षक व्यक्तित्व, सौम्य स्वभाव, प्रसन्न मुद्रा और अति सुमधुर कण्ठसे 'राधा-राधा' उच्चारण आदि सभी बातोका उन्मुक्त कण्ठसे बखान किया। भाई कृष्णचन्द्रजीके मनमे यह सब सुनकर अत्यधिक विषाद यह हुआ कि ऐसे तेजस्वी और सच्चे संन्यासी महात्माके दर्शनोंसे वे वंचित रह गये।

जब किसीके भी मनमें सच्ची चाह जगती है तो आगे-पीछे उसकी पूर्त्ति होती ही है। श्रीकृष्णचन्द्रजीके पिताका शिक्षाविभाग चूरूमें सन् १९४२में स्थानान्तरण हो गया और श्रीपोद्दार महाराजको भी सन् १९४२मे ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमके वार्षिकोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये चूरू जाना पड़ा। श्रीकृष्णचन्द्रजीके पिताजीको जैसे ही इन दोनों महापुरुषोंके चूरू आगमनकी सूचना मिली , उन्होने राजगढ़ पत्र भेजकर श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवालको चूरू बुलवा लिया।

श्रीकृष्णचन्द्रजी जिस समय चूरू-ब्रह्मचर्याश्रममें पहुँचे, तबतक अपराह्न हो चुका था। ऋषिकुलके प्रांगणमें वार्षिकोत्सवके कार्यक्रम चल रहे थे। भाई श्रीकृष्णजी दर्शनार्थियोके मध्य बैठ गये। मंचपर श्रीपोद्दार महाराज और पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाके दर्शनसे वे अत्यधिक विभोर हो रहे थे।

उत्सवका कार्यक्रम लगभग साढे-चार बजे पूर्ण हुआ। पू.गुरुदेव तो हाथमें कमण्डलु लिये उसी समय नगरके बाहर बालूके टीलोकी ओर शौचसे निवृत्त होनेके लिये चल दिये। पू.गुरुदेवकी सदासे ही यह प्रकृति थी कि जबतक उन्हे सर्वथा निर्जन स्थान नहीं मिलता था वे शौच निवृत्त नहीं हो पाते थे। अतः वे पीछे अनुगमन करने वाले श्रीकृष्णचन्द्रजीसे अपना पीछा छुडाना चाह रहे थे। और इधर श्रीकृष्णचन्द्र उनका पीछा छोड ही नहीं रहे थे। दोनों ओर होने वाली इस प्रतिद्वंद्वितासे पू.गुरुदेवको धोरोमे नगरसे बहुत दूर चला आना पड़ा। बालूमे पू.गुरुदेवको खड़ाऊ पहने रहनेके कारण चलनेमे बहुत ही असुविधा थी। श्रीकृष्णचन्द्र तो जूता पहने थे अतः उन्होने सुविधासे दौड़कर पू.गुरुदेवको पकड ही लिया। वे सीधे काष्ठवत् पू.गुरुदेवके चरणोमें गिर पडे और उनके चरण पकडकर जोरसे रोने लगे। पू. गुरुदेवके लिये यह एक अप्रत्याशित घटना थी। वे मौन थे अतः कुछ बोल तो पाते नहीं थे, मात्र 'राधा-राधा', 'राधा-राधा' कहकर श्रीकृष्णचन्द्रजीको अपने चरणोसे हटनेका आग्रह कर रहे थे, किन्तु श्रीकृष्णजी हटनेका नाम ही नहीं ले रहे थे। वे अतिशय विह्वल हुए रोते ही जा रहे थे। अन्तमे पू.गुरुदेवने अपने हाथों उन्हें पकडकर उठाया और उन्हें स्पर्श करते हुए कहा -'राधा-राधा', 'राधा-राधा' ।

श्रीकृष्णजीको यही तो अभीष्ट था। पू.गुरुदेवका स्पर्श पाते ही श्रीकृष्णजीने उन्हें छोड दिया और स्वयं भी उठ बैठे। पू.गुरुदेव शौच जानेके लिये आगे बढ गये और श्रीकृष्णजी वहीं बैठ गये। उनका अंग-अंग कॉप रहा

था। सम्पूर्ण शरीर ही स्वेदसे लथपथ हो रहा था। वे प्रेमकी अधिकतासे काँप रहे थे। उनके मनमे कृतकृत्यता इसी बातकी थी कि आज परम विरक्त श्रेष्ठ सन्त पू.गुरुदेवसे उन्हें गुरुदीक्षा-मंत्र 'राधा-राधा' प्राप्त हो गया है।

श्रीकृष्णचन्द्रजी मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे कि आज मेरी दीक्षा हो गयी। संत कबीरदासजीकी दीक्षा भी तो इसी विधिसे हुई थी। कबीरदासजी ब्राह्म मुहूर्त्तके अन्धकारमे गंगाजीके घाटकी सीढियोंपर चुपचाप लेट गये थे। वैष्णवाचार्य स्वामी श्रीरामानन्दजी महाराज अँधेरेमें ही गंगास्नान करनेके लिये आये। घाटकी सीढियोसे उतरते समय उनका एक चरण श्रीकबीरदासजीकी छातीपर पड गया। चरण पडते ही श्रीरामानन्दजीका चौंकना स्वाभाविक था। चौंकते समय 'राम-राम'उच्च स्वरमे जो श्रीरामानन्दजीके मुखसे नाम-ध्वनि हुई, श्रीकबीरदासजीने उसे गुरुमंत्र मानकर उनके चरण पकड लिये।

इस घटनासे भाई श्रीकृष्णजीके मनमें यह बात बैठ गयी कि भव-सागरसे पार उतारने वाले गुरुजी मुझे मिल गये एवं मुझे अब सदा सर्वदा राधा-नामका ही जप-संकीर्त्तन करना है।

सन् १९४५ई.में बी.ए. की परीक्षा देनेके पश्चात् भाई श्रीकृष्णजी पू. पोद्दार महाराजके पास ही रहनेको गोरखपुर आगये। यहां वे पू.गुरुदेवकी सेवामे ही संलग्न रहने लगे। पू.गुरुदेवको भिक्षा करवाना उनकी कुटियाकी सफाई कर उसे स्वच्छ रखना, और उनके ही आदेशानुसार साधन-भजन करना, यही उनका उस समयका दैनिक कार्यक्रम रहा करता था।

इन्हीं दिनो उन्हे पू.गुरुदेवके अधिक निकट आनेका अवसर मिला और पू.गुरुदेव इन्हें श्रीपोद्दार महाराजके आन्तरिक आध्यात्मिक स्वरूपकी बाते बताया करते थे। वैसे श्रीकृष्णचन्द्रजी जब बीकानेरमे पढते थे, तब भी श्रीगंभीरचन्दजी दुजारीसे उन्हें श्रीपोद्दार महाराजको भगवान्‌के साक्षात् दर्शनकी बातें सुननेको मिलती थीं। श्रीकृष्णचन्द्रजीके मनमें श्रीपोद्दार महाराज और पू. गुरुदेवके प्रति श्रद्धा पनपनेकी यह संक्षिप्त भूमिका ही यहॉ पाठकोंकी जानकारीके लिये दी गयी है।

श्रीपोद्दार महाराजके द्वारा गीतावाटिकामें वर्ष भर प्रायः सभी उत्सव मनाये जाते थे। नवरात्रके समय ब्राह्मणोंके द्वारा शतचण्डीका आयोजन होता था। इसी प्रकार जन्माष्टमी, राधाष्टमी, रामनवमी, नृसिंहजयन्ती, महाशिवरात्रि, रासपूर्णिमा, वामनद्वादशी आदि वर्ष भरके सभी उत्सव गृहस्थोचित मर्यादासे

श्रीपोद्दार महाराजके घरमे सम्पन्न होते थे। इन उत्सवोमें सम्पादकीय विभागके लोग तो सम्मिलित होते ही थे, गीताप्रेससे भी लोग आते थे, साहबगंज मोहल्लेके मारवाडी भावुक सज्जन भी सम्मिलित हुआ करते थे। इन उत्सवोकी सभी व्यवस्थाका भार पू.गुरुदेवने भाई श्रीकृष्णचन्द्रजीको ही सौंप रखा था वे ही इस दायित्वका पूरी तरह निर्वाह करते थे। इसके अतिरिक्त बाहरसे जो भी अतिथि श्रीपोद्दार महाराजसे मिलने गीतावाटिका आया करते थे, उनके आवास, जलपान, भोजनादिकी व्यवस्था भी श्रीकृष्णचन्द्र ही सम्हालते थे।

सच्ची सेवा सेव्यके हृदयको आकृष्ट कर ही लेती है। स्वार्थभावसे सर्वथा शून्य होकर की जानेवाली सेवा सचमुच ही एक चमत्कार उपस्थित कर देती है। अतः पू.गुरुदेवने श्रीकृष्णचन्द्रजीको अपना प्रतिनिधित्व देनेका निश्चय कर ही लिया। यह ध्यान रखते हुए कि अवश्य ही वह व्यक्ति सही-सही रीतिसे प्रतिनिधि हो, पू.गुरुदेवने उन्हे सफेद वस्त्रोमे ही सन्यासीवत् रखनेकी योजना बना ली। श्री चिम्मनलालजी गोस्वामीकी साक्षीमे मंत्र देकर पू.गुरुदेवने श्रीकृष्णचन्द्रजीको श्रीपोद्दार महाराजका धर्मपुत्र निर्णय कर दिया। अवश्य ही वह मंत्र सन्यासमंत्र नहीं था। धर्मपुत्र बनाकर श्रीकृष्णचन्द्रजीको पू.गुरुदेवने सावधान किया कि आजके पश्चात् तुम्हे अपने जन्मदान देनेवाले माता-पिताकी अपेक्षा इन धर्मके माता-पिताको अधिक महत्त्व देना चाहिये, एवं सदा मन-ही-मन यही आवृत्ति करनी चाहिये कि वस्तुतः तुम इनके ही पुत्र थे, परन्तु मायाशक्तिने तुम्हारा गर्भस्थापन तुम्हारी माताकी कोखमे भूलसे कर दिया था।

अपने प्रतिनिधिके रूपमे जब पू.गुरुदेवने श्रीकृष्णचन्द्रजीको श्रीपोद्दार महाराज एव उनकी धर्मपत्नीकी सेवामें नियुक्त कर दिया एव जन्म देनेवाले माता-पितासे उनका मानसिक रूपसे सम्बन्ध-विच्छेद भी कर दिया, तो श्रीकृष्णचन्द्रजीके जन्मदाता माता-पिताकी सद्गतिका उत्तरदायित्व उन्होने अपने कन्धोपर उठा लिया। उन्होंने उसी दिवस श्रीकृष्णचन्द्रजीको आश्वासन दे दिया कि तुम्हारे माता-पिताकी सद्गतिका समस्त उत्तरदायित्व मेरा है। मेरे स्वयंके माता-पिताकी सुगति होनेके पहले तुम्हारे माता-पिताकी सुगति निश्चय ही होगी।

श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवालकी माताजीकी मृत्यु पहले हुई, एवं तत्पश्चात् कुछ वर्षमे उनके पिताजीकी भी मृत्यु होगयी। उनकी मॉकी मृत्युके समय तो पू.गुरुदेवने उन्हें व्रती बनाया नहीं था, अतः वे उनकी रुग्णताका समाचार

पाकर ही राजगढ चले गये थे और उनकी सारी क्रिया करके गोरखपुर लौट आये थे। हाँ ! उनके पिताकी-अतिशय रुग्णावस्थाके समय श्रीपोद्दार महाराजने उन्हें उनकी सेवाके लिये उनके पास राजगढ जानेका बहुत आग्रह किया। क्योकि उस समय श्रीपोद्दार महाराज स्वय भी रुग्ण थे और पू.गुरुदेवकी इच्छा थी कि वे अपने धर्मपिता श्रीपोद्दार महाराजकी रुग्णताको अधिक महत्व देते हुए अपने जन्मदाता पिताकी सेवाको गौणता दें, अत. श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीपोद्दार महाराजकी राजगढ जानेकी आज्ञाको न मानकर, गोरखपुर ही रहकर पोद्दार महाराजकी सेवाका व्रत निभाया। कुछ दिनों पश्चात् श्रीकृष्णजीके पिताका देहान्त हो गया। उनके पिताके देहान्तका समाचार जैसे ही श्रीपोद्दार महाराजको मिला वे इतने व्यथित हुए कि श्रीकृष्णचन्द्रजीको सम्बोधित करके उनके मुखसे निकल पडा–'जा, तुझे इस जन्ममे मनोवाञ्छित सिद्धि नहीं मिलेगी।"

यह बात जब पू गुरुदेवके कानोंमे पहुँची तो उन्होने श्रीकृष्णचन्द्रजीको अपने पास बुलाकर यही कहा–"भैया कृष्ण ! तुम भी जन्म लेनेको तैयार हो जाओ एव मैं भी एक जन्म तुम्हारे साथ ही ले लेता हूँ । तुमको तुम्हारे धर्म-पिता श्रीपोद्दार महाराजका श्राप मिला है, तुम इसे सहर्ष स्वीकार करलो । मैं भी अपने जन्मदाता पिताका श्राप स्वीकार कर लेता हूँ। मुझे भी सन्यास लेते समय मेरे पिताने यही श्राप दिया था कि 'जा, तुझे इस जन्ममें ध्येय-प्राप्तिरूप सिद्धि नहीं मिलेगी।' यद्यपि मेरे आराध्य श्रीकृष्णने मुझे ऐसी शक्ति दी है कि मैं मेरे पिता द्वारा दिया श्राप व्यर्थ कर सकता हूँ, परन्तु तुझे जो श्रीपोद्दार महाराजरूप महासिद्ध सन्तका अमोघ श्राप है, वह तो तुम्हें भोगना ही होगा। तुम्हारे जन्म लेनेके किसी विधानको मै तभी स्वीकार करूँगा, जब मेरा भी जन्म हो। अत चलो, हम दोनो ही पुनः जन्म लेनेका विधान स्वीकार कर लेते हैं।"

'पू गुरुदेव श्रीकृष्णचन्द्रजीके साथ जन्म लेनेवाले हैं' यह बात हवाकी तरह जब गीतावाटिकामे फैली तो पू गुरुदेवके साथ ही गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी तथा अनेक उच्चकोटिके साधकोंने भी अपनी यही इच्छा पू गुरुदेवके सम्मुख प्रकट कर दी कि हम सभीको भी आपके साथ ही जन्म लेनेका विधान आप दया करके भगवान्से स्वीकृत करा दीजिये।

ये सब बातें श्रीपोद्दार महाराजके पास भी पहुँच ही गयीं कि उनके

श्रापको पू.गुरुदेवने अपने ऊपर स्वीकार कर लिया है। श्रीपोद्दार महाराज यह सुनकर भी कुछ दिवस तो वैसे ही गंभीर बने रहे। एकदिन स्वयं अ.सौ. माताजी (श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी)ने उन्हे कह दिया "राधाबाबाके साथ मैं भी एक जन्म और लेने जा रही हूँ; लोगोंको आप भगवान्के दर्शन तो करानेसे रहे, अपने सेवकोंको श्राप देते रहिये।" इसके बाद एक दिन पू. पोद्दार महाराज हँसते-हँसते पू.गुरुदेवकी कुटियामें आये तथा आकर बोले "बाबा ! श्रीकृष्णचन्द्रका पुनर्जन्म तो नहीं होगा "

यह सुनते ही पू.गुरुदेवने श्रीकृष्णचन्द्रको बुलवाया और श्रीपोद्दार महाराजके चरणोंमें प्रणत करवाया। इस भाँति यह श्रापलीला श्रीकृष्णचन्द्रके लिये इस वरदानके रूपमें परिणत होगयी कि अब उसका पुनर्जन्म नहीं होगा।

१९५६ ई.की शरद पूर्णिमाके दिन मध्य रात्रिके समय गोरखपुरमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने काष्ठमौन ले लिया था एवं कुछ सप्ताह पश्चात् वे श्री पोद्दार महाराजके साथ रतनगढ़ चले आये थे। सन् १९५७की मकरसंक्रान्तिके दिन पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी जन्मदात्री माताजीका देहावसान हो गया। यह समाचार पू.गुरुदेवके पूर्वाश्रमके परिवारवालोंने तार द्वारा पू.पोद्दार महाराजके पास भिजवाया था। यह तार तो अतिशय विलम्बसे पू.पोद्दार महाराजके पास पहुँचा। इधर पू.गुरुदेवकी माताजी मृत्युके दूसरे दिन ही, रातके नौ-दस बजेके आसपास अतिशय चिन्मय दिव्य रमणीके वेषमे पू.गुरुदेवके सम्मुख प्रकट होगयीं। कुछ कालतक तो पू.गुरुदेव अपनी माताको पहचान ही नहीं सके और आश्चर्य करते रहे कि यह दिव्य युवती स्त्री मेरे एकान्त कक्षमें कैसे प्रवेश पा गयी। किन्तु पश्चात् जब माताजीने अपना परिचय दिया तो तत्क्षण ही पू. गुरुदेवको ज्ञान हो गया कि माँ तो अपने स्थूल देहका परित्याग करके यहाँ मेरे सम्मुख सूक्ष्मदेहसे खड़ी है।

जब पू.गुरुदेवकी जन्मदात्री माता अपने सूक्ष्मदेहसे पू.गुरुदेवके सम्मुख उपस्थित हो गयी तो अब पू.गुरुदेवको उनकी उत्तम गतिको निर्धारित करना विचारणीय हो गया । पू.गुरुदेव विचार करने लगे कि मेरी माताकी भावी स्पृहणीय परिणति क्या हो ? उसी समय पू.गुरुदेवको अपने द्वारा प्रदत्त आश्वासनकी भी स्मृति हो आयी और उनमें यह जिज्ञासा भी उदित हुई कि भाई श्रीकृष्णचन्द्रजीके माता-पिता ब्रजराज्यमें पहुँच गये कि नहीं। भाई

श्रीकृष्णचन्द्रजीकी माताजी एवं पिताजीका देहान्त तो अनेक वर्षों पूर्व ही हो चुका था। आज जब पू.गुरुदेवने अपने आराध्य श्रीकृष्णसे उनकी वर्तमान स्थितिके सम्बन्धमें जिज्ञासा की तो पू.गुरुदेवको बतलाया गया कि अभी वे अपने गन्तव्य ब्रजराज्यमें नहीं पहुँचे हैं। पू. गुरुदेवको यह स्वीकार ही नहीं था कि उनकी जन्मदात्री माता तो पहले भगवान्‌के धाम चली जाय और श्रीकृष्णके माता-पिता भगवान् श्रीकृष्णके नित्य पार्षद पदमें पहुँचे ही नहीं । पू. गुरुदेवने उसी समय अपने माता-पिताकी होनेवाली परिणितियोंको तबतकके लिये स्थगित कर दिया, जबतक उनके परमाराध्य श्रीकृष्ण भाई श्रीकृष्णचन्द्रके माता-पिताकी पूर्ण सद्गति नहीं कर दें। जब भाई श्रीकृष्णचन्द्रके माता-पिता ब्रजराज्यमें पहुँच गये, तभी पू.गुरुदेवके माता-पिता अपनी विशिष्ट परिणितियोंको प्राप्त हो सके।

जैसा कि पू. गुरुदेवने बतलाया था कि उनकी माताजीकी प्रथम परिणति भगवती पार्वतीके रूपमें हुई, जबकि उनके पू. पिता भगवान् शंकरके कैलासमें उत्तम गतिमें निहित रहे। दूसरी परिणतिमें पू.गुरुदेवके पिता महर्षि भागुरिके रूपमे हुए और उनकी माता उनकी पत्नी के रूपमें हुईं। इसके पश्चात् उनकी माताजीकी तृतीय परिणति माता कीर्तिदाके रूपमें हुई और अन्तिम एव चतुर्थ परिणति वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाकिशोरीके शीशपर विराजित एक सौदामिनी आभूषणके रूपमें हुई।

उक्त प्रसंगसे प्रकट होता है कि पू.गुरुदेव अपने आश्रितोंके लोक-परलोक और अन्तिम शाश्वत गतिके सम्बन्धमें कितने सावधान, सचिन्त्य और सक्रिय रहते थे। पू.गुरुदेवके परमोदार व्यक्तित्वमें अचिन्त्य सुहृद-भावनाके साथ ही उनकी अपरिमित शक्ति-सामर्थ्यका आकलन हम सभीके अनुमान एव कल्पनासे सर्वथा परेकी वस्तु है। हम सभीके प्रति पू.गुरुदेवके अपरिसीम वात्सल्यका पावन स्मरण करते हुए मैं इस प्रसंगको विराम देता हूँ।

---

# रासलीलाओंमें अनुभूतियाँ

## गोचारणलीलाका उन्मेष और भगवदादेश

## (पाँचवाँ अध्याय )

प्रतिदिन ही जब भुवनभारकर प्राचीको रञ्जित करने लगते, पू.गुरुदेव ध्यानमे बैठ जाते थे। पू.गुरुदेव कहा करते थे कि आजके सोलह सौ वर्ष पूर्व ही उन्होने अपने चित्तको संकल्पशून्य कर लिया था। उसी समय उन्हें ज्ञानका आलोक प्राप्त हो गया था। और आज तो महज्जन श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )की कृपासे उनकी विलक्षण दशा है। उनके सम्मुख विलक्षण ध्यान-दृश्य है:–

नीलसुन्दर उनके प्राणाराध्य वशीके छिद्रोमे स्वर भरते हुए गोचारणके लिये वनमें पधार रहे है। वे अपने भाव-शरीरसे दुर्मद गोपकी वधू मञ्जुश्यामा बने अपनी बडी बहिन श्रीराधारानी (रायण गोपवधू)के सहित निर्निमेष दृष्टिसे अपने वृन्दावन-स्थित भवनकी अटारीसे उन्हे निहार रहे हैं । ब्रजराजतनयकी इस समयकी शोभा कैसी निराली है ! घुँघराली अलकें कपोलोंपर, ललाटके कुछ अंशपर झूल रही हैं । गोखुरोंके बिखरे हुए धूलिकण उड़-उडकर उनकी अलकोपर गिर रहे हैं। कुन्तलमण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छका मुकुट सुशोभित है और केशोमे वन्य-प्रसून ग्रथित हैं। नेत्रोकी मनोहर चितवन और अधरोपर व्यक्त हुए मृदुस्मितकी शोभा देखते ही बन रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो खञ्जन-मिथुन अपनी नैसर्गिक भावनामे तन्मय हुआ नृत्यपरायण हो, और सद्य प्रस्फुटित नीलसरोरुहसे सुधा-विनिन्दित मधुधारा क्षरित हो रही हो। वेणुके छिद्रोंमे वे स्वर भरते हैं और उनके असंख्य गोपशिशु अपने-अपने मधुमय कण्ठसे उनके ललित लीला-विहारका गान करते उनके आर्श्व-पार्श्व, आगे-पीछे चल रहे हैं।"

अहा ! इस अप्रतिम सौन्दर्यको निहारते पू.गुरुदेवकी कैसी दशा हो रही है ! उनकी उस स्वसवेद्य अवस्थाका कोई भी जीवनी-लेखक कैसे चित्रण कर पाये ! इस ध्यानके समय इन्हें कैसा ब्रह्मानन्द-तिरस्कारी आह्लाद हो रहा है, उनके हृदयमे कैसे-कैसे प्रीतिके अनुभाव व्यक्त होरहे हैं, इसे वाग्वादिनी

तो कह ही नहीं सकती, मेरे-जैसा अल्पज्ञ लेखक क्या कहे ?

हॉ, अपनी कल्पनाके पंखोंपर उडता हुआ इतना मात्र लिखनेका दुस्साहसभर कर रहा हूॅ – अपनी असख्य गोपवधूसखियों और अपनी बड़ी बहन रानीके सहित वे लोक-लज्जाके सभी दुर्लंध्य कपाट उन्मुक्त कर दौड़कर अपने गृहसे बाहर आगयी हैं । वहॉ उनके प्राणवल्लभ प्रियतमके मुखारविन्दसे राशि-राशि मधुकी धारा प्रवाहित हो रही है और नेत्र-भ्रमर उसी मकरन्दरसमें डूब रहे हैं, पग गये हैं । इन नेत्र-भ्रमरोंसे पू.गुरुदेवके भावशरीर मञ्जुश्यामा-रूपा गोपीके हृदय एव प्राण तो सन्नद्ध थे ही । अतः यह प्रीतिरसरूपा मधुधारा इसी तन्तुके सहारे झर रही थी,उनके विरहतप्त हृदयमे, प्राणोंमें भी विरहाग्नि जो अन्तस्तलके प्रत्येक अंशमे अलक्षित रूपसे पलकान्तर-वियोगसे भी धक्-धक् जलने लगती है, प्रशमित हो गयी थी ।

देखो, देखो ! मधुकर मानो अत्यधिक मधुपानसे मत्त होकर तन्द्रित हो उठा हो, इस प्रकार उनके भावशरीरके नेत्र मुँदने लगे। अहा ! रसपूरित हृदयमें प्रीतिकी तत्क्षण ही एक उत्तुंग लहर उठी, परन्तु लज्जाने प्रायः सम्पूर्ण द्वार रुद्ध कर दिये थे । लज्जा मानो प्रीति-रंगमचकी पूरी सूत्रधार ही बन बैठी थी। इसीलिये उनके मुखारविन्दपर बस लाजभरी पवित्र हॅसी ही व्यक्त हो सकी। विनम्र भावमुद्रासे नेत्रोंको अतिशय स्निग्ध करते हुए वे बकिम चितवनसे ही उनकी ओर मात्र देख सके। किन्तु करुणावरुणालय, गुणनिधान, परम रसमय ब्रजेन्द्रनन्दनने इसे ही बहुत-बहुत माना, इस सत्कारके उपहारको समग्र उल्लाससे स्वीकार करते हुए वे ब्रजके देवता, भावग्राही रसिक, रस-निधान प्रियतम वनमें प्रवेश करनेके पूर्व किञ्चित् काल उनके सम्मुख स्थित हो गये । देखो ! वे अपनी प्राणप्रिया मञ्जुश्यामासे कुछ निवेदन कर रहे हैं। अपने प्रियतमकी मेघगभीर मधुरातिमधुर स्वरलहरी पू. गुरुदेवके मानसमे गूॅज उठी – " प्राणेश्वरी ! मैं लगभग दो वर्ष पश्चात् तुम्हारे प्राकृत शरीरके पास ब्रजवासी रासमण्डलीके ठाकुरके रूपमें उन्मिषित होकर आऊँगा, मेरा यह सन्देश विस्मृत मत करना ! "यह सन्देश सुनते ही पू. गुरुदेव अपने ध्यानसे विचलित हुए बाह्याविष्ट हो उठे। उन्होंने ध्यान-निमीलित नेत्र खोल दिये। वे विचारमें पड़ गये –

"लीलामयकी इच्छा ! वे कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्-समर्थ हैं। उनके स्वरूपतत्त्वको, श्रीविग्रह-रहस्यको कौन समझ सकता है ? वे सर्वभवनसमर्थ

हैं। अनेक आचार्योंके सम्मुख वे मूर्तियोंके रूपमें प्रत्यक्ष थे। आज भी श्रीनाथजी, वृन्दावनके बिहारीजी, मदनमोहनजी आदि चिन्मय विग्रह त्रिजगन्मंगलकारी वर्षा कर ही रहे हैं। मेरे सम्मुख भी पोद्दार महाराजके रूपमें पांचभौतिक शरीरसे ही उन्होंने कितनी कृपा-वर्षा की है।" उल्लासमें भरे पू.गुरुदेव भगवान्‌की महिमाके विचारोंमें डूबगये –" मेरी बुद्धि मात्र एक इन्द्रिय भर ही तो है। बुद्धिकी कहाँ सामर्थ्य है कि वह अधोक्षज प्रभुको जान सके । मेरी प्रत्येक स्फुरणाके नियंत्रक जब मेरे प्रभु हैं, तब तत्वका, सत्य-असत्यका निर्णय बुद्धिके द्वारा कैसे संभव है ? वे सर्वभवनसमर्थ जो-जो रूप रचा कर जैसी लीला करें, उनकी मात्र बलिहारी है।"– विचार करते-करते पू.गुरुदेवको पता ही नहीं चला कि कब प्रभातसे मध्याह्न हो गया है। अपने प्रथम प्रहरके पूजाकालमें अतिरेक होता देख वे अपने आसनसे उठ खडे हुए। पुनः शौच-स्नानसे निवृत्त हो वे अपने पूजा-अर्चनमें लग गये । ध्यानकालमें हुआ प्रभुका आदेश उनकी अन्तश्चेतनाके गर्भमे समा गया ।

-----

## भगवदादेशका अभिव्यक्तीकरण

" यह जो कुछ इस समय वर्तमान है, यह सब-का-सब परम पुरुष परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं, भूत और भविष्यकाल भी श्रीकृष्ण ही हैं। ये श्रीकृष्ण ही अन्नसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं, और इन सब जीवोंके शासक भी वे ही हैं। "पू.गुरुदेव प्रातः शौचक्रियाको जानेसे पहले उषःपानके रूपमें जल पीते-पीते मुझे उद्‌बोधन कर रहे थे। मैं उन दिनों योग-वाशिष्ठ पढकर उनके सम्मुख कभी-कभी तर्क कर बैठता था। वे मुझे यही समझा रहे थे कि "भगवान्‌का असमोर्ध्व ऐश्वर्य तर्कातीत है। प्राकृत पदार्थ ही तर्कगोचर होते हैं, हो सकते हैं, परन्तु भगवान् नन्दनन्दन तो प्रकृतिसे परेकी वस्तु हैं। वे स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप हैं । उन्हें इन्द्रियाँ भला प्रकाशित ही कैसे कर सकती हैं। कृपा-परवश हुए वे अपनी स्वप्रकाशिका शक्तिसे भले ही किसीकी मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके गोचर हो जावें, और उन्हें भले ही कोई कृपा-प्राप्त महापुरुष जान ले, समझ ले, उनके अपरिसीम ऐश्वर्य-समन्वित रूपको देख ले। परन्तु फिर वह स्थिर, विकृतिशून्य रह सके, यह संभव ही नहीं है।" पू. गुरुदेव जल बहुत ही धीरे-धीरे स्वाद ले-लेकर पीते थे। मैं उनके पास खड़ा

निर्निमेष उन्हें देख-सुन रहा था। अचानक मैंने देखा अत्यन्त मन्द-मथर गतिसे श्रीपोद्दार महाराज निम्न मुख किये उनकी कुटियाकी ओर आ रहे हैं । मैंने तुरन्त ही पू.गुरुदेवको उनके इधर आनेकी सूचना दी। पू.गुरुदेव एक काष्ठकी चौकीपर बैठे थे, अतः मैंने श्रीपोद्दार महाराजको आसन देनेकी दृष्टिसे दूर रखी एक कुर्सी उठायी और पू गुरुदेवकी चौकीके निकट रख दी ।

पू. पोद्दार महाराज कोई गोपनीय मंत्रणा करें, यह विचारता हुआ मैं वहाँसे उठकर दूर चला गया। श्रीपोद्दार महाराज मेरा मन्तव्य समझकर मुझे अपने पास बुलाकर उसी कुर्सी पर बैठ गये जिसे मैंने उनके लिये रखी थी। वे पू. गुरुदेवको सूचना भर देने आये थे। वे कह रहे थे कि " श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवालाकी प्रेरणासे कोई रासमण्डली वृन्दावनसे गोरखपुर आयी है। वह अपने कार्यक्रमानुसार तो समस्तीपुर(बिहार) जा रही थी, परन्तु यात्रा बहुत दूरकी देख मध्यमार्ग गोरखपुरमें श्रीठकुरीबाबू जालानके यहाँ ठहरी है। श्रीमोहनलालजीने ही वृन्दावनसे ठकुरीबाबूको पत्र लिखकर उनकी ठहरनेकी व्यवस्था करायी है। उस मण्डलीका रास आज रामदास जालान अपने घर कराने जा रहा है। उसने मुझे, आपको और गोस्वामीजीको बुलानेका बहुत-बहुत आग्रह किया है। श्रीसेठजी रासके बहुत विरोधी हैं, मैंने यह बात उसे बतला भी दी, परन्तु फिर भी वह बालहठी है, उसके हठके कारण सायकाल उसके वहाँ जाना ही पडेगा। आप अपनी साधनाका कार्यक्रम तदनुरूप कर लीजियेगा, यही सूचना देने मैं चला आया था।"

पू.राधाबाबा शौचक्रियाको जानेवाले हैं, यह सोचकर पू. पोद्दार महाराज तुरन्त ही वापस चले गये।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि श्रीवृन्दावनवासी मोहनलालजी झुनझुनवाला श्रीराधाबाबाके ऐसे ब्रजभाव-भावी अनुयायी रहे हैं, जो जबसे पू. राधाबाबाका श्रीपोद्दार महाराजके पास आगमन हुआँ, तभीसे उन्हें ब्रजभावकी रस-साधनामें सहयोग देते रहे हैं । श्रीराधाबाबाको जब-जब पुरातन रसिकाचार्योंकी ब्रजरस-सम्बन्धी वाणियाँ देखनेकी जिज्ञासा हुई है, तभी-तभी उनके द्वारा स्वतः ही अपने-आप बिना कोई सूचना पाने पर भी वे वाणियाँ भेजी जाती रही हैं । बिना मँगाये ही अपने मनोवाञ्छित ग्रन्थ उनके द्वारा यथासमय भेजे जानेसे पू. गुरुदेव अनेकों बार चमत्कृत होते रहे हैं । इस बार भी उनके द्वारा भेजी गयी

रासलीलामंडलीके गोरखपुर-आगमनका समाचार पू. पोद्दार महाराज द्वारा पाकर पू. गुरुदेव किंचित विचारमें पड गये । मैं उन्हें विचारोंमें निमग्न देख, उनके पाससे उठ आया और वे विचारोमें खोये-खोये ही शौचालयके पथकी ओर बढ़ गये।

यह घटना सन् १९४९ ई० तदनुसार वि.सं २००६के ग्रीष्मकालकी है। श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका प्रारम्भसे ही रासादि-अभिनयके घोर विरोधी रहे हैं । उन्हे अपनी युवावस्थामें किसी नाट्यमण्डली द्वारा अभिनीत रासलीला-दर्शनसे काम विकारका आभास हो गया था, अतः तबसे ही वे अपने अनुयायीवर्ग एवं मित्रमण्डलीको ऐसे अभिनय देखनेसे वर्जित करते रहे हैं । उनका रासविरोध अति कट्टर है, इस मान्यताके कारण ही गोरखपुरमें यह पहली रासमण्डली ही साहबगंज मोहल्लेमें इस बार आयी है । इसके पूर्व वल्लभसम्प्रदायके वैष्णवों द्वारा ही रासमण्डलियोंको गोरखपुरके उर्दू बाजार अथवा अलीनगरमें आमन्त्रित किया जाता रहा है ।

श्रीसेठजीकी ऐसी मान्यता भी थी कि रासमण्डलीके स्वामी लोग चरित्रगत दोषोसे युक्त होते हैं और उनका उद्देश्य इन अभिनयों द्वारा भावुकता उत्पन्नकर मात्र अर्थोपार्जन करना ही होता है । वे स्वरूपधारी बालकोका भी पूरा शोषण करते हैं और उनके चरित्रनिर्माण अथवा शिक्षाकी किञ्चित् भी परवाह नहीं करते । श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाकी भावना वस्तुतः युक्तिसंगत और तथ्यपरक थी । एक-दोको अपवाद करके इन रासमण्डलियोंके स्वामी प्रायः इन दोषोंसे युक्त थे ।

क्योंकि श्रीसेठजीकी दृष्टि व्यापक लोक-संग्रहकी परिचायक और लोकमंगलसे ओतप्रोत थी, उनमें जगत्को सत्य मार्गदर्शन करनेकी प्रवृत्ति काम कर रही थी, अतः श्रीपोद्दार महाराज और पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा दोनो ही उनका पूर्ण समादर करते थे। उनका भी अक्षरशः वही मत था, जो श्रीसेठजीका था। परन्तु जहॉ वे **वासुदेवः सर्वमिति**की सर्वोच्च तत्वपरक अनुभूतिमें प्रतिष्ठित होते, वहॉ उनके सम्मुख लोकशिक्षाका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता था । वहां तो उन्हे सर्वत्र जडचेतनमें समरूपसे उनके प्राणाराध्य जीवनसर्वस्व श्रीयुगल निकुञ्जदम्पती ही विराजित प्रत्यक्ष होते थे। जगत् कहीं दीखे, तब न जगत्को शिक्षा देनेकी बात विचारी जाय। जब वे **''यहाँ जगत आवन नहिं पावत निरतत नन्दकुमार''**की सर्वोच्च स्थितिमें प्रतिष्ठित होते वहाँ उनका

आचरण श्रीकृष्ण-रसास्वादनपरक ही हो जाता था। संयोगवश इन दिनों श्रीसेठजी और उनके प्रमुख अनुयायीगण श्रीघनश्यामदासजी जालान, श्रीमोतीलाल जालान आदि सभी स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)के सत्संगमे निरत थे । श्रीघनश्यामदासजीका एकमात्र पुत्र रामदास भगवत्प्रेरणावश रास-दर्शन और उसके संयोजनके पक्षमें हो गया था । प्रथम रासदर्शनसे ही उसे न जाने क्या आकर्षण हो गया था, जिससे प्रेरित हुआ वह अपने निजके घरमे अपने पिता, ताऊ सभीका विरोध समझता हुआ भी रासलीला-संयोजन कर रहा था, और अपने पक्षमें अपने ताऊ, श्रीपोद्दार महाराजको करके, संभवतः वह अपने पिताके सम्मुख अपना पक्ष निर्दोष करनेकी चेष्टामें सलग्न था।

धू पोद्दार महाराज पू गुरुदेवको रासमण्डलीमें ले जानेकी बात प्रभातमें ही कह तो आये, परन्तु फिर वे न जाने किस कारणसे प्रथम दिन उन्हे नहीं ले गये। उस दिन वे अकेले ही श्रीगोस्वामीजीके साथ श्रीरामदासजीके घर गये। उनके परिवारसे अ सौ.माताजी और अ सौ. सावित्रीबाई आदि अवश्य उनके साथ थीं । मैं भी साथ ही था।

रासमण्डली नयी-नयी बनायी गयी थी । रासके स्वामी श्रीरामजी अतिशय गरीब परिवारसे थे। वे स्वयं पहले रासके ठाकुर बनते थे, और उन्होने वल्लभसम्प्रदायके कीर्त्तनिया श्रीहरिवल्लभजीके सहयोगसे मण्डली गठित की थी। श्रीहरिवल्लभजी एक उत्कृष्ट सारंगीवादक भी थे और रासलीलाके सभी पदोंके गायनका उनका कुशल अभ्यास था ।

मण्डलीके पास साज-सज्जा और श्रृगारादिका सामान सर्वथा नगण्यके समान ही था। वृन्दावनसे जो थोडी बहुत साज-सज्जा लेकर ये लोग चले थे, वह भी रास्तेमें एक गठरी चोरी हो जानेसे, खो गया था। पहननेवाली साधारण धोतीको ही पीले रंगमे रँगकर उसमें साधारण-सा नकली गोटा लगाकर ठाकुरके परिधानका निर्माण किया गया था। रासेश्वरी और रासेश्वरके मुकुट तो इतने साधारण थे कि उन्हें देखकर हँसी छूटती थी । श्रीरामदासजीकी हथकरघेकी दुकानकी साधारण-सी-साधारण चादरोंको बिछाकर मंच-सज्जा की गयी थी और परदे एव पिछवाइयाँ भी अति साधारण ही थीं। उस साधारण साज-सज्जासे समायुक्त मंचपरसे जैसे ही परदा हटा रासेश्वर ठाकुरके सुन्दर स्वरूप और उसकी मन्द मुसकानने सभी दर्शकोंका चित्त आकर्षित कर लिया। मैंने देखा – "श्रीपोद्दार महाराज एकटक निर्निमेष दृष्टिसे स्वरूपको निहार रहे

हैं और मुग्ध हैं।" रासनृत्य प्रारम्भ हुआ और पोद्दार महाराज उस अपूर्व लीलाझाँकीका दर्शन करते-करते अपनी सुध-बुध खो बैठे । वैसे अभूतपूर्व कुछ भी नहीं था। एक साधारण ब्रजवासी बालक कोई बहुत कुशल नृत्यकार भी नहीं था। परन्तु श्रीपोद्दार महाराजके नेत्रोंमें उस नृत्य करते साधारण ब्रजबासी बालकने, न जाने कैसे, भगवान्के अपरिसीम सौन्दर्य-माधुर्यशाली रूपको व्यक्त कर दिया। वे उस अभिव्यक्त चिन्मय सौन्दर्यमे ऐसे मोहित हुए कि अपनी प्रज्ञा खोकर उस चिन्मय दिव्यातिदिव्य झाँकीमें डूब गये। सहसा रासेश्वर बने ब्रजवासी बालकने लावनी रागमें गाना प्रारभ कर दिया था।

**धर धरके अवतार भूमिको भार हरैया मैं ही तो हूँ ।**
**नँदकौ लाला, मात जसुदाकौ कन्हैया मैं ही तो हूँ।।**
**मथुरामें लियौ जनम, बिरजमंडलकौ बसैया मैं ही तो हूँ।।**

श्रीपोद्दार महाराज तो दूसरे ही किसी लोकमें थे। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी झडी लग गयी थी, उनका कुर्त्ता आँसुओंसे सिक्त हो उठा था। श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी उनके पार्श्वमें ही बैठे थे। वे भी अपने प्राणोपम धर्मभ्राताको अनन्त अपरिसीम चिन्मय सुख-समुद्रमे डूबते-उछलते देखकर उनके सुखसे सुखी हुए स्वयं भी आनन्दोर्मियोंमें लहराने लगे।

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी दूसरे दिवस प्रातः ही पू गुरुदेव श्रीराधा-बाबाको पिछली रातकी अपनी अनुभूति सुनाते कह रहे थे – "बाबा ! कल रात्रि भाईजीकी रासदर्शन करते-करते विलक्षण दशा हो गयी थी। किंचित् बाह्य जागृति होते ही वे वे देखते कि उनका कुर्त्ता अश्रुओसे आर्द्र है, अश्रु पौंछकर अपनेको सवरित करनेकी चेष्टा करते, परन्तु कुछ ही क्षणोमे उनको पुनः होश नहीं रहता था। बाबा ! ब्रजवासी ठाकुरबना बालक भी स्वय स्नेहार्द्र एवं चकित था। पहले तो वह हम दोनोको गोरखपुरके कोई प्रतिष्ठित सेठ मान रहा था, क्योंकि व्यवस्थापकगण हमे ही विशेष महत्त्व दे रहे थे । परन्तु बादमें भाईजीकी वैसी प्रेमदशा देखकर उस बालकके हृदयमें भी श्रीभाईजीके प्रति विशेष श्रद्धाके भाव जग गये थे ।"

जिस समय श्रीगोस्वामीजी पू.राधाबाबाको यह प्रतिवेदन सुना रहे थे, मैं उस समय उनके पास ही खडा व्यजन करता उनके अंगोंसे मच्छर उडा रहा था । वे स्नानके लिये कपड़े उतार, एक कौपीनमे ही खडे थे।

कुछ ही दिनोंके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज एक दिन श्रीराधाबाबाको

भी रासलीला-दर्शनार्थ ले गये। श्रीपोद्दार महाराजके बगलमें ही श्रीराधाबाबाका आसन था।

ज्योंही मंचका पर्दा हटा पू.गुरुदेवने सिंहासनासीन ठाकुरस्वरूपके दर्शन किये। पू. गुरुदेव प्रथम दर्शनमें ही चकित थे। उनके सामनेसे श्रीरामदासजी जालानका मकान, गोरखपुरके जनपदकी भीड़ सभी विलुप्त हो गयी थी। उन्हें यही प्रतीत होरहा था, मानो वहाँका कण-कण नीली-नीली प्रकाशधारासे परिवेष्टित होरहा है। रासमण्डलके स्थानपर उन्हें मनोरम पद्मपर्यंक और निकुञ्जके दर्शन हो रहे थे। स्थान-स्थानपर लटकती मणिमुक्ताओंकी झालरें, रत्नजटित मनोहर आसन-चौकियाँ मानों अति समृद्ध कुञ्जस्थलमें मनोवाञ्छित श्रृंगारकी सब वस्तुएँ यथायोग्य स्थानपर सजाकर रखी हों । पू. गुरुदेवके अपने भावविग्रह प्रियतम नीलमणि अपनी प्राणप्रिया रानीको हृदयसे सटाये निकुञ्जके पद्मपर्यंकमें विराजित थे। श्रीगुरुदेवने मन-ही-मन सोचा –"हो सकता है ये सभी मेरे मनोभाव ही किसी उद्दीपनवश मेरे बाह्य दृश्यवत् मुझे दृष्टिगोचर हो रहे हो, परन्तु सम्मुख ठाकुर और श्रीजीके स्वरूपमें अपने प्राणाराध्य और प्राणसंजीवनी अपनी बड़ी बहन राधारानीकी हू-ब-हू अतिशय प्यारी रत्नजटित सिंहासनासीन छवि देखकर तो वे विस्मित हुए बिना रह ही नहीं सके ।

पू.राधाबाबाने उसी समय मन-ही-मन संकल्प किया –"मुझे जिस चिन्मय स्वरूपका दर्शन हो रहा है, इसे मैं सत्य तभी मानूँगा जब ठाकुर बना ब्रजवासी बालक रासके आरंभमें **"बन्यौ मोरमुकुट नटवरवपु "** – यह पद गावे।

आश्चर्य था, वही हुआ। जैसा पू.गुरुदवका संकल्प था, वैसा ही ठाकुरने पूर्व-नियंत्रितके समान गायन प्रारंभ किया। अब तो ब्रह्मवित्-शिरोमणि साधु हृदय पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके सभी सन्देह धराशायी होगये। उनकी अन्तरात्मामे एक अभिनव प्रकाश झलमला उठा। उस प्रकाशसे आलोकित पू. गुरुदेवका मन उद्भावना करने लगा–

"ओह ! मैं यह क्या देख रहा हूँ, अबतक तो मैंने मात्र श्रीपोद्दार महाराज रूप संतमे हो निविड आनन्द-सुधासागरका उद्गमस्थल मूर्त हुआ अनेक बार देखा था । ऐसा लगता था मानो ईश्वर-प्रतिपादक समस्त उपनिषदोंका प्रामाण्य ही शरीर ग्रहणकर श्रीहनुमानप्रसाद नाम-रूपमें मूर्त

हो गया है, परन्तु आज यह नवीन क्या अनुभव हो रहा है ? क्या सचमुच ही जिसे कुछ लोग ब्रह्म कहते हैं, कुंछ मनीषी जगत्कर्त्ता कहकर परिचय देते हैं, जिसे कुछ परमात्मा बताते हैं , और कुछ श्रेष्ठ पुरुष भगवान् कहकर प्रतिपादन करते हैं, जिसका प्रभाव देशकालसे परिच्छिन्न नहीं है, देशकालकी सीमामें जो न कभी बद्ध हुआ था एवं न ही कदापि हो सकता है, वही परमतत्व क्या एक ब्रजवासी बालकके रूपमें सीमाबद्ध मेरे साथ खेल कर रहा है ! ओह ! यह कैसा आश्चर्य है !

पू. गुरुदेवके हृदयमें कभी तो भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनका महान् ऐश्वर्य उदय होता है और कभी उनके रूपमाधुर्यकी शत-सहस्र सुधाधारायें प्रवाहित होने लगती हैं । ऐश्वर्योन्मेषके समय पू. गुरुदेव बालक ठाकुरके चरणोमे लुट पडना चाहते हैं और जिस क्षण माधुर्यका विकास होता है, उस समय उस महामरकतद्युति कलेवरको हृदयसे लगानेका मनोरथ करने लगते हैं परन्तु लीलामहाशक्ति दोनों ही क्रियाओंको करनेसे उन्हें रोक देती है। उसे लोक-मर्यादाकी रक्षा जो करनी है । वे सोचने लगते हैं - " यदि मैं इस ब्रजवासी बालकके चरणयुगल धारण करता हूँ, तो यहाँ आसीन सभी लोग मुझे उन्मत्त उन्मादग्रस्त बतावेंगे और यदि इस बालकको मैंने हृदयसे लगा लिया तो यह मेरी व्यावहारिक एक चचल क्रिया ही सिद्ध होगी । अतः मुझे अति धैर्यपूर्वक बस, मन-ही-मन अपनेको निहाल अनुभव करना चाहिये।

इधर वह बालक भी श्रीकृष्णवेषमे सज्जित पू. गुरुदेवकी ओर एकटक निहारता मुसका रहा था।. यद्यपि मण्डलीके स्वामी श्रीरामने दूसरी ही बंदिश प्रारंभ की थी, परन्तु ठाकुर-स्वरूपने उस बंदिशको अस्वीकार कर पू.राधा बाबाके संकल्पका गीत ही गाना प्रारभ कर दिया था। ठीक पू.राधाबाबाका मनमे विचार किया हुआ पद, उनकी ही धुन, राग एवं बंदिशमे गाता हुआ ठाकुर अपनी मनोहर मुसकानसे सम्पूर्ण वातावरणको परम रसमय बना रहा था। उसके मुखसे गीतके बोल फूट रहे थे :-

**पीत बसन मोतीमाल हिये पदिक कंठमाल,**
**हसन बोलन गावन गंडन श्रवण कुंडल झलकैं ।**
**बन्यौ मोर मुकुट नटवर वपु कमलनयन श्यामसुंदर,**
**बाँकी भौंह टेढ़ी पाग घुँघरवारि अलकैं।।**
**करपद भूषण अनूप कोटि मदनमोहन रूप**

**अद्‌भुत बदनचन्द्र देख गोपी भूली पलकैं।।**

पू.राधाबाबा विमुग्ध थे। उनके शरीरका रोम-रोम पुलकित था। ऊर्ध्व-रोम हुए उनकी विलक्षण दशा देख श्रीपोद्दार महाराजने धीरेसे उनके कानमें कहा–"बाबा ! बाह्य वातावरणकी ओर देखिये । यहाँ बहुत छिद्रान्वेषी हैं, तनिक संवरित होइये !" श्रीपोद्दार महाराज द्वारा सचेत किये जानेपर पू.गुरुदेव किंचित् संवरित हुए। उस दिनकी रासलीला इसी प्रकार सम्पन्न हुई।

-------

# अनवरत कृपावर्षण

अब नियमानुसार श्रीराधाबाबा रासलीला-दर्शनार्थ पहुँचने लगे। जबतक रासलीला हुई यह क्रम बराबर चलता ही रहा। श्रीपोद्दार महाराज किसी दिन सम्पादनकार्यकी अधिकतावश नहीं भी जाते, तब भी पू. गुरुदेव नियमानुसार रासलीला देखने पहुँचते ही ।

दूसरे दिनकी ही बात है। पू.गुरुदेवने रासप्रारंभके पूर्व ही सकल्प किया कि यह ठाकुर आज मेरे मनके अनुसार रासनृत्यका प्रारभ शास्त्रीय पद्धतिसे करे, तो मैं इसमें अपने आराध्यका सत्य आवेश समझूँ ।

सचमुच कुछ ही क्षणोंमे ठाकुरने वही नृत्यपद्धति अपनायी जिसका पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने सकल्प किया था। श्रीराधाबाबाने ऐसा विचार किया था कि नृत्यप्रारभकी आदि शास्त्रीय प्रथाके अनुरूप प्रमुख नर्तक, ठाकुर नृत्यसे पूर्व नृत्यस्थलमे सुगन्धित वस्तु, चाहे इत्रसार वा पुष्पकी पखुड़ियाँ, कर्पूर-केसर, कस्तूरीचूर्ण, और नहीं तो, विविध रगोमें रँगा चन्दनचूर्ण, गुलाबकी पत्तियोंका चूर्ण, कुछ भी बिखेरे। बात वही हुई । रासका पर्दा उठते ही ठाकुरने रासनृत्य प्रारभ करनेके पूर्व सुगन्धित पुष्पपंखुड़ियोकी माँग की। रासमडलीके स्वामी श्रीरामजी एवं अन्य समाजी चकित थे कि ठाकुर यह स्वतत्र आचरण क्यों कर रहा है ? परन्तु रासमण्डलमे ठाकुरकी इच्छाको सर्वोपरि समझा जाता है, अत एक समाजीको पुष्पोकी व्यवस्था करनेके लिये चेष्टारत होना पडा। जबतक समुचित पुष्प-व्यवस्था नहीं हुई , रासलीला प्रारम्भमे विलम्ब हुआ । ज्योंही समाजी डलियाभर पुष्पराशि लाया, ठाकुरने चकित हो रहे संन्यासी श्रीराधा बाबाके नेत्रोंसे नेत्र मिलाये। अतिशय मद-मधुर मुसकान बिखेरते हुए अपनी सुकोमल बाल-हथेलियोमे लघु-लघु वन्यकुसुमोंकी अञ्जलि बाँधे ठाकुर

अग्रसर हुआ और उसने अत्यन्त कलात्मक भंगिमाओसे चतुर्दिक् निहारते हुए, अपनी पुष्पाञ्जलि सर्वप्रथम रासमण्डलमें प्रकीर्ण कर दी ।

ठीक अपने मनोनुरूप ठाकुर बने बालकका आचरण देख श्रीराधाबाबा हर्षोल्लाससे भर गये। वे अपनेको निहाल अनुभव करने लगे । कुछ ही क्षणोमे उनके नेत्र मुँदने लगे और आसपासमें बैठे लोगोंको ठीक अनुभव होने लगा कि कुछ ही क्षणोमें ये भावाविष्ट हो जावेंगे ।

न जाने क्यो, प्रारंभसे ही ऐसा देखनेमें आया है कि जब श्रीपोद्दार महाराज भावाविष्ट होते थे, तो श्रीराधाबाबाको हम लोग प्राय प्रकृतिस्थ और सहज पाते थे एव जब श्रीराधाबाबा भावदशामे देहज्ञानशून्य अवस्थाको पहुँचे होते तो श्रीपोद्दार महाराज प्रायः प्रकृतिस्थ एवं होशमें रहते। एकबार ऐसी घटना हुई कि श्रीपोद्दार महाराज लगातार पॉच दिनतक बाह्यज्ञानविरहित रहे। जब लगातार उनके द्वारा अन्न एव जल भी नहीं ग्रहण हुआ, तो अ.सौ. माताजी(श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी) को बहुत ही चिन्ता हुई । क्या पता उनकी भावसमाधि कहीं महासमाधिमे परिवर्तित नहीं हो जाय, इस चिन्ताको लेकर वे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके पास आयीं। पू.गुरुदवने उनसे हॅसते हुए कहा – "चल मैया ! अभी पोद्दार महाराजको उठा देता हूँ , परन्तु मॉ ! कलसे तू मुझे समाधिस्थ पायेगी। हम दोनोमेंसे एक क्रियाशील रहेगा, चाहे मैं रहूँ अथवा वे रहे।" इस समय भी यही स्थिति थी । श्रीपोद्दार महाराज पूर्ण प्रकृतिस्थ सबकुछ देखते-समझते हुए भी पूरे व्यावहारिक हो रहे थे और राधाबाबा भावसिन्धुके अतल सिन्धुमे हिलोरें ले रहे थे ।

श्रीराधाबाबाके सम्मुख चिन्मय जगत्का रासमण्डल पूर्णतया अवतरित था। मेरे पूर्वाश्रमके मामाके सम्मुख वे विगत दिवसका जो वर्णन कर रहे थे, वे ही शब्द यथास्मृति यहॉ दिये जा रहे हैं। पू. राधाबाबा कह रहे थे

"गोस्वामीजी ! रासमण्डलका जो चिन्मय चित्र उस समय मेरे सम्मुख व्यक्त हो रहा था, उसे वाणीके द्वारा कहा जाना असंभव है। यह नियम है, नेत्र देखकर पहले अपनी अनुभूति मनतक पहुँचाते हैं, तब मन वाणीके द्वारा उस नेत्रोकी बातको कहलाता है। प्रथमतया नेत्र ही यदि दृश्य-सुखमे रुद्ध हो जावे और उनकी बात मनतक पहुँच ही नहीं पावे तो मन वाणीको कथनके लिये कैसे अनुप्रेरित करेगा ? ओर नेत्रोके दृश्यकी सुखानुभूतिमे मन भी कहीं अवरुद्ध हो जाय तो भी वाणी कुछ कह नहीं सकती । फिर भी अब हो रही

स्मृतिके सस्कारानुसार इतना ही कह पा रहा हूँ कि चिन्मय जगत् ज्यो-का-त्यों हू-ब-हू व्यक्त हो उठा था। मेरे कथनसे उस दृश्यकी सागोपांगता वर्णन हो नहीं सकती, अतः उसकी समग्र पवित्रता, उसका सौन्दर्य, और उसकी विभुता सब मेरे वर्णन करनेसे नष्ट हो रही है, ऐसा मानकर मात्र कथ्य सुनना चाहें तो भले ही सुन लीजिये । गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराजमे अपूर्व सामर्थ्य है, वे चाहें तो किसी भी क्षण किसीको उन्मत्त भी कर सकते हैं और उन्मत्तको एक क्षणमें ही प्रकृतिस्थ कर सकते हैं। वे यदि मेरे पास बैठे नहीं होते, और मुझे सवरित रखनेके लिये मेरी गोदमे बारबार थपकी नहीं देते होते तो मेरी दशा सबके सम्मुख अवश्य ही हास्यास्पद हो उठती। वे ही मुझे पूरे सम्हाले भी थे, और अपूर्व रसास्वादन करा भी रहे थे । रासमण्डलका समग्र संचालन तो कल मेरे ही द्वारा मेरे संकल्पानुसार हो रहा था।"

"रासमण्डलमे मेरे संकल्पानुसार जैसे ही ठाकुरने प्रथमतया पुष्प प्रकीर्ण किये, मैने संकल्प किया अब ठाकुर सिंहासनासीन श्रीजीके चरणोमे पुष्पाजलि दे । बस, तत्क्षण ही ठाकुरने श्रीजीकी ओर अपना मुख कर लिया। मेरी ओर उसकी पीठ और लहराती चूडा नागिनकी तरह बल खा रही थी । एक ही क्षण पश्चात् ठाकुरने मेरी भावलीलाकी सागोपांग अनुकृति करते हुए श्रीजीके चरणोंमें अपने मयूरमुकुटकी कोर छुवायी और तब भ्रूभंगिमाओसे मधुरतम कटाक्षोकी वर्षा करता हुआ उन्हे निहारने लगा। गोस्वामीजी ! भ्रूभगिमाओका ऐसा नर्तन कुशल-से-कुशल नृत्यकार भी नहीं कर सकता, यह कटाक्ष-वर्षा मात्र चिन्मय भाव जगतमें ही सभव है, परन्तु मैं चकित था कि यह साधारण ब्रजवासी किशोर कैसे कटाक्ष-मालाका निर्माण अपने भ्रूसंचालन से कर पा रहा है।"

पू.गुरुदेवने तत्क्षण ही रासमण्डलके चारों ओर दृष्टिपात किया। श्रीघनश्यामदासजीकी छतके चतुर्दिक् तो दूसरे अन्य लोगोके मकान थे। वहाँ सघन सुरम्य वन तो दिखना सभव ही नहीं था। परन्तु पू.गुरुदेवको चतुर्दिक् परम सुरम्य वन दृष्टिगोचर हो रहा था। निशा भी राकाशशिसे पूर्णतया उद्भासित हो रही थी। सुरम्य परम सुन्दर वन वृक्षो पर कहीं अगणित शुक, कहीं पक्तिबद्ध सारिकाये, कहीं कोकिलाएँ ही कोकिलाएँ , कहीं मयूर विराजित थे। सभी विहंगम शान्त उत्फुल्ल पख आनन्दविभोर थे। यह सब दृश्य-परिवर्तन पू.गुरुदेवको चकित कर रहा था।

सहसा उन्होंने संकल्प किया कि आज ठाकुरको पदकी तीसरी पंक्तिसे प्रारंभ कर **"बन्यौ मोरमुकुट नटवरवपु"** पदगायन करना चाहिये। ठाकुरने ठीक वही किया। अपनी सहज चंचलतासे आँखें नचाता हुआ पहले तो बालक घनश्याम जो ठाकुर वेषमें था, श्रीराधाबाबाकी ओर मंद मुसकान बिखेरता रहा, तत्पश्चात् अपने अग्रज श्रीरामजी, जो हारमोनियम लिये रास-सचालन कर रहे थे, और हरिवल्लभजी कीर्तनिया, जो मुख्य गायक थे और सारगी लिये थे, दोनोंके पास पहुँचा और उनको दरबारी कानडाकी धुन बजानेको प्रेरित कर गा उठा –

**कर-पद भूषण अनूप, कोटि मदनमोहन रूप,**
**अद्भुत वदन चन्द्र देख गोपी भूली पलकें... ...**
**बन्यौ मोरमुकुट नटवरवपु कमलनयन श्यामसुन्दर**
**बाँकी भौंह, टेढ़ी पाग, घुँघरवारी अलकैं ... ...**

श्रीराधाबाबा पुनः किसी दूसरे लोकमें ही डूब गये थे। उनके नेत्रोंसे यह जगत सर्वथा तिरोहित हो चुका था। उन्होंने श्रीपोद्दार महाराजकी ओर देखा – वहाँ उनके स्थानपर उनके इष्ट ही मयूरमुकुटी वंशीधारी वेषमें विराजित थे, जितने दर्शक थे, सभी श्यामसुन्दर रूपमें ही उन्हें दृष्टिगोचर हो रहे थे। चिन्मय जगतके रासमण्डलमें ललिता एवं मधुमती मञ्जरीकी सुकोमलतम अंगुलियाँ वीणाके तारोंको झंकृत कर रही थीं। श्री तुंगविद्याजीकी कमलदल-सी हथेलियाँ मृदंगमें थाप दे रही थीं, उसकी सुकोमलतम किसलयके समान अगुलियाँ मृदगवादनमे थिरक रही थीं । इन्दुलेखाके चरण घुँघुरुओंकी झंकार कर रहे थे । श्री राधाबाबाने संकल्प किया आज तो इन्दुलेखाके नेतृत्त्वमें सखियोंका नृत्य प्रारंभ होना चाहिये ।

पू.गुरुदेवके संकल्प करते ही इन्दुलेखा बना एक शिशु बालक उठा और उसने सबके आगे आकर विलक्षण प्रीतिभगिमाओं सहित थिरकना प्रारंभ कर दिया। पू.श्रीगुरुदेव तो नृत्यकलाके अति उत्कृष्ट कलाकार थे और अतिशय पारखी भी थे, इन ब्रजवासी बालकोंमें, जो शास्त्रीय नृत्यकलाकी शिक्षा भी ग्रहण नहीं किये थे, ऐसी उत्कृष्ट कलाकी अभिव्यक्ति देखकर मुग्ध हो उठे थे। वह इन्दुलेखा बना अतिशय छोटा बालक जिसे अभी नृत्यके अभ्यासके लिये भाव-प्रौढत्व भी प्राप्त नहीं हुआ था, ऐसी उत्कृष्ट कलाका प्रदर्शन कर रहा था कि सभी दर्शक वाह-वाह कर रहे थे।

अब श्रीराधाबाबाने संकल्प किया कि मेरे भावानुसार तो प्रिया-प्रियतम स्वरूपधारी दोनो बालकोंको चालक एवं चारी नृत्य प्रस्तुत करना चाहिये। पू. गुरुदेवके मनमें ऐसा विचार आते ही तुरन्त रास-समाजकी सखियोंने घेरा बना लिया और प्रिया-प्रियतम बने बालक चालक एव चारी नृत्य प्रस्तुत करने लगे।

श्रीराधाबाबा चकित थे। सर्वेन्द्रिय मनोहारी श्रृंगारमयी कल्लोलिनीकी धारा सर्वत्र प्रवहमान थी।

इस प्रकार इन अनेक दिनोंमें पू.गुरुदेवने नौ-दस प्रकारसे मन-ही -मन परीक्षायें लीं और प्रत्येक बार श्रीगुरुदेवको अपने आनुगत्यसे चकित करता हुआ ठाकुर उनके मनोगत सकल्पानुसार सारी लीला सम्पादन करता रहा। इन दिनों तो लीलाके समस्त पात्र उनके संकल्पानुसार ही कार्य कर रहे थे। इन दिनो रासलीला सम्पूर्णकर जब श्रीराधाबाबा, श्रीपोद्दार महाराजके साथ अपने निवास लौटते, तो उनकी विलक्षण भाव-दशा रहती थी ।

----

# पू.गुरुदेवकी शय्यापर अपूर्व चिन्मय सज्जा

श्रीराधाबाबा, श्रीपोद्दार महाराज एवं श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी महाराजका प्रतिदिन रासदर्शन करने आना और इन सभी महापुरुषोंके मुखमण्डलोपर प्रतिदिवस ही परम दिव्य सात्विक अष्ट-विकारोंका प्रादुर्भाव और विकास देख-देखकर समग्र रासमण्डलीवालोका मन इन विभूतियोपर श्रद्धान्वित हो उठा था। फिर रासमण्डलीवाले ऐसा भी अनुभव कर रहे थे कि अधिकांश दर्शक इन तीनोंके प्रति अतिशय आत्मीयतासे परिपूर्ण हैं एवं इनके प्रति सभी पर्याप्त श्रद्धा और आदर भी रखते हैं अतः एक दिवस बिना कोई निमंत्रण पाय सभी रासमण्डलीवालोने इनके निवास गीतावाटिका जानेका निर्णय ले लिया, श्रीठकुरी बाबूका एतदर्थ गीतावाटिका फोन भी चला गया। भाई रामदासके द्वारा सादर निमंत्रण पानेसे श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी एवं उनकी पुत्री सावित्रीबाई भी प्रतिदिन ही रासदर्शन करने पहुँच ही रही थीं । श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी तो ब्राह्मणसेवी होनेसे मण्डलीको भोजन करानेकी भी रुचि रखती थीं, परन्तु क्योकि गीतावाटिका, जहाँ पू.पोद्दार महाराज निवास करते थे, श्रीसेठजीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी और श्रीसेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) रासलीलाके विरोधी थे, उन्होंने संकोचवश मण्डलीको भोजनार्थ

नहीं बुलाया था। जब श्रीठकुरीबाबूके यहाँसे रासमण्डलीका बिना निमन्त्रण दिये ही स्वतः आगमनका समाचार अ.सौ. माताजीको मिला तो घरमे सभीको उत्साह और आनन्द ही हुआ।

श्रीठकुरीबाबूके पा घोडेकी एक टमटम (बग्घी) थी। अत. उसी दिन मध्याहमे भोजनोपरान्त लगभग दो-तीन बजे सभी स्वरूपोसहित मण्डली टमटमपर चढकर वाटिका पहुँची ।

श्रीपोद्दार महाराज गीतावाटिकामे बने उनके निवास(कोठी)के ऊपरी भागमें अपना कल्याण-पत्रिकाका सम्पादनकार्य करते थे। सभी मण्डलीके परिकर टमटम (बग्घी)से उतरकर श्रीपोद्दार महाराजके कमरेमें चले गये। ठाकुरस्वरूप बननेवाले बालक घनश्याम और श्रीजीका स्वरूप धारण करनेवाले बालक कुञ्जबिहारी – दोनोंके आकर्षणके मुख्य केन्द्र श्रीराधाबाबा थे, अतः ये दोनो बालक मण्डलीके सभी समाजियोंसे पृथक् होकर चुपचाप, किसीको भी बिना बताये, श्रीराधाबाबा कहाँ रहते है, यह पूछते हुए उनकी कुटियाकी ओर अग्रसर हो गये। श्रीराधाबाबाकी कुटिया श्रीपोद्दार महाराजकी कोठी(निवास)के पिछवाड़े बनक्षेत्रमें अति एकान्तमे थी ।

यह वही वनक्षेत्र था, जिसमें श्रीपोद्दार महाराज देवर्षि नारद एवं अंगिराऋषिसे वार्त्तालाप कर चुके थे। उन दिनो उस वनक्षेत्रका वातावरण इतना शन्त, सात्विक था कि उस क्षेत्रमे प्रवेश करनेवाला कोई भी व्यक्ति उस देवोत्तम स्थानसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता था। फिर एकाकी, लीची एव अमरूदादि घने वन-वृक्षोसे घिरी, दीमकलगे किवाडोसे युक्त, जर्जरित, राधाबाबाकी कुटिया तो पूर्णतया उनके आराध्य, विशुद्ध सत्वक सार श्रीराधा-माधवके प्यारका प्रासाद ही थी। प्यार तो टूटे-फूटे एकाकी वन-वृक्षोके तले निर्मित भग्न गृहोमे ही पलता है। वैकुण्ठ एव ब्रह्मलोकका वैभव इन स्थानोकी तुलनामे निर्मञ्छन कर फेक देनेके तुल्य ही प्रतीत होता है। बालक घनश्याम और श्रीजी बननेवाले बालक, दोनोने चुपचाप कुटियाके पिछवाडेमे बनी एक गवाक्षिकासे झाँककर देखा – पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा अपनी कुटियामें लेटे लेटे ही जप कर रहे थे । उनके दक्षिण हाथमे तुलसीकी माला थी और वाम हस्तमे मालाओकी गिनती करनेके लिये कमलाक्षकी माला थी । पू गुरुदेवके नेत्रोंसे टप-टप स्नेहाश्रु झर रहे थे। नयनोसे झरते अश्रुविन्दुओंने उनके मस्तकको आधार देनेवाले उपधान (तकिये) के अर्धभागको पूरा गीला कर दिया था।

ठाकुर घनश्याम, श्रीकिशोरी बननेवाले बालक – कुञ्जबिहारीको पू.राधा-बाबाकी वह अलौकिक प्रेमभरी छवि दिखाने लगा। कुछ क्षण तो दोनों ही बालक उस अति नेहिल छविको विस्मित हुए-से देखते रहे तत्पश्चात् दोनों ही उस कुटियाके मुख्यद्वारकी ओर चले आये ।

श्रीराधाबाबाकी यह एक विलक्षण सिद्धि ही थी कि वे परिचित-अपरिचित सभी व्यक्तियोको अपने-से-अपने लगते थे। इस सिद्धिका कारण जीवमात्रके प्रति उनका अतिशय विकसित आत्मभाव ही था। ब्रजभूमिसे समागत बालकद्वय भी पू.राधाबाबाकी इस आत्मभावनाके वर्त्तुलमें निस्संकोच प्रविष्ट हो गये और अपनी बालसुलभ चपलताका अति निस्संकोचभावसे प्रदर्शन करते हुए उनका निरुद्ध द्वार खटखटाने लगे । किसी साधननिरत साधुको इस प्रकार विक्षेप नहीं करना चाहिये इस शिष्टाचारकी भावनाको उनके भीतर उत्पन्न निस्संकोच प्रेम और आत्मभावने पूरा समावृत कर लिया था। उन्हें श्रीराधाबाबा श्रद्धाभाजन लग ही नहीं रहे थे । उनके लिये तो वे महात्मा थे ही नहीं, अपने-से-अपने आत्मीयजन बाबा थे, जिनसे वे निस्संकोच सहज चपल बाल-क्रीड़ा करनेका पूर्ण अधिकार रखते थे ।

पू. गुरुदेव उठे। उन्होंने हाथकी माला पूरी किये बिना ही तकियेके नीचे रखी। अश्रुसिक्त तकियेको एक लघु वस्त्रसे ढँका और अपने बहते अश्रु पौंछकर दरवाजा खोलनेको उद्यत हुए। पू.गुरुदेवने ज्योंही दरवाजा खोला बिना किसी पूर्व सूचनाके समागत दोनो बाल-अतिथि ठाकुर एवं ठकुरानीको सम्मुख पाकर चकित हो गये। कुटिया भी उनकी अति लघु ही थी। अतः दोनों बालकोंको अपने गेरुवे-वस्त्रावृत पट्टेपर ही उन्हें आसीन कराना पड़ा । वे स्वयं नीचे भूमिपर ही उनके चरणोंमें बैठ गये। युगल बाल-स्वरूपोंके मनमें तो किसी भी प्रकारके संकोचका कोई प्रश्न ही नहीं था वे दोनों निस्संकोच पू. गुरुदेवके शय्या पट्टपर बालचापल्य करने लगे ।

पू.श्रीगुरुदेवके पास सुगन्धित पुष्पोंके सुन्दर गूँथे हुए दो हार रखे थे । उन्होने एक पुष्पहार ठाकुर बननेवाले बालकको एवं दूसरा पुष्पहार श्रीजी बननेवाले बालकको पहना दिया।

श्रीराधाबाबाकी दृष्टिमें तो दोनों बालक प्राकृत ब्रजभूमिके किसी ब्रजवासी ब्राह्मण गृहस्थकी कामज सन्तान थे नहीं, उन्हें तो वे उनके परमा-राध्य तत्वकी पूर्ण सग्राहक दो विभूतियाँ ही प्रतीत हो रहीं थीं।

कहते हैं कि सर्वप्रथम ब्राह्मण ब्रजवासी बालकोंद्वारा रासाभिनयका प्रारम्भ अनन्य-रसिकाचार्य स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज द्वारा कराया गया था। किंवदन्ती तो यही है कि स्वामीजी इन स्वरूपधारी ब्रजवासी बालकोंको अनादि, अनन्त, अजन्मा, साक्षात् कुञ्जबिहारी एवं निकुञ्जबिहारिन स्वामिनीजी ही समझा करते थे । वे इन्हें दिव्य चिन्मय प्रेम-पुत्तलिकायें मानकर स्वयं इनकी सहचरी होकर इनके नित्य विहारसुखसिन्धुमें डूबे रहते थे । हरिदास स्वामीजी श्रीललिता सखीके अंशरूपमें अवतरित माने जाते थे । उनकी निष्ठाको लेकर आज भी वृन्दावनमें निधिवनमें प्रतिदिन रास होता है ।

इसी परपराका पालन करते हुए श्रीवीठलविपुलजी भी जो स्वामी श्रीहरिदासजीके प्रमुख शिष्य थे, इन ब्रजवासी रासाभिनय करनेवाले बालकोंमे चिन्मय भाव ही रखते थे। ये निधिवन(वृन्दावन) में रहते और श्यामाश्यामके नित्य विहारसुखमें ही तल्लीन रहते । अपने गुरु स्वामी श्रीहरिदासजीके नित्यलीलाप्रवेशपर इन्हें असह्य विरहवेदना हुई। इन्होंने अन्न-जल त्यागकर मौन धारण कर लिया और संसार-दर्शनका निषेध करते हुए अपनी ऑखोंमें पट्टी बॉध ली। ये स्वामीजी श्रीहरिदासजीके पश्चात् सम्प्रदायके प्रथम आचार्य हुए हैं।

इस सम्बन्धमें ब्रजवासी भक्तोंमें यह सवैया कहा जाता है:–

**स्वामी हरिदास बिनु भयो है वियोग भारी**
**भूल गये खान-पान महा खेद पायो जू**
**बॉधि लईं ऑखैं अभिलाषै कबै जाय मिलौं**
**छाय रह्यौ प्रेम उर बोलिबो गमायो जू ।।**
**बिट्ठल बिपुल नाम तिनकी निहार गति**
**चकित चकोर चित सोचमें समायो जू।।**

श्रीबीठलविपुलजीकी ऐसी दशा देख सन्त-समाजमें खलबली मच गयी। सबने मिलकर उनका यह मरणव्रत छुडानेकी योजना बनायी। रासानुकृति करनेवाली ब्रजवासीमण्डलीको आमंत्रित किया गया। श्रीवीठलविपुलजीको रासदर्शन करनेके लिये आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया गया। वे सभी सन्तोका अतिशय आग्रह देख रास-दर्शनार्थ पधारे। रास प्रारंभ हुआ। पूर्व निर्धारित योजनानुसार रासलीलामें बनी स्वामिनीजी नृत्य करती-करती वीठलविपुलजीके पास पहुँची। सन्तोकी सिखावनके अनुसार उन्होने उनका हाथ पकडकर

कहा "बाबाजी ! नेत्र खोलो, मेरे दर्शन करो।"

स्वामी वीठलविपुलजी स्वामिनीजीकी आज्ञाका उल्लंघन भला कैसे करते ? उनकी पट्टी जैसे ही खुली, उन्हे उसी रास-धारी ब्रजवासी बालकमें साक्षात् स्वामिनीजीके दर्शन हुए, साथ ही सखी ललितावेषधारी स्वामी श्रीहरिदासजीके भी उन्हें वहीं दर्शन हुए जो स्वामिनीजीके पार्श्वमें ही उनकी सेवामें नियुक्त थे। साक्षात् स्वामिनीजी एव गुरुदेव दोनोंको ही अपने सम्मुख पाकर उनके मुखसे इतना ही निकला :

**करुणानिधि मम स्वामिनी तुम पकर्‍यौ मम हाथ।**
**अब अतिशय करुणामयी राखौ अपने साथ।।**

कहते हैं, तत्क्षण ही स्वामिनीजी उन्हें अपने साथ ही भावदेहसे निकुञ्जमे लिवा ले गयीं । वैष्णवोंको उनके निर्जीव शरीरकी ही प्राप्ति हुई ।

श्रीसन्तप्रवर रससागर प्रियादास महाराज कहते है–

**स्वामी हरिदासजी को दास नाम वीठल है**
**गुरु सौं वियोग दाह उपज्यौ अपार है।**
**रासके समाजमें विराजे सब भक्तराज**
**बोलिकै पठाये, आये आज्ञा बडे भार है।।**
**युगल स्वरूप अवलोकि नाना नृत्यभेद**
**गान-तान सुनि कान रही ना सँभार है।।**
**मिलि गये वाही ठौर पायौ भावतन और**
**कहे रस-सागर सो ताको यो विचार है।।**

इसी प्रकार वृन्दावनके अन्य रसिक सम्प्रदायोंमे भी रासाभिनय करनेवाले बालकोके प्रति साक्षात् प्रिया प्रियतम भाव ही रहा है । श्रीहरिराम व्यासदेवजी श्रीहितहरिवंशजीके शिष्य थे। ये युगलकिशोर श्रीराधावल्लभजीकी सेवामें आठो प्रहर तल्लीन रहते और उन्हें अनेकों सात्विक श्रृंगारभावोंसे लाड लड़ाते। ये भी रासलीलाभिनयदर्शनके अनन्य रसिक थे। उनकी निम्न उक्ति इसका प्रमाण है:–

**नैन न मूँदै ध्यानकौं करै न अंगन न्यास ।**
**नाच गाय रासहिं मिलै बसि वृन्दावन बास ।।**

एक बार व्यासदेवजी रासलीलादर्शन कर रहे थे। रासमें नृत्य करते-करते राधारानीके चरणोंका एक नूपुर निकल गया। श्रीव्यासदेवजी भावनिमग्न थे ।

उन्हें तो रासधारी बालकके रूपमें साक्षात् चिन्मय श्रीराधाकृष्ण ही दिख रहे थे। वे अतिशय भावावेशमें नूपुर बाँधनेको उठे। उन्हें डोरा कहाँसे मिलता। उन्होंने अपना यज्ञोपवीत तोड़ा और उससे वह नूपुर बाँध दिया। वैदिक धर्म और सामाजिक रीतिनीतिके प्रतीक उस यज्ञोपवीतको श्रीराधारानीके चरणोंमें समर्पित करनेकी निष्ठासे श्रीराधारानीने उन्हें रासेश्वरीके रूपमें तत्क्षण ही दर्शन दे दिये ।

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा इन दोनों ठाकुर एवं श्रीजीका वेष धारण करनेवाले बालकोंको अपने शय्या-पट्ट पर बिठाकर और स्वयं उनके चरण प्रान्तमें बैठकर इन्हीं पुरातन वैष्णवाचार्योंकी रास-निष्ठाके गहन विचारोंमें डूबे थे। कितना समय व्यतीत हो गया, उन्हें ज्ञान ही नहीं रहा। इधर मण्डलीके सभी समाजी पोद्दार महाराजके पास बैठे दोनों स्वरूपोंकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अत उन्होंने पू. गुरुदेवको भी वहीं बुलानेके लिये सन्देश भेज दिया। पू.गुरुदेव सन्देश पाकर तुरन्त त्वरित हो, खडे हो गये और रासधारी दोनो बालकोंको लेकर पोद्दार महाराजके कमरेकी ओर चल पड़े। दोनो बालकोंमें स्वाभाविक चंचलता तो थी ही। वे अपनेको पहनाये गये गजरोंको वहीं पू.गुरुदेवके शय्या-पट्टपर छोड उनके साथ हो लिये। कुछ क्षण तो बालकोंने पू.गुरुदेवका अनुगमन किया तत्पश्चात् पुनः उन्हें छोड़कर उनकी कुटियामे अकेले ही चले गये। इन दोनों बालकोने पुन: कुटियामें आकर उन दोनों गजरोंको श्रीराधा-बाबाके शय्यापट्टपर इस कलात्मक रीतिसे सजाया कि देखनेवाला आश्चर्यचकित हो उठे। इस प्रकार दोनों गजरोंसे श्रीगुरुदेवका शय्यापट्ट सजाकर कुटियाके पट यथावत् बन्दकर दोनों ही अपने संगी-साथियोंसे आ मिले।

श्रीपोद्दार महाराज तो रासधारियोंका सत्कार करनेके लिये ही पू.राधा बाबाको और दोनों स्वरूपोको स्मरण कर रहे थे, अतः जैसे ही वे वहाँ उनके पास पहुँचे रासधारियोंका चरणपूजन एवं सत्कार प्रारंभ होगया। सभी स्वरूपोंको यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सम्मान देकर उन्हें बिदाई दे दी गयी । बचे लोग अपनी बर्ध्दीपर बैठकर अपने डेरेपर वापस लौट गये।

स्वरूपोके बिदा होते ही पू.गुरुदेव अपनी कुटियापर पहुँचे। उनकी दृष्टि अपने शय्यापट्टपर स्वाभाविक ही गयी। वे शय्यापट्टपर किया गया श्रृंगार देख आश्चर्यचकित थे।

पू.राधाबाबाने अपने भावराज्यमें आज निकुञ्जमें स्वयं अपने हाथों

श्रीयुगलसरकारका पुष्पाभरणोंसे जो श्रृंगार किया था, जिस भाँतिसे उनकी शय्या निर्माण की थी! उस भावशय्यामें प्रिया-प्रियतमको आसीनकर पुष्पमालाओंसे उनकी जैसी सज्जा की थी, हू ब-हू वही छवि यहाँ उनके नेत्रोंका दृश्य बन रही थी। कहीं किसी भी अंशमें कोई त्रुटि नहीं रही थी। इन दोनों ब्रजवासी बालकोको उनके भावजगत्का क्या पूरा-पूरा ज्ञान है ? क्या ये सचमुच ही अन्तर्यामी हैं ? क्या ये ब्रजवासी बालक न होकर सचमुच ही सर्वनियन्ता मेरे आराध्य श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीराधा ही हैं ? क्या सचमुच ही मेरे आराध्यका आत्मप्रकाश इन बालकोंमें हो रहा है ? मेरा भावजगत तो परम चिन्मय है, मायिकसृष्टिमे उसकी अभिव्यक्ति तो असभव है, फिर मेरी इस प्राकृत कुटिया और शय्यापट्टपर यह चिन्मय जगत्का उन्मेष कैसे मेरा दृश्य बन रहा है ? मैंने अपने भावजगतमें चिन्मय वृन्दावनके जिन पुष्पोंके सुगुम्फनसे जो अति रसमयी सुष्ठु आकृति बनायी थी, प्रथमतया तो उसकी प्राकृत अनुकृति ही संभव नहीं है, फिर इन दोनों ब्रजवासी बालकों द्वारा निर्मित इस कलाकृतिसे मेरे भावजगतकी मालाओंका सर्वांशतः साम्य कैसे संभव हुआ ? इन बालकोंको मेरे भावका ज्ञान ही कैसे हुआ ? और उन्होने एक पखुडीकी भी भूल न कर ठीक यह संरचना कैसे कर डाली ? मेरे भाव-वृन्दावनके पुष्प तो आनन्दात्मक, चिदात्मक हैं। वहाँका तो सबकुछ ही सर्वथा विशुद्ध, अपने कारणसे अभिन्न, अनिर्वचनीय है। फिर इन ब्रजवासी प्राकृत बालकोंने मेरे अप्राकृत भावसृजनका ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया और उसकी अनुकृति कैसे कर डाली ?

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा इन विचारोंमें बहते-बहते जड़वत् खड़े-के-खडे रह गये। उन्हें दो वर्ष पूर्वकी स्मृति हो आयी। उनके आराध्य भगवान् श्रीकृष्णने आजके ठीक दो वर्ष पूर्व उन्हें प्रभातकालीन ध्यानमें कहा था –"**मैं लगभग दो वर्ष पश्चात् तेरे पास रासके ब्रजवासी ठाकुरमें उन्मिषित होकर आऊँगा।**" पू. गुरुदेवको उनके शय्यापट्टपर निर्माण की गयी पुष्पमालाओंकी सुसज्जा-शैली यही स्मृति करा रही थी ।

--------------

# सबसे पहले आप मेरे कपोलपर चपत लगावें

रासका ठाकुर बालक घनश्याम श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको दादाजी कहता है। आज उसके दादाजीके यहाँ सभी मण्डलीका भोजन-निमन्त्रण है। सभी ब्रजवासी मण्डलीमें उत्साह है। इधर श्रीगोस्वामीजीकी पत्नीने रात्रिपर्यन्त जागकर पक्वान्न निर्माण किये हैं । गोस्वामीजीने भी उत्साहपूर्वक अपने घरको कदलीखम्भोंसे सज्जित किया है। ऑगनमें बन्दनवारें बाँधी हैं । प्रातःसे ही गृहद्वारपर तोरण सजानेमें सभी इष्टमित्र संलग्न हैं। प्रातः होते ही स्वर्णिम रविरश्मियोंने श्रीगोस्वामीजीके घरको ज्योंही आलोकित किया, वे भी आनन्दोल्लासमें भर उठीं ।

कदली-स्तभ, मगलघट, बन्दनवारों एवं पल्लव-पुष्पोंसे ही सारे घरको मानो भर दिया गया है। गोस्वामीजीकी पत्नीका मन रोम-रोमसे उल्लसित है। वह पाक-रचनामें रात्रिभरसे लगी है।

"आज मेरा जन्मधारण सफल हो गया। मेरे नेत्र भी सफल हैं। मेरा कुल, मेरी विद्या, मेरी सभी पुण्यराशिका फल मुझे प्राप्त हो गया। मेरा सारा परिवार कृतार्थ हो गया। अपने पुरुषार्थसे नहीं, मेरे अग्रज धर्मभ्राता भाईजी श्रीपोद्दार महाराजके सगने मुझे सर्वथा कृतार्थ बना डाला। मेरे घरपर आज वे बालक भोजन-प्रसाद ग्रहण करेगे, जिन्होंने रासलीलानुकरण करके प.पू. श्रीराधाबाबा एवं स्वयं श्रीपोद्दार महाराज जैसे पुण्यपुरुष सन्तोंको भावविभोर कर दिया और मुझे भी अलौकिक चिज्ज्योतिके दर्शनसे कृतकृत्य कर दिया।"

"जिस बालकमें अनादि मोहान्धकारको सर्वथा नष्ट कर देनेवाले विशुद्ध ब्रह्मरूप अंकुरका उन्मेष होता है, जिसपर मेरे गुरुतुल्य पू.राधाबाबाके इष्ट मूर्त होजाते हैं, जो उनके इष्ट साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके पूर्व निर्देशानुसार हम सबको दर्शन देकर कृतार्थ करने ब्रजप्रदेशसे यहाँ गोरखपुर आया है, जिसका मानस इतना पवित्र है कि संतोद्धोषित परम आनन्द सुधा-सागरका उद्गमस्थल जिसमें लीलायमान हो उठता है, जो बालक यंत्रवत् श्रीराधाबाबाके मानस संकल्पोंको अपने लीला-आचरणोंमें अवतरित कर देता है

ओह ! वह आज मेरे घरपर अपना प्रसाद बिखेरेगा !"

परम श्रद्धापूत अन्त करणधारी श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी इन्हीं विचारोंमें डूबे, उन पावनतम क्षणोंकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब स्वरूपधारी सभी बालकोंके चरण-प्रक्षालनकर, चरणोदक ग्रहणकर, ये कृतकृत्य हो उठेगे।

इधर तो श्रीगोस्वामीजी उत्सवावेशमें रात्रिभर विलक्षण भावदशामें स्थित रहे, उधर ठाकुर बननेवाला बालक धनश्याम भी निशापर्यन्त विलक्षण प्रेमदशामें विभोर रहा है । उसे रात्रिभर स्वप्न भी अपने 'दादाजी'के ही आते रहे हैं। अपने 'दादाजी'के पास पहुँचनेको बालक घनश्याम आतुर है। स्नेह चाहे सर्वथा ही निराविल, पूर्णतया निरपेक्ष ही क्यों न हो, स्नेहास्पदको आकर्षित तो करता ही है। बालक घनश्यामको दादाजीके स्नेहने मध्याह्नके पूर्व ही क्षुधातुर कर दिया है। मण्डलीवाले शीघ्र स्नान करें, अपने भालपर शीघ्र तिलक-छाप लगावें और ठकुरीबाबूके प्रागणके कोनेपर पडी बघ्घीपर शीघ्रातिशीघ्र सवार होकर गीतावाटिका प्रस्थान करे, उसे यही त्वरा है। वह बार-बार झुँझलाता है, बघ्घीके अश्ववाहकको शीघ्र आनेका सन्देश भेजता है, परन्तु उसकी इस त्वराका दूसरे अन्य सदस्योंपर अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं देख, वह झुँझलाता है। अन्ततः उसकी मनोदशापर स्वय भगवती लीलाशक्ति योगमायाको कान देने पडते हैं, ब्रजवासी रासधारियोंको शीघ्र भिजवाने संबंधी फोन गीतावाटिकासे आ जाता है ।

ठकुरीबाबूकी बग्घी तो जैसी है, वैसी ही है, परन्तु आज उनके पुत्रने उस बग्घीपर नवीन तूलपुष्ट आस्तरण(रूईभरा तोषक) लगा दिया है। तोषकके चारों ओर सेमररूईसे भराये हुए उपधान(तकिये) भी लगे हैं । श्वेत रेशमी चादर उस टमटमपर बिछायी गयी है, जो अतिशय सुन्दर फब रही है। घोड़ेकी लगाम भी रेशमकी लाल डोरीसे गूँथकर निर्मित करायी है। इसी बग्घीपर कौमारवयके मण्डलीके सभी परिकर बैठ जाते हैं, स्वामी और समाजी लोगोंके लिये बगीचेसे 'नैश' विदेशी मोटरगाड़ी भेजी गयी है। स्वामी श्रीरामजी सभी बालकोंको संयत रहने और शैशवजन्य उत्पात नहीं करनेका निर्देश देकर बग्घीको आगे बढाते हैं । सभी सोल्लास वायुकी लहरकी तरह शीघ्र ही बगीचे पहुँच जाते हैं और तब श्रीगोस्वामीजीके गृहप्रांगणकी ओर चल पड़ते हैं ।

गृहद्वारपर ही गोस्वामीजी ब्राह्मणोचित मर्यादाका पालन करते हुए

आम्रपल्लवयुक्त रजतघट लेकर सभी मण्डलीका वेदमन्त्रोंसे स्वस्त्ययन करते हैं और अपने पूजाके कमरेमे सभीको आसन देकर बैठाते हैं। क्रमशः सभीका पूजन होता है। वे अपने हाथो सभीके चरण प्रक्षालन करते हैं, और चरणोदकको सभी कुटुम्बीजनोमें वितरण करते हैं ।

इस प्रकार भोजनोपरान्त वस्त्राभरण समर्पित कर गोस्वामीजीके घरसे स्वरूपोंको बिदा कर दिया जाता है। विदाई बेला भी अभूतपूर्व होती है। पू. राधाबाबाकी छोटी मैया(श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीकी धर्मपत्नी ) दोनों स्वरूप श्रीराधा एव श्रीकृष्णको अपनी गोदमें बैठाकर आरती करवाती हैं। सभी मोहल्लेकी स्त्रियॉ मंगलगीत गाती हैं। तुमुल जयध्वनि होती है। उस अपूर्व प्यारभरे सम्मेलनका दृश्य देखकर उस समय हम सभीके तो पलक पडने ही बन्द हो जाते हैं। हम सभी देखरहे थे –

"दोनों ही राधाकृष्ण बननेवाले बालक परस्पर नेत्र मिलाये अभूतपूर्व सुन्दर लग रहे थे। श्रीगोस्वामीजीकी धर्मपत्नीका कलेवर भी प्रेमावेशसे निस्पन्द था। उसके एव गोस्वामीजीके नेत्रकोण अश्रुपूरित थे। वास्तवमें तो दोनों वात्सल्य-सघनमूर्ति दम्पतीका प्रेम-विगलित चित्त ही अश्रुमिषसे नेत्रोंके द्वारा प्रवाहित हो रहा था और बाह्यवक्षको भिगो रहा था। यों, होना तो चाहिये था श्रीकृष्ण स्वरूपको काला और राधास्वरूपको गोरा, परन्तु वस्तुतः श्रीकृष्ण बननेवाला बालक घनश्याम गोरा था और राधा बननेवाला बालक कुञ्जबिहारी किंचित् कृष्णवर्ण(सॉवला) था। उस समय इन दोनों स्वरूपोमें सभीको ऐसी प्रेमासक्ति और प्रेमावेश अनुभव हो रहा था कि यही लगता था मानों सबसे बड़ा निबन्धन यदि विश्वमें कुछ है तो वह प्रेमबन्धन ही है।"

इस नेहोत्सवका समापन होते-होते अपराह्न हो चला। ठाकुर रात्रिभरका जगा था, अतः उसे निद्रा सता रही थी। वह शीघ्र ही अपने निवास चला जाना चाहता था। अतः गीतावाटिका आकर वह तत्क्षण ही बग्घीपर आसीन हो गया। ठाकुरके बग्घीपर बैठते ही सभी स्वरूप बननेवाले बालक भी बग्घीपर बैठ गये। परन्तु अबतक श्रीजीके स्वरूप बग्घीपर नहीं आये थे। समाजी, स्वामी श्रीरामजी एवं अन्य कीर्तनिया मृदंगवादकादि तो मोटरसे पहले ही चले गये थे। ठाकुर और स्वरूपोंको सायं पुनः रास करना है, अतः उन्हें विश्रामकी भी आवश्यकता थी। परन्तु सभीके जा पानेमें श्रीजीके नहीं होने से विलम्ब हो रहा था। ढूँढ़नेपर पता चला कि श्रीजी-स्वरूप श्रीराधाबाबाके पास कुटियामें

आसीन है। वह पू. गुरुदेवसे प्रेमालाप कर रहा था। बालक घनश्यामको पहले तो यही अच्छा नहीं लगा कि श्रीजी अकेले ही राधाबाबाके पास क्यों चले गये ? दूसरे उसके बुलानेपर भी वे पुनः तुरन्त क्यों नहीं वापस आ रहे हैं। उसमें बालोचित अधिकारभावना बलवती हो उठी थी। उसने त्वरा करते हुए दो-तीन बार श्रीजी बननेवाले बालकको बुलाया। इसके उपरान्त भी जब वह बालक नहीं आया तो ठाकुर बननेवाले बालक घनश्याममें तमतमाहट आगयी ।

पू.गुरुदेवसे वार्ता करते हुए श्रीजी बननेवाले बालकमे इतनी नेह-रसतन्मयता थी कि पू. गुरुदेव उसे जाने नहीं दे रहे थे, और उसकी स्वयंकी उठनेकी इच्छा तनिक भी नहीं हो रही थी ।

इधर ठाकुरने रोषमें भरकर कहना प्रारभ कर दिया कि 'क्या श्रीजी राधाबाबाके घरकी हैं सो वे मेरे बुलानेके उपरान्त भी उसे आने नहीं देते ?' उसमें ठाकुरपनेका गर्व छलक आया था और साथ ही श्रीजीपर अपने अधिकारकी भावना भी।

यह सब हो ही रहा था कि श्रीजी बाबाके पाससे आ गये और सभी स्वरूप बग्घीसे निवास चले गये। उन स्वरूपोंके विदा होनेपर किसीने बालक घनश्यामका तमतमाना और उपयुक्त उक्ति कहनेकी बात पू.गुरुदेवसे कही। यह सब सुनकर पू. गुरुदेव विलक्षण भावधारामें डूब गये।

वे इसी ऊहापोहमें थे कि जब मेरे भावजगतके आराध्य श्रीकृष्ण ही इस ब्रजवासी ठाकुर-वेषधारी बालकके देहको यन्त्र बनाकर क्रियाशील हो रहे हैं, फिर इस बालकने ऐसी उच्छृंखल उक्ति कही ही कैसे ?

उन दिनों पू.गुरुदेव, श्रीजीकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा (अनगमञ्जरी)के भावमे रहते थे। कोई नहीं जानता था कि पू. राधाबाबाके चित्तके धरातलमें उफनती मधुरातिमधुरतम कैशोर चेष्टाओसे इस गीतावाटिका रूप ब्रजधरामे कैसी उफनती आनन्द-मन्दाकिनी प्रवाहित होती रही है। सम्पूर्ण बगीचेवासी, सम्पादकमण्डलमें कार्यरत व्यक्ति, दूर-दूरसे समागत श्रीपोद्दार महाराजके अतिथि, सभी तो उसमें अलक्षित रूपसे अवगाहन करके कृतार्थ होते रहे हैं। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा स्वय भी इस रसमन्दाकिनीके परमानन्द-वितरण-महोत्सवका अति रसभरा आस्वादन लेते हुए ईसवी सन् १९३९ तदनुसार वि.स.१९९६से ही क्रमश उत्तरोत्तर उल्लसित होते रहे हैं। अपने शिष्यके इस त्रिजगन्मंगलकारी परमानन्दवितरण महोत्सवमे हाथ बॅटानेके

लिये ही मानो पोद्दार महाराज स्वयं भी साथ हो लिये हैं । श्रीपोद्दार महाराज प्राकृत जगतके सम्मुख भले ही थुल-थुल तोंदिल वैश्यजातिके महानुभाव हों, परन्तु वस्तुत तो वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ-मानस-मन्थिनि श्रीराधारानी, श्रीजी ही हैं। इन साक्षात् श्रीजीके अष्टयाम छायावत् साथ रहनेवाली मञ्जुश्यामा – उनकी छोटी बहिन ही यदि श्रीजीके घरकी नहीं है तो फिर श्रीजीके घरका क्या ठाकुर ब्रजराजतनय है? श्रीजीपर जो उनकी अनुजाका अधिकार है, वह ब्रजराजतनयका कैसे हो सकता है ? आजतक तो यही हुआ है कि उनकी अग्रजा राधारानीकी कैशोर वयोचित भंगिमाओंको देखनेके लिये ठाकुर उनके चरणोंमे गिरकर सदा प्रार्थना करता आया है । मेरी भगिनीके घरकी मैं नहीं हूँ तो फिर क्या ठाकुर उसके घरका है ? क्या मेरी अग्रजा बहिनसे मेरी साधिकार अन्तरंगता ब्रजराजतनयसे छिपी है ? इस ठाकुर-वेष धारण करनेवाले ब्रजवासी बालकने, यदि सत्यांशमें यह मेरे आराध्य निकुञ्जेश्वरकी छाया लिये है, तो ऐसा उच्छृंखल आचरण कैसे किया ? मैं क्या मेरी सहोदरा बहिनके भी घरकी नहीं हूँ ? क्या मैं बृषभानु एवं कीर्तिदाकी पुत्री नहीं हूँ ? क्या मैं श्रीदाम भैयाकी सर्वाधिक लाडिली मजुरानी नहीं हूँ ? यदि इन सभी तथ्योंसे ठाकुर परिचित है,तो इस प्रकारकी उच्छृंखल वार्त्ता वह कैसे कर गया ?मेरे आराध्य श्रीकृष्ण तो कदापि ऐसा नहीं कह सकते । वे तो मेरे प्राणपति हैं। उन्हें तो पूरा पता है कि मेरी सहोदरा रानीपर मेरा कितना आन्तरिक अधिकार है ? ठीक है, नन्दतनय हम सभीके नयनतारा हैं, परन्तु मेरे एव मेरी अग्रजा रानीके प्राणोपम नैकट्यसे वे अनजान कैसे हो सकते हैं ?

पू. गुरुदेव बहुत कालतक तो इन्हीं विचारोंमें लहराते रहे, फिर उन्होंने निश्चय किया कि वे बालक घनश्यामसे मिलने जावेंगे और उसके सही आन्तरिक भावोंका स्वय पता लगावेंगे। हो सकता है, दूसरोके द्वारा कथनमें सत्य वस्तु नहीं उभर पायी हो। इसी ऊहापोहमें उस दिवस सायकालको वे रासलीलादर्शन करने भी नहीं जा पाये। रातमे भी वे इन्हीं विचारोंमें डूबे रहे। स्वप्नमें भी उन्हें अपने आराध्य श्रीकृष्णके दर्शन होते रहे। वे स्वप्नमें निशापर्यन्त देख रहे थे कि उनके प्रियतमके लीलामाधुर्यकी इयत्ता ही नहीं है। वे तो एक अनन्त असीम पारावार-विहीन प्रेमसुधा-सिन्धुके समान हैं, जिसमे उत्ताल तरंगे उठ रही हैं । तरंगें नाचती हैं और रासधारी ठाकुर बने बालक घनश्यामको अपने अञ्चलमें छिपा लेती हैं । फिर वहाँसे उन्मादिनीकी तरह

हँस हँस कर सभी दिशाओंमें फैल जाती हैं तथा तब सारे ब्रजपुरको, समस्त विश्वको प्लावित कर देती हैं ।

इन्हीं तरंगोसे सिक्त अपने हृदयमें अपने प्रियतम श्रीकृष्ण और प्रियतमा सहोदरा रानीके प्रतिबिम्बित चन्द्रमुखको निभृत निकुञ्जमें युगनद्ध बाहुयुगल मञ्जुश्यामाभावमें श्रीराधाबाबा अनवरत देखते, सोये रहे । आज एक प्रहरसे अधिक रात्रि अवशिष्ट थी, तभी वे जाग गये थे। वे स्नानादिसे निवृत्त होकर अपनी कुटियाके एक कोनेमें लगे आसनपर बैठ गये और भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी अर्चनामें सलग्न हो गये। आज एक प्रहर दिनतक वे पूजामें ही संलग्न रहे और उन्होने अपनी प्रात एवं मध्याह्न दोनों कालकी पूजा एक साथ ही सम्पन्न की ।

अब एक प्रहर दिन चढ आया था । अभी भी ब्रजवासी ठाकुरको अनुशासित करनेका भाव उनके मनसे नहीं हटा था। पू. गुरुदेवके मनमें बालक घनश्यामके सही अन्तरिक भावोंको अन्वेषण करनेकी जिज्ञासा अभी तक ज्यों-की-त्यो थी । उन्होंने मोटरगाड़ी श्रीपोद्दार महाराजसे माँगी और जहाँ रासमण्डली ठहरी थी, वहीं ठकुरीबाबूके घरकी ओर मोटरगाड़ीमें बैठकर चल पड़े ।

जब पू. गुरुदेव स्वरूपोके निवासकी ओर बढ रहे थे , तो उस समय उनके मनमें यही विचार उठ रहा था कि पहुँचते ही सबसे पहले ठाकुर घनश्यामको चपत लगाऊँगा और तब उससे इस अनर्गल वार्ताका हेतु जाननेको चेष्टा करूँगा । मनोरथोंके प्रवाहमें बहते हुए ही पू.श्रीराधाबाबाने अपना कार्यक्रम भी निर्धारित कर लिया था ।

लगभग मध्याह्न हो चला था। उस समय सभी स्वरूप अपने निवासके ऊपरी कक्षमें भोजन कर रहे थे । एकमात्र ठाकुर-स्वरूप धारण करनेवाला बालक घनश्याम ही नीचे, घरके बाहरी चबूतरेपर चुपचाप टहल रहा था ।

जैसे ही पू. गुरुदेवकी मोटरगाडी चबूतरेके पार्श्वमें खडी हुई सभी मण्डलीवालोंके आनन्दकी सीमा नहीं रही। अमृत पीकर आनन्दोन्मत्त हुए प्राणीकी तरह बालक घनश्याम तो दौड़ पडा । सभी मण्डलीवाले भोजन करते-करते ही अञ्जलि बाँधकर ऊपर दूसरे तल्लेकी गवाक्षिकासे ही प्रणाम करने लगे। भक्तिके प्रबल आवेगसे सभी चञ्चल हो रहे थे, उन्हे भोजन स्वादिष्ट ही नहीं लग रहा था। अत्यंत उल्लसित हुआ बालक घनश्याम लपक

कर पू. गुरुदेवकी मोटरतक आगे बढा। पू. गुरुदेव कारमें ड्राइवरके पास अगली सीटपर बैठे थे। बालकने अगली सीटका दरवाजा खोला और पू. गुरुदेवको हाथ पकडकर उतारा। किसी विद्युल्लहरीने पू. राधाबाबाको स्पर्श कर लिया हो, इस तरह वे आसनसे उठ पड़े । बस, मोटरके बाहर आकर खडे ही हो सके कि घनश्याम बोल उठा –' सबसे पहले आप मेरे कपोलोंपर चपत तो लगाइये ।"

पू.गुरुदेवने बालकके मुखसे जैसे ही अपने मनकी सोची हुई बात सुनी, वे भाव-विभोर हो उठे । इसके पश्चात् तो उनका शरीर जडवत् हो गया। वे साधारियोके भोजनके बगलवाले कमरेमें जाकर ध्यानस्थ हो गये। मै उनके साथ ही मोटरमें आया था। मैंने देखा - " उनके नेत्र स्थिर हैं, किन्तु अन्तरमें पूर्ण चेतना थी । पू. गुरुदेव स्पष्ट सब कुछ अनुभव कर रहे थे ।" पू.राधाबाबाके आगमनका समाचार सुनकर ठकुरीबाबू भी चले आये थे । पू. राधाबाबा उनसे बोलनेकी आन्तरिक चेष्टा रखते हुए, अवरुद्धकण्ठ बोल नहीं पा रहे थे । ठाकुर घनश्याम उनके पास ही खडा उनकी दशा देख रहा था । उसे देखते हुए पू गुरुदेवका मन मूक भाषामें कह रहा था–

"गोलोकविहारिन् ! तुम्हारी जय हो ! जय हो !! तुम मेरे प्रेम-मसृण चित्तमें अपने ऐश्वर्यका एक सैकत-कण भी नहीं बिखेरते हुए एवं मेरे साथ अपने समग्र मधुर सम्बन्धोंके सत्यकी रक्षा करते हुए, मुझे अपनी जो रासलीला दिखा रहे हो और मुझसे, जैसी भी अल्पतम सेवा संभव है, उसे स्वीकार कर रहे हो, यह मात्र तुम्हारी मुझपर अपार अनुकम्पा ही है। अनन्त करुणार्णव !! अपनी अनन्त करुणाका एक विन्दु देकर मेरे लिये इतना ही विधान कर देना यह राधाबाबा नामक प्राकृत शरीर जबतक रहे और तुम भी घनश्याम नामसे इस शरीरमें रहो, मेरे संग इसी प्रकार क्रीडा करते रहना। मेरे साथ तुम्हारी गोपन एवं अवगुण्ठित, प्रकट अथवा मूक, सेवा-भावना सदैव पल्लवित होती रहे । उसके पश्चात् तो हम दोनोंको चिन्मय महारससमुद्रमें पूर्णतया निमज्जित हो जाना ही है ।"

बालक घनश्याम जैसे अपने प्राणप्यारे राधाबाबाकी एक-एक मूक भावनाको सुन रहा हो, आनन्दातिरेकसे पुलकित हो रहा था। उसके नेत्र छल-छल कर रहे थे । बालक घनश्यामने अश्रुजलविन्दुओंसे एक माला बनायी और अपने राधाबाबाको भेंट देकर जैसे 'तथास्तु' कह दिया था ।

पू.राधाबाबा लगभग तीन घण्टेतक लगातार सुखसागरमें निमग्न रहे। सुखमय तरंगोंमें बहते हुए ही वे तत्पश्चात् मोटरमे अपने निवासतक आये। वाटिका पहुँचनेपर भी पू.गुरुदेवकी घण्टों यही दशा रही। वे उस दिन भी रासलीला-दर्शनमे सम्मिलित नहीं हो पाये । उस दिवस जब पू.गुरुदेव ठकुरीबाबूके घरसे भावनिमग्न लौटे और अपनी निवास-कुटियाका दरवाजा उढकाकर भाव-भरे ही शयित हो गये तो मैंने बाहर ही बैठकर उन्हें निम्न पद सुनाया –

**जो सुख ब्रजमें एक घरी।**
**सो सुख तीन लोकमें नाहीं , धनि यह घोषपुरी।।**
**अष्टसिद्धि नवनिधि कर जोरैं,द्वारें रहति खरी।**
**सिव सनकादि सुकादि अगोचर ते अवतरे हरी।।**
**धन्य-धन्य बड़भागिनि राधा निगमनि सही परी।**
**ऐसे सूरदासके प्रभुकों चाँपति अंक भरी।।**

(पदकी अन्तिम दो पक्तियाँ मैंने बदलकर गायी थीं। पू. गुरुदेव इस पद-गायनको सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए थे । परन्तु बादमें मेरे द्वारा मूलपद मे हेरफेरके कारण मुझपर किंचित् बिगडे भी थे । मैं बालकपनसे ही ऐसा नटखटपना प्रायः कर बैठता था।

-------

# वनचारणलीला और अधरामृतरसका वितरण

"ओह ! वह सघन कुन्तलराशि, मुखचन्द्रपर बिखरी अलकावलि, घुँघराली लहराती नागिन-जैसी काली लम्बे बालोंकी लटे, छोटे-छोटे चिकुरोसे आच्छादित ललाट, मध्यमे सुन्दर वल्लभसम्प्रदायवालोंका तिलक, विशाल नेत्र, नाचती बकिम भौहैं, वे मृदु-मृदु बोल, वे मधुस्रावी अधरयुग्म, ललित बदनारविन्द, वे चञ्चल चेष्टाएँ –

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा गीतावाटिकाके गिने-चुने लोगोंसहित लीला-दर्शनार्थ श्रीठकुरीबाबूके बगीचेमे अपराह्नमे पहुँच गये हैं । श्रीठकुरीबाबूके यहाँसे आज फोनपर गीतावाटिकामें निमन्त्रण आया था कि आज अपराह्नमें उनके बगीचेमें

रासमे गोचारण-लीला सम्पन्न होगी। लीला प्रारम्भ हो चुकी थी। पू.राधा-बाबाको पहुँचनेमें किञ्चित् विलम्ब हो गया था। अपने आसनमें बैठते-बैठते ही उनकी दृष्टि सर्वांगोंसे पूर्ण श्रृंगारित सम्मुख खडे अपने सॉवरे प्रियतमपर पड़ी थी। प्रथम दृष्टि पडते ही उनका तो जागतिक दृश्य ही बदलकर दूसरा हो गया। "अहा! इस सौन्दर्यमें कितनी मादकता भरी है–ऐसी मादकता,जो मन-प्राण-इन्द्रियोंको विमोहित कर दे। पू.गुरुदेव स्तब्ध थे। वह प्राकृत रासधारी बालक तो हो ही नहीं सकता। इसकी शोभा तो सम्पूर्ण श्रृंगारोंको श्रृंगारित कर रही है। फिर ऐसा अनमोल चिन्मय मणि प्रकाशोंसे झलमलाता श्रृंगार इस भूतलमें तो होना ही असंभव है। इन अर्थाभावी ब्रजवासियोंको ऐसा अनमोल शुद्ध माणक,मुक्ता और वज्रमणियोंसे जटित श्रृंगार कहाँसे प्राप्त होगा ? ठकुरीबाबूसे भी मैं तो पूर्णतया परिचित हूँ। उनकी तो आर्थिक स्थिति भी ऐसी नहीं कि इस मणिमय श्रृंगारकी व्यवस्था कर सके। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा रासधारी ठाकुरपर प्रथम दृष्टि पडते ही गहन विचारोंमें डूब गये थे।

"ओह, यह रूप! ऐसी अतुलित शोभा!! अहा! इसके अधरोंसे तो चिन्मय दिव्य सुधारसका निर्झरण हो रहा है!" पू.गुरुदेव उस चिन्मय रस-निर्झरणको पीते हुए मत्त होते जा रहे हैं। इस मत्तताके आवेशमें ही इनके अन्तस्तलमे आज सहसा एक वासना जाग उठी। "सत्यश ही क्या यह चिन्मय राज्यका महामधुमय सुधारस है ? कहीं मेरी नित्यकी लीला-भावना ही तो यहाँ इसे यह रंगत नहीं दे रही है ? यदि सत्य-सत्य इस ब्रजवासी बालकके ही अधरोसे यह अमृत निःसृत हो रहा है, तो यह ठाकुर मेरे संकल्पानुसार निम्न चेष्टाएँ करे। प्रथमतः यह ठाकुर अपने अधरोसे वंशीनिनाद करे। सचमुच ही चिन्मय रसनिर्झरणसे सना वंशीनिनाद मेरे मनको सम्मोहित कर देगा, और मुझे कुछ अभूतपूर्व दर्शन होगा। फिर यह तरुपत्रोको मोडकर स्वनिर्मित वाद्ययंत्र(सीटी) बनावे और अपनी मधुरातिमधुर चिन्मय अधरसुधाको उस सीटीमें भरकर फूँक लगावे! उससे जो परम चिन्मय रसीली ध्वनि निस्सृत होगी उससे यहाँ कुछ अलौकिक चमत्कार घटित होना चाहिये। वह चमत्कार मुझे स्पष्ट दृटिगोचर हो। तीसरे, यह श्रृंगीनाद करे और उससे मेघगंभीर ध्वनि निकले। उस ध्वनिसे यहाँ सांध्यगगनमें इन्द्रधनुषका निर्माण हो। फिर यह अपने कर कमलोंको ही शंखाकृति देकर अपने हाथोंसे ही ऐसी ध्वनि निकाले कि ठकुरीबाबूका समग्र बगीचा गुञ्जायमान हो उठे।

इतनी बातें यदि इसके द्वारा एकके पश्चात् एक सम्पादित हो उठेगी तो मैं इसके द्वारा स्वतः प्रदत्त इसके अधरोंसे सना आधा खाया कोई फल चखूँगा और चिन्मय दिव्य सुधारसके निर्झरणकी सही पहचान करूँगा ।"

पू.राधाबाबा तो अपनी जानमें अपने मनमें मनोरथोंके चित्र अंकित कर ही रहे थे, परन्तु वे मनोरथ वस्तुत अंकित हो रहे थे अनन्तैश्वर्यनिकेतन भक्तवाञ्छा-कल्पतरु, प्रेम-प्यारके भूखे, सर्वान्तर्यामी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके मनःपटल पर ।

श्रीराधाबाबा तो अपने विचारोंमें तल्लीन ही रहते, परन्तु उनके विचारोंका स्तभन ठीक उस समय हुआ जब ठाकुरने अपने बिम्ब-विडम्बी अधरोपर वंशी धारण कर ली।

इस ठाकुरने तो वशीवादनकी शिक्षा ही नहीं ली है। इसे तो इस हरे बॉसकी बॉसुरीमे फूॅक लगाना ही नहीं आता ! जबतक फूॅक ही सम नही लगेगी , तबतक स्वरमे सुरीलापना आ ही नहीं सकता । परन्तु ठाकुर वशीमें फूॅक अवश्य दिये जा रहा था । और इन फूॅकोके लगते ही एक चमत्कार घटित हुआ। वह चमत्कार भी अन्य सभीको नहीं दिख पाया, उसे देख पाये अकेले श्रीराधाबाबा ही । श्रीराधाबाबाकी मन-इन्द्रियॉ एक अभिनव रसमाधुरीसे परिप्लुत हो उठीं। वे देख रहे थे " नवकमल-जैसी शोभा इसके विशाल नेत्रोकी है। बिम्बफलके सदृश इसके अधर हैं । उनपर मन्द मुसकान छायी है। सजल जलदकी-सी कान्ति अगोकी है। अत्यत मनोहर बालवेष है। मधुर सुन्दर मन्दगतिसे यह चलता है । चरणोंमें मञ्जीर एवं नूपुर सुशोभित हैं । कटिदेशमें नवरत्न-काञ्ची विभूषित है। काञ्चीसे रुनझुन-रुनझुन शब्द हो रहा है । गलेमे सुन्दर हार है । हारमें व्याधिनिवारक यन्त्र-प्रतीक व्याघ्रनख पिरोये हुए हैं। जननीने दृष्टिदोषनिवारक एक काला बिन्दु मुखपर लगा दिया है । इससे इसकी शोभा और भी बढ गयी है । शशधर-जैसे सुन्दर मुखपर कुञ्चित केश-कलाप सुशोभित हैं। यह कुन्तलराशि ऐसी प्रतीत होती है, जैसे नवीन घनकी नीलिमा हो ।"

पू.गुरुदेवका दृश्य एक साथ परिवर्तित हो गया था। वे अपने ध्यान-मूर्ति इष्टको ठाकुरके अंग-अगमे विजडित देख रहे थे । वे बार-बार ध्यान हटाकर पुनः ठाकुरकी ओर देखते, किन्तु उन्हे वही चमत्कारिकता ठाकुर -वेष धारी बालकमें पुनः-पुनः दिखने लगती। वे ठाकुरमे कभी तो अपने इष्ट

परमातिपरम मधुर श्रीकृष्णको परिलक्षित करते एवं फिर अनन्तैश्वर्यनिकेतन परमात्माको अंकित देखने लगते।

पू.गुरुदेव चकित हो ही रहे थे कि ठाकुरने उछलकर एक लीचीवृक्षकी झुकी डालको और झुका लिया। उसमेसे उसने लीचीवृक्षके अनेक पत्रोको तोड़ लिया। "अरे! यह तो इन पत्रोको मोड़कर उनसे सीटीकी तरहका एक ऐसा यत्र बनानेमे सचमुच ही संलग्न हो गया है और अपने ही द्वारा निर्मित इस यत्रमे अपनी सुरभित मुख प्रश्वास भरकर उच्चस्वरमें रसीली ध्वनि निस्सृत कर रहा है!"

परन्तु यह क्या? जैसे ही ठाकुरने उस स्वनिर्मित नये वाद्ययंत्रमें फूँक लगायी, सभीने चमत्कारिकरूपसे देखा कि ठकुरीबाबूके बगीचेकी गाये बडी मस्त चालसे चलकर आयीं और ठाकुरके आसपास उसे घेरकर खडी होगयीं। वैसे, सभी लोगोने तो यही समझा कि सचमुच ही गोचारणलीलाको व्यावहारिक रूप देनेके लिये ठकुरीबाबूने ही ग्वालोंसे गायें बन्धनमुक्त करवाके रासमडलीके पास छुडवायी हैं। परन्तु वस्तुतः यह बात थी नहीं।

इसके साथ ही ठाकुरने अपने फैटमे खौंसी श्रृंगी निकाली और वह उसे भी बजाने लगा। यह श्रृंगी गायोंके टूटे सींगसे बनाया एक वाद्य होता है, जिसे ग्रामीण एवं भोपा जातिके लोग बजाते हैं। कभी ठाकुर इस श्रृगीको बजाता और कभी इसे अपने दूसरे कलाकार गोप बनेहुए साथीको देकर अपने हाथोंको ही शखाकृति देकर उसमें फूँक लगाता। उससे वह ऐसी गंभीर ध्वनि निकालता कि सारा बगीचा ही गुञ्जायमान हो जाता।

पू. गुरुदेव देखरहे थे कि उनके सभी पूर्वकृत संकल्पोके अनुसार ही ठाकुर सांगोपांग लीला कर रहा है। उनका मानस पूर्णतया चमत्कृत था।

सहसा उनकी दृष्टि अन्तरिक्षकी ओर उठ गयी। यह क्या? अन्तरिक्षमे तो उन्हे स्वर्गकी अमरावती नगरी दृष्टिगोचर हो रही है। यह देवनगरी तो इस प्रमोदप्रवाहमे निमग्न होकर पूर्णतया मत्त हो उठी है। अमरावतीका यह आनन्दोच्छ्वास जनलोक, महर्लोक, तपोलोकको मुखरित करता हुआ सत्यलोकको स्पर्श कर रहा है। अरे! अरे!! जगत्स्रष्टा पितामह चतुराननकी सृजन–समाधि टूट गयी है।

लो, देवराज इन्द्र अपने वाहन ऐरावतमे, भगवान् शिवपार्वती वृषभवाहनमें, चतुरानन अपने हंसवाहनमें, भगवान् सूर्यदेव अपने रथमें एवं चन्द्रदेव अपने

हरिणवाहनमें आसीन हुए कल्पप्रसूनोंकी वर्षा कर रहे हैं। परमाह्लादित विबुध–वृन्द स्तवपाठ, सुमनोहर वाद्यवादन कर रहे हैं । पू. गुरुदेवको स्पष्ट दिख रहा था – आकाशपथ अमर, किन्नर, विद्याधर एवं गन्धर्वोंसे भरा है ।

अब तो पू. गुरुदेवको ठाकुरके चिन्मयावेश पर किञ्चित् भी सन्देह नहीं रहा था । सहसा एक और विचित्र भगवत्प्रेरित घटना घटी । जब यह रासलीला हो ही रही थी, पूरी ग्रीष्म ऋतु थी । रवि सांध्य गगनकी ओर बढ़ रहा था । अचानक ही एक उमडे मेघने रविको चतुर्दिक् आच्छादित कर लिया। और वह मेघ इस प्रकार बरसने लगा मानो ब्रजमें पावसका पदार्पण हो गया हो । वर्षाकी फुहारोंने ग्रीष्ममें तपते लीलादर्शन करते दर्शकोंको और मण्डलीके सभी पात्रोंको, साथ-ही साथ सारे वातावरणको भी इस प्रकार भिगोया कि सभी आनन्दित हो उठे । वायुमे तप्तताके स्थान पर शीतलता संचारित हो उठी । इस प्रकार वातावरणको रमणीय बनाता मेघ कुछ ही क्षणोमे गगनमें स्थित होगया और उसपर अतिशय सुन्दर इन्द्रचाप जगमगा उठा । वातावरण ऐसा शीतल एवं सौन्दर्यसम्पन्न बन गया कि ठाकुर दूसरे लीलाक्रमको छोड़कर अपने सखाओंको इन्द्रचापका सौन्दर्य वर्णन कर–करके सुनाने लगा। सखा बने ब्रजवासी बालक तो जहाँ अपने ठाकुरसे इन्द्रचापकी शोभाका वर्णन सुन रहे थे, वहीं पू.गुरुदेवकी दृष्टि ठाकुरके स्वयंके सौन्दर्यपर उलझी थी । उन्हें ऐसा ठीक अनुभव हो रहा था कि मेरे प्राणवल्लभके ही अंग–प्रत्यंगसे झरती अंगसौरभको लिये बयार चतुर्दिक् भ्रमण कर रही है। वह कभी तो चतुर्दिक् फैले कमलदलोको प्रस्फुटित कर दे रही है, और कभी संकुचित। उनके अरुणवर्ण अधरोंसे झर रही है चिन्मय अधररस–सुधाधारा। दिव्य दंतपंक्ति ऐसी दीप्ति प्रकट कर रही है, मानो कुन्दपुष्पको उस दिव्य अधररस–सुधाधारामें सुस्नात कराके इन्द्रवज्रकी विद्युन्मयी किरणोंसे समलंकृत कर, दो बिम्ब फलोंके मध्य सुस्थापित कर दिया गया हो। मन्द मृदु हास छटा तो मानो आनन्दसागर ही हो, जो चरम सीमातक उमडा प्रतीत हो रहा है। उन्नत विशाल कंधोंकी शोभापर तो सर्वस्व ही बलिहार है। विकसित कमल जैसी हथेली, कमलदल जैसी नखश्रेणी चित्तको चुरा रही है। नील कलेवरपर पीताभ अम्बर दामिनीसमन्वित सघन घटाकी शोभाको पराजित कर रहा है। पीत दुकूलके सम्मुख सुवर्ण तो सर्वथा रूपहीन है । अब पंकजकोशकी शोभाको पूर्णतया तिरस्कृत करनेवाले दुख–द्वन्द्वहरणशील ललित त्रिभंगी धारण किये

चरणोंकी ओर तो देखो ! जय हो !! इस मयूरमुकुटीके ध्वज, वज्र, गदा, यव, कमल आदि चिह्नोंसे चिह्नित . चरणतलकी जय हो ! जिनसे स्वर्मन्दाकिनीकी त्रितापनाशिनी, शापविमोचिनी, पातकविदारिणी धारा निर्गत हुई, जिन चरणोंकी शेष-सनकादि वन्दना करते हैं, जो श्रुति-सरस्वती और देवर्षिके लिये घन आनन्दस्रोत हैं, जो अज-महेशके ध्यान-धन हैं, उन मेरे परम प्राणपतिके चरणोंकी जय हो !!

पूज्य गुरुदेव अपनी इष्टमूर्तिको प्रत्यक्ष अपने सम्मुख देख पुलकित थे। वे मन-ही-मन सोच रहे थे कि इस ठाकुरके सौन्दर्यमें कितनी मादकता भरी है । ऐसी मादकता जो मन, प्राण एव इन्द्रियोंतकको विमोहित कर दे । अति आश्चर्य ही तो है कि मेरे प्राणपतिके मुझे प्रत्यक्ष दर्शन होते हुए भी, उनकी रूपसुधामें मेरे नेत्रोंके नित्य निमग्न रहनेपर भी मेरा चित्त न जाने क्यों हाहाकार कर उठता है कि 'हाय ! मेरे प्राणवल्लभके मुझे दर्शन कब होंगे ?'

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा इन भावोमे गहरे डूब रहे थे कि उनके ध्यानको अचानक ही हटाया एक दुष्ट कपिदलने जो अप्रत्याशित ही गोचारण-लीलाका उपकरण बनने आ धमका था इस बगीचेमें। अकस्मात् ही कूदते-फॉदते कपिदलने जो दर्शकगणों और रासलीलावाले ब्रजवासियोंकी उपस्थितिसे सर्वथा निर्भय और निश्शंक था, अपना आसन जमा लिया उन्हीं आम्र, लीची, एव अमरूद वृक्षोंके ऊपर जिनके नीचे मैदानमें रासलीलावालोंके द्वारा वनचारणलीला सम्पन्न हो रही थी। इधर तो वातावरणको अस्त-व्यस्त करते बन्दर वृक्षोंकी डालोंपर कूद-फॉद रहे थे, उधर ब्रजवासी बालकोंको भी उत्पात सूझ गया। वन-चारण-लीला हो ही रही थी अतः धेनु-नियंत्रणके लिये यह श्रीकृष्णकी सखा-मण्डली अपने हाथोंमें मोटे-मोटे लकुट तो लिये ही थी। इसने बन्दरोंपर धावा बोल दिया। छोटे-छोटे अल्प वयके बालसखा तो इन कपियोकी लम्बी पूँछें जो नीचे लटक रही थीं, अपने हाथोंसे पकड़कर खींचने लगे । कुछ-एक क्षण तो दोनों दलोंमें जमकर युद्धका-सा खेल हुआ। पूँछ पकडकर लटकते छोटे बालकोंको काटने कपिदल जहॉ झपटा, वहीं बड़े-बडे लकुट सम्हाले युवक ब्रजवासी समाजी उनपर लकुटोंसे प्रहार करते हुए पिल पडे । इस कपिदलसे हुए युद्धके कारण एक [illegible] वातावरण भयग्रस्त हो उठा, परन्तु कुछ ही क्षणोंमें कपिदलके पराजित होकर हट जाने एवं दूसरे वृक्षोंकी ऊँची डालोंमें आसीन होनेसे वनलीला [illegible] परम सरस और स्वाभाविक हो

उठी। यह लीला चल ही रही थी कि ठाकुर बना घनश्याम उस अमरूद वृक्षपर चढ गया, जिसके ठीक नीचे पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा समासीन हुए लीला देख रहे थे। ठाकुरको अमरूद वृक्षपर चढा पाकर ठाकुरकी बालसखामण्डली भी बन्दरोंके समान उछल-उछलकर उसके आसपासकी डालियोंपर समासीन होगयी।

पू.गुरुदेवका तो दृश्य ही दूसरा हो रहा था। वे तो ठाकुर-वेषधारी घनश्यामके स्थानपर अभिनव कान्ति प्रसरित करते अपने प्राण-प्रियतमको ही वृक्षपर आसीन पा रहे थे। उनके हृदय एवं मन तो यह देखकर परम शीतल हो रहे थे कि "अहा! मेरे प्राणपतिके परम मनोहर दृगोमें कैसी समाकर्षक दीर्घता है! अरुण प्रभासे रंजित वे अपनी बंकिम रसीली चितवनसे कैसी प्रीतिवर्षा कर रहे हैं! उनके वक्षस्थलका सुमधुर विस्तार कितना समाकर्षक है! उनके मध्यदेशमें सिंहशावककी कृशता कितनी कमनीय लग रही है! अहा! एक अद्‌भुत अनिर्वचनीय सुधास्रावी सौन्दर्यराशिसे जगमगा रहा है मेरे प्राणपतिका अणु-अणु, रोम-रोम!" पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके चित्तका अणु-अणु प्लावित हो रहा है, इस सौन्दर्यपूरमें। वे बह चलते हैं, इस प्रवाहमें और डूबने लगते हैं उन श्यामल लहरोंमें।

इधर तो पू.श्रीराधाबाबा अपने प्रियतम प्राणवल्लभके रूपसागरके अतल-तलमें निमज्जन कर रहे थे, उधर लीला-महाशक्ति योगमाया-नियंत्रित बुद्धिवृत्तिने ठाकुर घनश्यामके मनमे एक अतिशय चंचल क्रिया करनेकी आतुरताका निर्माण कर दिया। उसकी बुद्धिवृत्ति बारबार उसे प्रेरित कर रही थी कि" रे ब्रजवासी ठाकुर! तू तो सर्वथा अमर्यादित स्वरूपभूत परमानन्द रस-वितरणके लिये ही तो ग्राम-ग्राम, नगर-नगर भटक रहा है। तू गोरखपुर आया ही है इस नीचे-बैठे सन्यासीको परमानन्द रसास्वादन करानेके लिये। यह मात्र ऊपरसे ही मायावादी अति मर्यादित-संन्यासीका वेष ढो रहा है, भीतरसे तो यह लोक-वेदकी सभी शृंखलाओंको तोडे तुम्हारे विशुद्ध प्रेम-रसका दान लेने प्रस्तुत बैठा है। देखो! देखो!! इसके हृदयका चित्र तुम्हारे सम्मुख स्पष्ट खोलकर रख देती हूँ। अरे भाई! ब्रजके अतिरिक्त अन्य सभी लीलाओंमें तो ऐश्वर्य ही तुम्हें आवृत किये रहता है और तुम्हारे भक्त भी उसीकी माँग लिये हाथ जोड़े तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं, परन्तु यह राधाबाबा तो तुम्हारा अपना निजजन है। सम्भ्रमरहित विशुद्ध रसका आस्वादन इसे तुम्हारे अतिरिक्त

कौन करावेगा ? यहाँ तो तुम लीला कर रहे हो - गोपीहृदय इस साधुवेष धारीके प्राणपति प्राणवल्लभकी। ऐसा बानक अन्यत्र कहाँ ? वाञ्छाकल्पतरो ! इसके मनोरथको पूर्ण करो। रस देकर, रस आस्वादन कर इस राधाबाबा बनी गोपसुन्दरीको प्रीति-पयोनिधिमें पूर्णतया डुबादो ठाकुर !

ठाकुर वेषधारी घनश्यामके अधरोंपर मन्द मुसकान छा गयी। उसने लीलाशक्तिकी इस प्रार्थनाका अनुमोदन ही किया।

मन में यहै विचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब ठाऊँ ।
ब्रज मे जनम लियौ सुख कारन, सब कहँ रस बरसाऊँ।।
प्रियतम रूप गोपि मोहि जानैं इनसौं मिलि सुखभोग।
मन ही मन प्रभु कहत प्रेमसौं ये मेरे ब्रजलोग।।

ठाकुर घनश्यामने एक विचित्र लीला की । ठीक अपनी अन्तर् - उद्भूत स्वतःप्रेरणासे उसने पू.गुरुदेवके मानस सकल्पको पूर्ण करते हुए एक अमरूद(अमृतफल) उस महाभाग्यवान् वृक्षसे तोडा, उसे आधा खाया और शेष पू. राधाबाबाकी गोदमें फैंक दिया। उसने इतना ही नहीं किया,नीचे उतरकर अतिशय प्रार्थनाका नाटक करते हुए उसने उस अमरूद फलको श्रीगुरुदेवसे वापस माँगा और तब हँसते हुए उनके मुखमें उस उच्छिष्ट अमरूदको भर दिया। और तब श्रीराधाबाबाके मुखसे लगे उच्छिष्ट अमरूदको स्वयं खा गया।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा तो एकदम स्तंभित रह गये। उनके मुखमे जैसे ही वह अमरूद गया, उन्हें लगा जैसे संविन्मय महाभाव-रससागर उमड़कर उनके मुखद्वारसे प्रविष्ट हो उन्हें अपने अतलतलमें विलीन कर लेनेको उमड़ उठा हो। वे उस विचित्र स्वादकी अनुभूतिमें इतने भरे थे कि उन्हें बाह्य होश ही नहीं था। वे प्राकृत जगत्के ब्रजवासी बालकों द्वारा अभिनीत कोई रासमण्डली देख ही नहीं रहे थे । वे तो अनवरत दस वर्षोंसे अपने हृदयपटलपर विजडित अपनी इष्टमूर्तिको ही रासाभिनय करता देख रहे थे । सत्यतः स्थिति यही थी कि उनके सामनेसे तो दृश्यरूपा वह अविद्या माया जिससे सचराचर अखिल विश्व - एक कीटसे लेकर पितामह वेदगर्भ तक सब विमोहित हो रहे हैं, सर्वथा सर्वांशमें विलुप्त हो गयी थी। उस निस्तरण-असंभव मायाके स्थानपर उनके सामने तो स्वयं साक्षात् मायाधिपति मुसकान बिखेरते खड़े थे । जहाँ तक मायाराज्य है , वहीं तक उच्छिष्ट और शिष्टका भेद रहता है । जहाँ माया है ही नहीं ,वहाँ तो वही-वही है । कोई उच्छिष्ट है ही नहीं ।

पू.गुरुदेवने किसका उच्छिष्ट ग्रहण किया ? उन्होंने उसका उच्छिष्ट भक्षण किया जिसके प्रत्येक रोमकूपमें - जैसे आकाशमें वायुसचरित क्षुद्र असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ घूमते रहते हैं; जिनका अन्त स्वर्गादि–लोकाधिपति ब्रह्मा, इन्द्र प्रभृति नहीं जानते, नहीं जान सकते; जो इतने अनन्त हैं कि अपना अन्त स्वयं ही नहीं जानते; जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन श्रुतियाँ नहीं कर सकतीं; स्वरूपसे अतिरिक्त सब वस्तुओंका निषेध करते–करते कि वह न स्थूल है, न अणु है; न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है; न छाया है, न तम है; न वायु है, न आकाश है, न सग है, न रस है; न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है; उसमें न अन्तर है, न बाहर है – इस प्रकार निरसन करते–करते श्रुतियाँ जिनमें जाकर समाप्त हो जाती हैं , अपनी सत्ता समाप्त कर सफल हो जाती हैं; (बृहदारण्यक३।८।८)जब धर्म–प्रतिपादक श्रुतियाँ ही जिसमें विलीन होजाती हैं, वहाँ मात्र वही धर्म रहता है । उससे पृथक् न धर्म रहता है न अधर्म ।

पू.गुरुदेवने उन परमपुरुष पुरुषोत्तमका उच्छिष्ट खाया, जो विश्वका संकल्प करते हैं , जो विश्वके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें स्थित हैं; जो प्रकृति पुरुषके स्वामी हैं, जो विश्वका सृजन करके जीवके साथ ही उसमें प्रविष्ट हो गये हैं; जिन्होने जीव–भोगायतन शरीरसमूहोंकी रचना की है, जो इन शरीरोंका नियंत्रण करते हैं, जिन्हें प्राप्तकर जीव – जैसे सुषुप्तिमें निमग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसंधान छोड देता है, उसी प्रकार मायापाशसे मुक्त हो जाता है, जो नित्य अच्युत स्वरूपमें अवस्थित हैं; जिन्हें माया लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकती, जो सर्वथा विशुद्ध हैं; जो अभयप्रद हैं; जिनका निरन्तर चिन्तन ही जीवका एकमात्र कर्तव्य है। श्रीमद्भा०(१०।८७।४१) फिर सर्वथा विशुद्धमे अशुद्ध प्रवेश ही कैसे करेगा ? उसका तो उच्छिष्ट भी वही, मात्र वही होगा। जिसमें भय है ही नहीं, हो ही नहीं सकता, वहाँ भला निषेध कैसे होगा ? पू. गुरुदेवने उनका उच्छिष्ट भक्षण किया जो नराकृति ब्रह्म, प्रकृति–पुरुषके स्वामी पुरुषोत्तम ही हैं । उनका सब कुछ उत्तम–ही–उत्तम है, गर्हित कहीं कुछ भी नहीं ।

वास्तवमे पू.गुरुदेवका यह चेष्टा उच्छिष्ट–भक्षणरूप अपराधमें क्या परिगणित हो सकता है ? अपराध तो वहाँ हो, जहाँ उच्छिष्ट देनेवाला कोई

अल्प हो, शरीरधारी हो । जहाँ विशुद्ध चैतन्य परमात्मा ही दिख रहा हो, वहाँ परमात्माके प्रसाद-भक्षणमें कैसे निषेध संभव है ? जहाँ कोई स्वादवृत्ति, लोलुपता होती है, वहीं अधर्म, निषेध अथवा पाप होता है ।

**नान्यद् भगवतः किंचिद् भाव्यं सदसदात्मकम्**

।।श्रीमद्भा०२।६।३२।।

—भाव या अभाव, कार्य या कारणरूपमें जहाँ कोई भी वस्तु जिन्हें श्रीकृष्णसे भिन्न दिखती ही नहीं, उन पू.गुरुदेवके लिये कब, कहाँ, किसकी, कौनसी वस्तु भक्ष्य अथवा अभक्ष्य मानी जायगी ? तब फिर ये अधरामृतसना अमरूदका दान क्या था ? वह तो मधुर रसवितरणकी मात्र एक प्रकृष्ट प्रक्रिया थी ! वह थी मधुर रसास्वादनकी एक पवित्रतम प्रणाली, प्रेम मनोरथपूर्तिकी एक मधुर मनोहर सुन्दर योजना, किशोरलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके किशोरावेशकी अप्रतिम रसदानमयी मात्र झाँकी ! इस झाँकी की जय हो ! जय हो !! नित्य निरन्तर जय हो !!!

हाँ, श्रीजयदयालजी गोयन्दका-जैसे लोक-संग्रही पुरुष यह कह सकते हैं कि पू. श्रीराधाबाबाको विधि-निषेधकी वेदशास्त्रसम्मत मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये था। परन्तु विधि-निषेध तो उनके लिये है जिन्हें जगत्, देह, उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म दीख रहा है । जहाँ जगत् दिखता ही नहीं, ब्रजवासी बालक दिखता ही नहीं, अमरूद दिखता ही नहीं, उच्छिष्ट वस्तुका मालिन्य अनुभव होता ही नहीं, मात्र छलकता चिन्मय सुधारस ही दिख रहा है, श्रीकृष्णका देह जिस चिन्मय वस्तुसे बना है, वह चिन्मयता ही जिसके लिये उनका अधरामृतरस है, वही तो उनका अंग-प्रत्यंग सब कुछ है, तब श्रीकृष्णका आस्वादन चाहे स्वादेन्द्रियसे हो, अथवा नेत्रेन्द्रियसे हो, वाणीरूप गुणगानसे हो, चाहे स्पर्शेन्द्रियसे हो, अथवा किसी कर्मेन्द्रियसे हो, भले ही किसी कामेन्द्रियसे भी क्यों न हो, है तो वह श्रीकृष्णका ही चिन्मय रसास्वादन मात्र। और श्रीकृष्ण जो सब शास्त्र, वेद, धर्म, तत्त्व यहाँतक कि ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा हैं, किसी भी अवस्थामें, रूपमें, यदि ग्रहण किये जाते हैं, तो क्या कोई भी धर्म, वेद शास्त्र उन्हें निषिद्ध कर सकता है ? कदापि नहीं ! हाँ, जो श्रीकृष्णको ब्रह्मको प्रतिष्ठा न मानकर मात्र मायोपाधिक अवतरण मानते हैं, उनकी ही कुबुद्धि ऐसे कुतर्क भले ही स्थापित करे ।

जब श्रीकृष्णमें जड-अविद्यात्मक देह है ही नहीं, मांस रक्त, थूक,

कफ, लार संभव ही नहीं, फिर विशुद्ध चिन्मयता चाहे अधर-जिह्वाके संस्पर्शसे प्रकट हो रही हो, निषिद्ध कैसे होगी ?

यहाँ यह कहनेमें मुझे सर्वथा संकोच नहीं है कि श्रीपोद्दार महाराज(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) और पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा भगवद्भक्तिरसके मूर्तिमान विग्रह थे। वे तुरीय प्रेमरसमें आपाततः पगे-डूबे थे। उनके दृश्य -पटलपर भगवान् श्रीकृष्णका मन्मथ-मन्मथ स्वरूप इतना घनरूपमें भरा था कि उन्हें उनके सिवा अन्य कुछ दिखता ही नहीं था। उन्हें न ही अन्य सुनाई पडता था, न ही उनकी मन-बुद्धिके द्वारा अन्य कुछ भी सत्यासत्य निर्णय ही होता था। जिसका अन्तःकरण इतना रससिक्त हो कि उसके हृदयसे समग्र प्रपंच ही शशकके श्रृंगकी तरह विलुप्त हो जाय, उसका श्रीकृष्णके सिवाय अन्य कौनसा धर्म, कौनसा मर्यादापालन और कौनसा विधि-निषेध अथवा पाप-पुण्य शेष रहता है ?

जिसको ज्ञान ही नहीं है कि कब रात होती है और कब दिवस, कब जाग्रति आती है और कब सुषुप्ति ; जिसके चित्तमेंसे श्रीकृष्ण स्वप्नकालमें भी नहीं हटते, जिसके अन्तःकरणमें जगत् प्रवेश ही नहीं कर पाता और निरन्तर अखण्ड प्रिया-प्रियतम राधाकृष्णका रासनृत्य होता रहता है, उनके सामने अब अन्य कैसा विधि-निषेध शेष रहा था ?

इतिहास है – वैष्णवाचार्य श्रीहरिरामव्यासदेव नियमतः प्रतिदिन ही गोविन्ददेवके दर्शनार्थ मन्दिर जाते थे । उनके गोविन्ददेव मात्र मन्दिरमें प्रतिष्ठित जड़ प्रस्तर-प्रतिमा नहीं थे। वे चिन्मय सजीव उनके प्राणपति थे। भावजगत्‌की परम चिन्मय भूमिको जब कोई महासिद्ध संत संस्पर्श कर लेता है तब प्रतिमा चाहे प्रस्तरखण्डसे निर्मित हो, अथवा काष्ठमें अंकित , वह जीवन्त होकर व्यवहार करने लगती है । वह हँसती है, खेलती है, बोलती है और खाती-पीती भी है । मीराके गिरिधरगोपाल मीरासे बोलते थे। वल्लभाचार्यके श्रीनाथजी खाते थे, खेलते थे, गोविन्दस्वामीको ककडी मारकर भागकर मन्दिरमें छिप गये थे । हरिरामजीको उनके गोविन्द मूर्तिमें तो दिखते ही थे, सम्पूर्ण विश्वमें भी प्रत्यक्ष वे-ही-वे भरे दृष्टिगोचर होते थे । उनका अखण्ड नित्यका नियम था कि वे गोविन्दजीकी राजभोगकी आरतीके दर्शन करते और तब अपने आराध्यके महाप्रसादका कण लेकर घर लौटते । लीलामय गोविन्दकी बलिहारी है । वे अपने भक्तकी सच्ची निष्ठा और उसकी चिन्मय अनुभूतिको

जॉचने-परखने और उसके रसका आस्वादन लेनेमे अतिशय पटु हैं ।

श्रीव्यासदेवजीको आज अपने नित्योपासनाके क्रममें इतना रस आया कि अतिकाल होगया। उपासनासे आँख खुली, बाह्यवृत्ति हुई तो पाया राजभोगका समय तो व्यतीत ही हो चुका है। दौडे-दौड़े मन्दिर गये, तबतक मन्दिरके पट बन्द हो चुके थे। आज तो ऐसा व्यवधान हुआ कि न तो इष्टदेवके दर्शन ही हुए और न ही भगवत्प्रसादका कण ही प्राप्त हुआ। विरहमें ध्यानावेश तो बढ जाता ही है । विरहातिरेकमें पार्थिव वृन्दावन चिन्मय वृन्दाकानन हो गया। गोविन्ददेवके मन्दिरके पुजारीगण सब दिखने ही विलुप्त हो गये । उनके स्थानपर थीं यशोदामैया, और उनका दासीवर्ग– गोपीसमूह । उनकी भावधारामें चिन्मय ब्रजभूमिकी चिन्मय लीला प्रकट हो गयी । जड़-मायाजगत् पूर्णतया विलुप्त ही हो गया । लीलाविहारीकी जय हो ! वे स्वयं भी तो प्रेम-भाव देखकर शबरीके जूठे बेर खाते ही हैं और चाण्डालिनी फल-विक्रयिणीसे उसकी गोदमे आलिंगित हो, अपने कपोलोपर उसका वात्सल्यभरा प्रीतिचिह्न -चुम्बन अंकित कराके अपनी लघु हथेलियोमें उससे फल ले आते हैं। प्रेमको जाति-पॉति, वेद-शास्त्र, आचार-विचार, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्यसे सर्वोपरि सिद्ध करनेमें उन्हें परम आनन्द जो आता है ! तत्क्षण ही उन्होंने अपनी लीलासंघटनकर्त्री योगमायाको निर्देश दे दिया, और उसे भला लीला संघटित करनेमे कितने क्षण लगते हैं ! तत्क्षण ही रंगमंचका निर्माण होगया। योगमाया-महाशक्ति एक डोमिन बनकर हाथमें गोविन्दके राजभोगके प्रसादकणको अपनी टोकरीमें लिये श्रीहरिरामव्यासजीको सामने ही आती दिखाई पडी। श्रीहरिरामव्यासजीको वह प्राकृतलोककी मलिन मलमूत्र स्वच्छ करनेवाली डोमिन दिखी नहीं,उन्हें तो चिन्मय वृन्दावनधामकी नन्दसदनमें स्वच्छताकर्म करनेवाली गोपी ही वहाँ दिख रही थी। उनकी चिन्मय दृष्टिमें मलिन प्राकृत जगत् तो था ही नहीं । उन्होंने तत्क्षण ही उसकी टोकरीमेंसे सर्वथा श्रद्धाभावनासे भरकर एक पकौडी उठाई और उसे अपने मस्तकसे लगाली। आज ही तो वे धन्यभाग्य, कृतकृत्य हुए थे। उनके लिये वह पकौड़ी प्राकृत भोज्यपदार्थ थी ही नहीं, साथ ही जिसकी डलियासे वह उठायी गयी थी, वह नारी भी उन्हें प्राकृत मल-मूत्र स्वच्छ करनेवाली कोई मेहतरानी नहीं दृष्टिगोचर हुई थी । उनका दृश्य ही प्राकृत दृश्य नहीं था। उन्हें तो वृन्दावनकी, नन्दभवनकी किसी दासीसे चिन्मय भगवत्प्रसाद मिला था, जिसे उन्होंने अतिशय श्रद्धाभावसे सिरपर चढाकर

ग्रहण किया था और परम कृतकृत्यता अनुभव की थी।

इधर वृन्दावनके सम्पूर्ण वातावरणमें ही उनकी इस क्रियासे एक प्रकारका पूरा हड़कम्प ही मच गया था। हरिरामव्यासजी जैसे महापण्डित शास्त्रविद् ब्राह्मणने भंगिनकी छुई-हुई पकौडी खाई ! सारा समाज उनकी भर्त्सना करनेको उद्यत हो गया। परन्तु उन्हें उसकी कहाँ परवाह थी ? वे तो मुक्तकण्ठसे उसका उद्घोष करते हुए कहने लगे:–

**ब्यासहि ब्राह्मण मत कहौ, हरिदासनिकौ दास।**
**बृन्दाबनके डोमकी जूँठन खाई ब्यास।।**
**ब्यास मिठाई बिप्रकी तामैं लागौ आगि।**
**बृन्दाबनके स्वपचकी जूठन खावैं माँगि ।।**

यहाँ यह ध्यानमें रखनेकी बात है – जिस वृन्दावन और उसके स्वपचकी बात व्यासजी कह रहे हैं, उस बृन्दावनधामका दर्शन तो किसी महापुण्यवान्को अतिशय महत्कृपासे दिव्यातिदिव्य सच्चिन्मय नेत्र पाकर ही होता है, और यदि वह महाभाग्यवान् उस दृश्यके अनुभवको वर्णन करनेकी भगवत्प्रदत्त शक्ति पा जावे तो वह यही कह सकता है कि वह कोई प्राकृत देश नहीं,सच्चिदानन्द -सुधारससरोवरका विलक्षण अरविन्द है, जिसके सौरभका अपहरण करके कृतार्थ होनेका अवसर आजतक किसी भी अनिलको नहीं मिल पाया है, जिसका आघ्राण मधुगन्धलुब्ध किसी भी भ्रमरने आजतक नहीं किया है, किसी जलभरे सरोवरने आजतक जिसे प्रस्फुटित करनेकी सामर्थ्य नहीं पायी है, किसी प्राकृत अथवा दिव्य जलके वक्षस्थलमें खेलनेवाली चञ्चल तरंगे उस पद्मको प्रकम्पित करनेका कभी भी गर्व नहीं कर सकी हैं , ऐसी चमत्कारिक सुन्दरतासे युक्त वह सर्वातिशय सुन्दर चिन्मय प्रदेश है। उस वृन्दावनकी ऐश्वर्यराशि कल्पनातीत है। इस वृन्दावनके प्रत्येक श्वपचका प्रासाद इन्द्रनीलमणिनिर्मित है। यहाँ प्रत्येक ब्रजवासीका सदन मरकतमणिविरचित है। छतें सुवर्णमय हैं, स्तभोंका निर्माण प्रवालसे हुआ है । द्वारसमूह पद्मरागमणिके है । यहाँकी भूमिका कण-कण मणिमय है। सर्वत्र चन्द्रकान्तमणियोंकी दीप-पंक्तियाँ निशामें यहाँ जगमग-जगमग प्रकाश करती हैं। कोटि कोटि गोवत्स इस ब्रजदेशमें इधर उधर आनन्दमें उछल रहे हैं ।

और यहाँकी श्वपच गोपी कैसी है जिसकी जूठन श्रीहरिव्यासजी खानेकी लालसा कर रहे हैं ! आइये, उस गोपीके स्वरूपसौन्दर्यका ध्याननेत्रोंसे

किञ्चित् अवलोकन करे। उस श्वपच गोपीके नेत्र ऐसे हैं, मानो दो मुकुलित उत्पल हों। कुन्तलराशि ऐसी लगती है, मानो भ्रमरोंका दल प्रचुर परिमाणमें नव मकरन्दराशिका पानकर, अतिशय मत्त होकर, उड़नेकी सामर्थ्य खोकर निश्चल अवस्थित हो। उस श्वपचकन्याके कपोल इतने सुन्दर हैं, मानो द्रवीभूत किसी मणिसे ही ढ़ले हों,नासापुट ऐसे हैं मानों कालिन्दीके नीरमें परमातिपरम दो सुन्दर बुद्बुद उठे हों । उस श्वपच गोपीकी चाल इतनी मत्त है, मानो इन्द्रवाहन गजराज ऐरावत झूमकर चल रहा हो। शतकोटि महालक्ष्मी उसकी शोभाको देखकर मुग्ध-विभोर हो जाती हैं । उस वृन्दावनकी श्वपच गोपीके रोम-रोममे जो पावित्र्य भरा है उसके एक कणकी छाया भी न तो चतुरानन वेदगर्भ अपने ब्रह्मलोकमें निरन्तर वेदध्वनि करके ही प्रकट कर सके हैं, न भगवान् चन्द्रशेखर अनन्त कालकी समाधि लगाकर कैलासमें ।

परन्तु यह बात वैष्णवाचार्य हरिरामदासजी जगत्‌के धर्माभिमानी, दंभपूर्ण अशुचि मानसवाले ,पाण्डित्यके मिथ्या अहकारसे भरे लोगोंके गले कैसे उतार पाते ? उन्हे तो अनेक जन्म लेनेपर भी वह कृपापूर्ण चिन्मय दृष्टि नहीं मिलनेवाली है , जिसे पाकर हरिरामव्यासाचार्य अपनेको कृतकृत्य एवं धन्य अनुभव कर रहे हैं ।

ऐसी क्रान्तिकारी घटनायें एक नहीं, अनेकों वैष्णवाचार्योंके जीवनमें घटी हैं , जिन्होंने चिन्मयी भगवद्भक्तिसे अपने हृदयको विभूषित किया है ।

महाप्रभु चैतन्यदेवके जीवनकी एक घटना पाठकवृन्द अपने ध्यानमें लायें । बादशाह हुसैनशाहने सुबुद्धिरायको मुसलमानी करुयेका अपना उच्छिष्ट जल पिलाकर उनकी जाति नष्ट कर दी थी । काशीके पण्डितोंसे सुबुद्धिरायने अपनी शुद्धिका उपाय पूछा। सभी पण्डितोंने एक मतसे उन्हें निर्णय दिया कि तप्त घृतपान कर प्राण देना ही इस पातकका प्रायश्चित्त है । श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवके सम्मुख यह बात किसीने कह दी। उन्होंने सुबुद्धिरायको बुलाया और मात्र भगवन्नाम लेनेका आदेश देते हुए कहाः -

**एक नामाभासे तोमार पाप दोष जाबे ।**
**आर नाम लइते तुमि कृष्णचरण पाइबे।।**
**आर कृष्ण नाम लइते तोमार कृष्णधामे स्थिति।**
**महा पातकेर हय एइ प्रायश्चित्ति।।**

एक नामाभास मात्रसे तुम्हारी समग्र पापराशि ही भस्म हो जायगी।

इसके उपरान्त यदि और अधिक नामजप करोगे तो तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णके पावनतम चरणोंके दर्शन होंगे । इसके उपरान्त भी यदि तुम भगवन्नाम लेते रहे तो तुम्हें भगवत्सामीप्य प्राप्त होगा और भगवान् श्रीकृष्णके लीलापरिकर होकर तुम्हारी उनके पावन धाममे उनके समीप स्थिति होगी । कोई महापातकी हो तो भी उसके लिये इससे अच्छा दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है ।

काशीके सर्वशास्त्रनिष्णात पण्डितों तथा महाप्रभु चैतन्यदेवके मतोमे यह वैभिन्य मात्र इसीलिये है, क्योंकि पण्डित शास्त्रोंके गूढ मर्मको समझ ही नहीं पाये हैं। वे शास्त्रोंके ऊपरी कलेवरसे तो परिचित हैं , परन्तु उन भगवान्के सम्बन्धमे उनकी दृष्टि ही नहीं है , जो सर्वशास्त्रोंके सार-स्वरूप हैं। भगवान् और भगवन्नामकी महिमा उन्हें ज्ञात ही नहीं है ।

काशीके पण्डितोंको तो यह भगवद्भक्ति-परायण कर्म घोर पाप ही प्रतीत हुआ होगा, जब महाप्रभु चैतन्यदेवके अभिन्न-विग्रह श्रीअद्वैताचार्यजीने अपने पिताके श्राद्धके समय श्राद्धपात्र भगवन्नामपरायण भक्त यवन हरिदासको देनेका निश्चय किया था। काशीके पण्डितों और भक्तशिरोमणि अद्वैताचार्यजीका मतैक्य संभव ही नहीं है क्योंकि काशीके पण्डित यवनके घर जन्म लेने मात्रसे सन्त हरिदासजीको निकृष्ट अस्पृश्य मानते हैं और श्रीअद्वैताचार्यजीकी मान्यता यह है कि हरिदास-जैसे एक भगवद्भक्तको भोजन करानेसे कोटि-कोटि ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे भी अधिक पुण्यलाभ होता है ।

अद्वैतमतावलम्बी, महापण्डित श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य एक नैष्ठिक ब्राह्मण थे। वे वैदिक रीति-नीतिके कट्टर समर्थक थे एवं शास्त्रोंमें उल्लिखित विधि -निषेधका अतिशय श्रद्धापूर्वक पालन करते थे। महाप्रभुकी कृपासे उन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रीति प्राप्त हुई ।

एक दिवस उनकी परीक्षा लेने महाप्रभु चैतन्यदेव अरुणोदयके पूर्व ही गतं रात्रिका बासी, वैष्णवोका उच्छिष्ट एवं मन्दिरके बाहर फेका, श्वपचादिसे संस्पर्शित भगवत्प्रसादका भात लेकर पहुँचे। महाप्रभुको निरे प्रभात आया देख सार्वभौम तत्क्षण ही शय्या त्यागकर उठ बैठे। महाप्रभुके प्रसाद देते ही उन्होंने बिना शौच-स्नान किये ही बासी मुख उस प्रसादको ग्रहण कर लिया। वे पद्मपुराणके निम्न श्लोकोंका अतिशय भावपूर्वक उच्चारण कर रहे थेः–

**शुष्कं पर्युषितं वापि नीतं वा दूर देशतः ।**
**प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्र कालविचारणा।।**

**न देशनियमस्तत्र न काल नियमस्तथा ।**
**प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टै भोक्तव्यं हरिव्रती ।।**

महाप्रसाद शुष्क हो चाहे बहुत दिन पूर्वका पकाया हुआ हो, चाहे वह दूर देशसे लाया हुआ हो, उसे बिना समय-असमयका विचार करते हुए, मिलते ही प्राप्त कर लेना चाहिये। वैष्णवजनोंको भगवान्‌का अन्नप्रसाद प्राप्त होते ही ग्रहण करनेकी भगवदाज्ञा है। इसमें देश-काल, पाप-पुण्यका कोई नियम नहीं।

यह देखकर महाप्रभु चैतन्यदेव अतिशय आनन्दित हुए। वे सर्वभौमको आलिंगनकर नृत्य करने लगे। वे बोले–

**आजि कृष्ण प्राप्ति योग्य हैल तोमार मन।**
**वेद धर्म लाँघि कैले प्रसाद भक्षण।।**

'तुमने वेद-धर्म लॉघकर प्रसाद भक्षण किया, तो समझो तुम्हारा मन अब कृष्णप्राप्तिके योग्य हुआ।' रसिकाचार्य श्रीहरिरामव्यासदेवाचार्यजीका एक पद यहाँ उल्लिखित कर इस प्रसंगको आगे बढाता हूँ ।

**रसिक अनन्य हमारी जाति ।**
**कुलदेवी राधा , बरसानौ खैरो, ब्रजवासिन सौं पाँति।**
**गोत गोपाल ,जनेऊ माला, शिखा शिखण्डि हरिमंदिर भाल।**
**हरिगुनगान बेदधुनि सुनियत, मूँज पखावज ,कुश करताल।।**
**साखा जमुना, हरिलीला षट्‌कर्म, प्रसाद प्राण, धन रास ।**
**सेवा विधि, निषेध जड़ संगति, वृत्ति सदा वृन्दावन बास।।**
**सुमृति भागवत, कृष्णनाम संध्या-तर्पन गायत्रीजाप।**
**बंशी ऋषि,जजमान कल्पतरु, ब्यास न देत असीस-सराप।।**

अर्थात् इन प्रेमी कृष्णभक्तोकी जाति ही अनन्य रसिकता है । इनकी कुलदेवी राधा है और इनका खैरो (मठ) बरसाना ग्राम है तथा ब्रजवासियोकी पंगत ही इनकी भोजनोपलब्धिका साधन है। इनका गोत्र गोपाल है, और इनकी पहनी तुलसीकी कण्ठी ही इनका यज्ञोपवीत है। हरिगुणगान ही इनके लिये वेद ध्वनिश्रवण है, इनके पास मूँज एवं कुशके स्थानपर पखावज और करताल हैं। इनकी शाखा यमुना है । इनके षट्‌कर्म हरिलीलादर्शन और भगवत्प्रसाद इनका प्राण है, इनका धन रासलीलादर्शन है । विधि इनके लिये भगवत्सेवा है और जड देहाध्यासी लोगोंकी संगति निषेध है। इनकी वृत्ति सदा वृन्दावनवास करना ही है । इनकी स्मृति भागवत है और भगवन्नामजप

ही इनका संध्यातर्पण-गायत्रीजप है । वंशी इनकी आदर्श ऋषि है और कल्पतरु यजमान है । व्यासजी कहते हैं कि ये वैष्णव न तो किसीको श्राप देते हैं और न ही वरदान देते हैं ।

श्रीहरिरामव्यासदेवजीका भगवत्प्रसादके सम्बन्धमें भी एक बड़ा ही मार्मिक पद है–

**हमारो जीवन-मूरि प्रसाद।**
**अतुलित महिमा कहत भागवत मेटत सब प्रतिवाद।।**
**जो षट्मास व्रतनके कीन्हें, एक सीथके स्वाद ।**
**दर्शन पावत साथ खात मुख परसत हरत विषाद।।**
**लेत-देत जो करत अनादर सो नर अधम गवाद ।**
**श्रीगुरु सुकुल प्रसाद व्यास यह रस पायो अनहाद ।**

श्रीगुरुसुकुलप्रसादके शिष्य व्यासदेवजी कहते हैं कि भगवत्प्रसाद ही हमारे जीवनका सार है। भगवत्प्रसादकी महिमा अतुलित है। श्रीमद्भागवत इस सम्बन्धमे प्रमाण है, वह सब कुतार्किकोंका प्रतिवाद करनेमें समर्थ है। छ-छः मासतक अनवरत भले ही व्रत करलो, परन्तु एक कण भगवत्प्रसादके प्राप्त करने मात्रसे ही भगवद्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है। उसके स्पर्शमात्रसे सारे विषाद मिट जाते हैं । जो व्यक्ति भगवत्प्रसाद लेने-देनेमें अनादरका भाव रखते हैं, वे महा अधम और गँवार हैं । श्रीव्यासदेवजीने तो मात्र भगवत्प्रसादकी कृपासे ही असीम रस प्राप्त किया है ।

अन्तमे मुझे इतना ही कहना है – पू. श्रीराधाबाबा और श्रीपोद्दार महाराज दोनों ही उसी वैष्णवताके आदर्श थे, जो महाराजा अम्बरीषसे लेकर अबतक परम भागवतधर्मके रूपमें जानी जाती है एव अब भी यत्र-तत्र विद्यमान है।

---

# श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकासे मत-वैभिन्न्य

बक(दम्भ) एक वृत्ति होती है। परनिन्दा ही इसका उद्देश्य होता है, और इसके द्वारा यह वृत्ति अहकार(कंस)को तुष्ट करती रहती है। एक बार तो अति उल्लासपूर्वक यह तीक्ष्णतुण्ड बक नन्दनन्दनको भी अपने चञ्चुपुटोंमें रख लेता है, फिर साधारण मानवकी तो बात ही क्या है ? इस दम्भरूप बकने अपने नीचेकी चौंचको तो पातालमें लगा रखी है और ऊपरकी चञ्चुसे समग्र आकाशको समावृत कर लिया है । देव, दनुज, मानव – समस्त जीवोंके प्राण इस निन्दास्तुतिरूप बक-कर्मसे प्रभावित होते ही रहते हैं। यह बक समस्त जीवोंके प्राण आकर्षण करनेके लिये विशाल संडासी-सरीखा अपना मुख फैलाये कालपुरुषके समान सर्वत्र ही अवस्थित रहता है।

गोरखपुरका साहिबगंज मोहल्ला भी फिर भला इस बकक्रिया – निन्दास्तुतिका अपवादरूप कैसे रह पाता ? श्रीराधाबाबाने रासलीलाके ठाकुरका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण किया – यह बात निन्दारूप धारणकर एक-से-दूसरेके कानोंमें जाने लगी। लोग चाहे स्वयं धर्मका अंशमात्र भी पालन नहीं करते हों, वे दूसरेको तो पूर्ण धर्मावताररूपमेही देखना चाहते हैं। लोग एक-दूसरेसे कहने लगे कि चतुर्थाश्रमी संन्यासी होकर भी राधाबाबा एक ब्रजवासी रास-धारी बालकका उच्छिष्ट ग्रहण करते हैं, यह तो सर्वथा ही अनुचित बात है। ऋषिकेशमें यह बात कुछलोगोंनेश्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाके कानोंमें भी डालनी प्रारम्भ कर दी। जो लोग छिद्रान्वेषी होते हैं उन्हें अपचर्चाके लिए कुछ-न-कुछ साधन तो चाहियें ही। यहाँ श्रीसेठजीके स्वभावके सम्बन्धमें भी दो बाते लिखना परमावश्यक समझ रहा हूँ । पू. गुरुदेव प्रथमतः जब श्रीसेठजीके पास बाँकुडा पहुँचे थे तब उनके गीताके विचारोंसे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने उनके विचारोंकी श्रीमद्भगवद्गीताकी टीकाके प्रकाशनमें लगातार ढाई-तीन वर्षतक अनवरत कार्य किया था। श्रीसेठजीके सम्बन्धमें पू.गुरुदेवकी अपनी उक्ति निम्न है–

**वैकुण्ठ(बाँकुड़ा) नामकी नगरी थी, ज्ञानी थे एक वहाँ प्रियतम।**
**राजा विदेहके सदृश भला, प्रेमी रघुकुलमणिके प्रियतम ।।**

**आदर्श चरित्रोंके वे थे, जय सीताराम तथा प्रियतम ।**
**नारायण नाम अधिक उनको प्रिय था ऐसा लगता प्रियतम।।**
**जीवनमें उनके छाया थी उस तुलाधारकी भी प्रियतम ।**
**वे अतिशय सरल दक्ष पर थे जगके व्यवहारोंमें प्रियतम ।।**
**देखा था मैंने उनको जब आकाशचारिणी थी प्रियतम ।**
**होती थी सुनकर फुल्ल सदा प्रवचन पवित्र उनका प्रियतम।।**

(पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा रचित चौपदोंसे)

श्रीसेठजी जयदयालजी सचमुच ही महान् विभूति थे। उनमे विश्वकल्याणकी अदम्य भावना थी, परन्तु उनका हृदय गोपीहृदय नहीं था। पू. गुरुदेव अनेक बार यह कहते थे कि महात्मा नन्दरायजी श्रीकृष्णके पिता थे, उनके चरणोंकी धूलि सदा-सर्वदा वन्दनीय है, परन्तु उन्हें श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ रासलीला कर सकते हैं, ऐसा अनुभव अपने जीवनमें कभी भी न हो पाया, न ही हो पायेगा। श्रीसेठजी ब्रह्मज्ञानी होनेके कारण अपनेको पूर्ण समझते थे, अत: अपनेको गोपीभाव एवं रासलीलाका भी मर्मज्ञ मानते थे। गोपीभावपर उनका एक लेख भी 'कल्याण'में प्रकाशित हुआ था जो पुस्तकाकार रूपमें भी छपा था, परन्तु वह गोपीभावका ज्ञानसम्मत आनुमानिक आकलन मात्र ही था। वस्तुतः महाभावराज्यकी गोपीका जो स्वभाव होता है, उसका प्रकाश होना उनके द्वारा संभव था ही नहीं ।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा रासलीलाके ठाकुरका उच्छिष्ट ग्रहण करना श्रीसेठजीको किसी भी प्रकारसे अनुकरणीय और उचित नहीं लगा। वस्तुत: वह सर्वजनके लिये अनुकरणीय था भी नहीं । परन्तु यह तथ्य तो सर्वत्र प्रसारित हो ही गया था कि श्रीराधाबाबा रासके ठाकुरका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करते हैं। रासलीला दर्शन करनेवालोंमें कुछ सच्चे भक्त भी थे। वे अपनी भावुकतावश रासके ठाकुरके प्रति भगवद्भाव रखते थे। उनकी यह भावुकता पूर्ण सच्ची तो नहीं थी, परन्तु वृन्दावनके रसिक वैष्णवोंकी साम्प्रदायिक परम्परा और अनुकृति -नकलके रूपमें ये सभी ठाकुरका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करनेकी चाह अवश्य रखते थे। ये सभी श्रीसेठजीकी अति मर्यादावादी विरोधी-भावना और उनके आक्षेपोंसे पू. राधाबाबाको अपना कवच बनाकर बचना चाहते थे ।

कुछ बकभाव रखनेवाले छिद्रान्वेषी पुरुष भी थे, इन्हें अपचर्चाके लिये

एक अच्छा विषय मिल गया था और ये श्रीसेठजी गोयन्दकाजीको गोरखपुरसे प्रतिदिन ही उलटे–सीधे पत्र लिखते थे और रासलीलाके प्रति बगींचेवालोंकी रुझानको सेठजीके सम्मुख विकृतरूपमें प्रस्तुत करते थे । इनका एक ही उद्देश्य था कि किसी–न–किसी प्रकारसे श्रीसेठजी और श्रीराधाबाबाके मध्य खाई खोदी जाय। श्रीसेठजीने इनलोगोंसे इस बीच पूछा कि क्या तुम्हारे सम्मुख श्रीराधाबाबाने ठाकुरका उच्छिष्ट ग्रहण किया था ? इसका उत्तर उनके पास नहीं था। कारण, श्रीठकुरीबाबूके यहाँ दुपहरीमें हुई वनचारणलीलामें गिने–चुने मात्र भावुक लोग सम्मिलित थे। कामकाजी व्यापारी लोग दुपहरीमें अपने व्यापारिक प्रतिष्ठानोंमें व्यस्त रहते हैं। अत. जो बहुत ही भावुक रास–रसिक लोग थे, वे ही लीलादर्शनार्थ जा पाये थे तथा ऐसे लोगोंको तो अपने रससे तात्पर्य था, इस व्यर्थकी निन्दा–स्तुतिसे वे सर्वथा दूर थे । सेठजीके सम्मुख मात्र अफवाह की ही बातें पहुँची थीं, कोई प्रत्यक्षदर्शी जिम्मेवार व्यक्ति साक्षीके रूपमे यह कहनेको तत्पर नहीं था कि उसके सम्मुख ऐसा हुआ है।

संयोगकी बात है, कि एक दिन कुछ लोगोंने रासके ठाकुरको इस बातके लिये पटा लिया कि वह रात्रिमे लीला सम्पन्न हो चुकनेके पश्चात् जब पू. राधाबाबा एवं बगीचेके लोग विदा हों , उस समय अपना उच्छिष्ट उन्हें प्रसादरूपमें दे। वे इस योजनाके द्वारा साहिबगंजके अनेक प्रतिष्ठित व्यापारियोको सेठजीके सम्मुख इस उच्छिष्ट–ग्रहणके प्रत्यक्षदर्शी साक्षीके रूपमे प्रस्तुत करना चाहते थे । इन छिद्रान्वेषियोंकी इस दुरभिसन्धिमें कुछ ऐसे सच्चे भावुक व्यक्ति भी सम्मिलित हो गये, जिनका इस निन्दा स्तुतिसे कुछ भी लेना–देना नहीं था, परन्तु जो इस तथ्यकी पुष्टि करना चाहते थे कि धर्मतः ठाकुरका उच्छिष्ट लेना शास्त्रसम्मत है या नहीं। उनके सामने धर्म एवं शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले मात्र दो ही आदर्श प्रतिमान थे, एक कट्टर वैरागी, पूर्ण त्यागी, सन्यासी श्रीराधाबाबा जो साथ ही साथ राधाकृष्णके परमोच्च उपासक भी थे, दूसरे , तैलंग–कुल–भूषण, पूर्ण आचारवान्, परमत्यागी, शास्त्रके मर्मको समझनेवाले, ब्राह्मणवर गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी । श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी भी प्रतिदिन रासलीलादर्शनार्थ गीतावाटिकासे साहिबगंज आया करते थे। ये संस्कृतके सुविज्ञ पण्डित होनेके साथ ही सर्वशास्त्रनिष्णात थे। अत ये रासरसिक लोग

यही प्रत्यक्ष देखना चाहते थे कि इतने कट्टर–आचारी, उच्चकुल–शील–शास्त्रविधि के निष्णात समर्थक ही यदि ठाकुरका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करते हों, तो फिर अवश्य ही ऐसा करना वैष्णवशास्त्र एव भागवतधर्म –सम्मत होगा ही, भले ही इसका विरोध सेठजी जयदयालजी करते रहें। इनकी मान्यता थी कि सेठजी आचार–मर्यादाके कठोर पक्षधर हैं, वे वैष्णवताके श्रद्धापक्षको आदृत एवं प्रतिपादित नहीं करते। गोस्वामीजी श्रीचिम्मनलालजी वल्लभकुलके वैष्णव हैं एवं पूर्ण कठोर आचारवान् भी हैं। अत उन–जैसा आदर्श वैष्णव यदि ठाकुरवेषधारी ब्रजवासी बालकका उच्छिष्ट ग्रहण करता है, तो मर्यादाका पक्ष रखनेवाले सेठजीके विरोधको वे उनका व्यक्तिगत मताग्रह मानकर मात्र एकपक्षीय ही समझेंगे। अस्तु, छिद्रान्वेषी लोगोंकी इस दुरभिसन्धिमें ये भावुक लोग भी सम्मिलित हो गये ।

रासलीला प्रारम्भ हुई। पू.गुरुदेवकी दृष्टि ठाकुर पर पडी । पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा देख रहे थे, आज बकासुरके उद्धारकी लीला सम्पन्न होने जा रही है। श्रीकृष्णके साथ उनके अग्रज दाऊभैया भी हैं। पू.गुरुदेव देख रहे हैं कि आज ठाकुरकी लीलासे उनके हृदयका भावससार ठीक सयुक्त नहीं हो पा रहा है। आज ठाकुर उनके संकल्पानुसार आचरण नहीं कर रहा है, स्वतत्र रीतिसे अपने मनकी कर रहा है। पू. गुरुदेवके अपने भावससारमें तो ठाकुरको इस समय वनस्थलीकी शोभा निहारतेहुए, हँसते–हँसाते, अपनी वंशीकी मधुर स्वर–लहरीसे वृन्दाकाननको आप्लावित करना चाहिये, परन्तु प्रकटमें रासलीलाका ठाकुर मात्र हियो–हियो करता हुआ अपने बछड़े बने पात्रोंको ही हॉक रहा है, वशीवादन कर ही नहीं रहा। पू.गुरुदेवके भावसंसारमे तो गोवत्सोके साथ चलते चलते ब्रजबालकोंके सम्मुख पहले नवतृणास्तीर्ण वनभूमि आती है, फिर वहॉ एक रमणीय सरोवर व्यक्त होता है। उल्लासमे भरे रामकृष्णकी तथा गोपशिशुओकी यहॉ प्रथम चेष्टा होती है – अपने अपने वत्ससमुदायको सरोवरका सुनिर्मल जल पिलाकर तृप्त करना। परन्तु रासलीलाधारी तो अपनी लीलामें सरोवरके स्थान पर यमुनातटपर अपने वत्सोको ले आये हैं । ये अपने वत्सोंको जल पिला ही नहीं रहे हैं, न स्वयं ही जल पी रहे हैं ।

पू.गुरुदेवके भावसंसारमें तो इतनी दूरसे चलकर आनेके कारण स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रको भी प्यासकी अनुभूति होती है और वे अपने वत्सोंको जल

पिलाकर परितृप्त करनेके उपरान्त स्वयं भी उस सुनिर्मल सरोवरका अति सुमिष्ट जल पान करते हैं, परन्तु उधर प्रकट रासलीलामें ठाकुर पू. गुरुदेवके भावानुसार लीला सम्पन्न करनेकी अपेक्षा समाजियों द्वारा गाये पदोंके अनुसार दूसरे ही प्रकारसे लीला सम्पन्न करता जा रहा है ।

इसीलिये पू.गुरुदेवका आज रासलीलादर्शनमें वैसा भावोद्दीपन नहीं हो रहा है, जैसा विगत दिवसोमें होता रहा है। सहसा पू. गुरुदेवके भावसंसारके आराध्य श्रीकृष्ण उनके सम्मुख साक्षात् खडे हो जाते हैं और कह उठते हैं– 'प्राणेश्वरी ! आज यदि इस ठाकुरस्वरूप द्वारा तुझे अपना उच्छिष्ट प्रसाद दिया जाता है, तो तू कदापि मत ग्रहण करना, और न ही उसे किसी औरको भी प्रदान करना, सावधान !'

पू.गुरुदेव अपने इष्टके इस स्पष्ट आदेशको सुन रहे थे। वे देख रहे थे कि अपनी प्रियाको यह आदेश देते हुए उनके प्राणाराध्यके अरुणिम अधरोंपर मृदु हास्यकी छटा भर आयी है। उस स्मितकी ओटसे चिन्मय सुधा सीकर झर रहे हैं। मुखमण्डलका सौन्दर्य, लावण्य निखर उठा है । पू. गुरुदेव अपने आराध्यकी इस विलक्षण शोभाको सचकित निहार ही रहे थे कि इसी समय उन्हें रासलीलाका बंकासुर बनाहुआ एक पात्र सम्मुख दृष्टिगोचर हुआ। पू. गुरुदेव उसे देखने लगे। वे सोचने लगे – क्या सचमुच ही ये रासमण्डलीवाले मुझसे कोई छल करने जा रहे हैं ? इधर उस विशाल बकाकृति धारण किये रासधारीने अपने विस्तारित चञ्चुपुटोंको सखा बने रासधारी बालकोंकी ओर फैला दिया।

गोपबालकोंकी लीला करनेवाले बालक भागे अपने प्राणसखा ठाकुरकी ओर। इधर ठाकुर अपना वक्तव्य बोल रहा था–' भैयाओ ! देखो ! आकारसे तो यह पक्षी ही लगता है, पर इसकी चेष्टा पक्षी -जैसी सर्वथा नहीं है। यह तो सर्वथा पर्वत–श्रृग–जैसा प्रतीत हो रहा है।''

गोपसखा श्रीकृष्णको घेरे हैं एवं भीतिसे भरे परस्पर वार्ता कर रहे है–'अरे भैया ! यह पक्षी नहीं है, यह अवश्य ही कोई दानव है। यह तो हम सभीको निगल जानेको उत्सुक है । चलो ! कन्नू ! हम सभी भाग चले ! '

'अरे ! यह क्या ?' पू.गुरुदेव देख रहे हैं कि ठाकुरवेषधारी बालक अपने सखाओंसे 'भयभीत मत होवो' कहता हुआ बकासुरके निकट चल पडता है। पू. गुरुदेव पुन इस बालकके बाल्यावेशपर मुग्ध होगये। सरल मुग्ध

शिशुकी भंगिमा धारण किये बालक ठाकुर वक्रतुण्ड बकासुरकी ओर अग्रसर हो रहा है। बालक मन्द गतिसे बकके निकट जा रहा है। उसकी चालसे स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि उसे बकका किञ्चित् भी भय नहीं , अपितु उसके प्रति उपेक्षा–अवहेलना है ।

पू.गुरुदेवकी वृत्ति पुनः इस लीलाके बाह्य दर्शनको छोड अन्य विचारोंमें उलझ गयी। वे सोचने लगे – जब मेरे इष्टदेव ठाकुर ही मूर्तिमान् बकासुरसे किञ्चित् भी भयभीत न होकर, उसकी उपेक्षा, अवहेलना कर रहे हैं, तो मैं लोकनिन्दारूप इस बकसे क्यों भयभीत होऊँ ? मेरे प्रियतम प्राणाराध्य मुझे अतिशय स्नेह करते हैं, अतः भविष्यमें होनेवाले अपवादसे मेरी रक्षा करनेके लिये अपनी सर्वज्ञता प्रकाशित करते हुए मुझे इस ठाकुरका उच्छिष्ट ग्रहण नहीं करनेका प्रेमाग्रह करते हैं। अवश्य ही उन्हें मेरे सन्यासीवेषकी मर्यादाका विचार है। परन्तु अन्ततः उन्होंने इस बकासुरका वध तो किया ही । क्या यह महाबली तीक्ष्णतुण्ड पक्षी मेरे प्राणपति नीलसुन्दरको अपने चञ्चुपुटोंसे आहत करके उदरस्थ कर पाया ? अन्ततः इस बकका विनाश ही तो हुआ ! फिर मैं भयभीत क्यों होऊँ ? जब मैं रासलीला देखने यहाँ उपस्थित ही हूँ तो मुझे संन्यासकी अपेक्षा रासलीलाकी मर्यादाको ही तो प्रमुखता देना चाहिये।

पू. गुरुदेव इन्हीं विचारोंमें खोये रहे और लगभग डेढ–दो घण्टे लीलाका समय व्यतीत होगया। सम्पूर्ण लीला कैसे सम्पन्न हुई, उन्हें कुछ ज्ञान ही नहीं रहा। कब श्रीकृष्ण बकके मुखविवरमें समाये, कब उनके प्राणपति व्रजेन्द्रनन्दनको उगल देनेको वह बाध्य हुआ, कैसे श्रीकृष्ण अक्षतरूपमें उसके कण्ठसे बाहर आये , कब अतिशय रोषमें भरकर पुनः बकने उनपर चञ्चुप्रहार किये, कब बकदैत्यकी दोनों बृहत् चोंचोंको अपने सुकोमलतम नन्हे करपल्लवोंसे बलपूर्वक उन्होंने पकड़ा, और फिर क्षणार्धमें ही मानो वह बकदैत्य ग्रन्थिहीन –एक तृणविशेष हो इस प्रकारका होगया, अनायास ही बीचसे कब उन्होंने उसको चीर दिया– पू.गुरुदेव सब कुछ खुली ऑखोंसे देखते हुए भी कुछ भी नहीं देख पाये।

उनके विचारोंका प्रवाह तभी थमा, जब देवगणों द्वारा सहस्र–सहस्र कुसुमोंकी वृष्टि होने लगती है और रासलीलाके समाजी अपने ठाकुरके अंगोंको वनधातुओंसे सुसज्जित करने लगते हैं । इसी उमंगके प्रवाहमें ठकुरीबाबूद्वारा

ठाकुरको थाली भरकर नुक्ती(बुँदिया)का प्रसाद गुलाबके पुष्पोंसे आच्छादितकर भोग लगाया जाता है। ठाकुर उसी थालीमें मुट्ठी भर-भरकर स्वयं भी खाता है और अन्य सखाओंको भी खिलाता है । ब्रजवासी बालकोंके संस्कारोंमें उच्छिष्ट-अनुच्छिष्टका तो विचार रहता ही नहीं है । वे तो उमंगके प्रवाहमें एक-दूसरेके मुखोमें बूँदी डालनेकी स्पर्धामें जुटे हैं । वहाँ इसे असम्बद्ध और असगत तो कुछ माना ही नहीं जाता है।

अन्ततः लीलाका पटाक्षेप आरतीके साथ होता है, और लीला सम्पन्न होती है। इसी समय स्वयं ठाकुर उठकर उस बूँदी प्रसादमेंसे दोना भर-भरकर सभी सम्मान्यजनोंको देनेकी योजनानुसार सर्वप्रथम वह प्रसाद पू. राधाबाबाको देने उनके सम्मुख खडा हो जाता है। ठाकुर वह उच्छिष्ट प्रसादका दोना राधाबाबाके हाथमें दे देता है और कहता है कि इसे पालें। पू. राधाबाबाके नेत्रोंमें, मुखपर एक साथ किंकर्तव्यविमूढताकी छाया झलमल कर उठती है। वे पुनः विचारमें पड जाते हैं । उस दिन अवश्य ही वह अमरूद जो ठाकुरकी दतपक्तिसे अर्धचर्वित था, उन्होने खाया था, परन्तु उस दिवस तो वे सच्चिन्मय महाभाव-रससागरमें सपूर्णतया निमग्न थे , उन्हें बाह्य लोकाचारका ज्ञान ही नहीं था । उस दिवस तो उनका सम्पूर्ण मायादृश्य ही तिरोहित हो गया था, परन्तु आज तो यह स्थिति है नहीं । आज तो वे पूर्णतया जागरूक हैं और उनकी बुद्धि धर्माधर्मका पूर्णतया निर्णय करने में समर्थ है । तब वे आज चतुर्थाश्रमी संन्यासी होकर सारे विश्वमें प्रचलित सन्यासमर्यादाके शास्त्रविहित आचरणको सब जनसमूहके सम्मुख क्यों लाञ्छित करें ? यह जनसमूह तो उनके आचरणको ही अनुकरणीय मानेगा । और यदि उन्होंने प्रसाद ले लिया तो सभी इस उच्छिष्ट-भक्षणको धर्मसम्मत मान लेंगे। शास्त्रके विधि-निषेधका तो यह सर्वथा उल्लंघन होगा ही। ब्राह्मण संन्यासीको किसी भी व्यक्तिका चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, उच्छिष्ट ग्रहण करना तो शास्त्रमें पूर्णतया वर्जित है ही। परन्तु इस रासलीलाके ठाकुरकी भी कुछ मर्यादा है । समग्र वैष्णव-सम्प्रदायोकी यह परम्परा है कि ब्रजवासी ब्राह्मण बालक यदि मुकुट धारणकर श्रीकृष्णवेषमे समुपस्थित हो तो उसे प्राणप्रतिष्ठित भगवन्मूर्तिके समान ही आदर देना चाहिये। और उसके उच्छिष्ट प्रसादको भगवत्प्रसादवत् महिमान्वित समझना चाहिये। तब इस प्रसादका एक कण मात्र क्या मैं ग्रहण

करलूँ ? कोई भी व्यक्ति भगवत्प्रसाद कहकर मुझे कुछ भी यदि देता है तो उसका एक कण तो मैं ग्रहण करता ही हूँ ! फिर मैं ब्रजवैष्णवोंकी इस मान्यताका समादर क्यों न करूँ ? जब ठाकुर स्वयं अपने हाथों प्रसाद दे रहा है, तो इसकी मर्यादाकी रक्षा तो होनी ही चाहिये ! इस प्रकार ऊहापोहमे भरे पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा अपने हाथोंमें वह बूँदीका दोना लिये बहुत कालतक खड़े रहे। आसपास खड़े भावुक भक्तो और छिद्रान्वेषी सभी लोगोंकी दृष्टि उनकी क्रियाको देखती–परखती उनपर गड़ी थी। श्रीराधाबाबाके मनमें यह भी आया कि अपनी दो अँगुलियोके मध्य चुपचाप बिना किसीके देखे बूँदीका एक दाना दबालूँ ! इस दानेको बादमें मैं पालूँगा। इस प्रकार मैं संन्यासी होकर सबकी दृष्टिमें अनुकरणीय आचरणका शास्त्रसम्मत आदर्श भी समुपस्थित कर दूँगा और वैष्णवोंकी मर्यादा भी रह जायगी। परन्तु फिर उन्होने इसे अपने समक्ष खडे ठाकुरकी वञ्चना मानकर ठाकुरके वचनोंका ही सम्मान करनेका विचार कर लिया और एक कण प्रसाद लेकर अपने मुखमें रख लिया, शेषाश प्रसादका दोना उन्होंने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको दे दिया जो स्पर्शास्पर्शका अत्यधिक विचार रखनेवाले थे। श्रीगोस्वामीजीने वह उच्छिष्ट प्रसाद बिना कोई विचार किये मात्र इसीलिये पा लिया, क्योंकि उन्हें वह प्रसाद उनके गुरुतुल्य आदर्श संन्यासी श्रीराधाबाबाने दिया था। अब नो भावुक भक्तोंके साथ साथ छिद्रान्वेषण कर श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाके कानमें उलटी–सीधी लगानेवाले बक चरित्र लोगोकी भी योजना आवश्यकतासे अधिक पूर्ण हो चुकी थी। छिद्रान्वेषी लोगोंको तो अनेकों सम्मान्य प्रतिष्ठित लोग भी प्रत्यक्षदर्शी साक्षीके रूपमें मिलगये थे, अत उन्होने तत्क्षण ही उन सबकी एक नामावली बना डाली जिन्होंने पू. राधाबाबाको उच्छिष्टका कण प्रसाद लेते देखा था और गोस्वामीजी जैसे आदर्शचरित्र व्यक्तिको भी, जो श्रीसेठजीके परिवारकी भी अनसखडी ग्रहण नहीं करते थे एवं गंगाजलमें ही बनी वस्तु स्वीकार करते थे, पूरा उच्छिष्ट दोनाप्रसाद पाते देखा था। इधर भावुक भक्तोने जब इन दोनोको प्रसाद लेते देख लिया, तो वे निस्संकोच ठाकुरका प्रसाद निर्भय होकर पाने लगे।

एक छिद्रान्वेषी व्यक्तिका तो इस इधर–उधरकी लगौवनलीलामें उद्देश्य ही यह था कि श्रीसेठजीका जिन्हे पू. गुरुदेव राधाबाबा सदा पितातुल्य पूर्ण

समादर देते थे और अपनी ब्रह्मज्ञानकी अपरोक्षानुभूति उपलब्धिमें जिन्हें हेतु मानकर साक्षात् भगवान् नारायणतुल्य ही देखते थे – पू. राधाबाबाके प्रति दुर्भाव बन जाय और दोनोंके मध्य न पाटी जा सके वैसी खाई खुद जाय। उसने अपने मन्थरास्वभावका पूर्ण परिचय देते हुए इन सभी तथ्योंको पत्रोंद्वारा इतना विकृतरूपमें सेठजीके सम्मुख प्रस्तुत किया कि सेठजी स्वयं सत्संगका कार्यक्रम छोड़ गोरखपुर चले आये।

श्रीसेठजी शास्त्रीय विधि निषेधके इतने कट्टर समर्थक थे कि वे उसका अन्य किसी भावनासे किसी भी प्रकार सामंजस्य करना चाहते ही नहीं थे। उन्होंने अपने निजी एवं सार्वजनिक सत्संगोंमें इस मान्यताका पूरा खण्डन किया कि रास अभिनय करनेवाले बालकमें मात्र मुकुट धारण करनेसे श्रीकृष्णावेश होता है। उनका कथन था कि यदि उस बालकमें श्रीकृष्णावेशकी छाया भी थी तो वह लोगोंके सिखाने–पढानेसे अपने ही गीतोपदेशके विरुद्ध आचरण करता हुआ उच्छिष्ट वितरण क्यों करता ? क्या श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी नहीं है और उसमें उन्होंने अपने मुखसे उच्छिष्ट भक्षणको सरासर तमोगुणी नहीं कहा है ? फिर भगवान् स्वयं अपने ही उपदिष्ट सिद्धान्तका स्वयं ही अपने आचरणसे खण्डन कैसे कर सकते हैं ? श्रीराधाबाबा और गोस्वामीजी–जैसे व्यक्तियोंने एक उच्छृखल आचरण करनेवाले चपल बालकमें किस हेतुसे ऐसी आसक्ति करली। प्रतिदिन उसका नाट्याभिनय देखना और उच्छिष्ट भक्षण करना तो खुला नरकका द्वार है। यह मेरे आजीवनके स्थापित सिद्धान्तोंका मेरे अपने विश्वस्त जनों द्वारा खुला मजाक बनाया गया है। इसके उपरान्त भी श्रीराधाबाबा यदि वृन्दावन जानेकी धमकी देते हैं, तो उन्हें रोका किसने है ? वे भले ही वृन्दावन जावें।

श्रीसेठजीकी कठोर आलोचनात्मक टिप्पणियॉं जब पू. राधाबाबाके पास और भी विकृत होकर पहुँची तो उन्होंने यह निर्णय कर लिया कि अबतक तो वे श्रीपोद्दार महाराजके निर्देशसे बँधे उनके पास रह रहे थे, किन्तु अब यदि सेठजी स्वयं उनको नहीं रोकेंगे तो वे पोद्दार महाराजकी रुचिकी उपेक्षा करके भी वृन्दावन चले जावेगे। श्रीगोस्वामीजी चिम्मनलालजीने भी यह निर्णय कर लिया कि पू श्रीराधाबाबाके गीतावाटिका छोड़कर वृन्दावन प्रस्थान करते ही वे भी कल्याण और कल्याणकल्पतरुके सम्पादनकार्यसे अपना त्यागपत्र दे देगे। इधर तो श्रीसेठजीके प्रखर प्रहार चल ही रहे थे,उधर पू. राधाबाबाके सम्मुख

स्वयं ठाकुर घनश्यामने निष्कपट होकर रासधारी समाजियोंकी दुश्चरित्रताका ऐसा भण्डाफोड किया कि राधाबाबाका हृदय टूक–टूक होगया। उन्होंने निर्णय ही कर लिया कि वे अपने हृदयकी विशुद्ध प्रेममयी परम पवित्र एवं सत्य अनुभूतियोंको साथ लिये अपने प्राणप्यारे पोद्दार महाराजका त्याग करके वृन्दावनधाम कूच कर जावें ।

परन्तु प्रभुका विधान कुछ दूसरा ही था। प्रभुकृपासे संयोग ऐसा बना कि श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया इन्हीं दिनों गोरखपुर आये। उन्होंने श्रीसेठजीके सत्सगोमे श्रीसेठजीकी आहतभावनाको दुखी मनसे सुना। श्रीकानोडियाजीकी श्रीपोद्दार महाराजसे बालमित्रता थी। और वे उनके सभी विचारोसे बालकपनसे ही परिचित थे। वर्षोंतक वे गोविन्दभवनन्यासके महामन्त्री रहे ।अतः सेठजीको भी अन्तर्हृदयसे भलीप्रकार जानते–समझते थे। इसी प्रकार इनका पू.राधा बाबासे पुराना परिचय था। श्रीराधाबाबासे इनका पत्राचार चलता था। श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया सीधे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबासे मिलने गीतावाटिका आये ।श्रीराधाबाबाने उनसे अपने मनकी राई–रत्ती भावना निष्कपट अभिव्यक्त कर दी।

उन्होने कहा कि -'या तो मुझे सर्वथा झूठा एव दम्भी माना जावे, अथवा पागल माना जावे अन्यथा यदि मेरे सत्यपर किञ्चित् भी कोई विश्वास करे तो श्रीपोद्दार महाराज स्वयको भी उस ब्रजवासी बालकमें कुछ अभूतपूर्व चिन्मयताका प्रकाश हुआ है । मैंने उसके द्वारा अभिनीत लीलाकी अपने मानस संकल्पोंसे बीसों बार परीक्षा की है, जब यह ठाकुर सर्वथा मेरे मनोनुरूप मेरी लीलाभावनाको बीसों–पच्चीसों बार अनवरत अभिव्यक्त कर गया , तभी इसमे मैंने मेरे आराध्य श्रीकृष्णको अभिनिविष्ट समझा है और उसका मेरे परमार्थ–धरातलपर सर्वथा चिन्मय प्रतिफल अनुभव करके ही उसका कणमात्र उच्छिष्ट प्रसादरूपमें ग्रहण किया है । जब मुझसे यह प्रसाद–ग्रहण–क्रिया प्रथम बार घटित हुई थी, उस समय तो मैं सर्वथा लोक ज्ञानातीत दशामे रहा हूँ। दूसरी बार वैसी क्रिया करते समय मैं अवश्य होशमें था एवं मुझे अपने पितातुल्य सेठजीके सिद्धान्तोंको देखते हुए ऐसा नहीं करना चाहिये था परन्तु वैष्णवजगत्की भागवतधर्म -प्रतिपादक भावनाओंका भी मुझे रसजगतका साधक होनेके नाते पालन करना अनिवार्य था। यह बगीचा श्रीसेठजीका है। गीताप्रेस, कल्याण

पत्र, सभी संस्थायें श्रीसेठजीकी परम लोककल्याणकारी भावनाओं और सिद्धान्तोंकी समर्थक हैं । मेरी रस समर्थक भावनाओंको वे यदि असह्य समझते हैं, तो मैं यह स्थान उनके प्रति पूर्ण आदर रखते हुए छोड़ना चाहता हूँ। मैं भविष्यमें भी ऐसे प्रसंग उपस्थित होनेपर उन्हें यह आश्वासन नहीं दे सकता कि मैं रासधारी ठाकुरोंसे भगवत्प्रसाद नहीं ग्रहण करूँगा। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि ऐसे अवसरोंसे मैं बचना अवश्य चाहूँगा, परन्तु यदि ऐसा अवसर उपस्थित होगया और भविष्यमें भी मैंने किसी अज्ञात कारणोंवश उच्छिष्ट प्रसादका कणमात्र ग्रहण कर लिया तो श्रीसेठजी पुनः आहत होंगे , अतः मेरा यह स्थान छोड़ देना ही उपयुक्त होगा ।'

श्रीज्वालाप्रसादजीने पू.गुरुदेवकी सभी बातोंको बहुत ध्यानपूर्वक सुना, और वे श्रीसेठजीसे पुनः वार्ता करने गीताप्रेस चले गये। श्रीकानोड़ियाजीने इस सम्बन्धमें श्रीपोद्दार महाराजसे भी वार्ता की। श्रीपोद्दार महाराजको सभी बातोंका ज्ञान न हो, सो बात तो नहीं थी, परन्तु उन्होंने श्रीज्वालाप्रसादजीके सम्मुख ऐसा ही अभिव्यक्त किया मानो उन्हें तो कुछ भी भनक ही नहीं हो। वे अति क्षुभित होकर ज्वालाप्रसादजीसे कहने लगे कि यह भला कैसे संभव है कि श्रीराधाबाबा यहाँसे चले जावें । संसारी लोगोंको तो बात बिगाड़नेमें ही आनन्द आता है।

श्रीज्वालाप्रसादजी पुनः सेठजीसे मिले। उन्होंने श्रीसेठजीको पू. श्रीराधाबाबाद्वारा दिया समग्र स्पष्टीकरण भी सुनाया। श्रीसेठजीने उनसे कहा कि मैं स्वयं प्रातःकाल जाकर स्वामीजीसे भेंट करूँगा।

प्रातःकाल श्रीसेठजी गीतावाटिका आकर पू. राधाबाबासे मिले। उन्होंने कहा कि "मैं सर्वथा नहीं चाहता कि आप हम लोगोंको छोड़कर चले जावें। मैं तो उच्छिष्ट–ग्रहणको गीताशास्त्रानुसार तमोगुणी मानता हूँ और आपका उच्छिष्टग्रहण मुझे सर्वथा अनुचित लगा। आपके चले जानेकी बात मैंने कभी नहीं कही और ऐसी बातकी कोई स्फुरणा भी मेरे प्रसुप्त मनमें भी कभी उदित हो, तो भगवान्से मैं प्रार्थना करता हूँ कि उसकी छायाको भी वे तुरन्त मिटादें। मैं आपको एवं श्रीगोस्वामीजीको अपने आपसे भिन्न सर्वथा नहीं मानता और मैं आपसे यही प्रार्थना करूँगा कि आप भविष्यमें कभी किसीका उच्छिष्ट प्रसाद सर्वथा ग्रहण न करें। यही बात परमोत्तम होगी। आपके प्रति आनुगत्यके कारण

ही श्रीगोस्वामीजी जैसे आचारनिष्ठ व्यक्तिने उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण किया । मेरी दृष्टिमे यह सर्वथा अनुचित आचरण हुआ है। "

श्रीसेठजीकी छलरहित प्रीतिभरी बातें सुनकर पू. राधाबाबाका हृदय भर आया। उन्होने उन्हें यही आश्वासन दिया कि मैं यथाशक्ति आपके अनुरोध का अवश्य पालन करूँगा , परन्तु किसी अवश परिस्थितिमें यदि मैं मात्र एक कण प्रसादरूपमें उच्छिष्ट ग्रहण कर लूँ, तो इसके लिये आपको विचार न कर, मुझे क्षमा कर देना चाहिये। –यह सुनकर श्रीसेठजी मुसकुराकर विदा हुए।

अब श्रीराधाबाबाका पू पोद्दार महाराजको छोडकर कहीं भी आने–जानेका तो प्रश्न ही नहीं रहा था। अकारण ही जो विषम परिस्थिति उत्पन्न होगयी थी, वह सर्वथा समाप्त होगयी। श्रीसेठजीके विरोधसे सारे मारवाड़ी समाजका वातावरण इस प्रकारका द्वन्द्वात्मक होगया कि रासलीलावालोंकी जो अर्थप्राप्तिकी संभावनाएँ थीं, वे अति न्यून होगयीं। अत उन्होंने गोरखपुरसे प्रस्थान करना ही उचित समझा। पू. श्रीपोद्दार महाराज और पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा भी उन्हें अधि रोकना नहीं चाहते थे, कारण, मण्डलीके समाजियोंकी चरित्र–न्यूनताकी अनेक घटनाएँ ठाकुरवेष धारण करनेवाले बालक घनश्यामने श्रीराधाबाबाके प्रति अपना सच्चा आन्तरिक निष्कपट प्रेम रखते हुए, उन्हे निस्संकोच बतला दी थीं। श्रीराधाबाबाने मण्डलीके स्वामीको स्पष्ट तौरपर कह दिया था कि उन्हें भविष्यमे गोरखपुर नहीं आना चाहिये। कारण, उनके गोरखपुर आनेपर घनश्याम ठाकुरके प्रति अतिशय प्रीतिभाव रखनेसे एवं उसमें अत्यंत उद्दीपक भगवद्भाव उत्पन्न होनेपर भावातिरेकमें उनकेद्वारा प्रसादग्रहण जैसी कोई भी सभावना घटित हो सकती है। वे श्रीसेठजीके प्रति अतिशय श्रद्धा और प्रेमके कारण ऐसी किसी परिस्थितिसे सर्वथा बचना चाहते हैं । अतः उनके प्रति यदि उन सबमें किञ्चित् भी प्रेम हो तो उन्हें गोरखपुर तबतक कदापि नहीं आना चाहिये, जबतक उन्हें वे स्वयं नहीं बुलावें। इस प्रकार अत्यन्त स्नेह एवं आत्मीयता प्रदर्शित करते हुए पू.श्रीराधाबाबाने रासमण्डलीको बिदा दी। वे लोग प्रस्थान कर गये।

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(चतुर्थ खण्ड)

पृष्ठ संख्या 101-200 तक

- साधु कृष्णप्रेम

# रासमण्डलीका पुनः आगमन

यद्यपि पू. गुरुदेवने रासमण्डलीके स्वामी श्रीरामजीको बिना बुलाये गोरखपुर आनेकी मनाही कर दी थी,परन्तु भगवद्विधानवश मण्डलीवाले पुनः गोरखपुर आगये। रासमण्डलीके ठाकुरके प्रति पू.राधाबाबाका विशिष्ट भाव था ही, अतः उनके आगमनका पत्र पाकर पू.गुरुदेवने उसे श्रीकृष्णनिकेतन जो गीतावाटिकाके निकट रेलवे कालोनीमें स्थित था, वहाँ ठहराया।

श्रीकृष्णनिकेतनमें पू. गुरुदेवकी पूजा-अर्चनाके लिये श्रीपरमेश्वरजी फोगला (पू.पोद्दार महाराजके जामाता)ने ,जिनकी यह व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, बहुत सुन्दर पुष्पवनवाटिका निर्माण की थी।

ठाकुरस्वरूप बालक घनश्याम और अन्य ब्रजबासी बालकोंको यह स्थान ब०हुत ही सुखकर एवं मनोहर लगा। स्वच्छ, शीतल, सुमिष्ट जल एव शीतल पुष्पगन्धवासित मन्द समीरने सभीके अंगोकी यात्राके कारण हुई सारी थकान हर ली।

मण्डलीवालोंके नेत्रकोणोंमें विकसित पुष्पोंकी शोभा समा गयी। नाना-विधि कुसुमोके सुवासने उनकी घ्राणेन्द्रियोंको कृतकृत्य कर दिया। मानो श्रीराधाबाबा ही उनके आनन्दसंवर्धन और स्वागतके लिये यह प्राकृत प्रेमपरिपूर्ण भेंट उन्हें दे रहे हों।

ठाकुर घनश्याम और ब्रजवासी बालकोंने उत्फुल्ल होकर वहाँकी सघन सुन्दतरुराजिपर दृष्टि डाली। बालकोंने देखा सर्वत्र ही शोभाका अम्बार लगा है। अरुणवर्ण कोमल पल्लवजालसे मण्डित हो रहे थे गगनस्पर्शी वृक्ष- समूह। अगणित फलसमूहों एवं पुष्पगुच्छोंके गुरुभारसे ये सभी अवनत हो रहे थे। मानो अपने भवनमें पधारे इन ब्रजवासी अतिथिगोंके दर्शन पाकर ये वनवासी वृक्षगण मस्तकपर सँजोये पूजोपहार – फलपुष्पोको उनके चरणसरोजोमे निवेदन कर रहे हों। नमित होकर, अपनी शाखावलीसे विशेष अतिथियोके
पाद-पद्मोकी सन्निकट धराका संस्पर्श करते हुए मानो ये मूक निवेदन कर रहे हों 'आओ, भक्तराज पोद्दार महाराज और श्रीराधाबाबाके अतिथिगण ! आओ, हमारा उपहार स्वीकार करो। जो हो, वृक्षावलियों और पुष्पवनवाटिकासे लदे

कृष्णनिकेतनकी शोभा अपने ब्रजवासी अतिथियोंको एक अनिर्वचनीय हर्षदान करने हेतु मानो मुसका रही हैं ।

ब्रजवासी बालक तो बालक ही थे, बाल्यचञ्चलता उनका स्वभाव थी, अतः सभी बालमण्डली उस अति मनोहर वनराजि एवं फुलवारीपर मुग्ध हुई, अपने स्वभाववश वहाँ बालक्रीड़ा करने लगी। इसी समय गीतावाटिकासे गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीको साथ लेकर पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा कृष्णनिकेतन पहुँच गये। दूरसे ही उनकी दृष्टि उन्मुक्त क्रीड़ा करते इन बालकोंपर पड़ी। पू. गुरुदेवको तो वह प्राकृत ब्रजवासी बालकोंकी मण्डली दिखलायी ही नहीं पड़ी । उन्हें तो गोपशिशुओंके साथ नये-नये क्रीड़ा-कौतुक करते नन्दनन्दन ही दृष्टिगोचर होरहे थे, जो अपने हाथो कूपसे जल खींच-खींचकर पौधोंको सींचनेकी क्रीडामें निरत थे। पू. गुरुदेव बालकोकी स्वतंत्र, उन्मुक्त क्रीडामें कोई विघ्न न पडे इस भावसे एक वृक्षकी ओट लेकर खडे हो गये। "देखो, श्रीकृष्णका अभिनय करने वाले बालक घनश्यामको एक वृक्षमें लिपटी लता वल्लरी पर विकसित एक सुन्दर कुसुम दिख गया है, और वह स्वयं उसे चयन करनेको आतुर हो उठा है । उसने उस कुसुमके साथ ही वृक्षपर लगे फलगुच्छको भी देख लिया है और अपने हाथों उस उच्चस्थित फलगुच्छको तोडनेके लिये वह कुदान भर रहा है। उसने अपना दुकूल पुष्पों एव फलोंसे पूर्ण भर लिया है फिर भी उसकी लालसा पुन-पुनः जाग्रत हो रही है। "

पू.गुरुदेव अपने ब्रजवासी बालक बने प्राणाराध्य प्राणपतिके मुखचन्द्रसे झरती हुई सौन्दर्यसुधाका पानकर तन्मय हो रहे थे। " अहा ! उनकी घुँघराली कुन्तलराशि, उनका बालोचित चापल्य, उनकी स्वाभाविक चेष्टायें, उनका अपने सखाओंके साथ उन्मुक्त सम्भाषण नित्य नूतन सौन्दर्य माधुर्यसे भरा है। क्षण-क्षणमे इनका लावण्य परिवर्धित होता है। क्यों न हो, जो रसस्वरूप हैं, जिन रस सागरकी एक बूँद रससे अगणित विश्व-प्रपञ्चमे रसका संचार होता है, जिनकी रसकणिका पाकर विश्वके प्राणी आनन्दमत्तताका अनुभव करते हैं, वे आनन्दकन्द ही तो इन ब्रजवासी बालकोंके रूपमें एक-दो छींटे किनारेपर खड़े मुझपर बिखेर रहे हैं। "

पू. गुरुदेव बहुत कालतक अपने मानसमें न जाने क्या-क्या देखते रहे। पू. गुरुदेवने पास खडे गोस्वामीजीको भी अपनी अँगुलियोंसे चुपचाप वहीं

खड़े रहनेका संकेत दे दिया । पू. गुरुदेवके नेत्रोंसे अनवरत अश्रुधारा उनके कपोलोंसे होती बह रही थी । वे सोच रहे थे, सचमुच ही श्रीकृष्णचन्द्रसे, उनकी चिन्मय लीलासे सम्बद्ध किसी भी तत्वरहस्यको एक मात्र उनकी कृपावारिकी कणिका मात्रको ही सम्बल बनानेपर जाना जा सकता है। अचिन्त्य भावोंमें तर्कोंके लिये स्थान जो नहीं। श्रद्धापूत चित्तसे अनुशीलन करनेपर उनकी कृपाशक्ति सत्यको अपने-आप व्यक्त कर देगी। उसे जानकर अनुभव करके ही कोई कृतार्थ हो सकता है ।

इस प्रकार उन ब्रजवासी गोपबालकोंकी बालकोचित स्वाभाविक चपल बालक्रीडासे ही भावोद्दीपित एवं आलोकित-चित्त पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा दिव्य रसपानमें आनन्दनिमग्न हुए बहुत कालतक भावविभोर रहे। सुदीर्घ काला-वधि पश्चात् जब पू. गुरुदेव संवरित हुए तभी श्रीगोस्वामीजीने रासमण्डलीवालोंको सूचित किया कि पू. राधाबाबा वहाँ आये हैं ।

# गुणीजनलीला

शुभ्र ज्योत्स्नाका परिधान धारण किये निशासुन्दरीने गोरखपुरस्थित कृष्णनिकेतनमें आज अपनेको धन्यभाग्य अनुभव किया है। आसपास नीरव वनक्षेत्रमे सभी विहंगम शान्त शयित हैं। कृष्णनिकेतनकी गौएँ भी गंभीर निद्रामें निमग्न हैं। सुदूर रेलवेकालोनीके बने गृह-आवासोंमें आबाल-वृद्ध सभी निवासी सुखपूर्वक गंभीर निद्रामे अचेत हैं। मध्य निशा हो चुकी है। कृष्णनिकेतनसे कुछ ही दूरीपर स्थित गुडधोइया नामक नालेके पंकमें खिले कमलकोश निमीलित हो जानेके कारण मधुकरवृन्द वहीं पूर्णतया बन्दी बन चुके हैं। कुमुदिनी अपनी अभिलषित वेलाका समागम पाकर अपने प्रियतम चन्द्रदेवका आनन निरखती अतिशय प्रफुल्लित हो रही है। ऐसे परम रसमय वातावरणमे आज पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी अभियोजनानुसार इस पूर्णतः एकान्त कानन-खण्डमें रासलीलाका आयोजन किया जा रहा है । लीलाके भावोंकी पवित्रता एव गंभीरताको बनाये रखनेके लिये इस लीलाके अभिनीत होनेकी सूचना किसीको भी सार्वजनिक रूपमें नहीं दी गयी है । मात्र ग्यारह दर्शक ही इस अभिनयको निहारने वाले हैं । यह लेखकका सौभाग्य था कि वह इन

लीला-दर्शकोंमेंसे एक था।

पू.गुरुदेवने अपने मानसिक मानचित्रके अनुसार आज अभिनयमण्डपका निर्माण कराया है। वे आज मध्याह्नसे ही प्रबन्धकोंको निर्देश दे-देकर मण्डपनिर्माणमें निरत थे। मध्य रात्रिमें इस रासाभिनय-मण्डपको महाभाग चन्द्रदेवने अपनी सुधामयी ज्योत्स्नासे ऐसा परिस्नात किया है कि जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही प्रतीत होता है, मानो सौन्दर्य अधिष्ठात्रीके कोषमें जितनी शोभा संचित है, सब-की-सब यहीं बिखेर दी गयी हो। पू. गुरुदेवने विशाल भूखण्डमें वन, गोवर्धन, यमुना-पुलिन सभीकी यथाशक्य लघु अनुकृतियाँ निर्मित की हैं। सभी दर्शकोको ऐसा जीवन्त अनुभव हो रहा है, मानो एक अनन्त अचिन्त्य सौन्दर्य-रस-समन्वित उदधि लहरा रहा हो, जिसका कहीं कोई न ओर हो एवं न ही कोई छोर हो। सचमुच चिदानन्दमय परब्रह्मकी प्रतिष्ठा – महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलास्थलीका निर्माण जो हुआ है, वह तो उनके समान ही विभु होना ही चाहिये। लीलाके प्रारंभ होते ही द्वारपर ताला लग जाता है ।

अभिनयमण्डप वस्त्रोंसे ही बनाया गया है । बीचमें एक सुन्दर सिंहासन प्रिया-प्रियतमके विराजनेके लिये सुरचित है । रासमण्डपके चतुर्दिक् मणिदीपोंकी शोभाका अनुकरण करते विद्युद्दीप जगमगा रहे है। सभी समाजियोंको आज पू. गुरुदेवने पीत रेशमी वस्त्र दिये हैं । सभीके मस्तकोंमे सुन्दर कलगी-लगे साफे हैं। कलगीके रूपमें अनेक रासधारियोंने तो मयूरपिच्छ, अनेकोंने नीलकण्ठ पक्षीके पंख और कुछने बगुला जलपक्षीके पंख धारण किये हैं। प्रायः अधिकाश श्रृंगारसामग्री मथुरासे किसी व्यक्तिको भेजकर मँगायी गयी है। समाजियोमें मुख्य कीर्तनिया श्रीहरिवल्लभजी सारंगी लिये हैं। मंडलीके स्वामी श्रीरामजी हारमोनियममें सुर दे रहे हैं, एक समाजी मृदग मिला रहा है, और कुछ पीछे कीर्तन करनेवाले झाँझ लिये हैं । सहसा श्रीहरिवल्लभजी अत्यन्त सुमधुरस्वरमें सारंगीवाद्यमें सुर भरते हुए गाने लगते हैं

**अंकस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति मधुरं विदधन्यकस्मात् ।**
**श्यामानुरागमदविह्वल मोहनांगी श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नि।।**

देवभाषा संस्कृतमें वन्दनाके साथ धीरे-धीरे रासाभिनयका मखमली रेशमी पर्दा शनैः-शनैः अपसर्पित होता है। सभी दर्शक प्रिया-प्रियतमकी अतिशय दिव्य झाँकीका छवि-दर्शनकर किसी दूसरे ही अनिर्वचनीय लोकमें पहुँच जाते हैं। स्वय भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीला-महाशक्ति ही

तो उनकी समस्त लीलाओंकी सूत्रधार हैं । वे ही तो उनकी प्रियाके भी महाभाव-सुधासागरकी एकमात्र नियंत्रिका हैं । वे ही उनकी एक-एक भावोर्मियोंपर भी नियंत्रण करती हैं । श्रृगाररसकी कौनसी पयस्विनी कब किस रंगमंचपर उफनेगी, कहाँ अपने प्राण-प्रियतम रसराज श्यामसुन्दरसे संगमित होगी, किस संगमपर, किस माधुर्यतीर्थपर उन्हें आज स्नान कराना है इस सबकी पूरी अनुक्रमणिका तो उन्हींके पास रहती है। अपनी इच्छानुसार अपने निर्दिष्ट कमसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको महाभावसागरकी लहरोंपर बहाती हुई किस संगमपर ले जावेंगी, श्रीकृष्णचन्द्रको वहाँ कितनी सीमातक डुबावेंगी, अथवा परिस्नात करावेगी और वे महाकृपालु रसिकवर न जाने क्यों, कैसे, एवं कब इस श्रृंगाररससुधाके एक-दो छींटे अथवा फुहारें अपनी अपार कृपासे किनारेपर खड़े सांसारिक जीवोंपर बिखेर देंगे – इसका किसे ज्ञान है ? इन्हीं विन्दुओंकी रस-छायासे तो प्रपंच-जगत् के श्रृंगारस्रोतमें रसका संचार अनादि कालसे होता रहा है, एवं अनन्त कालतक होता रहेगा। यह मायिक श्रृंगार-स्रोत भी कभी सूख नहीं पाता है। आज इन्हीं लीला-महाशक्तिके दर्शक बने पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा, पू. पोद्दार महाराज और अन्य उनके चरणावलम्बी अनुगत जीवोंके हृदयकी भावधाराको इस महाभावसागरसे संगमित करना है। लीलामहाशक्तिको प्रत्येक दर्शकके हृदयकी भाव-सुपात्रताका पूरा-पूरा परिज्ञान है । ये लीलामहाशक्ति यह भी भलीभाँति जानती हैं कि पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा जहाँ प्रिया-महाभाव-वारिधिके ठीक किनारेपर खड़े हैं और प्रपंचका पूर्णतया त्यागकर बस किसी भी ज्वार-लहरमे डूबनेको सन्नद्ध हैं, वहाँ पू. पोद्दार महाराज पूर्ण रसिक रसराजसिन्धु बने लहरा रहे हैं, और शेष उनके चरणाश्रित जन यद्यपि अभी विषयपंकमें ही रचे-पचे डूबे हैं, परन्तु वे सभी हेतुरहित कृपा-कणिकाका दान पानेके तो अवश्य ही याचक हैं । अतः लीलामहाशक्ति ऐसा मंच निर्माण करती हैं, जिससे प्रत्येक अपनी-अपनी योग्यतानुसार इस पवित्र लीलारससुधाका मुक्त आस्वादन कर पावे । अतः वे क्रमशः सबके लिये विलक्षण रसरीतिसे कपाट उन्मुक्त करनेका प्रावधान करती हैं ।

ज्योंही रासमञ्चका परदा उठता है, दर्शक देखते हैं– श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रिया राधारानीके अंकमें विराजित हैं। प्रियतम श्यामसुन्दरके नेत्र अपनी प्रियाकी आनन-छवि निरखनेमें पूर्णतया निरत हैं। यद्यपि प्रियतम निज प्रियाके अकमें ही लेटे हैं, तदपि प्रिया–"हा प्राणवल्लभ ! " कहकर उन्मत्त प्रलाप कर

रही हैं । वे अनुरागमदमें पूर्णतया विह्वल हैं। उनकी विलक्षण प्रेमशोभा देखते ही सभी दर्शक अश्रु बहाने लगते हैं ।

सभी रासमण्डलीके समाजी यह देखकर विस्मित हैं कि प्रथम छवि-दर्शनके साथ ही श्रीपोद्दार महाराजके नेत्रोंसे तो ऐसी अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है मानो उनके नेत्र नहीं, कोई दो लघुत्तम जलधरखण्ड रसवर्षा कर उठे हों । इधर पू. गुरुदेव यद्यपि जागरूक हैं , परन्तु उनके पार्श्वमे बैठे गोस्वामी चिम्मनलालजी सिसकियाँ भर रहे हैं । रासके समाजियोंने इन प्रमुख दर्शकोंकी ऐसी विलक्षण भावदशा देखकर एक बार तो रासमञ्चका परदा ही डाल देना उचित समझा। मात्र अकेली इस अभिनव रसझाँकीके साथ ही परदा गिर जाता है । कुछ काल पश्चात् जब श्रीगोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी संवरित होते हैं, तो रासलीला पुनः प्रारंभ होती है।

पुनः परदा धीरे-धीरे सरकता है। इस बार दर्शक देखते हैं, दोनो युगलस्वरूप प्रिया-प्रियतम सिंहासनपर गलबैयाँ दिये विराजित हैं। अहा ! इन युगल दम्पतीका सौन्दर्य कितना मोहक है, दर्शकगण थकितनेत्र हो उठते हैं। पलकें प्राकृत नियमानुसार गिरना चाहती हैं, परन्तु दर्शन-लालसामें अवरोध न आवे, इसलिये मन उन्हें बरबस गिरने नहीं देना चाहता। मन मुग्ध है।"अहा! प्रियाजी बने इस बालककी इतनी सघन कुन्तल राशि !, कुन्दनद्युति आननसरोजपर बिखरी अलकावलीकी लघु-लघु लटे, विशाल नेत्र, वह मृदु मुसकान, मधुस्रावी अधरयुग्म, ललित चंचल भंगिमायें— जो निहार रहे थे, वे ही अनुभव कर रहे थे कि उस निशामें कैसी विलक्षण शोभाराशि उस रासमंचमें उमड़ी थी।

समाजी गा रहे थे। मृदंगमें कहरवा ताल बज रहा था। परम सुरीली झाँझे झंकृत होरही थीं। प्रमुख गायक श्रीहरिवल्लभजीका सुर अतिशय मधुर था।

**बैठी सिंहासन हित-जोरी ।**
**जिहिं लखि लाजत काम करोरी।।**
**अनुपम छवि ललितादि निहारैं ।**
**होत मगन तनमनधन वारैं।।**
**तत्सुख भाव विचारत रहैं ।**
**जातैं प्रिया-पीव सुख लहैं।।**

अहा ! स्वर और शोभा दोनोंने मिलकर वातावरणको जीवन्त, सरस कर दिया था। इसी समय अनेक ब्रजसुन्दरियाँ रंगमंचपर उपस्थित होती हैं और परस्पर गायनमें ही वार्ता करती चौपाईछन्दमे कहती हैं :-

**रचैं छद्म सब मिलि मन आई। लाल-प्रिया जिहिं जान न पाई।।**

**प्रथम ब्रजांगना**–" (ब्रजभाषा गद्यमें) हे सखियों ! आज मेरे मनमें एक नवीन उत्कण्ठा उदित भई है। आज तौ कोई अतिशय नवीन छद्म हम सब मिलिकैं रचै, जाकूँ प्रिया-प्रियतम परख ही न सकैं ।"

**द्वितीय ब्रजांगना**–" हाँ बीर ! तेरी राय तौ अतिशय सुखकारी है ! ये दोनो प्रिया-प्रियतम तौ हमे सदा ही अपनी लीलान तैं भ्रमित राखैं हैं । आज हम ऐसी लीला-रचना करैं , ऐसौ नवीन रसमय भेष धारण करैं कि ये दोनों हू भूलनमें परि जावैं ! "

**तीसरी ब्रजांगना**–" हाँ, हाँ री सखी ! पहिलैं प्यारी रानीसौं कोऊ सेवा करवेकी आग्या लै कुंजनमें प्रवेश कर छद्म भेष तो बनावैं ।

**(तीनों ब्रजांगना सिंहासनमें बैठे प्रिया-प्रियतमके निकट जाती हैं) समाजी गाते हैं:-**

**चौपाई**

**अस विचारि करि हियैं दृढाई । पहुँचि प्रिया ढिंग बिनय सुनाई ।।**

**तीनों ब्रजांगनायें (गायनमें)**

**जो प्यारी निदेस हम पावैं । तौ चुनि कुसुम हार पहनावैं।।**

**रचना हार अनौखी करिहैं । पहिरैं आज हियौ छकि जैहैं।।**

**(अर्थ )**

"अहो ! हमारी प्राणसखी ! तुम्हारी बलिहारी है ! यदि आपकी अतिशय सुखकारी सम्मति होय तौ हम सभी सखीगण आज आपकी कुञ्जवाटिकासौं पुष्पचयन कर लावैं और आप दोनों प्रिया-प्रियतम कौं नयौ प्रकारकौ पुष्पश्रृंगार रचकर पहनावैं । हम सभीकी आज यही कामना है कि आप दोनो प्रिया-प्रियतम पुष्पश्रृगार धारणकर पुष्पमहलमें पुष्पशय्यामे पौढौ ।"

पू.गुरुदेव रासलीला क्या देखरहे थे, उनके तो रोम-रोमसे आनन्द झर रहा था। पू. पोद्दार महाराजकी भी अद्‌भुत विचित्र दशा थी। इन दोनोंके सम्मुख तो साक्षात् स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन ही अपनी प्रिया रासेश्वरी सहित विस्मित कर देनेवाली लीला कर रहे थे। राधा-प्राणधन ! प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र!

बलिहारी है, तुम्हारी मुनिमनहारिणी निजमनमोहिनी, भक्तसर्वस्वदायिनी लीलाकी! भक्त-वात्सल्यका ऐसा निदर्शन तुम्हारे अतिरिक्त और कौन कर सकता है ?

लेखक इस लीलादर्शनके समय इन तीनों महापुरुषों (पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा ,श्रीपोद्दार महाराज एवं श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी) के निकट ही बैठा था । वह इन तीनोंकी विचित्र प्रेमदशा निरख-निरखकर चकित था। उनके मनोराज्यमें प्रवेश पाना तो उसके वशकी बात नहीं थी। फिर वह उनकी इस विचित्र भाव-दशाका रहस्य कैसे जाने ? उसने धीरेसे अपने मामा श्रीचिम्मनलालजीसे प्रश्न भी किया,"मामाजी ! क्या आपको भगवद्दर्शन हो रहे हैं ? परन्तु वे बताते भी कैसे ! वे तो दूसरे ही लोकमें थे। कभी लेखकके अतिशय हिलानेसे अपने प्राकृत देहको पकडते तो अपने कण्ठको अतिशय भावरुद्ध पाकर बोल ही नहीं पाते। लेखकको कुछ भी बतानेमें असमर्थ हो जाते। रासलीलाका क्रम आगे बढ रहा था।

**समाजी गा रहे थेः–**

**चौपाई**

**सहज प्रिया आज्ञा करि दीनी। चली तुरत उर अति सुख भीनी।।**
**सखियन अस बिचारि मन कीनौ । रचौ खेल कोऊ रसभीनौ।।**

**(पटाक्षेपमें)**

अपनी प्राणसखीसे सहज ही अनुमति पाकर सखियाँ अतिशय सुखमें भरीं तुरन्त ही कुञ्जवाटिकामे प्रविष्ट हो जाती हैं। वे अपने प्राणसारसर्वस्व प्रिया-प्रियतमको रिझानेके लिये नटकला करनेवाले गुणीजनोंका वेष धारण करती हैं।

इधर लीलामचमे अपनी प्रियाके प्रेममें अतिशय मुग्ध ठाकुर उन्हें सम्बोधित करता गाता हैः–

(श्रीहरिवल्लभजीकी अँगुलियाँ सारंगी वाद्यमें अतिशय सरस सुर भरती थिरक उठती हैं । राग मालकौंस मानो मूर्तिमान् प्रकट हो जाता है। मृदंगमें तीन ताल बज उठती है)

**ठाकुर** –(अपनी प्रिया श्रीराधारानीके चिबुकको संस्पर्शित करते हुए)

**तुव मुख कमल , नैन अलि मेरे , राधे !**
**पलक न लगत, पलक बिनु देखैं , अरबरात अति फिरत न फेरे, राधे !!**
**पान करत मकरन्द रूप-रस, भूलि नहीं फिर इत-उत हेरे राधे !**

**'भगवत रसिक' भये मतवारे, घूमत रहत छके मद तेरे राधे !!**

ओह ! ठाकुरके मधुमय कण्ठके इस संगीतमें कोई मोहन-मंत्र भरा था। पू. गुरुदेव लोकातीत रसमें आपाततः निमग्न थे। मैं उनके रसमुग्ध मुखकी ओर एकटक देख रहा था। कभी श्रीपोद्दार महाराजके भावसमाधिस्थ आननपर मेरी दृष्टि जम जाती। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो इन युग्म हृदयोंमें अनन्त पारावारं-रहित रससिन्धु है, उसमें कभी नीलवर्णकी और कभी विद्युल्लताप्रभ कनकवर्णकी तरंगें उठ रही हैं। प्रत्येक तरंग मेरे प्राणोंमें समाकर कह रही है—'अरे ! अरे !! भाग्यवान् ! ये हृदय-द्वय प्रिया-प्रियतमके रसपूर आवास हैं, इनमें अन्य कोई प्रवेश ही नहीं कर सकता।' अहो ! मेरे स्वयंके नेत्र भी रसनिमीलित हो उठे। अपना समस्त धैर्य बटोरकर मैं पुन: लीलादर्शन करने लगता हूँ।

अपने प्रियतमके प्रेमनिवेदनका प्रत्युत्तर प्रिया राधारानी दे रही हैं। प्रियतमने जहाँ मालकौंस रागमें आलाप किया था, वहाँ प्रियारानी अपनी कोकिलकण्ठी ध्वनिमें जोगकौंस रागमें प्रत्युत्तर देती है। मृदंग त्रितालमें गमक रही है :—

**नैननि ही में राखूँ ,तोहे पिया !**<br>
**प्राण ! तिहारे एक रोम पर, जगत वारि सब नाखूँ ।।**<br>
**भेटूँ सकल अंग साँवरकौं, अधर सुधा रस चाखूँ ।**<br>
**'रसिक प्रीतम' हित चितकी बतियाँ ना काहूसौं भाखूँ।।**

मैंने देखा कि पदगायन सुनते-सुनते पू.गुरुदेव ऐसे काँप रहे थे, मानो ग्रीष्मके स्थानपर शिशिर ऋतुका पदार्पण होगया हो। उनके नेत्र राधारानी बने स्वरूपके आनन-सरोजमे विजड़ित थे। उन्हें तो ये दोनो बालक नीलपद्म एवं राकाचन्द्रका सम्मिलन दृष्टिगोचर हो रहे थे। जैसे सुनीलपद्मको अपने अनादिसिद्ध चन्द्र-विरोधका पूर्ण विस्मरण होगया था। वह चन्द्रसे निस्संकोच पूर्ण प्रेमनिवेदन कर रहा था। मरकतश्याम मुखसरोजसे झरते प्रेमनिवेदनका राकाचन्द्रने कितना सटीक उत्तर दिया था। राकाचन्द्रके इस प्रेमभरे उत्तरको सुनकर नीलपद्म मानो रुदन कर उठा। हाय ! अबतक मैं इस कनकमयकरसे क्यों विरहित रहा ? नीलपद्मका प्रेमविलाप उसके नवनीत-विन्दुसम अश्रुकणोंके रूपमें झरने लगा। इधर प्रिय समागमसे प्रफुल्लित चन्द्र भी शान्त नीरव गगनमे प्रेम पीयूषकणोकी वर्षा करने लगा। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाका इस

विलक्षण भावदर्शनसे परम सात्विक कम्पविकार बढ़ता जारहा था। उन्हें बज्राहत वल्लरीके समान कॉपता देख मैंने रासमण्डली के स्वामी श्रीरामजीको सकेत किया। तुरन्त ही यवनिका गिर जाती है और अभिनयको किंचित् विराम दे दिया जाता है ।

किञ्चित् विरामके पश्चात् ज्योंही पू. गुरुदेवकी भावदशा सवरित होती है, रासलीला पुनः प्रारम्भ होती है ।

इस बार परदा ललिताकुञ्जका है। कुञ्जके बाहर एक सखी प्रहरीके रूपमें खडी है। उसकी अनुमतिके बिना मानो कोई भी कुञ्जप्रवेश नहीं कर सकता।

"देखो ! देखो !! सखियोंने कैसा वेष धारण किया है ! सभी अपना स्त्रीवेष त्यागकर पुरुषवेषमें गुणीजन बन गयी हैं। अहा ! इनके अगोंमें धोती, झँगला, पाग, दुपट्टा, कमरफैंट – सभी वस्त्र कैसे फब रहे हैं ! इनमेसे किसीने सारंगी, किसीने मृदंग, किन्हींने झॉझ, करताल और कुछने तानपूरे, इकतारे, श्रीतार आदि तन्तुवाद्य धारण किये हैं। वे कैसे उमग-उमगकर द्वाररक्षिका सखीके सम्मुख ठुमक रहे हैं ! अहा ! अनाविल रसमुद्रामें ये सखीसे निवेदन कर रहे हैं :–

**"कुंज पौरि ठाढे भये, करौ खबर सखि जाय ।**
**हम जु गुनी बहु दूर के, प्रिया सुयश सुनि आय ।।**

**(अर्थ)**

"हे सखी ! तुम भवनके अन्तर्भागमें जाकर अपनी स्वामिनीसे निवेदन करो कि बाहर गृहतोरणके समीप आम्रकी शीतल छायामें बहुत दूरसे समागत गुणीजन आसीन हैं। जो रावरी आज्ञा मिलै तो कुछ अपने गुण आपके सम्मुख निवेदन कर आपका सुख-संवर्धन करैं ।"

गुणीजनोका निवेदन सुनकर द्वाररक्षिका महलके भीतर चली जाती है और सत्वर ही महलके अन्तर्भागमें प्रवेशकर कुछ काल पश्चात् ही लौटती है। उसे रानीकी आज्ञा प्राप्त होगयी है कि गुणीजनोंको भीतर महलमें उपस्थित करे ।

**(पटाक्षेप होकर पर्दा गिर जाता है)**

कुछ क्षणोंके पश्चात् ही नवीन झॉकीको प्रदर्शित करता पुनः परदा

उठता है। दर्शक देखते हैं–

"निकुञ्जान्तर्गत रंगमहलका दृश्य है। प्रिया-प्रियतम राधामाधव अतिशय सुभग परम रसमय श्रृगार धारण किये पुष्प-पर्यंकमें विराजित परस्पर रसकेलि कर रहे हैं। उनके अगोंमे आज पुष्पोंसे विरचित सम्पूर्ण शृंगार शोभा पा रहा है। बेलाके मुकुट और चमेलीके पुष्पोसे उनकी वेणी ग्रथित है। सर्वांगोमें चम्पादि श्वेत शुभ्र पीताभायुक्त पुष्पोंके ही अलंकार सुशोभित हैं। पैरोंमें पैंजनी और कटि किंकणीतक शुभ्र रजत एवं वज्रमणिखचित हैं। रजतके घुँधुरू नूपुरोंमें अतिशय मधुर रुनझुन-रुनझुन रव कर रहे हैं।"

मैं अपने आपमे ही विचार करने लगता हूँ–"मुझे एवं मेरे समान ही यहाँ आसीन अन्य दर्शकोंको तो यह रासलीला चाहे कितनी ही रसमयी हो, प्राकृत ब्रजवासी बालकोंका एक कुशल अभिनय ही दृष्टिगोचर हो रही है, परन्तु अहा ! मेरे इन धर्म-मातुल श्रीपोद्दार महाराज और गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी कैसी पावन विशुद्ध दृष्टि है कि उन्हें इन गृहस्थ कामज ब्रजवासी ब्राह्मणोंकी सन्तानोंके पदगायन और रासाभिनयोंमें सर्वान्तर्यामी सर्वनियामक सच्चिदानन्दघन परतत्व परब्रह्म परमात्मा साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं। वे दोनों ही मेरे अति सन्निकट बैठे हैं, परन्तु इनकी एवं मेरी दृष्टिमें कितना आकाश-पातालका भेद है ? मेरी दृष्टिके सम्मुख तो जहाँ मेरी धर्म-भगिनी बाई सावित्रीकी वाटिका है, गोरखपुर नगरकी भूमि और नभ है, वहीं मेरे पार्श्वमें ही विराजित मेरे गुरुस्वरूप श्रीराधाबाबाके नेत्र यहीं चिन्मय संधिनीशक्तिकी परिणति– ब्रजपुर वृन्दावनकी परम रसमयी वसुन्धरा एवं उसीके द्युलोकका दर्शन कर रहे हैं। अहा ! उनकी कैसी विशुद्ध प्रीतिरसभरी दृष्टि है कि वे जगत्‌के मायामय कीचका दर्शन ही नहीं करते और इन साधारण गँवार बालकोंमें, इनके मात्र श्रीकृष्णवेषमें सज्जित हो जाने भरसे, उनमें अपने आराध्यको भरा देख रहे हैं। इनकी पावन विशुद्ध दृष्टिमें न तो कहीं कोई जागतिक वाटिका है; न ब्रजवासी बालकोंका रासलीलादल है, न ही कहीं कोई अभिनय-क्रीडा हो रही है। इन्हें तो अपने परमाराध्य परम प्राणधन अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन भगवान् श्रीकृष्ण ही माधुर्यरससुधापानकी अत्युत्कट अभिलाषावश अपने किशोरावेशके अन्तरालमें अपनी समग्र भगवत्ता, अशेष ब्रह्मरूपता, सर्वनियामकता एवं अखण्ड ईश्वरताका आत्यंतिक विस्मरणकर ब्रजपुरकी

विमल वसुन्धरामें विहार करते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ये दोनों सन्त त्रिजगन्मंगलकारी एवं परम धन्य हैं, क्योंकि इनकी सत्य तत्वदर्शी दृष्टिके सम्मुख जो भी आता है, ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त,वह सब सत्य-का-सत्य श्रीकृष्ण ही होता है। उन्हें अपने परमाराध्य श्रीकृष्णके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ताकी प्रतीति ही नहीं होती। यहाँ तो इन बालकोंद्वारा सिद्धसन्तोंद्वारा वर्णित रसलीलाओंका अभिनय होरहा है, परन्तु जहाँ ऐसी किसी भावोद्दीपन करनेवाली चेष्टाका, परिस्थितिका सर्वथा अभाव है , अपितु दुर्दान्त आसुरी आवेश है, वहाँ भी इन सन्तोंको अपने आराध्यके अतिरिक्त कुछ भी पृथक् अनुभव नहीं होता। कितनी विशुद्ध इनकी पावन निष्ठा है !

हम अज्ञानी जीवों और इन सच्चे सन्तोंके दर्शनमें यही अन्तर है । हमे पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशायें, तारावली, चन्द्रमा, आकाश, तम, तेज आदि अधिदैव जगत् सत्यवत् भासित होता है, हमें अधिभूतरूप विश्व भी -- कीटसे ब्रह्मापर्यन्त सत्य दिखते हैं; हमें प्राण, मन, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, विज्ञान(बुद्धि), वीर्य आदि अध्यात्मरूप जगत् भी सत्य दिखता है, परन्तु इन सभी अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्मरूपोंमें हमें उनके नियामक श्रीकृष्ण कहीं नहीं दिखते। परन्तु इन महासिद्ध सन्तोंको इन सबके रूपोंमें सर्वान्तयामी, सर्वनियामक श्रीकृष्ण ही पूर्णतया भरे ओतप्रोत सत्य दृष्टिगोचर होते हैं। शेष सभी प्रतीयमानता उन्हें विनाशी, क्षणभंगुर माया समझमें आती है। ये सन्त ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सर्वत्र मात्र अपने प्राणाराध्य श्रीकृष्णको सत्य देखनेके कारण, इन सभीको प्रतिपल परममंगलमयी विशुद्ध स्नेहराशिका दान करते हैं और हमारी अज्ञानमयी मायादृष्टि इन्हें रागद्वेषमयी त्रितापदायिनी भीषण भवज्वालामें दग्ध करानेकी हेतु होती है। देखो न ! इन ब्रजवासी रासमण्डलीके प्रत्येक पात्रमें ये महाकृपावतार रससिद्धसन्त बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र अपने आराध्य महाभाव एवं रसराज श्रीराधामाधवको देखते हुए, उन्हें इनका ही दान कर रहे हैं, और हम इन्हें मात्र ब्रजवासी बालक देखनेके कारण भले ही, थोथी भावुकतावश ही इनके द्वारा प्रदत्त श्रीकृष्णप्रीतिभावको ग्रहण करते हुए भी, इन्हें अपनी त्रितापज्वाला ही प्रदान कर रहे हैं ।

'आओ चले ! इन पावनहृदय सन्तोंकी विमल दृष्टिकी अनुकृति करते

हुए ही सही, इनसे किञ्चित् साम्य तो करें और रासलीलादर्शन करे। कैसी विलक्षण बात है कि सम्पूर्ण विश्वप्रपंचके द्रष्टा, अन्तर्यामी हुए सबके गहिराकाशमें छिपे परमानन्द वितरण करनेवाले सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र आज स्वयं रसवश हुए अपनी प्राणप्रिया रासेश्वरी राधारानी सहित सिंहासनासीन इन गुणीजनवेषधारी आभीर सुन्दरियोंसे आनन्दोपभोग करनेके लिये लालायित – चञ्चल हो रहे हैं ।

गुणीजनोंको श्रीश्यामप्रिया राधारानीकी आज्ञा मिल गयी है–

**''तबहिं प्रिया बोली मुसकाई । जो जानत प्रकटौ चित लाई ।।**

'' हॉं ! हॉं ! तुम जो कुछ भी गुण-कला जानत होउ, सो अतिसय उत्साहसौं हम दोनूँनके सम्मुख प्रकट करिकै दिखाऔ और मेरे प्राणप्रियतम श्यामसुन्दरकौं रिझावौ । ''

अरे ! अरे ! यह क्या ? गुणीजनोंने तो हू-ब-हू ज्यों-का-त्यों प्रिया-प्रियतमका भेष बनाकर दोनोंको चकित कर दिया। स्वयं श्रीकृष्ण चकित हैं। **समाजी गा रहे हैं –**

**देखि लाल कछु रहे ठगे से । स्वप्न कहहि अरु अहहिं जगे से ।।**

**श्रीकृष्ण** –''अहा-हा ! मैं यह कहा अचंभौ देखि रह्यौ हूँ ? मैं जागि रह्यौ हूँ कि स्वप्न देखि रह्यौ हूँ ? प्रिये ! ये कहा कौतुक होय रह्यौ है ? ठीक, सांगोपांग मेरे द्वै रूप कैसे है गये ?''

**श्रीराधारानी** –''प्यारे ! ये तो गुनीजन हैं ! मेरी आज्ञानुसार लीला-अनुकरण करिकैं आपकूँ दिखाय रहे हैं ।''

इधर तो प्रकटमें रासलीला हो रही है, और आओ ! उधर पू. गुरुदेवके भावसंसारकी भी झॉंकी देखें ! – समाजियोंके वाद्योकी ताल और झंकारमें अपनी कटिकिकणी एवं पदनूपुरोंका स्वर हू-ब-हू मिलाकर उनके भावजगत्में सर्वत्र श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण भर गये हैं। एक ओर तो उनके प्रियतम उनकी सहोदरा अग्रजा राधारानीके साथ सिंहासनासीन हैं और शेष सभी दृश्य उन्हें श्रीकृष्णकी ठीक अनुकृतिमे व्यक्त होता दिखने लग जाता है। वे एक क्षण अपनी भगिनीके बगलमें बैठे सिंहासनासीन श्रीकृष्णको देखते हैं और तब अपने बगलमे ही आसीन पोद्दार महाराज, श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीपर दृष्टि निक्षेप करते हैं। वे इन दोनोंके स्थानपर भी उन्हीं श्रीकृष्णकी आकृतिको हू-ब-हू किञ्चित् भी अन्तर नहीं लिये देखते हैं । उनकी दृष्टि आकाशकी ओर

उठती है। आकाशपथमे भी उन्हें अपने प्राणपति भरे नृत्य करते दिखते हैं। एक नहीं, अनन्त रूपोंमें सर्वत्र उनके प्रियतमकी अनुकृतियोसे ही मानों समग्र अन्तरिक्ष भर गया हो। मानो सर्वत्र भूमि, नभ, नक्षत्र, चन्द्र, वृक्ष, जनसमुदाय, स्त्री-पुरुष सभीके रूपोंमें शत-सहस्र सौन्दर्य-मन्दाकिनीकी धारा बहाते सर्वत्र श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे हैं। पू. गुरुदेवके नेत्र नाचते हुए-से अपने प्रियतम नन्दनन्दनमें डूबने लगे। उनके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उनका मन अपने प्रियतमके इस अपार मनोहर नृत्यपर कोटि-कोटि प्राणोंको न्यौछावर कर दे रहा था। पू गुरुदेव स्तब्ध हैं । उनकी श्रीकृष्णपूरित दृष्टिमें सम्पूर्ण जगत्का ही अस्तित्व जो विलीन हो गया है । हाँ ! उनके सम्मुख सिंहासनासीन उनके प्रियतम उनकी अग्रजा भगिनी सहित अवश्य विराजित हैं। किन्तु इन सम्मुख विराजित सिंहासनासीन श्रीकृष्ण और सर्वत्र भरे श्रीकृष्णके रूपोंमें कहीं कुछ भी अन्तर नहीं। एक-सा सौन्दर्य, एक-सा श्रृंगार, एक-सा हाव-भाव, एक-से अंग-अवयव, वैसी ही मुसकान, लावण्य और नित्य नव-नवायमान उमँगती शोभा। पू. गुरुदेव प्रेमभ्रान्त हो उठते हैं। रसस्रोतमें डूबते-उतराते उनके चित्तकी दशा विलक्षण ही हो उठती है। इसकी प्रबल लहरोंसे उनकी बुद्धि पूरी आवृत हो जाती है। उनका यह आवेश तब शिथिल होता है, जब श्रीपोद्दार महाराज उन्हें हिलाकर सचेत करते हैं—"बाबा! ये रासधारी तो पूरे नट हैं, देखो ! कैसी शरीरकी लचक है इनकी ! ये तो अपने तनको पूरे गोलाकार रूपमे ही मोड देते हैं !"

पू राधाबाबा अचिन्त्य लीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे विक्षिप्त होते-होते मानो बच गये। रासलीला चल रही थी। श्रीमती राधारानीका स्वरूप बना बालक गा रहा था। वह बालक मानों गुरुदेव पू.राधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराजकी ओर मुख किये उन्हें ही सम्बोधित कर रहा था। यद्यपि रासलीलामें उसको ठाकुर स्वरूपके प्रति सम्बोधन करना चाहिये था।

**ये तो चतुर प्रीतिके आलय।**

**हियँ आनँद- निधि जब उमगै , मन अरु बुधि -बल कछू न चालय।**

**बरन्यौ चहूँ कछुक गुन इनके, सुमति प्रेम बस हिलै न हालय।**

**वृन्दावन हित' रूप बिहारी, प्रेम-सिन्धु ते कौन उबारय ।।**

**श्रीराधारानी**—हे प्राणवल्लभ ! आप तो चतुर-शिरोमणि हो ही, किन्तु ये (दोनों) भी अत्यन्त चतुर-शिरोमणि एवं प्रेमके आलय(घर) हैं। इनकी प्रेमभरी

दोउ चकोर, दोउ चन्द्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ

रसीली लीला(दशा) देखकर, इनके भावनकूँ परखिकैं मेरे हृदयमें हू प्रेमसमुद्रकी तरंगैं उमड़ि रही हैं। इनके सम्मुख मेरौ बुद्धिबल तौं कछु ही नॉय चलै। मैं अपने मनसौं इनके प्रेम–गुण कछु-एक बरणन करनौ चाहूँ हूँ, किन्तु इनके प्रेमकी अगाधता देखकर मेरी बुद्धि न तो हिलै है , न ही डुलै है, अतिशय (मुग्ध) मूढ हो जाय है। हे प्राणेश्वर ! अब या प्रेम-समुद्रसौं मोहि तुम ही उबार सकौ हो, और कौन उबारै ?

(श्रीराधारानीकी गीतोक्तिका उत्तर प्रियतम श्रीकृष्ण भी गीतोक्तिके रूपमे ही देते हैं। ये भी पू. श्रीपोद्दार महाराज और पू.राधाबाबाकी ही ओर मुख कर, उन्हें ही संबोधित करते हैं।)

**श्रीकृष्ण–**

**छिन-छिन नेह अपूरब सरसै।**
**मुख हेरत ही हेरत इनकौ, प्रेम तरंगनि मन-मति हरषै ।**
**उमग्यौ प्रेम पयोधि स्वामिनी, अति ही आनँद गरजै सरसै।।**
**बूढ़त लेउ बचाय अतिलड़ी, कृपा घुमडि पावस ज्यौं बरसै ।**
**वृन्दावनहित रूप-चातुरी नैंक नहीं मो हिय सौं परसै।।**

**(अर्थ)**

हे मेरी प्रानाधार ! मैं इन प्रेमीजनोको देखकर मेरी जो गति होय रही है वाकौ किन शब्दनते वर्णन करूँ ? मेरे उरमें छिन-छिनमें नेह-निधि उमगि रही है । और इन दोऊनकौ प्रेम देखकर मेरौ हियौ प्रेम-समुद्रमें डूब्यौ ही जाय है। हे अतिलडी ! अब बेगि ही मेरे ऊपर आप कृपारसरूप बादर बरसाऔ। जातैं मैं इनकी कछु गति समुझ सकूँ, मेरे लिये तो ये दोनूँ अगम्य होय रहे हैं। हे मेरी जीवनमूरि ! आप तौ मोहीकूँ प्रीतिमे परम चतुर समझ रहीं थीं, किन्तु इनकी परम पवित्र प्रीति-चतुरताके आगें तौ मोमें चतुरताकौ लेस हू नॉय ।

**(दोहा)**

**हा ! हा !! राधे मुकुटमनि ! हा मम जीवन प्रान !**
**हा ! हा ! कुँवरि किसोरि प्रिय, नागरि परम सुजान।।**

सहसा प्रियतम प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरके पद्मविनिन्दित चञ्चल नयन प्रेमविरहकी उच्चातिउच्च दशाका प्रकाश करते हुए अश्रुवर्षा करने लगते हैं

और उनका विरहभाव हाहाकार रूपमें उनके मुखके बोलोंके रूपमें फूट पडता है – "हा प्राणप्रिये राधे ! हा मेरी रसमणि प्रेममुकुटमणि !! हा मेरी जीवनप्राणेश्वरि!!! हा कुँवरि किशोरी ! हा प्रिये ! इन प्रेमीजनोंके ऋणके भारतें अब तो मोहि तुम ही उबारो।

ये कहते-सुनते ठाकुर-स्वरूप और राधारानी-स्वरूप अपनेको आत्मविस्मृतकर पू. राधाबाबाके पास चले आते हैं और पू.गुरुदेवको सम्बोधित कर कहने लगे–

**(चौपाई)**

**छद्म बढ़ाय प्रिया प्रिय बोले। अस अनुकरण को करै अमोले।।**

अहो बाबा ! अब हमने छद्मवेष दूर करि दियौ है। सच्चे प्रिया-प्रियतम तो आप ही हौ । हम तो गुनीजन हैं । आपकी आज्ञा पायी तो हमने अनुकरन कियौ । अब आप ही बताऔ कि ऐसो परम अद्भुत अनुकरन और कोई करि सकै है ? प्रिया-प्रियतम तौ सच्चे आप ही हौ, आप अपने सरूप कूँ मति भूलौ। अब हमारी कामना पूरी करौ । हे कामनापूरन कल्पवृच्छ स्वामीजी ! आप ही हमारी स्वामिनी हौ। पहिलै हमकूँ वचन देऔ तौ हम माँगैं।

**(इतने में ही समाजी गान कर उठते हैं)**

**कह्यौ प्रिया पैहौ, तुम पैहौ । मानि वचन निष्फल नहिं जैहौ।।**

(समाजी) हे गुनीजनो ! तुम पाओगे, पाओगे । ये परम उदारशिरोमणि महापुरुष द्वय हैं, यदि प्रसन्न है जायँ, तो तुम कदापि निष्फल नायँ जाओगे। तुम्हैं जो चाहिये सोई माँगि लेऔ।

**(समाजी पुनः गाते हैं)**

**तबहिं गुनी बोले सुनि लीजै। हम चाहत निज प्यारौ दीजै।।**

इतनेमे कुछ गुनीजन बने समाजी पू. पोद्दार महाराजके पास भी पहुँच जाते हैं और कहने लगते हैं - "हे परमोदार ! हम ये ही भिच्छा चाहैं कि अपने प्यारे श्यामसुन्दर कूँ हमें दै देऔ । ठाकुर एवं ठकुरानी बने स्वरूप भी पू. श्रीराधाबाबासे यही भिक्षा माँगते हैं ।

**(समाजी पुनः गाते हैं)**

**सुनत प्रिया सुधि सबै भुलाई । हाँ–नाहीं कछु कही न जाई।।**

**मौन चकित कछु अकी-जकी सी।बुद्धि सिथिल भई सिमिटि थकी सी।।**

**श्रीठाकुर एवं प्रियाजी**-(श्रीराधाबाबाको संबोधित कर)

**अति विनीत वर वचन तब बोले गुनी सुजान।**
**सत्यसंध विरदावली, राउर कीन छिपान।।**

**(चौपाई)**

**मिलिबौ ना मिलिबौ नहिं सोचू। कछु न भई आज्ञा संकोचू ।।**
**अबहूँ जो इतनौ सुनि पाऊँ । यह न मिलै तौ उठि घरजाऊँ।।**

**(अर्थ)**

हे सत्यसंध विरदावलीवाले स्वामीजी एवं सन्त पोद्दार महाराज ! मिलिबे, न मिलिबे को हमें नैंक हू सोच नायँ है। केवल आपकी आज्ञाकी बाट हम तौ देखि रहे हैं । यदि आप कह दौ कि ये वस्तु तो हम तुम्हें नाँय दै सकैं तो तुरन्त बिना संकोच, बिना दुःखके हम अपने घर चले जावैं ।

समाजी(पू पोद्दार महाराज एवं पू.राधाबाबाकी ओर से)

**कहत लाडिली सबहिं सुनाई । तुम कत गुनी हियें दुख पाई ।।**
**लेहु लाल, घर जाउ सुजानू । भाग्य तुम्हार न जाय बखानू।।**

(अर्थ)

हे गुनीजनो ! तुम अपने मनमैं नैक हू दुखी मत होऔ। लेऔ, तुम इनते इनके प्राननसौं प्यारे लालनकूँ लै ही जाऔ । तुम सभीके भाग्य बड़े ही विलच्छन है। लैऔ ! आनन्दसौं ये लालनकूँ तुम्हे देय रहे हैं ।

(परदा गिरजाता है, अब लीला दूसरा मोड ले लेती है)

ठाकुर एवं ठकुरानी सिंहासनमें विराजे हैं। गुनीजनवेषमें समाजी ठाकुरको अपने अधीन कर लेते हैं और पकरि.कर ले जाय रहे हैं ।

समाजी गाते हैं:–

**(चौपाई)**

**गुनी लियौ करि पकरि लालकौं । गयौ हियौ कुम्हलाय बालकौं।।**
**ललकि गह्यौ प्यारी तब लालहिं। करि बैठी निज प्रियउरमालहिं।।**
**गुनिजन बोलि कही तब प्यारी । एक विनय सुनि लेउ हमारी ।।**

**(अर्थ)**

जैसे ही गुणीजन प्रियतम श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर अपने संग ले जानेको उद्यत होते हैं, असह्य वेदनावश प्रिया तो ऐसी मुरझा जाती हैं मानो

कनकलता वज्रपातसे कुम्हला गयी हो। उनके प्राण तो अत्यन्त द्रुतगतिसे उनके हृदयकमलसे निकलकर अपने प्रियतमकी उर-माला बन जाते हैं।

अपने प्रियतमके विरहकी आशंकासे उनके समस्त अंग पसीने से लथपथ हो जाते हैं। अत्यंत वेदनाके कारण वे बाह्यज्ञान खो बैठेंगी , ऐसा ही लगता है। किसी प्रकार अपनी वेदनाको संवरित करती हुई वे कहती हैं– "हे गुनीजनो, तनिक ठहरो ! मेरी एक विनय सुनि लेऔ ।"

**प्रियाजी–**

**(दोहा)**

**लाल समान जो वस्तु कोउ, तिभुवन दीखै कोइ।**
**माँगौ ताकी दून जू, अबहिं देउँगी तोइ ।।**

**(अर्थ)**

मर्मान्तक पीड़ासे व्यथित हुई स्वामिनी कहती हैं– हे गुनीजनो ! यदि मेरे प्यारे श्यामसुन्दरके समान तुम्हें इनके स्थानपर कोई भी दूसरी वस्तु रुचै और तुम लैनो चाहौ, तो दुगुनी, चौगुनी, सौगुनी मोपैते ले लैऔ, मैं सहर्ष वह वस्तु तुम सबकौं दै दूँगी, इन मेरे प्राणस्वरूप प्रियतमकौं तुम मेरे पास छोड जाऔ । मैं इनके बिना और ये मेरे बिना छिनहू जीवित नॉय रह पावैंगे।

**(गुणीजन गाते हैं)**

**{राग तैलंग,ताल-त्रिताल}**

**तुम बिनु को न्याय करै, हे सर्वेश्वरि प्यारी मेरी।**
**लालन सौं बढ़ि कौन, मोहि इन सम लखि ना परै।।हे सर्वेश्वरि०**
**सकल भुवन सेखरमनीजु ये, तदपि न प्रभुता ध्यान धरै ।**
**रूप राधिकाचरन दासिकौ पटतर अब न तरै।।हे सर्वे०**

**(अर्थ)**

अहो सर्वेश्वरी प्यारी ! आप तौ न्यायाधीश हौ। आप हू विचार कर लौ। इन प्यारेके समान त्रिभुवनमें अन्य कोऊ वस्तु है का ? ये त्रिभुवननायक शेखरमणि हैकैं हू अपनी प्रभुताकौं भूल आपके चरण-कमलनके अनन्य भ्रमर बने रहे हैं।

**श्रीप्रियाजी-**

**सुनिजु बैन गुनियनके प्यारी । सकुचि सोचि मुनिगिरा उचारी ।।**
**सुनहु गुनी लै जाहु लाल मम। सत्य कहत कोउ वस्तु न इन सम।।**

(अर्थ)

प्यारे गुणीजनो ! तुम्हारे वचन परम सत्य हैं । लालनके समान त्रिभुवनमे कोउ वस्तु है ही नॉय। यासैं तुम जीते, मैं हारी। लैऔ मेरे जीवन-धनकूँ लैजाऔ ।

(समाजी गाते हैं)

(दोहा)

**चले गुनी तब मुदित ह्वै, गहि मोहनकौ हाथ।**
**प्यारी दसा जु कहिय कस, लाल नमित लखि माथ।।**

अरे अरे ! गुणीजन श्रीकृष्णकों प्रियासौं विलग करकै लै जाय रहे हैं ! प्रियतम श्यामसुन्दर निम्नमुख किये अपनी प्रियाको त्याग उनके संग जाय रहे हैं, अब प्रियाकी कैसी आकुल दशा है, इसका क्या वर्णन किया जाय।

इधर प्राकृत देश गोरखपुरकी कृष्णनिकेतन-वाटिकामे तो रासधारी ब्रजवासी यह लीला सम्पादित कर रहे हैं, चलो, उधर पू गुरुदेवके भावजगत्की संघटित लीलाकी भी झाँकी देखें। पू गुरुदेवके सामने तो चिन्मय वृन्दावन व्यक्त है। चतुर्दिक् पारिजात-तिरस्कारी तरुश्रेणियाँ झूम रही हैं । षड्ऋतुओंकी समग्र शोभा मानो इन तरुराजि पर न्यौछावर हो रही है। इन तरुओंको चारों ओरसे माधवी लताये आलिंगित किये हैं । उन पर प्रस्फुटित कुसुमसमूहोके गुच्छ लदे हैं । कुसुमोसे मकरन्द झर रहा है । उनके मधुगन्धको अपने दुकूलमे धारण किये मन्द समीर प्रवाहित हो रही है। गुन गुन करती भ्रमरावली विचरण कर रही है, किसी-किसी भ्रमरका स्वर यदा-कदा इतना उच्च हो उठता है, मानो वह हरिगुणगान करता उन्मादित हो उठा हो। ऐसे सुरम्य वृन्दावनमे प्रिया-प्रियतम एक पुष्पासन पर विराजित है। पू. गुरुदेव प्रियाकी अनुजा भगिनी मञ्जुश्यामाके रूपमे उनपर व्यजन डुला रहे हैं । सहसा प्रियतम श्रीकृष्ण अतिशय गंभीर होकर अपने आलिगन-निबद्ध प्राणप्रियाकी ओर अति सतृष्ण देखते हुए कहते हैं "प्राणेश्वरी! ऐसा अवश्यभावी प्रारब्ध समुपस्थित हो गया है, जिससे कुछ-एक क्षणोंके लिये मेरा तुमसे वियोग संघटित होना अवश्यंभावी है। और यह कहते हुए वे एक ओर अति अनमने निम्नमुख किये चल पडते हैं। अकस्मात् इस प्रकार अपनी प्रियाको सहसा ही आलिंगनमुक्त कर प्रियतमको अति विषादमें भरा निम्नमुख किये जाते देख

प्रियाकी अनुजा भगिनी बने पू. गुरुदेव इस प्रकार कॉप उठते हैं, मानो अत्यंत सुविकसित किसी कञ्चनवल्लरीपर वज्रपात हो उठा हो। प्रिया श्रीराधारानी तो तत्क्षण ही 'हा प्राणनिकेत !' उच्चारण कर मूर्च्छित हो जाती हैं। अपनी अग्रजा प्राणोपम भगिनीको इस दशामें देख पू. गुरुदेवके हृदयमें ऐसी असह्य वेदना उठती है कि उसका भार उनका मस्तिष्क सह ही नहीं पाता। प्राणाधार प्रियतमके बिना मेरी प्यारी बहिन कैसे जीवित रह पावेगी ? और कहीं उसके प्राण उसका शरीर त्यागकर प्रियतमके संग पलायन कर गये तो उसके बिना क्या मेरा शरीर-धारण होगा ? इस भयसे उनके प्राण अभिभूत हो उठते है। उनकी बुद्धिका संतुलन ही डॉवाडोल हो जाता है। " उन्हे दौडकर प्रियतम श्रीकृष्णको रोकना चाहिये" – एक बार उनमें इस समयोचित कर्तव्यका स्फुरण होता तो है , परन्तु मूर्च्छित, भूलुण्ठित अपनी भगिनीको सम्हालनेकी त्वराने उनके इस प्रयासपर भी पूर्ण विराम लगा दिया है।

"मेरी बहिनका तो सर्वस्व समर्पित है, एकमात्र प्रियतमके लिये ही। प्रियतम-सुख ही इसका साध्य है। इसकी समस्त चेष्टाएँ मात्र प्रियतम श्यामसुन्दरकी प्रसन्नतापर ही केन्द्रित हैं। इसका तो श्रीदामभैया, अथवा अन्य सखियोंके प्रति जो सौहार्द है, वह भी है सर्वथा प्रियतम प्राणसुन्दरके निमित्तसे ही। इसका तो वैभव, श्रृंगार सभी प्रियतम-सेवाकी ही सामग्री है। इसमें अन्य कोई इच्छा नहीं, वासना नहीं, मनमे मात्र एक विशुद्ध अभिलाषा है – 'नीलसुन्दर प्राणवल्लभ सुखी हो' । किन्तु जब ये उसके प्राणधन जीवनसर्वस्व ही उससे छिन गये, उसे छोड़कर चले गये दीख रहे हैं–तो वह कैसे जीवन धारण करेगी ? विचार करती मञ्जुश्यामाके भावको वरण किये पू.गुरुदेव अनर्गल अश्रुप्रवाह करने लगते हैं ।

उनके सम्मुख जो वृन्दावनका परम सुभग दृश्य था, वह भी प्रियतमके बिदा होते ही दूसरा ही हो गया है। दिशायें धूऍंसे धूमिल अत्यन्त म्लान होगयी हैं, महिषश्रृगके समान समग्र अंतरिक्ष ही मानो काला पडगया है। स्वयं दिनमणि सूर्य भी निस्तेज हुए रोते-बिलखते प्रतीत हो रहे हैं। अपनी प्राणोपम पुत्री भानु-दुहिताका विरह-दुःख भला सूर्यदेव कैसे सह पाते ? वे प्रसन्न कैसे बने रह पाते ? आपाततः विषादित वे निस्तेज अपनी अस्ताचल-यात्रा भी स्थगित कर बैठते हैं । प्रस्फुटित कुसुमगुच्छ मुरझाये भूलुंठित हैं । सुखस्पर्शी

शीतल पवन भी एक झंझावातकी तरह विरहाग्निमें तपी लग रही है। उन्हे ब्रजकी धरा भी अभूतपूर्वरूपसे कम्पित होती-सी दिखती है। असहाय किंकर्तव्य-विमूढ बालिका बने पू. गुरुदेव दु:ख, शोक, भयके अनन्त भारसे अभिभूत हुए काँपने लगते हैं। उनके पास तो जलपात्र भी नहीं है, जिससे वे आकुल-मूर्च्छित अपनी बडी बहनके अंगोंपर यमुनाजल लाकर छींटकर उन्हें जाग्रत् करनेका प्रयास तो करे। वे तो अपनी अग्रजाके मस्तकको अपनी गोदमें लिये उसके मुरझाये म्लानमुख पर अपनी अश्रुवर्षा ही कर पा रहे हैं।

अचानक ही उन्हें अपनी अग्रजा राधाके अंगोंमें प्राणतन्तुओंका जीवन्त उग्र स्पन्दन दृष्टिगोचर होता है। वे सँभलें, इतनेमें तो उनकी भगिनी नितान्त विक्षिप्त-सी अपने प्राणसारसर्वस्वको अन्तिम बार ही सही, जिस किसी अवस्थामें भी निहार लेनेकी वासना लिये दौड पडती है। उनकी प्राणोपम बहिनके पीछे पू.गुरुदेव भी भागने लगते हैं । उनके मुखसे मात्र एक ही पुकार उठ रही है.–"किशोरी ! बहन राधा ! मुझे साथ ले चल ! बहिना री ! " वे देख रहे हैं मेरी बहिनके केश-बन्धन उन्मुक्त हो चुके हैं, उसे कहाँ जाना है, किस स्थलपर जानेसे उन्हें अपने प्राणधन नीलसुन्दरके दर्शन होंगे–कुछ भी तो ज्ञात नहीं है । उसके समग्र शरीरावरक वस्त्र यदि खुल गये तो ? उसकी लज्जा-मर्यादाकी भी उसे तो परवाह ही नहीं है, उनके चरण तो निर्बाध अपनी अग्रजाका अनुसरण कर रहे हैं। पद-पदपर स्खलित होतीं, भूमिपर गिरती-उठतीं, आगे उनकी बहिन राधा और पीछे वे दौडे जा रहे हैं । उनकी भगिनीके कण्ठसे मात्र 'हा ! प्राणनिकेत ! अहो जीवनधन ! हे हृदयसर्वस्व ! कृष्ण रे ! का करुण नाद वनप्रान्तरको प्रतिनादित करता नि:सृत हो रहा है।

सहसा पू.गुरुदेव देखते हैं कि उनकी भगिनीके अपने प्राण-प्रियतम नीलसुन्दरके वृन्दाकाननकी धरापर अंकित पदचिह्न दिख जाते हैं। मानो वे स्पष्ट ही सकेत कर रहे थे–'आओ, आओ ! अपने प्राणप्यारेको हमारे सहारे अन्वेषण कर लो !' और अब तो वे और उनकी भगिनी दोनों ही रविनन्दिनी यमुनाके तटकी ओर दौड पडती हैं। क्योंकि वे चिह्न यमुनाकी ओर ही अग्रसर होते उन्हे दिखते हैं । उन दोनोंके नेत्र केन्द्रित हो रहे हैं अब्ज, यव, अंकुश, वज्र, ध्वज आदि चिह्नोंसे विभूषित उस पथ पर। किन्तु यहाँ आनेपर उस विशाल कदम्बकी छायाके नीचे उन्हें दिख जाती है उनके प्रियतम नीलसुन्दरकी

(अर्थ)

प्यारे गुणीजनो ! तुम्हारे वचन परम सत्य हैं । लालनके समान त्रिभुवनमें कोउ वस्तु है ही नाँय। यासैं तुम जीते, मैं हारी। लैऔ मेरे जीवन-धनकूँ लैजाऔ ।

(समाजी गाते हैं)

(दोहा)

**चले गुनी तब मुदित ह्वै,गहि मोहनकौ हाथ।**
**प्यारी दसा जु कहिय कस, लाल नमित लखि माथ।।**

अरे, अरे ! गुणीजन श्रीकृष्णकों प्रियासौं विलग करकै लै जाय रहे हैं ! प्रियतम श्यामसुन्दर निम्नमुख किये अपनी प्रियाको त्याग उनके संग जाय रहे हैं; अब प्रियाकी कैसी आकुल दशा है, इसका क्या वर्णन किया जाय।

इधर प्राकृत देश गोरखपुरकी कृष्णनिकेतन-वाटिकामें तो रासधारी ब्रजवासी यह लीला सम्पादित कर रहे हैं, चलो, उधर पू. गुरुदेवके भावजगत्की संघटित लीलाकी भी झाँकी देखें। पू.गुरुदेवके सामने तो चिन्मय वृन्दावन व्यक्त है। चतुर्दिक् पारिजात-तिरस्कारी तरुश्रेणियाँ झूम रही हैं । षड्ऋतुओकी समग्र शोभा मानो इन तरुराजि पर न्यौछावर हो रही है। इन तरुओंको चारो ओरसे माधवी लताये आलिंगित किये हैं । उन पर प्रस्फुटित कुसुमसमूहोंके गुच्छ लदे हैं । कुसुमोसे मकरन्द झर रहा है । उनके मधुगन्धको अपने दुकूलमे धारण किये मन्द समीर प्रवाहित हो रही है। गुन-गुन करती भ्रमरावली विचरण कर रही है, किसी-किसी भ्रमरका स्वर यदा-कदा इतना उच्च हो उठता है, मानो वह हरिगुणगान करता उन्मादित हो उठा हो। ऐसे सुरम्य वृन्दावनमे प्रिया प्रियतम एक पुष्पासन पर विराजित है। पू. गुरुदेव प्रियाकी अनुजा भगिनी मञ्जुश्यामाके रूपमे उनपर व्यजन डुला रहे हैं । सहसा प्रियतम श्रीकृष्ण अतिशय गंभीर होकर अपने आलिंगन-निबद्ध प्राणप्रियाकी ओर अति सतृष्ण देखते हुए कहते हैं –"प्राणेश्वरी! ऐसा अवश्यभावी प्रारब्ध समुपस्थित हो गया है, जिससे कुछ-एक क्षणोके लिये मेरा तुमसे वियोग संघटित होना अवश्यंभावी है। और यह कहते हुए वे एक ओर अति अनमने निम्नमुख किये चल पडते हैं। अकस्मात् इस प्रकार अपनी प्रियाको सहसा ही आलिंगनमुक्त कर प्रियतमको अति विषादमें भरा निम्नमुख किये जाते देख

विनाश कर देनेको दौड पड़ते हैं, वे प्रेमीजन सुहृद, स्वयं उनके लिये ही जीवन धारण करनेवाली अपनी प्रियाको ऐसे व्यथा-सागरमें क्यों असहाय एकाकिनी छोड़ आये ? प्रियानुजा मञ्जुश्यामा अन्ततः मुखर हो ही गयीं !

"प्राणेश्वरी ! तुम्हींने तो गुणीजनोंको मुझे दान कर देनेका वचन दिया था, और तब तुम्हीं उन्हें मुझे देनेमें असमंजस अनुभव कर रही थीं । अब भला, तुम्हारी वचन-रक्षाकर तुम्हारे भक्तवात्सल्यकी अनन्तकालतक यशध्वजा फहराना क्या मेरा कर्तव्य नहीं था ? अत. मैंने ही इन गुणीजनोंको संकेत कर दिया था कि प्रिया ऐसे तो मेरा दान कदापि नहीं कर पावेंगी। हाँ, मैं इन्हें अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक त्यागकर यदि यमुनाके किनारे चला आऊँ, तो तुम मुझे अपने घर भले ही ले जाना । अब प्राणेश्वरी ! तुम्हारी मेरे विरहमें और मेरी तुम्हारे विरहमे जब ऐसी विषम प्राणघाती दशा इन गुणीजनोंने देखी, तो ये स्वयं ही पिघल गये और मुझे तुमसे माँगनेकी बहुत भारी भूल मानने लगे। लो ! इनकी कृपासे ही यह मेरा और तुम्हारा मिलन हुआ है। देखो ! ये गुणीजन अपराधबोधसे गड़े, तुम्हारे सम्मुख आनेका साहस ही नहीं कर पा रहे हैं ।

अपनी भावलीलामें अपने प्रियतमकी ऐसी प्रेमोक्ति सुनते-सुनते पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी बहिर्मुखी वृत्ति हो उठती है। वे अपने सम्मुख रास-धारियोंको लीला करते देख रहे हैं –

(समाजी श्रीहरिवल्लभजी राग देश, ताल धमारमें गा रहे हैं )

**कबहुँक निबिड तिमिर आलिंगत, कबहुँक पिक-सुर गावै।**
**कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि, संगहि उठि-उठि धावै ।।**
**कबहुँक नैन मूँदि अन्तर गति मनिमाला पहिरावै ।।**
**परमानँद प्रिय स्याम -ध्यान करि ऐसेहिं विरह गमावै ।।**

(अर्थ)

प्रिया राधा अपने प्रियतमके प्रेम-विरहमे कभी तो सभी कुछ विस्मृत कर निविड़ अतिशय घने अन्धकारको ही प्रियतम श्यामसुन्दर समझ 'हा प्राणवल्लभ !' उच्चारण करती आलिंगन करने लगती हैं, कभी काली कोकिल बनी स्वयं 'पीहू, प्रीतम, प्रीतम' मधुर स्वरमे पुकारने लगती हैं। कभी अतिशय सभ्रममें 'कहाँ गये ,कहाँ गये "कहती अपने प्राणवल्लभके अंकमें आलिंगित हुई उठकर दौड़ने लगती हैं । कभी नैन मूँदकर ध्यानमें अपने प्रियतमकी छवि

प्रत्यक्ष करती, उन्हें अपनी गलेकी वनमाला पहनाने लगती हैं । श्रीपरमानन्दजी कहते हैं, कि प्रियतम श्यामसुन्दर भी अपनी प्रियाके समान ही, ध्यान करते—करते ही, अपना विरहकाल काटते हैं ।

समाजियोंकी इस उक्तिके साथ ही रासलीलामें भी प्रियतम-प्रियाका परस्पर मिलन हो जाता है। इस मिलनके पश्चात् श्रीजीकी उक्ति :–

**(चौपाई)**

**प्रान हमारे लाल तिहारे । थाती राखहु सदन हमारे।**
**सलिल-मीन गति हम दोउ जानी । यह उपकार करहु मन आनी।।**

**(अर्थ)**

हे गुणीजनो ! ये लालविहारी मेरे प्रान हैं, जीवनाधार हैं । सो कृपा करि मेरे इन प्राननकूँ आप अपनी ओरीसौं मेरे हृदय-सदनमें अपनी थाती करिकैं राखि देऔ; क्योंकि हम दोऊनकी जल एवं मीनकी-सी गति है। तुम यदि हमारे प्राननकी रच्छा कियौ चाहौ तो मोकूँ यह भिच्छा दैऔ । गुणीजन उत्तर देते हैं:–

**सुनत गुनी बोले सिर नाई। आग्या राउर सीस सदाई ।।**
**चरनकमल तजि अनत न जैहें । सरन रावरीमें ही रहिहैं ।।**
**टहल महलकी निसिदिन करहूँ। राउर रुचि सेवा अनुसरहूँ ।।**

**(अर्थ)**

स्वामिनीजी ! आपकी आज्ञा सिरोधार्य है। अब हम आपके चरणकमलकूँ छोडिकै कहूँ नाँय जायँगे । आपकी सरनमें ही रहिकैं महलकी टहलमें रुचि लैकैं आपकी सेवामें चित्त दिये रहैंगे ।

**समाजी गाते हैं–**

**(चौपाई एवं दोहा)**

**ह्वै प्रसन्न प्यारी सब काहू । करहु निवास कहेहु सउच्छाहू ।।**
**तबहीं हारि निकारि कैं दियौ युगल उर डारि।**

**(सखी वचन)**

**हम हैं ललितादिक सखी, फूलन बीननिहारि ।।**

(सब सखियाँ छद्मवेष उतारिकैं फूलनके हार प्रिया-प्रियतमके श्रीकण्ठमें धारण करावैं)

(दोहा)

**चूकि छमा करिये प्रिये ! आजु भई बहु बार ।**
**अब निकुञ्ज चलि पौढिये, अहो स्वामिनि सुकुमार।।**

(श्रीजीका कथन)

**ए हो ललितादिक सखी, तुम मो हियो सिराय ।**
**उर लगाय प्यारी कह्यौ, को अस छद्‌म दिखाय।।**

(श्रीहरिवल्लभजीके द्वारा राग वृन्दावनीसारंगमें अति मधुर गायनके साथ यह रासलीलानुकरण समापन होता है)

(पद)

**साँची प्रीति भई इक ठौर ।**
**मृगनयनी जु कमलदललोचन , लाल श्याम राधा तन गौर ।।**
**तुम सिर सोहत पाटकी डोरी, हरि सिर रुचिर चन्द्रिकामोर ।**
**तुम रसिकनी, ये रसिक-सिरोमनि, तुम ग्वालिनि ये माखनचोर ।**
**तुम करिनी ये गजबर-नायक ,तुम मालति ये भोगी भौंर ।**
**परमानन्द लाल गिरिधरकैं राधा- सी जोरी नहिं और ।।**

(पू. गुरुदेवकी अन्तरिक अनुभूतियाँ इस प्रसंगमें उनके ही द्वारा लेखकके सम्मुख कथित की गयी हैं एवं यथास्मृति वर्णन की गयी हैं ।)

---

# वेणीगूँथन लीला

{दूसरे दिवस भी पू. राधाबाबाने कृष्णनिकेतनमें ही इसी रीतिसे वेणी-गूँथनेकी रासलीला करायी थी। दूसरी बार दर्शक कुल इक्कीस लोग थे। यह बाध्यता थी कि सभी दर्शक स्नान करके और नवीन वस्त्र धारण करके ही बैठें। इस लीलामे भी पू. गुरुदेव एवं पू.श्रीपोद्दार महाराज दोनोको ही महारस-भावोदय हुआ।}

जैसे किसीने अमृत उँडेल दिया हो, प्राणोंमें दिव्यातिदिव्य मधुकी धारा बहा दी हो–इस प्रकार अनुभव करते हुए पू.गुरुदेव एवं पू.पोद्दार महाराज श्रीहरिवल्लभजी कीर्तनियाकी सुमधुर गायनध्वनिसे उत्पन्न महारस-सिन्धुमें डूब गये थे। इस सगीतकी मधुधाराने उनके अन्तस्तलमें नित्य अनवरत प्रवाहित भाव-स्रोतस्विनीकी चंचल तरंगोको इतना उद्दीपित किया था कि जो रस-कल्लोलिनी उनके उरस्थलको नित्य निमज्जित रखती थी, वह गंभीर,गभीरतम आवर्त्तों सहित उफनने लगी थी। वह संगीत-स्वरमाधुरी सामान्य तो थी नहीं, किसी प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषकी मत्रवत् समाधि-वाणी थी। जिसे रासलीलाके वरिष्ठ समाजी श्रीहरिवल्लभजी गा रहे थे।

**(श्रीहरिवल्लभजी एवं सभी समाजी रासलीला प्रारम्भमें मंगलाचरण कर रहे थे ।)**

**मध्ये-मध्ये कुसुमखचितं रत्नदाम्नानिबद्धं**
**मल्लीमाल्यैर्घनपरिमलैर्भूषितं लम्बमानैः ।**
**पश्चाद् राजन् मणिवरकृतोदारमाणिक्यगुच्छं**
**धम्मिल्लं ते हरिकरधृतं कर्हि पश्यामि राधे ।।**

**(अर्थ)**

अहा ! जिनके घन जलधरकृष्ण केशोंके मध्य-मध्यमें कल्पतरु-काननके कुसुमों द्वारा,खचित विलक्षण रसकलाकृतियाँ निर्माण की गयी हैं; जो ईश्वर प्रतिपादक समस्त उपनिषदोंकी प्रामाण्यरूपा ब्रह्मविद्यास्वरूपा मणिमालाओंसे निबद्ध हैं, जो शास्त्रप्रसिद्ध सन्ताद्घोषित निविड आनन्द-सुधा-सागरकी उद्‌गमस्थल स्वरूपा मालती मालाओंसे भूषित हैं, जिसके अन्तिम भागमें जिसे कुछ लोग ब्रह्म कहते हैं, कुछ मनीषी जगत्कर्त्ता कहकर परिचय देते हैं, कुछ

प्राणी जिसे परमात्मा बतलाते हैं, जिसे कुछ श्रेष्ट पुरुष भगवान् कहकर प्रतिपादित करते हैं, जिसका प्रभाव देशकालसे परिच्छिन्न नहीं है, देश कालकी सीमामे जो बद्ध नहीं है, वही देव महामणि–माणिक्य–गुच्छवत् सुशोभित है। जिसका ग्रन्थन करते समय रूप–माधुर्यकी शत–सहस्र धारायें बहानेवाले मरकत–द्युतिकलेवर रसराज रसिकशेखर नन्दतनय, उसे हृदयसे लगानेका मनोरथ करने लगते हैं, ऐसी उन रसिकशिरोमणि–करपल्लवरचित तुम्हारी वेणीके हे श्रीमती राधारानी ! मुझ दीन–हीनको कब दर्शन होगे ?

इस मगलाचरणका श्लोक सुनते-सुनते पू.गुरुदेव और पू पोद्दार महाराजके आनन्दकी सीमा नहीं रही। अमृत पीकर आनन्दोन्मत्त हुए प्राणीकी तरह भाव-भक्तिके प्रबल आवेशसे उनका रोम-रोम पुलकित होने लगा। विलक्षण रसभरे इस मंगलाचरणके श्लोककी एक-एक शब्दावली उन्हें, मानो किसी परम अनिर्वचनीय लोकमे पहुँचा गयी। एक क्षण तो उन दोनोकी ऐसी दशा हो गयी कि उन्हे होश ही नहीं रहा एवं उनके शरीर जडवत् हो गये। यद्यपि दोनोके नेत्र स्थिर थे, किन्तु अन्तर्मे पूर्ण भावचेतना उत्ताल तरंगोंमें उमड रही थी । उनके सम्मुख एक परम चिन्मय दृश्य व्यक्त हो उठा था। प्रिया राधारानी स्नानकर एक श्रृंगारचौकी पर विराजित हैं। उनकी श्रृंगारचौकीकी विलक्षण शोभा पू.गुरुदेव एवं पू. पोद्दार महाराजके परम चिन्मय नयनोंमें हू-ब-हू इसी प्रकार व्यक्त हो रही थी , जिसका वर्णन कोई पूर्ववर्त्ती रससिद्ध संत निम्न श्लोकमें इस प्रकार कर चुका है।

**लसत्कनक कुट्टिम स्फुरदमन्दमुक्तावली**
**समुल्लसित कान्तिभिः कलित शक्रचापव्रजे।**
**महाभरणमण्डपे इन्दनीलसिंहासनं**
**सखीजनसमावृतं समधितिष्ठ रासेश्वरी ।।**

**(अर्थ)**

वह श्रृंगारचौकी विशुद्ध सत्वस्वरूपा कनकसे निर्मित है। वहाँ किसी प्राकृत कनकधातुका तो प्रवेश ही नहीं है। उस श्रृंगारचौकीके चतुर्दिक् ब्रह्मविद्यारूप असंख्य रत्नहार इतस्ततः भूमिमें बिखरे हैं। इन हारोंकी मणियोसे शुभ्र मन्द ज्योत्स्ना दिप-दिपा रही है। प्रियतम श्यामसुन्दरका तन जिस विशुद्ध सच्चिन्मयी नीलिमासे बना है, वह नीलिमा ही यहाँ मणियोके रूपमें इतस्ततः

प्रकीरित है। विशुद्ध चिन्मय रागभाव ही जहाँ माणिक्यराशि है, और विशुद्ध प्रियतमरति ही जहाँ प्रवाल बनी है,इन समग्र भावोंके एक साथ एक स्थानपर एकत्रित होनेसे सर्वत्र शक्रचाप (इन्द्रधनुष)की-सी कान्ति समुल्लसित है। इस महाभरण-मण्डपमें प्रिया राधारानी विराजित हैं। वे अपनी ललिता, विशाखादि सखियोंसे समावृत हैं ।

देखो ! देखो ! प्रिया मुसका रही हैं । पू.गुरुदेव एवं पू. पोद्दार महाराज दोनोंहीके हृदय इनके अरुण अधरोष्ठकी कान्तिसे दमकती कुन्दपंक्ति सदृश दन्तावलि द्वारा प्रकटित सरस ज्योत्स्नासे उद्भासित हो उठे । वे इस शोभामे तन्मय हैं । कितना विशुद्ध मन है, इनका। इस विशुद्धसत्वमयी हासछटामें निरतिशय डूबे रहनेके अतिरिक्त अन्य कोई संकल्पका लेश भी जहाँ उत्थित नहीं हो रहा है । उनकी अन्य सभी कामनाओपर किसी परम रसिकशेखरने अपनी महारसमयी यवनिका जो गिरा दी है। पू.गुरुदेवके नेत्र निमेषशून्य हो गये हैं। कुछ क्षणके लिये वे सब कुछ विस्मरण कर जाते हैं। उनका हृदय अत्यन्त वेगसे स्पन्दित हो रहा है, किन्तु अन्य अवयव चैतन्यविहीन-से हो गये हैं, सर्वथा जड बन गये हैं । उनका हृदय तो चैतन्य है, वह उनकी वृत्तियोंको श्रोत्रेन्द्रियकी ओर उन्मुख किये है और उस श्रोत्रेन्द्रियमेंसे प्रमुख समाजी श्रीहरिवल्लभजीकी परम सुमधुर सगीतध्वनि आ रही है। वे तोडी रागमें एवं चौताल तालमें आलाप भर रहे हैं :

**मज्जन करि कंचन चौकी पर बैठी बाँधत केसन जूरौ।**
**रुचिर भुजनकी उपमा अनुपम , ललित करन बिच झलकत चूरौ।।**
**लाल जटित बैंदी सुविराजित तैसोई फबि रह्यौ माँग सिंदूरौ ।**
**चतुर बिहारी प्रिया मुख छबिपर वारत कोटि सरद ससि पूरौ।।**

अहा ! सद्यस्नाता श्रीराधारानी उपरोक्त कंचनचौकीपर अपनी नीलश्यामघन केशराशिका जूडा बाँधे बैठी हैं। उनके अंग-प्रत्यंगोसे शोभाका निर्झर झर रहा है। पू.गुरुदेव चित्र लिखे-से बैठे हैं । उनका आनन्द विगलित हृदय अश्रु बनकर नेत्रोंके पथसे बह चलता है। पू.गुरुदेवके सम्मुख अपनी अग्रजा भगिनी भानुकिशोरीका कैसा विलक्षण सौन्दर्य प्रकट हो रहा है । "मानों अभी-अभी सिन्धुमन्थन हुआ है । और उसमेसे साक्षात् महालक्ष्मी कमलासनके स्थानपर कंचनचौकीपर सुविराजिता प्रकट हुई हो ,ऐसी कुन्दनद्युति

प्रियाकी अंगकान्ति है । सघन नील मेघराशि मानो दामिनीमालासे बँधी नभके मध्यभागमें एकंत्रित हो गयी हो , और यदा-कदा दो-चार बूँदें टपका देती हो, ऐसी शोभा प्रियाके क्षौम-शुभ्र-वस्त्रावृत केशकलापके जूड़ेकी है, जो उनके अनावृत अंगोपर मुक्तामालावत् जलविन्दु टपका रहा है।

कमलनाल-सी परम सुकोमल कुन्दनद्युति काम-कमनीय दोनों भुजायें इतनी अनुपमेय रुचिर हैं कि इनकी सुन्दरता सदैव श्रीकृष्णचन्द्रके नयन-सरोजोंको लुभाये रखती हैं । इनके युगल करोंमें सप्त रत्नोंकी सात-सात चूड़ियाँ सदैव खनकती रहती है। ये चूडियॉ यद्यपि हैं, रत्न-पाषाणनिर्मित किन्तु इनकी सुकोमलता कुसुमदलोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त मृदुल-मृदुलतर है। एक लघु तूल-पुंजमें जितना भार होता है , उतना भार भी इन चूड़ियोंमें प्रियाके करोंको संवेदित नहीं होता। इन चूड़ियोंके रंग एवं इनकी कलात्मक संरचना इतनी सुमनोहर है कि इन्हें निहारते हुए विश्वविमोहन प्रियतम नीलसुन्दर भी अपनी त्रैलोक्य मनोरम छविको इन पर न्यौछावर कर देनेको समातुर हो उठते हैं । इन चूड़ियोके अग्रभागमे प्रियाकी कमलदलोंसी सुन्दर दोनों हथेलियोंकी अपरिसीम शोभाको मानो निरखते इन्द्रनीलमणिके दो कंकण (कड़े) सुशोभित हैं। इन नीलमणि वलयोंके रूपमें स्वयं प्रियतम ही प्रियाके कमल-किसलय-से दोनों हाथोंको सुपरिवेष्टित किये रहते हैं। इन नीलमणि वलयोंके पश्चात् प्रिया प्रियतम-रागकी तीन-तीन रक्तवर्णकी माणिक्यचूड़ा धारण किये रहती हैं। तत्पश्चात् वे विशुद्ध सत्वमयी वर्णकी सर्वोच्च भक्तिभावकी प्रकाशिका दो पीतद्युति पुखराजरत्नकी चूड़ी पहनती हैं एवं सबसे पश्चात् उनकी कलाइयोंमें दो चूडियॉ जो विशुद्ध ज्ञानभावकी प्रकाशिका हैं वज्रमणि (हीरे)की धारण होती हैं। इसके पश्चात् उनके बाहुयुगलमें त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका प्रतीक कंचनवलय सुशोभित होता है।

पू.गुरुदेव श्रीमती राधारानीकी चूड़ियोंकी शोभा देखते-देखते इतने आनन्दित हो उठते हैं, कि उनका हृदय इस आनन्दातिरेकको सँभाल नहीं पाता। उन्हें भय है कि कहीं वे मूर्च्छित होकर गिर नहीं पड़ें और पू.पोद्दार महाराज इस रासलीलाभिनयको ही स्थगित नहीं कर दें। उनका हृदय भावातिरेकमें इतनी तीव्र गतिसे स्पन्दित हो उठता है कि उन्हें प्रियाकी भुजाओंसे अपने मनको निवारित करना पड़ता है। परन्तु मन तो मन ही है।

वह प्रिया राधारानीकी भुजाओकी शोभासे निवारित होता है तो मुखचन्द्रकी शोभामे फॅस जाता है। अहा ! उनके मुखारविन्दका सौन्दर्य तो इन सुकोमल बाहु-वल्लरियोसे अनन्त गुना मनोज्ञ है। प्रियाके बाहुयुगल पद्म हैं तो उनका मुख पूर्ण चन्द्र है। अहा ! यह पूर्ण प्रफुल्लित चन्द्र तो उनके मानसमें प्रेम-पीयूषकणोकी वर्षा ही कर बैठता है। पू. गुरुदेव अपने मानसमें लबालब भरी इस छविपर अपने प्राणोंको न्यौछावर ही तो कर सकते हैं ।

अहा ! उनके कुन्दनद्युति चमकते ललाटपर कुंकुमकी बड़ी-सी बेंदी सुशोभित हो रही है, जो झलका रही है कि प्रियाका मन-मस्तिष्क अपने प्रियतमके प्रेमसे लबालब भरा है और इस बिन्दीके ठीक ऊपर मध्य सिरमें रत्नमालाओसे समलंकृत केशराशिको समानरूपमें बॉटकर विरचित सीमन्तमें सिन्दूरकी ऐसी शोभा है, मानो दोनो ओर सघन वनांचलको चीरकर सुमेरु शिखर जगमग-जगमग करता ज्योतिर्मान हो रहा हो। प्राणप्रिया श्रीराधारानी माधुर्य एवं लावण्यकी अपरिसीम सागर हैं और इनकी मुखछविपर पूर्ण शरच्चन्द्र निर्मञ्छन करनेयोग्य तुच्छ प्रतीत हो रहा है ।

पू. गुरुदेव देख रहे हैं कि सद्यस्नाता प्रियाकी वस्त्रालंकार-अनावृत सौन्दर्यराशिको अपने नयनोंमें आपूरित करनेको लालायित प्रियतम श्रीकृष्ण स्नानकुञ्जके एक सघन लतासमूहकी ओटमें छुपे-दुबके इस अनुपम शोभाको निरख रहे हैं ।

**(समाजी गा रहे हैं)**

**(राग- आसावरी,ताल त्रिताल)**

**कौन भाँति मुसकाति छबीली दुरि प्रियतम तिहिं छबिहि निहारत ।**
**निरखत रूप प्रकास माधुरी, रीझि प्रान- तन- मन- धन वारत ।।**
**चहुँ दिसि सखी-सहचरी जे निज, सादौ कछु सिंगार विचारत ।**
**प्रेम चाइके रंग रँगी सब, एक हार अरुझे निरवारत ।।**
**इक सौंधी फुलेल लियैं ठाढ़ी , एक फूल सौं केस सँवारत ।**
**मज्जन करि पहिरे पट-भूषन छिन छिन प्यारसौं पियहिं सँभारत ।।**

अरे ! अरे ! ऐसा तो सुना है कि प्रियतम श्रीकृष्ण अनेको प्रकारसे मुसकाते हैं। विश्वविमोहिनी मन्द मुसकान तो उनके अधरोंपर सदा ही विराजित रहती है। अपनी मधुरातिमधुर मुसकानसे आत्माराम योगीन्द्र -मुनीन्द्रोंको अपने भक्तिपथका पथिक बनानेकी अभिसन्धिसे जब ये मुसकाते हैं, तब इनकी

और ही विलक्षण मुनिजनमनमोहिनी मुसकान होती है। लीलारससुधाकी शत-सहस्र मन्दाकिनी धाराओंको अपने निजजनोंमें बहाने और उन्हें सदा-सदाके लिये आनन्दसिन्धुमें निमग्न कर देनेका संकल्प उदय होनेपर भी ये मुसकाते हैं, तब इनकी निजजनमोहिनी मुसकान कुछ पृथक् ही होती है। रासलीलाके समय जब ये ललित त्रिभंगरूप धारणकर अपने मकर कुण्डलज्योतिसे उद्भासित युगल अमल कपोलोंको जब मुसकानमाधुरीसे दमकाते हैं और तब इनकी अपूर्व सौन्दर्यराशिसे राका शरदशशि भी लज्जावनत हो उठता है, वह उनकी मन्मथ-मानस-मन्थिनि मुसकान कुछ पृथक् ही अर्थ रखती है। परन्तु आज तो इनका दाव ऐसी अपूर्व सौन्दर्यराशिकी उद्गमस्थलीसे पड़ा है जिसकी एक अति साधारण मन्द मुसकानसे ही ये भूमि-लुण्ठित होने जा रहे हैं। तभी तो न ये उस मुसकान माधुरीको सम्मुख आकर देख भी नहीं पाते । वे उसे लता-ओटसे मात्र दुर-दुर छिप-छिपकर ही देख रहे हैं । अहा ! उनकी सद्यस्नाता प्रियाके निरावरित अग कैसे स्वच्छ हैं, मानो उत्कृष्ट कंचनमणिके नवोन्मिषित अंकुर हों , इतने मृदु हैं मानो माधवीलताके पुष्प-पल्लव हो, इतने स्निग्ध हैं, मानो वर्षणोन्मुखी नवजलधरोके मध्य संजात विद्युल्लहरी हो, इतने सुरभित हैं मानो त्रैलोक्य-लक्ष्मीके भालका करतूरीतिलक हो, इतने सुचिक्कण एवं आकर्षणशील हैं मानो सौभाग्यश्रीके अंगोंमें मूर्त कामकला हो । अहा ! लता ओटसे अपनी प्रियाकी निराविल छवि देखते वे अभूतपूर्व आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो जाते हैं । उनकी कैसी दर्शन लालसा है, जो क्षण-क्षणमें उत्तरोत्तर चञ्चल चलायमान हो रही है। वे प्रतिपल व्याकुल हैं, कैसे अपनी प्रियाके अभूतपूर्व, परम विलक्षण अंगोंको शीघ्र-से-शीघ्र आलिंगित करे। उनकी उत्कण्ठा अब तो चरमोत्कर्षको प्राप्त हो रही है।

न जाने कितने कालसे वे लता-ओटमें छिपे अपनी प्रियाके वदनारविन्दका मधुपान कर रहे हैं, इसे कौन कहे ? चिन्मय जगत्मे यह प्राकृत जगत्की क्षणभंगुर कालसत्ता तो है नहीं जिसकी पल-क्षण, घडी-प्रहर, दिवस-रातके रूपमे परिगणना हो । अनादि, असीम कालसत्ताके व्यतीत होने पर भी न तो उनके नेत्र थके हैं न ही तृप्त ही हो रहे हैं, अपितु जितना देखते हैं, उतनी ही दर्शनोंकी प्यास उत्तरोत्तर बढती जाती है। अहा ! प्रियाकी अंगशोभा देखते हैं तो नयन वहीं रम जाते हैं, वहॉसे हट ही नहीं पाते, अधरोंपर दृष्टि चली

जाती है तो दीखता है, मानो रक्तरागमणिके अंकुर किसी अपूर्व कंचनलतामें उन्मिषित हों, करतल, चरणतल, नखावली, एकसे-बढ़कर-एककी शोभाके आवर्त्तोंमें पडे प्रियतम भ्रमित हुए, बस अपना तन-मन-धन न्यौछावर ही कर पा रहे हैं।

उनकी प्रियाको चारों ओर से सखी सहचरियॉ घेरे हैं । अपने प्रियतमकी छुप-छुपकर प्रिया-शोभा निरखनेकी चातुरी उनसे अप्रकटित तो है नहीं, अतः वे प्रियतम-दर्शन लालसानुरूप प्रियाको अत्यन्त सादा ही श्रृंगार धारण कराती हैं । ये सभी सखियॉ अपनी प्रिया एवं प्रियतमके प्रेम एवं चावमें पूरी रँगी हैं । इन सखियोंमें कुछ-एक तो प्रियाका उलझा हार सुलझा रही हैं,कुछ-एक अतिशय सुगन्धित फुलेल लिये हैं, एक प्रियाके केश पुष्पोंसे सुसज्जित कर रही है। सभी सखियॉ अतिशय उत्कण्ठित हो रही हैं। प्रियाने स्नान कर साधारण वस्त्राभूषण धारण कर लिये हैं एवं अपने प्राणप्रियतमकी क्षण-क्षण स्मृति-सुधि कर रही हैं।

इधर प्रियतम बार-बार दृष्टि छुपा-छुपाकर अपनी प्राणप्रियाकी सलौनी आकृति निरखते जाते हैं, किन्तु उनको तृप्ति होती ही कहाँ है ? इतनी देर दर्शन करके भी ऑखें दरसनकी प्यासी ही रह जाती हैं। प्रियाके कंचन-गौर श्रीअगोंपर तो नित्य लावण्यकी लहरें उठती रहती हैं। वे तो नित्य नवसुन्दर हैं, उनका क्या तो स्नान और क्या श्रृगार ! परन्तु यह तो सखियोंके हृदयमें उठती अपने प्रियतमको नित्य नव-नव सुखदान देनेकी लालसाओंका मात्र एक लघु-सा प्रीति-उपक्रम है। उनके अति मधुर श्रृंगार-रसकी नित्य नव-नव वेगसे उमगती चंचल लहरें हैं, जो विविध श्रृंगारसे अपनी प्राणसखीको सज्जितकर अपने प्रियतमके नयनोंका आनन्दवर्धन करती रहती हैं। श्रृंगाररसकी पाठशालाकी तो यह प्राथमिकी ही है, प्रेमरसकी एक अतिशय प्यारी, अति स्वाभाविक प्रीति-प्रक्रिया भर है जिससे प्रेरित हुईं सखियाँ अपनी प्राणसखी भानुतनयाकी श्रृगारसज्जा करती हैं एवं भानुतनया स्वयं अपने हाथों अपनी सखियोंका अतिशय वात्सल्यसे भरकर श्रृंगार करती हैं । प्रियतम श्यामसुन्दर अपनी प्राणप्रियाका पूर्ण मनोयोग एवं लालसासे श्रृंगार करते हैं और प्रिया अपने प्रियतमको अपने समग्र कौशल और प्यारदान देकर सजाती हैं । जो हो, तात्पर्य यह है कि यहॉ – इस वृन्दाकाननमें प्रिया-प्रियतमकी माधुर्यरसप्रधान श्रृगार-सेवार्चना कुछ निराले ढंगसे ही होती है। यहॉ विधि-विधान,कार्य-कारण

कुछ नहीं है, यहाँ तो सखियोंके, प्रियाके, प्रियतमके अन्तस्तलमें प्रवाहित अनाविल प्रमसिन्धुकी उर्मियाँ ही हैं, जो प्रिया-प्रियतमके अन्तस्तलमें प्रिया-प्रियतम, सखी-समुदाय, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, पुष्प-भ्रमर एवं क्या कहें समग्र ब्रज-बृन्दावनको ही निरंतर नृत्य कराती, थिरकती रहती हैं। ये प्रीति-उर्मियाँ परम रसमयी भाव-समुद्रकी लहरें, जहाँ, जिसे, जब, जिधर बहा ले जावें, वहाँ, उस ओर, वैसे ही बह जाना यहाँका अखण्ड प्रेमनियम है।

लो! प्राणवल्लभ नीलसुन्दरकी दशा देखे। प्रियतम प्राणसुन्दर नीलमणि अबतक जो स्वयको गोपन रखकर अपनी प्रियाको लता-जालकी ओटसे निरख रहे थे, अब उनके पार्श्वमे ही आकर अवस्थित हो गये हैं। वे अपनी प्रियाके सम्मुख अपना प्रेम-निवेदन कर रहे हैं। समाजी अतिशय मधुर स्वरमें आलाप ले रहे हैं –

**हियकौ प्रेम समुझि रस-नागर चरननि चूमत नयननि लावत ।**
**हित ध्रुव' प्रीति परस्पर ऐसी, ये उनकौं वे इनहिं लड़ावत ।।**

सप्त स्वर्ग – सप्त पाताल समन्वित असख्य ब्रह्माण्डश्रेणीके प्रधान प्रतिपालक विराट् पुरुष परमात्मा जब इस ब्रज-वृन्दावनमे नन्दगोपतनय बनकर अवतरित होते हैं, इस ब्रजभूमिकी परम अनोखीलोक-वेदमर्यादाओंसे परेकी प्रीति-रीति अपनाते हैं, और बृषभानुगोपदुहितासे प्रेमकी पैगे बढ़ाने लगते हैं तो उन्हे अपने अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्य और भगवत्ताकी सभी मर्यादाएँ रससिन्धुके अतल तलमे डुबानी ही होती हैं। यहाँ तो उन्हें भानुनन्दिनी-नायक होनेके लिये उसका अतिशय प्रेम दुलार स्वीकार करना ही होता है और अपने प्राणोंके उन्मत्त वेगसे उसे दुलारना ही पडता है। रसिक-शेखर रसनागरको तो नागरी राधाके चरण चूमने ही होगे, उन्हें कभी नयनोंसे और कभी अपने हृदयदेशसे सटाना ही होगा ।

यहाँ इस प्रीति निकुञ्ज-स्थलीमें तो भला उनकी अर्चना'**ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः'** मन्त्रसे होनेसे रही। भले ही कहीं वे अनन्त चरण, अनन्त मस्तक, अनन्त नेत्र हों, परन्तु यहाँ तो इस अनन्तता, ईश्वरत्वका बाना उन्हें उतार फेकना ही पडेगा। इस प्रेमभूमिके जो स्मृति-वेद विधिसे उलटे-पुलटे रसीले नियम हैं, वे सभी उनपर लागू हो ही जावेंगे। यहाँ उनकी आसन,पाद्य,अर्घ्य, स्नानीय, धूप, दीपसे पूजा कदापि नहीं होगी। यहाँ तो रजनीका विराम होते

ही ललितादि गोपकन्याएँ, अपनी अतिशय प्रेमिल खण्डिता भाव-प्रवण भर्त्सना-स्तुतियोंसे ही उन्हे जगावेंगी, शुक-सारिका पक्षीगण काम-सूत्र पाठ करके ही उनका प्रथम प्रभात-स्तवन करेंगे। अपनी प्राणवल्लभाकी नील-साडीको उत्थान-त्वरामें पहन लेना और उस अनावृत कंचनांगीको अपने पीताम्बरसे आच्छादित कर लेना ही, यहॉ उनको आसन समर्पण होगा। यहॉ तो प्रिया द्वारा उनके कपोलोपर प्रीतिचिह्न अंकन कर देना ही उनका मुख-प्रक्षालन होगा। यहॉ तो निज प्रियाके द्वारा उन्हें अपने आलिंगनपाशमें ग्रथित कर लेना ही उनका तुलसी-गंगोदक स्नान होगा। **'प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे'** ही यहॉका प्रधान मन्त्र है, अतः यहॉ तो प्रिया भानुतनयाके प्रेमपवित्र उत्तुंग उरोज ही उनके परमाराध्य इष्ट शालिग्राम हैं और उसका संलालन, संग्रहण और निज वक्षस्थलमें सलिप्त केशरसे उसका श्रृंगार करना ही यहॉ उनका पवित्रतम इष्ट-पूजन है। निज प्रियाकी निशापर्यन्त कामकेलिसे बिथुरी, उन्मुक्त-बंधन, अस्त-व्यस्त केशराशिका वेणी-ग्रन्थन ही यहॉका धूपदीप-समर्पण है। प्रियामुखका उच्छिष्ट ग्रहण करना ही यहॉं नैवेद्य है और उसके प्रेम-सुदृढ़ बाहु-पाश आलिगनमें पूर्णतया निबद्ध होकर आत्मसुधि विस्मृत हो जाना ही यहॉकी ध्यान एवं समाधि-प्रक्रिया है। प्रिया-विरहमें अविरल अश्रुप्रवाह ही यहॉका स्नान है और 'हा प्रिया, हा प्रिया'कहकर हाहाकार भरा विलपन ही यहॉकी स्तुति है, अस्तु कहनेका तात्पर्य यही है कि इस रसीली ब्रजभूमिकी अनोखी प्रीति-प्रक्रियामे सर्वलोकैकपाल प्रिया-प्रियतम राधामाधव (विराट पुरुष)की अर्चना अतिशय निराले ढंगसे ही होती है। यहॉं तो सभी लोक-वेद-मर्यादा प्रेमसिन्धुके अतल तलमें डुबानी ही होती हैं।

आओ, इसी प्रीतिभूमिके सर्वोच्च शिखर मोहन-मादन महाभावमे डूबे पू.श्रीपोद्दार महाराज एव राधाबाबाके मनश्चित्रकी एक अल्प-सी झॉकी करें !

{पाठक सावधान रहें, इस परम चिन्मय अनाविल अनुपम श्रृंगाररस-साधनामें प्राकृत काम-कालुष्य और मलिन पाशविक स्त्री-पुरुष, रमण-रमणी भाव देखना रौरवादि नरक-पतनका ही हेतु है, अतः सावधानीपूर्वक सदैव सयत रहे, ये सभी परम चिन्मय भगवद्राज्यकी बातें हैं। }

"श्रीपोद्दार महाराज और पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके हृदयदेश परम रसमय वृन्दावनमें प्रियतम श्रीकृष्ण अपनी प्रियाकी वेणी गूँथ रहे हैं—

"असीम माधुर्यरसपूरित करोंसे प्रियतम श्यामसुन्दरने अपनी प्रियाकी महामरकत श्यामल केशराशिको पहले अपूर्व सुगन्धयुक्त फुलेलसे सिञ्चन किया है। अहा ! निज प्रियाकी कैसी त्रिभुवनमोहक रूपराशि उनके सम्मुख व्यक्त है। अपनी प्रियाके अंग-प्रत्यगसे झरती सौन्दर्य-सुधाका वे कैसे तन्मयतापूर्वक पान कर रहे हैं। उनके हृदयदेशमें प्रीतिसागरके असख्य आवर्त्त एक-से-एक उच्च वेग लिये उत्थित हो रहे हैं। लो, इसी क्षण सौन्दर्यकी अपार उच्च विलक्षण रसमयी लहर आयी, इस लहरने प्रियतमके हृदयको कैसा रस-निमग्न कर दिया, इसका अनुभव तो मात्र वे ही कर सकते हैं। उनके सिवा अन्य कोई उसे जान भी कैसे पावेगा ? परन्तु अपने हृदयके इस रस-स्पन्दनसे वे उबरें-उतरें, इसके तो पहले ही प्रियाके असीम लावण्यसागरमें इतना अत्युच्च ज्वार आ जाता है कि प्रियतम अपने अस्तित्वकी रक्षा ही नहीं कर पाते और धराशायी होकर आपातत: उसमे पूरे डूब जाते हैं।

ब्रजवासी रासधारी समाजी राग कल्याणमे स्वामी हरिदासजी महाराजका परम अनुभूत पद गा रहे हैं। पदके बोल हैं--

**बेनी गूँथ कहा कोउ जानै, मेरी-सी तेरी सौं प्यारी ।**
**बिच-बिच फूल पीत सितराते, को करि सकै ऐरी सौं प्यारी ।।**
**बैठे रसिक सँवारत बारन, कोमल कर ककही सौं प्यारी।**
**हरिदासके स्वामी स्यामा नख-सिखलौं , बनाइ दै काजर नखहीसौं प्यारी।।**

महारसिकशेखर पूज्यपाद श्रीस्वामीजीके इस पद गायनमे तो अवश्य ही वेणी गूँथी जा रही है, परन्तु पू. पोद्दार महाराज एवं पू. राधाबाबाके मानस भाव-वृन्दावनमे तो प्रियतम श्रीकृष्ण अपनी प्रियाके केशोंको मात्र स्पर्श भर ही कर पाते हैं कि उनकी ऐसी प्रेम-विचित्र दशा हो जाती है कि जिसका वर्णन ही कोई कवि नहीं कर सकता। यदि स्वयं सरस्वती भी कुछ कहना चाहे तो इतना ही कह सकती है कि जब नन्दनन्दन प्राणपति अपनी प्रियाकी वेणीकी एक लट मात्रका संस्पर्श करते हैं, इतना करते ही उनके नेत्र-मन-प्राण और उनकी समग्र अस्मितामे मात्र प्रिया-ही-प्रिया भर जाती है, और कुछ रह ही नहीं पाता। एक परम रसमयी तडिल्लहरी उनके अंगोंमें व्याप्त हो जाती है और प्रियतमके समस्त अंग-अवयव पूर्ण निस्पन्द ही हो जाते हैं, उनकी वाणी रुद्ध हो उठती है,केवल निर्निमेष नयनोंके पथसे वे उस अप्रतिम रसमयी केशराशिको

निरखते रह जाते हैं। उनके नयनोसे परम शीतल भाव वारिविन्दु प्रवहमान हो उठते हैं।

हाँ ! यह अवश्य है कि प्रियाकी समग्र वेणीरचना सांगोपांग उनके ही करकमल करते हैं, परन्तु करते हैं यंत्रवत् ही ।

पू.गुरुदेव एक दिवस मुझ परम अनधिकारीके सम्मुख जब महाभावगत मोहनभावकी व्याख्या कर रहे थे तो उनके कथनका सार यही था कि जब प्रियतम श्यामसुन्दर निज प्रियाके किसी भी अंगके दर्शनपर स्नेहके अतिशय अतिरेकमें सर्वथा बाह्यज्ञानशून्य हो जाते हैं, और फिर सर्वथा मोहित अवस्थामें रहते हुए भी उनके द्वारा यथायोग्य निज प्रियाकी सेवा सम्पादित होती रहती है, तो समझना चाहिये कि वे मोहन-महाभाव-भावित हैं। पू.गुरुदेव श्रीराधा बाबाका इस पदके सम्बन्धमें यही कथन था कि प्रियाकी बेनी गूँथते समय प्रियतम श्यामसुन्दरकी इसी महाभावगत दशाका परम पवित्र दर्शन स्वामी हरिदासजी महाराजको इस पदकी रचना करते समय हो रहा था। इसीलिये इस पदमें वे प्रियतम श्यामसुन्दर द्वारा सम्यक् प्रकारसे वेणी गूँथनेकी समग्र क्रियाका वर्णन होशपूर्वक कर गये हैं। पू. गुरुदेव एवं पू. श्रीपोद्दार महाराज इसी भावका प्रत्यक्ष दर्शन अपने अन्तर्नेत्रोंसे रासलीलाके मध्य कर रहे थे।

प्रियतम श्यामसुन्दरने कलाकी इति करदी है। ये वेणी-रचना करना कब सीखे ? इन्हें इस कलाकी शिक्षा किसने दी ? इन सभी प्रश्नोंका उत्तर तो अचिन्त्य महिमामयी योगमाया ही जानती है। वस्तुत: तो प्रिया राधा-रानीकी धम्मिल्ल तो स्वयं प्रियतम श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधारानीके मस्तकपर भला उनके सिवा और कौन है, जो नित्य विराजित रहे। यह तो सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रकी सदंशमे रहनेवाली सधिनी शक्तिका ही विलास है कि उन्होंने प्रियतम श्यामसुन्दरको धम्मिल्ल बनाकर अपनी प्रियाके शिरोभागमें प्रतिष्ठित कर दिया है। प्रियतम श्रीकृष्णके समान ही तो यह भी विभु है, नित्य चिन्मय है। इसकी सज्जा तो नित्य नव-नूतन हुई ही रहती है। यह धम्मिल्ल तो अनादिकालसे है, अनन्त काल तक रहेगी।

प्रपञ्चमें जिस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी चिदानंदमयी लीलाका प्रकाश होता है तथा क्रमशः लीलाविस्तारके क्रममें उनकी नित्यप्रिया श्रीमती राधा बृषभानुपुरमे बृषभानुगोपके घर जन्म लेती हैं, उसी समयसे तो वे अपनी

प्रियाके मस्तकपर विलक्षण शोभा धारणकर चूडा बन जाते हैं। तबसे कभी तो वे माता कीर्त्तिदा द्वारा वेणीरूपमें बाँधे जाते हैं, और कभी सखियों किंवा दासियो द्वारा। आज इसी लीला-सिन्धुके आवर्त्तोंने ऐसा सुअवसर उपस्थित कर दिया है कि वे अपने ही हाथोसे अपनी ही श्रृंगार-संरचना कर रहे हैं। यह विलक्षण संरचना तो उनके नेत्रोंमें अनादिकालसे पूर्वतः ही भरी है। बस, वे तो मात्र इस चिन्मय अतिशय विलक्षण केशराशिका स्पर्शभर करते हैं और प्रेम समाधिमे डूब जाते हैं। धम्मिल्लका श्रृंगार तो अपने आप आविर्भूत होता है। यह वेणीगूँथनलीला तो मात्र उनके लिये है, जिनके नेत्रोंमें त्रिगुणका तेज भरा है। उन्हें तो यही दिखता है, मानो स्वयं श्रीकृष्ण अपने हाथोंसे एक-एक विकसित पुष्प, एक-एक रत्नमणिमालाको पिरो पिरोकर अतिशय कौशलसे वेणीरचना कर रहे हैं। परन्तु पू.पोद्दार महाराज एव श्रीराधाबाबा-जैसे सिद्ध संत दर्शक जिनकी आँखोमें श्रीकृष्ण नखचन्द्रकी चन्द्रिका भरी है, उन्हें तो स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि प्रियाकी नित्य चिन्मय केशराशिमें वेणीका समग्र कलात्मक श्रृंगार तो भगवती योगमाया द्वारा पूर्वतः ही किया जा चुका है। बस, प्रियतम तो अपने प्रेमभरे नेत्रोसे उस भगवती योगमाया द्वारा पूर्व रचित श्रृगारका दर्शन भर पाते हैं, वह श्रृंगार उनके प्रेमभरे नेत्रों एवं मनके सम्मुख संकल्प , कल्पना अथवा कुछ भी कहो, मनोरथके रूपमें सामने भर आता है। और बस तत्क्षण ही वह वेणीपर समलंकृत हो जाता है।

पू.गुरुदेव एव श्रीपोद्दार महाराज दोनों युगल संत इस सत्यको खूब अच्छी तरह अवगत कर रहे हैं, और अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी इस चिन्मय विचित्र कलात्मकताको निरखकर मुग्ध ही नहीं, समाधिस्थ हो रहे हैं। उनके सामने विलक्षण सुन्दर दृश्य है और वे सर्व बाह्यजगत्‌से आत्मविस्मृत निस्पन्द, निश्चेष्ट उसे अपने अन्तःकरणपटल पर देख रहे हैं "प्रियतम श्यामसुन्दरने प्रियाकी अत्यन्त मनोहर वेणी गूँथी है। उसमें श्वेत, लाल, पीले, पुष्पोंसे अनोखी रसमयी संरचनाएँ की हैं। और वे तत्पश्चात् अतिशय प्रेमभरी गर्वोक्ति भी कर रहे हैं कि मेरी-सी वेणीरचना अन्य कोई भी सखी नहीं कर सकती। उन्होंने आरसीकी सहायतासे निज प्रियाको उस अपनी रचनाके सौन्दर्यका दर्शन भी कराया है ।

सचमुच ही स्वय उनकी प्रिया राधारानी भी उनकी उस चिदानन्द-मयी शोभाको देख मुग्ध हो उठी हैं। और अपने प्यारे प्रियतमसे अपने समग्र

अंगोंका श्रृंगार करनेका आग्रह कर बैठती है। यह सत्य, परम सत्य है कि प्राकृत जगत्‌के किसी भी मनकी सामर्थ्य ही नहीं कि वास्तवमें उस विचित्र श्रृंगार-वैभवके किसी एक अंशको तो –उस सर्वथा अतुलनीय नित्य चिदानन्दमय श्रीसौन्दर्यकी कणिकामात्रको तो छू पावे। हाँ ! उस विचित्र शोभाका अनुभव होता है, किसे होता है, कैसे होता है, यह बताना भी असंभव है। परन्तु पू राधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराज-जैसे सन्तोको होता है, प्रचुर होता है और उन्हें अपनेमें डुबाकर अपनेसे एकमेक कर लेता है । उसकी छायाके किसी क्षुद्र अंशको वाणी ग्रहण करती है और शाखाचन्द्र-न्यायसे ही सही , उस अनुभूत सत्यको कवि आनन्द कम्पित कण्ठसे पुकार उठता है--

**बेनी सुन्दर श्याम गुही, री।**
**राजति रुचिर सीस प्यारी कैं चम्पक और जुही, री।।**
**नख सिख लौं पहरावत भूषण, दै बीरी मुख ही, री।**
**चतुर्भुज प्रभु गिरिधरन लालके, सुखकी रासि तुही, री।।**

पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा प्रत्यक्ष देख रहे थे –" प्रियतम प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरने अपनी प्रियाकी फूलनसौं बेणी गूँथी, काजर लगायौ, ललाटपर कुंकुमकी बैंदी लगायी, कपोलनपर केसर तथा चंदनके पुष्प और चित्र रचना की , उन्हें कण्ठश्री, पदिक हार, पुष्पहार पहनाये, चरणोमे नूपुर पहनाये, महावरकी विचित्र रचना की, नख-सिख पर्यन्त सम्पूर्ण सिंगार करकें तब अधरनकौं बीरीसे रंजित कियौ।

**समाजी गारहे हैं**

**सारी सँभारी है सोनजुहीकी, जुहीकी ही तापै लगायी किनारी।**
**पंकजके दलकौ लहँगा, अँगिया गुलबाँसकी सोभित न्यारी ।।**
**चमेलीके हार हमेल गुलाबकी, मोरकी बैंदी दै भाल सँवारी।**
**आज विचित्र सँवारि कै देखिये, कैसी सिंगारी है प्यारे ने प्यारी।।**

**(अर्थ)**

यह वृन्दावन भी विलक्षण है। यहाँकी मरकत मणिमय अप्राकृत भूमि है। इस भूमिपर स्वर्णमय गुल्मलतायें और द्रुमसमूह परिशोभित हैं। जब भूमि मे ही मृत्तिकाका लेश नहीं तब मणिमय वल्लरियाँ और गुल्म-तरुपंक्तियाँ हों, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अतः आज प्रियतम श्यामसुन्दरने अपनी प्रियाका जो श्रृंगार किया है उसमें उन्हें स्वर्णमय जुहीकी सारी पहनायी है। कुन्दनांगी

प्रियाकी सोनजुहीकी साड़ीकी किनारी भी जुहीके तारोंसे निर्मित है । अब लहँगेकी शोभा निरखें, वह कमलदलोंसे विनिर्मित है। और सुनो,देखो, कैसा आश्चर्य है। प्रिया गुलबाँसकी चोली पहने हैं, चमेलीके हार हैं और गुलाबकी हमेल धारण किये हैं। उनके मस्तकपर मौलसिरीके पुष्पकी बिंदी शोभा पा रही है।

भाई ! क्या आश्चर्य कर रहे हो ? क्या इसे असंभव मान रहे हो ? अभी तुमने अपने नेत्रोंमें किसी महासिद्ध सन्तकी चरणोंकी रेणु अजनकी तरह आँजी नहीं है। अभी तुम भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनकी स्वरूपशक्तिसे परिचित नहीं हो। अरे भाई ! तुमने तो प्राकृत जड़ पुष्प ही देखे हैं, अत तुम बृन्दावनके अप्राकृत पुष्पोके रूप,रग, आकार-प्रकारको जड़ जगत्के इदमित्थं प्राकृत पदार्थोंके समान ही समझ रहे हो। तुम्हारी यह समझमे ही नहीं आ रहा कि प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्ति कर्त्तुम्-अकर्त्तुम्-समर्थ है। श्रीकृष्णकी जब जैसी लीलाका प्रकाश करना हो, वह वैसा ही करनेमें समर्थ है। वह कमलदलोंको लहँगेके रूपमें परिणत कर सकती है। जुहीकी कलिकाओंको साडीकी किनारीके समान निर्माण कर देना उसके वाम हस्तका कार्य है। अपने प्रियतम प्राणवल्लभकी लीलाको मधुरातिमधुर बनाकर स्वयं उसका रसपान कर क्षण-क्षणमें आनन्दसिन्धुमें निमग्न होनेके लिये न जाने कितनी ही बार ये इस बृन्दावनके कमल, जुही, गुलनार, चमेली, गुलाब, मौलश्री अपना संकोच , विस्तार एवं रूप-परिवर्त्तन यथानुरूप कर लेते हैं, अन्यथा तो ब्रजेन्द्रनन्दनकी अनाविल मधुरिमामय लीलारसपान और रसदानका उद्देश्य ही अपूर्ण रह जाय। अस्तु,

देखो ! देखो !! पू.पोद्दार महाराज एवं पू. गुरुदेवके भावराज्यमें कैसे विलक्षण लीला-दृश्य उभर रहे हैं। पहले तो प्रियतम श्रीकृष्णने अपनी प्रियाकी अभूतपूर्व सज्जा की थी, अब प्रिया श्रीराधारानी अपने प्रियतमका श्रृंगार कर रही हैं।

**समाजी केदारा राग एवं तीन तालमें गा रहे हैं-**

**सोनजुहीकी बनी पगिया रु चमेलीको गुच्छ रह्यौ झुकि न्यारौ।**
**द्वै दल फूल कदम्बके कुण्डल, सेवतीको जामा हू घूम घुमारौ।।**
**नव तुलसी पटुका घनश्याम, गुलाब इजार नवेलीको न्यारौ।**

**फूलन आज विचित्र बन्यौ देखौ, कैसो सिंगार्यौ है प्यारीने प्यारौ।।**

**(भावार्थ)**

सचमुच ही जगत्‌के प्राणियों ! श्रीकृष्णचन्द्रसे, उनकी लीलासे सम्बद्ध किसी भी तत्वरहस्यको एकमात्र उनकी कृपावारिकी कणिका मात्रको ही सम्बल बनाकर ही जाना जा सकता है। अचिन्त्य भावोंमें तर्कोंके लिये सचमुच सर्वथा ही स्थान नहीं है! श्रद्धाभूत चित्तसे अनुशीलन करनेपर उनकी कृपाशक्ति सत्यको अपने आप ही व्यक्त कर देती है। यही वहाँतक पहुँचनेका एक मात्र पथ है।

पू. पोद्दार महाराज एव पू. गुरुदेव राधाबाबाके मानसिक नेत्र कहीं हमें उनकी कृपासे एक क्षणके लिये भी मिल जाते तो हम इस प्रिया-प्रियतमकी परस्पर श्रृंगाररचना और उसकी शोभाकी एक झॉकी कर पाते। प्रकृत शब्दों, भावों एव द्रव्योंके सहारे तो इसकी वास्तविक अद्‌भुत श्रीको, इसके असमोर्द्ध वैभवको, इसकी रूपरेखाकी एक अल्प-सी छटाको भी देखा नहीं जा सकता। लो ! प्रिया एक अभूतपूर्व प्रेमजन्य परमानन्दमें निमग्न हुई अपने प्रियतमको अपने अंकमें धारण किये विराजित हैं । प्रियतमकी उन्मुक्त केशराशिको वे बन्धन दें, यह उन्हे सर्वथा स्वीकार जो नहीं। परन्तु उन्हे अपने प्रियतमका श्रृंगार भी करना ही है। क्योंकि निकुंजलीलाकी एक चिन्मय झॉकी प्रपञ्चमें प्रकाशित हो , इसकी सूत्रधार उन्हें जो बनना है। देखते-ही-देखते प्रिया स्वयं ही सोनजुहीकी पाग बनकर अपने प्रियतमके केश-कलापोमें बॅध जाती हैं। प्रियतमके केश सबसे उन्मुक्त रहें यह तो उन्हें स्वीकार है, किन्तु स्वयं प्रियाके प्रेमबन्धनको, उनके प्रेमालिंगनके प्रगाढ बंधनसे वे कैसे उन्मुक्त रहेंगे ? प्रिया तो उनमें समायी है, उनसे पृथक् प्रियतमकी सत्ता ही कहॉ है ? अत. प्रिया स्वयं ही सोनजुहीकी पाग बनी उनके केशकलापको अपने आलिंगनमें बॉध लेती हैं। लो, देखो न ! इस पागके अन्तरालसे महारसकी कैसी विलक्षण स्रोतस्विनी प्रकट हो उठी । जगत्‌के आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण भी उस विलक्षण श्रृंगार सौन्दर्यके एक कणसे सिक्त होनेके लिये लालायित हो उठे। प्रियाने अपनेको तो अपने प्रियतमकी केशराशिसे संलग्न कर लिया, किन्तु सहसा उनके भक्तवत्सल हृदयमें अपनी सखियोंका स्मरण हो आया। इन सखियोंसे विरहिता एकाकिनी वे अपने प्रियतमसे संयोग भी कैसे करें ? बस,

उन्होंने अपनी सभी सखियोंको सर्वलीलामुकुटमणि चमेलीके गुच्छके रूपमें अपनी कलंगी बना लिया।

पू.राधाबाबा एवं पू. पोद्दार महाराज अपने रस-विजड़ित अन्तःकरणमें इस लीला-माधुरीकी बहती धाराको प्रत्यक्ष देख रहे हैं और इसके महारसमें आकण्ठ डूबते जा रहे हैं। जिनका श्रृंगार-कौशल कभी कुण्ठित हो नहीं सकता, वे चौसठ-कला-चतुर प्रिया अति मुग्ध हुई ठहर-ठहरकर सोचने लगती हैं कि आगेकी रचना क्या हो ? इतनमें उन्हें पुनः एक आवेश-सा आता है। अरे ! वह कदम्ब जिसकी छायाके नीचे खडे होकर उनके प्राणसुन्दर वंशीनिनाद द्वारा उनको आवाहन करते हैं, जिसकी अतिशय निराली हरीतिमा उनके प्राणपति प्रियतमके नयन-सरोजोंमें सदैव समायी रहती है, ओह ! जिसकी शत-शत सुन्दर शाखाये कभी एक क्षणके लिये भी प्राणधनको विस्मृत नहीं कर पातीं, उसका एक-एक पल्लव सदैव उनका अखण्ड मानस-दर्शन करता, आनन्दमे नृत्य करता,, थिरकता रहता है, वह कदम्ब तो उन्हे विस्मृत ही हो गया ! अरे ! उनसे यह कैसी प्रमाद-क्रिया घटित हो गयी ? इस तरुराजको तो उन्होंने बिसार ही दिया, जो निरन्तर प्रेम-सौरभ संचार करता सभी प्रेमीजनोंको प्रियतमकी जीवन्त स्मृति कराता रहता है, जो कालके नियमोंका सर्वथा अतिक्रमण कर पावस, शरद, हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म – सदैव एकरस मनोज्ञ एवं सुख-शीतल बना रहता है, जिसके अंग बारहों मास पुष्पभारसे नमित रहते हैं, सदा ही जो कुसुमित रहता है और जिसकी शोभासे दसों दिशायें सदैव उद्भासित रहती हैं, उसे वे सर्वथा ही विस्मृत कर गयीं ? ऐसा असम्भावित प्रमादाचरण उनसे कैसे घटित होगया ? इस प्रकार विचार करते-करते तत्क्षण ही उन्होंने इस परम पुनीत कदम्बके दो फूल उठाये और प्रियतमके कानोंमें कुण्डलके रूपमें संलग्न कर दिये। प्रियाने देखा जिन कुसुमरूप नयनोंसे कदम्ब अपने प्रियतमके मुखचन्द्रको निहारता कैसा कृतकृत्य हो उठा है। वह अत्यन्त कृतज्ञ हुआ प्रियासे अति विनीत निवेदन कर रहा है– "मेरी प्राणाराध्या ! मेरे चिर जीवनकी अभिलाषा पूर्ण कर तुमने मुझे कृतकृत्य कर दिया ! "

सचमुच ऐसी है श्रीकृष्ण-मुखारविन्द-दर्शनकी महिमा ! यह दर्शन प्राप्त हो, फिर तो कहना ही क्या है, किसीके लिये केवल मात्र यह सौभाग्य निर्धारित

ही हो जाय, प्रिया-प्रियतमकी कृपाशक्ति भविष्यमें, सहस्त्र-सहस्त्र युगसमूह व्यतीत होनेके अनन्तर भी यदि किसीके लिये ऐसे परम सुदुर्लभ संयोगका विधान मात्र करदे तो इससे अधिक जीवनकी कृतार्थता और है ही क्या ?

देखो ! देखो !! प्राणप्रिया श्रीराधारानीके कटाक्षकोरमें जो अद्‌भुत अनादि अनन्त लीलोपकरण-तालिका सुरक्षित रहती है, उसमें सेवती कुसुमकी यह वल्लरी जो आ गयी। इस सेवती लताका स्थान इस कदम्बतरुके ठीक पश्चात् ही तो था। प्रियाने अपनी श्रृंगारक्रियाकी मौजमें इस वल्लरीपर भी अपनी नेहदृष्टि डाल दी और उसके पुष्पोंका घूमघुमारो जामा अपने प्रियतमको धारण करवा दिया। लो, जब प्रियतम श्रीकृष्ण अपने अनन्त ऐश्वर्यको सर्वथा किनारे कर, एक अभिनव मुग्धताके साजसे सज्जित हुए निराविल लीलारस सिन्धुमे अवगाहन करते हुए जब इन सेवती पुष्पोंका घेरदार जामा पहन अपनी प्रिया एवं उसकी सखियोंको अपने स्वरूपभूत परमानन्दका दान कर रहे थे तो नव तुलसी मानवती होकर रूठ गयी। उसके नयनोसे झर-झर अश्रुपात होने लगा। प्रियतमने तो उसके रूठनेकी कुछ भी परवाह नहीं की, किन्तु प्रिया यदि अपने सर्वश्रेष्ठ शालीनतागुणका निदर्शन उसके सम्मुख नहीं करें, यह कैसे संभव है ? बस, तत्क्षण ही प्रिया राधारानीने उसके अश्रु पौंछे एवं श्यामा एवं हरीतिका दोनों तुलसियोंके साथ-साथ गुलाब, इजार एवं नवेली इन पाँचों लताओं और पुष्पोंकी पंखुडियोंसे विशेष प्रकारका घनश्याम वर्णका पटुका विरचित किया और वह पटुका अपने प्रियतमको उपरैना (पिछौरा)के रूपमें धारण करवा दिया। लो, इन विलक्षण आवरण-पटोंमें श्रृंगारित प्राणवल्लभ प्रियतम अपनी प्रियाके कण्ठसे जा लगे और उन्हें गलबाँही दिये अपने किशोरावेशमें अपनी एवं अपनी प्रियाकी श्रृगार-शोभा आरसीमें निहारने लगते हैं।

"अहा ! आरसीमे उन्हें अपना सौन्दर्य अपनी प्रियाके सौन्दर्यसे किंचित् हीन दिखता है। एक अप्रतिम सुमधुर हीनताजन्य संकोचकी छाया प्रियतमके मुखचन्द्रको आवृत कर लेती है। इस हीनताको निकुञ्जमें चतुर्दिक् प्रिया-प्रियतमको घेरकर विराजित ललितादि सखियाँ निरख लेती हैं। सखियोंके हृदयमें प्रेम-समुद्र लहराने लगता है। रसतरंगोंके आवेगसे उनके धैर्यका बाँध टूट जाता है। आनन्दपूरित मुक्त मुसकानके रूपमें प्रेमतरंगें मुखसे बाहर

आ जाती हैं। सभी सखियाँ उन्मुक्त हास करने लगती हैं।.रासधारी समाजी अतिशय मधुर स्वरोमें तान भर रहे हैं–

**मुखसौं मुख मिलाय निरखत आरसी।**
**विकसित नील कमल ढिंग उदित भयौ किधौं पूरण ससी ।।**
**निरखि वदन मुसकाइ परस्पर करत हास गिर जात अंक खसी।**
**गोविन्द' प्रभु-प्यारीजु परस्पर दम्पति परे प्रेम फँसी।।**

**भावार्थ**

अहा ! इन युगल दम्पती राधाकृष्णकी परस्पर मुखसे मुख मिलाकर आरसी देखती छबि कितनी मोहक है। दोनोकी ही वेणी-बद्ध सघन कुन्तलराशि, विशाल कज्जलभरे नेत्र, वह मद-मंद मृदु मुसकानयुक्त बोलन, मधुस्त्रावी अधर-युग्मोंपर नाचती प्रेम सरसता, परस्पर प्रेमभरी चचल भ्रुकुटि-नर्तनयुक्त चेष्टाएँ , इन्हें जो निहार रही हैं, वे परम सौभाग्यवती प्रत्यक्षादर्शी सखियाँ ही जानती हैं कि इस सौन्दर्यमें कैसी विलक्षण मादकता भरी है। अमर्यादित, सभ्रमरहित स्वरूपभूत विभुरससे छलकता इनका जो हृदय है, वही ऐसा सरोवर है जहाँ यह कृष्ण-नीलनलिन भी विकसित होता है और साथ ही पूर्ण राधा-राकाचन्द्र भी उदित होता है। आश्चर्य है नलिन एवं चन्द्रका तो अनादिकालीन वैर है, परन्तु धन्य है यह गोपीमानस जहाँ ऐसी प्रेम-मादकता भरी है कि यह वैर सर्वथा एवं सदाके लिये समाप्त तो हो ही जाता है अपितु ये दोनों ही परस्पर प्रेमबन्धनमें बँध जाते हैं। ये एक दूसरेका सौन्दर्य निहार-निहारकर परस्पर रीझते हैं और फिर विहँसते-मुसकाते एक दूसरेके अकमें गिर जाते हैं। श्रीगोविन्दस्वामी कहते हैं कि परस्पर प्रेममे फँसे ये युगलदम्पती प्रभु एवं प्यारी विलक्षण स्वभावके हैं ।

लो, अब तो ये दोनों अतिशय मुग्धभावसे अपनी श्रृगार-माधुरीका रस लेने लगे। दोनों दम्पती आरसी में अपनी छवि देखते अपने-अपने मुख-सौन्दर्यकी तुलना करने लगते हैं कि दोनोंमें से किसका मुख अधिक सुन्दर है।

समाजी अपने-अपने वाद्योंमें सुर देने लगते हैं और ठाकुर वेषधारी बालक अतिशय मधुर ध्वनिमें राग कोशिया ताल दादरामें गाता है -

**मेरो मुख नीकौ कै तेरौ री प्यारी।**
**दर्पण हाथ लिये नँदनन्दन , साँची कहौ बृषभानुदुलारी।।**

ठाकुरके प्रश्नका उत्तर देती किशोरी बना ब्रजवासी बालक गाता है–

**हम कहा कहैं तुमहिं किन देखौ, हम गोरी तुम श्याम बिहारी।**
**कृष्णदास प्रभु गिरिधर नागर, चरनकमलपर राधिका वारी।।**

अहा ! प्राणवल्लभ नीलसुन्दरका अपनी प्रिया राधारानीके संग मुखसे मुख मिलाकर आरसी देखना अपने मुखसरोजके सौन्दर्यसे उनके मुखचन्द्रके रूपकी तुलना करना कितना सरस है, इसका आकलन हम लोगों-जैसे विषय-कीचमे सने जीव भला कैसे कर सकते हैं। उनकी इस प्रेममुग्ध लीलाके द्वारा कैसी विलक्षण रसतरंगें सृष्ट हो रही थीं, इसके तो पू. गुरुदेव अथवा श्रीपोद्दार महाराज ही अनुभवकर्त्ता थे और हम सभीने इस प्रवाहका आकलन यही देखकर जाना कि इस लीलाका दर्शन करनेके पश्चात् पू.गुरुदेव निरन्तर आठ प्रहर प्रस्तर प्रतिमाकी तरह निस्पन्द रहे। उन्होंने न तो जल पिया एवं न ही भिक्षा की। वे कृष्णनिकेतनसे अपने आवास गीतावाटिकातक भी कैसे आ पाये, यह उन्हींका स्वसंवेद्य अनुभव था। अवश्यमेव उनका चित्त तो किसी दूसरे ही लोकमें इस परम चिन्मय रसमयी लीलाके आस्वादनमें निरत था, हाँ, पैर किसी तरह उन्हें यंत्रवत् मोटरगाड़ीतक ले गये थे, जिसमें आरूढ़ वे चिर अभ्यासवश अपने निवासतक पहुँच पाये थे। लेखक तो उनकी विलक्षण भावदशाका प्रत्यक्षदर्शी था। तीसरे दिवस जब लेखकने उनसे इस सम्बन्धमें प्रश्न किया तो उन्होने मात्र इतना ही उत्तर दिया कि"भगवान् श्रीकृष्ण जब कृपाकर तुम्हें स्वयं अनुभव करावेंगे तभी गुड़ कैसा होता है, समझ पाओगे। वाणी द्वारा बतलाने एवं कहनेका यह विषय ही नहीं है। हाँ, इतना ही समझ लो कि यद्यपि आज मैं बाह्यावेशमें हूँ, परन्तु अभी भी वह परम रसमयी झाँकी मेरे मानस नेत्रोंमें ज्यों-की-त्यों विजड़ित है ।"

अनेक दिवसोंतक पू. गुरुदेवके मुखमें रासधारी बने प्रिया-प्रियतमके परस्पर वार्त्तालापकी निम्नलिखित रसभरी उक्तियाँ नाचती रहीं –

**ललिता**–"प्यारे ! हमारी प्यारीकौ मुख तौ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल है और आपको मुख अँधेरी रातके समान कारौ कलूटौ है।"

**श्रीकृष्ण**–"अजी ! तौ चन्द्रमा हू तब ही सोभा देय है, जब कारी-कलूटी अँधेरी रात होय।" पू.गुरुदेव अनेक दिनोंतक ये निम्न पद जो रास-धारियोंने इस वेणीगूँथनलीलामें गाये थे, मुझसे एकान्तमें सुना करते थे ।

बात कहत रस रंग उच्छलिता ।
फूलन महल विराजित दोऊ मंद सुगन्ध निकट बहै सलिता।।
मुख मिलाइ हँसि देखत दरपन, सुरति-स्त्रमित उर माल विगलिता।
परमानँद प्रभु प्रेम बिबस कहैं, हममें सुन्दर को है ललिता।।

बेसर कौनकी अति नीकी।
होड़ परी लालन अरु ललना, बढी चौंप अति जी की।।
न्याय पर्‍यौ ललिताके आगैं, कौन सरस कौन फीकी ।
नंददास प्रभु विलग जिन मानौ, कछु एक सरस ललीकी।।–
–

बनी तेरे चारि-चारि चूरी करन।
कण्ठसरी दुलरी हीरनकी नासा मुक्ता ढरन।।
तैसोइ नैंननि कजरा फबि रह्यौ , निरखि काम जिय डरन।
श्रीहरिदासके स्वामी स्यामा-कुंजबिहारी रीझि -रीझि पाइन परन।।
–

इस बेणीगूँथनलीलाका प्रभाव पू. गुरुदेव और पू. पोद्दार महाराजपर पड़ना स्वाभाविक ही था, जो इक्कीस लोग उस सुभग निशामें इसके दर्शक थे, वे भी अनेक दिनो तक लीलाके निम्न पद गुनगुनाया करते थे–

कुंज पधारौ स्यामा ! रंगभरी रैन ।
रँगभरी दुलहिन, रँगभरे पिया, श्यामसुन्दर सुखदैन।।
रँगभरी सयनी बिछी सेजपर, रँग भर्यौ उलहत मैन।
रही रैन थोरी नागरिया, करौ सेज सुख सैन।।

------

लड़ैतीजीके नयनन नींद घुरी।
आलस बस, जोबन घन, मद बस, पियके अंक दुरी ।।
पिय कर चिबुक परसिबौ चाह्यौ बाँकी भौंह मुरी ।
बावरि सखी हित व्यास सुवन सुख देखत लतन दुरी ।।

इस बार रासमण्डलीने कृष्णनिकेतन एवं गीतावाटिकामें सोलह लीलाएँ की थीं, इनको संक्षेपमें श्रीहरिवल्लभजी कीर्तनियासे लिखाकर पू. गुरुदेवने श्रीराधामाधव-सेवा-संस्थान,गीतावाटिका,गोरखपुरसे प्रकाशित भी कराईं थीं। पाठकोकी जिज्ञासा होनेपर वहाँसे प्राप्त की जा सकती हैं।

# देवाराधना द्वारा पू.पोद्दार महाराजकी बीस वर्षकी आयुवृद्धि

## (छठा अध्याय)

पू.पोद्दार महाराजकी जन्मकुण्डलीके अनुसार उनकी आयु सन् १९५२ ई. में समाप्तप्राय थी। उनके नक्षत्र इस वर्ष उग्र मारकेशकी दशाका प्रकाश कर रहे थे। पू.गुरुदेव इन दिनों अनेकों प्रकाण्ड ज्योतिषियोसे विचार करते रहते थे और ज्योतिष-फलितार्थ देखते हुए उन सभीको पूरी सभावना थी कि पू.पोद्दार महाराज इस वर्ष देह-सवरण कर लेगे। यदि भगवत्कृपावश वैसा न भी हो तो अतिशय कष्टदायी रोगोंसे आक्रान्त तो वे हो ही जावेंगे, ऐसा उन सबका एकमतसे निश्चय था।

पू.गुरुदेवने इस परिस्थितिको अपने देवाराधनाके बलसे टालनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। क्योकि वे सर्व-कर्म-न्यस्त, विरक्त, चतुर्थाश्रमी सन्यासी थे, अतः उनका स्वयंका कर्म फलदायी हो, इसकी सभावना तो थी नहीं, उन्होंने पॉच ब्राह्मणोंको लेकर देवाराधन-अनुष्ठान करवानेका निश्चय कर लिया। पॉच ब्राह्मणोमें रतनगढ़के श्रीमोतीजी पारीक, श्रीइन्द्रजी महर्षि, श्रीसॉवरमलजी जोशी, श्रीसूरजमलजी शर्मा एवं गोरखपुरके श्रीशिवनाथजी दुबे थे। पू.गुरुदेवने मुझे भी इस अनुष्ठानमें सम्मिलित किया था। मैं यथासमय बीकानेरसे गोरखपुर आ भी गया था, किन्तु किसी दुर्दैववश ठीक समय मेरा चयन स्थगित हो गया।

बीकानेरसे गोरखपुर पहुँचनेके उपरान्त मैं कुछ दिवस गोरखपुर ही रहा और उस अवधिमें मैंने पू. गुरुदेवसे अपनी अनेक शंकाओंका समाधान किया। पाठकोंके लिये अतिशय उपयोगी जानकर इस समाधानको यहॉ संक्षेपमें उल्लिखित कर दे रहा हूँ।

मेरा प्रथम प्रश्न था – "पू.गुरुदेव ! आप हम सभीसे अनेकों बार यह कह चुके हैं कि हम सभीकी कर्मराशिका लेखा-रखनेवाली फाइलें अब कारण-जगत्के नियामक देवता – यमराजके पास नहीं हैं, वरं वे सभी फाइलें साक्षात् श्रीकृष्ण – लीलापुरुषोत्तमके पास हैं, अतः स्वयं श्रीकृष्ण ही अपने हाथों

सभीको दण्डित अथवा पुरस्कृत कर रहे हैं। जब हम सभी विषयी-पामरोंकी यह स्थिति है, फिर आपका अतीव भगवच्छरणागत पाञ्चभौतिक शरीर, अथवा पू. पोद्दार महाराजका चिन्मय-भगवत्संस्पर्शप्राप्त शरीर, क्या इन मायिक, अविद्यामूलक, जड़ नक्षत्रोंकी गति द्वारा नियन्त्रित है ? मैं तो ऐसा सोचता हूँ कि व्यर्थ ही आप प्रेमजन्य अनिष्टाशंका कर रहे हैं। पू.पोद्दार महाराजके तो रोम-रोममें सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वावतारावतारी, स्वयं भगवान् भरे हैं। नित्यसिद्ध, परमानन्दविग्रह, ब्रजेन्द्रनन्दन, स्वरूपानन्दास्वादनपरायण, मायातीत श्रीहरि ही जब स्वयं जिसके अन्तःकरण और बहिःकरण-विवरोंमें प्रविष्ट होगये हों तो फिर उनमें अनिष्टके प्रवेशकी गुंजाइश ही कहाँ है ? श्रीपोद्दार महाराजका यह शरीर तो ब्रजराजनन्दनकी लीलास्थली है। बाबा ! जब यह आपकी ही निष्ठा है, तो फिर आप इस प्रकार व्यग्र एवं उद्विग्न क्यो हैं ?"

अत्यन्त कलुषपूर्ण, माया-पंकमें लिप्त, घृणित-जीवन मेरी बालोचित वाचालता सुनकर पू.गुरुदेव मुसका उठे । वे कहने लगे – "भैया ! तेरी बात पूरी सत्य है। किन्तु जब पोद्दार महाराजको साक्षात् भगवान् नहीं देखकर, पू. अ.सौ.मैया (पोद्दार महाराजकी पत्नी) उनके भोजन-वस्त्र, औषधि-पथ्य, स्नान-संध्या – सबकी यथोचित व्यवस्था करती हैं, वे ऋतु-अनुसार शिशिरमें ऊनी वस्त्र पहनते हैं, रजाई ओढते हैं, अग्नि तापते हैं, तो जहाँ शरीरकी यथायोग्य सभी व्यवस्था होती है, तब ग्रह-नक्षत्रों और उनके अधिदेवोंकी शान्तिकी यथायोग्य व्यवस्था भी तो होनी ही चाहिये।"

"भैया ! यद्यपि मैं इसे स्पष्ट जानता हूँ कि तुझे मलेरिया बुखार नहीं आयेगा, श्रीकृष्ण स्वयं ही तेरा बुखार होंगे; तुझे मच्छर नहीं काटेंगे, स्वयं श्रीकृष्ण ही मच्छर बनकर तुझे काटेंगे, फिर भी मैं तेरे सोनेके समय मछहरी लगवाता हूँ, मलेरियाके आनेपर कुनैनकी दवा दिलाता हूँ, उसी प्रकार मैं श्रीपोद्दार महाराजके ग्रह-नक्षत्रोंकी भी शान्ति-व्यवस्था कर रहा हूँ।"

पू.गुरुदेवका उत्तर पूर्णतया सटीक था। फिर वे मुझे इसी प्रसंगमें अन्य तथ्य भी बताने लगे। वे कह रहे थे – "भैया ! मेरे जीवनमें आठ ऐसे महासिद्ध सन्त आये हैं, जो ज्ञान एवं भक्तिकी परमोच्च भूमिकाओंका निर्वाह कर रहे थे। उनमेंसे कुछ अब भी जीवित हैं। परन्तु अभी तक मेरे संपर्कमें ऐसा एक भी ऋषि-ब्राह्मण नहीं आया जो अधिदैव-जगत्के देवताओंकी मंत्रसिद्धि रखता हो। अधिदैव-जगत्के सभी देवगण निश्चय ही मंत्रस्वरूप होते

हैं। पहले कर्मकाण्ड करनेके पूर्व ब्राह्मणोंको गुरु लोग यह शिक्षा अनिवार्यरूपमें देते थे कि वे मंत्रोंके पुरश्चरण करके मंत्र सिद्ध करें। मंत्रसिद्धिके द्वारा जिन-जिन देवगणोंका वे प्रत्यक्ष कर लेते थे, उन्हींका अनुष्ठान वरण करते थे। आजकल तो तिलक-छापा लगाया, नाममात्रकी संध्या-गायत्री की, कुछ संस्कृतके श्लोक उच्चारण करना सीखा और ब्राह्मण कर्मकाण्डी आचार्य हो जाता है। इसी कारण अधिकांश ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित कर्मकाण्ड वाञ्छित फलदायी नहीं होता और सर्वत्र ब्राह्मणोंका तथा उनके कर्मका उपहास हो रहा है। इसीलिये देवजगत्के प्रति भी सर्वत्र अनास्था प्रसरित हो रही है। देवताओंका मंत्र ही कलेवर होता है, मंत्र ही उनके प्राकट्य, उनके तदाधीन आचरण, और उनके वरदानमें हेतु होता है। मुझे अबतक एक भी ऐसा ब्राह्मण-ऋषि नहीं मिला, जिसने किसी एक मंत्रका ही सागोपांग पुरश्चरणकर उसे सिद्ध कर लिया हो। अतः इस अनुष्ठान-कर्मका मेरा एक प्रयोजन यह भी है कि मैं मेरे प्रति निष्कपट इन सात्विक ब्राह्मणोंसे इस प्रकार विधि-विधानपूर्वक देवाराधना कराऊँ, जिससे मंत्र सिद्ध होकर आवाहन करनेपर उस देवताको साक्षात् प्रकट होना पड़े। वह देवता इनके द्वारा समर्पित अर्घ्य, पाद्य, आचमन, धूप-दीप, नैवेद्य आदिको प्रकट होकर स्वीकार करे, और प्रत्यक्ष होकर अपना कृपा-वरदान इन्हें प्रदान करे। यह सत्य है कि श्रीपोद्दार महाराज सत्यसंकल्प हैं, उनके दिव्य चिन्मय मानस तलमें जबतक इस अविद्यामयी मायिक सृष्टिमें रहनेका संकल्प भगवान्की योगमाया लीला-महाशक्ति द्वारा उत्थित है, उनका कोई भी अनिष्ट करनेमें समर्थ नहीं है । परन्तु हम सबकी यह अनवरत तपस्यापूर्ण देवाराधना, देवजगत्के सम्मुख की गयी हमारी विकल प्रार्थना, श्रीपोद्दार महाराजके अनन्त पारावारविहीन कृपासिन्धुको उद्वेलित तो करेगी ही। हम उनके अपने आत्मीय स्वजन सहचर हैं, हमें इस प्रकार साधनरत देखकर वे अपनी ही कृपाकी उर्मियोंमे निश्चय ही बह चलेंगे। हमारा यह स्पन्दन उनकी कृपा-लहरोंको उच्छलित करनेमें किंचित हेतु तो होगा ही। यदि सच्ची आन्तरिक कामनासे हम उन्हें हमारेसे विलग नहीं करना चाहेंगे, तो वे दयासिन्धु, अहैतुक करुणावरुणालय हमारे साथ रहनेके, अथवा हमें अपने साथ रखनेके संकल्प-स्रोतमें बह जायेंगे। हमारे तो दोनों ही हाथोंमें लड्डू हैं। यदि वे हमें अपने साथ रखनेका संकल्प करलें और यह माया-भूमि त्याग दें,

तब भी हमारा अशेष हित है। हम सभी इस शरीरके प्रारब्धका नाश होते ही मृत्युके उपरान्त उनके अचिन्त्य, चिन्मय लोकमें बिना किसी श्रम और आयासके पहुँच जायेगे। और वे यदि यहाँ इस माया-लोकमें हमारे साथ सहचररूपमें कुछ कालमान और रह गये तब भी हमारा कल्याण-पथ प्रशस्त ही होगा । और कहीं भगवत्कृपावश ये दोनों बाते एक साथ सम्पन्न हो जाती हैं कि वे हमें साथ रखनेका संकल्प भी करलें और कुछ काल यहाँ और रह जावें फिर तो कहना ही क्या है ? भैया ! वास्तवमें यह सब इन पोद्दाररूप महाप्रभुकी ऐश्वर्य-सम्पुटित लीलाकी मात्र एक लहरी भर है। जब अशेषदृग् माया-मूलहारी पोद्दार महाराज स्वय ही उपाय निर्धारण करने चलेंगे तब उपाय क्यो नहीं मिलेगा ? उनकी अचिन्त्य लीला-महाशक्तिने तो हम सभीको श्रीपोद्दार महाराजसे मिलानेका लीला-क्रम निर्धारित कर ही रखा है। यदि ऐसा लीला-क्रम नहीं होता तो श्रीपोद्दार महाराजका आत्मीय स्वजनभाव हमें मिलता ही नहीं। श्रीपोद्दार महाराजको तो उस क्रमसे देख लेना भर है और उसे शीघ्रातिशीघ्र काल-क्रममें प्रकट भर करना है।

मैं अश्रु-सिक्त नेत्रोंसे पू.गुरुदेवके आनन-सरोजको एकटक निहार रहा था और अनवरत झरती उनकी मधु-स्निग्ध वाणी सुनता जा रहा था। मेरे रोम रोममें नवजीवन संचरित हो रहा था। मुझे पूर्णतया शंका-निवृत्त पाकर पू. गुरुदेव अपने अन्य कार्यक्रममें लग गये।

दूसरे दिवस ब्राह्ममुहूर्त्तसे ही सभी ब्राह्मणों द्वारा देवोंका अनुष्ठान प्रारंभ करना था। इस अनुष्ठानमे यथासमय पूर्ण पवित्रतापूर्वक नैवेद्य सम्पादन कराना, सभी पूजा-सामग्रीका अग्रिम संचयन करना, उन्हें परम पवित्र रीतिसे गगाजलसे संशुद्ध एवं संस्कारित करना, आदि इतने कार्य थे कि उन सबको पू.गुरुदेवकी पूर्ण सात्विक पवित्र मनोभूमिके अनुरूप सम्पादित करनेके लिये प्राणपणसे जुटने एवं आठों-याम सजगतापूर्वक श्रम करनेवाले लोगोंकी पूरी पक्ति आवश्यक थी। भाई राधेश्याम पालड़ीवाल, भाई कुञ्जबिहारी, भगतजी राधेश्याम धानुका, भाई रामसनेहीजी आदि अनेकों भ्राताओं एवं साथ ही अपना निजका गृहकार्य त्यागकर इस तपस्यामें निरत अनेकों माताओंने अनवरत छः मासतक प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्तके पूर्व ही उठकर एवं मध्य रात्रितक जागकर कठोर परिश्रमपूर्वक ब्राह्मणोंको सहयोगकर अनेकों पुरश्चरण कराये और विलक्षण देवाराधना सम्पन्न हुई ।

प्रथम दिवसकी पूजाका एक शब्दचित्र पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत कर दे रहा हूँ, जिसे मैंने प्रत्यक्ष अपने नेत्रोसे देखा है। श्रीमोतीजी पारीक जो अतिशय सत्त्वसम्पन्न, ब्रह्मचर्यव्रतधारी, तितिक्षाकी मूर्त्ति, अतिशय विनयी, सदैव प्रसन्नचित्त ,कठोर परिश्रमी, पू.गुरुदेवपर पूर्ण निष्ठा रखनेवाले, निष्कपटहृदय ब्राह्मण थे, पूजनका प्रारम्भ करते हुए गणेशार्चन करवा रहे थे। उनके पार्श्वमें ही श्रीपोद्दार महाराज अपनी धर्मपत्नी सहित विराजित थे। अन्य ब्राह्मण पूर्वत ही आचमन, स्वस्ति-वाचन, दीप-प्रज्वालन, अर्घ्य-स्थापनादि कर्म सम्पादित कर चुके थे। सभी ब्राह्मण मुण्डित-मस्तक, गोखुरके समान चौडी शिखायुक्त, ललाटपर पू.गुरुदेव द्वारा प्रदत्त ब्रजरजकी वटिकाका लेपन किये, कुकुम-केसरकी बिन्दी एवं तिलक लगाये, कंधेपर अँगोछा रखे, आर्श्व पार्श्वमे विराजित थे। नवीन निर्मित काष्ठकी चौकीपर शुद्ध लाल रेशमी वस्त्र आस्तृत था और उसपर श्रीगणेशजीकी स्वर्णप्रतिमा विराजित थी । चतुर्दिक् धूपका अतिशय सुवासित धूम व्याप्त था। अखण्ड दीपक जगमगा रहा था। ब्राह्मणगण वेदध्वनि कर रहे थे। नतजानु अजलि-बाँधे श्रीमोतीजी पारीकने श्रीगणेशप्रतिमाके सम्मुख इस प्रकार प्रणाम किया मानो उनके सम्मुख सचमुच ही श्रीगणेश प्रत्यक्ष हो चुके हों। पू.गुरुदेव के प्रति अतिशय समर्पण और पू.पोद्दार महाराजके प्रति विलक्षण रान्तोपम श्रद्धाने उनके रोम-रोममें दिव्य देवदर्शनका उन्मेष कर दिया था। सद्योदित बालरविके समान सिन्दूरी वर्णमें श्रीगणेशजीको प्रत्यक्ष अपने सम्मुख निरखकर श्रीमोतीजी चमत्कृत थे, वे किंचित् उन्मत्त थे और श्रीगणेशजी महाराजके अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यको सम्मुख प्रकट पाकर अपनी तनकी सुध-बुध ही भूल गये थे। श्रीमोतीजीकी ऐसी विलक्षण दशा सभी ब्राह्मण आश्चर्य-विस्फारित एवं अश्रुसिक्त नेत्रोंसे देख रहे थे। पू.गुरुदेव कुछ ही दूरीपर खड़े समग्र दृष्य देख रहे थे। उन्होंने तीखी आवाज लगायी, गंगाजल-निर्मित प्रसाद उपस्थित किया जाय। एक बहिन सचैल-स्नात, स्वच्छ धौत वस्त्र धारण किये, भालपर सौभाग्यसिन्दूर और ललाटपर बिन्दी लगाये, उन्मुक्तकेशी, रजत थालीमें तीन-पाव प्रसाद लेकर तत्क्षण समुपस्थित हुई। वह पार्श्वके कक्षसे जहाँ पूजाकी सभी सामग्री पृथक्-पृथक् पात्रोंमें, गौके गोबर और पीली मिट्टी मिलाकर बनाये लेपसे चौकाकर, अतिशय स्वच्छ वस्त्रोंमें ढँकी, पृथक्-पृथक् काष्ठ-चौकियोंपर रखी थी, ले आई । सेवक एवं सेविकाएँ इतनी पवित्रता बरत रहे थे कि खाँसी भी उस कक्षसे दूर, बाहर जाकर करते

थे और खाँसी आनेमात्रसे हाथ-पैर धोकर आचमन करके तब पूजा-उपकरण-कक्षमें प्रवेश करते थे। पू.गुरुदेवका संकेत पाते ही तत्परतापूर्वक वाञ्छित सामग्री समुपस्थित कर देते थे। पार्श्वमें वृक्षोंके नीचे शुद्ध भूमिपर धौत टाटके विशाल आसनोंपर स्वच्छ स्नात, पवित्र कटिया-रेशमके वस्त्र पहने, अनेक सेवक – कोई वाञ्छित पुष्पमालायें अग्रिम गूँथ रहे थे, कोई डलियाओंमें भिन्न सुगन्धित पुष्पराशि संचितकर ला रहे थे, कोई तुलसीदल, कोई बिल्वपत्र संकलित कर रहे थे। प्रत्येक बिल्वपत्रको, तुलसीदलको उनके वृक्षोंसे इस प्रकार तोडा जाता था, मानो वृक्ष मात्र उद्भिज जन्तु न होकर, स्वयं देवस्वरूप हों। साधक तुलसी एवं बिल्ववृक्षको पहले प्रणाम करता था, फिर उसे शुद्ध जलसे सिंचित करता था, एवं तब प्रार्थनाके श्लोकोच्चारणकर अतिशय विनयपूर्वक एक-एक दलको अतिशय श्रद्धासहित संचयन करता था।

पू.गुरुदेवकी दृष्टि इतनी जागरूक होकर निरीक्षण कर रही थी कि किसीके भी द्वारा तनिक-सा प्रमाद होते ही वह प्रमाद उनकी पकड़में आ ही जाता था और वे उसे सुधारने तथा उसकी पुनरावृत्ति कदापि नहीं हो, इसका कठोर अनुशासन कर देते थे। नौसिखिये व्यक्तिके स्थानपर तत्क्षण ही किसी अभ्यस्त साधकको उसे शिक्षित करने भेज दिया जाता था।

पू.पोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी ( अ.सौ.माताजी) एवं उनकी पुत्री (अ. सौ.सावित्रीबाई) रात्रिपर्यंत एक क्षण भी सोई नहीं थी। परिवारके सभी परिजन जब जागे हो तो वे शयित हों भी कैसे ? फिर भी रात्रि कब, कैसे समाप्त हुई, किसीको भी उत्साहके कारण ज्ञात नहीं हुआ था।

देवगृह-कुटी, जहाँ ब्राह्मण उपासना कर रहे थे, कदलीवृक्षोंसे सज्जित की गई थी। कदली-स्तम्भोपर यथास्थान सूक्ष्म सूतलियोमें ग्रथित आम्रपल्लव टँगे थे। प्रथम पूजन अति संक्षेपमें ही श्रीपोद्दार महाराज और उनकी अ.सौ पत्नीके द्वारा सम्पन्न कराया जाय — पू.गुरुदेवकी ऐसी इच्छा थी। अतः श्रीपोद्दार महाराजके सहित उनकी धर्मपत्नी ब्राह्ममुहूर्त्तमें ही स्नानकर आसनपर सुविराजित हुई पूजा कर रही थीं। श्रीमोतीजी पारीकको अतिशय भावपूर्ण मुद्रामें गणेशपूजनमें निरत देख श्रीपोद्दार महाराज अति संक्षेपमें सभी प्राथमिक पूजा समाधान कर रहे थे, परन्तु इस प्रकार, जैसे उनके हाथोंसे कोई अचिन्त्य शक्ति क्रिया करवा रही हो, तथा स्वयं वे इस लोकमे न हों। इस प्रकार पूरे एक प्रहर दिन चढनेतक शास्त्रीय कर्मकाण्ड पूरा होते ही एक साथ ढोलक,

शंख, कांस्य मँजीरे आदि वाद्य बजने लगे, आरतीके पश्चात् विशुद्ध प्रेमरस-भावित-चित्त बगीचेवासी भगवन्नाम संकीर्त्तन करते थे। चाहे किसी भी देवताकी पूजा, कोई भी त्यौहार हो, चाहे शिवरात्रि एवं नवरात्रपूजन ही क्यों न हो, यहाँकी नित्यकी ही परम्परा रही थी कि पहले तो तत्तद् देवतागणके नामसे संकीर्त्तन प्रारंभ होता था किन्तु उसका पर्यवसान सदैव 'राधे-राधे' नामध्वनिमें ही होता था। यह रांधे-राधे नामध्वनि प्रारभ होते ही सभी बगीचेवासी उन्मत्त-से हुए, खडे हो जाते थे। जिसके हाथमें जो भी वाद्य आ जाय, उसे वे सभी आबाल-वृद्ध एक प्रमत्त लय और तालमें बजाने लगते थे, उनके पैर एक विलक्षण प्रकारसे कूदने-उछलने लगते थे, अग-अंग प्रेमसे थिरक उठते थे, और राधा-राधा शब्द-ध्वनि इतने उच्च स्वरसे होने लगती कि उसकी प्रति-ध्वनि सम्पूर्ण अन्तरिक्ष और नभको भेदती हुई शब्दब्रह्मको अपनेमें लीन कर लेती थी । उस तुमुल 'राधे-राधे' के आनन्द-कोलाहलसे पशु-पक्षी, वृक्ष एव लताएँ, यहाँतक कि जड़ भूमि-भवन भी पुलकित हो उठते थे, फिर मानवकी तो बात ही क्या ? पू.गुरुदेव एक कांस्य झालर और उसे निनादित करनेके लिये काष्ठ-दण्ड लेकर उस महान् प्रेमभरे आयोजनका नेतृत्त्व सँभाल लेते थे। जो भी इस उद्दाम सकीर्तनके प्रत्यक्षदर्शी आज भी जीवित हैं, वे मेरे इस कथनको सर्वथा अतिशयोक्ति नहीं मानेगे कि उन दिनो पू.गुरुदेवके नेतृत्वमें जब यह कीर्तन सम्पन्न होता था तो कालकी गति स्तंभित हो उठती थी । उद्दाम नर्तन एवं सकीर्त्तन करते लोगोंको यह पता ही नहीं चलता था कि यान्त्रिक घड़ी कब बारहसे एक बजा चुकी है और कब मध्याह्नसे सायंकाल हो आया है । यह संकीर्त्तन जब भी प्रारंभ हुआ है, तीन-साढे तीन घण्टेके पूर्व तो सम्पूर्ण होता ही नहीं था। जब इसे विराम देना होता था तो पू गुरुदेव श्रीराधा बाबा ही विराम देते थे, अन्यथा संकीर्त्तन करनेवालोंका रसप्रवाह तो कभी विरस होता ही नहीं था। उन्हें तो इस संकीर्तनकी अवधिमें थकान लगती ही नहीं थी। हाँ, ढोल अथवा खोल बजानेवाले वादककी अँगुलियाँ चिरकर रक्त प्रवाहित भले ही करने लगें, परन्तु उसे न तो इसका ज्ञान ही होता था, न अँगुलियोको विरमित करनेकी रुचि ही उसे अनुभूत होती थी। कास्यकी झाँझ बजानेवालेकी हथेलियोंमें फफोले पड़ जाते थे, और फफोले फूट कर रक्तस्राव हो उठता था, फिर भी झाँझ बजाना वह विरमित नहीं कर पाता था। कोई ऐसी रसमयी सुधा चतुर्दिक् प्रवाहित होती रहती थी जो सभीको चिन्मय

रस-सागरमें डुबो देती थी और यंत्रवत् शरीरकी श्रमसाध्य क्रियाये घटित होती रहती थीं ।

हॉ, इस रसप्रवाहमें निमग्न होनेकी अतीव लालसा रखनेपर भी उस दिवस श्रीमोतीलालजी पारीक आदि ब्राह्मण पू.गुरुदेव द्वारा अवश्य संकीर्त्तनसे निवारित कर दिये गये थे , क्योकि उन्हें अपनी जप एवं पाठसंख्याएँ एक निश्चित कालावधिमें पूर्ण करनी ही थीं और आज प्रथम दिवसके पूजन-संयोजनमें ही कालातिरेक हो चुका था। अतः वे सभी अतिशय लालायित होने पर भी अपने मनको इस रस-प्रवाहमें निपतित होनेसे रोक रहे थे।

वैष्णव पाठकों ! पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा और श्रीपोद्दार महाराज ऐसे रसीले सन्त थे कि इनके प्रति जो भी अपना मन-प्राण न्यौछावर कर दे, उसके लिये इस तुच्छातितुच्छ जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिमय ससारका मूल्य ही क्या था ? ये दोनों उस ऐश्वर्य-ज्ञानविहीन विशुद्ध प्रेमके आस्वादनमें तत्मय थे, जिसमें तत्व, अतत्व क्या है – इसके अनुसन्धानकी आवश्यकता ही नहीं थी । वस्तुस्थिति भी भला क्या अनुसन्धानकी अपेक्षा रखेगी ? वह तो जो है, वही रहेगी ही। जब ब्रजेन्द्रनन्दन और उनकी प्राणप्रिया रासेश्वरी श्रीराधा ही आत्माकी आत्मा हैं, प्रियोके प्रियतम हैं, इन्हींके लिये देहादि भी प्रिय है, इनसे प्रेम करनेमे ही जब जीवनकी परम सार्थकता है, तो इन ब्रजेन्द्रनन्दनके प्रेममें मत्त सन्तोंकी सन्निधि के सम्मुख अन्य वस्तु अर्थ ही क्या रख पावेगी ?

इस तरह पू.पोद्दार महाराजके जीवनरक्षार्थ प्रारंभ किये गये अनुष्ठान-सस्कारका प्रथम दिवस समापन हुआ था।

इसी प्रकार इन अनुष्ठान-कर्त्ताओं और उनके सहयोगियोंके छ.मास क्षणोके समान व्यतीत होगये। प्रत्येक रात्रिमे उद्दाम नाम-संकीर्त्तन हुआ करता था। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा स्वयं सकीर्त्तनमें खडे होकर नेतृत्व करते थे। पू. गुरुदेव के बाये हाथमे कांस्य घण्ट(टकोरा) रहता था, दूसरे दाहिने हाथमें लकड़ीकी हथौड़ीनुमा मोगरी। पैरोंसे ताल देते वे लयबद्ध कांस्यघण्ट (टकोरा) बजाते थे और परिक्रमावत् घूमते जाते थे। प्रथम'राधे -राधे' की ध्वनि पू. गुरुदेव द्वारा होती थी एवं तत्पश्चात् पीछे सभी लोग बोलते थे। प्राय भावा-धिक्यसे पू.गुरुदेव की ऑखे मुँद जाती थीं । कीर्त्तन एवं नृत्य करते सभी लोग इतने उन्मत्त हो उठते थे कि कोई नृत्य करता बाह्यावेश-विस्मृत व्यक्ति पू. गुरुदेवपर गिर न पडे, इसलिये चार-पॉच लोग पू.गुरुदेवके चतुर्दिक् एक घेरा

बना लिया करते थे। इस कीर्तनमें लोगोंको अनेक विलक्षण अनुभव हुए।

एक दिवस पू.पोद्दार महाराजकी पत्नी (माताजी) ने देखा कि सात-आठ वर्षकी एक अतीव सुन्दरी बालिका कीर्तन करते पू. राधाबाबाके पीछे-पीछे दोनों हाथ उठाकर नृत्य करती चल रही है। कीर्त्तनके भावावेशमें पू. गुरुदेव जिस ओर अपनी गर्दन झुकाते अथवा लटकाते हैं, उसी ओर वह बालिका भी पू. गुरुदेवकी ठीक अनुकृति करती अपनी गर्दन झुकाती है। मैयाने पास खड़ी किसी अन्य स्त्रीको कहा –"बहिन ! देख तो ! यह न जाने किसकी कमनीय बालिका कीर्तनमें प्रवेश कर गयी है, मुझे तो चिन्ता है, कहीं यह सुकोमल बालिका कीर्तनकारोंकी भीडमें कुचली नहीं जावे। इन लोगोंको तो होश ही नहीं कि इस बालिकाका ध्यान रख सकें। सभी लोग अपनी मस्तीमें नृत्य कर रहे हैं । इनके सभीके नेत्र ही मुँदे हैं। इन्हे क्या पता, कौन इनके आगे-पीछे है। पू.राधाबाबा तो इतने भावाविष्ट हैं कि उनका भाव ही सबमें संक्रमित होकर सभीको अलमस्त बना रहा है। इन उमगभरे पागलोंकी झूमती हुई भीडमें कहीं यह बालिका बहिन, दब न जावे ! " इस प्रकार माताजी (श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी) उस बालिकाकी चिन्ता कर रही थीं। विद्युत्की भाँति यह समाचार समस्त स्त्रीवर्गमे फैल गया किन्तु कोई भी स्त्री उस बालिकाकी रक्षाके लिये आगे बढनेकी हिम्मत इसलिये नहीं कर पा रही थी कि वह बालिका पू.गुरुदेवके सर्वथा निकट थी, और उसे पकडनेमें पू.गुरुदेवसे स्पर्श होनेका सभीको भय था । पू.गुरुदेव किसी स्त्रीवर्गका कीर्तनकारोंके मध्य इस प्रकार प्रवेश सर्वथा सहन नहीं करते थे। अतः ये सभी भाग्यवान् स्त्रियाँ जिन्होंने अ.सौ. पू.माताजीके संकेत करनेसे उस दिव्य बालिकाका दर्शन किया था, मानसिक उलझनमें ही रहीं। जब कीर्तनका विराम होगया तो मैया स्वयं उस बालिकाके पास दौडीं। उनके वात्सल्यपूर्ण हृदयमें यही वेदना थी कि घण्टों पू. गुरुदेवके साथ-साथ उनका हू-ब-हू अनुकरण करती एवं नृत्य करती बालिका थक गयी होगी। किन्तु देखते-देखते ही वह सबकी दृष्टिसे ऐसी ओझल हुई कि बहुत खोजनेपर भी मिली ही नहीं। मैया आश्चर्यचकित थी कि अभी तो वह बालिका यहाँ थी, अभी-अभी इसी अवधिमें कहाँ चली गयी। जिन स्त्रियोंने वह बालिका देखी थी सभीने अपना-अपना सौभाग्य माना कि राधानाम-संकीर्त्तन के मध्य उन्हें दिव्य बालिकाके दर्शन हुए।

एक भक्तको यह भी दर्शन हुए कि नेत्र मुँदे हुए पू.गुरुदेवके साथ

स्वयं श्रीकृष्ण मयूरमुकुटधारी हाथ उठाकर 'राधा-राधा' कीर्त्तन कर रहे हैं। लोग उनके पास पहुँचकर उनके भीतरसे निकल जा रहे हैं। जब कोई कीर्तनकार श्रीकृष्णके मध्यसे निकल जाता है, तो वे अति मधुर कृपावर्षी मुसकान बिखेरते हँस पड़ते हैं। कभी-कभी यह संकीर्त्तन ऐसा जमता था कि रात्रिपर्यंत जागरण हो जाया करता। कीर्तन विराम ही नहीं लेता था।

पूजा-अर्चनकालमें भी अनुष्ठानकर्ताओंको अनेक चमत्कारोंके अनुभव हुए। श्रीमोतीजी पारीकको तो प्रत्येक निशा कोई-न-कोई दिव्य अनुभव अवश्य होता था। वे प्रत्येक दिवस ही पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको अपने अनुभव बताया करते थे। श्रीशिवनाथजी दुबेको नवदुर्गाओंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। पू.गुरुदेवको स्वयंको अनुभव हुआ कि उन्हें भगवतीने दो फल दान किये हैं, जिसका स्पष्ट अर्थ था कि श्रीपोद्दार महाराजकी आयु द्वि-दश वर्ष बढ गयी है। वस्तुतः इस अभूतपूर्व अनुष्ठानमें सैकड़ों सेवकोंका योगदान था। बिना किसी स्वार्थकामनाके अनवरत छः माह तक अनेकोंने पूर्णकालिक और अनेकोने अंशकालिकरूपसे अपनी सेवाएँ समर्पित करके इस अनुष्ठानको सफल बनाया था। ये सभी महाभाग्यवान् साधक इस अलभ्य तत्सुख-प्रेमभावनाके पात्र सिद्ध होगये थे, क्योंकि इन सभीने बिना किसी स्वार्थ-भावनाके अनवरत छः मासतक श्रम करके श्रीपोद्दार महाराज-जैसे महासिद्ध सन्तका हित एवं सुख सम्पादित किया था। इनके प्रयाससे ही इस अनुष्ठानकी सम्पन्नता संभव हुई थी। अनेक साधकोंका तो निरवार्थ आठोयामका ही श्रम एक महासिद्ध भगवत्स्वरूप सन्तपर न्यौछावर हुआ था। उन्हें तो इस साधनाका सफल हो जाना ही वाञ्छित फल था। यह स्वयंमें ही एक महासिद्धि थी और इस सिद्धिसे वे सब पूर्ण संतुष्ट एवं कृतकृत्य थे ।

---

# प्रयागमें कुम्भमेला : पू० गुरुदेवको नावमें उद्दीपन, सिद्धजगत्‌का सन्देश

## (सातवाँ अध्याय)

प्रतिवर्ष द्वादश वर्षके अन्तरालमें जब बृहस्पति बृषराशिमें और सूर्य मकरराशिमे होता है, प्रयागमें कुंभपर्व होता है। प्रयागका अर्थ ही है कि जो पवित्र भूमि प्रकृष्ट यज्ञोके लिये उपयुक्त हो। इसीलिये सृष्टिके आदिमे श्रीब्रह्माजीने यहॉ प्रथम यज्ञ किया था। यहॉ सरस्वती, गंगा एवं यमुनाका संगम है और इस त्रिवेणीमें स्नान करनेवाले ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं। यहॉ स्थित श्यामल अक्षयवट अपनी छायासे मनुष्योंको दिव्य सद्गुण प्रदान करता है। इसी अक्षय वटके पत्रपर लेटे भगवान् माधवके ऋषि मार्कण्डेयको दर्शन हुए थे। गोघाती, चाण्डाल, शठ, दुष्टचित्त, बालघाती, ब्रह्महत्यारे भी इस अक्षयवटके दर्शनमात्रसे चतुर्भुज माधवका दिव्यरूप पाकर वैकुण्ठमें अक्षय निवास करते हैं—पद्मपुराणादिमें ऐसे कितने ही वचन हैं।

कुम्भपर्वमें प्रयागमें त्रिवेणीमें स्नानार्थ लाखों लोग आते हैं। जब भी कुम्भका योग होता है, यहॉ गीताप्रेस, गोरखपुरका पुस्तक-पण्डाल भी लगा करता है। इस वर्ष क्योकि श्रीपोद्दार महाराज यहॉ माह-डेढ़ माह कुम्भस्नानके लिये रहनेवाले थे, अतः एक विशाल पण्डालका निर्माण हुआ था और भव्य सत्संग, कथा आदिका आयोजन था।

बात सन् १९५४ ई.की है। श्रीपोद्दार महाराज पौष शुक्ला सप्तमी तदनुसार ११ जनवरीको प्रयाग पहुँचे। उनके साथ उनका परिवार और पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा तो थे ही, अनेक सत्संगी भाई-बहिन भी थे। १४ जनवरीको तीन दिवस पश्चात् ही मकरसंक्रान्तिका प्रथम पर्व-स्नान पड़ रहा था, अतः मैं भी गोरखपुरसे पू. गुरुदेवके साथ ही चला आया था।

हम सभी लोग निरे प्रभात ही रेल द्वारा गोरखपुरसे प्रयाग पहुँचे थे अत सर्वप्रथम स्नानार्थ त्रिवेणीकी ओर चल पडे थे। यमुनाघाटपर पहलेसे ही नावोंकी व्यवस्था थी, अतः एक बड़ी नावमे श्रीपोद्दार महाराजका परिवार, पू. गुरुदेव एवं हम लोग जो सेवामें थे, आरूढ़ थे। सत्संगी भाई दूसरी नावोंमें

सभीको दण्डित अथवा पुरस्कृत कर रहे हैं। जब हम सभी विषयी-पामरोंकी यह स्थिति है, फिर आपका अतीव भगवच्छरणागत पाञ्चभौतिक शरीर, अथवा पू. पोद्दार महाराजका चिन्मय-भगवत्संस्पर्शप्राप्त शरीर, क्या इन मायिक, अविद्यामूलक, जड़ नक्षत्रोंकी गति द्वारा नियन्त्रित है ? मैं तो ऐसा सोचता हूँ कि व्यर्थ ही आप प्रेमजन्य अनिष्टाशंका कर रहे हैं। पू.पोद्दार महाराजके तो रोम-रोममें सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वावतारावतारी, स्वयं भगवान् भरे हैं। नित्यसिद्ध, परमानन्दविग्रह, ब्रजेन्द्रनन्दन, स्वरूपानन्दास्वादनपरायण, मायातीत श्रीहरि ही जब स्वयं जिसके अन्तःकरण और बहिःकरण-विवरोमे प्रविष्ट होगये हों तो फिर उनमे अनिष्टके प्रवेशकी गुंजाइश ही कहाँ है ? श्रीपोद्दार महाराजका यह शरीर तो ब्रजराजनन्दनकी लीलास्थली है। बाबा ! जब यह आपकी ही निष्ठा है, तो फिर आप इस प्रकार व्यग्र एवं उद्विग्न क्यों हैं ?''

अत्यन्त कलुषपूर्ण, माया-पंकमें लिप्त, घृणित-जीवन मेरी बालोचित वाचालता सुनकर पू.गुरुदेव मुसका उठे । वे कहने लगे – ''भैया ! तेरी बात पूरी सत्य है। किन्तु जब पोद्दार महाराजको साक्षात् भगवान् नहीं देखकर, पू. अ सौ मैया (पोद्दार महाराजकी पत्नी) उनके भोजन-वस्त्र, औषधि-पथ्य, स्नान-संध्या – सबकी यथोचित व्यवस्था करती हैं, वे ऋतु-अनुसार शिशिरमें ऊनी वस्त्र पहनते हैं, रजाई ओढते हैं, अग्नि तापते हैं, तो जहाँ शरीरकी यथायोग्य सभी व्यवस्था होती है, तब ग्रह-नक्षत्रों और उनके अधिदेवोंकी शान्तिकी यथायोग्य व्यवस्था भी तो होनी ही चाहिये।''

''भैया ! यद्यपि मैं इसे स्पष्ट जानता हूँ कि तुझे मलेरिया बुखार नहीं आयेगा; श्रीकृष्ण स्वयं ही तेरा बुखार होंगे, तुझे मच्छर नहीं काटेंगे, स्वयं श्रीकृष्ण ही मच्छर बनकर तुझे काटेंगे, फिर भी मैं तेरे सोनेके समय मछहरी लगवाता हूँ, मलेरियाके आनेपर कुनैनकी दवा दिलाता हूँ, उसी प्रकार मैं श्रीपोद्दार महाराजके ग्रह-नक्षत्रोंकी भी शान्ति-व्यवस्था कर रहा हूँ।''

पू.गुरुदेवका उत्तर पूर्णतया सटीक था। फिर वे मुझे इसी प्रसंगमें अन्य तथ्य भी बताने लगे। वे कह रहे थे – ''भैया ! मेरे जीवनमें आठ ऐसे महासिद्ध सन्त आये हैं, जो ज्ञान एवं भक्तिकी परमोच्च भूमिकाओका निर्वाह कर रहे थे। उनमेंसे कुछ अब भी जीवित हैं। परन्तु अभी तक मेरे संपर्कमें ऐसा एक भी ऋषि-ब्राह्मण नहीं आया जो अधिदैव-जगत्के देवताओंकी मंत्रसिद्धि रखता हो। अधिदैव-जगत्के सभी देवगण निश्चय ही मंत्रस्वरूप होते

विहीन सागरकी उर्मियोंमें बहने लगे हैं । माधुर्य-सिन्धु उनके अन्तःकरणमें उद्वेलित हो उठा था।

बहुत दिवस पुरानी बात है, तनिक प्रसंग्से पृथक् हो रहा हूँ। मैंने पू. गुरुदेवसे पूछा था –"क्या आप अपने प्रियत म ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रको परब्रह्म पुरुषोत्तमके रूपमें मानते हैं ?" तो उन्होंने इसका उत्तर दिया था–"भैया ! तुझे सत्य कहता हूँ माधुर्य-मसृण चित्तमें तत्त्वज्ञानके लिये टिकनेको स्थान ही नहीं होता। मेरा दूसरा प्रश्न था–"बाबा ! क्या आपके प्यारके उद्दीपनमें और उसे सर्वातिशय अनुभव करनेमें आपके प्रियतम श्यामसुन्दरका अभूतपूर्व सर्वजयी, मन्मथ-मथन सौन्दर्य हेतु है ?" तो इसका उत्तर उन्होंने दिया था–"सौन्दर्य प्रथमतः तो मात्र नेत्रेन्द्रियग्राही ही होता है, और प्रेम आत्माका आस्वादन है। फिर एक नेत्रेन्द्रियजन्य सौन्दर्य होता है और दूसरा महाभावगत सौन्दर्य जिसे प्रेमप्लावित हृदय ही अनुभव करता है, श्रीकृष्णका सौन्दर्य प्रीतिजन्य है, प्रीतिग्राही है, इन्द्रियग्राही है ही नहीं। मेरे भाव-शरीरकी इन्द्रियाँ भी प्रीति द्वारा ही सृष्ट होती हैं, वे मायिक देहजन्य इन्द्रियाँ हैं ही नहीं।" मैंने पुनः प्रश्न किया था, "तो क्या आपके चित्तकी गति भगवत्ताकी स्फूर्त्तिसे श्रीकृष्णके प्रति प्रेमप्रवाहित होती है ? " इसपर भी वे निषेधात्मक रूपमें अपना मुख हिला दिये थे। मैं जिज्ञासु हो उठा था। सौन्दर्य-निबन्धन, भगवत्ताकी स्फूर्त्ति, दैहिक इन्द्रियग्राही सम्बन्ध, तत्त्वज्ञान – जब इनमेंसे एक भी उनके प्रेममें हेतु नहीं, फिर उनका अन्ततः अपने प्रियतम नीलसुन्दरसे ऐसा अपरिसीम प्रेम किस हेतुसे है ? किस हेतुसे उसकी वह सतत, निर्बाध गति है ? तो मेरे इस प्रश्नका उन्होंने एक ही उत्तर दिया था कि " श्रीकृष्णके प्रति उनका प्रेम हेतुरहित है। श्रीकृष्ण उनकी आत्माकी आत्मा हैं और आत्मा हेतुरहित सबको निरतिशय प्यारी होती है। हाँ, उन्हें ये श्रीकृष्ण योगमायाका आश्रय लेनेके कारण देहधारी और अपनेसे भिन्न अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः वे श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, अतः श्रीकृष्णके सर्वाधिक प्रिय हैं और श्रीकृष्ण उनकी आत्मा हैं अतः उन्हें वे सर्वातिशय प्रिय हैं। शद्ब इतना ही इस विषयमें निदर्शन कर सकते हैं। शेष सब सौन्दर्य, सद्गुण, माधुर्य, ऐश्वर्य मात्र अलंकरण भर हैं।"अस्तु, ...मैं मेरे गुरुदेवके प्यारको नितान्त अन्धस्नेहकी संज्ञा दिया करता था।

पुनः प्रसंगपर आता हूँ। पू.गुरुदेवकी उन दिनों विलक्षण स्थिति थी।

कोई दूरसे भी यदि "**भानुदुलारी, गोपिका प्यारी, कृष्ण प्राणधन श्रीराधे** "यह संकीर्त्तन गुंनगुना देता, वे भाव-समाधिस्थ हो जाते थे। फिर उन्हें बाह्य होश नहीं रह पाता था। अतः मेरे गायनने पू.गुरुदेवके प्राणतन्तुओको खींचकर बलात् अपने प्रियतमके चरणोंसे प्रेम-निबद्ध कर दिया था। उनके नितान्त अन्धस्नेहकी स्रोतस्विनी उमड़ उठी थी। उनके हाथ आलिंगन करनेकी मुद्रामें ऊपर उठ गये। जैसे कलिन्दनन्दिनीकी उछलती लहरोपर उनके प्रियतम स्थित हों, वे अपने प्रियतमकी व्यक्त मूर्त्तिको आलिङ्गन करने उद्यत हो गये। वे नावपर खडे हो गये थे और यमुनामें कूदनेको समुत्सुक हो उठे थे। मैंने जैसे ही यह दृश्य देखा, मैं उन्हें अपने बाहुओंमें बाँधनेको उद्यत हो उठा। मैं उन्हें अपने बाहु-बन्धनमें जकडूँ, इसके पहले ही पोद्दार महाराज क्रियाशील हो उठे। उन्होंने अत्यन्त बलपूर्वक पू गुरुदेवका हाथ पकड़ लिया और अति उच्च स्वरसे बोले –"बाबा ! आप स्वामी चक्रधरजी हैं, आप मेरे साथ त्रिवेणीसगममें स्नान करने जा रहे हैं। यह प्रयागराज तीर्थ है।" श्रीपोद्दार महाराज अनेक आवृत्ति कर-करके इन्हीं शब्दोंको पू गुरुदेवके कानोंमें दोहरा रहे थे। श्रीपोद्दार महाराजकी वाणी इतनी तीव्र एवं ओजस्वी थी, साथ ही उनका पू गुरुदेवका हाथ पकड़ना इतना सुदृढ़ संकल्पभरा था कि पू गुरुदेवका उद्दीपन कुछ ही क्षणोमे शिथिल हो गया।

मै अपनी क्रियापर बहुत लज्जित था। सचमुच ही मुझसे भूल हो गयी थी, कहीं पू.गुरुदेव यमुनामें गिर जाते, कौन उन्हें बचाता ? यद्यपि वे कुशल तैराक थे, फिर भी भावावेशकी अवस्थामें कुछ भी अनहोनी संभव थी। मैंने अतिशय लज्जासे अवनत हो, पू.पोद्दार महाराजकी ओर देखा। मैंने देखा – परम क्षमाशील उनका हृदय मेरे कर्मको क्षमा कर चुका है। वे वात्सल्यभरे मेरी ओर निहार रहे थे । उनके लिये तो अत्यधिक असीम मात्रामे पू.गुरुदेवके स्नेहका यह प्रवाह कोई आश्चर्यका विषय था ही नहीं। हॉं, उनके पार्श्वमें बैठी माताजी ( श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी ) अवश्य ही भयभीत हो उठी थीं और मुझे डॉंटने लगी थीं। यह सब प्रत्यक्ष देखकर मैं तो अपनेको परम धन्यभाग्य समझने लगा। मैं मन-ही-मन पुनः श्रीमद्भागवतका यह श्लोक गुनगुना उठा

**नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।**
**प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्।।**

(श्रीमद्भा०१० ।९ ।२०।।)

जिस कृपा-वैभवका आस्वाद पू. पोद्दार महाराज और मेरे पू. गुरुदेवको हे श्रीकृष्ण ! तुमने कराया, उसे सचमुच ही आजतक भगवान् नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न, प्रापञ्चिक भक्तोंके आदिगुरु जगत्-विधाता ब्रह्माने नहीं पाया, कदापि नहीं पाया; आत्मस्वरूप भगवान् शंकर भी उसे अनुभव नहीं कर सके, और वक्षस्थल-विलासिनी लक्ष्मीको भी वह आस्वाद नहीं ही मिला। मुक्तिपर्यंत पुरुषार्थदाता हे श्रीकृष्ण ! तुम्हारी जय हो।

++ + ++

उसी दिवसकी दूसरी घटनाका उल्लेख कर रहा हूँ। इसी प्रयागयात्रामें पू. पोद्दार महाराजने श्रीराधाबाबाके निवासकी व्यवस्था अपने निवाससे किञ्चित् दूरीपर की थी। श्रीराधेश्यामजी धानुका जिन्हें हमलोग श्रद्धासे भगतजी कहते हैं, पू.गुरुदेवके द्वारपाल थे। पू.गुरुदेवकी सेवामें निरन्तर रहना ही उनका कार्य था। मैं तो मात्र कुछ दिवसोंके लिये ही प्रयाग गया था, फिर भी क्योंकि मेरे सर्वाधिक आकर्षणके केन्द्र पू.गुरुदेव ही थे, मैं पू.गुरुदेवके पास ही आसीन, उन्हींसे लीला-वार्त्ता सुन रहा था। श्रीपोद्दार महाराज तो आते ही अनेक कार्यक्रमोमे व्यस्त हो गये थे। उन्हें गीताप्रेस-पण्डालमें श्रीमद्भागवतके १०८ सप्ताह पारायणोंकी आवृत्ति करानी थीं, रामचरितमानसके अनेक नवाह्न आयोजित करने थे। फिर सत्संग-प्रवचन, कथा-संकीर्त्तनोंकी स्थान-स्थानपर इतनी धूम थी कि उन्हें बड़े-बड़े महात्मा अपने-अपने पण्डालोमें व्याख्यानोंके लिये भी ले जाने आते थे। इन सबके अतिरिक्त स्वामी श्रीशरणानन्दजी,स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी, श्रीपथिकजी महाराज, श्रीरामकिंकरजी आदि अनेक सन्त एवं विद्वान् भी उन्हें घेरे थे। इसके उपरान्त श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डन और श्रीजवाहरलालजी नेहरू आदि राजनेताओंसे भी उन्हें मिलना था। 'गोवधबन्दी' के आन्दोलनकर्त्ता भी उन्हे अपना नेता बनाये थे।

पू.गुरुदेव एकान्तमें थे और प्रायः हम लोगोंसे ही उनकी सत्संग-वार्त्ता चलती रहती थी। पू.गुरुदेवकी चित्तभूमिमें तो अनन्त लीला-महोदधि सदैव ही उफनता रहता था और उनके प्रियतम श्रीकृष्ण नव-नव प्रेमावेशसे विभूषित सदैव ही उनसे क्रीडा-कौतुक करते रहते थे। इस प्रकार पू.गुरुदेव काय-मनो वाक्यसे सदा अपने प्राणप्रिय नीलसुन्दरमें ही तन्मय रहते थे। कभी वे मुझसे पद गायन सुनने लगते, कभी स्वयं गाने लगते। प्रेमावेशसे प्रस्वेदकण उनके भालपर, कपोलोंपर, चिबुकपर झलमल करने लगते।

उस दिन भी उनकी मुझसे बात चल रही थी। वे मेरे सम्मुख अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी एक अति मनोहर लीला सुना रहे थे। ऐसा लग रहा था जैसे क्षीरसिन्धुके मन्थनसे सुधा निकली हो और मोहिनी अवतार लेकर स्वयं श्यामसुन्दर ही अपने हाथों हमें पिला रहे हों। किन्तु मेरा अनुमान था उस सुधामें भी वह स्वाद नहीं रहा होगा, जो स्वाद हमें तब मिलता था जब पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा परम प्रेम-तन्मय हुए अपने प्रियतम नीलमणिकी लीलाएँ हमें सुनाते थे। और उस परम चिन्मयी रस-सुधा-धाराका हम भाग्यवान् सतृष्ण पान करते थे।

उस दिन ऐसा ही अवसर मुझे प्राप्त हो गया था। वे लीला सुनाते मुझे कह रहे थे – गोपी अपने प्राणधन प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रके स्मितसमन्वित मुखचन्द्रको निरखनेमें तन्मय है। यमुनाका परम पुनीत विलक्षण सुन्दर घाट है। अहा ! उस श्रीकृष्णानन-अम्भोजपर बिखरी कुञ्चित कुन्तलराशिकी शोभा निहारनेमें तन्मय गोपीके हृदयमें प्रीतिके कैसे निर्मलतम भाव उफन रहे हैं। गोपीके लिये अपने प्रियतमकी तृप्ति, अपने प्रियतमका सुख, अपने सुखकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् है। उसका सुख विनष्ट हो जाय और उससे उसके प्रियतमके सुखकी सभावना दिखती हो तो गोपीका रोम-रोम उसके लिये सदैव प्रस्तुत रहता है। गोपीको यह त्याग-भावना करनेका कोई प्रयास अथवा चेष्टा नहीं करनी होती, उसका तो यह चिरन्तन स्वभाव है। अवसर उपस्थित होते ही गोपीके हार्दिक प्रेमका यह स्वभाव तत्क्षण ही उसकी चेष्टा में व्यक्त हो जाता है। पू.गुरुदेवकी सरस वाणी प्रवाहित हो रही थी। वे वैसे तो मौन थे, परन्तु यदा-कदा जब लीला-प्रवाह का वर्णन करने लगते तो उनकी वाणी भी स्फुट शब्दोंमें मुखर हो उठती थी। वैसे स्लेटपट्टी और वर्त्तनी उनके हाथमे रहती और एकाध शब्द उस स्लेटपर अंकित भी होते ही थे। हम दोनों ही परस्पर रस-तन्मय थे। अचानक श्रीभगत[illegible] आगमनने हमारी [illegible] तोड दी। हम दोनोकी दृष्टि श्रीभगत[illegible] ओर फिर गयी थी। [illegible] रहे थ कि एक साधु पू.गुरुदेवसे मिलनेकी [illegible] कर रहे हैं ।

पू.गुरुदे[illegible] वार्त्ता स्थगितकर उन समागत [illegible] साधुका सम्मान और [illegible]गत करने उठ [illegible] मैंने देखा [illegible] और गैरिक वस्त्रधारी थे। [illegible] दिया। [illegible] ग्रहण करनेके पश्चात् साधुने [illegible] पू.गुरुदेवकी ओर देखा। पू.गुरुदवने पट्टीपर [illegible]कर

मुझसे पढकर महात्माजीको सुनानेके लिये कहा। मैं गुरुदेवका सन्देश पढ़कर महात्माजीको सुनाने लगा। पू.गुरुदेव का कथन था–" कैसे पधारे प्रभो ! निस्संकोच कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? "

वे साधु कहने लगे – "मैं जो कहने जा रहा हूँ, उसपर तो आपको विश्वास करना ही होगा। मैं अपने कथनको सिद्ध करनेके लिये आपको कोई प्रमाण नहीं दे पाऊँगा। हाँ ! कुछ काल बादमें आपको मेरी बात पूर्णतया सत्य लगेगी। और आप मेरे प्रति कृतज्ञ हो उठेंगे। "

पू. गुरुदेवने कहा – "निस्संकोच कहिये, प्रभो ! मुझे इतना अश्रद्धालु मत समझें।"

वे साधु पुनः मुसकाये और कहने लगे–"मैं सिद्ध जगत्‌का सन्देशवाहक हूँ। उनका सन्देश लेकर आपके पास आया हूँ। श्रीपोद्दार महाराजके पास मैं पहुँचता, किन्तु वे रजोगुणी लोगोंसे घिरे हैं । अतः मैंने आपको ही यह सन्देश देना उपयुक्त समझा। आप तीर्थराज प्रयागमें कुम्भपर्वपर स्नान करने आये हैं। आप एवं श्रीपोद्दारजीके आगमनसे प्रयागराजमें वर्तमानमें स्थित सिद्ध सन्त-समाज बहुत ही आमोदित है। देखिये ! कल ही प्रथम संक्रान्ति पर्वस्नान होगा। आप पर्वस्नान करने ब्राह्ममुहूर्त्तमें सूर्योदयसे पूर्व ही पहुँचें। उस समय आपका प्रयागराजमें स्थित सिद्ध-सन्तोंसे मिलन-दर्शन तो होगा ही, इस अवधिमें स्नान करनेवाले लोगोपर अन्तरिक्षचारी ऋषि-महर्षि भी कृपा-वर्षा करेंगे। अतः आपके साथ जो लोग आये हैं , वे भी यदि इस कालमें स्नान करेंगे तो उनका परम कल्याण होगा। मैं यही सन्देश लेकर आपके पास आया हूँ। आपके शुभ दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हुआ। सिद्ध-समाज एवं अन्तरिक्षचारी सन्त भी यथावसर आपसे सम्पर्क कर लेंगे।

पू.गुरुदेव उन महात्माका सन्देश सुनकर बहुत ही श्रद्धाभिभूत हो उठे। उन्होंने उनके चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम किया और सूचनाके लिये अतिशय कृतज्ञता व्यक्त की। पू.गुरुदेवने पश्चात् यह सन्देश श्रीपोद्दार महाराजको भी दे दिया। उस सन्देशका पालन करते हुए कुंभका प्रथम संक्रान्तिस्नान पू. पोद्दार महाराजके परिवार-सहित हम सभी सत्संगी बन्धुओंने ब्राह्ममुहूर्त्तमें सूर्योदयके पूर्व ही किया था। मैं स्नानके समय पू.गुरुदेवके साथ ही था। मैंने देखा – पू. गुरुदेव स्नानके लिये ज्योंही त्रिवेणीसंगम पहुँचे, उनका समग्र शरीर एक विशेष रोमाञ्चित अवस्थाको प्राप्त हो उठा था। स्वयं मुझे तो वहाँ किसी भी

आकाशचारी सन्तके दर्शन नहीं हुए। पू.गुरुदेवसे पूछनेपर उन्होंने अवश्य अनेक उच्चतम सिद्ध महात्माओंकी उस समय उपस्थितिकी बात बतायी और उनके दर्शन-मिलनकी बात भी कही।

इन्हीं दिनोंकी एक घटना और है। मैं पू. गुरुदेवको उन दिनों प्रति दिवस प्रातः सात बजेसे श्रीमद्भागवत मूलपाठ सुनाया करता था। गोरखपुरमें ही हम लोग पू.गुरुदेव की निवास-कुटीके पास एक बिल्ववृक्षके नीचे बैठा करते थे। मैं सप्ताहक्रमसे पाठ करता था और पू.गुरुदेव सुना करते थे। उन दिनों वर्षाकाल था। मेरे पास वस्त्रोंका अभाव था। अतः स्नानके पश्चात् वस्त्र सुखाकर तब पहनकर आना होता था। इसमें यदा-कदा विलम्ब हो जाया करता था। पू.गुरुदेव अपनी घडीसे ठीक सात बजे श्रीमद्भागवतपाठ सुनने बैठ जाया करते। मेरा विलम्ब करके आना उन्हें अप्रिय लगता था , यह मैं समझता था, किन्तु वर्षाके कारण कपडे नहीं सुखा पानेसे विवश था। एक दिवस ज्योही मैं पॉच-सात मिनट विलम्बसे आया, पू.गुरुदेव मुझपर बिगड़ गये। वे आज अतिशय ही उग्र थे। उसी उग्रतामे वे कह बैठे –"तुम समझते हो, यहाँ केवल राधाबाबा ही कथा सुनते हैं। तुम्हे पता है, मेरे साथ कौन-कौन महासिद्ध लोग आते है और श्रीमद्भागवत सुनते हैं ? वे सभी यथासमय मेरी उपस्थितिके साथ यहाँ आ जाते हैं और उनको प्रतीक्षा कराना मुझे सर्वथा असह्य है। तुम्हे कलसे पाठ सुनाना हो तो ठीक समयपर आ जाया करना अन्यथा कलसे मै पाठ सुनना स्थगित करता हूँ।"

उनकी डॉट इतनी उग्र और कठोर थी कि मैं अश्रु बहाने लगा था। मैंने उनसे इतना ही कहा था "बाबा ! एक ही धौत वस्त्र रहता है। इसे धोकर प्रतिदिवस सुखाकर तब पहनना होता है, अतः चेष्टा करते-करते विवशतावश पाँच-सात मिनट विलम्ब हो जाता है। फिर मेरे पास समय देखनेके लिये घड़ी भी नहीं है। वर्षाकी झड़ी सूर्यको अनवरत ढके है, क्या करूँ ?" इस मेरे उत्तरपर उस दिवस उनके दयार्द्र स्वभावसे अचानक ही एक अति विलक्षण सत्य उद्घाटित हो गया था। वे बोल उठे थे – तुझे पता है विगत कल और आज दोनों दिवस सनकादि ऋषि तेरी कथामें समुपस्थित थे और वे ठीक समयपर आवें और तू विलम्ब करे , क्या यह शोभनीय है ? अब तो मैं पानी-पानी हो गया था। दूसरे दिवससे मैं इस विषयमें इतना जागरूक हो उठा था कि फिर मेरे आनेमें कभी विलम्ब नहीं हुआ।

एक घटनाका उल्लेख और कर देता हूँ। गोरखपुरके निकट ही देवरिया जिलेमें तमकुही नामक एक स्थान है। पहले ब्रिटिश राज्यमें यह एक स्वतंत्र स्टेट थी। इस स्टेटके राजा साहबका इलाज करने एक नामी वैद्यजी बुलाये गये थे। ये वैद्यजी बहुत ही साधन-परायण थे। इन सत-हृदय वैद्यजीकी पारमार्थिक एव साधनभूमि अच्छी थी और इन्हें दिव्य सन्तोंके दर्शन होते थे। उन दिनो श्रीपोद्दार महाराजका गीतावाटिकामें प्रतिदिवस सत्संग हुआ करता था। तमकुही जानेका रास्ता गोरखपुर होकर ही था। अतः श्रीवैद्यजीके मनमें श्रीपोद्दार महाराजके दर्शन-सत्संग एवं पू श्रीराधाबाबाके भी दर्शनकी इच्छा बलवती हो उठी थी। श्रीवैद्यजी एक-दो दिवस गीतावाटिकामें सत्संग-लाभ करते रहे। जब वे तमकुही जाने लगे और बिदाई लेने पू.गुरुदेवके पास पहुँचे तो कहने लगे–"बाबा ! यह वाटिका अतिशय पवित्र एवं तीर्थमयी है। यहाँका वातावरण बहुत ही शुद्ध पारमार्थिक है। यहां तो उच्चतम नारदादि महर्षियोंका भी आवागमन होता रहता है। मैंने संकोचवश श्रीपोद्दार महाराजसे तो यह बात इसलिये नहीं कही कि उनके मुखपर उनकी प्रशंसा क्या करूँ, किन्तु आपसे विनम्र निवेदन है कि श्रीपोद्दार महाराजका अलौकिक सत्संग प्रातःकाल, जो भी निर्धारित समय हो, ठीक उसी समय प्रारंभ कर देना चाहिये। उनके सत्संगमें अनेक उच्चकोटिके महात्मागण सूक्ष्मशरीरसे सम्मिलित होते हैं। समयावधि निश्चित नहीं होनेसे उन्हे अनेक बार तो अत्यधिक लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, और अनेक बार सत्संगसे वचित हो जाना होता है। ये सभी साधु अन्तर्जगत्में बडा ही महत्त्व रखते हैं, अतः मैंने आपसे विनम्र निवेदन किया है। यह तो सौभाग्य है कि ऐसे साधुओंका यहाँ निरन्तर आवागमन है। मैं ये सब बातें प्रत्यक्षदर्शी होनेके नाते ही आपसे निवेदन कर रहा हूँ।

पू.गुरुदेवने तबसे यह सदा ध्यान रखा कि श्रीपोद्दार महाराजका सत्संग यथासमय हो।

---

# तीर्थयात्रा-प्रस्थान

## (आठवाँ अध्याय)

तीर्थोंकी अनन्त महिमा शास्त्रोंमें वर्णन की गयी है। वे अपनी स्वाभाविक शक्तिसे ही सबका पापनाश करके उन्हे मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं और मोक्षतक दे देते हैं । महाभारत, रामायण आदिके साथ ही प्राय: सभी पुराणोंमें तीर्थोंकी महिमा गायी गयी है । पद्मपुराण और स्कन्दपुराण तो तीर्थमहिमासे परिपूर्ण हैं । तीर्थोंमे किनको कब, कैसे क्या-क्या लाभ हुए तथा किस तीर्थका कैसे प्रादुर्भाव हुआ – इसका अति सुन्दर ढगसे विशद वर्णन उनमें किया गया है।

स्कन्दपुराण एवं पद्मपुराणके संक्षिप्त संस्करण जब गीताप्रेससे निकाले गये उस समय श्रीपोद्दार महाराजको अन्तर्जगत्से तीर्थयात्राकी प्रेरणा हुई थी। कारण स्पष्ट था – भगवान्के स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए भगवत्प्रेमी महात्मा स्वय 'तीर्थरूप' होते हैं । उनके हृदयमे भगवान् सदा प्रकट रहते हैं। इसलिये वे जिस स्थानमें जाते हैं, वही तीर्थ बन जाता है। वे तीर्थोंको अपने निवाससे 'महातीर्थ' बना देते हैं। धर्मराज युधिष्ठिरने महात्मा श्रीविदुरजीसे यही कहा था –

**भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।**
**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता।।**

(श्रीमद्भा०१।१३।१०।।)

भगवती श्रीगगाजीने भगीरथसे कहा "तुम मुझे पृथ्वीपर ले जाना चाहते हो ? अच्छा, मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ। देखो, मुझमें स्नान करनेवाले लोग तो अपने पापोंको मुझमें बहा देंगे, परन्तु मैं उनके पापोको कहाँ धोने जाऊँगी ?" इसके प्रत्युत्तरमें भगीरथजीने कहा –

**साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।**
**हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ।।**

( श्रीमद्भा०९।९।६।।)

"इस लोक और परलोककी समस्त भोगवासनाओंका सर्वथा परित्याग किये हुए शान्तचित्त ब्रह्मनिष्ठ साधुजन, जो स्वभावसे ही लोगोको पवित्र करते

रहते हैं, अपने अंग-सगसे आपके पापोंको हर लेंगे; क्योंकि उनके हृदयमें रामरत पापोको समूल हर लेनेवाले श्रीहरि नित्य निवास करते हैं ।"

वस्तुत स्वधर्मपर आरूढ़ आदर्श सिद्ध सन्त-महात्मा जंगम तीर्थ होते हैं।

वैसे पू.पोद्दार महाराजको अन्तर्जगत्‌की प्रेरणा तो बहुत पहले ही मिल गयी थी किन्तु यह प्रेरणा मूर्त्त तब हुई जब सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका और गीताप्रेसके अन्य ट्रस्टियोंने निश्चय किया कि सन् १९५७ ई०तदनुसार स २०१४ वि मे 'कल्याण' पत्रिकाका 'तीर्थाङ्क'के रूपमें विशेषाङ्क प्रकाशित किया जाय और मुख्य-मुख्य तीर्थ-स्थानोका सही विवरण जाननेके लिये स्वयं श्रीपोद्दार महाराज एक तीर्थयात्रा-ट्रेन लेकर प्रायः सभी तीर्थोंमें भ्रमण करें। श्रीसेठजी स्वयं भी इसके पूर्व गीताप्रेसकी एक तीर्थयात्रा-ट्रेन लेकर तीर्थोंमें भ्रमण कर चुके थे। इस ट्रेनके कारण 'कल्याण'के ग्राहकोंमे भी आशातीत अभिवृद्धि हुई थी, साथ ही गीताप्रेसकी पुस्तकें भी बहुत सख्यामे विक्रय हुई थीं।

श्रीपोद्दार महाराजका मन इधर अत्यधिक एकान्तप्रिय हो रहा था, अतः उनकी रुचि सैकडों व्यक्तियोंकी व्यवस्था अपने सिरपर लेकर तीर्थयात्रा करनेकी सर्वथा नहीं थीं। किन्तु श्रीपोद्दार महाराजका प्रारम्भसे ही यह शील रहा कि वे श्रीसेठजीके द्वारा हॉके जानेपर जैसे वे नचाते थे, नाचने लगते थे। पू.पोद्दार महाराजने किसीको अपने निजी पत्रमे लिखा –"मैं तो चाहता था–एकान्त तीर्थसेवन किन्तु बदलेमें मिला यह रजोगुणी मनुष्योंका मेला। मैं तीर्थयात्राट्रेनमें जबरदस्ती ले जाया जारहा हूँ। मैंने निश्चय कर लिया कि भगवान्‌की यही इच्छा है, इसीसे जानेको तैयार हो गया हूँ। "

परोक्ष स्तरपर वास्तविकता यही थी कि अन्तर्जगत्‌ने अपने कार्यकी सिद्धिके लिये श्रीसेठजी जयदयालजीके हृदयमे यह भाव जाग्रत् कर दिया कि वे श्रीपोद्दार महाराजको भारतके सम्पूर्ण तीर्थोमें जानेका आग्रह करें, क्योंकि उनके समाग्रहके बिना श्रीपोद्दार महाराज उद्यत होने संभव ही नहीं थे।

१९ जनवरी सन् १९५६को श्रीपोद्दार महाराज गोरखपुरसे काशी पहुँचे। काशीसे ही इस यात्राका शुभारम्भ होना था। वस्तुतः यात्राका प्रारम्भ पूर्वाभिमुखी होना चाहिये था किन्तु अचानक ही उड़ीसामें दंगे हो जानेके कारण यह तय

हुआ कि यात्रा पहले चित्रकूट, प्रयागकी तरफ उत्तरी भारतका भ्रमण करले और तब आगे अग्रसर हो। कार्यक्रमको बदलनेके लिये पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराजको लगभग एक सप्ताह काशीमें ही रहना पडा।

# पू.गुरुदेव द्वारा काशीका महिमा-वर्णन

ऐतिहासिकोंकी दृष्टिमें काशी संसारकी सर्वाधिक प्राचीन नगरी है। काशीके बारह नाम प्रसिद्ध हैं। काशी, वाराणसी, अविमुक्त, आनन्दकानन, महा श्मशान, रुद्रावास, काशिका, तपःस्थली, मुक्तिभूमि और श्रीशिवपुरी।

जो पृथ्वीपर होनेपर भी पृथ्वीसे संबद्ध नहीं है, साधारण पृथ्वी नहीं– तीन लोकसे न्यारी है, जो अधःस्थित मृत्युलोकमें स्थित होनेपर भी स्वर्गादि लोकोसे भी अधिक उच्चतर है, जो जागतिक सीमाओमें परिच्छिन्न होते हुए भी मोक्षदायिनी –सबके बन्धन काटने वाली है, ऐसी भगवान् विश्वनाथकी नगरी काशी है।

काशी त्रिलोकीका सार है। पापाचारी –दुराचारी यहाँ पापमुक्त होकर देववत् प्रकाशित हो उठते हैं। यह भगवान्के त्रिशूलके ऊपर बसी नगरी है। प्रलयमे भी इसका नाश नहीं होता। यहाँ देहत्यागके समय भगवान् मरणोत्सुक प्राणीको तारकमंत्र सुनाते हैं और उससे उसे तत्क्षण ही तत्वज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसके सम्मुख निजका ब्रह्मस्वरूप प्रकाशित हो जाता है। 'काशी' नामका अर्थ है–जहाँ ब्रह्म मूर्त हो। **काश्यां हि मरणान्मुक्तिः**–काशीमे कैसा भी प्राणी मरे, वह मुक्त हो जाता है।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा तो काशी–विश्वनाथपर अत्यधिक आस्था रखते थे, अतः तीर्थयात्राके उद्देश्यसे काशीमें प्रवेश करते ही पू. गुरुदेवने निर्णय किया कि एक नाव लेकर काशीके सभी घाटोके दर्शन किये जावे । उन्होंने अपने साथ गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीको लिया। अन्य लोग भी जिनमें श्री शिवनाथजी दुबे, श्रीरामनिवासजी ढंढारिया, श्री बजरंगलालजी बजाज, श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक आदि प्रमुख थे, उनके साथ

थे। लेखक भी इस यात्रामें पू.गुरुदेवके साथ था। पू. गुरुदेव गोप्रेक्षतीर्थ स्थित गायघाटपर बनी डालमियाकोठीमें श्रीपोद्दार महाराजके साथ ठहरे थे। नावसे यहींसे यात्रा प्रारंभ हुई। घाटपर स्थित हनुमानजीके मन्दिरके पास नावपर हम सभी आरूढ़ हुए।

जैसे ही हम लोग नावपर बैठे पू. गुरुदेव श्रीयाज्ञिकजीको संबोधित कर कह उठे "याज्ञिकजी ! उन्मुक्त गगनमें उडते हुए राजहंसको देखकर पकड़ लेनेकी, पकडकर अपने उद्यानके सरोवरमें अथवा सुन्दर-से पिञ्जरमें रुद्ध रखनेकी लालसा कितने ही सुजनोंकी हो सकती है, परन्तु उसे पकड़ लेनेकी सामर्थ्य सबमे नहीं होती, नहीं हो सकती। भगवान् शंकर जैसी अनन्त वैराग्यके आकाशपथमें उडती हुई महाविभूतिको अपनेमें आकृष्टकर धारण करनेकी शक्ति इस काशी नगरीमें ही है। इस काशीनगरीने अपने अप्रतिम पावित्र्यका जाल फेंककर इस श्मशानप्रिय औढरदानी शिव-मरालको अपनी स्थायी निधि बना लिया है। कैसी विलक्षण कृपालु भूमि है यह ! यह पञ्चभूतोंकी रचना सर्वथा नहीं है। यह प्राकृत प्रतीत होती हुई भी अप्राकृत, विशुद्ध सत्वमय है।"

"कहते हैं श्रीयोगत्रयानन्दजी नामक एक सिद्ध पुरुष पहले भगवान्‌के सगुण साकार स्वरूपको नहीं मानते थे। वे नैयायिक थे और महर्षि गौतमने स्वयं प्रकट होकर उन्हें काशीमें न्यायवार्तिक पढाया था। ये बादमें श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीके शिष्य होगये थे। जब श्रीगोस्वामीजीके अनवरत समझानेपर भी इन्होने भगवान्‌के सगुण साकार शिवस्वरूपको नहीं माना और काशीमें 'भगवान् प्रत्येक मरणासन्न प्राणीको भगवन्नाम तारकमंत्र सुनाते हैं' इन शास्त्रवचनोंको कपोलकल्पित किंवदन्ती ही माना, तो श्रीगोस्वामीजीने उन्हे एक दिवस काशीके राजघाटपर जाकर एक गटरके मुखपर लगे लोहेके ढक्कनको उठानेको कहा। श्रीयोगत्रयानन्दजीने ज्योंही ऐसा किया उन्हें एक विलक्षण दृश्य दृष्टिगोचर हुआ। वे चकित हो उठे। उन्होने देखा कि गटरमें एक सद्यजात शिशु पड़ा है। गन्दे जलमें गिरकर श्वास घुटनेसे उसकी मृत्यु आसन्न है। वह ऊर्ध्वश्वास ले रहा है। टूटते श्वासोंके मध्य प्रत्येक हिचकीमें उसे भगवान् शंकर गोदमें ग्रहण किये उसके दाहिने कानमें अपना मुख सटाकर तारक रामनाममंत्र सुना रहे हैं। श्रीयोगत्रयानन्दजी यह दृश्य देखकर

एक बार तो अभिभूत हो उठे, किन्तु पुन अविश्वासने उनके मनपर अपना अधिकार कर लिया। उन्होंने सोचा – संभव है, मुझपर किसी सिद्धिका प्रयोग किया गया हो, अतः उन्होने अपने हाथ-पैर धोकर सर्वथा जागरूक होकर पुन. उस गटरमे झॉका, पुनः उन्हें वही दृश्य प्रत्यक्ष हुआ। अब तो वे पूर्ण विश्वस्त हो, अपने गुरुजीके पास पहुँचे और उन्होंने भविष्यमें सगुण साकार भगवान् शिवकी भक्तिमें ही अपनेको पूर्णतया तल्लीन कर दिया।''

''याज्ञिकजी ! जैसे नवजलधर विचार नहीं करता उच्च-नीच, मलिन-पवित्रका, सर्वत्र समानभावसे बरसकर वह ग्रीष्मका ताप शमित कर देता है, वैसे ही यह काशी नगरी कहॉ देखती है उज्ज्वल-तमोमय भावोंकी ओर, समान रीतिसे बरस रही है इसकी करुणामृतकी धारा सबपर। यह काशीनगरी बडे-बडे पाण्डित्याभिमानी धर्मधुरन्धरोंको भी वही गति देती है जो गति यह अपनी सँकरी गलियोंमें विचरण करते विष्टाभोजी ग्राम्यसूकरको देती है।''

पू गुरुदेव अपनी स्लेटपट्टीपर काशी महिमापर धाराप्रवाह लिखते जा रहे थे और गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी उसे पढकर सुना रहे थे।

''जैसे नवजलधरमें सर्वत्र सदैव विद्युत्का निवास है, उसी प्रकार इस काशीके भी कण-कण, अणु-अणुमें भगवान् शंकर ओतप्रोत हैं। काशीधाम और भगवान् शंकर परस्पर एक-दूसरेमें सदैव अपृथक्, पूर्णतया ओतप्रोत हैं। काशीका एक-एक धूलिकण भी पूर्ण परात्पर भगवान् शंकर है।''

''काशी महाश्मशान है। महाश्मशान सबकी अवश्यंभावी गति है। पापी-से -पापी भी मृत्युके समय श्मशानकी शरण तो पाता ही है। बालघातिनी पूतना, महानिर्दय अघासुर, रावण, कुम्भकर्ण, कंस, जरासंध – सभीकी श्मशानमे तो समान गति ही हुई है। काशी सबको समान आश्रय एवं मुक्ति-गति देनेमे समर्थ होनेसे ही महाश्मशान है। यह सबको अनवरत मुक्तिदान करती है किन्तु स्वयं त्रिगुणात्मक प्रपञ्च मे स्थित रहती है , अतः इसे अविमुक्त संज्ञा दी गयी है।''

''काशी विलक्षण कृपामयी है। कहते हैं – पहले काशी भगवान् माधवकी पुरी थी। एक बार भगवान् शकरने किसी बातपर कुपित होकर अपने त्रिशूलसे ब्रह्माजीका मस्तक काट दिया था। ब्रह्महत्याके फलस्वरूप वह मुण्ड

उनके करतलसे संलग्न हो गया। भगवान् शंकर अनवरत द्वादश वर्षोंतक बदरीनारायण, कुरुक्षेत्र, ब्रह्महृद आदि तीर्थोंमें घूमते रहे, किन्तु न तो वे ब्रह्महत्यारूप पापसे मुक्त हुए एवं न ही ब्रह्महत्याके प्रतीकरूपमें उनके हाथसे संलग्न वह मुण्ड ही उनके करतलसे पृथक् हुआ। अन्तमें ज्योंही वे काशीकी परिधिमें प्रविष्ट हुए ब्रह्महत्याने उनका पीछा छोड़ दिया और यहाँ स्नान करते ही कर-संलग्न कपाल भी पृथक् हो गया। जहाँ वह कपाल पृथक् हुआ वही कपालमोचनतीर्थ कहलाया। भगवान् शंकर काशीकी इस करुणावर्षिणी कृपाशक्तिको देखकर इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने अपने श्वसुरालय हिमालयमे रहना त्यागकर काशीमें ही नित्य निवास स्वीकार कर लिया। भगवान् माधवसे उन्होंने अपने आवासके लिये यह नगरी माँग ली। भगवान्‌ने द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें से विश्वनाथात्मक ज्योतिर्लिंगके रूपमे अपनेको काशीमे ही प्रतिष्ठित किया है। भगवान् शिव अनन्त हैं किन्तु काशीकी गली-गलीमें, गृह-गृहमें इनके इतने मन्दिर है कि इनकी नामावली दे पाना ही असभव है।"

"याज्ञिकजी ! काशीकी महिमा उद्घोष करती है कि भक्ति सभीके लिये नितान्त आवश्यक है । भक्तिके अभावमें न अभ्युदय संभव है, न ही अपवर्गकी सिद्धि। क्योंकि सब प्रकारके कल्याणका उदय, विस्तार, इस भक्तिरूप मूल स्रोतसे ही होता है, यद्यपि काशी उन भ्रान्त लोगोंको भी सदासे आश्रय देती आयी है, जो भक्तिका आश्रय गहण करना तो दूर, उसकी अत्यन्त अवहेलना करते हैं। ऐसे असख्य लोगोको काशीने अपना आश्रय दिया है जो मात्र ज्ञानकी संथा लेकर आत्मबोधके लिये सतत प्रयत्नशील रहे है। सर्वमंगलनिकेतन भगवान् आशुतोषकी भक्ति उन्हें सहज ही ज्ञानकी प्राप्ति करा देती, इसके अवान्तर फलरूपमे ही उन्हें स्वतः आत्मबोध हो जाता, परन्तु उन्होने इस ओर ताका तक नहीं है। ज्ञानलाभके लिये इन असंख्य लोगोने अथक श्रम किया है, किन्तु सच्ची बात यही है कि इतना श्रम करनेपर भी परिणाममे हाथ उनके लगा है, ज्ञानाभिमान एव विद्याभिमान ही। सच्चे ज्ञानकी आलोकमाला उनके मानसतलको, उनकी बुद्धिको उद्भासित नहीं कर सकी है। उन्हे तो परिणाममें हाथ लगा है केवल क्लेश-ही-क्लेश, साधनश्रम मात्र, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। उन्हें इस ज्ञानाभिमानके फलस्वरूप साधनजन्य यत्किंचित् सिद्धियाँ भी नहीं मिलीं। मिलें कैसे ? समस्त सिद्धियोंके मूल तो भगवान् आशुतोषके

श्रीचरणोकी अर्चना है; उनके सम्बन्धसे शून्य तो कोई भी साधन –किसी भी शुभ फलका सृजन कर जो नहीं सकते।"

"याज्ञिकजी ! जैसे थोथी भूसीके ढेरका कूटनेपर अन्नकणोंकी उपलब्धि नहीं होती, निरर्थक श्रम मात्र ही होता है, इसी प्रकार श्रेयकी निर्झरिणी भगवान् आशुतोषकी भक्तिकी जो अवहेलना कर देते हैं, वे शुष्क ज्ञानलाभके लिये भले ही कुछ भी कर लें, उनके लिये अवश्यम्भावी परिणाम मात्र क्लेश ही होता है।"

"याज्ञिकजी ! इस काशीका असंख्य योगीगण भी आश्रय ले चुके हैं, योगके साधनोंकी चरमोत्कर्ष दशामें वे अवस्थित भी हो चुके, किन्तु उन्हें अपने सच्चे लक्ष्यकी प्राप्ति तो दूर, उसकी झाँकी भी नहीं हुई। हाँ ! वे अपनी योगसिद्धियोका चमत्कार जगत्में जादूगरोंकी तरह प्रदर्शित अवश्य ही कर गये हैं। और तब वे लौटे भक्तिकी ओर । भक्तिमार्ग - राजमार्गका अवलम्बन जैसे ही उन्होंने किया, उनकी सब चेष्टाएँ समर्पित होने लगीं भगवान् आशुतोषको। उनके इन्द्रियोंका समस्त व्यापार होने लगा भगवान् औढरदानीके उद्देश्यसे ही। इस कर्म-समर्पणने शीघ्र ही समग्र मनका मैल धो दिया। फिर तो भक्तिका उन्मेष हुआ ही और स्वरूपज्ञान होनेमें विलम्ब ही क्या था, वह तो स्वतः ही हो गया। इस प्रकार इन योगियोंने अतिशय सुगमतासे परमपदकी प्राप्ति कर ली। भगवान्‌की भक्तिका आश्रय कर लेनेपर कोई भी व्यक्ति अभीष्ट सिद्धिसे च्युत हो जाय, यह तो संभव ही नहीं।"

मैं देख रहा था – पू.गुरुदेवकी दशा ही उपदेश देते-देते कुछ विलक्षण हो रही है। उनके नेत्र-प्राण-मन भगवान् आशुतोषके चिदानन्द श्रीविग्रहकी अनन्त अपरिसीम पारावारविहीन महिमामे डूबने-उतराने लगे हैं। हम लोग जिस गंगाघाटके समीप पहुँच रहे थे, उसके पास ही थोड़ी ही दूरपर भगवान् विश्वनाथका मन्दिर अवस्थित था। अतः सबका यही मत हुआ कि यहाँ नावसे उतरकर एक बार काशी विश्वनाथ एवं माता जगदम्बाके दर्शन किये जावें। सभी लोगोने नावको किनारे छोड दी और घाटसे छोटी सीढियाँ चढकर एक गलीसे विश्वनाथ मन्दिरकी ओर चलने लगे। काशीकी गलियाँ इतनी छोटी-छोटी हैं कि अतिशय कठिनाईसे दो तीन व्यक्ति साथ चल सकते हैं। पू.गुरुदेवके पार्श्वमे श्रीशिवनाथजी दुबे थे, वे काशीकी गलियोंसे परिचित थे। वे पू.

गुरुदेवका हाथ पकड़े आगे-आगे चल रहे थे, हम सभी लोग पू.गुरुदेवके पीछे थे। हमने देखा सामने गलीके किनारे बंगाली गृहस्थके मकानके आगे बनी चौकीपर एक सात-आठ वर्षकी कन्या सर्वथा नग्न खड़ी है। मुझे डर लगा कि पू.गुरुदेवकी कहीं इस नग्न कन्यापर दृष्टि पड़ी तो वे पॉच-सात दिवसके अनवरत उपवासकी घोषणा नहीं कर बैठे। मैं कुछ आगे बढकर पू.गुरुदेवकी दृष्टि मेरी अपनी ओर केन्द्रितकर उस दृश्यसे उन्हें निवारित करना चाहता था कि मैंने देखा पू.गुरुदेवके ठीक आगे एक मछुआरिन अपनी टोकरीमें मृत मछलियॉ लिये चल रही है। गली इतनी सॅकरी थी कि पू.गुरुदेवको न तो मैं शीघ्र गति दिलाकर उस मछुआरिनसे आगे निकल जानेको कह सकता था, न ही उसकी विशाल टोकरीमें भरे मृत मत्स्योंकी वीभत्स दुर्गन्धसे पू.गुरुदेवकी रक्षाका कोई उपाय ही अन्वेषण कर पा रहा था। अचानक मैंने देखा वह नग्न लड़की उस मछुआरिनको पुकार रही है। उसकी पुकार इतनी तीव्र थी कि निश्चय ही पू.गुरुदेवकी दृष्टि उस ओर उठ ही गयी थी। मेरा अनुमान था पू. गुरुदेव उस पूर्ण नग्न बालिकाको देखते ही नेत्र नीचे कर लेंगे और तब उनके पाँच-सात दिवसके भिक्षात्यागकी उद्घोषणा हो जायगी। परन्तु हुआ कुछ दूसरा ही। पू.गुरुदेवकी दृष्टि ज्यों ही उस बालिकापर पडी, वे श्रद्धावनत होकर वहीं बैठकर उस बालाको प्रणाम करने लगे। मैंने देखा उस बालिकाके अमृतस्यन्दी अधरोंपर एक उन्मुक्त स्मित नाच उठा है। उस बालिकाके अरुण अधरोंपर आयी मुसकान वस्तुतः शिशु-स्वभावसुलभ हॅसी नहीं थी। वह तो अघटनघटनापटीयसी योगमाया-शक्तिकी मुसकान थी। अनन्त ऐश्वर्यमयी भगवती अपना किंचित् करुणावैभव पू.गुरुदेवको प्रत्यक्ष करानेके उद्देश्यसे उस बालिकाके रूपमें मुसका रही थीं। उस मुसकानको देखते ही पू.गुरुदेवमें तो मानका सर्वथा अभाव होकर सच्चे दैन्यका संचार हो उठा था। हम सभीने देखा पू. गुरुदेव अति अस्फुट स्वरमें बहुत ही मन्द शब्दावली उच्चारण कर रहे हैं और अनवरत उस सर्वथा निर्वस्त्र कन्याको सिर धरापर पटक-पटककर प्रणाम कर रहे हैं।

"हे महामाये ! अपरिच्छिन्नैश्वर्यमयी मॉ !! तुम्हारे ऐश्वर्यस्वरूप एवं महिमाका कहॉ आदि एवं अन्त है ! सब कुछ अपरिसीम ! हे सर्वनियामिके ! सर्वत्र सबके बाहर-भीतर अवस्थित ! सबके आत्माओंकी आत्मा ! शेष, शंकर,

ब्रह्मादि भी तुम्हारी मायासे सदैव विमोहित रहते हैं। ऐसी महामहिम, सर्वकारणकारण, सर्वनियंत्री, सर्वमायाधीश्वरी, तुम्हारे सम्मुख मुझ दीन-हीनका अस्तित्व ही क्या है ? प्रज्ज्वलित अनन्तकोटि सूर्य जिसके तेजके सम्मुख मात्र एक खद्योतके समान भी नहीं प्रतीत होते, मेरी तुलना तो वहाँ भला क्या कह कर की जा सकती है, इतनी महान् तुम और इतना तुच्छातितुच्छ मैं ! फिर भी कृपामयी मॉ ! तुम अपनी अमोघ कृपावर्षा करती मेरे सम्मुख व्यक्त हो। अपने अनन्त कृपामय स्वरूपसे तुम कदापि स्खलित नहीं हो सकती, इस शाश्वत सत्यकी आशासे मैं अंजलि बॉधे तेरे श्रीचरणोंकी शरणमें हूँ।"

"हे माते ! रजोगुणी मति है मेरी ! प्राकृत रजमें तमका अंश न रहे, यह संभव नहीं, इसलिये तमकी छाया तो मेरी बुद्धिमें है ही। तमोगुणजन्य अज्ञता भी तो मेरी चिर संगिनी बनी रहेगी ही। मॉ ! कहॉ तुम विशुद्ध सत्वमयी, मेरे -जैसे नगण्यतमपर, तुझ सुमहत्तमकी कृपादृष्टि पड़े, यह संभावना भी है या नहीं, यह भी कौन बताये ? मॉं ! तेरी अयाचित अनुकम्पाराशिकी बलिहारी है !"

पू.गुरुदेव अस्फुट भाषामें स्तुति करते जा रहे थे। सभीने किसी प्रकार प्रयत्न करके पू.गुरुदेवको उस विनयावेगसे उत्थित किया। इसके पश्चात् तो पू.गुरुदेवका एक हाथ दुबेजी थामे रहे, और दूसरा हाथ श्रीरामनिवासजी ढंढारिया। किसी प्रकार भावाविष्ट दशामें ही उन्हें विश्वनाथ मन्दिर लाया गया।

विश्वनाथ मन्दिरमें पू.गुरुदेव अर्धबाह्यावेशमें ही दर्शन करते रहे। दर्शन एवं पूजनके पश्चात् ज्योंही गुरुदेव अन्नपूर्णा मन्दिरकी ओर जानेको उद्यत हुए एक पण्डा दौडा हुआ आया और उसने मन्दिरके प्रांगणके एक ओर सौभाग्यगौरी और गणेशजीके दर्शनोंका आग्रह किया। प्रत्येक मन्दिरके प्रांगणमें जैसे ही पू.गुरुदेव खडे होते थे, ऐसा प्रतीत होता था मानो मूर्त्ति चिन्मय जाग्रत् होकर मुसका उठती थी। मैंने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी को यह चमत्कार संकेत करके बताया। मैंने उनसे जिज्ञासा भी की कि यह मेरी मात्र मानसिक कल्पना ही है, अथवा उन्हें भी ऐसा ही अनुभव हो रहा है। उन्होंने यही बात श्रीयाज्ञिकजीको निवेदन की। मेरी बातसे दोनों ही सहमत थे। पंडाके द्वारा प्रेरित किये जानेपर पू.गुरुदेवने श्रृंगारगौरी, अविमुक्तेश्वर महादेव

तथा श्रीसत्यनारायण भगवान्‌के भी दर्शन किये। इस दिन पू.गुरुदेवकी दशा कुछ इतनी भावाभिभूत रही कि उन्हें आगे किसी मन्दिरकी ओर नहीं ले जाकर सीधे उनके निवास ही पहुँचा दिया गया। उस दिवस अधिकांश काल मैंने देखा पू.गुरुदेव होशमे नहीं रहे थे। उनके नेत्र बरसते रहे।

बहुत दिनों पश्चात् पू.गुरुदेवने मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी, गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीको उस दिवसकी अनुभूति सुनायी थी। वे कह रहे थे कि जैसे ही उनकी दृष्टि उस मुसकाती बालिकापर पड़ी, तत्क्षण ही आदिशक्ति महामाया उनके सम्मुख व्यक्त हो उठीं। वे किसी प्रकार उनकी वन्दना कर पाये, किन्तु उनकी स्थिति ऐसी हो गयी कि उन्हें सर्वत्र शिवाशिव ही परस्पर समालिंगित, विराजित दिखने लगे। यह दर्शन उन्हे अनवरत २० घण्टेतक होता रहा। तब जाकर वे प्रकृतिस्थ हो पाये।

# बिन्दुमाधवतीर्थके पुजारीको उपदेश

दूसरे दिवस पुनः प्रभात-ही-प्रभात पू.गुरुदेवकी नावयात्रा प्रारंभ हुई। गौघाटसे चलते हुए पञ्चगंगाघाटतक हम लोग नावसे चले। कहा जाता है कि यमुना, सरस्वती, किरणा एव धूतपापा नदियोंका गगाजीसे यहाँ संगम हुआ है। इससे ही इस घाटका नाम पंचगंगाघाट पडा है। वर्त्तमानमें तो इस प्रकारका सगम दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु गुप्तरूपसे इन नदियोका यहाँ समावेश होता है, ऐसी किंवदन्ती है। इस घाटमें विष्णुकाञ्चीतीर्थ एवं बिन्दुतीर्थ भी हैं।

अग्निबिन्दु नामक ब्राह्मणको यहाँ भगवान् नारायणका साक्षात्कार हुआ था, और उन्होंने ब्राह्मणसे कहा था कि मैं यहाँ शाश्वत निवास करूँगा। पुरातन कालमे यहाँ भगवान् बिन्दुमाधवका बहुत ही विशाल मन्दिर था, जिसे औरगजेबने तुडवाकर मस्जिदका निर्माण करवा दिया था।

हम लोग बिन्दुमाधव मन्दिरमें दर्शनार्थ ज्योंही पहुँचे, पू.गुरुदेवका चित्त किसी अलौकिक जगत्‌को संस्पर्श करने लगा था। नारायण भगवान्‌की मूर्तिको उस समय पुजारी स्नानार्चन करवा रहा था।

ॐ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्या नारण्या ग्राम्याश्च ये ॥
ॐ नारायणाय नमः। स्नानीयं जलं समर्पयामि ॥

ब्राह्मणद्वारा मंत्र बोले जा रहे थे। एक तपोनिष्ठ संन्यासीको देखकर वह वृद्ध ब्राह्मण श्रद्धाभिभूत अपना पूजार्चन अपने पुत्रको सम्हला मन्दिरप्रांगणमें स्वागतार्थ आ गया था।

उसने पू.गुरुदेवको साष्टांग प्रणाम किया। वृद्ध ब्राह्मण वस्तुतः सच्चा नारायण-भक्त था। मन्दिरके पीछे ही उसका निवास था। सघन वृक्षावली उस निवासको घेरे थी। पचास वर्षोंसे ब्राह्मणकी नारायण-अर्चना निर्बाध चल रही थी। ब्राह्मण जब शिशु था, उस समय उसकी शैशव-क्रीड़ामें भी नारायण सने थे। जब ब्राह्मणने गृहस्थ-भार सँभाला, तब भी अपने सर्व-कर्म वह नारायणाधीन रहकर ही करता रहा। और अब तो उसकी अवस्था ढल-सी गयी थी। मन्दिरका पूजन-अर्चन अपने नवयुवक बालकके कन्धोंपर डाल, वह ब्राह्मण एकान्तसेवी होकर नारायणमें ही लीन-सा हो रहा था। विगत रात्रि उसे स्वप्न हुआ था। स्वप्नमें उसे भगवान् नारायणने ही आदेश दिया था कि मन्दिरमें दूसरे दिवस वे स्वयं ही एक सुतपस्वी संन्यासीके वेषमें दर्शनार्थ आवेंगे। अतः वह निरे प्रभातसे ही पू.गुरुदेवकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसने बहुत ही श्रद्धापूर्वक पू.गुरुदेवका चरण-पूजन किया और उन्हें भगवान् नारायणको समर्पित माला पहनायी। उसने बहुत-से फल भी पू.गुरुदेवको भेंट किये। हम सभी लोग उस ब्राह्मणकी निर्मल भक्तिसे अभिभूत हो उठे। वह हम सभीके सम्मुख मन्दिरकी पुरातन महिमाका उल्लेख कर रहा था। मन्दिरमे आये अयाचित दान द्वारा ही वह ब्राह्मण अपना जीवननिर्वाह करता था। उस सच्चे ब्राह्मणसे मिलकर पू.गुरुदेवके आनन्दकी सीमा नहीं रही। हम लोगोंको मन्दिरसे विदा करते समय वह वृद्ध ब्राह्मण बहुत ही भावुक हो उठा था। उसने पू.गुरुदेवसे दो शब्द उपदेशके प्रदान करनेका बहुत ही आग्रह किया। पू.गुरुदेवने अपनी स्लेटपट्टीपर लिखकर उसे निम्न संदेश दिया – "

**ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-भासारुणायतलनु-द्विजकुन्दपंक्ति।**
**ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोर्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथक् विवृक्षेत्।।**

**श्रीमद्भा०३।२८।३३।।**

"ब्राह्मणदेव ! अहो ! देखो ! प्रत्यक्ष देखो !! आपकी इष्टमूर्त्ति श्रीहरिके अधरोंपर नित्य सुविराजित इस चिन्मयी मुसकानको प्रत्यक्ष देखते रहो, इसमें बस, लीन हो जाओ। ध्यान करते-करते अपनेको विलीन कर देनेका सर्वोत्तम

रथल यही तो है। ओह ! इन अरुण अधरोष्ठकी अरुणिम कान्तिसे कुन्दपंक्ति-सदृश दन्तावलिपर भी कैसी लालिमा-सी छायी हुई है। बाहर मूर्त्तिमें मुसकाते श्रीहरिको देख रहे हो तो ! वे ही आपके अन्तर्हृदयमें भी सुविराजित हैं। और यदि यह सत्य आपको प्रत्यक्षगोचर हो जाय तब तो कहना ही क्या कि वे ही आपका पुत्र, परिवार, गृह-परिजन और सम्पूर्ण दृश्य मात्र हैं। इन श्रीहरिको सर्वत्र देखते हुए इन्हींमें तन्मय हो जाओ। सुनो ! मनको प्रेमरसमें डुबा दो, डुबा-डुबाकर पूर्णतया मसृण कर लो; फिर इस तुम्हारे मसृण मनको प्रभुकी हास्यकिरणोंके सम्मुख कर दो। बस, अब इन हास्य किरणोंको आपके मनको आत्मसात् करनेमें किंचित् भी विलम्ब नहीं होगा। परन्तु यह सब तभी होगा, जब श्रीहरिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखनेकी आपकी वासना रहेगी ही नहीं।"

पू.गुरुदेवका उपदेश श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीने पढ़कर ब्राह्मणदेवताको सुनाया। उस वृद्ध ब्राह्मणका तो रोम-रोम पू.गुरुदेवका आदेश सुनकर कृतकृत्य हो उठा। वह ब्राह्मण पू.गुरुदेवको अपने गृहमे भगवान् नारायणका प्रसाद ग्रहण करनेका बहुत ही आग्रह करने लगा। पू.गुरुदेवने उसके द्वारा दिया एक फल भिक्षारूपमें ग्रहण करनेका आश्वासन देकर उस मन्दिरप्रांगणसे प्रस्थान किया।

# गोपालमन्दिरमें बालगोपालके दर्शन

यहाँसे हम लोग चौखम्भा मुहल्ला होते हुए गोपालमन्दिर पहुँचे। इस मन्दिरमे श्रीमद्वल्लभाचार्य–सुपूजित श्रीगोपालजी एवं श्रीमुकुन्दरायजीके विग्रह हैं।

गोपालमन्दिरमे मंगला आरतीके दर्शन खुलने वाले थे। मन्दिरके बाहर एक ब्रजवासी कीर्त्तनियाजी पद गारहे थे।

**कजरीको पय पियहु लाल (मेरे) जासौं तेरी बेनि बढ़ै।**
**जैसे देखि और ब्रजबालक त्यों बल बैस चढ़ै।।**
**पुनि पीवत हीं कच टकटोरत, झूटहि जननि रढै।**
**सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै ।।**

पू.गुरुदेव स्लेटपट्टीपर लिख-लिखकर सभीको इस पदका भाव समझाने

लगते हैं – "ओह ! जिनसे इस जगत्का सृजन, संस्थान एवं संहार है, जिनकी सत्तापर ही सम्पूर्ण जगत्की सत्ता अवलम्बित है, जगत्का अवसान हो जानेपर भी जो अक्षुण्ण रहते हैं, जो सर्वत्र हैं, अखण्ड, अबाध ज्ञानसम्पन्न हैं, स्वयंप्रकाश हैं, जो अपने संकल्पमात्रसे पद्मयोनिमें वेदज्ञानका विस्तार करते हैं, जिनके सम्बन्धमें योगीन्द्र-मुनीन्द्र विमोहित हो जाते हैं, जिनके ज्ञानमय प्रकाशसे माया सदा निरस्त रहती है, उन सर्वैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रका कजरीके दुग्धपानसे उनकी वेणी लम्बी हो जायगी, इस उल्लासमें भरकर दूध पीने लग जाना, साथ-ही-साथ अपने घनकृष्ण केशोंपर हाथ रखकर देखते भी जाना कि वेणी वास्तवमें बढी या नहीं, अहा ! कितना विमोहक है। ओह! जब वेणी उन्हें बढती नहीं दीखती,तब उन्हें अपनी जननीकी वञ्चनाका भान होता है। उस समय उनके मुखारविन्दपर नाचती हुई विविध भावलहरियोंकी शोभा कैसी विलक्षण होती है, इसे तो कोई सूरदासजीके समान देखनेवाला ही अनुभव कर सकता है। पराजयका रोष, अब भविष्यमें दुग्धपानसे विरत होनेकी भावना, जननीके प्रति अविश्वास, क्षुधाकी निवृत्ति, दुग्धपानजन्य स्वाभाविक तृप्ति –ये सब भाव एक साथ उनके कमनीय मुखकमलपर व्यक्त हो उठते हैं। यशोदारानी इन्हें देख-देखकर अपनी हँसी संवरण नहीं कर पा रही हैं। "

पू.गुरुदेवकी वर्तिका स्लेटपट्टीपर लिखती जा रही थी। मन्दिरमें नवागन्तुक अन्य वैष्णव भी पू.गुरुदेवको घेरकर खड़े हो गये थे। अनेक वैष्णव श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीसे पू.गुरुदेवका परिचय पूछ रहे थे। कीर्त्तनियाजीने उस पदगायनकी समाप्तिपर दूसरा पदगायन प्रारंभ कर दिया था।

**मुखपर चन्द डारौं वारि ।**

**कुटिल कचपर भौंर वारौं, भौंहपर धनु वारि।**
**भाल केसर तिलक छबिपर मदन सत-सत वारि ।।**
**नयन खंजन मीन वारौं, कमलके कुल वारि।**
**झलक ललित कपोल छवि पर मुकुर सत-सत वारि ।**
**नासिका पर कीर वारौं, अधर विद्रुम वारि ।**
**दसनपर कन वज्र वारौं, बीज दाड़िम वारि ।।**
**चिबुकपर चित वित्त वारौं प्रान डारौं वारि ।**
**सूर प्रभुकी निरखि शोभा को सकै निरुवारि ।।**

कीर्त्तनियाजीके कीर्तनोंके मध्य ही दर्शन खुल गये थे। पू.गुरुदेवके सम्मुख गोपालजीकी बालमूर्त्ति प्रत्यक्ष थी।

यह क्या ! पू.गुरुदेवको आनन्दातिरेकवश आत्मविस्मृति हो रही है। उनके रोम-रोमसे दर्शनजन्य आनन्दका मानो प्रस्फोट हो रहा था। पू.गुरुदेवके सम्मुख मन्दिर-स्थित लड्डूगोपालकी मूर्त्ति थी ही नहीं। वे तो देख रहे थे यशोदारानीने विधिवत् उबटन-स्नान आदि कराके अपने कन्हैयाको सजाया-बैठाया है। तत्क्षण ही पू.गुरुदेवके हृदयमें ऐसा भावोद्दीपन हुआ कि उन्हें कार्य कारण, भाव-अभाव – सभी वस्तुओंमें उनके आराध्य श्रीकृष्ण ही भरे दृष्टिगोचर होने लगे। उनके सामने तो वात्सल्यरसवितरण की प्रकृष्ट प्रक्रिया, वात्सल्य-रसास्वादनकी एक पवित्रतम प्रणाली , भक्तमनोरथपूर्त्तिकी एक मधुर मनोहर झाँकी प्रस्तुत कर रहे थे, उनके आराध्य बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्ण-चन्द्र ! इस झाँकीकी जय हो ! जय हो ॥

परस्पर जुडे हुए तारोंमे किसी एक पर स्वरलहरी उदय होते ही अन्य तार भी झंकृत हो ही उठते हैं। इसी नियमसे पू.गुरुदेवके हृदय-तन्तुपर उदय हुई लीलोन्मेषकी सुधा-धारासे सारा वातावरण ही रसमय हो उठा था।

पू.गुरुदेव देख रहे थे – सर्वान्तर्यामी, सर्वनियामक, उनके आराध्य वात्सल्यरस-सुधापानकी उत्कट अभिलाषावश अपने बाल्यावेशके अन्तरालमें अपना सर्वैश्वर्य, अपनी अशेष नियामकता छुपाये ब्रजरानी यशोदाके सामने बालक्रीडा कर रहे हैं । पू.गुरुदेव सर्वथा ही विस्मृत कर गये कि वे काशीमें गोपालमन्दिरमें दर्शनार्थ आये हैं । उन्हे तो बस यही अनुभव हो रहा है कि ब्रजपुरके जल,अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आदित्य, चन्द्र, तारिकायें, आकाश, तम, तेज – इन सबके अधिष्ठाता देवता, उनके आराध्य श्रीकृष्णको अपने-अपने नेत्रोंसे निहार-निहारकर कृतकृत्य हो रहे हैं । कैसी विलक्षण झाँकी है !

पू.गुरुदेवके सम्मुख आज श्रीकृष्णचन्द्र इन्द्रियोंके नियामक नहीं हैं, अपितु सभी इन्द्रियाँ उनका नियमन कर रही हैं । अपनी हथेलीपर रक्खे जननी द्वारा प्रदत्त नवनीतपिण्डका सुवास उन्हें अतिशय आकृष्ट किये है। सबके हृदय-मनके भीतर रहनेवाले श्रीकृष्ण आज रसवश आनन्दोपभोगके लिये परम चञ्चल हैं। आज वे सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण अदृश्य द्रष्टा नहीं, आज तो वे अपने इन्द्रनीलद्युति श्रीअंगोंकी शीतल किरणोंसे ब्रजेश्वरीके हृदयको उद्भासित कर रहे हैं, अपनी नवजलधर-कान्तिसे उन्हें सिक्त एवं अपनी परम दिव्य

सुरभिसे उन्हें सुरभित करते हुए वे आज पू.गुरुदेव के हृदयरूपी ब्रजप्रदेशको भी अपनी विहारभूमि बनाये हैं । अपने परम रमणीय बालचापल्यका प्रकाश करते हुए अहा ! पू. गुरुदेवके हृदयदेशमें वे आज अपनी कैसी विलक्षण लीला-माधुरी प्रकट कर रहे हैं । पू. गुरुदेव बस, जड़वत् क्या निहार रहे हैं यह तो उनका स्वसंवेद्य अनुभव ही था, हम सब तो यही देख रहे थे कि उनके नेत्र सर्वथा अचंचल स्थिर हुए किसी विलक्षण रसमें डूब गये हैं। पू. गुरुदेवका रोम-रोम अपने आराध्यकी किसी विलक्षण छविको निहारता आनन्दसे बेसुध होता जा रहा था। उनके हाथ किसी परम विलक्षण सात्विक आवेशसे कम्पायमान जो हो रहे थे। रसस्त्रोत में डूबते-उतराते रहनेके कारण पहलेसे ही आनन्दस्थिर हुआ उनका चित्त और भी स्थिर हो उठा था। उसकी प्रबल लहरोंसे बुद्धि भी ढक गयी थी। पू. गुरुदेवके सामनेसे गोपालमन्दिर लुप्त ही हो गया था। वे कहाँ किस उद्देश्यसे आये हैं , स्वयं कौन हैं, उन्हें कुछ भी स्मृति नहीं रही थी। गोपालमन्दिरका पुरातन भवन, मन्दिरप्रांगण, स्तभ, वेष्टन, दर्शनार्थ खडे वैष्णवोंकी भीड़ -- पू.गुरुदेवके सामनेसे सब विलुप्त था।

पू.गुरुदेवकी ऐसी विलक्षण दशा देखकर सभी लोगोंने यही निर्णय किया कि उन्हें शीघ्र ही उनके निवास पहुँचा दिया जाय। गोपालमन्दिरमें उस समय सम्प्रदायके काशीपीठके आचार्य, उनकी विदुषी पुत्री और परिवारके सभी वैष्णव थे। सभी पू.गुरुदेवकी मन्दिरके ठाकुरके दर्शन करते ही, हुई विलक्षण भाव-दशा देखकर मुग्ध थे। पू.गुरुदेवको मन्दिरसे लाकर उनके निवासमें भावदशामे ही बैठा दिया गया। कुछ काल पश्चात् पू.गुरुदेवकी भावदशा जब संवरित हुई तो श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके जिज्ञासा करने पर पू.गुरुदेवने उनसे कहा कि उनका समग्र दृश्य विलुप्त हो गया था और उनके सम्मुख बच रहे थे नृत्यपरायण श्रीकृष्ण। उस समय एक नही, दो नहीं, अगणित श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य कर रहे थे। उन्हे दृष्टिगोचर होरहा था -- गोपालमन्दिरके स्थानपर नन्दभवन और जो आचार्य थे उनके स्थानपर ब्रजेश्वरी यशोदारानी। उनको यही दृष्टिगोचर हो रहा था कि ब्रजेश्वरी यशोदारानी दधिमन्थन कर रही है और दधिमन्थनकी ध्वनिमें अपनी कटिकिंकणी और पदनूपुरोंका स्वर मिलाकर उनके परमाराध्य श्रीकृष्ण एक नहीं, दो नहीं; असंख्य रूपमें नृत्य कर रहे हैं। अपने नीलमणिके मुखारविन्दसे प्रसरित शत-सहस्र सौन्दर्यमन्दाकिनीकी धाराओंमें अवगाहन करती ब्रजेश्वरी यशोदामैया

अपने कोटि-कोटि प्राणोको उनपर न्यौछावर कर दे रही हैं। । दधिमन्थन करते उनके हाथ रुक जाते हैं । परन्तु श्रीकृष्णका नर्त्तन-आवेश विरमित नहीं होता। वे नाचते ही जाते हैं। यशोदामैया चकित हैं । वे निर्णय नहीं कर पातीं कौन श्रीकृष्ण उनके अपने पुत्र हैं। एक-सी आकृति, एक-सा सौन्दर्य, एक-सा नर्त्तन। सभी आकृतियोंमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं । प्रेमभ्रान्त यशोदारानी सभीको अपना पुंत्र मानने लगती हैं।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि इस लीलादर्शनमें वे अपने आपको ही भूल गये। बहुत काल तक उन्हें यही दृश्य दिखला रहा। बहुत काल पश्चात् जब उनका आवेश शिथिल हुआ तो उन्होंने जल पिलानेके लिये श्रीभगतजीको श्रीरामरानेहीजीको बुलानेका संकेत किया।

# भगवती विशालाक्षी मन्दिरमें कृपा-चमत्कार

तीसरे दिवस सभी लोगोंके सहित पू.गुरुदेवकी नौका-यात्रा मणिकर्णिकाघाट पर ही पर्यवसित हो गयी। इस घाटको वीरतीर्थ भी कहते हैं। इस घाटके ऊपर मणिकर्णिका कुण्ड है, जिसमे चारों ओर सीढ़ियॉ हैं और इक्कीस सीढी नीचे जल है। इस कुण्डकी तहमे एक भैरवकुण्ड भी है। इस कुण्डका पानी प्रति आठवे दिवस निकाल दिया जाता है, और एक छिद्रसे स्वच्छ जलधारा अपने-आप निकलती है, जिससे कुण्ड भर जाता है। वीरेश्वरमन्दिर इस घाटका मुख्य मन्दिर है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा और सभी साथ आये लोगोने इस वीरेश्वरतीर्थका जल अपनेपर छिडका और वीरेश्वरमन्दिरके दर्शन किये।

वीरेश्वरमन्दिरके दर्शनोके पश्चात् सभी लोग विशालाक्षी-मन्दिरके दर्शन करने गये। भारतवर्षके इक्यावन शक्तिपीठोमेंसे एक शक्तिपीठ काशीमे यह विशालाक्षी-क्षेत्र है। यहाँ भगवती सतीका दक्षिण कर्ण-कुण्डल गिरा था। इन भगवती विशालाक्षीके भैरव कालभैरव हैं। हम लोग जब विशालाक्षीमन्दिर पहुँचे तो पुजारी मन्दिरमें देवीका नित्यकालीन पूजन करके, मन्दिरमे ताला लगाकर अपने घर चला गया था। वैसे मन्दिरके मुख्यद्वारके कपाटमें लोहेके

छड लगे होनेसे बाहरसे ही भगवतीकी मूर्तिका दर्शन संभव था, किन्तु मन्दिरके द्वार-पट बन्द होनेसे पू.गुरुदेवमे एक अति वात्सल्यभरा निर्मल भाव जाग्रत् हो उठा था। वे मन ही मन मातृ-वात्सल्यमें भरे अपनी माँ योगमाया के सम्मुख हठ करके बैठ गये थे। पुजारीका तो प्रतिदिनका ही नियम था कि वह निरे प्रभात आता था एवं गंगास्नान करके, यथावश्यक पूजन सपादितकर, गत रात्रिको लोहेके सीखचोयुक्त कपाटोमेंसे फेकीगयी भेंट-मुद्रा बटोरकर, घण्टे-आधे घण्टेमें ही मन्दिरपट बन्दकर चला जाता था। अब तो वह सायंकालको मात्र आरतीके समय आयेगा और माताकी आरतीकर दिवस-पर्यन्तकी भेट-मुद्रा लेकर अपने निवास-गृह चला जायगा। उसका निवास भी मन्दिरस्थलसे बहुत दूर मुगलसराय क्षेत्रमें है, और यहाँसे किसी परिचित व्यक्तिको भेजकर उसे बुलाना भी सभव नहीं दिखता था। मन्दिरके आसपास रहनेवाले लोगोसे इस विषयमें जब वार्त्ता की गयी तो उन्होंने भी यही मत पुष्ट किया कि वह अपने निवासस्थानमे भी दिनमे उपलब्ध नहीं होता। आजीविकार्थ कहीं अन्यत्र सेवाकार्यमे चला जाता है। इधर तो स्थिति यह थी और उधर पू. गुरुदेव अपने हठी स्वभाववश ऐसा निर्णय कर चुके थे कि जबतक पुजारी मन्दिरका पट उन्मोचन न करे और वे अपनी माँकी पूजा सम्पादित नहीं करें, यहाँसे हिलेंगे भी नहीं। वे प्रायः भगवान्की शक्तिके बलपर असंभवको भी संभव करनेका संकल्प कर लेते थे। वे मुझसे प्रायः यही कहा करते थे कि भला भैया, बतला तो, भगवान्की कृपा जिसे दूर नहीं कर सके, ऐसा भी कोई अवरोध जगत्मे संभव है क्या ?

पू.गुरुदेवके पास और तो कोई बल था नहीं, मात्र अकिंचन संन्यासी ही तो वे थे, अपनी माँ योगमाया जगज्जननीकी कृपाशक्तिका आह्वान करते हुए वे अन्तश्चेतनाके जगत्में पहुँच जाते हैं। उनके सम्मुख जगज्जननी भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी ध्यानस्थ मूर्ति प्रकट हो जाती है। वे प्रार्थना कर उठते हैं .." "माते ! तेरे सुप्रकट वात्सल्यके बलपर मैं तेरा हठी बालक तुझसे अनहोने कार्योंके सम्पादनकी याचना कर बैठता हूँ। माँ ! मैं तेरे द्वारपर आऊँ और तेरे द्वारपट मुझे अवरुद्ध मिलें, क्या यह उचित है ? तेरे वत्सल स्वभावको निरखता हुआ मैं तुझसे किसी मेरे-तेरे मध्य आये अवरोधको दूर करनेकी याचना करूँ, क्या यह याचना तेरे वात्सल्यपर कलंक नहीं है ? माँ ! उचित तो यही होता कि मेरे आने के पूर्व ही तू सर्वबाधा-विनिर्मुक्त हुई मेरी प्रतीक्षा

करती मुझे उन्मुक्त-द्वार बाहर ही खड़ी दिखती । किन्तु तेरे द्वार-देशकी चौखटपर खडा मैं तुझे लौह-कपाटोंके भीतर खडी देखूँ और तेरी परम वात्सल्यभरी गोदमें अपने को शिशुवत् नहीं समर्पित कर पाऊँ, क्या यह तेरे परम वत्सल स्वभावको देखते हुए शोभनीय होगा ?

पू.गुरुदेव अपनी माताकी गोदमें छोटे-से शिशु बने उसके अति वात्सल्यभरे दुग्धस्रावी स्तनोंकी कर्णिकाको मुखमें लिये अतिशय भावपूर्वक अपनी छोटी-छोटी दुग्ध-दंतपंक्तिसे उन्हें काटनेकी क्रिया कर बैठते हैं । उनके लघु शिशु-सुकोमल हाथ अपनी मॉके स्तनोंको पकड़ लेते हैं और स्तनाग्रभागसे स्रवित भाव-दुग्धका पान करते, वे अपनी मॉंके कृपावत्सल नेत्रोंमें अपने शिशुनेत्र मिला देते हैं।

एक आश्चर्य घटित होता है। हममेंसे किसीको आशा नहीं थी कि पुजारी मन्दिरमें इस समय आ पहुँचेगे। परन्तु बिना प्रयास किये ही अनिमन्त्रित ही शीघ्र गतिसे कदम बढाता मन्दिरका पुजारी मन्दिर-द्वारपर पहुँच जाता है। वह हम सभीको मन्दिरके मुख्यद्वारपर खड़ा देख मुसकाता है। वह कहता है कि आज प्रात: उससे प्रमादवश पूजा करते-करते ऐसी त्रुटि हो गयी कि जिस मीलमें वह काम करता है, उसका प्रवेशपत्र ही वह मन्दिरमे रखकर भूलगया। इस प्रमादसे उसे अर्धदिवस तो मीलसे अवकाश लेना ही पडा । शेष आधे दिवसका अवकाश वह किसी प्रकार बचा ले – इस प्रयासमें शीघ्रतापूर्वक उसे मन्दिरमें पुनः लौटना पड़ा है ।

पुजारीसे हमने जब पू. गुरुदेवके हठका कथन किया, तब तो वह और भी श्रद्धाभिभूत हो उठा। किन्तु पू. गुरुदेव तो दूसरी ही धुन में थे। वे माताकी अपने भावानुसार पूजा करना चाहते थे और पूजाके लिये उन्हे कदम्बवृक्षके पुष्पकी आवश्यकता थी। उस पुष्पकी कहींसे व्यवस्था हो, और उसमे जो कालक्षेप हो, इतने कालके लिये पुजारी रुकनेमे अरुचि प्रकट कर रहा था।

पुजारीको प्रलोभन भी दिया गया कि उसकी मीलमे जो भी अनुपस्थितिजन्य आर्थिक क्षति होगी, वह पूर्ति कर दी जायगी। परन्तु वह कह रहा था कि उसे अनुपस्थितिके कारण नौकरीसे हटाया भी जा सकता है। किसी प्रकार बहुत प्रयाससे तो उसे मीलमें नौकरीका अवसर मिला है। अतः उसका आग्रह था कि जो भी पूजा-सामग्री वह पू.गुरुदेवको दे, वे उसीसे पूजा करले। पू.गुरुदेव तो कदम्बपुष्पके अभावका सामञ्जस्य किसी अन्य पूजन-

सामग्रीसे करनेको तैयार ही नहीं हो रहे थे। पुजारीको हम लोग किसी प्रकार मनानेका प्रयास करते जा रहे थे। इतनेमें ही हमें एक वृद्ध ब्राह्मणने संदेश दिया कि उसके घरपर पुष्पित कदम्बवृक्ष है। किन्तु उस वृक्षसे पुष्पचयनमे अतिशय कठिनाई है। पुष्प ऐसे स्थानोंपर लगे हैं , जहाँसे चयन होना कठिन ही नहीं, असभव-सरीखा है। पू.गुरुदेव तो इस सूचनाके मिलते ही मुझे लेकर कदम्बवृक्षके स्थानकी ओर चल पडे। वह कदम्बवृक्ष एक पीपलके वृक्षके भीतरसे ही प्रस्फुटित हुआ इतना विशाल और उच्च था कि उसपर चढकर पुष्पचयन करना असंभव था। ब्राह्मणदेवता तो स्वाभाविक ही भूमिपर स्खलित, धूसरित, मुरझाये पुष्प हमें देना चाहते थे, जो पू. गुरुदेवको कदापि स्वीकार्य नहीं थे। मैंने देखा पू.गुरुदेव तो अपने गैरिक वस्त्रको फैलाकर उस कदम्बवृक्षसे पुष्पदानकी भिक्षा माँगने घुटनोंके बल बैठ गये । उन्हें तो वह कदम्बवृक्ष चिन्मय जीवन्ततुल्य दिख रहा था, जो उनके माँगनेपर उन्हे अपने पुष्प दान् कर ही देगा।

मुझे तो यहाँ भी अतिशय आश्चर्य ही घटित होता दिखाई पडा। सचमुच ही पू.गुरुदेवके अचल फैलाते ही अनेक कदम्बपुष्पोसे उनका अंचल भर गया था। कदम्बवृक्षकी ओर नेत्र उठाकर ज्योंही मैंने देखा तो पाया कि एक मादा शुक पक्षी जो अति पुरातन उस पीपलवृक्षके कोटरमें अपने शावक-प्रसव करनेकी योजना बना रही थी, संलग्न कदम्बवृक्षसे पुष्प अपने घौंसलेके  निर्माणके लिये तोड़ती है और उनमेंसे कुछको अनुपयुक्त समझ सीधे पू. गुरुदेव द्वारा प्रकीर्ण गैरिक वस्त्रांचलपर गिरा दे रही है। वह पुनः-पुनः इसी प्रक्रियाको दोहरा रही है। मैं माँ जगज्जननीकी पू.गुरुदेवपर सभावित कृपाकी सचमुच ही जय-जयकार कर उठा।

अपनी माँके विलक्षण भक्त थे पू.गुरुदेव । यद्यपि यावज्जीवन मैंने उनका हठ उनकी किसी भी लौकिक  कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं देखा किन्तु अपनी नैष्ठिक पूजाओके सम्पादनार्थ जब वे विशुद्ध व्यवस्थाओंमें अपनी माँकी सहायताकी माँग कर बैठते थे, तो फिर हठ पकड लेनेके अनन्तर उसे छोड देना उन्होने सीखा ही नहीं था। अनुनय-विनय करते हुए अपने भावशिशु-स्वरूपमे अपने करपल्लवोंसे वे अपनी माँ जगज्जननी योगमायाकी स्तन-कर्णिकाको अपनी दुग्ध-दंतपंक्तिसे काट डालते थे, और अपनी व्यवस्था-पूर्तिके लिये अड़ जाते थे। उनका वात्सल्यभरा माँको रिझानेका

स्वनिर्मित मंत्र था – 'मॉ-मॉ, मैया-मैया, जननी-जननी, अम्बे-अम्बे, जगदम्बे-जगदम्बे'। इस मंत्रका वे अनवरत मन-ही-मन उच्चारण करते रहते थे और इस मंत्रके विलक्षण अर्थकी अनुवृत्ति भी करते जाते थे ।

अन्ततः यही होता था कि उनकी ध्यानमूर्तिके रूपमें प्रकट उनकी माता जगज्जननी योगमाया शत-शत अवरोध-अनुरोध करती हुई, अपने पुत्रंकी अभिलाषाओंको नितान्त अव्यावहारिक बताती-जताती हुई भी, बड़े वेगसे सिर हिलाकर तथा 'नहीं-नहीं' 'यह तो होनेकी ही नहीं' -मुखसे भी स्पष्ट कहकर अपना निर्णय सुना देनेके उपरान्त भी जब पू. गुरुदेवको अपने हठपर अड़िग पाती, तो अनुत्साहित चित्तसे ही सही, अन्ततः जगज्जननीको उनका अनुमोदनकर कार्य सिद्ध करना ही होता था । पूजन समाप्तकर पू. गुरुदेव अति प्रसन्नचित्तसे मुसकाते हुए मन्दिर प्रांगणमें खडे हो जाते हैं ।

# अन्नपूर्णा मन्दिरमें भगवतीके साक्षात् दर्शन

उसी समय उनकी सांगोपांग अतिशय भावभरी एवं शास्त्रविहित परम सात्विक पूजासे प्रभावित श्रद्धाशील वह ब्राह्मण जो अपने गृह ले जाकर पू. गुरुदेव को कदम्ब वृक्षका अनुसंधान देता है, प्रार्थना कर बैठता है कि पू. गुरुदेव जब गोरखपुरसे काशी पदार्पण किये हैं, एवं सभी तीर्थ-मन्दिरोंके यथावत् दर्शन अर्चन कर ही रहे हैं, तो अन्नपूर्णामन्दिरमें तंत्राचार्य श्रीभास्करराय द्वारा स्थापित यंत्रेश्वर लिंग – जिसपर श्रीयंत्र अंकित है, उसका पूजन अवश्य करें। पू.गुरुदेवके इतना कहनेपर कि यहाँसे वे काशी-अन्नपूर्णा मन्दिर ही जायेंगे, वह ब्राह्मण पू. गुरुदेवके साथ चलनेको भी तत्पर हो उठा था।

विशालाक्षी मन्दिरसे लगभग दो फर्लांग चलकर हम अन्नपूर्णा मन्दिर पहुँचे थे। यह दूरी हमें सॅकरी गलियोंमें पार करनी पडी थी। किंवदन्ती है कि जब भूतभावन भगवान् विश्वेश्वरने काशीको अपना स्थायी धाम बना लिया तो उनका भिक्षापात्र कभी भरता ही नहीं था। फलतः शिवजी महाराज क्षुधातुर रहने लगे। एक बार वे पार्वती देवीके पास पहुँचे और उनसे क्षुधा-निवृत्तिका उपाय पूछा। हॅसकर पार्वतीने उनका भिक्षापात्र परिपूर्ण कर दिया। तभीसे माता पार्वतीदेवीका ही एक नाम अन्नपूर्णा हुआ।

पू.गुरुदेवने ज्योंही अन्नपूर्णा मन्दिरमें प्रवेश किया, मैंने देखा उन्हें मानों अपने प्राणोंकी निधि ही प्राप्त हो गयी थी। उनमे विशुद्ध सात्विक भावोका प्रवाह ही उमड पडा था। भगवतीका दर्शन करते-करते वे शान्त खडे ही रह गये। मैंने देखा – जड़िमा भावोदयसे उनके समस्त अंग अवश हो रहे हैं। उनमे गतिका संचार तो तब हुआ जब भगवती अन्नपूर्णा स्वय एक मानवी सुन्दर युवतीका रूप रखकर स्थिरनेत्र दर्शन करते उन्हे स्पर्श करने उनके पास चली आयीं। चौंककर पू. गुरुदेव छिटककर शीघ्रतापूर्वक उस स्त्रीसे दूर हुए। वह मानवी स्त्री बनी माता पार्वती अन्नपूर्णामन्दिरकी परिक्रमा करने लगी और पू. गुरुदेव पुनः निर्निमेष नयनोंसे मॉकी मूर्तिपर अपनी दृष्टि स्थिर करने लगे। इस बार वे किंचित् सावधान थे। इस बार भी वह मानवी स्त्री जब पू. गुरुदेवके अति निकट आई तो स्पर्शाशंकासे पू. गुरुदेवको पुन. छिटककर दूर हटना पडा और वे स्त्रीरूपधारी भगवती पुनः परिक्रमाको उन्मुख हो गयीं। तीसरी बार भी जब यही आवृत्ति होनेवाली थी और वे माताजी पू.गुरुदेवके इतनी निकट आ गयीं कि मानों स्पर्श हो ही जायगा तो पू.गुरुदेव अति जोरसे बोल उठे– " मॉ ! बारबार यह अनर्थ क्यों कर रही हो ? तुम जान रही हो, मैं एक चतुर्थाश्रमी यतिवेशी सन्यासी हूँ और तुम युवती स्त्री हो। यह सत्य है कि मेरी पावनतम दृष्टिमें तुम साक्षात् जगज्जननी ही हो किन्तु एक यतिकी मर्यादाको खण्डित करनेका यह अनवरत प्रयास क्यों हो रहा है ? "

ओह ! पू.गुरुदेवने स्पष्ट देखा कि उस मानवी युवतीका रूपान्तरण भगवती जगज्जननी त्रिपुरसुन्दरीके रूपमें तत्क्षण ही हो गया और बालरवि-द्युति अनन्तानन्त प्रज्ज्योति उस मानवी स्त्रीके नेत्रोके द्वारसे उनमें प्रविष्ट होती हुई उनके रोम-रोममें परिव्याप्त हो गयी। इस मिलन-सुखका कोई क्या कहकर वर्णन करे !

पू.गुरुदेवको वैसे तो भगवती त्रिपुरसुन्दरीके साक्षात् दर्शन सन् १९५१ ई.मे ही हो चुके थे और यह घटना जनवरी सन् १९५६ ई.की है। इस चार-साढे चार वर्षकी अवधिमें इन भगवती अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाने पू. गुरुदेवका ऐसा मन-मानस निर्माण कर दिया था कि उन्हें सर्वत्र मॉ त्रिपुरसुन्दरी ही व्याप्त दृष्टिगोचर होती थी । मॉ त्रिपुरसुन्दरी ही पू.गुरुदेवके हृदयके अन्तर्भागमे उनके प्राण-प्रियतम नन्दनन्दन बन गयी थीं। वैसे बाह्यदृष्टिमें पू. गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की तरह ही सर्वथा जागरूक रहते हुए सभीसे सभी

व्यवहार यथायोग्य करते थे। किन्तु सभी मिलनेवालोंको उनके नाम एवं आकृतिसे ठीक पहचानते हुए, उनसे ठीक यथानाम, यथासम्बन्ध, यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी, वे वस्तुत पूर्णतया केन्द्रित रहते थे, तन्मय रहते थे अपने आराध्य नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रमें ही, जो उनके लिये उनकी माँ भगवती त्रिपुरसुन्दरीका ही स्नेह-सार -संचय स्वरूप था। पू.गुरुदेव इस सत्यसे पूर्णतया परिचित थे कि उनको श्रीकृष्ण-लीलागत समग्र सुख देनेके लिये ही अचिन्त्यमहिमामयी योगमाया चिदानन्दमय ब्रजप्रदेश बनकर उनके सम्मुख प्रकट होती हैं। उनकी बृषभानुपुरी नन्दपुरी गिरि-गोवर्धनकी सुरम्य तलहटी, यमुनानदी एवं चिदानन्दमयी रासस्थली आदि जो भी हैं सभी भगवती योगमायाकी ही संधिनीशक्तिकी नित्य परिणति है। भगवती त्रिपुरसुन्दरीके तुल्य ही ये सभी पूर्ण विभु, नित्य और सच्चिन्मय हैं । ये अनादिकालसे हैं और अनन्त कालतक रहनेवाली भी हैं ।

वे यह भी सर्वांशमे सत्य जानते थे कि इन सच्चिन्मयी लीलाओंका किसीके भी हृदयमे तभी प्रकाश होता है, जब प्रथमतया माँ भगवतीका उसके हृदयमे आविर्भाव होता है। यह सभी लीलाजगत् भगवतीका ही चिन्मय प्रेमविलास है। उन्हें यह भी ठीक ज्ञात था कि जिनके नेत्रोंमें भगवती जगज्जननी त्रिपुरसुन्दरीकी चरणनख-चन्द्रिकाका नित्य प्रकाश है, उनके लिये प्रियतम श्रीकृष्ण करतलगत आमलकवत् हैं, एव वे ही सच्चे ब्रजपुर और बृन्दावनका सच्चिन्मय लीलारस आस्वाद कर पाते हैं।

ओह ! शब्द नहीं कि पू.गुरुदेवको जो भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी सौन्दर्यराशिका उस समय दिग्दर्शन हुआ उसे सुव्यक्त कर सकें। माँ भगवतीकी ओर-छोरविहीन महिमाको भला कौन भाषा दे पावेगा ? इसलिये हार कर मौन ही होना पड़ता है।

श्रुतियाँ कहती हैं कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोके सूर्य मिलकर भी जिनकी एक रोमावलिके प्रकाशके सम्मुख खद्योतवत् भी नहीं हैं फिर चन्द्र, तारकसमुदाय और अग्निकी तो बात ही क्या कही जावे ! अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिनकी रोमावलिकी परिक्रमा करते हैं, वे अनन्त ज्योतिर्मयी माँ पू. गुरुदेवके सम्मुख व्यक्त हुई और नेत्रपथसे उनके रोम-रोममे निमग्न हो गयी। पू.गुरुदेव कृतकृत्य हो उठे ।

पाठकगणोमे कोई प्रश्न कर सकता है कि पू.गुरुदेवके रोम रोममें

भगवतीके सच्चिन्मय तेजके विलय होनेके पश्चात् तो उनमें अनन्त चमत्कारोंको करनेकी सामर्थ्य आ ही जानी चाहिये थी। वे अनन्त शक्ति-सामर्थ्यके अधिपति हो उठे थे, तो उस शक्ति-सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति भी तो संसारके सम्मुख हुई ही होगी। पाठकोंके इस प्रश्नका मेरे पास एक ही उत्तर है कि पू.गुरुदेव भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी परम रसमयी प्रीतिलीलाके परिकर थे। वे उस समय भगवती श्रीराधारानीकी अनुजा मंजुश्यामा (अनंग मञ्जरी)की भावभूमिमें पूर्णतया आविष्ट थे। रसराज व्रजेन्द्रनन्दन यदि अपने लीला-परिकरोमे जागतिक माया-प्रपचभूमिकी सिद्धियाँ प्रकट करने लगें तब तो उनकी अनाविल मधुरिमामय लीला-रसपानका और साथ ही विशुद्ध रसदानका उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। अतः न तो पू. गुरुदेवको ही उस समय यह ज्ञान हुआ कि उनमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोकी सृजन-स्थिति एव प्रलयकर्त्री माँ योगमायाका पूर्ण शक्तिपात हो गया है , और न ही उनके शेष जीवनमें ही किसी विशेष सिद्धियोंका परिचय ही हमे मिलता है। अत: बाहरसे तनिक भी, कुछ भी विशेषताकी गन्ध न दे कर, किसी भी अस्वाभाविकताका प्रकाश न करके, अचिन्त्य लीलामहाशक्ति एक घडीमें ही पू. गुरुदेवको पूर्ववत् ही यथायोग्य आचरण करनेवाला बना देती हैं।

यदि कोई कहेगा कि इस विलक्षण भागवती दर्शनका महत्व ही फिर क्या हुआ ? तो इसका उत्तर है कि महत्व अवश्य हुआ है, निश्चय ही हुआ है। इस भगवती दर्शनका महत्व प्रापंचिक जगत्में प्रापंचिक चमत्कारोके रूपमे प्रकट भले ही नहीं हुआ हो, किन्तु पू.गुरुदेवके भावशरीर मञ्जुश्यामाको श्रीराधाभावमें डूब जानेकी प्रक्रियामे इस दर्शनने विलक्षण भूमिकाका सृजन अवश्य किया है। यह घटना जनवरी, १९५६ ई. की है और पू. गुरुदेव श्रीराधाभावमें ८ अप्रेल, १९५७ ई. को प्रतिष्ठित हो गये थे। लगभग पन्द्रह माह पश्चात् ही जो उनमें भगवती श्रीराधाजीका पूर्ण भावोन्मेष हो गया, यह क्या भगवतीके कृपाप्रकाशका चमत्कार नहीं था ? हम जडान्ध लोग प्रत्येक पारमार्थिक उपलब्धिको जडतायुक्त प्रापञ्चिक शक्तियोंसे ही जोडते हैं। हमारी आँखें इस जड जगत्के परे कोई सच्चिन्मय लोक है, उस लीला-लोकके सच्चिन्मय लीलापात्र हैं, उन पात्रोंमें अनन्त प्रीति-भावोंका उद्दाम प्रवाह लहराता रहता है, उसमे प्रीति, रति, नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभावादि स्तर हैं, इन स्तरोंकी उपलब्धि भी भगवती कृपा-सापेक्ष है – इस सबको कहाँ देख पाती हैं। पू.गुरुदेवके लिये तो अचिन्त्य महिमामयी भगवती अपनी

विलक्षण कृपाका प्रवाह बहा रही थी, किसी विशेष उद्देश्यसे उसके सारे **कि** ानक्रा आडम्बर ही इसलिये हो रहा था कि सच्चिदानन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी विभु प्रीति-लीलाके वे सर्वोच्च प्रेमपात्र हो सकें। अतः उस भागवती विलक्षण दर्शन और शक्तिपात्से बाह्य कोई विशेष चमत्कार संघटित नहीं होते हुए भी भगवतीने पू.गुरुदेवको विलक्षण भगवत्प्रीतिशक्तिसे आप्लावित कर दिया।पू. गुरुदेवको भगवती योगमायाने जिस चिन्मय प्रीति-वैभवका उस दर्शनसे दान किया, जिसे किसी भी लेखककेखनीमें सामर्थ्य नहीं कि उसकाचित्रण कर सके। चित्रण तो दूर, मनकी कल्पना भी वास्तवमें उस विचित्र प्रेम-वैभवके किसी एक अंशको भी –उस सर्वथा अतुलनीय नित्य चिदानन्दमय श्री-सौन्दर्यकी कणिकामात्रको भी छू नहीं सकती। उस प्रेम वैभवदानकी तो मात्र अनुभूति हुई और वह अनुभूति हुई, पू.गुरुदेवको स्वयंको, अथवा पू. पोद्दार महाराजको ? इन्हे क्या अनुभूति हुई, यह बताना भी असभव है। हाँ, पोद्दार महाराजको जो अनुभूति हुई उससे वे आनन्द-कम्पित कण्ठसे अपने शिष्यके सौभाग्यपर वाह-वाह कर बैठे। पू.गुरुदेवको स्वयंको जो अनुभूति हुई, उस आनन्दसिन्धुमे वे ऐसे डूबे कि लोगोंने काष्ठमौनके रूपमें उनकी अनवरत गंभीरादशामें महाभावमयी स्थितिका प्रत्यक्ष दर्शन किया।

अन्नपूर्णामन्दिरसे पू.गुरुदेव कादि-विद्याके प्रसिद्ध आचार्य भास्कर भट्ट द्वारा प्रतिष्ठापित श्रीचक्रराजयंत्रेश्वर महादेवके दर्शन करने गये। यह यन्त्रेश्वर मन्दिर श्रीअन्नपूर्णामन्दिरके प्रांगणमे भूमिके नीचे बने एक गुंभारमें स्थित है। भगवान् नर्मदेश्वर लिगके शिरोदेशमे अंकित इस यंत्रेश्वरको सच्चे भगवतीके साधक साक्षात् देवतातुल्य ही महत्त्व देते हैं। इस यंत्रेश्वरके दर्शन करते ही पू.गुरुदेवमें इनकी सागोपाग पूजा-अर्चना करानेकी वृत्ति जाग्रत् हो गयी । पू. गुरुदेवको विचारदशामें देख विशालाक्षी मन्दिरसे आये ब्राह्मणदेवताने उनकी चिन्ताके सम्बन्धमें जिज्ञासा की। ब्राह्मणदेवताके सम्मुख पू.गुरुदेवने अपनी चिन्ताका यही विषय प्रकट किया कि उन्हें पूर्णाभिषेकपर्यंत श्रीविद्या-दीक्षित किसी शुद्धचरित्र ब्राह्मणका जो पूर्ण श्रीक्रमविधिसे पूजा करनेमें पारंगत हो, इस यंत्रेश्वरकी पूजाके लिये सहयोग चाहिये। उस ब्राह्मणदेवताने इसके उत्तरमें यही कहा कि पूर्ण शुद्ध श्रीक्रमपद्धति और पूर्ण श्रीविद्यादीक्षित ब्राह्मणका सहयोग इस समय दुरूह है । काशीमे इसका अभाव तो नहीं होगा, किन्तु उसके अन्वेषणमे पूरी कठिनाई अवश्य है। आप यहाँ अल्प अवधितक ही

ठहरने वाले हैं, अस्तु आप महर्षि अथर्वण रचित भावोपनिषद् द्वारा ही यह भावपूजा सम्पादित कर दीजिये।

पू.गुरुदेवको उन ब्राह्मणदेवताकी यह बात सांगोपाग लगी। पू.गुरुदेव एवं ब्राह्मणदेवताने उसी क्षण विचार-विमर्शकर यह निश्चय किया कि दूसरे ही दिवस शुक्रवारको पू.गुरुदेव श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा इस महासिद्ध श्रीयन्त्रराजका महर्षि श्रीअथर्वण विरचित भावोपनिषद् द्वारा पूजन सम्पादित करावेंगे। विशालाक्षी मन्दिरके निकट रहनेवाले वे ब्राह्मणदेवता हम लोगोके साथ ही वहॉसे गायघाट स्थित डालमियाकोठी पहुँचे और फिर उन्होंने ही पू. गुरुदेवको भावोपनिषद्की पुस्तक लाकर दी। यह भावोपनिषद् का श्रीपूजाक्रम पू.गुरुदेवको इतना प्रिय लगा कि उन्होंने श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीसे इसे संशुद्ध कराके उनके हस्ताक्षरोंमें ही लिपिबद्ध कराया और उसकी एक प्रति स्वयं अपने पास रख ली । दूसरी एक प्रति श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके पास यावज्जीवन रही। जब यह तीर्थयात्रा-ट्रेन मद्रास पहुँची तो वहाँ भी भगवती त्रिपुरसुन्दरीका पूजन इसी प्रयोगपद्धतिसे सम्पादित हुआ था। पू.गुरुदेवको पश्चात् यह पूजाक्रम कण्ठस्थ हो गया था और उपने काष्ठमौनकालमें भी वे प्रति शुक्रवार इस पद्धतिसे पूजा सम्पादित करते थे।

---

{यह समग्र पूजापद्धति 'महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा (द्वितीय–तृतीय खण्ड) नामक ग्रन्थमें मातृपूजा-प्रकरणमें पृष्ठ सं० ३०१में विस्तारपूर्वक हिन्दी-अर्थसहित दी गयी है। जिज्ञासुजनोंको वहाँ देखना चाहिये}

---

# चित्रकूटमें विचित्र अनुभव

## (प्रथम दिवसकी यात्रा)

तीर्थयात्राके लिये जो तिथि निर्धारित की गयी थी, उसके अनुसार २७ जनवरी,१९५६ के दिन तीर्थयात्राट्रेनने वाराणसीसे प्रस्थान किया। प्रस्थानके पूर्व काशीके विद्वान् पण्डितोके द्वारा भगवान् विघ्नविनाशन गणेशजी एव अन्य देवताओंका वेदमन्त्रों द्वारा विधिपूर्वक पूजन करवाया गया और भगवन्नाम-संकीर्त्तन एवं उद्घोषके उपरान्त ही ट्रेन वाराणसी स्टेशनसे चली।

वाराणसीसे चलकर प्रात काल ट्रेन करवी स्टेशन पहुँची। करवी स्टेशनपर प्रात काल पहुँचते ही प्रार्थना एवं सकीर्त्तन कार्यक्रम पू.गोस्वामीजीके नेतृत्वमें सभी तीर्थयात्रियोंने किये। उसी समय आसपासके दर्शनीय स्थानोंकी जानकारी यात्रियोंको छपे हुए परिपत्रों द्वारा दे दी गयी। चित्रकूटमें ट्रेनको दो दिन रुकना था।

वैसे चित्रकूट सदैवसे ही तपोभूमि रही है। महर्षि अत्रिका यहाँ आश्रम था। उसके आसपास अन्य बहुतसे ऋषि-मुनि रहते थे। उन दिनों वनोंमें महर्षियोके कुल रहा करते थे। किसी एक तेजस्वी, तपोधन, शास्त्रज्ञ ऋषिके सहारे आसपास दूसरे तपस्वी, साधननिष्ठ मुनिगण आश्रम बना लेते थे। सत्संग तो वीतराग पुरुषोंको भी प्रिय है ही। इस प्रकार चित्रकूटमें सदैवसे ही एक बृहत् तपस्वी-समाज था और उसके संचालक थे महर्षि अत्रि। वहाँकी पूरी भूमि ही एक समय देवोत्तर पुरुषोकी पदरजसे पुनीत थी।

चित्रकूटका सबसे बड़ा माहात्म्य ही यह है कि भगवान् श्रीरामने यहाँ निवास किया। यह भूमि भगवान् रामकी वर्षोतक क्रीडाभूमि रही। भगवान् राम इस भूमिके सदैवके ही वासी हैं। यहाँ वे नित्य निवास करते हैं। अधिकारी भगवद्भक्तोको भगवान् रामके यहाँ प्राय दर्शन होते हैं। यहाँ तपस्वी, भगवद्भक्त, विरक्तजन सदासे रहे हैं। उनकी परम्परा अविच्छिन्न चलती आयी है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने किस आतुरतासे अपनेको चित्रकूटमें निवास करनेके लिये कहा है, देखते ही बनता है।

**अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।**
**न करु विलम्ब विचारु चारुमति, बरष पाछिले सम अगले पलु।।**

महात्माओका कथन है कि कलियुगने समस्त ससारपर अपना जाल बिछा दिया, पर प्रभु श्रीरामजीकी कृपासे अद्यावधि चित्रकूट उससे मुक्त है। मनुष्य जबतक चित्रकूटके पर्वतशिखरोका अवलोकन करता रहता है, तबतक वह कल्याण-मार्गपर चलता रहता है। उसका मन मोह-अविवेकमे नहीं फँसता। इस पावन भूमिमें प्रवेश करते ही नल, युधिष्ठिर आदिका घोर कष्ट मिट गया था।

चित्रकूटमे पू.गुरुदेवने राघवप्रयागमें स्नान किया एवं कामद गिरिकी परिक्रमा लगायी। पयोष्णी नदीके किनारे धनुषाकार एक नाला मिलता है, जिसे मन्दाकिनी कहते हैं। कहते है भगवान् श्रीरामने इसी घाटपर स्वर्गीय महाराज दशरथको तिलाजलि दी थी । यहाँ मत्तगजेन्द्रेश्वरका मन्दिर भी है। पयस्विनी नदीके तटपर चौबीस पक्के घाट हैं जिनमें चार मुख्य हैं– १. राघवप्रयाग २. कैलासघाट ३. रामघाट ४. घृतकुल्याघाट ।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रहनेके दो स्थान चित्रकूटमें प्रसिद्ध हैं। एक तो रामघाटके पास गलीमें और दूसरा कामदगिरिकी परिक्रमामे चरणपादुकाके पास।

पू.गुरुदेव कामदगिरिकी परिक्रमा करके मन्दाकिनीजीके तटपर बॉयी करवट लेटे हुए थे। उन्हे तन्द्रा भी नहीं थी। सहसा उनका भावजगत् बदला। वे अनुभव करने लगे वे एक सुरम्य वनमें विचरण कर रहे हैं। जड वनकी तरह इस वनका रूप, रग, आकार, प्रकार, स्थिति तथा गुण नहीं है। वनकी शोभा अवर्णनीय है। विहंगम मधुर कलरव करते वृक्षोंपर आसीन अपना चाचल्य प्रकाश कर रहे हैं। मृगोके दल मण्डलाकार हुए सब दिशाओंकी ओर मुख किये शान्त बैठे मन्द-मन्द रोमन्थन (पागुर) करनेमें तल्लीन हैं। मधुपानसे मुग्ध मधुकरवृन्द इत स्ततः गुंजार कर रहे हैं। सर्वत्र संचारित मन्द समीर आनन्दसे पुलकित है। पृथ्वीपर सर्वत्र अंकुरराशिका आस्तरण है। सचमुच ही ऐसा लगता है मानो धरा-सुन्दरी रोमाञ्चित हो उठी है और यह अंकुरराशि उसका पुलकोद्गम है। अटवी सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य, पुलकोद्गम आदि अगणित अनुभावोंमें आनन्द व्यक्त कर रही है।

वृक्षोंपर पके-पके मधुर फल गुच्छोंमें लटक रहे हैं। फलोंके भारसे वृक्षोंकी शाखाये भूमिकी ओर अवनत हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है मानो वृक्ष छोटे-छोटे हो। उन फलोंकी सुन्दरता और कान्ति अनोखी है। वनमें अति लघु

आकारके कासार (तालाब) हैं। इनमें प्रस्फुटित पद्म हैं। लता- वल्लरियोपर सुन्दर पुष्प खिले हैं। सम्पूर्ण वनकी शोभा आश्चर्यमयी है। पू.गुरुदेवके मनमें जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि मैं कहाँ हूँ, यह कौनसा स्थान है, इस वनका नाम क्या है ? किन्तु इस नितान्त निर्जन स्थलमें वे इस वनका नाम भी किससे पूछें ? वहॉ तो उनके सिवा अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। चारों ओर है घोर सघनता और नीरव निर्जनता।

जो भी हो, पू.गुरुदेवको वनकी शोभा अतिशय प्रिय लग रही थी। सहसा उन्होंने देखा कि वनमें एक सुन्दर श्यामवर्णका बालक विहरण कर रहा है। वह बालक पू.गुरुदेवकी ओर कभी-कभी निहार उठता है। वह बालक पू. गुरुदेवको नव-नव निकुञ्जस्थलीकी ओर संकेत करके वहॉकी अनुपम शोभा दिखाकर प्रफुल्लित होता है। वह पू.गुरुदेवको एक-से-एक सुन्दर स्थानोंका दिग्दर्शन कराता। वह ऐसा विश्वस्त है मानो यहॉंके प्रत्येक पथसे परिचित हो। दल-के-दल मृग एवं मयूर उस बालकके पास शुभ शकुन प्रकट करते आते हैं, ललकभरे नेत्रोंसे उसकी ओर देखते हैं, और फिर चौकडी भरते, सघन वनकी ओटमें छिप जाते हैं। उनका अनुसरण करता वह बालक भी इस कुंजसे उस कुंजमें, कभी किसी कासारतटकी ओर, कभी तटसे पुनः वनकी ओर, कभी वनसे कल-कल बहती मन्दाकिनी-कूलकी ओर अनवरत विचरण कर रहा है। उस बालकका सौन्दर्य और लावण्य भी इतना अनोखा था कि पू.गुरुदेवका मन उसपर मुग्ध हो रहा था। किंचित् कालावधितक तो पू.गुरुदेव उस बालकको अतिशय मुग्ध निहारते रहे, फिर सहसा ही उससे प्रश्न कर बैठे 'भाई, क्या तुम बता सकते हो, इस वनका नाम क्या है ?'

बालक अपने सुदीर्घ नेत्र मटकाता बोला – 'अरे ! तुम इतना ही नहीं जानते ? यह चित्रकूट है ।'

चित्रकूटका नाम सुनते ही पू.गुरुदेव अतिशय प्रफुल्लित हो उठे और 'चित्रकूट,' 'चित्रकूट,' 'चित्रकूट' नामकी आवृत्ति करने लगे। पू.गुरुदेवको इस 'चित्रकूट' नामावृत्तिमें इतना आनन्द आ रहा था कि वे इस परम धामके नाम-संकीर्तनसे अपनेको निवृत्त ही नहीं कर पा रहे थे।

इस नाम-संकीर्तनके साथ ही पू.गुरुदेवके सम्मुख दिव्य चित्रकूट प्रकट हो गया । यह त्रेताकालीन प्रकट-चित्रकूट उस कालका था जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भगवती सीता और भाई लक्ष्मणके साथ यहाँ निवास किया

था। पू.गुरुदेवके सम्मुख धनुषाकार-प्रवाहित मन्दाकिनीकी ऐसी विलक्षण शोभा प्रकाशित हुई कि वे 'चित्रकूट' 'चित्रकूट' नाम-जप करते लगभग भाव-नर्त्तन ही कर उठे । उनके सम्मुख कामदगिरिकी भी ऐसी सुभग अलौकिक शोभा प्रकट हुई मानो वह दिव्य गोवर्धन ही हो। कामदगिरिसे यदि कोई कहीं गिरिराज पर्वतकी संतुलना करने लगे तो उसे दोनों ही एक दूसरे-से अतुलनीय सुन्दर एवं समृद्ध ही प्रतीत होंगे। उसे इन दोनों पर्वत-श्रृंखलाओंमें कोई किसीसे किंचित् भी न्यून दृष्टिगोचर नहीं होगा। पू.गुरुदेवको इसी वनमें भगवान् श्रीरामके भी सीताजीसहित दर्शन हुए और इस दर्शनके समय उन्हें यह भी अनुभव हो रहा था कि चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीराम और श्रीकृष्णके सौन्दर्यमें पूर्ण समानता है, कोई किसीसे किंचिन्मात्र भी न्यून नहीं। हाँ ! श्रीकृष्णके नेत्रोंमें अवश्य चंचलता अधिक है और श्रीरामजी गंभीर हैं । पू. गुरुदेवको यह भी अनुभव हुआ कि सचमुच ही जिस स्थानमें बहुतसे पदचिह्न हैं, यही वह स्थान है जहाँ श्रीरामजी भरतजी से मिले थे। पू.गुरुदेव कह रहे थे – इस मिलनमें सचमुच ही ऐसी हृदयद्रावक भाव-विह्वलता व्यक्त हुई थी कि चतुर्दिक्के पाषाण द्रवित हो उठे थे।

पू.गुरुदेवके सम्मुख त्रेताकालीन चित्रकूटकी शोभा बहुत कालतक व्यक्त होती रही। फिर क्रमशः वह दिव्यानुभूति तिरोहित हो गयी । पू. गुरुदेवने देखा कि वे कहीं भी विचरण नहीं कर रहे हैं, वरं मन्दाकिनीके तटपर विश्राम कर रहे हैं।

पू.गुरुदेवने अनेक अवसरोंपर अपनी इस विलक्षण अनुभूतिको लेखकको श्रवणगोचर करायी थी, उनके द्वारा जो भी सुनाया गया है, वही यथास्मृति यहाँ वर्णित किया गया है। यह लेखकका परम दुर्भाग्य था कि वह शरीरसे पू. गुरुदेवके साथ इस चित्रकूट-यात्रामें सम्मिलित नहीं था। जब पू.गुरुदेव तीर्थयात्रासे लौटकर आये और क्रमशः उसे अपनी तीर्थयात्राके अनुभव सुनाते थे, तब वह उनसे पृथक् रहनेके अपने दुर्भाग्यपर सचमुच ही अश्रु बहा रहा था।

गोवर्धन पर्वतके समान ही कामदगिरि पर्वतको भी परम पवित्र माना जाता है। इस पर्वतके शिखर पर कोई नहीं चढता । इसकी मात्र परिक्रमा ही की जाती है। परिक्रमामें प्रथम स्थान मुखारविन्द पड़ता है। यह परम पवित्र माना जाता है। श्रीकामदगिरि पूर्णतया चिन्मय है, यह अनुभूति पू. गुरुदेवको

इसकी परिक्रमा करते समय मुखारविन्दपर पहुँचनेपर हुई। इसी प्रकार उन्हें लक्ष्मणपहाड़ीपर वनवासीवेषमें श्रीलक्ष्मणजीके भी दर्शन हुए।

## (द्वितीय दिवसकी यात्रा)

पूर्वतः यह निवेदन किया जा चुका है कि तीर्थयात्राट्रेन मात्र दो दिवस ही करवी स्टेशनपर रुकी थी। वैसे साधारणतया यात्रियोंको कम-से- कम सात रात्रि तो चित्रकूट रहना ही चाहिये। यात्री प्रथम दिवस रेलवे स्टेशन करवीसे सीतापुर पहुँचकर राघवप्रयागमें स्नानकर कामद गिरिकी परिक्रमा करता है और सीतापुरके मन्दिरोंके दर्शन करता है, इतनेमें ही उसका दिन पूरा हो जाता है। दूसरे दिवस यदि वह कोटितीर्थ, सीतारसोई, हनुमानधारा होकर यदि सीतापुर लौटे तो उसे १२ मील अथवा लगभग बीस कि.मी.की यात्रा करनी पड़ जाती है। इसके उपरान्त भी केशवगढ, प्रमोदवन, जानकीकुण्ड, सिरसावन, स्फटिकशिला, अनुसूयाजी, गुप्तगोदावरी, कैलासपर्वत, भरतकूप, रामशय्या आदि प्रमुख तीर्थ तो शेष रह जाते हैं। अतः तीर्थयात्रियोंको पूर्वतया निवेदन कर दिया गया था कि उन्हें मात्र दो दिवसोमे जहाँ-जहॉ भी जाना हो, स्वतंत्रतासे अपने वाहनोंकी व्यवस्थाकर यात्रा करनी चाहिये।

पू.गुरुदेवके प्रथम दिवसके अनुभवका वर्णन तो किया ही जा चुका है, दूसरे दिवस पू.गुरुदेव जानकीकुण्ड गये। जानकीकुण्डमें जैसे ही पू.गुरुदेव आचमन करने लगे, उनका भावदृश्य परिवर्तित हो गया। उन्हें दिखने लगा –" यहॉ सभी वृक्ष सच्चिन्मय हैं। ये वृक्ष और इनके शाखासमूह इतने सुन्दर हैं कि ऐसा लगता है मानो ये मणिमय हों, और इनके शाखासमूह विविध रत्नमय हो। सभी शाखाये विलक्षण शोभासम्पन्न पल्लव-जालसे समाच्छादित हैं। पल्लव-राजिसे राजित सभी वृक्षावलियोमें कुसुम-समूह प्रस्फुटित हो रहे हैं। ये कुसुम-निकर रत्न-राशिके समान झलमल-झलमल कर रहे हैं। सुन्दर कुसुम चतुर्दिक् भॉति-भॉतिकी सौरभको प्रवाहित कर रहे हैं जिससे भ्रमर-निकर झूम उठे हैं। पू.गुरुदेव अनुभव कर रहे थे कि " अहा ! यही वह प्रमोदवन है, जो भगवती सीताजीको अतिशय प्रिय था। पौराणिक वर्णन है कि भगवान् शंकर भी पार्वतीजीके सहित यहॉ विहार करते थे। प्रमोदवनके सभी वृक्ष इतने सुन्दर और चिन्मय थे कि इन्हें बड़े ध्यानसे देखनेपर ही कोई पहचान पाता

था। इनके पत्रोंकी आकृति, स्कन्ध-विन्यास इतना सुन्दर और सजीव था कि कोई गंभीर विचार करके भले ही जान ले कि यह अमुक तरु-श्रेंणी है अन्यथा उन्हें पहचानना कठिन था। शाल, तमाल, अश्वत्थ, बकुल, नारिकेल – ये सभी वृक्ष प्राकृत मायाराज्यके थे ही नहीं। वे सभी वृक्ष थे भगवान् श्रीरामचन्द्रके चिदानन्दमय चित्रकूटधामके, जो उस समय पू.गुरुदेवके नेत्रोंमें, मनमे, व्यक्त हो उठा था।

पू.गुरुदेवको अनुभव हो रहा था कि विश्व-प्रपचके जिस भू-भागपर यह चित्रकूट व्यक्त हो रहा है , यहॉ यह पुरी अनादि कालसे है और अनन्तकालतक रहेगी। प्रपंचमें जिस समय भगवान् रामकी चिदानन्दमयी लीलाका प्रकाश होता है तथा क्रमश लीलाका प्रकाश करते हुए जब वे चित्रकूटके रंगमञ्चका स्पर्श करते हैं तब तिरोहित हुआ यह चित्रकूट पुनः आविर्भूत हो जाता है और जब भगवान्‌की लीलाका अन्तर्धान हो जाता हैं, तब यह चित्रकूट धाम भी अन्तर्हित हो जाता है। पू.गुरुदेव जब प्रमोदवन और जानकीकुण्डकी ओर मोटरगाड़ीसे आये थे तो उनके साथ श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीवल्लभलालजीगोस्वामी और अन्य लोग भी थे। पू.गुरुदेव मन-ही-मन यह भी अनुभव कर रहे थे कि यह आविर्भाव -तिरोभाव भी उनके लिये ही होता है, जिनके नेत्रोंमें त्रिगुणमयी माया भरी है। जिनकी ऑंखोंमे श्रीरामचन्द्र-नखचन्द्रकी चंद्रिका झलमला रही है, उनके लिये तो यह चित्रकूट सदा वर्तमान ही रहता है। चित्रकूट उनके नेत्रोंमें नित्य भरा रहता है। अस्तु, आज भी पू.गुरुदेवके नेत्रोमें चित्रकूटका विलक्षणरूपसे आविर्भाव हो रहा था। पू.गुरुदेव प्रमोदवनसे जानकीकुण्ड आये। जानकीकुण्डकी शोभा देखकर तो पू.गुरुदेव अतिशय उन्मत्त हुए-से बोल उठे 'गोस्वामीजी ! देखिये ! जानकीकुण्डकी अप्रतिम शोभा ! पू.गुरुदेव तो वर्षोंसे मौन थे और मात्र नौ मास पश्चात् काष्ठमौन लेनेवाले थे, उन्हें इस प्रकार मुखर देख गोस्वामी चिम्मनलालजी चकित हो उठे। पू.गुरुदेव उच्चारण करते जा रहे थे।

"अहा ! क्या कहना है ! सुपक्व सुमधुर फल-भारसे अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावली, रंग-बिरंगे सुरभित कुसुमोंका आभरण धारणकर तरु-श्रेणीको वेष्टित किये लता-वल्लरियॉं, इनपर चित्र-विचित्र बिहंगमोंका कल गान, हरित् तृणराजि, क्षुप्-वीरुधोंका अम्बार और सर्वत्र मन्द-मन्द मन्थर पवनका सुशीतल

स्पर्श – कहीं इनकी तुलना भी संभव है ?" जानकीकुण्डकी शोभा दूरसे ही निहारतेहुए पू.गुरुदेव आविष्ट-से बोलते जा रहे थे।

पू.गुरुदेवको जानकीकुण्ड पहुँचते ही स्नान करती जगज्जननी सीताजीके दर्शन हुए। पू.गुरुदेव भावशरीरमे उस समय मञ्जुश्यामा (अनंगमञ्जरी)भावमें थे। पू.गुरुदेव इस दर्शनका वर्णन करते समय कह रहे थे कि जगज्जननी जानकी और भगवती श्रीराधा दो हैं ही नहीं। एक ही रूंप-रंग, शील दोनोंका है। मात्र नाम और लीला ही भिन्न है। वे कह रहे थे कि नयन चार होते ही जानकीजीने उन्हें ऐसा ही प्यार दिया जैसा भगवती श्रीराधारानी उन्हें सदासे देती आयी हैं । समग्र जीवनमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको दो वार श्रीजानकीजीने दर्शन दिये थे। प्रथम वार, जानकीकुण्ड चित्रकूटमें एवं दूसरी वार इसी तीर्थयात्राट्रेनसे जब वे अयोध्या पहुँचे थे। अयोध्याधाममें हुए श्रीजानकीजीके दर्शनोंकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

परम पवित्र चित्रकूटधामने पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबापर जैसी कृपा की उससे उनका मन पूर्णतया कृतज्ञतासे भर गया था। तत्वतः तो भगवान् रघुकुलभूषण श्रीरामजीकी विहारभूमि चित्रकूट और वृन्दावन दो तो हैं ही नहीं। मात्र लीलार्थ ही वे पृथक् कालमें पृथक् रूप धारणकर दो भिन्न स्थानोंमें स्थित हैं। संधिनी शक्तिकी परिणति होनेसे धामकी सच्चिदानन्दमयता तो दोनोंमें समान ही थी। अतः यह कृपा तो स्वाभाविक होनी ही थी।

---

# प्रयागमें तीर्थयात्रा-ट्रेन

तीर्थयात्राट्रेन करवी स्टेशनसे प्रस्थान करके ज्योही प्रयाग स्टेशन पहुँची श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके नेतृत्वमें विशाल जनसमूह श्रीपोद्दार महाराजके स्वागतार्थ उमड़ पड़ा था। इस जनसमुदायमें व्यक्ति-व्यक्तिके मनोगत भावोंमें श्रद्धा हिलोरें ले रही थी। इस भीडमें बहुत बड़ी संख्यामें मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, सिख और पारसी भी थे। इसका कारण श्रीपोद्दार महाराजका सर्व-धर्म-सम व्यक्तित्त्व था। श्रीपोद्दारजी ऐसे ही व्यक्तित्वके धनी थे। जहाँ परतन्त्र भारतमें उनसे अंग्रेज शासनाधिकारी आत्मीयता रखते थे, वहीं प्रमुखतम राष्ट्रीयनेता महात्मागॉधी, पं.जवाहरलाल नेहरु आदि भी उनके पारिवारिक सदस्य-सरीखे थे। महात्मा गाँधी तो जब भी बम्बई आते श्रीपोद्दारजीकी दादीजीसे मिलने अवश्य आते। रेहाना तय्यबजी जैसी पारसी महिलाएँ उनकी राखीबन्द बहिनें थीं, तो अंसारीजी एवं स्वयं श्रीमोहम्मद अली जिन्ना भी उनके प्रति समादरका भाव रखते थे।

"श्रीपोद्दार महाराज योगसिद्ध समाधिनिष्ठ पुरुष हैं, वे वर्णाश्रम-र्मावलम्बी शुद्ध सनातनी निष्ठा रखनेवाले हैं। वे महादानी हैं, ब्रह्मण्य हैं, भक्ति-श्रद्धासम्पन्न हैं, परम विनयी हैं, सर्वजनके परम आत्मीय हैं; सर्व-ज्वरहारी हैं, जो भी कष्टमें, विपत्तिमें है उसकी सेवाको सदैव तत्पर रहते हैं; आप्तकाम हैं, लोकसंग्रहके हेतु निरन्तर कर्म करते हैं, दीन-दुर्बलोंके बन्धु हैं, उनकी आयुका क्षण-क्षण धर्मसंस्थापनार्थ ही व्यतीत हो रहा है। गोसेवा, अकालपीड़ितों और बाढपीड़ितोंके सहायतार्थ उनके पास न जाने कहाँ-कहाँसे धनका भण्डार आ जाता है। अलौकिक अद्भुतकर्मा हैं। शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् नारायणके उन्हें अनेक बार साक्षात् दर्शन हुए हैं, नारद-अंगिरादि ऋषि उनसे आज भी इस घोर कलिकालमें मिलनेके लिये आते हैं; अन्यान्य सूक्ष्म लोकोंमें उनकी गति है, निपुण लेखक, कवि एवं साहित्यप्रेमी हैं । विद्वान् हैं, बहुपठित हैं, शरणागतवत्सल हैं, विनोदी हैं, सदा हँसमुख रहते हैं। भगवान् रसराज श्रीकृष्णके रसोपासक हैं, सांख्य, योग, वेदान्त, उपासना, समाजनीति, यहाँतक कि राजनीतितक्के सुविज्ञ पण्डित हैं; ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, कर्मसंन्यास, नैष्कर्म्य, सर्व-धर्मसंन्यास, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सभी मतोंके मर्मज्ञ हैं, श्रीमद्भगवद्गीताके तो अक्षर-अक्षरके भाव वेद् हैं" -- यह

सब प्रख्याति सुनकर और इसपर पूर्णतया विश्वास करके हजारों नरनारी उनके दर्शनार्थ प्रयाग स्टेशनपर समुपस्थित थे।

अधिकांश हिन्दूधर्मावलम्बी जनता तो श्रीपोद्दारजीके रूपमें उस व्यक्तित्वको अपनी ऑखोंसे देखने आयी थी, जिसे मानो आप मेरे सामने बैठे हों और मैं आपसे बात कर रहा हूँ, इस प्रकार भगवान्‌के दर्शन होते हैं। असंख्य लोगोंके मनमें तो अपने चर्म-चक्षुओंसे ऐसे महापुरुषको देखकर मात्र कृतकृत्य होनेका भाव ही सर्वोपरि था।

किस-किसके भावोंकी पयस्विनी श्रीपोद्दार महाराजरूप महासिन्धुसे मिलने किस वेगसे उमड़ रही है, उसका कहॉ कब पूर्ण संगम होगा, किसके भाव-तीर्थपर आज पोद्दार महाराजका स्नान होगा, इसकी पूरी सूची किसी मानवके पास होनी तो संभव ही नहीं है। हॉं, सर्वविधात्री योगमाया अवश्य इस सबकी सूची अपने पास रखे थी। उसने अपनी योग्यतानुसार इतने सारे जनसमुदायको परमार्थ-पथका सर्वोत्तम बीजदान देनेकी योजना तो बना ही डाली। जय हो ! अचिन्त्य लीला-महाशक्तिकी !

ठीक योजनानुसार ट्रेनके प्रयाग स्टेशन पहुँचते-पहुँचते जहॉं श्रीपोद्दार महाराज तो पूर्णतया बहिर्मुख थे, पू.गुरुदेव अन्तर्मुख होते चले गये और जब ट्रेन प्रयाग पहुँची तबतक तो उनका समग्र दृश्य ही श्रीकृष्णमय बन गया था। इसमें आश्चर्य ही क्या था ? अचिन्त्य लीलाविहारी ब्रजेन्द्रनन्दनका अतिशय प्रीतिभरा कैशोर लीलाविहार प्रत्यक्ष हो जानेपर किसे आनन्दमुग्ध नहीं कर देता ? बस, इस रस-मन्दाकिनीकी धारा उमड़नी चाहिये , उससे कोई भाग्यवान् हृदय संस्पर्शित भर होना चाहिये, फिर उसे आत्मसात् कर इस धाराकी उर्मियोंको उसे अपनेमें डुबा लेनेमें क्षण भी तो नहीं लगता। हॉं, रजोगुणी लोगोंका ऐसा वर्ग अवश्य है, जिनकी ऑंखें प्रपञ्चमें इतनी आपाततः डूबी रहती हैं, कि वे मिथ्या मोहा-न्धकारमें डूबे इस ओर लव मात्रके लिये भी उन्मुख नहीं होते। उनके सामने किसी सन्तके हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रका कितना ही सुखमय विहार भले ही चल रहा हो उनका इन संस्कारोंको आत्मसात् करनेका मन ही नहीं होता। उनके हृदयका तो रुझान अपने मोहमय संसारमे ही होता रहता है। अत वे ऐसे अभागे हैं जिनके लिये विषयसुख देहोपभोग ही परम सत्य है, आत्मसुख, ब्रह्मानन्द और लीलासुखसिन्धु जिनके मन-मानसमें प्रवेश ही नहीं पा सकता ।

प्रयाग स्टेशनमें श्रीपोद्दार महाराजके स्वागतमे ऐसे बहिर्मुख लोगोंकी ही बृहद् भीड खड़ी थी। इस जनसमुदायमें यह भावना तो अवश्य थी कि कोई ऐसा शुभ क्षण, कृपा-क्षण आ जाय कि हमारा जीवन विषयान्धतासे हटकर परमात्मसुखकी ओर मुड जाय, किन्तु उसके लिये किसी भी प्रकारके त्यागके लिये वे सर्वथा ही तत्पर नहीं थे। उनका पूरे-का-पूरा संसार किसी प्रकार बना रहे, उनकी शरीरसुख-सुविधा वैसी-की-वैसी नित्य सुरक्षित और अभिवृद्ध होती रहे, इस सबके योगक्षेममें उन्हे किंचित् भी हानि नहीं सहनी पड़े और किसी कृपासे, चमत्कारसे उनके अघका अन्त भी हो जाय और भगवद्दर्शन भी हो जावें, उनकी यही भीरु मॉग थी ।

पू.गुरुदेवके द्वारा इस भीरु-भीडको अति शुभ परमार्थके बीज प्रदान कराना ही भगवती योगमायाका उस समय प्रयोज्य था, और इसीलिये उन्होंने पू.गुरुदेवमें अलौकिक भावसिन्धुका उद्वेलन कराया था।

पू.गुरुदेवके सम्मुख तो अपने अनन्त ऐश्वर्यपर किशोरावेशजनित प्रणय-भावोकी चादर डाले, उसे आवृत किये परम मनोहर ब्रजेन्द्रनन्दन माधुर्यलीला-विहारके सुख-सिन्धुमे सन्तरण कर रहे थे। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा तो इस मायावी प्राकृत तटसे अत्यन्त सुदूर कहॉ-से-कहॉं महाभाव-रससिन्धुमें बहते जा रहे थे। किन्तु भगवती योगमाया लीला-विधातृ महाशक्तिको तो इस महाभाव-प्रवहनसे ही अपना परम मंगल प्रयोजन सिद्ध करना था। अतः ज्योंही प्रयाग स्टेशनपर रेल रुकी, श्रीपोद्दार महाराजने अपने ही पास कम्पार्टमेण्टमें प्रीतिके सर्वोच्च स्तर – महाभावके दुकूल द्वारा अपनेको पूर्णतया आवृत किये, मदहोश राधाबाबाको झकझोरकर उस दुकूलको तनिक-सा हटा लिया। "बाबा! ओ बाबा !! देखिये न ! कितना जनसमूह उमड उठा है ! देखिये न ! श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीजी और कितना साधुसमाज है ! श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डन भी आये हैं ! आप अब तनिक बहिर्मुख तो हो जाइये !" श्रीपोद्दार महाराज तो मानो छोटे-से शिशु हों, इस प्रकार एक बाल-कौतूहलसे वे पू. राधाबाबाको झकझोर उठे।

श्रीपोद्दार महाराजमें भी तो सर्वचित्तहारी , सर्वभूत-हृत्स्थित श्रीहरि ही मात्र नाम और रूपका पञ्चभूतात्मक कलेवर ओढे क्रियाशील हो रहे थे। वे सोच रहे थे–"सर्व विश्वका प्रतिपालक तो मैं ही हूँ। यह अनन्त पारावारविहीन मेरा ही मायाप्रवाह मेरे ही जनोंको परम शुभ भक्तिपथसे हटाकर मेरे संरक्षणसे

बाहरकर जन्म-मृत्युकी ज्वालामें झौंक रहा है। अतः निश्चय ही इस समय मेरे स्वागतमें आये इस सारे जनसमुदाय-रूप जीवोंको मुझे कृपा-उर्मियोंसे परिस्नात कराना ही है।

ओह ! दैवकी विचित्र लीला है ! इन हजारों जीवोंके प्रारब्धकी कैसी विचित्र शुभ परिणति है ! क्या इसीलिये दैवने यह तीर्थयात्रा आयोजित की थी ? श्रीपोद्दार महाराज और गीताप्रेसकी प्रख्याति सुनकर प्रत्येक स्टेशनपर जहाँ-जहाँ यह यात्राट्रेन रुकेगी, असख्य जनसमुदाय कौतूहलवश श्रीपोद्दार महाराजके स्वागतार्थ उमड़ेगा ही। और जो मात्र कृपा-संकल्प हैं, उन महाकृपासिन्धुमें कृपा-उद्वेलन तो होगा ही ! और उस कृपा-उद्वेलनके होनेपर फिर चाहे सम्मुख पडे जीवोंकी माया-यवनिकाजन्य अघराशि कितनी ही गहन क्यों न हो, वह तो प्रवाहित हो ही उठेगी और तटपर समुपस्थित कृपार्थी स्वाभाविक ही निहाल होगा ही। वस्तुतः सच्चे भगवत्प्राप्त सिद्ध सन्तोंकी यह भी ऐश्वर्यसम्पुटित लीलाकी एक लहरी मात्र ही थी। अन्यथा जो सर्वसुहृद् हैं, रोम-रोमसे दयालु हैं, उनके लिये किसी भी सम्मुख आये जीवको कृपा-स्नान करानेमें कैसी उलझन है ? जब स्वयं भगवद्रूप सन्त ही उपाय निर्धारण करने चलें और उपाय नहीं मिले, यह कैसे संभव है ? बस, अचिन्त्य लीला-महाशक्तिने लीलाक्रम निर्धारित कर दिया। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा के हृदय-वृन्दावनमें नित्य विहार करनेवाले ब्रजेन्द्रनन्दन उस क्रमकी ओर देख लेते हैं, उन्हें अब इस सब जनसमुदायके रूपमे चाहे एक क्षणके लिये ही सही, व्यक्त होना है, यही इस जनसमुदायके कल्याणका उपाय है।

निम्न मुख, निम्न दृष्टि किये श्रीराधाबाबाकी दृष्टि श्रीपोद्दार महाराजके सकेतसे जनसमुदायपर पड़ती है। अन्तरिक्षमें देवसमाज सिहर उठता है। देवसमाज तो सृष्टिप्रवाहको बनाये रखना चाहता है। इन सर्वव्यापी इन्द्रियोंके बहिर्मुख रहनेसे ही तो इन देवगणोंको विषय- सुखोपभोग प्राप्त होता है। अब तो इतने जनसमुदायका परम भगवद्भक्त होना सुनिश्चित होने जा रहा है। अब ये असंख्य जीव भविष्यमें विषयपराङ्मुख हो भगवन्मुखी सन्तहृदय हो जावेंगे, इस आशंकासे अमरमण्डलका कम्पायमान होना स्वाभाविक ही था । किन्तु भीतरसे नहीं चाहते हुए भी उन्हें सन्तकृपाकी जय-जयकार तो करनी ही थी। पू.गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजको माल्यार्पण करते उमड़े जनसमुदायपर जैसे ही दृष्टि उठायी, वहाँसे जनसमुदायका अस्तित्व ही लुप्त हो गया था।

# महाभाव-दिनमणि
# श्रीराधाबाबा

(चतुर्थ खण्ड)

पृष्ठ संख्या
201-300
तक

- साधु कृष्णप्रेम

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा के इस आत्मस्वरूप, प्राणप्रियतम-दर्शनकी बलिहारी है ! पू.गुरुदेवके पूंर्ण अन्तर्मुखी, लीलादर्शन-अवरुद्ध मनमें तो उनके प्राण-प्रियतम ब्रजेन्द्रतनय नित्य सुव्यक्त थे ही। वे एक पलके लिये भी वहाँसे कब हटते थे। उनकी और स्वयं अपनी मनोदशाका चित्रण ही तो श्रीपोद्दार महाराजने अपनी इस पदरचना में किया था –

**नैन मन जबतें आइ बसे ।**
**तबतें आठौं याम दिवस-निसि निमिषहु नाँहि खसे ।।**
**सबके नयन प्रपंचहि निरखत सबके मन संसार ।**
**इहाँ जगत आवन नहिं पावत निरतत नंदकुमार ।।**

पू.गुरुदेवको अपने प्राणाराध्य ब्रजेन्द्रनन्दनको किसी भी व्यक्ति, वस्तु और परिस्थितिमें कैसे व्यक्त करना है – यह सोचना थोड़े ही पड़ता था; उन्हें उनके आवाहनके लिये किसी प्राणायाम अथवा ध्यान-धारणाकी आवश्यकता थोड़े ही थी, श्रीकृष्णको किसीके भी रूपमें अभिव्यक्त करनेके लिये उन्हें किसी भी प्रयासकी आवश्यकता नहीं थी। उनका कृपा-संकल्प तो उदय होनेके पूर्व ही मानो मूर्त्त हुआ रहता था। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं पोद्दार महाराज कितने महान् थे, आज हम हतभाग्य उन्हें खो देनेपर अपने दुर्भाग्यपर रो रहे हैं । रसकी लहरें उनके ऐश्वर्यकी प्रत्येक उर्मिको संपुटित किये रहती थीं। इसलिये वे अनन्त महिमामय अपनी सामर्थ्यको भूले-से हुए हम लोगोंसे विशुद्ध पारिवारिक भावनासे अभिभूत रहते थे। किन्हींके बाबूजी, किसीके पतिदेव, किन्हींके नानाजी, किन्हींके भाईजी बने वे हम सबके शरीर-भरणकी चिन्तायें करते रहते थे। किन्तु कहीं हम उनके इस मायावी-मोही अभिनयको अपने संयोगके दिनोंमें ही विराम दे देते और उनके वास्तविक रसमय अथवा ईश्वर-सम समर्थ कृपालु रूपको ब्रह्मभावसे निरख पाते तो हमारा सौभाग्य कितना अनोखा होता ! हमारे नेत्र उस समय ठीक सत्य, सत्य देख पाते कि विश्वस्रष्टाओंके ईश्वर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और उनकी प्राणाराध्या भगवती जगज्जननी श्रीराधा ही श्रीपोद्दार महाराज और पू. गुरुदेवके कलेवरोंको रंगमच बनाये अपना विलक्षण कृपामय अभिनय कर रहे हैं ।

प्रयाग स्टेशनकी बातपर पुनः आता हूँ। बस, क्षण भी नहीं लगा, नहीं, नहीं, लवमात्र काल भी पूर्ण नहीं हो पाया होगा कि एक अभूतपूर्व चमत्कार मूर्त्त हो जाता है। अभी-अभी जहाँ जनसमुदाय था वहाँ पू. गुरुदेवके

निम्न नेत्रोके ऊपर उठते ही स्वयं साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन, पू.गुरुदेवके परमाराध्यं, अपने आपको ही सर्वत्र प्रकट कर देते हैं । भगवती योगमाया लीला-विधातृ अघटन-घटना-पटीयसी महाकृपाशक्तिने अपना अभूतपूर्व आप्लावन प्रारभ कर दिया था। पू.गुरुदेव देख रहे थे – इलाहाबाद रेलवे स्टेशनपर उमडी जनसमुदायकी भीड जितनी संख्यामें थी, उतनी ही संख्यामें वहाँ श्रीपोद्दार महाराजका सुस्वागत करने स्वयं साक्षात् मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण खड़े थे। उन श्रीकृष्णके किशोरोचित शरीरका परिमाण ठीक जितने हाथ, जितने अगुलका था, उतने ही हाथ, अंगुलकी वह भीड भी हो गयी थी। श्रीकृष्णके कर, चरण आदि अंग-अवयव जितने सुकोमल, जितने परिमित होने आवश्यक थे, यथायोग्य सांगांपांग समग्र भीडभरा वह दृश्य वैसा ही था। भीडके सभी पुरुष श्रीकृष्णरूपमें गोचारणमें उपयोगमे आनेवाला लकुट धारण किये थे। वही श्रृंग, वही वेणु, वेसा ही पीताम्बर, वैसे ही किसलय कुसुमके आभूषण, मस्तकपर स्वर्णमुकुट, बाहुओंमें वलय, ककण, कटिमें करधनी, स्वभावमे वही चचलता, वही गुण, स्वभाव, आकृति, सौन्दर्य, माधुर्य, चलनेकी भंगिमा, चेष्टायें, वैसा ही कण्ठस्वर, वही रुचि, किसीमें भी कहीं, किञ्चित् भी न्यूनता नहीं, अन्तर नहीं। मानो सचमुच ही श्रीकृष्णचन्द्र अपनी ही कृपाशक्तिके पूर्ण आधीन हुए अपने इस आत्मप्रकाशकी पाठशालामें **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** – यह सबकुछ निश्चय ही (ब्रह्म) श्रीकृष्ण ही है, इस श्रुतिवाक्यका वास्तविक अर्थ पू.गुरुदेवके सम्मुख प्रकाशित करनेको तत्पर हों। पू. गुरुदेवको इस श्रुतिवाक्यके अर्थको समझनेमें तनिक भी श्रम एवं संशय नहीं रह जाय, इस उद्देश्यसे इस अर्थको वे मानो पू.गुरुदेवके सम्मुख मूर्त्तिमान कर दे रहे हों । सर्वात्मरूपसे प्रकट होकर इस समस्त जनसमुदाय और इलाहाबाद स्टेशनके भूमि-भवन समस्त वस्तुओंके रूपमें परिणत होकर मानो वे इसीलिये अभिव्यक्त हो उठे हों। पू. गुरुदेव चकित थे। वे जिधर भी दृष्टि उठावें, अनन्त विश्वसृष्टाओंके नियन्ता श्रीकृष्ण मुसका रहे थे। पू. गुरुदेव खुली आँखों पूर्ण जाग्रत् देख रहे थे, कोई भ्रम नहीं, कोई प्रमाद नहीं, किसी चूकका कोई अवसर नहीं । अनेकों बार उन्हें श्रीपोद्दार महाराजमें तो ऐसा दृष्टिगोचर हो चुका था कि उनके स्थानपर पूरे-के-पूरे श्रीकृष्ण दिखाई पडे हों, किन्तु आज तो बिना किसी भावोद्दीपनके, यह कृपा-चमत्कार उनके नेत्रोंमें जैसे भर ही गया था। ध्यान, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदि शब्दोंमे यह सामर्थ्य नहीं कि इस उनके आराध्यके

आत्मप्रकाशकी रूपरेखाको वे किसीको भी हृदयंगम करा सके । यह उनकी कोई मानसिक सृष्टि होती, कोई भाववस्तुं-जैसी कुछ होती तो वे कुछ नियमोंकी परिधि भी दे पाते। यह तो उनके आराध्य श्रीकृष्णचन्द्र नित्यलीलाविहारीका अपने-आप द्वारा सम्पादित कृपा-प्रवाह था।

पू.गुरुदेवको इसे समझनेमें तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ। पू.गुरुदेव समझ गये कि यह जो कुछ उनके सम्मुख लीलाकी सघटना व्यक्त हो रही है वह सोद्देश्य है। वह उनके समग्र दृश्यको ही कृपा-आप्लावित करने, उसमें उत्कृष्टतम भक्तिभावका बीज वपन करनेके उद्देश्यसे उनमे उद्रिक्त एवं प्रतिभासित हो रही है। वाणी एवं मन इसकी रूपरेखाको चिन्तनकी परिधिमें ला ही नहीं सकते। यह अनिर्वचनीय है । बस, इसे अद्भुत ही कहा जा सकता है। यदि इसे मनकी कोई अवस्था कहें तो '**वासुदेवः सर्वमिति**' – यह कृपा-प्रतिदानका उत्कृष्टतम रूप है। सर्वविलक्षण ही इसे कहा जा सकता है।

अस्तु, पू.गुरुदेव चुपचाप एक एकान्त स्थानपर बैठ गये। श्रीरामनिवास ढंढारियाने तुरन्त उनके लिये स्टेशनसे एक कुर्सीकी व्यवस्था कर दी। पू. गुरुदेव उस समय भगवत्कृपाके निर्झर ही हो रहे थे। उनकी दृष्टिमें श्रीपोद्दार महाराजके स्थानपर भी साक्षात् नन्दनन्दन ही नन्दनन्दनको माला पहना रहे थे। पू.गुरुदेवकी तो भावस्थिति उस समय ऐसी थी – उन्हे वायु बने श्वास-प्रश्वासके रूपमें, आकाशगत शून्य बने अवकाशके रूपमें, स्थल-जल सभी रूपोमे एकमात्र उनके आराध्य ही दिख रहे थे। वे उस समयकी स्थितिका वर्णन जब मुझे सुना रहे थे तो उन्होंने अपनेको श्रीकृष्णान्धता-रोगसे ग्रस्त बताया था। ऐसी अन्धता उनके नेत्रोंमें व्याप्त हो गयी थी जिसमें मात्र श्रीकृष्ण ही दृश्य हों, अन्य कोई दृश्य ही नहीं था ।

इधर जो प्राकृत दृश्य हम सभी देख रहे थे, उसमें तो श्रीपोद्दार महाराजका स्वागत करनेका भीड़में अभूतपूर्व उत्साह था। इस यात्रामें श्रीरामनिवास ढंढारिया सम्मिलित थे। वे मुझे बता रहे थे कि –" इसे कहते हैं सच्चे सन्तका आकर्षण।" सचमुच जब किसीका मन सन्तसे मिलनेको व्याकुल हो उठता है, उस समय उसकी ऐसी ही दशा होती है। उसके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं। कोई अवरोध उसके मन-मानसमें प्रविष्ट ही नहीं हो पाता। लोगोंकी दृष्टि एकाग्र थी, मात्र श्रीपोद्दारजीके हँसते मालाओंसे लदे स्वरूपपर और भीड़का प्रत्येक व्यक्ति विघ्न-बाधाओंकी परवाह नहीं करता हुआ, अम्लान मनसे प्रतिक्षण

वर्धनशील उत्साहपूरित चित्तसे पथबाधाकी ठोकरें सहता , बाधाओंको अपने पैरोंसे रौंदता, अन्य सब ओरसे मुँह फेरकर, सबको पूरी तरह विस्मृत कर तीव्रगतिसे बढ रहा था श्रीपोद्दार महाराजकी ओर। प्रत्येक व्यक्ति अविराम प्रयास करता चला जा रहा था उनके चरणोंमें गिरनेका, उनको ही लक्ष्य बनाकर उसके प्रयासकी सब गति थी। वह तभी शान्त होता था, कृतकृत्य होता था , जब या तो उनके चरणोंमे गिर जाता, उनके आलिंगनमें बँध जाता, उनके गलेमें माल्यार्पणके रूपमें अपने आपको ही समर्पित कर देता, उनके चरणोकी धूलि पा जाता, उनके वरद हस्तको अपने मस्तकपर फिरवा लेता। जनसमूहके व्यक्ति-व्यक्तिकी क्या भावदशा थी इसका वाणी कैसे वर्णन करे ! किसी अंशमें लेखनी इतना ही कह सकती है कि उस जनसमूहका व्यक्ति-व्यक्ति श्रीपोद्दारजीको अपने ह्रदयमें रख लेना चाहता था। कदाचित् किसीके नेत्र इस बड़भागी जनसमूहकी आँखोंमें, ह्रदयमें समाकर देखनेकी क्षमता पा लेते तभी वह देख सकता कि कितना अपूर्व , अप्रतिम , श्रद्धासमन्वित आदर भरा था उस जनसमूहमें श्रीपोद्दार महाराजके प्रति । अस्तु,

इधर पू.गुरुदेव चुपचाप प्लेटफार्मके एक किनारे कुर्सीपर विराजित थे। श्रीरामनिवास ढंढारिया, श्रीभगतजी उनके आवश्यक वस्त्र और कमण्डलु सम्हाले थे। कृपा-सिन्धुकी तरंगें पू.गुरुदेवके ह्रदयमें उमड़ रही थीं। पू. गुरुदेवके अधरोंपर मन्द स्मितकी रेखा नाच रही थी। उनकी दृष्टि अपने आराध्यके नेत्र-सरोजोंपर स्थिर थी। एक साथ आदर्श विनय, अकृत्रिम नम्रता, सरस परिहास, मधुमय रसीली प्रीति, अपरिसीम स्नेह, महान् आदर और पूर्ण प्रणय – न जाने कितने-कितने भावोंका रस अपनी वाणीमें भरकर पू.गुरुदेव अपने प्राणपति श्रीकृष्णसे बोल उठे – "प्राणधन! जीवनसर्वस्व ! प्राण-प्राण ! नहीं, नहीं, सर्वेश्वर ! सुनो, देखो, असख्य रूपोंमें तुमने आज जो मेरे सम्मुख आत्मप्रकाश किया है, मेरी दृष्टिमें आज यहाँ सम्पूर्ण प्रकृति, उससे सम्बन्धित अनन्त पदार्थात्मक मायिक सृष्टि ही तुम, केवल तुम्ही इन असंख्य रूपोंमें मूर्त्त हो रहे हो, बतादो प्राणेश्वर ! यह सब किस उद्देश्यसे किया है ? विस्तारसे नहीं संक्षेपमें ही सुना दो ! पू. गुरुदेवने शीघ्र उत्तर पानेकी प्रतीक्षा-सी व्यक्त करते हुए अतिशय धैर्यपूर्वक यह बात अपने प्राणपति ब्रजेन्द्रनन्दनको कह दी। अब जब प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनसे उनकी प्राणप्रिया मंजुश्यामा-भावाविष्ट पू. गुरुदेवने यह प्रश्न पूछ ही लिया तो नीलसुन्दर ही अब उनसे कुछ भी रहस्य

गुप्त क्यों रखें ? अपनी प्रियासे वे बोल उठे –" प्राणेश्वरी ! मेरी कृपासे प्राप्त यह तेरी दृष्टि आजसे जिस-जिस प्राणी-पदार्थपर पड़ेगी, उस-उस प्राणीको तत्क्षण नहीं तो शीघ्रातिशीघ्र भविष्यमें मेरे साक्षत्कार और शुभदर्शनमें यह अवश्यमेव हेतु हो उठेगी – इसे सत्य-सत्य मान लेना। आजसे तेरे इस प्राकृत शरीरको भी स्मरण करनेवाला मेरी ही स्मृतिके सभी माहात्म्योंको प्राप्त करेगा, इसमें कहीं कोई न्यूनाधिक्य मत समझना। तेरेसे जुड़ा प्रत्येक प्राणी चाहे कैसा ही क्यों न हो मुझे निश्चय ही प्राप्त करेगा। इसमें कुछ भी, कहीं भी संशय मत करना।"

अपने प्राणप्रियतमकी स्नेहसनी एक-एक बात पू.गुरुदेवको प्यारसे विह्वल कर दे रही थी। पू. गुरुदेव अपने प्राणवल्लभकी वाणी सुन किञ्चित् प्रकृतिस्थ हुए। सहसा पू.गुरुदेवने देखा कि एक ओर प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी और दूसरी ओर श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडनको लिये श्रीपोद्दार महाराज आ रहे हैं। उन्हें एक क्षण तो तीनों ही प्राकृत शरीरके रूपमें दिखे फिर दूसरे ही क्षण पुनः वंशीधारी श्रीकृष्ण ही दिखने लगे। श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवकी भावमयी स्थितिसे परिचित थे, अतः जोरसे बोले – "बाबा ! अपनेको लेने श्रीप्रभुदत्तजी आये हैं , झूसीमें उन्हींके आश्रममें ही हम सभीको रहना है। ये ही हम लोगोंका आतिथ्य-निर्वाह करेंगे।"

पू.गुरुदेवकी प्रयाग-प्रवासके कालमें वृत्ति प्रायः पूर्ण अन्तर्मुखी रही। वैसे प्रयागमें विशाल जनसभा भी हुई जिसमें श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीने श्रीपोद्दारजीको मानपत्र समर्पित किया। इस यात्रामें राजर्षि श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डनको श्रीपोद्दारजीके प्रति बड़ी ही उच्च आध्यात्मिक अनुभूति हुई । उन्होंने पश्चात् श्रीपोद्दारजीको एक अतिशय भावुक पत्र भी लिखा । इस पत्रका उत्तर श्रीपोद्दारजीने उन्हें निम्नरूपमें दिया था –

"आपका कृपापत्र मिला। मैंने यह कभी कल्पना ही नहीं की थी कि आपके द्वारा मुझको कभी ऐसा पत्र भी मिलेगा। विस्तृत सात पेजके पत्रमे प्रारंभसे अन्ततक केवल मेरे दिव्य स्वरूपकी महिमा, दिव्य दर्शनसे परमानन्द तथा उससे प्राप्त लाभ और मेरे गुणोंकी स्तुति भरी है। आप सरीखे सत्यवादी पुरुष मिथ्या लिखेंगे, यह सोचनेका तो साहस ही नहीं होता, पर जो कुछ आपने लिखा है, उसका अधिकांश तो मेरी कल्पनासे बाहरकी चीज है। जो कुछ भी हुआ हो, आप जानें और आपका प्रयत्न जाने। मेरा इससे कोई

सम्बन्ध नहीं है। मैं तो आपका बच्चा हूँ। आपके स्नेहका पात्र तथा अधिकारी हूँ। मुझे सदा अपना बालक मानिये। शिक्षा देते रहिये और आशीर्वाद दीजिये, मृत्युके अन्तिम क्षणतक भगवान्‌की पवित्र स्मृति बनी रहे। ''

# अयोध्यामें जगज्जननी माँ सीताजीकी कृपा

जैसे भगवती गगा भगवान् वामनके चरणोकी ब्रह्मकमण्डलुसे धोवन है, उसी प्रकार सरयू नदी भी भगवान्‌के वाम पादांगुष्ठकी धोवनसे ही उद्भूत है। पवित्रतम सरयू नदीके दक्षिणतटपर बसी पूरी अयोध्याकी कीर्त्ति सभी पुराणोंमें उल्लिखित है। स्कंदपुराणके अनुसार यह पुरी भगवान्‌के सुदर्शनचक्रपर स्थित है। 'भूतशुद्धितत्त्व'के अनुसार यह श्रीरामभद्रके धनुषाग्रपर स्थित है— **'श्रीरामधनुषाग्रस्था अयोध्या सा महापुरी'**। अयोध्या शब्दका निर्वचन स्कन्दपुराणमें यों कहा गया है 'अ'कार ब्रह्मा, 'य'कार विष्णु एव 'ध'कार रुद्रका स्वरूप है। अयोध्या इन तीनों – ब्रह्मा, विष्णु एवं शकरका समन्वित रूप है। ब्रह्महत्यादि महापातक भी समस्त उपपातकोंके साथ इससे युद्ध नहीं कर सकते, परास्त हो जाते हैं, इसलिये इसे अयोध्या कहा गया है।

अयोध्यामें पहुँचते ही पहले श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीके सान्निध्यमे प्रार्थना-सकीर्त्तनका कार्यक्रम हुआ। इसके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज द्वारा अयोध्या माहात्म्यपर प्रवचन-सत्सग कराया गया। अयोध्याके दर्शनीय स्थलोंकी सूची साइक्लोस्टाइल मशीन द्वारा मुद्रितकर यात्रियोंमें अग्रिम वितरित कर दी गयी। इसके पश्चात् सभी यात्री समूहबद्ध ''श्रीराम जय राम जय जय राम'का सकीर्त्तन करते सरयू-स्नानार्थ रवाना हुए। एवं सभीने मन्दिरोके दर्शनार्थ प्रस्थान किया। तीर्थयात्राट्रेन मात्र एक दिवसके लिये ही अयोध्या रुकी थी, अतः यात्रीगण अयोध्याके मुख्य मन्दिर 'कनकभवन'के दर्शनार्थ रवाना हुए ।

अयोध्याका मुख्य मन्दिर कनकभवन ही है। यह मन्दिर ओरछा नरेशो द्वारा निर्मित है। यह सर्वाधिक विशाल एवं भव्य है। इसकी प्रख्याति श्रीरामके अन्तःपुर या सीताजीके महलके रूपमें भी है। इसमें मुख्य मूर्त्तियाँ प्राचीन

होनेसे भक्त वैष्णवोंमें इनकी ही अधिक मान्यता है।

पू.गुरुदेवके सम्मुख तो अयोध्यामें प्रविष्ट होते ही प्राकृत अयोध्या तीर्थके स्थानपर 'साकेत धाम' प्रकट हो गया था। अयोध्या भूमि ही उन्हें परम चिन्मयी प्रतीत हो रही थी। उन्होंने इस पावनतम नगरीमें अपने चरण रखते ही पहले इस साकेत भूमिकी रज लेकर मस्तकपर लगायी। इस रजके मस्तकपर लगते ही पू. गुरुदेवको अनहद 'रामनाम'का श्रवण होने लगा। यह 'राम'नाम इतना मधुर था मानो असख्य मञ्जु कनक-मञ्जीर, वलय आदि विविध भूषण मृदु, मधुर झकार कर रहे हों। कभी-कभी यह नाद गंभीर हो उठता था, और कभी असख्य तन्तु-वाद्य वीणाकी सुमधुर संगीत स्वरलहरीमें झनझन कर उठता था। कभी यह वेणुवादन ध्वनिकी तरह प्रतीत होता था, और कभी मानों असख्य घंटाध्वनि हो रही हो इस प्रकार गुजायमान होता था। जगत्की अशेष अमंगलराशिको निर्मूल कर देनेवाली इस परम सुमधुर ध्वनिकी पवित्रता एवं माधुर्यका वाणी कथन ही नहीं कर सकती थी। पू.गुरुदेव अनुभव कर रहे थे कि अन्तरिक्ष, भूमि, भवन, सर्वत्र अणु-अणुसे निःसृत इस परमातिपरम मधुर नादको दिक्सुन्दरियॉ प्रतिध्वनित कर और भी गुंजायमान कर दे रही हैं। यह परम मंगल 'राम'-'राम'नामका घोष अन्तरिक्षके विमानोपर सुप्त सुरसन्दरियोंके कर्णरंध्रोमें प्रविष्ट होकर उन्हें चमत्कृत कर रहा है। 'अहा ! यह अप्रतिम 'राम''रामनामका श्रवणसुख ! इसकी तुलनामें तो देवराज इन्द्रकी सभाका गायन-श्रवण नगण्य है, हालाहलकी ज्वालातुल्य है। सुरसुन्दरियॉ विमानोंमें सुषुप्ति त्याग मुख फेरकर चमत्कृत-सी इधर-उधर इस नामध्वनिके अभ्युदय- स्रोतको ढूँढने लगती हैं। पू.गुरुदेव अनुभव कर रहे थे कि इस सुधास्रावी मंगल नामध्वनिको सुन-सुनकर सभी साकेतवासी सदैव आनन्द-रसमग्न रहते हैं। उनके मनकी समस्त वृत्तियॉ ही इस परम मनोहर रामनाम-ध्वनिमें विलीन हुई रहती हैं।

इस नामध्वनि-श्रवणके साथ-साथ पू.गुरुदेवके सम्मुख समग्र चिन्मय 'रामलीला' ज्यों-की-त्यों व्यक्त होने लगी। भगवान् रामचन्द्रका जगज्जननी कौशल्याकी कोखसे भूमिष्ठ होना, बाल लीला, विश्वामित्रका राजा दशरथसे राम-लक्ष्मणको मॉगना, विश्वामित्रजीके यज्ञकी रक्षा, अहल्या-उद्धार, गुरु विश्वामित्रजीके सहित श्रीराम-लक्ष्मणका जनकपुरमे प्रवेश, श्रीराम-लक्ष्मणको देखकर श्रीजनकजीकी प्रेममुग्धता, श्रीराम-लक्ष्मणका जनकपुर-निरीक्षण और

जनकपुरकी स्त्रियोंका भगवान् रामचन्द्रके रूपपर मोहित होना, पुष्पवाटिका -निरीक्षण, श्रीसीताजीका प्रथम दर्शन, श्रीसीता-रामका परस्पर दर्शन, श्रीसीताजीका पार्वती-पूजन, एवं वरदान-प्राप्ति, राम-लक्ष्मण संवाद, श्रीराम-लक्ष्मणसहित विश्वामित्रका यज्ञशालामें प्रवेश, श्रीसीताजीका यज्ञशालामें प्रवेश, बन्दीजनों द्वारा जनक-प्रतिज्ञाकी घोषणा,राजाओंसे धनुष नहीं उठना, राजा जनककी निराशाजनक वाणी, श्रीलक्ष्मणजीका क्रोध, धनुष-भंग, जयमाल पहनाना, श्रीराम-लक्ष्मण और परशुराम संवाद, दशरथजीके पास जनकजीका दूत भेजना, अयोध्यासे बारातका प्रस्थान, बारातका जनकपुर आगमन, स्वागतादि, श्रीसीता-राम विवाह और विदाई । बारातका अयोध्या लौटना और अयोध्यामें आनन्द।

पू.गुरुदेवके सम्मुख यह सब लीला ज्यों-की-त्यों प्रकट हो गयी। पू.गुरुदेवने भगवान् श्रीरामजीसे प्रार्थना की कि वे उन्हें इस परमानन्दमयी लीलाका ही दर्शन करावें। उनकी मानसभूमि अभी विरह-वियोग- लीलाको सहन कर सकनेकी नहीं है, अतः उनके सम्मुख मात्र रामराज्याभिषेक तककी ही लीला व्यक्त हो, एवं हुआ भी वही।

पू. गुरुदेवने जबसे अयोध्याधाममें प्रवेश किया, तबसे लेकर, उनके सरयू-स्नान और कनकभवन पहुँचनेतक सर्वकाल वे यद्यपि ऊपरसे मुझसे, भाई रामनिवासजी ढंढारियासे, श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीसे अपनी स्लेटपट्टीपर आंशिक लिखकर एव आंशिक बोलकर बतियाते रहे, किन्तु हम सभी देख रहे थे कि उनके नेत्र भीतर-ही-भीतर किसी विलक्षण आनन्दरसमें डूब-उतरा रहे हैं। यह मेरा शुभ प्रारब्ध था कि श्रीपरमेश्वरजी फोगलाके साथ-साथ मैं भी उनके साथ इस अयोध्या तीर्थयात्रामें सम्मिलित हो गया था। हम लोग गोरखपुरसे जीप द्वारा प्रातः ट्रेन आनेके पूर्व ही वहाँ पहुँच गये थे।

पू.गुरुदेव जब सरयूस्नान करने लगे तब अचानक ही मुझे उन्होंने कहा कि श्रीराधेश्यामजी भगतसे संक्षिप्त पञ्चपूजोपचारकी पूजनसामग्री ले आओ। उन्होंने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे सरयू-प्रवेशके पूर्व सरयू नदीका पूजन सम्पन्न कराया। तत्पश्चात् ही हम सभी लोगोंने स्नान किया सरयूपूजनके पश्चात् पू.गुरुदेवने गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन हरण भवभय दारुणं ''का पद-गायन भी सुना था। गोस्वामीजीके मधुर कण्ठसे निस्सृत पदगायनकी स्वर-लहरीसे समग्र वातावरण भक्तिमय हो उठा था।

पू.गुरुदेव जब कनकभवन दर्शनार्थ पहुँचे उस समय तीर्थयात्रियोंकी चतुर्दिक् अपार भीड़ थी । छः-सातसौ तीर्थयात्री एवं फिर अयोध्यावासी दर्शनार्थी सब मिलकर इतने लोग हो गये थे कि मन्दिर प्रांगणमें तिल रखनेकी भी जगह नहीं थी। तीर्थयात्री तो परिचित होनेके कारण पू.गुरुदेवके दर्शनार्थ आनेपर मानो किनारे भी हो जाते, परन्तु अयोध्यावासी दर्शनार्थी तो गुरुदेवसे अपरिचित थे, अतः उनके हटनेका और उन्हें रास्ता देनेका प्रश्न ही नहीं था। श्रीपोद्दार महाराज सार्वजनिक कार्यक्रमोंमें व्यस्त थे। उन्हें सायंकाल रामजन्मभूमिपर विशाल सभा आयोजित करनी थी । बड़ी-बडी छावनियोंके महन्तोंसे मिलना, आदि उनकी अति व्यस्त कार्यसूची थी। श्रीपोद्दार महाराजके साथ नहीं होनेसे पू.गुरुदेवको भगवान् कनकविहारीके दर्शन होना ही दुर्लभ हो रहा था। फिर तीर्थयात्री दर्शनार्थी भी आह्लादवश पीछे मुड़कर नहीं देख पानेसे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा खडे हैं, पथ पानेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, यह जान ही नहीं पा रहे थे। पू. गुरुदेवके प्राण व्याकुल हो उठे। उनमें भावोन्मेष हो उठा। क्या श्रीसीताजी मेरी बडी बहिनको मेरे आगमनकी सूचना नहीं है ? वे क्या मुझे अपना दर्शन ही नहीं देंगी ? कनकभवन तो श्रीसीताजी, मेरी बडी बहनका ही तो महल है ! श्रीरामके महलमें, अन्तःपुरमें मैं आऊँ और श्रीसीताजीको उनकी दासियाँ सूचित नहीं करें, यह कैसे सभव है ? फिर उन्होंने मुझे इस भीडमें दर्शन देनेकी व्यवस्था क्यों नहीं की ? सात्विक उपालंभ देते पू. गुरुदेवके अंगोंमें कम्प होने लगा। तत्क्षण ही हम सभीने देखा कि दर्शनार्थियोंकी अपार भीडके अन्तरालसे कुछ क्षणोंके लिये एक ऐसा छिद्र बन गया और उस छिद्रसे हम सभीको सिंहासनासीन सभी मूर्त्तियोंके सुस्पष्ट दर्शन होने लगे। पू. गुरुदेवको मानो राजराजेश्वरी सीताजीने सन्देश दे दिया कि प्राकृत धरातलपर इन कठिनाइयों और बाधाओंसे अन्तर्जगत्के स्नेहका आकलन नही करना चाहिये। एक विलक्षणता और घटित हुई हम लोगोंको जो पू. गुरुदेवके संग थे, उन्हें तो जो सन्धि-छिद्र बना उसमेंसे मात्र मूर्त्तियोंके ही दर्शन हुए, किन्तु पू.गुरुदेवको जो अभूतपूर्व दिव्य दर्शन हुए उसका तो लेखनी वर्णन ही नहीं कर सकती। पू.गुरुदेव स्पष्ट देख रहे थे " एक परम दिव्य अलौकिक रत्नोसे जटित सिंहासन है। उस सिंहासनकी शोभा अकथनीय है। उस सिंहासनपर अनन्त जन्मार्जित पुण्यराशिरूप एक नीलसुन्दर किशोर आसीन

है। उसके वाम भागमें मानो अनिर्वचनीय कनकवर्णी तेजोलतिकाका नवोन्मिषित पल्लव हो, ऐसी परम सुकुमारी एक षोडशवर्षीया किशोरी विराजित है। मानो ये दोनों युगलदम्पती उपनिषद्‌रूप कल्पलताश्रेणीके मधुर फल हों– इस प्रकारकी अलौकिक विशुद्ध सत्वमयी स्थिर शान्ति दोनोके मुखमण्डलोंसे झर रही थी। कनकमन्दिरकी मणिमय भित्तियों, आच्छादन (छत) और स्तम्भ सब ऐसे अनमोल रत्नोसे निर्मित थे, मानो सर्वत्र उद्घोष कर रहे हों– यह अनन्त विभु रघुकुलभूषण दशरथनन्दनका महल है, कोई साधारण मन्दिर नहीं। पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा जब दर्शन कर रहे थे, उस समय कोई उनके कानोमे अतिशय मधुर ध्वनिमे कह रहा था–" सावधान ! तुम्हें उन अजन्माके स्वरूप-सौन्दर्यका दर्शन-सौभाग्य मिल रहा है, जिनके एक-एक रोमकूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रह्मा,एक-एक विष्णु और रुद्र जिनके भ्रू-संकेतसे सृजन, पालन और संहारका कार्य वहन करते हैं,जिनकी सर्वमोहनकारिणी योमायाका अपरम्पार वैभव है– उन्हें प्रणाम करो।" पू गुरुदेवने सिंहासनासीन युगल दम्पतीको प्रणाम किया। पू गुरुदेवका तो सम्पूर्ण दृश्य ही अप्राकृत था। उन्हें तो वहाँ अप्राकृत दशरथात्मजके रगमहलके दर्शन हो रहे थे। वे देख रहे थे– " प्रसादका कोना-कोना मानो परम सुगन्धित चन्दनवारिसे स्वच्छ किया गया है। फिर सर्वत्र परम दिव्य पुष्परससार छिड़का है। रंग-बिरंगे वस्त्र और सुकोमलतम पल्लवोंके बन्दनवार बँधे हैं, चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाएँ यथास्थान फहरा रही हैं । रत्नमालाकी लडियाँ गवाक्षोंमें झालरोंकी तरह लटक रही हैं। मणिमय स्तंभोंपर पुष्पमालाये लिपटी हैं। प्रत्येक द्वारपर आम्रपल्लव-समन्वित जलपूर्ण रत्नमय मंगलघट रखे हैं। हरिद्रा, दूब, अक्षत, दधि, कुकुमसे महलका प्रत्येक द्वार चिन्हित है।स्थान-स्थानपर मोतियोके चौक पूरे हैं। महलके मुख्य द्वारपर सहनाईवाले मधुरातिमधुर रागिनीकी सुरीली ध्वनि कर रहे हैं। एक ओर ब्राह्मण ब्रह्ममुखनिसृत वेदमंत्रोंका पाठ कर रहे हैं। तोरणद्वारपर एक ओर ऊँचे आसनपर विराजमान ब्राह्मण आशीर्वादात्मक मंगलवचनोको संस्कृत भाषाके श्लोकोमे निबद्ध करके बोल रहे हैं। उनसे कुछ दूरपर मागध रघुकुल-वंशावलीका उच्चारण कर रहे हैं। बन्दीजनोकी पंक्तियां हैं, वे महाराज दशरथकी स्तुति कर रहे हैं। ब्राह्मणोंके सामने दूसरी ओर विशाल स्वर्ण-प्रांगणमें सगीतज्ञोंकी मण्डली जम रही है।

एक ओर कलाकार युवतियाँ वीणावादन कर रही हैं। चतुर्दिक् मानो वैभव एव रस बरस रहा है। एक ओर महाराज दशरथके मंत्री अतुलनीय संपत्तिका दान कर रहे हैं। उनका खजाना मानो अनन्त असीम है। प्राकृत कोषागारकी सीमा होती है उसमेंसे कुछ निकालनेपर उतना अंश कम हो जाता है। उतने अंशकी पूर्णता अपेक्षित होती है। परन्तु महाराज दशरथका भण्डार (कोष) प्राकृत नहीं। वह ऐसा है जिसमेंसे जितना वे निकालेंगे, उतना ही और बढ जायगा। अपनी जानमें यदि वे सम्पूर्ण लुटा देंगे तो भी उसमें सम्पूर्ण बचा रहेगा। इसीलिये महाराज दशरथके मन्त्रियों द्वारा दान देनेमें विराम नहीं, कोई गणना नहीं, वे भरपूर देते ही जा रहे हैं। यह प्रतिदिनका नियम है। रामकी प्रजामें कोई निर्धन नहीं रहे, सब पूर्णकाम हों, यही निरन्तर केवल एक भावना है। पू.गुरुदेवका इस अभूतपूर्व दर्शनसे रोम-रोम आनन्दनिमग्न हो उठा था। उनके हृदयमें उमडते हुए आनन्दप्रवाहका वेग इतना अधिक था कि मन डूब गया था और विचारशक्ति आनन्दतरंगोंसे तरंगायित हुई स्तंभित हो गयी थी। पू.गुरुदेवके नेत्र बन्द थे। किन्तु बन्द आँखोंसे ही उन्हें जो कुछ दिख रहा था, वह हम बहिर्मुखी, खुली ऑखोंवाले अभागोको कहाँ दिख पाता है। हम खुली आँखोंवाले अन्धे हैं और पू. गुरुदेव, जिनकी प्राकृत जगत् देखनेवाली ऑखें पूर्णतया बन्द थीं, अप्राकृत अलौकिक लोकका दर्शन कर रहे थे।

अयोध्यामें श्रीकनकबिहारीजीके दर्शनका एक प्रसंग इस तीर्थयात्राट्रेनके पूर्वका भी है। पू.गुरुदेव इसे भी अनेक बार हम सभीको सुना चुके हैं। पू. गुरुदेवने सुनाया था –

"एक बार वे श्रीपोद्दार महाराजके साथ मोटरसे लखनऊसे अयोध्या धाम गये थे। अयोध्या होकर रात्रिको ही गोरखपुर पहुँचनेकी बात थी। श्रीपोद्दार महाराजका परिवार भी उनके साथ था। अयोध्या पहुँचनेपर पू. माताजी(पोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी) की इच्छा हुई कि सरयू-स्नानके पश्चात् श्रीकनकबिहारीजीके दर्शनार्थ जाना चाहिये। सभी लोग अतिशय विलम्बसे तो पहले ही अयोध्या पहुँचे थे अतः यह प्राय: निश्चय था कि अब यदि सरयू स्नानमें समय लगाया जायगा तो कनकबिहारीजीके दर्शन संभव नहीं हैं। मन्दिरके पट मध्याह्नके पूर्व ही बन्द हो जाते हैं। अतः श्रीपोद्दार महाराजने शीघ्र

दर्शन करने पर ही जोर दिया। परन्तु माताजी स्त्री-हठ कर बैठीं । उन्हें पहले कनकविहारीजीके दर्शन करना एवं तब सरयूस्नान करना सर्वथा अटपटा लगा। वैष्णवाचार्यसम्मत भी यही बात थी कि पहले सरयूस्नान हो एवं तब मन्दिर-दर्शन। पू.माँकी भावनाओंका आदर करते हुए सभी लोग सरयूस्नान करने गये।

स्नानमें विलम्ब तो होना ही था। श्रीपोद्दार महाराजको जो आशंका थी, वही घटित हुआ। श्रीकनकबिहारीजीके पट बन्द हो चुके थे। अब अपराह्कालके पश्चात् पट खुलनेपर ही दर्शन संभव थे। कनकभवनके बाहर बरामदेमें पोद्दार महाराज तो अपने 'कल्याण'के प्रूफ देखने बैठ गये और शेष परिवारके लोग जो साथमें भोजन-सामग्री लाये थे, खानपानके क्रममें निरत हो गये। जब श्रीपोद्दार महाराजने पू.गुरुदेवसे उनकी भिक्षाकी बात पूछी तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि अब तो मैं भिक्षा तबतक नहीं करूँगा जबतक भगवान् कनकबिहारीजीके दर्शन नहीं हो जावेंगे। श्रीपोद्दार महाराजका झुँझलाना स्वाभाविक ही था। पहले तो त्रिया-हठने पर्याप्त विलम्ब कर दिया था, अब यह यति-हठ सामने था। अपराह्कालके पश्चात् पहले सभी श्रीकनकबिहारीजीके दर्शन करेंगे, फिर पू.गुरुदेवकी भिक्षा बनेगी, और तब भिक्षा होगी, इतनेमें तो रात्रि हो जायगी। वे रात्रिके पूर्व ही दिन रहते-रहते अयोध्यासे गोरखपुर लौट आना चाहते थे। इसी मध्य श्रीकनकभवनके अधिकारीगणोंको पता चल गया कि 'कल्याण'पत्रके सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार सपरिवार बरामदेमें बैठे हैं । अधिकारीगण अत्यन्त विनीत होकर उनके पास आये और उनके सपरिवार रहनेके लिये कमरे स्वच्छ कराके खोल दिये गये। श्रीपोद्दार महाराजको उस व्यवस्थाको स्वीकार करना ही पड़ा। कमरोंकी व्यवस्था हो जानेपर यही निर्णय हुआ कि पू.गुरुदेवकी भिक्षा बनानेका कार्य प्रारंभ कर दिया जाय , जिससे भगवान् कनकबिहारीके दर्शनोंके पश्चात् भिक्षा सम्पन्न हो जाय और भिक्षाके पश्चात् दिन रहते-रहते गोरखपुर प्रस्थान कर दिया जाय।

संभवतः पाँच बजे सायंकाल श्रीकनकबिहारीजीके पट खुले। उस दिवस कोई विशेष पर्व एवं उत्सव नहीं था, फिर भी संयोग ऐसा हुआ कि यात्रियोंकी भीड़ असीम रूपसे उमड़ पड़ी। भीड़में ग्रामीण स्त्रियोंका इतना बाहुल्य था कि पू.गुरुदेवके लिये उस भीड़में जाकर दर्शन करना संभव ही

नहीं था। भीड़ लगातार बढती ही जा रही थी और दर्शनोंका भी ठिकाना नहीं था कि कब बंद हो जावें, क्योंकि सायंकाल बस एक ही दर्शन खुला करते थे। पू.गुरुदेव चुपचाप बरामदेमें एक किनारे बैठ गये और मन ही मन कहने लगे –" प्रभो ! आप तो राजराजेश्वर त्रिलोकीनाथ भगवान् रामचन्द्र हैं। इतनी भीड़में मेरे द्वारा दर्शन किया जा सकना तो संभव है नहीं। अब आपको दर्शन देना हो तो दें, अन्यथा यह भी समझलें कि बिना दर्शन किये मेरी भिक्षा भी नहीं हो सकेगी।"पू. गुरुदेव द्वारा इतना कहा जाना था कि थोडी देर पश्चात् ही आश्चर्यवत् जहाँ वे बैठे थे वहाँसे लेकर गर्भगृह तकका जहाँ भगवान् कनकबिहारी, भगवती श्रीसीताजी सहित विराजमान थे पूरा स्थान जनशून्य रिक्त हो गया। भीड़ अपने आप दो भागोंमें विभक्त होगयी और मध्यमें पू. गुरुदेवके सम्मुख एक गलियारा निर्मित होगया, जिससे वे भगवान्‌के निर्विघ्न दर्शन कर सकें। पू.गुरुदेव अपने स्थानपर बैठे-बैठे ही भगवान् कनकबिहारीके बहुत ही सुविधासहित दर्शन करने लगे। पू.गुरुदेवका रोम-रोम आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठा।

इसके पश्चात् एक चमत्कार और घटित हुआ। गर्भगृहसे नितान्त तेजोमयी अत्यधिक सुन्दरी दो महिलाये बहिर्गत हुईं। उनके अंग इतने स्वच्छ और सुन्दर थे मानो किसी कनकलताके अंकुर हों, इतने मृदु और लालिमायुक्त थे मानो पद्म-पल्लव हों, इतने स्निग्ध और तेजोमय थे मानो विद्युल्लता ही मूर्तिमती हो उठी हों, इतने सुरभित थे कि साक्षात् त्रैलोक्यलक्ष्मीको उनपर न्यौछावर कर दिया जाय, इतनी आकर्षक एवं सुन्दरी वे दोनों स्त्रियाँ मानो साक्षात् सौभाग्यश्री ही पू. गुरुदेवके सम्मुख अवतरित हो गयी थीं। पू.गुरुदेवने अनुमान लगाया कि अवश्यमेव उनमें एक जगज्जननी श्रीसीताजी थीं ,क्योंकि उनकी आकृति उनकी आराध्या श्रीराधासे सर्वथा मेल खा रही थी । दूसरी या तो श्रीसीताजीकी भगिनी, लक्ष्मणवधू उर्म्मिला रही होगी अथवा श्रीसीताजीकी कोई सखी। वे आकर पू.गुरुदेवके पार्श्वमें ही रेलिंगके सहारे खड़ी हो गयीं। वे रेलिगपर अपनी सुकोमलतम अँगुलियोंसे ताल दे रही थीं। इन सबके सम्मुख मन्दिर द्वारतक दर्शनार्थियोंकी भीड़ ज्यों-की-त्यों खड़ी थी। पू.गुरुदेव इन दोनों स्त्रियोंको देखकर अभूतपूर्व आनन्दमें डूबे जा रहे थे। ऐसी विलक्षण, अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व ये दोनों दिव्यांगनाएँ क्यों गर्भमन्दिरसे नि.र्गत हुई हैं ?

उनकी उत्कण्ठा चरम सीमाको पहुँच गयी थी । अचानक जैसे सहस्त्र सुमधुर वीणाके तार झंकृत हो उठे हों, उनमेंसे एक परम सुन्दरी बोल उठी "संन्यासी महात्माजी ! बुरा नहीं मानना चाहिये। भीड़में ऐसा हो ही जाता है। तीर्थस्थलोमें आप-जैसे पात्रोंका आवागमन तो न्यून हो गया है, किन्तु भीड़के आधिक्यसे अव्यवस्थाएँ होती रहती हैं। '

पू.गुरुदेवको सम्बोधितकर जहाँ एक स्त्री बोल रही थी, वहीं दूसरी खडी-खडी मुसका रही थी । पू.गुरुदेवका कण्ठ भर आया, वाणी रुद्ध हो गयी। वे कुछ भी उत्तर नहीं दे पाये। उनकी ऑखे उस पवित्रतम प्रेमभरी वाणी सुनकर छलछला आयी। छलकती हुई ऑखें ही मानो उन दोना युवतियोंको पू.गुरुदेवका उत्तर दे सकीं–" अपने दिये हुए उपालभके लिये तुमसे क्षमा चाहता हूँ। देवियो ! तुम कौन हो, मैं नहीं जानता, किन्तु तुम्हारे स्वामी राजराजेश्वर रघुकुलभूषणसे मुझ दीनका प्रणाम निवेदन कर देना।

पू.गुरुदेवकी उस समय जो भावविभोर दशा हो गयी, उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता है। वस्तुत भगवान् तो भावके भूखे होते हैं, वे निजजनके लिये सबकुछ न्यौछावर कर देते हैं।

# अयोध्यासे नैमिषारण्य

महर्षि शौनकके मनमें सुदीर्घकालीन ज्ञानसत्र करनेकी इच्छा जाग्रत् हुई। उनकी आराधनासे प्रसन्न होकर श्रीब्रह्माजीने उन्हें एक चक्र दिया एवं कहा – इसे चलाते हुए चले जाओ। जहाँ इसकी 'नेमि' ( बाहरी परिधि ) गिर जाय , उसी स्थलको परम पवित्र मानना। वहीं आश्रम बनाकर ज्ञानसत्र करो। " शौनकजीके साथ अट्ठासी हजार ऋषि थे। गोमती नदीके किनारे एक तपोवनमें चक्रकी नेमि गिर गयी और वहीं वह चक्र भूमिमें प्रवेश कर गया। चक्रकी नेमि गिरनेसे वह तीर्थ 'नैमिष' कहा गया। जहाँ चक्र भूमिमे प्रवेश कर गया, वह स्थान चक्रतीर्थ कहा जाता है। यह तीर्थ गोमतीनदीके वाम तटपर है। कहा जाता है कलियुगमें समस्त तीर्थ नैमिष क्षेत्रमें ही निवास करते हैं। श्रीस्वामीजी नारदानन्दजी महाराजने तीर्थयात्रियोंका स्टेशनपर स्वागत किया। श्रीपोद्दार महाराज सपरिवार पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा सहित उनके आश्रममें ही

ठहरे। ट्रेनसे उतरकर प्रार्थना और संकीर्त्तन करते यात्रीगण 'चक्रतीर्थ' पैदल ही गये। यहाँ सभीने सरोवरमें स्नान किया। अनेक यात्रियोंने नैमिषारण्यका अन्तर्वेदी परिक्रमा भी की। पू.गुरुदेव पञ्चप्रयाग गये और अक्षयवटके नीचे कुछ कालतक ध्यानस्थ हो गये । पू.गुरुदेवने बताया कि इसी अक्षयवटके नीचे ही संभवतः यह महान् शौनकादि ऋषियोंका ज्ञानसत्र चला था। क्योंकि यहाँ उन्हें सहज स्वाभाविक ही बहुत सात्विकता दृष्टिगोचर हुई थी।

श्रीनारदानन्दजी पू.गुरुदेव एवं पोद्दार महाराजको दधीचिकुण्ड भी ले गये थे। कहा जाता है कि यहाँ महर्षि दधीचिका आश्रम था। देवताओंके माँगनेपर वज्र बनानेके लिये यहीं उन्होंने अपनी अस्थियाँ प्रदान की थीं। दधीचिकुण्डका जल लेकर पूज्य गुरुदेव एवं पोद्दार महाराजने अपने मस्तकपर शिरोधार्य किया।

---

# हरिद्वारमें भगवती गंगाजीके दर्शन

हरिद्वार वस्तुतः भगवान् बद्री और केदारनाथके द्वारपर स्थित होनेसे ही प्रख्यात है। गंगाद्वार (हरकी पैड़ी), कुशावर्त्त, बिल्वकेश्वर, नीलपर्वत, एवं कनखल – ये पाँच प्रधान तीर्थ हरिद्वारके ही अन्तर्गत हैं, जिनमें स्नान करनेसे पुनर्जन्म नहीं होता। नारदपुराणादिमें कथा आती है कि राजा भगीरथ द्वारा मर्त्यलोकमें गंगाजीको लानेपर राजा श्वेतने इसी स्थानपर ब्रह्माजीकी बड़ी आराधना की थी। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर श्रीब्रह्माजीने वर माँगनेको कहा। राजाने उस समय यही वर माँगा कि यह स्थान आपके नामसे प्रसिद्ध हो। यहाँपर आप भगवान् विष्णु और शंकरजी, दोनोंके सहित निवास करें और यहाँपर सभी तीर्थोंका वास हो। ब्रह्माजीने कहा–'ऐसा ही होगा। आजसे यह कुण्ड मेरे नामसे ब्रह्मकुण्ड कहलायेगा और इसमे स्नान करनेवाले परमपदके अधिकारी होंगे।' कहते हैं राजा भर्तृहरिने, जो राजा विक्रमादित्यके भाई थे, यहीं तपस्या करके अमरपद पाया था। राजा विक्रमादित्यने ही पहले-पहल यह कुण्ड तथा यहाँ सीढ़ियाँ बनवायी थीं। इसका नाम 'हरि-की-पैड़ी' इसी कारण पड़ गया। इस कुण्डमें एक ओरसे गंगाकी धारा आती है, और दूसरी ओरसे निकल जाती है। कुण्डमें कहीं भी जल कमरसे ज्यादा गहरा नहीं है। इस कुण्डमें ही हरि अर्थात् विष्णुचरणपादुका, मनसादेवी, साक्षीश्वर, एवं गंगाधर महादेवके मन्दिर तथा राजा मानसिंहकी छतरी है। यहींपर सूर्यास्तके समय गंगाजीकी आरतीकी झाँकी बड़ी ही सुन्दर होती है। हरिद्वारका सर्वप्रधान यही तीर्थ है। प्रति बारहवें वर्ष जब सूर्य और चन्द्र मेषमें और बृहस्पति कुम्भराशिमें स्थित होते हैं, तभी यहाँ कुम्भका मेला लगता है। उसके छठे वर्ष अर्धकुम्भी होती है। हरिद्वारमें ही मैत्रेयजीने विदुरजीको एवं नारदजीको सनकादिने यहीं श्रीमद्भागवत कथा सुनाई थी।

नैमिषारण्यसे तीर्थयात्राट्रेन सीधी हरिद्वार पहुँची थी। इस यात्रामें लेखक पू. गुरुदेवके साथ नहीं था। किन्तु मैंने अनेक वर्षों बाद पू.गुरुदेवके मुखसे ही सुना था कि उन्हें हरिद्वारमें सायंकाल आरतीके समय भगवती गंगाने साक्षात् दर्शन दिये थे। पू.गुरुदेव कह रहे थे–"भैया ! वस्तुतः भगवती गंगाका सतत त्रितापहारी प्रवहमान श्रीविग्रह सदैवसे ही सन्तोंके विहरण-समर्पणका

हेतु रहा है। भगवती गंगा पञ्चभूतोंकी रचना कदापि नहीं हैं, वे अप्राकृत विशुद्ध सत्वमय ब्रह्मद्रव हैं । वे अति भक्तजनवत्सला हैं। अपनी वात्सल्यराशि बिखेरती वे देवीरूपमें मुझे हरि की पैड़ीपर ब्रह्मकुण्डके ऊपर जलसे दस अगुल ऊपर स्थित दिखीं । उनकी दिव्यता, कान्ति, दीप्ति, पावित्र्य ही संकेतित कर रहा था कि वे कोई मर्त्यदेवी नहीं हैं। वे देवजगत्‌की भी प्राणी नहीं थीं, मेरा ऐसा ठीक-ठीक निश्चय है। वे आत्मानन्दानुभव-स्वरूपा हैं। इसलिये उच्चकोटिके सिद्ध सन्त भी निश्छल रूपसे भगवती गंगाका समाश्रय लिये रहते हैं। एक नहीं, सहस्रों संत अपने जीवनका सार-सर्वस्व भगवती गंगाको बनाये उनके तटका आश्रय लेकर विहरण करते रहते हैं। भगवती गंगाका नाम, उनका दर्शन, स्नान, स्पर्श, उनका गुण-कीर्त्तन सब पूर्णतया पवित्र करने वाला है। काय-मनो-वाक्यसे जो भगवती गंगाको अपने जीवनका सार-संबल बना लेते हैं , उनका अन्तर्मन बिना किसी अन्य साधनके पवित्र होकर भगवत्पदका अधिकारी बन ही जाता है। "

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि भगवती गगासे उनकी बालकपनसे ही अतिशय श्रद्धा रही है। उनके परिवारके किसी भी प्राणीकी मृत्युपर लोग पैदल गयातक गंगाजीमें ही लाशका दाह करने ले जाया करते थे। तब वे कोसों पैदल चलकर गंगा पहुँचा करते थे।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि एक बार वे तैर रहे थे। कुशल तैराक होनेके कारण सन्यासी होनेके उपरान्त भी वे कलकत्ता, ऋषिकेश, काशी, कहीं भी पोद्दार महाराजके साथ जाते, तो गंगास्नान के लिये अवश्य जाते और तब तैरते अवश्य थे। एक बार वे कलकत्तेमें गंगामें तैर रहे थे। तैरते हुए एक भँवरकी लपेटमे आगये। भँवरमें फँसे वे बहुत चेष्टा करके भी निकल नहीं पा रहे थे। पानीका तेज प्रवाह चक्राकार घूमता उन्हे भीतर डुबा देनेकी भरपूर चेष्टा कर रहा था। जब थककर पू. गुरुदेव चूर हो गये और यह संभावना निश्चित् ही हो गयी कि वे अब डूब जावेंगे, उस समय माँ गंगासे उनके मुखसे निम्न दो शब्द प्रार्थनाके निकल गये—"माँ गंगे ! तुमसे छिपा ही क्या है ? तुम तो माँ ! भूत-भविष्य-वर्त्तमान त्रिकालकी प्रत्यक्षवत् द्रष्टा हो। इस जगत्‌के प्रवाहमें एक नहीं, असंख्य योगीगण ऐसे हो चुके हैं जिन्होंने योगके, ज्ञानके साधनोंको अपनाया था, साधनकी चरमोत्कर्ष दशामें वे अवस्थित भी हो चुके थे; फिर भी ज्ञानकी ज्योति नहीं ही जग सकी, उनका हृत्तल पूर्ण आलोकित

नहीं ही हो सका। तब वे लौटे तेरी शरणमें। तेरी भक्तिका अवलम्बन किया उन्होंने। हे नारायणी ! जब उनके जीवनकी धारा तुम्हारी ही ओर बह चली, उनकी सब चेष्टाएँ समर्पित होने लगीं तुम्हें ही, तो तुमने शीघ्र ही उनके मनका मैल धो दिया, तुम्हारे तटवर्ती संत-समागमका सौभाग्य-लाभकर वे सतत तुम्हारी भक्तिमें निमग्न रहने लगे। उनमें सच्ची भक्तिका उन्मेष हो उठा। फिर तो स्वरूपज्ञान होनेमे विलम्ब ही क्या था, वह तो स्वतः ही हो गया। माँ ! अब तो ऐसा लगता है कि इस शरीरका प्रारब्ध तुझमें ही पर्यवसित होनेका हो रहा है। कृपामयी ! अब तू ही मुझे सम्हाल। अम्बे ! तेरी गोदमें अपनेको पूर्णतया समर्पित कर दे रहा हूँ।"

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि मेरी मानसिक प्रार्थनाके समाप्त होते-न-होते एक मधुर वाणी मेरे कानोंमें गूँज उठी –"वत्स ! क्यों चिन्ता कर रहा है ? तू तो पूर्णतया निरापद है। "बस, यह वाणी कानोंमे पडते ही पू.गुरुदेवने देखा वे उस भँवरजालसे अनायास बाहर निकल आये हैं और सहज तैर रहे हैं ।

दूसरी घटनाका उल्लेख करते पू.गुरुदेव बतला रहे थे कि यह घटना भी उनके संन्यासकालकी ही थी। वे ग्रीष्मकालमें प्रायः प्रतिवर्ष गंगातटपर ऋषिकेशमें ही होते थे। जब श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके संग थे, तब भी उन्हें उनके साथ ग्रीष्मऋतुमें तो ऋषिकेशमें ही सत्संगमें समय व्यतीत करना होता था। वे जब भी गंगाके किनारे होते तो नियमसे सूर्यास्तके पश्चात् लम्बी अवधितक गंगा किनारे बैठे रहते थे। एक दिवस जब वे सायंकाल गंगा किनारे बैठे थे, उन्होंने देखा कि भक्तोंने गंगाजीको दीपदान किया है। पू.गुरुदेवको गंगाजीकी लहरियोंपर प्रवाहित दीप बहुत ही मनोहारी लग रहे थे। लोग गंगाके दोनों किनारोंसे असंख्य दीप बड़े-बड़े दोनोंमें फूलमालाओं सहित प्रवाहित कर रहे थे और वे गंगाकी लहरियोंमें थिरकते-नृत्य करते प्रवाहमें बहते जा रहे थे। दीपोंकी अगणित संख्या होनेसे गंगाजी ज्योतिर्मयी हो उठी थीं। पू.गुरुदेवके नेत्र प्राकृत सौन्दर्यसे ऊपर उठ जाते हैं। प्राकृत बुद्धिकी अधिष्ठात्री वाग्वादिनी कमलयोनिसे सृष्ट जगत्को भूलकर चिन्मय वृन्दावनमें प्रवेश कर बैठती है। पू. गुरुदेवके नेत्रोंमें नेत्र मिलाकर कहीं हम सभी इस अप्रतिम सौन्दर्यकी झाँकी कर पाते।

पू.गुरुदेव अपने अनुभवको शब्द देनेमें सर्वथा असमर्थ थे। पू.गुरुदेवके

साथ श्रीकृष्ण तो नित्य रहते ही थे। पू.गुरुदेवको लग रहा था मानो उनके प्रियतम प्राणसर्वस्व ब्रजेन्द्रनन्दनके सौन्दर्यसे अभिभूत भगवती गंगा सचमुच ही दीप-नृत्य कर रही है। गंगाका कल कल ध्वनि करता पहाड़ी प्रवाह संगीतकी मधुर रागिणी बन गया है। घाटके तरुशाखाओंसे लिपटी लता-वल्लरियॉं पवन संचारित होकर स्पंदित हो रही हो – यह बात नहीं, अपितु वे उनके प्रियतम-दर्शनसे उल्लसित होकर सचमुच ही नृत्य कर रही हैं। हम लोगोंके प्राकृत नेत्र भले ही उस दृश्यको गंगा-जन्मोत्सव के उपलक्ष्यमें सघटित दीपदानोत्सव मानलें, परन्तु पू.गुरुदेवके चिन्मयशक्ति -विशिष्ट नेत्रोंके लिये तो यह दृश्य अगणित आनन्द-अनुभावोसे परिपूर्ण हो गया था। उनके लिये तो उस दिवसके गंगातटका अणु-अणु अपनेमें अन-समाहे आनन्दको विभिन्न-विभिन्न सात्विक अनुभावोंमे व्यक्त कर रहा था।

पू.गुरुदेवके मानसिक संकल्पमें एक लहर उत्थित हुई – "मैं भी एक दीप मॉं गंगामे प्रवाहित करूँ।" भावसे तो वे भगवती जगज्जननी श्रीराधाजीकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा थे, किन्तु देहसे तो वे एक अकिंचन संन्यासी थे। इतना जन-समुदाय जब दीप प्रवाहित कर रहा था तो पुष्प- मालाओंके दाम आसमान छू रहे थे। मालियोको उपार्जनका आज ही तो विशिष्ट अवसर था। यद्यपि पू.गुरुदेव श्रीपोद्दारजीके परिवारके किसी भी सदस्यके सम्मुख अपनी भगवती गंगाके अर्चनकी रुचि भर प्रकट कर देते तो सभी व्यवस्था तत्क्षण हो भी जाती, किन्तु स्वत स्वीकृत उत्कट त्यागको वरण किया मन क्या ऐसी छोटी-मोटी बातोंका याचक बन बैठे ? उनकी संन्यासजन्य विरक्तिके लिये यह कलंककी ही बात तो होती ! फिर वे क्या मॉं गंगासे प्रार्थना करें ? नहीं,नहीं, भगवती गगा क्या स्वान्तर्यामी नहीं है ? उन्हें क्या अपने संन्यासी पुत्रके हृदयमें उमड़ती इस पावन अर्चनाके संकल्पका ज्ञान नहीं है ? यदि मेरा यह संकल्प मेरे प्राणप्रियतमके सुखार्थ है, तो भगवती गंगा इसे अवश्य पूर्ण कर देंगी। और यदि मेरा यह संकल्प मात्र मेरी कोई अहंकारगत मनोरुचि है तो मनको मारना तो मेरा परम धर्म है ही। मैं साधु हूँ, भिक्षुक थोड़े ही हूँ ।" ऐसा विचार करते हुए वे अपनी भावजगत्की अपार असीम विभु भूमिमें डूबने लगते हैं ।

"पू.गुरुदेवके सम्मुख प्रतिक्षण नव-नव शोभा धारण करनेवाला वृन्दावन

व्यक्त हो उठता है। उनके प्रियतम प्राणाराध्य उन्हे नव-नव निकुञ्जस्थलियोकी ओर, लता-पल्लवजालसे आवृत सुरम्य वनस्थलीकी ओर संकेतितकर वहॉकी शोभा निहारनेका आग्रह करते हैं। वे उन्हे एक-से-एक सुन्दर स्थानोंका दर्शन कराना चाह रहे है। उनके भावदृश्यकी गगा किनारे बैठे-बैठे अभूतपूर्व दशा हो उठती है। वे अपने जगत्में मञ्जुश्यामा भाव-भावित देखने लगते हैं – दल-के-दल मृग एवं मयूर अपनी भंगिमासे शुभ शकुनकी सूचना देते हुए उनके सम्मुख आते हैं, ललकभरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखते हैं, फिर चौकडी भरते नृत्य करते, सघन वनकी ओटमें छिप जाते हैं। उन्हींका अनुसरण करते श्रीकृष्णचन्द्र भी इस कुञ्जसे उस कुञ्जमें, कभी तटसे वनकी ओर, कभी वनसे कालिन्दीकूलकी ओर अनवरत विचरण कर रहे हैं। पू गुरुदेवके लिये भावजगत्मे यही गगा, कालिन्दी बन जाती है और ऋषिकेशके पहाड़, गिरिराज गोवर्धन। उन्हें ठीक अनुभव होता है, यहींसे तो कहीं पथ गया होगा सुरम्य गोवर्धनके गिरिप्रान्तमें। तरु-लतामण्डित कुञ्जोंकी राहसे वह अवश्य वहॉं पहुँचा देगा। उन्हें लगता है, सचमुच ही वे मृगशावककी तरह दौडकर एक बार तो उस परम सुन्दर अतिशय आकर्षक गिरिराजको छू लेते । पू गुरुदेवका ध्यान अपनी गिरिराजदर्शनकी वृत्तिसे न जाने क्यों अचानक ही निवृत्त हो जाता है। ऐसा प्रायः होता नहीं था। उनकी वृत्तियॉं प्राकृत धरातल पर अपने देहाध्यासको पकड़ गंगा किनारे ऋषिकेशके घाटपर पुनः आ जाती हैं। उनके सम्मुख पुनः भगवती गंगामें प्रवाहित वही दीपोंकी झलमलाती शोभा जगमगा उठती है। वे देखने लगते हैं – असंख्य दीपक भगवती गंगाकी प्रवाह-गतिकी धाराके साथ-साथ नाचते-बहते जा रहे हैं। अनेक दीपोके समूह यदा-कदा एक मालावत् गोलाकार हुए दीपमाला बना लेते हैं। ये मालाएँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो भगवती गंगाने असंख्य दीपमालाएँ पहनी हैं। पू.गुरुदेव अपने पार्श्वमें ही विराजित प्रियतम श्रीकृष्णकी ओर देखते हैं, और भावमें प्रश्न कर बैठते हैं –"प्रियतम ! कैसी शोभा है ?" वे नित्य उनके साथ ही रहते हैं, उनकी एक श्यामल बॉंह तो उनके दक्षिण स्कन्धसे सदा सटी झूलती ही रहती है। स्वप्न-जागरण वे उनके पार्श्वसे कहाँ हट पाते हैं ? "प्राणेश्वरी ! हम लोग भी भगवती गंगाका दीपार्चन करें ! " उनकी सुमधुर कण्ठध्वनि पू.गुरुदेवके कर्णरन्ध्रोंमें गूँज उठती है। अतिशय लज्जासे पू.गुरुदेव अपने प्रियतमके

पीतोत्तरीयमें मुख छिपा लेते हैं। 'जैसी तुम्हारी इच्छा !'

पू.गुरुदेवकी ज्योंही स्वीकृति मिलती है, एक विलक्षण खेल हो उठता है। सुदूर धारामें प्रवाहित दीपमालाओंमेंसे एक विशाल पुष्पभरा दोना जिसमें दीप-पंक्ति झलमलाती है, लहरियोंपर नाचता विपरीत प्रवाहमे चल पडता है। प्रवाहित गंगामें तो कुशल तैराक भी यदि चाहे कि धाराके विपरीत संतरण कर लूँ तो वह असंभव होता है। पहाडोंसे तीव्र प्रवाहमें उफनती धारा यद्यपि ऋषिकेश और गीताभवनके घाटोंमें पाट चौड़ा होनेसे शान्त प्रतीत होती है, फिर भी उसका आन्तरिक प्रवाह इतना तीव्र होता है कि मछलियाँ भी उलटी धारामें तैरनेमें कठिनाई अनुभव करती हैं। फिर एक सुकोमल दीर्घ हरे पत्तोंसे निर्मित विशाल दोना, जो पुष्पमालाओंसे पूर्ण हो और ऊपर घृतका प्रज्योतित दीप हो, विपरीत धारामें ऊपरी किनारेमें आसीन पू.गुरुदेवकी ओर चला आवे, इसे आठवाँ आश्चर्य ही तो कहा जायेगा ? किन्तु हुआ यही। ऋषिकेशमें गगाधाटपर प्रायः वायुका प्रवाह तेज ही होता है। वायुका दबाव गंगामें लघु-लघु लहरियाँ उत्पन्न कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था मानो गंगाका रोम-रोम एक सच्चे सतकी इच्छाको पूर्ण करनेको हर्षवश थिरक रहा हो। उन लघु-लघु लहरोंमें उस दीपकका न बुझकर अनवरत नाचना और विपरीत प्रवाहकी ओर आसीन गुरुदेवकी ओर बह उठना रोमाञ्चक था। लहरोंके मस्तकपर उस दीपकका नाचना भी अनोखा था। वह कभी दाहिने झुकता और कभी बाये झूमता। उसके दाहिने झुकनेपर यही सभावना प्रबल हो उठती थी कि जलप्रवाह कहीं उसे डुबो न दे। उसमें जलराशि न भर जाय। परन्तु तुरन्त ही वह बायें झूम जाता था। कभी लहरोंमें वह उत्तुंग उछाल लेता, और कभी ढलकावमें हिल्लोलित हो उठता। कभी अर्ध गोलाकार बहता, कभी पूर्ण चक्राकार नृत्य करता बहता। परन्तु शनैः-शनैः वह अग्रसर हो रहा था। दक्षिण दिशाके निम्न स्थलसे उत्तरको प्रवाहके उद्गमकी ओर। इस प्रकार आश्चर्यवत् नृत्य करता वह दीप पू.गुरुदेवके इतने निकट आ गया कि उन्होने उसे हाथसे ग्रहण कर लिया। पू.गुरुदेवको उस समय भगवती गंगाका प्राकृत प्रवाह दृष्टिगोचर ही नहीं हो रहा था। उन्हें तो वे लघु-लघु लहरियाँ माँ गंगाके करसरोज दृष्टिगोचर हो रहे थे, जिनसे माँ एक दीपक लेकर उन्हें प्रदान करने वात्सल्यसे भरी उनकी ओर आ रही थीं । पू.गुरुदेवने पुनः अपने

प्रियतमकी ओर देखा और उनकी स्वीकृति पाकर मुसकाते हुए वह दीपक अपने दोनों करपल्लवोंमें ग्रहण कर लिया। भावभरे मनसे पू.गुरुदेवने वह दीपक अपने प्रियतमकी ओर बढ़ाया और श्यामल एवं पद्मपल्लवी चारु भुजाओंने उस महाभाग्यवान् दीपकको पुनः गंगामें प्रवाहित कर दिया। पू.गुरुदेवके मुखसे उस समय गंगालहरीका पाठ मुखरित हो रहा था।

तीसरी घटना पू.गुरुदेवने जो श्रवणगोचर करायी थी, वह उनके काष्ठमौनके समयकी थी। काष्ठमौनके समय पू.गुरुदेवके चित्तकी क्या दशा थी, इसका एक चित्र उनके ही द्वारा , जैसा मुझे बताया है, उसे लिख रहा हूँ। वैसे वाणी द्वारा मुझे बतलाते हुए भी वे बारंबार यही तथ्य उजागर कर रहे थे कि स्थितिकी ठीक-ठीक व्याख्या तो हो ही नहीं सकती। वह स्थिति पूर्णतया अनिर्वचनीय है।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि जगत्में सर्वत्र जाग्रत्में स्पष्ट, अथवा स्वप्न एवं सुषुप्तिमें अस्पष्ट जो चैतन्य सत्ताकी अभिव्यक्ति होती है, इसीको शास्त्रीय भाषामें चिदाभास कहते हैं। इस चिदाभास एवं ज्ञानेन्द्रियोंसे जुड़े, विषयाकार हुए चित्तके द्वारा ही जीवोको ज्ञान होता है कि यह घडा है, यह मकान है। जगत्की जितनी भी जड वस्तुएँ हैं, उनका स्फुरण चिदाभासकी सहायतासे ही होता है। किन्तु सच्चिदानन्द वस्तु इस चिदाभाससे प्रकाशित नहीं होती। इसीलिये चाहे भगवान्का निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप हो, चाहे सविशेष श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि स्वरूप हो, ये भगवत्स्वरूप चिदाभाससे प्रकाशित नहीं हो सकते। भगवान्के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान होनेके लिये चित्तकी ब्रह्माकारता ही अपेक्षित है। वहाँ चिदाभास सर्वथा हेतु नहीं है। इसी प्रकार भगवान्के सगुण साकार स्वरूपके साक्षात्कारके लिये भी वृत्तियोंकी श्रीकृष्णाकारता ही अपेक्षित है। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि सूर्यको देखनेके लिये दीपकका प्रकाश निरर्थक है। उसमें दीपकके प्रकाशका कोई प्रयोजन ही नहीं होता। हाँ ! आँख खोलनेकी आवश्यकता है। काष्ठमौन ब्रह्मविद् संन्यासियोंकी वह स्थिति होती है, जहाँ उनकी वृत्ति ब्रह्मदर्शनके सिवा कहीं भी चलायमान नहीं होती । काष्ठमौन तभी सभव है जब किसीकी सभी वृत्तियाँ कूटकाष्ठके समान घन जड़ हो जाती हैं। इसी प्रकार सगुण साकारोपासक साधक भी जब अपने आराध्यको ही सर्वत्र देखता-देखता अपनी वृत्तियोंको अपने आराध्यमें इतना

घन डुबा देता है कि वृत्तिशून्य हुआ उसका देह मात्र धौंकनीकी तरह स्वभावसे सॉस भर लेता है और कूट काष्ठवत् पड़ा रहता है, तभी वह काष्ठमौनी होता है। कहनेका यही अर्थ है कि उन दिनों पू.गुरुदेवकी वही स्थिति थी। उनका शरीर अपने प्रारब्ध और स्वभावसे ही शौचस्नानादि, भोजनपानादि क्रिया कर लेता था, वृत्तियॉ निरन्तर डूबी रहती थीं, लीला-महासिन्धुके उत्ताल उच्छलनमें।

हॉ ! तो उस दिन स्वाभाविक ही पू.गुरुदेव गगातटपर स्वर्गाश्रममें डालमियाकोठीके सामनेके घाटपर शान्त बैठे थे। जब पू.गुरुदेवने काष्ठमौन लिया था, उनका प्रारम्भसे ही ऐसा संकल्प ही था कि यदि श्रीपोद्दार महाराज किसी कारणवश अति सचिन्त्य हो उठेंगे और उन्हें अपनी कुछ चिन्ता सुनाना चाहेंगे तो वे उस दिन अपनी वृत्तियोंको बहिर्मुखकर उनकी बात अवश्य सुन लेंगे। उस दिन ऐसी ही घटना संघटित हो गयी थी। पू.गुरुदेव अपराह्नकालमें स्नानार्थ गंगाघाट आये थे। वे जब भी गंगाघाट आते तो घण्टो ही मॉ गंगाके तटपर कटिभागतक जलमें खडे, मॉ गंगासे या तो मन-ही-मन वार्त्ता करते किंवा मूक गंगादर्शन करते रहते। शरीरसे तो लोगोको यही दृष्टिगोचर होता कि वे गगादर्शन कर रहे हैं, परन्तु उनका भावसंसार ब्रजप्रदेश एव उसमें घंटित होनेवाली अनेकों अतिशय रसीली लीलाओंमें प्रवाहित होता रहता।

उस सायंकाल भी वे तटपर कटिभागतक जलमें खडे थे। उनका शरीर तो अवश्य ही गंगामे खडा था किन्तु सत्यांशमें उनकी वृत्तियाँ सर्वथा ही उनके अपने देहको विस्मृत कर चुकी थीं। उनके स्थानपर पूर्णतया प्रकाशित थीं साक्षात् महाभाव-स्वरूपा भगवती श्रीराधारानी। उनका दृश्य भी यही था कि कालिन्दीके एक घाटमें जो नन्दभवनके दूसरी छोरपर है, वे सायंकाल स्नान करने आयी हैं और ठीक नन्दभवनके पिछवाड़ेके यमुनाघाटपर ब्रजेशनन्दन श्रीकृष्ण उनके प्रियतम गोचारणके पश्चात् स्नान कर रहे हैं। संयोग ऐसा ही होता है कि दोनो ठीक आमने-सामने हैं और मध्यमें बह रही हैं कालिन्दी अपने सुदीर्घ चौडे पाटको लेकर। दोनों ओर अतिशय सुरम्य रत्नमय घाटोंकी श्रृंखला निर्मित है। उस समय उनके संग तो उनकी इनी-गिनी सखियॉ हैं और उनके प्रियतम नन्दनन्दनके साथ मात्र एक गृहसेवक गोप।

वे दोनों सुदूर परस्पर विरुद्ध दिशामें स्नान करते एक दूसरेको देखते है। परस्पर दोनो ही के हृदयमे एक दूसरेके प्रति प्रीतिका स्रोत उमड़ उठता

है। चातक जिस प्रकार निर्झरकी, सरिताकी, सागरकी, वारि-धाराकी ओरसे मुख मोड़कर एकान्त मनसे स्वाति-बूँदोकी ही प्रतीक्षा करता है, तृषाकी ज्वालासे विहंगमके प्राण भले झुलस जावे, किन्तु अपने अभिलषित प्रियतम मेघके अतिरिक्त किसी अन्यकी ओर ताकता नहीं, इसी प्रकार दोनोंके ही प्राणोंमें एक दूसरेको प्राप्त कर लेनेकी उत्कण्ठा असीम वेगसे जाग्रत् हो उठती है। दोनोंके नेत्र परस्पर सुदूर दर्शनसे ही छलछला उठते हैं, वाणी गद्गद हो जाती है, रोमाञ्चित हुए शरीरसे दोनों अपने-आपको एक दूसरेके चरणोंमें पूर्ण समर्पण कर देनेकी लालसासे व्याकुल हो उठते हैं।

पू.गुरुदेवके प्राणवल्लभके अमृतस्यन्दी अधरोंपर तो एक विलक्षण चिन्मय स्मित सतत विराजित रहता ही है। किन्तु आज उसके नयन जब अपने प्रियतमसे मिलते हैं, उस समय उनके दृगोमे एक विचित्र स्पन्दनकी रेखा-सी नृत्य कर उठती है। इस स्मित एवं स्पन्दनकी छाया जब पडती है पू. गुरुदेवके अन्तःकरणमें तो अपने महाभावस्वरूप दर्पणके अनुरूप कुछ-न-कुछ किसी विशिष्ट लीलाका सकेत झर पड़ता है, उनके प्राणोंमें। आज भी यही हो रहा है। पू.गुरुदेवने अपने प्रियतमके अधरोंमें एक विलक्षण स्मितिकी और उनके दृगोंमें एक अपूर्व कटाक्षयुक्त स्पन्दनकी अनुभूति की है। और वे उसके अर्थानुसन्धानको पाने डूबते जा रहे हैं अपने अन्तःकरणमे।

इसी समय उनका ध्यान बहिर्मुख कर दिया पू.पोद्दार महाराजकी एक चिन्तित मुद्राने। श्रीपोद्दार महाराज अतिशय घबडाये उनके सम्मुख खड़े हो गये थे और चिन्तापूर्ण भाषामे कह रहे थे– बाबा ! जयदयाल डालमियाका पुत्र जयहरि कहीं मिल नहीं रहा है। हम सभीने उसे सर्वत्र खोज लिया है।

इन्हीं दिनों एक अत्यत कष्टप्रद प्रसंग घटित हो भी चुका था। श्रीबजरगलालजी आसोपा नापासरके अति प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। कुछ काल पूर्व उनका अग्रज पुत्र आत्मघातकर दिवंगत हो गया था। वे अतिशय अशान्त एवं दुखी हुए सत्सगके लिये सपरिवार श्रीपोद्दार महाराजके पास गीताभवन आये थे। किन्तु हा दैव ! यहाँ उनका दूसरा पुत्र भी गंगाजीकी भेंट चढ गया। कहाँ तो वे शान्तिलाभार्थ श्रीपोद्दार महाराजके पास आये थे, यहाँसे अपना दुख बढाकर पुनः नापासर लौटे। अब इधर जयहरिके नहीं मिलनेसे सम्पूर्ण डालमिया-परिवार भी इसी आशंकासे भयग्रस्त हो उठा कि कहीं जयहरि भी

गंगाजीमें ही डूब नहीं गया हो। हो सकता है कि नहाते समय उसका पैर फिसल गया हो और वह धारामें बह गया हो। उसकी खोजमे लोग यत्र-तत्र अनवरत दौड-धूप कर ही रहे थे। वैसे तो आन्तरिकरूपसे श्रीपोद्दार महाराज अत्यधिक विरक्त थे, किन्तु व्यवहारमें अपने शरणागत डालमिया परिवारपर आयी इस अनिष्टाशकासे उनका विचलित होना परम स्वाभाविक ही था। इसी मानसिक चिन्ताके आवेशमें उन्होंने पू.गुरुदेवको यह सूचना दे दी थी। पू. गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजकी बात सुन ली। वे अतिशय भावभरे तो थे ही। उनकी वृत्ति अतिशय सरस अपने लीलाजगत्से आधि -दैविक जगत्की ओर मुड़ गयी। वे मन-ही-मन माँ भागीरथीसे यह प्रश्न कर बैठे– माँ! पोद्दार महाराजकी बात तो तूने सुनी ही है । क्या वह बालक तेरे भीतर समा गया है ? यदि तेरे जलमें वह समा गया हो तो कृपया संकेत कर दे।

पू.गुरुदेवके द्वारा यह जिज्ञासा प्रकट होते ही उन्हें एक अतिशय मधुर ध्वनि कर्णगोचर हुई – "मेरे लाल ! वह मेरे अन्दर नहीं है।"

अब तो पू.गुरुदेवका हृदय भर आया। उन्हें आज अधिदैव जगत्की सर्वकल्याणमयी शक्ति गंगाकी वाणी तो सुननेको मिली। वे माँ गगाकी स्तुति कर बैठे– "माँ ! तू अपरिच्छिन्न ऐश्वर्यमयी है। तेरे स्वरूप, ऐश्वर्य, महिमा आदिका कहीं अन्त नहीं। माँ, नियामकरूपसे तू ही सबके बाहर-भीतर अवस्थित है। आत्माकी आत्मा है माँ, तू ! माँ ! तुझ महा-महामहिमामयी, सर्वकारण-कारणासे मैं कितनी तुच्छ माँग कर बैठा किन्तु जो सचमुच ही महान् है वह कहाँ देखती है अपने छोटोंके अपराधों की ओर ? अपनी अनन्त वात्सल्यभरी कृपामयतासे किञ्चित् भी विमुख न होकर तूने मुझ तुच्छ कीटवत् जीवके प्रति इतनी महान् ममता दिखाई। उसे सम्बोधितकर प्रत्युत्तर दे दिया। माँ ! दयामयी धन्य हो, धन्य हो, तुम्हारी सदा जय हो। "

यह कहते हुए पू. गुरुदेव अपने निवास डालमियाकोठी चले गये। उन्होने संकेतसे पू.पोद्दार महाराजको भी सूचित कर दिया कि 'जयहरि गंगाजीमे डूबा नहीं है। उसकी अन्यत्र पूरी खोज होनी चाहिये। '

कुछ काल पश्चात् ही सूचना मिल गयी कि जयहरि सत्संगहालमें ऐसे स्थानमें सो गया था, जहाँ उसके होनेकी किसी को भी संभावना नहीं थी ।

उसके मिल जानेसे सबकी चिन्ता दूर हुई।

# कुरुक्षेत्रकी महिमा

कुरुक्षेत्रकी महिमाका वर्णन वामनपुराणमें है। इस पुराणके बाईसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन आता है कि महाराज कुरुने पावन सरस्वती नदीके किनारे इस स्थानपर तप, दया, सत्य, क्षमा, शौच, दान, योग तथा ब्रह्मचर्य इन अष्टागधर्मकी कृषि करनेका विचार किया था। इनके साथ-साथ आध्यात्मिक शिक्षाका महाविद्यालय यहाँ बने –ऐसा विचार किया था। राजाने कृषिके लिये भगवान् शंकरसे उनका वाहन वृषभ और यमराजसे महिष माँग लिया। तब राजा कुरु कृषिके लिये भूमि तैयार करने लगे। जिस स्वर्णरथपर सवार होकर महाराज कुरु यहाँ इस पावन भूमितक पहुँचे थे, उस स्वर्णरथसे ही उन्होंने हल तैयार किया था। महाराज कुरुने इस प्रकार अपने पुरुषार्थसे ४८ कोस भूमि जोतकर तैयार की। जब भूमि उर्वरा हो गयी तो उनके पास क्रमशः इन्द्र और भगवान् विष्णु आये। दोनोने क्रमशः राजा कुरुसे एक ही प्रश्न किया –"राजन् ! भूमि तो उर्वर हो जायगी किन्तु तप आदि अष्टांगधर्मके बीज कहाँसे लाओगे ?" राजाने भगवान् विष्णुके सम्मुख अपनी दाहिनी भुजा प्रसारित करके कहा – 'मेरी पुरुषार्थस्वरूपा यह भुजा ही धर्मका बीज होगी।' भगवान् विष्णुने अपने चक्रसे वह भुजा काट दी और उन टुकडोसे इस उर्वरक भूमिमे अष्टागधर्मका बीजारोपण किया। भगवान् विष्णुने देखा कि मात्र एक भुजाके टुकडे करनेसे पूरी भूमिमे बीजारोपण सभव नहीं है तो उन्होंने पुनः राजासे बीजके लिये माँग की। राजाने क्रमशः बीजारोपणके लिये अपनी बाँयी भुजा, दोनो पैर, तथा अन्तमें अपना सिर भी भगवान् विष्णुको अर्पण कर दिया। भगवान् विष्णु महाराजा कुरुकी सर्वांग-आहुतिसे बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उनसे वर माँगनेको कहा। महाराजने भगवान् विष्णुसे यही वर माँगा कि जितनी भूमि मैंने जोती है वह सब धर्मक्षेत्र एवं पुण्यक्षेत्र होकर मेरे नामसे विख्यात हो। भगवान् शंकर और आपका समस्त देवताओंसहित यहाँ वास हो, तथा यहाँ किया हुआ स्नान, उपवास, तप, यज्ञ, तथा शुभ कर्म अक्षय हो। जो भी यहाँ मृत्युको प्राप्त हो वह अपने पाप-पुण्यके प्रभावसे मुक्त होकर स्वर्गको प्राप्त हो। भगवान् विष्णुने तथास्तु कहकर राजाके वचनोंका अनुमोदन किया।

तभीसे सरस्वती नदीके किनारे ऋषिगण सहस्रों विद्यार्थियोंको लेकर

इस भूमिमे निवास करते और यह भूमि सदैवसे ही धर्म एवं संस्कृतिकी शिक्षाकी सर्वोत्तम केन्द्र रही।

तीर्थयात्राट्रेनने थानेसरमें ही पड़ाव डाला था। यहीं प्रार्थना और सत्संग होकर यात्रीगण ब्रह्मसर, समन्तपञ्चकतीर्थमें स्नान करने गये। जन-साधारणमें इसे ही कुरुक्षेत्र सरोवर कहते हैं। यहाँ सरोवरमें दो द्वीप हैं। सरोवर लगभग १४४२ गज लम्बा और ७०० गज चौड़ा है। सन् १९४८में महात्मा गाँधीजीकी अस्थिभस्मका एक भाग इस पवित्र सरोवरमें बहाया गया था।

सरोवरके छोटे द्वीपमें गरुड़सहित भगवान् विष्णुका प्राचीन मन्दिर है। यह द्वीप एक पुलके द्वारा श्रवणनाथ मठके समीप उत्तरी तटसे मिला हुआ है। एक दूसरा पुल बड़े द्वीपके मध्यसे होकर सरोवरके उत्तरी तटसे दक्षिणी तटको मिलाता है। यहाँ अति प्राचीन चन्द्रकूप नामक पवित्र तीर्थस्थान है।

इसके उत्तरी तटपर प्राचीन मठ-मन्दिर एवं धर्मशालाएँ हैं। यहाँ श्रवणनाथकी हवेली विशेष उल्लेखनीय स्थान है। यात्रियों, साधु-महात्माओंके ठहरनेका उत्तम प्रबन्ध है। उत्तरी किनारेके मध्य कुरुक्षेत्र पुस्तकालय है, जिसे गीताभवन भी कहते हैं। उत्तर पश्चिममें बिड़लाजीकी ओरसे गीतामन्दिरका निर्माण हो रहा है। गुरु नानकदेवजी, गुरु गोविन्दसिंहजी तथा अन्य सिख गुरुओंने अपने-अपने समयमें इस पुण्यभूमिके तीर्थोंका दर्शन किया था।

पू.गुरुदेवको समन्तपञ्चकतीर्थमें स्नान करते समय एक परम दिव्य पुरुषके दर्शन हुए थे। उनके नेत्र अर्धनिमीलित थे और समग्र शरीरमें दिव्य तेजोमण्डल था। पू.गुरुदेवने अनुमान किया अवश्य ही वे गुरु नानकदेव ही रहे होगे। कुछ काल आशीर्वादकी मुद्रामें वे पू.गुरुदेवके सम्मुख खडे रहे फिर आकाशमें विलीन होगये।

---

# दिल्लीमें संत सरमदकी मजारपर

दिल्ली भारतकी राजधानी है। तीर्थयात्राट्रेन कुरुक्षेत्रसे दिल्ली पहुँची। दिल्लीमें पुराने किलेकी – जो यमुनातटपर अवस्थित है, पूर्वी दीवारके निकट झाडियोंमें एक छोटा भैरवमन्दिर है। कहा जाता है कि यह मन्दिर महाभारतकालीन है। महाभारत युद्धसे पूर्व भीमसेन काशीसे यह मूर्ति ले आये थे। यह मूर्त्ति युधिष्ठिर द्वारा पूजित थी। दीर्धकालीन मुसलमानी राज्यमें भी इस मूर्त्तिका सुरक्षित रहना अद्भुत बात है। भैरवाष्टमीपर यहाँ विशेष समारोह होता है।

पू. गुरुदेव इस मन्दिरका दर्शन करके लौट रहे थे। उनके साथ श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक,श्रीरामनिवास ढंढारिया आदि अनेक व्यक्ति थे। पू. गुरुदेव कारमें बैठे हुए थे। भैरवमन्दिरका दर्शनकर पू.गुरुदेव जामामस्जिदके पाससे निकले। पू.गुरुदेवको जामा- मस्जिदके पास एक विचित्र-सा अनुभव होने लगा। पू.गुरुदेवको अनुभव हो रहा था कि यहां महापापीको भी पाप्मुक्त कर देनेवाली परम पवित्र आध्यात्मिक स्तरकी तरंगें सर्वत्र व्याप्त हैं। पू. गुरुदेवने देखा कि आनन्दविह्वल हुए देववृन्द यहाँ अतिशय सुरभित कुसुमोंकी भर-भर अञ्जलि सुगनवृष्टि कर रहे हैं। यहाँ ऋषिकुलका भक्तिपूरित स्तवन, भगवत्पार्षदोका जय-जयनिनाद गगनके कण-कणको मुखरित कर रहा है। पू.गुरुदेव सुन रहे थे ऋषियोका स्तोत्रपाठ जनलोक, महर्लोक, तपोलोकतकको मुखरित कर रहा है। पू.गुरुदेव इस अद्भुत स्तवपाठका कारण जाननेको उत्सुक हो उठे।

पू. गुरुदेवने वहाँ अपनी मोटरगाडी रुकवाई। पू.गुरुदेव कारमें ही ध्यानस्थ हुए अन्तर्जगत्में डूबने लगे। उन्हें अनुभव हुआ कि यहाँ तो दिव्य प्रेमकी लहरें भी विद्यमान हैं। जामामस्जिद क्षेत्र तो चारों ओरसे गन्दे बूचड़खानों एव मासाहारी लोगोकी बस्ती है। ऐसे हिंस्र वातावरणमें ऐसी दिव्य शान्ति और प्रेमकी तरंगें और अन्तर्जगत्के ऋषिसमाज द्वारा वन्दना– पू.गुरुदेव कुछ भी समझ नहीं पाये।

उन्हे ध्यानस्थ होनेपर यही अनुभव हुआ कि अवश्य ही यहाँ किसी महासिद्ध सन्तकी उपस्थिति है। यदि वर्तमानमें ऐसा सिद्ध सन्त नहीं होगा तो अवश्य ही यह स्थान भूतकालके किसी महासिद्ध सन्तकी नियासभूमि रही

होगी। उसीके कारण यहाँका आध्यात्मिक वातावरण इतना सशक्त एवं जाग्रत् है। पू. गुरुदेवने यह बात अपने पार्श्वमें बैठे लोगोसे भी कही। पू.गुरुदेवके पार्श्वमें ही बैठे हिन्दूविश्वविद्यालयके अंग्रेजीके प्राध्यापक श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक उनकी सभी क्रियाएँ सूक्ष्म दृष्टिसे देख रहे थे। वे परमपूज्य मालवीयजी महाराजको प्रायः श्रीमद्भागवतकी कथा सुनाया करते थे। 'कल्याण-कल्पतरु'अंग्रेजी मासिकपत्रिकाके यशस्वी सम्पादक गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी अपने अध्ययन कालमें उनके शिष्य रह चुके थे।

श्रीयाज्ञिकजीने ज्योंही पू.गुरुदेवसे उनके विचित्र अनुभवकी बात सुनी, उन्होंने तत्क्षण ही कहा –"यहाँ जामामस्जिदके द्वारपर सिद्ध सन्त सरमदकी मजार है।" पू. गुरुदेव तत्क्षण ही उस मजारपर पहुँचे और वहाँ जाकर उन्हें अनुभव हुआ कि यहाँ तो रामजन्मभूमि अयोध्याके समतुल्य पवित्र तीर्थ–सरीखा वातावरण है। पू. गुरुदेवको ऐसी ही अनुभूति चित्रकूटमें रामघाटपर श्रीतुलसीदासजीकी निवासभूमिपर भी हुई थी।

श्रीयाज्ञिकजीने ही पू.गुरुदेवको मोटरमें बैठे-बैठे ही सरमदकी जीवनी भी सुनाई। सरमद ईरानसे सौदागरके रूपमें भारत आये थे। भारत आकर वे सूफी फकीर बन गये। पहले तो वे मुसलमान फकीर थे, किन्तु पश्चात् वे श्रीरामके सच्चे भक्त होगये। वे सदैव एक अवधूतके रूपमें नग्न विचरण करते थे। उन्हे भगवान् श्रीरामका साक्षात्कार हुआ था। भगवान्‌की रूपमाधुरीपर संत सरमद जी-जानसे फिदा थे। जिनके श्रीविग्रहकी मानस प्रतिमाको ही एकबार क्षणमात्रके लिये धारण कर लेनेके कारण न जाने कितनोंको परमपद, परमभक्तजनोचित गति प्राप्त हो चुकी है, जिनकी मानसिक मूर्त्तिमें अपनी भावनासे कल्पित, ध्यानपथमें क्षणमात्रके लिये उतरी हुई प्रतिकृतिमें ही सुदुर्लभतम गति दे देनेकी सामर्थ्य है, जिनके मात्र नामजपसे ही अनगिनत जीव दुर्लंघ्य भवसागरको गोपदकी तरह अनायास पार कर लेते हैं, वे नित्यसिद्ध परमानन्दघनविग्रह रघुकुलमणि दशरथात्मज स्वरूपानन्दास्वादन-परायण मायातीत भगवान् रामचन्द्र जब स्वयं भक्तश्रेष्ठ सरमदके हृदयमें अवतरित होगये, फिर उनके मन-प्राण उस अनिन्द्य सच्चिन्मय सौन्दर्य-माधुर्यपर दीवाने हो जावें, इसमें आश्चर्य ही क्या था ? वें अपने असीम भक्तिपूरित हृदयमें सुव्यक्त अपने आराध्यके महामरकत नीलश्याम अंगोंकी द्युतिमें ही खोये रहते। नीलमणिवत्

अवधबिहारी उनके हृदयका हार बन गये थे। उनके नेत्रोमे रामरूप-अंजन लगा ही रहता था, फिर उन्हें इस प्राकृत माया और मलिन नरदेहका कहाँ होश रहता ? औरंगजेबका बड़ा भाई दाराशिकोह इन्हें ही अपना पीर मानता था। मुल्ला-मौलवियोंको इस बातसे बडी चिढ थी कि एक मुसलमान फकीर हिन्दुओके देवी-देवताओंको माने। फकीर सरमद जामामस्जिदकी सीढियोंपर पड़े रहते थे, उनका कोई घर-द्वार तो था नहीं। वे एक काली कम्बल रखते थे, किन्तु उसे ओढते नहीं थे, नंगधड़ंग ही पड़े रहते थे।

एक दिवस औरंगजेबने उनसे उनके नंगे रहनेका सबब पूछा। वे जोरसे हँसकर बोले –'मूर्ख ! कहाँ नंगा हूँ ? खुदाने अपनी सारी नियामतके कपड़े तो मुझे पहना ही रखे हैं, तुझे नहीं दिखते तो मैं क्या करूँ ?' इसपर औरंगजेबने पूछा कि इस काली कम्बलको क्यों रखते हो? सरमदने उत्तर दिया –'यह तो तेरे कुकर्मोंसे काली हो गयी है। बेपर्द होना चाहता है तो इस कबलको देख ले। ' कहते हैं कि ज्योंही सरमदने यह कहते हुए उस कंबलकी तहोंको उघाडा उसमें दारा, मुराद आदि भाइयोंके कटे हुए सिर औरंगजेबको दिखाई पड़े।

फिर भी मजहबी जुनूनके कारण संत सरमद धर्मान्ध औरंगजेबकी आँखकी किरकिरी बने ही रहे। वह सरमदकी रामभक्ति और हिन्दूपरस्तीको गवारा नहीं कर पा रहा था। उसने सिद्ध सन्त सरमदको मौतकी सजा दे दी। एक मोहतरम फकीरके लिये सजा-ए-मौत जैसी नापाक बातसे लोगोंके दिल तडप उठे। हिन्दू-मुसलमान सभीके लिये यह दर्दभरी बात बरदाश्तके बाहर थी। लोगोंकी निगाहे नफरतसे भर गयीं। कुफ्रके नामपर सिद्ध सन्त सरमदको मारनेके लिये कोई जल्लाद ही तैयार नहीं हुआ। लोगोंमे इतनी उत्तेजना थी कि औरंगजेबको जगह-जगह सेना तैनात करनी पड़ी। काफी इनामका लालच देनेपर एक जल्लाद तैयार हुआ। जब संत सरमदके कत्लका हुक्मनामा काजीने ऐलान किया तो हमेशाके लिये जुदा होनेवाले शाह सरमदके कदमोंमे आखिरी सिज्दा अदा करनेके लिये तमाम लोग भी इकट्ठे थे। इस इकट्ठी भीड़के सामने शाही हुक्मके मुताबिक संत सरमदको कत्ल कर दिया गया।

जब संतका कत्ल किया गया उस समय असंख्य दर्शकोंके सम्मुख एक विलक्षण चमत्कार हुआ। शाही हुक्मके मुताबिक संत सरमदका सिर जब

यशोदानन्दन पीतवसन माधव मुरलीधर जय हे !

धडसे पृथक् किया गया तो धड़ने कटे सिरको अपने हाथमें उठा लिया। अपने ही सरको हाथमें लिये धड जामामस्जिदकी सीढ़ियोंपर चढ गया। उस समय इतना जोरका भूचाल आया कि दिल्ली शहर काँप उठा। वहाँ तमाशाबीनोंकी सारी भीड़ डरके मारे थर्रा उठी। उस ...मे एक और फकीर था। उस फकीरने पुकार कर कहा– ओ सरमद ! यह इजहारे तैश फकीरके लिये मुनासिब नहीं है। इतना सुनते ही सर सहित वह धड सीढ़ियोसे नीचे उतरने लगा ओर जहाँ कत्ल किया गया था, वहाँ आकर धड जमीनपर गिर पडा। कहते हैं उसी जगह संत सरमदको दफना दिया गया। श्री याज्ञिकजी पू. गुरुदेवको निवेदन कर रहे थे कि यही वह जगह है और इसी जगह उनकी मजार है। पू.गुरुदेवको जो दिव्यानुभव हुआ है, वह संत सरमदकी भावगरिमाके कारण ही हुआ है। पू.गुरुदेवने महासिद्ध सन्त सरमदको प्रणाम किया। इस दिव्यानुभवके पश्चात् पू. गुरुदेव चाहने लगे कि संत सरमदकी जीवनगाथा प्रकाशमें आवे।

श्रीलखपतरायने, जो गोस्वामी चिम्मनलालजीकी रुग्णताके समय बहुत दिनोंतक कल्याण-कल्पतरुका कार्य देखते थे, आगे चलकर संत सरमदके जीवनवृत्तको बहुत ही परिश्रमसे लिखा। 'श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार स्मारक समिति'ने यह अंग्रेजी भाषामें लिखा जीवनवृत्त पुस्तकाकाररूपमें प्रकाशित कराया है।

# मथुरा तथा ब्रजयात्राके दिव्यानुभव

दिल्लीसे किञ्चित् विलम्बसे चलकर यात्राट्रेन ब्राह्ममुहूर्तके पूर्व ही मथुरा पहुँच गयी थी। पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज बिडला धर्मशालामें जो वृन्दावन एवं मथुराके मध्य है, ठहरे। पू.गुरुदेव तो ब्रजपुरमें प्रवेश हो रहे हैं, मात्र इस कल्पनासे ही दूसरे लोकमें चले गये थे। पू.गुरुदेवके चित्तमें तो नित्य वृन्दावन व्यक्त हो उठा था। अतः श्रीपोद्दार महाराजके द्वारा इतना कहते ही कि "बाबा ! हम लोग अब ब्रजमें प्रविष्ट हो रहे हैं,– पू.गुरुदेवके मानसमें गोपों द्वारा विविध मंगल वाद्योंकी ध्वनि और आभीर सुन्दरियोंके मंगलगायनका उपक्रम प्रारभ हो गया था। पू.गुरुदेवके मानसनेत्र निरीक्षण कर रहे थे–"स्वर्णिम

रविरश्मियोंके आलोकमें ब्रजपुरी जगमगा रही है। चतुर्दिक् कदलीस्तम्भ, द्वार-द्वारपर स्वर्णके मंगलघट, ध्वजा-पताकाएँ, बन्दनवार, पुष्पवितान-कलामर्मज्ञ गोपो द्वारा सजी-सजायी पल्लव-पुष्पमय ब्रजपुरी पू.गुरुदेवके भाव-नेत्रोंमें क्रमश सुव्यक्त हो उठी थी। इस ब्रजपुरीको तो वे नित्य ही देखते हैं, उसीमें भावसे एक आभीरवधू बने वहाँ नित्य निवास भी करते हैं। प्रतिक्षण ही तो गोपराज श्रीनन्दराय की यह पुरी उन्हें नवनवायमान नूतन सुन्दर होकर ही दिखती है। कलामर्मज्ञ गोपगण प्रतिदिवस ही तो इस बृहद् वनका पुष्प-पल्लवोंसे श्रृंगार करते हैं, परन्तु विलक्षणता यही होती है कि प्रतिदिन ही इसकी आकृति नवीन सुन्दर हो जाती है। पू.गुरुदेवका रोम-रोम उल्लाससे भर जाता है। पू.गुरुदेव देख रहे हैं– मंगलगान करती हुई, विविध वेषभूषासे सज्जित, हाथमें मगलद्रव्यपूरित थाल लिये दल-की-दल गोपसुन्दरियॉ नन्दभवनकी ओर आ रही हैं। इधर यशोदा मैया उमंगमें भरे गोपशिशुओके साथ न जाने कहॉ-कहॉ उछलते -फिरते अपने नीलमणिको ढूँढ़नेमें व्यस्त है। उन्हें अपने पुत्रका स्नान-श्रृंगार भी तो करना है। बलरामजी तो न जाने कबसे स्नान-श्रृंगारकर सजे खड़े हैं। परन्तु नीलमणिकी स्वाभाविक चंचलता यशोदाको सभी दैनन्दिक कार्य दुरूहतासे ही करने देती है। ढूँढनेपर यशोदानन्दन अपने सखाओके साथ हँसते और मन्त्रणा करते दिख ही जाते हैं। अनन्त वात्सल्यपूरित करोंसे ब्रजरानी पुत्रके महामरकत अगोंमें उबटन लगाती है। फिर नन्दभवनके पिछवाड़े ही बहती 'यमुना'में स्नान कराने ले जाती है।

इधर तो पू.गुरुदेव अपने भावराज्यमें 'यमुना'का दर्शन करते होते हैं, इतनेमें ही पोद्दारजी उन्हें यमुनास्नान करानेके उद्देश्यसे कह उठते हैं – 'बाबा ! चलिये, यमुनास्नानके लिये चला जाय।'' श्रीपोद्दार महाराजके मुखसे 'यमुना' पावन नाम सुनते ही पू. गुरुदेवमें विलक्षण कम्पोदय होने लगता है। श्रीपोद्दार महाराज किसी प्रकार उन्हें सम्हालते हैं। पू.गुरुदेव पूरे भ्रान्त हैं, उन्हें बाह्य जगत्का होश नहीं है, ऐसा समझते हुए वे उनका हाथ पकड़कर बिड़ला धर्मशालाके पिछवाड़े कुछ दूरीपर बहती 'यमुना'की ओर ले चलते हैं। पू. गुरुदेव एवं पोद्दार महाराज 'यमुना' स्नानको जा रहे हैं, ऐसा ज्ञांत होनेसे अनेक अन्य महानुभाव भी उनके साथ ही यमुनास्नानको चल पडते हैं। पू. गुरुदेवको अपना हाथ पकड़े पोद्दारजी दृष्टिगोचर होने ही बन्द हो जाते हैं।

उन्हें तो यही दिखता है कि त्रिभुवनमोहन सौन्दर्यसे सर्ववातावरणको स्निग्ध करते प्रियतम नन्दनन्दन ही उनका हाथ थामे उन्हे 'यमुना' घाटकी ओर ले जा रहे हैं। वे स्वयं भी अपने देहकी सुधि भूल जाते हैं। उन्हें अपने स्थानपर राधानुजा अनंगमंजरी (मञ्जुश्यामा) ही दिखती हैं। पू.गुरुदेव अपने आराध्य प्रियतम श्यामसुन्दरकी सौन्दर्यसुधाका पान करते उनसे सटे-सटे परम अनुगतकी तरह यमुनाकी ओर बढ़ते हैं।

पू.पोद्दार महाराजके साथे-साथ जो अन्य लोग भी चल रहे थे, वे भी पू.गुरुदेवको 'कुछ और' ही, उनकी भावाभिव्यक्तिके अनुरूप भिन्ने-भिन्न ब्रजजगत्के जीव ही दिख रहे थे। पू. पोद्दार महाराजने हाथ पकड़कर ही पू. गुरुदेवको यमुनामें डुबकी लगवायी। पू. गुरुदेव तो दूसरे ही राज्यमें थे। अपने प्राणप्रिय शिष्यकी भावदशा देखे-देखकर श्रीपोद्दार महाराजके नेत्र छलछल करने लगे। पू.गुरुदेवको तो यह भी ज्ञान नहीं था कि उन्हें धोती-वस्त्र भी कैसे लपेटना है , एवं पुरातन भीगे वस्त्रको भी उतारना है। उनके तो प्रणयसिन्धुमें आवर्त्त-पर-आवर्त्त उठ रहे थे। उन्हे दिख रहा था -- "वे अपने प्रति अपने प्रियतमके प्रेमावेशकी विलक्षण झाँकी देखते हैं तो उनके नेत्र निर्झरकी तरह बहने लगते हैं, और उन्हें स्वेद, कम्प, आदि प्रेमविकार हो उठते हैं। श्रीपोद्दार महाराजके मनमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाका प्रेमावेश देख-देखकर विलक्षण आनन्दजन्य रोमाञ्च होता है। सहसा यमुना पुलिनमें स्नानार्थ और भी भीड़ आ जाती है। अचिन्त्य लीलामहाशक्ति समयोचित कार्यनिर्वाहके लिये पू. गुरुदेवका भाव शिथिल कर देती है। इस प्रकार तीर्थयात्राट्रेनका प्रथम प्रहर व्यतीत होता है।

मथुरा स्टेशनपर तीर्थयात्राट्रेनको मात्र दो दिवस ही रुकना था। दूसरे दिवस सायंकाल ही उसे प्रस्थान करना था। अतः बिड़ला धर्मशालामें तो पू. गुरुदेव एवं पोद्दार महाराजका अति अल्पकालीन ही निवास रहा। कुछ ही कालमें सभी मोटरोंसे गोवर्धन परिक्रमार्थ चल पडे। श्रीपोद्दार महाराजको गिरिराज गोवर्धनकी परिक्रमा करनी ही थी। पू. गुरुदेव भी श्रीपोद्दार महाराज एवं यात्रियोंके सहित प्रथम दिवस ही गिरिराजकी पूरी परिक्रमा करके बिडला धर्मशाला' लौट आये थे। सायंकाल अतिशय थके होनेके कारण वे भिक्षाके पश्चात् विश्राम करने लगे।

पू.गुरुदेव सदैव ब्राह्मबेलामे ही उठ जाया करते थे। किन्तु विगत दिवस श्रीगिरिराज गोवर्धनकी लम्बी परिक्रमा करनेके कारण लगभग सात बजेतक लेटे रहे। वसन्त ऋतु होनेके कारण सूर्योदय अभी हुआ ही था। पू. गुरुदेवने ज्योंही अपना कक्ष खोला कि एक सन्त चट-से उनके कमरेमें प्रवेश कर गये। प्रवेश होते ही उन्होने कक्षकी भीतरसे अर्गला भी लगा ली। यह सर्वथा एक चकित करनेवाली बात थी।

पू.गुरुदेवकी भावदशा देखते हुए एवं तीर्थयात्राट्रेनमें आनेवाली भीड़से उन्हें बचानेके लिये श्रीपोद्दार महाराजने ऐसा नियम बना दिया था कि उनसे बिना अनुमति लिये कोई भी व्यक्ति पू.गुरुदेवके कक्षमें प्रवेश नहीं कर पावे। श्रीपोद्दार महाराजने श्रीभगतजी एव श्री रामसनेहीजी नामक अपने दो अति विश्वस्त सेवकोको पू. गुरुदेवके निवासका पहरेदार नियुक्त कर दिया था। ये दोनों सेवक सदा सावधान रहते थे, जिससे कि किसीके भी द्वारा कोई व्यवधान पू.गुरुदेवके जीवनक्रममें उपस्थित नहीं हो। इतनी सावधानीके उपरान्त भी ये सन्त पू.गुरुदेवके शयनकक्षमें प्रवेश पा गये, यह बात पू.गुरुदेवको अवश्य अटपटी लगी। बिना किसी विशेष रहस्यके इस प्रकारका साहस किसीको नहीं ही करना चाहिये।

भीतरसे अर्गला लगाकर वे संत हाथ जोड़कर पू.गुरुदेवके सम्मुख खडे हो गये। विनम्रताके आधिक्यमें उनकी कमर कुछ झुकी हुई थी। घुटने भी कुछ-कुछ विनीत थे। संतजी गौरवर्णके थे, उनकी दाढी शुभ्रवर्णकी थी, उनके मुखमण्डलसे शुद्ध सात्विकता छलक रही थी और तेज छिटक रहा था। उनका समग्र शरीर ही दिव्य तेजसे दिपदिपा रहा था। इतना ही नहीं, ज्योंही वे हाथ जोड़कर खडे हुए उनके कपोलयुग्मपर स्वेद विन्दु इस शीतमें भी झलमल कर रहे थे। उनके नेत्र भी झर-झर अश्रु प्रवाहित करने लगे थे। पू. गुरुदेव इन महापुरुषकी इन उपर्लिखित अगणित प्रेमिल चेष्टाओंको अति सूक्ष्म पारखीकी तरह देख रहे थे। पू.गुरुदेवका हृदय भी आर्द्र हो रहा था।

पू.गुरुदेव समझ रहे थे कि यद्यपि इनके साथ रामसनेही, भगतजी अथवा कोई सुपरिचित व्यक्ति नहीं है, अतः निश्चय है कि ये पोद्दार महाराजकी अनुमति लिये बिना ही चले आये हैं। किन्तु फिर भी उनकी भावदशा एवं विनम्रतासे प्रभावित हो पू.गुरुदेव उनसे प्रश्न कर बैठे – "प्रभो ! क्या मैं

आपके साधुकलेवरका परिचित जान सकता हूँ ?"

पू. गुरुदेवके प्रश्नमें भी उनके अन्तस्तलमे प्रवाहित अनाविल प्रेम सिन्धुकी उर्मियाँ फूटी पड रही थीं।

वे संत भी प्रेममें विभोर थे। दोनों ओर मधुरातिमधुर प्रीतिवर्षा, दोनों ओर परमानन्दमें निमग्नता, दोनों ही परस्पर एक दूसरेपर रसप्लावन, रसवर्षा कर रहे थे। दोनों सन्तोंकी मुद्राओंमें, नेत्र-भंगिमाओंमें, रोम-रोममें, परम सात्विक विनय भरा था। समागत संत कहने लगे –" प्रभो ! मैं तो भानुनन्दिनी किशोरीरानीका एक किंकर हूँ।आज निशाके द्वितीय प्रहरमें उनका स्वप्नमे आदेश हुआ – 'जाओ ! बिड़लामन्दिरमें जाकर श्रीराधाबाबा नामक मेरे परम प्रेमी सन्तके दर्शन कर आओ। वे मेरे निज जन हैं।' स्वप्नमें उनके संकेतसे ही मुझे आपका यह शयनकक्ष दिखलाया गया और दिशाका निर्देश भी हुआ कि किस प्रकार जाना है, और कैसे दर्शन करना है। स्वामिन् ! मैं तो अक्षरशः उनकी आज्ञा शिरोधार्यकर, जैसा उन्होने निर्देश दिया, पथ बताया, उसके अनुसार चला आया हूँ। "

यह सुनते ही पू.गुरुदेवके नेत्र आनन्दातिरेकसे रह-रहकर छलक उठे। उठते हुए प्रेमभावोसे अन्तर्हृदय अत्यधिक मसृण हो गया। उनकी अञ्जलि बँध गयी है। ये सन्त न जाने कितनी दूरसे पैदल चलकर आये हैं। न जाने कितनी देरसे ये मेरे द्वारमोचनकी प्रतीक्षामें खड़े रहे होंगे ! अहा ! जिन्हें स्वयं श्रीराधारानी स्वप्नादेश दें, उनकी महिमाका क्या और कैसे बखान किया जाय ? श्रीकिशोरीरानीने इन्हें मेरे पास भेजा है, ये मेरे लिये तो किशोरीस्वरूप ही हैं। इनकी मैं क्या सेवा करूँ ? इस प्रकार मन-ही-मन अपनी निर्मलतम स्नेहराशिकी सहस्त्र-सहस्त्र धाराएँ प्रवाहित करते और उनसे उन सन्त महोदयको अभिषिक्त करते पू.गुरुदेव उनसे कहने लगे –"प्रभो ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?" पू.गुरुदेवके मुखसे तो मात्र इतने ही शब्द निकल पाये किन्तु उनकी अन्तर्भावराशिसे उन सन्तप्रवरपर असंख्य आशीर्वाद और मंगलकामनाएँ फूट पड़ीं ।

जिन श्रीराधारानीके नामके मात्र अग्रिम अक्षर 'रा'को सुनते ही रमावल्लभ श्रीकृष्ण अपनी सर्वप्रिय अनमोल भक्तिका दान कर देते हैं और 'धा' शब्दके श्रवणमात्रसे उसके सदा-सदाके लिये अनुचर – दास हो जाते हैं, उन

महा-महामहिमामयी किशोरीने इनको स्वयं अपने मुखसे आदेश देकर मेरे पास भेजा है, मैं अपने सौभाग्यकी सचमुच ही किन शब्दोंमें स्तुति करूँ ? यह मेरा परम पावन सौभाग्य है कि इनका मुझे दर्शन मिला। पू.गुरुदेवतो उपर्युक्त धारामें ही विचार कर रहे थे।

इधर उन सन्त प्रवरका मस्तक भी पू.गुरुदेवके चरणोंमे अति विनीत हो गया। " बस ! आपका दर्शन मिल गया, इससे अधिक और इसके अतिरिक्त ऐसी कौनसी निधि है, जिसकी मुझे कामना हो ।" मुखसे तो वे इतना ही बोल पाये, किन्तु उनकी मनोवाणी कितनी ही बातें गोपनरूपमें कहने लगीं – "आपके तो स्वप्न-जागरणका अणु-अणु ही श्रीराधामाधव हैं। आपकी जीवनचर्याका प्रमुख अग ही श्रीकिशोरीरानीकी सुखसेज-सेवा है। आपके प्राणोंका आधार श्रीराधामाधवकी प्रीति है, श्रीकिशोरीरानीके क्षण-क्षणके सांन्निध्य बिना आपका तो प्राणधारण ही संभव नहीं। आप तो उनके ही लीलामृत-सिन्धुमें आपाततः डूबे हैं। हमें तो यदा-कदा स्वप्नादिमें रानीकी छबिकी एक किरणभर प्राप्त होती है तो हम धन्य-धन्य हो उठते हैं, आपके तो सम्मुख वे साक्षात् नित्य विराजित रहकर अपना प्रत्यक्ष नेह-प्रवाह बहाती हैं। उनके सच्चिन्मय कुन्दनद्युति अंगोंसे लीलाका नित्य नवीन, नित नूतन पावन स्रोत क्षण-क्षण आपके हृदयमें झरता रहता है। आपके अन्तस्तलमें उसकी एक-एक बूंद एकत्रित होती अथाह सिन्धु बन बैठी है, उस लीलासिन्धुका तरगायमान होना ही आपका देखना, हँसना, बोलना, खाना-पीना सर्वांग चरित्र है। वह अपरिसीम प्रेमप्रवाह, लीला-उच्छलन, आपके अन्तर्देशमें सीमित रह जो नहीं सकता, आपके श्वास-प्रश्वाससे बाहर लहराने लग जाता है। आपके शब्द चाहे कुछ भी हों, आपके तो अणु-अणुसे निरन्तर प्रीतिकी अनन्त धाराएँ दसों दिशाओंको परिव्याप्त करती रहती हैं।श्रीकिशोरीजीने जो आपकी महिमाका संकेत किया और उनके आदेशानुसार मैं आया, मेरा आपके चरणोंमें आना सार्थक हो गया। "

इन सन्तप्रवरके जो भी श्रद्धाभाव थे, उस भाव-प्रवाहको पू.गुरुदेव पूरा हृदयंगम कर लेते हैं। किन्तु मुखसे इतना ही पूछते हैं –" आप कहाँ निवास करते हैं ? "

समागत सन्तप्रवर उत्तर देते हैं –' मैं तो वृन्दावनमें ही रहता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता। भिक्षावृत्ति ही मेरे शरीरनिर्वाहका आधार है।'

पू.गुरुदेव पुनः जिज्ञासा करते हैं –' आप बाहर कबसे खडे थे ?'

सन्त महोदय उत्तर देते हैं –" लगभग दो-ढाई घण्टेस खडा था। स्वप्नादेशके पश्चात् निद्रा टूट गयी। स्नानादिसे निवृत्त होकर बिडलामन्दिरके लिये चल पड़ा। प्रातः ब्राह्मबेलामें चार बजे यहाँ आ गया था। तबसे प्रतीक्षातुर था, कब आपके पट खुलें और दर्शन लाभ हों। "

पू.गुरुदेव समझ गये कि इन सन्तका हृदेश किशोरीरानीके परम रसमय प्रेम-स्रोतमें तन्मय हो चुका है। ये तो प्रेम-मन्दाकिनीकी सरस धारा-जैसे हैं, जो सघनवनकी ओटमें लुप्त हो जाती है और अनुकूल धरातलपर पुन व्यक्त हो उठती है। पू.गुरुदेवके सम्मुख उन सन्त महोदयने भी अपने जीवनका सारा रसंमय रहस्य खोलकर रख दिया। वे सन्त यही कह रहे थे कि 'उनकी भावधारा एकरस नहीं रह पाती। कभी उद्दीपित हो उठती है और कभी लुप्तप्राय हो जाती है। जब भाव-रसधारा विलुप्त होती है तो वे 'राधा' नामसंकीर्त्तन करने लगते हैं। फिर उद्दीपनकी कोई-न-कोई वस्तु स्पर्श करती है और पुनः लीलाप्रवाह चल पडता है।

उन सन्त महोदयने आगे कहा कि 'बरसानेमें एक गृहस्थ सन्त हैं, उनका नाम है मोहिनीश्याम। ये अतिशय गुप्त सन्त हैं। बाह्यरूपसे इन्होंने अपनेको ऐसा बना रखा है कि कोई इनको पहचान ही नहीं सके, किन्तु ये किशोरीजीके गहरे प्रेममें छके परम कृपापात्र संत हैं। इनकी लीला-रसधारा निरन्तर एकरस स्वप्न-जागरण अविच्छिन्न प्रवाहित होती रहती है। यदि संभव हो तो आप इनसे अवश्य मिलें ।"

लगभग दो घडी ये सन्त महोदय पू.गुरुदेवके पास रहे होंगे। यह कालक्षेप ऐसा हुआ जिसमें पू.गुरुदेव और उन सन्त –दोनोंके प्रेमाह्लादकी सीमा नहीं थी। फिर उन्होंने जानेके लिये पू.गुरुदेवसे आज्ञा माँगी। पू.गुरुदेव उनको पोद्दार महाराजसे मिलाना चाहते थे, परन्तु उनको रोकना संभव नहीं था। पू.गुरुदेवने भी उनके जानेकी उत्सुकता देखकर उन्हें विदाई दे दी। वे अति शीघ्रतासे पू. गुरुदेवके कक्षसे बाहर हो गये। पू.गुरुदेव यह देखने के लिये कि ये किधरसे जाते हैं बिड़ला धर्मशालाकी छतपर चले गये। पू.गुरुदेवने देखा कि भावोन्मत्त दशामें अपने हाथ ऊपर किये हुए वे वृन्दावनकी ओर तीव्र गतिसे चले जा रहे थे। उनकी चालकी गति इतनी तेज थी कि उसे लगभग दौड़ना ही कहना चाहिये।

# महासिद्ध सन्त श्रीमोहिनीश्यामजी

इस वर्तमान युगमें जहॉं कि वर्तमानकाल भारतीय संस्कृतिके त्यागमूलक आचारको ही सर्वथा नष्ट कर देनेपर तुला है , वैश्यकुलमें जहाँ जीवनका लक्ष ही अर्थोपार्जन-प्रधान रहता है, विलक्षण त्यागी पुरुषोंका जन्म होना आश्चर्यचकित कर देनेवाला तथ्य है।

यह सुनिश्चित है कि सन्तों-भक्तोंकी कोई जाति नहीं होती। किन्तु एक समय था जब भक्तिके आचार्योंमें उच्चवर्गीय ब्राह्मणोंका वर्चस्व रहा। आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज, वल्लभ, रामानन्द, भक्तशिरोमणि चैतन्यदेव, परमत्यागी रामभक्त तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, हितहरिवंश, हरिदास, भक्त नरसी एवं इन सबकी सदियोंतक चलीं शिष्य एवं वंशपरम्पराएँ भी ब्राह्मणों द्वारा ही प्रतिष्ठापित रहीं। वैश्य जाति तो प्रायः अर्थोपार्जनरूप सांसारिक विषयोंके कूडे-कर्कटसे ही भरी रही। वैश्योंको तो जन्मघुटीके रूपमें ही अर्थोपार्जनकी कला सिखाई जाती थी। हाँ ! वे कुए, बावड़ियाँ, धर्मशालाएँ, मन्दिर, अन्नक्षेत्र, प्याऊ, संस्कृत पाठशालाएँ, ब्रह्मभोज, यज्ञ, औषधालय आदि स्थापितकर अर्थदानके रूपमें समाजकी अवश्य सेवा किया करते थे, परन्तु इस सेवामें भी उनकी यशलिप्सा और नामार्जन करनेकी प्रवृत्ति ही प्रमुख रहती थी।

वैश्योंमे कतिचित् भी ऐसे भक्त उत्पन्न नहीं हुए जो प्रेममें तन्मय होकर मतवालोंकी तरह घर-बार, स्त्री-सुख, लोक-परलोक, हर्ष-शोक, मानापमान आदि सबका विसर्जन करके उस परमात्माके लिये परम व्याकुल हो उठे हों। भगवान्के वियोगमें जो जलसे अलग हुई मछलीके समान छटपटाने लगे हों, भक्तिमती गोपियोंकी भॉंति जिनके प्राण विरह-वेदनासे व्याकुल हो उठे हों।

यह परमाश्चर्यकी ही बात थी कि इस कालमें वैश्यजातिमें उत्पन्न हुए दो परम प्रेमी भगवद्भक्त श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार और श्रीमोहिनीश्यामजी ऐसे जन हुए जिन्होंने अपने जीवनका परम एवं चरम लक्ष्य नित्य नूतन नीलनीरजकान्ति श्यामसुन्दर एवं कुन्दनरुचा श्रीराधारानीकी विश्वविमोहिनी प्रीति-माधुरीको स्वीकार किया और अपने हृदयमें प्रिया-प्रियतमकी तीव्रतम विरहाग्नि प्रज्वलित की । यह विरहाग्नि ऐसी नहीं थी कि बाहरसे इसे कोई

देख-जान सके। इसका बाह्य अनुभव होता ही नहीं। यह विरह-ज्वाला तो किसी महाभाग्यवान्‌के भीतर ही-भीतर प्रज्वलित होती रहती है, और किसी दिन इससे उत्पन्न हुई वेदना जब सर्वथा असह्य होकर बाहर फूट पड़ती है तो उस विरले विरहीको प्रेममें पागल बना डालती है। उस समय वह अनन्य प्रेममे मतवाला भक्त ब्रजगोपियोंकी भाँति सब कुछ भूलकर उस प्राणाधिक मनमोहनके दर्शनके लिये दौड़ पड़ता है और अपनी सम्पूर्ण शक्ति, सारा उत्साह लगाकर उसको पुकारता है। बस, इसी अवस्थामें उसे भगवान्‌के दर्शन प्राप्त होते हैं। श्रीपोद्दार महाराजकी इसी दशाका द्योतक यह पद है:

**अब तो कुछ भी नहीं सुहावै एक तुही मन भावै है।**
**तनै मिलणनै आज मेरो हिवड़ो उझल्यौ आवै है ।।**

श्रीमोहिनीश्यामजीकी यद्यपि कोई पदरचना तो उपलब्ध नहीं होती किन्तु उनके जीवनमें जब विरह-दशा उद्दीप्त हुई तो वे विकल होकर पागलकी तरह रोते थे। लेखक इन भक्तराजके घरमें अनेक बार गया है और इन सुदुर्लभ संतके परिवारसे लेखकके आत्मीयताके सम्बन्ध भी स्थापित हो गये थे।

श्री मोहिनीश्यामजीकी पत्नीने लेखकसे यही कहा था कि एक बार ये लाडिलीजीके मन्दिर बरसानेमें सीढियोंमें बैठे थे। वहींसे इनकी ऐसी पागल दशा हो गयी। अ.सौ.माताजी (श्रीभक्तराजजीकी पत्नी)की सुदृढ़ मान्यता थी कि इन्हे विकट ब्रह्मराक्षस प्रेतने आक्रान्त कर रखा है,जो बडे-बडे ओझाओंसे भी उतारा नहीं जा सका है। लेखक अ.सौ.पू.माताजीकी बातें सुनकर हँसने लगता था।

श्रीमोहिनीश्यामजीके पिताका नाम वनखण्डी था। ये कोसीकलाँ (ब्रजप्रदेश)के रहनेवाले थे और आज भी इनके परिवारकी वस्त्रकी दुकान वहाँ है। ये किसानोंको बोरकत भी करते थे और उधार वस्त्र भी देते थे। जब उपज-उगाही होती तो वे किसानोंसे व्याजसहित रकम ले लेते थे।

श्रीमोहिनीश्यामजी इतने गुप्त सन्त थे कि इनके परिवारका कोई भी व्यक्ति इन्हे भगवद्भक्त अथवा उच्च कोटिका सन्त नहीं मानता था। सभी उन्हें पागल ही मानते थे। बरसाना ग्राममें भी इनकी भगवद्भक्त जानकर कहीं कोई ख्याति नहीं थी। अत: इनकी साधनाका क्रम कबसे प्रारंभ हुआ, आदि कोई

बात इनके परिवारसे चेष्टा करनेपर भी ज्ञात नहीं हो सकी।

प्रथमतः लेखककी अपनी बातको किनारेकर हम पू.गुरुदेव श्रीराधा बाबाके प्रसंगपर आते हैं।

उपर्युक्त सिद्ध सन्तके द्वारा श्रीमोहिनीश्यामजीके दर्शनका पू.गुरुदेवसे आग्रह किये जानेपर पू.गुरुदेव विचारमें पड गये। वे इन सुदुर्लभ सन्तके दर्शनार्थ स्वयं जाना चाहते थे किन्तु उनके जानेका अर्थ था कि श्रीपोद्दार महाराज भी उनके साथ-साथ मथुरासे बरसाने जावें। यात्राट्रेन लगभग दुपहरीमें चार-पाँच घण्टे पश्चात् मथुरा स्टेशन छोड़ने वाली थी। अतः चार घण्टेकी अवधिमें पू.पोद्दार महाराजको ले जाना और पुनः वापस आना संभव ही नहीं था। इस विवशताकी स्थितिमें पू.गुरुदेवने भाई घनश्याम, जो ठाकुरस्वरूपसे पू.गुरुदेवको अनेकों बार परम उद्दीपित कर चुका था, उसे एवं श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल जो पू. पोद्दार महाराजके परिकर थे और यात्राट्रेनमें साथ आये थे, इन दोनों व्यक्तियोको भेजनेका विचार किया। तुरन्त कारकी व्यवस्था की गयी और पू.गुरुदेवने ठाकुर घनश्यामसे कहा – "ठाकुर ! ये कृष्णजी और तुम दोनों मोटरगाड़ीसे जाओ। श्रीकृष्णजीको वृन्दावन, नन्दगाँव, बरसाने ले जाकर मुख्य-मुख्य मन्दिरोंमें देवदर्शन करा देना। अबतकके किसी भी तीर्थस्थानमें वे अपने सेवाव्रतके कारण नहीं जा पाये हैं। कम-से-कम ब्रजमे तो देवदर्शन कर लें। इसके अतिरिक्त तुम लोग बरसानेमें जाकर पता लगाना कि वहाँ कोई मोहिनीश्यामजी नामक संत हैं क्या ? यदि उनके घरमें तुम लोग जा पाओ तो उनके घरकी एक रोटीकी भिक्षा अवश्य लाना। वे एक महासिद्ध गृहस्थ संत हैं। बाहरके लक्षणोंसे कोई नहीं कह सकता कि वे उच्च कोटिके सन्त हैं। परन्तु वे वस्तुतः बृषभानुनन्दिनी राधाजीके परम कृपापात्र जन हैं।

पू.गुरुदेवका सन्देश पाकर भाई श्रीठाकुर घनश्याम, श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल एवं ठाकुरके श्रद्धालु अनुगत श्रीमनोहरजी मोटर गाड़ीमें वृन्दावनसे छटीकरा होते गोवर्धन और तब बरसाने-नन्दग्रामकी ओर अग्रसर हो गये। यद्यपि यह सन्देह था कि इन तीर्थोंमें मन्दिरोंके पट उन्हें खुले मिलेंगे अथवा नहीं, किन्तु पू. गुरुदेवकी कृपासे सभी मन्दिरोंके पट खुले मिल गये थे।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भाई श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवाल यद्यपि तीर्थयात्राट्रेनमें सभी स्थानोंमें पू. गुरुदेव एवं पोद्दार महाराजके साथ थे, परन्तु

उनके जिम्मे पू. गुरुदेवने यह सेवा लगा दी थी कि ज़िस डिब्बेमें पू गुरुदेव राधाबाबा एव पोद्दार महाराज यात्रा कर रहे थे, उसकी सुरक्षा एवं सम्हाल वे व्यक्तिगतरूपसे करें। इस सेवाव्रतके कारण जब श्रीपोद्दार महाराज यात्राट्रेनका डिब्बा छोड़कर अन्य यात्रियोंके साथ तीर्थोंमें दर्शनार्थ एवं स्नानादिके लिये जाते, श्रीकृष्णचन्द्रजी उस डिब्बेकी निगरानीमें स्टेशनपर ही रहते थे। इस सेवाव्रतमें निरत होनेसे वे जगन्नाथजी, रामेश्वरम्, द्वारका कहीं भी दर्शनार्थ नहीं जा सके थे।

बरसाना पहुँचकर इस मंडलीने श्रीमोहिनीश्यामजीके बारेमे श्रीजीके मन्दिरके गोस्वामियों एवं बाजारमें सर्वत्र पूछताछ की, किन्तु इनको निराशा ही हाथ लगी। बहुत खोज करनेपर किसीने बतलाया – श्रीमोहिनीश्याम एक बाल-बच्चेवाले गृहस्थ वैश्य हैं, वे तो कोई सन्त नहीं, सिड़ी पागल हैं। उस व्यक्तिने मोहिनीश्यामजीका घर भी बतला दिया। उनकी रहनीको देखकर तो सभीको और भी आश्चर्य हुआ। जब उनसे भिक्षाकी याचना की गयी तो उन्होंने अपनी पत्नीसे कहकर रोटी-भिक्षा दिलवा दी। भिक्षा लेकर यह मण्डली पू. गुरुदेवके पास मथुरा स्टेशन लौट आयी। पू.गुरुदेवने श्रीमोहिनीश्यामजीके घरसे आयी भिक्षाको बड़े ही आदरसे मस्तकसे छुवाया और उसका एक कण अपने मुखमें डालकर शेष भिक्षा उन्होंने श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीको दे दी। गोस्वामीजीने यद्यपि वे पूजादिकर्मसे निवृत्त नहीं हुए थे, फिर भी उस भिक्षाको पू. गुरुदेव राधाबाबाकी आज्ञा मानकर तुरन्त ही ग्रहण कर ली।

थोडा विषयान्तर कर रहा हूँ। पू.गुरुदेवकी वार्त्तासे हटकर श्रीमोहिनीश्यामजीकी जीवनकथापर पुन आ रहा हूँ। मैं पू.गुरुदेवसे श्रीमोहिनीश्यामजीका वृत्तान्त सुनकर व्यक्तिगतरूपसे अकेला ही उनके घर गया था। मैं जब उनके घरपर उनके दर्शनार्थ गया तो वे अपने पहले तल्लेके छतपर बने कक्षमें सो रहे थे। वे भीषण गर्मीमें भी रजाई ओढे पडे थे, और उन्होने अपने पैरोंसे जूते भी नहीं उतारे थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया और भिक्षाकी रोटी मांगी। उन्होंने अपनी बेटी राधाको पुकारा और एक रोटी देनेको कहा। मेरी इच्छा थी कि मैं उनके स्वयंके हाथसे ही वह रोटी ग्रहण करूँ। इसपर उन्होंने कहा कि मैं लघुशंका करने जा रहा हूँ। कुछ देर पश्चात् जब वे लघुशंका करके आये तो उन्होंने मूत्रसे भरे हाथोंसे वह रोटी मुझे दी। जब

मूत्रसे सने हाथोंसे भी मैंने वह उनकी रोटी अति श्रद्धापूर्वक अपने पास प्रसादवत् रखी तो अ.सौ.माताजी (मोहिनीश्यामजीकी पत्नी) छि-छिः कर उठीं। मैंने बारबार पू.माताजीसे कहा कि आप विश्वास करें ये भूत-प्रेतग्रस्त नहीं हैं। ये बहुत ऊँचे महात्मा हैं। इसपर माताजीने कहा –" बेटा! तू इन्हें एक बार राधारानीके मन्दिर तो. ले जा। ये वहाँ जा ही नहीं सकते। हमने कित्नी बार इन्हें राधारानीके मन्दिर ले जानेकी चेष्टा की है, किन्तु बस पौरकी सीढीपर ही ये पागल हो जाते हैं, चीत्कार करने लगते हैं । इन्हे वापस लाना पडता है। इन्हें प्रेत मन्दिरतक चढ़ने ही नहीं देता। "

अ.सौ.माताजीसे आज्ञा लेकर मैं उनके पास घण्टों बैठा करता। वे मुझे अपने पास बैठा देखकर पूछते –" तुम कौन हो ? मेरे पास क्यो आते हो ? " इसपर मैं उन्हें यही उत्तर देता कि आप राधारानीके बहुत बडे कृपापात्र हो– यह रहस्य मुझे मेरे गुरुदेवने बताया है। इसलिये आपके पास दर्शनार्थ आता हूँ। मैं उन्हें ब्रजरसके सुन्दर गीत सुनाता। किन्तु वे किसी गीतको भी पूरा नहीं सुनते। वे मुझसे ब्रजभाषामें ही बोलते थे। जैसे ही मैं गीतकी प्रथम पंक्ति गाता, वे मुझे मध्यमें ही टोक कर कहते –" तो तुम हमारे पास क्यों आये हो ? तुम ब्रजवासी तो हो नहीं।" मैं उन्हें पुनः गीत सुनाने लगता, किन्तु वे विक्षेप किये बिना रहते ही नहीं।

एक दिन मैंने उनसे कहा –"बाबा ! तुम मन्दिर क्यों नहीं जाते ? तुम्हें पौरपर पहुँचते ही उन्माद क्यों होने लगता है ? "

उस दिवस वे मुझपर दयालु हो उठे थे। उन्होंने उत्तर दिया – " भैया ! सचमुच ही मोहे एक भूत वहाँ दिखै है। वौ इतनौ सुन्दर है कि यदि मेरे लाखों आँखें होंयँ तो भी वाहे देखतौ ही रहूँ। भैया ! वायै देख मैं पागल होय उठूँ हूँ। और राधाजीके मन्दिरको तो वह पहरेदार है । जब जब वाय देखकर ही मेरो मस्तिष्क फिर जाय है तो आगै बढ़ूँ कैसे ? तुम्हीं बताऔ।"

फिर वे कहने लगे– " राधारानी तो मेरे पास ही आय जाय है। या खिरकीसे लालीको निजमहल सामने ही तो दीखै है। बस, यहींसे वे मो दीन-हीनपै कृपा करदैं हैं। "

वे मुझसे ब्रजभाषामें ही बोलते थे। परन्तु बहत ही आत्मीय हो गये थे। एक दिवस मैंने उनसे पूछा –" बाबा ! आपने अपने कपड़ानकी दुकान

सब ब्रजबासीनमें लुटाय दी, जो आवै वाहीकौ मुँह-माँग्यौ कपड़ा बाँटिवे लगे, यह आपने क्यों कियौ ? "

वे कहने लगे–" अरे भैया ! मोहे तो वा पहरेदारनें ही हुकुम कर्यौ थो, जो ये सब ब्रजवासी मेरे सखा हैं, कपड़ा पहरैंगे, बाँटि दै। अब बोल भैया, वो मोते अपने सखानके लिये माँगै तो मैं कहा कंजूसी करूँगो ? मैंने कह्यौ –"लैजा ! और वो ही सबकूँ दिलातो गयौ ! भैया, यामें मेरो कहा पाप है ?

घण्टों मैं उनके पास बैठा उनको देखता रहता और वे मुझे देखते रहते। अनन्य प्रेमीजनोंके पास बैठकर जब उनके प्रियतमकी चर्चा होती है तो उस समय संसार न जाने कहाँ चला जाता है ? प्रेमी भक्तोंके संगकी यही तो महिमा है।

श्रीमोहिनीश्यामजीका जब प्रेमसमुद्र उमडता था तो वे चेष्टा करनेपर भी बोल नहीं सकते थे, उनका कण्ठ रुक जाता था, शरीर पुलकित हो जाता था, उनके रोम-रोमसे प्रेमकी किरणें निकलकर उस कमरेमें निर्मल प्रेम-ज्योति फैला देती थी। उनके कमरेका वातावरण परम प्रेममय हो जाता था, वे प्रेमविह्वल होकर आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बहाने लगते। जब उनकी ऐसी दशा होती तो वे मुझसे कहते –" अब तुम चले जावौ। अन्यथा तुमकूँ हमारे घरवाले गरियावेंगे। "

श्रीमोहिनीश्यामजीकी सबसे छोटी पुत्री 'राधा'का विवाह दिल्लीके राजपालसन्स फर्मके किसी पार्टनरसे हुआ था। वह बालिका श्यामवर्णकी थी। उसे पतिका पूरा स्नेह नहीं मिल रहा था। मैने उसे 'सौभाग्य-अष्टोत्तर-नामावलि'का पाठ बताया था। कुछ विलक्षण चमत्कार ही हुआ था कि उस पाठसे उस बालिकाको पूर्ण पति-प्रेम प्राप्त हो गया था। अतः अ.सौ. माताजी (मोहिनीश्यामजीकी पत्नी) मुझसे बहुत आत्मीय हो उठी थीं, वे घरके सभी रहस्य मुझे बता देती थीं।

श्रीमोहिनीश्यामजीके आठ सन्तानें थी। । सात पुत्री और एक पुत्र। माताजीने सातों बालिकाओंका अच्छे सम्पन्न घरोंमें विवाह किया था। दहेजमें भी पर्याप्त सम्पत्ति प्रत्येक बालिकाको दी थी।

एक दिवस मैंने मैयासे पूछ लिया था –"मैया ! जब बाबाने दुकान ही लुटाय दी तब तेरो घरखर्च कैसे चलै है ? तूने इतनी कन्यानकौ विवाह कहाँ

तै कियौ ? "

अ.सौ. माताजी बहुत ही सरल स्त्री थीं। कपट तो उन्हें छूकर ही नहीं गया था। वे मुझे अपने घरके एक गुम्हार(अन्तर्तल)मे ले गयीं। उन्होंने वहाँ एक कच्ची जमीन दिखाई और कहा –"भैया ! यह गुम्हार देवता हमारौ निर्वाह करै है। तेरे बाबा तो पागल होय गये हैं। दुकान लुटाय दी, यहाँतक कोई रेहन-बन्धकवारौ इनके पास आज भी आय जाय और रोय दै तो वाहै तुरन्त सारी रकमकी भरपायीकी रसीद लिख देते हैं। अब भैया, इतनी सन्ताननकूँ मैं कैसें पालन करती ? "

उनके कहनेका तात्पर्य यही था कि जब उन्हे प्रथम पुत्रीके विवाहकी चिन्ता लगी तो उन्होंने बहुत मात्रामें गुड खरीदकर इस गुम्हारमे इस निमित्तसे रखवा दिया कि ग्रीष्म ऋतुमें जब गुड़में तेजी आवेगी तो बेचकर कुछ लाभ हो जायेगा और बच्चीके विवाहमें सुविधा हो जावेगी। गर्मीमें गुड़ पिघलकर ऐसा फैल गया कि उसे बेचनेके लिये गुम्हार ही खुदाना पड़ा। जब उस गुम्हारको खुदाया तो उसमें इतनी मोहरें निकल गयीं कि उससे पहली पुत्रीका विवाह सम्पन्न हो गया।

पू.माताजी कह रही थीं कि किसी स्रोतसे यह बात जब हमारे भाई-बन्धु, रिश्तेदारोको पता चली कि गुम्हारमें हमें धन मिला है तो मकान पुराना पैतृक होनेके कारण उसे सबने मिलकर खुदाया किन्तु उनको एक भी मोहर नहीं मिली। किन्तु दूसरी कन्याके विवाहपर जब मैंने गुम्हारकी खुदाई की तो पुनः स्वर्णमोहरें मिल गयीं।

पू.माताजी मुझे कह रही थीं कि यह गुम्हार किसी अन्यको कभी एक पाई भी नहीं देता किन्तु जैसे ही मैं इससे कुछ भी आवश्यकतापर याचना करती हूँ, यह मुझे किसी-न-किसी कच्चे कोनेसे आवश्यक स्वर्णमोहरे दे देता है और मेरा गृहखर्च पूरी निश्चिन्ततापूर्वक निर्वाह हो जाता है। इसकी ही कृपासे मैंने सात-सात कन्याओंके विवाह किये हैं और इन कन्याओके बच्चोके भात, छूछक आदि सभी नेग पूरे किये हैं।

मै माताजीके मुखसे उस गुम्हारकी महिमा सुन रहा था, और मेरे मानस-नेत्रोमे भक्त नरसीके माहेरेकी घटना नाच रही थी। भगवान् भक्तका योगक्षेम कैसे निर्वाह करते हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह गुम्हार था। वैसे

उस खण्डहर -से गुम्हारमें कोई ताला नहीं लगाता था, कोई वहाँ जाये , कुछ भी खोदे, माताजी अथवा मोहिनीश्यामजीके परिवारकी ओरसे कहीं कुछ भी निषेध नहीं था। किन्तु विलक्षण बात यह थी कि माताजीकी सब आवश्यकताएँ प्रचुररूपमें उस खण्डहरसे प्राप्त स्वर्णमुद्राओंसे पूर्ण हो जाती थीं।

श्रीमोहिनीश्यामजीकी मृत्यु भी एक विलक्षण रीतिसे हुई। एक साधु बरसानेमें तीस-चालीस वर्षोंसे रह रहा था। उसके निर्वाहका साधन था मात्र मधुकरी। ब्रजवासियोंके सूखे टूक खाकर ही वह जीवनयात्रा चला रहा था। अचानक उसे उदर-कैंसर होगया। उस कैंसरसे उसके उदरमें शूलकी तरह पीडा होती थी। वह साधु अपने रोगसे वैसे अपरिचित था और उसकी मान्यता यह थी कि सूखे टूक खानेसे ही उसे यह उदरपीड़ा होती है।

एक दिवस जब उसे अतिशय कष्ट हुआ तो उसने बरसानेको छोडकर अपनी जन्मभूमिमें अपने परिवारमें जानेका निश्चय कर लिया। उसने सोचा कि परिवारमें उसे दाल-भात कच्चा भोजन मिल जायगा और उससे संभव है उसका यह उदरशूल निवृत्त हो जायगा। वह जब बरसानेकी ग्रामसीमा त्याग करने लगा तो उसके चित्तमे परिताप भी पर्याप्त मात्रामें हो उठा कि हाय ! चालीस वर्षकी उसकी धामवासकी साधना आज इस उदरशूलके कष्टसे और शरीर-सुविधाके मोहसे खण्डित हो रही है। साधु अतिशय वेदनामें श्रीराधारानीको उपालंभ देता हुआ रुदन करने लगा।

साधु सिसक-सिसककर एक ही बात कह रहा था कि उसे तो पूर्ण धिक्कार है कि वह इस नाशवान् शरीरके मोहवश बरसाना धाम छोड़ रहा है, परन्तु राधा बिटिया तू क्या अपने एक शरणागत को दाल-चावल, कच्ची रसोई भी नहीं खिला सकती, जिसके अभावमें उठे इस उदरशूलकी पीडावश उसे यह कदम उठाना पड़ रहा है।

साधु रोये जा रहा था, इतनेमें ही एक पन्द्रह वर्षकी बालिका उसे अपने पास खड़ी दिखी। बालिकाने पहले तो उसके रोनेका कारण जाना और तब यह कहा कि उसके पिता मोहिनीश्याम ग्राममें रहते हैं, उनके घर वह साधु चला जाय। वहाँ उसे दाल-भात, आदि जो भी भिक्षा वह चाहेगा, प्रतिदिन मिल जाया करेगी। वह बालिका कह रही थी कि वह साधु मोहिनीश्यामजीसे कह दे कि उसकी भिक्षाकी व्यवस्था करनेको उनकी पुत्री राधाने कहा है।

बालिकासे आश्वासन पाकर साधु सीधा मोहिनीश्यामजीके घर पहुँचा। संयोग ऐसा था कि उस दिन मोहिनीश्यामजीका सारा परिवार ही किसी पारिवारिक कार्यसे कोसीकलाँ चला गया था। वह परिवार पाँच-सात दिवस पश्चात् आनेवाला था। ऐसे अनेक अवसर होते थे जब परिवारको गृहस्थकार्यसे बरसाना ग्राम छोड़कर इधर-उधर होना पड़ता था। उस समय वे मोहिनीश्यामजीके लिये जल-पात्रोंमें पर्याप्त जल एवं पक्की पूडी बनाकर रख जाया करते थे। उनके शौचकी व्यवस्था ऊपर ही थी। मोहिनीश्यामजी नंग-धडंग, अस्त-व्यस्त रहते ही थे, नहाते तो वे वर्षोंमें थे, भोजन भी वे बहुत अल्प मात्रामें ही करते थे। वे तो रजाई ओढे सोये रहते थे। घरके मुख्य द्वारपर परिवारके लोग ताला लगा देते थे।

साधु जब श्रीमोहिनीश्यामजीका नाम लेकर पुकार लगाता आया तो घरके मुख्यद्वारपर तो ताला लगा था। इन्होंने ऊपरके पहले तल्लेके कमरेसे उस साधुकी पुकार सुनी तो वे छतपर उसकी पूरी बात सुनने चले आये। श्रीमोहिनीश्यामजी अधिकांश काल रात-दिवसके चौबीस घण्टोंमें लगभग बीस-बाईस घण्टे तो प्रतिदिन भावसमाधिमें ही पड़े रहते थे।

अपनी ही महिमामें स्थित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एव उनकी प्रिया श्रीराधारानीके साथ ही श्रीमोहिनीश्यामजीका नित्य निवास था। श्रीमोहिनीश्यामजीको सदा साथ लिये प्रिया-प्रियतमकी नित्य लीला अखण्डरूपसे चलती रहती थी। इस चिन्मय दिव्य लीला-रसपानमें निरत श्रीमोहिनीश्यामजीको क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, सुख-दुख, हास्य-क्रन्दनका अनुभव नहीं-के-बराबर, बहुत ही अल्प होता था। अतः परिवारवाले भी उन्हें जडभरतवत् मानकर उनकी शरीरसेवाकी पूर्णतया उपेक्षा कर देते थे।

हाँ ! तो भगवद्विधान ही था कि उस दिवस उन्हें कुछ बाह्य होश था। वे छतसे नीचे उतरे और साधुको अतिशय प्यारसे पिछवाड़ेका दरवाजा खोलकर, अपने कमरेमें ले आये। उस साधुने अपनी सारी व्यथा इन्हें कह दी। साथ ही यह भी कह दिया कि उनकी पुत्री राधा उन्हें पीली-पोखरपर प्रतिदिन ही भिक्षाका आश्वासन एवं निमंत्रण दे गयी है। उसने कहा है कि मेरे बाबासौं कहियो, वे चिन्ता नहीं करैं, रसोईके छींकेपै थालीमें उन्हें सब रसोई बनी-बनाई मिल जाया करैगी। श्रीमोहिनीश्यामजी साधुकी बात सुनकर चकित थे। उनकी

एक सबसे छोटी 'राधा' बेटी अवश्य थी, किन्तु वह तो दिल्ली अपने श्वसुरालमें थी। वह दिल्लीसे कैसे बरसाने आकर इन साधु-महात्माको आश्वासन दे गयी, यह बात भी उनकी समझके परे थी। फिर उनके लिये तो नमकीन पक्की पूड़ी अवश्य भोजनार्थ रखी है, दाल-भात, ताजी रोटी-सब्जी सूने घरमें किसने बनाकर रखी है ? उनकी कुछ भी समझमे नहीं आ रहा था। वे साधुके बताये अनुसार रसोईघरमें छींकेतक गये भी। उन्हें आश्चर्य हुआ कि सचमुच ही वहाँ एक थालीमें सब सामग्री ताजी बनी रखी है। अब तो वे ठीक समझ गये कि यह सब राधारानी, उनकी आराध्याकी करतूत है। जैसे ही उन्हे बोध हुआ कि साधु सचमुच ही श्रीराधारानीका कृपापात्र है, वे उसे स्वयं अपने हाथसे भोजन कराने लगे। थालीमें भोजन-सामग्री तो पर्याप्त थी ही। साथ ही वे उस साधुके पेटमें जहाँ-जहाँ असह्य दर्द होता था, अपना वरद हाथ फेरते रहे। आश्चर्य यह हुआ कि उसी दिनसे साधुके पेटका वह शूलकष्ट जाता रहा और श्रीमोहिनीश्यामजीके पेटमें कैंसरके सभी लक्षण प्रकट हो गये।

एक महासिद्ध सन्तके इस प्राकृत शरीरके अवसानकी यह एक अति अवसादमयी भूमिका बन गयी। पहले-पहल तो लोगोंने उनके इलाजकी उपेक्षा की, किन्तु फिर उन्हें इलाजके लिये दिल्ली ले जाया गया। दिल्लीमें ही उनके शरीरका अन्त हुआ।

मैं बहुत काल पश्चात् जब मोहिनीश्यामजीके पुत्रसे बरसानेमें मिला तो वह मेरे गले लगकर बहुत कालतक रोता रहा। उस समय माताजी भी दिवंगत हो चुकी थीं। मैंने उससे उस गुम्हारके स्वर्णदानकी बात पूछी। वह यही कह रहा था कि पिताजीकी मृत्युके पश्चात् माताजीने सम्पूर्ण ब्रजवासियोंका ब्रह्मभोज कराया, उसमें लाखों रुपया खर्च किया। उन्होंने अपना भी जीवित खर्च साथ-साथ ही किया। उसके पश्चात् वे तीर्थयात्रामें निकल गयीं। वहाँ भी उन्होंने सभी तीर्थोंमें दान-पुण्य देनेमें कसर नहीं की। वे जबतक जीवित रहीं, दान देती रहीं। गुम्हारसे ही सारी अर्थप्राप्ति उन्हें होती रही। किन्तु उनकी मृत्युके पश्चात् अब गुम्हार मुझे तो कुछ भी नहीं देता। मैंने उस बालकसे पूछा,–" पिताजीकी मृत्युके समय उन्होंने कोई उद्गार कहे अथवा कोई वक्तव्य दिया था ? " उसने उत्तरमें यही कहा कि वे दिल्ली ले जानेका उग्र विरोध करते रहे। वे यही कहते थे कि उन्हें इस खिड़कीसे दूर नहीं किया जाय

जहाँसे उन्हें राधारानीके निजमहलके सिंहपौरके दर्शन होते हैं। बीमारीके समय वे इस खिड़कीको खुला ही रखते थे। हाँ ! मृत्युके समय उन्हें कोई कष्ट नहीं था। आन्तरिक आह्लाद उनके रोम-रोमसे प्रकाशित हो रहा था। वे यही कहते थे कि राधारानी स्वयं हाथ पकड़कर मोहिनीसखीको अपने प्रियतमसे अभिसारके लिए ले जा रही हैं।

दिल्ली ले जानेपर और मृत्युके पूर्वतक वे ये ही शब्द प्रायः अस्फुट रीतिसे बोलते रहते थे। उनके मूल शब्द तो उनके पुत्रको स्मरण नहीं रहे थे, उसने जो भाव प्रकट किये उसका हिन्दी भाषामें रूपान्तर निम्नप्रकारसे लेखकने किया है। ये उक्तियाँ स्वयं श्रीराधारानीकी ही होंगी, ऐसा अनुमान है। –" ब्रजजीवन ! इधर देखो ! आज मूर्तिमती मोहिनीसखी तुम्हारे अभिसारके लिये समुपस्थित है। मेरे इस धाममें इसका नित्य निवास रहा है। रमणीसुलभ लज्जावश यह तुम्हारे सम्मुख एकाकी आ नहीं रही थी। अब तो इसे तुम्हारा वियोग असह्य हो रहा था। अतः सर्वांग विभूषितकर मैं इसे तुम्हारे समक्ष लायी हूँ। हे मेरे वनचन्द्र ! एक बार इसपर दृष्टि डालकर इसके श्रृंगारको सफल कर दो। देखो तो ! तुम्हारे लिये इसे मैंने कैसा सजाया है ! पुन्नाग पुष्पोंका अवतंस और माधवी कुसुमोंकी माला, चम्पककी कंचुकी और अरुण क्षौम परिधानोंसे विभूषित अद्भुत शोभाका विस्तार करती यह तुम्हें अर्पित है। स्वीकार कर लो, नाथ ! "

इन भावभरे शब्दोंको अपनी ग्राम्य ब्रजभाषामें बोलते, अस्फुट उच्चारण करते, महासिद्ध सन्त मोहिनीश्यामजी इस मायावी जगत्‌को त्यागकर नित्य लीलाविहारीकी चिन्मय रासस्थलीमें प्रवेश पा गये।

इसी ब्रजयात्रामें पू.गुरुदेवका सूक्ष्म जगत्‌के महासिद्ध दो और संतोंसे मिलन हुआ था। पू.गुरुदेव अपने निवासमें बिड़ला धर्मशालामें ही विश्राम कर रहे थे। कोई विक्षेप न हो अतः ठाकुर घनश्याम और रामसनेहीजी उनके द्वारपालकी तरह नियुक्त थे। शिशिर ऋतु थी, अतः दोनों धूप सेवन करते बाहर बैठे थे। अचानक ठाकुर घनश्यामको दिखा कि एक साधु पू. गुरुदेवके निवासके द्वारपर खड़े हैं। उनके लम्बे भूरे केश हैं जो पीठपर कमरतक लहरा रहे हैं और उनके कान्तिमय गौर शरीरपर मात्र एक कटिवस्त्र है। पू.गुरुदेवने अपना कक्षका द्वार उन्मुक्त कर रखा है और हाथ जोड़े उन

महात्माके सम्मुख खड़े हैं। ठाकुरने रामसनेहीजीसे पूछा –"ये साधु कौन हैं और कहाँसे पू. गुरुदेवके पास पहुँच गये ?" रामसनेहीजीको तो वे साधु दिखे नहीं। इधर यह वार्ता इन दोनोंमें परस्पर हो ही रही थी कि ठाकुर उन महात्माजीका परिचय प्राप्त करने अग्रसर हो गये, किन्तु तबतक वे साधु वहीं विलीन हो गये थे। ठाकुर दादाने जब पू.गुरुदेवसे उन महात्माजीके सम्बन्धमें जिज्ञासा की तो पू.गुरुदेवने यह उत्तर दिया कि भाई ! एक नहीं, अन्तरिक्षगामी दो महात्मा मुझसे मिलने आये थे। ये कुसुमसरोवरमें रहते हैं, परम सिद्ध हैं और तुम्हारा शुभ सौभाग्य था कि इनमेसे एकका तुम्हें दर्शन हो गया।

# उज्जैनमें महाकालके दर्शन एवं पूर्वजन्मकी स्मृति

मथुरासे चलकर तीर्थयात्राट्रेन ७ फरवरीको उज्जैन पहुँची। इस नगरको उज्जयिनी या अवन्तिका भी कहते हैं। यह भी उक्ति सर्वत्र प्रचलित है कि यह पृथ्वीका नाभिदेश है। द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें महाकाललिंग यहीं है। इक्यावन शक्तिपीठोंमें यहाँ एक पीठ है। यहॉं सतीका कूर्पर(कुहनी) गिरा था। रुद्रसागर सरोवरके पास हरसिद्धिदेवीका मन्दिर है। वहीं यह शक्तिपीठ है जिसमें मूर्तिके स्थानपर केहुनीकी ही पूजा होती है। द्वापरमें श्रीकृष्ण-बलराम यहीं महर्षि सान्दीपनिके आश्रममें अध्ययन करने आये थे। उज्जयिनी बहुत वैभवशालिनी रह चुकी है। महाराज विक्रमादित्यके समय उज्जयिनी भारतकी राजधानी थी। यह सप्तपुरियोमें एक पुरी है। यहाँ बारह वर्षमें एक वार कुम्भ लगता है। मध्यरेलवेकी आगरा-उज्जैन लाइनसे यात्राट्रेन निरे प्रातः उज्जैन स्टेशनपर पहुँची। यद्यपि कड़ाकेकी शीत थी, फिर भी स्टेशनपर पू. पोद्दार महाराज और पू. गुरुदेवके स्वागतमें एक विशाल जनसमुदाय प्रतीक्षा कर रहा था। 'कल्याण' पत्रिका और धार्मिक पुस्तकोंकी आध्यात्मिक-निधिके प्रणेता यशस्वी भक्तराज पोद्दार महाराज उनके नगरमें आ रहे हैं, यह जानकर लोगोंका हृदय अपार श्रद्धासे भरा हुआ था। इस धर्म-विभूतिका स्वागत करनेका सबके हृदयमें अतिशय उत्साह था। लोगोंने अपने हाथोंमें ढोलक-मजीरे,

झाँझ-करताल ले रखे थे और यात्राट्रेनके आगमनकी प्रतीक्षामें नामसंकीर्तन कर रहे थे। हरिनाम-संकीर्तनकी ऊँची ध्वनिसे दूर-दूरका वातावरण मुखरित हो रहा था। यात्राट्रेनके स्टेशनपर पहुँचते ही पुष्पमालाएँ लेकर लोग श्रीपोद्दार महाराजके डिब्बेकी ओर दौड पडे। श्रीपोद्दार महाराजने गाड़ीसे उतरते ही अति विनयपूर्वक हाथ जोडे सभीका स्वागत.किया।

पू.गुरुदेवकी तो श्रद्धाभिभूत भीडको देखते ही प्रयाग स्टेशनवाली दशा हो गयी थी। उनके लिये तो सम्पूर्ण दृश्य ही कृष्णमय हो गया था। वे तो अपने आराध्य श्रीकृष्णकी प्रत्यक्ष अनुभूतिमें इस प्रकार तन्मय हो गये कि उनकी बुद्धि ही निर्णयरहित बन गयी। पू. गुरुदेव ऐसी सृष्टिमें पहुँच गये जहॉं न तो सूर्य प्रकाशित होता है, अपितु श्रीकृष्णकी ही सच्चिन्मयी अंग-ज्योति अनन्त सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र एवं अग्नि बनी प्रकाशित होती रहती है। जहाँ न देश है, न काल है, न दिवस है, न रात्रि है, जहॉं न जन्म है, न मरण है, न ही जहॉं संरक्षण है, वहॉं तो एकमेव नील नीरदद्युति प्रियतम श्यामसुन्दर-ही -श्यामसुन्दर भरे हैं। जहाँ दुःख-सुख, अन्धकार एवं प्रकाश, हानि एव लाभ, विलय एवं विकास कुछ भी नहीं है, मात्र श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं। जहॉं काम-क्रोध, लोभ-मोह, हर्ष-शोक, दम्भ-दर्प-द्रोह, संतोष और क्षमा, विवेक, विनय, आदि सारे भाव ही श्रीकृष्ण-दर्शनमें विलय हो जाते हैं। जहॉं ग्रहण एवं दान, स्तुति एवं निन्दा, मान-अपमान, सुन्दर-वीभत्स, तिक्त एवं मधुर, विष एव अमृत, पतित एव उन्नत, निर्धन-धनवान, अज्ञ-ज्ञानवान, बद्ध एवं स्वतंत्र, मुक्त एवं सम्बद्ध, समग्र इदमित्थं दृश्य ही श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हो गया था। पू.गुरुदेवकी इस दर्शनसे जो दशा हुई, वह शरीरगत तो थी ही नहीं, मात्र मनोगत थी। उसे तो वही धन्य-भाग्य-जन अनुभव कर सकता था, जो पू. गुरुदेवके मनसे अपने मनका तादात्म्य कर पाता। ऐसा पात्र अधिकारी तो श्रीपोद्दार महाराजके अतिरिक्त अन्य कोई था नहीं। यदि इस दर्शनका विन्दुमात्र भी कहीं किसीके मन-मानसमें छलक पडता तो उसकी समग्र चेतना ही प्रवाहित हो उठती और अचिन्त्य लीलामहाशक्ति उसके सम्मुख ऐसे विलक्षण सौन्दर्यका सिन्धु उच्छलित कर देती जिसका कहीं ओर था न छोर।

ज्ञानी एवं योगीगण जिन्हें निर्विशेष ब्रह्मानन्दस्वरूप मानते हैं, दास्यरतिमें रुचि रखनेवालोंके लिये जो परम पुरुष परमेश्वर हैं, नन्द-यशोदादि वात्सल्यरस

निमग्न जनोंके लिये जो उनके बालक मात्र हैं, जिन्होंने यम-नियमका सतत साधनकर अपने चित्तको एकाग्र कर लिया है, जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो चुके हैं – इस प्रकारके समाहित-चित्त योगी भी अनेक जन्मोंमें अपार साधन-क्लेश वरण करनेपर भी जिनकी चरणधूलि-कणिकाका स्पर्श नहीं प्राप्त करते; वे श्रीकृष्णचन्द्र आज पू. गुरुदेवके नयनोंमें इतने भर गये थे कि उन्हें उनके सिवा कुछ भी अन्य नहीं दिख रहा था।

पू.गुरुदेवकी भावमयी स्थितिका अन्य किसीको भी परिचय भले ही न हो, किन्तु पोद्दार महाराजको तो था ही । अतः उन्होंने इनका हाथ पकड़ रखा था। उपस्थित जन-समुदायने देखा कि हमारे सामने तो साक्षात् प्रेमावतार ही खडे हैं। चारों ओरसे जन-समुदाय पुष्पवर्षा कर रहा था। उस दिवस इतनी पुष्पवर्षा हुई कि सारा उज्जैन स्टेशन और पू.गुरुदेवसहित पोद्दार महाराज अधिकांशतया पुष्पोंसे ढँक गये।

सर्वत्र भक्ति-भावना परिव्याप्त थी। स्टेशनपर श्रीगोस्वामीजीने अपने परम सुरीले कण्ठसे प्रभु-प्रार्थना एवं सुन्दर भक्ति-भावभरे पदोंका गायन किया। इसके पश्चात् सभी यात्रीगण श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा सहित क्षिप्रामें स्नानके लिये पैदल ही चल पड़े। भगवन्नाम-संकीर्तनमें झूमते, मस्त हुए छ. सौ यात्री उज्जैनकी सड़कोंमें भक्तिकी गंगा बहा रहे थे । झाँझ, मँजीरे एवं ढोलकोंके वादन सहित सर्वत्र नामध्वनि गुंजायमान हो रही थी। असख्य दर्शनोत्सुक जन-समुदाय भक्तिभावमें उमड रहा था। लोग गली-गली, घर-घरसे उमड़े आ रहे थे। और इस भक्ति-सरितामें मिलते जा रहे थे। उज्जैनमें मानो नवीन भक्तिकुम्भका प्रारम्भ हो गया था। उज्जैन रेलवे स्टेशनसे शिप्रा नदी लगभग चार किलोमीटर दूर बहती है। संयोजकोंने कुछ दूरी तक तो श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेवको जनसमुदायके मध्य संकीर्तन करते चलने दिया, पश्चात् एक मोटरकारकी व्यवस्थाकर उन्हें वाहनसे शिप्रातट पहुँचा दिया गया।

शिप्रातटतक पहुँचते-पहुँचते तो पू.गुरुदेव और भी भावोद्दीपित हो उठे थे। पौराणिक उल्लेख है कि शिप्रा भगवान् विष्णुके शरीरसे उत्पन्न हुई नदी है, किन्तु आज ता पू.गुरुदेवको यही अनुभव हो रहा था, मानो शिप्राके जलके कण-कणमें श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण प्रवाहित हो रहे हैं। पू.गुरुदेव अत्यधिक

समुल्लसित चित्तसे जलके कण-कणमें अपने आराध्यको देख अति उत्साहपूर्वक डुबकी लगाते। कभी वे अपने परमाराध्यको पकड़नेके उद्देश्यसे अपने दोनों हाथोंसे बहते जलको आलिंगित करनेकी चेष्टा करते हैं। उनके नेत्र प्रेमसे छल-छल कर रहे हैं। उनके अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकान थी।

शिप्रामें स्नान कर चुकनेके पश्चात् पू.गुरुदेवका आन्तरिक भगवदावेश कुछ शिथिल हुआ। उसका कारण यही प्रतीत होता है कि वहाँ बहुत स्त्रियाँ भी स्नान कर रही थीं । कहीं भीड़में किसीके वस्त्रसे भी उनका किंचित् भी संस्पर्श नहीं हो जाय, इस अपने कठोर नियमके प्रति जागरूकताने ही उनकी वृत्तिको प्राकृतावेशमें जकड़ दिया। जैसे ही पू.गुरुदेव शरीराध्यासी हुए उन्हें उज्जैनसे सम्बन्धित अपने पूर्वजन्मकी अति पुरातन स्मृति हो आयी। पू. गुरुदेवने अनेकों बार ऐसा उल्लेख किया है कि उन्हें अपने विगत चार जन्मोंकी स्मृति है। पू.गुरुदेवका एक जन्म इस उज्जैनके राजपरिवारमें तब हुआ था जब यहाँ भोजराज महाराज विक्रमादित्यका राज्य था। उस समय शिप्रा नदीका कैसा प्रवाह था और उसके सुन्दर घाटोंकी क्या शोभा थी, यह सभी दृश्य स्नान करते समय पू.गुरुदेवके सम्मुख ज्यों-के-त्यों प्रकट होगये थे।

शिप्रास्नानके पश्चात् सभी यात्री भगवान् महाकाल-मन्दिरमें दर्शनार्थ चल पड़े । महाकालमन्दिरका प्रांगण विशाल है। यह सामान्य भूमिकी सतहसे कुछ नीचा है। इस प्रांगणके मध्यमें मन्दिर है। इस मन्दिरमें दो खण्ड हैं। प्रांगणकी सतहके बराबर मन्दिरका ऊपरी खण्ड है। इसमें जो भगवान् शंकरकी लिंगमूर्ति है, उसे ओंकारेश्वर कहा जाता है। ओंकारेश्वरके ठीक नीचे, नीचेके खण्डमें महाकाल-लिंगमूर्ति प्रतिष्ठित है।

महाकालेश्वर लिंगमूर्ति विशाल है और चाँदीकी जलहरीमें नाग-परिवेष्टित है। इसके एक ओर गणेशजी, दूसरी ओर माता पार्वतीजी एवं तीसरी ओर स्वामिकार्तिक हैं। यहाँ एक घृतदीप और एक तैलदीप अखण्ड-ज्योतिके रूपमें प्रज्ज्वलित रहता है।

मन्दिरके ऊपर प्रांगणके दक्षिण भागमें अनेक मन्दिर हैं। इनमें अनादिकालेश्वर तथा वृद्धकालेश्वरके मन्दिर विशाल हैं । महाकालमन्दिरके नीचे सभामण्डप है और उसके नीचे कोटितीर्थ नामक सरोवर है। सरोवरके

आश्र्व-पार्श्वमे छोटी-छोटी छतरियाँ हैं।

पू.गुरुदेवने ज्योंही महाकालमन्दिरमें प्रवेश किया, उन्हें प्रस्तरलिंगके स्थानपर कर्पूर-सदृश गौरवर्ण मनोहर तेजोमय भगवान् शंकरके साक्षात् दर्शन हुए। वे भगवान् अपने सर्वांगोंमे सर्पोंको आभूषणकी तरह धारण किये थे और कटिमें बाघम्बर लपेटे थे। अक्षमाल, डमरू, त्रिशूल एवं मुण्ड धारण किये चतुर्भुज भगवान् शिवके भाल पर त्रिपुण्ड्र एवं अर्धशशि सुशोभित था। वे पिंगल जटाजूटधारी भगवान् सिंहचर्मका आसन बिछाये षोडशदल-पंकजपर भगवती पार्वती सहित विराजित थे। उन त्रिनेत्र भगवान्के पाँच मुख थे। भगवती गंगा उनके मस्तकसे प्रवाहित हो रही थी और अनेको देवता, गन्धर्व, किंन्नर, भूत-प्रेत सभी उनकी स्तुति कर रहे थे। चतुर्दिक् शिव-शिव, हर-हर की ध्वनि उत्थित हो रही थी। पू.गुरुदेव साक्षात् अनुभव कर रहे थे कि जहाँ भगवान् शंकर विराजित हैं, वहाँ ऐसी विलक्षण चिन्मय स्वरूपानन्दमयी शान्तिकी स्रोतस्विनी प्रवाहित हो रही है जिसमे बड़े-बड़े आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण भी उसके एक कणसे सिक्त होनेके लिये लालायित हो उठें। पू.गुरुदेवको ऐसा अनुभव हो रहा था कि यहाँका अणु-अणु, कण-कण **'यत्परो नास्ति'** को पूर्णतया प्रमाणित कर रहा था। पू.गुरुदेव भगवान् महाकालकी महिमा और कृपापर मुग्ध हो उठे थे। वे मन-ही-मन रोम-रोमसे उच्चारण कर रहे थे– कृपा शिव, कृपा शिव।

दिनमें क्योंकि श्रीपोद्दार महाराजको श्रीमहाकालके मन्दिरमें प्रवचनके लिये आना था, अतः उन्होने संकेतसे पू.गुरुदेवको शीघ्र ही दर्शन कर निवासमें चलनेकी प्रेरणा की। पू. गुरुदेवकी चेतना ही निवासमे पहुँचकर ऐसी हो गयी मानो उन्हे किसी अमृतपूरके प्रवाहमे निमज्जित कर दिया गया हो

---------

# ॐकारेश्वरमें सीतारामदास ॐकारनाथजीसे मिलन

उज्जैनसे यात्रा इन्दौर पहुँची। डा.श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा वैदिक वाङ्मय एवं पुरातन साहित्यके उद्भट विद्वान् उन दिनों इन्दौर ही रहते थे। ये मात्र विद्वान् ही नहीं थे, अपितु उच्चकोटिके भगवद्भक्त भी थे। श्रीपोद्दारजी जब यात्राके साथ इन्दौर आये तो उनकी श्रीचौधरीसे मिलनेकी इच्छा तीव्र हो उठी। श्रीपोद्दारजीके पास उनका जो पता था, उसीके सहारे पूछते-पूछते वे उनके घर पहुँचे। चौधरीजी तो अकस्मात् पोद्दारजीको अपने गृह आया देख हतप्रभ हो गये। उनका रोम-रोम एक अभिनव विशुद्ध स्नेहावेशसे परिपूरित हो उठा। श्रीपोद्दारजीको उन्होंने अपने स्निग्ध हृदयसे सटा लिया। उनके नेत्रोंमें पहले गीलापन आया, कण्ठ भर आया और दो-चार क्षणोमे ही चौधरी अपनेको संवरित नहीं रख सके। अश्रुधारा उनके वयोवृद्ध आननके कपोलोसे ढुलकती पोद्दारजीके मस्तकका अभिषेक करने लगी। श्रीपोद्दारजी वयोवृद्ध चौधरीजीके चरणोंमें अवनत हो चुके थे। श्रीचौधरीजी स्नेहावेशसे अर्ध-विक्षिप्त-से हो उठे थे। जो लोग पोद्दारजीके साथ थे, उन्हें यही लग रहा था कि चौधरीजी उमडते आनन्दके आवेगमें अपने शरीरका भान ही खो चुके हैं। कुछ काल तक दोनों सन्तोंका मिलन-जन्य अभूतपूर्व प्रेमावेश साथ-आये लोग देखते रहे। कुछ काल पश्चात् जब श्रीचौधरीजीका भाव कुछ शिथिल हुआ तो उन्होंने श्रीपोद्दार महाराजसे निवेदन किया कि बंगभूमिके गौरव अनन्तश्रीविभूषित पू. सीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज इस समय ॐकारेश्वर तीर्थमें ही हैं। वे अपने निर्जन आश्रममें एकान्त तपमे संलग्न हैं उनके दर्शनार्थ अवश्य चलना चाहिये।

तीर्थयात्राट्रेनके निर्धारित स्थलोंमें ॐकारेश्वर तो था ही। उज्जैनसे सभी तीर्थयात्रियोंको इन्दौर होकर ॐकारेश्वर जाना ही था। यहाँ ज्योतिर्लिंगोंमें दो ज्योतिर्लिंग हैं – ॐकारेश्वर एवं अमलेश्वर । इन दोनोको वैसे गणनामे तो एक ही माना जाता है, किन्तु दर्शनार्थियोंको दोनों लिगोंके ही दर्शन करने चाहिये। नर्मदाके एक किनारे अमलेश्वर महादेवका मन्दिर है एवं दूसरे

किनारेपर मान्धाता टापूपर ॐकारेश्वर लिंग है। इस द्वीपपर महाराज मान्धाता ने भगवान् शंकरकी उपासना की थी। टापूका क्षेत्रफल लगभग एक वर्गमील है। यह एक पहाडी है। इसके एक ओर नर्मदाजी बहती हैं और दूसरी ओर नर्मदाजीकी ही एक धारा बहती है, जिसे लोग कावेरी कहते हैं। द्वीपके अन्तमें यह कावेरी धारा नर्मदामें मिल जाती है। इस मान्धाता द्वीपका आकार प्रणवसे मिलता जुलता है।

कहा जाता है विन्ध्यपर्वत अपने आधिदैवतरूपसे यहाँ पार्थिव लिंगके रूपमे और ॐकार यत्रके रूपमे, दोनों रूपोमे, भगवान् शंकर– अपने इष्टदेवकी आराधना किया करता था। आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् जब उसके सम्मुख प्रकट हुए तब विन्ध्यने भगवान्से यहीं दिव्यरूपमें नित्य स्थित रहनेका वरदान माँगा। भगवान् शकर तभीसे यहाँ ज्योतिलिगरूपमें स्थित हैं। ॐकार यत्रके रूपमे तो उनका इस ॐकारके ही आकारकी पहाडीपर ॐकारलिग है और पार्थिव लिंगके रूपमें अमलेश्वर ज्योतिर्लिंग है।

श्रीपोद्दार महाराजके साथ ॐकारेश्वरतक श्रीनीरजाकान्त चौधरी भी आये थे। अतः सभीने नर्मदा स्नानकर पहले अमलेश्वर महादेवका दर्शन किया। पू.गुरुदेवने अमलेश्वर ज्योतिर्लिंगका श्रीगोस्वामीजीसे विशेष विधिपूर्वक पूजन कराया। वहींसे नौका द्वारा नर्मदाजी पार करके सभी लोग मान्धाता द्वीप पहुँचे। यहाँ घाटके पास नर्मदाजीमे कोटितीर्थ अथवा चक्रतीर्थ माना जाता है। यहाँ पुनः स्नान करके यात्री सीढियोंसे ऊपर चढकर ॐकारेश्वर मन्दिर पहुँचता है। श्रीॐकारेश्वर मन्दिरकी मूर्ति अनगढ है। यह मन्दिरके शिखरके ठीक नीचे नहीं होकर एक ओर हटकर है। मूर्तिके चारों ओर जल भरा रहता है। मन्दिरका द्वार छोटा है । ॐकारेश्वर मन्दिरमे सीढियाँ चढकर दूसरी मंजिलपर जानेपर महाकालेश्वरलिंग एवं तीसरी मंजिलपर वैद्यनाथेश्वरलिंग है। पू.गुरुदेवने यहाँ भी श्रीगोस्वामीजीसे सविधि सागोपांग पूजा करायी।

तीर्थयात्री लोग जब स्नान-पूजादिमें निरत थे, श्रीपोद्दार महाराज, पू. गुरुदेव एवं चौधरीजीको लेकर महासिद्ध सन्त पू.श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी के दर्शनार्थ चल पडे। श्रीसीतारामदासजीका आश्रम मान्धाता पहाडीपर ही ॐकारेश्वर मन्दिरसे थोडी दूरीपर है। वह परम निर्जन स्थलपर है।

श्रीपोद्दारजी पू.गुरुदेवके सहित उस आश्रममें ही उनसे मिलने पहुँचे।

उस समय वे दीर्घावधिका मौन लिये हुए थे। वे लगातार दिनमें दस-बारह घण्टे समाधिमें ही डूबे रहते थे। यह समाधि ही उनका मौन कहलाती थी। इतने एकान्तनिष्ठ महात्माका सर्वजनसमुदायसे मिलने-जुलनेका तो प्रश्न ही नहीं था।

पू.गुरुदेव एवं पोद्दार महाराज जब उनके निकट पहुँचे तो वे सचमुच ही बाह्यज्ञानरहित अवस्थामे डूबे हुए थे। बहुत कालतक उनके शिष्योंने जब 'जय सीताराम-सीताराम'की नामध्वनि की तो वे किंचित् प्राकृत जगत्को पकड़ पाये। उस समय उनके एक परम अनुग्रह-प्राप्त शिष्यने उनके कानमें मुख लगाकर उन्हें श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके आगमनका समाचार दिया। श्रीराधाबाबा एवं पोद्दार महाराजका नाम सुनते ही श्रीसीतारामदासजीको विलक्षण'कम्प' नामक सात्विक भावोदय हो उठा। कुछ कालतक तो वे झझावातमें जैसे पीपलका पत्ता काँपता है, कम्पित होते रहे। उसके पश्चात् धीरे-धीरे उन्होंने अपने नेत्र ऊँचे किये। पू.गुरुदेव और पोद्दार महाराजको देखकर वे किंचित् मुसकाये। ओह ! महासिद्ध सन्तोंकी कैसी लीला है। श्रीसीतारामदासजीने पू.पोद्दार महाराजमें क्या देखा, इसे तो उनका सिद्ध मन ही जाने। हॉ ! बाह्य खडे लोगोंने यही देखा कि श्रीसीतारामदासजी पू.पोद्दारजीके स्वागतमे उठना चाह रहे थे, परन्तु अपने आसनसे उठ नहीं पा रहे थे। वे कुछ बोलना चाह रहे थे, किन्तु भीतरकी चित्तकी विलक्षण आनन्दमयी स्थिति उन्हे गूँगा किये थी। शब्द उनके मुखसे बाहर फूट नहीं रहे थे। वे नयन उठाकर श्रीपोद्दारजीको देखना चाह रहे थे किन्तु उनके नयन भीतरी मनके चिन्मयाविष्ट रहनेके कारण बाह्य दृश्य देखनेमें असमर्थ हो रहे थे। उन्होंने किसी प्रकार अपनी अंजलिमें कुछ तुलसीदल एवं एक पुष्पमाला, जो उनके आराध्य भगवान्को पहनाई हुई थी, उठायी और श्रीपोद्दारजीकी अंजलिमें समर्पित कर दी। बस, इतनी ही क्रिया उनका बाह्य शरीर किसी प्रकार कर पाया और वे पुनः समाधिके विलक्षण सच्चिदानन्दमय सोपानोंपर चढ़गये। उनके पास रहनेवाले एक दो सेवक सीताराम-सीताराम, सीताराम-सीताराम नामध्वनि करने लगे। पुनः उन्हे कुछ कालतक उसी प्रकार परम सात्विक कम्पोदय होता रहा और फिर उनका बाह्यावेश जाता रहा।

तीर्थयात्रासे लौटकर पू.गुरुदेव जब लेखकके सम्मुख अपनी यात्राके

विलक्षण अनुभव कभी-कभी कृपाकर सुनाते थे तो उन्होंने कहा था कि उनको जब श्रीपोद्दार महाराजके साथ ॐकारेश्वरमें श्रीसीतारामदासजी ॐकारनाथजीके दर्शन हुए थे, उस समय उन्हें उनके रूपमें साक्षात् वनवासी वेषमें श्रीसीतारामजीके ही दर्शन हुए थे। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि श्रीसीतारामका युगल स्वरूप ही इन महासिद्ध सन्तके रूपमें जगत्में महामंगलमयताकी अशेष धारा प्रवाहित कर रहा है।

----

# उदयपुर एवं चित्तौड़में पू. गुरुदेव

खॅडवासे तीर्थयात्राट्रेन सीधी चित्तौडगढ पहुॅची । चित्तौडगढ भारतवर्षका महान् सांस्कृतिक तीर्थ है। पू. गुरुदेव कह रहे थे कि त्याग एव बलिदानके जो शुद्ध परमाणु उन्हें चित्तौडके वातावरणमें दृष्टिगोचर हुए, वैसे राजस्थानकी तो बात ही क्या, समग्र भारतमें कहीं देखनेको नहीं मिले। चित्तौडकी भूमिका कण-कण पूर्ण पवित्र एवं बलिदानी है। पू.गुरुदेव यहॉके चार ऐतिहासिक स्थानोंमें बहुत ही उद्दीपित हो उठे। प्रथम स्थान तो चित्तौड़का दुर्गद्वार ही था जहाँ जयमल और फत्ताके बलिदान-स्मारकस्थल हैं। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि भक्ति चाहे भगवान्के प्रति हो, अथवा देश किंवा राज्यके प्रति, भक्ति तो भक्ति ही है; शुद्ध त्यागमयी सर्वोत्सर्गमूलक भक्ति श्रीकृष्ण जिस किसीके भी हृदयमें देखते हैं, वे उसका आदर करने हेतु प्रकट हो ही जाते हैं। हमारी दृष्टिमें राजा, देश, भगवान् तीन वस्तुऍ प्रथक् हो सकती हैं, किन्तु भगवान्की दृष्टिमें तो सब कुछ वे-ही-वे हैं, अत भक्तिका शुद्ध भाव जहॉ भी, जिसके भी प्रति किसीमें प्रकट हुआ कि उसके भोक्ता बने श्रीकृष्ण स्वयंको ही ऋणी मान लेते हैं।

पू.गुरुदेदको चित्तोडगढमें सर्वाधिक उद्दीपित करनेवाला द्वितीय स्थान था –पन्नाधायका महल। पन्नाधायके रूपमें उन्हें माँ यशोदाकी ही स्फूर्ति होती रही। उनकी चालमें उन्मत्तता आ गयी। वे अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सम्मुख भावोन्मत्त हुए मचल उठे –'प्राणवल्लभ ! तूने पूतना-जैसी विषपायिनीको मातृगति दी है, यह परमोत्सर्गमयी धाय भले ही तेरे प्रति समर्पित नहीं हो पायी हो, किन्तु इसका समर्पण तो था सौ-टंच ही। जगज्जननी महावात्सल्यवती

यशोदा मैया भी तो तेरी धाय ही थी। जिस वात्सल्यभावसे उन्होंने अपनी कोखजात पुत्रीका बलिदान देकर भी तुम्हारा पालन किया, ठीक उसी प्रकार अपने कोखजात पुत्रका बलिदान देकर इस पन्नाधाय द्वारा एक राजकुमारको वात्सल्यदान देना क्या उसकी तुलनामें भावदृष्टिसे न्यून है ? परमार्थकी उत्कृष्टताको यदि एक ओर रख दें और विशुद्ध भावराशिका मूल्यांकन किया जाय तो पन्नाधाय भी उसी उत्कृष्ट भावराशिकी छायाकी संग्राहक होगी ही। पराये राजकुमारकी रक्षार्थ अपने निजके कोखजात पुत्रका बलिदान देकर उसने चिन्मय जगत्‌की वात्सल्य-धाराका संस्पर्श तो किया ही है ! प्रियतम ! दयानिधि ! फिर वह तुम्हारी हेतुरहित कृपाकी अधिकारिणी क्यों नहीं हो ?'

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि पन्नाधायको लेकर उनका बहुत दिनोतक श्रीकृष्णसे विवाद चलता रहा; अन्ततः श्रीकृष्णको उनका आग्रह मानना ही पडा। पन्नाधाय भगवान् श्रीकृष्णके नित्य लीलालोकमे मातृगति पा ही गयी। पू. गुरुदेवके दृष्टिपथमें भगवती योगमायाने यह दृश्य उपस्थित कर दिया कि "पद्मरागरचित पीढेपर ब्रजरानी यशोदा बैठी हैं, उनके निकट अपने श्याम-गौर कमनीय अंगोसे सौन्दर्य बिखेरते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम प्रांगणमे खेल रहे हैं। उनका यह खेल एक खभकी ओटमे खड़ी एक दासी (पन्नाधाय) देख रही है। चंचल श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलरामकी तो दिनचर्या ही है, निरन्तर खेलना, तथा उस दासी(पन्ना)का भी एक ही कार्यक्रम रहा है अनुराग-सूत्रमें बॅधी-बॅधी निरन्तर इन चपल श्याम-गौर आभीर राजकुमांरोंकी सँभाल दह करती रहे, इनकी त्रिभुवन-मनमोहिनी शोभा देख-देखकर अपना तन-मन न्यौछावर करती रहे।

पू.गुरुदेवके चित्तको चिन्मय भावालोड़नमें डुबानेवाला तीसरा स्थान था —वह जौहरस्थल जहाँ महारानी पद्मिनीके नेतृत्वमें हँसते-हँसते बत्तीस हजार सती ललनाओंने धधकती अग्निज्वालाओंमें अपने जीवनका उत्सर्ग कर दिया था। भगवती अघटन-घटना'-पटीयसी योगमायाने उनकी दृष्टिके सम्मुख वह समग्र ऐतिहासिक घटना ज्यों-की-त्यों व्यक्त कर दी, जो सैकड़ों वर्ष पूर्व घटित हुई थी और इतिहासके गर्भमें समा गयी थी। पू.गुरुदेवके तपोपूत मनमें विशुद्ध सात्विक करुणाका ऐसा उन्मादी स्रोत उद्वेलित हुआ कि वे अपने प्राणाराध्य जीवनसर्वस्व प्रियतम श्रीकृष्णसे झगड ही पडे। । " अनुसूया-जैसी

इन सतियोंपर तुम हे प्राणपति, यदि कृपा नहीं करोगे, तो इनका आदर कौन करेगा ? इन सभी पावन स्त्रियोंका अनादिकालीन माया-भ्रम तुम निवारण करो, निश्चय ही करो और इसी क्षण करो। वे प्रीति-हठ कर बैठे थे।श्रीकृष्ण हँसते हुए-से उनसे बोल उठे– "हे मुण्डितकेश साधु महाराज ! तुम्हारी बलिहारी है। मेरी अनन्त कृपाशक्तिका प्रवाह इसी क्षण सर्वत्र बहा दो न ! और फिर रसाविष्ट स्वरमें अतिशय प्रीतिमें भरकर कह उठे "प्राणेश्वरी ! मैं तो सदा-सदासे तेरी चरणरजका किंकर हूँ, तुम्हारी जैसी रुचि हो, वही विधान करो न ! हे मंगलमयी ! तेरी रुचि ही में तो मेरी पूरी रुचि है।"

पू.गुरुदेवने स्पष्ट-स्पष्ट प्रत्यक्ष देखा –"वहाँउस जौहर-कुण्डमें जलीं असंख्य सती स्त्रियोंके अंगोंका दुर्धर्ष तेज असख्य कोटि मार्त्तण्डके समान, एक-लक्ष-दल-समन्वित परम दिव्य चिन्मय पद्मके ऊपर आरूढ हो गया है। और तब वह विचित्र पद्म आकाशमें स्थिर हो गया है। वहीं उसी ज्योतिपुञ्ज पद्मके पार्श्वमे ही व्यक्त हुए हैं - महामरकत-द्युति श्रीकृष्ण ! वह ज्योतिमय पद्म तब मिल जाता है उन महामरकत-द्युतिमें । पू.गुरुदेवकी तो एक अनिर्वचनीय अवस्था हो गयी थी। उनका शरीर अपने प्रियतमके प्रेमावेशमें काँपने लगता है। वे मरकत-द्युति श्रीकृष्ण अत्यन्त निकट आकर उनसे अति प्रेमभरे स्वरोंमें बोल उठते हैं –"प्राणेश्वरी ! मेरा सब खेल तुम्हारी रुचिके अनुरूप हो गया न ? " पू.गुरुदेव विस्फारित नेत्रोंसे अपने प्रियतमकी ओर देखते रह जाते हैं, कुछ भी उत्तर नहीं दे पाते। पू. गुरुदेवकी अब खडे रहनेकी सामर्थ्य भी नहीं रहती । वे उस जौहर-भूमिमें धम्म-से बैठ जाते हैं। फिर तो प्रियतम श्रीकृष्ण अपनी युगल भुजाओंको उनकी ग्रीवामें डालकर उनके सम्मुख ही मन्द-मन्द मुसकाने लगते हैं। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि प्रियतम प्राणवल्लभके अरुण अधरोंपर यह हँसी उनकी "साधुबाबा.. .." कहकर यह मेरा विनोद उड़ानेकी भंगिमा, वस्तुतः उनकी स्वभावसुलभ क्रिया नहीं थी। यह तो उनकी अघटन-घटना-पटीयसी योगमायाशक्तिका विलास था जो मेरी रुचिपर अपनी अनन्त कृपाका मुझे दान कर देनेके निमित्त इस समय मेरे प्राणपतिके अधरोंमे प्रकट हुई थीं और उनके अन्तरालसे बोल और मुसका रही थीं।

पू.गुरुदेवको रसोच्छलित करनेवाला चौथा स्थल था – चित्तौड़गढ़में महलमें बना मीराबाईका श्रीगिरिधर गोपालका मन्दिर। यह वही मन्दिर था,

जहाँ मीराने राणाके द्वारा भेजा गया विषका प्याला तुलसीदल डालकर भगवान्‌को समर्पित कर दिया था और वह अमृत हो गया था। इसी चित्तौड़में भक्तरानी कर्णावतीका वह निवास भी था जिसके उपवनमें उसे मार डालनेके लिये राजा मानसिंहकी योजनासे शेर छोड़ा गया था और रानी कर्णावतीने उस शेरकी नृसिंहदेवके रूपमें पूजा की थी।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि दीवानी मीराबाईके सम्पूर्ण महलमें ही ऐसी भक्ति-विह्वलता और भाव-विभोरता भरी थी कि मुझे यही अनुभव हो रहा था कि मैं मानो नवपल्लवोंसे परिशोभित वृन्दाकाननमें ही आ गया था। इस दिव्यातिदिव्य मन्दिरमें मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी किशोरमूर्ति थी। चित्तौड़गढ़के प्रशासनिक अधिकारीसे पू.गुरुदेवने प्रश्न किया कि क्या ये ही श्रीमीराबाईके परमाराध्य गिरिधरगोपाल हैं ? उस समय उन प्रशासकीय अधिकारीने पू.गुरुदेवको यही बतलाया कि भक्तिमती मीराबाई जिनकी उपासना करती थीं , वे विग्रह तो वस्तुतः उदयपुरके राजमहलमें हैं। वे विग्रह श्रीराणापरिवारकी निजी सम्पत्ति हैं। हाँ ! हो सकता है कि यदि आप लोग अनुमति ले तो आपको उनके भी दर्शन मिल जायें।

इस समय पू.गुरुदेवको श्रीबाँकेबिहारी भटनागर नामक उन सन्तकी भी स्मृति हो आयी जिन्हे बृन्दावनमें भक्तिमती मीराके प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। श्रीबाँकेबिहारीजीने जब मीराबाईसे पोद्दार महाराजकी आध्यात्मिक स्थितिके सम्बन्धमें प्रश्न पूछा तो मीराबाईने उनसे यही कहा था कि श्रीपोद्दारजीका सूक्ष्म शरीर सर्वथा सर्वांशमें प्रियाजी राधारानीका स्वरूप हो गया है।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि शताधिक वर्ष हो गये किन्तु भक्तिकी निर्मल तरंगें चित्तौडके धरातलको अबतक प्लावित कर रही हैं। भक्तिकी विलक्षण महिमा कैसी विशुद्ध, अगाध एवं अपरिसीम है !

पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज यात्राट्रेनमे चित्तौड़गढ़से उदयपुर जाने ही वाले थे। दूसरे दिवस उनका मुकाम उदयपुर ही था। प्रशासकीय अधिकारियोंके सौहार्द एवं सहयोगसे बात बन गयी । श्रीपोद्दार महाराजके साथ पू.गुरुदेव उदयपुरके राजमहलमें श्रीविग्रहके दर्शनार्थ पहुँचे। श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी एवं कुछ और लोग भी उनके साथ थे। ओह ! पू.गुरुदेवकी तो उस परम आकर्षक विग्रहको देखते ही

दूसरी ही दशा हो गयी थी। उनके सम्मुख तो वह श्रीविग्रह था ही नहीं, एक अभिनव रसमाधुरीसे पू.गुरुदेवके मन एवं इन्द्रियोंको आप्लावित करते खडे थे साक्षात् नीलसुन्दर, उनके प्राणाराध्य । पू.गुरुदेवके स्मृतिपटलपर मीराबाईकी अनेक पद-रचनाओकी पंक्तियाँ उभर आयीं ।

**मोहन प्यारा आज्यो म्हारै देस।।**

**कहो तो मोतियन माँग भरावाँ, कहो छिटकावॉ केस ।**

**कहो कसूँभी सारी पहराँ, कहो तो भगवा भेस ।**

**आवॉ आवाँ कह गया प्रीतम, कर गया कौल अनेक ।**

**गिणताँ- गिणतॉ घिस गयी म्हारी आँगलियाँ री रेख ।।**

यद्यपि श्रीविग्रह छोटी आकृतिमें था, किन्तु पू.गुरुदेवको उस श्रीविग्रहकी विशाल आँखे नवकमलके समान दिख रही थीं। पू.गुरुदेवके नेत्रोंकी पलकें स्थिर थीं और एक परम मनोहर छविने उन्हें पूर्णरूपेण मुग्ध कर लिया था। यही दशा श्रीपोद्दार महाराजकी थी।

"ओह ! बिम्बफलके सदृश अधर हैं, उनपर मन्द मुसकान छायी है। सजल जलदके-से अग हैं, कटिपर अत्यंत सुन्दर पीताम्बर राजित है। अहा ! ये सचल भी हैं, चिन्मय हैं, मात्र अचल मूर्त्ति नहीं हैं। मधुर सुन्दर मतवाली झूमती इनकी चाल है। चरणोंमें मञ्जीर एवं नूपुर हैं, नवरत्न-काञ्ची-विभूषित कटिदेश है। काञ्चीसे रुनझुन-रुनझुन शब्द हो रहा है। गलेमें सुन्दर वनमाला है। पूर्ण शशधर-जैसे सुन्दर मुखपर कुञ्चित केश-कलाप सुशोभित है। यह कुन्तलराशि ऐसी प्रतीत होती है मानो असंख्य कृष्ण-भ्रमर एक मनोहर नील अरविन्दपर टूट पड़े हों।"

पू.पोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव दोनोके नेत्रोसे प्रेमाश्रु ढलकने लगे। वे अपने-अपने आराध्यकी छवि उस श्रीविग्रहमें निरखते भावविभोर थे। उस श्रीविग्रहके दर्शनसे उनका मन भरता ही नहीं था। बार-बार जैसे वह विग्रह उन्हें समाकर्षित कर उनका मन-चित्त-सर्वस्व जैसे आकर्षित कर रहा हो।

इस प्रकार पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज अपने-अपने भावसिन्धुमे लहराते भरे-नयन उस श्रीविग्रहसे विदा ले रहे थे। उसी समय इन दोनों विभूतियोको राजमहलके अन्तःपुरमे पधारनेका निमन्त्रण मिला।

श्रीपोद्दार महाराजका बीकानेर-राजमाता श्रीमती सुदर्शनादेवीजीसे तो

राखीबन्द धर्मभाईका नाता था, किन्तु उदयपुर राज्यपरिवारसे उनका कोई विशेष राम्बन्ध नहीं था। श्रीराणावंशकी वन्दनीय माता-बहिनोंकी ओरसे यह अनुरोध प्रकट किया गया कि पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराजका आशीर्वाद उन्हें अवश्य-अवश्य प्राप्त हो। पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दारजी भीतर राजमहलमें गये। महारानीजीका आग्रह था कि श्रीराधाबाबा एवं पोद्दारजी उनके यहाँ दूध, फल, मेवा आदि कुछ अवश्य ग्रहण करें। पू.गुरुदेव तो मात्र एक बार ही भिक्षा करते थे और अभी तो उनकी दैनिक अर्चा ही नहीं हुई थी। वे तो त्वरामें सीधे श्रीविग्रहके दर्शनार्थ ट्रेनसे चले आये थे। राजपरिवारका अतिशय आग्रह देखकर श्रीपोद्दार महाराजने थोडी मेवा अवश्य जेबमें डाल ली एवं पू.गुरुदेव की भिक्षाके लिये फल अवश्य बँधवाकर उनके द्वारा भेजे गये।

उदयपुरके पास ही श्रीनाथद्वारा है। उदयपुरसे सीधे नाथद्वारा ही जानेकी योजना थी । वहीं भगवान् श्रीनाथजीके दर्शनोपरान्त पू.गुरुदेवको भिक्षा भी करनी थी । उनके साथ श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी भी वहीं जाकर अपनी आवश्यक पूजा-अर्चा कर भगवत्प्रसाद पाने वाले थे। श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी आदि अनेक वैष्णव भी उनके साथ वहीं अपनी-अपनी मर्यादा एवं आचारके साथ भगवत्प्रसाद लेनेवाले थे। अतः श्रीपोद्दार महाराज एवं सभी लोग वहाँसे मोटरगाडियोंमे नाथद्वारा प्रस्थान कर गये।

---

कृपावतार श्रीनाथजी

# कृपावतार श्रीनाथजी

बात सन् १९५५ ई.की है। विगत अनेक वर्षोंसे यह मेरा नियम ही था कि लगभग रात्रिको तीन बजेसे मैं पू.गुरुदेवकी कुटिया (निवास)पर आकर उन्हे ब्रजरसके उनके संचयित 'पद' गायनकर सुनाया करता था। पू.गुरुदेवने मुझे एक तानपूरा मँगा दिया था और उसीके स्वरमे स्वर मिलाकर प्रतिदिन ही पद-संकीर्तन गायन होता था। पू. गुरुदेव तो अपनी कुटियाके भीतर ही मछहरी लगाकर लेटे रहते थे, उनकी कुटीका द्वार उढका रहता था, और बाहर एक काष्टकी चौकीपर मेरा गायन चलता था। यह गायन लगभग ढाई तीन धण्टे अनवरत होता था, और पू.गुरुदेवकी कृपासे ऐसा आनन्द आता था कि काल क्षणोंमें ही व्यतीत हो जाता था। हाँ ! इस पद-गायनमें एक अष्टछापके पदकी मैं प्रायः प्रतिदिन ही आवृत्ति किया करता था। चतुर्भुजदासजी रचित इस पदका माहात्म्य है कि यदि कोई प्रति दिवस एक वर्ष पर्यन्त इसकी आवृति करे, तो उसे भगवान् श्रीनाथजीके दर्शनोका सौभाग्य अवश्य मिलता है।

कुछ दिनो पूर्व ही मुझे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने, उन्हें एक रात्रि हुए श्रीनाथजीके दर्शनोका प्रसंग सुनाया था।उस रात्रि उन्हें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी भी एक हृष्ट-पुष्ट शुभ्रवर्णकी धेनुके सहित प्रत्यक्ष दिखे थे। वह प्रसंग सुनकर मेरे भावुक मनने श्रीनाथजीके दर्शनोका सकल्प सँजो लिया था। पू.गुरुदेवने जब मेरे सम्मुख श्रीनाथजीकी शोभा, उनके मुखारविन्द, उनकी अंग-भंगिमा, उनके स्वरूप-माधुर्यका प्रत्यक्ष देखा विवरण सुनाया तो मुझे विवश होकर उनके सम्मुख यह स्वीकार करना पड़ा कि मैं तो अपने जीवनकालमें कभी श्रीनाथजीके दर्शनार्थ नाथद्वारा गया ही नहीं, मैं कैसे उनके अनुभवको सत्यापित करूँ ?

हाँ ! उस दिवस अवश्य मुझे यह लगन लग गयी थी कि सर्वसमर्थ श्रीनाथजी ही ऐसा संयोग संघटित करदें जिससे मेरा गुरुदेवसे शरीरसंग छूटे भी नहीं और श्रीनाथजीके दर्शन भी हो जावें। और इसी संकल्पको लेकर मैंने प्रति दिवस ही पू.गुरुदेवके सम्मुख इस अष्टछापके चतुर्भुजदासजी-रचित पद-गायनका नियम ले लिया था। एक और विलक्षण बात यह हुई कि अबतक पू.गुरुदेवने भी श्रीनाथजीके विग्रहका दर्शन नहीं किया था। उन्हें जब श्रीनाथजी

ने मानसिक रूपसे अपना स्वरूप दर्शन कराया तो पू. गुरुदेव अपनी अनुभूतिका मिलान किसी श्रीनाथजीके विग्रहके प्रत्यक्षदर्शीसे करवाना चाहते थे। उन दिनों ऐसा कोई श्रीनाथजीके विग्रहका प्रत्यक्षदर्शी वहाँ था भी नहीं, जो पू. गुरुदेवकी सूक्ष्म अनुभूतियोकी अपने प्रत्यक्ष दर्शनसे परिपुष्टि कर सके। अतः पू. गुरुदेवने भी मेरे द्वारा संकेतित इस चतुर्भुजदास रचित पदका पाठ चुपचाप मुझे बिना कहे ही स्वयं भी प्रारभ कर दिया। उनकी भावना इतनी ही थी कि इस पाठसे श्रीपोद्दार महाराजका श्रीनाथद्वारा जानेका कोई संयोग संघटित हो जाय तो वे भी श्रीनाथजीके स्वरूपका दर्शनकर अपनी अनुभूतिको स्वयं सत्यापित कर लें।

यह अष्टछापका पद निम्नलिखित है -

**गोवर्धनवासी साँवरे हो लाल ! तुम बिन रह्यौ न जाय ।**
**ब्रजराज लडैते लाडिले हो लाल! तुम बिन रह्यौ न जाय ।**
**बंक चितै मुसकायकै हो लाल ! सुन्दर वदन दिखाय ।**
**लोचन तड़पैं मीन ज्यौं लाल ! पल-छिन कल्प बिहाय ।।**
**सप्तक सुर बंधान सौं लाल ! गिरि चढ गैयाँ बुलाय ।**
**गाय बुलाई धूमरी नेक ऊँची टेर सुनाय ।।**
**दृष्टि परे जा दिवस तैं लाल ! तब तैं रुचै न आन ।**
**रजनी नींद न आवई मोहे बिसर्यो भोजन-पान ।।**
**दरसनकौं नयना तपैं लाल ! वचन सुनन कों कान ।**
**मिलिबे कौं हियरा तपै , मेरे जीके जीवन प्रान ।।**
**पूरण ससिमुख देखि कैं लाल! चित चौंट्यौ वाही ओर ।**
**रूप सुधारस पान कैं लाल ! सादर कुमुद चकोर ।।**
**मन अभिलाषा है रही लाल ! लगत न नयन निमेष ।**
**इकटक देखूँ भाँवते ! प्यारो नागर नटवर भेष ।।**
**लोकलाज कुल वेदकी लाल ! छाँड्यौ सकल विवेक ।**
**कमल कली रवि ज्यौं बढै लाल! छिन छिन प्रीति विशेष ।।**
**कोटिक मन्मथ वारने लाल ! देखत डगमगी चाल ।**
**युवती जन मन फन्दना लाल ! अम्बुज नयन विशाल ।।**
**कुञ्जभवन क्रीड़ा करौ लाल! सुख निधि मदनगोपाल ।**
**हम श्रीबृन्दावन मालती तुम भोगी भ्रमर भूपाल ।।**

**यह रट लागी लाडिले लाल! जैसे चातक मोर ।**
**प्रेम नीर बरखा करौ लाल ! नव घन नन्दकिशोर ।।**
**युग-युग अविचल राजिये लाल ! यह सुख शैल निवास ।**
**श्रीगोवर्धनधर रूप पैं बलि जाय चतुर्भुजदास ।।**

**(भावार्थ)**

हे शतश्रृंग-समन्वित गोवर्धन-परिसरके वासी श्यामलवपु नीलमणि ! अब तो तुम्हारे बिना रहा ही नहीं जाता । हे ब्रजराज नन्दबाबाके लडैते ! सचमुच ही अब तेरा वियोग मुझसे नहीं सहा जाता। हे प्यारे ! किञ्चित् अपनी बॉकी चितवनसे मंद मुसकान बिखेरते हुए मेरी ओर एक बार निहार लो न ! और अपने त्रिभुवनमोहन सुन्दर मुखको मुझे दिखा भर दो ! प्यारे ! मेरे नेत्र जल-विहीन मीनकी तरह तुम्हारे वियोगमें तडप रहे हैं। एक-एक पल– पलक गिरानेका कालमान भी काटना मेरे लिये कल्पोंके समान दूभर हो रहा है।

सगीतके सातों स्वरोंको बॉधकर हे मेरे प्यारे मोहन ! तनिक वेणु तो बजा दो। सुहावनी श्रुतियॉ लगाकर गीतोंकी बन्दिशमें तनिक मधुर-मधुर कुछ गान कर दो न! फिर तो जिस किसी कर्णरन्ध्रमे वह स्वर प्रवेश करेगा वह एक दिव्य रसका आस्वाद पा जावेगा और तुम्हारे प्रेममें पागल हो जायगा। तुम्हारी विश्वजन-मनोमोहिनी मुरलीके मधुर स्वरोमे इतनी मादकता है कि जिस किसीके कर्णरन्ध्रमे एक बार भी वह स्वर प्रवेश कर जाता है, उसीको तुरन्त पागल बना देता है।

हे प्यारे ! जब तुम्हारी गाये हरित् तृणोंकी लालसामे प्रलोभित हुईं धीरे-धीरे एक-से-एक सुन्दर तृणसंकुल भूमिके अंशोंको चरती हुई वनमें प्रवेश कर जाती हैं, और इतनी दूर चली जाती हैं कि अपने पालकवर्ग – तुम्हारे सखाओ और तुम्हारी स्वयंकी दृष्टिसे भी सर्वथा ओझल हो चुकती हैं, उस समय तुम्हारे सखाओके मुखपर तो चिन्ता और भयकी स्पष्ट रेखाऐ अंकित हो जाती है, किन्तु उस समय भी तुम्हारे अरुणिम अधरोपर वही मधुर मन्द मुसकान और तुम्हारे नेत्रसरोजोंमें वैसी ही उत्फुल्लता नाचती रहती है। अपने सखाओंको चिन्तित देख तुम अपने स्थानपर खडे अवश्य हो जाते हो। बस, इसके अतिरिक्त कोई परिवर्तन तुम्हारे अन्दर नहीं होता। हॉ ! तुम्हारे नेत्र किञ्चित् चंचलताका प्रकाश अवश्य करते हैं– किसी भयसे नहीं, अपितु अपने सखाओं को उद्विग्न देखकर उनकी उद्विग्नता हर लेनेके उद्देश्यसे ।

और फिर अपने सखाओंके मन, प्राण, इन्द्रियोंको शीतल करते हुए तुम उस गिरि गोवर्धनकी चोटीपर हरित् तृणोंके लहलहाते पुञ्जोंपर चरण रखकर चढते हुए उस तमाल-मूलके समीप जा पहुँचते हो और उस तमालकी शाखाओंपर आरूढ़ हुए हे रसिक ! अत्यन्त रसीली बोलीमें तुम गायोंमें से एक-एकका नामोच्चारण करते, पुकारने लगते हो। जब धूमरी, धौरी, कारी, कजरारी कहकर तनिक ऊँची टेरसे पुकारते हो, उस समय वे सभी गायें दौड़ी-दौड़ी तुम्हारे चतुर्दिक् आकर तुम्हे घेर लेती हैं ।

हे प्यारे ! तुम्हारे विश्वमोहन सौन्दर्यकी एक क्षीण-सी झाँकी मुझे जबसे हुई है, तबसे मुझे कोई भी सासारिक वस्तु रुचिकर नहीं लगती। विषयजन्य मन्द रसोको विस्मृतकर मै एक चिन्मय अलौकिक रसके आस्वादमे डूबा रहता हूँ। उस समय यह तुच्छ पार्थिव विलास-रस सम्पूर्णरूपसे विनष्ट होकर मेरे चित्तकी सब-की-सब वृत्तियाँ एक भाव, एक लक्ष्य, एक ही गतिसे प्रवाहित होने लगती हैं। मुझे न तो रात्रिमे निद्रा आती है, न दिनमे चैन पडता है। मुझे अन्न-जलकी भी सुधि नहीं रहती, फिर लज्जा-संकोच, धैर्य-गाभीर्य, कुल-मान, लोक-परलोकको चिन्ता करनेका तो प्रश्न ही नहीं।

हे मेरे जीवनके जीवन ! एक ऐसी विरहाग्नि मेरे मन-शरीरको धक्-धक् जलाती रहती है जिसकी व्यथाका मैं क्या कहकर वर्णन करूँ ? किसी प्रकार तुम्हारे मधुर वचन दो बोल कानोको सुनाई पड जावे, किसी प्रकार तुम्हारी एक साँवरी-सलोनी सुन्दर झाँकी नेत्रोंको हो जाय, कहीं एक क्षणके लिये मेरा हृदय तुम्हारा आलिंगन-स्पर्श प्राप्त कर ले – इस कामनाकी अग्निमें मेरे नेत्र, कान, हृदय, रोम-रोम जलता रहता है। यह एक ऐसी ज्वाला है जो कभी शान्त होती ही नहीं, यह ज्वाला तभी शान्त होगी जब मेरा सारा 'अहं' ही जलकर राख हो जायगा और वह मेरे ध्वंस की राख तुम्हारे चरणोमें समर्पित होकर तुम्हारे चरणोंकी धूलि बन जायगी।

हे प्यारे ! करोडों चन्द्रमाओंको लजानेवाला तुम्हारा मोहन मुखड़ा जिस दिनसे मुझे दिखाई पड़ा है, उस दिवससे मेरा चित्त उस रूपराशिपर इस भाँति लुब्ध हुआ है जैसे कि चींटी मधुसे चिपटती है। मेरे चिर तृषित नेत्र अब उस अनूप रूपमाधुरीका पान करनेको ऐसे लालायित हो उठे हैं जैसे कुमुद और चकोर होते हैं। हाय ! कब तुम्हारा मुखचन्द्र अपनी विश्वमोहिनी चटकीली चाँदनीसे मेरे हृदयको सुधापूर करेगा !

हे मेरे प्यारे ! अब तो हृदयमें ऐसी लालसा – शुभेच्छा उदय हो गयी है कि एक निमेष भी मन तुम्हारे बिना नहीं लगता। वह तुम्हारे मिलनकी उत्कण्ठामें उन्मत्त हो उठा है। तुम्हें शीघ्र पानेके लिये मेरे प्राण उडने लगते हैं । बस, चित्त एक ही लालसा करता है कि सभी अन्य स्मृतियाँ विलुप्त होकर मेरे मन-प्राणोंमें तुम – मेरे नागर नटवरवेषधारी ही बचे रहो। मेरे नेत्र तुम्हींमें टकटकी लगाते रम जावें।

अब तो लोक-लाज, कुल-मान, लोक-परलोक, धैर्य-धर्म, वेद-मर्यादा एवं मेरा सब विवेक ही विलुप्त हो उठा है। सभी कुछ छोड़ा नहीं , स्वतः ही छूट गया है। संसारके प्रिय-से-प्रिय पदार्थोंको तृणवत् त्यागकर चित्त तुम्हारी ही ओर लग गया है। अब तो जैसे कमलकी कलियाँ रविके उदय होनेपर स्वतः विकसित अभिवृद्ध होती हैं, वैसे ही तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम क्षण-क्षण विकासको प्राप्त हो रहा है।

जब तुम गोचारणके लिये सखाओंके सहित नन्दभवनसे वनकी ओर जाते हो और पुनः वनसे गायोंको चराकर लौटते हो, उस समय तुम्हारी मत्त गजराजकी-सी अतिशय प्रेमभरी चाल देखती हुई हम गोपियाँ तुमपर कोटि-कोटि कामदेव न्यौछावर कर देती हैं। प्यारे ! उस समय श्रीदाम तुम्हारे उत्तरीय अम्बरका छोर पकडे रखता है और सुबल तुम्हारे दक्षिण स्कन्धपर हाथ रखे होता है। ये दोनो उस समय तुम्हारे असंख्य सखाओंका प्रतिनिधित्व किये रहते है। प्रत्येक सखाको उस समय यही अनुभव होता है कि सुबल तो मात्र एक क्षणके लिये ही तुम्हारे वाम पार्श्वमे आया था, शेष समय तो वह स्वयं ही अपने कन्नूके पार्श्वमें चल रहा है। अहा ! उस समय तुम्हारे कोटि-कोटि मनोज-तिरस्कारी विशाल कमलनेत्रोंकी शोभाको देखती हम निहाल हो उठती हैं। हम सभी युवतीगणोंका मन तुम्हारे नेत्र-सरोजोंकी शोभाके फदेमें फँस जाता है।

हे प्राणप्रियतम ! गिरिपरिसरमे कैसे सुन्दर-सुन्दर सघन कुञ्ज हैं, उनमे हे सुखनिधि ! तुम हमारे संग परम रसमयी क्रीडा करो न ! इस वृन्दाकाननकी हम मालती लताएँ हैं और तुम रसप्रेमी भ्रमर-सम्राट् हो। हे भूदेवी (वृन्दादेवी)के पालक, बिचारा कामदेव भी तुम्हारे सम्मुख एक गौके तुल्य ही तो है जिसे अपने सौन्दर्य, माधुर्य एवं कमनीयता की तृणराशि तुम खिलाते हो, और उसका पालन-संवर्धन करते हो।

हे प्राणवल्लभ ! अब तो चित्तमें एकमात्र यही चाहनाकी रट लगी है कि जैसे चातक पिहू-पिहू करता अपने प्रियतम मेघको पुकारता रहता है, मयूर अपने घनश्यामको देखकर नाच उठता है, उसी प्रकार मैं तुम्हें ही पुकारता रहूँ, तुम्हारे लिये ही नाचता रहूँ। हे नवघनसुन्दर साँवरे प्राणधन ! अपने प्रेम-नीरकी वर्षा कर दो न !

हे प्रियतम ! इस अनंत सुखराशि गिरिशैलपर तुम अविचल अपना निवास बनाये रखो । तुम्हारे इस गोवर्धनधारी रूपपर मैं चतुर्भुजदास बारम्बार बलिहारी जाता हूँ।

इस चतुर्भुजदासजी-रचित पद-पाठका माहात्म्य सचमुच ही प्रकट हुआ और एक विलक्षण चमत्कार घटित हुआ। वर्ष भरके भीतर ही पू.गुरुदेव एव श्रीपोद्दार महाराज तीर्थयात्राट्रेनके आयोजनके कारण श्रीनाथजीके दर्शनार्थ नाथद्वारा पहुँच गये।

पू.गुरुदेव जब उदयपुरसे नाथद्वारा पहुँचे उस समय श्रृंगारके दर्शन खुले थे। पू.गुरुदेवके सम्मुख तो साक्षात् श्रीनाथजी ही खडे थे। वहाँ पार्थिव विग्रह कहाँ था ? ये तो वही श्रीनाथजी थे जिन्होने पू. गुरुदेवको गोरखपुरमे दर्शन दिये थे। परमानन्दसिन्धुमें निमग्न होकर उनकी अपनी धारणाने उनके अपने ही मानस-पटलपर श्रीनाथजीका जो अद्भुत सौन्दर्य चित्रांकित किया था, वही आज श्रीनाथद्वाराके मन्दिरमें एक अनन्त असीम अनिर्वचनीय सुन्दर मूर्ति बना उनके सम्मुख प्रत्यक्ष था। अहा ! कैसा अभिनव सुन्दर मुखकमल था ! पू. गुरुदेव दर्शन करते ही इतने तन्मय हो उठे कि कुछ समयके लिये तो उनका बाह्यज्ञान सर्वथा ही लुप्त हो गया। वे एक अभूतपूर्व आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो गये । वे जिधर दृष्टि उठाते हैं उन्हें मन्दिरका गर्भगृह सर्वत्र ही सर्वदिशाओंमें दृष्टिगोचर होने लगता है, और उस गर्भगृहमें एक हाथ ऊपर उठाकर सम्पूर्ण मायावैभवको छत्रवत् अपनी कनिष्ठिका अँगुलीमें धारण किये श्रीनाथजी खड़े दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

पू.गुरुदेव प्रत्यक्ष देखरहे थे – "शास्त्रोमे वर्णन तो गिरिराज गोवर्धनको धारण करनेका आता है, परन्तु उन्हे जो स्पष्ट दर्शन हो रहा है उसमे तो सम्पूर्ण त्रिगुणात्मिका माया ही श्रीनाथजीके एक उन्नत उठे हाथकी अँगुलीपर नृत्य करती विधृत है और दूसरे हाथको जो वे अपनी कटिमें रखे

हैं उसमें अनादि-अनन्तकालीन सम्पूर्ण भक्तसमुदायको वे अपनेसे लपेटे-सटाये हैं। उनकी मुष्टिका जो कटिपर रखी है उसमें समग्र अप्राकृत गुणराशि एवं भक्ति बँधी है। उनके परम आकर्षणशील नेत्रोंमें प्रीतिमद छलक रहा है और उस मदभारसे अतिशय चचल नेत्र झुके, निमीलित हैं। उनके तमाल तरु-पल्लवों-से बिम्बवर्णी अधर अतिशय मीठी मुसकानसे रंजित हैं, हेतुरहित अपार कृपा उनपर नर्त्तन कर रही है एवं परम उज्ज्वल दसनछटा उन्हें ज्योतित कर रही है। अहा ! मानो वर्षणोन्मुखी जलधरके नवांकुर हो, ऐसे मृदु, सुचिक्कण, स्निग्ध, परम आकर्षणशील उनके कपोल मलय चन्दन, केसर एव कस्तूरीकी चित्रकारीसे रंजित हैं। नीलकान्तमणिके अंकुरोंके सदृश उनके कानोमें धृत कुण्डलोंकी परमोज्ज्वल द्युति उन्हें दमका रही है। श्रीनाथजीके चिबुकमें एक विलक्षण ज्योतिर्मान वज्रमणि (हीरा) जटित है जिसकी ज्योति कोटि-कोटि रविद्युतिको हतप्रभ कर दे रही है। उसके सम्मुख शशि एवं नक्षत्रमण्डली तो अस्तप्राय ही है। उनके वक्षस्थलपर भगवती लक्ष्मी स्वर्णरेखाके रूपमे अकित हैं किन्तु उस अनन्तश्रीको उन्होने चतुर्दिक् गुञ्जाहार पहनकर समाच्छादित कर रखा है। मानों वे उद्घोष कर रहे हों कि ब्रजमें मेरी लीला मात्र अनुराग- प्रधान ही होगी, वहॉ ऐश्वर्यका प्रकाश सर्वथा ही मुझे अवांछित है।

ठीक इसी प्रकार उनके परम सुचिक्कण नीलमणि सदृश वक्षपर रत्नखचित अनेको मणियोके हार शोभा पा रहे हैं, किन्तु उन सबके ऊपर वे तुलसिरचित वनमाला धारण किये हैं। जिसकी गंधपर मदमत्त भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। श्रीनाथजी प्रभुकी अनन्त शोभाको देख-देखकर श्री स्वयं मूर्तिमती हो नृत्य कर रही है और उस नृत्यपर उनकी कटिपर बँधी करधनी रुणन्-रुणन् शब्द करती ताल दे रही है। अहा ! श्रीनाथ प्रभुकी चाल मत्त गजराजके तुल्य है और वे जब वृन्दाविपिन की वीथियोंमें प्रेमभरे डोलते हैं तो उस समय ठीक ऐसा अनुभव होता है मानो नव घनघटा अपने निज जनोंपर करुणा-वर्षा करने उमड़ चली हो। उस समय उनकी कटिपर विधृत पीताम्बर चपलाके समान फहराता है, और अपने भक्तोंके हृदयका अंधकार तत्क्षण ही विनष्ट कर देता है। उस समय उनके चरणोकी शोभा क्या कहकर बखान की जाय, उनके चरण तो साक्षात् कृपाके जहाज तुल्य हैं जिन्होंने असंख्य पतितोका उद्धार किया है।

पू.गुरुदेव श्रीनाथजीका दर्शन करते-करते इतने भावाभिभूत हो उठे थे कि उनके शरीरमें पर्याप्त शिथिलता परिव्याप्त हो उठी। पू. गुरुदेव मन्दिरके किनारे पर्याप्त समयतक निश्चेष्ट खडे रहे।

पू. गुरुदेव श्रीनाथजीके दर्शनकर अपने निवासस्थानपर चले गये। पू. गुरुदेवका निवास एकान्तमें तीर्थयात्रियोंसे सर्वथा पृथक् रहता था एवं वहीं उनकी भिक्षा गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीकी पत्नी बनाया करती थी।

उस दिवस पू.गुरुदेव भिक्षाकर कुछ घण्टे विश्रामको चले गये।

---

# काँकरोलीके द्वारकाधीश

श्रीनाथजीसे मोटरके रास्ते काँकरोली ग्यारह मील है। पू.गुरुदेव जैसे ही काँकरोली मन्दिर प्रांगणमे पहुँचे, दर्शन खुलनेमे किञ्चित् विलम्ब था। उनके लिये एक स्थानपर आसन लगा दिया गया। इस स्थानसे रायसागरकी शोभा वे देखने लगे। पू.गुरुदेव उत्थापनके समय काँकरोली पधारे थे। मन्दिरमे कीर्तनियाजी कीर्त्तन कर रहे थे। पू.गुरुदेवकी तो यह दशा थी कि किसी भी अनुभूति-सम्पन्न सतकी रसमयी लीलावाणी सुनी कि जैसे सिन्धुकी तरंगें चन्द्रबिम्बको देखकर उछाल लेने लगती हैं, उसी प्रकार उनके भावसमुद्रमें उनके प्राणप्रियतम श्रीकृष्णकी लीलाएँ उच्छलित होने लगती थीं। उनके कानोमे पद-कीर्त्तनकी शब्दावली प्रवेश कर रही थी—

**मुरली अधर धरैं, आवत हरि हरैं- हरैं**
**गावत रसिक तान सुरभी संग लीने।**
**मोरपिच्छ शीश मुकुट, मकराकृत कुण्डल छवि,**
**वैजयन्तीमाल अंग चंदन चरचीने।।**
**काछिनी कटि नूपुर, निपट वचन अटपटे,**
**नटवर वपु ग्वाल संग, शोभित रसभीने।**
**गोविन्द प्रभु गिरिवरधर ग्वालिनि विथकित रहि**
**धावत मुख वारिजपर, मधुकर दृग कीने।।**

पू.गुरुदेव तो पदगायन सुनते ही दूसरे ही लोकमें पहुँच गये। उनके लिये रायसागर गोवर्धन गिरि परिसरका एक परम रमणीय सरोवर बन गया था। उन्हें खुली आँखों दिख रहा था

"उनके प्रियतम नीलसुन्दर सदाकी भाँति गोचारणकर पुनः गोकुलकी ओर लौट रहे हैं। अहा ! वही त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य है, वही मधुरातिमधुर श्रृंगारमयी अंग-भंगिमा, क्षीरसिन्धुकी उमडती तरगोंके समान गायोके झुड-के-झुंड उनके आगे-आगे चल रहे हैं। परमानन्दमें निमग्न क्रीडापरायण गोपशिशुओंका समाज है। अग्रज बलराम संगमें हैं। अपनी बंकिम चितवनसे वनस्थलीकी शोभा निहारते हँसाते-हँसाते, अपनी वंशीकी मधुर स्वरलहरीसे वृन्दाकाननको रसप्लावित करते झूमते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ रहे हैं। चलते-चलते नवतृणास्तीर्ण वनभूमि आ जाती है। वहीं एक परम रमणीय सरोवर है। सरोवरके सन्निकट मनोहर नव तृणाकुरित तृणराजि है, यह तृणराजि सरोवरके जलका सान्निध्य पाकर सान्द्र-स्निग्ध बन गयी है। इसी परम सुन्दर वन्य भू-भागपर ही तो आज श्रीकृष्णचन्द्रने सम्पूर्ण दिवस गोचारण किया है। देखो न ! अपनी-अपनी गौओंको पृथक्कर सभी गोपशिशु उन्हे सरोवरका जल पिलाकर तृप्त कर रहे हैं। कितनी दूर-दूरसे ये गाये चरकर आयी हैं। प्यास तो उन्हे लगी ही थी। श्रीकृष्णचन्द्रको, उनके सखाओको भी प्यासकी अनुभूति तो हो ही रही है। अतः सभी गायें सरोवरमें उतर रही हैं। जल पान कराकर उन्हें गोकुलकी ओर घेरकर ले चलना जो है। देखो, मधुमंगल, सुबल, तोक, श्रीदाम, बलदाऊ और वरूथप सभी तो जलाशयके तीरपर गायोका झुण्ड बना रहे हैं।" सरोवरके दर्शन मात्रसे उद्दीपित हुए पू.गुरुदेव अपने लीलाजगत्में डूब-उतरा रहे थे कि किसीने उनका ध्यान यह सूचना देकर भंग कर दिया कि मन्दिरमें दर्शन खुल गये हैं।

पू.गुरुदेव दर्शन खुलनेकी सूचना मिलते ही अपने गैरिक वस्त्र समेट श्रीद्वारकाधीश मन्दिरके गर्भगृहकी ओर चले। मन्दिर-प्रागणमें पर्याप्त भीड़ थी। पू.गुरुदेवको किसी भी महिलाके संस्पर्शसे बचाते हुए एक सुविधाजनक स्थानपर दर्शनार्थ खडा कर दिया गया। मन्दिरके पट खुलते ही पू.गुरुदेवको एक विलक्षण ही दृश्य दिखने लगा।

"अरे ! अरे ! मैं तो किसी कल्पान्तरमें पहुँच गया हूँ। यह तो महाराज अम्बरीषका महल है। कॉकरोली ग्रामके स्थानपर यह तो अतुलनीय ऐश्वर्य-सम्पन्न, परम वैभवमय राजा अम्बरीषका राजमहल है। महाराज अम्बरीष की जय हो ! अहा ! वे कैसे विलक्षण भगवद्भक्त हैं !

इन्होंने अपने मनको भगवान्‌के चरणारविन्दयुगलमें, वाणीको भगवद्यशगानमें, कानोंको भगवत्कीर्तिके श्रवणमे, नेत्रोंके मुकुन्दमूर्त्तिके दर्शनोंमें, नासिकाको भगवच्चरणारविन्दमें चढी तुलसीमालाकी दिव्य गन्धमें, रसनाको भगवत्प्रसादके स्वादमें, चरणोंको भगवद्धामकी परिक्रमामें, अपने मस्तकको भगवच्चरणारविन्दकी प्रणतिमे, और अपने समग्र कर्म सर्वात्मा, सर्वस्वरूप भगवान्‌के चरणारविन्दमें समर्पित कर दिये। ये अपने हृदयमें अनन्त प्रेमका दान करनेवाले श्रीहरिका नित्य निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। इस प्रकार भक्तियोग और प्रजापालनरूप स्वधर्मके द्वारा वे भगवत्सेवामें निरन्तर अपनेको संलग्न किये रहते हैं। तभी न उनके मस्तकपर भगवान् अच्युतके वरद हस्तके तुल्य उनका सुदर्शन चक्र निरन्तर स्थित रहता है। पू.गुरुदेव मन्दिरके गर्भगृहमे राजा अम्बरीषके दर्शनकर कृतार्थ हो रहे थे। पू.गुरुदेव देख रहे थे कि भक्तराज अम्बरीषजीके पासमे भगवान् द्वारकाधीशजीकी सेवामें उनकी पत्नी भी खडी हैं। वे भी उन्हींके समान धर्मशील, संसारसे पूरी विरक्त एवं भक्तिपरायण हैं।

पू.गुरुदेव बादमें कह रहे थे कि भक्तराज महाराजा अम्बरीष और उनकी अ.सौ. भक्तिमती पत्नीका भाववलय इतना पवित्र है कि बड़े-बडे ऋषि-मुनि वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि भी उनके भाव-पावित्र्यके सम्मुख फीके पड जाते हैं। यह विलक्षण महिमा भगवद्भक्तिकी है। घोर तपस्या, योग, ज्ञान सब भक्तिके सम्मुख इसीलिये तुच्छ हैं।

पू.गुरुदेव अपनी आन्तरिक आस्थाको अभिव्यक्त करते हुए कह रहे थे कि आज भी यदि कोई सच्ची भगवद्भक्तिका आश्रय ले तो उसपर भक्तराज अम्बरीषके तुल्य भगवत्कृपाकी अभिव्यक्ति संभव है। हममेंसे जो चाहे अपने मानसको तदाकार बनाकर अखण्ड विश्वास और निश्छल अनुरागके सहारे भगवान्‌से अपना नाता जोड सकता है।

पू.गुरुदेवने जब श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीको अपनी भक्तराज अम्बरीषके दर्शनकी अनुभूति कुछ दिवस पश्चात् बतलायी तो उन्होंने यह रहस्य उनके सम्मुख उद्घाटित किया कि वल्लभ सम्प्रदायमे तो यह पूर्वसे ही प्रचलित मान्यता है। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी द्वारा यही कहा गया है कि ये भगवान् श्रीद्वारकाधीशजीके विग्रह महाराज अम्बरीषके सेव्य हैं।

# श्रीनाथजीके मंगलादर्शन

द्वारिकाधीश मन्दिरसे रात्रिकालीन विश्रामके लिये पू.गुरुदेव पुनः श्रीनाथद्वारा ही पधार गये थे। यही योजना थी कि श्रीपोद्दार महाराजके सहित प्रातः श्रीनाथजीके मंगला-आरतीके दर्शन किये जावें एवं तब आगे प्रस्थान किया जाय। यात्राट्रेन श्रीनाथद्वारासे पुष्करतीर्थके दर्शनार्थ अजमेर जाने वाली थी। उसके पश्चात् गुजरातमे यात्राका प्रवेश निर्धारित था।

पू.गुरुदेव जब प्रातः श्रीनाथजीके दर्शनार्थ ब्राह्ममुहूर्तमें ही चले तो वहाँ लाउडस्पीकरसे 'यमुनाष्टक' स्तोत्रपाठ सुनाया जा रहा था। जैसे ही यमुनाष्टककी ध्वनि **'नमामि यमुनामहं सकल सिद्धि हेतुं मुदा'**पू. गुरुदेवको कर्णगोचर हुई, उनकी दृष्टि ही बदल गयी।

" ओह ! यह आम्रपंक्ति, यह कदम्बश्रेणी ! उन्हें प्रतीत हो रहा था, यह तो नन्दभवनके अग्रिम भागपर स्थित कल्पतरुकानन है। यह भूमि नहीं, यह तो चिन्तामणिका विशाल आस्तरण है। सामने गोपसुन्दरियाँ हैं – नहीं, नहीं, यहाँ तो अगणित महालक्ष्मियाँ अवतरित हुई हैं। इनकी वाणी संगीतमयी है, इनका गमन नृत्यमय है, यहाँका तो आकाश ही चिन्मय है। ये नक्षत्रावलि चिदानन्दमय है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध – ओह ! ब्रजेन्द्र नन्दरायकी यह पुरी तो पूर्ण सच्चिदानन्दमयी ही है। इस प्रकार पू.गुरुदेव एक अनिर्वचनीय अनुभूति करते हुए, विस्फारित नेत्रोंसे गगनचुम्बी मणिसद्मोंकी ओर निहारते हुए धीरे-धीरे चलकर श्रीनाथजीके मुख्यद्वारतक पहुँच गये। हवेलीके प्रथम द्वार (पिरोल)पर प्रहरी लकुट लिये खड़ा था। साम्प्रदायिक लोगोंमे संन्यासियोंके प्रति विशेष सम्मान नहीं रहता, किन्तु न जाने क्यों प्रहरीने तत्क्षण ही पू. गुरुदेवको चरणोमें गिरकर प्रणाम किया।

'कल्याण'पत्रके सम्पादकके नाते श्रीपोद्दार महाराजका यश चारों ओर प्रशस्त था अतः तत्कालीन आचार्य गोस्वामी श्रीगोविन्दलालजी महाराजके विशेष आदेशसे मन्दिरके प्रशासक अपनी पत्नी सहित स्वागतमें खड़े थे। पू. गुरुदेवकी दृष्टिमे तो कोई प्रशासक था ही नहीं , न ही वहाँ श्रीनाथजीका मन्दिर ही था। श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवका हाथ पकड़े थे और उन्हें यही अनुभव हो रहा था [illegible] अपनी अग्रजा भगिनी - श्रीराधारानीके संग वे तो

नन्दभवनमें प्रवेश कर रहे हैं। उनको उस दिवस श्रीनाथजी दिखे ही नहीं। उन्हे तो यही अनुभव हो रहा था, मानो मेरे यावज्जीवन ध्यानकी मूर्त्ति आज मूर्त्त होकर नन्दभवनमें विराजित मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दे रही है। "अहा ! इन अरुण अधरोष्ठोंकी अरुणिम कान्तिसे कुन्दपंक्ति-सदृश दन्तावलिपर भी कैसी लालिमा-सी छायी है ! " पू.गुरुदेवके बाहर जो दृश्य था, वही उनके अन्तर्हृदयमे भी विराजित था। पू. गुरुदेव उस छविपर तन्मय हो गये। वे प्रेमरसमें डूबते ही चले गये। उनके सम्मुख मन्दिरमें स्थित खड़ी उनके प्रियतम आराध्य नीलमणिकी मूर्तिसे निर्गत हास्य-किरणोंने उनके प्रेम-मसृण मनको आत्मसात् कर लिया था।

पू.गुरुदेव जब निश्चेष्ट होने लगे तो श्रीपोद्दार महाराजने उन्हे सम्हालकर भीड़से हटाकर एक ओर खड़ा कर दिया। श्रीराधेश्यामजी भगत उनके पार्श्वमें खडे किसी स्त्री दर्शकसे उनका संस्पर्श घटित न हो जाय इसकी सावधानी बरत रहे थे।

पू.गुरुदेव दीर्घकालतक निश्चेष्ट, बाह्यज्ञानशून्य रहे। बहुत काल पश्चात् उन्होंने गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे कहा ' " यह कहना बहुत ही कठिन है कि श्रीनाथजीकी अहैतुकी कृपा किसको कब कहाँ उठाकर ले जायगी।

# पुष्कर तीर्थमें

तीर्थयात्रासे लौटकर मुझसे एक दिवस पू.गुरुदेव कह रहे थे कि पुष्करके सबसे बडे तीर्थ होनेका कोई प्राकृत कारण तो मैं नहीं जानता, किन्तु इतना जानता हूँ कि कोई भी तपोनिष्ठ ब्राह्मण ब्रह्मचर्यपूर्वक सौ वर्षोंतक लगातार अग्निहोत्र करे उस समय उसके तेजोवलयमें जितनी पवित्रता संग्रहीत होगी, उससे अधिक पावित्र्य यह पुष्कर तीर्थ मात्र एक रात्रिके निवासमें व्यक्तिको प्रदान कर देता है। साधारण व्यक्ति यह समझ नहीं सकते कि ऋषियोंने क्यों अपने पावित्र्यको संग्रहीतकर अनेक ऐसे तीर्थस्रोत निर्माण कर दिये हैं , जो अपने अनवरत पावित्र्यदानसे विश्वका अशेष मंगल कर रहे हैं।

जैसे प्रयाग तीर्थराज हैं वैसे ही पुष्कर भी तीर्थराज हैं। पुष्करकी महिमा पंचतीर्थोंमें भी है। ये पाँच तीर्थ, जिनकी महिमा सर्वपुराणोमें अभिहित है, निम्न हैं– (१)पुष्कर, (२) कुरुक्षेत्र, (३)गया (४) गंगा एव (५) प्रभास (द्वारकापुरी)। इसी प्रकार पॉच परम पवित्र सरोवरोंमें भी पुष्करका नाम है। ये पॉच सरोवर हैं –(१)मानसरोवर (कैलास) (२) पुष्कर (३)बिन्दुसरोवर (सिद्धपुर) (४)नारायण सरोवर (कच्छ) एवं (५) पम्पा सरोवर (हासपेटके पास अनागन्दीसे २ मील)।

पुष्करका मुख्य मन्दिर ब्रह्माजीका है। वह सरोवरसे थोड़ी ही दूरीपर है। ब्रह्माजीकी प्रतिमा चतुर्मुखी है। इसके दाहिनी ओर सावित्रीदेवी एवं बायीं ओर गायत्रीदेवीका मन्दिर है। पुष्कर सरोवरसे सरस्वती नदी निकलती है जो आगे जाकर लूनी नदीके नाम से जानी जाती है।

यात्राट्रेन श्रीनाथद्वारासे सीधी अजमेर पहुॅची थी। पू.गुरुदेव पुष्कर सरोवरसे स्नान करके सीधे ब्रह्माजीके मन्दिर गये जो वहॉका मुख्य मन्दिर है। वे जैसे ही मन्दिर प्रागणमे पहुॅचे उन्हे ब्रह्मविमोहन लीलाकी स्मृति होने लगी। जब कि अघासुरमोक्षके दर्शनसे स्वर्गलोकके वासी देवगण आनन्दमत्त हो उठे थे, और उनके शंख, मृदंग, दुंदुभि आदिके नादसे जय-जयकी तुमुल ध्वनिसे, श्रीकृष्णगुणस्तवनकी मधुर स्वरलहरीसे, दिग्-दिगन्त पूरित हो चुके थे। सत्य लोक भी उस सर्वतोमुखी जयध्वनि-निनादसे वंचित नहीं रहा था। फलतः चतुर्मुख ब्रह्मा सत्यलोकसे नीचे उतर आये थे और उस समय होनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके उन्मुक्त बाल्यविहारके दर्शनसे उनके आठों नेत्र शीतल हो गये थे।

पू.गुरुदेव अनुभव कर रहे थे कि आज भी ब्रह्माजीके नेत्रोंमें श्रीकृष्णदर्शनकी यह लालसा छलक रही है। जैसे सन्निपातके रोगीकी तृषा शान्त नहीं होती, जल पीनेसे उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण लीलारसपानसे स्रष्टाके एक बार शीतल हुए नेत्र आज भी ऐसे अतृप्त हैं कि उन नेत्रोमे, उस रसपानकी लालसा उत्तरोत्तर प्रबल होती ही जा रही है।

पू.गुरुदेव अनुभव कर रहे थे मानो ब्रह्माजी उनके आगमनपर अत्यन्त हर्षित हैं। उन्होंने चतुर्मुख स्रष्टाके चरणोंमें अतिशय श्रद्धासे मस्तक नवा दिया। पू.गुरुदेवको उसी समय अतिशय गंभीर ध्वनिमें श्रीब्रह्मदेवकी परम पूत

वाणी सुनाई पड़ी – संन्यासिन् ! जो तीनों लोकोंमें किसी भी उपायसे किसीके द्वारा भी वशमें किये नहीं जा सकते, वे परात्पर श्रीकृष्ण तुम्हारे द्वारा कोई विशेष साधन न करनेपर भी प्रायः वशमें हैं। उसका कारण है, तुम्हारी उन परात्पर श्रीकृष्णके प्रति कैतवरहित निर्मल प्रीति। यद्यपि मेरे द्वारा निर्मित इस जगत्के प्रवाहमे, एक नहीं, अनेकों उत्कृष्टतम भक्त हो चुके हैं, जो साधनकी चरमोत्कर्ष दशाको प्राप्त हो चुके हैं, किन्तु फिर भी वे तुम्हारे एवं इस भक्त पोद्दारवपुके तुल्य भगवल्लीला-रससुधामें निमग्न नहीं ही हो पाये। तुम्हारी तो जीवनकी धारा ही उनके लीलासिन्धुमें पूर्णतया निमग्न हो चुकी है। इसीके परिणामस्वरूप तुम्हे भगवान् सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अनन्य निजत्वभावनाकी प्राप्ति हुई, उससे उद्भूत उनके मुखारविन्द-दर्शनकी असीम एवं अदम्य उत्कण्ठा, और तब उनका दर्शन एवं विशुद्ध प्रीतिका अभ्युदय तुम्हारे अन्तःकरणमें हो गया। सन्यासिन् ! तुम एवं तुम्हारे साथ आया यह प्रेम-वैशिष्ट्यकी सर्वोच्च भूमिपर आसीन, वैश्यकुलसंतारक पोद्दारवपु – दोनोंके मिलनसुखको पाकर आज मैं चतुर्भुज धन्य हूँ। देखो ! मेरे साथ ये मेरे चारों मानसपुत्र सनकादि भी तुम्हारे आगमनसे हर्षातिरेकमें भरे हैं।

पू.गुरुदेवने अपने मानस नेत्रोंसे स्पष्ट देखा कि उनके सम्मुख सनत, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमार विलक्षण भक्तिपूत तेजसम्पन्न चारो पाँच वर्षके ऋषिबालक अति समीप खड़े उन्हें हाथ उठाकर आशीर्वाद दे रहे हैं।

पू.गुरुदेव परम पितामह ब्रह्माजीके साक्षात् दर्शन और स्नेहभरी वाणी सुनकर कृतकृत्य हो गये। उनके हृदयकी भक्ति पानीकी तरह बहकर पितामहके चरणोका प्रक्षालन करने लगी। चतुर्मुख ब्रह्माके अनन्त अपरिसीम वत्सल भाव-ऐश्वर्य के दिव्यातिदिव्य चिन्मय दर्शन पाकर पू.गुरुदेव विमुग्ध-से हो उठे। वे बार-बार देवाधिदेव पितामह एवं सनकादिके चरणोमे लबित होकर दण्डवत् प्रणाम करने लगे। उनके अन्तस्तालमें श्रीचतुरानन वेदगर्भके प्रति एक अनिर्वचनीय भक्तिभावपूर्ण श्रद्धाका स्रोत उमड़ चलता है। अपनी क्षुद्रताकी अनुभूति और चतुर्मुखके वात्सल्यजन्य गुणदर्शनसे उनमें विशुद्ध दैन्यका प्रादुर्भाव हो उठता है। वे उठते हैं और पुनः पितामहके चरणोंमें निपतित होकर निष्पन्द-से हुए ध्यानस्थ हो उठते है। ब्रह्माजीके मन्दिरमें पू.गुरुदेवकी यह भावमयी वन्दनाको पर्याप्त समयतक तो श्रीपोद्दार महाराज देखते रहते हैं, फिर

वे ही उन्हें झकझोरकर जगाते हैं और कहते हैं -'बाबा, पर्याप्त विलम्ब हो रहा है, अभी तो अनेक मन्दिरोंके दर्शन करने शेष हैं।' पू. गुरुदेव यद्यपि भावोंके गम्भीर स्तरोंमें निविष्ट थे, किन्तु श्रीपोद्दार महाराजकी अचिन्त्य अन्तर्प्रेरणासे धीरे-धीरे उठ बैठते हैं। उनके समस्त अंग एक शुद्ध सात्विक शान्तिसे शिथिल हो रहे थे । किसी प्रकार वे देहको सँभालकर उत्थित हुए। उन्होंने हाथोंसे अपने अश्रुपूरित नेत्रोको पौंछा और श्रीपोद्दार महाराजकी ओर दृष्टि उठायी। श्रीपोद्दार महाराजके नेत्रोंमें एक मुसकान आयी और उन्होंने पू गुरुदेवका हाथ अपने हाथमें ले लिया।

पू.गुरुदेव ब्रह्माजीके मन्दिरसे शक्तिपीठ गायत्रीमन्दिर भी गये। सावित्री मन्दिरकी चढ़ाई ऊँची थी अतः श्रीपोद्दार महाराजकी शरीरकी अस्वस्थता को देखते हुए, वहाँ जाना स्थगित कर दिया गया।

गायत्री शक्तिपीठ एक पहाडीपर है। पहाडीकी चढाई यद्यपि सावित्री मन्दिरसे तो कम है, किन्तु सीधी दुरूह है। पू.गुरुदेव गायत्रीदेवीकी महिमाके सम्बन्धमें कह रहे थे कि यह क्षेत्र शक्तिके इक्यावन पीठोंमें से एक है और यहाँ सतीका मणिबन्ध गिरा था। गायत्री वेदजननी हैं, वेदात्मा हैं। चारो वेदोंके बीज केवल एक गायत्री मंत्रमें निहित हैं। ये प्रातः रक्तवर्णा, ब्रह्माजीका रूप धारण किये रहती हैं, उस समय ये हंसारूढा रहती हैं, इनकी चार भुजायें होती हैं। मध्याहमें ये ही नील वर्ण धारणकर हरिरूपा होती हैं। उस समय उनका वाहन गरुड और चार भुजाएँ रहती हैं । अनन्त विश्व ब्रह्माण्डोंका इनसे ही पालन होता है। सायंकाल ये ही श्वेत वर्ण धारणकर बृषभ वाहनमें शिवरूप हो जाती हैं। उस समय इनकी दस भुजाएँ रहती हैं और पॉच मुख होते हैं। इनके नेत्रोमें परम करुणा एवं सरसता भरी रहती है। इनका श्वेत वर्ण स्फटिकके समान समुज्वल होता है और मुक्तिदान करना इनका मूल स्वभाव होता है। गायत्रीदेवीकी जो त्रिकाल उपासना करे, उसे भक्तिभावकी प्राप्ति निश्चय ही होती है, ऐसा श्रीसेठजी जयदयालजी गोयनकाका स्वयं अनुभूत मत है। गायत्री मंत्र दुःख, दुर्गति एवं दुर्मतिको दूर करनेका अमोघ उपाय है।

गायत्री शक्तिपीठ जिस पहाड़ीपर स्थित है, उस पहाडीके पथके प्रारंभमें ही पुष्कर तीर्थकी भूमि प्रसिद्ध भगवान् वाराहकी जन्मस्थली है। यहीं भगवान् वाराह ब्रह्माजीके नासाछिद्रसे उत्पन्न हुए थे। जैसे भगवान् श्रीराम एवं

भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मस्थली होनेसे क्रमशः अयोध्या और मथुराका विशद माहात्म्य है, उसी प्रकार भगवान् वाराहकी प्राकट्यस्थली होनेसे पुष्कर तीर्थ मुक्तिदायक क्षेत्र है। यहाँके पुरातन विशाल वाराह मन्दिरको तो मुसलमानी बादशाहीके समय नष्ट कर दिया गया था, किन्तु अब उसी स्थानपर नया मन्दिर बना दिया गया है।

---

# आदितीर्थ धर्मारण्य सिद्धपुरमें भगवान् कपिलके दर्शन

पू.गुरुदेव प्रायः कहा करते थे कि भगवान् ऋषभदेव एवं भगवती कपिलमाता देवहूतिका पर्यवसान ज्ञानकी सातवीं भूमिकामें स्थित होकर हुआ था। वे माता देवहूतिकी यदा-कदा बहुत ही प्रशंसा किया करते थे। एक दिवस मैंने गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे प्रश्न किया कि जबसे पू.गुरुदेव तीर्थयात्राट्रेनसे लौटकर आये हैं वे माता देवहूतिकी इतनी प्रशंसा एवं स्मृति बराबर क्यों करते हैं ? उन्होंने उत्तरमें मुझे यह रहस्य प्रकटकर सुनाया था कि जब तीर्थयात्रा धर्मारण्य सिद्धपुरमें थी तो पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाको महर्षि कर्दम एवं जगज्जननी माता भगवती देवहूतिके दर्शन हुए थे।

जैसे पितृश्राद्धके लिये गया प्रसिद्ध है, उसी तरह मातृश्राद्धके लिये आदितीर्थ धर्मारण्य प्रसिद्ध है। कपिल माता देवहूतिकी तपस्थली होनेसे यह श्रीस्थल भी कहलाता है।

श्रीगोस्वामीजीने मुझे सुनाया था कि जब पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा बिन्दुतीर्थ पर स्नान कर रहे थे उसी समय उन्हें महर्षि कर्दमके दर्शन हुए थे। यह बिन्दुतीर्थ सरस्वती नदीके किनारेसे १ मील दूर स्थित है। यह चालीस फुट चौरस कुण्ड है और इसके चतुर्दिक् पक्के घाट बँधे हैं । उस समय पू.गुरुदेव बिन्दुसरोवरके दक्षिणी घाटपर स्नान कर रहे थे। सहसा उन्हें एक दिव्य संन्यासीके दर्शन हुए। वे अतिशय तेजस्वी पुरुष परम अन्तर्मुखी वृत्ति धारण किये, परम शान्त अवस्थामें दक्षिणी घाटमें बैठे थे। उनको देखनेसे पू. गुरुदेवको स्पष्ट अनुभव हुआ कि ये दिव्य लोकोके वासी हैं और सम्पूर्ण भूतोंमें

मात्र अपनी आत्माको ही देखते हुए इस घाटमें आसीन हैं। ये समग्र रागद्वेषसे रहित सर्वत्र समबुद्धि और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न आदर्श संन्यासी महापुरुष हैं। पू. गुरुदेवने उन्हें प्रणाम किया। पू.गुरुदेवने जब उन परम महापुरुषसे उनका परिचय पूछा तो उन्होने कहा–" मेरा नाम महर्षि कर्दम है।" उस समय उनके रोम-रोमसे विलक्षण ज्ञान, पवित्रता एवं वैराग्य फूट रहा था तथा उनके मुख-मण्डलपर परम शान्ति विराजमान थी। महर्षि कर्दम पितामह ब्रह्माकी छायासे उत्पन्न विलक्षण योगशक्ति-सम्पन्न पुरुष हैं तथा ब्रह्माजीके समान ही पवित्र, तेजस्वी एवं योगी पुरुष हैं।

पू.गुरुदेवको उन्होंने आदेश दिया कि यहाँ इस विन्दुसरोवरसे थोडी दूरीपर एक पुरातन बावली है। आप वहाँ अवश्य जावें एवं स्नान करें। यह कहकर महर्षि कर्दम अन्तर्धान हो गये।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने गोस्वामीजीको जो उनके पास ही खडे स्नान कर रहे थे, बुलाकर पूछा –"गोस्वामीजी ! अभी आपको इस दक्षिणी घाटपर हम लोगोंसे थोडी ही दूर किसी संन्यासीके दर्शन हुए क्या ?" गोस्वामीजीने कहा– मेरा तो ध्यान स्नान एवं मध्याह्न सन्ध्यापर केन्द्रित था, अतः मैंने तो किसी सन्यासीको यहाँ नहीं देखा।

पू.गुरुदेवने कहा–अभी-अभी यहाँ महर्षि कर्दम उपस्थित थे, वे मुझे आदेश देकर गये हैं कि यहाँसे थोड़ी ही दूरीपर एक पुरानी बावली है, वहाँ आप अवश्य स्नान करें। इस आदेशके अनुसार पू. गुरुदेव, श्रीगोस्वामीजी एव कुछ अन्य पुरुषोंके सहित ज्ञानवापी पहुँचे। पू.गुरुदेव वहाँ स्नान करते-करते अचानक बाह्यज्ञानशून्य होने लगे। श्रीगोस्वामीजी मुझे कह रहे थे कि ज्ञानवापीमें पू.गुरुदेवको माता देवहूतिको उपदेश देते हुए भगवान् कपिलके दर्शन हुए थे। पू.गुरुदेवको बाह्यज्ञानशून्य दशामें बहुत कालतक स्थित देखकर श्रीपोद्दार महाराजको सूचित करके बुलाया गया। श्रीपोद्दार महाराजने पू.गुरुदेवको बहुत प्रयत्न करके प्रकृतिस्थ कराया।

पू.श्रीगोस्वामीजीने मुझे बताया कि पू.गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजसे अपनी अनुभूतिकी चर्चा कुछ इस प्रकार कही थी –" माता देवहूति एवं भगवान् कपिलके दर्शन जिस समय उन्हें हो रहे थे, उस समय सारा आकाश देवताओं और ऋषि-मुनियोंसे भरा था। वे सभी उन दोनों माता-पुत्रका दिव्य

स्तुतियोंसे स्तवन कर रहे थे। समस्त वातावरणमें कल्प-प्रसूनोंकी अनवरत वर्षा हो रही थी। पू.गुरुदेवकी घ्राणेन्द्रियाँ इन प्रसूनोंकी दिव्य सुवाससे पूरित हो उठीं। उनकी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एक अभिनव आनन्दके पूरमें निमग्न हो गयीं। मन उस दर्शन-सुखमें डूबकर अपनी सत्ता ही खो बैठा।"

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा कह रहे थे कि मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ एवं सभी कर्मेन्द्रियाँ पहले तो इस आश्चर्य-दर्शनसे इतनी चंचल हो उठीं मानो इनमें निहित समग्र शक्तियोंका किसीने अपहरण कर लिया हो, पर फिर वे इस भाँति शान्त हो गयीं कि मानो उनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही सदाके लिये लुप्त हो गया हो। एक जड स्पन्दनहीन पुत्तलिकावत् उनकी दशा हो गयी।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि भगवान् कपिल इतने ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न थे कि जहाँ वे अपनी माता देवहूतिको उपदेश दे रहे थे , उस स्थलमें निराविल ज्ञान ही ज्ञान, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्'** ही चारों ओर बिखर रहा था। इस अमित ज्ञानराशिका पान करती माता देवहूतिके नेत्र भरे-भरे थे। वे तो यही अनुभव कर रही थीं कि श्रुतियोंको ब्रह्ममें हाथ-पैर, मुख-वाणीकी उपलब्धि नहीं हुई, किन्तु आज उन्हें (माता देवहूतिको )**'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'** इस काननमें वही ब्रह्म अपने पुत्रके रूपमें उपदेश करता दृष्टिगोचर हो रहा है। जो अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप है, अनन्त है, एकमेव अद्वय निर्धारित हो चुका है, वही परात्पर उन्हें अपनी भक्ति एवं प्रकृति-पुरुषके विवेकका उपदेश कर रहा है।

मैंने श्रीगोस्वामीजीसे यह भी प्रश्न किया कि माता देवहूतिको भगवान् कपिलने जो-जो उपदेश किया यह भी पू.गुरुदेवके श्रवण-गोचर हुआ ही था, क्या उसका कुछ संक्षिप्त-सा वर्णन भी उन्होंने किया था ? श्रीगोस्वामीजीने इसके उत्तरमे यही बतलाया कि माता देवहूतिको भगवान् कपिल द्वारा जो अनर्गल विशुद्ध ज्ञान एवं ज्ञानोत्तरा भक्तिका उपदेश हो रहा था, वह मात्र वाणीके द्वारा बोलकर प्रवचन मात्र नहीं था। भगवान् कपिलदेव उस ज्ञानमें पूर्णतया सम्प्रतिष्ठित थे और उस अनन्त अपरिसीम उद्वेलित ज्ञानसिन्धुकी संग्राहिका माता देवहूति उस सिन्धुमें निर्बाध संतरण कर रही थीं। ब्रह्मज्ञानका नेत्रोंसे, रोम-रोमसे जैसा वितरण इस कपिलावतारमें हुआ, वैसा सम्प्लावन इससे पूर्व किसी अवतारमें व्यक्त नहीं हुआ। पू.गुरुदेवको इसी अपरिसीम

ज्ञानसिन्धुका कुछ क्षणोंतक ही दर्शन हो पाया, फिर तो उनका मन, बुद्धि एवं सभी इन्द्रियाँ उसमें विलुप्त ही हो गयीं।

# द्वारकाधाममें

सिद्धपुरसे तीर्थयात्राट्रेन मेहसाणा होती हुई, सुरेन्द्रनगर एवं वहाँसे द्वारका स्टेशन पहुँची। इसे गोमती द्वारका भी कहते हैं। द्वारकाके पश्चिम-दक्षिणमें एक बृहद् खाल है, जिसमें समुद्रका जल परिपूर्ण रहता है। इसे गोमती कहते हैं। यह कोई नदी नहीं है। इसीके कारण तीर्थका नाम गोमतीद्वारका प्रसिद्ध है। गोमतीकी ओरसे ५६ सीढी चढनेपर रणछोड़रायका मन्दिर मिलता है। यह मन्दिर परकोटेके भीतर है। मन्दिर सात मंजिला और शिखरयुक्त है । इसमें चारों ओर द्वार हैं। श्रीरणछोड़रायजीके मन्दिरपर पूरे ४० गजके एक थानकी ध्वजा उडती है। इसे चढ़ाते समय महोत्सव होता है। विश्वकी यह सबसे बृहत् ध्वजा है।

मन्दिरमे मुख्य पीठपर श्रीरणछोडरायजीकी श्यामवर्ण चतुर्भुज मूर्ति है। निश्चित् दक्षिणा देनेसे मूर्तिका चरणस्पर्श भी किया जा सकता है। द्वारक.की भगवान् रणछोडरायकी मूल मूर्तिको तो बोडाणा भक्त डाकोरजी लेगये थे। उनके द्वारा मूर्ति ले जानेपर छः मासतक मन्दिर बिना मूर्तिके सूना ही रहा था। तब द्वारकाके पुजारियोंको आदेश हुआ कि जो मूर्ति लाडवा ग्रामके पास मिले वही मूर्ति मन्दिरमें विराजित कर दी जाय। यह मूर्ति वही है जो लाडवा ग्रामके पास मिली थी। यह मूर्ति रणछोडरायजीके मन्दिरमें आज भी प्रतिष्ठित है।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा पोद्दार महाराज एवं यात्रियोंके सहित गोमतीमें स्नान करके जब रणछोडरायजीके मन्दिरमें दर्शन करने गये तो पू.गुरुदेवको वहाँ त्रिविक्रम वामन भगवान्के साक्षात् दर्शन हुए। उस समय वे सुतल लोकमें राजा बलिके द्वारपालके वेषमें थे। भगवान् वामनकी कृपामूर्तिके दर्शनकर पू. गुरुदेवके नेत्र छलछला आये थे। वे अपनी इस अनुभूतिको जब यात्रासे लौटनेपर गोरखपुरमें मुझे सुना रहे थे तो उनके नेत्र भगवान्के कृपावत्सल स्वभावके चिन्तनस्वरूप प्रेमाश्रु बहाने लगे थे।

पू. गुरुदेव मुझसे कह रहे थे कि भगवान्की कृपा समग्र तर्कोंसे अतीत

है। तर्कके द्वारा भगवान्‌की असमोर्ध्व कृपाका हेतु ढूँढ़ना संभव ही नहीं। विधाताके द्वारा जगत्‌में एक-से-एक विस्मयजनक वस्तुएँ सृष्ट हुई हैं, किन्तु भगवान्‌की अचिन्त्य हेतुरहित कृपा-जैसी विस्मयजनक कोई भी दूसरी वस्तु कहीं संभव ही नहीं। राजा बलिकी ऐसी कोई साधना नहीं थी जिससे वे स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप भगवान्‌के दर्शन पा सकते। शरीरसे किया हुआ बडे-से-बडा तप, दान, पुण्य कर्म उत्तमोत्तम प्राकृत गति ही दे सकता है। किसी भी बड़ी-से-बड़ी साधनाके फल भगवान् हो ही नहीं सकते। वेदगर्भ ब्रह्माकी सृष्टिमें ऐसी कोई वस्तु निर्मित ही नहीं हुई है जिसका अवलम्ब करके भगवान्‌की प्राप्ति की जा सके। कृपा-परवश हुए वे अपनी स्वप्रकाशिका शक्तिसे ही किसीके नेत्रगोचर होते हैं। जो स्थूल नहीं, अणु नहीं; क्षुद्र नहीं, महान् नहीं; घन नहीं, द्रव नहीं; छाया नहीं, तम नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, जो रूप-रस-गन्ध नहीं, कर्ण-वाणी-मन नहीं – इस प्रकार समस्त अपरमात्म मायिक पदार्थोंका निषेधकर ब्रह्मका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियोंके द्वारा जिनके सच्चिदानन्दस्वरूपका संकेत भर प्राप्त होता है, महाराज बलिने उनकी हेतुरहित कृपाके बलपर ही तो उनके अपरिसीम ऐश्वर्यसमन्वित रूपके दर्शन प्राप्त किये। दर्शन ही नहीं, भगवान्‌ने अपने चरणकमल बलिके मस्तकपर स्थापित कर दिये। जो बलि जन्मसे महा अहंकारी, खल और कुमार्गगामी असुरकुलमें जन्मा था, कैसी आश्चर्यकी बात है कि भगवान् उसके सेवक– द्वारपाल बन गये।

पू.गुरुदेव बता रहे थे कि सुतल लोकमे भगवान् ज्योंही बलिके किलेदार हुए, राजा बलि एव उनके सभी अनुयायी असुर उन महामहिम प्रभुकी सन्निधिके प्रभावसे मलिन विकारोंसे रहित हो गये थे। राजा बलि एव उनकी सुतल लोककी सारी प्रजा ही भगवान्‌की कृपासे क्षुधा-पिपासाकी प्राकृत माँगसे सर्वथा मुक्त हो चुकी थी। वहाँ उन सभी असुरोंके ही नहीं, चराचर समुदाय सभी पशु-पक्षियोंके भी मलिन विकार शान्त हो गये थे। एक क्षुद्र चींटीसे ले कर हाथी पर्यन्त सभी जीवोंके प्राणोंमें भक्तिविह्वल परा शान्तिका साम्राज्य छाया रहता था। उनके मनोंको काम मन्थन नहीं करता, क्रोध इन्द्रियोंको जलाता नहीं, लोभ सम्मोहित नहीं करता था। इस भगवान् वामनके सुसंरक्षित लोकमें एक भी अशुभ विकृतिकी गन्धमात्र भी नहीं थी। घोर रजोगुण-प्रधान

असुरोंमें परस्पर वैरवृत्तिका उदय ही नहीं होना एक आश्चर्य ही था। इस सुतल लोकमें भगवान् वामनका ऐसा प्रभाव था कि मनुष्य-व्याघ्र, बिडाल-मूषक, सर्प-नकुल, आदि परस्पर शत्रुभावपरायण प्राणिवर्ग भी परस्पर स्नेहके सूत्रमें बँधे निरन्तर मित्रभावका अवलम्बनकर वहाँ निवास करते थे। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि सुतल लोकका सारा जीव-समुदाय भगवान्को वहाँ नित्य ही हाथमें गदा लिये खड़ा देखता और इस परमातिपरम कल्याणकारी भगवद्दर्शनजन्य परमानन्दमें मग्न रहनेके कारण उन सभीके समग्र कर्मबन्धन नष्ट हो गये थे।

भगवान् वामनके दर्शनसे पू.गुरुदेवका रोम-रोम आनन्द-विह्वल हो उठा। फिर तो उनमें एक अभूतपूर्व उत्कण्ठा जागी और वे भगवान् वामनके चरणनखचन्द्रका संस्पर्श करनेके लिये दण्डवत् प्रणत हो गये। सचमुच ही इस प्रकार विह्वल होकर भगवान्के चरण-सरोजोंमें प्रणत होनेका सुख कितना निराला है –इसे तो वे भक्त ही अनुभव कर सकते हैं, जिन्हें ऐसा सौभाग्य मिला होता है।

## बेटद्वारकामें पू.गुरुदेव

गोमती द्वारकासे २० मील पूर्वोत्तर कच्छकी खाड़ीमें एक छोटा द्वीप (बेट) होनेसे ही इसे बेटद्वारका (द्वारका द्वीप) कहते हैं। ओखासे नौका द्वारा समुद्रकी खडी पार करके बेट द्वारका पहुँचना पड़ता है। द्वीपमें एक विशाल चौकमें तीन महल दुमंजिले एवं पाँच महल, तीन मजिलके हैं। द्वारमेंसे सीधे पूर्वकी ओर जानेपर श्रीकृष्ण भगवान्का महल मिलता है। इसमें पूर्वकी ओर प्रद्युम्न एवं मध्यमे रणछोड़जी और उनके दूसरी ओर त्रिविक्रम (तीकमजी) वामन भगवान्का मन्दिर है। इस मन्दिरके आगे एक ओर पुरुषोत्तमजी, माता देवकी तथा माधवजीके मन्दिर हैं। कोटके दक्षिण पश्चिमकी ओर अम्बाजी एवं पूर्वमें गरुड़ मन्दिर है। रणछोड़जीके महलके समीप सत्यभामा एव जाम्बवतीजीके मन्दिर हैं। पूर्वकी ओर साक्षीगोपाल और उत्तरकी ओर रुक्मिणी एवं राधाजीके मन्दिर हैं।

पू. गुरुदेवके कानों 'श्रीकृष्ण भगवान्का महल' – ये शब्द पडते ही वे अपने भावजगत्में तन्मय हो जाते हैं। पू.गुरुदेवको श्रीकृष्णमहलमें एक ओर आसन लगाकर बैठा दिया जाता है, परन्तु वे शान्त, निष्पन्द बैठे हैं। दर्शनार्थी

लोग दर्शन करके आ-जा रहे हैं परन्तु वे तो बैठे हैं, सो, बैठे ही हैं। लोग श्रीपोद्दार महाराजको सूचना देते हैं, वे आते हैं। वे अपने हाथसे पू.गुरुदेवको जल पिलाते हैं, तब किंचित् चेतना आती है। उन्हें पोद्दार महाराज श्रीकृष्ण स्वरूपमें दिखते हैं, अतः एक बार तो वे भ्रमित हो ही जाते हैं कि यह सत्य है या उनका मनोराज्य है ? अवश्य ही निर्णय होनेमें विलम्ब नहीं होता। श्रीपोद्दार महाराज उनका हाथ पकडे-पकडे सभी मन्दिरोंमें दर्शनार्थ ले जाते हैं। श्रीपोद्दार महाराज द्वारा पू.गुरुदेवको काष्ठवत् हाथ पकड़कर यद्यपि ले जाया जा रहा है, किन्तु वे तो मुग्ध, संज्ञाविहीन, अर्धबाह्यज्ञानवृत्तिमें हैं। उन्हें अपनी सत्ताका, जगत्का अनुसन्धान कभी तो होता है, कभी होता ही नहीं। उन्हें तो मात्र 'श्रीकृष्णचन्द्रके महल'की ही स्मृति है। उन अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र और उनके महलके विलक्षण दर्शनोमें, उसके सौन्दर्यसिन्धुकी उच्छलित उत्ताल तरगोंमें अहंतास्पद अपने आपका, ममतास्पद पोद्दार महाराजका एव बाह्य जगत्का अस्तित्व कभी तो उनके सामने से विलुप्त हो जाता है, और कभी शनै-शनै प्रकट होने लगता है। जैसे मृत्युके उस पार पहुँचे प्राणीमें पुनः नवजीवनका संचार हो और पुनः वह संज्ञाविहीन मूर्च्छित हो जाय, इसी भाँति कभी तो उनकी इन्द्रियोंमें क्रियाशीलता आती है और फिर लुप्त हो जाती है। उनके सामने वृन्दाकाननके कुञ्जान्तर्गत 'श्रीकृष्णका महल' है। राजाधिराज द्वारकाधीशसे तो उनका प्रयोजन ही कहाँ है ?

"अहा ! क्या कहना है, सुपक्व सुमधुर फलभारसे अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावली, रग-बिरगे सुरभित कुसुमोंका आभरण धारणकर तरुश्रेणीको वेष्टित किये लता-वल्लरियाँ, इनपर आसन डाले चित्र-विचित्र विहंगमोंका कल गान, सर्वत्र मन्द-मन्थर पवनका शीतल संस्पर्श– और इन सबके मध्य, इन सबसे आवृत उन्नत शिखर –सब कुछ कितना विस्मयजनक है।

आकाशसे बरसती मेघकी जलधारा कहीं भी गिरे, सागरकी ओर ही प्रवाहित होगी और इस बरसती मेघकी जलधाराके रूपमें सागर ही जैसे धराको रसाप्लावित करने उमडता है, ठीक वैसे ही प्राकृत मायाजगत्का समग्र आधिभौतिक अथवा आधिदैविक ऐश्वर्य श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणसरोजोंसे ही उद्भूत होता है और उनमें ही पर्यवसित होता है। और श्रीकृष्णधाम (महल)के रूपमें उन श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंकी सन्धिनी शक्ति ही तो

अभिव्यक्त है।

श्रीपोद्दार महाराज बारबार पू.गुरुदेवको उद्बोधन करते हैं - "बाबा! यह श्रीप्रद्युम्नजीका विग्रह है, इन्हें प्रणाम करें। यह त्रिविक्रम भगवान् वामनका विग्रह है, ये देवकी माता हैं, ये वसुदेवजी हैं, यह माधवजीका मन्दिर है। यह अम्बाजीकी मूर्त्ति है, ये गरुड़जी हैं। "

पू.गुरुदेवके सामने तो एक ही सत्य प्रत्यक्ष है। मेरे प्राणप्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र ही अनन्त रूपोंमे अनन्त उपासकों द्वारा अपने-अपने भावोंसे आराधित होते हैं। सबके मूल स्वरूप ये ही हैं। सबके स्तवनका पर्यवसान मात्र उनमें ही है।

श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवको सत्यभामा एवं जाम्बवतीके महलमें, पूर्वकी ओर साक्षीगोपाल मन्दिरमें, उत्तरमें रुक्मिणीजीके मन्दिरमे, जाम्बवती मन्दिरके पूर्व गोवर्धननाथजीके मन्दिरमें ले जाते हैं। पू. गुरुदेवको तो सर्वत्र सभीमें एक ही परम तत्वमयी विज्ज्योतिभरी दृष्टिगोचर हो रही है- वह है श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअगोकी नवनीरद-कान्ति।

श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवको शंखोद्धार तीर्थ ले जाते हैं। यहाँ शंख-सरोवर और भगवान् शखनारायणका मन्दिर है। कहा जाता है कि यहीं श्रीकृष्णने शंखासुरको मारा था। शंखनारायण भगवान्‌के मन्दिरमें दशावतारोकी भी मूर्त्तियाँ हैं। श्रीपोद्दार महाराज शंखासुरके उद्धारकी बात पू.गुरुदेवके कानोंमे श्रवणगोचर करानेको तीव्र ध्वनिमें कहते हैं, पू. गुरुदेवके नेत्रोंमें तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलानुक्रमणिका ही नाच उठती है। वे सोचने लगते हैं –"सचमुच जैसे जवजलधर विचार नहीं करता उच्च-नीचका, मलिन-पवित्रका, सर्वत्र समानभावसे बरसकर वह ग्रीष्मका ताप शमित कर देता है, वैसे ही ये श्रीकृष्ण जलधर भी कहाँ देखते हैं उज्ज्वल, तमोमय भावोंकी ओर; समान भावसे सबपर बरस रही है इनकी लीलासुधाकी, करुणामृतकी मधुर धारा। बालघातिनी पूतनाको मातृगति, महानिर्दय बकासुर, अघासुरके संसरणका अन्त, इसी प्रकार शंखासुरको भी अपना नित्य आयुधत्व-दान समान कृपावर्षणके ही तो निदर्शन हैं। इससे पूर्व मत्स्य-कूर्म-नृसिंह-वामनादि रूपोंमें प्रभुकी कृपाका ऐसा अयाचित दान कहाँ किसे मिला था? यह तो इन नवनीरदकान्ति नव जलधर श्यामल रूपका ही मानो निजस्व है! बस,बस, यही है! नाथ!

तुम्हारा यह नव मेघश्यामल विग्रह ही मेरा सार-सर्वस्व है, मेरा अणु-अणु सिक्त हो जाय इसकी अनोखी श्यामछटासे ।''पू॰गुरुदेवके अन्तर्मनका यही भाव उनके मुखसे बाहर भी अस्फुट शब्दावलीमे फूट पडता है।

श्रीपोद्दार महाराज अपने शिष्य पू.गुरुदवकी अकल्पनीय उच्च भावभूमि देख-देखकर मुसकाने लगते हैं।

---

# जूनागढ़ गिरनार पर्वतमें

गिरनार अत्यंत पवित्र पर्वत है। इसका एक नाम रैवत गिरि भी है। श्रीबलरामजीने यहाँ द्विविदको मारा था। श्रीकृष्णचन्द्र जब द्वारकामें थे, तब यह पर्वत यादवोकी क्रीड़ाभूमि था। योगियोंकी यह अत्यन्त सम्मान्य तपोभूमि है। भगवान् दत्तात्रेय यहाँ गुप्तरूपसे नित्य निवास करते हैं। सौराष्ट्रके श्रेष्ठतम भक्त नरसीमेहताका जूनागढमे ही जन्म हुआ था। राजकोटसे वेरावल लाइनपर ६३ मील दूर जूनागढ़ स्टेशन है। नगरमें पूर्वमें गिरनार पर्वत है।

पू.गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराजके साथ जैसे ही जूनागढ नगरमें पहुँचे, सर्वप्रथम वे श्रीनरसीमेहताके घरमें गये। यहाँ नरसीमेहताके आराध्य भगवान् श्यामसुन्दरके दर्शन करते ही वे रससिन्धुमें डूब गये। अहा ! भक्त नरसीके प्रति भगवान्‌का कैसा अगाध भक्तवात्सल्य था। पू. गुरुदेवके प्राण प्रेमावेशसे स्पन्दित होने लगते हैं। भगवान्‌के अनन्त यशको बारंबार स्मरण करनेकी लालसा उनमें हिलोरें लेने लगती हैं –'' हाय ! अनन्त-अनन्तकालतक श्रीकृष्णचन्द्रका यह भक्त-निर्वाहक रूप मेरे प्राणोंका आधार रहे, वे प्रीति-प्रतिपालकके रूपमें ही मेरे प्राणोंमे समाये रहें।'' – यही अभिलाषा पू. गुरुदेवके रोम-रोममें झकृत होने लगती है।

पू.गुरुदेवके मनमानसमें लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका सेठ सॉवलशाह वाला रूप मंथन करने लगता है। किसी अचिन्त्य प्रेरणावश श्रीनरसीमेहताका जन्मसे लेकर उनके शाश्वत गोलोक-प्रवेशतकका सारा जीवनचरित्र उनके सामने चित्रपटकी रीलकी तरह व्यक्त हो उठता है। पू.गुरुदेव चकित हो उठते

है। महाभाग नरसीके साथ प्रभुने साँवरिया सेठ बनकर भक्त-वात्सल्यका जैसा प्रकाश किया है, वैसा तो अन्य किसी अवतार अथवा किसी भी रूपमें देखनेको ही नहीं मिलता। सेठ नरसीके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये भगवान्ने क्या नहीं किया ? वे मन-ही-मन अपने प्राणपतिके निर्मल स्वभावपर न्यौछावर हो उठते हैं। " प्रभो ! आप अनन्त भक्तवत्सल हैं। आपके प्रीतिदानका, आत्मीय स्वभावका, आपके वात्सल्यका, पार नहीं। आपके कर्म विचित्र और पूर्ण पवित्र हैं। आपका यह श्रीकृष्ण-विग्रह अपने भक्तोंकी ही अभिलाषामयी अभिव्यक्ति है। यह भला पचभूतोकी रचना कैसे संभव है ? यह तो अप्राकृत विशुद्ध सत्वमय है। किन्तु यह विरुद्ध धर्माश्रयत्वको स्वीकारकर अंजार ग्राममें नानी बाईका माहेरा भरने भी आता है। यह श्यामलदास सेठ बनकर भक्तोंकी हुण्डी भरपायी भी करता है। फिर भला इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी अनन्त महिमाको कोई तात्विकताकी कसौटीपर कैसे कसे ? एक ओर जहाँ रसराज-महाभावरूपमें आप नित्य विराजित हो, दूसरी ओर प्राकृत मायामय जगत्में भक्तोंके लिये कैसी-कैसी विचित्र प्राकृत लीलायें कर बैठते हो, भला, आपको कोई किसी भी कसौटीपर कैसे कस पावेगा ? सर्वथा स्वच्छन्द आप और आपकी भक्तपरवश लीला जो है !

इसीलिये प्रभो ! मैं तो उनको ही धन्य-धन्य मानता हूँ जो भक्तराज नरसीमेहता जैसे किसी भोले-भाले निर्मल विश्वासी भक्तके द्वारका आश्रय लेते है, श्वानवत् ऐसे भक्तोका द्वार जो क्षण भर भी नहीं छोड़ते, अव्यग्र चित्तसे भक्तोंके आश्रयमें निवास करते हुए जो सन्तोंके साथ घटी हुई आपकी अनुग्रहमयी लीलाओंके साक्षीवत् दर्शन करते हैं। आपके हेतुरहित विलक्षण प्रेममय चरित्रोंसे जिनका आपपर अटूट-अमोघ विश्वास पुष्ट होता है, उस विश्वासमें पुलकित उनका रोम-रोम परम कृतज्ञतासे भरा आपके नाम, रूप, लीलागानमें डूबा रहता है। आपके भक्त-परवश चरित्रोंको सुन-सुनकर आदरकी भावनासे उनकी अञ्जलि बँध जाती है। प्रेमावेशसे 'हरे ! नारायण! जगत्पते!' की कृतातासे भरी पावनतम नामध्वनि उनके मुखसे निकल पडती है। उनका अन्तर्मन आपके यशकी निष्ठासे पूर्ण छलकता रहता है। वे काय-मनो-वाक्यसे आपकी लीला-कथाओंको ही अपने जीवनका सार-संबल बनाये रखते हैं। उनके प्राण-धारणका अवलम्ब आपके पावन चरित्र और यश ही होते हैं। सन्तोका द्वार वे किसी भी संपत्ति-विपत्तिमें नहीं छोड़ते। अतः उन सन्तोंके

निकट रहने वालोंको आपकी चर्चा अतिशय सुलभ रहती है। जीवनका प्रत्येक क्षण उनका आपके यश-गान, यश-श्रवण और यशके चिन्तन-मंननमें ही व्यतीत होता है। हे अजित् ! आप ऐसे आपके यश-कीर्त्तन करने वालोंके द्वारा सदा जीत लिये जाते हो। अन्य कोई साधन न कर केवल आपकी ओर कृपाकी याचनामें जीवन बितानेवालोंसे आप वशीकृत हो जाते हो। धन्य है, भक्तराज नरसीमेहता और उनपर हुई आपकी वात्सल्य राशिकी वर्षा ! धन्यातिधन्य हैं वे भक्त जो नरसी-चरित्रका अनवरत गुणगान कर रहे हैं।

पू.गुरुदेवने उसी समय निर्णय कर लिया कि वे 'भक्तराज नरसीका माहेरा' नामक मारवाडी भाषामें लिखित गेय पद्यरचना गोरखपुर जाते ही प्रकाशित करवावेंगे और उसका अनुवाद आंग्लभाषामें शुद्ध रूपमें करवावेंगे। इसीके फलस्वरूप पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने तुरन्त ही श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको बुलवाया और उन्हें अपने मनकी बात बतलायी। पू.गुरुदेवने कुछ काल वहीं बैठकर श्रीगोस्वामीजीसे भक्तराज नरसीके विलक्षण दो पद सुने। वे पद भी यहाँ दिये जारहे हैं।

{पद संख्या १}

(श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने निम्नलिखित पदको राग खम्मायमें गाया था)

**वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।**
**पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।।टेक।।**
**सकल लोक माँ सहुने वन्दे, निन्दा न करे केणी रे ।**
**वाच काछ मन निर्मल राखै , धन-धन जननी तेणी रे ।।१।।**
**समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे ।**
**जिव्हा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झालै हाथ रे।।२।।**
**मोहमाया व्यापै नहीं जेने,दृढ वैराग्य जेना मन माँ रे।**
**रामनाम सूँ ताली लागी, सकल तीरथ तेना तन माँ रे।।३ ।।**
**वण लोभी ने कपटरहित छे , काम क्रोध निवार्‍या रे।**
**भणै नरसैयो तेना दरसण करताँ कुल एकोतर तार्‍या रे।।४।**

{पद संख्या २}

**भूतल भक्ति पदारथ मोटूँ ब्रह्मलोक माँ नाहीं रे।**
**पुण्य करी अमरापुरी पाम्या, अन्त चोरासी माहीं रे।।**
**हरि ना जन तो मुक्ति न माँगे, माँगे जन्म-जन्म अवतार रे।**

नित सेवा नित कीर्तन उत्सव, निरखे नन्दकुमार रे।।
भरतखण्ड भूतल में जन्मी, गोविन्द ना गुण गाया रे।
धन धन रे एनाँ मात पिता ने, सफल करी निज काया रे।
धन वृन्दावन धन ए लीला, धन ए ब्रजना बासी रे।
अष्ट महासिधि आँगण ऊभी मुक्ति छे एमनी दासी रे।।
ए रस नो स्वाद शंकर जाणै, कै जाणै शुक जोगी रे।
कोई एक जाणै ब्रजनी गोपी, भणै नरसैयो भोगी रे।।

जूनागढ स्टेशनसे लगभग तीन मील दूर इन्द्रेश्वर शिवमन्दिर है। यहॉतक यद्यपि सडक है किन्तु मार्ग वनका है। कहते हैं, यही वह स्थान है, जहॉ अपने बड़े भाई द्वारा घरसे निकाल दिये जानेपर भक्त नररी 'मेहताने कुछ काल व्यतीत किया था। उन्हे बडे भाई एवं भावजने तो घरसे निकाल दिया ही था, अतः चलते-चलते वे सर्वसंतापहारी भगवान् भोलेनाथकी ही शरणमें आये। इस इन्द्रेश्वर शिवालयके निकट जलाशयमें उन्होने स्नान किया और वनके बिल्वपत्र एव पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा की। उनका यही निश्चय था कि चाहे अन्न-जलके बिना प्राण चले जावें, अब भगवान् शकरका दर्शन पाये बिना यहाँसे नहीं ही हटूँगा।

भक्तराज नरसीमेहताकी दृष्टिमें शिवलिंग पत्थर तो था नहीं, अपितु साक्षात् कैलासपति थे। यहॉ रात्रिमें आज भी हिंस्र पशु आते हैं, अतः उन दिनो तो उनका पूरा भय था। श्रीनरसीमेहता भगवान् औढ़रदानीके शरणमें जमीनपर सिर टेके अनवरत सात दिन भूखे-प्यासे पडे रहे। दिवसके पश्चात् रात्रि आती और रात्रिके पश्चात् दिवस आकर चला जाता। किन्तु वे अपनी श्रद्धा और संकल्पसे लेश मात्र भी विचलित नहीं हुए।

इस प्रकार सात दिनकी तपस्यासे कैसासपतिका आसन डोल गया। सातवें दिवस आधी रातके पश्चात् भगवान्‌ने नरसीको दर्शन दिये।

पू गुरुदेव इस मन्दिरके दर्शनके सम्बन्धमें कह रहे थे कि अधिकांश शिवमन्दिरोंमें जहाँ भगवान् नर्मदेश्वरकी प्रतिमा प्रतिष्ठित नहीं होती, तमोगुण आच्छन्न रहता है। किन्तु भक्तराज नरसीकी प्रथम उपासनास्थली होने के कारण इस स्थानमें उन्हें द्वादश ज्योतिर्लिंगोंका-सा तेजोवलय सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगोचर हुआ। यह लिंग आज भी ऊपरसे फटा है और इसपर शिखर स्थापित नहीं है।

जूनागढ़में मुख्य तीर्थ तो गिरनार पर्वतकी चढाई है। गिरनारकी पूरी यात्रा जैन एवं सनातनी दोनों ही समान श्रद्धासे करते हैं। हजारों सीढ़ी चढकर यह यात्रा की जाती है। पू.गुरुदेवने भी सभी यात्रियोंके सहित यह यात्रा की थी ।

---

# डाकोरके रणछोड़राय

पश्चिम रेलवेकी आनन्द गोधरा लाइनपर आनन्दसे लगभग २०मील दूर डाकोर नगर है। पू.गुरुदेवने यात्रियों सहित यहाँ आकर गोमती सरोवरमें स्नान किया। यह तालाब लगभग चार फर्लांग लम्बा एवं एक फर्लांग चौड़ा है। पू. गुरुदेवने यहाँ तैरना प्रारंभ कर दिया था।

स्नान करके पू.गुरुदेव रणछोड़रायजीके दर्शन करने गये। श्रीरणछोडरायका मन्दिर विशाल है और सामने खुला चौक है। मध्यमें ऊँची बैठकमे मन्दिर है। मन्दिरमें मुख्य पीठपर श्रीरणछोड़रायजीकी चतुर्भुज मूर्त्ति पश्चिमाभिमुखी खडी है। श्रीरणछोड़रायजीके चरण-स्पर्श सबके लिये सुलभ हैं। लोग उत्तर द्वारसे भीतर आकर चरणस्पर्श करके दक्षिणद्वारसे बहिर्गत हो जाते हैं।

पू.गुरुदेवके सम्मुख डाकोरनाथजीकी जो छवि प्रकाशित हुई वह वर्णनातीत थी। पू.गुरुदेव उत्तर द्वारसे गर्भगृहमें प्रविष्ट हुए थे और उनके एकान्त दर्शन एवं व्यक्तिशः पूजनमें कहीं कोई बाधा उपस्थित नहीं हो, अतः पण्डोने यात्रियोंको कुछ कालके लिये बाहर ही निरुद्ध कर दिया था। गर्भगृहमें श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवके सहित पूजन कर रहे थे। पू. गुरुदेव तो संन्यासी थे, अत. साक्षीवत् खडे थे, पूजनका सम्पूर्ण कार्य तो पू.पोद्दार महाराज अपने परिवार सहित अपने हाथों सम्पन्न करवा रहे थे।

जैसे ही पू. गुरुदेवकी दृष्टि भगवान्के अपूर्व शोभासम्पन्न चरणोंपर पडी, वे विलक्षण प्रेम एव आनन्दमें सराबोर हो उठे। श्रीपोद्दार महाराजने पासमें खड़े गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे कहा कि वे श्रीराधाबाबाको एक किनारे खड़ाकर सम्हालें। कहीं भावोद्दीपनवश भीड़में इन्हें सम्हालना कठिन नहीं हो जाय।

पू.गुरुदेवकी दृष्टिमें तो भगवान्के अरुण चरणोंकी अँगुलियोंके दस

नख इस प्रकार शीतल ज्योत्स्नासे दिपदिपा रहे थे, मानो चन्द्रमाके टुकड़े मन्दिरभूमिमें बिखरे पडे हों। ओह ! जवापुष्पके समान भगवान् गदाग्रजके लाल-लाल चरणतलोंमें चक्र, अर्धचन्द्र, अष्टकोण, त्रिकोण, यव, आकाश, छत्र, कलश, शंख, गोष्पद, स्वस्तिकादि चिह्न कैसी शोभा पा रहे हैं। भगवान्के चरणकमलोमे परम मनोहर रत्नजटित नूपुर कैसे फब रहे थे। लावण्ययुक्त परम मनोहर दोनों घुटनोंकी चमक तो पीताम्बरके आच्छादनके उपरान्त भी प्रकट हो रही थी। इन्हें देखकर सभी भक्तों, पार्षदोंका मन मुग्ध हो रहा था। ओह ! भगवान्के दोनों उरु अपनी अप्रतिम छविसे मनोहर कदली-स्तम्भोंकी शोभाको परास्त कर रहे थे। वर्त्तुल नितम्बभाग सुधासम्भृत कमलके समान मादक था। इन नितम्बोपर कन्दर्प स्वयं मोहित था।

पू.गुरुदेवके सामने रणछोडराय श्रीकृष्णकी जो शोभा अभिव्यक्त हो रही थी, उसे देख-देखकर वे विमुग्ध थे। गदा,शंख, चक्र और कमल धारण किये चारों भुजाओंकी कैसी विलक्षण शोभा है। सभी आयुध ऊर्ध्वरूपमे धृत हैं। भुजाओंमें केयूर एवं कंकण शोभा पा रहे हैं। रक्तकमलके समान लाल-लाल करतलोमें भी विविध चिह्न हैं। वक्षस्थल तो मानो लावण्यका घर ही है। मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ, विद्युत्के समान चमचम करती स्वर्णरेखा, उनपर धवल हंसोंके समान स्वच्छ वर्णकी मुक्तामाला, फिर सर्वोपरि वैजयन्ती, साक्षात् लक्ष्मी इस सौन्दर्यपर मुग्ध है। ग्रीवा कैसी मधुर और आकर्षक है ! ठोढी विविध हास्यरसकी छटासे अत्यन्त मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत हो रही है। कण्ठदेशमें अनमोल रत्नोंसे खचित गलपट्ट आभूषण धारण किये हैं। अहा ! रणछोडराय भगवान् द्वारकाधीश श्रीकृष्णकी सदा ही जय हो !

ललित त्रिभंग मुद्रामें खड़े वे अभी भी अपने ब्रजविहारकी स्मृतिको जागृत किये हैं। पू.गुरुदेवकी दृष्टि भगवान् रणछोड़रायके चरणोंसे धीरे-धीरे ऊपर उठती प्रभुके मुखारविन्दकी शोभापर मँडराने लगती है। भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रके और उनके प्रेमभरे नेत्रोके दर्शन करते-करते तो पू. गुरुदेव अप्रतिम उच्छलित प्रेमसिन्धुमें बह उठते हैं। उनके हृद्देशमें ऐसी भाव-विह्लता उद्दीप्त होती है, जिसका वर्णन संभव ही नहीं है। वाग्वादिनी तो इसके एक अल्प-से अंशका भी चित्रण करनेसे रही। "भगवान् श्रीकृष्ण तो उनके प्रियतम हैं, वे हम सभीको छोडकर यहाँ द्वारका आ बसे हैं। अब इनसे वे कैसे अपने नेत्र चार करें ? एक विचित्र-से मानका भाव पू.गुरुदेवके मनमें

उत्थित होकर उन्हें मुखदर्शनसे निवृत्त कर देता है। शील-संकोचवश उनके नेत्र मुँद जाते हैं मन स्तम्भित हो जाता है। यंत्र-परिचालित -से उनके चरण मन्दिरसे बाहर भागनेको उद्यत हो उठते हैं। उन्हें भावावेशमे लगता है -"अपनी अग्रजा राधा भगिनीको छोड कहॉ चली आयी वह वहॉ एकाकिनी ? ये तो द्वारकाकी वीथियॉ हैं ! यहॉ उसका प्रयोजन ही क्या है ? हाय ! वह एकाकिनी विरहिणी उनकी बहन ! उससे विलग वह कैसे हो गयी ? यह अन्ततः हुआ कैसे ? कौन उसे ब्रज-गिरिपरिसरसे यहॉ लाया ? उनकी बुद्धि कुण्ठित-सी होकर जड होने लगती है। तत्क्षण ही उन्हे हृदयमे ऐसी वेदना होती है, मानो प्राण ही छूट जावेंगे। परन्तु इसी क्षण श्रीपोद्दार महाराज पूजा सम्पन्नकर उनके पास चले आते हैं। पू.गुरुदेवको श्रीपोद्दार महाराज दिखते नहीं । उन्हे तो उनकी अग्रजा राधा ही दृष्टिगोचर होती है। उन्हें ऐसी सान्त्वना मिलती है, मानो तृषित चातकपर स्वाति मेघने निर्मल जल वर्षा कर दी हो। जैसे विरहाग्निकी भीषण ज्वालासे धक्–धक् जलते पुष्प-पल्लवमय मनोहर उद्यानमें किसीने सुधासिन्धु प्रवाहित कर दिया हो। पू. पोद्दार महाराज जैसे पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके भावोसे पूर्णतया परिचित हों –उनका हाथ पकडकर खींचते, आकर्षित करते-से उन्हें भीड़से बचाते एकान्त कोनेमें ले जाते हैं। अतिशय मधुर वाणीमें उन्हें सम्बोधितकर कहते हैं –"बाबा ! अपनेको तो अपना बृन्दावन ही भला ! यहॉ अपना प्रयोजन ही क्या है ? ये तो राजमहल हैं ! कहॉ कालिन्दीका निर्मल तट, कदम्ब और गिरिकानन और कहाँ ये वैभवमय प्रासाद ? यह सब स्वप्नवत् है। ऐसे ही दिख रहा है। मात्र मायाजन्य खेल है ।"

पू.गुरुदेव अभी भी पूरे भावदशामें भरे हैं। वे मानो अपनी अग्रजा राधारानीसे जिज्ञासा कर रहे हों,–इस प्रकार वे नेत्र उठाकर श्रीपोद्दार महाराज द्वारा खींचे, लिये जाते हुए भी उनके मुखकी ओर देखने लगते हैं। उनका रोम-रोम जैसे उनसे प्रश्न कर बैठता है –बहिन ! आखिर यह अन्त्यन्त आश्चर्यमयी असंभव घटना हुई तो कैसे ? प्रियतम प्राणवल्लभ यदि वृन्दावनसे मथुरा और मथुरासे द्वारका चले भी आये, तो मैं और तू दोनों विरह दावानलकी उत्तप्त लपटोंमें भस्म हो जातीं ! किन्तु हम दोनों समग्र ब्रजप्रदेश, गिरिपरिसर, समग्र सखीसमुदायको छोड़, इतनी दूर यहाँ द्वारकाके राजमहलोंमें आ कैसे गयीं ? क्या हमारे प्राणवल्लभ प्रियतम श्यामसुन्दर

तंत्रविज्ञानके इतने पण्डित हैं कि विरहज्वालासे जलते ब्रजसे हमें यहाँ पलक झपकते ही उठा लाये ? क्योंकि जो कुछ किया है वह तो सबका सब हमारे प्राणवल्लभने ही किया है ! उन्हींकी अचिन्त्य महाशक्तिके प्रभावसे ही हम पलक झपकते बिना अपनी रुचि एवं चेष्टाके ब्रजसे यहाँ द्वारका आ गयीं। परन्तु मैया यशोदा, महाराज नन्दराय आदि सब हैं कहाँ ? उनके बिना हम यहाँ कैसे रह पावेगी ? प्रियतमने तो हद ही कर दी ! यह तो परम विचित्र बात हो गयी ! हम सब तो अतिशय भीषण विरहज्वालासे चीत्कार कर रही थीं, फिर अपने-आप वहाँसे यहाँ कैसे चली आयीं ?

पू.गुरुदेवके भावसंसारके प्रश्नोंका श्रीपोद्दार महाराज क्या उत्तर दें ? वे मात्र मुसका उठते हैं। श्रीपोद्दार महाराजकी वह मुसकान पू.गुरुदेवको पुनः अपने ब्रजभूमिके संसारमें स्थापित कर देती है। श्रीकृष्णचन्द्रकी अखण्ड स्मृति उनके मनमें जाग उठती है और उनमें उनके प्रत्यक्ष संयोगकी पुनः भावना प्रबल हो उठती है। अपने प्रियतमको अपने भावप्रदेश ब्रजमे ही देख वे अप्रतिम भावसिन्धुमें बह उठते हैं।

---

# बम्बईमें तीर्थयात्राट्रेन

बम्बईमे श्रीपोद्दार महाराजका दीर्घकालतक निवास रहा है। अतः स्वाभाविक ही था, समग्र मारवाडी समाजने उनका पूरे उल्लास और हृदय खोलकर स्वागत किया। तीर्थयात्राट्रेनके संग उन्हे बम्बई आया देख स्टेशनपर ही अपार जनसमूह एकत्रित था। श्रीपोद्दार महाराजका बम्बईमें बहुत ही व्यस्त कार्यक्रम था। उन्हे अपने अनेक पुराने मित्रोसे मिलना था। पू.गुरुदेव तो सिंहानियाबाडी, भुलेश्वरके एक कमरेमे परम एकान्तिक परिवेशमें थे। श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी उनके साथ थे ही। बहुत आवश्यक लोगोंसे मिलनेके उपरान्त शेष समय वे श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीसे ब्रजरसके पदगायन-श्रवणमें निरत हो गये थे। श्रीपोद्दार महाराजके स्वागत-सत्कार, सत्सग-प्रवचन तथा उनके जुलूस आदिमें उनका मित्रोचित उत्साह अवश्य था, किन्तु वे अपने आन्तरिक भावोच्छलनजनित उल्लासमें इतने डूबे थे कि उन्हें बाह्यावेशके

लिये अवकाश ही अत्यल्प था।

श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीसे उनका पदगायन-श्रवण कार्यक्रम पूर्वतः ही निर्धारित हो गया था। उनके निवासकक्षके द्वार भीतरसे बन्द थे। शौचादिके लिये ही वे कमरेसे बाहर आते थे। इस बीच यदि कोई उनसे मिलने आता तो वह कागजपर लिखी अपने नामकी पुर्जी दरवाजेकी सन्धिमेंसे भीतर डाल देता था। जब एक पदगायन सम्पूर्ण होकर दूसरा प्रारम्भ करना होता तो उस सन्धिकालमें पू. राधाबाबा वह चिट पढकर समागत व्यक्तिसे या तो तुरन्त ही मिल लेते अथवा उसे मिलनेके लिये भविष्यमें कोई समय निर्धारित कर देते थे। उनकी भिक्षा रात्रिमें ९-१०बजे होती थी और भिक्षाके उपरान्त मात्र दो घण्टे विश्रामके पश्चात् सम्पूर्ण रात्रि वे श्रीवल्लभलालजीसे पदगायन ही सुनते थे। वे केवल अपनी परमावश्यक पूजा-अर्चनाके लिये एक-सवा घण्टेका अवकाश प्रातः लेते थे। जल पीना आदि कार्य भी उनके इस पदगायनके मध्य ही सम्पन्न होते थे। मैं यहाँ दो ब्रजरसके पदोका मात्र एक प्रसंग प्रस्तुत कर दे रहा हूँ। प्रथम पद एक उपालम्भका पद है, जिसे श्री वल्लभलालजी गोस्वामीने पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको सुनाया था–

**(पद)**

**गारी मत दीजो मो गरीबनीको जायौ है।।टेक।।**
**जितौ तो बिगार कियौ, आनि कहौ मोसों तुम,**
**मैं तो काहू बातनमें नाहीं तरसायौ है।।**
**दधिकी मटुकी भरी आँगनमें आनि धरी**
**तोल-तोल लीजो भटू जेतो जाको खायौ है।**
**सूरदास प्रभु प्यारे निमिष न हूजे न्यारे,**
**कान्ह जैसो पूत मैं तो पूरे पुन्यन पायौ है।।**

पू.गुरुदेव राग बिलावलमें गाये गये इस सूरदासजीके पदको श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीके मुखसे हवेली संगीतकी बंदिशमें सुन रहे हैं और उनके हृदयमें उद्वेलित भावसिन्धुकी उत्ताल तरगोंने उन्हें किसी अलौकिक चिन्मय धाम गोकुलमें नन्दभवनके मध्य पहुँचा दिया है। यशोदारानीको अपने पुत्र श्रीकृष्णचन्द्रकी करतूतोका उलाहना देने यूथ-की-यूथ ब्रजगोपियाँ नन्दभवन आई हैं।

पू.गुरुदेव इस समग्र लीलाके प्रत्यक्ष साक्षी हो रहे हैं। वे मञ्जुश्यामाके

भावदेहमें अपनी बडी बहन - श्रीमती राधारानीके संग यशोदारानीके निमन्त्रणपर श्रीकृष्णके अशेष मंगलके उद्देश्यसे भोजन-निर्माणके लिये प्रातः ही नन्दभवन आये हैं एवं गोपियोंकी यह उपालंभ-वार्त्ता श्रीमती नन्दरानीके बगलमें आसीन होकर श्रवण कर रहे हैं।

"सारे ब्रजपुरमें यह समाचार विद्युत्की तरह घर-घर फैल गया है– यशोदानन्दन आभीर सुन्दरियोंके घर-घर जाकर अनके भवनोंमें मनमानी क्रीड़ा करते हैं। वे अपने सखाओंके संग अपनी इन्द्रनीलद्युति अंगोंकी शीतल किरणोंसे गोपियोंके नवनीत भण्डारोंको उद्भासित करते है, निरे ब्राह्ममुहूर्त्तमें। कभी-कभी गहन निशामें भी वे अपनी नवजलधरकान्तिसे पुरवीथियोंको सिक्त करते उनके गृहोंमें पहुँच जाते हैं। अपने परम रमणीय बालचापल्यका प्रकाश करते वे दधि, दुग्ध, नवनीत-जो भी इनके गृहोंमें संचित मिल जाता है, उसे अपने सखाओंमें लुटा देते हैं, गोरस पात्रोंको तोड-फोड देते हैं, गो-गोवत्सोंको बन्धनमुक्त कर देते हैं, गोपशिशुओको चिकुटी काटकर रुलाकर भाग जाते हैं। भीतर अवस्थित रहकर आनन्द-वितरण करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र आज स्वय रसवश हुए आनन्दोपभोगके लिये चञ्चल हो रहे हैं। उनकी उद्धत मधुर चेष्टाओंके दर्शन कर-करके आभीर सुन्दरियाँ आनन्द-विवश हो जा रही हैं। अपने लडैतेको आनन्दित करनेके लिये वे यदा-कदा रोषका नाट्यकर उन्हें रोकना भी चाहती हैं, तो बोल नहीं पातीं, उनका कण्ठ आनन्दसे सर्वथा रुद्ध हो जाता है।

"अचानक इन ब्रजसुन्दरियोंके मनमें एक बात उठ आती है– श्रीकृष्णचन्द्रकी इन चञ्चल चेष्टाओंका आस्वादन हम सभीको तो प्राप्त हो रहा है, हम सभी आनन्दमें डूब-उतरा रही हैं; पर ब्रजरानी तो इस सुखसे वञ्चित ही रहती हैं। नीलमणि अपने घरमें तो अधिकांश रहते भी नहीं, और रहते हैं तो ऐसी उद्धत चेष्टा नन्दरानीके भयसे करते नहीं। बस, इस विचारके उदय होते ही ये सभी गोपियाँ मन-ही-मन कार्यक्रम स्थिर कर लेती हैं - उलाहनेका मिस लेकर हम सभी ब्रजरानीके पास जावें एवं नीलमणिकी प्रत्येक चेष्टाका वर्णनकर ब्रजरानीको भी परमानन्द-सिन्धुमें निमग्न कर दें। अस्तु, सन्ध्याके समय यह स्थिर निश्चय होता है कि जिसके यहाँ जो-जो भी ब्रजरानीके पुत्रने औद्धत्य किया है, उसका प्रकाश उनके सम्मुख उपालंभके रूपमें निरे प्रातः ही किया जाय और यदि उस समय कहीं स्वयं श्रीकृष्ण ही वहाँ किञ्चित्

संकुचित, किंवा भयग्रस्त हुए दिख जावें तो उनकी उस अभूतपूर्व शोभाका पानकर कृतकृत्य भी हुआ जाय। जो हो, निशा आती है, एवं निशाका अवसान भी होता ही है. गोपसुन्दरियाँ तो सारी रात जागती ही रही हैं। उन्हें निद्रा आयी ही नहीं। यदि किसीको क्षण भरके लिये तन्द्रा-सी हुई तो उस समय भी स्वप्नमें उन्हें अपने उलाहने देने जानेका ही दृश्य दिखाई पडता है।

प्रात: समीरका स्पर्श पाते ही सभी गोपसुन्दरियाँ उठ खडी होती हैं। आवश्यक कर्मसे निवृत्त हो, विविध मनोहर श्रृगारोंसे सज्जित हुईं, वे दल-की-दल नन्द-प्रासादकी ओर चल पड़ती हैं। देखते-ही-देखते उनसे नन्दप्रागण भर जाता है। उनके आभूषणोंकी झनकारसे समस्त प्रासाद मुखरित होने लगता है। ब्रजरानी परम उल्लाससे सभीका स्वागत तो अवश्य कर रही हैं, परन्तु उन्हें अत्यन्त विस्मय है कि सर्वथा अनिमन्त्रित आज इतनी गोपसुन्दरियाँ अचानक उनके घर इस समय प्रातः-ही-प्रातः कैसे एकत्र हुई हैं। गोपसुन्दरियोंके लिये एक आश्चर्य यह भी है कि प्रत्येकको यह अनुभव हो रहा है कि मैं नन्दरानीके अत्यन्त समीप बैठी हूँ।

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी आज ब्रजरानीकी गोदमें ही बैठे हैं। वे सुवर्ण की कटोरीमें मेवा खा रहे हैं। नन्दरानी अपने नीलमणिके मुखचन्द्रकी ओर निहारती हुईं उन्हें मेवा खाता देख रही हैं।

यथायोग्य पहले सबका क्षेमकुशल पूछकर नन्दरानी उनसे उनके भवनमें प्रात:-ही-प्रातः आनेका कारण पूछती हैं। बस, सब गोपियोंके एक समूहकी जो एक अग्रणी गोपी है वह बोल उठती है –" ब्रजरानी क्या बताऊँ, तुम्हारे इस छोटे-से बालककी अभी कुमार वयस् है, किन्तु इसका भविष्य हमे तो बहुत ही उच्छृखल, लबार होता दिखता है। भला, देखो ! अभी तो यह एक छोटा-सा पौधा है, इसमें मात्र दो पत्ते ही लगे हैं, जब अभीसे यह सम्पूर्ण भवनको प्रकम्पित कर दे रहा है, तो भविष्यमें तो न जाने यह क्या करेगा ? अरी महर ! अभी तो इसकी शक्तियाँ विकसित ही नहीं हुई हैं, फिर भी यह सम्पूर्ण ब्रजपुरको नष्ट-भ्रष्ट कर देनेकी सामर्थ्य रखता है। तब जिस समय यह पौधा विशाल शाखा-पत्र-पुष्प फल समन्वित वृक्षके रूपमें परिणत होगा तुम्हारा नीलमणि यौवनमे प्रवेश करेगा – उस समय महर, ये क्या करेगा ? ब्रजपुरकी कैसी दुर्दशा होगी, सोचकर चिन्ता हो उठती है।"

यह कहकर वह गोपसुन्दरी मौन हो जाती है। इससे अधिक वह भला

क्या शिकायत करती ?

यशोदारानी अपने नीलमणिपर लगा इतना बड़ा लांछन सुनकर स्तब्ध हैं। इतनेमें दूसरे समूहसे एक गोपी बोल उठती है नन्दरानी ! मुझसे सुनो । मैं इस परम धृष्ट चंचलमति तेरे पुत्रकी करतूतें खोलती हूँ। यह देखो, कैसा भोला-भाला तेरे पास बैठा, मेवा कुतर रहा है, और कनखियोंसे हमें बैठा-बैठा निहार रहा है। नन्दरानी ! आज सम्पूर्ण ब्रजमें अधिकाश स्थानोमें गोदोहन हो ही नहीं रहा। गायोंके थनोंमें दूध यह तेरा नटखट रहने ही नहीं देता। अकेला नहीं, दल-के-दल बालकोको साथ लेकर यह हमारे घरोंमें गोदोहनसे पूर्व ही निरे ब्राह्ममुहूर्त्तमें पहुँच जाता है। वहाँ जाकर चुपचाप जितने बछड़े होते हैं, यह सबकी रस्सी खोल देता है। हम सब इसकी करतूत जान ही नहीं पातीं। समाचार पाकर हमारे गोप दौड़ते हैं तबतक तो बछडे दूध पी चुके होते हैं। यह ऐसा चालाक है कि सबके सोये रहनेपर ही ऐसे कार्य किया करता है। जब कोई इसे देख लेता है तो ऐसा भोला मुख बनाकर हँस देता है कि जैसे कुछ नुकसान ही नहीं हुआ हो। कहता है - 'चाचा ! मैं वत्सपालक हूँ। रोज इन बछड़ोको अपने हाथो कोमल घास तोड़-तोडकर खिलाता हूँ, तुम लोग इनकी माताओंका दूध निकालकर इन्हें बुभुक्षित छोड़ देते हो। क्या इन्हें एक दिन भी मैं इनकी माताओंका दूध भरपेट नहीं पिलाऊँ ?' इसकी हँसीमें ऐसी मोहिनी है कि हमारा क्रोध वहीं शान्त हो जाता है। परन्तु जब यह इतना उदार बनता है, तो तेरे घरमें यह सब करतूत क्यो नहीं करता ? यदि यह प्रति दिवस ही ऐसा करेगा तो मेरी सास इसे भला गाली क्यों नहीं देगी ? जब मेरी सास इसे निपूते, कलमुँहे ! कहकर गाली देती है तो यह तुरन्त ही उत्तरमें कहता है कि 'अरी बुढ़िया ! मेरे तो इतनी संतानें होंगी कि उनसे पूरा नगर भर जायगा। ' ऐसा कहते हुए हँसकर भाग जाता है।

अब तीसरे दलकी अगुआ गोपी कह उठती है अरी ब्रजराज-महिषी ! ब्रजमें तो तुम्हारा राज्य है, तुम मालकिन हो, नीलमणि तुम्हारा पुत्र है, हम सब यह जान-समझकर नीलमणिको जितना खा सके, खिलानेमें प्रसन्नता ही अनुभव करती हैं, यह तुम भी जानती हो, परन्तु यह स्वयं तो खाता ही नहीं। हम जब मनुहार करती हैं तो यह सीधा उत्तर देता है –" री, क्या मेरे घरमे नवनीतकी कमी है, मेरी मैया क्या मुझे प्रीतिसे खिलाती नहीं है, जो

तेरे घरका खाऊँ ? ब्रजरानी ! अब भला हम इसे क्या कहें ? परन्तु इसके साथ तो सहस्रों वानर-दल पीछे-पीछे चलते हैं, इसके सखाओंकी भी गिनती नहीं। वे सब भरपेट खालें, इससे भी इसे सन्तुष्टि कहाँ ? यह तो सर्वथा अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व अपहरणकलाका प्रकाशक जो है ! चौर्यकलाका तो यह आचार्य बन गया है। यह हमे सुना-सुनाकर कहता है – 'इस गोपसुन्दरीके गृहके नवनीत, दधि सुस्वादु नहीं हैं, भावहीन हैं, यह फूहरी है, इसे माखन बिलौना आता ही नहीं, इसके घरका माखन, वानर एवं कूकर भी नहीं खाते। सर्वथा बेस्वाद इसका माखन जो है ! और इस प्रकार कहता हुआ यह हमारे घरके जितने नवनीत-दधि-दुग्ध-भाण्ड यत्नसे सुरक्षित रखे होते हैं, जो, जहाँ मिलते हैं, सबको फोड़ डालता है, हमारी गलियोंमे नवनीत-दधि-दुग्धकी धारा बह चलती है। अब हम तो भले ही तेरे लिहाजसे कुछ न कहें, हमारी सास, हमारी ददियासास तो तुझे एवं इसे,साथ ही तेरे सारे पुरखोंके लिये गालियो की झड़ी लगाये बिना मानेंगी नहीं। ।

वात्सल्यरस-घनमूर्त्ति ब्रजेश्वरी यशोदा इन गोपियोंकी सभी बातें विस्मय एवं विभ्रममें भरी सुनती जाती हैं, किन्तु अन्तिम गाली देनेकी बात सुनते ही वे भय एव आशकासे कॉप उठती हैं। उनके मुखकी उत्फुल्लता जाती रहती है। निराशाभरी ऑखोंसे वे ब्रजपुरन्ध्रियोंकी ओर देखती हुईं मन-ही-मन विचारने लगती हैं "ओह ! यह मेरा नीलमणि अतिशय चचल है, अत्यन्त साहसी है, भय तो इसे छू ही नहीं गया है, यह किसीसे तनिक डरता भी नहीं ! हाय ! कहॉ जाऊॅ, क्या करूॅ ? पता नहीं, वृद्ध गोपियोंकी दुराशीषसे इसका कोई अमंगल ही हो जाय ! दुर्दैव क्या कर बैठे ! "यह विचार आते ही अत्यंत दुःखभारसे उनके नेत्र निमीलित हो जाते हैं । वे उन ब्रजगोपियोके सम्मुख अति दीन हो उठती हैं और विनय कर बैठती हैं।

"बहिनों ! ओह !! इस मेरे नन्हे-से नीलमणिको तुम गाली मत देना। यह मुझ गरीब गूजरीकी कोखसे जन्मा मेरे प्राणोका सार-सर्वस्व है। ओह ! तुम्हारी सास, बूढी ददिया सासके मैं पॉव पूजूॅगी। यह तो अनेकों बार श्रीनारायणदेवकी कृपासे साक्षात् यमराजकी छाया छूकर लौट-लौटकर आया है, इसके लिये अमगलसूचक किसी वाणीको मुखसे निःसृत मत होने देना, बहन ! मैं गरीबनी तुम्हारे चरण छूती हूँ।"

"देखो बहिनों ! तुम्हारे घरोमें यह जितना बिगाड करे, तुम मुझसे

कहो, मेरे घरमें आँगनमें दधि, दूध, नवनीतके असंख्य माट रखे हैं, तुम तोल-तोलकर अपनी स्वेच्छासे अपनी सब क्षति पूरी करलो। मैंने तो इसे कभी किसी बातके लिये नहीं टोका है कि यह अपने सखाओको मेरे घरमें खानेके लिये नहीं लावे। यह मेरा प्राणोपम पुत्र मुझे न जाने कितने जन्मोंके पुण्योंके फलोदयसे तो प्राप्त हुआ है, मेरी तो एक यही कामना है कि यह मेरे नेत्रोंके सामनेसे कभी दूर नहीं हो।"

श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी अपनी अतिशय सुरीली बन्दिशमें उपरोक्त पदगायन कर रहे थे एवं पू. गुरुदेवके नेत्रोंसे बहती अश्रुओंकी लोर उनके कपोलोंको भिगो रही थी। बम्बईका भूलेश्वर स्थित पंचायतबाडीका कमरा पू. गुरुदेवकी दृष्टिसे सर्वथा ओझल हो गया था, और वहाँ नन्दभवन प्रकट हो गया था। उनके सम्मुख असंख्य गोपियोंके दल वहाँ खचाखच भरे थे। गोपियाँ एक-एककर उनके घरोंमें श्रीकृष्ण कैसे-कैसे क्या-क्या कर चुके हैं, – आदिसे अन्ततक घटनाओंका विवरण उलाहनेके रूपमें यशोदा मैयाको सुना रही थीं। और यशोदारानी सबसे उनका वृत्तान्त सुन-सुनकर अंजलि बाँध-बाँधकर क्षमा माँग रही थीं। वे अपने इष्टदेव भगवान् नारायणके चरणोमें अपने पुत्र कृष्णचन्द्रकी रक्षाके लिये प्रार्थना भी कर बैठती थीं। बार-बार उनके मुखसे 'नारायण-नारायण' शब्द फूट पड रहे थे।

इसी भावमें पदका विराम हो जाता है और श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी दूसरा पद चयन करने पुस्तक देखने लगते हैं।

अहा ! श्रीकृष्णका गुणगान तो मन्दाकिनीकी उस सरस धाराके तुल्य है, जो किसी स्थलपर सघनवनकी ओटमें विलुप्त हो जाती है, और फिर आगे जाकर अनुकूल धरातल पाकर पुनः व्यक्त हो जाती है। श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी एक पद समाप्त होनेपर कुछ काल रुकते हैं, फिर किसी दूसरे पदको पढ़ते हैं, उन्हें उद्दीपनका कोई-न-कोई भाव किसी पदमें दिखाई पड जाता है, बस, वे उस चरित्र-चित्रणका पद भावमें भरकर गाने लगते हैं। पू. गुरुदेवके ऐसे रसमय समाजको जिसमे सभी उच्चकोटिके भावप्रवण व्यक्ति हैं, भला, भव-जंजाल स्पर्श करे भी तो कैसे करे ? पू. गुरुदेव अपने निजजनोंमें बहिरंग दृष्टि होने जो नहीं देते !

स्वय पू.गुरुदेवका मानस तो नित्य डूबा है सत्व-रज-तमोमयी प्रकृतिसे अत्यन्त परेके जगत्में । वे तो उस भावजगत्के प्राणी हैं, जहाँ प्राकृत

सृजनका कम्पन उद्वेलित नहीं करता, जहाँ संहारकी छाया छूती नहीं, वे तो अपनी ही महिमामें स्थित अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रके साथ ही नित्य स्थित हैं, और अपने भावशरीरसे उनकी नित्य लीला अखण्डरूपसे देखते रहते हैं। उनके इस लीलादर्शनमें दूध, दधि, मेवा, चोरी, खाना-खिलाना, लुटाना, वितरण करना, सुख-दुख, हास्य-क्रन्दन, उपालम्भ और अमंगलकी चिन्ता सब सच्चिदानन्दकी लोल लहरियाँ हैं। इन लहरोंका रस लेते हुए पू.गुरुदेव अपनी हेतुरहित कृपावश यदा-कदा प्रापंचिक जगत्में रहनेवाले श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी, श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी जैसे भाग्यवान् जीवोंपर भी इन लहरोंकी एक-दो फुहारें बिखेर देते हैं। उनकी कृपासे ही श्रीवल्लभलालजीका मन भी तरंगायित हो उठता है और झूम-झूमकर मस्त हो गाने लगता है -

**आवत बने कान्ह गोपबालक संग ,**
**नैंचुकी खुर-रेणु छुरित अलकावली।**
**भौंह मन्मथ चाप वक्र लोचन बाण,**
**सीस सोभित मत्त मोर चन्द्रावली।।**
**उदित उडुराज सुन्दर शिरोमणि वदन**
**निरखि फूली नवल युवति कुमुदावली ।**
**अरुण सकुचत अधर बिम्बफल उपहसत,**
**कछुक प्रकटित होत कुन्द दसनावली।**
**श्रवण कुण्डल तिलक भाल बेसर नाक**
**कण्ठ कौस्तुभ मणी सुभग त्रिवलावली।**
**रत्न हाटक जटित उरसि पदकन पाँति**
**बीच राजत सुभग झलक मुक्तावली।**
**वलय कंकण बाजूबन्द आजानु भुज**
**मुद्रिका करतल विराजित नखावली।**
**क्वणित कर मुरलिका मोहित अखिल विश्व**
**गोपिका जन मनसि ग्रथित प्रेमावली।**
**कटि क्षुद्र घण्टिका जटित हीरामणी**
**नाभि अंबुज वलित भृंग रोमावली।**
**धाय कबहुँक चलत भक्त हित जानप्रिय**
**गण्डमण्डित रुचिर श्रमजल कणावली।**

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(चतुर्थ खण्ड)

पृष्ठ संख्या 301-400 तक

- साधु कृष्णप्रेम

**पीत कौशेय परिधान सुन्दर अंग**
**चलत नूपुर बजत गीत शब्दावली।**
**हृदय कृष्णदास गिरिवरधरन लालकी**
**चरणनखचन्द्रिका हरत तिमिरावली।।**

ओह ! पदगायनकी प्रथम पंक्तिको सुनते ही पू.गुरुदेवके भावसंसारमें एक क्षणमे ही जो दृश्य चल रहा था, वह विलुप्त होकर दूसरा ही दृश्य उदय हो जाता है। अबतक तो वे अपने आराध्य बाल्यलीलाविहारी नन्दनन्दनको माँ यशोदाके क्रोडमें मेवा खाते देख रहे थे। ब्रजरमणियों द्वारा अपनी चचल चौर्यचेष्टाओका बखान सुनते हुए उनके परमाराध्य बालकृष्ण अपनी शिशुसुलभ कनखियोसे किचित् संकुचित, किंचित् भय-आशंकित अपनी माताकी भंगिभाओंको पढनेमें उलझे थे,– "भला, मैया इन उपालंभ देने आयीं गोपियोंके कथनपर कितना विश्वास कर रही है, और कहीं मुझे दण्डित करनेका विचार तो नहीं कर रही - उनका मन क्षण-क्षण इन्हीं आशंकाओंसे ग्रस्त है। यशोदा-क्रोड-विराजित बाल्यलीलाविहारी पू.गुरुदेवके आराध्यके अतिशय मनोहर मुखपर इन सभी भावोंकी स्पष्ट छाया उभरती थी और उससे उनकी छवि और भी मनोहर हो जा रही थी। पू.गुरुदेव कहाँ तो उस बाल सौन्दर्यको निरखनेमे निरत थे और कहाँ एक क्षणमें ही उन्हें इस पदकी पक्तियोंने वनचारणसे लौटते अपने प्रियतम प्राणवल्लभकी कैशोर छविमें विभोर कर दिया। इस तुरन्तके भावपरिवर्तनसे अवश्य ही उन्हें एक झटका तो लगा और वे श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीकी ओर देखकर किंचित् मुसकाये भी, किन्तु श्रीवल्लभलालजी उनकी मुसकानका अर्थ समझनेकी चेष्टा करें, इसके पहले ही वे इस पदगायनकी 'वाह-वाह' कर ऐसी प्रशंसा कर बैठे कि पद-गायक अपनी भूलको पहचान ही नहीं पाया और सब सहज हो.गया।

पू. गुरुदेव तो पलक झपकते ही नन्दभवनसे सीधे पहुँच गये हैं, बृन्दावन-वन-श्रीके पार्श्वमें। उनके प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र सखा-परिवेष्टित असंख्य गोशावकोंके साथ वनसे ब्रजमें लौटनेकी त्वरामें हैं। वे गोवत्सोंका आह्वान करने लगते हैं, उन्हें वनसे लौटानेकी चेष्टा कर रहे हैं। 'श्रीदाम रे ! भैया सुबल ! देख आज कितना विलम्ब हो चुका ! सूर्य कितनी तेज गतिसे अस्ताचल की ओर भाग रहा है। अतिशय शीघ्रता कर, अन्यथा मैया न जाने कितनी चिन्ता कर उठेगी !'

लीलाविहारीका निदेश पाते ही वनको "हैओ ! हैओ !! अरे, रे, रे ! की ध्वनिसे निनादित करते सखागण राशि-राशि गोवत्सों और नेचुकी (गोवत्साओं)को हॉकने लगते हैं। अहा ! वेणुनाद, श्रृंगनाद, परस्परकी क्रीडा, नृत्य-गीत आदिका क्रम भी चल ही पडता है। इस आनन्दप्रवाहमें चलते-चलते वनकी सीमा भी समाप्त हो जाती है और गोपशिशु एवं गोवत्सोके संग श्रीकृष्ण ब्रजमे प्रवेश करते हैं। गोपियॉ अपने-अपने घरोंकी छतपर चढीं उनकी शोभा देख रही हैं – "अहा ! वनसे लौटते उनके प्रियतम श्रीकृष्णकी शोभा गोपियोको बछडियोंकी खुरोंसे उड़ती धूलिसे सनी घुँघराली केशराशिमें कितनी मनमोहक लग रही है। उनकी लीलायुक्त चढ़ी हुई भौहें उन्हें ऐसी लगती है, मानो साक्षात् कामदेवने अपने हाथमे धनुष ग्रहण कर रखा हो, एवं कमनीय कटाक्षवर्षा करते तीखे नेत्रोंके बाण उस धनुषमें चढा रखे हों। उनके शीशपर मत्त मयूरकी चन्द्रावली मुकुटके स्थानपर सुशोभित है। ओह ! माधुर्य एव लावण्यके अपरिसीम सागर प्रियतम श्यामसुन्दरके मुखसे जो कान्तिकी अमृत किरणें फूट रही हैं, उससे ऐसा लगता है मानो पूर्व गगनमेंसे उडुराज उदय हो रहा है, और उसकी शोभा निरख-निरख नवयौवनवती कामिनियॉ कुमुदिनीके समान हर्षित एवं प्रेमसे विकसित हो रही हैं। उनके मंद सकुचाते लाल-लाल अधर इतने सरस हैं मानो दो बिम्बफल विकसित हुए मुसका रहे हों और उनके मध्य कुद कलियोंकी-सी दसनावली किंचित् प्रकट हो जा रही हो। ओह ! दोनों कान स्वभावसे ही मनोहर हैं, विविध मणिजटित मकराकृत कुण्डलोंसे वे और भी भले लगते हैं, चमकते हुए ललाटपर चन्दनकी खौर और कुंकुमका तिलक अत्यंत शोभा पा रहा है। गरुड़की चौंचके समान नुकीली नासिकाके अग्रभागमें मुक्ताफलकी बेसर लटक रही है, और कितना लावण्य भरा है इस कण्ठमें। कण्ठदेशमें कौस्तुभमणि सुशोभित है और चारों ओर सुभग मुक्ता एवं मणियोंकी त्रिवलावली त्रिलोकीको मोहित कर रही है। वक्षस्थल तो मानों लावण्यका आकर है, उरस्थलमें रत्न एवं स्वर्णजटित पदक और मध्यमें सुभग मोतियोंकी लड़े और उनकी झलक शोभाको द्विगुणित कर रही है। रक्तकमलके समान लाल-लाल करतलोंमें मुद्रिका राजित हैं और घुटनोंतक लटकती हुई दोनों भुजाओंमें बाजूबन्द, केयूर एवं कंकण शोभा पा रहे हैं। हाथोंमें नखोंकी अवली तो द्रष्टाके चित्तको बरबस आकर्षित कर लेती है। हाथोंमें वे मुरली लिये हैं और कभी-कभी उसे अधरोंसे सटाकर बजा देते

है, उस मुरलीवादनका यह चमत्कार होता है कि अखिल विश्व विमुग्ध हो उठता है एव गोपीजनोंके मनमें प्रेमभावकी असंख्य मालायें गुँथ जाती हैं। कटि अत्यन्त मनोमोहक है और उसपर जो करधनी पहने हैं उसमें अत्यन्त छोटी-छोटी घंटिकायें लगी हैं। करधनी हीरामणियोंसे जडित है। उदर अत्यन्त लावण्यमय है और उदरमें नाभि कमलके सदृश विकसित है, फिर उसपर रोमावली भृंगोकी पंक्तिकी शोभा दरसा रही है। वे अपने भक्तोंका हित देखकर दौड़ पडते हैं, उस समय उनके सुधासम्भृत कमलके समान कपोलोंपर रुचिर श्रम-सीकर - स्वेदके कण प्रकट हो जाते हैं। उनके श्रीअंगोंमें पीताम्बरका परिधान झलमलाता रहता है और स्वयं कंदर्पको भी मोहित करने वाली चालसे जब ये चलते हैं तो उनके चरणोमे संलग्न नूपुर सुमधुर गीतोके स्वरोमें झनझनाते हुए बज उठते हैं। प्रियतम प्राणवल्लभ गिरिधारीकी चरणोंकी अंगुलियोके नख चन्द्रमाओंके समान ज्योतिर्मान हैं और उनसे अज्ञानान्धकार समूल विनष्ट हो जाता है।"

ओह ! पू गुरुदेव भी अपने भावशरीरसे अपनी अग्रजा राधारानीके साथ एक महलकी छतपरसे बहिन गञ्जुश्यामाके रूपमे ब्रजकी वीथियोमें से गुजरती इस अपने प्रियतम प्राणवल्लभकी गोवत्सोंके साथ आवनी-लीलाको प्रत्यक्ष देख रहे हैं। उनके प्रियतम नीलसुन्दरने उनकी ओर एक दृष्टि फेंककर अपने अधरोंपर बंशी रखकर स्वर भरना आरंभ कर दिया है। उनका यह स्वर कितना उन्मादी है --इसे ब्रजके कीट-पतंग-भृंगतक जानते हैं। उनको घेरे झूमते-चलते सखागण, छतों और अटारियोपर चढी सखियाँ , झरोखों और गवाक्षोसे निहारतीं गोपरमणियाँ सभी तो बह चले, बह चलीं इस बंशीके मधुमय प्रवाहमे। इसी प्रवाहमें पूरे डूबे पू गुरुदेव कैसे महाभाग्यबान् हैं कि प्रत्यक्ष देख रहे हैं अत्यन्त स्पष्ट प्रत्येक गायका नाम उनके प्रियतम नीलसुन्दरके वंशीछिद्रोंसे झरता जा रहा है, और वे गायें भी उसी क्रमसे गोष्ठकी ओर संचालित होती जा रही हैं, और दूसरी ओर गोपशिशुओंके सगीतमे नीलसुन्दरकी अद्भुत महिमा, भूरि-भूरि प्रशसा व्यक्त हो रही है तथा उन-उन भावोसे परिभावित वे शिशु तदनुरूप विविध भगिमाओंका प्रकाश करते हुए नाचते चल रहे हैं। पू गुरुदेव देख रहे हैं – कितनी देर लगती गोष्ठ पहुँचनेमें ; बस, यह रहा सामने नन्दभवनका तोरणद्वार और उनके प्रियतम गोष्ठमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

अस्तु, पू.गुरुदेवके प्राणपति तो अपनी जननीके भुजपाशमें जा बँधते हैं और जननी उन्हे लेकर अन्तःपुरकी ओर चल पडती है, किन्तु पू.गुरुदेवके भावशरीरपर तो एक विचित्र-सा शील-संकोच और लज्जाका आवरण आ जाता है। वे तो कुलवधू हैं, किसीकी परिणीता हैं, इसलिये वे कैसे नन्दभवनमें चली जावें ? यंत्र-परिचालित-से पू.गुरुदेव मंजुश्यामा भावमें अपनी अग्रजा राधाके संग महलकी छतसे नीचे लौट आती हैं, अपने-अपने शयनकक्षमें। उनकी अग्रजा राधा अतिशय श्रान्त शय्यामे लेट जाती हैं। वे उपधान व्यवस्थितकर उनका मस्तक उसपर निविष्टकर देती हैं और चरणोंमें उसी शय्यापर बैठ, व्यजन डुलाने लगती हैं। श्रीराधारानीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं, परन्तु इससे क्या हुआ ? नीलसुन्दर तो उनके नेत्रोंकी पलकोंके भीतर अवस्थित उनके सम्मुख मुसकाते प्रकट हो ही जाते हैं।

पंचायतबाडी भूलेश्वरमे पू.गुरुदेवका प्राकृत शरीर नेत्र निमीलित किये, श्रीवल्लभलालजीके पदगायनके भावमे पूरा डूबा, बाह्य-ज्ञान-विरहित स्थित है। श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी ठीक समझ रहे हैं कि उनके पू.राधाबाबा इस समय कहाँ चले गये हैं। वे कुछ क्षण तो शान्त रहते हैं। फिर पुनः हारमोनियम लेकर गा उठते हैं —

**पावे कौन लिखे बिन भाल ।**
**काहूकौं षटरस नहिं भावत, कोउ भोजनकों फिरत बेहाल ।**
**तुम देख्यौ हरि अंग माधुरी, मैं नहिं देखे कैसे गोपाल ।**
**जैसें रंक तनक धन पावत, ताहीमें वह होत बेहाल ।।**
**तुमर्में मोहिमें इतनो अन्तर धन्य धन्य ब्रजकी तुम बाल ।**
**सूरदास प्रभुकी तुम संगिनि, तुमहिं मिले मोहि मिले गोपाल ।।**

**(भावार्थ)**

अरे, भाई ! बिना प्रारब्धके कौन अनमोल वस्तु पाता है ? किसीको तो छहों प्रकारके व्यंजन उपलब्ध रहते हैं, और फिर भी वे उसे अच्छे नहीं लगते और कोई दो सूखे टुकड़ोंको भी नहीं पाकर बेहाल रहता है। तुम(पू.श्रीराधा बाबा ) निरन्तर अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी अंगमाधुरी निरखनेमें डूबे रहते हो, और मैं जानता ही नहीं कि भगवान् (गोपाल) कैसे हैं ? जैसे अतिशय गरीब व्यक्तिको तनिक-सा धन मिल जाता है, तो वह उसे पाकर बेहाल हो जाता है,

वैसे ही तुम तो अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णकी एक झाँकी पाकर ही बेसुध हो उठे हो। मुझमे तुममें इतना ही अन्तर है, हे ब्रजकी बाला (श्रीराधाबाबा)तुम तो भगवान् श्रीकृष्णके नित्य संगी हो और हमारा यही सौभाग्य है कि तुम हमें मिल गये हो। हम तो तुम्हारे मिलनको ही भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन तुल्य ही समझ रहे हैं।

# बम्बईसे नासिक(पञ्चवटी)

नासिक-त्र्यम्बक क्षेत्र भारतके प्रमुख तीर्थोंमें है। द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें त्र्यम्बकेश्वरकी गणना है। यहीं पञ्चवटीमें भगवान् श्रीरामने बनवासका दीर्घकाल व्यतीत किया। यहीं श्रीजानकीका रावणने हरण किया। गोदावरी नदी भारतवर्षकी सात पवित्र नदियोंमें से एक है। उसका उद्गम भी यहीं है। प्रति बारहवें वर्ष जब बृहस्पति सिंह राशिमें होते हैं, नासिकमें कुम्भपर्व होता है। बृहस्पतिके सिंहस्थ होनेपर पूरे वर्षभर यहाँ गोदावरी-स्नान महापुण्यप्रद माना जाता है।

नासिक और पञ्चवटी वस्तुतः एक ही नगर हैं। इस नगरके मध्यसे गोदावरी बहती है। गोदावरीके दक्षिण तटपर जो नगरका मुख्य भाग है, उसे नासिक कहते हैं और गोदावरीके उत्तर तटपर जो भाग है, उसे पंचवटी कहा जाता है। गोदावरीके दोनों तटोपर देवालय हैं। श्रीपोद्दार महाराज एवं सभी यात्री लोग पंचवटीमें ही टहरे थे। पू.गुरुदेव श्रीपोद्दारजीके साथ पंचवटी पहुँचकर गोदावरी स्नान करने गये। गोदावरीमें जब पू.गुरुदेव श्रीरामकुण्डमे स्नान कर रहे थे उस समय उन्हें भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए। पू.गुरुदेव देख रहे थे कि भगवान् श्रीराम सीताविरहमें सचमुच ही साधारण मनुष्योंकी तरह व्याकुल और दुखी हैं। श्रीरामजीके दुखको भुलानेके लिये यद्यपि वनकी अधिदेवीने काननको अभिनव साजसे सज्जित किया है, किन्तु काननकी शोभा श्रीरामजीके प्रिया-विरहको सहस्र गुनी अभिवर्धित कर दे रही है।

पू.गुरुदेवको भगवान् श्रीरामके विलाप-शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ रहे थे। वे कह रहे थे हे सीते ! आज वासन्ती-श्री तुम्हारा अभिनन्दन कर रही है, इसकी ओर निहारकर इसकी सेवा स्वीकार कर लो ! तुम्हें इस वनमें आया देख ही तो यह सर्वांग-विभूषित होकर तुम्हारी सेवार्थ आयी है। यह तुम्हें अन्वेषण करती मेरे संग-संग भ्रमण कर रही है। देखो तो सही, तुम्हारे लिये आज इसने अपनेको कितना सुन्दर सजाया है। पुन्नाग पुष्पोंका तो इसने

अवतंस धारण किया है और माधवी कुसुमोंकी माला। बकुल-निर्मित हार पहना है, और अपने ललाटमें पलाश पुष्पोसे सिन्दूर-रचना की है। इसके वक्षस्थलपर चम्पककी कञ्चुकी सुशोभित है। कटिदेश अशोकके अरुण परिधानसे विभूषित है। हे सीते ! तुम कहाँ हो ? हा ! गुणोंकी खान जानकी ! हा, रूप-शील-गुण-निधान पवित्र सीते ! तुम मुझसे निलायन-क्रीड़ा क्यों कर रही हो ? यह लुका-छिपीका कौतुक त्याग दो। हे पक्षियों ! हे पशुओ ! हे भ्रमरदल ! तुम मुझे सीताका पता बताओ, न !

पू.गुरुदेव जिस समय भगवान् श्रीरामका यह विरह-विलाप सुन रहे थे और उनकी इस विलक्षण अप्राकृत लीलाका दर्शन कर रहे थे, उस समय उनके मनमें एक जिज्ञासा जाग्रत हो उठी थी। पू.गुरुदेव सोच रहे थे कि सिद्धान्तकी बात यह है कि भगवान् श्रीराम सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं। अब यदि सर्वज्ञता-शक्तिको अपने पास रखे हुए भगवान् श्रीसीताजीकी इस प्रकार खोज कर रहे हैं, तो यह वे नाट्य मात्र कर रहे हैं। अन्वेषणका कार्य उनका मात्र एक दम्भ है। और यदि भगवान् श्रीराम नहीं जानते हैं और फिर सीताजीको खोजते हैं, तब यह खोजना एक वास्तविकता है, पर फिर भगवान्में सर्वज्ञताका अभाव है, और यदि भगवान्में सर्वज्ञता-शक्तिका अभाव सिद्ध हो जाता है, तो उनकी भगवत्ता ही बाधित हो जाती है।

पू.गुरुदेवको उस समय श्रीरामका जो प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा था उस समय श्रीराम विरहावेशमे इतने विभोर थे कि उन्हें अपनी, अपने भ्राता लक्ष्मणकी, सीता, एवं उसके अन्वेषणकी कुछ भी स्मृति नहीं रही थी। विरहकातर भगवान् श्रीराम लक्ष्मणसे ही पूछ बैठते हैं कि " मैं कौन हूँ, तुम कौन हो, हम इस वनमे क्यों आये हैं, यहाँ स्थान-स्थानपर हमारे भटकनेका प्रयोजन क्या है ? पू.गुरुदेवने मुझे अपनी तद्विषयक अनुभूतिका एक सांगोपाग संस्कृत श्लोक सुनाया था —

**कोऽहं ब्रूहि सखे स एव भगवानर्थः सखे राघवः।**
**के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।।**
**कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्या गतिर्मृग्यते ।**
**का देवी जनकाधिराजतनया हा जानकि क्वासि हा।।**

पू.गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख अपनी यह जिज्ञासा रखी कि सीताहरणके पश्चात् भगवान् श्रीराम द्वारा जो श्रीसीताजीका अन्वेषण हुआ, वह

वास्तविकता थी या अभिनय ? इतना सत्य है कि श्रीरामजीमें सर्वज्ञता-शक्ति थी। यदि श्रीराम सर्वज्ञ नहीं होते तो वे सीताजी बनी दक्षकुमारी सतीको कैसे पहचान लेते और यह कैसे कह देते कि "माता ! आज आप अकेली यहाँ कैसे हैं, भगवान् शंकरको कहाँ छोड़ आईं ?" – यह प्रकट करता है कि भगवान्‌में सर्वज्ञता-शक्ति थी। और यदि सर्वज्ञता-शक्ति थी तो फिर भगवान्‌का सीताजीके अन्वेषणके लिये किया गया सारा प्रयास मात्र अभिनय था और सुग्रीव-मैत्री आदि लीलाएँ दम्भ थीं।

इसके उत्तरमे श्रीपोद्दार महाराजने पू.गुरुदेवसे पूछा कि क्या आप मेरे कथनपर विश्वास कर लेंगे ? पू.गुरुदेवकी स्वीकृति मिलनेपर श्रीपोद्दार महाराज कहने लगे कि 'न तो भगवान् श्रीरामका सीतान्वेषण अभिनय है और न ही उनकी सर्वज्ञता-शक्तिमें कहीं न्यूनता आती है। सत्य तो यह है कि यह भगवान्‌का विरुद्ध-धर्म-गुणाश्रयत्व है। यह विरुद्ध-धर्म-गुणाश्रयत्व ही जीवकी भगवान्‌से भिन्नता प्रकट करता है। मानवीय मनके या शरीरके, तथा भगवदीय मनके या शरीरके कार्य-व्यापार एक-से लगनेवाले होकर भी सर्वथा भिन्न हैं।' श्रीपोद्दार महाराजका पू.गुरुदेवको यह सटीक एवं यथार्थ उत्तर था। इसी बातको श्रीपोद्दार महाराजने ब्रह्मसम्मोहनके प्रसंगके द्वारा भी पू.गुरुदेवके सम्मुख स्पष्ट किया –"एक वर्षके लिये जब श्रीनन्दनन्दन सभी गोपबालकोंके रूपमें परिणत हो गये तो इन बालकोंमें सर्वज्ञता शक्तिका कहाँ प्रकाश हुआ था ? दूसरे, इन बालकोंमें श्रीकृष्णके समान अनन्त बल, अनन्त ज्ञान, अनन्त धर्म भी प्रकाशित नहीं ही हुआ था ! वे सभी सर्वलोकमहेश्वर भी नहीं थे, यद्यपि थे सभी श्रीकृष्ण। तो यही उनका विरुद्ध-धर्म-गुणाश्रयत्व है जो उनकी शक्तियोंको असीम एवं ससीम, युगपत् (एक साथ) प्रकाशित करता है। श्रीपोद्दार महाराज कह रहे थे कि भगवान्‌के लीलारहस्यको इसीलिये प्राकृत बुद्धिसे दक्षकुमारी सती भी नहीं समझ पायीं। जबकि अप्राकृत मन-बुद्धि रखनेके कारण भगवान् शिवजी सर्वथा सन्देहरहित थे। जन्म-मरणधर्मा मानव ही नहीं, देवताओं तकका मन प्राकृत होता है। किन्तु नर-लीला-रत भगवान्‌का मन अप्राकृत होता है। भगवदीय दिव्य लीलाओंके रसास्वादनके लिये अप्राकृत मनकी आवश्यकता होती है। अप्राकृत मनकी प्राप्तिके पश्चात् ही मानव विशुद्ध रूपसे रस ले पाता है और तभी समझ पाता है भगवल्लीलाके तत्त्वको।

---

# पण्ढरपुर

महाराष्ट्रका पण्ढरपुर प्रधान तीर्थ है। महाराष्ट्रके सन्तोंके आराध्य हैं – श्री पण्ढरीनाथ। वारकरी सम्प्रदायके लोगोकी श्रद्धाका तो यह प्रमुख तीर्थस्थल है। एकादशीको यहाँ अधिक लोग आते हैं। भक्तराज पुण्डरीक तो इस धामके प्रतिष्ठाता हैं। इनके अतिरिक्त तुकारामजी, नामदेव, सन्त राँका-बाँका, नरहरिजी आदि सन्तोंकी यह निवासभूमि रही है। पण्ढरपुर चन्द्रभागा नदीके तटपर है, जिसे भीमा भी कहते हैं।

पण्ढरपुर पहुँचकर पू.गुरुदेव चन्द्रभागा नदीमें स्नान करने पहुँचे, किन्तु वहाँ चन्द्रभागा तीर्थपर एक चबूतरेपर विष्णुपद भगवान्‌के चरणचिह्नोंके दर्शन करते समय उन्हें भक्तिमती जनाबाई, सन्त एकनाथजी, नामदेव, भक्त ज्ञानेश्वरजी एव सन्त तुकारामजी सभीके समवेत दर्शन हुए। इसी प्रकार श्रीविट्ठल मन्दिरमें प्रवेश करते समय श्रीचोखामेला एवं नामदेवजीकी समाधिपर उनकी अवस्था विचित्र हो गयी थी। पू.गुरुदेव श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको इन स्थानोंका अनुभव बतलाते समय कह रहे थे कि " गोस्वामीजी ! सिद्ध सन्तोपर कालका किसी भी प्रकारका प्रभाव नहीं रहता। सन्तोंका सिद्ध देह चिन्मय होता है, वे कालातीत होते हैं, कालाधीन नहीं। "

"साधारण लोगोंके मनमे कालकी धारणा यही जगती है कि कौन संत पूर्वके हैं और कौन पश्चात्‌के। वे सन्तोंके जीवन-चरित्र पढ़ते हैं तब भी वे जन्मके बाद बाल्य, कैशोर, यौवन, प्रौढ़ता, वार्धक्य, स्थविरता – इन सब क्रमबद्ध अवस्थाओंमें हुए उनके जीवनपर ही दृष्टि रखते हैं। वे समझते हैं कि उनके प्राकृत देहके पचत्व-विसर्जनके साथ उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया, किन्तु वे नहीं समझते कि मात्र देह ही कालके अधीन है, मात्र अनित्य वस्तुमें ही सृष्टिसे विनाश पर्यन्त इस प्रकार एक क्रमकी धारा लक्षित होती है। सत देहातीत होते हैं, अतः कालातीत होते हैं। उनपर कालका किसी प्रकारका प्रभाव नहीं रहता। सन्त नित्य तत्व हैं। जैसे भगवान् नित्य हैं, उसी प्रकार भगवत्कृपा भी नित्य है। सन्त भगवत्कृपाका ही प्राकृत जगत्‌में प्रकाश होते हैं। जो नित्य है, वह वस्तु सर्वदा ही एक भावसे विद्यमान रहती है। उसमें कभी भावान्तर नहीं होता। "

"गोस्वामीपाद ! उदाहरणके लिये आपको समझा रहा हूँ - जैसे श्रीकृष्णकी बाललीलामें वे बालरूपमें प्रकाशमान हैं, पक्षान्तरमें अपनी कैशोर लीलामें वे नित्य किशोर हैं, उनका बालभाव जैसे नित्य है, उसी प्रकार उनका किशोर भाव भी नित्य है। लौकिक देह जैसे बालभावसे किशोरभावमे परिणत होता है, तदनुरूप अलौकिक श्रीकृष्णदेह बालसे किशोरभावमे परिणत नहीं होता। उनके बाल और किशोर देह, दोनो ही युगपत् विद्यमान हैं और दोनों ही नित्य हैं। श्रीकृष्णका बालदेह पूर्वकालीन है और किशोरदेह परवर्त्तीकालका – ऐसा नहीं कहा जा सकता। बालकृष्ण गोपाल सहस्र कल्पातीत होनेपर भी बालक ही रहेगे, वे किशोर अथवा युवक हो ही नहीं सकते। इसी तरह श्रीकृष्ण ही जहाँ जनाबाई, सन्त एकनाथजी, नामदेव, योगेश्वर भक्त ज्ञानदेव एवं तुकारामका रूप धारण किये हैं तो वे सहस्र कल्पोंके बीत जानेपर भी इसी रूपमें रहेंगे। "

पू.गुरुदेव मुझे गोरखपुरमे बादमे बतला रहे थे कि पण्ढरपुरमें सन्त तुकारामजीने उनसे कहा कि वे ही श्रीपोद्दार महाराजके रूपमें घोर कलिकालसे जगत्का उद्धार करने अवतरित हुए हैं।

मैंने उनसे उनके इस कथनपर जिज्ञासा की कि बाबा ! मैंने सुना है, राजस्थानके कोई नाथ सम्प्रदायके सन्त टूँटियानाथजीने देह त्यागकर श्रीपोद्दार महाराजके रूपमें जन्मग्रहण किया है। कोई कहते हैं कि श्रीहनुमानजीका श्रीपोद्दार महाराजके रूपमें अंश-प्रकाश है। अब आप तुकारामजीकी बात कह रहे हैं, वस्तुत इन सभी उक्तियोंमें सत्य तथ्य क्या है ?

पू.गुरुदेवने इसका मुझे सांगोपांग उत्तर दिया था। वे कहने लगे – देख ! यह सूर्य चमक रहा है, किन्तु इसमें ऊर्जाका स्रोत कहाँ-कहाँसे आ रहा है, यह हम सभीसे ही नहीं, स्वयं इस सूर्यसे भी अज्ञात है । जो सूर्य हमारे विश्वका है, उससे असंख्य गुन अधिक विस्तारयुक्त एव शक्तिशाली अनगनित सूर्य इस ब्रह्माण्ड में हैं। हमारे सूर्यमें उन सभीकी आंशिक ऊर्जा प्रवाहित तो होती ही है। अब यदि ब्रह्माण्डका कोई सूर्य कहे कि मेरी ऊर्जा इस पृथ्वी मण्डलके सूर्यमें प्रवाहित हो रही है, तो इसमें असत्य क्या है ? और एक ही नहीं, यदि अनेकों सूर्योंका यह कथन हो कि हम सभी इस सूर्यके प्रकाशमें हेतु हैं, तब भी उनकी उक्ति सत्य ही तो होगी।

पू.गुरुदेवका कथन था कि पृथ्वीके जितने महासागर हैं, उनके नाम

तटोंके कारणसे हैं। समुद्र तो सर्वत्र एक ही है। कन्याकुमारीके समुद्रतटपर यदि कोई दक्षिण दिशाकी ओर मुख करे तो उसे हिन्द महासागर दृष्टिगोचर होगा किन्तु वही व्यक्ति यदि उसी स्थानपर खडा होकर पूर्वकी ओर दृष्टि करले तो वही समुद्र बंगालकी .खाडी कहलावेगा, और पश्चिमकी ओर मुख करते ही वही समुद्र अरब सागर कहलावेगा। समुद्र तो एक ही है, अरब देश तो भूखण्ड है। बंगाल भी भूखण्डका ही नाम है। अब भूखण्डोंसे समुद्रके जलका क्या सम्बन्ध ? किन्तु जब मानसून उठेगा तो कोई भी यही कहेगा कि बंगालकी खाडीसे मानसून उठा है। अब बंगालकी खाडीमें ही जब हिन्द महासागरका जल प्रवाहित हो रहा है, और हिन्द महासागर कह दे कि सुरसरि जो हिमालयसे निकली है, उसमें मेरा जल है तो इसमें असत्य कथन कहाँ है ?

ठीक, इसी प्रकार श्रीभीमराजनन्दन पोद्दार महाराजमें जो सन्ततत्वका प्रकाश है वह तो अहैतुकी भगवत्कृपाका अवतरण है। वह भगवत्कृपा श्रीतुकारामजी, ज्ञानेश्वरजी, आदि महाराष्ट्रके सन्तों किंवा महाप्रभु चैतन्यादि बंगालके सन्तों, नरसी मेहता आदि गुजरातके संतों, आलवार आदि तमिल सन्तों, सूरदासादि पूर्ववर्त्ती सभी ब्रजभक्तोंमे भी कार्यरत रही है। अब यदि अपने वात्सल्यसे कोई भी पूर्ववर्त्ती सन्त कहे कि मैं ही इस स्फुल्लिंगमें अग्निके रूपमें दहक रहा हूँ तो उसमें आपत्ति और असत्य क्या है ?

इसी प्रकार हनुमानजी, सालासरके बालाजी महाराज हैं। वे भी महासिद्ध रामभक्त ही हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि हनुमानजीकी कृपासे ही संतप्रवर तुलसीदासजीको भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए। यह भी सत्य है कि श्रीपोद्दार महाराज जब-जब सालासरमें बालाजी (हनुमानजी)के दर्शन करने जाते हैं, तो बालाजी (हनुमानजी) महाराज उन्हें कोई-न-कोई अप्राकृत चिन्मय पुष्प, किंवा प्रसाद अपने वात्सल्यवश अवश्य प्रदान करते हैं। अतः वे भी उनपर प्रवाहित कृपामें हेतु तो हैं ही।

फिर श्रीपोद्दार महाराज और सन्त श्रीतुकारामजीके विचारोंमें भी साम्य है ही।

(१)(**उपास्य**) – श्रीतुकारामजी पाण्डुरंग विट्ठल अर्थात् गोपालकृष्णके उपासक रहे और श्रीपोद्दार महाराज भी भगवान् श्रीकृष्णके ही उपासक हैं।

(२)(**सत्शास्त्र**) – श्रीतुकारामजीके तुल्य श्रीपोद्दार महाराजके भी मुख्य

उपासनाग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत रहे। सनातनधर्म-प्रतिपादक वेद-शास्त्र-पुराणोंको भी वे दोनों ही पूर्ण मान्यता देते थे, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें भी इन दोनोंकी आस्था थी ही।

(३)(**ध्येय**) - अभेद-भक्ति, अद्वैत-भक्ति अथवा मुक्तिके परेकी ज्ञानोत्तर भक्ति श्रीपोद्दार महाराज एवं श्रीतुकारामजी दोनों का समान ध्येय है। श्रीतुकारामजीके सिद्धान्तमें अभेदको सिद्ध करके संसारमें प्रेमसुख बढानेके लिये भेदको भी अभेद कर रखना है। वे ज्ञान एवं भक्तिकी एकरूपताके उपासक हैं और कहते हैं कि जो भक्ति है, वही ज्ञान है और वे ही विट्ठल भगवान् हैं।

(४)(**साधन**) - श्रीतुकारामजी एवं श्रीपोद्दार महाराज दोनों ही नव ा भक्ति, अखण्ड नाम-स्मरण एव निरपेक्ष हरिकीर्त्तनको ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन मानते हैं।

(५)(**मुख्य मंत्र**) - श्रीहरिके अनन्त नाम सभी स्मरणीय हैं, यह श्रीतुकारामजीका भी सिद्धान्त है और विष्णुसहस्रनामपर भी श्रीपोद्दार महाराज एवं संत तुकारामजी दोनोंकी ही आस्था है।

(६)(**आदि गुरु**) - भगवान् हरि-हरमें दोनों ही महापुरुष पूर्ण अभेद दृष्टि रखते हैं।

(७)(**आदर्श सन्त**) - नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, अर्जुन, उद्धव आदि सन्त श्रीपोद्दार महाराजके भी आदर्श रहे हैं।

(८)(**महाव्रत**) - एकादशी एवं महाशिवरात्रि, कृष्णजन्माष्टमी आदि में व्रत रखना, दोनों सन्तोंमें समान आचरण दृष्टिगोचर होता है।

(९)(**महातीर्थ**) - गगा, गोदावरी, यमुना, काशी, द्वारका, जगन्नाथादि महातीर्थक्षेत्रोंमें दोनोंकी समान श्रद्धा है।

(१०)(**वर्ज्य**) - परधन, परनिन्दा, मद्य-मांसका त्याग एवं काया-वाचा-मनसा ब्रह्मचर्य और अहिंसाव्रत पालनीय है - यह दोनोंका सदाचार है।

(११)(**आचार**) - जिसका जो वर्ण-धर्म, जाति-धर्म, आश्रय-धर्म, एवं कुल-धर्म हो, उसका वह अवश्य पालन करे और शास्त्रोक्त विधि-निषेधपर अडिग रहे। जो कुछ कर्म करे, वह भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये हो। यह दोनों ही का प्रधान आचार रहा।

(१२)(**परोपकार व्रत**) - सन्त, गो, विप्र, एवं अतिथियोंको पूज्य मानना

और कथनी एवं आचरणकी एकतापर विश्वास करना, गलेमें तुलसीकी माला अवश्य धारण करना – ये सभी सिद्धान्त श्रीतुकारामजी एवं पोद्दार महाराजमें समान ही थे।

(१३)(**'सर्वं विष्णुमयं जगत्'**) – इस सिद्धान्तको हृदयंगम करके जो कुछ भी दृश्य है, उसे भगवान् मानकर प्रणाम करना, एवं इस उदार तत्वको ध्यानमें रखकर समता एवं दयाका व्यवहार सबके साथ करते हुए तन-मन-वाणीसे सबकी सेवामें तत्पर रहना, ये भी दोनोंका यावज्जीवन सेवाकर्म रहा।

इस प्रकार श्रीपोद्दार महाराज एवं सन्त श्रीतुकारामजीमें बहुत ही अंशोंमें सिद्धान्तोंमें साम्यता रही। हाँ, श्रीपोद्दार महाराज आगे जाकर भगवान् राधा-माधवकी मधुर लीलाओंमें डूब गये, यह उनकी विशेषता हो गयी।

# किष्किन्धामें

पण्ढरपुरसे तीर्थयात्राट्रेन हॉसपेट स्टेशन पहुँची। हॉसपेटसे बस द्वारा सभी यात्री हम्पीके प्राचीन मन्दिरोंके दर्शनार्थ पहुँचे। यह पुरातनकालमें हिन्दूराज्य विजयनगरकी राजधानी रही। यहाँका प्रसिद्ध भगवान् शिवका विरूपाक्ष मन्दिर है, जिसे हम्पीश्वर मन्दिर भी कहते हैं। विरूपाक्ष मन्दिरके पिछले आँगनमे एक मण्डपमें स्वामी विद्यारण्यकी समाधि है। यहाँ श्रीमाधवाचार्य (विद्यारण्य स्वामी)की मूर्त्ति भी है। पू.गुरुदेव यहाँ आकर विलक्षण भावस्थितिमें लगभग आधे घण्टे बैठे रहे।

हम्पी ही पूर्ववर्त्तीकालमें किष्किन्धाके रूपमें प्रख्यात था। यहाँ स्थान-स्थानपर पहाडियाँ हैं और उनमें अधिकांश बड़ी-बडी चट्टानोंकी ढेरी मात्र हैं। इन चट्टानोंके भीतर अनेकों गुफायें हैं। इन हजारों मनकी चट्टानोंको इतने व्यवस्थित ढंगसे रखना आश्चर्यकी ही बात है। कहा जाता है कि श्रीहनुमानजी तथा वानरोंने भगवान् श्रीरामके निवासके लिये इस प्रकार चट्टानें रखकर गुफायें बनायी थीं।

विरूपाक्ष मन्दिरसे चार मील पूर्वोत्तर माल्यवान् पर्वत है। इसके एक भागका नाम प्रवर्षण गिरि है। इसीपर स्फटिकशिला मन्दिर है। हॉसपेटसे यहाँतक सीधी सड़क आती है। मोटर-बससे सीधे स्फटिकशिला आ सकते हैं। श्रीराम-लक्ष्मणने वर्षाके चार महीने यहाँ व्यतीत किये थे।

यहाँसे थोड़ी दूरीपर ऋष्यमूक पर्वत है। यहाँ तुंगभद्रा नदी धनुषाकार

बहती है। पहाड़ीके नीचे श्रीराम मन्दिर है। यहाँ श्रीराम, श्रीसीताजी एवं लक्ष्मणजीके मन्दिर हैं।

श्रीराममन्दिरके पासकी पहाडीको मतंग पर्वत भी कहते हैं। यह ऋष्यमूकका ही एक भाग है। इसी शिखरपर मतंग ऋषिका आश्रम था, ऐसा कहते हैं। तुंगभद्राके आगे गन्धमादन पर्वतके शिखरतक जानेकी राह है।

तुंगभद्रा पार होनेपर लगभग आधे मीलपर अनागुदी ग्राम है। इसीको प्राचीन किष्किन्धा कहते है। यहाँ बालीकी कचहरी है। कुछ आगे सप्त ताल-वेधका स्थान है, यहाँ एक शिलापर भगवान् रामके बाण रखनेका चिह्न है। इस स्थानके सामने तुगभद्राके पार बालिवधका स्थान कहा जाता है। यहाँ श्वेत शिलाएँ बिखरी हैं, जिन्हे लोग बालीकी हड्डियाँ कहते हैं। तुंगभद्राके उसी पार तारा, अगद, एवं सुग्रीव नामक तीन पर्वतशिखर हैं। यहाँ हनुमान पहाडी भी है।

अनागुदी ग्राम जाते समय पश्चिममें दो मीलपर पम्पा सरोवर है। यह एक छोटा-सा सरोवर है। इसी पर्वतपर शबरीगुफा भी है। पम्पा सरोवरसे एक मील दूर अञ्जनी पर्वत है। कहते हैं श्रीहनुमानजीकी माता अञ्जनीका यहीं निवास था।

---

# कालहस्ती

दक्षिण भारतमें भगवान् शंकरके जो पञ्चतत्व लिंग माने जाते हैं, उनमेंसे कालहस्तीमें वायुतत्व लिग है। यहाँ ५१ शक्तिपीठोमेंसे एक शक्तिपीठ भी है। यहाँ सतीका दक्षिण स्कन्ध गिरा था।

यहाँ स्वर्णमुखी नदी बहती है। नदीके पार तटपर ही कालहस्तीश्वर मन्दिर है। नदीतटके पास ही एक पहाडी है, उसे कैलास गिरि कहते हैं। भगवान् नन्दीश्वरने कैलासके तीन शिखर जो पृथ्वीपर स्थापित किये, उन्हींमेंसे यह एक है। पहाडीके नीचे उससे सटा हुआ कालहस्तीश्वरका विशाल मन्दिर है।

मन्दिरके मुख्य स्थानपर भगवान् शंकरकी लिंगमूर्त्ति है। यह वायु-तत्त्वलिग है। पुजारी भी इसका स्पर्श नहीं करते। मूर्त्तिके पास स्वर्णपट्ट स्थापित है। उसीपर माला आदि चढ़ाई जाती है। इस मूर्त्तिमें मकड़ी, सर्पफण,

हाथीके दाँतोंके चिह्न स्पष्ट दीखते हैं। कहा जाता है, सर्वप्रथम मकडी, सर्प एवं हाथीने यहाँ भगवान्‌की आराधना की थी। उनके नामपर ही श्रीकालहस्तीश्वर यह नाम पड़ा है। { श्री (मकडी), काल (सर्प), हस्ती (हाथी)से श्रीकालहस्तीश्वर नाम पड़ा है।}

यात्रासे गोरखपुर लौटनेके उपरान्त पू.गुरुदेव मुझे बता रहे थे कि लोग इसपर विश्वास नहीं करते कि भगवान् विश्वनाथ काशीमें मरनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको तारकमंत्र देकर मुक्त कर देते हैं, परन्तु यह बात सर्वांशमे सत्य है। कालहस्तीमे पू.गुरुदेव जब स्वर्णमुखी नदीमें स्नान कर रहे थे, तो उस समय नदी किनारे ही एक श्वान मृत्युमुखमें पडा अन्तिम श्वास गिन रहा था। पू.गुरुदेव उसके सम्मुख कुछ कालके लिये खड़े हो गये। सहसा उन्हें अनुभव हुआ मानो आशर्व-पाशर्वका सम्पूर्ण क्षेत्र ही एक विलक्षण चिन्मय विशुद्ध सत्वसे भर गया है। वे शान्त होकर घटनाक्रमपर विचार कर ही रहे थे कि उनके सम्मुख भगवान् शंकर प्रकट हो गये, उन्होंने उस मृतप्राय श्वानको जो दाहिना कान पृथ्वीपर सटाये पड़ा था, अपने आप घुमाकर बायें करवट किया और दाहिने कानके छिद्रमें महातारक राममंत्र सुनाया। पू.गुरुदेव अनुभव कर रहे थे कि भगवान् शंकरके रोम-रोमसे विलक्षण रामनाम-ध्वनि निस्सृत हो रही थी। कुछ ही कालमें उस श्वानके प्राणपखेरू उड़ गये। कृपावतार भगवान् शंकर पू. गुरुदेवपर दृष्टिपातकर मुसकाये और तब अन्तर्धान हो गये। पू. गुरुदेवने जब यह अपना अनुभव श्रीपोद्दार महाराजको सुनाया, तो वे गंभीर होकर कहने लगे – " बाबा ! मुझे भी काशीमें अनेक बार मरणासन्न लोगोंको मुक्ति देते भगवान् शंकरने दर्शन दिये हैं। मेरे अनेक स्वजनोंने जिनकी मृत्यु काशीमें हुई है, 'वे भगवान् शंकरकी कृपासे मुक्त हो रहे हैं,' ऐसा मरणोत्तर प्रकट होकर भी अपना अनुभव कहा है।"

पू.गुरुदेव मुझे कह रहे थे कि कालहस्तीमें कण्णप्प पहाड़ीके ठीक सामने दूसरे सिरेपर एक पहाड़ी है, उसपर दुर्गा मन्दिर है। यह स्थान इक्यावन शक्तिपीठोंमेंसे एक है, किन्तु आजकल उपेक्षित हो गया है। आजकल बहुत कम लोग इसके दर्शन करने जाते हैं। किन्तु यदि कोई इसके दर्शन करे, तो वह मृत्युके पूर्व निश्चय ही विरक्त होकर ज्ञानी हो जाय। मन्दिरमें देवीकी मूर्ति बहुत ही जीवन्त एवं प्रभावोत्पादक है। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि ऐसी ज्ञानप्रसू जीवन्त प्रतिमा उन्हें देखनेमें ही नहीं आयी। सुवर्णरेखा नदीपर

मोटर-बसोंके आनेके लिये जो पक्का पुल बना है, उसके समीप ही एक गलीमें होकर कुछ गज आगे जानेपर पहाडीपर जानेका मार्ग मिल जाता है। मार्ग साधारण-सा ही है। पहाड़ीके ऊपर एक घेरेके भीतर छोटा-सा मन्दिर है।

कालहस्तीश्वर मन्दिरके पास ही एक पहाडी है, कहते हैं, इसी पहाड़ीपर अर्जुनने तपस्याकर भगवान् शंकरसे पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था। वहाँ ऊपर जो शिवलिग है, वह अर्जुनके द्वारा प्रतिष्ठित है। पीछे कण्णप्पने इस शिवलिंगका पूजन किया, इसलिये उसका नाम कण्णप्पेश्वर हो गया। पहाडीपर जानेके लिये सीढ़ियाँ नहीं हैं, किन्तु थोड़ी ही दूर ऊपर जाना पड़ता है। इसमें कोई कठिनाई नहीं होती। ऊपर एक छोटा-सा घेरा है। घेरेके भीतर मन्दिरमें कण्णप्पेश्वर विराजित हैं।

पू.गुरुदेवने मुझे शिवभक्त भीलकुमारकी कथा भी सुनाई थी, जिसकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् साक्षात् प्रकट तो हुए ही, इस भीलको हाथ पकड़कर सशरीर अपने साथ शिवलोक ले गये।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि प्राचीन कालमें दो भीलकुमार वनमें आखेट करने आये थे। उनमेंसे एकका नाम नील और दूसरेका फणीश था। उन्होने वनमें पहाडीपर इस लिंगमूर्त्तिको देखा। पूर्वजन्मोंके संस्कारवश नील उस मूर्तिमें सच्चिन्मय भगवान्को जीवन्त देखने लगा। उस समय यहाँ घनघोर वन था, और हिंसक व्याघ्रादि वन-पशुओंका अतिशय बाहुल्य था। उस महाभाग्यवान् भील नीलको तो मूर्त्ति प्रस्तरकी दिख नहीं रही थी, जबकि उसके साथी फणीशको वह मात्र प्रस्तर प्रतिमा ही दृष्टिगोचर हो रही थी। अब नीलने ठान ली कि वह इस एकान्त निर्जन वनमे स्थित इस मूर्त्तिकी रक्षा करेगा, और लौटकर अपने घर नहीं जायगा, तो फणीशने उसको बहुत समझानेकी चेष्टा की। जब नील अपने हठसे डिगा ही नहीं तो फणीश उसे छोडकर घर लौट गया।

नील धनुष बाण लेकर रात्रिभर मूर्त्तिका इसलिये पहरा देता रहा कि कोई वनपशु भगवान्को कष्ट न दे। प्रातः वह आखेटके लिये वनमें चला गया। दोपहरीमें आखेट करके वह वनसे लौटा। उसके एक हाथमें तो रक्तसे सने बाण एव धनुष थे, दूसरे हाथमें भुने मांसका दोना था। उसके पास जल लानेके लिये कोई पात्र तो था नहीं, अतः उसने अपने मुखको जलपात्र बनाकर उसमें जल भरा हुआ था। उसने अपने बालोंमें पुष्प एवं बिल्वपत्र

खौंसे हुए थे। दोनों हाथ रिक्त नहीं होनेसे भीलकुमार नीलने अपने पैरमें पहनी मूर्तिपर चढ़े बिल्वपत्र तथा पुष्प हटाये। मुखके जलसे कुल्ला करके भगवान्‌को स्नान कराया। बालोमे लगे पुष्प मूर्त्तिपर चढा दिये तथा भुने मांसका दोना भोग लगानेके लिये रख दिया। पश्चात् वह स्वयं धनुष-बाण लेकर मन्दिरके बाहर पहरा देने लगा।

दूसरे दिवस सबेरे जब नील जंगलमें गया हुआ था, मन्दिरकी परम्परागत पूजा करने वाले पुजारी आये। उन्होंने मन्दिरपर चढा भुने मांस खण्डोंका दोना देखा। उन्हें बहुत दुख हुआ। नीचेसे जल लाकर उन्होंने पूरा मन्दिर स्वच्छ किया, और तब पूजा करके चले गये। उनके जानेपर नील वनसे लौटा। उसने अपने ढंगसे पहले ही दिनके समान पूजा की। दूसरे दिन फिर पुजारियोंको जब मन्दिर दूषित मिला तो वे छिपकर अपराधीका पता लगाने बैठ गये।

भीलकुमार नील उसी प्रकार मुखमें जल लेकर, केशोंमें बिल्वपत्र एवं पुष्प खौंसकर, मुखमें जल भरकर आया। उसने अपने पैरोंसे भगवान्‌के ऊपर चढ़े पत्र-पुष्पोंको हटाया। इस बार पत्र-पुष्प हटानेपर उसे भगवान्‌के कमलदलके समान चिन्मय नेत्र दिखाई पड़े। किन्तु यह देखकर उसका हृदय अत्यन्त ही द्रवित हो उठा कि भगवान्‌का कमलदलके समान सुन्दर एक नेत्र घायल है, और उसमेंसे रक्तधारा बह रही है। भीलकुमारने अपने मुखमें भरे कुल्लेके जलसे भगवान्‌के नेत्र धोये, किन्तु वह रक्तप्रवाह बन्द ही नहीं हुआ। अब तो क्रोधके मारे नीलने वह भुने मांसका दोना तो भगवान्‌के सम्मुख भूमिपर रख दिया और धनुषमें बाण चढ़ाकर भगवान्‌को आघात पहुँचाने वालेको ढूँढ़ने निकला। जब उसे आसपासमें ऐसा कोई भी हेतु नहीं मिला, तो वह जड़ी-बूटियोंका ढेर ले आया। उसने अपनी जानी-पहचानी अनेक जड़ी-बूटियोंका लेप करके भगवान्‌के घायल नेत्रोंका उपचार करना चाहा। किन्तु सभी प्रकारके उपचार करनेपर भी भगवान्‌के नेत्रका रक्तप्रवाह बन्द नहीं हुआ। सहसा नीलको समझमे आया कि वृद्ध भील कहते हैं कि – "मनुष्यके घावपर मनुष्यका ताजा चमडा लगा देनेसे घाव शीघ्र भर जाता है।" भोले नीलको यही उचित लगा कि भगवान्‌के नेत्रके घावपर अपने नेत्र लगानेसे संभव है, उनका घाव भी भर जाय और भगवान्‌की दृष्टि भी सांगोपांग हो जाय। उसने बिना हिचक बाणकी नोक घुसाकर अपनी एक आँख निकाल ली और मूर्त्तिके नेत्रपर रखकर उसे

दबा दिया। मूर्तिके नेत्रसे रक्त बहना बन्द हो गया। पुजारी जो छिपकर इस भोले भीलकी यह सब क्रिया देख रहा था, उसके इस बलिदानको देखकर दंग रह गया।

भगवान् तो जब अपने भक्तकी परीक्षा लेने चलते हैं तो पूरी ही परीक्षा लेते हैं। उन्होंने ऐसा खेल किया कि अब उनके दूसरे नेत्रसे भी रक्त बहने लगा। भक्त नीलको तो औषध मालूम हो ही चुकी थी। नीलने भगवान्‌के उस रक्त बहाते नेत्रपर अपने पैरका अँगूठा रखा, जिससे कि वह अपना दूसरा नेत्र बाणकी नोकसे निकालनेपर अन्धे होनेकी दशामें भी उस स्थानको पा सके। इस बार जैसे ही अपने बाणकी तीखी नोक उसने अपने दूसरे नेत्रमें लगायी कि मन्दिर विशुद्ध सत्त्वपूर्ण प्रकाशसे भर गया। भगवान् शंकर साक्षात् प्रकट हो गये। उन्होने नीलका हाथ पकड़ लिया। भीलकुमार नीलको भगवान् अपने साथ शिवलोक ले गये। भीलकुमार नीलका नाम उसी समय कण्णप्प हो गया। तमिलमें 'कण्ण' नेत्रको कहते हैं।

पू.गुरुदेव कह रहे थे भगवान् आदि शकराचार्यने भक्त कण्णप्पकी प्रशंसामे निम्न श्लोक रचना की थी –

**मार्गावर्तित पादुका पशुपते रंगस्य कूर्चायते।**
**गण्डूषाम्बुनिषेचनं पुररिपोर्दिव्याभिषेकायते।।**
**किंचिद् भक्षितमांसशेषकवलं नव्योपहारायते।**
**भक्तिः किं न करोत्यहो वनचरो भक्तावतंसायते।।**

(श्रीमद्भगवद्पाद आदिशंकर कृत शिवानन्दलहरी ६३)

रास्तेमें फैंकी हुई किसी अन्य व्यक्तिकी पादुका ही भगवान् शंकरके अंग झाडनेकी कूची बन गयी, आचमन (कुल्ले)का जल उनका दिव्याभिषेक हो गया और स्वयं खाकर शेष बचा भुना मांसका ग्रास ही उनका नैवेद्य बन गया। अहो ! भक्ति क्या नहीं कर सकती ? इसके प्रभावसे एक जंगली भील भी भक्तश्रेष्ठ बन गया।

---

# तिरुपति बालाजीमें

वेंकटाचल पूरा पर्वत ही भगवत्स्वरूप माना जाता है। तिरुपतिका अर्थ है – तीनों लोकोंके श्रीमान्, श्रेष्ठ पति भगवान् वेंकटेश्वर। यह भारतका सबसे समृद्ध मन्दिर है। तिरुमल्लै पर्वतपर ही भगवान् वेंकटेश्वरका निवास है। तिरुमल्लैका भी यही अर्थ है कि जहाँ त्रिलोकीके श्रीमान् श्रेष्ठ स्वामी निवास करते हैं। अल्लै शब्द 'आलय'का वाची है। वस्तुतः यह शेषशैल सात पहाड़ियोंका एक समूह है, जो आदि शेषका स्वरूप माना जाता है। साक्षात् भगवान् शेष ही पर्वतके रूपमें यहाँ स्थित हैं। यहाँ भगवान् तिरुपति बालाजी 'शेष-शैलशिखामणि'के नामसे प्रख्यात हैं। श्रीरामानुजाचार्य स्वामी इस पवित्र पर्वतपर कभी चरण नहीं रखते थे, अतः वे अपनी हथेली एवं घुटनोंपर कपडे लपेटपर उन्हींके बल चलकर शैलके ऊपर पहुँचते थे। अब तो श्रद्धाका अभाव होनेसे लोग मोटर गाडियोंमें दर्शनार्थ जाते हैं।

बालाजी पर्वतपर पैदल जानेका मार्ग ७ मीलका है। इसमें पाँच मील पर्वतकी कठिन चढाई है। पू.गुरुदेव एवं पोद्दार महाराज इस स्थलपर पहुँचे जहाँ पैदल जानेका मार्ग प्रारंभ होता है। यहाँ एक सुन्दर सरोवर है जिसे कपिलतीर्थ कहते हैं। कपिलतीर्थ सरोवरके तटपर दोनों ही मोटरसे उतरकर एक स्थलपर शान्त बैठ गये, एव ध्यानस्थ हो गये। इस सुन्दर सरोवरमें श्रीशैल पर्वतपरसे ही जलधारा गिरती है। सरोवरमें पक्की सीढ़ियाँ बनी हैं। चारों कोनोपर चार स्तम्भोंमें 'चक्र'के चिह्न अंकित हैं। कुछ काल पश्चात् दोनों ने ही शेषाद्रिकी दिशामें दण्डवत् प्रणाम किया और वहाँकी धूलि सिरपर लगायी। यात्रियोंने यहाँ कपिलेश्वर मन्दिरके दर्शन भी किये।

पू.गुरुदेवने शेषशैलपर पहुँचकर सर्वप्रथम स्वामिपुष्करिणी नामक विस्तृत सरोवरमे स्नान किया। कहते हैं, यह वैकुण्ठधामकी क्रीड़ापुष्करिणी है। ऐसी कथा है कि वाराह अवतारके समय भगवान् वाराहके आदेशसे गरुडजी वैकुण्ठसे इस पुष्करिणीको वेंकटाचलपर भगवान् वाराहके स्नानार्थ ले आये थे। इस पुष्करिणीपर स्नान करते समय पू.गुरुदेवका दृश्य एकदम परिवर्तित हो गया और उनके सम्मुख चिन्मय वृन्दावन प्रकट हो गया। पू. गुरुदेव देख रहे थे –

"चतुर्दिक् शुक-पिकादि कलकण्ठ विहंगमोंकी काकलीसे स्थल मुखरित

हो रहा है। नव घन मेघोंको अपने स्नेहमें उमड़ता देख पृथ्वी रोमाञ्चित पुलकित है। प्रियतम श्यामसुन्दर नव-नव निंकुञ्जस्थलीकी ओर, लता-पल्लवजालसे आवृत वनस्थलीकी शोभा दिखाने अपनी प्रियाको संकेत देकर बुला रहे हैं। किन्तु प्रिया राधा उनसे किंचित् पृथक् एक कदम्ब वृक्षके नीचे मणिखचित आलवालपर विराजित हैं। उन्हें चतुर्दिक् दल-के-दल मृग-मयूर घेरे हैं। प्रिया राधा अति ललकभरी इन मृग-मयूरोंको ही आलिंगन कर-करके स्नेहदान दे रही हैं। प्रिया जब प्रियतम द्वारा अनेकशः संकेत एवं आमंत्रण देनेपर भी मुसकाकर वन-भ्रमणका निषेध कर देती हैं, तो प्रियतम उनके पार्श्वमें ही आकर बैठ जाते हैं। प्रियाके पार्श्वमें प्रियतम श्यामसुन्दरके आ जानेपर मृग एवं मयूर चौकड़ी भरते उनसे किंचित् दूरीपर चले जाते हैं। प्रियाके पास आकर बैठ जानेपर भी प्रियतम श्यामसुन्दरकी इस कुञ्जसे उस कुञ्जकी ओर, कभी सुदूर बहती यमुनाके तटसे वनकी ओर, और कभी पुनः वनसे कालिन्दीकूलकी ओर, कभी कासारोंमें विकसित पद्मवनोंकी ओर, और कभी गिरिराज गोवर्धनके चरणप्रान्तमें जानेवाले तरु-लतामण्डित सुरम्य पथकी ओर जा रही है। प्रियतम बार-बार मनुहार कर-करके प्रियाको वनमें ले आना चाहते हैं, किन्तु प्रिया वहीं आसीन मृग-मयूरोंकी ओर देख रही हैं, मुसका रही हैं एवं प्रियतमके साथ वन-भ्रमणको उद्यत नहीं हो रही हैं। प्रिया-प्रियतमको कदम्ब वृक्षके नीचे आसीन देखकर, उनका सान्निध्य पाकर विहंगमोंकी काकली सारस्वत वीणासे निस्सृत सुमधुरतम संगीतकी मूर्त्तिमान् रागिणी ही बन गयी है। वनमे तरुशाखाओंसे लिपटी लता-वल्लरियाँ तो नित्य ही पवन-संचारित होनेपर स्पन्दित होती हैं, किन्तु आज तो प्रिया-प्रियतमको अपने मध्य पाकर सचमुच ही वे उल्लासभरी नृत्य कर रहीं हैं। यह तो वृन्दावनकी धराका स्वभाव ही है कि उसपर अतिशय कोमल अंकुरराशि स्फुटित रहती ही है, किन्तु आज तो सत्य-सत्य ही वृन्दाकाननको धारण करनेवाली धराकी अधिष्ठात्री प्रिया-प्रियतमके चरणस्पर्शसे रोमाञ्चित ही हो रही है। वे गायन, नर्त्तन, पुलकोद्गम आदि कविकी कल्पना, अथवा किसी लेखक द्वारा प्रयुक्त काव्यशास्त्रके अलंकारिक रूपक नहीं हैं, ये तो चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र और उनकी ह्लादिनी महाशक्ति प्रिया श्रीराधारानीके चरणस्पर्श और उनकी प्रेमभरी दृष्टि-निक्षेपके कारण वृन्दावनके चराचरपर व्यक्त होनेवाले स्वाभाविक परम सत्य परिणाम हैं। प्राकृत नेत्र-मन भले इन्हें देख नहीं सकें

– इनका अनुभव नहीं कर पावे, किन्तु प्रियाप्रियतमके कृपाकणसे पूत हुए दिव्यशक्तिविशिष्ट पू.गुरुदेवके नेत्रोके लिये तो ये नित्य सत्य हैं। पू.गुरुदेव देख रहे हैं, वृन्दाटवी सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य, एव पुलकोद्गम आदि अगणित आनन्द-अनुभावोंसे परिपूर्ण हो गयी है। अरण्यका अणु-अणु अपनेमें न समाते हुए आनन्दको विभिन्न अनुभावोंसे व्यक्त कर रहा है।

पू.गुरुदेव स्नान करने आये थे, स्वामिपुष्करिणी सरोवरमें, और उस तरंगित सरोवर एवं उसके आसपास शेषशैलका परम शुद्ध सात्विक वातावरणका प्रभाव उन्हे कहॉ-से-कहॉ उडा ले गया। पू.गुरुदेवको शेषशैलशिखामणिका यह धाम अपने प्रियतम नीलसुन्दरके गिरि गोवर्धन शैलके कुञ्जावासोंमें निलीन-विलीन कर गया।

यह तो सत्य ही है कि प्राकृत मनसे अप्राकृत वस्तुकी प्राप्ति असंभव है। माया-जगत्के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धसे मायातीत जगत्के शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गंध सर्वथा भिन्न हैं; मायाजगत्की ज्ञानेन्द्रियोंसे वे सर्वथा अग्राह्य हैं; इन इन्द्रियोंकी वहाँ गति नहीं। पू.गुरुदेवका शरीरगत मन तो प्राकृत ही था, बुद्धि भी प्राकृत ही थी, और मायाजगत्की वस्तुकी गति मायातीत चिन्मय राज्यमे असभव थी, अत पू.गुरुदेवकी ज्ञानेन्द्रियो, मन एवं बुद्धिने स्वयको उस व्यक्त अप्राकृत चिन्मय वृन्दावनके दृश्यमें विलीन-निलीन कर दिया। इसका साधन तो उनके प्रिया-प्रियतम और महासिद्ध रसिकशिरोमणि सन्त श्रीपोद्दार महाराज (श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार)की कृपा ही थी। जहाँ पू.गुरुदेव श्रीराधा बाबाके मनकी समाप्ति हुई, वे अपना होश खो बैठे। प्राकृत काल तो अपनी नियमित गतिसे चल ही रहा था। जब बहुत विलम्ब होने लगा और श्रीपोद्दार महाराजको बालाजी भगवान्के दर्शनोंके लिये भीतरसे पुजारियोंका बुलावा आ गया तो उन्होंने पू.गुरुदेवकी खोज की। लोगोंने पू.गुरुदेवकी अलौकिक भावाविष्टताकी सूचना उन्हें दी। वे पू.गुरुदेवके निकट आकर वे उन्हें देखने लगे। उन्होने देखा कि उनका सन्यासी शिष्य तो साँपकी केंचुलीकी तरह हो गया है।। जैसे केंचुलीमें मुख, ऑख, नाक आदि सभीके चिह्न ज्यों-के-त्यों रहते हैं किन्तु साँप नहीं रहता, इसी प्रकार पू.गुरुदेवका शरीर तो ज्यों-का-त्यों है, शरीरका श्वास-प्रश्वास, प्राणोंका आवागमन यथावत् है, किन्तु उसमें पू.गुरुदेव स्वयं नहीं हैं। श्रीपोद्दार महाराज कुछ कालतक जलमें कटितक खड़े पू.

गुरुदेवको देखते रहे, और समझ गये कि वे वहाँ होकर भी वहाँ नहीं हैं। भाव-सरिताके आप्लावनने सरोवरकी संज्ञा पहले वाली नहीं रहने दी है। वह सरोवर प्रिया-प्रियतमकी रसधारामें विलीन हो गया है। उसकी संज्ञा बदल गयी है। वे मन-ही-मन गुनगुना उठे –

**विधि भाजन ओछो रच्यौ हो, लीला-सिन्धु अपार।**
**उलटि मगन तामैं भयौ हो, अब कौन निकासनहार।।**

पू.पोद्दार महाराजमे कुछ ऐसी विशिष्ट शक्ति थी कि वे किसीको भी भावसिन्धुमें डुबा भी सकते थे, और किसी डूबेको किनारेपर भी ला सकते थे। वे पू.गुरुदेवके पास जलमे चले गये और कटितक जलमें खडे पू.गुरुदेवके कन्धेको पकडकर इस प्रकार प्रेमसे हिलाकर कहने लगे – "बाबा ! श्रीशैल-शिखामणि भगवान् वेकटेशके दर्शनार्थ चलना है न ? वे प्रतीक्षा कर रहे हैं, आपके आगमनकी।"

बस, पू.गुरुदेवकी 'मञ्जुश्यामा-भावमयी-अहंता" जो चिन्मय वृन्दावनमें अपनी अग्रजाके पार्श्वमे वृन्दावनके गोवर्धन गिरिशैलमें भ्रमण कर रही थी, शेषशैलमे पचभूतात्मक श्रीराधाबाबा नामक शरीरमें आ गयी। साँप, मदारीकी वीणके स्वरोके आधीन चलने लगा। पू.पोद्दार महाराजकी उपस्थितिमे ही पू गुरुदेवने शीघ्रतापूर्वक सूखे वस्त्र पहने, और गीले वस्त्र धोकर श्रीराधेश्यामजी भगतने साथ ले लिये और शीघ्रतापूर्वक सभी श्रीशैलशिरोमणि भगवान्के दर्शनार्थ चल पड़े।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि " अप्राकृत राज्यके अवतरणका एकमात्र उपाय महज्जनशरणागति है, यदि मैं पूर्णरूपेण श्रीमहारसिक सिद्धसन्त पोद्दार महाराजको आत्मसमर्पण नहीं करता, तो मुझे मेरी साधनासे कदापि यह स्थिति प्राप्त नहीं होती। किन्तु श्रीपोद्दार महाराजके हेतुरहित अनमोल प्यारने मुझे सब कुछ दिया। उनके समान महान् उदारता मैंने कहीं नहीं देखी। लोगोंकी तो उनसे माँग ही भगवान्की नहीं है, संसारकी ही है। किन्तु यदि किसीकी माँग वृन्दावनके पावन प्रेमदेशकी हो जाय तो वे इतने उदार हैं कि सर्वथा अनधिकारी होनेपर भी उसकी कामना अवश्य पूरी कर देंगे। वे ऐसे परमोदार सन्त हैं कि किसीकी भी आशा आजतक उन्होंने खण्डित नहीं की है। उनकी कृपापर निर्भर हो जाओ, वे निश्चय, निश्चय आशा पूर्त्ति कर ही देंगे।

नियमानुसार तो स्वामिपुष्करिणी स्नानके पश्चात् वाराह भगवान्के

दर्शन करके ही भगवान् वेंकटेशके दर्शनार्थ जाना चाहिये, किन्तु श्रीपोद्दार महाराज आदि सभी यात्री निर्धारित समय होनेसे पहले ही भगवान् बालाजीके विश्वरूप दर्शनार्थ चल पडे। भगवान्‌का विश्वरूप दर्शन प्रभातकालमें ही होता है। वैसे बालाजीका मन्दिर तीन परकोटोंसे घिरा है। इन परकोटोंमें गोपुर बने हैं, जिनपर स्वर्णकलश स्थापित हैं। स्वर्णद्वारके सामने तिरुमहामण्डपम् नामक मण्डप है। एक सहस्र स्तंभमण्डप भी है। मन्दिरमें प्रथम सिंहद्वारको पडिकावलि कहते हैं। प्रथम एवं द्वितीय द्वारके मध्यकी प्रदक्षिणाको सम्पंगि-प्रदक्षिणा कहते हैं। इसमें 'विरजा' नामक एक कूप है। मुख्य मन्दिरमे श्रीबालाजीके चरणोके नीचे जो विरजा नदी है, उसीकी धारा इस कूपमें आती है। इसी प्रदक्षिणामें एक 'पुष्पकूप' भी है। श्रीबालाजी भगवान्‌को जो तुलसीपत्र-पुष्पादि चढ़ते हैं, वे किसीको नहीं दिये जाते, वे सब इसी कूपमें डाले जाते हैं। केवल वसन्त पञ्चमीके दिन तिरुच्चानूरमें भगवती श्रीपद्मावती देवीको भगवान्‌के चढे पुष्प अर्पित किये जाते हैं।

द्वितीय द्वारको पार करनेपर जो प्रदक्षिणा है, उसे विमान प्रदक्षिणा कहते है। श्रीपोद्दार महाराजको पण्डा प्रत्येक स्थानके महत्वका परिचय देते हुए प्रत्येक मन्दिरमें ले जा रहा था। पू.गुरुदेवका हाथ पकडे पोद्दार महाराज उन्हें खींचे लिये जा रहे थे, किन्तु उनकी दशा विचित्र थी। 'विरजा' नाम सुनते ही वे तो गोलोकमे पहुँच जाते हैं। लेखककी लेखनीमें कहाँ सामर्थ्य है कि पू.गुरुदेवके भाव-वैभवके दृश्योंका चित्रण कर सके। चित्रण तो दूर रहा, लेखकके तो मनकी कल्पना भी वस्तुतः पू.गुरुदेवके उस सर्वथा अतुलनीय चिदानन्दमय श्रीसौन्दर्यकी कणिकामात्रको भी छू नहीं पाती। लेखक तो पू गुरुदेवकी वाणीको ही इतस्तत-से संग्रहकर एक आनुमानिक शब्दचित्र प्रस्तुत करनेका प्रयास कर रहा है। वह इतना ही जानता है और अच्छी प्रकारसे निश्चयपूर्वक सत्यप्रतिज्ञ हो कह सकता है कि उस चिदानन्दमय श्री-सौन्दर्यकी अनुभूति होती है और हुई है श्रीपोद्दार महाराज और पू.गुरुदेवको। भूतकालमें भी अनेक महाभाग सूरदासादि कवियोंको अवश्य उसकी अनुभूति हुई होगी, उसकी छांया ही सही इन महाभागोंके मनमें अवश्य अवतरित हुई होगी, तभी उस छायाके क्षुद्र अशको शाखाचन्द्रन्यायसे ही सही, उस अनुभूत सत्यको आनन्द-विकम्पित कण्ठसे वे अपनी पदावलियोंमें गायन कर चुके हैं। लेखक भी अपनेको परम कृतकृत्य अनुभव करता हुआ मात्र आनुमानिक शब्दचित्र ही

लिख रहा है –

"अहा ! गोलोककी कैसी मरकत मणिमय, मणिचूर्णसम अकृत्रिम भूमि है ! इस भूमिमें पू.गुरुदेव 'विरजा' शब्द सुनते ही विरजा नदीका दर्शन करने लगते हैं। अहा ! मणिचूर्णकी तरह प्रद्योतित भूमिमें बहती 'विरजा'की कैसी विलक्षण शोभा है ! उसके चतुर्दिक् स्वर्णमय गुल्मलताएँ और द्रुमसमूह परिशोभित हैं, कहीं स्वर्णकी ही वीथियाँ बनी हैं। जहाँ स्वर्णमय भूमि है तो मरकत मणिमय वल्लरियाँ और गुल्मतरुपंक्तिकी छटा है और जहाँ पद्मराग-रचित भूमि है, तो उसपर स्फटिक एवं स्वर्णनिर्मित गुल्म-लता-वृक्षसमूह विराजित है। अहा ! स्फटिक-वाटिकाओंकी क्या ही शोभा है, उसमें पद्मरागकी लताएँ, गुल्म एवं तरुराजियाँ झूम रही हैं।

पू.गुरुदेवके कानोंमें न तो यात्रियोंका कोलाहल प्रवेश कर पा रहा है, न ही पण्डेकी तीर्थमहिमाकी शब्दावली। वे तो श्रीपोद्दार महाराजका हाथ पकड़े उनके द्वारा नियंत्रित शरीरसे जहाँ वे ले जाते, जा रहे थे। उनका न तो दृश्य ही प्राकृत था और न शरीर ही प्राकृत। श्रीपोद्दार महाराज भी अधिकांशतः उन्हें बृषभानुनन्दिनी – अपनी अग्रजा भगिनी राधाके रूपमें भी दिखते थे।

ओह ! विलक्षण वैभवमयी ब्रजेन्द्रपुरी अपनी ओर-छोरविहीन महिमासे पू.गुरुदेवके हृदयको आलोकित कर रही थी।

अब पू.पोद्दार महाराज एव सभी यात्री क्रमशः भगवान्‌के मन्दिरके सामने स्वर्णमण्डित स्तम्भके समीप पहुँचे। तीसरे द्वारके भीतर भगवान्‌के गर्भगृहके चारों ओर प्रदक्षिणा है। उसे वैकुण्ठ प्रदक्षिणा कहते हैं। यह केवल पौष शुक्ला एकादशीको खुलती है। अन्य समय यह मार्ग बन्द रखा जाता है। स्वर्णमण्डित स्तम्भके आगे तिरुमहमण्डप है। इस सभामण्डपके द्वारपर जय-विजयकी मूर्त्तियाँ हैं।

जगमोहन मन्दिरके भीतर चार द्वार पार करनेपर पाँचवे द्वारके भीतर श्रीबालाजीकी पूर्वाभिमुखी मूर्त्ति है। भगवान्‌की श्रीमूर्त्ति श्यामवर्णकी है। ये शंख, चक्र, गदा, पद्म लिये खड़े हैं। यह मूर्त्ति लगभग सात फुट ऊँची है। भगवान्‌के दोनों ओर श्रीदेवी तथा भूदेवीकी मूर्त्तियाँ हैं। भगवान्‌को भीमसेनी कपूरका तिलक लगता है। भगवान्‌के तिलकसे उतरा यह चन्दन यहाँ प्रसाद रूपमें बिकता है। यात्री उसे अंजनके काममें लेनेके लिये ले जाते हैं।

श्रीबालाजीके श्रीविग्रहमें एक स्थानपर चोटका चिह्न है। उस स्थानपर

दवा लगायी जाती है। कहते हैं, एक भक्त प्रतिदिन नीचेसे भगवान्‌के लिये दूध ले आता था। वृद्ध होनेपर जब उसे आनेमें कष्ट होने लगा, तब भगवान् स्वयं जाकर चुपचाप उसकी गायका दूध पी आते थे। गायको दूध न देते देख, उस भक्तने एक दिन छिपकर देखनेका निश्चय किया। जब सामान्य मानववेषमें आकर भगवान् दूध पीने लगे, तब उन्हे चोर समझ भक्तने डंडा मारा। उसी समय भगवान्‌ने प्रकट होकर उसे दर्शन दिया और आश्वासन दिया। वही डंडा लगनेका चिह्न मूर्तिमें है।

पू.गुरुदेवको समग्र मन्दिर ही ब्रजपुरका नन्दभवन दृष्टिगोचर हो रहा था और गर्भस्थ भगवान् वेंकटेश्वरकी मूर्ति नन्दभवन-स्थित नन्दबाबा आराध्य भगवान् नारायणकी मूर्ति दिख रही थी। पू.गुरुदेवका तो प्रत्यक्ष दृश्य यही था – " पुरका प्राचीर इन्द्रनीलमणि निर्मित है, मरकतमणि-रचित गृहावली हैं, आच्छादन (छत) सुवर्णमय है, स्तम्भोंका निर्माण प्रवालसे हुआ है, द्वारसमूह पद्मरागमणिके हैं। सर्वत्र मणिदीपोंकी पंक्तियाँ जगमग-जगमग कर रही हैं। कोटि-कोटि गोराशि विभिन्न आभूषणोंसे विभूषित होकर गोष्ठमें खड़ी हैं; कोटि-कोटि गोवत्स-समूह ब्रजके आनन्दकलरवसे प्रभावित होकर उछल रहे हैं। अहा ! नन्दभवन स्थित श्रीनन्दरायका नारायणमन्दिर कैसा विलक्षण है ! उसमें भगवान् नारायणके श्रीविग्रहका सौन्दर्य कैसा विलक्षण है !" पू.गुरुदेवको तो भगवान् वेंकटेश्वरके श्रीविग्रहमें नन्दबाबाके आराध्य, सम्पूर्ण गोकुलके ईश्वर भगवान् नारायणके प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे थे। उनके नेत्र मँडरा रहे थे, कभी तो श्रीमन्नारायणके मकर कुण्डलज्योतिसे उद्भासित अमल कपोलोंपर, कभी सुघड़ नासापुटोंपर, कभी सुन्दर कमलनेत्रोंपर, कभी घनकृष्ण कुञ्चित केशराशिपर।

अहा ! पिसे हुए काजलके समान सुचिक्कण भगवान्‌का श्रीविग्रह है। उनके श्रीअंगोंसे जो कान्तिकी किरणें फूट रही हैं, वे मरकतमणिकी आभाको हेय बना दे रही हैं। अहा ! भगवान् नारायण माधुर्य एवं लावण्यके अपरिसीम सागर जो हैं ! उनके श्रीअंगोंमें पीताम्बर झलमला रहा है। वक्षस्थलपर रंगबिरंगी बनमाला तो है, सर्वोपरि तुलसी मालाकी शोभा सर्वजयी है। अंग-अंगपर रत्नजटित आभूषण शोभा पा रहे हैं। लम्बी घुँघराली केशराशिसे विविध प्रकारका सुवास प्रसरित हो रहा है। केशपाश विभिन्न पुष्पमालाओसे ग्रथित सुशोभित है। चमकते ललाटपर भीमसेनी कपूर और केसरका श्रीयुक्त रामानुजी

तिलक है। गरुड़की चोंचके समान नुकीली नासिका है। अहा ! अग्रभागमें मुक्ताफल कैसा सुशोभित है। दोनो कान विविध अनमोल मणिजटित मकराकृति कुण्डलोंसे कैसे भले लगते हैं।

पू.गुरुदेवकी दृष्टि जब भगवान्के लावण्ययुक्त मुखारविन्दपर पड़ी, तो कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्ति बिखेरनेवाले उस मुखको देखते ही उनमें भक्तिभावकी धारा उत्ताल ज्वारके रूपमें लहरा उठी। प्रबल भक्तिभावनावश उन्होने न तो भगवान्के मणि-मुक्ताहार-सुशोभित कण्ठहारकी ओर देखा, न ही उनकी आजानुलम्बित केयूर-कंकण-अलंकृत भुजाओंको। पू.गुरुदेवकी दृष्टि तो भगवान्के शेष सभी अंगोंकी चमत्कारी शोभाका उल्लंघन करती सीधी जपापुष्पके समान लाल-लाल चरणतलोमें बिछ गयी। अहा ! अनेक चिह्नोंसे युक्त एवं रत्नजटित नूपुरोसे मण्डित भगवान्के चरणतल पू.गुरुदेवके हृदयको विलक्षण कान्तिसे परिस्नात करने लगे। पू.गुरुदेवके अन्तःकरणको चक्र, अर्धचन्द्र, अष्टकोण, त्रिकोण, यवादि चिह्नोसे झरती पावनतम ज्योतिने विलक्षण प्रेम एवं आनन्दसे सराबोर कर दिया।

ओह ! मेरे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाका पू. पोद्दार महाराजकी कृपासे कैसा मानस निर्माण हो गया है। वहाँ मायावी जगत् एवं उसके विकार तो प्रवेश हों, इसकी संभावना तो है ही नहीं, वैकुण्ठाधिपति भगवान् नारायण भी वहाँ ब्रजराज नन्दबाबाके आराध्य होकर ही प्रवेश पा सकते हैं। वे भी वहाँ ब्रजराज नन्दबाबाके आराध्य होकर ही प्रवेश पा सकते हैं। वे भी वहाँ ब्रजके प्रेमराज्यसे भिन्न अपनी पृथक् सत्ता लेकर प्रवेश नहीं पा सकते। धन्य है राधाबाबा ! धन्य हैं उनके गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज !!

**नन्दलालसों मेरौ मन मान्यौ कहा करैगौ कोय री।**
**हौं तो चरनकमल लपटानी, होनी होय सो होय री।।**

--------

# रमणाश्रममें

तिरुपतिधामसे यात्रा अरुणाचल पहुँची। अरुणाचल भगवान् चन्द्रशेखरका महान् क्षेत्र है। साक्षात् भगवान् शंकर ही यहाँ पर्वत रूपमें प्रकट होकर अरुणाचल नामसे प्रसिद्ध हैं। यह क्षेत्र शिवभक्तोंके लिये सुमेरु, कैलास, तथा

मन्दराचलसे भी अधिक माननीय है ।

दक्षिणके पञ्चतत्त्वलिंगोंमें अग्निलिंग अरुणाचलमें माना जाता है। इस पर्वतको तमिल भाषामें तिरुवण्णमलै कहा जाता है। कालहस्तीकी नदीतटकी पहाड़ीके समान ही भगवान् नन्दीश्वरने यहाँ भी अरुणाचलम्में कैलासका एक शिखर स्थापित किया – ऐसी पौराणिक मान्यता है। इस पर्वतको साक्षात् शिवस्वरूप मानकर शिवभक्त इसकी परिक्रमा करते हैं। पर्वतके चारों ओर परिक्रमा मार्ग बना है। कार्तिक पूर्णिमाके दिन पर्वतके शिखरपर एक शिलापर मनों कपूर जलाया जाता है। कपूरकी ऊँची अग्निशिखा पर्वतशिखरपर घण्टों उठती रहती है। उस अग्निशिखाको ही भक्त समुदाय भगवान् शंकरका अग्नितत्त्व लिग मानकर पूजा करता हैं। कार्तिक पूर्णिमा ही यहाँका विशेष पर्व है और उस दिन यहाँ भक्तोंकी बहुत बड़ी भीड़ होती है। लोग समूचे अरुणाचल पर्वतकी परिक्रमा करते हैं। और नीचेसे उठती अग्निशिखाके दर्शनकरके उसे प्रणाम करते हैं। जहाँ शिलापर कपूर जलता है, वहीं एक शिलामे भगवान्के चरणचिह्न अंकित हैं।

अरुणाचल पर्वतके नीचे पर्वतसे लगा अरुणाचलेश्वर भगवान्का विशाल मन्दिर है। इस मन्दिरका गोपुर दक्षिण भारतका सबसे चौडा गोपुर कहलाता हे। निजमन्दिरमें पॉच द्वारोके भीतर शिवलिंग प्रतिष्ठित है । भगवान् अरुणाचलेश्वरके निज मन्दिरके उत्तरमे श्रीपार्वतीजीका बहुत बड़ा मन्दिर उसी घेरेमें है। इस मन्दिरमें अनेक द्वारोंके भीतर श्रीपार्वतीजीकी भव्य मूर्ति प्रतिष्ठित है।

तिरुवण्णमलै, अरुणाचलकी परिक्रमामें ही महर्षि रमणका आश्रम है। वर्तमान युगके सन्तोंमें श्रीरमण महर्षि बहुत ही प्रसिद्ध रहे हैं। इन्होंने अरुणाचल पर्वतके अनेक स्थानोंमें जो इनके साधनास्थल रहे, इनके चित्र स्थापित हैं। श्रद्धालु यात्री पर्वतकी कठिन चढ़ाईका श्रम उठाकर भी इन स्थानोंके दर्शन करने जाते हैं। महर्षिका आश्रम नीचे सड़कसे लगा हुआ है। महर्षि रमण भी शक्तिके सिद्ध उपासक रहे और उनकी पूजित देवीकी भव्य मूर्ति उनके आश्रममें मुख्य मन्दिरमें प्रतिष्ठित है। मुख्य मन्दिरमें जहाँ महर्षिकी उपास्य मूर्ति स्थापित है, उसके पास ही आश्रमके घेरेमें ही एक स्थानपर महर्षिके निर्वाणका स्थान तथा दूसरे कमरेमें उनकी समाधि है। दूर-दूरके यात्री आश्रमका दर्शन करने आते हैं। यहॉ दर्शनार्थियों तथा साधकोंके ठहरने

आदिकी उत्तम व्यवस्था है।

पू.गुरुदेव जब रमण महर्षिकी समाधिपर गये तो उन्हें महर्षि तो सर्वथा ही विस्मृत हो गये और उनके स्थानपर श्रीकृष्णके रासमण्डलसे अन्तर्धान होनेका दृश्य सम्मुख आ गया। मनहीमन श्रीमद्भागवतके रास-पचाध्यायीके इस श्लोककी उनमें स्फुरणा और आवृत्ति होने लगी –

**अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजांगनाः।**
**अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्।।**
**गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।**
**आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्ताता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः।।**
**गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।**
**असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः।।**
**गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।**
**पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्।।**

पू.गुरुदेवके चित्तमे अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी विरहाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। पू.गुरुदेवके नयनोंसे इस समय ऐसा अश्रुपात हुआ कि उनके वस्त्र आर्द्र हो गये। पू.गुरुदेवको इस प्रकार यात्रीगणोंके मध्य अश्रु बहाता देखकर उनके अनन्य सेवक भगतजी उन्हें संवरित करनेकी बहुत ही चेष्टा करने लगे, किन्तु पू.गुरुदेवका अश्रुपात तो अवरुद्ध होनेका नाम ही नहीं ले रहा था।

अपनी भावदशाको स्वयं भी सवरित करनेमें असमर्थ पू.गुरुदेव समाधिके पास ही आँखें बन्दकर बैठ गये। उनका हृदय विरहाग्निसे जल रहा था। प्रियतम प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरकी मत्त गजराजकी-सी गति, मधुर, मन्द, मादक उनकी मुसकान, विलासभरी चितवन, मनोन्मादकारी प्रेमालाप, नव-नव लीलाओ एव माधुर्यरसभरी भावमयी मुद्राओंने उनके चित्तको हरण कर लिया था। चतुर किशोरकी चाल, हास्य, विलास, चितवन, भाषण आदिमें पू.गुरुदेवका मन ऐसा समाहित हुआ कि वे जलहीन मत्स्यकी तरह आन्तरिक भावमें तड़पने लगे।

पू.गुरुदेवका हृदय तो अपने प्रियतमके साक्षात् दर्शन और उनके श्याम कलेवरकी द्युतिसे उद्भासित हो उठा था। उनके हृदयसे शरीराध्यास-जन्य त्रिताप विषज्वाला न जाने सर्वथा ही विलुप्त हो गयी थी। अब वहाँ तो प्रियतमाध्यास ही सर्वत्र सुधाका प्रसरण कर रहा था। अहा ! विरह और

स्मृतिजन्य मिलन दोनोंके समागमसे पू.गुरुदेव विलक्षण दशाको प्राप्त हुए धारावत् अश्रुविमोचन कर रहे थे। अपने प्रियतम नीलसुन्दरके अपने पार्श्वसे अन्तर्धान हो जानेके कारण वे गजपतिविहीन करिणियोंकी तरह आर्त्त विलाप भी कर रहे थे, साथ ही, अपने प्रियतमकी प्रगाढ सघन स्मृतिमें डूबे उनको प्रत्यक्ष अपने सम्मुख मुसकाता भी देख रहे थे। "अहा ! प्रियतम नीलमणिके श्याम कलेवरपर कटिदेशको आवृत करता पीताम्बर कैसा सुशोभित है।" सुविस्तीर्ण वक्षस्थलपर स्वर्णाभ दक्षिणावर्त्त श्रीवत्स चिह्न तो मानो पू.गुरुदेवको अपने प्रियतमके आलिगनपाशमें बँध जानेका प्रतिपल आह्वान कर रहा था, वे सोच रहे थे –" कैसी नवजलधरके समान सरस श्यामलता भरी है, इनके अंगोमे ! सौन्दर्यका तो निर्झर ही झर रहा है, इनके अंगों-प्रत्यगोंसे। कैसी नयनसुखद सुकुमारता है, इनमें ! ओह ! फिर ये निष्ठुरतापूर्वक हम सभीको छोडकर क्यों अन्तर्धन हो गये ? क्या इतना सुन्दर, मधुर, सरस प्रेमी भी इतना निष्ठुर होना संभव है ? अहा ! मेरा बाह्य एव आन्तरिक सम्पूर्ण दृश्य सभी तो इनकी श्यामद्युतिसे उद्भासित है ! फिर मेरे चित्तमें उनका ऐसा सुखद दर्शन होते हुए भी विरहजन्य विषम विषज्वाला धू-धूकर क्यों प्रज्वलित है ?

ओह ! मृदु हास्यसमन्वित कितना सुन्दर इनका मुखकमल है ! कमलकोषसे भी अधिक सुकोमल इनके अरुण चरण हैं। फिर इन सुकोमल चरणोंसे ये इस सघन कटकाकीर्ण पथरीले वनमें कहाँ खो गये ?

कभी पू. गुरुदेवके हृदयमें भावदर्शनजन्य प्रियतम-मिलनका भाव आलोकित होता, और कभी विरह-तिमिरका घन आवरण पूर्वकी भाँति उनके हृदयमें छा जाता। इसी भावमें उनके अश्रुका प्रवाह अवरुद्ध नहीं हो पाता। मिलनजन्य दर्शनमें सुखके अश्रु प्रवाहित होते, एवं विरहजन्य अदर्शनमे विरह उन्हें अश्रुसिक्त करता रहता। उनका भावोद्रेक इतना अधिक था कि लगभग आधे घण्टेतक अनर्गल अश्रुप्रवाहसे उनकी हिचकी बँध गयी थी।

वहींपर आश्रमकी ही कोई श्रद्धालु भाग्यवती महिला खड़ी-खडी उनकी भावदशा देख रही थी। आजतक उसे ऐसा संन्यासी देखनेको नहीं मिला था। वैसे महर्षि रमण उच्च ज्ञानभूमिमें प्रतिष्ठित सन्त थे। उनके आश्रममे वेदान्तकी ही शुष्क चर्चा अधिक होती थी। अतः वहाँ ऐसे अतिशय भावुक मनके सुकोमल हृदय संन्यासी आते भी कैसे ?

उस महिलाके मनमें तो पू. गुरुदेवके प्रति वात्सल्यधारा इतनी सघनरूपमें

उमड़ रही थी कि वह उन्हें स्पर्श करने जा रही थी, किन्तु पू. गुरुदेवकी सेवामें खडे सेवकोंने उसे पू.गुरुदेवके नियमकी स्मृति दिलाकर निषेध कर दिया

आधे घण्टेके पश्चात् पू.गुरुदेवका भाव किञ्चित् प्रशमित हुआ। पू. गुरुदेव अपने नेत्रों और कपोलोंको पौंछते हुए खड़े हो गये। तब पू.गुरुदेवसे उस महिलाने आंग्ल भाषामें कहा –'मेरे योग्य क्या आप कोई सेवा बतलायेंगे ?"

पू.गुरुदेवको तो वह महिला साक्षात् जगज्जननी भगवती आद्याशक्ति ही दिख रही थी। वे क्या उत्तर देते ? उनके मुखसे इतना ही निकला – 'माते ! मै यहाँके लिये नवीन व्यक्ति हूँ, यहाँपर जो-जो दर्शनीय स्थल हैं, वे आप मुझे अवश्य दिखादें।'

उस महिलाने पू.गुरुदेवके इस अनुरोधको स्वीकार कर लिया। वे अनवरत आधे घण्टेतक पू.गुरुदेवके संग घूमती-फिरती रहीं तथा उन्होने वहाँके सभी महत्वपूर्ण स्थलोसे पू.गुरुदेवका आन्तरिक परिचय कराया। उस महिलाके सरल व्यवहार एवं सेवाभावकी पू.गुरुदेवके मनपर गहरी छाप पडी थी।

----

# त्रिचिनापल्ली, श्रीरंगम् एवं जम्बुकेश्वरमें

त्रिचिनापल्ली (त्रिची)का शुद्ध नाम है तिरुचिरापल्ली। वैसे मुख्य नगर त्रिचिनापल्ली है और तीर्थक्षेत्र है श्रीरंगम्। इसका प्राचीन संस्कृत नाम त्रिशिरः पल्ली है। त्रेतायुगमें रावणका भाई त्रिशिरा हुआ था। वह इस क्षेत्रका अधिपति था। वह बहुत महान् शिवभक्त हुआ है। भगवान् रामने खर एवं दूषणके सहित इसका भी वध किया था। त्रिचिसे श्रीरंगम् आठ मील दूर है।

यहाँका मुख्य मन्दिर गणेशजीका है। यहाँसे डेढ़ मील दूर नगरके उत्तर भागमें कावेरी नदी बहती है। कावेरीके पास ही २३५ फुट ऊँची पत्थरकी एक चट्टान ऐसी लगती है जैसे विशाल नन्दी नगरके मध्य स्थित हो। कहते हैं कि नन्दीश्वरने दक्षिण भारतमें जो कैलासके तीन शिखर स्थापित किये थे,

उसमें तीसरा शिखर यहाँ है। इसे इसीलिये दक्षिण-कैलास कहा जाता है।

यहाँके प्रसिद्ध गणेशमन्दिरमें ही जो शिवलिंग है, उसे 'ता मानवर' कहते हैं। पू.गुरुदेवने जब ता मानवर शिवके अर्थकी जिज्ञासा की तो पता चला कि 'माता बननेवाले प्रभु' ही इसका अर्थ है। कहा जाता है कि कोई वृद्धा शिवभक्त महिला, जो इस लिंगकी प्रति दिवस पूजा करती थी, अपनी पुत्रीके प्रसवके समय उसकी ससुराल जा रही थी। मार्गमें कावेरी नदीपर बहुत बाढ़ थी, अत वह नदी-किनारे ही भगवान्का स्मरण करती प्रतीक्षा करती रही। नदीका पूर उतरनेपर जब वृद्धा अपनी पुत्रीके घर पहुँची तो उसका प्रसव सम्पन्न हो चुका था। भगवान् शंकर इस वृद्धाका रूप रखकर प्रसवमें सहायता करने पहले ही यथासमय पहुँच गये थे। इस शिवलिंगको संस्कृतमें मातृभूते-श्वर लिंग भी कहते हैं। यह आकारमें अति विशाल एवं श्याम वर्णका है।

यहाँ भगवती पार्वतीका नाम 'सुगन्धि-कुन्तला' है। पू.गुरुदेवको भगवतीका दर्शन करते समय इस मन्दिरमें ऐसी दिव्य सुगन्ध व्याप्त प्रतीत हुई, जिससे उन्हें यह तथ्य प्रत्यक्ष हो गया कि पार्वतीका श्रीविग्रह परम उद्दीप्त है। पू. गुरुदेव कहते थे कि इस घोर नास्तिक युगमें भी दक्षिणके मन्दिरोंमें प्रायः देवप्रतिमाएँ आज भी जाग्रत् और उद्दीप्त हैं।

शिव एवं पार्वतीके दोनों ही मन्दिरोंमें यहाँ भारतीय शिल्पका अद्भुत कौशल देखनेको मिलता है। पू.गुरुदेव तो वास्तुशास्त्रके पण्डित थे, अतः वे कह रहे थे कि काञ्चीके वरदराज मन्दिरमें, कोटितीर्थके समीप मण्डपमें, मदुराके मीनाक्षी मन्दिरमें, सुन्दरेश्वर मन्दिरके घेरेमें और यहाँ शिवमन्दिरमें उन्हे ऐसी विलक्षण वास्तुकलाके दर्शन हुए जो अद्भुत है। यहाँ पत्थर काटकर ऐसी जंजीर बनायी गयी है जो अपनी कड़ियोंमें घूम सकती हैं। पहाड़के शिखरपर गणेशजीका मन्दिर है। यद्यपि मन्दिर आकारमें लघु है किन्तु गणेशजीकी मूर्त्ति अत्यन्त भव्य एवं परम जीवन्त है। भाद्रपदमें गणेशचतुर्थीके दिन यहाँ मेला लगता है, एवं महोत्सव मनाया जाता है।

---

# श्रीरंगक्षेत्र

गणेशमन्दिरसे उतरकर कावेरी पुल पार करके श्रीरंगद्वीपमें पहुँचना होता है। गणेशमन्दिरसे श्रीरंग डेढ़ मील दूर है। श्रीरंगको चारों ओरसे कावेरीने घेरा हुआ है, अतः इसे श्रीरंगद्वीप कहते हैं।

श्रीरगमन्दिरसे पॉच मील ऊपरसे कावेरी दो धाराओंमें पृथक् हुई है और लगभग बारह मील मन्दिरसे आगे जाकर परस्पर पुनः मिल गयी है। कहते हैं बहुत पुरातन कालमें कावेरीमें ऐसी बाढ़ आयी थी कि भगवान् श्रीरंगकी मूर्त्ति हजारों वर्षोंतक कावेरीके दाबमे रेतमें डूबी पड़ी रही। उसके सैकड़ों वर्ष पश्चात् किसी भक्तको भगवान्ने स्वप्नादेश दिया, तब जाकर श्रीविग्रहका प्राकट्य हुआ और तब चोल राजाओंने इस विशाल मन्दिरका निर्माण कराया। यह श्रीरंगद्वीप सतरह मील लम्बा और तीन मील चौड़ा है। कावेरीकी उत्तरधाराको कोलरून (कोल्लिडम्) तथा दक्षिण धाराको कावेरी कहते हैं। श्रीरंगमन्दिरका ही विस्तार २६६ बीघेका कहा जाता है। इतना विस्तृत मन्दिर भारतमें दूसरा नहीं है।

श्रीरगजीका निज मन्दिर सात प्राकारोंके भीतर है। इन प्राकारोंमे छोटे-बड़े १८ गोपुर हैं। यहाँ एक सहस्र स्तम्भमण्डप हैं, जिनमें ९६० स्तम्भ हैं। यहॉ एक गरुडमण्डप है, जिसमें बहुत बड़ी गरुड़जीकी मूर्त्ति है। आगे एक चबूतरेपर स्वर्णमण्डित गरुडस्तम्भ है। जैसे तिरुपति बालाजीमें स्वामिपुष्करिणी सरोवर है, इसी प्रकार यहाँ गोलाकार चन्द्रपुष्करिणी सरोवर है। यहाँ लक्ष्मीजीको 'श्रीरंगनायकी' नामसे पुकारा जाता है। लक्ष्मीजीके मन्दिरके सामने 'कम्बमण्डप' है। तमिल महाकवि 'कम्ब'ने अपनी 'कम्ब रामायण' सर्वप्रथम यहीं भगवान् श्रीरंगको सुनायी थी।

पू.गुरुदेव महाकवि कम्बके इस मण्डपके सम्मुख बहुत कालतक नेत्र मूँदे स्थिर खडे रहे। महाकवि कम्बकी समाधि कहाँ है ? पू.गुरुदेवने अनेक लोगोंसे जिज्ञासा की थी। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि महाकवि कम्ब वाल्मीकिके अवतार थे,– यह तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु इतना कह सकता हूँ कि महर्षि वाल्मीकिके समान भगवान् श्रीरामकी किसी एक कल्पकी लीला उनके सम्मुख अवश्यमेव प्रत्यक्ष हुई थी। उनकी रामायणका एक-एक शब्द मंत्रवत् अनुभूत लीलाका प्रकाश करता है।

श्रीरंगजीके निजमन्दिरका शिखर स्वर्णमण्डित है। निज मन्दिरमें, शेष शय्यापर शयन किये श्यामवर्ण श्रीरंगनाथजीकी विशाल चतुर्भुज मूर्त्ति दक्षिणाभिमुख स्थित है। भगवान्‌के मस्तकपर शेषजीके पाँच फणोंका भव्य छत्र है। बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे मण्डित यह मूर्त्ति परम भव्य है। भगवान्‌के समीप श्रीलक्ष्मीजी एवं विभीषण बैठे हैं। श्रीदेवी, भूदेवी आदिकी उत्सवमूर्त्तियाँ भी यहाँ हैं।

श्रीरंग भगवान्‌का पू.गुरुदेव जब दर्शन कर रहे थे, उस समय उनके सम्मुख भगवान् नारायण प्रत्यक्ष प्रकट हो गये थे। पू.गुरुदेवने उनसे अपनेसे जुडे अनेक लोगोसे घटित कुकर्मोंको क्षमाकर उन्हें भगवत्प्रीति प्रदान करनेकी कृपा करनेकी प्रार्थना की। पू.गुरुदेव भगवान् नारायणसे यही प्रार्थना कर रहे थे कि "इन सब मायामुग्ध मुझसे जुडे जीवोंकी मनकी मलिन चादर कितनी ही मलिन है, यह मलिनता चाहे अत्यधिक घनी ही क्यों न है, चाहे वह कितनी ही पुरानी भी है, और उनसे बार-बार पापोंकी ही आवृत्ति हो रही है, परन्तु उस मलिनताको धो डालनेमें आपकी कृपावारिको क्या विलम्ब लगेगा ? आपकी कृपाकी शक्ति तो अमोघ, असीम है। वह तो इन सब मुझसे जुडे पापियोंको पापमुक्त ही नहीं, रससे सिक्त भी कर ही सकती है ।"

पू.गुरुदेव अपने सम्मुख व्यक्त प्रभुसे कह रहे थे – "प्रभो ! यद्यपि यह सत्य है कि आप उन सबसे अकृत्रिम आत्मसमर्पण चाहते हैं। आपका स्वभाव है कि आपको कृत्रिमता प्रिय नहीं, और मुझसे जुड़े सभी प्राणी कपटसे भरे हैं। उनमें कृत्रिमताके प्रति पूरा आकर्षण है। प्रभो ! यह भी सत्य है कि जिनमें भगवत्कृपाके अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु या व्यक्तिके लिये कुछ भी स्थान है, वे आपकी कृपाके संग्राहक नहीं हैं। किन्तु नाथ ! वे मुझसे किसी भी प्रकार थोड़े-बहुत जुडे होनेसे तटपर तो आ ही गये हैं। अब आपकी कृपासागरकी लहरें उन्हें शीघ्र-से-शीघ्र बहा ले जायें, डुबाकर उनके सभी अहंकारको चूर्ण-विचूर्ण कर दें। प्रभो ! नेत्रज्योतिहीन व्यक्ति भला क्या जाने कि आपकी सच्चिदानन्दमयी रूपमाधुरीकी अद्भुत छवि कैसी होती है ! ये सभी व्यक्ति मायामें अन्धे होनेसे ही एक फतिंगेकी तरह भीषण भवतापमें दग्ध होनेको मचल रहे हैं। आप अपनी हेतुरहित महत्कृपासे इन्हें इन्द्रियातीत दिव्य नेत्र प्रदान कर दीजिये, जिससे ये उस अतीन्द्रिय भगवदीय सौन्दर्यका दर्शन प्राप्त कर लें और तब इन सभीके जीवनसे महामाया-मोहकी निशा सदा-सदाके लिये मिट जाय। प्रभो ! मैं विनय करता हूँ सृजन-संहारमयी दुर्निवार मायासे मात्र

आपकी कृपा ही इनकी रक्षा कर सकती है। प्रभो ! आप तो साक्षी हैं कि आपके पुत्र कामदेवने शिव-समाधिभग करते समय अपने प्रभावका तनिक-सा विस्तार किया तो ऋषियों, मुनियोंतकके धैर्य-धर्म, ज्ञान-वैराग्य, संयम-सदाचार, जप-तप, आदिका बाँध छिन्न-भिन्न हो गया था और सभी विकट रूपसे वासना-विवश हो गये थे।

**भये कामबस जोगीस तापस पाँवरन्हिकी को कहे।**
**देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।।**
**अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामयं।**
**दुइ दंड भरि ब्रह्माण्ड भीतर कामकृत कौतुक अयं।।**

प्रभो ! फिर इस घोर कलिकालमें ये बिचारे कामज कीडे मायाग्रस्त हैं, तो इनकी विवशता भी तो है। प्रभो ! कृपा करें, आप अपने कामदेवके रूपको पूर्णतः विनिन्दित करने वाले दिव्य सच्चिदानन्द रूपकी एक झाँकी इन्हें दिखा दीजिये, जिसपर कोटि-कोटि कामदेव न्यौछावर हैं, जो अनुभवातीत है, स्वमहिमा ही जिसका वासस्थान है। कृपा कर दीजिये, प्रभो ! इसी क्षण ऐसा विधान घटित हो जाय, कृपासमुद्रका ऐसा विलक्षण अभूतपूर्व हेतुरहित ज्वार उठे, बस, सभी अधिकारी-अनधिकारी कृतकृत्य हो जायें, कृपा-कृपा, प्रभु-कृपा !'

पू.गुरुदेव आँचल फैलाकर भगवान् नारायणके सम्मुख दैन्यकी मूर्त्ति बने अपनेसे जुडे जनोंके लिये कृपाकी भिक्षा माँग रहे थे – अचानक उनके पार्श्वमें ही उनके आराध्य प्रियतम श्रीकृष्ण व्यक्त हो गये। पू. गुरुदेवके कानोमे अतिशय मधुर, अतिशय रसमयी ध्वनि गूँज उठी – "प्राणेश्वरी ! क्या मेरे पास तेरे लिये कुछ भी अदेय है ?"

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि मेरे प्रियतमकी वाणी इतनी प्रीतिभरी रसमयी थी कि बस, मैं उस वचनमाधुरीमें ही पूरा डूब गया। कहाँ तो मेरे सम्मुख भगवान् नारायणका ऐश्वर्यमय स्वरूप अभिव्यक्त हो रहा था और मैं उनसे भक्तिभाव भरा अपनेसे जुडे मायाग्रस्त जीवोंके कल्याणकी प्रार्थना कर रहा था, और कहाँ मेरे प्राणनाथकी वाणीने मुझे ऐसे प्रेमके रसमें डुबोया कि श्रीरंगक्षेत्र मेरे लिये रसमय वृन्दावन बन गया।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि सुन्दर भगवान् नारायण भी हैं, सुन्दर भगवान् राम भी हैं, परन्तु नन्दनन्दनकी रूप माधुरी, प्रेम-माधुरी, कृपा-माधुरी तो

अतुलनीय है। प्रियतम श्रीकृष्णने पू.गुरुदेवसे कहा – 'प्राणेश्वरी ! जब रामावतारके समय मेरे चरणोंके संस्पर्शसे पत्थर बनी अयोध्या तर गयी, तो जिन तेरे चरणोंका प्रेममें भरा मैं सवाहन-संलालन करता हूँ, उन चरणोंमें जिसने एक बार भी अपना मस्तक झुका दिया है, उसके कल्याणकी चिन्ता तू क्यों करती है ? वह तो मेरा चिन्त्य विषय है।''

पू.गुरुदेव मुझसे इस सब विषयपर चर्चा करते प्रेमसे छके कह रहे थे – '' भैया ! तुममेंसे किसीको भी अनुमान हो ही नहीं सकता कि मेरे प्रति मेरे प्रियतमका प्यार कैसा अतीन्द्रिय मादक है। जब भी कभी किसी दिवस तुम इस सृजन-सहारमयी सृष्टिसे अत्यतीत भावराज्यमें प्रवेश पाओगे, तभी तुममे ऐसी योग्यता आवेगी कि मेरे प्राणवल्लभ प्राणेश्वरका अथ-इति-रहित प्रेम मेरे प्रति कैसा है और कैसे प्रेमके गहनोदधिमे वे मुझे सतत निमग्न रखते हैं, इसे जान सकोगे। अभी तो तुम मेरे इन शब्दोंको ही सुन लो कि उनके एक वाक्यने ही मेरे भीतर प्रीतिकी ऐसी अद्भुत एवं इतनी अनन्त लहरे तरगित कर दीं कि मैं उनके प्यारमें सराबोर सब कुछ ही विस्मृत कर गया। 'मैं कहाँ हूँ, कौन हूँ, किस हेतुसे यहाँ हूँ, यह कौन देश है – मुझमें कोई स्मृति ही नहीं रही। मेरे प्राणवल्लभके अतिशय मादक प्रेमभरे वक्तव्यने कैसा प्रेम मेरे हृदयमें उछाला, वह वाणीका विषय ही नहीं है। मेरा तो दृश्य ही दूसरा हो गया –

''एकान्त सुमन-सेजपर हम दोनो आसीन हैं। रसराज महाभावमें डूब रहे हैं और महाभाव रसराजमे डूब रहा है। जब मैं उनमें (रसराजमें) पूर्णतया डूबने लगती हूँ, तो उनकी इच्छा होती है कि मुझ डूबी हुईको वे बाहर निकालें और जब वे पूरे मुझमें डूबने लगते हैं तो मेरी इच्छा होती है कि मै उनको पूरा बाहर निकाल लूँ, और सागरके अतल तलमें पूरे डूबे हुएको बाहर निकालकर तटपर बैठा दूँ। जब वे पूरे डूबते हैं, तो मेरे अगोपर उनके अग अति रसमयरूपमें पूर्णतया ढरने लगते हैं। उस समय उनकी श्यामलता विलीन होती हुई कञ्चनवर्णाभा प्रकाशित करने लगती है। मैं समझती हूँ कि अब वे मेरे पूरे रूपको ग्रहणकर राधा ही हो जावेगे। मेरी अति लम्बित केशराशि उस समय शनैः-शनैः विलक्षण भावप्रवणतासे लघु होती जाती है और मेरे कञ्चनवर्णी अंगोंमें श्यामलता प्रकाशित होने लगती है। मै उनके अंगोमें उस समय ढर रही होती हूँ। वे मुझे 'राधा' ही रखनेको आतुर हो उठते हैं। वे मेरा श्रृंगार करने लगते हैं। जैसे ही वे मेरा श्रृंगार प्रारंभ करते हैं, मेरे

अंगोंमें शीघ्रतासे प्रारंभ होता अस्तित्व-परिवर्तन रुक जाता है। वे मुझको श्यामसिन्धुमें डूबी हुईको भी बाहर निकाल लेते हैं। इसी प्रकार जब मेरे अंगोंपर वे ढरे होते हैं और मुझे लगता है कि उनकी केशराशि अतिशय रसमय भावसे लम्बित होती जा रही है, तो मैं उनके कपोलोंमे, वक्षस्थलमें चित्ररचना करने लगती हूँ। जैसे ही मेरी दृष्टि उनके कपोलों, अधरों और वक्षस्थलमें सन्निहित होती है और मेरे कर- सरोज उनपर चित्र-रचना प्रारंभ करते हैं, उनमें होता परिवर्तन स्थगित हो जाता है।''

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि '' भैया ! भावके सागरमें डूबते हुए, लहराते हुए युगल प्रिया-प्रियतमकी वार्त्ताका रस कैसा होता है, वह रंग क्या होता है, उसे वाणीकी सीमामें आबद्ध भला कौन कर सकता है ? उस दिवस श्रीरंग भगवान्‌के सम्मुख प्रार्थना करते-करते ही प्रियतम श्रीकृष्णकी वाणी सुनते ही न तो मैं स्थूल जगत्‌में रह पाया, न ही स्थूल जगत् मेरे सम्मुख रह पाया। उस समय ऑखे खुली भले ही रही हों, परन्तु जगत्‌का दृष्टिगोचर होना सर्वथा ही बन्द हो गया था। कोई कहेगा कि बाबा ऑखें खोले टुकुर-टुकुर देखते तो थे, परन्तु उसे क्या पता कि बाबाकी नेत्रेन्द्रियॉ जगत्‌रूपी अपने विषयको ग्रहण ही नहीं कर रही हैं। उस समय जैसा भावोद्वेलन था, उसे तो मैं ही समझ सकता हूँ। मुझे उसी भावदशामें ही पोद्दार महाराज भीडसे बचाकर किसी प्रकार ले गये।''

श्रीरंगम्‌के विग्रहके सम्बन्धमें पू.गुरुदेव कह रहे थे कि वह श्रीनारायणका साक्षात् चिन्मय विग्रह स्वयं भगवान्‌ने ब्रह्माजीको प्रदान किया था, इसलिये यह भगवान्‌का विभवावतार है। वैवस्वत मनुके पुत्र इक्ष्वाकुने कठोर तप करके ब्रह्माजीको प्रसन्न किया और उनसे विमानके सहित श्रीरंगजीकी यह मूर्त्ति प्राप्त की। तभीसे यह मूर्त्ति इक्ष्वाकुवंशीय नरेशोंकी कुलाराध्य रही। इनकी आराधनाके फलस्वरूप ही इक्ष्वाकु वंशमें रामावतार हुआ था।

त्रेतायुगमें चोलराज धर्मवर्मा अयोध्यानरेश महाराज दशरथके अश्वमेध यज्ञमें आमंत्रित होकर पधारे। उस समय वहाँ उन्होंने श्रीरंगजीका दर्शन किया। उनका चित्त भगवान्‌के श्रीविग्रहमें ऐसा समाकृष्ट हुआ कि वे श्रीरंगजीको प्राप्त करनेके लिये कठोर तप करने लगे। उन्हें सर्वज्ञ ऋषियों-मुनियोंने तपसे यह कहकर निवृत्त किया कि 'श्रीरंगजी तो स्वयं वहाँ पधारनेवाले हैं।''

लंकाविजयके पश्चात् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका अयोध्यामें

राज्याभिषेक हुआ। राज्याभिषेकके उपलक्ष्यमें प्रभु सबको मुँहमाँगी वस्तुएँ प्रदान कर रहे थे। श्रीविभीषणजीने विदा होते समय इक्ष्वाकुवंशके कुलाराध्य भगवान् श्रीरगके विग्रहकी याचना की। उदार-चक्रचूडामणि भगवान् रघुनाथजीने यह मूर्त्ति विभीषणको विमान सहित प्रदान कर दी।

विभीषण इस दिव्य विग्रहको लेकर लंकाकी ओर चला। उस समय देवताओंने प्रार्थना की कि भगवान् लंका नहीं जावें। लंका जानेके मार्गमें विभीषणने कावेरीके इस द्वीपमें चन्द्रपुष्करिणीके तटपर इस मूर्त्तिको रख दिया, और स्वयं नित्यकर्म, स्नान-संध्यामें लग गये। नित्यकर्मसे निवृत्त होकर ज्योंही विभीषणने विमान उठानेकी चेष्टा की तो विमान उनसे हिल ही नहीं पाया। उस समय श्रीरंगजीने प्रत्यक्ष प्रकट होकर विभीषणजीसे कहा – "विभीषण ! तुम खिन्न मत होओ। यह कावेरीका मध्यद्वीप वैकुण्ठवत् परम पवित्र है। राजा धर्मबर्माने मुझे प्राप्त करनेके लिये यहाँ कठोर दीर्घकालीन तप भी किया है। ऋषिगण उसे मेरे यहाँ आगमनका आश्वासन भी दे चुके हैं। इसलिये मेरी इच्छा यहीं रहनेकी है।"

विभीषण लौट गये। वे प्रति दिवस ही लकासे श्रीरंगजीका दर्शन करने यहाँ आने लगे। एक दिवस जब वे वेगपूर्वक लंकासे रथमें आ रहे थे, धोखेमें उनके रथसे एक ब्राह्मण कुचला जाकर मर गया। इसपर यहाँके ब्राह्मणोंने विभीषणको पकड लिया और उसे मार डालनेका प्रयत्न करने लगे। क्योंकि विभीषणको भगवान् श्रीरामजी कल्पान्ततकके लिये अमर रहनेका वरदान दे चुके थे; विभीषण मरे नहीं, तब ब्राह्मणोंने उसे एक भूगर्भस्थित स्थानमें बन्द कर दिया।

भगवान् श्रीरामको देवर्षि नारदजीने यह समाचार अयोध्यामें दिया। भक्तवत्सल भगवान् पुष्पकविमानमें अयोध्यासे यहाँ पधारे। ब्राह्मणोंने विभीषणको अपराध बताकर दण्ड देनेके लिये प्रभुके सम्मुख समुपस्थित किया। भगवान् श्रीरामने कहा – 'ब्राह्मणों ! ये तो मेरे सेवक हैं और सेवकका अपराध तो स्वामीका ही अपराध माना जाता है। इन्हे आप लोग छोड दें और मुझे दण्ड दें।' ब्राह्मण प्रभुका भक्तवत्सल स्वभाव देखकर द्रवित हो गये। विभीषणका छुटकारा हो गया। तबसे विभीषणजी प्रतिदिन श्रीरंग भगवान्‌का दर्शन करने अलक्षित रूपसे यहाँ आते हैं।

# जम्बुकेश्वरमें तेजोद्दीप्त भगवती जगदम्बाका दर्शन

दक्षिण भारतके पञ्चतत्वलिंगोमें जम्बुकेश्वरको जलतत्वलिंग माना जाता है। श्रीरंग मन्दिरसे इसकी दूरी मात्र एक मील पूर्व ही है। यह श्रीरंग मन्दिरसे भी पूर्वका ऐतिहासिक स्थल है। श्रीरंगजीके आगमनके पूर्व यहाँ जम्बुकेश्वर भगवान् विराजित थे। श्रीजम्बुकेश्वर मन्दिरका विस्तार भी सौ बीघेसे अधिक ही है। इसमें तीन आँगन हैं। यहाँ भी एक मण्डप है, जिसमे चार सौ स्तम्भ हैं, 'तेप्पाकुलम् नामका सरोवर है, जिसमें झरनेसे जल आता है। यहाँ सहस्त्र स्तम्भमण्डप भी है। उसके पास भी एक छोटा सरोवर है।

श्रीजम्बुकेश्वर लिग एक जलप्रवाहके ऊपर स्थापित है। लिंगमूर्त्तिके नीचेसे बराबर जल ऊपर आता रहता है। निजमन्दिरमें जल भरा रहता है। अनेक बार उससे बाहर तक भी जल भर जाता है। जल निकलनेके लिये मार्ग बना है, जिससे मन्दिरमें भरा जल बाहर निकाला जाता है। जलके ऊपर मूर्त्तिके मात्र ऊपरी भागके दर्शन होते हैं। शेष मूर्त्ति जलके भीतर ही रहती है।

जम्बुकेश्वर मन्दिरके पीछे एक चबूतरेपर जामुनका एक प्राचीन वृक्ष है। इसी वृक्षके कारण मन्दिर तथा शिवलिंगका नाम जम्बुकेश्वर पड़ा है।

ऐसा कहा जाता है कि आदिशंकराचार्यने यहाँ बहुत दिनो निवासकर भगवान्‌की आराधना की थी। जम्बुकेश्वर मन्दिरके प्रागणमें बायीं ओर एक फाटक है। उससे भीतर जानेपर भगवती जगदम्बाका मन्दिर मिलता है। पू गुरुदेव जब भगवती जगदम्बाके दर्शन करने गये, तो उन्हें भगवतीका निज मन्दिर विलक्षण चिन्मय तेजसम्पन्न दृष्टिगोचर हुआ। सर्वत्र व्याप्त यह तेज इतना उद्दीप्त था कि उन्होंने अपने साथ आये सभी व्यक्तियोंको भीतर जानेसे एक बार मना कर दिया।

भीतर जानेपर पू. गुरुदेवने पाया कि आज भी यह देवीविग्रह परम जाग्रत और तेजोदीप्त है। पू गुरुदेव द्वारा बादमे पुजारीसे जिज्ञासा करनेपर उसने यह रहस्य बतलाया कि 'पुरातन कालमें यह मूर्त्ति इतनी उग्र थी कि इसके गर्भगृहमें प्रवेश करते ही प्राणीकी मृत्यु हो जाती थी। अतः इस मूर्तिकी पूजा भी करनेका किसीको साहस नहीं होता था। भगवान् आदिशंकराचार्य

जब इस स्थानपर आराधनार्थ आये तो उन्होंने माँ जगदम्बाके उग्र तेजको शान्त करनेके लिये उनके कानोमें दो हीरकजटित श्रीयंत्रके कुण्डल पहना दिये और सम्मुख गणेशजीकी मूर्ति स्थापित कर दी। सम्मुख पुत्रकी मूर्ति होनेसे अब माँका उग्रतेज वात्सल्यवश सौम्य हो गया है।"

प्रारम्भमें इस स्थानमें जामुनका घोर वन ही था। यहाँ एक तेजस्वी ऋषि तपस्या करते थे, और भगवान् शंकरकी आराधना किया करते थे। उनका नाम भी जम्बू ऋषि हो गया था। उनकी तपस्यासे प्रसन्न एवं अभिभूत हुए साक्षात् भगवान् शंकर शिवलिंगके रूपमे यहाँ नित्य स्थित हो गये। अब ऋषि तो अधिकांशतः ध्यानस्थ रहते। यहाँ मन्दिर तो था नहीं, मात्र स्वयंभू लिंग प्रतिष्ठित था, जिसपर अनवरत जामुनवृक्षोंके पत्ते गिरते रहते थे। भगवान्‌को इन पत्तोसे ढँक जानेसे बचानेके लिये एक मकड़ी भगवान्‌के ऊपर जाला तान देती थी, जिससे जामुनके पत्ते ऊपर ही अटक जाते और भगवान्‌का ज्योतिर्मय श्रीविग्रह उनसे ढँकजानेसे बच जाता। इधर भगवान्‌का अभिषेक करने एक हाथी भी प्रतिदिन अपनी सूँडमे जल भरकर लाता और भगवान्‌पर जलधारा चढ़ाता। किन्तु इससे मकडीका जाला टूट जाता था। इस प्रकार दोनोमे वैर हो गया। एक दिन हाथीने जब जलधारासे अभिषेक करने अपनी सूँड बढ़ायी तो हाथीकी सूँडमे मकड़ी घुस गयी। इस प्रकार दोनोंकी ही मृत्यु हो गयी। क्योंकि दोनोंके भाव शुद्ध थे, अतः भगवान् शंकरने दोनोंको ही अपने निज जनके रूपमें स्वीकार कर लिया।

श्रीजम्बुकेश्वर मन्दिरके सामने स्तम्भमें यह कथा अंकित है।

———

# श्रीविल्लीपुत्तूरमें भगवती गोदासे तादात्म्य

श्रीविष्णुचित्तस्वामीकी जन्मस्थलीपर पहुँचते ही पू.गुरुदेवको ऐसा अनुभव होने लगा मानो मैं ही यहाँ पूर्वजन्ममे भगवती गोदाके रूपमें जन्मा था। भगवती आण्डाल (गोदाम्बा)का वह बालजीवन उनकी आँखोंमें प्रत्यक्षवत् प्रकट हो गया।

"तेरह वर्षकी वह कन्या 'गोदा' विष्णुचित्तस्वामीकी प्राणोंकी एक मात्र निधि थी। वह जब अपने गृहमें स्थित श्रीरंगनाथजीका दर्शन करती तो सात्विक भावोंका उसमें इतना प्रबल उन्मेष होता कि जड़िमा भावसे उसके अंग अवश हो जाते।"

" वह नित्य ही श्रीरंगनाथजीके निकट-से-निकट चली जाती और नयन मूँदकर प्रतिदिन भाव करती कि श्रीरंगनाथ उसे भुजपाशमें बाँध रहे हैं। कभी वह प्राणोकी अप्रतिम ललकसे श्रीरंगनाथकी मूर्त्तिको अपने अंकमें धारण कर लेती। उस समय उसे ऐसा मिलन-सुख अनुभव होता जिसका वर्णन वाणी द्वारा होना ही असंभव है। उसके पिता देखते कि उनकी पुत्री प्रति दिवस ही ऐसा करती है। वे एक अतिशय मर्यादी भक्त थे। उनके आराध्य रगनाथ उनकी दृष्टिमें इतने पवित्र थे कि किसी मानवीके मांसल देहसे इस प्रकार मिलन, संस्पर्श, उन्हें असह्य था। उन्होंने अपनी पुत्रीको बहुत समझानेकी चेष्टा की, किन्तु निषेध करनेपर भी उनकी पुत्री मानती नहीं थी एवं गत दिवसकी अपेक्षा और अधिक उत्साह एव प्रेमसे पुन श्रीरगनाथके विग्रहको अपने बाहुपाशमें बाँध ा लेती थी। इस बालिकाके रोम-रोममे श्रीरंगनाथजीके प्रति प्रीतिकी ऐसी लहर परिव्याप्त होती थी, जिसकी झाँकी प्राकृत बुद्धिसे शास्त्रीय मर्यादाओमें बँधे उसके पिताकी कल्पनामे भी कभी होनी असंभव थी। बालिकाकी अपने प्रियतम एवं सर्वस्व श्रीरगनाथसे मिलन-समाधि नित्य नूतन सुखमयी होती और कितने ही कालतक चलती रहती।

श्रीविष्णुचित्तस्वामी अपनी बालिकाको अनेकानेक शास्त्रीय बाते समझाते, भगवान्के श्रीविग्रहसे किस प्रकार मर्यादायुक्त व्यवहार करना चाहिये, इसकी शिक्षा देते, किन्तु उसके भावप्रवाहमें क्षणभरके लिये भी कभी कोई अन्तर नहीं

होता।

श्रीरंगनाथ उसके मन-प्राणोंमें बस गये थे। वह निरन्तर ही परमाकुल नेत्रोंसे श्रीरंगनाथके विग्रहाको निहारा करती। एक दिवस उसके पिताने सोचा कि इसे भगवान्की किसी ऐसी सेवामें उलझादें, जिससे यह उन्हें आलिंगन करनेकी कुचेष्टासे निवृत्त हो जाय। उनके भगवान् तो इतने पूत थे कि मानवकी गन्दी श्वाससे अपवित्र होते थे। वे तो उनकी सेवा करते समय जब उनके निकट होते तो अपने श्वास-प्रश्वासपर भी यथासंभव निग्रह रखते थे। वे भला अपनी पुत्रीकी ऐसी अमर्यादित उच्छृंखल क्रियाको कैसे सह पाते, परन्तु निरुपाय थे। अतः उन्होने बालिकाको भगवान् श्रीरंगनाथकी पुष्पवाटिकासे पुष्पचयन करने और भगवान्के लिये माला निर्माण करनेकी सेवा सौंप दी। वे सोच रहे थे कि भगवान्की वनमालाके लिये पुष्पचयन एवं वनमालाके ग्रंथनमें उनकी बालिकाको तीन-चार घण्टेका समय तो लगेगा ही, तबतक वे अपनी समग्र श्रीविग्रहकी पूजा सम्पन्नकर मन्दिरका पट बन्दकर उसमें ताला लगा देंगे। इस प्रकार बालिका भविष्यमें ऐसी कोई उद्धत चेष्टा नहीं कर पावेगी। यही उनकी योजना थी। हाँ ! बालिकाके मनोरथके रक्षार्थ वे बालिका द्वारा निर्माण की हुई माला अवश्य श्रीरंगनाथके श्रीविग्रहको अर्पण कर देंगे।

बालिका गोदाने अपने पिताजी द्वारा प्रदत्त भगवान् श्रीरंगनाथकी वनमाला-निर्माणकी सेवा अति उत्साहसे स्वीकार कर ली और प्रथम दिवस ही जब उसने वनमाला निर्माणकर अपने पिताको सौंपी, तो पिता विष्णुचित्तस्वामी अपनी पुत्रीकी कलाकृति और मालारचना-कौशलको देखकर अत्यधिक प्रभावित हो उठे। अब तो प्रति दिवस ही यह वनमाला-निर्माणकी सेवा गोदा ही करने लगी।

गोदा प्रतिदिन ही निरे प्रातःकाल उठकर सचैल मस्तकपर्यन्त स्नान करती और तब गीले वस्त्रोसे ही खुले बाल पुष्पवाटिकामे प्रवेश कर जाती। वह ज्योंही वाटिकामें प्रविष्ट होती उसे तो भगवान् रंगनाथ वहाँ उसकी प्रतीक्षा करते दृष्टिगोचर होते। अहा ! गोदाम्बानायक श्रीरंगनाथका मस्तक रत्नजटित मनोहर स्वर्णमुकुटसे मण्डित होता। उसपर मयूरपिच्छ लहराता होता। उनकी मनोहारी घुँघराली अलकोंसे ऐसा सुवास प्रसरित होता कि गोदाम्बा तो बेसुध ही हो जाती। अब तो श्रीरंगनाथ उसको गलेसे लगाये, उसके साथ ही पुष्पचयन, ग्रन्थन भी करते। जैसे ही माला गूँथती, स्वयं रंगनाथ उस मनोहारी

वनमालाको पहले अपने हाथसे गोदाके केशपाशमें सज्जित कर देते। फिर एकटक देखते कि कितनी मनमोहक बन गयी है, इससे उनकी प्रिया गोदाकी चूड़ाकी कान्ति !

फिर तो प्रारंभ हो जाता श्रीरंगनाथ भगवान् द्वारा अपनी प्राणप्रिया गोदाके अंग-प्रत्यंगका श्रृंगार। वे अपनी प्राणप्रियाके ललाटपर चन्दन और केसरसे खौरकी रचना करते। श्रीरंगनाथ स्वयं अपने हाथोंसे अपनी प्रियाके झूमते प्रेममदसे छके कमलनेत्रोंमें काजल अंजित करते। गरुडकी चौंच-सी अपनी प्रियाकी नुकीली नासिकाके अग्रभागमे मुक्ताकी बेसर पहनाते। अपनी प्रियाके परम मनोहर कमलदल-से मनोहर कानोंमें कर्णभूषण पहनाते। और तब अपनी प्रियाके दर्पण-सदृश कपोलोपर उन कर्णभूषणोंके पड़ते झलमलाते प्रतिबिम्बको देख-देखकर अति हर्षित हो उठते। श्रीरंगनाथ अपनी प्रियाके अतिशय लावण्ययुक्त मुखारविन्दको, जो कोटि-कोटि शशधरोंके समान कान्ति बिखेरता होता, घण्टों अपलक निहारते रहते। अपनी प्रियाके लज्जावनत मुखको, उसकी मन्द-सुमन्द मुसकानकी छटासे प्रकाशयुक्त प्रतीत होती चिबुक(ठोढ़ी)को संस्पर्शितकर उन्नत करते और उसकी छवि वे बार-बार, निरख-निरखकर न्यौछावर हो उठते। अहा ! कितना प्रेम और लावण्य भरा होता उस समय श्रीरंगनाथके नेत्रोंमें ! गोदा तो उसी समय लज्जासे अपने प्रियतमके पीत उत्तरीयमें अपना मुख छुपा लेती। जिस समय भगवान् रंगनाथकी आजानु भुजाओंमें – जिनमें केयूर और कंकण सुशोभित होते, गोदा बँध जाती, उस समय अन्तरिक्षमें विमानोमे विराजित देव और देवांगनायें हर्षसे पुष्पवर्षा करने लगते। अपनी प्रियाके लाल-लाल करतलोंको जब भगवान् रंगनाथ अपने हाथोंमें लेते और उनपर कस्तूरीसे भिन्न-भिन्न अतिशय सुहावने चित्र रचना करते, उस समय भगवती लक्ष्मी भी गोदादेवीके सौभाग्यकी सराहना करने लगती।

इस प्रकार प्रतिदिन ही भगवान् श्रीरंगनाथ एवं जगज्जननी गोदाका पुष्पवाटिकामें मिलन होता और वे दोनों मिलकर समवेत पुष्पचयन करते। फिर दोनों मिलकर ही वनमाला गूँथते, वनमालामें नित्य नूतन कलाकृतियाँ निर्माण करते, और जब माला गुँथ जाती तो भगवान् रंगनाथ पहले उसे अपनी प्रियाकी वेणीमें श्रृंगारित कर देते और तत्पश्चात् अपनी प्राणप्रियाका अंग-प्रत्यंगका श्रृंगार करते। जब अपनी प्रिया गोदाका भगवान् रंगनाथ पूर्ण श्रृंगार सम्पन्न

कर लेते तो गोदाको वे उसका सजा-सजाया वदन एक भरे कूपजलमे दिखलाते।

बालिका गोदा उसके पश्चात् अपनी वेणीमें गुँथी माला उतारती और उसे कदली-पल्लवोंमें बाँधकर मन्दिरमें अपने पिता विष्णुचित्तस्वामीको भगवान् रंगनाथके श्रीविग्रहको अर्पित करनेको दे देती। भगवती गोदाके पिता अपनी पुत्रीके मालानिर्माणके कला-कौशलको देख-देखकर मुग्ध हो जाते। यह क्रम लगातार अनेक दिवसोंतक निर्विघ्न चलता रहा।

एक दिवस जब विष्णुचित्तस्वामी अपनी पुत्री द्वारा संरचित वनमाला, जो पुष्पों एवं तुलसीदलोंके संयोगसे अतिशय मनोहर ग्रथित थी, अपने आराध्य भगवान् रंगनाथको अर्पण कर ही रहे थे, उसी समय उन्होंने देखा कि मालामें एक अतिशय दीर्घ काला बाल गुँथा हुआ है। पूर्ण आचारनिष्ठ ब्राह्मण विष्णुचित्तस्वामीका नारीदेहके बालको अपने आराध्यकी मालामें देख अतिशय ग्लानियुक्त होना तो स्वाभाविक ही था, उन्होंने अतिशय खिन्न मनसे अपनी बालिकाको बुलाया और वह बाल दिखाकर उसकी भर्त्सना की। उन्होंने उस दिन भगवान्के श्रीविग्रहको तुलसी-वनमाला धारण ही नहीं करायी। दूसरे दिवस पुनः जब श्रीविष्णुचित्तस्वामी अपनी पुत्री द्वारा रचित वनमालाको भगवान्को अर्पण करनेके पूर्व ध्यानसे देख रहे थे, उन्हें फिर नारीदेहका अति लम्बित बाल उसमें गुँथा मिला। तीसरे दिन भी जब यही बात पुनः दृष्टिगोचर हुई, तो चौथे दिन वे छुपकर अपनी बालिकाकी माला ग्रंथन करनेकी क्रिया गुपचुप छिपकर देखनेका निश्चय कर बैठे। वृद्ध सदाचारी विष्णुचित्तस्वामी जब एक लताजालकी ओटसे अपनी पुत्रीपर छिपकर दृष्टि जमाये थे, तो उन्हें भगवान् रंगनाथके दर्शन तो हुए नहीं, बस, यही दृष्टिगोचर हुआ कि उनकी पुत्री गोदा पुष्पमाला निर्माणकर सर्वप्रथम उससे अपनी वेणी सजाती है, तब भरे कूपके जलमें प्रतिबिम्बित अपने स्वरूपको स्वयं देखती है, और तब अपने केशोंमें सज्जित माला उतारकर उसको कदली-पत्तोंमें बाँधकर उसे भगवान्के श्रीविग्रहकी सेवामें समुपस्थित करती है। अपनी पुत्री द्वारा किये जानेवाले इतने गर्हित आचरणकी तो वृद्ध भगवद्भक्त पिताको कभी कल्पना ही नहीं थी।

वे चुपचाप यह सब देखकर मन्दिर चले आये, और ज्योंही गोदा माला लेकर आयी, वे उसके आचरणका बखानकर उसके सम्मुख फूट-फूटकर रोने लगे। बालिका गोदा तो इतनी सरल एवं रसमय थी कि उसे यह समझ ही

नहीं आ रहा था, कि उससे भूल कहाँ हुई है। जब स्वयं भगवान् रंगनाथ उसका मनुहार करने उसकी वेणीमें माला सज्जित करते हैं, तो फिर दोष उसका कहाँ, दोष तो भगवान्‌का है। किन्तु अतिशय लज्जाशील बालिका अपने रुष्ट पिताके सम्मुख ऐसी सरस बात कहे भी तो क्या ! बालिका गोदा अपने पिता द्वारा दी हुई सभी भर्त्सनाएँ चुपचाप सुनती रही और एक शब्द भी नहीं बोली। दण्डस्वरूप दूसरे दिवससे गोदाका भगवान् रंगनाथके गर्भमन्दिरमें, उनकी पुष्पवाटिकामे, दोनों स्थानोंमें प्रवेश ही निषिद्ध हो गया। अब भला गोदाका यह अपमान एव उनके विरहमें उसका विलाप भगवान् रंगनाथ कैसे सह पाते ? रात्रिको ही भक्तिमती गोदाके पिताको स्वप्नादेश हुआ। स्वप्नमें स्वयं भगवान् रगनाथ विष्णुचित्तस्वामीके सम्मुख प्रकट हो गये थे। भगवान् रंगनाथने विष्णुचित्तस्वामीको स्पष्ट आदेश दिया था कि उन्हें वनमाला तभी स्वीकार होगी जब वह वनमाला बालिका गोदा ही अपने हाथों निर्माण करेगी, और प्रथमतः अपनी वेणीमें गूँथकर फिर उन्हें पहनायेगी। साथ ही उनकी शेष सभी पूजाएँ भी आजके पश्चात् गोदाके द्वारा ही सम्पादित करायी जायें। यदि उनके द्वारा दिये इस आदेशका अक्षरश पालन नहीं हुआ, तो फिर परिणाम भयानक होगे, विष्णुचित्त स्वामी उसे भोगनेको तैयार हो जावें।

भगवान् द्वारा स्वप्नमें प्रत्यक्ष प्रकट होकर इस प्रकार आदेश देनेके पश्चात् विष्णुस्वामी अब भला भगवदाज्ञाको क्योंकर ठुकरा पाते।

पू गुरुदेव कह रहे थे कि दक्षिण भारतमें भक्तिमती गोदा आण्डालके रूपमे राधाभाव ही व्यक्त हुआ है। उनका तन-मन वचन एवं जीवन लोकोत्तर रूपसे निर्मल और उज्ज्वल है। उनमें निज सुखेच्छाका कणांश भी नहीं है, अपितु सच्ची बात यही है कि तत्सुखके लिये सर्वस्वका उत्सर्ग कर देनेके लिये उनमें उल्लास उमड़ता रहता है। भगवती गोदा देवी आण्डालसे श्रीरगनाथ भगवान्‌ने प्रकट प्रत्यक्ष होकर सर्वजनके सम्मुख पाणिग्रहण किया है। उनके विवाहमे सभी तीर्थ, सभी देवता, स्थान-स्थानसे प्रकट चलकर आये थे। जैसे नरसी भक्तका माहेरा भगवान्‌ने साँवल सेठके रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट होकर सब जनसमुदायके सम्मुख भरा था, उसी तरह भगवान्‌ने देवी गोदा आण्डालसे विवाह भी सब जनसमुदायके सम्मुख किया था।

जिस कूपमे भगवती गोदा आण्डाल अपनी छवि जल-प्रतिबिम्बमें देखा करती थी, वह कूप आज भी ज्यो-का-त्यों विद्यमान है। पू गुरुदेव उस कूपका

सहारा लेकर घण्टों समाधिस्थ-से बैठे रहे। श्रीविल्लीपुत्तूरमें जो रंगनाथजीका मन्दिर है, उसमें मुख्य स्थानपर गोदाम्बाके साथ ही श्रीरंगनाथजीकी पावन मूर्त्ति है। उन्हे यहाँ रगमन्नार (रंगप्रभु )कहते हैं। श्रीरंगमन्नार मन्दिरसे लगभग आधे मीलपर एक सरोवर है। इस सरोवरमें ही स्नान करके पास ही स्थित श्रीरंगवाटिका में गोदा पुष्प चयनार्थ जाया करती थी।

---

# श्रीआद्यशंकराचार्यकी जन्मस्थली कालड़ीमें

कालड़ी भगवान् श्रीआद्यशंकराचार्यकी जन्मभूमि है। यहाँ पेरियार नदीके तटपर श्रीशंकराचार्य एवं उनकी माताका मन्दिर है। यह वही पेरियार नदी है, जिसमें भगवान् शंकरने पाँच वर्षकी ही छोटी अवस्थामें माया-मकर निर्माण किया था, और उसके मुखमें स्वयंको निपतितकर अपनी मातासे संन्यास-दीक्षाकी अनुमति ले ली थी।

भगवान् शंकरके मन्दिरमें प्रवेश करते ही पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको उनके द्वारा प्रवर्तित अनेक औपनिषद् महावाक्योंकी स्मृति हो आयी। वे एकदम गम्भीर, भाव-विभोर हो उठे। उनके नेत्र आर्द्र हो उठे थे और कपोल अश्रुसिक्त। उनके अधरो, नथुनो और कपोलोकी आकृति कुछ बदल गयी थी। एक विशेष प्रकारका वैवर्ण्य मुखाकृतिपर अवतरित हो उठा था। वे कुछ भी बोलनेकी स्थितिमें तो थे नहीं। पू.गुरुदेव डूब गये थे उस स्मृतिमें, जब वे पूरे शांकर मतानुयायी, निष्ठावान्, अद्वैतवादी, निरन्तर **'सोऽहम्'** मंत्रका जप करनेवाले होकर गीताप्रेसमें सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके निमंत्रणपर आये थे। किस प्रकारसे वे प्राणवल्लभ नन्दनन्दनकी अहैतुकी कृपा-योजनासे गीताप्रेससे गीतावाटिका पहुँच गये और सेठजी गोयन्दकाजीके स्थानपर परम भागवत, महासिद्ध, सन्त, महज्जन, श्रीपोद्दारजीसे टकरा गये। फिर मात्र चरणस्पर्श करके श्रीपोद्दार महाराजने अद्वैत निष्ठाके महलको किस प्रकार धूलि-धूसरित कर दिया और उनमें मधुर साकारोपासनाके बीज वपन कर दिये। पू.गुरुदेवके सम्मुख वे सभी पुरातन स्मृतियाँ जीवन्त जाग्रत् हो उठी थीं, जब उन्हे पोद्दार महाराजने सूक्ष्मदेहसे रसदीक्षा प्रदान की थी और मधुरोपासनामें अतिशय गहरे उतार दिया था। फिर भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे उनकी श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीकी पूजा-अर्चना प्रारम्भ हुई और श्रीपोद्दार महाराजके द्वारा ही उन्हें बिना माँगे ललिता-सहस्रनाम एवं सौभाग्य-अष्टोत्तरशत-नामावलिकी पुस्तककी प्रति प्राप्त हुई थी। जिन परम भट्टारिका भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरीकी उपासना भगवान् शंकराचार्यने की और उनके प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किये, वैसी ही इस उपासनामे उन्हे भी सफलता मिली।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि यह स्थान अभी भी आध्यात्मिक शक्तिका

पुञ्ज है। बहुत ही सशक्त ज्ञानका तेजोवलय यहाँके वातावरणमें सर्वत्र व्याप्त है। पू.गुरुदेव साधककी दृष्टिसे कह रहे थे कि कोई ईमानदारीसे किसी भी पथसे चले तो सही, किसी प्रतिबिम्बको चाहे वह ज्ञानका हो, भक्तिका हो, किसी भी आचार्य, सम्प्रदाय, मतके अनुसार पकडे तो सही, वह अवश्य उस बिम्बको, परम सत्यको प्राप्त कर लेगा। और सत्य तो एक ही है, चाहे वह ज्ञानसागरसे उपलब्ध हो अथवा भावसागरसे। हॉ भावसागरका पथ रसमय है और ज्ञानका परम शुष्क।

# कन्याकुमारीमें रसोद्दीपन

उस दिवस फाल्गुन कृष्णपूर्णिमा थी, जिस दिन पू. गुरुदेव श्रीराधा बाबा एवं श्रीपोद्दार महाराज भारतवर्षकी दक्षिणी सीमा कन्याकुमारी पहुँचे थे। पू. गुरुदेव कह रहे थे कि विश्वकी एक-से-एक विस्मयजनक वस्तुएँ प्रपञ्च-निर्माताके हाथों सृष्ट हुई है।, इनमें एक यह दक्षिण भारतका भूमिविन्दु भी है, जहॉसे दक्षिणकी ओर मुख करनेपर पृथ्वीके दक्षिणी ध्रुवतक मात्र जल-ही-जल मिलेगा, कहीं भी भूमिका एक लघु खण्ड भी दृष्टिगोचर नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार यदि वह व्यक्ति उत्तराभिमुख हो जायगा तो उसे उत्तरी ध्रुवतक कहीं भी जलके दर्शन नहीं होंगे, मात्र पृथ्वी-ही-पृथ्वी दृष्टिगोचर होगी। पू.गुरुदेव इसीकी सतुलना आध्यात्मिक दृष्टिसे करते हुए कह रहे थे कि स्रष्टाकी इस निर्मितिसे मानव यदि शिक्षा ले ले और मात्र भगवन्नामका आश्रय ले ले, तो उसके भी जीवनमें एक ऐसा विन्दु आ जाता है, जिसके आगे फिर प्राकृत माया एव लौकिकता शेष रह ही नहीं जाती। शेष रह जाता है मात्र भावोल्लास, अथवा ज्ञानोल्लास। वह या तो मुक्तिसमुद्रमे डूब जाता है, और यदि इस मुक्तिसिन्धुके व्यामोहसे वह पार हो जाय तो उस ध्रुवतक उसकी पहुँच हो जाती है, जहॉ मात्र तत्सुखी भाव-ही-भाव, अगाध प्रीति-ही-प्रीतिका साम्राज्य है।

पू.गुरुदेव गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे कह रहे थे -"गोस्वामीपाद ! आज फाल्गुनी पूर्णिमा होनेके कारण लोग होलिका-दहन करेंगे, आप मेरे प्यारकी लाज रख लीजिये, आप एक व्यक्ति तो ऐसे हों जो ससारमें मत्सुखकी होली जलादें। यह 'मत्सुख'की अमावस्या मिट जाय और श्रीकृष्णसुखकी जय हो जाय, फिर तो आपकी हृदयभूमिपर तीनो दिशाओसे प्रीतिभावका महा

समर्पण मूर्ति पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

सिन्धु उमड उठेगा। आपके सम्मुख तो होंगे रसराज ब्रजेन्द्रनन्दन पलक-पाँवड़ा बिछाये और पूर्व एवं पश्चिम दोनों ओर होगा महाभावसिन्धु अपने दक्षिण एवं वाम रसास्वादनमें आपको आपाततः निमग्न कर देनेको समुत्सुक। जीवनमें फिर आपके पल–पल रस उछलता रहेगा।

पू.गुरुदेव गोस्वामीजीको लेकर वहाँ खड़े थे, जहाँ कन्यास्वरूपा कुमारी पार्वतीजीका मन्दिर है। जनश्रुतिके अनुसार भगवती पार्वती यहाँ एक पैरपर खडी रहकर भगवान् शिवकी प्राप्तिके लिये तप कर रही हैं। कहते हैं, सत्ययुग आनेपर भगवान् शंकरसे उनका परिणय-मिलन होगा। इसी स्थलपर पू.गुरुदेव श्रीचिम्मनलालजीको कह रहे थे – गोस्वामीपाद ! ब्रजभावकी गरिमा तो अति विचित्र है। वहाँ राधा इस प्रकार कोई तप नहीं करती, जिससे उसे उसके प्रियतम श्रीकृष्ण मिल जावें। उसे तो 'स्वसुख'के लिये, 'स्वकल्याण'के लिये, निजकी कृतकृत्यता अथवा निजके जीवनके साफल्यके लिये श्रीकृष्ण-मिलनकी चाह ही नहीं है। वहाँ तो प्रियतम श्रीकृष्ण ही अपनी प्राणेश्वरी श्रीराधाकिशोरीसे मिलनेकी चाह करते हैं। वे तो उनका सन्देश पाकर उनके सुखके लिये संकेतवटपर मिलने जाती हैं।

गोस्वामीजी ! यह सकेतवट इस जगत्के नायक-नायिकाके मिलनभूमिकी तरहका कोई स्थान नहीं है। यहाँका संकेत-स्थल तो चिन्मय देश है, जो लीलाकी सुन्दरताके लिये जब जिस प्रकारके वातावरणकी आवश्यकता होती है, वैसा वातावरण समुपस्थित कर देता है। इस चिन्मय प्रदेशमे वे सभी उपकरण सदैव समुपस्थित हो जाते हैं जिससे लीला निर्बाध रूपसे चल सके और लीलाकी सम्पन्नता सुन्दरतम प्रकारसे हो सके। कहनेका सार यही है कि तत्सुखसुखित्वका भाव श्रीबृषभानुनन्दिनीके अणुं-अणुमें परिव्याप्त है। इन भावतरंगोंकी गाथा अनिर्वचनीय है। वस्तुतः इन भावलहरियोंकी महिमा अनुमानसे सर्वथा परे है।

गोस्वामीपाद ! निजसुख-कामनाका नितान्त अभाव और प्रियसुख-वाञ्छामें आशिख निमग्नता ही ब्रजभावके साधककी आधारशिला है। स्वसुख-वासनाका आत्यन्तिक राहित्य ही ब्रजभावका आरंभ है। श्रीप्रिया-प्रियतमकी रसमयी सेवामें संलग्न सखियो-मंजरियोंके तत्सुखी भावका स्तर और स्वरूप तो अनुमानातीत है ही, ब्रजदेशकी प्रकृति भी तत्सुखी भावसे सदैव भावित रहती है। इस विलक्षण देशकी लताएँ-वृक्ष, पशु-पक्षी –यहाँतक एक तृण भी तत्सुखी भावसे

भावित रहता है। यह सब वार्त्ता करते-करते पू.गुरुदेव अरब सागरमें सूर्यास्त एवं बंगालकी खाडीमें चन्द्रोदयका दृश्य देखने चल दिये।

यहाँ कन्याकुमारीपर अरबसागरपर सूर्यास्तके समय डूबते सूर्यका दृश्य बहुत ही भव्य होता है।

सभी यात्रियोंने अरबसागरपर डूबते सूर्यका दृश्य देखा और बंगालकी खाडीमें फाल्गुनी पूर्णिमा होनेसे रुपहले चन्द्रोदयका दृश्य अतिशय मनोहर था।

आज पू.गुरुदेवने यही निश्चय किया कि वे गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एव श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी आदिके राहित रात्रिमें सागरके तटपर ही अपना आसन लगावेंगे। यद्यपि लोगोने पू.गुरुदेवको यह कहकर मना करना चाहा कि वहाँ सागरतटपर बैठना खतरेसे खाली नहीं है। पूर्णिमाके दिन सागरमें वैसे ही उत्ताल ज्वार आता रहता है, और उत्ताल लहरें किसको सागरके मध्य खींच लें, कुछ भी असंभावित घट सकता है। किन्तु एक बार कुछ भी निश्चय कर लेनेपर पू.गुरुदेवको उनके हठसे हटाना प्रायः असंभव ही होता था। ।

पू.गुरुदेवकी परम रसमयी भावनाको कौन ग्रहण करे ? लोगोंके पास इस भावनाको ग्रहण करनेका पात्र ही जो नहीं था। पू.गुरुदेवके लिये तो सागर उनके प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र ही तो थे। संसारके लिये परिदृश्यमान जगत् और जगत्से उत्पन्न होनेवाले नरक-स्वर्ग, मृत्यु-जन्म, राग-द्वेषमूलक हो सकते हों, पू.गुरुदेवके लिये तो कार्यकारणात्मक यह समस्त परिदृश्यमान् जगत् नराकृति परब्रह्म उनके प्रियतम श्रीकृष्णका ही रूप तो था। वे श्रीकृष्ण उनका मृत्यु-विधान करे या जीवित रखें, पू. गुरुदेव तो उनकी रुचिकी ही सर्वदा एवं सर्वथा जय मनाते रहते थे। उनका स्वयंका तो अह शेष था ही नहीं, जो भयग्रस्त हो अथवा अनुकूलता-प्रतिकूलता अनुभव करे।

पू.गुरुदेव तो रात्रिपर्यन्त गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे ब्रजरसके निर्मलतम तत्सुखीभावोंकी चर्चा करते रहे।

पू. गुरुदेवने गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे रात्रिपर्यन्त ब्रजभावकी ही चर्चा की। वे उन्हें यही समझा रहे थे कि — "गोस्वामीपाद ! आपके जीवनमें एक बहुत बड़ी भूल यह होती है कि आपको कर्त्तव्यबोधकी भावना स्वयंमें अटकाये रखती है। आप उसे जड-मूलसे हटा दीजिये। विविध कर्त्तव्य-बोधकी

भावनामें अटके हुए साधकको जीवनधारा सर्वथा सर्वरूपेण नीलसुन्दरकी ओर प्रवाहित नहीं हो पाती। जब आपको पोद्दार महाराज जैसे रसिक सिद्ध सन्तकी कृपा-कणिका मिल चुकी है, फिर आप यह क्यों सोचते हैं कि मुझे अमुक धर्मका पालन करना है, मुझे अमुक कर्त्तव्यका निर्वाह करना है। बस, अपने जीवनकी धाराको सर्वथा सर्वरूपेण नीलसुन्दरकी ओर प्रवाहित कर दीजिये। इस जगत्से सर्वथा एवं सर्वदाके लिये उपरत हो जाइये। तीनों लोकोंके सुखको घास-फूसके समान समझिये। कितना ही आप जप-तप करलें, कितना ही तीर्थाटन करें, जो सुख आपको श्रीपोद्दार महाराजकी कृपाकणिका देने वाली है, उसकी तो अभी कल्पना ही आप कर नहीं सकते। अतः अपने अहंकारके तटको चूर्ण-चूर्ण करके उसे अथाह समुद्रवत् श्रीपोद्दार महाराज रूप रससिन्धुमें मिला दीजिये। आपकी अहंकारकी जलधारा उनसे मिलकर सिन्धु हो जाय। सरिता जब सिन्धुमे मिल गयी तब चाहे वह सरिता गंगा हो, यमुना हो, कृष्णा हो, गोदावरी हो, एवं चाहे कावेरी ही क्यों न हो, अब किसकी सामर्थ्य है कि इस सम्मिश्रित जलको पृथक्-पृथक् कर सके।

जिस प्रेमीका मानस-विन्दु अपने प्रेमास्पद रससिद्ध सन्त रूप सिन्धुमे विलीन हो चुका है, उस प्रेमी मनका अपने प्रेमास्पदसे पृथकत्व कर सकना, पृथक् हो सकना सर्वथा असंभव है।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके कहनेसे गोस्वामीजीने उन्हें उस रात निम्न पद सुनाया–

**चलौ री आज ब्रजराज मुख निरखिये**
**लोककी लाज सौं काज कहा सरैगो ।**
**बहुरि कोउ कहैगो स्यामके ढिंग गई**
**याहु ते अधिक कोउ और कहा कहैगो।।**
**नाचिबे लगी तो फेर घूँघट कहा**
**सूर रन चढे पै कौन ते डरैगो ।**
**निरखिये रूप नारायण हरि स्यामकौ**
**बहुरि ऐसो सखी दाव कब परैगो।।**

यह पद श्रीगोस्वामीजीकी सुमधुरतम स्वरलहरीमें सुनते-सुनते पू. गुरुदेवके मनने जागतिक धरातल ही छोड़ दिया। गोस्वामीजीके गायनसे वे कहीं 'अन्यत्र' ही चले गये थे। क्या दिवस, क्या रात्रि, क्या भोर, क्या सायं –पू.

गुरुदेव जब अपने लीलाराज्यमें उद्दीपित हुए डूब जाते थे, तो फिर काल वहाँ रहता ही कहाँ था ? गोस्वामीजीको निशापर्यन्त पू.गुरुदेवके पास रहना ही था। होलीदहनकी महारात्रि थी, आज तो रात्रिपर्यन्त जागरण उन्हें करना ही था। अतः वे कुछ कालतक तो शान्त रहे, फिर उन्होंने ब्रजभावके ही पद सुनानेका निश्चय कर लिया। वे गाने लगे –

**आनँद सिन्धु बढ्यौ हरि तनमें।**
**राधा मुख पूरन ससि निरखत, उमगि चल्यौ ब्रज बृन्दावनमें ।।**
**इत रोक्यौ जमुना उत गोपिन कछु एक फैलि पर्यौ त्रिभुवनमें ।**
**नहिं परस्यौ कर्मठ अरु ज्ञानी, अटकि रह्यौ रसिकनके मनमें ।।**
**मंद-मंद अवगाहत बुधिबल, भक्त हेतु लीला छिन-छिनमें ।**
**कछुक लह्यौ नन्दसूनु कृपातें सो देखियत परमानँद जनमें ।।**

इस पदको सुनकर पू.गुरुदेव किंचित् मुखर हुए। धीरे-धीरे वे बोलने लगे –"गोस्वामीपाद ! बृषभानुनन्दिनी और ब्रजेन्द्रनन्दनके चिद्विलासका सागर परम अद्भुत है। मैं तो कट्टर वेदान्ती था, मेरे हृदयमें इस ब्रजरसके प्रवेशकी तो संभावना ही नहीं थी, किन्तु महारससिद्ध संत महानुभाव श्रीपोद्दार महाराजने प्रणाम करनेके बहानेसे चरणनखोंका स्पर्श करके मेरे अन्दर स्वयं अपनेको ही सदाके लिये प्रतिष्ठित कर दिया। और अपने साथ-ही-साथ प्रतिष्ठित कर दिया इस चिद्विलासको भी। पू.गुरुदेव कह रहे थे कि " लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये लोग साधना करते हैं, परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि अमुक साधनासे साधकको स्वरूपकी प्राप्ति हो ही जायगी। लक्ष्यतक पहुँचनेका एक मात्र उपाय कृपा ही है। यह हो सकता है कि साधना करते-करते कृपापात्रता साधकको मिल जाय, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कृपापात्रता पानेके बाद भी वह कृपाभाजन बनेगा अथवा नहीं। कृपापात्रताकी स्थिति और कृपाप्राप्तिकी स्थिति – ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। साधना करते-करते साधकका हृदय विगलित हो करके जब लाक्षावत् प्रवाहित होने लगता है और उस लाक्षावत् द्रवित हृदयपर जब भगवान्‌की शीतल दृष्टि पडती है, तब भगवान्‌की दृष्टिकी शीतलतासे संयोग होते ही मन उस साँचे में ढल जाता है, जिसमे भगवान् उसे ढालना चाहते हैं। भगवान्‌की शीतल दृष्टि पड़नेको ही संत लोग भगवत्‌कृपाका अवतरण कहते हैं।

भगवान्‌की यह कृपा किसपर अवतरित होगी और किस ढंगसे अवतरित

होगी, यह बात किसी नियममें बाँधी ही नहीं जा सकती। यह कार्य जो आजतक विश्वके इतिहासमें नहीं हुआ, वह कार्य जो देखनेमें असंभव लग रहा हो, उस कार्यकी पूर्णताका भार सच्चे विश्वाससे कोई भगवान्‌पर छोडदे तो आप निश्चय मानियें, भगवान् उसे पूरा कर देंगे। उस आस्तिकके लिए भगवान् नवीन नियमका निर्माण कर देते हैं। किन्तु दुर्भाग्य यही है कि आज भगवान्‌पर विश्वास करनेवाले आस्तिक मिलते ही नहीं हैं।

गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराजके प्रथम मिलनने ही मेरे अन्दर भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपपर विश्वास जगा दिया था। इसके पहले तो मैं **'नहिं परस्यौ कर्मठ और ज्ञानी'**की स्थितिमें था। एक प्रकारसे वह मेरा संक्रमणकाल ही था। इन्हीं दिनों मेरे हृदयमें भगवान्‌के अकारण सौहार्दपर अनोखा विश्वास जगा और यह विश्वास मेरे भीतर पूर्णतया छा गया। मेरे रोम-रोममें भगवद्विश्वास पूर्णतः समा गया। मेरे मनमें यह आस्था दृढ हो गयी कि भगवान्‌की कृपा अहैतुकी है और वह मेरे लिये असंभवको भी सभव कर देगी। भगवान्‌की कृपापर वह मेरी आस्था आज भी ज्यों-की-त्यों है। मेरे जीवनमे अनेको बार परिस्थितियोंके अत्यन्त उलट-फेर आये हैं, परन्तु मैं सदा हँसता रहा हूँ। सदा ही मैं सर्वथा निश्चिन्त प्रभुकृपापर निर्भर रहा। इसमें हेतु मात्र यही था कि मेरा भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर अडिग विश्वास रहा। गोस्वामीजी ! हम भले न समझें, जिसे जगत् प्रतिकूलताकी स्थिति कहता है, वह वस्तुतः हमारी विश्वासहीनताका, हमारी अनास्थाका ही द्योतक है। निश्चय ही उस प्रतिकूलताके गर्भमें अनुकूलता-ही-अनुकूलता है। मेरा तो भगवत्कृपापर विचित्र विश्वास रहा है। मैं तो सदैव यही मानता रहा हूँ कि भले अमुक कार्य आजतक किसीका कभी नहीं हुआ हो, परन्तु भगवान् मेरा यह कार्य कर ही देंगे। मैंने तो भगवान्‌की इस दुर्बलताको पकड रखा है कि यदि किसी कार्यके लिये कोई उनपर निर्भर हो जाय तो वे उसकी आशा कभी तोड़ते नहीं। भगवान् उसकी निर्भरताकी परीक्षा तो लेते हैं, परन्तु सच्चे निर्भरकी आशा वे अवश्य पूरी कर देते हैं।

कर्मकाण्डियोंको अपनी साधनाका घोर अभिमान होता है, और ज्ञानी भगवान्‌की सत्ताको ही मायोपाधिक मानता है, इसीलिये दोनों - कर्मकाण्डी एवं ज्ञानी इस ब्रजरसका स्पर्श नहीं कर पाते। यह ब्रजरस श्रीराधामुख रूपी पूर्ण चन्द्रमाको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपीजनोंका उमड़ता आनन्दसिन्धु

है। यह ब्रजरस बृन्दावनका निजस्व है और वहीं सदैव उमड़ता है। इसे स्थूल बृन्दावन नगर किंवा ब्रजमण्डलतक ही परिच्छिन्न अथवा सीमित नहीं समझना चाहिये। यद्यपि यह भूमि-परिच्छिन्न ब्रज-बृन्दावन भी उस दिव्य वृन्दावनी लीलाका रंगमंच रहा है। अतः इसका भी महत्व अवश्य है। किन्तु सच्चा चिन्मय वृन्दावन तो सिद्ध रसिक सन्तोंके हृदय-पटलपर अवतरित होता है।

जो वृन्दावन सन्तकी अनिर्वचनीय अनुभूतिरूप परम चिन्मय है, उसका महत्व कुछ और ही है। यह दिव्य वृन्दावन तो **'प्रकाशते क्वापि पात्रे '** किसी महान् भाग्यशालीके जीवनमें, उसके हृदयपटलपर प्रकाशित होता है। वह सिद्ध सन्त चलता-फिरता वृन्दावन होता है।

यह ब्रजरस उस बृन्दावनमें परिच्छिन्न है। यह रस प्रियतम श्रीकृष्णके हृदयमें अपनी प्रिया राधाके मुखचन्द्रको देखकर उमड़ता है। इसे एक ओर यमुनाजी रोक लेती हैं, एवं दूसरी ओर ब्रजांगनाएँ। इसके कुछ छींटे ही त्रिभुवनमें अन्यत्र बिखर पाते हैं और वे भी बिखर पाते हैं सन्तोंकी अनुभूतिपूर्ण पद-रचनाओंके द्वारा। ये रसिक इस रसको अपने कण्ठमें अटकाये रखते हैं। रसानन्दकी अधिकताके कारण ये न तो इसे पचा ही पाते हैं और न ही अधिकारीके अभावमें उसे उगल ही पाते हैं। हाँ, परमानन्ददासजी कहते हैं, उस रसका कणिकांश अवश्य ही मुझे ब्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्णकी कृपासे प्राप्त हुआ है और मैं अपनी सामर्थ्यके अनुसार उस रसप्रवाहमें अवगाहन करता हुआ क्षण-प्रतिक्षण उस दिव्य लीलाका आस्वादन करता रहता हूँ।

उस रात्रि गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा दोनों ही विलक्षण ब्रजभावके प्रीतिराज्यमें लहराते रहे। पल-पल उमड़ते-उछलते रससागरको देखते-देखते ही दोनोंकी निशा व्यतीत हो गयी।

# भगवती मीनाक्षीकी साक्षीमें सभी यात्रियोंका आध्यात्मिक संशुद्धीकरण

स्टेशनसे पूर्व दिशामें लगभग एक मीलपर मदुरा नगरके मध्यभागमें भगवती मीनाक्षीका मन्दिर है। अपनी निर्माणकलाकी भव्यताके लिये यह मन्दिर सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह मन्दिर लगभग २२ बीघे भूमिपर बना है। इसमें चारों ओर चार मुख्य गोपुर है। वैसे छोटे-बडे मिलाकर मन्दिरमें २७ गोपुर हैं। सबसे अधिक ऊँचा दक्षिणका गोपुर है। सर्वाधिक सुन्दर गोपुर पश्चिमका है। बड़े गोपुर ग्यारह मंजिलतक ऊँचे हैं।

सामान्यतः लोग पूर्व दिशासे मन्दिरमें जाते हैं, किन्तु इस दिशाका गोपुर अशुभ माना जाता है। कहते हैं, इन्द्रको वृत्रवधके कारण जब ब्रह्महत्या लगी तब वे इसी मार्गसे भीतर गये और यहाँके पवित्र सरोवरमे कमलनालमें बहुत कालतक स्थित रहे थे। उस समय ब्रह्महत्या इन्द्रके मन्दिरमेंसे निकलनेकी प्रतीक्षा करती पूर्व दिशाके गोपुरके द्वारपर खडी रही। इसीसे यह गोपुर अपवित्र माना जाता है।

गोपुरमें प्रवेश करनेपर पहले 'नगर मण्डप' आता है, जिसमें फल-फूलकी दुकानें हैं। इसके आगे अष्टशक्ति मण्डप है। इसमें स्तम्भोंके स्थानपर अष्ट लक्ष्मियोकी मूर्तियॉ छतका आधार बनी हैं। इसके आगे मीनाक्षीनायकम् मण्डप है, इसमे भी दुकानें हैं। इसके आगे जो अँधेरा ˉ ˉप है, उसमें भगवान् विष्णुके मोहिनीरूप, शिव, ब्रह्मा, विष्णु तथा अनुसूयाजोकी कलापूर्ण मूर्तियाँ हैं। इसके आगे स्वर्णपुष्करिणी सरोवर है।

सरोवरके चारों ओर मण्डप हैं, यहॉ मण्डपोंमें तीन ओर भगवान् शंकरकी चौसठ लीलाओंकी मूर्तियॉं बनी हैं। यही वह सरोवर है, जहॉ इन्द्र ब्रह्महत्याके भयसे छिपे थे।

सरोवरके पश्चिममें एक मण्डप है, जिसे किलिकुण्डुमण्डप कहा जाता है। इसमें पिंजरोंमे पक्षी पाले गये हैं। यहॉ एक अद्भुत सिंहमूर्त्ति है। सिंहके मुखमें एक गोला बनाया गया है। सिंहके जबड़ेमें ऊॅगली डालकर घुमानेसे वह गोला घूमता है। पत्थरमें इस प्रकारका शिल्पनैपुण्य देखकर चकित रह जाना पड़ता है। मन्दिरके सम्मुखके मण्डपमें स्तम्भोंमें पॉचों पाण्डवोंकी मूर्त्तियाँ हैं।

शेष स्तम्भोमे सिंहकी मूर्त्तियाँ हैं। इस मण्डपको पुरुष मृगमण्डप कहते हैं, क्योंकि इसमें एक मूर्ति ऐसी बनी है, जिसका आधा शरीर पुरुषका और आधा मृगका है। इस मण्डपके सामने ही मीनाक्षी देवीके निज मन्दिरका द्वार है। द्वारके दक्षिण छोटा-सा सुब्रह्मण्य मन्दिर है। इसमें स्वामी कार्तिकेय तथा उनकी दोनों पत्नियोंकी मूर्त्तियाँ हैं । द्वारपर दोनों ओर पीतलकी द्वारपाल-मूर्त्तियाँ हैं।

अनेक ड्योढियोंके भीतर श्रीमीनाक्षीदेवीकी भव्य मूर्ति है। बहुमूल्य वस्त्राभरणोंसे देवीका श्याम विग्रह सुभूषित रहता है। महामण्डपके दाहिनी ओर देवीका शयनमन्दिर है। मीनाक्षी मन्दिरका शिखर स्वर्णमण्डित है। मन्दिरके सम्मुख बाहर स्वर्णमण्डित स्तम्भ है । मीनाक्षी मन्दिरके भीतरी परिक्रमामार्गमें इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्तिकी मूर्तियाँ बनी हैं।

मीनाक्षी मन्दिरके दर्शनकर सुन्दरेश्वर मन्दिरकी ओर चलनेपर मध्यके द्वारके सामने गणेशजीका मन्दिर है। इसमें गणेशजीकी विशाल मूर्ति है। यह मूर्ति 'वण्डीपूर' सरोवर खोदते समय भूमिमें मिली थी। वहाँसे लाकर यहाँ प्रतिष्ठित की गयी है।

सुन्दरेश्वर मन्दिरके सम्मुख पहुँचनेपर प्रथम नटराजके दर्शन होते हैं। यह रजतमण्डित मूर्ति चिदम्बरम्की नटराज मूर्तिसे बडी है। मूर्तिके मुखको छोडकर सर्वांगमें रजतका आवरण चढा है। चिदम्बरम्में नटराज मूर्तिका वाम पद ऊपर उठा है और यहाँ दाहिना पद ऊपर उठा है।

सुन्दरेश्वर मन्दिरके सम्मुख भी स्वर्णमण्डित स्तम्भ है और मन्दिरका शिखर भी स्वर्णमण्डित है। अनेक ड्ययोढियोंके भीतर अर्घेपर सुन्दरेश्वर स्वयम्भू लिग सुशोभित है। उसपर स्वर्णका त्रिपुण्ड्र लगा है।

मन्दिरके बाहर जगमोहनमें आठ स्तम्भ हैं, जिनपर भगवान् शकरकी विविध लीलाओंकी अत्यन्त सजीव मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनका शिल्पनैपुण्य अद्भुत है। यहीं द्वारके सम्मुख चार स्तम्भोका एक मण्डप है, जिसमें पत्थरमें ही श्रृंखला बनायी गयी है। इस श्रृखलाकी कडियाँ लोहेकी श्रृंखलाके समान घूम सकती है। यहींपर वीरभद्र एवं अघोरभद्रकी विशाल उग्र मूर्तियाँ हैं जो शिवगणोंके सामर्थ्यकी प्रतीकके रूपमें स्थित हैं।

इस मण्डपमें भगवान् शंकरके ऊर्ध्व नृत्यकी अद्भुत कलापूर्ण विशाल मूर्ति है। ताण्डव नृत्य करते हुए शकरजीका एक चरण ऊपर कानके समीपतक

पहुँच गया है। पास ही उतनी ही विशाल काली-मूर्ति है। परिक्रमामें प्राचीन कदम्ब वृक्षका अवशेष सुरक्षित है जिसके मूलमें भगवान् सुन्दरेश्वर (शिव)ने मीनाक्षीका पाणिग्रहण किया था।

कहा जाता है, पहले यहाँ कदम्बवन था। कदम्बके एक वृक्षके नीचे भगवान् सुन्दरेश्वरका स्वयंभू लिग था। देवता उसकी पूजा करते थे। श्रद्धालु पाण्ड्य नरेश मलयध्वजको इसका पता लगा। उन्होंने इस लिंगमूर्तिके स्थानपर मन्दिर बनवाने तथा वहीं नगर बसानेका संकल्प किया। स्वप्नमें भगवान्ने राजाके सकल्पकी प्रशंसा की तथा एक सर्पके रूपमें आकर नगरकी सीमाका भी निर्देश कर गये।

पाण्ड्यनरेशके कोई सन्तान नहीं थी। राजाने भगवान् शंकरकी बहुत आराधना एव तपस्या की। साक्षात् भगवती पार्वती ही अपने अंशसे राजा मलयध्वजके यहाँ कन्या रूपमें अवतीर्ण हुई । उसके विशाल सुन्दर नेत्रोंके कारण माता-पिताने उनका नाम मीनाक्षी रखा। राजा मलयध्वज कुछ काल पश्चात् कैलासवासी हो गये। राज्यका भार रानी कांचनमालाने सम्हाला ।

मीनाक्षोके युवती होनेपर साक्षात् भगवान् सुन्दरेश्वरने उससे विवाह करनेकी इच्छा व्यक्त की। रानी कांचनमालाने बड़े समारोहसे मीनाक्षीका विवाह सुन्दरेश्वर शिवसे कर दिया।

पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज जब मीनाक्षी मन्दिर पहुँचे तो उनके साथ छ सौ यात्रियोंका पूरा समुदाय था। भगवतीके मन्दिरका पट मध्याह्मे समयपर बन्द हो जाता है। जब सभी यात्री दर्शनार्थ पहुँचे उस समय पट बन्द होनेमें मात्र आधा घण्टेका समय शेष था। इस अल्प समयमें सभी यात्री माँ मीनाक्षीके कैसे दर्शन कर पावेगे, यह एक समस्या ही थी। पू.गुरुदेव अति कुशल व्यवस्थापक भी थे। अतः उन्होने अविलम्ब निश्चय कर लिया, यात्रियोंको पक्तिबद्ध खड़ा किया जाय तभी यह संभव है, अन्यथा व्यवस्था दुष्कर हो उठेगी।

श्रीपोद्दार महाराज गर्भगृहके द्वारपर खड़े हो गये और पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा एक-एक करके लोगोंको भेजने लगे।

अचानक पू.गुरुदेवका भावदृश्य परिवर्तित होना प्रारंभ हुआ। पू.गुरुदेवको मूर्तिके स्थानपर सर्वदेवमयी सर्वकल्याणनिलया परमाद्या, पराभट्टारिका सनातनी, भगवती, जगदम्बा, माता पार्वती साक्षात् दृष्टिगोचर हो उठी। साथ ही पू.पोद्दार

महाराजके स्थानपर उन्हें साक्षात् भगवान् चन्द्रमौलेश्वर शिव ही खडे दृष्टिगोचर हो रहे थे। पू.गुरुदेव सभी यात्रियोंके सौभाग्यपर वाह-वाह कर उठे। उन्हे प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा था कि कृपामूर्ति भगवान् शंकर ही अपनी प्राणप्यारी समाराध्या भगवती माता पार्वतीके दर्शन एक-एक यात्रीको करा रहे हैं और भगवती अपने परमातिपरम सुन्दर कृपाभरे नेत्रोसे उत्पन्न तेजसे एक-एक यात्रीके भूत एवं भविष्य, पूर्व एव पश्चात्‌की सर्व कर्मराशि भस्म करती जा रही है। पू.गुरुदेव राधाबाबा देख रहे थे महामहाकृपामूर्ति श्रीपोद्दार महाराजकी कृपासे प्रत्येक यात्रीका आध्यात्मिक जगत्‌में प्रवेश हो जाय, इसीलिये वे भगवतीके मन्दिरके द्वारपर भगवान् पिनाकपाणिके रूपमें खडे हैं और यात्रियोंको मरणोपरान्त दिव्य उपासनादेह मिल जाय इसकी कृपा-आयोजना कर रहे हैं। भारतीय तत्र इसे 'बैन्दवदेह' कहता है। इस देहकी उत्पत्ति सिद्ध गुरु अथवा इष्टदेवता या देवीसे ही होती है। दीक्षाप्राप्तिके साथ ही इस देहके बीजकी प्राप्ति होती है और यह परमोत्तम अध्यात्मबीज शुभ साधनोपयोगी पुनर्जन्मकी प्राप्तिमें हेतु होता है।

पू.गुरुदेवको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा था – महाकृपावतार पोद्दार महाराज छः सौ व्यक्तियोंको आध्यात्मिक जगत्‌में प्रवेश करानेके लिये उन्हे पुनर्जन्मके पश्चात् आध्यात्मिक साधनादेहका दान करनेका उपक्रम कर रहे हैं। वैदिक युगमे उपनयन सस्कारके अनन्तर गायत्री मंत्रदीक्षाके साथ ही इस देहकी प्राप्तिरूप द्वितीय जन्म होता था। इसीलिये जातकको द्विज कहा जाता था। इस देहका क्रमविकास भी होता है। स्वरूपका यह परिवर्तन गुरुशक्तिसे होता है।

पू.गुरुदेवके पास गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी खड़े थे। वे पू.गुरुदेवसे भगवती मीनाक्षीके कोई विशेष पूजनकी बात पूछने आये थे। पू गुरुदेवने धीरेसे श्रीचिम्मनलालजीसे कहा –" श्रीपोद्दार महाराज क्या करने जा रहे हैं, कुछ पता है ?" गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीने धीरेसे न जाने किस प्रकार जानकर कह दिया – बाबा ! पोद्दार महाराज द्वारा यात्रियोंके अध्यात्मदेहकी रूपान्तरण -चेष्टा हो रही है। पू.गुरुदेव मुसका दिये। मुझे जब मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, ये सभी मीनाक्षी-दर्शनकी बातें बता रहे थे– तो मैंने उनसे पूछा था – मामाजी ! आपको कैसे ज्ञात हुआ कि पोद्दार महाराज एक-एक व्यक्तिको दर्शन कराते हुए उनके अध्यात्मदेहकी रूपान्तरण-चेष्टा

कर रहे हैं ? उन्होंने धीरे-से कहा– "बेटा, छठी इन्द्रियसे एकदम यही प्रेरणा हुई और मैंने पू.राधाबाबासे जो तथ्य समझमें आया, बोल दिया।' "

मैंने पीछे पू.गुरुदेवसे अपने मामाजी द्वारा बतायी बाते उल्लेख कीं एवं रूपान्तरण-चेष्टाको विस्तारसे बतानेका आग्रह किया तो उन्होंने ही निम्न रहस्य बताया था –" यह प्रकृतिके अंशका शोधन है। जो देह माता-पिताके द्वारा मिलता है, उसमें आनुवंशिकी प्रकृति रहती है, माता-पिताके परपरागत दोष-गुण भी उसके भाग होते हैं। फिर संगजनित दोष-गुण भी उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। सिद्ध सन्त अपने सम्पर्कमें आये जीवोंकी प्रकृतिका शोधन करता है। जितना-जितना सम्पर्कमे आये व्यक्तिका समर्पण होता है, उसकी प्रकृतिका उतना-उतना अंश रूपान्तरित हो जाता है। संतके सम्पर्कमें आया व्यक्ति अपने अहंकारके कुछ पाप-पुण्य अपने पास ही सुरक्षित रखना चाहता है। वह सतके सम्मुख अच्छा दिखनेकी भावनासे कुछ अच्छाइयाँ बचाकर रखता है, और अधिक बुरा नहीं दिखे इस भावनासे कुछ बुराइयाँ भी छुपाता है। इस कपटके होनेसे उसका उतना भाग अरूपान्तरित रह जाता है।"

मैंने पू.गुरुदेवसे प्रश्न किया –" बाबा ! ये यात्री तो सर्वथा समर्पित नहीं थे, फिर उन सबमें यह रूपान्तरण-चेष्टा कैसे संभव हुई ?

पू.गुरुदेवने कहा –" श्रीपोद्दार महाराज महाकृपावर्षी सिद्ध सन्त हैं। उन्होंने प्रत्येक दर्शनार्थीको अपनी अमोघ सकल्पशक्तिसे आरोहिणीधारामे बहा देनेका बीजवपन किया था। वस्तुतः प्राकृत कालका प्रवाह जीवको दो धाराओंमें बहाता है। कुछको आरोहण धारामें एवं प्राय अधिकांशको दूसरी अवरोहण धारामें। आरोहिणी धारा जीवमें जब क्रियाशील हो उठती है तो क्रमशः उसका अहकार क्षीण-क्षीणतर-क्षीणतम होता जाता है और अन्ततः उसका समर्पण किसी सिद्ध सतसे घटित होकर वह जीव बंधनमुक्त हो जाता है। प्रकृति स्वभावत. अधोगामिनी होनेसे अवरोह तो सर्वत्र दिखता ही है। जीवका स्वाभाविक सम्मान अवरोहकी तरफ ही होता है, अतः उत्तरोत्तर वह अपना बन्धन क्रमशः प्रगाढ ही करता जाता है।

श्रीपोद्दार महाराज इन सभी यात्रियोंके अन्तरात्मा रूपमें अपनेको अनुभव करते हुए अन्तर्यामीरूपसे ब्रह्ममय ज्ञानदेहका बीज डाल रहे थे। आद्याशक्ति द्वारा उनका प्रतिबाधक कर्मजाल तो समाप्त किया ही जा रहा था। श्रीपोद्दार महाराज इन सभीमें अपने संकल्पसे तारक ज्ञान दे रहे थे। इस

महाज्ञानका सचार संत अलक्षित रूपसे करनेमें समर्थ होते हैं। इससे कालान्तरमें हृदयके मर्ममें प्रविष्ट सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

भैया ! सिद्धसन्तकी महाकरुणाके बिना किसी भी जीवमें कभी भी प्रत्यक्ष आत्मप्रकाश असंभव है। यह सन्तकी करुणा ही शान्ति एवं चैतन्यकी ज्योति साधकके जीवनमें प्रस्फुटित करती है। **'चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः''** की उक्ति यही सत्य उजागर करती है।

मैंने पुन. जिज्ञासा की –"बाबा ! ये सभी यात्री क्या ज्ञानसाधनातक ही सीमित हो जावेंगे ? श्रीपोद्दार महाराज तो प्रेमी सिद्ध सन्त हैं ! "

इसके उत्तरमे पू.गुरुदेव कहने लगे – भैया ! प्रेमकी प्रक्रिया तो ज्ञानके पश्चात् ही प्रारभ होती है। वास्तविक रस-साधनाका सूत्रपात ज्ञानोत्तर है। ज्ञानका अर्थ ही है भगवान्‌का ज्ञान । सगुण साकार भगवान्‌का ज्ञान ही भगवद्दर्शन कहलाता है। निर्गुण-निराकार भगवद्दर्शनको ब्रह्मज्ञानकी संज्ञा दी जाती है। भावोदयके लिये सम्पूर्णतया कामदहनकी आवश्यकता होती है। बीज रूप अज्ञान रहनेतक तो कामदेवका अस्तित्व रहता ही है। अज्ञान ही तो पशुभाव है। दिव्य ज्ञानसे पशुभाव पूर्ण निवृत्त होकर पशुपति या शिवभाव होता है। इसके अभिव्यक्त होनेपर ही कामका समग्र नाश होता है। भैया ! यह शिव रूप सत्ता भी ज्ञानातीत परिपूर्णत्व तभी लाभ करती है, जब प्रेमभावकी पराकाष्ठा लाभ करके प्राकृत कामके आकर्षणसे अतीत हुई, परम प्रेमभावको प्राप्त करती है।

पू.गुरुदेव द्वारा बतलायी इन सभी बातोंसे मेरा समाधान हो गया कि श्रीपोद्दार महाराज जो अनेकों बार पू.गुरुदेवको या तो महाभावस्वरूपा भगवती श्रीमती राधारानीके रूपमें दिखते थे, अथवा रसराज ब्रजेन्द्रनन्दन नीलसुन्दरके रूपमें दृष्टिगोचर होते थे, आज आश्चर्यजनक रूपसे चन्द्रमौलेश्वर भगवान् शिवके रूपमे क्यों दिखे ?

मैंने मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे यह भी पूछा था कि पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने वहॉ भगवती मीनाक्षी देवीकी कोई औपचारिक पूजा भी सम्पन्न की थी क्या ?

इसके उत्तरमें उन्होंने यही बताया था कि यात्री एक-एक करके दर्शनार्थ आ रहे थे, एव श्रीपोद्दार महाराज प्रत्येकको शीघ्र-से-शीघ्र दर्शन कराके निवृत्त करते जारहे थे, फिर भी आधे घण्टेका समय छः सौ यात्रियोंके

लिये अल्पतम था। पट बन्द होनेकी घडी सन्निकट थी एवं आधेके लगभग यात्री अभी अवशिष्ट थे। पुजारियोंका भी, उनकी परम्परा, जो सदियोंसे चली आ रही थी, पालन करना आवश्यक था, अत: वे बहुत उतावली दिखा रहे थे। मध्यका कोई रास्ता भी शेष नहीं बचा था। अन्तत: जैसे-तैसे सभीने दर्शन किये।

पू.गुरुदेव तो सबको दर्शन कराके ही भगवतीके दर्शन करनेके लिये आगे आये। उनके मुखसे तो भगवतीकी स्तुति, जो उन्हे कण्ठस्थ थी निस्सृत हो रही थी। श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी उनके साथ थे। श्रीपोद्दार महाराज भी वहीं थे। मन्दिरके प्रमुख अधिकारियोको अबतक श्रीपोद्दार महाराजका परिचय प्राप्त हो चुका था। ये ही 'कल्याण' पत्रिकाके यशस्वी सम्पादक एव धार्मिक संस्था गीताप्रेसके सफल कर्णधार हैं – यह जानकर मन्दिरकी प्रशासनसमितिकी ओरसे उन्हे बहुत सम्मान दिया जा रहा था।

पू.गुरुदेवके मन्दिरमें दर्शनार्थ प्रविष्ट होते ही मुख्य पुजारीको एक प्रकारका भावावेश हो आया। उस दिव्यावेशसे पुजारीका मुख तमतमा उठा था। वह बार-बार अंग्रेजीमें पोद्दार महाराजसे पूछता जा रहा था –क्या ये ही आपके स्वामीजी हैं ?

श्रीपोद्दार महाराज द्वारा स्वीकृतिसूचक उत्तर दिये जानेपर वे पू. गुरुदेवको एकटक देखने लगे थे। कहाँ तो वे पहले बडी उतावली दिखला रहे थे और कहाँ अब वे जडवत् स्थिर खड़े पू.गुरुदेव द्वारा माँका स्तुतिपाठ दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। पू.गुरुदेव भी भावाविष्ट हुए माँकी स्तुतिमे इतने तन्मय थे कि उन्हे बाह्यावेश ही नहीं था। सहसा जो सर्वाधिक वयोवृद्ध पुजारीको अपना कर्तव्यबोध हुआ। वह भगवती मीनाक्षीके श्रीविग्रहकी ओर बढ़ा और उनके कण्ठदेशमें जो सुन्दर-से-सुन्दर माला थी, उसे लेकर उसने पू.गुरुदेवके गलेमें पहना दी। प्रसादी मालाके कण्ठमे आते ही पू.गुरुदेवका कण्ठ भक्तिभावसे भर गया। मनके भीतर-ही -भीतर वे भावाभिभूत होकर बोल उठे "हे मेरी माँ ! तू ही मेरी माता है, पिता है, भ्राता, गुरु, सुहृद् एव बन्धुजन है। तू ही मेरी प्रभु है, तू ही मेरा हितू है। तू ही मेरी इस ससारमे अविकल कर्मराशि है। तू ही मेरी विशुद्ध विद्या, मेरा प्राप्तव्य पद है। माँ ! एक तू ही तो है जिसकी गोदमे मैं परम सुखसे सब शंकाओंसे परे विश्राम कर रहा हूँ।"

"हे सुमेरु पर्वतके स्वर्णशिखरपर निवास करने वाली माता, तुझे मेरा नमस्कार है। हे श्रीपुरमें निवास करने वाली शिवसती तुझे मेरा नमन है। हे पद्माटवी विहारनिरते ! हे चिन्तामणि रत्नभवन निवासरते !! हे चक्रराज स्थिते ! हे विन्दुनिलये ! हे शिवांकस्थिते, विद्यास्वरूपिणि अम्बे ! तुझे मेरा नमस्कार है।

**जय जय जगदम्बभक्तवश्ये !**
**जय जय सान्द्रकृपावशान्तरंगे !!**
**जय जय निखिलार्थदानशौण्डे !**
**जय जय हे ललिताम्ब चित्सुखाब्धे !!**

-------------

# भगवती सीताजीकी अग्निपरीक्षाके दर्शनः रामेश्वरमें

पू.गुरुदेव तीर्थयात्रासे लौटकर आनेपर कह रहे थे, कि रामेश्वरकी स्थापनाके सम्बन्धमें दो कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पहली कथा तो यह है कि भगवान् श्रीरामने लंका जाते समय सेतु बँधवाया और सेतुके समीप श्रीरामेश्वरकी स्थापना की। भगवान् श्रीरामने सेतु बाँधनेसे पूर्व उप्पूरमें गणेशजीकी स्थापना तथा पूजन किया। इस कथाके अनुसार जगज्जननी सीताजीकी अग्निपरीक्षा लंकामें ही हुई थी। यह स्वाभाविक है, क्योंकि किसी भी कार्यके प्रारम्भमें भगवान् गणेशजी एवं नवग्रहपूजनकी आदिकालीन भारतीय परम्परा रही है।

श्रीरामेश्वर-स्थापनाकी एक और कथा पू.गुरुदेवको रामेश्वरदर्शनके समय वहाँके विद्वानोंने कही थी। इस कथाके अनुसार रामेश्वर, हनुमदीश्वर तथा रामेश्वरधामके अनेक तीर्थोंकी संगति पू.गुरुदेवके मनमें पूरी-पूरी बैठ रही थी पू.गुरुदेव कह रहे थे कि किसी कल्पमें भगवान् रामकी लीला इस प्रकार भी अवश्य ही हुई होगी। यह कथा इस प्रकार है –

भगवान् श्रीराम लंकायुद्धमें विजयी होकर पुष्पक विमानके द्वारा जब अयोध्याकी ओर चले तब उनके मनमें यह खेद था कि " रावण ब्राह्मण था और उसे कुलसहित मारना ब्रह्महत्याका पाप तो हुआ ही है।"इसका प्रायश्चित्त

जाननेके लिये भगवान् श्रीरामने समुद्रपानकर्त्ता अगस्त्यजीके आश्रमके पास पुष्पक विमानको उतार दिया और कुछ दिवस वहाँ उनसे सत्सगलाभ किया।

विभीषणकी प्रार्थनापर भगवान्ने समुद्रका सेतु धनुषकी नोकसे भंग कर दिया। श्रीजानकीजीकी यहीं समुद्रके किनारे अग्निपरीक्षा हुई। महर्षि अगस्त्यजीके आदेशसे रावणवधके प्रायश्चित्त-स्वरूप शिवलिंगकी स्थापनाका प्रभुने निश्चय किया था। भगवान् श्रीरामजीने श्रीहनुमानजीको दिव्य लिंगमूर्त्ति लानेके लिये भगवान् शंकरके पास कैलास भेजा।

श्रीहनुमानजी कैलास गये, किन्तु उन्हें भगवान् शंकरके दर्शन नहीं हुए। श्रीहनुमानजीने भगवान् शकरके दर्शनार्थ तप करनेका निश्चय किया और वे घोर तपपूर्वक बारबार भगवान् शंकरकी स्तुति करने लगे। अन्तमें भगवान् प्रकट हुए तथा उन्होंने हनुमानजीको अपनी दिव्य लिंगमूर्त्ति दे दी।

इधर मूर्त्तिस्थापनाके मुहूर्त्तपर श्रीहनुमानजी नहीं पहुँचे तो माता जानकीने क्रीडापूर्वक एक बालुकालिग बना दिया। ऋषियोंके आदेशसे श्रीरघुनाथजीने उसीको स्थापित कर दिया। यही रामेश्वर लिंग है, जिसे स्थानीय लोग रामनाथलिंगम् भी कहते हैं।

श्रीहनुमानजी कैलाससे लौटे तो उन्हें अन्य लिगके स्थापित हो जानेसे बहुत खेद हुआ। भगवान् श्रीरामने श्रीहनुमानजीको अतिशय दुखी देखकर कहा 'तुम यदि मेरे स्थापित लिंगको हटा सको तो मैं तुम्हारे द्वारा कैलाससे लाये लिंगको स्थापित कर दूँ। श्रीहनुमानजीने बहुत चेष्टा की किन्तु वे माता सीताजी द्वारा स्थापित उस लिंगको किंचित् सरका भी नहीं सके।

भगवान् श्रीरामजीने इसपर कहा - हनुमान् ! जानकीजीके द्वारा निर्मित और मेरे द्वारा स्थापित यह मूर्त्ति तो अविचल है, अब तुम्हारे द्वारा लायी मूर्त्तिको इसके पासमे भले ही स्थापित किया जा सकता है। हाँ, यह मेरी प्रतिश्रुति है कि जबतक कोई तुम्हारे द्वारा लायी इस मूर्त्तिके दर्शन नहीं करेगा, उसे रामेश्वरदर्शनका फल नहीं होगा। हनुमानजीने कैलाससे लायी मूर्त्ति स्थापित कर दी। भगवान्ने उसका पूजन किया। वही मूर्त्ति हनुमदीश्वर काशी-विश्वनाथ कही जाती है ।

पू गुरुदेव कह रहे थे कि रामेश्वरमें समुद्रस्नानके समय ठीक प्रातः मुझे वहाँ भगवती सीताके अग्निपरीक्षाके दर्शन हुए, अत: मुझे इसी कथापर अधिक विश्वास है।

हाँ, प्रथम कथा कि " भगवान् श्रीरामने लंका जाते समय सेतु बँधवाया और सेतुके समीप श्रीरामेश्वरकी स्थापना की" यह महर्षि वाल्मीकि एवं सन्त श्रीतुलसीदासजी महाराज द्वारा वर्णित है, अतः इसे भी मैं पूरी मान्यता देता हूँ। कल्पभेदसे दोनों ही कथाये सत्य लग रही हैं।

मैंने अग्निपरीक्षाके सम्बन्धमें पू.गुरुदेवसे पूछा —"बाबा ! अग्निपरीक्षा द्वारा जगज्जननी माता जानकीने अपनेको निर्दोष सिद्ध किया, क्या आज भी कोई अग्निपरीक्षासे सत्यको प्रमाणित कर सकता है ?"

उत्तरमें पू.गुरुदेवने कहा कि —भैया ! यह सब अखण्ड भगवत्स्मृतिका चमत्कार है। जगज्जननी श्रीसीताजीके लिये श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं —

**नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।**
**लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट ।।**

श्रीहनुमानजी सीताजीकी दशाका वर्णन करते कह रहे हैं — "हे प्रभो ! आपका नाम रात दिन पहरा देनेवाला है, आपका ध्यान ही किंवाड़ है। माता सीता अपने नेत्रोको अपने चरणोमें लगाये रखती हैं, यही ताला लगा है; फिर प्राण जायें तो किस मार्गसे ?"

यह तो श्रीसीताजीकी रावणके कारागारमे अशोकवाटिकाके समयकी दशा थी। इसी प्रकार अग्निपरीक्षाके समय भी श्रीतुलसीदासजी महाराज माता जानकीका वर्णन करके कहते हैं —

**पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदयँ हरष नहिं भय कछु तेही।।**
**जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं।।**
**तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखण्ड समाना ।।**

यदि मन, वचन, और कर्मसे मेरे हृदयमे श्रीरघुवीरको छोड़कर दूसरी गति नहीं है, तो अग्निदेव जो सबके मनकी गति जानते हैं (मेरे भी मनकी गति जानकर) मेरे लिये चन्दनके समान शीतल हो जावे।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि इस प्रकार जिसकी अखण्ड स्मृति भगवान्के चरणोमें हो, उसकी अग्निपरीक्षा होनेपर अग्नि उसे कदापि नहीं जलायेगी।

इस विषयमे भक्तराज प्रह्लाद भी उदाहरण हैं, जो मात्र अखण्ड अग्निकी प्रत्येक लपटमे भगवान्का दर्शन करनेके कारण अग्निसे जीवित निकल आये और होलिका उनकी बुआ जल गयी। भगवान्की अखण्ड स्मृति

सबकुछ कर सकती है।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि रामेश्वरमे यह भगवल्लीला मेरे सम्मुख प्रत्यक्षवत् प्रकट हो चुकी है, जिसका श्रीतुलसीदासजीने अपनी ऑखों-देखा वर्णन किया है –

**धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग विदित जो।**
**जिमि छीरसागर इन्दिरा रामहि समर्पी आनि सो।।**
**सो राम बाम विभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।**
**नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकजकी कली।।**

भैया ! श्रीसीताजीका तो हाथ पकड़कर अग्नि देवताने शरीर धारण करके श्रीरामजीको समर्पित किया है। श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीके वामभागमें विराजित हुईं, मानो नये खिले हुए नीले कमलके पास सोनेकी कमलकी कली सुशोभित हो। उस समय देवता हर्षित होकर पुष्पवर्षा कर रहे थे। आकाशमें दुंदुभि नाद होने लगा। श्रीजानकीजी सहित प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी उस समय की शोभा वर्णनातीत है।

---

# वेदारण्यकी प्रलयमें पू.गुरुदेवको भावोल्लास

जिस व्यक्तिके जीवनमें ब्रजभाव अवतरित होता है, ब्रजभाव-भावित, ब्रजभाव-परिनिष्ठित उस जीवनकी कल्पना जगत्‌के साधारण प्राणी कर नहीं सकते। जब पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा एव श्रीपोद्दार महाराज तीर्थयात्रामे वेदारण्यम् पहुँचे तो वहॉ उन सबको वहॉके निवासियोके द्वारा स्वागत-सत्कारके स्थानपर क्रन्दन, विलाप और दुःखगाथा-श्रवण ही मिला। गीताप्रेसकी तीर्थयात्राके पहुँचनेके कुछ ही दिनों पूर्व यहॉ प्रलयकारी तूफान आ चुका था। वेदारण्य तो ठीक समुद्रके किनारेपर है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा एव श्रीपोद्दार महाराजको अपने नगरमें आयी हुई विपत्तिका वर्णन सुनाते हुए वहॉके नागरिकोने कहा कि " मात्र पॉच मिनटके अल्प समयमे सागरमे तीन इतनी विशाल लहरे उठीं कि सम्पूर्ण वेदारण्य शहर पूर्णतया प्रलयमें डूब गया। एकके पश्चात् दूसरी और दूसरीके पश्चात् तीसरी, कुल तीन ही लहरें, मात्र पॉच मिनटके अल्प

अन्तरालमें आयी थीं और पूरा प्रलय मचा गयीं। पहली लहर इतनी ऊँची थी कि रेलवे स्टेशनकी छतपर लगे हुए लोहेके खम्भेका शीर्षभाग भी डूब गया, हजारों पशु-पक्षी, नर-नारी बह गये और मर गये। दूसरी लहर उससे भी ऊँची थी, उसने मकानोंका मलबा और पशु-पक्षियों, नर-नारियोंके शव भी नहीं रहने दिये, और तीसरी तो इतनी ऊँची एवं शक्तिशाली थी कि दूर-दूरतककी वनस्पतियाँ, वृक्ष सब स्वाहा हो गये। धन-जनकी अपार क्षतिकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। सायंकाल सोते समय किसीने सोचा तक नहीं था कि आजकी रात्रि कालरात्रिकी तरह सबको लील जायगी।''

जगत्-व्यवहारकी दृष्टिसे यह वर्णन वस्तुतः किसी भी सहृदय प्राणीके चित्तमें करुणा एवं दुःखका संचार ही करेगा, निर्मम-से-निर्मम प्राणी भी इस घटनाको सुनकर पीडित लोगोंकी वेदनाका सहभागी ही होगा, और सिहर उठेगा। किन्तु इस दृश्यको आनुमानिक आँखोंसे अपने सम्मुख देखकर भी पू. गुरुदेव हर्षसे नाच उठे। वे सोचने लगे जब प्रलयकर्त्ता इस प्रकार सबको एक क्षणमें ही डुबो सकता है, पुरातन सृजनका कोई अवशेष ही नहीं रहने देता, और शवोंतकको बहा ले जा सकता है, तब यह भी तो संभव है कि किसी संत अथवा साक्षात् प्रभुके ही करुणानिलय हृदयमें उनसे जुड़े, साथ ही कृपाकी बाट देखते जीवोंके लिये महाभावसिन्धुकी एक ऐसी असीम ऊँची लहर आ जाय और जीवका सब कुछ बहा ले जाय। भगवान् एवं सन्तसे क्यों न ऐसी चमत्कारिक स्नेहदानकी आशा की जावे कि उसकी विशाल लहरें निकटवर्त्ती लोगोंको सदाके लिये अपनेमें एकात्म कर लेंगी।

पू.गुरुदेव यही विचार करने लगे कि साधकको तो, जैसे भी बने, किसी भी दशामें, किसी महान् संतके निकट रहनेका मन बना ही लेना चाहिये। वेदारण्यके समुद्रने उन्हीं लोगोंको तो डुबाया जो उसके तटका आश्रय लिये रह रहे थे। जो सुदूरवर्त्ती भीतरी प्रदेशोंमें थे, वे इन लोगोंके स्वजन संबन्धी तो इस प्रलयसे अनछुए रह ही गये थे। उन्हें सागरकी लहरोंने तो क्या, जलकी एक बूँदने भी संस्पर्शित नहीं किया। अस्तु, जैसे बने, बस, वैसे किसी महान् सिद्ध सन्तकी आत्मीयताके दायरेमें, उसके निकट उनका आश्रय लेकर रहनेका ढंग बना लेना चाहिये। अवश्य ऐसा होगा, जब ऐसे सिद्ध सन्तके हृदयमें सतत प्रवाहित करुणासिन्धुमें, दयाके सागरमें, महाभावो-दधि में, भगवत्प्रेमके वारिधिमें कभी-न-कभी ऐसा असीम उछाल आवेगा, ऐसी

अनहोनी प्रीतिलहर उठेगी कि निकटवर्त्ती लोगोको चाहे वे कैसे भी क्यों न हों, बहा ले जायगी। संतके निकट रहने वाले लोगोका भविष्य कितना सुन्दर है, इस सौभाग्यको दर्शाते हुए पू.गुरुदेव सभी लोगोंको अनेक वर्षोंतक वेदारण्यम्के इस प्रलयकी कथा सुनाया करते थे।

---

# चिदम्बरम्में भगवान् शिवके साक्षात् दर्शन

चिदम्बरम् दक्षिण भारतका प्रमुख तीर्थ है। सुप्रसिद्ध नटराजकी शिवमूर्त्ति यहीं है। दक्षिण भारतमें भगवान् शंकरके पंचतत्त्वलिंगोंमें आकाशतत्त्वलिंग चिदम्बरम्में ही माना जाता है। मन्दिर रेलवे स्टेशनसे लगभग एक मील दूर है।

यहाँ नटराज भगवान् शिवका मन्दिर ही प्रधान मन्दिर है। इसका घेरा लगभग सौ बीघा है। यहाँ एक बहुत बडा शिवगंगा सरोवर है, जिसे हेम पुष्करिणी कहते हैं। हेम पुष्करिणी सरोवरके पश्चिममें पार्वती मन्दिर है। पार्वतीजीको यहाँ शिवकामसुन्दरी कहते हैं। यह मन्दिर नटराजके निज मन्दिरसे पृथक्, स्वयंने सुविशाल है। इस मन्दिरका सभामण्डप एवं विग्रह दोनों अतिशय सुन्दर हैं।

भगवान् नटराजका निज मन्दिर चौथे घेरेको पार करके पाँचवे घेरेमें है। आगे एक स्वर्णमण्डित स्तंभ है। आगे एक आँगनमें करौटीके काले पत्थरका श्रीनटराजका निजमन्दिर है। मन्दिरमें नृत्य करते भगवान् शंकरकी अतिशय भव्य मूर्त्ति है। यह मूर्त्ति स्वर्णकी है। इसकी झाँकी बहुत ही भव्य है। पासमें ही पार्वतीजी, तुम्बुरु गन्धर्व, नारदजी, आदिकी छोटी स्वर्ण मूर्त्तियाँ हैं।

श्रीनटराज भगवान्के मन्दिरके दाहिनी ओर काली भित्तिमें एक यंत्र उत्कीर्ण है। यहाँ स्वर्णकी मालाएँ लटकती रहती हैं। यह नीला शून्याकार ही आकाश तत्त्वलिंग माना जाता है। इस स्थानपर प्रायः पर्दा पड़ा रहता है। लगभग ग्यारह बजे दिनमें अभिषेकके समय तथा रात्रिमें अभिषेकके समय ही इसके दर्शन होते हैं। यहाँ सम्पुटमें रखे दो शिवलिंग हैं। एक स्फटिकका एव दूसरा नीलमणिका। इनके दर्शन, अभिषेक, पूजनके समय दिनमें ग्यारह बजे

लगभग होते हैं। स्फटिकमणिकी मूर्त्तिको चन्द्रमौलीश्वर तथा नीलमकी मूर्त्तिको रत्नसभापति कहते हैं। नटराज मन्दिरके निजी घेरेके बाहर (चौथे घेरेमे) उत्तर दिशामें एक मन्दिर है। इस मन्दिरके सामने सभामण्डप है। अनेक ड्योढियोके भीतर भगवान् शंकरका लिंगमय विग्रह है। यही भगवान् चिदम्बरम्का मूल विग्रह है। महर्षि व्याघ्रपाद तथा महर्षि पतञ्जलिने इसी मूर्त्तिकी अर्चा की थी। उनकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर प्रकट हुए थे। उन्होंने ताण्डव नृत्य किया। उस नृत्यके स्मारक रूपमें नटराज मूर्त्तिकी स्थापना हुई है। आदिमूर्त्ति तो यह लिंगमूर्त्ति ही है।

पू.गुरुदेव इस लिंगमूर्त्तिके दर्शन करने जैसे ही प्रविष्ट हुए उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति ध्यानस्थ बैठे हुए थे। इन ध्यानस्थ व्यक्तिके रोम–रोमसे प्रकाश–रश्मियाँ फूट रही थीं। उनके शरीरके चतुर्दिक् तेजका एक अद्भुत वलय था। वे महात्मा नेत्र निमीलित किये थे। परन्तु उनके नेत्र इतने विशाल थे, जो प्रकट कर रहे थे कि महात्मा अलौकिक हैं। उनके नेत्रोके ऊपरकी भौहें भी दीर्घ थीं और मस्तककी लम्बी-लम्बी आनितम्ब-लम्बित जटाएँ भूमिका संस्पर्श कर रही थीं। उन तेजपुञ्ज व्यक्तिको सम्मुख देखकर पू.गुरुदेव एक क्षणमें ही समझ गये कि निश्चय ही भगवान् नटराज शिव ही मुझपर अनुग्रह करने यहाँ विराजित होकर मुझे दर्शन दे रहे हैं। पू.गुरुदेव अंजलिबद्ध होकर उनके सम्मुख खड़े हो गये और मन-ही-मन प्रार्थना करने लगे – "प्रभो ! आपको अपने सम्मुख आसीन देखकर भ्रम हो सकता है कि आप कोई नाम-रूप-परिच्छिन्न महापुरुष हैं, किन्तु सीमाबद्ध शरीरमें मेरे सम्मुख आप प्रकट होते हुए भी निश्चय ही नित्य असीम हैं। आपमें परिच्छिन्नताकी प्रतीति सर्वथा सर्वांशमे ही सत्य नहीं है। भगवन् ! यह तो आपकी अचिन्त्य मायाशक्तिका प्रभाव है, जो असीमको सीमाबद्धकी तरह मेरे सम्मुख प्रकट कर दे रही है। सत्य तो यह है स्वामिन् ! आपके स्वरूपतत्त्वको, श्रीविग्रहरहस्यको वस्तुतः इदमित्थम्रूपमें कोई समझ ले, यह सामर्थ्य किसमे है ?"

"हे नागविभूषण ! आप मुझे महान् योगीके रूपमे दर्शन दे रहे हैं, किन्तु प्रभो ! आपकी कमल सदृश अँगुलियाँ जो नख-चन्द्रिकासे उद्भासित हो रही हैं, आपकी सुघड नासा, सुन्दर भौहे, आपके बिम्ब-विडम्ब अरुणिम अधरोंकी कान्ति, लोक-व्यथाहारी आपकी स्मिति इस स्मितिसे मण्डित आपका कृपावर्षी मुखसरोज, विषधर नागों एवं रुद्राक्ष मणियोसे विभूषित आपका

वक्षस्थल, चन्दन वृक्षके समान सुशीतल आपका कर्पूर-गौर वदन, चतुर्दिक् जिसके महाविषधर सर्प लिपटे हैं, ऐसे परम सुशीतल आपके अग-प्रत्यंगको मैं देख-देखकर आपके विचित्र महिमामय स्वरूपपर न्यौछावर हो रहा हूँ।"

"हे मायाधमन ! अपने प्रपन्न जनोंके मायाबन्धनको हर लेनेवाले प्रभो ! आपकी जय हो। प्रभो ! ये हम लोगोंसे जुडे हजारों व्यक्ति, जो आपके अचिन्त्य योगमाया-वैभवके कारण ही इस असत्स्वरूप, स्वप्नाभ, बुद्धिव्यामोहक, अशेष दुःखप्रद संसारके मैं-मेरे, तू-तेरेके मोह-जालमें फँसे हैं, इन्हें कृपाकर इस जंजालसे मुक्त कर दीजिये , नाथ !"

"हे चन्द्रमौलि ! वस्तुतः सत्य तो एक मात्र आप ही हो, यह तत्त्व इन मायान्ध व्यक्तियोंकी बुद्धिमें उतरे ऐसी कृपा करिये। हे पूर्णानन्दमय ! हे निरञ्जन ! हे अद्वय ! हे अमृतस्वरूप ! यह आपकी माया जो क्षण-क्षण उत्पन्न एवं विनष्ट होने वाले क्षणभंगुर स्वभावकी है, फिर भी इन मोहान्ध व्यक्तियोको यही एकमेव सत्य, अपना स्वार्थ समझमे आरही है। आपके स्वयज्योति, निरञ्जन, पूर्णानन्दस्वरूपकी ओर इनका ध्यान ही नहीं जा रहा ! कृपा करें नाथ ! जिससे आप गुरुदेवरूप सूर्यसे ये तत्त्वज्ञानरूपी दिव्यदृष्टि प्राप्त कर सकें और आत्मस्वरूप आपको अपना परम प्रेमास्पद अनुभव करले। फिर तो उनके 'अह' और ममके रूपमें आप-ही-आप बचे रहेगे और यह मिथ्याभूत संसार वे गोवत्सपदकी तरह अनायास पार कर जायेगे। कृपा करे नाथ !"

"आप जो सबके परम प्रेमास्पद आत्मा हो, उसे तो ये सभी अलभ्य, अगोचर, दुरूह, पराया माने हैं और देह आदि वस्तुतः अपनेसे पराये, जड, नाशमान् है, उन्हें अपनी आत्मा जान रहे हैं, इसके अनन्तर वे अपने मायावी भोगोंकी रक्षाके लिये आपकी तीर्थ-मूर्ति आदिकी पूजा करने चले हैं। कैसे पा सकेंगे वे आपको ? उनके अज्ञानकी निवृत्ति तो होनी ही नहीं है ! कैसे मिल पावेगा उन्हें आत्मप्रकाश ? हे अनन्त ! जो विवेकवान् साधक-संत हैं, उनका पथ तो और ही है । वे आपको अपनेसे बाहर न तो किसी तीर्थमें देखते हैं, न ही स्थानमें। वे विवेकी आपको अपने भीतर ही अभिन्न भावसे प्राप्त कर लेते हैं।"

इस प्रकार अपने ज्ञानदीपसे पू.गुरुदेव उन महापुरुष भगवान् शिवकी अर्चना करते रहे। आतुरकण्ठसे पू.गुरुदेव भगवान् आशुतोषकी कितनी ही देरतक स्तुति करते रहे।

पू.गुरुदेवकी स्तुतिसे पूर्ण प्रसन्न हुए उन ध्यानस्थ महायोगीश्वर भगवान् शंकरने कुछ काल पश्चात् अपने नेत्र उन्मीलित किये। कैसी विलक्षण शान्ति, कितनी प्रगाढ़ आत्मीयता, कितनी महान् प्रसन्नता और सहृदयता भरी थी उन भगवान् शंकरके नेत्रोंमें, यह तो लेखनीका विषय हो ही नहीं सकता था। अचानक वे किंचित् मुसकाये, और वरद मुद्रा प्रदर्शित करते अन्तर्धान हो गये।

---

# पाण्डिचेरीमें 'माताजी'से वार्त्तालाप

श्रीरमण महर्षि एव योगिराज अरविन्द इस युगके दो महान् सिद्ध संत हो चुके हैं। समुद्रके किनारे अरविन्दाश्रमके अनेक भवन हैं। इन्हींमेसे एक भवनमें योगिराज अरविन्दकी समाधि है। यात्री समाधिके दर्शन करने आते हैं।

श्रीअरविन्दने इसी भवनमें पच्चीस वर्षतक साधनामय जीवन व्यतीत किया। पू.गुरुदेव एवं पोद्दार महाराज जब अरविन्दाश्रम गये, उस समय श्रीमीरा, एक फ्रेंच वृद्ध महिला जिसे आश्रमवासी 'माताजी' वा 'मदर'के नामसे पुकारते थे, एवं श्रीअरविन्दके समान ही आदर करते थे, आश्रमकी संचालिका थीं।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा जब माँसे मिले तो उनकी नीली-नीली आँखोंमें चिन्मय दिव्य स्नेहकी किरणें प्रसरित होती हुईं उन्हें दृष्टिगोचर हुईं। पू. गुरुदेवने पू. माताजीसे आन्तरिक परिचय प्राप्त करनेके लिये अनेक जिज्ञासाएँ कीं।

पू.गुरुदेवकी प्रथम जिज्ञासा भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपके सम्बन्धमें थी।

श्रीमाताजीने अतिशय संक्षेपमें पू.गुरुदेवको हँसकर प्रत्युत्तर दिया था। (यद्यपि उन्होंने उत्तर अंग्रेजी भाषामें दिया था, उसका भावार्थ हिन्दीमें यहाँ दिया जा रहा है।) " भगवान् अजन्मा हैं, नित्य हैं, प्राकृत जीवकी भाँति उनका जन्म नहीं होता फिर भी असाधुताको जडसे उन्मूलन कर देने और साधु पुरुषोंको कृपाकी धारामे निमग्न कर देने वे अवतरित होते हैं। वर्त्तमान युगमें 'अरविन्द' रूपमें वे ही योगेश्वर जन्मे हैं। "

" भगवान् श्रीकृष्ण एवं अरविन्दमें कोई भेद ?" पू.गुरुदेवका प्रश्न था।

श्रीमाताजीने उत्तर दिया -- स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एवं अरविन्दमें इतना ही अन्तर है कि वे अवतारी थे। अवतारकालमें पांचभौतिक ढाँचेको लेकर अवतरण नहीं होता, वह होता है आत्ममायाकृत। उसमें पंच भूतोंसे सम्बन्ध नहीं होता। योगमायाको स्वीकार करना पंचभूतोंकी जड़तामें आबद्ध होना नहीं है। यहाँ अरविन्द पंचभूतोंमें जन्म लेकर उनका आवेशावतार हैं योगेश्वर अरविन्द और श्रीकृष्ण अभिन्न हैं।

पू.गुरुदेवने पुनः प्रश्न किया -- उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाके सम्बन्धमें आपका अनुभव ?

"श्रीराधा अप्राकृत प्रीतिकी मूर्ति हैं। वे ऐसी प्रीति हैं जिनमें उनके प्रियतमके अतिरिक्त कुछ भी अन्य अशेष है। आदि, मध्य एवं अन्त सब कुछ समर्पण। श्रीराधाका स्व कुछ भी नहीं, सब कुछ प्रेम, श्रीकृष्ण एवं समर्पण।

# मद्रासमें श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीका अर्चन

पू.गुरुदेवको सन् १९५१में जब भगवती पराभट्टारिका श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीके दर्शन हुए, उस समय वे चतुर्भुजा, चार आयुधोंसहित प्रकट हुई थीं । ये चारों आयुध थे – पाश, अंकुश, पुष्पबाण एव इक्षुकोदण्ड । पूगुरुदेव जब दक्षिण भारतकी यात्रामे आये तो उन्हें ऐसे किसी पुरातन विग्रहकी खोज थी, जिसमे सभी चारों आयुध उनके दर्शनके अनुरूप हों और कुछ ऐसे भी लक्षण हो, जिनसे पू.गुरुदेवको जो भगवतीके दर्शन हुए थे, उससे उस विग्रहमे साम्यता दृष्टिगोचर हो सके।

पू.गुरुदेव जब मदुरैमे मॉ मीनाक्षीके दर्शन कर [illegible] तो उन्हें उनके चारों आयुध तो अपने दर्शनोंसे समानता रखते मिले परन्तु उन्हे ऐसा अनुभव हुआ कि मीनाक्षीरूपमे किसी राजकन्यामे भगवतीके आवेशकी यह मूर्त्ति है, उनका साक्षात स्वयभू प्रकट विग्रह नहीं है। [illegible] ऐसे जाग्रत् विग्रहकी खोज कर रहे थे,जो पुरातन हो और किसी [illegible] नापर अनुग्रहसे स्वयभू प्रकट हुआ हो। पू.गुरुदेव [illegible] कर रहे थे [illegible] महात्रिपुरसुन्दरी भगवत्पाद आदिशंकराचार्यकी परमाराध्या रही हैं, अत. दक्षिण भारतमे उन्हे कहीं ऐसी मूर्ति मिलनी [illegible] दिये। अन्ततः स्वयं माताने अपने पुत्रकी लालसानुरूप उन्हे दर्शन [illegible]। पू.गुरुदेव जब तीर्थयात्रामें [illegible]स पहुँचे तो उन्हे [illegible]

सूचना दी कि यहॉसे दस-बारह मीलकी दूरीपर ऐसा स्थान है, जहॉं पुरातन दर्शनीय चारों आयुध सहित पराभट्टारिका भगवतीका पुरातन विग्रह है।

पू.गुरुदेवने अपने साथ गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीको लिया और श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीकी ठीक अपने भावानुरूप प्रतिमा पाकर वे उस विग्रहके दर्शनार्थ गये। पू.गुरुदेव कृतकृत्य एवं उत्फुल्ल हो उठे। उन्होने इस श्रीविग्रहकी पहले तो श्रीपोद्दार महाराज स्वयंसे पूजा करानी चाही किन्तु श्रीपोद्दार महाराज तो लोगोंसे मिलने-जुलनेमें इतने व्यस्त थे, कि उन्हें समयका बहुत ही अभाव था। पू.गुरुदेवने गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे ही आग्रह किया कि वे भगवतीकी भावोपनिषद्‌से सम्पूर्ण पूजा सम्पन्न करें। यह भावोपनिषद् पूजनक्रम 'श्रीमहाभावदिनमणि श्रीराधाबाबा' नामक पुस्तकके तृतीय खण्डमें 'महायागक्रम' शीर्षकसे प्रकाशित किया जा चुका है।

सांगोपांग पूजनोपरान्त पू.गुरुदेव मॉंकी स्तुति करने लगे –

"हे शिवे ! हे भगवान् सदाशिवको सुशीतल कर देनेवाली अमृततरंग ! हे नित्योज्ज्वले ! मॉं ! तेरी जय हो ! "

"हे निवृत्तिका तिलक एवं प्रवृत्तिका अम्बर धारण करने वाली मॉं ! हे शान्ति एवं विद्या कलाओंकी कलाप, परम मधुर आकृतिवाली मॉं, तेरी जय हो !"

"हे तीनों वेदोंमें अपनी ही मूर्त्ति स्थापित करने वाली, हे सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय – तीनों प्रकारके कर्म करने वाली, हे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश त्रिरूपोंकी समवायिनी, हे श्रीपुरमें संचरण करने वाली, हे भगवान् शंकरकी कुटुम्बिनि, हे त्रिगुण रूप संविदको अपनी चरणप्रभासे – सत्वको चरणनखचन्द्रिकासे, रजको चरणतलकी मनोहर लालिमासे एवं तमको चरणोंकी पगथलीकी कठोरतासे उत्पन्न करने वाली ! हे त्रयि ! हे त्रिपुरसुन्दरी मॉं ! हे स्वर्ग, धरा एवं पाताल –तीनों लोकोंकी ईश्वरी ! तेरी सदा ही जय हो !"

---

# भक्तिमती चिन्मयीदेवीके वृत्तान्तसे भावावेश

विजयवाडाके समीपके एक स्थानकी बात है। घटना बडी दिव्य है। श्रीपोद्दार महाराज अपने एक वकील मित्रसे मिलने गये थे। वे इस क्षेत्रके प्रसिद्ध प्रतिष्ठित वकील थे। वार्त्ताके सन्दर्भमें श्रीवकील साहबने पोद्दारजीसे उल्लेख किया कि " मेरे पडोस में ही एक प्रौढ आँयुकी महिला रात-दिन एकान्तमे भजन करती रहती है। वह अत्यन्त गोपनीय रूपमें लोकस्तुति-पराङ्मुख रहकर भजनरत रहती है। उस पवित्रकीर्ति स्त्रीके आसपास ऐसी दिव्य शान्ति समाहित रहती है कि जब भी कोई उसके पास जाता है तो एक परम दिव्य विलक्षण पावित्र्यमें डूब जाता है। वह भजनके अतिरिक्त कुछ नहीं करती। सात्विकता और आस्तिकताकी तो वह साक्षात् साकार प्रतिमा है। उसे न दिनका ध्यान रहता है, न ही रातका । कब सूर्य उदय हुआ और कब सूर्यास्त– उसे अधिकांशतया स्मृति भी नहीं रहती। जगत्में क्या हो रहा है, न वह जानती है, न ही जानना चाहती है। वह सदा अपनी धुनमें लगी रहती है । जब-तब उसके कपोलोंसे अश्रुके विन्दु ढलकते रहते हैं। जब आपका यहॉ आगमन हो ही गया है, तो एक बार आप उससे अवश्य मिललें। "

श्रीवकील साहबका आग्रह इतना प्रबल था कि पोद्दार महाराजको उस महिलासे मिलने जाना ही पड़ा।

पू.पोद्दार महाराजने पू.गुरुदेवको उस देवीसे अपने मिलनकी समग्र घटना वहॉसे लौटकर आनेपर सुनाई थी।

"बाबा ! उसे कमरा न कहकर साधनाकक्ष ही कहना चाहिये, जहॉ वह वृद्धा रहती थी। वहॉका वातावरण अत्यन्त सत्वसम्पन्न था। उस कक्षके कण-कणमें चिन्मय दिव्यता व्याप्त थी। मैं जब वहॉ गया तो मैंने देखा - वह देवी अपने आराध्यके समक्ष अतिशय भावविह्वल दशामें बैठी है। उसकी वह विह्वलता कोई एक दिवसकी तो बात थी नहीं, वह तो उसके जीवनका स्वरूप ही बन गयी थी। वह पूजामें निरे प्रात काल ब्राह्म मुहूर्त्तमें बैठती थी और कब मध्याह्न हो जाता था, इसका उसे ध्यान ही नहीं रहता था। पूजा प्रारम्भ करते हुए उसका चित्त प्राय एक अनोखी मधुर समर्पणकी कल्पनामें बह उठता था। उसे समझमे ही नहीं आता था कि यदि उसके आराध्य सर्वव्यापक परमात्मा होते तो अन्तर्यामी होनेके नाते उसके रोम-रोमकी भावनाओंके वे साक्षी होते।

वे उसकी साधनाको परिपूर्ण करने उसके सम्मुख प्रकट भी हो सकते थे। परन्तु उसके तो आराध्य पाँचभौतिक चोलेके भीतर प्रकट होकर लीला कर रहे थे। उसकी दृष्टिमें उनमें सर्वज्ञताशक्ति होनेकी तो संभावना ही नहीं थी। फिर वे उसके विशुद्ध समर्पणभावको आदर देकर इस गोपनीय स्थानमें कैसे उसे मिलेंगे, दर्शन देंगे ?" किन्तु उसका हृदय पत्थरकी शिलाके समान दृढ़ निश्चय किये था, कि वह अपना प्रेम बाह्यरूपमें तो पत्रादि द्वारा या अन्यत्र व्यक्तिशः जाकर कदापि प्रकट नहीं करेगी। उसे तो सन्त श्रीतुलसीदासजीकी एक ही उक्ति निरन्तर उत्साहित करती रहती थी –

**जापर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू।।**

अब वह मिलन कब होगा ? वह प्रतीक्षा करती-करती किशोरीसे युवती हुई, युवतीसे वृद्धा हुई और अब तो दन्तहीन मुख और श्वेतकेशा हुई वह एक महान् विशुद्ध समर्पणकी पावन दीपशिखा ही बन गयी थी, जो अपने हृदयको जलाती, उसीसे सर्वत्र सबको आलोकित करती प्रतिदिन प्रतिक्षण अपने प्राण-धनकी प्रतीक्षा करती रहती थी। अपने आराध्यके दर्शनकी चाहके लिये पल-पल पथमें नयन बिछाये वह अनथक उनकी राह देखती रहती थी।"

"बाबा! करुणार्णव भगवान् उसपर द्रवित हुए। सर्वव्यापक भगवान्से किसीकी सच्ची चाह छिपी तो रह ही नहीं पाती। विरहतापमें तपकर कुन्दन हुई उस साधिकाकी वाञ्छाके पूर्ण होनेकी भूमिका अन्ततः बन ही गयी। करुणार्णव प्रभुने उसकी वाञ्छाको पूर्ण करनेके लिये समुचित संयोग घटित कर दिया।"

"बाबा! जब मैं उसके साधनाकक्षमे प्रविष्ट हुआ तो मैंने देखा — आसनपर मौन बैठी उसके युगल कपोल उसका आँचल एवं वक्ष अश्रुप्रवाहसे सिक्त है। उसके सम्मुख उसके ठाकुरजीका श्रीविग्रह है और उस श्रीविग्रहके पास मेरा बहुत पुराना बम्बई-जीवनका एक चित्र है। मैंने जब उसके साधनाकक्षमें प्रवेश किया तब उस देवीको बाह्यज्ञानका संचार नहीं था। वह नेत्र मूँदे शान्त बैठी थी। मैं बिना आहट किये शान्त उसकी प्रेममयी गहन मनोदशा देख-देखकर मुग्ध हो रहा था। कुछ काल पश्चात् उसने अपने नेत्र उन्मीलित किये। आँचलसे अपने अश्रु पौंछे। उसके पास प्रायः मोहल्लेके लोग मध्याह्नमे प्रसाद लेनेका आग्रह करने आया करते थे। मेरे आनेपर भी उसका यही अनुमान था कि कोई प्रतिदिनकी भाँति प्रसाद लेनेका आग्रह करने आया है।

बाबा ! वह सर्वथा मौन निम्नमुख किये जड़ पुतलीकी तरह बैठी ही रही। "

"अन्ततः मुझे ही उससे पूछना पड़ा –" देवी !. यह चित्र किसका है ?" सिर झुकाये ही उसने उत्तर दिया – " बहुत वर्षों पूर्व जब मैं किशोरी बालिका थी, इनके बारेमे कुछ पढा था, तबसे मेरी इनपर अतिशय श्रद्धा हो गयी। बहुत चेष्टा करनेपर इनका बम्बईसे यह चित्र मिला। तबसे मैं उन्हे अपने इष्टदेवके रूपमें ही देखती हूँ। मेरा इनके प्रति समर्पणभाव बढ़ता ही जा रहा है। अब तो ये ही मेरे सर्वस्व आराध्य हैं । "

मैने पुनः पूछा– "क्या आप इन्हे जानती हैं ? कभी इनसे मिली हैं ? ये कहाँ रहते है ?"

देवीने बतलाया – "मैं उनका नाम जानती हूँ, पर कभी उनसे मिली नहीं हूँ। जब मेरा सर्वस्व समर्पण इन्हें हो ही गया तो पता-ठिकाना जाननेकी आवश्यकता है भी नहीं !"

" बाबा ! उस देवीने मेरे प्रश्नोंके उत्तर तो दिये किन्तु अन्तर्मनमें एक विचारप्रवाह चल पड़ा कि अबतक इस प्रकारके प्रश्न करनेवाला कोई आया नहीं, आज यह मेरे प्रति इतनी गहन जिज्ञासा करने वाला अन्तत. है कौन ?'

"मस्तक और नेत्र झुकाये रखनेका तो उसका चिर अभ्यास था किन्तु फिर भी किसी अचिन्त्य प्रेरणावश उसने अपना मस्तक उठाया और मेरी ओर देखा। "

"बाबा ! देखते ही तो वह विस्मयसे चकित हो गयी। उस देवीको अपनी दोनो ऑखोंपर विश्वास नहीं हो पा रहा था। विस्मयके आवर्त्तमें पड़ी उसने अपने चित्रपटपर दृष्टि जमाकर अपने प्रकट दृश्यसे उसकी संतुलना की अब तो उसे अपने भाग्यपर अतिशय हर्ष हो उठा। उसे विश्वास हो गया कि उसके आराध्य ही पधारे हैं और वे ही उससे ये सभी जिज्ञासायें कर रहे हैं। उसका मन अपने सौभाग्य-वैभवको पाकर नृत्य कर उठा।"

"देवीके नेत्र लज्जाशील सकोच, दैन्य, उल्लास, आनन्द आदिके समवेत भावोंसे भर गये। उसकी मुखाकृति उपरोक्त भावोंका रह-रहकर प्रकाश कर उठती थी। यद्यपि वह इन सभी भावोको अपने आराध्यके सम्मुख गोपनीय ही रखना चाह रही थी, फिर भी सभी भाव बरबस उसके वदनसरोजको उद्दीप्त कर रहे थे। उसका रोम रोम पुलकावलिसे रोमाञ्चित था। "

तत्क्षण ही उसने मेरे मुखकी ओर पुनः नेत्र उठाये। नेत्र चार हुए औ र

वह प्रौढा मेरे चरणोंमें ढुलक गयी। कितने ही काल वह मेरे चरणोंको अपने प्रेमाश्रुओंसे भिगोती रही। मुझे भी कुछ ज्ञान नहीं रहा। जब मुझे होश हुआ तो मेरे नेत्र भी अश्रुओंसे गीले थे। उसका मस्तक मेरे अश्रुओंसे तर था।"

"जब वह उठी तो संवरित होकर उसने मेरे भालपर चन्दनका तिलक किया। चरणोंमें चन्दन लगाकर पुष्प निवेदित किये और अति मन्द मधुर स्वरमें बोली – भगवान्‌ने मेरा मनोरथ पूर्ण कर दिया। मैं धन्य हो गयी। इससे अधिक और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। "

" मैं अपनेको रोक नहीं सका। उससे प्रश्न कर बैठा – "देवी ! मैं आपका परिचय जान लेता । "

उसने आर्द्रकण्ठ होकर अश्रुभरे नेत्रोंसे कहा– " मेरा परिचय जानकर क्या करेंगे ? मुझे कोई लाभ दिखाई नहीं देता। मेरी प्रार्थना तो इतनी ही है कि जो परिचय आपको मिला है, उसे भी आप कृपाकरके किसीको भी नहीं बतावें।
नहीं तो मेरे यहाँ भीड़ हो जायगी। "

"मैंने पुनः कहा – आप मेरा पता लिख लें । "

देवी किंचित् मन्द मुसकायी "मुझे तो इसकी भी आवश्यकता नहीं। मेरे मनमे तो एक यही साध थी कि एक बार मुझे आपके दर्शन हो जावें। वह साध अन्तर्यामी प्रभुने पूरी कर दी। और अब कोई साध मनमें है नहीं। वैसे मनसे तो मैं आपके अत्यन्त निकट रहती ही हूँ। बस, मेरा यह समर्पण अन्ततक निभ जाय। "

" बाबा ! मैं उसके सर्वथा हेतुरहित समर्पणको देखकर विस्मित एव मुग्ध था। मेरे हृदयसे उसे भूरि-भूरि आशीर्वाद निकलने लगा। मेरा हृदय इतना भर आया था कि किसी प्रकार अपनेको रोककर मैं उसके साधनाकक्षसे बाहर हो पाया।

-----

स्वर्गद्वार नीलाचल (पुरी) में महाभावाविष्ट श्रीराधाबाबा

# नीलाचलमें महाभावावेश

भारतमें चार पावन धाम हैं। कहते हैं सत्ययुगमें बद्री, त्रेतामें रामेश्वर, द्वापरमे द्वारका और कलियुगमें अति पावनकारी धाम मात्र जगन्नाथपुरी ही है। पहले यहाँ नीलाचल पर्वत था और उस पर्वतपर नीलमाधव भगवान् विराजित थे। सागर उनके निरन्तर चरण पखारता था। देवगण ही इनकी पूजा किया करते थे। आज भी श्रीजगन्नाथजीके शिखरपर लगा चक्र 'नीलछत्र' कहलाता है। जहाँतक इस नीलछत्रके दर्शन होते हैं, वह पूरा क्षेत्र श्रीजगन्नाथपुरी है। इसे श्रीक्षेत्र, शंखक्षेत्र, पुरुषोत्तमपुरी आदि अनेक नामोंसे लोग पुकारते हैं। शाक्त इसे उड्डीयानपीठ कहते हैं। इक्यावन शक्तिपीठोंमेंसे यह एक पीठस्थल है। सतीकी नाभि यहाँ गिरी थी।

श्रीजगन्नाथजीके महाप्रसादकी महिमा तो भुवनविख्यात है। महाप्रसादमें छुआ-छूतका दोष तो माना ही नहीं जाता। इस प्रसादमें तो उच्छिष्टता दोषको भी नहीं गिना जाता। व्रत पर्वादिके दिन भी इस प्रसादका ग्रहण विधिसम्मत माना जाता है।

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु जब पुरी पधारे तो एकादशी व्रतके दिन उनकी निष्ठाकी परीक्षा लेने किसीने मन्दिरमें ही महाप्रसाद दे दिया। आचार्य महाप्रभुने एकादशीके पूरे दिन एवं रात्रि पर्यंत उस भगवत्प्रसादका स्तवन किया और दूसरे दिवस द्वादशी आनेपर स्तवन समाप्त करके उन्होंने प्रसाद ग्रहण किया। इस प्रकार उन्होंने 'महाप्रसाद' एवं एकादशी व्रत' दोनोका समान आदर किया।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरसे समुद्रतटको सीधा मार्ग गया है। समुद्र-स्नानके इस स्थान स्वर्गद्वार कहलाता है। मन्दिरसे स्वर्गद्वार लगभग एक मील है।

प्राचीन कालमें परम विष्णुभक्त मालवनरेश इन्द्रद्युम्नको स्वप्नादेश हुआ था कि उत्कल देशमें नीलमाधवका दिव्य देवपूजित विग्रह है। तुम उसकी पूजा करो, तुम्हारा निश्चय ही कल्याण होगा। वे जब भगवान् नील-माधवके दर्शनार्थ उत्कल आये तबतक देवता उस विग्रहको लेकर स्वर्गलोक चले गये थे। उसी समय आकाशवाणी हुई कि दारुब्रह्म रूपमें अब तुम्हें श्रीजगन्नाथके दर्शन होंगे। महाराज इन्द्रद्युम्न सपरिवार नीलाचलमें ही बस

गये। एक दिवस समुद्रसे बहुत बड़ा काष्ठ (महादारु) बहकर आया। महाराजने उसे निकलवाया।

इससे विष्णुमूर्त्ति बनवानेका उन्होंने निश्चय किया। उसी समय वृद्ध बढ़ईके रूपमे भगवान् विश्वकर्मा उपस्थित हुए। उन्होंने मूर्त्ति बनाना स्वीकार किया। उन्होंने राजासे वचन लिया कि जबतक वे मूर्त्ति बनावेंगे, उनके निर्माणभवनका द्वार कोई बाहरसे खोले नहीं।

महादारुको लेकर विश्वकर्माजी गुंडीचा मन्दिरमें निर्माणभवनमें प्रवेश कर गये। विश्वकर्मा महीनों बाहर नहीं आये। रानीको चिन्ता व्याप्त हो गयी। वह सोचने लगी अब तक तो बढई भूख-प्याससे मर गया होगा। करुणावश उसने द्वार खुलवा दिया। बढ़ई तो अदृश्य हो ही चुका था। किन्तु वहॉ श्रीजगन्नाथ, सुभद्रा एवं बलरामजीकी मूर्त्तियॉ मिलीं। वे मूर्त्तियॉ अधूरी थीं। किन्तु उसी समय पुनः आकाशवाणी हुई– " भगवान्‌की इसी रूपमे पूजित होनेकी इच्छा है, इन मूर्त्तियोंपर रंग लगाकर इन्हे मन्दिरमें प्रतिष्ठित कर दो।" इस आकाशवाणीके अनुसार मूर्त्तियॉ प्रतिष्ठित कर दी गयीं। गुंडीचा मन्दिरको इसीलिये ब्रह्मलोक या जनकपुर कहते हैं।

पू.गुरुदेव जब जगन्नाथपुरी पहुॅचे तब उनके सग जगन्नाथपुरीका दर्शन करने मैं भी गोरखपुरसे वहॉ पहुँचा था। पू.पोद्दार महाराजके दर्शनकर मैंने जब पू.गुरुदेवके दर्शनकी इच्छा प्रकट की तो पता लगा कि वे विरहावेशमें सर्वथा बाह्यावेशरहित अवस्थामे हैं। उनके पास किसीके भी जानेकी श्रीपोद्दार महाराज द्वारा मनाही है। उन दिनों मैं सन्यासी नहीं हुआ था।

मैंने सुन रखा था कि रसोपासनाके क्षेत्रमे सयोगकी अपेक्षा विप्रलम्भ को अधिक महत्व दिया गया है। अबतक पू.गुरुदेवको संयोगावस्थामें दर्शनानन्दमे तो तन्मय अनेक बार देख चुका था, किन्तु विप्रलम्भभावमें उन्हें अबतक कभी देख नहीं पाया था। सुना था कि विप्रलम्भमे सयोगकी अपेक्षा भी तन्मयता अधिक होती है। मैं अवसरकी ताकमें बैठ गया कि जैसे ही पू.गुरुदेवके पहरेपर बैठा व्यक्ति इधर-उधर हो, मैं उनके निवासकक्षमें चला जाऊँ, और मेरे गुरुदेवकी विरहदशाका आस्वादन तो करूँ। श्रीपोद्दार महाराज समुद्रकिनारेसे थोड़ी ही दूरीपर ठहरे थे। मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी भी वहीं ठहरे थे। पू.गुरुदेव दूसरे तल्लेके एक कक्षमें विराजित थे।

मैं भगवान् श्रीकृष्णसे अत्यन्त करुण स्वरमें मन-ही-मन प्रार्थना करने

लगा – 'प्रभो! एक झाँकी मेरे गुरुदेवके विरहावेशकी कृपाकरके मेरे दृष्टिपथपर ला दें, और यह तभी संभव है जबकि पहरेपर बैठे श्रीराधेश्यामजी भगत इधर-उधर हो जावे। प्रभुकृपासे मुझे अवसर मिल ही गया। श्रीराधेश्यामजी भगतने मुझे वहाँ खड़े देखकर कहा –" भैया ! मैं शौच होने जाना चाहता हूँ, आप कुछ काल यहाँ पहरेपर मेरे स्थानपर नियुक्त हो जाइये। सचमुच ही बाबा ऐसी अवस्थामें नहीं हैं कि कोई दर्शनार्थी उन्हें परेशान करे।" मैं तो ऐसा चाहता ही था, बस स्वीकृति देते ही भगतजी अपने वस्त्र लेकर शौचस्नानके लिये चल पड़े। निचले तल्लेमे अनेक शौचालय-स्नानगृह बने थे। पासमें कुआ भी था जिसमें सुमिष्ट जल था।

जैसे ही भगतजी शौचस्नानार्थ नीचे गये, मैंने एक दृष्टि पू.गुरुदेवपर जो भीतर कक्षमें बैठे थे, डाली। उनकी उस दशाका चित्र मैं लेखनीके द्वारा प्रकट कर सकूँ, सचमुच ही यह मेरी शक्तिके बाहर है। शब्दोंके द्वारा इतना ही कह सकता हूँ कि उस समय उनके शरीरमे स्पन्दनकी शक्ति स्वाभाविक थी ही नहीं। बस, किसी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा ही उनके स्नायुजालोंमें प्राणोका सचार हो रहा था। बस, उनके शरीरमें जीवनका चिह्न इतना सा ही अवशिष्ट था कि वे रह-रहकर अतिशय करुण स्वरमें 'हा, प्राणवल्लभ! हा प्राणेश्वर! कहकर पुकार उठते थे। पू.गुरुदेवके नेत्रोंकी पुतली तो एकदम स्थिर थी। हाँ, दृग्गोलकोंमें उनके प्राणनिकेत प्रियतम नीलसुन्दरकी प्रत्यक्ष छवि, अथवा ध्यानमूर्त्ति कुछ भी कहें, अवश्य ही झिलमिल कर रही थी। कोई कहेगा कि यदि वह मूर्त्ति प्रत्यक्ष थी, तो फिर वियोग कैसा ? बस, इसके उत्तरमें यही कहना बनता है कि भावावेशमें उन्हें यही अनुभव हो रहा था कि उनके प्रियतम तो उन्हें छोडकर मथुरा चले गये हैं, और मथुरा ही नहीं, मथुराको भी त्यागकर महासमुद्रके भीतर बसे किसी द्वीप द्वारकामें चले गये हैं। किन्तु किसी आशामें बँधे-बँधे ये प्राण उनकी स्मृतिमूर्त्तिके सहारे उनके देहमे अटके हैं। बस! रुद्धकण्ठसे अतिशय आर्त्तध्वनिमे अपने प्रियतमको प्राणवल्लभ, प्राणसुन्दर, नीलमणि ! इस प्रकार पुकारते वे अपने प्राणपखेरुओंको उड़जानेसे बचाये हैं।

मैं पू.गुरुदेवके निवास कक्षमें प्रवेश तो कर गया, परन्तु अपने गुरुदेवको इस परितप्त दशामे देखकर तो मेरी वेदनाका भार असह्य हो उठा। मैं सोचने लगा – पू.गुरुदेवको इस विक्षिप्त दशामें मुझे कदापि नहीं देखना चाहिये था।

पू.गुरुदेव मूर्च्छित भी नहीं थे। वे तो ऐसी भयंकर वेदनामें थे जहाँ मूर्च्छा भी उस विरहज्वालामें जल जाय।

मैं काष्ठपुतली सा, फटे-नयन अपने परमात्मीय गुरुदेवसे मन-ही-मन यही प्रार्थना करने लगा -- ओह, बाबा ! मात्र क्षणभरके लिये ही सही अपनी इस अथाह प्रेमरसे-भावित करुण विरहदशाकी छायाकी छायाकी प्रतिच्छायाको किसी नगण्यतम अंशमें ही सही, मुझे स्पर्श करनेका पावनतम एक सुअवसर तो दे दीजिये। क्षणभरके लिये ही सही, इस भीषण विरहार्त्तनादकी एक क्षीण गूँज ही सही, आपकी हेतुरहित कृपासे मेरे हृदयमें भी प्रतिनादित तो हो उठे। इस अत्यन्त भयावह नीरवताकी एक छाया ही छू जाय तो मेरी विषय वासना तो जलकर राख हो जाय। यदि पू. गुरुदेवके चित्तमें उस समय प्रियतम स्मृतिरूप अमृत और विरहरूपी गरल – दोनोंका ही युगपत् संचार नहीं होता तो उनका यह विरहभाव उनके महानिर्वाणमें निश्चय ही परिणत हो उठता। किन्तु उनके जीवनको बचाये रखनेकी अभी उनके प्रियतम श्रीकृष्ण और उनकी योगमाया लीलामहाशक्तिकी इच्छा थी, अतः उनके हृत्पटलपर अपने प्रियतम नीलसुन्दरकी रूपसुधाचन्द्रिका पूरी छिटक रही थी।

मैं आगे अपने प्राणप्रिय गुरुदेवकी वह दशा और अधिक नहीं देख सका और अश्रु बहाता बाहर आ गया। मेरे गुरुदेवके मुखपर एक विलक्षण प्रियदर्शनजन्य संयोगकी भी स्मिति थी और कभी-कभी वे अपने भावविह्वल विकृत मुखसे करुण क्रन्दनकी एक 'हा प्राणनिकेत' ध्वनि भी निकालते थे, वह ध्वनि इतनी मर्मबेधी होती थी कि सुननेवाले मुझ दुष्टमतिके हृदयको अतिशय विदीर्ण कर दे रही थी। यदि ये दो लक्षण मुझे दृष्टिगोचर नहीं होते तो मुझे उनकी अतिशय मन्द श्वासगति देखकर तो पू.पोद्दार महाराजको पुकारकर बुलाना पड़ता।

मैं पू.गुरुदेवके कक्षसे बाहर आ गया।

बहुत काल पश्चात् जब पू.गुरुदेव तीर्थयात्रा सम्पन्नकर गोरखपुर आ गये थे, और उनसे एकान्तमें मैंने निष्कपट खुलकर वार्त्ता की थी, तब मैंने उनको पुरीमें उनकी विरहविह्वल अवस्थाके दर्शनकी अपनी बात कही थी। उस समय उन्होने अपनी पुरीकी भाव-अनुभूति बतायी थी। वे कह रहे थे कि मेरी स्वयंकी उत्तप्त विरहदशा तो पुरीमें थी ही नहीं। मैं विरहिणी मेरी अग्रजा बहिन राधाकी विरहदशाकी मात्र साक्षी हुई व्यथित थी। यदि मुझमें मेरी

अग्रजा प्रिया राधाकी विरहदशा व्यक्त हो उठती तो उसका अर्थ था, मेरे प्राण-पखेरूका उड़जाना। तुम कल्पना करो कि जब मेरी अग्रजा राधाकी दशाकी छाया पड़ने मात्रसे उसकी भगिनी मुझ मञ्जुश्यामाकी ऐसी विह्वल दशा हो रही थी तो स्वयं मेरी भगिनी राधाकी विरहदशा कितनी उत्तप्त रही होगी !

पू.गुरुदेवने मुझे बताया कि लोग 'विरह,'विरह' करके मात्र बातें करते हैं, सच्चे विरहकी मात्र कथा-वार्त्ता सुननेसे ही कैसी दशा होती है, इसका प्रतीक तो जगन्नाथ भगवान्‌का दारुविग्रह है।

पू. गुरुदेवने सुनाया कि द्वापरमें द्वारकामें पटरानियोंके पास रहते हुए श्रीकृष्ण अपनी राधा-स्मृतिको बहुत ही गोपनीय अप्रकट रखते थे। किन्तु जब उनका विरहभाव असह्य हो उठता, तो वे कभी-कभी माता रोहिणीके सम्मुख उस विरहदशाकी विकलताको अभिव्यक्त कर देते थे। कभी-कभी रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियाँ निशामे जब उनकी स्वप्नावस्थामें व्यक्त राधाप्रेमको उनके मुखसे निकलती अस्फुट शब्दावली द्वारा जान लेतीं तब भी वे उसे छिपा लेते और किसी न किसी बहानेसे उन अपनी पटरानियोंको भुलावा दे देते।

एक दिवस श्रीकृष्णचन्द्रकी पटरानियोंने माता रोहिणीके भवनमें जाकर उनसे आग्रह किया कि वे उन्हे श्रीराधाके एवं श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके प्रेमके मुख्यतया विरह-प्रसगोंको सुनावे। इन रुक्मिणी, सत्यभामादि पटरानियोको तो उनके पति श्रीकृष्णके देशान्तर वियोगमे भी ऐसा उत्कट विरह होता नहीं था, अतः वे श्रीमती राधाकी विरहदशाका मात्र वर्णन ही माता रोहिणीसे सुनना चाहती थीं। माता रोहिणीने इस प्रसगको बहुत टालना चाहा किन्तु पटरानियोके अतिशय आग्रहसे बाध्य होकर उन्हें वह प्रसग सुनानेको प्रस्तुत होना पड़ा। उचित नहीं था कि सुभद्राजी भी वहाँ रहें। अतः माता रोहिणीने सुभद्राजीको भवनके बाहर द्वारपर खड़े रहनेको कहा और आदेश दे दिया कि वे किसीको भीतर प्रवेश नहीं करने दें। संयोगवश उसी समय श्रीकृष्ण-बलराम वहाँ पधारे। सुभद्राजीने दोनों भाइयोंके मध्यमे खड़े होकर अपने दोनों हाथ फैलाकर दोनोंको भीतर जानेसे रोक दिया। बंद द्वारके भीतर जो ब्रजप्रेमकी वार्त्ता हो रही थी, उसे द्वारके बाहरसे ही यत्किञ्चित् सुनकर तीनोंके शरीर द्रवित होने लगे। उसी समय देवर्षि नारद वहाँ आ गये। देवर्षिने यह जो

प्रेमद्रवित रूप देखा तो प्रार्थनाकी – 'आप तीनों इसी रूपमें विराजमान हों।' भगवान् श्रीकृष्णने नारदजीका आग्रह स्वीकार कर लिया और कहा –"कलियुगमें दारुविग्रहमें इसी रूपमें हम तीनों भगवान् जगन्नाथके रूपमें नीलाचलमें स्थित होंगे।"

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि इसपर कोई विश्वास नहीं करेगा, किन्तु है यह परम सत्य कि चैतन्य महाप्रभु जब विरहावेशमें हा ! प्राणवल्लभ ! कहकर अपने हाथ अपने प्रियतम श्रीकृष्णका आलिंगन करने फैलाते थे तो उनके हाथ इतने लम्बे हो जाते थे, मानो कोई लम्बा बाँस हो। अब कोई कहेगा कि प्राकृत अस्थियाँ कैसे इतनी लम्बी हो जायेगी ? तो किसीके तर्कका उत्तर तो मेरे पास है नहीं, परन्तु भाव चिन्मय होनेसे प्रकृतिमें भी उलटफेर कर सकनेमें पूर्ण समर्थ है, यह मेरा सत्य अनुभव है। भगवान् जगन्नाथ मन्दिरमें जो दारु-प्रतिमामें अंगोंकी विकृति है, वे प्रेमद्रवित भगवान्का विकृत आकार यदि कोई भाग्यवान् भावकी आँख पा जावे तो उसे परम सत्य अनुभव होगा।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि उनकी अग्रजा राधा श्रीकृष्णके अन्य गोपी चन्द्रावली आदिके कुञ्जमे जानेपर ही कभी-कभी विरहावेशमे ऐसी विकृत अंग हो जाती हैं कि फिर प्रियतम श्रीकृष्णको उन अपनी प्रियाके विकारग्रस्त अंगोंको यथास्थान, यथारूप अवस्थित करनेके लिये घण्टों उन्हें सहलाना पड़ता है, तब वे कहीं यथारूप हो पाते हैं।

प्रसंगवश विवशतासे मुझे पुरीकी वार्त्ताको स्थगित कर गोरखपुरमें पू. गुरुदेवसे होनेवाले संवादका उल्लेख करना पड़ा जबकि अभी जगन्नाथपुरीमे मन्दिरदर्शनका प्रसंग कहना पूरा शेष है।

जब पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज जगन्नाथ मन्दिरमे पहुँचे तो उन्हें भगवान्के सविधि दर्शन कराने पण्डाजी श्रीसदाशिवरावजी रथ उनके साथ थे। श्रीरथजी मन्दिरके पुजारियोंके ही परिवारके एक व्यक्ति थे और पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराजके प्रति अतिशय श्रद्धाभाव रखते थे।श्रीरथजीने श्रीपोद्दार महाराजको बतलाया कि मन्दिर दर्शनकी यही परम्परा है कि पहले मन्दिरकी परिक्रमा करके यात्रीको जय-विजय द्वारमें जय-विजयके दर्शन करके इनसे अनुमति लेकर तभी निजमन्दिरमें जाना चाहिये। निजमन्दिरके जगमोहनमे गरुड़स्तम्भ है। श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेव यहींसे श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते थे। वहाँ एक छोटा गड्ढा भूमिमे है। पू.गुरुदेव एवं पोद्दार महाराजको जब

श्रीरथजी पण्डाने यह बताया कि श्रीचैतन्य महाप्रभुकी विरहाश्रुधाराके निरन्तर निपतित होते रहनेसे यह गड्ढा निर्मित हो गया था, जो आजतक सुरक्षित रखा गया है, यह सुनकर श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा दोनोंके नेत्रोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगे। पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज यहींसे ऐसे भावाविष्ट हुए कि उनकी वाणी रुद्ध हो गयी।

श्रीरथजीके निर्देशानुसार गरुड़स्तम्भको दाहिने करके पू.गुरुदेव निजमन्दिरमें प्रविष्ट हुए।

निज मन्दिरमें सोलह फुट लम्बी एवं चार फुट ऊँची वेदी है। इसे रत्नवेदी कहते हैं। वेदीके तीन ओर तीन फुट चौडी गली है, जिससे यात्री अन्तर्दर्शनके समय श्रीजगन्नाथजीकी परिक्रमा करते हैं। इसी वेदीपर श्रीजगन्नाथ, सुभद्रा तथा बलरामजीकी मुख्य मूर्त्तियाँ विराजित हैं। श्रीजगन्नाथजीका श्याम वर्ण है। वेदीपर एक ओर छः फुट लम्बा सुदर्शनचक्र प्रतिष्ठित है। यहीं नीलमाधव, लक्ष्मी और सरस्वतीकी छोटी मूर्त्तियाँ हैं।

पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराजको पण्डाजी श्रीरथ भीतरतक श्रीविग्रहके चरणस्पर्श कराने ले गये। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें भीतरतक जाकर भगवान्‌के श्रीविग्रहोंके चरणस्पर्श कर सकनेकी परंपरा है किन्तु यहाँकी सेवापद्धति कुछ ऐसी है कि यह निश्चित नहीं है कि किस समय भोग लगेगा और कब सबके लिये भीतरतक जानेकी सुविधा प्राप्त होगी। प्रायः रात्रिमे ही यह सुविधा मिलती है। किन्तु प्रतिदिन उसके मिलनेका निश्चय नहीं है। श्रीरथजीने श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेवके लिये विशेष चेष्टा करके यह व्यवस्था करायी थी। पू.गुरुदेवने निजमन्दिरमें विराजित छः फुट लम्बे सुदर्शनचक्रके दर्शन किये। इस सुदर्शनचक्रके दर्शनसे मानो महारसिक सिद्ध भक्तोंकी विशुद्ध निराविल मधुर धारा भगवान् जगन्नाथके लोकोत्तर तेजसमन्वित मुखमण्डलपर अटक गयी। वह उनके ऐश्वर्य पर्वतको लाँघ नहीं सकी, और एक बार रुद्ध हो गयी। किन्तु उसका प्रवाह थोड़ी ही देरमें द्विगुणित हो उफन उठा। यह देखो – पू.पोद्दार महाराजकी आँखें उस जगन्नाथ भगवान्‌को जो द्वारकाधीश स्वरूपमें खडे थे, तत्क्षण ही अपने प्राणपति, प्राणाधार नील-सुन्दरके रूपमे देखने लगे और प्रेमावेशसे उनके नेत्र अश्रुकी अविरल धारा बरसाने लगे। श्रीपोद्दार महाराजने पू.गुरुदेवका हाथ पकड रखा था। उन्हें सँभालनेके लिये वे संरक्षकवत् मन्दिरमें प्रविष्ट हुए थे क्योंकि पू.गुरुदेव

श्रीराधाबाबा तो प्रातःकालसे ही जब वे दोनों स्वर्गद्वारमे साथ-साथ समुद्रस्नान करने गये थे, तभीसे कहनेभरको ही होश में थे। तभीसे क्षण-क्षणमे उनका शरीर बाह्यज्ञानशून्य निस्पन्द हो जा रहा था। पू.पोद्दार महाराज समझते थे कि श्रीजगन्नाथपुरीके सागरतटपर तरंगित लहरोंके दृश्यने पू.गुरुदेवकी श्रीकृष्णालिंगनकी लालसाको उद्दीप्तकरके उन्हें मथित कर दिया है। तभीसे अपूर्व प्रियतम-विरहकी ज्वाला उनके अन्तस्तलमें प्राणोंको प्रतिक्षण जला रही है। विरहभावकी कराल लपटोंमें उनका शरीर-मन-प्राण सबकुछ झुलसता जा रहा है। परन्तु अवश्यमेव यह सब हो रहा है उनके भावदेहमें ही। उनके प्राकृत देहमें तो वे अपने हृत्सिन्धुकी ज्वाला और भावसागरकी मन्थनलीलाको सर्वथा अप्रकट ही रखे हैं। हाँ, यह अवश्य है कि उनके प्राकृत देहको संस्पर्श करनेवाली वायु, उनकी परम पूत प्रियतम स्मृतिमयी नेत्रदृष्टि, त्रितापसे प्रतिक्षण जलते हुए असंख्य प्राणियोंके लिये महौषधिरूप बन रही है। श्रीपोद्दार महाराज इस सत्यसे भी पूर्णतया अवगत थे कि उनके परम प्रिय शिष्यके रससागरकी कुछ बूँदें उनके चित्तके मन्थनसे उत्पन्न हुई अमृतकी कुछ कणिकायें प्रपंचके तटपर बिखर रही हैं। और इससे जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्कमें आ रहे हैं, वे त्रिताप ज्वालासे निश्चय ही सदाके लिये विमुक्त हो जावेंगे।

इसीलिये पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके हाथोंको श्रीपोद्दार महाराज पकड़े हुए थे, उन्हें सम्हाले थे, किन्तु होगया सर्वथा विपरीत। श्रीपोद्दार महाराजकी स्वयंकी दशा ही श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते-करते ऐसी उन्मत्त हो गयी कि उलटे पू.गुरुदेवको उन्हें सम्हालना पड़ा।

श्रीपोद्दार महाराज तो श्रीजगन्नाथजीके दारुविग्रहको बस, खड़े देख रहे थे, किन्तु अचानक ही भावोदीपन हुआ और उनका दृश्य बदल गया। उन्हे अनुभव होने लगा – " समग्र अन्तरिक्ष जय-जयनादसे नादित हो रहा है। सर्वत्र आकाशमें देववृन्द परमानन्दित पुष्प-वर्षा कर रहे हैं। अब तो श्रीपोद्दार महाराजकी आँखोंके आगे से वह दारुप्रतिमा विलुप्त ही हो गयी और उनके नेत्र अपलक केन्द्रित हो गये उनके प्रियतम नीलसुन्दरके पदकमलोंपर ही। लो, अब तो रासनृत्यके तालबन्धका एक विचित्र-सा कम्पन उन चरणोंमें होने लगा। ओह ! स्पष्ट ही तो है – समस्त कलाओंके आदिगुरु ये ब्रजेन्द्रनन्दन यमुनाकी मणिनभी, साथही, सुकोमलतम सैकतराशिपर अनुपम रासनृत्य करने

जा रहे हैं। अखिलकला-प्रवर्तक, सकलकला-निधि उनके प्रियतम अपनी रास रंगशालामे अपनी रासनृत्यकलाका दर्शन करावें और निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर निहारतीं असंख्य गोपियोके प्राणोको सुशीतल करें, फिर दृष्टाके सौभाग्यको क्यों न सराहा जावे ? लो, उनका यह नृत्य प्रारंभ भी हो गया।

अरे भाई ! कोई अपना प्रेमास्पद नृत्य करे तो हर्ष होना चाहिये, फिर ये पोद्दार महाराज अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरके रासनृत्यके समय रो क्यों रहे हैं ? अरे भाई ! तुम इन पोद्दार महाराजको प्राकृत शरीरमें नरदेहधारी ही देख रहे हो, इनका अप्राकृत भावशरीर तो तुम्हारी दृष्टिसे सर्वथा ओझल ही है। ये तो हैं साक्षात् श्रीबृषभानुनन्दिनी ! उस प्रेमलोकमे श्रीबृषभानुनन्दिनीकी मनोदशा कैसी विचित्र है, इसे तुम क्या जानो ? उनकी अश्रुधारामे जो कभी विराम हुआ नहीं, होगा नहीं, और होता नहीं, इसका तुम्हें कहाँ पता है ? अविरल अनवरत क्रन्दन ही तो उनका जीवन है ! यह क्रन्दन अनादि है और अन्तरहित है। सयोगके क्षणोंमें, चाहे प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दन महारासमें नृत्य ही क्यों नहीं कर रहे हों, इस रासोल्लासमें भी उन्हे अपने प्राणवल्लभसे विरहकी स्मृति हो आती है और उनका क्रन्दन प्रारंभ हो जाता है। कोई कहेगा बृषभानुनन्दिनीको विरहकी आशंका ही तो होती है, सामने सत्यमें तो उनके पास उनके प्रियतम श्रीकृष्ण रहते ही हैं। तो भाई ! कोई प्राकृत व्यक्ति अप्राकृत राज्यकी बाते ठीक तरहसे समझ नहीं सकता। जाग्रत् और भावका भेद इस प्राकृत लोकका है। इस प्राकृत लोकमें जाग्रत् अवस्थाको लोग सत्य समझते हैं और स्वप्नावस्था और मनोराज्यको लोग मिथ्या समझते हैं। किन्तु इस अप्राकृत ब्रजभावके राज्यमें मनोराज्य उतना ही सत्य है जितना जाग्रत् अवस्था। वहाँ स्मृति ही सत्य है। विरहमें मिलनकी स्मृति वहाँ सच्चा मिलन कराती है। इसी प्रकार मिलनमें विरहकी स्मृति भी वहाँ नित्य विरह हो जाती है। उस भावराज्यमे स्मृति ही सत्य है। स्वप्न ही सत्य है। मनोरथ ही सत्य है, कामना ही सत्य है। अस्तु, प्रिया-प्रियतमके रास-मिलनमें भी पोद्दार महाराज भावी विरहकी आशकामें डूबे अपने नेत्रोंसे अश्रुधारा बहा रहे हैं जबकि कहीं यदि उनके वियोगके क्षण वस्तुत: होते तब तो अश्रुप्रवाहकी सीमा ही नहीं रहती।

फिर कोई प्रश्न कर सकता है कि वे जब अनवरत क्रन्दन ही करते रहते हैं तो 'कल्याण' गीताप्रेसका कार्य कैसे करते हैं ? तो इसका उत्तर यह

है कि उनके भावराज्यमें न तो कहीं 'गीता' है, न ही गीतावक्ता है, और न ही कोई लोक है और न ही उसका कल्याण है। यहाँ यह ध्यानमें रखनेका विषय है कि श्रीपोद्दार महाराजके पचभूतात्मक प्राकृत शरीरका नियन्ता उनके स्वयंका अहं है ही नहीं। उनका शरीर तो एक यंत्र है जिसको जगन्नियन्ता भगवान् उनके स्थानपर आसीन हो अपनी रुचिके अनुसार चला रहे हैं। वे जो बुलाते हैं, उनका देह बोल देता है, जैसा व्यवहार जगन्नियन्ता भगवान् कराना चाहते हैं उनका देह वही अच्छा-बुरा कर्म, अनुकूल-प्रतिकूल व्यवहार कर देता है। पोद्दार महाराजका निजका अहं तो महासत्वमें कबका विलीन हो गया। यह महासत्व तो त्रिगुणसे परेकी वस्तु है।

भाई, जीवकी साधनाका माध्यम तो प्राकृत शरीर ही है, भले ही प्राकृत राज्यके शरीर द्वारा कोई कितनी ही साधना करे, और साधनाके फलस्वरूप कोई कितना ही सत्वगुण प्रवृद्ध करले, उस सतोगुणमें रजोगुण-तमोगुण सम्मिश्रित तो रहता ही है, रहेगा ही। तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण प्रकृतिके राज्यकी वस्तु हैं, किन्तु महासत्व तो त्रिगुणसे परे, अप्राकृत राज्यकी वस्तु है। महासत्वमे विलीन होनेवाला मन रसस्वरूप ब्रजेन्द्रनन्दन किंवा महाभावस्वरूपा बृषभानुनन्दिनीसे एकमेक हो जाता है। तो श्रीपोद्दार महाराज तो अब महासत्वमे एकमेक हो महासत्वका भी आधार बन गये हैं। अत अब तो वे भाई ! महाभावस्वरूपा बृषभानुनन्दिनी ही बन गये हैं। अब रहा उनका प्राकृत शरीर, सो उनके इस प्राकृत देहका नियंत्रण जगन्नियन्ता जैसे करना चाहें, कर ही रहे हैं। यह सत्य है कि सरिताके जलप्रवाहमे धराके उलटे भी मछली तैर जाती है किन्तु हाथी नहीं तैर सकता, इसी प्रकार अपने भावजीवनमे उमड़ते -उछलते रस-सागरको श्रीपोद्दार महाराज अपने प्राकृत देहमें व्यक्त होनेसे रोकनेमें अति कुशल हैं। वे असीम रसप्रवाहमें उलटे तैरकर ही साधारण तुच्छ मोही, गृहस्थ मनुष्यवत् व्यवहार कर लेते हैं। किन्तु कभी-कभी रसका उद्दीपन जब उनके वशके बाहर अथाह हो उठता है तो उनके देहमे भी उसके अनुभाव व्यक्त हो ही जाते हैं। तो आज यही हो रहा है, इसमें यह भी [illegible] है कि साधनाकी दृष्टिसे जिनका श्रीपोद्दार महाराजके प्रति समुन्नत श्रद्धाभाव है, श्रीपोद्दार महाराजके भावावेशसे उनके भाव [illegible] पोषण मिल जाय उनकी श्रद्धा सीमातीत उफनकर सीमातीत हो उठे। किन्तु यहाँ यह भी ध्यान रहे कि यह सब करनेवाला जगन्नियन्ता भगवान् ही है। पोद्दार महाराज स्वयं नहीं हैं।

उनके प्राकृत कलेवरसे किसीको श्रद्धान्वित करना, या उसमे घोर अश्रद्धा उत्पन्न कर देना– ये सभी जगन्नियन्ताके ही कार्य हैं। श्रीपोद्दार महाराज तो पूरे डूब चुके हैं, उस महासत्व-सिन्धुमें जो पूर्णतया अप्राकृत है, एवं उसका इस प्राकृत जगत्से लेशात्मक सम्बन्ध भी नहीं है।

तो, परिस्थिति सर्वथा दूसरी हो जानेसे उलटे अब श्रीपोद्दार महाराजकी सँभाल पू.गुरुदेवके लिये आवश्यक हो गयी। श्रीपोद्दार महाराजकी भावदशा ऐसी ही गंभीर होती जा रही थी कि पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको ऐसा प्रतीत होने लगा कि ये कुछ ही कालमें जड़िमाभावसे ग्रस्त हो उठेंगे। अत: वे उन्हें मन्दिरसे बाहर ले आये। पू.गुरुदेव कसकर श्रीपोद्दार महाराजका हाथ पकड़े हुए थे, और उन्हें खींचते-से बाहर ला रहे थे। मन्दिरके बाहर एक भिखारी बैठा हुआ था। उसे सम्पूर्ण शरीरमें श्वेत कुष्ट थी। अब श्रीपोद्दार महाराज ज्यों ही मन्दिरसे बाहर आये, लगे उस श्वेतकुष्टी भिखारीके पैर पडने। पू.गुरुदेव भी यद्यपि उस समय भावमदिराके नशेमें थे, परन्तु उन्हें अपना नशा थोड़ा शिथिल करना पड रहा था। पू.गुरुदेव कहते थे कि इस महासत्व रूपी मदिराका नशा इतना आनन्दस्वरूप है कि कोई भी डूबा हुआ व्यक्ति सामान्यतः इस आनन्दको त्यागकर प्राकृत जगत्में पदार्पण करना नहीं चाहता, किन्तु कुछ व्यक्तियोमे भगावत्कृपासे ऐसी विलक्षण समता और मत्सुखसे उपरति उत्पन्न हो जाती है कि उनके लिये महासत्वसिन्धुमे डूबे रहना अथवा प्राकृत जगतमे बातें करते रहना, दोनों ही समान स्थिति हो जाती हैं। तो जब श्रीपोद्दार महाराज भावावेशमे सुध-बुधरहित हुए एक कोढीके पैरोंको इस प्रकार टटोलने लगे, मानों उन पैरोंमें ही सारी रस-सम्पदा भरी हो, तो पू.गुरुदेवने उन्हें किसी प्रकार निवृत्त किया और तुरन्त मोटर गाड़ीमे बैठाकर उनके निवासपर ले आये। पू.गुरुदेव जैसे ही उन्हें निवासपर लाये भावोद्वेलनजन्य शैथिल्यके अतिरेकसे अभिभूत हुए श्रीपोद्दार महाराजतो अपना कक्ष बन्दकर सर्वथा बाह्यज्ञानशून्य जडवत् हो गये।

पू.पोद्दार महाराज एव गुरुदेवके संग मन्दिरमें उस समय मैं भी था। मैंने जब पू.गुरुदेवसे श्रीपोद्दार महाराजकी उस समयकी स्थितिपर प्रकाश डालनेकी बात कही तो वे कहने लगे –" भैया ! तुझे श्रीपोद्दार महाराजके मुखसे सुनी उनकी अपनी अनुभूतिकी बात बता रहा हूँ। यह घटना रतनगढ़की है। श्रीपोद्दार महाराज शौचके लिये धोरोंकी ओर जा रहे थे। अचानक वे

एकदम भावसमाधिस्थ होने लगे। उनके लिये हाथका लोटा सँभाल पाना तथा अपने शरीरको ठीकसे खड़ा रख पाना ही कठिन हो रहा था। उनका भाव जब कुछ शिथिल हुआ तो वे मुझसे कहने लगे –"बाबा ! बहुत दिन पहले मेरे मनमें बार-बार संन्यास लेनेकी प्रवृत्ति होती थी। एक दिवस जब भगवान्ने तनिक मेरी भर्त्सना करते हुए मुझसे कहा 'मूर्ख ! मुझसे पृथक् जगत्की सत्ता है कहाँ, जो तू उसका न्यास करेगा ? 'बाबा ! उसके पश्चात्से प्रभुकी ऐसी कृपा हुई कि चैतन्यमयी शक्तिके विलासरूपमें मुझे भगवान्में यह जगत् अखण्ड नित्य प्रत्यक्ष होने लगा है। बाबा ! मेरे लिये अब अतीत एवं अनागत दोनों ही भगवान्मे अखण्ड नित्य वर्तमान हैं। फिर भी बाबा ! इन ब्रजेन्द्रनन्दनकी रूपमाधुरी ऐसी विलक्षण है कि वह **'सर्वं कृष्णमयं जगत्'**को भी बृन्दावनकी रसभूमिमें परिणत कर देती है और मेरी भावमयी दशा कुछ और विचित्र हो उठती है, जिसे मैं शब्द नहीं दे पाता।" तो भैया ! उस समय पोद्दार महाराज कुछ वैसी ही स्थितिमें थे।

मैं पू.गुरुदेवके मुखसे श्रीपोद्दार महाराजकी स्थितिकी बात सुनकर अपनेको कृतकृत्य अनुभव करने लगा। सचमुच मुझ जैसे साधारण विषयी नारकीय जीवका यह कितना बडा सौभाग्य था कि जीवनके बालपनसे इन सन्तोंकी ही गोदमें मुझे खेलने-खानेका भी सौभाग्य मिला और प्रभु कृपा करे कि इनकी रज-राखीमें मरनेका भी सौभाग्य प्राप्त हो जाय। यह भी मुझपर उनकी कृपा ही है, उनके जीवन-चरित्रके पावन-स्मरणमें इधर आयुका वृद्धत्व और रुग्णताभरा जीवन निरन्तर लग रहा है।

---

# तीर्थयात्राका प्रयोजन-साफल्य

जब पू.गुरुदेव तीर्थयात्रासे लौटकर आये, उस समय मैंने उनसे एक दिवस एकान्तमें पूछा – "बाबा ! आपका इस तीर्थयात्राका प्रयोजन सफल हुआ या नहीं ?"

उन्होंने सम्मुख पड़ी अपनी खड़ाऊको संकेतित करते हुए मुझसे हँसते हुए कहा –"भैया! मैं तो इस खड़ाऊकी तरह जड़ हूँ, श्रीपोद्दार महाराजरूप ब्रजेन्द्रनन्दन मुझे जहाँ ले जावें, जो भी प्रयोग मेरा ले, मेरे तो वे ही सूत्रधार, यंत्री, सबकुछ हैं। मैं तो पूर्णतया उनके हाथका खिलौना हूँ।"

"यह सत्य है कि वे भगवान्के स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए भगवत्प्रेमी सिद्ध महात्मा हैं। वे जिस स्थानमें रहते हैं, जाते हैं, क्योंकि उनके हृदयमे भगवान् प्रकट हैं, वे सभी स्थान मेरी दृष्टिमें परमतीर्थ हैं, फिर उनके तीर्थोंमें जानेसे सभी तीर्थ महातीर्थ बन गये हैं, इसमे मुझे तो कोई सन्देह है नहीं।"

"जहाँतक तीर्थयात्रियोके अन्तःकरणकी शुद्धि और उसके फलस्वरूप उन्हें भगवत्प्राप्तिका प्रश्न है– ये तीर्थयात्री सभी प्रायः इन्द्रियलोलुप, काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं विषयासक्तिके महादास थे, उन्हें अपने अहंमें लगी तनिक भी खरौंच स्वीकार नहीं थी, वे वस्तुत श्रीपोद्दार महाराज जैसे सिद्ध सन्तके साथ तीर्थयात्रा करनेके अधिकारी ही नहीं थे। अतः जैसा फल इनको मिलना चाहिये था, वह नहीं मिला। वे यदि थोडी भी भोगलोलुपताका त्याग कर देते तो उन सभीको मानवजीवनकी चरम एवं परम ध्येयरूपा भगवत्प्राप्ति हो ही जानी चाहिये थी। परन्तु सभीको प्रतिदिन समझानेपर भी वे अपनी विषयासक्ति, अभिमान और अपनी स्त्रियासक्ति तनिक भी छोडने को तैयार नहीं थे। वे साथ आयीं अपनी स्त्रियोके आगे मर्कटकी तरह नाचने वाले गुलाम बनकर ही प्रायः आये थे। श्रीपोद्दार महाराज जैसे सहिष्णु, सबका मन रखनेवाले, स्वयं कष्ट पाकर भी दूसरोंको सुविधा देनेवाले, सन्तके चाहनेपर भी वे उस लाभसे वंचित ही रह गये, जो उन्हे इस तीर्थयात्रा एवं सन्त पोद्दार महाराज जैसे सिद्ध संतके संगसे मिलना चाहिये था। फिर भी श्रीपोद्दार महाराजने अनेक तीर्थोंमें इन सभी यात्रियोकी कारणजगत्की ऐसी दीक्षा सम्पन्न करदी जो उनके साधनोन्मुखी पुनर्जन्ममें हेतु हो जायगी, यह विलक्षण लाभ उन्हें प्राप्त हो ही गया।"

"इस तीर्थयात्रामें गुप्तरूपसे रहनेवाले ऐसे अनेक साधननिष्ठ महात्मा जो मात्र इसीलिये तीर्थोंमें रहकर साधना कर रहे थे कि कभी-न-कभी उन्हें कोई महासिद्ध सन्त कृपा करके दर्शन देगा और उनकी साधना सिद्धि-फलोन्मुखी हो उठेगी, उन्हें श्रीपोद्दार महाराज द्वारा अवश्य विलक्षण कृपादान हुआ है। वे कितने ही वर्षोंसे जैसे बिना पंखके पक्षीशावक बुभुक्षातुर हुए अपनी माँकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही श्रीपोद्दार महाराज जैसे महासिद्ध सन्तकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें श्रीपोद्दार महाराज द्वारा महासिद्धिका दान अवश्य हुआ है। इस यात्राकी एक यही सबसे बड़ी सफलता रही है।"

"श्रीपोद्दार महाराजका इस यात्रामें स्थान-स्थानपर मन्दिरों एवं मठोंमें स्वागत समायोजन हुआ और स्थान-स्थानपर विद्वानोंने उनके प्रवचन-सत्संग आयोजित किये। इन सत्संगोंमें श्रीपोद्दार महाराजने छुट्टियां मनाने अथवा मौज-शौक या प्रमोद करनेके लिये तीर्थोंमें जानेको निषेध किया। उन्होंने मठाधीशों, मन्दिरोंके पुजारियों एवं पण्डोंको जो उद्बोधन किये, उनसे अनेकोंके जीवन बदले हैं। कुछ तो मुझसे भी मिलने आये हैं। उन्होने मेरे चरण छूकर प्रतिज्ञा की है कि वे भविष्यमे मन-इन्द्रियोंका भलीभाँति संयम करेंगे। वे मन्दिरोकी आयमें धनलोलुपताका त्याग करेंगे। वे प्रतिग्रहके त्यागी, यथालाभ सन्तुष्ट, मिथ्या अहंकार-अभिमानसे मुक्त, दंभरहित, जितेन्द्रिय, सत्यवादी होकर तीर्थविग्रहोंकी पूजा करेगे। वे किसी भी परस्त्रीका अंगस्पर्श नहीं करेंगे, आहार-आचारका पालन करेगे, दीन-दुखी या असहाय यात्रियोकी यथायोग्य सेवा करेंगे। इस प्रकार इन पण्डों, मन्दिरोंके पुजारियोंपर जो श्रीपोद्दार महाराजके कथनी एव करनीमें समानतायुक्त आचरणोका प्रभाव पडा है, उससे भी इन तीर्थोंकी शुद्धिका कार्य सम्पन्न हुआ है।"

"पू.गुरुदेव कह रहे थे कि आज तो सरकार एवं नाास्तिक हिन्दू जनता द्वारा तीर्थोंमें बूचडखाने, शराबखाने, द्यूतगृह, वेश्यालय खोले जा रहे हैं। स्थान-स्थानपर घुमन्तू लोगो द्वारा नदियोंमें विवस्त्र स्नान अथवा अर्धनग्न स्नानादिको प्रोत्साहित किया जा रहा है। तीर्थ-घाटोकी कोई मर्यादाका पालन नहीं होता। जिन भगवत्परायण भजनानन्दी महापुरुषोंने अपने पुण्यबलसे तीर्थोंको तीर्थ बनाया था, पापाचारी दाम्भिक लोगोंने उनकी वह सब मर्यादा और पुण्यराशि नष्ट-भ्रष्ट करदी है। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थोंमें जो पापकाण्ड एवं दुराचार हो रहे है, वे अत्यन्त भयानक एवं रोमाञ्चकारी हैं। इन दुराचारोंको

देखकर अच्छे लोगोकी तो श्रद्धा ही तीर्थोसे हट रही है, एवं वे तीर्थोमे जाना ही नहीं चाहते। श्रीपोद्दार महाराजने अपने भाषणों और सकल्पोसे इन सभीके विरुद्ध एक आन्दोलनकी भूमिका प्रस्तुत की है, इससे आज नही तो भविष्यमे अवश्य इन तीर्थोके सुधारकी जनतामे प्रवृत्ति उत्पन्न होगी।''

''श्रीपोद्दार महाराज तीर्थयात्रामे जिन-जिन तीर्थस्थानोंमें गये एवं वहॉके जिन-जिन क्षेत्रीय देवालयोंमें दर्शनार्थ पहुँचे, उन-उन देवालयोके देवता उनके सम्मुख प्राय. प्रत्यक्ष होकर प्रकट हुए हैं। एक सिद्ध सन्तके द्वारा किसी भी देवविग्रहका दर्शन करना और किसी साधारण व्यक्ति द्वारा देवविग्रहके दर्शन करनेमे यही भेद है। साधारण व्यक्ति तो वहॉ देवविग्रहमें प्राय. प्राकृत मूर्तिके ही दर्शन करता है। किन्तु महासिद्ध सन्त जब वहॉ जाता है तो उसके सम्मुख देवविग्रह अपनी सम्पूर्ण महिमा और माहात्यके साथ प्रकट हो जाता है। साथ ही उस देवविग्रहकी स्थापना करनेवाले वे सिद्ध सन्त भी यदि अन्तर्जगत्मे कहीं होते हैं, तो वे भी उस सिद्ध सन्तसे परस्पर मिलनेके लिये सम्मुख प्रकट हो जाते है। इस सन्तसम्मिलनका यह प्रभाव होता है कि उस विग्रहमे पुन वह प्रत्यक्ष तेजस्विता प्रकट हो जाती है, जो तेजस्विता उनके पुजारियोंकी अश्रद्धासे लुप्त हो गयी है। उदाहरणके रूपमे इसे अच्छी प्रकार समझ ले। जैसे श्री पोद्दार महाराज वृन्दावनमें श्रीबिहारीजी अथवा श्रीराधा-बल्लभलालजीके मन्दिरमें दर्शनार्थ गये। अब, एक साधारण दर्शनार्थी तो बिहारीजीमे मात्र मूर्त्तिके दर्शन ही करेगा, किन्तु श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख तो श्रीबिहारीजी अवश्यमेव अपने पूर्ण तत्व और माहात्म्यके साथ मूर्त होगे ही। सन्तकी दृष्टि ही ऐसी अमोघ होती है कि वह खम्भेमेसे श्रीनृसिहजीको जब प्रत्यक्ष प्रकट कर देती है तो वह किसी सिद्ध महात्मा द्वारा स्थापित, प्राणप्रतिष्ठित मूर्तिमेसे उस देवताको प्रकट क्यों नहीं करेगी ? देवता तो वहॉ है ही। अत वे बिहारीजी, राधावल्लभजी आदि विग्रह इन सभी सिद्ध सन्तोके सम्मुख अपनी महिमाका प्रकाश करते प्रकट होते ही हैं। इतिहासमे इसके अनेक उदाहरण है। श्रीतुलसीदासजीके सम्मुख बंशीधारी भगवान् उनके आग्रहपर रामरूपमे परिवर्तित हो गये थे। इसी प्रकार श्रीविजयसिह बोडाणा रणछोडरायजीकी द्वारकाकी मूलमूर्तिको डाकोर ही ले गये थे। श्रीनाथजी महाराज श्रीवल्लभाचार्यजीसे प्रत्यक्ष बोलकर वार्त्ता करते थे। अतः ये सभी सिद्ध विग्रह श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख प्रत्यक्ष अपने प्रभावका प्रकाश करते प्रकट नहीं

हुए हो, सो बात नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि श्रीपोद्दार महाराज इतने आत्मगोपनचतुर हैं कि उन्होंने किसीके भी सम्मुख अपनी अनुभूतिकी गंध भी नहीं लगने दी है।"

इतना कहते-कहते पू.गुरुदेवके नेत्र श्रीपोद्दार महाराजके स्वभाव-माधुर्यका स्मरण करते हुए अत्यधिक छलछला आये। पू.गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराजकी महिमामे जो भी बोल रहे थे, उनके अधरोका एक-एक शब्द प्यारमें भीगा हुआ था। शब्दके अक्षर-अक्षरसे श्रद्धा फूट रही थी। कुछ क्षण रुककर हाथ जोड़े जोड़े पू.गुरुदेवने कहा – "आज विश्वमें मेरी दृष्टिमे तो उन जैसा कोई सिद्ध सन्त नहीं है। श्रीपोद्दार महाराजकी महिमाका भैया ! मैं आदि अन्त ढूँढता-ढूँढता थक जाता हूँ, और बस, उनके श्रीचरणोमें बार-बार वन्दन करने लगता हूँ।"

इसके पश्चात् कुछ कालतक तो पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा बोल ही नही पाये। मैं मेरे गुरुदेवका भावविभोर मुख एकटक देखता रहा। इसके पश्चात् वे पुनः कहने लगे "भैया ! श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख सभी तीर्थोंमें क्षेत्राधिकारी देवता प्रकट हुए हैं, और अनेक स्थानोमें देवताओंने उनसे भगवद्भक्तिके दानकी याचना की है। परन्तु मै यह बात मुखसे निकालते-निकालते हिचक जाता हूँ। मेरी वाणी लड़खड़ा जाती है। आज किसमे उनके प्रति ऐसी श्रद्धा है ? तू मेरी बात सुन भर रहा है। परन्तु तेरी भी ऐसी ठीक श्रद्धा कहाँ है ? यदि तेरी ऐसी श्रद्धा श्रीपोद्दार महाराजमे हो जाती तो इसी क्षण तू भगवत्प्राप्त सिद्ध सन्त हो जाता।"

"तो इन विग्रहोके श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होनेसे तीर्थोंके तीर्थत्वमे निश्चय ही इस यात्रासे अभिवृद्धि हुई है। इस सम्बन्धमे अनेक बार तो यह तथ्य मेरे अनुभवमे आया है, और अनेक घटनाएँ श्रीपोद्दार महाराजने मेरे पास आकर मुझे बतायी हैं।"

"अनेक तीर्थोमें श्रीपोद्दार महाराज जब तीर्थदर्शन कर रहे थे और मैं उनके पास था, तो वे मुझसे कहने लगे – देखिये, बाबा ! यह मन्दिर पंचभूतात्मक सर्वथा नहीं रहा है, वह सर्वथा सच्चिदानन्दमय हो उठा है।"

"श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमे जब वे श्रीजगन्नाथजीके दर्शन कर रहे थे, उन्हे विलक्षण भावावेश हो उठा था। वे एक कोढीके चरण पकड़नेकी दीनता कर रहे थे। मैं उन्हे किसी प्रकार सम्हालकर लाया था। बादमे वे जब किंचित्

प्रकृतिस्थ हुए तो मुझसे कहने लगे -- " बाबा ! वह कोढी भिखारी था ही नहीं। वे तो चैतन्य महाप्रभु थे। मैंने उन्हे पहचान लिया और उनके चरणोंमें गिरकर उनसे महाभावकी भिक्षा माँग रहा था। अब भैया ! ऐसे अनेक महासिद्ध सन्तोंका श्रीपोद्दार महाराजसे जो मिलन इस तीर्थयात्राट्रेनमें हुआ है, उससे विश्वके घोर बढते कालुष्यमें विराम तो अवश्य-अवश्यमेव आया ही है।"

"भैया ! तुम कल्पना नहीं कर सकते कि महासिद्ध सन्त चाहे वे किसी भी सम्प्रदायके हों, किसी भी धर्मके हों, उनके परस्परके सम्बन्धोंमें ऐसी आत्मीयता रहती है, ऐसा निजत्व , ऐसा अपनापन होता है, जिसमें परायेपन जैसे किसी प्रकारके भावकी कल्पना ही नहीं होती।"

"शुचिन्द्रम्‌की एक घटना बतलाता हूँ, श्रीपोद्दार महाराज मेरे पास रोते हुए आये। मैंने उनसे पूछा --"प्रभो ! यह क्या लीला कर रहे है ?" उनकी हिचकी बँध रही थी । वे सिसकते-हिचकी लेते मुझसे कह रहे थे --"श्रीहनुमानजी आये थे, बाबा ! वे मुझे गलेसे लगाने जा रहे थे। वे मान ही नहीं रहे थे। अन्तत उनकी ही बात बात माननी पडी। ज्यों ही उन्होंने मेरे हृदयसे हृदय मिलाया, मै तो होशमे रहा ही नहीं। कितना विशुद्ध अनुराग उनका मुझमे है, मैं क्या कहूँ । श्रीहनुमानजीने जैसा प्रेमका, अपनेपनका आज मुझे अनुभव कराया है, बाबा ! मैं उनपर न्यौछावर हूँ। "

"किसी तीर्थमें एक दिन वे कह रहे थे --"बाबा ! मुझमें तो त्रुटियाँ भरी हैं, किन्तु इन सभी सन्तोंमें न जाने क्यों मेरे प्रति ऐसा राग है कि उन्हे मेरे दोष दिखाई ही नहीं पड़ते। ये सभी सन्त प्रेमकी प्रतिमूर्तियाँ है। मैं इन तीर्थोमें जहाँ भी जा रहा हूँ बाबा ! मुझे सिद्ध सन्तोंमे मेरे प्रति अनुरागमें निरन्तर अभिवृद्धि ही दिखती है। सभीकी मुझपर अहेतुकी प्रीति दृष्टिगोचर होती है।"

"बाबा ! प्रेमके लिये प्रेम, रागके लिये राग, त्यागके लिये त्याग तो सभी करते हैं, किन्तु ये सन्त तो मेरे प्रति हेतुरहित प्रीति रखते हैं। ये तो मुझे देते ही देते है। इनके पवित्र आचार, इनकी असमोर्ध्व शास्त्र विद्वत्ता, इनकी अपूर्व तप-तितिक्षा, बाबा ! इन सिद्ध सन्तोके सम्मुख अपनेको अति तुच्छ, सूर्यके सम्मुख जुगनूके तुल्य भी नहीं पाता, किन्तु ये मुझे न जाने क्यों, क्या देखकर सम्मान करते हैं।"

"मैं जानता हूँ ये सभी मुझसे राग करते हैं, अतः मेरे दोष इन्हें दिखते

नहीं। ये देनेका अभिमान नहीं करते। मैं इनसे इनकी चरणरजकी भिक्षा माँगता हूँ। प्रार्थना करता हूँ कि आप सबकी अनुग्रहराशि मुझे उन्नत करेगी। किन्तु प्रत्येक उन्नतिके साथ अवनति जुडी है। मेरे जीवनमें तो उन्नति करनेके लिये अभी बहुत कुछ शेष है, किन्तु उन्नति जहाँ भी होती है,अवनति वहीं खडी प्रतीक्षा करती है। अतः कृपा करें, जहाँ तक अवनतिकी बात है, आप लोग ऐसा आशीर्वाद दें, सद्भावना दें कि मुझ तुच्छके जीवनमे भगवत्स्मृतिमें गिरावट नहीं आये। जीवन चाहे कितना ही क्यों न निम्न हो, किन्तु मेरी श्रीकृष्ण-स्मृतिका तार अखण्ड रहे। मैं विनयकी बात नहीं करता, सच्ची बात कहता हूँ, मनुष्य दूसरेके दोषोंको देखनेमें जितना पटु है, उतना ही वह अपने दोषोंको देखनेमें अपनी ऑखोंको मूँदे रखता है। मैं इनसे प्रार्थना करता हूँ –" आप लोगोकी कृपा रहेगी तो मुझे अपने दोष दिखते रहेंगे। " परन्तु बाबा ! इनकी ऑखोंकी निर्मलताकी बलिहारी है, ये सभी सिद्ध लोग मेरे भीतर गुण ही देखते हैं, दोष देखते ही नहीं। बतलाइये बाबा ! मुझ दोषागारके प्रति इनकी ऐसी गुणदृष्टि इनके प्रेमका ही तो परिणाम है। बाबा ! मेरे जीवनमें तो जहाँ दोष-ही-दोष भरे हैं, इसके उपरान्त मेरे प्रति जिनका ऐसा निर्मल प्रेम है, उन लोगोके चरणोंमें मैं न्यौछावर नहीं होऊँ तो क्या करूँ ?"

"बाबा ! प्रत्येक तीर्थमें ही मेरी ऐसी दशा हुई है। सिद्ध सन्त लोग, आकाशचारी महात्मागण, दिव्य विभूतियाँ, आचार्यकोटिके कारक पुरुष मेरी प्रशंसा करते हैं। वे मेरी प्रशंसा करके मुझे गिरावें, सो बात नहीं है। इन सबका मेरे प्रति जो स्नेह है, वही फूट पड़ता है। "

"भैया ! श्रीपोद्दार महाराज अपनी महाभावगत दैन्यराशि बिखेरते सिसक-सिसक कर रो रहे थे। उनकी हिचकी बँधी थी। सो, इससे मुझे यह कहनेमें कुछ संकोच नहीं है कि इस तीर्थयात्रामें श्रीपोद्दार महाराज और सभी संतोंके कृपा-उच्छलनसे अवश्यमेव इन तीर्थोंमे बढते कलिप्रवाहमे कुछ रोक लगनी ही चाहिये।"

"सबके अन्तमें मेरा इतना ही कहना है भैया ! कि श्रीपोद्दार महाराजका पल पल, क्षण क्षण भगवदीय कार्ययोजनाका एक अग है। अतः उनके माध्यमसे जो कुछ हुआ है वह भगवदिच्छाकी ही पूर्त्ति हुई है। इसमें कुछ भी मीन-मेख नहीं है।"

# अध्याय नवम

# पू.गुरुदेवका काष्ठमौन

जहॉतक मुझे स्मरण है, उस दिन वि.सं. २०१३की वैशाखी पूर्णिमा थी। अपने नित्य नियमानुसार निरे प्रभात ही मैं पू.गुरुदेवके चरणस्पर्श करने उनकी कुटियामें गया था। उस दिवस यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरे आनेके पूर्व ही मेरे पूर्वाश्रमके मातुल श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी वहाँ बैठे थे। पू.गुरुदेवने उन्हे सन्देश भेजकर बुलाया था। वैसे स्लेटपट्टी पू.गुरुदेवके हाथमे थी और वे उसमे कुछ-कुछ लिख भी रहे थे, परन्तु अधिकाश वार्त्ता वे उनसे प्राय:बोलकर ही कर रहे थे। मैंने मन ही मन सोचा संभव है, उनकी कोई गोपनीय मत्रणा हो, अतः जब मैं प्रणाम कर वापस लौटने लगा, तो उन्होने मुझे रोककर कहा कि तुझसे कुछ भी छिपायी जाय , ऐसी कोई गोपनीय बात नहीं हो रही और उन्होने मुझे अपने पास ही बैठनेका सकेत कर दिया। वे मेरे पूर्वाश्रमके मामाजीसे यही कह रहे थे कि अबतक वे सभीसे यही उद्घोष करते रहे थे कि अठारह मास पश्चात् वे इस स्लेट पट्टीपर लिखकर बात करनेका बन्धन तोड देगे और सभीसे उन्मुक्त बोलकर वार्ता करेगे, किन्तु इसके सर्वथा विपरीत उलटे आजके ठीक अठारह माह पश्चात् अब वे पूर्णतया काष्ठमौनी हो जावे ऐसी ही उनके प्राणाराध्य श्रीकृष्णकी इच्छा है।

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि अयोध्यामे आनन्द एव उत्साहकी लहरे उठ रही थीं कि कल प्रात भगवान् रामका यौवराज्य पदमे अभिषेक होगा, किन्तु किसे पता था राम सरीखे सर्वप्रिय राजकुमारको कल ही महाराज दशरथ चौदह वर्षके लिये वनवास दे देंगे।

पू.गुरुदेवसे राम-वनवासकी उपमा सुनकर मेरे नेत्र छलछला आये। मैंने उनसे पूछ ही लिया "बाबा ! यह काष्ठमौन वस्तुतः होता क्या है ?"

पू.गुरुदेव कहने लगे – "भैया ! यह सन्यासके अन्तर्गत ही एक अति कठोर क्लेशकारी व्रत है। इसका बाह्य स्वरूप तो यह है कि काष्ठमौनव्रती संन्यासी नदीके किनारे इस व्रतको ग्रहण करे, जिससे उसे जल पीनेकी किसीसे याचना नहीं करनी पडे। जब उसे क्षुधा लगे तो वह भिक्षा मॉगनेकी मुद्राम अपने हाथ करले। कोई अपने आप जो भी वस्तु खानेके लिये दे दे,

यदि वह मांसादि अखाद्य नहीं हो तो गंगाके पवित्र जलमें धोकर खा ले। प्राय. वह चलता ही रहे, जब अतिशय श्रान्त हो जाय तो किसी वृक्षके नीचे बैठ जाय। किसी भी प्राणीकी ओर अपनी दृष्टि उठाकर नहीं देखे। मात्र धरतीकी ओर देखता रहे। बोलने, पढने, लिखने, बात करनेका तो प्रश्न ही नहीं है चाहे वह कितना ही शारीरिक कष्टमें हो, अपने शरीरकष्टका किसीसे तनिक भी संकेत नहीं करे। "

"यह उपरोक्त व्रत तो इस काष्ठमौनीका बाह्य स्वरूप है, इसका आन्तरिक स्वरूप यह है कि शरीर एवं समग्र दृश्यको ही आत्यन्तिक विस्मरणकर अपने आत्मानुभवमें निमग्न हो, डूब जाय।"

पू गुरुदेव कहने लगे कि 'एक धर्मात्मा गृहस्थ थे। प्रभुके विधानवश वे मरणान्तक रुग्ण हो गये। उनके कोई सन्तान नहीं थी, धर्मभीरु सती पत्नी थी। उसने उनकी बहुत ही सेवा की। जब वे मरणासन्न हो उठे तुलसी चरणामृत भी उनके गलेके नीचे नहीं उतर रहा था, तो उनकी पतिव्रता धर्मपरायणा स्त्रीने उन्हें मृतप्राय समझ उनके शिखासूत्र विच्छिन्नकर उन्हे आतुर-सन्यास दिला दिया। उस समय वे सर्वथा अचेतन थे, और उनकी ऊर्ध्व श्वास उखडी-उखडी चल रही थी । उनके जीवित रहनेकी तब कोई आशा ही नहीं थी किन्तु प्रभुका विधान, सन्यासी होनेके उपरान्त वे पुन स्वस्थ होने लगे धीरे-धीरे उनकी श्वास सौम्य-स्वाभाविक हो गयी, वे स्वस्थ हो गये। अब क्योकि उनकी पत्नीने उन्हें सन्यस्त कर दिया था, अत वह उनकी स्वयं सम्मुख सेवा करने नहीं आती थी। वैसे वह उनके पथ्य, दवादिकी व्यवस्था उनके अन्य सम्बन्धियोंसे करवा देती थी।

वे जब पूर्णतया स्वस्थ हो गये तो उन्होने अपनी पत्नीके बारेमें पूछा और यह जिज्ञासा की कि वह उनके सम्मुख क्यो नहीं आती ? उनको पत्नीने सारी बात परोक्षमें रहकर उन्हें समझा दी कि मरणासन्न अवस्थामे उन्हे चतुर्थाश्रमी संन्यासी बना दिया गया है।

यह सुननेके पश्चात् उन धर्मात्मा गृहस्थके लिये फिर अपने घरमे रहनेका तो कोई तुक ही नहीं था। वे गृह त्यागकर गगाके किनारे हरिद्वार चले गये। वे सन्यस्त वेषमें धर्मोपदेश कर जीवन व्यतीत करने लगे। समय व्यतीत होता गया, और उनके जीवनके इसी प्रकार चौबीस वर्ष व्यतीत हो गये।

इधर कुम्भपर्व आया। उनकी पत्नी भी हरिद्वार कुम्भमें स्नानार्थ आयी। संयोग ऐसा हुआ कि एक दिवस एक पण्डालमें जहाँ वे संन्यासी प्रवचन करते थे, उनकी स्त्री वहीं प्रवचन सुनने पहुँच गयी। वह भीड़में अपने संन्यासी पतिके उत्कट वैराग्य, उनकी विद्वत्ता, विषयवस्तुको अति सुगम करके समझानेकी उनकी शैली, उनका ज्ञान देख-देखकर हर्षित थी और अश्रु बहा रही थी। प्रवचनकर्त्ता संन्यासी महात्माकी दृष्टि भी उसी स्त्री पर पडी तो वे उसे पहचान गये। जब प्रवचन समाप्त हो गया एवं सभी श्रोता चले गये तो महात्माजीने उस अपनी स्त्रीको बुलाया और उसका हाल-चाल पूछने लगे।

वह स्त्री वस्तुतः धर्माचारिणी थी, उसे मन-ही-मन बहुत दुःख हुआ कि जब मैने इन्हें संन्यस्त कर ही दिया तो ये अबतक चौबीस वर्ष पश्चात् भी मुझे स्मृत रखे ही हैं, विस्मृत नहीं कर पाये हैं। उस स्त्रीने अपनी हृदयकी ग्लानि उनके सम्मुख व्यक्त कर दी। वह कहने लगी कि आप मात्र ब्रह्मज्ञान और ईश्वरभक्तिका मौखिक प्रवचन ही करते हैं, आपने चौबीस वर्ष पश्चात् मुझे अपने हृदयमे ज्यो-का-त्यो बसाये रखा है। आप कैसे संन्यासी हैं ? सम्यक् न्यासका तो अर्थ ही है कि आप इस मिथ्या स्वप्नगत दृश्यको, जगत्‌को आत्यन्तिक विस्मरण कर देते।

उन महात्माजीको अपनी स्त्रीकी वह बात हृदयमें चुभ गयी। बस, उसी क्षण उन्होने अपनी पत्नीको ही गुरु मान कठोर काष्ठमौनव्रत ले लिया। उन्होंने दृष्टि नीचीकी तो यावज्जीवन दृष्टि ऊपर उठायी ही नहीं। यावज्जीवन वे अनिकेत वृक्षोंके नीचे प्रायः नग्न रहते। कोई वस्त्र उढ़ाता तो ओढ़ लेते किन्तु यदि वह शरीरसे गिर जाता तो अपने हाथसे उसे उठाते नहीं थे।

पू.गुरुदेव मुझसे कह रहे थे कि धीरे-धीरे वे अपने शरीर-दृश्यको सर्वथा ही विस्मृत कर गये थे। उनकी ज्ञाननिष्ठाकी छठी भूमिका थी। मैंने गंगातटमें विचरण करते उनके दर्शन किये थे। वे गंगाके किनारे विचरण करते और उनके पीछे उनकी स्त्री भी सर्वथा अज्ञातभावसे उनकी सेवा-सँभाल करती, उनका अनुगमन कर रही थी। मैंने उस स्त्रीसे भी बात की एवं उससे उन्हें भगवान्‌पर छोड अपने घर लौट जानेकी प्रेरणा दी थी। मेरे समझानेपर वह स्त्री उन्हें प्रभुके मंगलमय विधानपर छोड़ घर लौट गयी थी।

एक बार उनके सामने कोई किसीको लाठीसे बुरी तरह मार रहा था, उस समय अचानक उन्होंने अपने हाथ निषेधकी मुद्रामें ऊपरको उठा लिये।

फिर उन्होने वे हाथ कभी नीचे नहीं किये। उनके हाथ फिर यावज्जीवन उठे हुए ही रहे। कोई उन्हें अपने हाथसे खिला देता, मुखमें कौर दे देता तभी वे कुछ खाते अन्यथा स्वयं हाथ नीचा करके नहीं खाते थे। जल भी गंगाजीमें मुखतक डुबकी लगाकर ही पीते थे। विलक्षण तितिक्षा थी उनमें !

पू.गुरुदेव कह रहे थे कि वस्तुतः यह व्रत लोग गगाकिनारे ही लेते है जिससे उन्हे जल पीनेके लिये याचना नहीं करनी पडे। मुझे तो श्रीपोद्दार महाराज गगाके किनारे जाने देंगे नहीं, एव उनसे अनुमति माँगना भी व्यर्थ ही है। फिर श्रीकृष्णने मुझे उन्हे छोड देनेकी भी आज्ञा नहीं दी है।

मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने पूछा " बाबा ! आपने श्रीपोद्दार महाराजसे अनुमति ले ली ?"

इसके उत्तरमे पू.गुरुदेव कहने लगे कि 'उन्हे मात्र सूचना ही देनी है। मुझे उनसे अनुमति तो लेनी नहीं है। मेरा निश्चय परिवर्त्तनशील तो है नहीं। वह तो पूर्णतया अडिग है। अब जब केवल सूचना ही देनी है तो कोई-न-कोई उन्हे सूचना दे ही देगा। या मैं ही उनके पास चला जाऊँगा। अभी श्रीकृष्णने मेरे काष्ठमौनका स्वरूप और उसके पूरे नियम निर्धारित नहीं किये हैं, सो एक-दो दिनमें उनकी रुचि और स्पष्टरूपसे सम्मुख आजाय तो श्रीपोद्दार महाराजको सूचित कर ही दूँगा।'

अन्ततः वे नियम भी सम्मुख आ गये, पू.गुरुदेवके काष्ठमौनका स्वरूप भी निधारित हो ही गया, और श्रीपोद्दार महाराजको सूचना भी दे ही दी गयी। यहाँ यह रहस्य पुनः उजागर कर देता हूँ कि पू.गुरुदेवके मन-मानसमे प्रकट होनेवाले श्रीकृष्ण ही श्रीपोद्दार महाराजका वस्तुतः स्वरूप था। वे दो भिन्न सर्वथा सर्वांशमे ही नही थे। अतः भीतरी बात यही थी कि श्रीपोद्दार महाराजने ही पू.गुरुदेवको काष्ठमौन लेनेकी आज्ञा दी थी। श्रीपोद्दार महाराज मात्र ऊपरसे भले ही कृत्रिम व्यावहारिक अश्रु बहा लें, भीतरसे वे पूरे मनसे चाह रहे थे कि पू.गुरुदेव काष्ठमौनी हो जावे। श्रीपोद्दार महाराज तो अपने शिष्य पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाका यतिरूप भी इतना ऊँचा देखना चाहते थे कि वे संसारमे सर्वसन्यासी समाजके आदर्श बन जावे। श्रीपोद्दार महाराजके तो रोम-रोममे उत्सुकताभरी एक साध थी कि उनके बाबा यतिधर्मका सर्वोच्च आदर्श शरीर और मन दोनों प्रकारसे विश्वके सम्मुख प्रकट करे। अतः उनके निषेध करनेका तो प्रश्न ही नहीं था।

दो-चार दिवसोंमें ही पू.गुरुदेवके काष्ठमौनके आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके नियम भी स्पष्ट हो गये –

(१) आश्विन पूर्णिमा वि.सं. २०१४ तदनुसार १९अक्टूबर १९५७ को पू.गुरुदेव काष्ठमौन ले लेगे।

(२) किसी भी प्रश्नको लेकर श्रीपोद्दार महाराजके चिन्तित होनेपर पू.गुरुदेव बोलकर प्रकाश डाल सकते हैं।

(३) पू.माताजी (श्रीपोद्दार महाराजकी अ.सौ. पत्नी)ने यावज्जीवन पुत्रकी तरह उन्हें भिक्षा करायी है, अत जब भी पू.गुरुदेव भिक्षा करने जावेगे तो उनकी ओर अवश्य देख लेगे। यह आँख उठाकर देखनेकी बात भी श्रीपोद्दार महाराज और उनकी धर्मपत्नी, मात्र दोके लिये ही रहेगी।

(४) शेष किसीकी ओर वे दृष्टि उठाकर भी नहीं देखेगे, बोलनेका तो प्रश्न ही नहीं।

(५) किसी भी प्रकारका वे सकेत भी नहीं करेगे, चाहे वे कितने ही कष्टमें क्यो न हो, अतिशय रुग्ण हो।

(६) जल भी वे अपने हाथसे नहीं पीयेंगे, श्रीपोद्दार महाराज स्वय, उनकी धर्मपत्नी अथवा उनकी अ.सौ. पुत्री सावित्री उन्हें जल पिलायेगी, तभी वे इनके हाथसे लेकर जल पीयेंगे।

(७) भिक्षा भी इन तीनोंमेंसे कोई करायेगा तो करेगे। भिक्षा करते समय वे पू.माताजी (श्रीपोद्दार महाराजकी अ.सौ. पत्नी) अथवा श्रीपोद्दार महाराजकी ओर दृष्टि उठाकर देखेगे।

(८) यदि किसी कारणवश उनका शरीरसंग श्रीपोद्दार महाराजसे छूट जाय तो वे उसी स्थानपर रह जावेंगे जहाँ उनका बिलगाव श्रीपोद्दार महाराजसे हुआ था। वे उस स्थानसे तभी हटेंगे जब श्रीपोद्दार महाराज उन्हें लेने आवेंगे, और हाथ पकडकर जहाँ भी ले जावेंगे, वे चले जावेगे।

(९) हाँ, यदि श्रीपोद्दार महाराजका शरीरान्त हो रहा होगा, और उन्हें कोई सूचना देगा तो सूचना पाते ही वे स्वयं जहाँ श्रीपोद्दार महाराजके होनेकी संभावना होगी, उस स्थानकी ओर चल पडेंगे।

(१०) यदि इसी मध्य श्रीपोद्दार महाराजका देहान्त ही हो जाय तो

जहाँ उनकी चिता होगी, वे वहीं बैठ जावेंगे।

(११)· इसी प्रकार श्रीपोद्दार महाराजकी मृत्युके उपरान्त जैसी कि श्रीपोद्दार महाराज उनसे आशा करते हैं कि वे उनकी मृत्यके उपरान्त उनकी धर्मपत्नीकी सँभाल करें, तो यदि मैया(श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी)उनके सँभालकी आवश्यकता अनुभव करेंगी, तो मैयाकी मृत्युतक वे अपना काष्ठमौन स्थगित कर उसकी सँभाल कर सकते है। किन्तु इसमें शर्त यह है कि वे श्रीपोद्दार महाराजकी चितास्थली छोडकर मैयाकी रुचिके अनुसार किसी अन्य स्थानको कदापि नहीं जावेगे। वे मैयाके लिये भी चितास्थलीका परित्याग नहीं करेंगे।

(१२) सभव है, वे कुछ ही कालमें अपनी देहको, निकटस्थ सभी परिचितोको साथ ही इस दृश्य जगत्को भी सर्वथा विस्मृत कर जावें,ऐसी अवस्थामे उनकी मानसिक अवस्था क्या होगी, इसके बारेमें वे अभी कुछ भी नहीं कह सकते।

(१३) उनके काष्ठमौनका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि यदि उनकी सेवामे नियुक्त कोई व्यक्ति अथवा बाहरका भी कोई व्यक्ति कुएपर पानी भर रहा हो, उसका पैर फिसल जाय , और वह कुएमे गिर पड़े तो उस समय वे मौन रहेगे। वे निश्चय ही होश रहते जोरसे चिल्लायेगे कि अमुक व्यक्ति कुएमे गिर गया है। साथ ही साथ उसे बचानेके लिये वे स्वयं कुएमें कूद भी पडेगे, फिर जैसी भी भवितव्यता हो, चाहे वे एवं वह व्यक्ति दोनो बच जावे, अथवा दोनो ही काल कवलित हो जावें।

इन सभी नियमोंकी सूचना श्रीपोद्दार महाराजको स्वयं पू.गुरुदेवने दे दी।

------००-----

# पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके काष्ठमौनका प्रयोजन

यहाँ इस प्रसंगमें अनुशीलन करनेकी एक ही बात है कि पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको काष्ठमौनके लिये अन्ततः श्रीकृष्णने क्यों प्रेरित किया ?

मैंने यह प्रश्न एक दिवस पू.गुरुदेवसे पूछ ही लिया था। मैंने उनसे पूछा –"बाबा ! आपके प्राणाराध्य श्रीकृष्ण आपसे काष्ठमौन लेनेका अन्ततः यह आग्रह क्यों कर रहे हैं ? क्या उनका उद्देश्य आपका विश्वमें यश-संवर्धन है, जिससे वे आपसे ऐसा कठोर तप करानेका आग्रह कर रहे हैं । बाबा ! मेरी बुद्धि तो काम ही नहीं कर रही।"

"जहाँतक तपका प्रश्न है, आपके लिये तो वि.सं.१९९२की आश्विन पूर्णिमा तदनुसार १२ अक्टूबर सन् १९३५ ई.का दिन ही काष्ठमौनकी तिथि थी जबकि आपने अपने हृदयकी अलौकिक समता और ब्रह्मज्ञानके अखण्ड बोधको जाँचने-परखने, अपने पूर्वाश्रमके भ्राताओंसे अज्ञात, भगवती गंगाके किनारे गलितकुष्ठी कोढियोंके मध्य रहकर अनवरत पन्द्रह दिवस व्यतीत किये थे। इन पन्द्रह दिनोंमें आपने भिक्षाकी कहाँ परवाह की थी ? प्रारब्धानुसार सूखे भुने चने, भुनी धानकी लाई, जो भी आपके द्वारा फैलाई चादरमें गगास्नानार्थ आयीं महिलाएँ अथवा पुरुष डाल देते, वही तो आपके उदरकी क्षुधानिवृत्तिका साधन होती थी। कलकत्तेकी हुगली नदीका गँदला जल ही तो आपकी उन दिनों प्यास बुझाता था। एक कौपीन मात्र ही तो आपके पास वस्त्रके रूपमें था। उन दिनो क्या आप काष्ठमौनी नहीं थे ? जब आपने अपनेको उन असभ्य कुसंस्कृत कोढियोंके मध्य, उनकी निरन्तर परस्पर की जानेवाली भद्दी, अश्लील गाली-गलौजको सुनते हुए भी अपनेको शब्दविक्षेपसे मुक्त रखकर शान्त पूर्ण समत्वभरा जीवन व्यतीत किया था। उन दिनों आप पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ, समत्वरूपी तत्वमे स्थित, पूर्ण देहाध्यासमुक्त ही तो थे। गीताके एक-एक श्लोकको आपने अपने जीवनमें पूरा उतारा था। और उस समय अपने आत्मपरीक्षणमें आपको मात्र एक ही न्यूनता दिखाई पड़ी थी कि आप मीठा भोजन प्राप्त होनेपर सामान्य क्षुधासे अधिक खा जाया करते थे। यह आपकी प्रवृत्ति भी आपके शरीरमे शर्कराकी माँगके कारण थी, आपकी कोई

स्वादेन्द्रिय लोलुपता नहीं थी।"

"बाबा! इसके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजकी अयाचित कृपासे आपका ब्रह्मनिष्ठ सच्चिदानन्दघन मन चिन्मय सुधारससिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन राधावल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य धाम हो गया। बाबा! आप तो उस पथके पथिक हैं, जो चित्तवृत्ति-निरोधसिद्ध महाज्ञानकी सप्तम भूमिकामें प्रवेश पाये परम वन्दनीय ऋषभदेव और माता देवहूतिके लिये भी अगम्य है।"

"आपकी चित्तवृत्ति तो प्रेमघन रससुधासागर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दकी ओर निर्बाध प्रवाहित रहती है। मेरे बाबा! आपके लिये कौनसा निरोध है और कौनसा उन्मेष है। आप तो निरोध और उन्मेष दोनोंकी चरम सीमाको भी उल्लंघन कर गये हैं। इस परम रसमय पथपर अबाध विहरण करते आप तो समग्र चिन्मयताके एक मात्र पुञ्जीभूत स्वरूप प्रियतम श्यामसुन्दरको भी प्रेमदान देकर कृतकृत्य कर रहे हैं। आपके अगोंकी संस्पर्शित पवन लहरियोका अपने श्रीअगसे संस्पर्श पाकर तो योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभगति प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, फिर आपके लिये यह काष्ठमौनव्रत कौनसा वाञ्छनीय पद है?"

"मेरे बाबा! जब आपके प्रियतम श्रीकृष्ण ही समस्त बन्धनोंको तोड़कर सर्वथा उच्छृंखलताको प्राप्त हैं, उन सर्वनियमातीत, सर्वबन्धनविमुक्त, नित्यस्ववश, परात्पर परम पुरुषोत्तमको भी जिन आपमें वशमें रखनेकी अनन्त प्रीति है, फिर आपको काष्ठमौनव्रती बनाकर आपके प्रेष्ठ श्रीकृष्ण क्या खेल करने जा रहे हैं?"

"विश्वप्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें विन्दुरूपसे जो विदग्धभाव, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, रूप (सौन्दर्य), एवं केलिरस (माधुर्य) वर्तमान है, उन सातों रसोंके उदधिमें तो आप आपाततः निमज्जन कर ही रहे हैं, इनकी उर्मियोंमें जब आप उच्छलन ले ही रहे हैं तो फिर आनन्दकन्दके दिव्य रमणानन्दमें अनादि कालसे उन्मादी आपको यह काष्टमौन कौनसा यश-पद प्रदान करेगा? बाबा! कृपाकरके मेरा समाधान कर दीजिये न!"

"मेरे बाबा! आपका हृदय सहज सरल स्वच्छ भावके जलसे स्नात है, भावानुरागरूप नवनीतसे स्निग्ध है, कृपा-दुग्धधारासे वत्सल है, सौन्दर्य-घृतसे दैदीप्यमान है, लावण्य-मदिरासे मस्त है, आपको यह काष्ठमौन रूपी क्षार, अम्ल, तिक्त और कटु रस क्या आप्यायित करेगा?"

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(चतुर्थ खण्ड)

पृष्ठ संख्या 401-462 तक

- साधु कृष्णप्रेम

"बाबा ! अभी भी आपके मन-इन्द्रिय, समस्त अंग-अवयव, आपकी बुद्धि एवं चित्त सभी प्रियतम श्रीकृष्णको ही तो सुख-संस्पर्शमें डुबाये रखते हैं। क्या आप श्रीकृष्णके अतिरिक्त आज भी किसीसे बोलते हैं ? क्या आपका चलना-फिरना, सोना-जागना, सब व्यवहार-बर्त्ताव आज भी अपने प्राकृत स्व अथवा अहंके लिये है ? क्या आपका जीवनधारण भी अपने लिये है ? जब आपका सर्वस्व बाह्य एव अभ्यन्तर दोनों ही नित्य निरन्तर अपने प्रियतमको सुख-संस्पर्श दान देते रहनेमे ही निरत है, लव मात्र भी स्व-सुखान्वेषण उसमें नहीं है, तब इस काष्ठमौनका क्या अर्थ है।"

"बाबा ! आप सुन्दर-सुन्दर सुगन्धित पुष्पमालायें मालियोंसे कहकर निर्माण कराते हैं, कानपुरसे ढेरों सुगन्धित पुष्प आपकी सेवार्थ श्रीरामनिवासजी ढंढारिया व्यवस्था करते हैं, परन्तु वे गुलाब और मालतीकी मालायें क्या आपका साज-श्रृंगार होती हैं ? सुस्वादु-से-सुस्वादु पक्वान्न (भोजनपदार्थ)आपकी भिक्षामें वात्सल्यमूर्ति श्रीमती मातायें निर्माण करती हैं, परन्तु क्या वे पदार्थ आपकी जिह्वाके स्वादका अनुरञ्जन कर पाते हैं ? इन सुस्वादु भोज्य पदार्थोंसे क्या आपका शरीर पुष्ट हो, ऐसी स्वाद-भावना आपमे कभी उदय होती है ? आपके पास कन्नौजसे, दिल्लीसे अच्छे-से-अच्छा मूल्यवान् सुगन्धित पुष्पसार (इत्र) आता है, किन्तु क्या वह दिव्य गधका सेवन आप अपने आनन्दलाभके लिये करते हैं ? आप मधुर-मधुर संगीतध्वनि पद-गायनादिमें सुनते हैं, परन्तु क्या वह आपके अपने कानोंको सुख पहुँचानेके लिये होता है ? आपका तो सर्वस्व मात्र अपने परम प्रियतम श्रीकृष्णके सुखके लिये ही जब न्यौछावर है, तो फिर यह काष्ठमौन और सबसे पूर्णतया पृथक् एकाकी होना एव शवकी तरह सवेदनशून्य होना किसलिये ? यह आपके किस प्रयोजनको सिद्ध करेगा ?"

मैं स्नेह-आवेशमें बोलता जा रहा था और पू.गुरुदेव सुन रहे थे। सहसा मैंने सुना मेरे गुरुदेव,मेरे बाबा गीत गा रहे हैं – उनकी वाणी तो मात्र राधा-राधा ही उच्चारण कर रही थी किन्तु वे अपनी स्लेटपट्टीपर लिखकर अपनी स्वरावलीको शब्द दे रहे थे –

**कहो तो मातियन माँग भरावाँ, कहो छिटकावाँ केस ।**
**कहो कसूँभी साडी पहराँ, कहो तो भगवा भेस ।।**
**मोहन प्यारा आजो म्हारे देस ।**

गाते-गाते ही वे मुखर हो उठे। " भैया ! तेरी स्नेह एवं सद्भावभरी बातें बहुत ही प्यारी लगीं। परन्तु मेरा यह शरीर, मेरी अहंता, प्रियतम श्रीकृष्णकी एकमात्र निधि, उनकी प्यारी वस्तु तो हैं ही, परन्तु साथ ही मेरी यह अहंता न्यूनतम तेरह सौ व्यक्तियोंके साथ भी पूरी उलझी है। मेरे पास इन सभीके रूपमे मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण ही आये हैं और उनकी मॉग ब्रजभावकी चाहे हो, या नहीं हो, वे मेरेसे किसी-न-किसी रूपमें जुड़ अवश्य गये हैं। भैया ! उन मेरेसे जुडे तेरह सौ व्यक्तियोंको मुझे मेरे साथ ही ब्रजरसके अथाह समुद्रमें डुबाना है। अब इन व्यक्तियोकी, जो मुझसे बॅधे हैं, दशा ऐसी है कि इनमें काम-ही-काम उफन रहा है। इनमें जो स्त्रियॉ हैं,उनमें सतीत्वमूलक दाम्पत्यप्रेमकी तो छाया ही नहीं, अपितु शूर्पणखाको भी लज्जित करनेवाला वीभत्स काम है।"

"अब भैया ! मनुष्यके ऑख नहीं होनेपर वह केवल दृष्टिशक्तिसे ही हीन-अन्धा होता है, परन्तु काम तो सारे विवेकको ही नष्ट कर देता है। इसीसे कहा गया है – **'काम अन्ध तम , प्रेम निर्मल भास्कर।'** "

"अब भैया ! मैं मुझसे जुडे इन कामान्ध, मलिन देहासक्त लोगोंको काम और प्रेमका भेद कैसे समझाऊँ ? जैसे अनुभवी रत्नव्यापारी कॉच तथा असली हीरेको पहचान पाते हैं अन्य नही, इसी प्रकार विरले प्रेमी भक्त ही काम तथा प्रेमके भेदको श्रीराधामाधवकी कृपासे पहचान पाते है।"

"भैया ! काम या काममूलक श्रृगार इतनी भयानक वस्तु है कि वह केवल कल्याण-साधनसे ही नहीं गिराता, अपितु सर्वनाश ही कर डालता है। कामकी दृष्टि रहती है मलिन हाड-मास, मल-मूत्रके आगार देह और उसकी अध इन्द्रियोकी तृप्तिकी ओर एवं प्रेमका लक्ष्य रहता है ऊर्ध्वतम सर्वानन्दस्वरूप भगवान्के आनन्दविधानकी ओर। कामसे अधःपतन होता है, और प्रेमसे दिव्यातिदिव्य भगवद्रसका दुर्लभ आस्वादन प्राप्त होता है। इस नीच कामके प्रभावसे विद्या, बुद्धि, त्याग, संयम, तपस्या, साधुता, वैराग्य, धर्म एवं ज्ञान बातकी बात में विनष्ट हो जाते हैं।"

"भैया ! जब बडे-बडे आचार्य, विद्वान्, राधाप्रेमके नामपर पापाचारमें प्रवृत्त हो जाते हैं और अपनी विद्वत्ता और तर्कशैलीका दुरुपयोगकर पापका प्रसार करने लगते हैं, वहाँ इन विषयी प्राणियोंको जो मेरेसे जुडे हैं, मैं कैसे इस निर्मल प्रेमधारामें बहाऊँ ? ये तो सर्वथा एवं सर्वदा ही भौतिक पदार्थोमे

सुख ढूँढ रहे हैं। इन्हें तो अंग-प्रत्यंगोंमें ही काम-कण्डूयन, सुखसाधनकी कल्पना है। इन्हें तो निद्रा एवं विषयभोगके अतिरिक्त कहीं भी सुख नहीं दिखता। अब इन्हें कैसे मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके दिव्यश्रृंगाररसके अनुशीलनकी रूपरेखा समझाऊँ ?"

"भैया ! मैंने मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके सम्मुख ही इस समस्याको रखा और उनसे प्रार्थना की कि वे ही कोई इन कामान्ध विषयकीटोंपर कृपा करनेका उपाय सोचें। भैया ! महान् अनुग्रहमूर्त्ति मेरे प्रियतम श्रीकृष्णने ही यह विधान किया है कि यदि इनकी समग्र पापकर्मराशि मैं अपने तपकी अग्निमें स्वाहा कर दूँ तो फिर ये इनकी पुण्यराशिका विषयसुख इन्हें देकर खाता बराबर कर देंगे। इस प्रकार प्राकृत धरातलपर इनके पुन: जन्मग्रहणकी प्रक्रिया बन्द हो जायगी। और यही प्रक्रिया यदि एक बार बन्द हो गयी तो कालान्तरमें मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण अपनी हेतुरहित कृपासे इन्हें ब्रजराज्यमें जन्म देनेकी भूमिकाका निर्माण कर देंगे। बस, फिर तो मेरे प्रियतम श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीके दर्शनसे इन सभीको एक ऐसे अनिर्वचनीय, परम दुर्लभ, विलक्षण चिदानन्दमय रसकी उपलब्धि होगी कि इन सभीका समस्त विषय-व्यामोह सदा-सदाके लिये मिट जायेगा।"

"भैया ! तू तो मुझपर विश्वास करेगा ही, मैं इसीलिये यह तपभरा काष्ठमौन व्रत ले रहा हूँ कि मेरे इस तपोमय व्रतसे ही इनकी अनवरत अब भी बढ़ाये जानेवाली पापराशि स्वाहा हो सकती है। इन तेरह सौ लोगोंमेंसे अधिकांश इतने पापपरायण हैं कि घोर नारकीय कुकर्म करके भी इनके अन्दर खेदकी, दुखकी अथवा पश्चात्तापकी तनिक सी भावना भी नहीं जग रही है। ये धनकी चोरीको होशियारी समझते हैं, परस्त्रीगमनको पौरुष और भोगोंकी प्राप्तिको ही भगवत्कृपा, संतकृपा मान रहे हैं। ये अपने घोर पापोंको मुझसे कपटकर छिपाये रखते हैं, और मेरे सम्मुख साधननिष्ठ, सत्संगी बनकर आते हैं। मैं यदि यह तप नहीं करूँगा तो इनको इतनी अपार एवं असह्य यातना भोगनी पडेगी कि इनका यमदूत कचूमर ही निकाल देंगे।"

"भैया ! अब मैं तुमसे क्या कहूँ ? प्रापंचिक धरातलपर इसीलिये मुझे यह घोर तप करनेकी आज्ञा श्रीकृष्ण द्वारा मिली है। वे मेरे प्रति इतने स्नेहिल हैं कि मेरे थोड़ेसे तपसे ये इनके गुरुतर पाप स्वाहा कर देंगे। भैया ! पाप तो तुझसे भी होते हैं, और तू भी इन तेरह सौ व्यक्तियोंमें एक है।"

पू.गुरुदेवकी बात सुनकर मुझे तो इतनी लज्जा आयी कि यदि धरती फट जाती तो मैं उसमें उसी क्षण समा जाता। कितने हेतुरहित कृपालु मेरे गुरुदेव श्रीराधाबाबा थे और कितने कृतघ्न उनसे जुडे हम लोग थे।

---

# पूजा-विसर्जन

तीर्थयात्रासे लौटकर पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज अप्रेल व्यतीत होनेपर ही गोरखपुर पहुँचे थे। अब काष्ठमौनव्रत लेनेमें पू.गुरुदेवके पास मात्र लगभग पाँच मास ही शेष थे। इसके पश्चात् उन्हें न तो देहको ही पकड़ना था और न ही प्राकृत जगत्‌को। पू.गुरुदेवके पास अपने दायित्वके रूपमे और तो ऐसा कुछ भी नहीं था, जिसे वे किसी भी दूसरेको दे जाते, उनकी धरोहर तो मात्र उनकी आराधना और कतिपय पूजाएँ थीं, जिन्हें वे विगत अनेक वर्षोंसे सम्पन्न कर रहे थे। अपने काष्ठमौनकालमें तो उन्हें इतना भी बहिर्मुख नहीं होना था कि ये पारमार्थिक क्रियायें भी सम्पादित कर सकें। महाभाव-सिन्धुके अतल तलमें डूबा मन जब प्राकृत धरातलका स्पर्श ही नहीं करने जा रहा था तो वह किसी भी देवजगत्‌की पूजा-अर्चा कैसे सम्पादित कर सकता था ? तब ? वे मनसे चाहते थे कि कोई ऐसा सुपात्र, समर्पित व्यक्ति मिल जाता, जो उनकी इन पारमार्थिक पूजा-धरोहरोको सँभाल पाता। किन्तु ऐसा कोई भी व्यक्ति उनकी कसौटीमें खरा नहीं उतर रहा था।

उनकी सर्वप्रधान पारमार्थिक पूजा तो परमाद्या जगज्जननी पराभट्टारिका भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी थी। पू.गुरुदेवके पास भगवतीका अलभ्य षोडशाक्षरी मंत्र भी था, जिसे वे किसी उचित पात्रको देना चाहते थे। पू.गुरुदेव विगत अनेकानेक वर्षोंसे सहस्रनामावलीसे भगवतीकी प्रत्येक प्रहर अर्चना किया करते थे। यह अर्चना प्रतिदिन चार बार होती थी। इस पूजन-अर्चनको तो उन्होंने विसर्जित करना ही उचित समझा, क्योंकि इसका जीवनपर्यंत निर्वाह करनेवाला उनकी दृष्टिमे अन्य कोई व्यक्ति नहीं था। जहाँ तक भगवतीके षोडशाक्षरी मंत्रका प्रश्न था, वे उसे श्रीपोद्दार महाराजकी आहृत-कामकी सन्तति -- पुत्री अ.सौ. सावित्रीबाईको दीक्षा देकर प्रदान ही कर चुके थे। अपने काष्ठमौनकालमें भी वे प्रत्येक शुक्रवारको भावोपनिषद् द्वारा भगवतीकी

मानसिक पूजा अवश्य कर लेना चाहते थे, और इसका मानसिक संकल्प उन्होंने मन-ही मन कर लिया था। वह क्रिया भी उनके द्वारा तभीतक सम्पन्न होनी संभव थी, जबतक उन्हें कालकी स्मृति रहने वाली थी कि शुक्रवार किस दिन है । जब उन्हें कालकी भी स्मृति नहीं रहेगी तो वह पूजा भी स्वाभाविक ही उनके द्वारा छूट ही जाने वाली थी।

हॉ ! जहॉंतक भगवती त्रिपुरसुन्दरीके नाम-जपका प्रश्न था, उन्होंने अनेक लोगोको 'ललिता सहस्रनाम'की अपनी आराधनाकी पुस्तकें, जो उनके पास अनेक संख्यामें थीं, नामावलीपाठका निर्देश देकर वितरित की थीं। इन पुस्तकोमेसे अ सौ. बाई सावित्री एवं उनके पति श्रीपरमेश्वर प्रसादजी फोगलाको भी पुस्तकें मिली थीं, साथ ही उन्हें इस सहस्रनामके अनेक पाठ भी करनेके निर्देश पू.गुरुदेवके द्वारा दिये गये थे। इसी प्रकार पू गुरुदेव द्वारा ललिता सहस्रनामकी एक पुस्तक श्रीशिवनाथजी दुबेको भी प्रदान की गयी थी, जो संभवत आजतक भी उनके पास होगी। पू गुरुदेवने अपने जपकी मालाये भी अनेक कृपापात्रोको अपने पूजा-विसर्जनके अवसरपर वितरित कर दी थीं।

पू गुरुदेव द्वारा उनके जपकी एक रुद्राक्षमाला, एक तुलसीमाला और एक दुर्गा सप्तशतीकी पुस्तक लेखकको भी प्राप्त हुई थी।

अब मैं पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी एक और अतिशय महत्वपूर्ण पूजार्चनाका उल्लेख कर रहा हूँ, जो उनसे जुड़े प्रत्येक प्राणीके लिये परम मंगलकारी थी। पू गुरुदेवकी यह अर्चना तभीसे प्रारंभ हुई थी जबसे उनमें स्वयंमें श्रीपोद्दार महाराजकी कृपासे गोपीभावका उन्मेष हुआ था। पू गुरुदेवका जीवन विलक्षण था। वे अपनी देहके स्थानपर अपनी भावदेहको ही चौबीसों घण्टे अनुभव करते थे। उनकी भावदेहकी वय सदा चौदह वर्षकी किशोरीकी ही रहती थी। पू.गुरुदेवकी यह भावदेह न तो उनकी कोई कल्पनामूर्त्ति थी, न ही कोई ध्यान धारणाजन्य उच्च स्थिति, एवं न ही कोई दैवी साक्षात्कारकी उच्च उपलब्धि थी। पू गुरुदेवकी भावदेह तो पूर्णतया चिन्मय, जीवन्त और सदैव ही उनकी देहके साथ एकात्म थी। सच्ची बात तो यही थी कि वे अपनी पार्थिव देहको सर्वथा भूले रहते थे और अपनी चिन्मय देहसे ही प्रात जागरणसे लेकर रात्रिमे शयन पर्यंत सभी व्यवहार करते थे। जब वे अपनेको ही प्रत्यक्ष जीवन्त, चिन्मय देह अनुभव करते थे तो अपनी निवास-कुटी एवं उस निवास-कुटीके चारो ओरके भूमि-भवनोको भी वे अपने वृन्दावनधामके ही भूमि-

भवन देखते थे। इस प्रकार उनका समग्र दृश्य ही, यहाँतक कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वायु-आकाश, जल-तेज, धरा सब चिन्मय वृन्दावन-धामके ही अप्राकृत तत्व बने रहते थे। विलक्षण साधना थी, पू.गुरुदेवकी ! उनसे मिलने आया कोई सांसारिक बात करनेवाला व्यक्ति भी उन्हें उस रूपमें दृष्टिगोचर नहीं होता था, या तो उन्हें उनके आराध्य ब्रजेन्द्रनन्दन ही साक्षात् उसके रूपमें दिखते थे, अथवा उनके भावराज्य वृन्दावनधामका कोई गोप-गोपी, सखा या सखी ही उसके रूपमें अनुभवमें आता था।

एक दिवसकी घटना सुनाता हूँ। एक व्यक्ति अपनी आर्थिक दुरवस्थाका विवरण सुनानेको उनके पास आया था। उन्हें तो उसके रूपमें अपने आराध्य नन्दनन्दन ही दिखाई दिये। अब, वह व्यक्ति जैसे ही अपनी दुनियादारीकी बात कहना प्रारंभ करे कि पू.गुरुदेव उसपर बिगडते चले जावें – 'तुम सर्वज्ञ होकर अन्धे बनते हो, तुम मेरा उपहास उडाने आये हो, तुम झूठे हो, फरेब करते हो, मायावी हो, एक निरीह साधुसे छल करने आये हो। तुम बगीचेसे निकल जाओ, मैं अभी तुम्हे दरबानोको बुलाकर निकलवाता हूँ।'

यह सब सुनकर वह व्यक्ति अत्यन्त दुखी होकर आँसू बहाता, क्षमा माँगता चला गया। उसके जाते ही पू.गुरुदेव एकदम सामान्य हो गये। फिर मेरी ओर देखकर बोल उठे –"भैया ! नन्दनन्दन श्रीकृष्ण आते हैं, मुझसे रुपया माँगते हैं। क्या वे नहीं जानते कि उन्होंने ही अपने विधानसे मुझे चतुर्थाश्रमी सन्यासी बनाया है। जब मैं अर्थका स्पर्श ही नहीं करता तो अब भला, मुझसे अर्थयाचना करना, क्या मेरा उपहास उडाना नहीं है ? मेरे इस निकुञ्जमे आकर मेरा ही तमाशा बनाना क्या उन्हें शोभा देता है ? द्वारपालों–गोपोंसे कहकर क्या मैं उनको अपने महलसे बाहर नहीं निकलवा सकती ?'

पू.गुरुदेवकी बहुत सावधानीपूर्वक कही उक्तिमें भी प्रयुक्त स्त्रीलिंगका क्रियाप्रयोग सुनकर मैं चकित हो गया। मैं समझ गया, पू.गुरुदेव सामान्य भावमें नहीं हैं। उन्होंने उस याचकके रूपमें साक्षात् श्रीकृष्णके ही दर्शन किये हैं और उनके अपने आराध्य प्राणपतिसे ही उनकी सम्भ्रम-संकोचरहित सम्पूर्ण वार्त्ता हुई है।

इसी प्रकार एक दिन अकेलेमें मुझसे कहने लगे–"भैया ! सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) पाँच-सात दिवस पहले मिलने आये थे। एकान्तमें मुझसे अकेले बात करने लगे। पूछने लगे – 'बाबा ! मनै पहचाणौ हो ?' मैंने

उत्तर दिया–" खूब अच्छी तरह !" फिर मन-ही-मन कहा– 'आप तो साक्षात् नारायण-स्वरूप हो।' पुनः वे मुझसे कहने लगे –"बाबा ! सुण्यौ है, आजकाल थे लोगॉसूँ बातॉ बहुत करौ हो। म्हारी हृदयरी राय मानो और बात्यॉ ही करणी होय तो सत्संग कराओ। अन्यथा भजन-ध्यानमें ही डूब्या रहौ। लोगॉसूँ सांसारिक बात्यॉ करणेमें कोई लाभ नहीं है।"

"अब भला भैया ! मैं उनको क्या उत्तर देता ? मुझसे सत्संग करवानेका उनका आग्रह आजतक ज्यों-का-त्यों बना है। उनकी बात मैंने सुनली एवं यही संक्षिप्त उत्तर दिया –'प्रभो ! आप तो पूर्ण हैं, सर्वज्ञ हैं, मेरी दृष्टिमे सदैवसे ही साक्षात् नारायण थे, हैं, एव भविष्यमें भी सदैव नारायण ही रहेंगे। अब आप अपनी सर्वज्ञताशक्तिसे ही जान लीजिये कि मैं किससे क्या बात करता हूँ।"

"भैया ! अब इस वृक्षके नीचे मान लो, मैं अकेला ही मेरी मौज-मस्तीमें पडा हूँ, परन्तु कोई बाहरसे देखनेवाला क्या समझेगा कि इस वृक्षके रूपमें बाबा क्या देख रहे हैं, इसके पत्ते-पत्तेमें उन्हें क्या दिख रहा है ? अब इसके साक्षी तो मेरे अन्तर्यामी श्रीकृष्ण ही हैं कि मैं तुझसे जो ये गप्प लगा रहा हूँ, उसमें मेरी दृष्टिमें तेरे रूपमें, मेरे रूपमें कौन है, और तेरे-मेरे बात करनेके पीछेकी पृष्ठभूमि क्या है ?"

मैं पू.गुरुदेवकी थोडी-सी वार्त्तासे ही समझ गया कि मेरे गुरुदेवका चित्त ऐसी निष्पन्द दीपशिखाकी तरह है जो सर्वत्र, सर्वरूपोमें, चाहे वे नैसर्गिक हो अथवा दैवी, अपने उर-हार प्रियतम नीलमणिकी ही शोभा निहारते रहते हैं। उनके चित्त-यानपर कोई अन्य चढ़ ही नहीं पाता, चाहे वह सन्त हो, महात्मा हो, ज्ञानी हो, कितना ही बडा भक्त हो, आचार्य हो, अथवा घोर पतित, नीच, पापी हो। उनके प्राणवल्लभ यदि एक क्षणके करोड़वें अंशके कालमानमें भी उनकी हृदय-शय्यासे उतर जावें तो उनके प्राण व्याकुल हो उठते हैं, और प्रतिवाद कर उठते हैं– 'नहीं, नहीं प्राणेश्वरी ! मेरा नित्य धाम तो तुम्हारा हृदय ही रहने दो।' पू.गुरुदेवके पास यदि चतुर्मुख ब्रह्माजी भी आवें तो उन्हें श्रीकृष्णका रूप रखकर ही आना पड़ता है, और उनके सम्मुख चाहे एक लघु कीट-पतंग, पशु-पक्षी आवे तो भी वह उनका प्राणपति मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण ही बनकर आता है। उनका अमोघ, शाश्वत, अखण्ड, नित्य, सत्य दर्शन है सर्वत्र सबमें एकमात्र अपने प्रियतम नीलसुन्दरका स्मित समन्वित श्यामघन

सुन्दर मुखचन्द्र।

मै अपनेको धन्य-धन्य कह उठता हूँ। मैं कितना भाग्यवान् हूँ ! मेरे गुरुदेवकी रजनी, प्राकृत तमोमयी रजनी नहीं है, अपितु है सर्वथा चिदानन्दमयी, ब्रजराज्यकी परम रसमयी रजनी है, जो मेरे गुरुदेवके प्राणाराध्य प्राणप्रियतमको अपने अकमे भरकर विश्राम कराती है। मेरे गुरुदेवका अरुणोदय प्राकृत अरुणोदय कदापि-कदापि नहीं है; न ही उनकी उषा, प्राकृत उषा है। पू गुरुदेवका दिवस, उषा, रजनी, अरुणोदय, प्रभात, मध्यान्ह एवं सन्ध्या – सर्वकाल ही उनके प्रियतम-दर्शनमें , प्रियतम-सुखमें निमित्त होनेमें ही तन्मय रहता है। इसीलिये मेरे गुरुदेवका सर्वकाल नराकृति परब्रह्म नन्दतनूजसे पूर्णतया आप्यायित, ओतप्रोत, निमज्जित होनेके कारण मंगलनिधान है। उस कालके अणु-अणुसे सर्वत्र दिग्-दिगन्तमें असीम, अमित मगलवर्षा होती रहती है।

इसी प्रकार मेरे गुरुदेवका समग्र देश मायानिर्मित जड देश है ही नहीं। उनका शरीर भले ही गोरखपुरके किसी गीतावाटिका नामक देशमें लेटा रहे, किन्तु उनका भावदेह इसी देशको तत्क्षण ही चिन्मय यमुनाकी लोल कृष्णमयी लहरियोंमें परिस्नात करा देता है। एक क्षण ही तो व्यतीत नहीं हो पाता कि प्राकृत धरातलमें उनकी खड़ी जीर्ण-शीर्ण कुटिया बृषभानुपुरका चिन्मय प्रासाद बन जाती है। न तो वे प्राकृत देह रह जाते हैं, न ही उनका निवास प्राकृत रहता है। तत्क्षण ही वे स्वयं भी बृषभानुबाबाकी परम लाडिली छोटी पुत्री मंजुश्यामा हो उठते हैं। उनके मंजुश्यामा होते ही उनकी कुटिया भी बृषभानुपुरका चिन्मय प्रासाद बन जाती है। उनकी यह कोई मानसिक कल्पना है – ऐसा सर्वथा-सर्वांशमें नहीं मानना चाहिये। जब उनका मन ही प्राकृत देहान्तर्गत संकल्प-विकल्पात्मक मन नहीं रहता, अप्राकृत हो उठता है, और अप्राकृत होकर ब्रजेन्द्रनन्दनके उस मनसे एकीभूत हो उठता है जो मन कभी देश एव कालसे परिच्छिन्न नहीं होता, जिसमे अतीत, वर्तमान ए. भविष्य यह कालभेद ही नहीं है, और जिसके समक्ष सब कुछ नित्य वर्तमान है। फिर जिसकी कल्पना, स्वप्न, मनोरथ, संकल्प अमोघ हैं, अखण्ड है , वह कभी विकल्पित होना संभव ही नहीं । जिसमें सकल्प होनेमें एवं मूर्त होनेमें कहीं कोई काल-व्यवधान है ही नहीं ।

लो देखो ! पू गुरुदेवने अपनी चिन्मय कृपादृष्टिसे गोरखपुर नगरकी

गीतावाटिकाको कैसी मंगल भावसज्जासे सज्जित किया है ! समग्र गीतावाटिकाकी वनभूमिका कण-कण दिव्य मणियोंकी ज्योतिसे उद्भासित हो उठा है। देखो ! पू.गुरुदेवकी निवासकुटी मधुरलीलाकी मूलधारा बृषभानुनन्दिनी श्रीराधाकी बाल्यविहारस्थली राजपुरी बृषभानुपुरमें परिणत होगयी है। अहा ! दोनों ओर कैसे सुरम्य पर्वत हैं ! ये दोनो ओरके विलक्षण मणिमय पर्वत निर्गलित मणिद्रवोंकी भॉति सुन्दर जलनिर्झरोंके कल-कल निनादसे पूरित रहते हैं। इन निर्झरोंके दोनों तटोंपर और इनकी उद्गमस्थलीको भिन्न-भिन्न वर्णके मणिवृक्ष आच्छादित किये हैं। ओह ! कैसे सुन्दर मणिमय विहंगमकुल इन वनपादपोंमे फुदक-फुदककर विहार कर रहे हैं।

**न सोऽस्ति मणिभूरुहो विविध रत्नशाखो न यः।**
**सुचित्र मणिपल्लवाः न खलु या न शाखाश्च ताः।।**
**न तेऽपि मणिपल्लवा विविध रत्नपुष्पा न ये।**
**न पुष्पनिकरोऽप्यसौ विविध गन्धबन्धुर्न यः।।**

**(आनन्दबृन्दावनचम्पू)**

"यहॉ मणिमय ऐसा कोई वृक्ष नहीं, जिसके शाखासमूह विविध रत्नमय न हों। प्रत्येक मणिमय वृक्षकी शाखावलि विविध रत्नोंसे ही निर्मित है। फिर इन शाखाओंमें ऐसी कोई शाखा नहीं, जो विविध वर्णके मणिमय पल्लवजालसे मण्डित नहीं हो। प्रत्येक वृक्षकी प्रत्येक शाखा बहुवर्णी मणिमयी पल्लवराजिसे राजित हो रही है। ऐसे मणिपल्लव नहीं, जिनमें रत्नमय कुसुम-समूह प्रस्फुटित नहीं हुए हों सभी मणिपल्लवोंपर रत्नमय कुसुमनिकर झलमल-झलमल कर रहे हैं और फिर ऐसा कोई पुष्पनिकर नहीं, जिससे विविध भॉतिकी सुगन्ध प्रसरित नहीं हो रही हो कुसुमसमूहोंसे भॉति-भॉतिके सौरभ झर रहे हैं।"

शाल, तमाल, ताल, कपित्थ, बकुल, नारिकेल, रसाल, प्रियाल, श्रीफल, करील, कोविदार, देवदारु, मन्दार, जम्बीर, चन्दन, अशोक, कदम्ब, गुग्गुल, पीलू, गन्धपिप्पली, गजपिप्पली आदि वृक्षोंसे वन भरा है। ये सभी कल्पपादपोंसे अनन्त गुने महिमाशाली हैं। इन वृक्षोंको वासन्ती, वनमल्लिका, स्वर्णयूथी,जाती,यूथी, मल्लिका, मुद्गरा, अपराजिता, गुञ्जा, शतमूली, बिम्बफललता, लवंगलता, आदि लताएँ आच्छादित किये रहती हैं। ऐसा स्वयं भगवती जगज्जननी श्रीराधारानीका चिन्मयधाम बृषभानुपुर जिसका कण-कण चिन्मय तत्वसे सुगठित है, यहॉ सुव्यक्त हो रहा है।

महदाश्चर्य है पू.गुरुदेवकी छोटी-सी कुटिया जिसका भूभाग कठिनतासे मात्र ढाई सौ गजके घेरेमें होगा उसमें न जाने विचित्र वैभवोसे परिपूर्ण कितनी ही पुरियाँ समाहित हो गयी हैं।

यह प्रथम महल वीरभानुजीका है। इसके अन्दरके वैभवका वर्णन करने जायँ तो पूरा कथासरित्सागर ही हो जायगा। इस पुरीका मुख्य द्वार चिन्मय हंरिद्राभ मणिमय है। इसके सभी कपाट हीरक-खचित हैं। यह महल अनेक रत्नसिंहासनोंसे युक्त है। मणिमय रत्नमुकुट पहने पीत परिधान-शोभित वीरभानु इस महलके अधिपति हैं। द्वितीय महल सुन्दर श्रृगार-सुसज्जित किशोर वयस्क श्रीचन्द्रभानु गोपका है। तीसरा महल सूर्यभानु गोपका है एवं चौथा महल वसुभानुजीका है। पाँचवाँ महल देवभानुजीका एव छठा शक्रभानुजीका हैं सातवाँ महल रत्नभानु महाराजका है। इसके पश्चात् सुपार्श्व, सुबल एवं सुदाम गोपोंके महल हैं। तब जाकर परम रम्य बृषभानुपुरके युवराज श्रीदामगोपका महल आता है। ओह ! श्रीदाम भैयाके अग कितने कमनीय हैं ! उनके वक्षस्थलपर सदा प्रफुल्ल मालतीमाला झूलती रहती है।

इसके पश्चात् असख्य कोटि मार्तण्डकी ज्योतिके समान एक विलक्षण ज्योतिमण्डलसे युक्त भगवती त्रिपुरसुन्दरीका मन्दिर है। ओह ! जय हो ! इसी ज्योतिबिम्बमें लक्षदल-समन्वित परम दिव्य पद्म है। पराभट्टारिका भगवती कामेश्वराकनिलया इसी पद्ममें अपने चतुष्पाद सिंहासनमे शिवाकार-मंचपर, परशिवके पर्यंकपर एवं भगवान् कामेश्वरके अकपर विराजित रहती हैं। अप्रतिम विश्वविमोहन उनका सौन्दर्य है। वाणीकी सामर्थ्य नहीं कि इसकी छाया भी छू सके। अहा ! उनकी कैसी विचित्र मुसकान है ! अनादि अनन्त समस्त माया इस विचित्र मुसकानसे ही व्यक्त होती है और अनन्त ब्रह्माण्डोकी समग्र स्थिति, उत्पत्ति एवं प्रलय इन्हीं महामायाके द्वारा ही भ्रू-संकेतसे संचालित हो रही है।

इसके उपरान्त यदि नन्दनन्दन किसीको आगे जाने देते हैं तो उसे भगवती प्रिया श्रीराधारानीके महलके दर्शन हो पाते हैं, जिसपर कोटि-कोटि गोपांगनाओंका संरक्षण है।

यह तो मेरे पू.गुरुदेवकी निवास कुटीके चिन्मय विलासकी एक अति साधारण झाँकी है, अब इस कुटीके चतुर्दिक् खिंची चारदीवारीके मुख्यद्वारके बाहर निकलते ही गिरिराज गोवर्धनका दिग्दर्शन तनिक अति सक्षेपमे कर ले।

देखो ! देखो ! कितने उत्तुंग शतश्रृंगसमन्वित गिरिराज गोवर्धनके परिसरमें हम सभी लोग आ पहुँचे। यह है पद्मरागका पर्वत और इसके नीचे बसा है आन्योर ग्राम । यहॉ पारिजातवनश्रेणी और कल्पतरुओंकी पंक्ति कैसी शोभा दे रही है। और यह गिरिराज पर्वतकी पूँछड़ी है। यहॉ असंख्य कामधेनु झुण्डोंमें वनचारण कर रही हैं। दूर-सुदूरतक हरे-भरे तृण-घाससे भरे मैदानोंमें रंग-बिरंगी विचरण करती गायोंकी कैसी शोभा हमारे नयनोंको रंजित कर दे रही है। हे गिरिराज पर्वत ! तुम्हें हमारे अनन्त प्रणाम हैं। नव पल्लवोंसे परिशोभित, चन्दन, मन्दार, चम्पक आदि पुष्पोंके परागसे सुवासित, सुमधुर भ्रमर-रवसे गुंजारित यह यतीपुरा ग्राम आ गया। कतिपय मान्यतानुसार यहॉ भगवान् गिरिराजका मुखारविन्द है।

इसके पश्चात् दानघाटी और तब मानसीगंगाका क्षीरसरोवर। इसका घेरा प्रवालनिर्मित है और घाट वैदूर्यरचित हैं। यहॉं घाटोंपर शिल्पनैपुण्यसे अंकित शुक-पिक आदि पक्षियोंकी प्रतिकृति ऐसी लगती है मानो जीवन्त पक्षीगण चहक रहे हों ।

और यह देखो ! गिरिराज पर्वतकी दूसरी गिरिश्रृंखलाके एक ओर उद्धवकुण्ड और दूसरी ओर उद्धवकुण्डके ठीक सामने कुसुमसरोवर। कुसुमसरोवरकी अट्टालिकाएँ महानीलमणिनिर्मित हैं और इसके घाटोंकी संरचना कुरुविन्दमणिमय प्रस्तरोंसे गठित है। विविध भॉतिसे सुचित्रित इस सरोवरकी शोभाके सम्मुख त्रिलोकीका पुञ्जीभूत वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता है।

इस परम वैभवमय गिरिराजकी पूँछमें जैसे पूँछडी गॉव है, इसी प्रकार इसके शिरोभागमे श्रीराधाकुण्ड एवं कृष्णकुण्ड सरोवर हैं। ये कुण्ड विलक्षण हैं। सर्वथा सच्चिदानन्दमय होनेसे यहॉकी किसी वस्तुकी सीमा नहीं बॉधी जा सकती। किसीका रूप-रंग निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। लीलाचिन्तक भक्तके अधिकारानुसार ही इनका रूप-रग प्रकाशित होता है। यह सब प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीकृष्णकी कृपेच्छाके अनुसार ही भक्तके मानसमे व्यक्त होता है। एक ही राधाकुण्ड एक ही समय लीलामें चार योजनका भी संभव है, एवं दूसरे ही क्षण चौथाई कोस आधे मीलमें ही परिमित हो सकता है। यहॉकी सभी वस्तुएँ चिन्मय हैं।

आओ चलें ! अब पू.गुरुदेवकी निवासकुटीके बाडेके पूर्वोत्तर दिशाकी ओर एक मैदान है, उसमें कुछ लीची, अमरूदादिके वृक्ष हैं। वैसे प्राकृत

जडजगत्मे तो यह पू.गुरुदेवकी कुटियाके पार्श्वकी एक खाली जमीन है। इसके सामने ही गीतावाटिकाकी सीमा दीवाल है। किन्तु भाई, तुम-हम जड़ प्राणियोंके लिये ही यह एक खाली जमीन भले ही दिखे। इस जमीनको पू. गुरुदेवकी ऑखोंसे यदि हम देख पावें तो तुम्हें-हमें वहॉ मध्यमें राधाकुण्ड-कृष्णकुण्ड एवं चतुर्दिक् श्रीयुगल-सेवापरायणा अष्ट सखियोके अपने-अपने अष्ट कुञ्ज दृष्टिगोचर हो उठेंगे।

महाभावस्वरूपा श्रीराधाजीकी ये अष्ट सखियॉ हैं— १.श्रीललिता, २. श्रीविशाखा, ३.श्रीचित्रा, ४.श्रीइन्दुलेखा, ५.श्रीचम्पकलता, ६.श्रीरंगदेवी, ७. श्रीतुंगविद्या, ८.श्रीसुदेवी।

अब ऊपरसे देखनेमें जो एक निरर्थक जमीनका खाली टुकड़ा है, उसमें पूगुरुदेवने कैसा परम मंगलमय भावससार बनाया है। इस भूखण्डकी उत्तर दिशामें श्रीललिताजीका ललिताकुञ्ज है। ईशान कोणमें विशाखाकुञ्ज, पूर्वदिशामें चित्राकुंज, आग्नेयकोणमें इन्दुलेखाकुञ्ज, दक्षिण दिशामे चम्पकलता-कुञ्ज, नैऋत्यकोणमें रगदेवीकुञ्ज, पश्चिम दिशामें तुंगविद्याकुञ्ज, और वायव्यकोण कोणमें सुदेवीकुञ्ज है।

आओ! अब मैं तुम्हे मेरे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके तत्कालीन भावदेहका किंचित् परिचय दे दूँ। भविष्यमे ८ अप्रेल, १९५७ ई.को तो वे भगवती महाभावस्वरूपा श्रीराधारानीमे एकमेक हो जावेंगे, किन्तु वर्तमानमें उनका भावरूप क्या है , उसका किंचित् परिचय तो पाठकगण प्राप्त कर लें।

यह अखण्ड नित्य सत्य है कि नित्य निकुंजेश्वरी महाभावस्वरूपा श्रीराधारानीका महाप्रेमसिन्धु नित्यनिकुंजेश्वर रसराज प्रियतम श्रीकृष्णको असीम सुख प्रदान करनेके लिये अनवरत लहराता रहता है। इस नित्योच्छलित महाभावसिन्धुमे ऊँची-नीची, छोटी-बडी विविध भावतरंगे सदा उठती रहती हैं। इनमे आठ दिशाओसे आठ भावतरंगें मुख्यतया उठती हैं। इन अष्ट तरंगोमें एक है, खण्डिता महाभावकी तरंग, जो राधाकुण्डके उत्तरी दिशावाले घाट, जहाँ श्रीललिताजीका निकुज है, उस घाटसे उमडती रहती है।

खण्डिता भाव जैसाकि पू.गुरुदेवने हम सभीके सम्मुख अनेकों बार उल्लेख किया है, उसे ही यहॉ वर्णित किया जा रहा है। संकेतका अतिक्रमण करनेवाले प्रियतम कान्तको अति विलम्बसे आते हुए देखकर जो प्रियतमा कान्ता रोषाकुला और दीर्घनिश्वासत्यागिनी होती है, उसे खण्डिता कहते हैं।

श्रीललिता खण्डिता भावकी मूर्तिमान स्वरूपा हैं। खण्डिताभावकी मूर्तिमान स्वरूपा श्रीललिताजी, 'श्रीकृष्णाह्लादिनी श्रीराधाके सच्चिदानन्दमय दिव्यवपुमें अधरोंकी लालिमाके रूपमें नित्य विराजित रहती हैं। वह अरुणा–
धरविलासिनी लालिमा ही सर्वजन सुखविधायिनी विविध और विस्तृत लीलामें श्रीललिता स्वरूपसे प्रकट होकर सम्पूर्ण लीलाविहारका संयोजन–संपादन–संचालन करती है। भगवती नित्यनिकुजेश्वरी श्रीराधाके मंजुल अधरोकी अनुपम अरुणिमा ही श्रीललिता स्वरूपसे रंगमंच–सूत्रधारिणी बनकर कुज–निकुंजके विशद विपुल लीलोल्लासको सतत उच्छलित–संवर्धित करती रहती हैं।

जब यह भावसिन्धु और अधिक उत्ताल तरंगोमें उमड़ता है, तब श्रीललिता ही मजुश्यामामंजरीके रूपमें प्रकट हो जाती है। श्रीमंजुश्यामाजी श्रीराधाकिशोरीकी छोटी सहोदरा बहिन हैं। इनका शास्त्रीय नाम अनंगमंजरी है। यह छोटी बहिन स्वभावसे कुछ चंचल है और कुछ मुखर है। श्रीराधा-किशोरी एवं श्रीश्यामसुन्दर दोनोकी ही यह अत्यन्त प्रीतिपात्री है। दोनों ही प्रिया-प्रियतम सदैव श्रीमंजुश्यामाके माध्यमसे एक-दूसरेको सुख प्रदान करनेका विधान रचते हैं। दोनोंको ही श्री मंजुश्यामाजीमें अपनी-अपनी विवशताका एक सुन्दर समाधान दिखलाई देता है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा इसी भावकी मूर्तिमान प्रतिमा हैं। यही उनकी वर्तमानमें भावमूर्ति है।

महाभावस्वरूपा श्रीबृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके हृदयमें अपार व्यथा है कि मैं अपने प्राणप्रियतम श्रीकृष्णको किंचित् भी सुख दे ही नहीं सकी। यद्यपि श्रीराधाके जीवनका एक-एक श्वास, उनके हृदयका एक-एक स्पन्दन, उनकी वाणीका एक-एक शब्द, उनकी क्रिया और व्यवहारका एक-एक व्यापार, सर्वत्र एवं सर्वदा ही सर्वथा-सर्वथा अपने हृदयाराध्य प्राणवल्लभ नीलसुन्दरके लिये ही होता है, इसके उपरान्त भी वे अहर्निश अनवरत यही सोचती रहती हैं कि मुझ अकिंचनाके द्वारा हाय ! मेरे प्राणवल्लभका सुखविधान कैसे और कब हो पावेगा ? श्रीबृषभानुनन्दिनी परम खिन्नताकी दारुण भावनासे नित्य निरन्तर भावित रहती है कि मेरे द्वारा मेरे प्रियतमकी कोई सेवा कभी नहीं बन पायी। परम खिन्नताकी भावनासे सदैव अभिभूत रहनेके फलस्वरूप उनके आन्तरिक क्रन्दनमे कभी विराम आता ही नहीं। उनके अन्तरकी इस अनन्त व्यथाके आधारपर ही श्रीराधारानीका जीवन सभी आचार्य अनन्त क्रन्दनमय कहते हैं।

यही व्यथा रसराज प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनके हृदयमें परिव्याप्त रहती है। राधा-प्राणवल्लभ महामहैश्वर्यमय हैं, फिर भी प्रेम-परवश हुआ उनका व्यथित हृदय चीत्कार कर उठता है कि मैं अपनी प्राणप्रियाको तनिक सुख नहीं दे पाया। हृदयकी व्यथाकी इस पराकाष्ठाका एक विन्दु ऐसा भी आ जाता है, जब दोनों प्रेमी हृदयोंके हाहाकारका दारुण स्वरूप प्राणान्तक सीमाका संस्पर्श करने लगता है और तब दोनोंके करुण हाहाकारके मिलन विन्दुपर अघटन-घटना-पटीयसी लीलामहाशक्ति योगमायाके विधानसे एक नवीन परिस्थितिका निर्माण हो जाता है। श्रीबृषभानुनन्दिनीके दृष्टिपथपर अपनी सहोदरा भगिनी मजुश्यामा आती हैं। उसे देखते ही श्रीबृषभानुनन्दिनीके हृदयमें एक आशाकी किरण उद्भासित हो उठती है कि मैं तो प्रियतमको सुख नहीं दे सकी, कदायित् इस मेरी छोटी भगिनीके माध्यमसे प्रियतमको सुखदान कर सकूँ। ठीक ऐसी ही प्रबल आशाका उद्भव प्रियतम श्रीकृष्णके अन्तरमे भी होता है। श्रीमञ्जुश्यामाको देखते ही उनके मनमें भी ये ही भाव उमड उठते हैं कि मैं तो अपनी प्रियाका जीवनपर्यन्त ही सुखसम्पादन नहीं कर सका, किन्तु एक संभावना दिखाई देती है कि कदाचित् इसके माध्यमसे मैं अपनी प्राणप्रियाको सुखी बना सकूँ । ज्योंही दोनोंके हृदयमे हाहाकारकी चरम सीमा उपस्थित होती है, उस सीमाके मिलन-विन्दुपर श्रीमजुरानी दोनोंके दृष्टिपथपर आती हैं और तत्क्षण ही दोनोंके प्रीतिविगलित हृदयमें बलवती आशाका संचार हो उठता है। श्रीमजुरानीके माध्यमसे प्रिया श्रीराधा और प्रियतम श्रीकृष्ण दोनों ही एक दूसरेको सुखदान कर सकनेकी भावनासे भर उठते हैं। जब बीज पल्लवित होता है तो फल तो लगते ही हैं। फिर तो दोनोंमें सुखदानकी दिव्यलीलाका मधुर विलास आरभ हो जाता है। दोनों ओर सुखदानके लिये होड़-सी मच जाती है।

श्रीमजुरानीके माध्यमसे दोनों एक दूसरेको सुखदान कर पाते हैं। ऐसा इसलिये संभव होता है क्योंकि श्यामवर्णा मजुरानी प्रिया-प्रियतम, भानुदुलारी एव ब्रजेन्द्रतनय दोनोंका युगलित रूप है। नीलमकी नकबेसरके रूपमें श्रीमंजुरानी श्रीप्रियाके नासिकाग्र भागमें सदैव विराजित रहती है। श्रीप्रियाके ऐसे अंगमें श्रीमजुश्यामाजीकी अवस्थिति ऐसे स्थलपर है, जहाँ वाम श्वासका और दक्षिण श्वासका, दोनोका सुखद स्पर्श सदा-सर्वदा उन्हें प्राप्त होता रहता है। यहाँ सदैव ध्यान रहे कि श्रीराधारानीका दक्षिण श्वास श्रीकृष्ण हैं और वाम श्वास

और वामश्वास श्रीराधारानी प्राणप्रिया स्वयं हैं। इसीलिये उनके युगलित स्वरूपकी परिचायिका मंजुश्यामा हैं।

अब इस महाभावसागरकी लहरें प्रिया-प्रियतम युगलकुण्डके उत्तरी दिशासे जब और अधिक विकसित होतीं, उछाल लेती हैं, तब मंजुश्यामा मजरी ही रूपमञ्जरीके रूपमें परिणत हो जाती हैं।

कृष्णप्रिया श्रीराधाके अंग-प्रत्यंगका विलक्षण लावण्य ही रूपमजरीके स्वरूपसे युगल सेवापरायण है। ये रूपमंजरी ही पू.गुरुदेवकी प्रथम भावदीक्षाकी प्रथम गुरु रही हैं। निकुञ्जलीलामें श्रीरूपमजरीका विकसित रूप श्रीलवगमंजरी हैं। प्रिया श्रीराधाके मुखका सुवास ही लवंगमंजरीके रूपमें मूर्तिमान होता है। श्रीलवगमजरीका ही उत्ताल उच्छलन मोदिनीमंजरीके रूपमें अभिव्यक्त होता है। क्रन्दनमयी प्रिया राधारानीकी अश्रुकणिकाएँ ही मोदिनीमंजरीके रूपमें मूर्तिमान हो उठती हैं। इससे भी जब उच्चतर तरंग उत्थित होती है तो इन श्रीमोदिनीमजरीका भी एक और परिशुद्ध भावस्वरूप माधवीमंजरीके रूपमें साकार हो उठता है। नित्य-निकुंजेश्वरी श्रीमती राधारानीके वक्षोजोंको आच्छादित करने वाली जो कचुकी है, उसी कचुकीके बन्दोंका जो चिह्न उनके वक्षस्थलपर उभर आता है, वह बंन्दचिन्ह ही माधवीमंजरीके रूपमें साकार होता है। इस प्रकार महाभावस्वरूपा श्रीराधाके अद्भुत महाभावसिन्धुकी खण्डिता भावमयी तरंगें जब ललिताकुंजसे सखी ललितारानीको माध्यम बनाकर लहराती हैं, तब इन अतिशय मगलमयी छः उर्मियोंके शुभ दर्शन होते हैं।

पू.गुरुदेवने ये सभी बाते तभी उल्लेख की थीं जब अपनी पूजा-विसर्जनके कालमें अपनी पूजाका यह महाभावात्मक प्रकरण प्रधानतया श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको उन्होंने सौंपा था। वैसे उसमे किंचित् भागीदार श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवाल भी थे, परन्तु पू.गुरुदेवसे जुडे तेरह सौसे अधिक कुछ लोगोको प्रधानतया श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी ही प्रतिदिन परम मगलमयी रस एव भावके स्वादिष्ट सरस पक्वान्नों और व्यञ्जनोसे भरी थाली परोसनेका कार्य किया करते थे। पू.गुरुदेवके रस-परिवारकी एक संक्षिप्त झाँकी यहाँ दी जा रही है। उनकी उनचास तो बहनें थीं, एवं बहत्तर भाई थे। माता-पिता, सास-ससुर, ननदें आदिका लेखा जोखा तो अलग ही था। इन बहत्तर भाइयोंमें श्रीदामादि गोपोंके वर्गके बृषभानुपुरके भाई भी थे और श्रीकृष्णके सखावर्गके नन्दभवनके भाई भी थे। इसी प्रकार पू.गुरुदेवकी अनेक माताएँ थीं जिनमें

कीर्त्तिदादि बृषभानुपुरकी, मातृवर्गकी स्त्रियाँ एवं यशोदादि नन्दभवनकी श्रीकृष्णमाताएँ भी सम्मिलित थीं। पू.गुरुदेवके पितृवर्गके भी असंख्य गोप थे, जिनमें बृषभानुजी एव उनके बन्धु, साथ ही बृषभानुपुरके पितृवर्गके गोप एक ओर एवं नन्दरायजी एव नन्दग्रामके पितातुल्य गोप दूसरी ओर थे। इस प्रकार अति बृहद् पू.गुरुदेवका भाव-परिवार था।

पू.गुरुदेवके इस भाव-परिवारकी छाया जिन-जिन व्यक्तियोंपर पड़ी थी एवं पू.गुरुदेवके प्राणाराध्य श्रीकृष्णने जिन-जिन महाकृपापात्र व्यक्तियोंका चयन इस भाव-परिवारके पात्रोंके रूपमे अनुमोदित कर दिया था, ऐसे तेरह सौ एवं कुछ लोग उस समय सन् १९५६ में पू.गुरुदेवकी अन्तरंग आत्मीयताकी परिधिमें थे। पूगुरुदेव तो इन सभी व्यक्तियोकी स्मृति करके उन्हें प्रतिदिन चार बार अपने-अपने लीलाराज्यके स्वरूपोंमें प्रतिस्थापित करते थे, कुछ एकको तो सैकडों वार ही जब-जब उनकी स्मृति किंवा सम्मुखसेवा होती थी, उन्हे उनके स्वरूपभावके रूपमें ही वे अपने पार्थिव नेत्रोंसे भी देखते थे।

उदाहरण स्वरूप मैं श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको ही लेता हूँ। इन महाभाग्यवान् कृपापात्र श्रीगोस्वामीजीकी पू.गुरुदेवके लीलाराज्यमे श्यामला मंजरीके रूपमे परिणति नियत थी। इन श्यामलामंजरीका क्या भाव था, इसपर किंचित् विस्तार डाल रहा हूँ।

पू.गुरुदेवके भावानुसार श्रीराधाकुण्ड एव श्रीकृष्णकुण्डके आग्नेय कोणमें श्रीइन्दुलेखाजीका कुंज है। श्रीइन्दुलेखाजी प्रोषितभर्तृका भावकी मूर्तिमान् स्वरूपा हैं। जिसका प्रियतम (कान्त) दूर देशमें हो, उस वियुक्ता कान्ताको प्रोषितभर्तृका कहते हैं। प्रियतमप्राणा श्रीराधारानीके पयोधरोंपर शोभायमान नखक्षत-छबि ही लीलाराज्यमें श्रीमती इन्दुलेखाजीके रूपमें विराजित हैं।

यहाँ एक बात सावधानीके रूपमें पाठकोंके सम्मुख व्यक्त करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि श्रीराधाकुण्ड और कृष्णकुण्डके चतुर्दिक् जो प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्णकी लोकातीत मधुरलीला हो रही है, उस मधुर भावकी लोकोत्तर लीलामें प्रकर्ष रसोत्कर्षके लिये सदोषताका झीना-सा एक आवरण, मात्र अवश्य है। लीला-विहारके वर्णनमे जब ऐसी दोषपूर्ण कोई शब्दावली आती है, तो पाठकोको उसमे निहित प्राकृत अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये। शब्द तो प्राकृत हैं, अतः उनका अर्थ स्वभावतः प्राकृत ही ग्रहण होगा परन्तु वास्तविकता यह है कि यह दिव्य लीला अत्यन्त निर्दोष, नित्य अभिनव,

सदा सुन्दर और बाह्याभ्यन्तर पूर्ण-पूर्णतया परम पवित्र है। शब्दोंके प्राकृत अर्थोंसे देखनेमात्रके लिये सदोष है, किन्तु सदैव पूर्णतया निर्दोष यह मधुर लीला पूर्ण पवित्र है।

उदाहरण-स्वरूप समझलें – ऊपरके वाक्यमें श्रीराधारानीके पयोधरोंमें शोभायमान नखक्षतोका वर्णन आया है। अब इन पयोधरोंमे नखक्षत शब्दावलीके अर्थरूपमे तो यही कोई अवधारणा करेगा कि यह नखक्षत नरनारीके परस्पर विलाससे उत्पन्न कुत्सित रतिचिन्ह ही होगा। किन्तु यथार्थ यहाँ सर्वथा अलौकिक है।

पाठकोको यहाँ सदैव ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि प्रिया-प्रियतम भगवान् श्रीराधाकृष्ण **'छिति जल पावक गगन समीरा'** नामक पंचभूतोसे निर्मित देह सर्वथा नहीं हैं। जहाँ ब्रह्मा द्वारा सृष्ट लोकके नियमोंसे अनुशासित मानव-मानवीका शरीर गुणदोषमय पांचभौतिक होता है, इन प्राकृत शरीरोंमें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिजन्य अनेक क्लेशात्मक द्वन्द्व भरे रहते हैं। इनमें रक्त-मांस, मल-मूत्र, कफ-पित्त, अस्थि-मज्जा एवं वीर्यकी उत्पत्ति होती है; एव ये गुण-दोषमय विकारपुञ्ज होते हैं; वहीं भागवती प्रिया-प्रियतमके विग्रह सच्चिदानन्दमय, चिन्मय, विभु एवं गुणातीत, दोषातीत, नियमातीत, लोकातीत हैं। सभी शास्त्र एकमतसे कहते हैं कि जो जन भगवान्‌की चिन्मय रसलीलामें प्राकृत भाव करते हैं, एवं प्रिया-प्रियतमके विहारको नर-नारीका मिथुन विलास समझकर चिन्तन करते हैं, वे घोर नारकीय यंत्रणाओंके भागी महदपराधी होते हैं।

अतः कृष्णगतप्राणा प्रिया राधारानीके पयोधरोंपर शोभायमान नखक्षत चिह्नके रूपमें यदि सत्य देखा जाय तो प्रेमपुत्तलिका भगवती श्रीमती राधारानीके अन्तरका प्रगाढतम पावनतम कृष्णानुराग ही बाहर उभर आया है। वस्तुतः सत्य-सत्य इसे समझनेके लिये तो दिव्य भावचक्षु ही अपेक्षित हैं जो मात्र प्रियतम श्रीकृष्णकी कृपासे ही प्राप्त होने संभव हैं।

कहनेका यही अर्थ है कि आग्नेयकोणमें महाभावसिन्धुकी प्रोषितभर्तृका भाववाली जो तरंग विशदरूपसे उद्वेलित होती है, उसीकी साकार स्वरूपा हैं श्रीइन्दुलेखाजी और इनका विकसित उच्छलित स्वरूप हैं श्रीश्यामलामजरी, जिनमे श्रीगोस्वामीजीकी परिणति नियत है। इनकी उत्पत्ति प्रिया राधारानीके कृष्णवर्णीय स्तनाग्रभागसे हुई है। श्रीश्यामलामंजरीका ही पुनः विकसित रूप केलिमंजरी है जो प्रिया श्रीराधारानीके बायें हाथमें अनामिका अँगुलीसे प्रकट

होती हैं। केलिमंजरीका उच्छलित स्वरूप श्रीविलासमंजरी हैं जो प्रियाके चरणोंके दोनों अगुष्ठके पार्श्वकी अँगुलीमें स्थित बिछिया नामक आभूषणके रूपमें प्रियासे नित्य संलग्न रहती हैं। श्रीविलासमजरीके उत्तरोत्तर उच्छलनसे श्रीसौदामिनीजी प्रकट होती हैं, जो प्रियाके भालपर स्थित मणिसहित चूडामणिचन्द्रिकाके रूपमें प्रियासे नित्य संयुक्त रहती है। पू.गुरुदेवकी जन्मदात्री माता अधिकारिणी देवीकी परिणति इसी सौदामिनी मंजरीके रूपमें ही हुई है। सौदामिनीका उच्छलित स्वरूप हंसिनी है जो प्रियाकी बिछिया वाली दोनों अँगुलियोंको छोड़कर चरणोंकी शेष अँगुलियोंकी अँगूठियोंके रूपमें प्रिया श्रीमती राधारानीसे नित्य संलग्न रहती हैं।

पू.गुरुदेवकी पूजाका यही स्वरूप रहा करता था कि गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी जब भी पू.गुरुदेवके सम्मुख आते, चाहे प्रातः दर्शनार्थ चरणवन्दनाके लिये आवें, पू.गुरुदेव तो उनके रूपमें श्यामलामंजरीको ही देखते थे। एक बार ज्योंही पू.गुरुदेवको श्रीगोस्वामीजी श्यामलामंजरीके रूपमें दिखे कि वे उन्हें अपनी अग्रजा भगिनीके स्तनाग्रभागकी कृष्णकुचकर्णिकामें प्रतिस्थापित कर देते थे। वैसे प्रतिदिन ही निरे ब्राह्ममुहूर्तमें पू.गुरुदेव जब निभृतनिकुंजमें मंजुश्यामाके रूपमें अपनी भगिनी श्रीराधाकी बेसरसे प्रकट होते थे और प्रिया-प्रियतमके मिलित युगनद्ध स्वरूपके दर्शन करते हुए उनमें प्रकट रतिचिह्नों – नखक्षत, दन्तक्षतादिका चन्दन-कस्तूरीपंकके लेप द्वारा दुराव करते थे, उस समय अपनी अग्रजा बहिनके कंचुकी विनिर्मुक्त स्तनमण्डलका दर्शन करते समय उन्हें कुचकर्णिकाके रूपमें श्यामला मंजरीका चिन्तन होता ही था, बस उसी समय वे गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीको इस मंजरीभावमें मानसिक रूपसे एकात्म कर देते थे। इसी प्रकार स्नानके पूर्व पीठी-विलेपनके समय, तैलमर्दनके समय, स्नानके समय, स्नानान्तर वस्त्र-विमोचनके समय, फिर वस्त्र-धारणके समय, श्रृंगारके समय, पू.गुरुदेव भगवती श्रीराधाकी अनुजा मंजुश्यामाके रूपमें अपनी बड़ी बहनके स्तनोंकी कुचकर्णिकाके जब-जब दर्शन करते थे, वहीं वे श्यामला मंजरीके रूपमें श्रीगोस्वामीजीको अपनी अग्रजा श्रीराधारानीमें एकात्म कर देते थे।

यह तो एक उदाहरण श्रीश्यामलामंजरीके रूपमें श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके प्रति की हुई पू.गुरुदेवकी अर्चनाका हुआ पू.गुरुदेव तो प्रतिदिन ही अपनेसे जुडे तेरह सौ व्यक्तियोंको इसी प्रकार अनेकों बार लीलापरिकरोंके

रूपमें स्मरण करते थे, फिर उन्हें प्रियाप्रियतमके किसी-न-किसी अंगमें एकाकार कर देते थे।

पू.गुरुदेवकी तो अष्टप्रहर समग्र दिवस-निशा अनवरत लीला-अनुभावना होती ही रहती थी। इस लीला-अनुभावनामें जब-जब विदूषक सखा मधुमंगलका लीलारगस्थलमें प्राकट्य होता, पू.गुरुदेव मधुमंगलके रूपमें श्रीशिवनाथजी दुबेको ही देखते थे। बस, पू.गुरुदेवके सम्मुख चाहे श्रीशिवनाथ दुबे आवें, बैठें, वार्त्ता-गप करें, पू.गुरुदेव तो शिवनाथजीका प्राकृत शरीर न तो देखते थे, न ही उनकी प्राकृत वार्त्तामें मनोयोग करते थे, वहाँ वे स्वयं तो मंजुश्यामा सखी होते, और उनके पास बैठा होता मधुमंगल, उनके प्राणवल्लभ प्रियतम श्रीकृष्णका प्यारा सखा।

उन्हें अ.सौ. सावित्री बाई श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री दिखती ही नहीं थी, उन्हें तो उनके रूपमें मधुमतीमजरी ही दृष्टिगोचर होती थीं। उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल दिखते ही नहीं थे, उन्हें तो उनके स्थानपर विशाखा देवी ही दिखती थीं।

पू.गुरुदेवकी विलक्षण भावदशा थी। उनकी अर्चनाका प्रारम्भ होते ही उनका समग्र देश परिवर्तित हो जाता था, उनका देह परिवर्तित हो जाता था। पू.गुरुदेवके देहके कण-कणसे एक परम दिव्य चिन्मयी ज्योति झरती रहती थी। इसी प्रकार श्रीपोद्दार महाराजकी अ.सौ. धर्मपत्नी (पू.गुरुदेवकी धर्ममाताजी)-(भगवती त्रिपुरसुन्दरी), श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी (श्यामला मजरी), श्रीपरमेश्वर प्रसादजी फोगला (ललिता सखी), श्रीमती सावित्रीबाई फोगला (मधुमतीमजरी) श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवाल (विशाखा सखी),श्रीराधेश्याम पालड़ीवाल (अशोक मजरी)आदि कृपापात्रोके देह एवं उनका देश, काल सभी तो पू.गुरुदेव अपनी कृपाराशिसे चिन्मय बना देते थे। पू.गुरुदेवकी दृष्टिमें जैसे ये सभी आते ही परम चिन्मय हो जाते थे, वैसे ही उनकी दृष्टिमें आनेवाले सभी तेरह सौ व्यक्ति भी ब्रजराज्यके लीलापरिकर हो जाते एवं पूर्ण चिन्मयतामें डूब जाते थे। इन सभी कृपापात्रोंके अंगों-अंगोंसे ही नहीं, अणु-अणुसे ऐसी चिन्मयी उज्ज्वल आभा प्रकट होती थी जो प्राकृत जगत्‌के कोटि-कोटि सूर्योमें भी नहीं होती। साथ ही वह इतनी शीतल सुखद होती थी कि प्रपचके कोटि कोटि चन्द्रोकी पुञ्जीभूत किरणोंसे भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। पू. गुरुदेव गोरखपुर नगरकी गीतावाटिकामें रहते हुए भी, प्राकृत

जगत्में देहँधारण किये रहते हुए भी, इस जगत्से सर्वथा अतीत अनन्त असीम दूर रहते थे। उनके देशमें सूर्य चमकता था, किन्तु वह प्राकृत जगत्का सूर्य नहीं था। पू.गुरुदेवके चिन्मय लीलाजगत्का सूर्य प्राकृत सूर्यसे परम विलक्षण, अत्यन्त सुन्दर, महाशोभन सूर्य था। पू.गुरुदेवके चिन्मय भावजगत्में भी एक पीयूषवर्षी चन्द्र था, परन्तु वह प्राकृत चन्द्र नहीं था – प्राकृत चन्द्रसे सर्वथा भिन्न, सौन्दर्यपुञ्ज, अतिशय सुषमाशाली, परम विलक्षण अनिर्वचनीय शोभाशाली दूसरा ही चन्द्र था। पू.गुरुदेवके देशका भी सुनील गगन था, उसमें मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु असंख्य तारकपंक्ति थी, परन्तु वे प्रापंचिक भौम, बुध आदि सर्वथा नहीं थे – इनसे सर्वथा पृथक् परम रमणीय, तेजोमय, चिन्मय थे।

ओह ! लेखककी कल्पनामें वह शब्दराशि ही नहीं आ रही जो पू. गुरुदेवकी विहार-भूमिके गीतावाटिकामें अवतरणको व्यक्त कर पावे। इसी प्रकार जो यहाँ इस मलिन कामपूर्ण पापमय तेरह सौ प्राकृत व्यक्तियोंमें पू. गुरुदेवके लीलाराज्यके चिन्मय पात्रोंके अवतरणकी पवित्रता, सौन्दर्यराशि एवं चिन्मयताको अभिव्यंजना प्रदान कर सकें। पू.गुरुदेवकी ओर-छोरविहीन कृपा-महिमाको भाषा दी जा सके, यह सभव ही नहीं है।

कोई दार्शनिक यहाँ जिज्ञासा कर सकता है, उसे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी नक्षत्र, जल, वायु, गगन नाम सुनकर कदाचित् शका खडी हो सकती है कि आप श्रुतिविरुद्ध बात कैसे करते हैं जबकि श्रुतियाँ कहती हैं –

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
**तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।**(कठ. २।२।१५ )

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र एवं न तारकसमुदाय ही प्रकाशित होता है और न विद्युत् ही प्रकाश करती है। फिर वहाँ अग्निका प्रकाश तो संभव ही कहाँ ? क्योंकि उस नित्य प्रकाशसे ही तो इन सूर्य, चन्द्र, तारकों आदिमें प्रकाशका संचार होता है, उसके आंशिक प्रकाशको पाकर ही तो ये प्रकाशित हो रहे हैं, सारा जगत् ही उसीके क्षुद्रतम अंशसे ही प्रकाशित हो रहा है। श्रुति प्रतिपादित यह चिन्मय धाम भी पू.गुरुदेवकी चिन्मय ब्रजेन्द्रपुरीसे पृथक् सत्ता नहीं रखता। अवश्य ही इस श्रुतिप्रतिपादित ज्योतिर्मय धाममें जो भाग्यवान् एक बार निमग्न हो जाता है, वही इसके पश्चात् ही यह अनुभव कर पाता है कि पू.गुरुदेवके लीलालोककी ब्रजेन्द्रपुरीमें सूर्य, चन्द्र आदि हैं तो

परम सत्य, परन्तु वे ग्रहगण प्राकृत ग्रहोंसे सर्वथा भिन्न हैं–
**प्राकृतेभ्यो ग्रहेभ्योऽन्ये चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः (श्रीभागवतामृतम्)**

पू.गुरुदेवके भावराज्यकी ऊपर वर्णित कुंज, निकुंज, प्रासाद, गिरि, निर्झर, सरोवरों, साथ ही गोप, गोपी, सखा, सखियोंका कोई इत्थंभूत रूप नहीं था, इतना है, ऐसे है, ऐसे नहीं है, इस प्रकार इनके लिये कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती थी। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके भावराज्यकी एक-एक वस्तु स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनकी स्वरूपशक्तिकी परिणति थी, इसीलिये ये सभी पूर्णतया नियममुक्त, सर्व-तत्र-स्वतंत्र, अमर्यादित थे। पू.गुरुदेव स्वयंकी परिणतिको ही ले, वे कुछ काल श्रीराधारानीकी प्रिय सारिका रहे, फिर मंजुलीलामंजरीके भावमे रहे, फिर प्रिया श्रीराधारानीकी अनुजा मंजुश्यामा भावमें रहे और तब स्वय भगवती श्रीमती राधारानीके रूपमें चिर-प्रतिष्ठित होगये। इसी प्रकार उनकी जन्मदात्री माताकी भी अनेक परिणितियाँ हुईं, कभी माता पार्वतीके रूपमें, कभी ब्राह्मणी भागुरि ऋषिकी पत्नी, तदनन्तर श्रीराधारानीके मस्तकपर नित्य विराजित रहनेवाली सौदामिनी नामक अलंकारके रूपमें उनकी परिणति हुई । इसी प्रकार अ.सौ. सावित्रीबाई फोगला (श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री)पहले मधुमतीमंजरी रहीं और तब पू.गुरुदेवके स्वयंके राधाभावमे प्रतिष्ठित होनेपर उन्हें पू.गुरुदेवका पूर्वभाव मंजुश्यामा पद प्राप्त हो गया। पू.गुरुदेवका भावराज्य जडजगत् नहीं होनेसे वहाँका प्रत्येक व्यक्ति, वहाँकी प्रत्येक वस्तु, एवं परिस्थितिके रूप, रंग, आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा, भाव आदिकी कोई इयत्ता नहीं थी। पू.गुरुदेवके भावलीलाराज्यके सभी पात्र, यहाँतक कि वहाँकी पृथ्वीका एक लघुतम रजकण भी उनके प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रको अप्रतिम सुख देनेके लिये उनकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिकी योजनाका निरन्तर अनुसरण करता रहता था। लीलामहाशक्ति प्रिया-प्रियतमकी एक मात्र अनन्त भावसुख-विधात्री हैं। अतः उनकी जब जैसी लीलाका प्रकाश होना होता था, वे सब उसीके अनुरूप हो उठते थे। वहाँके जितने भी लीलापरिकर थे, उन सभीका अस्तित्व ही प्रिया प्रियतमकी लीलाको मधुरातिमधुर बनाना था। इनमें स्वयमे रसपानकी लालसाका सर्वथा अभाव होकर, रसदान करनेकी ऐसी अतीव इच्छा थी, जिससे वे भाँति-भाँतिके उपकरणोंसे अपने प्रिया-प्रियतमको क्षण-क्षणमें आनन्दसिन्धुमें निमग्न करनेके लिये न जाने कितनी बार अपना रूप-परिवर्तन, अपने अस्तित्वका अदर्शन आदि अतिशय चमत्कार कर देनेवाली

चेष्टाएँ करते थे।

पू.गुरुदेवने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको अपने सभी लीलापरिकरोंके नाम, उनके स्वरूप, वय, स्वभाव और उनकी सेवाओका अति संक्षेपमें परिचय कराया, साथ ही उन्हें यह भी बताया कि उनसे जुड़े तेरह सौ एवं कुछ व्यक्तियोंमें किन-किन व्यक्तियोंकी किन-किन पात्रोंमें परिणति होने वाली है। पू. गुरुदेवने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे यह भी आशा की कि वे इन व्यक्तियोको वर्गबद्ध करके कम-से-कम दिनमें एक बार तो अवश्य ही अपने-अपने स्वरूपभूत लीलापरिकरोंमें समर्पित कर दें। और उनका यह समर्पण-कर्म उनकी जीवन-व्यापी साधना बन जावे।

पू.गुरुदेवने अपने सम्पर्कमें आये तेरह सौ एवं कुछ व्यक्तियोंमेंसे अधिकाशको तो श्रीकृष्णभावमें ही समर्पित किया हुआ था। शेषमेंसे अनेक सखावर्गके भावके थे।

पू.गुरुदेवने अपने सखावर्गके लीलापात्रोंको उनके प्रधान भावोंके अनुसार अष्टभावोमें विभाजित कर रखा था। वे आठ भावप्रधान वर्ग निम्न थे। (१) सुहृद भावप्रधान सखा (२) समायु वर्गके सखा (३) प्रिय सखावर्ग (४) प्रिय नर्मसखावर्ग (५) विदूषक सखावर्ग (६) विट सखावर्ग (७) चर एवं दूतसखावर्ग (८) चेट वर्गके सखा जो नियत कार्य करने वाले सेवक थे।

(१) सुहृद्भाव प्रधानता वाले वर्गमें श्रीकृष्णके वे गोपसखा हैं, जो आयुमे श्रीकृष्णसे बडे हैं। इनपर यशोदा मैया अपने लालकी रक्षाका भार डाले रखती हैं। ये निम्न हैं – (१) बलभद्र (श्रीबलरामजी) (२) सुभद्र (३) भद्रवर्धन (४) मण्डलीभद्र (५) कुलवीर (६) गोभट (७) महाभीम (८) सुरप्रभ (९) विजयाक्ष

इनमें प्रमुख श्रीबलरामजी ही सदैव रहते हैं और जब किसी कारणवश श्रीबलरामजी गोचारणके समय अनुपस्थित होते हैं तो उस समय इस वर्गका नेतृत्व विजयाक्ष करते हैं। इन उपरोक्त सखाओका मुख्य दायित्व श्रीकृष्णके साथ रहकर उनकी रक्षा करना होता है। श्रीयशोदामैया द्वारा दायित्व देकर ये श्रीकृष्णके वनमें सरक्षक बनाये गये हैं।

अब दूसरी श्रेणी उस सखावर्गकी आती है जो श्रीकृष्णके या तो समायुके हैं, अथवा उनसे कुछ वयमें छोटे हैं। ये श्रीकृष्णके सदाके साथी हैं, इनमें से कुछ तो श्रीकृष्णके साथ नन्दभवनमें ही खाते-पीते, सोते हैं। इनमे प्रधान है वरूथप और उनके आठ मुख्य सहयोगी हैं – विशाल, वृषभ,

ओजस्वी, अम्बि, देवप्रस्थ, मन्दार, मणिबन्ध एवं कुसुमापीड़।

तीसरी श्रेणी प्रियसखावर्गकी आती है, जिनमें प्रामुख्य तो श्रीदामका है एवं उनके सहयोगी निम्न हैं — दाम, सुदामा, वसुदाम, किंकणी, भद्रसेन, अंशुमान, स्तोककृष्ण (श्रीकृष्णके चाचा नन्दनका पुत्र), और पुण्डरीकाक्ष। ये प्रिय सखा श्रीकृष्णके नित्यके क्रीडासगी हैं एवं उनका निरन्तर आनन्दवर्धन करते रहना ही इनका मुख्य कार्य है। ये सभी परम शान्त प्रकृतिके हैं और श्रीकृष्णके परम प्राणरूप हैं । ये सभी समान वय एवं रूपवाले हैं। इन्हें श्रीकृष्ण प्राणोपम प्रेम करते हैं। प्रायः देखा जाता है कि श्रीकृष्ण जो भी भोजन करते हैं, उसमे से प्रथम ग्रासका आधा भाग स्तोकके मुखमें पहले देते हैं, फिर शेष स्वयं अपने मुखमें डालते हैं। स्तोककृष्ण देखनेमें श्रीकृष्णकी प्रतिमूर्ति हैं। भद्रसेन इन सभी सखासेनाके नायक हैं। श्रीदाम श्रीकृष्णके पीठमर्दक सखा हैं।

चौथी सखाओंकी श्रेणी नर्मसखावर्गकी है। इनमे प्रमुख सुबल (श्रीकृष्णके चाचा सन्नन्दके पुत्र ) हैं। इनके सहायक अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल, सनन्दन, विदग्ध एव चन्दन हैं। श्रीकृष्णका ऐसा कोई रहस्य नहीं है जो इन नर्म सखाओंसे गोपनीय हो।

पॉचवी सखाश्रेणी विट सखावर्गकी है। ये श्रीकृष्णकी श्रीमतीराधारानीके साथ प्रणयलीलाके कार्योंमें सदैव सहायक रहते हैं। इनमें प्रमुख तो कडार हैं किन्तु इनका सहयोग करने वाले भारतीबन्धु, गन्ध, वेद, वेध, कुन्द, मन्दार, कलिन्द, एवं कुलिक हैं।

सातवीं श्रेणीके सखा हैं चर एवं दूत। इनमे प्रमुख चतुर नामक सखा हैं और इनके सहयोगी हैं — श्रीमान्, पेशल, विशारद, तुग, वावदूक, मनोरम, नीतिसार एव चारण। ये नाना वेष बनाकर गोपियोमें विचरण करते हैं और उनके मनकी रहस्यभरी बाते पता लगानेमे अति चतुर है। ये कुञ्ज-सम्मिलनके उपयोगी दूत हैं। गोपियोंको सकेतस्थलीमें आमन्त्रण-सन्देश इन्हींके द्वारा श्रीकृष्ण भेजते हैं।

आठवीं श्रेणी उन सखाओंकी है जो नियत काम करनेवाले सेवक हैं। इनमें ताम्बूल, अंगराग, पुष्पालंकरण एव इत्रादिकी सेवा तथा श्रीकृष्णको नाना वेषोमें सजानेकी सेवा प्रमुख है। इनमे दय नामक सखा प्रमुख हैं और इनके सहयोगी हैं — मकरन्द, महागन्ध, प्रेमकन्द, सुमन, कुसुमोल्लास, पुष्पहास,

सुबन्ध एवं सुगन्ध।

इन उपरोक्त बहत्तर सखावर्गमें ही पू.गुरुदेवके जितने भी भाई थे, वे विभाजित थे।

इसी प्रकार पू.गुरुदेवकी जितनी भी बहनें एवं पुत्रियाँ थीं, वे निम्नलिखित उनचास सखियोंकी श्रेणियोंमें आती थीं। इन उनचास सखियोंमें से बारह सखियोंका वर्णन तो इसी अध्यायमें पूर्वतः खण्डिता भाव एवं प्रोषितभर्तृका भावका वर्णन करते हुए ललिता एवं इन्दुलेखाजीके प्रसंगमें किया जा चुका है। शेष सखियोंके भाव निम्न हैं (१) स्वाधीनभर्तृकाभावकी प्रतिनिधि श्रीविशाखाजी हैं। (२) दिवाभिसारिकाभावकी अधीश्वरी श्रीमती चित्रारानी हैं। (३) वासकसज्जा-भावका प्रतिनिधित्व श्रीचम्पकलताजी करती हैं। (४) उत्कण्ठिताभावकी प्रतिनिधि हैं श्रीरंगदेवीजी (५) विप्रलब्धाभावकी प्रधान हैं श्रीतुंगविद्याजी एवं (६) कलहान्तरिता भावकी प्रमुख गोपी श्रीमती सुदेवीजी हैं।

श्रीललिताजीका वर्णन खण्डिताभावके प्रसंगमें पिछले पृष्ठोमे दिया गया है। दूसरी श्रीविशाखाजी हैं। ये श्रीराधारानीके केशोंकी स्निग्धताके रूपमें श्रीमतीसे नित्य संलग्न रहती हैं एवं इनका प्रधान भाव स्वाधीनभर्तृकाभाव है। इनका कुज श्रीराधाकुण्डके ईशानकोणमें है। स्वाधीनभर्तृकाभावकी लहर जब ईशानकोणसे और उत्तुंग एवं परिशुद्ध रूपमें उमडती है तो इसी लहरको मधुमतीमंजरी कहा जाता है। ये मधुमतीमंजरी श्रीमती राधारानीके स्वरकी मधुरतामें नित्य निवास करती हैं। अब यही ईशान कोणकी लहर जब और विकसित एवं उद्दाम वेगसे उमडती है तो ये मधुमतीमंजरी, चन्दनमंजरीका स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। जहॉ विशाखा सखीकी उत्पत्ति रानीके केशोंकी स्निग्धतासे होती है, वहीं चन्दनमंजरीकी उत्पत्ति रानीके केशोंकी सुवाससे होती है।

ये चन्दनमंजरी ही और उत्तरोत्तर विकासको प्राप्तकर कर्पूरमंजरीमें पर्यवसित हो जाती हैं। कर्पूरमंजरीका नित्य निवास राधारानीके अंगविलेपनके सुवासमें है। अब कर्पूरमंजरीके भावमें भी जब और विकास, और वेग उठता है तो इनका ही परिशुद्ध स्वरूप शशिरेखामें हो जाता है। शशिरेखा रानीकी मुसकान (स्मिति)मे ही नित्य स्थित रहती हैं। अब इसी स्वाधीनभर्तृकाभावका जब सर्वोत्तम विकास होता है तो हारहीरा रूपमें यह विकास प्राप्त करता है। हारहीराजी श्रीमती राधारानीके कण्ठमें लटकनेवाले पंचहारमें नित्य निवास

करती हैं।

इसी प्रकार पूर्व दिशामें चित्राकुंज है। श्रीचित्राजी दिवाभिसारिका भावप्रधान सखी हैं। इनका नित्य निवास रानीके कर्ण-कुण्डलोंमें रहता है। इनका उत्तरोत्तर उच्छलन ही क्रमशः विमलाके रूपमें होता है, जिनका निवास श्रीराधारानीके तनके गोरेपनमें होती है। इसी प्रकार पूर्वदिशाकी यह अभिसारिका भावलहर ही जब क्रमशः उत्तरोत्तर और विकासको प्राप्त करती है तो विमला मंजरी, रतिमंजरीमें परिणत हो जाती है। रतिमंजरीका निवास रानीके नूपुर और नूपुरकी ध्वनिमें होता है। रतिमंजरीका ही विकसित स्वरूप गुणमंजरी हैं जिनका निवास रानीकी कटिकी मेखला एवं मेखलाकी ध्वनिमे होता है। इन्हींका उत्तरोत्तर विकसित स्वरूप सुकेशी एवं सुकेशीका विकसित स्वरूप कुन्दवल्ली हैं। सुकेशीकी उत्पत्ति रानीके केशोंके कुञ्चितपनेसे होती है और कुन्दवल्लीकी उत्पत्ति रानीकी दोनों कलाइयोंके चार वलयसे होती है। यहाँ ध्यान रखनेकी बात है कि राधारानी अपनी प्रत्येक हाथकी कलाईपर चूड़ियोंके दोनों ओर दो वलय धारण करती हैं।

इन्दुलेखाजीका वर्णन पूर्व पृष्ठोंमें किया जा चुका है।

चम्पकलताकुंज राधाकृष्ण युगलकुण्डके दक्षिण दिशामें स्थित है और इनका मुख्य भाव वासकसज्जा है। जिनके कान्त दूर देशमें नहीं, ब्रजप्रदेशमें ही है, ऐसे कान्तकी प्रतीक्षा करती हुई जो स्वयंको एवं निज निकुंजको सुसज्जित करती है, ऐसी कान्ताको वासकसज्जा कहते हैं। वासकसज्जा-भावकी ही उत्तरोत्तर उत्कर्षोन्मुखी धाराओंका नाम पालिका, लासिका, प्रेम, सुलोचना एवं मंजुलामंजरी है। चम्पकलताजी रानीके कण्ठकी सरसतामें, पालिकामंजरी रानीके पयोधरोंकी पीनतामें, लासिका दाहिने हाथकी पाँचो अंगुलियोंकी अँगूठियोंमे, प्रेममंजरी रानीके कपोलपर स्वेदविन्दुमें, सुलोचना रानीके कटाक्षमे एवं मंजुला रानीके पयोधरद्वयके मध्य भागमें की हुई चित्ररचनामें नित्य निवास करती है।

नैऋत्यकोणमें श्रीरंगदेवीजीकी कुंज है। श्रीरंगदेवीजी उत्कण्ठिता भावकी मूर्तिमान स्वरूप हैं। इनके ही क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित रूप भद्रा, कुन्द, मंजुलीला, चारुशीला एवं विद्युन्माला हैं। श्रीरंगदेवीजी श्रीमती राधारानीकी नीवीकी डोर एवं गाँठमें निवास करती हैं। इसी प्रकार क्रमशः भद्रा, रानीके नयनोंके शीलमें; कुन्द, दंतपंक्ति एवं दन्तकान्तिमें, मंजुलीला,

बायें कपोलपर एक कृष्णवर्णीय विन्दुमें, चारुशीला, रानीके कण्ठदेशमें मोतियोंके पदक आभूषणमें, विद्युन्माला, वन्दनी जैसा मोतियोंसे बना भालके आभूषणमें निवास करती हैं।

राधाकृष्ण युगलकुण्डकी पश्चिम दिशामें श्रीतुंगविद्याजीका कुंज है। इनका प्रमुख भाव विप्रलब्धा है। संकेत प्रदान किये जानेके पश्चात् भी कान्तके दैवात् नहीं आनेपर जो आन्तरिक व्यथासे अत्यन्त संताप होता है, उस सन्ताप भावको ही विप्रलंभ कहा जाता है। यह विप्रलब्धाभाव भी क्रमशः उत्तरोत्तर छः उत्कर्षोन्मुखी उर्मियोमें लहराता है। इस उत्कर्षमें ही तुंगविद्यामहाभाव क्रमशः धन्यामंजरी, मदनसुन्दरी, पद्ममंजरी सरोजिनी एवं मदनालसामें परिणत होता है।

तुंगविद्याजीका जहाँ श्रीमती राधारानीके करके कंकणमे नित्य निवास है, वहीं धन्या कर-चरणके कम्पन, एवं कभी-कभी सर्वांगके कम्पनमे भी निवास करती है। मदनसुन्दरीजी रानीके नाभिके ऊपर वक्षस्थलसे नीचेकी रोमावलीमें, पद्ममंजरी दोनों नेत्रोंकी पलकोंके केशमे, सरोजिनी पदतलके पद्मचिन्हमें एवं मदनालसा रानीकी जँभाईमें निवास करती है।

श्रीराधाकृष्ण युगलकुण्डके वायव्यकोणमें श्रीसुदेवीकुञ्ज है। श्रीसुदेवी कलहान्तरिता भावकी प्रतीक है। जो अनुनय-विनयरत कान्तका रोषवशात् सम्मान नहीं करती और फिर कान्त-वियुक्ता हो जानेकी स्थितिमें अत्यन्तानुतापसे संतप्त होती है, उस कान्ताको कलहान्तरिता कहते हैं। कलहान्तरिताभावकी उत्तरोत्तर उत्कर्षोन्मुखी छः उर्मियाँ ही तारक, अशोक, सुधा, इन्दिरा एवं मनोहरा है। सुदेवीजी रानीकी अरुण कंचुकी स्वरूपा हैं तो तारक, पयोधरपर चित्ररचना, अशोक, नासिकाकी नथ, सुधा, अधरामृतरस, इन्दिरा, वामपदतलकी ऊर्ध्वरेखा, मनोहरा, गुच्छोंसहित भुजबन्ध हैं।

इन उपरोक्त आठ भावतरंगोंकी छः-छः उर्मियाँ, इस प्रकार अडतालीस उर्मियाँ श्रीराधारानी महाभावसमुद्रकी हैं। इन्हें ही पू.गुरुदेव अपनी श्रीराधारानी समेत अड़तालीस बहनें कहा करते थे। उनचासवीं उर्मिमे उन्होंने उन सभी सखियोका समावेश कर लिया था जो इनके अतिरिक्त कुछ भी, कहीं भी अन्य हैं। ये सभी श्रीमती राधारानीकी कायव्यूहरूपा, उनकी स्वरूपभूता, उनसे सर्वथा अभिन्न, उनमें ही समलंकृत हैं।

इन उनचास बहनों और बहत्तर भ्राताओंके अतिरिक्त पू.गुरुदेवकी

मातृवर्गकी अनेक श्रेणीकी गोपियाँ थीं, इनके नाम भी दिये जा रहे हैं। पू. गुरुदेवकी माताएँ – (१) बृषभानुपुरकी माता कीर्त्तिदा, नन्दगेहिनी यशोदा एवं बडी माता रोहिणी (२) मातामही – बृषभानुपुरकी राधारानीकी नानी मोक्षदा और श्रीकृष्णकी नानी पाटला (३) मौसी - कीर्त्तिमती एवं श्रीकृष्णकी मौसी –यशोदेवी, यशस्विनी (४) पितामही – सुखदा एवं श्रीकृष्णकी पितामही – वरीयसी (५) मामी – मेनका, षष्टी और गौरी । बुआ – भानुमुद्रा, श्रीकृष्णकी बुआ - सुनन्दा, नन्दिनी। (६) ताई – श्रीकृष्णकी ताई तुंगी (उपनन्दजीकी पत्नी), पीवरी (अभिनन्दजीकी पत्नी)। चाची – कुवलया (सन्नन्दजीकी पत्नी), अतुल्या (नन्दनजीकी पत्नी)।

पू.गुरुदेवके सम्पर्कमें आयी अनेक माताओंको जिन्हें पू.गुरुदेव किसीको मौसी, किसीको बुआ, किसीको नानी कहते थे, वे सभी इन्हीं उपरोक्त गोपियोमें परिणत होनी थीं ।

इसी प्रकार पू.गुरुदेवके पितृवर्गके भी अनेक लीला-परिकर थे। जैसे पितृवर्गके बृषभानुबाबा एवं नन्दबाबा प्रमुख थे। पितामह – पर्जन्यजी एवं महीभानुजी थे, मातामह सुमुखजी एव इन्दुगोप थे ; नन्दकुलके श्रीकृष्णके ताऊ – उपनन्द, अभिनन्द एवं बृषभानुकुलमें ताऊ महाभानुजी थे। नन्दकुलमें चाचा सन्नन्द एवं नन्दन थे, साथ ही बृषभानुकुलके चाचा भानु, रत्नभानु एव सुभानु थे। नन्दकुलमें फूफा महानील एवं सुनील थे एवं भानुकुलमें काश गोप थे। नन्दकुलके मामा यशोवर्धन, यशोधर, यशोदेव एवं सुदेव थे, वहाँ बृषभानुकुलमें मामा भद्रकीर्ति, महाकीर्ति एवं चन्द्रकीर्ति थे। नन्दकुलमें मौसा मल्ल गोप थे, एवं बृषभानुकुलके मौसा कुश थे।

इस प्रकार तेरह सौ एवं कुछ व्यक्तियोंकी जिन-जिन भावोमें परिणति पू.गुरुदेव.द्वारा प्रार्थित की गयी थी एव जिसे उनके प्रियतम श्रीकृष्ण द्वारा तथास्तु किया जा चुका था, उनकी सभीकी एक बृहद् सूची पू.गुरुदेवने श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी एवं अनेक सहयोगियोंसे मिलकर बनवायी। इस बृहद् सूचीमे सभी तेरह सौ व्यक्तियो और उनकी परिणतिको सांकेतिक भाषामें नामांकित किया गया था।

उदाहरणस्वरूप जैसे मधुमती मजरीमे अमुक-अमुक व्यक्तिकी परिणति होनी थी तो एक गोलाकार बड़ा वर्तुल बनाकर उसमे पहले तो साकेतिक भाषामे 'मधुमं'अंकित कर दिया जाता था, एवं तब नीचे जिन-जिन लोगोंकी

इस भावराशि-सिन्धुमें डूबनेका विधान था, उन लोगोंके नाम सांकेतिक भाषामें दे दिये जाते थे। यह सब अंकन इसीलिये किया गया था जिससे कि जिसे पू.गुरुदेव अपनी यह रस एवं भावपूजाका दायित्व दें, वह सही व्यक्तियोंके सही भावमें परिणतिकी ठीक पूजा सम्पादित कर सके। विस्मृतिवश उससे कोई भूल घटित नहीं हो।

इस प्रकार तेरह सौ एवं कुछ व्यक्तियोंको लीला-सिन्धुमें डुबोनेका जो कृपाप्रयास पू. गुरुदेव द्वारा किया जा रहा था, काष्ठमौन लेनेके पूर्व उन्होंने उसका समग्र दायित्व श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके कन्धोपर डाल दिया। क्योंकि श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी 'कल्याण' हिन्दी मासिक पत्र एवं 'कल्याण कल्पतरु' अंग्रेजी मासिक पत्रके सम्पादन एवं अनुवाद आदि कार्योंमें अतिशय व्यस्त थे, अतः पू.गुरुदेवने उनपर इतना ही दायित्व डाला कि वे इस सभी सूचीको एक सरसरी दृष्टिसे प्रतिदिन देख भर लें और चार बारकी अपेक्षा मात्र एक बार ही इन सभी व्यक्तियोंको भगवती श्रीराधारानीको समर्पण करनेकी महामंगलमयी क्रिया करलें।

पू.गुरुदेवने श्रीगोस्वामीजीपर अपने संकल्पसे ऐसी शक्ति सनिहित कर दी, जिससे मात्र उनके उस सूचीको पढ़लेने मात्रसे ही सभी प्राकृत विषयी प्राणियोंको जो उस सूचीसे सलग्न थे, उस परम चिन्मय भावराशिके उन अनमोल एवं शुचितम बीजोंका पल्लवन संभव हो गया जो पू.गुरुदेवने कृपा करके उनकी अनुर्वरा बंजर भूमिमें डाले थे।

इस प्रकार अपना अधिकाश पारमार्थिक दायित्व श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीपर डाल पू. गुरुदेव एक प्रकारसे अपने अधिकांश पारमार्थिक बोझसे हलके हो गये।

पू.गुरुदेव अनन्त कृपावतार थे। उनके पास ऐसे हजारों व्यक्तियोका पत्राचार एकत्रित था, जिनमें पत्र-लेखकोंने अपने भीषण पतनकी अति वीभत्स एवं दयनीय दशाओंका निष्कपट वर्णन उनके सम्मुख किया था। पू.गुरुदेव प्रतिदिन ही अपनी मातृपूजा करते समय इन लोगोंकी पापराशिका उल्लेख अपनी आराध्या मॉके सम्मुख निवेदन करते थे, जिससे अनन्त क्षमामयी कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुंसमर्था अघटनघटनापटीयसी उनकी माता उस पापमयी कर्मराशिको स्वाहा कर दे, साथ ही इन लोगोंके लिये कोई ऐसा मंगलमय विधान बना दे कि वे अपने भविष्य जीवनमें किसी भी प्रकार सदाचार-मार्गमे

अपने चरण अग्रसर कर पावें।

इस भयसे कि काष्ठमौन लेनेके उपरान्त ये पत्र किसी अन्य व्यक्तिके हाथ नहीं पड़ जावें, पू.गुरुदेवने इन सभी पत्रोंके वे पापवर्णनके अश काटकर उन सभी पत्रोंको अग्निमें स्वाहा कर दिया। इस अंशको भी उन्होंने श्रीपोद्दार महाराज रूप महासिद्ध संतके पास एक बार इस आशासे भेज दिया जिससे उन व्यक्तियोंकी कर्मराशिको हलकी करनेका दायित्व कुछ वे भी स्वीकार कर लें। श्रीपोद्दार महाराजने उन्हें मात्र सरसरी दृष्टिसे देखा और सबके छोटे-छोटे टुकड़ेकर उन्हें जला दिये।

इस दायित्वसे मुक्त होनेके उपरान्त अब पू.गुरुदेवके पास बची थी उनकी ब्रजभावसम्बन्धी लाइब्रेरी। उनके पास गौडीय सम्प्रदायके एवं बृन्दावनके अन्य रसिकाचार्योंकी रस-विवेचना सम्बन्धी लभ्य एवं अलभ्य पुस्तकोंका पूरा संग्रह था। इस सभी पुस्तकालयको पू.गुरुदेवने अ.सौ. सावित्रीबाई फोगला (श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री)को प्रदान कर दिया, जिसे पू.गुरुदेवके काष्ठमौनके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज रतनगढ ले गये एवं वहाँ वे सब पुस्तकें उनकी व्यक्तिगत श्रीकृष्णपुस्तकालयमे संयुक्त कर दी गयीं। अब पू.गुरुदेव सर्वभावसे पूर्णतया निवृत्त होकर काष्ठमौनव्रतके लिये तत्पर हो चुके थे।

———oo———

# उन्मुक्तहस्त श्रीकृष्णवितरण

सन्तोका जीवन करुणा एवं मगलमयताका कैसा अगाध सिन्धु होता है, इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण इस लेखमें कर रहा हूँ।

तीर्थयात्रासे लौटकर आते ही श्रीपोद्दार महाराज अतीव रुग्ण हो गये थे। बड़े-बड़े डाक्टर आ रहे थे, किन्तु उनके रोगका सही निदाने-आकलन नहीं कर पा रहे थे। पू.गुरुदेव प्रतिदिन ही मध्याह्नमें उन्हें सॅभालने जाया करते थे। एक दिवस जब पू.गुरुदेव उनसे मिलने गये थे, पू.गुरुदेवके संग मैं भी था। पू.गुरुदेवने सकेत करके मुझे बाहर बरामदेमें ही रुकनेकी आज्ञा दे दी थी। किन्तु उस बरामदेकी खिड़कीकी सन्धिसे श्रीपोद्दार महाराजके दर्शन भी हो सकते थे और उनकी वाणी भी स्पष्टतया सुनाई पड़ती थी। मैं बरामदमें

खिडकीकी संधिसे ही श्रीपोद्दार महाराजका दर्शन–श्रवण कर रहा था –

"श्रीपोद्दार महाराज पूर्वाभिमुख मस्तक किये एक पलंगपर लेटे थे। उनके नेत्रोंसे अश्रुकी एक पतली-सी धार बह रही थी। वे हाथमें एक कागजका पैड लिये थे और कुछ लिख रहे थे। उनके नेत्र बन्द थे। पू.गुरुदेव उनकी पलंगके पास रखी एक कुर्सीपर बैठ गये और एकटक उनके मुखपर व्यक्त अपूर्व शान्ति और प्रीतिकी प्रवाहित धाराका दर्शन करने लगे। कुछ समय इसी प्रकार निकल गया। किंचित् काल पश्चात् पू.गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजके हाथकी नब्ज देखनेके लिये उनका हाथ ग्रहण किया। पू.पोद्दार महाराजको उस हस्तस्पर्शसे ही पू.गुरुदेवके आगमनका भान हुआ। वे बोल उठे– "बाबा ! क्या करूँ ? इधर तीर्थयात्राकालमें चार-पाँच माहमें सब मिलाकर मात्र चार घण्टे भी नहीं सो पाया हूँ। बाबा ! मुझसे हजारों लोग आबाल-वृद्ध जुड़े हैं। अब इधर तीर्थयात्रो-भ्रमणमें हजारों लोगोंकी कर्मराशि मेरा बोझ और बन गयी है। अब बताइये भला ! इन सभीके अनादि संसरणका अन्त हो जाय, ये मुझसे जुड़े, जाने-अनजाने मुझे अपना माननेवाले सभी जीव भवबन्धनसे मुक्त हो जावें, इसका भला क्या उपाय हो ? मेरी चिन्ताका अभी भी यही हेतु बन रहा है। मैं तो अभी भी बाबा ! लेटा-लेटा श्रीकृष्णसे प्रार्थना कर रहा था। मेरे सम्मुख तो श्रीमद्भागवतके गोपीगीतका यही श्लोक बार-बार उभर रहा था –

**विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलाद्।**
**वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः।।"**

"दयालो ! प्रभो ! जब आप भयंकर विषकी औषधि कर सकते हैं, यहाँ तक कि जो निष्प्राण हो चुके हैं, वे भी आपके स्पर्श मात्रसे सुखमें सोये व्यक्तिकी तरह परम उल्लसित नवजीवन प्राप्तकर उठ खडे हो सकते हैं, अघासुर जैसे सर्पके मुखमें प्रविष्ट व्यक्तियोंकी आप रक्षा कर सकते हैं, आँधी-बिजली एवं घनघोर वर्षासे डूबते लोगोंको बचा सकते हैं, व्योमासुर और अरिष्टसे अपने जनोंकी रक्षा कर सकते हैं, तो प्रभो ! इन संसार-सर्पसे डँसे हुए, माया-विषसे अन्धे, बहरे एवं बेहोश, पापाचार रूप अघासुरके मुखमें पूरे निगले गये मेरे स्वजनोंकी भी रक्षा कर लीजिये न !"

"कृपासिन्धो ! इन मेरे स्वजनों, मुझे अपना आत्मीय, हितू, साथ ही देह सम्बन्धसे अपना सम्बन्धी-नाती माननेवाले लोगोंको भवदावानलने चारों

ओरसे घेर लिया है, इसके निवारणका आपकी शरणमें जानेके अतिरिक्त मेरे पास तो कोई भी उपाय नहीं है। इस भीषण नारकीय तापसे अपने आपको बचा लेनेकी इन सभीके पास भी कोई शक्ति शेष नहीं है। ये तो इस भीषण विषयभोगरूप नरकाग्निको सुखकारी मानकर बार-बार पतिंगेकी तरह उसीमें कूदनेको आकुल हैं।"

"प्रभो! इस दावाग्निज्वालाका ये तो माँग माँगकर स्वागत कर रहे है। और जो भी इस ज्वालासे थोड़ा भी मुक्त है, हटा है, दूर है, या कम तप्त है, वह अपनेको हतभाग्य, कृपावंचित समझ रहा है।"

"हे महाप्रभावशाली ! इस भवदावाग्निसे इन सभी अभागों, बुद्धिहीनोंकी मुझ शरणागतकी ओर देखकर ही रक्षा कर लीजिये।"

"हे प्राणपति! आप मेरे तो बान्धव हो ही, सभीके एकमात्र आप ही आश्रय हो, इन सब आत्मीयजनोकी ओरसे मैं हे कृष्ण! आपको पुकार रहा हूँ। इनसे किसी भी हेतुकी आप सर्वथा आशा नहीं करें, ये तो माया-मूर्च्छित हैं, सब प्रकारसे मायाके नशेसे पागल हैं, घोर विषयान्ध है। इनकी ओर मैं स्वयं ही भले ही कृष्ण-कृष्ण कहकर पुकार लूँ ! ये तो निरन्तर भोग-भोग की ही रट लगाये हैं। इन संतप्त, वज्रमूढ़ व्यक्तियोंकी इस मायावह्निको आप अपनी योगमायाशक्तिका विकासकर पी जाइये, न प्रभो!"

"हे नीलसुन्दर ! आप एक महाजलधरतुल्य प्रकाण्ड विग्रहका आविर्भाव करें, जो इन त्रितापतप्त जीवोंकी भोगाग्निको समूल बुझादे।"

श्रीपोद्दार महाराज यद्यपि धीरे-धीरे पू.गुरुदेवसे वार्त्ता कर रहे थे, परन्तु उनकी वाणी स्पष्ट मेरे कानोंमें पड रही थी – "बाबा ! कितनी ही प्रार्थना करो, श्रीकृष्ण तो पूर्ण स्वेच्छाचारी हैं, उनका पूर्ण मगलमय कृपा-विधान तो जब क्रियाशील होगा, तभी होगा। वे मेरी सब बाते सुन लेते हैं एवं मुसका देते हैं। इधर तीर्थयात्राकालमें हजारों लोगोंने प्रणाम कर-करके मुझपर तो अपनी अतीव गन्दी कर्मराशि फेंकी ही है। अब मेरे लिये तो यही समस्या है कि यह भीषण कर्मराशि कैसे कटे ? चाहे अति अल्पांशमे ही सही इस कर्मराशिको मेरे शरीर द्वारा ही भोगूँ, इसके सिवा कोई उपाय ही शेष नहीं है। इस कर्मराशिको काटनेके दो ही उपाय हैं, या तो सबसे एकान्त होकर मनको दो-चार वर्ष पूर्णतया विशुद्ध सत्वमें डुबा दूँ, अथवा रोगके रूपमें प्रभुकी इस शरीरमें अर्चा करूँ। बाबा! जब एकान्त होना अपने वशकी ही बात नहीं है तो रोग सह रहा

हूँ। अब बिचारे डाक्टर-वैद्य क्या निदान कर पावेंगे ? उनको इस रोगका हेतु ही पकड़में नहीं आ सकता। ''

मैं चुपचाप द्वारपर बैठा पू.पोद्दार महाराजकी वार्त्ता सुन रहा था। मैं विचार कर रहा था -- ''कैसे महान् हैं ये सन्त ! कितनी करुणा भरी है, इनके हृदयमें ! जैसे ही ये किसीका अनिष्ट देखते हैं, दया इन्हें झकझोर देती है। उस दया-करुणाके प्रचण्ड वेगसे परिचालित होकर ये पहले तो उसके चतुर्दिक् अपनी शीतल छाया करते हैं, न्यायविधानके रक्षार्थ तप्त सूर्यरूपी यमराजका ये अपने शान्त सात्विक भजनमय अस्तित्वसे ढँक लेते हैं। अब अपने हृदयकी वात्सल्यराशिरूप जलवर्षासे ये अपना अस्तित्व समाप्त होनेतक रसवर्षा करते रहते हैं। एक-दो स्थानोंमें ही नहीं, ये तो विश्वभरको आप्यायित करनेका व्रत लिये हैं। इनका कोई एक देश अपना नहीं, एक परिवार अपना नहीं, जो इनकी छायातले आजाय, चाहे वह किसी देश, जाति, धर्मका जीव हो, वही इनका अपने-से-अपना हो जाता है। ये श्रीपोद्दार महाराज, ये मेरे गुरुदेव श्रीराधाबाबा, ये करुणाशील महापुरुष यही तो कर रहे हैं। हम तो अपने स्वरूपको ही इस शरीर रूप माया-मदिराका पानकर भूले हैं। हमारे सामने सभी प्रकाशके स्रोत सूर्य (सन्त एवं शास्त्रोंकी वाणी), चन्द्र (सदाचार एवं स्वधर्माचरण), एवं नक्षत्र (तीर्थसेवन, दान, पुण्यादि कर्म ), सभी तो इस शरीर-भोग एव इन्द्रियोंकी तृप्ति रूपी घनी अँधेरी काली घटासे घिरकर लुप्त हो गये हैं। हमारे चित्तमें तो पूर्णतय रजोमय नाद, अभिमानके गर्जनका ही पूरा बोलबाला है। सर्वत्र तमका घना आवरण हमारी बुद्धिको पूरी तरह ढक चुका है। यद्यपि है यह अज्ञानजन्य प्रतीति मात्र। हम स्वरूपतः हैं स्वप्रकाश स्वरूप। हमारे आत्मारूप निर्मल सर्वव्यापी, अनन्त गगनका इस तम रूप अज्ञानजन्य घनघोर घटासे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह तम हमारे स्वरूपको आवृत कर ही नहीं सकता। ब्रह्मस्वरूप जीवात्माका आवरण किसी भी प्राकृत गुणसे संभव ही नहीं। ये सब दुःख-अभाव, रोग-शोक, संपत्ति-विपत्ति, यश-अपयश,जन्म-मृत्यु अज्ञानजन्य प्रतीति मात्र हैं। किन्तु अपने ऐसे स्वरूपका भान जीवको तभी होता है, जब हमारी आँखें उन सान्द्रनीलद्युति ब्रजराजतनय श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर केन्द्रित हों। किन्तु कठिनाई यही है कि या तो घोर दुःख भोगोंसे हम सर्वथा मूढ हो चुके होते हैं, बेहोश रहते हैं, अथवा सम्पत्ति सफलताके अभिमानकी मदिरा पिये हम प्रलापरत रहते हैं।

ये पोद्दार महाराज एव पू.गुरुदेव जैसे सन्त हमारी उग्रतम पापराशिको अपने शरीरपर रोगरूपमें ग्रहण करके भी हमारी रजसे भरी मैं-मेरेकी गर्जनाको अपने आराध्य नीलसुन्दरके मधुमय कण्ठसे निस्सृत मुरलीके स्वरमें विलीन कर देनेको अहा ! कितने समुत्सुक हैं। हमारी घोर तमकी कालिमाको ये उन इनके परम प्राणधन जीवन-सर्वस्व प्राणाधिक निरजनकी नीली ज्योतिमें घुलाकर उनकी सेवाका उपकरण बनाना चाहते हैं। अहा ! इन सन्तोंकी हमारे प्रति प्रवाहित अजस्र आत्मीयता और अनन्त करुणाकी बलिहारी है कि ये प्राकृत सत्वके आलोकको अपने प्राणसारसर्वस्व जीवनधनकी चरणनखचन्द्रिकामें डुबा देना चाहते हैं।

पू.गुरुदेवके काष्ठमौन लेनेका दिन ज्यो-ज्यों निकट आ रहा था, स्थान-स्थानसे लोग गोरखपुर आ रहे थे। दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह परिवार, स्त्री-पुरुष एवं बच्चों सहित, कलकत्ते, बम्बई, इलाहाबाद, कानपुर, बनारस बीकानेर, रतनगढ़, दिल्ली, लखनऊ, भागलपुर, गया, फखरपुर न जाने कहाँ-कहाँसे प्रतिदिवस चले आ रहे थे।

डाक्टर एवं वैद्योंके लाख मना करनेपर भी लोग जब कलकत्ते, बम्बई, दिल्ली आदि सुदूर स्थानोंसे आते तो, आते ही प्रथम दर्शन करने तो पोद्दार महाराजके कक्षमें जाते ही। फिर किसी सद्गृहस्थके घरमें यदि कोई आता है तो उसे ठहराने, भोजन, नाश्तेकी उन्हें व्यवस्था करनी ही होती है, विदा करते समय विदाईके दो फल उन्हें अपने हाथों देने ही पड़ते हैं। इस सब कार्यके लिये उन्हे अपने अप्राकृत लीलाजगत्‌को छोड़ प्रकृतिके धरातलपर आना ही होता था। यह सब अपरिहार्य था।

सन् १९५६ ई.के इस रुग्णताकालमें श्रीपोद्दार महाराजने अपना एक निवेदन भी लिखा था, जो उनके उस समयके अनुभूतिपूर्ण पदोंकी पुस्तिकाके साथ प्रकाशित होने वाला था, किन्तु बादमें अपने आत्मगोपन-स्वभाववश उन्होंने इसे प्रकाशित होनेसे रोक दिया था। बादमें इसे पद-रत्नाकर नामक श्रीपोद्दार महाराजके सम्पूर्ण काव्यसंकलनमें गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित किया गया। पाठकोंको श्रीपोद्दार महाराजकी उस समयकी वास्तविक मनोदशाका परिचय उ[illegible]ी ही लेखनी द्वारा लिखित मिल जाय, इस दृष्टिसे इसे यहाँ दिया जा रहा है।

## श्रीपोद्दार महाराजका निवेदन

"मगलमय भगवान् अनन्त कृपासिन्धु हैं। उन्होंने कृपा करके मंगलमय रोग भेजा। महीनों बिछौनेपर पडे रहना पड़ा। डाक्टर-वैद्योंने सम्मति दी –'पूर्ण एकान्तमें पूरे आरामसे रहना चाहिये, मिलने-जुलने लोग न आ पायें। कोई काम न करने दिया जाय।' अतः लोगोंका मिलना-जुलना प्राय: बन्द हो गया। काम रहा नहीं। सहज ही अधिक समय अकेले रहनेका सुअवसर मिल गया। चिकित्सा औषध-पथ्यादिके समयको छोडकर शेष समय अकेले ही बन्द कमरेमे रहता। अकेलेमें रोगका चिन्तन न करके मन दूसरे काममें लगता। यह काम था आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षणका। जीवनके सभी तरहके चित्र आते "लोग बडा सन्त, भक्त या महात्मा मानते हैं। ओह, कितना बड़ा धोखा है। जीवनमे कितनी अपार दुर्बलताएँ हैं, कितनी मलिनताएँ है और कितने दोष-कलुष भरे हैं।" यह सब देखकर हृदय भर आता, सहज दैन्यभाव उदय होता। आँखोंमे आँसू छलक आते, मन दयासागर, अकारण कृपालु, सहज सुहृद पतितपावनके पवित्र पादपद्मोंमें लोट जाता एव बारबार करुणापूर्ण भावसे अपने दोष बना-बताकर अपनी अत्यन्त दीनदशाकी ओर दीनबन्धुकी दयादृष्टिको आकर्षित करता। कभी स्वयं अपनेको प्रबोध देने लगता।

इसी बीच मन्द-मन्द मुसकराते हुए विश्वजनमनमोहन अनन्त आनन्दाम्बुधि श्रीश्यामसुन्दर आते, हँसकर शिरपर वरद हस्त रखकर कहते– 'मूर्ख ! क्यों रो रहा है ? क्यों दीन-हीन बनकर दुखी हो रहा है ? चल, मेरे साथ ब्रजमें, देख वहां मेरी दिव्य लीला और परमानन्दसागरमें निमग्न हो जा।'
श्रीश्यामसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन आनन्द-कन्दकी मधुरतम वाणी सुनते ही मनका दैन्य भाग जाता। मन मत्रमुग्धकी भाँति उसी क्षण चल पडता उनके पीछे-पीछे। वे उसे परम रम्य क्षेत्रमें छोडकर चले जाते और लग जाते अपने लीला-विहारमें।

मन स्वच्छन्द विचरण करता - कभी नन्दबाबाके आँगनमें, कभी यशोदा मैयाके प्रांगणमे, कभी गोष्ठमें, कभी सखाओंके हास्य-विनोदमें, कभी वनसे लौटकर आवनीमें, कभी कालिन्दीके कूलपर, कभी रासमंडलमें, कभी प्रेममयी गोपांगनाओंके समुदायमें, कभी अकेली गोपीके घरमें, कभी किसी अकेली सखीके मनमें, कभी सखियोंकी मधुर प्रेमचर्चामें, कभी वंशीवटपर, कभी सावनके झूलोमे, कभी शारदीय झूलोंमें, कभी होलीके रगमें, कभी नवप्रफुल्लित कुसुम सौरभित वृन्दाकाननमें, कभी श्रीमतीके पास, कभी श्रीश्यामसुन्दरके

पास, कभी निभृत निकुंजोंमे , कभी किशोर-किशोरीकी लीला-विहारस्थलीमे, कभी उनके परस्पर होनेवाले मधुरतम प्रेमालापोंमें , कभी उद्धव-गोपीमिलनमें, कभी मथुरामें होनेवाले श्रीकृष्ण-उद्धव मिलनमें , कभी मथुरा जानेके पश्चात् राधा तथा गोपांगनाओंके प्रेम-विरहदशामे, – इस प्रकार प्रतिदिन दिनरात महीनोंतक यह दैन्य और लीलादर्शनका प्रवाह अबाध चलता रहा। मनने शत-शत विविध विचित्र लीलाएँ एवं श्रीराधाकृष्णकी अनूप रूपमाधुरी देखी, समझी और किसी-किसी लीलामें सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त किया। कभी-कभी सौन्दर्य-सुधा-सागरमें जाकर अपने-आपको खो दिया। वहाँ जो देखा, वह सर्वथा अलौकिक, दिव्य, मन-वाणीसे अतीत था, विलक्षण था। उसका पूर्ण वर्णन संभव नहीं है। उसके लिये शब्द नहीं हैं। परन्तु जितना-कुछ शब्दोंमें आ सकता था, उसके बहुत ही थोडे अंशका तथा दैन्यभावकी स्थितिमें प्रकट मनके बहुत ही थोड़े-से उद्‌गारोका इन तुकबन्दियोंमें चित्रण करनेका प्रयास किया गया है।"

उपरोक्त मनोदशा तो उन दिनों श्रीपोद्दार महाराजकी थी। अब पू. गुरुदेवकी उन दिनोंकी दिनचर्यापर विचार करें। तीर्थयात्रासे लौटकर आनेके पश्चात् सर्वप्रथम पू.गुरुदेवने गोरखपुरके स्थानीय लोगोंसे बात कर लेनेका निश्चय किया।

स्थानीय लोगोमें सर्वप्रथम उनकी दृष्टि श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके परिवारपर गयी। श्रीगोस्वामीजीका नियम था कि वे प्रति दिवस उनके पास आते और दर्शनकर, मन-ही-मन दूरसे ही प्रणाम कर चल देते थे। उनसे तो वे मात्र एक क्षणके लिये अवश्य नेत्र मिलाया करते थे। यह उनका नित्यका नियम था। पू.गुरुदेवने उनसे इतना ही कहा कि काष्ठमौनके पश्चात् भी वे इस नियमको जबतक पू.गुरुदेव गोरखपुर रहे, अवश्य निर्वाह करें। श्रीगोस्वामीजी तो इस नियमका पू.गुरुदेवके गोरखपुरसे बाहर जानेपर भी निर्वाह करते थे। वे पू.गुरुदेवकी कुटीका प्रतिदिन दर्शन करके उस कुटीको ही पू.गुरुदेवकी अनुपस्थितिमें उनका स्वरूप समझकर प्रणाम कर लेते थे।

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी माता श्रीचन्द्राबाई एवं दोनों बहनों सुलोचनाबाई एवं मंगलाबाईको उन्होंने अवश्य समय दिया। उन तीनोंको पू. गुरुदेवसे मिलाने मैं स्वयं लेकर गया था। ये तीनों जब पू.गुरुदेवसे मिलकर आयीं तो बहुत प्रसन्न थीं। मैं इन तीनोंको जब इनके निवासतक पहुँचाकर पू.

गुरुदेवके पास पहुँचा तो वे बोल उठे – "भैया ! इन तीनोंकी पूरी कर्मराशिकी फाइलें मैंने पढली हैं, और श्रीकृष्णसे मेरे सम्मुख उन्हें फड़वा दी हैं। बस, जीवनके शेष कुछ दिन ये कष्ट और सह लें, इनका रास्ता सीधा सपाट राजमार्गकी तरह है। प्रायः यह रास्ता तय हो गया ही समझो। श्रीकृष्णकी इन्हें भरपूर सहायता मिल जायगी।"

मैं पू.गुरुदेवकी बात सुनकर चकित था। मेरा रोम-रोम पुकार रहा था – "अशरण शरण ! प्रभो ! आपकी अयाचित अनुकम्पाकी जय हो। आप सन्त पुरुष हैं कि कृपाके जहाज हैं ? देहादिके अभिमानमें बँधा मैं कैसे आपको जानूँ ? हे महामहिम ! आपको जानने, समझनेकी क्षमता मुझमें कहाँ ? जो आप लीला कर रहे हैं, जीवकी शक्ति नहीं कि वह ऐसी लीला कर ले। क्या आपकी मेरे सम्मुख कही गयी यह उक्ति कि आपने इन अपाहिज प्राणियोंकी सम्पूर्ण कर्मराशिकी फाइल पढली और उसे श्रीकृष्णसे फड़वा दी, असाधारण बात नहीं है ? क्या यह बात प्रमाणित नहीं कर रही कि आप प्राकृत शरीरमें अशरीरी अखिल-विश्व-मंगल-विधायक हो । गुरुदेव ! मैं आपको नमस्कार ही कर सकता हूँ। निश्चय ही श्रीपोद्दार महाराज एवं आप दोनों हमारे लिये अशेष मंगलविधाता हो।"

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी तीसरी बहन –सौ. ताराबाई एवं उनके पति श्रीबद्रीप्रसादजी एवं सबसे छोटी बहन सौ.विमलादेवी (लेखककी जन्मदात्री माता) को भी पू.गुरुदेवने बीकानेरसे बुलाया था और सबसे अति प्रेमसहित वार्त्ता की। सौ.ताराबाईके उन दिनो पेटमें एक गाँठका आपरेशन हुआ था, फिर भी उन्हे बराबर दर्द बना रहता था। वह यही कहती रही कि मैं तो जब दर्द अधिक होता है तो भगवान्‌को खूब गाली देती हूँ। पू.गुरुदेवने हँसकर इसीका अनुमोदन करते हुए कहा कि तू प्रतिदिन भगवान्‌को गाली ही दिया कर।

सौ. विमलाबाईसे जब उन्होंने भजनके विषयमें पूछा तो उसने इतना ही कहा कि वह दाऊजीके मन्दिरमें प्रतिदिन दर्शन करने जाती है और पू. गुरुदेवको अपना सगा भाई मानती है। पू.गुरुदेवने उससे इसी निष्ठाको जीवनपर्यन्त निभानेकी आज्ञा दी।

पू.गुरुदेवकी कृपासे श्रीगोस्वामीजीके पूरे परिवारकी उत्तम गति हुई। बहन मंगलाबाई का अन्तिम क्षण पू.गुरुदेवके सान्निध्यमें गोरखपुरमें ही आया

था। माता श्रीमती चन्द्राबाईके देहावसानपर पू.गुरुदेवने उनकी अर्थीको स्वयं कन्धा देकर उसे पैदल ढ़ोकर श्मशानघाटतक पहुँचाया एवं उसका दाह-संस्कार किया। सौ. विमलाबाईके अन्तिम क्षणोंमें पू.पोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव स्वयं चलकर रतनगढसे बीकानेर आये एवं उसे भगवद्धामकी प्राप्तिमें हेतु बने। सुलोचना बाईको भी मृत्युके समय साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने दर्शन दिये एवं उसे भगवद्धाम लेगये। स्वयं गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी तो पू.गुरुदेवके दाहिने हाथ ही थे । उनके अंतिम क्षणमें तो पू.गुरुदेवने अपने चरण उनके अगोसे संयुक्त किये एवं उनकी परम भागवती गतिका बारबार स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख एवं स्मरण किया।

अचिन्त्य लीलामहाशक्तिकी जय हो। अपनी लीलाके मिससे न जाने किन-किन जीवोंको वह अघटन-घटना-पटीयसी पू.गुरुदेवके सम्मुख करती है और उन्हें श्रीकृष्णके पाववतम ब्रजधाममें प्रवेश करानेका उपक्रम बनाती है। दोपहरका समय था। गोरखपुर शहरके साहबगंज नामक मोहल्लेसे श्रीठकुरीबाबूको पू.गुरुदेवने मिलनेका समय दिया था। पू.गुरुदेव इन्हें अपना मित्र मानते थे। पू.गुरुदेवके मित्र माननेका अर्थ ही था कि इनकी परिणति श्रीकृष्णके सखावर्गमें होनी निश्चित हो चुकी थी।

पू.गुरुदेवको ये मित्रके स्थानपर 'मिंतर' कहते थे। 'मित्र' शब्द उनके द्वारा शुद्धतया उच्चारित नहीं हो पाता। पू.गुरुदेव उनके आते ही 'आओ मितर' कहकर स्वागत करते थे। इन्हें इन दिनों बहुत बडा आर्थिक नुकसान लगा था। इनकी साहबगज स्थित कोठी जिसमें इन्होंने कुछ वर्ष पूर्व रासलीला करायी थी, बिक चुकी थी। पू.गुरुदेव जब इन्हें प्रबोध कर रहे थे, उस समय मैं ही पू.गुरुदेवकी स्लेटपट्टीपर लिखे उनके वचन उन्हे पढकर सुना रहा था। पू.गुरुदेव कह रहे थे – 'मिंतर ! अब तो मेरे जीवनके मात्र कुछ माह ही अवशेष हैं, इसके पश्चात् तो मेरी दृष्टि नीची हो जायेगी और ऊपर उठनेसे रही। विश्वास कर सको तो मेरी बातपर अटूट विश्वास करलो। तुम्हारा कितना बडा सौभाग्य है कि महाशक्तिसम्पन्न शेष, महेश, एवं सनकादि योगीश्वरगण जिनके चरणोंकी कल्पोंतक उपासना करते रहनेपर भी जो सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाये हैं, वह तुम्हें श्रीकृष्ण अपना सखा बनाकर देने वाले हैं। भगवती लीलामहाशक्ति द्वारा यह विधान तुम्हारे लिये स्वीकृत हो चुका है। तुम्हें इसके लिये कोई भी साधना, किंचित् भी परिश्रम, कुछ भी चेष्टा नहीं करनी है। बस,

एक ही बात तुम्हें करनी है कि उन अनन्त करुणावरुणालय भगवान्‌की तुमपर असीम कृपा बरस रही है, इस कृपामयता पर विश्वास करलो। तुम्हें अटूट एवं अखण्ड विश्वास हो जाय कि सुख-सम्पत्तिकी वर्षा होते समय, साथ ही घोर दु:ख-दारिद्र्यके झंझावातमें समान रूपसे उनकी कृपाकी निराविल धारा तुमपर संतत बरस रही है; इसके दर्शन होने लगें। और यदि यह नहीं हो सके तो तुम्हारे मनमें उस अंनुकम्पाकी प्रतीक्षा ही जागृत हो जाय –'कब प्रभुकी कृपा मुझपर ढलक पड़ेगी ; इस ओर ही दृष्टि केन्द्रित हो उठे; चातक जिस प्रकार निर्झरकी, सरिताकी, सागरकी, वारि-धाराकी ओरसे मुख मोड़कर एकान्त मनसे स्वाति बूँदोंकी ही प्रतीक्षा करता है। तृषाकी ज्वालासे उस विहंगमके प्राण भले ही झुलस जावें, पर अपने अभिलषित मेघके अतिरिक्त किसी भी अन्यकी ओर वह ताकता नहीं। इस प्रकार सबकी आशा परित्यागकर अपने सखा श्रीकृष्णकी कृपाकणिकाको पा लेनेकी उत्कण्ठा मित्र ! तेरे प्राणोंमें जग जाय, एव जबतक श्रीकृष्णकी उस कृपाकी अनुभूति न हो, तबतक घोर तप आदिसे शरीर क्षीण करनेके बदले जन्मान्तरमें अपने ही अर्जित विविध कर्मफलोंको, प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले सुखदु:खरूप भोगोंको विकृतिशून्य अम्लानचित्तसे भोगते रहनेकी वृत्ति उदय हो जाय, साथ ही प्रभुके प्रेमकी स्फूर्ति होते रहनेके कारण कृतज्ञ हृदयसे गद्गद वाणीसे , रोमाञ्चित हुए शरीरसे अपने आपको अपने मित्र श्रीकृष्णके चरणसरोजोंमें समर्पित करते रहनेकी भावना अखण्डरूपसे बन जाय, बस, मेरे मित्र ! तुम्हें यही सावधानी रखनी है।

मित्र ! एक दिन तुम्हारा शरीर भी गिरेगा ही , मेरे लिये तो यह संसार मात्र पॉच माह और है, किन्तु जब तुम्हारा शरीर गिरेगा उस समय याद रखना, ऐसा विधान तेरे सामने स्वप्नके चित्रकी तरह आवेगा। मित्र ! तुझसे कोई आकर प्रश्न करेगा," ठकुरी ! कहॉ जाना चाहता है ? देख, स्वर्गमे जाना चाहे तो तुझे ले चलूँ !" परन्तु उस समय पूछनेवालेको तू एक ही उत्तर देना – "भाई ! मैं तो अपने 'मिंतर'के पास जाना चाहता हूँ। मेरा मिंतर कहाँ मिलेगा, वहीं मुझे पहुँचादो।" इसपर कोई मेरी निन्दा करेगा – मेरा उपहास उडावेगा। कहेगा "अरे, तू उस साधूके चक्करमें पड़गया है ? अरे, वह तो सर्वथा ढोंगी-पाखण्डी था। अरे, उसका रास्ता तो तुझे भयंकर विपत्तिमें गिरा देगा।" परन्तु मित्र, सावधान रहना, यदि उनकी बातोमें आगया, तब तो तुझे स्वर्गादि

लोक मिल जावेंगे, मैं नहीं मिल पाऊँगा। किन्तु यदि तू मित्र, सावधानीपूर्वक उनके बहुत समझानेपर भी अड़ा रहा और हिला नहीं, तो वे तुझे एक ऐसी जगह छोड़ जावेगे जहाँ तुझे मेरे दर्शन होंगे। उस समय उनके द्वारा छोड़े गये स्थानपर तुझे कष्ट तो नहीं होगा, परन्तु विषयभोग नहीं मिलेंगे। वहाँ मेरी प्रतीक्षा अवश्य कुछ दिन तुझे करनी पड़ेगी, फिर एक दिन तुझे मैं मिल जाऊँगा। मैं आते ही तेरे चारों ओर एक परिधि बनाकर चला जाऊँगा, और तुझे समझा जाऊँगा कि "ठकुरी, इस लक्ष्मणरेखाको मत लाँघना, चाहे कोई कितना ही भयभीत करे, कितना ही आकर्षण दिखावे।" होगा वही , जैसे ही मैं लक्ष्मणरेखा खींचकर गया नहीं, माया अनेक रूप रखकर आवेगी। कभी वह तेरी पत्नीका रूप रखकर आवेगी। तेरी पत्नी रोती-कलपती दिखेगी, कभी वह सुन्दर युवती बनकर तुझे भरमाना चाहेगी, कभी कोई भयावनी आकृति तुझे डरावेगी। परन्तु यदि तू मेरे द्वारा खींची उस लक्ष्मणरेखाका उल्लंधन नहीं करेगा, तो तेरा कोई बाल भी बाँका नहीं कर पावेगा। फिर तो मितर एक दिन मैं आऊँगा ही और तुझे अपनी टोलीके साथ ब्रजधाम ले जाऊँगा। परन्तु सावधान कर देता हूँ। जैसा मैंने आज तुझे बताया है, मृत्युके पश्चात् ठीक ऐसा ही होनेवाला है, इधर-उधर कदापि मत होना। बस, यही मेरा सन्देश है।"पू.गुरुदेव ठकुरीबाबूको बार-बार इन्हीं उपरोक्त बातोंको दोहरा-दोहराकर समझा रहे थे।

ठकुरी बाबूके पश्चात् चमडिया परिवार आनेवाला था। चमड़िया परिवारके आनेपर पू.गुरुदेवने मुझे रोक लिया था। श्रीपरमेश्वरजी चमड़िया गीतावाटिकाके रोकडिया थे। उनके दादा बहरे थे। उन्हें मुझे पू.गुरुदेवकी बात कानमे जोरसे कहनी पडती थी। उन्हें भी पू.गुरुदेव यही कहकर आश्वस्त कर रहे थे कि "आप लोग सभी स्त्री-पुरुषोंके लिये भगवती लीलामहाशक्तिकी ओरसे विधान बन चुका है - मृत्युके समय एक-एक प्राणीको श्रीकृष्ण दर्शन ही नहीं देंगे, हाथ पकड़कर अपने धाम ले जावेंगे। किसीको कोई गोपी बना देंगे, अथवा किसीको अपना सखा।"

तत्पश्चात् श्रीलखपतरायजी एव उनकी पत्नीको समय दिया गया था। श्रीलखपतरायजी प्रधान-वन-संरक्षक, भारत सरकारके पदपर नागपुरमे कार्यरत थे। ये श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके सहपाठी रहे थे तथा उन्हींके माध्यमसे गोरखपुर सपत्नीक आकर उन्हींके घर ठहरे थे। ये गोस्वामीजीको

अपना धर्मभ्राता मानते थे। श्रीलखपतरायजीने पू.गुरुदेवसे मिलनेपर कुछ औपचारिक वार्ताके पश्चात् प्रश्न किया –" स्वामीजी ! क्या आपको भगवान्के दर्शन हो चुके हैं ? मैंने यही प्रश्न मेरे धर्मभ्राता श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे भी किया था, किन्तु इनका तो उत्तर नकारात्मक है। इन्होंने श्रीपोद्दारजीको भगवत्प्राप्त पुरुष मानकर अपना समग्र जीवन उन्हें समपित कर दिया है। आज ये यदि सरकारी सेवामें होते तो निश्चय ही किसी रजवाड़े स्टेटमें उच्चतम पदपर होते। इन्हें 'सर'की उपाधि मिली होती। किन्तु इन्होने तो अपनी सभी योग्यता, बल्कि अपना जीवन ही श्रीपोद्दारजीको समर्पित कर दिया। ये बारबार मुझे भी श्रीपोद्दारजीके प्रति निष्ठाकी प्रेरणा देते रहते हैं। मेरी पत्नीकी इनके प्रति बहुत ही श्रद्धा भावना है। वह इन्हे अपना गुरु मानती है। वही प्रेरणाकरके मुझे इनके पास लाई है। मेरे तो ये बडे भ्राता तुल्य हैं। स्वामीजी ! सच्ची बात तो यह है कि मैं तो ईश्वरपर इनको देखकर ही विश्वास करने लगा हूँ। मुझे आपसे दो ही प्रश्न करने हैं। एक तो ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें; दूसरे, हम दोनों पति-पत्नीके अनुरूप किसी साधना एवं पथनिर्देशके रूपमें।"

पू.गुरुदेवने श्रीलखपतरायजी एवं उनकी पत्नीको जो कुछ उपदेश दिया, उसका सार-संक्षेप नीचे दिया जा रहा है।

"लखपत बाबू ! इसे निश्चय ही गले उतार लीजिये कि भगवान् चाहे वे श्रीकृष्ण हो, श्रीराम हों, विष्णु हो, नारायण हो, कोई भी रूपमे क्यो न हों, आप चाहे कि तर्कसे आपका भगवत्सम्बन्धमें समाधान हो तो यह असंभव है। भगवत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ तर्कातीत हैं। प्राकृत वस्तुएँ ही तर्कगोचर किंवा तर्कसम्मत हो सकती है। भगवान् जब प्रकृतिके प्रकाशक, उससे अतीत हैं, तो उन्हे इन्द्रियॉ प्रकाशित ही नहीं कर सकती हैं। श्रीगोस्वामीजी आपके धर्मभ्राता, एवं आपकी पत्नीके श्रद्धास्पद अपनी सामर्थ्यानुसार पूरी नीयतसे श्रीपोद्दार महाराजको समर्पित हैं, वे अपने स्वधर्मपर आरूढ सच्चे आचारवान्, निष्ठावान् ब्राह्मण गृहस्थ हैं, अब स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परमात्मापर उनका वश तो है नहीं। अब वे कृपा-परवश हुए जब अपनी स्वप्रकाशिका शक्तिसे उनकी मन-बुद्धिमें उतरेंगे तभी तो वे आपके प्रश्नका सकारात्मक उत्तर दे पावेंगे।"

"लखपत बाबू ! आप अंग्रजीके विद्वान् हैं, परन्तु आपने उपनिषद् किसी वेदान्ती विद्वान्से नहीं पढ़े हैं। उपनिषद् कहते हैं – भगवान् स्थूल

नहीं,अणु नहीं, महान् नहीं, घन नहीं, द्रव नहीं, छाया नहीं, तम नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, गन्ध नहीं, तेज नहीं, रस नहीं, नेत्र नहीं, कर्ण नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, माप नहीं, इस प्रकार समस्त अपरमात्म मायिक पदार्थोंके निषेध करनेपर भगवान् मात्र सच्चिदानन्द स्वरूपमें द्रष्टा भावमे ही संकेतित किये जा सकते हैं। किन्तु जहॉ श्रुति उन्हें 'नेति नेति' कहकर अशेष द्रष्टा रूपमें ही सकेतित करती हैं, वहीं वे वेदगर्भ ब्रह्माजीके सम्मुख अपने अपरिसीम ऐश्वर्य रामन्वित रूपमें दृष्टिगोचर हो उठते हैं। एक ओर जहाँ श्रुति कहती है उनके हाथ नहीं, पैर नही, नेत्र नहीं, कान नहीं, वहीं श्रुति जिनके नित्य गर्भमे निवास करती हैं, उन ब्रह्माजीको वे हाथ-पैर, नेत्र-मुख, कान-नाक वाले दिखाई पड जाते है। विधाता महान् आश्चर्यमें डूब जाते हैं, श्रुतियोको जहाँ ब्रह्ममें हाथ-पैर-मुखकी उपलब्धि नहीं हो पाती, वहीं श्रुतिगर्भ को प्रत्यक्ष अपने सम्मुख वही ब्रह्म हाथमे दहीसे सने अन्नका ग्रास हाथमें धारण किये प्रत्यक्ष अपने गोपशिशुओ और गौओंको ढूँढता-फिरता दिख रहा है। श्रुति जिसको अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप, अनन्त कहती हैं, वह **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** –'कहॉ गये मेरे सखा, कहॉ हैं मेरी गौएँ, किधर हैं मेरे गोवत्स' – इस प्रकार ब्रह्माजीको अनजान अज्ञानीकी भॉति अपनी खोयी निधिका अनुसन्धान पा लेनेके लिये आकुल चारों ओर दौड़ता दिख रहा है।"

"श्रीलखपतरायजी ! अब आप तर्करो , बुद्धिसे कैसे इसे सम्मत कह पावेगे कि जो परात्पर तत्व है, वह गोपशिशु लीला कर रहा है, जो **'एकमेवाद्वितीयं'** है, वह शिशु वत्सान्वेषणमें चिन्तित है, जो घन परमानन्दस्वरूप है, उसके नेत्रोंसे अपने वत्सोंकी चिन्तामे ऑसू बह रहे हैं, जो अखण्ड घन ज्ञानस्वरूप है, वह मूढत्त्वको प्राप्त है और जो अनन्त है, वह चारों ओर राह ढूँढता भटक रहा है।;जो ब्रह्म हो, वह हाथमें दधिमिश्रित अन्नग्रासका ही त्याग नहीं करता, उसे साथ लिये आँखोंसे चिन्तातुर अश्रु प्रवाहित कर रहा है।"

"अतः आप इसे ठीक जान लीजिये कि भगवन्मार्गमें यदि किसीको भी चलना है, तो उसे जिनपर भी आपकी श्रद्धा हो जाय , ऐसे सन्त महात्मापर निर्विवाद विश्वास करना ही पडेगा। इसके बिना तर्कसे आप भगवत्तत्त्वको निर्धारण कर पावें, यह असंभव है।"

"लखपतबाबू ! नैसर्गिक सनातन नियमोंका उल्लंधन नहीं होता। किसी विशाल सरोवरमें तैरते हुए व्यक्तिको देखकर ठीक उसी प्रकार

जल-संतरणकी इच्छा तो कोई भी कर सकता है, इसी प्रकार निरभ्र गगनमें उड़ते हुए मानस मरालोंको देखकर कोई भी बालक अपने हाथ पंखवत् फैलाकर उसकी अनुकृति करता वैसी इच्छा भले ही करले, इस प्रकारके दिवास्वप्न भले ही देखे जावें, किन्तु ठीक पक्षियोंके समान गगन-विहार, कुशल तैराककी तरह जल-विहार करनेकी सामर्थ्य तो ईश्वर कृपा-प्रदत्त ही होनी संभव है। इसी प्रकार भगवद्दर्शन करना, भगवान्‌का लीला-परिकर होना, भगवान्‌को भी वशमें करनेकी सामर्थ्य सबमें मात्र इच्छासे संभव नहीं है। यह तो कोई एक बिरला ही कृपापात्र जन्म लेता है और भगवत्प्रारब्ध उसके भालपर लिखा होता है। क्या सभी कोई नरसी भक्त होने संभव हैं ? किसीके केदारा रागमें गा लेने मात्रसे कोई छप्पन करोडका माहेरा भरेगा ? किसीके हुण्डी लिख देने मात्रसे सॉवलशाह हुण्डी भरते रहें तब तो सभी दिवालिये हुण्डी लिखते ही चले जावेंगे। परन्तु ऐसा होता नहीं है। किसी मीराका ही जहरका प्याला अमृत होता है, किसी द्रौपदीकी ही साड़ी अनन्त होती है।''

"अतः ऐसे विरले कृपापात्र महानुभावोंपर श्रद्धा करके उनपर निर्विवाद विश्वास करके उन्हें ही जीवन समर्पण किया जाय, तभी साधना करते-करते मृत्युके अन्तिम क्षणोंतक कोई एक प्रकाशकी क्षीण-सी रेखा हृदयको आलोकित कर पाती है।"

"यह सत्य है कि ऐसे महापुरुष आज श्रीपोद्दारजीके रूपमें हम सभीको प्राप्त हैं। यह आपपर, मुझपर, श्रीगोस्वामीजीपर, एवं यहाँ सभीपर भगवान्‌की अनन्त अपरिसीम कृपा है कि प्रभुके भक्त-वात्सल्यका असीम प्रकाश जिनके हृदयमें है, ऐसे सन्त हमें श्रीपोद्दार महाराजके रूपमें प्राप्त हैं। श्रीपोद्दार महाराजका अन्तःकरण वस्तुतः पूर्ण-पूर्णतया वृन्दावनधाम ही है। इन भक्तहृदय पोद्दार महाराजके अन्तःकरणमें प्रेममयी गोपसुन्दरियोंके मनोरथोंको पूर्ण करनेके लिये ब्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण कैसी-कैसी मनोहर लीलायें करते हैं, ब्रजपुरन्ध्रियोंके साथ उनकी रुचिका अनुसरण करते हुए वे उनके साथ यमुनाविहार, झूलन लीला, होली लीला, दानलीला, रासलीला आदि अभूतपूर्व लीलाये सम्पन्न करते हैं। निश्चय ही श्रीपोद्दार महाराजके प्रेममें भगवान् बँधे हैं। उन्होंने अपने चरण-संलालनका, वक्षस्थलपर अपने पुण्य पादपल्लवोंको स्थापित रखनेका इन्हे अधिकार दिया है। श्रीपोद्दार महाराजके लिये भगवान्‌के चरण नित्य सुखसेव्य हैं।"

"अतः लखपत बाबू ! आप तो उनसे ही शरणदान माँगिये। देखिये, मैं तो अब कुछ ही माहका प्राणी हूँ। मुझे तो मरा हुआ प्राणी ही समझें। जीवित भी रहा तो निष्प्रयोजन शवकी तरह मुझे पोद्दार महाराज अपने प्रेमवश भले ही ढोते रहें। अतः अब मैं तो आपके किसी प्रयोजनका हूँ नहीं। अब तो आप श्रीपोद्दार महाराजके ही गले मढ़ जाइये। हाँ, यह अवश्य है कि ये कभी-कभी ऐसा व्यवहार कर उठते हैं कि नये व्यक्तिका साहस नहीं होता कि इन्हें अपनी सेवा समर्पित कर सके। किन्तु श्रीगोस्वामीजी आपको राह दिखावेंगे।"

"वैसे श्रीपोद्दार महाराज ही से आप साधना भी पूछ लीजिये। मैं तो आपको विदा होता हुआ प्राणी यही आश्वासन दे सकता हूँ कि आपकी पत्नी तो मेरी बहिन है ही, आपको भी मृत्युके समय अन्तिम सोलहवीं साँसमें अवश्य-अवश्य श्रीकृष्ण दर्शन देंगे और आपकी सब साध पूरी कर देंगे। आप कृतार्थ हो जावेंगे। "

"इस मेरी बहिन (आपकी पत्नी) को कहियेगा, यह नागपुर लौटनेके पूर्व एक दिवस अवश्य मुझे भिक्षा करा देगी। मेरी छोटी मैया (गोस्वामीजीकी पत्नी) इन्हें सब रीति समझा देगी।" पू.गुरुदेवने इस प्रकार श्रीलखपतरायजीको भी वही अलभ्य वरदान देते हुए विदा दे दी। मुझे पू.गुरुदेवने इन भाग्यवान् दम्पतीको सादर गोस्वामीजीके घर जहाँ वे ठहरे थे, छोड़ आनेकी आज्ञा दी।

उन दिनों मेरी यही दिनचर्या थी। मेरे सामने ही निरे प्रातः पू.गुरुदेव मिलनेवाले व्यक्तियोंकी सूची बनवाते थे। मैं ही ध्यान रखता कि यथासमय सूचीके अनुसार लोग पहुँच पाते हैं या नहीं। श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीकी पत्नी, श्री गगाबाबू (गीताप्रेसके मशीन विभागके प्रमुख), श्रीगुलाबचन्दजी बोथराकी पत्नी, श्री गोवर्धन शर्मा, श्रीरामजीलालजी शास्त्रीकी पत्नी,श्रीमाधव-शरणजीके श्वसुरजी, श्रीवैद्य विद्याधरजी, श्रीजीवबोधनसिंह दरबान, गीताप्रेसके पहलवान दरबान जो उत्सवोंमे ढोलक बजाते थे, सभी आगन्तुक मिलने आनेवालोंको मैं तो मेरे पू.गुरुदेवसे एक ही आश्वासन दिया जाता देखता था, चाहे किसीकी माँग हो अथवा नहीं हो, उनका तो सबको एक ही आश्वासन रहता था, 'भैया ! विश्वास करलो मृत्युकी अन्तिम सोलहवीं साँसमे तुमपर श्रीकृष्ण अवश्य-अवश्य कृपा करेंगे।

मैं सोचता, कैसे हैं मेरे गुरुदेव श्रीराधाबाबा ! श्रीपोद्दार महाराजने तो आजतक उनके दाहिने हाथ श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीदुलीचन्दजी दुजारी,

यहाँतक कि अपने पुत्रोपम जामाता -- किसीको भी यह आश्वासन नहीं दिया कि मृत्युके अन्तिम समयमें तुमपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा बरसेगी, और ये मेरे गुरुदेव राधाबाबा चाहे-अनचाहे, किसीके इष्ट भी श्रीकृष्ण हों या नहीं हों, उन्मुक्त हस्तसे श्रीकृष्णका दान कर रहे हैं। किसीने एक दिवस चाहे दुगुना-तिगुना पारिश्रमिक पाकर भी उनके उत्सवमें ढोलक बजा दी हो, चाहे कोई एक दिवस भी इनका सन्देश दरबान होंनेके नाते किसी वांछित व्यक्तिको पहुँचा आया हो, कोई इनके कृपापात्र श्रद्धावान् सेवक का भले ही, दूरका भी रिश्तेदार हो, किसीने जीवनमें एक दिन भी इनसे सद्भावसहित कभी वार्ता भी करली हो, ये तो उसे मृत्युकी सोलहवीं साँसमें श्रीकृष्णदर्शनका दुर्लभतम वरदान उन्मुक्त कण्ठसे देते जा रहे हैं।

सचमुच ही जैसे नवजलधर विचार नहीं करता उच्च-नीचका, मलिन-पवित्रका, बस, जो भी उसकी छाया तले मात्र एक बार भी आ जाय सबको समान भावसे शीतल जलधाराका दान करता है, इसी प्रकार मेरे गुरुदेव जो भी उनके एक बार भी सम्पर्कमें आ गया, चाहे वह विषयी हो, पापी हो, स्वार्थी हो, अज्ञानी हो, कुमार्गगामी , अनाचारी हो, दैवी सम्पदासे सर्वथा हीन हो, वे तो हेतुरहित, बिना अधिकार-पात्रता देखे, मृत्युके अन्तिम समय सबको भवतापको समूल नाश कर देने वाले श्रीकृष्णके दर्शनका अमोघ वरदान देते चले जा रहे हैं। धन्य ! धन्य ! परम धन्य हो गुरुदेव ! जैसे महाउदार इनके आराध्य, इष्ट हैं, वैसे ही महाउदार ये उनके भक्त, उनके प्रेमी हैं। इनके प्राणप्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनने कब देखा है उच्च-नीचको, उज्ज्वल-तमोमय भावोकी ओर, समान भावसे सबपर जैसे उन्होंने बरसायी है अपनी लीला-सुधाकी – करुणामृतकी मधुरतम धाराको। बालघातिनी पूतनाको मातृगति, त्रिवक्रा कसदासीको प्रथम परिणीता पत्नीका पद, महानिर्दय अघासुर, बकासुर तृणावर्तादि असुरोंको - सभीको अनादि अनन्त संसरणके अवश्यंभावी अन्तका दान, समान कृपावर्षणके ही तो निदर्शन हैं। इससे पूर्व मत्स्य-कूर्म आदि रूपोंमें प्रभुकी कृपाका ऐसा अयाचित दान कहाँ किसे मिला था ? इसी प्रकार श्रीपोद्दार महाराज रूप महापुरुष द्वारा यह कृपावितरण यदि उनके शिष्य श्रीराधाबाबा द्वारा कराया जा रहा है, तो भी इसमें आश्चर्य क्या है ? श्रीराधा-बाबा श्रीपोद्दार महाराजके ही तो अग-अवयव हैं। यदि हाथ दान करते हैं तो भी व्यक्तिको ही दानी कहा जायगा। यदि मुख आशीर्वाद देगा, तो भी

आशीर्वाद तो व्यक्तिके द्वारा ही दिया माना जायेगा। श्रीराधाबाबा और पोद्दार महाराज कोई पृथक् व्यक्तित्व तो थे नहीं। एक भागवती कृपारूप अवयवी (इकाई)के ही तो दो अंग-अवयव हैं। सच्ची ऑखसे कोई देख पावे तो उसे तो यही दृष्टिगोचर होगा कि दोनों प्रकृतिपिण्ड मात्र एक नवजलधर श्यामल रूपके ही पूर्ण निजस्व हैं। इनमें यदि कुछ भी सार है, सर्वस्व है तो वह नवजलधर श्यामंल श्रीकृष्ण ही तो हैं। इस चिन्मयी अलौकिक अनोखी श्याम छटासे ही तो इनका अणु-अणु, अंग-अंग सिक्त है। सचमुच इनके रूपमें यदि किसीके प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की जानी है तो यही कहा जायगा – हे नवजलधर श्यामल अंगकान्तिवाले प्रभो ! आपकी कृपा एवं दयाका बलिहारी है।

# कृपासिन्धुकी उर्मियोंमें उद्दाम नर्तन

पू.गुरुदेवने जबसे काष्टमौनकी उद्घोषणा की थी, मैं अपनेको सर्वथा असहाय एवं मणिहारा फणिनीके तुल्य विनष्ट अनुभव कर रहा था। पू.गुरुदेव भगवत्प्राप्त सिद्ध पुरुष हैं, वे बृषभानुदुहिता राधानुजा, श्रीदाम-भगिनी हैं, उन्हें पराशक्ति महाभट्टारिका भगवती त्रिपुरा सिद्ध हैं, मेरे चित्तमें उनके इस महिमा-समन्वित माहात्म्यकी यावज्जीवन कभी स्मृति ही नहीं हुई। अब तो संन्यासी होनेके उपरान्त उन्हें पू.गुरुदेव करके भले ही सम्बोधित कर लूँ, किन्तु सच्ची बात यही है उस निश्छल कैशोर एवं युवावस्थामें उन्हें माता-पिता एवं सच्चे मित्रके अतिरिक्त कभी कुछ भी जानने-समझनेका अवकाश ही नहीं मिला था। वे मेरे सर्वस्व हैं, उनका कलेवर ही मात्र मेरा धन है, बस, उस सर्वाधिक अनमोल धनको वत्सल नेत्रोंसे देखते-परखते जीवन व्यतीत हो जाये, वे अपने कृपा-प्रसाद स्वरूप जो कुछ भी रूखी-सूखी भिक्षा दे दे, उससे किसी भी प्रकार गृहस्थकी गाड़ी खिंच जाय; उनके पारावार-विहीन वात्सल्यसागरकी उर्मियोंमें अवगाहन करता रहूँ, बस यही भाव मुझमें निरन्तर प्रवाहित होता रहता था। अब तो मेरी एकमेव उसी प्रेमनिधिसे मुझे वंचित हो जाना होगा, यह वेदना मेरे हृदयके लिये असह्य हो गयी थी। "मेरे बाबा भी अब मुझे सर्वथा भूल जावेंगे, उनके बिना मुझे जीवित रहना होगा "– इस चिन्ताका भार मस्तिष्क वहन ही नहीं कर पा रहा था। पू.गुरुदेव के अतिरिक्त उन दिनो मेरी

तो कोई साध ही नहीं थी, मेरा सौहार्द यदि उन दिनों किसीके भी प्रति था, तो गुरुदेवको लेकर ही था। वे ही काष्ठमौन लेकर जीते ही शवतुल्य हो जावेंगे, उन्हे पूर्ण स्पन्दनहीन, निमीलित नेत्र, शून्य काष्ठवत् निश्चेष्ट देखकर मैं कैसे जी पाऊँगा, मेरे हृदयकी पीड़ा यथावत् मैं व्यक्त कर सकूँ, आज भी मेरे पास वाणी नहीं है। नितान्त आर्त्त हुआ 'बाबा-बाबा' कहकर रोता रहूँ, बरसते नेत्र ही मेरे उस भावकी किंचित् अभिव्यक्ति भले कर पावें।

इस अवस्थामें मैंने अपनेको समग्र आर्थिक दायित्वोंसे मुक्त ही कर लिया था। पू.गुरुदेवका द्वारपाल बना उनके सम्मुख ही कुछ दूरीपर बैठा, मैं उन्हें टुक-टुक निहारता रहता था। मेरे सम्मुख ही प्रतिदिन मिलनेवाले व्यक्तियोंकी सूची बनायी जाती। लोगोंको यथासमय आनेके लिये सूचनार्थ चिठ्ठियॉं लिखायी जातीं। मैं बाहरसे आये अतिथियोको उनके निवाससे बुलाकर प्रस्तुत करता था। मैं प्रतिदिन सोचता आज तो इन मिलनेवालोंकी सूचीमे मेरा नाम भी आवेगा। दो शब्द मुझसे भी पू.गुरुदेव बोलेंगे, मेरी भी भविष्य जीवनकी कोई राह वे सकेतित करेगे। किन्तु मेरी आशा सदैव दुराशामें ही परिणत होती रही। इस प्रकार चार माह व्यतीत हो गये। अब तो क्षण-क्षण मिलनेवालोंमें विभाजित हो गया था। अब तो गुरुदेवके पास रात्रिमें मात्र तीन घण्टे शयनके अतिरिक्त सब समय मिलनेवालोंका निर्धारित नियत था। मेरे लिये उनके पास एक क्षण भी नहीं था। अथाह वेदनासे मेरे अश्रु उस दिवस थम ही नहीं रहे थे। बरबस मैं अपनेको रोक नहीं पाया। अर्ध निशामें जब पू.गुरुदेव शयन करने जा रहे थे, मैं उनकी शय्यासे कुछ दूर रखे लालटेनके पास प्रेतकी तरह खडा ही रहा। सोते-सोते उनकी मुझपर दृष्टि पडी। वे बोले 'भैया ! अब तू भी जाकर सो जा।" उनके इतना कहते ही मैं उनके चरणोंमें लिपट गया मेरे गद्गद कण्ठसे इतनी हिचकियॉं निकल रही थीं कि मैं मुखसे दो शब्द भी कहने मे असमर्थ था।

फिर भी किसी प्रकार अपनी व्यथाको सुनानेकी चेष्टा करता इतना ही बोल पाया -"कैसे निष्ठुर हैं आप ? सर्वथा अनाश्रित मुझे आप अनाथवत् छोडे जा रहे हैं, और पॉंच मिनटका समय भी नहीं दे रहे हैं।" ये शब्द भी किसी प्रकार मेरी हिचकियोंमेंसे किसी प्रकार मेरे मुखसे निस्सृत हुए। पू. गुरुदेव जैसे जाग गये उनकी कुटियामें लगे लीचीके वृक्षोपर उनकी दृष्टि चली गई। वे अतिशय [illegible]रात्यभरे स्वरमे बोल उठे "भैया ! तू तो सोच रहा

है कि बाबा सोने जा रहे हैं, परन्तुजैसी तमोगुणी निद्रा तुझे आती है, वैसी नींद तो मुझे नवम्बर १९३६ ई.से ही कभी नहीं आयी है। देख, मेरा देह तो अवश्य इस मछहरीके भीतर घुसकर शयन-नाट्य करेगा, किन्तु मैं तो अभी भी नन्दभवनमें ही हूँ और वहीं श्रीकृष्णकी लीलापात्र बनी कृष्णजननी यशोदाके पास ही अभिनव सुन्दरी एक रमणीके रूपमें खड़ी हूँ। देख, मेरे सामने आज भी न तेरी इस मलिन देहकी स्मृति है, न ही मेरे इस चकलाधर-बेलनधर (अपने पूर्वाश्रमके चक्रधर नामको पू.गुरुदेव उन दिनों इसी प्रकार बोला करते थे )देहकी कोई रूपरेखा मेरे सामने है। यह गोरखपुर शहर, श्रीपोद्दार महाराजका देह सभी तो पूर्णतया विलुप्त हैं। यह देह तो भैया, एक यत्र मात्र है, जो वहाँकी किसी गोपी द्वारा ग्रहीत है। आश्विन पूर्णिमातक तो यह यथावत् उस गोपी अथवा योगमायाशक्ति द्वारा संचालित रहेगा, आगे इसका क्या परिणाम होगा, अभी मुझे कुछ पता नहीं। हॉ, तो भैया, देख, श्रीकृष्ण मेरे सामने ठीक इस समय ऊखलसे बँधे हैं। तुझे यह मेरी निवास कुटी दिख रही है, किन्तु मेरे नेत्रोंमें इस समय यह कुटी पूर्णतया नन्दभवन है। ये लीचीके पेड़ हैं। इनके स्थानपर यहाँ विशाल यमल अर्जुन वृक्ष हैं। देख, मेरे नेत्रोंमे नेत्र मिला– श्रीमद्भागवतकार कहते हैं –

**स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।**
**दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने।।**
**(श्रीमद्भा.१०।९।१८।)**

पुत्रको बाँधनेके प्रयासमे ब्रजेश्वरी नन्दरानीके समस्त अंग-प्रत्यंगोंसे प्रस्वेदकी धारा बह रही है। वेणी तो कबकी ही स्खलित हो चुकी है, मालती मालासे मैयाने जो अपने केशोंको अवरुद्ध कर रखा था, अब तो वही माला भी टूट गयी है। ग्रथित मालती कुसुम देखो, यत्र-तत्र कैसे बिखरे हैं। ये सभी पुष्प पूर्णतया चिन्मय हैं। जननीका यह परिश्रम श्रीकृष्णके नेत्रोंमें भर गया है। और उन्होंने मातासे बँध जाना स्वीकार कर लिया है। देख जननीके जैसे उदर-बन्धनको श्रीकृष्णने स्वीकार कर लिया है, ठीक इसी प्रकार तेरे प्रेम-बंधनकी गाँठ भी मेरे स्वरूपमें लग गयी है। योगमायाशक्तिने इस गाँठको स्वीकार कर ली है। भैया ! देख, तनिक मेरे नेत्र अपने बनाले, और सामने होती लीला देख, "कज्जल मिश्रित अश्रु-प्रवाह श्रीकृष्णके कपोलोंको सिक्त कर रहा है। इन श्रीकृष्णके आकुल नेत्र बार-बार चारों ओर खडी आभीर सुन्दरियोंसे कुछ मूक

विनय, दया-याचना सी कर रहे हैं;कुन्तल राशि मुखचन्द्रपर बिखर गयी है। पर जब वे भैया, अपना बन्धन भी नहीं तुड़ा सकते, तो चाहे वे मुझे कितना ही काष्ठमौनी बना दें, तेरे प्रेमबन्धनसे कैसे मुक्त कर देंगे ?

अब, देख, तुझे आगे होती हुई लीला सुनाता हूँ। श्रीकृष्णको जननीने ऊखलमे बाँध दिया, यह समाचार पाकर श्रीकृष्णके सभी सखा दुर-छिपकर नन्दभवनमें बन्धनग्रस्त अपने प्राणप्यारेके पास पहुँच गये हैं। अपने प्रिय सखाको जननीके बंधनसे मुक्त करनेके लिये वे अतिशय व्याकुल हैं। अपनी विंविध बालचेष्टाओसे वे सभी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति सौहार्द एवं सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं। साथ ही उन्हें यह भय भी है कि जननी नहीं आ जाय। रह-रहकर एक उस प्रांगणकी ओर जाकर देख आता है कि मैया क्या कर रही है।

देख, एक शिशु धीरेसे श्रीकृष्णचन्द्रके पास आता है, और ऊखलमें बँधे श्याम सुकोमल अंगोंको हाथसे संस्पर्श करता है। देख, यह सखा पुनः-पुनः जननीके भयसे किस प्रकार पीछेकी ओर हट-हटकर सशंकित देखता जाता है। उसके मनमें एक युक्ति आयी है। वह श्रीकृष्णके कानमें कहता है –"भैया कनू ! यह गाँठ तो हम सब मिलकर भी खोल नहीं सकते। मैयाने यह गाँठ पहलेसे ही बहुत सावधानीपूर्वक लगायी है, यह गाँठ ऊखलके पिछवाडे कसकर लगी है और यह ऊखल बहुत भारी है। हाँ, यह उपाय अवश्य है कि यदि यह ऊखल हम सब मिलकर ठेलते हुए इन अर्जुन वृक्षोंकी ओर ले चलें, और वृक्षके मध्यसे तू किसी प्रकार निकल जाय तो यह उखल वृक्षोंके मध्य बडा भारी होनेसे अटक जायगा। हम लोग मिलकर इसे टेढा भी कर देंगे। अब तू यदि उस पारसे डोरीको पूरे बलसे झटका दे दे, तो यह डोरी टूट जायगी। बस डोरी टूटी नहीं कि तू हमारे साथ भाग चलना।"

"और देख भैया, श्रीकृष्णकी कैसी ध्यानछवि मेरे नेत्रोंमें इस समय व्यक्त हो रही है। बालवेषधारी श्रीकृष्ण अपने दोनो घुटने एवं हाथ पृथ्वीपर टेके हुए हैं। उनके चारो ओर उनकी सखामण्डली उन्हे घेरे है। शिशु अपनी फेटें करो हैं। सखाओंमें जिन्हें किंचित् भी बलका अभिमान है, वे ऊखलमे धक्का लगा रहे हैं। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे खींच रहे हैं। प्रियतम श्रीकृष्णके अरुण अधरोंपर उनके सुचिक्कण

अरुणाभ कपोलोंपर श्रमके सूचक चिह्न स्पष्ट अंकित हो जाते हैं। ऊखल भी धीरे-धीरे ही सरक रहा है। "

"इस लीलाका अर्थ समझले भैया ! मैं तुझसे क्या बात करूँ ? एक दिन यदि तू रोकर – कुछ कह-सुनकर मेरा समय लेकर संतुष्ट भी होगया, तो वह तेरा सन्तोष क्या अर्थ रखेगा ? मैं उन्हीं लोगोंसे बात करता हूँ, उन्हें ही अधिकतम समय दे रहा हूँ, जो मुझसे अभी पूरे जुड़े नहीं हैं। वे किसी प्रकार मुझसे अपना आत्मीय सम्बन्ध प्रगाढ करले, उनसे बात करनेका, उन्हें अधिक समय देनेका मेरा इतना ही उद्देश्य है। अथवा मैं उन लोगोको अधिक समय दे रहा हूँ जो पोद्दार महाराजको किसी-न-किसी पारिवारिक उलझनमें डाल सकते हैं। श्रीपोद्दार महाराजका मेरेसे ऐसा अटूट आत्मीय सम्बन्ध है कि मेरे काष्ठमौन कालमें ये लोग उन्हें किसी परिस्थितिजन्य कठिनाईमें नहीं डाल दे – इसकी आशंका मैं जिन-जिन व्यक्तियोंसे कर रहा हूँ, किसी प्रकार समझा-बुझाकर उन्हे उससे निवृत्त करनेके लिये मेरा अधिकांश समय जा रहा है। भैया ! तू तो मुझसे अखण्ड जुडा ही है। अकेले तुझको ही नहीं, मुझे तो तुझसे सम्बद्ध जो प्राणी अटके हैं , उन्हे भी खींचते-ढोते इन अर्जुन वृक्षोंकी तरह समूल उत्पाटित करना ही है। अतः अब बोल ! तुझे ऊखलवत् खींचूँ या तुझसे गप्पें लगाकर थोडा-सा जो सीमित समय शेष है, उसे निरर्थक व्यतीत कर दूँ । अभी भी तूने मेरा वह अनमोल समय बातोंमें समाप्त कर दिया, जिसमें मुझे श्रीकृष्ण न जाने क्या-क्या पारमार्थिक निर्देश देने वाले थे। हमारी दोनोकी गोष्ठी दिनभर इन रजोगुणी लोगोंके मध्य तो हो नहीं पाती, यही मध्य रात्रिके पश्चात् कुछ समय मिल जाता है, जब लोग समझते हैं, बाबा सो रहे हैं, और हम दोनों अपने हृदयकी कुछ अपनत्व भरी बातें कर पाते हैं। अब वह समय भी तूने मेरे प्रति अविश्वास प्रकट करके बर्बाद कर दिया। तुझे यह मेरा समय खर्चकर मानसिक सतोष मात्र ही तो होगा। जो तथ्य है, जो वहन करना है, वह तो मुझे ही ढोना है। अतः विश्वास कर और सो जा। जो हो रहा है , वह सब तेरे लिये अशेष मंगलकर है।" अब मेरे पास पू गुरुदेवको उत्तर देनेको कुछ भी तो शेष नहीं था। मैं चुपचाप निम्नमुख किये उन्हें सुलाकर चला आया।

दूसरे या तीसरे दिनकी घटना कह रहा हूँ। श्रीरामनिवासजी ढंढारिया पू गुरुदेवके अतिशय भावुक प्रेमीजनोंमेंसे एक थे। वे कलकत्तेसे पू. गुरुदेवसे

मिलने आये थे। आजका पूरा दिन ही कलकत्तेके भक्तों – भाई रामनिवासजी ढंढारिया, गजानन्दजी सरावगी, बाई इन्दु (गजानन्दजीकी पत्नी),बाई रमा (उनके छोटे भाईकी पत्नी)को दिया गया था। गजानन्दजीकी माता पू.गुरुदेवके मातृवर्गमें प्रमुख थीं । उसके वात्सल्यभावकी प्रगाढ़ता तो अकल्पनीय थी।

श्रीरामनिवासजी पू.गुरुदेवके चरणोंमें लिपटे अनवरत दो घण्टेसे बिलख-बिलखकर रो रहे हैं । मैं उनके पास ही खड़ा हूँ। वे बार-बार पू. गुरुदेवसे एक ही प्रश्न कर रहे हैं – 'आप क्यों काष्ठमौन ले रहे हैं ? अन्ततः श्रीकृष्ण आपको क्यों हम लोगोंसे विलगकर ऐसा घोर उग्र तप करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं ? हम लोग सौ-दो सौ जन्म लेकर अपना कर्म-प्रारब्ध भोगेंगे। कर्म हमने किये हैं, उनका प्रारब्धभोग हम लोग जन्मेंगे, मरेंगे, भोगेंगे। अनादिकालसे यही सब तो करते आये हैं ! आप क्यों हम सबके कारण जीवित रहतेहुए शववत् हों ?'

पू.गुरुदेवके अधरोंमें मन्द मुसकान है। उनकी दृष्टि केन्द्रित है भाई रामनिवासके अश्रुसिक्त मुखपर। श्रीरामनिवासजी उत्कण्ठायुक्त हुए बार-बार अपने ललाटको पू.गुरुदेवके चरणतलोंसे रगड़ रहे हैं।

इधर श्रीगजानन्द सरावगीकी पत्नी इन्दुके अश्रु थम ही नहीं रहे। वह और रमा दोनों मूक वाणीमें भाई रामनिवासके प्रीति-हठका अनुमोदन कर रही है। इन दोनोंके आँचल बहते अश्रुओंसे सिक्त हैं।

मैं दूर खडा इन सभीकी प्रेमदशाको देख रहा हूँ। मुझे पू.गुरुदेव द्वारा बतायी विगत रात्रिकी सब बातें स्मृत हैं। किन्तु मैं किस मुखसे उन्हें समझाऊँ ? मेरी बातका रामनिवासजीके सम्मुख महत्व भी तो कुछ नहीं है ! मैं तो मन-ही-मन पू.गुरुदेवके प्राणपति प्राणाराध्य श्रीकृष्णकी वन्दना करने लगता हूँ –

"स्तवनीय श्रीकृष्णचन्द्र ! तुम्हें नमस्कार है। विश्वमें एक मात्र तुम्हीं वन्दनीय हो, नाथ ! अहा ! नवजलधरकान्तिवाले प्रभु तुम्हें नमस्कार है। स्थिर सौदामिनी सदृश पीताम्बरधारीके लिये मेरे अनन्त प्रणाम हैं। वन्य पत्र-पुष्प-रचित मालाधारीके लिये मेरी वन्दना है। गुञ्जासे रचित कर्णभूषणसे , चूड़ाके मयूरपिच्छसे परिशोभित मुखवाले श्रीकृष्ण ! इस चक्रधर स्वामीरूप अपने यंत्रके मुखसे दो शब्द भाई रामनिवासके सन्तोषके लिये उच्चारण कर दो ! कज्जलमिश्रित अश्रुप्रवाह जिनके कपोलोंको सिक्त कर रहा है, जिनके आकुल

नेत्र बारंबार आभीर सुन्दरियोंसे बन्धनमुक्त होनेके लिये कुछ मूक प्रार्थना, दयाकी याचना-सी कर रहे हैं, कुन्तलराशि जिनके मुखपर बिखर गयी है, वे अतिशय करुण अवस्थामें हम लोगोंके कर्म-प्रारब्ध रूप भारी ऊखलसे बँधे हैं, हे गैरिक वस्त्रधारी राधाबाबा स्वामी रूप प्रभु ! आपको अनन्त नमस्कार हैं। लीलाविहारिन् ! दामोदर ! हे परम कल्याणस्वरूप ! हे विश्वमगल-विधायक, हे गोपते ! आप अनन्त वन्दनीय हैं।"

मैं प्रार्थना कर ही रहा था। अचानक पू.गुरुदेव बोल उठे –" भैया रामनिवास ! तुझ अन्धेको – नेत्रहीनको सब कुछ विपरीत दिख रहा है। तू समझ रहा है कि तेरी ही तरह यह पंचभूतका पुतला साधुबाबा कोई ब्रत, तप करनेको काष्ठमौन ले रहा है। किन्तु भैया, यह सर्वथा सत्य नहीं है। इस पंचभूतके खोखलेमें निबद्ध चक्रधर बाबा रूप साधु तो कबका ही मर चुका है। उसे चाहे मृत मानले, अथवा श्रीकृष्णसिन्धुमें डूबा समझ ले। दोनों बातें एक ही सत्यको प्रकट कर रही हैं। हॉ, यह सत्य है कि मरनेवाला पुनः जन्म ले लेता है और यहॉ ऐसा हुआ है कि इसकी तो मृत्युकी भी सदा-सदाके लिये मृत्यु हो चुकी है । अब यदि तू ऐसा समझता है कि श्रीकृष्ण क्यो काष्ठमौन ले रहे हैं ? तो यह उनकी अनन्त कृपामयी लीला है। उनसे आजतक कोई क्यों एवं किसलिये पूछ ही नहीं पाया है। वे अनन्त लीलामय क्यो पूतनाका कराल विषपान करते हैं, वे क्यों बकासुरके द्वारा निगले जाते हैं , वे क्यो ाासुरके पेटमें प्रवेश करते हैं , वे क्यों कालिय-हृदमें कूदते हैं – आजतक किसीको इन प्रश्नोका उनसे पूछनेका साहस नहीं हुआ है।

जिस प्रकार तू बिलख-बिलखकर रो रहा है, ठीक इससे भी अनन्त गुनी वेदना लेकर उस दिवस वन-विहंगम आर्त्तनाद कर उठे थे। तरु-वल्लरियॉतक प्रकम्पित होकर कॉप उठी थीं, वन्य मृग, कपिदल सभी तो मर्मभेदी रवमें रुदन कर उठे थे; उस दिवस बलरामजी एवं सभी गोपशिशुओकी वेदनाका तो यहॉ कोई अनुमान ही नहीं कर सकता है, जब श्रीकृष्णने बकासुरके उदरमें प्रवेश किया था। यहॉं मेरे काष्ठमौन लेनेपर तो कोई भी चेतनाशून्य होनेवाला नहीं है, चेतनाशून्य होना तो बहुत दूरकी बात है, मेरी मृत्यु भी यदि हो जाय तो भी तुम सभी पाप, चोरी, भोगवासनाका त्याग भी करने वाले नहीं हो। मैं, यह नहीं कहता कि तुम्हें दुःख नहीं हो रहा, किन्तु तुम्हारा दु:ख मात्र दो क्षणका भावुक विचारप्रवाह मात्र है। उसमें तनिकसा भी स्थायित्व नहीं है। मेरे

काष्ठमौन लेनेसे एकको भी चिरस्थायी दुःख नहीं होने वाला। किन्तु श्रीकृष्णको इस बगुले द्वारा निगले जानेपर तो सभी गोपालकोंके, गायोंके, वनचरोंके शरीर ही निष्प्राण हो गये थे। किन्तु इन सबको प्राणहीनतातकका कष्ट देकर श्रीकृष्ण क्यो बकासुरके द्वारा निगले गये ? तुझे पता है मेरे भीतर कौन तुझसे बोल रहा है ? मेरे इस सत्यको यदि कोई भी ठीक अनुमोदित कर सकता है तो वे एक अकेले श्रीपोद्दार महाराज हैं। मेरे रोम-रोमको अनुप्राणित वह शक्ति कर रही है जिसकी एक आंशिक अभिव्यक्तिके लोमकूपमें असंख्य ब्रह्माण्ड त्रसरेणु (धूलिकण)की तरह जन्म लेते हैं और विलीन होते रहते हैं; वे जगत्स्रष्टाके भी सृष्टा हैं। तब क्या उनसे तू पूछनेका साहस कर सकता है कि बकके मुखमें वे परमस्नेही अपने सखाओको प्राणान्तक कष्ट पहुँचाकर क्यों समा गये ? क्या उन लीलामयने अपनी प्राणोपम यशोदामैयाको प्राणान्तक कष्ट नहीं दिया था, जब तृणावर्त द्वारा वे उड़ा लिये गये थे ? तो पूछ उनसे कि उन्होंने अपनी ऐसी वात्सल्यमयी माताको प्राणान्तक कष्ट देकर तृणावर्त लीला क्यों की थी। क्यों उन्होने पूतनाका कालकूट विषपान किया ? पूतनाको मातृगति तो वे सहज संकल्प करके भी दे सकते थे ! फिर वे क्यों अघासुरके पेटमें समाये ? उनकी सर्वज्ञताने तो अघासुरकी दुरभिसन्धिको देख ही लिया था। श्रीकृष्णचन्द्र सर्वान्तर्यामी स्वरूपमें तो नित्य ही स्थित हैं ही। जब सर्वभूत हृत्स्थित श्रीकृष्णने सब कुछ जान लिया था, कालका व्यवधान जब वहाँ है ही नहीं, तो परस्पर भ्रमपूर्ण आलाप करते अपने सखाओंको जो प्राकृत अघासुर अजगरको वृन्दावनकी शोभा मान रहे थे, उन्हें उनकी बुद्धिवृत्तिमे यह प्रेरणा देकर कि यह अघासुर अजगर है, उन्हें पहले ही उसके मुखमें प्रविष्ट होनेसे रोक सकते थे। उन अपने सखाओंकी समस्त इन्द्रियवृत्तियोंको विषकी ज्वालामे धू-धूकर जलानेमें उन्होंने कौनसा सदय व्यवहार किया था ? पहले अपने निजजनोंको इस प्रकार विषज्वालामें दग्ध कर मार डालना फिर उन्हें संजीवित करने स्वयं उस मृत्युकी जठराग्निमें आहुति बन स्वाहा होना, कौन सी तुककी बात है ? परन्तु ऐसा क्यो किया, क्या कोई उन प्रभुसे पूछ सकता है ?

भैया ! मेरे प्राणवल्लभ प्राणाधार ज़ीवनसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपा-सिन्धुकी उर्मियाँ इसी प्रकार प्रवाहित होती हैं। उनकी गति सपाट है ही नहीं। वे तो नित्य कभी ज्वार बनकर उमड़ती-उफनती हैं, कभी भाटा बनकर

अपसर्पित हो, दूर-सुदूर पीछे चली जाती हैं, तटको निर्जल पंकवत् बना देती हैं, फिर कभी वक्रगति लेती हैं, अनन्त पारावारविहीन कृपा-सिन्धु मेरे प्रियतमका यही स्वभाव है। वे स्वयं अघासुरके पेटमें चले जाते हैं। देवोंके हाहाकारसे अन्तरिक्ष पूर्ण हो उठता है। अमर मण्डल चीत्कार कर उठता है। ऋषि-मुनि ही नहीं, सत्यलोक एवं शिवलोकतक आर्तनाद भर उठता है। तो क्या अपने भक्तोंका यह चीत्कार, हाहाकार, विलाप, आर्तनाद श्रीकृष्णचन्द्रके कर्णरन्ध्रोंमें पहुँचता नहीं है ? क्या वे सुनते नहीं, बहरे हैं ? वे सब सुनते हैं, किन्तु उनका स्वभाव ही ऐसा है। भयानक विलाप, रुदन, हाहाकार, चीत्कारमें शीतल, शान्त, अक्षुण्ण बने रहना, घोर विष-ज्वालामें भी नित्य, अव्यय, सर्वथा क्षय रहित रहना उनका नित्य शाश्वत स्वभाव है भाई ! क्षण-क्षणमें हर्ष-ध्वनिको हाहाकारमे, और हाहाकारको हर्षध्वनिमें बदलते रहना उनका लीलाक्रम है।

भैया ! मैं इसे नित्य प्रत्यक्ष स्पष्ट जानता हूँ कि मेरे प्रियतम श्रीकृष्णकी लीला चाहे कितनी ही हाहाकारमयी, दुःखभरी हो, उनके पास ऐसी विलक्षण कृपामृतवर्षिणी दृष्टि है कि वे बस, उससे किसी घोर पापी-से-पापीको भी एक बार स्पर्शमात्र करलें, बस वहाँ कल्याण-ही-कल्याण, मगल-ही-मंगल प्रवाहित हो जाता है। और सारा विष, अमगल, पाप, अनाचार, ज्वाला-ताप, नारकीय विधान, अघ महामरकत श्यामल श्रीअगोंमे विलीन-समाहित हो जाता है। बस, भाई रामनिवास, यह मेरा काष्ठमौन उसी महामरकत श्यामल श्रीअगोंमे तुम सबके अमगलको समूल समाहित कर देनेकी मात्र एक भूमिका है। भाई ! खूब प्रसन्न होओ, चतुर्दिक् मंगल-ही-मंगल है, कृपा-ही-कृपा, आनन्द-ही-आनन्द है, भाई !

अब भाई रामनिवासके पास रोनेको शेष रहा ही क्या था ? यह सब पू.गुरुदेवकी वार्ता दूरसे सुनता मैं गा उठता हूँ –

**हौं वारी, नान्हे पाइनिकी दौरि दिखावहु चाल ।**
**छाँडि देउ तुम लाल ! अटपटी यह गति मंद मराल ।।**

—○○—

# संप्लावन ही संप्लावन

अन्ततः वह दिवस आ ही गया, जिस दिवस पू. गुरुदेवको काष्ठमौन लेना था। अब तो पू.गुरुदेवके रससागरके सम्प्लावनमें मात्र कतिपय घण्टे ही शेष हैं। ऐसे अनेक लोग हैं जिन्हें पू.गुरुदेवने आश्वासन दिया था कि "तुझे भैया, पर्याप्त समय दूँगा कि तू तृप्त हो जायगा। मैं किसीको असतुष्ट रखकर मौन नहीं लेने वाला।" उन सभीके साथ अनचाहा संयोग ऐसा बना है कि इन लोगोंको पू.गुरुदेवके द्वारा एक-दो मिनटका भी समय नहीं मिल पाया है। श्रीशिवनाथजी दुबेकी पत्नी महीनोंसे धानापुरसे गोरखपुर आकर बैठी है, प्रत्येक दिन जब दुबेजी उसकी स्मृति पू.गुरुदेवको कराते हैं, उन्हें यही उत्तर मिला है -- "दुबेजी, मेरे सत्यपर विश्वास करिये, मैं आपकी पत्नीको कृतकृत्य करके ही काष्ठमौन लूँगा, मुझे उसे पर्याप्त समय देना है। श्रीदुबेजी आज भी प्रातः पू.गुरुदेवके पास पहुँचे हैं, और उन्हे पूर्ववत् वही उत्तर मिला है। वे अब भी आश्वस्त हैं कि उन्हें संभव है आज पू.गुरुदेव अवश्य समय देंगे। इसी प्रकार श्रीहरिद्वारीमलजी टीबडेवाल, डा.ए.सी.साहा, आदि पडरौनाग्रामके पू. गुरुदेवके पुराने श्रद्धालु भक्त हैं, इन्हें भी यही आश्वासन मिला था कि मैं आपको पर्याप्त समय दूंगा। किन्तु ये दोनों लोग बहुत ही उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते-करते चतुर्दशीके दिवस तो अधीर ही हो उठे। उस दिन भी उन्हें यही उत्तर मिला था कि बात अवश्य होगी। किन्तु पूर्णिमा आ गयी और पूर्णिमाका भी अपरान्ह काल आ गया। पू.गुरुदेव किसीको भी कोई समय नहीं दे पाये। जब भिक्षा करके पूर्णिमाको लगभग सायं पू.गुरुदेव बाहर निकले तो श्रीशिवनाथजी दुबेने पुनः उनसे अपनी पत्नीके बारेमें पूछा। पू.गुरुदेवने उनसे कहा- 'मैं आपकी पत्नीको प्रत्येक दिवस पूरा-पूरा समय दे चुका हूँ, अब मेरे पास कोई समय नहीं है।' श्रीशिवनाथजी दुबे पू.गुरुदेवकी उक्तिसे हतप्रभ हैं। उन्होने कहा 'बाबा ! प्रत्येक दिवस मैं आपको स्मृति अवश्य दिलाता था, परन्तु आपने उसे समय नहीं दिया।' किन्तु पू.गुरुदेवकी यही रट रही -- 'मैं उसे इतना समय दे चुका हूँ, जितना किसीको भी मैंने नहीं दिया। मैं उससे बहुत अच्छी प्रकार पर्याप्त कालतक बात कर चुका।' अब श्रीदुबेजी क्या बोलें ? वे निराश-दुखी होकर लौट गये हैं। उनका यही समाधान है कि दिन-रात लोगोसे बोलते, रात-रात भर जागनेसे पू.गुरुदेवका मस्तिष्क विकृत हो गया

है। उनकी स्मृति ही नष्ट होगयी है। यही दशा श्रीहरिद्वारीलालजीकी है। परन्तु उनपरं पू.गुरुदेवकी ऐसी कृपा है कि उनके सम्मुख पू.गुरुदेवने स्थिति स्पष्ट कर दी है। पू.गुरुदेवने उनसे कह दिया कि मैंने आप दोनोंको श्रीकृष्णसे जुड़े मनसे स्मरण कर लिया है। भगवान् श्रीकृष्णके यहाँका एक क्षण इस संसारके कालमानसे तो अनन्त गुना बडा होता ही है। अब यदि भगवदीय एक क्षणकी अवधिमें भी यदि किसीका पू.गुरुदेवने स्मरण कर लिया तो उससे घण्टोंकी अवधिकी वार्त्ता हो ही गयी है। दूसरे, जो परमार्थवस्तु देहगत बातचीतसे किसीको मिल ही नहीं सकती, वह अनमोल परमार्थ वस्तु श्रीकृष्णके साक्ष्यमें पू.गुरुदेबके द्वारा यदि दे दी गयी है, तो यह दान लौकिक बातके समाधानसे तो निश्चय ही बढ़कर बन ही गया है।

किन्तु शिवनाथजी दुबे इन मात्र बातोंसे समाधान नहीं कर पा रहे थे। अस्तु, संख्यामें ऐसे शताधिक लोग थे जिन्हें पू.गुरुदेव समय नहीं दे पाये।

क्रमशः काष्ठमौनव्रत ग्रहण करनेकी बेला समीप आती चली जा रही थी। पर्याप्त मात्रामे रासपूर्णिमाके प्रसादके लिये खीर बनी थी। भोग लगाकर सभी भक्तोंमें वह खीर वितरित की जा रही थी। लोग प्रसादके रूपमें खीर प्रसाद ले रहे थे, किन्तु पू.गुरुदेवके जीवनव्यापी बिछोहकी परिकल्पनासे विरह भावनाओंकी विकलतामें वह खीर बेस्वादी हो उठी थी। मुझे तो लगता है , वे दिन और रातें अब कभी नहीं आने वालीं, जब पू.गुरुदेवसे आध्यात्म एवं प्रीति जगत्की गूढ-से-गूढ बातें करते-करते समयका ज्ञान ही नहीं रहता था। मनुष्य एक-दो घण्टेके सत्संगमें ही नीरसता अनुभव करने लगता है, किन्तु पू. गुरुदेवके सान्निध्यमें तो न जाने कैसा आकर्षण होता था, अनवरत बहत्तर-बहत्तर घण्टे हम लोग उनसे परमार्थ जगत्की गूढ़-से-गूढ़ तत्त्व-रहस्यकी बातें सुनते रहते थे और न थकान होती थी और न ही नीरसता होती थी। आज एकत्रित इन हजारों व्यक्तियोंमें मुझे तो एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखा था जिसका हृदय भीतर-ही-भीतर चीत्कार नहीं कर उठा हो।

अब तो वह बल्लियों एवं टीनसे बना पण्डाल भी नहीं रहा, जहाँ राधाष्टमी महोत्सव मनाया जाता था एवं जिस पण्डालमें पू.गुरुदेवने मध्य रात्रिके समय काष्ठमौन लिया था। रात्रिमें दस बजेसे ही सभी भक्तगण पंडालमें आकर बैठने लगे थे। हजारों लोग बैठे थे। सभीकी आँखामें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा ही भरे थे। वे प्यारभरी आँखें, वे सरस प्रेरणाभरी बातें अब स्वप्न

हो जावेंगी, इसके अनुमान मात्रसे ही सभीके अन्तरमें हाहाकार मचा हुआ था। परन्तु अपनी व्यथा कौन किसको कहे, एवं क्या कहे ? कौन ऐसा था जो भीतर- ही-भीतर इस दारुण व्यथासे टूट नहीं गया हो ।

पू.गुरुदेव एक ऐसा असिधाराव्रत स्वीकार करने जा रहे हैं, जिससे भक्तिभावना भी महिमान्वित हो उठे, इस गरिमासे जो पू.गुरुदेवको अपना मानते थे, उनका हृदय परमानन्दपूर्ण गौरवभावोंसे भावित हो उठता था, परन्तु उस समय तो उस गौरवभावको आच्छादित किये हुए थी एक ऐसी अदम्य तीखी वेदनाभरी टीस, एक ऐसी कसक जिसका कहीं निराकरण सभव ही नहीं था। ऐसा निर्धारित हो गया था कि ठीक बारह बजते ही मध्यरात्रिमें पू. गुरुदेव मौनव्रती हो जावेंगे। पू.गुरुदेवने अन्तिम मिलनेका समय पू.पोद्दार महाराजको दिया था। इसके पूर्व श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगला (श्रीपोद्दार महाराजके जामाता) अ.सौ. सावित्रीबाई (श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री) अ.सौ. माताजी(श्रीपोद्दार महाराजकी पत्नी ) आदि इन सबको तो पर्याप्त समय वार्ताके लिये दे ही दिया गया था।

पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराजकी सर्वथा एकान्तमें कुछ देर अवश्य वार्ता हुई। इसका विषय क्या था, यह तो वे ही जानें, किन्तु बाहर खड़े लोगोंने जिनमें लेखक भी एक था, यह अवश्य देखा कि पू.पोद्दार महाराज कुटियासे बाहर निकलते समय रूमालसे अपने अश्रु पौंछ रहे थे। श्रीपोद्दार महाराज पू. गुरुदेवको साथ-साथ लेकर लगभग ग्यारह बजे कुटीसे निकले। पू.गुरुदेव थोडी ही दूर जा पाये होगे कि मैंने दौड़कर उनके चरण पकड़ लिये। "बाबा ! मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करें" — मैं फफक-फफककर रो रहा था। पू.पोद्दार महाराजने मुझे उनके चरणोंसे उठाया। अचानक पू.गुरुदेवने मेरा हाथ श्रीपोद्दार महाराजके हाथमे पकड़ाते हुए कहा — " भाईजी ! मेरे मौन लेनेसे यह अपनेको सर्वथा अनाश्रित, अनाथ अनुभव कर रहा है, इसे आपको सँभला रहा हूँ।" मैंने उसी समय पोद्दार महाराजको प्रणाम किया। बस, स्नेहभरी आँखोंसे एक अतिशय प्यारी दृष्टि डालते हुए पू.गुरुदेव आगे अग्रसर हो गये थे।

पंडालमें अनेक काष्ठ चौकियाँ लगाकर मच बनाया गया था। उसीपर पू.गुरुदेव एवं पू.पोद्दार महाराज विराजित हो गये थे। यद्यपि उस समय पू. गुरुदेव एव पोद्दार महाराजके निकट बैठे लोग भारतके अत्यधिक समृद्ध

लोगोमेंसे थे, किन्तु सभी अतिशय दैन्यभावसे समाहित थे। जिन ऑखोमें धनका मद सदा ही छाया रहता था, वे भी आज अपने नासाछिद्रोंमें व्यथा भरे दीर्घ निश्वास ले रहे थे। क्या प्रभाव था, मेरे पू.गुरुदेवका कि आज भक्तिरसकी आर्द्रता सभीको स्निग्ध, विनम्र बनाये थी। डालमिया, बाजोरिया, गोयनका आदि वैभवशाली परिवारके लोगोंमें देवविग्रहतुल्य सात्विकता दृष्टिगोचर हो रही थी। सर्वत्र यही दिख रहा था कि सभी आज पू.गुरुदेवके पादपद्मोंका पावन स्पर्श पाकर परम कृतार्थताका अनुभव कर रहे हैं । गीताप्रेसके प्रमुख पदाधिकारी, गोरखपुरके भी साहबगंजके व्यापारी, सभी तो इस समय अंजलि बॉधे इस सुदुर्लभ अवसरका लाभ ले रहे थे। पंडाल खचाखच भर गया था। पू.गुरुदेवकी वरदायी दृष्टि आबालवृद्ध एक-एक व्यक्तिपर पड़ती और सरकती जा रही थी। पू.गुरुदेव जैसे अपने आराध्य प्राणपति श्रीकृष्णसे कह रहे थे – हे विश्वविधाता ! इस स्थावर जगम सम्पूर्ण परिदृष्यमान जगत्की रचना तुमने ही तो की है। तुम्हीं सोचो, स्वामिन् ! गुणोंके भेदसे यह विस्तार, नानाविध स्वभाव, देहशक्ति, इन्द्रियशक्ति, मातृशक्ति, पितृशक्ति, वंश-परंपरानुगत वासना आकृति – इनसे विशिष्ट यह विविध वैचित्र्यमय विश्व सभी मेरे प्राणपति ! तुममे ही तो सृष्ट है, और तुममें, तुमसे ही निर्मित जाति, स्वभावसे ये जैसे हैं, सभी तुम्हारी मायासे ही नितान्त मोहित हैं। भला बताओ, प्राणपति, तुम्हारी कृपाके बिना तुम्हारी ही दुरत्यज मायाको इनके द्वारा मात्र कहनेभरके सत्संगसे पार कर लेना क्या संभव है, भगवन् ?

हे जगन्नियन्ता ! मायाकृत बन्धनमें तथा मायापाशसे मुक्तिदानमे तुम्हीं तो मुख्य हेतु हो। अब तुम स्वेच्छासे , अथवा तुममें पूर्णतया आप्लावित होते मेरी इस अन्तिम तुम्हारे ही द्वारा सृजित कृपाप्रेरणासे इन सबके प्रति निग्रह नहीं, अनुग्रहवान् हो जाओ। प्राणपति ! इनके कर्मानुसार यदि तुम्हारे न्याय-विधानके रक्षार्थ यदि निग्रह अवश्यंभावी ही हो तो वह करुणामय ! मेरे देहपर डाल देना, इन्हें तो अपने जीवन-पथमें तुम्हारी परम कल्याणमयी कृपा-ही-कृपाका सुदर्शन हो, बस प्रभो ! मेरी इस अन्तिम इच्छाको पूर्ण कर देना । देव ! दयानिधान !

इधर 'विदा' होनेवाले पू.गुरुदेवके मुखपर सभीकी दृष्टि गड़ी हुई थी। लोग रह-रहकर देख लेते थे, पू.पोद्दार महाराजको भी। किन्तु पू.पोद्दार महाराज तो कल भी सुलभ होंगे ही। यह संन्यासी वेषमें विराजित साधु राधा- बाबा तो

कल बात करनेको सुलभ नहीं होगा, अब कभी भी सुलभ नहीं होगा, अतः सभीकी चकोरवत् टकटकी लगी थी, पू.गुरुदेवके मुखमंडलपर उभरती-मिटती भाव-रेखाओंपर। उस समय सभी अपनी ऑखोंसे पू.पोद्दार महाराजके पार्श्वमें विराजित पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको पी जाना चाहते थे। विदाईका अवसर तो आ ही गया था। इस अवसरपर पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने जो कुछ कहा– उसका यथाशक्य लिखागया सार रूप इस प्रकार है –

" जीवनमें कोई बिरला अभागा प्राणी ही मरते समय झूठ बोलता है। मेरा अनुभव है, वह किसी विवशता या दबावसे ऐसा करता है। मैं मरने जा रहा हूँ।

**जो कछु लिखि राखी नँदनन्दन मेटि सकै ना कोय ।'**

बनमे धूमता भौंरा चम्पापर नहीं बैठता है। क्या उसमें सौन्दर्य नहीं, और क्या इसमें रसकी वासना नहीं ? चम्पा खूब सुन्दर है और भौंरा रसका लोभी है, पर ईश्वरेच्छा बलवान है । मैं स्नेहकी वन्दना करने आया हूँ।

काष्ठमौन बडी चीज नहीं है, यह संन्यासियोंका आचार है और अवश्य करना चाहिये। संन्यासकी मुझमें कोई वस्तु नहीं है। मनमें लगा कि शेष समयका ऐसा ही उपयोग हो। यह यतियोंका आचार है। काष्ठमौन गंगातटपर ही धारण करनेका नियम है। उत्तम वस्तु तो यह है कि शरीरपातके लिये चल पडे गंगाके मूल स्रोतकी ओर, गंगाके प्रवाहमे जल पीये, भूखमें कोई पूछे तो हाथ फैला दे। खाने लायक हो तो खा ले, नहीं तो गिरा दे। वस्त्र गिर गया हो तो अपने आप न बॉधे, दूसरा कोई बाँध दे तो बॉध दे ।

मेरा काष्ठमौन 'अधूरा' है, क्योंकि मेरी सुख-सुविधाकी सारी व्यवस्था श्रीभाईजी कर रहे हैं, भिक्षा यहॉ ले रहा हूँ। श्रीभाईजीका मेरे प्रति स्नेह है। उसका मैं गहराईके साथ निरन्तर अनुभव करता हूँ। मैं श्रीभाईजीसे मिलने गया, जाते ही श्रीभाईजीकी ऑखोंसे ऑसूकी धारा बह चली। श्रीभाईजीके सम्बन्धमें अधिक नहीं कहूँगा। वे इसी स्थानपर हम सभीके सामने विराजित हैं। श्रीपोद्दार महाराज यदि गुलाबके पौधे हैं तो उस पौधेकी एक शाखापर खिलनेवाला मैं एक छोटा-सा गुलाबका फूल हूँ, और सदा हॅसता रहता हूँ। उस गुलाबमें तो कॉटा भी होता है, गुलाबका यह पौघा तो कण्टकरहित है। मुझसे भी अधिक सुन्दरतर और अधिक श्रेष्ठतर पुष्प, एक नहीं, अनेकानेक पाटल पुष्प खिला देनेकी क्षमता इस पौधेमें है।

काष्ठमौनमें न किसीकी ओर नजर उठाकर देखना है, न बोलना है, न पढना है , न संकेत करना या लिखना है।' पर काष्ठमौनका अर्थ यह भी है –राधेश्याम मेरी सेवा करता है, यह कुएँपर पानी भर रहा हो, पैर फिसल गया हो और यह कुएँमें गिर पड़ा हो तो उस समय मैं मौन नहीं रहूँगा, जोरसे चिल्लाऊँगा कि राधेश्याम कुएँमें गिर पड़ा और साथ-ही-साथ उसको बचानेके लिये कुएँमें कूद पडूँगा। यदि उसके प्राण बच गये तो ठीक है, नहीं तो मेरा और उसका, दोनोंका जीवन भगवानके चरणोंमे समर्पित हो जायेगा।

आगे चलकर मेरी मानसिक अवस्था क्या होगी, मैं नहीं जानता। बोलनेका प्रश्न श्रीभाईजीके साथ हो सकता है। अट्ठारह महीनेके पहले ही यह निर्णय हो गया था कि इस तिथिको, आश्विन पूर्णिमाको मैान हो जाऊँगा। श्रीभाईजी इतने बड़े सन्त – इनको सन्त ही मानता हूँ – अन्तकालतक मेरी सँभाल करेगे। जिस समय श्रीभाईजीको किसी प्रश्नको लेकर परेशानीका अनुभव हो, उस समय बोलकर प्रकाश डाल देना चाहिये, मेरी इतनी-सी चेष्टा हो सकती है। सावित्रीकी माँने पुत्रकी तरह मुझे भिक्षा करायी है। जब भिक्षाके लिये जाऊँ तो उनकी ओर देखूँगा। देखनेका प्रश्न केवल श्रीभाईजी और माँजीके लिये है।

जो मंगलमयता चिताकी ज्वालामें है, वही प्रसूतिगृहके मंगल प्रदीपमें है। मृत्यु और जीवन. भगवान्के राज्यके दो परदे हैं। यदि श्रीभाईजीका शरीरान्त हो रहा हो या उनका शरीर शान्त हो गया हो तो सूचना पाते ही आऊँगा। भक्तका हृदय करुणासे भरा होता है। जब मैं अभी मिलने गया तो श्रीभाईजी जोर-जोरसे रोने लगे ।

विश्वातीत भगवानकी उपासना कीजिये। मेरी राधा विलक्षण है। वास्तवमें जिसके मनमें तनिक-सा भी कामविकार है, वे हमारी राधाकी उपासनाके अधिकारी नहीं हैं। चाहे वे पुरुष हो या स्त्री हों।

अब आप लोग जो हमें प्यार दे रहे हैं, वह राधाकिशोरी ही इतने रूपोंमें झाँक रही है। अपनी जानमें भगवानको एक क्षण भी भूलिये मत। भगवान थे, हैं और रहेंगे। देखनेके लिये शुद्ध आँख चाहिये। हे राधाकिशोरी! हे कृष्ण ! आशीर्वाद चाहता हूँ –

**देहु दया करि दान न भूलौं केलि कौं।**
**भगवत रसिक तमाल बिलोकौं बेलि कौं।।**

**नरक स्वर्ग अपवर्ग आस नहिं त्रास है ।**
**जहँ राखौ तहँ रहौं मानि सुखरास है।।**
**दुख सुख भुगतै देह नहीं कछु संक है।**
**निंदा अस्तुति करौ राव कै रंक है।।**
**परमारथ ब्यवहार बनौ कै ना बनौ ।**
**अंजन है मम नयन 'रसिक भगवत' सनौ।।**

बस, राधाकृष्णको ही निरन्तर देखता रहूँ। अंजनके समान वे दोनों नयनमें विराजित रहें।''

पू.गुरुदेवके बोलनेके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजने दो शब्द कहने प्रारंभ किये।

'स्वामीजीका काष्ठमौन होने जा रहा है। इनके साथ जिनका बाह्य सम्बन्ध था, वह लोकमें टूट रहा है। इसका मुझको भी दुःख हुआ है, पर परमार्थका सम्बन्ध तो अटूट है।'

'असली सम्बन्ध तो श्रीराधारानीको लेकर है, वह सम्पर्क कभी नहीं टूट सकता, सदा बना रहेगा। डरनेकी बात नहीं है। मेरा इनका क्या सम्बन्ध है, सो तो भगवान ही जानते हैं, मैं नहीं जानता, ये भी शायद नहीं जानते हैं।'

'मैं इनका यतिरूप इतना ऊँचा देखना चाहता हूँ कि वह औरोंके लिये इस समयके जगत्‌के आदर्श हो। इन्हें आदर्श यतिधर्मके निर्वाहकके रूपमें देखनेकी मेरी उत्सुकता है। मैंने मौनकी बात जाननेपर बाह्यरूपसे सम्मति नहीं दी, पर मानसिक रूपसे समर्थन किया।'

'इनका जीवन राधारानीमय हो। इनके जीवनकी धारा ससारको विशुद्ध प्रेम-सुधा-रससे प्लावित कर दे। भविष्यकी बातका पता नहीं है, पर यदि इनमें दिव्य उन्माद-विक्षिप्तता आये, जो चैतन्य महाप्रभुके अन्तिम जीवनमें देखी गयी थी, उनकी गम्भीरा लीलामें, तो मैं उसका हृदयसे स्वागत करता हूँ। रसकी धारा ............।'

श्रीपोद्दार महाराज बोल ही रहे थे, इतनेमें ही किसीने सूचना दी कि बारह बज गये और पू.गुरुदेवने जोर से कहा – 'मैं यहीं मौन लेता हूँ।'

इतना कहकर पू.गुरुदेव मंचपर खडे हो गये। खडे होकर पू.गुरुदेवने दो या तीन बार राधा-राधा-राधा कहा और फिर तत्क्षण ही नितान्त अन्तर्मुख हो

गये। श्रीपोद्दार महाराजने सूचना दी कि पू.गुरुदेव मौन हो गये हैं।

ज्योंही श्रीपोद्दार महाराजने सूचना दी कि बाबा मौन हो गये हैं, उसी समय अपरिसीम वेदनाकी एक ऐसी लहर आत्मीय जनोंमें उठी कि वे अपनी आर्त चीत्कारको रोक ही नहीं सके। अ.सौ.बहन इन्दु सरावगीकी तो दशा लगातार तीन-चार दिवसतक विक्षिप्त रही। वे बार-बार मूर्च्छाग्रस्त हो जाती थी। उसकी विरह-वेदनाकी ज्वालामे मूंर्च्छा स्वय ही जलने लगती थी और उसे छोडकर दूर हट जाती थी। यही कहा जा सकता है कि क्षणभरके लिये एक तुमुल आर्तनाद सर्वत्र गूॅज उठा और फिर एक भयावह नीरवताने सर्वत्र गीतावाटिकाको घेर लिया।

व्यक्ति-व्यक्ति कुण्ठित मनसे हतप्रभ हुआ फटी ऑखोंसे पू.गुरुदेवको देख रहा था। विजडित अधर, स्तब्ध मति, और हाहाकारभरे हृदयसे लोगोंने देखा पू.गुरुदेवको पोद्दार महाराजने अतिशय शान्तिपूर्वक धीरेसे मचपरसे नीचे उतारा। और श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवके गलेमे बॉह डालकर धीरे-धीरे उन्हें उनकी कुटियाकी ओर ले गये। चलते समय पू.गुरुदेवके शरीरसे उनकी गैरिक चादर भूमिपर गिर पडी। पू.गुरुदेव उसी समय अपने शरीरसे इतने अतीत हो गये थे कि चादर कब सरकी एव कब गिरी, इसका उन्हें भान ही कहॉ था ? भाई श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवाल श्रीपोद्दार महाराजके साथ चल रहे थे, उन्हींने वह चादर उठा ली। उन्होने उस चादरको यावज्जीवन अपनी पूजामे सम्हालकर रखी। वह चादर उनके जीवनकी निधि ही बन गयी थी।

———oo———

# चित्रसूची

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(पञ्चम खण्ड)

पृष्ठ संख्या
001-100
तक

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## पञ्चम खण्ड




संकलन एवं सम्पादन
साधु कृष्णप्रेम

प्रकाशक

साधु कृष्णप्रेम
अध्यक्ष, श्रीमती विमलाबाई चैरिटी ट्रस्ट,
षोडशगीत मन्दिर, अनाथालयके पीछे,
बीकानेर -334001 (राजस्थान)

राधामाधव प्रकाशन, षोडशगीत मन्दिर,
अनाथालयके पीछे,
बीकानेर


श्रीराधाष्टमी, श्रीकृष्ण सं. ५२२४
(३० अगस्त, १९९८)

प्रथम प्रकाशन ११०० प्रतियाँ
न्यौछावर रु. १५०

मुद्रक

महाभाव-ज्योतिर्पुञ्ज श्रीपोद्दार महाराज

*प्रियतम !*

*लघुतम रश्मि एक तेरी, जो जुड़ी तुझीसे, ज्योतिर्पुञ्ज !*
*अरुणाई बिखरा दर्पणवत् झलका गयी सुप्रीति–निकुञ्ज।।*

*मात्र नाम मेरा है, इसमें पूरित है तेरा ही कथ्य।*
*इसे जोड़ अपनेसे मैंने किया न मलिन, यही है तथ्य।।*

*यद्यपि हूँ सब भाँति अनधिकृत, हेतुरहित तव कृपा महान्।*
*चिन्मय रससरिताने सब तट तोड़ कराया मुझको स्नान।।*

*भरा रहा उरमें, बीते क्षण–दिवस–मास–ऋतु, बीता वर्ष ।*
*जाग्रत–स्वप्न तुझीसे होती रही वार्त्ता, तत्व–विमर्श ।।*

*इससे अधिक कौन शुभ संभव, रहा सदैव तुझीमें लीन।*
*स्मरण–मनन–लेखन–चिन्तनरत, नित्य मग्न ज्यों जलमें मीन।।*

*लिखवाया यों यंत्र बनाकर निर्मलतम निज प्रीति–चरित्र।*
*तुझे समर्पित है तेरी यह वस्तु प्राणधन ! परम पवित्र।।*

साधु कृष्णप्रेम

# आरती श्रीराधाबाबाकी

जय अधिकारी-वत्सल, जय राधाबाबा।
श्रीमहिपाल-तनय जय निजजन-सुख-साधा। ।।जय राधाबाबा।।
गोरखापत्तन नगरे गिरिपरिसर-मध्ये,
वसति वाटिकागीते हनुमद्‌गुरु-सहिते। ।।जय राधाबाबा।।
तस्मिंल्ललित सुदेशे कुटि गोमयरचिता,
कृष्णभुजापरिरम्भित निवसति रसमुदिता। ।।जय राधाबाबा।।
कोकिल कूजित खेलत महाभावमुदिता,
नित नव प्रीतिकलापं मञ्जुभगिनि-सहिता। ।।जय राधाबाबा।।
गुञ्जित मधुकरपुञ्जे कुञ्जवने गहने,
रचयति केलिविधानं नित प्रियसुखनिरते। ।।जय राधाबाबा।।
जिमि चकोर-राकाशशि जिमि अलि उरपद्मे
मीन-उदधि निवसति तिमि कृष्ण-प्राण-सद्मे। ।।जय राधाबाबा।।
निमाइ-रूप-सनातन-वल्लभ आसीसत,
उद्धव-नरसी-मीरा-तुलसी विरद कहत। ।।जय राधाबाबा।।
नारद-व्यास-सनक-शिव जय-जय नाद करत,
प्रीति-पताका फहरत, ज्ञान-विराग विनत। ।।जय राधाबाबा।।
गोलोके वन-विपिने, विरजा-नद-तीरे,
निभृत निकुञ्जे विहरति हरि-चित-वित्त-हृते। ।।जय राधाबाबा।।
ललित-विशाखा-चित्रा-चम्पक-इन्दू-रंग,
विद्यातुंग-सुदेवी निरतत बजत मृदंग। ।।जय राधाबाबा।।
चक्रावर्त्तें भ्रमयति कुरुते ता-थेइ-ता,
प्रिय वादयते वेणुं मेटत सकल व्यथा। ।।जय राधाबाबा।।
अति मृदु चरणसरोजं हस्तकमले धृत्वा,
अवलोकयति कृष्णमुख प्रिया-प्रीति-नत्वा। ।।जय राधाबाबा।।
आरति-समये पठनं यः नित्यं कुरुते,
मंजरिरूप निकुञ्जे सेवारति लभते। ।।जय राधाबाबा।।
शंखनिनादं कृत्वा झल्लरि वादयते,
नीराजयते मधुपति जय राधा ध्वनिते। ।।जय राधाबाबा।।

------

पुस्तकका सारसंक्षेप

# भावसिन्धुकी नौ उर्मियाँ

## प्रथम अध्यायमें

*काष्ठमौनके अनन्तर गीतावाटिकामें अनुभूत वेदनाके प्रवाहमें बहें –"बाबा रे ! अब तुम कब मिलोगे ? बताओ, न ! अब मैं तुमसे कब मिल पाऊँगी ?" कभी किसी एकका और कभी एक साथ अनेकों – बहनों, माताओं एवं कन्याओंका क्रन्दन – इतने करुण एवं तीव्रवेगसे उठता था कि वह साधकोंकी रास-भावना और ब्रजरसके गीत-गायनका सर्व रस छिन्न-भिन्न कर देता था।*

## द्वितीय अध्यायमें

*पू.गुरुदेवकी काष्ठमौनी लोकोत्तर दशाका दिग्दर्शन करें – दूसरे दिवस जब प्रातः सूर्योदयके पश्चात् दस बजेकी अवधि बीत गयी, पू.गुरुदेव शौच-क्रियाके लिये भी नहीं उठे तो श्रीपोद्दार महाराज स्वयं मन्द ज्वरसे पीड़ित होते हुए भी आये। वे पू.गुरुदेवके कर्ण-विवरोंमें जोर-जोरसे निम्न स्वर उच्चारित करने लगे – " बाबा ! आप चक्रधर नामक शरीर हैं। आपके लिये शौच-स्नान-भोजनकी क्रिया आवश्यक है।" इस शब्दावलीका बार-बार उच्चारण करनेपर कुछ काल पश्चात् पू.गुरुदेवकी श्वासक्रिया जो अतिशय मन्द हो रही थी, सामान्य होने लगी। जाग्रतिके चिह्न प्रकट होते देखकर श्रीपोद्दार महाराज आश्वस्त हुए।*

## तृतीय अध्यायमें

*अवलोकन करें – श्रीभाईजी कैसे श्रीपोद्दार महाप्रभु होगये – प्रिया-प्रियतम महाभाव एवं रसराज श्रीराधा-माधवके लिये ऐसे रसिक सिद्ध भक्तका अन्तःकरण ही महारास-स्थल होता है। रसनदी कालिन्दी श्रीपोद्दार महाप्रभुके भक्तान्तःकरणमें कल-कल निनाद करती हुई प्रवाहित हो रही है।*

## चतुर्थ अध्यायमें

*विवरण पढ़ें – पू.गुरुदेवके द्वारा बतायी हुई वृषभानुपुर एवं ब्रजप्रदेशकी विस्तृत एवं अति रसमय प्रादुर्भाव-लीलाका ।*

## पाँचवें अध्यायमें

*पू.गुरुदेवके ही शब्दोंमें वर्णन पढ़ें – पू.गुरुदेवको सन् १९५७ ई. में श्रीराधा-जन्माष्टमीकी लीलाका अनवरत ६ माहतक जो अनुभव होता रहा, उसका विवरण उनके ही द्वारा की गयी हिन्दी भाषाकी पद्यरचनामें तथा टीकाके साथ-साथ लेखक द्वारा उसपर विस्तृत विवेचन भी देखें।*

## छठे अध्यायमें

*विस्तृत विवरण पढ़ें – गीतावाटिकामें मनायी जानेवाली राधाष्टमी महोत्सवका।*

## सातवें अध्यायमें

*ऐतिहासिक विवरण पढ़ें – गीतावाटिकामें राधाष्टमी-महोत्सव मनानेकी परम्परा कैसे प्रारम्भ हुई एवं उसमें किस समय, किस प्रकारके नये समायोजन जुड़े।*

## आठवें अध्यायमें

*विवरण देखें – श्रीपोद्दार महाराज द्वारा रचित श्रीराधामाधव-रस-सुधा (षोडश गीतों) का प्रणयन किस मंगलमयी अभिसन्धिसे हुआ था तथा इनके प्रचार-प्रसारमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी अभिरुचि एवं चेष्टा।*

## नौवें अध्यायमें

*अनुशीलन करें – पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा अनुभूत तत्सुखसुखिया भावकी प्रतिनिधि लीलानाटिकाएँ – अनुरागपरीक्षालीला, कुन्दवल्लीभावकी लीला तथा राधा-मनोरथकी लीलाएँ – उनकी तात्पर्य-प्रतिपादिका भूमिका सहित ।*

------------

# आत्मकथ्य

परम पवित्र, भुक्ति-मुक्ति-त्यागसे विभूषित, उज्ज्वलतम प्रेमकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति, पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी प्रियतम श्रीकृष्ण-सुख-लालसामयी इस कृतिको परम सौभाग्यवान् पाठकोंके सम्मुख रखते हुए परम हर्ष हो रहा है।

पूरा जीवन भोग-मोक्षकी पिपासामें ही व्यतीत हुआ। प्रथम तो जीवोंका नर-जन्म ही दुर्लभ है, उससे भी दुर्लभ पुरुषत्वकी प्राप्ति है, और उससे भी अत्यन्त दुर्लभ है – परमपूज्य श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव सरीखे सन्तोंका परमातिपरम शुभ दर्शन। कोटि-कोटि जन्मोंमें किये गये शुभ कर्मोंके परिपाकके बिना यह सौभाग्य तो हो ही नहीं सकता। मैं तो ऐसा ही अभागा रहा कि इन युगल महापुरुषोंकी सहज आत्मीयता और उनका अतिशय अन्तरंग नैकट्य पाकर भी जो परम दिव्य चिन्मय भगवत्प्रेम मुझे इनसे इसी जन्म और जीवनमें प्राप्त कर लेना चाहिये था, वह नहीं प्राप्त कर सका, इस स्वार्थ-साधनमें मैं पूर्णतया प्रमादी ही रहा।

अब तो रोग-ग्रस्त वृद्ध शरीर मरणोन्मुखी है। सभी कर्मशक्ति चुक गयी है। भक्तहृदय वृत्रासुरकी श्रीमद्भागवतमें वर्णित उक्ति स्मरणमें आ रही है–

*अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।*
*प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।।*

ओ बाबा ! आपने ही तो माताके सरीखा विशुद्ध वात्सल्य देकर मेरा पालन किया; अभी कहाँ पंख उगे हैं ? पंख उग जाते तो प्रेम-सुधामय गुरुदेव! आपके और प्रियतम प्रेमार्णव परम गुरुदेव श्रीपोद्दार महाप्रभुके श्रीचरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पण नहीं कर देता ? बाबा ! आपने कहा था – 'बचुआ, भूखा रहेगा तो मेरी आधी भिक्षा तेरी होगी !' भूखा तो हूँ ही। आपकी प्रेम-रस-सुधामयी भिक्षा पाये बिना मेरी यह अनादिकालीन क्षुधा भला कैसे निवृत्त हो सकती है? हाँ, मैं आतुर नहीं हूँ, यह बात प्रामाणिकतासे स्वीकार कर रहा हूँ। परन्तु माता तो समयपर बिना माँगे ही, बच्चेके मुखमें अपना स्तन दे ही देती है ! भूख तो लगी ही है ! भूख नहीं लगी होती, तो विषय-तृष्णा क्यों होती ? प्रेम-प्राप्तिकी भूख ही तो विषयोंमें भटका रही है ! बाबा! क्या अब भी समय नहीं हुआ ? छटपटा रहा हूँ; अब तो अपने चरण-कमलोंकी रज बना ले, न ! तू माता है और मैं तेरा बिना पंखका शावक हूँ, मैं वत्स हूँ और तू मेरी

कामधेनु है, तू ही प्रिया है, प्रियतम है, मेरा तो सर्वस्व एकमेव तू ही है – यह अकाट्य, अखण्ड, सत्य है। जीवनकी सन्ध्यामें रुग्णता एवं वृद्धावस्थासे जर्जर यह जीवन पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा अनुभूत प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधव एवं गोपीजनोंकी मधुरतम स्वरूपभूत लीला-रसकी आस्वादन-प्रवाहिणीमें निपतित हो गया है – यह उनकी चरणरजका ही तो प्रत्यक्ष, जीवन्त एवं जाज्वल्यमान प्रमाण है !

क्या यह मेरी माँगके फलस्वरूप हुआ है ? नहीं,कदापि नहीं !

*उमा राम-स्वभाव जे जाना।*
*ताहि भजन तजि भाव न आना।।*

अपने विशुद्ध, हेतुरहित, वात्सल्यभरे स्वभाववश ही उन्होंने कृपा की है और अपने चरित्र और कृतित्वका लेखन, मनन एवं अनवरत चिन्तन कराके मेरा मानस कृतकृत्य किया है। इस कृतिके पाठक तो श्रीकृष्ण ही होने संभव हैं ! रूप भले ही वे कैसा ही रख ले ! इस पावनतम चरित्रकी ही यह परम सिद्ध रसमयता है कि पाठक बने प्रियतम श्रीकृष्ण निश्चय ही इससे पूर्ण कृतकृत्यता-लाभ करेंगे। उन्हें ऐसा रस प्राप्त होता है, एक श्रीकिशोरीरानीके गुण-चरित्रोंमें अवगाहनसे ही।

*कहीं न मिला प्रेम शुचि ऐसा, कहीं न पूरी मनकी आस।*
*एक तुझीको पाया मैंने जिसने किया पूर्ण अभिलाष।।*

मैंने गत वर्ष मनोरथ किया था कि इस वर्ष मैं पू.गुरुदेवका समग्र कृतित्व, जो भी मेरे पास उपलब्ध है, पाठकवर्गके समक्ष रख दूँगा, परन्तु रोग एवं पीड़ाने काम करने ही नहीं दिया। पाठकवर्गके रूपमें सम्मुख मेरे प्रियतम श्यामसुन्दरसे ही क्षमा-याचना कर रहा हूँ। उनसे जो वादा किया था, उसे मैं पूरा नहीं कर पाया हूँ। श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं, परिस्थितिके रूपमें वे ही तो पधारे थे। भाई मुकुन्दजीका अभूतपूर्व सहयोग रहा जिन्होंने इतना कार्य भी सिरपर चढ़कर करा लिया। मैं बार-बार थक जाता, शरीर श्रमसे जी चुराता। मन बदमाशी करके कहता– 'छोड़ लिखना, रात-दिन चुपचाप बैठा, बस, स्मरण ही करता रह। नेत्र बन्द किये, भावराज्यमें विचरण करता रह।' किन्तु फिर मुकुन्दजी कोड़ा लगाते–'भावनासे कर्त्तव्य ऊँचा है। जिस कार्यके लिये दो श्वासें मिली हैं, उन्हें उनके काममें ही खर्च करना है।' जिस-तिस प्रकार यह लगभग पाँच सौ पृष्ठोंकी सामग्री तैयार हो सकी है। जिनकी यह वस्तु है उनको ही इसे सौंप रहा हूँ। सोलह-सत्रह ग्राहकोंसे अग्रिम धनराशि २५०रु. प्रति व्यक्ति प्राप्त हुए हैं। उन्हें यह ग्रन्थ तो चला ही जायेगा। इस ग्रन्थकी न्यौछावर १५०रु. बाद करके जो शेष राशि उनकी जमा रहेगी, वह अगले ग्रन्थकी न्यौछावरसे समायोजित कर दी जायेगी। जो

सज्जन अपनी शेष राशि १००रु. मँगाना चाहेंगे, उन्हें उनकी सूचना प्राप्त होनेपर वह लौटायी भी जा सकती है।

पुनः सत्योक्ति कह रहा हूँ – मेरे अन्दर तो विपरीतरस – भोगरस, विरस, कुरस (कुत्सित रस) एवं अरस – रसहीनता ही कूट-कूटकर भरी थी। इस पावन रस-साहित्यमें सत्य-सत्य मेरा कहीं कुछ भी होना असंभव है। पू.गुरुदेवने मेरी नाम-वासना अवश्य पूर्ण की है। शक्ति तो शक्तिमान्में ही निहित होती है। वे अपना यंत्र बनाकर मेरे हाथों जो भी लिखा गये हैं, उसपर मेरा अभिमान कैसा ?

*सुग्गा नहीं जानता कुछ भी अर्थ, बोलता 'राधेश्याम' ।*
*जिसने उसे सिखाया है उसका ही अर्थ जानना काम ।।*

मेरे जिस मनने विशुद्ध रसका कभी संस्पर्श ही नहीं किया। मुझ सर्वथा अनभिज्ञ, नितान्त अज्ञ, मूर्ख द्वारा यदि कुछ भी लेखनकी गर्वोक्ति घटित हो गयी है, तो सर्वथा मेरी अनधिकृत चेष्टा समझकर सुधी रसिकगण क्षमा करें। जिनका दिव्यातिदिव्य रजकण ही मेरा आश्रय है, उन श्रीराधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराजका वात्सल्य ही है जिसने मेरी कटु-बेसुरी तुतलाहटको अपने रससे सरस बना दी है। अपने महान् अनुग्रहदानसे मुझ पामरकी कृतिको उन्होंने अपनाकर कृतार्थ किया है। वे अपनी अचिन्त्य महिमामें स्थित युगल महापुरुष मुझे इस लेखनका यही पुरस्कार दें कि यावज्जीवन, और जीवनके उस पार भी, उनका गुणगान, यशगायन मेरी वाणी द्वारा अनवरत बनता रहे। वे उनके अपने ही आश्रय-सामर्थ्यसे करवाये जारहे मुझ वाद्ययन्त्रके वादनको सुनकर प्रसन्न होते रहें। वादक तो वे स्वयं ही हैं, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं है। वे नित्य, सत्य, एकमेव, मेरे सुख-विधाता मेरा इसी प्रकार अपरिमित सुखविधान करते रहें।

मेरे बाबा ! मेरे हृदयमें आपने अपना कैसा निर्मल आत्मपरिचय व्यक्त किया है ! अहा ! गुण, रूप एवं सौन्दर्य-समन्वित आपका कैसा चरित्र है ! श्रीपोद्दार महाराजके ही सुखविधानमें नित्य, सत्य, सदैव, अनवरत जुटे आप ऐसे त्यागमय हैं, ऐसे मधुर स्वभाव हैं, अचिन्त्यानन्त गुणगणोंकी खान हैं, परिपूर्ण प्रेम-प्रतिमा हैं, समस्त सौन्दर्यकी एकमात्र निधि हैं, पवित्रतम सहज सरलताकी मूर्ति हैं कि आपका स्मरण कर-करके ही मैं आपके चरणोंमें न्यौछावर हूँ। पद-पदपर, पल-पलमें मुझे आपके एवं श्रीपोद्दार महाप्रभुके मानस-दर्शन होते रहें, आप दोनों युगल मेरे हृदय-सिंहासनमें सदैव आसीन रहें, इसी याचनाके साथ –

**साधु कृष्णप्रेम**

# महाभाव–दिनमणि श्रीराधाबाबा

## पञ्चम खण्ड

महाक्रन्दन–निशा, 'श्रीभाईजी'से श्रीपोद्दार महाप्रभु – एक यात्रा, ब्रजप्रदेशका प्रादुर्भाव, दिव्य महोत्सव श्रीराधाष्टमी एवं श्रीराधाबाबाकी रसमयी कृतियाँ – लीला–नाटिकाएँ

## अनुक्रमणिका

पाँचवाँ अध्याय :



छठा अध्याय :

## नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानीकी अष्ट सखियोंका परिचय

श्री "ललिता" लावण्य ललित सखि
गोरोचन आभा युत अङ्ग ।
विद्युद् वर्णि निकुञ्ज निवासिनि,
बसन रुचिर शिखिपिच्छ सुरङ्ग ।।
इन्द्रजाल निपुणा, नित करती
परम स्वादु ताम्बूल प्रदान ।
कुसुम कला कुशला, रचती कल
कुसुम निकेतन कुसुम वितान ।।

सखी "विशाखा" विद्युत् वर्णा
रहती बादल वर्णा कुञ्ज ।
तारा प्रभा सुवसन सुशोभित,
मन नित मग्न श्याम पद कञ्ज ।।
कर्पूरादि सुगन्ध द्रव्य युत
लेपन करती सुन्दर अङ्ग ।
बूटे बेल बनाती, रचती
चित्र विविध रुचि अँग प्रत्यङ्ग ।।

"चित्रा" अङ्ग-कान्ति केसर सी,
काँच प्रभा से वसन ललाम ।
कुञ्ज रङ्ग किञ्जल्क कलित अति,
शोभामय सब अङ्ग सुठाम ।।
विविध विचित्र वसन आभूषण
से करती सुन्दर शृङ्गार ।
करती सांकेतिक अनेक
देशोंकी भाषाका व्यवहार ।।

सखी "इन्दुलेखा" शुचि करती
शुभ्र वर्ण शुभ कुञ्ज निवास ।
अङ्ग-कान्ति हरताल सदृश रँग
दाड़िम कुसुम बसन सुखरास ।।
करती नृत्य विचित्र भङ्गिमा
संयुत नित नूतन अभिराम ।
गायन विद्या निपुणा, ब्रजकी
ख्यात गोपसुन्दरी ललाम ।।

"चम्पकलता" कान्ति चम्पा सी,
कुञ्ज तपे सोनेके रङ्ग ।
नीलकण्ठ-पक्षीके रँगके
रुचिर वसन धारे शुचि अङ्ग ।।
चावभरे चित चँवर डुलाती
अविरत निज कर-कमल उदार ।
द्यूत-पण्डिता, विविध कलाओं
से करती सुन्दर शृङ्गार ।।

सखी "रङ्गदेवी" बसती अति
रुचिर निकुञ्ज, वर्ण जो श्याम।
कान्ति कमल-केसर सी शोभित,
जवा कुसुम रँग वसन ललाम।।
नित्य लगाती रुचि कर चरणों
में यावक अतिशय अभिराम।
आस्था अति त्यौहार व्रतोंमें,
कला कुशल शुचि शोभाधाम।।

सखी "तुङ्गविद्या" अति शोभित
कान्ति चन्द्र, कुंकुमसी देह ।
वसन सुशोभित पीत वर्ण वर,
अरुण निकुञ्ज, भरी नव नेह ।।
गीत वाद्यसे सेवा करतीं
अतिशय सरस सदा अविराम ।
नीत-नाट्य-गान्धर्व शास्त्र
निपुणा रस आचार्या अभिराम ।।

सखी "सुदेवी" स्वर्णवर्ण सी,
बसन सुशोभित मूँगा-रङ्ग।
कुञ्ज हरिद्रा-रङ्ग मनोहर
करती सकल वासना भङ्ग।।
जल निर्मल पावन सुरभितसे
करती जो सेवा अभिराम।
ललित लाड़िलीकी जो करती
वेणी रचना परम ललाम।।

(दोहा)

अष्ट सखी करतीं सदा सेवा परम अनन्य ।
राधा माधव युगलकी, कर निज जीवन धन्य ।।
इनके चरण सरोजमें बारंबार प्रणाम ।
करुणा कर दें श्रीयुगल पद रज रति अभिराम ।।

# चित्रसूची

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा
## (पञ्चम खण्ड)
### प्रथम अध्याय
## महाक्रन्दन–निशाका रासरसमें पर्यवसान

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने वि.सं. २०१३की शरदपूर्णिमा तदनुसार दिनांक १९-१०-१९५६ ई.को मध्यरात्रिमें ठीक बारह बजे काष्ठमौन लिया था। पूर्व चतुर्थ खण्डमें उसका विस्तारसहित वर्णन किया जा चुका है।

पू.गुरुदेवके मौन लेते ही प्रायः सम्पूर्ण गीतावाटिकामें ऐसी विषादभरी नीरवता व्याप्त हो गयी, जिसका वर्णन शब्दों द्वारा किया जाना असम्भव है। पू.गुरुदेवके संभावित वियोगसे उस निशामें जो क्रन्दन-प्रवाह बहा था, उसे जिन्होंने अनुभव किया, वे भले ही उसकी साक्ष्य दे दें; शब्द उसका चित्र खींच सकें – यह असभव ही है। प्रतिवर्षकी तरह उस निशामें भी वाटिकावासियोंने शरदोत्सवकी पूजा की थी। प्रसाद रूपमें सभीको अति स्वादिष्ट पर्याप्त खीर-प्रसाद भी मिला था।

वर्षोंसे पू.गुरुदेवने मुझ-जैसे अनेकों साधकोंको यह नियम दिला दिया था कि प्रत्येक कृष्ण-जन्माष्टमी, राधा-जन्माष्टमी, शरदपूर्णिमा, दीपावली, महाशिवरात्रि एव होली – इन छः महारात्रियोमें पूर्ण जागरण किया जाये। आजकी शरदोत्सवकी निशा भी इनमेंसे ही एक थी, अत मेरे-जैसे अनेक साधक पुरातन अभ्यासजन्य संस्कारोंवश अपने नेत्रोंमें रासबिहारी श्रीकृष्णको अवतरित करनेकी साधनामें जुटे थे। गीतावाटिकाका वनप्रदेश ही हम सभीका भाव-वृन्दावन था। कुछ साधक अपनी कल्पनामें सम्मुख ही मणिखचित स्वर्णिम रासमण्डपकी भाव-कल्पना मूर्त्त करनेमें लगे थे। कुछ-एक ऐसे भी थे, जिन्हें उस प्रांगणमें ही रासवेशमें नृत्य-निरत गोपी-जन-मनमोहन नटवर नीलसुन्दर ध्यानपथमें आ रहे हों। इन साधकोंके मनमें जैसे ही विश्वविमोहन नीलसुन्दरका नृत्योल्लास प्रारंभ होता, ठीक उसी समय किसी-न-किसी नारीकण्ठकी तीव्र क्रन्दनध्वनिसे वाटिकाका कण-कण प्रतिनादित हो उठता था।

"बाबा रे ! अब तुम कब बोलोगे ? बताओ न ! अब मैं तुमसे कब मिल

पाऊँगी ?"– कभी किसी एकका और कभी एक साथ अनेकों बहनों, माताओं एवं कन्याओंका यह चीत्कार इतने करुण एवं तीव्र वेगसे उठता था कि वह साधकोंकी रास-भावनाको छिन्न-भिन्न कर देता था।

अ.सौ.बहिन इन्दु सरावगी तो उस निशामें सर्वथा ही विक्षिप्त हो उठी थी। आँखें फाड-फाडकर कभी वह किसीकी ओर देखती और कभी किसीकी ओर। वह सभीसे यही याचना करती थी कि 'बाबाको तू समझा दे, वे तेरी बात मान लेंगे।' इस प्रकार वह हर किसीसे आग्रह करती। फिर सभीको अपने ही समान विषादित पाकर उसकी वेदना असह्य हो उठती। चिन्ताके भारसे विक्षिप्तवत् 'बाबा ! बाबा !' वह चीत्कार कर उठती थी। उसे स्त्री-पुरुषका भेद ही अनुभव नहीं हो रहा था। उसके 'बाबा'से अब उसका मिलन कभी नहीं होगा – इस कल्पनासे ही उसके प्राण छटपटा रहे थे। उसका बुद्धि-संतुलन ही गडबडा गया था। उसकी चीत्कार और विक्षिप्तावेश तभी संवरित होता, जब वह अचेत हो जाती थी। अ.सौ सावित्रीबाई (पू.पोद्दार महाराजकी पुत्री) उसे किसी प्रकार सँभाल रही थी। इससे मिलती-जुलती ही दशा अ.सौ. भाग्यवती ढंढारियाकी थी। भाई रामनिवास ढढारिया आदि समझदार लोग भी शिशुओंके समान बिलख रहे थे, अनेकोंकी हिचकियाँ बँधी थीं।

----

## घनघोर विषाद–वर्षा

इस निशामें गीतावाटिकामें जो विषाद-वर्षा हुई थी, वह शब्दातीत थी। मेरी दशा भी विक्षिप्त-सरीखी ही हो गयी थी। अन्यमनस्क बना मैं अपने निवासपर जाता तो वहाँ मेरे पूर्वाश्रमके पारिवारिक स्वजनोंको बिलखता देख पुनः वाटिका आ जाता। किसीको भी कोई क्या कहकर आश्वस्त करे – यह समझके परेकी बात थी। अन्य किसी भी कोनेसे कोई किसीको पू.गुरुदेव (उन सभीके 'बाबा')की आत्मीयता दे सके, दिला सके – यह तो असंभव ही बात थी। श्रीपोद्दार महाराज सबके संरक्षक थे, पितावत् उनकी छत्रछाया भी सभीके ऊपर थी, उनकी सहृदय परम आत्मीय व्यवस्था – संरक्षा सबके प्रति समान थी, परन्तु पू.गुरुदेव (बाबा) बाबा ही थे। वे अनुपम अतुलनीय ममत्व बिखेरे थे। श्रीपोद्दार महाराज पिता थे, तो वे माता थे। अब माताका असीम

वात्सल्य दूसरे किसी भी कोनेसे सबको दिलानेका आश्वासन कौन दे सकता था ? कोई पति हो सकता था, पिता हो सकता था, भाई हो सकता था, मित्र हो सकता था, परन्तु बाबा-स्थानीय तो किसीकी कल्पनामें भी कोई नहीं था। बाबा 'न भूतो न भविष्यति' रूपसे सभीके अपरिहार्य हृदय-आराध्य थे। वे डाँटते थे, कड़ा अनुशासन भी करते थे, परन्तु फिर भी न जाने क्यों उनका वात्सल्यभरा आकर्षण स्थावर-जंगम सभीको अभूतपूर्व तथा नित्य-नवीन लगता था।

मेरी वार्त्ताको पाठक अतिशयोक्ति समझ सकते हैं, क्योंकि उनके अनुभवमे वैसी सुदुर्लभ आत्मीयता कभी आयी ही नहीं होगी।

विक्षिप्त-सा मैं अपने पूर्वाश्रमके पारिवारिक स्वजनोंके पाससे होकर अपने पूर्वाश्रमके मामा – श्रीचिम्मनलालजीके घरकी ओर कदम बढाता हूँ, किन्तु वहाँ भी मामी, मौसी, यहाँ तक कि नानीतकको बिलखती पाकर परावर्त्तित हो जाता हूँ। मैं अपने मामा – स्वयं गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीको निहारता हूँ। वे मछहरीमें किरासनका लालटेन जलाये 'कल्याण-कल्पतरु' मासिकपत्रका कार्य करते होते हैं। गौरसे देखनेपर मुझे स्पष्ट दिखायी देता है, कि उनकी आँखोंसे आँसुओंकी लोर उनके लेखनके कागजोंपर टप-टप गिर रही है। मैं, उनका अति लघु वयसीय बालक उनसे संवेदनाकी बात क्या करूँ ? चुपचाप सबके विषादको अनदेखा किये, पुनः वाटिकाकी ओर परावर्त्तित हो जाता हूँ।

वाटिकाके मुख्य द्वारपर किसी तरह लडखडाते पैरों पहुँचता हूँ, तो देखता हूँ कि अपने लघु बाल पैरोंसे दौडती हुई मेरी पूर्वाश्रमकी पुत्री ललिता(उन दिनों मैं गृहस्थ था) मेरे पास आती है और सुबुक-सुबुककर रोती हुई मुझसे कहने लगती है – 'चलो बाबूजी ! माँ बहुत रो रही है। अपने बाबाके पास चलते हैं। मैं उनका हाथ पकडकर उनसे बोलनेके लिये हठ करूँगी। वे अवश्य मान जायेंगे।' मैं उस बालिकाको अपनी गोदमें उठाकर चुपचाप उसकी माँको सम्हला आता हूँ।

वाटिकामें प्रवेश करनेपर पू.पोद्दार महाराजकी गोशाला सामने ही पड़ती है। गोशालाका ग्वाला आँसू बहाता हुआ सामने आ जाता है। वह पूछने लगता है– 'क्यो भैया ! क्या बाबा अब जीवनभर इशारा (संकेत) भी नहीं करेंगे ?' जिज्ञासा करता हुआ वह फफक-फफककर रोने भी लगता है। मैं गायों और

गोवत्सोंकी ओर दृष्टि डालता हूँ तो पाता हूँ – उन मूक पशुओंके भी आनन अश्रु-लोरसे भीगे हैं। उनके पास वाणी नहीं है, जिसके द्वारा वे अपने 'बाबा'के प्रति अपनी ममता व्यक्त कर सकें, परन्तु वातावरणके औदास्यसे वे प्रभावित हुए बिना रहे हों, सो बात नहीं है। उनके पाससे गुजरनेपर समवेत आर्त्त स्वरमें जिस प्रकार वे रम्भा उठते हैं, वह आर्त्ति उनके प्राणोंकी व्यथाको मेरे सम्मुख पूर्णतया प्रकट कर देती है।

वृक्षोंपर प्रतिनिशा समूहयुद्ध करते वानरदल भी आज डालोंपर शान्त, निम्नमुख किये बैठे हैं। उनकी सारी उछलकूद, समग्र चचलताको मानो विरामचिह्न ही लग गया है। यह निशा इतनी विषादपूर्ण हो गयी है कि उसका व्यतीत होना ही अत्यन्त कठिन अनुभव हो रहा है।

मैं विचारनिमग्न हूँ। 'मानव अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके विरह-वियोगमें अकुलाता है, रोता-बिलखता है, परन्तु उस रुदनमें अपने सम्बन्धीसे प्रतिदान पानेकी स्वार्थमयी आशा, न्यूनाधिक रूपमें सभीमें वर्त्तमान रहती है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा तो एक संन्यासी थे ! वे भले ही किसीको स्नेह दें, प्रेमभावके सिवा उनसे किसी अन्य स्वार्थ-सिद्धिकी आशा तो किसीको कभी होनेका प्रश्न ही नहीं था। वे तो सर्वथा अकिंचन, अर्थ-निस्पृह, भिक्षुक संन्यासी थे। भविष्यमें भी उनके द्वारा किसीके स्वार्थनिर्वाहकी तो संभावना बन ही नहीं सकती थी। फिर सचमुच ही यह एक आश्चर्यकी ही तो बात थी, कि उनके मात्र मौन लेनेकी क्रियासे अन्ध स्नेहमें भरे लोग इस प्रकार बिलख रहे थे, रो रहे थे, और उनके अवसाद मिटनेकी कहीं कोई सीमा ही नजर नहीं आ रही थी। जिस किसी स्त्रीकी ओर दृष्टि जाती, उसीके केशबन्धन उन्मुक्त, आवरक वस्त्र अस्तव्यस्त दृष्टिगोचर होते थे। जिस किसी कोनेमें देखो, कोई-न-कोई कण्ठ सिसकता, बिसूरता ही प्रतीत होता था। चाहे मूक किंवा मुखर, एक ही क्रन्दन-ध्वनि सर्व ओरसे श्रवणगोचर होती – 'बाबा रे ! अब तुम कब बोलोगे, कब मिलोगे ?' इस करुणा-विलापसे आज पूरी वाटिका निनादित हो रही थी।

मैं पू.गुरुदेवकी कुटियाकी ओर जाता हूँ। पू.गुरुदेव शयित हो चुके थे। चारों ओरका वातावरण पूर्णतया शान्त था। अवश्य ही झिल्लीकी झंकार चतुर्दिक् निनाद उत्पन्न कर रही थी। पू.गुरुदेवकी कुटीके बाह्य भागमें द्वाररक्षकके रूपमें श्रीरामसनेहीजी एवं 'भगतजी' आसीन थे। उनके मुखपर भी विषाद पूर्णतया व्याप्त था। मैं चुपचाप उनके पास कुछ काल बैठ जाता हूँ। मुझे अपने

पास बैठा देख भाई रामसनेही मेरे वक्षस्थलसे लगकर सिसक उठता है। परन्तु उसे भय है कि उसके रुदनसे पू.गुरुदेवके शान्त शयनमें कहीं कोई विघ्न उपस्थित नहीं हो जाय, अत: वह खुलकर सिसकी भी नहीं ले पाता है। उसकी नाक और नेत्रोंसे पानी बह रहा है, किन्तु वह मुखसे स्फुटित अपनी सिसकियोंको बलपूर्वक दबाये है।

भगतजी यद्यपि शरीरसे पूरे जीवित हैं, फिर भी मनसे तो पूरे मर ही चुके हैं। विषाद, दु:ख-सुख तभीतक प्रकट होते हैं जबतक कोई प्राणी मनसे जीवित हो। जब कोई व्यक्ति मनसे पूरा मर ही जाता है, तो सुख-दु:खादि संवेदनाएँ व्यक्त करनेकी भी उसकी सामर्थ्य नहीं रहती। यही दशा श्रीभगतजीकी है। वे कोयलेकी सिगड़ी सुलगाये ताप रहे हैं, परन्तु उनकी दृष्टि संवेदनाशून्य मृत प्राणीकी तरह निरीह आकाशपर स्थिर है। वे उस प्राणीकी तरह हो चुके हैं जहाँ पीड़ा घनीभूत होकर पीडा नहीं रहजाती, शून्य हो जाती है।

वहाँसे उठकर मैं पुन: वाटिकामें स्थित श्रीपोद्दार महाराजके निवासके समीप आता हूँ। श्रीपोद्दार महाराजकी चारपाई आज निवासके बाहर सडकपर ही बिछी है। अनुमान करता हूँ – श्रीपोद्दार महाराज भी मछहरी लगाकर शयन कर गये हैं। ऐसा उनका नियम ही है कि जब भी घरमें बाहरके अतिथि, अन्य परिवारोंकी बहू-बेटियाँ आ जाती हैं, वे निवासके बाहर सड़कपर ही अपनी पलंग बिछाकर शयन करते हैं। इसी नियमानुसार वे आज भी बाहर सड़कपर ही सो रहे हैं। उनसे कुछ दूरीपर गोलाकार चबूतरेपर श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवाल, और उनसे कुछ अन्तरपर श्रीकुञ्जबिहारी पालड़ीवाल अलमस्त, सोया हुआ है। मैं श्रीपोद्दार महाराजकी मछहरीके भीतर दृष्टिनिक्षेप करता हूँ। श्रीपोद्दार महाराजकी शयित छवि मेरे दृष्टिपथमें आ जाती है। वे ही एकमेव ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके श्रीमुखपर आज क्लान्ति-क्लेशकी कोई छाया नहीं दिखाई देती। कोई व्यथा नहीं, कोई विषाद नहीं, किसी प्रकारकी चिन्ताकी कोई छाया भी उनके आर्श्व-पार्श्वमें कहीं नहीं फटक रही थी। मुझे तो उनके अधरोंपर आज स्फुट हास्य-छटा थिरकती दिखाई देती है। कुछ कालतक उनका भावभरा सुन्दर मुख निहारता मैं वहीं ठिठक जाता हूँ। उनकी शान्त, आनन्दपूर्ण मुखाभा मुझे बहुत ही शान्ति देती है। मैं आश्वस्त होता हूँ कि अन्तत: एक व्यक्ति तो मिला ही जिसे कहीं कोई क्लेश, विषाद अथवा ग्लानि संस्पर्श ही नहीं कर पा रही है।

मैं चुपचाप उनकी शय्याके निकट बैठ जाता हूँ। संभवतः भाई श्रीकृष्णचन्द्रजी सोये नहीं हैं। वे मुझे श्रीपोद्दार महाराजकी शय्याके पास आसीन देख, शंकालु होकर मेरे पास आ जाते हैं। मेरी उपस्थिति श्रीपोद्दार महाराजके निर्विघ्न शयनमें कहीं कोई विक्षेप नहीं करे, इस आशंकासे वे मुझे अपने पास बैठनेका संकेत करते हैं। मैं सकेतसे उन्हें आश्वस्तकर वहीं बैठा रहता हूँ।

मैं मन-ही-मन विचारोंमें बहने लगता हूँ। मेरे नेत्रोंमें आज न तो किञ्चित् भी तमोगुण है, न ही आलस्य अथवा निद्रा। विगत रात्रि भी मैं प्रायः जागता ही रहा था, दिनमें भी करवट लेनेका अवसर नहीं मिल सका था। मैं चुपचाप, शान्त पू.पोद्दार महाराजकी शयित छवि निहारनेमें निरत हूँ। पू. गुरुदेवके करुणापूर्ण स्वभावकी द्योतक विगत पाँच माह पूर्वकी एक घटना मेरी स्मृतिमें आ रही है।

----

## विषकीट सर्पपर करुणार्णवकी उर्मियाँ

"पू.गुरुदेव तीर्थयात्रासे लौटकर आये ही हैं। (तीर्थयात्राके अधिकाश प्रसंग पूर्व वर्षमें प्रकाशित चतुर्थ खण्डमें उल्लिखित हैं।) एक दिवस प्रातः जैसे ही मैं उन्हें प्रणाम करने उनकी कुटीमें प्रविष्ट होता हूँ, उन्हें पूर्णतया विषादग्रस्त पाता हूँ। विषाद तो तमोगुणका प्रतीक है। पू.गुरुदेवमें औदास्य, विषाद क्यों ? मैं निस्संकोच उनसे जिज्ञासा कर बैठता हूँ। वे उत्तर देते हैं – 'भैया ! मेरी शय्याके सिरहानेकी ओर जो दक्षिण दिशाकी खिड़की है, उसकी सिटकनीके पास एक बिलमें एक घोर विषधर सर्प रहता था। वह विषधर सर्प इधर जबसे मैं तीर्थयात्रासे लौटा हूँ, दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। मैंने कल सायं उसके निवासस्थानपर दृष्टिपात किया, किन्तु वह भी सीमेण्टसे बन्द किया हुआ मिला। वह विषधर सर्प मेरी कुटीमें सन् १९४५से १९५६ई. – मेरे तीर्थयात्रा जानेतक अनवरत द्वादश वर्षोंसे मेरा सहवासी रहा है। मुझे चिन्ता है, कहीं मेरी दीर्घकालीन अनुपस्थितिमें कुटीकी मरम्मत करनेवाले मजदूरोंने उसे मार नहीं डाला हो।'

"पू.गुरुदेवकी आशंका सत्य थी। सचमुच ही वह विषधर सर्प कुटियाकी

मरम्मत करनेवालों द्वारा मार डाला गया था। वर्षोंसे पू.गुरुदेवकी कुटियाकी मरम्मत नहीं की गयी थी। तीर्थयात्रामें महीनों पू.गुरुदेव गोरखपुरसे बाहर प्रवासमें रहे। अतः व्यवस्थापकोंको उसे पूर्ण पक्की निर्माण करा देनेका अवसर मिल गया। दीमकलगे द्वार और खिडकियाँ सभी पुननिर्मित कर दिये गये । मजदूरोंको इसी मध्य पू.गुरुदेवका वह सहवासी विषपायी, घोर किरायत सर्प दृष्टिगोचर हुआ तो उन सबने उसकी इहलीला समाप्त कर देना ही श्रेयस्कर समझा। वह कीट इतना विषैला था कि उसके काट लेनेपर किसीके जीवन शेष रहनेकी संभावना ही नहीं रहती । मैं उस समय घटनास्थलपर ही उपस्थित था। मैंने मजदूरोंको मना भी किया था, किन्तु मजदूरोंने मेरी बातपर ध्यान न देकर उसे यमधाम पहुँचाना ही श्रेयस्कर समझा, तो मैं निरुपाय देखता ही रह गया था।"

"पू.गुरुदेवके चित्तमें उस सर्पके वियोगसे जो अपरिसीम सात्विक वेदना हो रही थी, वह तो संभावित थी ही। अब उसका निराकरण होना भी तो अशक्य था। मेरा मुख ग्लानिसे निम्न था। मैंने निम्नमुख किये ही अपने पैरोंसे भूमिको कुरेदते हुए यह स्वीकार कर लिया कि वह कालकूट सर्प दिवंगत हो चुका है। उन्होंने बार-बार मुझसे एक ही जिज्ञासा की – 'यह जानते हुए भी कि वह सर्प मेरा वर्षोंका सहवासी था और मेरे आसपास सदैव चलते-फिरते हुए उसने न तो मुझे, और न ही मेरी कुटियामें किसी आगन्तुकको, काटना तो रहा दूर, कभी फुफकारा तक नहीं, उसे तुमने मजदूरो द्वारा असहाय कैसे मारे जाने दिया ?"

"मैं निरुत्तर था। सचमुच मेरे घोर रजोगुणी कठोर मनमें पू. गुरुदेवकी करुणाधाराकी एक कणिकाका भी संस्पर्श नहीं ही हुआ था। मेरा मन धरणीमें गड जानेका हो रहा था। पू. गुरुदेवके नेत्र अश्रुवर्षा करते उनके गैरिक वस्त्रांचलको भिगो रहे थे। उस सर्पको अपना तपदान करनेके लिये आगामी बहत्तर घण्टोंतक पू.गुरुदेव उपवास करेंगे; ऐसी उनकी उद्‌घोषणा हो चुकी थी।"

" पू.गुरुदेवके उपवास करने और उनके परितापकी सूचना शनैः-शनैः जैसे ही लोगोंके कानोंमें पहुँचती गई, लोग उनकी कुटीपर एकत्रित होने लगे। पू.गुरुदेव इतने गभीर थे कि एकत्रित लोगोंमेंसे किसीको कुछ भी बोलनेका साहस नहीं हो रहा था। श्रीपोद्दार महाराजकी अ.सौ.धर्मपत्नीको भी इस

उपवासकी सूचना मिल गयी थी। घरमें एक संन्यासी तीन दिवस अनवरत भूखा रहे और घरके सब लोग भोजन करें, धर्मभीरु श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नीके लिये यह बात असह्य थी। श्रीपोद्दार महाराज इन दिनों अति रुग्ण थे; मन्दज्वरसे वे जर्जर हो रहे थे। वैद्य-डाक्टरोंने उनको पूर्ण विश्राम करनेकी सलाह दे रक्खी थी। यदि अ.सौ. माताजी (श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी) स्वयं उपवास कर बैठेंगी तो फिर पोद्दार महाराज जो एकाध फुलका पथ्य रूपमें ग्रहण करते हैं, वे भी नहीं खावेंगे। परिवारमें एक विषम धर्मसंकट उपस्थित हो गया था। पू.गुरुदेव हठमें लोहेकी लाट थे। उनके मुखसे एक बार जो कोई बात निकल गयी, उससे उनके टलनेकी तो संभावना थी ही नहीं ।

श्रीपोद्दार महाराजके कानोंमें भी इस घटनाकी सूचना किसीने पहुँचा ही दी थी। श्रीपोद्दार महाराज इस परिस्थितिको भी अपनी दूरगामी बुद्धिसे हृदयंगम कर चुके थे कि यदि श्रीराधाबाबा सर्वथा निराहार रहेंगे तो उनकी धर्मपत्नी भोजन करनेसे रही। घरमें जब कोई चतुर्थाश्रमी संन्यासी विराजित है तो गृहस्थका यही कर्त्तव्य है कि उसे भिक्षा कराके ही भोजन करे। श्रीपोद्दार महाराज स्वयं चाहे इस मर्यादाका उल्लंघन कर भी जावें, उनकी गृहिणी तो इस मर्यादाका यथाशक्य पालन अवश्य करेगी।

पू.पोद्दार महाराज रुग्णावस्थामें भी पू.गुरुदेवके पास उन्हें इस तपसे निवृत्त करने चले आये । वे सबके सम्मुख ही हँसते हुए उनसे कहने लगे–"बाबा ! भगवद्विमुख-जन-मोहिनी मायाका आवरण इतना झीना नहीं है कि वह विषधर आपके तीन दिवस उपवास करने मात्रसे चिदानन्दघन अनन्तैश्वर्यनिकेतन प्रभुके प्रकाशको प्राप्त कर ले। बाबा ! हम सभी घोर विषय-विषसे भरे हैं। यदि सबकी अविद्या-निवृत्ति उपवासोंसे संभव होती तो मैं, आप, गोस्वामीजी, आदि सभी लोग उपवास ही कर-करके सबको भगवद्धामकी यात्रा करा देते। उपवासोंसे, तपसे, यह सब-कुछ नहीं होने वाला। बाबा ! आप मुझपर विश्वास करें, इस तपका हठ त्याग दें। आप उस सर्पकी सद्गति ही तो चाहते हैं ? उसका उत्तरदायित्व मुझे दे दें, आश्वस्त हो जावें। मेरे कथनकी अनुपालना करते हुए आजसे ही गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी प्रतिदिन प्रातः-सायं विष्णुसहस्रनामके दो पाठ उस सर्पको कालियनागकी गति मिले – इस संकल्पसे तबतक करेंगे, जबतक मैं स्वयं उन्हें इस अनुष्ठानसे निवृत्त होनेको नहीं कहूँगा। अति रुग्ण रहनेपर भी मैं अपना कुछ भजन-अंश उसे अवश्य

प्रदान करूँगा।" पू.पोद्दार महाराजकी इस कृपोक्तिसे तत्कालीन उपस्थित जनसमुदाय भी इतना उत्साहित हो उठा कि सभी सज्जनोंने अपना कुछ-न-कुछ भजन उस सर्पके निमित्त प्रदान करनेका संकल्प ले लिया। श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नीने भी एक वर्षके एकादशीव्रत उस विषकीटके निमित्त करनेका निश्चय किया।"

" पू. गुरुदेवको भी अपनी वचन-रक्षा तो करनी ही थी, अतः एकादशी एवं सोमवारके व्रतोंके रूपमें तीन पृथक्-पृथक् दिन वे निराहार उपवास कर लेंगे– ऐसा आश्वासन उन्होंने सभीको दे दिया।"

----

## करुणासिन्धु आज शान्त कैसे ?

मेरे चित्तपटलपर पू.गुरुदेवकी अथाह करुणाराशिके प्रवाहित होनेकी यह घटना उस रुदन-निशामें भी बार-बार उत्थित हो रही थी। मैं बारम्बार यही विचार कर रहा था कि एक सहवासी विषकीटके लिये जिनकी करुणामें इतना उच्छलन हो आया था वही करुणासागर गुरुदेव आज स्वजनोंके इतने बिलख-बिलखकर रोनेकी उपेक्षाकर कैसे शान्त शयन कर रहे हैं ? और पोद्दार महाराजको भी क्या हो गया है ? इन सर्वविज्ञसे भी क्या कुछ गोपन है ? अपने शिष्य श्रीराधाबाबाकी समस्त साधनाओंके सूत्रधार तो ये स्वयं ही हैं। इन्होंने व्यवहारमें अन्य जनोंकी तो भले ही कभी उपेक्षा भी कर दी हो, परन्तु अपनी धर्मपत्नी, अपनी वत्सला पुत्री सावित्रीका म्लान मुख तो ये कभी देख भी नहीं पाते थे। ऐसा तो कभी नहीं देखा गया कि इनका तटस्थ, शान्त-स्थिर गंभीर रहनेका संकल्प परिवारजनोंके प्रति उमडती इनकी वात्सल्यधारासे क्षणोंमें ही नहीं बिखर गया हो। फिर आज इन सभीका विलाप सुनकर भी ये चुपचाप, शान्त बने, बाहर आकर कैसे सो गये हैं ? इनके मुखपर सुविराजित इस अखण्ड आनन्दधाराका आन्तरिक रहस्य अन्ततः है क्या ? इन महापुरुषकी गूढ अभिसंधिका कुछ तो मुझे भी ज्ञान हो !

मैं श्रीपोद्दार महाराजकी शय्याके पास बैठा अनवरत विचाररत था–"जिनका हृदय एक विषकीट सर्पकी आर्त्ति सहनेमें असमर्थ हो गया था– यह प्रश्न ही नहीं उठता था कि उस आर्त्तिमें हेतु क्या है ? बस, वह आर्त्ति अपने निज जनकी है, मात्र यह भावना जिन्हें परिव्याप्त कर लेती थी और इन दोनों

महापुरुषोंकी हेतुरहित करुणा उस सम्पूर्ण आर्त्तिको मूलसे ही मिटा देनेके उद्देश्यसे उन्हें संकल्पबद्ध कर देती थी, असंभवको संभव बनानेका जिनका संकल्प भगवत्कृपावश सिद्ध भी हो जाता था, वे सर्वसुहृद, परम नेहार्णव मेरे गुरुदेव और आर्त्तजन-प्रतिपालक ये पोद्दार महाप्रभु, आज इस वाटिकापर बरसी इस घनघोर विषादवर्षाकी उपेक्षाकर शान्त, मुसकाते कैसे शयन कर पा रहे हैं ? इस प्रवाहित करुणामें आज इनके नयन छलछला क्यों नहीं रहे ? किसी आश्रितके ज्वरतापके उग्र हो जानेपर भी मैंने इन्हें उस आर्त्तके समीप बैठे हुए पूरी रात गुजारते देखा है, फिर आज इन दोनोंने ही उपेक्षाकी यह चादर अपने तन-मनपर कैसे डाल ली है ? किसीके धैर्यकी भी कोई सीमा तो होती ही है! जहाँ गौएँ वेदनाभारसे डकार रही हों, छोटे-छोटे शिशु अपने बाबाको मुखर कराने कुटियाकी ओर प्रस्थान करनेको उद्यत हो उठे हों, छोटे-छोटे चंचल बालक जो प्रतिदिन ही साय अपने बाबाके साथ दौड़ लगानेकी प्रतिस्पर्द्धा करते थे – सुबक रहे हों; माली-कहार आदि अनुचरगण भी जहाँ अश्रु प्रवाहित कर रहे हों, वाटिकामें निवास कर रही सरावगी माता, पानकी मैया, दिल्लीवाली डालमिया मैयादि सभी मातृस्थानीया महिलाएँ अपने चेहरे नीचे लटकाये, विषादभरी, मौन बैठी हों, बाई राधा, पुष्पा आदि कुमारिकाओंके अश्रु भी जहाँ थम नहीं रहे हों, कभी किसीका एवं कभी किसीका चीत्काररव जहाँ रह-रहकर वातावरणको दयार्द्र कर दे रहा हो– वहाँ सभीके प्राणप्रिय बाबा अपने काष्ठमौन-बन्धनमें निश्चेष्ट, शान्त शयित रहनेकी लीला कर सकेंगे ? क्या इन दोनों महापुरुष-युगलके दयाभरे कान यह करुण क्रन्दन नहीं सुन पा रहे ?

मैं यह सब विचार कर ही रहा था कि सन्तशिरोमणि श्रीपोद्दार महाप्रभुने सोये-सोये ही करवट ली। उन्होंने मुझे अपनी शय्याके पास बैठे देख लिया था। उन्होंने लेटे-लेटे ही अपनी वत्सल नेहदृष्टिसे मुझे निहारा। अपनी इस एक पैनी तीक्ष्ण दृष्टिसे ही मेरे चित्तमें उठ रहे सब विचारोंको वे एक क्षणमें ही पूरा-पूरा पढ गये। अति संक्षेपमें लेटे-लेटे ही वे मुझसे बोल उठे–" भैया ! तू सर्वथा चिन्ता मत कर। तेरे बाबा तो सर्वभूतके साक्षी हैं। उनसे किसी एक व्यक्तिका भी अन्तःकरण कहीं कुछ भी छिपा नहीं है। किस व्यक्तिमें मात्र थोथी भावुकता है, और किसमें सच्ची विरहानुभूति है – वे प्रतिपल सब-कुछ देख-जान रहे हैं। यह तो वाटिकावासियोंकी हृत्सरिताका मात्र थोड़ा-सा उफान

भर है; बहुत अल्प मात्रामें उनके भावसागरकी मन्थनलीला है। त्रितापसे नित्य जलते इन विषयी जनोंका थोड़ा-सा यह मन्थन ही महौषधि बनकर प्रपंचके तटपर बिखर सकता है, यदि यह सच्चे भावका कहीं संस्पर्श मात्र कर ले। भावामृत-सिन्धु उद्वेलित हो उठे – यही तो तेरे बाबाकी गुप्त अभिसन्धि है। यह मौनका खेल इसीलिये तो तेरे बाबाने किया है। पर अभी यह कहाँ संभव है ? मन्थनजात कुछ अमृतकणिकाएँ ही बिखर जावें तो बिखरने दे। तुझे पता नहीं, भविष्यमें कितना विषय-विष तुम सभी उगलोगे – इसकी अभी कल्पना ही किसीमें नहीं है। तुम सभीमें पनपती विषय-विषबेलि आगामी भविष्यमें, जब मेरे भी जीवनकी संध्या हो चलेगी, तब कैसा आसुरी ताण्डव करेगी – उस भविष्यसे तू अभी अबोध है। जिनके हृदयमें सच्चा विरह-ताप जागा है – उनके सौभाग्यकी तो बालेहारी है। चिन्ता मत कर, जा, सो जा। अन्तिम परिणति सभीके मगलकी ही होगी।" यह कहते-कहते श्रीपोद्दार महाप्रभु शान्त, चुप सो गये।

----

## रास–रस–प्रवाह

मैं उनकी शय्याकी बगलसे चुपचाप उठा और वहाँसे पुनः पू. गुरुदेवकी कुटियाकी ओर बढ़ गया। ब्राह्मबेला हो चुकी थी। रात्रिभर सिसकते-सुबकते लोगोंको शीतल प्रभाती वायुने शान्त शयित कर दिया था। निद्रादेवी सारे दुःखोंका अवसान कर ही देती है। मैं पू.गुरुदेवकी कुटियाके दक्षिणमें स्थित कुएकी पक्की जगतपर जाकर लेट गया। मच्छरोंका प्रकोप तो अतिशय था ही, अतः एक मोटी चादर मैंने सिरतक तान ली थी। संभव है, किंचित् तन्द्रा आ गयी हो। मेरी तन्द्रा तब टूटी जब मेरे पूर्वाश्रमके मामा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी अपनी मधुरतम स्वरलहरीमें आलाप लेते हुए वातावरणको परम रसमय बना रहे थे। पू.गुरुदेवने उन्हें संकेत किया था कि उनके काष्ठमौन लेनेके पश्चात् प्रतिदिन ही वे ब्राह्ममुहूर्त्तमें उनकी कुटीके दक्षिण दिशाकी पगदण्डीपर टहलते हुए उन्हें ब्रजभावका कोई एक पद गायनकर अवश्य सुना दिया करें। जबतक उनकी तनिक भी बहिर्वृत्ति रहेगी, वे उनका पद-गायन अवश्य सुनेंगे। इसी आदेशकी अनुपालना करते हुए श्रीगोस्वामीजी आज प्रथम दिवस गा रहे थे–

*रासमण्डल रच्यो रसिक हरि राधिका*
*तरनिजा तीर बानीर कुंजे।*
*फूले जहँ नीप नव बकुल कुल मालती*
*माधुरी मृदुल अलि पुंज गुंजे।।*
*सुमनके गुच्छ अलि गुच्छ चल बात बलि*
*तरु मनो चहुँ दिशि चँवर करहीं।*
*करत रव सारि सुक पिक सु नाना विहँग,*
*नचत केकी अधिक मनहिं हरहीं।।*
*त्रिगुन जहँ पवनको गवन नित ही रहत*
*बहत स्यामल तटनि चल तरंगा।*
*विविध फूले कमल कोक कल हंस कुल,*
*करत कल कुणित रव जल बिहंगा।।*
*हेम मंडल रचित खचित नाना रतन*
*मनहुँ भू करनकुण्डल बिराजे।*
*बंस बीनादि मुहचंग मिरदंग बर,*
*सबन मिलि मधुर धुनि एक बाजे।।*
*नचत रस मगन बृषभानुजा गिरिधरन*
*बदन छबि हेरि सुधि जात रति मदनकी।*
*मुकुटकी धरहरनि पीत पट फरहरनि*
*तत थेइ थेइ करनि हरनि सब कदनकी।।*

मैं अपने पूर्वाश्रमके मामाजी – श्रीचिम्मनलालजीकी सुमधुरतम स्वरलहरीमें बह उठा था। मेरे सामनेका वह दुखभरा दृश्य-संसार किसी विलक्षण कल्पना-स्वप्नमें तिरोहित हो गया था। श्रीगोस्वामीजीकी कण्ठध्वनि इतनी सुरीली थी, कि मुझे ऐसा स्पष्ट अनुभव हो रहा था मानो उनके द्वारा किये जाने वाले इस महारास-स्तवनसे अपने आपको कृतार्थ करने गिराधिदेवी सरस्वती अपनी सभी सखी रागिनियों एवं स्वर-श्रुतियों सहित उनके कण्ठमें सुविराजित हो उठी हैं। उन्होंने स्वयं ही मानो अपने आपको कृतकृत्य करने अपनी समग्र स्वर-माधुरीसे श्रीगोस्वामीजीका कण्ठ सजा दिया हो।

इसमें सचमुच ही कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं थी। गिराधिदेवीके अस्तित्वका साफल्य भी तो इसीमें था कि वे प्रिया-प्रियतमके गुणानुवादके श्रवण-गायनमें पूर्णतया तिरोहित ही हो जावें। और यह सौभाग्य उस देवीको

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी जैसे रसिक सन्त ही तो दे पाते। श्रीगोस्वामीजीके पदगायनकी माधुरीने मेरा तो संसार ही दूसरा कर दिया था। मेरी आँखोंमें कलिन्दनन्दिनी यमुनाका कल-कल प्रवाह नाच उठा था। यमुनाके पावन तटपर कैसा मनोरम वानीर(बैंत)का कुज है। श्रीगोस्वामीजीकी विशुद्ध सत्वमयी स्वरलहरीके माध्यमसे लीला महाशक्तिने मेरी आँखोंमें चिन्मय रासभूमि ही अवतरित कर दी थी, और मैं उनके पदगायनकी भावार्थ-अवधारणामें पूरा डूबता ही चला गया था।

"रसिक-शिरोमणि प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधव स्वयं अपने हाथों अभिनव सुन्दर रासमण्डलकी रचना कर रहे हैं। यद्यपि अलक्षितरूपसे सभी कार्य लीलामहाशक्ति योगमाया ही सम्पादित कर रही हैं, परन्तु प्रकटमें तो ऐसा ही दृष्टिगोचर हो रहा है, मानो रसिकमुकुटमणि द्वारा स्वय अपने हाथों ही यह कार्य-संरचना संघटित हो रही है।"

"कुञ्ज तो वानीर(वेत्र)का है, परन्तु उसमें कदम्ब, मौलश्री, मालती आदि लताओंने कुंजकी आधार इन बेंतोंको ऐसी सुघडतासे आच्छादित किया है, मानो वानीरमेंसे ही कदम्ब, मौलश्री और मालतीके असंख्य पुष्प स्फुटित हो उठे हों। इन पुष्पोंकी सुमधुरतम गन्धसे आकृष्ट भ्रमरोंके असख्य दल चतुर्दिक् मन्द-मन्द मृदु गुञ्जार कर रहे हैं। सुगुम्फित बेतोंकी सरचना इस प्रकार कलापूर्ण रीतिसे हुई है कि मध्य-मध्यमें प्रस्फुटित रंग-बिरंगे पुष्प-गुच्छ रत्नमय झाड़-फानूसोंकी शोभाको भी तिरस्कृत कर दे रहे हैं। इन असंख्य अतिशय सुमधुर सुगुम्फित पुष्प-गुच्छोंको संस्पर्शित करता हुआ निर्मल गन्धवाही पवन इतना सुगन्धित एवं सुशीतल है कि उसका संस्पर्श ही प्रिया-प्रियतमको रसमत्त कर दे रहा है। इस सुशीतल स्वच्छ पवनके झौंकोंसे हिलते हरे-भरे वृक्ष ऐसे लग रहे हैं मानो अपने असंख्य करोंसे वृन्दावनदेव अपनी गोदमें विराजित प्रिया-प्रियतमपर चँवर डुला रहा हो। इन वृक्षोंकी सुकोमल टहनियोंपर शुक, सारिकायें, पिक एवं कपोत आदि अनेकों सुन्दर पक्षी कलरव कर रहे हैं।"

"देखो ! इस मयूरकी बलिहारी है कि उसने अपना कलात्मक नृत्य दिखाकर प्रिया-प्रियतमको रासनृत्य प्रारंभ करनेको समुत्सुक कर दिया है। अहा ! प्रियाको तो इस मयूरके अणु-अणुमें अपने प्रियतम ही भरे दृष्टिगोचर होते हैं और वे इसपर कैसी रीझ रही हैं !"

" जो त्रिविध समीर यहाँ सदैव संचरित रहता है, उसकी गति भी

इतनी मनोरम है कि वह श्यामलवर्णा यमुनाकी तरंगोंको अपने संस्पर्शसे मतवाला बनाकर चंचल एवं उत्तुंग कर देता है। इस वायुके अणु-अणुमें भरे उनके प्रियतम प्राणसुन्दर नीलमणि ही इन तरंगोंमें प्रतिलक्षित होते हैं, अतः वे तरंगें मतवाली हुई यमुनाके प्रस्फुटित असंख्य पद्मों, उत्पलों एवं इन्दीवरोंको उत्पाटित कर देती हैं और तब इन्हें अपने मनोरम अंकमें धारणकर अत्यन्त वेगसे इन्हें रासस्थलीकी ओर प्रवाहित कर देती हैं। इतना ही नहीं, इन लहरोंके द्वारा रासस्थलीमें सुविराजित प्रिया-प्रियतमके चरणोंमें इन असंख्य पद्मोंका इस प्रकार भावभरा समर्पण होता है, कि न तो इन लहरोंके वेगसे रासमण्डलका तनिक भी सौन्दर्य क्षत होता है, न ही उसका पावित्र्य; और न ही रासनृत्यरत प्रिया-प्रियतम एवं सखियोंके रसप्रवाहमें किंचित्-सा भी विक्षेप घटित हो पाता है। इन असंख्य पद्मोंसे सज्जित रासमण्डलकी शोभा अनन्त गुनी अभिवर्धित हो उठती है। इनकी सुमधुरतम गन्ध उमग-उमगकर प्रिया-प्रियतमके आनन्दघन-रसोद्दीपनको उच्छलित करती जाती है।"

"इस रासस्थलीको यमुना महारानीने चतुर्दिक् इस प्रकार अपनी भुजाओंमें भर रखा है कि उसके तटवर्ती चक्रवाक, कलहंसादि असंख्य जलपक्षीगण प्रिया-प्रियतमके महारासनृत्यका अवलोकन करते हुए ध्यानरत, भाव-समाधिस्थ हो उठते हैं। प्रिया-प्रियतम-दर्शन-जन्य भावसमाधिसे वे जब-जब किंचित्-से बहिर्मुख होते हैं, अपनी मनोहर अति सरस काकलीसे उनका इस प्रकार गुण-गायन करते हैं, जिससे समग्र रासमण्डल ही मुखर, संगीतमय हो उठता है।"

"रासमण्डलकी गोलाकार अवनी एवं वेदी नाना प्रकारके अनमोल रत्नोंसे विजड़ित है और उसकी ऐसी दमक है, मानो वृन्दावन महाराजका शिरोभूषण किंवा रत्नकुण्डल झलमलकर जगमगा रहा हो।"

"प्रियतम प्राणसुन्दर रसिकशेखर नीलमणि व्रजेन्द्रकिशोरकी बाँसुरी एवं ललितादिक सखियोंके द्वारा वादन की गयी वीणा, मुहचग और मृदंग— ये सभी वाद्य मिलकर ऐसी सुमधुर स्वररचना कर रहे हैं कि वातावरण रसमुग्ध है। रासरसमें उन्मत्त प्रिया-प्रियतम ऐसा मनोहर नृत्य कर रहे हैं कि रति एवं काम उनका मुख-सौन्दर्यपानकर बेसुध हो रहे हैं। नृत्यरत प्रियतम श्यामसुन्दरके मुकुटके मयूरपिच्छके थरथराकर लहरानेसे एवं उनके पीताम्बरके फरहरानेसे, साथ ही सखियोंके मुखसे ताता-थेइ-थेइके उच्चारणसे जो मनोहर दृश्य-झाँकी

उभर रही है, वह त्रितापजन्य क्लेशोंका समूल नाश कर रही है।"

मेरे विचारोंने अचानक ही दूसरी करवट ले ली। वृत्ति गोस्वामीजीके पदगायनके रससे दूसरी ओर हट गयी। मैं सोचने लगा – मेरे पू. गुरुदेवने इसीलिये तो काष्ठमौन लिया कि उनके तपसे, भजनसे हमारी चित्तशुद्धि हो जाय और हमारी वृत्तियाँ इस सुमनोहर रासरसमें आसक्त हो जावें। नरसीभगतने अपनी पुत्री नानीबाईका माहेरा छप्पन करोड़ रुपयेका दिया परन्तु क्या उससे अंजार ग्राम रोग-शोक आदि आधिभौतिक, महामारी, बाढ़, भूकम्प आदि आधिदैविक; और काम-क्रोधादि आध्यात्मिक तापोंसे मुक्त हो गया ? यदि पू. गुरुदेव सिद्ध होकर इस गीतावाटिकामें स्वर्णवर्षा भी कर देते, तब भी इस स्वर्णवर्षासे हमलोग त्रितापसे मुक्त तो कदापि नहीं हो सकते थे।भगवान् श्रीकृष्णके अन्नप्राशन महोत्सवका दर्शन करने कुबेर व्रजमें आये थे। मनमें आया कि मैं अपने स्वामी व्रजेन्द्रनन्दनको आज क्या भेंट चढाऊँ ? कुबेरके पास मात्र अकूत प्राकृत स्वर्णभण्डार था। कुबेरने तीन मुहूर्त्ततक स्वर्णवृष्टि करके गोकुलको परिपूर्ण स्वर्णमय कर दिया थाः

*त्रिमुहूर्त्तं कुबेरश्च श्रीकृष्णप्रीतये मुदा।*
*चकार स्वर्णवृष्ट्या च परिपूर्णं च गोकुले।।*

(ब्रह्मवै.कृ.ख.अध्याय १३)

व्रजके गोप इस स्वर्णवृष्टिसे चकित अवश्य हुए पर यह स्वर्णवृष्टि उनके आदरकी वस्तु तो नहीं ही बन सकी। कैसे बनती ? स्वर्ण उनमें लोभवृत्ति, कलह, दुःख भले ही उत्पन्न कर देता, स्वर्णसे उन्हें आनन्दघनविग्रह श्रीकृष्ण-प्रेमसुख तो मिल ही नहीं सकता था। इन व्रजवासियोंके घर-घरमें तो सच्चिदानन्दकन्द, श्रीकृष्णचन्द्र ही लोभनीय वस्तु थे, वे तो उन्हें अपने हृदयसे सटाये, अगोंमे लगाये ही रखते थे। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति – सदैव ही यह कृष्ण-प्रीति-धन उनकी उत्कण्ठाको अभिवर्धित किये रखता था, नन्दरानीकी गोदसे ले-लेकर नन्दतनयका मुखचुम्बन ही जिनकी एकमात्र कृतार्थताका हेतु था, उन व्रज-गोप-गोपांगनाओंके लिये तुच्छातितुच्छ स्वर्णराशिका मूल्य ही क्या था ? ऐश्वर्य-ज्ञान-विहीन विशुद्ध प्रेमके आस्वादनमें ये व्रजगोप एवं गोपसुन्दरियाँ तन्मय थीं। उनके लिये तो श्रीकृष्णचन्द्र तत्वतः क्या हैं, इसके अनुसन्धानकी भी आवश्यकता नहीं थी। वस्तुतः वस्तुस्थिति अनुसन्धानकी अपेक्षा कहाँ रखती है ? वह तो जो है, वह रहेगी ही। व्रजेन्द्रनन्दन ही सर्वभूतकी आत्माके

आत्मा थे, प्रियोंके प्रियतम थे; इनके लिये ही सबको अपने देहादि भी प्रिय थे। इनसे प्रेम करनेमें ही जीवनकी समग्र सार्थकता थी। ऐसे उन स्वयं ब्रजेन्द्रनन्दनको पाकर उनके प्रति अपना मन-प्राण न्यौछावर कर देनेवाले ब्रजपुरवासियोंके लिये कुबेरका वैभव अत्यन्त उपेक्षणीय ही तो था।

मैं सोच रहा था कि पू.गुरुदेवका काष्ठमौन हमें यही शिक्षा देनेके लिये उनका अप्रतिम साधन है। पू.गुरुदेवने मात्र मौखिक उपदेश न देकर अपने जीवनका आदर्श उदाहरण हम सबके सम्मुख रक्खा है। वे मात्र मुखसे न बोलकर अपने जीवनकी रहनीसे बोले हैं। आज उनका आदर्श आचरण कह रहा है – जिस प्रकार वे श्रीकृष्णको देखनेके सिवा कुछ नहीं देख रहे; श्रीकृष्णसे बोलनेके सिवा किसी अन्यसे नहीं बोल रहे; जैसे उनके श्वास-प्रश्वास, मन-प्राणका संकल्प मात्र श्रीकृष्ण हैं, जैसे उन्हें श्रीकृष्ण-स्मृतिकी प्रगाढतामें अपनी देहका भी कोई अनुसन्धान नहीं रहता, वैसे ही हमारा मन भी अपने राधाबाबाकी जीवन-रहनी देखकर कहीं कुछ तो विषयलोलुपताका त्याग करे ! त्रिताप-दग्ध, दुःखालय इस देहाध्यासको कुछ अंशमें तो त्याग करनेकी ओर हम भी कदम बढा सकें !

परन्तु हा हतभाग्य ! हमने न तो पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी प्रत्यक्ष भगवद्रस-निमज्जित जीवन-रहनीसे कुछ सीखा, न ही श्रीपोद्दार महाप्रभुके आदर्श सिद्ध जीवनसे ही कुछ सरोकार रक्खा। श्रीपोद्दार महाराज भी यावज्जीवन प्रियाप्रियतमके चिन्मय रसमें पूर्णतया निमज्जित रहकर, वर्षों अपनी भावसमाधिका प्रत्यक्ष दर्शन हमें कराते रहे, फिर भी हम तो "हाय विषय, हाय विषय" की ही आसुरी रट लगाये रहे। हमारे लिये विषयरस ही सर्वोपरि रहा। इन गुरु-शिष्य – दोनोंका जीवन नगाड़ेकी चोट कहता रहा–

*'पता नहीं कुछ रात दिवसका पता नहीं कब संध्या-भोर।*
*जाग्रत्-स्वप्न दिखायी देता श्याम सदा मेरा चितचोर ।।"*

परन्तु हमने तो श्वान-शूकरोंकी तरह 'विषय-वमन'का स्वाद ही सर्वोपरि जाना। उनकी आत्मीयताका दम्भ भरनेवाले उनके निज जन – हमें घोर धिक्कार ! हम आजतक आपाततः इसी कीचमें लिप्त हैं। एक पल भी अहंकार, अभिमान, धनलिप्सा, विषयसुख, शरीरभोग हमारा पिण्ड नहीं छोड़ते। हमारी आसुरी माँग आज भी यही है, जो हमें निरन्तर भगवद्रस-विमुखकर जग-जंजालमें भटका रही है। मैं इन्हीं विचारोंमें कुछ पल भटकता रहा।

सहसा अन्तर्यामी प्रभुकी कृपाने मुझे सचेत किया। "मूर्ख ! किस बहिर्मुखी चिन्तनधारामें बहक गया है, अमृतको किनारेकर विषप्रवाहमें डूब रहा है !" किसी कृपालुने भीतरसे सचेतन किया। अन्तरात्माकी यह ध्वनि मुझे बरबस उस भटकावसे श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी सरस 'महारास-अर्चना'में पुनः धकेल गयी। मैं अब सचेत हुआ सुन रहा था। श्रीगोस्वामीजी आलाप भर रहे थे–

*दसनि दमकनि हँसनि लसनि अँग-अंगकर*
*अधर बर अरुन लखि उपमा को है !*
*दृग जलज चलनि ढिंग कुटिल अलकनि झुलनि*
*मनहुँ अलि कुलनकी पाँति सोहै ।।६।।*

मेरा चित्त पू.गोस्वामीजीके रसभरे गायनकी भावार्थ-अवधारणा कर रहा था–

"ओह ! प्रिया-प्रियतम रासेश्वर-रासेश्वरीका सुमन्द हास्य, उस हास्यसे प्रकट उनकी शुभ्र कुन्द-दन्तछटा, उन दोनोंके सुघड़ अंगोंकी शोभा, अधरोंकी लालिमा, कपोलोंमें दमकती श्यामलताके मध्य छलकती अरुणायी कैसी निरुपम है ! इस सरस सौन्दर्यकी तुलना त्रिलोकीमें कहीं किसीसे भी नहीं की जा सकती। प्रिया-प्रियतमके कुञ्चित केशोंकी लटें उनके स्कन्धदेशमें ऐसी झूल रही हैं मानो भ्रमरोंकी पक्तियाँ किन्हीं विशाल दो नील एवं रक्त पद्मकोशोंपर आसीन हों और साथ ही उनके खंजन पक्षी-से चंचल नेत्र पद्मदलोंकी लालिमाको भी तिरस्कृत कर रहे हैं।

*लाग अरु डाट पुनि उरप उरमेइ तिरप*
*एक इक सखी गति लेत भारी।*
*करत मिलि गान अति तान बंधान सौं*
*परस्पर रीझि कहैं वारौं वारी ।।७।।*

"प्रिया-प्रियतम दोनोंमें परस्पर नृत्य-स्पर्द्धा हो रही है, फिर इस परस्पर दोनोंकी स्पर्द्धामें सखियाँ भी रासेश्वर प्राणवल्लभको पराजित करनेका संकल्पकर प्रियाके पक्षमें नृत्य प्रस्तुत करनेको समुत्सुक हो उठती हैं। इनकी प्रतिस्पर्द्धा इतनी कलात्मक हो रही है कि उरप-तिरप-उरमेइ आदि एक-एक नृत्यगति अतिशय कुशलतासे ये दोनों एक दूसरेसे बढ़कर प्रस्तुत कर रहे हैं। इस

विलक्षण नृत्य-कौशलके साथ-साथ भिन्न-भिन्न बन्दिशोंमें बन्धान प्रस्तुत करतीं, सखियाँ भिन्न-भिन्न सप्तकोंमें ऐसी सुमधुर तान लेती हैं, कि सभीको बरबस एक-दूसरेपर "बलिहार, बलिहारी जाऊँ" इन शब्दोंका उच्चारण करना पड़ रहा है।

*धारु उर हार वर रतन कुंडल ललित*
*हीर वर वीर स्रवननि सुहाई।*
*नील पट पीत तन गौर स्यामल मनौ*
*परस्पर घन दामिनि दुराई।।८।।*

प्रिया बृषभानुजाके उभरे उरोजोंपर नीलमणि रत्नोंका मनोज्ञ हार शोभित है और उनके कानोंमें कर्णभूषण, जो श्रेष्ठ वज्रमणियोंसे निर्मित हैं, दमक रहे हैं। प्रियाके गौर वर्ण अंगोंपर सुनील परिधान एवं प्रियतम श्यामसुन्दरके सुमनोज्ञ कृष्ण वपुपर पीत परिधान इस प्रकार शोभासम्पन्न है, मानो नव-नील-घन वारिदने अपने अंकमें विद्युल्लताको और विद्युल्लताने अपने समालिंगनमें वारिदमालाको भर रखा हो।

*सखी चहुँ दिसि बनी कनक चम्पकतनी*
*चन्दवदनी एक एकतं आगरी।*
*नचत मंडल किये चित्त दुहुँ तन दिये*
*भूलि गइ सकल अप अपनि सुधि नागरी।।९।।*

"कनकसुन्दरी प्रिया बृषभानुनन्दिनी एवं नवघनसुन्दर प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनको चतुर्दिक् चम्पाके पुष्प-जैसी सुन्दर शोभावाली सखियाँ घेरे हुए हैं और मण्डलाकार नृत्य कर रही हैं। इन सबका चित्त युगल प्रिया-प्रियतमके प्रेममें इतना डूबा है कि वे अपने-अपने आपेकी भी सुधि भूल बैठी हैं।

*रमत इहि भाँति नित रसिक सिरमौर दोउ*
*संग ललितादि लिये सुघरि सुन्दरि अली।*
*मनसि वृन्दावन बसहुँ जीवनधना*
*ब्रजराजसूनु बृषभानुजूकी लली ।।१०।।*

"रसिक-शिरोभूषण इन युगल प्रेमी-प्रेमास्पद राधामाधवका उपरोक्त प्रकारसे नित्य ही रासबिहार होता रहता है। इनके संग जो ललितादिक सखियाँ रहती हैं वे सब समग्र कलाओंमें सुघड़ और अपार सुन्दरियाँ हैं। श्रीबृन्दावनदेवजी महाराजकी यही आन्तरिक अभिलाषा है कि ब्रजराजतनय

श्रीकृष्ण एवं बृषभानुनन्दिनी श्रीराधा मेरे हृदयमें धन-वैभवकी भाँति बसी रहें।"

सन्तहृदय श्रीगोस्वामीजी महाराजकी सुमधुर विशुद्ध सत्त्वमयी स्वर-बन्दिशमें गायी इस रासगीतिका रूप प्रिया-प्रियतमके प्रेमिल स्तवनका ज्यों ही विराम हुआ, मुझे यही अनुभव हो रहा था मानो उनके कण्ठस्वरके अणु-अणुसे प्रसरित माधुर्यभरे रासरसके निराविल उमड़ते प्रवाहमें अवगाहनकर समग्र वाटिका क्षेत्र ही जैसे मंगलमय, परम आनन्दमय हो उठा है। मैं सोच रहा था– 'अहा कैसा अगाध है यह रासरस, तभी न मेरे गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी सभी इन्द्रियाँ इसमें अवगाहनकर, इसकी थाह पानेकी सर्वथा आशा छोड़, अतल तलमें ही डूबी, स्थिर शान्त हो गयी हैं। काष्ठमौनके रूपमें उन्होंने बहिर्मुखी प्रकृतितटको संस्पर्श नहीं करनेका मानो हठ ही कर लिया है।

## बाबा ! हमें इस रास–रसको कैसे चखाओगे ?

अब भले ही हम चिल्लाते रहें–"बाबा ! हमारे गुरुदेव !! हम तो इस त्रिताप-तप्त विश्वमें भीषण विषय-विषकी ज्वालासे आपाततः बाहर-भीतर सर्व ओरसे भस्म हो रहे हैं। अब बताओ तो सही, हमारे निस्तारका अन्ततः उपाय ही क्या है ? तुम हमें कैसे अमृत-जीवनरूप इस नित्यरासका रस चखाओगे ?"

मेरा प्रश्न गीतावाटिकाके अन्तरिक्षमें आज भी अनुत्तरित ज्यों-का-त्यों घुमड़ रहा है। परन्तु न जाने कौन अति भीतरसे विश्वासकी एक रश्मि जगाता हुआ अति मधुर स्वरमें कहता है। कहनेवाला अन्य हो ही कौन सकता है ? श्रीराधाबाबा – मेरे पू.गुरुदेव ही मेरी करुण पुकारका प्रत्युत्तर देते हैं – "देख बचुआ ! मैं राधाबाबा, तेरा माता-पिता-गुरु-सखा- सर्वस्व, तेरी आत्मा, परमात्मा, तेरा ब्रह्म, तेरा भगवान्, तेरे इस विषय-विष-ज्वरकी अमोघ औषधि करनेमें बड़ा ही निपुण वैद्य हूँ। सर्वथा चिन्ता मत कर । बस, मेरी आशाकी डोरसे बँधे रहकर मुझे पुकारते रहना। मेरे संग पोद्दार महाप्रभु-जैसे महासिद्ध सन्तका संबल है और गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी-जैसे समर्पित विश्वस्त अनुचरका सहयोग है। घबडा मत, निश्चिन्त रह। यदि तू और ये सभी तेरे-जैसे मेरे पीछे बँधे हुए जीव घोर कराल विषय-विषका पानकर निष्प्राण भी हो जावेंगे, तब भी मैं अपनी विशुद्ध प्रेमौषधिके घ्राणमात्रसे इन सबको और तुझको भी मधुपानका

सुख अनुभव करनेवाले व्यक्तियोंकी ही तरहका परम अमृत एवं विशुद्ध ब्रज-जीवनका दान कर दूँगा। निश्चिन्त रह, मंगल, महामंगल, पूर्ण मंगल, निश्चय ही मंगल-प्रभात उदय होगा ही। मेरे सम्मुख न कोई पापी है, न पाप ही है। मेरे सम्मुख यह त्रिताप भरा विश्व भी शशश्रृंगकी तरह न कभी था, न है, न ही होगा। मेरे सम्मुख तो परम सत्य, सत्यका सत्य या तो स्वयं मैं हूँ, या मेरे प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण हैं। उन श्रीकृष्ण – मेरे प्रियतम-दृश्यको, निरन्तर विशुद्ध प्रेमरसपान कराना ही मेरा जीवन है। जब मेरे सम्मुख तुम सभी कभी क्षणके छोटे-से भाग – लवमात्रके लिये भी श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं होते, श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण बने, मेरा रसपान करते रहते हो तो फिर तुम्हारा यह मिथ्या जीवपनेका अज्ञानाध्यास कबतक टिका रहेगा ? मेरा विशुद्ध प्रेम यद्यपि निरीह अवश्य है, उसमें कोई प्राकृत जडबल नहीं है, जो तुम्हारे भीतर जोर-जबर्दस्तीकर प्रवेश पा सके; परन्तु एक दिवस अवश्य मेरे प्रियतम श्रीकृष्णका प्रेमाकर्षण तुम्हें हठात् अपनी ओर उन्मुख कर ही लेगा, और तुम सभी बिना किसी भेदभावके हेतुरहित कृपाकी धारामें निश्चय ही प्रवाहित हो उठोगे।"

--------

# लोहेके पेड़ हरे होंगे, तू गीत प्रीतिके गाता जा

## दूसरा अध्याय

भक्तराज नरसीको उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर प्रिया-प्रियतम राधामाधवके चिन्मयधाम गोलोकमें महारास-दर्शनार्थ ले गये थे। भगवान् शंकर स्वयं तो वहाँ शंकरी सखि बनकर सखीभावसे प्रिया-प्रियतम राधामाधवकी नृत्य-गायन-सेवामें जुट गये एवं नरसी एक किंकरी बने रासमण्डलके सौन्दर्य-दर्शनमें ही मुग्ध हो गये। सहसा एक प्रकाश-व्यवस्था करनेवाली संयोजिकाकी उनपर दृष्टि पड़ गयी। उसने उन्हें कोई नवागन्तुका कृपापात्रा समझ प्रकाश-सेवा सौंप दी। अब तो नरसी भगत दासी रूपमें एक तेजोमय, स्वयप्रकाश, दैदीप्यमान मशाल लिये निशापर्यन्त महारास-दर्शन करते रहे।

रास-दर्शन करते-करते भक्तराज नरसीको ऐसी प्रगाढ़ भाव-समाधि लगी कि उन्हें देह-सुधि ही नहीं रही। वे अपने हाथमें जो मशाल लिये थे, वह जलती-जलती उनके समूचे हाथको ही जला गयी। हाथ जलता रहा किन्तु

नरसी भगत महारास-दर्शनमें इतने तन्मय थे कि उन्हें न अपने हाथके जलनेकी सुधि थी, न अपने अस्तित्वकी ही। अन्ततः उनकी प्रेम-दशापर प्रिया-प्रियतम तो रीझे ही। रास-नृत्य स्थगित हो गया। प्रिया-प्रियतम एवं सखियाँ भक्तराज नरसीको घेरकर खड़े थे। फिर भी नरसीके भाव-दृश्यरूपमें तो प्रिया-प्रियतम उसकी आँखोंके सम्मुख वैसे ही अति मनोहर नृत्य कर रहे थे। अन्ततः प्रिया श्रीराधाकिशोरीने नरसीको प्रकृतिस्थ करनेकी ठानी। प्रिया इतनी प्रेम-द्रवित हो उठी थीं कि उन्होंने श्रीनरसीको अपना पावन संस्पर्श-दानकर जल जानेकी उसकी समस्त पीड़ा हर ली। श्रीनरसीभगत सदा-सदाके लिये अपने साँवरे सेठ एवं सेठानी श्रीराधारानीका दर्शन एवं प्रेम प्राप्तकर कृतकृत्य हो गये। कहते हैं—लौकिक जगतमें पूरे सात दिन-रातके पश्चात् भक्त नरसीको बाह्यावेश हुआ था।

ऐसी ही दशा मेरे पू.गुरुदेवकी काष्ठमौन लेनेके ठीक दूसरे ही दिवस हो गयी थी। दूसरे दिवस प्रातः कार्तिक कृष्ण प्रतिपदाके ब्राह्म मुहूर्तमें गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी द्वारा गायी गयी श्रीचाचा बृन्दावनदासजी-रचित पदकी चिन्मय महारास-भावकी अनुभूतिपूर्ण शब्दावलीने जैसे ही पू. गुरुदेवके श्रवणरन्ध्रोंमें प्रवेश किया, मध्य-रात्रिमें रासदर्शनमें डूबकर मौनी होनेकी उनकी प्रक्रियामें एक महान् उद्दीपन संघटित हो गया। यह उद्दीपन इतना सरस भावोच्छलन करनेवाला था कि अनवरत छः घण्टेतक उन्हें कोई बाह्य होश नहीं हो पाया।

नियमतः पू.गुरुदेवको प्रातः छः बजे शौचके लिये अपनी शय्या छोड़ देनी चाहिये थी, किन्तु उनके सेवक श्रीराधेश्याम 'भगतजी'के कथनानुसार पू. गुरुदेव निशापर्यन्त कोई एकाध घण्टे ही लेटे थे, शेष सभी समय सिद्धासनमें समाधिस्थ बैठे-बैठे ही उनकी रात्रि व्यतीत हुई थी। जब दूसरे दिवस प्रातः दस बजेतक भी उनमें कहीं कोई हलन-चलनकी चेष्टा दृष्टिगोचर नहीं हुई, तो श्रीभगतजी पू.पोद्दार महाप्रभुको सूचित करने गये। पू.पोद्दार महाप्रभुको तो विगत मध्यरात्रिसे ही पू.गुरुदेवकी इस सभावित स्थितिका अनुमान था। उन्होंने विगत रात्रि ही श्रीभगतजीको आदेश दे दिया था कि गुरुदेव यदि भाव-समाधिमें देह-ज्ञानरहित हों तो उन्हें न तो कोई (श्रीपोद्दार महाराजके अतिरिक्त) व्यक्ति संस्पर्श करे, न ही उन्हें जगानेकी चेष्टा की जाय। उनकी कुटीके पच्चीस गजकी परिधिमें कोई व्यक्ति तनिक भी उच्च स्वरसे न तो बोले, न परस्पर ही किसीको पुकारकर आवाज दे। यदि इस प्रकारका कोई भी विक्षेप हो, तो उन्हें

तत्क्षण ही सूचित किया जाय।

-----

## बाबा ! आप स्वामी चक्रधरजी शरीर हैं

दूसरे दिवस जब दस बजेकी परिधि बीत गयी, मध्याह्न काल होनेको आया और पू.गुरुदेव शौच क्रियाके लिये भी नहीं उठे तो श्रीभगतजी द्वारा श्रीपोद्दार महाराजको सूचित किया गया। श्रीपोद्दार महाराज स्वयं मन्दज्वरसे पीड़ित होते हुए भी आये, और पू.गुरुदेवके कर्णविवरोंमें जोर-जोरसे निम्न शब्द उच्चारित करने लगे–"बाबा ! आप स्वामी चक्रधरजी संन्यासी शरीर हैं; आपको शौच-स्नानकी क्रिया करने उठना है।" इस शब्दावलीको बार-बार उच्चारण करनेपर कुछ काल पश्चात् पू.गुरुदेवकी श्वासक्रिया जो अतिशय मन्द संचरित हो रही थी, सामान्य दीर्घ होने लगी। उनमें चेतना और जाग्रतिके चिह्न शनैः-शनैः प्रकट होते देख पू.पोद्दार महाराज आश्वस्त हुए-से उनकी कुटियाके बाहर आ गये। श्रीपोद्दार महाराजके साथ-साथ श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल भी आये थे, वे पू.गुरुदेवकी कुटीके बाहर ही श्रीपोद्दार महाराजकी हाथकी बेतकी छडी लेकर खड़े थे। मैं भी उनके पास ही था। मैं विचार कर रहा था – पू.गुरुदेवकी मनोभूमि और हमारी विषयमत्त बुद्धिमें कितना अन्तर है ? हमें बार-बार संकल्प करानेपर कि हम यह मलिन शरीर नहीं हैं, एक क्षण भी शरीराध्यास पिण्ड नहीं छोडता और कहाँ पू. गुरुदेव, कि श्रीपोद्दार महाराजको अवश उनके शरीर-रक्षार्थ उन्हें देहाध्यास करानेकी चेष्टा करनी पड रही है।

श्रीपोद्दार महाराजके शरीरके अंग-अंगमें उनके ज्वरग्रस्त रहनेकी पूर्ण थकावट परिलक्षित हो रही थी। वे श्रीकृष्णचन्द्रजीको सम्बोधित करते कह रहे थे–" भैया ! भगवान् श्रीकृष्ण इतने ऐश्वर्यसम्पन्न हैं कि उनके एक लोमकूपमें, जो उनके समग्र विग्रहका एक लघुतम अंश है, असंख्य ब्रह्माण्ड धूलिकणोंकी भाँति प्रकट और विलय होते रहते हैं। जहाँ उनका ऐश्वर्य इतना अपरिसीम है, वहाँ उनके सौन्दर्यकी भी कल्पना करो, कितना अनन्त होगा ? उन अनन्तका तो सब-कुछ अनन्त ही है। वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जब किसी महाभाग्यवान्के अन्तःकरणको अपनी रासलीलाका धाम बना लें, फिर भला वह कैसे सचेत एव सवरित रह सकता है ? और जब राधाबाबा-जैसे किसी अचिन्त्य महाभाग्यवान्के

हृदयमें अशेष सौन्दर्य-माधुर्य-सीमा श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ श्रीराधारानी एवं गोपांगनाओंका भी प्रादुर्भाव हो उठे, उनके प्राकृत शरीरका तो तत्क्षण ही पात हो जानेकी संभावना हो उठती है।"

"यह तो श्रीराधाबाबाके शरीरसे विश्वप्रकृतिमें भगवान् श्रीराधामाधवको अपने वैदग्ध्य, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, सौन्दर्य और माधुर्य (केलिरस)की उर्मियाँ प्रवाहित करनी हैं, विश्वब्रह्माण्डमें इन विशुद्ध रसोंका इस समय एक प्रकारसे सर्वथा अभाव ही हो गया है और इन विशुद्ध निर्मल भावोंके स्थानपर पतनकारी विरस (विपरीत भावों), कुरस (कुत्सित भावों) एवं अरस (भावहीनता)का सर्वत्र बाहुल्य हो उठा है। इसी विशुद्ध चिन्मय भागवती प्रयोजनको लेकर भगवान् श्रीराधामाधव श्रीराधाबाबाके पाञ्चभौतिक कलेवरको अपनी विशेष कृपाशक्तिसे संजीवित किये हैं, अन्यथा समस्त कृष्णकान्ताओंकी शिरोमणि भगवती ह्लादिनीशक्ति स्वयं श्रीराधारानी जो अपने चित्र-विचित्र भाव-तरंगरूप अनन्त सुख-समुद्रमें स्वयं श्रीकृष्णको बेसुध करनेमें समर्थ हैं – जिस किसी भी भाग्यवान्के प्राकृत दृश्यमें आ जावें उनकी अविद्यामयी प्राकृत देहका बने रहना पूर्णतया असंभव ही मानना चाहिये।"

"भैया ! यह भगवान्के असमोर्ध्व कृपाप्रवाहकी एक चमत्कारिक घटना ही समझनी चाहिये कि श्रीराधाबाबा प्राकृत देहको पकड लेते हैं, अन्यथा यदि कोई भगवान् श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीकी एक क्षीण-सी झलक स्वप्नमें भी प्राप्त कर ले, तो या तो उसका निश्चय ही मस्तिष्क विकृत हो जायगा या उसका देहपात हो जायगा। राधाबाबाकी तो इतनी उच्च स्थिति है, कि भगवान् क्षणभर भी इनके हृदयसे नहीं हटते। श्रीराधाबाबा द्वारा भगवान्को अपने विशुद्ध माधुर्य-रसकी उर्मियाँ प्रवाहित करनी हैं, अतः अपने भक्तोको बहुत संवरित, गोपनीय रखनेमें समर्थ होनेपर भी इस वस्तुस्थितिका कुछ परिणाम तो उनके प्राकृत शरीरमें परिलक्षित होगा ही । उनकी विचित्र भावदशा अब पद-पदपर देखनेमें आवेगी ही। अतः वे बहिर्मुखी नासमझ लोगोंके उपहासपात्र न बन जावें, अतः उनकी कुटियाके चारों ओर ऊँची घेराबन्दी करके बाड़ा बना ही देना चाहिये। यह ध्यानमें रहे कि दीवालसे उनकी कुटियामें वायुप्रवाह अवरुद्ध नहीं हो।"

श्रीपोद्दार महाराज भाई श्रीकृष्णचन्द्रजीको यह सब निर्देश देते पू. गुरुदेवकी कुटियाके पश्चिम दिशाके मार्गकी ओरसे अपने निवासकी ओर जा रहे थे। मैं इन दोनोंके पीछे-पीछेसे ही उनकी बातें सुनता हुआ चल रहा था।

श्रीपोद्दार महाराजको उनके कमरेतक पहुँचाकर मैं पुनः पू.गुरुदेवकी कुटीकी ओर आ गया।

जैसे ही मैं पू.गुरुदेवकी कुटीकी ओर पहुँचा, मैंने देखा पू. गुरुदेव कुटीसे दक्षिण दिशामें स्थित शौचालयोंकी ओर बढ़ रहे हैं। पू.गुरुदेवकी चाल अत्यन्त झूमती, डगमगी थी। उनके नेत्र नीचे भूमिमें झुके थे। उनकी देह-दशा स्पष्ट उद्घोष कर रही थी कि वे श्रीराधा-माधवके माधुर्य (केलि-विलास-विन्यास)की उद्दाम उर्मियोंमें आलोड़ित पूर्णतया रसमत्त प्राणीकी तरह हो रहे हैं। वे चलते-चलते ठिठक जा रहे थे। श्रीभगतजी उनके साथ-साथ उनका अनुगमन करते पीछे चल रहे थे। जैसे ही वे अचानक ठिठककर खड़े होते, उनके रोम-रोममें एक विलक्षण प्रकम्प उदित होता था। क्योंकि उनके समग्र अंग वस्त्रावृत थे, अतः वह प्रकम्प ध्यानसे देखनेपर ही परिलक्षित हो पाता था। प्रेमावेशके चिन्रूपमें प्रस्वेदकण उनके भालपर, कपोलोंपर, चिबुकपर झलमला रहे थे। उनका बाह्य-ज्ञान लुप्त-प्राय था, परन्तु अन्तश्चेतनामें निहित संस्कारवश ही कि उन्हें शौचस्नान करना है, वे डगमग अपने चरणोंको शौचालयकी ओर पुरःसर कर रहे थे। इस प्रकार पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी काष्ठमौनी छविका दर्शन करता हुआ, मैं अपनेको निहाल अनुभव कर रहा था।

पू.गुरुदेव जब शौचालयमें प्रविष्ट हो गये, मैं बाहर ही कुछ दूरीपर बैठकर विचारोंमें डूबता गया –

विगत अनेक वर्षोंसे मध्यरात्रिमें तीन बजेसे प्रातः छः बजेतक मैं पू. गुरुदेवको ब्रजरसके पद-गायन सुनाया करता था। यह मेरा पू.गुरुदेवको पद सुनानेका क्रम उनके काष्ठमौन लेनेके एक माह पूर्वतक अनवरत चलता रहा था। हाँ, पू.गुरुदेव जब तीर्थयात्रामें प्रवासमें चले गये थे, तब यह क्रम अवश्य स्थगित हो गया था। पू.गुरुदेव मेरा पद-गायन प्रातः छःबजेतक अपनी कुटीमेंसे ही सुनते रहते थे और मैं तानपूरेमें स्वर देकर पद-गायन सुनाता रहता था। प्रातः छ. बजे वे शयनकुटीसे बाहर आकर मेरा झंकृत तानपूरा उसके तारोंपर अपनी अँगुलियाँ रखकर बन्द कर देते थे। उनकी इस क्रियासे ही मेरा संगीत रुकता था। उसके पश्चात् वे शौचके निमित्त चले जाते थे और मैं भी प्रातःकृत्य सम्पन्न करने अपने घर चला जाता था।

पू. गुरुदेव शौच जाकर कुछ काल अपनी कुटीके पश्चिम पथपर दृष्टि जमाये खड़े रहते थे। श्रीपोद्दार महाराज इसी समय अपने निवाससे आकर

इसी पथसे शौचालय जाते थे। अतः पू.गुरुदेवको अपनी कुटियासे ही उनके प्रतिदिन प्रातः ही दर्शन हो जाया करते थे। पू.गुरुदेवकी यह अमोघ निष्ठा थी कि श्रीपोद्दार महाराजका शरीर प्रत्यक्ष भगवत्सान्निध्य प्राप्त करते-करते चिन्मय, सचल बृन्दावन ही हो गया है। अतः वे आठ प्रहर (चौबीस घण्टों)में एक बार उनका दर्शन अवश्य कर लेते थे। इस प्रकार उनकी बृन्दावन छोड़कर अन्यत्र कहीं भी निवास नहीं करनेकी निष्ठा पूरी हो जाती थी।

एक दिनकी घटना है – उस दिवस मुझे पद-गायनमें इतना रस आया कि पू.गुरुदेव शौच जाकर लौट आये, श्रीपोद्दार महाराजके भी दर्शन उन्होंने कर लिये, परन्तु मैंने उन्हें अपना पद-गायन सुनाना स्थगित नहीं किया। मुझे पदगायनमें झूमता, निमीलित-नेत्र देखकर उन्होंने भी प्रतिदिनकी तरह मेरा तानपूरा ( वाद्यतारोंपर) हाथ रखकर बन्द नहीं किया और चुपचाप शौच चले गये। उन्होंने श्रीपोद्दार महाराजके भी दर्शन कर लिये और इसके पश्चात् भी लगभग आधे घण्टे खड़े-खडे वे मेरा संकीर्तन सुनते रहे।

मेरे नेत्र जब खुले, तो उन्हें अति सरस मुद्रामें खड़े-खड़े मेरा संकीर्त्तन श्रवण करते देखकर मैं भाव-विह्वल हो उठा। मैंने अपना तानपूरा एक किनारे रक्खा और उनके पावन चरणोंसे लिपट गया। मेरा दुःख यही था कि मेरे जीवनमें विषय-वैराग्य क्यों नहीं उत्पन्न होता ? उन-जैसे परम रसमय सिद्ध सन्तका इतना स्नेह पाकर भी मन सूकर-कूकरकी तरह विषय-वमनमें ही क्यों लोलुप हो रहा है ? बकरेकी तरह अहंकार-प्रमत्त व्यक्ति ब्रजरसके पद क्या गावेगा ? मेरी इस अधम दशामें कब विरामचिह्न लगेगा ? कब मुझमें सच्ची साधु-रहनी अपनानेकी संकल्प-प्रवृत्ति जगेगी ?

मैं रोये जारहा था और पू.गुरुदेव अपनी अतिशय स्नेहपूरित दृष्टि मुझपर डाले मेरा चरणावनत सिर सहला रहे थे। मैंने देखा वे मौन होनेके कारण निकट ही रक्खी स्लेटपट्टीपर मेरे लिये कुछ सन्देश लिख रहे हैं। उनकी दृष्टि उस समय इतनी स्नेह-सनी थी कि आज चालीस वर्ष पश्चात् भी मैं उसकी पैनी सरसता भुला नहीं पाया हूँ। उन्होंने पट्टीपर मात्र दो पंक्तियाँ लिखी थीं–

*लोहेके पेड़ हरे होंगे, तू गीत प्रीतिके गाता जा*

मैंने ये पंक्ति पढ़ीं और विह्वल होकर पू.गुरुदेवके ममतासने अंकमें ढ़ूलक गया ।"

मेरे विचारोंमें वह घटना जीवन्तवत् तैर रही थी। अब तो पू.गुरुदेवका काष्ठमौन हो गया है। अब तो वे परिपूर्ण चिन्मय, प्रीति-छन्द ही बन गये हैं। उनके रोम-रोमसे मात्र प्रीति, विशुद्ध छलछलाती प्रीति ही प्रवाहित हो रही है। अब तो हम सभीका लोहे-जैसा कठोर, घन काला, सर्वथा जड़, विषयाभिभूत मन विशुद्ध सरस प्रीतिभावोंका संग्राहक हो सकेगा ? हमारे कठोर लौह-सदृश मनमें अब तो राधा-माधवकी सच्चिन्मय प्रीतिकी हरीतिमा लहलहा उठेगी ?

मैं इन विचारोंमें बह रहा था, सहसा मेरा ध्यान पू.गुरुदेवके शौचालयसे निर्गमनके कारण टूट गया। पू.गुरुदेव शौचालयसे बाहर आकर सीधे कूएपर जाकर हाथ मटियाने लगे। पर्याप्त मट्टीसे हाथ माँजकर उन्होंने स्नान किया और वैसी ही अत्यन्त गंभीर मुद्रामें वे पुनः अपनी कुटीमें ध्यानस्थ हुए बैठ गये।

मैं भी जाकर पू.गुरुदेवकी कुटीसे कुछ ही दूरीपर स्थित एक वृक्षके नीचे आसन लगाकर बैठ गया। श्रीभगतजी पू.गुरुदेवके वस्त्र धोनेमें लगे हैं।

मैं पुनः पू.गुरुदेवकी ही पुरानी कही वार्त्ताओंकी चिन्तनधारामें खोगया।

एक दिवस पू.गुरुदेव मुझसे कह रहे थे–'भैया ! ब्रजके अनुभूति-रसिक सन्तोंकी वाणियॉ जो तुम गायन करते हो, इन्हें साधारण तुकबन्दी कभी मत मानना। चाहे इनके छन्द अस्त-व्यस्त हों, इनमें शब्द भी तोड़-मरोड़कर प्रयोग किये गये हों, परन्तु इन्हें सत्य मानना। इनके शब्द-शब्दमें भावोदय करानेकी अद्भुत सामर्थ्य निहित है। ये सभी वाणियाँ मंत्रोंके समान शक्तिशाली हैं और किसीके भी ध्यानपथमें भगवच्छवि और भगवल्लीलाको अवतरित कर देनेकी इनमें विलक्षण शक्ति है। ब्रजभावके सर्वोच्च स्तरतक ले जानेके लिये इन्हें तुम ब्रजरसिकोंका विश्वको दिया हुआ वरदान ही मानना। इन वाणियोंका सहारा लिये बिना विशुद्ध ब्रजभावका किसीमें स्फोट हो जाय, यह असंभव ही है।'

## मधुर, सुमधुर, मधुर उससे भी,
## परम मधुर उससे भी और

इसी प्रसंगका पू.गुरुदेवने मुझे एक प्रत्यक्ष उदाहरण भी सुनाया। वे कह रहे थे कि बहुत वर्ष पूर्व जब श्रीपोद्दार महाराज रतनगढ़(चूरू, राजस्थान) ग्राममें रह रहे थे, वे सायंकालमें उनके साथ रेतके टीबोंमें घूमने और शौचक्रियाके निमित्त जाया करते थे। श्रीपोद्दार महाराज इस एकान्त निर्जन स्थानमें उन्हें अपने भगवद्दर्शनोंके बहुत ही गोपनीय और सरस प्रसग सुनाया

करते थे।

एक दिवस वे दाना शौचक्रियासे निवृत्त हो सायं एक रेतके धोरेपर बैठे थे कि श्रीपोद्दार महाराज उनसे कोई ब्रजरस सम्बन्धी पद-गायन करनेका आग्रह करने लगे। पू.गुरुदेवने उन्हें निम्न पद गाकर सुनाना प्रारंभ कर दिया।

*तुव मुख कमल नयन अलि मेरे।*
*पलक न लगत पलक बिनु देखे, अरबरात अति फिरत न फेरे।।*
*पान करत मकरन्द रूप रस, भूलि नहीं फिर इत-उत हेरे।*
*भगवत रसिक भये मतवारे, घूमत रहत छके मद तेरे।।*

पद-गायनकी प्रथम पंक्ति सुनने मात्रसे ही श्रीपोद्दार महाराजमें भावोद्दीपन होने लगा। उनकी दशा विचित्र होने लगी। वे बहुत प्रयास करनेपर भी अपनेको संवरित नहीं रख सके। कुछ काल तो उनके देहमें एक विचित्र प्रकारका कम्पन होता रहा, इसके पश्चात् उनके नेत्रोंसे झर-झर अश्रु प्रवाहित होने लगे। कुछ ही कालमें वे भाव-समाधिमें स्थित होकर बाह्य होश सर्वथा ही खो बैठे। पू. गुरुदेवको चिन्ता होने लगी कि यदि यह भावसमाधि दीर्घकालिक हो गयी तो निशामें इन्हें हवेलीमें कैसे पहुँचाया जायगा। परन्तु भगवद्विधानवश श्रीपोद्दार महाराज लगभग एक-सवा घण्टे ही समाधिस्थ रहे एवं सन्ध्याके पूर्व ही बाह्य चेतनामें लौट आये।

श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवको अपनी भाव-समाधिके कालका अनुभव सुनाते हुए कहने लगे कि 'बाबा! आपकी मधुर स्वरलहरीमें श्रीभगवतरसिकजीके पदकी प्रथम पंक्तिके सुनने मात्रसे ही मैं किसी अभूतपूर्व विलक्षण लोकमें पहुँच गया और एक अति सुन्दर रमणी (गोपी) देहको प्राप्त हो गया। मुझ भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे अभूतपूर्व दर्शन हुए कि मैं वाणीसे उनके सौन्दर्यका कुछ भी वर्णन नहीं कर सकता।

यमुनाका किनारा था। बहुत ही सुन्दर कदम्ब वृक्ष था और उसके नीचे रत्नमय आलवालपर स्थित श्रीकृष्ण हाथमें बाँसुरी लिये मयूरासनमें विराजित थे। आसनमें खचित मयूरोंकी कलाकृतियाँ इतनी सजीव थीं कि उन्हें देखकर कोई कह ही नहीं सकता था कि वे मात्र रत्नमय जड़ मयूर हैं। मुझे तो मयूरासनमें विराजित श्रीकृष्ण ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो एक अभूतपूर्व शोभा-सम्पन्न पूर्ण विकसित आठ कमलोंका नील पद्म-गुच्छ ही मयूरासनासीन हो। बस, तत्क्षण ही मुझ गोपीके नेत्र अति मतवाले भ्रमर बने, इस अरविन्द-गुच्छकी रूप-मकरन्द-सुधाका पान करने हेतु उडकर उसपर मँडराने लगे। इस नील

पद्मगुच्छ (श्रीकृष्ण)का मुख भी पंकजरूप ही था और इस पंकजरूप मुखमें पंकजरूप दो नेत्र विजड़ित थे। इसके सभी अंग मुझे एक-से-एक बढ़कर, सुन्दर सरोरुहोंके समान अभूतपूर्व मकरन्द-सुधास्त्रावी अनुभूत हो रहे थे। अब मेरे नेत्र भ्रमर बने इसके मुख-पंकजपर लुब्ध हो गये। इसका मुख-पंकज अथाह सुधारसका कलश था कि मैं उसके स्वादमें डूब जाता। वह मुझे पूर्णतया संतृप्त भी करता, परन्तु ज्यों-ज्यों मैं इसके मधुपानमें छकता, मेरी उत्कण्ठा सहस्र गुनी और बढ़ जाती। यह नील पद्म-आनन अनन्त रसकी खान था। मैं कभी अधरामृत-रसकुण्डमें डूबता, कभी कपोलोंकी शोभापर न्यौछावर होता, कभी इसके नेत्रोंकी मादक कटीली लवणता मुझे समाकृष्ट कर लेती, कभी इसकी भौहोंकी तीखी कटाक्ष-मारसे मैं घायल हुआ छटपटाने लगता। उत्कण्ठावश मेरी तृप्ति असीम अतृप्तिमें पर्यवसित हो जाती तथा मुझे चैन ही नहीं मिलता।

जब मेरे नेत्र-मधुपोंकी उत्कण्ठा इस आनन-कमलपर मँडराती-मँडराती असीम हो उठी तो वे मधुप उड़कर इस श्रीकृष्णरूपी नीलपद्मगुच्छके हस्तकमलोंकी शोभाकी ओर अग्रसर हो गये। ये नील युगल हस्तपद्म मेरे नेत्र-मधुपोंको प्रथम बार तो ऐसे शोभासम्पन्न लगे, मानो ये उन्हें पूर्णतया तृप्त ही कर देंगे। ये दोनों विकासोन्मुख अम्बुज-कोरक वस्तुतः इतने विलक्षण सुन्दर, इतने सुकोमल एवं पवित्र थे कि मेरे नेत्र-भ्रमर इन्हें स्पर्श करनेसे ही सकुचाने लगे। वे मात्र उनके ऊपर-ही-ऊपर मँडराते रहे, उन्हें स्पर्श करने, उनपर आसीन होने अथवा उनका मकरन्द-पान करनेका तो उनमें साहस ही नहीं हो रहा था। इनके ऊपर-ही-ऊपर मँडराते जब वे थक गये और इनकी उत्कण्ठा एवं पिपासा प्रबलतम हो उठी तो ये उड़कर प्रियतम श्रीकृष्णकी परम सुन्दर नाभि-कमलपर जा बैठे। प्रियतम प्राणवल्लभकी नाभि इन्हें सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु ही अनुभव हुई।

बाबा! ये मेरे नेत्र-अलि नाभि-कमलके सुधारसमें पूरे भीग गये। इनके पंख जैसे मधुमें चिपक गये हों, अतः इनमें अब और उड़नेकी सामर्थ्य ही नहीं रही। मेरे नेत्र-मधुपोंको प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीकृष्णकी नाभि बहिर्देशसे तो अविकसित अरुणाम्भोज-कोश-सी प्रतीत हुई, परन्तु इसपर आसीन होते ही उन्हें ऐसा लगा कि इस नाभिमें तो त्रिलोकीका समग्र सौन्दर्य-सिन्धु ही समाहित है, इसकी रस-सुधाकी गंभीरताकी संतुलना तो हो ही नहीं सकती। बाबा! मेरे नेत्रोंकी उत्कण्ठा इस नाभि-सौन्दर्यने और भी बढ़ा दी। मेरे नेत्र वहाँसे भी पिपासातुर होकर ही बाहर आये। अब तो मेरे नेत्र-भ्रमरोंके पास बचे थे –

प्रियतम श्रीकृष्णके मात्र दो पद-पारिजात। सम्पूर्ण श्री, शोभा, सौन्दर्य एवं रसैश्वर्यके मूल उद्गम इन चरणोंने आजतक सभीको पूर्ण तृप्त ही किया है। इनका आश्रय लेनेवाला कहीं, कोई, कभी भी अतृप्त, असंतुष्ट लौटा हो, ऐसा इतिहास-पुराणोंमें तो कहीं उल्लेख नहीं ही मिलता। परन्तु महदाश्चर्य! बाबा! मेरे नेत्रोंका प्रीतिभाव ही ऐसा है कि वह मेरे नेत्रोंको सदा नित नव-नवायमान अभिवर्द्धनशील उत्कण्ठाग्रस्त ही रखता है। पूर्ण-परिपूर्ण रसैश्वर्य भी इन मेरे नेत्रोंके प्रीतिभावके सम्मुख निष्किञ्चन हो उठता है। मेरे नेत्र-भ्रमरोंका कहीं कोई दोष नहीं। उनकी प्रीति ही ऐसी असीम पिपासु है कि प्रियतमका सौन्दर्य-वैभव, रस-वैभव, माधुर्य-वैभव सब-कुछ उसके सम्मुख आते ही अल्प, तुच्छ हो उठता है।"

कालान्तरमें श्रीपोद्दार महाराजने इन्हीं भावोंको लेकर एक पद-रचना की थी; पाठकगण इसमें भी अवगाहन करें –

*मधुर-सुमधुर,मधुर उससे भी, परम मधुर, उससे भी और –*
*मधुर-मधुरतम, नित्य-निरन्तर वर्द्धनशील मधुर सब ठौर।।*
*अङ्ग -अङ्ग माधुर्य-सुपूरित, मधुर अमृतमय पारावार।*
*अखिल विश्व-सौन्दर्य, मधुर माधुर्य सकलका मूलाधार।।*
*कनक-कमल-कमनीय कलेवर, सहज सौरभित मधुर अपार।*
*नेत्रद्वय, मुख, नाभि, पदद्वय, हस्तद्वय द्युति-सुषमागार।।*
*विविध वर्ण सौरभ विचित्र युत अष्ट कमल ये अति अभिराम।*
*यों विकसित नव-कमल मिलितसे, अनुपम शोभा हुई ललाम।।*

(पद-रत्नाकर पद स.१६९)

श्रीपोद्दार महाराज पू.गुरुदेवको कह रहे थे कि 'ब्रजरसिकोंने श्रीकृष्णकी अप्राकृत लीला, आप्राकृत सौन्दर्य, अप्राकृत माधूर्यको, जो सर्वथा सर्वांशमें वचनातीत है, अपने मन्त्रमय पदोंमें ऐसा बाँध दिया है कि कोई भी इस मंत्र-काव्यपर श्रद्धाकर इनका आश्रय ले-ले तो चाहे कितना ही पाप-परायण, घोर नास्तिक, सर्वथा विषयलोलुप, अनधिकारी ही हो इस पद-गायन रूप अमृतौषधिसे वह निश्चय ही, अपने ही आप, परमपूत, सर्वथा प्रीति-कृपाभाजन हो उठेगा। इन पदोंकी भावाभिव्यक्ति उसके मानसमें अपने ही आप अवश्यमेव अवतरित हो जायगी।'

मैं जैसे कोई स्वप्न देखकर जगा होऊँ – पू.गुरुदेव द्वारा अपने काष्ठमौनके पूर्व सुनाये ये प्रसंग मुझमें आज भी नवीन उत्साहका संचार कर

बैठते हैं।

मेरे चिन्तनमें पुनः व्यवधान आता है। पू.गुरुदेवको पानी पिलाने अ.सौ. बाई सावित्रीके साथ मैया आयी हैं। अ.सौ. बाई सावित्री मुझे उपालम्भ देती है कि मैं तीन दिवसोंसे गीतावाटिकामें ही क्यों रह-सो रहा हूँ, घर क्यों नहीं जाता हूँ। (उन दिनों मैं गृहस्थ था।) वह कहती है कि अब भी मैं घर नहीं गया, तो वह श्रीपोद्दार महाराजसे मेरी शिकायत करेगी। मैं चुपचाप निरीह नेत्रोंसे उसकी ओर देखने लगता हूँ।

आज भी इन प्रसगोंको लिखते हुए मेरे नेत्र अश्रुसिक्त हो जाते हैं। चालीस वर्षोंकी पुरानी स्मृतियाँ अब भी ज्यों-की-त्यों जीवन्त हो रही हैं। आज तो मेरे अनेक घर छूट गये हैं। पहले गृहस्थका घर छूटा; पूर्वाश्रमके माता-पिता, नाना-नानी, फिर श्रीपोद्दार महाराज भी छोड़कर चले गये; श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी-जैसे समर्पणमूर्त्ति भगवत्त मामा छूटे, और देवोपमा मैया (श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी) भी चली ही गयीं। और अब तो पू.गुरुदेव भी लीलाप्राप्त हो गये हैं। किन्तु मैं तो लोहेका सूखा नीरस वृक्ष-सा वैसे ही खड़ा हूँ। शरीर बूढ़ा हो गया है, वासनायें ज्यों-की-त्यों असीम दावानलकी तरह जल रही हैं, जला रही हैं। पू.गुरुदेवकी वाणी कानोंमें आश्वासन देती है–

*'लोहेके पेड़ हरे होंगे तू गीत प्रीतिके गाता जा।'*

पता नहीं कब वह सुप्रभात होगा ? अभी तो पू.गुरुदेवका पावन ब्रजधाम गीतावाटिका भी उजाड़ है। वहाँ भी मणिकर्णिकाघाटका भूत-श्मशान ही जल रहा है। रसमय बृन्दावन तो कहीं दृष्टिगोचर ही नहीं होता। कब यह विषय-भोगासक्तिभरा देहेन्द्रिय-लोलुप भूत-श्मशान बुझेगा, इसका ताप मिटेगा ? शीतल बयार चलेगी, उजाड़ प्रदेशमें तब न हरियाली होगी ! कब रस-बयार आवेगी ? श्रीकृष्ण ही जानें। इतना अमोघ विश्वास है कि लोहेके पेड हरे होंगे अवश्य। मृत्युके अन्तिम क्षणमें ही भले श्रीकृष्ण कृपा करें। कृपा होगी तो अवश्य ही। उन्हें कृपा करनी तो अवश्य पड़ेगी। पू.गुरुदेवकी परम सत्य अमोघ वाणी जो है। विश्वकी कोई भी शक्ति उन परम सत्य-के-सत्यको कैसे असत्य कर पावेगी ? किसमें सामर्थ्य है कि उनके अमोघ सत्य- संकल्पको डिगा सके। प्रह्लादके सकल्पसे जड़ खंभेमें से जब भगवान् नृसिंहको प्रकट होना ही पड़ा तो हमारे चेतन अन्तःकरणोमेंसे रसाधिराज श्रीकृष्ण नहीं प्रकटेंगे, कैसे कहा जा सकता है ? उन्हें चाहे आज या कल, प्रकट तो होना ही है। और फिर, मैं

किसकी प्रीतिके गीत गाऊँ ? मैंने तो एक ही स्रोतसे प्रीति पायी है। मात्र एक ही अमृतधाराका स्वाद मेरी जिह्वा ग्रहण कर सकी है। अतः उन मेरे पू.गुरुदेव – प्रीतिके अपार सिन्धुके चरित्रके प्रेमगीत गाता जा रहा हूँ। प्रभु कृपा करें, मेरी लेखनीमें विराजित हो जावें और मैं अपनी प्राणप्रिया श्रीराधाबाबाका यशगान करता रहूँ। इत्यलम्

----

## पू. गुरुदेवकी काष्ठमौनोत्तर विचित्र स्थिति

पू.गुरुदेवकी कुटीके चतुर्दिक् सात फुट ऊँची दीवार बना दी गयी है। पू.गुरुदेव अब अन्दर ही विस्तृत आँगनमें धूपसेवन भी कर सकेंगे। उनके स्नान एवं लघुशंकाके लिये भीतर ही व्यवस्था भी कर दी गयी है। अब पू.गुरुदेवके दर्शन भी मात्र उस समय ही संभव हैं, जब वे शौचके लिये बाहर आवेंगे। पू. श्रीगोस्वामीजी चिम्मनलालजी प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें उन्हें उसी दक्षिण पथकी पगडंडीपर विचरण करते हुए एक पद गाकर अवश्य सुना देते हैं। मैं भी ब्राह्ममुहूर्त्तमें उनके साथ आता हूँ और उनका प्रतिदिनका गाया गीत अपनी डायरीमें लिख लेता हूँ। प्रातः पू. गुरुदेव जब भी शौचके लिये अपनी कुटीसे बाहर निर्गत होते हैं, मैं उनके दर्शन कर लेता हूँ।

पू.गुरुदेवकी आन्तरिक स्थिति एवं बाह्य स्वास्थ्य – दोनोंका कुछ भी संकेत नहीं मिल पा रहा है।

पू.पोद्दार महाराज भी रुग्ण हैं, अतः अति एकान्तमें ही रहते हैं। उनके सिवा तो अन्य कोई है नहीं, जो पू.गुरुदेवकी अन्तर्यात्राका परिचय दे सके। बाहरसे इतनी ही सूचना मिल पाती है कि वे अनवरत घण्टों ध्यानस्थ ही रहते हैं; भिक्षा भी समयपर नहीं हो पाती। प्रातःकाल भी उन्हें जाकर जगाया जाता है, तब उठते हैं। घण्टों बिना शौच- स्नानके बैठे रहते हैं। भिक्षा परोस देनेपर भी पत्तलकी वस्तुओंको उनकी वृत्ति ग्रहण नहीं कर पाती। पू. मैयाको भिक्षा कराते समय अनेकों बार उन्हें स्मृति करानी पड़ती है कि यह रोटी है, यह शाक है, यह भात है। जब उन्हें बताया जाता है कि यह शाक है, तो शाक ही शाक खाने लगते हैं। कभी चावल ही चावल खा लेते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे शाक, चावल, दही, फलोंका रस – इस सब पहचानसे भी परे चले गये हैं।

पूर्वतः पू.गुरुदेवके पेटमें होनेवाले आँवजन्य मरोड़ोंके कारण मिर्च उनकी भिक्षामें सर्वथा ही प्रयुक्त नहीं होती थी। उनकी भिक्षामें नमक भी बहुत ही अल्प मात्रामें प्रयुक्त होता था, अब उनको स्वादवृत्तिका ज्ञान ही नहीं रहता। अब प्रमादवश सब्जीमें अतिशय मिर्च पड गयी हो, अत्यधिक नमक डाल दिया गया हो, लौकी-तरुई कड्डुवी प्रयुक्त हो गयी हों, उनकी भावनिमग्नताकी स्थिति इतनी प्रगाढ है कि स्वादजन्य नमकका खारापना, मिर्चकी तिक्तता और कड्डुई तरुई-लौकीकी विषैली कड्डुआहट उन्हें अनुभव ही नहीं होती। उनका मानस अपने भावोच्छलनमें इतना निमग्न रहता है कि प्राकृत देह, उसके इन्द्रिय-समूहकी क्रियाशीलता उनमें होती ही नहीं। भयंकर शीतमें भी यदि किसीने उनके तनपर पर्याप्त कम्बल नहीं उढ़ाये तो पासमें रक्खे कम्बलोंकी उन्हें स्मृति ही नहीं होती, न ही वे शीतका अनुभव कर पाते हैं।

वास्तविकता यही है कि भावराज्यमें सतत प्रवाहित उनका मन दुःख-सुखकी तो बात ही नहीं, कष्ट-पीड़ा आदिके धरातलसे भी अतीत हो गया है। उनकी शरीर एव जगत्‌से सम्बद्धता ही मानो नहीं रही है, और रही भी हो तो वह इतनी मात्र अल्पतम संबद्धता ही समझनी चाहिये जिससे उनका शरीर जीवन-धारण किये है।

पू. गुरुदेव काष्ठमौनके पश्चात् इतने भावनिमग्न रहते हैं कि उन्होंने एक कौर यदि मुखमें ले लिया तो उस कौरको चबाने और निगलनेतकको वे विस्मृत कर जाते हैं। उन्हें थोडी-थोडी देर पश्चात् भोजनग्रासको उठाने, चबाने, अथवा निगलनेके लिये स्मृति करानी पड़ती है। यह स्मृति भी बहुत ही जोरसे बोलकर, उनका ध्यान खींचकर नीचे लानेपर ही उन्हें होती है। उन्हें प्रायः देह-भान नहीं रहता। वे एक स्थानपर खड़े हैं तो घण्टों खड़े ही रह जाते हैं। वे किस भावधारामें बह रहे हैं, यह तो वे ही जानें, परन्तु बाहरसे देखनेवालेके लिय तो वे एक पाषाणस्तम्भके समान हो जाते हैं।

श्रीपोद्दार महाराजका शरीर भी अस्वस्थ चल रहा है। तीन धामकी तीर्थयात्रासे लौटते ही वे रोगाक्रान्त हो गये हैं। उनको देखनेसे स्पष्ट अनुभव होता है कि उनमें अत्यधिक शिथिलता एवं शक्तिहीनता आ गयी है। चिकित्सासे कुछ काल लाभ दिखता है, फिर वह लाभ लुप्त हो जाता है। किसीका भी निरन्तर अनेक दिवसोंतक ज्वरग्रस्त रहना अच्छा लक्षण तो नहीं है। डाक्टरों, वैद्योंका यही परामर्श है कि उन्हें पूर्ण विश्राम करना चाहिये। इस परामर्शके

पालनस्वरूप उनके पास किसीके भी अनावश्यक जानेकी मनाही है । परिवारके सभी लोगोंका मत है कि उन्हें गोरखपुरसे रतनगढ़ ले जाना चाहिये। यह विचार जोर पकड़ रहा है। यह प्रायः निश्चय ही है कि दस-पन्द्रह दिनोंमें श्रीपोद्दार महाराज अपने परिवार, पू.गुरुदेव एवं निकटस्थ सेवकोंको लेकर रतनगढ़ चले जावेंगे।

-------

# श्री 'भाईजी' से श्रीपोद्दार महाप्रभु–एक यात्रा

## तीसरा अध्याय

वि.सं.१९८७ तदनुसार सन् १९३०की एक पावन निशाकी वार्त्ता कह रहा हूँ। अग्रवाल वैश्यकुलमें उत्पन्न 'भाईजी' उपनामवाले श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार नामक एक असीम सौभाग्यशाली व्यक्तिके जीवनमें चरम कृतार्थताका अवसर उपस्थित होने जा रहा है।

भक्तिसाधनाका वृक्ष तो उनके अनन्त सुभग अन्त करणमें पूर्वजन्मसे ही लहलहा उठा था। इस जीवनमें उस वृक्षमें मौरें आयीं और वह फलोन्मुखी भी हो उठा। वि.सं. १९७९ तदनुसार सन् १९२३ई में बम्बईमें उन्हें भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए और इन्हीं दिनों उनका मन निर्गुण निराकार ब्रह्मसाक्षात्कारमें भी विलीन रहने लगा। आश्विन कृष्णा ६ वि.सं १९८४को पाँच वर्षतक ब्रह्मभावकी उच्चतम साधना करनेके पश्चात् उन्हें जसीडीहमें सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके रूपमें अधोक्षज नारायण (विष्णु भगवान)के दर्शन हुए। इसके पश्चात् तो विष्णु भगवान्की उनके अन्त करणमें ऐसी कृपावर्षा हुई कि वे जब इच्छा हो, उन्हें आवाहनकर प्रकट कर लेनेकी क्षमताको प्राप्त हो गये। श्रीविष्णु भगवान्की कृपासे भक्तराज पोद्दार उत्तमोत्तम, परम निष्काम, तत्सुखी भक्तिके आदर्श हो गये। श्रीमद्भगवद्गीता उनके स्वभावमें मूर्तिमती हो उठी और *'वासुदेवः सर्वमिति'* –इस भावभूमिके सर्वोच्च शिखरपर उनकी प्रतिष्ठा हो गयी।

और आजके इस पावनतम, महाकल्याणप्रद, सुभग क्षणकी तो विश्वमें कहीं सतुलना ही नहीं हो सकती, जब कि उनके अन्तःकरणमें भगवान्

श्रीव्रजेन्द्रनन्दन और उनकी प्रिया श्रीराधारानीके अवतरणकी पात्रता उत्पन्न हो गयी है। इस सौभाग्यकी तो जगत्‌का कोई प्राणी कल्पना ही नहीं कर सकता।

भक्त श्रीपोद्दार महाराज गोरखनाथ मन्दिरके समीपस्थ बगीचेमें, जहाँ गीताप्रेस द्वारा उनके पारिवारिक निवासकी व्यवस्था है, साथ ही जहाँ 'कल्याण' सम्पादन-विभागके और लोग भी रहते हैं, एक कक्षमे नेत्र-निमीलित शान्त निस्पन्द ध्यानरत आसीन हैं। मध्य रात्रिका काल है। उनके पावन कक्षके द्वार बन्द हैं। समस्त पारिवारिक जन और सम्पादन-विभागके सहयोगी निद्राभिभूत हैं। जिसमें उनके सहयोगी लीन हैं, ऐसी अज्ञानजन्य तमोमयी निद्रा तो भक्तराज पोद्दार महाराजको अनेक वर्षोंसे कभी आयी ही नहीं। भगवान्‌के ध्यानजन्य जागरणमें ही वे संसारदृष्टिसे सोये प्रतीत होते हैं। सामान्य जन-साधारणकी तरह तो वे न बोलते हैं, न चलते हैं और न जीवित ही हैं। वे तो सदैव अपने आराध्य भगवान्‌के अबाध एवं अगाध सच्चिदानन्द रसावगाहनमें ही आपाततः निमग्न रहते हैं। जैसे चिन्मय रससिन्धु ही गड़गडाहट रूप सच्चिन्मय नाद कर रहा हो, उसी भाँति अभिमानसे रहित प्राकृत शब्दराशि उनके कलेवरके मुखसे फूट पडती है। अहंकारशून्य गति ही उनकी चाल है और अहंताके किसी स्पन्दनसे सर्वथा शून्य, पूर्णतया विशुद्ध मंगलमयी कर्मराशि, स्वभावतः ही बिना किसी आरंभ एवं संकल्पके उनसे सम्पादित होती रहती है। न वे कर्त्ता ही हैं, न ही भोक्ता हैं। उनकी स्थिति उनकी ही भाषामें कोई समझ सके, तो भले ही समझ ले—

*मेरे तुम स्वरूप बन जाते, मैं बन जाती तुम साकार।*
*बन जाते स्वरूप दोनोंके दोनों तज निज-निज आकार।।*
*कौन कहे कैसा रस अनुभव, कैसा अनिर्वाच्य आनन्द।*
*प्रेम बना आनन्द नाचता, बना प्रेम आनँद स्वच्छन्द।।*

श्रीमद्भागवतमें ऐसे भक्तके सम्बन्धमें कहा गया है: *"विक्रीड़ितोऽमृताम्भोधौ"*। अर्थात् इस कोटिका हरिभक्त अमृतके सागरमें क्रीडा करता है। ऐसे भक्तान्तःकरणमें ही रसनदी कालिन्दी कल-कल निनाद करती प्रवाहित होती है। प्रिया-प्रियतम महाभाव एवं रसराज राधा-माधवके लिये ऐसे सिद्ध भक्तका अन्तःकरण ही महारास-स्थल, चिन्मय वृन्दाविपिन होता है। वे भला उसे छोड़कर अन्यत्र कहाँ विलसित हों ? अतः वे चुपचाप वहाँ अपनी रसक्रीडा करने आ धमकते हैं। उनके प्रवेशका भला, स्वयं भक्तराजके सिवा दूसरा कौन साक्षी होगा ?

*अन्तरमें होरहा खेल अति मधुर विलक्षण।*
*बाहर कैसे दीखे यह निश्शब्द अलक्षण।।*

महाभावमयी श्रीराधारानी एवं रसराज रसिकशेखर श्रीकृष्णके अन्तःकरणमें प्रवेश होते ही भक्तराज पोद्दार महाराज जो अबतक गीतोक्त निष्काम भक्तिका एक आदर्श सिद्ध जीवन जी रहे थे, इस क्रान्तिकारी क्षणसे महाप्रभु हो गये। उनका रोम-रोम श्रीराधा-माधवकी चिन्मय प्रीतिरससे सम्प्लावित हो उठा। उनकी जीवनधाराका अणु-अणु प्रिया-प्रियतमकी सरसतम क्रीड़ाकेलिका रंगमञ्च बना लीला-रस-सिन्धुमें आपाततः डूब गया।

*रसमय हुई नित्य रस पाकर रसिक रसार्णवका सब ओर।*
*बही रस-सुधा-सरिता-धारा प्लावित कर सब रहा न छोर।।*

यह ऐसा पावन क्षण था जिस क्षण श्रीपोद्दार महाप्रभुका रोम-रोम विलक्षण प्रेम-परिस्नात रस-सज्जा-सज्जित हुआ नृत्य कर उठा। कदाचित् कोई सौभाग्यवान् पुरुष महाप्रभु पोद्दार महाराजके उस रसानन्दोच्छलित महोन्मादी नृत्यकी शोभा देख पाता। परन्तु उन दिनों तो रंगमञ्चमें श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एवं स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा)-जैसे अधिकारी शिष्योंका पदार्पण ही नहीं हुआ था। दूसरा ऐसा कोई अधिकारी था भी नहीं, जो इस पावन क्षणका साक्षी होता। श्रीपोद्दार महाराजपर उस कृपा-समुद्रके उच्छलनकी साक्षी स्वयं साक्षात् गिराधिदेवी भी यदि देती और उसे शब्द दे पाती तो वे शब्द कदाचित् ये होते–"ओह ! किसी महा-महाकृपापात्र जीवके अन्तःकरणरूपी चिदानन्द-रस-सिन्धुमें नील एवं पीत दो राका-शशियोंका उदय हुआ है, और इस उदयकालमें अपूर्व अद्भुत महाभावज्वार उमड़ा है। यह महाभावज्वार इतना उच्चतम एवं सर्वप्लावी है कि ऐसे विशाल एवं उत्तुंग ज्वारका श्रुति-स्मृति-इतिहासमें आजतक तो कहीं उल्लेख नहीं मिलता।"

अप्रतिम अनिन्द्यसुन्दर श्रीराधाकृष्ण-युगल-स्वरूपका जो सौन्दर्य, माधुर्य एव रसैश्वर्य श्रीपोद्दार महाप्रभुने आजके पावन क्षणमें अनुभव किया, वैसा पूर्वके किन्हीं भक्तोंमें प्रकट हुआ हो, कहा नहीं जा सकता।

आगे जाकर जब श्रीपोद्दार महाप्रभुके लीलामञ्चमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने पदार्पण किया तो वे विस्फारित-नेत्र इस रसविभुकी प्रशस्तिमें निम्न शब्दोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि दे बैठेः "धर्मग्लानि और उसके ह्रासको दूर करनेके लिये धर्मप्रचारका जो कार्य आदिशंकराचार्य, रामानुजाचार्य जैसे

आचार्यों द्वारा हुआ, जन-जनके आचार-विचार-व्यवहारको नियन्त्रित-सुसंस्कृत करनेके लिये समाज-जीवन सम्बन्धी प्रश्नोंपर व्यवस्था देनेका जो कार्य मनु-याज्ञवल्क्य-जैसे स्मृतिकारों द्वारा हुआ; हृदयकी सुकोमल भक्तिभावनाओंके तरंगित हो उठनेपर भक्तिकाव्यकी रचनाका जो कार्य तुलसीदास-सूरदास-जैसे भक्त कवियों द्वारा हुआ, और श्रीराधामाधवके लीला-रस-सिन्धुमें नित्य-निरन्तर निमग्न रहनेके आदर्शकी प्रतिष्ठाका जो कार्य मीराबाई, चैतन्य महाप्रभु-जैसे रसिक जनों द्वारा हुआ, इन चारों कार्य-धाराओंके अद्भुत संगमका प्लावन श्रीपोद्दार महाप्रभुके विशाल व्यक्तित्वमें प्राप्त होता है।''

श्रीराधेश्यामजी बंकाने श्रीपोद्दार महाप्रभुके जीवनको चार सोपानोंमें बाँधा है।

(१) देशभक्ति एवं समाजसेवा-प्रधान – प्रथम भाग – सन् १८८२से सन् १९१६तक

(२) शिमलापालमें नजरबन्दीसे साधन-परायणता और भगवद्दर्शनजन्य सफलता-प्राप्ति – द्वितीय भाग – सन् १९२७ ई.तक। (भगवान् रामके सगुण-साकार दर्शन १९२३ ई.में हुए, तत्पश्चात् निर्गुण निराकार परब्रह्मकी साधनामें चरमोत्कर्ष प्राप्त किया एवं १९२७ ई.में जसीडीहमें भगवान् विष्णुके दर्शन हुए।)

(३) 'कल्याण'के माध्यमसे सत्साहित्यका प्रकाशन एवं भक्तिप्रचार – तृतीय भाग – सन् १९२७से १९५६तक एवं

(४) महाभावावस्थामें निमज्जन, भाव-वितरण-प्रधान – चतुर्थ भाग – सन् १९५६ ई.से १९७१तक।

{ देखें वाटिकाके पत्र-पुष्प भाग तीन पृष्ठ सं.१११ }

श्रीबंकाजीसे मेरा इस विषयमें मत-वैभिन्न्य है। मैं श्रीपोद्दारजीके जीवनको दो ही भागोंमें विभाजित देखता हूँ। जहाँतक महाभाव-निमज्जनका प्रश्न है , इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उनमें पूर्ण महाभावकी प्रतिष्ठा सन् १९३० ई मे ही हो गयी थी। श्रीपोद्दार महाराजको इसी कालमें भगवान् श्रीकृष्णके, ब्रजलीलाओंके दर्शन होते थे। अतः मेरी मान्यतानुसार उनके जीवनका प्रथम सोपान भक्तराज 'भाईजी' श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका था। श्रीभाईजी अपने साधनाकालमें तथा धर्म-प्रचार एवं जगत्कल्याणकार्यके निमित्त श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाको पूर्णतया समर्पित थे। उस जीवन-सोपानमें

वे उनके अनुगत थे। किन्तु अपने जीवनके दूसरे सोपानमें वे सर्वतंत्र-स्वतत्र थे। महाभाव-रसराज श्रीराधाकृष्णकेलीला-रसमें निमग्न उनका यह दूसरा सोपान बृन्दावनकी महारासलीलाओंका प्रत्यक्षदर्शी जीवन रहा है। इस कालमें वे अपने संकल्पमात्रसे किसीको भी ब्रजेन्द्रतनय रसिकशेखर श्रीकृष्णका दर्शन कराने, उनकी रसमयी नितान्त मधुर प्रेमाभक्तिका दान करनेमें भी समर्थ आचार्य गुरु थे। यद्यपि उनके द्वारा कोई सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन नहीं हुआ परन्तु उनकी योग्यता इस कालमें किसी कारक पुरुषसे किसी भी प्रकार कम नहीं थी। उन्होंने अपनी इस महाकल्याणकारी शक्तिको सदैव ही सगुप्त रक्खा, किन्तु इस कालमें उनमें वस्तुगुणके रूपमें सदैव सर्वोच्च मोहन-मादन भाव ही संप्रवाहित रहा। मैं उनके १९३० ई के पश्चात् अनवरत चालीस वर्षके जीवनको महाप्रभु पोद्दार महाराजका जीवन कहता हूँ। इसी कालमें उन्हें समर्पित हुए समर्पणमूर्त्ति श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, जो विद्वत्तामें सिद्ध-रसिक रूप-सनातन एवं जीव गोस्वामीसे किसी भी अंशमें न्यून नहीं कहे जा सकते। यह सत्य है कि रूप-सनातन एवं जीव गोस्वामीके समतुल्य इन्होंने अपना स्वतंत्र साहित्य विश्वके सम्मुख नहीं रक्खा किन्तु इनका श्रीमद्भागवत ग्रन्थका आंग्ल भाषामें अद्वितीय अनुवाद इसका प्रमाण है कि ये संस्कृत एवं आंग्ल दोनों भाषाओंमें मूर्धन्य योग्यता रखते थे। तैलंगकुलभूषण इस विद्यावारिधिने आंग्ल भाषामें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीबाल्मीकिरामायण, श्रीतुलसीकृत रामायण आदि अनेक ग्रन्थोंको अनूदित किया।

इसी काल-सोपानमें इन्हें समर्पित हुए – अद्वैत ब्रह्मज्ञानकी चतुर्थ भूमिकामें प्रतिष्ठित, युवक संन्यासी श्रीचक्रधरजी महाराज जिन्हें सन् १९३६ई. में ही गीतावाटिकामें श्रीमहाप्रभु पोद्दार महाराज द्वारा उनका चरणस्पर्श करके श्रीकृष्ण-भक्तिभावकी सर्व-वैभवमयी रसदीक्षा दी गयी। गीतावाटिकामें उनके मात्र पाँच-छः दिवसोंके निवासकी अवधिमें श्रीपोद्दार महाप्रभु द्वारा डाले गये रस-छींटोंसे इनका निर्गुण- निराकारका तथा ब्रह्मसाक्षात्कारका कट्टर मायावादी आग्रह अथाह श्रीकृष्ण-रस-सिन्धुमें ऐसा निमग्न हुआ कि परात्पर परब्रह्मसे ये श्रीराधा हो गये। राधा-महाभावमें ये इस अभूतपूर्व रीतिसे निमज्जित हुए कि इनका नाम श्रीराधाबाबा ही सर्वत्र प्रख्यात हो गया।

उन दिनों गोरखपुरमें महाप्रभु पोद्दार महाराज गोरखनाथ मन्दिरके पासवाले बगीचेमें निवास करते थे। वहाँ नित्य नियमित सत्संग होता था।

उसकी वार्त्ताको संदर्भ रूपमें कह रहा हूँ। सन् १९३६ई.के मंगलवार ५ सितम्बरसे प्रारंभ हुए मासभरके सत्संगमें संयोगवश मैं स्वयं अपने शिशुकालमें आंशिक रूपसे सम्मिलित हुआ था। इसकी मासभरकी तिथिवार विज्ञप्ति मुझे [illegible]म्मनलालजी गोस्वामीकी डायरीमें मिली है। इस डायरीका विवरण इस [illegible]का पर्याप्त प्रमाण है कि महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराजकी आश्विन कृष्ण [illegible]तिपदा, मगलवार वि.सं. १९९० तदनुसार १९३३ ई.में ही ऐसी दशा थी कि वे सहज ही बोलते-बोलते महाभाव-समाधिमें निमग्न हो जाते थे एव उनका बाह्य [illegible] सर्वथा सर्वांशमें ही लुप्त हो जाता था। इस सम्पूर्ण डायरीका तिथिवार [illegible]ण तो विस्तारभयसे नहीं दिया जा रहा है, किन्तु इसके मुख्य तीने-चार प्रसंगोंका विवरण पाठक अवश्य अनुशीलन करें।

श्रीहरि

स्थान–गोरखनाथमन्दिरके पासवाला बगीचा

तिथिः आश्विन कृष्ण १, १९९०वि. मंगलवार ता.५ सितम्बर १९३३ई.

गोरखपुरमें सत्सगी स्नेही बन्धुओका साधक-मण्डल है। ये साधक भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)के प्रति विशेष झुकाव रखते हैं। इनमें गीताप्रेसके कतिपय कर्मचारी, गोरखपुरके साहबगञ्ज मोहल्लेके कतिपय व्यापारी ए[illegible] सम्पादन-विभागके भी कुछ-एक साधक हैं। इन सभी बन्धुओंकी समवेत [illegible] और आग्रहसे श्रीभाईजीने विशुद्ध भगवत्प्रेम प्राप्त्यर्थ एक मासका [illegible] सत्र रक्खा है। मैं, मेरी पत्नी एवं बाई मगला – हम सभी इसमें [illegible]लित होनेकी इच्छा रखते हैं, तदनुसार श्रीभाईजीसे अनुमति मिल गयी है। [illegible] रात्रि साढे आठ बजेसे यह अनुष्ठान प्रारंभ [illegible] है।

[illegible]नुष्ठानका यह कठोर नियम है कि कोई भी सम्मिलित स्त्री-पुरुष [illegible]बतक कार्यक्रम पूर्ण न हो, न तो बाहर जाव, न परस्पर वार्त्तालाप करे, न [illegible] परस्पर कोई सकेत भी करे। जो साधक आनेमें विलम्ब करे, अथवा किसी [illegible] मध्यमे उठना चाहे, उन्हें [illegible]

चाहिये – ऐसा नियम है।

[illegible] अनुष्ठानके [illegible]

[illegible]क्षिप्त प्रवचनमे कहा – "यह अनुष्ठान [illegible]

[illegible]से प्रारंभ हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णको [illegible]

आर्त्त प्रार्थना होगी और वे हमारे अन्तःकरणकी सच्ची चाह, उत्कट उत्कण्ठा एवं सतत संलग्नता देखेंगे, साथ ही हम अपने आचरणोंमें पर्याप्त संयम बरतेंगे तो भगवान्के चरणाश्रयसे निश्चय ही सफलता मिलेगी। आवश्यकता है, श्रद्धा, तत्परता एवं संयमकी। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है–"श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः"

**कृपया निम्न नियमोंका पालन करें –**

(१) **हमें सभीको अभी इसी समय अपने समग्र पापपुण्य भगवान् श्रीकृष्णको समर्पित कर देना चाहिये।**

(२) **प्रतिदिवस एक मासतक अष्टादशाक्षर गोपालमंत्रकी पचास मालाका अवश्य जप करें।**

(३) **इस बातका मनमें दृढ़ विश्वास रक्खें कि हमें श्रीकृष्णानुरागकी प्राप्ति अवश्य होगी।**

(४) **सभीके मनमें इस बातका सुदृढ़ विश्वास रहे कि हमें अपनी साधनासे नहीं, अपितु श्रीकृष्णानुग्रहसे उनकी प्रीति अवश्यमेव प्राप्त होगी। सहज सुहृद् कृपामूर्त्ति भगवान्ने इसी क्षणसे हमें अपना लिया है। जड़-चेतन सर्वत्र अपने परमाराध्य मोरमुकुट-वंशी-पीताम्बरधारी भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको ठसाठस-भरा अनुभव करें, उनके अतिरिक्त जो कुछ भी दिख रहा है, वह हमारा अज्ञान एवं माया-प्रवाह भर है, यह बारंबार अनुवृत्ति होती रहे।"**

इस संक्षिप्त उद्बोधनसे एकमासीय अनुष्ठानका प्रारंभ हुआ।

सर्वप्रथम मुझसे (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे) श्रीभाईजीने 'भजे व्रजैकमण्डनं' श्रीकृष्णाष्टक सुना। इस प्रथम श्रीकृष्णस्तुतिके सुनते ही श्रीभाईजीका ध्यान लग गया। कुछ काल ध्यानावस्थामें वे सर्वथा मौन रहे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। बहुत देरतक वे ध्यानस्थ रहे। फिर कहने लगे – "जिस-जिस दृश्यको मैं देख रहा हूँ उसीका वर्णन करता हूँ, इस सत्य [illegible] [illegible] वृन्दावन [illegible] [illegible] लित हूँ।

[illegible] भगवान् [illegible] [illegible] श्रीभाईजी [illegible] [illegible] [illegible]

तब भी उनकी आँखें अश्रु बहा रही थीं। श्रीभाईजीकी वाणी इतनी श्रद्धापरिपूर्ण एव कातर थी, जिससे स्पष्ट अनुभव होता था कि वे नन्दनन्दन श्रीकृष्णको प्रत्यक्ष अपने सम्मुख मुसकाता खड़ा देख रहे हैं।

श्रीभाईजीकी प्रार्थना संक्षेपमें इसी भावनासे भरी थी। "हे प्रभो! यद्यपि हम सभी आपके दर्शनोंके सर्वथा अनधिकारी हैं, हमारे भीतर अनन्त जागतिक अभिलाषाये भरी हैं, फिर भी आप कृपा करके मात्र आपको ही प्राप्त करनेकी अभिलाषाको छोड़कर, बाकी सभी अभिलाषाएँ समूल विनष्ट कर दें। ऐसी कृपा तत्क्षण ही करें कि आपके दर्शनोंकी अदम्य एवं तीव्र आकांक्षा हमारे हृदयमें जग जाय। आपके दर्शनोंके बिना हमें अपना जीवन भारस्वरूप लगने लगे। हमारा जीवन तो अनन्त दोषोंका भण्डार है। आप हमारे अपराधों एवं न्यूनताओंकी ओर न देखें, अपने सहज स्वभावसे हम सभीपर अपनी कृपावर्षा करें। हम लोगोंमेंसे जिन्हें भी आपके दर्शनोंकी प्रबल चाह हो, आप उन्हे अपना दर्शन देकर कृतार्थ करें और जिनके हृदयमें ऐसी चाहका अभाव है, उनके हृदयमें तत्क्षण ही ऐसी प्रबल चाह जागृत कर दें।"

प्रार्थना करते-करते श्रीभाईजीकी वृत्तिने शारीरिक धरातल छोड दिया और वे पुनः समाधिस्थ हो गये। कुछ काल पश्चात् वे पुन संवरित होकर कहने लगे – "महान् प्रकाशका पुञ्ज सामनेसे आरहा है। वह प्रकाश सर्व ओर फैलता जा रहा है। दसों दिशाओंमें प्रकाश-ही-प्रकाश छा गया है। उस प्रकाशमेंसे प्रेमीजन-जीवन श्रीकृष्ण आज अनोखा वेष धारण किये पधार रहे हैं। मोरमुकुटके स्थानपर पीताम्बरको साफेकी तरह लपेट रखा है। इस साफेके नीचेसे घुँघराले केशोंकी काली तेजोमय चमक स्पष्ट दिख रही है। विश्व-मन-मोहन श्रीकृष्ण बडे ही जादूगर हैं। उनके जादूका प्रभाव शंकर, ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुकदेव आदि सभीपर व्याप्त है। सभी उनपर मुग्ध वशीभूत हो रहे हैं। उनके मुखकमलमें जादू, उनके नेत्रयुगलमें जादू, उनकी केशराशिमें जादू, उनके पीताम्बरमें जादू, उनके मुरलीनादमें जादू, उनकी नूपुर-ध्वनिमें जादू, उनकी प्रत्येक क्रिया एवं वस्तुमें जादू-ही-जादू है। उनकी चितवन-अवलोकनिमें ऐसा विलक्षण जादू है कि दर्शनमात्रसे विमोहित कर लेता है।"

ध्यान कराते-कराते श्रीभाईजीने सहसा *'जय हरि गोविन्द राधे-गोविन्द'* की नामध्वनिका संकीर्त्तन कराना प्रारभ कर दिया। आगे-आगे श्रीभाईजी बोलते एवं पीछे हम सभी सत्सगी बन्धु। नाम-संकीर्त्तन बहुत कालतक होता रहा। जब

श्रीभाईजीने संकीर्त्तनको विराम दिया तो स्वतः ही ध्यानमें अपनी स्थितिपर प्रकाश डालते हुए कहने लगे – 'जब नटनागर श्रीकृष्ण नृत्य करने लगे तो उनके नृत्यकी तालपर मैने भी नाम-संकीर्त्तन प्रारंभ कर दिया। थोड़ी देर पश्चात् वे खड़े होकर मेरा संकीर्त्तन सुनकर मुस्कुराने लगे, मैं तो संकीर्त्तन करता रहा। उनको सुननेमें सुख मिले इससे बढ़कर अपने पास करनेको है ही क्या ?"

इसी समय मैंने (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने) जिज्ञासा की – "आपने अभी कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण बड़े जादूगर हैं, तो वे अपने जादूका प्रयोग हम सभीपर क्यों नहीं करते ?"

श्रीभाईजीने प्रत्यत्तर दिया –" जबतक वे अपना जादू नहीं करते, तभीतक खैर है ! उन्होंने जादू कर दिया तो 'रही न काहू कामकी' वाली स्थिति हो जायगी । इसे केवल साहित्य मत मानियेगा, श्रीनारायणस्वामी रचित इस पदमें लिखी एक-एक बात अक्षरशः सत्य घटित हो उठेगी।"

"हाँ ! एक बात और है। जो ऐसा चाहते हैं कि मुझपर उनका जादू चल जाय, उनपर उनका जादू आज नहीं तो कल अवश्य ही क्रियाशील होकर रहेगा। इसीमें तो जीवनकी सुन्दरता और सार्थकता है। वस्तुतः जिनपर उनका जादू चला है, उनका ही जीवन धन्य है। वे अपनी रूपश्रीसे आकृष्ट करते हैं, इसीलिये उनका नाम श्रीकृष्ण है।"

अनुष्ठानकी समाप्तिका समय निकट जानकर मैंने लावणीका निम्नलिखित पद गाया जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी द्वारा रचित है।

*प्रिय प्राननाथ मनमोहन सुन्दर प्यारे।*
*छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे।।*

*घनश्याम गोप-गोपी-पति गोकुलराई।*
*निज प्रेमीजनहित नित-नित नवसुखदाई।।*
*बृन्दावन-रच्छक ब्रज-सरबस बलभाई।*
*प्रानहुँते प्यारे प्रियतम मीत कन्हाई।।*
*श्रीराधानायक जसुदानन्द दुलारे।*
*छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे।।१।।*

*तुअ दरसन बिनु तन रोम-रोम दुख पागे।*
*तुव सुमिरन बिनु यह जीवन बिषसम लागे।।*
*तुमरे सँयोग बिनु तन बियोग दुख दागे।*
*अकुलात प्रान जब कठिन मदन मन जागे।।*
*मम दुख-जीवनके तुम ही एक रखवारे।*
*छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे।।२।।*

*तुम ही मम जीवनके अवलम्ब कन्हाई*
*तुम बिनु सब सुखके साज परम दुखदाई।।*
*तुम देखे ही सुख होत न और उपाई।*
*तुमरे बिनु सब जग सूनो परत लखाई।*
*हे जीवनधन मेरे नयनोंके तारे।।*
*छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे।।३।।*

*तुमरे बिनु इक छन कोटि कलप सम भारी।*
*तुमरे बिनु स्वरगहु महानरक दुखकारी।।*
*तुमरे सँग बनहू घरसौं बढ़ि बनवारी।*
*हमरे तो सबकछु तुम ही हो गिरिधारी।।*
*हरिचन्द हमारो राखो मान दुलारे।*
*छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे।।४।।*

इस पद-गायनके पश्चात् पुनः कुछ काल संकीर्त्तन होकर आजके पावन सत्संगको विराम दे दिया गया।

।।श्रीहरि।।

[illegible] - [illegible]रखनाथ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] द्वितीया वि.सं.१९९०
[illegible] [illegible]कालीन्द्रका [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]र, १९३३ ई.

[illegible]

[illegible] गाजीकी लावणी गायी।

श्रीभाईजीने आज अपने अनुभवकी एक नवीन श्रीकृष्णलीला सुनाना प्रारंभ किया। इसमें अपने सखाओं एवं गोपांगनाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अन्तरंग लीलाकथाका विस्तारसहित वर्णन था। श्रीभाईजीका लीलावर्णन प्रत्यक्ष दर्शनयुक्त होनेके कारण अति सजीव था।

आज उन्हें कलकी तुलनामें अधिक भावावेश था। वर्णन करते-करते बीचमें ही उनका बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता था। उस समय मौनावस्थामें भी वे बहुत ही भावपूर्ण लगते थे। उनके भावभरे नेत्रोंमें उनकी छवि मुझे अलौकिक प्रभावोत्पादक अनुभव हो रही थी। वे बोलनेकी चेष्टा करते किन्तु बोल नहीं पाते थे। सभी सत्संगी शान्त बैठे श्रीभाईजीकी ओर एकटक देख रहे थे; कुछ नेत्र-मूँदे ध्यानस्थ थे। मुझे तो आन्तरिक ध्यानचेष्टाकी अपेक्षा उन्हें देखते रहनेमें ही अधिक आनन्द मिल रहा था। जब उन्हें स्वयं अपना एवं बाहरी जगत्का होश ही नहीं है, तो वे स्वयं हैं ही कहाँ ? अब तो उनमेंसे जो भी बोल रहा है, उनसे जो भी छलक रहा है, सब श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं। बाह्य ज्ञान-लुप्त अवस्थामें उनका "ओह ! ओह !!" कह उठना एक विशेष आनन्दोच्छलन ही माना जाना चाहिये। श्रीभाईजीका रोम-रोम अनबोले ही, बिना भाषाके मुखर प्रकाशित कर रहा है कि वे श्रीकृष्णकी लावण्यराशि एवं रूपसौन्दर्यपर कितने अधिक विमुग्ध हैं !

आज अधिकांशतया वे मौन ही रहे। वे चेष्टा करके कुछ शब्द उच्चारण करनेका प्रयास भी करते तो स्वरकी अस्पष्टताके कारण कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता था। वे क्या कहना चाह रहे हैं इसकी संगति भी नहीं लग पा रही थी। बहुत समयतक उनके मुखसे असंगत शब्दराशि ही निकल रही थी।

समय तो पूरा होता ही है। संकीर्तन कराके नजीर साहबकी नज्म गायी गयी।

आज भाईजी उठनेकी स्थितिमें भी नहीं थे। वे इतने भावाविष्ट थे कि मुझे तो उन्हें [illegible] भी संकोच हो रहा था। मेरी ही (श्रीचिम्मनलालजीकी) [illegible] उन्हें [illegible] उठानेकी किसी दूसरेने भी चेष्टा नहीं की। इसके पश्चात् [illegible] जी आये और वे उन्हें मच्छरदानीमें [illegible] लानेको ले गयीं। सभी [illegible] दिया [illegible] किन्तु मैं (चिम्मनलाल गोस्वामी) एवं कुछ [illegible] वहांसे हटे। मध्य [illegible]

श्रीभाईजी रसस्वरूप श्रीकृष्णकी सरस लीलाओंका वर्णन बाह्य होश-विरहित दशामें मात्र 'कुछ कहना है' –इस पूर्वकृत संकल्पको पकड़े, कहते रहे। उनके बोलने एवं कहनेका ढंग आज सदासे भिन्न प्रकारका था। वे बहुत ही मन्द स्वरमें शनैः-शनैः यह सब वर्णन कर रहे थे।

"श्रीगोवर्धन गिरिके एक शिलाखण्डपर अपनी सर्वाकर्षक शोभाको सर्वत्र प्रसारित करते श्रीकृष्ण आसीन हैं। सघन लता जाल पुष्पाच्छादित हैं। रंग-बिरंगे पुष्प हैं। ओह ! कैसी निर्मल सुगन्ध चतुर्दिक् फैल रही है। मेरी नासिका श्रीकृष्णकी अंगगन्धसे तो भरी है, बीच-बीचमें वायु इन पुष्पोंकी गन्ध भी लाकर उसे श्रीकृष्ण अंगगन्धमें मिला जाती है। इसी मिससे इन लता-वल्लरियोंका अपने प्राणपतिसे मिलन जो हो रहा है। वायु दूतीका कार्य कर रही है। ओह, भ्रमर कैसा सुन्दर झंकार कर रहे हैं। इनकी झकार विलक्षण संगीतमयी है। सारी राग- रागिनियोंकी मूल उत्पत्ति मानो इन भ्रमरोंसे ही हुई हो। ...... ......... ........."

बहुत शनैः-शनैः इतना बोलकर श्रीभाईजी रुक गये हैं। उनसे आगे बोला नहीं जा रहा है। आज उनकी दशा कुछ निराली है। उनके नेत्रोंसे अश्रु धारावत् टपकते हैं, परन्तु इससे उनकी मुख-मुद्रामें कोई विकृति नहीं आती। इसी प्रकार कभी-कभी उनके मुखसे 'ओह ! ओह !'कर रुदन फूट पड़ता है, परन्तु चेहरा उसी प्रकार शोभाभरा लगता है।

मेरा गोरखपुर आगमन धन्य हो गया। मेरी पत्नी यदि मुझे स्थायीरूपसे गोरखपुर आनेकी अनुमति नहीं देती तो हमें यह विलक्षण अनुभव प्राप्त करनेका सौभाग्य ही नहीं मिलता। मुझे बहिन मंगलाके भाग्यपर गर्व होता है कि उसे यह सत्संग मिला । बहिन सुलोचना एवं मेरे पू. पिताजी इस संत-सहवाससे वंचित हैं।

..............

।।श्रीहरि।।

स्थानः बंगालीबाबूका बगीचा आश्विन कृ.तृतीया वि.सं.१९९०
गोरखनाथ मन्दिरके पास, गोरखपुर गुरुवार ७ सितम्बर, १९३३ ई.

जिस प्रकार पिछले दो दिवस सत्संग हुआ, उसी प्रकार आज भी घड़ीके साढ़े-आठ बजाते ही कार्यक्रम प्रारंभ होगया है। श्रीभाईजीके आदेशानुसार मेरे द्वारा प्रारभमें 'भजे व्रजैकमण्डनं' श्रीकृष्णष्टकका गायन होनेके पश्चात् 'हरि बोल, हरि बोल' का संकीर्त्तन श्रीभाईजीने स्वयं कराना प्रारंभ कर दिया। अहा ! अलौकिक आनन्दकी वर्षा हो रही थी। श्रीभाईजी दोनों हाथोंमें करताल लेकर खडे होकर झूम-झूमकर संकीर्तन करा रहे थे। मन करता था– उस समयकी उनकी छवि मेरे चित्तमें ऐसी बस जाय कि कभी भी नहीं हटे। श्रीभाईजीकी भावमयी स्थितिको देखकर मुझे ऐसा ही अनुभव हो रहा है मानों मैं आधुनिक युगके अभिनव महाप्रभु चैतन्यदेवके सान्निध्यमें आ गया हूँ। श्रीचैतन्य-महाप्रभुकी भाव-तल्लीनताकी बातें तो मात्र उनके अनुयायी लोगोंके ग्रन्थोंके पढ़नेसे ही ज्ञात होती हैं, किन्तु श्रीभाईजीकी महाभावदशा तो हम सभी प्रत्यक्ष देख रहे हैं। श्रीभाईजीकी यह विलक्षणता ही है कि वे गृहस्थमें रहकर जनससर्गमे पूर्णतया लिप्त होकर, समाजसेवा, आत्मीय जनोंके विवाह, मरण, रोग-शोकमें सम्मिलित होकर भी पंक-कमलवत् सर्वथा निर्लिप्त हैं, और दिवसभर रजोगुणी कार्योंका सचालन करते हुए भी सन्ध्यामें इस प्रकार भावाविष्ट हो जाते हैं। ये अपने भाव-प्रवाहको सगुप्त और प्रकट करनेमें कितने सिद्धहस्त हैं ? मैं तो ऐसा अग्रज धर्मभ्राता पाकर अपनेको कृतकृत्य अनुभव करता हूँ।

ऐसा लगता है कि श्रीभाईजी जगत्के तटपर रहकर भी नहीं रहते। सदैव लोकातीत रहते हुए श्रीराधाकृष्ण युगलके रूप-लीला-सम्बन्ध, रसविलास, आलाप-संलाप, समर्पण एवं प्रेममें ही इनका क्षण-क्षण व्यतीत होता है।

प्रभातकालके सत्संगमें भी इनकी ऐसी ही दशा देखनेको मिलती है एव सायकालमें भी ये इसी प्रकार भावोन्मत्त अवस्थामे ही शयन करते हैं।

...............

।।श्रीहरि।।

स्थानः बंगालीबाबूका बगीचा आश्विन कृ.चतुर्थी वि.सं. १९९०
गोरखनाथ मन्दिरके पास, गोरखपुर शुक्रवार ८ सितम्बर, १९३३ ई.
(प्रातःकाल)

आज प्रातः ७ बजेके सत्संगमें मैं श्रीकृष्णाष्टक गाकर जैसे ही निवृत्त हुआ, श्रीभाईजीके आदेशसे मेरे बहनोई श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीने श्रीनन्ददासजी-विरचित 'श्रीकृष्णनाम जब तैं श्रवणन सुन्यौ री आली' पद गाकर सुनाया।

पद-गायन सुनते-सुनते ही श्रीभाईजी भावाविष्ट हो गये। श्रीभाईजीका भावावेश इतना गहन था कि वे प्रातः-सत्संग प्रारंभ ही नहीं कर सके। ऐसे भावाविष्ट हुए कि उन्हें कमरा बन्द कर एकान्तमें बैठाना पडा।

श्रीभाईजीका सत्संग लाभ करने इन दिनों एक विलक्षण महात्मा उत्तराखण्डसे आये हैं। इन्होंने अपना आसन आँवले वृक्षके नीचे बने चबूतरेपर लगाया है। शरद् ऋतु है; इनके आवासका उचित स्थान चयन करके देनेका सेवाभार श्रीभाईजीने मुझे सौंपा था, किन्तु ये कहते हैं कि अपने नियमानुसार छतके नीचे ये रहते ही नहीं। आँवलेका वृक्ष सघन है। इनके पास पहननेको मात्र दो टाटके टुकड़े हैं, उन्हींसे ये अपने बिछौने और वस्त्र – दोनोंका कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। ये कोपीन भी टाटकी ही पहनते हैं। कोपीन अवश्य इनके पास दो हैं। नहानेके पश्चात् इनमेंसे एकके सूख जानेपर ये उसे अपनी कमरमें बाँध लेते हैं। बहुत ही तितिक्षु हैं। चार आलू उबालकर मात्र तनिकसा नमक लगाकर इनकी भिक्षा हो जाती है। भिक्षार्थ ये किसीके घर नहीं जाते, अपनी हँडियामें ही आलू उबाल लेते हैं। इसी हँडियासे ये पानी भी पी लेते हैं। शौचके समय इसी हँडियाको जलपात्रके रूपमें प्रयोग कर लेते हैं। कण्डेकी धूनी अवश्य रखते हैं।

ये एक रबरकी नली रखते हैं। इस नलीको अपने किसी भी अंगसे सटाकर ये इसके दूसरे कोनेको आगन्तुक व्यक्तिके कानमें लगा देते हैं। उस नलीमेंसे विलक्षण सुरीली 'नारायण-नारायण' नामध्वनि सुनाई देती है। यह प्रयोग ये इनके पास आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके सम्मुख करते हैं। यह

'नारायण-नारायण' नामध्वनि इनके हृदयकी स्वाभाविक रक्तचापकी धक्-धक् आवाज नहीं है, जिसमें 'नारायण' नाम आरोपित कर दिया गया हो। यह तो स्पष्टतः शब्दोच्चारण है। ये महात्मा जिस काल किसीको यह नामध्वनि अपने रोम-रोमसे निस्सृतकर सुनाते हैं, उस समय इनके नेत्र ऐसी शान्त मुद्रामें निमीलित हो उठते हैं, मानो अन्तरमें उच्चारित अन्तर्ध्वनिके रूपमें होनेवाले अपने इष्टदेवके नाम-संकीर्तनको ये स्वयं भी पूर्ण रसमत्त हुए सुन रहे हों। यह मधुर नामस्वर न तो किसी नारीका होता है, न ही पुरुषका। यह तो जैसे कोई स्वयमूर्त्त ध्वनि होती है। यह इतनी आकर्षक होती है कि श्रवणकर्त्ता यदि जरा भी साधन-सम्पन्न अन्तःकरणका हो तो इसके श्रवण मात्रसे ही वह भीतर गहिराकाशमें डूबता चला जाता है। ऐसा लगता है मानो यह कोई आन्तरिक योगध्वनि है। इस ध्वनिका विश्लेषण तो मैं नहीं कर सका। इस श्रवणसे मुझे एक विलक्षण आनन्द, एक अभूतपूर्व तन्मयता प्राप्त हुई, वह मेरे मन-मानसमें सारे दिवस छायी रही। महात्माजी किसी भी श्रवणकर्त्ताको यह नामध्वनि सुनाते समय उस नलीका अपने पासवाला छोर अपने एक अंगसे हटाकर दूसरेपर, फिर तीसरेपर, कभी पीठपर, कभी जंघापर, कभी हाथोंकी अँगुलियोंपर संस्पृष्ट कर देते हैं और परिणाम एक ही संघटित होता है – वही नाम-ध्वनि। एक-सी ही सुमधुर स्पष्ट योगध्वनि उनके रोम-रोमसे उच्चरित होती रहती है।

मैं चकित हूँ – कैसे-कैसे महापुरुष श्रीभाईजीके पास आते हैं और उनके सत्संगके लिये लालायित रहते हैं।

मैंने जब इन टाटबाबा महात्माजीसे अपनी इस सिद्धिका साधन पूछा तो उन्होंने कहा कि सब भगवान् नारायणकी कृपाका ही फल है। उनका कथन था कि उनकी सन्निधिमें उनके संकल्पसे किसी भी जड-चेतन पदार्थसे यह पावन नामध्वनि निस्सरित हो सकती है।

इसके पश्चात् इन्होंने अपना टाटवस्त्र मेरे कानमें लगानेको कहा। मैं आश्चर्यचकित हो उठा। उनके टाटवस्त्रसे भी उसी दिव्य मधुरतासे भरी वह ध्वनि श्रवणगोचर हो रही थी। मैं आश्चर्याभिभूत था। महात्मा नारायणस्वामी (टाटबाबा) यही उनका नाम था। ये वर्षों बद्रिकाश्रममें तपस्यारत रहे हैं। इन्हें भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो चुके हैं। इन्होंने भगवान् नारायणसे इसी सिद्धिकी याचना की थी कि वे जहाँ चाहें वहींसे, साथ ही जबतक उनका शरीर रहे उनके रोमरोमसे भी, उन्हे कल्याण शक्तियोंसे समन्वित प्रभुका पावन, चिन्मय

नाम दिव्य मधुर ध्वनिके रूपमें सदैव निनादित श्रवणगोचर होता रहे। तबसे उनके शरीरका एक रोम भी नामध्वनिसे वंचित नहीं है। भगवान्‌के वरदानसे वे इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि अन्य किसीको भी यह नामध्वनि श्रवणगोचर करा सकते हैं। साथ ही, उनका जो, जहाँ, जैसा भी दृश्य होता है, उनके संकल्प करते ही उसमें से भी वैसी ही पावनतम 'नारायण' नामध्वनि प्रकट हो जाती है। बस, इसी वरदानका परिणाम उनकी यह सिद्धि है। यदि उनका बुरे-से बुरे स्थानपर भी प्रारब्धवश गमनागमन हो जाय, तो यह नाम-संकीर्तन-प्रवाह उनके चतुर्दिक् ऐसा नाम-वर्तुल सृजन कर देता है कि ये सर्वत्र नाममें ही डूबे बने रहते हैं। इनकी नामसिद्धि इनके विचारोंको भी सदैव एकाग्र भगवद्रसमें समाहित रखती है, इससे इनकी वृत्तियाँ इन्द्रिय-विषयानुगामी नहीं हो पातीं।

बहुत ही बडा, विलक्षण नारायण-नाम-कवच भगवान्‌ने इन्हें प्रदान किया हुआ है।

श्रीनारायणस्वामी (टाटबाबा) भगवान् नारायणके आदेशसे ही श्रीभाईजीसे मिलने आये हैं। इन्हे भगवान् नारायणने जगत्-कल्याणके लिये जो भी नियमावली बतायी है, उसे ये गीताप्रेससे प्रकाशित करवानेके लिये श्रीभाईजीको समर्पित करने ही गोरखपुर आये हैं।

मैंने अपने परिवारके सभी स्त्री-पुरुष-बच्चोंको इन महात्माजीकी यह सिद्धि दिखाई है। ये हम सभीपर अतिशय कृपालु हैं। मेरी अ.सौ. माताको इन्होंने नामजप करनेका विशेष निर्देश दिया है।

............

*(श्रीहरि)*

| स्थानः बंगाली बाबूका बगीचा गोरखनाथ मन्दिरके पास, गोरखपुर। | तिथि आश्विन कृ. चतुर्थी वि.सं. १९९० शुक्रवार ता. ८ सितम्बर, १९३३ ई. |
|---|---|

आज सायंकालके सत्सगमें श्रीभाईजीने श्रीकृष्णाष्टकके पश्चात् श्रीनारायण स्वामीका 'जाहि लगन लगी घनश्यामकी' पद-गायनका आदेश दिया। (गोरखपुरमें पधारे हुए उपर्युक्त पूर्व वर्णित नारायणस्वामी पदरचनाकर्त्ता नारायणस्वामीसे भिन्न हैं।) पदगायनके पश्चात् श्रीभाईजी आधे तो भावावेशमें

थे एवं आधे विनोदरत थे। वे कह रहे थे – जैसी हेतुरहित अगाध प्रीतिका दिग्दर्शन इस पदमें हुआ है, वैसा जीवनमें उतरना दुर्लभ है। आज तो ऐसे निश्छल प्रीतिसम्पन्न महात्मा ही नहीं दिखते जो इस प्रकारके पदोके भावोंमें निरन्तर डूबे रहते हों। गोपीके अतिरिक्त और कौन है, जिसमें ऐसी प्रीति प्रकट हो। यह पद प्रीतिजगत्की एक पवित्र निधि है। इसके पश्चात् आन्तरिक विह्वलतावश भाईजी कुछ कालके लिये मौन हो जाते हैं। किञ्चित् संवरित होनेपर इस पदका भाव कहने लगते हैं। वे कहते हैं कि 'गोपीका तन तो उसके घरमें रहता है, परन्तु मन तो सदैव पूरा-का-पूरा श्रीकृष्णके निकट ही अवस्थित रहता है।'

'अहा ! कैसी शोभा होती है उसके प्राणवल्लभ श्रीकृष्णकी ! मानो वे श्यामलताके अनिर्वचनीय फल हों, जो मधुर सुस्वादु रससे पूरित हुए उस गोपीकी लोभनीय वस्तु बन गये हैं। कैशोरभाव उनके अंग-प्रत्यगोंमें समस्त मधुरिमा और उच्छलित आनन्द उडेल रहा होता है। घुँघराली अलकें उनके कपोलों एवं ललाटपर झूलती रहती हैं। वे गोपीका पूरे-का-पूरा चित्त अपनेमें संलग्न कर लेती हैं। इसीलिये गोपी पैर कहीं रखती है और उसके पैर पड़ते हैं किसी और स्थानपर। उसे अपने निवासस्थानकी भी सुधि कैसे रहे ? उसका पूरा चित्त तो देख रहा है अपने प्राणवल्लभके गोखुरोंसे उडी धूलिसे भरे आननको। ओह ! कुन्तलमण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छका मुकुट कितना शोभामय है ! केशोंमें सुरभित वन्य प्रसून ग्रथित हैं। उसके प्राणपतिके नेत्रोंकी मनोहर चितवन और अधरोपर व्यक्त मृदु स्मितकी शोभा देखलेनेके पश्चात् भी क्या उसे संसारमें कुछ सार समझमें आ सकता है ? यह तो स्वाभाविक ही है कि अब तो जिधर श्यामसुन्दर उसे दिखें, उधर ही वह दौड पडेगी। भला, वेणुके छिद्रोंमें स्वर भरता वह नवकिशोर नटवर जिसे दिख जावे, फिर उसे छाया-घामकी क्या परवाह ? वह तो अपने नवकिशोर प्रियतमके चरणोंमें न्यौछावर हो गयी। जिसे वह श्यामसुन्दर कदम्ब वृक्षके नीचे वेणु बजाता, भौहें मटकाता दिख जावे, उसके प्राण तो निश्चय ही उसी क्षण देह छोडकर अपने प्राणवल्लभसे मिलने उड़ चलते हैं। जब देहमें प्राण रहें ही नहीं तो फिर निन्दा-स्तुतिकी किसे परवाह ? अब तो वह या तो सर्वथा विक्षिप्त-चित्त घूमती रहेगी, या श्यामसुन्दर उसकी देहमें अपने प्राण समाहितकर उससे भले ही जो इच्छा हो, सो करवावें। वह अब संसारके प्रयोजनकी वस्तु न रहकर मात्र

भगवान्के प्रयोजनकी ही हो जाती है।'

इस प्रकार पूरे पदकी व्याख्या करते-करते ही भाईजी भगवान्के आशिख ध्यानमें निमग्न हो गये। आसनपर उनका हलचल-रहित शरीर सर्वथा स्थिर था। श्वास-प्रश्वासके अतिरिक्त न कोई कम्पन, न ही कोई स्पन्दन, वार्त्ता करते-करते ही मनकी सम्पूर्ण चञ्चलताओंसे अतीत हो जाना – वस्तुतः परम विस्मयकारी था। सारे दिवस अत्यधिक सक्रियता, सबकी चिन्ता-व्यवस्था करना, कल्याण-गीताप्रेस – सबकी सुचारु व्यवस्थामें निरत रहना और एक क्षणमें ही पूर्ण शान्ति। इसके लिये न कोई आयास, न ही इस चरमान्तर्मुखताकी लोकोत्तर स्थितिपर आरूढ़ होनेमें कोई विलम्ब। तुरन्त चरम निवृत्तिकी विलक्षण स्थिति – वस्तुतः इससे बड़ा सहज योगी कौन हो सकता है ?

मैं विचार कर रहा था कि श्रीभाईजीके शरीरमें हलका-सा कम्पन हुआ। वे धीरे-धीरे बोल उठे – "देखो, देखो ! शोभासमुद्र गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण गौओंके पीछे-पीछे असीम रस बरसाते आ रहे हैं। उनकी चाल इतनी सुन्दर है, कि लगता है मानो वे नृत्य करते चल रहे हैं। इनके संकल्पसे इनकी अञ्जलिमें स्वतः ही बृन्दावनके सुरभित पुष्प भर जाते हैं और ये इन्हें इनकी ओर सतृष्ण नेत्रोंसे निहारती हुई, अटारियोंपर चढी गोपियोंपर ऐसे रसमय ढंगसे उछालते हैं कि पुष्प सीधे उनके मस्तकपर गिरकर सारे शरीरपर बरस जाते हैं। ये गोपियाँ भी इसके प्रत्युत्तरमें इनपर सुन्दर-सुन्दर वनमालायें फैंकती हैं और श्रीकृष्ण इन वनमालाओंसे आकण्ठ भर जाते हैं। चारों ओरसे गोपियों द्वारा इतने पुष्प बरसाये जा रहे हैं कि नन्दग्रामका सारा राजपथ ही रंग-बिरंगा पुष्पमय हो रहा है।

वर्णन करते-करते श्रीभाईजी 'राधारमण जय कुंज बिहारी, मुरली-धर गोवर्धनधारी' का संकीर्तन कराने लगे। वे ताली बजा-बजाकर संकीर्तन कर रहे थे। यह कीर्त्तन बहुत कालतक होता रहा। समय हो जानेसे इसी कीर्त्तनके पश्चात् सत्संगका समापन भी हो गया।

++　　　++　　　++

उपर्युक्त विवरण मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरीसे नकल किये हुए पत्रोंसे उद्धृत है। यद्यपि विवरण तो पूरे माहके अनुष्ठानका है, किन्तु विस्तारभयसे यहाँ मात्र तीन-चार प्रारंभिक दिवसोंका ही विवरण दिया गया है। इस विवरणसे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि श्रीपोद्दार

महाप्रभुकी दशा १९३०ई.से, जबसे उन्हें श्रीराधाकृष्णके दर्शन हुए तभीसे ऐसी ही पूरी भगवन्मय थी। यदि इनकी स्थिति प्रगाढ भगवद्रसमें परिपूर्ण निमग्न नहीं होती तो ये इस अनुष्ठानकालके ठीक तीन वर्ष पश्चात् पू.गुरुदेव श्रीचक्रधरजी महाराज (भविष्यमें श्रीराधाबाबा)को मात्र चरणस्पर्श करके भगवद्दर्शनदान नहीं दे पाते। किसी पामर विषयीको अपनी हेतुरहित कृपावर्षासे भगवान्की भक्तिमें संलग्न कर देना सरल है, क्योंकि विषयोंमें सुख-शान्ति-आनन्दका आभास मात्र ही होता है, वस्तुत: आनन्द होता नहीं; विषय तो आपाततः दुखयोनि हैं; परन्तु किसी ब्रह्मज्ञानीको उसके आत्मस्वरूपगत घन-आनन्द, मात्र-आनन्द, केवल-आनन्दानुभूतिसे श्रीकृष्ण-भक्ति-भावित कर देना, अपार सच्चिदानन्द-समुद्रमें डूबे किसी चतुर्थ भूमिकामें प्रतिष्ठित ब्रह्मज्ञाननिष्ठ सन्तको श्रीकृष्ण-चरण-किंकरी-पद दे देना, वस्तुतः कारक पुरुष कोटिके महाप्रभुओंकी ही सामर्थ्यका प्रकाश है। इस भाँति हेतुहीन रूपसे असंभवको सभव कर देना नारदादि कोटिके कारक पुरुषोसे ही संभव है। भक्तिगरिमाके इस असमोर्ध्व कार्यको अति सहजतापूर्वक करके महाप्रभु हनुमानप्रसादने सिद्ध कर दिया था कि वे अपने प्रियतम श्रीराधा-माधवसे पूरे आत्मसात् हो चुके हैं।

ऊपर तो मैंने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी डायरीका ही उद्धरण दिया है, किन्तु अव मैं स्वय श्रीपोद्दार महाप्रभुकी अपनी ही उक्तिको उद्धृतकर यह सिद्ध करता हूँ कि श्रीपोद्दार महाराज १९३० ई.से ही महाप्रभु कोटिके भगवज्जनोंका श्रणीमें आ चुके थे।

श्रीपोद्दार महाप्रभुका स्वानुभूति-प्रकाशक एवं स्वरचित पद ही इसका प्रमाण है। पदरचना निम्नलिखित है:

*नयन मन जबतें आइ बसे।*
*तब तैं आठों याम दिवस निसि, निमिषौ नाहिं खसे।।*
*सबके नयन प्रपंचहि निरखत, सबके मन संसार।*
*इहाँ जगत आवन नहिं पावत, निरतत नन्दकुमार।।*
*ललित तृभंग पीत पट शोभित, गल गुंजनकी माल।*
*मुकुट मयूर पिच्छ कुंचित कच, मृगमद तिलक सुभाल।।*
*कर मुरली कटि किंकिणि राजत, पग नूपुर झनकार।*
*नील स्याम बदनारविन्दपर काम कोटि सत वार।।*
*अधर मधुर मुसकान मनोहर, तिरछी चितवन जाल।*
*मुनि मन विहग अगम्य निरखि छवि आइ फँसत तत्काल।।*

*नित्य प्रकासित स्याम-सूर्य तहँ जग-तम जात डराय।*
*दुस्साहस कर जाय कबहुँ जो, बिनु मारें मरि जाय।।*

यह पदरचना किस नियत तिथिमें श्रीपोद्दार महाराज द्वारा हुई, इसका विशेष महत्त्व नहीं है। संभव है, यह १९५६ ई.के पश्चात् ही हुई हो, परन्तु इस रचनाकी प्रथम पंक्तिमें ही श्रीपोद्दार महाराजने स्पष्ट सकेत कर दिया है कि जब उनके नयन एवं मनमें भगवान् श्रीकृष्णका प्रथम पदार्पण हुआ उसी पावनतम क्षणसे एक पलके लिये भी भगवान् श्रीकृष्ण उनके चित्तसे हटे नहीं हैं।

यहाँ एक बात समझनी है – तात्विक रूपसे तो भगवान् श्रीकृष्ण सर्वत्र हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वसुहृद् हैं, अतः चित्तके प्रकाशक होनेके नाते किसी भी प्राणीके चित्तसे उनकी सत्ताका लोप हो जाना, हट जाना तो सभव ही नहीं है। किन्तु यहाँ तत्वकी, द्रष्टाकी बात है ही नहीं, यहाँ तो नैन-मनके दृश्यकी बात हो रही है। द्रष्टा-साक्षीके रूपमें तो भगवान् कहीं आते-जाते नहीं हैं। वे अपनी महिमामें नित्य स्थित हैं। वे किसीके नयन और मनमें परिच्छिन्न कदापि नहीं हो सकते। नयन एवं मन तो गुणोंका कार्य हैं, अत मनमें जब तमोगुणका प्रवाह बहता है तो मन अज्ञानमें, निद्रामें डूब जाता है। नयनोमें न जाने कौन-कौनसा, कहाँ-कहाँका, अच्छा-बुरा प्रमाद-दृश्य निरन्तर प्रवाहित रहता है। स्वप्नमें भी नयन एवं मन संसार देखना स्थगित नहीं करते।

किन्तु श्रीपोद्दारजीकी विलक्षण भावदशा है, उनके आनन्दका तो कहना ही क्या है ? उनके नयनोंमें अविराम आठों याम, रात्रि-दिवस, उनके प्राणवल्लभ नीलसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र भरे ही रहते हैं। पलक झपकनेके एक निमेषकालके लिये भी वे उनके हृदय-पटलसे नहीं ओझल होते। पूर्व संस्कारोंवश उन्हें अवश्य स्मृति आती है कि सबके मनमें संसार-प्रपंच भरा रहता है। कोई हटाना चाहे तो भी वह बरबस हटता नहीं। उनकी शक्तिसे तो यह इन्द्रियजन्य विषय-मूल संसार उनके हृदयसे भी हटा नहीं है। किन्तु उनपर तो उनके आराध्य प्राणपतिकी विलक्षण कृपा हुई है, और उनके चित्तसे जगत्की सत्ता ही, प्रपचका अस्तित्व ही श्रीकृष्णने विलीन कर दिया है। जगत् अन्ततः है क्या? वह उनके प्रियतम श्रीकृष्णका प्रतिबिम्ब मात्र ही तो है। आज उनकी श्रीकृष्ण-कृपा-पूरित दृष्टिमेंसे उस प्रतिबिम्बका अस्तित्व ही विलीन हो गया है। अब प्रतिबिम्ब रहा ही नहीं, बिम्ब-ही-बिम्ब बचा है। उन्हें यह आश्चर्य अवश्य है कि बिम्ब अनेक कैसे हैं ? उनके प्राणाधार जीवनसर्वस्व तो एक हैं, फिर

जिधर देखें उधर ही जो अनन्त श्रीकृष्ण दीख रहे हैं – यह क्या खेल है ? एक क्षण तो वे नेत्र मूँदकर अपने हृदयस्थ आराध्यबिम्बको देखते हैं, फिर नेत्र खोलकर सम्मुख दृश्यरूपमें अवस्थित असंख्य प्रतिबिम्बोंके रूपमें श्रीकृष्णोंकी ओर देखने लगते हैं। उन्हें इसी बातका आश्चर्य है कि उनकी हृदयस्थ इष्टमूर्ति और दृश्यरूपमें खुली आँखों बाहर दिखनेवाली असख्य श्रीकृष्ण-मूर्तियोंमें किञ्चिन्मात्र भी कहीं कोई अन्तर नहीं। एक-सी छवि, एक-सा सौन्दर्य-माधुर्य, वैसी ही एक-सी मुसकान। श्रीपोद्दारजी प्रेमभ्रान्त हो उठते हैं। उन्हें संभ्रम हो उठता है कि क्या उनके आराध्य श्रीकृष्ण अनन्त हैं ? रसस्रोतमें डूबता-उतराता उनका चित्त गा उठता है:

*सबके नयन प्रपंचहि निरखत सबके मन संसार।*
*इहाँ जगत आवन नहिं पावत निरखत नन्दकुमार।।*

शनै-शनैः श्रीपोद्दार महाप्रभुकी बुद्धि भी इन श्रीकृष्ण रूपी सिन्धुकी लहरोमे [illegible]यित हुई ढक जाती है। वे गान कर उठते हैं–

*[illegible] तृभंग पीत पट सोभित गज गुंजनकी माल।*
*मुकुट मयूर पिच्छ कुंचित कच, मृगमद तिलक सुभाल।*
*कर मुरली कटि किंकिणि राजत, पग नूपुर झनकार।*
*नील स्याम वदनारविन्दपर काम कोटि सत वार।।*

विलक्षण श्याम-सूर्य श्रीपोद्दार महाप्रभुके हृदय-पटलपर जगमगा रहा है। वे अतर्कित, असम्भावित और अप्रत्याशित आनन्दसे परिपूर्ण हैं। उनके नेत्रोंसे प्रेमानन्दके सुखबिन्दु झरने लगते हैं, रोम-रोम श्रीकृष्णके अपरोक्ष दर्शनानन्दमें आप्यायित है। श्रीपोद्दार महाराजका मन श्रीकृष्णमें इतना एकात्म हो गया है कि उन्हें अनुसधान ही नहीं रहता कि उनके हृदयमें श्रीकृष्ण हैं या मन है।

इन दिनोंके ही सत्संगमें एक दिवस श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे अपनी अनुभूतिका वर्णन करते-करते श्रीपोद्दार महाप्रभु कह बैठते हैं – जो गुणातीत और मायातीत स्वरूप श्रीकृष्णने मेरे हृदयमें ही नहीं, रोम-रोममें, मेरे चर्म-नेत्रों और प्राकृत मनमें अपनी हेतुरहित कृपासे भर दिया है, उसके रूप-सौन्दर्यका वर्णन करनेकी शक्ति चौदह भुवनोमें किसीकी नहीं है।

शास्त्रोंमें जो वर्णन है, वह तो मात्र ध्यानकी सुकरताके लिये ही है। महात्मा ध्रुव, अर्जुन, भीष्म, विदुर, कुन्ती, कर्दम आदिने जो भगवान्‌का रूप-दर्शन किया, वह ऐश्वर्य-भूमिका रूप है। श्रीपोद्दार महाराजके हृदयमें तो उनका

निज-जन-मन-मोहन ही नहीं, स्वमन-मोहन रूप प्रकट हुआ है। वह नित्यकिशोर नटवर विग्रह है। वह पीताम्बरधारी है, गलेमें गुञ्जोंकी माला धारण किये है, गोपवेश है। उसके सिरपर मुकुटकी तरह मयूरपिच्छ शोभायमान है। उसके केश घुँघराले हैं, उसके भालपर मृगमदका तिलक है। उसके हाथोंमें मुरली है, कमरमें किंकणी नामक आभूषण रुनझुन कर रहा है, और पैरोंमें नूपुरोंकी ध्वनि झंकार कर रही है। अहा ! वदनपर नित्य मधुर मोहन स्मित हास्य है। इस श्याममेघके सदृश नीलाभ श्यामवर्ण सुन्दर किशोरपर श्रीपोद्दार महाप्रभुका चित्त ऐसा मुग्ध है कि वे उसपर करोडों ही नहीं, अरबों कामदेव न्यौछावर कर दे रहे हैं। उन अविनाशी परब्रह्म परमात्माके भी आधारस्वरूप श्रीपोद्दार महाप्रभुके आराध्य श्रीकृष्णके अधरोंपर ऐसी निरतिशय मधुर मुसकान निरन्तर विराजित रहती है। साथ ही वे अपनी तिरछी चितवनका ऐसा मनोरम जाल फैंकते हैं, कि शुक, नारद, भीष्म, ब्रह्मा एवं रुद्रादिका मन-पंछी भी उसमें तत्काल ही फँस जाता है। यह श्याम-सूर्य श्रीपोद्दार महाप्रभुके चित्त-पटलपर यावज्जीवन, जीवनके शेष चालीस वर्षोंतक निरन्तर इस प्रकार अपने प्रखर तेजसे जगमगाता रहा कि एक क्षण भी उसके अस्त होनेका प्रश्न ही नहीं रहा। अब सांसारिक मायाकी तमोमयी निशाके वहाँ आगमनका तो प्रश्न ही कहाँ रहता ? यदि कभी वह दुस्साहस करके उनकी ओर झाँक भी लेती तो बिना मारे ही मर जाती। ऐसी प्रखर प्रेम-तेजोमयी उनके आराध्य श्रीकृष्णकी छवि उनके हृदयमें अक्षुण्ण विराजित रहती थी।

अपने प्रियतम नीलसुन्दर प्राणपतिके दिव्य रूप-सौन्दर्यको देख कर श्रीपोद्दार महाप्रभुकी कैसी विचित्र दशा हुई है, इसका द्योतक उनका निम्नलिखित पद साधकवर्ग अनुशीलन करें – श्रीपोद्दार महाप्रभु लिखते हैं–

*पता नहीं कुछ रात दिवसका, पता नहीं कब संध्या भोर।*
*जाग्रत स्वप्न दिखाई देता श्याम सदा मेरा चितचोर।।*
*भूल गयी, मैं नाम-धाम सब, भूल गयी सुधि हूँ मैं कौन।*
*नयन नचाकर, प्राण हरणकर, खड़ा हँसरहा धरकर मौन।।*
*कैसी मधुर मूर्ति वह कैसा था विचित्र मनहारी रूप।*
*आँखें झूर रहीं, झरतीं नित, झरतीं स्मृति सौन्दर्य अनूप।।*
*मर्म बेधकर धर्म मिटाया किया चूर सारा अभिमान।*
*लोक लाज कुल कान मिटी सब, रहा न कुछ निज-परका भान।।*

*हा ! कैसा विधुवदन सुधामय विचर रहा कालिन्दी-कूल।*
*हर सर्वस्व बाँध सब तोड़े, मिटे सभी मर्यादा-कूल।।*
*मनसा मिल रहते मेरे सब अंग नित्य प्रियतमके संग।*
*नहीं छूटता, कभी सभी विधि, रहता सदा श्यामका संग।।*
*रसमय हुई, नित्य रस पाकर, रसिक रसार्णवका सब ओर।*
*बही रस-सुधा-सरिता-धारा, प्लावितकर सब, रहा न छोर।।*
*श्याम रहे, या रही मैं कहीं, कुछ भी नहीं रहा सन्धान।*
*श्याम बने मैं, श्याम बनी मैं, एकमेक हो रहे महान।।*

(पद रत्नाकर पद सं. ४८८)

अपने प्रियतमके अश्रुतपूर्व सौन्दर्यके दर्शनसे श्रीपोद्दार महाराजको यह पता ही नहीं रहता कि कब रात होती है, और कब दिवस व्यतीत हो जाता है। कालकी सत्ता तो देहज्ञान रहनेतक ही है। जब यही ध्यान नहीं रहा कि मैं हूँ, मेरा कोई नाम-रूप-देह-धाम है, तब कालकी प्रतीति होगी भी तो किसे ? जिसके रूप-दर्शनमें अपना स्वरूपानुसंधान ही मिट गया, जिसका नाम-स्मरण करते-करते, स्वय अपना नाम ही विस्मृत हो गया, अब तो बस, वह एक ही छवि शेष रह गयी –"जिसके चञ्चल मनोहर नेत्र अत्यन्त विशाल हैं, और जो उन्हें नचा-नचाकर, हँस-हँसकर, प्राण-हरणकर रहा है। कैसा विचित्र मनोहर रूप है, कैसी मौन मधुर मूर्त्ति है ?" उसके अनुपम सौन्दर्यकी स्मृति करते-करते, ऑखें निरन्तर झरती-झरती, अश्रु बहाती थक जाती हैं; उसने उनके हृदयको भीतरी मर्मतक, अपनी कटीली चितवनकी कटारीसे बेध दिया है। अब धर्म भला कैसे बचे, वह तो मिटना ही था और अभिमान तो प्रारंभमें ही चूर-चूर हो गया। जब स्वयका और परायेका भी बोध नहीं रहा तो लोककी लज्जा एवं कुलके गौरवकी रक्षाका तो प्रश्न ही कहॉ रहा ?

अब तो श्रीपोद्दार महाप्रभुका जगत्‌का भान ही जाता रहता है। बस, एक ही परम विलक्षण दृश्यमें वे डूबे हैं। "अहा ! पावनतम कलिन्दकन्याका तट है। रविनन्दिनीकी नील लोल लहरियाँ उछल- उछलकर अठखेलियॉ कर रही हैं, और इस निरतिशय अनुपम शोभाको निरखता श्रीपोद्दार महाराजका प्राणवल्लभ नीलसुन्दर, जिसका आनन सुधास्रावी चन्द्रमाके समान है, चतुर्दिक् विचरण कर रहा है। उसने अपने दर्शन मात्रसे इनका सर्वस्व हर लिया है, और अब तो मर्यादाके तट-किनारे ही नहीं रहे। सभी लज्जा-संकोचके बाँध भी टूटगये हैं। वे चाहे गोरखपुरमें कुछ भी कर रहे हों, मनसे तो उनके सभी अंग अपने प्रियतम

प्राणवल्लभके अंगोंसे जा मिले हैं। यह मिलन ऐसा प्रगाढ है, कि अब तो सभी प्रकारसे श्यामसुन्दरका संग कभी छूटनेका प्रश्न ही नहीं। सर्व ओरसे रसिक रस-सागर प्रियतमने उन्हें इतना घुला-मिला लिया है कि वे प्राकृत देह न रहकर पूर्ण अप्राकृत रसमय रसस्वरूप ही हो गये हैं। उनको पूर्णतया अपनेमें लीन करती उनके प्रियतमकी प्रीति-रसामृत-सरिता-धारा ऐसी उमड़ी है कि उसका कोई छोर-किनारा दिखता ही नहीं। उन्हें अब तो यह भी सन्धान नहीं है, सत्तारूपमें उनके प्रियतम श्याम हैं, कि वे स्वयं हैं। प्रियतम श्याम उनका स्वरूप बन जाते हैं और वे अपने प्रियतमका रूप हो जाते हैं। दोनों एकमेक हो गये हैं।"

श्रीपोद्दार महाप्रभु द्वारा रचित इन उपरोक्त पदोंकी साक्षीसे मैंने उनके आन्तरिक चालीस वर्षकी रहनीपर एक प्रामाणिक दृष्टि डाली है।

अब पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी अनुभूति पू.पोद्दार महाप्रभुके स्वरूपमें क्या होती थी, इसका उल्लेख साधकवर्गके सम्मुख कर दे रहा हूँ। वस्तुतः सच्चा शिष्य वही है, जिसे अपने पारमार्थिक सद्गुरुके रूपमें अपने इष्ट परमात्माकी ही अखण्ड स्फूर्ति हो। यदि किसी भी साधकको सद्गुरुके रूपमें प्राकृत मनुष्य दृष्टिगोचर होता है, तो वह अपने गुरुसे उसका प्राकृत गुण-दोषमय स्वभाव ही ग्रहण करेगा। उसे इष्टका अनुभव तो होगा ही नहीं। इसीलिये अधिकांश शिष्योंके अन्तरिक जीवनकी उपलब्धियोंपर जब मैं दृष्टिपात करता हूँ, तो मुझे उनपर उनके गुरुकी मात्र सात्विक रहनीका ही असर दिखता है, इष्टोपलब्धिसे वे वंचित ही रहते दिखायी पड़ते हैं। वस्तुतः इष्टोपलब्धि उन्हें ही होती है जिनकी श्रद्धा अपने गुरुको इष्टके साक्षात् स्वरूपमें निरन्तर देहाध्यासमुक्त देख पाती है। वे विलक्षण श्रद्धापूर्ण शिष्य ही अपने गुरुदेवके माध्यमसे गुणातीत परमात्माके स्वरूपको उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः इष्ट एवं गुरुमें द्वैत हो गया, तो गुरु गुरुपदपर आरूढ हुआ ही नहीं।

हाँ, तो यह प्रसंग सन् १९४८ ई.के जनवरी मासका है। मैं सूर्योदयके पूर्व ही पू. गुरुदेवके दर्शन करने उनकी कुटियामें पहुँच जाया करता था। उस दिवस मैं पू.गुरुदेवके शय्या त्यागनेके पूर्व ही उनकी कुटीपर चला गया था। मैंने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवालने आकर पू.गुरुदेवको पुकारकर जगाया। पू.गुरुदेव शीघ्रतामें उठे और उठकर सीधे अपनी कुटीके दक्षिण पथकी ओर पगडंडीपर दृष्टि स्थिर करके खड़े हो गये। मैं भी पू.गुरुदेवके समीप ही खडा हो गया। कुछ ही कालमें मैंने देखा श्रीपोद्दार महाराज अपने निवाससे उतरकर

पूर्व दिशाकी ओर बने शौचालयोंकी ओर प्रातःक्रिया करने जा रहे हैं। पू. गुरुदेवने जाते हुए उनकी बस, एक झलक देखी और तब वे अपनी कुटीकी ओर मुड गये। मैं जिज्ञासु हो उठा। क्या गुरुदेव प्रातः उठते ही श्रीपोद्दार महाराजका प्रतिदिन दर्शन करते हैं ? अपनी जिज्ञासाका समाधान करनेके लिये मैंने पू.गुरुदेवसे निस्सकोच पूछ लिया–"बाबा ! यद्यपि भाईजी सन्त है, परन्तु आप भी क्या किसी प्राकृत देहके प्रातः उठते ही दर्शन करनेमें विश्वास करते हैं ? आप तो संन्यासी हैं !" अधिकांशतया गुरुलोग अपने शिष्योंकी ऐसी अश्रद्धामयी कुतार्किक जिज्ञासाओंका उत्तर झिड़की देकर, तिरस्कृत करके ही देते हैं, किन्तु मेरे गुरुदेव इतने सात्विक स्नेहसने थे कि वे मेरे सभी अश्रद्धासम्पन्न प्रश्नोंको अतिशय प्यारसे समझाकर समाधान कर देते थे।

उन्होने मुझे कहाः–"भैया ! क्या तू मेरी आँख रखता है ? मनुष्यकी पृथक्-पृथक् आँखें हैं। सभीके पृथक् विचार और पृथक् ही मन-बुद्धि-अन्तःकरण हैं। इन्हीं पृथक् विचारों और अन्त करणके अनुरूप ही मनुष्य किसी भी महान् या क्षुद्र वस्तुको देखता है। भगवान् श्रीकृष्णको जहाँ नन्द-यशोदादि गोप-गोपियाँ अपना पुत्र देखती थीं, वही शिव-सनकादि और गर्गाचार्य आदि ऋषि उन्हे साक्षात् भगवान् देखते थे। नित्यवन्दनीय आचार्योंने श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् माना, और उनकी पवित्र रसमयी लीलाओंका आध्यात्मिक स्तरपर रसास्वादन किया, वहीं विषय-विलास-मोहरत काम-कलुषित-चित्त कवियोंने श्रीकृष्णको चोर-जार माना। अब भी पापमति लोग उनके नामपर पापाचार करते हैं।"

"भैया ! श्रीपोद्दार महाराजके प्रति तुम्हारी ऐसी ही देह-दृष्टि है। तुम श्रीपोद्दारजीको अपना धर्मका मामा, जड-भौतिक शरीर देखते हो, अतः तुम्हें इनके जड-भौतिक शरीरसे जो प्यार अथवा उपेक्षा मिलनी है, मिलेगी। जैसी दृष्टि होती है, वैसी ही सृष्टि होती है।"

"मैंने तो सन् १९३९ ई.से, जबसे इनका संग ग्रहण किया है, कभी एक क्षणके लिये भी इन्हें जड़-भौतिक शरीर नहीं देखा। मुझे पहले तो इनके शरीरके अणु-अणुमें मेरे आराध्य श्रीकृष्ण भरे दिखते थे, किन्तु इसके एक-दो वर्ष पश्चात्से ही इनके स्थानपर साक्षात् श्रीराधारानी – मेरी इष्टदेवी ही दिखती हैं।'

'मेरे सत्यपर तुझे विश्वास हो तो मान ले, अभी-अभी मुझे जो शोभा श्रीपोद्दार महाराजकी सत्तामे परिलक्षित हुई है, उसका सौन्दर्य, सुकुमारता, सौशील्य शब्दोंसे वर्णन किया ही नहीं जा सकता। यदि शब्द कुछ संकेत दे

सकते हैं तो इतना ही कि जिस पथसे अभी कोई विलक्षण रमणी मेरी दृष्टिके सम्मुखसे पद-निक्षेप करती गयी है, उसका वर्ण श्वेत चम्पाके सदृश था। मुख शारदीय राका-शशिका गर्व हरण कर रहा था। उसके सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग ही नहीं रोम-रोमकी छटा कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्तिके सदृश झलमल कर रही थी। नेत्र शरद् ऋतुके विकसित पद्मदलोंके सदृश थे। अरुण अधरोंकी लालिमा वैसे तो अप्रतिम थी, किन्तु कुछ-कुछ बिम्बफलोंसे उसकी समानता की जा सकती है। उस बालाका क्षीण कटिप्रदेश दिव्य करधनीसे समलंकृत था। कुन्द कुसुमके समान उसकी स्वच्छ दन्तपंक्तिकी छटा थी। दिव्य नील पट्टवस्त्र उसने धारण कर रक्खे थे। उसके प्रसन्न मुखारविन्दपर मृदु मुसकानकी छटा छायी थी। उन्नत उरोज थे। दिव्य रत्नमय विचित्र आभूषणोंसे सज्जित वह बाला अल्प किशोर वयकी थी। उसकी केशराशि कुञ्चित, घुँघराली थी और उसपर मल्लिका एवं मालतीकी मालायें ग्रथित थीं। उसके अंग-प्रत्यंग सुकुमार थे और ऐसा प्रतीत होता था मानो, श्रीका अनन्त लहराता समुद्र ही सामनेसे गुज़र गया हो।"

"ओह ! क्या ही त्रिभुवनमोहिनी उसकी मुसकान थी। पिंगल वर्ण उसके श्रीअंग शोभाके निर्झर थे। नवनीरद वर्ण लहँगा और रक्तवर्ण कंचुकी वह धारण किये थी। शुद्ध जरीसे खचित एवं अनमोल मुक्तामणियों एवं विविध वर्णके रत्नोंसे जटित हरिताभ वर्णकी ओढनी सर्वत्र विलक्षण शोभा प्रसरित कर रही थी। उसके भालपर सजी मृगमद बिन्दुओंकी मरवट और वेणीमें निबद्ध कुञ्चित केशराशि पीठपर लहरा रही थी। मणिमय चन्द्रिका मस्तकपर शोभित थी एवं रत्नहारोंसे वक्षस्थल भरा था। इन सबसे सर्वोपरि, सुन्दर सुमनोंकी वनमाला सुशोभित थी। कोटि-कोटि मन्मथ इसके एक रोमपर न्यौछावर हो रहे थे। इसके कर्णस्पर्शी विशाल नयनोंकी बंकिम चितवन ऐसा जाल बिछाये थी जिसमे मुनि मन-मोहन, सर्वविमोहन, चर-अचर-मोहन श्रीकृष्ण फँसकर निकल ही नहीं पाते।"

मैं विस्फारित-नेत्र चकित बना पू.गुरुदेवकी अनुभूतिका वाणीगत वर्णन सुन रहा था। वह वाणीगत वर्णन ही जब इतना चमत्कारी था, तो पू.गुरुदेवका प्रभाती स्वगुरु-दर्शन कैसा मनोरम होगा, मेरे आश्चर्यकी कोई सीमा नहीं थी।

मैं अपनी जिज्ञासाको रोक नहीं सका, बोल उठा– "बाबा ! वस्तुतः श्रीपोद्दार महाराज ऐसे ही हैं अथवा आपकी श्रद्धामयी ऑख उनमें आपको ऐसा

विलक्षण दर्शन करा रही है ?"

पू.गुरुदेव मेरी अश्रद्धापूर्ण शंका सुनकर किंचित् क्षुब्ध हो उठे थे। वे बोल उठे–"मूर्ख ! सन्त क्या हाड़-मांस-मल-मूत्रका पिण्ड, माता-पिताके मैथुनसे निर्गत रज-वीर्यका कलल होता है ? क्या तू उसे ही गुरु वरण करेगा ? यदि सन्त चिन्मय-वपु, रसानन्दसन्दोह, भावदेहमें परिनिष्ठित नहीं होगा तो क्या मल-मूत्रमय प्राकृत देहधारी होगा ? जब स्वयं ही वह अधोप्रकृतिके तमप्रधान कलेवरमें निहित होगा तो उसके द्वारा शिष्यके तमोगुणका निवारण कैसे होगा ? रे जड़मति ! यदि सन्त-जन-वन्दनीय पोद्दार महाराज महाभावसिन्धु साक्षात् जगज्जननी भगवती श्रीराधाका स्वरूप नहीं होते तो क्या मुझे मात्र प्रणिपात एवं चरणस्पर्शकरके सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रीति दान देनेमें समर्थ होते ? यदि तुझमें काम-क्रोध, लोभ-मोह भरा है, तो क्या तू किसीकी भी सच्चिदानन्दमयताकी कल्पना भी कर सकता है ? प्राकृत मन-बुद्धिमें क्या अप्राकृत वस्तुकी कल्पना भी हो सकती है ? फिर प्राकृत देहधारी जीव अप्राकृतवपु श्रीकृष्णका किसीको दान कैसे करेगा, रे ?"

मैं चुपचाप उठा और पू. गुरुदेवके चरणोंमें गिर गया। मुझे अपना अपराधबोध हो चुका था। क्षमायाचना ही मेरे संतापराधको मार्जन करनेका एकमात्र अवलम्ब था।

उस दिन मैंने समझा कि सन्तदर्शन किसी भी पुरुषार्थ द्वारा साध्य नहीं। किसीको सन्तदर्शन भगवत्कृपासे ही सभव है। सन्त एवं परमात्मा दो नहीं। सन्त एव इष्ट एक ही सिक्केके मात्र दो पहलू हैं। सन्त देह नहीं, उसकी आन्तरिक सच्चिदानन्दात्मक अनुभूति ही होती है।

मैं सोच रहा था–"श्रीपोद्दार महाराजको कोई नहीं जानता। कोई इन्हें पिता, कोई नाना, कोई 'भाईजी', कोई गीताप्रेसका सहृदय उदारचेता अधिकारी, कोई समाजसेवक, कोई गीतोपासक, भक्त-साधक, कोई धनी-मानी, कोई सफल विद्वान् पत्रकार, कोई धर्मात्मा, हिन्दूजन-सेवक, कोई धर्मनेता, कोई उपदेशक, व्याख्याता, धर्मममर्मज्ञ, कोई आर्त्त-सेवारत दयालु, कोई गोभक्त, कोई सनातन-धर्मका प्रतिनिधि नेता, कोई अप्रतिम उदार दानी, कोई कृष्णभक्त आदि-आदि मान एवं जान रहे हैं।"

किन्तु किसीको भी ज्ञान नहीं है कि इस वैश्य जातिके साधारणसे ठिगने मानवका कैसा विलक्षण अतुलनीय प्रभाव है। इसके भीतर जो सुलगती

प्रेमाग्नि है, विलक्षण दिव्य अनुराग है, इसका परिचय कहाँ किसे है ? श्रीपोद्दार महाप्रभुमें दुर्लभ प्रेमी-रसिक जनोंका आदर्श प्रवहमान है – यह किसे पता है ? इसीलिये शिव, ब्रह्मादि देवगण, शुक-सनक-व्यासादि महापुरुष, नर-नारायण आदि अवतारी तपस्वी, नारद-अंगिरा, हनुमान आदि भक्तिके आचार्य, दत्तात्रेय-गोरखनाथ जैसे योगीगण भी इस विचित्र वैश्यसे निरन्तर आते-जाते, मिलते रहते हैं एवं आन्तरिक अनुराग रखना चाहते हैं। इसका चरित्र सभी भारतीय सत्वप्रधान भक्ति-सम्पन्न धर्मात्माओंके लिये आनन्ददायी है। अचिन्त्य प्रभावशाली इस मानवमें स्नेह-समर्पण रखनेवाले भाग्यशाली जनोंको निश्चय ही कभी भव-बाधा नहीं होगी। मुझे तो निश्चय ही लोक-परलोककी सब चिन्ता छोडकर अनन्यभावसे इस दिव्य पुरुषसे ही हेतुरहित प्रेम करना चाहिये।

पू.गुरुदेवने अभी-अभी श्रीपोद्दार महाप्रभुके स्वरूपका वर्णन करते हुए जिस अलौकिक सौन्दर्यमयी रमणीका स्वयं दर्शन किया और जिसका वर्णन मुझे सुनाया – उसके तत्वको जानने-समझनेकी शक्ति तो मुझ पामर शूकरवत् शरीराध्यासीमें सर्वथा नहीं है। किन्तु यदि पोद्दार महाप्रभु सर्वशोभा-तिरस्कारी हरिवल्लभा जगज्जननी श्रीराधा ही हैं तो इनकी चरणधूलिके सेवनसे ही मुझे श्रीकृष्ण-चरणोंमें प्रेमकी प्राप्ति संभव है।"

"पू.गुरुदेवकी सत्य अनुभूतिपर तो कोई विकल्प-सन्देह करना महापाप है। निश्चय ही श्रीपोद्दार महाराजका हृदय – जिन्हें मैं अपना 'बड़े मामाजी' कहता-मानता हूँ, महान् आनन्दसे परिपूर्ण, तृप्त है। वे विशुद्ध सत्वमय, विद्यास्वरूप, परमानन्द-सन्दोह, वैष्णवधाम ही हैं। उनका वैभव आश्चर्यमय है। वे योगीश्वरोंके ध्यानपथसे भी परे महिमासम्पन्न हैं। अवश्य वे ही वृन्दावनमें राधा बने भगवान् श्रीकृष्णके साथ क्रीडारत हैं। निश्चय-निश्चय ही किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश मुझे निरे बालकपनसे उनकी आत्मीयता और वात्सल्य प्राप्त हुआ है। निश्चय ही कभी-न-कभी मुझ शरणागतका अवश्यमेव सौभाग्य होगा। ये पोद्दार महाप्रभु अपने प्रणत भक्त मुझपर दयातुर होंगे और अपने हेतुरहित कृपावलोकनसे मेरे मलिन अन्तःकरणको क्रमशः शुद्ध बनाकर अपने स्वरूपका प्रकाश करेंगे।"

मन-ही-मन इस प्रकार सोचता मैं तदर्पित चित्तसे उन महानन्दमय श्रीपोद्दार महाप्रभुके चरणोंमें वन्दना करने लगा।

# * आरति श्रीपोद्दार महाप्रभुकी *

आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी ।
महाभाव-रसराज विभूकी ।।

कृष्णकथामृत-मधु सुपिबन्तम्। पुलकाञ्चित-वपुषा विलसन्तम्।
प्रेमरुद्धगलमश्रु . वहन्तम्। भावसमाधि सदा विहरन्तम्।
प्रीतिदान औढर शम्भूकी। आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी।।

सर्व प्रिया-प्रियतम पश्यन्तम्। कदाचिदानन्देन हसन्तम्।।
क्वचिद् भाव-आविष्ट रुदन्तम्। झर-झर अविरल अश्रु पतन्तम्।।
कृष्ण-प्राणधन गोपवधूकी। आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी।

सकल सुकर्म-प्रसविता सविता। त्रिभुवन माया-निशा-विहर्ता।।
सदा सुशीतल चन्दन-सरिता। तत्सुखभाव-जलधि उच्छलिता।।
भव-मलहारी रस-सिन्धूकी। आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी।

हियमें राधाकृष्ण विराजित। मुख राधा-गुणगान सदा रत।
रोम-रोम पुलकित रस-प्लावित। नयन नेह-रस भर-भर आवत।
उमड़ी सरिता प्रेम-मधूकी। आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी।

जयति मंगलागार दयामय। हेतुरहित दाता-कृष्णाश्रय।
ज्ञान-विराग-भक्ति-रस-सम्पद। मात-पिता-गुरु-भ्राता शरणद।
सुगम तरणि जन भवसिन्धूकी। आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी।

शुद्ध सनातन धर्म-प्रचारक। पाप-दंभ भव-शोक-निवारक।
कृष्ण-भक्ति जन-जन विस्तारक। जय 'कल्याण'-आदिसम्पादक।
अभयद छाया कृष्ण-तरुकी। आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी।

गो-ब्राह्मण-आरत-उद्धर्ता। बाढ़-अकाल-व्याधि जन-भर्ता।।
रोग-शोक-दुख-दारिद-हर्ता। भगवन्नामामृत आश्रयिता।।
औषधि अमिट व्यथा हा-हूकी। आरति श्रीपोद्दार प्रभूकी।

# बृषभानुपुर एवं ब्रजप्रदेशका प्रादुर्भाव

## चौथा अध्याय

वे बालपनेके दिन तो अब मेरा स्वप्न ही हो गये हैं। प्रभु ही जानें, किस हेतुसे, मेरे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी मुझ जडमति, पामरपर इतनी कृपा थी कि वे अपनी आन्तरिक अनुभूतियोंका निस्संकोच प्रकाश, प्रायः जब भी अवकाश होता, मुझे श्रवणगोचर कराया करते थे। एक दिवस ऐसे ही बैठे-बैठे मैंने जिज्ञासा कर ली थी कि "बाबा ! आपके स्वरूपगत ब्रजधामकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालिये। उसकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाइये।" हमने पू. गुरुदेवके मुखसे ही सुन रखा था कि भगवान्‌के नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों ही समान महत्वशाली होते हैं। पू.गुरुदेवने उन दिनों मुझे नियमितरूपसे कम-से-कम पचास हजार एवं अधिक-से-अधिक एक लाखतक क्रमानुसार नाम-जप करनेका नियम दिया ही हुआ था। शेष समय ब्रजभक्तोंके द्वारा रचित भगवान्‌के रूप-वर्णनके पद भी प्रायः गुनगुनाया ही करता था। उन दिनों गुरुकृपा ऐसी थी कि मुखसे जहाँ *'हरे राम'* महामन्त्रकी चौसठ मालाओंका जाप होता था, वहीं *'सुन्दर श्याम कमलदललोचन ललितत्रिभंग प्राणपति प्यारे'* इस पदका जाप महामंत्रके साथ-ही-साथ चलता रहता था। जिह्वा तो जोर-जोरसे *'हरे राम हरे राम'* नाम जपती रहती, वहीं मन उसके साथ-ही-साथ *'सुन्दर श्याम कमलदललोचन'* जाप करता रहता था। इस प्रकार रूपका चिन्तन भी बना रहता था। पू.गुरुदेव अपने चिन्मय अनुभवकी लीलायें सुनाते रहते ही थे, अतः लीला-चिन्तन हो ही जाता था। 'धाम'के सम्बन्धमें प्रबल जिज्ञासा यदा-कदा उठती थी, और वही जिज्ञासा इस प्रश्नके रूपमें पू. गुरुदेवके सम्मुख व्यक्त हो उठी थी। पू.गुरुदेवने ब्रजभूमिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें मेरे सम्मुख पूर्ण शास्त्रीय आधार लिये हुए जो भी विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया था, वह ज्यों-का-त्यों यहाँ नीचे उल्लेख किया जा रहा है। पू.गुरुदेवने यह सभी वर्णन मौनव्रती होनेके कारण अपनी स्लेट पट्टीपर लिख-लिखकर कहा था, और मैंने उसे उनकी अनुमति लेकर उतार लिया था। इस वर्णनमें प्रयुक्त भाषा भी पू. गुरुदेवकी ही है। अतः यह परम चिन्मय धाम-वर्णन मंत्रवत् है। पाठक

इसे पढेंगे तो निश्चय ही उनपर भगवान् प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधवकी कृपावर्षा होगी।

## वेदगर्भ ब्रह्माजीपर कृपा

पू.गुरुदेवने कहा था–"भैया ! वाराह कल्पके कृतयुगके अंतकी कथा है। ब्रह्मलोकमें ब्राह्ममुहूर्त्त होने ही जा रहा है। यहाँ समझनेकी बात है कि ब्रह्मलोकका एक दिन मृत्युलोक पृथ्वीकी सैकड़ों चतुर्युगियोंके बराबर होता है।

सत्यलोकमें पितामह ब्रह्माजीने निशापर्यन्त शयनकर अब नेत्र खोले ही हैं। वे गायत्रीनाथ प्रतिदिवस अपने नित्य नियमानुसार जागरण करते ही भगवान् गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके ध्यानमें संलग्न हो जाते हैं। ब्रह्मलोकमें यह सभीको ख्यात है कि ब्रह्माजीसे इस ढाई प्रहरकालमें कहीं कोई भी सृष्टिकार्यके प्रपञ्चकी वार्त्ता नहीं करे।

आज ब्रह्माजीका परम निराविल मन विशेषरूपसे शान्त एवं एकाग्र है। उनके नेत्रोंके सम्मुख उनके आराध्यदेव श्रीकृष्णकी सच्चिन्मयी ध्यानमूर्त्ति आज कुछ विशेषरूपसे ही जीवन्त, प्रत्यक्ष हो रही है। मन्द, सुमन्द मुसकानकी छटा बिखेरते, उनके परमाराध्य ब्रजेन्द्रनन्दनके नवमेघकान्ति अंगोंपर धृत, फहराता पीताम्बर पीताभ मेघोंकी शोभाको पूर्णतया हतप्रभ करता हुआ मेघोंको सम्बोधित कर मानो यों निवेदन कर रहा था–"भाई ! मुझसे स्पर्द्धा करनेकी अनवरत असफल चेष्टाएँ क्यों कर रहे हो ? तुम लोग भले ही अनन्त कल्पोंतक प्रतिस्पर्द्धा करते रहो, तुम्हें असफलता ही मिलेगी। अरे भाई ! भूल तो तुमसे मूलमें ही हो रही है। उधर तुम जड नभका आश्रय लिये हो, एवं इधर देवाधिदेव महादेवके भी परमाराध्य मेरे परमाश्रय नीलसुन्दर नन्दतनय हैं। जो उन साक्षात् मन्मथ-मन्मथ नीलमणिके सच्चिन्मय कलेवरसे संलग्न हो गया है, उसके सम्मुख तुम प्राकृत नभचारी तुच्छातितुच्छ देवराजके वाहनोंकी बिसात ही क्या है ? यदि वैकुण्ठाधिपति सर्वावतारावतारी भगवान् आदिपुरुष नारायणकी नित्य नायिका कनकरुचा भगवती पद्मा भी मुझसे स्पर्द्धा कर बैठे तो उसे अतिशय लज्जासे ही अपना मुख नीचा करना पड़ेगा। भाई ! इसमें मेरा अपना कुछ भी श्रेय मत समझना । मेरी शोभामें इसीलिये विलक्षणता है, क्योंकि उसमें मेरे प्राणोंके प्राण ब्रजेन्द्रतनूजके अतुलनीय अंगोंकी आभा दमक रही है।"

यही दशा स्वर्गके नगराज रत्नमाला पर्वतके हृद्देशपर फैली रत्नराशिकी हो रही है। प्रियतम प्राणवल्लभ नन्दतनयके हृद्देशपर झूलती एक सामान्य-सी गुंजामालाके सम्मुख वह रत्नराशि निर्मञ्छनकर कूड़ेदानीमें फेंक देनेके तुल्य भी नहीं प्रतीत होती। अब लज्जाके घोर गर्त्तमें गड़ जानेके सिवा वह करे भी तो क्या ?

इधर औषधिनाथ चन्द्रदेव भी अपनी प्रिया औषधियोंकी लज्जा-निवारणमें रत हैं। नन्दतनूजके हृद्देशमें नित्य विराजिता इस तुलसीमालाकी शोभा तो सब औषधियोंके एक साथ मिलकर स्पर्द्धा करनेपर भी उनसे निर्विवाद अनन्तगुनी श्रेष्ठ है। यह सर्वसम्मत सिद्ध हो चुका है। अस्तु,

सर्वत्र अपने अनुपम सौन्दर्य, माधुर्य एवं रसैश्वर्यसे सभीको चकित एवं मुग्ध कर देनेवाला नन्दतनयका परम मनोहारी श्रीविग्रह आज पितामह वेदगर्भके मन-मानसमें उफनते शोभा-निर्झरकी तरह सच्चिन्मयी आनन्द-धाराका स्फोट कर रहा है। नित्यकी तुलनामें पितामह आज कुछ विशेष ही आविष्ट हैं। उनके परमाराध्य व्रजेन्द्रतनयके अमृतस्यन्दी अधरोंपर वैसे तो नित्य ही संविन्मयी लीला-मुस्कान खेलती रहती है, किन्तु आज तो उनके अधरोंमें वह मुसकान जैसे समा ही नहीं पा रही है। अधरोंका सीमोल्लंघन करती यह मुसकान आज तो प्रियतम प्राणवल्लभके चिबुक एवं कपोलोंतकको उल्लासमें डुबो रही है। पितामहके रोम-रोम उत्फुल्ल हैं।

पितामह विचारमग्न हो उठते हैं–"ऐसा कौनसा कारण संभव है, जिससे मेरे प्रभु आज इतने आनन्दित हैं। देखो न, इन ललित त्रिभंगवपुके दृग भी आज तो विचित्र स्पन्दनकी रेखाओंसे उद्भासित हैं। यह विशिष्ट दृगोंका स्पन्दन, यह भृकुटिविलास, यह सर्वमायाहारी मन्द मुसकान मेरे लिये किसी अभूतपूर्व मंगल-स्रजनकी पूर्वभूमिकाका निर्माण तो नहीं कर रही है ? लीलानायकका कोई नवीन लीला-उपक्रम तो घटित नहीं होने जा रहा ? यद्यपि इसका पूर्वतया स्पष्ट अनुसंधान तो आजतक कोई भी अनुमानित नहीं कर पाया है, फिर भी मैं अपने भावदर्पणमें पड़ती इन कटीली वंकिम दृगोंकी छायामें अपने जीवनसर्वस्वके प्रयोजनका कुछ तो अनुमान लगाऊँ !"

पितामह और गहरे ध्यानमें उतरते चले जाते हैं। इस गहरी भावसमाधिमें पद्मयोनिको अनुभव होता है कि आज उनके आराध्यदेव श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चञ्चल नेत्र कुछ नवीन संकेत दे रहे हैं। वे मानो कह रहे हों–"ब्रह्मदेव ! मेरे

भक्त तो तुम निश्चय ही हो। अतः मेरी कृपा-संपत्तिका अधिकारी भी तुम्हें होना ही है। परन्तु तुमने अरे ! मात्र सखाओंके साथ होनेवाली मेरी वनभोजन-लीलाके दर्शन किये, और उसमें ही तुम मोह-भ्रमित हो उठे ? क्या तुम मेरी माधुर्यरसमें सनी लीलाएँ—जो सच्चिन्मयी प्रीतिरससे छलछलाती मेरी प्रिया राधा एवं गोपांगनाओंके साथ सम्पन्न होती हैं, उन्हें देख सकोगे ? देखो, सावधान, कहीं पुनः कोई भूल मत कर बैठना।" अब तो वेदगर्भ व्याकुल हो उठे। अपना अनधिकार, कल्पोंसे प्रगाढ़ हुआ सृष्टिमें सभीके दादा-परदादा ब्रह्माका पुरुषाभिमान, प्रभुके प्रति किये अपने अपराधोंकी स्मृतिसे हुई ग्लानि – अनेक भावोंका प्रवाह उनके अन्तःकरणमें प्रवाहित हो चला। बस, चतुर्मुख अपने आठों नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाने लगे।

लो ! ब्रजेन्द्रनन्दनकी वह विलक्षण कृपा-भंगिमा और उनकी मधुरातिमधुर सुमन्द स्मिति चतुर्मुखके सौभाग्यको उनके हृदयमें ध्वनित, प्रकट कर देती है—

*ततो ब्रह्मन् ब्रजं गत्वा बृषभानुपुरं गतः।*
*पर्वतो भवसि त्व हि मम क्रीड़ा च पश्यसि।।*

(पद्मपुराण)

'हे ब्रह्मन् ! ब्रजमें बृषभानुपुर चले जाओ। वहाँ पर्वतके रूपमें विराजित रहो। यथाकाल जब मेरी ह्लादिनी महाशक्ति श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा ब्रजाङ्गनाओंका वहाँ अवतार हो, तो तुम पर्वतके रूपमें स्थित हुए मेरी सभी माधुर्य रसमयी लीलाओंका दर्शन कर पाओगे।'

चतुर्मुख ब्रह्माजी तो कृतकृत्य होकर कह उठे—

*ममोपरि सदा त्वं हि रासक्रीड़ा करिष्यसि।*
*सर्वाभिर्व्रजगोपीभिः प्रावृट् काले कृतार्थकृत्।।*

(पद्मपुराण)

'मैं भगवान्की लीलास्थली बनूँगा और मेरे प्रभु अपनी प्रिया रासेश्वरी श्रीराधा एवं उनकी सभी ब्रजगोपी सखियोंके साथ मुझपर सच्चिन्मयी रासक्रीड़ा करेंगे, अहा ! अब तो मैं कृतकृत्य ही हो गया।'

लीलामयकी इच्छा ! ब्रजेन्द्रकुमारका अयाचित कृपादान !! बस, जैसे ही स्रष्टाके ध्यानस्थ निमीलित नेत्र खुलते हैं, वे अपनेको ब्रह्मगिरि बने भगवान्की लीलाभूमि ब्रजप्रदेशके एक सुभग भागके रूपमें अनुभव करने लगते हैं।

चतुर्मुख ब्रजप्रदेशका एक पर्वत बने अपने चारो ओरकी शोभा निरखने लगते हैं–अहा ! मेरे प्राणाराध्यकी लीलाभूमि कैसी अनुपम विलक्षण शोभामयी है। विशुद्ध सत्वरूप उज्ज्वल आनन्द यहाँ अणु-अणु कण-कणमें परिपूर्ण लबालब भरा है। ओह ! यहाँकी भूमि तो मानो पूर्णानन्दु-रसमयी चिन्तामणियोंसे ही निर्मित है। जल अमृत-रसस्वरूप है। सदैव सर्व ओर सुमन्द शीतल समीर प्रवाहित होती रहती है। सम्पूर्ण वन विशाल सच्चिन्मय वृक्षोंसे भरे हैं। सभी वृक्षोंको सुमनोंसे लदी लतायें समावृत किये रहती हैं। इन सुमनोंका सच्चिन्मय सौन्दर्य, इनकी सुगन्धि स्वर्गके कल्पप्रसूनोंको भी हतप्रभ किये है। स्थान-स्थानमें अभिनव सुन्दर सरोवर हैं, जिन्हें मणिजटित स्वर्णशिलाओंसे निर्मित घाट घेरे हैं। सरोवरोंमें प्रस्फुटित रक्त, नील, पीत पद्म अपनी मादक सुगन्ध सर्वत्र प्रसरित कर रहे हैं। वृक्षोंपर असख्य पक्षियोंका निवास है। वे सभी अपनी केलि-काकलीसे वनको मुखरित किये रहते हैं।

आज पितामहका अपने रचना-कौशलका गर्व सर्वथा ही चूर-चूर हो गया। जिस दुर्भग दिवस उन्होंने श्रीकृष्णके सखाओं एव उनकी प्यारी गायोको मोहित करनेका दुस्साहस किया था एव एक साधारण गोवत्स बने श्रीकृष्णको चुनौती दी थी, उस दिवस तो मात्र पलभरके लिये ही उन्होंने उनकी सृजन-चातुरी देखी थी। चतुराननको पलक झपकते ही तो अपनी भूल समझमें आ गयी थी। वे तत्क्षण ही ब्रह्मलोकसे लौट आये थे। उनके इस निमेष भरके कालमानमें यहाँ मृत्युलोक पृथ्वीमें तो उनके आराध्यकी पूरे एक वर्षकी लीला सम्पन्न हो चुकी थी। किन्तु आज तो वे अपने जीवनाधारकी अपूर्व एवं शाश्वत सृजन-सामर्थ्यका प्रदर्शन देख रहे थे। उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं था। 'कैसी विलक्षण सृष्टि है यह ! जो भी शोभा एक क्षण पूर्व दिखती है, वह दूसरे ही क्षण पहलेसे अनन्त गुनी सुन्दर हो उठती है, और तीसरे क्षण आश्चर्य है– वही शोभा पुनः और सुन्दर, मधुर एव और ही अधिक सुरूप हो उठती है। यह क्रम कभी अन्त ही नहीं होता। प्रतिपल नव-नवायमान, नित नूतन सौन्दर्य। वैकुण्ठादि लोक भी सुन्दर हैं, श्रीसम्पन्न हैं, किन्तु सभीका सौन्दर्य इदमित्थम् है। धन्य है यह ब्रजेन्द्रनन्दनका बृन्दावन ! यहाँ तो प्रतिपल नित्य नूतन अभिवर्द्धनशील सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्द नव-नव वेगसे उच्छलित हो रहा है। यहाँ जड-चेतन सभी आनन्दमें सराबोर हैं। यहाँका लघुतम कीट-फतिंगा भी शाश्वत प्रेममें सना है। यहाँके रजका कण भी अनन्त

सच्चिन्मय सौन्दर्यका आगार है। अहा ! इस अप्राकृत त्रिगुणातीत सृजनकी बलिहारी है।

वेदगर्भके नेत्र इस लोकोत्तर धामका दर्शनकर प्रेमानन्दमें निमीलित होते जा रहे थे, उनकी बुद्धि चकित थी।

## कैलासपति श्रीमहादेवजीका कथन

सहसा मानो किसीने उनके कानोंमें परम दिव्य वीणाके तार झंकृत कर दिये हों– अतिशय मीठी मन्द ध्वनि उनके कानों एवं हृदयको गुञ्जित कर उठी।

"ब्रह्मदेव ! तुम अकेले ही यहाँ हो, सो बात नहीं। लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके परम मङ्गलमय विधानकी जय हो ! मैं भी तुम्हारा पार्श्ववर्त्ती पर्वत बना, तुम्हारे अति सन्निकट ही स्थित हूँ। तुम ब्रह्मपर्वत हो और मैं रुद्रपर्वत बना हूँ।"

"क्या देवाधिदेव महादेवजी भी मेरे ही समान पर्वत बन गये हैं? "– ब्रह्माजीके आश्चर्यका ठिकाना नहीं था।

"देखो ! तनिक ध्यानपूर्वक इस चिन्मयी कार्ष्णि सृष्टिकी ओर दृष्टिपात करो तो ! यहाँ त्रिगुणात्मक सृजन, पालन एवं संहार है ही नहीं। सृजनके विधाता तुम, विनाशका अधिदेव मैं रुद्र और तुम्हें कुछ ही कालमें यह भी ज्ञात हो जायगा कि पालनकर्त्ता विष्णु और अवतारी भगवान् नारायणदेव –सभी यहाँ सर्वथा निष्क्रिय पर्वत बने मूक दर्शक हो रहे हैं। यहाँ तो परात्पर नन्दतनय ही, जो मायालेशसे भी शून्य, पूर्ण निर्विशेष हैं, इस अनन्त सच्चिन्मयी सृष्टिके उपादान और कारण – दोनों ही बन रहे हैं।"

"ब्रह्माजी ! तनिक इन लीलाविहारीकी कैशोर छविपर एक दृष्टि तो डालो। अहा ! सलोने सिरपर मयूरपिच्छ कैसा फब रहा है ! सुचिक्कण छोटी-छोटी घुँघराली अलकोंसे सज्जित हुआ सुन्दर भाल चतुर्दिक् मनोहारी छटा दिखा रहा है। और उसपर कस्तूरीके तिलकने तो इस शोभाको अनन्त गुना कर दिया है। सदैव असंख्य पद्मोंको लज्जाके आवर्त्तमें डुबो देनेवाले इनके तीखे बडे-बड़े नेत्रोंको तो देखो ! कटारीकी तरह इन चंचल नेत्रोंकी चितवन सीधी हृदयको बेधती हुई ऐसा मर्माहत करती है कि घायल हुआ कोई चीत्कार भी नहीं कर पाता। सुन्दर मनोहर मुखारविन्द, इन यशोदानन्दनके

अंग-प्रत्यंगोंसे निस्सृत दिव्य सौरभ – ब्रह्माजी ! क्या यह सभी सृजन किसी त्रिगुणाभिमानी स्रष्टाके द्वारा होना संभव है ?"

"अहा ! सुकोमलतम पद्म-पंखुड़ियों-सरीखे इनके कान कितने आकर्षक प्रतीत होते हैं, और उनपर कुण्डलोंकी शोभा कितनी आकर्षक है ? ये मणिकुण्डल इनके कपोलोंको जब अपनी रत्नज्योत्स्नासे दमकाते हैं तो इनकी शोभा देखते ही बनती है। कभी तो यह दमक इनके कपोलोंपर स्पष्ट दिखती है, एवं कभी लुप्त हो जाती है। उस समय यही समझमें आता है, मानो इनके परम मनोहारी कपोल कभी तो कुण्डलोंकी दमकको अपनी शोभासे एकात्म कर लेते हैं, और कभी उसे बाहर प्रकट होने देते हैं। इनके नासापुटोंमें श्वास-प्रश्वासके कारण स्पन्दन स्पष्ट परिलक्षित होता है; मानो समीर अपनेको कृतकृत्य करनेके लिये इनके नासापुटोंको विकसित-संपुटित कर रहा हो। इनकी दंतपंक्ति कैसा सुमन्द निराविल प्रकाश फैला रही है। सुन्दर लाल-लाल अधर शोभाकी खान हैं और मन्द मृदु हास मानो आनन्द-सिन्धुकी चंचल उर्मियाँ हों।"

"हे वेदगर्भ ! इनके इतर अंगोंका मैं भला क्या वर्णन करूँ, मेरा चित्त तो सदैव समस्त दुःख-द्वन्द्वहरणशील इनके चरणोंमें ही चिपटा रहना चाहता है। आओ, हम दोनों इन चरणोंके मनोहर चिह्नों – ध्वज, वज्र, गदा एवं यवकी जय-जयकार करें। जय हो ! सदा ही जय हो इन नन्दतनूजके सर्वशिव, शंतम चरणारविन्दोंकी ! हे चतुरानन ! तुम मेरी वाणी सुनकर अवश्य ही मेरे दर्शनोंके लिये उत्सुक हो उठे होओगे, परन्तु हम दोनोंका परम मंगल इसीमें है कि हम दोनों शान्त निष्क्रिय पर्वत बने इन हेतुरहित दयालुके विधानमें सहयोगी हों, तनिक भी अपनी स्वतत्र रुचिकी टाँग इनके विधानमें नहीं अड़ावें। बस, इतना ही समझ लो कि जैसे तुमपर उन परम दयालुकी कृपा-वर्षा हुई है, उसी प्रकार मुझपर भी वे ही परम दयालु ढरे हैं। "

"हे ब्रह्माजी ! मैं तो निर्जन हिमालयके कैलास शिखरपर सघन वनमें प्रायः समाधिस्थ रहता था। वटवृक्षके नीचे स्थित मैं अवश्य श्रीहरिका ध्यान करता रहता था। अकस्मात् ही एक दिवस श्रीहरि भगवती लक्ष्मीजी सहित गरुड़पर सवार होकर मेरे धाममें चले आये। मैं तो गहन समाधिमें इतना डूबा था कि मुझे उनके आगमनका कुछ पता ही नहीं चला। वे न जाने कितनी देर मेरी समाधि टूटनेकी प्रतीक्षा करते रहे, मुझे तो इसकी सूचना ही नहीं थी।

स्वभावतः ही जब मेरे नेत्र उन्मीलित हुए तो अपने सम्मुख साक्षात् भगवान्‌को उपस्थित देखकर मेरे हर्षका पारावार नहीं रहा। भगवान्‌के अणु-अणुसे आनन्द झर रहा था। मैं उन्हें बारम्बार साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगा। फिर जब मेरा आवेश कुछ संवरित हुआ तो भगवान्‌ने मुझसे वर माँगनेको कहा। मैं पहले तो माँगनेमें संकोच कर रहा था, फिर जब भगवान् बार-बार आग्रह करने लगे तो मैंने उनसे अति विनयपूर्वक अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया।"

"कृपासिन्धो ! मैं तो आपके अनन्त अवतारोंके आश्रयस्वरूप उस परात्परका प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ, जिसे तत्त्वज्ञ लोग पूर्ण परब्रह्म, सर्वोपरि एवं परम सत्य कहते हैं; जो सर्व महाप्रलयोंका अकेला द्रष्टा रहता है, एवं अविनाशी है। वेद उसे 'नेति,नेति' कहकर दृष्टिका विषय ही होनेका निषेध करते हैं। और सत्य ही है कि जो सर्व प्रकाशक द्रष्टा है, वह किसी व्यक्तिकी दृष्टिकी सीमाओंमें भला कैसे परिच्छिन्न होना संभव है, और जो सर्वावरक है वह किसी आकाशके आवरणमें कैसे व्यक्त होना सभव है। परन्तु प्रभो ! आपकी कृपा तो असम्भवको सम्भव करनेवाली है। जब आप स्वयं साक्षात् प्रकट होकर मुझे वरदान देने पधार गये, तो जो किसी हेतुसे संभव है, वह वर मैं आपसे क्यों माँगूँ ? जो कभी किसी कालमें, किसी कारणसे संभव नहीं है, हे प्रभो ! कृपया मुझे तो आप वही वर दीजिये।"

"ब्रह्माजी ! मेरी बात सुनकर भगवान् कमलापति मुस्कुराये एव मुझ शरणागतसे बोले—' महादेव ! मेरे जिस परात्पर परतत्त्व स्वरूपको नयनगोचर करनेकी तुम्हारी इच्छा है, वह मेरी कृपासे अवश्य पूरी होगी। तुम ब्रजप्रदेशमें यमुनाका पश्चिम तट पकड़कर चले जाओ। वहाँ मेरा लीलाधाम वृन्दावन है। वहीं तुम्हें कदम्ब वृक्षके नीचे मेरे परात्पर सर्वोच्च स्वरूपके दर्शन अवश्य होंगे।'

"हे ब्रह्माजी ! इस प्रकार मुझपर कृपाकर मेरी यथोपलब्ध पूजा-अर्चना स्वीकारकर भगवान् श्रीहरि अपनी प्रिया लक्ष्मी सहित अन्तर्धान हो गये। मैं भी भगवान्‌की आज्ञानुसार यमुनाका पश्चिम तट पकड़कर वृन्दावन पहुँच गया। वहाँ मुझे सम्पूर्ण ईश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए। वे नित्य कमनीय किशोर वेष धारण किये अपनी प्रिया श्रीराधाजीके कंधेपर हाथ रखे खड़े थे। उनकी वह झाँकी ऐसी मनोहर थी कि मैं तो अपने आपको ही भूल गया। उन्हें चारों ओरसे असंख्य गोपियोंका समुदाय घेरे था। श्रीकृष्ण एवं

उनकी प्रिया श्रीराधा मुझे वृन्दावनमें पाकर मुसकाने लगे। उनकी वाणीमें अमृत भरा था। श्रीकृष्ण मुझसे कहने लगे–

"हे महादेवजी ! आपका मनोरथ जानकर ही मैंने आपको यहाँ दर्शन दिये हैं। इस समय आप मेरे जिस अलौकिक रूपके दर्शन कर रहे हो, वह परम निर्मल प्रेमका पुञ्ज है। मेरे इस परम निर्मल स्वरूपमें मात्र सच्चिदानन्द तत्त्व ही मूर्त्तिमान है। उपनिषदोंने मेरे इसी स्वरूपको परब्रह्म कहा है। महादेवजी ! मेरे अप्राकृत दिव्य गुणोंका कोई भी अन्त नहीं पा सकता, इसलिये वेदान्तशास्त्र मुझे निर्गुण बतलाता है। मेरा रूप प्राकृत चक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, इसलिये शास्त्र उसे निराकार कहते हैं। में अपने चैतन्यांशसे सर्वव्यापक हूँ, इससे विद्वान् मुझे ब्रह्म कहते हैं। मैं प्रपंचका कर्त्ता नहीं हूँ, अतः मुझे निष्क्रिय कहा जाता है। शिव ! मेरे अश तुम त्रिदेव ही अपने-अपने आधीन मायामय गुणोंके द्वारा इस विराट् विश्वका सृजन, पालन एवं संहार करते रहते हो; मुझे तो प्रपंचकी स्मृति ही नहीं होती। महादेव ! मैं तो अपनी प्रिया इन श्रीराधा एवं इन गोपियोंके प्रेममें विह्वल हुआ न तो कोई दूसरी क्रिया जानता ही हूँ, एव न ही मुझे अपने आपका ही भान रहता है। ये मेरी प्रिया श्रीराधा हैं, तुम इन्हें ही परदेवता मानो। मैं तो इनके प्रेमके वशीभूत रहकर इन्हींके सग यहाँ वन-वनमें डोलता-खेलता रहता हूँ। इनके पार्श्वमें जो असख्य गोपियाँ हैं, ये सभी मेरे समतुल्य सच्चिन्मयी हैं। मेरे सखा, गोप, गौएँ, मेरे माता-पिता, यह बृन्दावन, किसीको भूलकर भी तुम प्राकृत मत मान लेना। इन सभीका स्वरूप मेरी ही तरह नित्य सच्चिदानन्द रसमय है। मेरे इस ब्रजजगत्को भी तुम आनन्दकन्द ही समझना। इसमें प्रवेश करने मात्रसे मनुष्यको पुनः संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता। मैं इस ब्रजप्रदेशको छोडकर पलभर भी कहीं नहीं जाता। अपनी प्रियाके साथ मैं सदा यहीं निवास करता हूँ। महादेवजी ! आपके मनमें जिन-जिन बातोंकी जिज्ञासा थी, वे सभी बातें मैं आपके समाधानके लिये प्रकट कर चुका हूँ।"

"ब्रह्मदेव ! भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर मैं परितृप्त हो गया। अब मेरे हृदयमे बस यही जिज्ञासा शेष थी कि भगवान्के इस स्वरूपको मैं अपने हृदयमें नित्य कैसे धारण किये रहूँ ? भगवान् तो मुझपर अतिशय कृपालु थे ही। वे कहने लगे– "रुद्रदेव ! जो अन्य सभी उपायोंका भरोसा, आश्रय त्यागकर एक बार भी हमारी शरण आ जाता है, अथवा अकेली मेरी प्रिया

श्रीराधाकी ही अनन्यभावसे शरण ग्रहणकर यह कह देता है कि 'मैं आपका हूँ' वह निस्साधन मेरा भरोसा रखनेके कारण निश्चय ही मुझे प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं। इसलिये हे रुद्र ! मेरी प्रियाका आश्रय लेकर तुम भी मुझे अपने वशमें कर सकते हो। तुम अब मेरी प्रियाका आश्रय लो, और युगलमंत्रका जप करते हुए मेरे इस ब्रजमण्डलमें रुद्रपर्वत बनकर निवास करो। मैं शीघ्र ही तुम्हारी तलहटीमें बसे नन्दग्राममें जन्म लूँगा, तब तुम भक्तिसहित मेरी लीलाओंके दर्शन करते हुए मुझमें ही परा प्रीतिकी प्राप्ति करोगे।''

''हे ब्रह्माजी ! यह कहकर परम दयालु प्रभुने मेरे कानोंमें अपने युगल मंत्र ***'श्रीगोपीजनवल्लभ चरणान् शरणं प्रपद्ये'*** की दीक्षा दी और अपनी प्रियासहित अन्तर्धान हो गये। परात्पर भगवान्‌की यह बात सुनकर मैं तभीसे उनके धाम– इस ब्रजमण्डलमें रुद्रपर्वत बनकर रहता हूँ। मैं निरन्तर प्रभु द्वारा निर्दिष्ट युगल मत्रका जप करता हूँ और मेरी तलहटीमें बसे नन्दग्राममें उन हेतुरहित दयालु प्रभुके अवतारकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।''

''हे ब्रह्माजी ! प्रभुकी हेतुरहित कृपा ऐसी विलक्षण है कि श्रीनन्दरायजी, यशोदाजी अपने पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम सहित मेरी पीठपर विराजेंगे और अपने चरणस्पर्श-सुखसे मुझे अंगीकार करेंगे।

***नन्दीश्वराय देवायाभीरोत्पत्ति हिताय च।***
***यशोदा सुखदायैव महादेवाय ते नमः।।***

(स्कन्दपुराण)

'हे नन्दीश्वर ! हे देव ! हे आभीरगणोंको सुख प्रदान करनेवाले तथा उन्हींके लिये प्रकट महादेव ! हे यशोदा माताको सुख प्रदान करनेवाले ! हे देवाधिदेव महादेव ! आपको नमस्कार है।'

# भगवान् विष्णुदेवका उपदेश

भगवान् श्रीमहादेवजी ब्रह्माजीसे यह कथा कह ही रहे थे कि इसी समय इन दोनोके कानोंमें सुधा-शंतम रसायन-सी परम चिन्मयी वाणी ध्वनित हो उठी।

"हे चतुरानन और प्यारे महादेवजी ! मैं विष्णुदेव भी पर्वत बना तुम्हारे समीप ही स्थित हूँ। ब्रह्माजी ! आपके ठीक सामने जो पवित्र पर्वत आप देख रहे हैं, वह मैं विष्णु ही हूँ। प्रभुकी कृपासे हम एक -दूसरेके आमने-सामने स्थित हैं। दक्षिण पार्श्वमें आप हैं और वाम पार्श्वमें मैं हूँ। जहाँ आपके ऊपर श्रीवृषभानु गोपराजका निवास, महल होगा और नीचे तलहटीमें दानघाटी होगी, वहीं हम दोनों पर्वतोंके मध्य 'साँकरी खोर' नामक दिव्य लीलास्थली होगी। अपनी प्रिया श्रीराधासे मिलने श्रीकृष्ण प्रतिदिवस आकर मेरे ऊपर स्थित निकुञ्जमें निवास करेंगे। मेरे आगे उनका लीला-नृत्य-मण्डप होगा, उसके पास ही युगल प्रिया-प्रियतमका विलास-कुञ्ज होगा। गह्वरवनमें तो नीचे उनका रासमण्डल होगा, पासमें ही श्रीराधा-सरोवर एवं दोहनीकुण्ड होगा। इस दोहनी कुण्डस्थलपर स्वय ब्रजेन्द्रनन्दन अपनी प्रिया राधाकी गायें दुहने प्रतिदिन साँझ समय आवेंगे।"

"हे वेदगर्भ ! प्रभुकी लीलामहाशक्ति सर्वविजयिनी है। परिपूर्णतम परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण सबके अनादि आत्मा हैं। उनका तेज सर्वान्तर्मुखी है। वे निरन्तर रमणशील हैं। हे महादेवजी ! इस पृथ्वीमें जो यह आपको परम विलक्षण गोलोककी-सी सृष्टि दिख रही है, इसे आप दोनों कभी भूलकर भी प्राकृत मत मान बैठना। भगवान् श्रीकृष्ण ही साक्षात् हमारे सम्मुख कृपामूर्त्ति बने इस सृजनके रूपमें व्यक्त हो रहे हैं। मेरी इस बातको आप लोग परम सार-की-सार एवं अकाट्य ही मानना। यह परम मंगलमय सृजन वैसे तो नित्य सच्चिन्मय अचिन्त्य गोलोकधामकी मात्र छाया-की-छायाका लेश भर ही है। क्योंकि यह मायाजगत् है एवं स्वरूपतः ही यह प्रभुके नित्यधामका प्रतिबिम्ब (छाया) ही है। मायाजगत्पर भगवान् श्रीकृष्णकी यह हेतुरहित कृपा ही है जिससे उन्होंने अपनी अचिन्त्य महिमाका अंशतः यहाँ प्रकाश किया है। प्रभुने त्रिपथगा गंगाको अपने चरणधोवनसे प्रकट की, जो महादेवजीके जटाजूटको समलकृत कर रही है। उन्होंने सरिताओंमें श्रेष्ठ श्रीयमुनाजीको अपने वाम स्कन्धसे प्रकट की जो यहाँसे किञ्चित् दूरीपर ही श्रृंगार-कुसुमोंसे सजी प्रवाहित हो रही है। भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनने अपने टखनोंसे चिन्मय हेमरत्नोंसे भरा, परम दिव्य रास-मण्डलका निर्माण किया, जो मधुर एवं रसोद्दीपक सभी श्रृंगार-सामग्रियोंसे सज्जित है। हे ब्रह्माजी एवं महादेवजी ! भगवान्की पिण्डलियोंसे ही इन समग्र कुञ्ज-निकुञ्जोंका निर्माण हुआ है, जिसमें एक-से-बढ़कर-एक

सुन्दर सभाभवन हैं, विशाल प्रांगण हैं, सुन्दर पथ हैं, विलक्षणरूपसे सजे मण्डप हैं। इनमें वसन्तादि ऋतुएँ सदैव सेवारत रहती हैं; केलि-कलरव करते कोकिलादि असंख्य पक्षी अपनी कल काकलीसे इन्हें गुञ्जायमान रखती हैं। इन कुञ्जोंमें अनेकों सुन्दरतम सरोवर हैं, जिनमें प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण अपनी अनन्त सखियों सहित जलकेलि करते हैं। भगवान्‌की ये अत्यन्त रसमयी लीलाएँ परम सौभाग्यवान् हंस, कारण्डव एवं चक्रवाकादि जलपक्षी सतृष्ण नेत्रोंसे निहारते रहते हैं। इन सरोवरोंके तटोंपर मयूर नृत्य करते रहते हैं। इन मयूरोंको सदैव यही भ्रम रहता है कि उनका प्रियतम नवनीरद ही पृथ्वीपर नीलतनूज नन्दनन्दनके वेशमें उनके सम्मुख विहाररत है। ये मयूर प्रिया श्रीराधा एवं उनकी असंख्य सखियों, गोपांगनाओंको भी विद्युन्माला ही मानते हैं एवं इसीलिये भावोन्मादमें भरे अपनी पुच्छ ऊर्ध्व किये, रोमांचित हुए नृत्य करते रहते हैं, एवं भावोन्मादमें भर-भरकर अपने केकारवसे वनको मुखरित करते रहते हैं।"

"हे महादेवजी ! आप तो भक्तिके परमाचार्य हैं; आपसे वृन्दावन-माहात्म्य तो गोपनीय है ही नहीं। यह भक्तिमुकुट वृन्दावन भगवान्‌ने अपने घुटनोंसे आविर्भूत किया है। इस वृन्दावनका यह विलक्षण प्रभाव सर्वविदित है कि यहाँ घोर कलिकालमें भी 'राधे-राधे' नामध्वनि सतत होती ही रहेगी। इस नामध्वनिकी यहाँ कभी न्यूनता नहीं होगी।"

"हे ब्रह्माजी ! यह जो आपको अति विस्तृत प्रभामयी स्वर्णभूमि दिख रही है, जो दिव्य रत्नोंसे जटित है, इस सभी भूमिका प्राकट्य इन परमात्मा श्रीकृष्णके कटिप्रदेशसे हुआ है। श्रीराधानायक माधवके उदरमें जो रोमावलियाँ हैं, ये ही यहाँ विस्तृत माधवी लताएँ हैं। भगवान्‌के नाभिकमलसे ही ये एक-से-एक बढ़कर सुन्दर और सौरभपूर्ण कमल प्रकट हुए हैं, जो इस हरिलोककी शोभा दिग्दिगन्तमें फैला रहे हैं। इन परात्पर भगवान् श्रीकृष्णके नासापुटोंसे मन्दगामी सुशीतल समीरका प्राकट्य हुआ है, जो यहाँ सदा-सर्वदा त्रिविध प्रवाहमें बहता रहता है। भगवान् श्रीकृष्णके वामस्कन्धसे एक परम कान्तिमान् गौरतेज प्रकट हुआ, जो लीला, श्री, भू, विरजा तथा अन्यान्य हरिप्रियाओंके रूपमें प्रकट हुआ है। हे महादेवजी ! भगवान्‌की परम प्रिया श्रीराधा हैं, जिनकी अन्यान्य शास्त्रोंमें लीलावतीके नामसे भी ख्याति है। ये इन ह्लादात्मा भगवान्‌का मूर्तिमान् आनन्द हैं। श्रीराधाकी दोनों भुजाओंसे ललिता

एवं विशाखा सखियोंका प्राकट्य मानना चाहिये। श्रीराधाकी जो असंख्य सखियाँ, मंजरियाँ एवं सहचरियाँ हैं, वे सभी इनकी असंख्य रोमावलियोंसे प्रकट हैं।"

"इस तरह हे ब्रह्माजी एवं महादेवजी ! भगवान् श्रीकृष्ण ही अपनी योगमायाशक्तिके प्रभावसे आप दोनों एवं मुझे इस सम्पूर्ण विचित्र लोकके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रिया श्रीराधाजीकी हमपर असीम कृपा है, जो वे हमारे दृश्य बनकर अपनी प्रियाके साथ यहाँ अपना शुचितम लीला-विहार सम्पादित करेंगे।"

अचानक भगवान् शंकरजी श्रीविष्णुभगवान्‌से प्रश्न कर बैठे-"कृपालु प्रभो ! आपने अपनी सहज एवं अतिशय कृपाकी वर्षा कर हम सबके सम्मुख प्रकट इस सच्चिन्मयी सृष्टिका सारा तत्त्व-रहस्य सुनाया। प्रभो ! मायावी सृजनके त्रिगुणाभिमानी देवता हम ब्रह्मा, महादेव एवं आप विष्णुदेवके साथ ही क्या क्षीरोदकशायी, सर्वावतारोंके अवतारी, वैकुण्ठाधिपति, भगवान् नारायण भी यहाँ कहीं किसी रूपमें अवस्थित हैं ? प्रभो ! यदि उनकी भी उपस्थिति हम लोगोंके समान ही यहाँ कहीं हो, और इसका आपको ज्ञान हो, तो कृपया हमें सूचित अवश्य करें।"

भगवान् विष्णु कहने लगे- "हे महादेवजी ! कृपया धैर्य रखें। भगवान् नारायण भी हमसे किंचित् दूरीपर ही पर्वतराज बने यहाँ स्थित हैं। वैसे तो भगवान् गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण एवं भगवान् वैकुण्ठाधिपति श्रीहरि दोनों एक ही हैं। भगवान् श्रीहरि भगवान् श्रीकृष्णके ही ऐश्वर्यप्रधान विग्रह हैं और भगवान् श्रीकृष्ण भगवान् श्रीहरिके ही रसराजविग्रह हैं। किन्तु बलिहारी है, भगवान् लीलाविहारीकी कि उन्होंने इन्हें भी अपनी रसलीलामें सम्मिलित कर ही लिया। अब मैं आप दोनोंको यहाँ ब्रजधाममें इन सर्वावतारावतारी आदिपुरुष भगवान् नारायणकी नारायणगिरिके रूपमें जो अवस्थिति है, उसकी कथा सुनाता हूँ।

## गिरिराज गोवर्धनका प्राकट्य

भगवान् विष्णु कहने लगे-'हे महादेवजी ! मैं यह पूर्वतया उल्लेख कर

चुका हूँ कि यहाँ हमें जो यह ब्रजमण्डल मूर्त्त दिखाई पड़ रहा है, यह तो भगवान् श्रीगोलोकविहारीकी गोलोकसृष्टिका मात्र प्रतिबिम्ब, आभास किंवा छाया-की-छाया भर है। वस्तुतः मूल लीला-धामका सृजन तो भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अपने गोलोकधामके रूपमें ही हुआ है। हे वेदगर्भ ! जब पूर्वोक्त प्रकारसे इस सम्पूर्ण लीलालोककी अपने ही अंग-प्रत्यंगोमें परिकल्पना करके भगवान् निवृत्त हुए तो वे अपने ही द्वारा संकल्पित लोकमें अपनी ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाके संग रास-विलास करने लगे। हे महादेवजी ! इसे एक प्रकारसे उनका आत्मरमण ही मानना चाहिये। भगवती श्रीराधा ही परिपूर्णतम, परमात्मा, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, निखिल ऐश्वर्य, सौन्दर्य एवं माधुर्यकी सागर हैं, उनमें एवं श्रीकृष्णमें कहीं कोई भेद संभव ही नहीं है। नामरूपोंमें पृथक्ता दिखनेपर भी वस्तुतः श्रीराधा, गोपीजन एवं श्रीकृष्ण – इन तीनोंमें कहीं कोई भेद नहीं है। भगवान् पुरुषोत्तम जो परब्रह्म परमात्माकी प्रतिष्ठा हैं एवं जिनके चैतन्यांशको ही वेदोंने सर्वव्यापी परब्रह्म कहा है, वे अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये अथवा उसका नव-नवायमान रसोंमें आस्वादन करनेके लिये स्वयं अपने आनन्दको प्रेम-विग्रहोंमें प्रकट करते हैं और स्वयं ही उनसे आनन्दका आस्वादन करते हैं। उनके इस आनन्दकी प्रतिमूर्त्ति ही प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधारानी हैं और यह श्रीराधा-प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमका एकीभूत समूह है। इसीलिये रसिकजन श्रीराधाजीको प्रेममयी एवं श्रीकृष्णको आनन्द-रसमय मानते हैं। जहाँ आनन्द है, वहीं प्रेम है, और जहाँ प्रेम है, वहाँ आनन्द है। श्रीराधारानी ही श्रीकृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधाके जीवनस्वरूप हैं। इन ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाकी लाखों अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्त्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, मञ्जरी, सहचरी और दूती आदिके रूपमें इन श्रीराधाकृष्णयुगलकी सेवा करती हैं।"

"गोलोकधाममें सर्वातिशय सुन्दर रासमण्डलमें भगवान् श्रीराधा-माधव विराजित थे। वहाँ वातावरण गोपियोंके बजते घुँघरुओंके अति मधुर स्वरसे अत्यंत रम्य हो रहा था। उस रास-निकुञ्जके आँगनमें सुन्दर चन्द्रातप तना था। उस चन्द्रातपमें लटकती मुक्ताफलकी लड़ियोंसे अमृतकी वर्षा हो रही थी। अमृतरसकी बड़ी-बड़ी बूँदोंके टपकनेसे समग्र वातावरण सरस था। मालती सर्वत्र विकसित थी और उसके झरते मकरन्दको लिये वायु अति भीनी सुवाससे भरी थी। मृदग, ताल-ध्वनि, वशीनाद सब ओर गूँज रहा था। म धुरातिमधुर कण्ठसे गोपियोंके द्वारा गाये गये गीतोंसे तथा स्वय भगवान्

श्रीकृष्णके द्वारा उनके संग-संग आलाप किये जानेसे सम्पूर्ण वातावरण ही रासरससे परम मनोरम हो रहा था। ठीक, इसी समय रासमण्डपमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णके वामांगमें लिपटी भगवती श्रीराधाने कोटि-कोटि मनोजमोहन अपने हृदयवल्लभसे कटाक्षपात् करके गंभीर वाणीमें कहा – "हे प्राणप्यारे आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं आपके सम्मुख अपने मनकी एक कामना व्यक्त करना चाहती हूँ।" असंख्य ब्रह्माण्डोंके अधिपति भगवान्के लिये अपनी प्राणप्यारी राधाके लिये अदेय क्या था ? भगवान् बोले–"प्रिये वामारु ! तुम्हारे मनकी इच्छा अपूर्ण रहे, यह कैसे संभव है ? मेरे पास जो कुछ भी शक्ति-ऐश्वर्य है, सब तुम्हारा ही है।"

प्रिया राधाने कहा –"प्राणवल्लभ ! वृन्दावनमें यमुनाके तटपर इस दिव्य निकुञ्जभूमिके पार्श्वभागमें आप रास-रसके योग्य एक अति एकान्त मनोज्ञ पर्वत प्रकट कीजिये। देवदेव ! यह पर्वत इतना सुरम्य हो कि उसकी अतिशय मनोरम एकान्त घाटियोंमें मैं आपके साथ निश्चिन्त रमण कर सकूँ।"

"हे महादेवजी ! भगवान् नारायण भगवान् श्रीकृष्णके चित्त ही तो हैं, अतः वे श्रीराधामाधवके इस संलापके साक्षी हुए सब-कुछ सुन रहे थे। वे मन-ही-मन अपने अन्तरात्मा रूप श्रीकृष्णकी परम मनोहर छविका ध्यान करते हुए संकल्प करने लगे कि 'अहा ! यह सौभाग्य मुझे मिल जाय।"

"भगवान् नारायणका संकल्प श्रीराधा-माधवमें उसी क्षण प्रतिध्वनित हो उठा और उनकी ओरसे 'तथाऽस्तु' तो होना ही था।"

श्रीविष्णुदेव पुनः कहने लगे–"हे ब्रह्माजी एवं श्रीमहादेवजी ! भगवान् श्रीकृष्णके समान परमोदार तो कोई दूसरा होना संभव ही नहीं है। जीव मात्रका उनके समान सच्चा स्नेही और आत्मीय अन्य कौन संभव है ? किसीके भी मनकी रखना तो उनका सहज स्वभाव ही है।"

"भगवान्ने एकान्तलीलाके योग्य स्थानका चिन्तन करते हुए अपने नेत्र-कमलों द्वा" अपने ही हृदयकी ओर दृष्टि डाली। उसी समय भगवती श्रीराधा एवं असंख्य गोपियोंके देखते-ही-देखते उन परात्पर श्रीकृष्णके हृदयमें स्थित भगवान् नारायण उनके अनुरागके मूर्त्तिमान् अंकुरकी तरह वहाँ एक सघन तेजके रूपमें प्रकट हो गये। भगवान् नारायण तो अनन्त तेजोद्गम हैं ही। वे तत्क्षण ही उस रासभूमिके मध्य पर्वतके आकारमें परिणत हो गये। उस समय वह भगवान् नारायणका स्वरूपभूत पर्वत असंख्य दिव्य रत्नोंका धाम

था। सुन्दर कन्दराओं, झरनों और गिरिश्रृंगोंसे उस पर्वतकी शोभा अवर्णनीय थी। कदम्ब, अशोक, बकुल, आम्रादि वृक्षों, साथ ही अनेक सुगन्धित पुष्पवती लताओंसे समाच्छादित उस नारायण पर्वतकी मनोरमता देखते ही प्रिया श्रीराधारानी प्रफुल्लित हो उठीं। मन्दार और कुन्द वृक्षोंसे सम्पन्न पर्वतपर भाँति-भाँतिके पक्षी कलरव कर रहे थे। इन प्रिया-प्रियतमको सुखी देखनेका भाव उन आदिपुरुष भगवान् नारायणमें उस समय इतना प्रबलतम वेगसे लहरा रहा था कि एक क्षणमें ही उन्होंने अपनेको अनन्त रस-सामग्रियोंसे भरपूर प्रिया-प्रियतमके 'विलासमहल'के रूपमें ही परिणत कर लिया।"

"गोपियाँ और प्रिया श्रीराधारानी उस शतश्रृंग नारायण पर्वतको देखकर इतनी प्रसन्न हो रही थीं कि वे ताली बजा-बजाकर, अपने घुँघरुओंकी झंकार करती नृत्य करने लगीं। उन सभीके हर्षका पारावार ही नहीं था। उस समय हे ब्रह्माजी एवं महादेवजी ! इन श्रीकृष्ण-प्रेयसियों के सुख और आनन्दमें आयी इस उछालको देख-देखकर भगवान् नारायण भी अपने सौभाग्यपर कृतकृत्य हो रहे थे। इन श्रीकृष्ण-प्रेयसियोंको प्रसन्न करनेकी लालसाके अतिशय तीव्र हो जानेसे उस नारायण पर्वतका आकार भी नवीन-नवीन सुरम्यताका प्रकाश करता हुआ अधिक-से-अधिक अभिवृद्धिको प्राप्त होने लगा। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उठे। अपनी प्रिया एवं गोपांगनाओंके सहित उन्होंने उस पर्वतका पूजन किया। तत्पश्चात् उस पर्वतपर उन्होंने अपना वरद हस्त रख दिया। हे महादेवजी एवं ब्रह्माजी ! उस नारायण पर्वतका जो असीम गतिसे विकास हो रहा था , वह उसी समय रुक गया। अब तो उस पर्वतमें ऐसी शक्ति आ गयी कि प्रिया-प्रियतमके संकल्पानुसार, वह जब जितना विकास अपेक्षित होता है, कर लेता है। उनकी समुचित सेवा सम्पन्न करके वह पुनः लघु रूप धारण कर लेता है।"

"हे महादेवजी ! भगवान् नारायणके वर्णतुल्य ही इस पर्वतकी भी शोभा लताकुञ्जोंसे निरन्तर आच्छादित रहनेके कारण सदैव श्यामवर्णकी ही रहती है, जिससे इस पर्वत रूपमें भगवान् नारायणको देख-देखकर कृष्णप्रिया श्रीराधा-रानी एवं गोपियाँ अतिशय प्रसन्न होती रहती हैं।"

"हे ब्रह्माजी ! इस प्रकार भगवान् परात्पर श्रीकृष्णके हेतुरहित अनुग्रहसे हम त्रिदेवों और हमारे अवतारी क्षीरोदकशायी शेषशायी भगवान् नारायण, जो अबतक क्षणभंगुर नाशमान् इस प्राकृत सृष्टिके ही प्रभु थे, अब भगवान्

श्रीकृष्णके शाश्वत लीलाधाममें उनके लीला-पात्र हो गये। अब तो जब-जब भगवान् श्रीकृष्ण जिस-जिस ब्रह्माण्डमें जन्म ग्रहण करेंगे, हम सभीको उस-उस ब्रह्माण्डमें अवतरित होकर उनकी लीलाका रंगमंच बनना ही होगा।"

"हे ब्रह्माजी एवं महादेवजी ! इस ब्रह्माण्डके भी अब तो अनन्त भाग्योदय होनेवाले हैं। शीघ्र ही ये कृतयुग और त्रेता बीत जायेंगे, इसके पश्चात् द्वापरका पदार्पण होगा, और द्वापरके अन्तमें प्रभु अपने सभी लीला-परिकरों सहित यहाँ अवतीर्ण होंगे। उसीकी पूर्वभूमिकाके रूपमें हमें अभीसे इस ब्रजधाममें पर्वतके रूपमें अवतरित होनेका सौभाग्य मिला है। अहा ! ब्रह्मगिरि बने आपकी गोदमें ही बृषभानुगोपकी राजधानी बृषभानुपुरकी स्थापना होगी और इसी पावन भूमिमें कृष्णप्रिया राधारानीका पावन अवतरण होगा। इसीलिये शनैः-शनैः सर्वतीर्थोंका भी यहाँ पदार्पण होगा। ओह ! अब तो ऐसी कृपा ढरेगी कि हम सभी इस रसमयी लीलाके भावोंमें पूरे निमग्न रहेंगे। प्रभुकी लीला-महाशक्तिकी हेतुरहित कृपा-वर्षाकी बलिहारी है।"

भगवान् विष्णुके मुखसे यह कथा सुनकर ब्रह्माजी एवं महादेवजी दोनों ही आनन्दके महासमुद्रमें डूब गये। बहुत कालतक तो भावोदयसे उनका कण्ठ ही गद्गद रहा। उनके मुखकी वाणी ही रुद्ध थी। कुछ काल पश्चात् जब उनका भाव कुछ संवरित हुआ, तो ब्रह्माजी बोले– "प्रभो ! आपने अपना एवं भगवान् श्रीहरिका भी, जो यहाँसे कुछ ही दूरीपर नारायण-पर्वत (श्रीगिरिराज गोवर्द्धन) के रूपमें स्थित हैं, परिचय देकर हमें पूर्ण कृतकृत्य कर दिया। प्रभो ! अब तो हम दोनोंको यह सुसवाद श्रवणगोचर कराइये, कि इस विलक्षण सुरम्य प्रदेशमें परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रिया अपने पूर्ण परिकरवर्ग सहित कब एवं किस वंशमें जन्म ग्रहण करेंगी ?"

"महामते ! यद्यपि मैं भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा और उनकी विलक्षण सामर्थ्यका प्रत्यक्षदर्शी रह चुका हूँ, फिर भी भगवान्‌की विचित्र माया है कि अभीतक मेरे मनका यह सन्देह नहीं मिटा कि जो सबकी आत्मा हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, वे परात्पर परतत्त्व सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मा, रूप-परिच्छिन्न होकर एक शरीरधारीकी तरह किसी भी नारीके गर्भमें कैसे प्रवेश करेंगे और कैसे उनका किसी विशिष्ट कुल एवं जातिमें जन्म होगा। जो अजन्मा हैं, वे जन्म लें, यह एक महदाश्चर्य ही है।"

ब्रह्माजीका प्रश्न सुनकर भगवान् विष्णु बोले– "हे ब्रह्मन् ! इस विषयमें

आपकी शंकाका समाधान मैं नहीं कर पाऊँगा। मैं तो स्वयं आपकी ही तरह त्रिगुणात्मिका माया-नियन्त्रित देव हूँ। इस विषयमें समाधान हेतु, आओ, हम सभीके अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरि, जो निकट ही नारायण पर्वतके रूपमें विराजित हैं, उनका आह्वान करें। वे ही प्रकट होकर हमारा उचित निदर्शन करेंगे।'

## पुरुषोत्तमतत्त्वका प्रकाश

यह कहकर तीनों त्रिदेव भगवान् श्रीहरिका ध्यान करने लगे। किंचित् ही कालमें उनके नेत्रोंके सम्मुख चतुर्भुज भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये। "अहा ! उनके अंगों-प्रत्यंगोंसे कान्तिकी किरणें फूट रही थीं। वे किरणें मरकतमणिकी आभाको हेय बना दे रही थीं। भगवान् श्रीहरि सौन्दर्य एवं लावण्यके अपरिसीम सागर थे। उनके श्रीअंगोंमें पीताम्बर झलमला रहा था। वक्षस्थलपर रंग-बिरगी बनमाला झूल रही थी। अग-अगपर रत्नजटित आभूषण शोभा पा रहे थे। उनकी लम्बी घुँघराली अलकें थीं, जिससे विलक्षण सुवास प्रसरित हो रहा था। मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ और स्वर्णरेखासे वक्षस्थल आलोकित था। गोल सुदीर्घ चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा एव पद्म – सभी आयुध शोभा पा रहे थे। भगवान्‌के मुखारविन्दमें मन्द मुसकान नाच रही थी। उनके चतुर्दिक् फैला नील तेज सबको विशुद्ध सत्त्वमें परिस्नात कर रहा था।"

जैसे नील मेघ वर्षाके पूर्व गड़गड़ाहट करता हो, इसी प्रकार गंभीर मधुर ध्वनिमें भगवान् श्रीहरिकी वाणीने पर्वत बने त्रिदेवोंको आनन्दमें डुबो दिया।

भगवान् श्रीहरिने कहा–'हे त्रिदेवों ! अभी तो श्वेतवाराह कल्पका कृतयुग ही चल रहा है। अगणित ब्रह्माण्डोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामहाशक्ति अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है। देखो ! मैं एवं तुम तीनों यहाँ ब्रजभूमिमें पर्वत बने स्थित हैं, परन्तु हम सभीके लोकोंमें भगवान्‌की लीलामहाशक्तिने एक क्षणका भी प्रमाद नहीं करते हुए, ठीक हमारी ही आकृति, रूप एवं हूबहू स्वभावके दूसरे त्रिदेव और दूसरे ही नारायण प्रतिस्थापित कर दिये हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो उनकी लोक व्यवस्था कभीकी बिगड जाती। परन्तु उनके लीलाविधान में त्रुटिभरकी भी भूल कदापि संभव है ही नहीं। हे ब्रह्माजी ! आप तो अपनी

वेदगर्भपनेकी सब बुद्धि, उसका कुतर्क एवं अभिमान त्यागकर चुपचाप शान्त बने, भगवान्‌की जो आपने बालछवि दर्शन की है उसे ही निहारते रहिये।"

"हे चतुरानन ! अपनी अचिन्त्य कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् सामर्थ्यसे ही भगवान् सर्वव्यापक होते हुए भी देह-परिच्छिन्न होते हैं। भगवान्‌में विरुद्धगुण-धर्माश्रयत्वकी विलक्षण शक्ति है। वे सर्व होकर भी अणु हो सकते हैं। भगवान्‌का सब-कुछ अप्राकृत है। अतः उन्हें प्राकृत नियमों और प्रकृतिधर्मसे बाँधा नहीं जा सकता। यदि हम उन्हें अप्राकृत एवं सच्चिन्मय, साथ ही सर्वभवनसमर्थ मान लें तो हमारे ऐसे सन्देह निर्मूल हो जावें। हमारी बुद्धि उन्हें प्राकृत मानकर ही ऐसे सन्देहोंको जन्म देती है। हे ब्रह्माजी ! भगवान्‌की सभी वस्तुएँ तर्कसे अतीत हैं। प्रपंच-निर्माणमें एक-से-एक विस्मयजनक वस्तुएँ सृष्ट हो सकती हैं, किन्तु अनादिकालसे अबतक ऐसी कोई वस्तु निर्मित नहीं हुई, जिसका अवलम्बनकर कोई भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अचिन्त्य स्वरूप, ऐश्वर्य एवं माधुर्यके सम्बन्धमें तर्क करते हुए अनुमान लगा ले। प्राकृत विश्व और उसके अन्दरके पदार्थ ही तर्कगोचर होते हैं, हो सकते हैं। परन्तु जिन भगवान्‌के सम्बन्धमें आपको संशय है, वे तो प्रकृतिसे रिकी वस्तु हैं। वे स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप हैं। कृपा-परवश हुए वे अपनी स्वप्रकाशिका शक्तिसे ही किसीकी मन-बुद्धिमें अवतरित भले ही हों। अतः आपका मोहित होना अति स्वाभाविक है। श्रुतियाँ भगवान्‌का निर्देश ही नहीं कर पातीं, वे संकेत भले ही कर लें। अतः आप तर्कको सर्वथा त्यागकर जो आपको भगवान्‌का दर्शन हो चुका है, उसके ध्यान एवं चिन्तनमें ही रमे रहें। कृपामय प्रभु स्वयं ही आपके सभी तर्कोंका यथावसर समाधान कर देंगे।

## गोलोकधामका वर्णन

हे वेदगर्भ ! द्वापरयुगके अंतमें इस पृथ्वीमें दानव, दैत्य, आसुरी स्वभावके मनुष्य और महाबली दुष्ट राजाओंका बोलबाला होने वाला है। इनके असह्य बोझसे भाराकान्त हुई पृथ्वी अनाथकी भाँति रोती-बिलखती आपके धाममें पहुँचेगी। वह आपके स्थानपर विराजित नवीन ब्रह्माजीको अपना सभी दुःख निवेदन करेगी। उस समय उसका शरीर व्यथासे काँप रहा होगा। उसकी

कथा सुनकर आपके लोकमें आसीन ब्रह्माजी उसे कैलास पर्वतपर ले जावेंगे। और तब वे वहाँ स्थित नवीन कैलासपति महादेवजीको आगे करके सभी देवगणोंके सहित वैकुण्ठपतिके पास पहुँचेंगे। वे वैकुण्ठनाथ भी नवीन ही होंगे। वे वैकुण्ठनाथ उन्हें लेकर भगवान् श्रीकृष्णके पास उनके परमधाम गोलोक पहुँचेंगे।"

" हे ब्रह्माजी ! यह गोलोकधाम विरजानदीके तटपर स्थित है। यह निरुपम प्रदेश सर्वथा मायातीत अप्राकृत लोक है। यहाँ प्राकृत देवजगत्का भी सहज प्रवेश नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णकी जब किसीपर, चाहे वह ऋषि हो, देव हो, दानव अथवा मानव ही क्यों न हो, असीम कृपा होती है, तब उसके हृदयमें इस पूर्ण सच्चिन्मय धामका प्रकाश सभव हो पाता है । यह कृपालोक सर्वप्रथम इन देवगणोंके सम्मुख अनंत कोटि भास्करज्योतिके रूपमें अतिशय प्रकाशमान होकर प्रकट होगा। सभी देवगण उस तेजसे पराभूत हो, जहाँ-के-तहाँ खडे रह जावेंगे। तत्पश्चात् वे देवगण भगवान् नारायणके आदेशानुसार उस तेजको साष्टांग प्रणामकर, भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगेंगे।"

"हे वेदगर्भ ! उस महान् ज्योतिके अंतरालमें देवगणोंको एक परम अद्भुत कमलनालके समान धवलवर्णके हजार मुखोंवाले शेषनागके दर्शन होंगे। सभी देवता उन भगवान् शेषकी गोदमें ही उस महान् आलोकमान सर्वलोकवन्दित गोलोकका दर्शन करेंगे। बिलक्षण धाम है यह गोलोक । इसमें सर्वक्षयकारी कालका कहीं किञ्चित् लेशमात्र भी प्रवेश नहीं है। यहाँ भगवान्की सर्वजयकारी माया भी पूर्ण निरस्त है। फिर त्रिगुणोंके तो प्रवेश होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ शत-शत कामदेवोंको विजय करनेवाला सौंदर्य तो वृक्षोंके पत्र-पत्रमेंसे झर रहा है। फिर अनंत रूप-लावण्यशालिनी उन गोपियोंकी, जिनकी चरण-धूलिकी वन्दना अनन्त लक्ष्मियां करती हैं, सुन्दरताका वर्णन तो भला कौन कर सकता है। इस परम चिन्मय गोलोकधामके द्वारदेशपर जब सभी देवगण पहुँचेंगे, तो इन्हें पहले तो वहाँ नियुक्त द्वाररक्षिकाओंके ही द्वारा रोक दिया जायगा एवं उनसे पूछा जायेगा कि वे किस ब्रह्माण्डसे आये हैं ? इन द्वाररक्षिकाओंके प्रश्नका उत्तर भगवान् नारायण यह कहकर देंगे कि हम सभी उस ब्रह्माण्डसे आये हैं, जहाँ इस कल्पमें भगवान् प्रश्निगर्भका अवतार हो चुका है, और भगवान् त्रिविक्रमके नखसे जिस ब्रह्माण्डमें विवर बन गया है। उन देवताओंसे यह उत्तर पाकर वह श्रीकृष्णपार्षदा गोपी मंद-सुमंद मुसकाने

लगेगी। उसकी अनुमति पाकर सभी देवगण तब उस परम दिव्य गोलाकधाममें प्रवेश पा सकेंगे। वहाँ सर्वप्रथम उन्हें मुझ गोवर्धनके दर्शन होंगे, जिसके अंशको श्रीकृष्णावतारमें भगवान् छत्रकी तरह धारणकर ब्रजमें देवराज इन्द्रका मानहरण करेंगे। हे महादेवजी ! उस चिन्मय गोलोकमें जब देवगणोंका प्रवेश होगा उस समय वहाँ वसंतोत्सव चल रहा होगा। उस सच्चिन्मय धामकी उस समय ऐसी विलक्षण शोभा हो रही होगी कि जिसे देखकर देवगणोंके नयन विस्फारित रह जावेंगे। विलक्षण कल्पवृक्षों, और कल्पप्रसूनोंसे समलंकृत वहाँ उत्तमोत्तम यमुनानदी बह रही होगी । उस श्यामवर्णवाली यमुनाको देखकर सभी देवगण उसे अति विनयपूर्वक प्रणाम करेंगे। यमुनाके तटपर बने करोड़ों प्रासाद यमुना महारानीकी शोभा बढा रहे होंगे। यमुना नदीमें स्नानके लिये उतरनेके लिये वैदूर्यमणिकी शिलाओंकी सीढियाँ देखकर देवगणोंके आश्चर्यका ठिकाना ही नहीं रहेगा। ब्रह्माजी ! यहाँ इस पृथ्वीमें जो यमुना, पर्वतरूप आपसे किञ्चित् दूरीपर बह रही है, यह तो उस यमुनाकी छायाकी छायाका अंशभर भी नहीं है। इसी प्रकार वहाँके वृन्दावनसे यहाँके वृन्दावनकी तुलना समझ लेनी चाहिये। वहाँके वृन्दावनके मध्यभागमें बत्तीस वनोंसे युक्त एक 'निज-निकुञ्ज' है। इस निज-निकुंजकी विलक्षण ही शोभा है। वहाँ स्थान-स्थानपर करोड़ों चन्द्रमाओंके मण्डलोंकी छवि धारण करनेवाले असंख्य चँदोवे तने हैं। उनपर फहराती हुई दिव्य पताकाएँ उस स्थानकी शोभाको सहस्रगुनी कर दे रही हैं। सर्वत्र विकसित भाँति-भाँतिके पुष्प और उनपर मँडराते भ्रमरोंका सुमधुर

गुंजार ऐसा मनोरम लगता है, मानो अगणित गंधर्व अति सुरीले स्वरोंमें गायन कर रहे हों। वहाँ मत्त मयूरों और कोकिलाओंका कलरव सदा ही श्रवणगोचर होता रहता है। कान्तिमान अरुण, पीत, मनोरम कुण्डल धारण करनेवाली अगणित ललनाएँ इधर-उधर घूमती रहती हैं, जिनमें अनेकों तो नवघन-श्यामवर्णकलेवरा हैं और अनेकों कंचनवर्णी शोभाका विस्तार कर रही हैं। शत-शत चंद्रमाओंकी शोभाको लज्जित करनेवाली ये गोपियाँ, इस निज-निकुंजके सुरम्य रत्न-प्रांगणोंमें इतस्ततः सर्वत्र घूमती रहती हैं।

इस गोलोकधामके प्रत्येक प्रासादमें गोशालाएँ अवश्य संलग्न हैं, और इनके विशाल द्वारोंके आगे सुन्दर-सुन्दर दिव्य आभूषणोंसे सज्जित, श्वेत पर्वतोंके समान शोभाशालिनी, समुद्रके समान दूध देनेवाली सैकड़ों गायें खड़ी रहती हैं। ये सभी अति सद्गुणवती, सुरुचा, एवं परम सुशीला हैं। इन सभीके

घण्टों और मंजीरोंसे अति मधुर स्वरलहरी निनादित होती रहती है। इनके अंगोंसे विलक्षण सुगन्ध निस्सृत होती रहती है, और सभीके कलेवर रम्य छटासे सदा उ ासित होते रहते हैं। कोई उजली, कोई काली, कोई लाल, पीली, हरी, ताम्रवर्णी, चितकबरी, धूम्रवर्णी, इस प्रकार अनेकों रंगोंवाली इन गायोंसे सम्पूर्ण गोलोकधाम भरा है। अनेकों कोयलेके समान काली श्यामवर्णी भी हैं, परंतु ये सभी गायें अमृतोपम दूध देनेवाली हैं, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण अत्यंत रुचिसे पान करते हैं । हरिणशावकोंके समान इन सभी गायोंके बछडे सर्वत्र छलाँगें भरते रहते हैं, जिससे इस गोलोक-धामकी शोभा द्विगुणित होती रहती है। गायोंके झुण्डोंमें बृहदाकार, दीर्घ सींगोंवाले, साक्षात् धर्मके स्वरूप वृषभ घूमते रहते हैं, जिन्हें हाथमें लकुट लिये सैकडों गोपाल नियंत्रित रखते हैं। ये सभी गोपाल बाँसुरी बजानेमें अति निपुण हैं। गौरवर्ण एवं श्यामवर्णके गोपवेशमें सजे इन गोपालों द्वारा श्रीराधामाधवकी लीलाओंका सुमधुर स्वरोंमें गायन सुनकर समग्र देवगण मोहित हो उठते हैं।

हे मेरे प्यारे महादेवजी और श्रीब्रह्माजी ! गोलोकके इस निजनिकुञ्ज नामक भागको देखकर तो देवतागण अपनी सभी सुध-बुध ही खो बैठते हैं। धीरे-धीरे अति भावाविष्ट हुए किसी प्रकार वे आगे बढ पाते हैं और एक विशाल सहस्र दलोंवाला कमल देखते हैं। इस सहस्रदल कमलके ऊपर अति विकसित सोलह दलका और तब आठ दलवाला एक अति सुन्दर पद्म देखते हैं। उसपर स्थित अति उच्च एक तीन सीढ़ियोंवाले सिंहासनपर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिया श्रीराधाजी सहित विराजित रहते हैं। ये युगलरूप भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मोहिनी आदि परम दिव्य आठ सखियों एवं श्रीदामादिक आठ गोपालोंसे सुशोभित हैं। इन युगल भगवान्पर गोप-गोपियाँ हीरोंसे बने मूठवाले परम सुंदर चँवर डुलाती रहती हैं। भगवान् श्रीकृष्णके वामभागमें श्रीराधाजीकी शोभा ऐसी विलक्षण सुंदर होती है, मानो अनंत कोटि स्वर्ग-लक्ष्मियाँ उनपर तत्क्षण ही न्यौछावर कर दी जावें। भगवान् उस समय अपना दाहिना चरण स्वेच्छापूर्वक टेढा किये होते हैं, एवं अपने सुन्दरतम कमलके समान एक हाथमें बाँसुरी धारण किये होते हैं। भगवान्के ऐसे सुन्दर दर्शन पाकर वैकुण्ठपति भगवान् नारायण एवं पार्वतीपति श्रीमहादेवजी दोनोंको तो समाधि ही लग जाती है। अधिकांश देवगण ऐसे दिव्य दर्शन पाकर हर्षविकारसे अभिभूत बने, कोई तो नृत्य करने लगते हैं, और कोई अपने नेत्रोंसे अश्रु बहाने लगते हैं। उन्हें होश

ही नहीं रहता कि वे कहाँ, किसके सम्मुख, क्या कर रहे हैं। कोई-कोई तो भगवान्‌को अनवरत दण्डवत् प्रणाम करते ही जाते हैं ।

ब्रह्माजी ! उस समय एक विलक्षण चमत्कार संघटित होता है। सभी देवताओंके देखते-देखते ही भगवान् चतुर्भुज श्रीरमानाथ नारायणदेव उन भगवान् श्रीकृष्णमें लीन हो जाते हैं। इसके पश्चात् सहस्रों भुजाओंवाले, कोटि-कोटि सूर्योंके समान तेजस्वी प्रचण्ड पराक्रमी भगवान् नृसिंहजी भी भगवान् श्रीकृष्णके तेजमें समाहित हो जाते हैं। इसके पश्चात् सहस्र भुजाओंसे सुशोभित श्वेतद्वीपके स्वामी भगवान् विराट्पुरुष, जिनके रथमें लाखों घोड़े जुते हैं, एवं जिनके साथ साक्षात् महालक्ष्मीजी भी होती हैं, वे भी भगवान् श्रीकृष्णके श्रीविग्रहमें प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कमललोचन श्रीरामजी भी श्रीसीताजी एवं लक्ष्मण-भरतादि सहित भगवान्‌के श्रीविग्रहमें समाविष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् साक्षात् श्रीयज्ञनारायण भगवान् हरि वहाँ अपनी पत्नी भगवती श्रीमती दक्षिणादेवीके साथ पधारते हैं और नवघनवर्ण परमातिपरम सुन्दर भगवान् श्रीकृष्णमें समाहित हो जाते हैं। तत्पश्चात् भगवान् नर-नारायण वहाँ पधारते हैं। वे दीर्घकाय, मेघवर्ण तथा चतुर्भुज होते हैं, उनके विशाल नेत्र और मुनियोंका वेश होता है। अपने साथ आये मुनीन्द्र-मण्डल सहित वे भी भगवान् श्रीकृष्णके परम सुन्दर श्रीविग्रहमें समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार विलक्षण दिव्य दर्शन पाकर समग्र देवगण परमाश्चर्यमें समा जाते हैं। उन सभीको पूर्ण विश्वास हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परात्पर परब्रह्म पूर्ण भगवान् हैं और उनके संकट-निवारणमें वही एकमात्र समर्थ हैं।

देवगण तब भगवान्‌के सम्मुख अपनी सम्पूर्ण व्यथा निवेदन कर देते हैं, और भगवान् श्रीकृष्ण भी उन्हें पूर्णतया आश्वस्तकर गोलोकधामसे अपने-अपने लोकोंको बिदा कर देते हैं।

इन देवताओंके बिदा होनेके पश्चात् श्रीराधाजी भगवान्‌को सम्बोधित कर कहती हैं – "प्राणवल्लभ ! आप पृथ्वीका भार उतारनेके लिये उनके ब्रह्माण्डमें अवतार लेना चाहते हैं, सो मैं आपकी रुचिका कदापि विरोध नहीं करती। किन्तु ऐसा करनेके पूर्व यह निश्चय ही जान लीजियेगा कि मैं आपके वियोगमें क्षणभर भी जीवित नहीं रह पाऊँगी। प्राणप्यारे ! आपके इस निर्णयको सुनने मात्रसे ही मेरे प्राण तो अधरोंतक पहुँच गये हैं। वे इस शरीरसे आपके गमनके साथ ही इस प्रकार उड़ जावेंगे, जैसे कपूरके कण उड़ जाते हैं।

अपनी प्रियाके उक्त वचन सुनकर भगवान् उसे ढाढस दिलाते हुए बोलते हैं– "प्राणवल्लभे ! तुम कदापि विषाद मत करो । मैं कदापि भूमण्डलपर एकाकी अवतार नही लूँगा। मेरे साथ ही वहाँ तुम भी निश्चय ही अवतरित होओगी। " इसपर श्रीमती श्रीराधा बोलीं– "हे मेरे जीवनसर्वस्व! जहाँ वृन्दावन नहीं है, यमुना नहीं है, एवं गिरिराज गोवर्धन पर्वत भी नहीं है, भला मैं उस ब्रह्माण्डमें कैसे रह पाऊँगी ? "

अपनी प्रियाकी अति भोली बातें सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कुराये। उन्होंने तत्क्षण ही अपने गोलोकधामसे चौरासी कोसकी व्रजभूमि, गोवर्धनपर्वत और यमुनानदीको भी भूतलपर भेजनेका निश्चय कर लिया। तुरंत ही भगवान्ने उस ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता नारायणदेवको आदेश दिया –"हे वैकुण्ठपति ! मैं मथुरामें श्रीवसुदेवजी एवं देवकीके गर्भसे जन्म-ग्रहण करने वाला हूँ। मेरे कलास्वरूप भगवान् शेष, जिनकी गोदमें यह गोलोकधाम स्थित है, मेरे संग ही श्रीवसुदेवजीकी दूसरी पत्नी रोहिणीके गर्भसे अवतरित होंगे। साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी राजा भीष्मकके घर पुत्रीरूपमें जन्म लेंगी। इनका नाम रुक्मिणी होगा। श्रीपार्वतीजी जाम्बवतीके नामसे पृथ्वीपर जन्म धारण करेंगी। यज्ञपुरुषकी पत्नी श्रीमती दक्षिणादेवी वहाँ लक्ष्मणा नामसे अवतार लेंगी। यहाँ जो विरजा नामकी नदी है, वे वहाँ कालिन्दीके नामसे जानी जावेंगी। भगवती लज्जाका नाम भद्रा होगा। समस्त पापोंका प्रशमन करनेवाली श्रीगंगादेवी मित्रविन्दाके नामसे अवतार लेंगी। जो इस समय मेरी सेवामें कामदेव हैं, वे ही महालक्ष्मी रुक्मिणीजीके गर्भसे शम्बरारि प्रद्युम्न होंगे। श्रीब्रह्माजी अपने अंशसे प्रद्युम्न-पुत्र अनिरुद्ध होंगे। ये वसु, जो द्रोणके नामसे विख्यात हैं, व्रजमें नन्दगोप होंगे, इनकी प्राणप्रिया धर्मपत्नी धरादेवी यशोदा होंगी। नृगपुत्र सुचंद्र वृषभानु होंगे, और इनकी सहधर्मिणी कलावती कीर्त्तिदाके रूपमें विख्यात होंगी, जिनके गर्भसे मेरी प्राणप्रिया श्रीराधाका जन्म होगा। मैं इन मेरी प्राणप्रिया श्रीराधा एवं गोपांगनाओंके साथ उसी प्रकार रासविहार करूँगा जैसे यहाँ करता हूँ। हे चतुर्भुज ! सुबल और श्रीदामा, मेरे सखा उपनंद और सन्नन्दके पुत्र होंगे। मेरे तोक, अर्जुन एवं अंशुमान् आदि सखा नौ नंदोंके यहाँ जन्म ग्रहण करेंगे। इसी प्रकार छह वृषभानुओंके घर मेरे विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ, और वरूथप अवतीर्ण होंगे। हे चतुर्भुज ! जिनके यहाँ नौ लाख गायें रहती हैं वे नन्द कहलाते हैं। इसी प्रकार दस लाख गायोंको रखनेवाला वृषभानु कहलाता है।

वृषभानुपुरके राजा जो गोपराज वृषभानुवर होंगे, उनके आधीन एक करोड़ गायें होंगी। श्रीनन्दराय जो नन्दोंके राजा होंगे, उनके पास पचास लाख गोधन होगा। यह सभी संख्या दुग्ध दान देनेवाली गायोंकी है। हे वैकुण्ठनाथ ! दस कोटिकी संख्याको अर्बुद कहते हैं, और जहाँ दस अर्बुद संख्या होती है, उसे यूथ कहा जाता है। ब्रजमें मेरी प्रियाकी सेवा करनेके लिये गोपियोंके सौ यूथ और उनकी यूथेश्वरियाँ जन्म लेंगी। इनमें कुछ तो गोलोकवासिनी नित्य गोपियाँ हैं, जो मेरी प्रियाकी अति अंतरंगा हैं, अनेकों कुंज, निकुंजोंमें द्वाररक्षिका होंगी, अनेकों श्रृंगार-सामग्रियोंकी देख-रेख करनेवाली होंगी। अनेकों शय्या सहेजनेवाली होंगी। अनेकों गोवर्धन गिरिकन्दराओंमें मेरी परम गोपनीय लीलाओंकी व्यवस्था देखनेवाली होंगी। इसी प्रकार वृन्दा, रमा, मधुमाधवी, विरजा, ललिता, विशाखा, एवं मायादिके असंख्य यूथ ब्रजमें मेरी मधुर लीलाओंमें सहयोगी होंगे। अनेक अति अंतरंग यूथ कम संख्याके भी होंगे।"

## गोपियोंके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

"हे पुरुषोत्तम ! पूर्व कालमें श्रुतियोंने श्वेतद्वीप जाकर वहाँ मेरे स्वरूपभूत भूमा पुरुषका मधुर वाणीसे स्तवन किया था। जब सहस्रपाद विराटपुरुष उनसे प्रसन्न होगये तो उन्होंने उनसे यही वर माँगा कि हमें विशुद्ध आनन्दस्वरूप ब्रह्मके दर्शन हों। श्रुतियोंकी इस प्रार्थनापर भगवान् भूमाने उन्हें गोलोकधाममें मेरे दर्शन कराये। मुझ विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप, अविनाशी, सर्वथा निर्विकार परमात्माके दर्शन करते ही श्रुतियाँ कृतकृत्य होगयीं। तत्वरहस्यका अनुसंधान करती हुई इन श्रुतियोंमें मेरे परम मनोहर रूपको देखकर मेरे प्रति कामिनी भाव जाग्रत हो उठा। वे सभी मेरे विरहतापसे संतप्त हो उठीं। अब तो वे यहाँ रहनेवाली अन्य गोपियोंकी तरह ही मेरे प्रति उत्कट मिलनेच्छा रखने लगीं। वे मेरे चरणोंका क्षणभरका वियोग भी सहनेमें असमर्थ थीं। उनकी ऐसी भावभरी दशा देखकर मैं उनसे कहूँगा – "हे श्रुतियों ! तुम सभी मेरे प्रति जिस परम निर्मल प्रेमभावको रखकर मेरा परम सुदुर्लभ नित्य संग चाहती हो, उसका मैं भलीभाँति अनुमोदन करता हूँ। सारस्वत कल्पमें जब ब्रह्माजी जगत्की रचनामें संलग्न होंगे, और उस कल्पकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीका द्वापर युग होगा, तभी

तुम सभी श्रुतियोंका जन्म ब्रजमें गोपियोंके रूपमें होगा। उस समय भूमण्डलमें भारतवर्षमें माथुरमण्डलके अन्तर्गत वृन्दावनमें रासमण्डलमें मैं तुम्हारा प्रियतम बनूँगा। तुम्हारा उस समय मेरे प्रति ऐसा सुदृढ़ प्रेम होगा, जो मुझे अपने वशमें करनेवाला होगा। तब तुम सभी श्रुतियाँ मुझे पाकर सफल मनोरथ होओगी। हे वैकुण्ठनाथ ! पूर्व कल्पमें मैंने जो श्रुतियोंको वर दिया था, उसीके प्रभावसे वे ब्रजमें गोपियाँ बनेंगी। अब अन्य गोपियोंके लक्षण सुनो।"

"त्रेतायुगमें देवताओंकी रक्षा और राक्षसोंका संहार करनेके लिये मेरे स्वरूपभूत महापराक्रमी श्रीराम अवतार लेंगे। वे श्रीविश्वामित्र मुनिके साथ राजा जनककी पुत्री सीताके स्वयंबरमें जनकपुरी जावेंगे, और वहाँ स्वयंवरमें धनुष भंजनकर श्रीसीताजीके साथ विवाह करेंगे। उस अवसरपर जनकपुरीकी असंख्य स्त्रियाँ श्रीरामचंद्रजीको देखकर प्रेमविह्वल हो उठेंगी। वे इतनी प्रेमातुर होंगी कि एकान्तमें उन महाभागसे अपना अभिप्राय भी प्रकट कर देंगी – "हे राघव ! आप इस राजकुमारीके साथ-साथ हमारे भी प्राण-प्रियतम बन जावें। हे राम ! कुलवती नारियाँ अतिशय शीलवश लज्जाके कारण अपना काम-मनोरथ प्रायः प्रकट नहीं कर पातीं। किन्तु आपके प्रति अत्यधिक बढ़े हुए प्रेमके कारण हम निर्लज्जताको भी वरणकर आपके सम्मुख अपनी कामना प्रकट कर दे रही हैं। हे प्राणवल्लभ ! हमें किसी भी प्रकार अंगीकार करनेमें अब विलंब मत करो। हमारी प्रेम-विरहदशा अब ऐसी हो रही है कि हम आपका वियोग पलभर भी सहनेमें असमर्थ हो रही हैं।"उस समय जनकपुरीकी उन कामिनियोंकी दशा देखकर श्रीराम रूपमें मैं उनसे कहूँगा – "सुन्दरियो ! तुम शोक मत करो। द्वापरके अंतमें मैं तुम सबकी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा। तुम परम श्रद्धा एवं भक्तिके सहित तीर्थ, दान, तप, शौच एवं सदाचारका पालन करती हुई मेरा मन-ही-मन पतिरूपमें ही पूजन करती रहो। मैं तो सभीका एकमात्र उपादान एवं कारण होनेके कारण पति हूँ ही। तुम्हारे पतियोंके रूपमें अभी भी मैं ही तुम्हारे पास हूँ। तुम सभीको ब्रजमें गोपी होनेका निश्चय ही सुअवसर प्राप्त होगा। हे वैकुण्ठनाथ ! श्रीरामके रूपसे पाये मेरे वरदानके कारण ये अवध पुरीकी कामिनियाँ भी ब्रजमंडलमें अवतार लेंगी।

इसके पश्चात् स्वयंवरमें श्रीमहादेवजीके पिनाक धनुषका भंजन कर देनेके कारण श्रीरामपर भृगुनन्दन श्रीपरशुरामजी अतिशय कुपित हो उठेंगे। किन्तु भगवान् रामके शील एवं शौर्य दोनोंके सम्मुख अपनेको अति तुच्छ

अनुभवकर वे उनसे परास्त हो जायेंगे। श्रीरामका पाणिग्रहण श्रीसीताजीके साथ निर्विघ्न सम्पन्न हो जायगा। वे जब श्रीसीता सहित अयोध्यावासियोकी बारातमें जनकपुरके राजपथसे गुजरेंगे, तो अपने-अपने महलोंके छज्जोंपर खड़ी होकर बारातकी शोभा देखतीं जनकपुरीकी अनगिनत स्त्रियाँ श्रीरामकी कमनीय कान्ति देखकर मोहित हो उठेंगी। वे सभी स्त्रियाँ मन-ही-मन श्रीरामको पतिरूपमें वरण कर लेंगी। उस समय भी श्रीरामके रूपमें सर्वान्तर्यामी मैं उन स्त्रियोंको वर दे दूँगा –"तुम सभीका मनोरथ पूर्ण हो। तुम सभी ब्रजमें गोपीरूपमें जन्म ग्रहण करो। उस समय मैं तुम सबकी इच्छा पूर्ण करूँगा।"

"हे वैकुण्ठनाथ ! इसके पश्चात् श्रीराम अयोध्या पहुँचेंगे । सारी अयोध्या ही उन्हें उस समय देखनको उमड़ उठेगी। श्रीरामका अतिशय मन्मथ-मन्मथ रूप देखकर अयोध्याकी कामिनियोंकी भी वही दशा होगी, जो दशा जनकपुरीकी स्त्रियोंकी हुई थी। श्रीरामको देखकर वे सभी प्रेमसे विह्वल हो मूर्च्छितप्राय हो जावेंगी। वे सभी श्रीरामके परायण होकर व्रत करेंगी और सरयूमें स्नानकर घोर तप करने लगेंगी। तब उनके लिये भी मैं आकाशवाणी करूँगा कि "हे अयोध्याकी रमणियों ! तुम सब सफल मनोरथ होओ। द्वापरके अंतमें यमुनाके किनारे वृन्दावनमें तुम सबके मनोरथ पूर्ण होंगे। इसमें सर्वथा संदेह मत मानना।"

"आगे श्रीराम पिताकी आज्ञासे दण्डकवनकी यात्रा करेंगे। उस समय उनके साथ श्रीसीताजी एवं लक्ष्मण भी होंगे। वहाँ उन्हें बहुतसे मुनि मिलेंगे। ये मुनिलोग गोपाल वेशधारी भगवान् श्रीकृष्णके उपासक होंगे। ये सभी मुनिलोग जब भगवान् श्रीरामको धनुषबाणधारी और तापसवेषमें जटाजूट धारण किये देखेंगे तो इन सभीका ध्यान उनके रूपपर आसक्त होकर लग जायगा। वे मन-ही-मन कह उठेंगे – 'अहो, आज तो हमारे गोपालजी वंशी और बिना लकुटके ही पधारे हैं। इस प्रकार मन-ही-मन वे सभी श्रीरामको प्रणाम करेंगे। उनकी भक्ति-भावना देखकर श्रीरामजी उनसे प्रसन्न हो जावेंगे। जब अति प्रसन्न हुए श्रीरामजी उनसे वर मांगनेको कहेंगे तो वे सभी एक स्वरमें उनसे यही वर माँगेंगे कि 'आप इन सीताजीको जितने प्रिय लगते हो, उतने ही प्रिय हमें भी लगो। हम सभी श्रीसीताजीके समान ही आपको प्रेम करना चाहते हैं।'

"उनके मनका मनोरथ समझकर श्रीराम उन्हें यह उत्तर देंगे – "हे मुनिजनों ! यदि आप सभी मुझसे मेरे भाई लक्ष्मणका-सा प्रेम माँगते तो मैं

आपको अभी सफल-मनोरथ कर देता। परन्तु आप सभीने तो मुझसे श्रीसीताजीका प्रेम चाहा है, अतः यह वर कठिन और दुर्लभ है। इस समय मैंने एकपत्नीव्रत धारण किया हुआ है, मैं मर्यादा पुरुषोत्तम भी कहलाता हूँ। अतः तुम सभीको द्वापरके अंतमें जन्म धारण करना होगा। वहाँ मैं तुम्हारे इस उत्तम मनोरथको अवश्य पूर्ण करूँगा।"

"इस प्रकार वर देकर श्रीराम पंचवटी पधारेंगे । अपने शेष वनवासकी अवधि वे वहीं पूरी करेंगे। उस समय भीलोंकी अनेकों स्त्रियाँ उन्हें देखेंगी । श्रीरामकी अपूर्व सुन्दरता देखकर वे सब भी उनपर मोहित हो उठेंगी। उनसे मिलनेकी अति उत्कट इच्छासे ये प्रेमसे विह्वल हो उठेंगी। वे श्रीरामके चरणोंकी धूलि लेकर प्राणत्याग करनेको तत्पर हो जावेंगी। उस समय श्रीराम ब्रह्मचारीके वेषमें उनके पास आवेंगे, और उन्हें आश्वासन देते हुए उन्हें प्राणत्यागके अति गर्हित कार्यसे रोकेंगे। वे उनसे कहेगे –"रमणियों ! तुम व्यर्थ ही प्राणत्यागका संकल्प कर रही हो। ऐसा कदापि मत करना। द्वापरके अंत आनेपर मैं वृन्दावनमें तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण करूँगा। यह आदेश देकर श्रीरामका वह ब्रह्मचारी रूप अन्तर्धान हो जायेगा।"

"हे हरि ! वैकुण्ठमें विराजनेवाली श्रीरमादेवीकी सहचरियाँ, श्वेतद्वीपमें रहनेवाली उनकी सखियाँ, भगवान् अजितके आश्रयमें ऊर्ध्व-वैकुण्ठमें निवास करने वाली देवियाँ तथा लोकालोक पर्वतपर रहनेवाली समुद्रसे प्रकट हुई उनकी सखियाँ – ये सभी भगवान् कमलापतिके वरदानसे व्रजमें गोपियाँ होंगी। पूर्वकृत विविध पुण्योंके प्रभावसे कोई दिव्य, कोई अदिव्य और कोई सत्व, रज, तम – तीनों गुणोंसे युक्त देवियाँ ब्रजमण्डलमें गोपीरूप धारण करेंगी।"

"हे हरि ! रुचिके यहाँ अवतीर्ण द्युलोकपति रुचिरविग्रह भगवान् यज्ञको देखकर देवांगनाएँ प्रेम-रसमें जब निमग्न होजावेंगी तो वे सभी देवलजीके उपदेशसे हिमालय पर्वतपर जाकर परम भक्तिभावसे तपस्या करने लगेंगी। वे सभी भी मेरे इस अवतारकालमें ब्रजमें गोपी रूप धारण करेंगी।

भगवान् ! जब इस भूतलपर अन्तधान हुए थे, उस समय असंख्य ओषधियाँ अत्यंत दुःखसे डूब गयीं। उन सभीने अपनेको निष्फल जीवन मानकर सुन्दर स्त्रीवेश धारणकर तपस्या करनेका निश्चय किया। वे अनवरत चार युगोंतक तपस्या करती रहीं। उनपर जब मैं पूर्ण प्रसन्न हुआ और उनसे मैंने

वर माँगनेको कहा तो वे मेरा मनोहर रूप देखकर ही मोहित हो गयीं। उनकी तो मुझसे यही माँग थी कि हमारे पतिरूपमें ही हमें आप मिलें। तब प्रसन्न होकर मैंने उन्हें यही वर दिया कि तुम सभी लतास्वरूपमें मेरे वृन्दावन धाममें रहोगी। वहाँ रासके समय मैं तुम सभीका मनोरथ पूर्ण करूँगा। हे हरि! ये सभी ओषधिस्वरूपा वरांगनाएँ वृन्दावनमें लतागोपी होंगी।"

"इसी प्रकार जालंधर नगरकी स्त्रियाँ जब मुझ वृन्दापतिका दर्शन करेंगी तो मन-ही-मन संकल्प करेंगी कि ये श्रीकृष्ण ही हम सभीके स्वामी हों। उस समय उन सभीके लिये मैं आकाशवाणी करूँगा – "तुम मेरी आराधना करो, फिर मेरी प्रिया वृन्दाकी तरह तुम सब भी वृन्दावनमें मेरी प्रिया गोपी होओगी।"

"इसी प्रकार मत्स्यावतारके समय मुझको देखकर सभी मत्स्यकन्याएँ मुझपर मुग्ध हो जावेंगी। मुझ भगवान् मत्स्यके वरदानसे वे सब भी ब्रजमें गोपियाँ होंगी।"

"हे हरि ! मेरे अंशस्वरूप राजा पृथु बड़े प्रतापी थे। उस समय बर्हिष्मती नगरीमें रहनेवाली बहुत सी स्त्रियाँ उन्हें देखकर मोहित होगयीं थीं। अतिशय प्रेमसे विह्वल हुई वे महर्षि अत्रिके पास गयीं। उन सभीने महर्षिसे महाराज पृथुको पतिरूपमें पानेका उपाय पूछा। महर्षिने उन सभीसे कहा कि ये धरणीदेवी सब वरदान देनेमें समर्थ हैं। ये अपार धारणामयी हैं। तुम्हारे सभी मनोरथोंको – चाहे वे समुद्रके समान अगाध, अपार, दुर्गम, एवं असाध्य ही क्यों न हों, ये भगवती हरिप्रिया अवश्य पूर्ण कर देंगी। हे हरि ! तब उन स्त्रियोंने अपने-अपने मनोंको ही दोहनपात्र बनाया, और अपने मनोरथोंका दोहन किया। इसी कारण वे सभी स्त्रियाँ वृन्दावनमें गोपियाँ बनेंगी।"

"हे वैकुण्ठनाथ ! बहुतसी श्रेष्ठ अप्सराएँ जिनका रूप अत्यंत मनोहर था, और जो कामदेवकी सेनाएँ थीं, भगवान् नारायण ऋषिको मोहित करनेके लिये गन्धमादन पर्वतपर गयीं थीं। परन्तु उनका अलौकिक तेज और सौन्दर्य देखकर वे स्वयं मोहित हो उठीं। उन सभीके मनोंमें भगवान् नारायणको ही अपना पति बनानेका भाव प्रबल हो उठा । तब उन महासिद्ध तपस्वी नारायण मुनिने उन सभीसे कहा – "तुम सभी ब्रजमें गोपी रूपमें जन्म लोगी, तब तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण होगा।"

" इसी प्रकार सुतल देशकी स्त्रियाँ जब भगवान् वामनको देखकर उन्हें

पानेके लिये अति उत्कटरूपसे लालायित हो उठती हैं, तो वे सभी घोर तपस्यामें रत हो जाती हैं। उस समय उनपर प्रसन्न हुआ मैं उन्हें यही वरदान देता हूँ कि उन सभीका मनोरथ द्वापरके अंतमें उनके गोपी रूपमें जन्म लेनेके पश्चात् ही पूर्ण होगा।"

*द्वापरान्ते करिष्यामि भवतीनां मनोरथम्।*
*श्रद्धया परया भक्त्या व्रजे गोप्यो भविष्यथ।।*

"हे वैकुण्ठनाथ ! इस प्रकार जो-जो मेरे विभिन्न अवतारोंके समय मुझसे प्रत्यक्ष या मूक माधुर्यभावकी लालसा रख चुके हैं उन सभीको मैंने 'एवमस्तु' का वरदान दिया है। उन सभीको ब्रजमें आप गोपीरूपमें जन्मग्रहण करानेकी व्यवस्था करें।"

" जिन प्रपञ्चगत जीवोंने, साथ ही ऋषियों एवं मुनियोंने, अपने सहस्रों जन्मोंकी कठोर तपश्चर्या एवं सतत साधनाके उपरान्त मुझ जगदीश्वरकी कृपा प्राप्त की थी, एवं मुझसे अपनी माधुर्योपासनाकी सिद्धिकी याचना की थी और 'तथास्तु'का वरदान भी प्राप्त कर लिया था, उन सभीकी गणना मेरी अचिन्त्य लीलामहाशक्ति योगमायाके पास सुरक्षित है। हे नारायण ! उन सभीको आप मेरे प्राकट्यके समय ब्रजमण्डलमें गोपीरूपमें अवतरित करें।"

इस प्रकार भगवान् गोलोकेश्वर श्रीकृष्णका आदेश पाकर भगवान्की आज्ञानुसार सब विधान करने तत्कालीन वैकुण्ठपति अपने लोकमें चले आये।

अब गिरिराज गोवर्धन पर्वत बने भगवान् नारायण ब्रजमें पर्वत बने त्रिदेवोंको पुनः भविष्यमें ब्रजभूमिमें होनेवाली भगवान् गोलोकेश्वरकी अवतरणलीलाका सविस्तार वर्णन सुनाने लगे।

---

# बृहद्वन एवं बृषभानुपुरमें लीलापात्रोंका अवतरण

गिरिराज पर्वत बने भगवान् नारायण कहते हैं –" हे त्रिदेवों ! यथाकालचक्रानुसार भगवती लीलामहाशक्ति कलिन्दनन्दिनी यमुनाके सुरम्य पुलिनपर साक्षात् गोलोकधामकी छाया (प्रतिबिम्ब)के रूपमें अति रमणीय परम पावन बृहद्वनका निर्माण कर देगी। तत्कालीन माथुरमण्डलके महाराजा शूरसेन गोपराज पर्जन्यको इस बृहद्वनका करद अधिपति नियुक्त कर देंगे। प्रचलित प्रथानुसार उन दिनों 'नन्द' उपाधि उसीको मिलेगी, जिसके पास नौ लाख या उससे अधिक गौएँ होंगी।

इसी प्रकार दस लाखसे ऊपर दुधारू गौएँ रखनेवाले गोप 'बृषभानु' उपाधिसे सुभूषित होंगे। जिस प्रकार बृहद्वनमें महानन्द पर्जन्यजीको नन्दोंका अधिपति चयन किया जायेगा उसी प्रकार इस ब्रह्मगिरि, विष्णुगिरि एवं रुद्रगिरि पर्वतक्षेत्रके अधिपति महीभानु गोपराज होंगे। बृहद्वनमें बसनेके पूर्व पर्जन्य गोप भी रुद्रगिरि पर्वतके प्रदेशमें नन्दग्राम नगर बसाकर रहेंगे। ये महाराजा महीभानुके अधीनस्थ करद गोप होंगे। पुरातन सम्बन्धोंका निर्वाह करते हुए सभी नन्द अपनेको बृहद्वनमें बसनेके पश्चात् भी महाराजा महीभानुके आधीन ही समझेंगे, एवं महाराजा महीभानुको ही सम्पूर्ण ब्रजमण्डलके गोपोंके राजाका सम्मान प्राप्त होगा। ये महाराजा महीभानु बृषभानुओंके राजा होंगे एवं इनके स्वयंके पास भी दस करोड़ दुधारू गायें होंगी। इनके आधीन आसपास बसे सभी बृषभानुओंमें प्रत्येकके पास दसों लाख गायें होंगी।

ये महाराजा महीभानु बड़े ही तेजस्वी, धर्मात्मा एवं समृद्ध राजा होंगे। पराभट्टारिका आदि-महाशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी इनकी कुलदेवी होंगी और इनका सम्पूर्ण जीवन इन महादेवीकी उपासना एवं तपश्चर्यामें ही व्यतीत होगा। ये महातपस्वी, योगनिष्ठ महापुरुष, योगमाया भगवती त्रिपुराके असीम कृपापात्र निज-जन होंगे और इन्हें ये आद्याशक्ति प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपनी कृपावर्षाकी छायामें ही सदा रखेंगी। महारानी सुखदा इन पूर्ण तपस्वी महाराजाकी

सहधर्मचारिणी पत्नी होंगी और इनपर भी भगवती त्रिपुराकी सहज कृपा होगी। ये दोनों पति-पत्नी प्रायः अपना समग्र जीवन उपासनामें ही व्यतीत करेंगे एवं राजकाजका समस्त भार विश्वासपात्र मंत्रीगण ही वहन करेंगे।

भगवती त्रिपुरसुन्दरीका संकेत पाकर ही ये गृहस्थधर्मका पालन करेंगे और इनके चार अति तेजस्वी धर्मात्मा पुत्र होंगे। ये चारों पुत्र इनके स्वयंके समान ही धर्मात्मा, सदाचारी, प्रजावत्सल एव गोसेवक होंगे। इनके अतिरिक्त महाराजा महीभानुके एक पुत्री भी होगी। इन चारों पुत्रोंके नाम (१) बृषभानुवर (२) भानुवर (३) रत्नभानुवर एवं (४) स्वर्भानुवर होंगे एवं इनकी पुत्रीका नाम भानुमुद्रा होगा। भानुमुद्राके पतिका नाम काश्यभानु गोप होगा।

हे चतुरानन ! ब्रह्मगिरि नामक जिस पहाड़ीका स्वरूप धारण किये हुए जिस स्थलपर आप स्थित हैं, उस गिरिकी रम्य तलहटीपर ही गिरिस्रोतके किनारे महाराजा महीभानुकी राजधानी स्थापित होगी। पराभट्टारिका भगवती त्रिपुरसुन्दरी कामेश्वरांकनिलया योगमाया स्वयं अपने हाथों इस नगरीकी रचना करेंगी। इस नगरीका वैभव, सौन्दर्य, पावित्र्य एवं तेजस्विता भगवतीके स्वयंके धाम श्रीपुरके समानान्तर ही होगा। क्योंकि भगवतीके धामसे बढ़कर सुन्दर तो कुछ है ही नहीं, और भगवती स्वयं इसकी रचना कुछ न्यून करेंगी भी नहीं । इस परम मंगलमय महाधामकी तेजस्विता इतनी अधिक होगी कि भगवान् सूर्यदेव भी जब इसके ऊपरसे अपना रथ हांकेंगे तो वे भी इसके सौन्दर्य एवं तेजसे अभिभूत हो उठेंगे।

इस बृषभानुपुरके आसपास अनेक गोप अपने अपार गोधन सहित निवास करेंगे और करोड़ों गायोंके स्वामी होनेके कारण ये सभी बृषभानु ही होंगे।

## सखी ललिताका जन्म–प्रसंग

इनमेंसे कुछ-एक महाभाग्यशाली गोपोंके नाम भी उल्लेख कर देता हूँ। हे त्रिदेवों ! बृषभानुपुरके पार्श्वमें ही एक पहाड़ीपर सत्यभानु गोपका निवास होगा। ये महोदार बृषभानु होंगे एवं उनके घरसे कोई याचक कभी निराश नहीं

लौटेगा। विशोक गोप भी इनका उपनाम होगा। ये किसीको भी शोकग्रस्त देखकर स्वभावतः ही उसका शोक दूर करनेको उद्यत हो उठेंगे। इनका विवाह कीर्त्तिदाकी मौसेरी बहिन सत्यकलाके साथ होगा। इन सत्यकलाका एक नाम शारदा भी होगा। ये गोपराज बृषभानुपुरके पार्श्वमें ही स्थित एक पहाड़ीकी तलहटीमें स्थित उच्चग्राम (ऊँचेगाँव)में निवास करेंगे। प्रिया श्रीराधाकी प्रधान सखी ललिताका जन्म इन्हींकी पतिपरायणा धर्मपत्नी माता सत्यकलाकी कोखसे होगा। इनकी जन्म-सम्बन्धी घटना भी अति विचित्र होगी।

एक बार भगवती पराभट्टारिका आदिशक्ति योगमायाके आदेशानुसार कीर्त्तिदा अपनी छोटी बहिन कीर्त्तिमतीको लेकर अपनी मौसेरी बहिन शारदासे मिलने उच्चग्राम आवेंगी। कीर्त्तिदाके साथ उनका पुत्र श्रीदाम उनकी गोदमें होगा और कीर्त्तिमतीकी गोदमें उनकी स्वयंकी पुत्री कुन्दलता सुशोभित होगी। राजकुमार श्रीदाम उस दिन एक वर्ष एक मास एवं सत्रह दिनका होगा। दोनों भाई-बहिन – कीर्त्तिमतीकी पुत्री एवं श्रीदाम परस्पर एक दूसरेका हाथ थामे वहाँ घरमें आकर क्रीड़ा करने लगेंगे। तीनों बहनें – कीर्त्तिदा, कीर्त्तिमती एवं शारदा (सत्यकला) इन दोनों बच्चोंकी बालक्रीड़ा निरख रही होंगी। अचानक ही उन सबके समक्ष एक विलक्षण घटना घटित होगी। शारदा(सत्यकला)की कोखसे मानों सहस्रों दिवाकरोंका प्रकाश उदय हो उठा हो, इस भाँति एक विलक्षण तेजपुंज प्रकट होगा। वह तेजपुंज कुछ काल तो अन्तरिक्षमें स्थित रहेगा, तत्पश्चात् वह एक बालिकाके रूपमें परिणत हो, माता शारदाकी क्रोड़में खेलने लगेगा। वह बालिका कुछ ही कालमें उठकर शारदा (सत्यकला)की क्रोड़से खडी होकर उन क्रीड़ा करते दोनों भाई-बहिनोंसे मिल जायगी। सीमाहीन आश्चर्यमें डूबी तीनों बहिनोंके लिये यह निर्णय करना ही असंभव हो जायगा कि यह घटना सत्य घटित हो रही है अथवा वे कोई स्वप्न देखने जारही हैं। उस समय तीनों बहिनें इतनी भावप्रवण हो उठेंगी कि उनके अंग-प्रत्यंगमें जडिमाभाव उदय हो जायगा। उधर वे तीनों शिशु यंत्रित-से क्रीड़ा करते रहेंगे। अचानक ही वह सद्योजात बालिका ललिता अतिशय मृदुल मुसकानमें भरकर बोल उठेगी – "अहो ! यह मेरी मैया है !" इतनेमें ही दूसरा बालक श्रीदाम भी अपनी मैयाके कण्ठसे झूलकर कहेगा–'यह मेरी मैया है !' तीसरी बालिका भी इसी प्रकार अपनी मैया कीर्त्तिमतीके कण्ठसे लगकर यही आवृत्ति दुहरावेगी। किन्तु अन्तमें माताओंके इस कथनपर कि हम तीनों तुम

तीनोंकी माताएँ हैं, वे बालक प्रसन्न हो उठेंगे और इसे उत्फुल्ल चित्तसे स्वीकृति दे देंगे।

माताओंके सम्मुखसे यह दृश्य इसी समय एक काल्पनिक आभास-सा हो जायेगा और उन्हें अपनी बहिन शारदाके प्रसव होने और सद्यःप्रसूत बालिकाके रुदनकी लोकवत् प्रतीति हो उठेगी। बालिकाके जन्मोत्सवके मंगलकृत्य सम्पादित होने लगेंगे। दाई माँ धात्रीको बुलावा भेजा जायगा और लोकमें जिस प्रकार जन्मके कृत्य, संस्कार सम्पादित किये जाते हैं, सभी नालछेदन एवं जातकर्मसंस्कारादि प्रारंभ हो उठेंगे। इस परम सुन्दरी बालिकाका नामकरण 'ललिता' होगा। किन्तु उस समय उन बालिकाओंकी शिशुक्रीड़ाका जो विलक्षण दृश्य तीनों माताओंके सम्मुख प्रस्तुत हुआ था, उसे स्मरणकर तीनों माताएँ रह-रहकर विस्मित हो उठेंगी।

## सखी विशाखाका जन्म-प्रसंग

हे देवाधिदेवों ! इसी प्रकार इस बृषभानुपुर मंडलमें ही कामनावन(कामेई ग्राम) नामक स्थान स्थित है। यहाँ पावन (गुणभानु)गोपराजका निवास होगा। ये अत्यन्त उच्च कोटिके विद्वान् होंगे और अधिकांश शास्त्र इन्हें कण्ठस्थ होंगे। इन गुणभानु गोपकी पत्नीका नाम गुणकला(सुदक्षिणा) होगा। ये गुणकला भी कीर्त्तिदाकी दूरके रिश्तेकी बहिन होंगी। इन दोनोंमें इतना अधिक प्रेम होगा कि सगी बहिनोंमें भी ऐसा प्रेम देखनेको नहीं मिलेगा। इस प्रेमका ही यह अद्वितीय उदाहरण होगा कि जिस दिवस, जिस क्षण प्रिया श्रीराधाका भूमण्डलमें रावलग्राममें प्राकट्य होगा, ठीक, उसी क्षण इनके भी विशाखा नाम्नी कन्या आविर्भूत होगी। पुष्टिमार्गीय वल्लभ सम्प्रदायके वैष्णवगण राधाजन्माष्टमीसे पूर्व सप्तमी तिथिको प्रातःकाल इनका जन्मोसव मनाते हैं।

# सखी चित्राका जन्म-प्रसंग

हे त्रिदेवों ! बृषभानुपुरके दोनों पर्वत – विष्णुपर्वत एवं ब्रह्मपर्वतके मध्य तलहटीमें एक अत्यन्त लघु गली (खोर) है। यह गली (खोर) ही इन दोनों पर्वतोंकी सीमा कहनी चाहिये। इस गलीके एक ओर विष्णुपर्वतकी श्यामवर्णकी शिलायें खडी हैं और दूसरी ओर ब्रह्मपर्वतकी गौरवर्णकी शिलायें हैं। इस साँकरी खोरके समीप ही चित्रास्थली (चिकसौली) नामक स्थानपर रुचिभानु (चतुर) गोपराज निवास करेंगे। इनकी पतिव्रता धर्मपरायणा पत्नीका नाम रुचिकला(चर्चिका) होगा।

ये रुचिभानुजी ज्योतिष शास्त्रके उद्भट विद्वान् होंगे। ये सर्पमंत्रोंके भी विशेषज्ञ माने जायेंगे और यदि मनों गोदुग्धमें कोई थोड़ा-सा भी महिषीके दुग्धका मेल करदे, तो ये मात्र उसके दर्शनसे ही इसके मेलका रहस्य और मेलकी मात्रा भी बता सकेंगे। रसीले भोज्य वस्तुके निर्माणमें भी ये सिद्धहस्त होंगे। श्रीबृषभानुवर महाराजके यहाँ किसी भी उत्सवमें रसोई-निर्माणका कार्य ये ही अपनी देखरेखमें सम्पादित करावेंगे। मधुके भी ये पारखी होंगे। मधुको देखते ही ये पहचान लेंगे कि किस कीटने किस वृक्षके लता-पुष्पोंके मकरन्दसे इस मधुका निर्माण किया है।

इन महाभाग्यवान् रुचिभानु गोपके घर ही प्रिया श्रीराधारानीकी चित्रा सखीका जन्म होगा। ये रुचिभानु गोप बृषभानुवर गोपराजके अति विश्वस्त मंत्री होंगे।

# सखी इन्दुलेखाका जन्म-प्रसंग

हे त्रिदेवों ! ऊँचेगाँव(उच्च ग्राम)के पार्श्वमें सखीगिरि नामक स्थान है। यहाँ वरभानु गोपकी विलक्षण गौशाला होगी। अपनी कोटि-कोटि गौओंके सहित वरभानु नृपति यहाँ निवास करेंगे। इनकी कोकिलकण्ठी पत्नीका नाम वरकला होगा। वरभानुका नाम लोकमें सागर गोपके नामसे भी विख्यात होगा। इसी प्रकार वरकलाका भी वेला नाम प्रसिद्ध होगा। ये सागर (वरभानु) गोप संगीतकलामें निष्णात होंगे। इनका कण्ठ अत्यन्त गंभीर एवं सुरीला होनेसे भी

सखी श्रीललिताजी

इनका नाम 'सागर'गोप पड़ेगा।

इन महाभाग्य गोपराजके घर प्रिया श्रीराधारानीकी इन्दुलेखा सखीका जन्म होगा।

## सखी चम्पकलताका जन्म-प्रसंग

हे त्रिदेवों ! इसी प्रकार रुद्रगिरि पर्वत क्षेत्रमें एक विलक्षण चम्पावन होगा। इस अति सुरम्य स्थलपर चन्द्रभानु गोपका निवास होगा। ये चन्द्रभानु विविध कलाओंके ज्ञाता होंगे। वे द्यूतशास्त्रके बहुत बड़े विद्वान् होंगे। मिष्ठान्न बनानेमें भी ये पारंगत होंगे। इन चन्द्रभानु गोपराजको लोग आराम गोप भी कहेंगे। मिट्टीसे बहुत ही सुन्दर बर्त्तन, फूल, छोटे वृक्ष आदि संरचना करनेमें भी ये कुशल होंगे।

चन्द्रभानु गोपराजकी धर्मपत्नी चन्द्रकला देवी होंगी। गोपियाँ इनको वाटिका उपनामसे भी पुकारेंगी। इनकी अंगकान्ति चम्पाके पुष्पकी तरह होगी।

इन महासुन्दरी चन्द्रकला (वाटिका) गोपीकी कोखसे प्रिया राधारानीकी परम प्रेष्ठ सखी चम्पकलताजीका जन्म होगा।

यहाँ ध्यान रहे श्रीचन्द्रावली सखीके माता-पिताके नाम भी चन्द्रभानु एवं चन्द्रकला ही हैं। परन्तु वे इनसे भिन्न हैं। श्रीचन्द्रावलीजीका जन्म रीठौरा ग्राममें हुआ है। इसे चन्द्रावलीवन भी कहते हैं।

## सखी रंगदेवी एवं सुदेवीका जन्म-प्रसंग

हे देवाधिदेवों ! ब्रह्मगिरिके पास ही बहुत विलक्षण सुन्दर स्वर्णमय प्रस्तर खण्डोंका एक स्वर्णप्रस्थ पर्वत है। यहाँ अति सुन्दर कदम्ब वृक्षोंके कुञ्ज हैं। चतुर्दिक् जलाशय हैं और घने मनोहर कदम्ब वृक्षोंका आश्रय लेकर यहाँ स्वतः प्रकृतिने भिन्न-भिन्न रंगबिरंगी पुष्पलताओं द्वारा परस्पर गूँथकर विलक्षण रंगबिरंगे झूलोंका निर्माण कर दिया है। इस स्वर्णप्रस्थ पर्वतकी शोभाके सम्मुख कैलास पर्वतकी शोभा भी तुच्छ है। यहाँ सुरम्य वृक्षोंसे घिरी रासस्थलियाँ हैं, जहाँ निरन्तर मत्त हुए मयूर नृत्य करते रहते हैं। चतुर्दिक् कोकिलाएँ, पिक, शुक

सारिकाएँ कपोत कूजन करते रहते हैं। एकान्तिक रासविलासकी स्थलियाँ कदम्ब पुष्पोंकी सौरभसे महकती रहती हैं। इस पर्वतपर सदैव वसन्त एवं शरद ऋतु ही वर्तमान रहती हैं। ग्रीष्मका प्रभाव कदम्ब पुष्पोंकी सौरभमें अस्तित्वहीन हो जाता है। वर्षा ऋतुमें तो इस स्थानकी शोभा नन्दनकाननको भी पराजित कर देती है। वर्षाकी फुहारोसे जब कदम्ब वृक्ष नहा जाते हैं, मृत्तिकाकी सौंधी सुगन्ध जब कदम्ब पुष्पोंकी सौरभमें मिलकर मन-भ्रमरको उन्मत्त कर देती है, उस समय मन माधुर्याम्बुधिकी लहरोंमें डूब ही जाता है। यहाँ स्थान-स्थानपर मनोहर कलाकृतियोंका प्रदर्शन करते भिन्न-भिन्न रत्नोंके कुण्ड हैं।

इसी स्वर्गोपम स्थलपर हे त्रिदेवो ! महाराजा बृषभानुवर गोपराजके अतिशय विश्वासपात्र परम धर्मात्मा धर्मभानु गोपका निवास होगा। इन्हें रंगसार नामसे भी लोग पुकारेंगे। इनकी परम धर्मात्मा पत्नीका नाम धर्मकला होगा। ये वस्तुतः धर्मकी कला ही होंगी। इन दोनों पति-पत्नीमें धर्मपालनकी अद्वितीय निष्ठा होगी। मैया कीर्तिदाकी स्त्रियोचित ब्रत-त्यौहार आदि मनानेकी सभी व्यवस्था ये धर्मकला देवी ही करेंगी। इन धर्मकलाको गोपियाँ करुणाके उपनामसे भी पुकारेंगी, क्योंकि ये साक्षात् करुणाकी प्रतिमूर्त्ति ही होंगी।

इन परम धर्मात्मा गोपराजके घरमें ही प्रिया श्रीराधारानीकी अन्यतम परमप्रेष्ठ सखी रंगदेवी एवं सुदेवीका प्राकट्य होगा। श्रीरंगदेवी एवं सुदेवी परस्पर यमज बहिनें होंगी। इन दोनोंकी आकृतियाँ परस्पर इतना मेल खाती होंगी कि रंगदेवीको देखकर सुदेवीका भ्रम हो जायगा एवं सुदेवीको देखकर रंगदेवीका भ्रम हो जायगा।

## सखी तुंगविद्याजीका जन्म-प्रसंग

हे त्रिदेवो ! इसी प्रकार ब्रह्मगिरिसे कुछ ही दूरीपर एक और परम रमणीय विचित्र स्थल डभरार है। इसका नाम भविष्यमें 'डभारो' हो जायगा। इस डभरार स्थलीकी एक विशेषता है कि प्रिय-वियोगके तीव्र कष्टमें भी यहाँ प्रकृति एक ऐसी सरसताकी लहर उत्पन्न कर देती है कि मन पूर्णतया विरह-उद्वेलित नहीं हो पाता।

इस परम रम्य प्राकृत स्थलीमें सुभानु गोपराजका निवास होगा। इनकी

धर्मपत्नीका नाम सुष्ठुकला होगा। इन गोपराज एवं उनकी पत्नीको लोग पौष्कर एवं मेधाके नामसे भी पुकारेंगे। ये पति-पत्नी इतने स्वभाव-मधुर होंगे कि ये सभीको परमात्मीय, अपने-से-अपने एवं स्वाभाविक ही प्रिय लगेंगे। सुभानु गोपराज सर्व विद्याओंमें पारगत होंगे। रसशास्त्र, नीतिशास्त्र, नाट्यशास्त्र, गन्धर्वविद्या – इन सब विद्याओंमें इन दोनों पति-पत्नीकी कोई तुलना नहीं होगी। सुष्ठुकला गोपीका कुंकुमके समान अंगवर्ण इतना सुन्दर होगा कि दूरसे देखनेपर लोग इन्हें मानो साक्षात् भगवती पार्वती ही कैलास पर्वतसे आ रही हों, यही मानने लगेंगे।

इन सुभानु गोपराजके घरमें प्रिया श्रीराधारानीकी परमप्रेष्ठ सखी तुंगविद्याजीका जन्म होगा।

इन आठों सखियोंके जन्मके ही पश्चात् इस सम्पूर्ण क्षेत्रपर मनुष्यभक्षी राक्षसोंका भीषण सैन्यदल आक्रमण करेगा। इन राक्षसोंसे अपनी रक्षाका कोई उपाय नहीं देखकर ये सभी गोप अपनी रक्षाके लिये शरण लेने अपने समग्र गोधनको लेकर महाराज बृषभानुवर गोपकी राजनगरीकी ओर प्रस्थान करेंगे। इन सभी गोपोंको पूर्ण विश्वास होगा कि गोपराज बृषभानुकी पुरी जगन्माता योगमाया द्वारा पूर्ण सुरक्षित है एवं वहाँ प्रवेश हो जानेपर इनमेंसे किसीका बाल भी बाँका नहीं होगा। इन सभी गोपोंको, जब वे बृषभानुपुर पहुँचेंगे, महाराज बृषभानुवर स्वागत करते मिलेंगे और वे सभी अपने योग्य आवास पाकर गोधन सहित बृषभानुपुरीमें ही बस जावेंगे।

## भगवती श्रीराधाका लीलाधाम–बृषभानुपुर

हे त्रिदेवों ! मैं यह पहले ही कह चुका हूँ कि परम धर्मात्मा राजा महीभानु गोपके द्वारा ही ब्रह्मगिरि पर्वतकी गोदमें बृषभानुपुरके नामसे इन सब बृषभानुओंकी राजधानीका निर्माण होगा। इस परम पूत नगरीका निर्माण एवं इसकी नींव रखनेका कार्य आद्याशक्ति पराभट्टारिका भगवती त्रिपुराके संकेतसे स्वयं देवशिल्पी विश्वकर्मा करेंगे। विधाताका कौशल यहाँ कोई अर्थ ही नहीं रखेगा, क्योंकि विश्वकर्मा एवं उनके शिल्पी तो मात्र यंत्र ही होंगे, इसकी रचना तो स्वतः ही प्रकट होगी। यहाँ इस नगरीमें सब-कुछ सचिन्मय और

संधिनी शक्तिकी स्वतः स्वप्रकाश परिणति ही होगी।

यह श्रीराधाधाम सर्वथा अप्राकृत अनिर्वचनीय सृष्टि होगी। यह अघटन-घटना-पटीयसी योगमायाका पूर्ण स्वतंत्र आत्मविलास होगा। यह अपनी विशुद्ध चिज्ज्योतिसे सतत उद्भासित, समग्र तम एवं दुःखका मूलोच्छेदन करनेमें समर्थ अप्राकृत लोक होगा। चतुर्दश भुवनोंमें जितने भी अनमोल रत्न हैं वे सभी यहाँ उपलब्ध होंगे। वृक्षोंसे चिन्मय कल्पलताएँ लिपटी होंगी। भिन्न-भिन्न सुन्दर-सुन्दर रंगोंवाले, और असीम मनोरम सौगन्ध्य प्रसरित करनेवाले पुष्पोंके चतुर्दिक् अम्बार लगे होंगे। दिव्य रत्नोंसे बनी चतुःशालायें, अत्यन्त मूल्यवान चन्दनादि काष्ठोंपर जटित स्वर्ण और रजतके कपाट, रत्नोंकी विविध चित्रकारीसे समलंकृत होंगे। ऐसे कपाट सभी भवनोंमें लगे होंगे। सभी भवनोंको आधार देनेवाले मूलस्तम्भ ऐसे होंगे, मानो मणिपर्वतोंको ही काट-काटकर उनकी कलापूर्ण रचना की गई हो।

स्वर्णके झलमलाते कलश, दिव्य वेदियाँ, मुक्ता एवं प्रवालचूर्णसे निर्मित अत्यन्त चिकने प्रागण, कहीं स्वर्ण एवं कहीं स्फटिकसे बनी दीवारें – बृषभानुपुरी अपने दैदीप्यमान तेजसे इन्द्रपुरीकी तरह जगमग करेगी।

ब्रह्मगिरिके सर्वोच्च शिखरकी छत्रछायामें यह पुरी पर्वतके पश्चिम भागको पूरी समाच्छादित किये रहेगी। इसकी पूर्व दिशामें ब्रह्मगिरि शिखर इसके ऊपर छत्रकी तरह सुशोभित होगा। इस स्वर्णमय शिखरसे एक गिरिस्रोत इस सम्पूर्ण नगरीके दक्षिणमें प्रवाहित होता हुआ, सुदूर काननके आगे पश्चिम दिशामें यमुना नदीसे संगमित हो जायेगा। इस परम वैभवमयी नगरीके उत्तर दिशामें राजपथ होगा, जो परम सुरम्य पुष्पोंसे लदी लताओंसे समालिंगित होकर, वृक्षोंकी छायामें सुदूर नारायण पर्वत (गिरिराज)तक चला जायगा। इस पुरीको दूर-दूरतक चतुर्दिक् सुरम्य वन घेरे होगा जिसमें छोटी-छोटी पगडंडियाँ हरे-हरे तृणोंसे, गुल्मोंसे भरे वनोंमें लुप्त हो जावेंगी। नगरकी प्राची दिशामें अति विस्तृत सुदूर वनोंतक विशाल गौशालायें निर्मित होंगी, जिनकी संरचना रत्नमय पर्वतखण्डोंसे ही की गयी होगी। इन विशाल गोशालाओंमें महीभानु नृपतिकी असंख्य गौएँ, गोशावक, बछड़ियाँ, बलशाली वृषभ और उनके रक्षक असंख्य गोप-गोपी निवसित एवं कार्यरत होंगे। इनमें हस्तिशावकोंके समान विशाल गौएँ – कोई कृष्णा, कोई पीली, कोई लाल, कोई भूरी, कोई चितकबरी, अनेक वर्णोंकी अपने सद्यजात बछड़ों-बछड़ियों सहित बँधी होंगी।

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(पञ्चम खण्ड)

पृष्ठ संख्या 101-200 तक

इन सभी गायोंके पृथुल स्तन भूमिसे कुछ ही ऊँचे रहेंगे और ये दूध देनेमें कामधेनुके समान होंगी। नित्य ब्राह्म मुहूर्त्तसे ही गोपाल इनकी सेवामें निरत हो जावेंगे और जब इनका दुग्ध-दोहन कार्य ये ग्वाल-गोपाल करेंगे तो इस गोदोहन-ध्वनिसे सम्पूर्ण बृषभानुपुर निनादित हो उठेगा। गोदोहन करके युवक ग्वाल तो इन गौओंको चराने वनकी ओर ले चलेंगे एवं ग्वालिनियाँ स्वर्ण-चरियोंमें दूध भर-भरकर बृषभानुभवनके भण्डारोंमें देनेके लिये भवनकी ओर जब अनेक पंक्तियोंमे चलेंगी तो उनकी शोभा साक्षात् लक्ष्मीको भी लजानेवाली होगी।

इस बृषभानुभवनको चारों ओरसे सन्तान, कल्पवृक्ष, हरिचन्दन कदम्ब, मन्दार, पारिजातादि असंख्य वृक्ष घेरे होंगे। यहाँ जितने भी महीभानु-परिवारके आवास-प्रासाद होंगे, वे भी सभी अतिशय सुन्दर वाटिकाओंसे घिरे होंगे। इन वाटिकाओंमें उन्नत ग्रीवा किये गगनचुम्बी गृहावलियाँ होंगी, जिन्हें मालती, मल्लिका, कुन्द, केतकी, दूधी, माधवी आदि दिव्य सौरभ प्रसार करती लताएँ समालिंगित किये होंगी। इनके पुष्पोंकी सुवाससे समग्र बृषभानुपुर किसी गन्धर्वलोककी तरह महक रहा होगा।

सम्पूर्ण बृषभानुभवनको एक उन्नत पुष्पराग रत्नकी दीवार घेरे होगी। इस समुन्नत दीवारसे आरक्षित बृषभानुपुरकी चारों दिशाओंमें विशाल द्वार होंगे। हे देवाधिदेवों ! इस परम पावन पुरीका ध्यान करो—" अहा ! दिव्यातिदिव्य सच्चिदानन्द मणिमन्दिरोंकी, कुञ्जकुटीरोंकी कैसी अतुल छवि है । यह प्रथम द्वार हरिद्राभ, मणिमय, हीरक-खचित कपाटोंसे विभूषित है। इस द्वारके भीतर एक मणिमन्दिरमें रत्न-भूषणभूषित, पीत परिधान-परिशोभित, रत्नमुकुट धारण किये वरभानु गोप विराजित हैं। ये वरभानु श्रीमहाराजाधिराज महीभानुके मुख्य सचिव एवं इस नगरीके प्रधान रक्षक हैं। इस द्वारके भीतर तो समग्र बृषभानुपुर नगरी ही सुरक्षित है। धर्मप्राण प्रजाके सुन्दर निवास, फिर चतुष्पथ और मुख्य राजमार्गोंमें यहाँके अति समृद्ध बाजार, जिसमें व्यवहारमें आने वाली वस्तुएँ क्रय-विक्रय हो रही हैं। ओह ! सम्पूर्ण दृश्य कैसा मनोरम है। प्रजाकी सब गोशालाएं भी इस चारदिवारीके भीतर ही हैं। अहा ! कितने सुहावने परम सुन्दर हृष्ट-पुष्ट गोप-बालक बालक्रीड़ा कर रहे हैं। सभी पीताम्बरधारी, सभीके कण्ठोंमें रत्न सुभूषित हैं। कोई बालक नर एवं नारी स्वर्णालंकार-विहीन नहीं। सबके मुख आनन्दसे प्रफुल्लित हैं, सभी हृष्ट-पुष्ट, समृद्ध हैं। ध्यान रहे ये वरभानु ही प्रिया राधारानीकी सखी इन्दुलेखाजीके पिता हैं। ये परम

प्रजावत्सल ही बृषभानुपुरकी सम्पूर्ण प्रजाकी सँभाल एव रक्षा करते हैं। इस भवनका प्रत्येक परकोटा चारों दिशाओंमें आवागमनके लिये अनेक विशाल रत्नमय द्वारोंसे युक्त है, जिनसे यहाँकी प्रजा चारों दिशाओंमें स्वच्छन्द आवागमन करती है।

यह द्वितीय द्वार है। अरे ! यह तो पुनः दूसरा परकोटा है। इसके भीतरका भाग इन्द्रनील मणिकी चारदिवारीसे आवेष्टित है। अहा ! इस द्वारके रजतके कपाट रत्नखचित हैं। इनके भीतर जानेपर एक सुन्दर मणिमय आवास दृष्टिगोचर होता है। इस आवासमे समग्र श्रृंगार-सुसज्जित, श्यामवर्ण, किशोरवयस्क चन्द्रभानु गोप विराजित हैं। ये चम्पकलता सखीके पिता हैं।

इस द्वितीय द्वारके भीतर तो सम्पूर्ण ब्राह्मणवर्गकी ही प्रजा निवास करती है। अहा ! इन सब प्रजाजनोके आवास तीर्थोंकी तरह पवित्र और ऋषितुल्य हैं। अरे ! इन सभी ऋषियोके घरोंके आगे विचरणशील कामधेनु विराजित हैं। एक-दो नहीं सैकडों ! और कल्पतरुओंकी पक्तियोकी छाया तले इनके सभी गृह कैसे सात्विक, सुशीतल प्रतीत हो रहे हैं ! आओ, इन यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण वटुकोंको प्रणाम करें। इन सभीके ब्रह्मचर्यके ओजसे दिपदिपाते, अति तेजस्वी चेहरे, गोखुरके समान शिखा-विभूषित मस्तक, देवभाषामे ही परस्पर वाद-पटुता, साथ ही सभीके गलेमे मणिमुक्ताओंकी अमूल्य मालाएँ – प्रतीत होता है, बृषभानुपुरके दानशील महाराजाके यहां धर्मप्राण ऋषियोंको पूर्णतया संतुष्ट एवं संतृप्त ही रखा जाता है।

लो, यह तृतीय परकोटा मरकतमणिरचित है। यह विशाल द्वार भी मुक्तामाणिक्यखचित, स्वर्णधातुसे निर्मित प्रतीत हो रहा है। इसके भीतर तो पारिजात वनश्रेणी है। इसके भीतर श्रीमहीभानु गोपराजका बहुत मूल्यवान रथखाना है। देखो, रथखानोंके आगे विशाल गजराजोंके समान बलशाली बलीवर्द खडे हैं। अरे, रथ भी एक नहीं, सहस्रों ही हैं। सभी रथ कोई कृष्णवर्णके, कोई श्वेत, कोई हरित, एवं कोई रक्तवर्णके हैं। प्रत्येक रथ स्वर्णमण्डित मणिसमूहोंसे निर्मित परमोन्नत ध्वजाओंसे समलकृत हैं। मणिमालाओंके तो यहाँ स्तूप लगे हैं। इस तृतीय परकोटेके भीतर एक विशाल मणिमन्दिरमें मुरलीधर श्यामसुन्दर किशोरमूर्त्ति सूर्यभानु गोप सिहासनासीन हैं। चतुर्दिक् इनके सेवकगण इनके आदेशसे इस समृद्ध रथखानेकी सब भाँतिसे सुव्यवस्था करते हैं।

हे देवाधिदेवों ! ध्यान करो, देखो, अब आया इस दिव्य बृषभानुपुरका चतुर्थ परकोटा। यह परकोटा स्यमन्तकमणि-रचित है। इसका द्वार भी माणिक्यमणि-खचित, स्वर्णजटित है। इसमें महाराज महीभानुकी अश्वशाला है। इसमें हृष्ट-पुष्ट अश्वारोही सैन्यदल भी अपने परिवारों सहित निवास करता है। इसकी व्यवस्था वसुभानु गोप करते हैं। वसुभानु गोपराजके पक्व बिम्बफल-सदृश अधर-ओष्ठ हैं, सहास्य,प्रसन्न आनन कमलके समान सदैव खिला रहता है। ये इतने सुन्दर हैं कि देवांगनाएँ मोहित हो उठें। ये गोपराज श्रीमहीभानुकी सेनाके मुख्य सेनापति हैं। इसी प्रकोष्ठमें रथारोहियोंकी धनुर्धारी सेनाका प्रायः आधा भाग रहता है, एव आधा भाग तृतीय परकोटेमें रहता है। सैनिकोंके परिवार भी सुन्दर मणिमय आवासोंमें यहाँ रहते हैं। लो, अब पंचम द्वार एवं पचम परकोटा आया। यह परकोटा रुचक मणियोसे निर्मित है। इसका मुख्य द्वार कौस्तुभमणि-खचित है। यहाँ महाराजा महीभानूकी गजशाला है। यहाँ आभूषणोंसे सुसज्जित विशाल गजराज झूम रहे हैं। इनके महावत इन गजराजोंकी सेवामे जुटे हैं। यहाँ एक महलमे रत्न-सिंहासनपर देवभानु विराजित हैं। अगुरु, चन्दन एव कस्तूरी, कुंकुमद्रवसे देवभानुके अग सुचर्चित हैं। वे ही इस गजशालाके व्यवस्थापक हैं। महाराजाकी गजसेनाके ये ही मुख्य नियंत्रक हैं।

लो, यह विलक्षण षष्ठ द्वार आया। मणिरत्नोंसे निर्मित यहाँकी चारदीवारीकी ऐसी विलक्षण सरचना है कि प्रतीत होता है, मानो यह कर्णिकार पुष्पोंसे निर्मित है। यहाँका द्वार भी ऐसा प्रतीत होगा, मानो पल्लवोंसे ही सुसज्जित हो। यहाँका भीतरी भाग तो नव पल्लवोंसे परिशोभित, चन्दन, मन्दार, चम्पक आदि पुष्पोंके परागसे सुवासित, सुमधुर भ्रमरोंके रवसे गुञ्जित रहेगा। यहाँ युवराज बृषभानुवर गोप एवं कीर्तिदा मैया स्वयं रहेंगी। इसी चारदिवारीके भीतरी भागमे महाराजा महीभानुकी कुलदेवी भगवती त्रिपुरसुन्दरी विराजित होंगी। भगवती आद्याशक्ति, पराभट्टारिकाका उत्तुग शिखरयुक्त मन्दिर पोस्त्रराग मणियोसे निर्मित होगा। यहाँ सर्वत्र एक विलक्षण तेज जगमगाता रहेगा। यहा प्रवेश करते ही विलक्षण पराशान्तिसे मन अभिभूत हो उठेगा। ऐसा अनुभव होगा मानो यहाँका एक-एक रजकण चिन्मय हो और भगवतीके पूर्ण तत्त्वका प्रज्ञाता हो। भगवतीके दुर्वासादि सर्वमहासिद्ध भक्तोंका यहाँ स्वतंत्र आवागमन होता रहेगा। यहाँका पत्ता-पत्ता भगवतीकी जीवन्त सन्निधि प्रदान करानेमे समर्थ होगा । मालती, मल्लिका, कुन्द, केतकी, दूधी, माधवी, बेला,

चम्पा आदि सभी प्रकारके सौरभपूर्ण पुष्पोंसे लदा, यह प्रखण्ड चारों दिशाओंमें महकता रहेगा।

हे देवाधिदेवों ! यह सदैव ध्यान रखें कि इस श्रीराधा-परमधाममें वस्तुका कोई इत्थंभूत रूप नहीं है। इतना है, ऐसा नहीं है, इस प्रकारकी विधि-निषेध-जन्य वर्जना इस चिन्मय धामके किसी भी पदार्थ एवं वस्तुमें नहीं होगी। यहाँ गोप-गोपी-गौएँ, पशु-पक्षी, चर-अचर, स्थावर-जंगम सभी स्वातंत्र्ययुक्त स्वभावके होंगे। यहाँकी प्रत्येक वस्तुका अणु-अणु वात्सल्यमयी, जगज्जननी, पराम्बा, भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी स्वरूप-परिणति ही होगी।

यह सम्पूर्ण लोक ही एक क्षणमें अदर्शित हो सकेगा और कहीं भी व्यक्त हो सकेगा। यह पूरा-का-पूरा धाम ही सर्वभवन-समर्थ होगा। यह सम्पूर्ण धाम एक पुष्पमें भी परिणत हो सकेगा, और सारे ब्रह्माण्डोंको अपनेमें आवृत भी कर सकेगा। हे त्रिदेवों ! प्रिया श्रीराधाको आप लोग कदापि एक मानवी-पुत्री मत मान बैठना। प्रिया श्रीराधारानी अवाङ्मनस् अगोचर हैं। इसी प्रकार इनका धाम भी सर्वथा अप्राकृत मन-बुद्धिसे परेका है।

सत्य तो यह है कि अरूप ही इसका महिमामय रूप है और सर्वरूपता ही इसकी अरूपता है। साथ-ही-साथ यह रूप-अरूप दोनोंसे ही पूर्णतया अतीत, निरपेक्ष, अनिर्वचनीय, विलक्षण है।

हे देवाधिदेवों ! बृषभानुपुरके राजमहलके इस छठे खण्डमें महासौरभसे पूर्ण एक विलक्षण पद्मवन होगा। इस परम सुन्दर पद्मवनके दर्शन मात्रसे जीवका जीवत्व उसी क्षण विनष्ट हो जायगा और पूर्णतया अप्राकृत ईश्वरत्वका उसमें समावेश हो आयेगा। ईश्वरत्वके समावेशके बिना तो कोई प्राणी भगवतीके इस चिन्मय मन्दिरके दर्शन ही नहीं प्राप्त कर सकेगा। पूर्ण शिवत्वकी प्राप्तिके पश्चात् ही यहाँ प्रवेश संभव होगा।

पद्मवनमें भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरी देवीका अत्यन्त प्रकाशमान उज्ज्वल प्रभायुक्त मन्दिर होगा। यह चिन्तामणियोंसे निर्मित एवं अलौकिक विचित्रताओंसे भरा होगा। इसके चार द्वार होंगे। मन्दिरमें दस सोपानोंके ऊपर भगवतीकी पीठ विराजित होगी। ये दस सोपान भगवतीकी दस महाविद्याओंके ही स्वरूप होंगे। इन्हींसे युक्त भगवतीका परमोच्च मंच महान् शोभा पाता रहेगा। इस मञ्चके मध्य भागमें एक परम दिव्य मणिमय सिंहासनमें भगवती विराजमान होंगी।

सृष्टिके आदिमें अपनी महालीला करनेके लिये स्वयं भगवती ही दो रूपोंमें विभाजित हुई हैं। उस समय दाहिने भागमें भगवान् कामेश्वर एव वाम भागमें शबल ब्रह्मस्वरूपिणी भगवती कामेश्वरी प्रकट हुईं। भगवतीके अर्धांगस्वरूप ही ये महान् ईश्वर हैं। ये करोड़ों कामदेवोंके सम्मिलित स्वरूपको भी तुच्छ कर देनेवाले सौन्दर्यसे समन्वित हैं। इन महान् सर्वोपरि देवदेवेश्वरकी आयु सदैव सोलह वर्षकी ही रहती है। ये अनन्त कोटि सूर्योंके समान प्रकाशमान हैं, कोटि-कोटि अमृतस्रावी चन्द्रमाओंसे अधिक सुधासम सुशीतल हैं, विशुद्ध स्फटिक मणिके समान दैदीप्यमान हैं। इनके वामांगमें ही भगवती ललिता पराभट्टारिका श्रीविद्या त्रिपुरसुन्दरी विराजमान होंगी। **'सोऽहं'** एवं **'अहं सः'** ये दो उपधान तकिये भगवती लगाये होंगी। भगवतीके मणिमय सिंहासनपर अनन्तानन्तता-गुणयुक्त चन्दौवा वितान तना होगा, महामायाकी यवनिका पड़ी होगी। जिस किसी महाभाग्यवान् दर्शनेच्छुक प्रजाजनके सम्मुख ये भगवती परम कृपालु होंगी, उसीके आगेसे यह यवनिका हटा लेंगी। इस महामायारूपा यवनिकाके हटते ही भगवती आद्याका विलक्षण सच्चिदानन्द स्वरूप उसके सम्मुख प्रकट हो जायगा।

हे देवाधिदेवों ! आओ ! भविष्यके पंखोंसे उड़ते हुए हम भगवती आद्याशक्तिके इस बृषभानुभवनके छठे प्रखण्डमें स्थित भगवतीके मन्दिरमें चलें और उनके पावनतम दर्शनोंसे अपनेको कृतकृत्य करें।

अहा ! नवरत्नोंसे निर्मित करधनी भगवतीके कटिभागमें सुशोभित है। इन नवरत्नोंके प्रकाशकी एक-एक रश्मिसे इस प्राकृत ब्रह्माण्डोंके रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु आदि ग्रह अस्तित्व प्राप्त कर रहे हैं। संतप्त सुवर्ण एवं वैदूर्यमणिसे सम्पन्न बाजूबन्द देवीकी भुजाओंको सुशोभित कर रहे हैं। भगवतीके दिव्य यंत्र श्रीचक्रकी आकृतिके छतरी वाले कर्णफूल उनके कानोंमें विधृत हैं। इनकी दमकसे भगवतीका रक्ताभ मुख-कमल दैदीप्यमान हो उठता है। अर्ध-चन्द्रमा उनके मस्तकपर सुशोभित है, किन्तु भगवतीके ललाटकी शोभा उस चन्द्रमाकी कान्तिको हतप्रभ कर दे रही है। बिम्बफलको तिरस्कृत करनेवाले भगवतीके लाल-लाल ओठ हैं। विशुद्ध चिज्ज्योति भगवतीकी दन्तपंक्ति एवं उनके हाथोंकी दसों अँगुलियों एवं पैरोंकी दसों अँगुलियोंसे छिटक रही है। कुंकुम एवं कस्तूरीका लेप उनके सर्वांगोंमें है। इसीका तिलक भी वे अपने ललाटपर लगाये हैं। उनके परम सुन्दर त्रिनेत्र हैं। वे चन्द्रमा एवं सूर्यकी

चूडामणि धारण किये हैं। शुक्र नक्षत्रके समान परम स्वच्छ नासिकाभूषण है। उनका कण्ठदेश अनमोल मोतियोंकी लड़ियोंसे सुशोभित है। उनके मुखकमलपर अलकावली छायी है। चन्दनपंक, कर्पूर, कुंकुम एवं कस्तूरीकी सममात्राके लेपको वे अपने वक्षोजोंपर लेप किये हैं। उनकी शंखाकृतिकी ग्रीवा परम रमणीय लग रही है।

भगवतीके मुखपर छितराती उनकी अलकावलिसे अतिशय मधुर निर्मल सुगन्ध फैल रही है। चतुर्दिक् मँडराते भ्रमरोंकी गुंजारसे पूरा मन्दिर गुंजायमान हो रहा है। मस्तकपर अनमोल रत्नोंका मुकुट है । मणिजटित मुद्रिका अँगुलियोंमें जगमगा रही है। कमलोंकी शोभाको हेय बनानेवाले तीन नेत्र हैं, इन नेत्रोंकी सुन्दरता आननकी मनोहरताको सहस्रगुनी कर रही है। पद्मरागमणिके समान उनकी उज्ज्वल कान्ति है। उनकी धम्मिल्ल मल्लिका पुष्पोंसे ग्रथित है। चार भुजायें हैं। इनमें पाश, अकुश, इक्षुधनु, एवं शब्द, स्पर्श रूप, रस गन्धात्मक पाँच पुष्पं- बाण हैं। लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, कीर्त्ति, कान्ति, क्षमा, दया, बुद्धि, मेधा – ये मूर्त्तिमती होकर भगवतीके चँवर डुलारही हैं। जया, विजया, अजिता, अपराजिता, नित्या, विलासिनी, दौग्धी, अघोरा, अमगला, ये नौ पीठ शक्तियाँ पराम्बाकी सेवामें सतत संलग्न हैं। आओ ! इन सर्वेश्वरीकी सदा जय-जयकार करें।

हे देवाधिदेवो ! आओ, अब इस बृषभानुपुरके छठे खण्डके ऊपरी भागमें बनी रत्नमयी सीढ़ियोंसे ऊपर चलें। ब्रह्मगिरिपर स्थित होनेसे इसके सभी परकोटे एक-से-एक ऊँची भूमिपर स्थित होंगे और शनैः-शनैः मुख्य महल गिरिके शिखरके निकटतक चला जायेगा।

देखो, पुनः परकोटा आ गया। यह परकोटा ऐसे रत्नोंसे निर्मित होगा, जिससे ऐसा अनुभव हो, मानो रक्तपद्मोंका ही विशाल द्वार होगा। इस सर्वोच्च प्रखण्डपर महाराजा महीभानु अपनी पत्नी सहित निवास करेगे।

ये महातेजस्वी नृपति जबतक वयोवृद्ध नहीं हो जावेंगे, तबतक अखण्ड तपस्यारत एवं भगवती जगदम्बाकी आराधनामें ही समय बितावेंगे। इनका प्रत्येक कर्म भगवती जगदम्बाकी उपासनारूपमें उनकी तुष्टिके ही लिये होगा। इनके हृदयकी धड़कन एवं रोम-रोमका स्पन्दन भी जगदम्बा-जगदम्बा उच्चारण करनेवाला होगा। ये भगवती त्रिपुराके अद्वितीय कृपा-पात्र भक्त होंगे। इनके समान ही इनके युवराज पुत्र बृषभानुवर गोप भी होंगे। श्रीमहीभानु गोप

यावज्जीवन अपना पल-पल भगवतीकी अर्चनामें ही व्यतीत करेंगे।

इनको स्वयको ही पता नहीं होगा कि इनके कुलमें भगवतीकी उपासना कबसे प्रारभ हुई है। एक बार ये महामना भागुरि ऋषिसे, जो इनके कुल-पुरोहित होंगे, यह प्रश्न करेंगे, किन्तु वे हँसकर इतना ही उत्तर देंगे कि वे तो अपनी किशोरावस्थासे ही भगवतीका पूजन करते आये हैं, उन्हें स्वयंको ही यह रहस्य अज्ञात है।

इनके युवराज बृषभानु गोप भी अपने निरे बचपनसे, जबसे इनकी यज्ञोपवीतदीक्षा होगी, तभीसे भगवतीका सहस्रार्चन करना प्रारभ कर देंगे। महाराजा जब इन्हें युवराज पदपर स्थापित करेंगे, तबसे तो ये अपने ऋषितुल्य पितृचरणोंकी अनुमति लेकर भगवती पराम्बाकी समग्र सेवाका दायित्व अपने ही कधोंपर ले लेंगे। तभीसे ये युवराज भगवतीके मन्दिर वाले प्रखण्डमें ही अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत लेकर रहना प्रारंभ कर देंगे। इनकी सहधर्मिणी कीर्त्तिदा भी इनकी धर्मानुगामिनी हुई, पवित्र ब्रह्मचारी-जीवन बिताती, जगज्जननीकी सेवामें ही अपना समग्र जीवन-यौवन समर्पित कर देंगी।

महाराजा बृषभानु तो अपने पिता महीभानु एव वृद्धा माँ महारानी सुखदाको प्राय: समाधिस्थ ही रहती देखेंगे। इनका राजकाज तो स्वय भगवती ही विश्वस्त मंत्रियों द्वारा निर्देश देकर सचालन करेगी।

बृषभानुभवनका सातवाँ प्रखण्ड नीलकान्त मणियोंके परकोटेसे घिरा हुआ होगा एव इसका विशाल द्वार भी नीलघनवर्णकी परम तेजोमयी मणियोंसे जडित होगा। इस भागका सौन्दर्य अवर्णनीय होगा। यह प्रखण्ड जनशून्य होगा। इसमें किसीका भी प्रवेश वर्जित होगा। महाराजा महीभानुके द्वारा इसके सम्बन्धमें इतना ही रहस्योद्घाटन युवराज महाराजा बृषभानुके सम्मुख किया जायगा कि जब भगवतीके सकेतसे उन्हें वंश एवं राज्यकी रक्षाके लिये सन्तान उत्पन्न करनेकी प्रेरणा मिले एव उनका जो भी युवराज पुत्र हो, वही इस द्वारको उन्मोचन कर भीतर प्रवेश करे। इस प्रखण्डमें उसीका अधिकार होगा। साथ ही उनकी यदि पुत्रियॉ हों तो वे इस प्रखण्डमें रहेगी। वह प्रखण्ड तबतकके लिये सर्वथा रिक्त ही रहेगा। हाँ ! राजाके एक सचिवकी पत्नी मैया कीर्त्तिदा सहित इसमें प्रवेशकर, इसकी देखभाल सँभाल करलें– महाराजा महीभानुकी इस प्रखण्डके संबंधमें यही व्यवस्था होगी।

# श्रीकृष्णका जन्मस्थान – बृहद्वन

भगवान् नारायण यह पावन कथा सुना ही रहे थे कि मध्यमे ही भगवान् रुद्र (महादेवजी) उनसे प्रश्न कर बैठे।

"हे हरि! आपने सम्पूर्ण बृषभानुपुर एवं उसके आसपासकी स्थलियोंका वर्णन तो कर दिया, किन्तु प्रभो! आपने यह नहीं बताया कि भगवान् गोलोकपति श्रीकृष्ण कहाँ जन्मेंगे और उनका पावन धाम कैसा होगा ?"

भगवान् महादेवजीके प्रश्नको सुनकर गिरिराज पर्वत बने भगवान् नारायण कहने लगे – हे महादेवजी ! मैं पूर्वत: कह चुका हूँ कि यथाकालचक्रानुसार जैसे इन गिरिखण्डोंमें बृषभानुओंके कुल (गोप) निवास करेंगे, उसी प्रकार कलिन्दनन्दिनी यमुनाके किनारे बृहद्वनमें नन्दोंके कुल निवास करेंगे। भगवती लीलामहाशक्ति साक्षात् गोलोक धामकी छाया लेकर ही इस भूरिभाग्य पृथ्वीपर ये सभी आवास अवतरित करेंगी। इस बृहद्वनको हे त्रिदेवों! आप लोग साक्षात् दूसरा वैकुण्ठ ही मानें। जैसे बृषभानुनगर साक्षात् पराभट्टारिका महादेवी योगमाया भगवती त्रिपुराम्बाके श्रीलोककी सम्पदासे सुभूषित होगा, ठीक इसी प्रकार इस बृहद्वनमें शेषशायी भगवान् वैकुण्ठपति अपनी समग्र सम्पदा और शोभासहित नित्य सुविराजित रहेंगे। ये वैकुण्ठपति मुझ नारायणके गिरिराज पर्वतरूपमें प्रतिष्ठित हो जानेपर भगवान् परात्पर श्रीकृष्ण द्वारा अपने अंशसे सृष्टिकी व्यवस्था हेतु पुनः स्थापित किये गये होंगे।

हे त्रिदेवों ! मनको पूर्णतया एकाग्रकर तनिक ध्यान करो – भगवान् परात्पर श्रीकृष्णका धाम पूर्ण श्रीकृष्णस्वरूप ही है, अतः यह चिन्मयलोक सर्वप्रथम तुम सबके अन्तःकरणमें तो प्रकाशित हो। यह बृहद्वन भगवान्‌की लीलामहाशक्ति सन्धिनीकी ही नित्य परिणति है। इस बृहद्वनके कुंज-निकुंज, गिरि-सरोवर एव वन-उपवन सभी परम विभु, नित्य चिन्मय हैं। प्रिया-प्रियतम राधा-माधवकी चिदानन्दमयी लीलाके प्रकाशके साथ ही यह वन भी आविर्भूत होता है, और जब लीलाका अन्तर्धान होता है, तो यह वन भी अन्तर्हित हो जाता है। हाँ, जिनके नेत्रोंमें प्रिया-प्रियतमकी चरण-नख-चन्द्रिका भरी है, उनके लिये तो यह वन अनादि, अनन्त, निरवधिकालतक सदा वर्त्तमान रहता है।

किसी भी कविकी रसनामें ऐसी सामर्थ्य कहाँ है कि इस वनके विचित्र वैभवके किसी एक अंशका भी चित्रण कर सके।

हे त्रिदेवों ! देखो ! इस वनके पार्श्व देशोंमें अनेकों ब्रज बसे होंगे। इन ब्रजोंमें अगणित गोप निवास करेंगे। प्रत्येक गोपके पास अपार गोधन सम्पत्ति होगी। इस परम दिव्यस्थलीका नाम बृहद्वन इसीलिये पड़ेगा क्योंकि इस विशाल भूभागके अन्तर्गत बहुतसे वन होंगे।

यहाँ जितने वृक्ष होंगे सभी कल्पतरु होंगे, एवं जितनी वल्लरियाँ होंगी सभी कल्पलतिकाएँ होंगी। इन कल्पतरु एवं कल्पलतिकाओंको प्राकृत स्वर्गके कल्पपादप एवं कल्पवल्लरियाँ भूलकर भी मत मान लेना। ये उनसे सर्वथा अलौकिक हैं। ये सभी तो स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनके चिन्मय धामके चिन्मय संधिनीतत्वकी परिणति होंगी।

कहीं तो मरकत-द्रुमसमूह कनकलताओंसे परिव्याप्त होंगे, कहीं स्वर्णपादपश्रेणी मरकतकी बनी वल्लरियोंसे सुमण्डित हो रही होंगी। कहीं वृक्षोकी अवली स्फटिककी होगी, जो परागमणिकी लताओंसे उद्भासित होरही होगी और कहीं स्फटिकके लताजालसे पद्मरागके वृक्ष समुज्वल हो रहे होंगे।

मरकतमणिमय अकृत्रिम भूमि होगी। स्वर्णमय गुल्मलतायें एवं द्रुमसमूह परिशोभित होंगे। स्वर्णमयी गलियाँ, वीथियाँ होंगी। सर्वत्र स्वर्ण-ही-स्वर्ण आस्तृत होगा, मृत्तिकाका लेश भी नहीं। यहाके कण-कणसे एक परम दिव्य ज्योति झर रही होगी। यह ऐसी उज्ज्वल ज्योति होगी जो प्राकृत जगत्के कोटि-कोटि सूर्योंमें भी संभव नहीं होगी। साथ ही इतनी शीतल होगी, सुखद होगी जैसी प्रपंचके कोटि-कोटि चन्द्रोंमें भी कहीं नहीं। यहाँ सब कुछ रमणीय, परम तेजोमय, अत्यंत विलक्षण, परम सुन्दर, शोभन, अतिशय सुषमाशाली – सब कुछ अप्राकृत चिन्मय होगा।

हे त्रिदेवों ! अपौरुषेय श्रुति कहती है–

*न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकः*
*नेमा विद्युतो भान्ति कुतो मग्नि*
*तमेव भान्तिमनुभाति सर्वम्*
*तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।*

भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यस्थल इस बृहद्वनमें यह तत्व प्रकट उजागर हो रहा होगा। श्रुति प्रतिपादित इस परमात्मधाम और इस बृहद्वनको दो पृथक्

सत्ता कदापि नहीं मानना चाहिये। इस बृहद्वनको यह श्रुति-प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व ही प्राकृतवत् सूर्य, चन्द्र, तारक, नक्षत्र, साथ ही भूमि-भवन बना, प्राकृत ग्रहोंसे सर्वथा भिन्न, अलौकिकरूपमें सुप्रकाशित करेगा।

यह धाम अपना कोई इत्थंभूत रूप नहीं रखेगा। इतना है, ऐसा है, ऐसा नहीं है – इसके लिये कोई नियम-सीमा नहीं होगी। जड़ वस्तुकी तरह इसमें रूप, रंग, आकार, स्थिति, गुण, भाव आदिकी इदमित्थं इयत्ता नहीं होगी। यह धाम 'प्रियतम नीलमणिकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिका निरन्तर अनुसरण करता रहेगा। प्रियतम श्रीकृष्णकी जब, जैसी लीलाका प्रकाश होगा, उसके लिये जो, जैसी, जितनी सामग्री चाहियेगी उसी रूपमें इसका प्रकाश यहाँ होता रहेगा। देखो ! देखो ! त्रिदेवों ! यह महाराजा पर्जन्यपुत्र नन्दरायका नन्दभवन है। जैसे महाराजा महीभानु भगवती पराभट्टारिका कामेश्वरीके अनन्य उपासक हैं, उसी प्रकार महाराज पर्जन्य उनके कुलदेव नारायणके पूर्ण शरणागत होंगे। इनकी नारायण-शरणागतिका ही विलक्षण चमत्कार होगा कि इनके सम्पूर्ण बृहद्वनमें त्रैलोक्यलक्ष्मी स्थिर, अचंचल निवास करेगी। महाराजा पर्जन्यकी धर्मपत्नीका नाम वरीयसी होगा। ये महासाध्वी, तपस्विनी, पतिव्रता, निरन्तर महाराजा पर्जन्यकी सेवामें रत होंगी, और पतिसेवाका प्रत्यक्ष फल इनको यही प्राप्त होगा कि भगवान् नारायण अपने वैकुण्ठलोकसहित इनके घरमें नित्य, प्रत्यक्ष, स्थित रहेंगे। उनकी कृपासे यहाँ नित्य अशेष मंगल-ही-मंगल सर्वत्र भरा रहेगा।

महाराजा पर्जन्यके सबसे बड़े पुत्र उपनन्द होंगे। उससे कनिष्ठ पुत्र अभिनन्द होंगे। महाराजा नन्द इनके तृतीय पुत्र होंगे। महाराजा नन्दसे छोटे इनके दो पुत्र और होंगे, जिनका नाम संनन्द और नन्दन होगा। इनकी दो पुत्रियाँ भी होंगी, जिनका नाम नन्दिनी एवं सुनन्दा होगा। पर्जन्यजी अपने सबसे बड़े पुत्र उपनन्दको सारिका वन (साहार क्षेत्र) प्रदानकर वहाँ अपनी धेनु लेकर रहनेकी आज्ञा देंगे। इनके पुत्र सुबलका विवाह श्रीकुन्दलताजी – श्रीराधाकी मौसीकी पुत्रीसे होगा। सुबल एवं श्रीकृष्ण एक प्राण दो देह होंगे, ऐसा इनका अप्रतिम स्नेह रहेगा।

उपनन्दजीकी पतिव्रता धर्मपत्नीका नाम तुंगी होगा। ये अपने तीसरे देवर नन्दरायको ही पुत्रवत् स्नेह करेंगी। ये उपनन्दजी भी बड़े धर्मात्मा, राजकाजमें कुशल एवं अपने छोटे भाइयोंकी पूरी सम्हाल रखनेवाले होंगे। महाराज पर्जन्य तो कुछ ही कालमें वैकुण्ठवासी हो जायेंगे और बृहद्वनका राज्य वे अपने तीसरे

पुत्र नन्दरायको सौंप देंगे।

महाराजा पर्जन्यके दूसरे पुत्र होंगे अभिनन्दजी। अभिनन्दजीकी पत्नी पीवरीदेवी होंगी। ये भी अपने देवर नन्दको ही सर्वाधिक स्नेह करेंगी । अभिनन्दके पुत्र होंगे कुण्डल। ये श्रीकृष्णके अति प्रिय सखा होंगे।

महाराजा पर्जन्यके तीसरे परम धर्मात्मा पुत्र नन्दराय होंगे। इनपर सभी भाइयोंका अप्रतिम स्नेह होगा। ये सर्वथा विरक्त, नारायण-भक्तिमें ही निरन्तर निरत रहेंगे। इनकी धर्मपत्नी यशोदा इनकी धर्म-सहभागिनी होगी और वह भी पूर्ण तपस्विनी, सच्चे अर्थोंमें इनकी धर्मसेविका होगी।

कहते हैं आयुके तृतीय चरण पहुँचनेतक इनमें न तो पत्नी-सहवासकी कभी प्रेरणा जगेगी , न ही कभी पुत्रप्राप्तिकी लालसा। प्रजा एवं सभी अग्रज-अनुज भ्राताओं द्वारा बहुत आग्रह किये जानेपर ये पुत्रेष्टि आदि यज्ञानुष्ठान करावेंगे, किन्तु जब कोई अपनी धर्मपत्नीसे सहवासगामी ही नहीं हो, जिसे भगवान् नारायणकी ध्यान-छवि निरखते-निरखते ही निशाके प्रथम प्रहरमें ही परमानन्द-सिन्धुमें डुबाने वाली समाधि लग जाय, उसे भला पुत्र-प्राप्ति कैसे संभव होगी।

किन्तु इन्हीं नन्दरायको एक दिन स्वप्नमें एक ऐसे अनोखे बालकके दर्शन हो जावेंगे जिसे देखकर उसे पुत्ररूपमें प्राप्त करनेकी उनमें अदम्य लालसा जग उठेगी। वे अपनी धर्मपत्नी यशोदाको अपना स्वप्न-वृत्तान्त सुनाते हुए कहेंगे – "प्रिये ! तू ही बता, भला हमारे इष्टदेव भगवान् नारायणसे भी अधिक मनोहर, सुन्दर कोई इस त्रिलोकीमें त्रिकालमें भी संभव है क्या ? असंभव ! सर्वथा असंभव !! किन्तु मेरी चित्तभूमिमें स्वप्नके समय, री यशोदे ! ऐसे ही एक अत्यधिक अनिर्वचनीय, अनन्त, असीम, सुन्दर बालककी मूर्ति अंकित हो जाती है, जो हमारे इष्टदेव नारायणसे भी अधिक अनिर्वचनीय, अनन्त, असीम सुन्दर है। और ओह ! उस क्षण मैं स्पष्ट देखता हूँ कि वह बालक तुम्हारी गोदमें तुम्हारे दुग्धस्रावी स्तनोंका पान करता हुआ खेल रहा है। प्राणप्रिये ! मैं उसके श्याम अंगोंका, चञ्चल सुदीर्घ नेत्रोंको, देख-देखकर सर्वथा मुग्ध हो जाता हूँ। मुझे भ्रम हो जाता है कि यह स्वप्न है या जाग्रत्काल। यह सचमुच क्या है ? मैं निर्णय ही नहीं कर पाता। मनमें आता है, एक बार तुमसे भी पूछूँ तो सही, कि क्या कभी स्वप्नमें तुम्हें भी ऐसी अनुभूति होती है क्या ?"

"हे यशोदे ! जब मुझे वह एक पलभरके लिये दिख जाता है, उस समय मेरे चतुर्दिक् आनन्दका महासागर लहराने लगता है। मैं उसमें निमग्न होने लग जाता हूँ। इतना ही नहीं, आनन्द-मन्दाकिनीकी प्रबल धारा उस महासागरमें एक आवर्त्त (भँवर) बन जाती है। मैं उस आवर्त्तमें चक्कर लगाने लगता हूँ। वह आनन्द-मन्दाकिनी मुझे अपने भुजपाशमें लपेटकर घुमा रही है।" हे त्रिदेवों ! इसके उत्तरमें ब्रजरानी यशोदा अपने पतिसे कहती है – "स्वामिन्! आप ठीक कहते हैं। ठीक, ऐसा ही स्वप्न मुझे भी आजकल प्रतिदिवस प्रातःकालमें आता है। लज्जावश मैं अबतक आपको कह नहीं सकी, किन्तु आपकी उपासनाकी समायोजना करने जब भी मैं भगवान् नारायणके विग्रहके सम्मुख होती हूँ, इस पुत्रप्राप्तिकी कामनामें मेरे हाथ जुड़ जाते हैं, मैं उनके चरणोंमें अपना सिर नवाकर परवश-सी उसकी प्राप्तिके लिये आपके मनमें संयोगेच्छा जगानेकी प्रार्थना कर बैठती हूँ।"

हे त्रिदेवों ! तभीसे महाराजा नन्दराय भी पुत्रके मुख-दर्शनजन्य भावस्रोतमें डूबे "प्रभो ! आपकी जो रुचि हो, वही हो"– इस संकल्पसे एक वर्षतक भगवान् नारायणकी उपासनामें लग जावेंगे और उसीके फलस्वरूप उनको अभूतपूर्व श्रीकृष्णरूप पुत्र प्राप्त होगा।

महाराजा पर्जन्यके चौथे पुत्र सन्नन्दजीकी धर्मपत्नीका नाम कुरला होगा। इनका पुत्र भी श्रीकृष्णका अनन्य सखा दंडी होगा। इनका दूसरा पुत्र भद्रकृष्ण भी श्रीकृष्णका सर्वप्रिय सखा होगा। महाराजा पर्जन्यके पाँचवे पुत्र नन्दनजीकी धर्मपत्नी तुला होगी। इनके बड़े पुत्रका नाम मण्डल होगा। यही भगवान्‌का सर्वप्रिय सखा होगा। इनका दूसरा पुत्र तोककृष्ण भी श्रीकृष्णका सर्वप्रिय सखा होगा। इसी प्रकार परम धर्मात्मा महाराज पर्जन्यजीकी दोनों पुत्रियां नन्दिनी एवं सुनन्दाके पति नील एवं काम नामके गोप होंगे। यह समग्र परिवार श्रीकृष्णको प्राणोंसे भी अधिक प्यार करनेवाला होगा। ये सभी श्रीकृष्णको प्रसन्न देख-देखकर सुखी होनेवाले प्राणी होंगे।

हे त्रिदेवों ! अब मैं तुम्हें श्रीपर्जन्य गोपराजका पूर्व वृत्तान्त सुनाता हूँ, जो इन महाभाग नन्दवंशके महा सौभाग्यके हेतुका करनेवाला होगा। श्रीपर्जन्यजीके पिता देवमीढ़ नामके मुनि होंगे। उनके दो पत्नियाँ होंगी। पहली क्षत्रिय पत्नी होगी जिससे शूरसेन नामक क्षत्रिय पैदा होंगे। ये शूरसेन ही श्रीवसुदेवजीके पिता होंगे। इन्हीं श्रीवसुदेवजीको देवककी पुत्री देवकी ब्याही जायगी, जिनके
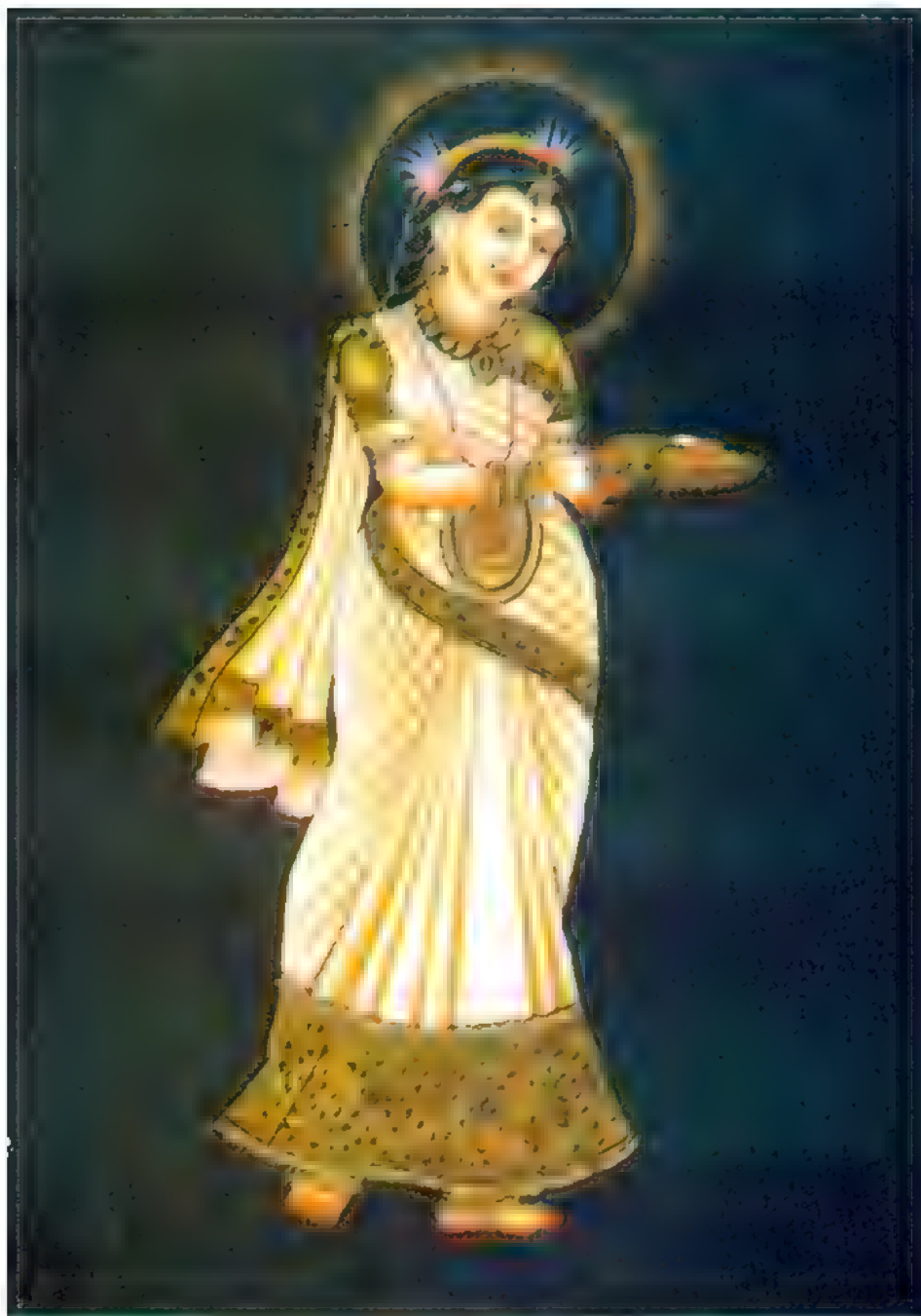
सखी श्रीविशाखाजी

आठवें गर्भसे भगवान् श्रीकृष्ण जन्म लेंगे। इन श्रीवसुदेवजीकी ही दूसरी पत्नी रोहिणीके पुत्र बलरामजी होंगे; और ये दोनों कृष्ण-बलराम पर्जन्यपुत्र नन्दरायके घरपर ही पोषित होंगे।

महाराज देवमीढ़की दूसरी पत्नी वैश्य जातिकी होगी और इस दूसरी वैश्यपत्नीसे पर्जन्यजीका जन्म होगा, जो कृषि, गोरक्षा आदिका कार्य करेंगे। श्रीपर्जन्यजीका मन वैकुण्ठाधिपति भगवान् नारायणकी भक्तिमें इतना तल्लीन रहेगा कि इन्हें गृहस्थाश्रमजन्य पत्नी-समागममें रुचि ही नहीं होगी। एक बार श्रीनारदजी इनके पास आवेंगे, वे उन्हें गृहस्थधर्म-निर्वाहकी प्रेरणा करेंगे। श्रीपर्जन्यजी देवर्षि नारदजीसे यही प्रार्थना करेंगे कि शूकर-कूकरोंकी तरह विषयभोगी सृष्टि उत्पन्न करनेकी उनकी सर्वथा रुचि नहीं है। यदि उनके वंशमें उनके इष्ट भगवान् श्रीहरि जन्म लें, तभी उनकी रुचि गृहस्थ सम्बध करनेमें है। श्रीनारदजी, श्रीपर्जन्य गोपके प्रार्थना करनेपर उन्हें श्रीलक्ष्मीनारायण-मंत्र दान करेंगे एवं उसे सिद्ध करनेकी आज्ञा देंगे।

श्रीपर्जन्य गोपराज उन दिनों रुद्रगिरिके नीचे स्थित नन्दग्राम नामक स्थानपर निवास करेंगे। श्रीपर्जन्यजी इस पर्वतकी तलहटीमें ही स्थित तड़ागतीर्थमें जाकर इस मत्रकी सिद्धिके लिये कुटी बनाकर रहना प्रारंभ कर देंगे। वे गुरु श्रीनारदजी द्वारा प्रदत्त मंत्रका जाप करेंगे। इनकी महासती धर्मपत्नी वरीयसी भी इनका अनुसरण करेगी और इनकी सेवामें सलग्न हो जावेगी। कुछ ही समय पश्चात् वह मंत्र सिद्ध हो जायगा और महाराज पर्जन्यके लिये आकाशवाणी होगी। आकाशवाणी उन्हें साक्षात् भगवान् नारायणका सन्देश देगी – " हे पर्जन्य ! तुम परम भाग्यवान् हो। तुमने अत्यन्त शुद्ध मनसे तपस्या की है। तुम्हारे यहाँ एक नहीं, महान् भगवद्भक्त पाँच पुत्र होंगे। उन सभीकी बुद्धि मेरे परायण होगी और उनकी धर्मभीरुता, धर्माचरण, चारित्र्य, तप, दान, ब्राह्मण-सेवादिसे मैं परम प्रसन्न हुआ तुम्हारे तीसरे पुत्र नन्दरायके घर अपने परात्पर श्रीकृष्णरूपमें स्वयं जन्म लूँगा। मेरा यह जन्म समस्त ब्रजवासियोंके लिये अपार सुखकारी होगा।"

श्रीपर्जन्यगोप अत्यन्त हर्षोल्लाससे भर जायेंगे। वे नन्दीश्वरमें ही निवास करते रहेंगे। एक बार इस सम्पूर्ण गिरिक्षेत्र, बृषभानुपुर, नन्दग्राम एव आसपासके सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें मनुजादोंका प्रबल आक्रमण होगा। भगवान् नारायणके ही आदेशसे उस समय श्रीपर्जन्य गोपराज यह क्षेत्र छोडकर यमुनाके [illegible]

मथुरा राजधानीके समीपवर्त्ती इस बृहद्वनमें अपनी सम्पूर्ण प्रजा और गौओं समेत चले आयेंगे। उन दिनों महाराजा महीभानु भी अपना यह ब्रह्मगिरि पर्वतक्षेत्र छोडकर रावलग्राम चले जावेंगे और वहीं श्रीबृषभानुजीका जगन्माता कीर्तिदासे विवाह सम्पन्न होगा। इस क्षेत्रमें प्रबल मनुजादोंका प्राय. आक्रमण हुआ करेगा।

श्रीपर्जन्यजी इसीलिये भगवदादेशका पालन करते हुए ही युवराजपद अपने सबसे बड़े पुत्र उपनन्दको न देकर नन्दरायजीको देगे, क्योंकि उनके ही कुलमें परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण अवतार लेंगे।

हे त्रिदेवो ! मैने तुम्हें सक्षेपमें इन दोनों परम धर्मात्मा गोपवंशों – बृषभानुगोपों एवं नन्दगोपोंका वृत्तान्त सुना दिया। आओ ! अब हम सभी कालकी प्रतीक्षा करें। उपयुक्त काल आनेपर इस पावन धरामें यह सभी गोलोकधामगत परम भागवती सृष्टिका अवतरण होगा एवं यह प्राकृत पृथ्वी अपने हृदयधाममें भगवान्‌की लीलाका प्रकाश होते देखकर परम कृतकृत्य हो उठेगी। उस समय इस ब्रह्माण्डके कारण हम सभी देवोंका भी सत्यांशमें भूरिभाग्य उदय होगा, जिसकी प्रतीक्षामें हम गिरि-पर्वत बने इस ब्रजमण्डलमे स्थित हैं।

{ नित्य चिन्मय गोलोकधामके ब्रजमण्डलमें अवतरणका यह सम्पूर्ण वर्णन जो त्रिदेवोंके द्वारा कथित है; पू. गुरुदेवकी स्वयंकी चिन्मय अनुभूति थी, किन्तु इसमें निहित जो भी कथाभाग है, उस सबका पौराणिक आधार है। यह सब कथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, पद्मपुराण, गर्गसंहिता आदिमें पूर्णतया वर्णित है। गौडीय वैष्णव ग्रन्थोंमें भी लीला-पात्रोंके नाम आदि ज्यों-के-त्यों वर्णित हैं। पू. गुरुदेव हम लोगोंको अपनी अनुभूतियाँ बताया करते थे, परन्तु वे अनुभूतियाँ शास्त्रोंके आधारसे परिपुष्ट ही हुआ करती थीं। शास्त्राधारसे भिन्न अपनी अनुभूतियोंका वे स्वयं आस्वादन तो करते, परन्तु उन्हें वे किसीके सम्मुख प्रकट नहीं करते थे। उनकी जो अनुभूतियाँ पूर्णतया शास्त्रसम्मत होती थीं, वही हम सबके सम्मुख वे प्रकट किया करते थे। बिना शास्त्रीय आधारके वे एक शब्दका भी प्रवचन नहीं करते थे। त्रिकालज्ञ ऋषियोंसे उनकी जो भावना सांगोपांग मेल खा जाती थी, उसीका उल्लेख वे यदा-कदा कर देते थे।}

# पूज्य गुरुदेवको अप्राकृत जगत्के श्रीराधाजन्म-महोत्सवका दिव्य अनुभव

## पाँचवाँ अध्याय

पूज्य पोद्दार महाराज सं. २०१३ के मार्गशीर्ष मासमें सपरिवार रतनगढ़ चले गये थे। सन् १९५६के नवम्बर मासका वह अन्तिम सप्ताह था।

गोरखपुरमें ही पू.गुरुदेवका सबसे बोलना, संकेत करना तथा देखना तो बन्द हो ही गया था। भिक्षाके समय भी वे चुपचाप रहते थे, कोई संकेत भी नहीं करते थे। अतः उनका स्वास्थ्य कैसा है, उनकी सुविधा-असुविधाका कुछ भी पता नहीं चलता था। जब किसी दिन भिक्षामें बहुत कम खाते थे, तब अनुमान होता था कि आज उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा। वैसे वे बहुत प्रसन्न एवं शान्त थे। श्रीभगवद्गीतामें लिखा है – ***"निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्"*** अर्थात् "उसके लिये मैं एवं तू, तेरा एवं मेरा – द्वन्द्व है ही नहीं, मात्र एक पूर्ण घन-स्वरूप परमात्मा-ही-परमात्मा सर्वत्र अवस्थित है, वह स्वयंको भी उस परमात्माका रूप ही मानकर उसमें ही नित्य प्रतिष्ठित अनुभव करता है, उसे न कुछ कामना है, न प्राप्त वस्तुओंके बने रहनेकी भी चिन्ता है" – पू.गुरुदेवके जीवनमें यह गीता-तत्त्व पूर्णतया उतर चुका था। उनका इन दिनों बाह्य प्राकृत जगत्से ही नहीं, अपने शरीरसे भी सम्बन्ध पूर्णतया उपरत हो चला था। उन्हें न स्नानका ध्यान रहता था, एवं न ही भोजनका । वे ध्यानमें बैठे रहते थे, तो दिन-रात एक ही मुद्रामें बैठे ही रह जाते थे। उन्हें शौच-स्नानके लिये जाकर जगाया जाता था। तभी वे अपनी

ध्यानमुद्रासे उठ पाते थे। उनकी उपराम वृत्ति काष्ठमौनके पश्चात् कुछ ही दिनोंमें एकदम शरीर-सीमाका ही उल्लंघन कर गयी थी। वे अपने पांचभौतिक आवरणसे सर्वथा अतीत होकर अपने भावराज्यके शरीर और ससारसे एकात्म हो गये थे।

रतनगढ़का एक प्रसंग उल्लिखित कर रहा हूँ। रतनगढ़में पू.गुरुदेवको पू.पोद्दार महाराजके निवास(हवेली)के तीसरे खण्डमें ठहराया गया था। वहाँ सर्वथा एकान्त था। नीचेके खण्डमें पू. पोद्दार महाराजसे मिलने आने-जानेवालोंके कोलाहलसे वे सर्वथा असंपृक्त थे। उन दिनों ग्रीष्म ऋतु आगयी थी। श्रीपोद्दार महाराज नियमत: उन्हें जल पिलाने स्वयं ही जाया करते थे, कोई विशेष कारणसे ही भले उन्हें उसमें चूक करनी पड़े। इस प्रकार वे पू. गुरुदेवकी अन्तर्दशापर भी अपनी पूरी निगरानी रख लेते थे। उस दिवस जब वे दुपहरीमे लगभग दो बजे ऊपर पू.गुरुदेवको जल पिलाने गये तो उन्होने पू.गुरुदेवको अपने साधनाकक्षमें ही नहीं पाया। श्रीपोद्दार महाराज विचार करने लगे –"क्या बाबा शौचके लिये गये हैं ? परन्तु यदि वे शौचके लिये जाते तो उनकी निगरानीमें बैठाया गया सेवक राधेश्याम धानुका(भगतजी) भी उनके साथ अवश्य जाता। वह तो अपने स्थानपर यथावत् बैठा था।"

श्रीपोद्दार महाराज इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उन्हें दृष्टिगोचर हुआ कि पू.गुरुदेव(राधाबाबा) तो झुलसती रेगिस्तानी लू एवं भीषण तपनमें छतपर नंगे पैरों खडे हैं। छतपर सीमेण्टका प्लास्टर था, एवं सीमेण्टकी छतका तेज धूपमें अगारोंकी तरह तप्त होजाना स्वाभाविक ही था। पू.गुरुदेव(राधाबाबा)के शरीरपर मात्र कौपीन था। श्रीपोद्दार महाराजने यह अनुभव करनेके लिये कि छत कितनी गर्म है, अपनी पहनी हुई हवाई चप्पले उतारकर

किनारे रख दीं एवं नंगे पैरों ही पू.गुरुदेवकी तरफ बढे। श्रीपोद्दार महाराजके पैरोंके तलुवे छतपर पैर रखते ही जलने लगे। ऐसी कडकड़ाती तेज धूपमें शरीरपर मात्र कौपीन पहने पू.गुरुदेव छतपर न जाने कितनी देरसे खड़े थे। वे इतने अन्तर्मुख थे कि उनको अपने शरीरका भान ही नहीं था, फिर छतकी तपनकी अनुभूति होनेका तो प्रश्न ही कहाँ था। श्रीपोद्दार महाराजने पू.गुरुदेवका हाथ पकड़ा और वे उन्हे उनके साधनाकक्षमें ले आये। थोड़ा समय बीत जानेपर तथा ऊष्मा शमित हो जानेपर पू.पोद्दार महाराजने उन्हें जल पिलाया।

पू.गुरुदेवकी ऊपरी शरीर-दशाका अनुभव तो हम सभीको, जो उनके निकट रहते थे, प्रत्यक्ष हो जाता था, परन्तु वे भीतर कहाँ रहते हैं, इसका पता तो कोई श्रीपोद्दार महाराज सरीखा प्राणी ही, जो स्वय उनके भाव-संसारमें आवागमन करनेमें समर्थ हो, वही कर सकता था।

पू.गुरुदेवने लगभग डेढ़-दो वर्ष पश्चात् जब उनकी यह उद्दीपन-अवस्था कुछ शिथिल हुई, तो स्वतः मुखसे फूटती काव्य-धारामें अपने भाव-संसारकी अभिव्यक्ति श्रीपोद्दार महाराज किंवा उनकी महाभाग्यवान् पुत्री अ.सौ. सावित्रीबाईके सम्मुख व्यक्त की थी। अ.सौ. सावित्रीबाईकी हेतुरहित अपार कृपावत्सलताके फलस्वरूप मुझे पू.गुरुदेवकी यह महाभाव-काव्यकृति प्राप्त हुई, जिसमे उनकी राधा-जन्मोत्सवकी अनुभूति वर्णित है। लीलासिन्धुमें नितान्त निमग्नताकी यह सहज और स्वाभाविक परिणति इस भावसमाधिमें व्यक्त काव्य-शब्दावलीके रूपमें प्रस्फुटित हुई है। यहाँ यह ध्यानमें रहे कि पू.गुरुदेवकी यह वाणी जन-साधारणकी वाणी नहीं है। उनकी शब्द-रहितता ही परिचायक बन गयी है, अबाध एवं अगाध रसावगाहनमें और तब यह चिन्मय रसस्फोट

हुआ है – अपौरुषेय रस-मंत्रोंकी वाणीमें, जिसे श्रुतिभाषामें वेद कहा जाता है। इसे किसी त्रिकालज्ञ कवि-ऋषिकी वाणी भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आदिस्रष्टा वेदगर्भने भी वेद-ऋचायें कानोंसे सुनी भर थीं, निर्माण नहीं की हैं। यही मानना चाहिये कि चिन्मय भागवती श्रीराधा-माधवकी लीला ही जगत्‌के त्रिताप-संतप्त पामर जीवोंके अशेष कल्याणार्थ वाणीदेवीपर कृपा करती, उन्हें कृतकृत्यता प्रदान करती, चिन्मय दिव्य महाभाव-शब्दावलीके रूपमें ढल गयी है। पू.गुरुदेवका मुख तो इन्हें उच्चारण करनेका मात्र यंत्र है, वस्तुतः इनका शब्द-शब्द चिन्मय है। कोई भी साहित्यिक महानुभाव इन शब्दोंको प्राकृत शब्द माननेका पाप अपने सिरपर नहीं ले। ये प्राकृत शब्द हैं ही नहीं। ये तो गोलोकधामके दिव्य चिन्मय श्रीराधाकुण्ड-कृष्णकुण्डके सम्मिलन-स्थलकी अनन्त, अथाह, असीम उर्मियोंके परस्पर मिलित होनेके कारण उत्पन्न कल-कल छल-छल रव हैं। ये शब्द-समुच्चय त्रिताप-दग्ध प्राकृत जगत्‌के जीवोंके अशेष कल्याणार्थ उमड़ी उस कृष्ण-रसघटाका गर्जन-रव हैं, जिससे सुधावर्षाकी प्रारंभिक भूमिका बनती है। और तब होता है अशेष रसप्लावन। ये महाकल्याणकारी चिन्मय रस-सम्प्लावनको आकर्षण करनेके अमोघ मंत्र हैं, जिनके जापके पश्चात् अवश्यभावी कृपा-उद्वेलन होता ही है। यह कृपा-उद्वेलन अपने अथाह-अजस्र प्रवाहमें अनादि-अनत कालके सचित कर्मबीजोको जड़से उत्पाटित कर देता है, अति विशाल कर्म-वृक्ष समूल उखड जाते हैं और समग्र भूमि ही अति रस-उर्वरा हो उठती है। क्या कहें, पू.गुरुदेवके महाभाव-राज्यकी मादन-मोहिनी परमावस्था ऐसी ही रसमयी है !

अब कबतक पाठकोंको अपनी भूमिकामें ही भटकाता रहूँगा? पाठक तो तरस रहे हैं, पूज्य गुरुदेवकी महाभाव-रचनाका आस्वादन करनेके लिये। यहाँ यह ध्यान रहे, पू.गुरुदेव इन काव्य-पक्तियों

और उनके शब्दार्थका भी प्रकाश होते समय श्रीराधाभावमें स्वरूपतः, नित्य प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः यह उनकी स्वयं स्वसंवेद्य अनुभूति है। वे अपने ही द्वारा मनाया जाता अपना जन्म-महोत्सव अपने ही चिन्मय लीला-महाराज्यमें अपने प्रियतमके समालिंगनमें बँधे देख रहे हैं –

पू.गुरुदेव अपने 'प्रियतम'काव्यमें प्रिया श्रीमती राधाकिशोरी एवं प्रियतम श्रीकृष्णका तात्त्विक विवेचन करते हुए भगवती जगन्माता पराभट्टारिका त्रिपुरसुन्दरीकी वाणीमें कहते हैं–

*सच्चिदानन्द असमोर्ध्व और जो भगवत्ताका भी प्रियतम।*
*है सार मूल मधुरिमा, यही नीली, पीली द्युति है प्रियतम।।*
*रसमय संविद केवल अद्वय जो नील पीतमय है प्रियतम।*
*रहकर जो नित्य एक जो है, दृग विषय हुआ वह है प्रियतम।।*

पू.गुरुदेव द्वारा रचित उपरोक्त पंक्तियाँ स्पष्ट निर्देश कर रही हैं कि परिपूर्णतम, परात्पर, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा और निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य एवं सौन्दर्यके सागर दिव्य सच्चिदानन्दकन्दविग्रह श्रीप्रियाप्रियतम राधा-माधवमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है।

भगवान् अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये ही अथवा उसका नित्य नवीन-नवीन रूपोंमें आस्वादन करनेके लिये ही स्वयं अपने स्वरूपानन्दको अनन्त प्रेमविग्रहोंके रूपमे प्रकट करते हैं, और स्वयं ही उसका रसास्वादन करते हैं। भगवान्के उस आनन्दकी प्रतिमूर्त्ति श्रीराधाजी हैं और यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमका एकीभूत समूह है। श्रीराधाजी प्रेममयी है और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। जहाँ आनन्द है, वहीं प्रेम है, जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। आनन्दरससारका तत्त्वरूप जहाँ परब्रह्म परमात्मा है, वहीं उसका सच्चिदानन्द सान्द्राग सगुण साकार रूप रसराज

श्रीकृष्ण हैं। इन श्रीकृष्णके दिव्य आनन्दविग्रहकी स्थिति ही दिव्य प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधाजीके निमित्तसे है। श्रीराधारानी ही श्रीकृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं और इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही श्रीमती राधारानीके जीवन हैं।

इन महाभावरूपा श्रीराधा (ह्लादिनीशक्ति)की अनुगामिनी शक्तियाँ, जो इनसे सर्वथा अभिन्न, इन्हींकी कायव्यूहस्वरूपा हैं, मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण प्रथमतया दो उपभागो – सन्धिनी एवं चिच्छक्तिके रूपमें और तब अनन्त लीला, अनन्त धाम एवं अनन्त ही लीलाविग्रहोंके रूपमें अपनेको व्यक्त कर देती हैं। श्रीराधाकृष्णको सुख पहुँचाना ही इनका प्रयोजन होता है। ये सब शक्तियाँ ही चिन्मय बृन्दावनधाम, यमुना नदी, गिरिराजपर्वत, वहाँके सुशोभन काल, लहराता सौन्दर्यसिन्धु देश, कुञ्ज, वन, गिरि, दरी, सुन्दर सरोवर, उपवन, कुण्ड, उपवनोमें प्रस्फुटित बकुल, रसाल, प्रियाल, कदली, जम्बु, वानीर, वंश, साल, कदम्ब, अश्वत्थादि वृक्ष, व्योम, रवि, चन्द्र, तारकसमूह, दिवा, निशा, सन्ध्या, प्रभात, मालती, बेला, चमेली, चम्पा, गुलाब, पद्म, मधुप, हंस, बरटा, अन्य जल-विहगम, स्थल-विहंगम, वनचर, चतुष्पाद, हरिणादि, कोकिल, केकी, शुक, सारिकायें एवं सखी, सहचरी, मञ्जरी, दूतियाँ, सखा, गोधन, माता-पिता, चाचा-ताऊ, फूफी-फूफा आदि अनन्त दृश्य बन जाती हैं और लीलासिन्धु ि लक्षण उत्ताल लहरियोंमे लहराता प्रवाहित होता रहता है। यह लीला अविराम अनादि अनन्तकालसे चल रही थी, चल रही है और चलती रहेगी। यह शाश्वत क्रम है।

नित्य आनन्दमय, नित्य तृप्त, नित्य एकरस, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड-विग्रह पूर्णब्रह्म परमात्मामे सुखेच्छा कैसे हो सकती है ?– यह प्रश्न युक्तिसंगत प्रतीत होनेपर भी इसीको सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। भाव एव प्रेम परमात्मासे पृथक् वस्तु नहीं हैं।

प्रेमाश्रयका भाव प्रेम विषयमें और प्रेम विषयका भाव प्रेमाश्रयमें अनुभूत हुआ करता है। इसीलिये ये बृन्दावनादि धाम, धामान्तर्गत अनन्त लीलाक्षेत्र, अनन्त लीलापात्र प्रेमके आश्रय हैं और प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण प्रेमके विषय हैं। इन लीला-पात्रोंका उच्च भाव ही पूर्णकाममें कामना, नित्यतृप्तमें अतृप्ति, क्रियाहीन निष्क्रियमें क्रिया, एव आनन्दमयमें आनन्दकी वासना जागृत कर देता है। अवश्य ही यह सुखेच्छा, कामना, अतृप्ति, क्रिया या वासना जड़ इन्द्रियजन्य नहीं है। यह इस मर्त्य जगत्‌की मायामयी वस्तु नहीं है; क्योंकि यह दिव्य आनन्द एवं दिव्य प्रेम अभिन्न है।

यहाँ यह सदैव ध्यान रहे कि बृन्दावनका एक तृण, गुल्म, लता, वृक्ष, वही तत्व है जो श्रीकृष्ण हैं। इनमें इनके प्रिया-प्रियतमसे तत्त्वतः तनिक भी भेद नहीं है। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथ्वीमे गन्ध रहती है, उसी प्रकार यह बृन्दावनधाम, धामान्तर्गत सर, गिरि, सरितायें, सरोवर, वन, वृक्ष, वाटिका, पशु-पक्षी, कीट-भृंग, पुष्प, पशु-पक्षी – सब सदैव श्रीकृष्णमें रहते हैं और श्रीकृष्ण इनमें रहते हैं।

एक ही परम तत्व है, एक ही सत्य है, जो अनन्त रूपोंमें लीला-रसानन्दका आस्वादन करता रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण एकमात्र रस हैं और उन दिव्यातिदिव्य मधुर रसका ही यह सारा विस्तार है। नित्य एक ही अनन्त बने लीलारसका वितरण तथा आस्वादन करते हैं इसी तत्वको पृथक्-पृथक् चौपदोंके रूपमे समझ लें।

यह शब्दार्थ भी पू.गुरुदेव द्वारा स्वयं बोलकर अ.सौ.बाई सावित्री (श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री)को लिखाया गया था। इस अनुवादको पूर्वत: प्रकाशित ग्रन्थ *'चलौ री आज ब्रजराज-मुख निरखिये'* में स्थान मिल चुका है। यह ग्रन्थ श्रीराधा-माधव-सेवा-संस्थान,

गीतावाटिका, गोरखपुरसे प्राप्त किया जा सकता है। ध्यान रहे यह शब्दार्थ भी विलक्षण रसमंत्र है। इसका पाठ करनेवाले साधकपर निश्चय ही श्रीराधामाधव युगलसरकार कृपालु होंगे। सत्य मानें, ये शब्द प्रिया-प्रियतमको वशीकरण करनेके परम मत्र हैं। इनका फल अमोघ है।

# पू. गुरुदेव द्वारा रचित
# दिव्य अनुभूतिमयी काव्यकृति

(१)

*कृष्ण-परिरम्भित किशोरी राधिकाकी मानसी*
*वृत्ति है प्रियतममयी, है ऑखमें कुछ नींद-सी ।*
*है बिहारीलालकी अलकें तरौनामें फँसी*
*लाड़िलीके, और मनमें मूर्ति है उनकी बसी ।।*

नीलसुन्दरके भुजपाशमें बँधी हुई (श्रीमती)राधाकिशोरीकी मानसी वृत्ति प्रियतममय हो रही है। आँखोमें नींद-सी भर रही है। उस ओर वृन्दावनेश्वर बिहारीलालकी अलकें किशोरीके तरौनामें उलझी हुई हैं और उनके मानस-देशमें प्राणप्रियतमा राधाकिशोरीकी मूर्ति निस्पन्द भावसे विराजित है।

## (तात्विक विवेचन विस्तार)

यहाँ इस काव्य-प्रवाहके प्रथम चौपदेमें ही यह तत्त्व स्पष्टतया उजागर है कि नीलसुन्दरके भुजपाशमें बंधी हुई राधाकिशोरीकी मानसी वृत्ति प्रियतममयी हो रही है। उन्हें अपने भीतर अपनी सत्ता, चिति एव अहंताके रूपमें श्रीकृष्ण ही दिख रहे हैं। उनके प्रियतम श्रीकृष्ण उन्हें बाह्य कलेवर मात्रसे ही समालिगित

नहीं किये हैं, अपितु उनके भीतर भी रोम-रोममें वे ही पूर्णतया ओतप्रोत हैं। यही उनकी मानसी वृत्तिके प्रियतममय होनेका अर्थ है।

प्रिया राधाकिशोरीका सब-कुछ जब प्रियतममय हो रहा है, और उनके प्रियतम श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दकन्द हैं, अतः उन्हें मायामय अज्ञानमे सलीन करनेवाली घोर तमोगुणी निद्रा आनेका तो प्रश्न ही नहीं है। यह निद्रा वस्तुतः प्रियतम श्रीकृष्णकी घनस्मृतिरूपा ही है, जिसने प्रियाको अन्यस्मृतिलेशसे भी शून्य कर दिया है, और अन्य विस्मृति अवस्थाको ही वे भी निद्रा मान रही हैं। कवि भी निद्रा कहकर ही इस अवस्थाको उल्लिखित कर रहा है।

इधर श्रीकृष्णके मानसदेशमें भी उनकी प्रिया श्रीराधाकी मूर्त्ति ही निस्पन्द भावसे विराजित है। इसका भी स्पष्ट अर्थ यही है, श्रीकृष्ण मात्र तनसे ही, ऊपरसे श्रीकृष्ण प्रतीत हो रहे हैं, उनके भीतर तो श्रीराधा-ही-राधा हैं।

अब यहाँ श्रीकृष्णकी कृष्ण कुञ्चित अलकें श्रीराधाके हीरक मणिजटित स्वर्णिम तरौनोसे उलझ रही हैं– यह तथ्य भी यही व्यक्त कर रहा है कि श्यामतेज एवं गौरतेजका मिलन ही पूर्ण, परम तत्त्वका स्वरूपविलास है। कृष्ण कुञ्चित केशराशि श्यामतेजकी प्रतीक हैं एव स्वर्णिम हीरामणिमण्डित तरोना गौरतेजका प्रतीक है।

।।२।।

*वार है आदित्य, शुक्ला अष्टमी है भाद्रकी,*
*है प्रथम दिनका पहर, गति है शिथिल थल-बातकी।*
*फुल्ल बकुल-रसाल-कदली-जम्बु-पत्रों से ढकी,*
*कुञ्ज है अतिशय मनोहर तपन-तनया-तीरकी ।।*

आज आदित्यवार है । भाद्रपदकी शुक्ला अष्टमी है। दिवसका प्रथम पहर है। स्थलसमीर मन्दगतिसे प्रवाहित है ।

कलिन्दनन्दिनीके तटकी भूमि है । पुष्पित वकुल, आम्र, कदली एवं जामुनके पत्रोंसे ढँकी हुई कुंजकी शोभा अतिशय मनोहर दीख रही है ।

## (तात्विक विवेचन-विस्तार)

'वार है आदित्य'का अर्थ है – श्रीभानुनन्दिनी राधा सूर्यपुत्री होनेसे प्रकाशपुत्री हैं, वे पूर्ण अन्धतम कामस्वरूपा रजनीमें नहीं जन्मी हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें महाप्रभु चैतन्यकी वाणी है– ***'काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर'*** इसीलिये श्रीराधाका जन्म आदित्यवारको होता है। श्रीनारदजी अपने भक्तिसूत्रोंमें प्रेमको प्रतिक्षण नित्य नूतन वेगसे बढनेवाला बतलाते हैं। शुक्ला अष्टमीके पश्चात् चन्द्र नित्य नूतन वेगसे प्रतिदिन बढता ही जाता है। यहाँ देश भी तपन-तनया सूर्यपुत्रीका तट है। यमुना तमोप्रधान जड जगत्की जल-प्रवाहिणी नदी नहीं है, अपितु प्रकाशके चिन्मय देव सूर्यकी चिन्मयी पुत्री हैं। दिनका प्रथम प्रहर पूर्ण तेजोमय काल है। स्थल-समीर भी मन्द-मन्द प्रवाहित हो रहा है। प्राणों (श्वास-प्रश्वास)में रजोगुण-तमोगुणका प्राबल्य नहीं है अपितु विशुद्ध सत्वकी शीतल मन्द गति है, जिसमें एकाग्र हुए चित्त, मन घन शान्तिमें डूबे हैं। यहाँ जम्बु प्रगाढ रागका प्रतीक है, कदली अखण्ड संयोगका प्रकाशक है, रसाल रसमत्तताका द्योतक है एव बकुल उत्फुल्ल चित्तमें उच्छलित आनन्दका प्रकाशक है।

।।३।।

*व्योम निर्मलमें नहीं है चिन्ह वारिदका कहीं ,*
*है पुलिन रवि-रश्मि-राजित, तप्त पर, रज है नहीं।*
*स्वर्णमय वेदी रचित है बीचमें सुन्दर वहीं ,*
*साँझ होते ही सदा रस रास बहता है यहीं।।*

आकाश पूर्ण निर्मल है । मेघका चिह तक नहीं है,

उसमें। अंशुमालीकी किरणोंसे राजित पुलिनकी शोभा अत्यन्त मनोहर है । साथ ही बालुका-राशि अत्यन्त सुन्दर दीख रही है। यहीं वह स्थल है, जहाँ संध्या होते ही रास-रसका प्रवाह बह चलता है । सदाका सनातन नियम है – इस स्थलपर रास-रसकी अभिव्यक्ति होते रहना ।

## (तात्विक विवेचन-विस्तार)

व्योम चित्तका प्रतीक है। विशुद्ध सत्वको आच्छादित कर देने वाले वारिदका कहीं कोई लेश भी नहीं है। पुलिन विशुद्ध सत्वके प्रकाशसे जगमगा रहा है। परन्तु इस प्रकाशमें तप्त करनेकी, तपनरूप दुःख देनेकी शक्ति ही नहीं है। अतः रज शीतल है। मध्यमें स्वर्णमय वेदी है। स्वर्ण प्रीतिकी अनमोल पीतताका प्रतीक है। इस स्वर्णिम वेदीस्थलमें ही सदैव संध्याकालमें रस-रासका प्रवाह बहता रहता है।

।।४।।

*पार इस तटके द्रुमोंसे लिपटकर अगणित हरी,*
*हो नमित खगसे, सुमनसे, झूमती हैं वल्लरी ।*
*भारसे फलके विटपशाखा धरापर हैं ढरी,*
*है सुगन्धोंसे भरी अवनी तथा गिरिकी दरी ।।*

तटके उस पार द्रुमोंसे लिपटी हुई अगणित हरित लताओंका जाल फैला हुआ है । विहङ्गमोंका क्रीडा-स्थल है, ये लताएँ । एक ओर गुच्छ-के-गुच्छ पुष्पोंका भार है इनपर, दूसरी ओर विहङ्गमोंका दल-का-दल झूल रहा है, इनकी टहनियोंपर । इस प्रकार वे बल्लरियाँ अत्यन्त नमित हो गयी हैं, भूमिका स्पर्श कर रही हैं । उधर वृक्ष-शाखाओंपर लगे हुए फलोंका भार इतना अधिक है कि वे सभी पादप धराका स्पर्श कर रहे हैं। भूमिका वक्षःस्थल

सुगन्धोंसे परिपूरित हो रहा है। और तो क्या, गिरिवरकी गुफाएँ भी सौरभसे मह-मह कर रही हैं।

## (तात्विक विवेचन-विस्तार)

यहाँ 'द्रुम' विषयालम्बन रसराज स्वरूप प्रियतम श्रीकृष्ण हैं और अगणित हरी लताएँ प्रेमसे हरी हुई आश्रयालम्बन भावापन्न सखियाँ हैं। खग इनकी प्रियतम गुणगानमें निरत वृत्तियाँ हैं। सुमन प्रेमभरा इनका मन है, जो प्रियतम श्रीकृष्णके दर्शनजन्य आनन्दसे खिल रहा है। ये गोपीरूपा वल्लरियाँ भावोन्मत्त हुई झूम रही हैं। अपने प्रियतमको सुख देनेकी लालसा ही फल हैं, जिनके भारसे वृक्षकी शाखाएँ अर्थात् प्रियतम श्रीकृष्णके अंग-प्रत्यंग अपनी प्रियाके तनपर निढाल हो रहे हैं। अब भला प्रेमकी सुगन्ध सर्वत्र प्रसरित नहीं हो, ऐसा कैसे संभव है।

॥५॥

*पी मधुप मधु, मत्त होकर, मौन-सा है हो चुका,*
*पर न किञ्चित् भी बिहग-कुलका सरस है स्वर रुका,*
*हंस, हो आसक्त वरटामें, रहा है सिर झुका ।*
*है जहाँ छूकर रही बह नीलधारा रेणुका ॥*

इस समय भ्रमरावली पर्याप्त मधुपानसे मत्त होकर मौन-सी हो गयी है, किंतु विहङ्ग समुदायके सरस स्वरका किञ्चित् भी विराम अबतक नहीं हुआ है । कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहके समीप, जहाँ धारा रेणुकाको स्पर्श करती हुई बह रही है, हंस-हंसिनियोंका दल विराजित है। प्रीतिकी ऊर्मियोंमें बहता हुआ हंस हंसिनीके चरणप्रान्तमें अपना सिर झुकाए आसीन है । भावकी तरंगें उसके पंखसे मानों ऊपर-नीचे, दाहिने-बाँयें बिखर-सी रही हैं ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

तनिक इस प्रेमभावभरी प्रकृतिका सौन्दर्य तो देखें ! सर्वत्र भाव एवं रसका ही विलक्षण उद्दीपन इस काव्यमें व्यक्त है। नीलधारा (श्रीकृष्णका प्रीति-सरस ह्रदय) रेणुका(श्रीराधारूपा उज्ज्वल निर्मल भावस्वरूपा धरा)को लहरा-लहराकर शनैः-शनैः संस्पर्शितकर भावोद्दीपित कर रही है। नर हंस (श्रीकृष्ण भाव-भावित जलविहग) अपनी प्रिया वराटी, हंसिनीके अणु-अणुमें प्रिया राधाको निरखता उसके चरणोंमें नतमस्तक है। मधुप (श्रीकृष्ण) अपनी प्रिया पुष्पराशि (राधा)का प्रीतिमकरन्द पान कर-करके अतृप्त हुआ मुखरता त्यागकर मौन शान्त हो गया है। किन्तु प्रेम-यश-गाननिरत वाणीदेवी जो अपनेको इस खगकुलके निमित्त धन्यजीवन कर रही है, भला कैसे शान्त हो सकती है, वे तो निरन्तर प्रिया-प्रियतमका प्रेमगान करती थकती ही नहीं।

॥६॥

*नीर-तलपर जल-विहगें तैरते हैं दीखते,*
*और निर्भय मेदिनीपर हैं चतुष्पद घूमते ।*
*डूबकर सुख-सिन्धुमें दृग मूँदते हैं, खोलते,*
*कीर है वह एक नीरव, और हैं सब बोलते ।।*

कुछ जल-विहङ्ग धाराके ऊपर तैरते हुए दीख रहे हैं, और धारासे सम्बद्ध मेदिनीपर चतुष्पदोंका दल निर्भय होकर विचरता दीख रहा है । ये चतुष्पद कुछ चलकर रुक जाते हैं, सुख-सिन्धुके प्रवाहमें डूबकर अपनी आँखें मूँद लेते हैं, निस्पन्द हो जाते हैं । फिर अचानक इनकी आँखें खुल जाती हैं, और उन्मत्त-से हुए ये आगेकी ओर चल पड़ते हैं । हाँ ! केवल वह शुकपक्षी अकेला, चुपचाप, नीरव बैठा है । शेष सभी अपने-अपने कलरवमें तन्मय हो रहे हैं ।

## (तात्विक विवेचन-विस्तार)

अहा ! प्रीतिरस कैसा कल-कल छल-छल रव करता हुआ बह रहा है। जल-पक्षी मनमें प्रिया-प्रियतमकी छवि भरे इस रस-प्रवाहमें तैरते दिखाई पड़ रहे हैं। पृथ्वीपर वनमें चतुष्पाद विचरण करते हैं, उन सभीके अन्तःकरण नील-पीत ज्योत्स्नाकी मादक स्निग्धतासे भरे हैं। उन सबके अन्तरमें इतना सुख-सिन्धु उमड रहा है कि वे चेष्टा करनेपर भी अपने नेत्र खुले नहीं रख पाते; आन्तरिक प्रेमोर्मियाँ उनके नेत्र मूँद देती हैं। उनका चेष्टाकरके नेत्र खोलना और तब पुनः मूँद लेना अति मनोरम लग रहा है। हाँ, यहाँ एक शुक पक्षी अवश्य है जो चुपचाप, शान्त आनन्दमें भरा मौन बैठा है, शेष सभी खग चंचल हुए चहक रहे हैं।

॥७॥

*कुञ्जसे सटकर वहाँ फूला विशाल कदम्ब है,*
*डालपर शुक है उसीकी, तत्वविद् वह पूर्ण है ।*
*है सहज अनुभूति उसकी, कृष्णमय यह दृश्य है,*
*नन्दनन्दनमय बना बैठा हुआ ध्यानस्थ है ॥*

कुञ्जसे सर्वथा जुडा हुआ वहाँ एक विशाल कदम्बका वृक्ष है। कीर उस वृक्षकी डालपर ही आसीन है । वह पूर्ण तत्त्ववेत्ता है । उसकी सहज अनुभूति है कि यह दृश्य-प्रपञ्च सर्वथा-सर्वांशमें कृष्णमय है, सच तो यह है कि वह नन्दनन्दनमय बना हुआ ध्यानस्थ बैठा है।

## (तात्विक विवेचन-विस्तार)

कदम्बका वृक्ष तो प्रियतम श्रीकृष्णका ही स्वरूप है और कुञ्ज प्रिया श्रीराधाका निवास होनेसे अपनेमें उनकी छवि छकाछक भरे है। प्रिया-प्रियतम तो परस्पर सटकर ही खड़े होते हैं, सो यह वृक्ष भी कुञ्जसे सटा है। यह विचक्षण शुक श्रीकृष्णका सखा है।

सखी श्रीचित्राजी

यह निशामें भी इनके ही शयन-कक्ष नन्दभवनमें शयन करता है। जब माता यशोदा एवं गोपराज नन्दराय प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जाते हैं, तब यही शुक कुञ्जमें अपनी प्रिया राधा सहित शयित श्रीकृष्णको इसकी सूचना देने नन्दभवनसे उड़ता हुआ शीघ्रतापूर्वक इनकी कुञ्जमें प्रवेश करता है। यह श्रीकृष्णकी अति तत्त्वसारयुक्त काव्यमयी वाणीमें स्तुति करके उन्हें जगानेकी चेष्टा करता है। वैसे इस स्तुतिमें इसका साथ प्रिया श्रीराधारानीकी अतिशय प्यारी सखी सारिका भी देती है। वह सारिका स्त्रीपक्षी होनेके कारण निशापर्यंत प्रिया-प्रियतमके एकान्त रस-विलासकी साक्षी द्रष्टा होती है। ये दोनों शुक-सारिका प्रायः सदैव मौन, शान्त एवं ध्यानस्थ ही रहते हैं। शुक तत्त्वविद् है किन्तु सारिका रसविद् है। शुकराज विचक्षण सर्वत्र अपने भीतर एवं बाहर समग्र दृश्यको कृष्णमय ही देखता रहता है, इसका अन्तःकरण सदैव सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके उच्छलित आनन्दमें पुलकित ही रहता है। इसीलिये पंख प्रफुल्लित रहते हैं। यह नन्दनन्दनमय बना ध्यानस्थ आसीन है।

॥८॥

*नित्य इसको कृष्ण हैं अपने करों से पोंछते,*
*स्पृष्टफल राधा-अधरसे चोंचमें हैं डालते*
*और रखकर लाड़िलीके सामने हैं पूछते,*
*''मित्र ! बोलो, क्या पढाऊँ, पाठ हो क्या चाहते''॥*

इस बड़भागी शुकपक्षीको श्रीकृष्णचन्द्र अपने करसरोरुहसे प्रतिदिन स्नान कराते हैं, पोंछते हैं और फिर राधाकिशोरीके अधरामृतसे सिक्त, सुमधुर फल लेकर इसके चोंचमें भर देते हैं । इसके अनन्तर किशोरीके सामने उसे विराजितकर उसे पूछते हैं–'अहो मित्र ! बोलो, तुम्हें आज क्या पढाऊँ मैं ? तुम कौन-सा

पाठ पढ़ना चाहते हो ?'

## (तात्विक विवेचन-विस्तार)

यदा-कदा जब भी श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रिया राधा वनमें साथ-साथ एकान्तमें होते हैं, यह शुक अवसर देखकर प्रियतम श्रीकृष्णकी भुजाओंमें हाथपर अँगूठेके पास बैठ जाता है। सारिका भी प्रियाके हाथपर बैठ जाती है। तब प्रियतम श्रीकृष्ण इसे अपने सच्चिन्मय हस्तकमलके संस्पर्शसे सहलाते हैं। यही इसके अंगोंको पौंछना, सम्मार्जित करना होता है। अपने प्रियतम सखाके पावन प्रेमभरे संस्पर्शसे यह शुक कृतकृत्य हो उठता है। श्रीकृष्ण इसे अपनी प्रियाके अधरोंसे संलग्नकर उनके अधरामृतसे सना प्रसाद खिलाते हैं। श्रीराधाके अधरोंमें पराभट्टारिका भगवती योगमाया श्रीविद्या विराजती हैं, अतः उस अधर-सस्पृष्ट प्रसादको पाकर यह शुक सर्व प्रेमरहस्योंका प्रज्ञाता हो जाता है। इसके उपरान्त भी प्रियतम श्रीराधारानीके सान्निध्यमें ही इससे प्रश्न करते हैं–'अहो मित्र ! सखे !! बोलो, मैं तुम्हें आज क्या पाठ पढाऊँ ? तुम कौनसा पाठ पढ़ना चाहते हो ?''

॥९॥

*सहसा शुकस्य नेत्रोन्मीलनम् ।*

अस्तु, सहसा यही शुकपक्षी अपनी आँखें खोलकर देखने लग जाता है।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

शुक पक्षीको सम्पूर्ण दृश्यमें श्रीकृष्ण इस प्रकार भरे दृष्टिगोचर होते हैं कि वह बार-बार नेत्र मूँद-मूँदकर खोलता है। उसे पाँच प्राकृत तत्त्व – आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वीमें भी अणु-अणुमें श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण समाये प्रतीत होते हैं। उसे यह

निश्चय तो हो जाता है कि उसके प्रियतम सखा श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द परतत्त्व हैं, किन्तु क्या प्रिया श्रीराधा भी मन-वाणीका अविषय हैं, और उनकी अनुजा मंजुश्यामा भी वही सच्चिन्मय परतत्व है ? वह इस जिज्ञासासे मथित हुआ, इस जिज्ञासाका समाधान अपनी सखी सारिकासे करने कुञ्जमें जानेको उद्यत होता है।

।।१०।।

*कुञ्जप्रवेशः*

उड़कर कुञ्जमें प्रविष्ट हो जाता है ।

।।११।।

*तत्रस्थ सारिकया सह मूकमिलनम्*

वहाँ विराजित सारिकाके साथ शुकका मौन मिलन होता है।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

यह पुरातन आर्ष पद्धति ही है कि किसी भी तत्वज्ञ ऋषि गुरुके पास जिज्ञासु मुनि मौन होकर ही जावे। सबके सर्वमान्य परमगुरु भगवान् दक्षिणामूर्त्ति श्रीदत्तात्रेयजीके लिये भी यह श्लोक प्रसिद्ध है –

*चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा ।*
*गुरोस्तु मौन व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।।*

'आश्चर्य है कि वटवृक्षके नीचे सभी शिष्य अति वृद्ध हैं और गुरु युवक हैं। गुरु मौन रहकर व्याख्यान कर रहे हैं और शिष्योंके सभी सन्देह स्वतः छिन्न हो रहे हैं।'

भगवान् दक्षिणमूर्त्ति दत्तात्रेयजीके लिये यह शास्त्रवाणी है कि वे मूर्त्तिमान् प्रणवकी व्याख्या हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेवजी– तीनोंके समवेत विग्रह(मूर्त्ति) हैं । वे विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति हैं, परम

निर्मल हैं, प्रशान्त गंभीर हैं और वयमें युवा हैं। वटवृक्षके नीचे खुली भूमिमें अपने पास आसीन शान्त वयोवृद्ध मुनिजनोंको वे मौन रहकर ही आद्योपान्त समग्र ज्ञान दे देते हैं। इसीलिये उन्हें त्रिलोकीका-गुरु माना जाता है।

॥१२॥

*भावाविष्टदम्पतिदर्शनम्*

दोनोंकी दृष्टि भावाविष्ट नीलसुन्दर और राधाकिशोरीकी ओर केन्द्रित हो जाती है, दोनों देखने लगते हैं उनकी ही ओर ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

किसीकी भी जिज्ञासाओंका वैसे समाधान हो ही नहीं पाता, चाहे कोई कितना ही उपदेश सुने। सच्चा समाधान तभी होता है, जब प्रिया-प्रियतम राधा-माधव किसीके भी अन्तःकरण-पटलपर अपनी हेतुरहित कृपासे अपने आपको सुव्यक्त कर देते हैं।

॥१३॥

*प्रियतमायां भावान्तरोद्गमः ।*

अचानक राधाकिशोरीमें एक नवीन भावका प्रवाह चल पड़ता है।

॥१४॥

*स्वप्नदर्शनम्*

वे एक स्वप्न देखने लगती हैं ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

भगवती श्रीराधा परात्पर परब्रह्मस्वरूपा ह्लादिनी महाभावशक्ति हैं। उनमें प्राकृत मर्त्त्यजगत्‌की गुणमयी तीन अवस्थाएँ– जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति हो ही नहीं सकतीं । प्रकृतिके मायामय सत्व, रज एवं तमोगुणोंकी न्यूनाधिकता होनेसे ही ये लौकिक

तीन अवस्थाएँ – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति त्रिगुण-भावापन्न जीवोंमें देखी जाती हैं। किन्तु श्रीमती राधारानीका हम लौकिक जीवोंकी तरह स्वप्न देखना तो संभव ही नहीं है।

वस्तुतः श्रीकृष्ण-स्मृतिकी आत्यन्तिक प्रगाढ़ता, साथ ही श्रीकृष्णेतर अन्य सम्पूर्ण लीलाजगत्‌की पूर्ण विस्मृति ही उनकी निद्रा है, जिसमें वे अबतक श्रीकृष्णके समालिंगनमें डूबी लिप्त थीं। अब उनकी इस प्रगाढ़ स्मृतिजन्य भाव-समाधिमें किंचित् विक्षेप हुआ है, और उन्हें सच्चिन्मय अप्राकृत लीलाजगत्‌की स्मृति उदित हो रही है। इसीको पू.गुरुदेव स्वप्न देखना कह रहे हैं।

।।१५।।

*तद्दर्शनेन प्रियतमस्य भावसमाधिः ।*

यह देखते ही प्रियतम नीलसुन्दरको भी भाव-समाधि हो जाती है ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

प्राकृत जगत्‌में तो कोई क्या स्वप्न देखता है, इसका अनुसंधान ही अन्य व्यक्तिको नहीं हो पाता। किन्तु प्रियतम श्रीकृष्ण अपनी प्रिया श्रीराधाकिशोरीसे इतने एकात्म हैं कि उसकी स्वप्नगत एक-एक भावस्फुरणाको प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और उस भावोद्वेलनकी पवित्रतम प्रेमस्वरूपताको ठीक पहचानकर उसके आस्वादनमें इतने भावविह्वल हो उठते हैं कि उन्हें तत्क्षण भाव-समाधि लग जाती है।

।।१६।।

*सारिकायाः जय-जयेति प्लुतरवेण प्रियतमस्य बाह्यसंज्ञालाभः ।।*

सारिका 'जय-जय' पुकार उठती है । उसके इस प्लुत-रवसे प्रियतम नीलसुन्दरमें बाह्यज्ञानका संचार हो जाता है ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

सारिका पक्षी प्रिया श्रीराधाकी काय-व्यूहारूपा होनेसे अपनी सखीकी भाव-स्फुरणाओंकी भी द्रष्टा रहती है। सर्वविख्यात है कि श्रीप्रिया-प्रियतम तो ***'एक तत्व दो तनु धरैं'*** एक प्राण दो शरीर हैं। अतः ये दोनों परस्परके मनकी स्फुरणाओंको पहचान लें, यह रहस्य तो हृदयंगम हो जाता है, किन्तु ब्रजवनका एक अति साधारण पक्षी भी प्रिया श्रीराधारानीके हृदयकी प्रत्येक भावोर्मिको जान लेता है, यह आश्चर्य ही है।

॥१७॥

***कम्पितकरेण प्रियतमानयनमार्जनम् ।***

वे कम्पित करसरोरुहसे प्रियतमाकी आँखोंका संमार्जन करने लगते हैं।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

वस्तुतः स्वप्न नेत्र नहीं देखते; स्वप्न तो अन्तःकरण एवं मनकी वृत्तियोंका हलन-चलन है जो मन ही अनुभव करता है। सभी स्वप्न मनःपटलपर ही व्यक्त होते हैं। फिर यहाँ श्रीकृष्ण स्वप्नकी अपूर्व प्रेममयता और विलक्षण दृश्यावलिसे मुग्ध हुए प्रिया श्रीराधाकिशोरीके बाह्य नेत्र क्यों सहलाने लगे ? क्या वे सर्वविद्, सर्वज्ञ, सर्वविद्याविशारद होते हुए भी इतने अज्ञानी हैं कि ऐसा समझ रहे हैं कि प्रियाके नेत्रोंमें स्वप्न विलसित हो रहा है ?

नहीं, नहीं, ऐसा कदापि नहीं है। सत्य तो यह है कि अपूर्व प्रेमावेशवश उनमें विलक्षण प्रेम-रहस्योंका प्रकाश हो जाता है; उनमें उच्छलित प्रेमोदधि सर्वज्ञता एवं मूढ़ता दोनों विरुद्धगुण धर्मी भावोंका युगपत् एक साथ प्रकाश कर देता है। सर्वज्ञता तो इस अंशमें व्यक्त होती है कि वे अपनी प्रिया राधाकिशोरीके स्वप्न देखनेकी अन्तरतमकी बात जान लेते हैं और मूढ़ता इस रूपमें

व्यक्त हो उठती है कि वे भावावेशवश उनके नेत्र-सरोजोंको सहलाने लगते हैं। अथाह प्रेमोद्रेकवश उनके कर-सरोजोंमें परम सात्विक कम्पन-भाव प्रकट हो जाता है।

।।१८।।

*प्रियतमावबोधः ।*

इस प्रकार नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाको बाह्यज्ञान हो उठता है ।

## प्रियतमस्योक्ति

।।१९।।

*स्वप्न सुन्दर, थी रही तुम देख, मैं था देखता ।*
*अर्धमुद्रित शरद-सरसिज-से दृगोंकी लवणता ।।*
*और हृत्तलमें लहर-सी नाचती जो सरसता,*
*चित्र अंकित हो रहे मुखपर उन्हींमें विहरता।।*

प्रियतम कहने लगते हैं – प्राणेश्वरि ! तुम एक अतिशय सुन्दर स्वप्न देख रही थीं, और मैं देख रहा था तुम्हारे अर्द्धमुद्रित शारदीय सरोरुह-जैसे दृगोंका लावण्य। साथ ही तुम्हारे हृत्तलमें जो सरसताकी ऊर्मियाँ-सी नृत्य कर रही थीं और जो उनके चित्र तुम्हारे मुखसरोजपर अंकित हो जाते थे, उसे देख-देखकर मैं भाव-समुद्रमें डूबता-उतराता था।

।।२०।।

*चिन्मयी तन्द्रासमावृत वदन-नीरज था सना ।*
*शान्तिसे, यह राशि सुषमाका मनोहर था बना ।।*
*'भाव एवं बोध' का संग्राम सुखमय था ठना,*
*था वितान तथा प्रकृति अपनी रचित मुझपर तना ।*

चिन्मयी तन्द्रासे तुम्हारा वदन-सरोज आवृत हो रहा था, शान्तिका आकर बना हुआ वह सब ओर सुषमा बिखेर रहा था,

बरबस मेरे मनका हरण कर ले रहा था । अचरजकी बात यह थी कि उस समय भी भाव एवं बोधका अत्यन्त सुखमय संग्राम-सा छिड रहा था। साथ ही उस ओर मेरी अपनी प्रकृतिके द्वारा ही विरचित एक सुमनोहर वितान मुझपर तान दिया गया था ।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

**जिज्ञासाः-** प्रिया श्रीराधाके हृत्तलमें जो सरसताकी उर्मियाँ नृत्य कर रही थीं और उनके द्वारा विशुद्ध सात्विक चित्र उनके मुख-सरोजपर अंकित हो रहे थे, उन्हें देख-देखकर प्रियतम श्रीकृष्णका भाव-समुद्रमें डूबना तो समझमें आता है, किन्तु उन्हें प्रिया राधाके दृगोंका लावण्य आकर्षित करे, यह बात किसी भी दृष्टिसे हृदयंगम नहीं होती। भगवान्‌के दृगोंका लावण्य आत्माराम -गणाकर्षी कहलाता है, किन्तु वे सर्वमोहन-मोहन भगवान् भी मोहित हो जावें, यह युक्तिसंगत नहीं लगता।

**समाधानः-** यह प्रेमतत्त्व ऐसा ही विलक्षण है। वह नित्यतृप्त भगवान् श्रीकृष्णको अतृप्त बना देता है। क्या यशोदाके स्तन्य (दूध)के लिये बालक श्रीकृष्ण बुभुक्षित नहीं होते ? जब उनको दूध पिलाना स्थगितकर उफनते दूधकी रक्षार्थ माता यशोदा उन्हें बुभुक्षित ही छोड़कर चली जाती है, तो क्या वे क्रोधमें भरकर यशोदा मैयाका दधिभाण्ड नहीं फोड़ देते ? वात्सल्यरसमें जहाँ श्रीकृष्ण माता यशोदाके दुग्धकामी होते हैं, ठीक इसी प्रकार मायुर्यरस-भाव-भावित होनेपर वे अपनी प्रिया श्रीमती राधाकिशोरीके रूप-सौन्दर्यके भी पिपासु हो उठते हैं। यहाँ ऐसा उल्लेख अवश्य है कि प्रियाके हृत्तलमें सरसताकी उर्मियोंका नर्तन देख वे भावसमुद्रमें डूबने-उतराने लगे। किन्तु उनका प्रेम कुछ भी अपेक्षा रखकर नहीं है। वे तो मात्र किसीके भी मुखसे 'राधा' नाम उच्चारित होता सुन लें, उसपर अपना सर्वस्व न्यौछावरकर उसकी चरण-रेणु प्राप्त

करने उसके पीछे-पीछे फिरने लगते हैं।

यहाँ एक बात और समझनेकी है कि अप्राकृत लीलाराज्यमें प्रिया श्रीमती राधारानी और उनके नेत्र दो वस्तु नहीं होते। वहाँ देह-देहीभाव प्राकृत जड़ संसार – मृत्युलोककी तरह नहीं होता। वहाँ चर्मचक्षु नहीं हैं। अतः राधा ही वहाँ पूर्णतया राधारानीके नेत्र भी हैं। ये सभी शंकाएँ भगवान्‌के लीलाराज्यको प्राकृत मान बैठनेसे ही होती हैं।

**जिज्ञासाः-** बीसवें चौपदेमें *'भाव एवं बोधका संग्राम सुखमय था ठना'* – यह पंक्ति उल्लिखित है। इसका विवेचन कृपया विस्तारपूर्वक करें।

**समाधानः-** इस उपरोक्त पंक्तिका भली प्रकारसे खुलासा करनेकी दृष्टिसे श्रीपोद्दार महाप्रभु रचित इस पदपर दृष्टिपात करें। यहाँ कृष्ण-प्रिया श्रीराधारानीकी चिन्मयी निद्रा क्या है, इसीका विस्तृत विवरण हैः–

*कृष्ण-सुखैक-वासना केवल, कृष्ण-सुखैक-रूप सब काल।*
*काम-भोग-वर्जित स्वाभाविक राधा-हृदय रहित जग-जाल।।*
*महा मोह-तम-रजनी-विरहित प्रकट प्रेम-रवि-ज्योति अपार।*
*कृष्ण-स्मरण पूर्ण शुचि जीवन अर्पित सहज अखिल आचार।।*
*प्रियतम परम श्यामकी स्मृतिमें हुई राधिका अति तल्लीन।*
*स्वयं होगयी स्मृतिरूपा वह अपनी सुधिसे हुई विहीन।।*
*श्यामा, श्याम, श्यामकी स्मृति-इस त्रिपुटीका हो गया अभाव।*
*रहे नहीं आस्वाद्यास्वादन, रहा न आस्वादकका भाव।।*

इन उपरोक्त आठ पंक्तियोंमें महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराजने प्रिया श्रीराधा रानीकी चिन्मयी प्रगाढ़ निद्राका वर्णन किया है। यह जब प्रगाढ़ न होकर किंचित् शैथिल्ययुक्त होती है तो इसे ही उनकी तन्द्रा समझनी चाहिये। वे कहते हैं –

श्रीराधारानीमें सर्वकाल मात्र श्रीकृष्णको ही सुखी करनेकी एक वासना रहती है। श्रीराधारानीका हृदय सब जगजंजालसे तो स्वाभाविक ही सर्वथा मुक्त एवं समग्र कामना एवं देहभोगोंसे पूर्ण उपरत रहता है। वहाँ महामोहमयी अज्ञानान्धकारसे युक्त निशा तो विगत हो जाती है और प्रेमसूर्यकी ज्योति सदा छिटकी रहती है। श्रीराधारानी प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें अतिशय तल्लीन हुई स्वयं स्मृतिरूपा ही हो जाती हैं, और उन्हें अपनी स्वयंकी भी स्मृति नहीं रहती। वे जब स्वयं अपने आपको ही भूल जाती हैं, तो फिर न तो प्रियतम श्रीकृष्णकी स्मृति रहती है, न श्रीकृष्ण ही रहते हैं। इस अवस्थामें आस्वाद्य, आस्वादक एवं आस्वादन – तीनों ही वृत्ति समाप्त होकर मात्र शून्य ही उनका अन्तःकरण हो जाता है।

इसे पुनः समझ लें । जैसे अज्ञानकी सप्तम भूमिका प्रगाढ़ निद्रा अथवा पूर्ण मूर्च्छा है; इसी प्रकार प्रेमकी सर्वोच्च भावसमाधि यही है। प्रेमसाधनाकी यही सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है।

साधना चाहे भाव-भक्ति, प्रेम-साधनाके पथसे की जावे किंवा बोध-पथसे; पथ (यात्रा) में ही भिन्नता भेद रहता है, चरम लक्ष्यपर पहुँचनेपर तो यही दृष्टिगोचर होता है कि अन्तिम सत्य, चाहे किसी भी साधनाका आश्रय लो, अन्तमें एक ही है। वह अन्तिम उपलब्ध तत्व अनुभवातीत पद है। वहाँ ज्ञाता-ज्ञान एवं ज्ञेयकी भी आत्यन्तिक विस्मृति हो जाती है। ज्ञानमार्गके ये ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय ही प्रेममार्गमें क्रमशः श्यामा, श्यामकी स्मृति एवं स्वयं श्याम हो जाते हैं। इन्हें ही चाहे नाम बदलकर आस्वादक, आस्वादन एवं आस्वाद्य कह लो। इस त्रिपुटीका अन्त हो जाना ही सच्चे बोधमार्गके साधकका भी लक्ष्य होता है। सर्वोच्च भावसे भी इसी अन्तिम उपलब्धिको प्रिया, प्रियतम, सखियाँ एवं व्रजराज्यके सभी जीव निद्राभावमें तल्लीन होकर करते हैं। उनकी निद्रा

प्राकृत जड मायाराज्यकी घोर अज्ञानावस्था नहीं है, अपितु यही चरम एवं परम सत्यकी उपलब्धि है, जिसे प्रियतम श्रीकृष्णका प्रेम उन्हें उपलब्ध कराता है। इसी अवस्थामें क्षणके करोड़वें हिस्सेमें प्रियतम श्रीकृष्ण प्रिया राधामें पूर्णतया रूपान्तरित हो जाते हैं और श्रीराधा प्रियतम श्रीकृष्णमें पूर्णतया रूपान्तरित हो जाती है। सखियाँ श्रीराधामें समाहित हो जाती हैं एवं समग्र ब्रजराज्य प्रिया-प्रियतमके किसी-न-किसी अंग-अवयवमें मिलकर अपनी पृथक् अस्मिता, पृथक् अस्तित्व, अभिमान पूर्णतया विलय कर देता है।

ज्ञानराज्यकी यह पूर्ण मुक्तावस्था है। जीव इसे पाकर फिर अपुनर्भव गतिकी उपलब्धि कर लेता है। वह पूर्ण परात्पर सच्चिदानन्द सिन्धुमें सिन्धु बनकर बिन्दुत्वका विलय कर लेता है। बोधकी इस चरम सिद्ध अवस्थामें पहुँचकर साधक 'बुद्ध' हो जाता है, पूर्ण हो जाता है, संतृप्त हो जाता है, महासिद्ध हो जाता है। उसकी यात्राका उसे चरम एवं परम लक्ष्य उपलब्ध हो जाता है। किन्तु प्रेममार्गका साधक इस सिद्धावस्थामें भी संतृप्त नहीं हो पाता। क्योंकि विशुद्ध प्रीति नित्य नव-नवायमान रस देने वाली है। नित्य अभिवर्द्धनशील स्वभावकी होनेके कारण प्रेमीकी प्रेमसाधनाकी इति इस चरम अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी नहीं होती। भाव उसे बोधस्वरूपताके इस चरम एवं परम सर्वोच्च सिंहासनपर बैठा नहीं रहने देता। यहाँ भाव एवं बोधका सुखमय संघर्ष छिड़ जाता है।

श्रीपोद्दार महाराज अपनी इसी महाभावमयी पद-रचनामें आगे इस सुखमय संघर्षका भी बहुत ही स्पष्ट किन्तु अति रसमय विवेचन करते हैं:–

*स्मृति स्मृतिकर्त्ताके अभावमें उपजा मनमें भाव नवीन।*
*विस्मय परम हुआ जब दीखा खाली हृदय सहज स्वाधीन।।*

*जाने कैसे दीं दिखलाईं भावभरी आँखें पल एक।*
*पता नहीं क्यों जाग उठा कुछ, हार चला सब बुद्धि विवेक।।*

*दीखा नेत्रभावमें उसको रसका बहता विमल प्रवाह।*
*उसके प्रति आया द्रुतगतिसे भरा शून्य उर अमित अथाह।।*
*उदय हुई जिज्ञासा, थे ये किसके नेत्र सुधा रस पूर।*
*रसवन्यासे किया उसे अति विवश, विचित्र मधुर मद-चूर।।*

*बसे नेत्र, नेत्रोंके द्वारा, आकर उर मन्दिर तत्काल।*
*बता दिया उन नेत्रोंने, वे नेत्रवान हैं श्रीनँदलाल।।*
*टूट गया तब मनका बन्धन, बरबस तुरत हुआ अभिसार।*
*कहाँ, कौन, वह क्यों जाती है, रहा न इसका तनिक विचार।।*

वे कहते हैं — स्मृति एवं स्मृतिकर्त्ताका भी जब पूर्ण अभाव हो जाता है, तो प्रेमिका राधामें एक नवीन भावका सृजन हो उठता है। श्रीराधा विस्मित हो उठती हैं, जब पाती हैं कि वे तो पूर्ण स्वाधीन, सर्वथा सर्वबन्धन-विनिर्मुक्त, पूर्ण हो गयी हैं। न जाने कैसे इस अवस्थामें पहुँचते-पहुँचते ही उन्हें अत्यन्त प्रेम भावसे छलकती अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी आँखें एक पलके लिये दिख जाती हैं। उन बंकिम चितवनयुक्त नयनोंकी स्मृति आते ही उनका समग्र बोधजन्य विवेक जो उन्हें पूर्ण स्वातंत्र्यके अनुभवसे प्राप्त होता है, प्रेमके सम्मुख हार मान लेता है। उन अपने प्रियतम प्राणवल्लभके नेत्रोंमें उन्हें महारसका निर्मल प्रवाह उछलता-बहता अनुभव होता है। वह निर्मलतम विशुद्ध प्रीतिरसका अथाह प्रवाह अत्यन्त द्रुतगतिसे उनकी ओर उमड़ उठता है, और वह उस अमित अथाह शून्यको पूरम्पूर भर देता है, जिसे वे विवेकजन्य पूर्ण स्वातंत्र्यके अनुभवसे प्राप्त कर चुकी थीं। उनमें एक जिज्ञासा उदय हो जाती है — "अहो ! ये महासुधारसपूर नेत्र किसके थे, जिनकी रसमयी दृष्टिसे वे अति विवश हो गयीं और जिनकी

विचित्र मधुरताने उनके स्वातंत्र्याभिमानजन्य मदको चूर-चूर कर दिया।"

अब तो वे जाग्रत हो गयीं। उनके नेत्र भी उन्मीलित हो गये, किन्तु उन उन्मीलित नेत्रोंके द्वारसे वे प्रियतमके रसभरे नेत्र उनके हृदय-मन्दिरमें प्रवेश कर गये। और उन प्रवेश पाये नेत्रोंने उन्हें यह सूचना भी दे दी कि इन रसीले नेत्रोंका स्वामी अन्य दूसरा कोई नहीं, मात्र व्रजेन्द्रनन्दन हैं। अब तो उनके मनका समग्र मर्यादा-बन्धन टूट गया और वे बरबस अपने प्रियतम प्राणवल्लभ व्रजकिशोरसे अभिसार करने चल पड़ीं। उन्हें न तो किसी अवरोधकी सर्वथा परवाह रही एवं न ही कुछ भी अनुसंधान ही रहा कि वे किसके पास कहाँ जा रही हैं और क्यों जा रही हैं।

श्रीपोद्दार महाप्रभुकी महाभावमयी वाणीमें आगेकी लीला वर्णित है; किन्तु यहाँ इतना ही समझ लें कि यह ज्ञानोत्तर महाभावकी अवस्था है। परिपूर्ण बोधस्वरूपताके पश्चात् किन्हीं महाभाग्यवानोंपर भगवान् श्रीकृष्णकी हेतुरहित विलक्षण कृपा होती है और मात्र उस कृपावश ही अपने सगुण साकार परात्पर परब्रह्म व्रजेन्द्रनन्दन स्वरूपका प्रकाश वे किसी बिरले साधकके हृदयमें कर देते हैं और उसे अपने प्रीतिरससे सराबोर कर देते हैं।

जिज्ञासाः- इसी बीसवें चौपदेमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कथित *'था वितान तथा प्रकृति अपनी रचित मुझपर तना'* का अर्थ तनिक और सुस्पष्ट करें।

समाधानः- भगवान् स्पष्टरूपसे अपने मुखसे अपने श्रीकृष्णावतारके सम्बन्धमें कहते हैं–

*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।*
*प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।*

भगवान् अजन्मा हैं, अव्ययात्मा हैं, सर्वभूतोंके ईश्वर हैं,

किन्तु अपनी प्रकृति योगमायाशक्तिसे प्रकट होकर लीला करते हैं। वे अविनाशी ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा होकर भी मनुष्यके सदृश भूख लगनेपर रोते हैं, मचलते हैं, यशोदा मैया द्वारा छड़ी लेकर पीछा करनेपर भयभीत भाग चलते हैं और इस प्रकार सभी गोप-गोपियों एवं सम्पूर्ण ब्रजजगत्‌को आनन्दसिन्धुमें निमग्न कर देते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ऐश्वर्य, माधुर्यके अनन्तानन्त निधि हैं। किन्तु उनके भी दो रूप हैं – 'ऐश्वर' एवं 'ब्राह्म'। वे अपने ऐश्वररूपसे असुरोंका संहार, लोक-धर्मका संस्थापन, अभ्युत्थान, साधु-परित्राण, दुष्ट-दलन, गीतोपदेश आदि लीला-कार्य करते हैं; साथ ही अपने 'ब्राह्म' स्वरूपसे माधुर्यलीलाका विस्तार करते हैं। वे अपनी प्रकृतिका वितान तानकर ही जहाँ ऐश्वररूपसे पूतनामोक्ष, तृणावर्त्त-उद्धार, गोवर्धनपर्वत-धारण, ब्रह्मा-विमोहन, कालिय-दमन आदि चमत्कारपूर्ण आश्चर्यचकित कर देनेवाले शक्ति-प्रकाशक कार्य करते हैं, वहीं उनकी प्रकृति – योगमायाका वितान ही उनके रूप-गुण-सौन्दर्य-माधुर्यको नित्य नूतन रूपमें ऐसा प्रकट करता है कि निर्ग्रन्थ ऋषि-मुनियों, देवताओं, समस्त लक्ष्मियों – यहाँ तक कि भगवत्स्वरूपोंको भी आकर्षित कर लेता है। दूसरोंकी तो बात ही दूर रही, उनकी वह परम मधुर अनिर्वचनीय सुन्दरतारूपा आकर्षिणी शक्ति स्वयं उन्हींके चित्तको आकर्षित ही नहीं, प्रलुब्ध भी कर लेती है।

किसी मणिकी दीवालमें प्रतिबिम्बित अपनी रूपमाधुरीको देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्यके साथ कहते हैं – 'अहो ! इस रूपमाधुरीका तो इससे पहले मैंने कभी अनुभव किया ही नहीं। मेरी यह माधुर्यराशि कितनी चमत्कारकारी है, कितनी महान् श्रेष्ठ है और कितनी मधुर है; इसे देखकर तो मेरा स्वयंका ही चित्त लुब्ध हो गया है। श्रीराधारानी इस रूप-माधुरीको देखती कभी

थकती ही नहीं, निर्निमेष नेत्रोंसे परम उत्सुकताके साथ नित्य-निरन्तर देखा ही करती हैं – इससे अनुमान होता है, वे ही इस रूप-माधुरीका पूरा रसास्वादन करती हैं।

वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्णके माधुर्यका वर्णन करनेके लिये न तो वाणीदेवीके पास शब्द हैं, न ही शक्ति। इस माधुरीके चमत्कारको तो वही जानता है, जिसने कभी उसे देखा हो। किन्तु वह 'गूँगेके गुड-स्वाद'की तरह उसे बता नहीं सकता। उसका हृदय ही उसके पास रहता नहीं, अतः वह बतलावे भी तो क्या बतलावे ।

कहनेका यही अर्थ है कि इस दृश्यमान अनन्त विश्व तथा इससे अतीत जो कुछ है या हो सकता है, उस सबके मूल, सबको अपनेमें निहित रखनेवाले तत्वका पता लगाकर हमारे ऋषियोंने जिसका नाम ब्रह्म कहा, उस ब्रह्मके स्वरूपमें उसका स्वभाव, प्रकृति जो निहित है, वह प्रकृति ही उसकी महान् शक्ति है। *''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'*(श्वेताश्वतर) उस महाशक्तिकी चादर जब वह तानता है तो वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं महान्-से-महान् युगपत् एक साथ हो जाता है। *''अणोरणीयान् महतो महीयान्'*(कठ. १।२।२०) वह बैठा हुआ ही दूर चला जाता है और सोता हुआ भी सर्वत्र चला जाता है, वह चलता है और नहीं भी चलता, वह दूर-से-दूर है और पास-से-पास है। वह अजन्मा अविनाशीस्वरूप होकर भी जन्म लेता है, निरे शिशुसे बढ़कर बालक होता है, पालनासे उठकर गायें चराने जाता है, उसे भूख लगती है, वह रोता है, भयभीत होता है, अश्रु बहाता है, किसीकी गोदमें चढता है, स्तन पीता है। वह योगी होकर भी महाभोगी हो जाता है, विभु होकर भी देह-परिच्छिन्न हो जाता है; निरपेक्ष होकर भी सापेक्ष हो जाता है, परम चतुर होकर भी महामुग्ध हो जाता है।

इसी तत्वको संकेतित करते हुए भगवान् कहते हैं कि साथ ही उस मेरी प्रकृतिके द्वारा ही विरचित एक सुमनोहर वितान मुझपर तान दिया गया था।

॥२१॥

*शुकस्य स्वप्नश्रवणाभिलाषा ।*

अचानक कीरमें किशोरीके उस स्वप्नको सुननेकी अभिलाषा जाग उठी ।

॥२२॥

*प्रियतमं प्रति प्रार्थना ॥*

कीर प्रियतम नीलसुन्दरसे इसके लिये अनुरोध कर बैठता है ।

॥२३॥

*प्रियतमास्तवनं च ।*

साथ ही वृषभानुनन्दिनीका स्तवन भी वह करने लगता है।

॥२४॥

*प्रियतमायाः सारिकां प्रति स्वप्नवर्णनाज्ञाप्रदानम् ।*

किशोरी सारिकाके प्रति सजल नेत्रोंसे निहारती हैं और उस स्वप्नको शुक पक्षीसे बता देनेकी आज्ञा प्रदान करती हैं ।

॥२५॥

*सारिके ! तू जानती है, देखती थी मैं अभी,*
*जो, समझती है तथा प्राणेशका संकेत भी।*
*कीर उत्सुक है, सुना दे तू इसे बातें सभी;*
*पात्र है, इसके न मनसे हैं हटे प्रियतम कभी॥*

सारिके री ! जो स्वप्नमें अभी देख रही थी, उसे तू सम्पूर्णतया जानती है। साथ ही मेरे प्राणरमण नीलसुन्दरका

सखी श्रीइन्दुलेखाजी

सकेत भी तू समझती है । मैं क्या देख रही थी, यह सुन लेनेके लिये कीर अत्यन्त उत्सुक हो रहा है। अतएव इसे तू सब बातें सुना दे । यह सुननेका अधिकारी है, क्योंकि इसके मनसे मेरे प्रियतम नीलसुन्दरकी स्मृति क्षणभरके लिये भी कभी विलुप्त नहीं होती । कभी भी मेरे प्रियतम इसके मनसे नहीं हटे ।

**॥२६॥**

*चञ्चुसे छूकर चरण-नख-चन्द्र दम्पतिके चली*
*सारिका ध्यानस्थ हो कहने पवित्र कथावली।*
*लाल एवं लाड़िलीकी लाड़में है यह पली,*
*है नहीं दुर्गम कहीं इसके लिये रसकी गली।।*

सारिका उल्लासमें डूब गयी । अपने चञ्चुसे नील-गौर-दम्पतिके चरण-नख-चन्द्रको छूकर ध्यानस्थ हो गयी वह । ध्यानमें डूबी रहकर ही उस पवित्र कथावलीका वर्णन करने चली सारिका। लाडिली-लालके लाड़में ही यह अनादिकालसे पली है। अतएव रसमयी ब्रजकी विभिन्न वीथियाँ कहीं, किञ्चित् भी सारीके लिये दुर्गम नहीं हैं । अनायास ही वह सबसे सम्पूर्णतया परिचित है ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

**जिज्ञासाः-** कृपया **"है नहीं दुर्गम कहीं इसके लिये रसकी गली"** इस पदको भली प्रकारसे हृदयंगम कराइये।

**समाधानः-** सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य मधुर रसमयी लीलाओंका रहस्य सचमुच बहुत ही थोड़े लोगोंके द्वारा हृदयंगम हो पाता है। इन बहुत थोड़े लोगोंमें से कुछ-एक ही इस ब्रजरसकी गलियोंकी ओर अपने कदम बढाते हैं। इन कदम बढ़ानेवालोंमें भी एकाध ही इस भूलभूलैयायुक्त गलियोंसे ब्रजके राजमार्गपर पहुँच पाता है। इसमें कितनी कठिनाइयाँ हैं, इसका थोड़ा-सा उल्लेख श्रीपोद्दार महाप्रभुके सत्संग एवं पू.गुरुदेव

श्रीराधाबाबाकी चरणधूलिकी कृपावश करनेका साहस कर रहा हूँ।

जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीलाएँ, लीलापात्र, लीलाधाम और लीलाकी सर्वोपरि नायिकाएँ – गोपियाँ भी चिन्मय हैं। सच्चिदानन्द-रसमय साम्राज्यके जिस परमोन्नत स्तरमें ये लीलाएँ हुआ करती हैं, उसकी ऐसी विलक्षणता है कि अनेकों बार तो ज्ञान-विज्ञान-स्वरूप विशुद्ध चेतन परब्रह्ममें भी उसका प्राकट्य नहीं होता। और इसीलिये ब्रह्मसाक्षात्कारको प्राप्त महात्मा लोग भी इस लीला-रसका समास्वादन नहीं कर पाते। इस लीलारसका समास्वादन तो भगवान्की स्वरूपभूता ह्लादिनीशक्ति नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी और तदङ्गभूता प्रेममयी गोपियोंमें ही होता है। और वे ही निरावरण होकर भगवान्की इस परम अन्तरङ्ग रसमयी लीलाओंका समास्वादन करती हैं। गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधना[illegible]से सुस्पष्ट है। गोपियाँ ही तो इस ब्रजरसकी साधनाकी अट[illegible] पगडंडियों और गलियोंका अपने पथचिह्नोंसे निर्माण करती हैं। इन पगडंडियोंसे चलकर ही वे राधारानीके निवासमहलमें जो प्रेमकी पूर्णताको प्राप्त है, उनके सम्मुख पहुँचती हैं। श्रीराधारानीकी कृपासे ही उन्हे 'राजमार्ग' अर्थात् भगवान्की अपूर्व चमत्कारी रूप-माधुरीके दर्शन होते हैं, वंशी-ध्वनिका निनाद श्रवण-गोचर होता है और भगवान् श्रीकृष्णकी उनमें पूर्वराग उत्पन्न करानेवाली कुछ-एक लीलाओंका दर्शन होता है, जिससे मुग्ध होकर उनके प्राण इस मार्गमें अग्रसर होनेको हाहाकार करते दौड़ पड़ते हैं।

*प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर उठे हाहाकार।*
*गिना नहीं उसने पथकी दूरीको, भयको किसी प्रकार।।*
*विकल, चल पड़ी वह निर्भय हो, बीहड़ वनमें बिना विचार।*
*दुःख कष्ट बन गये सभी पथके पाथेय, सुखद आहार।।*

*नहीं ताकती किसी ओर वह, नहीं किसीसे भी डरती।*
*नहीं प्रलोभनमें पड़ती वह, नहीं चाह कुछ भी करती।।*
*पद-पदपर, पल-पल प्रियतमकी प्रिय सुधिमें आहें भरती।*
*चली जारही अटल लक्ष्यपर, वह जगमें जीवित मरती।।*
*वस्तुमात्रसे मेरापन उठ गया, मिट गया जगका राग।*
*नहीं किसीसे द्वेष रह गया, जाग उठा मन विमल विराग।।*
*मिटी कामना विषयमात्रकी, रहा न असत् अहंका भाग।*
*ममता पूरी प्रभु-चरणोंमें, अपनापन, अनन्य अनुराग।।*
*तन-मन-भोग, स्वर्ग-अपुनर्भवकी सुधि सारी सहज विसार।*
*प्रिय-आकर्षणसे खिंच वह जा पहुँची प्रियतमके दरबार।।*
*प्रेम-सुधाकी मधु धारासे प्रियतमके पद-पद्म पखार।*
*वह गिर पड़ी अचेतन-सी हो चेतन-चरणोंमें अनिवार।।*
*उठे प्राणधन, उसे उठाया, प्रेमविकल भरकर अँकवार।*
*लगा लिया निज वक्षःस्थलसे, बही अश्रुओंकी शुचि धार।।*
*कोमल कर धर शीश, प्राणधन मधुर दृष्टिसे उसे निहार।*
*अमिय-मधुर वाणीसे फिर वे करने लगे सरस सत्कार।।*
*दुर्लभ-दर्शन-स्पर्श प्राप्तकर, प्रियतमके सुन प्रेमालाप।*
*आनन्दोदधि उछला, उसमें उठी तरंगें अमित, अमाप।।*
*धन्य हुई वह, मिटा सदाके लिये सकल, विरहानल-ताप।*
*रखा उसे निज हृदय-देशके मधु-मन्दिरमें प्रभुने आप।।*

इस साधनामें प्रवेशके लिये प्रथम पगडण्डी है, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण। यह आत्मसमर्पणरूपा पगडण्डी ही आगे जाकर एक गलीमें पर्यवसित हो जाती है, जिस गलीमें घुसनेका अर्थ है श्रीकृष्णको अपना प्राणवल्लभ प्रियतम मानकर उनके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि अपना रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल कृष्णमय हो जाय।

इस गलीमें अनेक भूल-भुलैया हैं। जैसे भगवान् श्रीकृष्णको तो असंख्य गोपियाँ अपना आत्मसमर्पण करती हैं। उनमें परस्पर सापत्न्य, ईर्ष्या-डाह, द्वेष होना, जो परम स्वाभाविक है, इसका

सर्वथा अभाव। साधकमें सापत्न्य ईर्ष्या तभी होती है, जब उसमें स्वसुखभोग-जनित 'काम' रहता है। इस ब्रजरसकी साधनामें मात्र श्रीकृष्णसुख ही एकमात्र लक्ष्य होता है और स्वसुख(काम)के लेशमात्र भी रहनेपर साधक भूल-भुलैयामें भटक जाता है। दूसरी भूल-भुलैया या भटकाव है – लोकलाजका भय, गाँव एवं जातिवालोंका भय। जब साधक लोकलाज एवं कुल-कानकी भूल-भुलैयासे मुक्त हो जाता है, तभी उसे आगेका पथ प्राप्त होता है। एक वाक्यमें साधकको अपना कुल, परिवार, लोक-धर्म, वेद-धर्म, संकोच और व्यक्तित्व – सब-कुछ भगवानके चरणोंमें समर्पित करना होता है। उसके पश्चात् सबसे बड़ी भूल-भुलैया इस मार्गमें आती है–निरावरित होकर भगवान्के सम्मुख चले जाना। भगवान्को अपना सम्पूर्ण अभिमान, मनके सभी संस्कार समर्पित कर देना ही अनावरित होना है।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और सकल्पसे, अपने अहकारके निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर पाता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका कर्त्ता असमर्पित रह ही जाता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब भगवान् स्वयं आकर संकल्प करनेवालेको भी स्वीकार कर लेते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है।

श्रीराधारानी सारिकाके सम्बन्धमें इन्हीं सब महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख अत्यन्त संक्षेपमें मात्र चौपदेकी एक पक्तिमें ही कर दे रही हैं –" रसमयी ब्रजकी विभिन्न वीथियाँ सारीके लिये किञ्चित् भी दुर्गम नहीं हैं"– इसका अर्थ सामान्यतया यही है कि इस सारीने लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति-कुल, पुरजन-परिजन, सर्वस्वका त्यागकर मात्र श्रीकृष्णकी इच्छासे उनके सुखके लिये सारिकाका शरीर ग्रहणकर अपना सर्वस्व उनपर न्यौछावर कर रखा है।

इसको 'सारी' शरीरकी प्रतीति भी मात्र चिद्विलासके लिये है। प्रिया-प्रियतम राधा-माधवकी लीलासिद्धिके ही लिये यह 'सारी' है। और तो क्या, इस महाभागा पक्षी बनी साधिकामें जडजगत्के तो लेशात्मक सस्कार हैं ही नहीं, यह ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्का भी सर्वथा सर्वांशमें अतिक्रमण करके इस प्रेमराज्यमें अपने पैर रख चुकी है। यह तो चिन्मय तत्वको सर्वथा विस्मृतकर परम उज्ज्वल प्रेमरसमें डूबी है। इसीलिये इसके लिये अब रसमार्गकी कोई गली दुर्गम नहीं है। यही इस जिज्ञासाका समाधान है।

## सारिका वदति

।।२७।।

*कीर हे ! सुनकर चरित,आनन्द-वारिधिमें बहो,*
*कृष्णमें, तुममें नहीं है भेद रंचक भी अहो।।*
*छाँह पड़नेसे गया है अङ्ग यह हरिताम हो*
*श्री-चरणकी, और मेरे स्नेहवश खगरूप हो।।*

अस्तु, स्फुट स्वरमें सारिका कह उठती है –अहो कीर ! वह पवित्र चरित्र सुनकर आनन्द-सिन्धुमें बस, बह चलो । अहा ! देखो, नीलसुन्दरमें और तुममें रचक मात्र भी भेद नहीं है । बस, इतना-सा ही अन्तर है कि श्रीचरणोंका तुम्हारे गात्रपर प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण तुम्हारा यह अंग हरिताभ हो गया है और मेरे स्नेहके वशीभूत होकर तुमने विहंगमका रूप धारण कर लिया।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

जिज्ञासाः- कृपया *"कृष्णमें, तुममें नहीं है भेद रञ्चक भी अहो!"* इस पदपर प्रकाश डालिये। जो श्रीकृष्ण भगवान् अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त बल, अनन्त यश, अनन्त श्री, अनन्त ज्ञान एवं अनन्त वैराग्यकी जीवन्त मूर्त्ति हैं, जो स्वयं अपने मुखसे अपनेको 'ब्रह्म'की

भी प्रतिष्ठा कहते हैं, जिनमें भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानके सभी अवतारोंका समावेश है, जो गोलोकविहारी महेश्वर हैं, उन्हें एक ब्रजलीलाके साधारण पक्षी – शुकसे रञ्चक भी भेदशून्य बताना गले नहीं उतरता। शिव-ब्रह्मादिक सर्वदेव-वन्दनीय सर्वप्रभुको एक शुकपक्षीके समान कहना कैसे उचित है ? भगवान्‌की श्रीमद्भगवद्गीतोक्त वाणी ध्यानमें रखें–" ये समस्त भूत मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ। ये भूत मुझमें नहीं हैं, मेरे योगैश्वर्यको तुम देखो।"

**समाधानः**- कृपया श्रीमद्भागवतके इस श्लोकपदका अनुशीलन करें – ***"रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब विभ्रमः"*** अर्थात् "जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, उसी प्रकार श्रीहरि गोपियोंके साथ रमण करते हैं।" यहाँ जड राज्यमे तो बिम्ब सत्य है एवं प्रतिबिम्ब मात्र छाया, किन्तु भगवान्‌का बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब दोनों पूर्ण भगवान् ही हैं।

भगवान्‌का यह ब्रजराज्य इसीलिये मायामुग्ध दृष्टिसे समझमें नहीं आता। जैसे यह हमारा जड़, मृत्यलोक भगवान्‌की अविद्यामयी मायाशक्तिसे निर्मित हुआ है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका अप्राकृत ब्रजलीलाराज्य भगवान्‌की सर्वप्रधान, परम अन्तरंगा ह्लादिनीशक्तिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ है। इस ब्रजकी दिव्य लीलामें श्रीराधा एवं गोपियाँ न तो मानवी नारी हैं न ही वहाँकी गौएँ, वहाँके शुक, पिक, मयूर एव कदम्ब, आम्र, नीपादि वृक्ष साधारण जड़ जगत्‌के मायामय पशु-पक्षी, एव वृक्षादि हैं। वस्तुतः शक्ति एवं शक्तिमान्‌में भेद वहीं प्रतीत होता है जहाँ अविद्यामय जड जगत् हो। इस जड जगत्‌को लक्ष्य करके ही भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌में यह कहा है कि "ये समस्त भूत मुझमें हैं किन्तु मैं इनमे नहीं हूँ।" वस्तुतः अविद्या मात्र मृगमरीचिकावत्

प्रातीतिक है, वह असत् है और असत् कुछ होता नहीं है। ***"नासते विद्यते भावो"*** का अर्थ यही है।

किन्तु भगवान्‌की ह्लादिनीशक्ति जो उनकी सर्वप्रधान शक्ति है, वह असत्, अविद्यामयी नहीं है। वह तो भगवान्‌की आत्ममाया है। भगवान् श्रीकृष्ण रसराजरूपमें ब्रजमे इसी ह्लादिनीशक्तिके निमित्तसे ही प्रकट होते हैं। इन ह्लादिनीशक्ति श्रीराधा और शक्तिमान् ह्लादात्मा भगवान श्रीकृष्णमें स्वरूपतः कहीं कोई भेद नहीं है। दिव्य ब्रजलीलामें स्वयं भगवान् ही अपने सौन्दर्य और माधुर्यका पूर्ण रसास्वादन करनेके लिये अपनी ह्लादिनीशक्तिसे महाभावस्वरूपिणी राधाके रूपमें प्रकट होते हैं और इन्हीं ह्लादिनीशक्तिसे विभिन्न लीलाओंके लिये असंख्य भागवती शक्तियोका प्रकाश होता है, जो रसराज श्रीकृष्ण और महाभावरूपा श्रीराधाकी प्रेमलीलाको सम्पन्न करनेके लिये वृन्दावन-धाम, यमुना नदी, गिरिराज पर्वत, अनन्त परम सुन्दर वन, सरोवर, लता, वृक्ष, शुक, पिक मयूरादि अनेकानेक पक्षी, अनन्त गोपियाँ आदि लीलापात्रोंके प्राकट्यमे हेतु होती हैं। इन सभी लीलापात्रोंके जन्म-कर्म प्राकृत नहीं हैं, अप्राकृत चिन्मय हैं। भगवान्‌की लीलाशक्ति – योगमायामें और भगवान्‌में कहीं कोई भेद कदापि नहीं है।

ये सभी लीलापात्र भगवान्‌की अत्यन्त गोपनीय प्रेम-मिलनलीलाके सहयोगी हैं। इन राधाकृष्ण-गतप्राण राधाकृष्ण-भाव-मति शुक-सारिकादिके परम निर्मल योगीन्द्रदुर्लभ मन-बुद्धिमें प्रिया-प्रियतम राधामाधवके आनन्दके अतिरिक्त अपना कुछ होता ही नहीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ करते है, सब अपने प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवके लिये ही करते हैं। यहाँ तक कि उनको निद्रा भी प्रिया-प्रियतमके

प्रगाढ़ स्मरणमें, अन्य सब विषयोंकी पूर्ण विस्मृतिरूपा ही होती है। स्वप्न एवं जागरण दोनोंमें ही वे प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवकी परमातिपरम मधुर लीलाके साक्षी, उसके द्रष्टा रहते हैं। इनका तन भी भगवान्‌की परम चिन्मयी सन्धिनी शक्तिका ही कार्य होता है, जो भगवान्‌की रुचिसे उनकी लीलाके अनुरूप पात्रके रूपमें प्रकट होता है।

कहनेका यही तात्पर्य है कि इन सभी पक्षीगणोके भगवान् श्रीराधा-माधवके कायव्यूहस्वरूप होनेके नाते ही यहाँ सारिकाने शुकका भगवान् श्रीकृष्णसे अभेद बतलाया है।

**जिज्ञासा :-** *"अंग यह हरिताभ हो"*- इस अर्धालीका क्या तात्पर्य है, कृपया प्रकाश डालें।

**समाधानः-** भगवान् श्रीकृष्णका वर्ण नवघनमेघकी तरह श्यामवर्ण-प्रधान है एवं श्रीराधारानी कनकप्रभावर्णकी हैं। श्याम एव पीत जहाँ दोनों वर्णोंकी एक साथ छाया पड़ती है, निश्चय ही उसका वर्ण हरित् हो ही जाता है। श्रीशुकपक्षी हरितवर्णका होता है, इसलिये सारिका उसकी स्तुतिमें उत्प्रेक्षायुक्त वचन कहती है कि तुमपर प्रिया श्रीराधाके पीतवर्ण और प्रियतम श्रीकृष्णके श्यामवर्ण– इन दोनों वर्णोंकी छाया पड़नेसे ही तुम्हारा वर्ण हरित हो गया है।

।।२८।।

*जानते हो बात सब, फिर भी बने अनजान हो;*
*ठीक है, जिस भाँति हो सुखलाभ, वैसे ही रहो।।*
*चाहते हो पर, तथा रसरीतिके मर्मज्ञ हो;*
*तो सुनो अब तुम, रहा था स्वप्नमें जो भग्न हो।।*

तुम सब बातें जानते ही हो। परंतु जानकर भी अनजान बने हुए हो । बड़ी अच्छी बात है, जिस प्रकार तुम्हें सुखकी उपलब्धि हो, वैसे ही बने रहो : किंतु तुमने अभी-अभी अभिलाषा व्यक्त की है तथा रसकी विभिन्न गतियोंके तुम पूर्ण मर्मज्ञ हो,

इसलिये तुम अवश्य सुनो कि किशोरी स्वप्नमें अभी क्या अनुभव कर रही थी।

॥२९॥

*स्वामिनी श्रीने किया अनुभव, सँवारे केश हैं*
*प्राणवल्लभने हमारे, और अब गम्भीर हैं॥*
*किंतु सहसा उठ पड़े, अत्यन्त विह्वल अङ्ग हैं;*
*हैं रहे कह यह, दृगोंसे झर रहे कण नीर हैं॥*

हमारी स्वामिनी श्रीराधाने अनुभव किया – प्राणवल्लभ नीलसुन्दरने मेरी अलकोंको सँवारा है और अब अचानक गंभीर हो गये हैं । पर यह देखो, कुछ ही क्षण बीतते-न-बीतते सहसा वे अपने आसनसे उठ पडे हैं। उनके नील अंगोंमें आत्यन्तिक विह्वलताकी लहरें उठ रही हैं । वे सुमधुर वाणीमें कहते जा रहे हैं और उनके दृगोंसे अश्रुबिन्दु झर रहे हैं ।

॥३०॥

*भानुपुरमें, प्रियतमे ! देखो सही तो, आज है।*
*वार्षिक शुभजन्म-उत्सव, दृश्य क्या ही रम्य है॥*
*वर्ष भारतकी धराका भाग्य भी अप्रतिम है,*
*श्रीचरणको पपनियोंसे छू, हुई जो धन्य है॥*

प्रियतमे ! राधे !! देखो सही ! आज वृषभानुपुरमें तुम्हारा वार्षिक शुभ जन्मोत्सव हो रहा है । अहा ! क्या ही रम्य मनोहर दृश्य है ! भारतवर्षकी धराका भाग्य भी अप्रतिम ही है । अरे ! कितना कैसा सौभाग्य है इस धरणीका, जिसने श्रीचरणोंको अपनी पपनियोंसे छू लिया, छूकर धन्य-धन्य हो गयी है ।

॥३१॥

*आज ही ब्रजजन हुए थे मुग्ध तुमको देखकर,*
*भानुनृप ऐसे हुए थे श्री-सुयश-सौभाग्य-धर॥*

*जो न अबतक हो सका दानव ,मनुज, कोई अमर,*
*हेतु पुत्रीके सके जिसकी ध्वजा ऐसी फहर।।*

मेरे प्राणोंकी रानी ! आज ही ब्रजवासी तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शनकर मुग्ध हो गये थे । और तुम्हारे पिता वृषभानु महाराजकी शोभाका, सुयशका, सौभाग्यका, जिससे वे विभूषित हो रहे थे, सबके मनपर, आँखोंपर कैसा प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उनकी जिस सम्पदाका, निर्मल सुयशका, अप्रतिम सौभाग्योदयका जो – जैसा चित्र अंकित हो रहा था, उसके लिये प्राणेश्वरि ! शब्द नहीं हैं, जिसका आश्रय लेकर मैं तुम्हें बतला सकूँ । इतना ही कह सकता हूँ – उनका वह सौभाग्य, वैभव, उनके यशकी वह अप्रतिम गरिमा, उनकी अंगशोभाका ऐसा अद्भुत चमत्कार – ये सब ऐसे व्यक्त हो रहे थे, जिसकी तुलना कहीं भी नहीं हो सकती, आजतक नहीं हो सकी है, आगे होगी भी नहीं । कोई भी दानव, मानव अथवा अमरेन्द्र ऐसा नहीं हो सका जिसकी उत्तुङ्ग आकाशमें इस प्रकार, ऐसी ध्वजा फहरा उठे, पुत्रीके जन्मको हेतु बनाकर ।

।।३२।।

*आज था फल अंशुमालीको मिला तपका अमल,*
*आज थे ब्रजचन्द्रमाके भी खिले लोचन-कमल।*
*आज मैयाकी पुनः आँखें रही थी हो सजल,*
*पुत्र-परिणयका मनोरथ देखकर होता सफल।।*

प्राणेश्वरि ! देखो अंशुमालीको उनके तपका निर्मल फल भी आज ही मिला था। आज ही ब्रज-चन्द्रमाके नेत्र-सरोज खिल उठे थे। आज पुनः मेरी मैया यशोदारानीकी आँखें सजल हो रही थीं । क्यों न हो, मैया सुस्पष्ट अनुभव जो कर रही थी कि उसके नीलम लालका परम मंगल परिणय-उत्सव मानो अभी-अभी सम्पन्न होने जा रहा है, चिरकालसे अभिलषित उसका

मनोरथ बस, पूर्ण होने जा रहा है ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

**जिज्ञासा**- कृपया इस चौपदेकी प्रथम पंक्ति **'आज था फल अंशुमालीको मिला तपका अमल'** का अर्थ सुस्पष्ट करें।

**समाधान**- पुराणोंमें कथन है कि सूर्यदेवने घोर तपस्या करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे एक कन्यारत्नकी याचना की थी जो श्रीकृष्णकी प्राणोपम प्रिया हो। भगवान्ने सूर्यदेवकी तपस्यासे संतुष्ट हो, उन्हें 'तथाऽस्तु' कहा था। अतएव श्रीराधाके गर्भाधानके समय सूर्यका बृषभानुमें आवेश होगया था। अतः राधाका जब जन्म हुआ तो सूर्यदेव (अशुमाली) को उनके तपका निर्मल फल मिल गया – यही भाव है।

॥३३॥

*बेला थी मध्याह, बीती-सी,बस, उस समय,*
*था न हुआ अपराह, किंतु अभी ब्रजभूमिपर ॥*

हृदयेश्वरि ! उस समय मध्यान्हकी बेला बस, बीती ही थी। अभी ब्रजके देशमें अपरान्ह भी नहीं हुआ था ।

॥३४॥

*इतनेमें आ पाँव, जन्मवृत्त ले, दूतने,*
*रखे हमारे गाँव, मानो उसके पंख थे ॥*

इतनेमें ही जन्मका समाचार लिये एक बड़भागी दूतने हमारे गाँवमें अपने मगलमय पैर रखे। इतनी शीघ्रतासे वह दूत आया था कि मानो उसके अंगोंमें पंख लगे थे । बडी त्वरा थी दूतमें ।

॥३५॥

*मङ्गलमय सन्देश दे बाबाको, चल पड़ा।*
*अनुमति ले, गोपेश-आँगनमें वह था खड़ा ॥*

उस मंगलमय संदेशको जैसे-तैसे सबसे पहले उसने मेरे बाबाको दिया । इसके पश्चात् शीघ्रतासे उसने बाबाकी अनुमति ली और वेगसे चल पड़ा । देखते-न-देखते वह व्रजराज नन्दके आँगनमें खड़ा हो गया ।

॥३६॥

*कर अञ्चलकी आड़ मैया थी मुझको लिये,*
*मुदित लड़ाती लाड़, अमृत-कुम्भ मुखमें दिये ॥*

उस समय मैया अपने आँचलमें मुझको छिपाये बैठी थी, रोम-रोम उसका आनन्दमें डूबा हुआ था । मुझसे लाड लड़ा रही थी वह और अपने वक्षःस्थलका अमृतकुंभ मेरे मुखमें दिये हुए थी।

॥३७॥

*'सदन बृहद् वह धन्य,' चर बोला,' सुख से बसे,'।*
*हुआ राजकुल धन्य अद्भुत कन्या-रत्नसे ॥*

अचानक दूतने आँगनकी नीरवताको चंचल बनाकर यह कहा – 'जय हो ! वनस्थलका यह आवास अनन्त कालतक सुखसे बसा रहे । व्रजरानी ! सुनो, वृषभानुपुरका राजकुल अद्भुत कन्यारत्नसे विभूषित होकर धन्यातिधन्य हो गया ।'

॥३८॥

*रुद्ध वाणी हो गयी सन्देशवाहककी, तथा*
*कुछ न आगे कह सका वृषभानु-पुत्रीकी कथा।*
*और मैयाका उधर,सुनकर इसे, क्या हाल था-*
*था सका वह जान, उसके प्राणका जो अंश था॥*

प्राणेश्वरि ! मात्र इतना ही दूत कह सका । ओह ! उसकी वाणी रुद्ध हो गयी और आगे वह कुछ भी नहीं बतला सका कि वृषभानुपुत्री कब, कैसे आविर्भूत हुई । तथा उस ओर इन शब्दोंको सुनकर मेरी मैयाका क्या हाल हुआ, इसे कौन

बतावे ? मेरे प्राणोंकी देवी ! देखो ! मैयाका प्राण तो मैं हूँ । उसी प्राणके अंश हैं बलराम दादा । एक बलराम दादा ही जान सके थे कि उस समय मैयाकी क्या दशा हुई थी ।

॥३९॥

*दूतके सन्मुख गलेका हार-हीरक फेंककर,*
*दृष्टि मानस डालकर रानी-प्रसूतिनिवासपर,*
*ले मुझे वह अंकमें निकली अकेली छोड़ घर,*
*एक पलभर भी नहीं अब थी कहीं सकती ठहर॥*

उन्मादिनी-सी हुई मेरी मैयाने अपने गलेका हीरकहार निकालकर दूतके सामने फेंक दिया । यन्त्रकी भाँति उसकी आँखें नाच रही थीं। वह प्रत्यक्ष देख रही थी कि कहाँ, कैसे, कीर्तिदा महारानी अपने प्रसूति-गृहमें विराजित हो रही है । बाहरके व्यक्तियोंको इतना ही भान हो रहा था कि मैया मानसी दृष्टिसे कुछ देख रही है ।

अस्तु क्षण बीतते-न-बीतते मैया मुझे अपने अंकमें लेकर बाहरकी ओर निकल चली। एकाकिनी चली जा रही थी वह अपना घर छोड़कर । एक पल भी अब वह कहीं किञ्चित् मात्र भी ठहर ही नहीं सकती थी ।

॥४०॥

*रोहिणी मैया, शपथ देकर, 'तनिक रुक जाइये,'*
*दौड़ती आयी वसन-भूषन उसे पहना दिये।*
*आ गया सेवक शकट ले, वह बिना घूँघट किये*
*जा चढ़ी ऐसे कि मानो भाँग-मद हों पी लिये॥*

रोहिणी मैया भीतर आँगनमें किसी कार्यमें व्यस्त थीं । इस प्रकार मेरी मैयाको भागती देखकर यन्त्रवत् वह भी दौड़ पड़ी और मेरी मैयाको शपथ देकर बोली– "नन्दरानी ! तनिक रुक जाइये।"रोहिणी मैयाके हाथोंमें जो वस्त्र, जो आभूषण आये, उन्हें

लेकर पहुँची वह मेरी मैयाके पास । उन वस्त्रोंको, भूषणोंको उसने मेरी मैयाको जैसे-तैसे धारण करा दिया । इतनेमें ही सेवक शकट लेकर आ पहुँचा । मैया सेवकके आगे भी घूँघट कर लेती थी। पर आज बिना घूँघट किये शकटपर इस प्रकार जा चढी कि मानो वह भाँग पीये हो, मदिरा पान कर बैठी हो ।

।।४१।।

*जा रहा था वृषभरथ वह वेगसे यद्यपि भगा,*
*किंतु मैयाका मसृणमन शीघ्रतामें था पगा।*
*यानकी गति मन्द है, दी भावना उसने जगा,*
*और उसके चित्तमें संकल्प यह उठने लगा।।*

बैलोकी जोडीसे आकर्षित हुई वह गाडी यद्यपि बड़े वेगसे भागी चली जा रही थी, किन्तु मैयाका मसृण मन आत्यन्तिक शीघ्रतामे सराबोर जो हो चुका था। मैया अनुभव करने लगी कि यान अतिशय मन्द गतिसे अग्रसर हो रहा है तथा ऐसी भावना होते ही उसके चित्तमे यह सकल्प उठने लगा –

(४२)

*हों यहाँ साक्षी लिये सुत रोहिणी महिमामयी,*
*हूँ सती यदि मैं, उड़े रथ, बात यह देखूँ नयी।*
*बैल सचमुच उड़ चले, हो गन्धवाहकके जयी*
*थे नहीं बाबा पहुँच पाये, पहुँच मैया गयी।।*

'अहो ! ठीक तो है। महिमामयी रोहिणी अपने पुत्रको अकमे धारण किये साक्षी बन जायँ, और यदि मैं सचमुच सती नारी हूँ, तो यह नयी बात आज देख ही लूँ कि यह रथ आकाशमे उड़ चले।' मैयाका यह सोचना पूरा होते-न-होते सचमुच बैल आकाशमें उड़ चले। वायुके समान उनकी गति हो गयी। नहीं, नहीं ! वायुसे भी अत्यधिक वेग लेकर वे गतिशील हो रहे थे और वह देखो, बाबा अभी पहुँचे भी नहीं थे, पर मैया तो पहुँच ही गयी।

॥४३॥

*भीड़ ऐसी थी वहाँ नरनारियोंकी द्वारपर,*
*जो चले कर जोड़कर भीतर लगे आधा पहर*
*था नहीं किञ्चित् किसीको भी किसीसे आज डर,*
*किंतु सबने दे दिया पथ अंकका शिशु देखकर ।।*

वहाँ द्वारपर नर-नारियोंकी ऐसी भीड़ थी कि यदि कोई हाथ जोडकर पथ देनेके लिये प्रार्थना करता हुआ – मनुहार करती हुई आगे बढे तो वह कहीं आधे पहरमें अन्तःपुरमें पहुँच पाता, पहुँच पाती। क्यों न हो, आज किसीको भी, किसीसे किञ्चित् मात्र भी भय नहीं रह गया था । किन्तु सबने मैयाको तो आगे जानेका मार्ग दे ही दिया। मैयाके अंकमे एक नीला शिशु जो विराजित था। सबकी आँखें बरबस उस नील शिशुपर चली ही जाती थीं और सभी परम उल्लसित होकर मैयाको पथदान कर ही दे रहे थे ।

॥४४॥

*तीर-सी पहुँची महारानी, जहाँ थी तुम, तथा*
*देखने ऐसे लगी मानो नहीं यह सत्य था ।*
*हर्षनिर्मित जालमें फँसकर लगी पाने व्यथा,*
*मानकर ऐसे कि यह तो स्वप्नगत आनन्द था ।।*

अस्तु, मेरे प्राणोंकी रानी ! मैया तारकी भाँति वहाँ जा पहुँची, जहाँ कीर्तिदा महारानी और तुम विराजित थीं तथा इस प्रकार देखने लग गयी मानों वह जो कुछ भी देख रही है, वह सत्य घटना नहीं थी। हर्षका इतना घना जाल मैयाको आवृत्त किये हुए था, आनन्दसे उद्भूत इतना घना आवरण मैयापर आ चुका था कि वह उसमें उलझकर एक व्यथा-सी अनुभव करने लग गयी थी – ऐसा मानकर कि यह तो मैं अभी स्वप्न देख रही थी, जो भी यह आनन्द मूर्त हो रहा है, वह तो वस्तुतः स्वप्नका

आनन्द है ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

उपरोक्त पंक्तियोंमें विशुद्ध सात्त्विक हर्ष-विकारका वर्णन है। अचानक ही प्रसन्नताकी अप्रत्याशित चरम उपलब्धिपर यह विकार उत्पन्न होता है, इसमें मनुष्य घटित सत्यको सम्मुख प्रत्यक्ष देखकर भी ऐसा समझने लगता है कि यह सत्य नहीं है, स्वप्न देखा जा रहा है। उसमें उस दृश्यके कुछ ही कालमें विलुप्त होजानेकी भी आशंका इतनी प्रबल हो उठती है कि हर्षित होनेके स्थानपर वह व्यथित हो जाता है। उसे हर्षके स्थानपर विपरीत भाव – विषाद घेर लेता है, और वह व्यथा अनुभव करने लगता है। उसे जो भी घटित हो रहा है, वह स्वप्नवत् क्षणभंगुर दिखने लगता है और जैसे क्षणभरमें ही छिन जाने वाली सम्पदाको पाकर मनुष्य व्याकुल होता है, वैसी ही व्याकुलता उसमें व्यक्त होने लगती है। यहाँ मैया यशोदाकी इसी भावप्रवणताका वर्णन है।

।।४५।।

*हँस पड़ीं रानी दशा उसकी भ्रमित अनुमानकर,*
*तब हुआ जाकर कहीं कुछ चेत, अंग उठे सिहर ।*
*और अद्‌भुत एक चिन्मय कल्पवल्ली भूमिपर*
*देख उद्घाटित हुए वे द्वार विद्यामय दहर ।।*

मैयाको इस प्रकार भ्रमित होते देख, कीर्तिदा महारानी उसकी दशाका अनुमान लगाकर हँस पड़ी । उनके हँस देनेपर ही मैयाको यत्किञ्चित् चेत हुआ । फिर तो उसके सारे अंग सिहर उठे, क्योंकि उसकी दृष्टि भूमिपर विराजित तुमपर जो केन्द्रित हो गयी थी। बड़ी निराली शोभा थी तुम्हारी उस समय हृदयेश्वरि ! मानो एक चिन्मयी अद्‌भुत कल्पवल्लरी भूमिपर पड़ी

सखी श्रीचम्पकलताजी

हो ! सचमुच प्राणवल्लभे ! तुमपर दृष्टि पड़ते ही मेरी मैयाके दहर विद्यामय द्वार उद्घाटित हो उठे थे – सम्पूर्ण तत्व निरावरण होकर उसके सम्मुख जो आ गया था ।

## ( तात्विक विवेचन-विस्तार)

यह नियम ही है कि सगुण साकार भगवान्‌का जैसे ही जीवको दर्शन होता है, उसकी बुद्धिपर आवरणरूपमें पड़ा तमोमय अज्ञानका परदा तत्क्षण ही विनष्ट हो जाता है। उसी समय उसे सच्चिदानन्दमय सत्य अपरोक्ष अवगत हो उठता है।

यशोदाजीको अपने पुत्र-प्रसवके समय भी ऐसी ही अनुभूति हुई थी। उस समय भी समस्त सूतिकागार एक चिन्मय तेजसे आलोकित हो उठा था। वहाँका अणु-अणु मानो चिन्मयतामें निमग्न होगया था। "व्रजमहिषीको प्रसव-वेदनाजन्य मूर्च्छा हो उठी है – रोहिणी एवं अन्य परिचारिकाएँ तन्द्रा एवं निद्रामें अभिभूत हो उठी हैं " बाहरसे तो सभीने यही जाना किन्तु सभीकी आन्तरिक अनुभूति यही थी कि उस दिव्य चिन्मय तेजके स्पर्शसे सभीको चिन्मय भाव-समाधि लग गयी थी। इसके पश्चात् जितने भी गोप-गोपियों एवं परिजनोंने यशोदाके क्रोड़से संलग्न उस शिशुके दर्शन किये, बस, शिशुकी एक झलक नेत्रमें आते ही उस क्षणकी शोभाके अनुभवको वे वाणीसे अभिव्यक्त करनेकी शक्ति खो बैठे। रोहिणी मैयाकी आँखें भी अचिन्त्य लीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे जैसे ही खुलती हैं, वे भी यह देखकर चकित हो उठती हैं कि यशोदा द्वारा प्रसूत बालक इतना निराला है कि उसे देखनेपर अन्य सभी समयोचित कर्त्तव्य आत्यन्तिक विस्मृतिके गर्त्तमें चले जाते हैं। उस सद्योजात बालकका क्रन्दन भी ऐसा सदानन्दरूप था कि उसे सुननेवाला भी ज्यों-का-त्यों जहाँ-का-तहाँ जडिमाभावग्रस्त

खड़ा हो जाता है; आनन्दातिरेकसे सभीके शरीर अवश, न हिल पाते हैं, ऐसे स्तंभित, जैसे-के-तैसे खड़े रह जाते हैं। सब आनन्दमें बेसुध रहते हैं, उनमें बोलनेकी शक्ति भी नहीं बचती। बस, सभीके अन्तर्हृदयमें आनन्द-स्रोत तरंगायमान होता रहता है।

यहाँ इन पंक्तियोंमें भी श्रीकृष्ण अपनी प्रिया श्रीराधाको उसके जन्मका वर्णन सुनाते समय यशोदा मैयाकी उसकी सद्योजात शिशु-अवस्थाके दर्शनकर हुई दशाका वर्णन करते समय यही रहस्य उजागर कर रहे हैं। श्रीराधा अन्य तो कुछ हैं नहीं, वे ह्लादिनी उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही तो हैं, अतः उनके दर्शनसे मैयाके दहर विद्यामय द्वार तो उद्‌घाटित होने ही थे।

**जिज्ञासाः-** यहाँ कीर्त्तिनन्दिनी श्रीराधाकिशोरीको एक अद्भुत चिन्मय कल्पवल्ली कहा गया है। जिसे देखकर यशोदामैयाके दहर विद्यामय द्वार उद्‌घाटित हो उठते हैं। अद्भुत कल्पवल्ली कहनेका क्या अभिप्राय है ?

**समाधानः-** कल्पवृक्ष स्वर्गके उस वृक्षका नाम है, जिसकी छायामें कोई भी व्यक्ति कुछ भी कामना करता है, यह वृक्ष उस काम्य पदार्थकी तत्क्षण ही पूर्त्ति कर देता है। इसी वृक्षपर स्वर्णिम आभावाली जो लतायें लिपटी रहती हैं, उनका नाम भी कल्पलतायें किंवा कल्पवल्ली है। इनमें भी मनोरथ पूर्ण करनेकी वही अद्भुत सामर्थ्य होती है, जैसी कल्पवृक्षोंमें होती है। इन लताओंमें अतिशय सुन्दर कल्पप्रसून खिले रहते हैं। यहाँ श्रीराधारानीके पीताभ स्वर्ण जैसे सुन्दर वर्ण, उनकी अपूर्व सुन्दरता एवं साथ ही उनके दर्शन मात्रसे निस्साधन ब्रह्मज्ञान, परमोच्च सत्यके दर्शन और आह्लाद-वैभवका जो विलक्षण दान सभीको हेतुरहित रूपसे हो रहा है, इसलिये उन्हें 'कल्पवल्ली' कहा गया है।

**जिज्ञासाः-** कृपया 'दहर' शब्दका अर्थ बतलावें ।

**समाधानः-** 'दहर' शब्द वेदान्तका एक औपनिषद् वैदिक शब्द है। मनुष्यको जैसे अपनेसे बाहर शून्यमें आकाशके अनेक स्तर दिखते हैं, जैसे पृथ्वीमण्डलके ऊपरी सतहतक वायु है, उसके पश्चात् वायुशून्य वातावरण है, उसी प्रकार जैसे सभी नक्षत्रोंके ऊपर उनके भिन्न-भिन्न गुणधर्मयुक्त आवरण हैं; वैसे ही मनुष्यके भीतर भी अनेक स्तर है। जैसे मनस्तर हैं, उसके पश्चात् बुद्धिका स्तर आता है, बुद्धिके स्तरके पश्चात् चित्ताकाश, अहंकाराकाश, इस प्रकार भीतरी तहोंपर पहुँचनेपर मनुष्यको दहराकाशका अनुभव होता है। यहाँ जीवका अज्ञान एवं मायाका आवरण समाप्त हो जाता है। वह देहाध्यासरूप अविद्यासे मुक्त होकर विद्याकाशके नीचे पहुँच जाता है। इस दहराकाशमें प्रवेश करनेपर उसके सम्मुख ज्ञानशक्ति सम्पूर्ण तत्त्व निरावरित कर देती है। सारे अज्ञानजन्य आवरणोंसे उसकी बुद्धि निर्मल हो उठती है। दहर शब्द इसी स्थितिका वाची है।

।।४६।।

*जान पायी, वस्तु है क्या कीर्तिदाकी बालिका,*
*है यही, जो है सदा विश्वेशकी भी पालिका ।*
*है यही अपरा-परा भी प्रकृति जगत्-विधायिका,*
*हूँ लिये मैं ब्रह्म, उसके प्राणकी है ह्लादिका ।।*

मैया समझ गयी कि कीर्तिदा महारानीकी वह कल्पलतिका-सी बालिका क्या वस्तु है । मन-ही-मन वह सोचती जा रही थी – अहा ! यह तो वही है, जो नित्य निरन्तर विश्वेश्वरका भी संचालन करती रहती है । अहो ! यही तो वह जगत्का निर्माण करनेवाली अपरा-परा प्रकृति भी है । कैसी विचित्र बात ! मैं तो अपने अंकमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको लिये हूँ, और यह कीर्तिदा महारानीकी बालिका तो उस सच्चिदानन्द ब्रह्मके भी प्राणोंकी ह्लादिनीशक्ति है।

## ( तात्विक विवेचन-विस्तार)

**जिज्ञासाः-** यहाँ द्वितीय पंक्तिमें श्रीराधाके लिये श्रीकृष्ण कहते हैं – **"है यही जो है सदा विश्वेशकी भी चालिका"** । इसका क्या अर्थ है ?

**समाधानः-** आगम शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन आता है पराशक्ति आद्या भगवती जो श्रीराधारानींका ही ऐश्वर स्वरूप हैं – के कर-नखकी एक-एक कलासे एक-एक अवतारकी उत्पत्ति हुई है।

**"करांगुलि नखोत्पन्न नारायण दशाकृतिः"**(ललिता सहस्रनाम)

परमाद्या भगवतीके दक्षिण करांगुष्ठके नखसे कल्पका प्रथम मत्स्यावतार हुआ। इस मत्स्यावतारमें भगवान्‌ने शंखासुरका वध करके वेदोंकी रक्षा की थी। भगवती आदि-महाशक्तिकी दक्षिण हस्तकी तर्जनी अँगुलीके नखके प्रकाशसे दूसरा कूर्मावतार हुआ। इसी अवतारमें भगवान्‌ने अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण किया। इनकी ही कृपासे अमृत-मंथन संभव हो पाया। भगवती कामेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी आद्या पराम्बाके दक्षिण हस्तकी मध्यमा अँगुलीके नख-प्रकाशसे तीसरा वाराह अवतार हुआ। इसी वाराह अवतारकालमें सारस्वत कल्पकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीमें भगवान् श्रीकृष्णावतार हुआ है। ये भगवान् वाराह ही अपनी दाढके ऊपर रखकर डूबी हुई पृथ्वीको कारण-समुद्रके ऊपर लाये हैं। इन्होंने ही हिरण्याक्ष दैत्यका वध किया था। भगवती पराम्बाके दक्षिण हस्तकी अनामिका अँगुलीके नखप्रकाशसे भगवान् नृसिंहका अवतार हुआ। इसी अवतारमें भगवान्‌ने हिरण्यकशिपु दैत्यका अपने नखोंसे फाडकर वध किया था। प्रह्लाद इन्हीं नृसिंहभगवान्‌के परम भक्त हुए। भगवतीकी दक्षिण हस्तकी कनिष्ठिकाके नख-प्रकाशसे पाँचवाँ वामनावतार हुआ। इस अवतारमें भगवान्‌ने राजा बलिसे तीन पग पृथ्वी दानमें माँगी एवं विश्वातीत रूप प्रदर्शितकर तीनों लोकोंको

अपने तीन पगोंसे नाप लिया।

इसी प्रकार जगज्जननी पराम्बाके वाम करांगुष्ठके नखसे छठा परशुराम अवतार हुआ। श्रीपरशुरामने सहस्रार्जुनपर क्रोध करके पृथ्वीको इक्कीस बार निःक्षत्रिय कर दिया। भगवतीके बायें हाथकी तर्जनी अँगुलीसे सातवाँ भगवान् रामका अवतार हुआ। इस रामावतारमें देवताओंने वानररूप धारणकर भगवान्की सहायता की। भगवती पराम्बाकी वाम करांगुलिकी मध्यमाके नखसे श्रीकृष्णावतार हुआ।

ऐसा भी मत है कि आद्याशक्ति पराम्बा भगवतीकी भद्रकाली मूर्त्ति ही जो नवघनश्यामवर्णा है, श्रीकृष्णरूपमें अवतरित हुई है और भगवान् कामेश्वर सदाशिव स्वयं श्रीराधारूपमें अवतरित हुए हैं। भगवान् सदाशिव ही अपने अन्य आठ रूपों – शिखण्डीरूपसे ललिता, श्रीकण्ठरूपसे विशाखा, त्रिमूर्त्तिरूपसे चित्रा, एकनेत्ररूपसे चम्पकलता, एकरुद्ररूपसे इन्दुलेखा, शिवोत्तमरूपसे रंगदेवी, सूक्ष्मरूपसे तुंगविद्या, अनन्तरूपसे सुदेवी हुए। इसी प्रकार भगवान् सदाशिवके असंख्य भैरव सोलह हजार गोपी बने।

भगवती आद्याशक्तिकी ही वाम अनामिकाके नखसे बुद्धावतार हुआ और उनकी वाम कनिष्ठिकाके नखसे भविष्यमें कल्कि अवतार होगा।

इसी तात्पर्यको ध्यानमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण भगवती श्रीराधाको **''विश्वेशकी संचालिका''** आदिशक्ति कहते हैं। श्रीराधा भगवान्की ह्लादिनी प्रमुख शक्ति होनेसे वह अनन्त विश्वके ईश्वरोंकी यथार्थतः संचालिका ही हैं।

यद्यपि शास्त्रोंमें अनेक बातें अनेक प्रकारसे कही जाती हैं, किन्तु इस सम्बन्धमें सभी शास्त्र एक मत हैं कि सच्चिदानन्दरूपा ह्लादिनी उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही भगवती राधा हैं और इन पराम्बाके

निमित्तसे ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका अनन्त विश्वनियन्ता संचालन कर रहे हैं। इन श्रीराधाके ही आधार – सत्त्व, चित्त्व एवं आनन्दत्वरूप धर्मत्रयविनिर्मुक्त विशुद्ध धर्मी ह्लादात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं। ये श्रीराधाकृष्ण ही असंख्य ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रोंके सेव्य हैं। ब्रह्मा ही नहीं, उनसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर जीव अपने अधिष्ठातृ देवताओंके रूपमें इन युगल स्वरूपकी सेवामें मूर्तिमान् होकर उपस्थित रहते हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, माया, विद्यादि विविध शक्तियाँ, महत्तत्व आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृ देवता – सभी सेवाकी प्रतीक्षामें इन्हें घेरे खड़े रहते हैं। प्रकृतिक्षोभमें हेतु काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि इन सबके देवता इन युगलकी अर्चना करते हैं। ये श्रीराधाकृष्ण ही परस्पर एक-दूसरेके युगपत् आधाराधेय हैं एव ये ही परस्पर एक-दूसरेके आराध्याराधक भी हैं।

**जिज्ञासाः-** यहाँ माता यशोदाको राधाकुमारीमें 'परा-अपरा' प्रकृतिके दर्शन भी होते हैं। ये 'अपरा-परा' प्रकृति क्या हैं ? इसपर भी कृपया प्रकाश डालें।

**समाधानः-** भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें अपनी परा एवं अपरा – दो प्रकृतियोंका उल्लेख किया है, जिनके द्वारा वे समग्र सृष्टिकी रचना करते हैं। उनकी यह अपरा प्रकृति आठ प्रकारसे विभाजित है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार – इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित भगवान्‌की अपरा प्रकृति है। यह भगवान्‌की अपरा प्रकृति ज्ञेय तथा जड़ होनेसे ज्ञाता, चेतन, जीवरूपा, पराप्रकृतिसे सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है। यही संसारकी हेतुरूपा है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका 'अपरा' नाम है।

भगवान्‌की 'परा' प्रकृति ज्ञाता, चेतन, जीवरूपा है।

भगवान्‌की इसी परा प्रकृतिको 'अध्यात्म' नामसे गीताके ७।२९ एवं ८।३ श्लोकोंमें कहा गया है। इसका ही क्षेत्रज्ञ नामसे १३।१ श्लोकमें उल्लेख है। समस्त शरीरोंके शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण तथा भोग्य वस्तुएँ और भोगस्थान – यह व्यक्त प्रकृति भगवान्‌की अपरा प्रकृति ही है। इसे ही जगत् नाम भी दिया गया है। यह जगत् रूप जड़ तत्त्व अपरा प्रकृति भगवान्‌की परा प्रकृति चेतन तत्त्वसे व्याप्त है। अतः इसे परा प्रकृतिने ही धारण किया हुआ है। बिना परा, चेतनके संयोगके इस जगत्, अपराकी उत्पत्ति, विकास और धारण होना संभव नहीं है। ये सम्पूर्ण भूत इन दोनों भगवान्‌की प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं। जगदम्बा जगज्जननी जगद्विधायिका होनेसे श्रीराधा ही भगवान्‌की परा एवं अपरा प्रकृति हैं।

**जिज्ञासाः-** *"हूँ लिये मैं ब्रह्म, उसके प्राणकी यह ह्लादिका"* – कृपया इस पदका भी विस्तृत विवेचन कीजिये।

**समाधानः-** प्रसूतिगृहमें भूमिष्ठ कीर्त्तिदाकी विलक्षण बालिकाके दर्शन मात्रसे जब श्रीयशोदाजीके दहर विद्यामय द्वार उद्‌घाटित हो उठते हैं और उन्हे वह बालिका जगत्‌के ईश्वरोंकी संचालिका, भगवान्‌की अपरा-परा प्रकृति, जगत्-विधायिका दृष्टिगोचर होती है तो उनकी दृष्टि अपने पुत्रपर भी चली जाती है। श्रीयशोदाजीके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता। उन्हें उनके अपने पुत्रके स्थानपर अपनी गोदमें उस समय इस दृश्यमान अनन्त विश्व और इससे सर्वथा अतीत, जो कुछ है या हो सकता है, उस सबका मूलतत्त्व 'ब्रह्म' दिखाई पड़ता है। वे विस्फारित-नेत्र, चकित अपने 'कन्नू'को बार-बार देखती हैं, किन्तु अनुभव करती हैं कि यह तो वही है, जिसके तत्त्वका पता लगाकर तथा अनुभवकर परम तत्त्वज्ञ ज्ञानी महापुरुष 'ब्रह्म' नामकरण करते हैं। यह मेरा

बालक सर्वविधि बृहत्तम है। उनकी समझमें उसी क्षण यह भी तत्त्व ठीक उजागर हो जाता है कि यह बालक 'अनन्तं ब्रह्म' अनन्त शक्तियोंका स्वामी है। इस 'ब्रह्म'की यह अनन्त शक्तिमत्ता सभी विषयोंमें सिद्ध होती है – ब्रह्मके स्वरूपमें, उसकी शक्तियोंमें, उसके कार्योंमें, उसकी शक्तिके प्रकाशनकी विचित्रताओंमें। शक्तिकी ही विलक्षण क्रियासे यह ब्रह्म निर्विशेष वस्तुसे सविशेष होकर उसकी गोदमें चिपका है, निर्गुणसे सगुण हो उठा है, निराकारसे साकार परिलक्षित हो रहा है। यशोदाजीका तत्त्वज्ञान सर्वविधि सम्यक् है। वे जान जाती हैं कि मेरे इस बालकमें 'समग्र ब्रह्मभाव'का पूर्ण प्रकाश है। वस्तुतः ब्रह्मत्वका पर्यवसान भी इसीमें है। इसीसे यह ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है, ब्रह्मका आश्रय है। यह मेरा बालक ब्रह्म 'स्वरूपमें' पूर्णतम, शक्तियोमें पूर्णतम और शक्तियोके विचित्र प्रकाशोंमें पूर्णतम है। इसीसे यह निर्विशेष, नि शक्ति और निराकार नहीं है। यह सविशेष, सशक्ति और साकार है। मेरे वात्सल्यको, मेरी कोखको कृतार्थ करने यह मेरा शिशु बना मेरी गोदमें अवस्थित है।

बालकमें परस्पर विरुद्ध धर्म-गुणोंका युगपत् प्रकाश है। यह सब इसकी शक्तियोंका प्राकट्य है। शक्तिके प्रकाशसे ही यह मेरा नीलमणि नवघन श्यामसुन्दर है। यह 'ब्रह्म' शून्य नहीं है। इसमें अस्तित्व शक्ति है। यह देखो, इस बालिकाको देखकर किलक रहा है। यह आनन्दमय है, इसमें आनन्दमयत्व शक्ति है। यह चेतन है, इसलिये यह चिच्छक्ति-सम्पन्न है।

'आनन्द' शब्दके भी दो प्रकारके अर्थ होते हैं। एक वह जो आस्वाद्य आनन्द है जैसे 'मधु' और एक इस मधुका आस्वादक भ्रमर भी आनन्दरूप ही है। अतः यह मेरा पुत्र भी दो रूपोंमें अभिव्यक्त यहाँ मुझे दीख रहा है। एक तो ह्लादात्मा रसिक भ्रमर

रूपमें, जो मेरी गोदमें स्थित है और दूसरे अपनी ह्लादिनी शक्तिके रूपमें, जो कीर्त्तिदाकी यह अलौकिक बालिकाके रूपमें है।

इस 'ब्रह्म'का लीलाविग्रह, सगुण साकार रूपमें प्राकट्य ही वस्तुतः अपनी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही होता है। अन्यथा यह अपने निर्विशेषत्व, निर्गुणत्व, निराकारत्वका त्याग ही क्यों करे ? इसने अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये, उसका नवीन रूपमें आस्वादन करनेके लिये ही स्वयं अपनेको 'द्विधा' रूपमें प्रकट किया है। यह स्वयं आनन्दविग्रह है और यह कीर्त्तिकन्या प्रेमविग्रहस्वरूपा है। यह अपने इस प्रेमविग्रहसे आनन्दका आस्वादन करेगा। अतः यह कीर्त्ति-कन्या प्रेममयी है, यह समग्र प्रेमविग्रहोंका एकीभूत समूह है। जहाँ आनन्द है, वहीं प्रेम है ; जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। अतः मेरे इस पुत्रकी स्थिति ही इस कीर्त्ति-कन्याके निमित्तसे ही है। यह कीर्त्तिकुमारी मेरे पुत्रकी जीवनस्वरूपा, जीवनीशक्ति है। यह मेरा पुत्र इस कन्याका जीवन है।

दिव्य प्रेम-रस-सार-विग्रह होनेसे यह कीर्त्तिकन्या ही इस आनन्द-रस-सार रसराज मेरे पुत्रको आनन्द प्रदान करती है। यही इस ह्लादात्माकी ह्लादिनी शक्ति है।

मेरा पुत्र नित्य आनन्दमय है, नित्य तृप्त है, नित्य एकरस है, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड-विग्रह है, पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है किन्तु इस पूर्णानन्दस्वरूपकी ही सत्ता और इसके प्रति प्रेम दो वस्तु नहीं हैं। यह कन्या प्रेमाश्रय है और यह मेरा पुत्र प्रेम-विषय है। प्रेमाश्रयका भाव प्रेम-विषयमें अनुभूत हुआ ही करता है। ये दोनों वस्तुतः दो हैं ही नहीं, एक ही दो रूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं। जो यह कन्या है, वही यह बालक है। इन दोनोंमें किञ्चित् भी भेद नहीं है। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति, पृथ्वीमें गन्ध रहती है, उसी प्रकार इस बालकमें यह बालिका रहती है। जैसे 'ब्रह्म'से सत्,

चित् एवं आनन्द इन तीनों भावोंको कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही इस बालिकाको इस मेरे बालकसे पृथक् नहीं किया जा सकता। यह मेरा बालक इस बालिकासे पृथक्-कलेवर, पृथक् स्थानोंमें पृथक् उत्पन्न हुआ-सा जो दिख रहा है वह इसकी अनन्त शक्तियोंका ही चमत्कार है। ये दोनों बालक-बालिका अभेद होकर ही भिन्न मात्र प्रतीत हो रहे हैं। इस बालिकाके रूपमें मेरे इस बालककी सुखेच्छारूप दिव्य वृत्ति ही साकार होकर जन्म लिये है। यह दिव्य सुखेच्छा वस्तुतः प्राकृत मनकी वृत्ति नहीं है। यह तो ह्लादिनी-प्रधान विशुद्ध सत्वकी ही एक वृत्ति है जो मूर्त्तिमान होकर इस कीर्त्ति गोपीकी पुत्रीके रूपमें प्रकट हुई है।

॥४७॥

*है चिदंश-सदंशमें परमेशकी चिति-सन्धिका,*
*शक्ति यह है योगमाया जो असम्भव-साधिका।*
*है यही वृन्दाविपिन-आधार, गोकुल-पालिका,*
*है यही धारण किये ब्रज, चर-अचरकी मालिका॥*

ओह ! यही तो परमेश्वरके चिदंश-संदशमें नित्य विराजित चिति एवं संधिनी शक्ति है । अहा ! हा ! असम्भवको भी सम्भव करनेवाली अघटघटना-पटीयसी योगमाया भी तो यही है । ओहो! वृन्दावनकी आधार शक्ति यही, यही है । सम्पूर्ण गोकुलकी पालिकाशक्ति यही है । ओह ! क्या कहूँ – व्रजवनके चराचर प्राणियोंकी माला बनाकर अपने कंठमें धारण करनेवाली शक्ति भी तो यही है !........ सम्पूर्ण वनस्थलके चराचरको धारण किये हुए यही तो विराजित है ।

# (तात्विक विवेचन–विस्तार)

**जिज्ञासाः**-सैतालीसवें चौपदेकी प्रथम दो पंक्तियाँ हैं – ***"है चिदंश-सदंशमें परमेशकी चिति-सन्धिका, शक्ति यह है योगमाया भी असम्भव-साधिका"*** कृपया इनका विस्तारपूर्वक विवेचन करें।

**समाधानः**- तत्त्वदर्शी महात्माओं द्वारा परमेश अर्थात् परमात्माको शास्त्रोंमें सच्चिदानन्द कहा गया है। सच्चिदानन्द शब्दका अर्थ ही है कि जिसमें तीन स्वरूपभूत शक्तियाँ – सत्स्वरूपता, चित्स्वरूपता एवं आनन्दस्वरूपता हो। कुछ त्रिकालज्ञ तत्त्वदर्शी कहते हैं कि परमात्मा स्वरूपतः आनन्दस्वरूप तो है ही, उसमें अनन्त सत्य एवं ज्ञान – दो प्रधान शक्तियाँ हैं। ***'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'*** यह ब्रह्म अनन्त सत्य एवं अनन्त ज्ञानशक्तिसे युक्त है। इस परमात्माकी ज्ञानशक्ति – चिदंश ही उसकी चिति शक्ति और उसका सदंश ही सन्धिनी शक्ति कहलाता है। परमात्मामें चितिशक्तिके समावेशसे ही चित्स्वरूपता है और उसमें सन्धिनी शक्तिके होनेसे ही वह सत्स्वरूप है। यह चिदशशक्ति – चिति ही योगमाया कहलाती है क्योंकि ज्ञान ही भगवान्‌से योग कराता है और अज्ञान ही परमात्मासे विमुख करता है। यह योगमाया ही लीलामहाशक्ति है, जो भगवानकी लीलामें पात्र जीवोंका सन्निवेश करती है। यह लीलाक्रममें असंभवको भी संभव करनेवाली है।

जगन्माता यशोदाको कीर्तिकुमारी राधारानीमें परब्रह्म परमात्माके चिदश एवं सदशमें नित्य विराजित चिच्छक्ति एवं सधिनी शक्तिके युगपत् दर्शन होते हैं, साथ ही उनमें लीलामहाशक्ति अघटन-घटना-पटीयसी असंभव-संभव-कारिणी योगमायाके भी दर्शन होते हैं। यही रहस्य ये दो पंक्तियाँ बतला रही हैं।

**जिज्ञासाः-** कृपया इसी चौपदेकी पीछेकी दो पक्तियाँ– ***"है यही वृन्दाविपिन-आधार गोकुल-पालिका, है यही धारण किये ब्रज, चर-अचरकी मालिका।"*** का भी अर्थ समझाइये।

**समाधानः-** वस्तुत: वृन्दा-विपिन, गोकुल एवं यह ब्रज है क्या ? क्या ये किसी भूखण्डके नाम हैं ? नहीं ! ये प्राकृत भूखण्ड तो नहीं हैं, किन्तु चाहे इन्हें भगवान्‌की संधिनी शक्तिकी परिणति कह दें, ये प्रतीतिमें तो भूखण्डकी तरह ही लगते हैं। परन्तु इनका स्वभाव बड़ा विलक्षण है। कहनेमें यह बात विचित्र लगेगी। भूखण्डोंका भी क्या कोई स्वभाव होता है ? परन्तु सत्य यही है कि ये भूखण्ड चिन्मय हैं। श्रीप्रिया-प्रियतम राधा-माधवके सुखकी सामग्री एकत्र कर देना, इन भूखण्डोंका स्वभाव है। इन भूखण्डोंकी यही विचित्रता है कि जड़वत् प्रतीत होते हुए भी इनमें अज्ञानका लेश नहीं है। इन सभी भूखण्डोंमें एक ही बात है – श्रीराधामाधवकी सुख-सयोजना, दूसरी वस्तु है ही नहीं। इन्हें अपनी और जगत्‌की स्मृति ही नहीं है। ये भूखण्ड अपने चतुर्दिक् परस्पर एक दूसरेमें बस राधा-माधवको ही देखते हैं, ये श्रीराधा-माधवकी स्मृतिमें ही जड़ हो गये हैं। अगाध, अखण्ड स्मृतिकी प्रगाढतामें जैसे किसीमें जड़िमा भाव आ जाय, इसी प्रकार ये भूखण्ड जड़वत् हो गये हैं।

यह दशा मात्र वृन्दाविपिनकी, गोकुलकी, ब्रजकी पृथ्वीकी ही नहीं है, यही दशा इस विपिन, भूमंडलको आवृत किये आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों, वायु, अग्नि, जल – सभीकी है। इस सभी पंचभूतात्मक प्रकृतिपिण्ड – जिसका नाम गोकुल है, ब्रज है, वृन्दाविपिन है, सबकी यही दशा है कि यहाँ किसीमें अपनी वासना नहीं, अपनी स्मृति ही नहीं, अपनी कोई आकांक्षा नहीं, अपना पूर्ण आत्यंतिक विस्मरण है, और स्मृति है प्रेमास्पद

श्रीराधा-माधवकी, उनके सुखकी, चिन्ता है उनके सुख-सम्पादनकी। इस विचित्र धाराका यह गोकुल, यह ब्रज, यह वृन्दाविपिन मूर्त्त स्वरूप है।

अपने सुखकी इच्छा जहाँ अन्धतम काम है, वहाँ दूसरेके सुखकी इच्छा करना प्रेम है। इसीलिये अपने अणु-अणुमें श्रीराधाकृष्ण, प्रिया-प्रियतमको सुख देनेकी वृत्ति रखनेके कारण ही यह ब्रज, बृन्दाविपिन एवं गोकुल 'प्रेम-देश' कहलाता है।

इसी प्रेमका जो परम फल है, उसे कहते हैं 'भाव'। भावके अनेक स्तर हैं। रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव – ये प्रेमवृक्षके आठ विलक्षण फल हैं। यह प्रेमका विलक्षण फल क्रमशः पककर जब पूर्ण सरस, मीठा हो जाता है, और उसमें न गुठली ही रहती है, एवं नहीं छिलका – तब यह महाभाव हो जाता है।

इन समग्र भावोंकी उद्गमस्थली, मूल जननी, मूल स्रोत ये कीर्त्तिकुमारी श्रीराधारानी हैं। जगन्माता यशोदाके हृदयमें जब तत्वके परदे एकके पश्चात् एक खुलते जा रहे थे, तो सर्वप्रथम उन्हें यही अनुभव हुआ था कि श्रीराधा ही मेरे पुत्र 'ब्रह्म'की आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीराधा वस्तुतः श्रीकृष्णका सुख हैं। श्रीराधा नहीं हों तो श्रीकृष्णके आनन्दकी सिद्धि ही नहीं हो।

अतः श्रीराधाकी ही मूल भावधारासे अनुप्राणित यह ब्रजप्रदेश, गोकुल एवं बृन्दाविपिन है। परमोच्च प्रेमकी आदर्श श्रीराधा हैं और यही प्रेम अपनी अनन्त प्रकाशित आठ रश्मियोंसे ब्रजप्रदेश, गोकुल एवं वृन्दाविपिनका भी रूप धारण कर लेता है। इस सबकी श्रीराधा जीवनमूल हैं। इनके प्राणोंकी वे संजीवनी हैं। श्रीराधा ही इन सबकी सत्ताको अनुप्राणित करने वाली मूल शक्ति हैं। इसी भाव-प्रकाशको अभिव्यक्ति देती श्रीयशोदा कहती हैं –

*"है यही वृन्दाविपिन-आधार गोकुल-पालिका । है यही धारण किये व्रज चर-अचरकी मालिका"*

।।४८।।

*गोदमें मेरी यहाँ जो नीलिमाकी खानि है,*
*एक होकर ही वही यह गौर तेजोराशि है।*
*सर्वथा सर्वांशमें इनमें नहीं कुछ भेद है,*
*नित्यलीलाके लिये, बस, रंगभर ही भिन्न है।।*
*नित्यलीला हेतु हैं दो रंग भर, मत-वेद है।।*
*(पाठभेद)*

अरे ! देखो सही ! मेरे अंकमें यहाँ जो नीलिमाका पुञ्ज बना हुआ बालक विराजित है, वह एक रहकर ही – बस, बस, बिलकुल वही तो यह गौर तेजोराशि बालिका बना हुआ है । ये दोनों गौर तेजोमयी बालिका एवं नीलिमाकी खान यह मेरा नील-पुत्र सर्वथा-सर्वांशमें एक हैं ! इनमें कहीं भी किञ्चित् मात्र भी भेद नहीं है भला ! नित्य लीलाके लिये ही दोनोंका रंगभर भिन्न दीख रहा है। यही नित्य नील है ! यही नित्य गौर है !

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

श्रीयशोदाजीको अनुभव हो रहा है कि मेरे अंकमें जो नीलिमाका पुञ्ज बना बालक विराजित है, वह अनादि पुरुष एक ही है, परन्तु अनादि कालसे ही यह अपनेको दो – आराध्य एवं आराधक रूपोंमें प्रकटकर अपनी ही आराधनाके लिये तत्पर है। इसीलिये यह गौर तेजोराशि बालिका श्रीराधा इसकी रसिकानन्दरूपा है। ये दोनों रसके सागर हैं, ये एक ही हैं, पर मात्र खेलके लिये दो भिन्न रंग धारण किये हैं। राधाकी आत्मा श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्णकी आत्मा श्रीराधा हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वही श्रीराधा हैं और जो राधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधा एवं कृष्णके रूपमें एक ही

ज्योति दो रूपोंमें प्रकट है। श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द हैं और श्रीराधा सच्चिदानन्दविग्रहा हैं। श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान है, श्रीराधा पूर्ण शक्ति हैं। श्रीकृष्ण मृगमद हैं, श्रीराधा मृगमदगन्ध हैं। श्रीराधा दाहिका शक्ति हैं, श्रीकृष्ण अग्नि हैं। श्रीकृष्ण प्रकाश हैं, श्रीराधा तेज हैं। श्रीकृष्ण आकाश हैं, श्रीराधा व्याप्ति हैं। श्रीकृष्ण पूर्ण चन्द्र हैं, श्रीराधा ज्योत्स्ना हैं। श्रीकृष्ण सूर्य हैं, श्रीराधा आतप हैं। श्रीकृष्ण जलनिधि हैं, श्रीराधा तरंग हैं। यों वे दोनों नित्य एक स्वरूप हैं, परन्तु लीलारसके आस्वादनके लिये नित्य ही उनके दो रूप हैं।

यस्तुतः एक ही परिपूर्ण नित्य सच्चिदानन्दमय परम प्रेमतत्व श्रीकृष्ण ही आस्वादक रूपसे कृष्ण और आस्वाद्य रूपसे श्रीराधा हो जा रहे हैं। इसीलिये श्रीयशोदाजीको कभी तो श्रीराधा अपने नीलघन शिशुके दिव्य स्वरूपमें विलीन होकर उसके हृत्पद्मपर विराजित दिखायी देती हैं एवं कभी वही सर्वात्मसमर्पण करती उनके शिशुकी आराधिका बनी उसकी सेवामें संलग्न रहकर उसको सुख देनेमें ही अपना परम सौभाग्य मानती दृष्टिगोचर होती हैं। कभी उसे अपनी गोदमें राधा दिखायी देती हैं और कीर्तिदाके पास भूमिष्ठ उनका बालक दिखाई पड़ता है, कभी दोनों युगल साथ-साथ समझमें आते हैं। श्रीयशोदा चकित हैं कि ये एक होकर भी नित्य दो हैं और दो रहते हुए ही नित्य एक हैं।

।।४६।।

*नाचती-सी तत्वके आवर्त-सागरमें गिरी,*
*डूबने मैया लगी, सब वृतियाँ थीं अब ठिरी।*
*पर अचानक रूपगरिमाकी लहरसे जा घिरी,*
*बह चली, उसका सहारा ले पुनःपीछे फिरी।।*

इस प्रकार मैया तत्त्वके सागरमें – उस सागरके आवर्त्तमें नाचने लग गयी । आवर्त्तकी लहरें उसे वृत्ताकार नचा रही थीं । अरे ! नहीं, मैया तो उस आवर्त्तमें डूबने लग गयी । उसकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ शान्त हो गयी थीं । इसी बीच अचानक रूपगरिमाकी एक लहर आयी और उसने मैयाको चारों ओरसे घेर लिया । उसके प्रवाहमें बह चली वह । पर इस बार गति दूसरी ओर थी – उन लहरोंका सहारा लिये वह पुनः पीछेकी ओर लौटी आ रही थी ।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

जैसे नीहार वृक्ष, लता, वल्लरियोंके साथ ही पशु, पक्षी, मानव, कीट, पतंग, भृंगको आवृत कर लेता है किन्तु वह प्रगाढ़ तमसाच्छन्न रजनीके अन्धकारको आवृत नहीं कर सकता, प्रबलतर अँधेरेका संयोग होते ही वह अपनी आवरण शक्तिको उसमें विलीन कर देनेके लिये बाध्य हो जाता है, स्वयं उससे आवृत हो जाता है, जैसे खद्योतका क्षुद्र प्रकाश घोर तमसाच्छन्न रात्रिके समय किसी तरु-वल्लरीके किसी पत्रांशको एक क्षणके लिये चमकका दान भले कर दे पर समुद्भासित मध्याह्न सूर्यकी किरणें उसकी सत्ताको सर्वथा नगण्य बना ही देती हैं, मैया यशोदाकी बुद्धि भी इस महाभावोदधि भानुपुत्रीको देखते-देखते तत्वरहस्यकी अथाह भवरोंमें, उसके आवर्त्तोंमें ऐसी फँसी कि उसकी सभी वृत्तियाँ हतप्रभ हो, स्थिर हो गयीं। मैया तो इस अथाह तत्वज्ञानमे पूरी डूब ही जाती, किन्तु भगवती लीलामहाशक्तिको तो उनके द्वारा विश्व एव विश्वेश दोनोंको वात्सल्यरससिन्धुकी एक-से-एक ऊँची लहरोंमें परिस्नात कराना था। अतएव मैयाके नेत्रोंमे अचानक ही महाशक्ति योगमायाने इस सद्योजात बालिकाके मनोहर रूपकी ऐसी झाँकी भर दी कि मैया उसके दर्शन-प्रवाहमें बह गयी और

सखी श्रीरंगदेवीजी

उस तत्वरहस्य सिन्धुमें डूबनेसे बच गयी।

मैया दर्शन कर रही है कि एक कनक-गौर वर्णकी अद्भुत बालिका नेत्र निमीलित किये कीर्त्तिदा महारानीके पार्श्वमें लेटी है। यशोदारानीको ठीक अनुभव हो रहा है मानो उसके क्रोड़में संलग्न नील शिशु श्रीकृष्णको निरखकर ही इसके नेत्र सुस्थिर हुए उसके रूप-पानमें निमग्न निमीलित हो उठे हैं। उसके सद्यःजात बालिकाके अंगोंसे ऐसी विलक्षण सौरभ प्रसरित हो रही है कि जिससे सारा प्रसूतिगृह और आसपासका सब क्षेत्र उस सौरभसे महक उठा है। अत्यन्त शिशु अवस्थामें भी इसके पतले-पतले कमनीय अधर मधुर अमृत-रसकी जैसे फुहारें छोड़ रहे हों, इस प्रकार मन्द-मन्द मुसकान बिखेर रहे हैं।

सभी अंग-प्रत्यंग ऐसे तेजोमय हैं मानो राकाशशिका एक कमलाकृतिका टुकड़ा आकाशसे कीर्त्ति गोपीकी गोदमें पतित होगया हो और उससे पीयूषवर्षी मन्द-सुमन्द ज्योत्स्ना छिटक रही हो। अहा ! इस बालिकाके लाल गुलाबके फूल-जैसे कपोलोंमें कैसी तेजोमय दमक है, इन कपोलोंका सौन्दर्य तो सर्वांगजयी अप्रतिम है। कमलकी पँखुड़ियोंसे पतले-पतले कान बिना कुण्डलोंके ही ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो किसी सुकोमल स्वर्ण वल्लरीके मृदुलतम पान हों। इस बालिकाकी निरी सद्योजात अवस्थामें ही भौहें कामदेवके धनुषके समान टेढी हैं और नयन अति रसभरे हैं। शोभाका ढेर जैसे एक स्थानपर इकट्ठा हो, इस प्रकार इस बालिकाकी नासिका है। जैसे इसका रोम-रोम परमाह्लादसे परिपूर्ण हो, यह प्रीतिरसकी लघु वापी हो; ऐसी ही इसके रोम-रोमकी छवि है।

ओह, इसके लघु मधुपोंके समान काले कुञ्चित चिकने केश हैं, वे कपोलोंपर ललाटपर छितराये परम मनोहारी शोभा

बिखेर रहे हैं। चिबुककी शोभा तो अपराजेय है और ठोडी अनुपम है। कण्ठ कमनीय है और नाभि अभिराम है। हाथ-पैर स्वाभाविक ही ऐसे लाल-लाल हैं मानो मेंहदी लगी हो। इस विलक्षण बालिकाके पैरोंमें छत्र, चक्र, ध्वजा, लता, पुष्पादि चिन्ह स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं।

तत्वानुसंधानमें निरत साथ ही उसकी अथाह गंभीर भँवरोंमें फँसी मैयाको इस बालिकाके सौन्दर्यदर्शनकी उर्मियोंने बरबस बाहर खींच लिया और इस लहरके सहारे मैया पीछे फिरकर किनारे आ लगी।

॥५०॥

*क्या बताऊँ, प्रियतमे ! जो रूप तुमने था किया,*
*व्यक्त, उसका ध्यानकर ही विश्वमें मैं हूँ जिया।*
*और आगे भी रहूँगा, था उसीने बल दिया,*
*जो बची मैया तथा ब्रजने मुझे अपना लिया॥*

प्रियतमे ! क्या बताऊँ उस रूपकी बात, उस सौन्दर्यकी लहरोंकी बात, जिसे तुमने उस समय व्यक्त किया था ! ओह ! उसका ध्यान करके ही मैं विश्वमें अब तक जी रहा हूँ, और आगे भी निश्चय ही जीवित रहूँगा। ओह ! उसीकी शक्तिके प्रभावसे मैया उस दिन जीवित बच गयी और व्रज-वनवासियोंने मुझे अपना लिया। मैं एक मात्र व्रज-वनवासियोंकी ही वस्तु बन गया।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

परस्पर जुड़े हुए तारोंमें किसी एकपर स्वर-लहरी उदय होते ही अन्य तार भी झंकृत होते ही है। यह अवश्य है कि सभी तारोंकी झंकारका रव समान नहीं होता, किसीका तीव्र एवं किसीका मन्द। इसी प्रकार वात्सल्यवती यशोदा मैया, कीर्त्तिदा मैया एवं अन्यान्य असंख्य ब्रजसुन्दरियों एवं गोपोंने सद्योजात

कीर्त्तिकुमारीके अप्रतिम सौन्दर्यको जब देखा तो सभी एक चमत्कारी आनन्दमें तो डूब गये किन्तु सबकी अनुभूति अपने-अपने अन्तःकरणोंके स्तरको लेकर पृथक्-पृथक् थी।

यशोदा मैयाको सर्वप्रथम उन्हें देखकर सच्चिदानन्दरूपा ह्लादिनी उपाधिपूर्ण स्वात्माके ही दर्शन हुए। इसी प्रकार अपनी गोदमें संलग्न शिशु श्रीकृष्णके रूपमें भी सत्त्व, चित्त्व एवं आनन्दत्त्वरूप धर्मत्रयविनिर्मुक्त मात्र सर्वधर्मी सर्वात्मा ब्रह्मके दर्शन हुए। यह ब्रह्मानुभव एवं ब्रह्मशक्तिका अनुभव यदि स्थायी रह जाता तो उनसे उनके कन्हैयाका लालन-पालन तो संभव ही नहीं था। और यदि मैया ही भगवती देवहूतिकी तरह सातवीं भूमिकामें प्रतिष्ठित विशद्ध ब्रह्मज्ञानी हो जाती तो भगवती योगमाया महाशक्ति द्वारा विश्व रंगमचमें सम्पादित होनेवाला विशुद्ध वात्सल्यदानका खेल तो फिर संभव ही नहीं था। क्योंकि भगवतीको वह खेल, वह लीला सम्पादित करनी थी – अतः उन्होंने मैयाके सम्मुख श्रीराधाका अपूर्व सौन्दर्य व्यक्त कर दिया, उस सौन्दर्यसे अभिभूत मैया वात्सल्याभिभूत हो उठी और उनका ब्रह्मज्ञान तो उस सुधा-सौन्दर्यलहरीमे तिरोहित हो गया। मैयाके मनमें उस अपूर्व कीर्त्तिकुमारीका प्रेम उमड उठा। इस प्रकार ब्रजभावका वह विशाल स्तंभ, जिसके सहारे सम्पूर्ण ब्रजभावकी नींव स्थिर थी ध्वस्त होनेसे बच गया। इसी तथ्यका संकेत करते हुए श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रियासे कहते हैं कि 'प्रिये ! उस दिवस तुमने जो रूप प्रकट (व्यक्त) किया था उसका ध्यान करके ही मैं जीवित रहा, आज भी जीवित हूँ एवं आगे भी जीवित रहूँगा। उसने मेरी मैयाके मैयापनको बचा लिया। मेरी मैयाका मैयापन बचा, तो ब्रजगोपियाँ भी मुझे वात्सल्यदान दे सकीं और सम्पूर्ण ब्रजभाव ही बच गया।

श्रीकीर्त्तिकुमारीका यह रूप कोई सुष्ठु आकृतिका रूप

मात्र नहीं था, उनका यह रूप ह्लादिनी तत्त्वकी अभिव्यक्ति था। आनन्दतत्त्वका पुञ्जीभूत एकीकृत पूर्ण विग्रह था। वह पूर्ण रसमय था, पूर्ण आनन्दमय था, पूर्ण छविमय था, मधुरिमामय था, मोक्षतिरस्कारी दिव्य श्रीकृष्ण-सुखकारी था। वह रोम-रोमसे श्रीकृष्णको आकर्षित करनेवाला था। तभी उसका स्मरणकर श्रीकृष्णमें जीवनरसका संचार हुआ।

यहाँ यह ध्यान रहे श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, भगवान् हैं। वे सच्चिदानन्दकन्द, स्वप्रकाश, अद्वय ज्ञानस्वरूप हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वग, अनन्त एवं विभु हैं। वे नराकृति परब्रह्म लीलामय भुवनमोहन श्रीविग्रह हैं। वे असमोर्ध्व, नित्य-नूतन प्रतिक्षण-परिवर्धनशील सौन्दर्य-माधुर्यके आकर हैं, वे विश्वविमोहन सर्वचित्ताकर्षक हैं। इन रोम-रोम-मधुर श्रीकृष्णको भी मुग्ध करनेवाला रूप श्रीराधारानीने उस दिवस व्यक्त करके अपना प्राकट्य किया था।

कोई भी व्यक्ति जब जीवन धारण करता है तो किसी आनन्द, रसको लेकर ही जीवित रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरी संजीवनी औषधि तो श्रीराधारानीके उस रूपका प्रकाश था। श्रीकृष्णके प्रादुर्भावका कारण ही श्रीराधा हैं। श्रीराधाका प्रेम ही श्रीकृष्णकी जीवन-रसधारा है। श्रीराधाका सान्निध्य ही श्रीकृष्ण-जीवनका रस-लक्ष्य है। श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी जीवनीशक्ति हैं, उनकी आत्मा हैं, उनकी उपास्या, प्रेयसी और जीवनाधार हैं। क्या धवलताके बिना दूधकी सत्ता संभव है ? धवलता ही दूधका दुग्धत्व है, दाहिका शक्ति ही अग्निमें अग्नित्व है। इसी प्रकार श्रीराधा सहित श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधा ही, उनका प्रेम ही श्रीकृष्णका कृष्णत्व बल है।

किसीके भी जीवनकी सत्ता तो आनन्दके कारण ही

टिकी रहती है। आनन्द न हो तो एक पल भी वह जीवित नहीं रहेगा। भला मिट्टी नहीं रहेगी तो घड़ा कैसे होगा, सोनेके बिना गहना कैसे संभव है ? इसी प्रकार श्रीकृष्णकी जीवनमूल तो श्रीराधाकी सत्ता ही थी। अतः श्रीराधारानीके इस प्रेममय रूपके प्रकाशसे ही भगवान् श्रीकृष्णकी ब्रजलीलाका भाव है – यही इन पक्तियोंका अर्थ है। अब आगेकी पंक्तियोंमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रियाके अपूर्व अप्राकृत मूल सच्चिदानन्द शक्त्यात्मक रूपका वर्णन करते हैं। इस बातपर पाठकोंका पुनः ध्यान केन्द्रित करता हूँ कि इन सभी छन्दोंकी स्फूर्त्ति पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाको श्रीराधा- जन्म-लीला-दर्शनके मध्य हुई थी। ये शब्दोंकी तुकबन्दी नहीं हैं, अपितु लीलाप्रकाशके चिन्मय मंत्र हैं।

।।५१।।

*कालके निर्लिप्त उरमें है छिपी जो स्निग्धता,*
*मृत्युके आवरणमें जो है मनोहर कृष्णता।*
*दो हृदय पावन मिलनमें है भरी जो वक्रता,*
*थी हुई अलकावलीमें इन सबोंकी एकता।।*

हृदयेश्वरि ! एकाग्र होकर सुनो, देख लो, अनुभव कर लो ....कालके निर्लिप्त हृदयमें जो अद्भुत स्निग्धता छिपी है, मृत्युके आवरणमें जो मनोहर कृष्णता विराजित है, दो हृदयोंके पावन मिलनमें जो वक्रता परिपूर्ण है – इन तीनोंकी ही तुम्हारी अलकावलीमें एकता हो रही थी ।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

यहाँ विचारणीय वस्तु है कि 'काल' किसे कहते हैं। हम प्राकृत विश्व दिन-रातके रूपमें कालका अनुभव करते हैं किन्तु यह तो पृथ्वीके अपनी परिधिमें घूमनेका परिमाण मात्र है। पृथ्वी जितने कालमें अपनी स्वयंकी परिधिमें एक बार घूमती है, उसीसे

सूर्यके सम्मुख आनेवाले भागमें दिन एवं सूर्यके परोक्षमें रहनेवाले भागमें रात होती है। इसी प्रकार सूर्यकी पूरी परिक्रमा पृथ्वी कर लेती है तो हमारे यहाँ वर्ष व्यतीत हो जाता है। इस पृथ्वीके परिक्रमा करने और तदनुसार हमारे शरीरोंमें होनेवाले वृद्धि-क्षयको देखते हुए हम कालका अनुभव करते हैं। हम समझते हैं कालने हमें शिशुसे बालक, किशोर, युवक, वृद्ध बनाया है। किन्तु वस्तुतः तनिक गंभीरतासे विचार करें तो इसमें कालका कोई लेना-देना नहीं है। कालका सम्बन्ध न तो जन्मसे है, न अभिवृद्धिसे है, न ही क्षयसे और न ही मृत्युसे। ये तो शरीरकी स्वतः अवस्थाएँ हैं, जो पृथ्वीकी सूर्यकी परिक्रमासे जुड़ी हैं। विकार तो क्रमशः स्वतः होता है, यह शरीरका स्वाभाविक परिणाम है। काल तो मात्र शून्य है, निष्क्रिय है, वह तटस्थ है। वह न आता है, न जाता है। उसमें गति है ही नहीं। वह एकरस शान्त है। वह निष्क्रिय है, निर्गुण है, निर्विशेष है। लोग समझते हैं कि काल जगत्के सृजन, विकास, ह्रास एवं विनाशमे हेतु है। किन्तु विचार करनेमें यही अनुभव होता है कि ये सब स्वतः गुणोंके द्वारा निष्पादित होते हैं। यह अवश्य है कि काल इन सबको अपने भीतर होता देखता रहता है, वह करता कुछ नहीं, निर्लिप्त द्रष्टा अवश्य है। कालका हृदय पूर्ण स्निग्ध है। परन्तु स्निग्धता भी विलक्षण निरपेक्ष है। स्निग्धता उसका स्वभाव है। वह निरतिशय घन शान्त, घन आनन्दरूप है। इसीलिये दार्शनिक काल एवं ब्रह्मको भिन्न नहीं मानते। कालको जड़तामें अध्यस्त करलो, तो वह ब्रह्मसे भिन्न लगेगा, किन्तु उसे हम जड़त्वसे पूर्णतया मुक्त मानलें तो काल ही चेतन ब्रह्म है। उसके अणु-अणुमें तब हमें असीम निर्लिप्त स्निग्धता दृष्टिगोचर हो जायगी।

इसी तत्वका प्रकाश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं

–"प्राणेश्वरी! जन्मके समय तुमने जो अपनेमें अपूर्व सौन्दर्यका प्रकाश किया था, उस समय तुम्हारी शिशुसुलभ सुकोमलतम कृष्ण-कुंचित अलकावलीमें जो स्निग्धता थी, उसकी तुलना तत्कालीन कालगत स्निग्धतासे कुछ-कुछ की जा सकती है। पूर्णतया तो तुम्हारे केशोंकी स्निग्धता अतुलनीय ही थी। हाँ, वह कालगत स्निग्धतासे एकता स्थापित अवश्य कर रही थी।"

इसी प्रकार श्रीकृष्ण आगे कहते हैं– "प्राणेश्वरी ! महाप्रलयके समय जब कुछ भी शेष नहीं रहता; सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रमण्डल – सभी सृष्टि विलुप्त हो जाती है, पृथ्वीतत्व जलतत्वमें, जलतत्व अग्नितत्वमें, अग्नितत्व वायुतत्वमें, वायुतत्व आकाशतत्वमें, आकाशतत्व महत्तत्वमें, महत्तत्व अहंकारमें और अहंकार मुझ परमात्मामें लीन हो जाता है, उस समय सब प्रकाशोंके अभावमें एक विलक्षण घनघोर कृष्णता ही सर्वत्र व्याप्त रहती है। यह कृष्णता मुझ स्वप्रकाश परमात्मासे जुड़ी होनेसे अतिशय मनोहर होती है। इस कृष्णताके अणु-अणुसे मेरा विशुद्ध सत्वमय स्वरूप प्रकाशित होनेसे इसकी शोभा और मनोहरता विलक्षण ही होती है। हे प्राणप्यारी ! उस मनोहरतासे तेरी अलकावलीकी उस समयकी मनोहरता कुछ साम्यता कर रही थी, वस्तुतः तो उसकी मनोहरता निरुपम थी।"

"हे प्रिये ! सृष्टिमें सभीके अहंकार पृथक्-पृथक् होनेसे जीवोंके स्त्री-पुरुषके रूपमें शरीर तो भले ही मिलें किन्तु सच्चे अर्थमें हृदय तो मिल ही नहीं पाते। प्राणप्यारी ! एक तुम ही ऐसी हो जो किञ्चित भी पृथक् अहंकार नहीं रखनेसे सर्वथा सर्वांशमें मुझसे अपना हृदय मिलाती हो, जोड़ती हो। तुमसे जब मेरा पावन मिलन होता है, उस समय तुममें किञ्चित् मान रहता है। यह तो अनादि नियम ही है, रसकी परिपाटी ही है कि मानके

पश्चात् ही प्रणयका प्रवेश प्रीति-रंगमञ्चमें हो। अतः हमारे दोनोंके हृदयोंके परस्पर मिलते समय एक अतिशय सरस चिन्मयी वक्रता भरी रहती ही है। हे हृदयेश्वरी ! इस परम सरस वक्रताकी झलक भी मुझे तुम्हारी अलकावलीमें प्राप्त हो रही थी, यद्यपि सर्वथा सर्वांशमें तो तुम्हारी अलकावलीकी कहीं कोई साम्यता संभव ही नहीं।"

॥५२॥

*है क्षणिक संयोग यह, भावी विरहके ध्यानसे*
*हो पुनः तन्मय, कहाँ प्रियतम गये, इस तापसे*
*कल्पना जलकर बनी तेजोमयी, कवि-पाशसे*
*मुक्त हो उड़ आ जुड़ी थी मूल उज्ज्वल भालसे ॥*

ओह ! यह मिलन तो क्षणिक है । उस कल्पनाके अनन्तर, भावी विरहका ध्यान होकर पुनः एक तन्मयता आ जाती है, और फिर तत्क्षण ही प्रियतम कहाँ गये – इस चिन्तनसे एक ज्वालाकी भट्ठी जल पड़ती है । उस भट्ठीमें सम्पूर्ण कल्पनाएँ जलकर तेजोमयी बन जाती हैं। कविका पाश ढीला हो जाता है। वह उन्हें अपने पाशसे बद्ध रखनेमें अक्षम हो जाता है । कल्पनाएँ मुक्त होकर उड चलती हैं । वही बात संघटित हुई थी आज यहाँ भी। कविकी सम्पूर्ण कल्पनाएँ जलकर, तेजोमयी होकर, कविपाशसे उन्मुक्त होकर उडती हुई आयी थीं और अपने मूलदेश – तुम्हारे उज्ज्वल भालसे जुड़ गयी थीं ।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

"हे प्राणप्रिये ! उस दिवसकी घटना स्मरण करो जब अकस्मात् ही सारिका मुझे तुम्हारे पास ले आयी थी, और तुम मेरे मिलनकी तीव्र उत्कण्ठावश मध्याहमें ही अभिसार हेतु कुंजमें चली आयी थी। ओह ! वह तुम्हारे मिलनकी सरसता मुझे भुलाये नहीं

भूलती। तुम मुझसे क्षणभर भी तो नहीं मिल पायी थी कि तुम्हारे हृदयमें प्रेम-वैचित्यका निर्मल भाव उदय हो गया था। इस निर्मल भावमें मेरे अंकमें विराजित ही तुम भावी विरहका ध्यान करती "ओह ! प्रियतम चले गये" इस विरहज्वालासे प्रज्ज्वलित हो उठी थी। ओह ! इस विरह तापकी ज्वाला, जो उस समय मेरी उपस्थितिमें ही तुम्हारे हृदयमें धधक उठी थी, उसकी कल्पना भी यदि कोई कवि करले, तो उसकी कल्पना भी उस विरहज्वालामें जलकर अत्यन्त तेजोमय दैदीप्यमान हो उठे। वह दैदीप्यमान कवि-कल्पना अपने कल्पक कविके पास उसके हृदय-मनमें तो रह ही नहीं सकती। क्योंकि कवि यदि उस कल्पनासे अपनेको सम्बद्ध रख ले, तो वह और उसका हृदय – दोनों ही उस विरहकी ज्वालामें धधक उठें। अतः वह दैदीप्यमान कल्पना कविसे मुक्त होकर कहीं दौड़ पड़ती है । वह अब भला कहाँ जायगी ? जैसे जल अग्निके द्वारा तप्त किये जानेपर अपने मूल वायुतत्वसे मिलनेसे वाष्प हो जाता है, उसी प्रकार वह दैदीप्यमान कल्पना भी अपने मूल – तेरे भालसे ही संलग्न हो जाती है। तेरे दैदीप्यमान भालसे संयुक्त होकर ही वह अपनेको कृतकृत्य अनुभव करती है। क्योंकि तेरे जैसा तेजस्वी दिपदिपाता भाल अन्य किसीका तो संभव ही नहीं । प्रिये ! विश्वको समग्र दैदीप्यमानता तो तेरे तेजस्वी भालके एक कणसे ही तो प्राप्त होती है।

॥५३॥

*प्रकृति हो चंचल चली बाहर निकल आवाससे,*
*ढूँढ़ने जिसने जगाया था उसे छू नींदसे।*
*सत्वने दीपक दिखाया व्यक्त होकर आँखसे*
*और रजने कर दिया पथ पुष्पमय झर हाथसे ॥*

मेरे प्राणोंकी रानी ! किञ्चित् समाहित चित्तसे सृजनके आदिमें होने वाले खेलकी ओर दृष्टि डाल लो । तुम्हें स्मरण होगा

ही – प्रकृति चंचल होकर अपने आवाससे बाहर निकल आयी थी। वह उसे ढूँढने निकली थी, जिसने उसे छूकर नींदसे जगा दिया था । उस समय आँखोंसे व्यक्त होकर सत्वने उसको दीपक दिखलाया था और रजने हाथसे झर-झरकर पथको पुष्पमय बना दिया था।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

महाप्रलय तभी होता है जब प्रकृति (जीव) – अज्ञान (जड़ता) एवं चिदाभासके संयोगसे उत्पन्न मायाकार्य अपने रजोगुणी प्रवाहसे उत्पन्न सर्वक्षोभोंसे त्रस्त, थक-चूर होकर मुक्त होनेकी लालसामें शयित होनेका संकल्प कर लेती है। प्रकृतिका अज्ञान-निद्रामें अभिभूत होना ही महाप्रलय कहलाता है। उस समय ऊर्ध्व, मध्य एवं अधः –तीनों लोक (त्रिलोकी) एवं चतुर्दश भुवनसहित समग्र ब्रह्माण्ड अपने कारणोदधिमें लीन हो जाता है। इस सोयी प्रकृतिको परमात्मा श्रीकृष्णका संकल्प ही जगाता है। यह प्रकृति कोई अन्य तो है नहीं, परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णकी आत्ममाया श्रीराधाका ही त्रिगुणात्मक अज्ञानप्रधान जड पंचभूतात्मक कलेवर है। अतः श्रीकृष्ण इसे अपनी प्रेयसी ही मानते हैं। वे तो इसमें अनुस्यूत अपनी प्रिया श्रीराधाको ही देखते, अतः उसीसे बात करते हैं। उनकी दृष्टि ही सर्व राधामयी है। अतः वे कहते हैं – प्रिये ! देखो न ! कालके पंखोंसे उड़कर तनिक महाप्रलयके सृष्टि-प्रारंभके पूर्वके वर्षोंकी ओर अपना ध्यान ले आओ न ! उस समय तुम प्रकृतिरूपा जीव बनी घोर निद्रा(अज्ञान) में लीन थी। उस समय तुम्हारी ऐसी दशा हो गयी थी कि तुम मुझे (सबके साक्षी, सर्वाधार परमात्माको) भी पूर्णतया विस्मरण कर गयी थी। भला, यह मैं कैसे सह पाता। उस समय विशुद्ध ज्ञानस्वरूप मुझ परमात्माने तुम्हें संस्पर्श किया। प्रिये ! यह तो

तुम भली प्रकारसे जानती हो कि मुझ ज्ञानस्वरूप परमात्माके संस्पर्श (चिदाभासके संयोग)से ही प्रकृतिमें सृजन संभव है। बस, मेरे (ज्ञानके) किञ्चित् संस्पर्शने तुझ प्रकृतिको निद्रासे (घोर अज्ञानान्धकारसे) जगा दिया। तुम मुझ जगानेवाले परमात्माको ढूँढने चली। सत्व, जो तुम्हारे नेत्रोंमें ही नित्य निवास करता था, उस समय नेत्रोंसे बाहर आ गया, और उसने निर्गत होकर तुम्हें दीपक दिखाया। परन्तु वह तो प्रकाशमय ही था, उसमें क्रियाशीलता, गति तो थी नहीं। खोजके लिये तो गति (रजोगुण)की आवश्यकता थी। अतः तुम्हारे हाथोंमें नित्य निवास करनेवाले रजोगुणने प्रकट होकर तुम्हें गति दी, साधना कर्म करनेको उत्सुक कर दिया। प्रिये ! तुम प्रकृतिरूप बनी उस समय सतोगुणके प्रकाश और रजोगुणकी क्रियाशक्ति लेकर मुझे खोजने चल पड़ी। मुझे खोजनेकी साधनाका पथ तो सुखमय होना स्वाभाविक ही था। अतः उस पथमें रजोगुण द्वारा पद-पदपर तुम्हें फूल बिछाये मिले।

।।५४।।

*दूर कुछ चलकर तथा बैठी कहीं अभिसारसे*
*श्रान्त, अँगड़ाई लगी लेने, पलककी ओटसे*
*हो उपस्थित, अंकमें तमने उसे भर लाड़से*
*पोंछकर मुख, था सुलाया, था बचाया शोकसे ।।*

कुछ ही दूर चलकर, अभिसारके परिश्रमसे थककर प्रकृति बैठी थी, बैठकर अँगड़ाई लेने लग गयी थी। उसी समय पलककी ओटसे चुपचाप उपस्थित होकर, अंकमें भरकर तमने उससे लाड लड़ाना प्रारंभ किया था, उसका मुख पोंछकर उसे सुला दिया था उसने और इस प्रकार उसको शोक-संतापसे बचा लिया था ।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

मैं तुमसे दूर तो सर्वथा ही नहीं था। साक्षीरूपसे तुम्हारे अणु-अणुमें मैं निहित था ही, वस्तुतः तुम्हे अपनी गोदमें ही लिये था, किन्तु प्रिये ! मैं किसी साधनागत पुष्ट अहंकारसे तो प्राप्त हो नहीं सकता था। साधनाकर्म करते-करते जब कोई थककर मेरी शरणागति ग्रहण करता है, तभी मैं भले ही किसीके पावन दृष्टिपथमें आऊँ। अस्तु प्रिये ! अज्ञानप्रधान आभासमयी वह प्रकृति अपने रजोगुणका बल लेकर एवं सतोगुणके प्रकाशमें मुझे ढूँढते-ढूँढते थक गयी। हाँ, इसी मध्य उसने मुझसे मानसिक संयोग (अभिसार) अवश्य सम्पादित कर लिया। और इस मानसिक ध्यानजन्य मिलन (अभिसार)से वह पूरी थक चुकी थी। ध्यान भी कर्म होनेसे उसके लिये परिश्रम ही तो था। उसका रजोगुण तो निरस्त हो ही गया था। उसने अपनी पलकोंमें निहित तमोगुणको बाहर आनेका संकेत कर दिया। तमोगुण प्रकट हुआ और उसने अस्तमित रजोमयी प्रकृतिको पहले तन्द्रामें भर दिया। अर्थात् तमोगुणने उसका लाड लडाना प्रारम्भ कर दिया। फिर उसके मुखपर सत्वकी क्षीण-सी आभा, किञ्चित्-सी तन्द्राजनित जाग्रतिकी लेशमात्र आभा शेष थी, उसे भी पौंछकर, मिटाकर उसे पूरा तमसावृत कर लिया। इस प्रकार वह रजोगुणजन्य सारे श्रम-संतापसे पूर्णतया मुक्त हो गयी।

॥५५॥

*देखने सपना लगी वह, मिल गया पर रोषसे*
*भ्रू हुए कुंचित न भेंटी दौड़करके कण्ठसे।*
*छू चरण उसने कहा, अँगुली अड़ाकर गालसे*
*मैं प्रतीक्षामें खड़ा था पूर्व ही आगमनसे॥*

वह सपना देखने लग गयी थी – अहा, हा ! यह देखो।

प्रियतम तो मिल गये, किन्तु तुरंत ही उसकी आँखोंमें रोष भर आया, भ्रू कुञ्चित हो उठे। उसने दौड़कर प्रियतमको कण्ठसे नहीं लगाया । प्रियतमने उसके चरणोंका स्पर्श किया और उसके कपोलोंसे अपनी अँगुलीका स्पर्श कराकर उससे बोले – 'मैं तो तुम्हारे आगमनसे पूर्व ही तुम्हारी प्रतीक्षामें खडा था'।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

अब वह प्रकृति इसी तमोगुणी निद्रा एवं तन्द्राको ही मेरा मिलन मान बैठी। इसी तमोगुणकी प्रवाहजन्य सघनतामें जब थोड़ा-सा भी परिवर्तन होता, तो उस परिवर्तन-संध्यामें क्षीण सत्वके उदयसे उसमें स्वप्नाभास होने लगता। उसमें मेरी स्मृतिके चित्र उभरकर व्यक्त हो उठते। इन्हें वह मेरा मिलन मान बैठती और स्वप्निल कल्पना कर उठती–"ओह ! प्रियतम तो मिल गये। क्षीणतम सत्वके तमोगुणमें उदय होनेको ही वह भ्रान्ति और आनन्द मान बैठती। हाँ ! यह अवश्य था कि निद्रा एवं जाग्रतिके सध्याकालमें कुछ क्षणोंके लिये उसे मेरी झलक प्राप्त होती थी। वस्तुतः उसे छोड़कर मैं कहीं गया तो था ही नहीं। किन्तु इस निद्रा एवं जाग्रतिके मध्य संध्याकालके मेरे मिलनके समय भी यह मुझसे मानकर सदैव रूठी रही। मानमें भरी वह जब मेरे इस संध्याकालके आगमनको पहचान ही नहीं पायी तो दौड़कर मुझे कण्ठसे लगानेका तो प्रश्न ही कहाँ था।

परन्तु प्रिये ! तुम तो हेतुरहित प्यारके रूपमें मेरे भीतर नित्य निवास करती ही हो। तुम्हारी अकारण करुणासे संप्रेरित मैंने इसके चरणोंका संस्पर्शकर इसे जगाया। मेरे द्वारा चरणोंसे संस्पर्श किये जानेपर यह घोर तमोगुणावेशसे निवृत्त हो जागी तो अवश्य, परन्तु फिर भी इसे मेरी पूर्णानन्दमयी नित्य सन्निधिका बोध नहीं हुआ। मेरा पूर्ण प्रत्यक्ष बोध करानेके लिये मैंने इसके

कपोलोंसे अपनी अँगुलीका संस्पर्श कराया। मेरे द्वारा इसके चरणोंके संस्पर्श होनेसे इसका अज्ञान दूर हुआ और मेरी अँगुली द्वारा इसके कपोलोंके संस्पर्शसे इसे मेरा तत्वबोध, नित्य उसमें ही समाहित, संलग्न मेरी ज्ञानमयी सत्ताका बोध हो गया। उसे अब ठीक अनुभव होने लगा कि चाहे वह कितनी, कैसी ही अधम मलिन हो, वह है मुझसे नित्य संयुक्त, मिलित एवं पूर्णतया आलिंगित।

अब तो उसका सारा मान, रूठना जाता रहा। मैं तो विश्वमें अपना समग्र दृश्य तुमसे ही समावृत मानता हूँ। तुम द्रष्टा तो मैं दृश्य, और मैं द्रष्टा तो तुम दृश्य। मेरी तो यही सदैव सुदृढ़ एवं अखण्ड अनुभूति रही है। अतः मैं प्रकृतिको तुम्हारा ही स्वरूप मानकर उससे बोल उठा–"प्रिये ! मैं तो तुम्हारे अज्ञानसे जगनेके (आगमनके) पूर्व ही तुम्हारी आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था।"

।।५६।।

*बात उसकी सत्य थी, अतएव विरहित-मानसे*
*हो लगी सुनने वचन उसके मधुर अवधानसे।*
*बंद दृग सुस्थिर हुए अब रूप निरुपम भारसे*
*प्राणगत वे प्राण भी प्रियमें मिले बन एक-से।।*

प्रियतमकी बात सत्य थी । प्रकृतिका मान टूट गया, वह बडे ध्यानसे, प्रियतमकी मधुर वाणीको सुनने लगी । इतनेमें प्रियतमका निरुपम रूप उसकी आँखोंके अन्तरालसे जादू करने लग गया – उसके दृग बंद हो गये, सुस्थिर हो गये । और तो क्या, घ्राणसे निस्सरित होनेवाले प्राण भी प्रियतममें जाकर मिल गये – एकमेक बन गये दोनोंके प्राण ।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

अब तो उसने निस्सन्देह मेरी उक्तिकी सत्यताको स्वीकार

कर लिया। उसका मान भंग होगया। वह मेरी वाणीकी मधुरतामें डूब गयी। बस ! जैसे ही वह मेरी ओर सर्वेन्द्रियसे उन्मुख हुई उसके हृदयमें मेरा निरुपम रूप प्रकट हो गया। मेरे अलौकिक रूपकी छटा और उसके आकर्षणसे मुग्ध हो उसने अपना सब बाह्यावेश निवृत्त कर लिया। अपने बाहरके नयनोंको मूँद वह अन्तर्मुखी हो उठी। उसकी बहिरिन्द्रियोंका विषयगत आकर्षण ही समाप्त हो गया। इन्द्रियोंके द्वारा चंचल किया गया उसका मन जो विषयोंके पीछे अबतक भाग रहा था, अन्तर्मुखी होनेसे सुस्थिर हो गया। प्राण और मन स्वाभाविक ही एक दूसरेसे जुड़े रहते ही हैं। अतः मनके निगृहीत होते ही प्राण बिचारे कहाँ जाते ? मन ही मनमोहनसे जब युक्त हो गया तो प्राणोंको भी पूर्ण रसनिधान अपने प्रेमास्पदसे एकात्म होना ही था। अतः जैसे बिन्दु सिन्धुसे एक हो जाती है, उसके प्राण मेरे प्राण ही हो गये।

।।५७।।

*बंकिमा, एकाग्रता, निस्पन्दता प्राणेशसे*
*प्राणकी एकात्मता उसमें हुई जो रागसे*
*थी मिली उसको वहींसे, नृपसुताके पाससे,*
*भौंहसे, श्रुतिसे, नयनसे और नासा-श्वाससे।।*

इस प्रकार एक अ ुत बंकिमा, अप्रतिम एकाग्रता, निरुपम निस्पन्दता और अपने प्राणेश्वरसे प्राणकी उत्कृष्टतम एकात्मता – जो अचानक रागके बढ़ते हुए प्रवाहके कारण उसमें आविर्भूत हो गयी थी, ये सब-की-सब चीजें, अहा ! उसे तुम वृषभानुनृपनन्दिनीसे, तुमसे, तुमसे ही प्राप्त हुई थीं, तुम्हारी भौंहोंसे, तुम्हारे श्रुतियुगलसे, तुम्हारे नयन-सरोरुहोंसे, तुम्हारे नासाश्वाससे ही उसे यह अप्रतिम दान मिला था भला !

## (तात्विक विवेचन-विस्तार)

प्रिये ! मैं यह अनुभवकर चकित था कि मानके समय जो उसमें (मानजन्य) बंकिमाका उदय हुआ था, वह दान उसे तेरी भौहोंसे ही मिला था, उसमें जो अन्तर्मुखताजन्य एकाग्रता प्रकट हुई थी, वह तुम्हारी युगल श्रवणेन्द्रियोंसे उसे दानरूपमें प्राप्ति हुई थी; और उसमें जो निरुपम निस्पन्दता व्यक्त हुई थी वह तुम्हारे नयन-युगलसे और अपने प्राणेश्वर मुझसे उसमें जो उत्कृष्टतम एकात्मता हुई थी, वह उसे तुम्हारे नासा-श्वाससे अप्रतिम दानके रूपमें मिली थी।

।।५८।।

*विश्वका होकर विलय जब था अँधेरा आ भरा,*
*जीवका वह नित्य सी भी अहं मानो मरा,*
*प्राज्ञ-तैजस रूपमें मिल-मिल बना था बावरा,*
*मित्र उसका एक था पर साथ सोना-सा खरा।।*

प्राणेश्वरि ! सुनो ! महाप्रलयकी बेला थी । सब ओर अंधकार भरा था। जीवका नित्यसंगी उसकी अहंता मानो मर-सी गयी थी । जब चेतनताका यत्किञ्चित् विकास होता, तब भी वह विक्षिप्त-सा ही बना रहता । कभी प्राज्ञमें मिलकर, कभी तेजससे एकात्मता स्थापितकर वह कुछ-का-कुछ बनता जा रहा था । उस समय उसका एक मित्र अवश्य ही उसके साथ था – खरे सोने के सदृश था वह मित्र ।

## (तात्विक विवेचन– विस्तार)

शास्त्रोंमें चार प्रकारके प्रलयका वर्णन आता है। जगत्के कालमानमें एक हजार चतुर्युगी अर्थात् ४३,२०,००० वर्ष व्यतीत हो जानेपर ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीका एक दिन समाप्त होता है। कलि, द्वापर, त्रेता एवं सत्ययुग – चारों युगोंके कालको एक चतुर्युगी
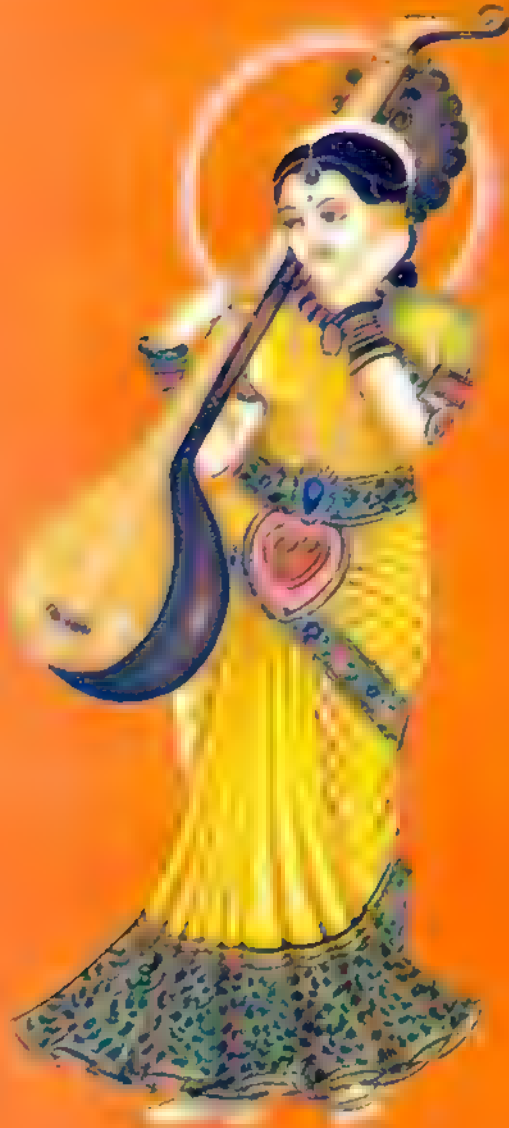
सखी श्रीतुङ्गविद्याजी

कहा जाता है। कलियुग चार लाख बत्तीस हजार वर्षका एवं इसके पश्चात् कलिसे द्वापर दुगुना, त्रेता तिगुना, एवं सत्ययुग चौगुना होता है। इस प्रकार ब्रह्माजीकी जब रात्रि प्रारंभ होती है तो प्रलय होता है। इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। यह नैमित्तिक प्रलय भी लौकिक गणनानुसार ४३,२०,००० वर्षका ही होता है। ब्रह्माजीकी आयुके सौ वर्ष व्यतीत होनेपर महाप्रलय होता है। पू. गुरुदेव इस चौपदेमें महाप्रलयकी बात कह रहे हैं। नैमित्तिक प्रलयमें तो ब्रह्माजी विश्वको अपने अन्दर लीन भर करते हैं, और सो जाते हैं, किन्तु महाप्रलयमें तो महत्तत्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा – ये सातों प्रकृतियाँ ही अपने कारण मूल प्रकृतिमें लीन हो जाती हैं। इसको प्राकृतिक प्रलय भी कहा जाता है।

इस प्राकृतिक प्रलयके समय जल पृथ्वीके विशेष गुण गन्धको ग्रस लेता है। पृथ्वी जलमें घुलमिलकर लीन हो जाती है। यह जलरूप ही बन जाती है। इस प्रकार पृथ्वीका प्रलय हो जाता है। तब जलके गुण रसको तेज तत्व ग्रस लेता है। इस प्रकार पृथ्वी और जल जाज्वल्यमान तेजपिण्ड बन जाते हैं। फिर तेज गुणको वायु अपनेमे लीन कर लेता है। और तब वायु भी शून्य आकाशमें मिलकर शून्य हो जाता है। शून्य तामस अहकारमें मिल जाता है। अहकार महत्तत्वमें एव महत्तत्व अपने गुण सत्त्वमें लीन हो जाता है। तब मूल अव्यक्त प्रकृति सत्वादि गुणोको भी ग्रस लेती है। उस समय जगत्का मूल कारण प्रकृति ही शेष रहती है। पू.गुरुदेव इसी अवस्थाका वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस समय जीवका नित्य संगी अहंकार भी मानो मर जाता है। उस समय यह अहकार कभी तो पाज्ञावस्थामें घोर सुषुप्तिजन्य अन्धकारमें लीन रहता है, अथवा किञ्चित् स्फुरणा होती है तो तैजस् अवस्थामें स्वप्निल -सा रहता है। अव्यक्त प्रकृतिके रूपमें एकमेक

यह अहं – जैसे कभी आकाशमें बादल होते हैं और कभी नहीं – इसी प्रकार जब यत्किञ्चित् चेतनाका विकास होता है तो कभी अव्यक्तमें स्फुरित होता है और कभी घोर निद्रामें सो जाता है। यही इसकी प्राज्ञ (सुषुप्त) एवं तैजस् (स्वप्नमयी) अवस्था है। इस अवस्थामें भी इस अहंकारका मित्र परमात्मा जो सोने-सा खरा है, इसका साथ नहीं छोड़ता। वस्तुतः यह अहंकार अपने अधिष्ठान परमात्मासे भिन्न कोई पृथक् वस्तु नहीं है। कोई चाहे भी तो आत्मासे भिन्न रूपमें इसका अणुमात्र भी निरूपण नहीं कर सकता। इसकी पृथक् सत्ता यदि देखी भी जाय तो यह भी चिद् रूप आत्माके समान स्वयंप्रकाश ही तो होगा और ऐसी स्थितिमें अहं और आत्मा दो नाम भले ही रख लो, तत्व तो एकरूप ही सिद्ध होगा।

पू.गुरुदेव इसीलिये यहाँ अहंकारके मित्रको सोने-सा खरा कहते हैं। जैसे व्यवहारमें मनुष्य एक ही सोनेको अनेकों रूपोंमें गढ-गलाकर तैयार कर लेता है एवं उसके वह कंगन, कुण्डल, कडा आदि अनेक नाम रख लेता है। किन्तु वे कंगन, कुण्डल, कड़े आदि स्वर्णसे भिन्न कहीं कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार अहंकार परात्पर परमात्मा ही होता है। भक्तिभावसे ही उसे परमात्माका मित्र यहाँ कहा गया है। वैसे अहंकार मात्र परमात्मामें उपाधिभर है। तत्वतः तो परमात्मा-ही-परमात्मा है। इसीसे सोने-सा खरा उसका मित्र परमात्मा ही उस समय भी उसके साथ रहता है।

॥५९॥

*उस अमाके नील अंचलमें छिपा विश्वास था*
*आ मिलेगी ही उषा, उसको तनिक संशय न था।*
*ओठ गालोंपर अतः जो फुल्लताका चिह्न था,*
*भाल था प्रतिबिम्ब उन अधरों-कपोलोंका तथा॥*

हृदयेश्वरि ! सच्ची बात है, सर्वत्र अँधेरा-ही-अँधेरा होनेपर भी उस अमाके नीले अंचलमें छिपाहुआ विश्वास उसका साथ न छोड़ सका था। खरे मित्रकी भाँति उसके प्राणोंमें यह विश्वास ही नवीन-नवीन उल्लासका सृजन कर देता था – अरे ! अँधेरा निश्चित ही मिट जायेगा, उषा निश्चय ही उसका स्वागत करने आयेगी ही। उसके परम सखा विश्वासमें तनिक भी संशयकी छाया-की-छायातक नहीं थी भला ! इसीलिये उसके होंठपर, गालोपर जो फुल्लता नाच उठती थी, स्पष्ट दीख जाते थे फुल्लताके चिह्न – यह सब सचमुच तुम्हारे अधरों, कपोलोंकी विकसित फुल्लताका ही प्रतिबिम्बमात्र था, प्राणेश्वरि !

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

यद्यपि उस कालमें दृश्यरूपमें अहंकारके सम्मुख अन्धकार-ही-अन्धकार व्याप्त था, किन्तु उसे इस घोर कालरात्रिरूपा अमासे कहीं कोई भय नहीं था। उसके हृदयमें सुदृढ़ विश्वास था कि उसका जो नित्य संगी परमात्मा उसके साथ है, वह पूर्ण, प्रकाशस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। उस परमात्माकी आनन्द एवं प्रकाशस्वरूपताकी स्मृतिमें, साथ ही उसे अपना सुहृद, नित्यका साथी समझ अहंकार नवीन-नवीन उल्लाससे क्षण-क्षणमें भर उठता था। वह सोचने लगता –" दृश्य तो परिवर्तनशील क्षणभगुर होता ही है। वह एकरस सदैव नहीं रह सकता। आज अँधेरा है तो कल प्रकाश होगा ही। उषा सुन्दरी इस निशाके पश्चात् अवश्य ही उसका स्वागत करेगी।"उसके विश्वासमें कहीं कोई सन्देहकी लेशमात्र भी छाया नहीं थी। इसलिये उसके होठोंपर कपोलोंपर प्रफुल्लता नाच उठती थी। श्रीकृष्ण कहते हैं – हे प्राणेश्वरी ! उस समय इस अहंकारकी प्रफुल्लताके मूल उद्गमरूपमें मुझे तुम्हारे कपोलों एवं अधरोंपर नित्य अखण्डरूपसे विकसित

रहनेवाली प्रफुल्लताकी छाया ही दृष्टिगोचर हो रही थी। इस अहंकारको यह तुम्हारा अप्रतिम दान था।

॥६०॥

*कौन मनसिज-सा खड़ा था कौन थी रति-सी अभी*
*लिप्त इस संकल्पसे थे क्षुब्ध देवी-देव भी।*
*कामका ध्वज थे लिये अणिमादि-साधक-सिद्ध भी*
*है नहीं यद्यपि कहीं कमनीयताका लेश भी॥*

अहो ! जीवनकी कैसी भ्रान्त दशा होती है ! क्या-से-क्या वह सोच लेता है । प्राणेश्वरि ! तनिक सोचकर देखो – कोई सुन्दर युवक खडा है, कोई सुन्दर युवती खडी दीख गयी । बस, भ्रान्त जीव भूल जाता है, इतनेमें ही अपनेको, अपने स्वरूपको । सोचने लगता है – अभी यहाँ कौनसा व्यक्ति कामदेवकी भाँति सुन्दर खड़ा था ? कौन था वह ! और वह जो अभी युवती थी, वह कौन थी ? रतिके समान सुन्दरी थी वह ! जीवन इस भाँति सकल्प करके क्षुब्ध हो उठता है, प्राणोंकी रानी ! अभी-अभी तुम्हारे अवतरणसे पहले प्रायः सबकी दशा ऐसी ही थी, देवी-देवता भी इस संकल्पमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त क्षुब्ध हो रहे थे । कामकी ध्वजा लिये, अणिमादि साधक भी, सिद्धतक भी चचल हुए घूम रहे थे – यद्यपि यहाँ कमनीयताकी गन्धतक भी नहीं है । लेश मात्र भी, कहीं भी सौन्दर्यकी कोई भी सत्ता नहीं है। तब भी इस प्रकारकी आँधीमें सभी बह रहे थे ।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

इस चौपदेमें कामान्धताका वर्णन है। यह अन्धता भी विलक्षण है। ससारमे अन्धता रोग होनेपर कुछ नहीं दीखता। अन्धकार-ही-अन्धकार अन्धे व्यक्तिका दृश्य होता है। किन्तु कामान्ध व्यक्तिको मलिनतम वस्तु सुन्दर चित्ताकर्षक अनुभव होती है।

मैंने सुना है, पुष्कर तीर्थमें पहले एक महात्मा रहते थे। वे प्रायः लम्बे-लम्बे दीर्घकालिक उपवास किया करते थे। ऐसा नहीं कि किसी विशेष पर्व एकादशी-पूर्णिमादिको ही वे उपवास रखते हों। अकस्मात् ही वे घोषणा कर देते कि आजसे हमारा उपवास है, और फिर तीन-चार-पाँच और कभी-कभी तो सात दिन-आठ दिन वे कुछ भी आहार नहीं लेते। वे किसीको भी अपने उपवासका हेतु नहीं बतलाते थे।

एक दिवस एक साधुने जो उनका बहुत अन्तरंग था, उनसे बहुत एकान्तमें उनके उपवास करनेका हेतु पूछा। महात्माजीने जो रहस्य बताया वह भी विलक्षण था। महात्माजी कहने लगे – मैं प्रातःकाल नियमसे पुष्कर सरोवर स्नानार्थ जाता हूँ। रास्तेमें घाटके पास ही बने एक मन्दिरके आगे एक अस्सी-पचासी वर्षकी बुढ़िया भीख माँगती रहती है। वह दमाकी मरीज है और हर किसीके सम्मुख ही खाँसीमें उलझी कफ-थूक उगलती रहती है। वह रंगमें काली-कलूटी है और उसके मुखकी सभी हड्डियाँ उभरी हुई हैं। मात्र दो-चार टेढ़े-मेढे दाँत उसके मुखमें है और वे भी अतिशय मैलसे भरे है। पायरियाके कारण उसके मुखसे दुर्गन्ध आती है। किन्तु आश्चर्य है कि इसके उपरान्त भी कभी-कभी वह मुझे सुन्दर दिखने लगती है। वह मुझे आकर्षित भी कर लेती है और खाँसीमे उलझे उसे देखकर मेरा मन कभी-कभी उसे स्पर्श करनेको इतना आकुल हो जाता है कि मैं उलझी खाँसीमें उसकी सहायता करनेके बहाने उसकी पीठ सहलाने लगता हूँ।

भाई ! जिस दिन ऐसा होता है, उसी दिवससे मैं उपवास करने लगता हूँ और तबतक आहार लेना बन्द रखता हूँ जबतक वह बुढ़िया मुझे पुनः घृण्य, कुरूप और मलिन नहीं लगने लगती है। मैं उस बुढियामें रमणीयताका बोध होते ही समझ जाता हूँ

कि मुझमें कामान्धताका प्रादुर्भाव हो गया है। उसे रोकनेके लिये उपवास करके शरीरको निर्बल कर लेना ही मुझे उपाय समझमें आता है।

उपरोक्त घटनासे यही समझमें आता है कि कामान्धता मनुष्यको इस अंशमें अन्धा नहीं बनाती कि उसे कुछ भी नहीं दिखे। वह तो उसे घोर मलिनतामे सौन्दर्य एवं रमणीयताका बोध कराके मलिनतम, मृत्युमय, जड़ एवं प्राकृत देहमें बाँध देती है। वह घृण्य, रोग-शोकमय देहमें आसक्त करती है।

पू गुरुदेव इस चौपदेमें अपने परमाराध्य श्रीकृष्णके मुखसे इसी तथ्यका प्रकाश करवा रहे हैं। श्रीकृष्ण आगेकी पंक्तियोंमें कहते हैं कि इस कामके संकल्पसे मृत्युधर्मा मनुष्य ही नहीं, दिव्य तेजोमय देहधारी देवी-देवतातक क्षुब्ध हैं। जो उच्च कोटिकी तीव्र तपश्चर्या करके अणिमा-महिमादि सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे साधक और सिद्ध – दोनों कोटिके तपस्वी भी इस कामदेवसे पराजित हैं और उसकी ध्वजा अपने हाथोंमें उठाये हैं। किसीका ध्वज ग्रहण करना उसका आधिपत्य स्वीकार करना ही होता है।

॥६१॥

*हैं अहो ग्रीवा, भुजा, हृद्देश, नाभि, कमर,चरण*
*पुष्पनिर्मित,लुब्ध ऐसे दुःख करते थे वरण,*
*भूल जीवन-मूलको, उनका मिटा अब ससरण।*
*हे दयामयि ! हो प्रगट तुमने बचाया, दी शरण॥*

अहा ! देखो सही ! इसकी ग्रीवा कितनी सुन्दर है ! भुजा, हृद्देश कितने मनोहर हैं ! नाभि, कमर, चरण, सब-के-सब मानो फूलोंसे बने हैं । इस प्रकार सब-के-सब संकल्पके झंझावातमें पडकर, उससे लुब्ध होकर दु खको ही वरण कर रहे थे । दु:ख ही उनके हाथ लगता था, क्योंकि वे अपने जीवनके मूलतत्त्वको

भूल गये थे । किन्तु अहा ! अचानक उन सबका भाग्य जाग उठा। उन सबका संसरण सदाके लिए समाप्त हो गया । हे दयामयि राधे ! तुमने प्रकट होकर उनको बचा लिया, तुमने उनको शरण दे दी !

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

इस आगेके चौपदेमें श्रीकृष्ण इसी विषयको आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि कामान्ध व्यक्ति चाहे नारी हो या पुरुष हो, वे एक दूसरेके परस्पर अगों – ग्रीवा, भुजा, हृद्देश, नाभि, कमर एवं चरण आदिको इस प्रकार सुकोमल एवं मनोहर समझते-देखते हैं मानो इन मलिन अंगोका निर्माण ही रक्त-मांस-मल-मूत्रसे न होकर मनोहर पुष्पोंसे हुआ हो। कामान्ध व्यक्ति स्त्री-पुरुषोके अगोंपर लुब्ध हुआ इनकी आसक्तिवश इन देहोकी कामनामे ससारचक्रमें पडता है एव जन्म-मृत्युरुप आवागमनमें फँसकर जरा-व्याधिका घोर दु ख वरण करता रहता है। वह अपने स्वरूप परमात्माको स्मरण ही नही करता जो उसका जीवन-मूल है। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं–'हे दयामयि ! यदि तुम्हारा प्राकट्य इनके अन्त.करणमें हो जावे और ये अधम जीव यदि तुम्हारी शरण पा जावें तो निश्चय ही इनका अनादिकालीन संसारचक्रमें बार-बार आना समाप्त हो जावे।'

भगवान् श्रीकृष्णके उपरोक्त कथनका यही तात्पर्य है कि श्रीराधा मूर्त्तिमान प्रेम है, एवं प्रेमके प्राकट्यके बिना कामका नाश असभव है। तपके द्वारा रसवर्जन एव इन्द्रियोंके दमनसे काम दब तो जाता है, परन्तु उसका समूल नाश कदापि नहीं होता। इसीलिये शिव, ब्रह्मादि भी इसके द्वारा पराजित हो जाते हैं और प्राय· सभीको अनुकूल अवसर पाकर यह पराभूत कर देता है।

प्रेममें दृष्टि स्वदेहपर नहीं, भगवान्‌के सच्चिदानन्दमय

भगवदेहपर रहती है। कामका लक्ष्य ही जहाँ स्वसुख-अनुसंधान है, वहाँ प्रेमका लक्ष्य भगवदेहका भगवत्स्वरूपमय शाश्वत सुखानुसंधान है। काम जन्म-मृत्युयुक्त, कर्मजनित, किसी पाञ्चभौतिक देहकी उपलब्धि चाहता है, वहाँ प्रेम अनन्त सच्चिदानन्द विग्रहको आनन्द प्रदान करना चाहता है। प्रेमीकी दृष्टि किन्हीं प्राकृत मलिन अंगोंपर केन्द्रित नहीं होती। उसकी दृष्टि सदैव केन्द्रित रहती है सच्चिदानन्दघन दिव्य प्रेमरसविग्रह श्रीकृष्णपर। प्रेमीके प्रियतम निरतिशय रसमय, रसस्वरूप, दिव्य रसिकेन्द्रशिरोमणि भगवान् श्यामसुन्दर होते हैं। प्रेमीके चित्तका अह तो अपने प्रियतमके सौन्दर्य, माधुर्य एवं रसमे ही डूबा रहता है। वह भोग एव मोक्ष दोनोंके कल्पनाक्षेत्रसे भी अतीत चला जाता है।

यह प्रेमी यदि कहीं अपना आदर्श देखता है तो उसे श्रीराधा-रानी ही अपना सर्वांगीण आदर्श समझमें आती है। प्रेमीकी राधा कोई नारी, रमणी नहीं। प्रेमीके प्रियतम भी पुरुष रमण नहीं। वहाँ स्त्री-पुरुषका भेद ही नहीं है। प्रेमी तो नित्य निरन्तर अपने प्रियतमकी भावरूपा सर्वात्मसमर्पणमयी परम त्यागमयी आराधनाका लक्ष्य रखता है और इन सभी दिव्य गुणोंकी मूर्त्ति उसे श्रीराधा ही प्रतीत होती हैं।

श्रीराधाके दर्शन मात्रसे, उसके दिव्य त्यागमय स्वरूपके चिन्तनमात्रसे प्रेमी साधकके समस्त दुर्गुण-दुर्विचारोका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। भोगासक्ति, भोगकामना, भोगवासना, इन्द्रियतृप्तिकी इच्छा, जागतिक धन-वैभव, पद-अधिकार, यश-कीर्त्ति आदिके मनोरथ, सब प्रकारके लौकिक-पारलौकिक पदार्थ एवं परिस्थितियोकी प्राप्ति-लालसा, क्रोध, लोभ, मोह, मद ईर्ष्या, अभिमान, वैर, हिंसा, भोग-सुख, स्वर्ग-सुख, उत्तम लोक तथा सद्गतिकी तृष्णा, साधनाभिमान, भक्त्यभिमान, ज्ञानाभिमान आदि समस्त

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(पञ्चम खण्ड)

पृष्ठ संख्या
201-300
तक

प्रेम-विघ्न मात्र एक राधारानीके चिन्तनसे ही नष्ट होते हैं, क्योंकि प्रेमीको उनमें ये सब दुर्गुण लेशमात्र भी नहीं दिखते। अतः प्रेमीके हृदयमें श्रीराधारानीके प्रकट होते ही अथवा प्रेम-साधकको श्रीमती राधारानी द्वारा शरणमें लिये जाते ही उसमें केवल मधुरतम श्रीकृष्ण-सुख-दर्शनकी ही लालसा पवित्रतम भावसे जग उठती है और भगवत्सस्पर्श पानेसे उसके मन-प्राण, अंग-अवयव – सब भगवद्रूप ही हो जाते हैं। भगवद्रूप होते ही साधकका अनादि जन्म-मृत्यु रूप संसरण समाप्त हो जाता है।

।।६२।।

*जीव तुमको देखते ही, जो जगत्‌में थे भ्रमित,*
*सत्यको पाये समझ वे, ओह ! इन सुन्दर अमित*
*कण्ठ-उर-कर-उदर-कटि-पद-अंगकी छायाजनित*
*मोहमय सौन्दर्य मायामें हुआ था संक्रमित।।*

मेरे प्राणोंकी रानी ! जीव तुमको देखते ही चेत गये । जो जगत्‌में भ्रमित हो रहे थे, उनमें तुम्हें देखते ही ज्ञानका प्रकाश हो गया । सत्य क्या है, यह वे समझ गये। उनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया – ओह ! अनन्त अपरिसीम सौन्दर्यके पुञ्ज तुम्हारे कण्ठदेशकी, तुम्हारे उरःस्थलकी, तुम्हारे करयुग्मकी, उदरदेश, कटितट, चरणसरोरुह एवं शेष अंगोंकी छायासे ही मोहमय सौन्दर्यकी भ्रान्ति मायाकी वस्तुओंमें हो रही थी । तुम्हारे श्रीअंगोंका सौन्दर्य ही, सौन्दर्यकी छाया-की-छाया ही मायामें सक्रमित हो गयी थी और उन सत्ताहीन मायाकी वस्तुओंमें सुन्दरताकी भ्रान्ति उत्पन्न कर दे रही थी ।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

इस चौपदेमें श्रीकृष्ण बहुत ही तात्विक बात कह रहे हैं। वे कहते हैं कि जबतक जगत्‌में भ्रमित जीव श्रीराधारानीका दर्शन

नहीं कर लेता, उसे यह ज्ञान ही नहीं होता कि संसारमे जो, जहाँ, जैसा भी सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, रमणीयता, सुकोमलता एवं सद्गुण हैं, उनका उद्गमस्थल कहाँ है ? श्रीराधारानीके दर्शनोंके पश्चात् ही मनुष्यको यह तत्व स्पष्टतया उजागर होता है कि यह समस्त जड़-चेतन रूप विश्व भगवती श्रीराधारानी और उनकी सन्धिनी एवं चिच्छक्तियोका प्रतिबिम्ब मात्र है। यह विश्व मायाकी डोरसे बँधा इसीलिये नाच रहा है, क्योंकि श्रीराधारानी अपनी अनन्त भाव-शक्तियों – गोपियोंके साथ अपने प्रियतमके प्रेम-संकेतपर रास-नृत्य कर रही हैं। इन श्रीमती राधारानीके साथ उनके संकेतपर स्वयं भगवान् श्रीहरि भी, जो समस्त जड़-चेतनको अपनी मायाकी डोरसे नाथे नचा रहे हैं, करताल बजाते नाच रहे हैं। श्रीराधाकृष्णके नृत्यकी छाया पडनेसे ही विश्वमें यह समग्र गतिशीलता एव चाञ्चल्य है। इन गोपदेवियोंकी इन्द्रियाँ – जो भगवान् श्रीकृष्णको अपने भीतर भरा रखती हैं तथा भगवानका नित्य संस्पर्श पाकर कृतकृत्य एवं परम सुन्दर बन गयी हैं – इनकी छायासे ही जगत्के प्राणियोंकी समस्त इन्द्रियोंमें सौन्दर्य, आकर्षण, सरसता एवं रमणीयताका संचार हो रहा है। इन भगवन्मयी गोपियोंकी, भगवान्को अपने भीतर बसाकर रखनेवाली मन-बुद्धिकी छायासे ही सम्पूर्ण विश्वमें मन-बुद्धिकी चंचल सत्ता क्रियाशील हो रही है। इन गोपरामाओके नेत्रकमलोंकी, जिनमें मदनका मद हरण करने वाले स्वयं भगवान्  मधुर मधुकर बनकर नित्य बसे रहते हैं, छायासे ही सम्पूर्ण जगत्में नेत्रेन्द्रियोंकी सत्ता और सौन्दर्य है। इन गोपियोंकी घ्राणेन्द्रियोंकी छायासे सम्पूर्ण जड-चेतनमें नासा-इन्द्रिय एवं सूँघनेकी शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ है। इन श्रीराधारानीकी रसनेन्द्रियकी छायासे ही सम्पूर्ण विश्वमें रसनेन्द्रियकी सत्ता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि

श्रीराधारानीके दर्शन करते ही जीवका अज्ञान-तिमिर दूर हो जाता है और उसे स्पष्ट अनुभव हो जाता है कि यहाँ मायाजगत्में नर-नारीके कण्ठ, वक्षोज, हाथ, पेट एवं कटिप्रदेश आदि अंगोंमें जो मोहमय सौन्दर्य अनुभव हो रहा है वह सब इन श्रीराधाके ही अंगोंकी छायाके संक्रमणसे ही अनुभवमें आ रहा है।

## सारिका वदति

॥६३॥

*प्रियतम हो गद्गद गये, होकर पुलकित-गात*
*क्षण कुछ रुककर ही सके वे कह अग्रिम बात ॥*

सारिका इतना कहकर, शुककी ओर दृष्टि डालकर कुछ रुककर बोली – अहो ! कीर ! इतना कहते-कहते प्रियतम गद्गद हो गये, उनका शरीर पुलकित हो गया, वाणी रुद्ध हो गयी, कुछ क्षणतक वे बोलना स्थगित कर गभीर मुद्रामें निस्पन्द अवस्थित रहे, कुछ ठहरकर ही आगेकी बात बतलानेमें समर्थ हुए । अस्तु,

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

श्रीसारिका कहती है कि "अपनी प्रियाके अपूर्व सौन्दर्यके स्मरण मात्रसे सनातन ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, विश्वात्मा, विश्वातीत भगवान् श्रीकृष्ण पुलकित हो जाते हैं। वे वाणीके गद्गद् होजानेसे कुछ क्षण बोल नहीं पाते।" सारिकाकी इस उक्तिपर यहाँ कोई शंका कर सकता है कि श्रीकृष्ण ही जो लोकोंके अविनाशी उत्पत्तिस्थान हैं, चराचर विश्वकी उत्पत्ति ही जिनके द्वारा हुई है, जो अव्यक्त प्रकृतिके सनातन कर्त्ता है, अच्युत हैं, सर्वभूतोंसे श्रेष्ठतम और पूज्यतम हैं, ईश्वरोंके ईश्वर हैं, जो महेश्वर एवं परब्रह्म कहलाते हैं – वे भी किसी अपनेसे इतर अन्य सत्ताके

सौन्दर्यका स्मरण मात्र करके पुलकित हो जावें, जो सच्चिदानन्द, सान्द्रांग हैं, वे अपनेसे किसी पृथक् सत्ताको देखकर आनन्दित हो उठे – यह बात समझमे नहीं बैठती।

वस्तुतः यह शंका उन्हींमें उठती है जो श्रीराधारानीके प्रेममय रूपतत्त्वको जानते नहीं हैं। यह सत्य है कि आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे त्रिभुवनको आनन्द प्राप्त होता है, वे सच्चिदानन्द सान्द्रांग हैं, उनका माधुर्य असमोर्ध्व है और उनका रूप कोटि-कोटि कामदेवोके सौन्दर्यपर विजय प्राप्त करनेवाला है। परन्तु श्रीराधारानीके सम्बन्धमे सत्य यही है कि वे श्रीकृष्णको भी आनन्दित करनेवाली उनकी ह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्णके नेत्र श्रीराधाके अप्रतिम रूप-सौन्दर्यका दर्शन करके ही शीतल होते हैं, यह सत्य है कि श्रीकृष्णकी कलित-ललित वशी-ध्वनि चतुर्दश भुवनोको आकर्षित करती है, परन्तु श्रीकृष्णके कान श्रीराधाके वाक्य-सुधा-पानसे ही तृप्त होते हैं। श्रीकृष्णके अग-गन्धसे जगत् सुगन्धित होता है, परन्तु श्रीकृष्णके प्राण तथा घ्राण श्रीराधाके ही अग-सुगन्धिके नित्य लोभी बने रहते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् रसरूप रसराजशिरोमणि हैं, यह सारा जगत् श्रीकृष्णके रससे सुरसित है, परन्तु श्रीकृष्ण अपनी प्रिया श्रीमती राधारानीके अधररसके वशीभूत हैं। श्रीकृष्णका स्पर्श कोटि-कोटि शशांक-सुशीतल है किन्तु श्रीकृष्णक अग श्रीराधारानीके ही अगोसे सुशीतलता प्राप्त करते हैं। श्रीराधाकी सेवाके द्वारा ही प्रियतम श्रीकृष्णको अपार आनन्द अनुभव होता है। श्रीराधा श्रीकृष्णको सुख देनेवाली एक अपार एव अगाध प्रवहमाना स्रोतस्विनी सदृश हैं।

॥६४॥

*उस अनोखे रूपकी ही ऊर्मिमें बहती हुई*
*आ किनारेपर लगी मैया वहाँ विस्मित हुई,*

*और थपकाकर, कलेजेपर मुझे रखती हुई*
*छू चिबुक अपनी सखीसे कह उठी हँसती हुई।।*

प्राणवल्लभे ! तुम्हारे उस रूपकी अनोखी लहरोंमें ही बहती हुई मेरी मैया किनारेपर आ लगी । उसका कण-कण विस्मयसे परिपूर्ण था । फिर मुझे थपकाकर, अपने कलेजेपर रखकर, तुम्हारी मैया कीर्तिदा महारानीके चिबुकको छूकर हँसती हुई उनसे बोल उठी – तुम्हारी मैया और मेरी मैया, दोनों सखी जो ठहरीं । अस्तु,

।।६५।।

*'है, बहिन ! सुस्मरण क्या घटना सुता-रवि-घाटकी,*
*पर्व था अक्षयतृतीयाका, खड़ी थी तुम थकी ।*
*था नहीं स्वीकार तुमको यान चढ़ना पालकी*
*तुष्टि भागुरिकी अपेक्षित थी तथा ऋषि गर्गकी।।*

मेरी मैयाने कहा – क्या उस घटनाका तुम्हें स्मरण है बहिन ? कलिन्दनन्दिनीके घाटपर वह घटना घटी थी। उस दिन अक्षयतृतीयाका पुनीत पर्व लग रहा था । तुम थककर खड़ी हो गयी थीं । तुमको पालकीपर चढकर चलना स्वीकार नहीं था । मन-ही-मन तुम सोच रही थीं – 'महर्षि भागुरि तथा गर्ग ऋषिकी तुष्टि तो उनके पास पैदल चलकर जानेसे ही होगी।' वे दोनों तुमपर प्रसन्न रहें – मात्र इतना-सा ही तुम्हें अपेक्षित था ।

।।६६।।

*कोस नौ पैदल चली थी इसलिये, मैं साथ थी,*
*और कोई था नहीं, संयोगकी ही बात थी।*
*भानुपुर, गोपेशपुरकी गोपियोंकी भीड़ थी*
*जो हुई, मिटकर बनी शैवालिनी अब मूक थी।।*

इसीलिये उस दिन तुम नौ कोस पैदल चलकर आयी

थीं। मैं निरन्तर तुम्हारे साथ थी । संयोगकी बात, और कोई भी साथ नहीं चल पायी। उस दिन भानुपुर एवं नन्दग्रामकी गोपियोंकी अपार भीड़ थी । पर अब सब भीड छँटकर यमुनाका तटदेश शान्त हो चुका था । जहाँ हम दोनों खड़ी थीं, वहाँ शैवालिनीकी धारा निस्पन्द-सी होकर बह रही थी ।

।।६७।।

*खींचकर तुमने लगाया प्रेमसे मुझको गले,*
*बोलने एवं लगी यह हाथमें जल-पुष्प ले*
*पौर्णमासी भगवतीके वचन अविचल हैं, भले*
*शेष भी डिगकर हटें, गिरि मेरुका गौरव टले।।*

उसी समय कीर्तिदा बहिन ! तुमने मुझको खींचकर अपने गलेसे लगा लिया था। हाथमें जल और फूल लेकर तुम इस प्रकार बोलने लग गयीं – नन्दरानी ! भगवती पौर्णमासीके वचन सर्वथा अविचल हैं । शेषनाग भले ही डिगकर हिल उठे, मेरु पर्वत भी हिल जाय, पर पौर्णमासी भगवतीके मुखसे निकले वचन तो अविचल ही रहेंगे ।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

ब्रजलीलामें सहयोग करनेके लिये भगवती पौर्णमासीके रूपमें भगवान्‌की अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया शक्ति प्रकट होकर ब्रजमें निवास करती हैं। इनके साथ सदैव हँसमुख मधुमगल नामक ब्राह्मणकुमार रहता है। देवीका ब्रजमें अत्यधिक आदर है।

इनके एवं कुमारके जीवनके सम्बन्धमें ब्रजवासियोंको बहुत ही कम परिचय प्राप्त है। जिस पावन दिवस इनका ब्रजमें पदार्पण होता है, उस दिवस पूछनेपर पुरवासियोंको इन्होंने इतना ही बतलाया था कि "मेरा नाम पौर्णमासी है। मैं सदा काषाय

वस्त्र पहनती हूँ। बाल ब्रह्मचारिणी तपस्विनी हूँ, ज्योतिष जाननेवाली हूँ। मेरे पास जो यह बालक रहता है, यह स्नातक है। इसकी प्रकृति देवर्षि नारदके समान है। एक विशेष विद्याके प्रभावसे हम दोनोंकी आयु सदा एक-सी – इतनी ही बनी रहती है।" इससे अधिक ब्रजवासी इनके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते। इतना अवश्य है कि बृषभानुपुरमें महाराजा महीभानु एवं सुषमा दादी, रावलमें महाराजा बिन्दु और मोक्षदा नानी, बृहद्वनमें महाराज नन्दराय एवं मैया यशोदा एवं आसपासके सभी गोपावासोंके अधिपति समानभावसे जन्मदात्री माताके समान इनका आदर एवं विश्वास करते हैं।

गोपावासोंमें ये जो भी मगल-विधान, पूजाव्यवस्थाका निर्देश दे देती हैं, वह सब एकमतसे सर्वमान्य होता है। इनकी आज्ञाओंका उल्लंधन कोई नहीं करता।

इन्होंने ही सर्वप्रथम ब्रजवासियोंके सम्मुख भविष्यवाणी की थी कि ब्रजगोपोंके अधिपति नन्दरायको एक पुत्र होगा एवं वह निश्चय ही सर्व जगत्के लिये परम मंगलकारी एवं घर-घरमें आनन्ददायी होगा। इसी भविष्यवाणीका इस चौपदेमें कीर्त्तिदा मैया उल्लेख करती हुई यशोदाजीको कह रही हैं कि" बहिन नन्दरानी ! भगवती पौर्णमासीके वचन सर्वथा अविचल हैं। शेषनाग भले ही डिगकर हिल उठे, मेरु पर्वत भी हिल जाय, इन महादेवीके निकले वचन अमोघ ही रहेंगे। तुम्हारे इस गर्भमें पुत्ररत्न ही विराजित है, और मैं किसी दिन शुभ मुहूर्त्त आनेपर पुत्रीका प्रसव करूँगी।" सचमुच ही इनकी भविष्यवाणी सत्य ही निकली थी।

॥६८॥

*पुत्र ही इस गर्भमें तेरे अवस्थित है, बहिन !*
*और मैं कन्या करूँगी प्रसव आनेपर सुदिन।*

*गुप्त है इतिहास कुछ, मैं हूँ रही, बस, मास गिन,*
*ज्ञात है पतिदेवको जिनको न छू पाया बृजिन।।*

'सुनो बहिन ! तुम्हारे इस गर्भमें पुत्ररत्न ही विराजित है, और मैं किसी शुभ दिनके आनेपर कन्याका प्रसव करूँगी । इसका कुछ इतिहास बडा ही गुप्त है, बस, मैं महीना गिन रही हूँ। मेरे पतिदेव महाराज वृषभानुको पाप छू तक नहीं गया है । इसीलिये उनको तो पूरा-पूरा इस इतिहासका पता है ।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

इस चौपदेमे जिस इतिहासका संकेत मैया कीर्तिदा यशोदाजीके सम्मुख कर रही हैं, वह इतिहास यह है कि राजा नृगके पुत्र सुचन्द्रने अपनी पत्नी कलावतीके सहित घोर तपस्याकर ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त किया था कि द्वापरके अन्तमें श्रीराधा इनकी पुत्री होंगी। यह भी पुराणोंकी कथा है कि राजा हिमालयकी पत्नी मेनका एवं राजा जनककी पत्नी सुनयना और पितरोंकी मानसी कन्या कलावती तीनोंको ही आदिशक्ति योगमायाका वरदान मिला था कि वे उनके यहाँ पुत्रीरूपमें जन्म लेंगी। अतः भगवती मेनकाके पार्वती, सुनयनाके सीताजीका जन्म हुआ। पितरोकी मानसी कन्या कलावती राजा नृगके सुपुत्र सुचन्द्रको विवाही गयी। इन्होंने द्वापरके अन्तमें राजा बृषभानु एवं कीर्त्तिदाके रूपमें जन्मग्रहण किया और कीर्त्तिदाकी कोखसे श्रीराधा प्रकट हुईं। माता कीर्त्तिदा अयोनिजा सन्तान थी और महाराज विन्दुके यहाँ यज्ञसे प्रकट हुई थीं। श्रीनन्दरायजीने ही इनका विवाह बृषभानु गोपराजसे कराया था। इस विवाहकी प्रेरणा श्रीनन्दरायजीको भगवती पौर्णमासीसे ही मिली थी। श्रीराधाके जन्म लेनेकी भविष्यवाणी भी श्रीपौर्णमासीजी पूर्वतः ही कर चुकी थीं। यह सब वृत्तान्त श्रीबृषभानुजीके सम्मुख भी भगवती पौर्णमासी प्रकट कर चुकी

सखी श्रीसुदेवीजी

थीं। अतः वे सब रहस्य जानते थे।

॥६९॥

*और मैं दिनकर-तनूजा-तीरपर होकर खड़ी*
*हूँ रही संकल्प कर है, पुण्यमय अतुलित घड़ी*
*जो यहाँ श्रीदामकी भगिनी उदरमें है पड़ी,*
*जन्म ले गर्भस्थ शिशुके प्राणमें रहकर जड़ी॥'*

'अस्तु, बहिन, मैं भानुतनूजाके तीरपर खडी होकर संकल्प कर रही हूँ, यह अत्यन्त अतुल पुण्यमय वेला है, इस समयका सकल्प सत्य होगा – यहाँ मेरे उदरस्थलमें श्रीदामकी जो बहिन विराजित है, वह तुम्हारे गर्भस्थ शिशुके प्राणोसे निरन्तर जुडी रहकर ही जन्म धारण करे भला !'

॥७०॥

*घोष जय-जयका लगा क्षण उस गगनमें गूँजने,*
*हो चकित मैं और तुम दोनों लगी थीं देखने ।*
*किंतु ऊपर था न कुछ, कोई न पीछे, सामने,*
*कण्ठसे सटकर पुन: हँस-हँस लगी तुम झूलने ॥*

अचानक आकाशमे 'जय-जय' की ध्वनि उस क्षण ही गूँज उठी। उस समय बहिन कीर्तिदा ! तुम और मैं दोनों चकित हो देखने लग गयी थीं कि यह ध्वनि कहाँसे आ रही है। किन्तु न तो कोई ऊपर दीखा, न पीछेकी ओर कोई था, सामने भी कोई नहीं दीखा। फिर तो हम दोनो ही एक दूसरीके कण्ठसे लगकर, हँस-हँसकर नाचने लग गयीं ।

## सारिका वदति

॥७१॥

*उक्ति सुनते ही उठी आनन्दकी मीठी लहर,*
*हो महारानी गयीं रसमुग्ध, आया कण्ठ भर।*

*वे सकीं, बस बोल यह, सम्पूर्ण धृति एकत्रकर*
*'है यहाँ कलिका-सुमन, सखि ! सुप्त अर्भक है भ्रमर।।'*

सारिका कहने लगती है – नन्दरानीकी उक्ति सुनते ही आनन्दकी सुमधुर लहरी रानीके चारों ओर बिखर गयी । कीर्तिदा महारानी रसमुग्ध हो गयीं । उनका कण्ठ भर आया । अपना सम्पूर्ण धैर्य एकत्रितकर कीर्तिदा महारानी, बस, इतना ही बोलनेमें समर्थ हो सकीं – 'नन्दगेहिनी ! देखो ! यहाँ मेरे आगे सुमनकी कलिका पड़ी हुई है । सखी ! सत्य कह रही हूँ – तुम्हारे अंकमें जो सोया हुआ बालक है, वही इस सुमनकलिकाका भ्रमर है ।'

।।७२।।

*फिर हुए वे कृत्य, जो उस कालके अनुरूप थे,*
*बीस दिन पुर-भानु रावल-ईश मेर तात थे*
*पूर्व इसके ब्रजजनोंने जो सुने-देखे न थे,*
*स्रोत उत्सवके हुए ऐसे प्रवाहित नित्य थे ।।*

सारिका कहती ही चली गयी – इसके अनन्तर जो उस समय कृत्य होने चाहिये थे, वे सब-के-सब विधि-विधानसे सम्पन्न हुए । बीस दिनतक भानुपुर एवं रावल ग्रामके राजा ब्रजराज ही थे । इसके पूर्व व्रज-वनवासियोंने जो कभी न देखे थे, न सुने थे, ऐसे उत्सवके नवीन-नवीन स्रोत नित्य प्रवाहित हो रहे थे।

## (तात्विक विवेचन–विस्तार)

**जिज्ञासा**:- कृपया राधा-जन्म-महोत्सवपर बीस दिवसतक जो रसोच्छलन हुआ उसका एक संक्षिप्त ध्यानचित्र प्रस्तुत करें एवं जो-जो पुण्यकृत्य हुए उनकी भी शब्दसूची दें। साथ ही ***"बीस दिन पुरभान रावल-ईश मेरे तात थे"*** –इस पंक्तिका रहस्य भी समझावें।

**समाधानः**- ध्यान करें –" बृषभानु-महारानी कीर्तिदा अपने पितृगृहमें अपने पिता महाराजा रावलनरेश बिन्दुके राजमहलमें मणिमय पर्यंकमें चुपचाप निस्पन्द लेटी हैं। महामाया आदिशक्ति पराम्बाके ध्यानमें उनके नेत्र अर्धनिमीलित निस्पन्द हैं। उद्यद्दिनकर-सदृश माणिक्यमणि रक्ताभ तेजसे समग्र प्रसूतिगृह उद्भासित है। उनके नेत्रोंमें, हृदयमें, भगवतीकी ध्यानमूर्त्ति जीवन्त प्रत्यक्ष स्थित है।"

" ओह ! एक अभिनव सच्चिन्मय रस ही मानो नारी आकृति धारणकर उनके सम्मुख मणिमय सिंहासनासीन है। मरतकपर विराजित घनकृष्ण कुञ्चित केशराशिपर रत्नमय मुकुट है। परम सुन्दर तेजोमय ललाटके मध्यमें तीसरा नेत्र अर्धनिमीलित है। दोनों नेत्र आकर्ण-विलम्बी दीर्घ हैं और उनपर भौहें सुन्दर कमानकी तरह खिंची हैं। नयनोंमें मोटी-मोटी काजलकी रेखा हैं, जिनसे नेत्रोंकी शोभा द्विगुणित हो रही है। तीनों नेत्र अर्धविकसित निस्पन्द हैं।

केशचूड़ाको मणिमालाये आवृत्त किये हैं और उन सबपर अष्टमी चन्द्र अपनी चन्द्रिका छिटका रहा है। भालके ऊपर रत्नमय मुकुट है। केशराशि इतनी सघन एवं दीर्घ है कि उनका एक अंश ही चूड़ा-निबद्ध है, शेष घुँघराली लटोंके रूपमें स्कन्ध-देश एवं पीठपर लहरा रही है।

कान कमलदलोंके समान अत्यन्त सुकोमल पतले हैं, उनपर पुष्पोके तेजोमय कुण्डल हैं। ये पुष्प जगदम्बाके कदम्ब-वाटिकाके हैं। इन पुष्पोंकी अलौकिकता यही है कि ये सुकोमलतामे पुष्पोंके समान हैं किन्तु इनसे निस्सृत ज्योति रत्नोको भी तिरस्कृत कर देनेवाली है। इन ज्योतिर्मान कदम्ब पुष्पोंसे कुण्डलोंकी-सी आभा निकल रही है, वह कपोलोंपर

कस्तूरीकी चित्रकारीको दमका रही है।

लाल-लाल पतले अधर हैं, जिनके मध्य स्वच्छ दंतपंक्ति चिज्ज्योति छटा छिटका रही है। शुकचञ्चुसम नासिकामें बेसरकी अनमोल मुक्ता लटक रही है। ओठोंकी लालिमासे समन्वित यह मुक्ता माणिक्यवत् अनुभूत हो रही है। पद्मरागके वर्णकी अंगछटाके कारण उभरी ठोढी ऐसी लगती है मानों किसी अभिनव विकसित कमलके पास पद्मरागमणिखण्ड पड़ा हो। ठोढीकी आकृति परम सुष्ठु है और उसपर मसिविन्दुकी शोभा ऐसी है मानो कमलकोशके मकरन्दपानसे तृप्त हुआ कोई भ्रमर किसी पद्मखण्डपर विश्राम कर रहा हो।

अनन्त अनमोल रत्नमालाओंसे कम्बुकण्ठ आभरित है। मणिरत्नोंकी ज्योति कण्ठके चतुर्दिक् ऐसी शोभा पा रही है मानो रत्नमाला पर्वतकी परिक्रमा करती रत्नगंगा प्रवाहित हो रही हो। अति उन्नत स्कन्ध हैं। चारों भुजाओंमें पुण्ड्र, इक्षुचाप, पुष्पवाण, अंकुश एवं पाश धृत हैं। भुजाओंमें पद्मरागरत्नमयी चूड़ियोंसे कलाइयाँ भरी हैं। उनके दोनों ओर सुवर्णके मुक्ता और मरकत मणियोंसे विजडित दो अंगद हैं। बाहुओंमें बाजूबन्द शोभा पा रहे हैं। कमलदल-सी सुकोमल अंगुलियोंमें रत्नजटित अँगूठियाँ धृत हैं। अंगद, चूड़ियों, बाजूबन्द, अगुलीयकों – सभीके रत्न यद्यपि अनमोल, विलक्षण शोभामय हैं फिर भी चारों भुजाओंकी अँगुलियोंके अग्रभागमें सुशोभित बीस नखमणियोंके प्रकाशके सम्मुख इन सबकी आभा हतप्रभ है।

जगन्माता स्वर्णतारोंसे निर्मित रत्नखचित चौड़े पाटकी लाल साड़ी धारण किये है। उनके पद्मरागमणिकुम्भों-सदृश वात्सल्यपूर वक्षोजोंको गहरे नीले रंगके क्षोम वस्त्रकी कंचुकी आच्छादित किये है। इस गहरे नीले रेशमी वस्त्रके आवरणके उपरान्त भी

उसके मध्यसे उनकी रक्तकमल-सी सुन्दर कुन्दनवर्णी आभा प्रस्फुटित हो रही है।

जगन्माताके अंगों-अंगोंसे जो अनुपम सौरभका स्फोट हो रहा है, वह अतुलनीय है, समूचा सूतिकागृह उस दिव्य सौरभसे भरा है।

कीर्त्तिदाकी ध्यानवृत्ति जगन्माताके चरणोंकी दस अँगुलियोंके नखप्रकाशसे उद्भासित है और इस विलक्षण तेजसे श्रीदामा-जननी नख-शिख डूबी हैं।

बृषभानु-महारानीके पार्श्वमें ही बैठी उनकी छोटी बहिन कीर्त्तिमतीके भी नेत्र निस्पन्द हैं। अन्य समस्त परिचारिकाओंको भी एक विलक्षण भाव-समाधि लगी है।

सहसा माता कीर्त्तिदाको अनुभव होता है कि उनकी ध्यानस्थ जगन्माताकी छवि तिरोहित होकर एक परम सुन्दरी सद्य प्रसूत कन्या आकृति ग्रहणकर उनके पार्श्वमें प्रकट हो गयी है। परम दिव्य कनकगौरवर्णा पराशक्तिका कन्या रूपमें यह प्राकट्य कोई नहीं देख पाता। बस, माता कीर्त्तिदाको ही उसके प्रथम दर्शन होते हैं। कालके पंखोमें उडती वे आजके नौ माह पूर्वकी स्मृतिको अपने मानसपटलपर देखती हुई मुग्ध हो उठती हैं। मानो कोई स्वप्न हो, पूर्वकालकी सम्पूर्ण घटना उनके सम्मुख वर्तमान सरीखी प्रत्यक्ष हो उठती है।

"यह नौ माह पूर्वकी बात है। मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमीकी तिथि थी। हेमन्तकी सम्पूर्ण सम्पदासे धरणी विभूषित हो रही थी। प्रातःकालका समय था। वे उस समय अपनी कुलदेवीके मन्दिरमें अवस्थित थीं। महाराज बृषभानु द्वारा देवीकी पूजा हो, इसकी सभी पूर्व तैयारी करनेमें वे उस समय व्यस्त थीं। गत सायंकी पूजाकी कुसुमावली महादेवीकी प्रतिमाके चरण-सरोरुहोंमें बिखरी

पडी थीं, वे उन्हें उठा-उठाकर नयनों एवं मस्तकसे सलग्नकर एक ओर सुन्दर स्वर्णतारोंसे निर्मित डलियामें रखती जा रही थी। इन सभी निर्माल्य पुष्पोंको बादमें कालिन्दीमें विसर्जित किया जाना होता था। अभी महाराजा बृषभानु महादेवीकी अर्चना करनेके लिये मन्दिरमें नहीं पधारे थे। महारानी अकेली पूजाकी तैयारीमें जुटी थीं। उनका नियम ही था कि महादेवीकी पूजा-सम्पादनके कार्यमें वे किसी अन्य दासी किंवा परिजनका सहयोग कदापि नहीं लेती थीं। यह कार्य वे स्वयं अपने हाथों ही यथाशक्ति सम्पन्न करती थीं।

महारानीका आधा ध्यान तो महादेवीके आनन-सरोजके दर्शनमें निरत रहता था एव आधे ध्यानसे वे सभी सेवाकार्य सम्पादित करती जाती थीं।

महारानी कीर्तिदाको सहसा अनुभव हुआ कि महादेवी सहसा मुसका उठी हैं। अब तो उनके हाथसे सेवा-कार्य होना स्थगित हो जाता है और उनका सम्पूर्ण ध्यान भगवतीके मुसकाते आननको देखनेमें ही निरत हो जाता है। और अहो ! आश्चर्य ! महान् आश्चर्य!! उन्हें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि महादेवीका उरस्थल जैसे किसी कपाटकी तरह खुलता जा रहा है। उनके वक्षस्थलपर पहने वस्त्र परदेकी तरह दायें-बायें सरक गये और मध्यमें एक रिक्त अन्तराल हो जाता है। और तब उन्हें दिखाई पड़ता है – उस रिक्त अन्तरालमेंसे एक अत्यन्त मनोहारिणी, अनिर्वचनीय सुन्दरी, कांचनवर्णी भोली-भाली शिशु बालिका बाहर निकल आती है। वह बालिका महारानी कीर्त्तिदाके अत्यन्त निकट आ जाती है, और उनके सद्यस्नात उन्मुक्त कुन्तलोंकी एक लटको हाथमें ले लेती है। वह उस लटको हाथमे लेकर अत्यन्त मनोहारी मुसकानसे उनके मुखकी ओर देखती है और अति मधुर

यशोदा है, उसका दुग्ध पान कर लेगा। इस किशोरके द्वारा तेरी सखी यशोदाका गृह आलोकमान करनेके उपरान्त ही यह किशोरी तेरी कोखको धन्य करेगी।"

"महारानी! यह नित्य किशोर तेरी उस प्राणसखी यशोदाके प्राणोंमें समाया रहता है और इधर यह नित्यकिशोरी तेरे प्राणोंकी सार-सर्वस्व है। तुम्हारी वह प्राणसखी यशोदा एवं तुम दोनों इस बातको भूल गयी हो! अब मैं याद करा देती हूँ। तुम दोनों सखियोंकी जय हो, जय, जय, जय, नित्य जय हो!"

इतनेमें ही महारानीके मानसिक नेत्रोंमें वह भूतकालकी नौ माह पूर्व घटित हुई घटनाका चित्र तिरोहित हो जाता है और उनकी दृष्टि उस कंचनाभा बालिकापर पड़ती है, जिसका सौन्दर्य इतना निराला है कि महारानी निर्निमेष नयनोंसे उसे देखती ही रह जाती हैं। रानीके अतिरिक्त सर्वप्रथम रानीकी बहिन कीर्तिमती जान पाती हैं कि उसकी बहनने पुत्री प्रसव की है। उस कंचनवर्णी बालिकाका सौन्दर्य एवं आकर्षण ही ऐसा है कि किसीको समयोचित कर्तव्यका ज्ञान ही नहीं होता। बालिका क्रन्दन करने लगती है। सभी बालिकाका मधुर अस्फुट क्रन्दन सुनती हैं, पर न जाने क्यों वह क्रन्दन भी उन्हें अनन्त सुमधुर रागिनियोंसे भी अधिक सुरीला लगता है, वे काष्ठ पुत्तलिकाकी भाँति सभी ज्यों-की-त्यों, जहाँ-की-तहाँ खड़ी स्तम्भित रह जाती हैं। सभीके शरीरोंमें ऐसा आनन्दातिरेक है कि सबके अंग अवश हो गये हैं।

सहसा कीर्त्तिमती एक दासीको दौड़ाकर बृषभानुजीको सूचना देनेका आदेश देती हैं। इस आदेशके पश्चात् ही जैसे सभी जागरूक हो उठती हैं। सूतिकाकक्ष आनन्द-कोलाहलसे मुखरित हो उठता है। एक दासी दाई माँको बुलाने जाती है। एक दासी महाराजा विन्दु और मोक्षदारानीको सूचना देने दौड़ती है। कुछ

परिचारक शहनाई-वादकके गृह लपकते हैं। कुछ दासियाँ सम्पूर्ण रावलग्राममें सूचना देने आनन्द ध्वनि करती जा रही हैं। पुत्री होनेकी सूचना प्राप्त होते ही सर्वप्रथम महाराजा बृषभानु अपने मित्र नन्दरायको एव ब्रजराजमहिषी नन्दरानीको सूचित करने अतिशय शीघ्रगामी रथसे दूतको गोकुल ग्राम भेज देते हैं।

पुरमहिलाओंका दल भी महाराजा बिन्दुके प्रासादमें एकत्र होने लगता है। बृषभानुजी तो आज ही प्रात: बृषभानुपुरसे अपने श्वसुरालयमें पधारे थे। महाराजको भगवती महादेवी जगन्माताका पहले ही आदेश हो गया था कि जाओ, असमोर्ध्व महामहामहिमामयी स्वयं भगवान्के भी प्राणोंकी अधिदेवीका जो उनकी पुत्री बनकर आविर्भूत होने वाली हैं, स्वागत करो।

केवल महाराज ही नहीं, यह सूचना तो अन्तर्यामीके द्वारा अन्तर एवं बाह्य जगत्के जितने भी मरतकमणिस्वरूप मुनिजन थे, सभीको स्वत: मिल गयी थी। इतना ही नहीं, स्वर्लोक, पितृलोक एव नागलोकके अधिवासी भी इस सूचनासे वंचित नहीं थे। अपनी स्वत प्रेरणासे सभी जो जैसे थे, जिस वेषमें थे, ज्यों-के-त्यों रावलग्रामके अन्तरिक्षमें चले आये थे। इन सभीने एवं देवगणोंने भी अपना वेष गोप-गोपालिनियोंका बना लिया था।

अशुमालीकी किरणे व्योममें चमक रही थीं। सभीके लिये वे किरणें सुखद थीं। उस ओर धरणी पल-पलमें नवीन सुषमासे सुसज्जित होती जा रही थी। यद्यपि वर्षा ऋतुका काल था, किन्तु ब्रजवनके सभी सर-सरिता एवं निर्झरोंका जल दो घड़ी पूर्वसे ही अप्रतिम उज्ज्वल मोतीकी तरह स्वच्छ बन गया था।

शीतल सुगन्धित मन्थर समीर सब प्राणियोंको छू-छूकर मानो सबके कानोंमें धीरे-धीरे कह रहा था–देखो! क्रमशः एक-से-एक उत्तुंग रसकी लहरें इस भाव-समुद्रमें आनेवाली हैं। तुम सभी उनमें

अनन्तकालतक अवगाहन करते रहना।

आज तो काल भी समस्त शुभ गुणोंसे युक्त और परम शोभन हो गया था। आज कालकी आधार, उसकी नियन्ता महाशक्तिका प्राकट्य कालके भीतर जो होने वाला था। फिर भला उसके आनन्दकी सीमा कैसे रहती। आज तो कालने प्रत्येक ऋतुके सभी सद्गुणोंको चुन-चुनकर अपने भीतर धारण कर लिये थे। वह विलक्षणरूपसे सुसज्जित हो गया था। बसन्त ऋतुका मलय समीर, कोकिलोंका कूजन, भ्रमरोंकी गुंजार, आम्रवृक्षोंमें नवीन मौरोंका उदय, अशोक एवं चम्पाका मुक्त हास्य, वर्षाका कदम्बानिल, शरद्की स्वच्छता और प्रसन्नता, हेमन्तकी मालती, शिशिरके कुन्द कुसुम, दिवसकी कमलिनी, निशाकी कुमुदिनी, उसका शान्त भाव, सत्ययुगकी तपस्या, त्रेताका यज्ञ, द्वापरकी परिचर्या, कलियुगका नाम-गान, आदि, आदि कालके पास जो-जो भी सद्गुण थे, सभीको अपनेमें धारणकरके वह सर्वांगसुन्दर हो गया था।

आज अभिजित् नक्षत्र था। आज तो सभी नक्षत्र अपनी उग्रता, वक्रता परित्यागकरके शान्त हो रहे थे। कोई वक्रगतिसे, कोई अतिचार गतिसे, तो कोई महातिचार गतिसे – सभी अपने-अपने उच्च स्थानोमें स्थित होकर भगवत्प्रिया राधाकुमारीका अभिनन्दन करनेमें सानन्द संलग्न थे।

स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि 'जिस समय मैं किसीके भी मुखसे 'रा' अक्षर सुन लेता हूँ, उसी समय उसे अपनी उत्तम भक्ति-प्रेम दे देता हूँ, और 'धा' शब्दका उच्चारण करनेपर तो मैं अपनी प्रियतमाका नाम-श्रवण करनेके लोभसे उसके पीछे-पीछे चलने लगता हूँ।' जिन राधाके नामका इतना माहात्म्य है, उनके स्वयंके अवतीर्ण होनेपर वार, तिथि, नक्षत्र योग

आदिके परम शुभ होकर आनन्दित और कृतकृत्य होनेमें कौनसी आश्चर्यकी बात थी।

आज तो दसों दिशायें प्रसन्न थीं। कहीं भी मलिनता नहीं रह गयी थी। सभी दिक्पति परम प्रफुल्लित परमानन्दपूर्ण हृदयसे अपनी स्वामिनीके शुभागमनका अभिनन्दन करनेके लिये दिग्वधुओके साथ हाथोंमें अर्घ्यपात्र लेकर खड़े थे। भूः, भुवः, स्वः– सभी देशोंमें आनन्दकी बाढ आगयी थी। मंगलमयीके मंगल आगमनसे सर्वत्र आनन्द मंगल परिपूर्ण हो रहा था।

सर्वत्र परमानन्दमयीके शुभागमनकी आनन्दधारा बह चली। किरणमालीके रथके अश्व जब ठीक मध्य व्योममें आकर अवस्थित हुए, बस, उसी संधिपर महाराज बृषभानुकी पुत्रीका आविर्भाव हुआ।

तुमुल आनन्दध्वनिसे प्रसूतिगृह ही नहीं, समस्त प्रासाद निनादित हो उठा। पुर-महिलाओंकी भीड़के मध्यसे किसी प्रकार नन्दरानी यशोदा अपने पुत्रको लिये रास्ता बनाती, प्रसूतिकक्षतक पहुँची। यशोदा मैया जैसे ही उस कन्याको देखती हैं, उनके हृदयका समग्र संचित स्नेहरस उमड़ पड़ता है। वह अप्रतिम वात्सल्य भाव, अपने सामने कोई भी व्यवधान नहीं पाकर अश्रुबिन्दुओंके रूपमें झरने लग जाता है। भावाभिभूत नन्दरानी कभी अपने सिरको अत्यन्त नीचे झुकाकर, कभी बायीं ओर टेढा करके, कभी दाहिनी ओर घुमाकर और कभी अपने मस्तकको ऊँचा उठाकर कीर्त्तिदा-पुत्रीके सौन्दर्यका सुख लेने लगती हैं। उन्हें इस प्रकार वात्सल्य-विह्वल देखकर कीर्त्तिदा किञ्चित् मन्द-मन्द मुसका उठती है। वे प्रसूतिके कारण शिथिल हुईं, मात्र इतना ही कह पाती हैं – सखी नन्दगेहिनी ! देखो, यह मेरे पार्श्वमें जो कचनलताकी सुमनकलिका लेटी है, उसका रसलोभी श्यामभ्रमर

तुम्हारे अंकमें धृत बालक ही है। मेरी बातको किञ्चित् भी असत्य मत समझना।"

कीर्त्तिदाकी बात सुनकर यशोदाके नयनोंसे झरते अश्रुबिन्दु मालाकार बन जाते हैं। सद्यःजात बालिकाको अपनी पुत्रवधू स्वीकारती माता यशोदारानी मानो एक निर्मल मुक्ताहारकी भेंट उसे प्रथम मिलनमें ही दे बैठती हैं। सर्वोत्कृष्ट रागमयी आराधनाके उपकरण कुछ भी हों, पर नियम तो नियम ही हैं, उनका व्यतिक्रम भला माता यशोदा द्वारा कैसे होता। पुत्रवधूके प्रथम मुखदर्शनपर उनकी ओरसे उसे उपहार तो मिलना ही उचित था।

दूसरा उपहार उनके द्वारा सद्योजात बालिकाको यही मिलता है कि वे अपने अर्धनिद्रित शिशुको कीर्त्तिदा-कन्याके पार्श्वमें ही कुछ-एक क्षणोंके लिये लिटा देती हैं।

इसी समय अन्तार्जगत्से जय-जय-निनादकी तुमुलध्वनि होने लगती है। अवश्य ही यह ध्वनि गोपियोंकी भीड़के कोलाहलमें अन्य कोई नहीं सुन पाता।

गोकुलसे नन्दबाबा, उपनन्दजी एवं सभी गोप बृषभानुजीको बधाई देने पहुँच जाते हैं। " महाभाग ! आपको पुत्रीरत्नकी प्राप्ति हुई, बधाई है।" बृषभानुजीको प्रतीत होता है मानो हठात् कोई उन्हें अमृत-समुद्रमें डाल देता है। उनके चारों ओर आनन्दामृतका महासागर लहराने लगता है। वे उसमें निमग्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं आनन्द-महासिन्धुकी प्रबल तरंगें उस महासिन्धुमें आवर्त्त बना देती हैं और बृषभानुनृप उस आवर्त्तमें ब्रजराज नन्द एवं अन्य सभी समवयस्क गोपोंके साथ चक्कर लगाने लगते हैं।

उपनन्दजी एवं नन्दरायजीने आते ही सभी समयोचित व्यवस्था सँभाल ली है। रावलनरेश महाराज बिन्दुने अपना सम्पूर्ण कोषागार श्रीनन्दरायको सौंप दिया है। स्वर्ण, रत्न, आभूषण,

रजत, गोधन, दही, घृत, मधु, धान्य, वस्त्र वे जो जिसको जितना दें, जितना लुटावें, सब उनकी इच्छापर है। अनवरत बीस दिवसतक श्रीनन्दराय रावल एवं बृषभानुपुर – दोनों नगरोंके जैसे पूर्ण स्वामी हों, इस प्रकार कन्याके जन्मोत्सवकी सभी व्यवस्था कर रहे हैं।

ब्राह्मणोंको बुलानेके लिये दूत प्रस्थान कर गये हैं। तोरणद्वारके पास नगारेवालोंको समस्त ब्रजमें घोषणा करनेकी बात समझा दी गयी है। शहनाईवाले सदलबल आ पहुँचे हैं। उन्होंने मधुरातिमधुर रागिनी छेड़ दी है। रावलनरेशके प्रासादोंकी मणिमय भित्तियों, छतों और स्तम्भोंको निनादित करती वह शहनाईकी मधुर ध्वनि समस्त ब्रजपुरमें फैल रही है। ब्रजमें अनेकों बार शहनाई बजती रही हैं, शहनाईवादक भी वे ही है किन्तु आजकी शहनाई में रागिनियाँ मूर्तिमान हैं और स्वर ऐसा अपूर्व है, जिसकी तुलना गंधर्व भी नहीं कर सकते।

ब्राह्मण आ गये हैं। श्रीबृषभानु एवं ब्रजेश – दोनों स्नानकरके नवीन क्षौमवस्त्र पहने, अलंकृत होकर प्रणाम करते हैं। ब्रजेशके पार्श्वमें यशोदा मैया भी अपने लालासे ब्राह्मणोंको प्रणाम करवा रही है।

ब्राह्मणोंने आज अनमोल रत्नोंसे नवग्रह एवं मातृकाचक्र सृजन किये हैं। नान्दीमुख श्राद्धकर्म सम्पन्न होता है। फिर नन्दबाबा, यशोदा, कीर्त्तिदा एवं बृषभानुजी सूतिकागारमें आकर कन्याका विधिवत् जातकर्म संस्कार कराते हैं। जिसकी संकल्पशक्तिसे अनन्त विश्व ब्रह्माण्डोंका पलक झपकते विनाश होता है और पलक-उन्मेषसे सृजन होता है, आज उसका जातकर्म हो रहा है। हे लीला महाशक्ति ! तुम्हारी सर्वमोहनकारिणी लीलाको धन्य है। अस्तु,

ब्राह्मणोंके द्वारा 'भूस्त्वयि' इत्यादि मंत्रोंका पाठ करके

बालिकाके बिम्बविडम्बी अधरोष्ठको किञ्चित् खोलकर सुवर्णसंयुक्त अनामिका अंगुलीसे घृतका एक कण चटाया जाता है। ओह ! जिसके एक-एक रोमकूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रह्मा जिनके नियन्त्रणमें सृजनका कार्य वहन करते हैं, आज उस महादेवीका ब्रह्म-मुख-निस्सृत वेदमन्त्रोंसे संस्कार हो रहा है।

ब्राह्मणदेवोंके आचार्य महर्षि भागुरि कन्याके अधरोष्ठोंको खोलनेके लिये जैसे ही उन्हे संस्पर्श करते हैं, उसके अधरोकी बिम्ब सदृश लालिमामेंसे अचानक महर्षिको एक अद्‌भुत तेज दृष्टिगोचर होता है। ऐसे विलक्षण तेजका दर्शन महर्षि भागुरिने पहली बार ही किया है। महर्षि हतप्रभ हो जाते हैं। उनके नेत्र उस प्रखर तेजसे मुँद जाते हैं। नेत्रोंके मुँद जानेपर वह तेज उनके अन्त करणमें भी उसी प्रकार जगमगा उठता है, जैसा उन्हें बाहर दृष्टिगोचर हुआ था। शनैः-शनैः वह दिव्य तेज उनके सम्पूर्ण अस्तित्वको ही व्यावृत कर लेता है। और अरे, यह क्या ? वह बालरविके समान रक्तवर्णका तेज एक अतिशय सुन्दरी षोडशवर्षीया रमणीके रूपमें परिणत हो जाता है। महर्षिके नेत्र एकटक उस दिव्य रमणीके सौन्दर्यसे अभिभूत, स्थिर हो जाते हैं। इस रमणीके अग-अंगसे ऐसा प्रकाश झर रहा होता है मानो सहस्रों सूर्योंका एक साथ उदय हो गया हो, साथ ही वह प्रकाश इतना सुशीतल होता है मानो सहस्र चन्द्रोंकी ज्योत्स्ना भी उसके सम्मुख नगण्य हो।

उस दिव्य रमणीकी चार भुजाओंमें ऊर्ध्व आयुध, पाश, अंकुश, कुसुमबाण, एवं इक्षुचाप धृत थे। वह एक रत्नसार निर्मित सिंहासनपर विराजित थी। दिव्यातिदिव्य अतिशय मनोहर असंख्य कुमारिकायें उसपर श्वेत चामर डुला रही थीं । रत्नोंकी ज्योतिसे

सिंहासन चम-चम कर रहा था।

भागुरि उस देवीके दर्शनकर कृतकृत्य हो जाते हैं। उनके हाथ प्रार्थनातुर होकर परस्पर बँध जाते हैं। वे विस्फारित नेत्र यही समझ रहे थे कि ब्रजपुरदेवी त्रैलाक्यलक्ष्मी ही इस बालिकाके रूपमें अवतरित हुई हैं। महर्षि उनकी स्तुति करनेको शब्द ही नहीं पा रहे थे। बस, कुछ क्षण महर्षिको अपनी समग्र पुण्यराशिका फल दान करती भगवती विद्युल्लताके समान अपनी झलक दिखाकर उसी बालिकाके अधरोंमें पुनः विलीन हो जाती हैं।

भागुरि ऋषि तो इस दर्शनके पश्चात् आगेके कोई भी कर्म करानेमें असमर्थ हो जाते हैं। किन्तु अन्य ब्राह्मणोंके सहयोगसे किसी प्रकार आयुष्यक्रिया सम्पन्न होती है। किन्तु आश्चर्य है, जो भी ब्राह्मण बालिकाका 'दिवस्परि' आदि मंत्र बोलकर स्पर्श करता है, उसके समग्र अंग काँपने लगते हैं। सभी ब्राह्मण आश्चर्यमें हैं कि आजतक उन्होंने कितने ही ब्रजबालकों एवं बालिकाओंके संस्कार कराये हैं, आजतक तो ऐसी घटना नहीं घटी। किसी प्रकार भूमि अभिमंत्रित की जाती है, एवं बालिकाका अंग ब्राह्मणोंके आदेशसे उसकी मौसी पौंछती है। तत्पश्चात् बालिकाके कुञ्चित केशकलापमण्डित मस्तकसे स्पर्श कराकर 'आपो देवेषु' इत्यादि मंत्रोंके उच्चारण सहित एक जलपात्र सूतिका-पर्यंकके नीचे रक्खा जाता है। इस प्रकार कीर्त्तिकुमारीका जातकर्म-संस्कार सम्पन्न होता है।

इसी समय नन्दबाबा सभी ब्राह्मणोंको प्रत्येकको दस सहस्र गौओंका दान कर देते हैं। सभी ब्राह्मणोको कुल बीस लाख गौओंका दान उस दिवस नन्दरायजी द्वारा दिया जाता है। गायोंके सींग सुवर्णपत्रोसे मढे हैं; एव प्रत्येकके गलेमें बहुमूल्य मणियोंकी माला झूल रही है। सभी गौएँ नवप्रसूता हैं।

अब धात्री नालछेदन करने आती है। इस विचित्र सुन्दरी बालिकाको देखकर ही धात्री तो सब-कुछ ही पा जाती है, निहाल हो जाती है। धात्रीका तो बालिकाको देखते ही बाह्यज्ञान सर्वथा लुप्त-सा हो जाता है। यशोदा किसी प्रकार उसे होशमें लाती हैं परन्तु वह तो उन्मादिनी-सी प्रलाप करती हुई किसी प्रकार नालछेदनका कार्य सम्पादन करती है। वह वृषभानु महारानीसे कितना ही नेग पानेका मनोरथ करके गृहसे चली थी। परन्तु अब तो उसे कुछ भी, किसी भी वस्तुकी स्मृति ही नहीं है। वह तो गद्गद कण्ठसे सबको यही सुना रही है — 'ओहो ! कन्याके अग इतने स्वच्छ एवं तेजोमय हैं मानो वारिदविहीन स्थिर विद्युल्लता ही कीर्त्तिदाकी कोखसे प्रकटी हो, इतने उत्कृष्ट हैं मानो चन्द्रकान्तमणिके अंकुर हों, इतने मृदु हैं मानो पद्मपत्र हों, इतने स्निग्ध एवं पवित्र हैं मानो मन्दाकिनीकी फुहारें हों, इतने मंगलमय, सुरभित हैं मानो त्रैलोक्यलक्ष्मीके भालपर लगा सिन्दूर हो, इतने सुचिक्कण एवं आकर्षक हैं मानो पद्मवनके परागको सचितकर उससे किसी कलाकारने कन्यामूर्त्ति बनायी हो। धात्री तो आनन्दसिन्धुमें आपाततः निमग्न हो रही है, फिर भी यशोदा मैया बिना माँगे ही उसके गलेमें अपना अनमोल मणिमुक्ताओंका मनोहर मूल्यवान हार डाल देती हैं।

इतने सब कार्य होनेके उपरान्त यशोदारानी कीर्त्तिदाको अपनी कन्याको बड़ी ललकसे स्तनपान करानेकी अनुमति देती हैं। यशोदारानी इतनी धर्मभीरु थीं कि वे स्तनदानके पूर्व सभी शास्त्रीय संस्कार — जातकर्मादि सम्पन्न करा लेना चाहती थीं। अब धर्ममर्यादा पूरी हो चुकी थी। माता कीर्त्तिदा अत्यन्त स्नेहसे बालिकाका मुख देखती उसके जपा पुष्पके द्विदल-सदृश अधरोष्ठोंको खोलकर उसमें अपना स्तनाग्र दे देती हैं। धन्यभाग्य!

महाभाव—दिनमणि श्रीराधाबाबा

माताका वात्सल्य-रस-सुधासार रूप दुग्ध झर रहा है और अलौकिक कन्याकृति पराशक्ति अतिशय प्रेमसे और उत्कण्ठासे उसका पान कर रही हैं।

अब नन्दरायजीकी आज्ञासे अविलम्ब तिलके सात विशाल पर्वत निर्माण किये जाते हैं, उन पर्वतोंपर रत्नराशि सर्वत्र बिखेर दी जाती है। फिर इन पर्वतोंको स्वर्णतारोंसे निर्मित क्षौमवस्त्रोंसे आवृत किया जाता है, और यह पर्वत भी ब्राह्मणोंको दान कर दिये जाते हैं। नन्दरायजी जब महाराजा बृषभानुकी ओरसे इन पर्वतोंके दानका संकल्प पढ़ते हैं, उस समय आकाशसे देवध्वनि जय-जयकार कर उठती है।

अब रावलग्राम सजाया जाता है। रावलका प्रत्येक प्रासाद, प्रासादका प्रत्येक गृह, द्वार, प्रागण, कोना-कोनातक पहले चन्दन एवं केसरजलसे धोया जाता है। फिर सर्वत्र पुष्परससार (इत्र) छिडका जाता है। कोई ऐसा गृह नहीं है जहाँ सुकोमलतम पल्लवोंके बन्दनवार नहीं बँधे हों। प्रत्येक द्वारपर आम्रपल्लव-समन्वित जलपूर्ण मंगलघट रखा गया है। हरिद्रा, दूब, अक्षत, दधि और कुकुमसे प्रत्येक द्वारदेश चित्रित किया जाता है। स्थान-स्थानपर मोतियोंके चौक पूरे गये हैं।

महाराजा महीभानुजी एवं राजमाता सुखदारानी दोनों जगज्जननी पराम्बाकी सेवार्थ बृषभानुपुरमें ही थीं। वे दोनों वैसे भी सभी व्यावहारिक कार्योंसे सर्वथा उपरत ही रहते हैं। अस्तु, इस अलौकिक बालिकाके जन्मका सब वृत्तान्त उन्हें सूचित कर दिया जाता है। सभी गोपोंको दूसरे दिवस बृषभानुपुरमें बृहदुत्सव मनानेकी सूचना दे दी जाती है।

पृथ्वीकी दूरीको पार करता रावलनरेशका दूत बृषभानुपुरकी

ओर अग्रसर हो रहा है। उसकी दृष्टि बृषभानुपुरके ब्रह्मपर्वतपर है। बृषभानु-प्रासादका उत्तुंग स्वर्ण गुम्बज एवं उसपर लगी फरफराती पताका दूतके ध्यानको अपनी ओर आकृष्ट किये है। वह अपने लक्षको स्पष्ट देख रहा है कि उसे शीघ्रातिशीघ्र कहाँ पहुँचना है। प्रासादका मणिमय मंगलदीप सांध्य गगनमें अपनी किरणें फैलाने लगा है। दूतको और शीघ्र ही रावलसे चल पडना चाहिये था, किन्तु बृषभानुजीको ही उसे आज्ञा देनेमें दिवसका तृतीय पहर हो गया था। उन्हें मध्याहमें पुत्रीके प्राकट्यकी तो सूचना मिल गयी थी, परन्तु सर्वप्रथम ही यह सूचना नन्दरायजीके यहाँ गोकुलमें पहुँचानी परमावश्यक थी। उनके एवं यशोदाजीके पहुँचनेपर ही आगेके सभी धार्मिक कृत्य प्रारंभ होने थे। गोकुलसे नन्दरायके आते-आते मध्याह तो विगत हो ही गया था। अब बृषभानुजीको जातकर्म-संस्कारादि सम्पन्न करनेमें समय लग गया। शीघ्रता करते-करते भी दूतको बृषभानुपुर समाचार देनेके लिये भेजनेमे सायंकाल हो गया था।

दूतको अनुभव हो रहा था कि बहुत शीघ्रता करके वायुवेगसे अश्वारोहण करनेपर भी वह प्रथम पहर निशाके पूर्व किसी भी प्रकार बृषभानुपुर प्रासाद पहुँच पावेगा। फिर भी दूतने अश्वको शीघ्र पथ पूरा करनेके लिये उत्साहित किया। दूतके लिये पथ-ज्ञानमे कोई कठिनाई नहीं थी क्योंकि चाँदनी रात थी और मद्धिम चाँदनीमे पथका अभ्यस्त अश्व शीघ्रतापूर्वक सुविधासे जा रहा था।

सन्ध्याके प्रथम पहरमें ही दूत सकुशल बृषभानुपुर पहुँच गया । बृषभानुपुरके प्रथम कोट द्वारपर पहुँचते ही उसने अञ्जलि बाँध ली, घुटने टेक दिये तथा सिरसे पृथ्वीको छूकर उसने बृषभानुपुरकी कुलदेवी जगज्जननी महामायाको प्रणाम किया।

बेचारे दूतको यह कहाँ पता था कि जिनके अव्यक्त पादपकजमे वह अपना सिर टेक रहा है, वे महाशक्ति ही बृषभानु-महारानीकी कोखसे अपनी मधुर प्रीति-रस-चरितावलीसे आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंको भी महाभाव-सिन्धुमें डुबोने, उन्हे प्रीति-पथका सर्वोच्च आदर्श दिखानेकी अभिसंधि लेकर एवं लीला-रस-सुधाकी शत-सहस्र मन्दाकिनी-धाराओंमें ब्रजके जन-जनको बहाते हुए सदाके लिये आनन्द-सिन्धुमें निमग्न कर देनेके लिये प्राकृत बालिकाका रूप रखकर प्रकट हुई हैं।

दूत जैसे ही बृषभानुपुरके प्रथम द्वारपर पहुँचा दूतके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा कि द्वार अपने आप बिना किसी बाह्य संकेतके पूरा खुला और द्वाररक्षक वरभानुजी गोपराज उसके स्वागतके लिये उसे सम्मुख खड़े समुपस्थित मिले। वे अतिशय आनन्दसे दूतको गले लगाकर पुरके भीतर ले गये। उनके अनुचरने यात्राके कारण श्रान्त घोड़ेकी यथायोग्य विश्रामकी व्यवस्था करने उसे घुडसालके व्यवस्थापकको सौंप दिया एवं वरभानुजी दूतको लेकर सीधे ऋषितुल्य महाराज महीभानु एवं महारानी सुषमाके पास ले गये। महाराजा महीभानुको जगदम्बाके द्वारा पूर्वतः ही दूतके आनेका समाचार मिल गया था और उन्होंने ही वरभानुजी गोपराजको द्वार पूर्वतः ही खोल दिये जानेका संकेत किया था।

महाराजा भगवतीके मन्दिरमें भगवती पराभट्टारिकाकी संध्याकालीन पूजामें निरत थे। दूतने सर्वप्रथम जैसे ही भगवतीकी प्रतिमाको प्रणाम किया, उसे अनुभव हुआ मानो भगवती मुसका रही हैं। भगवतीकी मुसकान इतनी मनोहारी थी कि दूत आनन्दावेशमें हर्षित हुआ होश ही खो बैठा और आनन्दोन्मत्त हुआ महाराजको नाच-नाचकर विलक्षण कन्याके प्रादुर्भावकी सब घटना सुनाने

लगा।

दूत आनन्दोन्मत्त होकर कह रहा था–' महाराज ! भगवती पराम्बाकी जय हो ! आपके घरमें आपकी पौत्री इतनी सुन्दर तेजोमयी उत्पन्न हुई है, मानो नभसे वारिदको त्यागकर विद्युल्लता ही बालिकाका रूप धारणकर रावलनरेशके राजमहलके प्रसूतिकक्षमें प्रकट हो गयी हो।'

'महाराज ! जय हो !! उसके गण्ड-युगल तो ऐसे हैं मानो द्रवीभूत चन्द्रकान्तमणिके जलमें दो बुदबुदे उठे हों, नासापुट इतने सुघड हैं कि भगवान् नारायणकी शोभा हतप्रभ हो उठे, महाराज! बालिकाके अंग मन्दाकिनीकी स्वच्छ तरंगोंके सदृश सुकोमल हैं, नेत्र मानो दो मुकुलित रक्त पद्मोत्पल हों, उसकी छोटी-छोटी घुँघराली कुन्तलराशिकी ऐसी निराली शोभा है मानो भ्रमरोंका दल प्रचुर परिमाणमें नव मकरन्दराशिका पानकर अतिशय मत्त हुआ, उड़नेकी सामर्थ्य खोकर निश्चल अवस्थित हो। महाराज ! बालिका जबसे भूमिष्ठ हुई है, रावल ग्रामकी गोप-गोपियाँ तो उसके वदनारविन्दका मधुपान करती थकती ही नहीं। उसे जो भी देखता है, न तो उसके नेत्र ही थकते हैं, न तृप्त ही होते हैं, अपितु जो जितना देखता है, देखती है, उतनी ही उसके दर्शनोंकी प्यास और बढ़ती जाती है।'

'महाराज ! जय हो !! उसके अंग पद्मरागमणिकी शोभाको, अधर रक्तरागमणिको, करतल, चरणतल चन्द्रकान्तमणिको, नखावलि पक्व दाड़िमबीजोंको हेय करते हैं। महाराज गाँवकी औरतें तो उसे मणिमय कन्या समझ रही हैं और कल्पनाके सुमधुर राज्यमें भ्रमित हो रही हैं, किन्तु जब उन्हें कोई समझाता है कि मणि तो जड एव कठोर होती हैं, बालिका तो जीवन्त, मृदु एवं अत्यन्त सुकुमार है तब वे बालिकाको विधाताकी पुष्पमय रचना बतलाने

लगती हैं। ओह ! तब वे कल्पना करने लगती हैं कि उसके समस्त अवयव काचनपद्मसे, अधरोष्ठ बन्धूकपुष्पोसे, चरण-करतल जपाकुसुमोंसे, एव नखराशिका निर्माण मल्लिकाकोरकोसे हुआ होगा।'

'महाराज ! ब्रजवासी इस प्रकार बालिकाके सौन्दर्यकी उपमा ढूँढते-ढूँढते थककर हार जाते हैं।'

महाराज महीभानुने उसी समय दूतको महामाया पराभट्टारिकाके चरणतलोमे रत्नपात्रोंमें रखी रत्नराशि एक क्षौम वस्त्रमें लपेटकर प्रदान करदी। उसके उपरान्त उन्होने दूतको पहननेके नवीन पाँच वस्त्र – रत्नजटित किनारीका पीताम्बर, स्वर्णतारों एव हीरकखचित चित्रित अपनी रेशमी अचकन, बँधी-बँधायी सुन्दर मणिखचित स्वर्णकी कलंगीसे युक्त पाग, एक अनमोल हीरक मुद्रिका एव रत्नजटित स्वर्णकी खडाऊ उपहारमें दी। फिर वरभानुजीने आदेश दिया कि दूतको पाकशालामें ले जाकर यथारुचि भोजन करावें और उसके विश्रामका प्रबंध करें।

दूतने जाते-जाते निवेदन किया कि महाराज ! सारे नगरमें सूचना हो जाय कि कल सूर्योदय होते ही महाराज बृषभानु, नन्दराय और अपने शिशु पुत्र सहित यशोदा महारानी, साथ ही गोकुल एवं बृहद्वनके सभी सम्मान्य गोप यहाँ पहुँच जावेंगे और कल उन सभीके सान्निध्यमें पुत्रीका बृहत् जन्मोत्सव इस नगरीमें पूरे धूमधामसे मनाया जायगा।

\+ + +

जैसे ही प्रातः रविने उदयाचलसे निकलकर बृषभानुपुरकी भूमिपर पदार्पण किया, वह उस भूखण्डकी शोभा देखकर चकित हो गया। जनसकुल ग्रामकी शोभा तो अपूर्व थी ही बृषभानुपुरको चतुर्दिक् घेरे जो अरण्य था, वह भी पूर्णरूपेण सज-धजकर

अपना आनन्द स्वान्तःसुखाय प्रकट कर रहा था। अरण्यके एक-एक वृक्षने अपनी सज्जा इतने मनोयोग एव सम्पूर्ण प्रकृति-प्रदत्त कौशलसे की थी कि भगवान् सूर्यदेवको अपनी किरणोंके नेत्रोंसे उस शोभाको देखनेके लिये कुछ कालके लिये अपने रथको रोकना पड गया। वे स्थिर होकर चकित देखते ही रह गये थे – निर्जन अरण्यकी शोभा देखने उस ब्राह्मबेलामें कौन तो आता; परन्तु आज उसे अपनी शोभा किसीको दिखानी थोड़े ही थी, उसे तो अपनेको स्वयंको आजके हर्षमें सम्मिलित होकर कृतकृत्य होना था। साल, तमाल, ताल, आम्र, अशोक, चम्पा, मौलश्री, बट, अश्वत्थ, नीप, कदम्ब सभीने बिना बसन्तके ही वर्षा ऋतुमें ही अपने पुराने पत्ते विगत रात्रिमें ही फेंक दिये थे। नये-नये कोंपलोंसे, अरुण पल्लवोंसे सभी विभूषित थे। सभी वृक्षोंके नवीन मौर प्रस्फुटित हो उठे थे। मौरोके मध्य-मध्यमे रग-बिरगे पुष्प इस प्रकार प्रस्फुटित हुए थे, मानों वृक्षोंने रग-बिरंगे मौरोंके वस्त्रोके ऊपर अनमोल पुष्पाभूषण धारण किये हो। गुच्छोंमें सजे पुष्प मृदु मन्द पवनके मधुर हिलोरोंके साथ नूतन नृत्य कर रहे थे। मालती आदिकी लताएँ बृक्षोंकी शाखा-प्रशाखाओंमें लिपट-लिपटकर उनपर अपने-अपने कुसुमोंका हास्य बिखेरकर उनकी शोभा और अभिवर्धित कर दे रही थीं। जूही चमेली आदि सभी लताएँ पत्रशून्य थीं और अपने सर्वांगोको मात्र विकसित कुसुमोंसे ही आच्छादित किये थीं। रात्रिके समय कमल-कोषोंमे बद्ध सुखसे सोये भ्रमर मानो स्वप्नमें राधाकिशोरीके जन्मका शुभ संवाद प्रभाती वायुसे सुनकर सहसा जाग उठे और मधुर गुञ्जार करते हुए पुष्पोंके पास जा-जाकर आनन्द-समारोहका समाचार सुना-सुनाकर उन्हें भी हर्षित कर रहे थे। शाखाओपर घोसलोंमें सोये हुए पक्षिगणोको भमरोंने अपनी झंकारों द्वारा जगा-जगाकर

राधा-जन्मका शुभ संवाद सुनाया और वे भी अपनी कमनीय काकलीसे वन-प्रान्तमें सर्वत्र यह शुभ संवाद एक दूसरेको इधर-उधर उड़कर देने लगे। आम्रवृक्षोंमें असमय मौर देखकर कोयलोंके आनन्दकी सीमा ही नहीं रही। वे बड़े वेगसे उडकर शाखाओंपर पहुँच गयीं और पञ्चम स्वरमें तान छेड़कर अपनी आनन्दमग्नता और अधिक उन्साहसे व्यक्त करने लगीं।

भगवान् सूर्यदेवने अपनी प्रथम दृष्टि फेंकते ही पाया कि बृषभानुपुरके आसपासके क्षेत्रोंमें, साथ ही बृहद्वनके भी अरण्योंमें सर्वत्र आनन्दका पूर्ण विकास हो रहा है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र आनन्द-भवन ही बन गया है।

भगवान् सूर्यदेव तो पुत्रीके प्रकट होनेसे अपनी तपश्चर्याका मनोनुकूल फल पानेके कारण हर्षित थे ही, उन्हें पूर्ण प्रसन्न देखकर दसो दिशायें भी उत्फुल्ल हो उठी थीं ।

वरभानुजीने दूतसे सूचना मिलते ही आर्श्व-पार्श्वकी सभी गोप-बस्तियों, अहीरोंकी ढाणियोंमें सूचना भेज दी थी, अस्तु सारा क्षेत्र आनन्द-मंगलकी क्रीडाभूमि ही बन गया था। रात्रिमें ही बृषभानुपुर एव आसपासके एवं दूर-दूरके सभी गोपावासोंमें विलक्षण दीपमालिका आलोकित की गयी थी। प्रातः ही सभी गोपावासोंसे दिव्य शंखध्वनि निनादित होने लगी थी। विविध वाद्य बजने लगे, जगह-जगह गोप अपने-अपने इष्ट देवताओंकी पूजा एवं स्तुतियाँ कर रहे थे। इन गोपावासोंमें जितने ब्राह्मणोंकी बस्तियाँ थीं, उन सभी बस्तियोंसे मन्त्रोच्चारणकी ध्वनि होने लगी। भगवान् सर्वेश्वरकी ह्लादिनी शक्तिका प्राकट्य था, अतः सभी स्थानोंमें आनन्दप्लावन तो होना ही था। नद-नदी, सरोवर, अरण्य, पर्वत आदि सभी स्थानोंमें आनन्द उन्मत्त होकर नृत्य कर रहा था। कालिन्दीको जैसे ही अपनी प्राणसखी बहन राधाके जन्मोत्सवका समाचार

अपने पिता द्वारा मिला, वे तो उन्मत्त ही हो उठीं। वे सारे ब्रजक्षेत्रको अपने कल-कलनादसे यह संवाद सुनाने लगीं और उत्ताल तरंगोंके रूपमें अपनी भुजाओंको उठाकर नाचती हुई बड़े वेगसे समुद्रको यह संवाद सुनाने दौड़ चलीं।

यमुना नदीने वायुको तर्जना करके कहा कि मेरी प्राणसखी आयी है, अब मुझे ऐसा सौभाग्य मिलनेवाला है, जैसा अनादि कालसे अबतक किसी भी नदीको नहीं मिला। सुरसरिने तो प्रभुके चरण मात्र पखारे थे, मैं तो मेरी प्राणसखीकी कृपासे उनकी रसमयी क्रीडा-केलि-स्थली होने जा रही हूँ। मेरे पावन तटपर सैकत भूमिपर भगवान् नन्दनन्दन असंख्य गोपरामाओं और मेरी बहिन भानुतनयाके साथ रासक्रीड़ा करेंगे, अतः अपनी वर्षाजनित ऊष्मासयुक्त आर्द्रताका सर्वथा सर्वांशमें त्याग कर देना भला ! मलय पवनको अविलम्ब बुलाओ और उसके साथ जहाँ-जहाँसे तुम्हें उत्तमोत्तम सद्गन्ध मिले उसे अपने समग्र अंगोंमें लगा लेना और आनन्दमत्त हुई वृक्षोंके मस्तकों, गोपरमणियोंके अञ्चलों और प्रासाद-शिखरोंकी पताकाओंके साथ नृत्य-क्रीड़ा करो। देखो ! सावधान रहना – मेरी बहिन भानुतनया विशुद्ध सत्वमयी हैं, अतः अपने अन्दर मलिन रजका संश्लेष भी मत रखना।

इस प्रकार भगवती ह्लादिनी शक्ति भानुकुमारीके अवतरणसे पृथ्वीमें ही नहीं, त्रिलोकीमें महानन्द छा गया। कल मध्याह्नसे एक ही साथ असंख्य देवदुन्दुभियाँ ब्रह्मताल, रुद्रताल एवं नारायणतालमें बजायी जाती हैं, परन्तु आज इस राधा-जन्म-महोत्सवमें वे विलक्षण पूर्ण सर्वतन्त्र-स्वतंत्र कृष्णतालमें बजने लगीं।

ये दुन्दुभियाँ कल मध्याह्नसे ही समस्त स्वर्गको निनादित कर रही थीं। देवसभाके संगीत-रस-विशारद हाहा, हूहू, तुम्बरु आदि गन्धर्व एवं किम्पुरुषगण इन दुन्दुभियोंके मधुर नादसे निशा

पर्यन्त सो ही नहीं पाये। अबतक तो ये दुन्दुभियाँ सुननेवालोके चित्तमे विलास रसको उद्रिक्त करती थीं, किन्तु आज तो इनके निनादमे परमानन्द- पूर्ण भगवद्गुणगान सभीको श्रवणगोचर हो रहा था।

गन्धर्वोका गायन अबतक देवताओका आनन्द बढ़ानेके लिये देव-सभामें हुआ करता था। सिद्ध एवं चारण भी उन्हींकी स्तुतिमें ही अपना कालक्षेप करते थे। परन्तु आज भगवती भगवत्प्रेममयी राधा-जन्मोत्सवके परिणामस्वरूप वे अपने पूर्वकृत्योंके लिये परिताप करने लगे और अपने स्वभावसिद्ध मधुर कण्ठसे भी कहीं विलक्षण मधुरता तथा सुरीलेपनको प्राप्त करके भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान करने लगे। इन गन्धर्वोके भगवद्यशगायनसे उत्साहित उर्वशी, मेनका एवं रम्भादि अप्सरायें भी अप्राकृत परमानन्दमें भर गयीं और स्वर्गके विलास-नृत्यकी सम्पूर्ण बातोंको भूलकर श्रीगोविन्द-गुण-गानकी शुद्ध सत्वमयी तालोंमें ताल मिलाकर मधुर नृत्य करने लगीं। इस प्रकार सम्पूर्ण स्वर्ग ही नृत्यकी मधुरतम ध्वनिसे भर गया। देवताओंके समस्त शयन-प्रासाद श्रीकृष्ण-नाम-ध्वनि एवं उनके लीला-गायनोंसे मुखरित हो उठे।

सभी देवता सहसा जगकर आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखने लगे और आनन्दमत्त होकर मन्त्रमुग्धकी भाँति परमानन्दकी प्रेरणासे अपने- अपने स्थानको छोड़कर तुरन्त बृषभानुभवनपर स्वर्गके पारिजात सुमनोंको चुन-चुनकर पृथ्वीपर बरसाने लगे।

भगवान्‌की ह्लादिनीशक्तिका अवतार पृथ्वीमें हुआ है– ऐसा मानकर सभी देवगण उसके सौभाग्यकी सराहना करने लगे। पृथ्वीमे तो विलक्षण आनन्द-शोभाकी बाढ ही आ गयी है, अतः उसका आनन्द स्वर्गमें भी प्रतिबिम्बित हो उठा है।

वस्तुत इस अप्राकृत महानन्दकी मूल तो भगवती

श्रीराधा ही हैं। उनके यथार्थ स्वरूपको तो भगवान् श्रीकृष्णके सिवा कोई नहीं जानता। इतना अवश्य है कि उन्होंने चुपके-से पृथ्वीपर अवतरण करके सबको अपने महानन्दमें उन्मत्त अवश्य कर दिया है। आज चौदह भुवन उसके जन्मोत्सवकी बधाईमें नाच रहे हैं। इस महाह्लादसे सप्तसिन्धुओंमें आनन्द-क्षोभ हो गया है। वे सभी क्षीरोदधि, घृतोदधि, मधूदधि, दधि-उदधि, शर्करोदधि, तैलोदधि एवं लवणोदधि मन्द-मन्द गर्जना करके उत्ताल तरंगोंमें नृत्य करने लगे।

समुद्रकी कन्या लक्ष्मीजी हैं, और श्रीराधा लक्ष्मीकी भी लक्ष्मी हैं। अतः इसी सम्बन्धसे गौरव-मण्डित हुआ सिन्धु गर्जना कर रहा है कि आज जिसके जन्मागमनसे समग्र विश्वब्रह्माण्ड परम आनन्दित है, वह मेरी पुत्री है।

समुद्रका गर्जन सुनकर जलधर भी मुखर हो उठे हैं। उन्होंने भी सोचा कि हमारे हृदयमें तो श्रीराधा सदासे ही विद्युल्लताके रूपमें रहती ही है। यह हमारी आराध्या ही मूर्तिमती होकर आज पृथ्वीमे अवतरित हो रही है।

चतुर्दिक् महान् आनन्दके मध्य ब्राह्ममुहूर्त्तके पूर्व ही बृषभानुपुरको एवं आसपासके सभी गोपावासोंको गोपोंने विलक्षणरूपसे सज्जित करना प्रारंभ कर दिया है। गोपोंकी सहायता करने स्वयं देवशिल्पी अपने असंख्य सहायकोंके साथ आकर जुट गये हैं। ब्रजके ग्रामीण गोप अपने-अपने प्रासादोको भले ही वह सौन्दर्य न दे पाते, किन्तु जहाँ देवगण सहायक होकर समुपस्थित हो जावे फिर प्रासाद-सज्जामें क्या कसर रह सकती थी। प्रासादका प्रत्येक गृह, द्वार, प्रांगण, प्रत्येक प्रासादके बाहरकी गलियाँ, राजपथ– सब इस प्रकार स्वच्छ कर दिये गये कि कहीं मलिनताका एक कण भी दृष्टिगोचर नहीं हो सके। अहा ! इतना चन्दनवारि न

जाने कहाँसे प्रकट हो गया, बृषभानुपुरके पार्श्वसे बहता गिरिस्रोत ही मानो चन्दनवारिका निर्झर बन गया है, सम्पूर्ण ग्राम ही चन्दनवारिसे स्वच्छ हुआ महक उठा है। ओह ! गोपियाँ विपिनसे घडे भर-भर पुष्प-रस-सार एकत्रितकर ले आ रही हैं, और सारा पुर ही पुष्प-रस-सारके छिड़कावसे आमोदित हो उठा है। यह पुष्पसार भी विलक्षण है, यह कृत्रिम क्रिया करके पुष्प-वाष्पसे निर्गत नहीं हुआ है, यह तो स्वाभाविक ही असंख्य पुष्पोंके द्वारा उनके मकरन्दसे निर्गत सत्व है, जो उनके द्वारा श्रीभानुकुमारीके जन्मोत्सवके उपलक्षमें समर्पण किया गया है।

अहा ! बृषभानुपुर एवं आसपासके ग्रामोंका ऐसा कोई गृह नहीं है, जहाँ सुकोमलतम पल्लवोके बन्दनवार नहीं बाँधे गये हों; चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाएँ जहाँ नहीं फहरा रही हों। गोपोंके यहाँ घृत-दुग्धकी तो कहीं कोई कमी नहीं, किन्तु बहुमूल्य रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्रोंकी तो न्यूनता स्वाभाविक ही है, परन्तु आज तो सभी गृहोमें नये-नये रेशमी वस्त्र अनेकों भिन्न-भिन्न रंगोंमें इस भाँति लहरा रहे हैं कि ब्रज प्रदेशकी शोभा ही निराली हो गयी है। और आश्चर्य ! आज तो तितिक्षाकी मूर्त्ति, मात्र भिक्षाटनसे उदरपूर्ति करनेवाले, तपोमूर्त्ति ऋषि-ब्राह्मणोंके भवन भी पुष्पमालाओंकी लड़ियोंसे ही नहीं, अनमोल रत्नों, मुक्ता, माणिक्य एवं नीलमणियोंकी मणिमालाओंसे सज्जित किये गये हैं। प्रत्येक गोपके आवासोंके आगे आम्रपल्लवसमन्वित जलपूर्ण मंगलघट रखे गये हैं। हरिद्रा, दूब, दधि, अक्षत एवं कुंकुमसे प्रत्येक गोपका द्वारदेश चित्रित है। स्थान-स्थानपर जहाँ-जहाँ चतुष्पथ हैं, गलियोंके मोड हैं, गलियोंके एक-दूसरी गलीसे मिलनस्थल हैं, सर्वत्र मोतियों एवं रत्नोंसे चौक पूरे गये हैं।

निशामें प्रकाशके लिये बृषभानुपुर एवं आसपासके गाँवोंमें

चतुष्पथोंपर, गलियोंमें लगे जो मणिस्तम्भ हैं, जिनमें लगी चन्द्रकान्त मणियों एवं सूर्यकान्त मणियोंसे चन्द्र एवं सूर्यकी ज्योत्स्नाएँ सम्पूर्ण ग्रामको उद्भासित करती रहती हैं, इन स्तम्भोंपरसे आवासोंके गवाक्ष-रन्ध्रोंतक जोड़कर रेशमी डोरियाँ बाँध दी गयी हैं और इनमें अति सुगन्धित पुष्पोंकी मालायें लटक रही हैं। घर-घरके आगे अगुरु, चन्दनचूर्ण, गुलाबके पुष्पोंकी पत्तियोंके चूर्ण, धूपवृक्षकी छालके चूरे, लोबान आदिको घृतमें सानकर जो मिश्रण बना है उसमे अनेकों प्रकारका इत्रसार मिलाकर जलाया जा रहा है, जिससे सम्पूर्ण नगर सुगन्धित हो रहा है।

महाराज बृषभानु बृहद्वननरेश नन्दरायके साथ ब्राह्ममुहूर्त्तमें ही नगरमें आ गये हैं और अपने प्रथम परकोटेके पूर्णरूपेण सुसज्जित तोरण-द्वारपर ही एक ऊँचे मञ्चपर विराजित हैं। उनके आसनसे भी एक और उच्च मञ्च बना है, जहाँ मृगछाला-आसनोंपर विराजमान सैकड़ों ब्राह्मण आशीर्वादात्मक मंगलवाची एवं सुभाषित पदावलियोंमें स्वस्तिवाचन कर रहे हैं। इनमें अनेक ब्राह्मण तो आशुकवि हैं, वे तत्क्षण ही सुन्दर गंभीर आशीर्वादमूलक अर्थयुक्त श्लोक-रचना करके महाराज बृषभानुकी सद्योजात पुत्री एवं नन्दरायके पुत्र श्रीकृष्णको सम्बोधितकर आशीर्वाद दे रहे हैं। उनसे कुछ दूरीपर सूत पुराणवाचन कर रहे हैं। उनसे कुछ दूरीपर हटकर मागध (मगध देशके पंडे) बृषभानुपुर नरेश एवं ब्रजेशकी वंशावलीका बखान कर रहे हैं। उनसे कुछ दूरीपर बन्दीजनोंकी पंक्तियाँ है; वे मधुर स्वरमें बृषभानु एवं नन्दराय दोनों नरेशोंके गुण गा रहे हैं।

दूर-दूरके गाँवोंसे यूथ-के-यूथ दल बनाकर गोप एवं गोपियाँ बृषभानुपुरनरेशको बधाई देने आ रही हैं। ये सभी बहुमूल्य वस्त्र-आभूषणोंसे सज्जित हैं। सबके पीताम्बरोंकी किनारी स्वर्णतारोंसे

गले लगकर मिल ही रही थीं कि बृषभानुपुरके एव आसपासके गावोंके गोपोंने हल्दी एवं दही मिले घोलके माट नन्दबाबापर एवं उपनन्दजीपर ढोर दिये। अब तो क्या था, गोपोंका आनन्दोन्माद फूट पड़ा। नन्दग्राम एवं बृहद्वनके गोपोंने बरसानेके गोपोंपर इतना दूध, दही, घृत एवं नवनीत ढरकाया कि पीली नदी-सी बह गयी। दूध-दहीके अनेकों गड्ढे (गर्त्त) बन गये और उनमें उछल-कूद मचाते गोपबालकोंका उल्लास दर्शनीय हो रहा था। बृषभानुपुरका राजपथ दूध-दहीका सरोवर-तुल्य हो गया।

नन्दरायजी, जो भी गोप उनपर दधि-भाँड उडेलता है, उसे गले लगाकर रत्नमालाओंके हारोंसे उसका कण्ठ अलंकृत कर देते हैं। याचनाकी आवश्यकता नहीं, प्रत्येक मागध, सूत, चारण, बन्दीजन गायकोंकी टोलियोंको नन्दराय अनमोल स्वर्णजड़े वस्त्रोंकी गठरियाँ, रत्नोंकी पोटलियाँ एवं गौओंकी टोलियाँ दे रहे हैं कि उनका सदाके लिये मँगतापन मिट जाय। बृषभानुकुलके सूत, मागध, बन्दीजन, गायक, चारण, सहस्रों प्रकारके कलाकार — सभी नन्दराय द्वारा इतना धन-धान्य पा रहे हैं कि उसकी गणना ही संभव नहीं है।

बृषभानुजीने अपने सभी कोषागार श्रीनन्दरायजीको लुटानेके लिये पूरे खोल दिये हैं। किन्तु आश्चर्य है कि असंख्य गोपों एवं गोपियोंको इतनी सम्पत्ति एवं गोधन दान किये जानेपर भी कोषागारोंमें कहीं कोई रिक्तता दृष्टिगोचर ही नहीं होती। प्राकृत भंडारकी तो सीमा होती है, उसमें से कुछ निकालनेपर उतना अंश कम हो जाता है, उतने अंशकी पूर्णता अपेक्षित होती है। किन्तु श्रीबृषभानुजीका कोष तो प्राकृत नहीं है। वह तो भगवती जगदम्बाका अनुग्रहस्वरूप है। उसमेंसे तो श्रीनन्दबाबा एवं यशोदाजी जितना उँलीचती हैं, वह उतना ही बढकर पुनः पूर्ण-परिपूर्ण हो

हैं। इनके पीछे दौडते हुए बालक-बालिकाएँ और गोप-गोपांगनाओंकी भीड़ चली आ रही है।

इन सब समुदायोंका स्वागत प्रथम द्वारपर ही नन्दबाबा, उपनन्दजी आदि नन्दग्रामके गोप कर रहे हैं। गोप परस्पर श्रीनन्दरायके गले मिल रहे हैं और कह रहे हैं – 'नन्दरायजी ! हम सभी बालिका राधाका मुख देखकर आ रहे हैं, स्रष्टाने इन नेत्रोंकी सृष्टि ही तुम्हारे सुत कृष्ण एवं इस बालिका भानुकुमारीको देखनेके लिये ही की थी। युगल जोडी चिरंजीवी हो।'

मागध एवं बन्दीजनोंसे कुछ हटकर संगीतज्ञोंका दल अति उच्च सुरीले स्वरमें गा रहा है। राग परजमें इन सबके संगीतकी स्वर-लहरी सुनते ही बनती है।

*धन्य धन्य द्वापर जुग, धनि यह, भादौंकी आठैं अति पावनि।*
*प्रकटे पहलीमें मोहन, दूजीमें श्रीराधा मन-भावनि।।*
*उजियारौ पखवारौ पावन, भाग्यसील सुभ समय दुपहरी।*
*प्रकट भई राधा मन-मोहिनि, आनँदघनकी आनँद लहरी।।*
*पुन्यथली बरसानौ नगरी, भाग्यवान वृषभानु सुनरपति ।*
*कीरति रानी अति सुभागिनी, जिनतैं प्रगटी स्वयं स्याम-रति।।*
*भाग्यवान वे स्याम सलोने, जिन पाई यह दुरलभ संपति।*
*हम सब भाग्यवान नरनारी, भये धन्य कर तिनकी सुस्मृति।।*

संगीतज्ञ वीणाके स्वर-में-स्वर मिलाकर इतना मधुर गायन कर रहे हैं कि श्रोता झूम रहे हैं। राजपथमें गोप-गोपांगनाओंकी भीड़ उमड़ी आ रही है।

गोपांगनाएँ श्रीराधाको आशीर्वाद देती हुई गा रही हैं –

*मंगल बधाइयाँ हो, बँट रही भानुके दरबार।*
*राधिका प्रेममूरति हो, छबीलीने लीनौ अवतार।।*
*सुवासिन नारियाँ हो, कर रहीं सब कुलके आचार।*
*गा रहीं गीत मंगल हो, लौन-राई कर अति मनुहार।।*

नन्दबाबा गोपोंसे एवं यशोदा, रोहिणी आदि स्त्रियाँ गोपियोंसे

गले लगकर मिल ही रही थीं कि बृषभानुपुरके एव आसपासके गावोंके गोपोंने हल्दी एवं दही मिले घोलके माट नन्दबाबापर एवं उपनन्दजीपर ढोर दिये। अब तो क्या था, गोपोंका आनन्दोन्माद फूट पड़ा। नन्दग्राम एवं बृहद्वनके गोपोंने बरसानेके गोपोंपर इतना दूध, दही, घृत एवं नवनीत ढरकाया कि पीली नदी-सी बह गयी। दूध-दहीके अनेकों गड्ढे (गर्त्त) बन गये और उनमें उछल-कूद मचाते गोपबालकोंका उल्लास दर्शनीय हो रहा था। बृषभानुपुरका राजपथ दूध-दहीका सरोवर-तुल्य हो गया।

नन्दरायजी, जो भी गोप उनपर दधि-भाँड उडेलता है, उसे गले लगाकर रत्नमालाओंके हारोंसे उसका कण्ठ अलंकृत कर देते हैं। याचनाकी आवश्यकता नहीं, प्रत्येक मागध, सूत, चारण, बन्दीजन गायकोंकी टोलियोंको नन्दराय अनमोल स्वर्णजड़े वस्त्रोंकी गठरियाँ, रत्नोंकी पोटलियाँ एवं गौओकी टोलियाँ दे रहे हैं कि उनका सदाके लिये मँगतापन मिट जाय। बृषभानुकुलके सूत, मागध, बन्दीजन, गायक, चारण, सहस्रों प्रकारके कलाकार – सभी नन्दराय द्वारा इतना धन-धान्य पा रहे हैं कि उसकी गणना ही संभव नहीं है।

बृषभानुजीने अपने सभी कोषागार श्रीनन्दरायजीको लुटानेके लिये पूरे खोल दिये हैं। किन्तु आश्चर्य है कि असंख्य गोपों एवं गोपियोंको इतनी सम्पत्ति एवं गोधन दान किये जानेपर भी कोषागारोंमें कहीं कोई रिक्तता दृष्टिगोचर ही नहीं होती। प्राकृत भंडारकी तो सीमा होती है, उसमें से कुछ निकालनेपर उतना अंश कम हो जाता है, उतने अंशकी पूर्णता अपेक्षित होती है। किन्तु श्रीबृषभानुजीका कोष तो प्राकृत नहीं है। वह तो भगवती जगदम्बाका अनुग्रहस्वरूप है। उसमेंसे तो श्रीनन्दबाबा एव यशोदाजी जितना उँलीचती हैं, वह उतना ही बढकर पुनः पूर्ण-परिपूर्ण हो

जाता है, इसलिये उनके देनेमें विराम नहीं, हिसाब नहीं। कोषागारके सेवक कोषमेंसे रत्नोंभरे पूर्ण पात्र ढो-ढोकर श्रीनन्दरायके सम्मुख रखते जाते हैं और नन्दराय उसे लुटाते जा रहे हैं।

हाँ ! इतना अवश्य है कि व्रजेशके वात्सल्य-प्रेम-परिभावित मनमें निरन्तर केवल एक भावना है –

***अनेन प्रीयतां भगवती ललिता तेन अस्य सुतायाम् मम सुतस्यच शिवम्।***

(इस दानसे बृषभानुकी आराध्या भगवती ललिता प्रसन्न हों, और उससे इसकी कन्या एव मेरे पुत्रका कल्याण हो।)

नन्दबाबाको पता ही नहीं कि जिसके कल्याणके लिये वे इतने प्रयत्नशील हुए इतना दान कर रहे हैं, वे स्वयं अनन्त लक्ष्मियोंको लक्ष्मीत्व प्रदान करनेवाली शक्ति हैं।

गोपांगनाओंकी भीड़ भीतर अन्तःपुरमें चली गयी है और वहाँ यशोदा मैया, रोहिणीजी, उपनन्दजीकी पत्नीको उन्होने हरिद्रा-तैलके कीचसे सान दिया है। गोपागनाएँ परस्पर एक दूसरेपर भी हल्दी-तेल छिड़कती बाहर-भीतर धूम मचा रही हैं।

इधर बृषभानुजीने सर्वाधिक सम्मान यशोदाजी, उपनन्दजीकी पत्नी एवं रोहिणीजीका किया है। पति-वियोग एवं पति-कारावाससे खिन्न राहिणीजी भी आज पूर्ण प्रसन्न दृष्टिगोचर हो रही हैं। सद्यजाता बृषभानुकुमारीका मुख जबसे इन गोकुल-महिषियोंने देखा है, इनका रोम-रोम आनन्द-विह्वल है। श्रीबृषभानुजी द्वारा प्रदत्त दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर ये गोपांगनाओंके सत्कारमें लगी हैं।

दिनका तीसरा पहर होता है। अब सभी गोप-गोपांगनाएँ स्नान करके स्वच्छ पीत वस्त्र पहन-पहनकर भोजनशालामें पहुँच रहे हैं । विशाल भोजन-शालामें सहस्रों पाकशास्त्रियोंने इतने

प्रकारकी सुस्वादु भोजन-सामग्री बनायी है कि आगन्तुकोंके मुँहमें देखते ही पानी आ जाय। गोंदपाक, पिश्तापाक, काजूपाक, केसरपाक, खारकपाक, बादाम, काजू एवं पिश्ताकी कतलियाँ – सभीपर स्वर्ण एवं रजतके बर्क मढे हुए हैं। केसरमिले बूँदीके लड्डू, मावेकी मिठाई, गुलाबजामुन, कालाजामुन, छेनापाक, छेनेकी बर्फी, रबडी, मलाई, बासौंदी, खीर, मलाई-लड्डू , कलाकन्द, मावाबर्फी, खीरमोहन, मलाई-मोहन, छेना-रसभरी, मलाई-रसभरी, आदि तो दूधसे बनी मिठाइयाँ थीं, इनके उपरान्त घृतसे सेंककर बनी मिठाइयॉ तो असख्य थीं। इसके अतिरिक्त सैकडों ही शाक, अचार, पूडी, पूआ, मेवाखिचडी, भात, सभी प्रकारकी दालें, फिर गेहूँ, बेसन, बाजरा, मक्का आदि सभी धान्योंकी स्वादिष्ट रोटियाँ आदि थीं। ग्वाल-बाल हजारोंकी संख्यामें पंगतें लगाकर जेंवनार कर रहे हैं। एक तरफ गोपियोंकी भोजनशाला है और दूसरी ओर गोपोंकी।

आजके इस उत्सवकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि ब्रजप्रदेशके बृहद्वन, लोहवन, अम्बिकावन, कुमुदवन, तालवन, मधुवन, बहुलावन, गोदृष्टिवन, कदम्बवन, गह्वरवन, पिपासावन, सारिकावन, अंजनवन, विह्नलवन, कामनावन, मोहिनीवन, कोकिलावन, इत्रवन, खिदिरवन, विस्तरणवन, कोटवन, चमेलीवन, खेलनवन, भूषणवन, गुञ्जावन विहारवन, अघवन, आदि वनोमें एवं उनके आसपास भिन्न-भिन्न ग्रामोंमें अपनी असंख्य धेनुओं सहित बसे सभी ब्रजवासी बालक-बालिकाएँ, पुरुष-नारी, वृद्ध-वृद्धायें इसमें सम्मिलित हुए थे। इस दिनसे पूर्व जन्मे प्रसूति-स्नानके पूर्वके बालक और उनकी प्रसूता मातायें अथवा पुरुष एवं स्त्रियाँ भी जो पैदल चलनेमें असमर्थ थीं, वे भी किसी-न-किसी बैलगाड़ी अथवा पालकीमें इस उत्सवमें सम्मिलित होने चली आयीं थी। सभी गोप-गोपियाँ अपने छकडों, बैलगाड़ियोंमें उपहार-सामग्री भरे अपने समग्र गोधन सहित

सर्वप्रथम तो रावलग्राममें जाकर सद्योजात श्रीराधाकुमारीका दर्शनकर तब बृषभानपुरके इस बृहदुत्सवमें सम्मिलित होने आये थे।

ब्रजवासियोंका यह सभी जनसमुदाय अनवरत बीस दिनोंतक इस उत्सवमें सम्मिलित रहा। अनवरत बीस दिनोंतक श्रीनन्दरायजी, श्रीमती यशोदारानी एवं नन्दगाँवके नन्दोंने ही इन सब अतिथियोंकी आवभगतकी सब व्यवस्था की। बीस दिनतक अनवरत प्रातःसे लेकर सायंतक श्रीनन्दबाबाने इतना स्वर्ण एवं रत्न, साथ ही गौएँ दान कीं कि ब्रजप्रदेशमें कोई भी याचक नहीं रहा। सबके कोष वस्त्रों, स्वर्णाभूषणों और रत्नोंसे भर गये। किसीकी भी गौशालाओंमें दूध प्रवाहित करनेवाले गोवंशका अभाव नहीं रहा।

एक गायक अनवरत बीस दिनोंसे पागलसा बृषभानुपुरकी गली-गलीमें गाता फिर रहा है। राग देसके शुद्ध आलापमें उसकी स्वरलहरी सम्पूर्ण ग्रामको गुँजा रही है—

*अतुल आनन्द भर मनमें पुकारो भानुनृपकी जय।*
*मोदमें मस्त हो बोलो मातु श्रीकीर्तिदाकी जय।।*

*भाद्रपद मासकी जय-जय, पक्ष शुभ शुक्लकी जय-जय।*
*रुचिर तिथि अष्टमीकी जय, काल मध्याह्नकी जय-जय।।*

*सरस बृषभानुपुरकी जय, भानुके महलकी जय-जय।*
*कीर्त्तिके प्रसवगृहकी जय, चमारिन दाई माँकी जय।।*

*चूर आनन्द-मदमें आज बोलो, राधिकाकी जय।*
*सलोने साँवरे गोविन्द राधा-प्राणकी जय-जय।।*

*परस्पर चावकी जय-जय, प्रेमके भावकी जय-जय।*
*तत्सुखी प्रेमकी जय-जय, प्रेमके नेमकी जय-जय।।*

*अनोखे त्यागकी जय-जय, विलक्षण रागकी जय-जय।*
*मधुर अनुरागकी जय-जय, हमारे भागकी जय-जय।।*

*परम आह्लादसे बोलो ह्लादिनी राधिकाकी जय।*
*ह्लादिनीके परम प्रियतम मनोहर श्यामकी जय-जय।।*

।।७३।।

*आज उससे भी अधिक आनन्द छाया है वहाँ,*
*गोपियाँ भूली हुई हैं, कौन है बैठी कहाँ।*
*मत्त-सा प्रत्येक है, जिस गोपको देखो जहाँ,*
*देख इसको हो रहा विक्षिप्त मैं भी हूँ यहाँ।।*

किन्तु मेरी प्राणेश्वरी ! राधे !! आज तो उसकी अपेक्षा भी बहुत अधिक आनन्द व्रजपुरमें लहराता हुआ दीख रहा है । व्रजसुन्दरियाँ भूल गयी हैं कि कौन कहाँपर बैठी है । आज जहाँ, जिस गोप-गोपीको देखो – प्रत्येक व्यक्ति ही आनन्दमत्त हो रहा है । और सच तो यह है प्राणेश्वरि ! इस दृश्यको देख-देखकर मैं यहीं बैठे-बैठे आनन्दसे विक्षिप्त हो रहा हूँ ।

।।७४।।

*तत्र आवामपि गच्छावेति प्रियतमस्योत्कण्ठा ।।*

"तो प्रियतमे ! हम दोनों भी वहाँ चलें – इस प्रकार प्रियतम नीलसुन्दरमें उत्कण्ठा जाग्रत हुई ।

।।७५।।

*प्रियतमां प्रति मनोरथनिवेदनम् ।*

वे प्रियतमा राधाके प्रति अपना मनोरथ निवेदन करने लगते हैं ।

||७६||

*प्रियतमास्वीकृतिः*

प्रियतमा सम्मत हो जाती है ।

||७७||

*प्रियतमेन सह गमनम्*

प्रियतमके साथ चल पड़ती है ।

||७८||

*यथा आवयोः निकुञ्जे नित्यस्थितिः तथैव सर्वथा अभिन्नत्वेन प्रकाश-रूपतया तव वृषभानुपुरे मम च बृहद्‌वनस्थगोकुलग्रामे वृन्दारण्ये च नित्यनिवासः क्रीड़ा चेति प्रियतमस्य पथि तत्त्वप्रवचनम् ।।*

'जैसे हम दोनोंकी निकुञ्जमें नित्यस्थिति है, वैसे ही सर्वथा पारस्परिक अभिन्नता होनेके कारण प्रकाशरूपसे तुम्हारा वृषभानुपुरमें तथा मेरा बृहद्वनस्थ गोकुल ग्राममें और वृन्दाकाननमें नित्य निवास रहता है । नित्य क्रीड़ा भी चलती ही रहती है' – इस प्रकार प्रियतमका पथमें चलते समय तत्त्व-प्रवचन होता है ।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

**जिज्ञासाः-** कृपया इस विषयको और अधिक विस्तारसे समझाइये ।

**समाधानः-** यह बात इसी ग्रन्थमें पूर्वतः ही भगवान् नारायणके मुखसे त्रिदेवोंके सम्मुख भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थान बृहद्वनका वर्णन करते समय कही जा चुकी है कि भगवान्का धाम भी भगवान्के तुल्य परात्पर ही होता है। भगवान्के नाम, रूप, लीला एव धाम – ये चारों नित्य निरन्तर एक ही अनुपम परम तत्व हैं। इनमें कहीं भेद नहीं होनेसे भगवद्धाम – भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मस्थली चाहे बृहद्वन गोकुल हो अथवा श्रीराधारानीकी

जन्मस्थली बरसाना, ये सभी उज्ज्वलतम रसरूप प्रकाश मात्र हैं। यह नित्यनिकुञ्ज भी नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा एवं नित्य निकुञ्जेश्वर श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं, एवं परस्पर नित्यनिकुञ्जेश्वरी एव नित्यनिकुञ्जेश्वर भी एक ही परात्पर परमतत्त्वके लीलारसके लिये बने दो स्वरूप हैं। वस्तुतः हैं एक ही। जो राधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं; एवं जो श्रीकृष्ण हैं वे ही राधा हैं। जैसे दूधमें धवलता है, अग्निमें दाहिकाशक्ति एवं पृथ्वीमें गन्ध है उसी प्रकार राधाकृष्ण भी परस्पर एक हैं और इनसे इनकी लीला एवं लीलापात्र, धाम एव धामगत भिन्न-भिन्न नामधारी गोकुल-वृन्दावनादि देश, काल, देशान्तर्गत नदी-पहाड़-कुञ्ज-निकुञ्ज एवं कालान्तर्गत मास-पक्ष-सप्ताह-दिन सब एक है। इसी प्रकार लीलापात्रोंमें भी जितनी भी गोपियाँ और जीवन्त मादायें हैं, सब श्रीराधारानीकी कायव्यूहरूपा हैं और जितने भी जीवित नर हैं, सब श्रीकृष्णके ही कायव्यूहरूप हैं।

वह अनादि परात्पर पुरुष एकमेव अद्वितीय है; परन्तु अनादिकालसे वही अपनेको दो रूपोंमें नित्य निकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण एवं नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा बनाकर अपनी ही आराधनाके लिये तत्पर है।

इसी तत्त्वका प्रकाश करते नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण इस चौपदेमें अपनी भोली प्रियाको समझाते हुए कहते हैं कि एक ही ज्योति जैसे अनेक रूपोंमें प्रकट होती है, इसी तरह हम दोनों यहाँ नित्य निकुञ्जमें नित्य प्रकाशक रूपमें अवस्थित हैं, किन्तु प्रकाशरूपसे मैं ही गोकुलमें यशोदोत्सगलालित बालकृष्ण बना खेल रहा हूँ और बृषभानुपुरमें तुम नित्यनिकुञ्जेश्वरी ही कीर्तिदाकुमारी राधा बनकर गोष्ठलीला कर रही हो। प्रकाशक रूपमें जो यहाँ नित्य निकुञ्ज है, वह प्रकाशरूपमें गोकुल एवं बरसाना हो जाता

है। अप्राकृत लीलाराज्यमें निकुञ्ज, बरसाना एवं गोकुल कोई पृथक्-पृथक् प्राकृत धराखण्ड नहीं हैं।

एक ही आनन्दघन परात्पर परमतत्व जो सत्-चित् एवं आनन्दघन है अपनी सत् – संधिनी शक्तिसे नित्य निकुञ्ज, बरसाना गोकुल, गिरि, नदी, एवं सरोवर बनता है, वही चित् – चिति शक्तिसे योगमाया बनकर निरन्तर रस-लीलाका आयोजक होता है और वही परात्पर परमतत्व ही ह्लादिनी – आनन्द श्रीराधा बन अनन्त गोपरमणियोंके रूपमें प्रकट हो लीला कर रहा है। एकमेव अभिन्न तत्व होनेसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः सब एक हैं।

॥७ ॥

*तदनन्तरं स्वजन्मोत्सवं स्मारयन् वदति – –*

*धूम मेरी वर्षगाँठजनित मची थी जो अभी,*
*आजसे पन्द्रह दिवस ही पूर्व आये थे सभी।*
*थी नहीं माता बची वृषभानुपुरकी एक भी,*
*जो न आ बोली, 'ललन ! तेरा न टूटे बाल भी।।'*

इसके अनन्तर प्रियतम नीलसुन्दर अपने जन्ममहोत्सवका स्मरण दिलाते हुए कहने लगते हैं – प्राणवल्लभे ! अभी मेरी जन्मगाँठकी तिथिको निमित्त बनाकर जो धूम मची थी – आजसे पन्द्रह दिन पहलेकी ही तो बात है – उस उत्सवमें सभी आये थे। वृषभानुपुरकी एक भी माता नहीं बची थी, जो आकर मुझे आशीर्वाद देते हुई यह न बोली हो 'मेरे लाल ! तेरा एक भी केश न टूटे भला।'

॥८०॥

*और जैसे प्रतिपदासे द्वादशी पर्यन्त थे*
*छत्रधर वृषभानु, मेरे तात मानो दास थे,*

*जो महाराजा कहें, करते वही सानन्द थे,*
*वे कहीं भी जायँ, रहते वे सदा ही साथ थे।।*

और फिर जैसे प्रतिपदासे आरंभकर द्वादशीपर्यन्त मानो राजाके पदपर महाराज वृषभानु सुशोभित थे और मेरे पिता नन्दबाबा, जैसे उनके दास हों, ऐसा आचरण कर रहे थे, महाराजा वृषभानु जो भी कह देते, मेरे पिता वही आनन्दमें निमग्न होकर करने लगते थे । वृषभानु कहीं भी जायँ, मेरे बाबा उनके सदा साथ ही रहते थे ।

।।८१।।

*क्या तथा किस भाँति हो कब, भारसे वे मुक्त थे,*
*देखते सारी व्यवस्था एक भानुनरेश थे।*
*देवता भी प्रेम दोनोंका निरख निस्तब्ध थे,*
*मित्रता-भ्रातृत्वका दोनों बने आदर्श थे।।*

'क्या, कब, किस प्रकार हो' – इस प्रकारकी चिन्ताओंसे मेरे बाबा इतने दिनोंके लिए मुक्त हो गये थे। अकेले वृषभानु बाबा ही सम्पूर्ण व्यवस्था करते थे, व्यवस्थाकी सँभाल करते थे । देवता भी दोनोंका पारस्परिक प्रेम देखकर स्तब्ध हो गये थे । दोनों ही मित्रता एवं भ्रातृत्वका आदर्श बने हुए थे।

।।८२।।

*और अन्तःपुर निदर्शन था अतुल इसका बना,*
*जो सखीके प्रति सखीमें है भरा अपनापना।*
*ग्वालिनोंको प्रीति निर्मलकी मिली थी प्रेरणा,*
*प्राणमें थी जा बसी सौहार्दकी वह साधना।।*

और अन्तःपुर इस बातका अप्रतिम निदर्शन बना हुआ था कि एक सखीके प्रति दूसरी सखीके मनमें कैसा विचित्र अपनापन भरा होता है ! गोपसुन्दरियोंके मनमें, निर्मल प्रीति कैसी होती है, इसकी प्रेरणा उपर्युक्त उन दोनों सखियोंको देखकर ही प्राप्त हुई

थी। सौहार्दकी वह साधना उनके प्राणोंमें जा बसी थी भला।

॥८३॥

*स्वामिनी हैं इस भवनकी भानुमहिषी, यह विमल*
*भाव मैयामें प्रतिष्ठित था हुआ ऐसा अटल,*

*देखकर जिसको स्वयं भी कीर्तिदा होतीं विकल,*
*प्रेम-विह्वल हो बहातीं थीं अनर्गल अश्रुजल॥*

'इस भवनकी स्वामिनी तो वृषभानुमहिषी हैं' — यह निर्मल भाव मेरी मैयामें इस प्रकार अचल रूपसे प्रतिष्ठित हो गया था कि जिसको देख-देखकर स्वयं कीर्तिदा महारानी भी विकल हो उठती थीं, भावविह्वल हो जाती थीं कीर्तिदा मैया और उनकी आँखोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बहता रहता था।

॥८४॥

*जो जिसे देना तथा उपहार लेना, काम सब*
*गेहिनी-वृषभानु करती थीं वहाँ दिन-रात अब।*
*मूर्त मैयामें हुई रहती सरस विस्मृति अजब,*
*जान तक पाती न थी, है बन्धु आया कौन, कब॥*

जिसको जो कुछ भी देना होता तथा जिसका जो उपहार स्वीकार करना होता — यह सब काम वृषभानुगेहिनी ही अब दिन-रात वहाँ करती थीं। मेरी मैयामें तो एक सरस विस्मृति निरन्तर जाग्रत रहती। वह यह बाततक नहीं जान पाती कि कुल-कुटुम्बका कौन व्यक्ति कब आया।

॥८५॥

*देखती रहती मुझे तुमको, बनी प्रतिमा कला,*
*'री! च॰ ने गाय जाऊँ क्या, तनिक बतला, भला।'*
*मैं उसे जब छेड़ता, तब बोलती हँस, 'साँवला*
*लाल! मेरे! पूछ ले, रानी कहे तो जा चला।'*

बस, वह तो मुझे और तुमको, एक कलामयी प्रतिमा-सी बनी रहकर देखती रहती थी । जब मैं जाकर उसे छेड़ता – 'री मैया ! मैं गाय चराने जाऊँ क्या ? तनिक तू बतला तो भला ?' तब वह हँसकर बोलती – 'मेरा साँवला लाल ! तू जाकर कीर्तिदा रानीसे पूछ ले । यदि वे कह दें तो चला जा।'

।।८६।।

*आज है उल्टा हुआ क्रम, तात हैं पालक बने,*
*पालिका मैया बनी है। आठ दिनसे भावने*
*जाल हैं ऐसे बिछाये, भानुगृहके सामने,*
*और अन्दर, जो न देखे थे कभी रवि-चन्द्रने।।*

किन्तु मेरे प्राणोंकी रानी ! यही क्रम आज ठीक उलट गया है । मेरे बाबा तो राजा बने हुए हैं । और आज वृषभानुपुरकी रानी मेरी मैया बनी है । आज आठ दिनोंसे भावने निरन्तर भानु-भवनके सामने, अन्दर, ऐसे जाल बिछा दिये हैं, जिनका दर्शन, और तो क्या – कभी चन्द्र-सूर्यको भी अबतक नहीं हुआ था।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

जिज्ञासाः- उपरोक्त चौपदेमें वर्णित है– **"भावने आठ दिनोंसे निरन्तर भानु-भवनके सामने और अन्दर, ऐसे जाल बिछा दिये थे, जिनका दर्शन सूर्य-चन्द्रको भी अबतक नहीं हुआ था।"** कृपया इसका स्पष्टीकरण करें।

समाधानः- यहाँ श्रीकृष्ण अपनी प्रिया श्रीराधारानीको निकुञ्जसे बृषभानुपुर ले जाकर वहाँ उनके जन्मोत्सवका दर्शन कराके वर्णन बतला रहे हैं। श्रीराधारानीका जन्म तो वैसे रावलग्राममें उनके ननिहालमें हुआ था, किन्तु उनका जन्मोत्सव एवं तत्पश्चात् प्रतिवर्ष उनकी वर्षगाँठ बृषभानुपुरमें मनायी जाती है। श्रीबृषभानुजी एवं श्रीनन्दरायजीकी मैत्री इतनी प्रगाढ़ थी कि श्रीकृष्ण-जन्मोत्सवके समय

नन्दभवन एव गोकुलमें मनाये जानेवाले सभी उत्सवोंकी सब व्यवस्था श्रीबृषभानुजी करते थे। उस समय श्रीनन्दराय सारा राज्यभार, कोषागार एवं अपना सर्वस्व बृषभानुजीको सौंप देते थे एवं स्वयं दासवत् उनके आधीन हुए उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उत्सव मनाते थे। इसी प्रकार श्रीकृष्णजन्मोत्सवके ठीक पन्द्रह दिवस पश्चात् जब राधा-जन्मोत्सव होता तो यही क्रम उलटा हो जाता था। उस समय श्रीनन्दराय बृषभानुपुरके स्वामीवत् सब कार्य सम्हालते और श्रीबृषभानुजी उनके अनुगत हुए रहते थे।

इसी प्रसंगमें आगे श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो राधाजन्मोत्सव बृषभानुभवनके सामने राजपथमें प्रजा द्वारा मनाया जाता है, उसमें प्रजा द्वारा लगातार आठ दिनोंतक जैसा भाव प्रकट किया जाता है, इस प्रकारका भावोत्साह सृष्टिके इतिहासमें कभी नहीं हुआ।

वस्तुतः बात यही है कि बृषभानुपुरकी सम्पूर्ण प्रजा ही परिपूर्ण प्रेम-प्रतिमा है। उनमें पवित्रतम सहज सरलता कूट-कूटकर भरी है। उन सब प्रजाजनोंका जीवन ही पूर्ण भगवत्परायण है। इन सभी गोप प्रजाजनोंमें गुण, ऐश्वर्याभिमान छूकर भी नहीं गया है। वे सब इतने त्यागमय, मधुर स्वभाववाले हैं कि नारदादि ऋषिगण इनका स्वभाव पानेको ललचाते हैं, परन्तु ये गोप-गोपीजन अपनेको सदैव सर्व सद्गुणहीन ही अनुभव करते हैं। अपनेको त्रुटियोंसे भरा समझते हैं, अयोग्य और भोला मानते हैं।

बरसानेके सभी गोप-गोपी प्रजाजन श्रीराधाके जन्मके पश्चात् उसके रूप-गुण-सौन्दर्य-सौशील्यसे इतने मुग्ध एवं अभिभूत हैं कि उसपर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर बैठे हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन ही राधा-प्रेममय हो गया है। वे चलते-फिरते हैं, सोते-जागते हैं, सब व्यवहार करते हैं, किन्तु उनका जीवन- धारण करना अपने लिये नहीं है। वे यह सब-कुछ अपनी पुत्री राधाको सुख

पहुँचानेके लिये करते हैं। वे सदा-सर्वदा यही अनुभव करते हैं कि उनके समस्त मन-इन्द्रिय, अग-अवयव, चित्त-बुद्धि, उनका चेतन-आत्मा उनकी राजकुमारी राधामें ही सलग्न रहे। उन्हें बृषभानुकुमारी राधा एवं उसके संभावी वर नन्दरायके पुत्र श्रीकृष्णके अतिरिक्त किसी अन्यका संकल्प भी कभी नहीं होता।

अत जब श्रीराधाजीकी वर्षगॉठ आती है तो इनके हृदयमें अपने विशुद्ध अनिर्वचनीय प्रेमके कारण ऐसे निर्मलतम पवित्र अनुपम भावोंका उच्छलन होता है, जैसा पवित्र भावोच्छलन सृष्टिके इतिहासमें भी कभी नहीं होता। इनके अन्य राग और काम तो सर्वथा ही जल गये हैं, इनका प्रेम एकान्त परिशुद्ध हो उठा है। अत यह परमोच्च शिखरपर आरूढ़ दिव्य प्रेम पन्द्रह दिन पूर्व तो श्रीकृष्णजन्मोत्सवपर और अव श्रीराधाकी जन्म-वर्षगॉठपर स्वभावत ही ऐसी निर्मल भावोंकी उछालं लेता है, उसमें ऐसी-ऐसी निर्मल उत्ताल तरगें आती हैं कि देखनेवाले सूर्य एवं चन्द्रदेव कृतकृत्य निहाल हो उठते हैं। यही इस चौपदेका भाव है।

## सारिका वदति

।।८७।।

*ऐसे कह हँसते हुए आ तोरणके पास,*
*हुए प्रफुल्लित देखकर अद्भुत भानुनिवास।*

सारिका किञ्चित् रुककर दुगुने उल्लासमें भरकर फिर बोल उठी । इस प्रकार कहकर नीलसुन्दर हँसते हुए तोरणद्वारके समीप आ उपस्थित हुए और वहींसे अद्भुत वृषभानुभवनका दर्शन करके अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठे ।

।।८८।।

*द्वार पाँच फिर पारकर, वे अर्चन-संलग्न*
*थे सब लोग जहाँ, वहीं पहुँचे हो रसमग्न ।।*

इसके पश्चात् पाँच द्वार पार करनेके अनन्तर नीलसुन्दर वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ सब लोग देवाराधनमें संलग्न हैं, उनके आनन्दका पार नहीं रहता है, यह दृश्य देखकर ।

॥८९॥

*लगे निरखने आप ही अपना ही यह रूप।*
*नृपतिसुता सुत-नन्दका नित्य नवीन अनूप॥*

वहीं खड़े-खड़े वे अपने आप ही अपना रूप देखने लग जाते हैं – नन्दपुत्रके रूपको, वृषभानुनन्दिनीके रूपको ! अहा ! सर्वथा अप्रतिम सुन्दर दोनोंका रूप था। दोनों रूप क्षण-क्षणमें नवीन होते जा रहे थे ।

## (तात्त्विक विवेचन–विस्तार)

**जिज्ञासाः-** यहाँ भगवान् नित्यनिकुञ्जेश्वर नीलसुन्दर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा अपना ही नन्दनन्दन एवं कीर्त्तिदाकुमारीका दूसरा रूप कैसे देखते हैं – जब वे स्वयं ही तो उस रूपमें थे। क्या भगवान् भी प्रकाशक एवं प्रकाशके भेदसे अनेक हो सकते हैं ? वेद-प्रतिपाद्य तो यही है कि भगवान्में अंशांशी भाव संभव ही नहीं, क्योंकि पूर्णका अंश भी पूर्ण ही होता है, फिर दो पूर्ण होने कैसे संभव हैं ?

**समाधानः-** सर्वभवनसमर्थ, कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं शक्तिमान् भगवान्के लिये दोनों जगह दो रूपोंमें एक साथ प्रकट होना तनिक भी असंभव नहीं है। जो भगवान् करोड़ों गोपियोंके साथ एक ही समय रासमण्डलमें दो-दो गोपियोंके बीच एक-एक रूपसे प्रकट हो गये थे, द्वारकामें जो हजारों रानियोंके राजप्रासादोंमें प्रत्येक रानीके यहाँ नारदजीको विविध लीला करते दिखाई दिये थे, वे भगवान् एक ही साथ बृषभानुपुरमें भी प्रकट हो सकते हैं और स्वयं नित्यनिकुञ्जेश्वरके रूपमें अपनी प्रियाके साथ अपना

दर्शन करें – यह असंभव सर्वथा नहीं है। श्रीराधाजी अपने दिव्य चिन्मय देहसे गोलोकमें नित्यनिकुंजेश्वर श्रीकृष्णके साथ नित्य लीला करती हुई ही गोकुलमें नन्दयशोदाके यहाँ एवं बृषभानुपुरमें मैया कीर्तिदाके यहाँ जन्म लें –इसमें असंभव कुछ भी नहीं है।

बात यह है कि भगवान् अनिर्वचनीय सर्वतंत्रस्वतंत्र सर्वनियम-बन्धनविनिर्मुक्त हैं। उनकी सब लीला तर्कगोचर नहीं है। वे जो करें, वही नियम होता है।

॥९०॥

*फिर देखी आराधना देवगणोंकी दिव्य।*
*थे कर रहे ब्रजेशसुत पद-पदपर साचिव्य॥*

इसके अनन्तर वे देवगणोंकी दिव्य आराधनाका दर्शन करने लगे । उनका अपना ही रूप – नन्दनन्दन बना पद-पदपर परामर्श कर रहा था ।

॥९१॥

*तत्र राजपुत्रीमंगलकामनया ब्रजेश्वरीभानुपुरेश्वरी-कृत श्रीगणपतिपूजनम्।*

पूजाका क्रम यह था – राजपुत्री वृषभानुनन्दिनीकी मंगलकामनासे ब्रजेश्वरी नन्दरानी एवं भानुपुरेश्वरी श्रीकीर्तिदा महारानीके द्वारा सर्वप्रथम गणेशकी पूजा हुई ।

॥९२॥

*ब्रजेशभानुपुरेशकृतजगद्गुरुश्रीदक्षिणामूर्तिपूजनम् ॥*

फिर ब्रजराज एवं भानुपुरेश महाराज वृषभानुके द्वारा जगद्गुरु श्रीदक्षिणामूर्तिकी पूजा सम्पन्न हुई ।

॥९३॥

*भानुपुरेश्वरकृतस्वकुलदेवीमहामायाजगज्जननीयोगमायाभगवती श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीसमर्चनम् ॥*

तदनन्तर महाराज वृषभानुके द्वारा अपनी कुलदेवी महामाया जगज्जननी योगमाया भगवती श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीका समाराधन हुआ ।

॥९४॥

*व्रजेशभानुपुरेशकृतसाम्बसदाशिवपूजनं श्रीमन्नारायणसमर्हणं च ॥*

व्रजेश एवं भानुपुरेशके द्वारा जगदम्बाके सहित सदाशिवकी अर्चना हुई। और उन्हींके द्वारा श्रीमन्नारायणका समर्हण भी हुआ।

॥९५॥

*भानुपुरेश्वरकृतश्रीसूर्यस्तवनम् ॥*

भानुपुरेश्वर महाराज वृषभानुने श्रीसूर्यका स्तवन किया।

॥९६॥

*व्रजेश्वरीभानुपुरेश्वरीकृतकालिन्दीस्तुतिः ॥*

व्रजेश्वरी नन्दरानी एवं भानुपुरेश्वरी कीर्तिदा महारानीके द्वारा कलिन्दनन्दिनीकी स्तुति हुई।

॥९७॥

*व्रजेशभानुपुरेशकृतश्रीगोवर्धनवन्दनम् ॥*

और अंतमें व्रजेश्वर एवं भानुपुरेश्वरके द्वारा श्रीगिरिराज गोवर्धनकी वन्दना शुरू हुई ।

॥९८॥

*समाप्य*

***चले न्योतने लोग वे अब नृपपुरकी प्रजा,***

***जब आया शुभयोग, पौ बस फटने था लगा ॥***

इस प्रकार अर्चनाका समापन करके अब सभी भानुमहाराजकी प्रजाको निमन्त्रित करनेके लिए चल पड़े। शुभ योग लग चुका था । पौ बस, फटने ही जा रहा था।

॥९९॥

*ब्रजपुरके वे काल-देश देखते बाट हैं-*

*अभी नन्दके लाल करते क्या संकल्प हैं ॥*

सच बात तो यह है कि ब्रजपुरके वे काल और देश प्रतीक्षा करते रहते हैं – अभी-अभी नन्दके लालके मनमें किस संकल्पका उदय हुआ है, वे क्या संकल्प कर रहे हैं ।

॥१००॥

*होते हैं अनुरूप उसके ही ये, हे सखे !*

*रहकर बने स्वरूप गोपतितनया-नाथके ॥*

सारिकाने बड़े स्नेहसे शुककी ओर देखा और पुनः कह उठी – सुनते हो शुक ? नन्दलालके संकल्पके अनुरूप ही ब्रजपुरके देश-काल अपना रूप धारण कर लेते हैं । वे वैसे ही साँचेमें ढल जाते हैं । और यह भी सत्य है कि उनके स्वरूपमें कभी विकृति नहीं होती। वे तो ब्रजकुलचन्द्र नन्दनन्दनके स्वरूप ही जो ठहरे ।

॥१०१॥

*अस्तु, गमनसमये ईदृशी अवस्थितिः*

*सर्वाग्रे साञ्जलिः ब्रजेश्वरः ॥*

अस्तु, चलनेके समय लोगोंकी अवस्थिति निम्नांकित प्रकारसे हो रही है । सबसे आगे अञ्जलि बाँधे ब्रजराज नन्द चल रहे हैं ।

॥१०२॥

*तमनुसरन् तथैव भानुपुरेश्वरः ॥*

ठीक उनका अनुसरण करते हुए वैसे ही अञ्जलि बाँधे महाराज वृषभानु चल रहे हैं ।

॥१०३॥

*तत्पश्चात् निजदक्षिणहस्तं राधिकाकण्ठाभरणं कृत्वा ब्रजेश्वरी ॥*

उनके पीछे अपने दाहिने हाथको नित्यनिकुञ्जेश्वरी

वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके कण्ठदेशका आभूषण बनाये नन्दरानी चली जा रही हैं ।

॥१०४॥

*राधिकायाः दक्षिणपार्श्वे भगिनी मञ्जुश्यामा ॥*

राधाकिशोरीके दक्षिण पार्श्वमें उनकी बहिन मञ्जुश्यामा जा रही है ।

॥१०५॥

*तस्याः दक्षिणे सखीसमाजः ॥*

मञ्जुश्यामाके दाहिने सखियोंका समूह चला जा रहा है।

॥१०६॥

*ब्रजेश्वर्याः वामपार्श्वे नन्दकुलचन्द्रमाः ॥*

ब्रजेश्वरीके वाम पार्श्वमें नन्दनन्दन हैं ।

॥१०७॥

*तस्य वामे श्रीरोहिणी ॥*

नन्दनन्दनसे बायीं ओर श्रीरोहिणी मैया हैं ।

॥१०८॥

*तस्याः वामपार्श्वे बलरामः ॥*

रोहिणी मैयाके वामभागमें श्रीबलराम हैं ।

॥१०९॥

*तत्य वामे श्रीदामा ॥*

बलरामके बायीं ओर श्रीदाम हैं ।

॥११०॥

*तस्य वामपार्श्वे गोपशिशुभिः सह सुबलः मधुमंगलश्च ॥*

उसके वामपार्श्वमें गोप-शिशुओंके साथ सुबल और

मधुमंगल हैं ।

||१११||

*ब्रजेश्वरी अनुसृत्य भानुपुरेश्वरी ।।*

ब्रजेश्वरीके पीछे-पीछे भानुपुरेश्वरी कीर्तिदा महारानी जा रही हैं।

||११२||

*तस्याः वामपार्श्वे कीर्तिः ।।*

उनके वामपार्श्वमें कीर्ति मैया है ।

||११३||

*तस्याः वामे मातुष्च दक्षिणे राधिकापितृव्य गोपपत्न्यः।।*

उनके वाम भागमें तथा कीर्तिदा मैयाके दक्षिण भागमें राधाकिशोरीकी ताई एवं चाची वर्गकी स्त्रियाँ चल रही हैं ।

||११४||

*भानुपुरेश्वरीमनुसृतः राधिकापितृव्यगोपगणः ।।*

कीर्तिदा मैयाके पीछे-पीछे राधाकिशोरीके ताऊ एवं चाचा वर्गके गोपगण हैं ।

||११५||

*तमनुगच्छन्त्यः राजकुलसेविकाः ।।*

इनके पीछे-पीछे चलने वाली राजकुलकी सेविकाएँ हैं।

||११६||

*तत्पश्चात् राजकुलसेवकाः ।।*

सेविकाओंके पीछे राजकुल-सेवक-दल है ।

||११७||

*अष्टमपंक्ति विरचयन् भानुपुरराजमन्त्रिणः वामस्कन्धे हस्तं निधाय भ्रातृभिः सह उपनन्दः।।*

अष्टम पंक्तिकी रचना करते हुए भानुपुर-राजमंत्रीके बायें

कंधेपर हाथ रखकर भाइयोंके साथ उपनन्दजी जा रहे हैं ।

॥११८॥

*तथा राधाकृष्णैकत्वभाक् सन् एवं गच्छन्तं प्रत्येकं जनमेव अनुव्रजन् च सर्वालक्षितश्च नित्यनिकुञ्जेश्वर्या सह श्रीकुञ्जबिहारी ॥*

तथा राधाकृष्णसे सर्वथा एकत्वकी स्थापना किये हुए एव निमंत्रणके उद्देश्यसे जानेवाले प्रत्येक व्यक्तिके ही पीछे-पीछे चलते हुए, फिर भी सबके अलक्षित बने हुए नित्यनिकुञ्जेश्वरीके सहित श्रीकुञ्जबिहारी चले जा रहे हैं।

॥११९॥

*गणनामें थीं गाय सबसे कम जिसके यहाँ,*
*पहुँचे गोकुलराय मण्डल ले पहले वहाँ॥*

इस प्रकार चलते हुए जिस गोपके घर गायोंकी संख्या सबसे कम थी, उसके निवासस्थलपर नन्दरायजी सम्पूर्ण मण्डलीको लिये हुए जा पहुँचे ।

॥१२०॥

*भावकी कुञ्जेश्वरी-उरमें इधर धारा बही-*
*हैं खड़े प्रियतम, लगीं वे देखने सर्वत्र ही।*
*और है कुछ भी नहीं, थी वृत्ति ऐसी हो रही,*
*पीत तनका रंगतक था होगया साँवर सही॥*

उस ओर कुञ्जेश्वरी राधाके हृदयमें भावकी एक नयी धारा बह चली । राधाकिशोरी अनुभव करने लगीं कि सर्वत्र ही केवल-केवल प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर ही खडे हैं और यहाँ कुछ भी नहीं है – किशोरी इस वृत्तिमें परिनिष्ठित हो जाती हैं । बड़े अचरजकी बात यह थी कि राधाकिशोरीके श्रीअंगका पीतवर्णतक सचमुच श्यामवर्ण हो गया ।

।।१२१।।

*फिर हुआ यह भान, मेरे पास तो वे एक हैं,*
*और हो अगणित अकेले नीलसुन्दर नाथ हैं।*
*झूमते-से जा रहे आनन्दमें वे मत्त हैं,*
*भानुपुरका गाँव है, अब रुक गये, पर मौन हैं।।*

अस्तु, फिर राधाकिशोरीको अनुभव होने लगा कि एक रूपसे तो ये मेरे पास ज्यों-के-त्यों खड़े हैं और ये ही मेरे प्राणनाथ आज तो अगणित होकर स्वयं अपने रूपमें ही अकेले विराजित हो रहे हैं ! और देखो – आनन्दमें मत्त होकर झूमते-से चले जा रहे हैं । सामने भानुपुरका गाँव है । इसीके सामने आकर अब वे रुक गये हैं, चलना स्थगित कर दिया है; पर बोल कुछ भी नहीं रहे हैं – मौनव्रत धारण कर लिया है इन्होंने !

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

इस समग्र वर्णनमें निकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण एवं निकुञ्जेश्वरी श्रीराधाके तीन रूपोंका एक ही साथ वर्णन है। इसे ध्यानमें रखें। प्रथम तो श्रीकृष्णकी ही गोदमें श्रीराधा विराजित हैं और उन्हें निद्रा-सी आने लगती है। वे श्रीराधा श्रीकृष्णकी गोदमें स्वप्न देखने लगती हैं। दूसरे स्वप्नमें प्रकट श्रीकृष्ण भी स्वप्नकी ही भानुदुलारीके केश सँवारते हैं, और केश सँवारते-सँवारते उठकर कहने लगते हैं कि 'प्रियतमे राधे ! आज बृषभानुपुरमें तुम्हारा जन्मदिवस मनाया जा रहा है, वहाँ चलकर उसकी शोभा देखें।' अब स्वप्नके ये राधा-कृष्ण पुनः बृषभानुपुरमें जन्मोत्सवके समय अपना ही नन्दतनय एवं बृषभानुकिशोरीका रूप देखकर मुग्ध होते हैं – इस प्रकार यहाँ तीन रूपोंमें प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-कृष्ण अपने आपको ही देख रहे हैं। इन उपरोक्त दो चौपदोंमें दूसरे अर्थात् स्वप्नमें देखे जानेवाले उन प्रिया-प्रियतमकी दशाका

वर्णन है, जो बृषभानुपुरकी प्रजाके उत्सवमें नन्दरानीके बायीं ओर चलनेवाले श्रीकृष्णको देख रहे हैं। उनका वर्णन नहीं है जो अपनी प्रजाको अपने माता-पिताके साथ निमंत्रण देने जा रहे हैं। इसे ध्यानमें रखें।

॥१२२॥

*इतने बोले श्याम, देखो तो, हे प्रियतमे !*

*देती हैं ब्रजबाम तुमको क्या उपहारमें ॥'*

उस ओर इतनेमें ही नीलसुन्दर राधाकिशोरीके स्कन्ध-देशको हिलाकर बोल उठे – 'प्रियतमे ! देखो, सही ! ब्रजसुन्दरियाँ उपहारमें तुमको क्या दे रही हैं, भला !'

॥१२३॥

*केवलं त्वां एव अहं पश्यामि इति वदन्तीं प्रियतमां प्रति प्रियतमस्य उक्तिः -*

*तव लोचनयोश्च रोमकूपे निखिले भावमयेऽहमेव वर्त्ते ।*

*अतएव मदेकदृष्टिभक्ता भवसीहापि पितुः पुरेऽद्य कान्ते ॥*

राधाकिशोरी अविलम्ब ही उत्तर देती हुई बोल उठी – "प्राणरमण ! मैं तो केवल-केवल-केवल तुमको ही देख पा रही हूँ।" प्रियतमाको इस प्रकार बोलते देखकर प्रियतमासे प्रियतम नीलसुन्दर कह उठते हैं – 'प्राणप्रिये ! देखो, तुम्हारी आँखोंमें, तुम्हारे सम्पूर्ण रोमकूपमें भावका समुद्र लहरा रहा है। सर्वथा भावमयी तुम बन गयी हो। और इसीलिये अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें तुम्हारी दृष्टिमें केवल मैं-ही-मैं विराजित हूँ। तुम्हारी ऐसी ही दृष्टि आज अपने पिताके राज्यमें– पिताके गाँवमें इस समय भी हो रही है ।

॥१२४॥

*तथापि मत्सुखार्थमेव मन्निगदितं श्रोतुं स्वल्पांशं द्रष्टुं च अर्हसि इति ॥*

तथापि मुझे सुख देनेके लिए ही मेरी कही हुई बातोंको

तुम्हे सुन लेना चाहिए और उसका कुछ अंश अपनी आँखोंसे देख भी लेना चाहिये ।

॥१२५॥

*सुख अपार है हो रहा, आज हुआ कृतकृत्य,*
*प्राणेश्वरि, हे प्रियतमे, देख चरित यह भृत्य ॥*

प्राणोंकी रानी ! मुझे अपार सुख हो रहा है। आज मैं कृत्यकृत्य हो गया । मैं तो तुम्हारा भृत्य हूँ, यह चरित्र देखकर आज तुम्हारा यह भृत्य धन्य हो गया, प्रियतमे !

॥१२६॥

*भले न देखो चित्र, अंकित हूँ जो कर रहा ।*
*वर्णन अतुल पवित्र सुन भर लो करके कृपा ॥*

प्रियतमे ! हमारे सजाए हुए दृश्योंको तुम भले मत देखो, किन्तु कृपा करके इसका अत्यन्त पवित्र वर्णन तो सुन ही लो ।'

॥१२७॥

*तदनन्तरं प्रियतमासम्मतिं निरीक्ष्य राजपुत्रीदर्शनेन प्रजाजनभाववैक्लव्यं तत्पश्चात् विस्तारेण उत्सवदशां वर्णयति॥*

इसके पश्चात् प्रियतमा राधाकी सम्मति देखकर वहाँ राजपुत्रीका दर्शन करनेसे वृषभानुपुरकी प्रजामें भावोंकी कैसी विकलता प्रकट हुई थी, इसे वर्णन करनेके अनन्तर विस्तारसे सम्पूर्ण उत्सवके विभिन्न दृश्योंका नीलसुन्दर वर्णन करने लगते हैं।

॥१२८॥

*त्रयोदशी पर्यन्तम् ॥*

त्रयोदशीपर्यन्त कैसे क्या हुआ था, सब सुना जाते हैं।

॥१२९॥

*सम्वर्ण्य प्रत्यावर्तनकाले पथि कथयति - 'प्राणेश्वरि ! स्मरसि किं पुरोवर्तिनौ ग्रामकासारौ?'*

*ग्राम है यावट यही, जिसमें रही तुम दग्ध थी,*
*आँचमें उस आगकी, जिसकी न है उपमा, न थी।*
*योगमायाकी रची सौ वर्षकी वह रात थी,*
*शोकसे निकली हुई ही आह* बनती गीत थी।।*

*इसी आह*पर एक हजार एक सौ ग्यारह (१११९) चौपदोंकी पू. गुरुदेव द्वारा रचित टिप्पणी है जो ग्यारह(११) शतकमें विभक्त (प्रियतम काव्य)के रूपमें प्रकाशित है। इस रचनाका अर्थ एवं विवेचनयुक्त टिप्पणियों सहित पृथक् ग्रन्थमें प्रकाशन किया जा रहा है।*

यह सब सुना लेनेके अनन्तर जब वे पुनः निकुञ्जकी ओर लौटने लगते हैं तब प्रियतमा राधासे सहसा कह उठते हैं – 'प्राणेश्वरी ! राधे !! वह जो सामने ग्राम एवं तालाब दीख रहा है, उनकी बातें तुम्हें स्मरण हैं ? हृदयेश्वरी ! यही वह जावट ग्राम है, हाय रे ! यहाँ रहकर तुम ऐसे जल रही थीं, आगकी ऐसी लपटें तुम्हें घेरे हुई थीं, जिसकी उपमा न तो अबतक हो सकी है, न है। ओह ! योगमायाके द्वारा निर्मित उस समय सौ वर्षकी वह विपत्तिकी रात्रि थी। शोकसे जल-जलकर तुम्हारे मुँहसे निकली हुई आह ही गीत बन जाती थी भला !'

।।१३०।।

*ततो यमुना तीरं प्राप्य वटकुट्टिमे उपविष्टस्य 'प्राणेश्वर क्वगता मम जननी तातश्च कुत्रास्ति, क्व च ममानुजा वर्तते' इति पृच्छन्तीं प्रियतमां प्रति प्रियतमस्योक्तिः -*

*कीर्तिदा वृषभानु एवं मञ्जुकृष्णा नामकी।*
*जो कनिष्ठा है सुता वृषभानुपुरके ईशकी,*
*हूँ बना मैं, प्रियतमे ! सब वस्तुएँ भी गोष्ठकी।*
*नित्य हैं कृति इन चरण-अम्भोजके इस दासकी।।*

इसके अनन्तर यमुनातीरकी वटवेदीके समीप नील-गौर

दम्पत्ति पहुँचते हैं, विराज जाते हैं। उसके आलबालके समीप ही दोनों चकित-सी हुई प्रियतमा राधा-प्राणरमण नीलसुन्दरसे पूछ बैठती हैं – "प्राणरमण ! मेरी मैया कहाँ चली गयी ? मेरे बाबा कहाँ हैं ? और कहाँ मेरी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा है ? इस प्रकार पूछती हुई प्रियतमा राधाके प्रति नीलसुन्दर रहस्योद्घाटन करते हैं – 'हृदयेश्वरि ! कीर्तिदा महारानी, महाराजा वृषभानु और मञ्जुकृष्णा नामकी जो वृषभानु महाराजकी छोटी पुत्री है – यह सब मैं ही तो बना हुआ हूँ। प्रियतमे ! सुनो, गोष्ठकी सब वस्तुएँ, तुम्हारे चरण-सरोरुहका नित्यदास जो मैं हूँ, उसीकी तो नित्यकृति हैं ।'

।।१३१।।

*यथा बृहत्सानुपर्वतराज्याधिपतिमहीभानोः तस्य अर्धांगिन्याश्च सुषमायाः सुखदेति च ख्यातायाः रावलेशस्य च बिन्दोः तत्पत्न्याश्च ज्योतिः इति नामभूषितायाः बाल्यतः सर्वत्र मुखरेति परिचितायाः शरीराणि अधिष्ठाय चिन्मयत्वं सम्पाद्य स्वयमेव वृषभानुरूपे कीर्तिदारूपेण च समभवत् इति आरभ्य गोष्ठलीलां वर्णयति ।।*

जैसे वृहत्सानुपर्वतके राज्याधिपति महीभानु, उनकी अर्द्धांगिनी सुषमादेवी – सुषमाको ही सुखदा भी कहकर लोग पुकारते हैं – तथा उस ओर रावलके राजा बिन्दु महाराज, उनकी पत्नी – जो ज्योति नामसे परिचित हैं, किन्तु बचपनसे सब कोई उसे मुखरा कहकर पुकारते हैं – इन सबके शरीरमें अधिष्ठित होकर, उनके शरीरोंको चिन्मयत्व प्रदानकर, स्वयं नीलसुन्दर ही वृषभानुरूपसे, कीर्तिदा महारानी रूपसे, आविर्भूत हो गये थे – यहाँसे आरम्भकर नीलसुन्दरने विस्तारसे सम्पूर्ण गोष्ठ-लीलाका वर्णन कर दिया ।

।।१३२।।

*सम्वर्ण्य प्रियतमां आश्लिश्य कथयति – प्राणेश्वरि ! पश्य –*

*आकुल हो उस कुंजमें जय-जय करती गान ,*
*है पुकार तुमको रही सारी भरकर तान ।।*

इस प्रकार वर्णन करके प्रियतमाको अंकसे लगाकर नीलसुन्दर कहते हैं – प्राणेश्वरी ! देखो उस कुञ्जमें आकुल होकर 'जय'जय' का रव भरती हुई, तान लेकर गाती हुई वह सारिका तुमको पुकार रही है ।

## (तात्त्विक विवेचन-विस्तार)

**जिज्ञासाः-** चौपदे एक सौ तीस तथा एकसौ इकतीसमें श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'कीर्त्तिदा महारानी, महाराजा बृषभानु और मञ्जुकृष्णा नामकी बृषभानु महाराजकी छोटी पुत्री मैं ही बना था। मैंने ही राज्याधिपति महीभानु, उनकी धर्मपत्नी सुषमा, रावलके राजा बिन्दु, उनकी धर्मपत्नी सुषमा, रावलके राजा बिन्दु, उनकी पत्नी ज्योति (मुखरा) को चिन्मयत्व प्रदानकर उनके घरमें बृषभानु एवं कीर्त्तिदाके रूपमें जन्म लिया था'' – इस तथ्यपर कृपया प्रकाश डालें। इसी ग्रन्थमें यह तथ्य अनेक स्थानोंपर उल्लिखित है कि श्रीराधाकृष्ण ही परात्पर परम तत्व हैं। सृष्टि तो ब्रह्माजी द्वारा होती है, परात्पर परम तत्व तो निष्परिणामी निर्विकल्प निर्विकार है, फिर श्रीकृष्ण यह सृष्टि कैसे करते हैं ? ***''नित्य है कृति इन चरण-अम्भोजके इस दासकी''***–इस उक्तिपर कृपया प्रकाश डालें।

**समाधान :-** भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णतम हैं। भगवान् जब अपने अशेष गुणोंको प्रकट करते हैं तब वे 'पूर्णतम' कहे जाते हैं; जब सब गुणोंको प्रकट न करके बहुत-से गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्णतर' और जब उनसे भी कम गुणोंको प्रकट करते हैं तब 'पूर्ण' कहलाते हैं। भगवान्के पूर्णावतारमें भी उनकी अपनी इच्छासे बहुत सी शक्तियाँ सन्निहित रहती हैं। ये शक्तियाँ क्या हैं ? ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा, तेज आदि गुण ही भगवान्की शक्तियाँ हैं । भगवानका

श्रीकृष्णावतार तो पूर्णतम होनेके कारण सर्वशक्ति-निकेतन अवतार था। इसे एक अंशमें तो 'अवतार' कहना ही युक्तिसंगत नहीं है। यह तो परिपूर्णतम भगवान्का स्वयंका आविर्भाव ही था। ये श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, परमात्मा हैं, और ब्रह्म भी हैं। इसीलिये भगवान्में परिपूर्णतम ज्ञान, परिपूर्णतम शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज सदैव स्वरूपतः वर्त्तमान है।

भगवान्का ऐसा पूर्णतम आविर्भाव बहुत कम ही हुआ करता है। इन भगवान्में जबतक पूर्ण आनन्द (रस), पूर्ण भोक्तृत्व, पूर्ण कर्तृत्व, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण ज्योति, पूर्ण शक्ति, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण अदोषदर्शित्व और पूर्ण विरुद्धशक्तित्व नहीं होता, वह पूर्णतम नहीं होता।

इसीलिये ये श्रीभगवान् अकर्त्ता होकर भी कर्त्ता हैं। अभोक्ता होकर भी सर्वभोक्ता हैं। वे पूर्ण परात्पर ब्रह्म ही नहीं, ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा, सर्वथा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, फिर भी उनका स्वरूप और आकार प्राकृत मनुष्यका सा दिखता है। वे स्नान, भोजन, शयनादि करते हैं। वे सर्वभवनसमर्थ हैं। वे चाहे जो कर सकते हैं, चाहे जैसे बन सकते हैं।

निर्विशेष, निराकार, निर्विकल्प, निर्विकार परब्रह्म और श्रीकृष्णमें वैसा ही एकत्व है जैसा किरणोंमें और सूर्यमें है। श्रीकृष्ण इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें अपना परिचय देते हुए स्वयं अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा बतलाते हैं। वे विश्व स्रष्टाओंके भी स्रष्टा हैं – यह चमत्कारी कर्तृत्व वे अपनी ब्रह्ममोहनलीलामें सिद्ध कर चुके है। । उन्हें एक क्षण भी नहीं लगता, लव मात्र काल पूर्ण नहीं हो पाता कि वे ब्रह्माजीके सम्मुख अपना ऐसा योगवैभव प्रदर्शित करते हैं कि कलिन्दकन्याके शुभ्र पुलिनपर वैसे-के-वैसे सम्पूर्ण सखा, गोवत्स तथा समस्त लीला-उपकरण प्रकट हो जाते हैं। ब्रह्माजीके द्वारा अपहृत गोपशिशु और गोवत्स तो वैसे ही

शिलाखण्डसे ढकी गुफामें उनकी मायासे अभिभूत पड़े रहते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण अपने आपको ही ठीक उतनी ही संख्यामें प्रकट कर देते हैं। केवल संख्या ही नहीं, इन गोप-शिशुओंकी, गोवत्सोंकी ऊँचाई, लम्बाई, उनका परिमाण, उनके कर-चरण ठीक पूर्ववत् ही होते हैं। उनके जिन-जिन अंगोंमें जो-जो किसलय-कुसुम आदिके आभूषण थे, इन सबके अंगोंमें भी वैसे ही आभूषण परिशोभित होते हैं। कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि भगवान्‌के लिये किसी भी वस्तुकी रचना करना कुछ भी कठिन नहीं है। वे सर्व कर्त्तुम्-समर्थ हैं, सर्व अकर्त्तुम्-समर्थ हैं और सर्व अन्यथा-कर्त्तुम्-समर्थ हैं। उनमें अनन्त क्रियाशक्ति प्रतिक्षण वर्त्तमान रहती है। ***'सर्वं खल्विदं कृष्णः'*** का अर्थ ही यही है कि जो कुछ, जहाँ, जैसी भी व्यक्त, अव्यक्त शक्ति है सब सर्वशक्तिमान श्रीकृष्णकी ही है। वे इसे स्वीकार किये रहें अथवा उससे सर्वथा असंग होकर अपने विशुद्ध आनन्दस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहें – यह उनकी सर्वतंत्र स्वतंत्र इच्छा, संकल्पशक्तिपर निर्भर है। वे अपने संकल्पसे सब करने, होनेमें पूर्णतया समर्थ हैं। उनका सर्व शास्त्रोक्त चरित्र यही सिद्ध करता है। इसी शक्तिके प्रकाशसे भगवान् श्रीकृष्ण यदि महीभानु आदि गोपोंको चिन्मयत्व दानकर और उनके यहाँ बृषभानु महाराज अथवा महाराज विन्दुके यहाँ कीर्तिदाके रूपमें अपनेको प्रकट कर दें तो इसमें असंभव कुछ भी नहीं है।

दूसरे पिता-माता पुत्रका जगत्‌में प्रकाश करते हैं, इसीसे वे पुत्रके प्रकाशक कहे जाते हैं। भगवती श्रीराधा तो भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं। उनके प्रकाशक तो स्वयं भगवान् ही संभव हैं। फिर भगवान् तो स्वप्रकाश हैं। उनका प्रकाश भला अन्य कौन कर सकता है। क्योंकि भगवान्‌की स्वप्रकाशिका शक्ति ही भगवान्‌का प्रकाश कर सकती है, अतः बृषभानुजी एवं माता

कीर्त्तिदा दोनों ही भगवान्‌की स्वप्रकाशिका सच्चिदानन्दमयी शक्ति ही थे – यही सिद्ध होता है । फिर इनको जन्माने वाले महीभानु-सुखदा अथवा बिन्दु-मोक्षदामें चिन्मयत्व नहीं होगा तो भगवान्‌की बृषभानु एवं कीर्तिदाके रूपमें अभिव्यक्त स्वप्रकाशिका शक्ति इनसे अवतरित कैसे होगी ? अस्तु, यही सिद्ध होता है कि भगवान् द्वारा अवतार लेनेके दो पीढ़ी पूर्व से ही चिन्मयत्वका प्रकाश उन पुरुषोंमें हो जाता है, जिनके वंशमे भगवान्‌का आविर्भाव होना होता है। श्रीकृष्ण अपनी उक्ति द्वारा इन चौपदोंमें यही सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे हैं।

॥१३३॥

*पुनरत्रागमनम् ।*

सुनते ही प्रियतमा चल पड़ती हैं और कुञ्जमें पदार्पण करती हैं ।

॥१३४॥

*भावाविष्टनिजस्वरूपदर्शनम् ॥*

पहुँचते ही अपने ही भावाविष्ट स्वरूपपर दोनोंकी दृष्टि चली जाती है।

॥१३५॥

*हँसकर दोनों आ मिले इनमें ही अविलम्ब,*
*और खुले प्रियतम-नयन बन मेरे अवलम्ब ॥*

दोनों ही हँसकर अविलम्ब उसी स्वरूपमें जा मिलते हैं । बस, प्रियतमकी आखें खुल जाती है । कातर सारिकाको अवलम्ब प्राप्त हो जाता है।

॥१३६॥

*थे वे हुए अधीर जैसे श्रीमुख देख, फिर*
*जगीं स्वामिनी, कीर ! हैं तुमने देखे स्वयं ॥*

सारिका उल्लासमें भरकर कहने लगती है – 'तोता ! अहो ! फिर वे प्रियतमाका श्रीमुख देखकर जैसे अधीर हो उठे थे और इसके अनन्तर जिस भाँति स्वामिनी जग उठी थी – यह सब तो तुमने स्वयं देखे ही हैं ।'

॥१३७॥

*तर्हि दम्पतिदृष्टमिदं किं सर्वथा स्वप्नवत् मिथ्याएव इति पृच्छन्तं शुकं प्रति सारिकोक्तिः -*

*जिस समय ये देखते हैं, कीर ! जो, सब सत्य है,*
*सत्यमय इनमें प्रतिष्ठित भूत और भविष्य है ।*
*सत्यका संकल्प भी प्रत्येक उसका रूप है,*
*है न उससे भिन्न वह, सर्वांशमें ही आप है ।*

'तो क्या दम्पतिके द्वारा देखी हुई ये सब बातें स्वप्नवत् मिथ्या है ? – शुक तुरन्त ही इस भाँति प्रश्न कर उठा और उसके उत्तरमें सारिका बोल उठी – 'कीर ! देखो, दम्पति स्वयं नित्य सत्य है, सत्यमय इनमें ही भूत और भविष्य – दोनों ही प्रतिष्ठित हैं । सत्यका प्रत्येक सकल्प भी उसका रूप ही होता है, भला ! वह उससे भिन्न कदापि नहीं है । सर्वांशमें वह आप-ही-आप नित्य विराजित है ।'

॥१३८॥

*सारिकावचनश्रवणेन शुकस्य भावसमाधिः ॥*

सारिकाके वचन श्रवणमात्रसे शुक भावसमाधिमें डूब जाता है।

॥१३९॥

*प्रियतमस्य शुकं गृहीत्वा निजांके स्थापनम् ॥*

नीलसुन्दर प्रियतम शुक पंछीको उठाकर अपने अंकमें विराजित कर लेते हैं ।

॥१४०॥

*राधिकावतु स्वप्नस्था श्रीकृष्णं दयितावेशम् रक्षतु मञ्जुश्यामायाः रूपकृद् वल्लभाकेशम् । सारिकायाः नित्यनिकुञ्जेश्वरी चिकुरैकत्वम् ॥*

सहसा सारी बोल उठी – 'स्वप्नावस्थामें अवस्थित राधिका दयिता-वेशमें विराजित श्रीकृष्णकी रक्षा करें । मञ्जुश्यामाका रूप धारण करने वाले नीलसुन्दर वल्लभाके कुन्तलोंकी रक्षा करें – इस प्रकार कहती हुई सारिका नित्य निकुञ्जेश्वरीके चिकुरमें समा जाती है । उनसे एकतालाभ कर लेती है।

॥१४१॥

*तदनन्तरं एव शुकस्य प्रियतमकुन्तलमयत्वम् ॥*

उसके अनन्तर तुरंत ही शुक पक्षी नीलसुन्दरके कुन्तलोंमें समा जाता है । उन कुन्तलोंसे एकत्व प्राप्त कर लेता है ।

॥१४२॥

*है नहीं श्रोता वहाँ कोई, न अब है नायिका,*
*मात्र वे प्रियतम विराजित और हैं प्राणाधिका ।*
*है तनिक अन्तर रहीं हैं देख पट-अपसारिका ।*
*कृष्ण हैं राधा बने, माधव बनी हैं राधिका ।*

अब वहाँ कोई श्रोता नहीं है । और न अब कोई गायिका है । केवल मात्र प्रियतम नीलसुन्दर और प्राणाधिका श्रीराधा ही विराजित हैं । हाँ, तनिक-सा अन्तर अवश्य है, पर इसे एकमात्र पट-परिवर्तन करने वाली अघटघटनापटीयसी योगमाया देख रही हैं – नीलसुन्दर कृष्ण तो राधा बने हुए हैं और राधाकिशोरी माधव बनी हुई हैं ।–

# गीतावाटिका,गोरखपुरका राधाष्टमी–महोत्सव एवं उसकी परंपरा

## छठा अध्याय

पिछले अध्यायमें जो श्रीराधा-जन्म-महोत्सवका वर्णन किया गया है, इस सम्पूर्ण लीलाकी स्फूर्ति पू.गुरुदेवको सन १९५७ ई. के राधाष्टमी-महोत्सवपर रतनगढ(राजस्थान)में हुई थी। चिन्मय बृषभानुपुरमें राधा-वर्षगाँठका जो उत्सव बीस दिवसतक चला, उसे पू.गुरुदेव अपने रतनगढ़ प्रवासकालमे अनवरत छः माहतक देखते रहे। पू.गुरुदेवको प्राकृत कालके दिन-रातका भान ही उन दिनों लुप्त हो गया था। अतः पूरे छः माह पू.गुरुदेव इसी लीलाके दर्शनमें निमग्न रहे।

पू.गुरुदेव सन् १९४०ई. से ही भाद्रपद शुक्ला अष्टमीके मध्याह्नमें राधा-जन्म-महोत्सव मनाते आये थे। दो-तीन वर्ष तो यह उत्सव पू.गुरुदेव द्वारा उनके भावराज्यमें मानसी रूपमें ही मनाया गया, उसके पश्चात् इसका विस्तार होता गया। आगे जाकर तो इस उत्सवमें दो-तीन हजार व्यक्ति सम्मिलित होने लगे। लगभग सत्तावन वर्षोंसे यह उत्सव गीतावाटिका, गोरखपुरमें अनवरत मनाया जा रहा है।

## ललिता-जन्मोत्सव

ललिता-जन्मोत्सवका आयोजन गीतावाटिकामें भाद्रपद शुक्ला षष्ठीको होता था। पाँच हजार वर्ष पूर्व इसी दिवस बृषभानुपुरके समीप ही एक पहाडीकी तलहटीमें बसे ऊँचेगाँव नामक स्थानमें पिता सत्यभानु (विशोक)के घर माता शारदाकी कोखसे भगवती ललिताका प्राकट्य हुआ था। श्रीललिताजीकी माता शारदा थी, जो कीर्तिदा मैयाकी मौसेरी बहिन थी। सखी ललिताके जन्मका संक्षिप्त वर्णन हम पीछेके अध्यायोंमें पढ़ चुके हैं। निकुञ्जमें सखीरूपमें श्रीराधाकी सेवार्थ भगवती त्रिपुरसुन्दरीका ही श्रीललिता रूपमें अवतरण है। श्रीराधाकी सखियोंमें ये ही प्रधान सखी हैं । ये बहुत ही उदार स्वभावकी हैं। प्रकारान्तरसे राधारानीकी समस्त लीलाओंकी परम अध्यक्षा ये ही हैं। निरन्तर वाम्य एवं प्रखरताका एक अद्भुत सम्मिश्रण इनकी चेष्टाओंमें परिलक्षित होता

रहता है। जिस भाँतिसे अधिकाधिक रसपोषण संभव है, उसी प्रकारकी चेष्टाओंसे परिव्याप्त रहकर ये प्रिया-प्रियतमका आनन्दवर्धन करती रहती हैं। ये निकुञ्जमें प्रिया-प्रियतमकी ताम्बूल-सेवा करती हैं। वैसे पुष्प-वितान, पुष्पमण्डल, पुष्पछत्र, पुष्पशय्या, पुष्पगृह आदिकी रचनामें भी ये अत्यन्त निपुण हैं। विविध इन्द्रजालकी ये पंडिता हैं एवं पहेली-अवधारणामें इनके समान निकुञ्जमें कोई नहीं है।

निकुञ्जलीलामें इन ललिताजीकी आयु चौदह वर्ष, तीन महीने और बारह दिनकी रहती है। ये वीणा बजानेमें अति कुशल हैं। भैरव, कालिंगड़ा राग इन्हें अत्यधिक प्रिय है। ये मयूरपिच्छाभ वस्त्र पहनती हैं एवं इनका रंग ललाई लिये विद्युद्वर्ण है। इनके कुञ्जसे गोरोचन-सी कान्ति सर्वत्र प्रकीर्ण होती रहती है।

सखी ललिता विशुद्ध खण्डिता भावकी मूल स्रोत हैं। अतीत, वर्तमान एवं भविष्यमें प्रवाहित खण्डिता भावकी प्राकृत धारा इनके विशुद्ध रसमय, चिदानन्दमय भावकी ही छाया है। अवश्य ही इनमें जो खण्डिता भाव है, वह अपने स्वयंके निमित्तसे व्यक्त नहीं होता। भानुकिशोरी श्रीराधा एवं श्रीकृष्णचन्द्रके निर्दिष्ट सम्मिलनमें विलम्ब होनेपर ही इस दिव्य भावका उन्मेष इनमें प्रायः होता है।

निकुञ्जलीलामें प्रिया-प्रियतमकी सेवामें इनकी तीन प्रधान सहायिकाएँ रहती हैं– (१) अनंगमञ्जरी (श्रीराधारानीकी छोटी बहिन, जिनका दूसरा नाम मञ्जुकृष्णा, मञ्जुश्यामा भी है) (२) लवंगमञ्जरी, (३) रूपमञ्जरी।

इनके अतिरिक्त इनकी आठ प्रधान सखियाँ हैं – (१) रत्नप्रभा, (२) रतिकला, (३) सुभद्रा, (४) भद्ररेखिका, (५) सुमुखी, (६) धनिष्ठा,(७) कलहंसी, (८) कलापिनी।

इनका जन्म भाद्रपद शुक्ला षष्ठीको सूर्योदयके ठीक दो घडी (अड़तालीस मिनट) पश्चात् होता है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा गीतावाटिकामें षष्ठीके दिवस प्रातःकाल ही यह उत्सव मनाया करते थे। गीतावाटिकामें सूर्योदयके दो घडी पश्चात् यह पूजा सम्पन्न होती थी। श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगला (पू.पोद्दार महाराजके जामाता) भगवती ललिताके प्रच्छन्न-रस-सम्पुटित खण्डिताकी छाया लिये जगज्जननी रूपकी षोडशोपचारसे पूजा किया करते थे। इस पूजाके पश्चात् श्रीललिताजीकी बधाईके पद गाये जाते थे। तत्पश्चात् **'जय राधे जय**

जय ललिते' का नाम-संकीर्त्तन हुआ करता था।

## विशाखा-जन्मोत्सव

इसी प्रकार दूसरे दिवस सप्तमीके दिन विशाखाजीका जन्मदिवस भी मनाया जाता था। श्रीविशाखाजीका जन्म ठीक उसी समय हुआ था, जिस समय श्रीराधाजीका जन्म हुआ था। किन्तु यह मान्यता गौडीय सन्तोंकी है। श्रीवल्लभ सम्प्रदायके वैष्णव इनका जन्म सप्तमीको ही मानते हैं। पू.गुरुदेव अपने भावसे तो गौड़ीयोंकी मान्यता स्वीकारते थे, परन्तु सप्तमीको प्रातः श्रीविशाखाजीकी बधाईके पद अवश्य सुना करते थे।

श्रीविशाखाजीके पिताका नाम पावन एवं माताका नाम सुदक्षिणा था। एक भिन्न मतसे इनके पिताका दूसरा नाम गुणभानु एवं माताका नाम गुणकला भी था।

श्रीविशाखाजीका जन्म कामेई ग्राममें हुआ था। इस ग्रामका प्राचीन नाम कामनावन था। इनकी भी अंगकान्ति विद्युत् जैसी है, किन्तु ललिताजीकी विद्युत्प्रभ कान्तिमें किंचित् कुमकुम जैसी लालिमा निहित रहती है एवं इनकी अंगकान्तिमें तारकावलीकी तरह शुभ्रता भरी रहती है। इनका परिधान भी तारावलीप्रभ शुभ्र है। इनके कुञ्जका नवघनश्यामवर्ण है।

कर्पूर आदि विविध सुगन्धित द्रव्योंसे प्रिया-प्रियतमके अंगोंमें विलेपन करना इनकी सेवा है। इस विलेपनके निर्माणकी भी ये विशेषज्ञ हैं।

इनका स्वाधीनभर्तृका भाव है। दूसरे शब्दोंमें यों कहें कि इस भावकी अप्राकृत चरम परिणति इनमें ही है। विश्वसृष्टिमें यह भाव यदि कहीं दृष्टिगोचर होता है तो उसकी मूल उद्गमस्थली ये ही हैं। अतीत एवं अनागत विश्वमें स्वाधीनभर्तृका भावका उन्मेष इनकी सत्तापर ही अवलम्बित है।

इन्हें सारंग राग बहुत प्रिय है और मृदंग इनका प्रिय वाद्य है। निकुञ्जलीलामें इनकी आयु चौदह वर्ष दो माह पन्द्रह दिनकी रहती है। प्रिया-प्रियतमकी सेवामें इनकी तीन मुख्य सहयोगिनी रहती हैं – (१) मधुमतीमंजरी, (२) रसमञ्जरी, (३) गुणमञ्जरी। इनकी आठ सखियोंके नाम निम्न हैं – माधवी, मालती, चन्द्ररेखिका, कुञ्जरी, हरिणी, चपला, सुरभि, शुभानना।

इनके पिता महान् विद्वान हैं। ये स्वयं भी पूर्ण विदुषी हैं। इनका परामर्श

कभी व्यर्थ नहीं जाता। ये अत्यन्त परिहास-कुशल हैं। प्रिया-प्रियतमके मिलनकी विविध युक्तियाँ, नव-नव रसास्वादनके उपाय ये सोचती ही रहती हैं।

प्रिया-प्रियतमके अंगोंमें पत्रावली आदिकी रचना करनेमें, मालाके संयोगसे विचित्र शिरोभूषण प्रस्तुत करनेमें, विचित्र सर्वतोभद्र निर्माण करनेमें, मण्डल आदिकी रचना करनेमें, विविध सूत्रोंको लेकर वस्त्रोंपर जीवन्त चित्र, बेलबूटे निकालनेमें ये बहुत ही प्रवीण हैं। वस्त्रोंकी वल्लरी, वृक्षावलीपर वृन्दादेवीकी जिन-जिन सखियोंका अधिकार है, वे सभी इनके आदेशसे ही काम करती हैं।

पू.गुरुदेवका मानसोत्सव तो भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदासे ही प्रारभ हो जाता था। पू.गुरुदेवके भावानुसार रंगदेवी एवं सुदेवी दोनों युग्म बहनोंका प्राकट्य भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदाके दिन हुआ है। इसी प्रकार इन्दुलेखाजीका जन्म भाद्रपद शुक्ला द्वितीयाके दिवस सन्ध्याकालमें हुआ है। उस दिवस पश्चिम गगनमें चन्द्रमा एक लेखाकी तरह ज्योंही प्रकट होता है ब्रजभूमिमें श्रीइन्दुलेखाजीका आविर्भाव होता है। भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीके ठीक प्रातः चार बजे श्रीचम्पकलताजीका जन्म हुआ है। श्रीललिताजी एवं श्रीविशाखाजीका प्राकट्य क्रमशः भाद्रपद शुक्ला षष्ठी तथा सप्तमीको मान्य है ही। शेष रही सखियोंका – चित्राजी एवं तुंगविद्याजीका भी प्राकट्य शेष तिथियों – तृतीया अथवा पंचमीको होना शास्त्रोमें उल्लिखित है अथवा नहीं, यह विचारका विषय है। अस्तु, पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा ये सभी जन्मोत्सव अपने भावराज्यमें ही मानसिकरूपसे मनाया करते थे।

अबतक राधाष्टमीके सभी उत्सव धूमधामसे गोरखपुरमें ही मनाये गये थे। मात्र सं.२०१४ वि.में प्रथम बार ऐसा अवसर आया, कि श्रीपोद्दार महाराजके गोरखपुरसे रतनगढ चले आनेके कारण इस वर्ष यह उत्सव रतनगढ़ ग्राम (राजस्थान)में मनाया गया था।

## प्रभातफेरी

भाद्रपद शुक्ला षष्ठीके ब्राह्ममुहूर्त्तसे ही लाउडस्पीकरमें शहनाईकी ध्वनि प्रारम्भ हो जाया करती थी। पू.गुरुदेव चाहते थे कि उन्हें कहीं कोई आस्तिक तथा शुद्ध खान-पान व्यवहारवाले शहनाईवादक मिल जावें, जिन्हें मुख्यद्वारपर मंचपर बैठाकर जीवन्त शहनाईवादन करवायी जा सके, किन्तु अधिकांश शहनाईवादक मुस्लिम धर्मावलम्बी तथा मांसाहारी ही उपलब्ध होते थे। का

आदि स्थानोके हिन्दू शहनाईवादकोंसे भी सम्पर्ककी चेष्टा की गयी, किन्तु उनके खान-पानकी शुद्धि होनेकी कोई निश्चिन्तता नहीं होनेसे शहनाईके केसेट ही बजाये जाते थे। ब्राह्ममुहूर्त्तमें यह शहनाईवादन वातावरणको अत्यन्त ही सात्विकभाव-मुखरित बना देता था।

शहनाईवादनका पर्यवसान प्रभातफेरीके प्रारम्भसे होता था। प्रभातफेरी-संकीर्त्तन प्रमुखतया बीकानेरके गोस्वामी परिवारके सदस्यों एवं बालको द्वारा संचालित किया जाता था। इसमें अन्य लोग भी सम्मिलित होते थे। यह प्रभातफेरी-संकीर्त्तन गीतावाटिकाके सामने स्थित पू.पोद्दार महाराजकी नई कोठीमें स्थित षोडशगीतमन्दिरसे प्रारंभ होता था। गीतावाटिकाके चतुर्दिक् बसे सभी राधा-परिवारके लोग इसमें सम्मिलित होते जाते तथा उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये बाहरसे आये भक्तगण भी जुट जाते थे। कुछ ही समयमें सम्मिलित जनोंकी संख्या सैकड़ोंतक पहुँच जाती थी। यह जनसमुदाय संकीर्तन करता हुआ सर्वप्रथम पू.पोद्दार महाराजका दर्शन एवं आशीर्वाद प्राप्त करने उनके कक्षके सम्मुख पहुँचता था। पू.गुरुदेव द्वारा रचित रसमंत्र

*'राधिकारमण अम्बुजनयन नन्दनन्दन नाथ हे !*
*गोपिकाप्राण मन्मथमथन विश्वरञ्जन कृष्ण हे !!'*

ही इस संकीर्त्तनके गानयुक्त बोल हुआ करते थे। इस चिन्मय रसमन्त्रके संकीर्त्तनकी रागीय बन्दिश इतनी सुमधुर, रसमय तथा भावोत्पादक होती थी कि संकीर्तनकर्ताओंके सम्मुख श्रीकृष्णकी जीवन्त छवि ही मूर्त्त हो जाती थी।

जब यह संकीर्त्तनमण्डली श्रीपोद्दार महाराजके कक्षके सम्मुख उनका आशीर्वाद प्राप्त करने पहुँच जाती थी, तबतक तो इस संकीर्तनमें सम्मिलित जनसमुदायकी संख्या बढकर लगभग हजारतक हो जाती थी। संकीर्तन करते लोग एक-एककर श्रीपोद्दार महाराजके चरणोंमें प्रणाम करते और मन-ही-मन उनसे प्रिया-प्रियतमके दुर्लभ कृपादानकी प्रार्थना करते । श्रीपोद्दार महाराज उस समय अपनी ब्राह्ममुहूर्तकी संध्या-पूजा सम्पन्न करके अति भावविह्वल, विशुद्ध सात्विक भावमुद्रामें हाथ जोड़े तबतक खड़े रहते, जबतक सभी समुदाय उनसे आशीर्वाद नहीं ले लेता था। परम संकोची स्वभावयुक्त वे बड़ी ही झिझक प्रदर्शित करते हुए, सभी लोगोंके प्रेमाग्रहसे दबे उनके प्रणामको स्वीकार करते थे तथा प्रेमाकुल नेत्रोंसे एव भाव-गद्गद मुख-मुद्रासहित किसीको गले लगाकर,

किसीके शिरपर हाथ फेरकर अपना भावानुग्रह प्रकट करते जाते थे। उनकी वह परमप्रेममयी पावन छवि इन पंक्तियोंको लिखते समय मन एवं नेत्रोंके सम्मुख आज भी ज्यों-की-त्यों जीवन्त खड़ी प्रतीत होती है। यह परम रसमय नामसकीर्त्तन संकीर्तनकर्ताओंके दल तथा सम्मिलित भावुक जनोंके द्वारा इतनी भावप्रवणतापूर्वक किया जाता था कि सम्पूर्ण वातावरण भक्तिभावोद्रेकसे परिपूर्ण हो उठता था। इस संकीर्तनकी सरसतासे घोर सांसारिक रजोगुणमें रचे-पचे प्राणियोंको भी कुछ कालके लिये रस-सरिताका सुखद शीतल संस्पर्श प्राप्त होता ही था।

संकीर्त्तन करते, रसमें झूमते जन-जन पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी कुटीपर पहुँचकर उनके दर्शनोंका लाभ प्राप्त करते तथा उनकी चरण-वन्दना करके कृतार्थतालाभ करते थे।

## श्रीगिरिराज-परिक्रमा

इस संकीर्त्तनका पर्यवसान पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी श्रीगिरिराज-परिक्रमास्थलीमें पहुँचकर होता था। सन् १९६५ ई. से ही पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा भावात्मकरूपसे गिरिराज परिसरमें ही रहते थे। उन्होंने अपनी भावनानुसार अपनी कुटीके सम्मुख ही गिरिराज परिसरकी स्थापना की थी और सात कोस (तेरह-तेरह मील) की दो परिक्रमाएँ वे सात दिवसोंमें सम्पन्न करते थे। सप्ताहके प्रथम दिवसकी परिक्रमामें प्रत्येक रविवारको राधाकुण्डसे पाँच मील चलकर आन्यौरमें उनका विश्राम होता । दूसरे दिन सोमवारको आन्यौरसे तीन मील चलकर वे सीधे यतीपुरामें विश्राम करते। तीसरे दिन मंगलवारको यतीपुरासे पाँच मील चलकर राधाकुण्डमें उनका विश्राम होता । इस प्रकार सप्ताहके प्रथम तीन दिनोंमें उनकी एक परिक्रमा सम्पन्न हो जाती थी। सप्ताहकी द्वितीय परिक्रमामें बुधवारको राधाकुण्डसे तीन मील चलकर उनका गोवर्धनमें विश्राम होता । गुरुवारको गोवर्धनसे चलते एवं दो मील चलकर आन्यौरमें विश्राम किया करते । शुक्रवारको वे आन्यौरसे प्रस्थान करके तीन मील चलकर यतीपुरामें विश्राम किया करते थे। शनिवारको वे यतीपुरासे पाँच मील चलकर सीधे राधाकुण्ड पहुँचते थे एवं वहाँ विश्राम करते थे। इस प्रकार सात दिनमें पू.गुरुदेव गिरिराज गोवर्धनकी दो परिक्रमाएँ सम्पन्न कर लेते । उन्होंने अपने निवासके बाहर ही

गिरिराज पर्वतके दोनों भाग एव बीचमें दानघाटीकी राह इस प्रकार भावनात्मक गिरिराज परिसरका निर्माण किया हुआ था, जो ठीक गिरिराजकी ही अनुकृति कहा जा सकता था। अपने परिसरकी परिक्रमास्थलीको फुटोंसे नापकर ५२८० फुटोंके एक मीलके हिसाबसे उन्होंने अपने परिसरकी प्रतिमील परिक्रमा नियत कर रखी थी। उदाहरणार्थ यदि उनके परिसरका परिक्रमामार्ग १३२ फुट था तो उन्हें प्रति मील चालीस परिक्रमा करनी होती थी और जिस दिन उन्हें जितने मील जाना होता था उस हिसाबसे परिक्रमा नियत हो जाती थी। वे उस दिन अपने परिसरके मार्गकी उतनी ही परिक्रमा कर लेते थे। उन्होंने अपने परिसरमे राधाकुण्ड, जतीपुरा, गोवर्धन, कुसुमसरोवर, आन्यौर आदि सब स्थल नियत कर रखे थे। विश्रामस्थल आनेपर वे अपने आन्यौर, यतीपुरा आदि नियत स्थानोंपर कुछ काल लेटकर विश्राम करते थे। उनके परिक्रमा कालमें इतना मधुर सकीर्त्तन हुआ करता था कि वातावरण अतिशय रसमय हो जाता था।

राधाष्टमी आदि उत्सवोंके समय तो उनकी परिक्रमामें हजारों लोग सम्मिलित होते थे, वैसे साधारण कालमें भी नियत समयपर पच्चीस-पचास व्यक्ति एवं स्त्रियॉं इसमें अवश्य सम्मिलित होती थीं। गिरिराज परिसरकी भावात्मक पावनस्थली, चतुर्दिक् वृक्षोंकी सघनता, सम्मुख ही विस्तृत भूमिमें लगा कदली वृक्षोंका कुञ्ज, प्रातःकालका शान्त वातावरण, भक्तोंकी पू.गुरुदेवके प्रति उमड़ती श्रद्धा, संकीर्त्तनकारोंका साजबाजके साथ भावविभोर होकर पद-गायन, भावुक बृहत् जन-समुदायका भी संग-संग संकीर्तन एवं पद-गायनका सुमधुर अनुकरण उस समय जो रस-रंग जमाता था, उसे शब्दों द्वारा आलेख नहीं किया जा सकता। परिक्रमाके समय भारतके दूरवर्त्ती शहरों – कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, नागपुर हैदराबाद, जबलपुर, राजस्थानके रतनगढ़, बीकानेर, नापासर, डूँगरगढ, आदि अनेक स्थलोंसे सैकडों समागत लोग सम्मिलित होते रहते थे। इनमें अधिकतर रजोगुणी व्यापारी, संसार-प्रवाहमें बहते गृहस्थजनोंकी ही बहुलता रहती थी। परन्तु पू.गुरुदेवकी परमोच्च भावमयी मुद्रामें परिक्रमा करती छविका दर्शन, साथ ही अति भाव-प्रवाह छलकाती सरस संगीतमयी सकीर्तन-स्वरलहरीके श्रवणसे सभी समागत लोगोंके मन एवं अन्तःकरण रजोगुणके प्रभावसे मुक्त होकर विशुद्ध सत्वमय भक्तिभावनामें लहराने लगते थे।

परिक्रमाके प्रारंभके साथ ही परमभक्त सूरदासजीका ***'बन्दौं चरणकमल***

*हरिराई'* पदगायन किया जाता था। इसके पश्चात् *'सुमिरौ नटनागरवर सुन्दर गोपाललाल'* पद जो वृन्दावनके रसिक भक्त श्रीगदाधरभट्टजी द्वारा रचित है, भैरव कालिंगडा रागमें गाया जाता था। परिक्रमामें संकीर्त्तनकी प्रमुख सेवा पू. गुरुदेवने इन पंक्तियोंके लेखकको ही प्रदान कर रखी थी। उस समय बीकानेरके गोस्वामी-परिवारके बालक-बालिकायें बड़ी ही तत्परता, महत्त्वबुद्धि तथा सर्वाधिक रुचिपूर्वक संकीर्तनमें सहयोग करते थे। भैरव, भैरवी, कालिंगड़ा, प्रभाती आदि रागोंमें गेय पद तथा नाम-संकीर्त्तनकी प्रस्तुति संकीर्त्तनदलमें सम्मिलित बीकानेरके गोस्वामी परिवारके बालक-बालिकायें ऐसी भावमयी, मधुर तथा रसमय रीतिसे सम्पन्न करते कि परिक्रमामें सम्मिलित जनसमुदाय रसमें झूम-झूम उठता था। पू. राधाबाबाका भावमें डूबकर हाथ उठाकर अपनी ग्रीवाको किंचित् नमित कर देना तो सोनेमें सुगन्धि बन जाता था। संकीर्त्तन-दल अपनेको कृतकृत्य मानकर उत्साहसे भर जाता था, साथ ही परिक्रमामें उपस्थित जनसमुदाय भी कृपाको प्रत्यक्ष बरसती देखकर निहाल अनुभव करने लगता था। बरबस सभीके हाथ भावतरंगोंकी उछालसे ऊपर उठ जाते थे, नयन अर्धनिमीलित हो उठते थे और सभीके भावनामय नेत्रोंके सम्मुख पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके स्थानपर साक्षात् प्रिया-प्रियतम ही गिरिराज-परिसरकी परिक्रमा करते हुए अभिव्यक्त हो उठते थे। इस प्रसंगकी कल्पनातीत मधुरता एवं रसमयताका सर्वांगीण चित्रण संभव ही नहीं। पदगायनके अनन्तर परिक्रमाके लिये पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा स्वयस्वीकृत नामध्वनि – *'कृष्ण गोविन्द–गोविन्द गोपाल नन्दलाल'*का संकीर्त्तन प्रारम्भ होता था। इसकी गुञ्जित ध्वनिके बीच पू.गुरुदेव परिक्रमामें दौडते-दौड़ते ही भावविभोर होकर अपने हस्तकमल ऊपर उठा लेते थे। उस समय अनुपम नृत्यमुद्रा-सरीखी उनकी छवि ऐसी दिखाई देती थी मानो पाँच सौ वर्ष पूर्वकी चैतन्य महाप्रभुकी संकीर्तनरत भावमुद्रा वर्त्तमानकालमें गोरखपुरकी गीतावाटिकाकी गिरिराज-परिक्रमास्थलीमे अवतरित होकर नयनगोचर होगयी हो।

राधाष्टमीके अवसरपर परिक्रमा-पथका एवं श्रीगिरिराजपर्वतका पुष्पोंसे नयनाभिराम श्रृंगार किया जाता था। वाटिकाकी समागत बहनें ही परस्पर हिल-मिलकर इस श्रृंगार-सेवाको सम्पन्न करती थीं। ऐसा लगता था मानो भक्तिभावापन्न बहनोंका मन ही सुमनोंके रूपमें श्रीगिरिराजजीकी तलहटीमें पू. गुरुदेवके चरणोंमें समर्पित होकर प्रफुल्लित हो रहा हो। श्रीराधाष्टमी महोत्सवके

कारण सुदूर स्थानोसे आये भक्तगणोंसे समाधिस्थल खचाखच भर जाता था। भीड अत्यधिक होनेपर भी महिलाएँ एक ओर एवं पुरुष एक ओर सुव्यवस्थित बैठते थे। श्रीराधाष्टमीके अवसरपर जब ब्रजवासी संकीर्तनकार आजाते थे तो कीर्तनका सचालन श्रीहरिवल्लभजी कीर्तनिया अपने सुमधुर स्वरमें ब्रजरसके भिन्न-भिन्न पदोंके गायनसे करते थे। साधारण दिनोंमें तो काष्ठमौनके कारण पू. गुरुदेव अपने भावको दबाकर परिक्रमा करते थे परन्तु इन ब्रजवासी भक्तोंके आनेपर उनका भाव अत्यधिक उद्रिक्त हो उठता था और यदा-कदा वे आलापचारी करने लगते थे। जब उनका मौन शिथिल हो गया तब तो उनके उच्छलितोल्लासकी मनोहारिणी छवि ऐसी देखनेको मिलती थी कि मन न्यौछावर हो उठता था। श्रीराधाष्टमी महोत्सवके अवसरपर परिक्रमामें वृन्दावनकी रासमण्डलीके स्वामी श्रीरामजी एवं फतेहकृष्णजी भी श्रीहरिवल्लभजीके साथ ब्रजसे आ जाते थे और पद-गायनमे इन सभीका अभूतपूर्व रसवर्षी योगदान हुआ करता था। यह सत्य है कि इन ब्रजवासियोके आजानेसे परिक्रमाका उमंग-उल्लास अत्यधिक उद्दीपित हो उठता था।

कभी कभी पू.गुरुदेव उद्दीप्त भावोंकी प्रबलतावश बहुत ही गभीर रहते थे। उस समय पू. गुरुदेवके चरण यन्त्रवत् परिक्रमा करते थे। ब्रजवासी सकीर्तनकार श्रीराधा-प्राकट्यके एव बधाईके पद गाते। रासमण्डलीके स्वामी श्रीरामजी एवं फतेहकृष्णजी मुख्य संकीर्त्तनकार श्रीहरिवल्लभजीको सहयोग करते थे।

पू.गुरुदेव अधिकांशतः प्रत्यक्ष लीलादर्शी सन्तोंके ही पद सुनते थे। पद-संकलनोंमें उन्हें वे पद सर्वथा रुचिकर नहीं लगते थे, जो लीला-प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं होते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि ब्रजभूमिके इन प्रत्यक्ष लीलादर्शी सन्तोंकी बलिहारी है, जिन्होंने कृपा करके लीलाओंको गायनयुक्त छन्दबद्ध सरल भाषामें वर्णित करके इनको बीज रूपमें स्थापित कर दिया है। यही बीज किसी भी लीला-चिन्तन करनेवाले साधकमें पल्लवित होकर इन लीलाओंको विलक्षण रीतिसे ज्यों-का-त्यों प्रकाशित कर देता है, जैसी कि ये लीलाएँ मूलरूपमें घटित हुई हैं।

———

# श्रीपोद्दार महाराजका सत्संग

परिक्रमाके तुरन्त पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजका पण्डालमें सत्संग होता था। श्रीपोद्दार महाराजके सत्संगकी यह महिमा थी कि उनके सत्संगमें अन्तर्जगत्के उच्चकोटिके अनेक सिद्ध सन्त भी सूक्ष्मदेहसे सम्मिलित होते थे। श्रीराधाजन्म-महोत्सवके अवसरपर उनके अत्यन्त सारगर्भित दो प्रवचन होते थे। प्रातःकाल तो वे मौखिक ही सत्संग कराते थे किन्तु उत्सवके समापनपर उनका लिखित व्याख्यान प्रायः प्रकाशित हो जाता था। उनके ये सत्संग आध्यात्मिक जगत्की अमूल्य निधि होते थे। इन दिनों श्रीपोद्दार महाराज श्रीराधातत्वपर बहुत ही सरस प्रवचन किया करते थे। उनके प्रवचनका सार-संक्षेप यही होता था कि श्रीराधा ब्रजरसके प्राण श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—***'आत्मा तु राधिका तस्य'*** वे श्रीकृष्णकी आराधिका-उपासिका भी हैं, दूसरे रूपमें वे उनकी आराध्या-उपास्या भी हैं ***'आराध्यते असौ इति राधा'***। शक्ति और शक्तिमान्में वस्तुतः कोई भेद नहीं होनेपर भी भगवान्के सविशेष रूपोंमें शक्तिकी प्रधानता रहती है। शक्तिमान्की सत्ता ही शक्तिके आधारपर है। शक्ति नहीं तो शक्तिमान् कैसे ? ***'रस्यते असौ इति रसः'*** इसी व्युत्पत्तिके अनुसार रसकी सत्ता ही आस्वादके लिये है। अपने-आपको अपना आस्वादन करानेके लिये ही स्वयं रसरूप श्रीकृष्ण **(रसो वै सः)** राधा बन जाते हैं। इसीलिये ब्रजरसमें श्रीराधाकी विशेष महिमा है। श्रीकृष्ण प्रेमके पुजारी हैं, इसीलिये वे अपनी पुजारिनकी पूजा करते हैं, उन्हें अपने हाथों सजाते-सँवारते हैं, एवं उनके रूठ जानेपर उन्हें अपने प्राणोंके निर्मञ्छन द्वारा प्रसन्न करते हैं।

**'चाँपत चरण मोहनलाल', 'देख्यौ दुर्यौ वह कुंजकुटीरमें बैठ्यौ पलोटत राधिका-पायन'** आदि उक्तियोंका श्रीपोद्दार महाराज इनके रसकी रक्षा करते हुए इस रीतिसे तात्विक विश्लेषण करते थे कि श्रीराधाका दिव्यातिदिव्य स्वरूप, उनके प्रेमकी अलौकिक महिमा, श्रीकृष्णके साथ उनका पवित्रतम सम्बन्ध आदि गूढ विषयोंका अति सरल स्पष्टीकरण साधकोंके सम्मुख प्रकट हो जाता था। इन प्रवचनोंमें श्रीराधाकृष्णके प्रेम-सम्बन्धमें उठायी गयी सभी विविध शंकाओंका समाधान पू.पोद्दार महाराज अति सरल भाषामें बड़े ही सुन्दर ढंगसे कर देते थे।

इस प्रकार श्रीराधाष्टमी-जन्म-महोत्सवमें जो लोग भी सम्मिलित होते,

उन्हें श्रीराधा-कृष्णके स्वरूप, उनके परस्पर पवित्र सम्बन्ध, उनकी विविध मधुर लीलाओंको जिनमें प्रणय, मान एवं विरह आदिके प्रसंग होते थे, ठीकसे समझनेका अवसर प्राप्त होता था। मनुष्योंकी अनेकों भ्रान्त धारणायें जो श्रीराधाकृष्णके परस्पर सम्बन्धोंको लेकर नासमझीके कारण खडी हो जाया करती हैं, श्रीपोद्दार महाराजके प्रवचन सुननेसे मूलतः दूर हो जाती थीं।

यह सत्य है कि रीतिकालीन कविगण बहुत-कुछ अपना पथ भूलकर काव्य-रचनाएँ कर गये हैं, तथा इन कवियोंकी राधाकृष्ण सम्बन्धी भोग-प्रधान वैषयिक रचनाओको पढनेसे लोगोंने अपनी हानि ही की है।

श्रीपोद्दार महाराजके प्रवचनके पूर्व स्वयं उनके द्वारा रचित ही गीतिकाओंका सुस्वर सरस गायन होता। श्रीपोद्दार महाराजने श्रीराधा-कृष्ण युगलके परस्पर पूर्ण समर्पणमय, पवित्रतम स्वरूप एवं सम्बन्धको प्रकाशित करनेवाला ऐसा सात्विक काव्य- साहित्य निर्माण किया है, जो भक्तिक्षेत्रकी अमूल्य निधि तो है ही, साथ ही समाजके पतनोन्मुख नैतिकस्तरको भी उन्नत करनेमें सक्षम है। इन काव्यगीतिकाओंका गायन या तो श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, सम्पादक कल्याण-कल्पतरु द्वारा किया जाता था अथवा स्वयं लेखक द्वारा, जो उन दिनों गृहस्थवेषमें था। श्रीपोद्दार महाराज द्वारा रचित इन गीतोंमें इसी सत्यका प्रकाश होता कि श्रीराधाकृष्णके प्रेमका आधार निजेन्द्रिय-तृप्ति न होकर, ज्ञानकी सीमाके पार पहुँचा प्रेमास्पद-सुखैक-लालसा भाव है। इन गीतोंमें जो श्रीपोद्दार महाराजके प्रवचनोंके पूर्व गाये जाते, प्रेमकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति ही प्रकट होती थी, साथ ही त्याग एवं समर्पणकी सर्वोच्च भावनाको छन्दोंमें व्यक्त किया गया होता था।

इस प्रकार गीतावाटिका, गोरखपुरका यह श्रीराधा-जन्माष्टमी महोत्सव ब्रजरस – मधुररसका एक पवित्रतम प्रकाश-स्तम्भ ही होता था। इन पंक्तियोंके लेखककी धारणानुसार ऐसा सर्वांगपूर्ण सरस और शास्त्र-विधिपूर्वक पूर्ण सात्विकतासे मनाया जानेवाला उत्सव भारतवर्षमें अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलता। इस उत्सवमें जो लोग भी सम्मिलित होते थे, उन्हें भक्तिरसके मर्मकी एवं ब्रज-गोपीके जीवनकी एक ऐसी झाँकी प्राप्त हो जाती थी, जिसे कराना पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा किंवा श्रीपोद्दार महाराज जैसे रस-सिद्ध सन्तोका ही कार्य था। श्रीराधाकृष्णके उपासकोंके लिये यह राधा-जन्म-महोत्सव अनुपम पथ-प्रदर्शकका कार्य करता था। कोई भी प्रेम-साधक यदि यहाँ इस उत्सवमें

सम्मिलित हो जाता तो वह उस राहको पा जाता था, जिसपर कदम बढ़ानेसे साधकगण दुर्लभ मोक्षको भी लघु बना देने वाले भगवत्प्रेमके मार्गमें अनायास अग्रसर हो सकें।

आजकल उत्सवोंके नामपर समाजमें दुर्गापूजा, जन्माष्टमी, गणेशपूजा आदिके जो आयोजन होते हैं, उनमें समष्टि रूपसे बहुत गन्दगीका ही प्रचार होता है। उस अवस्थामें गोरखपुरमें मनाया जानेवाला यह जन्म-महोत्सव एक ऐसा दीपस्तंभ था, जो मधुर भावकी उपासना करनेवालोंको सांसारिक भोगोंके दलदलसे निकालकर विशुद्ध प्रेमराज्यकी दीक्षा देनेवाला था।

---

# राधा-जन्म-महोत्सव

प्रातः साढे नौ बजेसे श्रीराधाजन्म-महोत्सवकी पूजा-अर्चना विशाल पण्डालमें प्रारम्भ हो जाती थी। पण्डालके आठवें हिस्सेमें लगभग तीन फुट ऊँचा मंच बनाया जाता था। इस मचके सामनेके अंशमें पीछेकी ओर प्रसूतिगृहकी स्थापना होती थी। पू.गुरुदेवने कीर्त्तिदा मैयाकी मुखछवि एवं सद्योजात बालिका राधाकी मुखछवि श्रीजगन्नाथजी चित्रकारसे बनवायी थीं, ये दोनों छवियाँ ऊँची शय्या निर्माणकर प्रसूतिगृहमें उसी प्रकार सजा दी जाती थीं, जिससे देखनेवालोंको यही अनुभव हो मानो सद्यःप्रसूता माता कीर्तिदा लेटी हैं और उनके बगलमें बालिका राधा सो रही है। साड़ियोंसे एवं वस्त्रोंसे शय्याका शेष भाग भी इस प्रकार आवृत कर दिया जाता था, जिससे इस प्रकार स्वाभाविक लगता था मानो कीर्त्तिदा मैयाकी कमर एवं पैर ढँके हुए हैं। इस छविके दाहिनी ओर एक काष्ठका मंच बनाया जाता था जिसमें वाटिकावासी सभी लोगोंके आराध्य ठाकुरोंकी मूर्त्तियाँ और चित्र रहते थे। बायीं ओरके सारे भागमें यमुना नदी, बरसाना गाँव, ग्रामके किनारे बहते गिरिस्रोत और वन खचित रहते थे। सूतिकागृहके ठीक आगे, मंचके छोरपर यमुना घूमकर जाती थी और वहाँ गोकुल, नन्दग्राम बनाया जाता था। वनमें वृक्षों, सरोवरों आदिकी लघु आकृतियाँ इस प्रकार निर्माण की जाती थीं कि समग्र वन स्पष्ट ऐसा प्रतीत होता मानो सचमुच ही ब्रजके वनोंका विहंगमावलोकन किया जा रहा हो। इस वनको सर्पिणीसी लहराती घूमती हुई नीली यमुना घेरे रहती थी।

इसमें बृषभानुकी पहाड़ियाँ – ब्रह्मगिरि एवं विष्णुगिरिकी भी जीवन्त अनुकृतियाँ निर्मित की जाती थीं।

इस मचपर सूतिकागृह एवं वनभागके मध्य कुछ जगह पूजा करनेवालोंके लिये अवशिष्ट रहती थी, जिसमें लोग रेशमी कटियाके वस्त्र पहनकर पूजा-अर्चना किया करते थे।

इस मच और मुख्य पण्डालके मध्य एक ऊँचा लम्बा परदा रहता था जो पूजनके समय खींच दिया जाता था। इस प्रकार पूजन-मंच और पण्डाल दो भागोमें विभक्त हो जाते थे। ठीक साढ़े नौ बजेके आसपास पण्डालके आगेके भागमें कीर्त्तनकारोंका दल बैठ जाता था। इन कीर्त्तनकारोंके दलके बैठनेके पंडालके पीछे पुरुषवर्ग बैठा करता था। पंडालके पिछले भागमें स्त्रियोके बैठनेके लिये फिर किञ्चित् ऊँचा मंच बना दिया जाता था ताकि पीछे बैठनेवाली स्त्रियोंको सभी कीर्त्तनकारोंके एवं पूजामञ्चपर बैठे पू.राधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराजके स्पष्ट दर्शन हो सकें एवं वे सारी झाँकीका दर्शन पा सकें।

------

## पूजनक्रम

ठीक साढे नौ बजे परदेके पीछे पूजन-मंचमें  पूजा प्रारंभ हो जाती थी एव पण्डालमें कीर्त्तनकारोंका दल सकीर्त्तन प्रारंभ कर देता था। पूजनमंचमें श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, श्रीरामजीलालजी शास्त्री, श्रीइन्द्रजी महर्षि, श्रीसाँवरमलजी जोशी, श्रीमोतीजी पारीक आदि ब्राह्मणवर्ग रहता था, साथ ही श्रीविष्णुहरि डालमिया, श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगला आदि यजमानवर्ग होता था। सहयोग करनेके लिये श्रीरामप्रसादजी दीक्षित, श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल, श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव आदि लोग रहते थे। पहले यजमानों द्वारा मानसिक गणेशपूजन कराया जाता था; उसके पश्चात् कर्मकाण्डी ब्राह्मण लोग वैदिक स्वस्तिवाचन करते थे। इसके पश्चात् मुख्य यजमान श्रीविष्णुहरि डालमिया श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीको मुख्य आचार्यके रूपमें वरण करते थे। फिर उनके ही द्वारा पूजनका संकल्प लिया जाता था। तत्पश्चात् श्रीमोतीजी पारीक, गणेशादि श्रीविग्रहोंका पंचोपचार पूजन किया

करते थे।

पू.गुरुदेव द्वारा रजतके दो यंत्र बनवाकर श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगलाको इसी दिवसकी पूजाके लिये प्रदान किये गये थे। बड़े यंत्रजीमें मध्यदेशकी कर्णिकामें तो श्रीराधाकृष्ण प्रिया-प्रियतमकी भावना की जाती थी और कर्णिकाके चतुर्दिक् विरचित एक सौ आठ कमलदलोंमें एक सौ आठ सखियोंकी भावना की जाती थी। इसी प्रकार छोटे यंत्रजीके मध्यमें कर्णिकापर तो श्रीप्रिया-प्रियतम विराजित माने जाते थे एव चतुर्दिक् षोडशदल कमलपर षोडश सखियोंकी भावना की गयी थी। इन दोनों यंत्रोंका आजके दिवस सविधि पंचोपचारसे पूजन होता था।

सर्वप्रथम बड़े यंत्रजीमें विराजित एक सौ आठ सखियोंका चन्दन-पुष्पसे पूजन होता था। एक व्यक्ति एक सौ आठ सखियोंकी नामावलीका उच्चारण करता एवं मुख्य यजमान उनपर चन्दन-पुष्प चढाते जाते थे। एक सौ आठ सखियोंकी नामावली निम्न है:–

(१) श्रीललितायै नमः
(२) श्रीविशाखायै नमः
(३) श्रीचित्रायै नमः
(४) श्रीइन्दुलेखायै नमः
(५) श्रीचम्पकलतायै नमः
(६) श्रीरंगदेव्यै नमः
(७) श्रीतुंगविद्यायै नमः
(८) श्रीसुदेव्यै नमः
(९) श्रीअनंगमञ्जर्यै नमः
(१०) श्रीमधुमतीमञ्जर्यै नमः
(११) श्रीविमलामञ्जर्यै नमः
(१२) श्रीश्यामलामञ्जर्यै नमः
(१३) श्रीपालिकामञ्जर्यै नमः
(१४) श्रीमंगलामञ्जर्यै नमः
(१५) श्रीधन्यामञ्जर्यै नमः
(१६) श्रीतारकामञ्जर्यै नमः
(१७) श्रीरत्नप्रभायै नमः
(१८) श्रीरतिकलायै नमः
(१९) श्रीसुभद्रायै नमः
(२०) श्रीभद्ररेखिकायै नमः
(२१) श्रीसुमुख्यै नमः
(२२) श्रीनागर्यै नमः
(२३) श्रीकलहंस्यै नमः
(२४) श्रीकलापिन्यै नमः
(२५) श्रीमाधव्यै नमः
(२६) श्रीमालत्यै नमः
(२७) श्रीचन्द्ररेखिकायै नमः
(२८) श्रीकुञ्जर्यै नमः
(२९) श्रीहरिण्यै नमः
(३०) श्रीचपलायै नमः

(३१) श्रीसुरभ्यै नमः
(३२) श्रीशुभाननायै नमः
(३३) श्रीरसालिकायै नमः
(३४) श्रीतिलकिन्यै नमः
(३५) श्रीशौरसेन्यै नमः
(३६) श्रीसुगन्धिकायै नमः
(३७) श्रीरमिलायै नमः
(३८) श्रीकामनागर्यै नमः
(३९) श्रीनागर्यै नमः
(४०) श्रीनागवेल्लिकायै नमः
(४१) श्रीतुंगभद्रायै नमः
(४२) श्रीरसतुंगायै नमः
(४३) श्रीरंगवाट्यै नमः
(४४) श्रीसुमंगलायै नमः
(४५) श्रीचित्रलेखायै नमः
(४६) श्रीविचित्रांग्यै नमः
(४७) श्रीमोदिन्यै नमः
(४८) श्रीमदनालसायै नमः
(४९) श्रीकुरंगाक्ष्यै नमः
(५०) श्रीसुचरितायै नमः
(५१) श्रीमण्डल्यै नमः
(५२) श्रीमणिकुण्डलायै नमः
(५३) श्रीचन्द्रिकायै नमः
(५४) श्रीचन्द्रलतिकायै नमः
(५५) श्रीकुन्दकाक्ष्यै नमः
(५६) श्रीसुमन्दरायै नमः
(५७) श्रीकलकण्ठ्यै नमः
(५८) श्रीशशिकलायै नमः
(५९) श्रीकमलायै नमः
(६०) श्रीमधुरायै नमः
(६१) श्रीइन्दिरायै नमः
(६२) श्रीकन्दर्पसुन्दर्यै नमः
(६३) श्रीकामलतिकायै नमः
(६४) श्रीप्रेममञ्जर्यै नमः
(६५) श्रीमञ्जुमेधायै नमः
(६६) श्रीसुमधुरायै नमः
(६७) श्रीसुमध्यायै नमः
(६८) श्रीमधुरेक्षणायै नमः
(६९) श्रीतनुमध्यायै नमः
(७०) श्रीमधुस्यन्दायै नमः
(७१) श्रीगुणचूड़ायै नमः
(७२) श्रीवरांगनायै नमः
(७३) श्रीकावेर्यै नमः
(७४) श्रीचारुकबरायै नमः
(७५) श्रीसुकेश्यै नमः
(७६) श्रीमञ्जुकेशिकायै नमः
(७७) श्रीहारहीरायै नमः
(७८) श्रीमहाहीरायै नमः
(७९) श्रीहारकण्ठ्यै नमः
(८०) श्रीमनोहरायै नमः
(८१) श्रीलवंगमञ्जर्यै नमः
(८२) श्रीरूपमञ्जर्यै नमः
(८३) श्रीरसमञ्जर्यै नमः
(८४) श्रीगुणमञ्जर्यै नमः
(८५) श्रीरतिमञ्जर्यै नमः
(८६) श्रीभद्रमञ्जर्यै नमः
(८७) श्रीलीलामञ्जर्यै नमः
(८८) श्रीविलासमञ्जर्यै नमः(प्रथम)
(८९) श्रीविलासमञ्जर्यै नमः(द्वि)
(९०) श्रीकेलिमञ्जर्यै नमः

(९१) श्रीकुन्दमञ्जर्यै नमः
(९२) श्रीमदनमञ्जर्यै नमः
(९३) श्रीअशोकमञ्जर्यै नमः
(९४) श्रीमञ्जुलालीमञ्जर्यै नमः
(९५) श्रीसुधामुखीमञ्जर्यै नमः
(९६) श्रीपोस्त्रमञ्जर्यै नमः
(९७) श्रीकुन्दवल्ल्यै नमः
(९८) श्रीधनिष्ठायै नमः
(९९) श्रीश्रुतिपूर्वाभ्यो गोपीभ्यो नमः
(१००) श्रीऋषिपूर्वाभ्यो गोपीभ्यो नमः
(१०१) श्रीदेवीपूर्वाभ्यो गोपीभ्यो नमः
(१०२) श्रीवल्लवबालाभ्यो नमः
(१०३) श्रीयूथाधिपाभ्यो नमः
(१०४) श्रीबृन्दादेव्यै नमः
(१०५) श्रीभगवत्यै पौर्णमास्यै नमः
(१०६) श्रीचन्द्रावल्यै नमः
(१०७) श्रीनित्यकिशोर्यै राधायै नमः
(१०८) श्रीनित्यकिशोराय श्रीकृष्णचन्द्राय नमः

(इन यन्त्रोंकी स्थापना भी पू. गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराज द्वारा बडे समारोह पूर्वक आनुष्ठानिक विधिसे पूजनकरके की गयी थी।)

इसके पश्चात् बडे यन्त्रजीमे कर्णिकापर विराजित श्रीप्रिया- प्रियतमका पूजन पंचोपचारसे होता था।

इसके पश्चात् छोटे यंत्रजीका पूजन होता था। छोटे यत्रजीकी कर्णिकापर मध्यदेशमें सर्वप्रथम श्रीप्रिया-प्रियतमका पचोपचार पूजन होता, तब सखियोका पूजन चन्दन एव पुष्पसे निम्नाकित नामावलीके अनुसार किया जाता था। (पश्चिमकी ओरसे)।

(१) श्रीललितायै नमः
(२) श्रीश्यामलायै नमः
(३) श्रीधन्यायै नमः
(४) श्रीहरिप्रियायै नमः
(५) श्रीविशाखायै नमः
(६) श्रीशैब्यायै नमः
(७) श्रीपोस्त्रायै नमः
(८) श्रीभद्रायै नमः
(९) श्रीचन्द्रावल्ल्यै नमः
(१०) श्रीचित्ररेखायै नमः
(११) श्रीचन्द्रायै नमः
(१२) श्रीमदनसुन्दर्यै नमः
(१३) श्रीप्रियायै नमः
(१४) श्रीमधुमत्यै नमः
(१५) श्रीशशिरेखायै नमः
(१६) श्रीरसप्रियायै नमः

(इस छोटे यंत्रजीकी स्थापना भी पू.पोद्दार महाराज एवं पू. गुरुदेव द्वारा की गयी थी )

इसके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजके परिवारके एव बाहरके बगीचे- वासियोंके श्रीविग्रहोका पूजन यथाक्रम पंचोपचारसे किया जाता था।

अन्दर पूजामञ्चपर यह पूजा सम्पन्न होते-होते दोपहरके लगभग साढे ग्यारह बज जाते थे।

इधर श्रीपोद्दार महाराज भी पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाको लेकर पंडालमें आ जाते थे।

## –संकीर्तन-महोत्सव

उधर पर्देके बाहर पण्डालमें कीर्त्तनकारोंका दल साजबाज, ढोलक, मृदग, झाँझ, झालर, हारमोनियम एवं चंग आदि वाद्योंसे अति उमंगभरी रीतिसे संकीर्त्तनमें निरत रहता है। पद-रचनायें या तो स्वयं श्रीपोद्दार महाराज द्वारा रचित होती हैं अथवा अनुभूतिसम्पन्न सूरदासजी, स्वामी हरिदासजी, श्रीहितहरिवंशजी आदि महापुरुषोंकी रचित ही गायी जाती हैं। पू.गुरुदेव द्वारा हर किसीके रचित गीतोंको गाये जानेकी मनाई ही रहती थी।

जहॉ संकीर्त्तनदल बोलता था *'बृन्दावनरानी'* तो जनसमूह बोलता —*'श्रीराधा'* इस प्रकार सकीर्त्तनकी ध्वनि पूरे उत्साहसे समग्र वातावरणको गुञ्जित-निनादित करती रहती थी। इसी रीतिसे जय-जयकारमय संकीर्त्तन भी चलते थे । इन दोनों प्रकारकी संकीर्तन- ध्वनियोंके दो नमूनोंके कुछ अश नीचे दिये जारहे हैं:

| (१) संकीर्त्तनदल | जनसमूह | (२)संकीर्त्तनदल | जनसमूह |
|---|---|---|---|
| बृन्दावनरानी | श्रीराधा | मोहनमनमानी | श्रीराधा |
| जय नित्यविहारिनि | श्रीराधा | ब्रज-सुख-विस्तारिनि | श्रीराधा |
| कीरतिकी कन्या | श्रीराधा | सब ही विधि धन्या | श्रीराधा |
| जय रास-विलासिनि | श्रीराधा | नित कुञ्ज-निवासिनि | श्रीराधा |
| हरि-उर-वनमाला | श्रीराधा | गुन-रूप-रसाला | श्रीराधा |
| श्रीदामा-अनुजा | श्रीराधा | बृष-दिनमणि-तनुजा | श्रीराधा |
| रसिकनिकी स्वामिनि | श्रीराधा | करुनानिधि नामिनि | श्रीराधा |
| वंशीवट वासिनि | श्रीराधा | सगीत प्रकासिनि | श्रीराधा |
| श्रीकृष्ण सिरोमनि | श्रीराधा | जय स्याम सँजीवनि | श्रीराधा |
| आनन्द रसायिनि | श्रीराधा | प्रीतम सुखदायिनि | श्रीराधा |

| (१) संकीर्त्तनदल | जनसमूह | (२)संकीर्त्तनदल | जनसमूह |
|---|---|---|---|
| बृषभानुदुलारी | जय राधे | श्रीकीर्त्तिकुमारी | जय राधे |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ललितासखि-प्यारी | जय राधे | सर्वोत्तम नारी | जय राधे |
| श्रीमाधव-भामिनि | जय राधे | निष्कामा कामिनि | जय राधे |
| मदगजगति-गामिनि | जय राधे | पावन रस-धामिनि | जय राधे |
| मृदु ईषत् हासिनि | जय राधे | नव कुञ्ज-निवासिनि | जय राधे |
| शुचि प्रेम-प्रकासिनि | जय राधे | रति दिव्य-विकासिनि | जय राधे |
| प्रिय-हृदय-विहारिणि | जय राधे | मोहन-मन-हारिणि | जय राधे |
| प्रिय-ताप-निवारिणि | जय राधे | प्रिय-सुख विस्तारिणि | जय राधे |
| नित शुद्धाचारिणि | जय राधे | प्रियतम-उर-धारिणि | जय राधे |
| प्रिय-पद-अनुरागिणि | जय राधे | सब बिधि बडभागिनि | जय राधे |

इन संकीर्त्तनोंके अतिरिक्त एकल पद-गायन भी संकीर्त्तनदल द्वारा किया जाता था। ऐसे पदगायनोंमें जनसमूह शान्त होकर श्रवण-आनन्द लेता था और गायकदल भाव-विभोर होकर गायन-रत रहता था। उदाहरणार्थ एक पद उद्धृत किया जा रहा है –

*जग उठे भाग्य अग-जगके परम आनन्द है छाया।*
*श्यामकी ह्लादिनी राधा-प्रकटका काल शुभ आया।।*

गायकदल जब इन पंक्तियोंको गजलकी तर्जमें कहरवा तालमें गाता था तब ऐसा अनुभव होता था मानो हम सभीके भाग्य जग उठे हैं, क्योंकि भगवान्‌की ह्लादिनीशक्ति श्रीराधा प्रकट होने ही वाली हैं। इधर तो पदगायन होते थे, उधर लोग देखते पू.गुरुदेव अर्ध-समाधिस्थ अवस्थामे ध्यानरथ, निस्पन्द विराजित हैं। पू.गुरुदेवके समीप ही विराजित श्रीपोद्दार महाराजकी नेत्रमुँदी ध्यानस्थ मूर्त्ति भी हृदयको दर्शनमात्रसे भावाह्लादसे भर देती थी।

गायकदलको जब यह आभास होता था कि हमारे गायनरसने हमारे आराध्यद्वय संतशिरोमणि पोद्दार महाप्रभु एव पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको भावविभोर कर दिया है तो वे और भी उत्साहसे गान कर उठते थे–

*बज उठीं देव-दुन्दुभियाँ, गान करने लगे किन्नर*
*सुर लगे पुष्प बरसाने, अमित आनन्द उरमें भर।*
*ग्वालिनी-वेष धारणकर सुन्दरीं चलीं सुर-जाया।*
*श्यामकी ह्लादिनी राधा-प्रकटका काल शुभ आया।।१।।*
*चले सब ग्वाल नर-नारी, बृद्ध बालक सुसज्जित हो।*
*देख शोभा परम, सहमे देव-दम्पति सुलज्जित हो।।*
*प्रेमके राज्य पावनमें हुआ जो आज मनभाया।*
*श्यामकी ह्लादिनी राधा-प्रकटका काल शुभ आया।।२।।*

*यशोदा-नन्द परमानन्द पा अति हो उठे विह्वल।*
*चले ले भेंट अति अनुपम, खिल उठे हृदय-पंकजदल।।*
*लला थे गोद जननीके, प्रफुल्लित थी कलित काया।*
*श्यामकी ह्लादिनी राधा-प्रकटका काल शुभ आया।।३।।*
*ऋषी मुनि हुए हर्षित, जो बने थे ब्रज मधुर गोपी।*
*फलित होता मनोरथ जान उनकी देह है ओपी।।*
*हुआ सब ओर जयकारा, मिट गयी सब मलिन माया।*
*श्यामकी ह्लादिनी राधा-प्रकटका काल शुभ आया।।४।।*

सचमुच ही इन गीतोंसे ऐसा समा बँधता था कि इनमें वर्णित समग्र दृश्य जीवन्त हो उठता था। जब गायक लोग गाते–*'सुर लगे पुष्प बरसाने'* तो उस समय गायक लोग अपने पास रखी पुष्प-पखुड़ियोंकी सर्वत्र ऐसी वर्षा करते कि सारा मंच पुष्पाच्छादित हो उठता था। गायकदल जब झूम-झूमकर गाता – *'मिट गयी सब मलिन माया'*, उस समय सचमुच ही सबको यही अनुभव होता था कि आज जब श्रीराधा-जन्मसमयमें श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके पावनतम अन्तःकरणोंमें श्रीराधारानीका जो प्राकट्य होगा तो निश्चय, निश्चय ही उत्सवमें सम्मिलित सभी साधकोंकी काममूला मलिना मायाका सदा-सदाके लिये नाश हो ही जायेगा। हम सभी कृतकृत्य हो उठेंगे। आज श्रीराधा-जन्म होते ही हम सबकी ऑखोंमे सहसा नन्दनन्दनकी छवि भर ही जायगी और उसके पश्चात् सबको श्रीराधारानी दर्शन देकर कृतार्थ कर ही देगी। आज तो सबकी मनभायी होने ही वाली है। इस भावनामें समग्र दर्शकसमाज इस प्रकार भावाभिभूत हो उठता था कि सभीको समग्र दृश्य ही राधा-कृष्णमय दिखने लगता था।

मन इन मधुरातिमधुर कल्पनाओंमे प्रवाहित होते-होते तभी विराम लेता जब सहसा उद्घोषणा होती थी – 'समय होगया है, अब सभी लोग शान्त होकर बारह मिनटतक श्रीराधाकुमारीके जन्मकी प्रतीक्षा करेंगे।'

सभी स्त्री-पुरुष यह सुनते ही शान्तचित्त होकर नेत्र मूँदकर अपने अन्तःकरणमें किसी अनिर्वचनीय सत्ताके होनेवाले प्रकाशकी प्रतीक्षा करने लगते थे।

ठीक मध्यान्ह होते ही लगभग ११-५२ पर विलक्षण उत्साहसे झालर, घण्टा एवं जिसके हाथमे जो भी वाद्य होता, सभीका समवेत निनाद हो उठता

था । ११-५५ पर श्रीराधाकुमारीके जन्मकी आरती गायी जाती थी। यह आरती भी श्रीपोद्दार महाराज द्वारा ही रचित थी। माइकपर इस आरतीको आगे-आगे श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी अपने परम मधुर एवं बुलन्द कण्ठसे प्रारम्भ करते एव पीछे-पीछे सभी जन-समुदाय बोला करता था। यहाँ यह आरती दी जा रही है।

*आरति श्रीवृषभानुसुताकी।*
*मंजु मूर्ति मोहन-ममताकी।।*
*त्रिविध तापयुत संसृति-नासिनि*
*विमल विवेक-विराग-विकासिनि।।*
*पावन प्रभु-पद-प्रीति-प्रकासिनि।*
*सुन्दरतम छवि सुन्दरताकी।।१।।*
*मुनिमनमोहन मोहन-मोहिनि।*
*मधुर मनोहर मूरति सोहनि।।*
*अविरल प्रेम-अमियरस-दोहिनि।*
*प्रिय अति सदा सखीललिताकी।।२।।*
*सन्तत सेव्य संत मुनिजनकी।*
*आकर अमित दिव्य गुन गनकी।।*
*आकर्षिणी-कृष्ण-तन-मनकी।*
*अति अमूल्य सम्पति समताकी।।३।।*
*कृष्णात्मिका कृष्ण-सहचारिणि।*
*चिन्मय वृन्दाविपिन-विहारिणि।।*
*जगज्जननि जग-दुःख-निवारिणि।*
*आदि अनादि सक्ति विभुताकी।।४।।*
*आरति श्रीवृषभानुसुताकी।।*

श्रीराधारानीकी जन्म-आरती श्रीपोद्दार महाराज स्वयं अपने हाथों किया करते थे। पू गुरुदेव तो भाव-समाधिमें ऐसे डूबे रहते थे मानो मात्र उनका देह ही गोरखपुरमें हो और वे उस लोकमें जीवन्त पहुँच गये हों जहाँ वस्तुत. श्रीराधारानीका श्रीकीर्त्तिदा मैयाकी कोखसे जन्म हो रहा है। वस्तुतः सत्य तो यही है, यही है कि वे स्वयं श्रीराधा बने अपने प्राणाधार प्राणस[illegible] नीलसुन्दरके साथ अपने चिन्मय जन्मोत्सवका दर्शन करने सच्चिन्मय ली[illegible]लालोकमें प्रवेश कर जाते थे। पुष्पाञ्जलि अर्पणका समय आनेपर ब्राह्मण[illegible] वेदपाठ करते,

किन्तु श्रीपोद्दार महाराज अपनी ही रचित पुष्पाञ्जलि बोलते थे –

*समुद सुगन्धित सुमन लै, सुमन सुभक्ति सुधार।*
*पुष्पाञ्जलि अर्पण करूँ, देवि ! करो स्वीकार ।।*

श्रीपोद्दार महाराज तो अपना सुष्ठु भक्तिपूर्ण सुन्दरतम श्रीकृष्णरूप मन ही प्रियाके चरणोंमें निवेदित करते हैं, किन्तु हम सब तो अपना विषय-कीचसे सना, देहाध्यासरूप मलिन पापवासनाओंकी दुर्गन्धसे भरा मन ही श्रीराधारानीके चरणोंमें निवेदित करते थे। परन्तु ओह ! अपूर्व समतामयी श्रीकृष्णप्रियाकी जय हो ! वह उसे भी स्वीकारते हुए अपना मुख तनिक भी तिक्त नहीं करती थीं। वही रस एवं प्रेमसे भरी मन्द मुसकान उनके मुख-मण्डलको सदैव उद्भासित करती रहती थी।

इसके पश्चात् स्वयं श्रीपोद्दार महाराजके द्वारा इधर तो श्रीराधाका पूजन प्रारंभ होता था और उधर पण्डाल जो बीच-बीचमें जय-जयकारसे गुञ्जायमान होता रहता था, गायकोंके सुस्वर पद-गायनसे मुखर होने लगता।

सर्वप्रथम तो श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी अपने परम सुमधुर कण्ठसे श्रीराधासुधानिधिके पाँच श्लोक पाठ करते थे।

*यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ धन्यातिधन्य पवनेन कृतार्थमानी।*
*योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि।।१।।*
*यो ब्रह्मरुद्रशुकनारद भीष्ममुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।*
*सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि।।२।।*
*राधाकरावचितपल्लववल्लरीके राधापदांकविलसन्मधुरस्थलीके*
*राधायशोमुखरमत्तखगावलीके राधाविहारविपिने रमतां मनो मे।।३।।*
*वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धुर्वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।*
*लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः।।४।।*
*राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला पादौ तत्पदकांकितासु चरतां वृन्दाटवी वीथिषु*
*तत्कर्मैव करः करोतु हृदयं तस्याः पदं ध्यायतात् तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः।।५।।*

**भावार्थ**

(पाठकोंके रसास्वादनार्थ इन पाँचों श्लोकोंका भावार्थ नीचे दिया जा रहा है)

(१)

सच्चिदानन्दघन दिव्यरस-सुधा-सिन्धु ब्रजेन्द्रनन्दन राधावल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका प्रेम-धाम ब्रजमें ही नित्य निवास है, और उनका चलना-फिरना भी ब्रजके मार्गोंमें ही है। यह ब्रजमार्ग चित्त-वृत्ति-निरोध-सिद्ध महाज्ञानी

योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये भी अत्यन्त दुर्गम है। ब्रजका मार्ग तो उन्हींके लिये प्रकट होता है, जिनकी चित्तवृत्ति प्रेमधन-रस-सुधा-सागर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंकी ओर नित्य निर्बाध प्रवाहित होती रहती है। जहाँ न निरोध है और न उन्मेष ही, अपितु दोनोंकी चरम सीमाका अपूर्व मिलन है। इस पथपर अबाध विहरण करती हुई, वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी श्रीराधारानीका दिव्य वसनाञ्चल विश्वकी विशिष्ट ि न्मय सत्ताको कृतकृत्य करता हुआ नित्य खेलता रहता है। किसी समय उस वसनाञ्चलके द्वारा स्पर्शित धन्यातिधन्य पवन-लहरियोंका अपने श्रीअंगसे स्पर्श पाकर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ-गति श्रीमधुसूदन अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीराधारानीके प्रति हमारे मन, प्राण, आत्मा – सबका नमस्कार है।

(२)

जो सबके हृदयान्तरालमें नित्य-निरन्तर साक्षी और नियन्तारूपसे विराजमान रहनेपर भी सबसे पृथक् गोप-वधूटी-विट रूपमें वर्त्तमान रहते हैं, जो समस्त बन्धनोंको तोड़कर सर्वथा उच्छृखलताको प्राप्त हैं, जिनके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ब्रह्मा, शंकर, शुक, नारद एव भीष्मादि *'महतो महीयान्'* पुरुषोंको भी नहीं है, अतएव वे हारकर मौन हो जाते हैं, उन सर्वनियमातीत, सर्वबन्धनविनिर्मुक्त, नित्य स्ववश, परात्पर, परम पुरुषोत्तमको भी जो श्रीराधिका-चरण-रेणु इसी क्षण वशमें करनेकी अनन्त शक्ति रखती है, उस अनन्त शक्ति श्रीराधिका- चरण-रेणुका हम अपने अन्तरस्तलमें बारंबार भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं।

(३)

श्रीराधाजीका तो जीवन ही प्रियतम-सुखमय है, अतः जिन पल्लव-वल्लरियोंके फूल वे अपने केशोंमें गूँथती हैं, उन पल्लव-वल्लरियोंके रूपमें स्वयं प्रियतम श्यामसुन्दर ही अपनेको उनकी केश-सज्जाके लिये समुपस्थित कर देते हे। प्रियतम श्यामसुन्दरका मन ही सुमन बनकर श्रीराधानीको सुख देने बृन्दावनमें स्फुटित रहता है। श्रीराधाके गुण-सौन्दर्यसे नित्यमुग्ध प्रियतम उन्हीं वीथियोंमें डोलते रहते हैं, जहाँ श्रीराधारानीके चरण घूमते हैं। बृन्दावनके पक्षियोंका यह एक ही कार्य शेष रहता है कि वे इन वीथियोंमें श्रीराधाकी चरणरेणुसे अपने अंगोंका सम्मार्जन करते-फिरते नित्यमुग्ध प्रियतम श्यामसुन्दरको उनकी प्रिया श्रीराधारानीके गुण-गायन सुनावें। कहीं हमारा भी ऐसा सौभाग्य

हो जाता कि हमारा मन भी इस राधा-विहार-विपिनमें श्रीप्रिया-प्रियतमका अनुगमन करता हुआ भ्रमण करने लगता।

(४)

विश्व-प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें विन्दुरूपसे जो विदग्धभाव, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, रूप(सौन्दर्य) और केलिरस(माधुर्य) वर्त्तमान है – रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीबृषभानुनन्दिनी उन्हीं सातों रसोंकी अनन्त अगाध उदधि हैं। इस प्रकार नित्यानन्दरसमय सप्तसमुद्रवती श्रीराधिका श्यामसुन्दर आनन्दकन्दके नित्य दिव्य रमणानन्दमें अनादिकालसे ही उन्मादिनी हैं। इन्हींके छविरूप सुन्दर मधुर इक्षुरससे और इन्हींके केलि-विलास-विन्यासरूप क्षारतत्त्वसे समस्त अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड नित्य अनुरञ्जित, अनुप्राणित और ओतप्रोत हैं। ऐसी अनन्त विचित्र सुधारसमयी, प्राणमयी, विश्वरहस्यकी चरम तथा सार्थक मीमांसामूर्त्ति श्रीबृषभानुनन्दिनीका दिव्य स्फुरण जिसके जीवनमें नहीं हो पाया, उसका सभी कुछ व्यर्थ अनर्थ है। देवी राधिके ! अपने ऐसे दिव्य स्फुरणसे मेरे हृदयको कृतार्थ कर दो।

(५)

श्रीराधिके ! वह शुभ सौभाग्यक्षण कब होगा, जब तुम्हारे नाम-सुधा-रसका आस्वादन करनेके लिये मेरी जिह्वा विह्वल हो जायेगी। जब तुम्हारे चरणचिह्नोंसे अंकित बृन्दारण्यकी वीथियोंमें मेरे पैर भ्रमण करेंगे – मेरे सारे अंग उसमें लोट-लोटकर कृतार्थ होंगे, जब मेरे हाथ केवल तुम्हारी ही सेवामें नियुक्त रहेंगे, मेरा हृदय तुम्हारे चरण- पोस्रोंके ध्यानमें लगा रहेगा और तुम्हारे इन भावोत्सवोंके परिणामस्वरूप मुझे तुम्हारे प्राणनाथके चरणोंकी रति प्राप्त होगी – मैं तुम्हारे ही सुख-साधनके लिये तुम्हारे प्राणनाथकी प्रणयिनी बननेका अधिकार प्राप्त करूँगा।

इधर श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा यह स्तवन समाप्त होता है, उधर श्रीपोद्दार महाराज रजतपात्रमें पावभर जलमें दूर्वा, कमल एवं अपराजिता डालकर सद्योजात किशोरीके शिशुवत् परम चिन्मय सुकोमलतम चरणोंमें तीन बार पाद्य देते हैं। उसके पश्चात् हाथ स्वच्छकर वे उनके नन्हे-नन्हे हाथोंका भावरूपमें ध्यान करते हुए एक अर्घ्यपात्रमें एक पाव जलमें गंध, पुष्प, अक्षत, यव, दूर्वा, चार तिल, कुशका अग्रभाग तथा सरसोंके कुछ दाने डालकर

श्रीराधाकुमारीके लाल-लाल हाथोंमें अर्घ्य देते हैं।

श्रीमोतीजी पारीक उनके हाथ धुलाकर पुनः उन्हें आचमनीय पात्र देते हैं। उस पात्रमें डेढ़ पाव जलमें जायफल, लौंग और कंकोलका चूर्ण डालते हैं एवं उससे श्रीपोद्दार महाराज श्रीराधारानीका भावाचमन कराते हैं।

श्रीपोद्दार महाराजको एक कटोरीमें सुगन्धित ब्राह्मी आँवलेका तेल दिया जाता है। वे उससे श्रीराधारानीके शिशु अंगोंमें अपने चिन्मय भाव-शरीरके अति सुकोमल हाथोंसे मर्दन करते हैं। परम स्वच्छ एवं शुद्ध समशीतोष्ण जलसे श्रीराधाकुमारीको स्नान कराते हैं। पश्चात् श्रीराधाकुमारीका पंचामृतस्नान होता है। पंचामृतकी पृथक्-पृथक् दूध, दधि, घृत, मधु एवं शर्करा आदि सामग्री भिन्न-भिन्न रजत पात्रोंमें सज्जित रख दी जाती है। श्रीमोतीजी पारीक एक-एक सामग्री श्रीपोद्दार महाराजको सौंपते हैं जिससे वे भावसे श्रीराधांगोंमें स्नानार्थ समर्पित करते जाते हैं। श्रीपोद्दार महाराज कर्पूर एवं चन्दनमिश्रित गुलाबजलसे श्रीराधारानीका शुद्धोदक स्नान सम्पादित करते हैं । एक सुकोमलतम रेशमी रूमाल द्वारा श्रीराधाकुमारीके अंगोंका सम्मार्जन किया जाता है। इसके पश्चात् लघु रेशमी नीली जरीकी झगुली समर्पित की जाती है। श्रीपोद्दार महाराज कंघी अर्पण करते हैं । श्रीराधाकुमारीके ललाटपर बिन्दी लगाते हैं, छोटे-छोटे शिशु हाथोंमें रत्नचूड़ी पहनाते हैं। उन्हें परम सुगन्धित इत्र समर्पित किया जाता है। फिर उन्हें दर्पण दिखाया जाता है। श्रीपोद्दार महाराज अपने भावमें दर्पणमें श्रीराधा- रानीके मुखका अति सुकोमल प्रतिबिम्ब देखकर चकित हो उठते हैं। उन्हें दर्पणमें श्रीराधाके मुखके स्थानपर श्रीकृष्णकी मुखछवि दृष्टिगोचर होती है। सत्य ही तो है, श्रीराधारानीके अति सुकोमल प्रतिबिम्ब श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्णकी अति सुकोमल प्रतिबिम्ब श्रीराधा हैं। ये दोनों ही तो बिम्ब हैं और यही दोनों परस्पर अति सुकोमल प्रतिबिम्ब भी हैं, अतः अति सुकोमल प्रतिबिम्बरूपमें श्रीपोद्दार महाराजको जो कुछ दिख रहा है, वही सत्यका सत्य– परम सत्य है।

श्रीपोद्दार महाराज आरसीमें उस प्रतिबिम्बको देखकर एक क्षण तो श्रीराधाबाबाको यह छवि दिखाना चाहते हैं, किन्तु श्रीराधाबाबाको ध्यानस्थ देखकर वे मुसकाकर उस छविको हृदयमें लगा लेते हैं। इसके पश्चात् वे श्रीराधारानीके सुकुमार अंगोंमें कस्तूरी एवं केसर- सुवासित चन्दन अर्पण करते

हैं।

श्रीपोद्दार महाराज इसके पश्चात् श्रीराधारानीको सौभाग्यद्रव्य अर्पण करते हैं; सौभाग्यद्रव्योंमें कुंकुम, सच्चे मोती, हरिद्रा, अबीर-गुलाल एवं सिन्दूर होता है। वे श्रीराधारानीको सुन्दर पुष्पोंसे गुँथी माला समर्पित करते हैं। श्रीराधारानीको तब कमल-पुष्प अर्पण किया जाता है। इसके पश्चात् श्रीराधा-रानीको धूप अर्पण किया जाता है। धूपाघ्राणके पश्चात् दीप दिखाया जाता है और तब एक पट्टेको स्वच्छकर रजतकी थालीमें सुस्वादु षड्रस नैवेद्य (भोजन) अर्पण किया जाता है।

इस नैवेद्यमें मिठाई, नमकीन, कटु, तिक्त, अम्ल और कषाय – छहों रसोंसे युक्त चर्व्य, चोष्य, लेह्य, एवं पेय चारों प्रकारके पदार्थ होते हैं।

चर्व्य (चबाकर खाये जानेवाले) नैवेद्यमें मिष्ठान्न, नमकीन, पूरी-कचौरी आदि भोजन होते हैं। नमकीन नैवेद्यमें अनेकों प्रकारके साग, बड़े, दहीबडे, काँजीबड़े, समोसे, कचौरी आदि होते हैं। मिष्ठान्नमें सभी मिठाइयाँ यथाश्रद्धा भोग लगायी जाती हैं। चोष्य नैवेद्योंमें आम, मौसम्बी, आदि चूसे जानेवाले फल होते हैं। लेह्य नैवेद्यमें हरी मिर्चकी चटनी, नींबू, पुदीनाकी चटनी आदि सभी चटनियाँ सम्मिलित होती हैं। पेय नैवेद्यमें श्रीखण्ड, खीर, रबड़ी, आदि पी सकने योग्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार कटु रसमें करैलेकी, मेथीकी सब्जी होती हैं। तिक्त रसमें अदरखकी बूजी, अम्लरसमें नीबूके टुकड़े, कषायरसमें आँवलेकी लौंजी आदि वस्तुएँ होती हैं।

श्रीपोद्दार महाराज अन्तर्पट करके श्रीराधाकुमारीको नैवेद्य अर्पण करते हैं। नैवेद्य अर्पण करके वे श्रीराधाकुमारीको अमृतोपस्तरण एवं अमृतोपिधान कराते हैं। इसके पश्चात् उन्हें आचमनीय कराया जाता है। केसर एवं कर्पूर मिले चन्दनसे करोद्वर्तन कराया जाता है। मुखशुद्धिके लिये ताम्बूल, लौंग एवं इलायची अर्पण की जाती है। इसके पश्चात् वे स्वयं श्रीराधारानीकी स्तुति श्रीराधासुधानिधि ग्रन्थसे करते हैं। एक रजत गिलाससे उन्हें जल समर्पण करते हैं। पाँच ऋतुफल समर्पित करते हैं। फिर श्रीमोतीजी आदि ब्राह्मणोंको दक्षिणा दी जाती है। इसके पश्चात् श्रीराधारानीका दीपसे, जलसे, वस्त्रसे एवं पुष्पोंसे नीराजन होता है। इस प्रकार सभी पूजामें बैठे लोग श्रीराधारानीको साष्टांग नमस्कार करते हैं एवं तब पुष्पाञ्जलि दी जाती है।

इधर जबतक यह पूजन भीतरके अर्चा-मण्डपमें चलता है, बाहर संकीर्त्तन होता रहता है। श्रीपोद्दार महाराज जब यह अर्चन करके बाहर आ जाते थे तो सकीर्त्तन करनेवाले गायकदलका उत्साह अनेकगुणा बढ़ जाता था।बधाईके पदोंसे पूरा-का-पूरा पण्डाल निनादित हो उठता था। लोग झूम-झूमकर गाने लगते थे –

*हृदय आनन्दभर बोलो, बधाई है, बधाई है।*
*हमारे भाग्य हैं जागे, जो लाली घरमें आई है।।हृदय०।।*
*धन्य वृषभानुपुर सुन्दर, धन्य वृषभानुनृपमन्दिर,*
*धन्य यह कक्ष मंगलकर अजन्मा जहाँ जाई है ।।हृदय०।।*
*शुभ सित पक्ष भादौं मास, शुभ अति अष्टमी सुखरास,*
*शुभ नक्षत्र अभिजित खास जिसमें राधा आई है।।हृदय०।।*
*कामकी कालिमा हरकर, प्रेमकी छवि प्रकाशित कर,*
*रस सुधासे विषय विष हर प्रेमकी बाढ़ छायी है।।हृदय०।।*
*खोलकर नेहके झरने, सुखी निज श्यामको करने,*
*हृदय आनन्दसे भरने, स्वयं श्यामाजू आयी हैं।।हृदय०।।*
*हृदय है यह कन्हैयाकी, प्राण है यह कन्हैयाकी,*
*आत्मा यह कन्हैयाकी सुधा बरसाती आयी है।।हृदय०।।*
*एक ही दो बने हैं जो, दो रहकर एक ही हैं सो,*
*रसास्वादन करानेको रसकी सरिता आयी है।।हृदय०।।*
*पुकारो भानुनृपकी जय, मैया कीर्तिकी जय जय.*
*हुआ दम्पतिका भाग्योदय जिनकी कन्या कहाई है।।हृदय०।।*

पदोके अन्तमें 'जय-जय श्रीराधे'का जयनाद इतने उच्च स्वरोंमें किया जाता था कि निश्चय ही वह ध्वनि ऊपरलोकोंको भी हर्षसे भर देती।

इन पदोंके पश्चात् सामूहिक उद्दाम नाम-सकीर्त्तन इतने तुमुल स्वरोंमें किया जाता कि सब जन-समुदाय राधानाम-गायनकर पागल हो उठता । वस्तुत. सन् १९५७ ईके पूर्व जबतक पू.गुरुदेव श्रीराधा- बाबाने काष्ठमौन ग्रहण नहीं किया था, इस उद्दाम नाम-सकीर्त्तनका संचालन वे स्वयं ही अपने हाथमें बडा घण्ट और बजानेकी लकडीकी हथौडी लेकर किया करते थे। उनके मौन लेनेके पश्चात् यह घण्ट श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगला (श्रीपोद्दार महाराजके जामाता) लिया करते। यह उद्दाम नाम-संकीर्त्तन इतना तुमुल होता कि इसमें सभी लोगोंकी वृत्तियाँ राधा-नाममय हो उठतीं। लगभग चार बजे सायंकालतक

यह कार्यक्रम चलता और तत्पश्चात् प्रसाद-वितरण होकर प्रथम दिवसका उत्सव समापन हो जाता था।

अन्तमे मैं श्रीराधाष्टमी महोत्सवमें जो-जो आवश्यक सामग्री लगती है उसकी भी तालिका दे देता हूँ। यह सब इसीलिये लिखा जा रहा है जिससे पाठकगण गोरखपुरमें पू.पोद्दार महाराजके सान्निध्यमें मनाये जानेवाले इस उत्सवकी तरह ही अपने घरोंमें भी श्रीराधा -जन्म-महोत्सव अवश्य मनावें। जो भी भक्तगण इस रीतिसे यह उत्सव अपने घरोंमें, ग्रामोंमें, नगरोंमें, सार्वजनिक मन्दिरोंमें मनावेंगे, उनपर श्रीराधारानीकी निश्चय-निश्चय कृपा बरसेगी। पू. गुरुदेव एवं पू.पोद्दार महाराजकी सन्निधि भी उन्हें इन उत्सवोंमें अवश्यमेव अनुभवमें आवेगी।

## राधाष्टमी-महोत्सवकी सामग्री

(१) जौ २०—३० दाना,
(२) बिना टूटा अक्षत चावल १ छटाँक
(३) तिल २०—३० दाना
(४) सरसों २०—३० दाना
(५) जायफल १ फल
(६) कंकोल ८—१० मात्र
(७) सुगन्धित तैल — एक शीशी
(८) धुले रूमाल ३ दर्जन
(९) श्रीराधाजीके लिये साडी-कब्जा
(१०) कुमारी राधाके लिये नीली झगुली एवं काछनी
(११) राधाजीके सिंहासनके लिये गद्दा-तकिया
(१२) शुद्ध रबड़के कंघे २ नग
(१३) सुन्दर चूड़ियाँ १६ नग
(१४) दर्पण २ नग
(१५) स्वर्णबेंदी
(१६) चन्दन-धूप १ पेकट

(१७) अबीर-गुलाल थोड़ासा
(१८) सिन्दूर थोड़ासा
(१९) सौभाग्यसूत्र २ नग
(२०) तिलकके लिये सच्चे मोती – थोड़ेसे
(२१) खूब सुगन्धि वाली अगरबत्ती २ पेकेट
(२२) घीमें भीगी रूईकी बत्तियाँ १०० नग
(२३) छोटी इलायचीके दाने
(२४) लौंग थोड़ीसी
(२५) पंचामृतके लिये दूध यथाश्रद्धा
(२६) दही – दूधकी मात्रासे आधा
(२७) गायका शुद्ध घी १ किलो
(२८) शुद्ध शहद १-२ सेर
(२९) देसी बूरा(चीनी) पंचामृतके लिये लगभग १५ किलो
(३०) मट्टीकी परई ३०० नग
(३१) दीपक १०० नग
(३२) पंचामृतके लिये नाँद १ नग
(३३) हाँडी ४–५ नग
(३४) दूर्वादल, कुश, तुलसीदल, बिल्वपत्र, पुष्पादि, माता कीर्त्तिदाके लिये बड़ी पुष्पमाला तथा श्रीराधा-कुमारीके लिये छोटी पुष्पमाला
(३५) घिसा हुआ चन्दन
(३६) दियासलाई
(३७) दक्षिणाद्रव्य २ स्थानपर यथाश्रद्धा
(३८) अखण्ड ऋतुफल ५ फल २ वार समर्पित होंगे
(३९) गंगाजलमें शुद्धतापूर्वक बना हुआ षड्रस नैवेद्य
(४०) मेवा यथाश्रद्धा
(४१) लगाये हुए ताम्बूल
(४२) (मुखशुद्धिके लिये) इलायची-लौंग ।

# निशाजागरण एवं दधिकर्दमोत्सव

## (सायंकालीन कार्यक्रम)

इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं माननी चाहिये कि भाद्रपद शुक्ल पक्षकी षष्ठीसे नवमीतक गीतावाटिका (श्रीपोद्दार महाराजकी निवासस्थली)में साक्षात् चिन्मय लीलाधाम – गोलोकका ही प्रतिबिम्ब अवतरित हो आता था । राधाष्टमीके सम्पूर्ण दिवस तो रस-धूम ही मची रहती; सायंकाल भी श्रीपोद्दार महाराजकी ओरसे सभी समागत अतिथियों, गोरखपुर नगरके आसपासके ग्रामोंसे आये दर्शनार्थियों और उत्सवमें सम्मिलित शहरके सभी जन-समुदायको भरपेट प्रसाद वितरण किया जाता था। इस प्रसादका ऐसा सात्विक दिव्य स्वाद होता था कि खानेवालोंको अनुभव होता मानो सचमुच ही हम बृषभानुपुरके राजप्रासादका ही भोग पा रहे हैं। चावल, कढी, मूँग, पूड़ी, प्रसादी साग, बुँदिया, भुजिया सभीमें शुद्ध घी और तैलका ही प्रयोग किया जाता था। दुपहरीमें चढा पंचामृत प्रसाद, पँजीरी, केला आदि फलोंके टुकड़े भी इस प्रसादमें सम्मिलित होते थे। भोजन समापन होते-होते ही सायंकाल हो जाता, एवं सायंकालीन उत्सवका प्रारंभ हो जाता था।

# श्रीपोद्दार महाराजका रात्रिकालीन प्रवचन

सायंकालीन उत्सवमें पहले तो नाम-संकीर्त्तन होता, उसके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजका अति सारगर्भित प्रवचन हुआ करता ।

श्रीराधाजन्माष्टमी महोत्सवके रात्रिकालीन उत्सव एवं श्रीपोद्दार महाराजके प्रवचनका सार-संक्षेप देनेके पूर्व मैं हिन्दू समाजमें व्याप्त उन परिस्थितियोंपर भी किंचित् प्रकाश डाल देना आवश्यक समझता हूँ, जिनसे प्रेरित होकर अन्तर्जगत्‌ने पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराजके द्वारा एक आन्दोलनके रूपमें इस श्रीराधाजन्माष्टमी महोत्सवको प्रारंभ करवाया; उसे इतना बृहद् रूप दिलाया और उसी अन्तर्जगत्‌की महाइच्छाकी पूर्त्तिके लिये एक यंत्रके रूपमें श्रीपोद्दार महाराज अपने जीवनके पूरे पचास वर्ष इस आन्दोलनके प्रणेता बने कार्य करते रहे। अपने लेखों, प्रवचनों, कविताओं और पत्राचारोंके द्वारा ही नहीं, अपनी अनवरत प्रगाढ रस-साधना एवं विलक्षण सहज भाव-समाधि द्वारा

श्रीपोद्दार महाराजने अन्तर्जगत्की जिस महाइच्छाकी पूर्तिमें अपनी समग्र क्रियाशक्ति और चिच्छक्तिको एकाकार, एकात्म कर दिया, अन्तर्जगत्की जिस महाइच्छाशक्तिने ही श्रीपोद्दार महाराज रूप वृक्षमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा जैसे अतिशय सुरभित गुलाबके फूलको प्रस्फुटित किया, उसे सहस्रों सुरभित पंखुडियोंसे समन्वितकर उसका चरम एवं परम विकास किया, उसका मकरन्दपान करने एवं उससे अशेष कल्याणभाजन होनेके लिये हजारों ग्राहकोंके रूपमें, दीन-हीन विषयलोलुपतामें बँधे जीवोंके वेषमें स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन भिक्षापात्र लेकर समुपस्थित हुए, उस महाइच्छाके कारणोंका भी कुछ परिचय करा देना मैं परमावश्यक समझ रहा हूँ।

गीतावाटिका, गोरखपुरमें मनाया जानेवाला श्रीराधाजन्माष्टमी-महोत्सव एक साधारण कौतुक अथवा मनोविलास मात्र नहीं था, इसके पीछे रसजगत्के महासिद्ध सन्तोंका विलक्षण उत्साह था, और पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने पू.पोद्दार महाराजका परमातिपरम गुप्त संकेत और उत्साह-समन्वित अनुमोदन पाकर ही इसे मूर्त्त किया था। यहाँ इसकी पृष्ठभूमिपर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

घोर कलिकालका प्रवाह ही इसका हेतु संभव है। ऐसा युग आया, जिसमें भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णने व्रजमें प्रकट होकर रसकी मधुराति-मधुर जो त्रिवेणी बहायी थी, उसके प्रति हिन्दू समाजमें घोर भ्रान्तियाँ फैलती गयीं और विकृत होते-होते उसका स्वरूप पापके प्रचारमें निमित्त हो गया।

विदेशी विद्वान् शोधकर्त्ता बन बैठे और श्रीफर्कुहरने लिख दिया कि श्रीराधाकी उपासना ईसवी सन ११००के आसपास बृन्दावनमें प्रारंभ हुई होगी, और यहांसे बंगाल आदि स्थानोंमें पहुंची होगी।

डाक्टर शशिभूषण दासगुप्ताके द्वारा रचित 'श्रीराधाका क्रम-विकास' नामक पुस्तकमें श्रीराधाकी कब, कैसे कल्पना हुई, कैसे-कैसे उसमें विकास होता गया – इस विषयपर अनर्गल कल्पनाओंको लिपिबद्ध किया गया। ऐसे ही विचार या ग्रन्थ नवीन-नवीन शोधकर्त्ताओंके लिये उनके शोधका आधार बनते गये। शोधग्रन्थोंमे यह प्रतिपादित किया गया कि श्रीराधा मात्र कवि-कल्पना-प्रसूत नायिका हैं। वे एक विलासप्रिय स्वच्छन्द रमणी हैं। रीतिकालीन कवियोंने भी श्रीराधाकृष्णकी दिव्य चिन्मय लीलाओंमें अपनी जड देहगत धारणाओं एवं प्रच्छन्न वासनाओंको आरोपितकर इतना कामोद्दीपक, श्रृंगारी बना दिया कि इन्हींसे इन विद्वानोंने अपने शोधग्रन्थोंकी पृष्ठभूमि

निर्मित की। आधुनिक सम्प्रदायाचार्योंने जिनकी उपासना ही श्रीराधाकृष्ण युगल दम्पतिकी रसकेलि थी, अपने स्वार्थोंकी पूर्त्तिहेतु विकृत रासलीलाओंके ग्रन्थोंका सृजनकर इन परम गोपनीय एवं तत्त्वमयी लीलाओंको, जो मात्र अधिकारी साधकोंके लिये साधनाकी वस्तु थीं, इतना सार्वजनिक बना डाला कि राधाकृष्णको मात्र कामी नायक-नायिकाके रूपमें ही पहचाना जाने लगा।

परम रसिक सिद्ध सन्त स्वामी हरिदासाचार्यजीकी उक्ति – ***'पाँचें भूले देह, छठे भावना रासकी'*** को तो दर-किनार कर दिया गया तथा वैष्णव समाजमें भोगवासनाकी पूर्त्तिको ही गोपीभावकी संज्ञा दी जाने लगी।

अलौकिक प्रीतिराज्यका लेशाभास मात्र पानेके लिये जड शरीरके विषयाध्यासकी तो बात ही क्या, सूक्ष्म शरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग और कैवल्य ही नहीं अपितु मोक्षतकको त्याग देना जहाँ अनिवार्य शर्त्त रहती है उस प्रेमराज्यको मलिन मायिक शारीरिक अंग-संगका पर्याय मात्र बना दिया गया।

खद्योतोंके समान यत्र-तत्र फैले तुकबन्दी करनेवाले कवियोंने चीरहरण, दानलीला, मानलीला एव रासलीला विषयक नये-नये काव्य तथा गीत रचे जिनमें स्त्री-पुरुषोंकी कामलीलाका ही चित्रण कर दिया गया। इससे समाजमें गोपियोंके प्रति, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति तथा पारमार्थिक सत्यके प्रति ऐसी भ्रान्ति फैली कि उसका निराकरण ही कठिन हो गया।

महात्मा गाँधी, स्वामी दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य तिलक सरीखे समाज-सुधारकों एवं अन्य नेताओंकी जमातोंने भी इसी दृष्टिको अपनाया कि हिन्दू शास्त्रों एवं पुराणोंमें वर्णित राधा-कृष्ण विषयक ये सभी प्रसंग प्रक्षिप्त हैं, तथा अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा हिन्दू धर्मकी निन्दाके उद्देश्यसे इन्हें बादमें जोडा गया है। इन्हें पुराणों एवं धर्मग्रन्थोंसे काटकर पृथक् कर देनेमें ही हिन्दू धर्मकी सेवा और हित है।

श्रीमद्भागवतादि पुराणोके वेदान्ती टीकाकारोंने भी अपनी मनमानी करनेमें कोई कोर-कसर नहीं रखी। उन्होंने रासलीलादि प्रसंगोंके विशुद्ध प्रेम-रहस्यको बिना जाने-समझे ही गोपियोंको असंख्य वृत्तियोंका रूप दे दिया और भगवान् श्रीकृष्णको द्रष्टा, साक्षी, आत्मा मानकर रासप्रसंगको 'वृत्तियोंका विलास-रमण' ही सिद्ध कर दिया । इसी प्रकार चीरहरण उनके लिये आवरण-भंग मात्र हो गया।

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(पञ्चम खण्ड)

पृष्ठ संख्या 301-400 तक

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाने भी गीताप्रेससे 'कल्याण' मासिक पत्रके विशेषांकोंके रूपमें जब पुराणोंका प्रकाशन प्रारभ किया तो समाजमें व्याप्त इस भ्रान्तिसे प्रभावित होकर स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण आदिके श्रीराधाकृष्णलीला विषयक प्रसंगोंको हटाकर उन्हें सक्षिप्त करके ही प्रकाशित किया।

उन दिनों हिन्दू समाजके आस्तिक वर्गने 'कल्याण' मासिक पत्रको धर्मके प्रतिनिधि प्रवक्ताकी ही मान्यता दे रखी थी, अतः कल्याणके विशेषांकोमे श्रीराधाकृष्णलीलाके प्रसंगोंको न देखकर आस्तिक, जागरूक समाजकी यह भ्रान्त धारणा पूर्णतया परिपुष्ट हो गयी कि श्रीराधाकृष्ण एवं गोपियोंकी ये लीलाएँ सचमुच ही पारमार्थिक साधकोंके लिये कल्याणकारी नहीं हैं। 'कल्याण'का पाठकवर्ग एवं श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाके सत्संगोंसे जुड़ा सत्संगी समुदाय तो श्रीमद्भागवत जैसे परम पुनीत एवं वैष्णव भक्तिके धुरीण ग्रन्थको भी रासलीला, चीरहरण, माखनचोरी आदि प्रसंगोंके अंश छोड़कर ही पढने लगा। अनेक साधक तो यहाँतक कहने लगे कि ध्यान तो भगवान् नारायणका ही ग्राह्य है, चरित्र श्रीरामजीका ही स्तुत्य है और भगवान् श्रीकृष्णका तो मात्र उपदेश ही स्वीकार करने योग्य है।

श्रीपोद्दार महाराज तो भगवान् नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रिया श्रीराधाको ही अपना आराध्य मानते थे। अपनी भावदेहसे तो वे स्वयं प्रिया श्रीराधा ही थे। महारासादि प्रसगोंके सच्चिदानन्दमय लोकोत्तर परम मंगलकारी सत्यके तो वे प्रत्यक्ष अनुभवकर्त्ता ही थे। अपने अप्रतिम सहिष्णु स्वभाववश एवं आत्मगोपनकी चरम भावनासे सदैव ग्रहीतमानस रहनेके कारण वे कुछ काल तो शान्त रहे, किन्तु कालान्तरमें जब श्रीमद्भागवत जैसे सर्वमान्य परम पावन ग्रन्थसे भी रासलीला, चीरहरण एव माखनचोरी आदि लीलाओको हटाकर संक्षिप्त करके छापनेकी सुगबुगाहट उनके कानोंमें पडी तो उनकी सहनशक्तिकी इतिश्री हो गयी। वे आपाततः ही हिल गये और उन्होंने ऐसे प्रकाशनमें अपना सहयोग देना सर्वथा अस्वीकार कर दिया।

उन्होंने अपने उत्कट एवं सक्रिय आग्रहसे सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको बाध्य कर दिया कि वे श्रीमद्भागवतको संक्षिप्त करके प्रकाशित कदापि नहीं करें। अन्ततः श्रीगोयन्दकाजीको श्रीपोद्दार महाराजकी बात माननी

ही पड़ी ।

पू.श्रीपोद्दार महाराज तो मानव मात्रके कल्याणके लिये श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीराधाकृष्णके परमातिपरम मधुर आत्ममिलनकी इन लीलाओंको सर्वोपरि श्रेष्ठ समझते ही थे, वे तो इन्हें पूर्ण मंगलकारी ही मानते थे, अतः उन्होंने 'कल्याण' मासिक पत्रके 'श्रीमद्भागवतांक' नामक विशेषांकमें अतिशय सारगर्भित अपने तीन लेख प्रकाशित किये। ये विशिष्ट लेख थे – १. माखनचोरीका रहस्य, २. चीरहरण रहस्य, तथा ३. रासलीला रहस्य । ज्योंही 'कल्याण' पत्रके माध्यमसे ये लेख आस्तिक वर्गने पढे, भ्रान्त समाजकी आँखें खुल गईं और समाजको श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-प्रसंगोंके सर्वोच्च विशुद्ध भक्तितत्त्व एवं रहस्यका परिचय प्राप्त हुआ।

इसके पश्चात् तो श्रीपोद्दार महाराजको अन्तर्जगत् द्वारा ऐसी प्रेरणा प्राप्त हुई कि अबतक जिस गोपीभाव-साधनाको वे परम गोपनीय एवं अपने अन्तर्हृदयकी एकमात्र लोभनीय वस्तु मान करके उसका एकान्तिक आस्वादन कर रहे थे, उसे अपने सत्संगों, प्रवचनों एवं 'कल्याण' पत्रिकामें लिखे अपने लेखोंके माध्यमसे भ्रान्त हिन्दू समाजके सम्मुख रखनेका मानो बीड़ा ही उठा लिया।

इस युगमें यह श्रेय श्रीपोद्दार महाराजको निःसंशय रूपसे दिया जाना चाहिये कि जो अद्‌भुत प्रीतिरस ऋषि-मुनियोंके लिये भी अगोचर है, जिसे प्राप्त करनेके लिये शिव-ब्रह्मादि देवगण भी समुत्सुक रहते हैं, भगवान् नारायणकी वक्षोविलासिनी रमादेवी जिसे प्राप्त करनेको लालायित रहती हैं, स्वयं ब्रह्मविद्या जिसकी प्राप्तिके लिये युगोंतक तपस्या करती हैं, साथ ही जिसे हिन्दू समाजने अपने ही सुधारकों, नेताओंकी अज्ञता, अपने सम्प्रदायाचार्योंकी भोगलिप्सा और साहित्य-शोधकोंकी मनमानी कल्पनाओंसे कामकेलि मान लिया, चीरहरण-जैसे परमोज्वल प्रसंगोंको नग्न स्त्रीदर्शन समझ लिया गया, समाजकी उस घोर भ्रान्तिका समूल उच्छेदनकर उन्होंने ब्रज-प्रीतिके माधुर्यको अनुपमेय सिद्ध कर दिया।

श्रीपोद्दार महाराजके हृदयमें इस परम चिन्मय दिव्य रसका प्रादुर्भाव तो उसी समय हो गया था, जब उन्होंने सर्वप्रथम अपने नजरबन्दी कालमें शिमलापाल (बंगाल)में नारदभक्तिसूत्रकी टीका लिखी थी; किन्तु श्रीमद्भागवतांकके प्रकाशनके पश्चात् तो वे इस भ्रान्ति-निवारणके रसान्दोलनमें पूरी शक्तिसे जूझ

पडे। इन्हीं दिनों पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा भी श्रीमद्भगवद्गीताकी टीकालेखनका अपना पूर्वकृत संकल्प पूरा करके श्रीपोद्दार महाराजके पूर्ण शरणापन्न हो गये थे और श्रीराधाजन्माष्टमी महोत्सव भी शिशुरूपमें जन्मग्रहण कर ही चुका था।

मुझे इसे कहनेमें किसी भी प्रकारका कोई संकोच नहीं है कि मेरे पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबाको 'राधाप्रीतिदान'का श्रीपोद्दार महाराजका संकल्प इसी हेतुसे हुआ था कि वे एक-से-दो होकर शाखा-प्रशाखा रूपमें इस रस-वृक्षका प्रसार कर सकें।

श्रीराधाजन्माष्टमी महोत्सव, श्रीराधाजन्माष्टमी महोत्सवमें प्रतिवर्ष दिये जानेवाले उनके रसतत्त्व रहस्योंको प्रकाशित करने वाले प्रवचन, उनकी विलक्षण रसमयी पद-रचनाएँ, पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाका काष्ठमौन, श्रीपोद्दार महाराजकी उच्चतम सहज भावसमाधि – इन सबको हम यदि इसी महा-महामंगलमयी अन्तर्जगत्की योजनाके रूपमें देखेंगे तभी हमें इसका सही दिग्दर्शन हो पावेगा।

श्रीपोद्दार महाराजके जिस रात्रिकालीन प्रवचनका यहाँ सन्दर्भ है, उस प्रवचनके पूर्व कुछ कालतक पण्डालमें जन-समुदाय द्वारा भगवन्नाम-संकीर्त्तन किया जाता था। रात्रिके प्रथम प्रहरसे ही गोरखपुर विश्वविद्यालयके विद्वान् प्राचार्यगण, नगरके सम्मान्य साहित्यप्रेमी, कवि, लेखक, पत्रकार, उत्तर-पूर्वी रेलवेके वरिष्ठ पदाधिकारी, सम्मान्य नागरिक, गीताप्रेसके पदाधिकारी, सन्त-महात्मा और देशके सुदूर भागोंसे समागत अतिथिगण, अनेक संगीतज्ञ, विशिष्ट प्रवचनकर्त्ता, अनेक कथावाचक, संस्कृत विद्यालयोंके आचार्य और शिक्षक आदि सभी जन-समुदाय एकत्रित होने लगता था। लगभग नौ बजेतक श्रीपोद्दार महाराज पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबाको साथ लेकर उत्सव-पण्डालमें प्रवेश कर जाते थे। श्रीपोद्दार महाराजका प्रवचन तो लगभग एक-डेढ़ घण्टे ही होता था, प्रवचनके पश्चात् कुछ काल शंका-समाधानमें भी लग जाता था, तत्पश्चात् सम्पूर्ण निशापर्यन्त भिन्न-भिन्न स्थानोंसे समागत कलाकारों, कवियों, गायकों, प्रवचनकर्त्ताओंके द्वारा कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रकार प्रातःकाल पर्यन्त यह उत्सव चलता रहता था। श्रीपोद्दार महाराज एवं पूज्य गुरुदेव अवश्य ही मध्यरात्रिके लगभग पण्डालसे अपने विश्रामकक्षोंको चले जाते थे।

# काम एवं प्रेम

जिस प्रवचनका उल्लेख यहाँ किया गया है उस प्रवचनमें श्रीपोद्दार महाराजने काम एवं प्रेमके मध्यका अन्तर सुस्पष्ट किया था। उनके कथनका सारांश था कि साधारण नायक-नायिकाओंकी तो बात ही नहीं करनी चाहिये, पातिव्रतधर्मकी उच्चतम पूर्णताको प्राप्त हुईं अनुसूयादि पतिव्रता-शिरामणि स्त्रियाँ भी कामना करती हैं कि उन्हें गोपियों एव राधाका-सा सतीत्व प्राप्त हो जाय। पतिव्रता-शिरामणि स्त्रियाँ चाहे जो भी हों, हम सभीकी परम वन्दनीया हैं, परन्तु ये सभी दाम्पत्यप्रेमकी सर्वोच्च आदर्श ही हैं। दाम्पत्यप्रेम चाहे वह अत्रि-अनुसूयाका हो, चाहे कर्दम-देवहूतिका हो, शिव-सतीका हो, चाहे सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण, रुक्मिणी, सत्यभामादि श्रीकृष्ण-पटरानियोंका हो, है वह अहकारमूलक ही; चाहे अतिशय शुद्ध हो, है काम-प्रेरित ही। दाम्पत्य-प्रेममें स्वार्थका लेश, निज सुखकी कामना रहती ही है। इसीलिये द्वारका-महिषियोंके प्रेमसे गोपांगनाओंके प्रेमकी कोई तुलना नहीं हो सकती। इनमें इतना अन्तर है जितना प्रकाश और अन्धकारमें होता है। गोपांगनाओंका प्रेम विशुद्ध प्रेम है और अन्य महिषियोंका प्रेम, भले ही कितना ही आदर्श त्यागमय हो, है काम ही। काम एवं प्रेमके भेदको श्रीराधामाधवकी कृपासे उनके बिरले प्रेमी ही समझ पाते हैं। जैसे काच और असली हीरेके अन्तरको पहचानना अनुभवी रत्न-व्यापारी, जौहरीका ही काम है, वैसे ही बिरले प्रेमी ही काम तथा प्रेमके अन्तरके पारखी होते हैं।

गोपांगनाओंमें लौकिक दृष्टि, भौतिक अंग-प्रत्यंगोंकी स्मृति, अपने सुख-साधनकी परिकल्पना थी ही नहीं। उनमें कामजगत्के सम्बन्ध-लेशकी कल्पना उसी प्रकार नहीं थी जैसे सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशमें अन्धकार कल्पित ही नहीं किया जा सकता। जिन लोगोंमें भी इन्द्रियभोगोंमें सुखभावना है, उन्हें गोपियोंके श्रृंगाररसके अनुशीलनका अधिकार ही नहीं है। ब्रजभाव तो वस्तुतः सर्वोच्च भूमिके उन्हीं साधकोंका मार्ग है जिनमें अनिर्वचनीय परम दुर्लभ, विलक्षण दिव्य चिदानन्दमय रस-उपलब्धि करनेकी चाह है। जिनका समस्त विषय-व्यामोह तो सदा-सदाके लिये मिट ही गया है, दुर्लभ-से-दुर्लभ दिव्य देवभोगोंके

आनन्दसे ही नहीं, अपितु परम तथा चरम वाञ्छनीय ब्रह्मानन्दसे भी जिनकी अरुचि हो गयी है, वे ही गोपी एवं राधाकी बात कहने-सुननेके अधिकारी होते हैं। रसराज रसिकशेखर ब्रजेन्द्रनन्दन ही जिनके हृदयमें सर्वस्व होकर बस गये हैं और जिन महाभाग्यवानोंको उन्होंने अपना स्वेच्छा-संचालित लीला-यंत्र बनाकर धन्य कर दिया है, वे ही गोपी एवं राधाभावके साधक होनेकी योग्यता रखते हैं। श्रीकृष्ण-प्रेमकी साधनामें परिपक्व ब्रजरसके साधकोंके हृदयसे सभी भुक्ति-मुक्तिके राग और काम उसी प्रकार जल जाते हैं, जैसे बार-बार अग्निमें डालकर जलानेसे स्वर्णमें मिली हुई सभी दूसरी स्वर्णेतर धातुएँ जल जाती हैं। जब कुन्दनके सदृश वह साधक भुक्ति-मुक्तिकी पिशाची स्पृहासे शून्य हो जाता है, तभी वह श्रीराधा एवं गोपियोंके मात्र प्रियतमसुखमय प्रेमका पथिक होता है।

## चीरहरण रहस्य

श्रीपोद्दार महाराजके कथनानुसार उपरोक्त साधक ही कात्यायनी देवीकी साधना करके ब्रजाराध्य श्रीकृष्णको प्राणनाथ रूपमें प्राप्त करना चाहता है। वह साधक देहसे स्त्री ही हो, यह आवश्यक नहीं। उसका भावदेह मात्र ही गोपी होता है। ऐसे सर्वोच्च साधकके ही वस्त्रहरण उसके परमाराध्य श्रीकृष्ण करते हैं। वह साधक(गोपी) विषयोंके आपातरमणीय नरकराज्यसे तो निकल ही चुका होता है, विषय-मोहसे आवृत लौकिक देह और उसके अंगोंकी तो उसमें स्मृति भी नहीं रहती; अतः भगवान्‌की इस वस्त्रापहरण लीलामें उसे दोष दिखनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता। उसके सम्मुख तो श्रीकृष्ण – उसके प्रियतम भी छः वर्षके छोटे-से बालक होकर ही प्रकट होते हैं, अतः उसे उनमें भी किसी बुरी नीयतकी कल्पना नहीं होती।

उस साधकको तो भगवान् सर्वत्यागका पाठ सिखानेके लिये ही यह लीला करते हैं। उस उच्च स्थितिप्राप्त साधकमें जड़ देहाध्यास रूप मल तो रहता ही नहीं, अपने प्रेमाराध्य प्रियतमसे एकान्त मिलनकी उसकी तीव्रतम इच्छा उसके विक्षेपको भी पूर्णतया नष्ट कर देती है। बस, उसमें अपने प्रियतमसे बेपर्द, निरावरित होकर मिलनेकी झिझक मात्र ही शेष रहती है। इस झिझकका नाश ही भगवान् चीरहरणलीलामें करते हैं। वस्त्रहरणकी लीलामें

उस सर्वोच्च स्थितिसम्पन्न साधकके बाह्य एवं आभ्यन्तर – दोनों प्रकारके आवरण नष्ट कर देनेका ही विशुद्ध भगवत्संकल्प निहित है। लोक-वेदकी सभी मर्यादाओंकी बेड़ी तोड़ देनेको कटिबद्ध हुए सर्वोच्च साधन-स्थितिसम्पन्न उस भाग्यवान् जीवको भगवान् छः वर्षके पौगण्ड रूपमें भी अपने आनन्द-सौन्दर्य-सुधानिधि चिदानन्द रसमय रूपकी ऐसी झाँकी दिखाते हैं कि वह गोपीभावापन्न साधक सब प्रकारसे बेसुध हो जाता है। उसका यह अध्यास ही समाप्त हो जाता है कि वह रमणीभावरूपमें है तथा उसकी इच्छा अपने प्रियतमको रमण रूपमें प्राप्त करनेकी है। जबतक रमणी एवं रमणका भेद समाप्त नहीं होता, निरावरण मिलन भला कहाँ संभव है ?

श्रीपोद्दार महाराजके कथनानुसार ब्रजलीलामें गोपियोंके भी दो भेद थे। प्रथम राधामुख्या गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता ही थीं, वे तो मात्र प्रेमराज्यकी मार्गदर्शिका होकर ही इस लीलामें सम्मिलित हुई थीं। उनका उद्देश्य तो अधिकारी भक्तोंको प्रेमराज्यकी माधुरी चखाना मात्र था। श्रीराधा तो श्रीकृष्णार्धांगसंभूता होनेसे श्रीकृष्ण स्वरूपा ही हैं और नित्यसिद्धा गोपियाँ, श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा होनेसे उनकी ही प्रकाश-किरणें मात्र हैं। वे तो सभी सच्चिदानन्द भगवद्विग्रह ही हैं। उनमें तो केवल लीला-विलास है। अतः इन राधामुख्या गोपियोंमें कोई बाह्याभ्यंतर आवरण था, यह बात नहीं है। इन गोपियोंमें तो अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे किसी आवरणकी कल्पना करना ही भगवदपराध है। किन्तु प्रेममार्गी उच्च स्थितिसम्पन्न साधकोंके लिये आदर्श मार्गदर्शिका होनेके लिये ही उन्होंने यह लीला की है। इन्होंने प्रेमसाधकोंके सम्मुख यह अपना सर्वोच्च आदर्श ही प्रदर्शित किया है कि प्रेमके प्राकट्यके प्रारंभकालमें ही तन-मनकी सुधि रहना संभव नहीं है। प्रेमके दिव्य प्राकट्यपर अपने प्रेमास्पद एवं प्रेमीके मध्य प्रेममें कलंक रूप कोई भी तन-मनका आवरण, व्यवधान रहे, यह तो होना ही नहीं चाहिये।

श्रीपोद्दार महाराजका स्पष्टीकरण था कि जब लौकिक प्रेममें भी प्रेमी एवं प्रेमास्पदके मध्य किसी आवरणकी गुंजाइश नहीं रहती, फिर अणु-अणुमें व्यापक विभु प्रियतम प्रेमाराध्य श्रीकृष्णके सामने अपना कोई भी अंग छिपाकर कैसे रखा जा सकता है ? प्रेम साम्राज्यके सम्राट, प्रेमतत्वके मूलाधार, दिव्य प्रेमविग्रह और समस्त जीवोंके आत्मारूप श्रीकृष्णके सामने किसी भी प्रेमसाधकका कैसा पर्दा ? छिपने-छिपानेकी क्रिया तो मात्र मोहग्रस्त जीवोंमें

ही अज्ञानवश होती है। भक्तको तो अपने आपेको उन्हींकी वस्तु मानकर उनके सामने खोलकर रख ही देनी चाहिये। जहाँ भक्त होकर भी कोई इस आपेको खोलनेमें किसी भी कारणवश संकोच करे, वहाँ भक्तवत्सल भगवान् यदि स्वयं उसे निरावरित करदें, और अपने एवं उसके मध्यके व्यवधानको पूर्णतया उन्मुक्त करके उसे अपने आनन्दमय रससिन्धुमें डुबानेका उपक्रमकर, उसे पूर्ण रसमय बनानेके उद्देश्यसे बलपूर्वक भी यदि उसका आवरणभंग – वस्त्रापहरण करलें, तो इसमें कोई भी भद्र पुरुष क्या आपत्ति कर सकता है ?

श्रीपोद्दार महाराजकी दृष्टिमें यही चीरहरणलीलाका रहस्य था। परन्तु वे सदा सावधान भी करते जाते थे कि यह चीरहरण लौकिक विषय-वासनासे विमुक्त अप्राकृत प्रेमराज्य ब्रजमें ही संभव है।

# रासलीला रहस्य

इसी प्रकार महारासके सम्बन्धमें भी श्रीपोद्दार महाराजका विवेचन था कि सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म भगवान्में ह्लादिनी आनन्द-शक्ति प्रधान है। भगवान्की यही प्रकृति सन्धिनीरूपा होकर उनका बृन्दावनधाम बन जाती है एवं वही उनकी आत्ममाया – योगमाया चिच्छक्ति लीलामहाशक्ति है और अनन्त लीलाविधान करती है। वास्तवमें शक्ति एवं शक्तिमान्में स्वरूपतः कोई भेद संभव ही नहीं है। अप्राकृत दिव्य लीलामें भगवान् स्वयं ही अपने सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करनेके लिये अपनी ही आत्मस्वरूपिणी ह्लादिनीशक्तिसे महाभावरूपिणी श्रीराधाके रूपमें प्रकट होते हैं एवं यह ह्लादिनी ही अपनी कायव्यूहरूपा अनन्त शक्तियोंके माध्यमसे अनन्त लीलाओंमें हेतु होती है। श्रीराधाकृष्ण प्रिया-प्रियतमके प्रेममिलनमें इन अनन्त शक्तिस्वरूपा राधा-सहचरियों–गोपियोंका सहयोग रहता है। भगवान् दिव्य वंशीध्वनिसे शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें इन्हीं गोपियोंका आह्वान करते हैं। भगवान्में, जो उन सबके पतियोंके भी आत्मा – पति हैं, जारपनेकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यद्यपि यहाँ गोपियोंके अपने पति हैं, उनका घर है, गृह-परिजन हैं, परन्तु फिर भी भगवान् श्रीकृष्णको ही वे अपना प्रियतम मानती हैं। इन गोपियोंमें विलक्षणता यही है कि उनमें भगवान् श्रीकृष्णसे अंग-संगकी या इन्द्रिय-सुखकी कोई आकांक्षा नहीं

है। उन्हें अपने घरमें रहते हुए भी अपने पति-पुत्रों, घर-द्वार, लोक-परलोक, पृथ्वी-आकाश – सर्वत्र अपने प्रियतम श्रीकृष्ण ही भरे दिखते हैं। अन्य गोपोंसे उनका विवाह अवश्य होता है, परन्तु विवाहके समय हस्तग्रहण-संस्कार श्रीकृष्णसे ही होता है; श्रीकृष्णसे ही अग्निकी साक्षीमें सात फेरे होते हैं। पतियोंके घरोंमें रहते हुए भी इन गोपियोंको उनके पति कभी संस्पर्श नहीं कर पाते। श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई जन इन गोपियोंकी छायाका भी संस्पर्श नहीं कर सकता। ये गोपियाँ निरन्तर रात-दिवस अपने प्रियतम श्रीकृष्णके ही चिन्तनमें अपना क्षण-क्षण व्यतीत करती हैं। इन गोपियोंमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलन करनेकी अत्यंत उत्कट अतृप्त उत्कण्ठा रहती है। इन्हें अपने प्रियतम श्रीकृष्णमें कभी दोष नहीं दिखता। इनमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति दोषदृष्टिकी तो गन्ध भी नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्ण मेरे हैं, और मैं उनकी हूँ, उनका सब-कुछ मेरा है, और मेरा तो एकमात्र प्रियतमको छोडकर और कुछ है ही नहीं, इस भावमें ये गोपियाँ निरन्तर आकण्ठ निमग्न रहती हैं। ये गोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके अतिरिक्त उनसे स्वयंके लिये कुछ भी नहीं चाहतीं, अतः इनमें परस्पर एक दूसरेके प्रति सौतिया डाह कभी उदय होता ही नहीं। इनका अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे मानसिक अमिलन कभी नहीं होता, पूर्ण भावमिलनका अभाव नहीं होनेपर भी इन गोपियोंको अपने प्रियतमसे क्षणभरका भी अदर्शन असह्य होता है। वे घरके सभी काम करती हैं, परन्तु प्रत्येक काम करते समय भी अपने प्रियतमके चिन्तनका उनका क्रम कभी खण्डित नहीं होता। निर्वात दीपकी तरह उनका चित्त क्षणभरके लिये भी हटाये नहीं हटता। अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी प्रत्येक क्रिया उन्हें सदैव दिव्य प्रेमगुणमयी ही दिखती है। परन्तु अपने प्रियतमके प्रति उनका प्रेमभाव लौकिक विषय-वासनाकी गन्धसे भी सर्वथा विमुक्त रहता है। उनमें न स्व है, न स्वसुखकी लेशगन्ध भी है। अतः इन श्रीकृष्ण-ग्रहीतमानसा गोपियोंको ही उनके प्रियतमके उस अनंगवर्धन वंशी-संगीत रूप आवाहनकी ध्वनि सुनायी पड़ती है, और वे उसे सुनकर, जो जिस अवस्थामें होती हैं, भाग निकलती हैं।

श्रीपोद्दार महाराज अपने प्रवचनमें पुनः स्पष्टीकरण करते हैं कि इन गोपियोंका भाग चलना स्थूल देह द्वारा सर्वथा नहीं होता। उनका स्थूल देह तो वहीं अपने परिवारमें ही रह जाता है, जिसको प्रत्येक गोप-गोपी अपने घरमें सोया हुआ अनुभव करता है, देखता है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट उल्लेख है –

*मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः।*

(१०।३३।३८)

अर्थात् ब्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी पत्नियोंको अपने पास ही देखा।

ये सभी गोपियाँ भावदेहसे अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलने जाती हैं। यह इनका भावदेह स्थूल-सूक्ष्म एवं कारणदेहसे सर्वथा अलौकिक होता है। यह भावदेह प्रकट होता ही है, ब्रजकी प्रीति-सम्पादनार्थ। इसी दिव्य भावदेहको स्वीकारकर गोपियाँ प्रेमोन्मत्त हुईं अपने अभूतपूर्व प्रेमश्रृगारसे सजी-धजी सच्चिदानन्दघन, योगेश्वरेश्वर, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ, आप्तकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, चिदानन्दमय, महा-महामंगलविग्रह, अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचती हैं। प्रियतम श्रीकृष्ण इन गोपियोंका प्रेमोन्मत्त श्रृंगार देखकर ही कृतकृत्य, निहाल हो उठते हैं। तत्पश्चात् भगवान् एक ही साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होकर इन्हीं भावदेहरूपा चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्मारूपसे रासक्रीडा – रमण करते हैं। इस रमणका स्वरूप भी श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव मुनि वर्णन करते हैं –

*रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।।*

(१०।३३।१७)

'जैसे बालक दर्पणमें अपने रूपको देखकर उसके साथ स्वच्छन्द खेलता है, उसी प्रकारसे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णने ब्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया।'

रासलीलाके सम्बन्धमें श्रीपोद्दार महाराजकी यही पावनतम दृष्टि थी कि रासलीला चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्माराम भगवान्का आत्मरमण मात्र है। उन्होंने कहा कि अवश्य ही कुछ विषयकामी पुरुषोंने इस दिव्य भगवत्प्रेममयी लीलाको लौकिकावेशमें रँगा देखा है और अब भी देख रहे हैं, परन्तु उनके ऐसा करनेसे न तो भगवान्के स्वरूपमें कोई अन्तर पड़ सकता है, न गोपियोंका ही कुछ बिगड़ सकता है।

श्रीपोद्दार महाराज यह कह ही रहे थे कि अचानक विश्वविद्यालयके किसी विद्वान्ने उनसे प्रश्न किया – 'अन्ततः भगवान् श्रीकृष्णको, जो महाज्ञानी थे, इतनी अपवित्र अनुकृति करनेकी आवश्यकता ही क्या थी ? आत्माराम भगवान्ने रासमें गोपियोके कामांगोंका संस्पर्श किया ! क्या इस प्रकारके

आचरणके बिना वे गोपियोंको आत्मरसानुभूति नहीं करा सकते थे ? आत्मरसानुभूति तो भगवान् कपिलने माता देवहूतिको भी करायी थी ?'

श्रीपोद्दार महाराजने उन प्रश्नकर्त्ता महोदयका समाधान जिन शब्दोंमें किया उसको यथास्मृति उल्लिखित कर रहा हूँ। वे कहने लगे – भगवान्के सम्बन्धमें आपने जो कहा कि उन्होंने गोपियोंके कामांगोंका संस्पर्श किया; यह आक्षेप आपने गोपियों एवं श्रीकृष्णके स्वरूपको न समझनेके कारण ही किया है। न तो भगवान् श्रीकृष्ण ही प्राकृत जीव शरीर हैं, और न ही गोपियाँ ही प्राकृत नारियाँ हैं। जब उनमें रज-वीर्यको निर्माण करनेवाला शरीर ही नहीं है, तो कामांगोंके होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। कामांग तो प्राकृत नारीमें ही होने संभव हैं। अप्राकृत शरीरोंके सभी अंग रक्त-मांसादि विकारी नहीं होनेसे सर्वथा विशुद्ध ही होते हैं। यद्यपि आपकी नीयत शुद्ध है, परन्तु श्रीकृष्णतत्त्वको जाने-समझे बिना ही उनके चरित्रपर आक्षेप करना एवं उसे अपवित्र बता देना ठीक नहीं। आज आपके जैसे और भी हजारों लोग हैं जो सच्चे हृदयसे भगवान्के चरित्रको अपनी कल्पनाके अनुसार उज्ज्वलताके साँचोंमें ढला हुआ देखना चाहते हैं। भगवान्को अपनी बाँधी हुई मर्यादामें बाँध रखनेकी उनकी यह माँग सचमुच हास्यास्पद ही है। वे श्रीकृष्ण-चरित्रपर ही दोषारोपण कर रहे हैं, सो बात नहीं, अनेक लोगोंका तार्किक मन मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामपर भी सीता-त्याग, अग्निपरीक्षादि प्रसंगोंको लेकर कीचड़ उछालतेहुए संयम नहीं बरतता। आपको मेरी विनीत रायमें, प्रथमतया भगवान्को सर्वलोकमहेश्वर एवं सर्वलोकविधाता माननेकी सीख ग्रहण करनी चाहिये। भगवान्, जिनके श्वासोंसे विश्वके सब धर्म-ज्ञान, वैराग्य एवं मर्यादाएँ निर्धारित होती हैं, उनकी लीलाओं, चरित्रोंको मायाच्छन्न बुद्धिसे उचित-अनुचित रूपसे रेखांकित नहीं किया जा सकता। भगवान् जगत्के जीवोंके समान मायाबद्ध प्राकृत हाड़-मांस-मल-मूत्रमय विकारी शरीरधारी नहीं हैं।

वस्तुतः भगवान्के लीलातत्त्वका रहस्य बिना श्रद्धायुक्त भजन- चिन्तनके प्रकट नहीं होता। अतः सर्वप्रथम भगवद्वाणी श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करना चाहिये। इस भगवद्वाणीमें वर्णित है कि भगवान्के जन्म-कर्म दिव्य होते हैं और इन्हें जो तत्व-रहस्यके ज्ञानसहित यथार्थ रूपसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता।

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।*
*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।४।६।।*

श्रीमद्भगवद्गीता ही समझाती है कि अश्रद्धालुका अध्ययन, मनन, निश्चय, कर्म – सब व्यर्थ ही होता है। अश्रद्धालुओंके तमसाच्छन्न संशयपूर्ण मानसमें जो कल्पनाएँ होती हैं, उन असत् कल्पनाओंको ही वे सत्यका चोला पहनानेकी चेष्टा करते हैं। वे कुछ ग्रन्थोंके उद्धरण भी देने लगते हैं और सन्त, महात्माओं द्वारा अनुभूत सत्यका खण्डन करने लगते हैं।

*अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।*
*असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ।।१७।२८।।*

दैवी सम्पदासम्पन्न सत्यवादी सन्तों, महात्माओं, प्रेमियों तथा आचार्योंकी वाणीपर श्रद्धापूर्वक आस्था स्थापन करनी चाहिये। भगवान् श्रीराधामाधवकी कृपासे ही विश्वास आयेगा किः

१. श्रीकृष्ण परात्पर ब्रह्म पूर्णपुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् हैं। भगवान् किसी भी व्यक्तिका कोई भी अंग स्पर्शकरके अपना तत्व-रहस्य, ज्ञान-प्रेम दें इसमें उनकी पूर्ण स्वतंत्रता है। बालक ध्रुवको उन्होंने कपोलोंसे शंखस्पर्श कराके ज्ञान दिया। अब किसी कुतार्किकको तो समझाया नहीं जा सकता कि कपोल क्यों स्पर्श किये, मस्तकपर हाथ क्यों नहीं रखा ? भक्तराज प्र(ादको भगवान् नृसिंह वात्सल्यसे चाटने लगे थे । इसी प्रकार गोपियाँ जो भगवान्को कान्तभावसे प्रियतमरूपसे चाहती थीं, रासमिलनके समय भगवान्से प्रेमलाभ करती हैं, तो उनमें पापकी कल्पना मलिन बुद्धिका ही लक्षण है।

२. ब्रजकी गोपांगनाएँ श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा शक्तियाँ थीं, और श्रीराधा भगवान्की सच्चिदानन्दमयी नित्य अभिन्न नित्य शक्ति हैं।

३. श्रीराधा एवं गोपियाँ न तो प्राकृत नारियाँ हैं, न ही श्रीकृष्ण प्राकृत मल-मूत्रमय विकारी शरीरधारी पुरुष जीव। इनका जन्म गर्भद्वारसे साधारण जरायुज जीवोंकी तरह नहीं हुआ। उनमें रज-वीर्यादि मलिन धातुओंका अस्तित्व ही नहीं है। इनके सम्पूर्ण अंग-अवयव एवं शरीर यद्यपि नर-नारीकी आकृति लिये हैं, परन्तु हैं अप्राकृत तत्वोंसे निर्मित पूर्ण सच्चिदानन्दघन। सभी गोपियोंके मन परम पवित्र काम-गन्ध- लेशशून्य हैं।

४. श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपांगनाओंकी लीला अवश्य ही लौकिक शब्दों

द्वारा लोकवत् लिखी गयी है, परन्तु वह सर्वथा अलौकिक, दिव्य, चिन्मयरससे भरी है।

५. भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखसे कहते हैं –

*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।*
*प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।*

अजन्मा, अविनाशीस्वरूप और समस्त प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी भगवान् जन्म ग्रहण करते हैं। वे इसके द्वारा अपने विरुद्ध-धर्माश्रयत्व गुणका प्रकाश करते हैं। वे पूर्णतंत्रस्वतंत्र हैं। वे महान् भोगी होकर भी परम योगी हैं; वे रासनृत्यके समय असंख्य गोपियोंके साथ असंख्य रूप धारणकर नृत्य करते हैं। कोई साधारण भोगी पुरुष ऐसा योगवैभव दिखा सकता है ? सोलह हजार पत्नियोंके महलोंमें नारदजीने उन्हें एक ही समय प्रत्येक पत्नीके महलमें समुपस्थित पाया। क्या यह साधारण मनुष्यके लिये संभव है ? अतः उनके अलौकिक तेजस्वी चरित्रोंमें मलिनता कदापि आरोपित नहीं करनी चाहिये।

भगवान् अविभक्त, अखण्ड, सर्वव्यापी हैं, फिर भी अवतारकालमें वे विभक्त, खण्ड, देश-परिच्छिन्न, कालान्तर्गत दिखते हैं। वे अकर्त्ता होकर खाते-पीते, रोते-हँसते, गाय चराते हैं। वे अदृश्य होकर भी नेत्र-परिसीमामें दृश्य बनते हैं। वे सदा निरपेक्ष होकर भी दूध पीनेको मचलते हैं; क्रोध करनेकी, कामना करनेकी लीला करते हैं। अतः उनकी लीलाको आप अपनी इच्छानुसार बाँध नहीं सकते।

यह सदैव ध्यान रखें, भगवान् श्रीकृष्ण *'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि'* हैं। भगवान् कर्मबन्धनवश पांचभौतिक देह धारण नहीं करते, स्वेच्छासे नित्य सच्चिदानन्दवपु रूपमें प्रकट हैं।

६. श्रीराधा एवं गोपियाँ भगवान्के आनन्दमय स्वरूपका मूर्त्त रूप हैं। वे उनकी स्वरूपाशक्ति हैं। रासलीला भगवान्के आनन्द एवं प्रेमकी अति दिव्य रसमयी लीला है। इसीलिये उसका नाम रास है। जिसमें विशुद्ध रस-ही-रस हो, वह रास है। *'रसो वै सः'* रसस्वरूप सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म परमात्मा ही होता है। अतः जिसमें परमात्मा-ही-परमात्मा हो, आनन्द-ही-आनन्द हो, उसका नाम 'रास' है। महारासमें एक ही

रूपका अनन्त होकर आनन्दोच्छलन है। यहाँ निजेन्द्रियतृप्ति रूप वासना, कामका प्रवेश ही संभव नहीं है। जहाँ वासना है, वहाँ तो प्रेम है ही नहीं ।

यह सत्य है कि रासलीला आदिमें श्रृंगारका खुला वर्णन है और नायक-नायिकाओंकी भाँति चरित्र-चित्रण है, परन्तु इससे परिणाममें निश्चय ही कामनाश होता है। यह लीला निर्विवाद महा-मंगल-सुधा-सिन्धु है।

देखनेमें वह कड़वी तूँबी ही प्रतीत हो तो मात्र आकृति गढ़ लेनेसे मधुर मिश्री कडवी थोड़े ही हो जाती है। अग्नि स्फुल्लिंगोंसे निर्मित यदि कोई विद्युन्मयी नारी-आकृति हो और कोई उससे श्रृंगार भावसे स्पर्श करले तो फलमें तो उसे ज्वाला ही मिलेगी। इसी प्रकार भगवान्‌के द्वारा श्रृंगार भावसे भी गोपियोंको स्पर्श करनेके उपरान्त उनसे प्रवाहित तो हुआ सच्चिदानन्द चिन्मय रस ही; एवं गोपियाँ भी जब सच्चिदानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णकी ही आनन्द शक्तियाँ थीं, तो जो भी रस-विलासका उच्छलन हुआ, वह उच्छलन था तो महा-महा-आनन्द-रस-सिन्धुका ही। जब भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दकन्दविग्रह हैं, एवं गोपियाँ भी उनकी ही स्वरूपभूता दिव्य सच्चिदानन्दमयी शक्तियाँ हैं, तो वहाँ मलिना माया एवं मायासे उत्पन्न कामकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

अतः सबको चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करनेकी साधनामें अग्रसर होवें; उनके प्रति भगवद्भाव, भगवद्बुद्धि, श्रद्धा, विश्वास बढावें; और ऐसा न भी कर सकें, नहीं कर पावें तो कम-से-कम उनपर अपने मलिन मायान्धकारसे भरी, घोर तामसयुक्त कुतर्कों एवं कुत्सित वासनाओंको आरोपित करनेका महापाप तो कदापि नहीं करें। भगवत्तत्वकी ओर अगर हम कदम नहीं बढ़ा सकें तो अपनी मलिन बुद्धिसे उस परम विशुद्ध सच्चिदानन्द रस- विलासको दूषित करनेकी चेष्टा तो नहीं ही हो।

श्रीपोद्दार महाराजके प्रवचनके मध्यमें ही एक सज्जन पुनः खडे हो गये। वे कहने लगे – 'भाईजी ! फिर भगवान् श्रीकृष्ण लोकसंग्रहके आदर्श कैसे हो सकते हैं ? लोक तो उनसे अपने लिये जो आदर्श आचार है, उसीकी

अपेक्षा करता है। उन्होंने भले ही सच्चिदानन्द रसप्रवाह ही प्रवाहित किया हो, शुकदेवादि परमोच्च स्थितिके संत भले ही विशुद्ध अनुभूतिमें उस रसका आस्वादन भी कर पाये हों, परन्तु परीक्षितजी जैसे साधारण मुमुक्षु तो उसपर शंका-क्षेपण कर ही बैठे ! फिर हम सब तो इतने घोर विषयी हैं कि परीक्षितजीकी तुलना भी नहीं कर पाते । जब यह भगवल्लीला परीक्षितजीके लिये भी आदर्श नहीं हो पायी तो हम साधारण संसारीजन उसमें अपने लिये आदर्श कैसे ढूँढें ?'

श्रीपोद्दार महाराज कहने लगे – 'हाँ, महोदय ! आपका यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है। इसका उत्तर यही है कि प्रथम तो ब्रजलीलामें यह गोपीलीला अत्यन्त गोपनीय है। इसका प्रकाश तो भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंग शक्तियोंको ही होता है। अन्य किसीका इसमें प्रवेश ही नहीं है। यह लीला इतनी गोपनीय है कि नन्द-यशोदादि माता-पिताओं, सखाओं, बूढी-बडी गोपियों, गोपों – किसीको भी इस लीलाका ज्ञान नहीं होता है। इन्हें इसका रंचकमात्र अनुमान भी नहीं होता। किसी दास, गोपाल, सखा, सेवक, मातृवर्ग, दादा-दादी, नाना-नानीवर्ग, यहॉ तक कि सखाओंका भी इस लीलामें प्रवेश नहीं है। यह लीला न तो लोकालयमें होती है, न ही लोकसंग्रह इसका उद्देश्य है। यह तो बहुत ऊपर उठे हुए महात्माओंके मात्र अनुभव-राज्यमें होनेवाली अप्राकृत लीला है। इसका बाह्य लोकों एवं लोकसग्रहसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जहाँ लोक हो, वहाँ लोकसंग्रह होता है। ब्रजमें इस लीलाको प्रायः कोई नहीं जानते थे। बाहरवालोंकी तो बात ही क्या, जिन गोपोंकी पत्नियाँ रासमें सम्मिलित हुई, उन्होंने भी अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास ही सोये पाया था।

*मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् ब्रजौकसः।*

।।श्रीम १०।३३।३८।।

ब्रह्मादि देवतागण भी रासमण्डपके भीतरकी अन्तरंग लीलामें प्रवेश नहीं पा सके। वे सभी देव-देवांगनाएँ बाहरसे ही रासमण्डपको देखकर मुग्ध एवं चकित हो रहे थे। किसी एक कल्पमें भगवान् शंकर एवं अर्जुनको गोपीभावकी प्राप्ति होनेपर ही इस लीलाके दर्शन हुए हैं।

इसी कारण शिशुपालने भगवान्‌पर सब प्रकारकी गालियोंकी बौछार करते समय भी गोपीलीलाका संकेत कहीं भी नहीं किया है। अगर उसे इसकी किंचित् भी भनक होती तो वह इस विषयको भी अपनी गालियोंमें अवश्य लपेटता।

इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि यह लीला हुई ही नहीं थी। महाभारतमें मात्र द्रौपदी ही श्रीकृष्णकी एक ऐसी अन्तरंग भक्त थी, जिसे इस लीलाके रहस्यका कुछ ज्ञान था। इसीलिये उसने अपनी आर्त्त पुकारमें भगवान्को 'गोपीजनप्रिय' कहकर पुकारा है। अतएव लोकसंग्रहसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो अन्तरंग साधकोंके मनोराज्यकी बात है, और उनके प्रेमलोक – भावलोकके लिये ही सर्वोच्च पवित्र आदर्श भी है।

पुनः किसीने उठकर प्रश्न किया कि 'श्रीमद्भागवतानुसार तो 'वंशी-ध्वनि' सुनकर गोपियोंमें कामकी वृद्धि हुई है और आप कहते हैं कि गोपियोंमें कामका लेश-गन्ध भी नहीं था । इस विसंगतिमें हेतु क्या है ?'

पू.पोद्दार महाराजने इसके समाधानके लिये उत्तर दिया कि गोपियोंके चित्तमें वंशीध्वनि सुनकर अनंग(प्रेम)की वृद्धि हुई थी; यह सचमुच ही श्रीमद्भागवतमें उल्लिखित है। परन्तु गोपियोंके अनंगको दूषित मलिन काम क्यों मानते हैं ? प्रेम भी तो अनंग ही होता है। गोपियोंका यह काम श्रीकृष्णविषयक तीव्र प्रेम ही था। यह उनका नित्यसिद्ध स्वरूपगत प्रेम था, जो वंशीध्वनि सुनते ही प्रबल हो उठा था और जिसने गोपीजनोंको प्रेममें उन्मत्त – पगली बनाकर श्रीकृष्णकी ओर आकृष्ट कर दिया था। भगवान्ने वंशीकी मोहिनी ध्वनिसे आवाहनकर गोपियोंका चित्त चुराकर उन्हें अपने निकट बुलाया। यह प्रेमी भक्तों और उनके प्रियतम भगवान्का रस-विलास है। इसमें कामकी गन्ध ही कहाँ है ?

समय पर्याप्त हो चुका था, अतः श्रीपोद्दार महाराजने अपना प्रवचन सम्पन्न किया।

## रात्रिमें गायन, वादन एवं काव्यपाठ

श्रीपोद्दार महाराजके सायकालीन प्रवचनके उपरान्त मध्यनिशामें बारह-साढे बारह बजेतक या तो कलाकारों द्वारा संगीत, सितारवाद्य, मृदगवाद्यादिका स्वतंत्र गायन-वादन होता अथवा विद्वज्जनों द्वारा श्रीराधातत्त्वपर प्रवचन या काव्यपाठ आदि होते । मध्यनिशाके उपरान्त ब्रजवासी संकीर्त्तनकार आ जाते और उनके द्वारा रात्रिपर्यन्त जागरण सम्पन्न होता । मध्यरात्रितक इस उत्सवमें श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा भी सम्मिलित रहते, इसके पश्चात्

वे दोनों महापुरुष अपने-अपने साधन-कक्षोंमें पधारकर अपने-अपने हृदय-मन्दिरोंमें सम्पन्न होनेवाली लीला-भावनामें रम जाते थे। सभी समागत अतिथिगण संकीर्त्तनमें झूमते हुए जागरण करते थे।

## शहनाई-वादन एवं प्रभातफेरी

दूसरे दिवस ब्राह्ममुहूर्त्तमें जागरण ज्योंही समाप्त होता, सम्पूर्ण वाटिकाक्षेत्र शहनाईवादनके निनादमें डूब जाता । श्रीराधाष्टमी महोत्सवके दिन प्रभातमें जैसे कार्यक्रम होते, उसी रीतिसे दूसरे दिन दधि- कर्दमोत्सवके दिन भी होते। यथासमय प्रभातफेरी षोडशगीत मन्दिरसे चल पड़ती। श्रीराधाबाबाके द्वारा समाधि अवस्थामें प्रकटित छन्द –

*'राधिकारमण अम्बुजनयन नन्दनन्दन नाथ हे !*
*गोपिकाप्राण मन्मथमथन विश्वरञ्जन कृष्ण हे !!'*

की सुमधुर संकीर्त्तन-ध्वनिसे समग्र वाटिकाक्षेत्र गुञ्जायमान हो उठता। यह संकीर्त्तन-ध्वनि प्रारंभमें मन्द्र तथा इसके अनन्तर मध्यम एवं तार सप्तकोंको स्पर्श करती हुई इतनी प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करती कि एक बार जिसके कानमें पड जाती, उसे संसारावेशसे बलात् बाहर खींचकर रसाविष्ट कर देती थी। रात्रि-जागरणके कारण यद्यपि लोग निद्राभिभूत होते, किन्तु इस रसमोहनी प्रभाती ध्वनिको सुननेके पश्चात् निद्रा जैसी घोर तमोगुणी स्थितिमें वे अपनेको रख ही नहीं पाते थे; प्रातःकृत्योंसे शीघ्र निवृत्त होकर वे अपने-अपने आवासोंसे निकल पडते और संकीर्त्तनदलमें सम्मिलित होते जाते । कुछ कालमें ही यह संकीर्त्तनसमूह विराट आकार ग्रहण कर लेता था।

सभीके हृदय भाव-मसृण, सभीके हाथ भावावेशमें ऊपर उठे हुए, सभीके नेत्र रससिक्त एव सभीकी पलकोंमें भरी – उनके आराध्य राधिकारमण नन्दनन्दनकी पावन प्रेममूर्त्ति, सभी पैर थिरकते, रोम-रोम पुलकित, संकीर्त्तननिरत यह जनप्रवाह वाटिकाकी सभी दर्शनीय तीर्थस्थलियोंकी परिक्रमा करता हुआ पू. गुरुदेवकी कुटियाकी ओर अग्रसर हो जाता । यह संकीर्त्तनध्वनि इतना रसमय होती कि कपिदलतक उपद्रव करना स्थगितकर शान्त, श्रवणनिष्ठ प्रतीत होता था, पक्षीवृन्द भी अपना कलह-कलरव रोककर चुपचाप बैठा, इस

चिन्मयरसमें डूबा हुआ-सा लगता था। ऐसा लगता था मानो वाटिकाका पत्र-पत्र, वृक्ष-वृक्ष, भूमि एवं जड़ भवनतक *'नन्दनन्दन नाथ हे'* की पुकार लगाकर अपने स्वामीका आह्वान कर रहा हो।

इस जनसमुदायको पू.गुरुदेव इस भाँति विनीत, हाथ जोड़े खड़े, स्वागत करते मिलते मानो यह समुदाय उनके अनुगत श्रद्धालु जनोंका नहीं है, अपितु स्वयं उनके प्राणाराध्य श्यामसुन्दर ही अनेकानेक प्राकृत मूर्त्तियोंको धारणकर इतने रूपोंमें उनसे मिलने आये हों। वैसे पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा प्रत्येक आगत व्यक्तिसे प्रणति स्वीकार करते जाते थे परन्तु उनकी आन्तरिक दृष्टि तो प्रत्येक व्यक्तिमें अपने प्राणाराध्यका ही साक्षात् दर्शन कर रही होती थी।

श्रीगुरुदेवके चरणोंमें विनयार्पणकर यह समुदाय उसी प्रकार संकीर्त्तन करता हुआ श्रीपोद्दार महाराजके द्वारपर कृपाभिक्षा माँगने पहुँच जाता था एवं उनसे आशीर्वाद पाकर पुनः पू.गुरुदेवकी गिरिराज परिक्रमामें भक्तिमय संगीतमें नहा उठता था। तत्पश्चात् श्रीपोद्दार महाराजके सत्संगमें साक्षात् रसोर्मियाँ प्रवाहित हो उठती थीं। इस प्रकार षष्ठी महोत्सव (श्रीराधाकुमारीके जन्मके छठे दिन मनाये जानेवाले उत्सव) तक, अनवरत पाँच दिवस पर्यंत यह महाभावगंगा गोरखपुरकी गीतावाटिकामें उत्सवप्रेमीजनोंको आत्मसात् किये रहती थी।

## श्रीपोद्दार महाराजका प्रभातकालीन सत्संग

श्रीराधाष्टमी महोत्सव एवं दधिकर्दमोत्सवके दिन श्रीपोद्दार महाराजकी रसमय प्रवचनगंगा भी इस भाँति प्रवाहित होती कि सभी सुननेवाले कृतकृत्य हो उठते थे। जिस उत्सवका इन पंक्तियोंमें विवरण दिया जा रहा है उस उत्सवमें श्रीपोद्दार महाराजके सत्संगके पूर्व श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने एक भक्तिपद गाया था। श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका कण्ठ इतना सुरीला, एवं प्रस्तुति इतनी भावमय थी कि उनके पद-गायनको सुनकर ऐसा कोई भावुक व्यक्ति नहीं था, जो भाव-विभोर नहीं हो उठा हो। लेखक उनके निकटमें ही बैठा उनका पद-गायन सुन रहा था। उनके गीतके बोल थे–

*निरखि मुखचन्द्र तुम्हारो नाथ !*
*भयो जनम जीवन मेरो यह सार्थक धन्य सनाथ।।*
*भये प्रसन्न सकल मेरे ये जुगल नयन सब अंग।*
*उछलि रह्यौ मन आनन्दाम्बुधि विविध विचित्र तरंग।।*
*पाँच परान प्रेम-रस भीगे, आत्मा उमड्यौ नेह।*
*जरत विरह-पावक अति भीषण बरस्यौ अमिरतमेह।।*

श्रीगोस्वामीजी नेत्र मूँदे गा रहे थे एवं उनकी भावधारा श्रीपोद्दार महाराजके रूपमें साक्षात् श्रीकृष्णको ही अपने सम्मुख विराजित देखकर उन्हींसे अपना हृदयस्थ प्रेमनिवेदन कर रही थी –

'हे नाथ ! तुम्हारा मुखचन्द्र देखकर मेरा अनादिकालीन जीवन और यह जन्म दोनों ही सफल हो गये। मैं सचमुच ही आपको पाकर सनाथ हो गया। मेरे युगल नयन और सारे अंग प्रसन्न तो हुए ही, साथ ही सफल भी हो गये। मेरे मनमें चिन्मय आनन्दका समुद्र उछलने लगा है और उसमें सात्विक भावोंकी एकके-बाद-एक विचित्र तरंगें उठ रही हैं। मेरे पाँचों प्राण – प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान – प्रेमरसमें भीग उठे हैं और आत्मामें आपका स्नेह उमड उठा है। अबतक जो विरह-अग्नि भीषण रूपमें दहक रही थी, वह अमृत-वर्षासे शान्त हो उठी है।'

*डारि पियूष-वरषिनी दृष्टी मो तन, मेट्यौ ताप।*
*भर्‍यौ सुधा-सागर उर-अन्तर सीतल सुखद अमाप।*
*रहती तुम्हरे ढिंग यह मेरी सुन्दर देह पवित्र।*
*सोभा सुषमामयी रहत नित, सक्ति-सुरूप, विचित्र।*
*रहूँ सिवा, सिवदा, सिवबीजा, सिवस्वरूपा नित्य।*
*बनी रहूँ मैं प्रियतम ! तुम्हरे संग सुमतिमयि सत्य।।*

श्रीगोस्वामीजीके पदगायनने विचित्र भावोद्दीपनका कार्य किया था। सम्पूर्ण जन-समुदाय श्रीपोद्दार महाराजके प्रति श्रीगोस्वामीजीकी श्रद्धासे भावोद्वेलित हो उठा था। यह रचना स्वयं श्रीपोद्दार महाराजकी ही थी। उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति एक गोपीकी भावदशा वर्णित की थी। परन्तु यहाँ तो श्रीगोस्वामीजी जन-जनके प्रतिनिधि बने, श्रीपोद्दारजीको लक्षितकर अपने भावोंको प्रकट कर रहे थे।

जन-समुदाय जान रहा था कि श्रीगोस्वामीजी हम सभीके प्रतिनिधि बने, हमारी ही बात श्रीपोद्दार महाराजको सुना रहे हैं। श्रीगोस्वामीजी कह रहे थे – 'आपने मुझपर अपनी सुधामृतवर्षिणी दृष्टि डाली कि मेरे तनका सम्पूर्ण

भवताप ही निवृत्त हो गया। मेरे हृदयमें परम शीतल, सुखकारी, परिमाणरहित अमृतसागर भर गया। जबतक आप मेरे सम्मुख बने रहते हो, मेरी यह मलिन देह भी आपके सामीप्यसे सुन्दर और अति पवित्र बनी रहती है। वह नित्य सुषमामयी, शोभासम्पन्न एवं विचित्र शक्ति एवं सुरूपतासे युक्त हो उठती है। हे प्रियतम ! मैं तुम्हारे समीप सुमतिमयी, आपाततः सत्य, शिवस्वरूपा, कल्याणदात्री, कल्याणबीजा, शिवा ही बनी रहती हूँ।'

*पलक एक तुम्हरे बिछुरत ही होय सकल सुभ नास।*
*सक्ति, सुमति, सुषमा, सुन्दरता, सुद्धि मधुर-आभास।।*
*बिनसत सकल तुरत मुर्दा ज्यौं धरनी पर्यौ सरीर ।*
*सिव-विहीन,अति दीन, दुःखमय, दारुन, विकल, अधीर।।*
*यह सब समुझि प्रानवल्लभ ! अब मति बिछुरौ पल एक।*
*परम उदार ! निबाहौ प्रियतम ! प्रीति रीतिकी टेक।।*

'हे सन्त प्रभो ! मैं एक क्षण भी आपसे वियुक्त हो जाती हूँ, तो मेरा सकल शुभ नष्ट हो जाता है। मेरी सम्पूर्ण सात्विक शक्ति, सुबुद्धि, मेरी शोभा, सुन्दरता, मेरी पवित्रता और मुझमें आभासित सारा माधुर्य ही समाप्त हो जाता है। मेरा सर्वस्व विनष्ट हो जाता है और मेरा शरीर जीवनशून्य धराशायी शवके समान हो जाता है। मैं कल्याणगुणोंसे रहित, अत्यन्त दीन, दुखी, दारुण, विकल एवं अधीर हो उठती हूँ। हे प्राणवल्लभ ! यह सब जानकर अब एक पल भी मुझे मत छोड़िये। हे परम उदार ! अब मुझे निबाहिये। हे प्रियतम ! मेरी प्रीति-रीतिकी टेक निबाहिये ।'

श्रीगोस्वामीजीका पदगायन सुनकर श्रीभाईजीके नेत्रोंसे अनन्त माताओंके वात्सल्य-निर्झरकी भाँति स्नेहबिन्दु झरने लगे। लोगोंके आनन्दकी सीमा नहीं रही। श्रीपोद्दार महाराजको सत्संग कराना ही दूभर होगया। वे बोल ही नहीं पा रहे थे। उनकी मुखमुद्राका ढंग ही कुछ और हो गया था। उनकी आँखें खुली थीं, परन्तु सब लोग यह स्पष्ट जान रहे थे कि उनकी आँखें जगत्में कुछ देख नहीं पा रही हैं। श्रीपोद्दार महाराज कुछ बोल नहीं पा रहे थे। उन्होंने संकेतसे लेखकको कोई दूसरा पद सुनानेका आदेश दिया। किन्तु लेखक चाहता था कि उसके पूर्वाश्रमके मातुल श्रीगोस्वामीजी ही पुनः दूसरा पद गायें। श्रीगोस्वामीजीके नेत्रोंसे भी अविरल अश्रु-धारा बह रही थी। उनका कण्ठ गदगदा गया था। इस ऊहापोहमें श्रीपोद्दार महाराज संवरित हो गये और

बोलने लगे। उस दिवस श्रीपोद्दार महाराजका प्रवचन अभूतपूर्व हुआ। उनके कथनका सार-संक्षेप था कि प्रेमीका एकान्तिक भाव सर्वेश्वरेश्वर सर्वशक्तिमान् कोटि-कोटि मन्मथ-मथन विश्वमोहन-मोहन भगवान्को भी सम्पूर्ण भगवत्ताका विस्मरण कराके अपने पवित्रतम, मधुरतम, आनन्द-चिन्मय प्रेम-रस-सुधा-पानमें प्रमत्त कर देता है। भक्त और भगवान्, प्रेमी और प्रेमास्पद, श्रीराधारानी और भगवान् श्रीकृष्ण नित्य एक ही परम प्रेमतत्त्वके दो नित्य रूप हैं। उनमें कोई भी भेद नहीं है। श्रीराधारानीका नित्यसिद्ध स्वभाव है कि वे नित्य-निरन्तर अपने प्राणप्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी भावमयी, सर्वात्मसमर्पणमयी, दिव्यतम, परम त्यागमयी आराधनामें लगी रहती हैं।

श्रीश्यामसुन्दरके लिये तो श्रीराधाजी अपनी आत्मा, अपने जीवनकी मूल रक्षानिधि ही हैं। फिर भी प्रेमी-प्रेमास्पदके कैसे भाव-व्यवहार होते हैं — इसका एक आदर्श दिग्दर्शन कराते हुए श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधारानीसे कहते हैं। यह कहते हुए श्रीपोद्दार महाराज स्वयं गायन करने लगे। यद्यपि श्रीपोद्दार महाराजके गायनमें राग एवं स्वर नहीं था, परन्तु उनकी चिन्मय भावमयी मिठास उनके शब्द-शब्दसे ऐसे झर रही थी कि उनके उस गायनपर कोटि-कोटि गन्धर्वोंके कलात्मक गायनको न्यौछावर कर दिया जाय। वे अपने निर्मल भावोंको लावणी रागकी अपनी शैलीमें ही स्वर दे रहे थे—

*प्रिये तुम्हारी मधुर मनोहर स्मृतिका होता नहीं विराम।*
*सदा तुम्हारी मूर्ति माधुरी रहती मुझमें मिली ललाम॥*
*मुझे बनानेको अपना अति तुमने किया अनोखा त्याग।*
*जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तुर्यमें रक्खा मुझमें ही अनुराग॥*
*नहीं लिया देनेपर भी कुछ जगका सुख-वैभव-सौभाग्य।*
*दिव्य लोक, कैवल्य-मुक्तिमें भी रक्खा अनुपम वैराग्य॥*
*फिर उस शुचि वैराग्य विलक्षणमें भी नहीं रखा कुछ राग।*
*उसकी भी परवाह न की,करके मुझमें विशुद्ध मधु राग॥*
*नहीं तुम्हारे मनमें भोगासक्ति, नहीं वैराग्यासक्ति।*
*भोग-त्याग कर सभी त्याग,की मुझमें ही अनन्य अनुरक्ति॥*

उस सत्संगमें श्रीपोद्दार महाराजने श्रीराधारानीके दिव्य निर्मल प्रेमभावकी एक विलक्षण अलौकिक झाँकी प्रस्तुत की। गोरखपुर विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागके विद्वान् प्राचार्य श्रीगोपीनाथजी तिवारी उस दिवस लेखकके पास ही बैठे थे। श्रीपोद्दार महाराजका अतिशय विद्वत्तापूर्ण प्रवचन सुनकर वे तो

न्यौछावर ही हो रहे थे।

श्रीपोद्दार महाराजके प्रवचनके पश्चात् समागत अतिथियोंके जलपानादिके लिये कार्यक्रममें कुछ कालके लिये विराम रहता था। इस अवधिमें उत्सव-पण्डालमें भाई श्रीराधेश्यामजी बंका द्वारा अल्पनाका निर्माण किया जाता था। यह अल्पना अतिशय भावमयी होती थी।

## गीतावाटिका राधावाटिका हो जाती थी

वैसे तो विगत रात्रियोंमें जगकर उत्साही भक्तगण गीतावाटिकाको राधाष्टमीके पूर्व ही सजा दिया करते थे। ललिताषष्ठीके पूर्वसे ही यह सज्जा प्राय: प्रारंभ हो जाती थी, परन्तु राधाष्टमीके दिन तो जैसे ही दूर-सुदूर स्थानोंसे जनसमूह गीतावाटिकामें प्रवेश करता, उसे गीतावाटिका दुल्हनकी तरह सजी – राधावाटिका दृष्टिगोचर होती थी।

स्थान-स्थानपर आम्रपल्लवोंकी बन्दनवारें बाँध दी जातीं। वाटिकाके सभी वृक्षोंके तने शुभ पीले रंगसे रँग दिये जाते । प्रवेशपथके दोनों ओर बन्दनवारें बँधी होतीं । चतुष्पथों एवं पथोंके मिलनस्थलोंपर हल्दी, कुमकुम एवं अबीर-गुलालसे चौक पूरे जाते। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदिसे अल्पना मँगायी जातीं और वाटिकावासी युवक अष्टमीकी पूर्व रात्रियोंसे ही जगकर सभी पथोंपर शुभ अल्पनाओंसे कमलदल एवं अनेक प्रकारके उत्सवानुकूल चित्र निर्माण करते । स्थान-स्थानपर रंग-बिरंगे मंगलघट आम्रपल्लवोंसे आच्छादित हुए सजा-सजाकर रखे जाते । अल्पना-सज्जामें भाई राधेश्यामजी बंका एवं उनके सहयोगियोंका उत्साह विशेष रहता था।

इसी प्रकार मुख्य उत्सव पण्डाल-निर्माणका कार्य श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवाल अथक परिश्रमसे कराया करते थे। इस कार्यमें उन्हें पाँच-सात दिवस अनवरत लगाना पड़ता । इसी तरह पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी चिन्मय अनुभूतियोंके अनुसार इस पंडालको चित्रोंसे सजानेका उत्तरदायित्व अ.सौ.सावित्री बाई(पू. श्रीपोद्दार महाराजकी सुपुत्री) अपने सहयोगी श्रीकुञ्जबिहारी पालड़ीवालके साथ निर्वाह करती। इन सुदुर्लभ चित्रोंको श्रीजगन्नाथजी चित्रकार एवं उनके सहयोगियोंने अनवरत पन्द्रह-पन्द्रह दिवसोंतक पूर्ण परिश्रमकरके मनोयोगपूर्वक

निर्मित किया था। इन चित्रोंका अकन इतना अभूतपूर्व कौशलसे हुआ था मानो गोलोकधामकी ही साक्षात् चिन्मय छवियॉं चित्रकारोंने अपनी तूलिकासे प्रकट कर दी हों। दर्शकगण इन भावभरे चित्रोंको देख-देखकर मुग्ध हो जाते थे। ये सभी चित्रकारगण वस्तुत: अतिशय वन्दनीय हैं जिन्होने पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी चिन्मय भावराज्यकी छवियोंको प्राकृत चित्रोमें उतारनेकी सफल चेष्टा की थी। श्री बी.के मित्राजीने प्रसूतिगृहमें लेटी श्रीकीर्त्तिदा मैयाका मुखचित्र पू.गुरुदेवकी भावनाके हूबहू अनुरूप अंकन किया था। इसी प्रकार उन्होंने पू. गुरुदेवकी आराध्या श्रीराधारानी, श्रीललिताजी एव श्रीमजुश्यामाजी (श्रीराधारानीकी छोटी बहिन)की मुखछवि भी पू.गुरुदेवके द्वारा दिये गये सकेतोंसे अपने मनको एकात्मकरके यथासाध्य ठीक उनके मनोनुकूल बनानेकी चेष्टा की थी।

पण्डालके द्वारदेशमें बनी गोपों एव दधिकी मटकी सिरपर धारण किये गोपियोंकी छवियाँ भी इतनी सजीव चित्रित की गयी थीं कि ठीक ऐसा अनुभव होता था मानो दिव्य गोलोकधाम ही इस गीतावाटिकामें इसे राधावाटिकाकी सज्ञा देने उतर आया है। अनवरत चौबीसो घण्टे ब्रजभावके संकीर्त्तनकी ध्वनि, ध्वनिविस्तार यत्रोंसे गूँजती राधे-राधेकी नामध्वनि, पीतवस्त्रोंसे बनी बगलबन्दियॉं पहने ब्रजवासियोंकी-सी वेषभूषा धारण किये बालकोंकी केलिक्रीडा वातावरणको ऐसे विशुद्ध सत्वमय रगमें रँग देती थी कि समागत प्राणी अपनेको गोलोकधाममें ही पहुँचा अनुभव करता था।

यह सब होता था इसीलिये क्योंकि श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा दोनोकी ही ऐसी चाह थी कि श्रीराधाष्टमी- महोत्सव साधनामय रीति और सात्विकता सहित इस प्रकार मनाया जावे ताकि भावग्राही साधकोंका सच्चा मार्गदर्शन हो सके तथा वे रसमय साधनामें आपातत:, नखशिख डूब जावें।

----------

# राधाष्टमीकी ऐतिहासिक परम्परा

## सातवाँ अध्याय

श्रीराधाष्टमीका यह उत्सव बहुत ही सामान्यरूपसे पू.गुरुदेवकी व्यक्तिगत साधनाके एक अगरूपमें मनाया जाना प्रारम्भ हुआ था।

सन् १९४०ई में प्रथम वर्षकी श्रीराधाष्टमीके दिन पू.गुरुदेव दिल्लीमें श्रीमथुरानाथजी (एक वैष्णव सद्गृहस्थ)के घरपर ठहरे थे। श्रीपोद्दार महाराज दिल्ली आये थे, और उन्होने पू.गुरुदेवको इन्हीं गृहस्थके घर ठहरा दिया था। भिक्षाकी व्यवस्था करते समय श्रीमथुरानाथजीकी धर्मपत्नीने पू.गुरुदेवसे पुछवाया कि "आज राधा-जन्माष्टमी है, आप फलाहार लेंगे या अन्नाहार ?" इसी पवित्र क्षणमें उस गृहस्थके द्वारा दी हुई इस सूचनापर उदय हुए एक पावनतम संकल्पसे पू.गुरुदेवने श्रीमथुरानाथजीकी पत्नीसे मात्र ब्रजरज एवं दो तुलसीदलोंकी मांग की एवं फलाहार करनेका ही निर्णय किया। पू.गुरुदेवने उस दिन श्रीराधारानीका मानसिक पूजन सम्पन्न किया, ब्रजरज एवं तुलसीदलोंका भोग लगाकर प्रसाद रूपसे उसे स्वयं भी ग्रहण किया तथा उस ग्रहस्थको भी दिया एवं शाकाहारी भिक्षा कर ली। उनके द्वारा यह प्रथम राधाष्टमी-उत्सवका आयोजन था। इसी क्षण पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके मनमें अघटितघटनापटीयसी भगवती योगमायाकी ही कृपापूर्ण प्रेरणासे यह संकल्प उदय हुआ कि महाभावरूपा भगवती श्रीराधाका जन्माष्टमी-महामहोत्सव किसी साम्प्रदायिक निष्ठाके अनुसरणके रूपमें नहीं, वरं विशुद्ध श्रुति-स्मृतिपुराणोक्त शैलीसे भगवत्प्रीतिकी प्राप्तिके सामूहिक साधना-पर्वके रूपमें आयोजित किया जाय।

सन् १९४१ ई. तदनुसार वि.सं. १९९८में भाद्रपद शुक्ला अष्टमीके दिन पू.गुरुदेव रतनगढमें ही थे। पू.गुरुदेवके लिये श्रीमोतीजी अपनी गायके दूधका शुद्ध मावा बनाकर भोगके लिये दो पेडे अपने घरसे ले आये। श्रीमोतीजीने अपनी ही प्रेरणासे मावेमें केसर डालकर केसरिया पेड़े बना दिये थे और उनपर पिश्ताचूर्ण जड दिया था। पेड़ोंपर आलूके संचेसे 'राधा राधा' नाम भी अङ्कित कर दिया गया था। पू.गुरुदेवने इनका भोग लगाकर ठीक

मध्याह्नके समय पूजा सम्पन्न की। प्राकृत धरातलपर इस वर्ष पूजाका यही क्रम रहा।

इसी वर्ष श्रीपोद्दार महाराजके रूपमें पू. गुरुदेवको साक्षात् श्रीराधारानीके दर्शन हुए। इसका विस्तृत विवरण 'महाभावदिनमणि श्रीराधाबाबा' (प्रथम खण्ड) पुस्तकके पृष्ठ ३४०में 'राधाष्टमी उत्सव' नामक शीर्षक अध्यायमें दिया गया है। पू.गुरुदेव इस दिवस प्रथम बार श्रीराधारानीका प्रत्यक्ष दर्शन पाकर कृतार्थ हुए। उन्हें इसी वर्ष चिन्मय लीलाजगत्में मनाये जानेवाले श्रीराधाष्टमी महोत्सवके भी दर्शन हुए।

इसके पश्चात् सं. १९९९ तथा २००० में दो वर्षोंतक राधाष्टमीका यह उत्सव रतनगढमें ही मनाया गया। पू.दादीजी(श्रीपोद्दार महाराजकी माताजी) इन दिनों षोडश मंत्रसे प्रतिदिन एक लाख नामजप किया करती थीं। गिनतीके लिये वे प्रतिमंत्र एक गेहूँका दाना रख लेती थीं। वर्षभर जपकी गिनतीके लिये निकाले गये इन्हीं गेहूँके दानोंको उन्होंने स्वयं अपने हाथों पीसकर आटा बनाया था। इसी आटेको शुद्ध गोघृतमें सेंककर इस वर्ष प्रसादका हलुआ बनाया गया था। पू. श्रीपोद्दार महाराजने पू.गुरुदेवके अनुरोधसे स्वयं इस नैवेद्यको श्रीराधारानीको अर्पण किया। भक्तोंको इस प्रसादमें विशेष अलौकिक स्वादका अनुभव हुआ था।

अगले वर्ष सं. २००० में भी रतनगढमें आटेका हलुआका प्रसाद बनाया गया और श्रीपोद्दार महाराजने बड़े उत्साहसे उसे श्रीराधारानीको अर्पित किया। इस उत्सवमें ब्राह्मणों द्वारा श्रीमद्भागवत एवं अन्य कतिपय चुने हुए स्तोत्रोंका पाठ किया गया। जिस स्थानपर पाठ एवं पूजा सम्पन्न हुई, वहीं सायकालमें श्रीराधानाम-संकीर्त्तनका आयोजन किया गया। इस संकीर्त्तनमें पू. गुरुदेवके साथ मात्र दो अन्य व्यक्ति ही सम्मिलित थे। कुल तीन व्यक्तियोंने ही यह सकीर्त्तन किया था। इसमें सम्मिलित एक – श्रीमोतीजी पारीकको सकीर्त्तनके समय भावावेश हो गया और वे बड़ी देरतक भाव-विभोर हुए नाचते रहे थे।

पाँचवे वर्ष सं-२००१में श्रीपोद्दार महाराज रतनगढ़से गोरखपुर लौट आये। इस वर्ष गीतावाटिकामें ही यह उत्सव खूब धूमधामसे मनाया गया। श्रावणमाससे ही श्रीपोद्दार महाराजकी कोठीमें झूलन-उत्सवका आयोजन किया गया था और गीतावाटिकाकी कोठीके नीचे मध्यके बडे हालमें श्रीयमुनाजी एवं

झूलेकी झाँकी निर्मित हुई। यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है कि लेखक द्वितीय वर्षके उत्सवसे ही प्रायः इन आयोजनोंमें सम्मिलित होता रहा। इस पाँचवे वर्ष पूरे श्रावण मास रात्रिको बहुत ही सुन्दर नाम-संकीर्त्तन होता था और लेखक उसमें ढोलक बजाया करता था। पू.गुरुदेव लेखकसे सायंकालमें पद-गायन भी सुना करते थे।

श्रावण माससे राधा-जन्माष्टमीतक खूब उत्साहपूर्वक उत्सव चलता रहा। इस वर्ष माता कीर्त्तिदाके, श्रीराधारानीके, उनकी छोटी बहिन मंजुश्यामा(अनंगमञ्जरी)के तथा सखी श्रीललितारानीके परम भावपूर्ण एवं चिन्मय छायाग्राही चित्र बनाये गये, जो पू. पोद्दार महाराजके घरमें अबतक विराजित हैं। इन चित्रोंसे ही प्रत्येक वर्ष श्रीराधा-जन्म-महोत्सवकी प्रसूतिगृहकी झाँकी सजायी जाती है। प्रसूतिगृहकी झाँकी सजाकर पूजा इसी वर्ष प्रारंभ हुई जो बावन वर्षोंसे निरन्तर अबतक इस उत्सवके अवसरपर होती है। इस वर्ष पूजाके समय पूजा करने वालोंके पहननेके लिये हथकरघेकी धोतियाँ पहलेसे मँगा ली गयीं थीं तथा पूर्व रात्रिमें ही उन्हें धोकर अस्पर्शित स्वच्छ सुखा दी गई थीं, जिन्हें दूसरे दिवस सचैल स्नानकर पूजामें सम्मिलित स्त्री-पुरुषोंने पहनी। इस वर्ष श्रीपोद्दार महाराजने स्वयं अपने हाथों आरती-पूजा की एवं अपने हाथों ही श्रीराधारानीको भोग लगाया। इस उत्सवमें ऐसा आनन्द आया कि लोग स्वयंको कृतकृत्य अनुभव करने लगे।

चौथे वर्षके रतनगढ़के श्रीराधाष्टमी महोत्सवसे ही राधा-नामके उद्दाम-नाम-संकीर्त्तनकी ऐसी परम्परा पड़ गयी जो इस वर्ष भी निभायी गयी। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके सान्निध्यमें इस वर्ष गीताप्रेसके श्रीरधुवरदयालजी एवं श्रीमुरलीधरजी दोनोंने मिलकर *'जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द'*का संकीर्त्तन प्रारंभ कराया और यह उद्दाम रूप धारणकर लगभग दो-ढाई घण्टेतक चलता रहा। इस वर्ष श्रीराधारानीका चरणोदक जो स्वयं श्रीपोद्दार महाराजके द्वारा पूजन करनेके उपरान्त वितरित किया गया था, लोगोंने छोटी शीशियोंमें पैक करके गोरखपुरसे बाहर अपने सगे-सम्बन्धियोंको भेजा। इस चरणोदकका बड़ा ही चमत्कारिक प्रभाव प्रकट हुआ। कई भावुकजन यह चरणोदक श्रीबृन्दावन-धाम ले गये और वहाँ साम्प्रदायिक वैष्णवगणने भी इसे सादर ग्रहण किया।

श्रीमोहनलालजी आदि भक्तोंने इस चरणोदकको अपने किसी मरणोन्मुख सत्संगी मित्रके मुखमें डाल दिया। इसका ऐसा प्रभाव प्रकट हुआ कि

मरणोन्मुख वह प्राणी दिव्योन्मादमें लीलाराज्यकी अपनी अनुभूतियाँ बखान करता हुआ मरा। इस आँखों देखी घटनाको किसी भावुकजनने ऋषिकेशमें सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सत्संगमें भी अपने ही दृष्टिकोणसे व्यक्त कर दी। वस्तुत: यह चमत्कार कोई श्रीपोद्दार महाराजकी क्रिया तो थी नहीं। यह तो भगवन्नाम-संकीर्त्तन और श्रीराधारानीके सात्विक पूजनका वस्तुगुण था; यह कब, कहाँ, किसे आप्यायित कर दे इसपर किसीका वश तो था ही नहीं। हाँ, उस सत्सगी भाई द्वारा उस चमत्कारको जिस ढंगसे प्रचारित किया गया एव लोगोंने जिस प्रकार उसे श्रीसेठजीके सम्मुख व्यक्त किया, उससे श्रीसेठजीने श्रीपोद्दार महाराजको एक उपालंभभरा पत्र भेज दिया। श्रीपोद्दार महाराजने वह पत्र पू.गुरुदेवको सुनाया। वस्तुतः यह प्रसंग बिना किसी हेतुके ही विवादका कारण बन गया, जो सबके लिये अप्रिय हो गया।

इस वर्ष रासपूर्णिमाका महोत्सव भी खूब उत्साहसे मनाया गया, एवं चित्रकारोंसे रासनृत्यके तीन चित्र निर्माण कराये गये। इन चित्रोंमेंसे एक तो पू.गुरुदेव द्वारा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको दिया गया था जो यावज्जीवन उनके पास उनकी पूजामें रहा। यह चित्र आजकल बाई विमलाके पास गोरखपुरमें है। एक चित्र पू.गुरुदेवसे श्रीसुखदेव बाबू माँगकर ले गये थे एवं यह चित्र अब उनकी मृत्युके पश्चात् गीताप्रेसके पुस्तक विभागमें विजडित है। तीसरा चित्र श्रीरघुवरदयालजीको पू.गुरुदेवने दिया था, यह चित्र कहाँ है – यह बात भी संभवतः बाई विमलाकी जानकारीमें ही होनी चाहिये।

छठे वर्ष श्रीसेठजी गोयन्दकाजीकी अरुचि देखकर यह उत्सव गीतावाटिकाके बाहर श्रीचन्द्रशेखरजी पाण्डेयके निवासस्थानमें मनाया गया। इस उत्सवमें पाँचवे वर्षके उत्सवके लिये पूर्वमें बनी श्रीकीर्तिदा मैया, राधारानी एवं ललिताजीके चित्रोंकी हू-ब-हू अनुकृतियाँ बनवायी गयीं एवं उन अनुकृतियोंको ही विराजितकर भावसहित उनकी पूजा की गयी। गीताप्रेसके चित्रकार श्री बी.के.मित्राजीने ये अनुकृतियाँ भी ऐसे मनोयोगसे बनायीं कि सर्वसाधारण तो यह पहचान ही नहीं पाता कि ये मूलचित्र न होकर अनुकृतियाँ हैं। इस वर्षकी झाँकी एवं संकीर्त्तन दोनों ही अभूतपूर्व रहे। संकीर्त्तन तो उद्दामगतिसे अनवरत दो-ढाई घण्टेतक चलता रहा।

सातवें वर्षका उत्सव पुन: गीतावाटिकामें ही मनाया गया एवं यह उत्सव भी अभूतपूर्व ही रहा। इस उत्सवको इस वर्ष बगीचेके हालमें ही मनाया गया

और गोलोक, गिरिराज, यमुना एवं बृन्दावन आदिकी झाँकियोंका निर्माण हालके पार्श्वके दक्षिणी कमरेमें किया गया। इस वर्षसे श्रीराधाजन्मोत्सवके दूसरे दिवसका दधिकाँदौ उत्सव भी मनाया जाने लगा। आठवें वर्षसे चौदहवें वर्षतक यह उत्सव इसी प्रकार प्रतिवर्ष नये-नये बढ़े उत्साहको प्रदर्शित करता हुआ गोरखपुरमें ही सम्पन्न होता रहा। चौदहवें वर्ष राधाष्टमीके दिन एक नाटक भी अभिनीत किया गया था। इसमें गोस्वामीजी श्रीचिम्मनलालजी, श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव, श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी, श्रीरामनिवासजी ढंढारिया आदि अनेक महानुभावोंने भाग लिया।

अबतक इस उत्सवके आनन्द एवं महत्वका समाचार देशके कोने-कोनेमें फैल गया था। श्रीपोद्दार महाराजके प्रति विशेष लगाव रखनेवाले लोग अति दूरस्थ स्थानों – राजस्थान, गुजरात, बम्बई, हैदराबाद, कलकत्ता, बिहार आदिसे भी इसमें सम्मिलित होनेके लिये गोरखपुर आने लगे थे। श्रीराधाजन्म-महोत्सवके दूसरे दिवस का दधिकर्दमोत्सव सातवें वर्षकी राधाष्टमीसे मनाया जाने लगा था। श्रीराधाष्टमीको रात्रिजागरण भी सामूहिक रूपसे किया जाने लगा था। कलकत्ताके भाई श्रीरामनिवासजी ढंढारियाका उत्साह इस उत्सवमें अभूतपूर्व ही रहता था। वे खुले मनसे सिरपर पीला केसरिया साफा बाँधकर एवं कमरमें फेंट कसकर पूरे उत्साहसे दधि-हरिद्रा-गुलाबजल आदिका सम्मिश्रण उछाला करते थे।

इसी प्रकार सन् १९४५ ई.से ही, जबसे श्रीपोद्दार महाराज रतनगढ़से गोरखपुर लौट आये थे, श्रीबजरंगलालजी बजाज अपनी कार्यस्थली जबलपुर (मध्यप्रदेश) से गोरखपुर आकर ढाढीके पद गाकर राधाजन्ममहोत्सवके दिन तथा दधिकर्दमोत्सवपर श्रीपोद्दार महाराज, उनकी धर्मपत्नी अ.सौ. रामदेईमाता एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबासे बधाई माँगा करते थे। इनके साथ ही साहबगंज मोहल्लेके एक-दो परिवार – जालान एवं बाजोरिया परिवारके युवक भी अ. सौ. माताजीसे बधाई माँगा करते थे। श्रीबजरंगलालजी बजाज पूर्वतः गीताप्रेसमें ही कार्य करते थे। बादमें व्यवसायकार्यसे जबलपुर रहने लगे थे। इनका श्रीपोद्दार महाराजसे घनिष्ठ सखाभाव था। श्रीपोद्दार महाराज जब कभी अतिशय गभीर रहा करते थे, तब उनको प्रफुल्लित कर देनेकी चेष्टा ये किसी-न-किसी तरह सम्पन्न कर ही लेते थे।

सन् १९४५ ई.से ही लोगोंके द्वारा कान भरे जानेसे श्रीसेठजी

जयदयालजी गोयन्दकाका राधाष्टमी महोत्सवके प्रति अनुकूल रुख नहीं था। श्रीसेठजीके कतिपय पत्रोंसे प्रकट इस प्रतिकूल एवं उपरामताभरे रुखकी भनक श्रीपोद्दार महाराजके कानोंमें यदाकदा पहुँचती रहती थी। श्रीसेठजीके ऐसे पत्रोंके आनेसे श्रीपोद्दार महाराज बहुत गंभीर हो उठते थे। वे इस उत्सवके प्रति अपने स्वजनों, पारिवारिक जनों, साथ ही पू.गुरुदेवका उत्साह तो कम करना नहीं चाहते थे, परन्तु श्रीसेठजीके प्रति अपने भावके कारण यदाकदा अति गंभीर होकर इस उत्सवमें अपना व्यक्तिगत सहयोग देना बन्द कर देते थे। वे यह बहाना करके कि प्रेसको सामग्री देनी है, कामका आधिक्य है, यह जताकर उत्सवमें सम्मिलित होनेसे मना कर देते थे। ऐसे अवसरोंपर उनकी गंभीर मुद्रासे भीतरी कारण जानकर, फिर उसका समाधान करानेका दायित्व लेकर श्रीपोद्दार महाराजको उत्सवके आमोद-प्रमोदके बीच लाना श्रीबजरगलालजी-जैसे व्यक्तिका ही काम था। श्रीसेठजीके मन-मानसमें भी झूठे भ्रमवश पैदा हुई राधाष्टमी-महोत्सवके प्रति असद्भावनाको दूर करनेकी चेष्टा भी वे उनसे मिलनेपर करते ही रहते थे। इस प्रकार श्रीबजरगलालजी बजाज इसमें नियमित रूपसे सम्मिलित होकर इस उत्सवकी एक अत्यावश्यक कड़ी बन गये थे। दधिकर्दमोत्सवपर ढाढी बनकर बधाई पानेका सौभाग्य तो ये महानुभाव प्राप्त करते ही थे।

प्रारम्भिक वर्षोंमें तो दधिकर्दमोत्सवके दिन उद्दाम नाम-संकीर्त्तनमें सम्मिलित होनेवाले लोगोंके मस्तकोंपर दधि एवं हरिद्राका तिलक मात्र ही कर दिया जाता था, किन्तु बादमें तो दधिकीचके निर्माणमें सेरों केसर, गुलाबजल, इत्र, कपूर भी मिलाया जाने लगा तथा इससे उत्सवमें सम्मिलित जनोंको सराबोर किया जाने लगा। लोग बड़े ही आदर एवं ललकपूर्वक राधाजन्मके आनन्दानुभवमें अपनेको सम्मिलित करनेके भावसे अपने आत्मीय स्वजनोंको इस पवित्रतम रसपंकमें सिक्त करते तथा उनके द्वारा स्वयं भी सिक्त होकर धन्य अनुभव करते। उत्सवमें सम्मिलित जन-जनको इस पवित्रतम सुगन्धित शुभजलसे वस्त्रोंसहित पूरा ही भिगो दिया जाता था। अनेकों भावुक भक्त तो संकीर्त्तनके रसमें सुधबुध ही खो देते; छोटे-बड़ेका, ऊँच-नीचका, धनी-दरिद्रका, शिक्षित-अशिक्षितका सारा भेदभाव भुलाकर लोग इस रसकीचमें लोटने लगते थे।

अवश्य ही स्त्री-पुरुषकी मर्यादाका अति कठोरतापूर्वक ध्यान रखा जाता था। पण्डालके जिस भागमें स्त्रियाँ बैठा करती थीं, उस ओर ये छींटे

सर्वथा ही नहीं डाले जावें – इसकी सावधानी रखी जाती थी। हाँ कुछ भावुक स्त्रियाँ उत्सवके सम्पन्न हो जानेपर धरतीपर फैली इस पवित्रतम कीचको अपने मस्तकोंपर तिलक रूपमें लगाकर अपनेको अवश्य धन्य बना लेती थीं।

यह तो सर्वस्पष्ट ही था कि यह रसकीच वस्तुतः ही इतनी पवित्र थी और इसमें सिक्त होकर ऐसी विशुद्ध सात्विक शीतलता प्राप्त होती थी, जो स्वसंवेद्य ही थी। इसमें नहाये लोगोंको ऐसा अनुभव होता था मानो अब हमारी युगों-युगोंकी सम्पूर्ण अशान्ति, जलन, काम-कलुषता नष्ट हो गयी है। इस दधिकर्दमोत्सवके कारण पू.पोद्दार महाराजके निवासका हाल दधिकीचसे भरा एक पोखर सरीखा बन जाता था, जिसमें तैरते-से लोग इधर-उधर सब ओर राधे-राधेका उद्‌घोष करते घूमते दिखते थे। सभीके वस्त्र – उनकी पहनी धोतियाँ, कुर्त्ते एवं बनियान दधि-घृतसे भीगे, चिकने हुए, फूलसे जाते थे। लोग श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.श्रीराधाबाबाको भी इस परम पावन पंकमें मग्न कर ही देते थे। उनपर भी घडों दधिमिश्रित जल उँडेल दिया जाता था। इस उत्सवमें श्रीपोद्दार महाराजकी प्रसन्नता एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी कृतकृत्यता देखते ही बनती थी। मक्खनकी मटकियोंसे मक्खनके लौंदे निकाल-निकालकर स्वयं श्रीपोद्दार महाराज अपने हाथों उत्सवमें नाचते भक्तजनोंपर फैंकते थे और लोग अपना सौभाग्य मानकर उस मक्खनको अपने मस्तक एवं हृदयमें चुपड़ लेते थे। इसी प्रकार अपने हाथमें काँसेका घंट एवं टकोरा लिये संकीर्त्तनमें मत्त पू.गुरुदेवको भी भक्तजन दधिकर्दमसे सराबोर कर देते थे। दीवानेसे हुए लोग अपने उच्चतम कण्ठस्वरसे राधे-राधे उच्चारण करते। बस, इसी राधा-नामध्वनिको ही अपने प्राणों और रोम-रोम, अणु-अणुमें भरते सैकड़ों भक्त लोग इस दधि-हल्दीके प्रवाहमें लथपथ हुए घण्टों नाचते रहते थे। न किसीको तनका होश रहता था, न ही कालका।

इस उत्सवमें प्रेम, त्याग एवं समर्पणके भावोंकी ऐसी त्रिवेणी बहती थी, जिसे जिन्होने अनुभव किया है, वे ही जानते हैं। इन राधा-जन्म-महोत्सव एवं दधिकर्दमोत्सव – इन दो दिनोंमें कौन ऐसा था जिसे घर-द्वार, व्यापार-दुकान, रोग-शोककी चिन्ता होती ?

पन्द्रहवें वर्षके उत्सवसे पू.श्रीपोद्दार महाराजके द्वारा प्रवचनोंमें श्रीराधारानीके स्वरूपतत्व, प्रेमतत्वपर अतिशय सुन्दर व्याख्या की जाती तथा इन प्रवचनोंको लिपिबद्धकरके 'कल्याण' मासिकपत्रमें प्रकाशित किया जाने लगा।

सोलहवें वर्षका यह राधा-जन्ममहोत्सव पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा अतिशय समुल्लासपूर्वक मनाया जानेवाला अन्तिम उत्सव था। इसी वर्षकी अगली रासपूर्णिमापर वे जीवनव्यापी काष्ठमौन लेनेवाले थे। अतः इस उत्सवमें सम्मिलित होनेवाले सभी बन्धुओंका हृदय विरह-वेदनासे व्यथित था। इस वर्ष सैकड़ों ही लोग परिवारसहित पू.गुरुदेवसे अपना यह अन्तिम मिलन मानकर, भौतिक दृष्टिसे अनेक कठिनाइयोंका अनुभव करते हुए भी आये थे।

सोलहवें वर्षकी राधाष्टमीके पूर्व पू.गुरुदेवने ब्रजभावके पचपन पद छाँटे थे एवं उन्हें इस श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीने बंदिश सहित गाकर टेपरिकार्ड करवाया था। पू.गुरुदेवने इन पदोंका संकलन इस उद्देश्यसे किया था ताकि इसका पाठ मात्र करनेवाले साधकके चित्तमें श्रीराधामाधवकी अष्टयाम लीला प्रकट हो जाये। ये पचपन पद पू.गुरुदेवकी दृष्टिमें महासिद्ध रसांकुर हैं, जो किसीके भाव-ऊसर चित्तमें भी भावोन्मेष करानेमें समर्थ हैं। पू. गुरुदेवने ब्रजभावके सभी साधकोको आदेश दिया था कि जो भी रस-साधक इन पदोंका आश्रय लेगा, उसमें भावराज्यका उदय स्वतः हो उठेगा।

आश्चर्य था कि इस वर्ष राधाष्टमी-उत्सवमें श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीकी प्रेरणासे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी प्रवर्तित पुष्टिमार्ग सम्प्रदायके प्रथम पीठाधीश्वर पू.श्रीरणछोड़ाचार्यजी महाराज भी गोरखपुर पधारे थे। उनके साथ उनकी भगवत्सेवा भी पधारी थी। महाराजश्रीके साथ भारतके विख्यात मृदंगवादक काशीनिवासी श्रीजीवनजी मुखिया भी आये थे। इस उत्सवमें उनका एकल मृदंगवादन भी हुआ था। राधाजन्माष्टमीके निशाजागरणमें महाराजश्रीने स्वयं अपने मधुर कण्ठसे एक बहुत ही पवित्र पद गायन किया। इस पद गायनके बोल थे– *'तुम हो प्रभो ! चाँद मैं हूँ चकोरा। तुम हो कमल फूल मैं रसिक भौंरा'।* महाराजश्रीका कण्ठस्वर इतना मधुर एवं गायन शैली ऐसी शास्त्रीय थी कि सारा वातावरण भक्तिमय हो उठा। पू. गुरुदेवने पू. श्रीरणछोड़ाचार्यजीकी गायी हुई पंक्तिकी अपने मधुरतम कण्ठसे अनुकृति करते हुए उन्हें बदलेमें यों गाकर सुनाया था *'मैं हूँ कमल फूल, तुम रसिक भौंरा।'* पू. गुरुदेवकी इस अनुकृतिकी सारगर्भितापर सभी भक्तगण मुग्ध हो उठे थे तथा महाराजश्री भी उनके इस अर्थ-माधुर्यपर वाह-वाह कर उठे थे।

गीतावाटिकामें इस उत्सवमें पधारे हुए इतने सम्मान्य विशिष्ट महानुभावोंके ठहरने योग्य उचित आवास-व्यवस्थाका भी अभाव ही था, फिर

भी गीतावाटिकाके आसपास रहनेवाले लोगोंने अपने आवास खालीकरके उन्हें ठहरानेकी व्यवस्था की थी। सभी समागत अतिथिगण यही अनुभव करते थे कि हम सभी एक ही राधा-परिवारके अंग हैं। पू.पोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा रूपी विशाल वटवृक्षके तले सभी आगत अतिथिगण अपने-पराये, धनी-गरीब, ऊँच-नीचके भेद सर्वथा ही भूल जाते थे। सभी लोग उत्सवके दिनोंमें परस्पर इतने अभिन्न हो जाते थे मानो उनमें कभी कहीं कोई अपने-परायेका भेद रहा ही नहीं हो। सभीको यही लगता था, जैसे श्रीपोद्दार महाराज तो हम सबके पिता हैं और पू.राधाबाबा सबके सगे बन्धु अथवा स्नेहमयी माता। वस्तुतः पू.गुरुदेवके प्यारमें जननीका-सा निस्संकोच ममत्व, विशुद्ध वात्सल्य एवं उफनता हृदय था भी। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी रसदायिनी ज्योत्स्नाके तुल्य ही परम मधुर सुशीतल थे ।

इस वर्ष गीतावाटिकामें पू.पोद्दार महाराजके निवासके बायीं ओरके मैदानमें एक विशालकाय पण्डालका निर्माण किया गया था और वहीं श्रीरामनिरञ्जनजी रूँगटाके निरीक्षणमें दिव्य बृषभानुपुर एवं बृहद्वनकी झाँकियाँ सजायी गयी थीं।

श्रीरामनिरञ्जनजी रूँगटा बम्बई निवासी थे तथा श्रीबजरंगलालजी बजाजके समान प्रारभसे ही राधाष्टमी महोत्सवके आधारस्तम्भ रहे थे। इनकी साधना पद्धति भी अति विचित्र थी। ये ग्राफपेपरपर भिन्न-भिन्न रंगोंसे अपनी कल्पनानुसार अयोध्या एवं बृन्दावनादि स्थलोंके नकशे बनाया करते थे। इनके नक्शोंका नाप एक इञ्च बराबर एक फर्लांग होता था। इनके नक्शोंमें सरयू एवं यमुना नदी होती थी, वन होते थे, सरोवर होते थे, पुलिन एवं ह्रद होते थे। साथ ही महल, निशा-विश्राम-निकुञ्ज, गोशालायें, रासमण्डल, पर्वत, झरने, सडकें, गलियाँ, छोटी पगडंडियाँ, मुख्य पथ, गायोंके चरने जानेके रास्ते आदि अंकित होते थे। नक्शे बडे भी होते थे एवं फिर इनके अन्तर्गत छोटे-छोटे अनेक नक्शे होते थे। ये जब भी गोरखपुर आते तो बम्बईसे महीनोंके लिये अवकाश लेकर आते थे। अपने निवासका कमरा बन्दकर ये अनवरत दस-दस घण्टे इन कुञ्जस्थलियोंके अंकनमें दत्तचित्त रहते थे। ये पहले व्यक्ति थे, जिनके सम्मुख पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने अपनी लीलाभावनाके सभी गुप्ततम कुञ्जोंके रहस्य स्पष्टतया खोलकर उद्घाटित कर दिये थे। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके काष्ठमौन ग्रहण करनेके वर्ष तो इन्होंने लगातार छः माहतक

गोरखपुरमें रहकर पू.गुरुदेवकी लीलाभावनाके सम्पूर्ण ब्रजमण्डलको ही अपने नक्शोंमें उतारकर रख दिया था।

श्रीरामनिरञ्जनजी रूँगटा पू.पोद्दार महाराजके प्रवचनोंको टेपरिकार्ड करनेकी सेवामें भी रत रहते थे। श्रीराधाष्टमीके कार्यक्रमों तथा उनमें हुए श्रीपोद्दार महाराजके प्रवचनोंको टेपरिकार्ड करके उनके स्पूल सुरक्षित रखना इनकी ही सेवा थी। इन स्पूलोंको बारंबार सुनते रहना, इनकी कापियाँ तैयार करना तथा इच्छुक सत्संगीजनोंके माँगनेपर उन्हें प्रदान करना इनकी दैनिक साधना थी।

सन् १९६० ई.की राधाष्टमीमें ये अन्तिम वार गोरखपुर आये। उसके पश्चात् ये रुग्ण हो गये। सन् १९६१ ई.के अगस्त मासमें इनका देहान्त हो गया। इनके देहावसानपर श्रीपोद्दार महाराजने गोरखपुरसे निम्न संदेश इनके परिवारजनोंको बम्बई भिजवाया था–

'श्रीरूँगटाजीके निधन-संवादसे यहाँ सभीको बड़ा दुःख हो रहा है। ऐसे विशेष प्रेमी जगत्मे दुर्लभ हैं। श्रीराधाष्टमी उत्सव-प्रासादका तो एक आधारस्तम्भ ही टूट गया। तथापि इस बातसे बड़ा आनन्द है कि उनका श्रीकृष्णके दिव्य धाममे, उनके एक परम निकटस्थके रूपमें प्रवेश होगया, जो अत्यन्त दुर्लभ है। उनकी पत्नी और उनके पुत्र, पुत्रवधुओंसे मेरी हार्दिक सहानुभूति – हनुमान"

सन् १९६२ अर्थात् तेईसवे वर्षके उत्सवमें श्रीजगन्नाथजी चित्रकारने पन्द्रह-बीस दिवस रात-दिन परिश्रमकरके श्रीराधाष्टमी महोत्सवके पण्डालमें सजानेके लिये मानवीय परिमाणके, पॉच-सवा पॉच फुट लम्बे, पन्द्रह-बीस चित्र बनाये। उन्होंने इस वर्ष जैसा कार्य किया और जितनी चिन्मय सुन्दर आकृतियाँ परदेपर उतार दीं, वह सब एक साधारण मानवके सामर्थ्यके बाहरकी ही बात थी। उन दिनों रात-दिवस, बिना खाये-पिये, मात्र एक कप चायके सहारे, बिना नहाये- धोये- कपड़े बदले अनवरत उनकी तूलिका चलती रही थी। उसे देखकर कोई भी प्राणी यही अनुमान लगाता था मानो अन्तार्जगत्की कोई दिव्य शक्ति ही उनसे यह कार्य करवा रही है। उस वर्ष उन्होंने अभूतपूर्व चिन्मय सामर्थ्यका परिचय दिया था। वे ये चित्र बनाकर अपने घर पहुँच ही नहीं पाये थे कि राधाष्टमीके पूर्व ही उनका देहावसान हो गया। अवसान तो इस प्राकृत देहका हुआ था, सत्य तो यह है कि वे

श्रीराधारानीकी सेवामें ही पहुँच गये। राधाष्टमी पण्डालमें विराजित उनकी छविकृतियाँ आज भी उनकी स्मृतिको अक्षुण्ण किये हुए हैं।

इक्कीसवें वर्षकी राधाष्टमीमें दधिकर्दमोत्सवपर बीकानेरसे गोस्वामी परिवारके लोगोंके नेतृत्वमें डाँडियानृत्यका आयोजन किया गया था। इन लोगोंने बीकानेरमें एक माह पूर्वसे ही डाँडियानृत्यकी विभिन्न गतियोंका अभ्यास किया था। प्रथमतया यह डाँडियानृत्य गोलाकार मंडलमें प्रारंभ होता था, पश्चात् नृत्य करते-करते ही कलाकार अपनी चाल बदलकर दो गोलोंमें नृत्य करने लगते थे। इन सभीका नृत्य इतना रोचक एवं कलापूर्ण होता था कि सभी दर्शकगण झूम उठते थे। नृत्यके उपरान्त इन कलाकारोंने इसी वर्ष श्रीपोद्दार महाराज द्वारा रचित बधाईका पदगायन भी किया जिसे पू. पोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेवने बहुत ही सराहा था। पाठकोंके ज्ञानार्थ यह पद नीचे दिया जारहा है। इस पदकी बन्दिश राग माँडमें ठेठ राजस्थानी धुनमें निबद्ध हुई थी।

*राधा जाई आनँद लाई नाचो रे नाचो सब ग्वाल।*
*दधि माखनकी नदी बहाओ आज सबै होगये निहाल।।१।।*
*अगनित भरे माट माखन-दधि-केसर-घोले लाये लोग।*
*मतवाले-से लगे छिड़कने खूब परस्पर शुभ-संयोग।।२।।*
*आय गयी इतनेमें नँदकी सेना लै माखन-दधि-हाट।*
*दधिकाँदौमें भई हरष-धुनि ढुरकन लगे माट पर माट।।३।।*
*माखन दधिकी सरिता उमड़ी, बही सुधा आनँदकी धार।*
*नाचन लगे भानु नृप, बाबा नन्द समुद सब लाज बिसार।।४।।*
*आय मिले बरसाना-रावलके लरकनि सँग तोक-सुदाम।*
*रैंदा-पैंदा, ग्वाल-बाल सब मधुमंगल, मनसुख, सुखराम।।५।।*
*कूद-कूद सब लगे नाचने माखन-दधि-सरिताके बीच।*
*लगे मारने माखन लौंदे हर्षोन्मत्त उलीच-उलीच।।६।।*
*मोदभरे बरसानेवाले बोले 'नँदबाबाकी जय'।*
*बोल उठे नन्दीसुरवाले 'जय बृषभानु राजकी जय'।।७।।*

इस गीतकी ध्वनि एव गायनपर श्रीपोद्दार महाराज तो ऐसे रीझे कि उन्होंने इस पदगायनको डाँडिया नृत्य सम्पन्न होजानेके पश्चात् भी पुन दूसरी बार सुना।

इस डाँडियानृत्यकी ऐसी परम्परा चली कि फिर प्रत्येक वर्ष ही यह क्रम चलता रहा और आजतक चल रहा है।

इस वर्ष एक और विलक्षण चमत्कारिक घटना हुई।

श्रीबनवारीलालजी गोयन्दका पू.पोद्दार महाराजके अनन्य भक्त हैं। वे इस उत्सवमे अपने साथ एक बालक श्रीराधेश्याम अग्रवालको भी ले आये थे जो हड्डियोंके क्षयरोगसे आक्रान्त था। इस रोगसे ग्रस्त होनेके कारण यह बालक अपने शरीरको सम्हाल नहीं पाता था। इसकी रीढकी हड्डी नाकाम हो चुकी थी। डाक्टरोंने लोहेके छडोंकी एक ऐसी बेल्ट बनवाकर लगा दी थी जिसका ऊपरी भाग गर्दनके साथ एव नीचेका भाग कमरके पास बाँध दिया जाता था। यही इसके खडे होनेका मात्र साधन था। इस वर्ष दधिकर्दमोत्सवपर यह बालक भी सकीर्त्तनमें सम्मिलित हो गया था। उस समय 'राधे-राधे,राधे-राधे'का उद्दाम नाम-संकीर्त्तन चल रहा था। संकीर्त्तनका रंग इस बालकपर ऐसा चढा कि यह भी उछल-उछलकर नाचने लगा और कुछ ही देरमें बाह्य-ज्ञान-शून्य होकर भूमिपर गिर पडा। इसे होशमें लानेकी बहुत चेष्टा की गयी किन्तु यह होशमे नहीं आया। जैसे ही इस घटनाकी सूचना पू.पोद्दार महाराजको हुई उन्होंने इस बालकके मस्तकको अपनी गोदमें रख लिया एवं उसे 'राधे-राधे, राधे-राधे' कहने लगे। कोई पॉच-छ. बार इस प्रकार उसे नाम सुनाकर पू.पोद्दार महाराजने उस बालकसे कहा– 'उठो, खड़े हो जाओ।' श्रीपोद्दार महाराजका इतना कहना था कि राधेश्याम उठकर बैठ गया। उसकी बेल्ट तो उसे आराम देनेके लिये पहलेसे ही हटा दी गयी थी। आश्चर्य था कि वह बालक बिना बेल्टके ही उठ खडा हुआ और पू.पोद्दार महाराजका हाथ पकडकर पुनः मन्द स्वरमें राधे-राधे कीर्त्तन करने लगा। श्रीराधेश्याम अग्रवाल दो दिनोंतक अर्ध विक्षिप्त रहा परन्तु अब उसका रोग सदा-सर्वदाके लिये मिट गया था। इस प्रसंगने सभी जनसमूहको इस उत्सवके प्रति अपार श्रद्धासे अभिभूत कर दिया।

बाईसवें वर्षके उत्सवमें दधिकर्दमोत्सवमें कुछ विशेष ही उत्सा" रहा। सन् १९६० ई से ही श्रीराधाष्टमीमें नये-नये आयोजन होने प्रारंभ हो गये थे। श्रीजगन्नाथजीने पण्डालकी सज्जा अपने अलौकिक चित्रोंसे अभूतपूर्व कर ही दी थी, श्रीरामनिरंजनजी रूँगटाके द्वारा निर्मित ब्रजमण्डल, श्रीबरसाना ग्राम एव बृहद्वनकी झॉकी अभूतपूर्व होती ही थी। बीकानेरके गोस्वामीगण पीले रगकी बगलबन्दी एवं धोती पहने, केसरिया फेंट कसे दधिकाँदौमें जब डॉडियानृत्य करते तो जनसमूह झूमने लगता था। श्रीपोद्दार महाराजके रसमय तात्विक प्रवचनों और उनकी पूर्ण समर्पणमय ब्रजभावकी काव्यरचनाएँ और उनका

गायन भी बौद्धिक वर्गमें अपना अनूठा ही प्रभाव डाल रहा था। दिनमें तो उत्सव-गंगा उमड़ती ही थी, सायंकालीन कार्यक्रमोंमें श्रीपोद्दार महाराज द्वारा प्रतिवर्ष नये-नये ढंगसे राधातत्वके अभूतपूर्व प्रतिपादन, साथ ही श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा उनकी काव्यरचनाको स्वरलिपि देकर मधुरातिमधुर कण्ठसे गायनको सुनने विश्वविद्यालय क्षेत्रके प्राचार्यगण और गोरखपुरका सम्पूर्ण बौद्धिक वर्ग ही उमड़ आता था। फिर मध्याह्नमें श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगलाकी घण्टाध्वनि, श्रीनटवर गोस्वामी की झालरध्वनि एवं श्रीगोकर्ण गोस्वामीके पदचापनृत्यसे नियंत्रित उद्दाम संकीर्त्तनका आनन्द तो वर्णनातीत ही होता था। इस सम्पूर्ण आनन्दोच्छलन-समारोहके सूत्रधार होते थे निस्संकल्प ध्यानस्थ देहा-ध्यास ही नहीं, देह-ज्ञानरहित निर्विकल्प अवस्थामें काष्ठवत् विराजित पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा और संचालनसूत्रको अपने हाथमें थामे मुखर श्रीपोद्दार महाराज।

इस सबके उपरान्त इस वर्ष श्रीपोद्दार महाराजके मनमें एक नवीन संकल्प उदय हुआ। उत्सवके एक दो दिन पहले उन्होंने श्रीघनश्याम ठाकुरको अपने पास बुलाया। ये श्रीघनश्याम ठाकुर अपनी बाल्यावस्थामें रासमण्डलीमें श्रीकृष्ण बनते थे एवं इन्होंने पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको सन् १९४९ ई.में अपने रासलीलाभिनयसे कृतकृत्य किया था। (देखें महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा– चतुर्थ खण्डमें रासप्रसंग)

श्रीपोद्दार महाराजने इन्हें निर्देश दिया कि इस वर्ष दधिकर्दम उत्सवमें श्रीबजरंगलालजी बजाजको सचमुचके ही ढाढी वेषमें सजाना चाहिये और ढाढीलीलाका नाट्याभिनय सांगोपांग जीवन्त ही होना चाहिये।

श्रीपोद्दार महाराजका इतना संकेत पर्याप्त था। श्रीघनश्याम ठाकुर बाजार गये और ढाढी परिवारको सजानेके लिये सभी योग्य श्रृंगार-सामग्री खरीद लाये। इस वर्ष राधाष्टमीपर रासमण्डलीके स्वामी श्रीरामजी एवं कीर्त्तनिया श्रीहरिवल्लभजी शर्मा आये ही थे, अतः श्रीघनश्यामजीको पूरे ढाढी परिवारकी सज्जा करनेमें इनका भी सहयोग प्राप्त हो ही गया था। श्रीबजरंगलालजी बजाज बने मुख्य ढाढिन, श्रीहरिवल्लभजी बने ढाढी, श्रीरामजी बने ढाढीके छोटे भाई, श्रीघनश्यामजी स्वयं बने ढाढीबालक और बीकानेरके श्यामसुन्दर गोस्वामी बने ढाढीबालककी बहुरिया।

उत्सवमें ये सभी ढाढी-ढाढिन उचित श्रृंगार करके आये। वेष धारणकर उत्सवमें पण्डालमें अभिनय करनेका यह प्रथम अवसर था। जनसमूहने जैसे ही

इन सभीको वेष-सज्जामें सजे पदार्पण करते देखा सभी हर्षसे सराबोर हो गये। इन सभी पात्रोंकी सज्जा इतनी सजीव थी एवं इनका अभिनय भी इतना जीवन्त था कि पोद्दार महाराज तो इन सबको देखकर ही आनन्दसे भर गये। पू.गुरुदेव तो इस सारे बाह्योत्सवसे बेखबर अपने लीलाराज्यमें डूबे थे। उनके ध्यानपथमें तो भीतरी चिन्मय लीला व्यक्त हो रही थी।

इधर ढाढी बालक बना ठाकुर घनश्याम अपने चुलबुलेपन द्वारा पू. गुरुदेवको बाह्य जगतमें ले आकर यह लीला भी दिखाना चाहता था। उधर शेष ढाढीगण श्रीपोद्दार महाराज द्वारा नवरचित पदरचनाका गायन करने लगे थे :

*अब तौ जागे भाग हमारे, हम पै टूठि गयौ भगवान।*
*हम पै टूठि गयौ भगवान, हम पै रीझ गयौ भगवान।।*
*कुँवरी जनम सुनत रति बाढ़ी, सजि सुठि साज, सँवारत दाढी,*
*नाचत गावत आयौ ढ़ाढी, करतौ जय जयकार।। अब तौ।।*
*बेटा-बेटी बहू लुगाई, रुके न घर आये हरषाई।*
*देत असीसें करत बड़ाई , जी भर बारम्बार।। अब तौ।।*
*जुग-जुग जीवौ कुँवरी प्यारी, अचल सुहाग मिलै सुखझारी।।*
*हो दोउन कुलकी उजियारी, कीरति बढै अपार।। अब तौ।।*

इधर ढाढी बने अन्य पात्र एवं श्रोतागण तो इस कीर्त्तनके आनन्दमें झूम ही रहे थे, उधर ढाढी बालक बना घनश्यामठाकुर मञ्चपर बैठे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके निकट चला आया।

उसके अन्तरमें चैन नहीं था। वह सोच रहा था कि जबतक पू.राधाबाबा नेत्र बन्द किये ही बैठे रहेंगे, तबतक तो सम्पूर्ण आनन्द ही फीका रहेगा। आजके बाह्य रगमचपर श्रीपोद्दार महाराजकी प्रेरणासे जो कुछ जीवन्त अभिनय सज्जा हो रही है — इस दृश्यको जबतक राधाबाबा देख नहीं लें और देखकर भावमें बह न जावें, तबतक तो सारा सुख ही सर्वथा थोथा है। ढाढी बालकने सोचा कि आज वस्तुत आनन्द तभी हो जब पू.राधाबाबाके व्यक्तिगत हाथसे बधाई मिले।

बस, ढाढी बालक बना घनश्याम झपटकर मचपर चढ गया और पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाको प्रणाम करके बोला 'बाबा ! ओ बाबा ! दण्डौत, बधाई है! बधाई है !!'

विश्वकी दृष्टिमें तो यह एक साधारण सी घटना थी किन्तु अन्तर्जगत्में तो इस घटनाके अपूर्व परिणाम हुए। संसारकी दृष्टिमें घनश्याम ठाकुर द्वारा पुकारे जानेवाले राधाबाबा मात्र एक संन्यासी वेषधारी मानव थे। उस अबोध ब्रजवासी बालकको परिकल्पना ही नहीं थी कि वह किसे दण्डौत कर रहा है।

उसकी परिकल्पना तो इतनी ही थी कि कोई उच्चकोटिके महात्माका वात्सल्य उसने प्राप्त कर लिया है । परन्तु अनजाने ही इस ब्रजवासी बालकने कृपासमुद्रका अभूतपूर्व उद्वेलन कर दिया था। वस्तुतः सत्य यही था कि श्रीराधाबाबाके रूपमें नेत्र मूँदे, इस राधाबाबा नामक जीवत्वके सम्पूर्ण अहंकारको अपनेमें विलीन किये, विराजित थीं स्वयं साक्षात् श्रीराधारानी – वे राधारानी जो समस्त लोकपालों सहित इस परिदृश्यमान जगत्को अपने एक रोमकूपमें बसाये हैं, जिनपर किसीका बन्धन, किसीका शासन नहीं – उन परम स्वतंत्र, अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रको भी जो अपनी प्रेमाधीनतामें बाँधे हैं। भाई घनश्याम ठाकुरने बधाई माँगनेकी क्रिया करके उन नित्यनिकुञ्जेश्वरीके कृपा-समुद्रमें एक आलोड़न उत्पन्न कर दिया।

राधाबाबाके सुदीर्घकालसे समाधिमें मुँदे नेत्र उन्मिषित हो उठे। काष्ठमौन लेनेके उपरान्त पाँच वर्षसे नीची हुई आँखोंका उठ जाना इस विश्वप्रपञ्चमें एक असाधारण घटना थी।

शास्त्र प्रमाण हैं – एक बार देवजगत् द्वारा प्रेरणा करके भेजे गये कामदेव द्वारा अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध – ये पाँच पुष्पबाण छोड़े जानेपर भगवान् पशुपतिनाथने सुदीर्घकालीन समाधिके पश्चात् अपने नेत्र खोले थे। उन नेत्रोंके खुलने मात्रसे कारण-जगत्का सर्वाधिक शक्तिशाली अधिदेवता कामदेव अपनी सम्पूर्ण कामसेना सहित भस्म हो उठा था। अन्ततः भगवती कामेश्वरी योगमाया महाशक्तिको उस कामदेवकी भस्मको अपने नेत्रोंमें अञ्जनकी तरह आँजना पड़ा, तभी उसकी संरक्षा हो सकी थी।

ढाढी बालक द्वारा बार-बार झकझोरे जाने एव 'बधाई है' बधाई है' की पुकार मचाते रहनेपर पू.गुरुदेवके नेत्र उन्मिषित हुए। अवश्य ही ये नेत्र किसी त्रिगुणात्मक रुद्रदेवके नहीं थे, ये नेत्र तो थे असमोर्ध्व प्रेम-वैभवकी स्वामिनी श्रीराधारानीके। यदि ये नेत्र कहीं संहारके अधिदेव रुद्रदेवके होते, तब तो बालक घनश्यामका देह ही भस्म हो जाता, परन्तु क्योंकि ये नेत्र महादेव रुद्रके न होकर आनन्द -चिन्मय रसरूप प्रेमकी परमसार महाभाव-स्वरूपा श्रीमती राधारानीके थे, तत्क्षण ही हाड-मांस-मल-मूत्र-पुरीषागार घनश्याम नामधारी किसी ब्रजवासी बालकके नामरूपात्मक अस्तित्वको तो विलुप्त होना ही पड़ा। उसके रूपमें पू.गुरुदेवके नेत्रोंके सम्मुख व्यक्त होना पडा – उन श्रीकृष्णचन्द्रको, जिनके नख-चन्द्र-ज्योत्स्नाकी एक किरणकी महिमाका भी अन्त नहीं पाते

अनन्त ब्रह्मा, विष्णु एव महेश। राधा-प्रियतम श्रीकृष्ण तो अपनी ही ह्लादिनीशक्तिसे आप ही नित्य आह्लादित होते हैं और अपने आह्लादसे नित्य श्रीमती राधारानीको आह्लादित भी करते ही है। अत जगत्की दृष्टिमे तो श्रीराधाबाबा, किन्तु आन्तरिक परम सत्यके रूपमे श्रीराधारानी कुछ विस्मय, कुछ जिज्ञासा, कुछ कौतूहलभरी दृष्टिसे देखने लगीं। उन्हे तो यही दिख रहा था कि उनके सम्मुख चरणोमे झुके है उनके प्राणवल्लभ, प्राणप्रियतम जिनके मुखमण्डलपर कोटि-कोटि राकाचन्द्रोकी द्युति झलमल-झलमल कर रही है। पीतवसन-भूषित अग हैं, और चचल कर्णकुण्डल, जिनके श्यामल परम सुन्दर कपोलोंको अपनी प्रभा-ज्योत्स्नासे दमका रहे हैं। दिव्यातिदिव्य मयूरपिच्छ-समन्वित रत्नमुकुटसे किरणें उद्भासित हो रही हैं और अगोंके श्यामल तेजका तो कहना ही क्या ? निर्मल श्यामल तेजसे सम्पूर्ण वातावरण ही आलोकित हो रहा था। श्रीराधारानीके रूपमें पू.गुरुदेव विस्मित थे कि आज उनके प्राणराध्य मूँछ लगाये क्यों उन्हें प्रणाम कर रहे हैं ?

पू.गुरुदेवकी आन्तरिक अवस्था समझनेकी सामर्थ्य ब्रजवासी रासाभिनय करनेवाले घनश्याम शर्मामे तो होनेका प्रश्न ही नहीं था, हाँ, उनके पार्श्वमे विराजित श्रीपोद्दार महाराजसे यह सब पहेली स्पष्ट हो चुकी थी। वे ठीक अनुभव कर रहे थे कि इस समय श्रीराधाबाबा *'सर्वं कृष्णमयं जगत्'* की अनुभूतिमें लहरा रहे हैं। उन्होने अपना बायॉं हाथ पू.गुरुदेवकी गोदमें कोई सकल्प करके रखा। बस, श्रीराधाबाबाका अवतरण मायाभूमिमें होने लगा। उन्हें स्वप्नवत् आभासित होने लगा कि वे एक देहमें अवस्थित किसी पण्डालमें उत्सवमे आसीन हैं। श्रीपोद्दार महाराजके मुखमण्डलपर दृष्टि जाते-जाते उन्हें स्मृति हो आयी कि वे गीतावाटिका एवं राधाष्टमी पण्डालमें हैं और जागतिक भूमिपर राधाष्टमी-महोत्सव मनाया जा रहा है।

इतनेमे ही श्रीपोद्दार महाराजकी कण्ठध्वनिमे उन्हे सुनायी पड़ा 'बाबा ! यह अपना घनश्याम ढाढी बना है।'

पू.गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजकी वाणी सुन तो ली, किन्तु जिस अप्राकृत प्रेमराज्यका मद उनके नेत्रोमें उतर आया था, वह नशा बारबार उनके नेत्रोंको इस प्राकृत दृश्यके प्रति अन्धा ही बनाता जा रहा था।

वे पुनः चले गये थे – नित्य चिन्मय बृन्दावनके अप्राकृत लीलाराज्यमें। उन्हें घनश्याम बालकके रूपमें पुन दिखने लगते हैं – गोलोकविहारी

नित्यकैशोरमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र। और स्वयं तो वे थे ही नील वस्त्रावृता चञ्चल कर्णकुण्डलों तथा दिव्यातिदिव्य रत्न-चूड़ामणि-समलंकृता बृषभानुनन्दिनी श्रीराधा। अपने प्रियतमको अपना चरण पकड़े बैठे देखकर बृषभानुनन्दिनी श्रीराधाका हृदय भर आता है। प्रेमावेशसे वे विह्वल हो जाती हैं। उनके भावजगत्में श्रीकृष्ण उन्हें कहने लगते हैं –'प्रिये ! गोलोककी बातें भूल गयी क्या ? या वे सभी अभी भी तुम्हें पूरी स्मरण हैं ? मुझे जान रही हो कि भूल गयीं ? मेरे प्राणोंकी रानी ! तुमसे अधिक प्रिय मेरे पास तो कुछ है नहीं, फिर मैं कैसे तुम्हें भूलूँ ? तुम्हीं बताओ, भला कोई प्राणोंसे भी अधिक प्यारी वस्तुको कभी भूल सकता है ?'

पू.गुरुदेव अपने भावजगत्में श्रीकृष्णकी बात सुनकर उनके दैन्यभरे वक्तव्यपर मन-ही-मन ठठा पड़ते हैं और उनके कपोलोंपर अत्यधिक प्यारमें उमड़कर एक चपत लगा देते हैं।

ढाढी बालक समझता है श्रीराधाबाबाने मुझे पहचान लिया। वह बोल उठता है –'बाबा ! इस गालपर भी !' श्रीराधाबाबा दूसरे गालपर भी वैसी ही चपत जड़ देते हैं। दर्शकोंका हृदय भर आता है। ढाढी बालक तुरन्त मञ्चपरसे उतरकर अपने ढाढी परिवारमें सम्मिलित हो जाता है। वह और उत्साहसे नाचने लगता है।

श्रीराधाबाबाकी तो जगत्-दृष्टि ही विलुप्त हो चुकी थी। उन्हें तो पण्डालमें श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण भरे दृष्टिगोचर हो रहे थे। अपने प्रियतम श्रीकृष्णको अनेक वेष धारण किये आह्लादित होते देख वे भी आह्लादित हो उठे थे। आह्लादिनीका सार ही तो प्रेम है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा मूर्त्तिमती प्रेमदेवी ही तो थे। अपने प्रियतमकी इच्छाको पूर्ण करना ही इनका स्वरूप-स्वभाव था। उन्हें न ढाढी बालक दिख रहा था, न ही ढाढी परिवार। उन्हें तो यही दिख रहा था कि पूर्ण परात्पर उनके प्रियतम श्रीकृष्ण सर्वथा इच्छारहित होनेपर भी उनके प्रेमवश इच्छावाले बनकर उनसे किसी कामनावश उन्हें रिझानेको नृत्य कर रहे हैं। वे देख रहे थे –'जो सर्वथा पूर्ण हैं वे उनके प्रियतम अभावग्रस्त बन गये हैं।' बस ! अपने प्रियतमको कामना-वशीभूत देखकर उनकी कामनाकी सद्यःपूर्ति करदेनेके उत्साहमें पू.गुरुदेव खड़े हो जाते हैं।

काष्ठमौनी पू.गुरुदेवको अपने आसनमें खड़ा पाकर ढाढी परिवार और उत्साहित हो उठता है। उल्लसित हुए सब झूम-झूमकर, नाच-नाच कर,

मटक-मटककर बधाईके पद गाने लगते हैं। अवश्य ही यह इन ब्रजवासी रासधारियोंका रजोगुणी उल्लास था, जिसमें कुछ भी असाधारण नहीं था। परन्तु पू. पोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेवकी पावन दृष्टि उसे विशुद्ध सत्वमय महाभावका सस्पर्शदान करवा रही थी, यही उस नृत्यकी विशेषता थी।

सभीकी दृष्टि पू.गुरुदेव एवं श्रीपोद्दार महाराजके शरीरपर थी, इस सम्पूर्ण पण्डालमें एक भी सत्यदर्शी नहीं था, जो पू.गुरुदेवकी सत्य स्वरूप-अनुभूतिका प्रकाश पा सकता। आओ ! पू. गुरुदेवके सही स्वरूपके शब्दचित्रके आकलनकी चेष्टा करें।

पू.गुरुदेवके ही कथनानुसार आठ अप्रेल, १९५७ ई.के दिन एक ऐसा क्षण उपस्थित हुआ कि वे राधास्वरूपमें विलीन होगये। इस उत्सवके दिवस तो इस घटनाको हुए पाँच वर्ष व्यतीत हो चुके थे। सन् १९५७ई.के उस पावन क्षणसे वे एक क्षणके लिये भी कभी देहमें अध्यस्त नहीं हुए। तबसे पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा कभी प्राकृत जलसे स्नान नहीं किये। विश्वकी प्राकृत दृष्टिमें भाई श्रीरामसनेहीजी, उनके सेवक उन्हें प्रत्येक बार स्नान कराते समय तीन कलश पानी उँडेलते थे। दुनिया समझती थी कि पू.गुरुदेवकी यह एक रहनी है कि वे तीन कलश पानी प्रत्येक बार स्नान करते समय डलवाते हैं, परन्तु यदि कोई सत्यदशी होता तो देख पाता कि उनका यह त्रिघट-स्नान – कारुण्यामृत, लावण्यामृत, एवं तारुण्यामृतसे स्नान था। लोग समझते थे कि पू. गुरुदेव गैरिक कोपीन एवं अधोवस्त्र पहन रहे हैं, परन्तु वस्तुतः सत्य यह था कि उनके वस्त्र स्वयं परात्पर परब्रह्म सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र थे। अधोवस्त्र एवं कोपीन पहननेके पश्चात् वे एक बडी चादर धोती पहनते एवं ओढ़ते थे, यह उनकी ओढ़नी साधारण मनुष्योंकी दृष्टिमें तो खादीका गैरिक वस्त्र था, परन्तु सत्य यही था कि यह ओढ़नी उनके चिन्मय अंगोंको लपेटनेवाली कृष्णनुरागकी चादर थी। लोग देखते थे, कि पू.गुरुदेव स्नान करके अपने गैरिक पट्टेपर विराज रहे हैं, किन्तु सत्य यही था कि इनका पट्टा था श्रीकृष्णकी गोद और उनका निजांग-सौरभ। लोग समझते थे कि पू.गुरुदेव लोगोंसे वार्तालाप कर रहे हैं, विनोद करते हैं, परन्तु सत्यका सत्य यही था कि मात्र अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही प्रेमालाप उनकी वार्त्ता थी। कोई सोचता था कि पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा मछहरीमें विश्राम कर रहे हैं, परन्तु सत्य यही था कि अपने प्रियतमके अग-सगमे लिपटी रहना ही उनका विश्राम था।

यह पू.गुरुदेवकी स्थितिका एक छोटा-सा चित्र है। बृन्दावनके रासधारी तो लौकिकताका प्रदर्शन कर रहे थे। उन्हें शिक्षा ही इसीकी मिली थी। रासाभिनय करके श्रीकृष्णपरक लीलाओंसे रजोगुणी जनसमूहका मनोरंजन करनेमें ही वे पटु थे। उन्हें यदि कोई भावुक व्यक्ति सुना भी देता कि श्रीराधाबाबा अधिरूढ महाभावकी मूर्त्ति साक्षात् श्रीराधारानी हैं, फिर भी उनकी कल्पना उस तत्वके गहन गंभीर अर्थको कहाँ समझ पाती ? उन्हें तो रासके स्वामी जैसा लीलाभिनय सिखाकर श्रीराधारानीके बारेमें जो कुछ समझा देते हैं, उनकी बुद्धिकी परिधि वहीं तक थी।

अतः ढाढी बालक घनश्याम पुनः मटक-मटककर पू.गुरुदेवसे कहने लगा—'बाबा ! लाली जायी है न ! उसकी बधाई दो। केवल प्यारभरी चपतसे काम नहीं चलेगा।' पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा जिस राज्यमें लहरा रहे थे, उस राज्यमें तो कहीं किसीमे भी कोई कामनाका लेश नहीं था। वहाँ तो किसी भी व्यक्तिका कोई स्वतंत्र अहं था ही नहीं। इसीसे वहाँके लीलापात्रोंमें किसी अहंके परिणाम या मंगल-चिन्ताकी भी कोई कल्पना नहीं थी। पू.गुरुदेवके चतुर्दिक् जो लोक था, उसका प्रत्येक व्यक्ति तो श्रीकृष्णको आनन्द देनेके लिये ही सत्ता रखे था।

अब पू.गुरुदेव अपने प्रियतम श्रीकृष्णको जो ढाढी बालकके रूपमें कभी-कभी आभासकी तरह दिख जारहे थे, क्या बधाई देते ? उनके पास जो कुछ था, वह सब तो मात्र भावमय अप्राकृत अलौकिक था, उसकी अनुभूति तो इस बालक घनश्यामको वर्त्तमानमें होनी असंभव थी, अतः उन्होंने अपनी चिन्मयी दृष्टि मंचपर रचित ब्रजमडलपर डाली। वे उस ब्रजमण्डलमें कहीं स्थित तुलसीकाननको खोज रहे थे। इधर उनके पार्श्वमें नीचे जनसमूहमें खड़ा था — भाई कुञ्जबिहारी पालडीवाल। उसे न जाने कैसे पू.गुरुदेवकी मनोभावना संस्पर्शित कर गयी। उसने तत्क्षण ही पू.गुरुदेवको पहले तो तुलसीवन दिखाया, फिर तोड़कर अनेक तुलसीदल उनके हाथमें रख दिये। पू. गुरुदेव तो तुलसी-काननमें ही खो जा रहे थे। उन्होंने हाथ बढ़ाकर तुलसीदल ले लिये। पू.गुरुदेव किसीको भी भला क्या दे सकते थे। उनकी एकमात्र निधि तो उनसे सर्वथा संलग्न, उनसे सर्वथा अविच्छिन्न उनके प्रियतम रसिकशेखर श्रीकृष्ण ही थे। तत्व, लीला और धाम — तीनों उनकी दृष्टिमें एक ही स्वरूपके तीन आयाम मात्र ही तो थे। तत्वमें जो अव्यक्त था वही लीलामे परिस्फुट

था और धाम उस सबको आधार दिये था। दूसरे शब्दोंमे बृन्दावनधामरूपा तुलसीमे पू गुरुदेवको लीलामयके लीला-वृक्षका बीज दृष्टिगोचर हो रहा था। उन्होने वही तुलसीदल ढाढी बालक घनश्यामको प्रदान करनेका सकल्प कर लिया।

अपने मनमें सकल्पकर कि तत्वकी समग्रता, लीलाकी अनन्तता, लीलानायक एवं लीलानायिकाके प्रेमरूप विशाल वटवृक्षका बीज जो इन तुलसीदलोंमें निहित है, एक तुलसीदल उन्होंने सर्वप्रथम ढाढी बालक बन घनश्याम ठाकुरके मुखमे डाल दिया। फिर शेष तुलसीदलोंको ढाढिनमाता बने श्रीबजरगलालजी बजाज, ढाढी बने श्रीहरिवल्लभजी कीर्तनिया, ढाढीकी बहू बनी श्रीहरिवल्लभजीकी पत्नी एवं ढाढी-बालककी बहू बने श्रीश्यामसुन्दर गोस्वामीमें वितरित कर दिया।

पू गुरुदेवके अमोघ सकल्पका चमत्कार तो होना ही था। तत्क्षण ही ढाढी बालक बने घनश्यामको भावावेश हो उठा। उसने प्रथम तो एक रजतथालीमें पू गुरुदेवद्वारा प्रदत्त तुलसीदलोंको सबसे लेकर सजा लिये और तब वह उस थालीको हाथमे लेकर अतिशय भावपूर्ण नृत्य करने लगा। सभी दर्शकगण उसके इस भावभरे नृत्यको देखकर चकित हो उठे। बालकमे सच्चे भावकी छायाका सस्पर्श देखकर सभी दर्शकगण पू गुरुदेवकी जय-जयकार करने लगे। यह तो सभीकी दृष्टिमें प्रत्यक्ष चमत्कार था ही कि मात्र तुलसीदल देकर पू गुरुदेवने एक रासधारी ब्रजवासी बालकको भावाविष्ट कर दिया था।

वैसे तो भाव परम सूक्ष्म होता है, किन्तु जब वह प्रवाहित होता है तो विद्युत्तरंगके समान जहाँ-जहाँ सग्राहकता होती है, उसे आविष्ट करता ही है। श्रीरामसनेहीजी (पू गुरुदेवकी शरीरसेवामें सदैव सजग रहनेवाले सेवक) का यह स्वभाव ही था कि वे उत्सवके मध्य चुपचाप सबके पीछे, गोपनीय रूपसे बैठे रहा करते थे। वे उत्सवको बाह्य नेत्रेन्द्रियोंसे तो बहुत ही कम देखते थे, अधिकाशतया उनके प्राण आन्तरिक दर्शनानन्दमें ही तन्मय हुए रहते थे। पू गुरुदेव द्वारा दिये महाभावके छायादानने उनकी एकाग्रता हर ली। उनके भीतरकी अनुभूति क्या थी, यह तो वे ही जानें, किन्तु उनके प्राणोंमें भावालोडन प्रारंभ हो गया। पू गुरुदेवके द्वारा सम्पूर्ण विश्वप्रपंचमें उच्छालित महाभाव-सिन्धुकी उर्मियोंने श्रीरामसनेहीजीके हृदयमें अनादिकालसे पूरा डेरा जमाये बैठी मायाके तटबन्धको विध्वंस कर दिया। उनके नेत्रोंके सम्मुख सत्य चिन्मय लीला अभिव्यक्त हो उठी। उनकी दृष्टिमें पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा थे ही नहीं, वहाँ

तो विराजित थीं साक्षात् श्रीराधारानी जो अपनी पवित्र प्रेमाग्निमें विश्वप्रपंचकी भोग-मोक्ष सम्बन्धी सारी कामनाओंको, संसारकी अनादिकालसे चिपकी आसक्ति एवं ममताको, जलाकर भस्म कर रही थीं।

वे अपने आसनसे भावाविष्ट हुए उठ पड़े। उन्हें तो समग्र लीला-मण्डप ही चिन्मय बृषभानुपुरका दिव्य बधाई-मंच दिखने लगा। पू.गुरुदेवके रूपमें साक्षात् राधारानीको एवं श्रीपोद्दार महाराजके रूपमें ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको देखकर उनमें करुणाभाव उद्वेलित हो उठा। वे निस्संकोच पू. गुरुदेवके पास पहुँच गये, उन्होंने उनका करपल्लव थाम लिया। वे बारबार उनसे अति विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगे कि वे श्रीपोद्दार महाराज सहित रंगमंचसे नीचे उतरकर सभी जनसमूहको अपना पावनतम आशीश-संस्पर्श प्रदान करें। सबको अपने सत्य स्वरूपका दर्शन देकर कृतकृत्य करदें, सब जनसमूह ही ब्रजभावमें डूब जाय – ऐसी कृपा कर दें।

जनसमूहको श्रीरामसनेहीजीकी आन्तरिक अनुभूतिका तो ज्ञान था ही नहीं। अतः सभी लोग श्रीरामसनेहीजीके इस आग्रहको चकित दृष्टिसे देख रहे थे। पू.गुरुदेवको तो पता था कि श्रीरामसनेहीजी भावाविष्ट हैं। उन्होंने अतिशय प्यारसे उन्हें थपथपाकर अपने निकट बैठा लिया।

इधर पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं पोद्दार महाराजके द्वारा उन्मुक्त हस्तसे वितरित कृपावैभवके दानसे सम्पूर्ण पण्डालमें दर्शक जनसमूह आनन्दमें झूम उठा था। यद्यपि पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने तुलसीदलके रूपमें अलभ्य परमोच्च पारमार्थिक निधि ढाढीगणको देदी थी, परन्तु मात्र तुलसीदलसे ब्रजवासी ब्राह्मणोंकी सन्तुष्टि होनी तो असंभव ही थी। उन्हें तो प्राकृत वस्तु भी मिले, उनकी यह भी तो आशा थी। हाँ, घनश्याम ठाकुर अवश्य भावावेशमें भरा संतुष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। अतः इस बार ज्योंही ढाढीदलने पू.गुरुदेवके सम्मुख झोली पसारकर कहा–'बाबा ! बधाई है ! लाली जायी है ! बधाई है !!' उन्होंने पास ही बैठे श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगलाकी सोनेके झोलसे चमकती घड़ी उतरवायी और ढाढी बने श्रीहरिवल्लभजी कीर्त्तनियाको देदी। इसी प्रकार तुरन्त ही उन्होंने पू. माताजी (पू.पोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी अ.सौ. रामदेई मैया)से उनके हाथकी सोनेकी चूड़ी माँगी और वह श्रीहरिवल्लभजीकी धर्मपत्नी अ.सौ. कलावतीदेवीको देदी। चूड़ी एवं घड़ी पाकर श्रीहरिवल्लभजी एवं उनकी धर्मपत्नी विशेष संतुष्ट हुए। अब उनके प्राकृत मनको अनुभव हुआ कि कोई

अनमोल वस्तु उन्हें मिली है। अबतक मिले तुलसीदलको तो वे मात्र एक पत्ता ही समझ रहे थे, जो उनके घरके तुलसीकाननमें भी उपलब्ध हो सकता था।

इस घड़ीदान करते समय पू.गुरुदेवने एक संकल्प किया कि इस घडीको पानेवाला कीर्त्तनिया हरिवल्लभ अब भविष्यमें अपने जीवनका पल-पल भगवद्यशगानमें ही व्यतीत करे एवं अर्थोपार्जनरूप चाकचिक्यसे सर्वथा असंग एवं विरक्त हो जाय। जो कुछ प्रारब्धवश उसकी व्यवस्था हो जाय, उसमें ही उसे पूर्ण सन्तोष अनुभव हो।

पू.गुरुदेव जानते थे कि श्रीहरिवल्लभजीकी धर्मपत्नी कलावती, जो ढाढिन बनी है तथा जो वस्तुतः बहुत ही भाव एवं उत्साहपूर्वक नृत्य कर रही थी, उसकी अर्थासक्ति दूर होनी कठिन है। अतः उन्होंने उनकी दृष्टिमें मञ्चपर जगज्जननी योगमाया आदिशक्तिके रूपमें विराजित अ.सौ. माता रामदेईसे उनकी स्वर्णचूड़ी माँगी। माँने वह चूड़ी श्रीपोद्दार महाराजको दे दी और उन्होंने वह अ.सौ.कलावतीको दे दी, जिससे भविष्यमें उसे कभी अर्थाभाव नहीं हो।

श्रीबजरंगलालजी बजाज भी ढाढिनमाता बने बारबार श्रीपोद्दार महाराजसे बधाई माँग रहे थे। उनका श्रीपोद्दार महाराजके प्रति ही अधिक श्रद्धाभाव था। श्रीपोद्दार महाराजके पास बधाई देनेको अन्य तो कुछ था ही नहीं, उन्होंने तत्क्षण ही अपना अंगवस्त्र(बनियान) उतारा और उसे श्रीबजरंगलालजीको प्रदान कर दिया। श्रीबजरंगलालजीने जय-जयकार करते हुए उसे मस्तकपर चढाकर मस्तकपर टोपीकी तरह ओढ लिया।

भगवान् रसिकशेखर व्रजेन्द्रनन्दनका पीताम्बर तो श्रीराधारानीका स्वरूप है, उनका उत्तरीय अंगवस्त्र उनके समग्र सख्यरसका प्रतिनिधि होता है। श्रीपोद्दार महाराजने वही परम दुर्लभ सख्यरस श्रीबजरंगलालजी बजाजको प्रदान कर दिया था।

इसी प्रकार ढाढी बालककी पत्नी बने श्यामसुन्दर गोस्वामीको श्रीपोद्दार महाराजने एक हरीतिमायुक्त मणियोंका हार प्रदान कर दिया। अब तो जय-जयकारका तुमुल नाद पण्डालमें चारों ओर फूट पडा।

उत्सवमे सम्मिलित व्यक्ति-व्यक्तिकी पू.पोद्दार महाराज एवं श्रीराधाबाबासे एक ही विनीत प्रार्थना हो रही थी–" हे सन्तस्वरूप प्रभो ! आप दोनोंके चरण-सरोजोंमें हमारा मन निरन्तर संलग्न रहे। जन्म-जन्ममें आप ही हमारे गुरुरूपमें मार्गदर्शक रहो। हमारे मनकी एकमात्र यही चाह है। हमारा चित्त

स्वप्न-जागरण सभी अवस्थाओंमें रात-दिवस केवल आप ही की स्मृति एवं गुणगानमें डूबा रहे।'

ढाढी परिवार अति उन्मत्त हुआ नाच रहा था। श्रीराधारानीकी जन्मबधाईके सवैया-पर-सवैया बोले जा रहे थे। श्रीहरिवल्लभजी कीर्त्तनियाने पू. पोद्दार महाराज द्वारा रचित श्रीराधारानीकी प्रार्थनाके कुछ दोहे बोले—

*स्यामस्वामिनी राधिके ! करौ कृपाकौ दान।*
*सुनत रहूँ मुरली मधुर, मधुमय बानी कान।।*
*पद-पंकज-मकरन्द नित पियत रहैं दृग-भृंग।*
*करत रहै सेवा परम सतत सकल सुचि अंग।।*
*रसना नित पाती रहै , दुर्लभ भुक्त प्रसाद।*
*बानी नित लेती रहै, नाम गुननि रस-स्वाद।।*
*लगौ रहै मन अनवरत, तुमर्में आठौं जाम ।*
*अन्य स्मृति सब लोप हो, सुमिरत छवि अभिराम।।*
*बढत रहै नित पलहिं-पल दिव्य तुम्हारौ प्रेम।*
*सम होवै सब द्वन्द्व पुनि, बिसरैं जोगच्छेम ।।*
*भुक्ति-मुक्तिकी सुधि मिटै, उछलैं प्रेम तरंग।*
*राधा-माधव सरस सुधि करै तुरत भव भंग।।*

इन दोहोंके बोलनेके पश्चात् सारा ढाढी परिवार पू.गुरुदेवसे —'बधाई है! बधाई है !!' की दुहाई देने लगा। पू.गुरुदेवके पास ही श्रीपोद्दार महाराज खड़े थे। पू.गुरुदेवने उनकी धोतीका अगला भाग अपने हाथमें ग्रहण कर लिया। उन्होंने श्रीहरिवल्लभजी कीर्त्तनियाको मानो उनकी प्रार्थनाके उत्तरमे उस धोतीके अगले भागको फाडकर उसका दो तीन अगुल चौडा छोर प्रसादीके रूपमें दे दिया। श्रीहरिवल्लभजीने तुरन्त ही उस छोरकी माला बनाकर उसे अपने गलेमें पहन लिया। ऐसी ही छोर प्रसादी पू.गुरुदेवने सभी ढाढियोंको दी।

अबतक घनश्याम ठाकुर चुपचाप बैठा था। अब उससे भी रहा नहीं गया। वह अर्धभावावेशमें तो था ही अतः बोल उठा —'बाबा ! ओ बाबा !! हम तो युगल-उपासक हैं। यह तो व्रजराजकुमारका प्रसाद है। हमें तो राधारानीका भी अनुग्रह चाहिये। बधाई है ! बधाई है !!' घनश्याम ठाकुरकी उक्ति सुनते ही पू.गुरुदेवने अपने गैरिक वस्त्रको भी फाडा और उसकी भी छोर सबमें बाँट दी।

दधिकाँदौके पश्चात् पू.श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी हम सभी अन्तरंग

लोगोके सामने कह रहे थे कि आज तो उनके नेत्रोके सम्मुख श्रीपोद्दार महाराजने उनकी वह भावना मूर्त्त-चरितार्थ कर दी, जिसकी परिकल्पना वे आजके बीस वर्ष पूर्व किया करते थे। जिस उत्सवको उन्होंने बीस वर्ष पूर्व अपने भावजगत्में देखा था वह उत्सव एक अशमें इस वर्ष उनके सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठा था।'

उन्होंने तब अपने पास ही बैठे घनश्याम ठाकुरको सम्बोधित करके कहा कि श्रीपोद्दार महाराजकी धोतीका छोर जिन-जिनको प्राप्त हुआ है वे उसे साधारण वस्तु मान बैठनेकी भूल कदापि नहीं करें। वह परम दिव्य वस्तु है।

एक छन्द उनके मुखसे उस समय निकल पड़ा था:

*साँवर सुन्दरकी धोतीकी वह एक किनारी फाड़ी है।*
*तुम तुच्छ न वस्तु उसे समझो, उसमें ब्रजरसकी खाड़ी है।।*
*राधा-करसे खोदी, उसके कण-कणमें कृष्ण खिलाड़ी है।*
*अवगाहन-मत्त राहित उसके जो पहने नीली साड़ी है।।*

बीकानेरसे आये गोस्वामी परिवारके गायक-दलमे श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी भी सम्मिलित थे। उन्होने भी श्रीराधाजन्मोत्सवमें बधाईके पदोका गायन किया था। श्रीपोद्दार महाराज एव पू गुरुदेव जब ढाढीगणको बधाई बॉट रहे थे तो श्रीपोद्दार महाराज उनकी ओर देखकर सारगर्भित रीतिसे मात्र मुसकाकर ही रह गये थे। श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीका श्रीचिम्मनलालजीके बहनोई होनेके नाते पू पोदार महाराज अपने बहनोई की तरह ही आदर एव आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करते थे। अत उन्हें वे अपने वस्त्रकी लीर-प्रसादी तो दे नहीं सकते थे। इसी कारण वे मुसका भर दिये थे। श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीने उनके इसी आचरणका रसमय उपालभ देते हुए ब्रजभक्तोंकी वाणीका एक पदांश बोलते हुए कहा–

*औरनकौं धन घन ज्यौं बरसत मो देखत हँसि जात।*

अर्थात् अन्य जनोंके लिये तो तुम मेघके समान उदार बने कृपाधनकी वर्षाकी झडी लगा रहे हो। परन्तु मेरी ओर देखकर मात्र मुसका दे रहे हो । यह तुम्हारी आज कैसी अनोखी रीति है ?

श्रीपोद्दार महाराज यह सुनकर कहाँ चूकने वाले थे ? वे तुरन्त माइक हाथमे लेकर बोले 'कृपाधनकी वर्षा तो अन्योपर ही सभव है। आप तो हमारे अपने हो। मैं अपने आपपर क्या कृपा करूँ ? क्या घन स्वय पर भी वर्षा करता

है ? धरा उससे भिन्न होती है। स्वय तो वह वर्षाकरके रीता ही हो जाता है।

श्रीपोद्दार महाराजकी यह परम प्रेममयी उक्ति सुनकर श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी श्रीपोद्दार महाराजसे लिपट गये। दोनोंके नेत्र प्रेमरसकी वर्षा कर रहे थे।

# षोडशगीतोंका प्रादुर्भाव

## आठवाँ अध्याय

सन् १९६० ईके श्रीराधाष्टमी उत्सवकी तैयारी चल रही थी। श्रीराधाष्टमीके पूर्वकी बात है, सभवतया चतुर्थी तिथि थी। पू.पोद्दार महाराज आज विशेष भावाविष्ट थे। उन्हे क्या अनुभव हुआ उसे जाननेका साधन तो अन्य किसीके पास था नहीं, किन्तु यह सभीने प्रतिलक्षित किया कि आज प्रातःसे ही श्रीपोद्दार महाराज बहुत ही भाव-विभोर हैं। सायंकालमे जब यह भाव-विभोरता किञ्चित् शमित हुई, उन्होने अपने ही स्वरचित पदोमेंसे सोलह पद छाँटे। वैसे, इन पदोका जो क्रम उन्होंने निर्धारित किया उस निर्धारित क्रमसे अनेक बार इन पदोंमेंसे एक-दो को छोडकर सभी पदोंको लेखक इसी प्रकार क्रमानुसार गायनकर उन्हे उनके सायंकालीन रसमय सत्संगोमें सुना चुका था। परन्तु आज उन्होंने इन पदोंमें आठ पद तो प्रेममूर्त्ति प्रियतम श्रीकृष्णके भावोद्गारोंके चयन कर लिये एवं आठ पद प्रेमप्रतिमा श्रीमती राधारानीके भावोद्गारोंके चयन किये। इन पदोका उन्होने इस प्रकार चयन किया कि पहले श्रीकृष्णके भावोद्गारका एक पद गाया जावे एवं तब श्रीप्रिया राधारानीके भावोद्गारका एक पदगायन हो। इसके उत्तरमें पुनः श्रीकृष्ण अपने भावोद्गार प्रकट करें और तब श्रीमती राधारानी उन्हें प्रत्युत्तर दें। इस क्रमसे इन सोलहों पदोंका गायन सम्पन्न हो और क्रमानुसार दोनों प्रेमी-प्रेमास्पद अपने-अपने प्रेमोद्गारोंका पारस्परिक आत्मनिवेदन व्यक्त करें। श्रीपोद्दार महाराजका इस प्रकार इन गीतोंको गवानेका उद्देश्य इतना ही था कि श्रोता-समुदाय इस प्रकार विशुद्ध काम-गन्ध-शून्य तत्सुखमयी प्रीतिके अनूठे रूपका कम-से-कम शब्द-परिचय तो प्राप्त कर सकें। पू.पोद्दार महाराज द्वारा समाधि-भाषामें रचित इन काव्यमय प्रेमोद्गारोंमें परस्पर प्रिया-प्रियतमके प्रेमभावका स्तर क्रमशः गहन-से-गहनतर एवं

गहनतर-से-गहनतम होते-होते परमोज्ज्वल प्रीतिके महाभावसे भी परे मोहन-मादनकी स्थितिका प्रकाश करता है। ये सोलह गीत महाभावमय प्रेमकी दुर्लभ अभिव्यक्तियाँ हैं।

पू. पोद्दार महाराजके निर्देशानुसार इन गीतोंका बीसवें वर्षके राधा-जन्म-महोत्सवपर एक विशिष्ट कार्यक्रम आयोजित्त हुआ। प्रेम-प्रतिमा श्रीराधाका एक अति विशाल चित्र एक स्थानपर खड़ा कर दिया गया तथा कुछ ही दूरीपर हटकर दूसरे स्थानपर प्रेममूर्त्ति श्रीकृष्णका भी वैसा ही एक अति विशाल चित्र खड़ा कर दिया गया।

श्रीराधाजन्माष्टमी महोत्सवपर ब्रजके रासधारी स्वामी श्रीरामजी शर्मा एवं कीर्त्तनिया श्रीहरिवल्लभजी शर्मा प्रायः आया ही करते थे। अतः श्रीरामजी शर्माको श्रीराधारानीके चित्रके पीछे एवं श्रीहरिवल्लभजीको श्रीकृष्णके चित्रके पीछे बैठा दिया गया। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा उन दिनों काष्ठमौनमें थे परन्तु श्रीपोद्दार महाराजने इन दोनों गायकोंका चयन उनके संकेतसे ही किया था। सोलह पदोंमें क्रमानुसार पहले पदका श्रीकृष्णके पीछे आसीन गायकको गायन करना था और तत्पश्चात् इस पदमें कथित प्रेम-निवेदनके प्रत्युत्तरमें श्रीराधारानीके चित्रके पीछे बैठे पार्श्वगायकको दूसरा पद गाकर प्रियतम श्रीकृष्णको प्रत्यत्तर देना था। इसी क्रमसे सोलहों पद गायन किये जाने थे।

निर्धारित समयपर श्रीपोद्दार महाराज पधारे। उनके साथ पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा थे ही। अन्य कार्यक्रम तो पूर्वतः ही प्रारंभ हो चुके थे। विशाल पण्डालमें पैर रखते ही सर्वत्र शान्ति छा गयी। पू.गुरुदेवके साथ पू.पोद्दार महाराजने अपने आसन ग्रहण किये। आश्चर्य था कि जिधर श्रीराधारानीका विशाल चित्र लगा था, उसके पार्श्वमें विराजित थे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा और श्रीपोद्दार महाराजका आसन उस ओर था, जहाँ श्रीकृष्ण भगवान्‌का चित्र लगा था। दोनोके आसनोंपर बैठते ही कार्यक्रम प्रारंभ होगया। पूर्वप्रदत्त निर्देशोंका ठीक पालन करते हुए गायकोंने अपने-अपने भावानुसार सोलहों पद गायन किये। बेचारे श्रोता तो उस रसावगाहनका भला क्या आनन्द लेते। वे तो इन्हें साधारण पदगायनके समान ही सुन रहे थे। किन्तु पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा, श्रीपोद्दार महाराज एवं श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी आदि रसिक जनोंके लिये वह झाँकी अभूतपूर्व थी। वैसे, पू.पोद्दार महाराजकी रसमयी पदरचनाका गायन तो लेखकके द्वारा प्रतिवर्ष ही एवं अनेक अवसरोंपर प्रतिदिन ही उनके

सायंकालीन सत्संगमें हुआ करता था, और श्रीपोद्दार महाराजका तन-मन इन गीतोंके लोकोत्तर माधुर्यमें प्रतिदिवस ही सराबोर होता था, परन्तु आजका आनन्द कुछ विशेष ही था।

आज पू.गुरुदेव ऊपरसे तो सर्वजनकी तरह ही बहिर्मुख होकर इन पदोंको सुनते रहे, गायकों द्वारा कोई शब्द अस्पष्ट उच्चारण होनेपर वे कानपर हाथ रख देते थे एवं श्रीपोद्दार महाराज तत्क्षण ही उस शब्दका उच्चारणकर उन्हें सही शब्द-पद समझा देते थे। किन्तु भीतरसे पू.गुरुदेव इन पदोंको सुनकर स्तम्भित रह गये थे। हीरेकी परख हीरेका जौहरी ही कर सकता है। पू.गुरुदेव समझ नहीं पा रहे थे कि केवल अनुभवगम्य महाभावराज्यकी अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय स्थितिको कोई कैसे इस प्रकार सरस रीतिसे हिन्दीकी साधारण बोलचालकी सरल भाषामें प्रस्तुत कर सकता है ?

सोलह गीतोंके गायनका कार्यक्रम पूर्ण होगया। अन्य कार्यक्रम भी यथाक्रम सम्पन्न होगये। श्रीराधाष्टमी महोत्सवके सानन्द सम्पन्न हो जानेपर पू. गुरुदेवने श्रीपोद्दार महाराजसे कहा—'इन गीतोंके आरंभमें मंगलाचरण रूप युगल प्रिया-प्रियतमकी वन्दना और अन्तमें पुष्पिका सहित आप इसे छपवाकर मुझे सौंप दें।' साथ ही पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने श्रीपोद्दार महाराजसे पद सं. १०में भगवती श्रीराधाकी कथित एक गीतपंक्ति *'आठों पहर बसे रहते तुम मम मन-मन्दिरमें भगवान'*में कुछ रसमय परिवर्त्तन चाहा। क्योंकि पू.पोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा दोनों ही श्रीराधामाधवके प्रत्यक्ष लीलादर्शी थे अतः पू.पोद्दार महाराजने इस पंक्तिके पाठान्तर के रूपमें पू. श्रीराधाबाबाकी सुझाई हुई पंक्ति —**'आठों पहर सरसते रहते तुम मन- सरवरमें रसवान'** भी षोडशगीत पदसंख्या १० में सम्मिलित करली।

श्रीपोद्दार महाराजने इन सोलह पदोंके प्रारम्भमें पाँच दोहोंकी रचनाकर वन्दनाके रूपमें एवं अन्तमें पाँच दोहे पुष्पिकाके रूपमें जोड़कर पू.गुरुदेवकी इच्छानुसार यह संरचना सम्पूर्ण कर दी। इस गीतरचनाका नाम रखा गया "श्रीराधा-माधव-रस-सुधा"। बादमें इसे गीताप्रेससे प्रकाशित करवा दिया गया। श्रीपोद्दार महाराजने इसका ब्रजभाषामें शब्दार्थ लिखकर इसका अर्थसहित संस्करण भी प्रकाशित करवा दिया ।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा चाहते थे कि इन षोड़श गीतोंका प्रचार घर-घर हो। पू.गुरुदेवकी दृष्टिमें ये सोलह गीत विशुद्ध प्रेमतत्वके प्रकाशक सर्वोत्तम

गीत थे। इन गीतोंमें वर्णित प्रेमके इस आदर्श रूपको अपने सम्मुख रखकर कोई भी प्रेम-पथिक निरापद अपनी साधनामें प्रवृत्त होकर दिव्य भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कर सकता था। अतः वे चाहते थे कि इन गीतोंका घर-घर अधिक-से-अधिक प्रचार हो जिससे जगत् जान सके कि प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्णकी प्रीति कितनी शुचितम, अनुपम, दिव्य एवं समर्पणमय है।

आगे जाकर तो पू. गुरुदेवने ऐसे साधक निश्चित किये जो इन गीतोंको ही अपनी साधना बनावें और इनका प्रतिदिवस ही मध्य रात्रिमें दो-से-साढे चार बजेतक स्वर-ताल सहित गायन करें।

पू.गुरुदेवकी दृष्टिमें मध्यरात्रिके उपरान्त दो बजेसे लेकर ब्राह्म मुहूर्त्त साढ़े चार बजे तककी समयावधि दिव्य बेला होती थी। पू.गुरुदेव कहा करते थे कि इस बेलामें प्रायः महासिद्ध सन्त गुप्तरूपसे विचरण करते हैं और जिन्हें भी एकाग्रमनसे भगवत्स्मरण करता हुआ पाते हैं उन अधिकारी साधकोंपर अपनी समग्र अनुग्रहराशि उँडेल देते हैं।

पू.गुरुदेव चाहते थे कि इस बेलामें कोई उन्हें प्रतिदिवस ही षोडश गीत अथवा ब्रजरसके पद सुनाया करे। उन्होंने इस पावनकार्यके लिये लेखकका चयन किया और उसे उसकी रहनीके कुछ नियम निर्धारित करके दिये। पू.गुरुदेवने इन नियमोंको सोरठा छन्दमें विरचितकर लेखकको काव्यमें निर्देश दिया कि वह इन नियमोंका पालन करता हुआ अन्य सभी कार्य त्यागकर प्रतिदिन इन सोलह गीतोंका गायन करे तथा जो कुछ अयाचित भावसे भगवान् दे दें उससे ही अपनी गृहस्थाश्रमकी नौकाको खेते हुए जीवनयापन करे।

पू.गुरुदेवने लेखकको जो उनकी ही रचित छन्दबद्ध आदेशावलि प्रदान की, वह निम्नांकित है:

*प्रस्तुत नटवरलाल* यदि जीवनपर्यन्त हों,*
*तो तन-मनमें माल महादीनतामय धरें ।।१।।*
*जगचर्चाको जान मलिन अघासुरसे अधिक,*
*उसके गरल बयान-गन्धवाहतकसे बचें।।२।।*
*और पधारें नित्य ठीक दो बजे रातमें।*
*बाहर ही नैऋत्य कोनेमें इस बाड़के।।३।।*

*लेखकका पूर्वाश्रमका नाम

*लीचीतरुकी डालः*
*ब्रजवनतरुकी डालः*
*किसी वृक्षकी डालः*
*नभका तारकजालः छाया दे बैठें वहीं।*
*छेड़ें तान रसाल फिर केवल ब्रजभावकी।।४।।*
*सदा धरें यह रीति षोड़शपद हों एक दिन।*
*तथा यथारुचिप्रीति पद दूसरे दिवस रहें।।५।।*
*किन्तु रखें यह ख्याल पास न कोई भी रहे।*
*बैठें भले दयाल-रघुवर बनकर नन्दसुत।।६।।*
*आयेगा निर्बाध 'यह' तन प्रतिदिन ही वहाँ।*
*लेकर ऐसी साध नटवरप्रभु व्रत लें नहीं।।७।।*
*गीत लाडिली रास-विलसित सच है सुनरही।*
*हो यह दृढ़ विश्वास तो इस पथमें पग धरें ।।८।।*
*नटवरप्रभुमें एक और सावधानी रहे।*
*ऊर्मि भावकी फेंक देगी तटपर अन्यथा।।९।।*
*रखें नहीं दुर्भाव किसी व्यक्तिके प्रति कभी।*
*सपनेमें भी राव रंक सभी श्रीकृष्ण हैं।।१०।।*
*उनका सरस विलास सभी रूपमें व्यक्त है।*
*क्रन्दन एवं हास टन-बम ढोलक-शब्द हैं।।११।।*
*स्वरकारी कर वाम-दक्षिण हैं उस एकके।*
*धरकर अगणित नाम-रूप बजाता है वही।।१२।।*

सन् १९६४ ई से लेकर लगभग सात वर्षोंतक लेखक (साधु कृष्णप्रेम) पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाके पास छायावत् रहा एव बिना किसी व्यवधानके नित्य-निरन्तर सर्दी-गर्मी-वर्षा सभी ऋतुओंमें लीची तरुके नीचे निष्ठापूर्वक अकेले बैठकर निशान्तबेलामे पू गुरुदेवको षोडशगीत सुनाता रहा। तदुपरान्त लेखकने संन्यास ग्रहण कर लिया। लेखककी निष्ठासे प्रेरणा लेकर अनेक स्थानोंमें आज भी इस दिव्य बेलामें कुछ साधकगण अढाई घण्टे षोडशगीतोंका गायन अथवा पाठ करते हैं।

# षोडश गीतोंका प्रचार

षोडश गीतोंके प्रचारके लिये 'षोडश-गीत-प्रचार-समिति' नामक एक संस्था विधिवत् स्थापित की गयी। इस समितिका प्रयास था कि अधिक- से-अधिक संख्यामें लोग षोडश गीतोंके नित्य पाठका नियम लें। इन्हें अपनी नित्य साधनाकी वस्तु बनावें। पाठ चाहे सम्पूर्ण पदोंका हो अथवा मात्र दो पदोंका ही हो, किन्तु रस-साधनाके प्रेमी साधकोंको नित्य पाठका नियम दिलाना ही समितिका लक्ष्य था। अनेक भक्त बादमें श्रीपोद्दार महाराजके दिवंगत होनेके पश्चात् उनकी समाधि (चितास्थली) के पास प्रतिदिवस सायंकाल साढ़े पाँच बजेसे सवा छः बजेतक एक साथ बैठकर समवेत स्वरमें इन सम्पूर्ण गीतोंका पाठ करते थे।

षोडश गीतोंके प्रचारके लिये पू.गुरुदेवने अनेक कार्यक्रम अपनाये। भारतके कोने-कोनेमें षोड़श गीत पहुँच जावें इसके लिये पू.गुरुदेवने अनेक विद्वानों द्वारा इन गीतोंका अनेक भाषाओंमें अनुवाद कराया। संस्कृत, उड़िया, तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड, सिन्धी, उर्दू आदि अनेक भाषाओंमें षोडश गीतोंका अनुवाद तो हुआ ही, साथ ही अनेक विदेशी भाषाओं जैसे अँग्रेजी, जर्मन, फ्रेन्च तथा रशियन भाषाओंमें भी इन गीतोंका अनुवाद कराया गया। इस प्रकार पू.गुरुदेव द्वारा भारतकी सीमाके बाहर भी ये गीत प्रचारित हों – इसकी व्यवस्था की गयी। इन गीतोंका संस्कृत भाषामें पद्यात्मक अनुवाद भी किया गया, जिससे हिन्दी भाषाभाषी जो संस्कृत समझते हैं, वे इन गीतोंका गायनकर अपनेको प्रीतिरसकी मधुधारामें बहा सकें।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी इस परम निष्काम एवं पवित्र भावनाका भारतके अन्दर एवं बाहर पर्याप्त सम्मान हुआ। श्रीजगन्नाथपुरीके मुख्य मन्दिरमें मुख्यद्वारके पास ही इन गीतोंको एक दीवारमें संगमरमरमें अंकितकर जड़ित कराया गया। बृन्दावनधाममें भी श्रीराधारमण मन्दिरमें इनका अंकन संगमरमरमें होकर इन्हें विजड़ित किया गया।

विदेशी भाषाओंमें हुए अनुवादका भारतके बाहर भी सम्मान हुआ। अमेरिकामें कैलिफोर्नियाके दि फ्री कम्यूनियन चर्चके ईसाई मतावलम्बी बन्धु स्वयं प्रेरणासे षोडशगीतोंके अंग्रेजी अनुवादको अपनी उपासनामें प्रयोग करने लगे। इन ईसाई बन्धुओंने षोडशगीतके रचयिताके जीवनके बारेमें जिज्ञासा व्यक्त की एवं श्रीपोद्दार महाराजके 'गोपीप्रेम' नामक पुस्तकके अंग्रेजी अनुवादकी अमेरिकामें मुद्रणकी अनुमति भी चाही। इसी प्रकार जर्मनीके एक प्रकाशकने अपने देश जर्मनीमें ही षोडश गीतके जर्मन अनुवादको पुनः मुद्रित किया।

# पू.गुरुदेवरचित अनुपम लीला--नाटिकाएँ

## नौवाँ अध्याय

## तात्पर्य-प्रकाशिका भूमिका

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा लिखित उनकी अनुभूतिकी ये लीलाएँ– . अनुराग-परीक्षा लीला, कुन्दवल्ली भावलीला एवं श्रीराधा-मनोरथकी लीलाएँ (दो से छः तक) जो यहाँ प्रेमसाधकोंके मार्ग-दर्शनके लिये प्रस्तुत की जारही हैं, वस्तुतः अप्राकृत क्षेत्रमें, अप्राकृत मन-बुद्धि एवं शरीरसे अप्राकृत पात्रोंमें हुई हैं।

ये लीलाएँ पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने सार्वजनिक की भी नहीं थीं। ये परम दिव्य लीलाएँ तो वस्तुतः उन्होंने, इन लीलाओंको अपना जीवन बनानेवाली पू. श्रीपोद्दार महाराजकी आहूत-कामकी सन्तान, सन्तोपम निर्मल चरित्रवाली अ. सौ. सावित्रीबाईको ही प्रदान की थीं और ये अबतक उनकी ही निजी साधन -सम्पत्ति मात्र रही हैं। पू.पोद्दार महाराज अपनी गुणातीत, मायातीत वस्तुस्थितिको सदैव गोपन ही रखते रहे, उनमें जो चिन्मय अप्राकृत भावदेहका प्रकाश हुआ, वह उन्होंने मायिक बहिर्जगत्‌में तो अप्रकाशित रखा ही, सर्वोच्च आत्मज्ञान-स्थितिसम्पन्न महासिद्ध श्रीजयदयालजी गोयन्दका जैसे सन्तों एवं उनके अनुयायी-प्रमुख स्वामी रामसुखदासजी महाराज एवं अन्य सहयोगियोंको भी उसकी झलक अपनी स्वजन-मनोमोहिनी मायासे ढँके रखकर नहीं देखने दी। मैंने अपने पूर्वाश्रमके मामा श्रद्धास्पद श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके मुखसे अनेक बार सुना है कि श्रीपोद्दार महाराजके यावज्जीवन सहचर एवं दाहिने हाथकी तरह सहयोगी रहते हुए भी वे उन्हें यथार्थरूपमें पहचाननेमें असमर्थ ही रहे।

हाँ, पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा अवश्य पू.पोद्दार महाराजके एकमेव ऐसे सर्वोच्च सुयोग्य शिष्य रहे, जो उनकी मायातीत वस्तुस्थितिसे सदैव अपरोक्ष रहे, उन्होंने ही अपना दीपक धू-धूकर जलती उस महाभावाग्निसे प्रज्ज्वलित कर लिया, और उस अभूतपूर्व पारसका निरावरण संस्पर्श पाकर स्वयं पारस होगये। श्रीपोद्दार महाराज तो अनेकों बार उनपर भी अपनी स्वजन-मनोमोहिनी मायाका प्रहार करते नहीं चूकते थे, अनेकों बार उन्होंने उनके सम्मुख ऐसा निर्लज्ज प्रदर्शन किया भी, जिससे उन्हें ऐसा निश्चय हो जावे कि वे

मोह-लोभसे भरे मायासक्त जीव मात्र हैं। परन्तु एकमेव पू. गुरुदेव ही ऐसे थे जो श्रीपोद्दार महाराजके इन मायिक वस्त्रोंका हरण कर लेते थे, और उन्हें अपने इस एकमेव शिष्यके सम्मुख निरावरित, विवस्त्र अपने विशुद्ध गोपीजनवल्लभ स्वरूपमें प्रकट होना ही पडता था। पू.गुरुदेवके सम्मुख इन चतुर्भुज नारायणके सायुध चारों हाथ बिना चाहे ही बिलीन हो जाते थे, और उनका परम रसमय वशीविभूषित, गोपी-चितचोर, द्विभुज रूप साक्षात् प्रकट हो उठता था।

अ.सौ. सावित्रीबाईको भी अपने सुयोग्य पिताश्रीकी यह आत्मगोपन स्वभाव-निधि दायभाक् रूपमें मिली है। वह संसारके सम्मुख अपनेको जिस मायामय रूपमें रख रही है, वस्तुतः वह उसकी सच्ची स्वरूपावस्था है नहीं। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा मुझ हीनमति, अश्रद्धालु, अपने कृपापात्रके सामने यदा-कदा जैसे श्रीपोद्दार महाराजका स्वरूप प्रकाश कर बैठते थे, और मैं उन प्रीति-महाकाशचारी दैनतेयकी उच्चतम उडानका अनुमान लगाकर चकित, विस्फारितनेत्र हो उठता था, इसी भाँति वे अनेकों बार मेरी इस धर्मभगिनी – अ.सौ.सावित्रीबाईके निर्मलतम तत्सुखभावापन्न आन्तरिक चरित्रका भी प्रकाश कर देते थे, जिसे सुनकर मैं इस देवीके आत्म-बलिदानपर मुग्ध हो उठता था।

सत्यांशमें यह गोपीचरित्र बडा विलक्षण है। यहाँ त्यागकी पराकाष्ठा – त्यागका भी त्याग है। त्यागके भी त्यागको तो सामान्य जन भोग ही समझेंगे। त्यागका त्याग स्वभोगके लिये ही होता है, परन्तु गोपीका स्वभोग निजेन्द्रियतृप्तिके लिये नहीं होकर, अपने प्रियतमके सुखके लिये होता है। इसे पहचानना साधारण जनके लिये असंभव है।

इसीलिये यह निवेदन करना पड़ रहा है कि ये तीनों लीलाएँ अवश्य तर्कशील व्यक्तियोंको भ्रमित कर देनेवाली हो सकती हैं। मैं तो सर्वथा विषयभोगासक्त, पामर प्राणी हूँ, किन्तु मेरे श्रद्धालु मनने इन लीलाओंके सम्बन्ध में, इनकी दिव्य मंगलमयताके पक्षमें मात्र इतना ही सम्बल सँजो रखा है कि यदि ये लीलाएँ काम-प्रतिपादक, इन्द्रियभोगजन्य काम-संवर्धक होतीं तो सदा मायातीत अवस्थामें विहार करनेवाले, अपने प्राण-शरीर-मन-बुद्धिको सहज प्रेमसमाधिमें डुबोये रखनेवाले श्रीकृष्णाराम-मुनि – मेरे पू.गुरुदेवके द्वारा ये कदापि रचित नहीं होतीं। किसी तार्किक अश्रद्धालुका मुख बन्द करना तो मेरे वशकी बात नहीं है, परन्तु पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा अपनी मूर्धन्य कृपापात्रा पू.पोद्दार महाराजकी पुत्रीको इन लीलाओंका प्रदान यही प्रमाणित कर रहा है

कि ये लीलाएँ परम पारमार्थिक सत्य हैं, एवं भगवान्के अप्राकृत लीला-विग्रहोंके मध्य घटी चिन्मय रसमंत्रमयी श्रुतियाँ हैं। ये लीलाएँ काम-रोगनाशकी अमोघ औषधियाँ हैं।

इन लीलाओंको पढनेके पूर्व यह ठीक समझ रखनी चाहिये कि परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये, साथ ही उसका नवीन-नवीन रूपमें आस्वादन करने-करानेके लिये ही स्वय प्रेम-विग्रहोंके रूपमें प्रकट होते हैं। वे स्वयं ही इन प्रेमविग्रहोंसे आनन्दका आस्वादन करते हैं। परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णके आनन्दकी प्रतिमूर्त्ति जैसे प्रेमविग्रहरूपा मैया यशोदा, मैया कीर्त्तिदा एवं स्वयं श्रीराधारानी हैं, वैसे ही उनके ही आनन्दकी प्रतिमूर्त्ति वृद्धा – श्रीराधारानीकी सास जटिला भी हैं, उनकी ननद कुटिला भी हैं। इस वृद्धाके पुत्रयुगल – रायण एवं दुर्मद गोप भी अन्य कोई नहीं, श्रीकृष्णके कायव्यूहरूप ही हैं। इन रायण एवं दुर्मद गोपकी सत्ता परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णसे भिन्न कहीं कुछ भी नहीं है। श्रीराधा एवं राधानुजा मंजुश्यामाको तो वे अधिकांशतया दिखते ही नहीं, उनके स्थानपर ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही दिखते हैं।

ब्रह्म-मोहनलीलाकी एक वर्षकी अवधिमें जब श्रीकृष्ण स्वयं ही समग्र गोप सखाओंके रूपमें परिणत हुए थे, उस समय उनकी ही परिणति रायण एवं दुर्मद गोपके रूपमें भी हुई थी, और इसी एक वर्षके कालमें ही राधा एवं राधानुजाका विवाह भी इनके साथ सम्पन्न हुआ था।

कोई यहाँ यह प्रश्न कर सकता है कि नित्य आनन्दमय, नित्य तृप्त, नित्य एकरस, पूर्णब्रह्म परमात्मामेंसे इस प्रकारकी प्राकृत संसारकी तरहकी रागद्वेषमयी, काममयी वृत्तियाँ एवं सीमित सुखेच्छा कैसे व्यक्त हो सकती हैं ? यह प्रश्न युक्तिसंगत प्रतीत होने पर भी इसे सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। भाव और प्रेम परमात्मासे पृथक् कदापि नहीं हैं। प्रेमिका-आश्रयालंबनका भाव प्रेमी-विषयालम्बनमे और प्रेमी-विषयालम्बनका भाव प्रेमिका-आश्रयालम्बनमें प्रतिबिम्बित होता ही है। जब ये राधादि गोपांगनाएँ जो कोटि-कोटि कन्दर्प-कमनीय-सुन्दर भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपाशक्तियाँ हैं, अपने प्रियतमको कोटि-कोटि आत्माओंसे भी अधिक प्रिय मानकर कान्तवत् सेवा-उपासना करती हैं, तो माधुर्य-सौन्दर्य-सुधा-रस-समुद्र, अनन्त परमानन्दोदधि, चित्-स्वरूप, भगवान्

श्रीकृष्णको यह उनकी स्वरूपा शक्तियोंका प्रेम, रसानन्दमय विहार, अपने स्वरूपानन्दसे भी बढकर लगे, और उन्हें इस परिच्छिन्न रसमें डूबनेको बाध्य कर दे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? राधा एवं राधानुजा मंजुश्यामाके प्रति श्रीकृष्णका रमणवत् आकर्षण उनकी स्वरूपभूता, चिच्छक्ति, अघटनघटनापटीयसी योगमाया द्वारा उनके अनन्तानन्त ज्ञानैश्वर्यको आवृत करनेपर ही संभव होता है। ये राधामुख्या गोपांगनाएँ, एवं चन्द्रावली आदि विपक्षगत यूथेश्वरियाँ इस श्रीकृष्ण-लीला-विटपकी शाखा स्वरूपा हैं। इन सबके प्रेमानुरूप नित्य-नव-असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्य-लीला-विलासका वर्णन, जो इन नाटिकाओंमें है, इसका उद्गम, अभ्युदय एवं विस्तार – सभी हानि-ग्लानिको भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके द्वारा ही होता है।

यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि नित्य परिपूर्णतम, ज्ञानस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्णको भी क्या कोई उनकी स्वरूपभूता ईश्वरता, असमोर्ध्व, आनन्दपूर्ण संतृप्तिसे आवृतकर, साधारण नरकी तरह नारी-रूप-तृष्णातुर बना सकता है? और बना सकता है तो वह ईश्वरसे बडा, भगवान्‌से भी महान् कौन है ? और यदि श्रीकृष्णका ऐश्वर्य-ज्ञान, आनन्द भी छिन्न किया जा सकता है तो वे श्रीकृष्ण क्या वस्तुतः पूर्णज्ञान-ऐश्वर्य-शक्तिरूप भगवान् हैं ? इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌के परम ज्ञानस्वरूप ऐश्वर्यको, उनकी भगवत्ताको कोई भी आवृत नहीं कर सकता, परन्तु मायावृत्ति अविद्या जैसे जीवको संसार-बन्धनमें फँसाकर दुःखका, कामका, पराधीनताका एवं बन्धनका अनुभव करानेके लिये जीवके ज्ञानको आवृत कर लेती है, और जैसे त्रिगुणातीत-दशाप्राप्त भक्त-शिरोमणि नन्द-यशोदा, श्रीबृषभानु-कीर्तिदा आदि ब्रज-परिकरोंको श्रीकृष्ण एव राधाकी वात्सल्य-रसभावित बाललीलाका आस्वादन करानेके लिये चित् शक्तिकी वृत्ति– योगमाया उनके ज्ञानको आवृत कर रखती है, ठीक वैसे ही स्वयं श्रीकृष्णको भी उनके स्वरूपानन्दसे बहुत बढे हुए उच्छलित आनन्दातिशय प्रेमरसका अनुभव करानेके लिये उन्हींकी स्वरूपभूत इच्छासे, उन्हींकी अपनी चिच्छक्तिकी सारवृत्ति – प्रीति उनके ऐश्वर्य-ज्ञान एवं अपरिच्छिन्न आनन्द-स्वरूपताको आवृत कर लेती है। जैसे जीवका 'काम' उसके देहसे ही बननेवाले विकार – रज -वीर्यादि धातुओंकी उत्पत्तिके कारण होता है, वह जीव-देहका स्वरूप-विकार है, ठीक इसी प्रकार 'प्रेम' भी श्रीकृष्णकी अपनी ही स्वरूपाशक्ति – आनन्द,

आह्लादिनीशक्तिका सार है। श्रीमञ्जुश्यामा, श्रीराधा, श्रीचन्द्रावली, श्रीकुन्दवल्ली आदि सभी सखियाँ जिनका इन लीलाओंमें उल्लेख है, वे परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी ही लीलामयी परम अन्तरंगा स्वरूपाशक्तियाँ हैं, अतएव उनके प्रति प्रकट श्रीकृष्णका प्रेमाकर्षण चाहे वह दुर्मदका रूप रखकर ही हो, अथवा स्वयंके द्वारा हो, न तो दोषरूप ही है और न ही इससे उनकी भगवत्तामें ही कहीं कोई बाधा आती है। यह उनकी अपनी प्रेमलीला है और भगवल्लीला उन लीला-पुरुषोत्तम भगवान्से भिन्न कदापि नहीं हो सकती। लीला एवं लीलामयमें स्वरूपतः विशुद्ध अभेद ही दार्शनिक मत है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है। भगवान् श्रीकृष्णमें यह बहुनायकत्व क्यों ? जब यह कहा जाता है कि स्वसुख-वाञ्छाहीन, काम-गन्धरहित, विशुद्ध राधा-प्रेम ही अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण माधुरीको पूर्णरूपेण आस्वादन करता है, फिर परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णमें अन्य नायिकाओंके प्रति सुखेच्छा क्यों ? जिन श्रीराधामें श्रीकृष्ण-प्रेयसी-जनोचित सम्पूर्ण गुणोंका उद्भव एवं सर्वोच्च विकास है; जिन श्रीराधाकी दिव्य गुणावली ही समस्त विशुद्ध प्रेममयी श्रीकृष्ण-प्रेयसियोंके मधुर निर्मल सद्गुणोंकी मूल है, जिनकी छायारूपा शक्तियाँ ही वैकुण्ठमें लक्ष्मी, कैलासमें पार्वती, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माणी, एवं साकेतमें सीताजी हैं; और इन सब छायारूपा शक्तियोंकी भी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये भगवत्स्वरूप महान् देवता, ज्ञानी-विज्ञानी, ऋषि-मुनि नित्य लालायित रहते हैं; जो इतनी सुन्दरी हैं कि महालक्ष्मी, पार्वती एवं ब्रह्माणी भी जिनके सौन्दर्यको देखकर ललचाती हैं; उन रसरूप प्रेमकी परम सार श्रीराधारानीकी उपेक्षाकर, उनके हृदयको बेधकर, उन्हें मानवती करके, श्रीकृष्ण अन्य नायिकाओंके साथ क्यों रमण करते हैं ? अन्य नायिकाओंके प्रति उनके आकर्षणका हेतु क्या है? श्रीकृष्णकी यह बहुनायकवृत्ति **'श्रीराधामनोरथकी दूसरी लीला'**में तो इतनी अभिवृद्ध दिखाई देती है कि वे श्रीराधारानीकी उपस्थितिमें ही, उनके साथ शयन करते-करते ही उनकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामाके प्रति आकृष्ट होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके विशुद्ध चिन्मय आनन्दरसमें यह प्रेम-वैचित्र्य क्यों ?

वैसे ये प्रश्न स्वाभाविक हैं और अनेक प्रेम-साधकोंके चित्तको मथित भी करते हैं, किन्तु ऐसे सभी प्रश्न मात्र श्रीराधारानीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं होनेसे ही उठते हैं। हम प्राकृत प्राणियोंमें प्राकृत भाव इतना प्रबल है कि

हम रसिक सिद्ध सन्तों द्वारा बहुत तत्त्वमयी वार्ताएँ सुनकर भी एव श्रद्धासहित उस तत्त्वको स्वीकारकरके भी फिर प्रवाहमें पडकर उसे अमान्य कर बैठते हैं।

हम तनिक विचार करें – हमारे शास्त्र बताते हैं कि परिपूर्णतम परमात्मा, परात्पर, परब्रह्म सच्चिदानन्दघन, निखिल ऐश्वर्य-सौन्दर्य-माधुर्यके सागर, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराममें कोई भेद नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण ही राम हैं, विष्णु हैं, नारायण हैं, शिव है, सम्पूर्ण अवतार भी हैं और अवतारी भी हैं। फिर जहाँ राम पूर्णतया एकपत्नीव्रती रहे, भगवान् नारायणने मात्र एक लक्ष्मीजीको ही अपने चरणोंमें स्थान दिया तो श्रीकृष्ण बहुनायक लम्पट, सर्वत्र मन डिगानेवाले हो ही कैसे सकते हैं ? जो राम सीताजीका वेष धारणकर छलनेके लिये खड़ी भगवती सतीको भी पहचानकर उन्हें –'हे माते !' कहकर सम्बोधित करते हैं, वे राम ही जब श्रीकृष्ण हैं तो वे ब्रजकी प्रत्येक गोपीके प्रति इतने आसक्त क्यों हो उठते हैं ? इसकी पृष्ठभूमिमें जो तत्त्व है, उसपर तनिक विचार करें ।

प्रस्तुत नाटकोंमें तो मात्र राधा, राधानुजा मञ्जुश्यामा, चन्द्रावली एव कुन्दवल्ली आदि कतिपय गोपियोंके प्रति ही श्रीकृष्णके आकर्षित होनेकी कथा आयी है, किन्तु वस्तुतः सत्य यह है कि ह्लादिनीशक्ति श्रीमती राधारानीकी लाखों ही नहीं, अनन्त कोटि अनुगामिनी शक्तियाँ हैं जो मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, मञ्जरी, सहचरी, दूती, यूथेश्वरियों आदि रूपोंमें श्रीकृष्णको समाकर्षित करती हैं, और अपने-अपने प्रेमके उच्च भावसे पूर्णकाम, रसराज श्रीकृष्णमें कामना, नित्यतृप्त परात्पर परब्रह्ममें अतृप्ति सुखस्वरूपमें सुखेच्छाकी तृष्णा, क्रियाहीन निष्क्रियमें रीझनेकी क्रिया और स्वरूपतः घन आनन्द, मात्र आनन्द, केवल आनन्द, आनन्द-ही-आनन्दमें आनन्द-भोगकी वासना जाग्रत् कर देती है। हमारी भूल यही है कि हम श्रीकृष्णको इन्द्रियजन्य वासनाभिभूत मान ले रहे हैं। किन्तु हमें यह सदैव ध्यान रखना चाहिये कि न तो यह प्रेमराज्य मर्त्य जगत् ही है, एवं न ही श्रीकृष्ण मायामय पंचभूतात्मक मलिन मल-मांस-रक्तसे निर्मित विकारी मानव ही हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने अपना यह सिद्धान्त घोषित किया है– *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'* (जो मुझको जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।) किन्तु यहाँ कठिनाई यही है कि न तो यहाँ राधामें कोई कामना है न

राधानुजा मञ्जुश्यामामें, न चन्द्रावलीमें, न ही कुन्दवल्लीमें। इन सभीको एक ही कामना है कि श्रीकृष्ण किसी भी प्रकार इनके द्वारा सुखी हों। अब श्रीकृष्ण जब इस कामनाकी पूर्ति करने चलते हैं तो उन्हें अपने स्वरूपानन्द, आत्म-संतृप्ति, धन निष्काम आत्मस्वरूपतासे हटना ही पड़ता है। इन सभी राधामुख्या गोपीजनोंने अपना सर्वस्व, लोक, धर्म, वेद, कुलमर्यादा त्यागकर, श्रीकृष्णको ही अपना प्रियतम मानकर, अपना तन, मन, चित्त, आत्मा एवं सर्वेन्द्रियाँ ही उन्हें अर्पित कर दी हैं, तो उन्हें अपना चित्त अनेक गोपियोंमें प्रेमयुक्त होकर बाँटना ही पड़ता है।

कठिनाई यही है कि श्रीराधारानीका प्रेम तो चिच्छक्तिकी वृत्ति होनेसे पूर्ण एवं अनन्त है। उनका प्रेम अनन्त होनेसे वे अनन्तभावा, अनन्त कायव्यूहरूपा गोपियोंके रूपमें अपनेको विभक्त करके अपने एकमेव प्रियतमके सुखदान करने हेतु उमडती हैं, समुत्सुक होती हैं। श्रीराधारानी तो अनन्त नाम-रूपोमें अपनेको अभिव्यक्त करके, अनन्य भावसे इन प्रियतमकी सुख-उपासना कर लेती हैं, परन्तु प्रियतम श्रीकृष्णको तो अनन्त राधा-कायव्यूहरूपा गोपियोंसे सुख लेना होता है। श्रीराधा जहाँ भोग्या हैं, एकमेव श्रीकृष्णके प्रति ही प्रेमयुक्त एवं अखण्ड भावमयी हैं, वहाँ श्रीकृष्णको तो अपनी एकमेव प्रिया राधाके ही अनन्त नाम-रूप--भाव धारण किये अनन्त कायव्यूहस्वरूपोंको प्रेमदान करना होता है, उनको सुखी करनेके लिये उनके प्रति अपनी पूर्ण प्रेमासक्ति प्रकट करनी ही होती है। उनकी सर्वेन्द्रिय सेवा भी स्वीकार करनी होती है, अतः उन्हें खण्ड-खण्ड विभक्त होकर उन सबके प्रति अपनी प्रेमकामना, अपनी सुख-लालसा व्यक्त करनेके सिवा अन्य कोई उपाय ही नहीं रहता।

वस्तुतः जैसे श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण अभिन्न हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण एवं राधानुजा मञ्जुश्यामा भी तो अभिन्न हैं। श्रीराधा एवं राधानुजा तो मात्र एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। स्वयं श्रीकृष्ण ही तो छायारूपमें गोष्ठमें अपनी प्रियाकी सेवा करनेके लिये मञ्जुश्यामा रूपमें कीर्त्तिदाकी कोखसे जन्म ग्रहण करते हैं। अतः श्रीकृष्ण यदि अपने ही नारीस्वरूपपर मुग्ध होकर अपने आपका ही सौन्दर्यास्वादन करनेको आतुर हो उठते हैं तो इसमें कौनसा कालुष्य है ?

*देख रूप निज हुए चमत्कृत मोहन मन्मथ-मन्मथ श्याम।*
*जाग उठा तुरन्त ही मनमें निज सौन्दर्यास्वादन-काम।।*

यहाँ यह ध्यान रखनेकी वस्तु है कि काम सदैव परायेसे होता है,

जबकि प्रेम तो अपने आपसे ही होना संभव है। प्रेममें परत्व संभव ही नहीं। श्रीकृष्णमें कामाकर्षण तो संभव ही नहीं, क्योंकि उनसे पर, अन्य, भिन्न कोई है नहीं, हुआ नहीं, एवं होगा भी नहीं। उनमें तो मात्र प्रेमाकर्षण ही संभव है, और वह प्रेमाकर्षण उनका उनकी स्वयंकी स्वरूपाशक्तियों–आह्लादिनीप्रधान राधाकी कायव्यूहरूपा गोपांगनाओंके प्रति हो तो इससे एकपत्नीव्रती होनेमें कहाँ कमी होती है ? यह भला, प्रेम कालुष्य है या प्रेमवैशिष्ट्य है ?

भगवत्स्वरूपा श्रीराधिकाजी एवं इन गोपियोंकी महिमा तथा उनके स्वरूपको बतानेवाला ऋग्वेदका एक 'राधिकोपनिषद्' है उसका भावार्थ नीचे दिया जा रहा है –

'ऊर्ध्वरेता सनकादि ऋषियोंने भगवान् ब्रह्माजीकी उपासना करके उनसे पूछा – हे प्रभो ! हमारी जिज्ञासा है कि परम देवता कौन है ? उन परम देवताकी शक्तियाँ कितनी हैं और इनमें सर्वश्रेष्ठ शक्ति कौनसी है ? इसके उत्तरमें ब्रह्माजीने कहा –" भगवान् श्रीकृष्ण ही परम देव हैं। इसीलिये उन्हें भगवान्, छहों ऐश्वर्यों – ऐश्वर्य, यश, श्री, धर्म, ज्ञान एवं वैराग्यसे परिपूर्ण माना जाता है। गोप-गोपियाँ उनका सेवन करती हैं, बृन्दावनके वे स्वामी हैं, वे ही एकमात्र परमेश्वर हैं। उन श्रीकृष्णकी ह्लादिनी, संधिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि अनेकों शक्तियाँ हैं। इनमें ह्लादिनीशक्ति राधा सर्वश्रेष्ठ हैं। ब्रजकी समस्त गोपियाँ, द्वारकालीलामें श्रीकृष्णकी पटरानियाँ और लक्ष्मीजी इन्हीं श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा हैं। श्रीराधा अपनी अनन्त कायव्यूहरूपा शक्तियों सहित अनन्त नाम एवं रूपोंमें रससागर श्रीकृष्णसे एकशरीर होकर रहती हैं और उनकी प्रेमाराधना करती हैं। ये लीलामात्रके लिये ही दो एवं अनेक होते हैं। ये श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी ईश्वरी हैं, उनके प्राणोंकी अधिष्ठातृ हैं। इन श्रीकृष्णकी संधिनीशक्ति लीलाजगत् बृन्दावनरूपा हैं और उनकी ज्ञान, क्रिया एवं इच्छाशक्ति ही अघटनघटनापटीयसी योगमाया हैं।'

कहनेका इतना ही अर्थ है कि श्रीकृष्णके राधा एवं गोपियोंके प्रति इस प्रणयभावको समझनेके लिये इनके सभीके स्वरूपतत्वपर विचार करना चाहिये। हमें यह सदैव ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ ब्रजमें प्राकृत नर-नारीका कामाकर्षण प्रवेश ही नहीं कर सकता है, यह तो परात्पर परतत्व भगवान् श्रीकृष्णका गोपीरूपमें स्वयंसे ही रस-विलास है, रसास्वादन है।

श्रीकृष्ण चाहे राधानुजा मञ्जुश्यामाके प्रति आकर्षित हों, चाहे चन्द्रावली, शैव्या – किसीके भी रूपपर रीझें, वह आसक्ति उनके स्वयके ही रूपपर उनकी स्वयकी आसक्ति है। ब्रजलीलाका कोई भी पात्र श्रीकृष्णसे पर है ही नहीं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णसे ब्रजमें कहीं कोई पर हो ही नहीं सकता। सम्पूर्ण परत्व तो प्राकृत मायाराज्यमें ही उपलब्ध होता है। इस लीलाराज्यके शब्दकोशमें 'परत्व' शब्द प्रवेश ही नहीं कर सकता।

**परकीयाभावका रहस्य**

यही स्पष्टीकरण परकीयाभावके सम्बन्धमें भी है। गोपीभावका उद्गम ही प्रेम है। प्रेम भिन्नसे हो ही नहीं सकता, वह तो मात्र स्वरूप-रस-विलास, स्वरूप-रस-वितरण, स्वरूप-रमण, स्वरूप-प्रेमनर्त्तन मात्र है।

प्रेमका मूल मंत्र है –

*आवयोर्बुद्धिभेदं च यः करोति नराधमः।*
*तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।।*

जो नराधम श्रीकृष्ण एवं गोपियोंमें भिन्नता एवं भेद देखता है, अथवा समझता है, वह अज्ञानी है और जबतक सूर्य, चन्द्र रहेंगे, वह दुष्ट कालचक्रमें आवागमन करता रहेगा। वस्तुतः यह भेदबुद्धि ही कालसूत्र नामक नरक है।

हमारी घोर तमोमयी भेददृष्टि ही हमें कालसूत्रमें डालनेवाली, काल-प्रवाहमें बहानेवाली है। हमारी भेद देखनेकी आँख इतनी प्रबल है कि हम प्राकृत जगत्में तो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, आकाशादि पंचतत्त्वोंसे उत्पन्न होनेपर भी उनसे स्वयंको भिन्न मानते ही हैं, परमात्मासे भी, जो हमारा आत्मीय-से-आत्मीय – अपना आपा ही है, उससे भी अपनेको अपरिचित, पृथक्, दूर, अनजाना अनुभव करते हैं।

परमात्मीयता परमात्माका स्वरूपभूत स्वभाव है। जैसे परमात्मासे उसके ऐश्वर्यको दूर किया ही नहीं जा सकता, वैसे ही उसकी आत्मीयता, प्रेम, आनन्दको भी उससे दूर नहीं किया जा सकता। आनन्द एवं प्रेम परमात्माकी स्वरूपभूत शक्तियाँ हैं। आनन्द एवं प्रेम ही मूर्तिमान् हुआ श्रीराधाका विग्रह है। प्रेम ही, आनन्द ही अपनी अनन्त भावशक्तियोंमें लहराता हुआ गोपीरूपमें प्रकट हुआ है। गोपियाँ श्रीकृष्णसे भिन्न कैसे हो सकती हैं ? गोपी श्रीकृष्णकी परकीय हो ही नहीं सकतीं। किरण सूर्यसे, शब्द आकाशसे, स्पर्श वायुसे, रस जलसे, गन्ध पृथ्वीसे भले ही पृथक् हो जाय, परमात्मा अपनी आनन्द

शक्तियोंसे कैसे पृथक् होंगे ? यह आनन्द तत्व ही परमात्माका अनन्त माधुर्य है।

भगवल्लीला विलक्षण है। यह लीलाकी विलक्षणता ही है कि लीलावतारोंमें, किन्हींमें ऐश्वर्य प्रधानभाव हो जाता है और अन्य सौन्दर्य, माधुर्य आदि गौण हो जाते हैं। इन ऐश्वर्यविशिष्ट अवतारोंमें धर्म-ज्ञान-वैराग्यादि सभी पूर्णतया विद्यमान रहते हुए भी छिपे, अप्रकट रहते हैं। ये सभी गुण यद्यपि भगवान्‌के स्वरूपगत हैं, भगवान् इनसे शून्य कभी नहीं होते, फिर भी इन लीलावतारोंमें लीलानुसार किसीमे एककी प्रधानता हो जाती है एवं अन्य अप्रकाशित – छिप जाते हैं।

जैसे भगवान् कपिलके अवतारके समय ज्ञान, धर्म एवं वैराग्यकी प्रधानता रही, किन्तु बल, ऐश्वर्यादि गुण उनमें नित्य वर्त्तमान होते हुए भी अप्रकाशित रहे। इसी प्रकार परशुराम अवतारके समय केवल बलकी प्रधानता रही, सौन्दर्यादि गुण छिपे रहे। मत्स्यावतारके समय मात्र भगवान्‌की अनन्त धारणाशक्ति ही प्रधान रही, उनके शेष ज्ञान-वैराग्यादि स्वरूपगत गुण छिपे रहे। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामें यद्यपि भगवान्‌के सभी स्वरूपगत गुण समय-समयपर प्रकाशित होते रहते हैं, फिर भी कभी ऐश्वर्य व्यक्त होता है तथा उसके साथ माधुर्य भी रहता है, कभी माधुर्य प्रधानभाव हो जाता है तो ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है, कहीं कहीं केवल माधुर्य-ही-माधुर्य पूरा छाया रहता है। वहाँ ऐश्वर्य, ज्ञान, धर्म आदि सभी गुण ढूँढे भी नहीं मिलते। बृन्दावनकी मधुर लीलामें बृन्दावनके विविध भावसम्पन्न प्रेमीजनोंको श्रीकृष्णके विविध रूपोंमें केवल अनन्त माधुर्यका ही अनुभव होता है, उनके सम्मुख ऐश्वर्य, ज्ञान, धर्मादि तत्व झाँक भी नहीं सकते।

बृन्दावनलीलामें भी भगवान्‌का ऐश्वर्य है, समय-समयपर उसका प्राकट्य भी होता है, परन्तु यहाँके प्रेमी जनोंको उसका पता ही नहीं चलता। मात्र छः दिनके शिशु श्रीकृष्णने अपार बलवती राक्षसी पूतनाके स्तन चूसनेके साथ-साथ उसके प्राणोंको भी चूस लिया, वर्षभरके श्रीकृष्णने तृणावर्त्त द्वारा उड़ाकर ले जानेपर उसे मात्र एक घूँसा मारकर परलोक भेज दिया, अपने अत्यन्त लघु शिशुचरण मात्र उछालकर व्योमासुरका वध कर डाला, किन्तु वात्सल्य-प्रेम-रसमयी यशोदा मैयाके मनको भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे चमत्कार प्रत्यक्ष देखते रहनेपर भी कभी ऐश्वर्यभाव संस्पर्श ही नहीं कर सका। वे तो इन सब चमत्कारिक घटनाओंमें अपने शिशुपर भगवान् नारायणकी ही अनन्त

कृपा निहारती रहीं। शिशुत्वके मुग्धतावेशमें शिशु श्रीकृष्ण भी सरल कोमल दृष्टिसे अपनी माताके मुखकी ओर ऐसी ललकसे निहारते रहे, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि बृन्दावनलीलामें भगवान्का महामहिम माधुर्य अपना एकछत्र राज्य बनाये रखता है और धर्म, श्री, ऐश्वर्य, बल, ज्ञान, वैराग्य — किसीको भी प्रवेश नहीं करने देता। ये सब गुण मात्र दूर खड़े झाँकते ही रहते हैं। ब्रजलीलामें लोकधर्म, वेदधर्म, आचार, कुल-शील, मर्यादादि सभी भागवती स्वरूपभूत गुण इस असमोर्ध्व माधुर्यके सम्मुख अस्त ही रहते हैं।

बृन्दावनकी रागात्मिका प्रीतिके इस माधुर्य-सिन्धुकी परमोच्च उत्ताल तरंगें ही गोपियोंमें परकीया प्रीतिके उद्भवमें हेतु होती हैं। ये माधुर्य-सिन्धुकी उर्मियाँ ही श्रीकृष्णको गोपियोंका प्रियतम बना देती हैं। वे घर-गृहस्थीकी, मोह-ममता, लोकधर्म, स्त्रीधर्म, वेदधर्मकी सब मर्यादाएँ तोड़नेको विवश हो उठती हैं। इस माधुर्यके द्वारा उनमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति ऐसी प्रगाढतम तृष्णाका उदय होता है कि उनके पैर अपने गृहधर्म-बन्धनमें रह ही नहीं पाते। परम आविष्ट हुईं वे वंशीवादन द्वारा किये गये अपने प्रियतमके प्रेमाह्वानपर उनकी सुखतात्पर्यमयी विशुद्ध सेवाके लिये उमग चलती हैं। गोपियोंके तन-मन-धन-यौवन-धर्म-ज्ञान-कुल-वेद सभी अपने प्रियतम *'माधुर्यपतेरखिलं मधुरं'* को सहज समर्पित हो जाते हैं। यहाँ ध्यान रहे कि धर्मको किसी अधर्म-मोहसे छोड़ना पाप है, गर्हित है, परन्तु जहाँ धर्म स्वतः ही किसी निराविल भगवत्प्रीति-धर्ममें स्वयं समर्पित होकर विसर्जित हो जाता है, वहाँ धर्मका त्याग नहीं होता, धर्म वहाँ भगवत्प्रेम-धर्ममें डूबकर कृतकृत्यता-लाभ करता है। यह भगवत्प्रेम भगवान्के नित्य संयोगमें तो हेतु बनता ही है, यह भगवान्को अपनी भगवत्ताको भी भूलनेके लिये विवश कर देता है। भगवान् अपनी भगवत्ताको भूलकर गोपीप्रेममें आत्म-विस्मृत हुए उनके 'जार-शिरोमणि' हो जाते हैं।

जैसे बालक दर्पणमें अपने रूपको देखकर उसके साथ स्वच्छन्द खेलता है, उसी प्रकार गोपियाँ अपने प्रियतम हृदयविहारी नीलसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दनसे भावविहार करती हैं। ब्रजेन्द्रनन्दन इनका वस्त्र चुराते हैं, मन-प्राण चुराते हैं, और इनका तन-मन-धन, धर्म-यश-कीर्त्ति, कर्म-लोक-वेद, परलोक- गति-मोक्ष,

यहाँतक कि इनकी आत्मातक सभी-कुछ चुरा लेते हैं।

इसमें उनका भला दोष ही क्या है ? इनके प्रियतम श्रीकृष्णका यह परात्पर परतत्त्व परब्रह्म अवतार ही इसी हेतुको लेकर हुआ है, एवं उन्होंने अपने अविजेय माधुर्यका इस अवतारकालमें ऐसा असमोर्ध्व विस्तार किया है कि यह माधुर्य निर्ग्रन्थ ऋषि-मुनियोंतकको अपने धर्मसे विचलित कर देता है; विष्णु-ब्रह्मादि देवताओं, समस्त लक्ष्मियों, यहाँतक कि भगवत्स्वरूपोंको भी आकर्षित किये बिना नहीं रहता, फिर इन बिचारी ब्रजकी ग्राम्य ग्वालिनोंकी तो बिसात ही क्या है ?

*अपरिकल्पितपूर्वः कश्चमत्कारकारी*
*स्फुरति मम गरीयानेव माधुर्यपूरः।*
*अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः*
*सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव।।*

'किसी मणिकी दीवालमें या दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपनी रूपमाधुरीको देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्यके साथ कहते हैं – 'अहो ! इस माधुरीका तो इससे पहले मैंने कभी अनुभव किया ही नहीं। मेरी यह माधुर्यराशि सचमुच ही चमत्कारजनक, महान् श्रेष्ठ एवं निरतिशय मधुर है। इसे देखकर मेरा चित्त लुब्ध हो रहा है। श्रीराधिका इसे देखते-देखते कभी थकती ही नहीं, निर्निमेष नेत्रोंसे देखती रहती हैं, इससे अनुभव होता है कि वे ही इस रूपमाधुरीका पूरा रसास्वादन करती हैं।'

ईसाई भक्त माइकेल मधुसूदनकी उक्ति देखिये :

*जिसने देखा कभी नयनभर मोहन-रूप बिना बाधा ।*
*वही जान सकता है क्योंकर कुल-कलंकिनी है राधा।।*

श्रीकृष्णके इस माधुर्यके दो प्रकार हैं – (१) स्वकीया भाव (२) परकीया भाव । स्वकीया भावका प्राधान्य द्वारका लीलामें है। ब्रजराज्यमें तो परकीया भावका ही सूर्य चमकता रहता है।

लौकिक प्रेममें इन्द्रियसुखकी प्रधानता होनेके कारण परकीयाभाव पाप है, घृणित है, नरकका कारण है। लौकिक परकीयाभावमें अंग-संगकी घृणित कामना है। परन्तु भगवत्प्रेममें परकीयाभाव स्वकीयाभावसे परमातिपरम उत्कृष्ट माना गया है। क्योंकि इसमें अंग-संगकी, इन्द्रिय-सुखकी कोई आकांक्षा ही नहीं। यहाँ प्रियतम प्रेमास्पद परपुरुष नहीं, वरं पति-पुत्रोंके, स्वयंके भी, एवं

समग्र विश्वके आत्मा भगवान् हैं। पतिव्रता-शिरोमणि स्वकीया द्वारकाकी महिषियाँ अपने पति श्रीकृष्णको सर्वस्वार्पण करके अपने जीवनका प्रत्येक क्षण पतिकी सेवामें बिताती हैं, परन्तु प्रेमके उत्कर्षमें ब्रजगोपियोंसे वे चार बातोंमें न्यून ही ठहरती हैं।

(१) गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति जो भाव था, उसमें पतिके प्रति पत्नीका जैसा अधिकार होता है, वैसा अधिकार नहीं था। गोपियाँ सर्वतोभावेन अपने प्रियतमकी थीं। उनमें स्वसुखभावनाका आत्यन्तिक अभाव था। श्रीकृष्ण भले ही हजारों विवाह करलें, वे गोपियोंके प्रति अनन्त कालतक अपना किंचित् भी बाह्य प्रेम प्रकट नहीं करें, गोपियोंके निरपेक्ष एकान्त प्रेममें कोई खरौंच ही नहीं आती थी।

(२) गोपियाँ श्रीकृष्णपर अपना देहगत अधिकार तो सर्वथा ही छोड़ चुकी थीं, किन्तु भावगत उनके हृदयसे उनके प्रियतम एक पलके करोडवें हिस्सेके लिये भी नहीं हट सकते थे। उनकी इतनी प्रगाढ़ एवं प्रमत्त प्रियतम-स्मृति थी।

(३) उनकी अपने प्रियतमसे अपने लिये कुछ भी चाह नहीं थी। साथ ही उनमें दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव था।

(४) स्मृति-मिलनकी उत्कट इच्छा थी, भले ही देह-मिलन अनन्त कालतक नहीं हो।

ब्रजगोपियोंमें अपने दूरदेशगामी प्रियतम श्रीकृष्णका चिन्तन इतना प्रगाढ होता है जितना द्वारका-महिषियोंका नहीं हो पाता। क्योंकि वे अपने पुत्रों, अपने सास-ससुर एवं अन्य गृहस्थ कार्यों, सम्बन्धियोंसे भी आसक्त रहती हैं। श्रीराध मुख्या गोपियोंका चित्त तो अपने प्रियतममें इतना प्रगाढ़ आविष्ट रहता है कि उनके हृदयमे साक्षात् श्रीकृष्णको मूर्त्त रहना ही पड़ता है। गोपियोंका जीवन श्रीकृष्णमय है, श्रीकृष्णका मन गोपियोंका मन है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीउद्धवजीसे गोपियोंके सम्बन्धमें अपने मुखसे कहा है :

*ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।*

'गोपियाँ मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणवाली हैं, वे मेरी स्मृतिकी प्रगाढ़तामें अपने दैहिक कार्योंका भी सर्वथा परित्याग कर चुकी हैं।'

श्रीराधा-हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णका प्रत्यक्ष निवास है, इस सम्बन्धमें यह उदाहरण अपूर्व है।

एक बार श्रीराधाजी सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करने जाती हैं। उस तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियां, रुक्मिणी,सत्यभामा आदि पटरानियों सहित पधारते हैं। भगवान्‌की पटरानियाँ तो प्रायः देखा ही करती हैं कि अपने साथ पर्यंकमें सोते श्रीकृष्ण स्वप्नावस्थामें 'हा राधे, हा राधे ! उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगते हैं। जब अन्य किसी भी प्रकार उनके प्रभु श्रीकृष्णका क्रन्दन नहीं रुकता, तब बाध्य होकर उन्हें अपने प्राणवल्लभको चरण-संवाहनपूर्वक जगाना पडता है। निद्राभंग होनेपर भगवान् किंचित् लज्जित हुए चतुराईसे अपना भावगोपन कर लेते हैं। यह प्रसंग प्रायः प्रति रात्रि ही घटित होता है।

आज उस कृष्ण-प्राणप्रियाको अपने निकट आई जानकर सभी द्वारका-महिषियाँ श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा प्रकट करती हैं और भगवान्‌की आज्ञा लेकर उनसे मिलने जाती हैं। श्रीराधा भी इनका हार्दिक स्वागत करती हैं। पटरानियाँ अपना परिचय देते हुए कहती हैं:

*चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।*
*श्रीकृष्णचन्द्रो भगवान्स्तथैको भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च।।*

'बहिन राधा ! चन्द्रमा तो एक होता है किन्तु चकोर असंख्य होते हैं; सूर्य भी एक होता है किन्तु उसे देखनेवाले नेत्र अनगिनत हैं। इसी प्रकार बहिन! प्रियतम श्रीकृष्ण एक हैं, किन्तु हम सभी उनकी सेविकाएँ, चरण-दासियाँ अनेक हैं।'

श्रीराधाके शील, सौन्दर्य, गुण एवं विनयी व्यवहारका सभी महिषियोंपर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ता है। वे अतिशय आग्रहपूर्वक श्रीराधाको अपने डेरेपर भी लाती हैं। श्रीरुक्मिणीजी तो इतनी भावाभिभूत हो जाती हैं कि उन्हें केवल श्रीकृष्णचर्चा सुननेभरका ही होश रहता है । उनका देहज्ञान सर्वथा विलुप्त हो जाता है। श्रीराधाको पिलानेके लिये श्रीरुक्मिणीजी दूध लाती हैं किन्तु वह दूध कुछ अधिक ही उष्ण होता है। श्रीराधारानीके प्रेमभावको देखकर श्रीरुक्मिणी भी इतनी विह्वल हो जाती हैं कि दूधके अधिक उष्ण होनेका उन्हें भान ही नहीं रहता। श्रीराधा भी श्रीरुक्मिणीजीके आग्रहको आदर देते हुए दूधकी उष्णताकी ओर ध्यान न देते हुए उसे पी लेती हैं। अनेक प्रकारके स्वागत-सत्कारके पश्चात् श्रीराधा अपने डेरेपर लौट आती हैं।

इधर भगवान् श्रीकृष्ण अपने शयनागारमें लेटे हुए होते हैं। श्रीरुक्मिणीजी

नित्य-नियमानुसार भगवान्‌के चरण दबाने बैठती हैं। ज्योंही श्रीरुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके चरण स्पर्श करती हैं, वे अत्यन्त दुखी हो उठती हैं। वे भगवान्‌की पूरी चरणथली ही किसी उष्ण पदार्थसे जली, फफोलोंसे भरी देखती हैं । वे अपने पतिदेवसे इसका कारण पूछती हैं। भगवान् पहले तो बहाना बनाकर टालनेकी अनेक चेष्टाएँ करते हैं परन्तु रुक्मिणीजीके बहुत ही आग्रह करनेपर इतना ही कहते हैं – देखो ! श्रीराधाको तुमने जो दूध पिलाया था, वह अधिक गरम था। वह तो मेरे प्रेममें इतनी मतवाली रहती है कि उसे दूधकी उष्णताका पता ही नहीं चला, किन्तु मेरे चरण क्योंकि उसके हृदयमें सदैव बसे रहते हैं, वे जल गये, उनपर फफोले पड़ गये।

कहनेका यही तात्पर्य है कि श्रीराधा एवं गोपियोंके हृदयमें उनके प्रियतम नीलसुन्दर स्वयं अष्टयाम बसे रहते हैं। श्रीकृष्ण उनके प्रेमपाशमें इतने जकडे हैं कि एक क्षण भी उस बन्धनसे छूटना उनके वशकी बात नहीं है।

जहाँ परस्पर इतना एकत्व एवं एकात्मता हो, वहाँ औपपत्य, जारबुद्धि, परकीया आदि शब्द निरर्थक ही होते हैं।

श्रीराधामुख्या गोपियोंके इसी भावको प्रकाशित करनेवाली पू. गुरुदेवकी ये उत्कृष्टतम प्रीति-नाटिकाएँ हैं, इन्हें पाठक इस भूमिकामें लिखित भावोंके प्रकाशमें ही पढनेकी चेष्टा करें, यही प्रीतिभरा निवेदन है। तभी पू.गुरुदेवकी इन कृतियोंका रस वैष्णव पाठक ले सकेंगे।

## परकीयालीला वर्णन

**(पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा सन् १९५१ ई.में लेखकको सुनाया गया वृत्तान्त)**

जैसे महात्मा नन्दरायजीका राज्य ब्रजके अनेक जनपदोंमें, बृहद्वन (गोकुल)में था, वैसे ही यावटग्राम नाम एक ऐसा जनपद भी था जिसमें अभिमन्यु (रायाण) गोप राजा थे। ये सभी राज्य माथुर मण्डलके आधीन ब्रज चौरासी कोसकी भूमिमें ही थे। इन सभी राज्योंके प्रमुख शासक तो बृषभानुपुरनरेश बृषभानुबाबा थे, किन्तु उनके अधीन अनेक करद जागीरदार थे जो व्यवस्थाकी दृष्टिसे स्वतंत्र राजाकी तरह प्रजारक्षणका कार्य करते थे। यावट ग्रामके राजा अभिमन्यु गोप भी उन्हींमें से एक थे।

अभिमन्यु(रायाण) अभी किशोर वयके ही थे, अतः राज-काज उनकी विधवा माता जटिला ही सम्हालती थी, जो वृद्धा भी कहलाती थी। वृद्धा अपनी अतिशय धर्मनिष्ठा एव कुलाचारके कारण ब्रजमें सर्वोत्कृष्ट सतीके रूपमें विख्यात थी। वृद्धाके पुत्र रायाणसे श्रीमती राधारानीका एव दूसरे पुत्र दुर्मदसे राधानुजा मजुश्यामाका विवाह हुआ था। वृद्धाकी एक सौभाग्यवती पुत्री थी जो कुटिला नामसे विख्यात थी।

पू. गुरुदेवको भी इस परकीया लीलाकी अनुभूति हुई है और उन्होंने अपनी रचनाओंमें इसका कहीं प्रच्छन्नरूपसे, और कहीं सांगोपांग वर्णन किया है। पू.गुरुदेवको इस लीलाकी अनुभूति श्रीराधारानीको हुए दिवा-स्वप्नके रूपमें ही हुई है। वे कहा करते थे कि ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार दर्शकोंको मोहित करनेके लिये मनमानी घटनाएँ उन्हें दिखाता है, इसी प्रकार भगवती योगमाया द्वारा श्रीराधारानीके असमोर्ध्व प्रेमोत्कर्षको प्रकट करनेके हेतुसे ही इस प्रसंगका मात्र श्रीराधा एव गोपियोंमें दिवास्वप्नवत् प्रकाश हुआ है।

इस लीलाका हेतु ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें इस प्रकार वर्णित है –

'कल्पका प्रारम्भ है। आदिपुरुष श्रीकृष्णचन्द्र गोलोकके सुरम्य रासमण्डलमें विराजित हैं। चिदानन्दमय कल्पवृक्षोंकी श्रेणी रासस्थलीकी परिक्रमा कर रही है। श्रीकृष्णचन्द्रके वामपार्श्वमें एक कम्पन-सा होता है, और जैसे अतीत, वर्त्तमान एवं भविष्यका समस्त सौन्दर्य पुञ्जीभूत होकर सामने आगया हो, एक किशोरी बालाका आविर्भाव होता है। ये अयोनिजा श्रीराधारानी हैं। रासमण्डलमें उत्पन्न होने एवं जन्मते ही पुष्प लेकर अपने प्रियतम गोलोकेश्वरकी प्रेमार्चनार्थ धावित होनेके कारण ही इनका नाम 'श्रीराधा' विख्यात हुआ है। भगवान् नित्यनिकुञ्जेश्वर इनकी समाराधना करते हैं, इसीलिये इनका नाम राधा है। इन्हीं श्रीराधाके कोटिशः लोमकूपोंसे लक्ष-कोटि गोपसुन्दरियाँ प्रकट होती हैं। इन श्रीराधाका अपने प्रियतमके साथ नित्य विहार, अनादिकालसे दो रूपोंमें प्रतिष्ठित रहकर चल रहा है, एवं अनन्त कालतक चलता रहेगा। प्रलयकी छाया उसे छू नहीं सकती एवं सृजन-कम्पन उसे उद्वेलित नहीं कर सकता।

यों नित्यविहारका क्रम चलता है। इसी मध्य एक दिवस श्रीकृष्ण गोलोकस्थ विरजानदीमें विहार कर बैठते हैं। यहाँ अप्राकृत राज्यमें नदियाँ भी सच्चिन्मयी होनेके कारण स्त्री-आकृति धारण कर लेती हैं। कालिन्दी यमुना तो

भगवान् श्रीकृष्णकी अष्ट पटरानियोंमें से एकके रूपमें प्रसिद्ध हैं ही। श्रीमद्भागवत महापुराणमें कालिन्दीके साथ श्रीकृष्णके विवाहका उल्लेख है। ज्योंही श्रीराधारानीको श्रीकृष्ण द्वारा अकेले ही विरजा-विहारकी सूचना पक्षीगणोंसे मिलती है, वे रोषकम्पित कण्ठसे गोलोकविहारीकी भर्त्सना करती हुई दुर्जर 'मान' में आरूढ़ हो जाती हैं। मानसे निर्गत शत-सहस्र आनन्द- धाराओंमें अवगाहनकर गोलोकविहारी श्रीकृष्ण अपनी प्रिया रासेश्वरी श्रीराधाको मनाने चलते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रकी ह्लादिनीशक्ति, महाभावस्वरूपा श्रीराधाकी मानलीलाका रहस्य हम विषयी, पामर, प्राकृत जगत्के व्यक्तियोंके मनमें समा ही नहीं सकता। इसे तो प्रेमविभावित चित्त ही ग्रहण कर सकता है। अनन्त जन्मार्जित साधनाके फलस्वरूप चित्तमें जब ह्लादिनीप्रधान विशुद्ध सत्वका उदय होता है, तभी उसे प्रेम क्या वस्तु होती है, वह प्रगाढ़ होकर कैसे स्नेह एवं मानमें परिणत होता है, इसका आस्वादन मिलता है। बिना आस्वादनके गुड़का स्वाद जैसे बताया ही नहीं जा सकता , उसी प्रकार बिना अनुभव हुए श्रीराधारानीका 'मान' क्या होता है, इसका मात्र शब्दोंसे परिचय पा लेना असम्भव ही होता है। अस्तु,

गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके मनानेपर भी श्रीराधाका कोप आज शान्त नहीं होता। समीपमें अवस्थित सभी सखियोंपर एक आतंक-सा छा जाता है। उन्होंने भी श्रीराधारानीका यह मान-स्वरूप आज ही देखा है।

अघटनघटनापटीयसी, लीलामहाशक्ति योगमाया श्रीराधाका यह महाभाव देख रही हैं। प्रणयभावको संस्पर्शित करानेवाले विलक्षण महाभावको वे रस लेकर देख ही नहीं रही थीं, उन्हें तो भविष्यके महामंगलमय लीलामञ्चकी यवनिका भी उठानी है। उन्हें तो आसुरी शक्तियोंके द्वारा सृष्टिक्रमको भाराक्रान्त कर देना, धरादेवीका ब्रह्माजीको अपनी करुण कथा सुनाना, ब्रह्माजी द्वारा भगवान् शकरको आगेकरके पुरुषोत्तम भगवान्से धराके भारहरणकी प्रार्थना करना, गोलोकविहारीका पृथ्वीपर अवतरणका आश्वासन दे देना – इस प्रकार लीलाका पूरा विवरण ही ज्ञात है। भूत-भविष्य सब-कुछ उनके दृष्टिपटलपर तो वर्त्तमानकी भाँति सदैव सुस्पष्ट रहते ही हैं। बस, वे पर्दा हटा देती हैं और सुदामा गोपका अभिनय प्रारम्भ हो जाता है।

श्रीराधाका यह मान सुदामा गोपको असह्य हो उठता है। वे कटु शब्दोंमें

श्रीराधाकी भर्त्सना करने लगते हैं। श्रीराधा भी और कुपित हो उठती हैं। कोप वाग्वज्रका रूप ग्रहण कर लेता है। रोषमें भरी श्रीराधा सुदामा गोपको श्राप दे देती हैं – 'सुदाम ! एक संतप्त अबलाको और संतप्त कर रहे हो ? यह तो आसुरी कार्य है ! जाओ ! सचमुच ही आसुरी योनिमें कुछ काल भ्रमण करो।' सुदाम काँप उठता है। उसके नेत्र आहत अग्निस्फुल्लिंगोंकी तरह जलने लगते हैं। वह कह उठता है – 'गोलोकेश्वरि ! तुमने मुझ निर्दोषको अकारण श्रीकृष्णसे वियुक्त कर दिया। जाओ, देवि ! तुम भी भारतवर्षमें अवतार लो और इन सखियोंके सहित श्रीकृष्णसे शत वर्षके वियोगका दुःख अनुभव कर लो। प्रियतम श्रीकृष्णका वियोग-दुःख कोटि-कोटि नरक-यंत्रणाओंसे भी अधिक भीषण होता है, इसका अभी तक तुम्हें अनुभव नहीं हुआ है, अतः इसे अनुभव कर लो।'

यों कहकर सुदामा गोप युगल दम्पतिको प्रणामकर चलनेको उद्यत हो उठता है। श्रीराधा सुदामाके स्नेहवश 'वत्स ! वत्स !' कहकर क्रन्दन करने लगती हैं। श्रीकृष्ण उन्हें ढाढ़स देकर आश्वस्त करते हुए कहते हैं – 'प्राणप्रिये ! यह तो तुम्हारा दिया हुआ विश्व-प्रपंचको वरदान होगा। इसी निमित्तसे तुम्हारा, हरिवल्लभा वृन्दाका, सम्पूर्ण ब्रजमण्डलका भारतवर्षमें अवतरण होगा और तुम्हारे द्वारा मधुर लीलारसकी सनातन स्रोतस्विनी प्रवाहित होगी, जिसमें अवगाहनकर प्रपञ्चके जीव अनन्त कालतक शीतल एवं कृतकृत्य होते रहेंगे। तुम्हारे 'मोहन' महाभावकी तरंगिणीमें डूबकर मैं भी कृतार्थ होऊँगा। यहाँ ध्यान रहे कि प्रेमकी चरम परिणति – महाभावकी दो अवस्थाएँ होती हैं – संयोग एवं वियोग। संयोगके समय महाभाव 'मोदन' अथवा 'मादन' नामसे जाना जाता है एवं वियोगके समय यही महाभाव 'मोहन' रूपमें व्यक्त होता है।

सुदाम गोपके श्रापवश ही श्रीराधाकी रायाण गोपके साथ एवं श्रीमञ्जुश्यामाकी उन्हींके अनुज भ्राता दुर्मद गोपके साथ विवाहकी लीला घटित होती है। यह ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें वर्णित है। गौडीय महासिद्ध सन्तोंकी अनुभूति भी इसी शास्त्रके आधारसे है। यो तो श्रीराधा अयोनिजा थीं, माताके गर्भसे उत्पन्न ही नहीं हुई थीं, उनका तो रावल ग्रामके सूतिकागारमें स्वेच्छासे प्राकट्य मात्र हुआ था।

जब श्रीराधा पौगण्डसे कैशोरमें प्रविष्ट होने लगीं तब वृषभानुबाबा एवं मैया कीर्त्तिदाको उनके विवाहकी चिन्ता हुई। भरपूर चेष्टा करनेपर भी जब

श्रीकृष्णने श्रीराधाके प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई तो विवाह आवश्यक मानकर भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी आज्ञा एवं भगवती पौर्णमासीजीके अनुमोदनसे यावट ग्रामके नृपति अभिमन्यु गोपके साथ विवाह निश्चित हुआ। राधानुजा मजुश्यामाका विवाह भी रायाणके छोटे भाई दुर्मदसे निश्चित कर दिया गया। जब श्रीराधारानीको इसकी भनक मिली, उसी समय वे अपनी एवं अपनी बहनकी छायाको बृषभानुगृहमें स्थापित करके स्वयं अन्तर्धान होगयीं। उस छायाके साथ ही उक्त रायाण गोपका विवाह हुआ है। वास्तवी श्रीराधाका विवाह तो पुण्यमय बृन्दावनस्थलीमें श्रीकृष्णके साथ हुआ था जिसे स्वयं जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने विधानपूर्वक सम्पन्न कराया था। इसका विवरण आगेके पृष्ठोंमें वर्णित है।

श्रीराधाकी यह छाया कौन थी – इसका भी स्पष्टीकरण ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें दिया गया है। भगवान् श्रीकृष्णने केदार राजाकी कन्या वृन्दाके तप करनेपर उसको यह वरदान दिया था कि इस तपस्याके फलस्वरूप तुम मुझे प्राप्त होओगी। ब्रजमें जब श्रीराधा बृषभानुकी कन्याके रूपमें अवतीर्ण होंगी, तब तुम उनकी छायाके रूपमें उत्पन्न होओगी। विवाहकालमें श्रीराधा अभिमन्यु (रायाण)गोपके हाथों अपनी छाया – तुमको अर्पण करके अन्तर्धान हो जावेगी। अभिमन्यु गोपका विवाह तुम्हींसे होगा। मूढ गोकुलवासी गोप तुम्हींको अभिमन्युकी पत्नी राधा मानते रहेंगे। वास्तवी राधा तो मेरे पास निवास करेगी और छायारूपिणी तुम्हीं रायाणकी स्त्री बनकर जीवनयापन करोगी।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराणोक्त यही वर्णन गौडीय आचार्योंकी अनुभूतिका आर्ष आधार है। उन्होंने इसी पुराणोक्त सत्यका आधार लेकर श्रीराधाकृष्ण-प्रीतिका जैसा विशुद्ध, असमोर्ध्व, रसोत्कर्ष अनुभव किया है वह अपने स्थानपर अद्वितीय, सर्वोच्च और अधिरूढ महाभावकी एक विलक्षण अनुभूति है – इसे कोई अमान्य नहीं कर सकता।

पू.गुरुदेवकी अनुभूतिमें तो श्रीराधा श्रीकृष्णकी नित्य अभिन्नस्वरूपा हैं। वे श्रीकृष्णकी परम आराधिका हैं, साथ ही परमाराध्या भी हैं। वे दूधमे धवलता, अग्निमे दाहिकाशक्तिकी भाँति श्रीकृष्णसे एकात्म हैं।

श्रीराधा श्रीकृष्णका जीवन हैं एवं श्रीकृष्ण श्रीराधाके जीवनाधार हैं। श्रीराधाकृष्णके विवाहकी प्रत्यक्ष लीलादर्शनजन्य अनुभूति पू.गुरुदेवको अपने रतनगढके साधनाकालमें ही हुई थी, और श्रीपोद्दार महाराजके आग्रहपर

'कल्याण' मासिकपत्रके वार्षिकांक 'नारी-अंक'के लिये पू.गुरुदेवने *'जगज्जननी श्रीराधा'* नामक श्रीराधाका संक्षिप्त चरित्र लिखा तो उसमें यह वर्णन भी दे दिया था। उसे शब्दश. यहाँ नीचे दिया जा रहा है।

'अचानक काली घटाएँ घिर आती हैं। भाण्डीरवनमें अन्धकार छा जाता है। वायु बडे वेगसे बहने लगती है। तरुलताएँ काँप उठती हैं। कदम्ब, तमालपत्र छिन्न हो-होकर गिरने लगते हैं। ऐसे समय इसी वनके एक वटके नीचे ब्रजेश्वर नन्द श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये खड़े हैं। उन्हें चिन्ता हो रही है कि श्रीकृष्णकी रक्षा कैसे हो ?

गोपोंका गोचारण निरीक्षण करने वे आये थे। श्रीकृष्णचन्द्र साथ चलनेके लिये मचल गये, किसी प्रकार नहीं माने, रोने लगे। इसीलिये वे उन्हें साथ ले आये थे। यहाँ वनमें आनेपर गोरक्षकोंको तो उन्होंने दूसरे वनकी गाये एकत्रकर वहीं ले आनेको भेज दिया, स्वय उन गायोंकी सम्हालके लिये खडे रहे। इतनेमें वह झंझावात प्रारंभ हो गया। कोई गोरक्षक भी नहीं कि उसे गायें सम्हलाकर वे भवनकी ओर जायें । तथा गायोंको यों ही छोड़कर जायें भी कैसे ? बड़ी-बड़ी बूंदें आरम्भ हो गयी हैं। अत. कोई भी उपाय नहीं देखकर ब्रजेश्वर एकान्तमनसे नारायणका स्मरण करने लगते हैं।

मानो कोटि सूर्य एक साथ उदय हुए हों, इस प्रकार दिशाएँ उ ासित हो जाती हैं, तथा वह झंझावात तो न जाने कहाँ चला जाता है। नन्दराय आँखें खोलकर देखते हैं —सामने एक बालिका खडी है। हैं - हैं ! बृषभानुनन्दिनी ! तुम यहां इस समय कैसे आयी बेटी ? ब्रजेश्वरने अकचकाकर कहा। किन्तु दूसरे ही क्षण अन्तर्हृदयमे एक दिव्य ज्ञानका उन्मेष होने लगता है। मौन होकर वे बृषभानुनन्दिनीकी ओर देखने लगते हैं। कोटि चन्द्रोंकी द्युति मुखमण्डलपर झलमल-झलमल कर रही है। नीलवसन-भूषित अंग है। अंगोंपर काञ्ची, कंकण, हार, अंगद, अगुलीयक, मञ्जीर यथास्थान सुशोभित हैं। चञ्चल कर्णकुण्डल तथा दिव्यातिदिव्य रत्नचूडामणिसे किरणें झर रही हैं। अंगोंके तेजका तो कहना ही क्या है ? भानुकुमारीकी अंगप्रभासे वन आलोकित हो रहा है। नन्दरायको गर्गकी वे बातें भी स्मरण हो आयीं। पुत्रके नाम-संस्कारके समय गर्गने बृषभानुपुत्रीकी महिमा, श्रीराधातत्त्वकी बातें बतलायी थीं। पर उस समय तो नन्दराय सुनरहे थे और साथ-ही-साथ भूलते भी जा रहे थे। इस समय उन सबकी स्मृति हो आयी, सबका रहस्य सामने आगया। अञ्जलि

बाँधकर नन्दरायने श्रीराधाको प्रणाम किया और बोले - 'देवि ! मैं तो जान गया, पुरुषोत्तम श्रीहरिकी तुम प्राणेश्वरी हो और मेरी गोदमें तुम्हारे प्राणनाथ स्वयं श्रीहरि ही विराजित हैं। लो देवि ! ले जाओ, अपने प्राणेश्वरको साथ ले जाओ। किन्तु ...... । नन्द कुछ रुक-से गये। श्रीकृष्णचन्द्रके भीति-विजड़ित नयनोंकी ओर उनकी दृष्टि चली गयी थी। क्षणभर बाद बोले - किन्तु देवि ! यह बालक तो अन्ततः मेरा पुत्र ही है न ! इसे मुझे ही लौटा देना।' श्रीराधाके हस्तकमलोंपर नन्दरायने श्रीकृष्णचन्द्रको रख दिया। श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये गहन वनमें प्रविष्ट हो गयीं।

बृन्दावनकी भूमिपर दिव्य रासमण्डल प्रकट होता है। श्रीराधा नन्दपुत्रको लिये उसी मण्डपमें चली आती हैं। सहसा नन्दपुत्र श्रीराधाकी गोदसे अन्तर्हित हो जाते हैं। वृषभानुनन्दिनी विस्मित होकर सोचने लगती हैं - नन्दरायने जिस बालकको सौंपा था, वह कहाँ चला गया ! इतनेमें गोलोकविहारी नित्यकैशोरमूर्त्ति श्रीकृष्णचन्द्र दीख पड़ते हैं। अपने प्रियतमको देखकर वृषभानुनन्दिनीका हृदय भर आता है। प्रेमावेशसे वे विह्वल हो जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र कहने लगते हैं -'प्रिये ! गोलोककी बातें भूल गयी हो क्या ? मैं तो तुम्हें नहीं भूला। तुम्हें भूल जाऊँ , यह मेरे लिये असम्भव है। मेरे प्राणोंकी रानी ! तुमसे अधिक प्रिय मेरे पास कुछ हो, तब तो तुम्हें भूलूँ ? तुम्हीं बताओ, प्राणोंसे अधिक प्यारी वस्तुको कोई कैसे भूल सकता है ? प्राणाधिके ! मेरे जीवनकी समस्त साध एकमात्र तुम्हीं हो। किन्तु यह भी कहना बनता नहीं है। क्योंकि वास्तवमें हम-तुम दो हैं ही नहीं। जो तुम हो, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ, वही तुम हो। यह ध्रुव सत्य है - हम दोनोंमें भेद है ही नहीं। जिस प्रकार दुग्धमें धवलता है, अग्निमें दाहिकाशक्ति है, पृथ्वीमें गन्ध है, उस प्रकार हम दोनोंका अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

\+ \+ \+

इस प्रकार रसिकेश्वर राधानाथ अपनी प्रियाको अतीतकी स्मृति दिलाकर श्रीराधाका आनन्दवर्धन करने लगते हैं। राधा-भाव-सिन्धुमें भी तरंगें उठने लगती हैं, आवर्त्त बन जाते हैं। आवर्त्त राधानाथको रसके अतल तलमें डूबाने ही जा रहे थे कि उसी समय माला-कमण्डलु धारण किये जगद्विधाता चतुर्मुख ब्रह्मा आकाशके नीचे उतर आते हैं; राधा-राधानाथके चरणोंमें ब्रह्माजी वन्दना करते हैं। पुष्कर तीर्थमें साठ हजार वर्षोंतक विधाताने श्रीकृष्णचन्द्रकी आराधना

की, तब उन्हे राधा-चरणारविन्दके दर्शनका वर प्राप्त हुआ था। उसी वरके फलस्वरूप योगमाया-प्रेरित वे राधानाथकी मनोहारिणी लीलामें एक छोटा-सा अभिनय करनेके लिये ठीक उपयुक्त समयपर आये हैं। अस्तु,

भक्ति-नतमस्तक, पुलकितांग, साश्रुनेत्र हुए विधाता बड़ी देरतक नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्णकी स्तुति करते रहे, फिर रासेश्वरीके समीप गये। अपने जटाजालसे श्रीराधाके युगल चरणोंकी रेणुका उतारी। रेणुकणसे अपने सिरका अभिषेक किया; पश्चात् कमण्डलु-जलसे चरण-प्रक्षालन करने लगे। अन्तमें राधा-मुखारविन्दसे अचला भक्तिका वर पानेपर उन्हें धैर्य हुआ। अब उस लीलाका कार्य सम्पन्न करने चले। श्रीराधा एवं श्रीराधानाथको प्रणामकर विधाताने दोनोके मध्यमें अग्नि प्रज्वलित की। फिर स्वयंने उसमें विधिवत् हवन किया। फिर विधाता द्वारा बताये हुए विधानसे स्वयं रासेश्वरने हवन किया। फिर दोनों युगल रासेश्वर-रासेश्वरी अग्निको प्रणामकर हुताशनकी प्रदक्षिणा करके परस्पर समीप आसन ग्रहण कर लेते हैं। ब्रह्मा श्रीकृष्णचन्द्रको श्रीराधाका पाणिग्रहण करनेके लिये कहते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र राधा-हस्तकमलको अपने हस्तकमलपर धारण करते हैं। हस्तग्रहण होनेपर श्रीकृष्णचन्द्र सात वैदिक मंत्रोंका पाठ करते हैं। इसके पश्चात् श्रीराधा अपना हस्तकमल श्रीकृष्ण-वक्षस्थलपर एवं श्रीकृष्णचन्द्र अपना हस्तपद्म श्रीराधाके पृष्ठदेशपर रखते हैं। श्रीराधा मंत्रसमूहका पाठ करती हैं। आजानुलम्बित दिव्यातिदिव्य पारिजातनिर्मित कुसुममाला श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको पहनाती हैं एवं श्रीकृष्णचन्द्र सुन्दर मनोहर वनमाला श्रीराधाके गलेमें डालते हैं। यह हो जानेपर कमलोद्भव श्रीराधाको श्रीकृष्णचन्द्रके वाम पार्श्वमें विराजितकर, दोनोंसे अञ्जलि बाँधनेकी प्रार्थनाकर दोनोंके द्वारा पाँच वैदिक मंत्रोंका पाठ कराते हैं। अनन्तर श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम करती हैं। जैसे पिता विधिवत् कन्यादान करे, वैसे सारी विधि सम्पन्न करते हुए विधाता श्रीराधाको श्रीकृष्ण-कर-कमलोंमें समर्पित कर देते है। आकाश दुन्दुभि, पटह, मुरज आदि देववाद्योंकी ध्वनिसे निनादित होने लगता है। आनन्दनिमग्न देववृन्द परिजात पुष्पोंकी वर्षा करते हैं। गन्धर्व मधुर गायन करते हैं, अप्सरायें मनोहर नृत्य करने लगती हैं। इस प्रकार बृषभानुनन्दिनी एवं नन्दनन्दनकी विवाह-लीला सम्पन्न हो जाती है।

\+ \+ \+

भाण्डीर वनके उन निकुञ्जोंमें रसकी तरंगिणी बह चली। रासेश्वरी

पद्मयोनि विधाता श्रीब्रह्माजी द्वारा
श्रीराधाकृष्णका विवाह

श्रीराधा, रासेश्वर श्रीकृष्ण – दोनों ही आनन्दविभोर उसमें बह चले। भावसन्धिका समय आया तो श्रीराधाको बाह्य ज्ञान हुआ। बृषभानुनन्दिनी देखती हैं – मेरी गोदमें नन्दरायने जिस पुत्रको सौंपा था, वह तो है, शेष सब स्मृति मात्र। श्रीकृष्णचन्द्रकी वह कैशोर मूर्त्ति भी अन्तर्हित होगयी है, पुनः वे बालक रूप हो गये हैं।

नन्दनन्दनको श्रीराधा यशोदारानीके पास ले जाती हैं – 'मैया ! वनमें झझावात आरंभ हो गया था। बाबा बोले – तू इसे घर ले जा, घर पहुँचा दे। बड़ी वर्षा हुई है। देख, मेरी साडी सर्वथा भीग गयी है। मैं अब जाती हूँ। घरसे आये मुझे बहुत देर हो गयी है, मेरी मैया चिन्तित होगी। अपने पुत्र श्रीकृष्णको सँभाल लो।' – यह कहकर बृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णचन्द्रको यशोदारानीकी गोदमें रख देती हैं और प्रस्थान कर जाती हैं।

\+ \+ \+

यहाँ पुनः ध्यान रखनेकी बात है कि ये सभी लीलाएँ हमारे मायिक प्राकृत जगत्की नहीं हैं। अप्राकृत जगत्में अप्राकृत पात्रोंमें इनका ताना-बाना भगवती अघटनघटनापटीयसी योगमाया द्वारा बुना जाता है। भगवती योगमाया रसके अनेक द्वार खोलती हैं, और अनेक द्वार बन्द करती जाती हैं। यहाँ सब-कुछ अप्राकृत होनेके कारण लीलापात्रोंकी वय भी लीलाकी आवश्यकतानुसार बढ़ती-घटती रहती है। वैसे श्रीराधारानी श्रीकृष्णचन्द्रसे पन्द्रह दिवस छोटी हैं। किन्तु नन्दराय अपने बालक श्रीकृष्णको गोदमें लिये झंझावातसे त्रस्त जब श्रीराधाको देखते हैं तो उन्हें राधा किशोरवयकी दिखती हैं। तभी वे उनकी गोदमें अपने बालकको देते हैं। शिशु श्रीकृष्ण भी अपने पिताकी गोदसे अन्य किसी किशोरी बालिकाकी गोदमें जाते हुए भय-विजड़ित हो जाते हैं। अतः पाठकोंको इन लीलाओंमें यथासमय काल-देश-वय-स्थान-दूरी आदिमें असंगतता दिखाई देनेपर भी उन्हें अप्राकृत चिन्मय लीला मानकर शंका नहीं करनी चाहिये।

\+ \+ \+

योगमाया रसप्रवाहका एक नया द्वार खोलती है। बृषभानुनन्दिनी सर्वथा इस बातको भूल जाती हैं कि श्रीकृष्णचन्द्रसे कभी मेरा मिलन हुआ भी था। श्रीकृष्णचन्द्र मेरे नित्य प्रियतम हैं और मैं उनकी नित्य प्राणेश्वरी हूँ – यह स्मृति भी सिन्धुके अतल तलमें जा छिपती है। यहाँ ध्यान रहे यह विस्मरण

प्राकृत जीवोंके स्वरूप-विस्मरण जैसा सर्वथा नहीं है। यह मुग्धता तो अखण्ड ज्ञान-स्वरूप भगवती श्रीराधा में रसपोषणके लिये रहती है, यथालीला, यथावसर प्रकट होती है और फिर छिप जाती है। भगवान्‌की यही भगवत्ता है कि भगवती श्रीराधामें अनेको विरोधी भाव एकसाथ एक ही समयमें ही वर्त्तमान रहते हैं। इस विरोधी धर्म-गुणोके कारण ही एक साथ एक समयमें ही उनमें सम्पूर्ण ज्ञान एवं रसमयी मुग्धता दोनोंका प्रकाश होता है।

श्रीवृषभानुदूलारी सात वर्ष वयकी हो गयी हैं। । उनके दिव्य श्रीअंगोंमें विश्व सृष्टिका समग्र सौन्दर्य ही मानो कृतकृत्यतालाभ करने आविर्भूत हो उठता है। दिव्य सौन्दर्यकी प्रतिमा बनी श्रीराधाको उनकी माँ कीर्त्तिदा, पिता बृषभानु एव सभी बृषभानुपुर-निवासी देखते ही रह जाते हैं। 'ओह ! मात्र सात वर्षीया हमारी बालिका इतनी सुन्दर है ?'

श्रीबृषभानुदुलारी, उनकी अनुजा मंजुश्यामा एवं उनकी प्राणप्रेष्ठ अन्य सखियोंके श्रीअंगोंके दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यसे भानुप्रासाद तो आलोकित रहता ही है, वे जिस पथसे सूर्यपूजार्थ वनमें पुष्पचयन करने जाती हैं, उसपर भी सौन्दर्यकी किरणें बिखर जाती हैं। श्रीमुखके उज्ज्वल स्मितसे पथ उद्भासित हो जाता है। किसीको अनुसन्धान लेना हो कि किशोरी इस समय किस वनमें है – तो सहज ही जान ले, श्रीअंगोंका दिव्य सुवास तत्क्षण ही टोह दे देगा कि भानुनन्दिनी अमुक वनमें है। इस गन्धका प्रवाह इतना मनोरम होता है कि वनके सभी भ्रमर गुंजार करते हुए उसी दिशाकी ओर धावित होने लगते हैं, जिधर किशोरी एवं उनकी सखियाँ अवस्थित होती हैं।

आज पुष्पित वृक्षोंकी शोभासे आकर्षित हुई किशोरीके मनमें आया कि बृषभानुपुरके उत्तरकी ओर जो बडा ही सुन्दर, मनोहर, विशाल, घना वनस्थल है, जिसकी शोभाकी सीमा नहीं है, उस श्रीसुन्दरीवनमें पुष्पचयन करने जाऊँ।

आश्चर्य था कि शरद और वसन्त ऋतुएँ सदैव ही इस वनमें निवास करती हैं। किशोरी अपनी माताके पास पहुँचती हैं और उस वनसे पुष्प बीन लानेकी अपनी रुचि उनपर प्रकट कर देती है। माताकी अनुमति लेकर किशोरी मन्द-मन्थर गतिसे अपनी छोटी बहिन और अपनी सभी प्रेष्ठ सखियोंके साथ उस वनस्थलके सामने आकर खडी हो जाती हैं। वह मनोहर हँसी हँस रही होती हैं। स्वर्णप्रतिमाके सदृश उसकी सहचरियॉ उसे् चारों ओरसे घेरकर खडी हो जाती हैं। सब ओर सौन्दर्यका स्रोत प्रवाहित करती हुई किशोरी मानो

सरलताकी अप्रतिम मूर्त्ति ही हो।

उसके कपोलों तथा भालपर मोतीके समान श्रमकण व्यक्त होरहे होते हैं। झुर-झुर करती शीतल बयार उसके श्रीमुखका स्वेद पौंछनेमें व्यस्त रहती है। मखमल-सी हरी कोमल दूर्वा सामने लहराती है । उसका स्पन्दन देखकर ऐसा लगता है मानो वनस्थलकी धरा किशारीका मनुहार करके कह रही हो 'बेटी ! तनिक मेरी सुकोमलतम गोदमें विश्राम कर ले।'

फिर भी तितली-सी उडती वह शीघ्र-से-शीघ्र वनस्थलमें प्रविष्ट हो जाती है। मेंहदीकी झाडीके किनारे पथ निर्मित है। आगे वह ज्योंही अग्रसर होती है, उसे एक कीर मिलता है। उसके निर्दिष्ट पथसे आगे बढती हुई किशोरी ऐसे स्थलपर पहुँच जाती है, जहाँ उसके ठीक सामने ही प्रतीचीकी ओर एक विचित्र सुन्दर उद्यान है। उस उद्यानमें पूर्वकी ओर लताओंसे मण्डित राशि-राशि तमालके वृक्ष हैं। दक्षिण, प्रतीची और उत्तरमें वह वन कदम्बसमूहसे आवृत है। किशोरीके ठीक सामने पुष्पोंसे आच्छादित एक क्यारी है, उसमे पद्मरागसे बनी एक वेदी है, उस पद्मरागकी वेदीपर पुष्पितलताजालोंके मध्य नीलमणि-निर्मित एक मूर्ति है। उसे देखकर ऐसा लगता है, मानो बस, वह बोल ही उठी हो। मूर्त्ति एक अभिनव सुन्दर किशोर बालककी है जो अपने हाथोंमें वेणु लिये है। उसकी मुद्रासे यही प्रतीत होता है, जैसे वह वेणुके छिद्रोंमें स्वर भरने ही जा रहा हो।

किशोरी उस प्रतिमाके अतिशय निकट पहुँच जाती है। उस समय उसकी सभी सहेलियां वनके दूसरे भागोंमें रुक गयी थीं। उसकी छोटी बहन मञ्जुश्यामा भी अलसायी एक वृक्षके आलवालपर सो गयी थी। किशोरीकी दृष्टि जैसे ही उस प्रतिमापर पडती है, प्रतिमाकी शोभा निहारते ही उसके हृदयमें भावोंकी एक ऐसी आँधी-सी चलती है जिसमें उसका चित्त ही उड जाता है। भोलेपनसे भरपूर उसके शिशुताके भाव अन्तर्हित हो जाते हैं, और प्राणोंको किसीके चरणोंमें न्यौछावर कर देनेवाले कैशोर रतिके भाव उमड चलते हैं।

किशोरी भावोंकी आँधीमें बहती हुई सोचने लगती है – 'फिर अब विलम्ब क्यों हो ? क्षणोंमें ही कहीं काल कुछ हेर-फेर कर दे तो ? स्वर्णिम वेला आधे पलमें ही चल देती है – यह नियम है।' एक पुष्पमाला, जो वहीं किसीने गूँथी रखी है, राजपुत्रीको मिल जाती है। वह उसे उठाकर चल पड़ती है, वहाँ

– जहाँ दो प्राणोंकी सरिताएँ मिलकर एक हो जाती हैं। एक होकर महाभाव-समुद्रमें अनन्तकालके लिये निमग्न हो जाती हैं। अस्तु,

किशोरी सोचने लगती है – वास्तवमें तो यह किसी व्यक्तिकी प्रतिकृति मात्र है। किन्तु कुछ भी हो, यह त्रिकाल सत्य है कि अब तो मैं एक मात्र इसीकी ही वस्तु हूँ। यह व्यक्ति मेरा है, और हम दोनोंका परस्पर एक-दूसरेपर एक-सा ही अधिकार है। यह व्यक्ति मुझे मिले अथवा नहीं मिले, इसकी क्या चिन्ता है ? निसर्गका अनादि नियम है – परस्पर प्राणोंका सौदा कुछ ऐसे ही क्षणोंमें हुआ करता है।

बस, किशोरी उस प्रतिमाके मनोहर कण्ठसे लिपट जाती है। वह अपनी भुजा फैलाकर उस प्रतिमाको अपनी बाहुओंमें भर लेती है।

अचानक किशोरीके नेत्रोंसे झर-झर करता अनर्गल अश्रुप्रवाह बह चलता है। सखियाँ उसे अतिशय भावावेशावस्थामें ही उसके महलमें लाती हैं और तबसे लगभग वर्षभरतक किशोरी भाव-विक्षिप्तावस्थामें ही रहती है।

विक्षिप्त-सी हुई किशोरीके पास चाहे कोई भी आवे, माता-पिता, सखियाँ, दास-दासी, मात्र क्षणभरके लिये ही किशोरीको वे व्यक्तिरूपमें दिखते हैं, फिर तो उनके रूपमें उसे वह नीली प्रतिमा ही दिखने लगती है। कोई उससे कुछ भी कहे, कुछ भी बोले – उसे ऐसा लगता है मानो नीली प्रतिमाके ही होठ हिल रहे हैं और उसके कानोंमें 'प्रियतमे ! वल्लभे ! प्राणेश्वरि !' – ये शब्द ही सुनाई देने लगते हैं। उसे अपनी हथेली, हाथ, पैर, जंघा, उरोज – सारे अंग-अवयव ही नारी-अंग-समूहवत् नहीं दिखते, अपितु नीली प्रतिमा-जैसे ही अनुभवमें आते हैं। उसका समग्र मैं-पना ही उस नीली रस-सत्तामें विलीन हो जाता है।

किशोरीकी माता कीर्त्तिदा उसके सिरपर स्नेहसे हाथ फेरकर पूछती है– 'मेरे हृदयकी लडैती री ! सचमुच बतला दे, तुझे क्या चाहिये ? तू जो भी वस्तु चाहेगी, वह मैं तुझे दे दूँगी।' किन्तु उत्तरमें भानुनन्दिनी पागलिनीकी भाँति हँसने लगती है। उसकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा एक दिवस उससे पूछती है – 'बहन ! तू तो मेरे प्राणोंसे एकाकार है। मुझे तो अपने दुःखका रहस्य बता दे। मैं ही तेरी कामनापूर्त्तिका कोई उपाय करूँ।' किशोरी हँसकर उत्तर देने लगती है – 'मंजू री ! सुनेगी ? अच्छा सुन ! महामरकतद्युति अंगोंसे शोभा झर रही थी। मस्तकपर मयूरपिच्छ सुशोभित था, नवकैशोरका आरम्भ

ही हुआ था। इस रूपमें वे उस नीलमणि मूर्त्तिसे निकले।' यह कहकर किशोरी मौन हो जाती है। छोटी बहिन पुनः पूछती है – 'बहन ! तूने कोई स्वप्न तो नहीं देखा था ?' यह सुनते ही किशोरी अपनी बहनसे लिपट जाती है और अविलम्ब ही बोल उठती है –'बहन ! स्वप्न था या जागरण, दिवस था या रात्रि– यह तो जान ही नहीं सकी। जाननेकी शक्ति भी नहीं रह गयी थी। क्योंकि उस समय वहाँ एक श्याम ज्योत्स्ना फैली थी। ज्योत्स्नामें वह नील सागर लहरा रहा था। लहरे मुझे भी बहा ले गयीं। चञ्चल लहरियोंपर नाचती हुई मैं भी चचल हो उठी। अब जाननेका अवकाश ही कहाँ था ?' भानुकिशोरी इतना कहकर पुनः मौन हो जाती है।

इसके पश्चात् किशोरीके नयनोंसे जो अश्रुका स्रोत फूट चलता है, वह अविराम चालीस प्रहर और दो घड़ीतक चलता ही रहता है। लगता था मानो वह बृषभानुराजसदन उसमें निमग्न ही हो उठेगा।

इन अश्रुओंको विराम तभी मिलता है, जब नन्दग्रामसे यशोदारानी किशोरीको नित्य-नियमितरूपसे नन्दभवनमें रसोई बनाकर उनके पुत्र श्रीकृष्णको खिलानेका निमन्त्रण भिजवाती हैं। महर्षि दुर्वासा द्वारा किशोरीको बारह मास पूर्व यह वरदान मिला था कि जो भी किशोरीके हाथका पकाया भोजन करेगा, वह सदैव नीरोग रहेगा एवं अक्षय आयुका होगा। श्रीकृष्णको निरोग बनाये रखनेके हेतुसे ही नन्दरानी यशोदा भगवती पौर्णमासीजीके निर्देशानुसार बृषभानुपुरमें यह निमन्त्रण भिजवाती हैं। इस निमंत्रणके मिलते ही भानुनन्दिनीके अश्रु एक पल बीतते-न-बीतते थम जाते हैं। उनका मुरझाया आनन-सरोज हरा हो जाता है।

आजके एक वर्ष पूर्व ही तो दुर्वासा ऋषि बृषभानुपुर पधारे थे। ओह ! उन क्रोधभट्टारक महर्षिके सिरपर पिंगलाभ जटा बंधी थी और लम्बी दाढ़ी सुशोभित थी। उनके अंगों एव लोचनोंमें मानो मूर्त्तिमान् अग्निदेव स्थित हों, इतने तेजस्वी ऋषि वे थे। महाराजा बृषभानु एवं कीर्त्तिदा महारानी तो उनके आगमनको देखकर ही काँप उठे थे। न जाने क्या भूल हो जाय और मुनि क्रोधित होकर श्राप दे डालें, तो सर्वनाश सुनिश्चित ही है। दम्पति तत्क्षण ही त्राहि माम्, त्राहि माम् करते हुए भगवती योगमायाकी शरणमें गये, और वहीं उन्हें भगवतीका आदेश मिला कि दुर्वासाकी सेवामें दोनों बालिकाओं – राधा एव मञ्जुश्यामाकी नियुक्ति कर दो, ऋषिका आगमन महामंगलमय, परम

वरदायी हो जायगा।

और महान् आश्चर्य! जैसे ही मुनिने दोनों बालिकाओंपर दृष्टिपात किया, उनके नेत्र अपलक स्थिर हो गये, उनकी अंजलि बँध गयी। रानी-राजा दोनों ही आश्चर्यमें थे कि मुनि यह क्या करने लगे ? किन्तु मुनिके सम्मुख तो वे दोनों कन्याएँ थी ही नहीं, उन्हें तो दोनोंके स्थानपर अपने इष्ट देवताके साक्षात् दर्शन हो रहे थे।

जो हो, दोनों नृपति-कन्याओंकी सेवासे सन्तुष्ट होकर जब मुनिवर सोलह पहर पश्चात् जाने लगे तो तपेधनका कण्ठ भरा हुआ था। उनके कर अभय मुद्रामें उठे हुए थे, वे अतिशय भाव-भावित थे। वे बारह-चौदह पलतक तो नेत्र मूँदे खडे रहे, फिर आशीर्वादकी वाणी उनके मुखसे झरने लगी। वे कह रहे थे – हे नृपदम्पति! इन कन्याओंने मेरी जैसी सेवा की है, वैसी सेवा अबतक न तो कोई कर सका है, न कर सकेगा। मैं मात्र दैवी इच्छासे यही वरदान इन्हें दे रहा हूँ कि इस बडी लाडिलीके करसे जो भी रसोई सामग्री बनेगी, वह परम सुस्वादु तो होगी ही, साथ ही समग्र रोगोंका नाश करनेवाली और भोजन करनेवालेकी आयु अक्षय बनानेवाली भी होगी। और यह सांवरी तो यही चाहती है कि इसका प्रेम अपनी बड़ी बहनके प्रति निरन्तर बढता रहे, अतः मैं इसे यही वर दे रहा हूँ।

दुर्वासा ऋषिके इस वरदानकी बातसे भगवती पौर्णमासी सुपरिचित थीं। उन्हींने तो यह विधान किया था कि बृषभानुकिशोरी प्रति दिवस ही नन्दगृहमें प्रातः जाकर नन्दनन्दनको भोजन-द्रव्य बनाकर खिला दे।

विगत शरदसे ही नन्दनन्दनका आनन न जाने क्यों उदास रहा करता है। जननी उसे खिलाना चाहती है, ढेरों पक्वान्न उसके सम्मुख रखती भी है, परन्तु वह जितना पहले खाता था, उसका चौथाई भाग भी नहीं खाता। बृजनन्द्रनन्दनके सखाओंसे भी यह बात छिपी नहीं है कि एक दिन सरोवर-स्नान करती हुईं भानुकिशोरी एवं सखियोंको उसने देखा है, और तभीसे उसकी यह दशा हुई है। वह वनमें वनभोजन(छाक) भी नाम मात्रको ही खा पाता है। मैयाने वैद्यवरको बुलाया, परन्तु उसकी औषधियाँ भी अकारथ ही सिद्ध हुई हैं।

हताश सखागण अपने मित्र कन्नूकी रुग्णताकी समग्र गाथा भगवती पौर्णमासीको उनकी पर्णकुटीमें जाकर सुना देते हैं। वे कुटीरवासिनी देवी सखाओंकी बात सुनकर हँस पडती हैं। उन्हें निश्चिन्त रहनेको कहकर वे

दोनो प्रमुख सखा – श्रीदाम एवं सुबलको लेकर तत्क्षण ही गोपराज नन्दके गृह पहुँच जाती हैं। यशोदा मैया भी पौणमासी देवीको आया देखकर दौड़कर उनके चरण पकड लेती है। साँवरकी रुग्णताके दुःखसे उनके लोचन तो वैसे ही बरसते रहते थे।

सभी ब्रजवासियोंके सम्मुख ही पौर्णमासी देवी यशोदाके सिरपर हाथ फेरती हुई मुसकाकर इतना ही कहती हैं – हे गोपराजपत्नी ! अपनी जेठानी उपनन्दजीकी पत्नी पीवरीसे कह दो कि वे बृषभानूपुर चली जावें और कीर्त्तिदाकी पुत्री राधाको भोजन बनानेके लिये मनुहार करके ले आवें। उसे दुर्वासा ऋषिका वरदान मिला है कि जो भी उसके हाथका भोजन करेगा, तत्क्षण ही वह नीरोग और अक्षय वयका हो जावेगा।

## पौर्णमासीदेवीका परिचय

पौर्णमासीदेवी देवर्षि नारदजीकी शिष्या थीं। वे सान्दीपनि मुनिकी माता थीं और नारदजीसे भगवान् श्रीकृष्णके अवतारकी सूचना पाकर उज्जयिनी नगरीसे सीधे ब्रजमें पधारी थीं। वे महान् शक्तिमती थीं। उनके साथ उनका पौत्र बटुक मधुमंगल भी आया था जो महर्षि सान्दीपनिका पुत्र था।

भगवती पौर्णमासी ब्रजमें उस समय पधारी थीं जब महाराज नन्दरायके कोई सन्तान नहीं थी। सभी ब्रजवासी नन्दरायजीके पुत्र होनेकी कामनासे चिन्तित थे। इन दैवज्ञा ब्राह्मणीने ब्रजमें आते ही नन्दरायके महलमें समग्र ब्रजवासियोंके सम्मुख यह भविष्यवाणी की कि गोपराज नन्दके एक पुत्र होगा और वह पुत्र सम्पूर्ण ब्रजमण्डलको आनन्दसिन्धुमें निमग्न कर देगा।

पौर्णमासी देवीकी ऐसी वरदान-क्षमता देखकर समग्र ब्रजमण्डल ही उनके प्रति श्रद्धाभिभूत हो उठता है और ब्रजवासी इन्हें नन्दग्राममें ही यमुना नदीके किनारे एक पर्णशाला बनाकर रहनेका आग्रह करते हैं। पौर्णमासीजी हँसकर अपनी स्वीकृति दे देती हैं और कहती हैं – क्योंकि तुम सभीने मुझे कृष्णा (यमुना)के किनारे रखनेका निश्चय किया है अतः नन्दरायके भावी पुत्रका नाम भी कृष्ण ही होगा।

ये पौर्णमासी देवी महान् प्रभावशालिनी तपस्विनी हैं और भगवान्की शक्ति योगमाया ही इनके रूपमें ब्रजमें निवास करती हैं।

इनके आगमनके कुछ काल पश्चात् यशोदा अनुभव करती हैं कि उनके पति महामना नन्दरायके हृदयसे निकलकर एक घनश्याम वर्ण सुन्दर

बालक विद्युदाभा बालिकाके साथ ही उनके हृदयमें प्रवेश कर रहा है। बस, तभीसे यशोदाके दिव्य भगवद्भावमय गर्भ-लक्षण प्रकट होने लगते हैं। आठ महीनेके पश्चात् भाद्रमासकी कृष्णाष्टमीके मंगलमय दिन जब श्रीगोविन्दका प्राकट्य हो जाता है तो इन पौर्णमासी देवीका वचन शत-प्रतिशत सत्य हुआ मानकर ब्रजवासीजन इनके प्रति अप्रतिम श्रद्धाभिभूत हो उठते हैं। ब्रजके आकाश, पृथ्वी, जल, वायु और तेज सभी परमानन्दरसमें निमग्न हुए झूम उठते हैं।

तभीसे ब्रजवासी इन करुणामयी अम्बाकी प्रत्येक आज्ञाको अनुल्लंघ्य समझकर उसका पालन करते हैं। सम्पूर्ण ब्रजमंडलमें यह सुदृढ़ निष्ठा है कि भगवती पौर्णमासीका निर्देश सर्वमंगलकारी है। अतः ब्रजमें जहाँ जिसके भी गृहमें किसी अमगल, दुर्घटना, अथवा विपत्तिकी शंका होती है, इन्हीं वृद्धा तपस्विनीके पास लोग दौड़े जाते हैं, और ये ऊँच-नीचके सारे भेद भुलाकर सभी ब्रजवासियोंका समान भावसे मंगल करनेको सदैव उन्मुख रहती हैं। ब्रजके छोटे-से-छोटे बालकसे लेकर वयोवृद्ध तक, राजासे लेकर रंकतक – सबके लिये समान रूपसे इनका प्रेमद्वार सदैव खुला रहता है। सबके मंगल-सम्पादन हेतु ये सदैव सबको सुलभ रहती हैं।

यही कारण था कि दूसरे दिवस प्रातः ही किशोरी अपनी अनुजा मञ्जुश्यामा, सखी ललिता एवं विशाखाके साथ पाकरचनार्थ नन्दग्राममें यशुमतिगृह पधारती हैं। यशोदा मैया नन्दग्रामसे नान्दीमुखी एवं सुबलपत्नी कुन्दवल्लीको उन्हें बृषभानुपुरसे लिवा लाने भेजती हैं। भानुनन्दिनी यशुमतिगृहमें मैया रोहिणीके आदेशानुसार अनेकों प्रकारके पक्वान्न निर्माण करती हैं। भोजन कराते समय पुनः उनके नयन श्रीकृष्णसे मिलते हैं एवं जब श्रीकृष्ण गोचारणार्थ वनमें प्रस्थान कर जाते हैं, तब किशोरी बृषभानुपुरके लिये प्रस्थान करती हैं।

बृषभानुपुरकी दूरी पार करते-करते बाला किशोरी अतिशय श्रान्त हो उठती हैं। सखियाँ किशोरीके विश्रामके लिये कोई उपयुक्त स्थान अन्वेषण करने लगती हैं। पथके मध्यमें ही उन्हें एक परम रम्य पुराना अश्वत्थ दृष्टिगोचर होता है। आश्चर्य है कि इस अश्वत्थकी पत्रावलि पतझडमें भी नहीं गिरती है। वह सदैव हरीतिमाका पुंज ही बना रहता है। उसकी शत-शत सुन्दर शाखायें ललितादि सखियोंका मन आकर्षित कर लेती हैं। वह तरुराज सचमुच ही चतुर्दिक् पुष्पसौरभका संचार कर रहा होता है। सखियाँ दूरसे ही

उसका घ्राण पाकर हर्षित हुई उसके समीप चली आती हैं। कैसा विलक्षण पादप है यह ! भोली बाला किशोरी सखियोंसे सस्मित यह जिज्ञासा कर बैठती है – 'पावस, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म – क्या यह वट अपना पुष्प-सौरभ निरन्तर बारहों मास बिखेरता ही रहता है ? क्या इसके अग पुष्पभारसे सदैव ही नमित रहते हैं ? किन्तु, ऐसी असम्भावित घटना क्यों ?' कुन्दवल्ली राधासे वयमें लगभग पौने तीन वर्ष बड़ी हैं, अतः वात्सल्यसे उसके कपोलोंपर हलकी प्यारभरी चपत लगाकर कह बैठती हैं – 'इसीलिये कि इसके तलको बृषभानुनन्दिनीके श्रीचरणोंका संस्पर्श, इसकी छायामें उनका विश्राम, उनकी नासिका द्वारा इसके पुष्पोंका सौरभ-आघ्राण भविष्यमे होनेवाला जो था, इस अप्रतिम सौभाग्यसे विभूषित होनेके कारण ही सखि, यह इतना सुभग है।'

ब्रजके आसपासके गाँवोंमें ऐसी जनगाथा ही प्रचलित है कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी यहाँ व्यक्त होकर विश्राम करती हैं। इसीलिये इस तरुकी छायातले जो कोई कैसा भी मनोरथ करता है, उसका मनोरथ पूरा होता ही है।

सखियाँ किशोरीसे भी इसी अश्वत्थके तले विश्राम करनेका आग्रह कर बैठती हैं। किशोरीकी आँखें एक क्षणके लिये मुँदती भर हैं और उसे एक रहस्यमयी अनुभूति हो उठती है।

भगवती योगमाया एक नवीन रंगस्थलका उद्‌घाटन कर देती हैं। श्रीराधा रानी स्वप्न देखने लगती हैं। यद्यपि किशोरीका यह स्वप्न रसके एक अगाध समुद्रका सृजन कर देता है, किन्तु विश्व उस रस-समुद्रके आस्वादन करनेका अधिकारी नहीं है। बिना रसमर्मज्ञ हुए इस रसानुभवका मर्म हृदयंगम होता जो नहीं। यह रससिन्धु असीम है, अमाप है, यह कितना गहरा है, कोई भी नहीं बतला सकता। जो जितना भी डूबता है, उसे इस सिन्धुकी गहराई अनन्त ही प्रतीत होती है। वह उसीमें समाप्त हो जाता है। जो कहीं बाहर उछल आता है, वह गूँगा हो जाता है। गूँगा बहरा भी होता है, अत कैसे निर्णय हो कि उसका संकेत कोई समझा या नहीं समझा। नियमतः डूबकर उछलनेवाले प्रायः विक्षिप्त ही होते हैं।

जो हो, नीलसुन्दरसे श्रीराधारानीका जो नित्य सम्बन्ध है, किशोरमूर्त्तिको देखते ही जो उन्होने विवेक खोकर आत्मसमर्पण किया है, अपना तन-मन-प्राण

-जीवन-यौवन उस किशोरको ही वे समर्पित कर चुकी हैं, उस किशोरके साथ जो वे अपने प्राणोंका सौदा कर बैठी हैं, सब-कुछ विस्मृतिके अतल तलमे चला जाता है।

उन्हें तो ऐसा ही स्वप्न होता है मानो उनका द्विरागमन हो रहा है। अपनी अनुजा मञ्जुश्यामाके साथ ही वे गन्तव्य स्थानकी ओर जा रही हैं। उनका देवर दुर्मद आगे-से-आगे चलकर पथका प्रदर्शन करता जा रहा है। पथमें किशोरी अपने विवाहके वृत्तका चिन्तन करने लगती हैं, जो वस्तुत: उनके जीवनमें घटित ही नहीं हुआ।

रविमन्दिरकी ओर जानेके पथमें एक सेतु आता है। वे अत्यन्त विनयकी मुद्रामें दुर्मदको कुछ आदेश देती हैं। दुर्मद ज्यों-का-त्यों उस आदेशका पालन करता है। राधाकिशोरी रविमन्दिरकी ओर दर्शनार्थ अग्रसर होती हैं। किशोरी अपनी अनुजाके सम्मुख निज हृदयकी समस्त वेदना प्रकट कर देती है। अनुजा फूत्कारपूर्वक रोने लगती है। राधानुजा अपनी बडी बहनको और राधा अपनी अनुजा मंजुश्यामाको परस्पर ढाढस दिलाती हैं। राधाकिशोरी ग्राममें प्रवेश करती हैं; फिर उस विशाल गृहमें प्रवेश करती हैं। किशोरीके द्वारा भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी अर्चना करायी जाती है। राधाकिशोरी भगवतीकी अर्चना सम्पूर्ण होनेपर देवीको प्रणामकर अपनी वृद्धा सास जटिलाको प्रणाम करती हैं।

अचानक राधाकिशोरीको गहरी मूर्च्छा आ जाती है। वृद्धाके द्वारा विविध भाँतिके शीतल उपचारोंके फलस्वरूप किशोरीको बाह्यज्ञान होता है।

इसी समय अकस्मात् वह पर्णकुटीरवासिनी देवी आ पहुँचती हैं। उस समय किशोरी राधा केवल इतना-सा ही अनुभव करती हैं कि संसारमें उनकी रक्षा करनेवाली अब एकमात्र ये पर्णकुटीवासिनी अम्बा ही हैं। देवी अति गूढ़ वचनोंमें राधाको आश्वस्त करती हैं।

वे देवी राधाकी तथाकथित सास – वृद्धा जटिलासे भी मिलती हैं और श्रीराधाके लिये द्वादशवर्षीय सूर्यपूजनव्रतका नियम निर्धारित कर देती हैं। वृद्धा एवं उसके परिवारके सभी परिजन पौर्णमासी देवीकी प्रत्येक उक्तिका अनुमोदन करते चले जाते हैं।

किशोरी एवं उनकी अनुजाका दुस्सह परिताप मिट जाता है। अपना अभीष्ट पाकर दोनों ही बहिनें पर्णकुटीरवासिनी देवीके पदमें लोट पडती हैं।

दयामयी अम्बा उन दोनोंको अपनी छातीसे चिपटा लेती हैं। अम्बाके नेत्रोंसे झर-झर प्रेमाश्रु बहने लगते हैं। अन्तस्तल प्रेमकी सीमामें बद्ध नहीं रह पाता।

अस्तु, किशोरीके द्वारा सूर्यपूजा आरम्भ होती है। संध्याके समय सभी सहेलियाँ भी आकर मिलती हैं। दूसरे दिवस प्रभात हो जानेपर राधाकिशोरी सूर्यपूजनके लिये पुष्पचयन करने जाती हैं। सभी सखियाँ वनके पुष्पित वृक्षोंकी शोभा देख-देखकर चकित हो उठती हैं। भोली किशोरी अपनी सखि ललितासे पूछ बैठती हैं – ललिते, सखी ! क्या यही वृन्दाकानन है ? 'हाँ, बहिन ! कृष्ण-क्रीडा-कानन यही है।' ललिता उसे तत्क्षण यही उत्तर दे देती है।

बस, यह उत्तर सुनते ही किशोरी भावविभोर हो उठती हैं। उनके हाथसे पुष्पका दोना गिर जाता है। किशोरी बिना पुष्पचयन किये ही घरको लौट जाती हैं, वे अपने निवासकक्षके द्वार बन्द कर लेती हैं। किशोरीके श्रवणपुटोंमें एक अनिर्वचनीय तन्मयताका आविर्भाव हो उठता है। दिवसपर्यन्त वे अनाहार ही रहती हैं, सायंकाल भी कुछ नहीं खातीं। रात्रिमें उन्हें निद्रा भी नहीं आती। प्रभात होनेपर सहचरी ललिता उन्हें सम्हालने आती है।

ललिता देखती है –'किशोरीके नेत्र सजल हैं, अरुण हैं; सूचना दे रहे हैं कि निशापर्यन्त किशोरी सो नहीं पायी है। सहचरीके अत्यन्त आग्रह करनेपर राधाकिशोरी किंचित् मुखर होती हैं। किशोरी बतलाती हैं –'सखि ! न जाने तुमने 'कृष्ण' किसका नाम लिया ? इसने तो मेरे कानोंमें प्रवेश करते ही मेरे समग्र धैर्यका ही अपहरण कर लिया। बता, बहन, यह कृष्ण किसका नाम है ? यह कौन पुरुष है ?'

इसके पश्चात् वे पुनः मौन हो जाती हैं। दो घडीतक ललिताके शत-शत प्यारसे सान्त्वना दिये जानेपर किशोरी अपनी दशाका जो भी वर्णन करती है, उसे महात्मा नन्ददासजीने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूतिमयी पदरचनामें यों व्यक्त किया है :

*कृष्णनाम जबतें श्रवणन सुन्यौरी आली*
*भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।*
*भरि-भरि आवैं नयन, चित हू न परै चैन*
*मुख तें न निकसैं बैन,*
*तनकी दसा कछु और हू भई री।*
*जेतेक मैं नेम धर्म कीने री बहुत विधि*
*अंग-अंग भई हौं तो श्रवणमई री।*

*नन्ददास जाके श्रवणन सुनत यह गति भई*
*माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री!!*

किशोरीके हृदयका मर्म सुनते-सुनते ही ललिताकी आँखें भर आती हैं। उल्लास एवं सहानुभूतिपूरित जलविन्दु ललिताकी आँखोंसे झरने लग जाते हैं। राधा और भी विह्वल हो उठती है। अनुजा मंजुश्यामा यह सब बड़े ध्यानसे देखती रहती है। अनुजा सामयिक सेवा सम्पन्नकर अपनी बहिनके शरीरकी रक्षामें लग जाती है।

इस प्रकार भावावेशमें ही सन्ध्या हो आती है। अचानक ही किशोरीके कर्णपुटोंमें मुरलीका रव झंकृत होने लग जाता है। वंशी रवका सृजन करनेवालेके प्रति भी किशोरी अपना सम्पूर्ण आत्मनिवेदन कर बैठती है। 'ओह ! यह अमृत-निर्झर ! सुधा-प्रवाह !! कहाँसे, किस ओरसे ? भानुकिशोरीका सम्पूर्ण शरीर इस प्रकार थर-थर काँपने लगता है जैसे शीतकालमें उनपर हिमकी वर्षा हो रही हो; साथ ही अंगोंसे प्रस्वेदकी धारा बह चलती है। यह धारा इतनी अधिक मात्रामें बहती है, मानो ग्रीष्मतापसे अंगका अणु-अणु उत्तप्त हो रहा हो। कानोंपर हाथ रखकर वे विस्फारितनेत्रोंसे वनकी ओर देखने लग जाती हैं। ललिता दूरसे किशोरीकी यह दशा देखती रहती है। वह दौड़कर समीप आ जाती है। तबतक तो किशोरी बाह्यज्ञान-शून्य ही हो जाती हैं। जब उपवनके वृक्षोंसे, पर्वत-कन्दराओंसे वंशीका प्रतिनाद आना बंद हो जाता है, तब कहीं किशोरी आँखें खोलकर देखती हैं। ललिता किशोरीको गोदमें लिटाकर अपने प्यारसे नहलाकर पूछती है – मेरी लाडिली ! सच बता, तुझे क्या हो गया था ? तेरे अंग सहसा इस प्रकार विवश क्यों हो जाते हैं ? लाडिली उत्तरमें इतना ही कह पाती है –

*नादः कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन्*
*को नाम कर्ण पदवीमविशन्न जाने।*

'ओह ! उस कदम्ब वृक्षके अन्तरालसे न जाने कैसी एक ध्वनि आयी, मेरे कानोंमें प्रविष्ट हो गयी। आह ! कदाचित् उस अमृतनिर्झरके उद्गमको मैं देख पाती !' अतिशय शीघ्रतासे ललिता कहती है – 'बावरी ! वह तो वंशीध्वनि थी !' इस बार भानुनन्दिनी अत्यधिक उद्विग्न-सी हुई अस्पष्ट स्वरमें तुरन्त बोल उठती है – 'वह किसका वंशी-निनाद था ? फिर तो .... कहते-कहते लाडिली पुनः मूर्च्छित हो जाती है।

किशोरीको अपने देहकी आत्यन्तिक विस्मृति हो जाती है। उसका चित्त उस वंशीनादसे सर्वथा एकत्व स्थापित कर लेता है। किशोरीके चित्तका रूप ही वंशीनादमय बन जाता है।

अनुजा मंजुश्यामा बहुत-से उपायोंका आश्रय लेती है, तब कहीं राधाकिशोरीको बाह्य ज्ञान होता है। जैसे-तैसे प्रातःकृत्योंका अधूरा-सा निर्वाह हो पाता है। प्रतिपल अनुजा किशोरीको सम्हाल रही है, इसीलिये इस परिस्थितिका आभासतक वृद्धा सास एवं उसकी पुत्रीको नहीं हो पाता।

अपराह्नके समय सखी विशाखा किशोरीको एक चित्रपट लाकर देती है। यह चित्रपट उन्होंने स्वयं अंकित किया है। अंकितकर अपनी प्यारी सखी श्रीराधाके पास इस आशासे ले आयी थीं कि श्रीराधाकिशोरी उसे देखकर सान्त्वना पावेगी। जब कृष्ण-नामके श्रवण मात्रसे किशोरीका इतना समाकर्षण हो गया है, तो चित्र उन्हें निश्चय ही धैर्य प्रदान करेगा। किन्तु परिणाम उलटा होता है। भानुकिशोरीकी व्याकुलता चित्रपट देखकर सीमा ही त्याग देती है। चित्रका सौन्दर्य देखते-देखते ही वे चित्रमय हो उठती हैं, उस अखिल-रसामृत-मूर्त्ति बालकके प्रति किशोरी अपना सम्पूर्ण आत्मोत्सर्ग तो करती ही हैं, किशोरीकी बुद्धि भी तद्रूप हो जाती है। सर्वत्र उन्हें उस नील बालकके ही दर्शन होने लगते हैं। रजनीमें तो किशोरीका चित्त अद्भुत विकलतासे परिपूर्ण हो उठता है।

रात्रिभरमें ही किशोरीके चित्तकी दशा ऐसी हो जाती है जिसे देखते ही ललिता-विशाखा चिन्ताग्रस्त हो उठती हैं। उन्माद रोगके सभी लक्षण किशोरीमें परिपूर्ण प्रकट दिखते हैं। इतना भर अच्छा होता है कि किशोरी अपनी बहिन मञ्जुश्यामा एवं सखियोंको पहचानती हैं।

सहचरीका नाम लेकर किशोरी बड़े ही उच्च स्वरमें बोल उठती हैं 'मुझे स्पर्श मत करो, मुझे स्पर्श मत करो ।' इस प्रकार कहकर वे अपने कक्षसे बाहर भाग चलनेको आतुर हो उठती हैं। सहचरी ललिता द्वार रोककर खड़ी हो जाती हैं। किशोरी उच्च स्वरसे विलाप करने लगती हैं। ललिता-विशाखा दोनों उसे सान्त्ध्वना देनेका अथक प्रयास करती हैं। किशोरी धीरे-धीरे अपने हृदयके अनिवार्य परितापकी बात कहने लगती हैं – 'बहिन ! तू जानती नहीं कि मैं कितनी अधमा हूँ । अच्छा ! सुन ले । मृत्युसे पूर्व उसे प्रकट कर देना ही उत्तम है। उस दिवस मैंने तेरे मुखसे कृष्ण नाम ही सुना था। सुनते ही मेरा

विवेक जाता रहा। यह भी सोच नहीं पायी कि यह कृष्ण कौन है ? तत्क्षण ही मन-ही-मन अपना मन-प्राण-यौवन सब उसे समर्पित कर बैठी। ओह ! वह नाम नहीं, अमृत-निर्झर था। एक विलक्षण मधुर सुधा-प्रवाह था। ओह ! ललिताके अधरोके माध्यमसे न जाने कैसी एक ध्वनि आयी, और मेरे कानोंमें प्रविष्ट हो गयी। उस नामने न जाने कितने अपूर्व प्यारसे मेरा रोम-रोम सिक्त कर दिया। बहिन ! मेरा मन विवश हो गया। अमृत-निर्झर सदृश उस नामवाले व्यक्तिको मैं अपना सर्वस्व समर्पण कर बैठी। सोचने लगी, यह व्यक्ति मुझे मिले, न मिले, इस 'कृष्ण' नामके सहारे ही मेरा जीवन व्यतीत कर दूँगी।'

'किन्तु उसी दिवस सायं कदम्बकुञ्जोंमें वंशी बज उठी। उस ध्वनिको सुनकर भी मेरा मन विक्षिप्त हो उठा। अभी दो पहर पूर्व 'कृष्ण' नामवाले व्यक्तिको आत्मसमर्पण किया था, परन्तु परम उन्मादिनी मुझे अपना पूर्व समर्पण स्मरण ही नहीं रहता। जब एक बार किसीकी हो चुकी तो कैसे इस मुरलीवादकने मुझे प्रेमकल्पनाओंमें बहा दिया। इतनेमें ही यह चित्रपट मेरे सम्मुख आया। चित्रकी छवि मात्र एक बार ही देख सकी, देखते ही वह मेघद्युति स्निग्ध पुरुष मेरे हृदय एवं प्राणोंसे एक हो गया। ओह ! धिक्कार है मुझे ! मैंने अनेक पुरुषोंको आत्मसमर्पण किया। ऐसे मलिन जीवनसे तो मृत्यु ही भली।'

भानुकिशोरी सुबक-सुबककर रोने लगती है। किन्तु अब तो सखी ललिता-विशाखाको पथ मिल ज़ाता है। वे उल्लाससे भरकर बोल उठती हैं — बहिन ! तू भी अतिशय बावरी है ! अरी, कृष्णनाम, वंशीध्वनि एवं यह चित्र — तीन व्यक्तियोंके थोड़े ही हैं ? ये तीनों तो एक ही व्यक्तिके हैं !

किशोरीके उत्तप्त प्राणोंमें मानो ललिता अमृत उडेल देती है। उसके प्राण शीतल हो उठते हैं। शीतल प्राण सुखकी निद्रामें सो जाते हैं। इस प्रकार भानुनन्दिनी आनन्द-मूर्च्छित होकर ललिताकी गोदमें निश्चेष्ट पड जाती हैं।

अब इधर तो किशोरीकी प्रीतिका यह हाल है कि वे अपने सम्मुख मयूर देख लेती हैं तो उनका शरीर कम्पायमान हो उठता है। उनकी दृष्टि गुञ्जापर पड़ जाती है तो नयनोंसे निर्झरकी तरह अश्रु बह उठते हैं। आकाशमें श्याम मेघ उठते हैं तो उन्हें शत-शत श्रीकृष्ण गगनमें नाचते दिखने लगते हैं। किशोरी पक्षीवत् उड़नेका प्रयास करती हैं, परन्तु पंखोंके अभावमें विवश हो जाती हैं। विरहसे व्यथित श्रीकृष्णको भूलना चाहती हैं परन्तु भूल पाती नहीं।

वे अपना मन अन्य विषयोंमें लगाती हैं परन्तु किशोरीका मन विषयोंको भी श्रीकृष्णरूप देखता है अतः श्रीकृष्ण-स्मृतिमें और प्रगाढ़ रूपसे विलीन हो जाता है।

*यस्य स्फूर्त्ति लवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते।*
*मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकांक्षति।।*

(विदग्धमाधव)

'ओह ! जिन श्रीकृष्णचन्द्रकी लवमात्र स्फूर्तिके लिये योगी उत्कण्ठित रहते हैं, यत्न करते हैं, फिर भी स्फूर्त्ति नहीं होती, उन्हीं श्रीकृष्णको अपने हृदयपटलसे हटानेके लिये लाडिली इच्छा कर रही है, फिर भी वे उसके हृदयसे लवमात्र हटते नहीं।' अस्तु,

इधर ब्रजमें शरद ऋतु आ जाती है। प्रातःकी बेला समाप्त हो जाती है। अभी-अभी संगवकाल प्रारंभ ही हुआ है। अनेक सुन्दर सखाओंको लेकर, जो प्रायः सभी समवयस्क हैं, नीलसुन्दर गोचारणके लिये वनस्थलकी ओर अग्रसर होते हैं। उनके आगे-पीछे शत-सहस्र गायें चल रही होती हैं। वे एक अतिशय सुरम्य वनमें पहुँच जाते हैं। इस वनके भीतर ही परम पवित्र रविमन्दिर है। श्रीराधाकिशोरी इस रविमन्दिरमें प्रतिदिवस द्वितीय प्रहर होते-होते चली आती हैं। वे पूजन करनेके पूर्व पार्श्वमें ही स्थित एक सुरम्य कासारमें स्नान करती हैं। यह कासार बिना पंकके ही कमलोंसे भरा रहता है। रविमन्दिरमें स्थित सूर्यदेवके विग्रहसे दिनकरकी किरणोंके समान तेज प्रतिक्षण आठों पहर निकलता रहता है , उन किरणोंके प्रभावसे यहाँके कमल आठों पहर निशामें भी खिले रहते हैं। यहाँ राधाकिशोरी एवं उनकी सहचरियोंकी स्वच्छन्द क्रीड़ा निर्बाध रूपसे चल रही है। तटकी वृक्षावली उनके रत्नकंकणोंसे झंकृत हो रही है। श्रीराधारानी एवं उनकी सहचरियोंके अंग कटिसे ऊपर तो आवरणहीन हैं। उनके अप्रतिम रूपकी उन्मादी धाराको एवं पौगण्ड तथा कैशोरकी सन्धिपर जागकर झाँकनेवाले भावोंको, उनकी भीगी अलकोंका जाल मात्र रह-रहकर ढँक दे रहा है।

जो हो, उस जलविहारसे राधाकिशोरी एवं सहचरियोंके अरुणिम नयनोंकी सुषमासे एक अद्भुत सम्मोहिनी शक्ति बिखर रही थी। त्रिभुवनके स्थावर-जंगमकी बात तो दूर, आश्चर्यकी बात तो यह है कि वहाँ त्रिभुवन-मन-मोहिनीकी गति भी अचानक उसके प्रभावसे रुद्ध हो गयी थी।

नीलसुन्दर सचमुच विश्वविमोहन थे, किन्तु संयोगकी बात ! गायोंको लिये हुए जब वे आज उस सरोवरपर पहुँचते हैं और उनकी दृष्टि राधाकिशोरी, उनकी अनुजा मञ्जुश्यामा, उनकी सहचरियोंके आर्द्र कुन्तलोंसे मण्डित मुखपर पडती है, बस, उसी क्षण वंशीमें स्वर भरनेकी उनकी क्रिया, उनकी समग्र चपलता विरमित हो जाती है। उनकी चञ्चल आँखें अचानक अपलक हो जाती हैं। अस्तु,

जब दो रसमय हृदयोंके परस्पर जुडनेका समय आता है, तब उसका संयोग कहाँ, कैसे लगता है – यह बात वे साँवरके सहचर – दुधमुँहे सरल शिशु क्या जानें ? इसीलिये वे अपने प्राणसखा नीलसुन्दरकी चादरको कर्षित करके तत्क्षण बोल उठते हैं –'अरे भैया ! अरे, ये तो श्रीभैयाकी बहनें और उनकी सहचरियाँ हैं, स्नान कर रही हैं, भाई, यदि तेरी भी नहानेकी रुचि हो तो स्पष्ट बतला, अन्यथा हम आगे बढें।'

नीलसुन्दर शिशुओंको तो कुछ भी उत्तर नहीं देते हैं, तुरन्त ही अपने भावोंको सगोपितकर अपनी दृष्टि उधरसे हटा लेते हैं, वे चुपचाप आगे चल पडते हैं। किन्तु जो उल्लास उनके मुख-सरोजपर प्रतिदिन रहता था, उसकी छायातक अब नहीं रहती।

सखा देखते हैं कि उनके अथक प्रयास करनेपर भी नीलसुन्दर पूर्ववत् आज नहीं हँस रहे हैं। मध्याह्न होनेपर यशोदा मैयाकी भेजी हुई छाक आ जाती है, सभी सखा अपने प्रिय कन्नूको साथ लेकर भोजनके लिये बैठते हैं, किन्तु उनका कन्नू ही भरपेट नहीं खाता तो सखा भला कैसे खाते ? सम्पूर्ण सामग्री ज्यों-की-त्यों पड़ी रह जाती है।

सखा देखते हैं – आज कन्नूका समग्र व्यवहार ही कुछ परिवर्त्तित-सा हो गया है। जिस समय वनमें कुसुमोंसे विभूषित चम्पकलतापर कन्नूकी दृष्टि पड़ती है, उस समय उसके समग्र अग ही काँपने लगते हैं। सिरसे कब मयूर-पिच्छ गिर गया है, उसे होश ही नहीं रहता। मधुमंगल वनमाला गूँथकर लाता है, पहनाता है, नीलसुन्दर पहन लेते हैं, किन्तु उन्हें ज्ञान नहीं है कि कौन सखा क्या, कैसा श्रृंगार करने जा रहा है। उसे तो मात्र कदम्बवनके नीरव कुञ्जोंमें नयन मूँदकर शान्त बैठे रहनेमें ही प्राणोंकी शीतलता मिलती है।

किसी भोले सखाके मनमें यह बात आती है कि अवश्य मेरे प्रिय सखाको नजर लग गयी है। बस, वह गायोंकी पूँछ अपने कन्नूके चारों ओर

फिराकर नजर उतारनेका प्रयत्न करने लगता है।

अवश्य ही सुबलको इस बातकी गन्ध मिल जाती है कि उसके मित्रकी यह दशा श्रीदाम भैयाकी बहनको देखनेसे ही हुई है। वह श्रीदामको संकेत भी कर देता है। श्रीदाम उसके सम्मुख स्वीकार कर लेता है कि उसकी बहन सुन्दरीवनमें स्थित कन्नूकी प्रतिमाको देखकर ही विक्षिप्त हो उठी थी। अवश्य कन्नू भी उसे देखकर ही इस उदासीनतामें डूबा है। उसकी सहोदरासे कन्नूकी आँखें मिलीं तो अवश्य ही हैं।

इतना सब होनेपर भी प्रेम-विवर्धन-चतुर श्रीकृष्णचन्द्र अपना भाव संगुप्त रखनेमें पूर्णतया सफल हो रहे हैं। ललिता-विशाखा किशोरीके प्रति इनके प्रेमकी थाह जाननेकी अथक चेष्टा करती हैं, किन्तु श्रीकृष्ण उनसे इस सम्बन्धमें इतना बेरुखा व्यवहार करते हैं मानो उनके मनमें किशोरीके प्रति किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है।

विरहसे व्याकुल किशोरी लज्जा बहा देती है। लज्जा छोडकर श्रीकृष्णचन्द्रको पत्र लिख भेजती है। किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र पत्रका उत्तर भी नहीं देते। अब तो निराशाकी सीमा हो आ जाती है। माता कीर्त्तिदा एवं बृषभानुजी भी श्रीकृष्णकी इस रुखाईसे परिचित हो जाते हैं। अतः यावट ग्राममें विवाहका निश्चय और सुदृढ़ हो जाता है।

किशोरीकी विचित्र दशा है। शरीर इतना कृश हो गया है, मानो वे एक पक्षसे निराहार रही हों। कुन्तलराशि पीठपर बिखरी पडी रहती है, किसीसे बात भी नहीं करतीं। सजल, अरुण नेत्र सूचना दे ही देते हैं कि किशोरीकी रातें जागते व्यतीत हो रही हैं। वाणी रुद्ध रहती है। मन-ही-मन 'कृष्ण 'कृष्ण' की आवृत्ति वह करती रहती है। थोडे-थोडे कालमें उसका बाह्य ज्ञान जाता रहता है। किशोरीका हृदय चूर-चूर हो गया है। जीनेकी साध समाप्त हो गयी है। प्रियतम श्रीकृष्ण मुझे इस शरीरसे अपनावेंगे, यह आशा शून्यमें विलीन हो गयी है।

श्रीकृष्ण इस जीवनमें नहीं मिले, कदाचित् जीवनके उस पार ...। युगल बहनें कलिन्दनन्दिनीका आश्रय लेने चल पडती हैं।

+ + +

आज कलिन्दनन्दिनी भी मानो प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति रुष्ट होकर वृषभानुजाको अपनेमें विलीन करने आतुर हो उठी हों — उसका उफान चरम

सीमापर है।

अपने महाप्रयाणके पूर्व पाथेयके रूपमें किशोरीके मनमें उस नीलसुन्दर बालकके चित्रपटके दर्शनकी कामना जग उठती है। किन्तु हाय ! हतभाग्य ! किशोरीकी वह अन्तिम कामना भी पूर्ण नहीं हो पाती। क्योंकि वह चित्रपट वहाँ था जो नहीं ! सहचरी उसे अपने साथ नहीं लायी थी।

'हाय रे ! मैं मन्दभाग्यवाली इतना-सा सुख भी कैसे ले सकती हूँ ? इसीलिये मैं अपने आराध्य देवताका चित्रतक भी अन्तमें नहीं देख सकी। उस दिवस तो मेरी ऐसी दशा थी कि मेरे हृदयका कोना-कोना सर्वत्र उनकी छविसे परिपूरित था। देखूँ, कदाचित् हृदयके किसी कोनेमें ही उनका दर्शन हो जावे और मैं उनमें ही अपने प्राणोंको विलीन कर सकूँ।

यह कहती-कहती राधाकिशोरी अपनी आँखें बन्द कर लेती हैं। सहचरी राधाकिशोरीको अपने अंकमें लेकर उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगती है।

लताजालकी ओटसे श्रीकृष्णचन्द्र भानुनन्दिनीकी विकल चेष्टा देख रहे हैं। मञ्जुश्यामा एवं किशोरी – युगल बहनें ज्योंही एक दूसरेका हाथ पकड़े यमुनामें उतर पड़ती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके धैर्यकी सीमा समाप्त हो जाती है। लताजाल फाड़कर वे भी यमुनामें प्रवेश कर जाते हैं और दोनों बहिनोंको यमुनामें कूदकर बचा लेते है। 'प्राणेश्वरी ! प्राणवल्लभे !! नेत्र खोल री !!! देख, मैं आ गया हूँ।' भानुकिशोरी नेत्र खोलती है।

पू.गुरुदेव अपने 'प्रियतम काव्य'में इस लीलाका अन्तिम प्रसंग वर्णन करते हुए लिखते हैं – " कदाचित् नील-पोस्रोंकी संख्यामें मेरे मुखमें जिह्वाएं होतीं, कालका बन्धन सर्वथा ही नहीं होता, तब उस रसनाकी तूलिका लेकर चित्र अंकित करती रह जाती ... किसका चित्र ? उसका – जो सुखद अनुभूति राधानुजा, सहचरी एवं श्रीराधाको नीलसुन्दरके वहां आ जानेसे हुई। किन्तु लगता है, इतना होनेपर भी यथोचित चित्र मैं अंकित नहीं ही कर पाती।"

"जैसे कोई कवि अपनी सरस कल्पनाओंको चुन-चुनकर उनको मालामें गुम्फित करके, अपने प्राणोंमें ही छिपाकर रख ले, सम्मान एवं गर्वके हाथों वह माला सर्वथा अस्पृष्ट रहे, उस मालामें जो एक उल्लास भरा होता है, वही उल्लास राधाकिशोरीमें तथा उस नील बालकमें सब ओर परिपूर्ण हो उठा।"

"जैसे अत्यन्त पवित्र-से-पवित्र अनुरागमयी दो धारायें दृगोंसे बह-बहकर

फिर इस देशकालकी सीमासे उस पार पहुँच करके सगमित हो जायें, उनमें जो नित्य शीतलता रहती है, वही शीतलता इस समय उन दोनों प्राणोको आत्मसात् कर रही थी।"

"जहाँ यह अहता नहीं है, बुद्धिकी वृत्ति भी नहीं है, न ये प्राकृत गुण ही हैं, और तो क्या, जहाँ यह प्रकृति भी नहीं है, तथा अहो ! बस, जहाँ केवल चित्त-ही-चित्त है, जहाँ अद्वयपनकी नित्य निरुपम गभीरता परिपूरित रहती है, वही गम्भीरता राधाकिशोरी एवं नीलसुन्दरके प्राणोंमें उस समय व्यक्त हो रही थी, भला ।"

"इस कालमानसे उन दोनोंको अपने यथास्थित कलेवरमे लौट आनेमें कितना समय लगा, अहो ! शतवार चतुर्मुख जग-जगकर पुनः सो गये, इतना-सा केवल दो दण्ड मात्र ही समय लगा, इसे तो एकमात्र तुम्हीं जानते हो, मेरे नीलसुन्दर देवता !"

" जो हो, रजनीके अंचलमें बरसनेवाली वह सुषमा उनके लोचनोकी पलकोको छू-छूकरके धीरे-से उस विशुद्ध रस-पद्धतिका जब सकेत करने लगी, वे तभी अपनी प्रकृतिको स्वीकार कर सके थे भला !"

"राधा, राधानुजा एवं सहचरीके मुख-सरोजसे कोई भी वाणी निःसृत नहीं हो सकी। केवल सहचरी ललिताकी आँखोंमे प्रणयकोपकी छाया-सी क्षणभरके लिये झांक गयी थी। सहचरी उस समय चचल-सी हो गयी थी। उसके मुखपर उसके हृदयगत भाव सुस्पष्ट रूपसे अकित हो गये थे। किन्तु सहसा सहचरीकी ऑखें राधाकिशोरी एव नीलसुन्दरके मुख-सरोजपर नाच उठीं।"

" राधाकिशोरी एव उस नीलसुन्दर बालकके कपोलोंपर जो अश्रुकी रेखा बन गयी थी, बनती ही जा रही थी, उसीके अन्तरालसे उनका हृदय बोल रहा था ऐसे समयमें अब सहचरी भला उन लीलसुन्दर बालकको क्या उपालम्भ देती ? वह तो रसकी भाषाका ककहरा मात्र स्मरण करने लग गयी।"

"ऊपर नभमे वृक्षावलीसे तनिक उन्नत उठकर चन्द्रदेव साक्षी दे रहे थे। नीली प्रवाहिणी कल-कलरवके द्वारा मंगलमय शुभ गीतोंका गान कर रही थी। सहचरी अपने नयनोंके जलसे परिणयकी वेदीको प्रक्षालित कर रही थी, तथा विद्युल्लहरीका कर-सरोज धारण किये कृष्ण-जलधर सुशोभित था।"

"यह एक स्वप्न है। अहो ! किन्तु यह किञ्चित् अँधेरा, तमोगुणकी छाया भी लिये है। इसमें संकल्पकी कहीं कोई गध भी नहीं है, फिर भी इसमें अद्भुत विक्षिप्तपना भरा है। यह सविद् रसमय है, तथापि हृत्तलकी आह लिये हुए है। राधाकिशोरीके लिये तो यह एक स्वप्न है, किन्तु सत्य पूछा जाय तो यह भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमानके संविन्मय रसका, संविन्मय जीवनका चित्र है।"

"महाभावमयी राधा ऐसे असख्य स्वप्न प्रतिदिवस ही देखती रहती हैं। किशोरी तो अपने प्रियतमसे नित्य मिलित, नित्य परिरम्भित रहती ही हैं। परन्तु जैसे ही उनकी आँख झपकती है, एक विलक्षण रसकी उत्तुंग लहर उनके मानसमें उठती है और वे नित्य नयी-नयी लीलाप्रवाहमें बह उठती हैं।"

अनन्त लीलाप्रवाहकी एक झाँकी पू.गुरुदेव द्वारा लिखित 'अनुराग-परीक्षा लीला' है। इस लीलामें राधाकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामाके स्नेहकी इसी प्रकार परीक्षा है, जैसे उपरोक्त स्वप्नमें किशोरी अपनी स्वयंकी परीक्षा दे चुकी हैं।

---

# अनुराग परीक्षा लीला

[कक्षमें वृद्धा विराजित है। समीप ही उसकी पुत्री बैठी है। वृद्धाके पुत्रका प्रवेश, मातृचरण-वन्दन]

*वृद्धा* – मेरे लाल ! चिरञ्जीव ! गोधन सम्पत्ति बढ़े, और द्वादश वर्षके अनन्तर मैं अपनी छोटी बहूकी गोदमें पौत्रका दर्शन करूँ। किन्तु (भयभीत-सी हुई मुद्रामें) इस समय तुम क्यों आये ?

*पुत्र* – जननि ! भगवती पौर्णमासीकी अनुमति लेकर आया हूँ।

[कहकर लज्जाकी मुद्रामें अवनत खड़ा रहता है]

*वृद्धा* – (उल्लास भरे स्वरमें) तब तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। बोल !

*पुत्र* – (अतिशय लज्जामें भरा हुआ) शेष बाते मेरी बहिनसे पूछ ले।

[बाहर चला जाता है और पुत्री वृद्धाके कानमें कुछ पलतक फुस-फुस करती रहती है। यह सम्पूर्ण चर्चा कक्षकी पिछली दीवालसे सटी हुई मञ्जुश्यामा सुन लेती है]

*वृद्धा* – (उल्लासके स्वरमें) अरी बड़ी बहू !

[बड़ी बहूका प्रवेश]

*वृद्धा* – बेटी ! तेरा सुहाग अचल रहे। तू मेरे कानोंसे अपना मुख सटा दे। मुझे कुछ बात कहनी है।

[बहूका आज्ञापालन। वृद्धाका देरतक फुस-फुस करना]

## – दूसरा दृश्य –

[वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा एक सुसज्जित कक्षमें अपनी बहिन मञ्जुश्यामाको अंकमें लिये फूट-फूटकर रो रही हैं। मञ्जुश्यामाकी आँखोंसे भी अश्रुधारा चल रही है।]

*श्रीराधा*- (सुबकी भरती हुई) बहिन ! अब क्या होगा ?

*मञ्जुश्यामा*- (आँखें पोंछती हुई) देख बहिन ! तू तो चली जा।

*श्रीराधा* – (बहिनको अंकसे चिपकाती हुई) असम्भव-असम्भव !

*मञ्जुश्यामा* – (भर्राये हुए स्वरमें) बहिन ! प्रियतम श्रीकृष्ण पथ जोह रहे होंगे।

*श्रीराधा* – (रोती हुई) बावरी हुई है तू ?

*मञ्जुश्यामा* – (कुछ धैर्य बटोरती हुई) बहिन ! अभी तो कुछ बिगड़ा नहीं है न ! देख ! कदाचित् मैं भी अक्षत निकल भागूँ।

*श्रीराधा* – तुझे छोड़कर मैं चली जाऊँ यह असम्भव है।

*मञ्जुश्यामा* – देख बहिन ! ऐसे अवसरपर बड़े धैर्यकी आवश्यकता होती है। यदि तू यहाँ रह जायगी तो फिर आज तुझे साथ लेकर मैं निकल भागूँ, यह तो होनेका ही नहीं। हाँ, तेरे चले जानेके अनन्तर किञ्चित् आशा तो मुझे अवश्य है कि मैं बाल-बाल बचकर निकलकर तेरे पास पहुँच जाऊँ।

*श्रीराधा* – (करुण कण्ठसे) तू कैसे निकलेगी, बहिन?

*मञ्जुश्यामा* – कौशल रचूँगी। कदाचित् सफल हो

जाऊँ।

*श्रीराधा* – और नहीं हुई तो ?

*मञ्जुश्यामा* – (रोकर) फिर तू अपनी छोटी बहिनको इस जन्ममें सर्वथा भूल जाना।

[दोनों फूट-फूटकर रोने लगती हैं]

*मञ्जुश्यामा* – (अपनेको सँभालकर) बहिन ! रोनेका स्वर बाहर जा सकता है। मुझे रोती हुई कोई सुने आपत्ति नहीं। (बहिनके गलेमें भुजा डालकर) तू देर मत कर, देर मत कर, एक बार कृत्रिम हँसी बड़े जोरसे हँस दे।

[श्रीराधा अत्यन्त घबरायी-सी हँस देती हैं]

*मञ्जुश्यामा* – तू समझ गयी न !(बहिनके कानमें कुछ कहती है)

*श्रीराधा* – (स्वीकृतिके स्वरमें) तू ठीक समयपर चेत गयी, बहिन !

*मञ्जुश्यामा* – किंतु अब विलम्बका अवसर नहीं है। एक क्षण भी तेरा रुकना हम दोनोंके ही जीवनको समाप्त करने वाला ही होगा।

*श्रीराधा* – मै सकेतस्थलपर तो नहीं जाऊँगी।

*मञ्जुश्यामा* –(कुछ सोचकर) अच्छा ! उद्यानके बाहर उस वृक्षके नीचे जाकर खडी हो जा। मैं जैसे कहती हूँ, वैसे उच्चस्वरसे बोलकर।

[कानमें संकेत करती है]

*श्रीराधा* – (उच्चस्वरसे हँसती हुई) देख ! अब यदि तू रोयेगी तो मैं एक मासतक तुझसे बोलूँगी ही नहीं। मैं जा

रही हूँ, अपने कक्षका द्वार भीतरसे बन्द कर लूँगी। कदाचित् तू फिर भागकर मेरे पास आयी तो तुझे सत्य-सत्य निराश होना पड़ेगा। (फिर धीरेसे) देख ! मेरी प्राणोंसे भी अधिक प्यारी बहिन ! तू निश्चिन्त रह। मुझे भी अब आशा हो रही है। यदि मैं प्रियतम श्रीकृष्णके अतिरिक्त स्वप्नमें भी एक क्षणके लिये भी किसीके प्रति समर्पित नहीं हुई हूँ, तो यह सत्य है, सत्य है, सत्य है, अनन्तकालतक प्रियतम श्रीकृष्णके अतिरिक्त कोई अन्य पुरुष मधुरोचित भावसे तुझे स्पर्श नहीं कर सकता, नहीं कर सकता, नहीं कर सकता।

**[श्रीराधाके नेत्र अश्रुपूरित हो जाते हैं। द्वारकी अर्गला भीतरसे बंद करनेका अभिनय करके बाहर चली जाती है, पीछेके द्वारसे।]**

---

## – *तीसरा दृश्य* –

**[उसी रत्नोंकी ज्योतिसे उद्भासित कक्षमें मञ्जुश्यामा चिन्तामें पर्यंकपर बैठी है। कक्षका मुख्य द्वार अर्धरुद्ध है। सहसा द्वार उद्घाटित होकर एक श्यामवर्ण कैशोरवय-विभूषित अतिशय सुन्दर बालकका प्रवेश]**

*मञ्जुश्यामा*- (पर्यंकसे उठकर) आर्यपुत्र ! स्वागत है।

**[भूमिपर, दूरसे ही मस्तक टेककर वन्दना]**

*किशोर*- (स्वगत) अहा ! अप्रतिम सौन्दर्य है ! धन्य हुईं मेरी आँखें।

*मञ्जुश्यामा*- क्या सोच रहे हो आर्यपुत्र ?

*किशोर*- यही कि मैं कितना भाग्यशाली हूँ।

*मञ्जुश्यामा* – किस बातसे !

*किशोर* – तुम्हारा अनुपम रूप निहारकर।

*मञ्जुश्यामा* – (मुसकाकर) आर्यपुत्र ! तुम्हारी आँखें सुन्दर हैं। अन्यत्र सुन्दरताका अनुभव सुन्दरको ही होता है। मुझ-जैसी कुरूपा तुम्हें प्राप्त हुई, यह तुम्हारा – क्षमा करना – चरम दुर्भाग्य है।

*किशोर* – (आँखें भरकर) तुम कह क्या रही हो ?

*मञ्जुश्यामा* – सत्य, सत्य, सत्य कह रही हूँ। कहकर प्राणोंकी ज्वाला मिटा रही हूँ। प्रथम मिलनके अवसरपर लज्जाको भाड़में झोंककर क्षणिक शान्ति पाना चाहती हूँ। पता है तुम्हें ?

*किशोर* – क्या ?

*मञ्जुश्यामा* – जबसे आयी हूँ इस गृहमें, तबसे निरन्तर रोती रही हूँ ,जलती रही हूँ। तुमने तो मुझे आज प्रथम बार देखा है। मैं तो प्रतिदिन ही तुम्हारे मुखसरोजका दर्शन कर पाती हूँ। और फिर रोती हूँ – हाय रे ! विधिका विधान। कहाँ यह विश्वविमोहन रूप तुम्हारा और कहाँ मैं काली-कलूटी, सबकी आँखोंमे घृणा भरने वाली। (रोने लगती है)

*किशोर* – तुम मुझे व्यथा मत दो।

*मञ्जुश्यामा* – (सावधान होकर) हाय हाय ! स्वप्नकी बात सच्ची निकली क्या ? मेरा सुहाग लुट जायगा क्या ? (छाती पीटने लगती है)

*किशोर* – धीरे बोल, मेरी विधवा बहिन बाहर

तुम्हारा स्वर सुन सकती है। मुझे लज्जाका अनुभव होगा। वह भी घबड़ायेगी।

*मञ्जुश्यामा* – (रोकर) तो मैं क्या करूँ ? कैसे अपनेको सँभालूँ ?

*किशोर* – तू बात बता तो सही !

*मञ्जुश्यामा* – यही कि कल ही मैंने स्वप्न देखा था – तुम मुझे देख लोगे और प्रातःसे पहले मेरी माँग धुल सकती है। यदि मैं प्रायश्चित्त न कर लूँ तो।

*किशोर* – क्या प्रायश्चित्त ?

*मञ्जुश्यामा* – सात दिनतक निर्जल उपवास करके भगवान सूर्यदेवकी अखण्ड अर्चना।

*किशोर* – अरी ! मैं भगवती पौर्णमासीकी अनुमतिसे आया हूँ।

*मञ्जुश्यामा* – मुझे पता है । स्वप्नमें ही भगवान् अंशुमालीने मुझे यह बात भी कह दी थी।

*किशोर* –(हँसकर) अरी ! अधिक प्रभाव किसमें है ? शक्ति अधिक किसकी ? सूर्यदेवकी या भगवतीकी ?

*मञ्जुश्यामा* – सूर्यदेवकी, सूर्यदेवकी । मेरी दृष्टिमें सूर्यदेवका प्रभाव खण्डित करना असंभव है।

*किशोर* – भोली है तू।

*मञ्जुश्यामा* – आर्यपुत्र ! भ्रमित हो रहे हो तुम। मैं इसीलिये लज्जा छोड़ चुकी हूँ। सर्वथा परित्याग करके मुखरा हो गयी हूँ। आज प्रथम मिलनकी रातमें। (छाती पीटकर) आर्यपुत्र ! बचालो, बचालो मुझे ! कल तुम्हारे साथ

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(पञ्चम खण्ड)

पृष्ठ संख्या 401-488 तक

चितापर जलनेसे।

**[किशोर हँसकर मञ्जुश्यामाको स्पर्श करने चलता है]**

*मञ्जुश्यामा* – (तीन पद पीछे हटकर) त्राहि-त्राहि आर्यपुत्र ! अब भी समय है। चेतो-चेतो।

**[किशोर हँसकर आगे बढकर मञ्जुश्यामाका हाथ पकड़ लेता है। मञ्जुश्यामा सचमुच मूर्छित हो जाती है। ढाई-तीन पलके अनन्तर उसे बाह्यज्ञान होता है। किंतु किशोरकी आँखोंमें रोष भरा है]**

*किशोर* – (रोषमें भरकर) बहुत अभिनय हो चुका। मुझे वस्तुस्थितिका पता है। कल सन्ध्यासे पूर्व तुम्हारी बड़ी बहिनकी चिता तू मत जला।

*मञ्जुश्यामा* – (डरी हुई मुद्रामें) क्यो ? यह कैसे ?

*किशोर* – (अतिशय रोषके स्वरमें) चन्द्रावलीकी सखी पद्मा तुम दोनों बहिनोंका सम्पूर्ण चरित्र तिल-तिलकर सुना चुकी है। और एक घटना मुझे प्रत्यक्ष दिखला भी चुकी है।

**[मञ्जुश्यामाके प्राणोंमें भय भर जाता है। पर अपनेको सँभाल लेती है]**

*किशोर* – कहो ! कच्चा चिट्ठा सुना दूँ ?

*मञ्जुश्यामा* – (आँखें तरेरकर) ठीक है ! डाकिनी पद्माका चरित्र मैं भी सुन लूँ।

*किशोर* – (पहलेकी अपेक्षा भी अधिक रोषमें) एक शब्द भी बीचमें मत बोलना। और सुन लो। आज प्रातःकाल पद्मा मेरे पास आयी थी। एकान्तमें मुझे ले गयी। मुझसे भूल होगयी। परसोंकी बात है। मैं अत्यन्त क्रोधके आवेशमें हूँ।

इसलिये और भी भूलें मुझसे हो सकती हैं। अच्छा, तो सुनो, पद्माने मुझे बतलाया ठीक डेढ़ प्रहर रात बीतनेके अनन्तर तुम दोनों बहिनें कहाँ जाती हो ! प्रतिदिन ही। (दाँत पीसकर) केवल रातमें ही नहीं, डेढ पहर दिन उतनेके बाद भी प्रतिदिन। और वहाँ क्या-क्या होता है ? सुनो, तुम्हारी बहिन महामहिम ब्रजेन्द्रनन्दन महाराजके अंकमें विराजती हैं। कटिसे ऊपर कोई वस्त्र नहीं रहता। और तुम्हारे भी। दो पूर्ण विकसित और दो अर्धविकसित स्तनोंके दर्शन होते रहते हैं। किनको ? नन्दबाबाके उस बेटेको। और संलालन होता है . .. । तुम उत्फुल्ल आँखोंसे देखती रहती हो। तुम्हारी बड़ी बहिनने लज्जाका सर्वथा परित्याग कर दिया है। महानिर्लज्ज हो गयी हैं। तुमसे अब उनको कोई संकोच नहीं रहा। तुम सर्वथा सर्वांशमें प्रत्यक्ष वहीं बैठी रहकर उनके देवता ब्रजेन्द्रनन्दनके साथ उनका सम्पूर्ण विहार देख सकती हो। देखनेतककी ही बात नहीं है – तुम्हें भी पर्याप्त शिक्षा मिल चुकी है। पर यह सत्य है कि तुम हो बडी भोली। आयु छोटी होनेके कारण तुम सब-कुछ निरन्तर देखते रहनेपर भी रसकी बात समझ नहीं पाती। (दाँत पीसकर) पर परसों तुम्हारी बड़ी बहिनका जादू तुमपर चल ही गया। और किञ्चित् तुम भी उनके साँचेमें ढल ही गयी। परसोंकी बात है। नीरव रात्रि थी। नही-नहीं ! पुनः क्रोधके आवेशमें भूल होगयी। साफ-साफ दिन उगा हुआ था। तुम बैठी थी। तुम्हारी बड़ी बहिन द्वारके पास बाहर बैठी थीं। तुम्हारी आँखोंमें अश्रु अवश्य था। किंतु .........। देखते ही एक बार मेरे

मनमें आया तुम्हारी बहिनके पास जाकर खड़ा हो जाऊँ। और फिर तुम्हारे पास। कितु भगवतीने दया की, बुद्धि आयी। कहीं क्रोधके आवेशमें कुछ ऐसा अनिष्ट न कर बैठूँ जिससे पीछे चलकर मुझे भी रोना पड़े। सत्य-सत्य मैं पद्माके साथ छिपकर कुञ्जके बाहर खड़ा-खड़ा प्रत्यक्ष सब कुछ देख रहा था। (दाँत पीसकर) और भी सुन ले। गत रात्रिकी घटना। नन्दबाबाके बेटा महाराज विराजित थे। और तुम्हें शृंगार धारण करा रहे थे। तथा तुम कितनी उत्फुल्ल आँखोंसे उनकी सेवा कर रही थी ....।

**[किशोर अपना व्याख्यान समाप्त कर लाल-लाल आँखोंसे मञ्जुश्यामाकी ओर देखता है। साँस बड़ी तेज गतिसे चल रही है]**

*किशोर* – (बड़े कर्कश स्वरमें) अब जो कुछ कहना है कह दो !

*मञ्जुश्यामा* – (वैसे ही कर्कश स्वरमें) ठीक है। तुम अभी मेरी हत्या कर दो। और उससे पहले किञ्चित् विष लाकर दो, मैं बहिनको दे दूँगी। वह भी तत्क्षण खा लेगी। (दाँत पीसकर) पर याद रखना, उस टोनेवाली डाकिनी पद्माके फेरमें तुम दोनों भाइयोंको अनन्त कालतक रोना पड़ेगा भला।

*किशोर* – (कर्कश स्वरमें ही) मैं अर्थ नहीं समझ सका।

*मञ्जुश्यामा* – (उपेक्षाकी मुद्रामें) समझना चाहो तो समझा दूँ।

*किशोर* – (उसी प्रकारके स्वरमें) बोलो।

*मञ्जुश्यामा* – (आँखें तरेरकर) पर तुम भी सावधान, बीचमें एक शब्द मत बोलना ।

*किशोर* – कह जाओ जो कुछ कहना है।

*मञ्जुश्यामा* – अच्छा, सुनो ! (क्रोधसे काँपती हुई) पद्माने जिस कलंकका आरोप किया है मुझपर, मेरी बहिनपर, उसका सर्वथा सर्वांशमें ही आश्रय वही है, और उसकी प्यारी बहिन चन्द्रावलीजी हैं। (दाँत पीसकर) कलंक नहीं, सत्य, सत्य, सत्य यह महाभ्रष्टाचार उन दोनोंके द्वारा ही प्रतिदिन प्रतिरात्रि संघटित होता है, और होता है ब्रजेन्द्रनन्दनजीके साथ ही। उनके दुर्दैववश यह बात गाँवमें फैली है। दुर्दैववश ही हम लोगोंने सुन ली। परसोंकी ही बात है। वे तुम्हें एकान्तमें ले गयी हैं, उससे दो-चार घड़ी पहलेकी बात होगी। हम दोनों बहिनें सूर्यपूजाके लिये पुष्पचयन कर रही थीं। अचानक पद्माजी पधारीं। मेरी बहिन तो गंभीर है। मेरा स्वभाव कुछ चपल है। सदासे ही पद्माजी मुझसे चिढ़ती हैं। मैंने स्वभावसे ही पूछ लिया – "कहो बहिनजी ! गाँवमें तो विचित्र चर्चा फैल रही है !" उनकी आँखें तन गयीं। बोलीं– "तुम दोनों बहिनोंका ही तो यह षड़यन्त्र है। यदि राजघरानेकी बहुओंका प्रश्रय न मिले तो किसीको जबान हिलानेका भी साहस न हो।"

बहिन मुझे रोकने लगी। पर मुझे अत्यन्त रोष आ गया। मैं बोली – "हम लोगोंने सुन तो अवश्य लिया है, किंतु उसकी उपेक्षा कर दी थी। पर आज जब तुम इतनी

तनी हुई हो तो अपने राज्यमें इस भ्रष्टाचारको मैं एक क्षण अब सह भी नहीं सकूँगी। और पद्माजी ! आपसे प्रार्थना है, तथा यही प्रार्थना आपकी प्यारी सखीजी चन्द्रावलीजीसे भी है कि आप दोनोंको आज इस क्षणसे नन्दबाबाके बेटे महाराजकी छायाका भी दर्शन नहीं करना चाहिये। यदि आप लोग अपने इस भ्रष्टाचारको एक बार भी इस क्षणके अनन्तर चालू रखेंगी तो कल ही आपको हमारा राज्य छोड़ देना पड़ेगा। बस, इतना ही दण्ड मैं दिलवाऊँगी।" पद्माकी आँखें यह सुनकर ऐसी लाल हुईं जैसे वह मुझे जला देगी। बोली - "अरी ! तू जानती नहीं किससे भिड रही है ? चौबीस प्रहरके भीतर यदि तुम दोनो बहिनें ही इस संसारसे विदा हो जाओ तो ? तुझे पता नहीं है मेरी शक्तिका।" मैं भी सेरका परोरी उत्तर दे बैठी – इस बातका। तेरी शक्ति मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकती। मुझमें सतीत्वका तेज है।

वह बोली – "तो अब मुझे दोष मत देना। तुम्हें पता लग जायेगा चौबीस प्रहरके भीतर ही। महामायाकी मुझपर ऐसी कृपा है – कि तुम्हारे स्वामी महाराजको मैं जो चाहूँ माया रचकर दिखला सकती हूँ। दिखला सकती हूँ यही नहीं, दिखला दूँगी। और मेरे साथ भिडनेका आनन्द शरीर-विसर्जनके बाद ही आयेगा।" मेरे अन्दर रोष बढता जा रहा था। मैंने कहा – "क्या दिखला दोगी मेरे देवताको, सुन तो लूँ ?" वह बोली – "यदि महामायाकी मेरे ऊपर स्वप्नमें भी एक क्षणके लिये कृपा हुई है तो मैं उन्हींके दिये मन्त्रबलसे यह दिखला दूँगी.....।" मेरी बहिनने घबड़ाकर मेरे

मुँहपर अँगुली रख दी जिससे मैं आगे कुछ बोल न सकूँ। पर मुझे रोष चढा हुआ था। मैंने बहिनकी अँगुली बरबस हटा दी और बोली – "पद्माजी ! यदि तुम अपने उसी पवित्र पिताकी जायी हुई हो, सचमुच जायी हुई हो तो करके दिखलादो। मैं सलट लूँगी। चौबीस पहरके बाद ही मैं तुमपर शासन करने जाऊँगी। (कुछ रुककर दाँत पीसकर) तो तुम भी सुन लो। किसी अज्ञात दुर्दैववश पद्माकी माया सफल हो गयी। और आज तुम मेरे सम्मुख इस रूपमें उपस्थित हुए हो। किंतु अब मैं जीना नहीं चाहती। पहले विष लाओ। मैं बहिनको दे आऊँ। और फिर तुम अपने हाथसे मेरी हत्या कर देना।

*किशोर* – (दाँत पीसकर) मैंने आजतक नारीपर शस्त्र नहीं उठाया है।

*मञ्जुश्यामा* – (क्रोध भरे स्वरमें) अपने हाथोंसे उठाकर कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें फेंक देना।

*किशोर* – (विकट हँसी हँसकर) अरी ! तुम्हारी चतुराई अब न चलेगी। मुझे पद्माने पहले ही सावधान कर दिया है। तुम ठीक-ठीक ऐसी ही माया रचोगी। उसने प्रायः अक्षरशः मुझे बता दिया।

*मञ्जुश्यामा* – (दाँत पीसकर) ठीक है। हम दोनों बहिनोंके बिदा हो जानेके बाद माया किसने रची थी, यह अपने आप प्रगट हो जायगा।

*किशोर* – (कुछ क्षण उसकी ओर देखकर) एक बात अवश्य है। मैंने ही पद्मासे कही थी। (कहकर रुक जाता है)

*मञ्जुश्यामा* – (अत्यन्त उपेक्षाके स्वरमें) अब मुझे कुछ नहीं कहना है।

*किशोर* – (कुछ ढीली मुद्रामें) नहीं ! वह भी कह दे रहा हूँ। तुम सुन लो। बात यह हुई कि पद्माकी मुद्रा देखकर मुझे सन्देह हुआ। वह टोनेवाली है, बड़ी मायाविनी है – यह तो गाँवमें सभी जानते हैं। इसीसे मेरे मनमें आया कि कहीं वह मेरी आँखोंपर इन्द्रजाल तो नहीं रच रही है। तत्क्षण मैं उससे पूछ बैठा – "अरी ! यदि मञ्जुश्यामा सतीत्वका प्रमाण देना चाहे तो कौनसा प्रमाण मुझे स्वीकार करना चाहिये ? इसके उत्तरमें वह हँसी थी, और बोली थी- "..............."

*मञ्जुश्यामा* – (उपेक्षाकी मुद्रामें) यह प्रमाण तो मैं अभी दे सकती हूँ। पर लाभ क्या है ?

*किशोर* – लाभ यह है कि मैं तो तुम्हारी हत्या नहीं करूँगा। केवल तुमपर शासनकी व्यवस्था कर दूँगा। जिससे तुम उससे मिल न सको। पर तुम्हारी बहिन भी इस संसारसे विदा होनेसे बच जायगी। तुम उनके विरहका दुःख नहीं देखोगी। यही परम लाभ है।

*मञ्जुश्यामा* – परीक्षा देनेके अनन्तर भी शासनकी आवश्यकता पड़ेगी न ?

*किशोर* – (बड़ी उतावलीमें) नहीं ! नहीं ! मैं भूल गया। क्रोधवश मुझे ज्ञान नहीं रहा है कि क्या कहना चाहिये। परीक्षाके अनन्तर तो तुम दोनों बहिनें ही मेरे लिये परदेवता, आराध्यदेवी बनोगी – अनन्तकालतकके लिये।

तुम्हारी रुचि ही मेरे जीवनकी रुचि होगी। शासन पद्मापर होगा और चन्द्रावलीजी भी जीवित बच जायेंगी। उनका वियोग-दुःख तुम दोनोंको नहीं देखना पड़ेगा।

*मञ्जुश्यामा* – (कुछ सोचकर) इसका अर्थ मैं नहीं समझी।

*किशोर* – (बड़ी सरस और शान्तिकी मुद्रामें) देखो, मुझे अनुभव हो रहा है कि तुम्हारे कण-कणमें सतीत्व भरा है, और ये सब पद्माकी ही माया है, जो मैंने आँखोंसे ऐसी बातें देख ली हैं। मुझे सत्य पता है कि तुम दोनों बहिनें चन्द्रावलीजीको, पद्माको भी प्राणोके समान प्यार करती हो। किंतु बत्तीस पहरमें कोई ऐसी घटना होगयी जिसके कारण पद्माके मनमें द्वेषकी आग भडक उठी है। वह परिणाम सोचे बिना ही प्रतिहिंसाकी भावनामें डूबी हुई है। पीछे पछतायेगी। किंतु साथ ही एक संशय रह-रहकर मेरे मनमें आ ही जाता है कि तुम्हारा इतना दुराग्रह क्यों है ............?

**[मञ्जुश्यामाके कानमें बड़ी देरतक फुस-फुस करता रहता है । मञ्जुश्यामा भी बड़ी गंभीर मुद्रामें फुस-फुस करके ही उत्तर देती है। पाँच-सात बार परस्पर फुसफुसाहटके अन्तरालमें उत्तर-प्रत्युत्तरके अनन्तर]**

*मञ्जुश्यामा* – (कुछ पल सोचकर) तुम प्रथम यह बतलाओ मेरी बातोंपर तुम्हें विश्वास हो गया ?

*किशोर* – शत-प्रतिशत तो नहीं (कुछ रुककर) हाय! हाय ! भूल हो गयी। शत-प्रतिशत, शत-प्रतिशत, शत-प्रतिशत।

*मञ्जुश्यामा* – ठीक है। तुम दूसरीका उत्तर सुनो।

बारह वर्षके पहले यदि कुछ भी हुआ तो तुम्हारे बड़े भाई जल जायेंगे। राज्य नष्ट हो जायगा। बहिन तो तत्क्षण प्राणविसर्जन कर देगी। और मेरे प्राण भी तत्क्षण अपने आप निकल जायेंगे। तुम्हारा सुखमय स्वप्न सदाके लिये टूट जायगा।

*किशोर* – क्या भगवती पौर्णमासीकी बात मिथ्या होगी ?

*मञ्जुश्यामा* – क्या पता पद्माने ही पौर्णमासीका रूप धारणकर तुम्हारी वञ्चना की हो !

**[किशोर विचारमें पड़ जाता है]**

*मञ्जुश्यामा* – खूब सोच लो।

**[किशोर और भी गंभीर हो जाता है, किंतु उसके हाथकी चञ्चलता मिटती नहीं]**

*मञ्जुश्यामा* – (दस बारह पल सोचती रहकर) खूब सोच लो। खूब सोच लो। खूब सोच लो।

*किशोर* – (सोचता हुआ-सा) यह संभव नहीं है, कैसे कह दूँ।

*मञ्जुश्यामा* – (आवेशके स्वरमें) तुम सत्य मानो, भगवती पौर्णमासी ऐसी चर्चा स्वप्नमें भी नहीं कर सकतीं। यह तो कोरा पद्माका रचा हुआ जाल है। जिसके फलस्वरूप मैं तो प्रातःसे पहले बिदा हो रही हूँ। मेरी बड़ी बहिनकी रक्षा तुम अब भी कर सकते हो।

**[किशोर डर-सा जाता है पर उसके हाथकी चञ्चलता बढ़ती जाती है]**

*किशोर* – अच्छा ! तू बतला, अब क्या करूँ ?

*मञ्जुश्यामा* – (क्रोधमें भरकर) मेरे जीवनसे तो तुम अब निराश हो जाओ। मेरी बहिनकी रक्षा तुम अवश्य कर सकते हो, और अनन्तकालतक सुखके भागी बन सकते हो।

*किशोर* –(भयभीत मुद्रामें) कैसे ?

*मञ्जुश्यामा* –(उपेक्षाकी मुद्रामें) पहले अपने मनकी शक्ति टटोलकर विश्वनियन्ताकी साक्षी देकर रक्षा करनेके लिये तैयार हो जाओ, तभी कह सकती हूँ।

*किशोर* –(अत्यन्त आवेशके स्वरमें) सूर्य-चन्द्र साक्षी हैं। भगवती पौर्णमासी साक्षी हैं। जगन्नियन्ता साक्षी हैं, आजसे इस क्षणसे जो तुम कह दोगी उसीके साँचेमें मेरा जीवन अनन्तकालतक ढलता रहेगा।

[मञ्जुश्यामा रोने लग जाती है]

*किशोर* – अब तुम बतलाओ।

*मञ्जुश्यामा* – (सुबकी भरकर) आजसे इस क्षणसे स्वप्नमें भी, भूलकर भी, मेरी बहिनके सतीत्वपर क्षणभरके लिये भी, तुम सन्देह मत करना। सदा ध्यान रखना कि अब पद्मा तुम्हारे बडे भाईको बहका न दे। और अपने बड़े भाईसे पहले ही कह देना कि वे भी अब यदि मेरी बहिनपर कुछ भी सन्देह करेंगे, सन्देह करके उसपर प्रतिबन्ध लगायेंगे, तो उनके सहित उनके राज्यका सर्वनाश हो जायगा।

[रुककर फूट-फूटकर रोने लगती है]

*किशोर* – (अतिशय आवेशके स्वरमें मञ्जुश्यामाके चरण पकड़ कर) ऐसा ही होगा, ऐसा ही होगा, ऐसा ही होगा। तुम

मुझे गत अपराधके लिये क्षमा कर दो। हाय रे ! मैंने तुमपर सन्देह क्यों किया ? **(रोने लग जाता है)**

***मञ्जुश्यामा*** – (रोकर) मैं तुम्हें क्षमा कर चुकी हूँ। पर अब मुझे विदा दो।

***किशोर*** – क्यों ?

***मञ्जुश्यामा*** – अब मैं प्राणविसर्जन करने जा रही हूँ।

***किशोर*** – (काँपकर) नहीं ! नहीं ! मैं ऐसा करने नहीं दूँगा।

***मञ्जुश्यामा*** – (हाथ हटाकर) तुम्हारी शक्ति कुण्ठित हो जायगी। (रोकर) मैं अबला हूँ, पर प्राणत्यागका बल मुझमें अब भी है।

***किशोर*** – (रोकर चरणोंमें सिर रखकर) बोलो ! बोलो! आखिर मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया जिसके लिये तुम इतना कठोर दण्ड देने जा रही हो ?

***मञ्जुश्यामा*** – (रोषके स्वरमें) तुमने मेरे सतीत्वका नाश किया है।

***किशोर*** – (अचरजमें भरकर) कैसे ?

***मञ्जुश्यामा*** – (उपेक्षाकी मुद्रामें) मुझे स्पर्श करके।

***किशोर*** – (विनतीके स्वरमें) क्या पतिका इतना-सा भी अधिकार नहीं ?

***मञ्जुश्यामा*** – (जलती-सी वाणीमें) तुम मेरे पति नहीं हो, नहीं हो, नहीं हो। (कुछ रुककर) और मेरी बहिनके पति तुम्हारे बड़े भाई, नहीं हैं, नहीं हैं, नहीं हैं।

**(किशोरके नीचेसे मानो जमीन खिसक जाती है। मूर्छित-सा होने लगता है।)**

*किशोर*- (टूटे हुए स्वरमें) मैं क्या सुन रहा हूँ ?

*मञ्जुश्यामा* - सत्य, सत्य, सत्य सुन रहे हो। तुमसे मेरा ब्याह त्रिकालमें हुआ ही नहीं।

*किशोर* - तो क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ?

*मञ्जुश्यामा* - स्वप्नसे भी गयी-बीती कुछ देख रहे हो।

*किशोर* - (किंकर्तव्यविमूढ़की मुद्रामें रुक-रुककर) फिर तुम मेरे घर क्यों ?

*मञ्जुश्यामा* -(रोकर) मेरा दुर्दैव मुझे ले आया। बहिन दुर्दैववश यहाँ पड़ी हुई है।

*किशोर* - (घबड़ाकर) क्या मेरे द्वारा पाणिग्रहण नहीं हुआ ?

*मञ्जुश्यामा* - (खीझकर) अरे ! ब्याह हुआ होता तब तो ?

*किशोर* - (विनतीके स्वरमें) तो अभी जाकर मैं ही तो तुम दोनोंको ले आया था ?

*मञ्जुश्यामा* - (पागलनीकी हँसी हँसकर) अच्छा, सुनो। एक क्षणके लिये भी स्वप्नमें भी न मुझे, न मेरी बहिनको यह अनुभूति हुई है कि दुर्मद या रायाण नामके किन्हीं अहीर बालकने, अहीर युवराजने हमारे हाथ पकड़े हों। उस दिन मुझे एवं मेरी बहिनको इतना ही भान था कि मैया रो-रोकर हमें विदा कर रही है। सूर्यमन्दिरके समीप आनेपर यह भान

हुआ कि तुम मेरी बहिनके देवर लगते हो और यह अभिभान लिये बैठे हो कि मैं तुम्हारी अधिकृत पत्नी हूँ। उसके अनन्तर मेरी आँख झुक गयी और तुम मेरे नेत्र-पथमें तबसे आज दूसरी बार आये हो। और आये हो मुझे संसारसे विदा करने के लिये। (रोने लग जाती है। फिर कुछ धीरज करके) मुझे मरनेकी व्यथा नहीं है। केवल हाय रे ! इस जीवनमें अब मैं बहिन राधाका मुख नहीं देख सकूँगी।

**[फूट-फूटकर रोने लगती है]**

***किशोर*** – (रोकर) कोई उपाय है ?

***मञ्जुश्यामा*** – है ! किंतु प्राणविसर्जनके अनन्तर ही। फिर मैं उसकी, मेरी प्राणाधिका राधा बहिनकी सहोदरा बनकर अखण्ड भावसे उसके श्रीमुखका दर्शन करती हुई, उसकी सेवामें ही अनन्तकालतक निरत रहूँगी।

***किशोर*** – (चिन्ताकी मुद्रामें) तुम बताओ, सबसे अधिक सामर्थ्यशाली विश्वमें कौन है ? मैं उसकी शरण लूँ ! वह तुम्हारे जीवनकी रक्षा कर दे !

***मञ्जुश्यामा*** – मुझे बतलानेकी इच्छा नहीं है।

**[किशोर चरणोंमें पड़कर रोने लग जाता है]**

***मञ्जुश्यामा*** – बतला दे रही हूँ। किंतु उनकी कृपाका उपयोग अब मैं मलिन शरीरके लिये करूँगी ही नहीं।

***किशोर*** – (बड़ी उतावलीके स्वरमें) तुम नाम बताओ, नाम बताओ !

***मञ्जुश्यामा*** – व्रजेन्द्रनन्दन हैं । भगवती पौर्णमासी

हैं।

*किशोर* – दोनोंमें भी अधिक ?

*मञ्जुश्यामा* – (उपेक्षाकी मुद्रामें) तुम समझोगे नहीं। दोनों एक हैं।

*किशोर* –(रोकर) मैं अभी जाऊँ उनके पास ?

*मञ्जुश्यामा* – कह चुकी। व्यर्थ है।

*किशोर* – (रोकर) अरी ! क्या तुम मुझे तनिक भी प्यार नहीं करती ?

*मञ्जुश्यामा* – प्यार तो एकके प्रति ही होता है।

*किशोर* – (बड़ी व्याकुलताके स्वरमें) अच्छा, यह कह दो तुम किसको प्यार करती हो।

*मञ्जुश्यामा* – कर नहीं सकी। करना चाहती हूँ।

*किशोर* – किसे ? नाम बतादो, मैं उसकी शरण लूँ !

*मञ्जुश्यामा* – (कुछ सोचकर) मैं अपनी राधा बहिनको प्यार करना चाहती हूँ पर .....(रोने लग जाती है)।

*किशोर* – (कुछ सोचकर) उनके अनन्तर किसको?

*मञ्जुश्यामा* – व्रजेन्द्रनन्दनको।

*किशोर* – (रोकर) मुझे आशा दीखती है, पर मैं प्यार-सम्बन्धकी गहरायी जान लूँ ? मुझे बतादो, कैसे आरंभ हुआ !

*मञ्जुश्यामा* – (उपेक्षाके स्वरमें) क्या करोगे सुनकर? (कुछ रुककर)पर सुन लो एक-दो बात ! जबसे मुझे विश्वका भान हुआ तबसे बहिन राधाके अतिरिक्त मैं किसीको जानती ही नहीं । उसीके अंकमें पली । उसने मुझे अपने प्राणोंका

सम्पूर्ण प्यार दिया है । निरन्तर मेरे कण-कणको सींचती रही है। और प्रतिक्षण मेरी वेदना भी बढ़ती रही है – हाय रे ! मैं राधा बहिनको प्यार न कर सकी। इस वेदनाका ही कदाचित् परिणाम हो। उस दिनकी बात है। मेरे कौमारका अवसान हो रहा था। अंगोंपर कैशोरका आधिपत्य दीखने लगा। राधा बहिन बडी चतुराईसे अपनी शपथ देकर पहले ही मुझे बचनबद्ध करके बोली - "मेरे लाडकी पुतली ! मैंने जिसके प्रति अपना सर्वस्वसमर्पण किया है उसपर ही तू भी न्यौछावर हो जा। मेरी एकमात्र इस अभिलाषाको तू पूरी कर दे।" मैं बहुत रोयी। किंतु यह सोचकर कि बहिनको जब सुख है तो इस अंशमें प्यारका ककहरा मैं सीखूँ, बहिनके प्रति ही। मैं बोली - "ठीक है। आज इस क्षणसे वे ही मेरे परमाराध्यदेव हुए। उनका ही – किंतु तेरी ही छत्रछायामें– मेरे सब-कुछपर सम्पूर्ण अधिकार हुआ। अनन्त कालतक। उस समय राधा बहिनको भी यह पता न था कि उसके प्राणसारसर्वस्व कौन हैं। वह केवल इतना ही अनुभव करती कि कोई श्यामवर्ण बालक है। अप्रतिम सुन्दर है। जिसके प्रति मैं न्योछावर हुई हूँ। मुझे भी यही अनुभूति रहती। जिस दिन प्रथम बार हम दोनोंको ब्रजेन्द्रनन्दनके दर्शन हुए तब यह भान हुआ कि अनादिकालसे ये ही हमारे वे देवता हैं। उन्होंने हमारी करुण प्रार्थना सुन ली और किसी बहाने वे हमें दर्शन-सुखका दान कर देते । **(रोने लगती है)**।

***किशोर*** – **(अत्यन्त खिन्न स्वरमें)** अरी ! किसी भी

मूल्यमे क्या मैं तुम्हारे प्यारका अधिकारी बन सकता हूँ ?

*मञ्जुश्यामा* – (खिन्न-सी) क्या बताऊँ।

*किशोर* – (रोकर) नहीं ! नहीं ! बतला दो।

*मञ्जुश्यामा* – कर सकोगे ?

*किशोर* – (उल्लासके स्वरमें) अवश्य, अवश्य प्राणका मूल्य देकर भी।

*मञ्जुश्यामा* – मैं तो अब इस शरीरसे तुम्हें आदेश देनेसे रही। किंतु मेरे प्राणोंसे बढ़कर प्यारी बहिन राधा है। उसे मैं कह जाऊँगी। उसकी ही प्रत्येक रुचिकी रक्षामें अपना सम्पूर्ण स्वाहा करते हुए जीवन यापन करो। इसीके फलस्वरूप प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनसे एकत्व सायुज्य लाभ कर सकोगे। अपने आप फिर तो मेरे प्यारके पात्र बन जाओगे। पर ..... **(रोने लगती है )**

*किशोर* – (रोकर) पर क्या ?

*मञ्जुश्यामा* – अब विलम्ब हो गया। मुझे विदा दो। हाथ हटा लो।

*किशोर* – (करुण स्वरमें) क्या करोगी ?

*मञ्जुश्यामा* – कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें इस मलिन, अपवित्र शरीरको विलीन।

*किशोर* – (हाथ हटाकर छाती पीटकर) हाय रे ! मैंने क्या किया ? (चरण पकड़कर) दया करो, दया करो, देवि !

*मञ्जुश्यामा* –(दयाकी मुद्रामें देखती हुई) बोलो ! क्या ?

*किशोर* – अपने इस शरीरको नष्ट मत करो !

*मञ्जुश्यामा* – (उपेक्षाके स्वरमें) यह तो अब असम्भव

है।

*किशोर* – (हाथ जोड़कर) क्यों ?

*मञ्जुश्यामा* – (भर्राये हुए स्वरमें) इस शरीरके दर्शन मात्रसे मेरी राधा बहिनका अनिष्ट होगा। प्रियतमका अमंगल होगा। मलिनाका अस्तित्व उन दोनोके लिये नितान्त घातक है।

*किशोर* – (रोकर) नहीं ! नहीं ! मेरे भावी जीवनपर विचार करो !

*मञ्जुश्यामा* – (सूखी हँसी हँसकर) कर चुकी हूँ। एक सुन्दरी बालिकाको लेकर सुखसे रहना। वासनाका जाल टूटनेपर आगेकी बात।

*किशोर* – (पुनः छाती पीटकर) हाय रे ! धिक्कार है मुझे ! अरी ! बता, बता, मैं क्यों किस हेतुसे तुम्हें खोने जा रहा हूँ !

*मञ्जुश्यामा* – तुम्हारी यह वासना ही हेतु है।

*किशोर* – (आकुल कण्ठसे) कौनसी वासना ?

*मञ्जुश्यामा* – (नत दृष्टिसे) अब भी नहीं समझे ?

*किशोर* – नहीं ! नहीं ! स्पष्ट बतला दो।

*मञ्जुश्यामा* – (पागलनी-सी) इसका सुख लेनेकी. ....।

*किशोर* – हाय रे ! यह तो अभी भी मुझे वैसी ही जला रही है – **(चंचल हो उठता है)**

*मञ्जुश्यामा* – (रोकर) अब दया करो। विदा दो।

*किशोर* – (कुछ संयत होकर हाथ जोड़कर) तुम बताओ

इस वासनाका क्या परिणाम होगा, यदि पूर्ण न हुई तो ?

*मञ्जुश्यामा* – मैं क्या बताऊँ।

*किशोर* – नहीं ! नहीं ! देवि ! तुम्हारी उक्ति ही सत्य है। तुम मुझे बतला दो !

*मञ्जुश्यामा* – (उदास-सी) कोई आयेगी इसे पोंछने।

*किशोर* – (आवेशमें) यह तो असम्भव है।

*मञ्जुश्यामा* – (रूखी हँसी हँसकर) क्यों ?

*किशोर* – (आवेशमें) तुम्हारे स्थानपर तो अनन्तकाल तक अब तुम ही रहोगी।

*मञ्जुश्यामा* – (धीमे स्वरमें) देखो, अब विलम्ब मत करो। मुझे जाने दो।

**[किशोर चरणोंमें सिर रखकर रोने लग जाता है]**

*मञ्जुश्यामा* – (उदासीके स्वरमें) जो होना था हो चुका, अब तुम तो सुखसे रहो, मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ।

*किशोर* – (हाथ जोड़कर) मेरा सुख तो एकमात्र तुम्हारी राधा बहिन और तुममें है ......।

*मञ्जुश्यामा* – (घृणाके स्वरमें) मेरी राधा बहिनका नाम तुमने क्यों लिया ?

**[किशोर भयकी मुद्रामें मञ्जुश्यामाके कानमें कुछ फुस-फुस करने लगता है]**

*मञ्जुश्यामा* – हाय रे ! तुम्हारे अन्दर लज्जा भी नहीं है ?

*किशोर* –(रोकर मञ्जुश्यामाके चरणोंको पकड़कर) देवि! मेरी रक्षा करो ! मेरी शुद्धि करो ! मैं तुम्हारी शरण हूँ। मुझे

अपनी दशाका पूरा-पूरा अनुभव है। किंतु मेरी शक्ति कुण्ठित हो रही है (उसके हाथ आवेशमें चंचल हो उठते हैं)

*मञ्जुश्यामा* – (किंकर्तव्यविमूढ़की मुद्रामें) मेरे निष्प्राण शरीरको भी तिल-तिलकर काटनेमें तुम्हें सुखका अनुभव हो रहा है ?

**[किशोर चरणोंमें पड़कर फूट-फूटकर रोने लग जाता है। मञ्जुश्यामा सोचती रहती है - कैसे पिण्ड छुड़ाऊँ ? ]**

*मञ्जुश्यामा* – (दयाकी मुद्रामें) तुम बोलो ! चाहते क्या हो ?

**[किशोर कानमें फुस-फुस करने लगता है और मञ्जुश्यामाकी आँखोंसे आँसूकी धारा चलने लगती है]**

*मञ्जुश्यामा* – (बैठकर) देखो ! तुम एक बात सुनो। जीवनमें मनुष्यता भी कोई वस्तु है। उसका त्याग मत करो।

*किशोर* –(वैसे ही चरण पकड़कर) देवि ! मेरी रक्षा करो ! मेरी शुद्धि करो ।

*मन्जुश्यामा* – (दयाकी मुद्रामें) इससे शुद्धि नहीं होगी। रक्षा नहीं होगी।

*किशोर* – (वैसे ही चरण पकड़े आवेशके स्वरमें)देवि ! तुम असम्भवको संभव कर सकती हो। मेरा प्रश्न तो तुच्छातितुच्छ है, नगण्य है तुम्हारे लिये।

**[मञ्जुश्यामा पाँच-छः पलतक अपनी हथेलीसे मुख ढँककर सोचती रहती है]**

*किशोर* – (वैसे ही चरणोंमें सिर टेककर) देवि ! मेरी रक्षा करो ! शुद्धि करो ।

*मञ्जुश्यामा* – (अत्यन्त उदास स्वरमें) तुम तनिक मेरी स्थितिमें आकर देखो कि यह मेरे द्वारा स्वप्नमें भी संभव हो सकता है ?

*किशोर* – (आवेशमें) अवश्य, अवश्य तुम असंभवको संभव कर सकती हो।

**[मञ्जुश्यामा फिर उसी प्रकार अपने हाथोंसे मुख ढककर सोचने लगती है]**

*किशोर* – (वैसे ही चरण पकड़कर) देवि ! मेरी रक्षा करो ! शुद्धि करो ।

*मञ्जुश्यामा* – (बड़े करुण स्वरमें) तुम सोचो, मान लो ....... । (कानमें फुस-फुस करके) पर उल्लास ?

*किशोर* – (आवेशके स्वरमें) देवि ! साक्षी भगवती श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी हैं। भगवती पौर्णमासी हैं। भगवती पौर्णमासीके श्रीमुखका वाक्य है - तुम दोनों बहिनोंमें यह नित्य सामर्थ्य है कि जहाँ जिस वस्तुको देख लोगी वहाँ वही-वही वस्तु प्रगट हो जायगी। अनन्त कालतकके लिये। सत्यका भी सत्य बनकर।

*मञ्जुश्यामा* – (अचरजकी मुद्रामें) इसका अर्थ ?

*किशोर* – (चरण पकड़कर) देवि ! यदि तुम सचमुच चाह लो तो मेरे स्थानपर अभी इसी क्षण व्रजेन्द्रनन्दनको ही प्रगट कर सकती हो।

**[मञ्जुश्यामा विचारमें पड़ जाती है। आधे क्षणमें**

उसकी आँखें बदलने लगती हैं । उसे अनुभव होता है कि मेरी बायीं ओर मेरी बड़ी बहिन राधा बैठी हैं और सामने प्रियतम श्रीकृष्ण बैठे हैं, हँस रहे हैं । इसके अतिरिक्त अभी इस क्षणसे पहलेकी सम्पूर्ण घटनाओंकी पूर्ण विस्मृति हो जाती है उसे]

[मञ्जुश्यामाकी पवित्रतम सरसतम आँखोंमें यह अनुभूति है कि व्रजेन्द्रनन्दन उसके अंगोंपर शृंगार धारण करा रहे हैं। और उसकी प्राणोंसे अधिक प्यारी बहिन राधा उसके बामपार्श्वमें बैठी हँस रही हैं। एक घड़ीके अनन्तर मञ्जुश्यामाकी यह सरस पवित्र आँख बदलती है और वह अनुभव करती है कि वही पूर्वका किशोर हास्यकी मुद्रामें द्वार बंद करते हुए बाहर चला जा रहा है। मञ्जुश्यामा मूर्छित होकर गिर पड़ती है]

---

## - चौथा दृश्य -

[मञ्जुश्यामा भूर्जपत्रपर एक पत्र लिख रही है । और उसकी आँखोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह चल रहा है। पत्र इस प्रकार है ।..........

बहिन राधा !

तुम्हारे जानेके अनन्तर जो घटनाएँ घटीं उसको ज्यों-की-त्यों ऊपर लिख चुकी हूँ। किंतु अब मेरे प्राणोंमें ऐसी व्यथा है जिसे मैं ठीक-ठीक तुझे समझा नहीं सकती। मेरी धारणा है तू मुझे सर्वथा निर्दोष, निष्पाप समझेगी ।

किंतु मुझे यह अनुभव हो रहा है कि अब मेरे इस शरीरका अस्तित्व तेरे लिये और प्रियतम श्रीकृष्णके लिये सर्वथा अनिष्टकारी होगा। बहिन ! मैं एक क्षणके लिये भी तुझे प्यार न कर सकी । तुझे कोई सुख न पहुँचा सकी । तेरा प्रतिक्षण बढ़ता हुआ प्यार पाकर मैं फूली-इतरायी फिरती थी। उस दिन सोचा तक नहीं था कि जीवनमें ऐसी घटना भी घट सकती है। पर वह घट गयी। तो यदि मैं सुख नहीं दे सकी तो कम-से-कम तेरे सुखमय जीवनको दुःखमय तो न बनाऊँ ! मुझ अधमाका मुखदर्शन करनेपर भी तेरा अब निश्चय-निश्चय अनिष्ट होगा। धर्मकी मर्यादापर ही सुख-दुःख अवलम्बित हैं। धर्मका अतिक्रमण जानमें हो, अनजानमें हो, भयसे हो, किसी भी हेतुसे हो, वह सर्वथा सर्वांशमें अमंगलकारी ही होता है । तू यह युक्ति दे सकती है कि "व्रजेन्द्रनन्दनने ही तो मुझे स्पर्श किया ?" किन्तु वह दुर्मद व्रजेन्द्रनन्दन बन गया उस क्षणके अनन्तर ही तो यह युक्ति मान्य होगी ? दुर्मदने व्रजेन्द्रनन्दन बननेसे पूर्व ही मुझे स्पर्श कर लिया था । जिसका स्पष्ट संकेत ज्यों-का-त्यों मैं तुझे ऊपर कर चुकी हूँ । ऐसी स्थितिमें इस अपवित्र शरीरको तू देखे, स्पर्श करे, इसका महाअनिष्टकारी फल तेरे लिये होगा ही, यह मुझे ठीक-ठीक अनुभव हो रहा है । और बार-बार मेरे मनमें आ रहा है, इस हेतुसे तेरा जीवन दुःखमय बन जायगा । तू मेरे अभावमें रोकर जितना दुःख पायेगी, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक दुःख तू पायेगी मुझ-जैसीको प्यार देकर, मुझे अंकसे लगाकर। मेरे प्रति प्यारके आवेशमें तू भले न समझे कि मेरा मनोभाव क्या है किंतु सत्य तो सत्य ही रहेगा। महामलिनके

स्पर्शसे, देखने मात्रसे मलिनता आयेगी ही। नहीं !नहीं ! बहिन ! जिस परम पवित्र प्यारकी खान शरीरको प्रियतम श्रीकृष्ण अपने अंकमें धारण करते हैं, जिसे देखकर प्रियतम श्रीकृष्णको प्रतिक्षण नव-नव सुखका भान होता है, उसे मैं मलिन नहीं बनाऊँगी, अपने स्पर्शसे । फिर प्रियतम श्रीकृष्णको तू वह सुखदान नहीं कर सकेगी, मेरे स्पर्शकी मलिनताका कण लेकर। तेरे जीवनका एकमात्र सुख है प्रियतम श्रीकृष्णको सुखदान, मैं तेरे इस सुखको ही नष्ट करनेवाली बन जाऊँगी, अपनी मलिनताके छींटे तुमपर डालकर । तू भले मान ले कि यह मेरी कोरी भावुकता है, किंतु मुझे स्पष्ट अनुभव हो रहा है, कि मेरा यह शरीर अब इस योग्य न रहा कि तू मुझे देख सके, स्पर्श कर सके। इसलिये बहिन ! मैं अपने मनके सामने तुझे रखकर अब तुझसे विदा ले रही हूँ । मेरी यह लालसा इसी शरीरसे पूर्ण न हुई कि मैं अनन्त कालतक इस शरीरसे ही तुझे प्रतिपल नवीन सुखका दान कर सकूँ। पर अब दूसरे शरीरसे जगन्नियन्ता मेरा मनोरथ अवश्य, अवश्य, अवश्य पूर्ण करेंगे। मेरी एकमात्र यही अभिलाषा है कि इस अन्तिम महाप्रयाणके अनन्तर मैं फिर तेरी ही सहोदरा छोटी बहिन बनूँ । इन्हीं पिता और इन्हीं जननीकी पुत्रीके रूपमें । और फिर अनन्त कालतक तुझसे मेरा वियोग न हो । क्षणभरके लिये भी । तू ही मेरे प्राणकी, मनकी, तनकी, मुझसे सम्बद्ध कण-कणकी स्वामिनी बने, अनन्त कालतक। मैं निरन्तर तेरा प्यार भरा मुख निहारती रहूँ, अनन्त कालतक। बहिन राधा ! तू इसका समर्थन कर देना, और प्रियतम

श्रीकृष्णके पदनखचन्द्रोंमें मेरी यह विनती भी पहुँचा देना कि वे भी इसका समर्थन कर दें। मैं जानती नहीं कि यह समाचार तेरे पास पहुँचेगा या नहीं, इस भूर्जपत्रके माध्यमसे। पर यह सत्य है कि मेरे प्राण समीरमें भर रहे हैं। प्राणोंके साथ मेरी यह लालसा और पत्रमें अंकित प्राणोंका एक-एक स्पन्दन भी समीरकी साँय-साँयमें ज्यों-का-त्यों परिपूरित होता जा रहा है। समीरकी यह साँय-साँय तेरे कानोंमें ज्यों-की-त्यों सब बातें कह देगी। और कदाचित् मुझपर सदय होकर यह इस भूर्जपत्रके खण्डको भी उड़ाकर तेरे पास पहुँचा दे। बहिन ! तू उदास मत होना, सत्य, सत्य मेरा वियोग बस आधे क्षणके लिये ही तुझे सहना है । मैं निश्चय, निश्चय ही आधे क्षणके अनन्तर मूर्त हो जाऊँगी, तेरी प्राण-प्रतिबिम्ब-स्वरूपिणी सहोदरा बहिनके रूपमें। यही विधाताका विधान था। और सम्भवतः यही अग्रिम विधान है। सम्भवतः की बात इसलिये कि कदाचित् तेरा मेरे प्रति अनादि, अपरिसीम, अनन्त, अहैतुक प्यार इस सम्पूर्ण घटनाको स्वप्नके रूपमें परिणत कर दे। किंतु बहिन ! इसकी आशा अब मैं क्यों करूँ ! मेरे रोम-रोमकी लालसा है, मैं न सही तू तो इसे अवश्य-अवश्य स्वप्नके रूपमें ही अनुभव कर ले । और मेरे इस करुण प्रसंगको स्वप्नकी व्यथा अनुभवकर दुःखिनी न हो । मेरे रोम-रोमका प्यार मैं तुझे देना चाहती थी, पर दे न सकी । तेरे रोम-रोमका अनन्त, अपरिसीम प्यार साथ लिये ही आधे क्षणके लिये तुझसे अलग होने जा रही हूँ।-

तुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारी, तेरी छोटी सहोदरा बहिन – मञ्जुश्यामा

——

(उपर्युक्त पत्रको समाप्तकर भूर्जपत्रको अपनी कञ्चुकीमें रखकर कक्षसे बाहर निकल चलती है । सौ पद पश्चिमकी ओर, फिर सौ पद उत्तरकी ओर चलकर)

*मञ्जुश्यामा* – (पागलनी-जैसे स्वरमें)आयी ! आयी ! आयी ! बहिन ! आयी !

(व्रजेन्द्रनन्दन मन्द-मन्द हँसते हुए उसका अनुसरण करते हैं)

*मञ्जुश्यामा* – (पागलनी जैसी चेष्टा करती हुई) भूर्जपत्र क्या हुआ ? कहाँ गया ? अच्छा, उड़ गया ।

(हँसने लगती है । और दो पल लगभग नृत्यकी मुद्रामें एक अशोक वृक्षके नीचे आकर ओढ़नी गिरा देती है। कञ्चुकी फाड़ डालती है। भूर्जपत्र गिर जाता है। सहसा पवनके एक झोंकेमें वह उड़ जाता है)

श्रीकृष्ण – (स्वगत) प्यार इसे कहते हैं ।

मञ्जुश्यामा – (दौड़ती हुई) आयी ! आयी ! प्यारी बहिन ! आयी !

(कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहके समीप पहुँच जाती है। उस ओर श्रीराधा सौ पदकी दूरीपर खडी हैं। और मञ्जुश्यामाको देख लेती हैं। इसी समय भूर्जपत्र उड़कर उनके हाथोंपर आ जाता है। कंकणके प्रकाशमें पढ़ती हैं। पहली पंक्ति, फिर बीचकी पंक्ति, फिर अन्तिम पंक्ति और)

श्रीराधा – (चीत्कारके स्वरमें) प्रियतम ! श्रीकृष्ण ! बचाओ, बचाओ मेरी बहिनको। (मूर्छित हो जाती हैं )

(उधर मञ्जुश्यामा कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें कूदने

चलती है। प्रियतम श्रीकृष्ण उसे अंकमें भर लेते हैं)

**श्रीराधा** – (मूर्छासे जगकर) हैं ! हैं ! यह तो दुर्मद नहीं, प्रियतम श्रीकृष्ण ही उसके पीछे चल रहे थे। और यह क्या ? मञ्जुश्यामा तो उनके ही अंकमें है।

(दौड़कर वहीं पहुँच जाती हैं )

**श्रीकृष्ण** – (मूर्छित मञ्जुश्यामाको अंकमें लिये हुए हँसकर) प्राणेश्वरी ! चिन्ता मत करो। मैं ही दुर्मदका वेश धरे हुए था।

**मञ्जुश्यामा** – (मूर्छासे जगकर) छोडो ! छोडो ! कौन है ?

**श्रीकृष्ण** – (हँसकर) अरी मञ्जुश्यामे ! आदिसे अन्ततक दुर्मदके वेशमे मैं ही था री !

**मञ्जुश्यामा** – (आँखें खोलकर अतिशय अचरजकी दृष्टिमें अपनी राधा बहिनको, ब्रजेन्द्रनन्दनको तीन चार बार बारी-बारीसे देखकर) हैं ! तुम थे ? (बहिनसे जा चिपटती है )

**श्रीकृष्ण** – (कलिन्दनन्दिनीकी ओर देखकर) क्यों री ! तू क्यों हँस रही है ? (अपनी आँखें बंद कर लेते हैं )

**श्रीराधा** – (बहिनका मुख चूमकर) चल ! चल ! बडी देर हो गयी ।

(श्रीराधाकी, मञ्जुश्यामाकी दोनोंकी आँखें झँपने लगती हैं । ब्रजेन्द्रनन्दन प्रियतम श्रीकृष्ण उसी प्रकार अपनी आँखें मूँदे दोनोंको अपनी भुजाओंमें भर लेते हैं । यमुनाकी एक ऊँची लहर उठती है और तीनोंके ऊपर तीनोंको डुबाकर बहने लग जाती है )

---

## -पाँचवाँ दृश्य-

(नित्यनिकुञ्जमें पुष्पोंकी शय्यापर एक ओर नित्यनिकुञ्जेश्वर ब्रजेन्द्रनन्दन प्रियतम श्रीकृष्ण विराजित हैं, दूसरी ओर अपनी प्राणप्रतिबिम्बस्वरूपिणी बहिन मञ्जुश्यामाको दाहिनी ओर लिये नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा बैठी है । तीनोंके नेत्र निमीलित हैं। प्रियतम श्रीकृष्णके दोनों करकमल.... सहसा तीनोंकी आँखें एक साथ खुलकर)

**श्रीराधा** – (अत्यधिक आश्चर्यकी मुद्रामें) हैं ! यह क्या?

**श्रीकृष्ण** – (उसी प्रकार अचरजकी मुद्रामें) बड़ी विचित्र बात है ! (हँसने लगते हैं)

**मञ्जुश्यामा** – (उसी प्रकार अचरजकी मुद्रामें) अरे ! स्वप्नकी भी बलिहारी है। (श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लेती है)

**श्रीराधा** – (वैसे ही प्रियतम श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर) तुम्हें तो बस एक बात सूझती है। जरा ठहरो।

**श्रीकृष्ण** – (और भी चपल होकर) तुम बोलो ! कानसे सुन ही रहा हूँ।

**श्रीराधा** – प्रियतम ! बड़ा ही विचित्र स्वप्न मैंने देखा।

**मञ्जुश्यामा** – तू बता बहिन ! पहले । तब मैं बताऊँ कि तेरे और मेरे स्वप्नमें क्या अन्तर है।

**श्रीकृष्ण** – (हँसकर) स्वप्न तो मैंने भी देखा है। (विनोदकी मुद्रामें प्राणेश्वरी श्रीराधाके प्रति कुछ चपलता करने लग जाते हैं)

**श्रीराधा** – नहीं बहिन ! तू पहले कह जा।

(मञ्जुश्यामा अपना स्वप्न बतलाने लगती है।

उपर्युक्त सभी बातें ज्यों की त्यों क्रमशः। श्रीराधा बीचमें अत्यन्त भयकी मुद्रामें बोल उठती हैं – सर्वथा यही, सर्वथा यही मैंने भी देखा है। प्रियतम श्रीकृष्ण भी बीच-बीचमें बड़ी सरस मुद्रामें........ कह उठते हैं – सत्य, हम तीनोंका स्वप्न तो एक ही है। एक घड़ीतक स्वप्न-वर्णन चलता रहता है। और तदनुरूप नित्यनिकुञ्जेश्वर हँस-हँसकर किञ्चित् खेल भी करते रहते हैं। मञ्जुश्यामा बीच-बीचमें खीझ-सी जाती है और कहती है – नहीं सुनाऊँगी, जाओ। मञ्जुश्यामा अपना वर्णन समाप्त करके बहिनकी ओर देखने लगती है)

**श्रीराधा** – प्रियतम ! एक बात पूछूँ ?

**श्रीकृष्ण**– (बड़ी सरस मुद्रामें) अवश्य, अवश्य।

**श्रीराधा**– तुम जिस समय क्रन्दन करते हुए-से अपनेको अनुभव कर रहे थे उस समय तुम्हारे अन्तर्मनमें भी व्यथाका अनुभव था कि केवल अभिनय था ?

**श्रीकृष्ण**– मेरे प्राणों की रानी ! व्यथा तो सर्वथा नहीं थी।

**श्रीराधा**– तो उस समय क्या भावना थी ?

**श्रीकृष्ण**– (अतिशय संकोचकी मुद्रामें) क्या कहूँ !

**श्रीराधा**– (उत्कण्ठाकी मुद्रामें) नहीं ! नहीं ! अवश्य कहो ! और सत्य-सत्य कहना।

**श्रीकृष्ण**–(आँखों में जल भरकर) मेरे प्राणोंकी रानी ! तुम इसका उत्तर मत पूछो।

**श्रीराधा**– नहीं ! नहीं ! अवश्य बतलाओ और तुम मुझे स्पर्श कर रहे हो भला ! तनिक भी मेरी वञ्चना मत करना।

**श्रीकृष्ण**–(आँखें भरकर)प्राणेश्वरी ! शब्द उसके सौन्दर्यको

विकृत कर देंगे। कुछ-का-कुछ अर्थ हो जायगा। अतएव छोड दो।

**श्रीराधा–** नहीं ! नहीं ! आज तुम्हें कहना ही है कि उस समय तुम्हारे अन्तर्मनमें क्या अनुभूति थी।

**श्रीकृष्ण–** प्राणेश्वरी ! वाणी रुद्ध हो रही है।

**श्रीराधा–** नहीं ! नहीं ! बतलाओ !

**श्री कृष्ण–** (आँखोंसे अश्रुधारा बहाती हुई रुक-रुककर) प्राणेश्वरी ! आदिसे अन्ततक मेरे अन्तर्मनमें अखण्डरूपसे एक ही भावना काम कर रही थी, उस समय भी कि कदाचित् मैं अपने प्रयासमें सफल हो जाऊँ और अपनी प्रियतमा राधाको एक क्षणके लिये भी सुखदान कर सकूँ ।

**श्रीराधा–** (सजल नेत्रोंसे) प्रियतम ! मुझे इस उत्तरका पहलेसे ही अनुभव था।

**(तीनोंकी आँखें एक अचिन्त्य, अनिर्वचनीय भाव-समाधिकी मुद्रामें निमीलित हो जाती हैं। प्रियतम श्रीकृष्ण एक साथ दोनोंको अपनी भुजाओंमें भर लेते हैं। यन्त्रवत् ही। एक अनिर्वचनीय परमानन्दकी लहरोंसे निकुञ्जका कण-कण प्लावित होने लगता है। निकुञ्जके बाहर अगणित पक्षी नेत्र निमीलित किये हुए सुन रहे हैं। और सारिका अतिशय मधुर कण्ठसे गाने लगती है )**

**लै न सके सुख दै न सकै जो**
**खेलि नित्य रसहोरी ।**
**सोइ सुवादन देन सोइ पिय**
**भये साँवरी छोरी ।।**

------

श्रीराधा

# कुन्दवल्ली भावलीला

## भूमिका

श्रीमद्भागवतमें एक अत्यन्त सुन्दर श्लोक है –

*रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः*

(१० ।३३ ।१७)

जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण इस ब्रज-प्रेम-जगत्में अपने स्वरूपभूत लीला-परिकरों – श्रीनन्द-यशोदा, माता-पिता उपनन्द-पीवरी, ताऊ-ताई बृषभानु-कीर्त्तिदा, सास-ससुर, श्रीदाम-सुबल-मधुमंगलादि सखा-बन्धुगणोंसे संभ्रम-संकोचरहित मनमानी स्वच्छन्द लीला करते हैं। यह ब्रजलीला-प्रेम-मण्डल विलक्षण देश है। यहाँ एक श्रीकृष्णसे भिन्न अनेक हैं, फिर भी सभी उनके सुखके लिये ही, उनकी रुचि-सम्पादनके लिये ही थिरक रहे हैं। यहाँ श्रीकृष्णकी रुचि ही लोक है, वेद है, धर्म है, आचार है, जाति है, परमार्थ है, स्वार्थ है, वासना है, त्याग है, भोग है, सुगति है, मोक्ष है। यहाँ गोपियोंका काम है – श्रीराधाकृष्ण प्रिया-प्रियतमके नित्य निर्बाध मिलनकी व्यवस्था करना, उसे पूर्ण करके पूर्णरूपमें देखना। यहाँ सखाओंकी चरम परितृप्ति है – अपने सखा श्रीकृष्णकी रुचिकी जय कराना। श्रीदाम बृषभानु गोपराजका पुत्र है और मधुमंगल अकिंचन भिक्षुक विदूषक ब्राह्मण है। परन्तु दोनों ही अपना सर्वस्व देकर भी अपने सखा कन्नूको प्रसन्न रखना चाहते हैं। श्रीदामका राजपाट श्रीकृष्णका, उसकी बहनें भी श्रीकृष्णकी, वह स्वयं श्रीकृष्णका – उसे श्रीकृष्णको अपना सर्वस्व दे देनेपर ही कृतकृत्यता है, संतुष्टि है, परितृप्ति है। यहाँ सुबल श्रीकृष्णका ताऊका पुत्र – बड़ा भाई है। उसे अपने वैवाहिक फेरे भी श्रीकृष्णके साथ लेनेमें ही पूर्ण कृतकृत्यता है।

इस ब्रजजगत्का मूल दर्शन है – *"वेदानपि संन्यसति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।"* अर्थात् जो वेदोका (वेदमूलक समस्त धर्म-मर्यादाओंका) भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वही अखण्ड असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।

यहॉ ब्रजजगत्मं सभी पात्र चाहे नन्द-यशोदा हों, बृषभानु-कीर्त्तिदा हों, सुबल-श्रीदाम हों – इन सभीकी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न हैं। श्रीकृष्ण चाहते हैं कि कुन्दवल्लीकी बारात दो वरोंके साथ बृषभानुपुर जायेगी।

कुन्दवल्ली श्रीकृष्णसे भी फेरे लेगी, उन्हें भी वरमाला पहनावेगी एवं सुबलको भी। लोकव्यवहारमें यह बात सर्वथा अनुचित है। परन्तु ब्रजभावकी, गोपीभावकी यही विशेषता है कि यहाँ सभी पुत्रवतियोंके एक ही पुत्र हैं – वे हैं श्रीकृष्ण। गोपीका अपना पुत्र गोपीके लिये कुछ अर्थ ही नहीं रखता। वह तो अपने पुत्र-पति, सब परिवार सहित पूर्णतया समर्पित है श्रीकृष्णको। उसका 'स्व' कुछ है ही नहीं। उसका न मान-सम्मान है, न लोक-परलोक, न धर्म-मोक्ष है, न ही स्वार्थ-परमार्थ है। सबको छोड़कर, सबका उल्लंघन करके वह एकमात्र परम धर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी रुचि-सम्पादनके लिये ही ब्रजमें जीवित है। सर्व धर्मका त्याग ही गोपीजगत्‌का उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है। ऐसा आचरण– जैसा इस नाटक – *'कुन्दवल्ली भावकी लीला'* में समुल्लिखित है, सुबल जैसे परमोच्च स्तरके श्रीकृष्णके सखा ही कर सकते हैं। सचमुच सुबल एवं कुन्दवल्ली दोनों ही परमातिपरम धन्य हैं जो वे ऐसे ऋषि-मुनि-देव-दुर्लभ श्रीकृष्ण-प्रीतिको प्राप्त कर चुके हैं।

यहाँ ध्यान रहे, सुबल विवाह करके भी 'सौभाग्य-निशा' में जो अपनी पत्नी कुन्दवल्लीके साथ सगे भ्राताकी तरह निष्पाप, निर्मल रहता है, यह उसका त्याग तृप्तिमूलक है। उसे श्रीकृष्ण-प्रीतिका वह परमोच्च आनन्द प्राप्त है, जिसके सम्मुख नारी-भोगका आकर्षण तुच्छ है। भगवत्प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है। हम मुखसे भले ही कह दें कि हमारा तो सब-कुछ परमात्माका है। किन्तु यदि हमारा पुत्र-परिवार, धन-सम्पत्ति, भगवान्‌को समर्पित हो, तो हमारा उसका भोक्ता होना कदापि संभव नहीं। वस्तुतः हम प्राकृत धरातलके कामी-कुक्कुर श्रीदाम-सुबल जैसे श्रीकृष्णके कृपापात्र सखाओंके नाम लेनेतकके पात्र नहीं। सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर जैसे तैल-दीपक स्वतः तुच्छातितुच्छ हो जाता है, उसी प्रकार अपने सखा श्रीकृष्णके प्रखर प्रेममें श्रीदामका, सुबलका अपना अहं ही लुप्त हो चुका है। उनका अहंकार ही श्रीकृष्णके अहंसे एकाकार हो गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण भी हैं बड़े लीलामय। उन्होंने अपनी ही स्वरूपभूता कुन्दवल्ली सरीखी गोपियोंसे कैसे विचित्र खेल किये हैं – वस्तुतः इसका रस महारससिद्ध सन्त ही जानते हैं। उनके ही अन्तःकरण रूप ब्रजमें ऐसी परम पावन सर्वमंगलमयी लीलाओंका प्रकाश श्रीकृष्ण करते हैं। जो भगवान् अखिल विश्वके विधाता, ब्रह्मा-शिवादिके भी वन्दनीय, निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वे

ही सुबल-श्रीदामादि सखाओंको अपने इशारेपर नचा सकते हैं और इन नाचनेवालोंके आस्वादनार्थ स्वयं नाचते भी हैं।

यहाँ बार-बार सावधानी रखनेकी आवश्यकता है कि ये सभी लीलाएँ सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय, परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपभूत आनन्द-चिन्मय रस-प्रतिभावित-मति अपनी ही प्रतिमूर्त्ति सुबलादि सखाओंके साथ की हैं और यह उनकी विशुद्ध सच्चिदानन्दमयी, विशुद्ध निराविल, रस-प्रवाहिनी अन्तरंग आत्मक्रीड़ा मात्र है। भगवान् पूर्ण ब्रह्म हैं, सनातन, रसस्वरूप, रसराज, रसिकशेखर, रस-परब्रह्म, अखिल-रसामृत-विग्रह हैं; वे सर्वतन्त्र-स्वतंत्र हैं, ब्रह्मा एवं शंकरादि देवगणोंको भी अपने संकल्पसे नचाते हैं, उनपर न धर्मका शासन है, न वेदका। वे स्वप्रकाश हैं, अतः सर्व-विलास करनेमें समर्थ हैं। उनके संकेतपर जब अनन्त ब्रह्माण्ड नृत्य कर रहे हैं, उनके इशारेपर सम्पूर्ण प्रकृति ही नटीकी तरह थिरक रही है, अतः उनकी रुचि-सम्पादनके लिये ब्रजके गोप-गोपी यदि सभी धर्म-मर्यादाओंका उल्लंघन करते हैं तो वे परमातिपरम धन्यभाग्य एवं स्तुत्य हैं।

इस भावमें पूर्णतया प्रतिष्ठित होकर ही वैष्णव रसिक जन इस लीलाका अवगाहन करें तभी इसमें निहित प्रीतिके परमोच्च आदर्शकी उन्हें कुछ झलक मिल पावेगी, और उनकी प्रेमसाधनामें यह लीला उपयोगी हो पायेगी।

---

# कुन्दवल्ली-भावकी लीला

[बृषभानुपुरके महलकी सबसे ऊँची अटारीपर श्रीराधा बैठी हैं। दक्षिण पार्श्वमें सहोदरा बहिन मञ्जुश्यामा बैठी है। बायीं ओर मौसेरी बहिन जो श्रीराधासे आयुमें दो वर्ष एक महीना अट्ठाइस दिन बड़ी है - कुन्दवल्ली बैठी है। तीनोंका मुख अत्यन्त उदास है।]

**श्रीराधा** - (करुण स्वरमें) देख ! या तो कोई पथ निकल आयेगा। और नहीं तो हम तीनों कल सूर्योदयसे पहले एक साथ प्राणविसर्जन कर देंगी।

**मञ्जुश्यामा** - (कुछ आशाके स्वरमें) बहिन ! मुझे तो ऐसा लगता है कि भगवती पौर्णमासी ठीक समयपर हम लोगोंकी सहायता करेंगी ही।

**कुन्दवल्ली** - (कुछ उल्लासके स्वरमें) मञ्जुश्यामे ! अबतक तो तेरी एक बात भी झूठी हुई नहीं पर (गद्‌गद् कण्ठसे) अब समय जो नहीं रहा !

[दौड़ती हुई रूपमञ्जरीका प्रवेश]

**रूपमंजरी** - (हाँफती हुई) बहिन ! भगवती पौर्णमासी आ रही हैं, (रुककर) तुम लोगोंके पास ही।

**श्रीराधा** - (उल्लासके स्वरमें) तुझे कैसे पता ?

**रूपमंजरी** - वे मैयाके पास बैठी हैं। मैयासे धीरे-धीरे कुछ कह रही थीं। अत्यन्त धीमा स्वर था। किंतु मैंने इतना-सा सुन ही लिया – "इस समय तो मैं केवल छोरियोंसे मिलने आयी हूँ।" यह सुनते ही मैं दौड़ पड़ी।

[श्रीराधा रूपमञ्जरीको कण्ठसे लगा लेती हैं, सीढ़ियोंपर किसीके चढ़नेका स्वर सुन पड़ता है। दो-तीन पलोंमें ही भगवती पौर्णमासीका प्रवेश। चारों एक साथ उनसे चिपट जाती हैं।]

**रूपमंजरी** - माता! हम लोगोंका कष्ट दूर करो! मैं तो मैयाके पास जा रही हूँ। उसने मुझे एक काम सौंपा है। तुम सब कुछ जानती ही हो फिर भी राधाबहिन तुम्हें सब-कुछ बतला देंगी।

[भगवती पौर्णमासी रूपमञ्जरीके भालपर चुम्बन अंकित करती हैं। रूपमञ्जरीका प्रस्थान]

**भगवती पौर्णमासी** - (तीनोंको बैठाकर स्वयं बैठती हुई) पुत्री! राधे! तू निस्संकोच सब कुछ कह दे।

**श्रीराधा** - (आँखोंमें जल भरकर) माँ! तुम सब जानती ही हो। तुम्हे क्या कहूँ।

**पौर्णमासी** - (हँसकर) तब फिर उदासी क्यो?

**मञ्जुश्यामा** - (भगवतीसे चिपटकर) माँ! तुमने मेरी जीत करा दी।

**भगवती** - कैसे?

**मञ्जुश्यामा** - मैं अभी-अभी कह रही थी, तुम ठीक समयपर सँभालोगी ही।

**भगवती** - (उसका मुख चूमकर) तू तो भविष्यकी बात सदा बोलने वाली है ही!

[चारों हँस पड़ती हैं]

**श्रीराधा** - (अत्यन्त उल्लासके स्वरमें) माँ! बता दो! कैसे

क्या करोगी !

**भगवती** - (हँसकर) सब जान लेनेपर रस फीका हो जाता है। केवल इतना ही कह दे रही हूँ – तुम्हारी पवित्रता अनादिकालसे अक्षुण्ण है, अनन्तकालतक अक्षुण्ण रहेगी।

**[कुन्दवल्ली भगवतीसे चिपटकर प्रेमावेशसे रोने लग जाती है]**

**मञ्जुश्यामा** - (भगवतीसे चिपटकर) मुझे तो बता ही दो ! तुम क्या करोगी !

**भगवती** - (हँसकर) और फिर तू राधाको बता देगी !

**मञ्जुश्यामा** - (वैसे ही हँसकर) पूछेगी तो अवश्य बता दूँगी।

**श्रीराधा** - (बड़ी उतावलीके स्वरमें)नहीं ! नहीं ! बहिन ! मैं तो पूछूँगी ही नहीं।

**मञ्जुश्यामा** - नहीं पूछेगी तो नहीं बताऊँगी।

**भगवती** - (हँसकर) और कुन्दवल्लीको ?

**मञ्जुश्यामा** - अभी मना कर दे रही हूँ कि बहिन ! तू भी मत पूछना।

**भगवती** - (हँसकर) और तेरी बुढ़िया नानी तुझे फुसला ले तो ?

**[मञ्जुश्यामा सोचने लगती है]**

**भगवती** - (पुनः मुख चुम्बनकर) क्यों ! बोल ! मैं सब जानती हूँ ! (कुछ रुककर) और फिर तेरी नानी यदि इस बार कहीं जान गयी तो ढूँढ़ी पीटे बिना रहेगी ही नहीं।

**मञ्जुश्यामा** - (कुछ सोचकर) नानीके चकमेमें एक बार

आ गयी। बार-बार थोड़े ही आऊँगी।

**भगवती** - (हँसकर) हाँ ! इस बार यदि पूरी सावधानी रक्खेगी तभी कहूँगी।

**मञ्जुश्यामा** - (हँसकर) रक्खूँगी ! रक्खूँगी ! तुम बताओ तो सही !

**[मञ्जुश्यामा भगवतीसे चिपट जाती है। भगवती उसके कानमें पाँच-सात पल फुस-फुस करती रहती है। मञ्जुश्यामाकी आँखोंमें उल्लास बढ़ता जाता है]**

**भगवती** - (आसनसे उठकर) अच्छा ! तो अब मैं जा रही हूँ। (हँसकर)। मञ्जुश्यामे ! इस बार खूब सावधान रहना भला !

**मञ्जुश्यामा** - (हँसकर) और कदाचित् फिर भूल कर बैठूँ तो तुम सँभाल लेना।

**[भगवती हँसती हुई तीनोंको हृदयसे लगाकर, तीनोंका मुख चुम्बनकर, सिर सूँघकर चली जाती हैं ]**

**मञ्जुश्यामा** - (कुन्दवल्लीकी ओर देखकर) तू तनिक भी घबड़ाना मत बहिन ! ठीक उस अन्तिम क्षणमें क्या होगा तू स्वयं देख लेगी।

**[कुन्दवल्लीकी आँखोंसे दर-दर अश्रु झरने लगते हैं। तीनों परस्पर चिपट जाती हैं]**

---

## - दूसरा दृश्य -

**[भगवती पौर्णमासीका आश्रम ! सुबल भगवतीके चरणोंमें सिर रखकर रो रहा है]**

**भगवती** - (मुसकाकर) क्यों ! बोल !

**सुबल** - (सुबकी भरकर) तुम सब कुछ जानती हो ! [भगवती हँस पड़ती है। सुबलकी आँखोंसे आँख मिलाकर आधा क्षण देखती हैं । सुबल समाधिस्थ हो जाता है]

**भगवती** - (दो-तीन पलोंतक मुसकुराती हुई सुबलकी ओर देखकर) क्यों ! रे छोरा ! कितनी देर समाधिमें रहेगा ?

**[सुबलकी आँखें खुल जाती हैं। अतिशय उत्फुल्ल मुद्रामें भगवतीके चरणोंमें लोट जाता है]**

**भगवती** - (मुसकाकर) पर सावधान ! सुहागरातमें यह भेद केवल कुन्दवल्लीपर प्रगट हो ! उससे पूर्व ठीक-ठीक अभिनय करना है, भला !

[सुबल भगवतीसे चिपट जाता है। भगवती मुख चुम्बनकर हृदयसे लगाकर, सिर सूँघकर विदा देती हैं ]

---

## - तीसरा दृश्य -

[ब्रजेश्वरका प्रासाद ! महाराज नन्द विराजित हैं। उपनन्द उनके पास बैठे हँस रहे हैं। उपनन्दपत्नी प्रभावती बैठी हैं, नन्दरानीसे सटकर। नन्दरानी मुसकुरा रही हैं। मुँह फुलाये सुबल बैठा है। और हँसते हुए ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण विराजित हैं]

**उपनन्द** - (हँसकर) भैया नन्द ! इसका निर्णय तो मेरे द्वारा होनेसे रहा।

**नन्द** - (मुसकुराकर) भैया ! मेरी बुद्धि तो काम नहीं करती।

सुबल - (नन्दकी ओर देखकर आँखें तरेरकर) बाबा ! इसमें आपका बिगड़ता क्या है ?

नन्द - (हँसकर) बेटा ! कैसे समझाऊँ !

सुबल - (रोषमें भरा हुआ-सा) तो ठीक है ! रहने दो ! ब्याह नहीं होगा।

[सभी हँसने लगते हैं]

नन्दरानी - (उठकर सुबलको अपने अंकमें लेकर) बेटा ! बड़ोंकी बात माननी चाहिये।

सुबल - (वैसे ही रोषमें भरकर) अरी मैया ! तू भी इस समय मेरे विरुद्ध जा रही है।

[नन्दरानी हँसने लगती हैं ]

श्रीकृष्ण - (हँसकर) सुबल दादा ! अडे रहना !

[एक साथ सभी उच्चस्वरसे हँस पड़ते हैं ]

उपनन्द - (कुछ विचारकर) तो महाराज वृषभानुके पास समाचार भेजें ?

सुबल - (बड़े जोशमें) हाँ ! यह समाचार भेजो, ताऊ ! कि ब्याह नहीं होगा।

[सभी हँसने लगते हैं]

श्रीकृष्ण - (हँसकर) दादा ! ब्याह तो होगा ही रे ! और जैसे हम दोनोंसे बात हो चुकी है, वैसे होकर ही।

[सभी हँसने लगते हैं]

नन्द - (पुत्रको गोदमें लेकर) मेरे नीलमणि ! लोग क्या सोचेंगे ! तू ही बता। जब कि इसबार कर्ता-धर्ता स्वयं मैं हूँ, तुम्हारे ताऊ नहीं।

**श्रीकृष्ण** - (हँसकर) सदाकी भाँति उन्हींको कर्ता-धर्ता बना दो ! सब कुछ तो वे ही करें मेरे घर, अपने घर, सम्पूर्ण व्रजमें और सुबल दादाका ब्याह करो तुम !

[सभी हँस पड़ते हैं]

**नन्द** - (हँसकर) इसलिये, कि सुबल मेरा बेटा है।

**श्रीकृष्ण** - (आँखें नचाकर) तो बाबा ! मैं भी तो तुम्हारा ही बेटा हूँ !

**[सभी हँसते हैं]**

**नन्द** - (उपनन्दकी ओर देखकर) भैया ! इसका समाधान तो अब तुम्हीं कर सकते हो।

**उपनन्द** - (मुसकुराकर) महाराज वृषभानुसे केवल पूछना पड़ेगा। मुझे सोलहों आना विश्वास है, उनको कोई आपत्ति होगी ही नहीं, अपितु परम आनन्द होगा।

**नन्द** - मुझे भी सर्वथा ऐसा ही लग रहा है।

**[उपनन्द कुछ सोचते रहते हैं। नन्द सुबलको गोदमें लेकर]**

**नन्द** - बेटा ! तेरा मनोरथ मैं अवश्य पूर्ण करूँगा। तू प्रसन्न हो जा।

**[श्रीकृष्ण उठकर नाचने लगते हैं। सभी विमुग्ध दृष्टिसे उनकी ओर देखते हैं ]**

**श्रीकृष्ण** - (दो-तीन पलतक नाचकर) खूब खेल हुआ। खूब खेल हुआ। इससे भी सुन्दर होगा। एक घोड़ेपर सुबलदादा दूल्हा बनकर चढ़ेगा, और दूसरे घोड़ेपर ठीक-ठीक सुबलदादाके समान ही दूल्हेका सम्पूर्ण शृंगार धारण करके मैं

चढूँगा। बारात जायगी और महाराज वृषभानु एक ही दुलहिनके लिये दो वरोंका स्वागत करेंगे, करेंगे, करेंगे।

**[सभी हँसने लगते हैं। इतनेमें मधुमंगलका प्रवेश]**

**मधुमंगल** - (मुँह बिचकाकर) पर सारे ! दुलहिन तो सुबलदादाके घर जायगी।

**श्रीकृष्ण** - (आवेशमें) तू तो मूर्ख है। पहले उतरेगी तो मेरे ही घर।

**[श्रीकृष्ण सुबलको एक हलकी थाप जमाते हैं]**

**मधुमंगल** - (मुँह टेढ़ा करके) उतार लो ! मैयाका राज है ! पर सारे ! या तो तू रातमें सो जायगा, देखेगा ही नहीं, और कहीं जगा रहा तो मैं भी देख लूँगा कि मैया या और कोई दुलहिनके पास सुबलदादाको ले जाती है या तुझको!

**श्रीकृष्ण** - (हँसकर) सारे ! तुझे ज्ञान तो कुछ है नहीं और तू बड़-बड़ किये बिना मानता नहीं। पहले दुलहिनको आने तो दे ! तू बीचमें ही इस प्रकार क्यों विघ्न डाल रहा है। अब यदि कुछ भी बोला तो ऐसी मुक्की मारूँगा कि याद करेगा भला !

**[सभी हँसने लगते हैं]**

**मधुमंगल** - (मुँह टेढ़ाकर) जा रे मूर्ख ! रातभर जगा रहूँगा मैं ! और तुझे चौंटिया भर-भरकर जगाऊँगा भी कि देख ले तेरी मैयाने तुझे कैसा धोखा दिया। दूल्हा बनकर महाराज वृषभानुसे पूजा भले ही करवा ले।

**[श्रीकृष्ण आँखें तरेरकर एक हलकी मुक्की मधुमंगलको मारते हैं। मधुमंगल झूठमूठ चिल्लाने लगता**

है। नन्दरानी श्रीकृष्णको पकड़ लेती हैं।]

**नन्दरानी** - (गंभीर मुद्राका अभिनय करके) बेटा ! ब्याहके दिनोंमें ब्राह्मण बालकको पीटनेसे कंहीं कुछ अनिष्ट हो जाय तो ?

[नन्दरानी उसी गम्भीरताकी मुद्रामें मधुमंगलको पुचकारने लगती हैं]

**श्रीकृष्ण** - (हँसकर) अच्छा ! सारे ! तीन दिन तो मेरी मैयाने तुझे बचा दिया। चौथे दिन बात।

**मधुमंगल** - (मुँह फुलाकर अँगूठा दिखाता हुआ) चल, चल, चौथे दिन बृषभानु महाराजका लड्डू खा-खाकर पत्थर-जैसी मेरी पीठ हो जायगी। एक मुक्की तूने लगायी कि मैयाको तेरी अँगुली सेकनी पड़ेगी।

[सभी हँसने लगते हैं]

---

## - चौथा दृश्य -

[वृषभानुपुरमें श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरी भगवतीका मणिमय मन्दिर। अंजलिमें पुष्प लिये श्रीप्रतिमाके सन्मुख महाराज वृषभानु खड़े हैं। उनके पास ही महारानी कीर्तिदा खड़ी हैं]

**महाराज** - रानी ! जगदम्बा आदेश तो कर रही हैं। पर मैं ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। तुम सुनो।

**महारानी** - (मुसकाकर) जान-बूझकर जगदम्बा तुम्हें ठीक-ठीक समझने दे नहीं रही हैं।

**महाराज** - (कुछ कातर स्वरमें) क्या कोई अपराध होगया?

**महारानी** -(हँसकर) नहीं ! नहीं ! किसी विशेष उद्देश्यसे।

महाराज - (प्रसन्न होकर) तो तुम मुझे उनकी बात बतला दो।

महारानी - जगदम्बाका आदेश है कि नये सरोवर-निर्माणकी आवश्यकता नहीं है। यहाँसे ठीक पूर्व उत्तरके कोनेपर सुन्दरीसरोवरका एक पहरके लिये आविर्भाव हो जायेगा। कुन्दवल्ली उसीमे स्नान कर लेगी।

महाराज - (अतिशय प्रसन्न मुद्रामें) जगदम्बाकी रुचिकी जय हो ! (कुछ रुककर) किंतु,

महारानी - क्या ?

महाराज - (हँसकर) मञ्जुश्यामा जिद कर बैठी तो?

महारानी - (हँसकर) भगवतीका संकेत है कि जिद नहीं करेगी।

महाराज - जगदम्बाकी रुचिकी जय हो।

[मधुमंगल और श्रीदामका प्रवेश]

श्रीदाम - बाबा ! मैं तो माताका दर्शन करने आया हूँ। किंतु भैया मधुमंगलने पूछा – (रुक जाता है)

महाराज - (मधुमंगलके सिर पर हाथ फेरकर) बेटा ! बोल!

मधुमंगल - बाबा ! ये तुम्हारा बेटा झूठेका सरदार है। नाम मेरा लगा रहा है और जानना चाहता है स्वयं।

श्रीदाम - (हँसकर) बाबा ! सत्यके अवतार मधुमंगलको तो तुम जानते ही हो !

[महारानी-महाराज दोनों हँसने लगते हैं]

महाराज - (मधुमंगलसे) बेटा ! संकोच मत कर ! तू पूछ ले।

**मधुमंगल** - (कुछ लजायी हुई मुद्रामें) ऊँ.. ऊँ.. ऊँ कुछ नहीं बाबा ! कुछ नहीं बाबा ऊँ...ऊँ. कुछ नहीं बाबा ! मुझे इच्छा हो गयी थी कि कुन्दवल्ली माताजी कब स्नान करने पधारेंगी और किस सरोवरपर।

**महारानी** - (हँसकर मधुमंगलसे) चल बेटा ! मैं तुझे बतला देती हूँ। (महाराज से) तुम विलम्ब मत करो। शीघ्र-से-शीघ्र नीराजन कर लो। देर हो चुकी है।

[महारानी मधुमंगल और श्रीदामको लेकर चली जाती हैं ]

---

## - पाँचवाँ दृश्य -

[सखाओंसे परिवेष्टित हुए व्रजेन्द्रनन्दन गायोंको आगे किये हुए वनकी ओर जा रहे हैं। उनकी एक ओर सुबल है, दूसरी ओर श्रीदाम। मधुमंगल ठीक सामने दो पग हटकर झूमता हुआ चला जा रहा है। और भी सखा श्रीकृष्णको घेरे चल रहे हैं। तीन घड़ी दिन उठ चुका है]

**मधुमंगल** - (पीछे मुड़कर) कनुआँ ! तुझे एक ऐसी बात आज मैं बता सकता हूँ जो सुनते ही तेरा मन, रोम-रोम आनन्दसे भर जायगा।

**श्रीकृष्ण** - (अतिशय प्रसन्न मुद्रामें) बता !

**मधुमंगल** - तू क्या देगा ?

**श्रीकृष्ण** - (उत्कण्ठाकी मुद्रामें) जो चाहेगा वही।

**मधुमंगल** - यह कौल भूल तो नहीं जायगा ?

**श्रीकृष्ण** - (पीठपर थपकी देते हुए) अरे ! नहीं रे ! तू बता

तो सही।

**मधुमंगल** - तू जानता है ? आज सुबलदादाकी दुलहिन किस सरोवरपर स्नान करेगी ?

**सुबल** - (आँखें तरेरकर) मधुमंगल ! तू मानेगा नहीं।

**श्रीकृष्ण**- (मधुमंगलसे चिपटकर) दादा, तू अभी बता दे।

**मधुमंगल** - (अतिशय भयभरी मुद्राका अभिनय करके) और सुबल दादा ! मुझे कच्चे फाड़कर खा गया तो ?

**सुबल** - (एक मुक्की मधुमंगलको लगाकर) कच्चे तो नहीं खाऊँगा पर इतनी मार मारूँगा कि बस। यदि तुमने कह दी तो !

**श्रीकृष्ण** - (मधुमंगलसे चिपटकर) मधुमंगल दादा ! तू झट-से कह दे ! एक मुक्की भी मैं मारने दूँगा नहीं सुबल दादाको।

[सुबल अपनी आँखें नीची कर लेता है। मधुमंगल श्रीकृष्णके कानमें फुस-फुस करता है]

**श्रीकृष्ण** - (अतिशय प्रसन्न मुद्रामें गायोंकी ओर संकेत करते हुए ) हिः हिः हिः हिः हिः हिः सबली सीधे।

[गायोंमें सबसे आगे सबली ही थी। वह बायीं ओर मुड़ने ही जा रही थी। अपने रसमय चालकका स्वर सुनते ही उल्लासमें भरकर तत्क्षण सीधे कूदकर चलने लगी प्राचीकी ओर]

**श्रीकृष्ण** - (मधुमगलकी ओर देखकर) भैया ! तुमने ठीक समयपर ही बात कही।

**मधुमंगल** - पर सारे ! तू गुण माने तब तो ?

**श्रीकृष्ण** - (हँसकर) नहीं ! नहीं ! रे ! मानूँगा। पर तू यह बता कि किधर चलनेसे ठीक-ठीक देख सकूँगा।

**मधुमंगल** - (मुँह बिचकाकर) सुबलदादासे पूछ !

**[सुबल मुक्की मारने चलता है]**

**मधुमंगल** - (चिल्लाकरके) अरी मैया री ! बाबा रे ! दौडो! दौड़ो !

**श्रीदाम** - (हँसकर) सारे ! चुप रह ! (फिर श्रीकृष्णकी ओर देखकर सलाह देनेकी मुद्रामें) भैया ! कुन्दबल्ली बहिनको ही तो देखना है ? मै जहाँ कहूँ, चलकर खड़ा हो जा।

**मधुमंगल** - (आँखें नचाकर) देख श्रीदाम ! महाअन्याय! भारी पाप होगा। यदि सुबलदादा और मुझे न ले गये तो।

**श्रीदाम** - (डपटकर) तू चुप रह ! नहीं तो तेरा मुँह बाँध दूँगा।

[चार-पाँच सखा तत्क्षण बोल उठते हैं]

— कनुआ ! हम लोग भी चलेंगे भला !

**श्रीकृष्ण** - (उल्लासके स्वरमें) अवश्य ! अवश्य ! हम सबको ले जायेंगे, भैया।

**[श्रीदाम आगे-आगे चलता है। सभी सखा पीछे-पीछे चल रहे हैं ! सुन्दरीसरोवरके उत्तरतटके उस छोटे पर्वतपर चढ़ जाते हैं। एक वृक्षके नीचे लता गुल्मोंमें छिप-छिपकर बैठ जाते हैं। उधरसे शहनायी बजती हुई आ रही है। कीर्तिदा महारानी कुन्दवल्लीको लिये दक्षिणकी तरफसे आ रही है]**

**मधुमंगल** - (धीरेसे) देख ! कीर्तिदा मैयाके दक्षिणकी

ओर कुन्दवल्ली है भला !

श्रीकृष्ण - (सिर हिलाकर) ठीक ! ठीक !

मधुमंगल - (और धीरेसे) और कुन्दवल्लीके पीछे सारे! भविष्यमे होनेवाली तेरी दो दुलहिन हैं।

[श्रीकृष्ण धीरेसे चपत जड़ देते हैं]

मधुमंगल - सारे ! इस बार तुमने चपत मारी कि शोर मचाऊँगा।

श्रीकृष्ण - (डरी हुई मुद्रामें) नहीं ! नहीं ! मारूँगा नहीं! तू चुपचाप बैठा रह।

[कीर्तिदा महारानी श्रीराधा, मञ्जुश्यामा आदि सबको पीछे लिये हुए और कुन्दवल्लीको आगे किये सरोवरमें प्रवेश करती हैं। कुन्दवल्लीके केश उन्मुक्त हैं। मैया उसकी कञ्चुकीको हटा देती हैं ! क्योंकि वहाँ कोई पुरुष उन्हें नहीं दीख रहा है। जलको प्रणाम करके मस्तकपर तीन बार जल छींटती हैं। फिर डुबकी लगाकर स्नान करनेका आदेश देती हैं। कुन्दवल्ली मैयाकी आज्ञाका पालन करती है]

मधुमंगल - (गीत गाते हुए-से स्वरमें ) सुबलदादाकी दुलहिन नहा रही है। हो !

[मैयाकी आँखें तत्क्षण उस ओर चली जाती हैं और देख लेती हैं कि व्रजेन्द्रनन्दन सखाओंके साथ छिपकर पहलेसे बैठे हैं। वे मुसकुराकर तत्क्षण अपनी ओढ़नीसे कुन्दवल्लीके वक्षस्थलको ढक देती हैं। कुन्दबल्लीकी आँखें भी एक बार उस स्वरको सुनकर उठी थीं और श्रीकृष्णसे मिल गयी थीं। सुबलसे नहीं मिलीं। दूसरे क्षण उसने

अपनी आँखें नीची कर ली थी]

**मैया कीर्तिदा** - (हँसकर) पुत्रों ! तुम सब छिपे क्यों? कोई बात नहीं। तुम सब देखो।

**[श्रीकृष्ण मैयाकी बात सुनते ही तत्क्षण कूदकर नीचे उत्तरकी ओर भाग चलते हैं। उनके पीछे सभी सखा वैसे ही कूदकर चल पड़ते हैं। केवल मधुमंगल ऊपर लताके जालसे बाहर आकर चिल्लाकर नाचकर कहता है]**

**मधुमंगल** - मैया ! दुलहिन-दूल्हेको परस्पर दर्शन करा देनेका पुरस्कार मुझे मिलना चाहिये भला !

**[कहकर वह भी श्रीकृष्णके पीछे भाग जाता है]**

---

## - छठा दृश्य -

[गायें चली जा रही हैं। श्रीकृष्ण सखाओंसे परिवेष्टित चले जा रहे हैं। वैसे ही एक ओर सुबल और एक ओर श्रीदाम चल रहा है। मधुमंगल आगे नाचता-कूदता चल रहा है]

**मधुमंगल** - (मुँह बिचकाकर सुबलसे) क्यों सारे ! बाबाके सामने तो ब्याह ही नहीं करूँगा, ढोंग रच रहे थे। और अभी आँखें फाडकर कुन्दवल्लीको कैसे देख रहे थे ?

**सुबल** - (सजल आँखोंसे) भैया ! मेरे लिये बहिन राधा और बहिन कुन्दबल्लीमे क्या अन्तर है ? क्या ऐसे मंगलमय अवसरपर अपनी बहिनको देखकर उसके लिये मगलकामना करना पाप है ?

मधुमंगल - (मुँह फुलाकर) हूँ.....हूँ.....हूँ

[आकाशमें तत्क्षण भगवती पौर्णमासी प्रगट हो जाती हैं और कोई नहीं सुन पाता कि सुबलसे वे क्या बोलीं। पर सबको उनका प्रत्यक्ष दर्शन होता है और उनके होठ हिलते दीखते हैं]

भगवती - मेरे लाल ! अभिनय बिगड़ रहा है भला!

सुबल - (हाथ जोड़कर प्रणाम करके) माँ ! अब नहीं होगी भूल।

[महाराज वृषभानु विराजित दो परम सुन्दर दूल्होंका नीराजन कर रहे है। फिर कीर्तिदा महारानी करती हैं। एक दूल्हा हैं व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण दूसरा है सुबल। उस समय व्रजेन्द्रनन्दनकी आयु सबको बहुत छोटी दीखती है]

श्रीकृष्ण - (महाराज वृषभानुसे) बाबा ! तुम बताओ ! हम दोनोंमें सुन्दर दूल्हा कौन है ?

मधुमंगल - बाबा ! तुम बिलकुल मत बतलाना इसे! और यदि तुमने बतलाया तो यह फिर फेराके समय तुम्हें ऐसा तंग करेगा कि बस !

[सभी हँसने लगते हैं]

श्रीकृष्ण - बाबा ! मधुमंगल बड़ा झूठा है। मैं कुछ भी तंग नहीं करूँगा। पर तुम बता दो।

[महाराज वृषभानु हँसकर विचारमें पड़ जाते हैं । श्रीदाम पासमें ही खड़ा है]

श्रीदाम - भैया ! कृष्ण ! निर्णय तो नन्दगाँवमें ही हो चुका। मेरी बातको बाबा कभी नहीं काटेंगे। (महाराज वृषभानुकी

ओर देखकर) बाबा ! वहाँ उस समय मैं था। जिस समय ये दोनों घोड़े चढ़ रहे थे। मधुमंगलसे चिढ़कर कृष्ण भैयाने यही बात वहाँ भी पूछी थी। और मैंने यह कहा था कि भैया कृष्ण तुम्हारे समान सुन्दर दूल्हा न तो कभी हुआ है और न आगे कभी होगा। और तत्क्षण सुबलदादाने घोडेसे उतरकर मेरा समर्थन किया था मुझे हृदयसे लगाकर। और मेरी उक्तिको ज्यों-की-त्यों दुहराकर !

**[सभी हँसने लगते हैं। वह घोड़ा भी आनन्दसे उछलने लगता है। श्रीकृष्ण डर जाते हैं। और महाराज वृषभानुकी गोदमें चढ़ जाते हैं। इसके अनन्तर यथोचित सबका सम्मान करके महाराज वृषभानु बारातको जनवासेमें ले जाते हैं।]**

---

## - आठवाँ दृश्य -

**[विवाहमण्डपमें अपने स्थानपर कुन्दवल्ली बैठी है। उससे कुछ दूर हटकर सुबल बैठा है। सुबलके ठीक पार्श्वमें ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण विराजित हैं। महर्षि शाण्डिल्य और महर्षि भागुरि वैवाहिक कृत्य सम्पन्न करानेकी मुद्रामें विराजित हैं। आकाशमें सहसा भगवती पौर्णमासीका आविर्भाव]**

**श्रीकृष्ण** - बाबा ! देखो ! आकाशमें भगवती पौर्णमासी खड़ी हैं।

**[सभीको उनका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। सभी सिर टेककर वन्दना करते हैं]**

भगवती - महाराज वृषभानु ! भगवती त्रिपुरसुन्दरीका

निर्माल्य पुष्प सबसे पहले सुबलके सिरपर रखकर उसके दुकूलमें बाँध दो।

[महाराज वैसे ही करते हैं तत्क्षण एक अद्‌भुत माया फैल जाती है। ब्रजेन्द्रनन्दन, सुबल और कुन्दवल्लीके अतिरिक्त सभी उससे मोहित हो जाते हैं। सुबल ब्रजेन्द्रनन्दनके स्थानपर आ बैठता है और ब्रजेन्द्रनन्दन सुबलके स्थान पर। वैवाहिक कृत्य आरंभ होता है। सबकी दृष्टिमें सुबलके साथ ही कुन्दवल्लीका सब विवाहकृत्य होता है, किन्तु कुन्दवल्ली और सुबलकी दृष्टिमें कैशोरवय-विभूषित बृजेन्द्रनन्दनके साथ ही कुन्दवल्लीका आदिसे अन्ततक विवाह सम्पन्न होता है। कुन्दवल्लीकी उत्फुल्ल आँखें बारम्बार ढूँढ रही हैं अपनी बहिन वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाको ! किन्तु उसे श्रीराधाके दर्शन नहीं हो पा रहे हैं। सहसा कुन्दवल्लीको अनुभूति होती है कि श्रीराधा उसके दोनो पयोधरोंके अन्तरालमें विराजित हैं। और मन्द-मन्द मुसकुरा रही हैं। ढाई पल यह अनुभूति हो चुकनेके अनन्तर श्रीराधा हँसती हुई अपनी अनुजा मञ्जुश्यामाको लिये परिणय-वेदीके पास आती हुई दीख जाती हैं]

**श्रीराधा** - (ललितासे) तो बहिन ! अब कोहबरमें चलें?

[सखी परिवेष्टित ललिता आगे-आगे चलती हैं। श्रीराधा कुन्दवल्लीकी बायीं ओर मञ्जुश्यामा बृजेन्द्‌नन्दनकी दाहिनी ओर रहकर वर-वधूका हाथ पकड़े चलती हैं।]

**महारानी** - (महाराज वृषभानुसे ) महाराज ! भगवतीका आदेश प्रतीत हो रहा है कि इस समय और कोई भी अग्रिम

कृत्य न करके सभी लोग तत्क्षण विश्राम करें।

[सभी 'जय जगदम्बे' कहकर यथास्थान चले जाते हैं। कुन्दवल्लीको वृषभानुनन्दिनी अपने शयनागारमें ले जाती हैं। बृजेन्द्रनन्दन और सुबल जनवासेके शयनागारमें कीर्तिदा, कीर्ति एवं उनकी बहिनोंके द्वारा संलालित होकर निद्रित हो जाते हैं। आश्चर्य यह है कि और किसीको भी न दीखनेपर कीर्तिदा एवं उनकी बहिनोंको यह प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है कि बृजेशगेहिनी भी रोहिणीके सहित वहीं विराजित हैं। बलराम भी वहीं सो रहे हैं। मानो नन्दगाँवकी सम्पूर्ण वात्सल्यवती गोपिकाएँ सचमुच बारातमें आयी हों - ऐसी अनुभूतिकर कीर्तिदा महारानी सबको अपने महलमें ले जाती हैं।]

## - नवाँ दृश्य -

[*नन्दग्राममें* बृजेशगेहिनीसे संलालित होकर बृजेन्द्रनन्दन गहरी निद्रामें एक पर्यंकपर सो रहे हैं। आज दोपहरमें बारात लौटकर आ चुकी है। वर-वधूके नेगचारमें अतिशय उल्लासपूर्ण चित्तसे निरन्तर साथ रहनेके कारण बृजराजनन्दन थककर एक घड़ी रात जाते ही आज सो गये हैं। द्वारके पास छिपकर मधुमंगल खड़ा है। यशोदारानी उसे देख लेती हैं ]

**यशोदा** - (हँसकर) बेटा ! इस समय इसे मत छेड़ना भला!

**मधुमंगल** - नहीं मैया ! मैं इतना मूर्ख थोड़े ही हूँ।

**मैया** - तू भी पासके पर्यंकपर सो जा। रात्रिमें तो वह

प्रायः कभी उठता ही नहीं। दैवयोगसे कदाचित् आज ही उठ जाय तो प्रातः होनेतक कुछ भी मत बोलना भला !

**मधुमंगल** - अरी मैया ! बिलकुल ऐसा ही करूँगा। पर एक बात की छूट दे दे। सवा पहर रात जानेके अनन्तर मैं एकबार उठकर उस कक्षके समीप जाऊँ जिसमें सुबलदादाके समीप कुन्दवल्ली आयेगी। और बाहरसे ही 'सुबलदादा हो !' कहकर तुरंत भागकर यहाँ आकर सो जाऊँ।

**मैया** - (हँसकर) अच्छा ! पर इतनेसे अधिक कुछ भी नहीं।

**मधुमंगल** - अरी ! बिलकुल नहीं री ! मैया मेरी ! कुछ नहीं।

[कहकर श्रीकृष्णके पार्श्ववर्ती पर्यंकपर चादर ओढकर लेट जाता है]

------------

## - दसवाँ दृश्य -

**[एक परम सुन्दर पुष्पोंसे सज्जित कक्षमें पर्यंकपर सुबल विराजित है। प्राचीके द्वारसे अतिशय भयभीत मुद्रामें कुन्दवल्ली प्रवेश करती है। बाहरसे सुबलकी एक बहिन द्वार रुद्ध कर देती है।]**

**सुबल** - (बड़ी मीठी बोलीमें) बहिन ! कुन्दवल्ली ! जैसे श्रीदाम तुम्हारा सहोदर भाई है सर्वथा मैं भी वैसा ही हूँ। अपने भाईके पास किसी विशेष उद्देश्यसे तुम इस समय आयी हो – ऐसा ही अनुभव करना भला !

**कुन्दवल्ली** - (आशाभरी मुद्रामें) भैया ! आशा तो तुमसे

ऐसी ही है कि मुझे सदा इस भाँति ही तुम अनुभव करने दोगे।

**सुबल** - देखो बहिन ! यह विधिका विचित्र विधान है कि हम दोनों मिलकर ऐसा अभिनय करें जो प्रायः सबकी आँखोंमें सत्य प्रतीत हो।

**कुन्दवल्ली** - मैं समझ नहीं पायी।

**सुबल** - क्या तुम्हें भगवतीने कुछ नहीं कहा ?

**कुन्दवल्ली** - उनके आश्वासन तो मुझे अवश्य मिले और इसीलिये साहस बटोरकर तुम्हारे पास आ सकी।

**सुबल** - मैं संक्षेपमें तुम्हें सुना दूँ। तुम्हारे ब्याहसे पूर्व मैं भगवतीके आश्रमपर गया था। उन्होंने समाधिमें मुझको अनादि अनन्त एक परम सुन्दर खेलका चित्रपट दिखलाया। जिसमें मेरा तुम्हारा नित्य भाई-बहिनका पवित्रतम सम्बन्ध अक्षुण्ण रहकर भी बाह्यदृष्टिमें जनसाधारणको प्रतीति कुछ और ही होती आयी है अनन्त कालतक और ही होती रहेगी। हम दोनों एक शय्यापर सोकर भी भाई-बहिनके सम्बन्धको नित्य अक्षुण्ण बनाये रहेंगे। ऐसे बहुत-से अवसर आयेंगे जिसमें तुम्हारे कण्ठसे लगकर भी मेरे मन-बुद्धि-चित्त सब-कुछका भाव अग्निके समान, सूर्यके सदृश निर्मलतम पवित्रतम रहेगा । लोगोंकी दृष्टिमें इसका हेतु सदा अज्ञात रहेगा। भैया श्रीकृष्णकी ही वस्तु तुम थी, हो, और अनन्त कालतक रहोगी। तुम्हें पता है कि मैं राधा बहिनको श्रीदामके समान ही प्यार करता हूँ। और वह भी मुझे श्रीदामके सदृश ही प्यारदान करती है। ठीक तुम्हारा मेरा सम्बन्ध भी नित्य

ऐसा ही है। भैया श्रीकृष्णकी एक विशेष शैली है रसास्वादनकी। उसीके लिये बाह्यदृष्टिमें तुम्हारी गणना सुबलपत्नीके रूपमें ही रहेगी।

**कुन्दवल्ली** - (कुछ चिन्ताकी मुद्रामें) किंतु यौवनके प्रवाहमें भैया ! कहीं स्वप्नमें भी तुम्हारा भाव अन्यथा हुआ तो ?

**सुबल** - नहीं होगा बहिन ! अभी-अभी साक्षी दे देंगे अग्निदेव और भगवती पौर्णमासी।

**[सुबल अपने पीछे-पीछे चलनेके लिये कुन्दवल्लीको संकेत करता है। एक सुगुप्त पथसे दोनों बलराम-विहार-प्रासादके पीछेके उद्यानमें चले जाते हैं। वहाँ एक यज्ञकुण्डमें अत्यन्त प्रज्ज्वलित अग्नि है ]**

**सुबल** - (उस यज्ञकुण्डको प्रणाम करके) हुताशन ! यदि मेरी उक्ति कुन्दवल्लीके प्रति अक्षरशः और त्रिकालसत्य है तो तुम मेरे अंगोके लिये हिमके समान शीतल बन जाना।

**[सुबल कुण्डमें प्रवेश कर जाता है। लपटें उसे बिलकुल जला नहीं पातीं। आधे पलके अनन्तर सुबलको अंकमें लिये भगवती पौर्णमासीका उस अग्निकुण्डमें आविर्भाव]**

**भगवती** - (कुण्डसे निकलकर दक्षिण करसे सुबलको पकड़े रहकर वाम कर कुन्दवल्लीके सिरपर स्थापित करके) बेटी ! कुन्दवल्ली! तू नित्य निश्चित रह। तुम दोनों ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके परस्पर रसास्वादनको निरन्तर परिवर्धित करते रहो। इस उद्देश्यसे ही यह मेरा परम रसमय विधान है। बेटी ! तू समयपर अपने आप सब-कुछ अनुभव कर लेगी। अभी तो मैं तुम दोनोंको एक वर दे रही

हूँ। तुम दोनों वाणीसे, अपने शरीरकी चेष्टाओसे जिस समय, जिसको, जितनी देरके लिये, जो प्रतीति कराना चाहोगे उस समय, उसको उतनी देरके लिये वही अनुभूति होती रहेगी। एक मेरे अतिरिक्त सबके लिये यह अनिवार्य नियम हुआ अबसे अनन्त कालतकके लिये।

**[भगवती अन्तर्धान हो जाती हैं, कुन्दवल्ली और सुबल दोनों वैसे ही सुगुप्त पथसे सुहागकक्षमें लौट आते हैं। व्रजेन्द्रनन्दनका श्रीराधाको उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक प्रतिपल नवीन सुखदानकी योजना बनाते-बनाते उषा लग जाती है।]**

---

श्रीराधा

# राधा-मनोरथकी लीलाएँ

## दूसरीसे छठी लीलातक

## भूमिका

ये पाँच लीलाएँ जो पू.गुरुदेवने लिखी हैं, इनमें भी श्रीमञ्जुश्यामा, श्रीराधानुजाके ही निर्मलतम स्वभावकी झाँकियाँ हैं। वैष्णव रसिक पाठक यदि ध्यानपूर्वक देखेंगे तो उन्हें मिलेगा कि मञ्जुश्यामाके चित्तमें अपने सुखका, अपने कल्याणका, अपनी रुचिका कहीं कोई अनुसन्धान ही नहीं है। बस, जो भी उसकी बड़ी बहिनकी चाह है, वही उसकी रुचि हो जाती है। वह तो मात्र कठपुतलीवत् अपनी बहिनके हाथकी यंत्र है। मञ्जुश्यामा श्रीराधाकी प्राण-प्रतिबिम्ब-स्वरूपिणी बहिन है। वह उसकी पूर्णतया अनुगामिनी है। उसकी राधा-सुख-स्पृहा सर्वथा अलौकिक है। वस्तुतः कोई किसीकी आदर्श बहिन हो सकती है, तो मञ्जुश्यामा ही। वह श्रीराधाके सुखके लिये ही खाती-पीती-सोती, श्वासतक लेती है। उसकी एक-एक श्वास राधा-सुखके लिये है। वह श्रीकृष्णसे मिलती है, उन्हें अपना समर्पण करती है, केवल राधा-सुखके लिये। वह राधारानीकी अनुमति पानेके उपरान्त ही श्रीकृष्णको अपना स्पर्श करने देती है। वह जानती है कि श्रीकृष्ण उसकी बहिनके प्राणनाथ हैं, परन्तु ज्योंही वे उसे स्पर्श करते हैं, तत्क्षण ही वह मूर्च्छित हो जाती है। उसमें स्वाभाविक ही सर्वस्वत्याग है। उसका सर्वस्व-त्याग ही उसका प्रेम है। उसका अलौकिक अप्रतिम त्याग ही उसके प्रेमका विकास है।

मञ्जुश्यामा स्वयंमें राधासे भिन्न कुछ भी नहीं है। मञ्जुश्यामाका 'स्व' राधा है, उसके 'स्व'का अर्थ भी राधाके 'स्व'का अर्थ है। यदि राधाका स्वार्थ उसे श्रीकृष्णकी किसी भी इच्छाकी पूर्तिका साधन बनाना है, तो वह तनिक भी हिचकिचाहटके बिना एक क्षणमें ही राधाका सुख-साधन बन जाती है।

राधारानीके स्वार्थकी सीमा असीम है। उसका स्वार्थ ही अपना सुख नहीं, श्रीकृष्णकी अभिरुचि है। श्रीकृष्णको जिसमें सुख मिले, श्रीराधारानीको उसमें ही सुख है। श्रीकृष्ण अखिल-भुवन-मोहन हैं; उनके चरण-रजकण सुर-मुनि-दुर्लभ हैं। वे अनन्त-सुख-समुद्र हैं, वे प्रेम-रस-माधुर्य-निधि हैं; परन्तु वे

श्रीराधाके अतिरिक्त अनेक रमणियोंके प्रति आकृष्ट होते हैं। वे रोते हुए श्रीराधासे कहते हैं -- "जीवनमें मैंने तुम्हें एक क्षणके लिये भी सच्चे प्यारका दान नहीं किया। यदि किया होता, तो मैं तुझ एकका ही होकर रहता। तुमने मेरे लिये सर्वस्व त्याग किया; मैं अनादि कालसे यही अनुभव करता था कि नेत्रोंका सौन्दर्य-सुख यदि मुझे कोई रमणी दे सकती है तो वह मेरी प्रियतमा प्राणाधिका प्राणवल्लभा राधा ही दे सकती है। किन्तु मेरे मलिन मनमें, नेत्रोंमें मुझे जब अन्यत्र सुख मिलनेकी स्पृहा दृष्टिगोचर हुई तो मुझे अत्यधिक हीनताका अनुभव हुआ। पहली बार तो मैंने किसी प्रकार समाधान कर लिया, एवं साथ ही निश्चय भी कर लिया कि आगे अनन्त कालतक मुझमें यह लालसा जगेगी ही नहीं।"

यहाँ यह रहस्य खोलना परमावश्यक है कि प्रियतम श्रीकृष्णमें पहली बार किस रमणीके रूप-दर्शन-सुखको प्राप्त करनेकी स्पृहा जगती है ? रसिक साधक सदैव ध्यान रखें कि इस प्रेमराज्यमें अनन्त, निराविल, विशुद्ध आनन्द-रसका प्रवाह है; उच्छलन है। जबतक सागरमें अनेक एक-से-एक बढकर उत्तुंग लहरें नहीं उठें, वे परस्पर टकरावें नहीं, तबतक उसके रसमें उच्छलन कैसे होगा ? अनन्त आनन्द रसका उच्छलन तो तभी सम्भव है जब परस्पर विरोधी दिशाओंसे रसकी उत्तुंग लहरें एक-से-एक बढकर वेगवती होकर उमड़ें, परस्पर टकरावें और तब उच्छलन हो। यह राधा-रस-भाव-समुद्र इसीलिये प्रथमतया तो अपनी ही अनेक कायव्यूह रूपा उर्मियोंमें विभक्त होता है। इनके साथ-साथ तो उसका लहराना भर होता है। ये सभी क्योंकि राधा-सुख-सुखिया वृत्तिवाली हैं, अतः इन लहरोंमें समान दिशाप्रवाह रहता है। किन्तु इनके साथ रस-समुद्रके लहरानेसे, टकराहट नहीं होनेसे, उच्छलन संघटित नहीं हो पाता, अपसर्पण भी नहीं होता। आनन्द-रसमें ज्वार होता है; परन्तु रस-सिन्धु तटसे अपसर्पित हो, भाटेकी दशाको प्राप्त हो, किनारा नहीं छोडता। प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण ही तो इस प्रेम-भाव-सिन्धुके सरस किनारे-तट हैं। रसिकशेखर श्रीकृष्णरूपी तटको आप्यायित करना ही तो राधा-सिन्धुका मात्र मन्तव्य है, उसके उद्दाम प्रवाहके लहरानेका हेतु है। तब यह श्रीकृष्ण-तट ही यदि एक ही दिशामें प्रवाहित होनेवाली लहरोंके लहरानेसे विहार-संतुष्ट हो जाय तो उच्छलन घटित नहीं होगा। फिर तो सिन्धुमें ज्वार आवेगा ही नहीं। अतः राधा-महाभाव-

सिन्धु ही स्वयमें ही प्रतिस्पर्धी लहरकी संरचना करता है। आनन्द-महाभाव-सिन्धु तो अनेक होने सम्भव ही नहीं हैं। वह तो एकमेव अद्वितीय ही है। आह्लादिनी शक्ति राधा तो अनेक होनी संभव ही नहीं। वे तो एकमेव अद्वितीय ही हैं। फिर यह प्रतिस्पर्द्धी लहर अन्य सिन्धुगत तो हो ही नहीं सकती। यह राधाकी कायव्यूहरूपा होती तो प्रिया-प्रियतम-मिलनके समय प्रियामें समा जाती। परन्तु कायव्यूहरूपा नहीं होकर प्रतिस्पर्धी लहर है, अतः राधासे प्रकट होकर भी राधाके विरुद्ध-गुण-धर्मी स्वभावका आश्रय ले उससे प्रतिस्पर्धी, समान उत्तुंग हो उठती है।

इसी लहरको वैष्णव रस-शास्त्रोंने चन्द्रावली नामसे अभिहित किया है। चन्द्रावली श्रीराधासे भिन्न नहीं है। श्रीराधा महाभाव-सूर्य हैं, इसीलिये वे भानुपुत्री हैं। वे बृषभानु-तनया हैं। श्रीचन्द्रावली चन्द्रभानु गोपकी पुत्री हैं। इनकी माता चन्द्रकला हैं। किन्तु चन्द्रमा भानुके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है। अतः निकुञ्जमें – अनादि गोलोकमें रासमण्डलमें श्रीकृष्णके वामांगसे जैसे श्रीराधाकी उत्पत्ति होती है, ठीक वैसे ही श्रीराधाके नख-चन्द्रोंकी ज्योत्स्ना ही परमातिपरम सुन्दर आकार लेकर चन्द्रावलीके रूपमें प्रकट होती है, और अपने परमातिपरम सौन्दर्यसे श्रीकृष्णको आह्लादित, चमत्कृत करती उनके दक्षिण भागमें स्थित हो जाती है। यहाँ वैष्णवोंमें मतभेद है। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी तथा पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायके वैष्णव जहाँ श्रीराधाकी स्थिति श्रीकृष्णके दाहिने भागमें मानते हैं तथा चन्द्रावलीजीको वामभागमें स्थापित करते हैं, वहीं गौडीय सम्प्रदायके लोग श्रीराधाको वाम भागमें ही स्थान देते हैं और चन्द्रावलीजीकी श्रीकृष्णके दक्षिण भागमें स्थिति अनुभव करते हैं। आश्चर्य है, पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी भावना अनेकाशमें गौडीय सम्प्रदायके अनुकूल चलते हुए भी उन्हें सदैव ही श्रीराधाकी अनुभूति श्रीकृष्णके दक्षिणांगमें ही हुई है। यहाँ उनका पुष्टिमार्गसे सामञ्जस्य हो जाता है।

जब गीतावाटिकाका श्रीराधाकृष्ण-साधना-मन्दिर निर्मित नहीं हुआ था, मैंने एकबार पू.गुरुदेवसे पूछ लिया था – "पू.गुरुदेव ! आप स्वयं ही तो श्रीराधा हैं ! अतः आपकी समाधिके स्थानपर श्रीराधाकृष्णमन्दिरका निर्माण क्यों नहीं कराया जाय ?"

उस समय पू. गुरुदेवने तुरन्त ही मेरी भावनाका विरोध करते हुए कहा था – 'देखो ! जीवनभर मैं श्रीपोद्दार महाराजकी चिताके दक्षिण दिशामें ही रहा

हूँ, मुझे उनके दक्षिणागमें ही रखना।' उनकी भावनानुसार श्रीपोद्दार महाराजका शरीर भी चिन्मय था और उनके इस चिन्मय कलेवरका सम्पूर्ण नियन्त्रण नित्यनिकुञ्जेश्वर रासेश्वर श्रीकृष्ण ही करते थे। वे ही उनके मुखसे बोलते थे, नेत्रोंसे देखते थे, हाथोंसे संस्पर्श करते थे। श्रीपोद्दार महाराज सच्चिदानन्दकन्द रासेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके कलेवर रूपमें चिन्मय धाम ही थे।

इतना विषयान्तर एवं विस्तार मुझे एकमात्र यही संकेत करनेके लिये करना पड़ा है कि श्रीकृष्ण सर्वप्रथम यदि किसी भी राधा-इतर ब्रजांगनापर आकृष्ट होते हैं, तो वे ब्रजांगना यूथेश्वरी चन्द्रावली हैं। किन्तु चन्द्रावली-कुञ्जमें काल व्यतीत करनेके पश्चात् जब परितापग्रस्त प्रियतम श्रीकृष्ण श्रीरासेश्वरीके सम्मुख अपनी अनन्य प्रेमच्युति एवं हीनताका प्रकाश करते हैं, उस समय रासेश्वरी ही उनके अजस्र प्रवाहित अश्रु-स्रोतको पोंछती हुई उन्हें ढाढ़स देकर अपने अंकमें उसी उत्साहसे समालिंगित करती हुई कहती हैं – चन्द्रावली बहिन निस्सन्देह अनन्य सुन्दरी हैं और मुझ कुरूपासे उनकी संतुलना की ही नहीं जा सकती। फिर भी वे मेरी आत्मा एवं मेरी ही सुन्दरतम कल्पना-मूर्त्ति हैं। जब मैं अपनी कुरूपताका अनुभव करती हुई किसी अतुलनीय सौन्दर्यकी परिकल्पना करती हूँ, हे प्राणवल्लभ ! तुम्हें सुख देनेको समुत्सुक होती हूँ तो वह मेरी परिकल्पना ही सुमूर्त होकर मेरी चन्द्रावली सखी बनकर जीवन्त हो जाती है।'

यहाँ इन दो-तीन पंक्तियोंमें श्रीकृष्ण यही कहते हैं कि "तुम्हें स्मरण होगा कि मैंने अपनी च्युतिका (तुम्हारी उक्ति सुनकर ही ) मन-ही-मन समाधान कर लिया था और मुझे निश्चय था कि आगे भविष्यमें अनन्त कालतक भी मुझमें यह लालसा जगेगी ही नहीं। किन्तु यह मेरा नितान्त भ्रम ही था.......... । वह वैसी ही सुखकी लालसा पुनः जग ही उठी।"

इसी पुनः जगी प्रियतम श्रीकृष्णकी लालसा-पूर्त्तिको लेकर ही ये पाँच लीलाएँ पूज्य गुरुदेवने पू.सावित्री बाईकी साधनाको दिशा देनेको लिखाई हैं।

यहाँ यह ध्यान रहे कि श्रीकृष्णमें यह जो सौन्दर्य-लालसा जगती है, वह प्राकृत पुरुषोंके समान नारीदेहाकर्षण सर्वथा, सर्वांशमें नहीं है। जो श्रीकृष्ण स्वयं मन्मथ-मन्मथ हैं, उनका मन किसी सच्चिदानन्दसान्द्रांग सौन्दर्यपर ही समाकर्षित होना सभव है। वह सौन्दर्य निराविल विशुद्ध सच्चिदानन्दतत्वका ही विलास है और अघटनघटनापटीयसी भगवान्‌की चिच्छक्ति ही उस सच्चिदानन्द

तत्त्वसे किसी अचिन्त्य अनिर्वचनीय सौन्दर्य-समुच्चयका सृजनकर सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रको समाकर्षित करती है। यह विशुद्ध आनन्दका ही विलास है। अवश्यमेव इसकी भाषा प्राकृत है। शब्द प्राकृत हैं, परन्तु ये प्राकृत शब्द जिस सत्यको प्रकाशित करनेका मन्तव्य रख रहे हैं, वह मन्तव्य परमातिपरम निर्मल, विशुद्ध, निराविल आनन्दोच्छलन-मन्त्र है।

यह पूर्वतः उल्लेख किया जा चुका है कि श्रीराधाजीकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी ही छाया-स्वरूपा हैं। वे उनसे भिन्न कुछ भी नहीं हैं। पूज्य गुरुदेव अपने पिछले नाटक **अनुराग-परीक्षा लीला**का समापन ही इस गीतिकासे करते हैं:

*लै न सकै सुख दै न सकै जो*
*खेलि नित्य रस होरी।*
*सोइ सुवादन देन सोइ पिय*
*भये साँवरी छोरी।*

जब श्रीकृष्ण अपनी प्रिया किशोरीको अपने नित्य-निकुञ्जेश्वर रूपमें सुख देनेमें सर्वथा असमर्थ होते हैं, और नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा भी जहाँ अपनी राधारूपा महाभावमयी भावधारामें नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्णको, वे प्रकृत भावसे जैसा सुख चाहते हैं, दे सकनेमें असमर्थ होती हैं, तो वह विशुद्ध प्रेम-आस्वादन देने और लेनेके लिये श्रीकृष्ण स्वयं ही मञ्जुश्यामा नाम्नी छोरी बनकर कीर्त्तिदाकी कोखसे छायारूपमें जन्म ले लेते हैं। अतः मञ्जुश्यामा देवी कीर्त्तिदाकी पुत्री होते हुए भी वेदवर्णित समस्त अवतारोंकी निधान, सबकी अविनाशी बीज, नित्य सनातन, स्वयं ज्योतिस्वरूपा परमेश्वरी हैं। उनके एक-एक लोमकूपमें अनन्तानन्त कामदेव स्थित हैं, नित्य जन्मते हैं और विलीन होते हैं। श्रृगार उनके सच्चिदानन्दमय रूपको सजा नहीं सकता, उनके निरावृत अंग ही उनकी सच्चिदानन्दमयी प्रखर सौन्दर्यधाराको प्रकाशित कर सकते हैं। इसीलिये श्रीराधारानी अपने प्राणपति सच्चिदानन्दकन्दविग्रह श्रीकृष्णको अपनी ही स्वरूपभूत रूपमाधुरीसे चमत्कृत कर देनेके लिये अपनी छोटी बहिनको कहती हैं – "अत्यधिक गरमी है, बहिन! आज तू मुझे कम-से-कम वस्त्र धारण कराना और तू भी कम-से-कम पहनना।' नित्य निकुञ्जेश्वरीकी आँखें स्नेहसे छलक रही हैं और वे धीरे-धीरे ... ।( मञ्जुश्यामा-अपनी छोटी बहिनके अंग निरावृत कर देती है) इसके पश्चात् वे अपनी अनुजाको विशाल

पंखेकी डोरी खींचती रहनेका समादेश देकर अपने पास ही बैठाये रखती हैं। श्रीकृष्णकी मञ्जुश्यामाके प्रति उत्थित सौन्दर्य-भोगकी लालसाकी संपूर्ति ही श्रीराधाका मनोरथ है।

उपरोक्त वृत्तान्तको पढ़कर यदि कोई प्राकृत-भावाग्रही पाठक इस सम्पूर्ण विवरणको प्राकृत कामयुक्त भावसे ग्रहण करेगा, तो निश्चय ही दुर्भावग्रस्त होगा। इसीलिये इन लीलाओंमें भोग-भाव-निवृत्त, विशुद्ध-चित्त, अतिशय श्रद्धा-सम्पन्न रसभाव-मर्मज्ञ लोगोंका ही प्रवेशाधिकार है। उन्हें ही इन लीलाओंमें अवगाहन करना चाहिये। साधारण आस्तिकजन भी यदि इन्हें पढ़ें तो यह दृढ अवधारणा रखें कि भगवती राधा तथा उनकी छोटी बहिन ही नहीं, ब्रजकी सम्पूर्ण सृष्टि ही विशुद्ध सच्चिदानन्दमयी है। नारदादि मुनिगण, ब्रह्मादि देवगण, उद्धव-जैसे परम ज्ञानी भी जहाँ तृण एवं गुल्म बननेकी कामना करते हैं, ब्रह्मविद्या जिन राधा-मञ्जुश्यामादिके भावोंको प्राप्त करनेके लिये तपस्यारत होती है, एवं सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र जो श्रीमद्‌भगवद्गीतामें स्वयंको 'ब्रह्मकी प्रतिष्ठा' बतलाते हैं और सम्पूर्ण अध्यात्म जगत् जिसे स्वीकार करता है वे जिस रूपपर भ्रमरवत् आकृष्ट होते हैं, वह रूप साधारण प्राकृत नारीका मल-मूत्रमय देहगत विकारी रूप नहीं है। वे अंग, जिनकी झलक पानेको सच्चिदानन्दकन्द लालायित हैं, वे अंग कामोत्पादक नारी-अंग नहीं हैं। वे विशुद्ध सच्चिदानन्द सान्द्रांग हैं और भगवान् श्रीकृष्णका यह आकर्षण भी मात्र विशुद्ध रसोच्छलन, आनन्दकन्दका आनन्दविलास मात्र है।

भगवान् श्रीकृष्णका नाम पढ़ते ही पाठकके मनमें यह परिकल्पना मूर्त होनी ही चाहिये कि वे रज-वीर्याश्रित शरीर कदापि-कदापि नहीं हैं। वे स्वयं परब्रह्म, विराटोंके विराट, सबके स्वामी, सबके काम्य, साक्षात् भगवान् हैं। उनके रोम-रोममें अनन्त ज्ञान, अनन्त वैराग्य, अनन्त धर्म, अनन्त बल, अनन्त श्री, एवं अनन्त ऐश्वर्य नित्य समाहित है। वे किसी भी हेतुसे कभी भी च्युत नहीं हो सकते। वे नित्य अच्युत हैं और मञ्जुश्यामा, राधा, ललितादि सभी गोपियाँ उनकी ही विलक्षण स्वरूपभूत आह्लाद शक्तियाँ हैं। अपनी स्वरूपभूत शक्तियोंसे ही उनका यह निराविल विशुद्ध रस-विलास है। सदैव ऐसी दृढ़ पकड़ रखकर ही रसिक पाठकोंको इन लीलाओंका अवगाहन करना चाहिये। किमधिकम्। वैष्णवजन स्वयं विज्ञ हैं।

---

# ।। राधा-मनोरथकी दूसरी लीला ।।

{नित्य निकुञ्जमें प्रिया-प्रियतम विराजित हैं। निकुञ्जकी शोभाका क्या कहना है ? वाणीमें आ ही नहीं सकती। अब स्वयं ब्रजेन्द्रनन्दन अनन्तैश्वर्यनिकेतन सर्वलोकमहेश्वर नित्यानिर्वचनीयाचिन्त्य विरुद्धधर्माश्रयगुणविभूषित अखिलरसामृतमूर्त्तिकी सन्धिनी शक्ति ही निकुञ्जके रूपमें नित्य विराजमान है, तो उसकी शोभा अनुभवगम्य ही है, अस्तु।}

सहसा प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्णका कमल-मुख उदास-सा प्रतीत हुआ । नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा तत्क्षण बोल उठीं – "प्रियतम ! आज तुम उदास-से क्यों दीख रहे हो ? "

प्रियतम श्रीकृष्णने उत्तर दिया – "नहीं-नहीं, मेरे प्राणोंकी रानी ! तुम्हें भ्रम हो गया।"

नित्यनिकुञ्जेश्वरी बोलीं – "प्रियतम ! भ्रम नहीं, तुम मुझे बता दो, क्यों उदास हो ?"

प्रियतम श्रीकृष्णकी आँखोंसे आँसूकी दो बूँदें गिर पड़ीं। फिर तो नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधाके नयनोंसे भी अश्रुका प्रवाह चल पड़ा। जैसे-तैसे नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाने अपनेको संयत किया, फिर बोलीं – "प्रियतम ! बता दो !"

नित्यनिकुञ्जेश्वरने उदासी-भरी वाणीमें केवल इतना कहा– "प्रियतमे ! सुनकर तुम्हें अत्यन्त दुःख होगा।"

नित्यनिकुञ्जेश्वरी बोलीं – "कदापि नहीं, तुम अविलम्ब

मुझे कह दो।"

प्रियतम रो पडे और बोले – "मुझे प्राणेश्वरी ! अब अपने प्रति घृणा हो गयी। जीवनमें मैंने तुम्हें एक क्षणके लिये भी सच्चे प्यारका दान नहीं किया। यदि किया होता तो मेरे चित्तमें जो वृत्ति उत्पन्न हुई, वह होती ही नहीं। तुमने मेरे लिये अपना सर्वस्व त्याग किया। अनादि कालसे मैं यही अनुभव करता था कि नेत्रोंका सौन्दर्य-सुख यदि मुझे कोई रमणी दे सकती है तो मेरी प्रियतमा प्राणाधिका प्राणेश्वरी प्राणवल्लभा राधा ही दे सकती हैं। किन्तु मेरे मलिन मनमें, नेत्रोंमें मुझे अपनी हीनताका प्रथम बार अनुभव हुआ। तुम्हें स्मरण होगा पहली बार तो मैंने अपने मनका समाधान कर लिया था, और मुझे निश्चय था, कि अब आगे अनन्त कालतक मुझमें यह लालसा जगेगी ही नहीं । किन्तु यह भी मेरा नितान्त भ्रम ही था..........। उसी सुखकी लालसा पुनः जग ही उठी।"

यह कहते-कहते प्रियतम श्रीकृष्ण अत्यन्त आकुल होकर प्राणेश्वरी राधाके अंकमें सिर रखकर सुबकी भरकर रोने लगे। नित्यनिकुञ्जेश्वरीकी आँखोंसे भी आँसूकी धारा निरन्तर चल रही है। अन्तर इतना ही है – सो भी इस सत्यको जान सकीं केवल नित्यनिकुञ्जेश्वरी ही – कि उनकी अश्रुधारा सुखके आवेशकी है।

नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधा जैसे-तैसे अपनेको सँभालकर बोलीं – "प्रियतम ! अनादि कालसे मैं नित्य यही अनुभव करती हूँ कि मैंने तुमसे केवल सुख लिया ही लिया। क्षणभर

भी कभी तुम्हे अपनी ओरसे कोई सुखदान न कर सकी। पर मेरे देवता ! चाहती अवश्य हूँ कि ऐसा कर सकूँ। अवश्य ही वह होता नहीं। किंतु तुम विश्वास करो, न जाने मेरा कौनसा सुकृत उदय हुआ और सचमुच तुम्हारी बात सुनकर मेरे कण-कणमें सुखका संचार हो गया। प्रियतम ! जीवनका यह प्रथम अवसर है कि आज मैं तुम्हारी यह सेवा करनेमें परमोल्लास अनुभव कर रही हूँ। और अभी-अभी मैं इसकी व्यवस्था भी कर देती हूँ। किंतु प्रियतम ! अपनी बुद्धिसे ही तुम्हें कुछ निवेदन कर दूँ। रसकी नाट्यशालामें तुम रमण हो और मैं रमणी हूँ। रमणीका अभिनय, रमणीका पाठ मुझे ही सीखना-सिखाना है।"

इतना कहकर नित्यनिकुञ्जेश्वरी बडी मधुर भाषामें प्रियतमसे कुछ कहने लगीं। कहकर मुसकुरा उठीं और पुनः बोलीं – "प्रियतम ! किंतु मुझे लगता है कि तुम भूल जाओगे और मेरी शिक्षाका जहाँ अनादर हुआ नहीं, कि रस अधूरा ही रहेगा।"

प्रियतम श्रीकृष्णने हँसकर कहा – "नहीं, नहीं, अक्षरशः पालन होगा।"

श्रीराधा हँस पड़ीं। कुछ देर सोचती रहीं और फिर बोलीं – "......... बस, नीलमकी माला, नीलमकी माला यह रटते रहना भला। अन्यथा हमारा मनोरथ और तुम्हारी लालसा दोनों मिलकर भी आधा ही रस दे सकेंगे।"

प्रियतम श्रीकृष्ण जिस प्रकार विराजित थे, विराजित रहे। और श्रीराधा शय्यापर लेट गयीं। कुछ क्षणके पश्चात्

नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाकी अनुजा
श्रीमञ्जुश्यामाजी

उन्होंने पुकारा – "बहिन ! इधर आओ।" निकुञ्जका द्वार खुला और मञ्जुश्यामा भीतर आयी। श्रीराधा बोलीं – "बहिन! तू मुझे किञ्चित् शीतल जल पिला। आज मुझे अत्यधिक गरमीका अनुभव हो रहा है।" उसने कनकझारीसे अत्यन्त शीतल जल लेकर नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाको पिलाया और उसके समीप ही कुसुम शय्यापर बैठ गयी। उसके मुखपर प्रस्वेदकण थे। नित्यनिकुञ्जेश्वरीने अपने हाथोंसे उसे पोंछा। कुछ देरके पश्चात् बोलीं – "अत्यधिक गरमी है, बहिन! आज तू मुझे कम-से-कम वस्त्र धारण कराना और तू भी कम-से-कम पहनना।"

नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाकी आँखें स्नेहसे छलक रही हैं और वे धीरे-धीरे........। उसकी आँखें नित्यनिकुञ्जेश्वरीके साथ जुड़ी रहीं। कुछ क्षणोंके पश्चात् नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा पुनः पूर्ववत् लेट गयीं। और लेटे-लेटे बोलीं – "बहिन ! तू यहीं बैठकर इस कुसुमसे निर्मित विशाल पंखेकी डोरीको खींचती रह। फिर कदाचित् मुझे थोड़ी नींद आ जाय।" उसने वैसा ही किया।

थोड़ी देरमें नित्यनिकुञ्जेश्वरीकी आँखें झँपने लगीं और वे बायीं करवट लेकर निद्रित-सी हो गयीं। इस समय नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण अतिशय प्यारभरी आँखोंसे एक क्षण नित्यनिकुञ्जेश्वरीके मुखारविन्दकी ओर देखते हैं और दूसरे क्षण मंजुश्यामाके मुखकी ओर। जब प्रियतम श्रीकृष्णको यह भान हो गया कि नित्यनिकुञ्जेश्वरी मुझे रसमय चर्चा करानेके लिये ही बायीं ओर करवट लेकर

तन्द्रित हो गयी हैं तो एक बार वे भावके आवेशमें कुछ क्षणोंके लिए विह्वल हो उठे और टप-टप उनकी अश्रुबूँदें प्रियतमा श्रीराधाके उन्मुक्त कुन्तलोंपर पड़ने लगीं। इतनेमें मंजुश्यामाने पूछा–"बहिन सो गयी दिखती है।"

प्रियतम श्रीकृष्णने अपने दुकूलसे अपना अश्रु-मार्जनकर यह कहा – "हाँ री ! ऐसा ही लगता है।" वे इतना कहकर एकटक उसकी ओर देखने लगे। इसके पश्चात्.............।

वह तत्क्षण मूर्च्छित हो गयी। उसी समय नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाकी आँखें खुलीं, और वे मन्द-मन्द मुसकुरा उठीं। प्रिय‌.म श्रीकृष्णके मुखारविन्दपर भी हँसी आ गयी। नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाने हँसकर कहा – "प्राणेश्वर ! आखिर मेरी शिक्षा भूल गये न ?" प्रियतम श्रीकृष्ण गद्‌गद् कण्ठसे बोले – "प्राणाधिके ! सचमुच भूल ही गया.........। प्राणेश्वरी राधाने प्रियतम श्रीकृष्णके कण्ठमें अपनी दोनों भुजाएँ डालकर यह कहा – "कोई चिन्ताकी बात नहीं, कल.......। इसके अनन्तर प्रिया श्रीराधा मञ्जुश्यामाके उन्मुक्त कुन्तलोंपर हाथ फेरकर बोलीं – "बहिन ! उठ तो सही"। वह तत्क्षण उठ पड़ी। उसकी आँखोंमें केवल विस्मय था। प्रिया-प्रियतम दोनों अपनी आँखोंमें अपरिसीम स्नेह लिये उसे देख रहे हैं।

---

## ।।राधा मनोरथकी तीसरी लीला।।

सूर्यके अस्ताचल जानेमें छः घड़ीका विलम्ब है। नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा मञ्जुश्यामाको साथ लिये वनपथसे आवासकी ओर लौट रही हैं। वे अन्यमनस्क हैं और मञ्जुश्यामा भी। श्रीराधा गिरिवर-सेतुको पार करके उत्तर-पश्चिमके कोनेकी ओर मुड़ीं। उस पुष्पित वकुलके नीचे आकर सहसा चौंक उठीं। बोलीं – "अरी ! यह क्या ! ओढ़नी तो मैं भूल आयी ! इस प्रकार निरावरण लौट रही हूँ।" अवश्य ही कञ्चुकीका आवरण श्रीराधाके वक्षस्थलपर था ही।

मञ्जुश्यामा मानो समाधिसे जग उठी। अचरजमें भरकर बोली – "हैं ! मुझे भी इसका कोई भान नहीं रहा, बहिन ! विचित्र ही बात है। आजतक ऐसी बेशुध तो मैं कभी हुई ही नहीं। पर कोई चिन्ता की बात नहीं, बहिन ! तू मेरी ओढ़नी ओढकर चली चल।" श्रीराधाने किञ्चित् उदासीकी मुद्रामें कहा – "मैं यों ही चली चलूँगी। कञ्चुकी है ही।" श्रीराधाने पुनः यह कहा –"नहीं, बहिन ! इसमें तेरे लिये बहुत चिन्ताकी बात है......।"

मञ्जुश्यामाने कुछ सोचकर यह कहा– "अच्छा, तू बता, किस स्थानपर वह पड़ी होगी। मैं अभी दौड़कर ले आती हूँ। तू यहीं बैठी रह।"

श्रीराधाने कहा – "अनुमानतः इन्दुलेखा-कुञ्जमें।"

मञ्जुश्यामाने फिर तो एक पलका भी विलम्ब नहीं

किया और उसी दिशामें दौड पड़ी। दस पद जानेके बाद किञ्चित् रुकी। पीछे लौटकर उसने अपनी ओढ़नी बहिन श्रीराधाकी गोदीमें फेंक दी। फेंककर बड़े वेगसे पुनः दौड़ी। दो-तीन पलोंमें दृष्टिसे ओझल हो गयी। नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा उसी दिशामें अपना मुखारविन्द किये विराजित रहीं। किंतु सहसा उनकी अञ्जलि बँध गयी और नेत्रोंसे टप-टप आँसूकी बूँदें झरने लगीं। मानो वे कुछ प्रार्थना कर रही हों।

मञ्जुश्यामा दौड़ती-दौड़ती इन्दुलेखा-कुञ्जमें पहुँच गयी। अपनी बुद्धिसे उसने अनुमान लगाया कि ओढ़नी कहाँ हो सकती है, वह वहीं पहुँची। उसका अनुमान सत्य था। ओढ़नी वहीं पुष्पशय्यापर पड़ी थी। उसने झट-से उसे उठाया। इतनेमें देखती है कि निकुञ्जद्वारपर नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण खड़े हैं। उनकी आँखें सजल हैं और वे एकटक उसकी ओर देख रहे हैं।

प्रियतम श्रीकृष्ण बोले – "अरी ! कैसे आयी।"

मञ्जुश्यामाने सरलता भरी वाणीमें उत्तर दिया – "बहिनकी ओढ़नी छूट गयी थी, लेने आयी हूँ।"

प्रियतम श्रीकृष्णने अतिशय प्रसन्नताकी मुद्रामें यह कहा – "बहुत अच्छा किया। किंतु एक सावधानीकी बात मुझे तुम्हें और कह देनी है।" मञ्जुश्यामा खड़ी-खड़ी ही बोली – "कहो "।

प्रियतम श्रीकृष्ण उसी पुष्पशय्यापर विराज गये और बोले – "तू बैठ जा। शान्तिसे सुन ले"। मञ्जुश्यामा उनके समीप ही बैठ गयी। और वे बतलाने लगे ........।

चर्चा होते-होते ही मञ्जुश्यामा मूर्छित होकर गिर पड़ी। बडी कठिनाईसे प्रियतम श्रीकृष्ण उसे चेत करा सके। वह उठी। अत्यन्त सरलतासे उसने किञ्चित् प्यारभरा उपालम्भ दिया और फिर ओढनी लेकर श्रीराधाके पास पहुँच गयी। नित्यनिकुञ्जेश्वरीने ब्योरेवार सारी बातें पूछीं। मञ्जुश्यामाने ज्यों-की-त्यों सब-कुछ कह दिया।

नित्यनिकुञ्जेश्वरीके मुखपर उदासी आ गयी। मञ्जुश्यामाने पूछा – "क्यों बहिन ! क्या बात हुई ?"

नित्यनिकुञ्जेश्वरीने कहा – "रात्रिमें मध्यरात्रि बीतनेके अनन्तर तू मेरे पास आना। मैं तुझे बता दूँगी।" दोनों बहिनें अपने आवासपर पहुँच गयीं.........।

उस दिन बडी कठिनाईसे श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामा यमुना-तटके निकुञ्जपर पहुँच पायीं। प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलन हुआ। मञ्जुश्यामा ठीक मध्यरात्रिके अनन्तर अपनी बहिनके पास पहुँची। अतिशय सरलतासे उसने पूछा – "बहिन ! बता।"

उस समय नित्यनिकुञ्जेश्वरी और नित्यनिकुञ्जेश्वर हँस-हँसकर कुछ बातें अत्यन्त धीरे-धीरे कर रहे थे जिससे कोई सुन न सके। मञ्जुश्यामा जिस समय पहुँची थी उस समय नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण कुछ उदास-से हो गये, किंतु नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा बोली थीं – "चिन्ता नहीं, कल।" मञ्जुश्यामा जिस समय पहुँची उसके कानोंमें यह 'कल' शब्द पड़ गया था। पर उसने कुछ भी न कहकर बहिन श्रीराधाको केवल वह बात बतलानेको प्रेरणा दी थी।

नित्यनिकुञ्जेश्वरीने केवल इतना ही कहा – "बहिन ! तू अभी जाकर अशोकमञ्जरीके पास सो जा। मैं कल बतलानेकी चेष्टा करूँगी।"

मञ्जुश्यामा पार्श्वके निकुञ्जमें आकर अशोकके पास बैठ गयी। वहाँसे वह जब चाहे बहिन श्रीराधाको देख सकती थी। अशोकमञ्जरीने कहा – "आ बहिन ! हमलोग बैठें।" और अत्यधिक रसमयी चर्चा आरम्भ हुई ..........।

---

## ।। राधा-मनोरथकी चौथी लीला ।।

मध्याह्नका समय है। राधासरोवर प्रियतमा-प्रियतमके अवगाहनकी लीलासे उद्भासित है। फूले हुए कमलोंकी शोभा उन अनन्त ब्रजसुन्दरियोंकी आँखोंकी सुख-सामग्री बन रही है। सहसा कमलके पुष्पोंको तोड़-तोड़कर कन्दुक-निर्माणकी लीला आरम्भ हुई। दो-चार पलोंमें ही एक-एक कन्दुक सबके हाथोंमें है। और अब उसे फेंक-फेंककर खेलनेकी होड़ लगी है। दो दलका निर्माण हुआ। एक ओर अकेले प्रियतम श्रीकृष्ण और दूसरी ओर नित्यनिकुञ्जेश्वरी अपनी बहिन मञ्जुश्यामाको लेकर खड़ी हैं। अबतक सभीके अंग वक्षस्थलतक जलमें डूबे थे। पर इस लीलाके लिये सभी ग्रीवापर्यन्त जलमें उतर आये।

नित्यनिकुञ्जेश्वरीने अपनी बहिनसे कहा – "देख, बहिन ! प्रियतम श्रीकृष्ण बड़े चतुर हैं। वे मझे हरानेपर

तुले हुए हैं। यदि तू सर्वथा मेरे समीप रहेगी तो मैं हार जाऊँगी। इसलिये थोड़ी-सी मुझसे दूर खड़ी हो जा।"

मंजुश्यामाने ज्यों-का-त्यों अपनी बहनके आदेशका पालन किया। खेलके हार-जीतकी शर्त बड़ी निराली थी ......। हार-जीतकी निर्णयकर्त्री और खेलकी सञ्चालिका ललिता हैं।

ललिता बोलीं – "देखो श्रीकृष्ण ! और देख, बहिन राधा ! तुम दोनोंको जब मैं आज्ञा दूँगी बस तत्क्षण कन्दुक फेंक देना है। और इस प्रकार फेंकना है कि कन्दुक तुम दोनोंके परस्पर सिरपर ही आए। अधिक-से- अधिक दो हाथ चारों ओरकी छूट मिल सकती है। यदि कन्दुक दो हाथकी सीमासे बाहर आयेगा तो इसमें तुम दोनोंको कुछ दण्ड सहना पड़ेगा। दण्डके सम्बन्धमें मैं निर्णय पीछे दूँगी। और फेंकते समय यदि हमारी आज्ञाके अनन्तर तुम दोनोंमें कोई भी जानबूझकर विलम्ब करोगी या करोगे, उसके बदले भी कुछ नगण्य-सा दण्ड सहना पडेगा। इसका निर्णय भी पीछे दूँगी। अब प्रियतम श्रीकृष्णका कन्दुक यदि तुम अपने हाथमें पकड़ पाओगी तो तुम्हारी जीत होगी। प्रियतम श्रीकृष्ण पकड़ पायेंगे तो उनकी जीत होगी। और क्रीड़ामें तुम दोनों समान बलशालिनी-बलशाली मानी जाओगी, माने जाओगे। इसके अनन्तर मैं कोई अन्य नियम बनाकर तुम दोनोंके बलकी परीक्षाके लिये फिरसे कन्दुक-क्रीड़ा प्रारंभ करूँगी। किन्तु यदि तुम दोनोंमेंसे कहीं कोई हार गया या हार गयी या दोनों हार गये फिर यह दण्ड सहना पड़ेगा। श्रीकृष्णको

तो जलमें डुबकी लगाकर श्वास रोककर और मेरे द्वारा कमलके पुष्पोंकी डोरीसे पीठकी ओर अपने दोनों बँधे हुए हाथोंको ज्यों-का-त्यों रखकर हमारी बहन राधाके दस पद-नखचन्द्रोंका चुम्बन करना पड़ेगा। और यदि बहिन राधा भी हारी हुई है तो जलबिन्दु लेकर अपने भालसे छुलाकर वह तुम्हारा तिलक कर देगी। यह तो हुआ दोनोंके ही हार जानेकी स्थितिमें। और दोनोंमें से किसी एकके जीत जानेकी स्थितिमें..........।"

नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा बोलीं – "देख ललिता ! दो-चार बारकी तो छूट होनी चाहिए अभ्यासके लिए। इसके पश्चात् हार-जीतका निर्णय तू करना।"

ललिताने कहा – "ठीक है, तीन बार अभ्यासके लिए छूट दे रही हूँ "। और खेल प्रारंभ हो गया।

पहली बारमें श्रीराधा कन्दुकको पकड़ नहीं पायीं पर मञ्जुश्यामाने पकड़ लिया। उधर प्रियतम श्रीकृष्ण भी नहीं पकड सके। दूसरी बारमे भी मञ्जुश्यामाने ही पकड़ी। उधर श्रीकृष्णको भी सफलता मिल गयी। तीसरी बारमें भी मञ्जुश्यामाने ही पकड़ा। उधर श्रीकृष्ण भी पकड़ सके।

ललिता बोलीं – "अब आगे हार-जीतमें निर्णयके साथ खेल है।"

अब पहली बार श्रीकृष्ण नहीं पकड़ सके। इधर श्रीराधाने कन्दुकको पकड़ लिया। दूसरी बार भी श्रीकृष्ण नहीं पकड़ सके। उधर मञ्जुश्यामाने पकड़ लिया। इस प्रकार नौ बार श्रीकृष्ण हार गये और नवौंबार मञ्जुश्यामाको

सफलता मिला। श्रीराधा भी नहीं पकड़ पायीं। सरोवरके जल-तलपर उल्लासकी लहर गूँज उठी। सखियोंने और वनके समस्त पक्षियोंने मञ्जुश्यामाकी जय-जयकी घोषणाकी। केवल श्रीकृष्णका पालित शुक मौन रहा।

प्रियतम श्रीकृष्णने हँसकर शुकको सम्बोधित करके कहा – "नहीं-नहीं प्रिय कीर ! तू भी जय बोल दे। वास्तवमें तो अन्यायकी जय हो रही है। प्राणेश्वरी राधा तो दोके साथ मुझे हरा रही हैं। क्योंकि मैं एकाकी हूँ और स्वयं निर्णयकर्त्रीजी महारानी ललिता प्रत्येक बार असत् पक्षका समर्थन कर रही हैं। क्योंकि कन्दुक प्रत्येक बार दो हाथकी सीमासे बाहर आया था। अतएव तू भी जय कह दे। मेरा आदेश मानकर ही सही "।

कीर बोल उठा – "मञ्जुश्यामाकी जय "।

प्रियतम श्रीकृष्ण पुनः बोले – "कीर ! पुनः बोलो, ललितादेवीके अन्यायकी जय।" तोता वैसे ही बोल उठा।

नित्यनिकुञ्जेवरी हँसकर उडती हुई सारिकासे बोलीं– "अरी ! सारिके ! तू बोल दे –'सदा सत्य-प्रतिपालक, बालब्रह्मचारी, स्वप्नमें भी किसी रमणीका चिन्तन न करने वाले, अनन्त श्रीविभूषित व्रजेन्द्रनन्दन महाराजकी जय'।" सारिका वैसे ही बोल उठी।

श्रीराधाने हँसकर पूछा – "क्यों, अब तो प्रसन्न हो ?"

प्रियतम श्रीकृष्ण भी उच्चस्वरसे हँसने लगे और बोले – "क्यों ललितादेवी ! हारनेका दण्ड भोगना है क्या?"

ललिता मुसकुराती हुई हँसकर बोलीं – "ठीक है,

तुम्हारे अनन्य पक्षपाती कीरको बुला लो। वह मेरे बाँये हाथपर बैठ जायगा। वह भी देख ले कि मेरा निर्णय सत्य था, है, कि धूर्तशिरोमणि उसके पालक महाराजका ! और मैं इस ग्यारह बारकी हार-जीत भी अवलम्बित कर देती हूँ, अग्रिम ग्यारहों बारकी हार-जीतपर। यदि उसमें राधा या मञ्जुश्यामा जीत गईं तो बाईस बारका दण्ड तुमको अन्यथा बाईस बारका दण्ड इनको भोगना पड़ेगा।"

श्रीकृष्ण हँसे, बोले – "ठीक है "।

कीर उनके संकेतसे आकर ललिताके वामहस्तपर विराज गया। और क्रीडा प्रारम्भ हुई। इस बार बारहों बारमें केवल मञ्जुश्यामा जीती। क्योंकि नित्यनिकुञ्जेश्वरी भी ग्यारहों बार अतिशय परिश्रम करके भी कन्दुक न पकड़ सकीं। वही हाल उधर प्रियतम श्रीकृष्णका भी हुआ।

ललिताने कहा – "कीर ! तुम्हीं निर्णय बतला दो कि कन्दुक दो हाथकी सीमामें गया था कि नहीं।"

वह धीरेसे बोला – "ललिताजीने कोई अन्याय नहीं किया है।"

प्रियतम श्रीकृष्ण हँसे और बोले – "अच्छा, जब प्राणेश्वरीकी छोटी बहिन इतनी बलशालिनी है तो एक सहायिका मेरी ओर भी कर देनी चाहिये।"

श्रीराधा हँसी, बोलीं – "ठीक है, तुम जिसे चाहो ले लो, अपनी ओर।"

श्रीकृष्णने कहा –"ठीक है, रूपमञ्जरीको मेरी ओर कर दो। "

वैसा ही हुआ और क्रीड़ा प्रारम्भ हुई। आश्चर्यकी बात इस बार तीन बार नित्यनिकुञ्जेश्वरी कन्दुक पकड़नेमें सफल हुईं और आठ बार मञ्जुश्यामा। और उधर रूपमञ्जरी और श्रीकृष्ण दोनों ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर कन्दुक एक बार भी नहीं पकड़ पाये।

ललिता बोलीं – "कीर ! मेरे निरीक्षणके न्याय-अन्यायका तू निर्णय कर दे।"

कीर बोला – "मुझे भ्रम हुआ कि एक बार सम्भवतः ललिता ठीकसे नहीं देख सकीं और कन्दुक चाहे दो-एक अंगुल ही हो, मेरे नाथ श्रीकृष्णके श्रीअंगोंकी दूरी कन्दुकसे दो हाथसे अधिक रही।" ललिता बोलीं – "अच्छा ! इस एक भ्रमके बदले मैं तीन बार अवसर देती हूँ पुनः श्रीकृष्णको। यदि वे पकड़ सकेंगे तो उनकी जीतको मैं छः बार कर दूँगी। एक बार भी पकड़ पायें तो भी।"

वैसा ही हुआ। रूपमञ्जरीकी पूरी सहायता लेकर भी श्रीकृष्ण कन्दुक एक बार भी नहीं पकड़ सके। और इधर तीनों बार नित्यनिकुञ्जेश्वरीने कन्दुकको पकड़ लिया। सरोवरका जल गूँज उठा– "नित्यनिकुञ्जेश्वरी, वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा महारानीकी जय ! जय !! जय !!!" से ।

स्वयं प्रियतम श्रीकृष्ण भी बड़े उल्लसित चित्तसे ऊँचे मनोहर स्वरसे कह रहे हैं – "मेरी नित्यप्रियतमा नित्य प्राणाधिका नित्यप्राणवल्लभा नित्यप्राणेश्वरी नित्यनवनिकुञ्जेश्वरी नित्यवृन्दावनेश्वरी नित्यवृषभानुनन्दिनी श्रीराधा और उनकी सहोदरा मञ्जुश्यामाकी जय-जय-जय ! सदा जय-जय-जय!"

अब हारके मनोहर दण्ड-ग्रहणका खेल प्रारम्भ हुआ! ललिता बोलीं – "आठ पहरतक इस क्षणसे श्रीकृष्ण तुम्हारे करयुगलपर और.......... पर हमारी बहिन राधाका अधिकार है। वह अभी इसी क्षणसे उसका उपयोग कर सकती है।" नित्यनिकुञ्जेश्वरी हँसी और बोलीं – "आओ, पधारो ! मेरे देवता ! और आ री रूपमञ्जरी ! प्रियतम ! अपने पीताम्बरकी चार किनारीमें से दोको तुम पकड़ लो और दोको रूपमञ्जरी पकड़ लेगी। पीताम्बर जलको छूता रहेगा। जिससे बोझका अनुभव कम हो। और मैं अपनी बहिनको अंकमें धारणकर उस झूलेपर बैठाऊँगी। बैठाकर आगे-आगे चलूँगी। मेरे आगे और ये सभी सखियाँ चलेंगी सरोवरका अवगाहन करती हुई। मेरे पीछे तुम दोनों चलोगे इसे झूला झुलाते हुए।" ऐसा ही हुआ। कुछ पल हँसते, जल बिखेरते सरोवरमें सभी उसी प्रकार चले। प्रियतम श्रीकृष्ण हँसे और बोले – "प्राणेश्वरी! मेरी कलाई व्यथित हो रही है।" श्रीराधा हँसी, बोलीं – "अच्छा, थोड़ी देर मैं पकड़कर चलती हूँ। तुम विश्राम कर लो।" वैसा ही हुआ।

इतनेमें ही हंसोंका दल बड़े मधुर स्वरमें बोल उठा। इन्दुलेखाने बतलाया – "देख बहिन राधा ! ये हंस कह रहे हैं कि "नित्यनिकुञ्जेश्वरी महारानीकी जय हो। कुछ पलोंके लिये हमारे प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके बदले हममेंसे दो अपने चञ्चुसे पीताम्बरकी किनारी पकड़ लें, इतनी सी कृपा हो।" नित्यनिकुञ्जेश्वरी तत्क्षण बोलीं – "क्या हानि है। हम लोग हंसोंके पास चले चलें। वहाँ उन्हें यह सुख दे दूँगी।"

कहकर कुछ क्षण चलती रहीं। फिर बोली – "अरी बिशाखे! तू मेरे बदले दोनों छोरोंको पकड़ ले ; और ललिता बहिन ! तू आ। चार हंसोंका हम लोग चयन कर लें। वे चारों चञ्चुसे पकडकर चलेंगे।" कहकर वैसी ही व्यवस्था करके ललिताको लेकर चल पडीं। सभी उल्लासमें भरी हंसोंको देख रही हैं। इधर प्रियतम श्रीकृष्णकी लीला आरम्भ हुई.......। किंतु तत्क्षण मञ्जुश्यामा मूर्च्छित होकर पीताम्बरकी पालकीसे गिर पड़ी। इतनेमें ही ऊपर कीर बोल उठा–"नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनीके प्रियतम मेरे नाथ ब्रजेन्द्रनन्दनकी जय हो। अतिकाल होगया है, नाथ ! उधर भी ध्यान हो, बट-वृक्षकी ओर।" तत्क्षण उस कीड़ाका विराम करती हुई नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाने यह कहा – "हंस! कल.... .....। कल तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी।"

- - - -

## ।। राधा–मनोरथकी पाँचवीं लीला ।।

निकुञ्जके मध्याह-भोजनके अनन्तर प्रियतम श्रीकृष्ण गहरी नींदमें सो गये। नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाने नींदका बहाना कर रखा था। जब उन्हें अनुभव हुआ कि प्रियतम सो गये हैं तो तत्काल उठ पड़ीं। और पार्श्ववर्त्ती निकुञ्जमें पधारीं। वहाँ बैठी हुई हैं उनकी बहिन मञ्जुश्यामा और उसके पास ही बैठी हुई है अशोकमञ्जरी। दोनों हँस-हँसकर बात कर रही हैं। श्रीराधाके आते ही मञ्जुश्यामा उनसे लिपट

गयी और बोली – "क्यो बहिन ! कैसे आयी ?"

श्रीराधाने अत्यन्त धीमे स्वरमें यह कहा – "आयी तो हूँ किसी विशेष कार्यसे, बहिन !"

मञ्जुश्यामाने कहा – "बता।"

श्रीराधा बोलीं – "तू कर सकेगी क्या ?" वह बोली– "तू बता तो सही।"

नित्यनिकुञ्जेश्वरी उसे निकुञ्जद्वारपर ले गयीं। वहाँसे सोये हुए प्रियतम श्रीकृष्णके सम्पूर्ण अंगोंका अत्यन्त स्पष्ट दर्शन हो रहा था। प्रियतम श्रीकृष्ण चित सोये हैं। दैवयोगसे वंशी उनकी कटिके पास पीठके नीचे ऐसी दबी हुई है कि उसका तीन हिस्सा तो पीठके नीचे चला आया है और एक हिस्सा दाहिनी ओर दीख रहा है। दाहिनी ओर शय्यासे सटा हुआ ही निकुञ्जका द्वार है। उस तरफ बहुत कम स्थान है। बायीं ओर शय्यापर पर्याप्त स्थान है। श्रीराधाने मञ्जुश्यामाको सब बातें समझाकर यह कहा – 'तू धीरेसे चली जा और जैसे मैं तुम्हें समझा चुकी हूँ वैसे बैठकर धीरे-धीरे वंशीको निकालकर उसे लेकर चली आ।"

मञ्जुश्यामा बड़े उत्साहसे चली। राधा बहिनने उसे जैसे बताया था, उसी युक्तिसे वंशीको निकालनेका प्रयास करने लगी। उसका प्रयास प्रायः सफल होने जा रहा था। केवल चार-पाँच अंगुल वंशी पीठके नीचे रह गयी थी। इतनेमें श्रीकृष्ण जग पड़े। और फिर.............।

लगभग एक पहर बीत गया था। मञ्जुश्यामा अपनी बहिनकी गोदीमें सिर रखकर फूट-फूटकर रो रही थी।

श्रीराधा पूछ रही थीं कि – "तू बता क्यों रो रही है।" पर मञ्जुश्यामाने बात नहीं बताई। जैसे-तैसे उसे पुचकारकर नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रियतम श्रीकृष्णके समीप आयीं और संकेतमें केवल इतना-सा कहा – "कल"।

---

## ।। राधा–मनोरथकी छठी लीला ।।

वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा अपने आवासके कक्षमें विराजित हैं। उनके समीप उनकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा बैठी है। श्रीराधाका मुख उदास है। मञ्जुश्यामा बोली – "क्यों बहिन ! तू उदास क्यों है।"

श्रीराधाने उत्तर दिया – "री ! क्या कहूँ, सम्भवतः आज वनमें न जा पाऊँगी और प्रियतम श्रीकृष्णके दर्शन न हो सकेंगे।" इतना कहते-कहते उनकी आँखें भर आयीं। कुछ पलोंके अनन्तर बोलीं – "बहिन ! मन बहलानेके लिये मैं तुझे जैसा कहूँ तू कर लेगी ?" वह बोली – "अवश्य, तू बता।" श्रीराधाने कहा – "देख ! तेरा मुख सर्वथा मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके समान है। मैं तुझे पुरुष वेषमें सजा देती हूँ। और उस दिन भैया श्रीदामने जो वंशी लाकर तुम्हें दी थी वह तू ले आ। फिर मैं तुम्हें नृत्य सिखाऊँगी। वंशी बजाना तो  मुझे आता नहीं जो सिखा सकूँ। पर तू रह-रहकर उसमें फूँक भर देना। इस प्रकार आजका दिन कट सकता है।"

मञ्जुश्यामा बोली – "तू अभी मुझे श्रीकृष्णके समान सुसज्जित कर दे। मैं नाच भी लूँगी और देख ! कदाचित् मैं बंशी भी बजा दूँ।"

आश्चर्यमें भरकर श्रीराधाने पूछा – "तू कैसे बंशी बजा देगी ?"

मञ्जुश्यामाने बतलाया – " देख ! गत धनतेरसकी बात है। मुझे एक स्वप्न हुआ था। मुझे ऐसा भान हुआ मानो चार भुजासे विभूषित भगवती श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी आकाशमें खड़ी हैं। और मुझे कह रही हैं कि – "अरी मञ्जुश्यामे ! जिस किसी दिन आकुल होकर तुम्हारी बहन श्रीराधा तुम्हें पुरुष वेषमें सज्जित करके अपने करकमलोंसे तुम्हारे होठोंपर बंशी रख दें, उस समय यदि तू चाहेगी तो यह मंत्र पढ़कर ठीक ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके समान बंशी बजा सकेगी। "यह कहकर वे तो उधर अंतर्धान हुईं और मेरा स्वप्न टूट गया। किन्तु बहन ! वह मंत्र मुझे अब भी ज्यों-का-त्यों स्मरण है। इसीसे कह रही हूँ कि कदाचित् बजा सकूँ।"

श्रीराधाको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। बड़े उल्लाससे उन्होने मञ्जुश्यामाको ठीक प्रियतम श्रीकृष्णके वेशमें सजाया .......। कुछ ही पलोंमें श्रीराधाने अनुभव किया कि सचमुच मानो प्रियतम श्रीकृष्ण ही शृंगार धारण करके उनके सामने खड़े हों। बड़ी प्रसन्नता हुई उनको और उन्होंने श्रीकृष्ण बनी हुई मञ्जुश्यामाके पैरोंमें नूपुर बाँधा। पहलेका नूपुर श्रीकृष्णके नूपुरके अनुरूप नहीं था। नित्यनिकुञ्जेश्वरीने कक्षके द्वारको बंद कर लिया जिससे कोई भीतर आ न सके।

वे स्वयं सुसज्जित थीं ही और नृत्यका पाठ देती हुई कुछ क्षणोंके लिए नाचीं। तत्क्षण मञ्जुश्यामाने ठीक-ठीक उसका अनुकरण करके दिखला दिया। राधाका रोम-रोम पुलकित हो गया। उसे कंठसे लगाकर परमानंदमें निमग्न होकर बोलीं -- "बहिन ! मुझे ऐसा लगता है मानों तुममें मेरे प्रियतम श्रीकृष्णका आवेश हो गया। अतएव अब मैं देखना चाहती हूँ कि तू अपने मनसे बिना शिक्षाके नाच सकती है या नहीं ?" मञ्जुश्यामा बोली -- "बहिन ! आवेशकी बात तो मैं समझती नहीं, पर मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि तू चाहे तो मैं नाचकर दिखला दूँ। सभवतः कोई दैवी शक्ति काम कर रही हो। मैं हूँ तो तुम्हारी बहिन मञ्जुश्यामा ही। किन्तु ऐसा हो सकता है भगवतीने इसी उद्देश्यसे वह स्वप्न मुझे दिखलाया हो।"

श्रीराधा बोलीं – "अच्छा, बहिन ! तू नाच तो सही।"

मञ्जुश्यामाने श्रीकृष्णके वेषमें नृत्य आरंभ किया। कुछ ही पलोंमें उसे देखकर श्रीराधा समाधिस्थ होगयीं। श्रीकृष्ण बनी हुई मञ्जुश्यामाने श्रीराधाके कंठमें अपनी भुजा डालकर उनको प्रकृतिस्थ किया।

श्रीराधा बोलीं – "देख बहिन ! मुझको ठीक-ठीक अनुभूति हुई कि जैसे प्रियतम मेरे समक्ष नृत्य कर रहे हों। और वह नृत्य इतना सुन्दर था कि प्रियतम श्रीकृष्णको अबतक इस प्रकार नृत्य करते हुए संभवतः मैं कभी देख ही नहीं पाई हूँ। अब तू वह मंत्र पढ़कर बंशी बजानेका प्रयास तो कर। कदाचित् उसमें भी तुझे पूरी-पूरी सफलता मिल जाए।"

मञ्जुश्यामाने ..........ग्यारह बार उस मंत्रको जपकर बंशीमें फूँक मारी। तत्क्षण उसकी अँगुलियाँ चलने लग गईं, ठीक उसी प्रकार, जैसे श्रीकृष्णकी चलती हों। परम उन्मादी सुमधुर स्वर बंशीसे निस्सृत होने लगा।

श्रीराधाके मुखसे निकला "अहा !" साथ ही वे तत्क्षण मूर्च्छित हो गईं। आधी घड़ी मूर्च्छाके अनन्तर मञ्जुश्यामाके अंकमें वे जगीं और उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बह चली। गद्‌गद् कण्ठसे वे बोलीं "बहिन ! मञ्जुश्यामे ! आज मैं सचमुच अनन्त कालतकके लिये निहाल हो गई। मेरे जीवनका दुःख अब सदाके लिए मिट गया। देख ! मैं एक क्षणके लिए भी जब प्रियतम श्रीकृष्णसे दूर हो जानेका अनुभव करती हूँ तो मेरे प्राण रोने लगते हैं। और अत्यधिक वेदना, असह्य पीड़ा होनेपर भी ये प्राण न जाने क्यों नहीं निकलते। ऐसे अवसरपर आज इस क्षणतक मेरी जो दुर्दशा हुई है, उसे मेरे अतिरिक्त कोई नहीं जानती। आज मुझे एक सुन्दर, परम सुन्दर अमोघ अप्रतिम उपाय मिल गया, जिससे मेरे जीवनके दिन कट जायेंगे। मेरा यह भाग्य नहीं है कि मैं सदा प्रियतम श्रीकृष्णके समीप रह सकूँ। परन्तु तेरी-जैसी बहिन पाकर आज मैं सचमुच निहाल हो गई। पर एक बात अवश्य है.....।"

इतना कहते-कहते श्रीराधाका मुख पुनः उदास हो गया। मञ्जुश्यामा बोली – "तू भविष्यकी चिन्ता क्यों करती है ! अभी तो बारह वर्षतक डरकी बात नहीं है। जब बारह वर्ष पूरे होंगे तब, न ! मुझे तो लगता है कि ये बारह वर्ष कभी

अनन्त कालतक पूरे होंगे ही नहीं। नित्य बारह वर्षकी अनुभूति. ....... होती ही रहेगी।"

सुनते ही राधाकी आँखोंमें पुनः उल्लासका संचार हुआ और बोलीं – "यह बात कैसे होगी बहिन ?"

मञ्जुश्यामाने उल्लसित चित्तसे कहा – "देख ! उस दिन जब भगवती पौर्णमासी हम दोनोंको आशीर्वाद देकर विदा हो रही थीं तब मैं द्वारतक उन्हें पहुँचाने गई थी। मैंने धीरे-से उन्हें यह बात कही थी – "माता ! बारह वर्षोंके अनन्तर ?" उसके उत्तरमें वे हँसी थीं और मेरे होठोंका चुम्बन करते हुए बोली थीं – "अरी ! बारह वर्ष पूरे होंगे तब, न ?"

इसीका अर्थ बहिन ! मैंने तो संशयरहित चित्तसे यह समझ रखा है कि यह बारह वर्षकी पहेली.... वे लोग सुलझा नहीं सकेंगे।" श्रीराधा अपनी बहिन मञ्जुश्यामाको कण्ठमें भरकर सुखमें डूब गयीं।

उसी दिन सन्ध्याके समय ललिताने न जाने क्या सोचकर वनसे लौटते हुए प्रियतम श्रीकृष्णको यह बात बतला दी कि आज रात राधा बहिनने, मञ्जुश्यामाने किवाड़ बंद करके कैसी नाचनेकी, बंशी बजानेकी लीला की।

.........संकेतवटके समीप पहुँचनेके अनन्तर श्रीराधाका ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णसे मिलन हुआ और परिकरोंके सहित वे दोनों रासमण्डलमें पधारे। रासवेदीकी शोभा जिसकी आँखोंमें अभिव्यक्त हो जाय बस, वही देख सकती है, देख सकता है। वाणीके द्वारा उसका वर्णन उसकी शोभा घटानेमें

ही हेतु बनेगा। अस्तु, अतिशय सुन्दर मंचपर प्रिया-प्रियतम विराजित हैं। प्रियतमा श्रीराधाकी बाँयी ओर उनकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा अतिशय मनोहारिणी वेशभूषामें सुसज्जित बैठी है। प्रियतम श्रीकृष्णने मन्द-मन्द मुसकुराकर यह कहा – "प्राणेश्वरी ! मैंने सुना है कि तुम्हारी बहिन ऐसा सुन्दर नृत्य कर सकती है कि वैसा मैं भी नहीं कर सकता।" सुनते ही श्रीराधाके अचरजकी सीमा न रही और वे बोलीं– "प्रियतम! तुम्हें यह बात किसने कही ?"

प्रियतम श्रीकृष्ण हँसकर बोले – "किसीने कही होगी।" श्रीराधाको अनुमान होगया कि यह काम ललिताका है। प्रियतम श्रीकृष्णने फिर कहा – "प्राणेश्वरी ! हमारी बड़ी इच्छा है कि मैं एक बार देखूँ तो सही।"

श्रीराधा बोलीं – "कभी अकेलेमें दिखला दूँगी।"

ललिताने हँसकर कहा – "अरी ! हम लोग भी देख लें तो क्या हानि है ?" श्रीराधा मुसकुराई, और अपनी बहिन मञ्जुश्यामाकी ओर देखने लगीं। मञ्जुश्यामाकी आँखोंमें पर्याप्त संकोच भरा है।

इतनेमें श्रीकृष्ण बोल उठे – "अरी ! तू नाच करके सदाके लिए मुझे खरीद ले। मैं एक बार देख तो लूँ।" प्रियतम श्रीकृष्णकी आँखोंमें प्रेमके अश्रु परिपूरित हो गये।

श्रीराधाने बड़े स्नेहसे अपनी बहिनको पुचकारकर कहा – "बहिन ! थोड़ी देर नाच दे। प्रियतम श्रीकृष्णको सुख मिल जायेगा। इससे अधिक और क्या चाहिए।" कहते-कहते श्रीराधाकी वाणी प्रेमसे रुद्ध हो गई।

मञ्जुश्यामा बड़े असमंजसमें पड़ी। उसे अत्यधिक लज्जाका अनुभव होरहा था। पर उस ओर अपनी बहिनकी रुचिका अनादर करना भी उसने आजतक सीखा ही नहीं। क्या करे, बेचारी समझ ही नहीं पा रही थी।

श्रीराधाको उसकी स्थितिका अनुभव हुआ और वह बोलीं – "चल ! थोड़ी देर पहले मैं नाचती हूँ , फिर प्रियतम श्रीकृष्ण नृत्य करेंगे, और तब थोड़ी देरके लिये तू नाच देना।"

इस प्रकारकी चर्चाके अनन्तर तीनों ही रास मण्डलमें उतरे। ललिता आदिने वाद्यके द्वारा सहयोग देना आरंभ किया। श्रीराधाका नृत्य हुआ। प्रियतम श्रीकृष्ण नाचे, और फिर उसी तालबंधपर मञ्जुश्यामाके पदके नूपुर पहले धीरे-धीरे बजने लगे। इसके बाद उल्लासमें भरकर वह भी नाच उठी। एक साथ सबकी आँखोंकी पलकें ज्यों-की-त्यों स्थिर-सी हो गईं। अहा ! ऐसा अप्रतिम मधुर नृत्य !.........

इसके अनन्तर परमोल्लासके साथ सामूहिक रास नृत्य हुआ। आज उसमें भी मञ्जुश्यामाका स्थान सबकी आँखोंमें सर्वप्रथम है। अब रात्रि पहर भर ही बच रही है और प्रिया-प्रियतम शयन-कुञ्जमें पधार रहे हैं। दैनन्दिन क्रमके अनुसार सम्पूर्ण सेवा होनेके अनन्तर निकुञ्जका द्वार बंद हो गया। पार्श्वकी कुञ्जमें आज मञ्जुश्यामा एकाकिनी बैठी है। मानों गहरी चिन्तामें निमग्न हो ....।

उस ओर नित्यनिकुञ्जेश्वर और श्रीराधामें बड़ी सरस चर्चा चल रही है...............।

नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाने भूर्जपत्रका टुकड़ा उठाया

और उसपर फूल की डन्ठीसे तरल मृगमदमें डुबा-डुबाकर कुछ लिखने लगीं। और लिखकर प्रियतम श्रीकृष्णके हाथोंमें दे दिया। उसे लेकर प्रियतम श्रीकृष्ण पार्श्ववर्ती कुञ्जमें म-जुश्यामाके पास पधारे। मञ्जुश्यामाके हाथमें उस भूर्जपत्रके खण्डको दे दिया। मञ्जुश्यामा बोली – "ठीक है, बहिन राधाकी अभिलाषा ही मेरी अभिलाषा है।" कहकर वह गम्भीर हो गयी............।

भावसमाधि टूटनेके अनन्तर श्रीकृष्णको तो अपने स्वरूपका भान हो गया। किंतु आधी घड़ी प्रतीक्षा करनेके पश्चात् भी मञ्जुश्यामाकी मूर्छा नहीं टूटी। प्रियतम श्रीकृष्ण अत्यधिक चिन्तित हो गये और उन्होंने प्राणेश्वरी राधा को पुकारा। वे तत्क्षण आयीं।

श्रीकृष्णने आदिसे अन्ततक सम्पूर्ण घटनाको विस्तारसे सुनाया। श्रीराधाकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही थी और श्रीकृष्णका कण्ठ प्रेमावेशसे रह-रहकर रुद्ध हो जाता था। आधी घडी इसमें और बीत गयी। किन्तु मञ्जुश्यामाकी मूर्च्छा नहीं टूटी। प्रियतम श्रीकृष्ण और भी चिन्तित हुए। श्रीराधा मुसकुराईं और बोलीं – "अच्छा, मैं उपाय बतलाती हूँ।"........। उपाय हुआ ........। मञ्जुश्यामा प्रकृतिस्थ होनेकी मुद्रामें आयी। नित्यनिकुञ्जेश्वरी तत्क्षण पधार गयीं पार्श्ववर्ती कुञ्जमें .......। श्रीकृष्ण भी उनके पीछे चले गये।

वहाँ बड़ी सरस चर्चा आरंभ हुई। नित्य-निकुञ्जेश्वरीने प्रियतम श्रीकृष्णसे यह कहा – "प्रियतम! तुम थोडी देर ललिताकी कुञ्जमें चले जाओ..........।" प्रियतम

श्रीकृष्णने वैसा ही किया।

उनके चले जानेके अनन्तर नित्यनिकुञ्जेश्वरीने मञ्जुश्यामाको पुकारा। वह आयी। नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाने उसे हृदयसे लगाया और दोनों बहिनोंमें चर्चा छिड़ गयी....।.श्रीराधा बोलीं – "तू इस प्रकार मूर्च्छित क्यों होती है ?" मञ्जुश्यामाने उत्तर दिया – "क्या कहूँ, देख बहिन ! आधे क्षणके लिये भी यदि मैं तुमसे अलग हो जाती हूँ, मेरे जीवनका सम्पूर्ण रस ही समाप्त हो जाता है। इसको लेकर दोनों बहिनोंमें बड़ी रसमयी बात होने लगी..........। नित्यनिकुञ्जेश्वरी बोलीं – "री ! तू ही देख इस लज्जाके प्रश्नका क्या उत्तर है ?"

मञ्जुश्यामाकी आँखें भर आयीं, बोली – "देख ! लज्जाकी तो मैने अनन्त कालतकके लिये जलाञ्जलि दे दी है। तुम्हारा दर्शन-सुख, तुम्हारी सेवाका सुख – इनके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिये। सेवासुखकी वृत्ति यदि न होती तो आज प्रियतम श्रीकृष्णसे तू पूछ सकती है, उन्होंने क्या अनुभव किया...........। किंतु अन्तमें मुझे अपनी हीनताका बोध हुआ, और अनन्त अपरिसीम अपनी मलिनताका बोध हुआ, और फिर बोध हुआ तुमसे अलग हो जानेके असह्य दुःखका। मैं अपनेको सँभाल न सकी और मूर्च्छित हो गयी। आगे भी जबतक सँभाल सकूँगी तबतक तो कोई बात नहीं. ............।

किंतु बहिन ! मुझे असम्भव लगता है कि मैं अन्ततक सँभाल सकूँ।" श्रीराधा बोलीं – "अच्छा, तू निरन्तर मेरे

पास बैठी रह और फिर........।" मञ्जुश्यामा बीचमें ही बोल पड़ी – "फिर तू देखना, आधे क्षणके लिये भी अनन्त कालतक मैं मूर्च्छित नहीं होऊँगी।" श्रीराधाकी आँखोंसे झर-झर अश्रुप्रवाह बह चला। मञ्जुश्यामाको कण्ठसे लगाकर लगभग एक घड़ी रोती रहीं। फिर बोलीं – "अच्छा चल बहिन, पहले ललिताकुञ्जकी लीला देखें।" दोनों ही छिपकर गयीं और सब कुछ देखा ................। इसके बाद दोनों पहले वाली कुञ्जमें ही लौट आयीं।

कुछ देरके अनन्तर प्रियतम श्रीकृष्ण उस कुञ्जमें पधारे। श्रीराधा बोलीं – "बहिन ! थोड़ी देरके लिये तू उस कुञ्जमें बैठ जा।" मञ्जुश्यामा पार्श्ववर्ती कुञ्जमें चली गयी। उसके जानेके बाद प्रिया-प्रियतमकी आधी घड़ी बड़ी रसभरी बातें होती रहीं। सहसा श्रीराधाने मञ्जुश्यामाको पुकारा। वह आयी ..............।

एक ओर श्रीराधा अपनी बहिन मञ्जुश्यामाको दाहिनी ओर लिये बैठी हैं। दोनों बहिनें हँस रही हैं। दूसरी ओर हाथ जोड़े श्रीकृष्ण मन्द-मन्द हँसकर बड़ी रसमयी कविताका पाठ कर रहे हैं..................। सम्पूर्ण निकुञ्ज,निकुञ्जका कण-कण सच्चिदानन्दमयी,महाभावमयी, रसराजमयी ज्योतिसे उद्‌भासित है..............।

---

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

षष्ठम खण्ड (प्रथम भाग)

## प्रियतम काव्य

पृष्ठ संख्या 001-100 तक

टीकाकार : साधु कृष्णप्रेम

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

षष्ठम खण्ड

(प्रथम भाग)

# प्रियतम काव्य

(षष्ठम शतक तक)

छन्दार्थ एवं विस्तृत व्याख्या सहित

साधु कृष्णप्रेम

## श्रद्धांजलि–सुमन

**हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता** - हरिकथाकी भाँति हरिभक्तोकी जीवनगाथा तथा उनके भावोके रसोदधिमें भी डूबनेके बाद कोई न उबर पाये तो आश्चर्य ही क्या है ? देवाधिदेव भगवान् शकर एक बार गोलोकधाम पहुँचकर गोलोकेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका रसमय लीलागान करने लगे। गाते गाते ही वे ऐसे तल्लीन हुए कि स्वय ही रसनदीके रूपमे परिवर्त्तित होकर प्रवाहित हो चले। इसी तरह एक बार भगवती पार्वतीके प्रबल अनुरोधसे भगवान् शंकरने श्यामसुन्दरकी रासकथा सुनाना प्रारम्भ किया। इस वार श्रोताके रसलीन होनेकी बारी थी। जगन्माता इस रसकथामे सुध-बुध ही बिसार बैठी। अब हुँकारी देते रहनेका दायित्व तरुस्थित शुकराजको सम्हालना पड़ा अन्यथा भगवान् त्रिपुरारि कथा कैसे चालू रखते ? यह तो रसकथाका प्रकृत चमत्कार ही है कि इसका वक्ता कहते-कहते ही, लिखते-लिखते ही उसीमें लीन हो जाता है।

यही पुनरावृत्ति हुई गत मार्गशीर्ष कृष्ण ९, स २०५६ वि बुधवार (१ दिसम्बर, १९९९ ई)के दिन जब इस ग्रन्थके व्याख्याकार लेखक साधु कृष्णप्रेमजी अपने पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी जीवनगाथा – **महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा (षष्ठम खण्ड) प्रियतम-काव्यकी** रसमयी टीका लिखते-लिखते ही चिर भावनिद्रामें तल्लीन हो गये। उनके प्राण-पक्षी इस नश्वर भौतिक देह-नीडको त्यागकर चिर लक्ष्य – **अपने पू गुरुदेवके** चरणोमे स्थान प्राप्त करनेको आतुर हुए उड़ चले।

पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाके हृदयसे नि सृत इस परम रसमयी काव्यरचना **प्रियतम-काव्यके**, कुल ११ शतकोंमे से सयोग-खण्डके प्रथम आठ शतकोकी ही व्याख्या लेखक द्वारा सम्पन्न हो पाई थी कि दीपावली (७,नवबर,१९९९ई) को उन्हे हृदयाघात हुआ। इस घोर कलिकालमें **प्रियतमकाव्य**-सरीखी लोकोत्तर रसमयी कथाकी टीका करके उसे सर्वसाधारणके समझने योग्य बनाकर प्रस्तुत करना सचमुच ही एक दुष्कर चुनौती रही। पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा भूतलमे अपने जीवनकालमे लेखकको ऐसे दुष्कर कार्योमे अपनेको झोक पडते देखकर प्राय हँसकर करुणापूर्वक कहा करते थे – **'मूसक बिल प्रविसत नही, पूँछ बाँधिये छाज'** तात्पर्य यह कि 'इस बालक (लेखक)की चेष्टाएँ उस चूहेके समान है जिसका बिलके अति छोटा होनेके कारण स्वयका तो प्रवेश करना सभव ही नही हो पा रहा है, पर कैसे आश्चर्यकी बात है कि यह अपनी पूँछमे छाज बाँधे अर्थात् अपने अनेको अनुयायी अनुगामीजनोके सहित इस रसमय मार्गमे प्रवेश चाहता है।' पर लेखक अपने बलपर थोडे ही असम्भव लगने–जैसे कार्योमे प्रवृत्त होता था, उसे तो चरणाश्रय-बल प्राप्त था अपने पू गुरुदेवका, तथा उस बलको ग्रहण करनेके बाद कौन ऐसा कार्य है जो दुष्कर रह जाता है ?

हृदयाघात होनेके बाद लेखक साधु कृष्णप्रेमजीके मनमे अपने पू गुरुदेवकी इस कालजयी रचना **प्रियतम-काव्यकी** व्याख्या पूरी करके प्रकाशित कर देनेकी कैसी छटपटाहट थी, इसे तो उनके हृदयस्थित उनके प्राणाराध्य पू गुरुदेव ही जानते थे, उनके निकटस्थ शिष्यो अथवा मुझ सरीखे सेवकोको तो उसकी एक झलक ही मिली थी। उन्होने इस सम्बन्धमें मुझे लिखे पत्रमे आदेश दिया था – **'शरीरकी स्थिति ऐसी है। मेरे पास दिसम्बरतकका समय है नहीं। .... ... .... नवम शतक एवं शेष जो भी ब्रजसम्बन्धी (पू गुरुदेव-रचित) लीलापद हैं, सब छापने हैं। टीकाएँ नही कर पाऊँगा। सब मूल या तुम्हारे द्वारा किये गये भावार्थ, जो भी हैं, उन्हें तनिक सशोधितकर छापेगे। परन्तु दोनों खण्ड सम्पूर्ण (प्रियतमकाव्यके दोनों - संयोग खण्ड तथा वियोग खण्ड) जीवनकालमे छपा जाना चाहता हूँ। मेरी (आत्मा)इन पुस्तकोंको छपा देखना चाहती है, तभी मृत्युको वरण करूँगा। .... . ... .. दूसरे खण्डका काम भी समझ लो। जीवनके क्षण अल्प हैं। घबडानेकी बात नहीं है। परन्तु इस जीवनका कार्य अधूरा नहीं छूट जावे' – कृष्णप्रेम।**

प्रभुकी कृपाके बलपर ही मेरा विश्वास था कि 'पू गुरुदेव श्रीराधाबाबाने जब इस लोकोत्तर कार्यके लिये लेखक साधु कृष्णप्रेमजीको प्रवृत्त किया है तथा आठ शतकोकी व्याख्या भी आप द्वारा निष्पन्न हुई है तो पू श्रीराधाबाबा आपको आयु भी देंगे, **प्रियतमकाव्यका** शेष कार्य (नवमसे एकादश खण्डोमे वर्णित वियोगखण्ड) भी आपसे ही सम्पन्न

करवायेगे।' किन्तु मेरा अनुमानभरा विश्वास धरा रह गया और साधु कृष्णप्रेमजीका लिखना **'मेरे पास दिसम्बरतकका समय है नहीं'** ही सत्य सिद्ध हुआ। उनके प्राण १ दिसम्बर, १९९९ के सूर्योदय होनेसे पहले प्रातः ४.३० पर ही अपने प्राणाराध्यके चरणोंकी ओर उड चले।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके आदेशसे वे स २०२१ वि. (सन् १९६४ ई.से) ही प्रतिरात्रिमे २ बजेसे ४.३० तक पू.गुरुदेवके सम्मुख पू.श्रीपोद्दार महाप्रभु-रचित षोडशगीतोका गायन करते थे। लगता है आज भी उनकी आत्माने अपने प्राणाराध्य पू. गुरुदेवकी अपनी अन्तिम षोडशगीत-गायनकी सेवा सम्पन्न करके ब्राह्म मुहूर्त्त प्रात ४.३० बजे ही इस भूतलसे विदा होना उपयुक्त समझा। लेखक साधु कृष्णप्रेमकी अन्तिम अभिलाषानुसार उनका पार्थिव देह उनके प्राणाराध्य-द्वय पू.श्रीपोद्दार महाप्रभुकी चितास्थली एव पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी समाधिस्थली गीतावाटिका, गोरखपुर ले आया गया तथा ता.३ दिसंबर, १९९९ई. को पू.गुरुदेवकी चरणधूलि तथा पू.श्रीपोद्दार महाप्रभुकी चितालेपसे लथपथ होकर चिर कृतार्थता-लाभ प्राप्त कर गया। गोरखपुर नगरमे प्रवाहित श्रीराप्तीगंगा नदीमे उनके पार्थिव कलेवरको समारोहपूर्वक जलसमाधि दे दी गयी। पू. श्रीपोद्दार महाप्रभुकी आत्मजा अ.सौ. सावित्रीबाईने अपने धर्मभ्राता साधु कृष्णप्रेमजीके अन्तिम संस्कारके समय जो श्रद्धाजलि अर्पित की, उसे यहाँ अविकल रूपसे दिया जा रहा है –

राधा

**आजके सूर्योदयके साथ एक युग अस्त हो गया। साधु कृष्णप्रेम अपने पांचभौतिक शरीरका परित्यागकर चले गये। यह समाचार सुनकर मैं स्तब्ध-सी हो गयी और स्मृतियोंके झुरमुटसे अर्ध शताब्दीसे भी अधिककी स्मृतियाँ उभरकर आँखोंके सामने नाचने लगीं। कृष्णप्रेम – नहीं, नहीं, नटवर मेरे बचपनका साथी था। हम लोगोंने जाने कितनी खुशियाँ और दुःख साथ-साथ झेले, साथ-साथ खेले-खाये, साधनाके पथपर हमराही रहे। उसका खिलखिलाकर हँसना आज भी मेरे कानोंमें गूँज रहा है। सदासे अपने खिलहड़े स्वभावके कारण नटवर जीवनमें कहीं कभी शान्त नहीं बैठा। कुछ-न-कुछ नवीन कर डालनेका उसका स्वभाव आरम्भसे ही रहा। इसी प्रवृत्तिके साथ ही वह बढ़ा साधनाके पथपर भी। परन्तु उसके स्वभावमें अपनी एक विशेषता थी - एक आकर्षण था - वह पूज्य बाबूजी-बाबाको सदैव ही अत्यन्त प्रिय रहा। उसकी उनके प्रति निष्ठा भी अप्रतिम थी, उसका उनके प्रति विश्वास अखण्ड था, उसका उनके प्रति अनुराग हार्दिक था।**

आरम्भमें षोडशगीतके गायनमें उसे मानो एक मस्ती-सी चढ़ गयी थी। पूज्य बाबाके संरक्षण-निर्देशनमें वह गाता। बार-बार गाता, गाता ही रहता। अपनी लड़कियो - ललिता, कनक, चित्रा आदिको जब उसने नृत्यकी मुद्राएँ सिखाई तब काठके पुतलोके प्रस्तुतीकरणकी मुद्रा देखकर बाबा सदा ठठाकर हँसते, उनका अनुकरण करके दिखाते। बाबूजी भी मुस्कराते हुए नृत्य-संगीतको चावसे देखते-सुनते।

वास्तवमें काठकी पुतली ही बाबा बनाना चाहते थे अपने नटवरको, अपनी अँगुलियोमें फँसाकर रखना चाहते थे – उसकी गतिविधिकी डोर और मेरा अपना मानना यही है कि बाहरी परिवेशमें परिस्थिति चाहे जो रही हो, वह नटवर न रहकर कृष्णप्रेम बन गया हो, अपने अन्तरकी डोर उसने जरूर अपने आराध्य-युगलके हाथ थमा दी थी।

रात्रिमें दो से साढ़े चार बजेतक षोडशगीतके जगन्मंगलकारी पाठकी योजना बनायी बाबाने नटवरके लिये ही। उन्होंने उसे आश्वासन दिया - 'तू गायेगा, और मैं सुनूँगा। पर्याप्त समयतक यह क्रम चला भी .........। निस्तब्ध निशामें उस क्षण उपस्थित रहते थे - गायक और श्रोताके दो प्राण और नित्य नीलदम्पति। कोई इसे माने, न माने, परन्तु है यह ध्रुव सत्य। उस क्षणके गायकके नित्य श्रोता रहे हैं - रसराज एवं महाभाव स्वयं।

ब्रजभावकी सरस चर्चा करते समय आजका यह साधु कृष्णप्रेम उस समयका नटवर ऐसा तल्लीन होकर

वहाँ बाबाके पास बैठा रहता था मानो उसे अन्य सारी बातें उस समय विस्मृत ही हो जाती थीं। सरस हृदयका स्वामी था वह, भावुक मन, विनोदप्रिय व्यक्तित्व, विशाल देहयष्टि, मनमौजी स्वभावके साथ थी एक विशेषता - उसकी ग्राहकताशक्ति। बातको पकड़ लेता था वह, पर था तो वह भी हम जैसा भोला। उसे भी कहाँ विश्वास था कि उसके मामाजी और उसके बाबा उसे यों ही मँझधारमें छोड़कर चले जायेंगे - भटकनेके लिये अकेला छोड़ जायेगे।

बाबाको गुरुदेव सम्बोधितकर लिखी गयी उसकी अन्तिम कृति 'महाभावदिनमणि श्रीराधाबाबा' ही सम्भवतः उसके जीवनका शेष कार्य था। अत्यधिक बीमारीकी अवस्थामें भी उसने पूरी लगनके साथ अपनी अर्चना सम्पन्न कर ही ली और वास्तवमें उसकी यह कृति स्वयमे एक कोश है। जो कुछ उसने बाबासे सुना, समझा, जाना, माना - सबको सहेजकर, एक-एक फूल चुन-चुनकर अपने गुरुदेवके चरणोमें अर्पित कर दिया, साधकोके लिये एक अनमोल निधि दे गया।

गत एक वर्षसे कृष्णप्रेमजीकी आन्तरिक इच्छा थी कि वे आकर गीतावाटिकामें रहें और उनके पंचभूत विसर्जित हों - यहाँकी धराके पंचतत्वोमें ही। समितिने अपनी ओरसे उनकी सुविधाके अनुरूप आवास-निर्वाण आदिकी स्वीकृति भी दे दी। लगभग २० दिन पूर्व ही हरिजी खत्रीसे उनको पुनः पत्र लिखवाया था कि वे एक बार आकर सब निर्णय कर लें और जबतक नया घर नहीं बनता वे यहाँ जो उपलब्ध है, उसमें रहे। उनका भी बार-बार पत्र आता रहा कि मैं आऊँगा, आऊँगा और आज आया है उनका निर्जीव शरीर - इस मिट्टीमें मिलने। वास्तवमें उसकी निष्ठामें मिलावट नहीं थी। वह भले न देख सके, परन्तु उसके मामाजी - उसके बाबा तो उसे देख ही लेगे। उनकी वस्तु उनके अर्पण - उनके दृष्टिपथमें आना ही तो कृतार्थता है। साथ ही एक बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है - 'सत्संग-सुधा'में बाबाने लिखा है - 'आपका मन जहाँ है, वहीं आप हैं।' इस व्याजसे तो साधु कृष्णप्रेम निश्चितरूपसे यहाँ ही था। उसके अन्तरके कोने-कोनेसे झाँकती रहती थी अपने प्रियकी स्मृतियाँ, उनका लाड-दुलार, कहीं रहकर भी कब भूल सका था वह उन्हें। उसकी स्थिति थी -

'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाजको पंछी पुनि जहाज पै आवै।।'

मनसे तो वह यहाँ था ही, अब ढाँचा भी आ पहुँचा है। अब इसकी अपने पास बुलानेकी व्यवस्था तो करनेवाले करेंगे। वे जानें, कैसे, किस मार्गसे ले जानेकी अभिसन्धि है उनकी। बालक नटवरसे वृद्ध जर्जर साधु कृष्णप्रेमतककी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा शेष हुई।

न जाने कितने पड़ाव आये, कैसी-कैसी कठिनाइयाँ आयी, विपरीत परिस्थितियाँ आयी। जन-जीवनने अपने-अपने तराजूपर तौला, निन्दा-स्तुतिके पहाड़-पत्थर रास्तेमें आये; परन्तु कृष्णप्रेम भी था अड़िग चट्टान। उसने अन्यसे प्रकाश स्वीकार ही नहीं किया, इतरकी आराधना नहीं की,' अन्यत्र आश्रय ग्रहण नहीं किया, अन्यथा अस्तित्वको सहन नहीं किया - मर-मिटा वह अपनी टेकपर। उसकी स्थिति थी -

'तेरो हूँ, तेरो ही कहाइहौं'

उसकी इस अटल अखण्ड निष्ठाको नमन करती हूँ मैं। मेरा निश्चित विश्वास है - मेरे बाबूजी, मेरे बाबाने उसे अंकमें निश्चित बैठा लिया है। वह तो उनकी ही वस्तु था, उनके पास चला गया।

अपने भाईको झरती आँखोंसे विदाई दे रही हूँ मैं। मेरे प्रति उसका स्नेह, उसकी भावना, उसकी आस्था हृदयको विदीर्ण कर रही है। मेरे जीवनमें भी उसका एक अपना स्थान था। २ वर्ष पूर्व जब 'पद-रत्नाकर'पर उसने कथा कही थी तब यह विचार ही हो रहा था कि पुनः ऐसा आयोजन किया जायेगा, परन्तु वह अवसर नहीं आ सका। मेरे पास टेपके रूपमें सुरक्षित हैं उसके भाव। वह समा गया उसी रसके सागरमें।

जाओ भैया ! सुखसे जाओ और निरवधि निवास करो मेरे बाबूजी-बाबाकी सन्निधिमें। मेरे बाबूजीकी समाधिकी यह पीली प्यावड़ीमें है परिवेष्ठन पीत-पटवारेका और मेरे बाबाके गलहारकी ये अरुणिम गुलाबकी पंखुड़ियाँ हैं आच्छादन आह्लादिनीका। इस पाथेयके बाद और क्या चाहिये तुम्हे ? जाओ मेरे भाई ! सुखसे निरवधि निवास करो उनकी ही संनिधिमें - उनके श्रीचरणोंमें। तुम्हारे लिये शेष अब केवल -

'एक तुम्हारे सिवा न मेरा रहा कहीं भी कुछ सम्बन्ध।'

---

लेखक साधु कृष्णप्रेमजीकी आत्माकी अदम्य अभिलाषा विलम्बसे ही सही, भगवत्कृपासे अब पूरी होने जा रही है। इस कार्यकी पाण्डुलिपि जब पू. सावित्रीबाईके सम्मुख प्रस्तुत की गई तो विचार जगा कि 'प्रियतम काव्य' की पू. सावित्रीबाईकी हस्तलिपिमे लिखित एवं पू. राधाबाबा द्वारा पढ़कर अनुमोदित की गई प्रति जब उपलब्ध है तथा उसकी फोटोप्रति कम्पूटर द्वारा तैयार हो सकती है तो उस प्रतिको ही क्यों नही प्रकाशित कराया जावे। पू. राधाबाबाकी इस रचनाका तो एक-एक शब्द मत्र है तथा विरामचिह्नोंतकको ज्यों का त्यों बनाये रखना ही हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। प्रतिलिपि करते हुए मानवीय भूलसे कुछ न कुछ छूट जाना, परिवर्त्तन हो जाना सभावित होता ही है। पू. सावित्रीबाईके स्वयके हाथकी लिखी एवं पू. राधाबाबा द्वारा देखकर अनुमोदित की गई प्रतिकी हू-ब-हू फोटोकापीका ही जब इस ग्रन्थमे उपयोग किया जा रहा है तो मुझ अल्पमतिको मूलरचनाकी छेडछाडके अपराधसे तो क्षमा मिल ही जायेगी, ऐसी आशा है।

फोटोकापी करना, उसे प्रकाशित पृष्टके अनुरूप आकारित करना तथा साथ ही पू.बाईकी हस्तलिपिको ज्यों की त्यों रखते हुए उसको शृंगारित करना भी अति लगनका, परिश्रमसाध्य एव कुशलताका कार्य था। मुझ जैसे मूढमतिके लिये इसे करना तो रहा दूर, करवा पाना भी दुःशक्य था। किन्तु भगवत्कृपाके लिये क्या असाध्य है ? भाई कुजबिहारीजी पालडीवालके सामने बात चली तो उन्होने उदार होकर कहा – 'साधु कृष्णप्रेमका कार्य तो मेरा ही कार्य है।' और वे लग गये इसी काममें। फोटोशाप प्रोग्रामको जाननेके लिये किताबें मँगवाई, जानकारोसे पूछताछ की, स्वय अपनी बुद्धि लगाकर कई नये प्रयोग करके कार्यको उत्तमोत्तम बनानेकी चेष्टा की तथा लगभग एक वर्षतक अपने व्यावसायिक दायित्वोंकी अवहेलना करके भी इस कार्यको सुसम्पन्न किया। मैने इतना कुछ लिख दिया यह भी उनके बडे सकोचका कारण बनेगा क्योंकि उन्होंने इस कार्यको अपनी 'पूजा मानकर किया है, तथा उन्हे इस कार्यको करते हुए बहुत आत्मसतोष मिलता रहा है। उनके नामोल्लेखके लिये वे मेरी भर्त्सना ही करेगे किन्तु मैने तो भगवत्कृपाने इसे कैसे सुसम्पन्न कराया है, इसीकी गाथा गाई है।

इस कार्यकी सुसम्पन्नताके लिये कितने ही महानुभाव माध्यम बने हैं। स्वामी कम्पूटर्स के भाई विष्णु स्वामीने जितना परिश्रम किया, बारबार परिवर्त्तन हुए किन्तु कभी अनमनापन भी नही दिखाया, उसके लिये तो मैं आभार ही प्रकट कर सकता हूँ। अन्य स्वजनोंका उल्लेख करना तो उन्हें अतिशय खलेगा अत उनके सहयोगकी बात अपने मनमें ही रखकर मैं भगवान् श्रीराधामाधवके श्रीचरणोंमें अनन्त वन्दन सहित इस विषयको विराम देता हूँ।

दि. २६- ४- २००१

भक्तोकी चरणधूलि,

मुकुन्द गोस्वामी

वस्तु तुम्हारी तव चरणोंमें अर्पणकर कर रहा प्रणाम । (पृष्ठ ५)

# समर्पण

**योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च।**
**तत्सर्वं कृष्ण ते नाथ पादपद्मे समर्पितम्॥**

जो मैं हूँ, मेरा जो कुछ है — लोक और परलोक सभी।
कर अर्पित चरणोंमें तव मैं हुआ पूर्ण कृतकृत्य अभी॥

**योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिद् विश्वेऽस्मिन्मद्निर्मितम्।**
**राधे प्राणेशि तत्सर्वं त्वत्पादयोः समर्पितम्॥**

जो मैं हूँ, जो कुछ है जगमें दृश्यरूप मेरा निर्माण।
हे प्राणेशि राधिके, सब तव चरण-समर्पित लेना जान॥

**योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिद् विश्वं मच्छासनाश्रितम्।**
**राधे प्राणेशि तत्सर्वं त्वत्पादयोः समर्पितम्॥**

जो मैं हूँ, जो कुछ भी मम है आश्रित-शासित सारा विश्व।
राधे हे प्राणेशि, सभी तव चरणसमर्पित सकल निजस्व॥

**जो भी, जब भी, जैसे, तुमसे मेरी है माँग हुई, प्रियतम !**
**है उसे, उसी क्षण, वैसे ही, तुमने पूरी कर दी, प्रियतम !**
**है सत्य अनन्तकालतक तुम आगे भी, ऐसे ही, प्रियतम !**
**मेरे प्रति यही स्वभाव नाथ ! अपना बरतोगे ही, प्रियतम !**

**है किन्तु मुझे धिक्कार, लाख शत बार सर्वदा ही प्रियतम !**
**न्यौछावर जो मैं हो न सकी केवल सच, तुमपर ही प्रियतम !**
**'मेरे प्राणोंकी रानी हे ! प्रियतमे ! वल्लभे !' हे प्रियतम !**
**सम्बोधित तुमसे नित्य हुई, विगलित पर उर न हुआ, प्रियतम !**

**आँखें न निरन्तर झरीं अहो ! काया पुलकित न हुई प्रियतम !**
**यह भावरहित मृण्मय बोझा कबतक मैं लिये फिरूँ, प्रियतम !**
**'है ब्रजलीला उद्देश्य मुझे लानेका इस तनमें' प्रियतम !**
**कहते हो तुम, फिर क्यों न चलें, खेलें, हो गयी देर, प्रियतम !**

*(पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाकी भावमयी वाणी)*

श्रीराधा

# आत्मकथ्य

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके भावजीवनकी इस श्रुतिरूपा कृति **'प्रियतम काव्य'**के सयोग खण्डके सात शतकोंकी टीकाको पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं भावाभिभूत एवं कृतकृत्य हूँ। इस श्रुतिरूपा काव्यके उद्गाता ऋषि थे – पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा, और श्रोता थे – उनके भी गुरुदेव महाप्रभु श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज। यह ग्यारह सौ ग्यारह छन्दोंका ग्यारह शतकोमे विभाजित काव्य लेखनीके माध्यमसे तो लिखा ही नहीं गया। यह तो मात्र अवतरित हुआ था – छन्दोंके स्वरूपमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके अन्तःकरणमें और उनके द्वारा ही इसे सुनाया गया था – श्रीमहाप्रभु पोद्दार महाराजको। हाँ, जब ब्रजेन्द्रनन्दन नीलमणिकी इच्छासे ही –

**एक द्वार रखि कुँअरि ने लीनी पैठ उठाय।**
**रुचै जो रंचक कीनु पिय, बहिनी, भैया, माय।।**

कुँअरि राधाने अपने प्रीति-वितरणकी पैठ उठा ही ली, मात्र एक द्वार – अ.सौ.सावित्रीबाई फोगला (सुपुत्री महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराज)को ही निर्धारित कर दिया। उस समय पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने ही अपने सर्वथा अप्राकृत भावजीवनके इस काव्यको बोल-बोलकर पूज्या अ.सौ. बाई सावित्रीको यह 'रसश्रुति' प्रदान कर दी। कुछ कृपापात्रोंको, जिनमें एक लेखक भी रहा, पू.अ.सौ. सावित्रीबाईने ही यह श्रुतिग्रन्थ कृपापरवश प्रदान कर दिया, एवं फलस्वरूप ही यह टीका रसिक वैष्णवोंकी सेवामें समुपस्थित है।

इसमें कहीं कोई संशय नहीं कि इस श्रुतिकाव्यके नायक नायिका प्रिया-प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दन नीलसुन्दर एवं वृषभानुनन्दिनी बाला राधा' सर्वथा अप्राकृत हैं। इन प्रिया-प्रियतमके माता-पिता, पितामह, ताऊ-चाचा, भाई-बहिन, सखा एवं सखीगण, इनके पितृकुल, मातृकुल एवं श्वसुरालयके भी सभी पात्र, उनके देहादि मायाके कार्य, पञ्चमहाभूतोंमें निर्मित माया-आवरणरूप कदापि-कदापि नहीं हैं। इस रसश्रुतिमें वर्णित लीलाएँ अप्राकृत हैं – जो अप्राकृत क्षेत्र, वृन्दाकानन, श्रीसुन्दरीवनके निकुञ्जों, एवं ब्रजके ग्रामोंमें घटित हुई हैं एवं निश्चय ही अप्राकृत मन-बुद्धि एवं शरीरधारी अप्राकृत चिन्मय पात्रोंकी लीलाएँ हैं। इसीलिये इस प्रियतम काव्यका शब्द-शब्द मंत्र है एवं इन मंत्रोंके जापसे निश्चय ही अप्राकृत मन-बुद्धिका निर्माण संभव है। यही इस ग्रन्थका अपूर्व माहात्म्य है।

सर्वप्रथम जब इस श्रुतिरचनाका प्रथम छन्द पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके अन्तःकरणमें अवतरित हुआ एवं उन्हें यह भासित होने लगा मानो उनके प्रियतम श्रीकृष्ण उनसे उनके भावजीवनको काव्यरूपमें प्रकट कराना चाह रहे हैं, एवं यह रचना ग्यारह शतकोंमें क्रमशः प्रसूत हो रही है, उस समय पू.गुरुदेवने अपने प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनसे यही विनय की थी कि 'जब भूतकालके अनेकों महासिद्ध रसिकाचार्योंकी अनेकों वाणियाँ वर्त्तमानमें उपलब्ध हैं एवं साहित्यके उत्कृष्टतम प्रयोगों द्वारा राधाकृष्णकथाके सभी पक्ष अष्टछापके सूरदास, नन्ददासादि तथा इतर कवियों द्वारा भी प्रचुरतासे वर्णित किये जा चुके हैं, फिर मेरे-जैसे व्यक्तिसे यह पिष्ट-पेषण करानेकी आवश्यकता ही क्या है ? यदि पूर्वके इन सभी रसिकाचार्यों एवं कवियोंसे मेरी यह रचना कुछ अपूर्व सिद्ध हो, तब तो इसकी सार्थकता है; अन्यथा यह क्रिया चर्वितका चर्वण मात्र ही तो होगी ?'

पू.गुरुदेवके इस निवेदनके उत्तरमें प्रियतम श्रीकृष्णने मुसकाकर उनसे इतना ही कहा – 'तू इसे प्रकट तो कर ! तेरे द्वारा प्रकट इस श्रुतिका माहात्म्य उन सभी कृतियोंसे अपूर्व ही होगा। इस घोर कलिकालमें विशुद्ध भागवती प्रीतिकी प्रतिष्ठाके लिये ये तेरे श्रुतिछन्द अप्राकृत नेत्र, कर्ण, वाणी, मन एवं अन्तःकरणके निर्माणमें निश्चय ही हेतु होंगे। यह श्रुति कालजयी सिद्ध होगी एवं भविष्यमें पच्चीस सौ वर्षों तक इसका प्रभाव स्थायी रहेगा।'

निश्चय ही इस लेखक द्वारा व्यक्त यह प्रसङ्ग किन्हीं महासिद्ध रसिकाचार्योंकी कृतियोंकी हेठी सिद्ध करनेके हेतुसे सर्वथा उल्लेख नहीं किया गया है, न ही यह किसी मतविशेषपर आक्षेप ही है। लेखकने अपने गुरुमुखसे जो भी वाणी सुनी है, हृदयङ्गम की है, उपरोक्त शब्द लेखककी अपनी ही व्यक्तिश· निष्ठा एवं श्रद्धाको अभिव्यक्त कर रहे हैं। लेखकका यह आग्रह सर्वथा नहीं है कि-उसके द्वारा लिखी बातोंको पाठक मान ही लें। यह तो मात्र लेखकके स्वयंके विश्वासकी बात है और लेखकका तो निश्चय ही इस विश्वासमें ही कल्याण है। लेखक आग्रहपूर्वक अपना विश्वास दूसरोंपर लादनेके लिये उपरोक्त लेखन सर्वथा नहीं कर रहा।

लेखककी प्रार्थना है कि पाठकगण इस विषयमें तर्कबुद्धिका आश्रय करके उससे प्रश्नोत्तरकी आशा कृपया नहीं रक्खें। विवादमें तो अपनी हार वह पहले ही स्वीकार कर लेता है एवं तर्क करना सर्वथा ही नहीं चाहता। अवश्य ही पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराजपर उसकी सर्वोपरि निष्ठा, विश्वास, श्रद्धा क्षण-क्षण बढती रहे और उनकेद्वारा कथित प्रत्येक शब्द उसे साक्षात् परमात्माकी वाणी ही अनुभव हो, अन्तर्यामी प्रभुसे उसकी रोम-रोमसे यही विनीत प्रार्थना है।

स्कन्दपुराणमें उल्लेख है – 'भगवान् शिव पार्वतीजीसे गुरुमहिमाके विषयमे कहते हैं – '**गुरुवक्त्रस्थितं ब्रह्म प्राप्यते यत्प्रसादतः**' अर्थात् 'हे पार्वति ! गुरुके द्वारा निःसृत वाणी ही परात्पर परब्रह्म परमात्मा है, और गुरुप्रसाद, गुरुकृपा ही उसकी प्राप्तिका एकमात्र कारण है।' इस निष्ठाके प्रद्योतक ही मेरे उपरोक्त शब्द हैं।

यदि यह मेरी निष्ठा नहीं होती तो रसिकेन्द्रशेखर ब्रजेन्द्रनन्दन रसराज श्रीकृष्ण मुझ-जैसे प्राकृत मन-बुद्धि वाले पामर प्राणीसे जिसने आवरणरूपा मायामें ही जन्मग्रहण किया है, कदापि इस चिन्मय भागवती श्रुतिग्रन्थकी टीका नहीं कराते। उन्होंने मुझ पशुको इस पावनतम कार्यमें हेतु बनाया, इसका यदि कोई प्रकट कारण हो सकता है, तो यही है कि न जाने किस पुण्यबलसे मेरी बुद्धि दिवस-प्रतिदिवस, क्षण-प्रतिक्षण इसी निष्ठाको ग्रहण कर रही है कि 'जो राधा हैं, वही, वही, वही मेरे श्रीराधाबाबा हैं। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति, और पृथ्वीमें गन्ध रहती है, उसी प्रकार महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराजमें परात्पर रसिकेन्द्रशेखर प्रियतम श्रीकृष्ण एवं मेरे पू. गुरुदेवमें श्रीराधारानी रही हैं। फिर ये दोनों सदा अभिन्न एकरस एवं एकात्म हैं। प्रेमरससार मेरे पू. गुरुदेवका अस्तित्व ही आनन्दरससार परम पूज्य पोद्दार महाराजमें संगुप्त रसिकशेखर-रसराजतत्वको उजागर करानेके लिये ही था, है एवं रहेगा।

मैं यह सत्य, सत्य, सत्य कह रहा हूँ कि मैं रसशास्त्रसे एव रसतत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ, नितान्त अज्ञ हूँ, घोर विषयी, पामर कोटिका प्राणी हूँ। इस दृष्टिसे पू.गुरुदेवकी इस अप्राकृत भावजीवनीकी व्याख्या करनेमे सर्वथा एवं सर्वदा अपात्र हूँ। इसे संस्पर्श करनेका भी मुझ-जैसे अघी प्राणीका अधिकार नहीं है। मेरे पू.गुरुदेवकी भावजीवनीकी व्याख्या तो राधाभावद्युति-वलित-तनु श्रीकृष्णचन्द्र ही कर सकते हैं। वे कर सकते हैं और साथ-ही-साथ वे भी नहीं कर सकते, क्योंकि चिन्मय, अप्राकृत, महाभावरूप प्रिया राधाके चरित्रकी ऐसी ही अपूर्व शोभा है। इसकी व्याख्या स्वयं रसराज श्रीकृष्ण भी नहीं कर सकते। वे कर सकते होते तो मुझ-जैसे सर्वथा अनधिकारीका इस कार्यके लिये वे चयन करते ही नहीं। कारण सुस्पष्ट है। राधा प्रीति-गुण-स्वभाव-स्मृति मात्रसे ही वे रसिकेन्द्रशेखर इतने विह्वल, मुग्ध तथा गद्गदकण्ठ हो जाते कि उनके द्वारा उनके प्रिया-चरित्रका व्याख्या-लेखन संभव ही नहीं होता। तभी न, उन्होंने मुझ-जैसे सृष्टिके सर्वाधिक वज्र-कठोर नीरस प्राणीका चयन किया। उन्होंने मुझमें एक ही पात्रता पाई। वह पात्रता यही थी कि महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके दिव्यातिदिव्य पद-रजकण ही मेरे परम आश्रय थे। मैंने अपने मस्तकको शताधिक बार इस पद-रजकणसे परिस्नात किया था। मुझ निरालम्बके मात्र वे ही अवलम्ब थे, एवं हैं। मुझ पतितको महाप्रभु पोद्दार महाराजका वाचिक वरदान प्राप्त था कि 'कभी-कभी महज्जन चरणाश्रयसे सर्वाधिक निकृष्ट जीव भी सर्वोत्कृष्ट कृपाभिव्यक्तिमें हेतु हो जाता है'। उन हेतुरहित कृपाघनकी महान् अनुग्रहवर्षा ही मुझ पतित पामर प्राणीसे यह कार्य निष्पादन करा गयी है।

मैं सत्य कह रहा हूँ कि इस श्रुतिकाव्यके मर्मका परिचय मुझे महाप्रभु पोद्दार महाराजकी कृपासे ही मिला। ऐसे अनेकों प्रसङ्ग आये जहाँ मैं कुछ भी नहीं समझ पाया, मेरे सम्मुख वे लीलाएँ प्रकट हुई जिनका सूत्ररूपमें मात्र सङ्केत ही पू.गुरुदेव राधाबाबा कर गये थे। मैंने इस व्याख्यामें एक-एक शब्द पूर्ण प्रामाणिकतासे लिखनेकी चेष्टा की है, क्योंकि यह मेरे सर्वाधिक प्रिय, पूज्य, जीवनसर्वस्व, जीवननिधि गुरुदेवका भावचरित्र था। मैने इस ग्रन्थकी व्याख्यामे कही भी अपनी मनोप्रसूत कल्पनाका सहारा नहीं लिया है। यदि मैं मनोप्रसूत कल्पनाकी छायाका संस्पर्श भी इस व्याख्यामें करता तो यह प्रीतिका निर्मलतम सूर्य मेरे अन्धतम 'काम'से ग्रस्त हो जाता। मै इस व्याख्याका शब्द-शब्द लिखते समय इस भयसे सदैव आशङ्कित रहा हूँ कि कहीं भी मेरी कल्पनाकी कोई काचमणि इस हीरक-हारावलिमें नहीं विजडित हो जाय, अन्यथा यह रचना सच्चे रसमर्मज्ञ जौहरियोंके लिये समादरणीय नहीं होगी। निश्चय ही यह ग्रन्थ लीलाजगत्में नित्य स्थित – रसिकाचार्य चैतन्य महाप्रभु, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, परम वन्दनीय स्वामी हरिदासाचार्य, महाप्रभु हितहरिवंश, भक्तप्रवर वन्दनीय रूप-सनातनादि गौडीय आचार्योंके दृष्टिपथमें भी आवेगा। वे इस व्याख्यापर भी निश्चय ही दृष्टिपात भी करेंगे। वे रसिकशिरोमणि महासिद्ध आचार्यवर्य कहीं मेरी व्याख्यामें किञ्चित् भी लौकिकावेशकी गन्ध पा जावेगे तो मेरे गुरुदेव श्रीराधाबाबाके नामकी किरकिरी हो जावेगी, क्योकि अन्तत' शिष्य तो मैं उनका ही हूँ।

अस्तु, इस आशङ्काको ध्यानमे रखते हुए इस महाभावश्रुतिकाव्यके किसी भी छन्दके अर्थप्रकाशपर जहाँ कही भी मेरी बुद्धि कुण्ठित हुई है तो मैंने महाप्रभु श्रीपोद्दार महाप्रभुकी चरणरेणुका ही आश्रय लिया है। उन हेतुरहित कृपा-वरदानीकी चरणरेणुने मुझे कहीं भी निराश नहीं किया है। इस ग्रन्थके कूट-से-कूट स्थलोके मर्मका प्रकाश तत्क्षण ही मेरे सम्मुख इस सरलतासे हुआ है कि मैं धन्य-धन्य कर उठा हूँ।

महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराज तो व्यक्ति थे ही कहाँ ?

**त्रिगुणरचित यह देह, महाभावमय करि रह्यौ।**
**ऐसो किरपा-मेह बरसायौ पिय साँवरौ।।**

(पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा रचित सोरठा)

उनका त्रिगुणरचित देह रहा ही कहाँ था ? वह तो कबका ही लहराते, नित्योच्छलित, महाभावसिन्धुकी ऊर्मि बन गया था ! तभी न,

**छाँड्यौ अपनौ नेम, सभी मोर साँचौ कर्यौ।**
**करै जोग अरु छेम, पिय सौ भयौ न होहिहै।।**

(पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा रचित सोरठा)

मेरे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके हृदयेश्वर, प्राणाराम, प्राणाधिक, प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनका स्वभाव ऐसा ही है। वे अपना न्याय-नियम त्याग देते हैं और अपने आश्रित जनोंके मनोरथको सच्चा बनाकर पूर्ण कर देते हैं। उन मेरे प्रियतम जैसा योग-क्षेमका निर्वाह करनेवाला अन्य कोई हुआ है, न होगा ही।

उन मेरे प्रियतम श्रीकृष्णकी मेरे गुरुदेव श्रीराधाबाबापर अनन्त असीम प्रीतिको परखते हुए ही मेरा पूर्ण विश्वास है कि पू.गुरुदेवके भावजीवनके इस श्रुतिग्रन्थका जो भी पाठक भाव एव श्रद्धासहित अवगाहन करेंगे, वे निश्चय ही महाभावस्वरूप प्रेमजगतमें प्रवेश पावेंगे।

यह निश्चय है कि मैं एक प्रेमशून्य जन्तु हूँ। ऐसे कृपावाक्य कहने-लिखनेकी मेरी सामर्थ्य सर्वथा नहीं है। किन्तु मेरे गुरुदेवपर उनके प्रियतम प्राणनाथकी प्रीति देखकर ही मैं महाप्रभु पोद्दार महाराजकी चरणरजको साक्षी बनाकर कहता हूँ कि मेरी वाणी अक्षरशः अखण्ड सत्य सिद्ध होगी।

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा स्वयं और उनका यह लीलाचरित्र दो वस्तुएँ तो हैं ही नहीं। जहाँ पू.गुरुदेवके प्रियतम श्रीकृष्णका नाम, रूप, लीला,*एव धाम – चारों वस्तुएँ पूर्ण परात्पर प्रियतम श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं तो प्रियतम-प्रिया श्रीराधाका चरित्र प्रिया श्रीराधासे भिन्न कैसे संभव है ? अत. मैं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा-रचित निम्न छन्दोका आश्रय लेकर ही ऐसी मङ्गलमयी वाणीका उच्चारण कर रहा हूँ –

(दोहा)

**मो इच्छित कै कृस्न पिय, रुचै बनिउ, बनराउ।**
**होइ निराविल सर्वथा भाव-उदधि बुड़ि जाउ।।१।।**
**बिस्वरूप जसुमति-सुअन ! अब विलम्ब जनि लाउ।**
**होइ निराविल एहि छिन भाव-उदधि बुड़ि जाउ।।२।।**
**बिस्वरूप बिनती धरत अभिनौ सुख बिसराउ।**
**करौ अनुग्रह अब महाभाव-उदधि बुड़ि जाउ।।३।।**
**बिस्वरूप पिय बेनुधर, साँवर बिरद बढ़ाउ।**
**करौ तुरन्त कृपा महाभाव-उदधि बुड़ि जाउ।।४।।**

(सोरठा)

**मो सुख लगि तुम पीउ, अब लौं कहा नहीं कर्‌यौ।**
**तुम्हरौ प्यार असीउँ, नित्य अतुल ऐसोइ है।।५।।**
**देख्यौ अद्भुत खेल, इन माटी-पुतरीन कौ।**
**अब तुरन्त दो ठेल, सबननि ब्रज-रस-सिन्धुमें।।६।।**

(छन्द)

**हे महामहिम ! हे ब्रजनन्दन ! करुणावरुणालय ! हे प्रियतम !**
**हे कृष्ण ! प्राणवल्लभ ! साँवर ! मुझ राधाके रसिया ! प्रियतम !**
**हे वंशीधर ! मुझ राधाके सुखमें ही बस, सुखिया ! प्रियतम !**
**हे प्राणेश्वर ! मुझ राधाकी नैयाके खेवैया ! प्रियतम !**

**अब ढरौ तुरन्त प्रथम अपने इन दस रूपोंपर, हे प्रियतम !**
**फिर ढरौ तुरन्त विश्वमय निज मदृश्य रूपपर, हे प्रियतम !**
**सर्वथा सुखी तुम हो जाओ, खिल उठो फूल-से, हे प्रियतम !**
**पल-पल बढ़ते ही चलो भावसागरकी ओर तथा, प्रियतम !**

**जो दोष न देखे कहीं, कभी, ऐसे हो एक तुम्हीं, प्रियतम !**
**अतएव तुम्हारी प्यारी मुझ राधाकी बिनती है, प्रियतम !**
**यद्यपि आवश्यकता तुमसे कहनेकी थी न किन्तु, प्रियतम !**
**कह गयी और कर गयी, हुई प्रेरित तुमसे बिनती, प्रियतम !**
**कहनेवाली, सुननेवाले दोनों तुम ही तो हो, प्रियतम !**
**यह खेल तुम्हारा नित्य सरस एवं रहस्यमय है, प्रियतम !**
**है लहराता ही रहता वह, संविद-स्वरूप सागर, प्रियतम !**
**उन लहरोंका ही नाम यहाँ संस्थान, सृजन, लय है, प्रियतम !**

प्रियतम श्रीकृष्णका उत्तर –

है सदा तुम्हारा ही सुख बस, मेरा तो सुख प्रियतमे ! अहो !
मैं कर दूँगा अवश्य पूरी प्रत्येक चाह, निश्चिन्त रहो !
हम सभी अभिन्न निरन्तर हैं, फिर भी जो रुचि हो, तुरत कहो।
हे महाभावमयि ! हमें लिये, रस-सुधा-सिन्धुमें नित्य बहो।।

(भावार्थ)

हे प्रियतम ! श्रीकृष्ण ! यदि आपको रुचिकर लगता हो तो मेरी इच्छाके अनुसार रूप धारण कर लीजिये। हे बनराइ (वृन्दावनके राजा), आप संसारगत मायावेश त्यागकर सर्वथा निराविल (निष्कल्मष) होकर भावसमुद्र प्रेमोदधिमें डूब जाइये।।।१।।

हे विश्वरूप यशुमतिनन्दन ! अब विलम्ब मत करिये। इसी क्षण समग्र कल्मषरहित होकर भावसमुद्र – प्रीतिसिन्धुमें डूब जाइये।।२।।

हे विश्वरूप धारण किये मेरे स्वामी ! मेरी प्रार्थनाको अपने चित्तमें धारण कर लीजिये। अब इन्द्रियजन्य नये-नये विषयोंमें सुखाशा छोड़ दीजिये। अब अपनी प्रिया मुझ आपकी आत्मापर अनुग्रह करिये एवं प्रीतिके सर्वोच्च सर्वशुद्ध महाभाव-समुद्रमें डूब जाइये।।३।।

हे विश्वरूप धारणकिये वेणुधर श्यामसुन्दर ! अपने यशकी अभिवृद्धि करिये एवं मुझ अपनी आत्मापर तुरन्त कृपा करके महाभाव-समुद्रमें डूब जाइये।।४।।

हे प्राणनाथ ! आपने मेरे सुखके लिये अबतक क्या नहीं किया ? आपका प्रेम असीम अनन्त है। वह ऐसा है कि उसकी तुलना कहीं किसीसे हो ही नहीं सकती।।५।।

मैंने इन पञ्चभूतरचित देहोंको धारण करनेवाली मृत्तिकामयी पुतलियोंका अद्भुत खेल खूब देख लिया। अब तो इन सभी पुतलियोंको आप ब्रज-रस-सिन्धुमें ठेल दीजिये।।६।।

हे महामहिम ब्रजनन्दन ! हे करुणावरुणालय ! हे कृष्ण ! हे प्राणवल्लभ साँवरे ! हे मुझ राधाके रसिया ! हे वंशीधर ! हे मुझ राधाके सुखमें ही सुखिया ! हे जीवनधन ! हे प्राणाधिक ! हे प्राणेश्वर ! हे मुझ राधाकी नैयाके खेवैया ! हे प्रियतम ! सर्वप्रथम आप तुरन्त ही आपके इस दस नामरूप धारण किये स्वरूपोंपर (पू.गुरुदेवके दस प्रमुख कृपापात्रोंपर) अनुग्रहीत होओ एवं तब अविलम्ब अपने विश्वमय मेरे दृश्य बने रूपोंपर कृपालु हो जाओ। हे प्रियतम ! तुम सर्वथा सुखी हो जाओ एवं फूलकी तरह प्रफुल्लित होकर खिल उठो।।७।।

हे प्रियतम ! तुम प्रतिपल प्रेमके सर्वोच्च भावसमुद्रकी ओर बढ़ते ही जाओ। जो किसीका कभी दोष नहीं देखे - ऐसे एकमात्र तुम्हीं हो। इसीलिये तुम्हारी प्यारी मुझ राधाकी तुमसे विनय है। हे प्रियतम ! सर्वान्तर्यामी होनेके नाते तुमसे अपनी प्रार्थना मौखिक कहनेकी यद्यपि कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु फिर भी मैं तुम्हारे द्वारा ही प्रेरित हुई तुम्हें सबकुछ मौखिक कह गयी एवं प्रार्थना भी कर ही गयी। मैं यह बात भली प्रकार जानती थी कि प्रार्थना करनेवाली भी तुम ही बने हो, और सुननेवाले तो तुम हो ही। प्रियतम ! अपने आपसे, अपने आपमें ही यह खेल नित्य सरस एवं रहस्यमय है। रहस्यमय इस अंशमें कि इसके भीतरका मार्मिक सत्य कोई जान नहीं पाता, वह सदैव अज्ञात ही रहता है; एवं सरस इस रूपमें कि दुखरूप क्षणभंगुर रहते हुए भी इसमें सुखाशा बनी ही रहती है। यह संविद् रूप समुद्र (चेतन-जीवमय संसार) लहराता ही रहता है। इस समुद्रकी लहरोंका ही नाम सृजन, स्थिति, एवं प्रलय है।

**प्रियतम श्रीकृष्णका पू.गुरुदेवको उत्तर –**

**अहो प्रियतमे राधे ! सदैव तुम्हारा ही सुख बस, मेरा सुख है। मैं तुम्हारी प्रत्येक इच्छा अवश्य पूरी कर दूँगा, तुम निश्चिन्त रहो। तुम, मैं, एवं यह सृजन, स्थिति एवं प्रलयरूप जीव-समुदाय – सभी परस्पर अभिन्न हैं। फिर भी जो तुम्हारी रुचि हो, तुम तुरन्त कहो। हे महाभावमयि ! तुम मुझे एवं मेरे अभिन्न स्वरूप – सृष्टि, स्थिति, प्रलयरूप इस तुम्हारे दृश्यरूप विश्वको साथ लिये रस-सुधा-सिन्धुमें नित्य बहती रहो।**

पू.गुरुदेव द्वारा अपने प्रियतम प्राणनाथ ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णसे की हुई उपरोक्त प्रार्थना एव उनके सर्वभवनसमर्थ, कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् समर्थ प्रियतम श्रीकृष्ण द्वारा उन्हें दियेगये उत्तरके आधारको लेकर ही पू.गुरुदेवके स्वरमें अपना निर्बल निरीह स्वर मिलाते हुए मैं सर्वथा अपात्र निम्न मङ्गलवचन कह रहा हूँ –

'पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके भावजीवनके इस श्रुतिकाव्यमें जो भी पाठक भावसहित अवगाहन, निमज्जन करेगे, वे एक ऐसे अनिर्वचनीय परम दुर्लभ विलक्षण चिदानन्दमय महारसकी उपलब्धि करेगे, जो उनके समग्र विषय-व्यामोहको सदाके लिये मिटा देगा। मेरे पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके भावजीवन इस प्रियतमकाव्यके पठनका यही माहात्म्य है। इसका अक्षर-अक्षर, इसके पूर्ण विराम, अर्ध विराम, अनुस्वार, चन्द्रविन्दुतक पूर्ण रसमय है। इसमे निरन्तर डूबनेवालेको दुर्लभ-से-दुर्लभ दिव्य देवभोगोके आनन्दसे ही नहीं, परम तथा चरम वाञ्छनीय ब्रह्मानन्दसे भी अरुचि हो जायगी। श्रीप्रिया-प्रियतम ही उसके सर्वस्व होकर उसमें बस जावेगे और उसको अपना स्वेच्छाचालित लीलायत्र बनाकर धन्य कर देंगे।'

'नाथ ! हृदयेश्वर ! प्राणाराम ! प्राणाधिक ! जीवनसर्वस्व ! नयनानन्द ! रसमय ! करुणामय ! भावमय ! लीलामय ! प्राणाधार ! प्रियतम ! श्रीकृष्ण ! सर्वथा अदोषदर्शी प्रियतम ! अनन्त कल्याणमय, स्वरूपभूत गुणगणशाली ! विश्वरूप विश्वेश्वर ! अखिलात्मन् ! सर्वज्ञ-सर्वविद् ! सर्वभवनसमर्थ ! अनन्तैश्वर्यनिकेतन ! सर्वलोकमहेश्वर ! करुणावरुणालय ! मेरे गुरुदेवकी रुचिका ही अनुसरण करनेवाले ! मेरे देवता ! मेरे गुरुदेवकी रुचिको ही सर्वथा सर्वांशमें ही पवित्रतम ढंगसे, सर्वथा सर्वांशमें ही पवित्रतम ढगसे, सर्वथा सर्वांशमे ही पवित्रतम ढगसे, शीघ्र-से-शीघ्र, शीघ्र-से-शीघ्र, शीघ्र-से-शीघ्र पूर्णकरके उसे तत्क्षण अनन्त अपरिसीम परम मङ्गलमें, श्रीमहाप्रभु पोद्दार महाराजके और मेरे पू.गुरुदेवके महाभावके स्वरूप-विलास-समुद्रकी परम रमणीय ऊर्मिमें पर्यवसित करदेनेवाले मेरे नीलपद्म, प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण ! प्राणधन ! प्राणरमण ! सर्वस्व ! प्राणमूल प्रियतम श्रीकृष्ण ! मेरे प्राणोके परमाराध्य देव ! अखिल रसामृतमूर्त्ति प्रियतम श्रीकृष्ण ! अपना स्वेच्छाचालित लीलायंत्र बनाकर, अपनी चरणधूलिकी कृपाका वरदान देकर आपने इस पतितसे जो लिखाया, सब आपको ही समर्पित है।'

'आत्मस्वरूपिणि ! महाभावरूपिणि ! जगज्जननीरूपिणि ! योगमायारूपिणि ! जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-भावापन्ने ! तूर्यतात्मिके ! यमुना-गङ्गा-सरस्वतीरूपिणि ! ऋद्धि-सिद्धि-महासरस्वती-महालक्ष्मीरूपिणि ! आवयो. शिव-पार्वती-लीलायां शिवरूपिणि ! पुनश्च उमारूपिणि ! नवदुर्गारूपिणि ! दशविद्यारूपे ! भगवति ! श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीरूपिणि ! क इति मंत्रसुलभे ! श्रीमातृरूपे ! ललितादि-परिकर-रूपिणि ! मञ्जुश्यामारूपं प्रत्यपि अपरिसीमानुराग भावयति ! मञ्जुश्यामायां छायाया प्रत्यपि मच्छायायां प्रति च मच्छायायां छायायां प्रति च अपरिसीमानुराग-भाव-विधायिनि ! अनन्ताभिव्यक्त-नाभिव्यक्त-शक्तिस्वरूपिणि ! सर्वस्वरूपे ! सर्वरूपे ! सर्वातीते ! नित्यानिर्वचनीयाचिन्त्य-विरुद्धधर्माश्रयत्वं-विभूषिते ! राधे ! तव नित्यप्रियतमः नित्यप्राणाधिक नित्यप्राणेश्वर नित्यप्राणवल्लभः, नित्यनवनिकुञ्जेश्वरः नित्यवृन्दावनेश्वरः नित्यब्रजेन्द्रनन्दनः अह श्रीकृष्ण एव तवात्मानं मन्नित्यप्रियतमा नित्यप्राणाधिका नित्यप्राणेश्वरी नित्यप्राणवल्लभा नित्यनवनिकुञ्जेश्वरी नित्यवृन्दावनेश्वरी नित्यवृषभानुपुत्री त्वं राधैव ममात्मा नित्यलीलार्थं

भिन्नतया स्थित. सन् तवाङ्गस्य प्रत्येके कणे हि महाभावात्मकाह्लादरूपेण नित्यं वर्त्तमान· तव हृदयाकाशे ·तु बहिश्च निखिले रोमकूपे च यथानुभूतरीत्या त्वदभिलषिताभिव्यक्त नवनीरदवर्ण द्विभुजानन्तैश्वर्यनिकेतन सर्वलोकमहेश्वर स्वयंभगवत्प्रकाश पुरुषोत्तम प्रियतम प्राणाधिक प्राणेश्वर प्राणवल्लभ नित्यनवनिकुञ्जेश्वर नित्यवृन्दावनेश्वर नित्यव्रजेन्द्रनन्दनरूपेण मम प्रियतम ! प्रिया-प्रियतम युगल ! मेरे सम्मुख यहॉ मेरे हृदयमें सतत सम्प्रतिष्ठित हों एवं मेरी इस टीकापर अपना वरद अनुग्रह-हस्त रखकर इसे अनन्तकालतक, स्वइच्छित कालतक अपने एवं अपनी प्रियाके विशुद्ध प्रेम-वितरणके योग्य सिद्ध करें। एवमस्तु, इत्यलम् ।

विनीत

साधु कृष्णप्रेम

---

**है पथ तुलसी-वन जोह रहा हम दोनोंका पल-पल, प्रियतम।**
**नीली सरिता हो व्याकुल है कर रही शब्द कल-कल, प्रियतम।**
**है अपलक पन्थ निहार रहीं वे वल्लरियाँ फूली, प्रियतम।**
**सुस्पष्ट दे रही है इङ्गित सारी शुकपर झूली, प्रियतम।**

**कॉंटोंकी अटवीमें रुककर देरी न करो प्यारी-प्रियतम।**
**चेरीपर चरण-सरोरुहकी अविलम्ब ढरो प्यारी-प्रियतम।**
**नश्वरतनकी पगडण्डीपर ठहरो मत तुम प्यारी-प्रियतम।**
**चलती जाओ, चलते जाओ, रहकर गुमसुम प्यारी-प्रियतम।**

**।। भावार्थ।।**

अरे भैया ! वृन्दावन हम दोनो प्रिया–प्रियतमकी बाट, पथ जोह रहा है। नीली रसमयी–सरिता व्याकुल होकर देखो कैसा कल–कल शब्द कर रही है। देखो, ये पुष्पित सुमनोंसे लदी आनन्दसे फूल रही लताएँ, वल्लरियॉं हमारा पथ पलक नहीं गिराते हुए (अपलक), अति आतुर हुई, निहार रही हैं। और देखो, यह सारिका पक्षी शुकके ऊपर प्यारसे झूलती हुई सुस्पष्ट सङ्केत दे रही है कि तुम्हें इस पथसे चलकर प्रिया–प्रियतमके पास पहुँचना है।

अरे भैया ! यह संसार तो कण्टकाकीर्ण जंगल, कॉंटोंका वन है। इसमें आपसमें एवं मुझसे मिलनेमें प्रिया प्रियतमके पास पहुँचनेमे विलम्ब हो सकता है। भगवान् नन्दनन्दनकी चरण सरोरुहकी चेरी श्रीराधारानीपर बिना विलम्ब किये ढर जाओ। यह तन तो नश्वर है ! इसकी पगडंडीपर तनिक भी मत ठहरो। तुम चाहे स्त्री–वेषधारी हो, चाहे पुरुष–वेषधारी, साधनाके पथमें चलते जाओ, चलती जाओ, चुपचाप गुमसुम रहो और चलो।

।। विजयेतां श्रीप्रिया-प्रियतमौ ।।

प्रियतम काव्यके छन्दों, श्लोकोंके पाठ, जप, पारायणकी पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा निर्दिष्ट फलश्रुतियाँ

| शतक सं. | छन्द संख्या | साधन निर्देश | फलश्रुति |
|---|---|---|---|
| १ | श्लोक-ललिताम्बामयीं | प्रतिदिन अर्थ-अवधारणा एवं अतिशय श्रद्धापूर्वक १०८ बार जप | मृत्युके समय भगवती ललिताम्बाका साक्षात् दर्शन होगा। महाप्रभु पोद्दार महाराजका स्वरूप प्रकट होकर ब्रजभावमें प्रवेशकी भूमिका बन जायेगी। जीवनमें आर्थिक संकटोंसे निश्चय ही त्राण होगा। |
| १ | श्लोक कृष्णस्वरूपिणीं | प्रतिदिन १०८ बार जप | मृत्युके समय भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन, ब्रजभावमें प्रवेशकी भूमिकाका अवश्यंभावी निर्माण। श्रीकृष्ण कृपाका जीवनकालमें ही अनुभव। |
| १ | छन्द सं. १ | प्रतिदिन १०८ बार जप | जीवनकी संध्याके पूर्व ही 'संसार सत्य नहीं है, स्वप्नतुल्य है', इसका स्पष्ट अनुभव (पू.गुरुदेव द्वारा सन् १९६४ई.में बताया साधन) |
| १ | छन्द सं. २ | प्रतिदिवस दस मालाका भावसहित जप | मायाकी आत्यन्तिक निवृत्ति। साक्षात् श्रीकृष्ण द्वारा हस्त-धारणकर निकुंजमें प्रवेश। |
| १ | छन्द सं. ४ | प्रतिदिन दस मालाका जप | शक्तिपात होकर वैषयिक आकर्षणोंसे मुक्ति एवं वैराग्यकी अदम्य प्रतिष्ठा। |
| १ | छन्द सं. ८ | केवल चौथी पंक्तिकी दस मालाका नित्य जप | श्रीकृष्णका अनिर्वचनीय अद्भुत रूप-दर्शन। |
| १ | छन्द सं. १२ | प्रतिदिन दस मालाका जप | श्रीकृष्ण विरहभावका हृदयमें सच्चा प्रकाश। |
| १ | छन्द १३ से १५तक | प्रतिदिन १ माला | मृत्युके पूर्व श्रीराधाके बाल-चरित्रका हृदयमें प्रकाश। विशुद्ध वात्सल्यरसकी हृदयमें प्रतिष्ठा। |
| १ | छन्द १६ से १९ तक | प्रतिदिन एक माला पाठ | मृत्युके पूर्व राधा-काम्यकाननका प्रत्यक्ष अनुभव। भगवती लीला-महाशक्ति त्रिपुरसुन्दरीके श्रीयंत्रके रहस्यका ज्ञान। वृन्दादेवीके तत्व-रहस्यकी अनुभूति। वृन्दावनके पशु-पक्षियोंके तत्व-रहस्यका ज्ञान। |
| १ | छन्द २६ से २८ तक | एक मालाका पाठ प्रतिदिन | जीवनयात्रा अत्यन्त सुकर। चित्तवृत्तिमें आत्यन्तिक सात्विक शान्ति बनी रहेगी। कोई, कैसा भी हो, शनैः शनैः चित्तमें शान्ति एवं एकाग्रता स्वभावतः आवेगी। सच्ची आस्तिकताका उद्रेक होगा। इष्टके प्रति निष्ठा एवं श्रद्धा उपलब्ध होगी। पवित्र एवं निष्काम शक्ति-उपासनाके बीज पड़ेंगे। |

| शतक सं. | छन्द संख्या | साधन-निर्देश | फलश्रुति |
|---|---|---|---|
| १ | छन्द ३६से ४५ तक | प्रतिदिन १ माला पाठ | कुन्दवल्ली देवी एवं श्रीदाम भैयाके जन्मोत्सवका अनुभवपूर्ण दर्शन। बृषभानुपुरीके अपूर्व वैभवका प्रत्यक्ष प्रकाश। शुद्ध सख्य रसका प्रादुर्भाव। निष्काम तत्सुखिया भावसे हृदयके ओतप्रोत होनेकी भूमिकाका प्रादुर्भाव । |
| १ | छन्द ४६ से ५५ तक | १ माला प्रतिदिन पाठ | ललिता भावकी अनुभूति। उनके जन्मोत्सवकी झाँकी। सखियोंके मध्यकी तत्सुखी प्रीतिका अन्तःकरणमें प्रादुर्भाव। कीर्त्तिदा मैया एवं वृषभानुपुरके अन्य मातृवर्गकी सखियोंके विशुद्ध वात्सल्यका बीज-वपन। |
| १ | छन्द सं. ६० | जय देवि दयामयि जय जगदम्बे जय ललिते | इस अमोघ जाग्रत मंत्रका प्रतिदिवस दस माला जपसे समग्र आसुरी शक्तियोंपर शत-प्रतिशत विजय। |
| १ | छन्द सं.६३ से ७२ तक | दस माला प्रतिदिन जप | यहाँ वर्णित सम्पूर्ण लीलाका निश्चय ही जीवनके अवसानके पूर्व दर्शन। |
| १ | छन्द ७३ से ८७ तक | प्रतिदिन १० माला जाप | राधा-जन्मोत्सवकी लीलाका जीवनके अवसानके पूर्व निश्चय दर्शन। |
| १ | छन्द ८८ से ९६ तक | प्रतिदिन दस माला जप | मञ्जुश्यामा-जन्मोत्सवकी अनुभूति। मंजरीभावमें प्रतिष्ठा। |
| २ | छन्द १०२ से ११० तक | प्रतिदिन १० माला पाठ | जीवनकी सन्ध्याके पूर्व अवश्य-अवश्य चिन्मय गिरिपरिसर एवं गिरिराजका दर्शन। |

(विशेष मंत्र)

उस ओर शैलके कण-कणमें मानो चेतनता थी प्रियतम !<br>
यह खड़ा सतत देखा करता ऊँचा सिर किये हुए, प्रियतम !

| | |
|---|---|
| प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | चिन्मय गिरिपरिसर एवं गिरिराजका दर्शन। |

(विशेष मंत्र)

जीवनकी धारा किधर मुड़े, भावी क्या है किसकी, प्रियतम !<br>
सच्चा प्रतीक इसका वह था, आदर वे सब करतीं, प्रियतम !

| | |
|---|---|
| प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | परमार्थकी ओर जीवनधारा मोड़नेके लिये विशेष मंत्र |

| शतक सं. | छन्द संख्या | साधन-निर्देश | फलश्रुति |
|---|---|---|---|
| २ | छन्द १११ से १२२ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व ललिताकुंजके, भगवती ललिता सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १२३ से १३० तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व विशाखाकुंजके, भगवती विशाखा सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १३१ से १३८ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व चित्राकुंजके, भगवती चित्रा सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १३९ से १४६ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व इन्दुलेखाकुंजके, भगवती इन्दुलेखा सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १४७ से १५४ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व चंपकलताकुंजके, भगवती चंपकलता सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १५५ से १६२ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व रंगदेवीकुंजके, भगवती रंगदेवी सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १६३ से १७० तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व तुंगविद्याकुंजके, भगवती तुंगविद्या सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १७१ से १७८ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व सुदेवीकुंजके, भगवती सुदेवी सखीके प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १७९ से १९४ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व प्रिया प्रियतम निकुंजेश्वर एवं निकुंजेश्वरीके कुण्डोंका तत्वसहित रहस्यका प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति। |
| २ | छन्द १९५ से १९८ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व बृषभानुपुरधामके अधिष्ठात्री देवता सूर्यदेवके प्रत्यक्ष दर्शन एवं उनकी विशेष कृपाकी अनुभूति। |
| २ | छन्द १९९ से २०२ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व परकीया भावके तत्व-रहस्यका प्रकाश एवं यावट ग्राम एवं उसकी महिमाके दर्शन। |
| ३ | छन्द २०३ से २०५ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व प्रिया श्रीराधा एवं अष्ट सखियोंके सप्तवर्षीय पौगण्ड एवं कौमार वयके रूपकी झाँकी। |

| शतक सं. | छन्द संख्या | साधन निर्देश | फलश्रुति |
|---|---|---|---|
| ३ | छन्द २०६ | प्रतिदिन १० माला भावसहित जप | पूर्ण जीवन निश्चय ही मंगलमय बन जायेगा। |

विशेष मंत्र

'अप्रतिम यहाँ कोई मंगल निश्चय होगा, सखि री, प्रियतम !'

किसी भी कार्यकी मङ्गलमय संपन्नताके लिये इस मंत्रकी दस माला जप करें।

| शतक सं. | छन्द संख्या | साधन निर्देश | फलश्रुति |
|---|---|---|---|
| ३ | छन्द २०७से २१६तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व श्रीराधा-काम्यकाननके अन्तर्गत लीलाजगत्के अप्राकृत चिन्मय पक्षियोंके रूप, रहस्य, तत्व एवं उनकी तत्सुखभाव-भावित वृत्तियोंका साक्षात्कार। ब्रजमें पक्षीभावकी प्राप्तिकी भूमिकाका निर्माण। |
| ३ | छन्द २१७से २१९तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व राधा-काम्यकाननकी निश्चय झलक। वटतरुके माहात्म्यका ज्ञान। |
| ३ | छन्द २२० से २२४तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व शुकराज विचक्षणके दर्शन। प्रियतम श्रीकृष्ण ही दूतके रूपमें शुकपक्षी बनकर आते हैं इस रहस्यका परम मधुर प्रकाश। |
| ३ | छन्द २२५ - यह विशेष मंत्र है। शुद्ध जल लेकर प्रतिदिन इस मंत्रकी १० माला भावसहित जपकरके अभिमंत्रित | | जल पीलें। निश्चय ही जीवनकी संध्याके पूर्व महामायाकी विशिष्ट शक्तियोंका अभ्युदय होगा। |
| ३ | छन्द २२६ से २३३ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व रसात्मक श्रीयंत्रका प्रकाश। जीवनमें अनेक सिद्धियोंका प्रकाश एवं ब्रजभावका चित्तमें बीज-पल्लवन। |
| ३ | छन्द २३७ | प्रतिदिन १० माला भावसहित जप | जीवनकी संध्याके पूर्व विलक्षण चिन्मय आनन्दकी अनुभूति एवं आह्लादतत्वका साक्षात्कार। |
| ३ | छन्द २३८ से २४१ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व सन्धिनी महाशक्ति वृन्दाके स्वरूपका साक्षात् दर्शन। |
| ३ | छन्द २४२ | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | यह विशेष मंत्र है। इसके जपसे जीवनकी संध्याके पूर्व वृन्दाकानन, वृन्दादेवी एवं प्रिया श्रीराधा, राधानुजा मंजुश्यामाका साक्षात् दर्शन होगा। |

| शतक सं. | छन्द संख्या | साधन निर्देश | फलश्रुति |
|---|---|---|---|
| ३ | छन्द २४३ | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | यह विशेष मंत्र है। इसके जपसे जीवनकी संध्याके पूर्व हंस-हंसिनीके तत्व-रहस्यका ज्ञान, प्रिया-प्रियतम नित्यनिकुंजेश्वरकी इन दूतोंके रूपमें स्वयं प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दन ही लीलारत हैं, इसका स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा। |
| ३ | छन्द २४४से २४६ तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | इसके जपसे जीवनकी संध्याके पूर्व अशोकनिकुंजके दर्शन, नित्यनिकुंजेश्वर एवं नित्यनिकुंजेश्वरीके इस निकुंजमें लीलारत दर्शन। जन्म, स्थिति, प्रलयसे परे त्रिगुणातीत अप्राकृत निकुंज-लीलाधामकी अनुभूति। |
| ३ | छन्द २४७से ३०३ तक | सम्पूर्ण लीलाके भावसहित दस पाठ प्रतिदिन करें। | समग्र लीला जीवनके अन्तिम पड़ावतक प्रत्यक्ष अनुभवमें मूर्त्त हो उठेगी। |
| ४ | छन्द ३०४ से ३२६तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व पूर्वराग-महाभावकी हृदयमें प्रतिष्ठा होगी। |
| ४ | छन्द ३२७से ३२८तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव – प्रेमकी इन आठों स्तरोंका चित्तमें संस्पर्श। |

विशेष मंत्र

इतना सा ही कह सकती हूँ, वह मिलन अर्ध पलका, प्रियतम !<br>
आधार-शिला बनकर उसपर बनने प्रासाद लगा, प्रियतम !<br>
जिसमें विभागके स्नेह, मान, वे प्रणय, राग, आगे प्रियतम !<br>
अनुराग, भाव, फिर महाभाव, सातों अप्रतिम बने, प्रियतम !<br>
अधिदेवी उन सातोंकी थी, वह राजतनूजा ही, प्रियतम !

| शतक सं. | छन्द संख्या | साधन निर्देश | फलश्रुति |
|---|---|---|---|
| ४ | छन्द ३३४ से ३६१तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व सख्यरस-प्रधान तत्सुखिया-भावकी प्रतिष्ठा। श्रीदाम भैयाके दर्शन एवं मृत्युके पश्चात् उनमें प्रतिष्ठा। |
| ४ | छन्द ३७५से ४०४तक | प्रतिदिन १० माला भावसहित पाठ | जीवनकी संध्याके पूर्व इन छन्दोमें वर्णित श्रीराधाभावकी सम्पूर्ण अनुभूतियोंमें चित्त डूबने लगेगा। |

## विशेष मंत्र

संदेश एक है श्रीपदमें उन नीलदेवताका, प्रियतम !
सेवा न बनी कुछ भी सचमुच, अरसिक मुझ किंकरसे, प्रियतम !
अपनी ही ओर देख उरमें अविचल निवास देना, प्रियतम !
है नहीं मनोभ्रम, सच्ची है घटना सब इस तनकी, प्रियतम !
माला है झूल रही उरपर, झूलेगी नित्य तथा, प्रियतम !

• • •

बोला 'श्रीपदमें प्रणति सरस उनकी पल पल शत है, प्रियतम !
है और विनम्र निवेदन यह, उनके अन्तस्तलका, प्रियतम !
'प्रियतमे, रखो, धीरज मुझसे अब नित्य मिलन होगा, प्रियतम !
जय हो ! जय हो ! निरवधि जय हो !' श्रीचरणसरोरुहकी, प्रियतम !

इन मंत्रोंकी दस मालाके जपसे प्रियतम नीलसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दनसे नित्य अविच्छिन्न मिलनका विधान।

## पंचम शतक

सम्पूर्ण पंचम शतकके भावसहित प्रतिदिन १० पाठसे जीवनकी संध्याके पूर्व सम्पूर्ण लीलाका प्रत्यक्ष दर्शन होगा। मंजुश्यामाका तत्वरहस्य हृदयंगम होगा, उनके जन्मोत्सवकी झाँकी प्रत्यक्ष होगी।

## षष्ठम शतक

छन्द सं. ५०६से ५३०तक - प्रतिदिन भावसहित १० पाठसे जीवनकी संध्याके पूर्व वंशीनाद श्रवणगोचर होगा। चर अचरपर उसके प्रभावका प्रत्यक्ष अनुभव होगा।

छन्द सं. ५३१से ५५७तक - प्रतिदिन भावसहित १० पाठसे जीवनकी संध्याके पूर्व श्रीकृष्ण एवं सखावर्गकी गोचारणलीलाका दर्शन। श्रीसुन्दरीसरोवरका दर्शन। सद्यस्नाता किशोरी राधा एवं सखियोंके सौन्दर्यका दर्शन। ब्रजकिशोर नीलमणिके पूर्वरागकी तत्वरहस्य सहित अनुभूति।

छन्द सं. ५५८से ५७५तक - प्रतिदिन भावसहित १० पाठसे जीवनकी संध्याके पूर्व भगवती पौर्णमासीके दर्शन, उपनन्दपत्नी पीवरी, यशोदामैया, कीर्तिदा मैया आदि मातृवर्गकी वात्सल्यवती गोपांगनाओंके दर्शन, समग्र रन्धनलीलाके दर्शन होंगे।

## सप्तमसे एकादश शतक

इन शतकोंके प्रतिदिवस भावसहित १० पाठ करनेसे जीवनकी संध्याके पूर्व इन शतकोंमें वर्णित सभी लीलाओंकी अनुभूति होगी।

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

## षष्ठम खण्ड (प्रथम भाग)

*प्रियतम–काव्य – छन्दार्थ एवं विस्तृत टीका*

## अनुक्रमणिका

प्रारम्भिक



### प्रथम शतक

## तृतीय शतक



## चतुर्थ शतक

## पंचम शतक

### महर्षि दुर्वासा द्वारा श्रीराधाको वरदानकी प्राप्ति

## षष्ठम शतक

## श्रीकृष्णका पूर्वराग

❀ ❀ ❀

# चित्रसूची

।।श्रीराधा।।

# अथ श्रीप्रियतम काव्यम्

## प्रथम शतक

### सार-संक्षेप

*(१)श्रीराधाभावमें प्रतिष्ठित हुए पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा दृश्यरूपमें सर्वत्र अपने प्रियतम श्रीकृष्णको देखते हुए अपनी 'कृष्णान्धता' की स्थितिका प्रकाश करते हैं एवं अपने समग्र दृश्यको श्रीकृष्णप्रीतिके निर्मल सिन्धुमे नहीं डुबो पानेकी अपनी असमर्थतावश ' प्यार न दे पाई, प्रियतम!'कहकर महाभावगत अतिशय दैन्यका प्रकाश कर रहे हैं। (छन्द सं. १)*

*(२)'' मैं वस्तुतः वही श्रीराधा हूँ, जिसे तुम 'प्राणोंकी रानी' कहकर सम्बोधित करते हो' - कहकर पू.गुरुदेव अपनी महाभावमयी स्थितिका परिचय दे रहे हैं, किन्तु साथ ही 'भग्न हुआ-सा था गृह' कहकर अपने पाञ्चभौतिक शरीर (कलेवर) की तत्कालीन परिस्थितियोंका आलेख कर रहे हैं। (छन्द सं. २ से १३)*

*(३) वृषभानुपुरकी श्रीराधाकी सखियों एवं कुटुम्बियोंका वर्णन। (छन्द सं. १४-१५)*

*(४) पौगण्ड एवं कैशोर वयकी सन्धिमें श्रीराधामें 'राधा-काम्य-कानन' से पुष्प-चयन कर लानेकी इच्छाका उदय होना। राधा-काम्य-काननका माहात्म्य। (छन्द सं. १६-२०)*

*(५) महारानी कीर्त्तिदाके सम्मुख उनके विगत जीवन एवं सुहाग-निशाके स्मृति-चित्रोंका प्रकाश होना। (छन्द सं. २१-२४)*

*(६) युवराज वृषभानु द्वारा शिवरात्रिपर महादेवी त्रिपुरसुन्दरीकी मन्त्र-दीक्षा-ग्रहण एवं हरिशयनी एाकदशीसे श्रीदेवीका अर्चन प्रारंभ - श्रीदेवीकी प्रतिमाका प्रकट प्रभाव । (छन्द सं. २५- ३१)*

*(७) कुन्दवल्लीका जन्म (छन्द ३२ से ४१) तथा श्रीदामका जन्म (छन्द सं. ४२ से ४५)*

*(८) श्रीललिता सखीका जन्म (छन्द ४६ से ५५) , श्रीराधाजन्म (छन्द ६३ से ८७ तक) एवं श्रीमञ्जुश्यामाका जन्म (छन्द सं ८८ से ९६ तक)*

*(९) श्रीराधाकिशोरीको 'काम्यवन'से पुष्प बीन लानेकी आज्ञा। (छन्द सं.९६ से १०१)*

ललिताम्बामयीं ध्येयां रामदत्तापदाभिधाम् ।
आत्मस्वरूपिणीं साध्वीं वन्देऽहं धर्ममातरम् ।। (पृष्ठ २७)

(भगवती ललिताम्बा स्वरूपिणी पू. माँ श्रीमती रामदेई, पू. श्रीपोद्दार महाराज की धर्मपत्नी)

कृष्णस्वरूपिणीं वन्दे हनुमद्गुप्तसंततिम् ।
नित्यां धर्मस्वसारं वै मंजुश्यामां सहोदराम् ।। (पृष्ठ २७)

(राधानुजा श्रीमंजुश्यामाजी-स्वरूपिणी अ.सौ. श्रीमती सावित्रीबाई, पू. श्रीपोद्दार महाराज की सुपुत्री)

# अथ श्रीप्रियतमकाव्यम्

## वन्दना

ललिताम्बामयीं ध्येयां रामदत्तापदाभिधाम् ।
आत्मस्वरूपिणीं साध्वीं वन्देऽहं धर्ममातरम् ॥१॥

मेरी आत्मरूपिणी, परम वन्दनीया, भगवती श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी ललिताम्बा-स्वरूपा, रामदत्ता(रामदेई) नामसे जानी जानेवाली, अपनी साध्वी धर्ममाताकी मैं वन्दना करता हूँ।।१।।राधा।।

कृष्णास्वरूपिणीं वन्दे हनुमद्गुप्तसन्ततिम् ।
नित्यां धर्मस्वसारं वै मञ्जुश्यामां सहोदराम् ॥२॥

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी सन्तति(पुत्री) सावित्रीकी मैं निश्चय ही वन्दना करता हूँ, धर्मनिष्ठा ही जिसका सर्वस्व है, तथा जिसके रूपमें नीलसुन्दर कृष्ण ही मेरी चिरन्तन सहोदरा छोटी बहन मञ्जुश्यामा बने हुए नित्य विराजित हैं।।२।।कृष्ण।।

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

## जिज्ञासा

**परम पूज्य श्रीराधाबाबाने समाधिभाषामें उद्धृत अपने इस खण्डकाव्यमें मङ्गलाचरण करते हुए प्रारंभमें ही रामदत्ता(रामदेई) नामसे ख्यात, श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नीकी अपनी धर्ममाताके रूपमें वन्दना की है एवं उन्हें परम वन्दनीया, ललिताम्बास्वरूपा, श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी बतलाया है; कृपया इसे विस्तार-सहित समझानेकी कृपा करें।**

## समाधान

अनादिकालीन रसकी यह परिपाटी ही है कि जब किसी महाभाग्यवान् जीवकी हृदयगुहामे दिव्य अप्राकृत नराकृति परात्पर परब्रह्म पूर्णरसमय रसिकेन्द्र-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णका पदार्पण होता है, उसके पूर्व ही उसके हृदय-मन्दिरको अप्राकृत बनानेके लिये अचिन्त्य लीलामहाशक्ति स्वय सूत्रधारिणी बनकर उसमे अभिनव रंगमञ्च सृजन करनेको प्रवेश करती हैं। वे अघटन-घटना-पटीयसी सर्वसमर्था लीलामहाशक्ति पहले उस जीव-हृदयको अपने चिन्मय वात्सल्यरससे आप्यायित करती हैं। कदाचित् अनन्त सौभाग्यवश कोई महाभाग्यवान् द्रष्टा उस पवित्रतम हृदयभूमिमे झॉक पाता है तो देखता है कि उस पावनकालमें वह हृदय प्राकृत रहता ही नहीं है। वह तो विशुद्ध अप्राकृत सुधा-रस-सरोवर ही बन जाता है। अचिन्त्य लीलामहाशक्ति उस चित्तके अणु-अणुको पहले विशुद्ध रसमे पूर्णतया निमज्जित करती हैं। जब रस-सम्मार्जित हुआ वह परम विशुद्ध हो उठता है, तभी उस पावन रस-मसृण हृदयभूमिमें चिन्मय अद्भुत अपूर्व नीलारविन्दको विकसित करनेकी उर्वरता प्राप्त होती है। तभी अनिन्द्यसुन्दर भगवान्‌की अतुलनीय रूप-गुण-माधुरीका विस्तार उस भूमिमे होना सभव होता है। प्रत्येक रस-साधकके लिये इस प्रक्रियाको पूरी करना नितान्त परमावश्यक होता ही है।

पू.गुरुदेव भी अपने प्रारभिक रस-साधनाके कालमें इस प्रक्रियासे गुजरे हैं। बात उन दिनोकी हैं, जिन दिनों पू.गुरुदेवने अपना सर्वस्व समर्पणकर, अपनी समग्र अहताजन्य योग्यता, ज्ञान और वैराग्यको किनारेकर, श्रीपोद्दार महाराजकी शरण शिष्यरूपमे ग्रहण की थी। अपनी वात्सल्यमयी देह-जननीका तो उन्होने सन्यासकालमें ही त्याग कर दिया था, किन्तु अनादि अनन्तकालसे सभी माताओको अपने वात्सल्यकणकी छाया मात्र देकर वात्सल्यवती बनानेवाली जगज्जननीके वात्सल्यको वे भला, कैसे त्याग सकते थे ? पू.गुरुदेवको उन्हीं दिनों एक विलक्षण दिव्य स्वप्न हुआ। वस्तुत. अचिन्त्य लीलामहाशक्ति योगमाया ही इस स्वप्नमें उनके सम्मुख प्रकट हुई थी। उनके रोम-रोमसे कोटि कोटि सूर्य समप्रभ लोकोत्तर आह्लादक महातेजोराशि प्रकीर्ण हो रही थी। पू.गुरुदेव इस विलक्षण तेजपुञ्ज देवीके दर्शनकर चमत्कृत एवं रोमाञ्चित हो उठे। उन्हें यही आश्चर्य था कि कर-चरणादि अवयवोसे युक्त निरतिशय निराविल सुन्दरी इस देवीकी आकृति श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी अ.सौ. रामदेई माताके सरीखी थी। पू.गुरुदेवने इस देवीका यथाविधि भावात्मक पूजन करना चाहा तो उन्हें अपने अस्थि-मासादियुक्त हाथोसे भगवतीके परम पवित्र चरणोंको सस्पर्श करनेमें भी हिचक होने लगी। भला कोई मलिन जन परमपूत देवप्रतिमाको सस्पर्श भी कैसे करे ? पू.गुरुदेवकी हिचक एव सङ्कोचको देखकर भगवती मुसकायीं। इस मुसकानने एक जादू किया। पू.गुरुदेव व्यक्ति रहे ही नहीं, वे सर्वकारणभूता सच्चिदानन्दमयी परमात्मशक्तिके सग्राहक – योग्य पात्र बन गये। यह घटना सभवत सन् १९४० ई मे गोरखपुरकी है।

पू.गुरुदेवकी तो सन् १९३६ ई.से ही ऐसी स्थिति थी कि उन्हें स्वप्न-जागरण – सर्वकाल वंशीविमोहन श्रीकृष्ण अपने हृदयदेशमें प्रकट प्रत्यक्ष दिखाई पडते रहते थे। उन्होंने तत्क्षण ही अपने आराध्यसे पूछा – "प्राणनाथ ! यह स्त्रीदेहधारिणी विलक्षण कृपामयी महाशक्ति कौन हैं ?" तत्क्षण ही उनके अन्त.करणमें से ही भगवान् श्रीकृष्णकी परम मधुर चिन्मय ध्वनि उन्हें श्रवणगोचर हुई –"ये ही तो मेरी प्रकट-अप्रकट सम्पूर्ण लीलाओंकी सूत्रधार, सञ्चालनकर्त्री योगमाया महाशक्ति हैं। इन महात्रिपुरसुन्दरी आद्या महाशक्तिको प्रणाम करो।"

अपने प्राणपतिके इस समादेशको सुनते ही पू.गुरुदेवके अन्तर्हृदयका आनन्दस्रोत तरङ्गित हो उठा। इस तरङ्गायमान निराविल भावधाराने पच्चीस वर्षके तरुण संन्यासी पू.गुरुदेवको एक स्तनपायी शिशुके रूपमें परिवर्तित कर दिया। उस समय आश्रयालंबनके रूपमें तो वे स्वयं एक अबोध शिशुके रूपमे अवस्थित थे और उनका विषयालम्बन बनी थीं – जगन्माता भगवती आद्यामहाशक्ति। उन वात्सल्य-रस-घन-विग्रहा जगन्माताका हृदय-सञ्चित समग्र स्नेहरस स्रवित हो रहा था – अपने वक्षस्थलसे मुख सटाये अबोध शिशु बने पू.गुरुदेवपर। पू.गुरुदेव देख रहे थे कि जगन्माताका स्नेह कोई भी व्यवधान नहीं पाकर अश्रुबिन्दुओंके रूपमें झरने लगा है। पू.गुरुदेव अबोध शिशुरूपमें जगन्माताके वक्षस्थलसे चिपक गये । पू.गुरुदेवने देखा कि भगवती उन्हें सम्प्रेरित कर रही हैं कि वे उनके मुखकी ओर न देखकर, सम्मुख देखें। पू.गुरुदेवने ज्योंही सम्मुख दृष्टिपात किया, उन्हें अपने समक्ष व्रजराज्यके विलक्षण निकुञ्ज दृष्टिगोचर होने लगे। पू.गुरुदेव जगन्माताके वक्षस्थलसे ही मुख सटाये उन अनोखे व्रजनिकुञ्जोंको निरखने लगे। पू.गुरुदेवने देखा कि बिल्ववृक्षोंके हरे-भरे कुञ्जमें श्रीपोद्दार महाराज विराजमान हैं। ज्योंही पू.गुरुदेवकी दृष्टि श्रीपोद्दार महाराजपर पडी, जगन्माताने अपने हाथोंके सङ्केतसे निर्देश किया कि इन्हें ही अपना सर्वस्व मान ले।

जिस समय पू.गुरुदेव उपरोक्त दृश्य देख रहे थे, उस समय उनकी दशा न जागृत् ही कही जा सकती थी, न ही स्वप्नमयी। क्योंकि स्वप्न तो रजोगुण-तमोगुणप्रधान होता है एवं पू.गुरुदेवमें उस समय अन्तर्हृदयका सम्पूर्ण आनन्दस्रोत् तरङ्गायित हो रहा था। वह कैसी दशा थी, उसे बतलानेकी जड शब्दोंमें शक्ति ही नहीं है। सर्वसाधारणको हृदयङ्गम करानेको ही इसे स्वप्न संज्ञा दी गयी है।

इस अन्तश्चेतनाके जगत्‌मे जबसे पू.गुरुदेवको जगन्माताके श्रीपोद्दार महाराजकी पत्नी सरीखी आकृतिमें दर्शन हुए, तभीसे, वे उन्हें अपनी आत्म-स्वरूपिणी परम वन्दनीया श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी ललिताम्बास्वरूपा ही मानते रहे हैं। इसी सन्दर्भमें उन्होने अपने समाधिभाषामें उद्धृत इस खण्डकाव्यमें श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी अ.सौ. रामदेईकी रामदत्ता कहकर वन्दना की है।

इस घटनाको विस्तारपूर्वक जाननेके इच्छुक पाठकोंको 'महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा –प्रथम खण्ड' नामक ग्रन्थके पृष्ठ संख्या २८४-२८५ में 'विलक्षण दिव्य स्वप्न' शीर्षक अध्याय पढना चाहिये।

## जिज्ञासा

**कृपया पूर्वप्रसङ्गके समान श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी सन्तति अ.सौ. बाई सावित्रीके महत्त्वका भी विस्तारसे उल्लेख करें, जिनकी प्रशस्ति पू.गुरुदेवने इस दूसरे छन्दमें की है।**

## समाधान

बात सन् १९३७ ई.की है। श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाके साथ पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा गीताप्रेसमें ठहरे थे। श्रीसेठजीने पू.गुरुदेवको जिस कमरेमें ठहराया था, वह वही कमरा था, जिसमें आठ वर्ष पूर्व श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री अ.सौ. सावित्रीबाईका प्रसव हुआ था।

प्रभातकाल था, और निरे ब्राह्ममुहूर्त्तमें ही पू.गुरुदेव स्नानादि क्रिया सम्पन्नकर अपने इष्टदेवके ध्यानमें निरत हो गये थे। उन दिनों उनके ध्यानकी पद्धति यही थी कि वे अपने इष्टके चित्रकी छविको पहले एकटक देखते और तब उसे नेत्र मूँदकर अपने हृदयदेशमें पूरा-का-पूरा ज्यों का त्यो उतार लेते थे। ऐसे करना पू.गुरुदेवका नित्यका नियम था।

उस दिवस पू.गुरुदेवका ध्यानमें मन अत्यधिक ही एकाग्र हो उठा था। ध्यानक्रिया क्रमश इतनी प्रगाढ़ हो उठी कि उन्हें खुली ऑखो ही चित्र जीवन्त अनुभव होने लगा। सर्वप्रथम उनकी दृष्टि चित्रपटके होठोंमें अटकी और उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानों वे होठ सजीव, अलौकिक एव दिव्य हैं। उन होठोके अणु-अणुमेसे परम मधुर शीतल प्रकाश फूट रहा है। धीरे-धीरे होठोंसे लेकर सम्पूर्ण चित्रपट ही जीवन्त, चिन्मय होता चला गया।

उस दिवस पू.गुरुदेवके लिये एक और आश्चर्य सङ्घटित हुआ। चित्रपटके सजीव होनेके उपरान्त शनै-शनैः उन्हे अपने सम्पूर्ण अङ्ग-संस्थानोंमें भी विलक्षण नारीत्वका समावेश होता दृष्टिगोचर होने लगा। अबतक तो चित्रपटमे मुरली-मनोहर श्रीकृष्णके साथ उन्हें श्रीराधाजी ही दिखती थीं। वे स्वय तो उन्हें इन दोनों छवियोंके द्रष्टा, पृथक् शरीररूपमे ही अनुभव होते थे। परन्तु आज तो यह चमत्कार ही था कि उनके स्वयंके शरीरके स्थानपर भी उन्हें एक विलक्षण, कमनीय नारी दृष्टिगोचर हो रही थी।

वह नारी चित्तहारी, सुन्दर शृङ्गारसे सुसज्जित थी। उनका मुख पूर्ण विकसित अरविन्दके सदृश शोभा पा रहा था। उनके रोमछिद्रोसे सौरभके झौंके लहक रहे थे। उनके अधरोमे अभिनव अमृतके सदृश मधुर मधु परिपूरित था। उनकी वय चौदह वर्ष एव कुछ माहकी ही थी। उनके इस प्रफुल्लित मुखचन्द्रका दर्शन कर रहे थे – चिन्मयवपु वनमाली। पू.गुरुदेवके प्राणवल्लभ प्राणाराम प्रियतमके लोचन-चञ्चरीक उनके आनन-सरोजपर मुग्ध होकर मँडरा रहे थे, मानो वे युगो-युगोसे पिपासातुर हो। चरम उत्कण्ठातुर उनकी मधुपान-लालसा क्षण-प्रतिक्षण बढती ही जा रही थी।

सहसा एक अतिशय सरस मधुर वाणी उनके श्रवणेन्द्रियोमे गूँज उठी – 'हे अनाविल सुख-स्वरूपिणी मेरी प्राणेश्वरी ! तुम ही एकमात्र मेरे जीवनकी अवलम्बनरूपा हो।'

इस वचन-माधुरीकी महावेगशाली ऊर्मियोंमे पू.गुरुदेव पूर्णतया ही निमग्न हो गये। उनके नेत्र स्थिर एवं निमीलित हो उठे। उन्हे सर्वथा ही विस्मृत हो गया कि वे संन्यासीवेषमें कोई पुरुषदेह हैं।

पू.गुरुदेवकी यह आन्तरिक भावदशा फिर यावज्जीवन ज्यों-की-त्यों ही बनी रही। एक दिवस मेरे पूर्वाश्रमके मामा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको वे अपनी आन्तरिक स्थितिका रहस्य खोलकर सुना रहे थे – 'गोस्वामीजी ! उस दिवसके पश्चात् मैं अपनी कायामे रहकर भी कभी अपनी कायामे नहीं रहा। जैसे सॉप अपनी त्यागी हुई केंचुलीको स्वयं देखता है, सॉपकी केंचुलीमें सॉपका मुख, ऑख आदि सभी आकृतियाँ ज्यों-की-त्यों सॉपके समान ही होती हैं, परन्तु साँप उससे सर्वथा असंपृक्त कुछ और ही होता है, ठीक इसी प्रकार आज मेरी स्थिति समझ लीजिये।'

पू.गुरुदेवके कथनका अर्थ यही था कि जीव जब भागवती लीलाजगत्का पात्र बन जाता है एवं उसे कोई चिन्मय लीलादेह प्राप्त हो जाती है, उसी क्षण उसकी प्रारब्ध कर्मराशि भी जल जाती है। इसके फलस्वरूप होना तो यही चाहिये कि तत्क्षण ही जीवको मिली प्रारब्ध-भोग-देह भी विनष्ट हो जाय, परन्तु कभी-कभी भगवान् ऐसे विलक्षण कृपापात्र जीवोंसे अपना कार्य करानेकी महाइच्छा कर बैठते हैं। अत वे स्वय उस देहको पकड लेते हैं और उसमे रहने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें जीव भगवान्मे एकमेक हुआ भगवान्के सम्बन्धसे उस देहमें रहता भी है,

एवं नहीं भी रहता। नहीं रहता – इस अर्थमें कि वह अपनी देहको भागवती स्मरणमें सर्वथा सर्वांशमें ही भूल चुका होता है, और उसे अपने नाम-रूपका भी विस्मरण हो जाता है; एवं रहता है – इस अंशमें कि भगवान्‌में वह पूर्णतया ओतप्रोत है और भगवान् उस देहको ग्रहण किये हुए हैं।

श्रीगोस्वामीजीके साथ-साथ लेखक भी उस दिवस पू.गुरुदेवसे यह सत्सङ्ग-वार्त्ता सुन रहा था। पू.गुरुदेव कह रहे थे – 'गोस्वामीजी महाराज ! सरिताके आप्लावनके कारण जो स्वामी चक्रधर नामक पोखरा उस दिवस विलीन हो गया, तो उस पोखरेका रूप, संज्ञा, उसके जलका स्वाद एवं उसके जलकी गंभीरता कुछ भी पहलेवाली नहीं रही; किन्तु अप्रतिम स्नेही श्रीकृष्णने अपने प्यारवश इस पोखरेको आज भी बाह्यरूपमें ज्यों-का-त्यों, वैसे-का-वैसा ही बनाया हुआ है। यहाँतक कि उस गीताप्रेसके कमरेमें प्रथम रसप्लावनके समय ही उन्होंने सङ्केत कर दिया था कि वे स्वयं इसी कक्षको अपनी प्रसूतिगृहकी संज्ञा देते हुए, आजके आठ वर्ष पूर्व, स्वयं मेरी सेवार्थ श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री – धर्मभगिनी अ.सौ. सावित्रीबाईके रूपमें जन्म ले चुके हैं।

श्रीगोस्वामीजीके सम्मुख पू.गुरुदेवने अपनी उक्तिको काव्यरूपमें प्रस्तुत करते हुए कहा -

**होता न स्वभाव कहीं मेरी इस भगिनीका तुम-सा, प्रियतम !**
**थी पाँख भले बन्धनमें, पर उड़ जाते प्राण कभी, प्रियतम !**
**हो दैवदलित यदि रह जाते, नीरस हो जाते ये, प्रियतम !**
**कैसे नहलाती मैं तुमको प्रतिपल नव-धारामें, प्रियतम !**

*(विहगीकाव्य छन्द १०५)*

"गोस्वामीजी ! यदि मेरे प्राणपति श्रीकृष्ण मेरी भगिनीका स्वभाव भी अपने समान ही प्रेम-समर्पणमय बनाकर नहीं आते, तो मेरा यह देह भले ही यहाँ पडा रह सकता था, प्राण कभी ही इस कलेवरको छोडकर उड जाते। और दैवविधानसे यदि प्राण भी रुके रह जाते, तो वे सर्वथा नीरस होकर ही रह जाते। मैं अपने प्राण-प्रियतमको रसकी नित-नूतन धारामें नहला नहीं पाती।"

अपनी रचित काव्यधाराका प्रवाह आगे बढ़ाते पू.गुरुदेवने कहा था -

***जो हो, इन रूपोंमें तुमने मुझसे है खेल किया, प्रियतम !***
***ये रूप सभी प्राणोंसे हैं प्रिय अधिक अतः मुझको, प्रियतम !***
***होकर वियोग इनका न कहीं, पड़ जाय रंग फीका, प्रियतम !***
***अतएव साथ लेकर ही मैं जाऊँगी इन सबको, प्रियतम !***

*(विहगीकाव्य छन्द सं.१०६)*

जो भी हुआ हो, इन रूपोंमें मेरे प्रियतम श्रीकृष्णने मुझसे जो खेल किया है, ये सभी रूप मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं। अतः इनका कहीं मुझसे वियोग होकर प्रीतिका रंग फीका नहीं पड जाय, इस आशङ्कासे इन सभीको अपने साथ ही लेकर जाऊँगी।

***मैया तन्मय होगी दोनों दृगकी इन पुतलीमें, प्रियतम !***
***जिनमें अनादि कालसे ही रहती यह दासी है, प्रियतम !***
***मेरी यह बहिन मिलेगी आ तुममें फिर बेसरमें, प्रियतम !***
***हम दोनोंकी, एवं पिंजड़ा नीली द्युतिमें वपुकी, प्रियतम !***

*(विहगीकाव्य छन्द सं. १०७)*

"गोस्वामीजी ! इसे निश्चय ही एक अमोघ एवं अकाट्य विधान मान लीजियेगा कि मेरी अ.सौ. मैया रामदेई (श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी) निश्चय ही सच्चिदानन्दकन्द मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके नेत्रोकी दृगपुतलीमे तन्मय हो जायगी, जिसके दृश्यरूपमें अनादिकालसे मैं – उनकी दासी रहती हूँ, एवं मेरी बहिन (श्रीपोद्दार महाराजकी सुपुत्री अ.सौ. सावित्रीबाई) प्रथमतया प्रियतममें स्वयंमें एवं फिर हम दोनोंकी बेसरमे आ मिलेगी। श्रीपोद्दार महाराज स्वयं जो पिंजड़ा बने मुझ पक्षिणीको अपनेमें आश्रय दिये हैं, श्रीकृष्णके वपुकी नीली द्युतिमें तल्लीन हो उठेगे।"

ये सभी मन्तव्य छिपाये हुए पू.गुरुदेव यहाँ श्रीसावित्रीबाई (पू.पोद्दार महाराजकी पुत्री) की भी वन्दना करते हैं एवं निकुञ्जलीलामें श्रीराधारानीकी कायव्यूहस्वरूपा भगिनी मञ्जुश्यामाके रूपमें उन्हें सङ्केतित कर रहे हैं।

ऐसे काल बिताओ निसदिन।
भोर साँझ लौं साँझ भोर लौं लाड़ लड़ाइ दुहूँजन ।।
छिन विच्छेप न होइ टहलमें, कीजै यह अद्भुत पन।
सब रसको रस सार बिहार, सो चीन्हौ हम रसिकन जन।।
विविध भाँतिके और भजन जे, लौन बिना ज्यों बिंजन।
श्रीराधा पद कमल कृपा बिनु को पावै रसकौ कन।।
श्रीबृन्दावन-बास रासि-रस समय-प्रबंध परम धन।
अलबेली श्रीबंसी अलि बलि यह मानो मेरे मन।।

'हे मेरे मन, तू यह मेरी बात मान ले तथा इस रीतिसे दिन-रातका समय व्यतीत कर। सायंसे लेकर भोरतक और भोरसे लेकर सायंतक तू प्रिया-प्रियतम दोनोंके लाड़ लड़ानेमें ही लगा रह। इनकी सेवामें क्षणभर भी विक्षेप न हो पावे - यह अद्भुत व्रत तू ग्रहण करले। विहार-रस ही सारे रसोंका सार है - यह निर्णय रसिकजनोंका है। दूसरी अनेक प्रकारकी जो भजनक्रियाएँ हैं वे तो बिना नमकके व्यंजनकी भाँति बेस्वाद हैं। श्रीराधाके चरणकमलोंकी कृपाके बिना रसका कण भी किसीको नहीं मिल सकता। श्रीवृन्दावनमें वास ही समस्त रसोंकी राशि है और जीवनकालको विहार-सेवामें व्यतीत कर देना ही परमधनका संचय है। हे मेरे मन, तू श्रीअलबेली बंसीअलिजीकी इस सीखका कब पालन करेगा ?'

था खेल मनोहर वह, जिसमें गुरुदेव बने तुम थे, प्रियतम ! (पृष्ठ ३३)

।।विजयेतां श्रीप्रियाप्रियतमौ।।

# प्रथम शतक

## महाभावका अवतरण

इन धुँधली आँखों से सब कुछ मैं देख नहीं पाती, प्रियतम!
सपना-सा विश्व बने तुमको मैं प्यार न दे पायी, प्रियतम!
था खेल मनोहर वह, जिसमें गुरुदेव बने तुम थे, प्रियतम!
करने बैठी हूँ अब पूजा प्राणों में व्यथा लिये, प्रियतम।।१।।

**हे मेरे प्राणवल्लभ ! सुनो मैं अपनी इन धुन्धभरी आँखोंसे तुम्हारी लीलाओंका समग्र मर्मरहस्य तो प्रत्यक्ष नहीं कर पाती, किन्तु फिर भी इतना मेरा अखण्ड निश्चय अवश्य है कि इस परिदृश्यमान विश्वके रूपमें बने हुए तुम ही स्वप्नकी भाँति मेरे सम्मुख स्थित हो। तुम्हें विशुद्ध प्यार देनेकी अतीव चाह रखने पर भी हा ! हतभाग्य ! मैं तुमको हे मेरे प्राणेश्वर ! प्रेम नहीं दे पायी।**

**अहा ! न जाने क्यों मुझे पूर्वकालकी अत्यन्त प्रेमभरी स्मृति हो आई है जिसमें तुमने मेरे गुरुदेव पदपर आसीन होकर मेरे साथ परम मनोहर खेल किया था, पर हाय रे ! अब तो मेरे प्राणोंमें मात्र व्यथा ही शेष बची है। अब ये खेल कहाँ ? इस अपनी प्राणोंकी असीम व्यथाको ही लेकर मैं तुम्हारी आज अर्चना करने बैठी हूँ।।१।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

### जिज्ञासा

**यहाँ पू.गुरुदेवने अपनी आँखोंको सबकुछ देखनेमें असमर्थ – धुँधली क्यों कहा है, जबकि इस काव्य-रचनाके कालमें तो वे राधा-महाभाव-सिन्धुरूप होकर लहरा रहे थे ?**

### समाधान

यह सत्य है कि इस काव्य-संरचनाके कालमे पू.गुरुदेव राधा-महाभावकी परमोच्च मोदन-मादन अवस्थामें प्रतिष्ठित थे। उन्हें इस कालमें देहाध्यासकी तो बात ही कहाँ, देह-ज्ञान भी नहीं रहता था। उनकी इस कालमें अधिकांशतः ऐसी दशा थी कि शश-शृङ्गवत् यह जगत् उन्हें दीखता ही नहीं था। वे जगत्दृष्टिमें पूरे श्रीकृष्णान्ध थे, क्योंकि उनकी आँखें श्रीकृष्णके अतिरिक्त कुछ भी देखनेमें पूर्णतया असमर्थ हो गयी थीं।

अपने पूर्ण रसमय रसिकेन्द्रशिरोमणि प्रियतम श्यामसुन्दरके वामभागमें उन दिनों वे निरवधिकाल श्रीराधा बने विराजित रहते, और उनकी उनसे नाना प्रकारकी पूर्ण रसमयी वार्ता होती रहती। इस परम चिन्मयी रसालापकी आह्लाद-सुधा-सरितामें वे बहे जाते, उनके अणु-अणु, रोम-रोममे उस कालमें परम अनिर्वचनीय रसमत्तताका आविर्भाव रहता।

उनके हृदयका अनुराग-सागर परमोन्नत ज्वारके रूपमे उस कालमें इतना उल्लसित एव तरङ्गायित रहता कि अखण्ड अनुभूत उनके प्रियतमकी स्मृति भी इस प्रेमोत्कर्षरूप प्रगाढ अनुराग-भावमे पूरी डूब जाती। उस समय पू. गुरुदेवमे ऐसी विलक्षण तृष्णा उदय हो जाती कि उन्हें अपने प्रियतमकी गोदमें आसीन रहनेपर भी वे अननुभूत लगने लगते। उस समय उनका यही अनुभव होता कि मेरी ऑखें सचमुच ही श्रीकृष्णदर्शनके अयोग्य है, अत वे निश्चय ही माया-धुन्धसे युक्त – धुँधली हो गयी हैं। पू.गुरुदेवमें वस्तुतः अविद्यामयी जड भगवद्विमुखताकी हेतु – मायाके होनेका तो प्रश्न ही नहीं है। ये सब विलक्षण प्रेमानुभूतियॉ तो लीलासागरकी विविध ऋजु-कुटिल तरङ्गे हैं, जिनमें लहराते पू.गुरुदेव भगवती श्रीराधा बने महाभावस्वरूपमें लहरा रहे हैं।

सचमुच ही भगवल्लीला विलक्षण है। उसमें समय-समयपर सभी भावोका लीलाक्षेत्रानुसार प्रकाश होता है। प्रगाढ भावमें लहराते हुए ऐसे महासिद्ध प्रेमी सन्तके सम्मुख कभी-कभी उसके रसेश्वर प्रियतम इस प्रापञ्चिक मायाजगत्को भी लीलाक्षेत्रके रूपमे पृथक् कर देते है, इस अवस्थामें जगत् दिखनेके कारण और श्रीकृष्णदर्शनानुभूतिके प्रत्यक्ष नहीं होनेसे उसे अपनी ऑखें धुँधली लगने लगती हैं। इस अवस्थामें उत्पन्न महाभावगत पूर्ण दैन्यके उदय होनेसे वह अपने को भगवद्विमुख, संसार-परायण समझने लगता है। परन्तु वस्तुतः वह वैसा होता नहीं है। श्रीपोद्दार महाराजमें तो यह स्थिति प्रायः देखनेको मिलती थी जबकि वे भगवान्में नित्य पूर्ण प्रतिष्ठित रहते थे।

यही इन पंक्तियोंका सही अर्थ है।

## जिज्ञासा

**कृपया** *'सपना–सा विश्व बने तुमको मैं प्यार न दे पायी प्रियतम !'* **- इन पंक्तियोंका भी विस्तृत विवेचन करें।**

## समाधान

तत्त्वज्ञानी महात्मागण जब अपनी तत्त्वमयी दृष्टि से इस विराट अन्तहीन जड दृश्यप्रपञ्चको देखते हैं तो उन्हें यह प्रपञ्च स्वप्नके तुल्य ही क्षणभङ्गुर, असत् दृष्टिगोचर होता है। सूर्यकी प्रखर तप्त किरणोंमे जैसे मृग-मरीचिका कहीं भी त्रिकालमे नही होती, किन्तु पिपासातुर मृगको वह स्पष्ट सत्यवत् दिखती है, इसी भॉति भीत प्राणीको वृक्षके ठूँठमें भूतप्रेतका , रज्जुमें सर्पका एवं अज्ञानसे सीपीमें रजतका आभास होता है। इस क्षणभङ्गुर जड जगत्प्रपञ्चका अस्तित्व नहीं होनेपर भी इसका आभासभर स्वप्नवत् अज्ञानी लोगोंको होता है। तत्त्ववेत्ता महात्मा कहते है कि कर्म वासनाओंके कारण जन्म लिये इस शरीरमें जो भी अज्ञानी अहता-ममता कर लेते है, उन्हे ही शरीरगत ज्ञानेन्द्रियॉ अपने मिथ्या आभासमे जगत्प्रपञ्च स्वप्नवत् दिखाती हैं। सभी जानते हैं कि भोजनमें रुचि एवं प्रीति मात्र भूखके कारण होती है। क्षुधा निवृत्त होते ही भोजनमें रुचि और प्रीति नहीं रहती। यदि किसी कारणवश भूख लगना ही न रहे तो भोजनका प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानके पूर्णतया निवृत्त होते ही यह ससार भी शश-शृङ्गवत् लुप्त हो जाता है। इस क्षणभङ्गुर देहमें भोगेच्छाकी अपूर्त्ति होनेके कारण ही मनमें भोगकी लालसा बनी रहती है। यह उत्कण्ठा ही इस प्रापञ्चिक विश्वको बनाये रखती है। इस विषय-भोगेच्छाके समूल नाश होते ही स्वप्नवत् यह विश्व कहीं ढूँढेसे भी नहीं मिलता। पर यहॉ पू.गुरुदेवकी दृष्टि इन तत्त्ववेत्ताओंके तुल्य नही है। उन्हे तो सर्वत्र श्रीकृष्ण ही दृश्यप्रपञ्च बने दीख रहे हैं। वे श्रीकृष्ण सत्यके परम सत्य हैं। कर्मफलजन्य शरीर तो प्रारब्धभोगके नष्ट होते ही स्वतः नष्ट )हो जाता है। सम्पूर्ण विषयभोग तो शरीरकी सत्तामें अध्यास होनेसे ही प्राप्त होते हैं। परम सत्यके सत्य श्रीकृष्ण तो श्रीराधाभावाविष्ट पू. गुरुदेवके विभु प्रेमके मूर्त्तिमान् विग्रह हैं। श्रीराधाकी मादनाख्य महाभावमयी प्रेमस्पृहा कभी समाप्त हो जाय, इसकी तो कल्पना ही नहीं है। यहाँ श्रीराधाभावमें प्रतिष्ठित पू.गुरुदेवकी आत्मा श्रीमती राधारानी न तो अनन्तकालतक समाप्त होनेवाली हैं, न ही उनके दृश्य बने श्रीकृष्णके माधुर्यका ही कहीं अन्त होनेवाला है। यहॉ तो

श्रीराधा भी अनन्त सत्य है, और उनके दृश्य बने श्रीकृष्ण भी पूर्ण-पूर्ण परम सत्य हैं; साथ ही, इनका परस्पर प्रेम तथा इस प्रेमको आस्वादित करनेवाली माधुर्यास्वादनमयी प्रेमस्पृहा भी पूर्ण-परिपूर्ण विभु एवं नित्य सत्य है। इतना ही नहीं, इन प्रिया-प्रियतमका प्रेम प्रतिक्षण नित्य नूतन वेगसे अभिवर्धित होता रहता है। श्रीमती राधारानीका प्रेम विभु होनेपर भी ज्यों-ज्यों प्रतिक्षण बढता है, उसमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी योग्यता एवं उत्कण्ठा भी बढती रहती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों श्रीराधारानीमें श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढती है, त्यों-ही-त्यों उनके प्रियतम श्रीकृष्णका माधुर्य भी उत्तरोत्तर बढता रहता है। उसमें पल-पल नित्य नये-नये माधुर्यका एवं नयी-नयी माधुर्य-विचित्रताओंका विकास पूर्ण वेगसे होता रहता है।

श्रीमती राधारानीका विशुद्ध प्रेम काम-गन्ध-हीन, स्वसुख-वाञ्छा-वासना-कल्पना-गन्धसे भी सर्वथा रहित, केवल श्रीकृष्ण-सुख-तात्पर्यमय, निर्मल दिव्य दर्पणके समान है। श्रीराधा-हृदयरूप यह परम निर्मल दर्पण जैसे ही अपने प्रियतम श्रीकृष्णके परमोज्ज्वल माधुर्यको ग्रहण करता है, श्रीकृष्ण- माधुरीकी जगमगाती ज्योति श्रीराधा-प्रेमरूप दर्पणको और भी अधिक स्वच्छ एवं ज्योतिग्राही बना देती है। इसी प्रकार श्रीराधा-प्रेमरूप दर्पणमें प्रतिफलित ज्योति श्रीकृष्णके माधुर्यपर अनवरतरूपसे गिरकर उस माधुर्यको और भी अधिक मधुर बना देती है। श्रीकृष्णके माधुर्यसे श्रीराधाका प्रेम एवं श्रीराधाप्रेमसे श्रीकृष्णका माधुर्य बढता जाता है। दोनों ही मानों होड लगाकर एक-दूसरेको आप्यायित करनेके लिये उत्तरोत्तर मधुर होते रहते हैं, पर हारता कोई नहीं।

इसी महाभावमयी होडमें श्रीमती राधारानीमें एक विलक्षण दैन्य प्रकट होता है, और वे अपनेको परिपूर्ण प्रेममयी होनेपर भी प्रेमहीना अनुभव करने लगती है। वे समझने लगती हैं कि उनमें प्रेम देनेकी लेशभर भी योग्यता नहीं है। वे अपना दोष देखने लगती हैं और अपने प्रियतमकी असाधारण प्रेम-गुणावलीपर विमुग्ध हुई अपनेको असमर्थ, लज्जासे गडी अनुभव करने लगती हैं। यही राधा-महाभावरसका एक विलक्षण रहस्य है। प्रेमराज्यमें भला अभिमानको स्थान ही कहॉ ? इसी निरभिमानतासे भरी, राधा-महाभावमें प्रतिष्ठित पू.गुरुदेवकी यह उक्ति है कि – 'हे प्रियतम श्रीकृष्ण ! तुम, जो मेरा यह विश्वात्मक दृश्य बने हो, तुम्हें मैं प्रेम नहीं दे पायी हूँ।'

श्रीराधाभावमति पू.गुरुदेवकी विलक्षण दशा है। अपने प्रियतम श्रीकृष्ण तो उन्हें परम सत्य समझमें आते हैं, शेष सभी स्वप्नवत् क्षणभङ्गुर ही दिखाई पडता है। इसका कारण यही है कि उनमें स्वयंका कहीं कुछ भी नहीं है। न तो उनका कर्मसे कुछ प्रयोजन है, न तत्त्वज्ञानकी उन्हें आवश्यकता है, न ही उनमें विधिसङ्गत भक्तिसाधना है, न ही अष्टाङ्गयोगकी विशिष्टता है, यहाँतक कि मुक्तिके लिये भी उनके जीवनमे कहीं कोई स्थान नही है। बन्धनके भयका भी उनमें लवलेश नहीं है। उनका तो सबकुछ मात्र प्रेमसागर श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त उनके पास कुछ भी नहीं बचा है।

वे कृष्णमना हैं, कृष्ण ही उनकी मति हैं, वे देखती-सुनतीं, खाती-पहनतीं केवल श्रीकृष्ण हैं। उनके नेत्र श्रीकृष्णरूप ही हैं। अतः उन्हें ललिता, विशाखादि सखियॉ, अपनी सगी भगिनी मञ्जुश्यामा, उनका अनुज श्रीदाम, यहॉतक कि पेड-पौधे, पशु-पक्षी, चर-अचर, कुञ्ज-भूमि, भवन- आकाश सब श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण दिखाई पडते हैं। उनका देश, काल सब श्रीकृष्ण हैं। उन्हें अपना आपा भी श्रीकृष्ण ही दीखता है। इसी कारण उद्दीपित हुई वे अपनेको कृष्णरूप जानती-मानती, प्रायः 'हा राधे ! हा राधे !' की करुण ध्वनि कर उठती हैं।

यदि उन्हें किसी क्षण श्रीकृष्णके अतिरिक्त कुछ भी अन्य दिखने लगता है, तो उनकी यही सुदृढ मान्यता होती है कि श्रीकृष्ण ही मेरी ललिता, विशाखादि सखियॉ, मेरी चिरन्तन अनुगता मञ्जुश्यामा बनकर मेरी सेवार्थ यहाँ उपस्थित हैं। उन्हे मात्र एक क्षणके लिये ही ललिता ललिताके रूपमें दीखती है, दूसरे ही क्षण उसके स्थानपर श्रीकृष्ण दीखने लगते हैं। अतः उन्हें अपना सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च ही प्रथमतः तो श्रीकृष्ण बना दीखता है और फिर वे उस दृश्यको स्वप्नवत्

देखती हुई मात्र अपने प्रियतम श्रीकृष्णको ही सत्य मानती है। प्रिया श्रीराधारानीकी इसी भावदशाको दर्शाती हुई पू. गुरुदेवकी उपरोक्त पंक्तियाँ हैं।

पू.गुरुदेव द्वारा कही गयी ***''प्यार न दे पायी, प्रियतम ''*** का भी यही अर्थ है कि जब वे किसी भी दृश्यमें श्रीकृष्णसे इतर कुछ अन्य देखती हैं तो वे उसे अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्रीकृष्णमे घोलने लगती हैं। वे अपने परम पावन सङ्कल्पसे उसे श्रीकृष्णरूप ही बनानेको उद्यत हो उठती हैं। उनका 'प्यार' श्रीकृष्णदानके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। श्रीकृष्ण ही तो उनके मूर्त्तिमान प्रेम हैं, अतः वे अनवरत अपने प्रत्येक दृश्यको, उस दृश्यगत पात्रको श्रीकृष्णरूप प्रेमदान देती रहती हैं। इसके उपरान्त भी जब वह दृश्य अथवा वह पात्र उन्हें श्रीकृष्णरूप न दिखकर कुछ पृथक् दीखता है तो वे समझती हैं कि मैं इसे प्यार नहीं दे पाई। यह मेरी ही भाव-सामर्थ्यकी न्यूनता है कि यह मेरे प्रियतमसे भिन्न अपनी कोई पृथक् स्वतंत्र सत्ता बनाये है। यही उनके ***''प्यार न दे पायी, प्रियतम'*** कहनेका अर्थ है।

## जिज्ञासा

**कृपया अब इस प्रथम छन्दकी शेष दो पंक्तियोंका भी अर्थ समझावें । पू.गुरुदेव अपने प्राणोंमें ऐसी व्यथा क्यों अनुभव करते हैं एवं श्रीकृष्ण उनके गुरुदेव कब एवं कैसे बने थे ?**

## समाधान

अध्यात्मसाधनामें गुरुका स्थान तो अप्रतिम होता ही है। सद्गुरु पूर्ण है, सर्वज्ञान-समन्वित है, उसमें पूर्ण ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्तिके समन्वयसे पूर्ण विज्ञानशक्ति भी आविर्भूत होती है। उसकी इच्छाशक्ति महाइच्छाशक्तिसे एकमेक होती है। उसके सभी कार्य महाइच्छाके कारण होते हैं । उसमें अपना सङ्कल्प भी नहीं होता, क्योंकि वह अहंकारशून्य होता है। अतः महासङ्कल्पका ही उसमे बिम्ब पडता है। वही इसकी नियन्त्रीशक्ति होती है। ऐसे सद्गुरु महारसराज-स्वरूप श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कौन हो सकते हैं ?

पू.गुरुदेवको अपनी साधनाकी प्रथम अवस्थामें ऐसे सिद्ध गुरुकी अपेक्षा हुई। उनके सम्मुख ब्रजभाव-साधनाके सम्बन्धमें कुछ ऐसी प्रश्नावलियाँ खड़ी हो गयी थीं जिनका समाधान किसी महासिद्ध गुरुकी अहैतुकी कृपासे ही संभव था। शास्त्रके अवलोकन एवं अध्ययनसे वे प्रश्न हल नहीं हो सकते थे। पू.गुरुदेव विचारमग्न अपनी कुटीके बाहर बैठे थे। चिन्ताकी गहरी रेखाएँ उनके मुखमण्डलपर स्पष्ट थीं।

उसी समय पू.गुरुदेवके सामनेका दृश्य बदला। उन्होंने देखा कि मुस्कुराते हुए पू.पोद्दार महाराज आये हैं। वस्तुतः उस समय श्रीपोद्दार महाराजका रूप धारणकर साक्षात् श्रीकृष्ण ही उनके सम्मुख आये थे। आते ही श्रीपोद्दार महाराजने उनसे पूछा – 'बाबा ! आज आप गंभीर कैसे बैठे हैं ?' पू.गुरुदेवने उत्तर में कहा – 'मेरे मनमें ब्रजभाव सम्बन्धी एक उलझन है, जिसका समाधान गुरुकृपासे ही संभव है। अब भला मेरे गुरुपदको कौन स्वीकार करे ? सिद्धगुरुके बिना मेरे प्रश्नोंका समाधान संभव नहीं। आप सब प्रकारसे समर्थ हैं किन्तु आप मेरा गुरुपद स्वीकार करेंगे नहीं।'

श्रीपोद्दार महाराजने कहा – 'यह कौन-सी बड़ी बात है ? यह मैंने कब कहा कि मैं किसीको कभी शिष्य बनाऊँगा ही नहीं।'

पू.गुरुदेवको बहुत विस्मय हुआ। वे उल्लासमिश्रित वाणीमें पूछने लगे – 'सच-सच बतलाइये, क्या आप मेरे लिये गुरुपदको स्वीकार कर लेंगे ?' श्रीपोद्दार महाराजकी आँखोंकी मूक भाषा पू.गुरुदेवके लिये स्वीकृति प्रदान कर रही थी।

श्रीपोद्दार महाराजने कहा – 'आप अपनी दोनों हथेलियाँ मेरे सामने फैलाइये।' फिर उन्होंने हथेलियोंको उलट देनेकी आज्ञा दी जिससे नख ऊपरकी ओर हो जायँ। इसके पश्चात् वे अपनी अँगुलियोसे पू.गुरुदेवके नखोंका स्पर्श करने लगे। पहले कनिष्ठिकाके नखका, फिर अनामिकाके, फिर मध्यमाके, फिर तर्जनीके तथा सबसे अंतमें उन्होंने करांगुष्ठोंके नखोंका स्पर्श किया। स्पर्शकी क्रियाके समाप्त होते ही श्रीपोद्दार महाराजने हँसते हुए कहा – 'लीजिये, हो गया।'

उनके स्पर्शने चमत्कार कर दिया। पू.गुरुदेवके सभी प्रश्न स्वतः ही समाधान हो गये। उसके पश्चात् उनके सभी प्रश्नोंके समाधान उन्हें स्वतः ही प्राप्त होते चले जाते थे। साधना सम्बन्धी कोई समस्या उनके लिये समस्या रही ही नहीं। समस्या उठनेके पूर्व ही उसका हल उनमें स्फुरित हो उठता था।

इन पंक्तियोंमें यही रहस्य प्रकट किया गया है।

इस घटनाको विस्तार सहित जाननेके इच्छुक पाठकोंको **'महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा** – प्रथम खण्ड'के पृष्ठ सं.२८६से २८९ में वर्णित 'गुरुदीक्षा' प्रसंग पढना चाहिये।

यहाँ जिस प्राणोंकी व्यथाका उल्लेख पू.गुरुदेव अपने इस काव्यमें करते हैं उस व्यथाकी तो उनकी श्रीराधारानी घनीभूत मूर्त्ति ही है। उनकी आराध्या श्रीराधारानी के पास व्यथा, सिसकना, अनर्गल अश्रुपात एवं हाहाकारके सिवाय और कोई धन है ही नहीं । श्रीराधाका अपने प्रियतमके प्रति अति विलक्षण प्रेम है। श्रीराधाके सामने बात करते-करते ही यदि कोई 'कृष्ण' नामका उच्चारण भर कर ले तो भी वे विवश-सी होकर रुदन करने लगती हैं। एक दिवस परस्पर वार्त्तामें उनकी सखी ललिताने 'कृष्ण' नाम ले लिया। बस, 'कृष्ण' नाम सुनते ही श्रीराधारानीका सम्पूर्ण धैर्य जाता रहा। वे अपनी सखि ललितासे ही पूछने लगती हैं – 'बता बहिन ! यह 'कृष्ण' किसका नाम है ? बहिन ! मैं तेरा अनन्त जीवन उपकार मानूँगी, तू मुझे इस 'कृष्ण' नामधारी व्यक्तिसे मिला दे।' श्रीललिता तो श्रीराधारानीकी भोली उक्ति सुनकर चकित हो उठती है। वह इस पगलीको भला कैसे समझावे कि श्रीकृष्णके हृदयदेशमे तो वह नित्य ही बसी रहती हैं। किन्तु श्रीराधा तो प्रेम-प्रगाढतामें सबकुछ भूली हुई निरन्तर रोती ही जाती हैं। श्रीललिता उन्हें समझाती है – 'रागान्धे ! श्रीकृष्ण तो तुम्हारे पूर्णतया प्रेमाधीन, अनुगत हैं।' किन्तु श्रीराधा समझती हैं कि ललिता उनसे परिहास कर रही है। तब ललिता उनके प्रियतमका हाथ लेकर उनके हाथमें देती है, फिर भी श्रीराधा बहुत कालतक सोचनेके पश्चात् ही अपने प्रियतमसे मिल पाती हैं।

श्रीराधारानीके विलक्षण प्रेमभावकी एक और झाँकी यहाँ प्रस्तुत है। एक दिवस अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी किसी बातपर श्रीराधारानी खीझ गयीं। ललिता, विशाखादि सखियाँ उन्हें समझाने लगीं तो वे क्रोधमें भरी कहने लगीं -'देखो ! आजसे तुम उनका नाम भी मेरे सम्मुख मत लेना। उनकी तो बात ही क्या है, मै काले रंगकी वस्तुमात्रका त्याग कर दूँगी। जीवनभर उनके विरहतापसे जलती रहूँगी, परन्तु उनसे मिलूँगी नहीं।'

*मिलौं न तिनसों भूल, अब जौलौं जीवन जियौं ।*<br>
*सहौं विरहको सूल, बरु ताकी ज्वाला जरौं ।।*<br>
*मैं अब अपने मन यह ठानी। उनके पंथ पिऊँ नहिं पानी।।*<br>
*कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ। मृगमद भूलि न अंग चढ़ाऊँ।।*<br>
*सुनौं न स्रवननि अलि पिक बानी। नील जलज परसौं नहिं पानी।।*

यह उच्चारण करती-करती श्रीराधारानी रुदन करने लग जाती हैं। इस भावदशामें जो असम्बद्ध उद्गार अपनी प्राणप्रियतमाके अधरोंसे विस्फुटित हो पड़ते हैं , उन्हें उनके प्रियतम श्यामसुन्दर छिपकर सुनते हैं। उनके संयमकी

सीमा टूट जाती है। इधर तो श्रीराधारानी रोती हैं, उनके नयनोंसे बडे-बडे गोल-गोल रसमय अश्रुविन्दु झरते जा रहे हैं, उधर प्रियतम श्यामसुन्दर भी सुबक-सुबककर, हिचकी बाँधकर रोने लगते हैं। प्रियतमके अश्रुविन्दु अपनी अङ्कस्थिता प्रियाके कोमल कमनीय केशपाशको भिगोते जाते हैं और प्रियाके अश्रु प्रियतमके हृदयस्थलको आर्द्र करते जाते हैं।

एक झाँकी और देखें — 'निभृतनिकुञ्जका हरीतिमापूर्ण उपवन। उस सुवासित मनोरम एकान्त उपवनमे नीलसुन्दर नित्यनिकुञ्जेश्वर विराजित हैं तथा प्रियतम नीलमणिकी जानुका सहारा लेकर विश्राम कर रही है – प्राणाधिका श्रीराधा। श्रीकृष्ण-प्रेममे निमग्न श्रीराधाको पूर्णतः विस्मृत हो जाता है कि मैं अपने प्राणप्रियतमके मृदुल अङ्कमें विराजित हूँ। बस, उनकी स्मृतिक्षेत्रमें रह जाता है मात्र एक ही दृश्य - प्रातःकालका समय है। मैं गोवर्धन गिरिकी उपत्यकामें पुष्पचयनके लिये आयी हूँ। पुष्पचयन करते-करते मैं देखती हूँ कि नन्दग्रामकी ओरसे गो-गोवत्सोंका विशाल समुदाय लिये नीलसुन्दर चले आ रहे हैं। गोचारणकी बेला है। नीलसुन्दर गोचारणके लिये ही गिरिराजके दूर्वादल-सङ्कुल चरणप्रदेशकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। सूर्योदय अभी कुछ देर पहले हुआ ही है, अतः वृक्षोंकी छाया दूर-दूरतक विस्तृत है। एक वृक्षकी छायामें कुछ देर ठहरकर वे मुरलीवादन करते हैं तथा पुनः आगे बढ़ जाते हैं। अग्रसर होते-होते क्रमशः उनका कलेवर वनके हरे-घने वृक्षोंकी ओटमें विलीन हो जाता है। बस, यही मात्र, एक वार नीलसुन्दरका उन्हें दर्शन मिला था। मात्र एक वार ही उन्होंने मुरली-निनाद सुना था। उसके पश्चात् तो न वे उनका दर्शन ही कर सकीं, और न कभी मुरलीकी स्वरलहरी ही सुन पायीं। वे कह उठती हैं - 'हाय ! अब वह दर्शन एवं वह मुरलीश्रवण मुझ हतभागिनीके भाग्यमें कहाँ ? दिवस और मासकी कौन कहे, उस नीलकान्तिके दर्शनकी प्रतीक्षामें युग-के-युग बीत चले। लगता है, अब उस नीलवपुका दर्शन मेरी भाग्यरेखामें लिखा ही नहीं।'

व्यथासागरकी उत्ताल लहरोंसे प्रताड़ित श्रीराधारानी धैर्य तो तब धारण करें, जब किसी दिशामें आशाका तट उन्हें दिखाई पड़े !

*एक-एक पल बना युगों-सा दारुण पीड़ाका आगार।*
*आँखोंमें छायी वर्षाऋतु, अविरल बही अश्रु-जलधार।।*
*हुआ व्यथामय हृदय, कर उठे प्राण करुण-स्वर हाहाकार।*
*प्रियतम-विरह विषमसे सूना हुआ सहज सारा संसार।।*

आशा-विरहिता विरहिणी राधाकिशोरी उस वृक्षकी छायाके नीचे आती है जहाँ उन्हें उनके प्रियतम नीलसुन्दरका दर्शन प्रथमतः हुआ था। श्रीराधारानीको अब ठीक अनुभव होने लगता है कि प्रियतमके विरहमें छटपटाते प्राणोंका सरक्षण उनका यह क्षीण गौर कलेवर और नहीं कर पायेगा। प्राणोंको यदि विदा ही लेनी है तो वही विदा दी जाय जिस वृक्षके नीचे विश्राम करते उनके प्राणवल्लभने उन्हें दर्शन दिये थे। इसीलिये भावोन्मादिनी श्रीराधा उस कदम्ब वृक्षके नीचे आयी बैठी हैं।

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि प्रेमकी राहपर चलती श्रीराधारानीके प्राणोंकी व्यथा ही उनके दैनिक जीवनके क्षण-क्षणका उपक्रम है। श्रीराधारानी मूर्तिमान् प्रीतिव्यथा हैं। इस व्यथाको उनके प्राणोंसे पृथक् करना सर्वथा असंभव है। परन्तु उनकी यह व्यथा है परमानन्दमयी, उनके प्रियतम श्रीकृष्णको अपार सुखसिन्धुमें डुबोनेवाली। यह उनकी विरह-व्यथा भी श्रीकृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी है। यह व्यथा भी उन्हें उनके प्रियतमका प्रेमदान है। इसलिये इस व्यथासे भी वे अपने प्रियतमका क्षण-क्षण प्रेमपूजन ही करती रहती हैं। श्रीराधारानीका सिसकना, रोना, कलपना, हाहाकार करना, मूर्च्छित हो जाना – ये सभी उनके प्रेमभावके ही परमोच्च स्तर हैं। श्रीराधारानीकी प्रेमव्यथासे हम सांसारिक जनोंकी काम-व्यथाकी तुलना हो ही नहीं सकती। हम सभी मात्र स्वार्थके लिये रोते हैं जबकि श्रीराधारानीकी

प्रगाढ व्यथा श्रीकृष्णसुखार्थ है। इसीलिये नित्याचिन्त्य भावमयी श्रीराधाकी व्यथा भी परम आदर्श, महामङ्गलमयी, पूर्ण पवित्र और श्रीकृष्णाकर्षिणी है, श्रीकृष्णको आनन्द-प्रदायिनी है। प्रियतम श्यामसुन्दरको सुखी करनेके भावके अतिरिक्त श्रीराधामें कहीं कुछ भी अन्य नहीं है।

*हूँ वही, जिसे कहकर 'मेरे प्राणों की रानी', हे प्रियतम।*
*थे पकड़ लिये वे हाथ, लगी मेंहदी जिनमें थी, हे प्रियतम!*
*पर भग्न हुआ-सा था गृह वह, जिसमें रहती बाला, प्रियतम!*
*थी तम से परिपूरित रजनी, जब तुम आये थे, हे प्रियतम ॥२॥*

**............मैं वही हूँ प्रियतम ! जिसको तुमने 'अहो मेरे प्राणोंकी रानी !' कहकर सम्बोधन किया था। और फिर मेरे दोनों हाथोंको, जिनमें मेंहदी लगी हुई थी, अपने करकमलोंसे धारण कर लिया था। किन्तु..........वह भवन टूटा हुआ-सा था, जिसमें एक किशोरवयसा रमणी बाला रहती थी। जिस समय तुम पहली बार आये थे, उस समय घोर अन्धकारसे परिपूरित रजनी साँय-साँय कर रही थी।।२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

श्रीराधा-महाभावमें लहराते रसमत्त पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा इस काव्य-रचनाकी स्फुरणा होनेपर बाह्यज्ञान-राहित्य-दशामे होते हुए भी अन्तश्चेतनाके जगत्‌में जा पहुँचते हैं। उनके अपने अतीत जीवनके दृश्य उनके सम्मुख एक-एककर आने लगते हैं। वे देखते है - "गीताप्रेसका एक कमरा है। प्रभातकाल है। ब्रजरसकी साधनाके ये उनके प्रारंभिक दिन ही हैं। वे एक चित्रपटपर दृष्टि जमाये, उसे अपने चित्तमें स्थिर करनेकी साधनामें जुटे हैं। वे अपने प्रियतम नीलसुन्दरके एक-एक अङ्ग-अवयवको खूब ध्यान लगाकर देखते हैं और तब उसे नेत्र मूँदकर अपने हृदयदेशमें ज्यों-का-त्यों देखनेकी चेष्टा कर रहे हैं। सहसा ऐसी कृपा होती है कि वह चित्रपट पूरा-का-पूरा चिन्मय होकर उनके सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठता है।

ओह ! उस समय पू.गुरुदेव सुस्पष्ट देखते हैं कि उस चित्रमें अङ्कित उनके प्रियतम श्रीकृष्णकी छविसे अनन्त अपार अधिक सुन्दर छवि जीवन्त हुई उनके सम्मुख खडी मुसका रही है। उस इन्द्रनीलद्युति किशोर छवि-पुरुषका सौन्दर्य कुछ ऐसा निराला है कि वे उसे निर्निमेष देखते ही रह जाते हैं। उनकी दशा काष्ठ-पुत्तलिकाकी भाँति हो उठती है। उन्हे समयोचित पूजादि – किसी कर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रहता। उनका शरीर आनन्दातिरेकसे अवश हो उठता है।

इतना ही नहीं, वे देखते हैं कि उनके स्वयके शरीर एवं अङ्ग-संस्थानोंमें भी चिन्मय परिवर्तन हो गया है। वे स्वयं एक अनिर्वचनीया सुन्दरी किशोरीके रूपमें परिवर्त्तित हो गये हैं। वे अपने पद्मदलायत कञ्चनवर्णी कर-युगलोको निहारते हैं। अपने हाथोंमें अतीव कलात्मक लाल-लाल मेंहदीकी संरचना देखकर तो वे सर्वथा मुग्ध हो उठते हैं। उन्हें भ्रम हो जाता है कि यह उनकी जागृत् अवस्था है कि स्वप्नावस्था है। यह क्या हो रहा है – वे स्वयंमें कुछ भी निर्णय नहीं कर पाते। उन्हें तो यही दिखता है कि नवजलधरकी अपेक्षा भी जिसकी सुन्दर कान्ति है, नवीन विद्युन्मालासे भी अधिक चमकीला जिसका मनोज्ञ पीताम्बर है, जिसका वदनचन्द्र निर्मल शारदीय पूर्ण चन्द्रमाकी अपेक्षा भी समुज्ज्वल है, जिसकी कटिमें मुरली खौंसी है, जिसकी कुञ्चित केशराशि मयूरपिच्छसे सुभूषित है, जिसके गलेमे निर्मल कान्तियुक्त श्रेष्ठ मोतियोंकी माला शोभायमान है, ऐसा एक किशोर उनके सम्मुख खड़ा मन्द-मन्द मुसका रहा है।

परम सुन्दरी किशोरी बने पू.गुरुदेवकी उस किशोरमूर्त्तिको देखकर उस समय लज्जावश ऐसी दशा होती है कि उन्हें कहीं कोई छिपनेका स्थान मिल जाय तो वे भागकर उसमें छिप जावें। वे अपना चन्द्रानन अपनी दोनों अतीव सुन्दर मेंहदी रचनासे अलंकृत हथेलियोसे ढाँप लेते हैं। इसके उपरान्त भी उनके मनमें उस श्यामलमणि किशोरको

श्रीपोद्दार महाराजने कहा – 'आप अपनी दोनो हथेलियाँ मेरे सामने फैलाइये।' फिर उन्होंने हथेलियोंको उलट देनेकी आज्ञा दी जिससे नख ऊपरकी ओर हो जायँ। इसके पश्चात् वे अपनी अँगुलियोंसे पू.गुरुदेवके नखोंका स्पर्श करने लगे। पहले कनिष्ठिकाके नखका, फिर अनामिकाके, फिर मध्यमाके, फिर तर्जनीके तथा सबसे अंतमें उन्होंने करांगुष्ठोंके नखोंका स्पर्श किया। स्पर्शकी क्रियाके समाप्त होते ही श्रीपोद्दार महाराजने हँसते हुए कहा – 'लीजिये, हो गया।'

उनके स्पर्शने चमत्कार कर दिया। पू.गुरुदेवके सभी प्रश्न स्वतः ही समाधान हो गये। उसके पश्चात् उनके सभी प्रश्नोंके समाधान उन्हें स्वतः ही प्राप्त होते चले जाते थे। साधना सम्बन्धी कोई समस्या उनके लिये समस्या रही ही नहीं। समस्या उठनेके पूर्व ही उसका हल उनमें स्फुरित हो उठता था।

इन पंक्तियोंमें यही रहस्य प्रकट किया गया है।

इस घटनाको विस्तार सहित जाननेके इच्छुक पाठकोंको **'महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा – प्रथम खण्ड'**के पृष्ठ सं.२८६से २८९ में वर्णित 'गुरुदीक्षा' प्रसंग पढना चाहिये।

यहाँ जिस प्राणोंकी व्यथाका उल्लेख पू.गुरुदेव अपने इस काव्यमें करते हैं उस व्यथाकी तो उनकी श्रीराधारानी घनीभूत मूर्त्ति ही है। उनकी आराध्या श्रीराधारानी के पास व्यथा, सिसकना, अनर्गल अश्रुपात एवं हाहाकारके सिवाय और कोई धन है ही नहीं । श्रीराधाका अपने प्रियतमके प्रति अति विलक्षण प्रेम है। श्रीराधाके सामने बात करते-करते ही यदि कोई 'कृष्ण' नामका उच्चारण भर कर ले तो भी वे विवश-सी होकर रुदन करने लगती हैं। एक दिवस परस्पर वार्त्तामें उनकी सखी ललिताने 'कृष्ण' नाम ले लिया। बस, 'कृष्ण' नाम सुनते ही श्रीराधारानीका सम्पूर्ण धैर्य जाता रहा। वे अपनी सखि ललितासे ही पूछने लगती हैं – 'बता बहिन ! यह 'कृष्ण' किसका नाम है ? बहिन ! मैं तेरा अनन्त जीवन उपकार मानूँगी, तू मुझे इस 'कृष्ण' नामधारी व्यक्तिसे मिला दे।' श्रीललिता तो श्रीराधारानीकी भोली उक्ति सुनकर चकित हो उठती है। वह इस पगलीको भला कैसे समझावे कि श्रीकृष्णके हृदयदेशमें तो वह नित्य ही बसी रहती हैं। किन्तु श्रीराधा तो प्रेम-प्रगाढतामे सबकुछ भूली हुईं निरन्तर रोती ही जाती हैं। श्रीललिता उन्हें समझाती है – 'रागान्धे ! श्रीकृष्ण तो तुम्हारे पूर्णतया प्रेमाधीन, अनुगत हैं।' किन्तु श्रीराधा समझती हैं कि ललिता उनसे परिहास कर रही है। तब ललिता उनके प्रियतमका हाथ लेकर उनके हाथमें देती है, फिर भी श्रीराधा बहुत कालतक सोचनेके पश्चात् ही अपने प्रियतमसे मिल पाती हैं।

श्रीराधारानीके विलक्षण प्रेमभावकी एक और झाँकी यहाँ प्रस्तुत है। एक दिवस अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी किसी बातपर श्रीराधारानी खीझ गयीं। ललिता, विशाखादि सखियाँ उन्हें समझाने लगीं तो वे क्रोधमें भरी कहने लगीं -'देखो ! आजसे तुम उनका नाम भी मेरे सम्मुख मत लेना। उनकी तो बात ही क्या है, मै काले रंगकी वस्तुमात्रका त्याग कर दूँगी। जीवनभर उनके विरहतापसे जलती रहूँगी, परन्तु उनसे मिलूँगी नहीं।'

*मिलौं न तिनसों भूल, अब जौलौं जीवन जियौं ।*
*सहौं विरहको सूल, बरु ताकी ज्वाला जरौं ।।*
*मैं अब अपने मन यह ठानी। उनके पंथ पिऊँ नहिं पानी।।*
*कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ। मृगमद भूलि न अंग चढ़ाऊँ।।*
*सुनौं न स्रवननि अलि पिक बानी। नील जलज परसौं नहिं पानी।।*

यह उच्चारण करती-करती श्रीराधारानी रुदन करने लग जाती हैं। इस भावदशामें जो असम्बद्ध उद्गार अपनी प्राणप्रियतमाके अधरोसे विस्फुटित हो पडते हैं , उन्हें उनके प्रियतम श्यामसुन्दर छिपकर सुनते हैं। उनके संयमकी

उस चित्तभूमिको बाह्य मलिनतासे बचानेके लिये जो कपाट (ज्ञानेन्द्रियाँ) एवं गवाक्ष (कर्मेन्द्रियाँ) थे, वे अवश्य टूटे थे। अर्थात् इन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियोंका उपयोग उन दिनो भक्ति एवं प्रीतिसाधनाजन्य कर्मोंमें नहीं किया जा रहा था। सभी दिशाओंसे इन्हें प्रेरणा भी श्रीमद्भगवद्गीतादि शास्त्रोंके प्रवचनादि (निष्काम कर्मरूप रजोगुणी क्रिया) की ही मिलती थी, अतः उस चित्तभूमिरूप पवित्र अवनीमें रजोगुणी पवन सम्मान-प्रशंसादिकी धूलि ही भरकर लाता एवं डालता रहता था।

*उस कच्चे घरमें रहकर भी निर्मल थी वह बाला, प्रियतम!*
*धा सका नहीं छू उसे एक कण बाहर से आया, प्रियतम!*
*थी छिपी शक्ति उसमें सहस्त्र पावक-पुञ्जों की, हे प्रियतम!*
*सामर्थ्य नहीं थी कहीं किसी में, जो दूषित कर दे, प्रियतम ।।४।।*

**उसी कच्चे घरमें वह बाला रहती थी। किन्तु कच्चे आवासमें रहनेपर भी अत्यन्त निर्मल थी वह । बाहरसे आया हुआ एक रजकण भी उसे छू नहीं सका था; उसमें सहस्त्र पावकपुञ्जोंकी शक्ति जो छिपी हुई थी। कहीं किसीमें सामर्थ्य नहीं थी जो उसे दूषित-मलिन बना दे ।।४।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा इस छन्द सं.४ मे एक विलक्षण रसतत्त्वका प्रकाश कर रहे हैं। वे कहते हैं कि वह बाला रहती तो अवश्य ही उस कच्चे घर (कर्मजनित पाञ्चभौतिक जड देह)में थी, किन्तु वह स्वयं परम निर्मल (सच्चिदानन्दमयी परात्पर परब्रह्मकी रमणी भावमें स्वरूप-लीलापरिकर) थी। उसे जड मायाराज्यकी स्त्री माननेकी भूल कदापि नहीं करनी चाहिये। वह तो विशुद्ध प्रेम, अनन्य प्रीति एवं एकमात्र विशुद्ध माधुर्यकी परम निर्मल प्रतिमा थी। उसे (उस विशुद्ध सच्चिदानन्दमयी काम-कषायशून्य रमणीको) बाहर (प्राकृत जड जगत्‌के राज्य) से आया एक कण ( किसी-न-किसी रूपमें आत्मसुखकी कल्पना-लेश-गन्धरूप कषायका अणु मात्र) छू भी नहीं सका था।

यहाँ यह समझनेकी बात है कि ब्रजलीलाके अतिरिक्त कहीं भी काम-कषाय-शून्यता नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारका-महिषियों, अष्ट पटरानियोंमें भी किसी-न-किसी रूपमें आत्मसुख -कल्पना-लेश- गन्धरूप कषाय रहता ही है। एकमात्र श्रीराधा और उनकी कायव्यूहस्वरूपा ब्रजाङ्गनाएँ ही ऐसी निर्मल प्रेममयी हैं, जिनको स्वसुखकाम-लेश-कल्पनाकी गन्धका एक कण भी छू नहीं पाता है।

यह बाला क्योंकि श्रीमती राधारानीकी ही कायव्यूह-स्वरूपा रमणी थी, अतः उसमें सहस्रों पावकपुञ्जोंकी शक्ति ( केवल श्रीकृष्ण-सुखमयी, परम अनिर्वचनीया रसमत्त प्रेमकी ज्वाला) छिपी थी। कहीं किसी ( परात्पर परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्य एवं रसैश्वर्य ) में भी सामर्थ्य नहीं थी कि जो उस प्रेम-पवित्र बालाको दूषित (स्वसुख-वासनायुक्त) कर दे।

कैशोर रूपमें श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपियोके साथ ही अखिल- अनन्त-अतुल-सौन्दर्य- सुधा-सागर श्रीकृष्णकी अति रसमयी प्रेमलीला होती है। यहाँ स्वयं श्रीराधारानी ही अपनी कायव्यूहरूपा शक्तिके रूपमें — बालारूपमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबामें अति गोपनीयरूपमें प्रकाशित हुई हैं। इनके साथ ही उनके भाव(प्रीति)-जीवनमें आये हैं — रासरसिकशेखर, नित्य निरतिशयानन्द-स्वरूप, दिव्य दीप्तिच्छटाविभूषित, मुनि-मन-मोहन, मन्मथ-मन्मथ प्रियतम श्रीकृष्ण।

इस बालाका जीवन केवल प्रियतम-सुखमय है। यह बाला एक सासारिक रमणी नहीं है, न ही इसका प्रेम भी लौकिक रमण-रमणी, नायक-नायिकाका प्रेम है। लौकिक नायिकामे स्वसुखलाभके लिये नायकसे मिलन है और वियोगमे दुख-ही-दुख है। परन्तु इस बालामें स्वसुख-कामनाका लेश-गन्ध भी नहीं है। इस बालाकी आशा-आकांक्षा, भोग-त्याग, विरह-मिलन, व्यवहार-बर्त्ताव — सब श्रीकृष्ण-सुखार्थ है। इसकी वियोग-व्यथासे पीडा, विरहताप-दग्ध देहमें प्राणोंकी रक्षाके लिये होनेवाला आर्त्त क्रन्दन भी अपने प्रियतम-सुखके लिये ही है। यह विलक्षण बाला अपने दु:खनाश अथवा आनन्दलाभके लिये कदापि नहीं रोती-कराहती। इसका आर्त्त क्रन्दन भी अपने प्रियतम-सुख-तात्पर्यार्थ ही है। जगत्का कामभाव इसे संस्पर्शित नहीं कर पाता है। इसमे अनन्त प्रियतम-सुखमय प्रेमके पावक-पुञ्जोकी ज्वाला धधक रही है। यही इस छन्दमें निहित भाव है।

उस पथ से जो जाते, पाते पर देख भग्न गृह ही, प्रियतम !
अवकाश कहाँ किसको था, जो भीतर जाकर देखे, प्रियतम।
है मात्र खण्डहर ही प्रायः सबके मनमें आता, प्रियतम।
वे थे राही, था लगा ध्यान उनका पथपर अपने, प्रियतम।।५।।

**किन्तु जो भी उस पथसे जाता था, उसे केवल वह टूटा हुआ घर मात्र सामने दीखता था। किसको कहाँ अवकाश था प्रियतम ! जो गृहके भीतर प्रविष्ट होकर वहाँकी वास्तविकताको जान सके। इसीलिये उसपर दृष्टि पड़ते ही प्राय सबोंकी यही धारणा होती थी कि बस, यह तो खंडहर मात्र है। ऐसा इसीलिये कि वे बिचारे राही थे, उनका ध्यान तो अपने पथपर लगा था।।५।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

जिन दिनों पू.गुरुदेवमें प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवका भावोन्मेष हुआ था, वे उस समय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके साथ उनकी श्रीमद्भगवद्गीताकी निष्काम कर्मयोग प्रधान टीकाके कार्यमें जुटे थे। अतः जो भी इस टीकाका सम्पादन-कार्य करते समय उन्हें देखता था, वह उन्हें भग्नगृह (सन्यासी शरीर रूप) मे ही देखता था। उसे उनके आन्तरिक जीवनको देखनेका अवकाश ही कहाँ था ? सबकी समझमे यही आता था कि यह कोई सांसारिक दु:खोंके कारण विरक्त हुआ सन्यासी है, जो श्रद्धालु होकर श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाके पास ज्ञानलाभार्थ आया है। उनके सम्पर्कमें आनेवाले प्राय: भवसागरके थपेडों से त्रस्त संसार-यात्री ही होते थे। ऐसे लोगोंका ध्यान तो अपनी संसार-यात्राको पूरा करनेमें ही लगा रहता था।

दल तथाकथित राजाओं का, ऋषियों का, मुनियों का, प्रियतम !
कुछ सिद्धों का भी जाता था एवं गन्धर्वों का, प्रियतम !
पड़ती उसपर जो दृष्टि कहीं उनकी पैनी-सी, हे प्रियतम !
वह भवन वस्तु बनता विराग अथवा विनोदकी ही, प्रियतम।।६।।

**तथाकथित राजाओंका दल, ऋषियोंकी, मुनियोंकी, कुछ सिद्धोंकी एवं गन्धर्वोकी टोली भी आ जाती थी। उस भवन(पू.गुरुदेवकी देह) पर जब उनकी पैनी दृष्टि कहीं पड़ जाती तो वह भवन या तो उनमें वैराग्यका संचार कर देता अथवा उनके लिये विनोदकी वस्तु बन जाता था।।।६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

श्रीसेठजीके सत्संगमें रीतामऊके राजा आदि नृपति भी आते, श्रीस्वामी रामसुखदासजी-जैसे गीताशास्त्रका मनन करनेवाले मुनि तथा अच्छे साधु-संत-ऋषि भी सम्मिलित होते, महात्मा मंगलनाथजी, एकरसानन्दजी, श्रीभोलेबाबा आदि सिद्धोंका भी सम्पर्क होता और कुछ भजनादि गानेवाले सुरीले गायक गन्धर्वोंका भी आगमन होता रहता था। पू. गुरुदेव जो अल्पवयस्क, अति वैराग्यसम्पन्न साधु थे, उनपर इन सबकी पैनी जिज्ञासाभरी दृष्टि भी पडती, परन्तु वे उनको मात्र एक गैरिकवस्त्रधारी, त्यागपूर्ण रहनीवाला संन्यासी ही देख पाते, अतः या तो उनसे वे विनोद (मैत्री) करते अथवा विराग (उपेक्षा ) करके किनारे हो जाते थे।

कुछ थे विहङ्ग उसमें अवश्य, पर थे वे सब सोये, प्रियतम!
थे नीड़ सभी के भिन्न-भिन्न, सहचरी साथ में थी, प्रियतम!
उनका था वह संसार अलग, वे थे भूले उसमें, प्रियतम!
है कौन यहाँ बाला बसती, वे क्या कैसे जानें, प्रियतम।।७।।

**उनमें कुछ विहङ्गम भी थे, पर वे सब-के-सब सोये हुए थे। सभीके नीड़ भिन्न-भिन्न थे। उनकी सहचरियाँ भी उनके साथ थीं। उन सबका अपना-अपना संसार अलग ही बसा हुआ था। वे सब-के-सब उसीमें भूले हुए थे। उनको क्या पता कि यहाँ कौनसी बाला निवास करती है। बालाके इतिवृत्तके सम्बन्धमें क्या, कैसे है,. वे इससे परिचित ही कैसे हो सकते थे।।७।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

उन सत्संगियोके दलमें कुछ विहङ्गम अर्थात् विशुद्ध रागात्मिका प्रेमाभक्तिके नभमें उडनेवाले श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी-सरीखे लोग भी थे, किन्तु वे सभी अभी अपरिपक्व साधनदशामें होनेके कारण मायाजन्य अविद्यामूलक तमोमयी निद्रामें सुषुप्त थे। उनके अपने-अपने नीड - आवास-गृह थे, एव उनकी पत्नियाँ उनके साथ थी। वे अपने अलग ही संसारमें रचे-पचे थे। वे इतने आत्मविस्मृत थे कि उन्हें उस कालमें अपने सच्चे स्वरूप - स्वयंके गोपी होनेका ज्ञान ही नहीं था। वें भला, कैसे जानते कि इस गैरिक वस्त्रधारी युवा सन्यासीके अन्तःकरणकी नियन्तृ-शक्ति बनी साक्षात् श्रीराधारानी (बाला) ही बसती हैं, इसमें निवास कर रही हैं।

वह रात नहीं थी चार पहर वाली, जो मिट जाती, प्रियतम!
हैं सब कहते अनादि उसको, जो पण्डित सच्चे हैं, प्रियतम!
होता है उसका अन्त उसी के जीवन में, बस, हे प्रियतम!
जो रूप अनिर्वचनीय तथा अद्भुत अचिन्त्य देखे, प्रियतम।।८।।

**एक तो रात्रिका समय था। दूसरे, वह रात भी चार पहरवाली नहीं थी जो मिट जाती। जो सच्चे पण्डित हैं, वे सब-के-सब उसको अनादि कहकर सत करते हैं। उनका यह भी कहना है कि उस रात्रिका अन्त केवल उसीके जीवनमें होता है, जो व्यक्ति उस अनिर्वचनीय, अद्भुत अचिन्त्य रूपको देख ले सके।।८।।**

# तात्विक विवेचन-विस्तार

हे प्रियतम ! कठिनाई यही थी कि वह निशा जिसमे कतिपय (विशुद्ध रागमार्गके आकांक्षी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी प्रभृति साधक) सोये थे, चार प्रहरवाली प्राकृत जगत्‌की दिवस-रात्रिवाली निशा नहीं थी। वह तो अनादिकालीन मायाजन्य अविद्यामयी मोह-निशा थी, जिसे मात्र सच्चे पण्डित (सत्-असत्‌का पूर्ण विवेचन करनेमें समर्थ मुमुक्षार्थी जन) ही पहचान सकते हैं। हे प्राणवल्लभ ! इस अविद्याप्रधान देहाध्यासजन्य माया-निशाका समूल नाश तो उसके जीवनमे ही होता है जिसके हृदयमे अखिल-रसामृतसिन्धु तुम अपने घनीभूत परमानन्द-रस-रूप लीलाविहारको प्रकट करनेकी इच्छा कर लेते हो। हे अतसी-कुसुम-सुन्दर गोपवधू-किशोर मेरे प्रियतम ! तुम इतने अनिर्वचनीय अचिन्त्य विलक्षण सुन्दर हो कि बस, एकमात्र ही सही, तुम्हारे मधुर मुसकानभरे मुखका किसीको भी दर्शनभर हो जाय, भले ही वह बडे-से-बडा अहंकार-महारथी ही क्यो न हो, उसे हठपूर्वक अपना दास बना लेनेमे तुम्हें एक लवमात्र भी प्रयास नहीं करना पडता। जब तुम अद्वैतपथसे स्वाराज्य-सिंहासनारूढ शिव-ब्रह्मा-शुक-नारदादिको भी अपने अपरिसीम अखण्ड अद्वैतानन्दसे अन्धाकर निज रूप-सुधाके लुब्धकामी बनानेमें चतुर हो, तो तुम्हारे लिये अपनी प्रेमसुधावर्षिणी दृष्टि द्वारा सांसारिक मायारूप निद्राभिभूत प्राणियोंको जागृत् करना कौन कठिन कार्य है ?

*इसलिये विहङ्गम सोये थे, पर थी जगती बाला, प्रियतम।*
*थी नींद नहीं आयी क्षणभर भी जीवन में उसके, प्रियतम!*
*झरती रहती आँखें, ज्वाला हृत्तल में थी जलती, प्रियतम।*
*था पास नहीं कोई उसके, जो अश्रु पोंछ दे, हे प्रियतम॥९॥*

**इसीलिये सब-के-सब विहङ्गम सोये थे........ किन्तु वह बाला तो सदा ही जागती रहती थी। उसके जीवनमें क्षणभरके लिये भी नींद नहीं आयी थी। आँखें झरती रहती थीं। हृत्तलमें ज्वाला जलती रहती थी। किन्तु उसके पास कोई नहीं था, जो उसके आँसू पोंछ दे।।।९।।**

# तात्विक विवेचन-विस्तार

क्योकि इन विशुद्ध रागमार्गाकांक्षी साधकोंके जीवनमे हे प्रियतम ! तुम अखिल रसामृत- सिन्धु प्राणपतिकी कृपा अभीतक अवतरित नहीं हुई थी, इसीलिये वे विहङ्गम अनादि माया-निद्राभिभूत घोर सुषुप्तिमें थे। किन्तु वह बाला तो सर्वतोभावेन अपने प्रियतम नीलमणिकी मादनाख्या आह्लाद-महाशक्ति थी।

*'मादनोऽयं परात्परः'* इस सिद्धान्तानुसार उससे श्रेष्ठ कोई होना तो संभव ही नहीं था। अतः उस चिन्मयी प्रेमशालिनी बालाके जीवनमें घोर तमोमयी प्राकृत मायाके प्रवेश करनेका तो प्रश्न ही नहीं था। उसके नेत्रोमें तो निरन्तर उसके मन्मथ-मन्मथ प्रियतम स्मृतिरूपमें बसे रहते थे और अपने प्रियके वियोगकी प्रेमज्वाला उसके हृदयमें निरन्तर धधकती रहती थी। अपने प्रियकी भयानक वियोग-व्यथा-ज्वालासे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये उसके नेत्र अनवरत अश्रुवर्षा करते रहते थे। वह सर्वथा एकाकिनी थी, एवं कोई भी उसकी व्यथाको समझकर उसके अश्रु पौंछनेवाला वहाँ नहीं था।

*रहते कुञ्चित् काले हरदम थे केश खुले उसके, प्रियतम!*
*भीगा रहता परिधान नील नयनों की धारा से, प्रियतम!*
*उन जीर्ण हुए वातायन के रन्ध्रों से लगकर, हे प्रियतम!*
*देखा करती थी निर्निमेष लोचन से अम्बर को, प्रियतम।।१०।।*

**उसके काले कुञ्चित केश हरदम खुले रहते। उसका नीला परिधान उसके नयनोंकी धारासे निरन्तर आर्द्र बना रहता था। भवनके उन जीर्ण हुए वातायनके रन्ध्रोंसे लगकर वह निरन्तर निहारा करती, निर्निमेष नयनोंसे वह आकाशको ही देखा करती।।।१०।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

उस बालाका वर्ण श्वेत चम्पाकुसुम-सदृश था। मुख शारदीय शशिका गर्व हरण करता था। उसके नेत्र शरद् ऋतुके खिले हुए कमलके समान थे। अरुण अधर बिम्बफलके सदृश, स्थूल श्रोणि और क्षीण कटिप्रदेश दिव्य करधनीसे अलंकृत था। दिव्य नील पटवस्त्र वह धारण किये रहती थी। अपने प्रियतमके वियोगमें वह परम संतप्ता थी। परन्तु वह अपने दुःखनाश और आनन्दलाभके लिये रोती-कराहती नहीं थी। अवश्यमेव उसके नेत्र प्रिय-वियोगमे निरन्तर झरते रहते थे और उन झरते नेत्रोकी अश्रु-धारासे उस किशोरी बालाका नील वस्त्र सदैव भीगा रहता था। उस बालाके आर्त्त क्रन्दनमें केवल अपने प्रियतमका सुख ही हेतु था। इस बालाको अपने इस असह्य वियोगमे भी अपने प्रियतम नीलसुन्दरकी सुख-रसमयी सन्निधिका अभाव नहीं था।

बात यह है कि भगवल्लीलाके पावनतम पूर्ण रसमय चिन्मय लीलाराज्यमे भी संयोगमे जहॉ समय-स्थान आदिकी निर्बाध स्थिति नहीं होती, वहाँ रस-निष्पत्तिके लिये लोकवत् बहुतसे प्रतिबन्धक रहते ही हैं। वियोगमे समय-स्थानकी कोई बाधा नहीं रहती। इसीलिये अपने प्रिय-वियोगके दिव्योन्मादमें वह बाला अपने प्राकृत नाम-रूपात्मक देह-आवासके मनरूपी वातायनके वृत्तिरूप रन्ध्रोंसे जुडी अपलक (निर्निमेष) लोचनोंसे अम्बर (नीलाकाश) में ठसाठस भरे अपने प्राण-प्रियतमको निहारा करती थी।

*भ्रम होता सहसा उसे कभी, रवि उदित हो चुका, हे प्रियतम!*
*सुनने लगती कलरव खग का, भ्रमरोंका गुञ्जन, हे प्रियतम!*
*स्वर चातक का 'पी कहाँ' तथा कोयलकी 'कू-कू', हे प्रियतम!*
*श्रवणों में आकर लग जाती, होने प्रतीति दिनकी, प्रियतम।।११।।*

**सहसा उसे कभी भ्रम होता कि सूर्योदय हो चुका है। और फिर विहङ्गमोंका कलरव भी सुनने लग जाती थी, भ्रमरोंका गुञ्जन भी उसे स्पष्ट सुन पड़ता था। कभी वह चातकका पी-कहाँ, पी-कहाँ सुनने लग जाती थी और फिर दूसरे ही क्षण उसके कानोंमें कोयलका कुहू-कुहू स्वर प्रविष्ट होने लगता। इस प्रकार उसे दिन उग आनेकी स्पष्ट प्रतीति होने लगती थी।।११।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

उसे यदा-कदा अपने मनकी निस्पन्द एकाग्रताजन्य ध्यानावस्थासे होनेवाले प्रियदर्शनकी प्रत्यक्षवत् अनुभूतिके कारण कभी-कभी यह भ्रम हो उठता था कि वियोग-निशा समाप्त हो चुकी है और प्रिय-मिलनका सूर्योदय हो चुका है। वह अपनी विशुद्ध प्रेम-निर्मल भावधारामें मिलनोद्दीपक शुभ सङ्केत करनेवाले कागादि खगोकी बोली, अपने प्रियतमकी मादक अङ्गगन्धसे समाकृष्ट भ्रमरोंका गुञ्जन, चातकोंकी 'पी कहॉ पी कहॉ'(कुहू-कुहू)की मधुर वाणी, कोकिलोका रस-कलरव सुनने लगती थी और उसे वियोग निशाके अन्त और संयोग-दिवसके अभ्युदयकी प्रतीति हो उठती थी।

आशा की बेलि हरी होती, वे आयें आज कहीं, प्रियतम !
मिलने का फिर अनुभव करती, रस-सरिता में बहती, प्रियतम!
उठता वह बोल पहरुआ खग इतने में धीरे से, प्रियतम!
जगकर उस सपने से बाला रोने लगती थी, हे प्रियतम॥१२॥

**फिर क्या था, आशाकी बेलि लहरा उठती - इस भावनासे कि आज कहीं प्रियतम आ ही जायँ। दूसरा क्षण बीतते-न-बीतते वह अनुभव करने लग जाती कि प्रियतम आ गये हैं और मेरा उनका मिलना सचमुच सङ्घटित हो रहा है। रसकी कल्लोलिनी उमड़ चलती। उसमें न जाने वह कहाँ-से-कहाँ बह जाती। इतनेमें वह पहरुआ पक्षी धीरेसे बोल उठता था। बालाका वह सुन्दर सुखद स्वप्न टूट जाता और वह रोने लग जाती थी॥१२॥**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

उसकी प्रियतम-मिलनकी आशा हरी हो उठती थी – इस भावनासे कि कहीं आज उसके प्राणवल्लभ आ ही जावें। वह उनके मिलनका मानसिक अनुभव करने लगती और संयोग-रस-सरितामें बहने लगती थी। उसे अनुभव होने लगता कि उसके प्रियतम उसके साथ परम रसमय निकुञ्जमे विराजमान हैं। वह अपने प्रियतमसे वह मन-ही-मन नाना प्रकारके दिव्य रसालाप करने लगती। उस समय अपने परमानन्दस्वरूप प्रियतमको अपने साथ विशेष सुखानुभव करते जानकर वह आह्लाद- सुधा-सरितामें बहने लगती थी। उसमें परम अनिर्वचनीय रसमत्तताका आविर्भाव हो जाता था। अचानक ही वह पहरुआ पक्षी बोल उठता था। बालाका वह सुखद मानसिक ध्यान टूट जाता और वह पुनः विरहाग्निकी ज्वालामें दग्ध हुई रोने लगती।

महाभावस्वरूपा श्रीराधारानीमें अमूर्त्त-समूर्त्त अनन्त भावोंका विकास एव विस्तार है। उन-उन विभिन्न भावोंके अनुसार ही तदनुरूप रसका ग्रहण उनके प्रियतम श्रीकृष्ण करते रहते हैं। इसी प्रकार श्रीराधाका प्रगाढ अनुराग संवर्धित होता हुआ चरम प्रेमोत्कर्षकी अभिव्यञ्जना करता है।

प्रेममें न विरह सत्य और स्थायी है, न ही मिलन स्थायी है। प्रियतमके पास रहनेपर भी प्रेमके उत्कर्षके कारण श्रीराधारानीको विरहकी प्रगाढ स्फूर्ति हो उठती है और मथुरागमनकालमें सर्वथा अमिलनमें भी नित्य मिलनका अनुभव उन्हें स्थायीरूपमें होता है। फिर यह बाला भी तो साक्षात् श्रीमती राधारानी ही है। उसमें है – अपने प्रियतमके प्रति अनुराग-महासागरका महाप्लावन, और वह उसीमें अपनेको सर्वथा आत्मविस्मृत किये रहती है।

थी राजा की पुत्री बाला, स्वर्णिम दिन थे देखे, प्रियतम !
माता उसकी थी रानी, वह दृगपुतरी थी जिसकी, प्रियतम!
उसकी थी एक बहिन छोटी, प्राणों की छाया थी, प्रियतम!
उसका था एक बड़ा भाई, प्राणों का सहचर था, प्रियतम॥१३॥

**.........बाला राजाकी पुत्री थी। उसके पिता गोपराज वृषभानु थे। उसकी माता राजरानी कीर्त्तिदा थीं। अपने पिता-माताकी वह सचमुच ही दृगपुतली थी। उसकी एक सहोदरा अनुजा (छोटी बहिन) मञ्जुश्यामा थी। उसकी छोटी बहिन उसे प्राणोंकी छायाके समान प्यार करती थी। एक उसका सहोदर बडा भैया श्रीदाम था। वह वास्तवमें उसके प्राणोंका सहचर ही था। बालाने अपने बालपनमें स्वर्णिम सुखके दिन देखे थे।।।१३।।**

*अगणित सहेलियाँ थीं उसकी, प्राणों की धारा थी, प्रियतम!*
*दासी-दासों का था समूह, थी प्राण बनी उनके, प्रियतम!*
*अगणित कुटुम्बिजन थे उसके प्राणों की ऊर्मि हुए, प्रियतम!*
*पशु-पक्षी तक के प्राणों में वह थी निवास करती, प्रियतम॥१४॥*

**श्रीललिता, श्रीविशाखा, श्रीचित्रा, श्रीइन्दुलेखा, श्रीचम्पकलता, श्रीरङ्गदेवी, श्रीतुङ्गविद्या एवं श्रीसुदेवी - ये आठ उसकी मुख्य सहेलियाँ थीं, जो उसकी कायव्यूहरूपा प्राणोंकी धारा ही थीं। इन आठों मुख्य सखियोंके अतिरिक्त भी उसकी अनेकों मञ्जरियाँ एवं दासियाँ थीं, अनेकों दास थे। इन सभीके प्राण उसमें ही बसते थे। उसके अगणित कुटुम्बी लोग थे, जो उसके प्राणोंकी लहरके समान ही उसके परमात्मीय थे। वह सभीकी इतनी अधिक प्यारी थी कि मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षियोंतकके प्राणोंमें उसका निवास रहता था।।।१४।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

यहाँ श्रीराधारानीके परिवारजनों, सखियों, मञ्जरियों - सभीका पू.गुरुदेवके द्वारा उल्लिखित पूरा वर्णन दिया जा रहा है –

### सूर्यवंशी महाराजा महीभानु एवं महारानी सुषमा

यथाकालचक्रानुसार कलिन्दनन्दिनी यमुनाके सुरम्य पुलिनपर भगवती अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया साक्षात् गोलोकधामकी छाया लेकर प्रतिबिम्बवत् अतिशय रमणीय परम पावन ब्रजप्रदेशका निर्माण करती है। इस सम्पूर्ण चौरासी कोस वर्गमें फैले ब्रजके अधिपति होते हैं – महाराजा महीभानु।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि महाराज महीभानुके पिता कौन थे ? उनका यहाँ उल्लेख क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यही है कि सगुण-साकार भागवत चिन्मय धाममें मात्र उनकी पूर्वकी एवं पश्चात्‌की भी दो पीढी ही नित्यलीलामें परिकररूपमें सम्मिलित रहती है। भगवान् नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण एवं उनकी ह्लादिनी महाशक्ति प्रिया श्रीराधारानीके नित्य चिन्मय लीलाधाम गोलोकमें भी उनकी पूर्वकी दो पीढी ही लीला-परिकरके रूपमे सम्मिलित है। इसीलिये यहाँ भी मात्र उनकी दो पीढियोंका ही उल्लेख है।

इस प्राकृत पृथ्वीलोकके माथुरमण्डल एवं ब्रजधाम–चौरासी कोसकी देश-परिधिमें भी आजके लगभग पाँच हजार एव कुछ वर्ष पूर्व भगवान् श्रीराधामाधवके नित्य चिन्मय लीलाधाम –गोलोकका ही प्रतिबिम्बरूपमें अवतरण हुआ था। यह चिन्मयत्व चन्द्रवंशी महाराज देवमीढके पुत्र शूरसेन एवं पर्जन्य गोप तथा सूर्यवंशी बृषभानुपुर-नरेश महीभानुसे ही प्रारभ हुआ था। भगवान् श्रीकृष्णकी चतुर्व्यूह विभूतियोमें श्रीकृष्ण, श्रीबलरामजी, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्धका ही शास्त्रोंमें उल्लेख आता है। अस्तु,

बृषभानुपुरमे महाराजा महीभानु अतिशय तेजस्वी धर्मात्मा एवं परम समृद्ध गोपराज थे। इनके पास दस कोटि दुधारू गोधन था। उन दिनोंकी यह प्रथा थी कि जिस गोपके पास एक कोटिसे अधिक गोधन होता था, वह 'बृषभानु' की उपाधि पाता था। दस लाखसे अधिक दुधारू गोधन रखनेवाले गोपको 'नन्द' उपाधि दी जाती थी। श्रीमहीभानु

गोपराज चौरासी कोसकी परिधिमें रहनेवाले सभी नन्दो एवं बृषभानुओंके एकछत्र राजा थे। उस समय माथुरमण्डलमें यदुकुलके चन्द्रवंशी महाराज शूरसेन सम्राट थे। महाराज शूरसेनके पिता देवमीढ मुनि थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। एक क्षत्रिय पत्नी थी, जिसकी कोखसे शूरसेनका जन्म हुआ था और दूसरी पत्नी थी वैश्यकुलकी, जिसकी कोखसे श्रीपर्जन्य गोपका जन्म हुआ।

श्रीमहीभानु गोपराजकी महाराज शूरसेनसे प्रगाढ मैत्री थी। इस मैत्रीके फलस्वरूप ही महीभानु गोपराज समग्र मथुरामण्डलको अपने ब्रजप्रदेशसे प्रचुर मात्रामें गोदुग्ध, गोघृत, मक्खन, दही एवं गोदुग्धसे बना छेना, मावा आदि मिष्ठान्न निर्यात करते थे और वहाँसे स्वर्ण, रत्न, सैन्य-उपकरण, रेशमी वस्त्र एवं अन्न सामग्री आयात करते थे। ये महाराज शूरसेन ही श्रीवसुदेवजीके पिता थे। श्रीवसुदेवजीसे ही यदुवशी देवककी पुत्री देवकीका पाणिग्रहण हुआ था। देवकीके आठवें गर्भसे भगवान् श्रीकृष्णका अवतार हुआ था।

महाराज शूरसेनकी प्रेरणासे ही पर्जन्यजीको महाराज महीभानुने नन्दोंका अधिपति नियुक्त करके अपनी राजधानीके पार्श्वमे नन्दग्राममें बसाया था। इन्हीं पर्जन्य-पुत्र नन्दरायके गृहमे श्रीकृष्णको वसुदेवजी छोड गये थे और उनकी पुत्रीके रूपमें अवतरित भगवती योगमायाको अपने साथ 'मधुपुरी' ले गये थे। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मके पश्चात् ही कंसप्रेरित मनुजादो (राक्षसों) का इस क्षेत्रमें अनवरत प्रकोप होने लगा था। इन महाबली मनुजादोसे अपनी रक्षा करने सभी गोप नन्दग्रामकी भूमिको त्यागकर बृहद्वन बृन्दावनमें निवासके लिये पलायन कर गये थे।

ये महाराज महीभानु ही श्रीराधारानीके पितामह थे। पराभट्टारिका आदिमहाशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी इनकी कुलदेवी थीं। इनका सम्पूर्ण जीवन ही इन महादेवीकी उपासना एव तपश्चर्यामे ही व्यतीत हुआ था। इन महातपस्वीको भगवान् सूर्यदेवका भी साक्षात्कार हुआ था एवं भगवान् सूर्यने प्रकट होकर इन्हे आचार्यरूपमे भगवती महादेवीकी सूर्यविद्याका सम्पूर्ण तत्त्व-रहस्य समझाया था और पराभट्टारिका भगवतीका सूर्यविद्या-मन्त्र भी इन्हे प्रदान किया था। भगवान् सूर्यदेवके परम कृपापात्र महर्षि भागुरि इनके कुल-पुरोहित थे। इनके प्रासादमें जो भगवतीका अद्भुत स्वर्णिम विग्रह प्रतिष्ठित था, वह पूर्ण जागृत् एवं स्वयं भगवान् सूर्यदेव द्वारा स्थापित किया गया स्वयंभू विग्रह था। भगवती आद्याशक्ति महादेवी महाराज महीभानुके सम्मुख प्रत्यक्ष थीं। इनका सम्पूर्ण बृषभानुपुरनगर भगवती महादेवी द्वारा सुरक्षित था और किसी आसुरी शक्ति अथवा मायाका उसमें प्रवेश ही सभव नहीं था।

इन पूर्ण तपस्वी महापुरुष महीभानुजीकी पत्नीका नाम सुखदा था। ब्रजमण्डलमे ये सुषमा दादीके नामसे ही सर्वत्र प्रसिद्ध थीं। दोनों दम्पतिका प्राय सभी समय भगवतीकी अर्चना-उपासनामें ही व्यतीत होता था। अपने राजकाजका समग्र भार इन्होंने अपने विश्वासपात्र मन्त्रियोको सौप रखा था।

भगवती त्रिपुरसुन्दरीके समादेशसे ही इन्होने यथाकाल गृहस्थधर्मका पालन करते हुए चार अति तेजस्वी धर्मात्मा पुत्रोको उत्पन्न किया था। इनके सभी पुत्र पूर्ण सदाचारी, कर्त्तव्यनिष्ठ, प्रजापालक एव भगवतीके अनन्य भक्त थे। महाराजा महीभानुके एक पुत्री थी। इनके सबसे बडे पुत्र युवराज बृषभानुवर थे। शेष तीन पुत्र अपने बडे भ्राताके पूर्ण अनुगत एव सदैव उनकी सेवामे तत्पर रहते थे। इन तीनों भ्राताओंके नाम भानु, रत्नभानु एव स्वर्भानु थे। इनकी पुत्रीका नाम भानुमुद्रा था जो काश्यभानु गोपकी पत्नी थीं।

### *गोपराज श्रीबृषभानुवर*

गोपराज श्रीबृषभानुवरको ही श्रीराधारानीके पिता होनेका सौभाग्य मिला था। पूर्व जन्ममे ये महादानी श्रीकृष्णभक्त राजा नृगके सुपुत्र महाराजा सुचन्द्र थे। इन्होने तथा इनकी धर्मपत्नी परम सती कलावतीने भगवान् गोलोकेश्वर श्रीकृष्णकी कठोर तपस्यापूर्वक साधना की। दम्पतिपर भगवान् प्रसन्न हुए तो इन्होने भगवती श्रीराधारानीको अपनी पुत्रीके रूपमें प्राप्त करनेकी अभिलाषा व्यक्त की। भगवान् श्रीकृष्णने उनको तथाऽस्तु कहा एव अगले जन्ममें

द्वापर युगमें बृषभानु गोपके रूपमें जन्म लेनेपर इस लालसाकी पूर्ति होनेका वर दिया। इनकी पत्नी महाभागा कलावती ही कीर्तिदाके रूपमें श्रीराधारानीकी माता हुईं। इधर भगवान् सूर्यदेवने भी भगवती श्रीराधाको अपनी पुत्री बनानेकी इच्छासे श्रीकृष्णकी आराधना की। भगवान् सूर्यदेवको भी यही आदेश हुआ कि वे अपना तेज महाराज महीभानुमें स्थापितकर बृषभानु गोपरूपमें जन्म ले। अतः श्रीबृषभानुजीमें भगवान् सूर्यका भी तेज निहित था, साथ ही ये नृगपुत्र सुचन्द्रके भी अवतार होनेसे अत्यन्त दानवीर, परम उदार, परम तेजस्वी धर्मात्मा एवं भगवती परमाद्या योगमाया लीला-महाशक्ति महात्रिपुरसुन्दरीके अद्वितीय कृपापात्र भक्त थे। ज्योंही ये युवराज हुए इन्होंने अपने पितृचरण महीभानुजीकी अनुमति लेकर, अपने ऊपर भगवती पराभट्टारिका महादेवीकी सेवा एवं पूजार्चनाका समग्र दायित्व ले लिया। इसके पूर्व इनके कुलाचार्य ऋषिवर जो दिव्य शक्तियोंके अधिपति, आगम शास्त्रके विज्ञाता ब्राह्मणश्रेष्ठ थे, वही इस दायित्वका निर्वाह कर रहे थे। श्रीबृषभानुजीने अनवरत सत्तर वर्ष, नौ माह एवं दो दिवस तक अतिशय भाव-संवलित चित्तसे भगवती महादेवीकी अर्चना की। इनकी धर्मपत्नी कीर्तिदा ने भी उनका इस साधनामें ऐसा साथ दिया, जिसकी तुलना विश्व-इतिहासमें ढूँढनेसे भी नहीं मिलती। तब एक पावन दिवस भगवती महादेवी त्रिपुरसुन्दरी इनपर प्रसन्न हो उठीं। किन्तु इस प्रत्यक्ष प्रसन्नताका प्रकाश भगवती महादेवीने महारानी कीर्तिदा एवं उनकी छोटी बहिन कीर्तिमतीपर ही किया। लीला-रहस्य अवगुण्ठित बनाये रखनेके कारण इस भेदसे श्रीबृषभानुजी तबतक अपरिचित रहे जबतक महारानी कीर्तिदाने ही उन्हें यथाकाल इसकी सूचना नहीं दी।

कोई कह सकता है, बृषभानुजी जैसे निर्दोष भक्तसे भगवतीने अपना लीला-रहस्य क्यो छिपाया? इसका उत्तर यही है कि बृषभानुजी ब्रजके विशुद्ध माधुर्यमय रागात्मिका वात्सल्यरतिके आश्रयभूत पात्र थे। उनका वात्सल्य-रसोत्कर्ष बिना मुग्धताके शोभा-सम्पन्न नहीं हो सकता था। मैया कीर्तिदाका पूर्वजन्मका घोर तपस्यारत जीवन उन्हें इस योग्य बना चुका था, जिससे उनके हृदयमें किञ्चित् ऐश्वर्य भी यदि प्रकाशित हो जाय, तब भी उनके विशुद्ध मातृवात्सल्यभावमें क्षति नहीं लगे। इसीलिये भगवतीने सर्वप्रथम मैया कीर्तिदा एवं मौसी कीर्तिमतीपर ही अपनी लीलाके रसात्मक रहस्य प्रकट किये । श्रीबृषभानुजी सर्वथा भोले, एवं मुग्ध ही बने रहे।

*दिव्यधामका स्वरूप*

सच्चित् परमानन्दमय गोलोकधाम समस्त दिव्य धामोंमें प्रमुख है। गोलोकधाम ही समग्र ब्रह्माण्डोंकी आत्मा है। गोलोकधामसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड नित्य अनुप्राणित होते रहते हैं। यह नित्य सच्चिदानन्दमय परधाम सबसे विलक्षण एवं सर्वोपरि होनेपर भी सर्वत्र व्याप्त और सबमें स्थित है। इसकी पादविभूतिके एक अंशमें ही समस्त प्राकृत लोकोंकी परिसमाप्ति हो जाती है। इनसे सर्वथा अस्पृष्ट जो त्रिपादविभूति है, वह अप्राकृत सच्चिदानन्दमय धाम है। वही आदिमहाशक्ति पराभट्टारिका सोपाधिक परात्पर परब्रह्म परमात्मशक्तिका परमैश्वर्यमय श्रीपुरधाम है। उसका ही विशुद्ध सार-स्वरूप माधुर्य-रसैश्वर्यसम्पन्न गोलोकधाम है। इस परमोज्ज्वल, परम मधुर, परम कल्याणप्रद, परम सुन्दर, सर्वातिशयी, नित्य गोलोकधाममें ही बृन्दावन, मथुरा, गोकुल, नन्दग्राम, बरसाना, गिरिराज तथा यमुनापुलिन आदि दिव्य शाश्वत प्रदेश हैं। हमारा यह मर्त्यधाम पार्थिव है। यह जड एवं ठोस है। यहाँ एकमें दूसरा एवं दूसरेमे तीसरा नहीं रह सकता। दिव्य सच्चिन्मय परमानन्दपूर्ण गोलोकधाम इस प्रकारका जड एवं ठोस नहीं है। वह कैसा है, इसे वाणीसे समझाया ही नहीं जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भगवान्‌की ही भाँति वह सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वाधार, दिव्य प्रकाशमय, तेजोमय, नित्य सत्य भावमय है। उसीमें समस्त दिव्य लोकोंका सत्य स्फुरण है। वे साकेत, वैकुण्ठ, कैलास आदि भेदोंसे सत्य-सत्य ही अनेक होते हुए भी सत्य-सत्य एक ही हैं। इस परतम गोलोकधामकी अधीश्वरी श्रीराधारानी हैं। ये भगवान् श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न हैं। ये गोलोकेश्वर श्रीकृष्णको परमानन्द प्रदान करनेवाली उनकी ह्लादिनी शक्ति हैं। ये श्रीकृष्णके स्वरूपकी आधार हैं और इनके स्वरूपके आधार श्रीकृष्ण हैं। ये नित्य प्रिया प्रियतम

हैं। यह प्रिया-प्रियतमभाव कैसा है, इसे समझनेके लिये कोई लौकिक दृष्टान्त समीचीन ही नहीं है। शब्द इतना ही बता सकते हैं कि यह सर्वविलक्षण, निरुपाधि, अतुलनीय एवं अचिन्त्य है।

प्राकृत जगत् रूपमें जो भी वृषभानुपुर, गोकुल, नन्दग्राम आदि धाम, साथ ही वृषभानुजी, नन्दजी आदि व्रजके सभी नर-नारी, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, गोप-गोपियाँ, अनन्त सखी-सखागण, गिरि-पहाड, नद-नदी आदि अवतरित हुए है, वे सभी इनके दिव्य राज्यमे इनकी मात्र एक स्वप्न-लीलामात्र हैं।

विचित्र लीला-सम्पादिनी भगवती पराभट्टारिका त्रिपुरा सदैव लीला-वैचित्र्यके आयोजनमें लगी रहती हैं। प्रिया-प्रियतम निकुञ्जमे शयन कर रहे हैं। इसी समय प्रिया श्रीराधारानीके सामने योगमाया एक दृश्य उपस्थित करती हैं। प्रियाको स्वप्न होता है – मैं भारतवर्षमें वृषभानुपुरीमें कीर्त्तिदा माताके अङ्कमे बालिका रूपमे प्रकट हुई हूँ। स्वप्न मनका सङ्कल्प है। प्रिया राधारानी सत्य-सङ्कल्प हैं। अत उनके इस सङ्कल्पके अनुसार भारतवर्षके व्रजमण्डलान्तर्गत वृषभानुपुरीका प्रादुर्भाव होता है। श्रीराधारानीके दादा-दादी, पिता-माता, चाचा-चाची, मामा-मामी, नाना-नानी, फूफा-भूआ, मौसा-मौसी सखा-सखी, दास-दासी – सभीके प्रादुर्भावका घटनाक्रम प्रारंभ हो जाता है। कहनेका तात्पर्य यही है कि श्रीवृषभानुजी श्रीराधारानीके नित्य सनातन स्वरूपभूत पिता हैं । इनका शरीर तप्तस्वर्णके सदृश है। केश सर्वथा काले हैं। राज्यशासनमे इनके समान कुशल व्रजमण्डलमे दूसरा कोई नही। धर्मपालनमे भी ये अद्वितीय हैं। ये दस कोटि दुधारू गौओंके स्वामी हैं।

## *जगन्माता कीर्त्तिदा*

पुराणोके अनुसार पितरोंकी कन्या मानसीने सच्चिदानन्दमयी योगमाया महाशक्ति जगन्माताको अपनी पुत्री बनानेकी लालसासे घोर तप किया। सूर्यकी प्रखर रश्मियोंके सदृश उसकी तेजोमयी तपःशक्तिने त्रिलोकीको विचलित कर दिया। अन्ततः जगन्माता भगवती त्रिपुराको प्रकट होना ही पड़ा। उन्होने उसे वरदान दिया कि सत्ययुगमे तुम्हारा जन्म मेनकाके रूपमें होगा और नगराज हिमालय तुम्हारा पाणिग्रहण करेंगे, उस समय पार्वतीके रूपमे मैं तेरी कोखको सफल करूँगी। इसी प्रकार त्रेतायुगमे तेरा जन्म सुनयनाके रूपमे होगा और राजा जनक तुम्हारा पाणिग्रहण करेगे। तब पुत्री सीताके रूपमें मैं ही धरासे प्रकट होकर तुम्हारी अयोनिजा पुत्री बनूँगी। इसी प्रकार द्वापरमे तुम कलावतीके रूपमे अवतरित होवोगी। उस समय परम दानवीर महाराजा नृगके परम धर्मात्मा सुपुत्र सुचन्द्रसे तुम्हारा पाणिग्रहण होगा। तुम दोनो नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाको अपनी पुत्रीके रूपमे प्राप्त करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णकी अनवरत साधना करोगे। तुम्हारी साधनाको सफल करने स्वय वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्ण प्रकट होंगे एव तुम्हें वरदान देंगे। उस वरदानके फलस्वरूप तुम्हारे पति महाराज सुचन्द्रका तो यथावसर वृषभानुपुरनरेश महीभानुके घर सुषमा महारानीकी कोखसे वृषभानुवर गोपराजके रूपमे जन्म होगा, एवं तुम एव तुम्हारी अनुजा कीर्त्तिमती - दोनो एक साथ ही रावलाधीश परम धर्मात्मा गोपराज बिन्दुके गृहमें 'यज्ञकन्या'के रूपमे यज्ञाग्निसे प्रकट होओगी। तुम्हारी उज्ज्वल कीर्त्तिका गान देवर्षि, मुनीश्वर एव सकल महात्मा करेगे और तुम्हारा नामकरण कीर्त्तिदाके रूपमें विश्वविख्यात होगा। इसी प्रकार तुम्हारी अनुजा बहिनका नामकरण भी कीर्त्तिमती होगा।

यथावसर तुम्हारा पाणिग्रहण गोपराज वृषभानुवरसे होगा और तुम्हारी पुत्रीके रूपमे गोलोकेश्वरी श्रीराधा जन्मग्रहण करेगी। तुम्हारी अनुजा छोटी बहिनका पाणिग्रहण सत्यभानु गोपके साथ होगा जिनका एक नाम कुशगोप भी होगा। वृषभानुजीके साथ सत्यभानु गोपका इतना प्रेम होगा कि इन दोनोको लोग लव-कुशके समान सगा भाई ही मानेंगे और सत्यभानुका नाम 'कुश' ही रख देंगे।

यहाँ यह नित्य ध्यान रहे कि जैसे भगवान् श्रीकृष्ण विशुद्ध चिन्मय, आनन्दमय, प्रेम एव रसमय है, ठीक इसी प्रकार ये जगन्माता कीर्त्तिदा मैया एव कीर्त्तिमती मौसी दोनो ही विशुद्ध चिन्मयी, प्रेमभावमयी श्रीराधारानीकी जन्मदात्री

माता एव मौसी है। हम लोगोंकी भाँति वस्तुतः इनका देह प्राकृत रक्त-मांसमय नहीं है। न ही ये प्रापञ्चिक, किसी सृष्टि के ब्रह्मा द्वारा कल्पित ही हैं। श्रीवृषभानुजी, उनके पिता महीभानु, उनकी पत्नी सुखदा – सभी अप्राकृत सृष्टि ही हैं। यह सदैव ध्यान रहे कि ब्रजमें उत्पन्न होनेवाला भगवल्लीलाका पात्र एक कीट भी कर्मजन्य प्रारब्धभोक्ता जीव नहीं है। ये सभी पात्र महाभाग्यवान् हैं, रसनिधि हैं, भावशरीरधारी हैं और नित्य सनातन हैं। ये सभी आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रपञ्चमय मायिक जगत्में अवतरित अवश्य हुए थे, इनकी मृत्युलोकमें अवतार-लीला ऐतिहासिक सत्य है, फिर भी ये सभी जन्म-मरणधर्मसे सर्वथा अतीत हैं। प्रेमसे छलकते हुए दिव्य नेत्रोंसे ही जगन्माता कीर्त्तिदाके पावन चरित्रका दर्शन अनुभव हो सकता है।

पद्मपुराण पाताल खण्डमें श्रीमहादेवजीके प्रति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं -

**नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः।**
**सखायामितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम।।**
**सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्द रसात्मकम्।**
**इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम।।** (५१।७४-७५।)

अर्थात् मेरे पिता, माता, सखा, गोप, गौएँ और यह मेरा वृन्दावन – सभी नित्य और सच्चिदानन्दरसमय हैं। मेरे इस वृन्दावनका नाम आनन्दकन्द जानो।

यह सत्य है कि कलावती प्राकृत देहधारी थीं, राजा सुचन्द्र भी प्राकृत जीव थे, किन्तु इन्होने उत्कट साधनाके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा-पात्रता प्राप्त की और उन्हींकी कृपासे जन्मान्तरमें ये सहज भावदेहको प्राप्त हुए। जैसे शरीरके स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण आदि भेद होते हैं, ऐसे ही एक भावदेह भी होता है। यह भावदेह न कर्मजन्य सगुण-साकार ही है, एवं न ही निर्गुण-निराकार ही है। यह परात्पर परात्मक देह है, जो मात्र नित्य गोलोक अथवा नित्य वृन्दावन-धाममे ही दृष्टिपथमें आता है, अन्यत्र कहीं नहीं।

इस विलक्षण वृन्दावनधाममें सभी लोग भावदेहसे एकमात्र नन्दनन्दन श्रीकृष्णको सुखदान करनेके लिये ही सदैव लालायित रहते हैं।

श्रीकीर्त्तिदामैया और श्रीयशोदामैया – ब्रजराज्यकी इन दोनों वात्सल्यवती महिषियोंका वात्सल्य-प्रेम वस्तुतः अत्यन्त सुदुर्लभ है। रसिक महात्माओंका अनुभव है कि यह वात्सल्यरस तीन प्रकारका होता है। इस वात्सल्यरसके तीनों प्रकारोंमें ही एकको अपेक्षा दूसरा अधिक, एवं दूसरेसे तीसरा और अधिक उत्कृष्ट और मूल्यवान् है। जैसे मणियाँ तीन प्रकारकी होती हैं – साधारण मणि, चिन्तामणि और कौस्तुभमणि। साधारण मणिका जैसे साधारण मूल्य होता है, उसी रीतिसे सभी वात्सल्यवती महाभागा ब्रजदेवियोंका ब्रजेन्द्रतनय कन्हैयाके प्रति अत्यधिक वात्सल्य रहता है। किन्तु वे सभी कन्हैयाके अपने घरोंमें आगमनपर, श्रीकृष्णके सम्पर्कसे महाभागा होनेपर भी, उनकी सेवा करके अपनेको कृतकृत्य, सुखयुक्त होनेका ही भाव रखती हैं। उनमे भरपूर निजसुख-संधान होता ही है। यद्यपि इस सुखसंधानके विषय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, परन्तु इनमें स्वकल्याण, स्वआनन्दभोगकी भावना कूट-कूटकर भरी होती है।

दूसरे प्रकारकी मणि चिन्तामणि होती है। चिन्तामणि जहाँ-तहाँ सहजमें नहीं मिलती। वैसे ही भगवान्की जन्मदात्री माता देवकी, कौशल्या, अदिति, देवहूति आदि माताओंका भी भाव सुदुर्लभ होता है। इनमें उभयसुखी भाव है। अपने पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम, श्रीराम, वामन, कपिल आदिकी सुख-भावना इन माताओमे है अवश्य, किन्तु साथ ही अपने कल्याणका भाव भी इनमें निहित रहता ही है। इसलिये इनके वात्सल्यको चिन्तामणि तुल्य कहा जाता है। चिन्तामणियाँ जैसे अनेक भी मिल सकती हैं, वैसे ही ये भगवज्जन्मदात्री माताएँ भी अनेक हैं।

भगवन्माता कीर्त्तिदा एवं यशोदाका वात्सल्यभाव सर्वोत्कृष्ट है। इनका असमोर्ध्व तत्सुखी वात्सल्यभाव कौस्तुभमणिके समान अद्वितीय है। जैसे कौस्तुभमणि मात्र भगवान्‌के कण्ठका भूषण होती है, उसी प्रकार महारानी कीर्त्तिदा एवं यशोदा–सरीखा भाव भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलास्थली ब्रजके अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता। इस अतुलनीय, अनुपमेय और अप्रमेय विशुद्ध कृष्णसुख-भावभावित वात्सल्यरसके विषय, ग्राहक एवं भोक्ता हैं – यशोदोत्संगलालित, बाल्यलीलाविहारी, ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और इसकी आश्रय हैं – भगवती महाभागा यशोदा एवं कीर्त्तिदा मैया, जो इस दिव्य वात्सल्यप्रीतिरसकी अनन्त अगाध उदधि हैं। इनके परमपूत भोग-मोक्ष-कामना-लेश-शून्य हृदयमें यह वात्सल्यभाव नित-नित नव-नव वेगसे लहराता रहता है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि कीर्त्तिदा मैया तो श्रीराधारानीकी माता हैं, उनका तो श्रीकृष्णसे सम्पर्क ही बहुत अल्पकालके लिये होता है। श्रीकृष्ण तो अपनी मैया यशोदाके साथ कभी-कभार वार-त्यौहार निमन्त्रित होनेपर ही बृषभानुपुर जाते हैं। फिर कीर्त्तिदा मैयाका श्रीकृष्णके प्रति अतुलनीय वात्सल्य प्रेमभाव कैसे सिद्ध होता है?

इसका उत्तर यही है कि श्रीराधा स्वय ही भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं। वस्तुतः वे दो हैं ही नहीं। जो श्रीराधा हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं, जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही श्रीराधा हैं। जिस प्रकार दुग्धमें धवलता है, अग्निमें दाहिकाशक्ति है, पृथ्वीमें गन्ध है, इसी प्रकार श्रीराधा-श्रीकृष्णका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही तत्वके दो अविच्छिन्न स्वरूप हैं। अतः श्रीराधाकी माता होनेके नाते श्रीकीर्तिदा मैया श्रीकृष्णकी भी माता हैं और श्रीकृष्णकी माता होनेसे श्रीयशोदा मैया श्रीराधाकी भी माता हैं। जो वात्सल्यधारा कीर्तिदा मैयाके द्वारा श्रीराधारानीकी ओर प्रवाहित होती है, उसका रस आत्मारूपमे श्रीकृष्ण ही पूर्णतया परितृप्त हुए पान करते हैं, और जो वात्सल्य- प्रीतिधारा यशोदा मैयाके द्वारा श्रीकृष्णको समर्पित होती है, उसका आस्वादन श्रीराधारानी आत्मरूपसे करती रहती हैं। इनमें भेद कदापि नहीं मानना चाहिये।

श्रीकीर्त्तिदाकी तो सदैवसे यही साध रहती है कि किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्ण उसके गृहकी शोभा बन जावें, गृहके स्वामी होकर यहीं रहें। एक दिवस तो श्रीकृष्ण मैया कीर्त्तिदाकी यह साध पूरी करनेको तत्पर ही हो जाते हैं और एक लीलाप्रसङ्गमें अपना यह निर्णय मैया कीर्त्तिदाको सुना ही देते हैं कि वे उनके घरमें रहनेको तय्यार हैं। पू. गुरुदेवने अपने *'प्रियतम काव्य'*में पञ्चम शतकमें यह लीला उल्लेख की है। अब तो यशोदा मैया घबड़ा जाती हैं। वे बोल उठती हैं – 'अरे साँवरे ! फिर मेरे गृहको नित्य उद्भासित कौन करेगा रे ?' इसके उत्तरमें अपनी मैया यशोदासे श्रीकृष्ण कहते हैं –

*'मैया री ! अच्छा सुन ले यह, तू समझ नहीं पायी, प्रियतम !*
*मैं एक साथ दोनों गृहमें रह लूँगा, देख, सही, प्रियतम !*
*आरसी एक चम-चम करती थी पड़ी पासमें ही, प्रियतम !*
*मरकत-साँवर छोरा बोला, होकर समक्ष उसके, प्रियतम !*

*तेरे घर तो मैं स्वयं नित्य हूँ, और रहूँगा ही, प्रियतम !*
*अब अहो ! प्रतिच्छाया मेरी रानीको यह दूँगा, प्रियतम !*
*इनकी दृगपुतरी जो बेटी श्रीजीके साथ सदा, प्रियतम !*
*मेरी यह छाया भी खेले, मैं तो खेलूँगा ही प्रियतम !*

जो हो अहो ! उस लघुवयके शिशुका यह रसपूर्ण विनोद सुनकर क्षणभरके लिये सबके मनकी विचित्र दशा हो जाती है। यह बात तो सर्वथा विनोदकी थी, किन्तु बृषभानु महाराजकी रानी कीर्त्तिदाके अन्तस्तलमें उसी क्षण यह लालसा गहरी-से-गहरी बनकर स्थान पा जाती है; बस, उनकी बुद्धिको, मनको उस क्षण यह लालसा पूरी तरह मन्थन

करने लगती है। उनके मनमें उस क्षणमें यही विचार आता है –'कदाचित् जगज्जननीकी रुचि मेरी इस लालसाको समर्थित करदे , और यह नीला शिशु, भले ही प्रतिबिम्बरूपमें ही सही, मेरी कोखसे मेरा पुत्र-पुत्री बनकर आ जाय और मैं इसे अप्रतिम वात्सल्यदानकर सुखसे नहला दूँ। उस समय मैं अपनी बडी पुत्रीको इसी प्रतिबिम्बस्वरूप साँवरे शिशुके पास रखकर निश्चिन्त हो जाऊँ। मेरी बडी पुत्री जो सदैव निमीलित-नेत्र रहती है, इस नीली प्रतिमाके सङ्गमें नेत्र खोलकर हँस-हँसकर खेला करे। जब मेरी बडी पुत्रीके हाथ पीले होनेका क्षण आवे, तब श्यामवर्णवाली छाया या तो नीले शिशुमें मिल जाय अथवा बड़ी पुत्रीकी नित्यसङ्गिनी हो जाये।'

बस, रानीकी इस विचारधाराके मध्य ही उनके नेत्रोमें सहस्रों दिवाकरोंकी ज्योति भर आती है। उन्हें प्रत्यक्ष दीख पडता है मानों महामहिमामयी महात्रिपुरसुन्दरी आकाशमें खडी उनसे प्रश्न कर रही हो -'रानी ! क्या तुम्हारी एक भी अभिलाषा ऐसी है, जो तुरन्त पूरी नहीं हो गयी हो ? सुनो ! तुम्हारे सामने विराजित इस नीले बालककी प्रतिच्छाया अनुपम सुन्दर एवं चिन्मयी कन्याका रूप धारणकर तुम्हारे उदरस्थलमे प्रविष्ट होगी।' महादेवी इतना कहकर अन्तर्हित हो जाती है।

कहनेका इतना ही अर्थ है कि संधिनीस्वरूपिणी महारानीकी कोखसे श्रीकृष्णकी छाया ही मञ्जुश्यामाके रूपमें राधानुजा बनकर अवतरित होती है और उसके मिससे मैया कीर्तिदा अपनी अगाध वात्सल्य-नेहराशिका अप्रतिम दान श्रीकृष्णको दे-देकर अनवरत परितृप्त एवं कृतकृत्य होती रहती हैं।

वस्तुतः यह कीर्तिदा महारानीका विशुद्ध, घनीभूत, अपरिसीम वात्सल्यभाव ही है जो उन्हें यशोदारानीसे भी शताधिक सौभाग्य प्रदान कर देता है। वे श्रीकृष्णकी आत्मस्वरूपिणी राधारानीको तो वात्सल्यरस-सुख देकर नित्य परितृप्त करती ही हैं, साथ ही उनके विशुद्ध वात्सल्यभावका रस ग्रहण करने रसिकशेखर स्वयं श्रीकृष्ण भी अपनी छायारूपमे उनकी छोटी कन्या राधानुजा मञ्जुश्यामा बनकर उस रसका पूर्ण अवगाहन करते हैं।

यह सदैव ध्यान रहे कि मूर्त्तिमती वात्सल्यरस-घन-विग्रहा कीर्त्तिदा मैया द्वारा ही अमूर्त्त-समूर्त्त सर्वत्र वात्सल्यरसका वितरण अनादि कालसे अबतक जगत्की सभी माताओको हो रहा है, और अनन्तकालतक होता रहेगा। देवलोककी माता अदितिसे लेकर एक मादा लघु कीटमे भी जो अपने सृजनके प्रति ममत्व एवं वात्सल्य है, उस सबकी मूल स्रोतस्विनी मैया कीर्त्तिदा हैं। जैसे श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण परस्पर अभिन्न हैं, वैसे ही मैया कीर्त्तिदा और यशोदा भी परस्पर नित्य अभिन्न हैं। ये पृथक् दो स्वतंत्र सत्ता हैं ही नहीं। दोनो ही वात्सल्य-सिन्धुकी ही एक होकर दो दिखनेवाली ऊर्मियाँ हैं।

भगवती श्रीराधा एवं उसके प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति मैया कीर्त्तिदाकी वात्सल्य-प्रीति इतनी अद्भुत समाकर्षक एव अनिर्वचनीय है कि वह बृषभानुपुरकी सभी समान-वयशीला वयस्का गोपियोंको राधाकृष्ण- युगल-प्रीतिमें निमग्न कर देती है।

## *कीर्त्तिदा मैयाके माता-पिता एवं भाई-बहिन*

मनुष्य प्रेमकी कितनी ही ऊँची-से-ऊँची कल्पना क्यों न करे, वह उस कल्पनातीत प्रेमके एक कणकी छाया भी नहीं छू सकता, जो इस ब्रजराज्यमें किसी भी गोपमे युगल दम्पति श्रीराधाकृष्णके प्रति है। रावलनरेश महाराज विन्दु एवं महारानी मोक्षदा श्रीराधारानीके नाना-नानी हैं। जिन अप्राकृत दिव्य तेजोमय धर्मात्मा रावलनरेश विन्दु गोपराजके बीज एवं मैया मोक्षदाकी कोखसे कीर्तिदा महारानी जैसी अप्राकृत वात्सल्यमयी पुत्रीका जन्म होता है, उनकी प्रीति-महिमाका बखान करनेमें भला कौन समर्थ हो सकता है। इन महाभाग्यशाली नाना-नानीकी महिमा, इनके स्वरूपभूत भाव-सौन्दर्यका यत्किञ्चित् आस्वादन तो वही कर सकता है, जिसे स्वयं प्रेमघनमूर्त्ति श्रीकृष्ण ही यह तत्व समझादें। एवं फिर तो वह तत्क्षण ही इन महात्मा गोपोंके समान स्वयं वात्सल्यभावसिन्धु हुआ, लहराने लगेगा। महाराज

विन्दु एव नानी मोक्षदाकी महिमा अपनी विभिन्न भावनाओंके अनुसार वैष्णवाचार्योंने इतनी ही बखान कर पायी है कि इन महाभाग्यवान् नाना-नानीके प्राण सदैव अपनी दौहित्री राधामे ही समाये रहते हैं। इन दोनो वृद्ध दम्पतिके शरीरोंमें जीवनरसके रूपमें ब्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्ण एवं राधा ही प्रवाहित होते रहते हैं। इनके श्वास-श्वास श्रीराधाके सुखकी कल्पनामें ही खोये रहते हैं। किसी कविकी उक्ति इनके लिये चरितार्थ होती है -

*कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,*
*हियमें न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान हैं।*

इन नाना-नानीको इनकी दौहित्री राधाके सुखके अतिरिक्त न तो इन्द्रपद ही प्रिय था, न ही योगसिद्धियाँ। मोक्षपदको तो ये ठुकराकर ही गोप-गोपी बने हैं। इन्होंने कठोर तप एवं दीर्घकालीन साधना करके ही श्रीराधारानीके नाना-नानी होनेका सौभाग्यमूलक पद प्राप्त किया है। इन दोनो वृद्ध दम्पतिको खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते, राजकाज करते, यज्ञानुष्ठान आदि धर्मकार्य करते सभी समय श्रीराधारानीका ही स्मरण होता रहता है, और ये उसकी स्मृतिमें, उसका ही चिन्तन करते आँसू प्रवाहित करते रहते हैं।

रावलनरेश गोपराज विन्दुके तीन पुत्र हैं। सबसे बडे पुत्रका नाम है - भद्रकीर्ति एवं उसके दोनों अनुजोंके नाम है – महीकीर्ति एवं चन्द्रकीर्ति। ये तीनों अपने भानजे श्रीदामपर एवं भानजी श्रीराधापर पूर्णतया न्यौछावर हैं। सबसे बडे पुत्र भद्रकीर्ति तो राज-काज सम्हालनेमें संलग्न रहते हैं, शेष दोनो भाई – महीकीर्ति एव चन्द्रकीर्ति अपने भानजे श्रीदामके साथ उसके सखा श्रीकृष्णके रक्षकके रूपमे गोचारणमें सहयोग करते रहते हैं।

भद्रकीर्तिकी पत्नी मेनकादेवी है एवं इन्हे ब्रजमें मौना भी कहा जाता है। महीकीर्तिकी पत्नी का नाम षष्ठीदेवी एवं चन्द्रकीर्तिकी पत्नीका नाम धात्री है। चन्द्रकीर्तिकी पत्नीको ब्रजमें धातकी भी कहा जाता है। धात्री एवं षष्ठीका यशोदारानीसे अतिशय प्रेम है। शिशु अवस्थामें श्रीकृष्णकी इन दोनोने धायके रूपमें सेवा की है। श्रीकृष्ण भी इन्हें अपनी माताके तुल्य ही आदर एवं प्रेम करते हैं।

## श्रीराधारानीके चाचा एवं फूफा-भूवा

राधारानीके पिता श्रीवृषभानुजी अपने पिताके सबसे बडे पुत्र हैं। इनके सभी अनुज सदैव इनके अनुगत एवं सेवा-परायण ही रहते हैं। इनके नाम क्रमशः रत्नभानु, सुभानु एव भानुगोप हैं। ये सभी महादेवी भगवती त्रिपुरसुन्दरीके अनन्य उपासक हैं। इन सभीके आचार्य एव गुरु भगवान् सूर्यदेव है और सूर्यविद्या इन सभीको प्रत्यक्ष है। ये सभी भगवतीकी कृपासे वृषभानु-दुहिता राधाके प्रेममें छके रहते हैं। ये जगदम्बाकी कृपासे उनकी उपासना करते-करते इतने शुद्धचित्त होगये हैं कि इन्हें विवाह करनेकी रुचि ही नहीं होती। अपने बडे भाई वृषभानुजीकी भक्तिमे ये इतने तन्मय है कि स्वसुख-भावनाका लेश भी इनमे उत्पन्न नहीं होता। इनके सर्वस्व तो वृषभानु-दुहिता श्रीराधा, राधानुजा मञ्जुश्यामा एवं भतीजा श्रीदाम ही हैं। इनका सम्पूर्ण जीवन उनके सुखमें ही सहज समर्पित है।

इनके समान ही गुण-शीलवती महाराज वृषभानुजीकी बहिन भानुमुद्रा है। भानुमुद्राका विवाह कुश नामक गोपसे हुआ जिसे ब्रजके लोग 'कुश'के स्थानपर काशगोप भी कहते हैं। इन सभीके पास कोटि-कोटि दुधारू गौएँ हैं।

## श्रीराधारानीकी मौसी कीर्तिमती एवं मौसा सत्यभानु

श्रीराधारानीकी मौसी कीर्त्तिमतीका चरित्र पू.गुरुदेवने अपने *'प्रियतम काव्य'*मे विस्तारसे दिया है। कीर्त्तिमतीका विवाह वृषभानु महाराजके अति विश्वासपात्र सगे भाईके समान सचिव सत्यभानुसे हुआ है। मौसी कीर्त्तिमती अपनी बडी बहिन कीर्त्तिदाकी तरह ही अयोनिजा हैं। दोनों बहिनें साथ साथ रावलनरेश महाराजा बिन्दुके घरमे यज्ञाग्निसे प्रकट हुई हैं।

पू.गुरुदेव अपनी अनुभूत लीलाका वर्णन करते हैं -

*नौ मास और कुछ दिन पहले इस देवशयनसे ही, प्रियतम !*
*प्रत्यक्ष महादेवीका था दर्शन-सौभाग्य मिला, प्रियतम !*
*जो प्रथम कृत्य रङ्गस्थलका है नटी किया करती प्रियतम !*
*फिर हो लीला, होती है जो चिन्मयी कदाचित् ही प्रियतम !*

यहाँ जिन मंत्री सत्यभानुकी पत्नीका वर्णन है, वे अन्य कोई नही, महारानी कीर्त्तिदाकी बहिन कीर्त्तिमती ही हैं। महारानी कीर्त्तिदाकी कोखसे राजपुत्र श्रीदामके जन्मके पूर्व ही उनकी अनुजा कीर्त्तिमतीके कुन्दवल्ली नाम्नी पुत्री उत्पन्न हुई हैं। यहाँ इसका ही उल्लेख जगन्माता महामाया कर रही हैं। इन महाभाग्यवती कुन्दवल्लीके पाणिग्रहण-संस्कारकी लीलाको भी एक लघु नाटिकाके रूपमें पू.गुरुदेवने रचित की है जिसका प्रकाशन *'महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा'* नामक पुस्तकके पञ्चम खण्डमें किया जा चुका है। ये कुन्दवल्ली ही सर्वप्रथम नटीकी तरह इस रसलीलाके रङ्गस्थलके प्रथम कृत्यका प्रारम्भ करती हैं। इनका विवाह प्रकटमें तो श्रीकृष्णके ताऊके पुत्र सुबलसे होता है किन्तु इस विवाह-समारोहमें कुन्दवल्लीको प्रथम वरमाला श्रीकृष्ण ही पहनाते है, फेरे भी श्रीकृष्ण ही लेते है, और पाणिग्रहण-संस्कार भी श्रीकृष्णसे ही होता है। सुबल तो मात्र अनुगतकी तरह श्रीकृष्णका अनुगमन करता हुआ विवाहके सात फेरोंमें मात्र तीन फेरे ही कुन्दवल्लीके साथ लेता है, शेष चार फेरे उसके श्रीकृष्णके साथ ही होते है। सुहागरातके समय भी निशामें जब कुन्दवल्ली एवं सुबल मिलते हैं तो सुबल अपने सखा श्रीदामकी मौसेरी बहिन होनेके नाते कुन्दवल्लीको अपनी धर्मबहिन जतलाकर पृथक्‌शैया होकर निशा व्यतीत करता है। दोनों दम्पति अति पवित्र मनसे यह प्रतिज्ञा लेते हैं कि वे दोनों उनके प्राणाराध्य श्रीकृष्णकी श्रीराधारानीके साथ होने वाली विशुद्ध रसमयी प्रीतिलीलाके मात्र उपकरण एवं सहयोगी ही बने रहेंगे।

राधारानीकी मौसी कीर्त्तिमती भगवती महामायाकी इतनी कृपापात्रा हैं कि उनकी प्रसववेदनाके प्रारंभ होनेका समाचार सेविका द्वारा प्राप्तकरके ज्योंही महारानी कीर्त्तिदा अपनी बहिनके सदन-कक्षमे पहुँचती हैं उन्हे भान होने लगता है - 'ओह ! यहाँ तो सचमुच सर्वत्र अंशुमालीकी ही ज्योति फैली हुई है।' जो दासी महारानी कीर्त्तिदाके साथ-साथ आती है, उसके नेत्र तो उस ज्योतिकी चकाचौंधसे ही बन्द हो जाते हैं और वह उस तेजोमय कक्षमे प्रवेश ही नहीं कर पाती। पू.गुरुदेव अपने काव्यमें कहते हैं –

*मीलितनयना ध्यानस्थ हुई मंत्रीकी जायाकी, प्रियतम !*
*गोदीमें प्रकट जगन्माता हो गयी अचानक थीं, प्रियतम !*
*अप्रतिम सुन्दरी नवजाता कन्याका वेष लिये, प्रियतम !*
*केवल रानी ही देख सकीं अद्भुत उस घटनाको, प्रियतम !*

ओह ! महादेवीकी कैसी अद्भुत कृपा महारानी कीर्त्तिदाके सम्मुख व्यक्त होती है ! वे प्रत्यक्ष देखती हैं कि अप्रतिम सुन्दरी कन्याका वेष धारण किये मंत्री सत्यभानुकी पत्नी (उनकी बहिन कीर्त्तिमती) की गोदमें अचानक साक्षात् जगन्माता ही अवतरित हो जाती हैं।

यह सभी विवरण मात्र यही दिग्दर्शित करनेके लिये उल्लिखित है कि कीर्त्तिदा महारानीकी अनुजा कीर्त्तिमती कितनी सौभाग्यवती हैं। जो सृष्टिकालमे सर्गशक्ति, स्थितिकालमे पालनशक्ति एवं संहारकालमें रुद्रशक्तिके रूपमें रहती हैं, चराचर जगत् जिनके मनोरंजनकी सामग्री है, परा, पश्यन्ती एवं वैखरी वाणीके रूपमे जो विराजमान रहती हैं, ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकरके द्वारा जो प्रतिपल आराधित हैं, उन अविज्ञातगति भगवती महामायाके अंशको अपनी पुत्रीरूपमें पाकर कृतकृत्य होनेवाली जगन्माता कीर्त्तिमतीके भाग्यको भला, क्या कहकर सराहा जावे ! सचमुच ही ये महाभाग्यवती राधारानीकी मौसी जो ठहरीं।

पुत्रीके रूपमें साक्षात् भगवती महादेवीके अंशको पानेके पश्चात् भी इस मौसीका मन जितना कीर्त्तिदाकुमारी राधापर न्यौछावर है, उतना अपनी पुत्रीपर नहीं। अपनी पुत्रीको तो सेविकाओंपर छोडकर ये सदैव भानुनन्दिनीको ही अपनी गोदमें लिये रहती हैं।

यह तो महारानी कीर्त्तिदा एवं श्रीवृषभानुजीका नित्यका नैमित्तिक कार्य है। प्रभात होते ही बृषभानुभवनका मन्दिर-प्रासाद जिसमे परम तेजोमयी अद्भुत स्वर्णिम आभा विकीरित करनेवाली महादेवीका जागृत् जीवन्त विग्रह विराजमान है, स्वयं महारानी कीर्त्तिदा एव श्रीबृषभानुजी द्वारा चन्दन, गुलाब, एवं केवडावारिसे प्रक्षालित किया जाता है। प्रति दिवस ही मन्दिर-प्राङ्गणकी सज्जा रङ्गबिरङ्गे क्षौम वस्त्रो एवं सुकोमलतम पल्लवोंसे निर्मित बन्दनवारोंसे की जाती है। ध्वजा-पताकाओंके स्तम्भ चमकाये जाते हैं, पुष्पमालाओंकी लडियोंसे मणिमय स्तम्भ आच्छादित कर दिये जाते हैं। स्थान-स्थानपर आम्रपल्लवोंसे समन्वित जलपूर्ण मङ्गलघट रखे जाते हैं। मन्दिरके द्वारको मोतियोंसे चौक पूरकर सज्जित किया जाता है। इस सब कार्योंमे यद्यपि महाराजके विश्वस्त सेवक सहयोगी होते हैं, किन्तु सब कार्य होता है स्वयं महाराज एवं महारानीकी प्रत्यक्ष समुपस्थितिमें ही। फिर मध्याहतककी आह्निक पूजामें तो महारानी कीर्त्तिदा महाराज बृषभानुके साथ छायाकी तरह रहती ही हैं। उस अवस्थामें नन्हे शिशु श्रीदामकी, श्रीराधाकी सम्हालका दायित्व तो मौसी कीर्त्तिमतीपर ही रहता है। यदि मौसी कीर्त्तिमती सहयोगिनी न हो तो महारानी कीर्त्तिदा महाराज बृषभानुके साथ धर्मपत्नीसम्मत उचित धर्मकार्योंको सम्पादित ही नहीं कर पावें।

रावलनरेश महाराज विन्दुने इस सब व्यवस्थाको पूर्वलक्षितकर ही अपनी कनिष्ठा पुत्रीका विवाह महाराज बृषभानुके ही सम्बन्धी एवं राज्यके मुख्य सचिव सत्यभानु गोपराजसे किया है। बृषभानुपुरके राजमहलके ही एक भागमें अनुजा कीर्त्तिमती भी अपनी बडी बहिन महारानी कीर्त्तिदाके साथ स्थायी रूपसे रहती हैं।

फिर यह राधा भी विलक्षण बालिका है। इसके कञ्चनद्युति पिङ्गलाभ अङ्गोंके भीतर एक ज्योतिर्मय श्याम कलेवर सदैव अहर्निश भरा दृष्टिगोचर होता है। इसीलिये वह दिवानिशि अनवरत नेत्र निमीलित किये अपने हृद्देशमें उद्भासित इस इन्द्रनीलमणि-द्युतिका ही ध्यान करती रहती है। निसर्गके क्षणार्ध-परिमित कालमानके लिये भी वह सच्चिन्मयी नीलज्योति उसके हृदयसे अपसारित नहीं होती। इसीलिये उसके नेत्र सदा निमीलित ही रहते हैं।

हाँ, यदा-कदा जब भी कोई आगन्तुक उसकी शिशु-शोभा निरखता हुआ, उसके नवकलिका- सदृश श्रवणपुटोंमें कृष्ण-गुणगान गाकर अथवा 'कृष्ण-कृष्ण' इस प्रकार बोलकर रस उँडेल देता है, तो यह बालिका क्षणभरके लिये चकित हरिणी-सी अपने निमीलित नेत्र विकसित कर देती है। ओह! उसके दीर्घकर्णविलम्बी नेत्रोंकी मुग्ध दृष्टि देखकर वह आगन्तुक तो कृतकृत्य हो ही उठता है। यह कृष्ण नाम सुनकर नेत्र विकसित करनेकी इस राधानाम्नी बालाकी क्रिया भी तभीसे हो रही है, जबसे ब्रह्मर्षि नारद वीणा लिये बृषभानुपुर पधारे थे, और इस बालिकाको ***'जय-जय कृष्ण मनोहारिन ! जय वृन्दावनप्रियः'*** स्तवन सुना गये थे। इसके पूर्व तो बालिका द्वारा यह क्रिया भी नहीं होती थी। हाँ! यदा-कदा जब गोपेशगेहिनी नन्दग्रामसे अपने नीलमणिको लेकर बृषभानुपुर आती थीं तो उस अवसरपर वह अपने श्याममयङ्क शिशुको इस बालिकाके पास ही इसके पर्यङ्कमे ही लिटा देती थीं। उस नवनील-नीरद-वपु बालककी स्पर्शित वायुका प्रभाव कहें अथवा अङ्ग-सुगन्धका प्रभाव मानें, यह बालिका तत्क्षण ही अपने नेत्र-सरोज विकसित कर देती थी, साथ ही मुसकान भरकर किलक उठती थी। बालिकाकी यह प्रसन्नता भी तभीतक रहती थी, जबतक इस नील मयङ्ककी अङ्ग-सौरभ इसकी नासिकाको सुवासित करती रहती थी। ज्योंही यह अङ्ग-गध इस बालाकी नासिकासे विलुप्त होती कि बस, बालिका पुनः अपने नेत्र मूँद लेती।

कीर्त्तिदा महारानी जब भी महादेवीके पूजाकार्यमें निरत हो, इस बालिकाकी सम्हालका कार्य मौसी कीर्त्तिमतीपर ही रहता है। बालक श्रीदाम भी जबतक वय प्राप्त नहीं कर पाया, एवं उसका वत्स अथवा गोचारणार्थ अहीरोके साथ

वनमें जाना प्रारभ नहीं हुआ, तबतक तो उस बालककी देखरेख भी मौसी कीर्त्तिमतीने ही की थी। मौसी तो उस विलक्षण स्वभाववाली बाला – राधाको गोदमें लेकर सदैव 'कृष्ण-यश' ही गाती रहती है, जिससे बालिका नेत्र खोले रखकर उसकी ओर निहारती रहती एवं प्रसन्नतासे किलकारी भरती रहती है। 'ओह ! जब यह बालिका किलकती है तो उसके हृदयमे 'कृष्ण' नाम सुननेसे उमडता आनन्द-प्रवाह स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। बालिकाके रोम-रोममें एक अभिनव कम्प उठने लगता है। परन्तु ज्योंही इस कृष्ण-नामध्वनिका विराम होता है, बालिका पुन: नेत्र मूँदकर अचञ्चल, अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर ही समाहित हो जाती है। उसका आनन-मण्डल अतिशय शान्त योगस्थ हो उठता है। वह तत्क्षण ही समाधिस्थ हो उठती है। उसके सभी अङ्गोंसे बाल-वयजन्य चञ्चलता हटकर एक अति शान्त मनोरमता व्याप्त हो उठती है।

मौसी कीर्त्तिमतीकी जीवनचर्या ही यही रहती है कि जबतक कीर्त्तिदा महारानी पूजामे रहे, बालिका राधाको कीर्त्तिदा बहिनसे यथासमय स्तन्यपान कराकर अपनी गोदमें लिटा लेना और उसके आनन-सौन्दर्यको निहारते रहना, साथ ही कृष्ण-नामध्वनि सुना-सुनाकर उसके मुँदते एवं पुन: विकसित होते नेत्रोकी शोभा देखते रहना।

कभी-कभी मौसी कीर्त्तिमती बाला राधाके आनन-सौन्दर्यको देखती-देखती इतनी अभिभूत हो जाती है कि वह अपनी हृदयधन – बाला राधाको उठाकर हृदयमें सटा लेती है। वह इस बालिकाके अनिन्द्य सौन्दर्यरसका अनवरत पान करती किसी अन्य लोकमें ही पहुँच जाती है। उसकी पुत्री कुन्दवल्ली प्राय: उसके साथ ही होती है। वही उसकी मुग्धावस्थासे उसे होशमें लाती है। मौसी अपनी अप्रतिम सुन्दर भानजी राधाके आनन-सौन्दर्यको देखकर चकित हो उठती है। वह सोचने लगती है - 'ओह ! इस बालिकाके ऐसे सुकोमल कान है, मानो किसी कञ्चनलतिकाके नवोन्मिषित पल्लव हों, और इसके ओष्ठ तो द्विदल जपापुष्पके समान हैं।' किन्तु यह क्या ? मौसी बालिकाकी सुकोमलताको संस्पर्शकर काँपने लग जाती है। कभी वह पुलकित होती है, कभी उसके नेत्र प्रेमाश्रुओंसे छलक उठते हैं। उसे अपनी भानजी राधाका वदन-सरोज अमृतके समान मधुर मधु-परिपूरित दिखाई देता है।

यद्यपि मौसी कीर्त्तिमतीकी स्वयंकी पुत्री भी विलक्षण सौन्दर्यके साँचेमें ढली प्रतिमा ही है, किन्तु उसे अपनी आत्मजाके प्रति तो सोचने-विचारनेका भी अवकाश कहाँ है ? वह तो राधाको ही अविराम अपने अङ्कमें धारण किये रहना चाहती है। किन्तु ...... मौसीके प्रवाहित प्रीति-विचारोंको सहसा एक आघात लगता है – 'यह तो कीर्त्तिदाकी पुत्री है। कीर्त्तिदाका उसपर यह अनोखा स्नेह-विश्वास है कि वह अपनी पुत्रीकी सँभाल उसे देकर महादेवीके पूजन-अर्चनमें निरत हो जाती है। अन्ततः वह भी तो उसका अत्यावश्यक दायित्व है, नहीं तो क्या वह अपनी स्वर्णोपम पुत्रीको अपने अङ्कसे एक क्षण भी पृथक् करेगी ? कदापि नहीं ! तब ..... ?'

मौसीके मनमें एक अभिनव रसमय सङ्कल्प जागृत् हो जाता है। वह अपने विचारोंमे ही पारावार-विहीन अनन्त आनन्द-रसोदधिमें उछलने लगती है - ' कहीं मेरा ऐसा प्रारब्ध हो जाता कि ऐसी ही अतुल सुषमावर्षिणी इसकी ही एक सहोदरा अनुजा भगिनी होती। फिर तो मैं उसे सदैव अङ्कमें धारण किये ही रहती। क्योकि उस अवस्थामें मेरी बड़ी बहिन कीर्त्तिदाके अङ्कमें सद्योजात होनेसे वह छोटी ही सुशोभित रहती। फिर तो मुझे इस कन्यासे सर्वभावसे ही अपने प्राणोंको जोडनेकी सुविधा हो जाती। तब, यह कन्या एकान्तिक निशा-दिवस मेरे ही अङ्कका आभूषण हो जाती, मेरे ही पास सोती-जागती, उठती-बैठती।'

मौसीका कलेवर रह-रहकर कम्पित हो उठता, उसके सभी अङ्गोंमे पुलकावलि उदित हो जाती, नेत्रोमे जल भर आता। रह-रहकर उसे अपने शरीरकी सुधि भी भूल जाती और वह रस-समुद्रकी लहरोमे न जाने कहाँ-से-कहाँ बहने लगती। मनमें इस अभिलाषाके उदित होते ही मौसी विकल हो जाती। उसकी विकलताको विराम तभी मिलता है जब एक दिवस अनुग्रहमयी आकाशवाणी उसके कानोंमें गूँजती है – 'अरी कीर्त्तिमती ! तुझे त्रिकाल सत्यका सङ्केत हो रहा

है। देखो, इस लाडिली पुत्रीको छूकर जिस किसी मङ्गलमयी वस्तुकी चाह जो भी करता है तो वह वस्तु उसे मिलती ही है। तुम्हारा परम मङ्गल ही होगा।'

यथाकाल इसी वरदानकी चरितार्थता होती है और सन्धिनी-स्वरूपिणी जगन्माता कीर्त्तिदाकी कोखसे स्वयं ब्रजेन्द्रनन्दन ही संविन्मयी नीली छाया बने द्वितीय पुत्रीके रूपमे व्यक्त हो जाते है। अब गोरी और साँवरी – कीर्त्तिदाकी दोनों पुत्रियोंमें से एक तो अवश्य ही मौसीके अङ्कमें रहती ही है।

श्रीराधाकी कीर्त्तिमती मौसी एवं सत्यभानु मौसा ऐसे सौभाग्यशाली हैं कि इनमे बृषभानुपुत्र श्रीदाम एवं पुत्रियाँ – श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामाके प्रति सदैव नित्य-नूतन वत्सलताके अङ्कुर प्रस्फुटित होते रहते है। इन राजपुत्र एवं पुत्रियोंके प्रति निर्मल ममत्वसे अभिषिक्त इन युगल दम्पतिके हृदयमें यह वात्सल्य-भाव-वल्लरी प्रतिपल बढती ही जाती है, और ऐसी शीघ्रतासे बढती है कि उसे पुष्पित एवं पल्लवित होनेमे कहीं कोई अवरोध एव बाधा आ ही नहीं पाती।

## *युवराज श्रीदाम भैया*

परात्पर सच्चिन्मयी लीलामहाशक्ति योगमायाका यह विलक्षण चमत्कार ही है कि वे भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनको उनका ही निजानन्द नवीन-नवीन रूपोंमे आस्वादन करानेके हेतुसे उनके ही स्वरूपभूत आनन्दको घनीभूत करके प्रेम-विग्रहोंके रूपमे प्रकट करती हैं। ये प्रेमविग्रह अपने सर्वस्वके उत्सर्ग और प्रेमास्पद श्रीकृष्णके सुख-तात्पर्य हेतु लीला-रङ्गमञ्चमें ऐसा निर्मल चरित्र प्रस्तुत करते है कि इनके चरित्रका अवगाहन करनेवालेको बरबस 'वाह' – कहना ही पडता है।

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति तत्सुखी प्रेमकी यदि आदर्श मिसाल प्रस्तुत करनेवाला उनका कोई सखा है, तो वह है – बृषभानुपुरका युवराज, श्रीराधारानीका बडा भैया श्रीदाम। वस्तुत: श्रीदाम भैया तत्सुखभाव प्रेममें अद्वितीय है और अपनी बहिन श्रीराधाकी प्रतिमूर्त्ति ही है। जहाँ तत्सुखी प्रेमका प्रवाह है, वहाँ मत्सुखका तो सम्पूर्ण त्याग-ही-त्याग है। अतः सखाओंमें इस स्पर्धामे यदि कोई अतुलनीय है तो वह है – श्रीदाम भैया।

श्रीदामका जीवन ही अपने सखा और अपनी छोटी बहिन श्रीराधाको सुख पहुँचाना है। उसका जो कुछ भी मेरापन है, वह अपने सखा श्रीकृष्णके लिये पूर्णतया समर्पित है। उसकी ममताके एकमात्र आधार यदि कोई हैं, तो वे हैं उसके सखा श्रीकृष्ण। श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राणीसे उसका तनिक भी ममत्व नही। न ही वह किसी परिस्थितिके बन्धनमें है, न किसी पदार्थकी उसे चाह है। उसका समग्र प्रेम केन्द्रित है अपने सखा श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेमे। श्रीदाम भैया शङ्का, सङ्कोच, संशय, सम्भ्रम आदिसे सर्वथा शून्य परम आत्मनिवेदनकी पराकाष्ठा है।

श्रीदाम भैयाका जन्म महारानी कीर्त्तिदाकी कोखसे उनके एव उनके पति बृषभानुजी द्वारा अविराम सत्तर वर्ष, नौ माह एवं दो दिनतक महादेवीकी अर्चनाके पश्चात् हुआ है। महात्रिपुरसुन्दरीके इस अति दीर्घकालीन अर्चना-यज्ञमे 'सहधर्मिणी' शब्दकी गरिमाके अनुरूप महारानीने अक्षरशः अपने पतिका ऐसा साथ दिया है जिसकी तुलना कहीं ढूँढनेपर भी नहीं मिलती।

प्रथम सुहागनिशाके अवसरपर ही जब आर्यपुत्र बृषभानुजीसे नवयौवनका उन्मेष लिये महारानी प्रथम बार मिलती हैं, तभीसे दोनों दम्पतिके मनमें प्रपञ्चके उन्मादी विषय-भोगोंसे सर्वथा विरक्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, दोनोंके ही अन्तस्तलमे सहसा ऐसा परम निर्मल ज्योतिर्मय भाव जगता है कि दोनों ही उसी क्षणसे कृपामयी त्रिभुवनजननी अपनी कुलदेवी भगवती त्रिपुरसुन्दरीके किङ्कर एवं किङ्करी हो जाते है। दोनो उसी पावन प्रथम मिलनकी वेलामें यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि जब त्रिभुवन जननी प्रत्यक्ष आदेश देगी तभी वे मात्र एक सन्ततिके जनक-जननी बनेंगे जिससे वह वीर पुत्र राजकुलकी परम्पराका निर्वाह कर दे। इसके पश्चात् तो वे दोनों सदाके लिये ही श्रीमहादेवी भगवती त्रिपुराके चरण-नख-चन्द्रोमें अर्चना करते-करते देहत्याग कर देंगे।

इसी कठोर व्रतको लेकर युवराज बृषभानु एव महारानी कीर्तिदा अनवरत सत्तर वर्षतक भगवतीकी पूजा-अर्चनामय तपस्यारत सदाचारी पवित्र जीवनका ऐसा आदर्श अपनी प्रजाके सम्मुख रखते हैं, जैसा आदर्श लोगोकी कल्पनामें भी नहीं आ सकता।

अनवरत सत्तर वर्षकी पूजाके पश्चात् हरिशयनी एकादशीके नौ मास और कुछ दिन पहले दम्पतिको महादेवीका प्रत्यक्ष दर्शन-सौभाग्य प्राप्त होता है और महादेवी उन्हें राजपुत्रको जन्म देनेकी आज्ञा देती है।

इसके पश्चात् श्रावण कृष्ण तीजकी तिथि आती है। उस दिवस बुधवार होता है। अशुमालीके अस्ताचल जानेमें मात्र पॉंच घडीका विलम्ब होता है कि उसी समय धौंसेके निनादसे अचानक राजप्रासाद मुखरित हो उठंता है। कुछ क्षण बीतते-न-बीतते राजपुत्र श्रीदामके जन्म लेनेका मङ्गलमय संवाद सभी बृषभानुपुरवासियोंको सुन पडता है। राजपुत्रके सुन्दर गोरे मुखकी शोभा भला कोई कैसे कह सकता है। उस शोभाको जो नयन निरखते हैं वे ऑखें वाणीयुक्त नहीं होतीं, और वाणीको उस अप्रतिम शोभाको निरखनेका अवसर ही नहीं मिलता। उस बालककी सुन्दरताके विषयमें मात्र इतना कहकर ऋषि-मनीषी सन्तोष कर लेते हैं कि स्वयं भगवान् नारायण ही मानो अपनी संविन्मयी नीलिमाको एवं अपनी दोनों अतिरिक्त भुजाओंको मायासे त्यागकर द्विभुजी गौरवर्णके शिशुका वेष धारणकर महाराज बृषभानु एवं कीर्त्तिदाके गृहमें अवतरित हुए हैं।

राजपुत्रके आगमनपर अविराम बाईस दिवसोतक सुखकी ऊर्मियॉं राजपुरीको नहलाती हैं। वह आनन्द अतुलनीय ही होता है। बाईस दिवस एवं रात्रिपर्यंत उमडनेवाला वह आनन्दोल्लास सचमुच ही राजपुत्र श्रीदामके मङ्गलमय भावी विशुद्ध सुयशका द्योतक ही था।

धरणी पल-पलमें नवीन सुषमासे सुसज्जित हो रही होती है। सर-सरिता, निर्झरोका जल, वर्षा ऋतुका समय होनेपर भी अप्रतिम उज्ज्वलतम मोतीकी भॉंति निर्मल बन जाता है। शीतल सुगन्धित मन्थर समीर सभी प्राणियोंको छू-छूकर मानो सभीके कानोंमें एक ही सन्देश दे रहा होता है – 'देखो ! धैर्य रखना भला ! क्रमशः एक-से बढकर-एक उत्तुङ्ग आनन्दरसकी लहरें इस महाभावस्थली बृषभानुपुरमें उठनेवाली है । तुम सभीके असीम सौभाग्यका वर्णन क्या कहकर किया जाय ? तुम इसमें अनन्तकालतक अवगाहन करते रहोगे।'

बृषभानुनरेशके इस पुत्रको ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण निरे बालकपनसे ही 'श्रीभैया' ही कहकर पुकारा करते हैं। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने इन श्रीभैयाके श्रीकृष्ण-सुख-तात्पर्यमय चरित्रके एक अशका चित्रण अपने प्रियतमकाव्यके चतुर्थ शतकमें किया है। अपूर्व त्यागमय होनेके कारण श्रीदामका चरित्राश यहॉं उल्लिखित किया जा रहा है।

श्रीभैया अपने सखा श्रीकृष्णके साथ सदैवसे ही गाय चराने वनमें प्रतिदिन जाया करता है। एक दिवस जब वह अपनी गौओंके सङ्ग वनमें जाता है तो दैवयोगसे शिशुओकी परस्पर विनोद-वार्त्तामें यह बात छिड जाती है कि इन समस्त अरण्योका स्वामी कौन है ? सहसा ही गोपराज नन्दका पुत्र 'कन्नू' बोल उठता है – 'अरे भैयाओं ! तुम सब सुन लो। यहॉं वर्तमानमें जितने भी वन हैं, पहले कभी थे, और आगे होंगे उन सभीका नित्य स्वामी मैं ही हूँ , भला ! ' ब्रजेन्द्रनन्दनकी बात पूरी होते-न -होते ब्राह्मण बालक मधुमङ्गल, जो इन सभी गोपबालकोंको सदैव हॅसा-हॅसाकर लोट-पोट कर देनेवाला हॅसोड विदूषक सखा है, तिरस्कारपूर्वक निषेधात्मक रूपसे हॅस पडता है।

मधुमङ्गलकी व्यङ्ग्यभरी निषेधात्मक हॅसी सुनकर सभी सखा उसके पीछे पड जाते हैं और बार-बार उसके हॅसनेका कारण पूछते हैं। मधुमङ्गलमें एक स्वभावगत दुर्बलता है। जो कोई उसे किञ्चित् मीठी वस्तु खिलादे, फिर तो वह उसके हर प्रस्तावको मान ही लेता है। सभी शिशु इसी उपायका आश्रय लेते हैं तथा उसके सम्मुख चार-पॉंच मोदकोंकी भेंट रख देते हैं। मधुमङ्गल मोदक खाते-खाते सारा रहस्य उजागर करने लगता है। वह कहता है -'यह ब्रजेन्दतनय कन्नू तो व्यर्थ ही डींग हॉंकता है। इसके इस कथनमें कि मैं ही इन सभी वनोका राजा हूँ - कोई तथ्य

नहीं है। वस्तुतः तो इसके पिता नन्दरायजी भी कुछ काल पहलेतक श्रीभैयाके पिताके करदाता रहे हैं। श्रीदाम भैयाके दादाजी महीभानु महाराजने ही सर्वप्रथम नन्दबाबासे कर लेना बन्द कर दिया था। इसका कारण इन दोनोंकी अति प्रगाढ मित्रता ही होती है। तभीसे दोनों कुलोंमें ऐसी अभिन्न मित्रता है कि जिसकी तुलना अन्यत्र हो ही नहीं सकती। दोनों राजवंश स्नेहके ऐसे सुदृढ बन्धनमें बँध गये हैं मानों एक ही माताकी सन्तानें हों। इसी कारण इस नन्दपुत्र कन्नूको यह छूट मिली हुई है कि यह जिस काननमें चाहे, अपनी गौएँ चराये। आज भी यदि श्रीभैयाके बाबा चाह लें तो इसकी गौएँ चराना रोकदें। इसके पिता नन्दरायजीके अधिकारमें तो मात्र एक छोटा-सा वन हैं, जिसमे भले यह चाहे जितना घूम ले, पर इसका भी वार्षिक कर इसे चुकाना ही पडेगा। यह वन जिसमे अभी हम बैठे बात कर रहे हैं, यह तो बृषभानुपुरकी कुलदेवी जगज्जननी भगवती महादेवीकी सम्पत्ति है। इसमें तो वे सर्वदा प्रत्यक्ष निवास करती हैं। यह कन्नू जो बिना कुछ सोचे-विचारे ही बोल उठा था कि मैं ही स्वामी हूँ, इसकी इसी बातपर मुझे उस समय हँसी आ गयी थी।'

मधुमङ्गलकी सच्ची उक्ति सुनकर ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण प्रतिवाद न करके केवल नीचेकी ओर देखकर मुसकुराने लगते हैं तथा सारे गोपशिशु हँस पडते हैं। किन्तु श्रीदाम भैयाका मुख अपने प्राणसखा श्रीकृष्णकी उक्ति सही सिद्ध नहीं हो पानेके फलस्वरूप उदास हो जाता है। वह अनमना होकर वनसे लौट आता है। वह अपनी मैया, मौसी, मौसा एव अपने बाबा बृषभानुजीके सामने व्याकुल होकर रोने लग जाता है। रोते-रोते उसकी घिघ्घी बँध जाती है। पिता बृषभानुजी उसे मनानेके लिये सामने ही रखे पूजाके जलको हाथमें लेकर प्रतिज्ञा करते हैं कि वे उसकी माँगको अवश्य पूरा करेगे। भैया श्रीदाम अपने नेत्रोंमें जल भरकर, अपने पिताके कटिदेशको अपने दोनों हाथोंसे वेष्टितकर अपना मन्तव्य उन्हें सुनाने लग जाता है। वह बनमें उसके बालसखाओंके मध्य हुई सारी चर्चाका विवरण अपने पिताको सुनाकर कह देता है कि 'वह अगले सूर्योदय होनेके पूर्व ही अपने प्राणसखा कन्नूकी बात सच्ची सिद्ध होती देखना चाहता है। उसकी एक ही अन्तरतम इच्छा है कि आज जिन-जिन वनोपर हमारा अधिकार है, उन सम्पूर्ण अरण्योका एकछत्र स्वामित्व कलसे ही उसके प्राणसखा नन्दतनय श्रीकृष्णका हो जाय।'

श्रीबृषभानुबाबा अपने पुत्र श्रीदामका उसके सखा नन्दनन्दनके प्रति सच्चा आत्मोत्सर्गका भाव देखकर गद्गद हो जाते हैं। वे अपने पितृत्वको धन्य मानने लगते हैं। वे अपने भाग्यको सराहते हैं कि उन्हें ऐसा त्यागी और सखा-स्नेही पुत्र मिला है।

श्रीदाम भैयाका विलक्षण त्याग देखकर मौसी कीर्त्तिमती, मौसा सत्यभानु, पिता बृषभानुजी एवं मैया कीर्त्तिदा – चारोंकी आँखे बरबस झरने लगती हैं। बारबार सभी अश्रु पौंछते हैं किन्तु अश्रुधाराका विराम ही नहीं हो पाता। उन सभीका कण्ठ अवरुद्ध हो उठता है।

अस्तु, उसी समय महाराज बृषभानु दूतको बुलाते हैं और गुरुदेव महर्षि भागुरि, गोपराज नन्द, नन्दवशके कुलगुरु महर्षि शाण्डिल्य – सभीकी साक्षीमे अपने पुत्र श्रीभैयाकी इच्छा शत-प्रतिशत पूर्ण कर देते हैं। दोनों धर्मबन्धु - श्रीबृषभानुजी एवं श्रीनन्दरायजी सुन्दरीवाटिका पहुँचते हैं और ब्रजेन्द्रनन्दनके नाम अङ्कित सम्पूर्ण राज्यका दानपत्र दोनों ही कुलगुरुओकी साक्षीमे सुन्दरीसरोवरमें स्थित श्रीकृष्णकी ही प्रतिमाके नीचे जड़ दिया जाता है। **(इस लीलाका पूर्ण विस्तारमय वर्णन प्रियतम-काव्यके चतुर्थ शतकके छन्द सं ३३४से ३६०तकमें वर्णित है।)**

श्रीदाम भैयाका जीवन श्रीकृष्ण-सुखमय है। वे राजकुलोचित सभी शृङ्गार करते हैं, किन्तु स्वयंको सजानेके लिये नहीं। जैसे ही वनमें उन्हें उनका सखा कन्नू मिलता है, वे उसे सजाने बैठ जाते हैं और अपना सभी शृङ्गार उसे धारण करा देते हैं। अपनी छाकमें जितनी भी सुस्वादु भोजन सामग्री होती है, वे पहले अपने सखा कन्नूको खिलाते हैं। वे अतिशय मधुर सङ्गीतस्वरमें गाते हैं, किन्तु अपने सखाको ही सन्तुष्ट करने। श्रीभैयाका आन्तरिक मनोभाव तो यही रहता

है कि वे मात्र अपने सखाके लिये ही जीवित रहें। वस्तुतः श्रीभैयाके मन-इन्द्रिय, उनकी चित्त-बुद्धि, उनके समस्त अङ्ग-अवयव एवं चेतन-आत्मातक उनके सखाके सुखार्थ ही है। उनके मनमें स्वसुखके सङ्कल्पका तो कभी उदय ही नहीं होता।

## *श्रीराधारानीकी प्रमुख आठ-सखियाँ*

### *१. श्रीललिता*

श्रीराधारानीकी सखियोंके अनेक भेद हैं। इनकी प्रधान अष्ट सखियॉ है। – (१)श्रीललिता, (२)श्रीविशाखा, (३) श्रीचित्रा, (४) श्रीइन्दुलेखा, (५) श्रीचम्पकलता, (६) श्रीरङ्गदेवी, (७) श्रीतुङ्गविद्या, (८) श्रीसुदेवी। श्रीललिताका वर्ण गोरोचन-तुल्य है, ये सदैव मयूरपिच्छाभ वस्त्र पहनती हैं। प्रिया-प्रियतमको ताम्बूल अर्पित करना ही इनकी मुख्य सेवा है। इनका कुञ्ज विद्युद्वर्ण है। निकुञ्जमें इनकी आयु सदैव चौदह वर्ष, तीन मास, बारह दिन रहती है।

श्रीललिता खण्डिता भावकी मूल स्रोत हैं। अतीत, वर्त्तमान एवं भविष्यमें भी प्रवाहित खण्डिता भावकी प्राकृत धारा इनके विशुद्ध रसमय चिदानन्दमय भावकी ही छाया है। अवश्य ही इनमें जो खण्डिता भाव है वह अपने निमित्तसे नहीं व्यक्त होता। भानुकिशोरीकी एवं श्रीकृष्णचन्द्रके निर्दिष्ट सम्मिलनमें विलम्ब होनेपर ही इनमें इस दिव्य भावका उन्मेष होता है। राग भैरव-कालिगडा इन्हें अत्यधिक प्रिय है। इनका प्रिय वाद्य है – वीणा।

प्रिया-प्रियतमकी सेवामें इनकी प्रधान तीन सहायिकाएँ रहती हैं – (१) अनङ्गमञ्जरी (मञ्जुश्यामा), (२) लवङ्गमञ्जरी, एवं (३) रूपमञ्जरी।

इनकी आठ मुख्य सहचरियाँ हैं – (१) रत्नप्रभा, (२) रतिकला, (३) सुभद्रा, (४) भद्ररेखिका, (५) सुमुखी, (६) धनिष्ठा, (७ ) कलहंसी, (८) कलापिनी।

इनके पिताका नाम विशोक गोप है तथा माता शारदा है। इनके पितामे औदार्य गुण कूट-कूटकर भरा है। वह इनमें भी पूर्ण व्यक्त हुआ है। श्रीराधाकी सभी सखियोंमें ये ही सर्वप्रधान हैं। प्रकारान्तरसे राधारानीकी समस्त लीलाओकी परम अध्यक्ष स्वरूपा ये ही हैं। निरन्तर वाम्य एवं प्रखरताका एक अद्भुत सम्मिश्रण इनकी चेष्टाओंमें परिलक्षित होता है। सधि, विग्रह – जिस भॉतिसे अधिकाधिक रस-पोषण संभव हो, उसी प्रकारकी चेष्टाओंमें संलग्न रहकर ये प्रिया-प्रियतमका आनन्दवर्धन करती हैं। पुष्पवितान, पुष्पमाल, पुष्पछत्र, पुष्पशय्या, पुष्पगृह आदिकी रचनामें ये अत्यन्त निपुण हैं; विविध इन्द्रजालकी ये पण्डिता हैं। निकुञ्जलीलामें पहेलीकी अर्थ अवधारणामें इनके समान कोई नहीं है।

### *२. श्रीविशाखा*

श्रीराधारानीकी दूसरी मुख्य सखी है – श्रीविशाखा जिनकी माताका नाम गुणकला एव पिताका नाम गुणभानु है। इन्हें सुदक्षिणा एवं पावन गोप भी कहते हैं। जिस क्षण भानुकिशोरीका आविर्भाव हुआ, उसी क्षण इनका भी आविर्भाव हुआ – ऐसी मान्यता गौडीय सम्प्रदायके वैष्णवोंमें है। पुष्टिमार्गीय एवं अन्य वैष्णव इनका जन्म भाद्रपद शुक्ला सप्तमीके दिवस श्रीराधाके जन्मके एक दिन पूर्व प्रातःकालमे हुआ मानते हैं। इनकी अङ्गकान्ति विद्युत्के समान है और इनका परिधान तारावलीप्रभ है। इनके कुञ्जका वर्ण मेघके समान है। कर्पूर आदि विविध सुगन्धित द्रव्योसे विलेपन करनेकी विशेष सेवा इनके अधिकारमे है। स्वाधीनभर्तृका भावकी अप्राकृत लीलाजगत्में चरम परिणति इनमे हुई है। अतीत एवं अनागत विश्वमें स्वाधीनभर्तृकाभावका उन्मेष इनकी सत्तापर ही अवलम्बित है। सारंग राग इन्हे बहुत प्यारा है। इनका प्रिय वाद्य मृदङ्ग है। निकुञ्जलीलामें इनकी आयु चौदह वर्ष, दो माह, पन्द्रह दिन ही रहती है, प्रिया-प्रियतमकी निकुञ्जसेवामे इनकी प्रधान तीन सहायिकाएँ रहती हैं – (१) मधुमतीमञ्जरी (२) रसमञ्जरी एव (३) गुणमञ्जरी। इनकी आठ सहचरियाँ हैं –

(१) माधवी, (२) मालती, (३) चन्द्ररेखिका, (४) कुञ्जरी, (५) हरिणी, (६) चपला, (७) सुरभी एव (८) शुभानना ।

अपने पिताके समान ही ये पूर्ण विदुषी हैं। इनका परामर्श कभी व्यर्थ नहीं होता। ये अत्यन्त परिहासकुशल हैं। प्रिया प्रियतमके मिलनकी विविध युक्तियॉ, नव-नव रसास्वादनके उपाय – ये सोचती ही रहती हैं। प्रिया-प्रियतमके अङ्गोंपर पत्रावली आदिकी रचना करनेमें, पुष्पमालाओंके सयोगसे विविध शिरोभूषण प्रस्तुत करनेमें, विचित्र सर्वतोभद्र निर्माण करनेमें, मण्डल आदिकी रचना करनेमें, विविध सूत्रोंको लेकर सुईसे वस्त्रोंपर बेलबूँटे निकालनेमें ये अतिशय प्रवीण हैं। वस्त्रोंकी सॅभाल रखनेवाली जो सखियॉ एवं दासियॉ हैं, पुष्प, लता, वल्लरी, वृक्षावलीपर वृन्दा सखीकी जिन-जिन सहचरियोंका अधिकार है, वे सभी इनके आदेशसे ही काम करती हैं।

### ३. श्रीचित्रा

इनकी माताका नाम चर्चिका एव पिताका नाम चतुर गोप है। अन्य मतसे इनकी माताका नाम रुचिकला एव पिताका नाम रुचिभानु है। इनकी अङ्गकान्ति काश्मीर-केसर सरीखी है। इनके वस्त्रोका रंग काचप्रभ है। ये किञ्जल्कवर्णके कुञ्जमें निवास करती हैं। इनकी प्रमुख सेवा प्रिया-प्रियतमको विविध वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित करनेकी रहती है।

एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि विशुद्ध निकुञ्जमें तो प्रिया-प्रियतम दोनोंका ही शृङ्गार सखियॉं ही करती हैं किन्तु गोष्ठलीलामिश्रित निकुञ्जलीलामें गोष्ठके समय राधारानीकी सेवा सखियॉं करती हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवा उनके गोष्ठके परिकर करते हैं।

श्रीचित्राका दिवाभिसारिका भाव है। सांकरा राग इन्हें अतिशय प्रिय है। इनका प्रिय वाद्य सितार है। निकुञ्जमें इनकी आयु सदैव चौदह वर्ष, एक महीना, उन्नीस दिनकी रहती है। इनकी सेवामे इनकी प्रधान सहायिका रहती हैं – (१) विमलामञ्जरी, (२) रतिमञ्जरी एवं (३) भद्रमञ्जरी। इनकी प्रधान आठ सहचरियॉं हैं – (१)रसालिका, (२)तिलकिनी, (३)शौरसेनी, (४)सुगन्धिका, (५)रमिला, (६)कामनागरी, (७)नागरी एवं (८)नागवेलिका।

इनके पिता ज्योतिष शास्त्रमें पारङ्गत हैं। ये भी ज्योतिष शास्त्रकी पूर्ण पण्डिता हैं। सङ्केत भाषाका इन्हें विशिष्ट ज्ञान है। अनेक देशोकी भाषाओका भी इन्हे परिज्ञान है। ये देखकर ही बता देती हैं कि मधु, दुग्ध आदि वस्तु कैसी हैं, किस कीटका सञ्चित यह मधु है तथा दूध किस पशुका है। ये काचके बर्तन बनानेमें बडी निपुण हैं। वृक्षोपचारशास्त्र, पशुशास्त्रमें इन्हे पूर्ण अधिकार है। ये सर्पमन्त्रोंकी भी विशेषज्ञा हैं, रसीली भोज्य वस्तुओंके निर्माणमें सिद्धहस्ता हैं। वृन्दावनकी कुसुमादिविहीन जो दिव्य औषधियॉं हैं तथा ऐसी जो वनस्पतियॉं हैं उनपर अधिकार रखनेवाली समस्त सखियॉं अथवा वृन्दा-दासियॉं इनके आदेशसे ही काम करती हैं।

### ४. श्रीइन्दुलेखा

इनकी माताका नाम वेला है तथा पिताका नाम है सागर है। एक मतसे माताका नाम वरकला तथा पिताका नाम वरभानु भी है। इनकी अङ्गकान्ति हरताल-सरीखी है। ये दाडिम-कुसुम-वर्णके वस्त्र धारण करती हैं। ये शुभ्र वर्णके कुञ्जमें निवास करती हैं। इनके पिता प्रसिद्ध गायक हैं। ये भी गानविद्यामें ब्रजकी ख्यातिलब्ध गोपसुन्दरी हैं।

इनकी प्रधान सेवा है प्रिया-प्रियतमको अपने नृत्यकौशलके प्रदर्शनसे प्रसन्न करना। इनका भाव है – प्रोषितभर्तृका । इन्हें राग विहाग अतिशय प्रिय है। इनका प्रिय वाद्य है – मंजीरा। निकुञ्जमें इनकी आयु सदा चौदह वर्ष, दो महीना, बारह दिनकी रहती है।

इनकी तीन प्रधान सहायिकाएँ हैं – (१) श्यामलामञ्जरी (२) लीलामञ्जरी (३) विलासमञ्जरी। इनकी आठ प्रमुख सहचरियॉं हैं - (१) तुङ्गभद्रा, (२) रसतुङ्गा, (३) रङ्गवाटी, (४) सुमङ्गला, (५) चित्रलेखा, (६) विचित्राङ्गी, (७) मोदिनी एवं (८) मदनालसा।

### ५. श्रीचम्पकलता

इनकी माताका नाम वाटिका तथा पिताका नाम आराम है। मतान्तरसे इनकी माताका नाम चन्द्रकला तथा पिताका नाम चन्द्रभानु है। इनकी अङ्गकान्ति चम्पकपुष्प-सरीखी है तथा ये नीलकण्ठ पक्षीके वर्णके वस्त्र धारण करती हैं। इनके कुञ्जका वर्ण तप्त स्वर्णवर्णका है। ये प्रिया-प्रियतमकी चामर डुलानेकी सेवा करती हैं। इनका भाव वासकसज्जा है। इनका प्रिय वाद्य सारंगी है।

निकुञ्जमें इनकी आयु सदा चौदह वर्ष, दो महीने, चौदह दिनकी रहती है। सेवाकार्यमें इनकी प्रधान सहायिकाएँ हैं – १.पालिकामञ्जरी २. विलासमञ्जरी एवं ३. केलिमञ्जरी। इनकी आठ प्रमुख सहचरियाँ हैं – (१) कुरंगाक्षी (२) सुचरिता (३) मंडली (४) मणिकुण्डला, (५) चन्द्रिका, (६) चन्द्रलतिका, (७ ) कुन्दकाक्षी एवं (८) सुमन्दिरा।

इनके पिता विविध कलाओंके ज्ञाता हैं तथा ये भी विविध कलाओंकी पण्डिता हैं। ये अन्य गुणोमें विशाखा सखीके समान हैं । ये द्यूतशास्त्रकी महापण्डिता हैं। प्रतिपक्षयूथकी सखियोंकी इनके सामने एक नहीं चलती। केवल हाथके सहारे मिट्टीके बर्त्तन, पत्र, पुष्प आदि विविध वस्तुएँ बनानेमें अद्वितीय हैं। मिष्ठान्न एव व्यञ्जन बनानेका भी इनका कौशल अद्वितीय है।

### ६.श्रीरङ्गदेवी

इनकी माताका नाम करुणा तथा पिताका नाम रङ्गसार है। अन्य मतसे इनकी माताका नाम धर्मकला तथा पिताका नाम धर्मभानु भी है। इनके कलेवरकी कान्ति पद्मकिञ्जल्क-सरीखी है। ये जवाकुसुम वर्णके परिधान धारण करती हैं। इनके कुञ्जका वर्ण श्याम है। इनकी प्रमुख सेवा प्रिया-प्रियतमको अलक्तक लगानेकी है। गोष्ठलीलामें राधारानीको अलक्तक समर्पण करनेकी सेवा नापित कन्याये करती हैं पर निकुञ्जलीलामें यह सेवा रङ्गदेवीजीके अधिकारमें है।

इनका भाव उत्कण्ठिता है। इनकी आयु निकुञ्जमें सदा चौदह वर्ष, दो महीना, आठ दिनकी रहती है। सेवाकार्यमें इनकी प्रधान सहायिकाओंके नाम हैं – (१) मङ्गलामञ्जरी (२) कुन्दमञ्जरी (३) मदनमञ्जरी, इनकी भी आठ प्रमुख सहचरियाँ हैं – (१) कलकठी (२) शशिकला (३) कमला (४) मधुरा (५) इन्दिरा (६) कन्दर्पसुन्दरी (७ ) कामलतिका (८) प्रेममञ्जरी।

इनके पिताकी धर्मपालनमें बडी निष्ठा है। इनमें भी स्त्रियोचित व्रत-त्यौहारादिकमें बडी आस्था है। शेष बातोंमे इनका प्रायः श्रीचम्पकलताजीसे साम्य है। प्रियाप्रियतमको धूप खेनेवाली, शिशिर ऋतुमें अग्निरक्षण करनेवाली तथा ग्रीष्मकालमे वीजनकी सेवा करनेवाली सखियाँ-दासियाँ इन्हींके आदेशानुसार कार्य सम्पन्न करती हैं।

### ७..श्रीतुङ्गविद्या

इनकी माताका नाम मेधा एवं पिताका नाम पौष्कर है। मतान्तरसे इनके माता-पिताके नाम सुष्ठुकला एवं सुभानु भी है। इनके शरीरकी कान्ति चन्द्रकुङ्कुम-जैसी है। ये अपने अङ्गोपर पीत वर्णके परिधान धारण करती हैं। इनके निकुञ्जका वर्ण अरुण है। इनकी प्रधान सेवा प्रिया-प्रियतमको गीतवाद्यों सहित गायन-वादन करके प्रसन्न करना है। इनका भाव विप्रलब्धा है। निकुञ्जमें इनकी आयु सदैव चौदह वर्ष, दो महीना, बीस दिन रहती है। सेवामे इनकी प्रमुख तीन सहायिकाओंके नाम हैं – (१) धन्यामञ्जरी (२) अशोकमञ्जरी (३) मञ्जुलीला मञ्जरी। इनकी प्रधान आठ सहचरियोंके नाम हैं – (१) मञ्जुमेधा, (२) सुमधुरा, (३) सुमध्या, (४) मधुरेक्षणा, (५) तनुमध्या, (६) मधुस्यन्दा, (७) गुणचूड़ा एवं (८) वराङ्गदा।

इनके पिता स्वाभाविकरूपसे सभीको प्रिय लगते हैं। ये भी स्वाभाविक ही सभीको अत्यन्त प्रिय लगती हैं। समस्त विद्याओंकी ये खान हैं। ऐसी कोई विद्या नहीं जो तुङ्गविद्याजी नहीं जानतीं। रसशास्त्र, नीतिशास्त्र,

नाट्यशास्त्र, समस्त गान्धर्वविद्या – इन सबकी ये आचार्य हैं। सङ्गीतमञ्च, वाद्यमञ्च, रासमञ्च आदिपर जितनी सखियाँ एव दासियाँ सेवा करती हैं – वे सभी इनके पर्यवेक्षणमें काम करती हैं।

### ८. श्रीसुदेवी

ये रङ्गदेवीजीकी यमज बहिन हैं। एक मतसे इनके माता पिताका नाम कमला एवं उदधिभानु भी है। इनके शरीरकी कान्ति स्वर्ण-सदृश है। ये प्रवाल वर्णके परिधान अपने अङ्गोंपर धारण करती हैं। इनके कुञ्जका वर्ण हरा है। प्रिया-प्रियतमकी जलकी सेवा इनके अधिकारमे है। इनका भाव कलहान्तरिता है। निकुञ्जमे इनकी आयु सदैव चौदह वर्ष, दो महीना तथा आठ दिनकी रहती है। सेवामें इनकी प्रमुंख सहायिकाऍं हैं – (१) तारकामञ्जरी, (२) सुधामुखीमञ्जरी एवं (३) पद्ममञ्जरी। इनकी आठ प्रमुख सहचरियोंके नाम हैं – (१) कावेरी, (२) चारुकबरा, (३) सुकेशी, (४) मञ्जुकेशिका, (५) हारहीरा, (६) महाहीरा, (७) हारकण्ठी एवं (८) मनोहरा।

ये दौडनेमें बडी तेज है। इनकी आकृति रङ्गदेवीजीसे इतनी मिलती है कि दूरसे देखनेपर कितनी ही बार भ्रान्ति हो जाती है कि रङ्गदेवीजी आ रही हैं। भानुकिशोरीकी वेणी-रचना भी प्रायः ये करती हैं, नेत्रोंमें अञ्जन भी ये लगाती हैं, अङ्गसंवाहनकी सेवा भी अधिकांश कालमे यही करती हैं। सारिका एव शुकको शिक्षण देनेमे ये बडी कुशल हैं। तीतर, बटेर लडानेकी कला भी इन्हें बहुत आती है। शकुनशास्त्रकी ये पूर्ण पण्डिता है। पक्षीगणकी भाषाका इन्हें पूर्ण ज्ञान है। चन्द्रोदय, मेघावलि, पुष्पों तथा अग्निके सम्बन्धमें इनका ज्ञान अगाध है। दिव्य लीलामे प्रतिपक्षी सखियोंके भाव, उनकी चेष्टाऍं आदि जाननेके लिये जो सखियॉं एवं दासियॉं गुप्तचरकी भॉंति घूमती हैं , वे सब-की-सब इनके आदेशानुसार कार्य-सञ्चालन करती हैं।

श्रुतिरूपा गोपियोंके कुछ नाम हैं – उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलसुरा, कलकठिका, विपञ्ची, क्रमपदा, बहुहुता, बहुलप्रयोगा, अबला, कलावती, क्रियावती आदि।

मुनिरूपा गोपियोंके कुछ नाम हैं – उग्रतपा, बहुगुणा, प्रियव्रता, सुव्रता, सुरेखा, सुपर्वा, बहुप्रदा, रत्नरेखा, मणिग्रीवा, अकल्पा, सुकल्पा, सुपर्णा, रत्नमालिका, सौदामिनी, कामदायिनी, भोगदा, विश्वमता, धारिणी, धात्री, सुमेधा, कान्ति, सुलोचना, सुमना आदि।

यूथेश्वरियॉं – चन्द्रावली, सुशीला, सर्वमङ्गला, अंबिका, कृष्णप्रिया, सावित्री आदि। इनके यूथमें सोलह-सोलह हजार सखियाँ हैं। सावित्रीके यूथमें पन्द्रह हजार सखियाँ हैं।

## श्रीराधारानीकी प्रधान अष्ट मञ्जरियाँ

### १. रूपमञ्जरी

श्रीराधारानीकी प्रधान अष्ट मञ्जरियोमें रूपमञ्जरीका स्थान प्रथम है। इनका वर्ण गोरोचन है एव इनके वस्त्रका वर्ण भी मयूरपिच्छाभ है। श्रीललिता इनकी प्रधान सखी हैं। निकुञ्जमें श्रीललिताजीकी मुख्य सहयोगिनी होनेके कारण ये उनके ही समान वर्णवाली एवं उनके ही समान वर्णका वस्त्र भी पहनती हैं। श्रीललिताकुञ्ज, जो श्रीराधाकुञ्जके उत्तरमें स्थित है, वही इनका भी कुञ्ज है। निकुञ्जमें इनकी वय ललिताजीसे कुछ छोटी है। ये सदा तेरह वर्ष, छः माह वयकी ही रहती हैं। श्रीललिताजी इनसे नौ माह, बारह दिन बडी हैं। इनकी मुख्य सेवा भी प्रिया-प्रियतमको ताम्बूल अर्पण करना है।

### २. मंजुलीलामञ्जरी

श्रीराधाकुण्डके ईशानकोणमें विशाखाकुञ्जमें श्रीमञ्जुलीलामञ्जरी निवास करती हैं। इनके अङ्गोंसे तप्त स्वर्णवर्णकी छटा प्रद्योतित होती रहती है। ये किंशुकपुष्पवर्णके वस्त्र पहनती हैं और प्रिया-प्रियतमको सुन्दर वस्त्र धारण करवानेकी सेवा करती हैं। निकुञ्जमें इनकी वय तेरह वर्ष, छः माह एव सात दिनकी ही रहती है।

### ३. रसमञ्जरी

श्रीराधाकुण्डके पूर्वमें चित्राकुञ्जमें श्रीरसमञ्जरी निवास करती हैं। इनके देहका वर्ण चम्पापुष्पवर्ण है । ये हसवर्णके शुभ्र वस्त्र पहनती हैं। इनकी निकुञ्जमें वय सदैव तेरह वर्षकी ही रहती है। श्रीराधारानी एवं प्रियतम श्यामसुन्दरके भिन्न-भिन्न लीलाओंके चित्र निर्माण करना और उस सेवासे प्रिया-प्रियतमको रिझाना इनकी मुख्य सेवा है। प्रियाके अङ्गोंमें प्रियतमकी एवं प्रियतमके अङ्गोंमें प्रियाकी मुखादिकी शोभा हू-ब-हू अङ्कित कर देना इनकी कलात्मक चतुराई है।

### ४. रतिमञ्जरी

श्रीराधाकुण्डके अग्निकोणमें जो श्रीइन्दुलेखाजीका कुञ्ज है उसमें श्रीरतिमञ्जरी सेवारत रहती हैं। इनके अङ्ग विद्युदाभावर्णी हैं और ये तारावर्णके वस्त्र पहनती हैं। इनकी मुख्य सेवा प्रिया-प्रियतमके चरण-संवाहन करनेकी है। इनकी वय निकुञ्जमें सदैव तेरह वर्ष, दो मास मात्र रहती है।

### ५. गुणमञ्जरी

दक्षिण दिशामें चम्पकलताकुञ्जमें इनका निवास है। इनके अङ्ग भी विद्युद्वर्णके हैं। ये जपापुष्पवर्णके वस्त्र पहनती हैं। निकुञ्जमें इनकी वय नित्य तेरह वर्ष, एक मास, सत्ताईस दिन ही रहती है। ये प्रिया-प्रियतमकी जल-सेवा करती हैं।

### ६. विलासमञ्जरी

श्रीराधाकुण्डके नैऋत्य कोणमें जो श्रीरङ्गदेवीका कुञ्ज है उसमें विलासमञ्जरी निवास करती हैं। इनके अङ्गोंका वर्ण स्वर्णकेतकी सदृश है। भ्रमरवर्णके ये वस्त्र पहनती हैं। ये अञ्जन-सिन्दूर लगाकर प्रिया-प्रियतमकी नित्य सेवा करती हैं। इनकी वय निकुञ्जमें सदैव तेरह वर्ष, छब्बीस दिन रहती है

### ७. लवङ्गमञ्जरी

श्रीराधाकृष्णकुण्डके पश्चिम दिशामें स्थित तुङ्गविद्याके कुञ्जमें लवङ्गमञ्जरी निवास करती हैं। इनका वर्ण विद्युद्वर्ण है। ये ताराप्रभ वस्त्र पहनती हैं। इनकी वय निकुञ्जमें सदैव तेरह वर्ष, छः माह, एक दिवसकी रहती है। प्रिया-प्रियतमको सुगन्धित पुष्पमालाएँ समर्पित करनेकी इनकी सेवा रहती है।

### ८. कस्तूरीमञ्जरी

श्रीराधाकृष्णकुण्डके वायव्य कोणमें स्थित सुदेवीकुञ्जमें कस्तूरीमञ्जरी निवास करती हैं। इनका वर्ण स्वर्ण-सदृश है। ये काचवर्णके शुभ्र वस्त्र धारण करती हैं। इनकी वय निकुञ्जमें सदैव तेरह वर्षकी रहती है। ये प्रिया-प्रियतमको चन्दन समर्पित करनेकी सेवा करती हैं।

## सोलह मञ्जरियाँ

इन प्रमुख अष्ट मञ्जरियोंके अतिरिक्त श्रीराधारानीकी अन्य सोलह मञ्जरियाँ हैं। इनके सभीके नाम ललिता-विशाखादि अष्ट सखियोंकी सहायिकाओंके रूपमें पहले दिये जा चुके हैं।

## पाँच प्रकारकी सखियाँ

श्रीराधारानीकी पाँच प्रकारकी सखियाँ हैं। इनमें सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, परम प्रेष्ठ सखी – ये भेद हैं। परम प्रेष्ठ सखियों ललिता, विशाखादिका वर्णन पूर्वतः किया जा चुका है।

श्रीराधारानीकी **सखीवर्गमें** कुसुमिका, विन्ध्या एवं धनिष्ठा आती हैं।

**नित्यसखीवर्गमें** कस्तूरी, मनोज्ञा, मणिमञ्जरिका, सिन्दूरा, चन्दनवती, कौमुदी, मुदिता आदिके नाम हैं।

**प्राणसखीवर्गमें** शशिमुखी, चन्द्ररेखा, प्रियम्वदा, मदोन्मदा, मधुमती, वासन्ती, लासिका, कलभाषिणी, रत्नवेणी,

मालवती, कर्पूरलतिका आदि हैं। कादम्बरी, केलिकन्दली, मणिमती – ये सभी सखियाँ श्रीराधाके समान प्रेम, सौन्दर्य एवं सद्गुणशीला हैं।

श्रीराधारानीकी **प्रियसखीवर्गमें** कुरङ्गाक्षी, मण्डली, मानकुण्डला, मालती, चन्द्रलतिका, माधवी, मदनालसा, मञ्जुमेधा, मञ्जुकेशी, शशिकला, सुमध्या, मधुरेक्षणा, कमला, चन्द्रतिलका, गुणचूडा, वराङ्गदा, माधुरी, चन्द्रिका, प्रेममञ्जरी, तनुमध्यमा, कन्दर्पसुन्दरी, मञ्जुकेशी आदि हैं।

## *श्रीराधारानीकी सेविकाएँ*

श्रीराधारानीकी अतिशय प्यारी **रजककन्याएँ हैं** – मञ्जिष्ठा एवं रगवती। इनमे मञ्जिष्ठा तो वस्त्र- धुलाईका कार्य करती है और रङ्गवती वस्त्रोंमें रँगाईका कार्य करती है।

इसी प्रकार श्रीराधाकी सर्वप्रिय **नापित-कन्याएँ** सुगन्धा एवं नलिनी हैं। सुगन्धा उनके अङ्गोंमें उबटन लगाती है एवं नलिनी केशसंस्कार एवं अलक्तक-समर्पण करती है।

**मालिन-कन्याओंमें** श्रीराधारानीको सुरभित कुसुम एवं पद्म-चयनकर प्रतिदिन प्रातःकाल भेंट देनेवाली, पुष्पहार निर्माणकर पहनानेवाली सखि है नर्मदा। श्रीराधा जैसे ही नर्मदाको देखती हैं, सर्वप्रथम उसे हृदयसे लगाती हैं एवं तब इसकी भेट स्वीकार करती हैं। इसी प्रकार प्रेमवती फूलोंसे मण्डप, हिंडोला आदि बनानेमें परम चतुरा है।

**(रजक, नापित एवं मालिन कन्याओंके अनिर्वचनीय प्रेमभावोंकी विशेष लीलाएँ महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा - प्रथम खण्डमें विस्तारसे दी गयी हैं। उन्हें जिज्ञासु पाठकोंको वहाँ अनुशीलन करना चाहिये।)**

**सन्धि करानेवाली दूतियाँ** – मानप्रसङ्गमें प्रिया-प्रियतमके मध्य सधि करानेवाली(दूतियाँ) सखियाँ हैं - नान्दीमुखी, विन्दुमती आदि।

**संगीत सुनानेवाली सखियाँ** – श्रीविशाखा सखी प्रिया-प्रियतमकी विविध लीलाओं, इनके रूप–सौन्दर्य आदिके अतिशय ललित एव पदोंकी रचना करती है और तब कलाकण्ठी, सुकण्ठी, पिककण्ठिका आदि सखियाँ, जो वाद्य एवं सगीतमे अतिशय निपुणा हैं, इन पदोंको प्रिया-प्रियतमके सम्मुख यथावसर गा-गाकर सुनाया करती हैं, जिन्हें सुनकर प्रिया-प्रियतम आनन्दमत्त हो जाते हैं।

पालिन्ध्री सखी श्रीराधारानीकी **सैरन्ध्री सखी** है। मल्ली, भृङ्गी एवं मतल्ली आदि श्रीराधारानीकी **वनवासिनी सखियाँ** है। वनसे भिन्न भिन्न प्रकारका मधु सञ्चित करना, पुष्पोंसे पुष्पसार इत्र, केवडा जल, कमल-पराग आदि सञ्चयकर प्रिया-प्रियतमकी सेवामें पुष्कल मात्रामें समुपस्थित करना इनका कार्य है।

प्रिया-प्रियतमके लीलाचित्र रचनाकर उन्हें भेंट करनेवाली **चित्रकार सखी** चित्रिणी है।

दैवज्ञा एवं देवतारिणी **यंत्र-मंत्र-तंत्रक्रियाकी सलाह देनेवाली सखियाँ** हैं।

गार्गी, महीसूर्या, भृङ्गारिका आदि प्रियतमको सन्देश देनेवाली राधारानीकी **मुख्य दूतियाँ** हैं। कात्यायनी इनमें वृद्धा दूती है।

कामदा राधारानीकी धायकी पुत्री है, जो श्रीराधारानीको अतिशय प्रिय है।

लवङ्ग, रूप एवं गुण आदि मञ्जरियाँ राधारानीकी **मुख्य सेविकाएँ** हैं जो श्रीराधारानीको अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यार करती हैं।

उद्यानों में, आरामों में विहगी-सी थी फिरती, प्रियतम!
महलों में चञ्चल-चपला-सी हँसकर खेला करती, प्रियतम!
अपलक सब देखा करते थे क्रीड़ा-शैशव उसकी, प्रियतम!
न्योछावर जो न हुआ उसपर, था नहीं कहीं कोई, प्रियतम॥१५॥

**उद्यानोंमें, आरामोंमें, वह विहङ्गिनीकी भाँति घूमती फिरती। महलोंमें वह चञ्चल विद्युल्लहरीके सदृश हँस-हँसकर विभिन्न क्रीड़ाओंमें लगी रहती। नर-नारी अपलक रहकर उसकी बाल्यक्रीड़ा देखा करते । ऐसा कोई नहीं था, जो उसपर न्योछावर नहीं हो गया हो।। १५।।**

## जिज्ञासा

**वृषभानुपुरमें पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, जड़-चेतन, नभ-वायु, जल-स्थल भी थे; क्या वे सभी वृषभानु-राजदुहितापर न्यौछावर हो चुके थे ? यदि प्राकृत जड़ समुदाय भी उस बालिकापर न्यौछावर था, तो उनके न्यौछावर होनेका स्वरूप एवं प्रमाण क्या था ? कृपया बाला श्रीराधाकी तत्कालीन शिशुक्रीड़ापर किञ्चित् विस्तारसे प्रकाश डालें।**

## समाधान

इस समग्र ग्रन्थका अध्ययन करनेवाले परम भाग्यवान् वैष्णव पाठकोसे अति विनम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थमें जो कुछ भी वर्णित है, वह वर्णन अप्राकृत जगत्का है। उसकी तुलना इस मायामय क्षणभङ्गुर जड प्राकृत संसारसे कदापि नहीं हो सकती। यहाँ जिन श्रीराधाकुमारीका वर्णन है, वे साधारण मानवी कन्या कदापि नही हैं। वे राधा अनादि हैं, उनका सौन्दर्य भी अनादि-अनन्त है। इन श्रीराधाके सौन्दर्यका उद्भव परात्पर परब्रह्म भगवान्की सच्चिदानन्दमयी स्वरूपाशक्तिसे होता है। भगवती श्रीराधाके सौन्दर्यकी छाया-की-छायाका एक कण ही स्थूल रूपको प्राप्त होकर सम्पूर्ण प्राकृत विश्वके सौन्दर्यका हेतु बनता है। जब भी भगवती श्रीराधा लीलाधाममे, अथवा भक्तोके हृदयमे प्रकट होती हैं, अवतीर्ण होती हैं, तब उनके अप्राकृत चिन्मय विग्रहमें उनके अङ्ग-अवयव, हाथ-पैर, मुख-वक्षस्थल आदि सभी सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप ही होते हैं। श्रीराधारानीका शिशुरूपमें ही श्रीनारदजीने दर्शन किया था। श्रीनारदजी राधाकुमारीको देखते ही चमत्कृत हो उठे। वे मन-ही-मन विचार करने लगे – 'मैं स्वच्छन्दचारी होकर समस्त लोकोंमें भ्रमण करता रहता हूँ, परन्तु इसके समान अलौकिक सौन्दर्यमयी कन्या मैंने कहीं नहीं देखी।' उनका सोचना सत्य ही था। महामाया भगवती गिरिराजकुमारीके सौन्दर्यको देखकर चराचर जगत् मोहित हो जाता है, परन्तु श्रीराधाका ऐसा विलक्षण सौन्दर्य है कि उसे देखकर चर-अचर मात्र मोहित ही नहीं होते, वे बाला श्रीराधाके चरणोंमें न्यौछावर हो जाते हैं। भगवती महादेवीका सौन्दर्य भी भगवती श्रीराधाके सौन्दर्यके सम्मुख फीका ही ठहरता है। श्रीराधाके विलक्षण सौन्दर्यतत्त्वकी महिमा इतनी असमोर्ध्व है कि शिव-सनकादिकी तो बिसात ही क्या, स्वयं साक्षात् परात्पर परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण भी उनके चरणोंमें ***'धेहि पद-पल्लवमुदारम्'*** कहकर याचना करने लगते हैं। श्रीराधाके सौन्दर्यकी एक झलक-मात्रके दर्शनसे भगवान् श्रीकृष्णको उनके चरणकमलोंमें अपना सर्वस्व न्यौछावर करनेकी स्पृहा जग उठती है एवं उन चरणारविन्दोंमें भगवान्के प्रेमकी इतनी वृद्धि हो उठती है कि उन्हे फिर उनके सिवा कुछ भी नहीं सुहाता।

श्रीराधाके अङ्ग मोहन एवं दिव्य हैं एवं उनसे मधुरिमाकी वर्षा होती रहती है। उसका रोम-रोम रसानन्दसे पूर्ण छलकता रहता है। ये श्रीराधा किसीके महान् सौभाग्योदयोपरान्त ही नेत्रोकी अतिथि बनती हैं। अति बाल्यावस्थामें ही वे अपने सुन्दर रूपसे चराचरको मुग्ध किये रहती हैं।

ये श्रीराधाकुमारी अपने अङ्ग-सौन्दर्यसे वृषभानुपुरके अपने प्रासादके उद्यानोंमें, उपवनोंमें विहगी-सी फिरती-चहकती चेतनको जड़ एवं जड़को चेतन बनाती रहती हैं। जिसकी दृष्टि भी इस बालिकापर पड़ती है, आबाल-वृद्ध, पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गम, कण-कण, अणु-अणु प्रेमानन्दमें डूब जाता है। वीणास्वरमें विमोहित मृगोंकी भाँति वे सभी दर्शक रसानन्दमें परिपूरित निमग्न हो उठते हैं। विहङ्ग मधुर काकलीका त्याग करके इस कुमारी बालाके अङ्गोंसे झरते अनिर्वचनीय सौन्दर्यका उपभोग करनेके लिये अपने नेत्रोंको निर्निमेष स्थिर कर लेते हैं, पलकें गिराना बन्दकर वे अपने नेत्र-पात्रोंको इस सौन्दर्य-सुधाके प्रवाहमें लगा देते हैं।

प्रातः होते ही राज्य-सचिवोंकी ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी, तुङ्गविद्या, सुदेवी आदि अनेकानेक कन्याएँ, मञ्जरियाँ, दासी-पुत्रियाँ जिनका बाला श्रीराधासे प्रेम-गठबन्धन हो चुका होता है, वृषभानु-प्रासादमें एकत्रित हो जाती हैं; ये सभी बालिकाएँ श्रीराधाको घेरकर खड़ी हो जाती हैं, परन्तु अपनी सखी राधाका रूप देखकर ये सभी अपने नेत्रोंमें अतृप्ति-बोध करने लगती हैं। जब इन्हें श्रीराधा अपनी भुजाएँ फैलाकर आलिङ्गन करनेको आतुर होती हैं, उस समय चिन्मय सख्य-रस-सुधा-धारा समस्त धरामण्डलमें प्रवाहित हो चलती है। उद्यानोंमें विकसित कुमुद, कल्हार, कुन्द, मन्दार, चम्पा, चमेली, बेला, मोगरा हँस उठते हैं। पवन उनके मकरन्दको आनन्दमें भर सर्वत्र उड़ाने लगता है।

ये सभी बाल सखियाँ प्रतिदिवस ही नवीन-नवीन उमङ्गें लेकर अपनी सखी राधाके पास आती हैं, और जब इनका अपनी बाल-सखी राधासे मिलन होता है तो उस निराविल प्रेमरसकी धारासे वृक्ष ही नहीं, सूखे काष्ठतक रस बरसाने लगते हैं। ये सभी बालिकाएँ अपने विद्युद्वर्णी अङ्गोंके तेजसे उद्यानों, उनके अन्तर्गत आरामों (विश्रामस्थलियों) को समुद्भासित करती विहङ्गिनी-शावकोंकी भाँति चहकतीं भानु-प्रासादके पिछवाड़े खुले उपवनमें उस स्थलपर पहुँच जाती हैं, जहाँ बृषभानुपुरके पार्श्वमें बहते गिरिस्रोतने छोटे-छोटे अनेक लघु सरोवर निर्माण कर दिये हैं। ये लघु सरोवर बालिकाओंकी कमरतक ही गहरे हैं, और सदैव स्वच्छ जलसे पूर्ण छलकते रहते हैं। इनमें सुन्दर पद्म विकसित रहते हैं, शिरीष एवं मल्लिकाकी लताएँ इनके तटवर्त्ती वृक्षोंसे लिपटी इनके जलमें अपने सुरभित पुष्पोंकी इतनी अधिक वर्षा करती हैं, जिससे इन लघु सरोवरोंमें जलके ऊपर पुष्पसार.(इत्र) तैरता रहता है। इन्हीं सरोवरोंमेंसे किसी एक सरोवरमें एवं कभी दूसरेमें ये बालिकाएँ प्रवेशकर जलकेलि करने लगती हैं। सेविकाएँ महलोंसे नये वस्त्र लेकर इन्हें स्नानोपरान्त पुनः शृङ्गारित करने वृक्षोंके आलबालोंपर आसीन दूरसे अति सावधानीपूर्वक इनपर निगरानी रखती हुईं इन्हें निहारती रहती हैं। ये कभी परस्पर एक दूसरेपर जल उछालती हैं, कभी हसिनियोंकी तरह डुबकी लगाती हैं, कभी मछलियोंकी तरह तैरती हैं। जब ये स्वच्छ जलमें डुबकी लगाती हैं तो इनकी केशराशि जलके ऊपर पुरइनके पत्तोंकी तरह गोलाकाररूपमें फैल जाती हैं एवं जब ये अपना विकसित रक्तपद्मोंके समान आनन जलसे ऊपर उठाती हैं तो उस समय इनकी घनी प्रसरित केश-राशि इनके कुन्दनद्युति स्कन्धदेश, पृष्ठदेश एवं शरीरके आधे बाहुओंतकके भागको आवृत कर लेती हैं। उस समय इन सभी बालिकाओंकी ऐसी शोभा होती है मानो घने मेघोंसे आवृत आकाशमें सुन्दर चन्द्रमुख प्रकट हो रहा हो।

कभी-कभी ये बालिकाएँ उपवनके उस भागपर पहुँच जाती हैं, जहाँ गिरिस्रोतके तटपर रजतके समान बालुका विस्तृत है। जब इस सैकतराशिपर इन बालिकाओंके चरण पड़ते हैं तो गिरिखण्डके अभिमानी देवगण अपने-अपने भाग्योंकी सराहना कर बैठते हैं। उन्हें राधारानीकी सखियों एवं स्वयं बाला राजनन्दिनी राधाके चरणोंका संस्पर्श तभी तो मिला है, जब इन देवगणोंके अहंकारको गिरिस्रोतने चूर-चूरकर सैकत-कणोंमें प्रकीर्ण कर दिया है।

ये बालिकाएँ कभी अपनी लघु अञ्जलियोंमें इस धूलिको भर-भरकर लाती हैं, गिरिस्रोतके जलसे इसे सिक्त करती हैं और तब इस रजपिण्डसे छोटे-छोटे गृह, आँगन, गौशालाएँ, पाकशालाएँ, पूजन-मन्दिर, उद्यानादि निर्माण करती हैं।

इन बालिकाओंकी यह शिशुक्रीडा देखते-देखते अन्तरिक्ष स्थित देवगणोके प्राण उत्कण्ठित हो उठते है। देवाधिदेव शिव-ब्रह्मादिके कर-युगल प्रार्थनामुद्रामें बद्ध हो जाते हैं। उनके चतुर्मुखों, पञ्चमुखोसे बरबस ही स्तवनमंत्र झरने लगते हैं।

'हे अनन्तकान्तिमयी महायोगेश्वरियों ! तुम्हारा यह माधुर्य-वैभव आश्चर्यमय है। तुम सभी विशुद्ध सत्त्वमयी हो, विद्यारूपिणी पराशक्ति हो, तुम्हीं इस परमानन्द-सन्दोहमय ब्रज वैष्णवधामको नित्य धारण किये हो। हम सभीके लिये तुम लोगोंके तत्त्व-रहस्यको जानना अगम्य है। महान् योगीश्वरोंके भी ध्यानपथमे तुम्हारा सस्पर्श असंभव है। ईश्वरियों ! निस्सन्देह तुम परात्पर परब्रह्मकी आह्लादिनी शक्तिकी ही कायव्यूहरूपा परिणति हो, अवश्य ही वृन्दावनमें तुम सभीके साथ परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णकी भविष्यमें अनन्त रसमयी अन्तरङ्ग क्रीडाएँ होगी। जब अपनी शिशु अवस्थामें कुमारियोंके रूपमें ही तुम अपने सुन्दर-मधुर रूपसे इस विश्वको और हम सभीको समर्पित एव न्यौछावर होनेको बाध्य कर दे रही हो, तब यौवन एवं कैशोरके संस्पर्श होनेपर तुम्हारा रूप-लावण्य तथा हास-विलासयुक्त निरीक्षण कैसा विलक्षण होगा ? हे हेतुरहित अनन्त कृपामयि वृषभानुराजतनूजे ! हे वात्सल्यार्णवे ! मात्र एक बार ही सही, सनक-सनन्दन, दुर्वासा-नारदादि महायोगेश्वरोकी ध्यानवस्तु - तुम्हारे सुकोमलतम चरणकमलोसे सलग्न एक रजकणिकाका भी संस्पर्श हमें प्राप्त हो जाय, हमारे द्वारा की गयी इस स्तुतिका यह वरदायी विधान सधङ्घटित हो जाय; देवियों ! हम निहाल-कृतकृत्य हो जावेंगे।'

प्रार्थना करते-करते देवाधिदेवगण व्याकुलताकी उस सीमाको स्पर्श कर लेते हैं, जहाँ भागवती कृपा श्रीराधासे 'तथाऽस्तु' ही उच्चारित कराती है। मानो देवगणोंकी इस प्रार्थनाको ही पूर्ण करने राजदुहिता वृषाभानुकुमारीके मनमे न जाने कैसी संप्रेरणा होती है कि वे अपनी अञ्जलिमें निहित धूलिको अन्तरिक्षकी ओर उडाने लगती है। दूर खडी परिचारिकाएँ जैसे ही श्रीकीर्तिदानन्दिनीकी यह चञ्चल क्रीडा देखती हैं, अनिष्टाशङ्कासे वे तुरन्त क्रियाशील हो उठती हैं और बालिकाओको इस क्रीडासे वर्जित कर देती हैं। कहीं धूलिका कोई एक लघुतम कण ही राजतनूजाके अम्बुजकोरकोके तुल्य दीर्घ नयनोंमें निपतित हो जाय तो ... उस क्षति एव असह्य कष्टकी कल्पनासे ही परिचारिकाओंका हृदय काँप उठता है।

ओह ! इन सभी बालिकाओंके सौन्दर्यका तो कहना ही क्या, वे सभी एक-से-बढकर–एक सुन्दर हैं, फिर अपने विद्युद्वर्णी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे शोभाका निर्झर बहानेवाली राजतनूजा कुमारी राधाका तो कहना ही क्या है ? इन्हे कोई-न-कोई क्रीडा तो करनी ही होती है। इन सभीका शिशु-सुलभ चञ्चलतासे भरा मन भला शान्त कबतक एव क्यों रहे ? तत्क्षण ही सभी सखियाँ श्रीराधाको मध्यमें आसीनकर उसके चतुर्दिक् आवृत्ति डालकर बैठ जाती हैं। एक सखी तत्-थेई, तत्-थेई, तत्-तत् थेई – ताल देने लगती है, और दूसरी मधुर स्वरमे गायन। एक सखी मध्यमें बैठी श्रीराधाको नृत्य करनेको उकसाती है, और स्वयं उसके साथ नृत्य करनेको तत्पर हो उठती है। अब तो ज्योही राधाकुमारी अपने नेत्रोंके मुग्ध-भावसहित नृत्य प्रस्तुत करती है, सभी सखियोंके मन भी नृत्यातुर हो उठते है। सखियाँ अपने नूपुरोंकी झङ्कारको अपने हाथोंकी करताली द्वारा सञ्चालित करती हैं और तब उनकी परस्पर एक दूसरेकी मुखमुद्राओंसे अपनी मुखमुद्राओंका एवं उनकी नेत्र-भङ्गिमाओंसे अपनी भङ्गिमाओका मिलान, फिर हाथोंसे हाव-भावोकी प्रस्तुति ऐसी कलात्मक होती है कि दर्शक हतप्रभ हो उठता है।

कीर्त्तिदा मैया वट-पूजनार्थ उद्यानमे आयी हैं वटवृक्षके बृहत्काय तनेकी ओटसे वृषभानुमहिषी अपनी पुत्री राधाके संग-संग इन गोपकुमारियोंका नर्त्तन देखती हैं। जननी वट-पूजन ही भूल जाती हैं। अर्घ्यपात्र हाथोमे ही रह जाता है। कीर्त्तिमती (महारानीकी छोटी बहिन) जो उनके संगमे आयी हैं, एक परिचारिकाको सङ्केतकर महाराजको बुला लानेका आदेश करती हैं। महाराज आते हैं और दूर ओटसे ही निर्निमेष नयनोंसे अपनी पुत्रीका अद्भुत रुनझुन-रुनझुन

नूपुर एवं किङ्किणी-झङ्कार- समन्वित नर्त्तन देखते हैं। वे वहीं काष्ठ-पुत्तलिकाके समान जड़िमाभाव-समन्वित हुए अपने नेत्रोंसे अश्रु बहाने लगते हैं। इधर महारानी वटपूजा ही विस्मृत कर बैठती हैं। उपवनमें सुदूर विचरण करते मृग आदि वनचर एवं वृक्षोंपर काकली करते पक्षीगण सभी अपनेको उस नृत्यशोभा एवं मनोहारी नूपुर-ध्वनिमें विलीन कर देते हैं। यहाँतक कि प्रवालके मणिस्तम्भोंपर अपना भार दिये प्रासादकी अट्टालिकाएँ और आवासगृह भी चिन्मय होनेके कारण दर्पणवत् हो जाते हैं और बालिकाओंके उस अपूर्व क्रीडानृत्यकी छविसे अपने अणु-अणुको भरकर उसी छविके ध्यानमें डूब जाते हैं।

सहसा किसी एक बालिकाकी दृष्टि मैया कीर्त्तिदापर पड़ती है, वह बालिका राधाको सचेत करती मैयाके आगमनकी सूचना दे देती है। फिर तो तत्क्षण ही सभी बालिकाएँ 'मैया-मैया'की तुमुल ध्वनि करती, नृत्य करना स्थगितकर मैयासे लिपटने दौड पडती हैं। श्रीराधा अपनी माँके पास पहुँचे, उसके पूर्व ही तो सभी सखियाँ अपनी-अपनी भुजाओंसे मैया कीर्त्तिदाके कण्ठको आवृत कर लेती हैं। अपनी सखियोको अपनी मैयासे मिलती वात्सल्यराशिसे राधाको कहीं कुछ भी क्षोभ नहीं होता। वह तो दूर खडी भोले मुखसे शान्त मुसकाती रहती है। इस प्रकार एक अद्भुत लीलामृतधाराकी वर्षा इस वृषभानु राजमहलमे क्षण-क्षण होती रहती है एवं चञ्चल चपला-सी कुमारी राधा सर्वत्र अपनी मधुरिमाकी ज्योति छिटकाती रहती है। उसकी बाल्य-भङ्गिमाओंसे सम्पुटित मनोहर मुख-शोभा देख-देखकर पुरवासियोंकी पलकें स्थिर हो जाती हैं।

ओह! बृषभानुकुमारी राधाकी शैशवधारा क्रमशः गंभीर-गभीरतम होती जाती है। प्रथमतः उसमें शोभाके बुदबुदे उठते हैं, फिर धारा फेनिल होती है। जब कभी भी नन्दग्रामसे नन्दरानी यशोदा अपने पुत्र नीलमणि श्रीकृष्णको ले आती हैं, और वे यदि इस क्रीडाकेलिमे सम्मिलित हो जाते हैं, फिर तो इस शोभाप्रवाहका वेग अकथनीय ऊँची तरङ्गें लेने लगता है। फिर तो इसमें ऐसे गहरे आवर्त्त बन जाते हैं कि जो भी महासौभाग्यवान् इसे देखनेभरका ही अवसर पा जाता है तो इसमें पूरा ही डूब जाता है। यह धारा इतनी दुर्लभ एवं विलक्षण है कि इसके एक कणका भी आस्वाद इन्दिरा-उमा-शारदाको तो स्वप्नमें भी नहीं प्राप्त हो पाता। हाँ ! महा-महासौभाग्यशालिनी बृषभानुपुरकी मातृवर्गकी ब्रजवनिताएँ इसका अञ्जलि भर-भरकर अवश्य ही पान करती हैं। प्रातःसे सायंतक अनवरत इसी रसमें डूबे रहना ही विधाताने उनकी नियति रच दी है। हाँ! पुरके पितृवर्गके गोप भी यदा-कदा इस सिन्धुमें एकाध डुबकी लगा लेते हैं।

ओह! इस बाललीलाके तत्त्वरहस्यके स्वरूप-निर्धारणमें तो निगम अनादिकालसे संलग्न हैं, परन्तु अबतक तो कुछ भी संधान प्राप्त कर नहीं सके हैं। महेश विचार-थकित ध्यान लगाते रहते हैं, शेषकी युक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं, ब्रह्मा अपने सौभाग्यको सराह रहे है, निश्चय, उन्हें ही यह सौभाग्य मिला है कि वे वृषभानुपुरका आधार – ब्रह्मगिरि पर्वत बनें। किन्तु इसका पता तो कोई भी नहीं पा रहा है कि यह लीला-सुधा-धारा इतनी आह्लादवर्षिणी क्यों एवं कैसे है?

रूप एवं यौवन-भारसे दबी देव-किन्नरियाँ जिसे कभी नहीं देख सकीं, अपनी वीणाकी झङ्कारसे विश्वको विमोहित करनेवाली गन्धर्व-कन्यायें जिसे अपने दृष्टिपथमें कदापि न ला सकीं; पातालके देवदुर्लभ वैभवकी अधिकारिणी नाग-तरुणियाँ जिसका कभी अनुसंधान नहीं पा सकीं, वह श्रीराधा एवं उसकी सहेलियोंकी अभूतपूर्व अलौकिक शिशु-स्वभावमयी बालकेलि वृषभानुपुरकी गोबर पाथनेवाली आभीरबालाओंका सौभाग्य-फल बन रही है। उनका रसपान वृषभानुबाबाके घरमें झाड़ू लगानेवाली गोपियाँ अपने नेत्रोंको दोना बनाकर अनवरत पान कर रही हैं।

एक दिवस श्रीराधा एवं उसकी ललिता-विशाखादि सखियोंको मैया कीर्त्तिदा वन-पक्षी दिखाती हैं। कोकिल, कपोत, चातक, चकोर – सभीको देख-देखकर श्रीराधा अत्यन्त हर्षित हो रही है। अचानक मयूर नृत्य करने लगता है। एक सखी, तत्पश्चात् दूसरी, फिर तीसरी, उस मयूरके नृत्यकी असफल अनुकृति करने लगती हैं। अपनी मैयाकी अँगुली पकड़े उसके पार्श्वमें अवस्थित राधाको अपनी सखियोंकी असफल चेष्टाएँ देख-देख दुःख होने लगता है, कुछ

कालतक तो वह मन्द-मन्द मुसकाती एक-एक सखीको साङ्गोपाङ्ग नृत्य करनेका अवसर देती है, प्रोत्साहित करती है, किन्तु जब सभीको उस नर्त्तन करते हुए मयूरके सम्मुख नृत्यकलामें नगण्य समझती है, तो स्वयं अपनी दोनों भुजाओंको पीठकी ओर ले जाकर फैला देती हैं, अपनी मनोरम लघु कमर मयूरकी ही तरह झुका लेती हैं। उनकी पीठको ठीक मयूरके समान ही बङ्किम बना लेनेकी कला देखकर सभी दर्शकगण वाह-वाह कर उठते हैं। वे अपनी ग्रीवा भी ठीक मयूरकी ही तरह ऊपर उठा लेती हैं एवं अपने चरणोंमें बँधी छोटी पायलोंके घुंघुरुओंसे ऐसी झनकार करती हैं कि मयूर भी उनके नृत्यको देख अपना नृत्य भूल जाता है। श्रीराधारानीका वह नृत्य इतना स्वाभाविक होता है कि वह मयूर हतप्रभ, चकित एवं विस्फारित-नेत्र, जडिमा-भावापन्न, स्पन्दनशून्य, मानो चित्रलिखित आकृतिवत् हो जाता है। अब तो श्रीराधा निस्संकोच होकर नृत्य करते-करते उसकी परिक्रमा देने लगती हैं। आश्चर्य ! जो मयूर जडवत् है, वही यंत्रचालित-सा, जैसे-जैसे राधा उसकी परिक्रमा करती हैं, वैसे-ही-वैसे उन्हींकी ओर मुखकर घूमता जाता है। मैया कीर्त्तिदा एवं मातृपक्षकी सभी गोपियाँ कुछ काल तो श्रीराधाकुमारीका यह नृत्य देखती हैं, फिर अचानक ही उन्हें ध्यान होता है कि श्रीराधाकी अस्वाभाविक रूपमें मोडी जानेके कारण कमर कहीं टेढी नहीं हो जाय; बस, तत्क्षण ही मैया दौडकर उसे अपने अङ्कमें भर लेती हैं। गोपियाँ तो उसका नामकरण ही ब्रज-मयूरी कर देती हैं।

इसी उपवनमें कभी सखियाँ किसी विकसित सरोजपर भ्रमरोंको गुञ्जार करता देखती हैं तो श्रीराधाको विकसित पद्म मानकर उसके चतुर्दिक् गुञ्जारध्वनिकी अनुकृति अपने मुखसे निकालतीं भ्रमरोंकी तरह उड़नेका नाट्य करने लगती हैं।

इन सभी लीलाओंको देखनेवाले गोप एवं गोपियाँ, जलचर, वनचर, पशु-पक्षी आदि इन कन्याओंपर अपना सर्वस्व न्यौछावर करनेको आकुल हो उठते हैं। गोपियोंकी यह आकुलता लालसाका रूप धारणकर लेती है। वे इन्हें अपना कण्ठहार बनानेको समुत्सुक हो जाती हैं। किन्तु फिर वे सभी सहम जाती हैं कि कहीं इससे उनके क्रीड़ासुखमें किसी भी प्रकारका विघ्न नहीं हो जावे। जिसकी भी दृष्टि इन बालिकाओंपर पड जाती है, वह अपना गृह-परिवार, प्रासादमें अपने आगमनका प्रयोजन, यहाँतक कि अपना अस्तित्व भी भूल जाता है। उसके आनन्दका पारावार ही नहीं रहता। सब कुछ विस्मृत करके उन्मादी हुए उसको भले ही कोई उसके घर-परिवारमें पुनः पहुँचा दे, परन्तु फिर उसे जागनेसे सोनेतक इन बालिकाओंकी क्रीडा ही दृष्टिगोचर होती रहती है। उसे न तो क्षुधा-पिपासाका ही बोध रहता है, न ही अपने नाम-रूपकी ही सुधि रहती है। श्रीराधारानीके बाल-चरित्रोंसे वृषभानुप्रासादमें मधुरसका निर्झर ही झरता रहता है।

## जिज्ञासा

**श्रीमद्भागवतमें वर्णन आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके जन्मके समय काल परम शोभन हो उठा था, दिशाएँ स्वच्छ हो गयी थीं। क्या कुमारी राधाकी बाल्यावस्थामें भी कालमें, ऋतुओंमें, दिशाओंमें, देशमें इस प्रकारकी मङ्गलमयताका अभ्युदय हुआ था ? वृषभानुपुरमें श्रीराधाके प्राकट्यकालमें देश-कालमें आयी मङ्गलमयताका एवं लीला-सौन्दर्यकी बाढ़का किञ्चित् वर्णन करें।**

## समाधान

आगम-ग्रन्थोंमें भगवती महादेवी सर्वकालाधिष्ठातृकी स्तुतिमें उल्लिखित है -***उन्मेष-निमिषोत्पन्न विपन्नभुवनावली।***

भगवतीके नेत्रोंमें सर्वकालका वास है। महादेवी योगमाया जब अपने नेत्रोंके पलक उघाड़ती हैं तो सृष्टिका सृजन-पालन होता है। और ज्योंही वे पलकें बन्द कर लेती हैं, उसी समय सृष्टिमें महाप्रलय हो जाता है। काल और कुछ भी नहीं, मात्र परमात्माह्लादशक्ति श्रीराधाके नेत्रोंकी दृष्टि है। वे सृष्टको भी अपनी मङ्गलमयी दृष्टिसे देखती हैं और प्रलयको भी उसी प्रकार मुसकाती हुई देखती हैं। इसीलिये कालके भी महाकाल परात्पर परब्रह्म ह्लादात्मा भगवान्

श्रीकृष्ण ही जब भगवतीके नेत्रोके भीतर कालके अन्तर्गत जन्म लेते हैं, तो अजन्माके जन्मपर भगवती मुसका उठती हैं। यह उनकी मुसकान ही तत्कालीन कालको परम शोभनता, मङ्गलमयतासे लबालब भर देती है। ह्लादात्मासे पृथक् तो ह्लादिनी रह ही नहीं सकती। अतः भगवान् श्रीकृष्णके ठीक पन्द्रह दिवस पश्चात् ही श्रीराधारानीका प्राकट्य होता है। अब तो न ही ह्लादिनीके आनन्दकी सीमा है, न ही अपनी प्रियके आगमनके कारण ह्लादात्माके ही आह्लादका पार है। जब ह्लादिनीशक्ति राधा ही पूर्ण आनन्दमें भरी हैं तो उनकी दृष्टिमें निहित कालके आनन्दकी सीमा ही कहाँ ? वह शोभनको भी शोभित करनेवाला हो जाता है। वह तत्क्षण ही सभी ऋतुओंको आदेश देता है कि ह्लादिनी राधाके स्वागतार्थ विशेषतया चुन-चुनकर सभी सद्गुणोंको अपनेमें भर लो, अपनेको सर्व-विशेषणोंसे पूर्ण कर लो।

## वर्षाकाल

श्रीराधारानीके आगमनके समय वर्षा ऋतु थी, इसी ऋतुमें भगवान् श्रीकृष्णका भी जन्म हुआ था, किन्तु कालकी आज्ञानुसार वर्षा वसन्तसे मलय-समीर, कोकिल-कूजन माँग लेती है एवं निजको अलंकृत कर लेती है। अब तो चातककी पिहू-पिहूके साथ कोकिल भी कुहू-कुहू करके स्पर्धा करने लगती है। वर्षामें नदी-नाले सब मटमैले हो जाते हैं, किन्तु जब वर्षा शरद्से स्वच्छता और प्रसन्नता ले लेती है तो उसकी शोभा चमत्कारिकरूपसे और भी निखर उठती है। वर्षामें हेमन्तकी मालती पुष्पित कदम्बानिलसे मिलकर सौरभ-प्रवाहमें चार चाँद लगाने लगती है। शिशिरके कुन्द-कुसुम, दिवसमें कमलिनीसे मिल जाते हैं। अष्टमी निशा भी पूर्णिमाकी तरह प्रकाशमान हो उठती है। वर्षाके आनन्दका क्या कहना ? वह प्रिया श्रीराधाको हर्षित करनेके लिये श्यामघटाका ऐसा विस्तार करती है कि उसे सर्वत्र अपने प्रियतम नीलघनसुन्दर ही भरे दृष्टिगोचर हों। रिमझिम-रिमझिम अपने नूपुरोका झङ्कार करती वर्षा प्रिया श्रीराधाकी शोभा देखने समुपस्थित हो उठती है। जैसे ही वर्षाके मेघोंकी दृष्टि बालिका राधापर पड़ती है, वे उसकी शोभा देख-देखकर न्यौछावर हो उठते हैं। उनके रोम-रोमसे कृतकृत्यतावश 'वाह-वाह' शब्द गर्जनके रूपमें निकल ही पड़ते हैं। चपला चमकती है परन्तु कुमारी राधाकी द्युतिके सम्मुख अपनी शोभा सर्वथा फीकी जान हतप्रभ हुई लज्जित होकर मेघोंकी ओटमें छिप जाती है । वह परिताप करने लगती है कि व्यर्थ ही उसने अबतक तेजस्वी होनेका अभिमान किया। इस प्रकार यथाकाल प्रतिवर्ष ही वर्षाकुमारी श्रीराधाको विकसित वय एवं नित-नूतन सौन्दर्यशालिनी देखती हुई हर्षित होकर विदा लेती है। वह शरद्सुन्दरीके सम्मुख श्रीराधाकुमारीके अलौकिक रूप-सौन्दर्यका वर्णन सुनाती है और याचना करके उससे ओस-कणोंके रूपमें मात्र निशामें रहने देनेकी अनुमति ले लेती है। प्रतिवर्ष ही यह क्रम चलता है।

## शरद् ऋतु

शरद् सुन्दरी वृषभानुपुरकी गवाक्षिकाओंसे झाँक-झाँककर कुमारी राधाका शैशवरूप निहारती। शरद्ने तो ऐसी सौन्दर्यराशिकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। उसे अपने कोषकी समग्र सञ्चित श्री सर्वथा तुच्छ-नगण्य लगने लगती। अपनी अवधि बीतनेतक अपलक कुमारी राधाका मुख-सौन्दर्य देखते रहना ही उसका कार्यकलाप होता।

वर्ष बीतते और बार-बार शरद्का आगमन होता, परन्तु श्रीराधाकुमारीका सौन्दर्य-माधुर्य-सौशील्य प्रतिवर्ष नित-नूतन-सुन्दर, नव-नव मधुर देख-देखकर शरद् अपना सर्वस्व न्यौछावर करती हुई विदा होती। ओह ! अब तो कुमारी राधा गोपकुमारियोंके साथ प्राङ्गणमें मध्याह्नकालमें रिङ्गण करती दृष्टिगोचर होने लगी। देखो, वह घुटुरुन चल रही है, पद्मरागनिर्मितद्वारकी चौखटपर अपनेको चढनेमें असमर्थ समझकर वह पुनः लौट पड़ती है। शरद्को किसी संवत्सरमें वह अपने छोटे शिशु हाथोंसे भिन्न-भिन्न मनोहारी मुद्राओंका प्रदर्शन करती हुई नृत्य करती दिखती, फिर उसका उद्यानमें क्रीड़ार्थ आवागमन प्रारम्भ होता। वह मूक दर्शक बनी देखती रहती कि राजतनूजा राधा शिशुसे बाल्यावस्था और फिर पौगण्ड वयको भी पार कर रही है। सुखके अवसर तो क्षणोंके तुल्य व्यतीत होते ही हैं। शरद्की भी कालावधि समाप्त होती ही। अब तो वह मन-ही-मन कुमारी राधासे प्रार्थना कर बैठती है -' हे कृपार्णवे! हेतुरहित

दयानिधे ! अब तुझे छोड़कर कहाँ जाऊँ ? अपने नेत्रोंमें ही, उसकी शीतलताके सिन्धुमें मुझे भी विलीन करलो, न ! जहाँ-जहाँ तेरी दृष्टि पड़ेगी, वहीं मैं तेरे सङ्कल्पपर मूर्त्त होकर सर्वत्र प्रसरित काम-विष-ज्वालाका शमन करने व्यक्त हो जाऊँगी। कृपा कर दो, न। और श्रीराधाके सम्मुख की गयी प्रार्थना भी कभी व्यर्थ होती है ? श्रीराधाकी वाणीने तो 'तथाऽस्तु'के सिवाय कुछ बोलना मानो जाना ही नहीं है। अतः जब शरद्‌की विदाईकी बेला आयी वह बालिका राधाके प्रति असीम समर्पणभाव लेकर अपनी समग्र सञ्चित श्री सहित उनके नेत्रोंमे समा गयी।

## हेमन्त ऋतु

अब हेमन्त आयी। अब सखियाँ दिवस पर्यन्त तो राजतनूजा कुमारी राधाके पास रहती हीं, उनका निशा-शयन भी उसके पास ही होता। एक ही विशाल कक्षमें रत्नजटित पर्यंकोंमें सुखद तूल-पुष्ट गद्दे बिछा दिये जाते, सभी सखियाँ कलधौत-सदृश शुभ्र स्वच्छ उपधानोंमें मस्तक रख मखमली रजाइयोंमें दुबक जातीं। मध्य निशातक तो मैया कीर्त्तिदासे वे कथाएँ सुनतीं। कभी-कभी तो श्रीदामदादा भी उनके ही मध्य सोता। रात्रि तो सबकी श्रीदामदादाके मुखसे श्रीकृष्णके बाल-चरित्र सुननेमें ही व्यतीत हो जाती। किन्तु निद्राकी भी तो सेवा-प्रक्रिया है ही। मध्य-निशा होते-होते तो वह अपना प्रभाव इन सभीपर इस प्रगाढतासे प्रकट करती कि इन्हें शयन एवं विश्राम करना ही पडता। ये सभी श्रीराधाको चतुर्दिक् आवर्त्त देकर सो जातीं। इनका शयन कोई तमोगुणमें डूबना तो था ही नहीं, वह शयन तो जागरण एवं स्वप्नके ही तुल्य विशुद्ध सत्वमय ही था और जैसे जागरण एवं स्वप्नकालमें ये राधाके साथ चञ्चल रहतीं, ठीक इसी प्रकार शयनकालमें भी ये राधाकी अखण्ड घन-स्मृतिमें अन्य-स्मृति-विहीन हुईं लीन हो जातीं।

जब सूर्यदेव प्रातःकाल पूर्व दिशामें पर्याप्त ऊपर उठ आते, तभी कीर्त्तिदा मैया इनके अङ्गोंसे ओढी रजाइयाँ हटातीं। औषधियोंसे निर्मित मंजनोंसे दन्तधावनकर ये सीधी श्रीराधाके पास पहुँच जातीं। श्रीराधाकुमारीको स्वर्णमयी रत्नखचित स्नानचौकीपर बिठाकर ये उसके अङ्गोंमें फुलेल मर्दन करतीं।

दूर खडा हेमन्त उस समय श्रीराधारानी एवं सखियोंकी शोभा देखता, न्यौछावर होता वृषभानु-राजतनूजाकी स्तुतिमें मग्न होकर मानो कहता -

### *रत्नपीठासनकी वन्दना*

*स्वस्थानस्थित सखीजनगणवृते बिन्दौ मुदा स्थापितम्।*
*नानारत्नविराजि हेम विलसत्कान्तिच्छटादुर्दिनम्।*
*चञ्चत्कौसुमतूलिकासनयुतं श्रीकृष्णसमधिष्ठितम्।*
*नित्यानन्द निदानमम्ब ! सततं वन्दे च स्नानासनम्।*

## भावार्थ

'जो अपनी महिमारूप स्वस्थान (वृषभानुपुर-प्रासादके शृङ्गारकक्ष)में स्थित है; सखी-मञ्जरियों एवं दासियोंसे जो चतुर्दिक् घिरा है, आनन्दविन्दुमें ही जिसकी संस्थापना है, कुन्दनमें रत्नोंको खचित करनेसे जिससे ऐसी स्वच्छ ज्योति उद्भासित हो रही है, मानो दिन उदय हो गया हो, सेमर, एरण्डकी रुईसे जिसे भरा गया है, ऐसा राग-भावमय लाल रंगोंका आसन जिसमें बिछा है, जिसमें अदृश्यरूपमें प्रियतम नीलसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही आविष्ट हैं, जो नित्य निरतिशय आनन्दका कारण (मूल) है, हे अम्बे! राजतनूजे राधाकुमारी ! मैं तुम्हारी स्नानचौकीकी वन्दना करता हूँ।'

हेमन्त परिकल्पना करता – जैसे वह एक हेमछत्र धारण किये श्रीराधाकुमारीके पृष्ठदेशमें खड़ा है। अहा ! कैसा विलक्षण सुन्दर हेमछत्र हेमन्तके हाथोंमें सुशोभित है ! -

*प्रान्तस्फुरद्विमलमौक्तिकगुच्छजालं*
*चञ्चन्महामणिविचित्रित हेमदण्डम्*
*उद्यत्सहस्रकरमण्डलचारुहेम-*
*च्छत्रं बकारमहिले विनिवेशयामि।*

## भावार्थ

"जिसके किनारोंमें निर्मल मुक्तामणियोंके गुच्छोंका जाल लगा है, एवं जो चमचमाती महामणियोसे विजड़ित स्वर्णके दण्डसे युक्त है, जैसे हजारों किरणोंसे युक्त सूर्य उदय हो रहा हो, ऐसी जिसकी शोभा है, हे बकासुर-विनाशन श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिये ! मैं ऐसा हेमछत्र आपके पृष्ठदेशमें लिये समुपस्थित हूँ।'

अलक्षित रूपसे स्थित हेमन्तकी वन्दना मानों श्रीराधाकुमारी श्रवणगोचर कर लेती हैं किन्तु सङ्केतसे उसे सखियोंकी स्वच्छन्द सख्यरसमयी पूजामें व्यवधान डालनेकी मनाही कर देती हैं।

सखियाँ प्रथमतया श्रीराधाके अङ्गोंमें फुलेल मर्दन करती हैं। तत्पश्चात् अनेक औषधियोंके विलेपसे श्रीराधाके कुन्दन-विनिन्दक आभान्वित अङ्गोंमें पीठी लगाती हैं।

चुपचाप दूर खड़ा हेमन्त नयन मूँदे ध्यान कर रहा है -

'हे मेरे मन ! तू स्वर्ण एवं रत्नोंके आवरण(दीवारों)से घिरे, बहुत सी सखी-सहचरियोंसे सुसज्जित श्रीराधाकुमारीके स्नानगृहका ध्यान कर।'

'जहाँपर स्वर्णके जल-कलशोंकी पक्तियाँ रखी हैं, जिन सभीमें परिचारिकाओं द्वारा समशीतोष्ण जल भरा है; स्फटिककी मनोरम चौकी रखी है। जहाँ कृत्रिम फव्वारे लगे हैं, जिन्हें स्पर्श करने मात्रसे समशीतोष्ण जल प्रवाहित होने लगता है। सभी कलशोंमेंसे पुष्पसारो (इत्रों) की तीव्र गन्ध वातावरणको सुरभित कर दे रही है, ऐसे स्नानघरमें हे कुमारी राधे ! आपकी आसीन स्नान करती छवि मेरे हृदयमें सदैव सुविराजित रहे।'

### *सखियोंकी वन्दना*

'जिनका राकाचन्द्रके समान मुख परम शोभामय है, जो हाथोंमें कोई कंघा, कोई तेल, किसीके हाथमें स्नानोपरान्त पहननेके सूक्ष्म स्वर्णतंतु एवं तूल-सूत्रोंसे निर्मित अम्बर हैं, कोई छोटे-छोटे जलपूर्ण स्वर्णकलश उठाकर श्रीराधाकुमारीपर गिरा रही हैं, हे राजतनूजे ! मैं तुम्हारी उन सखियों, सहचरियोंकी वन्दना करता हूँ, जो अभी कौमार्य वयको उल्लङ्घन ही नहीं कर पाई हैं, फिर भी तुम्हारी सेवामे जिनका अदम्य उत्साह है। उन सुकुमारी सखियोंके चरणकमलोंमें हे मेरे मन! तू अनन्त प्रणाम कर !

हेमन्त इस प्रकार उस स्नानकक्षके बाहर खडा इन गोपकुमारियोंकी राधा-सेवाका ध्यान कर रहा था, अकस्मात् उसे अपने इस प्रकार खड़े रहनेपर परिताप होने लगता है। वह सोचता है - 'ओह ! अबतक मैंने इसपर ध्यान ही नहीं दिया कि मेरे अङ्गोंकी शीतलता कहीं वृषभानुकुमारी श्रीराधाके लिये कष्टप्रद तो नहीं है ? फिर मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? क्यों नहीं मैं वृषभानुजाके चरणकमलोंमें ही अपनेको विलीन करलूँ ? परन्तु जिन चरणकमलोंके सेवनके लिये परात्पर परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लालायित रहते हैं, वहाँ मुझ प्राकृत कालाधीन जड़ ऋतुको निवासका सौभाग्य मिले, यह तो असंभव है तब ..... विचार करता हेमन्त अपनी अवधि व्यतीत हुई मान ब्रजभूमिके शीतल जलसे भरे सरोवरोंमें समा जाता है।

## शिशिर

हेमन्तको विदाकर वृषभानुपुरमें शिशिर आता है। हेमन्तने उसे राधाकुमारीकी शोभाका गुणगान इतना अधिक सुना दिया कि उसकी उत्कण्ठा असीम हो उठती है। जननीसे शिशिरके आगमनका पूर्वानुमान करके श्रीराधा एवं उसकी सहचरियोंकी क्रीड़ाकौतुककी सारी व्यवस्था महलके विशाल निर्वात एवं उष्ण कक्षोंमें ही कर दी जाती है। श्रीराधा मध्याह्नसे पूर्व बाहर निकलती ही नहीं। मात्र आठ प्रहरमें एक बार, वह भी मध्याह्नमें ही वह सूर्य–पूजनार्थ बाहर निकलती है, और पूजा सम्पन्नकर मैयाके निर्देशका पालन करती हुई अति शीघ्र महलोंमें प्रवेश कर जाती है। उन सभी महलोंके द्वारोंपर स्वर्णजटित तारोंसे निर्मित क्षौमके तूलपुष्ट परदे झूलते होते हैं। शिशिर उन कक्षोंके बाहर ही भले विचरण कर ले , भीतर तो उसका प्रवेश ही असंभव है। अदर्शन-दुःखसे वह सम्पूर्ण निशा अश्रु बहाता, रुदन करता रहता है। प्रातः वृषभानुपुर-वासियोंको उसके अश्रु ओसकणोंके रूपमें धरामें बिखरे मिलते हैं। कभी-कभी शिशिरका दुःख इतना तीव्र हो उठता है कि वह जडिमा-भावग्रस्त हुआ व्रजके पर्वत-शिखरोंमें हिमपिण्डोंके रूपमें व्रजवासियोंको परिलक्षित होता है। जब भी उसकी अवधि व्यतीत हो जाती है, वह इन्हीं गिरिशिखरोंपर आसीन हुआ प्रतिदिवस ही श्रीराधा-मुख-दर्शनका व्रत लेकर वहीं निवास करने लगता है।

## बसन्त

ज्योंही शिशिरका अवसान होता है, आम्रमञ्जरियोंके अन्तरालसे झाँकता, टोह लगाता अपने हाथपर कोकिलको आसीन किये वसंन्त वृषभानुपुरकी भूमिमें प्रविष्ट हो जाता है। वह सूर्यपूजार्थ सखियोंसे घिरी गमन करती राधाकुमारीके दर्शन करता है। वसन्त विस्फारित-नेत्र देखता ही रह जाता है।

राजतनूजा राधाके मस्तकपर चन्द्रिका-चूडामणि आभूषण विराजित है। उसकी भुजाओंकी ऐसी शोभा है मानो विद्युन्मणियोंकी लताएँ हों। राकाचन्द्रको भी हतप्रभ कर देनेवाले मुखवाली किशोरी मानो पद्मवनकन्या हो। वह सखियोंके मध्य उनसे आवृत गजगामिनीवत् वनपथसे जा रही है। सभी सुकुमारी बालाएँ, जिनकी भौहें कामदेवके धनुषकी तरह बङ्किम हैं, श्रेष्ठ नासिकाएँ हैं, श्रीराधाको आवृत किये धीरे-धीरे पथमें सञ्चरण कर रही हैं। इन सभीके ललाटस्थलोंमें बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्नोंकी बेंदी लगी हैं एवं इनकी दीर्घ घनी कबरियाँ मुक्ता एवं माणिक्यकी लड़ोंसे गुँथी हैं। इनके शनैः-शनैः गमनसे गुँथे पुष्प झड़ते रहते हैं।

ओह ! बसन्तने तो रति, पार्वती, रमा, ब्रह्माणी – सभीका रूप देखा है, बसन्तका प्रवेश सर्वत्र है, किन्तु उसे अबतक निरे बालापनके ऐसे त्रिलोकजयी सौन्दर्यका दर्शन कहीं नहीं मिला। " ये बालिकाएँ तो पूर्णतया शोक-दुःख-व्याधिरहित हैं, अपितु इनके ध्यानमात्रसे निरामयत्वकी प्राप्ति होती है। इनमें सभी एक-से-एक बढकर सुन्दर हैं, किसीमें कहीं, कुछ भी न्यूनता नहीं, फिर कुमारी राधा तो ऐसा अनुभव होता है, मानो पराह्लादस्वरूपा ही हैं। विश्वके समस्त लीला-उपक्रमोंकी वे एकछत्र स्वामिनी हैं। ओह ! विद्युन्मणि-सी ज्योतिर्मान्, कोटि-कोटि राकाचन्द्रोंको हतप्रभ कर देनेमें समर्थ, शीतल आभामयी श्रीराधाकुमारीकी जय हो !" वसन्त स्तुति करता हुआ मुग्ध हो उठता है।

'ओह ! श्रीराधाके चरणकमल तो ऐसे सुकोमल हैं मानो लाल-लाल सुकोमल नव पल्लव हों; नहीं, नहीं, विकसित कमलकी दो अतिशय उत्कृष्ट पंखुडियाँ ही हों। दोनों चरणोमें अनमोल रत्नखचित मञ्जीर आभूषण हैं, और इन चरणोंकी अँगुलियोंकी शोभा तो अपराजेय है, इनके नखोंसे अतिशय तेजस्वी प्रभा सर्वत्र प्रकीर्ण हो रही है।'

'अरे ! सद्योजात कदलीके दो लघु स्तम्भ खड़े हों, ऐसी जिसकी जङ्घाएँ हैं, बिम्बफलके सदृश जिसके ओठ हैं, नीलमणिकी मेखला (करधनी) में लगे घुँघुरुओंकी किङ्कण-शब्दावली ऐसी सुमधुर है, मानो दूरस्थ किसी कदम्बके नीचे आसीन नीलसुन्दर ब्रजराजतनय मधुर वंशीनिनाद कर रहे हों। जिनकी गंभीर नाभि है, ऐसी अलक्ष्य-मध्यमा (लघु उदरवाली) परादेवीका मैं ध्यान करता हूँ।"

'जिनकी रोमावलीरूपा लतामें अभी वक्षोजोंके रूपमें फल विकसित ही नहीं हुए हैं, जिनकी ग्रीवामें निर्मल मुक्ताओंका हार सर्वजयी शोभाका विस्तार कर रहा है, ग्रैवेयक आभूषणमें जटित नौ प्रकारके रत्नोंकी प्रभा छिटक रही है, कानोंमें दो परम शोभाशाली रत्नोंसे जटित परम मनोरम आभूषण हैं, ये रत्न कपोलोंकी लालिमाको दमकाकर और अधिक मञ्जुल बना दे रहे हैं। जैसे शनि नक्षत्रका उदय हुआ हो, ऐसी प्रभा जिनकी बेसरकी नीलमणिसे निकलकर अधरोंको रञ्जित कर रही है, उन बाला श्रीराधाके चरणोंमें मेरे अनन्त प्रणाम !'

बसन्तकी वन्दना स्थगित ही नहीं हो रही थी।

'हे जगज्जननी बाले ! आप सर्वतीर्थमयी हैं, आप परम प्रेमस्वरूपा हो, सनातनी नित्या हो, प्रियतम श्रीकृष्णकी सर्वोत्कृष्ट आराधिका हो, साथ ही उनसे नित्य समाराधित हो, आप ही सर्व- शास्त्रमयी हो, सारे आगम एव निगम आपकी स्तुति करते थक जाते हैं, आपकी महिमा अनन्त है। आप सर्व आम्नायमयी है, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, ऊर्ध्व एवं अधः सर्वत्र आप-ही-आपकी व्याप्ति है। सर्व आयतनों (मन्दिरों) मे आपकी ही पूजा-सेवा हो रही है। आप सर्वानन्दमयी हो। आप परा सवित्, परा आह्लाद-स्वरूपिणी, नित्य अविचल, अखण्ड सत्य हो। हे सच्चिदानन्दस्वरूपिणी पराम्बा राधा ! आपकी जय हो।

स्तुति करता बसन्त भूलुण्ठित हो जाता है। उसके मनमे रह-रहकर यही लालसा उमड रही है कि कैसे मैं श्रीराधाकुमारीकी सेवाका उपकरण हो जाऊँ। वसन्तकी दृष्टि तो डूबी है बाला राजतनूजाके चरण-सरोरुहोमें और उसी मकरन्दसे सुवासित होकर वाणीके पथसे व्यक्त हो रही है उसकी प्रार्थना। प्रार्थना करते-करते वसन्तने कुमारी राधाके ललाटपर पुष्प-मकरन्दकी तरह कुछ- एक श्रम-सीकर विजड़ित देखता है; बस, वह अपने करपल्लवपर बैठी कोकिलको तो नभमें उड़ा देता है और अपने दुकूलसे शीतल-मन्द-सुगन्धित बयार करने लगता है। रविमन्दिरसे वृषभानुपुरतकके सभी उद्यानोंको वह नये-नये मुकुलोंसे सज्जित कर देता है। रवि-सरोवरमें भी वह राशि-राशि पद्म विकसित कर देता है, जिससे जहाँ भी राधाकी दृष्टि पड़े, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ शीतलता, सौन्दर्य, सुरभिसे भर जावें। अपनी शक्तिभर यही सेवा वह कर सकता है। अन्ततः वसन्तकी साधना सफल होती ही है। रवि-सरोवरके चतुर्दिक् फूले कदम्ब एवं बहती मलयानिलसे संतृप्त कुमारी राधा मुसका उठती हैं। राधाकुमारीके मुख-कमलपर मन्द मुसकानको देखते ही बसन्त अपनी समस्त शोभा-सम्पदा लेकर उस मुसकानमें मिलकर एकरूप – तन्मय हो जाता है। देवगण धन्य-धन्यकर आकाशसे नन्दनकाननके पुष्प बरसाने लगते हैं।

### ग्रीष्म

वसन्तके राधा-मुसकानमें विलय हो जानेकी अपूर्व गति अपने सम्मुख ही घटित होती देखकर ग्रीष्म कृतकृत्य हो उठता है। अन्ततः वसन्त था तो ग्रीष्मका बन्धु ही। उसे सन्तोष होता है। परन्तु ग्रीष्मका तो स्वरूप ही ताप देना एवं तप्त होना है। जब वह स्वयं ही ज्वालारूप है, तब ज्वालाके अतिरिक्त वह किसीको भी शीतलता-सुख भला कैसे दे सकता है ? अब वह इस त्रिताप-शीतल वृषभानुपुरमें प्रवेश ही करनेका साहस कैसे करे ? उसने शिरीष पुष्पोंका मुकुट पहना और अपने ज्वालारूप अङ्गोंको मालती पुष्पोंकी मालाओंसे खूब सुसज्जित किया। उसने सोचा – सभव है, अब उसकी ज्वाला सुखद हो जावे, किन्तु यह सब करनेके उपरान्त भी उसके रोम-रोमसे निकलती ज्वाला वैसी ही बनी रही।

अत्यन्त सङ्कोचपूर्वक सर्वप्रथम वह ब्रजमण्डलसे सटी मथुरामें प्रवेश करता है। तीर्थरूप मानकर ग्रीष्म सर्वप्रथम मथुराप्रदेशको प्रणाम करता है। उसकी शोभा देखकर एक बार तो वह चकित ही हो उठता है, किन्तु वह कुछ ही कालमें अनुभव कर लेता है कि मथुरा भले ही पाटल पुष्पोंसे पूरी सजी हो, यमुना नदी उसे दोनों ओरसे घेरकर शीतल करनेकी पूरी चेष्टा कर रही हो, फिर भी आसुरी तापसे वह पूर्णतया दग्ध ही हो चुकी है। सम्पूर्ण माथुर-मण्डलकी ऐसी दशा

देख वह भी वहाँ अपनी पूरी ज्वाला वितरित करनी प्रारंभ कर देता है। भले ही मथुरावासियोंने अपने घर खसके परदोंके विशाल व्यजन लगाकर गुलाब, केवड़ा आदि पुष्पोंके सुरभित जल छिड़ककर शीतल रखनेकी व्यवस्था कर रखी हो, परन्तु उसके प्रखर तापके सम्मुख उनकी सब व्यवस्थाएँ व्यर्थ ही सिद्ध हो जाती हैं। आबालवृद्ध सभीको उसका आगमन व्याकुउण्वं चातुरीमें एकसे-बढकर-एक है। कोई वीणादि वाद्य लिये सुमधुर स्वर छेड़ रही हैं। कोई पुष्पमाला निर्माण कर रही हैं। रत्नोंकी दीवारों और स्फटिकके फर्शसे वह कक्ष चमचम कर रहा होता है। बालिकाके अश्रुतपूर्व अद्भुत स्वरूपको देखकर ग्रीष्म मुग्ध हो जाता है। उसे अनुभव होता है कि इस कक्षमें उसे प्रवेश ही तभी मिल पाया है, जब उसका पुरुषरूप परिवर्त्तित होकर वह स्वयं एक मनोहारी सौन्दर्यमयी बालिका हो गया है। एक सखी उसके पास आकर उसके कानोंमें अतिशय मधुर स्वरमें कहती है – 'हमारी महारानी कुमारी राधापर चँवर डुलाओ, न!' ग्रीष्म सकुचाता है, उसे अपने पूर्वस्वरूपके ताप-तप्त होनेके अबतक संस्कार जो शेष हैं।

वह सखी मुसकाती हुई ग्रीष्मके अङ्गोंमें एक ऐसा सुरभित पुष्पसार लगा देती है, जिसकी सुवासित शीतलतासे ग्रीष्म हेमन्तवत् शीतल हो जाता है। बस, अतिशय मधुर मुसकानसे सम्पूर्ण वातावरणको मुखरित करती एक सखी उसके हाथोंमे चँवर थमा देती है, और हाथ पकडकर राधाकुमारीके मयूरासनके बगलमें खड़ा कर देती है। एक सखी तो उसपर कृपाकी वर्षा ही कर देती है, जब वह राधाकुमारीका अर्धचर्वित ताम्बूल ही उसके मुखमें दे देती है।

कालका अङ्ग होनेसे ग्रीष्म सम्पूर्ण लोकलोकान्तरोमें भ्रमण कर चुका है। ब्रह्मलोक, कैलास एवं वैकुण्ठमें भी ऋतुओंकी सत्ता होनेसे उसे पदार्पण करना ही पड़ा है। परन्तु जैसा निराविल विशुद्ध प्रेम उसे यहाँ इन राधाकुमारीकी सखियोसे मिला है, इस कोटिका प्रेम तो कहीं नहीं मिला। प्रेम ही नहीं, इन गोपकुमारियोंका तो सौन्दर्य, इनका माधुर्य एव रसैश्वर्य भी अप्रतिम ही है। वह हाथमें चँवर लिये परमानन्द-समुद्रमें गोते लगाने लगता है। सहसा एक सखी मुसकाती हुई, उसके कानोंमें मानो मंत्र दे रही हो, निर्देश देती है – 'भावाभिभूत होकर सेवामें त्रुटि मत कर बैठना। सेवा निज आनन्दानुभूतिकी तुलनामें बहुत ही मूल्यवान् है। ग्रीष्म सखी! तुम्हें सेवा करनी है, सेवा-सुख नहीं लेना है। सावधान! कहीं भाव-समुद्रमें गोते लगाते-लगाते निश्चेष्ट मत हो जाना।'

सखीकी मंत्रमयी राय ग्रीष्म सुनता है, परन्तु वह करे भी क्या ? श्रीराधाकुमारीके अङ्गोंसे झरता सौरभ-प्रवाह, उसकी सौम्य सरल मुसकान-माधुरी, चमकती दंत-छटा, कानोंमें धारण किये नव किसलय-से सुकोमल कुण्डलोंकी निर्मल आभासे दमकते गुलाबी कपोल, कपोलपर मसिबिन्दु, भौहोंका तीखापन, नयनोंकी दीर्घता, ललाटकी शुभ्रता, इस सबके ऊपर विराजित आननपर मुग्ध सरल प्रीतिकी उमगती ऊर्मियाँ – इस बालिका कुमारी राधाके सौन्दर्यके सम्मुख तो महामाया महादेवी गिरिराजकुमारीका रूप भी नगण्य ही सिद्ध होता है, जिसके रूपसे चराचर जगत् मोहित है। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति, विद्यादि देवियाँ तो इसकी छाया भी नहीं छू पातीं। ग्रीष्म मन-ही-मन बोल उठता है – 'निश्चय ही राधातत्त्वको जानने-समझनेकी शक्ति मुझमें सर्वथा-सर्वांशमें नहीं है। अरे, अरे, वैकुण्ठका निःश्रेयस वन ही मानो इसकी चिकुर राशि है। एक-एक अलककी सुरभि कोटि-कोटि कल्पलताओंमें विकसित प्रसूनोंकी गंधको हेय कर दे रही है। इसकी मुसकान देखकर त्रैलोक्यलक्ष्मी मुखमें तृण रख लेती है। इससे अधिक क्या कहूँ, क्षीरसागरकी निर्मलता भी इसके नेत्रोंके धवल अंशके सम्मुख तुच्छ है। इसके नेत्रोंकी कृष्णतामें तो स्वयं परात्पर परब्रह्म ब्रजेन्द्रनन्दन ही भरे हैं। इसे वृन्दाकाननकी अभूतपूर्व, माधवी लता ही कहूँ, जो अपनी अपाङ्ग दृष्टिसे प्रीतिभावके कुसुमसमूह सर्वत्र बिखेर रही है। इसकी मधुरातिमधुर कौमार्य-चपल वाणीको सुनकर कोकिल एवं चातक भी हतप्रभ हो उठते हैं, फिर पारावत, हंस, शुक एवं मयूरादिकी तो बिसात ही क्या है।

ग्रीष्म अपनी अवधिपर्यंत तो श्रीराधाकुमारीकी किसी-न-किसी सेवामें तन्मय रहता ही है, कभी व्यजन-सेवा, कभी चँवर-सेवा, कभी महलोंमें रज-मार्जन, कभी वस्त्र सुखानेकी सेवा, वह अनवरत सेवा करता ही जाता है, किन्तु जब उसकी अवधि समाप्त होती है, तो श्रीराधाकी चरण-नख-चन्द्रिकाकी तेजोराशिमें वह विलीन हो जाता है।

ग्रीष्मका अवसान होता है और ब्रजपुरकी धराको अलकृत करने पुनः वर्षा ऋतु आ जाती है। इस बार यह श्रीराधाकुमारीके सप्तम वर्षकी वर्षगाँठ देखने आयी है। वर्षमें मात्र दो माह ही तो यह ब्रजपुरके आकाशमे अपना वितान तानकर निवास करती है। आजके सात वर्ष पूर्व इसने राधा-जन्म-महोत्सवकी अपूर्व शोभा देखी थी। उस समय इस वर्षा ऋतुने अगणित मनोरथ किये–*तुम जो मनावत सोइ दिन आवत'*।

वर्षा ऋतु जो-जो मनोरथ करती, दूसरे वर्ष उसे वही मङ्गल दृश्य देखनेको मिलता। वर्षा जब दूसरे वर्ष आयी तो उसने देखा - समग्र वृषभानु-प्रासाद ही आनन्द-निनादित है। मातृवर्गकी गोपियाँ कीर्त्तिदा मैयाके संग हँसती-हँसती लोट-पोट हो रही हैं। कुमारी राधा किलकती घुटुरुन चल रही है। उसे एक उडते पक्षीकी परछाई आँगनमे दिख रही है और वह उसे पकड़नेकी असफल चेष्टा कर रही है। उस भोली सरल बालिकाको समझ ही नहीं आता कि परछाई पकड़ी नहीं जा सकती। उस लीलाको हृदयमें धारणकर वर्षा उस वर्ष प्रस्थान कर जाती है।

तीसरे वर्ष वर्षा फिर बालिका राधाका हाथ नचा-नचाकर नृत्य देखनेमें डूब जाती है। तीसरे वर्ष राधाकी अपनी सखियोंके साथ उद्यानमें क्रीडा प्रारंभ होती है। चौथे वर्ष सरोवरोंमें स्नान, सूर्यपूजार्थ रविमन्दिर-गमन, सायंकाल छोटी-सी दोहनी लेकर गोदुग्ध-दोहन, फिर नन्दभवनमें खेलनेके लिये जाना, यशोदा द्वारा शृङ्गार, वनमे पडी मुरलीका मिलना, उसे लेकर नन्दभवन पहुँचाने जाना, नन्दनन्दनकी पहुँची (हाथका आभूषण) ढूँढने उनके साथ पुनः वनमे वापस आना, वहाँ ब्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा पुष्पशृङ्गार – इस प्रकार पूरे छः वर्षतक वर्षा जब-जब वृषभानुपुरमें आती है, उसे कोई-न-कोई हृदयहारी लीलाके दर्शन होते हैं।

इस प्रकार यहाँ अतिशय संक्षेपमे कुमारी श्रीराधासुन्दरीके बाल्यकालके छः वर्षोका वर्णन किया गया है।

'है बात एक दिनकी, जब वह थी वर्ष सातकी, हे प्रियतम!
मनमें आया, जाऊँ वनमें मैं पुष्प-चयन करने, प्रियतम!
उत्तरकी ओर मनोहर था वन एक विशाल घना, प्रियतम!
कल-कलनिनादिनी के तटपर शोभाका आकर, हे प्रियतम॥१६॥

**जब वह सात वर्षकी थी, तब एक दिन एक विचित्र घटना घटी - उसके मनमें आया कि मैं वनमें पुष्प-चयन करने जाऊँ। उसके ग्रामके ठीक उत्तरकी ओर एक बड़ा ही सुन्दर, मनोहर, अत्यन्त घना एवं विशाल वनस्थल था। कलिन्दनन्दिनीके तटपर ही अवस्थित था वह वन। उसकी शोभाकी सीमा नहीं थी।।१६।।**

## जिज्ञासा

**श्रीराधारानीके मनमें सात वर्ष वयकी होनेपर ही पुष्पचयन करने वृन्दा-काम्यकाननमें प्रविष्ट होनेकी लालसा क्यों हुई ? उसके पहले भी वे पुष्पचयन करने तो वनोंमें जाती ही थीं, फिर इस वयके पूर्व उनमें इस वनमें फूल बीनकर लानेका सङ्कल्प क्यों नहीं उठा ? अपनी सखीजनोंकी माताओंसे इस वनका माहात्म्य तो उन्होंने पूर्वमें भी सुना ही होगा। फिर सात वर्ष वयकी होनेपर ही उनमें यह भावोदय क्यों हुआ ?**

## समाधान

ध्यान रहे, व्रजलीलामें प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवका किशोररूप ही धर्मी है। उनका बाल्य एव पौगण्ड रूप तो मात्र धर्म है। धर्मीका अर्थ है - धर्मके द्वारा जिस शाश्वत लक्ष्यको प्राप्त किया जाय। श्रीराधा-माधव नित्य किशोर हैं। किशोर अवस्थाके पश्चात् ये युवा एव वृद्ध कभी नहीं होते। इसीलिये इस बाल्यावस्था एवं पौगण्डावस्थाकी चरितार्थता ही उन्हें अपने नित्यधर्मी – कैशोर वयमें प्रतिष्ठित कर देना है। इसके पश्चात् ये दोनों बाल्य एवं पौगण्ड अवस्थाएँ इस कैशोरावस्थामें ही विलीन हो जाती हैं।

नारीरूपमें तीन वर्षकी वयतक कौमारावस्था रहती है। इसके पश्चात् तीनसे छः वर्षतक पौगण्ड एवं सातवें वर्षकी वयसे पौगण्ड एवं कैशोरकी वय-सन्धि प्रारंभ हो जाती है। *'अष्टवर्षी भवेत् गौरी'* के विधानानुसार आठवे वर्षमें नारी किशोरी हो जाती है।

कौमारमे जहाँ वात्सल्यरसकी प्रधानता होती है, पौगण्डमे सख्यरसका पूर्ण प्रवाह रहता है। वही शास्त्र उज्ज्वल माधुर्यरसके पूर्वरागोदयके लिये कैशोर एवं पौगण्डके सन्धिकालको सर्वोपयुक्त वय मानते है।

ब्रजभावकी परमाराध्या श्रीराधा निकुञ्जेश्वरी नित्यकिशोरी है एवं प्रियतम श्रीकृष्ण निकुञ्जेश्वर नित्यकिशोर हैं। इनकी बाल्य एवं पौगण्ड अवस्था इन्हे नित्यकिशोर एवं नित्यकिशोरीरूपमे समाविष्ट कर देनेके सोपान मात्र हैं।

श्रीराधाकुमारी जैसे ही इस बृन्दा-काम्यकाननमें प्रवेश करती हैं, उनकी पूर्वराग-लीलाका रङ्गमञ्च प्रस्तुत हो जाता है, इसीलिये सात वर्षकी वयके पूर्व उनके इस मन्दिरमे जानेका निषेध है।

रहते थे मानो सदा वहीं ऋतुराज-शरद् दोनों, प्रियतम !
पर था निषेध उस कानन में सबके जाने का, हे प्रियतम।
अनुमति राजा की लेकर ही कोई जाता था, हे प्रियतम!
नृपको अपनी कुलदेवी के दर्शन होते उसमें, प्रियतम।।१७।।

**ऐसा लगता था मानों शरद् और वसंत दोनों ऋतुएँ सदा वहीं उसी उद्यानमें निवास करती थीं। किंन्तु उस वनमें कोई जा नहीं सकता था। सबके लिये निषेध था। अत्यन्त अभिलाषा होनेपर कोई व्यक्ति राजाकी अनुमति लेकर ही उसमें प्रविष्ट हो सकता था। बात यह थी- महाराजको उस वनमें अपनी कुलदेवीके प्रत्यक्ष दर्शन हुआ करते थे।।१७।।**

अतएव पूर्णिमा जब आती तिथि तथा अमावस की, प्रियतम !
थी उस वन की देती फेरी जो प्रजा राज की थी, प्रियतम !
उनमें जिसकी अतिशय निष्ठा देवी की होती थी, प्रियतम!
उसको दर्शन हो जाता था प्रत्यक्ष दिव्य उनका, प्रियतम।।१८।।

**इसीलिए जब भी पूर्णिमा तिथि आती अथवा अमावस्याका पर्व लगता, तब राज्यकी जो प्रजा थी; वह उस वनकी फेरी दिया करती थी। उन फेरी देनेवालोंमें जिस व्यक्तिकी देवीके प्रति अतिशय निष्ठा होती, उसको उस वनमें महादेवीका प्रत्यक्ष दर्शन भी हो जाता था।।१८।।**

अतुलित पवित्रता का अनुभव तो सबको ही होता, प्रियतम !
सब आ-आकर अपनी-अपनी बातें कहते वे थे, प्रियतम !
नृपतनया ने थी सुनी वहीं उनसे वन की गाथा, प्रियतम !
उत्कण्ठित अतः हुई वह थी जाने के लिये वहाँ, प्रियतम।।१९।।

**अप्रतिम पवित्रताका अनुभव तो जानेवाले सभी व्यक्तियोंको होता ही था। सभी आ-आकर अपने-अपने अनुभवकी बातें कहा करते थे। उस राजतनयाने उन सबके मुखसे ही उस वनकी कथा सुनी थी, अतएव वहाँ जानेके लिए वह उत्कण्ठित हुई थी।।१९।।**

## जिज्ञासा

**कृपया संक्षेपमें 'राधा-काम्यकानन'का वर्णन करें ।**

## समाधान

विश्वसृष्टिमें या तो वैकुण्ठ धामका नैःश्रेयस नामक उपवन ही है, अथवा भगवती त्रिपुरसुन्दरीका श्रीसुन्दरीवन ही है जहाँ वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त एवं शिशिर – छहो ऋतुएँ सदा हाथ बाँधे सेवोत्सुक समुपस्थित रहती हैं एवं इन वनोंकी वनस्पतियाँ इन छहों ऋतुओंकी समस्त शोभा एवं फलोंसे सुफलीकृत रहती हैं।

इन दोनों अप्राकृत स्थलोंका युगपत् मिलित शोभामय स्वरूप ही इस वृन्दा-काम्यकाननमे नित्य व्यक्त रहता है। यहाँ प्रकृतिकी समग्र वनस्पतियाँ हैं, परन्तु हैं, कल्पतरु एवं कल्पलताओंको हतप्रभ करदेनेवाली शोभा एवं उनसे अनन्त गुने ऐश्वर्यको व्यक्त करनेकी सामर्थ्य लिये। सरोवरोंका निर्मल जल पुष्पित माधवी लताओंसे परिव्याप्त रहता है। उनके जलपर इन लताओंका मकरन्द झरता रहता है। इन पुष्पोंके मकरन्दको अपने दुकूलमें भर-भरकर मन्द समीर सर्वत्र प्रचुर रूपमें विकरित करता रहता है। चतुर्दिक् सब ओर मधुर गुन-गुन रव करती भ्रमरावली विचरण करती रहती है। इन भ्रमरोंका गुञ्जन उच्च स्वरमें अवश्य है, परन्तु सभी सुरीली राग-रागिनियोंका मानो यह गुञ्जन उद्गम - मूलनाद हो। यह अलि-गुञ्जन कानोंके द्वारा चित्तको पूर्ण एकाग्रकर प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधवकी प्रीतिसे सराबोर कर देता है। दूरसे श्रवण करनेवालेको तो यह गुञ्जन शब्दावली 'राधाकृष्ण, राधाकृष्ण'के रूपमें ही श्रवणगोचर होती है। यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही इस वनमें दृष्टिगोचर होता है कि पारावत, सारस, चक्रवाक, हंस, शुक, तीतर, मयूर ही नहीं, चातक एवं कोकिलाएँ भी जब इन भ्रमरोंका गुञ्जन प्रारंभ होता है तो पूर्ण एकाग्रचित्त हुए आनन्दमत्त, आत्मविस्मृत हो उठते है। ये अपनी बोलियाँ बोलना भूल जाते हैं। इस वनकी अधिष्ठात्री वृन्दादेवी हैं, अतः यहाँकी यह विलक्षणता ही है कि मन्दार, कुन्द, कुरवक, उत्पल, चम्पक, स्वर्ण, पुन्नाग, नाग, बकुल, अम्बुज एवं पारिजात आदि सभी पुष्प अतिशय सौभाग्यशाली होनेपर भी गर्वरहित होकर सदैव हरिप्रिया तुलसीकी वन्दना करते रहते हैं। महादेवी योगमाया भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी सन्धिनी प्रधानशक्ति होनेसे वृन्दादेवी इस वनकी अधिष्ठात्री हैं और यह वन वृन्दा-काम्यकानन कहलाता है। व्रजप्रदेशमें वर्तमानमें भी सभवतः 'कामवन' नामक ग्राम इसी वनस्थलीकी पूर्वसत्ताका प्रतिपादक है।

यद्यपि यह वन अनन्त सिद्धियोंका प्रदायक है परन्तु ब्रजकी गोप-गोपियाँ कुमारी राधा एव नन्दनन्दनके विशुद्ध प्रेमके आस्वादनमे इतने तन्मय रहते हैं कि उन्हे इस ऐश्वर्यशाली निधिके अपने समीप ही स्थित होनेका अधिकाशतः ज्ञान ही नहीं रहता है। प्रत्यक्ष दैवी धाम होनेसे ही महाराज वृषभानुने इस वनमें सर्वसमय सर्वजनके प्रवेशका निषेध कर रखा है, उनकी अनुमति लेकर ही कोई श्रद्धालु वहाँ प्रवेश कर सकता है।

हाँ, पुरातन पूर्व पुरुषोंके समयसे ही भानुकुलकी कुलदेवी भगवती योगमाया त्रिपुरसुन्दरीका नित्य निवास इस वनमें होनेसे महाराज जब अपने सामन्तादि एवं प्रजाजनोके साथ वहाँ जाते हैं तो उन्हें भगवतीके साक्षात् दर्शन होते हैं।

यह नियम ही है कि महाराज प्रत्येक मासकी अमावस्या एवं पूर्णिमा तिथिपर अपनी प्रजाके साथ इस वनकी फेरी देते हैं। इस अवसरपर जिसकी भी भगवती योगमायापर अतिशय निष्ठा होती है, उसे इस वनमें महादेवीके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।

जो भी इसमे प्रवेश करता है उसे पदार्पण करते ही ऐसा तो प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है मानो उसका समग्र तमोगुण (कल्मष) विलीन हो गया है। उसके तन-मन-प्राण विशुद्ध सत्त्वमें डूबने लग रहे हैं। असीम मङ्गलमयतासे आपूरित हुआ वह अपनेको पूर्ण शुचि अनुभव करने लगता है। उस वनमें प्रवेश पानेवाला वह यात्री यह अनुभव प्रकट किये विना रह नहीं पाता है। इसीलिये इस वनकी महिमा-सम्बन्धी यह चर्चा वृषभानुपुरमें बाल युवा, स्त्री-पुरुष सभीके मध्य होती ही रहती है। राजतनया राधाने भी अपनी सखियोंके घरोंमे क्रीडार्थ जानेपर उनकी माताओंके मुखसे, अथवा

अपनी वयस्क सेविकाओंके मुखसे इस वनकी महिमा सुनी है। अतः स्वाभाविक ही अनेक दिवसोसे उसके मनमें भी यह उत्कण्ठा जग उठती है कि मैं भी कभी इस वनमें पुष्पचयन करने जाऊँ। इस वनमें क्रीडार्थ सभी जावे एवं वहाँके सुरभित पुष्पोंका चयन कर लावें – इस उत्कण्ठाको एक दिवस वह अपनी सखियोंके सम्मुख प्रकट कर देती है।

नट जननी से आकर बोली पीयूष भरे स्वरमें, प्रियतम।
'कुछ फूल बीन लाऊँ मैं री! उस वनसे' और हँसी, प्रियतम।
भर आँखें रानीकी आयीं, सुनकर फिर जब देखी, प्रियतम!
कैशोर वयसकी लाली-सी नवमुख पर पुत्री के, प्रियतम॥२०॥

**वह अपनी माताके समीप आकर पीयूष भरे स्वरमें बोली-''अरी मैया ! मैं उस वनसे कुछ फूल बीनकर ले आना चाहती हूँ।'' इतना कहकर वह हँस पड़ी। पुत्रीकी बात सुनकर रानीकी आँखें भर आयीं। और फिर जब उन्होंने पुत्रीकी ओर दृष्टि डाली तो लाडिलीके मुखपर किशोरावस्थाकी लालिमाको प्रत्यक्ष अभिव्यक्त देखा। लाडिली बड़ी ही सुन्दरी थी, उसका मुख क्षण-क्षणमें नवीन-नवीन सौन्दर्य धारण करता रहता था।।।२०।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सखियोका अनुमोदन पाकर मानो उसकी वाणीमें पीयूष ही भरा हो – ऐसे अतिशय मधुर स्वरमें कुमारी राधा अपनी माताके सम्मुख अपनी इच्छा रख देती है - 'अरी मैया ! मैं उस दैवी काननसे सखियोके संग कुछ पुष्प बीनकर ले आऊँ ? ' यह कहकर वह मुसका उठती है।

मैया कीर्त्तिदा अपनी पुत्रीकी बात सुनती हैं। उसकी मुसकानमे उसे साक्षात् जगज्जननीकी छवि दृष्टिगोचर हो उठती है। अतिशय श्रद्धासे रानीकी ऑखे भर आती हैं। वे पुनः सावधानीपूर्वक नेत्र उठाकर पुत्रीके मुखकी ओर देखती हैं। उन्हें लाडिलीके आननपर, कपोलोंपर कैशोर वयके अभ्युदयके चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो उठते हैं। माताने अपने वात्सल्यावेशमें इसे परिलक्षित ही नहीं किया था कि उनकी पुत्री छ वसन्त देख चुकी है, और उसके सातवें वर्षकी वर्षगाँठ व्यतीत होकर अब तो आठवें वर्षकी शरद्का प्रारम्भ हो चुका है। महारानी तो अभीतक अपनी बालिकाको दुधमुँही ही मान रही थीं। किन्तु इस वार महारानीने स्पष्ट परिलक्षित किया कि उनकी पुत्री राधाके अङ्गोंसे बाल्यावस्था तो व्यतीत हो ही गयी, पौगण्ड भी अपनी अवधि समाप्त कर चुका है। राधाकिशोरीके अङ्गोंपर एक अप्रतिम विकास परिलक्षित होने लगा है। राधाके मुख-सरोजका सर्वांश एक अभिनव कान्तिसे दमक उठा है। उसके दृगोमे मनोहर दीर्घता दृष्टिगोचर हो रही है। उसके नयन-सरोरुह अरुण प्रभासे रञ्जित हो उठे हैं। माता देख रही है कि कैशोर उसकी पुत्रीमें एक अनिर्वचनीय सौन्दर्यका उद्रेक करनेमें क्रियाशील हो उठा है। मानो उनपर कुङ्कुम मण्डित कर दी गई हो, इस भॉति उसके कपोल किञ्चित् रक्ताभाकी झाईं दे रहे हैं। उसके वक्षोज भी मुकुलित होनेकी आकुलता प्रदर्शित कर रहे हैं। मध्यदेशमे परम रमणीय कृशता परिलक्षित होने लगी है। माता चकित है कि उसे ज्ञात ही नहीं हुआ और श्रीराधाके अङ्ग प्रत्यङ्गोंमें एक अद्भुत अनिर्वचनीय सौन्दर्य-सिन्धु उमड उठा है। इस सौन्दर्यपूरमें माता कीर्त्तिदाके नेत्र डूब जाते हैं।

मैया कीर्त्तिदाके नेत्र किञ्चित् क्षणोके लिये यदि कभी ऊपर आते भी हैं तो उसके प्राणोंमे इस प्रकारकी झङ्कार उठती है -'अहा ! कैसी शोभा है मेरी प्राणवत्सलाकी ! मानो वसन्तके दिन हों, नव-विद्युल्लताकी शाखाओंकी प्रत्येक ग्रन्थिमें कुन्दनवर्णमयी नवाङ्कुरश्रेणी फूट पडी हो। इन नवाङ्कुरोसे उस विद्युल्लताका सौन्दर्य प्रस्फुटित हो उठा हो। पर यह शोभा भी मेरी पुत्रीके रोम-रोमसे प्रस्फुटित हुए सौन्दर्य-स्रोतकी तुलनामें सर्वथा सर्वांशमे तिरस्कृत, तुच्छीकृत हो रही है।'

मैया कीर्त्तिदाके नेत्र शोभासिन्धुमें डूबकर कभी निमीलित होते हैं, पुनः उन्मीलित होते हैं –' कैशोरभाव अपनी समस्त मधुरिमा अब श्रीराधाके तनमें उँडेलने जा ही रहा है एवं श्रीराधाके अङ्ग भी उस माधुर्यभारको वहन करनेमें सर्वथा समर्थ दीख रहे हैं। अहा ! अभी तो भरपूर पौगण्ड है, पौगण्डने डेरा उठाया ही नहीं है। कुछ ही काल पूर्व तो इस कुन्दनवर्णी राधाके श्रीअङ्गोंपर कौमारका साम्राज्य था। उसकी समस्त भंगिमाएँ – भावधाराएँ कौमारकी छाप लेकर ही व्यक्त होती थीं। पौगण्डने बहुत प्रयत्न करके कौमारको निस्सारित किया था, उसे हटाकर बहुत कठिनाईसे शासन-सूत्र अपने हाथमें लिया था, परन्तु अब तो कैशोर अपना अधिकार सँभालने आ पहुँचा है। यह लो, उसके आते ही राजतनूजाके अङ्गोंपर कितना मनोहर विकास परिलक्षित होने लगा है। कर्त्तव्यका कितना ज्ञान है इसे ? अपने अस्तित्वकी परम एवं चरम कृतार्थता वृषभानु-तनूजाके श्रीअङ्गोंके स्पर्शसे ही संभव है – कैशोरने यह भी भली भाँति समझ लिया है। देखो, देखो, अभी-अभी, देखते-देखते ही इसने अपना कैसा विस्तार कर लिया है। अब तो पौगण्ड अलक्षित रूपसे अश्रु बहाता स्वयं ही कैशोरमें विलीन हो जाता है।'

'अहा ! राजतनूजा मानो विद्युल्लता नाम्नी लताका एक अनिर्वचनीय सुन्दर फल हो, जो अभी परिपक्व नहीं हुआ हो, फिर भी कसैलेपनेसे रहित हो गया हो, मृदुता धारण करके, मधुर-सुस्वादु रससे पूरित हो उठा हो, सबकी लोभनीय वस्तु बन गया हो।'

इस प्रकार भावावेशमें रानी न जाने क्या-क्या अनुभव करने लगती है।

*लोचन के आगे नाच उठी रानी के जीवन की, प्रियतम।*
*घटना प्राचीन नवीन वधू थी बनी यहीं आयीं, प्रियतम।*
*वह थी सुहाग की रात, मौन थे आर्यपुत्र बैठे, प्रियतम।*
*वे थीं बैठी, था झुका हुआ सिर उनके चरणों में, प्रियतम ॥२१॥*

**.......... महारानीकी आँखोंके आगे उनके जीवनकी एक घटना नाच उठती है। घटना अत्यन्त प्राचीन थी। तबकी थी, जब वे वहीं - उसी स्थलपर नयी बहू बनकर आयी थीं। उनकी आँखोंके आगे वह दृश्य भी नाच उठा जब वे सुहागकी रात मनानेके लिये शयनकक्षमें ले जायी गयी थीं। शयनपर्यंकपर आर्यपुत्र पतिदेव मौन बैठे थे। महारानी वहीं उनके समीप ही बैठी थीं। महारानीका सिर महाराजके चरणोंमें झुका हुआ था।।२१।।**

## जिज्ञासा

**प्राकृत विश्वमें तो सुहागरात पूर्ण काममयी ही होती है। पुत्रेषणा ही पति-पत्नीके प्रथम दाम्पत्य-प्रेमका हेतु होता है। इस अप्राकृत दिव्य राज्य वृषभानुपुरके नृपति एवं महारानी कीर्त्तिदाकी दिव्य विशुद्ध सत्त्वमयी मिलन-निशाका कृपया विस्तारसे वर्णन करें। यह भी सुस्पष्ट करें कि उनमें मिलनवेलामें कौनसा ज्योतिर्मय भाव उदय हुआ ?**

## समाधान

महारानी अपनी पुत्रीको देखती-देखती बह चली उस सौन्दर्य-प्रवाहमें और देखने लगी अपने विगत यौवनकालके चित्र – जब वे नववधू बनकर वृषभानुकुलमें आयी ही थीं।

सुहाग रात थी। सखियाँ महारानीका नववधूचित शृङ्गार करके उन्हे लेकर प्रथम मिलन-कक्षमे लायी थीं। सखियोंने रानीको कक्षमे विजडित आरसीमे उनका स्वयंका रूप दिखाया था। ओह ! रानी चमत्कृत हो उठी थीं। यह तो साक्षात् जगन्माता वृषभानुकुलकी महादेवीका ही रूप है। ऐसी सुन्दरी तो वे कभी नहीं थीं। अपने अङ्ग-अङ्गमें

अभिव्यक्त भगवती त्रिपुरसुन्दरीके सौन्दर्यावेशको देखती रानी श्रद्धासे 'माँ, माँ' पुकार उठी थीं। न जाने भगवती महायोगमायाकी क्या इच्छा है? सखियोने महारानीको पद्म-पर्यंकपर विराजित कर दिया था। अतिशय लज्जासे निम्न मुख किये वे आर्यपुत्र महाराजके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। मन्द मन्द मुसकाती सखियाँ उन्हें प्रथम पति-मिलनसुखके अतिशय अभिवर्धनकी कलाओंकी शिक्षा एवं यथोचित सेवा-निर्देश देकर विदा हो चुकी थीं। महारानीने विमुख मनसे सखियोंकी सभी शिक्षा सुन तो ली थी, परन्तु उनका चित्त तो आरसीमे अपने ही अन्तरालसे अभिव्यक्त भगवतीके परम अलौकिक, विशुद्ध परासात्विक दिव्य सौन्दर्य-दर्शनसे पूर्ण पवित्र हो चुका था। उनके मनमें तो यही आ रहा था, महाराज भी क्यों नहीं उसी माँके चिन्मय स्वरूपमें ही रम जावे और विषय-विरक्त ही हो जावें। विशुद्ध भक्तिरसकी उत्ताल तरङ्गोंमें रानी बह रही थी।

सहसा द्वार उन्मुक्त हुए। महाराज कक्षमे पधारे। पुष्पपर्यंकपर महाराज विराजित हो गये। महारानीने महाराजमें साक्षात् भगवान् महादेव कामेश्वरके ही दर्शन किये। प्रथम चरणोंमें विनत होकर ही उसने महाराजको अपना पूर्ण समर्पण किया था।

महाराजने प्रथम दर्शनमें ही जान लिया - उनकी जीवनसङ्गिनी सर्वविधि आत्मा एव शरीर — दोनों प्रकारसे अप्रतिम सुन्दरी है। महाराजने रानीका प्रथम मुख दर्शन किया, वे पवित्रताके अजस्र स्रोतमे जैसे आपाततः डूब गये।

रानीके कुन्दनद्युति मुखारविन्दसे राशि-राशि विशुद्ध माधुर्यकी धारा प्रवाहित हो रही थी। महाराजके नेत्र जैसे उस माधुर्य-मदपानसे छक गये हों, अर्धनिमीलित हो उठे। महाराजके नेत्रोंसे उनके प्राण एवं हृदय सन्नद्ध थे ही। अतः महारानीके उस अपूर्व पवित्र सौन्दर्यकी एक झलकने ही मानो महाराजके अनन्त जन्मोंकी संस्कारजन्य अर्जित कामाग्निको, जो उनके अन्तरस्तलके प्रत्येक अंशमें अलक्षितरूपसे अनादिकालसे विद्यमान थी, पूर्णतया प्रशमित कर दी थी। महाराज तो अत्यन्त सङ्कुचित हो उठे थे। मधुकर मानो अत्यधिक मधुपानसे मत्त होकर तन्द्रित होने चले हो, महाराजके नेत्र निमीलित हो उठे थे। महारानीके भी रसपूरित हृदयमें एक विशाल भावलहर आयी। परन्तु सन्नारी-उचित लज्जाने प्रायः सम्पूर्ण द्वार ही रुद्ध कर दिये। महारानीने महाराज वृषभानुका लाज-भरी मन्द सुमधुर मुसकान एवं अतिशय विनम्र भावमुद्रामें स्वागत किया। अवश्य महारानीके नेत्र किञ्चित् चञ्चल हो उठे और उनकी चितवन भी बङ्किम हो गयी। वे भावावेशवश महाराजको अपने अन्तरस्तलमें सञ्चित सम्पूर्ण आदरकी भेंट समर्पित करने लग गईं। इस समादरके रूपमें ही महारानीने अपना हृदयद्वार अनावृत कर दिया और उनका सर्वस्व महाराज वृषभानुके चरण-सरोरुहमें पूर्णतया समर्पित हो गया। गुणनिधान महाराज वृषभानुने इसे ही बहुत-बहुत करके मान लिया। महाराजने महारानीके इस उपहारको आन्तरिक परमोल्लाससे मौन रहकर ही स्वीकार कर लिया। महारानी भी महाराजके चरणोंमें मूक, विनम्र सिर झुकाकर बैठी रहीं।

*जीवनसङ्गिनी अलौकिक थी सुन्दरी मिली, फिर था, प्रियतम!*
*दोनों में ही नवयौवन का उन्मेष; किंतु दोनों, प्रियतम!*
*हो गये विरत उन विषयों के उन्मादी भोगों से, प्रियतम!*
*जागा अन्तस्तल में सहसा ज्योतिर्मय भाव, अहो! प्रियतम ॥२२॥*

**महाराजाको अलौकिक सुन्दरी जीवनसङ्गिनी मिली थी। उस समय महाराजमें, महारानीमें नवयौवनका उन्मेष हो चुका था, किन्तु दोनों ही अचानक प्रपञ्चके उन उन्मादी विषयभोगोंसे सर्वथा विरक्त हो गये। इतना ही नहीं, दोनोंके ही अन्तस्तलमें सहसा एक ज्योतिर्मय परम निर्मल भाव जाग उठा।।२२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

महारानी कीर्त्तिदा और महाराज वृषभानुका यह मिलन वासनाभिभूत मिलन नहीं था। वहाँ मायिक जगत्‌का भान ही नहीं था। यह उनका आत्मासे आत्माका व्यवधान-रहित मिलन था। महाराजने महारानीका प्रथम दृष्टिमे ही जो रूप देखा था, वह आनन्द-सौन्दर्य-सुधानिधि चिदानन्द रसमय रूप था। वह प्राकृत देहका कामाकर्षणजन्य रूप नहीं था। वह रूप ऐसा था जिसके सम्मुख आनेपर देह-गेह, लज्जा-सङ्कोच, अपना-पराया, लोक-परलोक – सभी उस अनुपम रूप-सरिताकी प्रखर धारामें बह जाते हैं।

कामका अर्थ है, जो शरीर अन्न-जलादि द्वारा सवर्धित है, मल-मूत्र जिसका परिणाम है, उसको तृप्त करनेकी इच्छा। काम मिलनमें कभी न तो विशुद्ध रसका ही उदय होता है, न वस्तुत तृप्ति ही होती है। यह बात हम पहले ही कह चुके है कि महारानी कीर्त्तिदामें तो परमानन्दमयी भगवत्स्वरूपा पराशक्ति महादेवी ही अभिव्यक्त हो उठी थीं। अत महाराज-महारानीका मिलन नीच कामोपभोग नहीं था, परस्पर एक दूसरेको सुखदानरूपा प्रीतिका अनुभाव मात्र था। यह दोनो युगल दम्पतिमें जो विशुद्ध प्रीति प्रकट हुई थी, यह भागवती आनन्दका ही परिपाक विशेष था।

इसीलिये इस मिलनने उनमें किसी तृष्णाका उदय नहीं किया। महाराज-महारानी दोनोमे ही इस मिलनके पश्चात् न ही किसी भोगकी आकाङ्क्षा रही, न ही मोक्षकी। किसी भी कामना-वासनासे वे सर्वथा सर्वांशमे निर्मल होकर ही मिलन-निरत हुए थे। तत्क्षण ही उन दोनोंमे इतना उच्च भाव प्रतिष्ठित हो गया कि 'हमारे जीवनका क्षण-क्षण अब भविष्यमे केवल इसी साधनामे बीते जिससे कृपामयी त्रिभुवन-जननी प्रसन्न हों। बस, इसके सिवा न तो हमें भोग-मोक्ष, सद्गति-परागतिकी चाह हो, न परवाह ही।' दोनोंने ही उसी मिलन निशामें जड शरीरके भोगोका ही नहीं, सूक्ष्म शरीरसे मिलनेवाले स्वर्ग एवं कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष, और तो क्या, जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया था। उनके हृदयमें बची थी - पराभट्टारिका महादेवी भगवती योगमायाके चरणोमे पूर्ण समर्पणमयी भक्ति और स्वयं जगन्माता ही जगन्माता।

हम दोनों अभी इसी क्षणसे हो चुके समर्पित हैं, प्रियतम !
जो कृपामयी त्रिभुवनजननी हैं, उनके श्रीपदमें, प्रियतम !
किङ्करी और किङ्कर हम हैं दोनों विक्रीत हुए, प्रियतम !
केवल उनकी ही सेवा अब जीवन पर्यन्त करें, प्रियतम ॥२३॥

**महाराज सहसा बोल उठे - "महारानी ! सुनो, हम दोनों ही अभी इसी क्षणसे कृपामयी त्रिभुवन-जननीके चरण-सरोरुहमें समर्पित हो चुके हैं। हम दोनों ही अब एकमात्र उनके ही किङ्करी एवं किङ्कर हैं। उनके चरण-सरोरुहमें ही हम दोनों सर्वथा सर्वांशमें विक्रीत हो चुके हैं। अब तो केवल-केवल हम दोनों उनकी सेवा जीवनपर्यंत करते रहेंगे।।२३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सहसा महाराज बोल उठे – ' महारानी ! पराभट्टारिका महादेवीकी कृपासे त्रिलोकीको मथनेवाले हृद्रोग – कामविकारका तो हमारे जीवनमें अब प्रश्न ही नहीं रहा, एव हम दोनों इसी क्षणसे त्रिभुवन-जननीके चरणोंमें समर्पित भी हो चुके हैं, अब इसी क्षणसे हम उनके किङ्कर-किङ्करी भी हो जावें।'

असलमे यह ससार तभीतक बाधक एवं विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्‌से सम्बद्ध नहीं हो जाता। वस्तुतः

इसे भगवान्‌का प्रसाद ही समझ एवं मान लेना चाहिये। भगवान्‌का कोई व्यक्ति किङ्कर-किङ्करी, दास-दासी, सखा-सखी – बस, कुछ भी हो जाय, फिर तो सब बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। भगवान्‌के सम्पर्कमे आयी माया, विशुद्धविद्या बन जाती है। ससार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। तब चाहे संसारमे वह व्यक्ति भले ही राजा हो, रानी हो, अनन्त भोगप्रधान राज्यसुखका, त्रिलोकीकी सम्पदाका भी स्वामी हो, उसके सम्पर्कमे आयी माया विशुद्धविद्या बन जाती है, उसका सम्पूर्ण माता-पिता, पुत्र-पुत्री, दास दासी, जन-परिजन, शत्रु-मित्र, अपने-परायेके रूपमें जो भी आवरण होता है, वह उसे भगवान्‌के सान्निध्यसे वञ्चित नहीं कर पाता। उसके लिये नरक नरक नहीं रहता और स्वर्ग अथवा वैकुण्ठ भी वैकुण्ठ नहीं रहता। उसका निवास तो अखण्ड-नित्य भगवल्लोकमें ही होता है। इस स्थितिमें पहुँचे बडे - उच्च साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते-से दीखते हैं।

इसी भावसे महाराज वृषभानु महारानीसे कहते हैं कि एक बार यदि हम अपने सच्चे भावसे जगन्माता भगवती आदिशक्ति योगमायाके किङ्कर-किङ्करी बने नहीं, फिर भले ही लोगोंकी दृष्टिमें हम राजा रानी, पति-पत्नी रहें, वस्तुत हमारा सबकुछ भगवती योगमायाकी अपनी सम्पदा बन जायेगा। उसपरसे हमारा चिर सञ्चित अपनत्वका डेरा हट जायगा। फिर तो हमारा सभी संसार, भाई-बहिन, माता-पिता, कुल-लोक, धन-परिजन, धन-संपत्ति, राज-पाट, सम्पूर्ण गोधन – सभी भगवतीका प्रसाद ही बन जावेंगे। ये सभी उनके किङ्करी-किङ्कर हमको उनका पल-पल स्मरण करावेंगे।

यहाँ पुन: ध्यान रखनेकी बात है कि महाराजा वृषभानु एवं मैया कीर्तिदामें इतना अधिक भागवती समर्पण था कि उन्हें वस्तुत: राजपाटका कोई भी मोह, कोई भी बन्धन नहीं था, फिर भी उन्होने स्वेच्छासे इस पारिवारिक राजकाजके बन्धनकी मर्यादाको मात्र भगवतीके कुलकी वस्तु, उनकी देन मानकर स्वीकारा। उनके लिये राजकाज, अपार गोधन, देव-दुर्लभ अकूत सम्पत्ति भगवती महादेवीका प्रसाद मात्र थी। उनके लिये राज्यसुख पल-पलमे भगवती पराभट्टारिकाकी स्मृति करानेवाला भगवतीका परम सुन्दर प्रतीक था। उन दम्पतिकी भगवती महादेवीके प्रति हृदयगत प्रेममयी स्थिति त्याग-वैराग्यजन्य अहंकारी मर्यादाओके ऊपर थी। वे तो महादेवीके प्रेममें, उनके आज्ञापालनरूप धर्ममें, उनकी सेवारूप व्रतमें त्यागका भी त्याग कर चुके थे। वे तो वैराग्यके प्रति भी वैरागी हो चुके थे। त्याग एव वैराग्य होता है मलिन प्राकृत देहमें, अहंकारगत कर्मोपलब्धिरूप फलके भोगमें। भला कोई महादेवीकी सेवा-सामग्री – पराभट्टारिकाके मङ्गलमय विधानरूप कृपादानका भी त्याग करेगा ? महारानी कीर्तिदा और महाराजा वृषभानु – दोनो ही राजा-रानी भगवती योगमाया महादेवीके ऐसे कृपापात्र थे कि उन्हे त्यागके भावका भी त्याग, त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करनेमें कहीं कोई कठिनाई नहीं हुई।

साधककी यह दशा होती है कि वह भगवान्‌को तो चाहता है, परन्तु संसारको भी छोडना नहीं चाहता। वह अपने घर-परिवार, राज-पाट, पति-पत्नी, पुत्र-कलत्रको साथ लेकर भगवान्‌से जुडना चाहता है। सूर्यके दर्शन करनेकी चाह भी रक्खे और अन्धकारको भी नहीं छोडना चाहे – यह तो बहत ही विकट दुविधाकी स्थिति होती है। ऐसे साधकका संसार भगवान् जोर-जबरदस्ती करके नष्ट कर देते हैं। अपने संसारका समूल नाश होते देख साधक बिलखता है, रोता है। उस समय अन्तर्यामी भगवान् उसे शिक्षा देते हैं – 'अरे मूर्ख ! तुम इस पर्देके मोहमे क्यो पडे हो ? यह पर्दा ही तो जीव और मेरे मध्यका बहुत बडा व्यवधान है। वह हट गया, बहुत बडा कल्याण हुआ। अब तुम मेरे पास आओ, तुम्हारी चिरसञ्चित आकाङ्क्षाएँ मैं पूरी करूँगा।' परमात्माका यह आह्वान – आत्माके आत्मा, परम प्रियतम, प्राणोके मर्म भगवान्‌का यह मिलन-आमंत्रण भगवत्कृपासे जिस महाभाग्यवान्‌के अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममे निमग्न होकर, सबकुछ छोडकर, इस छोडनेको भी भूलकर भगवान्‌की ओर दौड आता है। फिर न उसे अपने घर-द्वार, राज-पाट, धन-सम्पत्तिकी चिन्ता होती है, न पत्नी-पुत्र, सगे-सम्बन्धी एव भाई-बहिनकी। वह न अपनेको देखता है, न जगत्‌को। विशुद्ध एवं अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसे होता ही है।

महाराजा वृषभानु एवं महारानी कीर्त्तिदा तो भगवती जगदम्बाके ऐसे ही कृपापात्र थे। उन्हें विवाह-मण्डपसे जब महादेवीके दर्शनार्थ मन्दिर ले जाया गया तथा वहाँपर जब उन दोनोकी दृष्टि महादेवीके मुखमण्डलपर पडी, तो उन्होंने महादेवीसे मात्र उनकी चरण-सेवाका ही कृपा-दान माँगा था। वे दोनों ही सर्वस्व त्यागकर, पूर्ण समर्पणकर उच्चतम आत्मविस्मृतिमे भगवतीके चरणोकी भक्तिभावनामें भर गये थे। वे तो भगवतीके चरणोंके चिन्मय भक्तिरसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबे सबकुछ भूल जाते हैं, भूलनेवालेको भी भूल जाते हैं। उनकी दृष्टिमे मात्र भगवती ही रहती हैं, इसी सर्वोच्च आत्मसमर्पणके कारण ही महारानीको आरसीमें देखनेपर अपने स्थानपर भगवती जगदम्बाका ही स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ था। महाराज वृषभानुका भी कीर्त्तिदाके प्रथम दर्शनमे ही दुर्जर कामनाश हो गया था और वे उससे मिलन-कालमें दिव्य प्रेमकी ही अनुभूति करने लगे थे।

उनका आदेश भले जब हो, तब एक पुत्र नरा, हो, प्रियतम !
जो परम्परा का नृपकुल की निर्वाह वीर करदे, प्रियतम !
पश्चात् सदा के लिये लीन हम हों श्री-पद-नख में, प्रियतम !
आदर्श रखें हम, जिसे प्रजा अपनाकर सुखी बने, प्रियतम ।। २४।

**देखो, उनका जब प्रत्यक्ष आदेश मिल जाय तब भले हम दोनोंको एक सन्ततिके जनक-जननी बनना पड़े-सो भी इसलिये कि वह वीर पुत्र राजकुलकी परम्पराका निर्वाह कर दे। इसके पश्चात् तो हम दोनों सदाके लिये श्रीमहादेवीके चरण-नखचन्द्रोंमें ही विलीन हो जायँ -ऐसा आदर्श रख जायँ, जिसको आदर्शके रूपमें स्वीकार कर हमारी प्रजा भी सदाके लिये सुखी बन जाय।।२४।।**

## जिज्ञासा

**महाराज वृषभानु कहाँ तो महारानी कीर्त्तिदाके साथ भगवतीके किङ्कर-किङ्करी होकर पूर्ण निवृत्त, त्यागी जीवन व्यतीत करनेकी चाह करते हैं, फिर वे एक पुत्र होनेकी बात कहकर पुनः अपने निश्चयसे क्यों डिग जाते हैं ? भगवती किसीको भी भला पुत्र-पुत्रीरूपी मोह-संसारमें प्रवृत्त करनेकी इच्छा क्यों करने लगीं ? वे तो महाविद्यामयी, मोक्षदायिनी एवं ज्ञानप्रदायिनी ही हैं । कृपया इसपर प्रकाश डालें।**

## समाधान

ध्यान रहे, महाराजा वृषभानु पूर्वजन्ममें महादानवीर राजा नृगके सुपुत्र परम धर्मात्मा सुचन्द्र थे। इन्होंने गोलोकेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी घोर तपपूर्वक दीर्घकालतक आराधना की थी। इनके घोर तपके प्रभावसे जब भगवान् स्वयं इनके पास वर देने आये, तो इन्होंने उनसे यही वर माँगा कि भगवान् श्रीकृष्णकी प्राणप्रिया, विशुद्ध आह्लादिनी महाशक्ति गोलोकेश्वरी श्रीराधा ही उनके यहाँ पुत्री रूपमें जन्म ले। भगवान् श्रीकृष्णने उनकी भक्तिभावका आदर करते हुए उन्हें 'तथाऽस्तु' वर दिया था कि आगामी द्वापरयुगमें, वृषभानुपुरमें तुम गोपराज वृषभानुके रूपमें जन्म लोगे, तब मेरी प्रिया राधा तुम्हारी पुत्री होकर तुम्हे कृतार्थ करेगी। इन वृषभानु महाराजमें भगवान् सूर्यदेवका भी तेज समाविष्ट था, जो भगवती योगमाया महादेवी त्रिपुरसुन्दरीके द्वादश प्रमुख आचार्य भक्तोमे एक हैं। भगवान् सूर्यदेवने भी 'श्रीराधा'को पुत्री रूपमें पानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना की थी। उन्हें भी भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा यही वर मिला था। अतः सयोग ऐसा हुआ कि भगवान् सूर्यदेवका अंश भी वृषभानु महाराजमें पूर्ण समाविष्ट था। इनका नाम भी वृषभानु इसी लिये हुआ कि इनके कुलपर भगवान् सूर्यदेवकी अपार कृपा थी।

इसी प्रकार महारानी कीर्त्तिदाके रूपमें भी भगवती मानसीकी पुत्री कलावतीने जन्म ग्रहण किया था। भगवती मानसी जो पितरोंकी कन्या थी, उन्होंने घोर तप करके भगवान् वरदराज वैकुण्ठाधिपति नारायणको प्रसन्न किया था एवं उनसे वर माँगा था कि मेरे कुलमें भगवती महादेवी योगमायाका प्राकट्य हो । भगवान्ने इन्हें वर दिया था कि तुम्हारे कुलमें कुलको धन्य करनेवाली तीन सौभाग्यवती पुत्रियॉ होंगी। प्रथम, मेनका होगी जो पर्वतराज हिमालयको विवाही जावेगी, दूसरी, सुनयना होंगी, जो महाराज जनकजीकी सती पत्नी होंगी। यह सर्वविख्यात है कि मेनकाकी पुत्री पार्वती हुई, एवं सुनयनाके घरमे सीताजीका प्रादुर्भाव हुआ। तीसरी, महाभागा कलावती होंगी। ये नृगके सुपुत्र सुचन्द्रको व्याही जावेंगी। ये महारानी कलावती एव महाराज सुचन्द्र ही घोर तप करके भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करेंगे एवं उनसे वररूपमें भगवती राधाको अपनी पुत्रीके रूपमें मॉगेगे। महाभागा कलावती एव महाराज सुचन्द्रने ही वृषभानु गोप एवं कीर्त्तिदा महारानीके रूपमें जन्म लिया एवं भगवती श्रीराधा इनकी ही भविष्यमें कन्या होगी।

ये ही सब कारण थे, जिनसे सूर्यवंशमें, साथ ही पराभट्टारिका परात्पर पराशक्ति आदिमहामाया भगवतीके पूर्ण कृपापात्र कुलमें श्रीवृषभानुजीका जन्म हुआ और महारानी कीर्त्तिदा महान् धर्मात्मा राजा बिन्दुके घरमें रावल ग्राममें यज्ञाग्निसे उद्भूत हुई। महाराज नन्दराय उस यज्ञमें सम्मिलित थे, अत: उन्होंने ही वरेच्छु होनेकी वय प्राप्त होनेपर इनका विवाह अपने धर्मात्मा प्राणोपम मित्र वृषभानुसे कराया था।

भगवती श्रीविद्याके प्रमुख बारह आचार्योंमें क्योंकि भगवान् सूर्यदेव एक हैं, अतः सूर्य-विद्याके रूपमें ही इनके कुलमें महादेवी सनातन कालसे विराजित थीं।

वस्तुतः वही धन्य है, कृतकृत्य है, उसीका कुल पवित्र है, जो जगज्जननी महादेवी पराभट्टारिका आदिशक्ति महामाया त्रिपुरसुन्दरीके श्रीचरणोंमें समर्पित होनेका सङ्कल्प करते हैं। पिताको पुम् नामक नरकसे छुडानेवाले पुत्र होने संभव हैं, परन्तु अनादि भवबन्धनसे मुक्त करनेवाली पराश्रीविद्यास्वरूपिणी जगज्जननीको अपनी इष्ट, आराध्या, सर्वस्व मानकर उनके ही श्रीचरणोंमें शेष जीवन न्यौछावर कर देनेका लक्ष्य निर्धारण करनेवाला कोई एक बिरला वीर पुरुष ही होता है। महादेवी पराम्बाके किङ्करीत्वको प्राप्त करनेकी अभिलाषा अनन्तानन्त जन्मोंके पुण्योदयसे ही संभव है।

महाराज वृषभानु एवं कीर्त्तिदाके घर भगवती श्रीराधाका प्रादुर्भाव हो, यह दम्पतिकी अहकारगत कामना नहीं थी। यह तो पराभट्टारिका भगवतीकी ही महाइच्छा थी। महाराजा सुचन्द्र एव कलावती, हिमालय एवं मेनका तथा जनक एवं सुनयना, आदि मात्र रङ्गमञ्चके पात्र थे जो कठपुतलीवत् उस महाइच्छामयीकी इच्छा-डोरसे बँधे सङ्कल्प-विकल्प कर रहे थे। उनके सङ्कल्प उनके रजोगुणी अहंकारके परिणाम नहीं थे।

अतः श्रीवृषभानु महाराज एवं कीर्त्तिदा महारानीमें इसी समय चिन्मय धाम – गोलोकके नित्य लीला-परिकर वृषभानु एवं कीर्त्तिदा भी आविष्ट हो जाते हैं।

बस, अब तो रङ्गमञ्च ही दूसरा हो गया। एक क्षण पहले जो वृषभानु गोपराज प्रपञ्चके उन्मादी विषयभोगोंसे पिण्ड छुड़ानेकी एवं निवृत्त जीवन व्यतीत करनेकी सोच रहे थे, उनकी प्रबल इच्छा सोपाधिक परात्पर परब्रह्मशक्ति प्रत्यक् चैतन्यस्वरूपा भगवती त्रिपुरसुन्दरीके चरणोंके किङ्कर होनेकी थी, साथ ही जो अपने इसी लक्ष्यकी ओर अपनी सहधर्मिणीको भी उनकी किङ्करी बनाकर प्रवृत्त करना चाह रहे थे, इस विषयमे जो पूर्ण दृढनिश्चयी होकर, अटल व्रत लेकर सौभाग्य-मिलनकक्षमें चरण रखे थे; अब उनमें ही विकल्पका उदय हो गया। उनका मन जगत्के मोहसे अभिभूत हो उठा। यद्यपि उनके इस मोहको उत्पन्न करनेवाली जड जगत्मे व्याप्त अविद्याग्रन्थि नहीं थी, यह मोह तो भगवती महादेवी जगन्मायाका रागरूप पाश-आयुध था, जिसका वे अपने महामङ्गलमय लीला-विधानको चरितार्थ कराने, उनके अपने निज कृपापात्र यंत्र बने पात्रोंपर ही प्रयोग करती हैं। भला उस महाइच्छामयीकी इच्छाका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य किसमें है। देव-दानव, ऋषि-मुनि, महासिद्ध योगीश्वरो, सनकादि महज्जनों, नारदादि भगवद्भक्तों,

दुर्वासा विश्वामित्रादि तपस्वियों, वशिष्ठादि ज्ञानियो, अत्रि-अनुसूया, अगस्त्य-लोपामुद्रादि महासिद्ध सामर्थ्यशाली मानवो, परशुराम, भृगु, दत्तात्रेय जैसे ऋषियों, यहाँतक कि ब्रह्मा, शिव, एव भगवान् नारायणतककी तो सामर्थ्य नहीं कि वे पराभट्टारिका भगवतीके इस पाश-आयुधके बंधनसे स्वतत्र हो सके । भगवान् राम-कृष्णादि अवतारी पुरुषोकी लीला भी उस महालीलामयीके अङ्कुशके नीचे ही सम्पन्न होती है। वे भी स्वतत्र आचरण नहीं कर पाते, तो बिचारे वृषभानु नृपतिकी सामर्थ्य ही कहाँ थी कि वे उसके महापाशसे अपनेको मुक्त कर सकते।

उनकी यह एक पुत्र होनेकी कामना भगवती महादेवीकी ही महाइच्छा थी, जो उनके मानसमें सहसा प्रतिबिम्बित हो उठी थी। वे स्वय तो विषयैषणारूपी ग्राहको मारकर महादेवीके चरणोके ही नित्य दास थे।

फिर किसीकी यह आशङ्का कि भगवतीने ऐसी महाइच्छा क्यों की - इसका उत्तर तो आजतक न कोई दे सका है, न भविष्यमें भी कभी कोई दे सकेगा।

जो महादेवी ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रादि महेश्वरोकी भी नियामक है, जो पञ्चकोशातीत है, जिनको जाननेवाला, देखनेवाला उनसे अन्य कोई नहीं, जो सबको जानती है, देखती है, जो सबको परिव्याप्त किये हैं, और जिनको व्याप्त करनेकी सामर्थ्य किसीमे, कहीं भी नहीं है, जिन महादेवीकी अङ्ग-ज्योतिछटाके आभास (छाया) मे यह सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर रूपी सृजन भासित हो रहा है, जिन महादेवीकी महाइच्छासे ईश्वरोंकी भी इन्द्रियाँ एवं प्राण चलायमान है, जो अनादि हैं, सर्वजननी हैं, जो न जन्मती हैं, न बढती घटती है, न ही जिनका प्रलय होता है, इस अनन्तके उद्भवसे उनका उद्भव नहीं होता, न ही इसके महाप्रलयसे उनको कोई खरौंच लगती है , जो अह रूपमे सर्वबोधगम्य हैं, सहज सबमें सुव्यक्त रहती हैं, उन महादेवीसे क्यों और कैसे कौन पूछ सके हैं ?

अत महाराज वृषभानु स्वय चकित थे कि पूर्वत जिसकी स्फुरणा ही नही थी, यह पुत्रेषणा कहाँसे उनके मनको मथित कर गयी, किन्तु फिर जो महादेवीकी इच्छा, हम दोनों तो उनके यंत्र मात्र बने रहे, वे यत्री हम दोनोके मन-प्राणोमे जागनेवाले सभी सङ्कल्पोंकी नियंत्रिका, सञ्चालिका, सूत्रधारिणी बनी रहे – इस परम ज्योतिर्मय भावसे जैसा मनमे सङ्कल्प आया कह गये।

## जिज्ञासा

**यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि जब महाराज वृषभानु पूर्वजन्ममें दानवीर राजा नृगके सुपुत्र धर्मात्मा सुचन्द्र थे और उन्होंने पुत्रीके रूपमें श्रीकृष्णप्रिया गोलोकेश्वरी श्रीराधाको चाहा था तो उनके मनमें पुत्रीकी लालसा जागृत् होनी चाहिये थी, यह पुत्रप्राप्तिकी इच्छा उनके मनमें क्यों जागृत् हुई? कृपया इसका समाधान करें।**

## समाधान

यह बात नित्य ध्यानमें रखनेकी है कि श्रीराधा सच्चिदानन्दघन दिव्य प्रेमरस-विग्रह भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न स्वरूपा हैं। श्रीराधिका तापनीयोपनिषद् में आया है –

***येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्। देहो यथा छायया शोभमानः।'***

श्रीराधाजी और रससिन्धु श्रीकृष्णका देह एक है। केवल लीलाके लिये ये दो स्वरूपोंमे प्रकट हैं, जैसे शरीर अपनी छायासे सुशोभित हो।

पद्मपुराणमें देवर्षि नारदजीसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं - ह

*'दाहशक्तिर्यथा वह्नेस्तथैषा मम वल्लभा। अनया सह विच्छेदं क्षणमात्रं न विद्यते।।'*

'अग्निमें जैसे दाहिका शक्ति है, वैसे ही प्रियतमा श्रीराधा हैं, उनके साथ क्षण मात्रके लिये भी मेरा विछोह संभव नहीं है।'

अतः ब्रजलीलामें श्रीराधाका पदार्पण तो तभी होता है जब पूर्वतया श्रीकृष्ण ब्रजमण्डलमे आते हैं। गोलोकेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अकेले इस भूतलपर अवतार ले ही नहीं सकते। उनके नित्य परिकर, नन्द, यशोदा, अग्रज बलराम, श्रीदाम, सुबल, तोष, किङ्कणी, वरूथप, सुदामादि उनके अभिन्न सखागण उनसे पृथक् रह ही नहीं सकते। पद्मपुराण पातालखण्डमें आता है -

*'नित्याः सर्वाः इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः।*
*सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावने मम।।*
*सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम्।*
*इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम।।'*

तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्णके ये सभी अङ्ग हैं, उनके नित्यविग्रहके ये सभी अविभाज्य भाग हैं। अस्तु, जैसे श्रीराधाके भूतलपर आगमनके पूर्व श्रीकृष्णका आगमन परमावश्यक है, ठीक उसी प्रकार श्रीराधाके पूर्व ही उनके अग्रज भ्राता एव श्रीकृष्णके नित्य सखा श्रीदामदादाका भी भूतलपर आगमन आवश्यक है। इसी हेतुसे श्रीवृषभानुजीमे भगवती योगमाया लीला-महाशक्ति पुत्रेषणा जागृत् कराती हैं। इसी प्रसङ्गको गर्गसहितामे वर्णित इस लीलाके प्रसङ्गमे भी देखे।

गर्गसंहितामें उल्लेख है कि द्वापर युगके अन्तमें दानव, दैत्य एवं आसुर स्वभावके दुष्ट राजाओके भारी कर्मभारसे जब पृथ्वी अत्यन्त पीडित हो जाती है तो वह अपनी आन्तरिक व्यथा ब्रह्माजीके सम्मुख व्यक्त करती है। उस समय उसका शरीर काँप रहा होता है। ब्रह्माजी उसकी कष्ट-कथा सुनकर उसे देवताओके साथ चतुर्भुज वैकुण्ठाधिपतिके पास ले जाते हैं और चतुर्भुज वैकुण्ठाधिपति उनको लेकर भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम गोलोक पहुँचते हैं। विशाल गोवर्धन नगराजके प्राङ्गणमें स्थित उस चिन्मय गोलोकमें उस समय वसन्तका उत्सव चल रहा होता है। वहाँ श्यामवर्णवाली यमुना नदी स्वच्छन्द गतिसे बह रही है। इस परम दिव्य निकुञ्जभूमि गोलोकको देखकर सभी देवगण चकित हो जाते हैं, वहाँ उन्हें हजार दलवाला एक कमल एवं उसपर सोलह दल एव तब अष्टदलका एक कमल दिखता है। उसपर चमचमाते हुए ऊँचे सिंहासनपर जिसमे तीन सीढियाँ होती हैं, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रिया श्रीराधिकाजीके सहित विराजित होते हैं। ये युगल-रूप भगवान् श्रीकृष्ण अपनी आठ परम दिव्य सखियों और श्रीदामादि आठ गोपाल सखाओंसे समन्वित होते हैं। जब देवगण उनके सम्मुख अपना सङ्कट निवारण करनेकी प्रार्थना करते हैं तो भगवान् सभी देवताओंके सङ्कट-निवारणार्थ आश्वासन देते हैं और भूतलपर स्वय अवतार लेनेकी रुचि प्रकटकर देवताओंको विदा कर देते हैं।

देवताओके जानेके पश्चात् जब भगवान् निकुञ्जभवनमें अपनी प्रिया श्रीराधाके पास जाते है तो वे उन्हे वहाँ दावानलसे दग्ध लताकी तरह मूर्च्छित पाते हैं। उनकी क्षण-क्षणमे कभी अश्रु, कभी कम्प, कभी रोमाञ्चादिमयी सात्विक भावोसे परिपूर्ण विलक्षण भावदशा देखकर भगवान् उन्हें गोदमें लेकर ढाढस दिलानेकी चेष्टा करते है। अनेक प्रयत्नोंके पश्चात् श्रीराधा स्वस्थ होती हैं एवं वे भगवान्‌से अपने हृदयके भाव निम्न प्रकारसे प्रकट करती हैं -

'प्राणवल्लभ ! जैसे कि आप मेरे सम्मुख ही देवसमाजमें पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माण्डमे अवतार लेनेकी बात कह रहे थे, आपकी रुचिका मैं निश्चय ही अनुमोदन करती हूँ। परन्तु जीवनसर्वस्व' इतना निश्चय ही सत्य मान लें कि मैं आपके वियोगमें क्षणभर भी जीवित नहीं रह पाऊँगी। आपके इस निश्चयको सुननेभरसे मेरे प्राण अधरोतक आगये हैं। आपके किसी भी ब्रह्माण्डमें अवतरित होते ही, साथ ही इस गोलोकधामका त्याग करते ही दूसरे ही क्षण आपके वियोगमें मेरे प्राण इस प्रकार उड जावेंगे, जैसे कपूरके कण उड जाते हैं।'

अपनी प्राणप्रियाकी ऐसी विषम दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हे ढाढस देते हुए कहते हैं - 'प्राणवल्लभे ! तुम विषाद मत करो। मैं अकेला भूमंडलपर अवतरित नहीं होऊँगा। तुम भी मेरे साथ ही वहाँ अवतरित होओगी।'

श्रीराधाजीने कहा -'प्राणवल्लभ ! जहाँ वृन्दावन नहीं है, यमुना नहीं है, गोवर्धन पर्वत नहीं है, मेरे माता-पिता एव बडा भाई श्रीदाम नहीं, जहाँ मेरी सखियाँ और छोटी बहिन मञ्जुश्यामा नहीं होगी, वहाँ भला मेरे मनको कैसे सुख मिल सकता है ?'

अपनी प्रियाकी भोली उक्ति सुनकर रसिक-शिरोमणि प्रियतम मुसकाने लगते हैं। ये तत्क्षण ही अपने गोलोकधामसे चौरासी कोसकी ब्रजभूमि, गोवर्धन पर्वत और यमुना नदीको, अपने सभी ब्रजमंडलके परिकरों, यहाँतक कि पशु-पक्षियों एवं भृङ्ग-कीट-समुदायतकको भूतलपर भेजनेका सङ्कल्प कर लेते हैं।

तात्पर्य इतना ही है कि भूतलपर सुचन्द्र गोपकी तपस्या, उनकी वरप्राप्ति, ये सभी सूत्रधारिणी भगवती महादेवी लीला-सङ्घटनकर्त्री योगमायाके ही रङ्गमञ्चके परदे हैं, जो अनादि रसमयी श्रीराधामाधवकी इस भूतलपर होनेवाली लीलाके अवतरण हेतु उठाये-गिराये जाते हैं। जब श्रीराधाको वृषभानुराजदुहिताके रूपमें भूतलपर आना ही है तो उनके नित्यलोकके लीला-परिकर - अग्रज भ्राता श्रीदामका भी अवतरण अवश्यंभावी है। जैसे भगवान् श्रीकृष्णकी ब्रजलीला रोहिणीनन्दन अग्रज बलरामजीके बिना असंभव है, वैसे ही श्रीराधाकी समूची लीलामें श्रीदामदादाका होना भी उतना ही परमावश्यक है। यही कारण है कि श्रीवृषभानुजीके मनमे भगवती योगमाया महाशक्ति पुत्रेषणावृत्ति जागृत् कर देती है। प्रथमतया लीला-सूत्रधारके रूपमे मञ्चपर श्रीदामदादा प्रकट होते हैं, तभी उनकी अनुगामिनी होकर श्रीराधाका पदार्पण होता है।

## जिज्ञासा.

***'आदर्श रखें हम जिसे प्रजा अपनाकर सुखी बने, प्रियतम !'*-उक्त पङ्क्तियोंका कृपया खुलासा करें।**

## समाधान

शास्त्रोंमें अनेक स्थानोमे ऐसी उक्तियाँ हैं जैसे, ***'यथा राजा तथा प्रजा'***, ***'महाजनो येन गतः स पन्थाः'*** आदि। सर्वसाधारणकी दृष्टि सदैव अपने राजा एवं राज्यमे रहनेवाले महापुरुषोंकी ओर ही लगी रहती है। अतः प्रजा प्रायः राजाके कार्योंका, उसके आचरणोका अनुगमन करती है। राजा शासनके द्वारा भी प्रजाको धर्मकार्योंमें प्रवृत्त करता है।

प्रजाजनोमे राजाका स्थान अन्यतम होता है। प्रजा सदैव सर्वप्रकारसे धर्मात्मा राजासे रक्षित होती है। प्रजा श्रद्धावश सोचती है - राजा पूर्ण है, सर्वज्ञान, सर्वशक्तिसमन्वित है, वह सर्वकर्त्ता है, राजाकी विद्वत्सभामे, धर्मसभामें उच्च कोटिके विद्वान्, धर्मात्मा, धर्मरहस्यविद् भी होते हैं, अत· प्रजा राजाको विज्ञानशक्तिसमन्वित भी मानती है। अतिशय श्रद्धावश प्रजा ऐसा ही मानती है मानो राजा असभवको भी सभव कर सकता है। फिर यदि राजा पूर्ण धर्माचरण करनेवाला भगवद्भक्तिवान् हो, फिर तो प्रजा राजाकी इच्छासे एकात्मता कर लेती है। वह अपने राजाको सार्वमान्यता देकर सत्कार और पूजा करने लगती है।

राजा प्रजाजनोंमें सत्कर्मशील कर्त्तव्य-परायण लोगोको पुरस्कृत करता है, एवं अत्याचारपरायण, पापी, आसुरभावापन्न दुष्टोंको दण्ड देकर ***'हतारिगतिदायक'*** स्वभावसे प्रजाकी रक्षा करता है। वह प्रजाका शोषण करनेवाले दूसरे अधार्मिक राजाओंतकको अपने सैन्यबल एव शौर्यसे परास्तकर धर्मकी शिक्षा देता है, उत्पीडित ऋषि-मुनियों एवं भजनवञ्चित सत्पुरुषोंका परित्राण करता है। इस प्रकार राजा ही अधर्मके अभ्युत्थानमें हेतुरूप पापियोका वधके व्याजसे उद्धार करता है। वह वर्णाश्रमधर्म तथा गो-ब्राह्मण साधुके संरक्षणरूप निर्मल धर्मका संस्थापन करता है, जिससे मर्त्यजगत्का ही नहीं, देवजगत्का भी कल्याण होता है। राजाके कार्य अनेकमुखी होते हैं। वह सभी प्रजाजनोंको उन-उनके क्षेत्रमें सन्मार्गपर लानेका उपाय करता है। वह उच्च शिक्षाके लिये विद्यालय स्थापित करता है, विज्ञानशालाएँ निर्माण कराता है, विदेशोंसे जो भी उन्नत तकनीक होती है, उसे आयात करता है। राजा सर्वभूतसुहृद होकर प्रजाजनोंकी अनुपालना करता है।

राजा जहाँ जो भी कार्य करता है, पूर्णतम अनुभवी पुरुषके रूपमे ही करता है। वह साहित्य, संगीत, विज्ञान, सद्ज्ञान, धर्म, नीति, आचार, कर्म, योग, भक्तिमें, तथा चौंसठ कलाओंमें अपनी चतुरता एव विज्ञता सिद्ध करता है। परन्तु वह कला एवं कलाविदोका उपयोग भोगके लिये नहीं, प्रजाजन-कल्याण और उनके आनन्दाभिवर्धनके लिये करता है। राजा मित्रधर्मका पालन करता है, उत्कृष्ट वाग्मितागुण-सम्पन्न होता है, उसकी राज्यसभामें बडे-बूढे, अनुभवी, ज्ञानी, श्रोत्रिय, पण्डित, विद्वान, सभी रहते हैं, परन्तु वे सभी भी राजाकी सूझ-बूझकी सराहना करते हैं।

राजाके आदर्श गुण हैं -- वह न कभी हर्षित हो, न ही विषादित। वह न तो मान-सम्मानमें फूले और न ही अपमानसे घबडावे। उसके लिये ऊँच-नीच कार्य कुछ भी नहीं हो। प्रजाके बडे-बूढे, ज्ञानी-विज्ञानी, ऋषि-मुनि एवं गुरुजन भी उसकी राजाके रूपमें पूजा करे तो वह स्वीकार करे, किन्तु उसे यदि यज्ञादिमें नीच चाण्डालोतकके चरण धोनेकी भी सेवा करनी पडे तो भी वह निस्सङ्कोच करे। वह समागत अतिथि-अभ्यागतोंके चरण दबावे, ब्राह्मणोको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। वह समरनीतिका कूटनीतिसे पालन करे, किन्तु मैत्रीके समय पूर्ण क्षमाशील हो।

राजाका छोटे-से-छोटा चरित्र भी आदर्श, स्मरणीय, मननीय और जीवनमे उतारने लायक होना चाहिये। राजाको हँसने-बोलने, उठने-बैठने, हँसी-मजाकमें भी सदैव लोकसग्रहके अनुरूप ही आचरण करनेवाला होना चाहिये।

वृषभानुजी द्वारा अपनी सहधर्मिणीके सम्मुख कही गयी उपरोक्त पङ्क्तियाँ प्रवृत्तिपरायण भगवद्भक्तकी रहनीका अपनी प्रजाके सम्मुख एक आदर्श समुपस्थित रखनेके भावसे कही गयी हैं जिससे राजाकी आदर्श रहनी देख-देखकर प्रजा पूर्ण सुखी, निर्भय हो।

*इस निश्चय को लेकर उनने कुछ मास बिताये थे, प्रियतम।*
*आयी जब रात सदाशिव की उस बार शिशिर ऋतु में, प्रियतम।*
*आदर से दम्पति ने ली थी दीक्षा सद्गुरु ऋषि से, प्रियतम।।*
*निगमागमसम्मत ली शिक्षा आराधन-पद्धति की, प्रियतम।।२५।।*

**इस निश्चयको लिए हुए महाराज-महारानी दोनोंने ही शान्तिपूर्वक कुछ महीने बिता दिए। इसके पश्चात् शिशिर ऋतुमें, जब भगवान् सदाशिवकी महाशिवरात्रिका पर्व लगा, तब उस रात्रिमें ही उन पवित्र दम्पतीने अपने सद्गुरु ऋषिसे विधिवत् दीक्षा ले ली। साथ ही आराधन-पद्धतिकी निगम एवं आगमसम्मत जो शिक्षा होती है, उसे भी गुरुदेवने पूरा-पूरा बतला दिया।।२५।।**

## जिज्ञासा

**कृपया यह स्पष्ट करें कि महाराजके कुलगुरु कौन थें, एवं उन्होंने महाशिवरात्रिके समय ही यह दीक्षा क्यों ली ?**

## समाधान

महाशिवरात्रिकी पावनतम महानिशा ही वह काल है, जिस कालमें भगवान् शिव परमात्मा एव अनादिशक्ति जगन्माता मिलित होते हैं, एकत्वयुक्त हो जाते हैं। वस्तुतः भगवान् शिव परमात्मा यदि शक्तिसहित होते हैं, तभी सृजन, पालन एव संहारादि करनेमें समर्थ होते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो अपने नेत्र हिलानेकी भी सामर्थ्य कहीं भी, किसीमें भी, कदापि नहीं हो।

*शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तःप्रभवितुम्।*
*न चेदेयं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।। (सौन्दर्यलहरी)*

अतः आगम शास्त्रोकी परमाराध्या भगवती महादेवी पराभट्टारिका योगमाया त्रिपुरा शिव-शक्ति-अभेदरूपा हैं, वे अशुद्ध (तमोगुण-रजोगुण), मिश्र (तमोगुण-रजोगुणप्रधान एव सत्वाभास मिश्र) शुद्धोपासनात्मिका (अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमयी) हैं। वे समरसीभूत शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूप निर्विकल्प ज्ञान देनेवाली है। वे सर्वतत्त्वात्मिका हैं, अतः इस महानिशामें ही इनकी दीक्षाका औचित्य भी है।

महाशिवरात्रिको निरुपाधिक पूर्णज्ञाननिशा (केवला निशा) कहें, अथवा सोपाधिक उल्लास निशा कहें, दोनों ही कथन युक्तिसङ्गत हैं। इस महानिशामें ही भगवती महादेवी पार्वती (कामेश्वरी)के उल्लासरूप सान्निध्यसे ही भगवान् शिवकी शिवता स्फुरित होती है। यह महानिशा ही वह महासध्या भी है जब ब्रह्मशक्ति  महादेवी राजराजेश्वरी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी, श्रीराधा,सीता, पार्वती आदि नामोसे विख्यात हुईं, स्वशक्ति-विलासके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र एवं सदाशिव - पॉच नामोको प्राप्तकर अपनी वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, इन्द्राणी एव पार्वती आदि तत्तत् शक्तियोके सान्निध्यसे सृष्टि, स्थिति, लय, विग्रह एव अनुग्रहरूप पञ्चकृत्योका सम्पादन करनेको उन्मिषित होती हैं। यह महानिशा युगपत् विरुद्धधर्मप्रतिपादिका है। क्योंकि इसी निशाको ब्रह्मादि देव अपनी वामादि शक्तियोसे विरहित भी होते हैं, और सर्व कार्योंमें अक्षम हुए पञ्चप्रेत बन जाते हैं। तब यह निशा महाप्रलयनिशा हो जाती है।

सृष्टि-उद्भव-निशा एवं सृष्टि-प्रलय-निशा दोनों रूपोकी प्रकाशिका होनेसे यह महानिशा अपूर्व है। सृजनकी आदिनिशा होनेसे इस महारात्रिमे ही निम्न छत्तीस तत्त्व प्रकट होते हैं। इनके नाम क्रमश दिये जा रहे हैं -(१) शिवतत्त्व, (२) शक्तितत्त्व, (३) सदाशिवतत्त्व, (४) ईश्वरतत्त्व, (५) शुद्धविद्यातत्त्व, (६) माया, (७) काल, (८) कला, (९) विद्या, (१०) नियति, (११) राग, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७) श्रोत्र, (१८) त्वक्, (१९)चक्षु, (२०) जिह्वा, (२१)नासिका, (२२) वाक्, (२३) पाणि, (२४) पाद, (२५) पायु, (२६) उपस्थ, (२७) शब्द (२८) स्पर्श, (२९)रूप, (३०) रस, (३१) गन्ध, (३२) आकाश, (३३) वायु, (३४) अग्नि, (३५) जल, एवं (३६) पृथ्वी।

यह महानिशा उन महायोगमायाका स्वरूप ही है जिनके एक हाथमें इन छत्तीस तत्त्वोकी उत्पत्ति एवं पालन करनेके लिये रागरूप पाश हैं और इन सबको अपनेमें लीन कर लेनेके लिये उनके ही दूसरे हाथमे द्वेषरूप अङ्कुश है। यह महानिशास्वरूपा महामाया इच्छाशक्तिरूप पाश एव ज्ञानशक्तिरूप अङ्कुश लेकर सदाशिवकी गोदमें विलास (महाक्रिया) करती रहती हैं।

इसलिये इन महादेवीकी उपासना-दीक्षाके लिये महाशिवरात्रि ही सर्वोत्तम मुहूर्त माना गया है।

जिज्ञासाके प्रथम प्रश्नका उत्तर यही है कि महाराज वृषभानु नृपतिको भगवतीकी दीक्षा देनेवाले उनके कुलगुरु महर्षि भागुरि थे। भगवतीके द्वादश आचार्यो द्वारा निर्धारित जो विद्याएँ है उनमे महर्षि भागुरिके पास यह विद्या भगवान् सूर्यदेवसे आयी थी। भगवान् सूर्यदेवके आदेशसे ही वृषभानुवंशमे भगवती महामायाकी उपासना प्रारभ हुई थी और उनके राजमहलमें भगवान् सूर्यदेव द्वारा ही स्वयंभू स्वर्णमयी प्रतिमा पूर्ण जागृत् थी और वृषभानु नृपति ही उनके वशमें प्रथम ऐसे राजा हुए जिन्होने इनकी सविधि अर्चनाका जीवनव्यापी व्रत लिया था। उनके पूर्व महर्षि भागुरि आदि ब्राह्मण कुलगुरु ही उनकी पूजा किया करते थे।

हरिशयनी निशा मनोहर थी, अर्चन आरम्भ हुआ, प्रियतम !
थी त्रिपुर सुन्दरी की प्रतिमा, प्रासाद कक्ष में ही, प्रियतम !
अद्भुत सुवर्ण से विरचित थी, फिर था प्रभाव ऐसा, प्रियतम !
हो जाता नमित स्वतः सबका सिर मन्दिर-प्रांगण में, प्रियतम ।।२६।।

**इसके अनन्तर अब हरिशयनी निशा आयी और श्रीमहादेवीका अर्चन आरम्भ हुआ। श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीकी एक बड़ी सुन्दर प्रतिमा प्रासाद-कक्षमें ही थी। अद्भुत सुवर्णसे बनी हुई थी वह प्रतिमा। उसका ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि जो व्यक्ति मन्दिर-परिसरमें आ जाता, उसका सिर अपने आप देवीके चरण-सरोजमें नमित हो जाता था।।२६।।**

*हो कहीं चित्तकी वृत्ति, किंतु आते ही सीमा में, प्रियतम !*
*चाहे कोई कैसा भी हो, भावित होता सहसा, प्रियतम !*
*विस्मृत सब कुछ होकर समाधि मानो लग जाती थी, प्रियतम !*
*प्रहरी ही होश कराता यह कहकर 'दर्शन कर लो,' प्रियतम।। २७।।*

**कोई भी क्यों न हो, उसके चित्तकी वृत्ति कहीं भी क्यों न लगी हो, किन्तु यदि वह मन्दिरकी सीमामें आ जाता तो वह सहसा एक अनिर्वचनीय भावसे भावित हो ही जाता। उसे सब-कुछकी विस्मृति हो ही जाती, मानो वह एक विचित्र समाधिमें अवस्थित हो गया हो। मन्दिरका प्रहरी ही उसके समीप आकर उसे होश कराता था, यह कहकर-"महाशय ! मन्दिरमें जाइये, दर्शन कर लीजिये।"।।२७।।**

*लेकर अञ्जलि में पुष्प, तथा पङ्किल लोचन से, हे प्रियतम !*
*जाकर जब अर्पित कर देता अपने को श्रीपद में, प्रियतम !*
*होता था भान तभी उसको अग्रिम कर्तव्यों का, प्रियतम !*
*के अहो ! न जाने कब से थीं राजित देवी कुल की, प्रियतम ।। २८।।*

**वह व्यक्ति अञ्जलिमें पुष्प भर लेता, उसकी आँख गीली हो जातीं, और वह बरबस मन्दिरमें जाकर अपने आपको महादेवीके चरणोंमें समर्पित कर देता। तब कहीं जाकर उसे ज्ञान होता कि उसे अब आगे क्या करना है। अहो ! वे राजकुलदेवी वहाँ कबसे विराजित थीं, कौन जाने !।।२८।।**

## जिज्ञासा

**कृपया वृषभानुवंशकी कुलदेवी भगवती त्रिपुरसुन्दरीका विस्तृत परिचय दीजिये। उत्तर भारतमें तो इनकी पूजाका प्रचलन बहुत ही कम है। यहाँ जन-जनमें दुर्गा, काली, कात्यायनी आदिकी ही पूजाका प्रचलन है।**

## समाधान

यह सत्य है कि वर्त्तमानमें उत्तर भारतमें भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी आगम-शास्त्रीय पूजाका प्रचलन बहुत ही न्यून है। दक्षिण भारतमें इनकी पूजाका प्रचलन वर्त्तमानमें भी है। आदिशंकराचार्य स्वामीको इनका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था और उन्होंने अपने सभी पीठोंमें इनकी पूजा आवश्यक रूपसे करनेका विधान किया हुआ है। ये ब्रह्मशक्तिके रूपमें विख्यात हैं।

### *भगवतीका स्वरूप और उनके आयुध*

भगवती त्रिपुरसुन्दरी जो कामेश्वरी, राजराजेश्वरी, ललिता, भुवनेश्वरी, षोडशी आदि नामोंसे विख्यात हैं, चतुर्भुजा हैं। ये अपनी चारों भुजाओंमें पाश, अङ्कुश, इक्षुधनुष, और पाँच पुष्पबाणोंके आयुध धारण किये रहती हैं। भावोपनिषद्के अनुसार छत्तीस तत्त्वोंमें 'राग' ही इनका पाश-आयुध है। छत्तीस तत्त्वोंके नाम पूर्वतः दिये जा चुके हैं। इन्हीं छत्तीस तत्त्वोंमें से द्वेष, वैराग्य ही इनका अङ्कुश नामक आयुध है। सङ्कल्प-विकल्पात्मिका वृत्तिरूप मन ही भगवतीका इक्षुधनुष

है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धात्मक पाँच तन्मात्राएँ ही भगवतीके हाथमें पाँच पुष्पबाण है। चतु शतीमें इन आयुधोंका इस प्रकार वर्णन है –

*इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशज्ञानरूपिणम्।*
*क्रियाशक्तिमयं बाणाः धनुषदधदुज्ज्वलम्।।*

पाश - इच्छाशक्ति, अङ्कुश - ज्ञानशक्ति एवं बाण और धनुष – क्रियाशक्तिरूप हैं। तत्त्वरूपमें विचारा जाय तो दोनो ही वर्णन एकार्थक हैं। क्योंकि इच्छाशक्तिमे राग निहित है, ज्ञानशक्तिमें वैराग्य निहित है एवं क्रियाशक्ति ही सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन और पञ्च-तन्मात्रा रूपा है।

वस्तुत. सर्वव्यापक आह्लादमयी चित्‌शक्ति ही भगवती त्रिपुरसुन्दरीका स्वरूप है। इनकी बाह्य पूजा अनेक विधियोसे अनेक पद्धतियोमें वर्णित है, किन्तु इनकी ज्ञानमयी रहस्य-पूजा ही विचारणीय है।

## *महादेवीकी पूजा*

पूर्ण, परिपूर्ण, सर्वव्यापक,सच्चिन्मयाह्लादमयी भगवतीकी स्वमहिमामें प्रतिष्ठा ही भगवतीको आसन प्रदान करना है। वियत्, व्योम, तेज, रस एवं गन्ध - इन स्थूल नाम-रूपात्मक मलोको, जो चिदाह्लादमयी भगवतीके चरणोमें संलग्न प्रतीत हो रहे हैं, इन्हें सच्चिदानन्दैक भावनारूप-जलसे प्रक्षालन करना ही इन्हें पाद्यार्पण करना है। भगवती चिच्छक्तिके करोमे सूक्ष्म नामरूपात्मक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि मलोका जो अस्तित्व प्रतीत हो रहा है, उसे सच्चिदानन्दैकरूप भावनाजलसे प्रक्षालन करना ही उन्हें अर्घ्य प्रदान करना है। सच्चिदानन्द-भावनाका यह कवलीकरण है।

चिदानन्दमयी भगवतीमें जो अखिल अवयव-अवच्छेद, मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, इन्द्रियाँ आदि सलग्न प्रतीत हो रहे हैं, इन्हे विशुद्ध सत्त्व, चित्त्व एव आनन्दत्वरूपी भावना-जलसे सम्पर्कित करना ही भगवतीका स्नान है। उक्त अवयवोंमें प्रसक्त भावनात्मक वृत्ति-विषयताकी वृत्तिका अविषयत्व-भावनारूपी वस्त्रसे प्रोञ्छन ही भगवतीका देहप्रोञ्छन है। निर्विषयत्व, निरञ्जनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि अनेक धर्मरूप आभरणोमे धर्मीसे अभेदभावना करना ही आभरणार्पण है। स्वशरीरघटकोंसे पार्थिव भावोकी जडता हटाते हुए उनमें चिन्मात्रभावना करना ही गन्धविलेपन है। इसी तरह स्वशरीरघटकोंके आकाश भागोंकी चिन्मात्र-भावना करना ही धूपार्पण है। तेजस् भागोंकी चिन्मात्रभावना करना नैवेद्य अर्पण करना है। षोडशान्त-इन्दुमण्डलकी चिन्मात्रताभावना करना ही ताम्बूल अर्पण है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एव वैखरी आदि निखिल वाणीका नादरूपसे परात्पर परब्रह्ममें उपसहार करनेकी भावना ही भगवतीकी स्तुति करना है। विषयोंकी ओर दौडनेवाली चित्तवृत्तियोंका विषयजडता-निरसनपूर्वक ब्रह्मशक्तिमे विलय करना ही प्रदक्षिणीकरण है। चित्तवृत्तियोंको विषयोंसे परावर्त्तितकर ब्रह्मैकप्रवण करना ही प्रणाम करना है।

यह अत्यन्त संक्षेपमें भगवती पराम्बाकी पूजाका दिग्दर्शन है।

## *महादेवीके दर्शन*

भक्तोकी उपासनाके फलीभूत होनेपर भगवती अपने स्थूलरूपमे भक्तोको प्रत्यक्ष होती है। सगुण साकार रूपमें ही भगवान् आदिशंकराचार्यके सम्मुख भगवती कर-चरणादि अवयवोसे भूषित निरतिशय सुन्दर विग्रह धारणकर प्रकट हुई थीं। वृषभानु-प्रासादान्तर्गत भगवतीके मन्दिरमें भी उनकी स्वर्णमयी जागृत् प्रतिमा निरतिशय सुन्दर कर-चरणादि अङ्ग-अवयव-संयुक्त ही विराजित थी। पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं उनके भी गुरुदेव महाप्रभु पोद्दार महाराजको भी इन भगवतीके लोकोत्तर आह्लादक महातेजोराशिसमन्वित रूपका दर्शन-साक्षात्कार हुआ था। यह रहस्य स्वय श्रीपोद्दार महाराजने अपने मुखसे लेखकके सम्मुख सन् १९६०ई. मे स्वीकार किया है।

पू गुरुदेव जब भगवतीके परम निराविल, सुकोमलतम चरणोको सस्पर्श करने लगे तो उन्हे अपने शरीरकी पार्थिव अपवित्रताका ध्यान हो आया। वे उसी प्रकार सङ्कोचमे भर उठे जैसे कोई मलिन शूकर परम पवित्र देव-प्रतिमाका

संस्पर्श करे। उनका यह सङ्कोच देखकर भगवती मुसकायीं। तत्पश्चात् पू.गुरुदेवका समग्र शरीर ही परम दिव्य हो गया और तब उस चिन्मय पूजनयोग्य शरीर द्वारा परम दिव्य उपचारोसे उन्होंने भगवतीका पूजन सम्पन्न किया।

### *भगवतीके दस अवतार*

इन्हीं भगवती त्रिपुरसुन्दरीके कराङ्गुलि-नखोकी ज्योतिसे ही ये पराम्बा दस महाविद्याओंके रूपमें भी प्रादुर्भूत होती हैं। काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी एवं कमला – ये दस महाविद्याएँ ही भगवान्के दस अवतारोके रूपमें भी अवतरित हुई हैं, ऐसा आगम शास्त्रोमें वर्णित है। भगवती कालीसे कृष्णावतार, तारासे रामावतार, छिन्नमस्तासे नृसिंहावतार, भुवनेश्वरीसे वामनावतार, बगलामुखीसे कूर्मावतार, धूमावतीसे मत्स्यावतार, त्रिपुरा षोडशीसे परशुरामावतार, त्रिपुरभैरवीसे बलरामजीका अवतार, कमलासे बुद्धावतार एवं दुर्गासे त्रितापनाशी कल्कि-अवतार होना शास्त्र मानते हैं।

### *महादेवीका वासनात्मक वर्ण*

निरुपाधिक कहनेसे केवलत्व और सदानन्दपूर्ण कहनेसे धर्म-विशिष्टत्वकी प्रतीति होती है। किन्तु गहन विचारसे यह स्पष्ट होता है कि विशिष्ट एवं केवल अवयव-अवयवीके समान अयुतसिद्ध हैं। इनका परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध ही हो सकता है। इनमे भेद-घटित संयोगादि-सम्बन्ध तो संभव ही नहीं। प्रकृतमे भगवान् कामेश्वर एवं भगवती कामेश्वरी अथवा त्रिपुरसुन्दरेश्वर एवं भगवती त्रिपुरसुन्दरीमें विग्रहात्मक दोनो स्थूल रूपोंका सम्बन्ध भगवान् कामेश्वरके अङ्कमें कामेश्वरीके विराजमान होनेमे ही पर्यवसित है। स्थूल-दृष्टिसे तो यह भेद-सम्बन्ध ही प्रतीत होता है, परन्तु रहस्य-दृष्टिसे यह सम्बन्ध शिवशक्ति-सामरस्यात्मक ही है। श्रीराधाकृष्ण गोलोकेश्वर एव गोलोकेश्वरी अथवा नित्यनिकुञ्जेश्वर एव नित्यनिकुञ्जेश्वरी कञ्चनद्युति एवं नीलमेघवर्ण हैं, वैसे ही भगवती कामेश्वर-कामेश्वरीके रक्तवर्णका ध्यान किया जाता है। सभी भगवत्प्राप्त सन्तोंकी एक ही मान्यता है कि सत्य परतत्व एकमेव अद्वितीय है एव भगवान् कामेश्वर-कामेश्वरी भगवान् राधाकृष्णके ही ऐश्वर स्वरूप हैं। असीम प्रेमका अथवा मदीयात्मक अनुभूतिका असीम प्रकाश जैसा श्रीराधाकृष्णमे है, वैसा ही असीम कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् सामर्थ्यपूर्ण प्रकाश ऐश्वर्यावतार भगवती कामेश्वरीमे है। वैसे तो भगवती त्रिपुरसुन्दरीके तत्वकी गूढ रहस्यात्मक अभिसन्धिको उनके सिवाय दूसरा कोई जाने, यह सर्वथा असभव ही है।

### *महादेवीका मंत्रात्मक स्वरूप*

पराभट्टारिका भगवती महात्रिपुरसुन्दरीका षोडशाक्षरी अथवा पञ्चदशाक्षरी मत्र भी भगवतीका साक्षात् स्वरूप ही माना जाता है।

षोडशाक्षरी मत्रके प्रथम कूटके छ. वर्ण अथवा पञ्चदशी मत्रके प्रथम कूटके पॉच वर्ण इनका मुखकमल, द्वितीय मध्यकूट इनका कण्ठके नीचेका कटिपर्यन्त भाग और तृतीय शक्तिकूट इनका कटिसे नीचे चरणतकका भाग है।

*श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा।*
*कण्ठाधःकटिपर्यत मध्यकूटस्वरूपिणी।।*
*शक्तिकूटैकतापन्न कट्यधोभागधारिणी।*
*मूलमंत्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा।। (श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्रम्)*

मंत्रमय देवताके मंत्रवर्णोमें ही देवताके शरीर एव अवयवोकी कल्पना मत्रद्रष्टा महासिद्ध ऋषियोने की है। अत. यह मंत्रात्मक स्वरूप मंत्रध्वनिरूपमें श्रवणेन्द्रियसे तथा मत्रोच्चारणरूपमें वागिन्द्रियसे गोचर होता है। जैसे सगुण साकार स्वरूप नेत्र, मन एवं पञ्चेन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार कर्णेन्द्रियों एव वागिन्द्रियोंसे गोचर होनेके कारण

मंत्रमय स्वरूपको, देह-अवयवो-सहित रूपसे किसी भी प्रकार न्यून नहीं आँकना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते हैं, वे मंत्रपर अश्रद्धा होनेके फलस्वरूप मंत्रापराधी हो जाते हैं।

इसी प्रकार सर्व मंत्रोका मूल-मातृका-सरस्वत्यात्मक अथवा भारती विद्यारूप भी मत्रात्मक- रूप कहा जाता है। जैसे उदाहरणरूपमे, स्वर एव व्यञ्जनरूप पचास वर्णोसे ही विश्वके सभी देवताओके मत्र निकले है, अत. इन वर्णोको परदेवता पराम्बाका मत्रात्मकरूप माना जाता है। पू गुरुदेव श्रीराधाबाबा पूजा करते समय इन मातृकाओंसे अपने अङ्गोंमें न्यास करते थे। जैसे -

**ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः अं नमः शिरसि।**
**ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः आं नमः मुखवृत्ते।**
**ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः इं नमः दक्ष नेत्रे।**
**ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ईं नमः वाम नेत्रे।**

***(विस्तारसहित देखें - महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा - तृतीय खण्ड न्यास-प्रकरणमें)***

इस प्रकार न्यास करनेसे पू गुरुदेव सर्वमंत्रमय और सृष्टिके सर्व देवतारूप होकर भगवतीकी पूजा करते थे।

भगवती पराम्बा त्रिपुरसुन्दरीका तीसरा रूप वासनात्मक है, जिसमें महामाया महादेवी नित्य अखण्ड एकरस निवास करती हैं। महापुण्यवान् साधकोके लिये केवल मन-इन्द्रियोसे ही यह गृहीत होता है। आगम शास्त्रोंमे कहा गया है - ***'चैतन्यमात्मनो रूपम्'*** — आनन्दोल्लास-स्वरूपिणी जगदम्बाका स्वात्मशक्ति चैतन्य ही स्वरूप है। आत्मचैतन्यका अनुभव मन ही कर पाता है। अधिकारीभेदसे ये तीनों रूप ही साधकोकी उपासनाके योग्य हैं। इनसे अतिरिक्त भगवतीका तुरीय रूप भी है जो वाक्, मन, आदि सभी इन्द्रियोसे अतीत है, उसका केवल महासिद्ध मुक्त लोग ही अखण्ड अहंताके रूपमें अनुभव करते हैं। वह रूप अनन्तानन्त है।

## *गुरु, उपदेष्टा, मंत्र एवं स्वयं महादेवीमें एकात्मता*

आत्मस्वरूपिणी भगवती श्रीविद्या ललिता, उसका मत्र और उस मत्रके उपदेष्टा महासिद्ध गुरु - इन तीनोमे दृढ अभेद भावनाकी पूर्णता होना ही परम सिद्धिलाभ है। श्रीसुन्दरीतापनीयोपनिषद् मे कहा गया है —

***यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकाः।***
***तथा मंत्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचकाः।।***

जैसे घट, कलश, एवं कुम्भ — ये तीनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, वैसे ही देवता, मत्र एव गुरु — ये तीनों शब्द भी एक ही अर्थके द्योतक हैं।

श्रीविद्याके बारह आचार्य (उपासक) प्रसिद्ध हैं — (१) भगवान् मनु (२) चन्द्रदेव (३) कुबेर (४) लोपामुद्रा (५) कामदेव (मन्मथ) (६) अगस्त्य (७) अग्नि (८) सूर्यदेव (९) इन्द्रदेव (१०) स्कन्द (११) शिव (१२) दुर्वासा (क्रोधभट्टारक मुनि)। इनमेंसे प्रत्येकका प्रथक्-प्रथक् सप्रदाय है। इस समय भारतवर्षमे मन्मथ कामदेवका कादि एव भगवती लोपामुद्राका हादि सम्प्रदाय ही प्रचलित हैं। त्रिपुरारहस्य माहात्म्य खण्डके अनुसार भगवान् मन्मथानन्दनाथने अपनी निर्व्याज आराधनासे भगवती पराम्बा त्रिपुरसुन्दरीसे अनेक दुर्लभतम वर प्राप्त किये और स्व-उपासित कामराजविद्याके उपासकोके लिये भी बहुतसी सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। तबसे कामराजविद्याका प्राधान्य रहा।

कामराजविद्या ककारादि पञ्चदश एव षोडश — दोनों ही वर्णात्मक है। इसीको कादि विद्या भी कहते हैं। तंत्रराज ग्रन्थमे भगवान् शिव महादेवीसे कहते है -' हे पार्वती ! कादि विद्या तुम्हारा स्वरूप ही है। ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं है जो उससे प्राप्त नही की जा सके।' कादिविद्याका उद्धार अथर्वण त्रिपुरोपनिषद्मे इस प्रकार है -

*कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।*
*पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्यैषा विश्वमातादि विद्या।।ॐ।।*

कामः (क) योनिः (ए) कमला (ई) वज्रपाणिः -इन्द्र (ल) गुहा (ह्रीं ) (ह) (स) मातरिश्वा - वायु (क) अभ्र (ह) इन्द्र (ल) पुनः गुहा (ह्रीं) (स) (क) (ल) एवं माया (ह्रीं) यह पन्द्रह अक्षरोकी सर्वात्मिका जगन्माताकी मूलविद्या है और यह ब्रह्मस्वरूपिणी है। इसका भावार्थ नीचे दिया जा रहा है -

## भावार्थ

शिवशक्ति अभेदरूपा, ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-गौरी-लक्ष्मीस्वरूपा, अशुद्ध-मिश्र- शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूत शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्पज्ञान देनेवाली सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी।

यह मंत्र सर्वमंत्रोका मुकुटमणि है। इसका माहात्म्य अवर्णनीय है। मंत्रशास्त्रमें यह मंत्र पञ्चदशी, कादि श्रीविद्याके नामसे प्रसिद्ध है। नित्य षोडशिकार्णव ग्रन्थमें इसके विस्तारसे अनेक भेद बताये हैं। वरिवस्यारहस्य नामक ग्रन्थमें भी इसके विस्तृत अर्थ अवगम्य हैं। श्रुतियोंमें भी ये मंत्र क्वचित् स्वरूपोच्चार, क्वचित् लक्षणा, लक्षित-लक्षणासे और कहीं वर्णके पृथक्-पृथक् अवयव दरसाकर जान-बूझकर विशृङ्खलरूपसे कहे गये हैं। इससे यही सारार्थ निकलता है कि ये मत्र परम गोपनीय और साधन-जगत्के अतिशय महत्वपूर्ण मंत्र हैं।

षोडशाक्षरी मत्र इससे भी परम गुह्य है जोकि मात्र गुरुमुखसे परम्परासे प्राप्त होना सभव है।

### *भगवती लोपामुद्रा हादि विद्या हैं।*

हादि विद्या भी पञ्चदश वर्णात्मिका है। भगवती कामेश्वरांकस्थिता महादेवीके पूजामंत्रोमे हादि विद्या वर्तमानमे भी प्रचलित है। अवशिष्ट मनु चन्द्रादि दस विद्याएँ केवल 'आम्नाय पाठमे ही उल्लिखित हैं। इनका विशेष पूजाक्रम वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है, न ही इनका कहीं कोई सम्प्रदाय भी वर्तमानमें शेष है।

### *श्रीविद्या ही त्रिपुरा हैं।*

श्रीकामराजविद्याकी अधिष्ठात्री देवी 'श्रीविद्या'का ही नाम त्रिपुरा है। त्रिमूर्त्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा सरस्वती, लक्ष्मी एवं गौरीसे भी पुरा होनेसे ये त्रिपुरा हैं। ये ही पराद्याशक्ति पराम्बा हैं। ये गुणत्रयातीता हैं, त्रिगुणनियन्त्री शक्ति हैं, इसीलिये ये ब्रह्माणी, लक्ष्मी एव पार्वतीकी भी आराध्या हैं। गौडपादीय सूत्रमे इन्हे **'तत्वत्रयेण भिदा'** कहा है। त्रिमूर्नि - ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशकी जननी होनेसे , त्रयी - ऋक्, यजु एव साम – त्रिवेदमयी होनेसे, साथ ही महाप्रलयकालमे त्रिलोकीको अपनेमे लीन कर लेनेसे जगदम्बा पराम्बा महादेवीका नाम त्रिपुरा अथवा त्रिपुरसुन्दरी हुआ है। नामकेश्वरतंत्रमें इनको ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्तिस्वरूपिणी बताया है। इच्छाशक्ति इनका शिरोभाग है, ज्ञानशक्ति मध्यभाग एवं क्रियाशक्ति इनका अधोभाग है । शक्तित्रयात्मक होनेसे भी ये त्रिपुरा हैं।

### *भगवती त्रिपुरसुन्दरीका माहात्म्य*

इन पराशक्तिका माहात्म्य अवर्णनीय है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् त्रिलोकेश्वर ब्रह्मा, विष्णु एव महेश भी अभीतक इनका न तो पूर्ण रूप ही पहचानते – जानते हैं, न ही इनका धाम कहाँ है – इसका ही इनको ज्ञान है।

जैसे महाप्रस्थानके समय भगवान् श्रीकृष्णकी गति ब्रह्मा-ब्रह्माणी, शिव-पार्वती, भगवान् विष्णु एव लक्ष्मी, इन्द्रादिके लिये भी अगम्य रही, वे भगवान् श्रीकृष्णका महाप्रस्थान देखनेको बहुत ही उत्सुकतासे वहाँ एकत्रित हुए, किन्तु जब भगवान्का स्वधामगमन हुआ तो न तो कोई उनके धामका अनुसंधान पा सका, और न ही उनकी गति ही जान सका। इसी प्रकार भगवती भी अविज्ञातगति है। जैसे अग्निकी ज्वाला प्रज्वलित अङ्गाररूपमे समष्टिमें आविर्भूत

होकर जब शान्त होती है, तो वह कहाँ गयी अथवा किसमें अन्तर्भूत है – यह ज्ञात नहीं होता, वैसे ही समस्त मातृमण्डल-संघट्टरूपिणी महाचैतन्यात्मिका श्रीविद्याका क्या स्वरूप है, वे कहाँसे कैसे आविर्भूत होती हैं, और किसमें अन्तर्भूत – यह किसीको ज्ञात नहीं है। युक्ति एवं तर्कका तो उनमे प्रवेश ही वर्जित है। ***'अहमस्मि'*** 'मै हूँ' – इस प्रतीतिके सिवा उनकी उपलब्धिका दूसरा प्रमाण असंभव है। वेद, शास्त्र, तन्त्र, पुराण सभी इनके वर्णनमे असमर्थ हैं। 'वस्तुतः ये भगवती ऐसी हैं ' इस प्रकार वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी सभव नहीं है । प्रत्यक्षादि प्रमाण तो प्रमेय मात्रका ही ग्रहण करते हैं, उन अप्रमेय-शक्तिस्वरूप तक तो उनकी पहुँच हो ही नही सकती। 'मै हूँ' - इसी आह्लादमे वे सदैव निमग्न रहती हैं।

हाँ, शास्त्रोमे इनके लीला-विग्रहोका वर्णन है। इनके लीलाविग्रह भी अनन्त हैं और उनका माहात्म्य भी अनन्त ही है।

त्रिपुरारहस्य माहात्म्य खण्डमे तथा ब्रह्माण्डपुराण-उत्तरखण्ड आदिमे इनके मुख्य लीलाविग्रहोंकी परिगणना इस प्रकार है।

(१) **कुमारी** – इन्द्रादि देवोका गर्व-परिहार करनेके लिये भगवती कुमारी रूपमे प्रकट हुई थी।

(२) **त्रिरूपा** – कारणपुरुष ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशको उनके अधिकृत सृष्टि, स्थिति एव प्रलय कार्योमें सहायता करनेके लिये भगवतीने वाणी, लक्ष्मी एवं रुद्राणी आदि शक्तियोको अपने शरीरसे प्रकटकर उन तीनोसे इनका विवाह कराया।

(३) **काली, चण्डिका, कात्यायनी एवं दुर्गा** – इन चारों अवतारोंकी कथा सप्तशतीमे आती है।

(४) **भारती एवं भगवती ललिता** – इनकी कथा त्रिपुरारहस्य माहात्म्य खण्डमे वर्णित है। विस्तारभयसे यहाँ नही दी जा रही है। सक्षेपमे इतना ही जान लें कि भण्ड नामके असुरने भगवान् शिवसे अभय रूप वर प्राप्त कर लिया था। वह त्रिलोकाधिपति हो गया। इन्द्रादि देवताओंसे वह अपनी पालकी कहारोंकी तरह उठवाया करता था। उसने अपनी राजधानी शोणितपुरको मय दानव द्वारा स्वर्गसे भी सुन्दर बनवायी। उसका नाम उसने शून्यकपुर रक्खा। उसके भयसे इन्द्राणी भगवती गौरीके आश्रयमे कैलास चली गयी । उसने कैलास जाकर भगवती जगदम्बा गौरीसे इन्द्राणीकी माँग की। भगवान् गणेशजी अपने प्रमथ गणो सहित इसपर उससे युद्ध करने लगे। अपने पुत्रके सहायतार्थ भगवती गौरीको भी वृषभके वाहनमें बैठकर उससे युद्धार्थ आना पडा । भगवती उसका सहार करने जा ही रही थीं, इसी समय ब्रह्माजीने भगवान् शंकर द्वारा दिये हुए वरदानकी बात भगवतीसे कही, लाचार भगवती गौरीको उसे छोडना पडा।

अब देवोंने असहाय भगवती त्रिपुराकी शरण ली। देवगण माताकी स्तुति कर ही रहे थे उसी समय यज्ञ-ज्वालाके मध्यसे महाघोर कराल शब्द-ध्वनि करती तेजस्विनी भगवती प्रकट हुई। उन्होंने देवताओसे विशेष तप करनेकी बात कही। देवगण तप करने लगे। इसी समय भण्डासुरने पुनः उनपर आक्रमण कर दिया। देवताओंने प्रार्थना करते-करते ही अपनेको यज्ञकुण्डमे होम दिया। देवोंको भस्मीभूत समझ वह असुर चला गया। इसके पश्चात् उस चिदग्निकुण्डसे तडित्प्रभासी भगवती त्रिपुरा प्रकट हुई। जगन्माताने देवोकी प्रार्थनापर सुमेरु पर्वत-स्थित श्रीमन्नगरमे रहना स्वीकार कर लिया। भगवान् विश्वकर्माने वहाँ श्रीपुरका निर्माण किया। फिर माता श्रीचक्रात्मक रथपर आरूढ हो भस्मासुरको मारने चली। भगवतीकी दो शक्तियाँ – मन्त्रिणी (राजमातङ्गी) एवं दण्डिनी (वाराही) और इतर अनेकों शक्तियोंने अपने प्रबल पराक्रमसे दैत्य-सैन्यमे खलबली मचा दी। अन्तमें भगवतीने पाशुपतास्त्रका प्रयोगकर समस्त असुर-सैन्यको निर्दग्ध कर दिया। तब महाकामेश्वरास्त्रसे समस्त शून्यपुर एवं भण्डको उन्होने उसके पुत्र-पौत्रोंसहित शून्यमें विलीन कर दिया। यह भगवती महादेवीका सामान्य-सा परिचय है। सामान्यतः 'श्री' शब्द लक्ष्मीके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। परन्तु पुराणेतिहासोमे वर्णित 'श्री' शब्दका मुख्यार्थ महात्रिपुरसुन्दरी देवी ही है।

महालक्ष्मीने भगवतीकी चिरकाल आराधनाकर जो अनेक वर प्राप्त किये थे, उनमें 'श्री' शब्दसे ख्यात होनेका भी उन्हें एक वर प्राप्त हुआ था। तबसे 'श्री' शब्दका अर्थ महालक्ष्मी होने लगा। मुख्यतया श्री नाम तो भगवती परमाद्याशक्ति महादेवीका ही है। इनकी प्रतिपादिका विद्या अथवा मन्त्र श्रीविद्या है। वाच्य-वाचकको अभेद मानकर इस मंत्रकी अधिष्ठात्री देवीको 'श्रीविद्या' कहा जाता है।

## जिज्ञासा

**महाराजा वृषभानुने हरिशयिनी निशाके दिनसे ही महादेवीका अर्चन क्यों प्रारंभ किया ? यह पूजा-मुहूर्त्त केवल शुभदिवस मानकर ही चयन किया गया अथवा इसके पीछे भी कोई आगम शास्त्रीय विधान निहित है ?**

## समाधान

निश्चय ही इस मुहूर्त्त-चयनका आगम शास्त्रीय महत्व है। हरिशयनी निशाके उपरान्त चार मासतक विश्वनियन्ता सभी देवसमुदाय शयन करता है। जिसे हम पृथ्वीके लोग दिन-रातकी गणनानुसार एक वर्ष कहते हैं, देवजगत्का वह काल पूरा एक दिन-रात होता है। वर्षमें आठ मास अर्थात् सोलह घंटे देवसमुदाय जागता रहता है और चार मास अर्थात् आठ घंटे वह सोता है।

वस्तुतः कालप्रवाहके ही दो रूप हैं – आरोहण एव अवरोहण। जिस कालमें बन्धन क्रमशः क्षीण, क्षीणतर, क्षीणतम होता है, उसे कालका आरोहक्रम कहते हैं, एवं जिस कालमें बन्धन क्रमशः प्रगाढ होता है, उसे अवरोहक्रम कहा जाता है। जबतक देव जागृत् रहते हैं , वे सृष्टिको अवरोहक्रमकी ओर ही धकेलते रहते हैं।

कारण सुस्पष्ट है – देवता ही जीवोंकी इन्द्रियोंके अभिमानी हैं। सृष्टि-समुदायके सभी जीवोंको भोगोंसे मिले सुखको उन-उन इन्द्रियोके अभिमानी होनेसे देवगण स्वयं भोगकर सुखी होते हैं। इसलिये सृष्टिको बहिर्मुखी बनाये रखनेमें ही देवगणोंकी रुचि रहती है। इस सृष्टिमें जब भी कोई अपनी इन्द्रियोंका समाहार करनेको तत्पर होता है, और उन्हें केन्द्रीभूत आत्मसत्तामें लीन करनेको प्रयत्नशील होता है तो इन्द्रियाभिमानी देवताओको उसकी इन्द्रियोंके द्वारा मिलनेवाले भोगसुखकी सम्भावना ही समाप्त प्रतीत होने लगती है। अतः देवसमुदाय उस साधककी साधनामें विघ्न डालने और उसे इस प्रवृत्तिसे हटानेके लिये कटिबद्ध हो जाता है।

फिर महाराज वृषभानुजीने तो उन भगवती महादेवीकी दीक्षा ली थी जो तत्त्वातीत, प्रपञ्चातीत एवं व्यवहारपथके भी अतीत हैं। वाणी एवं मनसे अगोचर होनेसे जिन्हें निर्गुण, निराकार, निर्विशेष भी कहते हैं, किन्तु अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेसे एवं अप्राकृत आकारवाली होनेसे वे महादेवी सगुण एव साकार भी हैं। इन महादेवीको निर्गुण, निराकार निर्विशेष ब्रह्म भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें विमर्श अन्तर्लीन है। इन्हें विशुद्ध विमर्श भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनमें स्वप्रकाशत्वभाव पूर्णरूपेण विद्यमान है। इसीलिये इस तत्वातीत और अनुत्तर वस्तुको आगम शास्त्र 'अ' कहता है। इसके उत्तर अथवा परे कुछ भी नहीं है, इसीलिये वह 'अ' है। 'अ'कार रूप प्रकाशके साथ 'ह'कार रूप विमर्शका सामरस्य ही शिव-शक्तिका साम्य है। 'अ' शिव है और 'ह' शक्ति है। विन्दुरूपमें यही परिपूर्ण 'अहं' है, जिसे पूर्णतम, परिपूर्णतम अहता भी कहा जा सकता है। शिव-शक्तिका सामरस्य रूप महादेवी भगवती पराभट्टारिका त्रिपुरसुन्दरीका स्वरूप है । इनकी ही अर्चना, उपासना महाराजा वृषभानुजी करने जा रहे हैं।

ये भगवती ऐसी हैं जो ब्रह्मसे, ईश्वरसे, देवी-देवता, ऋषि-मुनि, जीव-समुदाय – सभीसे अतीत, पूर्णतया विलक्षण हैं। इन भगवतीके राज्यमें विराट एवं अल्प, लघु एवं महान्, ईश्वर एवं जीव, देव एवं असुर सबके भेद ही तिरोहित रहते हैं। एक सूक्ष्मतम कीट-भृङ्ग भी जहाँ अपने 'अहं'को अपना परम ममतास्पद, अपनेसे अपना, प्राणोंका मर्म मानता है, और अहंरूपा महादेवी पराभट्टारिका त्रिपुरा द्वारा पूर्णतया अपने वत्सवत् पाल्य है, उसी प्रकार इन 'अहं'रूपा

जगन्माताके वात्सल्यकी छाँहमें जीव-ईश्वर, ज्ञानी-अज्ञानी, महान्-क्षुद्र, रजोगुणी तमोगुणी-सतोगुणी, विराट-अल्प – सभी भेद तिरोहित हैं । यहाँ दृष्टि एवं सृष्टि भी एकार्थबोधक ही हो जाती है।

इन महादेवीकी अर्चना उपासना युवराज वृषभानु द्वारा निरापद एव निर्विघ्न सुदीर्घकालतक चलती रहे एवं उसमें देवगणों द्वारा कोई भी व्यवधान अथवा विक्षेप समुपस्थित नही हो पावे, इसीलिये सभी महर्षियोकी समवेत रायसे हरिशयनी निशामें ही महाराजसे भगवती महादेवीका अर्चनानुष्ठान प्रारंभ कराया गया। इस कालमे देवसमुदाय शयन कर जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि देवसमाज तो मात्र चार माहके अल्पकालके लिये ही सोता है, चार माह पश्चात् कार्तिक मासमें तो देवसमुदाय जाग ही जाता है। फिर कालान्तरमे तो उसके द्वारा विक्षेपकी संभावनाएँ हो ही जाती है। यह अर्चना-व्रत मात्र माह-दो माहके लिये अल्पकालिक तो था ही नहीं, यह तो जीवनव्यापी अनुष्ठान था। फिर देवशयनीमें इसे प्रारंभ करानेकी सार्थकता कहाँ रहती है ?

इस शंकाका यही समाधान है कि भगवती महादेवीके अर्चनका, उनकी उपासनाका माहात्म्य ही ऐसा है कि एक बार उनकी अर्चना, उपासनामें कोई संलग्न भर हो जाय, उसका पूजन-अर्चन प्रारभ भर हो जाय, उसके पश्चात् तो महादेवीके शरणागतकी ओर न किसी देवशक्तिको बाधा पहुँचानेका साहस होता है, न ही आसुरीशक्ति ही उसके सम्मुख आ पाती है। स्वयं भगवतीके शरणागतका तेज ही ऐसा प्रखर होता है कि बाधा देनेवाली सभी शक्तियाँ उसके सम्मुख नत हो जाती हैं।

## जिज्ञासा

**भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी प्रतिमा जो वृषभानु महाराजके प्रसादकक्षमें विराजित थी, वह अद्भुत सुवर्णकी विरचित क्यों थी ? क्या भगवतीकी प्रतिमाका अन्य धातुओंसे निर्माण करनेका शास्त्रीय निषेध है ? देवप्रतिमाओंके अष्टधातुसे निर्माणकी बात तो स्थापत्य शास्त्रोंमें सुननेमें आती है। फिर उसमें ऐसा प्रभाव क्यों था कि कोई मन्दिर परिसरमें ज्योंही प्रवेश भर करता, उसका मस्तक स्वतः ही उस प्रतिमाके सम्मुख झुक जाया करता था ? कृपया छन्द संख्या छब्बीस, सत्ताईस एवं अट्ठाईस- इन तीन छन्दोंपर विस्तारसे प्रकाश डालें।**

## समाधान

वृषभानुकुलमे भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी श्रीविद्याक्रमकी पूजा एव भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी अद्भुत देवधातु-निर्मित चिन्मय जागृत् प्रतिमाकी स्थापना दोनो ही भगवान् सूर्यदेवकी कृपाके ही फल थे। उन्होने ही इस कुलको कुलदेवीके रूपमें यह प्रतिमा एव उसकी पूजा प्रदान की थी। महाराज वृषभानुमे तो भगवान् सूर्यदेवने अपना तेज भी निहित कर दिया था।

आगम शास्त्रोमें भगवती महादेवीकी उपासना करनेवाले बारह सिद्ध आचार्योका उल्लेख है। भगवान् सूर्यदेव भी उनमेसे एक महासिद्ध आचार्य हैं। भगवान् सूर्यका श्रीविद्याक्रमका सम्प्रदाय है। यद्यपि वर्तमानमे सूर्य-विद्याका उल्लेख मात्र आम्नाय-पूजन-क्रममे ही आता है। यह सूर्य-सम्प्रदाय वर्तमान कालमे प्रचलित नही है, किन्तु द्वापरमे महाराज वृषभानुके कालमे महर्षि भागुरि आदि इस सम्प्रदायके निष्णात विज्ञ ब्राह्मण थे।

वृषभानुकुलमे जो भगवतीकी सिद्ध प्रतिमा स्थापित थी वह प्राकृत स्वर्णधातुकी नही थी, न ही वह किसी स्वर्णकार द्वारा घडी ही गयी थी। भगवतीका वर्ण बालरवि – उगते हुए सूर्यके समान शास्त्रोमे कहा गया है। बालरवितेजकी द्योतस्विनी होनेसे वह प्रतिमा देवधातु कुन्दनकी हो ऐसी आभासित तो अवश्य होती थी किन्तु वह प्राकृतजगतके स्वर्णसे कदापि नही बनी थी, वह तो अलौकिक चिन्मय एवं दिव्य थी। पू.गुरुदेवने मात्र उसकी विलक्षण कान्तिको शब्दावली

भगवती श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी (पृष्ठ १००)

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

षष्ठम खण्ड (प्रथम भाग)

## प्रियतम काव्य

पृष्ठ संख्या 101-200 तक

टीकाकार : साधु कृष्णप्रेम

देनेके लिये ही उसे अद्भुत स्वर्णसे निर्मित कहा है। पू.गुरुदेव द्वारा प्रयुक्त 'अद्भुत' शब्द उसकी अलौकिकताको प्रकाशित कर रहा है। जिस पदार्थकी वह प्रतिमा थी, उस धातुका प्राकृत जगत्की किसी भी धातुसे साम्य सम्भव ही नहीं है। इसीलिये उस अद्भुत पूर्ण जागृत् प्रतिमाकी तेजस्विता ऐसी असमोर्ध्व थी कि जो कोई भी मन्दिर-परिसरमें प्रवेश भर करता, उसका मस्तक वहाँ जाते ही बरबस विनत हो जाता था। यह पराभट्टारिकाका स्वरूप-तेज था जो सबको विनत कर देता था।

यहाँ यह समझनेकी बात है कि जिन पराभट्टारिका महादेवीके तेजके सम्मुख पातालके महान् पराक्रमी असुर, सुतल-वितल, अतल-तलातलके अति तेजस्वी दैत्य, परमोर्ध्व वैकुण्ठलोकतक के ईश्वरकोटिके विष्णु आदि देवगण, सिद्धलोक, जनलोक एवं सत्यलोककी समग्र सृष्टि ही हतप्रभ हुई सदैव मस्तक झुकाये वन्दना करती रहती है, सम्पूर्ण सृजनमें ही उनके असमोर्ध्व तेजसे सब हतप्रभ रहते हैं, रमा, पार्वती ब्रह्माणी एवं इन्द्राणी आदि देवियाँ जिनके एक रोमके चिन्मय तेजकी छाया पाकर तेजोमयी कहला रही हैं, उन महान् तेजोमयीकी सिद्ध प्रतिमाके अप्रतिहत तेजके सम्मुख मन्दिर-परिसरमे प्रवेश पाया एक वृषभानुपुरका गोप यदि नतमस्तक हो जाता है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है?

इसी बातको और आगे बढाते हुए पू.गुरुदेव कहते हैं कि वस्तुतः भगवती पराभट्टारिका महादेवीकी उस अद्भुत प्रतिमासे निःसृत विशुद्ध सत्वपूर्ण तेजोराशिका प्रभाव असमोर्ध्व होनेका कारण यही है, क्योकि उस अद्भुत चिन्मय विग्रहमे जड पदार्थका लेश भी नहीं है। इसीलिये उसका तेज विशुद्ध सत्वभरा अनन्त एवं असीम आत्मरूप है। इस चिन्मय लोहित आत्मतेजके प्रभावक्षेत्रमे मन्दिर-परिसरमे ज्योही आगन्तुक आता है, चाहे वह कितना ही विषयोन्मुखी चित्तभूमिमें पडा हो, वह उस तेजोराशिकी विशुद्ध सात्विकतासे भर उठता है, आलोकित हो उठता है। यहाँ अनिर्वचनीय भावसे भावित हो उठनेका अर्थ यही है कि जहाँ मलिनचित्त प्राणी अपने आपको यहाँ परम शुद्ध अनुभव करता है वहीं मननशील मुनियोका इस परिसरमें प्रवेश होते ही उनका पूर्ण समाधान हो जाता है, वे विगत-जिज्ञासा हो उठते हैं और उनके सभी प्रश्न स्वतः ही हल हो जाते हैं। यही दशा योगियोंकी होती है, उनकी चित्तवृत्ति पूर्ण निरुद्ध हो जाती है और उन्हें सभी योग-सिद्धियाँ उपलब्ध अनुभव होती हैं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानमें लहराने लगते हैं।

यहाँ एक बात और ध्यानमें रखनेकी है कि प्रकृतिमे भगवान् सूर्यदेव, चन्द्र, नक्षत्र जितने तेजस्वी तत्व हैं, उन सभीका तेज बहिर्मुख है, वह सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रोंके बाहरी आवरणको ही प्रकाशित करता है, वे स्वयं सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि ज्योतिर्पिण्ड कैसे हैं, इनको प्रकाशित नहीं करता। भगवती त्रिपुरसुन्दरी महादेवीकी जो प्रतिमा वृषभानुपुरमें स्थापित है, उसका तेज बहिर्मुखी नहीं होकर अन्तर्मुखी है। इस अन्तर्मुखी तेजका ही प्रभाव है कि आगन्तुक सौभाग्यवान् व्यक्तिको मन्दिर-परिसरमें प्रवेश करनेपर कोई चकाचौंध करनेवाली तेजस्विता दृष्टिगोचर नहीं होती, अपितु बाहर सब साधारण ही अनुभव होता है। परन्तु वह परवश-सा अन्तर्मुखी हो उठता है और भगवतीकी प्रत्यक्ष अनुभूतिमें वह लीन हो जाता है। इसके उपरान्त भी एक सत्वमयी तेजकी लहर उसे विषय-पराङ्मुख करती है, तो तत्क्षण ही दूसरी तेजोमयी सत्व-लहर उसके हृदयपटलपर भगवतीकी ध्यानमूर्तिको स्पष्ट प्रत्यक्षवत् प्रकट कर देती है। किन्तु क्षणके करोडवें हिस्सेके व्यतीत होते-ही-होते तीसरी लहरके कारण उसे अपनी अहंताका महादेवीकी अहंतामें पूर्ण विलय अनुभव होने लगता है। और तब चौथी लहर, पाँचवी लहर, छठी एवं सातवीं लहरें सत्य-तत्वसागरमें उसे ऐसा झकझोरती जाती हैं कि वह स्वयं कौन है, कहाँसे आया है, अपना अस्तित्व, साथ ही देश-कालका अनुभव, भूत, वर्त्तमान, भविष्य एवं अपने घर-परिवारको पूर्णतया विस्मृत कर जाता है।

यहाँ फिर समझना है कि भगवती पराभट्टारिका महादेवी और उनका तेज दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। उनमें अङ्गाङ्गी भाव नहीं है। चिन्मय वस्तुमें सब कुछ चिन्मय ही होता है। अतः इस भगवतीरूपा चिन्मयतामें जब आगन्तुकका चित्त आपाततः डूब जाता है, तो वह आगन्तुक भगवतीका स्वरूप ही बन जाता है। उसे मन्दिरमे प्रवेशके पूर्व ही भगवतीके स्वयंके तत्त्वमय स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है।

आगन्तुकको भगवती महादेवीके जैसे ही विशुद्ध स्वरूप-दर्शन होते हैं, वे अपने आपमे विलक्षण ही होते हैं। यह नियम ही है कि जब किसी भाग्यवान् व्यक्तिको भगवान् अथवा भगवतीके सगुण साकार रूपका दर्शन-ध्यान होता है, तो सर्वप्रथम यदि वह कृपापात्र अधिकारी है, तो उसे भगवान् अथवा भगवतीके दस चरण-नख एवं उनकी असीम तेजोमयी झलमलाती चन्द्रिकाके ही ध्यानमें दर्शन होते हैं। किन्तु यदि वह व्यक्ति देवी-भक्त नही हो, उससे दीर्घावधितक उपासना-अर्चना एवं पूजनादि नहीं हुआ हो और हेतुरहित कृपावश अथवा पूर्वजन्ममे किये किसी अमोघ पुण्य-कर्मोदयके फलस्वरूप किसी सिद्ध देवी-भक्तका कृपाभाजन हो जानेपर अथवा उसके इस मन्दिर प्रासाद-परिसर जैसे जागृत् सिद्धक्षेत्रमें प्रवेश पा लेनेसे उसपर कृपावर्षा होती है तो सर्वप्रथम उस महाभाग्यवान् व्यक्तिके चित्त-फलकमें अधिदेवताकी केशराशि ही ध्यानमे झलमलाती है। इस असीम सौन्दर्यशालिनी कृष्ण तेजोमयी महादेवीकी सघन चिकुरराशिमें एक विलक्षण प्रभाव है। यह चिकुरराशि जैसे ही किसीके ध्यानपथमे आती है, बस, वह उसके समग्र तमोगुणको अपनी विशुद्ध सत्वमयी कृष्णाभामें आत्मलीन कर लेती है। इन चिकुरोंका यह अपना सिद्ध स्वभाव ही है। इन सघन केशराशिके कृष्ण सौन्दर्यमें यह अलौकिक विलक्षणता है। ये जिस भाग्यवान्के ध्यानपथमे एक बार आ जावे, बस, ध्याताके समग्र तमोगुणका अपहरण कर लेनेमें ये सिद्धहस्त हैं।

इनमे एक विशेषता और है, ये इतनी स्वच्छन्द और चञ्चल है कि शृङ्गार करनेवाली सेविकाओ द्वारा कसकर चूडामे निबद्ध कर दिये जानेके उपरान्त भी ये भगवतीके ललाट और कपोलोपर मँडराना अपना स्वत्व समझती हैं। महादेवीके ललाट और कपोल इनका विहारक्षेत्र है। अब ये ध्यानकर्त्ताको अपने ध्यानसे तमोगुणविहीन तो करती ही हैं, साथ ही त्वरापूर्वक अपने माध्यमसे उसके ध्यानमे भगवतीका लोहित-तेज-पुञ्ज ललाट भी स्फुरित कर देती हैं। भगवतीके कर्णकुण्डलोंसे दमकते कपोलोंपर ये अपने साथ-ही-साथ ध्यानकर्त्ताके चित्तको भी पहुँचा देती है।

अहा ! अब इन अलकावलियोंके ध्यानके प्रतापसे तमोगुण-विशुद्ध ध्याताका चित्त, भगवतीके अनन्त सुन्दर लोहित-तेज-सुमण्डित, कस्तूरी एवं केसरकी अनुपम चित्रकारियोसे रञ्जित ललाटके सौन्दर्य-झकोरोमें हिल्लोलित होने लगता है और उसके फलस्वरूप वह समग्र मलिन रजोगुणसे भी विमुक्त हो जाता है।

वस्तुत भगवती पराभट्टारिका महादेवीके ललाटके सौन्दर्यका वर्णन तो स्वयं वाणीदेवी भी चाहे तो नही कर सकती। वैसे शास्त्रोमे यह भगवतीका ललाट बालरविप्रभ, सिन्दूरारुण, कुन्दनप्रभ वर्णित है किन्तु द्रष्टाके सम्मुख जब यह उसकी चित्तभूमिमें प्रकाशित होता है तो ध्याता आत्ममुग्ध हो उठता है।

प्रकृतिमे तो कुल सात ही वर्ण हैं। ये वर्ण प्राकृत विश्वमे भगवान् सूर्यदेवकी सप्तरंगी किरणोंसे ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु महादेवीका ललाट तो इतना तेजस्वी है कि उनके मात्र एक रोममें ही अनन्त सूर्योंकी प्रभा छिटकती रहती है। अत उनके अप्राकृत अद्भुत चिन्मय विग्रहसे अनन्तानन्त वर्ण नित्य प्रकट और प्रविलुप्त होते रहते हैं। ये सभी वर्ण किन्ही संयोगोसे नहीं बनते हैं। ये सभी वर्ण अनन्त शोभाके उद्भव-स्थल हैं, स्वप्रकाश हैं, पूर्ण स्वतन्त्र तत्व हैं और अपने आपमें पूर्ण अलौकिक हैं। वे न अरुण हैं, न ही पीत, न सिन्दूरी हैं, न ही लोहित हैं। वे सुन्दरातिसुन्दर हैं। अनन्त लक्ष्मी उनके सम्मुख तृण तोडती हैं। भगवतीका ललाट सर्वनिरपेक्ष, स्वप्रकाश अदम्य तेजका पुञ्ज है। उसमेसे असमोर्ध्व शोभाधारा प्रतिपल नवनूतन वेगसे प्रसरित होती रहती है। यह चिन्मय शोभारूप अनन्त तेजोराशि ही भगवतीका आत्मप्रकाश है। बस, आगन्तुकके चित्तमे ज्योही इस अनन्त तेजस्वी ललाटका ध्यान होता है, वह उस ललाटसे क्षण-क्षणमें नवीन नवीन रूपमे उठती आत्ममयी तेजोराशिकी झकोरोमे डूब जाता है। द्रष्टा बाह्यज्ञानशून्य हो जाता है। इस शोभाक्षेत्रमें आनेवालेकी वाणी गूँगी हो जाती है, नेत्र अपलक स्थिर हो जाते हैं, बुद्धि एवं अहंता उस छविसमुद्रकी उच्छलित लहरोमें डूबती उतराती, पूर्ण आप्यायित और निमग्न हो जाती है।

भगवतीके ललाटका सौन्दर्य भी तो इदमित्थं नहीं है। अनन्त कोटि कामदेव जिसके एक रोमके सौन्दर्यको देख भूलुण्ठित हो जाते हैं, उन महादेवीके नव-नव-नूतन तरङ्गायमान सुन्दरतासे दिपदिपाते ललाटकी शोभाका क्या वर्णन किया जा सकता है। वह ध्यातापर नित-नूतन विशुद्ध सत्वमयी छविकी सतत एवं घनघोर वर्षा करता रहता है। उस सौन्दर्य-वारिधिका मन्दिर-परिसरमें दूर दूरतक उच्छलन होता रहता है। जो भी भाग्यवान् आगन्तुक ज्योंही उस परिधि क्षेत्रमे आता है, उसकी सूक्ष्म तरङ्गें उसे पूरा ही डुबा देती हैं। वह प्राकृत जगत्, प्राकृत देह, प्राकृत परिवेश सभीसे उन्मुक्त हुआ भगवतीके विशुद्ध अप्राकृत सत्वलोकमे ही पहुँच जाता है। भगवती महादेवीका सत्वलोक तो स्वयं महादेवी ही हैं। अत. उस महाभाग्यवान् की चित्तभूमिमें भगवती महादेवी स्वय ही प्रकाशित हो जाती हैं। पराभट्टारिका महादेवीकी सर्वतम-मल-हारी अलकावलीकी कृपा उसपर हो ही चुकी होती है, भगवती महादेवीके ललाटके दर्शनसे उस भाग्यवान् आगन्तुकका विक्षेपरूप रज विनष्ट हो ही चुका होता है, अब उसके पास रहता है मात्र सत्व, सो इस सत्वगुणका महादेवी जगन्माताके स्वरूपभूत अनन्त महिमाका प्रकाश करता अप्राकृत रत्नोसे समलकृत झलमलाता उनका माणिक्य-मुकुट अपहरण कर लेता है। जब इस विशुद्ध सत्वमय माणिक्य-मुकुटकी असमोर्ध्व शोभाराशिमे डूबा द्रष्टाका चित्त गुणातीत अवस्था प्राप्त कर लेता है, तब इस माणिक्य-मुकुटकी शोभा-झकोरो और दमकके मध्य ही उसे भगवती महादेवीके ललाटके ठीक मध्य भागमे स्थित जो उनका तीसरा नेत्र है, उसके दर्शन होते हैं। यह भगवतीका तीसरा नेत्र सदैव निमीलित ही रहता है। लोहित वर्णकी पलकोसे आच्छादित रहनेके कारण यह तीसरा नेत्र ललाटके सत्वमय तेज-तरङ्गोंमें डूबा रहनेके कारण सर्वसाधारणके दर्शनमें नही ही आता। यह तृतीय नेत्र गुणातीत पदपर आरूढ व्यक्तियोंको ही दृष्टिगोचर होता है। इस तृतीय ज्ञाननेत्रकी महिमा भी सर्वोच्च है। इस नेत्र-महिमासे महिमान्वित भगवती महादेवी सदैव अहम् प्रत्ययके साररवरूप विशुद्ध **'अहमस्मि'** 'मैं हूँ' इस गुणातीत आह्लादमें डूबी रहती हे। सर्व क्रियाओंकी एकमात्र कर्त्ता होते हुए भी यह तृतीय नेत्र उन्हे अकर्त्ता पदपर नित्य प्रतिष्ठित रखता है। भगवतीके युगल नेत्र जहाँ अनन्त सृजन एवं पालनके साक्षी रहते हैं, वहाँ यह तृतीय नेत्र अनन्त उपाधियोसे भरे लीला-विश्व को सदैव पल-पल बाधितकर उनमें निहित निरुपाधिक परात्पर परब्रह्म भगवान् कामेश्वरको प्रत्यक्ष प्रकाशित करता रहता है। इस तृतीय नेत्रके तनिकसे उन्मिषित होते ही अविद्यारूप अनन्तानन्त अह ममभूलक गुणमय सृजन बाधित हुआ ऐसा प्रविलुप्त होता है मानो शशके सिरसे सींग। अनन्त कोटि लक्ष्मियों, ब्रह्माणियो द्वारा सतत उपासित रहनेपर भी इस तृतीय नेत्रकी महिमासे भगवती नित्य निरुपाधिक परात्पर परब्रह्म भगवान् कामेश्वरके अङ्कसे एक क्षणके लिये भी च्युत नहीं हो पातीं।

यहाँ एक बात और अतिशय तात्विक एव समझनेकी है। हमारे पास तृतीय ज्ञान-नेत्रके नहीं होनेसे ही हम अपनी बहिर्मुखी इन्द्रियोसे बाहर विषय-दृश्यरूपमें स्थित जगत्को तो देखते हैं किन्तु हमारे अपने आपेसे सदैव पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं । अपने आपेको जाननेका हमारे पास कोई साधन ही नहीं है। इसीलिये उपनिषद् कहते हैं – ***'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्'*** अर्थात् जो सबको जाननेवाला है, उसे किस अन्य साधनसे जाना जाय, क्योकि आत्मा (परमात्मा) के अतिरिक्त सभी साधन बहिर्मुखी है। बुद्धि बहिर्मुखी होनेसे मनको देखेगी, मनके विषय – इन्द्रियोंका निर्णय कर लेगी, इन्द्रियोंके दृश्यके उत्तम, अधम, अनुकूल, प्रतिकूल, सुखद-दुखद, सबकी जानकारी कर लेगी, किन्तु बुद्धि अपने परम-प्रकाशक अहंकारको नहीं ढूँढ सकती। अहंकार ही निर्णय करेगा, मेरी बुद्धि अच्छी है, बुरी है, तीक्ष्ण है अथवा मंद है। इसी प्रकार अहंकार अपने पापी, पुण्यात्मा, दोषी-निर्दोष, साधु असाधु होनेका परिताप अथवा हर्ष अनुभव कर लेगा किन्तु परमात्माको नहीं देख पावेगा। ठीक, हमारी ही तरह भगवती पराभट्टारिका महदेवीकी इन्द्रियाँ भी उन्मिषित होकर बाह्य दृश्यका सृजन एव पालन करती है, किन्तु उनका यह तीसरा नेत्र ऐसा विलक्षण है कि इसके सम्मुख आते ही स्वयं भगवतीकी ही अविद्यामयी स्वरूपभूता माया विलुप्त हो जाती है । इस

विद्यानेत्रके तनिकसे उन्मेष मात्रसे ही उनकी ही स्वरूपभूता माया पलायन ही नही करती, वह पूर्णतया भगवती महादेवीसे एकात्म हो जाती है। पराभट्टारिका भगवती महादेवीकी सभामे इन्द्रादि देवता, महाशक्तिशाली असुर, दैत्य, दानव, गन्धर्व, किन्नर, महासिद्ध, महायोगी, भूत, प्रेत, पिशाच – उनके अधिपति भैरव, अनेक विलक्षण शक्तियोके रूप – सभी विद्यमान रहते है। त्रिदेवादि ईश्वरोका भी वे पालन करती हे। उनकी शक्तिसे ही सब सृष्ट-असृष्ट जीव-समुदाय सत्ता, ज्ञान एवं क्रियाशक्ति पाता है।

इतनी वैभवमयी होते हुए भी इस तीसरे नेत्रके कारण ही वे सभीके रूपमें ही अपनेको पूर्ण समरूपमें स्थित देखती हैं। अनन्तानन्त सृजन उन्हे मात्र स्वविलास ही समझमे आता है। तीसरा नेत्र उन्हे यही दिखाता है कि मैं ही सर्वरूप हूँ। उत्थान-पतन, उद्भव-विलय, जय-पराजय, आत्मा- अनात्मा, योग एव भोगरूपमे उनके द्वारा उनका स्वयका अपना ही अखण्ड विलास हो रहा है – यह अनुभूति उन्हे अखण्ड बनी रहती है। तृतीय नेत्र इस अनन्तानन्त मायावी सृजन एव पालनमे, उन्हे स्वयको कभी परिच्छिन्न नही होने देता। वे नित्य अखण्ड एकरस यह अनुभव करती रहती है कि वे तो एकमेव अद्वितीय सर्व-उपाधि-रहित निरुपाधिक परात्पर परब्रह्म भगवान् कामेश्वरके अङ्कमे नित्य विलसित हैं।

अस्तु ज्योही कोई भी आगन्तुक परम चिन्मय, जागृत् एव सिद्ध उस भगवतीके मन्दिर परिसरमे प्रवेश करता है, वह भगवतीकी स्वयकी दृष्टि-परिधिमें आ जाता है। अब महादेवीका स्वयका जो भी स्वरूपदर्शन है, वह उसे बाध्य कर देता है कि वह अन्तर्मुखी हो उठे। बस, आगन्तुक तत्क्षण ही अन्तर्मुखी हुआ अपने अखण्ड स्वरुपानन्दमे लहराने लगता है। उसे बाह्य सबकुछकी विस्मृति हो ही जाती है, मानो वह एक विचित्र समाधिमे अवस्थित हो गया हो। उस अनिर्वचनीय अवस्थासे मन्दिरका प्रहरी ही उसे पास आकर होश कराता है, यह कहकर कि – 'महाशय ! मन्दिरमें जाइये, दर्शन कर लीजिये।'

यहाँ यह प्रश्न किसीके मनमें उठ सकता है कि जब मन्दिर-परिसरमे प्रवेश करनेवाले आगन्तुककी दशा इतनी अधिक अन्तर्मुखी हो जाती है तो द्वारपाल, जो प्रहरी रूपमे निरन्तर वहाँ स्थित रहता है, वह जागरूक एवं सजग कैसे रह पाता है ? इसका यही उत्तर है कि वह द्वारपाल तो भगवतीका सेवक पार्षद ही है, वह भगवतीका स्वरूप साक्षात्कार कर चुकनेपर भी सेवाभावसे द्वारपाल बना बैठा है, अत. भागवती-महिमा ही उसे यन्त्रवत् सजग सेवा-सन्नद्ध किये रखती है।

ज्योंही मन्दिरका प्रहरी उस समाधिस्थ आगन्तुकको मन्दिरकी ओर दर्शनार्थ जानेकी प्रेरणा देता है, आगन्तुक मन्दिरकी ओर चल पडता है। परन्तु अबतक उसकी चित्तवृत्ति इतनी प्रगाढ भावमयी हो उठती है कि उसे भगवतीकी ध्यानछवि सर्वत्र भरी दृष्टिगोचर होने लगती है। उसे द्वारपालके स्थानपर भी स्वय महादेवी शशिशेखरा ही खडी दृष्टिगोचर होती है। वह दिग्भ्रमित-सा द्वारपालके रूपमें महादेवीको ही देखता, उसके सङ्केतानुसार मन्दिरमें प्रवेश करता है। द्वारपाल ही उसकी अञ्जलिमें वहीं उपवनसे तोडकर कुछ पुष्प प्रदान कर देता है, वह उन पुष्पोके रूपमें भी भगवतीको ही देखकर मुसका उठता है। उसके नेत्रोसे अश्रु झर उठते हें। वह अनुभव करता है कि उसके अश्रु किसी भी अभाव अथवा परितापके कारण उत्पन्न नहीं हैं, अपितु विलक्षण श्रद्धाभाव परिपूरित आनन्दके अश्रु हैं। सचमुच ही उसके अश्रु उस कृतकृत्यता-प्राप्तिके उद्रेकसे ही प्रवाहित हैं, जब वह साक्षात् महादेवी जगन्माताको प्रत्यक्ष अपनेपर अनुग्रहकी वर्षा करती देखता है। आनन्दसे डगमगाते पैरोसे वह भगवतीके मन्दिरमें उनके सच्चिन्मय अलौकिक सुन्दर विग्रहके सम्मुख जाकर खड़ा होता है।

'ओह ! कैसा शोभामय यह मन्दिर-प्रासाद है ! इसका तो अणु-अणु, परमाणु-परमाणु ही लोहित तेजोमय विशुद्ध सत्वका पुञ्ज है ! कही भी दृष्टि जाय, सत्वमय लोहित तेजोराशिकी झकोरे उठ रही हैं। और, अरे ! भगवतीका यह विग्रह कितना मनोहर है ! इनका दिव्य तेजोमय वर्ण ही तो इस समग्र लोहित तेज प्रसारका उद्गम-पिण्ड है। पिसी हुई सिन्दूरके समान सुचिक्कण भगवतीका वर्ण कितना दिपदिपा रहा है ! ओह ! ये सिन्दूरीवर्णवाली महादेवी मात्र सुचिक्कण

ही नहीं, कितनी सुशीतल, सरस, मादक हैं और इनका दर्शन प्राणोको कैसा आप्यायित करनेवाला है ! लावण्य और मधुरतासे भरी ये कितनी वत्सला हैं ! तेजस्विताकी दृष्टिसे क्या इन्हें मैं विद्युन्मालाकी उपमा दे सकता हूँ ? सरसताकी दृष्टिसे इन्हें रक्त-पद्मतुल्य भी तो कहा जा सकता है ? इन महादेवीके अङ्गोंसे जो कान्तिकी किरणे फूट रही हैं, वे माणिक्य मणिकी आभाको भी हेय बना दे रही हैं। परन्तु इन सभी उपमाओंके गुण परिच्छिन्न हैं, ससीम हैं। जगन्माता तो माधुर्य एवं लावण्यकी भी अपरिसीम सिन्धु हैं। उनके श्रीअङ्गोंमे लाल ओढनी एव लाल ही लहँगा झलमला रहा है वक्षस्थलपर रङ्गबिरङ्गी वनमाला झूल रही है। इस वनमालामे जो पुष्प गुँथे है, ये मात्र साधारण गन्धवाही पुष्प नहीं है, ये तो उच्चतम भक्तिभावसे युक्त देवीभक्तोंके विशुद्ध सात्विक मन हैं। इसीलिये शास्त्रोमे इन्हे सुमन कहा गया है। आगम-शास्त्रीय तन्त्रोपासनाके अनेक विद्वज्जन ही ये पुष्प हैं, इनमे ही तो महादेवी श्रीविद्या स्फुटित रहती है। ये पुष्प बने तन्त्र-विद्याके महासाधक पराभट्टारिका महादेवीके कण्ठविग्रहको श्रीमद्वाग्भवकूट मन्त्ररूपमे साक्षात्कारकर सदैव उससे संलग्न रहते हैं। महामंत्रके मध्यकूट स्वरूपकी अखण्ड जपसिद्धिसे ये महादेवीके कण्ठाध-कटिपर्यंत विग्रहका साक्षात्कार करते है तथा महामंत्रके शक्तिकूटके निरन्तर जपसे ये उनके कटिसे अधोभागका साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार ये वनमाला बने मूलमंत्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा भगवतीका साक्षात्कार किये उससे सर्वाङ्गोंसे संलग्न रहते हैं। जो पराभट्टारिका महादेवी सर्वनियमातीत हैं, सर्वबन्धनविनिर्मुक्त सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं, वे भी मूलमन्त्रके साक्षात्कार किये इन कुसुम बने तंत्राचार्योंके सदैव भक्त्याधीन रहती हैं।'

'ओह ! जगन्माताका रङ्गबिरङ्गे रत्नोंसे दमकते माणिक्य-मुकुटकी शोभा तो सर्वोपरि ही है। तभी न, महादेवीने इसे अपना शिरोभूषण बनाया है। इस माणिक्य-मुकुटकी अरुण शोभाराशि अपनी छवि-झकोरोंसे जगन्माताके मुखमण्डलपर विलक्षण दमक उत्पन्न कर रही है। कोई उपमा देनेवाला कवि यदि अथक प्रयास करेगा तो इसे देखकर इतना ही कह पावेगा, मानो कुन्दनद्युति सुमेरुके शिखरपर असख्य बालरवि शयन कर रहे हों। और इस मुकुटका एक विशाल शोभाशाली रत्नललाटके मध्यभागमे ऐसी तेज-वर्षा कर रहा है मानो भगवतीके मस्तकपर स्वय सूर्यदेव ही अपनी मध्याह्नकालीन छटा बिखेर रहे हों। और इस रत्नके ठीक नीचे भगवती महादेवीका तृतीय नेत्र विलक्षण नीलद्युति प्रकाश कर रहा है, और इसकी विचित्रता ऐसी अनोखी है कि पलक झपकते ही यह केसरवर्णी और फिर कुमकुमवर्णी होकर जगन्माताके ललाटकी शोभाराशिमें विलीन हो जाता है। भगवतीका शृङ्गार करनेवाली सेविकाएँ इसे सबके सम्मुख प्रकट करनेके निमित्तसे इसके चतुर्दिक् अनमोल लघु-लघु मुक्ताओका, कभी माणिक्य, पुखराज, नीलमणि, आदि रत्नोंका शृङ्गार करती हैं, तब भी यह नेत्र किसी भगवतीके कृपापात्र अधिकारीको ही परिलक्षित होता है।

भगवती महादेवीके अङ्गोंका सर्वाधिक सौन्दर्य उनके कपोलोंमें ही निहित है। भगवतीके ललाटपर जो कस्तूरीकी खौर है, एवं शृङ्गार करनेवाली सेविकाएँ उस खौरपर जो उत्तमोत्तम पत्रावलियोकी रचना करती हैं, यह अतिशय कलापूर्ण पत्रावलि-रचना ललाटको शृङ्गारित करती कपोलोंके शृङ्गारके पश्चात् ही पर्यवसित होती है। भगवती पराभट्टारिका महादेवीके नव-किसलयके समान सुकोमल दोनो कानोंमें विजडित कुण्डल इस पत्रावलि-रचनाको अपनी समुज्वल रत्नज्योतिसे दमकाते रहते हैं।

ओह ! भगवतीके आननमें कर्णविलम्बी जो दीर्घ कमलोंके समान सुन्दर दो नेत्र हैं, उनकी शोभा सर्वोपरि है। ये नेत्र खञ्जन पक्षीके समान अति चञ्चल है और भगवान् कामेश्वरके निराविल निर्गुण विलक्षण आत्म-सौन्दर्यका पानकर ज्ञानाह्लादमें छके रहते हैं। जगन्माताके नेत्रोंका जो श्वेत भाग है,उसे ईषत् लालिमा उसे सदैव आवृत किये रहती है। यह लालिमा सत्वभूमिमें रजस्का आवेश है। यह लालिमा जगन्माताकी इच्छाशक्तिकी द्योतक है, जो उनकी सत्वभूमिको आवृत किये रहती है। जगन्माताके नेत्रोंमें जो कृष्णांश है, वही महाक्रियाशक्ति है। महादेवी सर्वगुण-निकेतन हैं। समग्र गुणोका दान विश्वको उनकी दृष्टिसे ही होता है। उनके नेत्रोंके उन्मेषसे विश्व उत्पन्न होता है, और निमेषमें वह उन नेत्रोंमे ही लीन हो जाता है। इसीलिये शास्त्रोंने उनके अनेक नामोमें एक नाम ***'उन्मेषनिमिषोत्पन्नविपन्नभुवनावली'*** भी रखा है। भाग्यवान् द्रष्टाको महादेवी पराभट्टारिकाके दर्शनोसे ऐसा अनुभव होता है – मानो भगवतीके मुखमे जो दतपङ्क्तिकी छटा है, वह विशुद्ध सत्वका प्रकाश है। उनके अधरोंकी लालिमा ही विश्वविमोहिनी माया है। यह महामाया सर्वविजयिनी है। महादेवीके नाकमे जो बेसर है, विश्व का अनन्त सौन्दर्य उसीसे उद्भव होता है, और उसीमे निलीन रहता है। यह सौन्दर्य प्रतिक्षण उनके अधरोंको अनुरञ्जित करता रहता है।

द्रष्टा देखकर चकित होता है कि महादेवीके परम सुन्दर कण्ठको महादेव कामेश्वर रुद्राक्षरूप अपने नेत्रोंमे ही बाँधे रखते हैं।

दर्शनानन्दमें डूबे द्रष्टाको शनैः-शनैः अपना स्वरूप ही विस्मृत होने लगता है। वह अनुभव करता है – उसके दाहिने कानमें अनन्त प्रकाशरूप आनन्द भरता जा रहा है, उसके बायें कानमें अनन्त विमर्शरूप आनन्द समाहित होता जा रहा है, उसकी जिह्वारूप रध्रमे अनन्तानन्द भरता जा रहा है। उसके दाहिने नेत्रमे भगवती महादेवीके अङ्गोंसे ज्ञानानन्द लबालब हो रहा है, उसके वाम नेत्रमें भगवती महादेवी सत्यरूप आनन्द परिपूरित कर रही हैं। उसकी दाहिनी नाकमें महादेवी अपना पूर्ण साम्य स्वभाव भर रही हैं। उसकी बायीं नाकमें महादेवी अपनी समस्त प्रतिभा उँडेल रही हैं, उसके पायुरूप छिद्रसे वह सहजानन्दमयतामें सराबोर हो रहा है।

उसका देह ही उसे श्रीचक्रराज रूप भगवतीका आवास दृष्टिगोचर होता है। उसे अपने मांसादि अवयव महावाराही भागवतीशक्ति दृष्टिगोचर होने लगते हैं। साथ ही अपने अस्थि आदि अवयव बलिदेवता कुरुकुल्लाके रूपमें अनुभूत होने लगते हैं।

वह महाभाग्यवान् द्रष्टा देवीरूप हुआ जगतको महादेवीके रूपमें देखता उनके श्रीचरणोंमें पुष्पार्पण कर देता है। उसके नेत्र भक्तिभावमे भरे अश्रुओसे छलके होते हैं और वह यंत्रचालित-सा महादेवीके चरणोमे अपनेको समर्पित कर देता है। वृषभानुपुरमें किसीको भी पता नहीं कि ये महादेवी कबसे यहाँ सुस्थापित हैं।

जब द्रष्टा महादेवीके श्रीचरणोमें अपनेको पूर्णतया समर्पित कर देता है तो उसे अपने भविष्य जीवनकी सभी ग्रन्थियाँ सुलझी दृष्टिगोचर होती हैं। उसे अपना लोक-व्यवहार, परमार्थपथ एवं अपना भूत-भविष्य सब भगवती द्वारा मात्र नियंत्रित अनुभव होता है। उसे यह स्पष्ट समझ हो जाती है कि वह व्यष्टि ही नहीं, समस्त भूत-समुदायरूपा प्रकृति ही भगवती महादेवीकी महाइच्छाशक्तिसे नियन्त्रित चल रही है। अतः वह पूर्ण समाधानमें डूब जाता है। उसे अपने अग्रिम कर्तव्योंका ठीक अनुभव हो जाता है और मन्दिर-परिसरसे वह पूर्णतया सतुष्ट लौटता है।

युवराज रूप में ही जब थे वे वर्तमान राजा, प्रियतम !
महर्षितुल्य पितृचरणों की ले अनुमति ली थी इनने, प्रियतम।
अपने ऊपर सँभाल पूरी देवी की सेवा की, प्रियतम।
उसके पहले भूदेवों के द्वारा अर्चन होता, प्रियतम ।।२९।।

**वर्तमान राजा जब युवराज पदपर प्रतिष्ठित थे, उस समय ही वे अपने ऋषितुल्य पिताके श्रीचरणोंमें जाकर उपस्थित हुए थे और उन्होंने महादेवीकी सम्पूर्ण सेवाका भार - सेवाकी सार-सँभालकी व्यवस्थाका भार पितृचरणोंकी अनुमतिसे ही अपने ऊपर ले लिया था। उसके पहले ब्राह्मणोंके द्वारा महादेवीकी अर्चना होती थी।।२९।।**

श्रद्धापूरित मनसे यद्यपि युवराज पूछते थे प्रियतम।
भूदेवों से कुलदेवी का इतिवृत्त पुराना, हे प्रियतम।
हँसकर पर वे कह देते थे, 'हे वत्स बाट देखो, प्रियतम।
ये जगजननी बतलायेंगी जो बतलाना होगा, प्रियतम।।३०।।

**युवराज श्रद्धापूरित मनसे उन भूदेवोंके पास जाकर उनके श्रीमुखसे महादेवीका पुराना इतिवृत्त सुनना चाहते थे। पर वे भूदेव हँसकर केवल इतना ही कह देते-'वत्स ! तुम प्रतीक्षा करो, ये जगन्माता स्वयं ही जो बतलाना होगा, तुम्हें बतला देंगी।'।।३०।।**

फिर सभी व्यवस्था सेवाकी क्रमशः भूदेवों ने, प्रियतम।
अतिशय विनम्र युवराज कुशल मतिमान धीरमना हो, प्रियतम।
को सौंप, और मङ्गलमय कर सिरपर रखकर उसके, प्रियतम।
'तेरी जय हो!' कहकर सहसा अन्तर्हित सभी हुए, प्रियतम।।३१।।

**इसके अनन्तर युवराजको अत्यन्त विनम्र देखकर, बड़ा ही धैर्यवान्, चतुर एवं बुद्धिमान् अनुभव करके महादेवीकी सेवाकी सम्पूर्ण व्यवस्था उनको ही धीरे-धीरे ब्राह्मणदेवताओंने सौंप दी। और एक दिन अचानक अपना परम मङ्गलमय दक्षिण हस्त युवराजके सिरपर रखते हुए 'तेरी जय हो !' - यह कहकर वे सब-के-सब देखते-ही-देखते अन्तर्धान हो गये।।३१।।**

## जिज्ञासा

**जिन भूदेवोंके द्वारा युवराज वृषभानुजीको महादेवीकी सेवाकी पूरी सँभाल सौंपी गयी, कृपया वे भूदेव कौन थे, उनका किञ्चित् परिचय देनेकी कृपा करें।**

## समाधान

यह पूर्वतः निवेदित किया जा चुका है, कि वृषभानुकुलमें श्रीविद्याक्रमकी उपासना एवं भगवती महादेवी पराभट्टारिका त्रिपुरसुन्दरीकी प्रतिमा – दोनो ही भगवान् सूर्यदेवकी कृपाका फल था। भगवान् सूर्यदेव भगवती महादेवीकी उपासनाके द्वादश आचार्योंमें एक हैं। अतः उन्होंने ही इस कुलमें सूर्यविद्याकी स्थापना की थी। इसीलिये इस महासिद्ध पूर्ण जागृत् चिन्मयी प्रतिमाकी पूजा-अर्चना करानेके लिये भी सूर्यलोकसे ही आचार्य सिद्ध तेजस्वी ब्राह्मण भूदेव अवतरित हुए थे। ये सिद्ध ब्राह्मण भी इस चिन्मय प्रतिमाके समान ही अप्राकृत देहधारी थे। इन सिद्ध ब्राह्मणोंने ही महर्षि भागुरिको योग्य अधिकारी मानकर सूर्यविद्याका दान दिया था और वृषभानुकुलका पौरोहित्य- पद दिया था।

युवराज वृषभानुको इन अप्राकृत देहधारी भूदेवों द्वारा ही शिवरात्रि'की पावन महानिशामे सूर्यविद्याकी दीक्षा दी गयी थी, और इन परम दिव्य सिद्ध भूदेवो द्वारा ही उन्हे समग्र आगम-शास्त्रीय पूजा-विधान पढाया और समझाया गया था एवं उनसे भगवतीकी पूरी सेवा-पूजाकी विधिका जागरूकतासे पालन कराया गया था। ज्योही युवराज वृषभानु एवं उनकी सहधर्मिणी कीर्तिदा महारानी इस पूजाक्रममे पारङ्गत हो गयीं, त्योंही उन्हें हरिशयनी-निशासे इन भूदेवों द्वारा ही अर्चनक्रमकी दीक्षा देकर उनसे अर्चन कराया गया था।

जब युवराज वृषभानु जिज्ञासावश इन तेजस्वी सिद्ध आचार्योके आगम-शास्त्रीय अनोखे ज्ञानसे हतप्रभ हुए उनसे उनके कुल-गोत्रका परिचय पूछने लगते थे एव साथ ही स्वय महादेवी भगवतीके विग्रहकी वृषभानुकुलमें स्थापनाकी तिथि एव परम्परा भी जिज्ञासु होकर पूछने लगते थे, तो उसके उत्तरमें ये भूदेव उन्हे यही कह देते थे कि 'वत्स ! प्रतीक्षा करो, उपयुक्त समय आनेपर भगवती पराभट्टारिका ही हमारा सभीका एवं स्वय अपना भी परिचय तुम्हे पूरा खोलकर समझा देंगी।'

वस्तुत इष्ट, मंत्रदाता गुरु एव मन्त्र-साधना – आगम-शास्त्रमे ये तीन पृथक् सत्ताएँ है ही नहीं। इसीलिये गुरुस्वरूप इन भूदेवोने जैसे ही युवराजको महादेवीकी रहस्यपूजाकी सब व्यवस्थामें पारङ्गत किया, वे अपना परम मङ्गलमय वरद दक्षिणहस्त युवराजके सिरपर रखते हुए एव 'तेरी जय हो !' का आशीर्वाद-दान करते हुए उनके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये।

यह सिद्ध करता है कि गुरु-शिष्य दो पृथक् सत्ताऐं तभीतक रहती है, जबतक शिष्य इष्ट- साधनाकी समग्र विधाओमें पारङ्गत नहीं हो जाता है। ज्यों ही उसे महादेवीकी अर्चनाके सब रहस्य ज्ञात होते हैं, गुरु मुक्त हो जाता है और वस्तुत. शिष्यमे ही समाहित, लीन हो जाता है। शिष्य जैसे ही गुरुसे एकाकार हुआ, वह इष्टसे भी एकात्म होने लगता है। यह इष्टसे एकात्मता ही परमसिद्धि है। इस महासिद्धिको उपलब्ध हुए साधककी सफलता इसीमें है कि इष्ट भी उससे एकाकार हो जाय और फिर इष्टकी पृथक् सत्ता भी उससे एकमेक हो जाय। बस, उस अवस्थामें एकमेव अद्वितीय उपास्य-ही-उपास्य रह जाता है, उपासककी सत्ता उपास्यमे किंवा उपास्यकी सत्ता उपासकमें पूर्णतया आत्मसात् हो जाती है। प्रथमतया गुरु शिष्यमे लीन होता है और तब इष्ट भी उपासकसे एक हो जाता है। शेष कुछ नहीं बचता, मात्र एक अनिर्वचनीय नित्य चिन्मय सत्ता ही शेषी, शेष सब कुछ हो जाती है।

आगम-शास्त्रीय इस परम सत्यका सङ्केत करते हुए ही ये चिन्मय सिद्ध गुरुस्वरूप भूदेव वृषभानुजीको हँसकर इतना ही कहते है कि 'वत्स ! धैर्य रखो, प्रतीक्षा करो, ये जगज्जननी स्वयं ही तुम्हारी समग्र द्वैत-जिज्ञासाएँ उपासनाकी सिद्धि होनेपर शान्त कर देगी, तब तुम अपने भीतर हमको, जगन्माताको, और जगन्माताके समग्र लीला-विधानको एकात्म हुआ देखोगे। उसी समय तुम समझ पाओगे कि जगन्माताका प्रादुर्भाव कालान्तर्गत कभी होता ही नहीं है। वे अनादि, कालातीत कृपामयी है। तुम्हारा कुल भी महादेवीका ही कुल है, अतः यह कुल भी महादेवीका स्वरूपभूत ही है। न तो महादेवीसे पृथक् तुम हो, न ही तुम्हारा कुल है, न हम हैं, न ही ये महादेवी जिस प्रकार तुम्हे दृष्टिगोचर हो रही हैं, वैसी हैं। इनका अनिर्वचनीय, अचिन्त्य प्रकाश यथाकाल जब उपासनाद्वारा परिशुद्ध हुई तुम्हारी बुद्धि ग्रहण करने योग्य होगी, तभी ये सभी रहस्य तुम अवगत कर सकोगे।

तब से हो गये वर्ष सत्तर, नौ मास और दिन दो, प्रियतम।
अविराम भाव संचालित हुए, तपने जो थी आर्चा, प्रियतम।
सम्बोधन 'सहधर्मिणि' का भी अक्षरशः सत्य बना, प्रियतम।
नागों के जीवन में भी है तुलना न कहीं जिसकी, प्रियतम ॥३२॥

उस दिनसे आज सत्तर वर्ष, नौ महीना, दो दिन हो चुके हैं। भाव-संवलित हुए वर्त्तमान महाराजने अविराम महादेवीकी अर्चना की है। साथ ही 'सहधर्मिणी' शब्दकी गरिमाके अनुरूप महारानीने जीवनमें अक्षरशः उनका ऐसा साथ दिया जिसकी तुलना ढूँढनेपर कहीं भी नहीं मिलती।।३२।।

अब पुनः वही हरिशयनी की रजनी थी उजियारी, प्रियतम।
सर्वथा निरभ्र गगन था, सब हँसते-से थे तारे, प्रियतम!
अन्तःसत्त्वा थी रानी फिर मन्त्री की पत्नी भी, प्रियतम।
थीं हुई त्रिपुरसुन्दरी तुष्ट बहुकाल-अर्चना से, प्रियतम ।।३३।।

अब पुनः हरिशयनीकी शुक्ला रजनी आयी थी। आकाश सर्वथा निरभ्र था। सभी तारे हँस रहे थे। महारानी अन्तःसत्त्वा हो चुकी थीं। उस ओर मन्त्रीकी पत्नी भी उपने उदरमें संतति लिये मङ्गलवेलाकी प्रतीक्षा कर रही थीं - महात्रिपुरसुन्दरी उपर्युक्त दीर्घकालकी अर्चनासे प्रसन्न हो चुकी थीं।।३३।।

नौ मास और कुछ दिन पहले इस देवशयन से ही, प्रियतम!
प्रत्यक्ष महादेवी का था दर्शन-सौभाग्य मिला, प्रियतम!
रानी को, फिर समान शीला मन्त्री की दारा को, प्रियतम!
थीं हँसी महामाया एवं कह गयी स्वयं यह थीं, प्रियतम ।।३४।।

इस देवशयनी एकादशीसे नौ मास और कुछ दिन पहलेकी घटना है - महारानीको एवं समानशीला मन्त्री-पत्नीको महादेवीके प्रत्यक्ष दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय महामाया हँस पड़ी थी। वे स्वयं यह बात कह गयी थीं -।।३४।।

'आये वह राजपुत्र, इससे पहले गृह मन्त्री का'; प्रियतम!
'मेरी क्रीड़ा की भूमि बने, आरम्भ करूँ मैं ही'; प्रियतम।
'जो प्रथम कृत्य रङ्गस्थल का है नटी किया करती'; प्रियतम!
'फिर हो लीला, होती है जो चिन्मयी कदाचित् ही'; प्रियतम ।।३५।।

'पुत्रियों ! सुनो, वह राजपुत्र आये, इससे पहले राजमन्त्रीका भवन मेरी क्रीड़ाकी भूमि बने भला ! मैं यह चाह रही हूँ। और स्वयं मैं ही रङ्गस्थलके उस प्रथम कृत्यका आरंभ करूँ, जिसे नटी किया करती है। फिर ऐसी चिन्मयी लीला हो, जैसी कालके प्रवाहमें कदाचित् ही होती है। अस्तु,।।३५।।

## जिज्ञासा

कृपया स्पष्ट करें छन्द संख्या ३५ में वर्णित राजमंत्री कौन हैं ? उसके गृहको भगवती महादेवी राजपुत्रके आनेके पूर्व ही अपनी क्रीड़ाकी भूमि क्यों बनाने जा रहीं हैं ? लीलामहाशक्ति महादेवी अपने रङ्गस्थलका प्रथम कृत्य नटीकी तरह वृषभानुगृहको छोड़कर अन्यत्र निष्पादित क्यों कर रही हैं ? इन सभी रहस्योंका कृपया खुलासा करें।

## समाधान

यह ध्यान रहे कि रावलनरेश महाराजा विन्दुके गृहमे कीर्त्तिदा एव कीर्त्तिमती -- दोनों ही कन्याओंका प्राकट्य यज्ञाग्निसे हुआ था। ये दोनो अयोनिजा सन्ताने थीं। महाराजा विन्दुगोपकी ये दोनों ही कन्या-सन्तानें वस्तुतः परमातिपरम सच्चिन्मयी थीं। इन दोनों कन्याओमें शिशुकालसे ही परस्पर इतना अधिक काया-छायावत् प्रेम था कि महाराज विन्दुने इनका पाणिग्रहण-संस्कार वृषभानुपुरमे एक ही स्थानपर करनेका निश्चय किया। इन दोनों कन्याओंके प्राकट्यका रहस्य गोपेश नन्दराय समुचितरूपमे जानते थे, अतः बडी कन्या कीर्त्तिदाका पाणिग्रहण-संस्कार तो वृषभानुपुर युवराज वृषभानुजीसे उन्होने ही निश्चय कर दिया एव दूसरी कन्या कीर्त्तिमतीका भी विवाह वृषभानुके छोटे भाईके समान ही परम मित्र एव राज्यमे सचिव पदपर आसीन कुशगोपसे कर दिया गया। वृषभानुपुर-युवराज वृषभानुजी एवं कुश(सत्यभानु) गोपमे इतनी प्रगाढ मैत्री थी कि वृषभानुपुरवासी इन दोनोका नामकरण लव-कुश ही कर चुके थे। कुश (सत्यभानु) गोप यथानाम-तथास्वभाव ही थे। रावलनरेशकी दोनो पुत्रियोको एक ही स्थानपर विवाहित करनेके पीछे भी मुख्य इच्छा यही रही कि छोटी पुत्री यथासाध्य छायाकी तरह रहकर अपनी बडी बहिनके गृहकार्यको भी निर्वाह कर लेगी। उनके पवित्रतम तपस्यापूत अन्तर्मनने पूर्वत ही परिकल्पना करली थी कि कीर्त्तिदाका भविष्य-जीवन असाधारण साधिकाका होगा। उसे अपना राज्य एवं गृहस्थ सँभालनेके लिये एक प्राणोपम सहयोगिनीकी आवश्यकता रहेगी।

रावलनरेश महाराजा विन्दुने जैसा सोचा था, वही हुआ। प्रारब्ध ऐसा ही घटित हुआ कि कीर्त्तिदाके पाणिग्रहण-संस्कारके सम्पन्न होते ही प्रथम मिलनरात्रि – सुहागरातमे ही दोनो वर-वधूने अपनेको भगवती पराभट्टारिका महामाया त्रिपुरसुन्दरी, जो उनकी राज्य-कुलदेवी थीं, के ही चरणोंमें समर्पित कर दिया और अनवरत सत्तर वर्षतक वे दोनो दम्पति रात्रि-दिवस बिना व्यवधानके केवल माताकी उपासनामे ही लीन हो गये। उन्होने प्रथम मिलनके समय ही प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक भगवती महादेवी स्वय प्रकट होकर पुत्र उत्पन्न करनेका आदेश नहीं देगी तबतक पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रतका ही पालन करते हुए दोनो उनकी उपासनामे ही पूर्णकाल लीन रहेंगे एवं पूर्ण सदाचारी तपस्वी-जीवन व्यतीत करेगे। अपने जीजा एव जीजीके ही पवित्र जीवनका अनुकरण करती हुई छोटी बहिन कीर्त्तिमतीने भी अपने पतिके सहयोगसे यथाराजा-तथाप्रजाके नियमका पालन करते हुए अपना जीवन अपनी बडी बहिन कीर्त्तिदा एवं जीजा वृषभानुजीके पदचिह्नोंपर ही ढालनेका व्रत ले लिया। वृषभानुजी अपने राजकाजका सारा भार अपने मित्र कुश (सत्यभानु), जो उनके सचिव भी थे, पर छोड भगवती महादेवीकी अर्चनामे आठों पहर सलग्न हो गये थे, एव अ.सौ.कीर्त्तिदा भी सच्ची सहधर्मिणीका व्रत-निर्वाह करती उन्हींकी सहयोगिनी हो गयी थी, तब अपनी बडी बहिनके गृहस्थोचित सारे दायित्वोका निर्वाह कीर्त्तिमतीको ही करने होते थे। वृषभानुपुरमें महाराजा महीभानु और महारानी सुषमाकी सेवा-सुश्रूषा, राज्यमे समागत अतिथिगणोका यथोचित सेवा-सत्कार, राजमहलकी सारी व्यवस्था कीर्त्तिदाके उपासनामे लग जानेसे कीर्त्तिमतीको ही निर्वाह करने होते थे। बहिन कीर्त्तिमतीकी अपनी बडी बहिनसे निस्वार्थ एकात्मता और उसकी सेवाभावना इतनी जीवन्त थी कि भगवती महादेवी, ज्योही सत्तर वर्षकी अनवरत उपासनाके पश्चात् महारानी कीर्त्तिदाको दर्शन देनेके लिये प्रकट हुई, उन्हें महारानी कीर्त्तिदाकी छोटी बहिन कीर्त्तिमतीको भी बिना किसी अर्चना-उपासनाके ही मात्र सेवा करनेके फलस्वरूप साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देने पडे।

सच्ची सेवाका यही माहात्म्य है। कीर्त्तिमतीकी अपनी कीर्त्तिदाके प्रति सच्ची पूर्ण समर्पण- वृत्ति थी, जिसके फलस्वरूप ज्योंही महारानी कीर्त्तिदाको भगवती पराम्बाके साक्षात् दर्शन हुए, ठीक उसी समय समानशीला – मंत्री कुश (सत्यभानु) की पत्नी कीर्त्तिमतीको भी उनके प्रत्यक्ष दर्शनोका सौभाग्य मिला। उस दर्शनके समय महायोगमाया लीलामहाशक्ति पराम्बा हँस पडीं। वे स्वयं अपने मुखसे दोनों भगिनियोको सम्बोधितकर उक्त सन्देश कह गयीं -'पुत्रियों

! सुनो ! वह राजपुत्र (श्रीदाम) जन्म ले, इससे पहले सत्यभानु (कुशगोप) का भवन मेरी बालक्रीड़ाकी भूमि बनेगा। मैं यह चाह रही हूँ कि स्वयं मैं ही रङ्गस्थलीके उस प्रथम कृत्यका प्रारंभ करूँ, जिसे नटी सूत्रधारिणीके रूपमें किया करती है। फिर ऐसी चिन्मय रसमयी लीला हो, जैसी कालके प्रवाहमे कदाचित् ही होती है।'

## जिज्ञासा

**यहाँ एक जिज्ञासा है कि अखिलभुवनेश्वरी स्वयं जगन्माता ही जब एक गोपके घर साधारण गोपकन्या कुन्दवल्ली बनकर जन्म लेती हैं, उनकी विवाह-लीला श्रीकृष्णके बड़े भाई एवं सखा उपनन्द-पुत्र सुबलके साथ सम्पन्न होती है, तब उनका अदम्य तेज, जिसके सम्मुख सभी इन्द्रादि देवगण नतमस्तक रहते हैं, उनका दुर्धर्ष बल, जिसके सम्मुख महाबली असुर-अधिपति भी कीटकी भाँति कॉपने लगते हैं, उनकी वह कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् सामर्थ्य कहाँ एवं क्यों लुप्त हो जाती है – इसका क्या रहस्य है ?**

## समाधान

यह सदैव ध्यान रहे कि यह ब्रजराज्य ऐश्वर्य-प्रकाश-भूमि नहीं है, यह प्रीति-प्रकाश-भूमि है। यहाँ भगवल्लीला ऐश्वर्यमयी नहीं होकर, निरतिशय प्रेममयी है। जैसे समुद्रकी तरङ्गें समुद्रका ही विलास होती है, वैसे ही सच्चिदानन्दमयी जगज्जननीका भी प्रकाश यहाँ ऐश्वर्यरूपमें नहीं हो पाता। यहाँ तो प्रेम-घन-सिन्धु ही सर्वत्र लहराता है। अतः भगवती जगज्जननी महादेवी भी यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके लिये सुखदायिनी – उनकी लीलाकी सूत्रधारिणी होकर ही अवतरित होती हैं, ऐश्वर्यमयी होकर नहीं।

यहाँ यह नित्य ध्यान रखनेकी वस्तु है कि ब्रजराज्यकी प्रकट-लीलामें जितने भी लीला-सहचर हैं, चाहे वे वात्सल्यभाव-प्रधान हों, चाहे सख्य एवं मधुरभाव रखनेवाले हों, सभी जगज्जननी भगवती जगदम्बाके ही हृदयकी प्रेमनिधि हैं। सच्चिदानन्दघन-सिन्धु ब्रजकी लीला भगवतीके आनन्द-विलास, आनन्दोच्छलनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह भगवतीकी अचिन्त्य महिमा है कि वे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमलीलाकी पार्षद बनी उनको सुख देनेके हेतुसे अनन्त चेष्टामयी, अनन्त स्फुरणामयी हो उठती हैं।

ये महाऐश्वर्यमयी जगज्जननी ही राधा, ललिता, विशाखा, कुन्दवल्ली आदि असंख्य सखियाँ बनकर ठीक प्राकृत बालिकाओंकी तरह ही चेष्टा करती हैं। अप्राकृत पूर्ण चिदानन्दमयी जगन्माताका यह प्राकृतानुकरण देखनेमें अतिशय मनोहारी होता है। जिनके सङ्कल्पसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन एवं सहार, सञ्चालन होता है, उनकी प्राकृत लीलाको देखकर सर्वसाधारणको तो क्या, भगवतीके नित्य परिकर, उनके सम्प्रदायके आचार्य – दुर्वासादि भी भ्रमित, विमोहित हो उठते हैं; उन्हे संशय हो जाता है कि ये सर्वेश्वरी हैं या नहीं ? वे उनकी ही चरणोंकी शरण लेकर ही जब अप्राकृतकी प्राकृत लीलाका आस्वादन करते हैं, तभी उनके माधुर्यमें डूब पाते हैं। उन्हे महाशक्ति जगज्जननीकी भक्तवत्सलता, प्रेमाधीनताका तभी पता चलता है। अखिल ब्रह्माण्डकी पालनकर्त्री होकर भी वे महामाया अपने असीम अनन्त ऐश्वर्यका तनिक-सा भी प्रकाश न करके साधारण गोप-बालिकाएँ बनी कैसा मुग्ध खेल खेलती हैं, हँसती हैं, किलकती हैं, नाचती हैं, थिरकती हैं। वे आनन्दस्वरूपको ही आनन्दमे मत्त कर देती हैं, घनआनन्दमयमें आनन्दकी स्पृहा उत्पन्न कर देती हैं। अप्राकृतकी लीला अप्राकृत ही होती है, परन्तु देखनेमें प्राकृत-सी लगती है। यहाँ मायिक जड जगत् प्रवेश नहीं कर पाता, किन्तु वह अप्राकृत प्रतीतिमें सर्वथा जडकी ही भाँति दिखता है।

भगवती जगन्मातामें अनन्त शक्तियाँ निहित हैं, सभी एक-से-एक अपूर्व, बढकर है। उनके ऐश्वर्यकी कहीं कोई सीमा नहीं। अचिन्त्य ऐश्वर्य है उनका, किन्तु भगवतीकी महालीलाशक्ति एवं कृपाशक्ति सभी इतर शक्तियोंमें प्रधान होती हैं। भगवतीकी अन्य शक्तियाँ, चाहे वे कितनी ही असमोर्ध्व क्यों न हों, इन दोनों शक्तियोंके विरोधमें आत्मप्रकाश नहीं

कर सकतीं - यह नियम ही है। जहाँ ये दोनों शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं उस कालमे भगवतीकी सभी अन्य शक्तियाँ इनकी अनुगत होकर ही चलती हैं। भगवतीकी लीलाशक्तिकी इच्छासे उनकी सर्वज्ञताशक्ति एवं ऐश्वर्यशक्ति अवगुण्ठित हुई गोपनभावको ग्रहण कर लेती हैं , यही उनकी प्रेमाधीनता, लीलाधीनता है।

लीलामयीके लीलासिद्धान्तको समझनेके लिये लीलामयीके चरणोंकी शरण लेनी ही होती है, यही एकमात्र उपाय है। जो अपनी विद्या, शास्त्रज्ञान, पुरुषार्थजन्य तर्कशक्तिके बलपर भगवतीको समझना चाहे, वह कदापि नहीं समझ सकता है। भले ही वह अपनी मायिक बुद्धिसे भ्रमित होकर प्राकृत भाव करले। इसीलिये ब्रह्मा, इन्द्रादि देवताओंके भ्रमित होकर परितप्त होनेके अनेक उदाहरण मिलते हैं। जो अचिन्त्य महाशक्तिकी शरण लेते हैं, वे ही विपरीत धारणासे बच पाते हैं। अन्यथा संशयग्रस्त बुद्धि लीलामें रूपक, कल्पना, नाट्य, प्रक्षिप्तता आदि दोषोंको ग्रहण कर लेती हैं। भगवतीकी लीला अत्यन्त गुह्य है।

भगवती लीलामहाशक्ति आदिजननीका ऐश्वर्य तो सर्वत्र व्याप्त है ही, उसे देखनेके लिये प्रयासकी आवश्यकता ही कहाँ है ? जगज्जननी माँका माधुर्य अतिशय गोपनीय है। उसका प्रकाश उनकी कृपाके बिना किसीकी बुद्धिमें स्थिर हो, यह असंभव है। अनन्त ऐश्वर्यमयी माँका माधुर्य उनकी मुग्धतामें ही व्यक्त होता है। वे जब महान्-से-महान् होकर अल्पवयस्का राधा, ललिता, विशाखा, कुन्दवल्ली बनती हैं, श्रीकृष्ण बनकर घुटुरुन चलती हैं, पूर्णज्ञानकी एकछत्र अधीश्वरी महाविद्या होकर अज्ञ हो जाती हैं, गायोंको बछड़ोंको ढूँढने चलती हैं, मिलन एवं विरहकी लीला करती हैं, उसी समय उन महाशक्तिमें माधुर्यसिन्धु उच्छलित होने लगता है, उस माधुर्यसिन्धुमें एक-से-एक विलक्षण विविध तरङ्गें लहराने लगती हैं। तभी सारा विश्व परमानन्द-सुधासे आप्लावित हो जाता है।

यह त्रिजगन्माता आदिजगज्जननी महायोगमायाका विलक्षण विलास है कि वे माधुर्यकी कल्पलताएँ ब्रजकी गोपीरूपमें आत्मप्रकाश करती हैं, वे ही स्वयं श्रीकृष्णरूपमें कल्पवृक्ष बनकर अपनी ही स्वरूपाशक्तियोंको अपनेसे नित्य लिपटाये रखती हैं।

परस्पर विरुद्ध धर्मोंका युगपत् - एक ही समय साथ-साथ समावेश और समन्वय भगवती जगज्जननीका स्वाभाविक गुण है। जगज्जननी महायोगमायाशक्तिके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इस विरोधका समन्वय नहीं है। जगज्जननी अनन्त ऐश्वर्य-निकेतन होकर भी ललिता, राधा, कुन्दवल्ली के रूपमे मैया कीर्तिदासे, सीताभावमें अपनी सास कौशल्यासे, एक-एक वस्तु माँगती हैं। श्रीकृष्णरूपमें वे सर्वसद्गुणमयी अनन्त गुण-गण-निकेतन होकर भी चोरी करती हैं, अपनी ही स्वरूपाशक्ति राधाकी एक भङ्गिमा मात्रके दर्शनार्थ चञ्चल, आतुर हो जाती हैं।

यह विरुद्धधर्माश्रय ही भगवतीकी भगवत्ता है। इसको समझे बिना लीलामहाशक्तिकी लीलाओंका सामञ्जस्य नहीं हो सकता। लीलाकी माधुर्यराशिका आस्वादन संभव ही नहीं। उस अवस्थामें मात्र भगवतीके अचिन्त्य ऐश्वर्यका ज्ञान ही भले समझमें आवे। इस प्रकार भगवतीके पूर्ण स्वरूपज्ञानमें कमी रह जाती है।

ये लीलामहाशक्ति अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ही हैं जो परात्पर परब्रह्म निर्गुण निराकार निर्विशेष परमात्मतत्त्वको, जो स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, सब प्रकारसे वर्णविहीन है – उसे श्यामवर्ण, अरुणलोचन बनाकर लीलामञ्चपर उतार देती हैं ; जो ***'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'*** को दो हाथ, दो चरण, दो नेत्र, एक मुखवाला – क्षण-क्षण परमानन्द बढानेवाला बनाकर गौ चराने, वशी बजाने वन-वन भेज देती है। कोई समझेगा कि वह सच्चिदानन्दकन्द भगवान्को क्रोध करके मटका फुड़वानेका अभिनय कराती है, वह उनको अश्रुजल बहाता, रोता, मचलता दिखाकर कोई दम्भाचरण कराती है, छल कराती है – यह बात सर्वथा नहीं है। वह तो परात्पर परब्रह्मसे उसके आन्तरिक बाल्यभावकी मधुर अभिव्यक्ति कराती है। यह परात्पर परब्रह्मका आन्तरिक असली लीलाभाव प्रकट करती है। वह यशोदाके दूध उतारनेको चले जानेपर वस्तुतः एकान्तमें क्रोध करके दहीका मटका फोड़कर भाग जानेके विशुद्ध

बाल्य.चापल्यका दिग्दर्शन कराती है। यह मात्र नाट्य नहीं, विशुद्ध आन्तरिक वात्सल्यभावजन्य चापल्यका प्रकाश करती है।

रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी, लीलामाधुरी, मुसकानमाधुरी – यह परात्पर परब्रह्मकी बाह्य सज्जामात्र नहीं हैं, यह सब उसका आन्तरिक आनन्दोच्छलन है, जिसका लीलामहाशक्ति द्वारा केवल ब्रजप्रदेशमें ही प्राकट्य किया जाता है।

कीर्त्तिदा मैयाके तथा यशोदा मैयाके हृदयमें राधाकृष्णके सिवा कुछ रहता ही नहीं। उनके हृत्पटलपर बालराधाकृष्ण सदा भरपूर समाये रहते हैं। उनका हृत्पटल ही भावरस-आप्लावित है। इन पवित्र भावरसोद्रेकोंकी सृजन एव पालनकर्त्री तो भगवती अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ही हैं। इसी प्रकार मधुर शृङ्गारभावमें श्रीराधाके रूपमें ये भगवती लीलामहाशक्ति ही आह्लादिनी बनी महाभावोंका स्वयंमें अतिशय उद्दाम उच्छलन अवतरित करती हैं। अनन्त सौन्दर्य एवं रसोद्रेककी जब दोनोंमें होड लग जाती है तो सच्चिदानन्दकन्द रसराजमें महाभावसिन्धु उछलने लगता है, सच्चिदानन्दकन्दतत्वमे अनन्त रसैश्वर्य उमँडने लगता है। उस समय जब समग्र रसैश्वर्यको पूर्णतया पानकर भी महाभाव पुनः अतिशय सतृष्ण हो उठता है, तब रसराजको महाभावके सम्मुख हार ही माननी पडती है। यह भगवती लीलामहाशक्तिका ही चमत्कार है जो नित्यविजयी , विजयस्वरूपको पराजित होनेके लिये बाध्य कर देती है – यही भगवतीका अपूर्व सामर्थ्य है।

*उत्सव था आज नृपतिपुर में अवनीश भवन में भी, प्रियतम !*
*थी देर घड़ी आधी की ही होने में मध्यनिशा, प्रियतम !*
*नीराजन लिये खड़े नृप थे, रानी थीं पास खड़ी, प्रियतम !*
*थीं महात्रिपुरसुन्दरी अहो ! सचमुच अलसायी सी, प्रियतम ॥३६॥*

**आज उत्सव था राजपुरीमें। सम्पूर्ण राजभवन ही उत्सवके प्रवाहमें निमग्न हो चुका था। मध्य निशा होनेमें मात्र आधी घड़ीकी देर थी। हाथमें नीराजन लिये महाराज विराजित थे एवं महारानी उनके पास ही खड़ी थीं। अचानक अहो ! ऐसा लग रहा था, जैसे महात्रिपुरसुन्दरीकी आँखोंमें सचमुच आलस्य भरा हो।।३६।।**

## जिज्ञासा

**नीराजनके अवसरपर भगवती महादेवी महात्रिपुरसुन्दरीके नेत्रोंमें आलस्य भरा हो, ऐसा वृषभानुगेहिनी कीर्त्तिदाको क्यों अनुभव हुआ ? उस दिवस तो महादेवीके पूर्ण कृपापात्र वृषभानु महाराजकी अर्चन-साधनाके अवधिके सत्तर वर्ष पूर्ण हुए थे। जब योग्य साधक अपनी साधनामें खरा उत्तीर्ण हो, तो इष्टदेवीका उल्लसित होना चाहिये। महादेवी उस अवसरपर अलसायी दृष्टिगोचर हों, कृपया यह रहस्य खोलकर समझाइये।**

## समाधान

यह पूर्वतः ही कहा जा चुका है कि भविष्यमें ये महादेवी ही सम्पूर्ण प्रीतिलीलाके खेलका प्रारंभ करेंगी। भविष्यके वर्षोंमें घटनाक्रम इसी प्रकार घटित होना है। सर्वप्रथम ये भगवती स्वयं ही रङ्गमञ्चमें सूत्रधारिणीके रूपमें कुन्दवल्ली सखीके रूपमें प्रकट होने जा रही हैं। तत्पश्चात् मात्र सात दिवस पश्चात् ही राजपुत्रके रूपमें 'श्रीदाम' सखाका प्राकट्य - इनका ही वरदान प्रतिफलित हो रहा है। इसके बाद तेरह मास सत्रह दिवस पश्चात् शारदा नामकी कीर्त्तिदाकी मौसेरी बहिनके गृहमें कीर्त्तिदा एवं कीर्त्तिमतीके सम्मुख इन महादेवी भगवतीकी ही सच्चिन्मयी ज्योतिका प्रकाश सखी ललिताका रूप धारणकर बालिका बनकर क्रीड़ा करने जा रहा है, और सबको चकित करता है। पुनः सभीको अनुभव कराता है, कि मानो भगिनी शारदाने पुत्रीका प्रसव किया है। जन्मोचित सब-के-सब कर्म वैसे ही सम्पन्न होते हैं, जैसे

होने चाहियें। तत्पश्चात् भाद्रपद पूर्णिमातक महारानी कीर्त्तिदा अपनी मौसेरी बहिन शारदाके गृह उच्चग्राममें ही निवास करती हैं। प्रतिपदाके दिवस ही गुप्तचरोंसे समाचार आ जाता है कि संभावना है कि कल ही यह नगर मनुजाद राक्षसोंके आक्रमणसे नष्ट कर दिया जावेगा। महारानी सभी ग्रामवासियोंको लेकर वृषभानुपुर आ जाती हैं। महादेवी भगवतीको ही चमत्कारिक रूपसे इन सभीकी रक्षा करनी है। कीर्त्तिदा अपनी दोनों बहिनें - शारदा, कीर्त्तिमती एवं उनके सम्पूर्ण परिवार, यहाँतक कि सभी ग्रामवासियोंको लेकर सकुशल वृषभानुपुर पहुँच जाती हैं। दो घडी बीतते-न-बीतते सबको राजनगर दीखने लग जाता है और सभीको सीमापर ही अगवानी करते महाराज वृषभानु मङ्गल-कलश लिये दिख जाते हैं। पुनः भगवती महादेवीको ही अपनी विभुताका प्रकाश करना है और इन सभी नवीन आगन्तुकोंके लिये सुन्दर-से-सुन्दर पृथक्-पृथक् यथायोग्य आवासकी व्यवस्था करनी है। सभी ग्रामवासियोंको जो सुख-सुविधा अपने ग्राममें स्वप्नमें भी नहीं प्राप्त थी, वह यहाँ राजपुरीमें प्राप्त हो जाती है। वे अपने ग्रामके पुरातन जीवनको ही विस्मृत कर जाते हैं। ये सभी भविष्यकी घटनाएँ भगवती महादेवीको ही लीला-रङ्गमञ्चमें स्वयं ही पात्र, काल एव देश बनकर संघटित करनी हैं।

इसके पश्चात् शरद् बीतती है, हेमन्तकी सम्पूर्ण सुषमासे धरणी विभूषित हो उठती है। प्रातःकाल ही भगवतीको नये रङ्गस्थलकी सूचना महारानी कीर्त्तिदाको करनी है। कीर्त्तिदा महारानीको ठीक अनुभव होता है -'महादेवी सहसा हँस पड़ती हैं।' कीर्त्तिदा आश्चर्यसे अभिभूत हो उठती हैं। वे महान् आश्चर्यमें भरी देखती हैं कि भगवती महादेवीका उरस्थल द्वारकी तरह खुलने लगता है। उनका हृदयस्थ अञ्चल परदेकी तरह दायें-बायें सरकने लगता है। फिर महारानी कीर्त्तिदाको एक अत्यन्त मनोहारिणी अनिर्वचनीय सुन्दरी गौरवर्णा भोली-भाली छोटी बालिकाके दर्शन होते हैं। वह उनके अत्यन्त समीप आकर उनके कुन्तलोंकी एक लटको हाथमें लेकर मधुस्यन्दी स्वरोंमें अतिशय प्यारसे 'री मैया ! ' कहकर महारानीको प्रेम-मूर्च्छामें सराबोर कर देती है। तत्पश्चात् महारानी देखती हैं - एक परम रमणीय पुष्पित कदम्ब है, उसके नीचे एक नित्यकिशोरी एवं एक नित्यकिशोर विराजित हैं। और फिर त्रिभुवन-जननीका स्वर उन्हे सुनाई पडता है -'परम सती ! महारानी ! आज तू मेरे हृदयका प्रत्यक्ष दर्शन करले। जो असमोर्ध्व सच्चिदानन्दमयता एवं भगवत्ताका भी मूल तत्त्व – मधुरिमा है, वह नीली-पीली यह द्युति ही है। जानती हो महारानी ? यह नील-पीतमय मेरा नित्य हृदय है, जो दो रहकर भी नित्य एक है और एक होकर भी नित्य दो है। अभी-अभी यह नित्यकिशोरी ही तेरा दृग-विषय होकर तुझसे 'री मैया-!' कहकर बोली थी। यद्यपि ये सभी भविष्यकी बाते हैं, किन्तु तुझे पूर्वतः ही बतला दे रही हूँ। यह नित्यकिशोर सर्वप्रथम तेरी प्राणसखी गोपरानी यशोदाका जब दुग्धपान कर लेगा, तत्पश्चात् ही यह किशोरी तेरे पयोधरोंका दूध पीने आवेगी। यह नित्यकिशोर तेरी प्राणसखी यशोदाके प्राणोंमे समाया है, एवं यह नित्यकिशोरी तेरे प्राणोंमें।'

और इस भागवती सन्देश और दिव्य दर्शनके पश्चात् ही भगवती स्वयं ही गोपराज व्रजेन्द्र नन्दके गृहमें यशोदाके पुत्रके रूपमें अवतार लेती हैं। ये परमाद्या ही स्वयं ठीक पन्द्रह दिवस पश्चात् ही कीर्त्तिदाकी कोखसे 'श्रीराधा' रूपमें प्रकट होती हैं। इसके पश्चात् रसिकशेखर श्रीकृष्णके रूपमें वे स्वयं भगवती ही पुनः अपनी छायाको कीर्त्तिदा महारानीके घरमें स्थापित करनेकी इच्छाकर परम रसमयी साँवरी सखी मञ्जुश्यामाके रूपमे पुनः कीर्त्तिदाकी ही कोखसे जन्मग्रहण करती है। ये सभी भविष्यमें घटित होनेवाला घटनाक्रम है।

यह परम एवं अकाट्य सत्य है कि परिपूर्णतम परात्पर परतत्त्व परमात्माका आवरणरूपा मायामे जन्म कदापि संभव नहीं है। जो स्वय मायातीत, गुणातीत हैं, वे भला माया-बन्धनको क्यो स्वीकार करें ? किन्तु यह अघटन-घटना-पटीयसी भगवान्‌की आत्ममाया योगमाया महादेवी लीलामहाशक्तिका ही चमत्कार है कि वे घन सच्चिदानन्दकन्द अद्वय परतत्वको, साथ ही उसके घनीभूत आह्लाद-ह्लादात्मातत्वको परिस्फुट करनेके लिये एवं

उसका नित्य नवीन-नवीन रूपमे स्वय उसे ही आस्वादन करानेके लिये प्रेमविग्रहोके रूपमें प्रकट करती हैं। यही उनका लीला-रङ्गमञ्च है।

जहाँ आनन्द है, वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। यह भगवती लीलामहाशक्तिकी ही इच्छाशक्तिका चमत्कार है कि वे सबके ईक्षणकर्त्ता, अन्तर्यामी, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, पूर्णकाम, अजन्मा एवं अद्वय परमात्माको एक नहीं, अनेक , एक-से बढकर-एक, अद्वितीय, निरुपम, सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्यनिधि, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, अचिन्त्यशक्ति, आत्मारामगणाकर्षी रूपोंमें प्रकट कर देती हैं। जब स्वयं भगवान्को अपनी इस आत्ममाया अघटन-घटना-पटीयसी योगमायाशक्तिके महाइच्छा-प्रभावको स्वीकारकर अवतरित होना पड़ता है, तो ये स्वयं भगवती महामाया भी अपने संधिनी स्वरूपसे वृन्दावनधाम, अप्राकृतरूपमें सच्चिन्मय चर-अचर अनन्त जीव-समुदाय, अप्राकृत सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, गोप-गोपी, असख्य लीला-परिकर, गिरि-पर्वत, वन-उपवन, महल-मकान,यमुना, निर्झर, सर-सरोवर एवं सुरम्य रासस्थलियोंके रूपमे प्रकट हो जाती हैं। वे इन सबका सृजन, सवर्धन, पालन, निरीक्षण अपने ही संधिनीस्वरूप वृन्दादेवीके रूपमें करती हैं। वे स्वयं ही महामाया गैरिक वस्त्र धारणकर तपस्विनी पौर्णमासी बनकर सम्पूर्ण चौरासी कोसकी परिधिमें फैले अपने ही ब्रजधाममें त्रिकालज्ञ होकरके पूजित होती हैं और लीला-चक्रका चितिरूपमें प्रवर्त्तन करती हैं। वे स्वय ही अपनी ह्लादिनी शक्तिके रूपमें श्रीराधा होकर प्रकट होती हैं और अपने ह्लादिनी स्वरूपका महा-विस्तार अपने ही कायव्यूहरूप ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता आदि अष्ट सखियों और इनके यूथोकी असंख्य मञ्जरियों, दासियों, सखियोंके रूपमें करती हैं। वे स्वयं ही श्रीकृष्णके असख्य सखा मधुमङ्गल, सुबल, श्रीदाम, वरूथप , किङ्किणी, तोक, सुदाम आदि बनती हैं और लीलामञ्चका अनन्त विस्तार करती हैं।

जब ये भगवती जगज्जननी महादेवी इतना विशाल रङ्गमञ्च प्रारंभ करने जारही हैं और आज हरिशयिनी एकादशीके ही शुभ परम मङ्गल अवसरपर जब आदि पुरुष नारायण शयन करने जा रहे हैं, ये नारायणी सूत्रधारिणी बनकर प्रकट हो रही हैं।

इस अवसरपर यह स्वाभाविक ही है कि रङ्गमञ्चकी मुख्य सञ्चालिका थोडेसे समयके लिये विश्रामका मन बनालें। जिसे भविष्यमें प्रतिक्षण जागरूक रहकर खेलके नये-नये प्रसङ्ग प्रस्तुत करने हैं, एक-से-बढकर एक, अनोखे महाभावमय संवेगोंसे भरे घटनाक्रम निर्माण करने हैं, उनके बीज डालकर उन्हें पल्लवित-पुष्पित करने हैं और तब इतनी ऊँचाइयोंतक चिन्मयरसका उच्छलन करना है कि कल्पों-कल्पोंतक इस रस-आप्लावनका कहीं कोई आदि-अन्त भी नहीं खोज पावे, ऐसी अप्रतिम निरुपम लीलाको प्रारंभ करनेके पूर्व यदि प्रमुख लीलाविधात्री थोडा-सा विश्रामका मन बनाले, किञ्चित-्सी अलसा ले, कुछ पलोके लिये ही विश्राममें उस महाक्रियाशक्ति, इच्छाशक्तिके सजग उन्मीलित नेत्र आनन्द एवं विशुद्ध सत्वमय विश्राममें थोडेसे निमीलितसे होने लगें, यह परम स्वाभाविक ही है। इसी स्वाभाविकतावश ही उत्सवके मध्य भगवती महादेवीके नेत्रोंमें महारानीको आलस्यका भाव दिखता है।

दौड़ी आयी थी कहने यह दासी मन्दिर में ही, प्रियतम!
हैं प्रसव-वेदना-सी अनुभव कर रही सचिव-गृहणी, प्रियतम!
श्री-प्रतिमा के दृग-कमल अहो! क्षणभर के लिये हिले, प्रियतम!
सङ्केत मिला था रानी को जाने के लिये वहीं, प्रियतम।।३७।।

**ठीक उसी समय मन्दिरमें ही दौड़ी हुई दासी आ पहुँची थी। वह आते ही बोल पड़ी थी-'सचिवगृहिणी प्रसववेदनाका अनुभव कर रही हैं, भला !' तत्क्षण श्रीप्रतिमाकी आँखें भी क्षणभरके लिये हिल गयी थीं। स्पष्ट सङ्केत प्राप्त हो गया था महारानीको वहीं चले जानेका।।३७।।**

छूकर वे श्रीपद नख को थीं चल पड़ी तुरन्त तथा, प्रियतम !
पहुँची उस सदन कक्ष में थीं जैसे, बस, भान हुआ, प्रियतम !
है ज्योति अंशुमाली की सच फैली सर्वत्र वहाँ, प्रियतम !
दासीकी आँखें बन्द हुईं, भीतर वह जा न सकी, प्रियतम ।।३८।।

महारानी भी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीके चरणनख-चन्द्रको छूकर तुरन्त चल पड़ी थीं। जैसे ही वे उस सदनकक्षमें पहुँची कि उन्हें भान होने लगा - ओह ! यहाँ तो सचमुच सर्वत्र अंशुमालीकी ज्योति फैली हुई है। महारानीके पीछे-पीछे दासी भी लौट आयी थी। दासीकी आँखें तो ज्योतिकी चकाचौंधसे बन्द हो गयीं; वह तो भीतर जा नहीं सकी।।।३८।।

मीलितनयना ध्यानस्थ हुई मन्त्री की जाया की, प्रियतम !
गोदी में प्रगट जगन्माता हो गयी अचानक थीं, प्रियतम !
अप्रतिम सुन्दरी नवजाता कन्या का वेष लिये, प्रियतम !
केवल रानी ही देख सकीं अद्भुत उस घटना को, प्रियतम ।।३९।।

उस ओर मन्त्रीपत्नी मीलितनयना रहकर ध्यानस्थ-सी विराजित थी। देखते-न-देखते उसके अङ्कमें साक्षात् जगन्माता अचानक प्रकट हो गयीं। अहा ! कितना सुन्दर वेष था उनका उस समय ! अप्रतिम सुन्दरी नवजात कन्याका वेष धारण किये हुए वे थीं। किन्तु उस अद्भु त घटनाको केवल महारानी ही देख सकीं ।।३९।।

क्षणभर में फिर उसपर निर्मल आवरण एक आया, प्रियतम !
वे नाल आदि वस्तुएँ सभी निर्मित हो गयीं वहाँ, प्रियतम !
रो उठी बालिका भी वह अब इस भाँति उधर मानो, प्रियतम !
नारायण निद्रित हुए, इधर वे नारायणी जगीं, प्रियतम ।।४०।।

क्षण बीतते-न-बीतते उस बालिकापर एक निर्मल आवरणका आविर्भाव हो गया। और यह देखो, वे नाल आदि जन्मके समयकी सभी वस्तुएँ अपने आप प्रकट हो गयीं वहाँ। इतना ही नहीं, अब वह बालिका भी रो उठी - ठीक इस भाँति मानों उधर तो भगवान् नारायण निद्रित हो उठे, और इस ओर नारायणी जग उठी हों।।४०।।

कन्या के मुखमण्डल पर थी मोहनता श्री-सी ही, प्रियतम !
अङ्गों में भी वैसी ही थी दुःसह-सी प्रभा भरी, प्रियतम !
रोना उसका उस समय अहो ! श्रुति-मधुर तन्त्र रव था, प्रियतम !
दर्शक आनन्द विमूढ हुए, खिल उठी प्रकृति सारी, प्रियतम ।।४१।।

उस कन्याके मुखमण्डलपर श्रीदेवीकी भाँति मोहनता परिपूरित थी। सम्पूर्ण अङ्गोंमें भी ठीक-ठीक वैसे ही महादेवीका दुःसह तेज भी व्याप्त हो रहा था। वह रो अवश्य रही थी,पर अहो! उसका वह क्रन्दन मानो एक श्रुतिमधुर अद्भुत तन्त्ररव ही था। दर्शक पर्याप्त मात्रामें एकत्रित हो गये थे। आनन्दविमूढ हो गये थे वे सब-के-सब। प्रकृतिका सम्पूर्ण साम्राज्य ही खिल उठा था।।।४१।।

## जिज्ञासा

**कृपया सखी कुन्दवल्लीके चरित्रपर प्रकाश डालें। आपने श्रीराधामुख्या सभी सखियोंका-परिचय दिया है किन्तु वहाँ भी कुन्दवल्ली सखीका उल्लेख नहीं है।**

## *अथ श्रीकुन्दवल्ली चरित्रम्*

यह ब्रजमण्डल विलक्षण अप्राकृत प्रेमदेश है। यहाँके सभी नर-नारी, आबाल-वयोवृद्ध, पशु-पक्षी, यहाँतक कि चर-अचर कीट-पतङ्गतक सभी एक मात्र सच्चिन्मयी भगवतीके ही प्रकाश हैं। इस सच्चिन्मयतासे छलकते हुए भी ये सभी ह्लादिनीशक्तिसे पूर जुड़े होनेके कारण एवं उसके ही कायव्यूहरूप होनेसे एक मात्र ह्लादात्मा श्रीकृष्णके सुखसे सम्बद्ध हैं। सभी मात्र श्रीकृष्णकी रुचि-सम्पादनके लिये ही थिरक रहे हैं। वे खाते-पीते हैं – श्रीकृष्णके सुखके लिये, उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं – श्रीकृष्णके सुखके लिये; उनके प्राणोंका प्रत्येक स्पन्दन होता है, मात्र श्रीकृष्णके सुखकी साधनाके लिये ही । यही दशा निरे बालपनेसे कुन्दवल्लीकी भी है।

सखी कुन्दवल्ली कीर्त्तिदा मैयाकी छोटी बहिन कीर्त्तिमतीकी पुत्री है। वह अपने निरे शिशुपनेसे ही देखती आयी है कि उसकी माताकी गोदमें उसकी बडी मौसी महारानी कीर्त्तिदाकी सन्तानें, पहले श्रीदाम एवं तत्पश्चात् श्रीराधा, और तब साँवली सोहनी कन्या मञ्जुश्यामा सदासे ही पल्लवित होती रही है। कुन्दवल्लीने अपनेको कभी अपनी माताके पास एकाकिनी नहीं पाया है। उसने निरी शिशु अवस्थासे ही यही समझा है कि उसकी समान स्नेहशीला दो माताएँ हैं, एक कीर्त्तिदा और दूसरी कीर्त्तिमती। उसे सदैवसे ही अपनी माता कीर्त्तिमतीसे अधिक अपनी बड़ी मौसी महारानी कीर्त्तिदाका स्नेह मिला है। महारानी कीर्त्तिदा जब कभी भी अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीदामको दूध पिलाती होती हैं तो वह अपना दूसरा स्तन अवश्य ही कुन्दवल्लीके मुखमें दिये बिना नहीं रहतीं। इसी प्रकार कीत्तिमतीके स्तनोंपर भी श्रीदाम एवं उसका दोनोंका ही सदैवसे समान अधिकार रहा है। उसकी माँका एक स्तन वह पीती है, तो दूसरा स्तन श्रीदाम भैया पान करता है। समवयस्क जो हैं दोनों।

### *श्रीदाममें नीलशिशुका दर्शन*

उसके श्रीदाम भैयाके गोरे मुखकी शोभाकी प्रशंसा सम्पूर्ण ग्राममें सर्वत्र होती ही रहती है। किन्तु बहुत ही आश्चर्यकी बात है कि उसको श्रीदाम भैया कभी गोरे नहीं दिखते। उसे तो उस गोरेपनके भीतर एक अनुपम सुन्दर नीलज्योति भरी दृष्टिगोचर होती है। वह जब भी उस शोभाको निहारती है, निहारती ही रह जाती है। बन्धूकवर्ण अधरोंपर हास्य छटा बिखेरता, समस्त अङ्गोंको अलौकिक शोभासे नचाता, अपनी कृष्ण कुन्तल राशिमें मयुरपिच्छ खौंसे एक नवनीरदवर्ण बालक उसे सदैव अपने श्रीदाम भैयाके भीतर ओतप्रोत दिखता रहता है। वह बालक उसे इतना अधिक आकर्षक लगता है कि शिशु बाला कुन्दवल्ली एकटक श्रीदाम भैयाकी ओर ही निहारती रहती है। मौसी कीर्त्तिदा अनुभव करती है, मानो दोनों भाई-बहिनोंके अप्रतिम प्रेमका यह प्रकाश है। परन्तु तथ्य यह है कि कुन्दवल्लीको श्रीदाम श्रीदामके रूपमें दिखता ही नहीं है। हाँ, ऊपरी देह-कलेवर तो श्रीदाम भैयाका ही रहता है। परन्तु उसे सतत अनुभव होता है कि श्रीदामका गोरा कलेवर तो मात्र एक खोल है, उसके भीतर तो भरी है अप्रतिम शत-सहस्र सौन्दर्य-कालिन्दीकी कृष्णधारा। कुन्दवल्लीका स्तनपान उस नील सौन्दर्यपर दृष्टि पडते ही रुक जाता है। उसकी माता दुग्धपूरित स्तनकी कर्णिकाको बार-बार उसके मुखमें देती है, परन्तु दुग्धपानमें उसका मन संलग्न ही नहीं हो पाता। वह तो इस नील आभामय शिशुछविपर जो उसे भैया श्रीदाममें परिपूरित दिखती है, अपने कोटि-कोटि प्राण न्यौछावर कर देती है। उसकी कृष्णपूरित दृष्टिमें श्रीदाम भैयाका अस्तित्व ही विलीन हो जाता है।

प्रेमभ्रान्त कुन्दवल्ली इसी मानसिकताको लिये नवजात शिशु-अवस्था से बाल्यावस्थातक पहुँचती है। सर्वत्र उसके नेत्र इस नीलमणि बालकको ढूँढते रहते हैं। रसकी प्रबल लहरोंसे ढँकी उसकी नेत्रेन्द्रियाँ इस बालकके स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं खोज पातीं। बस, उसे वह अपने अग्रज श्रीदामके कलेवरमें ही भरा अनुभव करती रहती है।

कभी-कभी ऐसा अवश्य होता है, कि वह नील ज्योति उसके श्रीदाम भैयाके कलेवरको ही पूरा आत्मसात् कर लेती है। उस अवस्थामें उसे श्रीदाम दादा दिखने ही बन्द हो जाते हैं। उस समय वह कृष्ण सौन्दर्य इतना निरुपम होता है कि कुन्दवल्ली मुग्ध हुई अपने होश ही खो बैठती है। उसकी दृष्टि ही स्थिर हो जाती है। उस नील चिज्ज्योतिके अङ्ग-अङ्गपर। 'अहा ! उसकी नख-चन्द्रिकासे उद्भासित होने लगती हैं – नीलकमल सदृश उसकी हथेली एवं अँगुलियाँ। नूपुर आदि आभूषणोंसे उसके चरण पूर्णतया अलंकृत होते हैं। परम सुकोमल अँगुलियोंमे छोटे-छोटे अङ्गुलीयक दमक रहे होते हैं। कुन्दवल्लीके अति निकट वह घुटुरुन चलता आ जाता है। बिम्ब-विडम्बी अरुणिम अधरोंसे वह कुन्दवल्लीपर अपनी ऐसी मुसकान बिखेरता है कि कुन्दवल्ली स्वयंको अपने आसपासके समस्त परिवेशको ही विस्मृत कर जाती है। उस काल अवश्य उसके नेत्र स्थिर हो जाते हैं, और वह बाह्यज्ञानशून्य हो जाती है। यह उसकी दशा अधिकांशतया तभी होती है, जब वह कीर्तिदा महारानीके आसपास श्रीदाम भैयाके साथ खेल रही होती है। महारानी तो इसे उसकी मूर्च्छा ही समझती हैं और तब मैया एवं महारानी दोनों ही उसे मातृ-मन्दिरमे महादेवीके चरणोंमें उनकी परम मङ्गलमयी दृष्टिपथपर किसी सचल पालनेमें सुला देतीं हैं।

## *महादेवीकीकृपा*

महारानी एवं कीर्तिमती तो यही समझतीं कि किसी अमङ्गल ग्रहका प्रभाव है, अथवा किसी राक्षसी मायाका दृष्टिदोष हो गया है। किन्तु कुन्दवल्लीको जैसे ही मन्दिर-परिसरमे महादेवीके चरणप्रान्तमें डाला जाता है, हठात् उसके सामनेसे वह बालक तो लुप्त हो जाता, और सहस्रों सूर्योका एक साथ उदय हुआ हो, ऐसा प्रकाश फैल जाता है। वह प्रकाश इतना शीतल होता है मानो सहस्रों चन्द्रोंकी ज्योत्स्ना भी उसके सम्मुख नगण्य है। शिशु कुन्दवल्ली जैसे वय प्राप्त किशोरी हो जाती है। उसके हृदयके प्रीति-तन्तुद्वार उन्मुक्त हो जाते हैं। वह एक अतिशय दिव्य चिन्मय भावशरीरमें प्रविष्ट हो जाती है, तरुणी किशोरीके सभी चिह्न उसके शरीरमें व्यक्त हो उठते हैं। और वह उस नील चिज्ज्योतिको अपना सम्पूर्ण तन-मन-प्राण समर्पित कर देती है।

तत्क्षण ही दृश्य बदल जाता है। आकाशमें एक रत्नसार निर्मित विमान आ जाता है। दिव्यातिदिव्य सुन्दर तरुणी पार्षदोंके मध्य उस विमानमें उसे तत्क्षण ही शशिशेखरा जगन्माता आरूढ दिखाई पडती है। उसके रत्नोकी ज्योतिसे आकाशमण्डल उद्भासित होने लगता है। बरबस वह मानो उन जगन्माताके पार्श्वमें पहुँच जाती है। फिर सुस्फुटित बिम्बफल-से लाल-लाल, पद्म-पंखुडियों-से सुकोमल, साथ ही रत्नज्योतिसे उद्भासित जगन्माताके अधर हिल उठते हैं। वे क्या भाषा बोलती हैं, इसे कोई भी अन्य पार्षदसमूह नहीं सुन पाता, किन्तु कुन्दवल्लीके कर्णविवरोंमें जगन्माताकी शब्दावलीका एक-एक अक्षर अमृत-बूँदोंके समान च्यवित होता है और कुन्दवल्ली प्रफुल्लित हो उठती है। अपनी कृपामयी दृष्टिसे कुन्दवल्लीको रोम-रोमसे आप्यायित करती जगन्माता अन्तर्धान हो जाती है। कुन्दवल्ली जागृत् हो जाती है। उसके रोम-रोममें चञ्चल शिशुसुलभ चेतना सञ्चरित हो उठती है। महारानी कीर्त्तिदा एवं कीर्तिमती समझती हैं कि मानो जगन्माताकी कृपासे राक्षसी दोषदृष्टि निवृत्त हो गयी है। वे उसे स्तनपान कराती हैं और कुन्दवल्ली यथावत् शिशुक्रीडामें अपने श्रीदाम भैयाके साथ निरत हो जाती हैं। इसी प्रकार कुन्दवल्लीके जीवनके तेरह मास व्यतीत हो जाते हैं।

एक दिवस जब वह तेरह मास एवं बीस दिवसकी ही होती है एवं भाद्रपद शुक्ला षष्ठीका अवसर होता है, वह अपनी माता एवं मौसी महारानीके साथ ऊँचेगाँवमें शारदा मौसीके गृहमें गयी होती है। श्रीदाम भैया भी उसके साथ ही होते हैं। वह शारदा मौसीके घर पहुँची ही होती है कि वह देखती है कि यहाँ तो घर जैसी कोई वस्तु है ही नहीं।

उसे तो वहाँ सहस्रों दिवाकरोंकी ज्योति ही उद्भासित होती दृष्टिगोचर होती है। कुन्दवल्लीके सम्मुख तो यह चिज्ज्योति अनेकों ही बार प्रकट हो चुकी होती है, अतः वह इससे न तो भयभीत ही होती है और न चमत्कृत। कुछ ही कालमें वह चिज्ज्योति उनकी समवयस्का कन्या बनकर कुन्दवल्ली एवं श्रीदामके साथ खेलने लग जाती है। कुन्दवल्लीको क्योंकि अनेकों बार ज्योतिदर्शनके पश्चात् जगन्माता ही प्रकट होती दृष्टिगोचर होती हैं, अतः वह उस कन्याको साक्षात् शशिशेखरा ही मान बैठती है। कुन्दवल्ली सकुचाती हुई जैसे ही अपनी मौसी महारानी कीर्त्तिदाके पास पहुँचती है, वह कन्या पहलेसे ही उसकी मौसी महारानीके कण्ठमें झूली उसे दृष्टिगोचर होती है। वह कुन्दवल्लीसे हँसकर कहती है कि 'यह मेरी मैया है।' वह यही बात उसकी मौसी महारानीके मुखसे स्वीकृत भी करा देती है - 'हाँ, मैं तेरी मैया हूँ।' अन्ततः कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम दोनों ही बालक उसे अपनी बहिन मान लेते हैं। किन्तु कुन्दवल्लीको वह कभी अपनी सामान्य बहिन नहीं लगती। कुन्दवल्ली तो यावज्जीवन जब भी उसे देखती है, उसे तो उसके स्थानपर जगन्माता महादेवी ही हँसती दृष्टिगोचर होती हैं।

काल व्यतीत होता जाता है और शनैः-शनैः कुन्दवल्ली दो वर्ष, एक माह, एवं ग्यारह दिनका कालमान पार कर जाती है।

## *नन्दमहोत्सवका निमन्त्रण*

अचानक ही उस दिवस मध्य निशाके पश्चात् गोपेशनगरीसे कोई सन्देश आता है। महारानी कीर्त्तिदा अपनी छोटी बहिन कीर्त्तिमतीके सहित श्रीदाम एवं उसे लेकर तत्क्षण ही जगन्माताको प्रणामकर दिव्य स्वर्णरथमें समारूढ हो गोपेशनगरीकी ओर प्रस्थान कर जाती हैं। 'महाराज वृषभानु भी समस्त भानुपुर-निवासियों एवं राजपरिवारके लोगोंको लेकर शीघ्र गोपेशनगरी पहुँचे' – मैया कीर्त्तिदा परिचारिका द्वारा यह सन्देश भी उन्हे प्रेषित करवा देती हैं। क्षणोंमें ही रथवाहक उन सभीको नन्दभवनके तोरणद्वारपर पहुँचा देता है।

महारानीके आगमनका समाचार मिलते ही श्रीरोहिणी एवं उपनन्दपत्नी तोरणद्वारमे ही उन्हें कण्ठसे लगा लेती हैं। महारानी कीर्त्तिदाको सीधे सूतिकागृह ले जाया जाता है। श्रीदाम एवं कुन्दवल्ली - दोनो बालक अपनी माताओंकी अँगुली पकड़े उनके पार्श्वमें ही होते हैं।

कुन्दवल्ली जैसे ही उस दिवस यशोमतिके सद्योजात पुत्रको देखती है, तो उसके सम्पूर्ण अङ्ग काँपने लगते हैं। उसके ओष्ठ मन-ही-मन बुदबुदाकर बोलने लगते हैं - 'वही श्यामल तेजोलतिकाका नवोन्मिषित पल्लव है जिसे अबतक वह श्रीदाम भैयाके रोम-रोममें भरा नित्य देखती थी। कुन्दवल्लीके हृदयके उमड़ते आनन्द-प्रवाहमे उसका विवेक लुप्त ही हो जाता है। वह मन-ही-मन बारबार ये शब्द बोल रही है -'अहा ! वही है, वही है, सचमुच वही शिशु आया है। प्रसूति-पयङ्कपर उत्तानशायी होकर शिशु अवस्थित है। वह शिशु नहीं, कुन्दवल्लीको तो अपने परम सौभाग्यका तिलक ही दृष्टिगोचर हो रहा है।

## *नील चिज्ज्योतिमें कुन्दनद्युति विद्युल्लता*

आश्चर्य है इस बार भी कुन्दवल्लीको, जैसे पूर्वतः श्रीदाम भैयाके कलेवरकी खोलके अन्तरालमें नीली चिज्ज्योति भरी दृष्टिगोचर हुई थी, ठीक वैसे ही इस नीलमणि बालकके श्याम अङ्गोंमे भी एक अप्रतिम अनिन्द्य सुन्दरी कोई चम्पकवर्णी बालिका भरी दृष्टिगोचर होती है। उस बालिकाका माधुर्य इतना असीम है कि कुन्दवल्ली उस शोभाको देखते-देखते स्वयं ही उस बालिकाके अस्तित्वमें अपना अस्तित्व एकाकार कर देती है। ऐसी अतुलनीय रूपमाधुरी कुन्दवल्लीको अबतक कहीं कभी भी दृष्टिगोचर नहीं हुई थी। कुन्दवल्ली बारबार नयन मीजकर देखती है, यह बालक है या बालिका ?' बालकमें बालिका इतनी स्पष्ट भरी परिलक्षित होरही है कि कभी-कभी उसके दृष्टिपथसे बालकका अस्तित्व

ही लुप्त हो जा रहा है, एवं कभी बालिका पूर्णतया बालकमें लीन हो जाती है। कभी नीलमयङ्क चिज्ज्योतिके स्थानपर उसे कुन्दनवर्णी विद्युदाभा दिखने लगती है, और फिर नीलमयङ्क। बालिका संभ्रममें संकुचित हुई मन्दस्वरमें अपने पास ही खडी अपनी मौसी महारानी कीर्त्तिदासे प्रश्न कर उठती है-'मौसीजी ! गोपेशमहिषीके अङ्कमें यह पुत्र है,अथवा पुत्री?' बालिकाका भोला प्रश्न सुनकर उसके चतुर्दिक् खडी रोहिणी आदि गोपाङ्गनाएँ ठहाका लगाकर हँस पडती हैं। महारानी कीर्त्तिदाके मुखसे जगन्माता महादेवी मानो भविष्यवाणी ही कर बैठती हैं -'कुन्दवल्ली बेटी ! यह तेरा दूल्हा है।' कुन्दवल्ली लजा जाती है। सभी गोपाङ्गनाएँ पुनः हँस पड़ती हैं।

उसी क्षण कुन्दवल्लीके अनन्त जन्मार्जित प्रीति-संस्कारों एवं हृदय-सञ्चित स्नेह-रसमें इतना उफान आ जाता है कि यद्यपि वह कुछ भी वाणीसे बोल नहीं पाती, किन्तु अश्रुबिन्दुओंके रूपमें उसका उमड़ता भाव-समुद्र झरने लगता है।

सहसा वह अपने मौसा महाराज वृषभानु एवं नन्दरायजी — दोनोंको ही गोपाङ्गनाओंकी भीड़में घिरे प्रसूतिगृहके आँगनमें खड़े देख लेती है। वह अपनी मौसी महारानी कीर्त्तिदाको झकझोरकर महाराज वृषभानुके आगमनका समाचार देती है। मौसीका स्वीकृति-सूचक सङ्केत पाकर वह गोपाङ्गनाओंकी भीडको एक तरफ करनेमें जुट जाती है, जो गोपेश नन्दराय और वृषभानु महाराजको नीलतनयका मुख देखनेमें कपाटके समान अवरोध बनकर खडी है। बालिका कुन्दवल्ली सबको हटाकर राह करती है एवं ब्रजेश तथा महाराज वृषभानु दोनोंको ही इस नीलमयङ्क शिशुकी एक स्पष्ट झाँकी प्राप्त हो जाती है। कुन्दवल्लीको वृषभानु महाराज अपनी गोदमें ले लेते हैं। वह उनकी नेत्रोंसे झरते प्रेम-अश्रु अपने सुकोमल हाथोंसे पौंछने लगती है। फिर धीरेसे उनके कानमें कहती है-'बाबा ! जब यह नन्दतनय बडा होगा तो श्रीदाम भैयाके साथ गाय चराने वनमें जायेगा, न ? और बडी मैया (मौसी महारानी कीर्त्तिदा) कहती हैं कि यह तेरा दूल्हा होगा। क्या यह सच है ?' बालिकाकी भोली बाते सुनकर स्वीकृति-सूचक सिर हिलाते वृषभानु महाराजके नयन पुनः प्रेमाश्रुओंसे छलक उठते हैं।

कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम हर्षसहित इधर-उधर घूम रहे हैं। उपनन्दजीका पुत्र सुबल जो श्रीदामाका समवयस्क है, वह उन्हें मिल जाता है। तीनों कभी शहनाईवालोंके पास खडे होकर शहनाई सुनते हैं। कभी नन्द-प्रासादकी छतपर चढकर ब्रजकी शोभा देखते हैं। सुबल उन दोनोंको बतलाता है कि महाराज वृषभानुने नन्दतनयके जन्मोपलक्ष्यमें दान देनेके लिये तिलोंके सात पहाड निर्माण कराये हैं। उन्हें रत्नोंसे मण्डित किया है। ये पर्वत ब्राह्मणोंको दान दिये जावेंगे।

ब्राह्मण नन्दतनूजका जातक-संस्कार कराने प्रसूतिगृहमें जा रहे हैं। तीनो बालक भी उनके साथ पुनः नन्दतनयको देखने चले आते हैं। यद्यपि उनका मन तो एक क्षणके लिये भी नन्दतनयके पाससे हटनेको नहीं होता किन्तु गोपियोंकी भीडके कारण मैया कीर्त्तिदा उन्हें बाहर क्रीडा करनेका सङ्केत कर देती हैं, अतः उन्हें वहाँसे हटना पडता है। कुन्दवल्ली इस नन्दतनूजपर न्यौछावर हो रही है। 'ओह ! इसके कान कैसे सुकोमल, कितने तेजोमय हैं ! इसके होठ कितने पतले और मृदुल हैं!' सहसा कुन्दवल्लीको नन्दतनयके वक्षस्थलपर स्वर्णरेखाका चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है। वह अपने श्रीदाम भैयाके कानमें फुसफुसाकर कहती है -'श्रीभैया ! देखो, यह चिह्न तो श्रीनारायण-विग्रहमें होता है, फिर इस नन्दतनयके हृदयमें यह कैसे ? क्या यह साक्षात् नारायणका अवतार है ?'

श्रीदाम कुन्दवल्लीसे हँसकर कहता है -'तू भी तो साक्षात् महादेवी नारायणी ही है। तू जब जन्मी थी तो प्रसूतिगृहमें इतना प्रकाश भर गया था, मानो कोटि-कोटि शीतल भानु जगमगा उठे हों। मैयाने तो मुझे अनेकों बार कहा है- 'इस कुमुदिनीको खेलमें भी मत पीट बैठना, साक्षात् नारायणी ही इसके रूपमें अवतरित हुई है। तभी तो मेरी मैयाने तुझे इसकी दुलहिन कहा है !'

'धत्' - कहकर कुन्दवल्ली श्रीदामको पीटने दौडती है और सुबल एवं श्रीदाम दोनों उसके हाथ नहीं आते।

नन्दभवनके तोरणद्वार, राजपथ सर्वत्र दधि-हल्दी,मक्खन-केसर-घृतका कीच मच रहा है। महाराज वृषभानु एवं गोपेश नन्दराय दोनोंको ही गोपोंने मानो दधि-हल्दीसे नहला दिया है। जो आता है, वृषभानुजी एवं नन्दरायजीपर ही दधिमाट उँडेलता है। कुन्दवल्ली ताली बजा-बजाकर अपने बड़े बाबा वृषभानुजीको दधिमें नहाता देख रही है।

महाराज वृषभानु उदारताकी सीमा लॉघ रहे हैं। अबतक उन्होंने ब्राह्मणोंको बीस लाख स्वर्णमण्डित एवं मणिमालाओसे अलंकृत दुधारू गौएँ दान कर दी हैं। कुन्दवल्ली अपने शिशु मनमें विचार कर रही है – 'सभी गोपाङ्गनाएँ एव गोप और उसके बड़े बाबा महाराज एवं मौसी महारानी, सभी इस नन्दतनयके जन्मोत्सवपर उपहार बॉट रहे हैं। इस सद्यःप्रसूत बालकको देखने कोई भी आता है तो प्रथमतः कुछ-न-कुछ बहुमूल्य उपहार अवश्य देता है, तब सूतिकागारमे प्रवेश करता है। फिर उसने तो इस नीलमयङ्कको कुछ भी नही दिया। वह मन-ही-मन नीलतनयसे बातें करने लगती है – 'रे ! नन्दतनूज! तू स्त्री है या पुरुष, मैं नहीं जानती। जब मैंने सर्वप्रथम होश सम्हाला, तू मुझे मेरे भैया श्रीदामके अङ्गोंमें भरा दृष्टिगोचर हुआ था। तबसे जब भी मैं श्रीदामकी ओर ताकती,उसके स्थानपर तू ही मेरी ओर कनखियोंसे ताककर मुसकाने लगता था। तेरी उस मुसकान मात्रसे मेरे प्राण मेरे देहको छोडकर तेरे पास चले आते थे। आज मैं तुझे निरे शिशुरूपमें गोपेशमहिषीकी कोखसे जन्म लिये देख रही हूँ। श्रीदाम भैयाकी देहमें तो तू मुझे मेरी समान वयका दिखता था, और आज तो अभी तेरा जन्म ही हुआ है। परन्तु मुझ छोटी बालिकाकी बुद्धि एक बातको लक्ष्यकर हतप्रभ है कि तेरे भी भीतर मुझे एक कञ्चनवर्णी गोरी भोली बालिका दिख रही है। तेरे रूपमें मुझे कभी तू एवं कभी पूरी वही दिखने लगती है। वह कौन है, इसे मैं नहीं जानती। इतने दिवसों पश्चात् जैसे तू मुझे श्रीदाम भैयाके अङ्गोंमें भरा दृष्टिगोचर होकर, जैसे आज यशोदारानकी कोखसे उत्पन्न दिख रहा है, हो सकता है, यह बालिका भी कुछ काल पश्चात् कहीं जन्म ग्रहण करे। यह बालिका कौन है, मैं उसी प्रकार नहीं जानती, जैसे पहले तुझे नहीं जानती थी।'

'इतना तो निश्चय है कि मात्र तू ऊपरी खोलसे ही पुरुष-वेषधारी है, तेरे भीतरी खोलपर तो किसी अन्यका ही स्वत्व है। रे, नन्दतनय। सभी लोग तुझे उपहार रूपमे अपना धन ही प्रदान कर रहे हैं, किन्तु मुझ अकिञ्चनाका तो तू ही एकमात्र धन है, सर्वस्व है। जब तू ही एक मात्र मेरा सर्वस्व है, तो तुझे अपने आपको सौंपनेमें मुझे कठिनाई ही क्या है ? मैं इतना ही चाहती हूँ कि प्रेम-परिभावित मेरे इस समर्पणसे तू सदैव सुखी रहे। तेरा परम कल्याण हो तू मेरे प्रेम-रस-सुधाकी शत-सहस्र धाराओंमें स्नान करता सदैव आनन्दसिन्धुमे निमग्न रह। तेरे रोम-रोममें सदैव सुखसार आनन्द-सम्पदा ही विकसित होती रहे। बस, इतनी मेरे प्राणोंकी लालसा है।'

'मेरे नीलमणि। मेरे प्राणोकी अपने चरणोंमें यह तुच्छ भेंट तू स्वीकार करेगा, या नहीं, मैं इसकी भी अपेक्षा नहीं रखती। मैं तो इतना ही कह सकती हूँ, आजके पश्चात् तेरे सिवा मेरा अन्य कोई, कहीं भी नही है। मैं अपना सर्वस्व तुझपर एकतरफा न्यौछावर कर दे रही हूँ।'

कुन्दवल्लीका मन हो रहा था, उस सद्योजात बालकको अपने हृदयसे लगाले। वह बालक जो सद्योत्पन्न होनेके कारण नेत्र-निमीलित किये सो रहा है, अपनी कर्ण-सुदीर्घ ऑखें खोलकर एक बार उसे निहार ले, किन्तु इसके लिये वह चेष्टा भी कैसे करे ? उसकी बड़ी मॉ मौसी महारानी तो नन्दतनयपर अपना समग्र वैभव ही न्यौछावर करनेमे संलग्न है। उसकी मैया कीर्तिमती रत्नहारोंकी, स्वर्णाभूषणोकी एवं अनमोल रेशमी वस्त्रोकी मञ्जूषाएँ खोले जा रही है और अनमोल-से-अनमोल, एकसे-बढकर-एक अलभ्य रत्नाभूषणोंको महारानी कीर्तिदाको सौंपती जा रही है, जिनको वे ले-लेकर प्रथमतः नन्दतनयपर न्यौछावर करती हैं, तत्पश्चात् उन्हें नन्दरायके सभी सम्बन्धीवर्गको सम्मानित कर-करके बधाईके रूपमें देती जा रही हैं। सर्वाधिक सम्मान आज कीर्तिदा महारानीने श्रीवसुदेवपत्नी रोहिणीजी एवं बलराम भैयाका किया है। यह कार्य तो महारानी कीर्तिदा एवं वृषभानुजीको ही करना है। गोपेशमहिषी यशोदा तो अपने पुत्रको

लिये चुपचाप निस्पन्द मणिखम्भके सहारे पर्यङ्कपर बाह्यज्ञानशून्य लेटी हैं। अन्ततः हारकर कुन्दवल्ली जगन्मातासे ही प्रार्थना कर बैठती हैं। प्रार्थनाके लिये शब्द स्फुटित हों, उसके पूर्व तो दृश्य ही बदल जाता है।

'ओह ! दिव्य वनमाला, मयूरमुकुट, पीत उपधान पहने अङ्गोंमें दिव्य चन्दन चर्चित किये, अपने एक हाथमें मुरली लिये किशोर वेषमें अतिशय मनोहारी मुसकान बिखेरता वही सच्चिन्मय नीलमयङ्क शिशु उसके सम्मुख आ जाता है। कुन्दवल्लीके अङ्ग-संस्थानों एवं वयमें भी अचानक ही एक दिव्य परिवर्त्तन आजाता है। दो वर्षकी बालिका कुन्दवल्ली कैशोर वयकी सुकुमारी हो जाती है। कुन्दवल्ली सलज्ज निम्नमुख किये उसके चरणोंमे झुक जाती है।

सहसा वह किशोर मुरलीमनोहर नन्दतनूज उसके चिबुकको संस्पर्शित करता किशोरी कुन्दवल्लीका मुख ऊपर उठा देता है। कुन्दवल्लीके नयन उस नीलमयङ्कके नयनोंसे उलझ जाते हैं। अहा ! वह श्याम वदनारविन्द कैसा सुधास्रावी मकरन्दयुक्त है, कुन्दवल्लीके नयन-मधुप मधुपान करते अघाते ही नही। उस किशोरके मुखमयङ्कको देखती चकोरी कुन्दवल्लीकी पिपासा तृप्त ही नहीं होती, अपितु प्रतिक्षण शत-सहस्रगुनी अभिवर्धित ही होती जाती है।

कुन्दवल्लीको कभी लगता है, यह सद्योजात शिशु इतना शीघ्र किशोर कैसे हो गया ? कुन्दवल्ली अन्ततः इसी निर्णयपर पहुँचती है कि यह जो भी हो, जैसा भी हो, शिशु हो, बाल हो, किशोर हो, पुरुष हो, नारी हो, मैं इसकी ही हूँ एवं रहूँगी। और वह उस किशोरके चरणोंमें अत्मसमर्पण भावसे ढुलक जाती है। उसे उन क्षणोंमे विसर्जित होनेमें इतना आनन्द होता है कि उसका समग्र आन्तरिक एवं बाह्य - दोनों ज्ञान उस आनन्दमें डूब जाते हैं। उसकी समग्र सत्ता ही आनन्दमय हो उठती है।

उसको जब बाह्यज्ञान होता है तो वह अपनेको गोपेश नन्दरायके नारायण-मन्दिरमे श्रीविग्रहके चरणोंमें पाती है। उसकी मौसी महारानी कीर्त्तिदा उसके मस्तकको सहला रही होती है।

## कुन्दवल्ली अपने ननिहालमें

कुन्दवल्ली ननिहालमें आ गयी है। वृषभानु-परिवार अनवरत पाँच दिवसतक नन्दभवनमें रहा है। कुन्दवल्लीका देह भले ही रावल ग्राम अपने ननिहालमें आ गया है, किन्तु उसके एवं नन्दतनयके मध्यके देश-कालगत सभी व्यवधान पूर्णतया अन्तर्हित हो चुके हैं। कुन्दवल्ली कहीं भी, किसी भी देशमें रहे, वह अपने स्थानसे ही देखने लगती है - 'व्रजरानीके वक्षस्थलपर नीलद्युति शिशु विश्राम कर रहा है। ओह ! व्रजरानीका शरीर तो मानो अपराजिता लता हो और शिशु उसका सुन्दरतम प्रसून। कुन्दवल्लीके प्राण इस चिन्मय प्रसूनको अपना सर्वस्व समर्पण करनेमे ही लय हो जाते हैं।

कुन्दवल्ली अपनी सभी आन्तरिक अनुभूतियाँ अपने छोटे भैया श्रीदामको कह देती हैं।

'श्रीभैया ! तू अपनी बड़ी बहिन – मेरी बातको असत्य तो कभी मान ही नहीं सकता, अत. तुम्हें मेरे हृदयका सब रहस्य खोलकर कह दे रही हूँ। मैं चाहे कुछ भी कार्य करूँ, कहीं भी रहूँ, अभी तो हम लोग नन्दव्रजके अति निकट रावलग्राममें ही हैं। भले ही हम सभी बृषभानुपुर चले जावें, मेरे नेत्र सदैव उस नीलमयङ्क यशोदानन्दनको ही प्रत्यक्षवत् अपने सम्मुख देखा करते हैं। भैया ! इस समय भी मैं व्रजरानी यशोदाको अपने पुत्रको लाड़ लडानेमें संलग्न देख रही हूँ। वे कभी उसे स्तनपान कराती हैं तो कभी उसे घन-घन चुम्बनका दान देकर अपने वात्सल्य-रसास्वादकी चिरवर्धनशील लालसामें नव-नूतन रङ्ग घोल देती हैं। वे कभी उसके घनकृष्णकेश-मण्डित मुखको निहारती ही रह जाती हैं, तो कभी अपने पुत्रके समस्त अङ्गोंसे निःसृत अद्भुत अनुपम सौरभका आघ्राण पाकर आत्मविस्मृत हो जाती हैं।

भैया ! मैं यशोदा मैया द्वारा अपने प्राणधन नीलमणिके आच्छादन वस्त्र एवं अङ्गावरक वस्त्रोका बदला जाना भी यहाँ बैठे स्पष्ट देख रही हूँ। देखो, वह नन्दशिशु किञ्चित्-किञ्चित् मुख बिगाडकर अपना विरोध प्रदर्शन कर रहा है एवं उसकी रुचि यही है कि भले ही उसके अङ्गावरक वस्त्र उसके द्वारा गीले एवं गंदे कर दिये गये हों, उन्हें उसके अङ्गोंसे हटाये नहीं जावें। देख भैया! मुझे नन्दतनयकी रुदनध्वनि स्पष्ट श्रवणगोचर हो रही है। ओह ! यह क्रन्दन कितना

मधुर है - मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ ? वीणाकी मधुरातिमधुर झङ्कार तो इसके सम्मुख पूर्णतया कर्णकटु ही प्रतीत होगी। मेरे कर्णपुटोमें इस क्रन्दन-स्वरलहरीसे ऐसा अमृत-निर्झर झर रहा है, जिसका आस्वादन मात्र मैं ही ले पा रही हूँ। भैया! ब्रजरानी स्तनपानसे तृप्त हुए अपने पुत्रको पालनेमें लिटाकर मन्द-मन्द झुलाती हुई कितने मधुर स्वरमें लोरी गा रही है, क्या तुम सुन रहे हो ?'

कुन्दवल्लीकी ऐसी ही विलक्षण दशा है। उसे निशाकालका आगमन अनुभव ही नहीं होता है। ऊषा, सन्ध्या, निशा आदि तो उसकी सखियाँ हो गयी हैं। निशा, संध्या उसे अपने ही समान वयकी सखियाँ समझमें आतीं, जो नन्दतनयका दर्शन करने उसके पास आती हैं। वह उन्हें सचमुच ही नीलमयङ्कके दर्शनार्थ नन्दभवन ले जाती है। सन्ध्या तो शीघ्र ही चल देती है, किन्तु उसकी निशा सखी तो अनवरत चार प्रहर उसके साथ ही नन्दभवनमे नीलमयङ्कको देखती रहती है। वह निशाको छेडती है - 'देख, निशा सखी ! यह मेरा दूल्हा नन्दतनय कितना सुन्दर है ! तेरे दूल्हे-चन्द्रमाको तो क्षय रोग है, वह तारापति होनेसे कलङ्की भी है, किन्तु यह मेरा नीलमयङ्क तो सर्वभवरोगहारी है, एवं सर्वनारीपति होकर भी मेरे हृदयका निष्कलङ्क हार है।' अति लघु वयकी बाला कुन्दवल्लीमे न जाने कहाँसे इतनी वाचालता उद्भव हो उठी है ! यह जगन्माताका ही कृपा-.चमत्कार है।

कृष्ण निशा कुन्दवल्लीको क्या प्रत्युत्तर दे। अतिशय लज्जामें उसके कानमें धीरेसे इतना ही कहती है- 'मेरा पति चन्द्र जैसा भी हो, अपने नामके पीछे चन्द्रको लगाकर धन्य तो इस कृष्णने उसे कर ही दिया है। और बहिन ! अन्ततः इस नन्दतनूजने मेरे कृष्ण वर्णको अपनाकर मुझे यह भी सङ्केत कर दिया है कि तू स्वकीया नहीं, परकीया ही सही, है मेरी, मेरी, सर्वथा मेरी। मैं तो बहिन ! मात्र इतनी-सी ही बातसे धन्य हूँ कि इसने मुझ कृष्ण निशामें जन्म लिया, और अपना नाम भी कृष्ण रखा।' कुन्दवल्ली अपनी सखी निशाकी बात सुनकर हँस-हँसकर लोट पडती है।

फिर ऊषा आती। वह अपने सीमन्तके सिन्दूरी प्रकाशसे नन्दव्रजको उद्भासित कर देती। उसकी सुन्दरताको देख निशा उसे अपने गलेका अनमोल मुक्ताहार पहना देती। किन्तु ऊषा तो उस अपने उपहारको भी नन्दनन्दनपर न्यौछावर कर देती। मुक्ताके दाने ब्रजमें सर्वत्र ओसकणोके रूपमे बिखर जाते।

कुन्दवल्लीके मानसमें तो नन्दभवन उद्भासित रहता ही। ब्रजेन्द्र नन्दराय कुछ औदास्य और कुछ उल्लासमें भरे उसे दीखते। नन्दनन्दनको पूतना राक्षसी अपहृत कर ले गयी, नन्दनन्दन उसके स्तनोंमे संलग्न कालकूटके साथ-साथ उसके प्राण भी पी गये - कुन्दवल्ली सभी घटनाएँ अपनी मौसीके सम्मुख उल्लेख कर चुकी है। वह रावलमें बैठी-बैठी ही अपनी मौसीको बतला रही है कि ब्राह्मण अनिष्ट-निवारणार्थ नन्दनन्दनका अभिषेक कर रहे हैं। यशोदा अपने हृदयधनको अपने पास सकुशल सुरक्षित निहारकर निहाल हो रही है। उपनन्द-पत्नी कपिला गौकी पूँछ नन्दनन्दनपर घुमा रही है। यशोदानन्दनको नेत्रोंमें भरे कुन्दवल्ली इसी प्रकार कालक्षेप कर रही है। एक-एककर दस दिवस व्यतीत हो गये। उसे एक ही जिज्ञासा सदा व्यथित किये रहती है कि इस नीलमयङ्क यशोदातनयके भीतर उसे जो वह विद्युन्मयी तेजोलतिका गोरी भोली बालिका दृष्टिगोचर होती है, वह बालिका कौन है एवं कहाँ है ? कुन्दवल्लीका मन-मानस सदैव इसी अनुसन्धानमें खोया रहता है।

## *पीतज्योतिका प्रथम दर्शन*

भाद्रपद शुक्ला अष्टमीका मध्याह हुआ ही है। अचानक ही कुन्दवल्लीको शङ्ख, मृदङ्ग, वीणा, वेणु आदि मङ्गलवाद्योंकी ध्वनि सुनाई पड़ती है। कुन्दवल्ली जिज्ञासावश तोरणद्वारकी ओर जाती है। वह देखती है कि मङ्गलगान करती हुई व्रजाङ्गनाएँ रावलकी यज्ञशालाकी ओर बढ़ती जा रही हैं। वह भी यज्ञशालाकी ओर चल पडती है। कुन्दवल्ली देखती है कि उसकी मौसीकी बगलमे वही कुन्दनद्युति बालिका नेत्र मूँदे शयित है, जिसे वह अनवरत दस-पन्द्रह दिवसोंसे यशोदानन्दन नीलमयङ्कके देहमें भरी अनुभव कर रही थी। वह अपनी माता कीर्त्तिमतीसे जिज्ञासा करती है - 'मैया

क्या श्रीभैयाके एक छोटी बहिन हुई है ? कीर्तिमती हर्षविभोर हुई स्वीकृति-सूचक मस्तक हिलाती हुई उसे गोदमें लेकर चूम लेती है।

इतनेमें ही श्रीभैयाको वह दूर खड़ा देख लेती है। वह दौड़कर उसके पास जाकर उसे बधाई देती है -'भैया! तुम्हारी बडी बहिन तो मैं थी ही, अब एक छोटी बहिन और हुई है। देखो! इस कुन्दनद्युति बालिकाकी कितनी निराली सुन्दरता है। मुझे बधाई दो ! श्रीदाम अपने गलेमें पहना नीलमणि-हार उसके कण्ठमे डाल देता है। कुन्दवल्लीको यही अनुभव होता है मानो उसका नीलमयङ्क इस कण्ठहारके रूपमें उसके गलेमें झूल गया है।

इतनेमें ही सभी देखते हैं कि गोपेशमहिषी यशोदा अपने नीलमयङ्क शिशुको लिये उन्मादिनी-सी दौडी चली आ रही है। उसके पीछे बलरामको गोदमें उठाये रोहिणी है। पीछे उपनन्दपत्नी प्रभावती भी सुबलको गोदमें लिये चली आ रही है। ये तीनो तत्क्षण ही कीर्त्तिदाके पास प्रसूति-गृहमें पहुँच जाती हैं। कुन्दवल्ली एव श्रीदाम दोनों ही नन्दरानीकी गोदमें उसके नीलशिशुको देखकर हर्षमे झूम उठते हैं। कुन्दवल्लीके हृदयमें हर्षके ऐसे आवर्त्त उठ रहे है कि उसे यही समझमें आ रहा है मानो वह स्वप्न ही देख रही है।

ओह ! पद्मराग मणिमय पालनेमें स्वप्नसुन्दरी कुन्दनद्युति विद्युल्लतिका कीर्त्तिदा-तनयाके पार्श्वमें ही यशोदा अपने पुत्रको तत्क्षण ही लेटा देती है। पर्यङ्कपर उत्तानशायी लेटे नन्दनन्दनके नेत्र-सरोज अचानक ही खिल उठते हैं। यशोदाने इन पन्द्रह दिवसोंमें अपने लालको आजतक कभी इतना उल्लसित नहीं देखा है। सद्यप्रसूत कन्या भी तत्क्षण ही अपने निमीलित नेत्र-सरोज विकसित कर देती है। यशोदा एवं कीर्त्तिदाके रोम-रोममें अपने लाल एवं लालीके परम मङ्गल परिणयोत्सवके काल्पनिक चित्र उभरकर सम्मुख दृश्यवत् प्रकाशित होने लगते हैं।

कुन्दवल्लीको कुछ भी समझमे नहीं आ रहा है। उसे तो कीर्त्तिदा मौसीके बगलमें लेटी सद्योजात स्वप्नसुन्दरी-सी बालिका पहले यशोदानन्दनमे अनुस्यूत दिखती रही है। और अब तो इस सद्योजात बालिकामे भी उसे यह नीलिमाका पुञ्ज — यशोदाकी गोदका शिशु पूर्णतया ओतप्रोत दिख रहा है।

## *कुन्दवल्लीका आत्मसमर्पण*

कुन्दवल्ली मन-ही-मन निश्चय कर लेती है — 'यह नीलमयङ्क और तेजोमयी कल्पलता - दो स्वतंत्र सत्ताएँ नही हैं। ये अग्निमें तेज, जलमें रसकी तरह दो होते हुए भी एक हैं। इनमें किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। इतना ही नहीं, उसकी बालबुद्धि यह भी निश्चय कर लेती है कि कुन्दवल्ली नामक अस्तित्व भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इनका ही अङ्ग-अवयव है। जैसे शरीरका कोई भी अवयव अपनी स्वतंत्र संवेदना रखते हुए अवयव ही है, इसी प्रकार कुन्दवल्ली इनकी ही है, इनसे ही है। कुन्दवल्ली पासमें ही खडे अपने भैया श्रीदाम और उसके निकट ही खडे सुबलदादाकी ओर भी देखती है। दोनों ही इन दोनों नील-गौर शिशुओंसे विलक्षण एकाग्रता, निरुपम निस्पन्दता, अपने प्राणोंकी उत्कृष्टतम एकात्मता एव रागके बढते हुए प्रवाहमें निपतित आनन्दमें प्रवाहित दिखते हैं। कुन्दवल्ली मन-ही-मन सोचे जा रही है -'यह उसकी मौसीके बगलमे सद्योजात बालिका कितनी विलक्षण सुन्दरी है ! अहा ! एक पल तो जब मैं इसे देखती हूँ तो यह नन्दतनयसे अनन्ताधिक सुन्दरी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु पुनः जब मैं इस नीलमयङ्कको निहारती हूँ तो यह भी किसी भी तुलनामें इससे हीन दृष्टिगोचर नहीं होता। अहा ! इसके श्रुतियुगल, इसकी भौहें, इसके नयन-सरोरुह — इन सबसे सौन्दर्यकी कैसी उत्कृष्टतम ऊर्मियॉ स्फुटित हो रही है! कुन्दवल्ली विचारोमें न जाने किस सौन्दर्यलोकमें पहुँच जाती है।

कुन्दवल्ली अपने श्रीदाम भैयाके निकट पहुँचती है। श्रीदामके भावलोकमें बहते मनको वह झिंझोड़कर कह उठती है - 'भैया ! तू मुझे नारायणी कह रहा था, न ? सत्यांशमे नारायणी तो यह तेरी अनुजा है। मै एव तुम, भैया सुबल — सभी इन नारायण-नारायणीके चरण-किङ्कर एवं किङ्करी हैं।' श्रीदाम कुन्दवल्लीकी ओर निहारता है। उसके भावभरे नयनोंसे अश्रुओंकी लोर प्रवाहित हो उठती है। कुन्दवल्लीकी भी ऑखें आर्द्र हैं, फिर भी दोनों दोनोंके अश्रु पौंछ देते हैं।

सहसा कुन्दवल्लीके ध्यान-पथमें कुछ काल पूर्वकी घटना स्मृत हो उठती है। पिछली अक्षयतृतीयाकी ही तो बात थी। वह एवं श्रीदाम दोनों ही रथमें उसकी माता कीर्त्तिमतीकी गोदमें लेटे थे। महर्षि भागुरि एवं गर्गने कोई सम्मिलित यज्ञ किया था। दोनों महर्षियोंने नन्दभवनमें यशोदाके पास सन्देश भेजा था कि दोनों ही सखियाँ - वृषभानुमहिषी कीर्त्तिदा और यशोदा यज्ञमें सम्मिलित हों। ब्रजेशमहिषी यशोदा ही ऋषियोंका आदेश लेकर रोहिणी एवं बलरामके सहित वृषभानुपुरसे कीर्त्तिदाको लेने चली आयी थीं। उसकी कीर्त्तिदा मौसीने हठ कर लिया था कि वे तो यज्ञमण्डपतक पैदल चलकर ही जावेंगी। यद्यपि दोनों ही सखियाँ गर्भवती थीं। इनके लिये पैदल चलना उचित नहीं था। यज्ञस्थल वृषभानुपुरसे नौ कोस दूर था। कीर्त्तिदा जब एक बार कुछ भी निश्चय कर लेती तो उसे जगन्माता पूरा करती ही थीं। यह निश्चय हुआ कि यशोदाके संग आये रथमें रोहिणी एवं बलराम आसीन रहेंगे एव बृषभानुपुरके रथमें कीर्त्तिमती अपनी पुत्री एवं उनके पुत्र – श्रीदामको लेकर आरूढ होकर चलें। बालकोंको इतनी दूर पैदल ले जाना किसी भी प्रकार उचित नहीं समझा गया। यज्ञस्थलसे लौटते समय यशोदा एव कीर्त्तिदा अपने-अपने रथोमे आरूढ होकर लौट आवेंगी। इस प्रकार मात्र यज्ञस्थलतक पहुँचनेका ही श्रम होगा एवं यज्ञकी मर्यादाका पालन भी हो जायगा। उस दिन उस मङ्गलमय यज्ञमें नन्दग्राम एवं वृषभानुपुरसे सहस्रों नर-नारी पैदल जा रहे थे। ग्राम-ग्रामसे यज्ञ-सेवार्थ सामग्रियोसे भरे शताधिक शकट भी जा रहे थे।

यमुनाके तटपर जब सभी पहुँचे तो यमुनास्नान करती-करती नन्दरानी एव महारानी कीर्त्तिदा परस्पर गले मिल गयीं। हाथमें जल एवं फूल लेकर मौसी महारानी कीर्त्तिदा नन्दरानीसे कह रही थी -" नन्दरानी ! देखो, हम दोनों गर्भवती हैं। मुझे जगदम्बाका सङ्केत है, तुम्हारे इस गर्भमें पुत्ररत्न है और मैं भी किसी शुभ मुहूर्त्तमें पुत्री प्रसव करूँगी। अस्तु, बहिन ! मैं भानुतनयाके तीरपर खड़ी होकर सङ्कल्प कर रही हूँ। यह अतुल पुण्यमयी बेला है। मेरे उदरस्थलमें जो श्रीदामकी बहिन है, वह तुम्हारे उदरस्थ बालकके प्राणोकी प्राणस्वरूपा हो।"

कुन्दवल्ली रथमें बैठी-बैठी यह सब वार्त्ता सुन रही थी। श्रीदाम तो सो गया था। कुन्दवल्लीका बालमन अपनी मौसी एवं नन्दरानीके मध्य हुई वार्त्ताको अबतक विस्मृत कर चुका था। किन्तु आज अचानक नन्दरानीकी गोदमें प्राणोपम सुन्दर नीलमयङ्कको और मौसी महारानीके अङ्कमें इस सद्योजात स्वर्णलतिकाको निहारनेपर उसकी अन्तश्चेतनामें डूबी स्मृति पुनः जागृत् हो गयी थी।

इस स्मृतिके मानसपटलपर उदय होते ही कुन्दवल्लीके मनने यह दृढ निर्णय कर लिया कि वह इन नील-पीत द्युति युगलके प्रति ऐसी अप्रतिम तत्सुख-भावावन्न मैत्रीका प्रकाश करेगी , जिसे देखकर देवजगत् भी स्तब्ध हो जावे एवं स्वयं लीलामहाशक्ति महादेवी भी 'जय !' कह बैठें। एक भगिनीके मनमें दूसरी भगिनीके प्रति कैसी निर्मल, साथ ही सर्वस्व-समर्पणमयी रागजन्य एकात्मता होती है, इसका एक अप्रतिम आदर्श वह विश्वमे समुपस्थित कर देगी। मात्र दो वर्ष एवं दो माहकी अतिशय लघु वयकी बालिका कुन्दवल्लीके पवित्रतम मनने उस क्षण सौहार्दकी उस अभूतपूर्व साधनाको अपने प्राणोंमें आत्मसात् करनेका दृढ सङ्कल्प कर लिया, जिसे देखकर भविष्यमें नित्ययुगल नीलमणि नन्दतनय और कुन्दनवर्णी वृषभानुजा दोनों ही भावविह्वल हो उठें। काम-गन्धके लेशात्मक संस्पर्शसे भी शून्य प्रीतिके उस साधन-पथपर कुन्दवल्लीने अपने चरण निविष्ट कर दिये, जिसका दर्शन चन्द्र एवं सूर्यको भी अबतक नहीं हुआ था।

ठीक, यही दशा कुन्दवल्लीके पास खड़े श्रीदाम एवं सुबलकी भी थी। यद्यपि सभी परस्पर मौन थे, किन्तु इन सभीमें ऐसी एकात्मता थी जिससे एक दूसरेके हृदयोंके भाव परस्पर एक-दूसरेको स्पष्ट अनुभव हो जाते थे। कुन्दवल्लीके भावोंमें जहाँ दास्य एवं विशुद्ध माधुर्यजनित अप्रतिम रागका प्राबल्य था, वहाँ सुबल एव श्रीदाममें नन्दतनयके प्रति असीम सख्यरस, साथ ही अपनी सद्य-प्रसूत अनुजाकी रुचिकी पूर्त्तिके लिये अपना सर्वोत्सर्ग कर उठनेकी तत्परता भी थी।

कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम दोनों ही प्रसूतिगृहके एक कोनेमें खडे, एक कलामयी प्रतिमा बने नन्दतनय और उस सद्य.प्रसूत स्वर्णलतिकाको एकटक निहार रहे थे। इस स्वर्णलता राधाने जन्म लेते ही अपने स्वरूपगत महाभावका जाल फैलाकर सर्वप्रथम यदि किसीको भी अपने अटूट बन्धनमें जकडा है तो वह महासौभाग्यशालिनी कुन्दवल्ली बाला ही थी, अथवा उसका स्वयंका प्राणोपम भाई श्रीदाम ही था, जो दोनों ही अनवरत दो वर्षोसे बिम्ब-प्रतिबिम्बवत् साथ-साथ ही पल्लवित-संवर्धित हो रहे थे।

ब्राह्मण आ गये हैं। महाराज वृषभानु स्नान करके, अलंकृत होकर ब्राह्मणोंको प्रणाम करते हैं। यह कैसी विडम्बना है कि आज ब्राह्मणगण उसी ह्लादिनी महाशक्तिका 'भू स्त्वयि' इत्यादि मंत्रोंके पाठसे जातकर्म-संस्कार करा रहे हैं जो ह्लादिनी महाशक्ति निरन्तर विश्वेश्वरको भी अपने भ्रू- संकेतपर नचाती है। कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम ब्राह्मणोको वेदोच्चारण करते समय हाथ हिलाकर पाठ करते देख-देखकर हँस रहे हैं।

कुन्दवल्लीको आश्चर्य है कि आजके पन्द्रह दिवस पूर्व नीलमणिके जन्मोत्सवके समय वृषभानुपुर एवं रावलकी एक-एक बूढी औरत भी जैसे नन्दभवन पहुँची थी एव उसने नीलमणि नन्दतनयको आशीर्वाद दिया था, ठीक वैसे ही आज सम्पूर्ण नन्दव्रज ही रावलमें इस पीतवर्णी कन्याको आशीर्वाद देने उमड पडा है।

जैसे भाद्रपद कृष्ण अष्टमीसे द्वादशी पर्यन्त मानो नन्दब्रजके राजा नन्दराय नहीं होकर महाराज वृषभानु ही होगये थे, और नन्दराय उनके अनुगत सेवककी तरह पीछे-पीछे हाथ बाँधे फिर रहे थे, ठीक यह क्रम आज उलट गया है। आज ब्रजराज नन्द एवं उनके बड़े भाई उपनन्दजी तो रावलनरेश एवं वृषभानुनरेशके स्थानापन्न होकर कन्या-जन्मोत्सवका सम्पूर्ण दायित्व सँभाल रहे हैं एवं रावलनरेश बिन्दु महाराज एवं वृषभानुजी उनके सेवकवत् अनुगत हो रहे हैं।

## *राधाजन्मपर रावलमें आनन्द*

रावलकी क्या ही शोभा है ! उसका प्रत्येक प्रासाद पूर्णतया सुसज्जित किया गया है। प्रत्येक गृह-द्वार-प्राङ्गण एवं कोना-कोनातक स्वच्छ एवं सुगन्धित द्रव्योंसे महक रहा है। सुकोमलतम पल्लवोंके बन्दनवार बाँधे गये हैं। सर्वत्र चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही हैं। स्थान-स्थानपर पुष्पमालाओकी लडें झूल रही हैं। प्रत्येक द्वारपर आम्रपल्लव-संयुक्त जलपूर्ण मङ्गलघट रखे गये हैं। इन सभीमें सप्त सरोवरों, सप्त नदियों, सप्त तीर्थों, सप्त समुद्रोका जल परिपूरित किया गया है। हरिद्रा, दूब, अक्षत, कुङ्कुम, दधिसे प्रत्येक द्वार चित्रित किया गया है। मोतियोंके चौक पूर्ण किये गये हैं एवं द्वार-द्वारपर गौएँ एवं गोवत्स हल्दी-तेलसे रँगे, गैरिक आदि धातुओंसे चित्रित पुष्पमालाएँ पहने खडे हैं।

दूर-दूरके ग्रामोंसे गोप मयूरपिच्छ धारण किये, पुष्पमालाएँ पहने, बहुमूल्य अलङ्कारोंसे मण्डित, अँगरखे एवं पगडी पहने अपने कंधोंमें घृत-दधि-नवनीतसे पूर्ण घडोकी काँवर रखे रावलग्राम पहुँच रहे हैं। उनके पीछे गोपियाँ मङ्गलगीत गातीं दौड़ी आ रही हैं।

गोपों एवं गोपाङ्गनाओंका सुस्वागत उपनन्द-पत्नी एवं उपनन्दजी कर रहे हैं। नन्दराय एवं वृषभानुजी दोनो ही साथ-साथ देवपूजनमे संलग्न हैं। नन्दमहिषी यशोदा एवं रोहिणी सभी गोपाङ्गनाओं एवं महाराज वृषभानुके सम्बन्धीवर्गको बधाई बाँट रही हैं। नन्दरानी यशोदा इतनी सम्पत्ति दान कर रही हैं कि यदि प्राकृत भण्डार हो तो कभीका रिक्त हो जाय। किन्तु आज तो रावलनरेशकी यज्ञशालामें स्वयं अनन्त लक्ष्मियोंको लक्ष्मीत्व देनेवाली सुप्रकट हैं, अतः उनका कोष असीम अनन्त हो गया है। हॉ, देते समय ब्रजरानीमें वात्सल्य-रसभावित एक ही भावना है कि इस दानसे सभी प्रसन्न होकर मेरे पुत्र नीलमणि एवं कञ्चनद्युति कीर्त्तिदापुत्रीको मङ्गल आशीर्वाद दें। अन्त.पुरमें हरिद्रा दधिकी कीच मची है। गोपाङ्गनाएँ आनन्दमें झूम-झूमकर नृत्य कर रही हैं। देववृन्द अन्तरिक्षसे नन्दनकानन-जात प्रफुल्ल पुष्पोंकी वर्षा कर

रहे हैं। पावसमे शरद्का विकास हो गया है। दिशाएँ प्रसन्न एवं कालिन्दी पूर्णतया स्वच्छ हो उठी है। शीतल मन्द पवन अरविन्द-सौरभका विस्तार करता हुआ प्रवाहित हो चला है। मानो वृषभानुसुताके आगमनकी सूचना देता सर्वत्र फिर रहा हो।

संयोगकी ही बात है कि अचानक ही रावलनरेशकी यज्ञशालामे यथासमय करभाजन, शृङ्गी, गर्ग एवं शाण्डिल्यादि चारों ऋषि प्रकट हो जाते हैं। रावलनरेश बिन्दु महाराज एवं वृषभानुजीकी प्रार्थनापर वे सभीको आनन्दमें निमग्न करते हुए श्रीराधाके ग्रह-नक्षत्रका निर्णय कर रहे हैं। लोहित वर्ण एवं विद्युल्लहरीकी अङ्गप्रभा होनेके कारण पूर्वतः वृषभानु एवं कीर्त्तिदाने अपने मनसे ही अपनी कन्याका नाम 'राधिका' रखा था, किन्तु ऋषियों का निर्णय बालिकाका नाम 'राधा' रखनेका होता है तभीसे विश्वमें कन्याका नाम 'राधा' एवं 'राधिका' दोनों ही विख्यात हो गये हैं।

कुन्दवल्ली एवं श्रीदामने जिस कोटिका आनन्द आजके पन्द्रह दिवस पूर्व इस नन्दतनयके जन्मोत्सवके उपलक्षमें नन्दभवनमें प्रवाहित होते देखा था, उससे शताधिक परमानन्द आज वे इस चिन्मयी पीतद्युति सोनजुहीके जन्मोत्सवपर रावलमें अनुभव कर रहे हैं। कुन्दवल्लीने कन्याका नाम सोनजुही ही रखा है।

इस सद्योजात कन्याके दर्शनमात्रसे ही कुन्दवल्लीकी भावदशामें तो मानो ज्वार ही उदित हो उठा हो, एक विलक्षण परिवर्तन आ गया है। अबतक तो वह जब कभी श्रीदाम भैयाको निहारती थी तो उसे उसमे नन्दतनूजकी छवि भरी दृष्टिगोचर होती थी। किन्तु इस नवकन्याके जन्म और दर्शनके पश्चात् तो उसकी ऐसी दशा हो गयी है मानो अन्य किसीकी सत्ता है ही नहीं। वह अपनी मौसी महारानी कीर्त्तिदापर दृष्टिपात करे, अथवा महाराज वृषभानुपर; उसके सम्मुख भले ही उसकी नानी मोक्षदा आवें, चाहे दादी सुखदा; वह अपने पिताको देखे चाहे अन्य किसी गोपको - उसे तो सभीमें केवल नीलद्युति नन्दतनय एवं सद्योजात पीतद्युति कन्या ही उत्तानशायी होकर एक ही पालनेमें किलकते दृष्टिगोचर होते हैं। वह अपने मनकी बात कहे भी तो किसे ? बडे आश्चर्यकी बात तो यह है कि जबसे यह कन्या जन्मी है, कुन्दवल्लीको अपना गौरवर्ण भी कभी श्यामवर्णका एवं कभी कुन्दनवर्णी अनुभव होता है।

कुन्दवल्ली देख रही है कि असंख्य नन्दतनय एवं कीर्त्तिकुमारी पालनेमें किलकते, अपने पदाङ्गुष्ठको मुखमें मेले, उडते हुए-से आ रहे हैं। वे रावलनरेशके महलके द्वारपर आकर स्थिर हो जाते हैं, दोनो ही शिशु मुसकानमे विहँसते हैं और हाथ-पैर नचाते हैं।

इधर श्रीदाम कुन्दवल्लीके नेत्रोको भावमें मुँदते देखकर उसे झकझोरकर कहता है -'बहिन, देख! मेरी सद्योजात बहिनको कैसे-कैसे उपहार ब्रजसुन्दरियाँ दे रही हैं। देख, न !'

कुन्दवल्ली अविलम्ब उत्तर देती है -'श्रीभैया ! मैं तो पूरी अन्धी हो गयी हूँ, अन्य दृश्योंसे पूर्णतया अन्धी ! मुझे तो मात्र सद्योजात कन्या एवं शिशु नन्दतनय ही सर्वत्र दिख रहे हैं। मैं तो केवल-केवल उनको ही देख पा रही हूँ। तुम्हारे स्थानपर भी मैं तो उन्हें ही देख रही हूँ। अवश्य, तुम्हारी बोली मुझे सुनाई पडती है।'

श्रीदाम चकित हो उठता है। कुन्दवल्ली बहिनकी ऐसी दशा देखकर उसे अपार सुख हो रहा है। वह कृतकृत्य हो उठता है। वह कुन्दवल्लीसे कहता है-'बहिन ! सचमुच ही तुम धन्य हो ! मैं तो सदैव तुम्हारा भृत्यवत् अनुगत रहूँगा। तुम्हारा चरित्र सचमुच विलक्षण है। जगन्माताकी तुमपर कृपा है। देखो! तुम देख नहीं पाती हो तो मुझसे इस समग्र उत्सवका वर्णन तो सुन लो।'

श्रीदाम कुन्दवल्लीको सभी उत्सवका हाल सुनाता है -'देख, बहिन ! अपने नाना रावलनरेशने तोरणद्वारकी कैसी सुन्दर सज्जा करायी है। एक अतिशय उच्च खंभपर मणिद्वीप प्रज्ज्वलित हो रहा है। सूर्यका प्रखर प्रकाश भी इस दीपकी ज्योतिको मन्द नहीं कर पा रहा है। और इसी दीपकी ज्योतिके द्वारा महाराजा महीभानुको वृषभानुपुरमें रावलमें मनाये जाने वाले उत्सवकी सूचना दी जा रही है। दूतको भी द्रुतगामी अश्वमें वृषभानुपुर सूचनार्थ भेज दिया गया है।'

'देख बहिन ! ब्राह्मण आशीर्वादात्मक मङ्गलवचनोंका पाठ कर रहे हैं और उनसे कुछ ही दूरीपर सूत पुराणपाठ कर रहे हैं। अहा ! मेरे पिता और दादाजीकी वंशावलिका कीर्त्तन हो रहा है। इधर बदीजन स्तुति कर रहे हैं और इधर ब्राह्मणोंके पीछे सङ्गीतज्ञोका दल सुमधुर रागिनी आलाप रहा है। उनसे कुछ दूरीपर भेरी बजानेवालोंका दल है। इधर कुछ हटकर दुन्दुभियॉ बज रही हैं। इधर बन्दीजनोंके ठीक सामने शहनाई-वादन हो रहा है। चारों ओर रसकी वर्षा हो रही है। मध्यमे राजपथ है, जिसपर गौओं, गोपों और गोपाङ्गनाओकी भीड उमडी चली आ रही है।

इस प्रकार रावलमें कीर्त्तिदानन्दिनीके जन्मोत्सवपर रावलमे वहॉकी प्रजामें आनन्दोल्लासजन्य भावोंकी जैसी ऑधी उठी, उसका यत्किञ्चित् वर्णन दो वर्षका बालक श्रीदाम जितना सुना सका अपनी बहिन कुन्दवल्लीको सुनाता है।

**(पाठकोंको राधाष्टमी महोत्सवके विस्तृत वर्णन जाननेकी जिज्ञासा हो तो महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा - पंचम खण्ड पृष्ठ सं २१०से २४२में देखें।)**

त्रयोदशी पर्यंत कुन्दवल्लीको ज्ञान ही नहीं रहता कि कब प्रभात होता है और कब संध्या आती है। उसके चित्तमें तो एक ही दृश्य स्थिर है, नीलमयङ्क नन्दतनूज एवं सद्योजात कुन्दनवर्णी कुमारी राधा पद्मरागमणि पर्यंकमें उत्तानशायी लेटे हुए किलक रहे हैं।

## *रावलमें संक्रान्ति पर्यंत वास*

भावविभोर कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम कीर्त्तिदा मैयाके साथ ही संक्रान्तिपर्यंत रावलमे ही रहते हैं। यद्यपि बाह्य लोकदृष्टिमे तो नन्दतनय यशोदा एव नन्दरायके सहित दूसरे दिवस ही वृषभानुपुरमें प्रस्थान कर जाते हैं, किन्तु यदि कोई कुन्दवल्ली-सरीखी भावकी ऑखें पा जाय तो उसे सत्य ही यह दिखाई देगा कि नन्दतनय कुन्दनवर्णी विद्युल्लता राधाके पार्श्वमें ही उसके ही पालनेमें सदा किलक रहे हैं। यह नवजलधर भला विद्युल्लतासे कभी पृथक् हो सकता है ? हो ही नहीं सकता। विद्युल्लताका शाश्वत निवास तो नीलघन मेघ है और मेघ विद्युल्लताका एक स्वरूप है। मात्र लीलाके लिये ये दो पृथक् दिखतें हैं।

रावलमें महारानी कीर्त्तिदा मकरसंक्रान्तितक रहती है। कुन्दवल्ली रात-दिवस अपने चिन्तनमें ही नेत्र निमीलित किये रहती है। यह अवश्य होता है कि यदि उसकी माता उसे सद्योजात कीर्त्तिदा-कन्याको पालना झुलानेकी सेवा दे देती है तो वह बहुत ही सजग जागरूक रहकर सेवा करती है। उसे आश्चर्य होता है कि यह सद्योजात राधा सदा निमीलित-नेत्र ही क्यो बनी रहती है? दु.खसे कातर हुई वह सद्योजात बालिकासे प्रार्थना कर बैठती है – 'मेरी बहिन ! एक बार मेरे मुखकी ओर देख लो, न ! मै तुम्हारी बडी बहिन हूँ। मैं तुमसे भीख मॉगती हूँ। तुम नेत्र खोलकर देख लोगी तो मुझे जीवनका सर्वाधिक सुख मिल जायगा।' किन्तु कुन्दवल्लीकी प्रार्थना व्यर्थ ही जाती है।

हॉ, इतना अवश्य होता है कि उसके सम्मुख उसी समय दिव्य माला, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन एवं दिव्य मणिमय आभूषणोंसे सुसज्जित जगन्माता प्रकट हो जाती हैं और मुसकाने लगती हैं। कुन्दवल्लीको वे इस प्रार्थनासे निवृत्त कर देती हैं।

काल तो गतिशील है ही। सच बात तो यह है कि ब्रजपुरके काल एवं देश तो सदैव प्रतीक्षा ही करते रहते हैं कि लीलामहाशक्ति जगन्माता त्रिपुरसुन्दरीके मनमें किस सङ्कल्पका उदय हो और वे तत्क्षण ही वैसे बन जावें। लीलामहाशक्तिके सङ्कल्पके अनुरूप ही इस समग्र ब्रजक्षेत्रके देश-काल अपना रूप धारण कर लेते हैं। वे उसी सॉचेमें ढल जाते हैं। और यह भी सत्य है कि चौरासी कोसके इस ब्रजक्षेत्रमें न तो देशमें एवं न ही कालमें कहीं विकार एवं परिणाम परिणमित होता है। क्योंकि यहॉं स्वयं लीलामहाशक्तिका ही प्रकाश काल एवं देशके रूपमें है।

## *कुन्दवल्लीमें दूरदर्शन-सिद्धि*

कुन्दवल्लीकी विलक्षण भावदशा है। उसपर जगन्माताकी ऐसी विलक्षण कृपा है कि रावल ग्राममे नन्दव्रजसे पाँच कोस दूर रहते हुए भी नन्दव्रजका देश, नन्दभवनमें घटित होनेवाली समस्त लीला उसके नयनोंमें प्रकाशित हो उठती है। मानो वह एक स्वरूपसे तो यहाँ कीर्तिदाकन्या राधाके पालनेके पार्श्व में आसीन हुई उसका पालना हिला रही होती है और साथ ही ठीक दूसरे स्वरूपसे नन्दतनय नीलमणिके पास नन्दभवनमें स्थित हो जाती है। उसके समक्ष देशगत दूरी सिमटकर व्यवधानरहित हो जाती है।

हाँ, कृष्ण चतुर्दशीके दिनकी ही तो बात है। त्रयोदशीकी रात्रिमें षष्ठी-पूजन करके चतुर्दशीके द्वितीय प्रहरमें ही तो सभी लोग रावल पहुँचे थे। पहुँचते-पहुँचते ही कीर्तिदा मौसीसे कुन्दवल्ली निवेदन कर उठी थी। वह कीर्तिदाको सदैव मौसी महारानी ही कहती है। निरे प्रातः ही वह अपनी मौसी महारानीके पास ठुमकती पहुँची थी – 'मौसी महारानी ! नन्दभदनमें राक्षसी मायाविनी एक अति मनोहर रमणीके रूपमें आयी है। उसके शरीरसे सौन्दर्यका स्रोत झर रहा है। मौसीजी ! मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ – सुरपुरवासिनी अप्सराओंका समस्त सौन्दर्य एकत्र होकर उस राक्षसीके शरीरमें आगया है। ऐसे मोहन रूपसे सुसज्जित हुई वह नन्दपुरीके बहिर्द्वारतक पहुँच गयी है। आप नन्दनन्दनकी रक्षाके लिये जगन्मातासे प्रार्थना करें।"

"मौसी महारानी ! प्रहरीगण तो उसे शोभामयी त्रैलाक्यलक्ष्मी ही समझ बैठे हैं। उसकी लहराती हुई सुन्दर वेणीमें मल्लिका पुष्प गुम्फित हैं, हिलते हुए कर्णकुण्डलोसे उसकी केशराशि दमक रही है। होठोंपर उसके रम्य मुसकान है। स्मित-समन्वित वक्र कटाक्ष-निक्षेपसे वह ब्रजवासियोंका मन हरण कर चुकी है। एक हाथमे वह कमलपुष्प लिये वह सभीको विमुग्ध कर रही है। यहाँ तक कि उसके बाह्य रूपपर मैया यशोदा एव रोहिणी भी मुग्ध हो गयी हैं।"

'मौसी महारानी ! वह पिशाची सबको मोहितकर मन-ही-मन उल्लसित है। वह अपनेको मथुरावासिनी ब्राह्मणी बतला रही है और नीलमयङ्क यशोदातनयको अपने स्तनोंका दूध पिलाने जा रही है। देखो, देखो, जिन स्तनोंके दूधको वह अमृत बतला रही है, उसमें तो कालकूट विष है। मौसी महारानी ! नीलमणि नन्दतनूजकी रक्षा करो ! हे जगन्माता! त्राहि-त्राहि ! " कहती कुन्दवल्ली मौसी महारानीसे लिपट गयी थी।

पहले तो बच्चीकी बातोंको कीर्तिदा एवं गुरुजनोंने मात्र कोई आवेश ही समझा था परन्तु दूसरे ही दिवस जब नन्दभवनसे आये दूतने सारी घटनाकी पुष्टि कर दी तभी लोगोको विश्वास हो गया कि सचमुच ही कुन्दवल्लीमें दूरदर्शनकी सिद्धि जागृत् हो उठी है।

इसी प्रकार राधाजन्मोत्सवके पन्द्रह दिवस पश्चात् ही कुन्दवल्ली पुनः अपनी मौसीसे कह उठती है–

"मौसी महारानी ! सिरपर कलसी रखकर ब्रजरानी यमुनातटपर जा रही हैं। वे अभ्यागत ब्राह्मणको देवपुरुष मान रही हैं। किन्तु वह तो नीलमयङ्क नन्दतनयको मार डालनेकी अभिसन्धिसे आया है। वह जगत्पूज्य ब्राह्मण नहीं है, उसका कलेवर मात्र ब्राह्मणका है, वस्तुतः तो उसके सम्पूर्ण कर्म राक्षसके हैं।"

" ओह ! भोली यशोदाके जानेके पश्चात् रोहिणी मैया भी भगवान् नारायणका प्रसाद निर्माण करने पाकशालाकी ओर चल पड़ी हैं। नन्दतनय एकाकी ही पालनेमें सो रहे हैं। हतभाग्य ! ब्रजेन्द्र नन्दराय भी गोष्ठमें गायोंकी सम्हाल करने चले गये हैं। दासियाँ भी दधिमन्थन आदि कार्योंमें संलग्न हैं। "

'ओह ! जगन्माता रक्षा करो, त्राहि ! त्राहि !' कहती कुन्दवल्ली अपनी मौसी महारानी कीर्तिदासे लिपट जाती है। परन्तु क्षणमें ही वह किलककर ताली बजाती, हँसती अपने पासमें ही खड़े श्रीदाम भैयाके पास आकर नाचने लगती है।

'श्रीभैया ! जगन्माताने विलक्षण तमाशा कर दिया। देखो न ! नन्दतनयका कलेवर ज्यों-का-त्यो रहा, हाथ भी वैसे ही छोटे-छोटे, परम सुकोमल ! किन्तु ज्योंही वह नीच ब्राह्मण लपककर शिशुके पालनेके पास उसे मारने आया, दूसरे ही क्षण उसे जगन्माताने ऐसा करारा झटका दिया कि वह पृथ्वीपर गिर पडा। उसके पैर धरतीसे ऐसे चिपक गये मानो उनमें कीलें जड दी गयी हों। वह टस-से-मस नहीं हो सका। जय हो ! अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया की ! उसकी जीभ ऐंठ गयी। अब तो उसके बोलनेकी शक्ति ही जाती रही। फिर अपने आप नवनीतके भाण्ड फूटने लगे। फिर उनका दही एवं मक्खन, श्रीधरके शरीर एवं मुखमें लिप्त हो गया।श्रीभैया! ऐसा तमाशा हुआ ...''

और कुन्दवल्ली ताली बजाकर नाचने लगी थी। फिर नाचती-नाचती अपनी मौसी महारानीसे कहने लगी - 'मौसी ! इधर श्रीधर विप्रका सारा कलेवर दधिसे नहाया और उधर नीलशिशु 'ऊँआ- ऊँआ' करके रोने लगे। वे जोर-जोरसे रोते ही गये। हाथ-पैर पटक-पटककर रोने लगे।'

'पाकशालासे रोहिणी मैया दौडी आयीं। इधर नन्दरानी मैया यशोदा भी यमुनासे गगरी भरकर लौट आई। देखते ही देखते गोपाङ्गनाओकी भीड़ एकत्र हो गयी। यशोदाने अपने नीलमयङ्कको छातीसे चिपका लिया। उसे हृदयसे लगाये यशोदा माखनके टूटे-लुढके भाण्ड और श्रीधरके चुपड़े-लिपे हाथ-मुखको देखने लगीं। सभी ब्राह्मणको धिक्कारने लगे। उसने ऐसा कुकृत्य क्यो किया ? नन्दरायजीको बुलाया गया। उपनन्दजी भी आ गये। सबने मिलकर यही निश्चय किया कि ब्राह्मणको ब्रजपुरकी सीमाके बाहर ससम्मान छोड देना उचित होगा। अरे ! अरे ! कैसा आश्चर्य ! नन्दरानी एवं सभी गोप आ गये तो ब्राह्मणके पैर खुल गये।

''मौसी ! तुमने नीलमयङ्कका 'ऊँआ-ऊँआ' रुदन नहीं सुना ? अरी, वह इतना मधुर स्वरमें रोता है, मानो साक्षात वीणाधारिणी सरस्वती ही वीणावादन कर रही हो। श्रीभैया ! मेरे तो कानोंमें इस रुदनने ही अमृत भर दिया, रे !' कहती कुन्दवल्ली पुनः ताली बजाती ऑगनमें चारों दिशाओंमें घूमती नाचने लगती है। उसे नाचनेके लिये एक गायन भी मिल गया है -

***''बाँभनके मुख बात न आवै ! जीभ होय तो कहि समुझावै।।'***

इन दो पंक्तियोको बोल-बोलकर वह अपने मौसा वृषभानुजी, उसके स्वयंके पिता सत्यभानु एवं सभीके सामने नाच-नाचकर बार-बार घटनाका उल्लेख कर रही है।

इसी प्रकार कुन्दवल्ली नन्दतनूजपर आये आसुरी प्रकोपोंका सभी वर्णन दूर बैठी ही अपनी मौसीसे कह देती है, मानो वह उन सबकी साक्षी हो।

## *बृषभानुपुर प्रस्थान*

महारानी कीर्त्तिदाको भगवती पौर्णमासी देवीका ऐसा ही आदेश था कि कीर्त्तिदा प्रसवोपरान्त सौ दिनोतक अपने पितृगृह रावलमें ही रहे। यद्यपि सद्योजात कन्या पौष कृष्णमें ही सौ दिवसकी हो गयी थी किन्तु मलमास होनेके कारण रावलनरेशने मकरसंक्रान्ति करके ही अपनी पुत्री एवं दौहित्रीको वृषभानुपुर भेजना उचित समझा।

आज मकर-संक्रान्ति है। महारानी कीर्त्तिदा आज तीसरी बार यमुना-स्नान करने जा रही हैं। प्रथम बार तो तब, जब कन्या दस दिवसकी हो गयी थी एवं प्रसूतिका सूतक उतारने महारानीने यमुनास्नान किया था। दूसरी बार, जब कन्या एक मासकी हो गयी तो कन्याको ही यमुना जल-पान कराने महारानी ले गयी थी। आज संक्रान्तिपर्वपर कन्याको यमुना-स्नान करानेका मन करके कीर्त्तिदा सभी गोपाङ्गनाओं सहित यमुना गयी हैं।

रावलनरेशके महलके पिछवाड़े ही उपवनको संस्पर्श करती हुई यमुना बहती है। उपवनमें यमुना किनारे-किनारे सुदूरतक कल्पवृक्षोंकी पंक्तियाँ लगी हैं। बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त एवं शिशिर - इन छहों ऋतुओंमें समान शोभासे

वृक्षावलि अलंकृत रहती हैं। यमुनाका निर्मल जल किनारेपर लगी फूली हुई माधवी लतासे परिव्याप्त है। उनपर प्रस्फुटित कुसुमसमूहोंसे मकरन्द झर रहा है। उनके मधुगन्धको लेकर मन्द समीर प्रवाहित हो रहा है। गुन-गुन करती भ्रमरावली विचरण कर रही है। भ्रमरोंका गुञ्जन इतना मधुर है कि कोकिल, पारावत, चातक, हंस, शुक, पिक सभी शान्त होकर उनके गुन-गुन शब्दको श्रवण करनेमें शान्त हो जाते हैं। तुलसीकी पंक्तियोंसे उपवन सर्वत्र सुशोभित है।

एक सचल पालनेमें श्रीराधाको कीर्त्तिदा महारानी यमुनाघाटपर ही लेटा देती हैं। वे स्नानके पूर्व यमुना-पूजन करने जा रही हैं। पालनेमें उत्तानशायी होकर कीर्त्तिकुमारी लेटी हैं। धात्रीगण गीत गा-गाकर झुनझुने बजा-बजाकर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रही हैं। कीर्त्तिदा एवं सभी रावल-परिवारके लोग चिन्तित हैं कि साढे तीन मास वयकी हो जानेके पश्चात् भी सद्योजात कन्या सदैव नेत्र निमीलित ही रखती है । वह कभी भी अपने नेत्र उन्मीलित नहीं करती। मात्र जन्मके समय एक बार जब यशोदा अपने नवजात नीलमयङ्क शिशुको लेकर आयी थी, और दोनो शिशुओंको एक पालनेमें ही यशोदाने लिटा दिया था, मात्र उस समय ही कन्याने अपने विशाल नेत्र उन्मीलित किये थे। उसके उस समय नेत्र खोलने एवं चतुर्दिक् निहारनेसे यह तो प्रमाणित हो ही गया था कि बालिकाके विकसित अम्बुजके समान नेत्र स्वस्थ है। किन्तु उस शिशुके प्रस्थानके पश्चात् ज्योही कन्या नेत्र निमीलित करती है, फिर अबतक एक बार भी उसने उन्हें खोले ही नहीं हैं। धात्रीगणोंने नेत्रोंकी पलके उलट-पुलटकर कितनी ही बार चेष्टा की कि कन्या अपने नेत्र खोल दे परन्तु कन्या न तो किसी अन्यको देखती है, न ही नेत्र खोलती है। कीर्त्तिदा यही सोचकर सन्तोष कर लेती है कि महादेवी जगन्माताके नियन्त्रणमे ही अनादि कालसे सबकुछ नियमित रूपसे यथायोग्य होता आया है, एवं अनन्तकालतक होता रहेगा। उन परम मङ्गलमयीकी जो इच्छा हो, वही हो। फिर भी पुत्रीके मगलकी चिरवर्धनशील लालसा कीर्त्तिदाको चिन्तित कर ही देती है।

आज प्रथम बार कन्याको यमुना-स्नान करानेका सङ्कल्प किया है। पुर-महिलाओंसे वेष्टित कीर्त्तिदा महारानी सर्वप्रथम पुत्रीके कलेवरको हल्दी-तेलसे उबटती है। कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम पास खडे हँस रहे हैं। इन दोनोंका भी हल्दी-तेल चुपडकर उबटन किया गया है। पीले-पीले कलेवर लिये दोनों बालक खूब उल्लासमें उछल रहे हैं। कीर्त्तिमती श्रीदाम एवं कुन्दवल्लीको यमुना-स्नान करा रही है। कीर्त्तिदा किञ्चित् उष्णवारिसे कन्याका सर्वाङ्ग स्नान करा रही है। फिर उसका अपने आँचलसे अङ्ग-सम्मार्जन करती है। पश्चात् गोदमे लेकर कन्याके प्रशस्त भालपर कुंकुम-कस्तूरीसे बिन्दु लगाती है। तदनन्तर अपनी अनामिका अँगुली अच्छी तरहसे प्रक्षालन करके, पौंछकर उससे काजल उठाकर भगवतीका स्मरण करती हुई कन्याके निमीलित नेत्रोंको आँज देती है। नयन आँजते समय कन्या रोने लगती है। महारानी उत्फुल्ल नेत्रोंसे एक बार पुत्रीको निहारकर उसके मुखमें अपना स्तनाग्र दे देती है। उस समय कीर्त्तिकुमारीके विद्युन्मालाके सदृश कुन्दनद्युति-विनिन्दक अङ्गोंकी शोभा देख-देखकर पुर-महिलाएँ सुखातिरेकसे आत्मविस्मृत-सी होने लगती हैं। इधर कीर्त्तिकुमार श्रीभैया एव कुन्दवल्ली भी पूर्णतया अलंकृत एवं सुसज्जित हो जाते हैं।

ब्राह्मण आते हैं। हाथोंमें कुशपुञ्ज लेकर, उसे शान्ति-कुम्भजलसे आर्द्र बना-बनाकर मन्त्रोच्चारण करते हुए श्रीभैया, कुन्दवल्ली एवं नवजात कन्याके अङ्गोंका जलबिन्दुओंसे प्रोक्षण करते हैं। प्रोक्षणके समय ही विद्युल्लता-सी सद्योजात कन्याके नेत्रोंमे निद्राका संचार होने लगता है। उसके नेत्र तो निमीलित रहते ही हैं, वह दोनों हाथोंसे जननीका स्तन धारण कियेहुए ही उसका वात्सल्य-प्रेम-पीयूष पान करती-करती निद्रादेवीकी गोदमें चली जाती है।

रावलमहलके तोरणद्वारपर शंखध्वनि हो रही है। वेणु, वीणा, मृदङ्ग बज रहे हैं। ब्रजाङ्गनाएँ मङ्गलगान करती कीर्त्तिदाकी प्रतीक्षा कर रही हैं। द्वारपर रथ सजे खडे हैं। वृषभानु महाराज भी महारानीकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

कीर्त्तिदा महारानी निद्रित बालिकाको पालनेमें सुलाकर ब्राह्मणोंको सङ्केत करती है। सभी यमुनातटसे दूर चले जाते हैं। ब्रजाङ्गनाएँ अन्तःपट करकें उनका एवं कीर्त्तिमतीका भी उबटनकर उन दोनोको भी स्नान कराती हैं,

वस्त्रालङ्कार धारण कराती हैं। ब्राह्मणी वयोवृद्ध स्त्रियोंको प्रणामकर दोनों बहिनें उनके हाथोंसे धूप, दीप, नैवेद्य, धान्य, दूर्वा, हरिद्रा, चन्दन, तुलसी आदि माङ्गलिक द्रव्य लेकर यमुना-पूजन करती हैं। वयोवृद्ध ब्राह्मणियोंका चरण-प्रक्षालन करती हैं। सौभाग्यवती ब्राह्मण-दम्पतियोंको काञ्चनपात्रोंमें प्रचुर अन्नराशि, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, बहुमूल्य रत्नाभूषण,, मणिमालाएँ, फिर सभी ब्राह्मणोंको रुचिके अनुसार अगणित गोदान अर्पित करते हुए उनकी पूजा करती हैं। कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम भी अपनी माताओंकी आज्ञानुसार ब्राह्मण-दम्पतिका पूजनकर, उनका आशीर्वाद लेते हैं।

फिर गीत गाती हुई पुर-महिलाओंसे वेष्टित वे महलकी ओर प्रस्थान करती हैं।

महलके यमुनातटवाले द्वारपर ही महाराज वृषभानु महारानीकी प्रतीक्षामें खडे दृष्टिगोचर हो जाते हैं। महाराज वृषभानुके साथ ही महाराजके सचिव सत्यभानु गोप भी हैं। फिर सभी वृषभानु-परिवार एकत्रित हो रावलनरेश बिन्दुकी यज्ञशालामें जाकर उन्हें प्रणामकर उनसे विदा ग्रहण करते हैं।

प्रासादके मुख्यद्वारपर एक अत्यन्त वृहदाकार शकट विशालकाय बलीवर्दोंसे जुता खडा है। शकट स्तंभोंसे सन्नद्ध एक अतिशय सुन्दर दोलिकामञ्च (पालना) टँगा है। पालनेके पाये प्रवाल-निर्मित हैं। पट्टियाँ मरकतमणि-रचित हैं, उसमें अरुण क्षोम (लाल रेशम) की डोरी एवं फीते हैं। तूल (रूई) भरी तोसक है। चारों ओर तूलनिर्मित तकिये लगे हैं। इसी पालनेमें कन्याको महारानी सुला देती हैं। महारानीके पीछे-पीछे श्रीदाम एवं कुन्दवल्ली आ रहे थे। दोनोंको गोदमें लेकर कीर्तिमती शकटपर कीर्त्तिकुमारीके पास बैठा देती है। अपनी सोनजुहीके पास बैठनेसे कुन्दवल्ली अतिशय प्रसन्न है। तत्पश्चात् शकटपर कीर्त्तिमती एवं महारानी बैठ जाती हैं।

महारानीके रथके आगे एक और रथ है, जिसपर महाराज आसीन हो जाते हैं। पीछे अनेक दासियोंके रथ हैं। सबसे आगे धनुषधारी रक्षक रथी हैं। पीछे भी भाला लिये सैनिक अश्वोंपर सवार हैं।

वेदज्ञ ब्राह्मण धान्य, दूर्वा, मङ्गलघट लिये स्वस्तिवाचन-पाठ कर रहे हैं। काञ्चनपात्रोंमें सजी अन्न-वस्त्र-आभूषणादि सामग्रीको महाराज स्पर्शकर ब्राह्मणोंको दान दे रहे हैं। इसी मङ्गल वेलामें रथमें महाराज-महारानी वृषभानुपुर-गमन करते हैं।

## *वृषभानुपुरमें देवर्षि नारदजी*

शिशिर एवं बसन्तकी सन्धिका प्रभात हुआ है। क्रमशः सूर्योदय होता है। मुक्ता-जैसे ओसकण सर्वत्र पडे चमक रहे हैं। ब्रजके वनप्रान्तरकी ओटसे छन-छनकर आती हुई किरणोंके आलोकसे वृषभानुभवन उद्भासित होने लगता है। प्रातः-ही-प्रात उल्लासभरे महाराज वृषभानु तोरणद्वारपर खडे गोपूजन करके ब्राह्मणोंका पूजन करनेका उपक्रम बना रहे हैं। नक्षत्र मासकी गणनानुसार कीर्त्तिकुमारी आज छ. मासकी हो चुकी हैं।

वृषभानु महाराजको चिन्ता है, कन्या सदैव अपने नेत्र निमीलित ही रखती है। एक क्षणके लिये भी उसके नेत्र उन्मीलित नहीं होते। धात्रीगणोंकी उक्ति है कि कन्याके नेत्रोंमें कहीं कोई दोष नहीं। तब कन्या अपने नेत्रोंसे अपनी मातापर भी दृष्टि क्यों नहीं डालती ? वह अन्य लोगोंकी बातें भी सुनती नहीं, सदैव उन्मादिनी-सी रहती है। अब तो वह छ. मासकी हो चुकी है। छ मासकी बालिकाको तो अपने माता-पिता-भाई आदिकी पहचान भी हो जानी चाहिये, परन्तु यह बालिका तो बस, उन्मनी-सी शान्त लेटी रहती है।

इधर तो महाराज बृषभानु एवं उनके परिजन इस चिन्तामें हैं, उधर वीणाकी झङ्कारपर हरिगुणगान करते देवर्षि नारदको भगवती योगमाया ब्रजमें भेज देती हैं। वे नन्दव्रजमें नन्दभवन चले जाते हैं। वहाँ नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके वे दर्शन करते हैं। देखते ही मुनिकी दशा विचित्र हो जाती है।

ब्रह्मवित्-शिरोमणि नारदकी अन्तरात्मामें नन्दतनयको निहारकर एक अभिनव प्रकाशका उदय हो उठता है। उस प्रकाशसे आलोकित ब्रह्मर्षि नारदका मन अनेक उद्भावनाएँ करने लगता है -- 'ओह ! मैं यह क्या देख रहा हूँ ? क्या यह अनादि मोहान्धकारको सर्वथा नष्ट करदेनेवाला विशुद्ध ब्रह्मरूप रत्न-प्रदीपका अंकुर है ? अथवा यह ईश्वर-प्रतिपादक समस्त उपनिषदोका प्रामाण्य ही शरीर ग्रहणकर मूर्त्त हो गया है ? क्या यह हम सभीके सौभाग्यका प्रसून प्रस्फुटित हुआ है ? ओह ! निश्चय ही जिसे लोग ब्रह्म कहते हैं, कुछ मनीषी जगत्कर्त्ता मानते हैं, कुछ जिसे परमात्मा कहकर संङ्केतित करते हैं, कुछ श्रेष्ठ पुरुष जिन्हे 'भगवान्' प्रतिपादित करते हैं, जिनका प्रभाव देश-काल-परिच्छिन्न नहीं है, वही देव नन्दमहिषीकी गोदमें परिच्छिन्न, सीमाबद्ध बना दृष्टिगोचर हो रहा है। ओह ! यह कितना आश्चर्य है।'

श्रीनारदजी दर्शन करते हैं कि स्वर्णके पालनेपर, जिसपर तूलपुष्ट रेशमका गद्दा बिछा है, छोटे-छोटे लघु उपधान तकिये लगे हैं,नन्दनन्दन किलक रहे हैं। उनकी चितवन अतिशय भोली है। काली-काली अलके कन्धोपर बिखर रही हैं। वे मन्द-मन्द मुसका देते हैं, जिससे उनके नीचेके दो दॉत झलक पड़ते हैं। उनकी छविसे नन्दभवन उद्भासित हो रहा है। नग्न बालरूपमें भगवान् अच्युतको देख नारदजीको बहुत ही हर्ष होता है।

नन्दादि सभी गोप नारायण-बुद्धिसे मुनिको प्रणाम करते हैं। सभी गोप मिलकर उनकी अभ्यर्चना करते हैं।

इसके पश्चात् नारदजी विचार करते हैं कि जब स्वयं गोलोकेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र भूतलपर अवतरित हुए हैं, तो गोलोकेश्वरी श्रीराधा भी कहीं-न-कहीं गोपीरूपमें अवश्य आयी हैं।

श्रीराधाको ढूँढते-ढूँढते देवर्षि थक जाते हैं। देवर्षिका दिव्य ज्ञान कुण्ठित हो जाता है। सर्वज्ञ नारदजीको श्रीराधाका अनुसंधान ही नहीं मिलता। देवर्षि ब्रजके प्रत्येक गृहमें जहॉ किसी कन्याका जन्म हुआ है, जा-जाकर अनुसंधान करते हैं किन्तु निराशा ही उनके हाथ लगती है।

श्रीनारदजीका व्रजमण्डलमें यह भ्रमण कदाचित् इसीलिये है कि भगवती महादेवी योगमाया देवर्षि नारदको निमित्त बनाकर राधा-दर्शनकी यह साधना जगत्को बता रही हों कि पहले श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। उनके दर्शनोंसे ही श्रीराधाके दर्शनकी इच्छा जागृत् होती है। फिर राधाको पानेके लिये व्याकुल होकर ब्रजकी गलियोंमें भटकना पडता है। तब कहीं जाकर श्रीराधाकी किसी सखीकी कृपाप्राप्ति होती है। अन्तमे उस सखीकी कृपासे श्रीराधातक किसी साधककी गति होती है। चाहे कोई कितना ही बडा महर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि हो, रसकी परिपाटीका जो पथ निर्धारितं है, उस पथका अनुसरण तो करना ही पड़ता है।

अस्तु, घूमते-घूमते देवर्षि वृषभानु-प्रासादके सामने आकर खडे हो जाते हैं। वहॉ उन्हे नन्हे बालकोंमें क्रीडा करते कुमार श्रीदाम और उसकी भगिनी कुन्दवल्ली मिल जाती है। संस्कारी बालक श्रीदाम महर्षिको प्रणाम कर अपना गोत्रोच्चार करता है एव अपनी सक्षिप्त वंशावली बताता है। कुन्दवल्ली तो सीधे देवर्षिका हाथ पकडकर कहती है -'ऋषिवर ! आप अवश्य नन्दव्रज होकर आये हैं, मै सब जानती हूँ। जगन्माताने मुझे सूचित कर दिया है। आपने नीलमयङ्क नन्दतनूजके भी दर्शन किये हैं। अब आप हमारी सोनजुहीको देखना चाहते हैं। परन्तु जबतक मेरी एक शर्त्त पूरी नहीं करेंगे, मैं मेरी सोनजुहीतक आपको कदापि नहीं जाने दूँगी।' कुन्दवल्लीकी बातका प्रतिवाद करता श्रीदाम अति विनयपूर्वक कहता है -'देवर्षि ! इसे क्षमा करें, जगन्माताकी लाडिली होनेसे यह ढीठ हो गयी है। चलिये, मैं मेरे पिताजीको बुलाकर लाता हूँ।' श्रीदाम दौडकर अपने पिता महाराज वृषभानुको ले आता है। वे श्रीनारदजीको उनकी ब्रह्मवीणासे पहचानकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् गिर जाते हैं।

विधिवत् पाद्य-अर्घ्य-पूजा करके देवर्षिको प्रसन्न अनुभवकर वृषभानु अपने पुत्रसे उन्हें प्रणाम करवाते हैं, फिर मुनिके चरणोंमें ही उसे डाल देते हैं। मुनि तो पहले ही उसे देखकर स्नेहाश्रुसे भरे होते हैं। फिर कुन्दवल्लीको भी प्रणाम

करवाते हैं। मुनि कुन्दवल्लीको भी हृदयसे लगा लेते हैं। फिर वे भविष्य बतलाते हुए कहते हैं -'बृषभानु ! तुम्हारे पुत्रके अतुलनीय प्रभावको इस जगत्‌में कोई नहीं जानता। यह नन्दनन्दन श्रीकृष्णका प्राणप्रिय सखा होगा। और यह चञ्चल बालिका तो नन्दतनयकी अति मनोरम रसमयी लीलाकी विशेष सूत्रधारिणी ही होगी। इसमें सर्वज्ञताशक्ति सदैव सुप्रकाशित रहेगी और यह जहाँ, जिस समय, जिस किसीको भी अपने दृष्टिबिध एवं सङ्कल्पसे जो दृश्य दिखाना चाहेगी, दिखानेमें समर्थ होगी।'

'तो क्या रासेश्वरी श्रीराधा यहाँ भी नहीं हैं ? बृषभानु उन्हें मेरे सम्मुख लाया क्यों नहीं ?' यह सोचकर निराश-से देवर्षि चलनेको उद्यत होते हैं। उसी समय कुन्दवल्ली बोल उठती है -'देवर्षि ! मेरी एक सोनेकी पुतली-सी बहिन है। सुन्दर वह इतनी है, मानो सौन्दर्यकी खानि हो। परन्तु उसके दर्शन मैं आपको तभी कराऊँगी जब उसकी आँखें उन्मीलित करनेका कोई मंत्र बतावेंगे। वह सदैव अपने नेत्र निमीलित ही रखती है। अपनी माताका दूध भी वह नेत्र बन्दकर ही पीती है। वह किसीकी बोली भी नहीं सुनती। ऐसा लगता है, उसके कानोंमें जगचर्चा प्रवेश ही नहीं कर पाती। इसलिये हे भगवत्तम ! आपसे मैंने पहले ही कहा था, मेरी प्रार्थना है एक बार उसपर अपनी सुप्रसन्न दृष्टि डालकर उसे प्रकृतिस्थ कर दें। बस, इतनी ही मेरी आपसे शर्त्त है।'

यह कहती कुन्दवल्ली नारदजीका हाथ पकडे-पकडे उन्हें अन्तःपुरमें ले जाती है। महाराज बृषभानुजी एवं श्रीदाम भी बालिकाकी हठभरी प्रीतियुक्त बातें सुनकर उनके पीछे-पीछे विनीत भावसे चल पड़ते हैं। अन्तःपुरमें प्रवेश करते ही पद्म-पर्यंकमें लेटी स्वर्णनिर्मित सजीव सुन्दरतम प्रतिमा-सी एक बालिकाको देखते ही नारदजीका तो धैर्य ही जाता रहता है। कुन्दवल्ली ताली बजाकर नाच उठती है -'देवर्षि ! यही है मेरी सोनजुही ! यह मात्र ऊपरसे ही कुन्दनवर्णी है, इसकी खोलके भीतर तो नीलमयङ्क पूरा ओतप्रोत है। यह आठों याम उसे ही निमीलित नेत्र निहारती रहती है, उसे ही सुनती है और उसीमें इसके प्राण सदैव समाहित रहते हैं।'

देवर्षि नारद तो बालिकाकी पूरी बात सुन ही नहीं पाते। उनका तो उस कुन्दनद्युति कन्याके दर्शन मात्रसे समग्र धैर्य ही जाता रहता है। अपनेको वे किसी भी प्रकार संवरण नहीं कर पाते हैं। परमानन्द-सिन्धुकी लहरें उन्हें लपेट लेती हैं, उनके प्राणोंमें अननुभूतपूर्व अद्भुत प्रेमका सञ्चार हो जाता है, वे बालिकाको अपने हृदयसे सटाये ही बाह्यज्ञानशून्य हो जाते हैं। दो घड़ीके लिये तो उनकी दशा ऐसी हो जाती है, मानो उनका शरीर मात्र एक शिलाखण्ड हो। दो घड़ीके पश्चात् जाकर कहीं उन्हें बाह्यज्ञान होता है। बालिकाका अप्रतिम सौन्दर्य निहारकर उनके विस्मयकी सीमा नहीं रहती। वे मन-ही-मन सोचने लगते हैं -'ओह ! मैंने स्वच्छन्दचारी होकर समस्त लोकोंमें भ्रमण किया, परन्तु इसके समान अलौकिक सौन्दर्यमयी कन्याके दर्शन तो मुझे कहीं नहीं हुए। मेरी अबाध गति है, ब्रह्मलोक, रुद्रलोक, इन्द्रलोक - इनमें कहीं भी इस शोभासागरका एक बिन्दु भी मैंने नहीं देखा। महामाया भगवती शैलेन्द्रनन्दिनीके भी दर्शन मैंने किये हैं, उनका सौन्दर्य चराचरमोहन है; किन्तु इतनी सुन्दर तो वे भी नहीं हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति एवं विद्या आदि देवियाँ भी इसके सौन्दर्यकी छायाका भी स्पर्श नहीं कर सकतीं। भगवान् विष्णुके हरविमोहन रूपको भी मैंने देखा है, पर इस अतुल रूपकी तुलनामें कोई, कहीं भी नहीं ठहर पाता। इस बालिकाको देखने मात्रसे गोविन्द-चरणाम्बुजमें मेरी जैसी प्रीति उमड़ी, वैसा आजतक कभी नहीं हुआ। बस, बस, यही श्रीराधा हैं, निश्चय ही ये ही रासेश्वरी हैं।' – देवर्षिका अन्तर्हृदय आलोकित हो उठा।

'बृषभानु ! कुछ क्षणके लिये तुम बाहर चले जाओ; बालिकाके सम्बन्धमें मैं कुछ करना चाहता हूँ।'– गद्गदकण्ठसे देवर्षिने धीरे-धीरे कहा। सरलमति बृषभानु देवर्षिको प्रणामकर बाहर चले आये। एकान्त पाकर नारदने श्रीराधाका स्तवन प्रारंभ किया – 'देवि ! महायोगमयि ! महाप्रभामयि ! महामायेश्वरि ! मेरे महान् सौभाग्यसे, न जाने किन अनन्त शुभ कर्मोंसे रचित सौभाग्यके फलोदय होनेसे तुम मेरे दृष्टिपथमें उतर आयी हो। देवि ! ये तुम्हारे दिव्य अङ्ग अत्यन्त मोहन

हैं। ओह ! इन मधुर अङ्गोंसे माधुर्यका निर्झर झर रहा है। इस मधुरिमाका एक कण ही उस महाद्भुत रसानन्दका सृजन कर रहा है, जिसमें अगणित भक्तगण अनन्त कालतक स्नान करते रहेंगे। देवि ! तुम्हारे इन निमीलित नेत्रोंसे भी सुखकी वर्षा हो रही है, जो नित्य नवीन है। मैं अनुभव कर रहा हूँ, तुम्हारे अन्तर्देशमें सुखका समुद्र लहरा रहा है। उसीकी लहरें तुम्हारे नेत्रोंको निमीलित किये हैं और तुम्हारे इस सौम्य, मधुर मुखमण्डलपर नाच रही हैं।'

देवर्षिकी वाणी कॉप रही है, फिर भी वे स्तवन करते ही जा रहे हैं। 'देवि ! तुम्हीं ब्रह्म हो; सच्चिदानन्दब्रह्मके सत्‌अंशमें स्थित संधिनी शक्तिकी चरम परिणति – विशुद्ध तत्त्व तुम्हीं हो; विशुद्ध सत्त्वमयि ! तुममें ही चिदंशकी संवित्‌शक्ति, सवित्‌की चरम परिणति विद्यात्मिका पराशक्ति – ज्ञानशक्तिका भी निवास है। तुम्हीं आनन्दांशकी ह्लादिनी शक्ति, ह्लादिनीकी भी चरम परिणति महाभावरूपिणी हो, आश्चर्यवैभवमयि ! तुम्हारी एक कलाका भी ज्ञान ब्रह्म, रुद्रतकके लिये कठिन है। फिर योगीन्द्रगणके ध्यानपथमें तो तुम आ ही कैसे सकती हो। मेरी बुद्धिमें तो इतना ही आरहा है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति – ये सभी तुम महेश्वरिके ही अंशमात्र हैं।'

'मायासे ही विशुद्ध रूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सभी तुम्हारी अंशांश मात्र हैं। ईश्वरि ! तुम निस्सन्देह आनन्दमयी शक्ति हो, अवश्य ही वृन्दावनमे श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारे साथ क्रीडा करते हैं। ओह ! देवि ! जब तुम्हारा कौमार रूप ऐसा विश्वविमोहन है, तब वह तरुण रूप न जाने कितना विलक्षण होगा !''

कहते-कहते नारदका कण्ठ रुद्ध होने लगता है। उनके प्राणोंमें राधाके तरुणरूपको देखनेकी प्रबल उत्कण्ठा भर जाती है। वे वहीं पर टँगे मणि-पालनेपर श्रीराधाको लिटा देते हैं और उनकी ओर देखते हुए बारंबार प्रणाम करने लगते हैं।

नारदके अन्तर्हृदयमे मानो कोई कह देता है-'देवर्षे ! श्रीकृष्णकी वन्दना करो, तभी श्रीकृष्ण-प्रियतमाके नेत्र तुम्हारी ओर फिरेंगे।'देवर्षि तत्क्षण ही श्रीकृष्णचन्द्रकी जय-जयकार कर उठते हैं-

***जय कृष्ण मनोहारिन् ! जय वृन्दावनप्रिय !!***
***जय भ्रूभंगललित ! जय वेणुरवाकुल !!***
***जय बर्हकृतोत्तंस ! जय गोपीविमोहन !!***
***जय कुंकुमलिप्तांग ! जय रत्नविभूषण !!***

बस, इसी समय दृश्य बदल जाता है। मणि-पालनेपर विराजित वृषभानुकुमारी अन्तर्हित हो जाती हैं, तथा नारदके सामने किशोरी राधाका आविर्भाव हो जाता है। इतना ही नहीं, दिव्य भूषण-वसनसे सज्जित अगणित सखियाँ भी वहाँ प्रकट हो जाती हैं, श्रीराधाको घेर लेती हैं। वह रूप, वह सौन्दर्य ! – नारदके नेत्र निमेषशून्य एवं अग निश्चेष्ट हो जाते हैं, मानो नारद अन्तिम अवस्थामें जा पहुँचे हों।

राधा-चरणाम्बु-कणिकाका स्पर्श कराकर एक सखी देवर्षिको चैतन्य करती है –

'मुनिवर ! अनन्त सौभाग्यसे श्रीराधाके दर्शन तुम्हें हुए हैं। महाभागवतोंको भी इनके दर्शन दुर्लभ हैं। देखो, अब ये तुम्हारे सामनेसे फिर अन्तर्हित हो जावेंगी। प्रदक्षिणाकरके नमस्कार कर लो। जाओ, गिरिराज-परिसरमें कुसुमसरोवरके तटपर एक अशोकलता फूल रही है। उसके सौरभसे समग्र वृन्दावन सुरभित हो रहा है। वहाँ, उसके नीचे हम सभीको अर्धरात्रिमें तुम देख पाओगे।'

श्रीराधाका वह कैशोर रूप अन्तर्हित हो जाता है। बालरूपसे पालनेपर वे पुनः प्रकट हो जाती हैं।

द्वारपर खड़े वृषभानु, श्रीदाम, कुन्दवल्ली सभी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। अश्रुपूरित रुद्धकण्ठसे देवर्षि उन्हें बुला लेते हैं। वे सभी आ जाते हैं। देवर्षि बोलते हैं -'बृषभानु ! इस बालिकाका ऐसा ही स्वभाव है। देवताओकी भी सामर्थ्य नहीं है कि इसका स्वभाव बदल पावें। किन्तु तुम्हारे भाग्यकी सीमा नहीं। जिस गृहमें तुम्हारी पुत्रीके चरणचिह्न अङ्कित हैं, वहाँ लक्ष्मीसहित नारायण नित्य निवास करते हैं।'

यह कहते-कहते स्खलितगतिसे नारद चल पडते हैं। वीणामें राधा-यशोगानकी लहरी भरते, आँसू बहाते हुए वे अशोकवनकी ओर चले जाते हैं।

## *वसन्तोत्सवमें कुन्दवल्ली*

कुन्दवल्ली तीन वर्ष छ:माह एव चौबीस दिनकी हो चुकी है। उसकी छोटी बहिन राधा भी सोलह मास सत्ताईस प्रभात देख चुकी है। अभी भी उसके नेत्र सदैव निमीलित ही रहते हैं। हाँ, वीणाधारी देवर्षि नारद जिस दिवस आये थे, उसी दिवस कीर्त्तिदारानीकी गोदमें पुत्रीको देखकर प्रेमविवश हुए वृषभानुजी उसे लड़ाने लगे थे। नारदके गानका इतना-सा अंश वृषभानुबाबाके कानमें प्रवेश कर गया था-*'जय कृष्ण मनोहारिन् !* जानकर नहीं, लाड-लडाते समय यों ही उनके मुखसे निकल गया -*'जय कृष्ण मनोहारिन्'* - बस, भानुकुमारी श्रीराधा आँखें खोलकर देखने लगती है। वृषभानुके हर्षका पार नहीं। कीर्त्तिदा आनन्दमें निमग्न हो जाती है। उन्हें तो पुत्रीको प्रकृतिस्थ करनेका मत्र मिल जाता है। अथवा एक अवसर और है, जब उसकी आँखें अपने आप विकसित हो जाती हैं। जब कभी नन्दरानी अपने नीलमणि पुत्रको साथ लेकर वृषभानुपुर आती हैं और उस नीले शिशुका अप्रतिम अङ्ग-सौरभ वृषभानुपुत्रीको प्राप्त होता है। जबतक उस सौरभकी अनुभूति उसे होती रहती है, तबतक उसके दृग-सरोज खुले ही रहते हैं। किन्तु जैसे ही वह नीला शिशु उसके नेत्रोंसे हटता है, राजपुत्रीके नयन अपने आप निमीलित हो जाते हैं।

आज आम्रमञ्जरी-प्राशन-तिथि वसन्तपञ्चमीका आगमन हो गया है। वृषभानुपुर एवं नन्दग्रामके सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष आज यमुनाके किनारे ही नन्दग्राममें एकत्रित हुए हैं। जबसे नन्दनन्दनका प्राकट्य हुआ है, तभीसे महामना नन्दराय और महाराज वृषभानु वर्षके सभी उत्सव सम्मिलित होकर साथ-साथ एक ही स्थानपर मनाया करते हैं। अत: आज भी ब्रजेशगेहिनी यशोदा एवं नन्दराय, महाराज वृषभानु एवं महारानी कीर्त्तिदाके सहित विविध उपचारोंसे पञ्चदेवताओकी एक ही स्थानपर आराधना कर रहे हैं। महर्षि भागुरि एवं शाण्डिल्य दोनो ही ब्राह्मण वैदिक मंत्रोंसे उनसे सविधि देवोपासना करवा रहे हैं। महारानी कीर्त्तिदाने इसीलिये श्रीराधाको सम्हालनेका दायित्व अपनी छोटी बहिन कीर्त्तिमतीपर छोड़ दिया है। कुन्दवल्ली एवं कीर्त्तिमती दोनों ही जब भी श्रीराधाको *'जय कृष्ण मनोहारिन्'* उच्चारणकर सुनाती है वह अपने नेत्र विकसित कर देती है। एवं जैसे ही यह पक्ति समाप्त होती है, वह पुनः अपने नेत्र मूँद लेती है। कुन्दवल्लीको अपनी छोटी सत्रह मासकी बहिनके कर्णविलम्बी नेत्रोंका विकसित होना और निमीलित होना बहुत ही प्रिय लगता है। कुन्दवल्ली तो इधर श्रीराधासे खेल रही है और उधर उसकी मैया कीर्त्तिमती विचार-प्रवाहमें डूब जाती है।

'अहो ! यदि ऐसी ही सुषमाशालिनी, अप्रतिम सुन्दरी, इसीकी एक सहोदरा, सुखकी पुञ्ज कन्या और होती तो ? तब या तो मैं इसे अथवा उस कनिष्ठाको सदा अपने अङ्कमें ही रखती। फिर बहिन यदि इसे अङ्कमें लेती तो उसे मुझे सौंप देती और उसे अपना वात्सल्य-रस-दान करती तो यह मेरी गोदमें होती।'

मनमें इस अभिलाषाके उदित होते ही ज्योंही कीर्त्तिमती विकल होती है कि तत्क्षण ही उसे आकाशवाणी सुनाई पडती है। 'अरी मैया ! तेरा यह मनोरथ त्रिकालसत्यका सङ्केत मात्र है। शीघ्र ही तुम्हें तुम्हारी मनभायी वस्तु मिलेगी ही। इस कल्पलतिका राधाको स्पर्शकर जो भी मङ्गलमय सङ्कल्प किया जाता है, वह पूर्ण होता ही है। तेरा मङ्गल, परम मङ्गल हो।'

कीर्त्तिमतीके तन-मन आनन्द-परिप्लुत हो उठते हैं। उस ओर पञ्चदेवोकी विधिपूर्वक अर्चना सम्पन्न हो जाती है। अब ढफ बजने लगते हैं। आकाश अरुणाभ बन जाता है। अंशुमालीका किरणजाल गुलालसे धुँधला हो उठता है। अबीर एवं गुलालसे रचित आटोप क्रमशः घना-से-घना होता चला जाता है। उस दिवसके अतिशय विशाल जन-समारोहमें नीलमयङ्क नन्दतनय तो हैं ही। बस, उस आकर्षणसे खिंची कुन्दवल्लीके संग नयनोंको मींचने-खोलनेकी क्रीडा करती कीर्त्तिकुमारी राधा ऐसी भावाविष्ट होती है कि कुन्दवल्लीको छोड वैसे ही दृग मूँदे कुछ दूर चली जाती है।

उसके होठोंपर मुसकान तो सदैव ही रहती है। ढफकी तालके साथ वह ताली बजाने लगती है। मन्द-मधुर स्वरमें वह इतनी सुरीली वाणीमें गाने भी लगती है कि कुन्दवल्ली तो उसपर मुग्ध ही हो उठती है। यह मुग्धता मात्र कुन्दवल्लीमें ही नहीं जागती, अपितु लाडिली राधाके मोहक स्वर सभी जन-समुदायको ही उन्मत्ततासे भर देते हैं।

उस होली-क्रीडामें प्रायः सभीको 'मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, मुझे क्या करना है – इन बातोंकी विस्मृति हो जाती है। सबकी अञ्जलि तरल गुलालसे परिपूर्ण होती ही है। सभी अनजानेमें ही उस ओर दौड पडते हैं, जहाँ लाडिली नेत्र बन्द किये खड़ी रसकी सरिताका सृजन कर रही होती है। उस सरितामें नवीन-नवीन लहरोंका सुन्दर आवर्त्त-चित्र स्वतः अङ्कित होने लगता है।

अचानक उस यशोदाके नीलमयङ्क शिशुका, जो मात्र इस बालिकासे पन्द्रह दिवस ही वयस्क है, मधुरातिमधुर स्वर गूँज उठता है – 'अरे ! ठहरो, ठहरो, तुम यह सब क्या कर रहे हो ? वृषभानु महाराजकी बेटी यहीं खडी हैं, और यदि मैं यहाँ नहीं होता तो तुम सबके द्वारा आज यह यहाँ पिस ही गयी होती।' यद्यपि कुन्दवल्ली कीर्त्तिदाकुमारीके पास ही खडी होती है, किन्तु वह तो किसी अन्य लोकमें ही चली गयी होती है।

आभीर-नरेश महाराज नन्दके लाडिलेकी यह चेतावनीका स्वर आनन्दमें मत्त जन-समुदायके एक-एक जनके कर्णपुटोंमें सहसा ध्वनित हो जाता है। इस स्वरसे जहाँ सभी जनप्रवाह, जो जहाँ था, वहीं थम जाता है, किन्तु कुन्दवल्ली तो रसमयताके महासिन्धुमें ही मानो निपतित हो जाती है।

'क्या इसके समस्त अङ्ग नीलमणिसे ही बने हैं ? किन्तु नीलमणि तो कठोर होती है, वह अचल भी होती है, यह तो चलता-फिरता बोलता जीवन्त है ! यह तो नीलपद्मकी पंखुडियोंसे भी सुकुमार है। ओह ! यह कितनी सुधास्रावी मीठी वाणीमें बोलता है। अरे ! मात्र पन्द्रह दिवस ही तो यह मेरी अनुजा राधासे वयस्क है, किन्तु इसपर कैसा अधिकार रखकर इसका अभिभावक हो गया है।'

होली-क्रीडामे नन्दग्रामकी सभी रमणियोंसे घिरी कीर्त्तिदा एवं कीर्त्तिमतीको भी यह नन्दतनयकी वाणी सजग कर देती है। नन्दतनय तो तबतक कुन्दवल्लीसहित कीर्त्तिकुमारी राधाको लेकर उनके पास ही स्त्री-समुदायमें पहुँच जाता है।

नन्दतनयके साथ दोनो पुत्रियों – कुन्दवल्ली एवं राधाको देख महारानी मुसका उठती हैं। वे नन्दतनयसे हँसकर कहती हैं – 'अरे मेरे लाल ! मेरी इन बेटियोंकी सँभाल रखनेवाला मेरा नयनतारा तू ही था, तू ही है एवं आगे भी निरवधि तू ही रहेगा। मेरी पुत्री तुम्हारी ही छायामे नित्य सुरक्षित रहेगी।'

नन्दतनय पुनः उसी मधुर स्वरलहरीमें बोल उठता है – 'अब मुझे कुछ पुरस्कार तो दो, भला ! देखो, यहाँ तुरन्त ही कुछ दे देनेपर तो अल्पमें ही मैं राजी हो जाऊँगा, किन्तु यदि घर ले जाकर पुरस्कार दिया तो फिर तो दूने पुरस्कार बिना मैं सन्तोष करनेवाला नहीं हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि तेरे घर ले चलनेपर उसके पश्चात् तेरी पुत्रीकी ऑखें पुनः कभी निमीलित नहीं होंगी।'

इस आश्वासनके पश्चात् कीर्त्तिदाको और चाहिये भी क्या था ? वह क्षणभरका भी विलम्ब न कर तत्क्षण ही बोल उठती है – 'अरे ! मेरे लाल ! तू मेरे घर चलकर तो देख, मैं तो तुझे अपना सर्वस्व ही सौंप दूँगी और तू चाहे जो मनमानी करना, मैं तुझे रोकूँगी भी नहीं। किन्तु शर्त यही है कि तुझे फिर मेरे घरपर ही रहना पडेगा।'

महारानी कीर्त्तिदा इतना कहते-कहते ठठाकर हँस पडती हैं, और नीलसुन्दरका कर-सरोज वे अपने हाथमें धारण कर लेती हैं। कुन्दवल्लीके मन-मानसमे तो मानो आनन्द-सिन्धु ही उमड पडता है। अब तो वह अनवरत आठों याम ही इस नन्दतनयके पास रहेगी। उसे अपने सुख-वैभवके सम्मुख सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका आनन्द भी तुच्छ अनुभव होने लगता है।

और आश्चर्य ! नीलमयङ्क भी कीर्त्तिदा महारानीके साथ-साथ उसके राजमहलमे रहने चल ही पडता है।

गोपेशगेहिनी यशोदा तो धर्मसङ्कटमे पड जाती है। यद्यपि अपने इस नीलमयङ्क लालकी रुचिकी रक्षाके लिये वह अपना गृह, गोधन, यहॉतक कि अपने पति नन्दरायजी तकको छोडकर उसके पास बृषभानुपुरमें रहनेको मनसे तत्पर है, फिर भी उसके मुखसे ये शब्द फूट पड़ते हैं – 'अरे साँवरे ! फिर मेरे घरको उद्भासित कौन करेगा रे ? तेरे विहीन तो नन्दभवन सूना ही हो जायगा, रे !'

'अरी मैया ! तू इस रहस्यको समझ ही नहीं पा रही है।' नन्दतनय तत्क्षण ही वहाँ पडी एक आरसी उठा लेते हैं, एवं कहने लगते हैं – 'देख मैया ! एक नया खेल मैं कर दे रहा हूँ। तेरे गृहमें तो मैं नित्य रहूँगा ही, देख, इस दर्पणमें मेरी जो प्रतिच्छाया है उसे मैं महारानी कीर्त्तिदाके भवनमें स्थापित कर दूँगा, जिससे इनकी दृगपुतली बेटी राधाके साथ सदा मेरी यह छाया बालक्रीडा करती रहे, और मैं तो उसके साथ खेलूँगा ही।'

जिस समय नीलसुन्दर अपनी मैया यशोदासे उक्त संवाद कह रहा होता है, कीर्त्तिदा महारानी, कीर्त्तिमती, कुन्दवल्ली एवं वहाँ उपस्थित श्रीदामादि वृषभानुपरिवारके सभी लोगोंके मनकी ऐसी विचित्र दशा हो जाती है, जिसका वर्णन स्वयं वाणीदेवी भी चाहें तो लेखनीसे होना असंभव ही है।

ओह ! कुञ्चित अलकोंसे मण्डित वह नीला-नीला मुख-सरोज उस समय कितना मनोहर हो उठता है, जब उस सौन्दर्य-सुधाका वृषभानुनन्दिनी राधा अपने नेत्रोके द्वारा पान कर रही होती है। कुन्दवल्ली तो दोनोंको एक साथ देखकर ही रोम-रोमसे आनन्द-नर्त्तन कर रही है। उसके नेत्र न तो थकते हैं, न ही तृप्त होते हैं। जितना वह इस युगल-माधुरीमें डूबती, उतनी ही उसकी पिपासा असीम हो उठती है। कुन्दवल्लीके नेत्र-भ्रमर कभी इन दोनों युगलके पद्म-पँखुडियोंसे भी कहीं अधिक सुकुमार कपोलोपर मँडराते, कभी अधरोंपर ठहर जाते हैं। उसे यही अनुभव होता है – ओह ! मानो ये अधर नहीं हैं, नील एवं रक्त पद्म-पल्लवोंकी सुकोमलतम आभा धारण किये इनके अधरोंके स्थानपर रक्तरागमणि एवं नील मणियॉ ही विजडित हो गयी हैं। वह चकित हुई दोनोंके चरणतल, करतल निहारती है क्योंकि वह अपना आश्रय सदैवके लिये इन चरणकमलोंको ही स्वीकार कर चुकी है। उसे उस समय यही अनुभव होता है, मानो ये पद्म एवं नीलमणियोंसे तो बने हैं, किन्तु मणिवत् कठोरताके स्थानपर इनमें जपाकुसुमोंकी अतिशय सुकोमलता भी भरी है। इस युगलकी करों एवं चरणोंकी नखावली तो पक्व दाडिमबीजकी आभावाले माणिक्यके समान है। देखते-देखते कुन्दवल्ली कल्पनाके सुमधुर राज्यमें खो जाती है।

कुन्दवल्लीका हृदय इस नीलमयङ्ककी उक्तिको मात्र विनोद नहीं मान रहा है। यही दशा वृषभानुगेहिनीकी और कीर्त्तिमतीकी भी है। तीनोंके मनमे इस लालसाका रूप तीव्रतम हो उठता है कि कदाचित् जगज्जननी इस शिशुकी उक्तिको सत्य कर दें, और इस नीलशिशुका सचमुच ही एक प्रतिबिम्ब मेरे घर आ जाये। फिर तो मेरी बडी पुत्रीके नेत्र सचमुच ही सदैव खुले रहें और वह अपनी सलोनी आँखें खोलकर हँस-हँसकर उसके संग खेला करे।

और सचमुच ही महादेवी इन तीनोंको ही तथाऽस्तु कहकर इनकी लालसा पूर्ण कर देती हैं। महामाया एक नयी लीला रच देती हैं। महाराज वृषभानु रसमय भावोसे भावित हुए क्षणिक चञ्चलताका प्रकाश कर बैठते है और उनके अप्रतिम जितेन्द्रिय मनमें तीसरी सन्ततिकी चाह सहसा ही प्रबल हो उठती है।

## शरदोत्सवमें मंजुश्यामाका जन्म

शरदोत्सवमे मञ्जुश्यामाका जन्म उसी चाहका फल होता है। नन्दभवनमें कोजागरी (आश्विन पूर्णिमा)का नारायण-पूजन है। कुन्दवल्ली एवं श्रीदाम लगभग चार वर्ष एवं तीन मासके हो चुके हैं। जबसे नन्दतनय नीलमणिका जन्म हुआ है, यह प्रथा ही बन चुकी है कि शरद्, वसन्तादि सभी ऋतुओंमें होनेवाले उत्सव अहीरपुरवासी एव भानुपुरवासी सम्मिलित ही मनावें। अतः आज वृषभानुपुर- नरेश अपनी सम्पूर्ण प्रजा एव राजपरिवार-सहित नन्दव्रजके मेहमान हैं। अहीरपुरके नगरवासी भी उनके चरणोंमें नयन बिछाये स्वागत-सत्कार करनेमें उत्साह-सहित लगे हैं।

निर्मल चन्द्रज्योत्स्नासे नन्दप्राङ्गण उद्भासित हो रहा है। रजनीका मध्य होने जा रहा है। नन्दतनय वैसे तो प्रतिदिन सूर्य ढलते ही शयनके लिये जम्हाई लेने लगते हैं, किन्तु आश्चर्य है कि आज अभीतक निद्रा एवं आलस्यका चिह्न भी उनमें दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। निरालस्य पूरे चञ्चल बने वे कभी स्त्री-समुदायके जागरण-समारोहमें नृत्य करते हैं, कभी पुरुषों द्वारा होनेवाली नारायण-पूजामें अपने बाबाके पास मन्दिर चले आते हैं।

लो देखो ! गोपरामाओंके मध्य उनका नर्त्तन प्रारंभ हो चुका है। चञ्चल सुदीर्घ नेत्रोंकी प्रेमभरी भङ्गिमाओं तथा उनके नर्त्तनपर सभी गोपरामाएँ न्यौछावर हो रही हैं। कीर्त्तिमतीकी गोदमें राधा एवं पासमें कुन्दवल्ली बैठी उनके नर्त्तनको देख रही हैं।

गोपाङ्गनाएँ दल-की-दल नन्दभवनमें आ रही हैं। उनका बाह्य उद्देश्य तो यही है कि वे कोजागरी-जागरण सम्पन्न करने ही आयी हैं, परन्तु उनके अन्तरतम हृदयमें जो प्रबल उत्कण्ठा है, वह तो एक ही है कि नन्दभवनमें पहुँचनेपर यदि नन्दतनय एवं कुमारी राधा शयन भी कर गयी होंगी, तब भी उन्हें इन दोनोंकी शयित झाँकी तो मिल ही जायेगी।

सहसा कीर्त्तिदा महारानीको प्रसव-वेदनाका आभास होने लगता है। यशोदा उन्हें उसी मणिमय कक्षमें ले जाती हैं, जहाँ नन्दनन्दनका प्रसव हुआ है। महारानी मणिमय पर्यंकपर निमीलित नेत्र किये मणिमय दीवारका सहारा लेकर निस्पन्द बैठ जाती हैं। यशोदा पासमें ही बैठी हैं। रोहिणी प्रसवधात्रीको बुलाने परिचारिकाको तत्क्षण आदेश देती हैं।

कुछ ही क्षणोंमें कीर्त्तिदाका मुखमण्डल एक अभिनव तेजसे दमकने लगता है। बाह्य प्रकाश तो यही होता है कि प्रसव-वेदनाजन्य मूर्च्छाने उन्हें आक्रान्त कर लिया है, किन्तु उनकी आन्तरिक स्थिति यही है कि वे एक अभिनव सच्चिदानन्दघनरसके संस्पर्शसे भाव-समाधिमें डूब जाती हैं।

महारानी अन्तश्चेतनाके राज्यमें पहुँच जाती हैं। एक अतीत दृश्य उनके मनःपटलपर आ रहा है-'ओह ! वही नीला मुख-सरोज, वही कुञ्चित केशराशि, वही मादक मुसकान, वही नयनोंसे कटाक्ष बरसाती चितवन — सत्रह मासका यशोदातनय उनके सम्मुख खड़ा मुसका रहा है। सहसा उसकी सुधास्रावी सुमधुर वाणी कीर्त्तिदाकी कर्णेन्द्रियोंमें झकृत हो जाती है — 'महारानी ! तुझे अपनी मैया बनाने तेरे घरमें आ रहा हूँ, किन्तु आऊँगा मात्र छायासे ही। बिम्ब तो मेरा यहाँ नन्दभवनमें ही सदा रहेगा।' कीर्त्तिदाकी अन्तश्चेतनाका तो यही चित्र है। हाँ, बाहर नन्दभवनके प्रसूति-कक्षमें नन्दरानी यशोदा देखती है कि ठीक मध्यनिशाके उपरान्त पाँच पल ही व्यतीत होते हैं कि सम्पूर्ण सूतिकागार एक अभिनव चिन्मय सघन नीलज्योतिसे उद्भासित हो उठता है। उस कक्षका अणु-अणु उस रससे सिक्त होकर मानो पग जाता है। यशोदाको स्पष्ट अनुभव होता है, मानो उसके इष्टदेव साक्षात् नारायण ही एक सुन्दर सद्योजात बालिकाका रूप धारणकर कीर्त्तिदाके पार्श्वमें शयित हुए क्रन्दन करने लग जाते हैं। ठीक वही सौन्दर्य, वही माधुरी, वैसी-की-वैसी असमोर्ध्व अतुलनीय रूप-छटा एक कन्यावेषमें पुनः आविर्भूत हो उठती है।

'धन्य है यह प्रसूतिगृह ! धन्य है कीर्त्तिदा तेरी कोख !' — यशोदामैया उन्मादिनी-सी बाहर आती है और रोहिणी, उपनन्दपत्नी प्रभावती आदि सभीको सूचित कर देती है कि महारानीने पुत्रीरत्नका प्रसव किया है।

यशोदाके नेत्र बार-बार उस रूपको देखते जाते हैं और देखकर आश्चर्य-चकित हो रहे हैं। वह यही समझ रही है कि बिना असीम भागवती कृपाके कोई नारी इस पद्मिनीको प्रसव नहीं कर सकती। इसके अङ्गोंसे जो दिव्य सौरभका स्फोट हो रहा है, ऐसा अभूतपूर्व सुवास तो मेरे नीलमणिके अङ्गोंसे भी कभी स्फुटित नहीं हुआ। धन्य है यह ब्रजभूमि और इसका वायुमण्डल जो अब सदा इस सुवाससे सुवासित रहेगा। बालिकाके दृष्टिदोष-निवारणके लिये यशोमति तुरन्त ही एक काजलकी लीक कन्याके मुखमण्डलपर खींच देती है।

दाई आदिके द्वारा सभी कृत्य सम्पन्न होते हैं।

कुन्दवल्ली इस नवागन्तुका बालिकाको देखकर कृतकृत्य हो उठती है। अब यह नन्दतनयकी ठीक छाया उसके पास ही सोयेगी, बैठेगी, उठेगी एवं खेलेगी। अब राधा, राधानुजा एवं कुन्दवल्ली तीनों मात्र तीन देह और एक प्राण होकर नन्दतनूजको अपना जीवन-समर्पण कर देंगी। कुन्दवल्लीका मन अपने जीवनको इन्हीं तीन तानों-बानों -- नन्दतनय, श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामामें ही बुनना प्रारम्भ कर देता है। कुन्दवल्लीका समग्र जीवन ही बालपनेसे यौवनके शिखरतक राधा एवं मञ्जुश्यामाके सङ्केतपर ही उन्हें पूर्ण समर्पित व्यतीत हुआ है। संक्षेपमें यही सङ्केत किया जा सकता है कि कुन्दवल्लीका शैशव श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामामे गुम्फित रहा। उसका बाल्यकाल, पौगण्ड, कैशोर तथा यौवन सबकुछ श्रीराधाकी रुचिके पालनमें अपना सर्वस्व होमना ही रहा है।

**(वैसे तो लीलाएँ अनेकानेक हैं किन्तु विस्तार-भयसे जितनी पू.गुरुदेवने बतायी हैं - वे भी यहाँ पूरी नहीं दी जा सकी हैं। कृपालु पाठकगण यथा-प्रस्तुत सामग्रीसे ही सन्तोष कर लें।)**

## *कुन्दवल्लीका पाणिग्रहण-संस्कार*

जैसे बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, उसी प्रकार नन्दतनय श्रीकृष्ण ब्रजमें अपने माता-पिता – श्रीनन्द-यशोदा, ताऊ-ताई – उपनन्द एवं प्रभावती, सास-ससुर – महाराज वृषभानु एवं कीर्त्तिदा, अपने स्वरूपभूत सभी सखाओं एवं राधा-चन्द्रावली-मुख्या सखियों, असंख्य गोपीजनोंसे संभ्रम-संकोचरहित, मनमानी-पूर्ण, स्वच्छन्द, लोक-वेदकी सभी मर्यादाओंसे पूर्णतया मुक्त लीला करते रहते हैं।

इसका मूल कारण यही है कि ब्रजमें उत्पन्न हुए ये सभी ब्रजवासी गोप एवं गोपाङ्गनाएँ – चाहे वे श्रीकृष्णके माता-पिता, नाना-नानी, सास-ससुर, चाचा-चाची, ताऊ-ताई एवं दूरस्थ ग्रामवासी ही क्यों न हों – इन सभी चौरासी कोसमें फैले ब्रजक्षेत्रके निवासियोंका तन,मन,धन, लोक एवं वेद सभी कुछ इन सबके प्राण-प्रियतम श्रीकृष्णका ही है। इनके योगीन्द्र-दुर्लभ मन और निर्मलतम पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ है ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही ये स्वयंको श्रीकृष्णकी ही सामग्री समझते हैं और श्रीकृष्णको देखकर-पूजकर सुखी होते हैं। उनका जागरण श्रीकृष्णमें तथा श्रीकृष्णके लिये ही होता है और निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती है। स्वप्न और सुषुप्ति – दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर एवं शान्त लीला ही देखते-अनुभव करते हैं।

कुन्दवल्ली क्या चाहती है – यह बात तो जबसे वह नन्दतनयको उनके जन्मके अवसरपर प्रथम बार देखती है, तभीसे स्पष्ट है। उसने अपना कुल, परिवार, धर्म, सङ्कोच एवं व्यक्तित्व सभीकुछ श्रीकृष्णके चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया है। श्रीकृष्णके साथ वह निरे बालपनसे ही इतनी घुल मिल गयी है कि उसका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा ही केवल कृष्णमय हो गयी है।

जब वह मात्र सात वर्षकी थी, वह अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनती है। उस समय श्रीकृष्णकी वय मात्र पाँच वर्षकी ही होती है। परन्तु जब भी वह नाद-श्रवण करती, न तो वह अपने तनको सँभाल पाती, न ही मनको। केवल उसीकी ऐसी दशा होती है, सो बात भी नहीं। उसकी सखी-सहेलियाँ – सभी तो इसके जैसी ही दशाको प्राप्त हो उठती हैं। नन्दनन्दनके गलेमें हारकी तरह गुँथ जायँ, यह अवसर तो वे सभी अविलम्ब चाहती हैं। परन्तु यह सब कैसे हो ? लोकमर्यादा तो अनुल्लघ्य गिरिशिखरकी तरह सम्मुख खड़ी है ही। अन्ततः भगवती पौर्णमासीजीके आदेशसे सभी ब्रजकुमारियाँ एवं वह भी भगवान् नारायणके विभूतिस्वरूप मार्गशीर्ष मासमें भगवती कात्यायनीकी समाराधना प्रारम्भ कर देती हैं। जाड़ेके दिनोंमें काँपती कुन्दवल्ली निरे प्रातःकाल यमुना-स्नान करती। उसे शरीरके कष्टकी परवाह नहीं है। उसमें परस्पर अपनी सखियोंसे ईर्ष्या-द्वेष सर्वथा नहीं है। अतः निश्छलभावसे सभी श्रीकृष्ण-चरणोकी किङ्करी होना चाहती हैं। उन्हें ग्रामवासियों एवं लोकनिन्दाका भी भय नहीं है। सभी मिलकर उच्च स्वरसे श्रीकृष्णका नाम एव

गुण-कीर्त्तन भी करती हैं। उस काल वे सभी श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेकी लालसामें इतनी अधिक व्याकुल होती हैं कि उन्हें अपने माता-पितातकका कुछ भी सङ्कोच नहीं रहता है। कुन्दवल्ली एवं वे सभी सखियाँ विधिपूर्वक देवीकी बालुकामयी मूर्त्ति बनाकर पूजा और मंत्रज़प करती हैं। वे यही जपती हैं कि एक मात्र नन्दनन्दन ही हमारे पति हों।

नीलमणि ब्रजेन्द्रनन्दनने उनको स्वीकार तो किया ही हुआ है, फिर भी क्योंकि वे सभी निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही हैं, उनमें थोड़ी झिझक, सङ्कोच, शीलका परदा है, अतः उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका यह आवरणरूप चीर श्रीकृष्ण हर लेते हैं। इसके उपरान्त उसकी यह एक और कठोर परीक्षा होती है कि नन्दभवनसे उपनन्द-पुत्र सुबलसे कुन्दवल्लीके विवाह-संबंधका टीका आ जाता है। उसके पिता सत्यभानुसे विचारकरके भानु-नृपति वृषभानुजी महाराज वह टीका स्वीकार भी कर लेते हैं। यद्यपि सुबल श्रीकृष्णका प्राणोपम सखा है, श्रीदामके साथ अनेकों बार कुन्दवल्ली उसे देख भी चुकी है, परन्तु उसने तो मन-ही-मन श्रीकृष्णके ही चरणोंमें अपना सबकुछ समर्पित कर दिया है। अब सुबलका पाणिग्रहण वह कैसे करे?

अन्ततः कुन्दवल्ली विष खाकर प्राणत्यागको तत्पर हो जाती है। कुन्दवल्ली अपने मनकी सब टेक एवं व्यथा अपनी छोटी बहिन श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामाके सम्मुख रखती है। कुन्दवल्लीका इन दोनोंसे सदैवसे ऐसा ही प्रेम है मानो ये एक प्राण — तीन देह हों।

अतः तीनोंमें पूर्ण मंत्रणा होकर यही निश्चय होता है कि यदि सुबल कुन्दवल्लीका पाणिग्रहण करता है तो तीनों बहनें ही विवाहके एक दिवस पूर्व विष खाकर प्राणत्याग कर देंगी। परन्तु भगवती पौर्णमासी ठीक समयपर इनके पास पहुँच जाती है। वे राधा, राधानुजा एवं कुन्दवल्लीको आश्वस्त कर देती हैं कि कुन्दवल्लीकी पवित्रतापर सर्वथा आँच नहीं आवेगी। अनादि कालसे वह पूर्ण पवित्र है और अनन्त कालतक पवित्रतम ही रहेगी। कुन्दवल्ली प्रेमावेशवश पौर्णमासीजीसे चिपटकर रोने लगती है।

इधर पौर्णमासीजी इस विषयमें किसीको कुछ भी सङ्केत नहीं देतीं कि वे कुन्दवल्लीका विवाह रोकनेकी चेष्टा किस विधिसे करेंगी।

श्रीराधा बारबार पौर्णमासीजीसे प्रार्थना करती हैं कि वे सुबलसे उसका होनेवाला विवाह कैसे रोकेंगी ? किन्तु पौर्णमासीजी यही कहकर राधाके प्रश्नको टाल देती हैं कि सबकुछ जान लेनेपर सारा रस ही फीका हो जायगा।

मञ्जुश्यामा पौर्णमासीजीसे अन्ततः सब रहस्य उगलवा लेती है, किन्तु पौर्णमासीजी उससे वचन ले लेती हैं कि वह यह रहस्य कुन्दवल्लीको तो कदापि नहीं, अपितु मुख्यतया राधाको भी नहीं बतावेगी। मञ्जुश्यामा कुन्दवल्लीकी रहस्य जाननेकी त्वरा समझती है, परन्तु वह उसे यही कहकर संतुष्ट कर देती है कि अन्तिम क्षण तो तू स्वयं देख लेगी कि तेरा प्रेम किस प्रकार सफल होता है। कुन्दवल्लीकी आँखोंसे अश्रु झर-झर बहने लगते हैं। दोनों बहिनें पुनः एक-दूसरेके गले गुँथ जाती हैं।

इधर श्रीदाम भैया द्वारा सुबलको भी यह अच्छी प्रकार ज्ञात होजाता है कि वस्तुतः कुन्दवल्ली उसके सखा एवं अनुज श्रीकृष्णको समर्पिता है। कुन्दवल्लीका भाई श्रीदाम एवं सुबल दोनों परस्पर प्राणोपम सखा हैं। अतः सुबल भी बहुत सङ्कोचमें भरा भगवती पौर्णमासीजीकी शरण जाता है।

पौर्णमासीजी सुबलकी आँखसे आँख मिलाकर उसे समाधिस्थ कर देती हैं एवं समाधिमें ही उसे भविष्यकी सब परिस्थितियोंसे अवगत करा देती हैं। सभी लीला-रहस्योंको जब वह जान लेता है तो पौर्णमासीजी उसे समाधिसे जगा देती हैं। सुबल अतिशय प्रफुल्ल मुद्रामें पूर्ण संतुष्ट हो जाता है। वह अतिशय श्रद्धाभिभूत हो तपस्विनी पौर्णमासीजीके चरणोंमें लोट जाता है। भगवती पौर्णमासीजी सुबलको बार-बार अन्तर्जगत्की इच्छानुसार यथायोग्य सफल नाट्य करनेकी चेतावनी देकर विदा करती हैं।

## *नन्दभवनमें नाट्यका द्वितीय पटोत्थान*

अब ब्रजेश्वर नन्दरायके प्रासादमें इस नाट्यका दूसरा दृश्य खेला जाना प्रारभ हो जाता है। सुबल मुँह फुलाये अपने माता-पिताके पास बैठा है। ब्रजेन्दनन्दन श्रीकृष्ण हँसते हुए नन्दरानीसे सटकर बैठे हैं। नन्दरानीके पास उपनन्द-पत्नी प्रभावती बैठी है, उपनन्दजी उसीके पास बैठे हँस रहे हैं। श्रीकृष्णका प्रस्ताव है कि एक घोडेपर सुबल दादा दूल्हा बनकर चढेगा, और दूसरे घोडेपर सुबल दादाके समान ही सम्पूर्ण दूल्हेका शृङ्गार धारण करके वे भी वररूपमें जावेंगे और महाराज वृषभानु एक ही दुलहिन – कुन्दवल्लीके लिये दो वरोंका स्वागत करेंगे।

नन्दराय बड़े ही असमञ्जसमें हैं कि वे यह प्रस्ताव महाराज वृषभानुके पास भेजें भी कैसे। परन्तु सुबलका आग्रह है कि यदि श्रीकृष्णका यह प्रस्ताव नहीं माना जायेगा तो वह विवाह करेगा ही नहीं।

यह ब्रजराज्यकी मूलधारा ही है कि नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी जो भी रुचि हो, वही हो। सुबल यद्यपि श्रीकृष्णके ताऊका पुत्र, उनका बड़ा भाई है, परन्तु उसे अपने वैवाहिक फेरे भी श्रीकृष्णके साथ लेनेमें पूर्ण कृतकृत्यता है। यहाँ ब्रजभूमिमें एक ही दर्शन संचरित है –*'वेदानपि संन्यसति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'* अर्थात् भगवत्प्रेमाभिलाषी वेदमूलक समस्त धर्म-मर्यादाओंका भलीभाँति त्यागकरके अखण्ड, असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।

यहाँ ब्रजजगत्में सभी रङ्गमञ्चके पात्र चाहे वृषभानु-कीर्त्तिदा हों, चाहे नन्द-यशोदा हों, चाहे सुबल-श्रीदाम हों – इन सभीकी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न हैं। श्रीकृष्णकी आन्तरिक चाह है– बारात दो वरोंके साथ वृषभानुपुर जावेगी, कुन्दवल्ली श्रीकृष्णसे भी फेरे लेगी, उन्हें भी वरमाला पहनावेगी एवं सुबलको भी। लोकव्यवहारमें यह बात सनातन धर्मकी मर्यादा एवं वेदधर्मके सर्वथा विरुद्ध है, परन्तु क्योंकि श्रीकृष्णकी ऐसी ही इच्छा है, अतः सम्पूर्ण ब्रजजगत्को यह स्वीकार्य है। परम धर्मात्मा बृषभानु भी नन्दराय द्वारा भेजे इस प्रस्तावका हँसकर शत-प्रतिशत अनुमोदन कर देते हैं। इस प्रस्तावका ब्रजजगत्का कोई महर्षि विरोध नहीं करता; चाहे वे गर्ग हो, भागुरि हों, शाण्डिल्य हों, करभाजन हों। कोई ब्राह्मण इस विवाह-कृत्यको करानेका निषेध नहीं करता।

यहाँ ध्यान रहे, सुबल विवाह करके भी सौभाग्यनिशामें अपनी पत्नी कुन्दवल्लीके साथ सगे भ्राताकी तरह निष्पाप, निर्मल रहता है। उसे श्रीकृष्ण-प्रीतिका वह परमोच्च आनन्द प्राप्त है, जिसके सम्मुख नारीभोगका आकर्षण तुच्छातितुच्छ है। सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर जैसे तैल-दीपक स्वतः निष्प्रयोजन हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने सखा श्रीकृष्णके प्रखर प्रेममें सुबलका अपना अहं ही लुप्त हो चुका होता है। उसका अहंकार श्रीकृष्णके अहकारसे एकात्म हो उठा है।

भगवान् श्रीकृष्ण भी बडे लीलामय हैं। उन्होंने अपनी स्वरूपभूता कुन्दवल्लीके साथ कैसे-कैसे विचित्र खेल किये हैं, यदि केवल उन्हीं लीलाओंमें से अंशमात्र जो लेखकको पू.गुरुदेव द्वारा सङ्केतित की गयी हैं, लेखक यदि लिपिबद्ध करनेका विचार करे तो वह लीला-चरित्र ही एक स्वतंत्र विशद ग्रन्थका आकार ग्रहण कर लेगा। अतः विस्तारसे बचते हुए यहाँ इतना ही सङ्केतित किया जा रहा है कि कुन्दवल्ली-सरीखी अनुपम समर्पणजीवना गोपीके आन्तरिक भावोंका आस्वादन तो पू.गुरुदेव सरीखे महासिद्ध सन्तोंने ही अपने निर्मलतम मानसमें यथार्थरूपमें आस्वादित किया है। यहाँ तो मात्र स्थूलरूपसे पू.गुरुदेवकी ही कृपा-कणिकाका आश्रय लेकर इसकी यत्किञ्चित् चर्चा मात्र हो सकी है।

श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार ही महाराज वृषभानु दो परम सुन्दर दूल्होंका नीराजन अपने प्रासादके प्रमुख तोरणद्वारपर करते हैं। फिर कीर्त्तिदा महारानी भी दोनों ही दूल्होंका नीराजन करती हैं। हाँ, यह अवश्य है, इस समय नीलमणि नन्दतनयकी आयु सबको बहुत छोटी ही दृष्टिगोचर होती है। यहाँ वय भी तो चिन्मय है। जहाँ नन्दतनूज नीलमयङ्क कुन्दवल्लीकी दृष्टिमें पूर्ण किशोर विवाहोचित वय-प्राप्त हैं, वहाँ अन्य सभी गोपियोंको श्रीकृष्ण शिशु-हठ करते हुए छोटे बालक ही समझमें आते हैं।

अचानक ही श्रीकृष्ण दूल्हा बने हुए वृषभानुबाबासे प्रश्न कर बैठते हैं -'बाबा ! आप सत्य-सत्य बतावें, सुबल दादा और मुझमें - हम दोनोंमें वरोचित गुणसम्पन्नताकी दृष्टिसे श्रेष्ठ वर कौन है ?'

वृषभानुबाबा श्रीकृष्णके प्रश्नका उत्तर देनेमें अतिशय धर्मसङ्कटमें पड जाते हैं। जैसी वरोचित सुन्दरता ब्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्णमे है, सुबल तो उसके पासङ्गमें भी कहीं नहीं ठहरता। परन्तु कुन्दवल्लीका विवाह सुबलसे होना निश्चित किया जा चुका है। अतः अब वरकी श्रेष्ठताके निर्णयका औचित्य ही कहाँ होता है ? उन्हें तो कुन्दवल्लीको पातिव्रतधर्मानुसार यही दृष्टि देनी है कि उसका पति सुबल ही सर्वसुन्दर है।

उलझनमें पड़े अपने बाबाकी रक्षामें उनका युवराज श्रीदाम बोल उठता है – ' बाबा ! यह निर्णय तो नन्दग्राममें घोडी चढते समय ही हो चुका है। मैं उस समय वहीं था जब भैया श्रीकृष्ण और सुबल दोनों घोडीपर सवार हो रहे थे। भैया कृष्णने यह बात मुझसे वहाँ भी पूछी थी। मैने जो उत्तर दिया उसीका सुबल दादाने भी अपनी घोडीसे उतरकर समर्थन किया था। मैंने कहा था -भैया कृष्ण ! तुम्हारे समान सुन्दर दूल्हा तो न कभी हुआ है, और न ही कभी आगे चलकर होगा ही।'

सभी लोग विवाह-मण्डपके लिये प्रस्थान करते हैं। कुन्दवल्ली वधूकी चौकीपर आसीन है। उसके पार्श्वमे सुबल बैठा है। सुबलके पार्श्वमे श्रीकृष्ण विराजित हैं। महर्षि शाण्डिल्य एवं भागुरि वैवाहिक-कृत्य सम्पन्न करानेकी मुद्रामें विराजित हैं। आकाशमें सहसा भगवती पौर्णमासीका आविर्भाव होता है। श्रीकृष्ण सभीको उनका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं। सभी लोग उन्हें सिर टेककर वन्दना करते हैं। भगवती पौर्णमासी आकाशसे ही आदेश देती हैं -'बृषभानु ! भगवती त्रिपुरसुन्दरीका निर्माल्य पुष्प सबसे पहले सुबलके मस्तकसे स्पर्श कराके उसके दुकूलमें बाँध दो।' महाराज भगवतीके निर्देशका यथोक्त पालन करते हैं। तत्क्षण ही एक अद्भुत माया फैल जाती है। ब्रजेन्द्रनन्दन, सुबल एवं कुन्दवल्लीके अतिरिक्त सभी उससे मोहित हो जाते हैं। सुबलके स्थानपर ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण आसीन हो जाते हैं। ऋषिगण कुन्दवल्लीके साथ ब्रजेन्द्रनन्दनका ही आदिसे अन्ततक वैवाहिक-कृत्य पूर्ण कराते है। कुन्दवल्ली उत्फुल्ल मनसे ढूँढती है – अपनी बहिन बृषभानुनन्दिनी राधाको एव मञ्जुश्यामाको। सहसा कुन्दवल्लीको अनुभूति होती है कि श्रीराधा एव मञ्जुश्यामा दोनों ही उसके पयोधरोंके अन्तरालमें विराजित हैं। दोनों ही मन्द-मन्द मुसकरा रही है। ढाई पल इस अनुभूतिके पश्चात् श्रीराधा हँसती हुई अपनी अनुजा मञ्जुश्यामाको लिये परिणय-वेदीके पास आती हुई दीख जाती है।

सबकी दृष्टिमें तो सुबलके साथ ही कुन्दवल्लीका सम्पूर्ण विवाह-कृत्य सम्पन्न होता है।

इसके पश्चात् श्रीराधा ललितासे कहती है – 'बहिन ! चलो, कोहबरमें चलें।'

विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा आदि सखियोंसे परिवेष्टित ललिता आगे-आगे चलती हैं। श्रीराधा कुन्दवल्लीके बायीं ओर, और श्रीकृष्णके दाहिनी ओर रहती हैं तथा मञ्जुश्यामा वर-वधूका हाथ पकडे चलती हैं।

इसी समय महारानी कीर्तिदा महादेवी त्रिपुरसुन्दरीसे आविष्ट हुई-सी महाराज वृषभानुसे आदेश करती हैं कि 'अब कोई भी अग्रिम कृत्य न होकर सभी लोग विश्राम करें।'

सभी लोग 'जय महादेवी !' 'जय जगदम्बे !' कहकर यथास्थान विश्रामके लिये चले जाते हैं। कुन्दवल्लीको श्रीराधा अपने शयनागारमें ले जाती हैं। ब्रजेन्द्रनन्दन एवं सुबल जनवासेके शयनागारमें कीर्त्तिदा, कीर्त्तिमती एवं उनकी अन्य रिश्तेकी बहिनों - शारदा, सुदक्षिणादिके द्वारा संलालित होकर निद्रित हो जाते हैं। कीर्त्तिदा और उनकी बहिनोंको प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि ब्रजगेहिनी यशोदा एवं रोहिणीजी आदि स्त्रियोके साथ नन्दग्रामकी सभी वात्सल्यवती गोपिकाएँ भी बारातमें सम्मिलित हैं। इस अनुभूतिसे संप्रेरित वे सबको अपने महलमें ले जाती हैं।

दोपहरमे बारात लौटकर आ चुकी है। नन्दरानी यशोदासे सलालित होकर ब्रजेन्द्रनन्दन गहरी निद्रामे एक पर्यंकपर सो रहे हैं। एक घड़ी रात बीत गयी है।

पुष्पोंसे सज्जित कक्षमें एक सुन्दर पर्यंकपर सुबल विराजित है। प्राचीके द्वारसे अतिशय भयभीत मुद्रामें कुन्दवल्ली प्रवेश करती है। बाहरसे सुबलकी एक बहिन द्वार अवरुद्ध कर देती है।

उस समय सर्वथा एकान्तमें सुबल कुन्दवल्लीको आश्वस्त करता है कि वह उसे श्रीदामके समान अपना सगा भाई ही माने। विधिके विचित्र विधानसे ही वे दोनों लोकदृष्टिमें पति-पत्नीकी तरह अभिनय करनेको बाध्य कर दिये गये हैं। अतः उन्हे प्रायः सबकी दृष्टिमें तो साङ्गोपाङ्ग यही अभिनय करना भी है। सुबल समाधि-अवस्थामें भगवती पौर्णमासीके आश्रममें जो भी उसे अनुभव हुआ है - वह सब कुन्दवल्लीको सुना देता है। वह कहता है कि तुम सत्य-सत्य श्रीकृष्णकी ही वस्तु थी, हो, और अनन्तकालतक उन्हींकी रहोगी। मेरा तुम्हारा नित्य भाई-बहिनका पवित्रतम सम्बन्ध ही अक्षुण्ण रहेगा । फिर भी बाह्य दृष्टिमें जन-साधारणको तो यही प्रतीति होगी कि हम दोनों पति-पत्नी हैं। वैसे हम दोनों एक शय्यापर सोकर भी भाई-बहिनके सम्बन्धको नित्य अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। ऐसे बहुत-से अवसर भी आ सकते हैं जब तुम्हारे कण्ठसे लगकर अथवा तुमको अपने कण्ठसे सटाकर भी मेरे मन-बुद्धि-चित्त सूर्यके सदृश निर्मलतम ही रहेंगे।

'तुम्हें पता है कि श्रीराधा मुझे श्रीदामके सदृश ही प्रेम करती है। मैं भी तुम्हें श्रीराधाके समान अपनी बहिन ही मानकर जीवन व्यतीत कर दूँगा।'

'कुन्दवल्ली बहिन ! भैया श्रीकृष्णकी रसास्वादनकी एक विशिष्ट शैली है। उसीके लिये बाह्यदृष्टिमे तुम्हारा नाट्य सुबल-पत्नीके रूपमें ही रहेगा।'

सुबल की सभी बातें अतिशय मनोयोगपूर्वक कुन्दवल्ली सुनती है। फिर अतिशय सङ्कोचपूर्वक चिन्ताकी मुद्रामे उससे प्रश्न कर बैठती है।

'भैया सुबल ! किन्तु यौवनके प्रवाहमें कहीं स्वप्नमें भी तुम्हारा भाव अन्यथा हुआ तो ?'

इसके उत्तरमे सुबल कुन्दवल्लीको अपने पीछे-पीछे चलनेका सङ्केत करता है। एक सुगुप्त पथसे दोनों बलराम-विहार-प्रासादके पीछेके उद्यानमें चले जाते हैं। यह स्थान नन्दबाबाने रोहिणीजीके निवासके लिये पूर्वत बनवाया था। यह इतना सुगुप्त है कि बाहरसे नन्दग्रामके निवासी भी इसे ढूँढनेमे असमर्थ रहते हैं। इसकी सुगुप्तता इस कारण अभिप्रेत थी कि कंसके दूत श्रीवसुदेव-पत्नी रोहिणीका निवास नन्दग्राममें ढूँढ नहीं पायें। उद्यानमे पहुँचनेपर सुबल एवं कुन्दवल्लीको प्रज्वलित अग्नियुक्त यज्ञकुण्ड दिखाई देता है। सुबल उस यज्ञकुण्डको प्रणाम करनेके उपरान्त यज्ञाग्निसे प्रार्थना करने लगता है -'हे हुताशन ! यदि मेरी उक्ति इस कुन्दवल्लीके प्रति अक्षरशः सत्य है तो तुम मेरे तुम्हारे भीतर प्रवेश करनेपर भी मेरे अङ्गों के लिये हिमके समान शीतल बने रहना।' यो कहते हुए सुबल उस कुण्डमें प्रवेश कर जाता है। अग्निकी प्रज्वलित लपटें सुबलके अङ्गोंको तनिक भी क्षति नहीं पहुँचातीं। आधे ही पलके अनन्तर भगवती पौर्णमासी सुबलको अपने अङ्कमें धारण किये उस कुण्डमें से आविर्भूत होती हैं। यज्ञाग्निसे बाहर निकलकर वे कुन्दवल्लीको आश्वस्त करते हुए कहती हैं - 'बेटी कुन्दवल्ली ! तू नित्य निश्चिन्त रह। तुम दोनों मेरी रुचिका पालन करनेके लिये श्रीकृष्ण और बृषभानुनन्दिनीके परस्पर मिलन-रसास्वादनको निरन्तर परिवर्धित करते रहना। इस उद्देश्यसे ही मैंने तुमदोनोंका विवाह करवाया है। यही मेरा परम रसमय विधान है। बेटी ! तू समयपर अपने-आप सबकुछ अनुभव कर लेगी। अभी तो मैं तुम दोनोंको एक वर दे रही हूँ -'तुम दोनों वाणीसे, अपने शरीरकी चेष्टाओंसे जिस समय, जिसको, जितनी भी देरके लिये, जो भी प्रतीत कराना चाहोगे, उस समय, उसको, उतनी देरके लिये, वही अनुभूति होती रहेगी। एक मैं ही तुम्हारे दृष्टिबन्धमें नहीं आ सकूँगी। यह अनिवार्य नियम अबसे अनन्तकालतकके लिये हो गया।'

यह कहकर भगवती पौर्णमासी अन्तर्धान हो जाती हैं। कुन्दवल्ली एवं सुबल दोनों वैसे ही सुगुप्त पथसे सुहागकक्षमे लौट आते हैं। दोनोंका तभीसे एक ही कार्यक्रम रहता है कि व्रजेन्द्रनन्दन एवं श्रीराधाको उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख मिले - वे यही योजना बनाते-बनाते रात्रि व्यतीत कर देते हैं। ब्राह्म मुहूर्त होते ही कुन्दवल्ली उठकर यशोदा मैयाके

पास उनकी गृहसेवामें योगदान देने लग जाती हैं और सुबल रात्रिमे बनायी योजनाको प्रतिफलित करनेमें निरत हो जाता है।

कुन्दवल्ली और सुबल – दोनोंका यह संक्षिप्त परम मङ्गलमय पवित्र जीवन-चरित्र है।

भावुक पाठकगण पू.गुरुदेवद्वारा रचित अनुपम संक्षिप्त भाव-नाटिका -**'कुन्दवल्ली भावकी लीला'** महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा-पञ्चम खण्डमें अवश्य अवलोकन करें।

**यहाँ बार-बार सावधानी रखनेकी आवश्यकता है कि ये सभी लीलाएँ सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय, परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपभूत, आनन्द-चिन्मय रस-प्रतिभावित-मति अपनी प्रतिमूर्त्तियोंके साथ की है। सुबल एवं कुन्दवल्ली दोनोंका श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण था। अतः यह उनकी विशुद्ध सच्चिदानन्दमयी, विशुद्ध निराविल, रसप्रवाहिनी अन्तर आत्मक्रीड़ा मात्र है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वप्रकाश हैं, अतः सर्वविलास करनेमें समर्थ हैं। श्रीकृष्णपर न धर्मका शासन है, न ही वेदका। उनके सङ्केतपर जब अनन्त ब्रह्माण्ड नृत्य कर रहे हैं, प्रकृति ही नटीकी तरह थिरक रही है, यदि उनकी रुचिके लिये एक ब्रजाङ्गना कुन्दवल्ली और एक गोप सुबल गृहस्थधर्ममर्यादाओंका उल्लङ्घनकर परम त्यागपूर्ण, समर्पणमय जीवनका व्रत लेते हैं तो वे परम आदर्श, धन्यभाग्य एवं स्तुत्य तो हैं ही।**

*आयी श्रावण कृष्णा की थी फिर तीज वार बुध था, प्रियतम!*
*रवि के अस्ताचल जाने में घटिका थी पाँच बची, प्रियतम!*
*नादित धौंसे के शुभ रव से प्रासाद हुआ सहसा, प्रियतम!*
*नृप-तनय-जन्मका मंगलमय संवाद मिला सबको, प्रियतम ।।४२।।*

**...........इसके पश्चात् श्रावण कृष्णा तीजकी तिथि आयी। उस दिन बुधवार था। अंशुमालीके अस्ताचल जानेमें पाँच घड़ीका विलम्ब था। उसी समय धौंसेके मङ्गलमय रवसे अचानक राजप्रासाद निनादित हो उठा और कुछ क्षण बीतते-न-बीतते राजपुत्रके जन्मका मङ्गलमय संवाद सबके कानोंमें पहुँच गया।।४२।।**

*नृप बालक के गोरे मुख की शोभा किस भाँति कहूँ, प्रियतम!*
*देखी जिनने, बोले न कभी, बोले वे, लख न सके, प्रियतम!*
*दो भुजा और नीलिमा मात्र आवृत कर माया से, प्रियतम!*
*सचमुच वे मधुसूदन ही थे आये शिशु-वेष धरे, प्रियतम ।।४३।।*

**राजपुत्रके गोरे मुखकी शोभा कोई कैसे कहे ! जिन आँखोंने उस शोभाको देखा था, वे तो कभी बोल नहीं सकीं और जो वाणी बोलती है उसे कभी उस अप्रतिम शोभाका दर्शन ही नहीं हुआ। ऐसा लगता था, जैसे अपनी दो भुजाएँ और अपने अप्रतिम सुन्दर संविन्मय नील वर्णको मायासे आवृत करके सचमुच वे भगवान् मधुसूदन ही शिशुका वेशं धारण किये पधारे हों।।४३।।**

*दो पर्वत की द्रोणी में थी फैली जो राजपुरी, प्रियतम!*
*बाइस दिन तक कण-कण में था उसके कम्पन सुख का, प्रियतम!*
*रत्नों की ज्योति रात में थी इङ्गित करती, मानो, प्रियतम!*
*नृप तनय-अमात्यसुता के शुभ निर्मल भावी यश का, प्रियतम ।।४४।।*

सम्पूर्ण राजपुरी दो पर्वतोंकी द्रोणीमें विराजित थी। वहाँ उस पुरीमें - पुरीके कण-कणमें अविराम बाईस दिनतक सुखका जो कम्पन परिलक्षित हो रहा था, अतुलनीय था। रात्रिमें रत्नोंकी ज्योतिसे पुरी उद्भासित रहती, – इस भाँति मानों वह ज्योति राजपुत्रके एवं राजमन्त्रीकी पुत्रीके परम मङ्गलमय विशुद्ध भावी सुयशका सङ्केत कर रही हो।। ४४।।

महरानी और सचिव गृहणी, दोनों सहोदरा थीं, प्रियतम!
थी चाह बहिन की, हो उत्सव, नृप सुत आजाय तभी, प्रियतम!
नृप-कुल-देवी की भी रुचि थी ऐसी ही, इसीलिये, प्रियतम!
थी उत्सवमयी वह नित्यसुखद अँधियारी तीज बनी, प्रियतम।।४५।।

महारानी एवं सचिवगृहिणी- दोनों ही सहोदरा बहिन थीं। सचिवगृहिणीकी अभिलाषा थी कि मेरी पुत्रीका जन्मोत्सव तभी हो, जब राजपुत्रका आविर्भाव हो जाय। राजकुलदेवीकी भी ऐसी ही रुचि थी। इसीलिये कृष्ण पक्षकी तीजकी रजनी अत्यन्त सुखमयी, निरन्तर सुखदान करनेवाली बन चुकी थी।। ४५।।

बीता फिर वर्ष और आयी भादों शुक्ला षष्ठी, प्रियतम!
रविवासर था, थे भानु उदित दो घड़ी हुए पहले, प्रियतम!
रानी की एक बहिन जो थी मौसेरी नाते में, प्रियतम!
शारदा सती जो थी, उसको कन्या थी एक हुई, प्रियतम।।४६।।

इस प्रकार फिर वह वर्ष बीत गया। अब भाद्रपद शुक्ला षष्ठीकी तिथि आ गयी थी। उस दिन रविवासर था। अभी दो घड़ी पूर्व दिनकर उदित हो चुके थे। महारानीकी एक मौसेरी छोटी बहिन थी। उसका नाम शारदा था। मानो वह सचमुच हंसवाहिनी ही हो, ऐसा अप्रतिम तेज था उसका। उन्हीं शारदा मैयाको उस दिन एक कन्यारत्नकी प्राप्ति हुई।। ४६।।

जो महात्रिपुरसुन्दरी अघटघटनापटीयसी हैं, प्रियतम!
चिन्मयी ज्योति उनकी ही थी कन्या बनकर आयी, प्रियतम!
होने वाली लीला जो थी, जिसमें थीं नटी बनी, प्रियतम!
वे स्वयं, सचिव के गृह उसका साम्विद्-पट उठा वहाँ, प्रियतम।।४७।।

जो अघटन-घटना-पटीयसी महात्रिपुरसुन्दरी देवी हैं, उनकी ही चिन्मयी ज्योति कन्याका रूप धारणकर शारदाके अङ्कको विभूषित कर रही थी। आगे जो संविन्मयी लीला होनेवाली थी, जिसमें महादेवी स्वयं नटी बनी हुई थी, उस चिन्मयी लीलाका संविन्मय पट वहाँ राजसचिवके घर उठा था भला !।। ४७।।

## जिज्ञासा

कृपया छन्द संख्या ४७ का विस्तारपूर्वक भाव सुस्पष्ट करें। 'आगे जो संविन्मयी लीला होनेवाली थी, जिसमें महादेवी स्वयं नटी बनीं, उस चिन्मयी लीलाका संविन्मय पट वहाँ राजसचिवके घरमें उठा।' - इसका अर्थ खुलासा करें। पद सं.३७ में भी सचिव-गृहिणीकी पुत्रीके रूपमें कुन्दवल्लीके जन्म लेनेका प्रसङ्ग आया है। फिर ये दूसरे राज-सचिव कौन हैं ? इनकी कन्याका भी परिचय दें।

## समाधान

यहाँ ध्यान रहे, ब्रजकी यह लीला अप्राकृत क्षेत्रमें अप्राकृत लीला-पात्रोंके मध्य हुई थी। यह सभी सृष्टि चाहे कुन्दवल्ली हो, अथवा श्रीदाम हों, प्राकृत एवं स्वप्रकाश हैं। इनके सभीके देह हमारी तरह प्राकृत नहीं, विशुद्ध सच्चिदानन्दमय हैं। इसीलिये छन्द संख्या ३८ में स्पष्ट उल्लेख है कि जैसे ही महारानी कीर्त्तिदा महात्रिपुरसुन्दरीके चरण-नख-चन्द्रको छूकर अपनी बहिन कीर्त्तिमती, जो सचिव सत्यभानुकी पत्नी थीं, के कक्षमें पहुँची, उन्हें भान होने लगा कि यहाँ तो सर्वत्र अंशुमालीकी ज्योति फैली हुई है। महारानी कीर्त्तिदाकी दासीकी आँखे तो उस ज्योतिकी चकाचौंधसे बन्द हो गयीं थीं। यह ज्योति चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदिकी नहीं थी। इन प्राकृत सूर्य–चन्द्रादिकी ज्योतिका तो भगवद्धाममें प्रवेश ही संभव नहीं है।

*न तद्भासयते सूर्यो न चन्द्रो न पावकः।*
*यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।। श्रीमद्भगवद्गीता।।१५।६।।*

श्रुति कहती है - ***तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।***

स्वप्रकाश भगवान्की (अङ्ग)-ज्योतिसे ही सूर्य-चन्द्रादि सभी ज्योतिर्मय हैं। उनकी अङ्ग-छटासे ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार भगवान् सबके प्रकाशक हैं, भगवान्का प्रकाशक कोई नहीं। यही स्वप्रकाश होनेका अर्थ है। अतः महारानी कीर्त्तिदाको जिस ज्योतिसे सचिव सत्यभानुकी गृहिणी कीर्त्तिमतीका गृह प्रकाशमान दृष्टिगोचर हुआ था, वह प्राकृत अंशुमालीकी ज्योति नहीं थी, अपितु वह प्रकाश भगवती महादेवी, जो भगवान्की स्वप्रकाशिका-शक्ति हैं, उनका ही प्रकाश था। इसे पुनः स्पष्ट कर देता हूँ कि पू.गुरुदेव कुन्दवल्लीके जन्म-प्रसङ्गमें भी यही कहते हैं कि मंत्रीकी पत्नीकी गोदीमें जगन्माता ही अचानक अप्रतिम सुन्दरी नवजाता कन्याका वेष लिये प्रकट हो गयीं। इसी प्रकार राजपुत्र श्रीदामके जन्म-प्रसङ्गमे भी यही कहते हैं कि अपने सविन्मय नीलवर्णको अपनी मायासे आवृतकर भगवान् मधुसूदन ही शिशु वेष धारण किये पधारे। इन सभीका सङ्केत यही है कि वे सभी लीला-पात्र किसी प्राकृत माता-पितासे उत्पन्न नहीं हुए हैं, ये सभी भगवान्की सच्चिदानन्दमयी स्वप्रकाशिका शक्ति योगमायाका ही खेल है। भगवान्की विशुद्ध सत्वमयी अचिन्त्य लीलामहाशक्ति ही इन पात्रोंके रूपमें अपनेको ही भगवान्के आगमनके पूर्व उनके लीलमञ्चकी सूत्रधारिणी एवं नटी आदि बनाकर सुव्यक्त हो रही हैं। छन्द संख्या ४७ में भगवती श्रीराधाकी प्रमुख सखी ललिताके प्राकट्यका वर्णन है। भगवान् श्रीराधामाधवकी आगे जो लीला होनेवाली है, सखी ललिता ही उसकी नटी हैं। ये श्रीराधाकी प्रमुख सखी, अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया महात्रिपुरसुन्दरीकी चिन्मयी ज्योति ही हैं, जो कन्या बनकर ललिता नामसे अब प्रकट हो रही हैं।

इस सिद्धान्तको पुनः समझलें। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, भगवान् हैं। वे सच्चिदानन्द, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान् हैं। वे अनन्त शक्तियोंके परमाधार, एकाधार हैं। वे अपने ही सौन्दर्य-माधुर्यरसका समास्वादन करनेके लिये अपनी ह्लादिनी शक्तिको सदा-सर्वदा श्रीराधारूपमें अभिव्यक्त करते हैं । श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णकी जैसे ह्लादिनीशक्ति हैं, वैसे ही उनकी सन्धिनीशक्ति ही वृन्दावनधामरूपमें अभिव्यक्त होती हैं। सच्चिदानन्दकन्द भगवान्की संविन्मयीशक्ति ही प्रमुख सखी ललिताके रूपमें प्रकट होती हैं और छन्द संख्या ४७ में इसी बातका उल्लेख यह कहकर किया गया है कि सच्चिन्मयी लीलाका संविन्मय पट सचिव श्रीविशोक गोपके गृहमें उठा है।

यहाँ रङ्गमञ्चकी सूत्रधारिणीके रूपमें स्वयं महादेवी ही कुन्दवल्लीके रूपमें प्रकट होती हैं, एवं लीला-नटीके रूपमें स्वयं वे महादेवी ही अपना संविन्मय स्वरूप लेकर ललिताके रूपमें सुव्यक्त हो जाती हैं। नटी पहले मञ्चपर आती है, इसके पश्चात् ही नायक-नायिकाका रङ्गमञ्चपर पदार्पण होता है। इस राधा-माधव रस-भावलीलाकी सूत्रधारिणी जहाँ

कुन्दवल्ली हैं, वहाँ रङ्गमञ्चको सही सञ्चालित करनेवाली नटी श्रीललिता हैं। ध्यान रहे ललिता श्रीराधासे वयमें एक वर्ष एवं तीन दिन बड़ी हैं।

वह था संयोग, महारानी मिलने आयी थीं, हे प्रियतम!
भगिनी से, प्रेरित होकर ही कुलदेवी के द्वारा, प्रियतम!
गोदी में तेरह मास तथा सत्रह दिन का शिशु था, प्रियतम!
मङ्गलमय चरण पड़े जब थे उनके उस पत्तन में, प्रियतम ।।४८।।

**वह एक संयोगकी बात थी, महारानी अपनी बहिनसे मिलने आयी थीं। उन्हें मिलनेकी प्रेरणा स्वयं कुलदेवी महात्रिपुरसुन्दरीके द्वारा ही प्राप्त हुई थी, जिस दिन महारानीने शारदाअम्बाके पत्तनमें अपने मङ्गलमय चरण रखे थे, उस दिन उनके अङ्कमें तेरह मास, सत्रह दिनका वह शिशु-राजपुत्र भी विराजित था।।४८।।**

रानी की अनुजा भी उनके थी साथ लिये पुत्री, प्रियतम!
दोनों के ही समक्ष अभिनव था दृश्य खुला पहला, प्रियतम!
क्रीड़ारत वे दोनों शिशु थे, हाथों में हाथ लिये, प्रियतम!
तीनों बहिनें बैठी प्रमुदित थीं देख रही उनको, प्रियतम ।।४९।।

***महारानीके साथ, अपने अङ्कमें अपनी उस अप्रतिम सुन्दरी पुत्रीको धारण किये हुए उनकी अनुजा भी आयी*** **थी। इन दोनोंकी आँखोंके सामने ही उस अभिनव क्रीड़ाका - क्रीड़ाके प्रथम दृश्यका आरम्भ हुआ। दोनों शिशु परस्पर हाथोंमें हाथ लिये क्रीड़ारसमें निमग्न थे। तीनों बहिनें उनकी क्रीड़ापर आँख टिकाये आनन्दमें डूबी बैठी थीं।।४९।।**

इतने में ही मानो सहस्र उग उठे दिवाकर थे, प्रियतम!
रानी की बहिन तीसरी के उर-उदर-लोचनों में, प्रियतम!
हो गयी प्रभा परिणत तुरन्त बालिका-रूप में थी, प्रियतम!
फिर सरक अङ्क से पड़ी और शिशुओं में जा बैठी, प्रियतम ।।५०।।

**इतनेमें ही मानो एक साथ सहस्र दिवाकर उदित हो गये - ऐसा प्रकाश फैल गया। वहीं रानीकी तीसरी बहिनके उरस्थलमें, उदरमें तथा लोचनोंमें फिर देखते-न-देखते वह ज्योति तुरन्त एक बालिकाके रूपमें परिणत हो गयी। इसके अनन्तर अविलम्ब वह बालिका शारदाअम्बाके अङ्कसे खिसक पड़ी, और जहाँ वे दोनों शिशु विराजित थे; वहीं जाकर - उनके ही बीच जा बैठी।।५०।।**

सीमाविहीन अचरज में थीं डूबी तीनों बहिनें, प्रियतम!
है स्वप्न-घटित घटना, अथवा हो रही सत्य यह है, प्रियतम!
बन गया असम्भव था निर्णय कर लेना वहाँ इसे, प्रियतम!
जड़िमा प्रत्येक रोम में थी तीनों के भर आयी, प्रियतम ।।५१।।

तीनों बहिन अपरिसीम आश्चर्यमें डूबी हुई देख रही थीं, सोच रही थीं कि यह हम स्वप्न देख रही हैं अथवा सचमुच ही ऐसी घटना घट रही है। इस सम्बन्धमें कुछ भी निर्णय कर लेना उनके लिये असम्भव बन गया था। इतना ही नहीं, उन तीनोंके प्रत्येक रोममें जड़िमाका विकार परिव्याप्त हो गया था।।५१।।

यन्त्रित- से हुए उधर शिशु वे थे खेल लगे करने, प्रियतम।
शाखा-चन्द्रमा न्याय से ही अभिराम दृश्य कह दूँ, प्रियतम!
दृग नचा-नचाकर तीनों ही क्रमशः माताओं के, प्रियतम!
कण्ठों से लगकर झूल उठे हँस-हँसकर मृदुल हँसी, प्रियतम।।५२।।

उस ओर यन्त्रचालितकी भाँति वे तीनों शिशु उत्तरोत्तर बढते हुए आनन्दसे खेलमें संलग्न होते जा रहे थे। अहा ! उस अभिराम दृश्यका वर्णन् कैसे हो, शाखा-चन्द्र-न्यायसे भले कुछ शब्द वाणीके द्वारा व्यक्त हो जायँ। तीनों शिशु अपनी आँखें नचा-नचाकर क्रमशः तीनों माताओंके कण्ठसे लगकर झूलने लग गये। रह-रहकर उनके होठोंपर मृदुल हँसीकी लहरें नाच उठतीं।।५२।।

'मेरी मैया है, अहो! नहीं, मेरी मैया यह है, प्रियतम!
अप्रतिम मधुर वाणी यह थी तुतलायी गूँज उठी, प्रियतम!
केवल अलिन्द में नहीं, भूत- भावी त्रिभुवन जन के, प्रियतम!
प्राणों में जो हैं जुड़े हुए तुम नित्य नील घन से, प्रियतम।।५३।।

''यह तो मेरी मैया है,''पहले शिशुकी उक्ति समाप्त होते-न-होते दूसरा शिशु बोल उठता - ''अहो! नहीं,नहीं,नहीं, यह मेरी मैया है!'' - इस प्रकार यह अप्रतिम मधुर तोतली वाणी प्राङ्गणमें गूँज उठी। केवल वह अलिंद झंकृत हुआ हो; इतना ही नहीं। वह वाणी सम्पूर्ण त्रिभुवनके भूत-भविष्यमें होनेवाले व्यक्तियोंके प्राणोंमें झंकृत हो रही थी - अवश्य ही उन्हीं प्राणोंमें जो नित्य नीलसुन्दरसे जुड़े हुए थे, भला !।।५३।।

आखिर जब बात परस्पर यह तीनों की तीनों ही, प्रियतम!
मैया हैं, तीनों शिशुओं ने ली मान फुल्ल दृग से, प्रियतम!
मधुमय, अनन्त सुखमय, पावन कौतुक वह बदल गया, प्रियतम!
आँखें बदली माताओं की सुन करके क्रन्दन-सा, प्रियतम।।५४।।

अंतमें जब तीनों शिशुओंने परस्पर फुल्ल नेत्रोंसे यह बात मान ली कि ये तीनों मातायें तीनोंकी ही मैया हैं, तब उसी क्षण यह मधुरतम, अनन्त आनन्दमय, पवित्र कौतुक सहसा परिवर्तित हो गया। तीनों माताओंकी आँखोंकी अनुभूति बदल गयी - उनके कर्णपुटोंमें एक सुन्दर क्रन्दन-सी ध्वनि जो गूँजने लग गयी थी।।५४।।

वैसी ही माया फैल गयी, वैसी प्रतीति सबको, प्रियतम।
होने लग गयी, लोकवत् ही मानो वह जन्मी थी, प्रियतम!
आनन्द सिन्धु उमड़ा, सब कुछ जन्मोचित कृत्य हुए, प्रियतम।
विस्मित वे किंतु तीन जननी रह-रहकर हो जातीं, प्रियतम।।५५।।

...........ठीक वैसी ही माया सहसा फैल गयी। सबको वैसी-की-वैसी प्रतीति होने लग गयी, मानों साधारण प्रपञ्चकी भाँति ही उस बालिकाने जन्मधारण किया हो। एक अद्भुत आनन्द-सिन्धु उमड़ चला। जैसे जो भी जन्मोचित कर्म होते हैं; सब-के-सब वैसे ही सम्पन्न हुए। किन्तु वे तीनों माताएँ रह-रहकर आश्चर्यके स्रोतमें बह चलतीं - डूब जातीं।।५५।।

पूनो तक रानी वहीं रही परिवा के दिन सहसा, प्रियतम!
शङ्कित सब हुए, नगर न कहीं हो जाय नष्ट कल ही, प्रियतम!
नर रूप बने मनुजादों का दल था आने वाला, प्रियतम!
अतएव महारानी ने दी यह राय, 'सभी चल दो', प्रियतम ॥५६॥

........पूर्णिमातक महारानी उस नगरमें ही रहीं। प्रतिपदाके दिन सहसा उस नगरमें एक अद्भुत समाचार प्रसरित हो गया। वहाँके सभी निवासी अत्यधिक शङ्कित हो उठे कि कहीं यह नगर कल ही ध्वस्त न हो जाय, क्योंकि यह सूचना फैली हुई थी कि कल मनुष्यरूपमें राक्षसोंका एक पूरा दल आनेवाला है। महारानी सोच रही थीं - अब इस परिस्थितिमें क्या किया जाये। कुछ सोचनेके अनन्तर महारानीका निर्णय इस रूपमें प्रकट हुआ - देखो, मेरी राय तो यह है कि हम लोग सभी यहाँसे अविलम्ब चल दें।।५६।।

'सर्वथा असम्भव है उनसे भिड़कर हम जयी बनें,' प्रियतम!
'है नगर निरापद केवल वह मेरा ही भूतल में,' प्रियतम!
'अनुकम्पा है जगदम्बा की, साहस न किसी में है,' प्रियतम!
'जो करें अनिष्ट वहाँ के लघु उन कीट-भृङ्ग का भी,' प्रियतम ॥५७॥

"यह बात सर्वथा असम्भव है कि हम उनसे लड़कर उनपर विजय प्राप्त कर सकें। इस स्थितिमें यदि कोई निरापद स्थान है, तो सम्पूर्ण भूतलपर केवल मेरा नगर ही विघ्न-बाधासे शून्य स्थल है। उस नगरपर जगदम्बाकी अत्यधिक अनुकम्पा है। इसीलिये किसीमें भी साहस नहीं है कि मेरे उस नगरके किसी भी प्राणीका किञ्चित् भी अनिष्ट कर सके। मनुष्यकी बात तो दूर, वहाँके लघु-से-लघु कीट, पतङ्ग, भृङ्गको भी कोई स्वल्प मात्र हानि पहुँचा दे, यह असंभव है।।५७।।

'इसलिये तुरन्त वहीं लेकर सबको जाऊँगी मैं,' प्रियतम!
'आबाल-वृद्ध पशु-पक्षी तक कर दें प्रस्थान सभी,' प्रियतम!
'भय करें न तनिक, कहीं पथ में वे ध्वंस करें हमको,' प्रियतम!
'हैं सदय जगन्माता मुझपर, रक्षा कर लेंगी वे,' प्रियतम ॥५८॥

"इसीलिये मैं सबको लेकर तुरन्त वहीं चली जाऊँगी। अविलम्ब बालक, वृद्ध, पशु-पक्षी सबको ही साथ लेकर चलना है भला! साथ ही मैं सुस्पष्ट कर देना चाहती हूँ, यदि ग्रामवासियोंके मनमें तनिक भी ऐसी आशङ्का हो कि वे मनुजाद हमें पथमें ही नष्ट न कर दें, तो ऐसी धारणा सर्वथा मिटा देनी चाहिए। तुम लोग मेरी बातपर विश्वास करो, मुझपर जगन्माताकी अपरिसीम अनुकम्पा है। वे हम सबोंकी रक्षा अवश्य कर लेंगी।"।।५८।।

गाँव एकमात्र थी यही - चले वे प्रात से पहले, प्रियतम !
सामान शकट में भर जितना सम्भव था भर लेना, प्रियतम !
लेंगे सम्भाल आकर फिर यदि सम्भव होगा आना, प्रियतम !
ऐसा निश्चय करके होकर निर्मोही जड़ धन से, प्रियतम ।।५९।।

महारानीकी बात ग्रामवासी बड़े ध्यानसे सुनते चले गये। उन सबके मनमें भी यही धारणा स्थिर हो गयी कि महारानीने जो कुछ भी कहा है, वही एकमात्र इस समय अवलम्बन करने योग्य बात बच रही है। इसीलिये वे सब-के-सब प्रातः होनेसे पहले ही ग्राम छोड़कर चल पडे। गाडीमें जितना सामान भर लेना सम्भव था, उन्होंने विभिन्न शकटोंमें भर लिया, तथा सोचा कि यह वस्तुएँ तो पड़ी रह ही सकती हैं। यदि फिरसे लौटनेकी सम्भावना हुई तो उन वस्तुओंको हम लोग सँभाल लेंगे। अस्तु ऐसा निश्चय करके ही जड़ सम्पदासे सर्वथा मोह परित्याग कर वे लोग ग्रामको छोड़ चले जा रहे थे।।५९।।

इस भाँति विदा करके सबको, सबके पीछे रानी, प्रियतम !
कहकर 'जय देवि दयामयि जय जगदम्बे, जय ललिते' प्रियतम !
सुविशाल एक रथ में दोनों बहिनों को शिशुओं को, प्रियतम !
ले साथ-चलीं निर्भय मानो भगवती जा रही हों, प्रियतम ।।६०।।

इस प्रकार सबको विदा कर लेनेके अनन्तर सबके पीछे महारानी 'जय दयामयि देवि! जय जगदम्बे ! जय ललिते !' इस प्रकार उच्चारणकर एक सुविशाल रथमें अपनी अनुजा एवं शारदाको तथा उन छोटे शिशुओंको साथ लेकर निर्भय चल पड़ीं। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो साक्षात् भगवती चली जा रही हैं।।६०।।

वे अहो! न जाने कैसे थे पहुँचे सब-के-सब ही, प्रियतम !
केवल दो घड़ी लगी एवं दीखी वह राजपुरी, प्रियतम !
सन्मुख जैसे स्वागत सबका हँस-हँसकर थी करती, प्रियतम !
सीमा पर खड़े महाराजा थे मङ्गलकलश लिये, प्रियतम ।।६१।।

आश्चर्यकी बात यह कि न जाने कैसे वे सब-के-सब केवल दो घड़ीका समय बीतते-न-बीतते उस घूम-घुमावके लम्बे पथको पार करके राजपुरीके निकट जा पहुँचे। बिल्कुल सामने ही वह राजनगर विराजित दीखने लग गया। मानो राजपुरीकी सीमा समाप्त हो रही थी। वहीं उस विन्दुपर ही महाराज हाथमें मङ्गलकलश लिये खड़े दिखाई पड़ने लग गये।।६१।।

विभुता का हुआ प्रकाश सत्य अद्भुत उस नृपपुर में, प्रियतम !
सुन्दर-से-सुन्दर पृथक-पृथक सबको आवास मिला, प्रियतम !
सपने में भी उन सबको जो सुख-सुविधा थी न मिली, प्रियतम !
वह मिली, वहाँ वे भूल गये पहले निवासथल को, प्रियतम ।।६२।।

उस ओर महाराजके नगरमें सर्वथा एक सत्य एवं अद्भुत विभुताका प्रकाश हो गया था। इतना ही नहीं, इन नवीन आगन्तुकोंके लिये, सुन्दर-से-सुन्दर, पृथक्-पृथक्, यथायोग्य आवासकी व्यवस्था भी हो गयी। इन ग्रामवासियोंको स्वप्नमें भी जो सुख-सुविधा वहाँ अपने नगरमें प्राप्त नहीं थी, वह यहाँ राजपुरीमें उन्हें उपलब्ध हो गयी। वे अपने पहले निवासस्थलको इस सुखके सामने बिल्कुल भूल गये।। ६२।।

अवसान वर्षका हुआ, पुनः आयी पावस ऋतु थी, प्रियतम !
अष्टमी भाद्र शुक्ला की थी, रानी थी पीहर में, प्रियतम !
मध्याह्न हुआ था नहीं अभी, थी देर दण्ड दो की, प्रियतम !
थे अचक महाराजा पहुंचे अपने श्वसुरालय में, प्रियतम ।।६३।।

इसके अनन्तर क्रमशः यह वर्ष भी पूरा हो गया। फिरसे पावस ऋतु आयी। भाद्रपद शुक्ला अष्टमी तिथि थी। महारानी इस समय अपने पीहरमें विराजित थीं। अभी मध्याह नहीं हुआ था। उसमें दो दण्डका विलम्ब था। उसी समय महाराजा अचानक अपने ससुरालमें जा पहुँचे।। ६३।।

था उदर महारानी का फिर तेजोमय परम बना, प्रियतम !
हेमन्त-सम्पदा से जब थी भूषित यह धरा हुई, प्रियतम !
नौ मास पूर्व था मार्गशीर्ष, अष्टमी शुक्ल की थी, प्रियतम !
प्रातः की वेला थी, रानी देवी मन्दिर में थीं, प्रियतम ।।६४।।

बात यह थी कि महारानीका उदर फिरसे परम तेजोमय बन गया था; यह नौ महीना पूर्वकी बात है, मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमीकी तिथि थी। हेमन्तकी सम्पूर्ण सम्पदासे धरणी विभूषित हो रही थी। प्रातःकालका समय था। महारानी देवीमन्दिरमें उस समय अवस्थित थीं।। ६४।।

श्री-प्रतिमा के पद पर जो थी कुसुमावलि पड़ी उसे, प्रियतम !
कर में ले, दृग से छुला-छुला अपसारित थीं करती, प्रियतम !
थे नहीं अभी राजा आये अर्चन के लिये वहाँ, प्रियतम !
कर रही अकेली रानी थीं पूजा की तैयारी, प्रियतम ।।६५।।

महादेवीकी प्रतिमाके चरण-सरोरुहमें जो कुसुमावली बिखरी पड़ी थी, उसे वे अपने हाथमें उठा लेतीं, फिर आँखोंमें छुआ-छुआकर उसे अलग रखती जा रही थीं। अभी महाराज महादेवीकी अर्चना करनेके लिये मन्दिरमें नहीं पधारे थे। अकेली महारानी पूजाकी तैयारीमें संलग्न थीं।। ६५।।

दीखा यह अकस्मात् उनको, हँस पड़ीं महादेवी, प्रियतम !
फिर अहो! उर स्थल उनका था क्रमशः खुलता जाता, प्रियतम !
अञ्चल वह परदा-सा होकर बायें-दायें सरका, प्रियतम !
बन गया द्वार उससे निकली मनको हरने वाली, प्रियतम ।।६६।।

महारानीको सहसा यह दीख पड़ा कि महादेवी सहसा हँस पड़ी। और अहो ! आश्चर्य! महान् आश्चर्य !! यह देखो, महादेवीका उरस्थल तो धीरे-धीरे द्वारकी भाँति खुलता जा रहा है, मानों उनके वक्षःस्थलपर सुशोभित अञ्चल

तो परदा-सा बनकर कुछ दाहिने, कुछ बायें सरकता जा रहा है। एक द्वार बन गया भला । और फिर देखो एक अत्यन्त मनोहारिणी - ।।६६।।

सुन्दरी अनिर्वचनीय एक कन्या गोरी-भोरी, प्रियतम।
रानी के कुन्तल की लट को कर में लेकर बोली, प्रियतम।
'री मैया!' अहा! सुधास्यन्दी स्वर था कितना मीठा, प्रियतम!
रानी में चेतनता न रही बाहर की किञ्चित् भी, प्रियतम ।।६७।।

अनिर्वचनीय सुन्दरी, गौरवर्णा, भोली-भाली, छोटी बालिका बाहर निकल आयी। महारानीके अत्यन्त समीप आकर उनके उन्मुक्त कुन्तलोंकी एक लटको हाथमें लेकर बोल बैठी - "री मैया!" .. अहा ! यह सुधास्यन्दी स्वर कितना मीठा है भला ! महारानीमें तो किञ्चित् भी बाह्य चेतना बची न रह सकी।।६७।।

भीतर की आँख किंतु उनकी थी देख रही घटना, प्रियतम!
देखी उनने जो थी, उसका सङ्केत भले कर दूँ, प्रियतम!
द्रुम एक परम रमणीय खड़ा पुष्पित कदम्ब का था, प्रियतम!
थी नित्य किशोरी एक, और था एक किशोर वहाँ, प्रियतम।।६८।।

अवश्य ही महारानीकी भीतरकी आँखें वहाँ घटनेवाली घटनाओंको ज्यों-की-त्यों देख रही थीं। महारानीने क्या देखा, उसका यत्किञ्चित् सङ्केत भले ही संभव है, पूरा वर्णन कौन करे। अस्तु, महारानीने देखा - सामने एक परम रमणीय पुष्पित कदम्बका वृक्ष विराजित है। उसके नीचे एक नित्यकिशोरी एवं नित्यकिशोर विराजित हैं।।६८।।

उन दोनों की ही ओर दृष्टि करके जगदम्बा थीं, प्रियतम।
कहतीं - 'हे सती! आज करले दर्शन मेरे उरका,' प्रियतम!
'सच्चिदानन्द, असमोर्ध्व और जो भगवत्ता का भी,' प्रियतम!
'है सार-मूल मधुरिमा, यही नीली-पीली द्युति है,' प्रियतम ।।६९।।

उन दोनोंकी ओर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित किये वहीं साक्षात् जगदम्बा भी विराजित हैं, भला! और यह लो, ये त्रिभुवन-जननी कह रही हैं - "सती ! परम सती ! महारानी हे ! आज तू मेरे हृदयका प्रत्यक्ष दर्शन कर ले - परिचय पा ले। जो सच्चिदानन्द, असमोर्ध्व तथा भगवत्ताका भी सार-मूलतत्त्व मधुरिमा है, वह नीली-पीली यह द्युति ही है भला !।।६९।।

'रसमय, सम्विद्, केवल, अद्वय, जो नील पीतमय है,' प्रियतम!
'यह नित्य हृदय मेरा, जिसमें हूँ लीन हुई रहती,' प्रियतम!
'लीलारस पीता हुआ नित्य जो युगम रूप में है,' प्रियतम!
'रहकर दो, नित्य एक जो है, दृग विषय हुआ वह है,' प्रियतम ।।७०।।

जानती हो महारानी ! जो रसमय, संविन्मय केवल अद्वयस्वरूप नील-पीतमय यह मेरा नित्य हृदय है, जिसमें ही मैं सदा लीन हुई रहती हूँ और जो लीलारसका पान करता हुआ नित्य युग्मरूपमें विराजित है, जो नित्य दो रहकर भी नित्य एक है भला, - वही, वही तत्त्व आज तुम्हारी आँखोंका विषय वन गया है, भला ! तुम उसे प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे देख रही हो।।७०।।

"यह नित्यकिशोरी ही तुझसे बोली थी, 'री, मैया !', प्रियतम !
"पीयेगी दूध सुधामय यह तेरे पयोधरों का;" प्रियतम !
"यह नित्य किशोर किंतु तेरी जो प्राणसखी वह है;" प्रियतम !
"उसका पी लेगा दूध, तभी आयेगी यह पीने;" प्रियतम ।।७१।।

अभी-अभी यह नित्य किशोरी ही तुझसे "री मैया !" कहकर बोली थी। तुम भविष्यकी बात सुन लो; यह तेरे पयोधरोंका सुधामय दूध पीयेगी भला ! किन्तु यह घटना तभी घटेगी, जब पहले यह नित्यकिशोर तुम्हारी जो वह प्राणसखी है, उसका दूध पी लेगा। इस किशोरके दूध पी लेनेके अनन्तर ही यह किशोरी दूध पीने आयेगी।।७१।।

"यह नित्य समाया रहता है उसके प्राणों में ही;" प्रियतम !
"यह नित्य समायी रहती है तेरे ही प्राणों में;" प्रियतम !
"तुम दोनों भूल गयी हो यह इनकी ही इच्छा से;" प्रियतम !
"अब याद करा देती हूं मैं, जय हो तुम दोनों की!" प्रियतम ।।७२।।

यह नित्यकिशोर तेरी उस नित्य प्राणसखीके प्राणोंमें ही समाया रहता है। इधर यह नित्यकिशोरी तेरे प्राणोंमें समायी रहती है। तुम्हारी वह प्राणसखी एवं तुम - दोनों ही इस बातको भूल गयी हो तथा ऐसा हुआ है इन दोनोंकी इच्छासे ही। अब मैं याद करा देती हूँ, भला ! तुम दोनों सखियोंकी जय हो ! जय,जय,जय,..........!।।७२।।

"दिव्यातिदिव्य सौरभ अनुपम तेरे इन केशों से," प्रियतम ।
"हो रहा यहाँ प्रसरित अब है, आ चुके नृपति भी हैं।" प्रियतम ।
"सङ्कल्प पवित्र और उनके मनमें यह जाग उठा;" प्रियतम ।
"सन्तति हो एक पुनः ऐसी सुरभित अलकों वाली;" प्रियतम ।।७३।।

महारानी ! तू सुन ले, दिव्यातिदिव्य एवं संविन्मय सुगन्ध तुम्हारे इन केशोंमें भर गयी है। सम्पूर्ण मन्दिरके कण-कणमें यह सुगन्ध फैल गयी है। किन्तु तुम्हें बाह्य ज्ञान न होनेके कारण भान नहीं हो रहा है। पर महाराज मन्दिरके भीतर, बिलकुल तुम्हारे समीप आकर खड़े हैं। एक बड़ा ही पवित्र, पवित्रतम सङ्कल्प महाराजके मनमें जग उठा है - 'ऐसी सुरभित अलकोंवाली एक संतति मुझे पुनः प्राप्त हो जाय........।'।।७३।।

"अनुभूति किंतु अपनी यह तुम राजा से मत कहना," प्रियतम ।
"रोने जब फूट-फूटकर वे रजनी में आज लगें;" प्रियतम !
"कहकर रानी हे पतन हुआ मेरा व्रत नष्ट हुआ;" प्रियतम !
"इतना-सा तब कहना जाकर 'जगजननी से पूछो।'" प्रियतम ।।७४।।

किन्तु महारानी ! सावधान ! अपनी इस अनुभूतिको तुम महाराजसे बता मत देना ! आज रात्रिमें जब तुम्हारे सामने ये फूट-फूटकर रोने लगें, बार-बार यह कहकर कि 'रानी हे ! मेरा पतन हो गया, मेरा व्रत नष्ट हो गया,' तब उस समय तुम इतना-सा कह देना .......कि 'जाइये, जगज्जननीके समीप जाकर उनसे सब बातें पूछ लीजिये'।।७४।।

"दूँगी मैं बता दिखा बातें आगे की, पीछे की।" प्रियतम।
"प्रेरित मत किंतु, भला, करना, वे कहें पुन उनको।" प्रियतम!
"सुख की प्रतिपल नवीन लहरें प्लावित तेरे, नृपके," प्रियतम।
"प्राणों को नित्य करें सच है वाणी त्रिकाल मेरी" प्रियतम।।७५।।

'उस समय मैं सब बातें बता दूँगी। इतना ही नहीं, आगेकी-पीछेकी सभी बातोंका प्रत्यक्ष दर्शन भी मैं महाराजको करा दूँगी। किन्तु तुम महाराजको इस बातके लिये प्रेरित मत करना कि वे मेरी कही हुई सब बातें, मेरे द्वारा दिखाई हुई सब बातोंका विवरण तुम्हें भी बता दें। मैं आशीर्वाद दे रही हूँ - आनन्दकी लहरें प्रतिपल नवीन बनकर तुम्हारे एवं महाराजके प्राणोंको नित्य प्लावित करती रहें। देखो, मेरी वाणी त्रिकालसत्य है भला !।। ७५।।

इतने में दृश्य तिरोहित यह हो गया, जगीं रानी, प्रियतम।
अर्चन में योग न दे पायीं; उसदिन पगली-सी थीं, प्रियतम!
था प्रथम पहर जब बीत गया उस दिन की रजनी का, प्रियतम।
रानी-नृपशयन-भवन में थे हो भावमग्न बैठे, प्रियतम।।७६।।

इतनेमें ही महारानीके मानसिक नेत्रोंके सामनेका दृश्य तिरोहित हो गया। वे उस पवित्र समाधिसे जग पड़ीं। किन्तु उस दिन महादेवीकी अर्चनामें वे महाराजके साथ सहयोग न कर पायीं। सम्पूर्ण दिवस वे पगली-सी दिख रही थीं। निशा आयी और जब उस दिनकी रजनीका प्रथम प्रहर बीत गया, उस समय महारानी एवं महाराज अपने शयनागारमें जा विराजे। दोनों ही भावमग्न बैठे थे।। ७६।।

राजा के तनके कण-कण में ऐसी थी ज्योति भरी, प्रियतम!
वाणी क्या जिसे कहे, मन भी छू पाया नहीं कभी, प्रियतम!
थे नयन निमीलित-उन्मीलित रह-रहकर हो जाते, प्रियतम!
प्राणों में उनके सम्वेदन कैसा था, तुम जानो, प्रियतम।।७७।।

महाराजके शरीरके कण-कणमें कुछ ऐसी विचित्र ज्योति भरी हुई थी, जिसका वर्णन वाणी तो क्या करेगी, किसीका मन भी उसके सम्बन्धमें ठीक-ठीक कल्पनातक नहीं कर सका है। दोनोंकी आँखें निमीलित होतीं और पुनः खुल जातीं। रह-रहकर ऐसा हो जाता। किन्तु उनके प्राणोंकी अनुभूति कैसी थी, इसे तो अन्तर्यामी ही जान सकते हैं।। ७७।।

दक्षिण कर रानी के उर पर, सिर पर, कर वाम तथा, प्रियतम!
भावाभिभूत नृपने जैसे था रखा यन्त्रवत् ही, प्रियतम!
सङ्क्रमित उसी क्षण तेजपुञ्ज रानी के अङ्गों में, प्रियतम!
हो गया, तुरन्त सिमिटकर फिर उदर स्थल में जागा, प्रियतम।।७८।।

महारानी एवं महाराज भावमग्न आमने-सामने बैठे थे। परिचालित यन्त्रकी भाँति अचानक महाराजने अपना दक्षिण हस्त रानीके हृद्देशपर एवं वाम हस्त उनके मस्तकपर रख दिया। क्षण बीतते-न-बीतते यह हुआ कि महाराजके अङ्गोंमें परिव्याप्त वह तेजपुञ्ज उसी क्षण रानीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें संक्रमित हो गया तथा तुरन्त सब जगहसे सिमटकर उदरस्थलमें केन्द्रित होकर जगमग-जगमग करने लग गया।। ७८।।

संज्ञाविहीन अवनीश हुए रानी की गोदी में, प्रियतम!
थे पड़े तीस पल तक, जगकर वैसे ही फिर रोये, प्रियतम!
उन महिमामयी जगत्त्रय की जननी ने तब उनको, प्रियतम!
दिखला दी भूत-भविष्यत् की घटना, वे मुग्ध हुए, प्रियतम।।७९।।

महाराज बाह्यज्ञानशून्य होकर महारानीकी गोदमें ही लुढ़क पड़े। तीस पलतक उनमें चेतना बिलकुल न रही। इसके अनन्तर वे निद्रासे जगे हुए-से होकर, जैसे महादेवीके द्वारा महारानीको अनुभव कराया गया था, ठीक वैसे ही अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लग गये। अचानक त्रिजगज्जननी महा-महिमामयीकी अपरिसीम कृपाने महाराजको आत्मसात् कर लिया। और फिर उस कृपाने ही भूत-भविष्यके सम्पूर्ण घटनाचित्रको उनकी आँखोंके सामने रख दिया। महाराज आनन्दविभोर हो उठे।।७९।।

उसका ही था परिणाम, नृपति थे अकस्मात् आये, प्रियतम!
आद्या-जन्म स्थल में स्वागत करने के लिये अहा! प्रियतम!
असमोर्ध्व महामहिमामय के प्राणों की देवी का, प्रियतम!
बेटी हो उनकी प्रगट अभी होनेवाली जो थीं, प्रियतम।।८०।।

उसका ही परिणाम था कि महाराज अकस्मात् अपने ससुरालमें आज पधारे थे, स्वागत करने आये थे। किसका स्वागत ? असमोर्ध्व, महामहिमामय स्वयं भगवान्‌के प्राणोंकी अधिदेवीका, जो अहा ! अभी-अभी उनकी पुत्री बनकर आविर्भूत होनेवाली थी।।८०।।

केवल नृप नहीं, धरा के जो मस्तकमणि मुनिगण थे, प्रियतम!
जो स्वर्लोकों के, भुवर्लोक, पन्नगतल तक के थे, प्रियतम।
प्रेरित हो अन्तर्यामी से दौड़े आये सब थे, प्रियतम!
जैसे थे प्रायः वैसे ही, कुछ रूप धरे भी थे, प्रियतम।।८१।।

केवल महाराज ही नहीं, धराके जो मस्तकमणिस्वरूप मुनिगण थे, जो स्वर्लोक, पितृलोक एवं उस ओर नागलोकके अधिवासी थे - अन्तर्यामीके द्वारा प्रेरित होकर सब-के-सब दौड़े हुए आये थे। जो जैसे थे, जिस वेषमें थे, ज्यों-के-त्यों आये थे। हाँ ! कुछ देवगण अपना वेष परिवर्तित किये हुए भी अवश्य थे।।८१।।

थे तपन गगन में चमक रहे, जन-सुखद अतीव बने, प्रियतम!
अवनी प्रतिपल ही थी धारण कर रही नयी सुषमा, प्रियतम!
वर्षाऋतु थी, पर सलिल वहाँ सर-सरित-निर्झरों का, प्रियतम।
दो घड़ी हुई, था बना अतुल उज्ज्वलतम मोती-सा, प्रियतम।।८२।।

अंशुमालीकी किरणें व्योममें चमक रही थीं। सभीके लिये वे किरणें अत्यन्त सुखद थीं। उस ओर धरणी पल-पलमें नवीन सुषमासे सुसज्जित होती जा रही थी। यद्यपि वर्षा ऋतुका समय था, किन्तु वहाँके सर-सरिता, निर्झरोंका जल अभी दो घड़ी पूर्वसे अप्रतिम उज्ज्वलतम मोतीकी भाँति निर्मल बन गया था।।८२।।

शीतल-सुगन्ध-मन्थर समीर छू-छूकर के सबको, प्रियतम !
कानों में था कहता मानो, 'देखो ! धीरे-धीरे'; प्रियतम !
'रस लहर एक-से-एक बड़ी इस भावसिन्धु में है'; प्रियतम !
'आने वाली, तुम अवगाहन निरवधि करते रहना।' प्रियतम ॥८३॥

शीतल, सुगन्धित, मन्थर समीर सब प्राणियोंको छू-छूकर मानों सबके कानोंमें धीरे-धीरे कह रहा था - 'देखो! क्रमशः एक-से-एक उत्तुंग रसकी लहरें इस भावसमुद्रमें आने वाली हैं, भला ! तुम सभी उनमें अनन्त कालतक अवगाहन करते रहना।। ८३।।

थे अश्वकिरणमाली - रथ के जब ठीक मध्यनभ में, प्रियतम !
आये, बस, उसी सन्धि पर थी आयी कन्या नृपकी, प्रियतम !
मङ्गलमय परम जुड़े जब थे कालोचित योग सभी, प्रियतम !
रस राज और जब महाभाव दोनों थे एक हुए, प्रियतम ॥८४॥

किरणमालीके रथके अश्व जब ठीक मध्य व्योममें आकर अवस्थित हुए, बस, उसी सन्धिपर महाराजकी पुत्रीका आविर्भाव हुआ। कालोचित सभी योग परम मङ्गलमय बनकर जिस समय अवस्थित थे, जिस समय रसराज और महाभाव दोनों ही एक हो गये थे - ठीक उसी क्षण, उसी वेलामें राजपुत्री पधारी।। ८४।।

कोई न चितेरा हुआ यहाँ, आगे न कभी होगा, प्रियतम !
जो चित्र सलोनी नृप की उस बेटी का सही लिखे, प्रियतम !
लोचन जिनके हों तुम मेरे प्राणाधिक के पद की, प्रियतम !
नख-चन्द्र-चन्द्रिका से भासित, वे देख भले ही लें, प्रियतम ॥८५॥

यहाँ ऐसा कोई चित्रकार नहीं हुआ, और न कभी आगे होगा, जो उस सलोनी राजकुमारीका वास्तविक चित्र अङ्कित कर दे सके। प्राणरमण नीलसुन्दर, सुनो ! जिसके लोचन तुम्हारी चरण-नख-चन्द्रिकासे उद्भासित होंगे, वे देख भले ही लें किन्तु वे उसकी प्रतिच्छविका निर्माण नहीं कर सकेंगे।। ८५।।

दो बार अहो ! वह मुख-शोभा, फिर वह उमङ्गधारा, प्रियतम !
प्राणों में जो थी उमड़ चली, देखी जिनने उनके, प्रियतम !
एवं उसका प्रकाश बाहर कैसे था हुआ वहाँ, प्रियतम !
निर्लज्ज हुई उस ओर, भला, किञ्चित् कह आयी हूँ, प्रियतम ॥८६॥

इससे पूर्व अहो ! दो बार उस मुख-शोभाका एवं उस उमङ्ग-धाराका - जो उस समय सबके प्राणोंमें उमड़ चली थी, जिन-जिनने उस दृश्यको देखा था, एवं उसका प्रकाश वहाँ बाहर कैसे हुआ था, - इन सबका चित्रण मैं निर्लज्ज होकर उस वार कर चुकी हूँ। पूर्ण विवरण तो असम्भव है पर, प्राणरमण ! किञ्चित् चित्रण अवश्य कर चुकी हूँ।। ८६।।

*अब तो इतना-सा कहूँ, अहा ! उन दिव्य अतिथियों ने, प्रियतम !*
*रानी ने, बहिनों ने, अगणित चर-अचर लोचनों ने, प्रियतम !*
*कन्या को, रस के प्लावन को देखा, बस, देखा था, प्रियतम !*
*था काल मकर, रानी लौटीं पीहर से ले पुत्री, प्रियतम ।।८७।।*

**अब तो अहो ! केवल इतना-सा ही कह दूँ - 'अहा ! उन दिव्य अतिथियोंने, रानीने, उसकी बहनोंने, उन अगणित चर-अचर लोचनोंने उस कन्याको एवं रसके उस महाप्लावनको, बस, देखा था । इतना ही कहना सम्भव है प्राणनाथ ! और आगे इतना-सा और सुन लो। इस वर्ष पुनः जब मकरकी संक्रान्ति लगी थी, उस दिन उस पुण्य पर्वके अनन्तर ही महारानी उस अद्भुत पुत्रीको अपने अङ्कमें लिये पीहरसे लौटी थीं।। ८७।।**

## जिज्ञासा

**छन्द संख्या ६३ से ८७ तक श्रीराधाका जन्म-प्रसङ्ग है। कृपया इन सभी चौबीस छन्दोंका भाव विगतवार इस प्रकार सुस्पष्ट कर दें जिससे इनकी वणर्नशैलीगत दुरूहता सर्वसाधारणके सम्मुख सुस्पष्ट हो जावे।**

## समाधान

पू.गुरुदेवकी यह शैली ही है कि वे आगेकी बात पहले कहकर पश्चात्‌के छन्दोंमें पीछे हुई घटनाओको पहले कही बातसे संयुक्त करते हैं। इसी शैलीका पालन करते हुए वे ६३ वें छन्दमें श्रीराधाके जन्मदिन – भाद्रपद शुक्ला अष्टमी तिथिके मध्याह्नमें रावलग्राममें चले आते हैं और उस अवसरपर महाराज वृषभानुके अपने श्वसुरालयमें पहुँच जानेका भी उल्लेख कर दे रहे हैं।

छन्द सं. ६४ में वे ठीक नौ मास पूर्व भूतकालमें मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमीके कालमानपर चले चलते हैं एवं उन परिस्थितियोंका उल्लेख करना प्रारंभ कर देते हैं, जिन परिस्थितियोंमें भगवतीकी प्रेरणासे परम तपस्वी श्रीवृषभानुजीको भी अपना यह व्रत तोड़ना पड़ा था कि महादेवीके आदेशसे एक पुत्र होजानेके पश्चात् वे यावज्जीवन शीलव्रती ही रहेंगे,

छन्द सं. ६५ में उल्लेख है कि रानी कीर्त्तिदा प्रातःकाल महादेवीके मन्दिरमें सेवार्थ प्रवेश करती हैं एवं महादेवीके चरणोंमें समर्पित किये हुए अर्चनाके पुष्पोंको नेत्रोंसे लगा-लगाकर उन्हे किरी सरोवरमें विसर्जित करनेके लिये एक किनारे रख रही हैं।

छन्द सं. ६६ मे महारानीको महादेवीके साक्षात् दर्शन होते हैं, वे मुसकाती हैं और सहसा उनका हृदयदेश महारानीके सम्मुख खुल जाता है।

अनन्तविभु महान् ऐश्वर्यमयी अघटन-घटना-पटीयसी भगवती महादेवी अपनी सेविका महारानी कीर्त्तिदाके सम्मुख यह रहस्य प्रकट करती हैं कि जो नित्य रसमय, संविन्मय, अद्वय, नित्यकिशोर-किशोरीका नील-पीतमय स्वरूप है -- यही मेरा हृदय है। यह नील-पीतमय महादेवीका हृदय महारानी कीर्त्तिदाको तीन रूपमें दिखता है। 'एक परम रमणीय कदम्बका पुष्पित वृक्ष अवस्थित है, उसके नीचे एक नित्यकिशोरी एवं एक नित्यकिशोर बालिका-बालक खडे है। अनिर्वचनीय सुन्दरी नित्यकिशोरी बालिका वर्णकी गोरी एवं अत्यन्त भोले स्वभावकी है। वह महारानी कीर्त्तिदाके केशोंकी एक लट अपने हाथोंसे छूकर सुधास्यन्दी मधुर स्वरमें कहती है – 'री, मैया !' महारानी इस मधुर स्वरको सुनते ही बाह्य ज्ञान भूल जाती है। महारानीको यद्यपि अपना देहगत बाह्यज्ञान नहीं रहता, किन्तु अन्तश्चेतनाके जगत्‌में वह महादेवीका सुस्पष्ट स्वर सुनती है कि 'हे सती ! आज सच्चिदानन्द एवं असमोर्ध्व भगवत्ताका भी जो मूल-सार – मधुरिमारूप मेरे हृदयका पक्ष है, उसका दर्शन करले। यही मधुरिमाभरा मेरा हृदय ही नील-पीतद्युति नित्यकिशोर एवं

नित्यकिशोरीके रूपमें तुझे दृष्टिगोचर हो रहा है। यह मधुरिमामय रूप नित्य दो रहकर भी नित्य एक है। यह लीलारसका पान करता तेरे सम्मुख नित्य युग्मरूपमें विराजित है। यही तत्व आज तुम्हारी ऑखोका विषय बन गया है। इस समय तुम उसे प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे देख रही हो। यह नित्य किशोरी ही तुझसे 'री, मैया !' कहकर बोली थी। देख ! आगामी दिवसोंमें यह नित्य किशारी तेरी कोखसे जन्म लेगी एव तेरे पयोधरोका सुधामय दूध पियेगी। और यह घटना तभी घटेगी जब यह नित्यकिशोर तेरी प्राणसखी नन्दगेहिनी यशोदाकी कोखसे जन्म लेकर उसके पयोधरोका दूध पी लेगा। हे सती ! ये दोनों नित्यकिशोर एवं नित्यकिशोरी तुम दोनोंके प्राणोंसे एकात्म होकर नित्य मेरे ह्रदयमें रहते हैं। ये सब बाते भी मैं इन दोनोकी इच्छासे ही तुम्हे कह रही हूँ।

'महारानी ! सुन ले ! महाराज तेरे समीप ही है। तेरे इन केशोकी दिव्यातिदिव्य गधसे आकर्षित होकर उनके मनमें एक तुम्हारे ही समान सुरभित अलकोंवाली सन्ततिकी लालसा अभी जग उठेगी। रात्रिमे फिर वे जब तेरे समीप फूट-फूटकर रोने लगें कि 'हाय ! मैं अपने सङ्कल्पसे गिर गया।' तब तुम उनसे यही निवेदन कर देना कि 'महादेवीके समीप जाकर उनसे ही सब बातें पूछ लीजिये।' जब वे मेरे सम्मुख आवेंगे उस समय मैं उन्हें सभी बातें बता दूँगी।

यह छन्द सं. ६७ से ७६ तकका सारांश विषय है। इसके पश्चात् छन्द सं. ८६ तकका कथन सुस्पष्ट है। उसका शब्दार्थ भी दे दिया गया है।

## जिज्ञासा

**छन्द सं.६८ में महादेवी जगज्जननी द्वारा महारानीको अद्वयतत्व नील-पीत किशोर-किशोरीके रूपमें दिखाया जाता है - यह तो सुस्पष्ट है, किन्तु जो कदम्बका वृक्ष दिखाया जाता है क्या वह भी परात्परतत्वका सार है ? यह बात सुस्पष्ट करें।**

## समाधान

शास्त्र मुक्तकण्ठसे उद्घोष करते है कि श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, भगवान् है। वे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा, आश्रयतत्व हैं। ये भगवान् श्रीकृष्ण अपने असमोर्ध्व, नित्य परिवर्धनशील सौन्दर्य-माधुर्यके द्वारा विश्वविमोहन सर्वचित्ताकर्षक हैं। यहाँ तक कि अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर ये स्वयं अपने आपपर ही मुग्ध हो उठते हैं। श्रीकृष्ण ही द्विभुज मुरलीमनोहर नित्यकिशोर नराकृति भुवनमोहन-श्रीविग्रह ह्लादात्मा परतत्व हैं। ये अपने ही नित्य सौन्दर्य-मायुर्यका समास्वादन करनेके लिये स्वयं ही अपनी ह्लादिनी आनन्दशक्तिको नित्यकिशोरी श्रीराधाके रूपमें अभिव्यक्त किये हुए हैं। इन्हीं नित्यकिशोर श्रीकृष्ण एवं नित्यकिशोरी श्रीराधाका, महादेवी जगज्जननी अपनी अनन्त कृपापात्रा महारानी कीर्त्तिदाको, अपना ह्रदय बतलाती हुई दर्शन कराती हैं। वस्तुतः ये श्रीराधामाधव सभीके दहराकाशमें नित्य विराजित रहनेवाले सभीके ह्रदय तो हैं ही।

वस्तुतः ये नित्यकिशोर एवं नित्यकिशोरी जो भगवती जगज्जननीका ह्रदय हैं, दो स्वतंत्र निरपेक्ष सत्ताऍं नहीं है। अपितु इन दोनोके रूपमें एक ही परम नित्यानन्दतत्व नित्य अखण्ड रहकर आस्वाद्य एवं आस्वादनकर्त्तारूपसे दो दृष्टिगोचर हो रहा है। यहाँ समझनेकी वस्तु यही है कि तत्वमें जो एक है, वही लीलामें परिस्फुट होकर अनेकवत् भासित होता है। तत्व बीज है और लीला उसका स्फुटित स्वरूप – विशद वृक्ष है। तत्व एकमेव अद्वितीय है। किन्तु लीलामें वही कदम्बवृक्षरूपमें वृन्दावनधाम, ब्रजेन्द्रनन्दन नित्यकिशोर श्रीकृष्ण, बृषभानुदुलारी नित्यकिशोरी राधा – तीन रूपोंमें व्यक्त हो जाता है। ये तीन भी अपने-अपने कायव्यूह रूपोमें अनन्त वृक्ष, लता-द्रुम-वीरुध, कुसुम, यमुना, सरोवर, पर्वत, अनन्त ग्राम, देश, गोप-गोपी, माता-पिता, सखा-सखी, दास-दासी हो जाते हैं।

ये सभी एक ही तत्वकी अनेकानेक दिशाएँ हैं। तत्वमें जो अव्यक्त है, वही लीलामें परिस्फुट होकर अनेक एवं अनन्त हो जाता है।

भगवती जगज्जननी द्वारा यही रहस्य कीर्त्तिदा महारानीको समझानेके लिये अपना हृदय दिखाया जा रहा है। यह लीलामय ब्रज ही उनका हृदय है। इस परम लीलारूप ब्रजको अपना हृदय बनाये वे स्वयं ही ब्रजेन्द्रनन्दन नित्यकिशोर श्रीकृष्ण, बृषभानुदुलारी नित्यकिशोरी श्रीराधा एवं कदम्बवृक्ष – वृन्दावनधाम बनकर लीलारत हो रही हैं। यही इन तीनों रूपोंके दर्शनोंका उद्देश्य मानना चाहिये।

## जिज्ञासा

**छन्द सं. ७७में 'महाराजाके तनमें विचित्र ज्योति भरी हुई थी' ऐसा वर्णन आता है। यह ज्योति कैसी थी, कृपया इसे सुस्पष्ट करें ।**

## समाधान

जिन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें मणियोके सदृश जिनमे गुँथा हुआ है, जो क्षरसे अतीत एव अक्षरसे उत्तम, जो सब भूतोकी उत्पत्तिके बीज हैं, उन श्रीकृष्णकी भी जो आत्मा हैं, उनको भी आनन्द देनेवाली हैं, उनकी भी प्राणोकी प्राण, जीवनकी जीवन हैं, वे श्रीराधा जिस ज्योतिसे उद्भूत होनेवाली हैं, श्रीबृषभानुजी महाराजके मनमें उस दिव्य ज्योतिका प्रकाश उस क्षण दिपदिपा उठा था।

श्रीबृषभानुजी महाराज एवं महारानी कीर्त्तिदा दोनों ही उस समय उस भगवती जगज्जननी महात्रिपुरसुन्दरीके उस महातेजसे द्युतिमान् थीं, जो तेज सबकी गति है, सबका भरण-पोषण करनेवाला है। यह तेज ही सबका प्रभु है, साक्षी है, निवास है, शरण है, सुहृद् है, उत्पत्ति है, प्रलय है, सबका आधार एवं निधान है, तथा सबका अविनाशी कारण है। यह तेज सर्वलोकोंका महान् ईश्वर है, जिस तेजको परब्रह्म, परमधाम, आदिदेव, विभु कहते हैं, जो सच्चिदानन्दतत्वका भी मूल कन्द है, जो दिव्य तेज योगमाया द्वारा ढका होनेसे सब समय सबके दृष्टिपथमें नही आता, उस ज्योतियोकी भी मूलज्योतिसे ही श्रीबृषभानु महाराज उस काल द्युतिमान् थे।

इसी प्रकार छन्द सं ७८मे पू.गुरुदेवने स्पष्ट सङ्केत किया है कि प्राकृत जीवोकी भाँति न तो श्रीराधाकुमारी गर्भमें आयी और न ही उनका विग्रह ही उनसे भिन्न पाञ्चभौतिक था। वे अयोनिजा थीं। वात्सल्य-भाव-सिन्धु श्रीबृषभानुजी एव कीर्त्तिदा महारानीको पिता-माताके रूपमें श्रीराधाने स्वीकारकर मात्र धन्य ही किया था। श्रीबृषभानुजी एवं कीर्त्तिदा महारानी अनन्य वात्सल्यभावसे श्रीराधाको पुत्रीरूपमें प्राप्त करना चाहते थे, इसीलिये उनके वात्सल्यभावको कृतकृत्य करनेके लिये भगवती श्रीराधाने अपने आविर्भावके पहले ही सर्वप्रथम अपने पिता बृषभानु महाराजको अपनी सच्चिन्मयी ज्योतिसे ज्योतिर्मान् कर दिया। तत्पश्चात् भावमग्न उनके सामने आसीन कीर्त्तिदा महारानीको भी परिचालित यंत्रकी तरह उनके द्वारा दक्षिण हस्त हृद्देशपर एवं वामहस्त उनके मस्तकपर रखवाकर महाराज बृषभानुके अङ्गोंमें परिव्याप्त तेजपुञ्जको महारानी कीर्त्तिदाके सम्पूर्ण अङ्गोंमें से संक्रमित करवा दिया। यह संक्रमित तेजपुञ्ज तुरन्त ही रानीके सभी अङ्गोंसे सिमटकर उनके उदरस्थलमें केन्द्रित होकर जगमग-जगमग करने लगा। यह अवश्य हुआ कि अचिन्त्यशक्ति भगवती योगमायाने महाराज बृषभानु एवं महारानी कीर्त्तिदाके श्रीराधारानीके प्रति वात्सल्यभावको सुदृढ करनेके लिये अपनी स्वजन-मन-मोहिनी मायासे महारानी कीर्त्तिदामें यथासमय गर्भलक्षण प्रकट कर दिये । भगवती श्रीराधा गर्भमें आयी नहीं थीं, तथापि महाराज बृषभानु एवं महारानी कीर्त्तिदाने यही समझा कि मेरे गर्भसे ही पुत्री राधा उत्पन्न हुई हैं। इसीसे वे पूर्ण वात्सल्यसे अपनी पुत्री समझ राधाकुमारीका लालन-पालन करती हैं। इस अगाध वात्सल्यभाव-सिन्धुमें श्रीराधारानीकी समग्र अलौकिक भगवत्ता डूब जाती है।

अब गये पच्चीस महीने, शुभ दिन सात, अष्टमी से, प्रियतम!
प्रातः से लेकर जब नूतन होता प्रभात फिर था, प्रियतम।
उन आठों पहरों में प्रतिपल नृप-नगरों में जो थीं, प्रियतम!
भावों की नव तरङ्ग उठती, सम्भव है क्या कहना, प्रियतम।। ८८।।

अस्तु, अब उस अष्टमीके अनन्तर पच्चीस महीने एवं सात दिन बीत चुके थे - प्रातःसे लेकर जब पुनः नूतन प्रभात हँसने लगता था, उन आठों प्रहरोंमें प्रतिपल ही महाराजके अपने पुरमें, श्वसुरपुरमें जो भावोंकी नई-नई तरङ्गें उठती थीं, उसको चित्रित कर देना, सम्भव कहाँ है ?।। ८८।।

जो हो, इतने दिन की जब वह हो चुकी लाड़िली थी, प्रियतम!
थे महीपाल के प्राणोपम जो एक धर्म भाई, प्रियतम।
'गोपेश' अहो! जिनकी पदवी विख्यात भुवन में थी, प्रियतम!
हो रहा शरद् पूनो का था उत्सव उनके गृह में, प्रियतम।।८९।।

जो हो, जब राजपुत्री इतने दिनोंकी हो चुकी थी, तब महाराजके प्राणोपम जो वे एक धर्मभाई थे, जिनकी पदवी गोपेश नामसे त्रिभुवनमें विख्यात थी, उनके यहाँ - उनके घर आज शारदीय पूर्णिमाका उत्सव हो रहा था भला !।। ८९।।

जिस दिन वह नृपति-तनूजा थी अवनीतल पर आयी, प्रियतम!
उसके ही पन्द्रह दिवस ठीक पहले उस रजनी में, प्रियतम!
उन गोपवर्य को महामहिम ऐसा था पुत्र हुआ, प्रियतम!
जो था अहीर-कुल-उजियारा, सबके दृग का तारा, प्रियतम।।९०।।

एक बात और सुन लो। जिस दिन वह नृपति-तनूजा अवनीतलपर पधारी थी, उसके ठीक पन्द्रह दिन पहलेकी जो रजनी थी, उस रजनीमें उन गोपेशको एक ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ था जो सम्पूर्ण आभीरकुलका उजियारा बना हुआ था। सबके दृगोंका तारा था वह।। ९०।।

तब से उन धर्मभाइयों ने निश्चय था किया यही, प्रियतम!
"ये शरद्, बसन्त, सभी ऋतु में होते उत्सव जो हैं" प्रियतम!
"आगे अब हम सर्वदा करें दोनों कुल मिलकर ही" प्रियतम!
"वे भले वनस्थल में हों या नृप भवन किसी में हों" प्रियतम।।९१।।

तभीसे उन दोनोंने ऐसा निश्चय कर लिया था - 'ये शरद् एवं बसन्त आदि ऋतुओंमें होने वाले जो भी उत्सव हों, उन सबको आजसे हम लोग सदा दोनों कुल मिलकर ही करेंगे - वे उत्सव भले वनस्थलमें मनाये जायँ अथवा दोनों राजकुलके किसी भवनमें मूर्त हों।।। ९१।।

इसलिये ये नृपति थे सपरिवार आये अहीरपुर में, प्रियतम!
आयी थी प्रजा और तो क्या, दस दिन वय का शिशु भी, प्रियतम!
मानो नृपपुर उठ आया था पूरा-का-पूरा ही, प्रियतम!
उन गोप-नगर-नर-नारी का उत्साह निराला था, प्रियतम।।९२।।

यही कारण था कि आज महाराज सपरिवार उस आभीर-नगरीमें आये हुए थे। समस्त प्रजा भी आयी थी। और तो क्या, दस दिनकी आयुका वह शिशुतक आया था। मानो महाराजकी पूरी-की-पूरी नगरी ही उठकर आ गयी थी - ऐसा लग रहा था। उस आभीरपुरके सम्पूर्ण नरनारियोंका उत्साह भी आज निराला बन गया था।। ९२।।

गोपेश और अवनीश अभी नारायणविग्रह का, प्रियतम।
चौंसठ उपचारों से अर्चन करके कृतकृत्य हुए, प्रियतम!
उद्दाम नृत्य के सहित अहो! थे नाम गान करते, प्रियतम!
स्वर-में-स्वर सभी मिलाकर थे वैसे ही पुरवासी, प्रियतम।।९३।।

गोपेश और बृषभानुपुरनेश दोनोंने अभी-अभी श्रीनारायण विग्रहकी चौंसठ आचारोंसे अर्चना सम्पन्न की थी और इस आराधनासे अपनेको कृतकृत्य अनुभव कर रहे थे। अब उद्दाम नारायण-नाम-संकीर्तनमें ये दोनों संलग्न हो रहे थे। सम्पूर्ण पुरवासी भी वैसे ही स्वर-में-स्वर मिलाकर योगदान कर रहे थे।। ९३।।

बीती ही थी वह अर्धनिशा, पल पाँच हुए, बस, थे, प्रियतम!
गोपेशपुत्र को ले आयीं रानी की बहिन वहाँ, प्रियतम!
चञ्चल बालक वह उतर पड़ा जल्दी से गोदी से, प्रियतम!
भयहीन सदा वह था, झट से घुस पड़ा भीड़ में, हे प्रियतम।।९४।।

अर्धनिशा बस, अभी-अभी बीती ही थी। केवल पाँच पल हुए थे, अचानक नन्दपुत्रको वृषभानपुरकी महारानीकी बहिन वहाँ उस महासंकीर्तन-यज्ञमण्डपमें ले आयीं। वह चञ्चल शिशु उनकी गोदीसे तुरन्त ही उतर पड़ा। वह सदासे ही भयशून्य जो रहता था। इसीलिये वह झटसे भीड़में घुस पड़ा।। ९४।।

वह नृपतिपुत्र को 'श्रीभैया' सम्बोधित था करता, प्रियतम!
गोपेश-वसन को खींच चपल कर से हँसकर बोला, प्रियतम!
"बाबा! भेजा है मैया ने मुझको, तुमसे कह दूँ" प्रियतम!
"श्रीभैया को है एक हुई छोटी फिर बहिन अभी" प्रियतम।।९५।।

वृषभानुपुरनरेशके पुत्रको वह नीलशिशु 'श्रीभैया' कहकर सम्बोधित करता था। संकीर्तनमें विभोर हुए गोपेशके समीप वह जा पहुँचा और अपने चञ्चल हाथोंसे उनके वस्त्रको खींचते हुए बोल पड़ा - 'ए बाबा ! ए बाबा! मेरी मैयाने मुझको तुम्हारे पास यह कहनेके लिये भेजा है कि अभी-अभी श्रीभैयाको एक छोटी बहिन फिरसे प्राप्त हो गयी है, भला !।। ९५।।

उस बालक की वाणी में था टोना-सा भरा सदा, प्रियतम!
वह भाव-समाधि अहो! सबकी टूटी निमेष में ही, प्रियतम!
नारायण का वह शारदीय उत्सव उन नरपति की, प्रियतम!
कन्या की महाबधाई में परिणत हो गया वहाँ। प्रियतम।।९६।।

उस नील शिशुकी वाणीमें सदा टोना-सा भरा हुआ रहता था। इसीलिये निमेष पूरा होते-न-होते सबकी वह भावसमाधि ही टूट गयी। अभी-अभी जो भगवान् नारायणका शारदीय उत्सव परम उल्लाससे चल रहा था, वह वृषभानुनरेशकी नवजात कन्याकी महाबधाईमें परिणत हो गया।।। ९६।।

इस भाँति महारानी क्षण में मानो हों घटी अभी, प्रियतम !
इन उपर्युक्त घटनाओं को थीं देख गयी फिर से, प्रियतम !
'मैया ! क्या है तू सोच रही ?' कहकर जब पुत्री ने, प्रियतम !
उनके अञ्चल को खींचा था, टूटा तब सच, सपना, प्रियतम ।।९७।।

इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण घटनाओंको महारानी, मानों वे घटनाएँ अभी-अभी घटित हुई हों, प्रत्यक्षकी भाँति फिरसे देख गयीं। उनकी पुत्री उनसे इस समय वनस्थलमें पुष्पचयन करनेकी अनुमति लेने आयी थी और उत्सुकताभरी आँखोंसे अपनी जननीकी ओर देख रही थी। आखिर उससे रहा नहीं गया, वह बोल उठी - ' अरी मैया ! तू क्या सोच रही है री ?' यह कहकर अपनी जननीके अञ्चलको उसने खींच लिया और तब कहीं जाकर उनका यह स्वप्न-दर्शन - यह अभिनव भावसमाधि टूट सकी भला, ! ।। ९७।।

पुत्री के अधर-कपोलों पर वत्सलता के रस से, प्रियतम !
पूरित वह चिह्न अनेक बार अङ्कित कर फिर अपनी, प्रियतम !
छोटी बेटी को, सखियों को, जो वहाँ खड़ी की थीं, प्रियतम !
वैसे ही रस देकर, लेकर सबको थीं वे आयी, प्रियतम ।।९८।।

अपनी पुत्रीके अधरोंपर, कपोलोंपर वात्सल्यरससे पूरित अनेकों चिह्न अङ्कित करके फिर अपनी छोटी बेटीको भी वैसे ही वात्सल्यरससे स्नान कराकर - इतना ही नहीं, वहाँ जो भी उसकी सहचरियाँ उसके साथ आयी थीं, सबको वैसे ही, उसी भाँति रस-सरोवरमें निमग्न करके सबको साथ लिये वे चल पड़ीं।। ९८।।

अर्चन-मन्दिर में राजा थे ध्यानस्थ हुए बैठे, प्रियतम !
रानी ने बतला दी उनको दुहिता की जो रुचि थी, प्रियतम !
झर-झरकर लगे नयन बहने, नरपाल निहाल हुए, प्रियतम !
मानस तल में वह बात जगी देवी की कही हुई, प्रियतम ।।९९।।

उन सबको लिये वे देवीके अर्चना-मन्दिरमें जा पहुँचीं। महाराज वहीं ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उनकी पुत्रीने जो रुचि व्यक्त की थी, उससे महाराजको अवगत कराया महारानीने। रानीकी बात पूरी होते-न-होते महाराजके नयन झर-झर बहने लग गये। निहाल हुए, विह्वल-से हुए महाराज सोचने लग गये और इसी बीच उनके मानस-तलमें देवीकी कही हुई बात स्मरण हो आयी। देवीने प्रत्यक्ष होकर उनसे कहा था - ।। ९९ ।।

'होकर जब सात वर्ष की यह हँसकर इच्छा करले, प्रियतम !
'मेरे वन में आने की, तब समझो, यह खेलेगी,' प्रियतम !
'वह खेल अनन्तकाल तक जो त्रिभुवन थिर-जङ्गम को,' प्रियतम !
'पावनतर, पावनतम कर-कर निधि नित्य बने सबकी,' प्रियतम ।।१००।।

'वत्स ! देखो, जब तुम्हारी पुत्री सात वर्षकी हो जाय और हँस-हँसकर मेरे उद्यानमें आनेकी अभिलाषा प्रकट करे, तब वह एक अभिनव खेल खेलेगी भला ! ऐसा खेल जो अनन्तकालतक त्रिभुवनके स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको पावन, पावनतर, पावनतम बनाते हुए सबके प्राणोंकी एक अप्रतिम सुन्दर नित्य निधि बन जाय । अस्तु, ।। १००।।

*गद्गद् थी गिरा; नृपति ने थी दी अनुमति जाने की, प्रियतम!*
*सबको भूषण परिधानों से रानी ने सजा दिया, प्रियतम!*
*वे चलीं तुरन्त उसी वन में प्रसरित सच हो जैसे, प्रियतम।*
*हो तरल पुराण नित्य कवि के नव मन की सुन्दरता, प्रियतम।।१०१।।*

**गद्गद कण्ठसे महाराजाने देवीके उद्यानमें पुत्रियोंको जानेकी अनुमति दे दी। फिर तो तुरन्त ही महारानीने भी सबको भूषण एवं परिधानोंसे सज्जित कर दिया। वे बालिकाएँ तुरन्त ही देवी-उद्यानकी ओर चल भी पड़ीं - ऐसे चली जा रही थीं वे, मानों उन पुराण-पुरुष नित्य कविके अभिनव मनका सौन्दर्य तरल विगलित होकर चञ्चल प्रवाहिणीका रूप धारण करके आगे-से-आगे एक निश्चित दिशाकी ओर प्रसरित हो रहा हो।। १०१।।**

## तात्त्विक विवेचन विस्तार

ब्रजलीलामें नित्य ध्यान रहे कि प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवका किशोररूप धर्मी है एवं बाल्य तथा पौगण्डरूप इस नित्य किशोरस्वरूपके धर्म हैं। स्त्रीदेहमें तीन वर्षतक कौमार, छः वर्षतक पौगण्ड, और पश्चात् कैशोरका समावेश हो जाता है। पुरुषदेहमें पाँच वर्षतक कौमार, आठ वर्षतक पौगण्ड एव पश्चात् कैशोरका उदय हो जाता है। कौमारमें जहाँ वात्सल्यरसकी लीला होती है, पौगण्डमें सख्यरसकी प्रधानता हो जाती है, वहीं कैशोरमें उज्ज्वल माधुर्यरसका प्रादुर्भाव हो जाता है। श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा वस्तुतः ब्रजमें नित्यकिशोर एवं नित्यकिशोरी है। इनको इस कैशोरस्वरूपमें प्रतिष्ठित कर देनेमें ही इनके बाल्य एवं पौगण्ड स्वरूपकी चरितार्थता एव कृतकृत्यता है। इसीलिये भगवती योगमाया इस लीलाक्रममे जगन्माता कीर्त्तिदाको सङ्केत करती हैं कि सात वर्ष वयकी हो जानेपर ही राधाको इस वृन्दाकाननमे प्रवेशकी अनुमति दी जावे। जब बालिका राधा सात वर्षकी हो गयीं, उस समय श्रीराधाका सौन्दर्य अनन्त प्रेमकान्तिका आगार हो उठा था। उनके रोम-रोमसे असमोर्ध्व निर्मल भाव-मधुरिमाकी वर्षा होती रहती थी, क्योंकि महान् रसानन्दसे वह परिपूर्ण घट सदैव छलछलाया रहता था। वे आन्तरिक महान् प्रेमानन्दसे पूर्ण परितृप्त हो उठी थीं। वैदग्ध्य, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, सौन्दर्य और माधुर्य (केलिरस) – ये सात निर्मलतम रस श्रीराधाके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे निरन्तर झरते रहते थे। इसीलिये पू.गुरुदेव कहते हैं कि उनकी ऐसी शोभा थी मानो पुराण-पुरुष श्रीकृष्ण जो नित्य कवि हैं, सर्व कल्पनाके मूल, सर्वविद् हैं, उनके अभिनव मनका सौन्दर्य तरल होकर चञ्चल प्रवाहिणी (नदी)का रूप रखकर आगे-से-आगे एक निश्चित दिशाकी ओर बह उठा हो।

।।श्रीराधा।।

## हँसकर-रोकर नाच सही रे, मेरा मृण्मय चोला!

।।सोरठा।।

*बन कर मर्त्य फकीर, धारणकर गैरिक वसन।।*
*गाती हुई अहीर-बाला श्रीराधा चलीं।।*

।।गीत।।

*हँसकर-रोकर नाच सही रे, मेरा मृण्मय चोला।*
*फेरी देते-देते मेरे पदमें पड़ा फफोला।।*

*ढोल बजाकर गाकर कहकर द्वार-द्वार मैं डोला–।*
*'मेरा सौदा लो', पर फाटकतक न किसीने खोला।।*

*शत-शत आढ़तियोंका मैंने छिपकर देखा गोला।*
*प्याज मिला लाखों मन, लाखों मन गुड़-गोबरघोला।।*

*इतने पर भी प्रायः सबका मैंने चित्त टटोला।*
*'साफ करूँगी मैं भरदूँगी मृगमद लाखों तोला'।।*

*देखो, पर विचित्र लीला यह, नहीं एक भी बोला।*
*खुला न कहीं नमूनेको भी मेरा सुरभित झोला।।*

*आया क्या ब्रजेशका साँवर छोरा अतुल अमोला।*
*देखूँ – फिर केवल हम दो ही झूलें फूल-हिंडोला।।*

।।सोरठा।।

*तत्क्षण वहीं ब्रजेश-सुत पहुँचे हँसते हुए।*
*एक वणिक्‌का वेष धरे, लिये करमें कलम।।*

।।श्रीराधा।।

# अथ श्रीप्रियतम काव्यम्

# द्वितीय शतक

## सार-संक्षेप

(१) वृन्दा-कुञ्ज-कानन-वर्णन।

(२) ललिताकुञ्जका वर्णन।

- (क) खण्डिता-प्रधान ललिता-कुञ्जका वर्णन।
- (ख) प्रच्छन्न रस-सम्पुटित खण्डिताकी छाया लिये महामायारूपमें ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (ग) प्रच्छन्न रस-सम्पुटित खण्डिताकी छाया लिये जगज्जननीरूपमें ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (घ) प्रच्छन्न रस-सम्पुटित खण्डिताकी छाया लिये योगमायारूपमें ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (ङ) जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-भावापन्न ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (च) जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे अतीत तूर्य तत्त्वात्मक ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (छ) ललिताकुञ्जका गंगा-यमुनात्मक रूप।
- (ज) विशुद्ध रस-सम्पुटित प्रच्छन्न नवदुर्गात्मक ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (झ) विशुद्ध रस-सम्पुटित प्रच्छन्न दशविद्यात्मक ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (ञ) विशुद्ध रस-सम्पुटित महात्रिपुरसुन्दरीरूप ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (ट) विशुद्ध रस-सम्पुटित भगवत्तारूप ललिताकुञ्जका वर्णन।
- (ठ) ललिताकुञ्जका विशुद्ध रसमय मातृत्वरूप।

(३) विशाखाकुञ्जका वर्णन।

(४) चित्राकुञ्जका वर्णन।

(५) इन्दुलेखाकुञ्जका वर्णन।

(६) चम्पकलताकुञ्जका वर्णन।

(७) रंगदेवीकुञ्जका वर्णन।

(८) तुंगविद्याकुञ्जका वर्णन।

(९) सुदेवीकुञ्जका वर्णन।

(१०) राधाकुण्डका वर्णन।

(११) कृष्णकुण्डका वर्णन।

(१२) जावट ग्रामका वर्णन।

।। विजयेतां श्रीप्रियाप्रियतमौ ।।

# द्वितीय शतक

## *वृन्दा-कुञ्ज-कानन-वर्णन*

प्रिया-प्रियतमकी राग-रसमयी आराधनाके नायक-नायिका नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन एव नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीमती राधारानी मात्र रमण-रमणी नहीं होकर निरुपम, निरुपाधि, परात्पर, सच्चिदानन्द-सान्द्राङ्ग, सौन्दर्य-माधुर्य-रसनिधि हैं, ठीक उसी प्रकार उनका वृन्दा-कुञ्ज-कानन-धाम भी अनिर्वचनीय, अनन्त-विश्व-विमोहन-मोहन, रसैश्वर्यसे परिपूर्ण, चिन्मय है। जिस गिरिराज पर्वतका पू गुरुदेव इस अध्यायमे वर्णन कर रहे हैं, वह साधारण प्राकृत भूखण्ड मात्र नहीं है, वर चिन्मय नीलकान्तिधारी, समुज्ज्वल मरकतमणिमय है। वह प्रतिक्षण नव-नवायमान कल्पनातीत अलौकिक-रूप-सौन्दर्य-समन्वित है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी समवेत सौन्दर्य-माधुर्यराशिको भी यदि कही एक स्थानपर एकत्रित करके कोई उससे इस गिरिके एक शिलाखण्ड अथवा इसके परिसरमे स्थित काननके एक साधारण तृणमूलसे भी संतुलना कर बैठे, तो उसे अपनी दन्तपङ्क्तिमें तृण दबाकर यही कहना पडेगा कि सर्वांशमे यहाँका एक तृण भी, शिलाखण्ड ही नहीं - धूलिका एक लघुतम कण भी, उस समग्र प्राकृत सौन्दर्यराशिका गर्व सतत खर्व कर रहा है।

जगत्मे सर्वसुन्दर नायक-नायिका यदि कोई हैं तो शास्त्र कामदेव एव रतिका नाम ही उल्लिखित करते हैं। इन सर्व-कामकला-निष्णात दम्पति – रति एवं कामदेवके विलासके समय इनके किङ्कर वसन्त द्वारा जो भी विहार-सामग्री सजायी जाती है, उससे भी निःशेष असीम, अनन्त विचित्र रस-सामग्री इन सच्चिन्मय गिरिराज महाराज द्वारा प्रिया-प्रियतम राधा-माधवकी सेवार्थ प्रतिपल प्रस्तुत की जाती है।

इस परम चिन्मय नगराजके परिसरमें स्थित जिस वृन्दाकानन-कुञ्जोंका सजीव वर्णन यहाँ इस रसकाव्यमें पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने किया है, उनके बाह्य सौन्दर्यके रूपमे जो भी मणिमय अलङ्कारोंका वर्णन है, ये सभी अलङ्कार वस्तुतः प्रिया-प्रियतमके परस्पर प्रेमोज्ज्वल भाव ही हैं। यह सम्पूर्ण वन वस्तुतः प्रिया-प्रियतम राधा-माधवका सर्वांशमें सम्पूर्णतया प्रतिरूप ही है, और इसीलिये यह उनकी नील-पीतवर्ण एव गौर-श्यामल कान्तिको ही अपने अङ्गोंका शोभामय शृङ्गार बनाये हुए है।

यह कानन जहाँ हरे-भरे वृक्षों एवं लता-जालों, तृण-वीरुधोंसे नील-श्याम-छवियुक्त है, वहीं इसकी भूमि एवं कुञ्जभवन चिन्मय स्वर्णरचित, मणिखचित होनेसे विद्युद्वर्ण, पीत-छवि-समलंकृत भी हैं। इस पावन वनके दर्शनकर रसिकजन यही अनुभव करते हैं कि परस्पर प्रेमलोलुप, अनिर्वचनीय सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन प्रिया-प्रियतम इस वन-काननके अणु-अणुमें बसे हैं और इसके प्राणोंके मर्म हैं।

असंख्य व्रजसुन्दरियोंसे परिवृत, उनके चरणचिह्नोंसे सुभूषित श्रीराधा-माधवकी गोपनीयतम अन्तरङ्ग रसलीलाका धाम यह वृन्दाकानन बडे-बडे ऋषि-मुनियों और ईश्वरकोटिके देवगणोंके लिये भी अगोचर है। महान् ऐश्वर्यशाली शिव-ब्रह्मादिक देवगण, नारद-दुर्वासादि ऋषिगण, सनकादि ज्ञानीजन, इसकी लेशमात्र झाँकी पाकर ही अपनेको परम कृतकृत्य मानते हैं। भगवती नारायणी रमादेवी जिसके लिये नित्य लालायित रहती हैं, स्वय ब्रह्मविद्या जिसकी रज पानेको कल्पोंतक तपस्या करती हैं, उस सर्वोपरि मधुर, सुधामय, भगवत्प्रेमसे छलकते, परम चिन्मय लीलाधामका वर्णन इस अध्यायमें है।

वस्तुतः जो साधकगण धन, स्त्री, मान और इनके सङ्गका पूर्णतया परित्याग करनेको कटिबद्ध हों, इन्द्रियसुखकी वासनाका सर्वथा त्याग करनेको कृतसङ्कल्प हों, जन-ससर्गमें पूर्णतया अरतिकर प्रिया-प्रियतमके नाम-गुण-लीलादिके अतिरिक्त कुछ भी श्रवण, मनन एवं कथनके प्रति उपरत हों, निजसुख - यहाँतक कि मोक्षतकका त्याग करनेकी इच्छा किये हों, अपनेको व्रजकी एक अकिञ्चन किङ्करीके अनुगत होकर सेवाभावका अवलम्बन करनेकी रुचि रखते हों, नाम-कीर्त्तिकी, लोक-परलोककी - किसी भी सद्गतिकी जिनमें चाह नहीं हो, वे ही अपने जीवनमें कभी प्रिया-प्रियतमकी कृपासे इस धामकी झाँकी पानेके अधिकारी हो सकते हैं।

वैष्णव पाठकोंसे परम विनीत प्रार्थना है कि इस भावसे ही इस ग्रन्थके इस अध्यायकी लीलाओंको समझनेका सत्प्रयास करें। यह किसी साधारण भूखण्डके तीर्थका वर्णन नहीं है।

पूरब की शिखरावलि-मण्डित गिरि था सोभा रचता, प्रियतम!
कानन से जुड़ी प्रतीची में प्रसरित नीली सरिता, प्रियतम!
सुविशाल राजपथ उत्तर में द्रुमजालों से छाया, प्रियतम!
चलकर कोसों तक छू लेता उस शैल रत्नमय को, प्रियतम।।१०२।

**उस वनकी पूर्वी सीमामें मणिरत्नोंसे जटित गिरिराजकी चोटियाँ सुशोभित थीं और पश्चिम दिशामें उससे सटकर यमुनाजी बहती थीं। उत्तरमें घने वृक्षोंसे आच्छादित, सुदीर्घ राजपथ था जो कोसोंतक चलकर रत्नमय गोवर्धनपर्वतसे जा मिलता था।।।१०२।।**

निर्झर झरकर पर्वत से लघु था स्रोत एक बहता, प्रियतम!
चञ्चल-सा सङ्गम था उसका श्यामा तरङ्गिणी से, प्रियतम!
उस वन के दक्षिण में रहकर कल-कल करता, हँसता, प्रियतम!
पावस में भी उसकी धारा मुक्ता बिखेरती थी, प्रियतम।।१०३।।

**उस पर्वतसे एक छोटा-सा चञ्चल झरना निकला था जो आगे जाकर यमुनामें मिल जाता था। यह झरना उस वनके दक्षिणमें कल-कल करता रहता था और वर्षा ऋतुमें भी उसका जल मोती-सा निर्मल बना रहता था।।।१०३।।**

पगडंडी सभी दिशाओं में सीधी-टेढ़ी जाती, प्रियतम!
रमणीय तृणों से, गुल्मों से हो जाती लुप्त कहीं, प्रियतम!
सौरभ के दानी पुष्पों से लोभित होकर भौंरा, प्रियतम!
गा-गाकर था उड़ता, करता गुञ्जित अरण्य को, हे प्रियतम।।१०४।।

**उस वनमें सभी दिशाओंमें सीधी-टेढ़ी पगडंडियाँ थीं जो कहीं-कहीं मनोहारी घास तथा लताओंसे अदृश्य-सी हो जाती थीं। इस वनमें भँवरे सुगन्धित पुष्पोंसे मोहित होकर अपने मधुर स्वरसे वनमें गुञ्जार किया करते थे।।।१०४।।**

पक्षी- समूह का कलरव था सङ्केत दान करता, प्रियतम!
काननवासिनी तरुणियों को, रस पाठ पढ़ाता था, प्रियतम!
जीवन की धारा किधर मुड़े, भावी क्या है किसकी, प्रियतम!
सच्चा प्रतीक इसका यह था, आदर वे सब करतीं, प्रियतम॥१०५॥

पक्षी उस वनमें रहने वाली युवतियोंको अपने कलरवसे (प्रियतमकी उपस्थितिका) सङ्केत दे देते थे और उन्हें रसका पाठ पढ़ाया करते थे। उस (पक्षीसमूहके) कलरवसे ही उन्हें पता चल जाता था कि आज किस (लीलामें) किस भूमिकाका निर्वाह करना है। उनका यह रव उस दिनकी लीलाका सच्चा प्रतीक हुआ करता था अतः वे सब उसका बहुत आदर करती थीं।

उस वन के किसी-चतुष्पद में हिंसा की वृत्ति न थी, प्रियतम।
दिन-रात परस्पर निर्भय वे सुख से घूमा करते, प्रियतम।
उनमें मुनियों की दृष्टि अहो! थी स्वत: उतर आयी, प्रियतम!
मानो एकात्म भाव मनमें वे लिये हुए सब थे, प्रियतम॥१०६॥

उस वनके किसी भी चौपायेमें हिंसाकी वृत्तिका नितान्त अभाव था और सभी पशु एक दूसरेसे निर्भय रहकर सुखसे उस वनमें भ्रमण किया करते थे। उन सभी पशुओंमें अपने आप मुनियोंकी-सी दृष्टि उतर आई थी और सभी एक दूसरेमें अपने आपको ही अनुभव किया करते थे।

जो दरी एक-से-एक बढ़ी शोभा में गिरि की थी, प्रियतम।
उसमें वे जब करने लगते विश्राम आँख मूँदे, प्रियतम!
उनकी नीरवता अचपलता सञ्चारित कर देती, प्रियतम!
पूरी अटवी के प्राणों में मुद्रा समाधि जैसी, प्रियतम॥१०७॥

उस गोवर्धन पर्वतमें एक-से-एक बढ़कर सुन्दर गुफाएँ थीं। उनमें जब वे पशु विश्राम करने लगते थे तो उनकी आँखें मुँद जाती थीं और उनकी निस्तब्धता तथा पवित्रताका अभाव पूरे वनको ही समाधिस्थ कर देता था।

उस ओर शैल के कण-कण में मानो चेतनता थी, प्रियतम।
वह खड़ा सतत देखा करता ऊँचा सिर किये हुए, प्रियतम।
क्या है उस वन में, कहाँ किसे क्या आवश्यकता है, प्रियतम।
फिर वहीं खड़े रहकर ही वह सबको सँभाल लेता, प्रियतम॥१०८॥

दूसरी ओर उस पर्वतका कण-कण मानो सजीव था और ऊँचा सिर किये सतत यह देखा करता था कि वनमें किसे, कहाँ और किस वस्तुकी आवश्यकता है और वह वहीं खड़े-खड़े ही सबको सँभाल लिया करता था।

अक्षत तो एक ओर रहती वह वीरवधूटी भी, प्रियतम!
फिर भी था यथासमय देता सबको आहार, भला, प्रियतम!
जिसकी जिस पर चलती रुचि थी, उसके समीप रखता, प्रियतम।
उसका इच्छित फल और उसे सुख से वह भर देता, प्रियतम॥१०९॥

**उस वनमें निवास करने वाली छोटी-से-छोटी वीरबहूटी तकको भी आघात पहुँचाये बिना यथासमय वह सभीको इच्छित आहार दे दिया करता था। जिसकी जो रुचि हुआ करती थी उसके अनुसार उसकी वाञ्छित वस्तु वह उसके समीप रख देता था और उसे सुखसे भर देता था।।।१०९।।**

वह करे प्रौढ़जनगण का ही आदर, यह बात नहीं, प्रियतम!
शिशु तक को नीलम-लाल और पुखराज राशि देता, प्रियतम।
समता, धीरता, प्यार-वितरण निरुपम था शैल लिये, प्रियतम!
उसके दृग में ही आँख मिला वनका वह चित्र लिखूँ, प्रियतम।।११०।।

**वह शैलराज केवल बड़ी आयुके लोगोंका आदर करता हो,- यह बात नहीं थी अपितु शिशुओंतकके मनोरञ्जनके लिये उन्हें नीलम, पुखराज और लाल आदि रत्न देता था। उस पर्वतराजकी समता, धीरता और प्यार-वितरणकी कहीं कोई तुलना नहीं थी । और अब उसकी ही आँखोंसे आँखें मिलाकर मैं उस वनका यह वर्णन लिखने चली हूँ।।।११०।।**

## *ललिता-कुञ्जका वर्णन*

सभी शास्त्रोंमें एक मतसे परात्पर सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की तीन शक्तियोंका वर्णन है। इनमें प्रथम है – संवित्‌शक्ति, जिसे चित्‌शक्ति भी कहते हैं, दूसरी हैं - सन्धिनीशक्ति जो चिन्मय भगवद्धामस्वरूपा है, एवं तीसरी सर्वप्रधान शक्तिका नाम है – ह्लादिनी । वैसे तीनों शक्तियाँ परस्पर एक दूसरेमें ओतप्रोत है, किन्तु इनका पृथक्-पृथक् नामकरण इनके प्रधान भावको लेकर है। उदाहरणस्वरूप संविद्रूपा चिच्छक्तिमे आनन्द एवं सत्ता दोनो ही संयुक्त हैं, क्योंकि संवित्‌में आनन्द एवं सत्ता नहीं हो तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहे। अत. सवित्‌शक्तिमें भी आनन्द एवं सत्ताके रहनेपर भी प्रधानतया संवित् होनेसे उसे स्वतत्र संविद्‌शक्ति – ऐसा नाम दिया गया है। इसी प्रकार सन्धिनी एव ह्लादिनी शक्तियोंको भी समझना चाहिये।

परात्पर परब्रह्म सर्वोत्कृष्ट माधुर्य-प्रधान ह्लादात्मा भगवान्‌का पूर्णावतार ह्लादिनी नामक आनन्दमयी प्रेमशक्तिके निमित्तसे ही होता है। ये ह्लादिनीशक्ति श्रीमती नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी हैं और इनके प्रियतम ह्लादात्मा नित्यनिकुञ्जेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं। समस्त गोपीजन इन ह्लादिनीशक्तिकी ही अनन्त विभिन्न कायव्यूहस्वरूपा प्रतिमूर्त्तियाँ हैं। इन गोपीजनोंमें अपने स्वयंका न तो कहीं कोई स्वतंत्र अहंगत सुख होता है, न ही इनकी भगवती राधासे पृथक् कोई सत्ता ही होती है। मात्र भावजन्य भिन्नत्व होनेके कारण ही इनका नाम-रूप राधासे भिन्न है, अन्यथा ये महाभावसिन्धु-स्वरूपा श्रीमती राधारानीकी ही ऊर्मियाँ हैं। इन गोपीजनोंकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रिया-प्रियतम-सुखसेवार्थ ही होती है और इन युगल दम्पतिके मिलन-सुखकी साधनाके अतिरिक्त इनका अन्य कोई उद्देश्य ही नहीं होता। इन गोपीजनोंमे प्रमुख – अष्ट सखियोंमें प्रधान सिरमौर श्रीललिता हैं। ये ललिता ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाकी प्रधान कायव्यूहरूपा तो हैं ही, इनका एक रूप संवित्‌शक्ति-प्रधान भी है। जहाँ ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा होनेसे ये खण्डिता भावकी प्रतिनिधि सखी हैं, वहीं संवित्‌शक्ति-प्रधानरूपा होनेसे ये प्रिया-प्रियतम राधामाधवके समग्र माधुर्यरस-प्रधान लीलाओंकी सूत्रधार भी हैं। इस प्रकार इनका द्विविध तादात्म्य है – प्रथम एवं प्रधानतया महाभावस्वरूपिणी ह्लादिनीशक्ति श्रीमती राधारानीके कायव्यूहत्वसे एवं साथ-ही-साथ प्रासङ्गिकरूपमे सर्व-लीला-संरचना एवं सम्पादनकर्त्री संवित्-प्रधान अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया महादेवी त्रिपुरसुन्दरीसे। श्रीराधा हृदयसे अखण्डरूपसे जुडी हुई अनन्त धमनियोंकी तरह ही ये श्रीललितादेवी राधा-हृत्सरोवरसे निरन्तर प्रेमरस लेती हैं, साथ ही उस रसको सर्वत्र फैलाती हैं, एवं पुनः उसी रसमें अपना विशिष्ट खण्डिता-महाभाव मिश्रणकर उसे राधा हृदयमें उँडेल भी देती हैं।

### *खण्डिता-भाव*

जैसा कि पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने अनेक वार उल्लेख किया है कि नित्योच्छलित श्रीराधामहाभाव-सिन्धुमें ऊँची-नीची, छोटी-बडी विविध तरंगे उठती रहती हैं। इनमें मुख्यतया आठ दिशाओसे आठ भावतरंगें सदैव ही ज्वाररूपमें उठती है। इन अष्ट तरगोंमे एक है – खण्डिता महाभावकी ज्वारसदृश उत्तुग तरग, जो प्राय: राधाकुण्डके पूर्वी दिशावाले घाटसे उमड़ती है, जहाँ सखी ललिताका निकुञ्ज है। वैष्णवजन सदा ध्यान रखें कि श्रीमती राधारानीमे एव उनके कुण्डमें स्वरूपतया कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार सखी ललिता एवं उनके निकुञ्जमे भी कहीं कोई भेद नही है। प्राकृत जगत्में भूमि, वन, निकुञ्ज जड होते हैं एवं व्यक्ति चेतन। किन्तु इस अप्राकृत चिन्मय लीलाजगत्मे निकुञ्ज एव निकुञ्जेश्वरी दोनो ही एक भावसमूहकी अभिव्यक्ति होनेसे अभिन्न ही है। खण्डिताभावकी मूर्तिमान्स्वरूपा श्रीललिता श्रीकृष्णाह्लादिनी श्रीमती राधारानीके सच्चिदानन्दमय दिव्यवपुमें अधरोंकी लालिमाके रूपमें नित्य विराजित रहती हैं। **सङ्केतका अतिक्रमण करनेवाले प्रियतम कान्तको अति विलम्बसे आतेहुए देखकर जो प्रियतमा कान्ता रोषाकुला और कुपित हुई दीर्घ-निःश्वासत्यागिनी होती है, उसे खण्डिता कहते हैं। खण्डिताभावापन्न होनेपर अतिशय रोषाकुला श्रीमती राधाके अधर फड़कने लगते हैं, अधरोंका रोषाकुल होकर फड़कना ही खण्डिताभावापन्न ललितारानीका स्वरूप है, क्योंकि श्रीराधाके अधर ही श्रीललिताकी नित्य स्वरूपस्थिति हैं।**

श्रीललिताकी गोरोचनके समान मनोहर कान्ति है। ये मयूरपिच्छके वर्णकी विचित्र साडी पहनती हैं। इनके अधिकारमें प्रिया-प्रियतमकी ताम्बूल-सेवा करना है। ये सब सखियोकी गुरुरूपा हैं। इन्हे सदैव यही दिव्य आवेश रहता है कि मेरी वय चौदह वर्ष, तीन माह एवं बारह दिनकी है। इनके कुञ्जका वर्ण भी इनके वस्त्रोंके समान ही मयूर-पिच्छाभामय है।

***सखी ललिताका विशुद्ध माधुर्यमय खण्डिताभाव-विभूषित रूप***

तरु से रूठी-सी लता जहाँ अवनी पर थी फूली, प्रियतम।<br>
द्रुम कर-पल्लव से छू उसकी बाँहें झुककर कहता, प्रियतम!<br>
प्रेमिल आँखों का ही भ्रम है, थी छाया ही उरमें, प्रियतम!<br>
इन शशि सुमनावलिकी झलमल रह-रहकर जो करती, प्रियतम।।१११।।A

**वहाँ धरणीपर फूली हुई लता वृक्षसे रूठी हुई-सी प्रतीत होती थी। वृक्ष अपनी छोटी-छोटी डालियोंको झुकाकर अपने हाथोंसे लताकी भुजाओंको छूकर कह रहे थे कि मेरे तनमें तुम्हें जो सुन्दर पुष्प झलमल करते दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह तुम्हारी मात्र प्रेममयी दृष्टिका ही भ्रम है, वस्तुतः तुम्हारी छाया ही मेरे हृदयमें प्रतिबिम्बित हो रही है।।१११क।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

ललिताकुञ्जके प्रत्येक वृक्ष एवं उनसे लिपटे लता-जालोंमें भी पवित्रतम खण्डिताभावकी धारा प्रवाहित हो रही है– उपर्लिखित पङ्क्तियाँ यही झलका रही हैं। यहाँका प्रत्येक द्रुम रसिकशेखर ब्रजेन्द्रनन्दनका प्रतीक बना अपने सम्मुख ही रूठी हुई-सी अवनीपर फूली अपनी प्रिया श्रीराधारूपा लताकी बाहें अपनी छोटी-छोटी डालियोंरूपी भुजाओंको झुकाकर उनसे उसे सस्पर्शितकर कह रहा है – 'प्रिये! मेरे रत्नमय तनेमें (हृदयदेशमें) तुम्हे जो सुन्दर पुष्प (दूसरी नायिकाके रतिचिह्न) झलमल करते (प्रकट ) दिखाई दे रहे हैं, वस्तुतः तुम्हारी प्रेममयी ऑखोका (दृष्टिका) यह भ्रम भर है, वरतुत: मेरे नीलमणिके समान तेजयुक्त हृदयदेशमें तुम्हारे मुखकी छवि (छाया) ही झलमल प्रतिबिम्बित हो रही है, जिसे तुम अपने निरे प्रेमजनित भोलेपनके कारण अन्य नारीके रतिचिह्न मान रही हो।

वस्तुतः यह लीलाजगत्का रस-रहस्य है कि श्रीमती राधारानीको आरसीमें भी कभी अपना मुख प्रतिबिम्बित होता दृष्टिगोचर नहीं होता है। सखियाँ श्रीराधारानीका अपूर्व शृंगार सम्पादितकर उनकी उस शृंगार छविपर न्यौछावर होती हुईं जब उन्हें उनकी अपनी ही मुखछवि आरसी (दर्पण) मे दिखाती हैं, तो उन्हे उनके प्रियतम नीलमणिकी ही छवि दिखती है – अपनी स्वयंकी नहीं। अतः उनकी स्वयकी मुखाकृति कितनी सुन्दर है, यह उन्हे कभी अनुभव होता ही नहीं । महाभावगत दैन्यमें वे अपनी सखियोंको तो अपूर्व सुन्दरी समझती ही हैं, एव स्वय अपनेको सबसे कुरूपा ही मानती हैं। उन्हें अपने स्वरूपकी वस्तुतः सुन्दर छवि एकमात्र उनके प्रियतम श्रीकृष्णके हृदयदेशमें ही प्रतिबिम्बित होती दिखती है। अतः वे प्रेमावेशमें उस अपनी ही छविको कभी-कभी भावावेशमें किसी अन्य नायिकाकी छवि मान खण्डिता-भावाभिभूत हो उठती है। यह समझनेकी वस्तु है कि ललितारानी खण्डिताभावकी मूर्ति होते हुए भी उनमें सदैव ही यह भावोन्मेष स्वयको लेकर उत्पन्न नहीं होता, यह भावोन्मेष राधारानीके प्रति रसराज श्रीकृष्णके व्यवहारसे ही उद्भूत होता है।

यह भी ध्यान रहे कि श्रीमती राधारानीके चिन्मय खण्डिताभावके सौन्दर्य, माधुर्य एवं पावित्र्यको प्राकृत शब्दावलीमें व्यक्त करनेकी सामर्थ्य है ही नहीं। प्राकृत शब्दावलीका पाठक प्राकृत अर्थ ही निकालेंगे, अतएव शब्दोंमें निहित चिन्मयत्वको व्यक्त करनेकी सर्वथा सामर्थ्य नहीं होनेके फलस्वरूप वैष्णव पाठकोसे क्षमा ही माँगी जा सकती है।

वस्तुतः इसके चिन्मयत्वका अनुभव तो मात्र श्रीमती राधारानीकी कृपा एवं अन्याभिलाषा-रहित निरन्तर पवित्रतम प्रीति-साधनासे ही संभव है। बस, इतनी ही वर्जना करना है कि इसे लौकिकावेशसे समझनेकी भूल नहीं करें।

आगे पू गुरुदेव अपने काव्यमें श्रीमती ललिताके एकादश अन्य स्वरूपोका भी वर्णन करते हैं।

D ललिता का प्रच्छन्न रससम्पुटित खण्डिता की छाया लिये महामाया रूप

यत्र उज्ज्वल सत्वमयी अमृता निम्बं समाश्लिष्य प्रसरति॥११२॥B

**यहाँ गुरुचकी लता नीमके वृक्षसे लिपटी हुई फैली है।।११२।।ख**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यह पूर्वतः ही उल्लेख किया जा चुका है कि श्रीमती ललितासखी संवित्शक्ति एव ह्लादिनीशक्ति-प्रधान होनेके कारण रसात्मक-भावापन्न होनेके साथ-ही-साथ प्रासङ्गिकरूपमें प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवकी सर्वलीलाओंकी संरचना एवं सम्पादनकर्त्री भी हैं। पू गुरुदेव इनके अन्य एकादश रूपोंका भी वर्णन इस कुजवर्णनमें सङ्केतके रूपमें दे रहे हैं। श्रीललिताकुंजमें जहाँ परमोज्ज्वल सत्वमयी अमृतलता ( गुरुचकी बेलि )के नीमके वृक्षसे समालिङ्गित होना दृष्टिगोचर होता है, उनका वह प्रच्छन्न रस-सम्पुटित खण्डिता भावकी छाया लिये महामायारूप है।

***ललिताका प्रच्छन्न रस-सम्पुटित खण्डिताकी छाया लिये जगज्जननी रूप***

वटं शंखालु इत्याख्या वल्लरी ॥११३॥D

**यहाँ वटवृक्षसे लिपटी हुई शङ्खालुकी लता है।।११३।।ग**

E ललिता का प्रच्छन्न रस-सम्पुटित खण्डिता की छाया लिये योगमाया रूप

करीराणां मूल देशे श्यामाकतृण राशिः॥११४॥E

**यहाँ करारी (टेंटी) की जड़के पास श्यामक घास उगी हुई है।।११४।।घ**

ङ- ललिता का जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-भावापन्न रूप ॥

कामिनी प्रजापति की क्रीड़ा वनदेवी से कहती, प्रियतम !
रजनीगन्धा अपना अनुभव शुचि गन्धवाह से, हे प्रियतम !
थी बात कुमुदिनी बतलाती हिमकर से उस अलि की, प्रियतम !
जो मत्त हुआ बँधकर सुख से था सुप्त कोष में, हे प्रियतम ॥११५॥ङ

वृन्दादेवीसे कामिनीकी लता प्रजापति(तितली)के (एक पुष्पसे दूसरे पुष्पका रस लेनेके स्वभाव) खेलके विषयमें कह रही है और रजनीगन्धा अपना अनुभव समीरको सुना रही है। कुमुदिनी चंद्रमासे उस भँवरेका वृत्त बता रही है जो उसका रस पीनेके कारण मदमत्त होकर सुखपूर्वक उसके कोषमें सो गया था।।११५।।ङ

### ललिताका जागृत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे अतीत तूर्य तत्त्वात्मक रूप

सूर्यमुखी स्वात्मवृत्तं अंशुमालिनं प्रति विज्ञापयति ॥११६॥AA

यहाँ सूर्यमुखी पुष्प अपनी गाथा सूर्यको सुनाता है।।११६।।च

BB- ललिता का गङ्गायमुनात्मक रूप ॥

अमला प्रवाहिणी म्लान स्व पति को थी खोज रही, प्रियतम !
जब मिला नहीं, तब वह दीना पीछे की ओर मुड़ी, प्रियतम !
पर दरी महीधर की बोली 'री ! यहाँ कृष्णवर्णा,' प्रियतम !
'दूती है तुमको जोह रही,' आ मिली अतः उससे, प्रियतम ॥११७॥BB

मानसी-गङ्गा खिन्न चित्तसे अपने पतिको खोज रही है । उसके न मिलनेपर वह पीछेकी ओर मुडी और उसे गिरिराजकी गुफाने बतलाया कि तुम्हारे प्रियतमकी दूती तुम्हारी बाट देख रही है, यह सुनकर वह यमुनाजीसे जा मिली है।।११७।।छ

DD ललिता का विशुद्ध रस सम्पुटित प्रच्छन्न नवदुर्गात्मक रूप ॥

चन्दनादिनवतरुनिर्मितनवनिकुञ्जावलि ॥११८॥DD

यहाँ चन्दन आदि नवीन नौ वृक्षोंसे निर्मित नव कुञ्ज है।।११८।।ज

GG ललिता का विशुद्ध रस सम्पुटित प्रच्छन्न दशविद्यात्मक रूप ॥

पनसादि दशवृक्षैर्विरचित दशकुञ्जपङ्क्तिः ॥११९॥GG

यहाँ कटहल आदि दस वृक्षोंसे निर्मित दस निकुञ्जोकी पङ्क्ति है।।११९।।झ

### ललिताका विशुद्ध रस-सम्पुटित भगवती महात्रिपुरसुन्दरी रूप

यत्र कालरूपो रविरपि कल्पद्रुमस्य छायायां प्रतिष्ठितायाः
देवी प्रतिमायाः पादपीठं उपाश्रितो वर्तते ॥१२०॥A

यहाँ कल्पवृक्षकी छायामें प्रतिष्ठित देवी (राधा)की प्रतिमाकी उपासना कालका नियामक सूर्य करता है।।१२०।।ञ

BB ललिता की विशुद्ध रस सम्पुटित भगवत्ता ।।

तस्य उज्ज्वलनीलमणिवत् प्रकाशदानम्।।१२१।।BB

**इसका युगपत् उज्ज्वल तथा नीलमणि जैसा प्रकाश है।।१२१ट।।**

DD ललिता का विशुद्ध रसमय श्रीमातृत्व ।।

श्रीफलकुञ्जं प्रति प्रदक्षिणत्वाचरणं च ।।१२२।।DD

**यहाँ बेल (श्रीफल)के वृक्षोंसे निर्मित कुञ्जकी परिक्रमा सूर्य कर रहा है।।१२२ठ।।**

### *विशाखाकुञ्जका वर्णन*

विशाखाजी स्वाधीनभर्तृकाभावापन्ना श्रीराधारानीकी कायव्यूहरूपा सखी हैं। **प्रियतम कान्त जिस कान्ताके आधीन होकर कुंजमें वास करते हैं, उस कान्ताको स्वाधीनभर्तृका कहते हैं।** विशाखा इस भावकी मूर्तिमान स्वरूपा हैं।

श्रीराधारानीके केशोंकी स्निग्धताके रूपमें ये उनसे सदा संलग्न रहती हैं। इनका कुंज श्रीराधाकुण्डके ईशानकोणमें हैं। मानो सौदामिनी-समूह एकत्र हो, ऐसा इनकी अंगकान्तिका वर्ण है, तारकाश्रेणीकी सुन्दर कान्ति जिनकी मनोहर साडीमें भरी हुई है, सुगन्धित द्रव्य - चन्दन, केसर एवं कस्तूरी अगुरु आदिका लेप प्रिया-प्रियतमको अर्पित करना इनकी प्रधान सेवा है। चरित्र एवं गुणमें ये श्रीराधारानीके समान हैं। निकुंजमे इनकी वय सदैव चौदह वर्ष, दो मास एवं पन्द्रह दिन रहती है। इनके कुंजसे भी तारकाश्रेणीके समान छटा छिटकती रहती है।

कुसुमित कचनार, अगस्त्य तथा सहिजन, अशोक के, हे प्रियतम !<br>
गुच्छों-से थे सुन्दर उरोज भूषित थल पद्मा के, प्रियतम !<br>
धरणी के वक्षःस्थल पर था वह पारिजात लिखता, प्रियतम !<br>
कुछ चित्र-विचित्र मनोहर, विधु था देख मुग्ध जिसको, प्रियतम ।।१२३

**जहाँ स्थलकमलद्वय (वक्षस्थल)पर खिले हुए कचनार, अगस्त्य, सहिजन तथा अशोकके पुष्पोंके गुच्छे सुशोभित हो रहे हैं और जहाँ धरतीपर हरसिङ्गार (पारिजात) के पुष्प एक विचित्र सुषमाका विस्तार कर रहे हैं और जिन्हें देखकर चन्द्रमा भी मोहित हो गया है; वह विशाखाकुञ्ज है।।१२३।।**

यत्र वृक्षाणां निसर्गतःएव वल्लीदासत्वाचरणम् ।१२४।।

**जहाँ वृक्षोंका स्वभावतः लताओंके प्रति दास्य भाव है।।१२४।।**

आम्रनिकुञ्जावलिः ।।१२५।।

**जहाँ आमके निकुञ्ज हैं।।१२५।।**

बीजपूरकुञ्जपंक्तिः ।।१२६।।

**जहाँ बिजोरेकी पङ्क्तिसे निर्मित कुञ्ज हैं।।१२६।।**

कदली वनम् ।।१२७।।

**जहाँ केलेका वन है।।१२७।।**

दाड़िमनिकुञ्जावलिः।।१२८।।

**जहाँ अनारके वृक्षोंसे निर्मित निकुञ्जश्रेणी है।।१२८।।**

*कन्दुक क्रीड़ास्थली ॥१२९॥*

**जहाँ (प्रिया-प्रियतम)के गेंद खेलनेका स्थान है।।१२९।।**

*मणिमय विश्रामगृहं॥१३०॥*

**जहाँ मणियोंसे निर्मित विश्रामगृह हैं।।१३०।।**

### *चित्राकुञ्जका वर्णन*

चित्राकुंज श्रीराधाकुण्डके पूर्व दिशाकी ओर है। महाभावकी जो विलक्षण उत्तुङ्ग लहर पूर्व दिशासे उठकर सारे कुंजमें परिव्याप्त हो उठती है, उस दिवाभिसारिका भावकी मूर्तिमती स्वरूपा हैं – श्रीराधारानीकी कायव्यूहरूपा चित्रारानी। जहाँ चित्रासखी ह्लादिनी-प्रधान-स्वरूपा हैं, वहीं उनका सन्धिनीशक्तिप्रधान-स्वरूप चित्राकुंज है। चित्राकुंज एवं चित्रासखी वैसे लीलामें तो भिन्न आकृति प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनोंमें ही भावधाराकी अभिव्यक्ति एक एवं अभिन्न ही रहती है। इसीलिये चित्राकुंज भी सुचिक्कण काचसमूहके समान प्रभाशाली है एवं चित्रासखीकी साड़ीका वर्ण भी सुचिक्कण काचप्रभ है। इनके अङ्ग केशर-जैसी कमनीय शोभायुक्त हैं। निकुंजमें प्रिया श्रीराधारानीको वस्त्र पहनानेकी सेवा इनके ही द्वारा होती है। इनका नित्य निवास राधारानीके कर्णकुण्डलोंमें रहता है। इनकी नित्य वय निकुंजमें चौदह वर्ष, एक मास, उन्तीस दिन रहती है। **कान्त-सुखार्थ जो कान्ता स्वयं अभिसारिका हो अथवा कान्तको अभिसारित करे, उसे अभिसारिका कहते हैं। श्रीचित्रारानी दिवाभिसारिका भावकी मूल स्रोतस्विनी हैं। अभिसारिका भावके प्रमुख दो भेद हैं - दिवाभिसारिका एवं निशाभिसारिका। निशाभिसारिकाके भी दो भेद हैं - १. कृष्णाभिसारिका एवं शुक्लाभिसारिका।**

इसे पुनः स्मरण रखें कि चित्रारानीमें भी ये सब भाव स्वयको लेकर उत्पन्न नहीं होते अपितु सभी भावोन्मेष प्रिया श्रीराधामें ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींकी लहरियोंकी ही ये प्रतिनिधि होती हैं।

### *दिवाभिसारिकाभावसे भरा भगवती चित्रारानीका निकुंज*

*लजवन्ती करती थी छिपकर अभिसार तरणि रहते, प्रियतम!*
*मधुपावलि का उड़ना लखकर थी भ्रमित हुई उससे, प्रियतम!*
*हैं, एक नहीं, शत लक्ष बने मेरे प्राणाधिक वे, प्रियतम!*
*मूँदी उसने जब आँख, लगा, वे छोड़ गये मुझको, प्रियतम॥१३१॥*

**-जहाँ दिन रहते छुईमुई छिपकर अभिसार करती है और भँवरोंका उड़ना देखकर भ्रमित हो जाती है तथा उसे यह भान होने लगता है कि प्राण प्रियतमने करोड़ों रूप धारण कर लिये हैं। पर जब उसने आँख मूँदी तो उसे प्रतीत हुआ कि प्रियतम मुझे छोड़कर अन्यत्र चले गये हैं।।१३१।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

लजवन्ती लता छुई-मुईको कहते हैं। किसीके भी सस्पर्श करनेपर यह मुरझा जाती है एव दूरसे दर्शन करनेमें बहुत ही सुन्दर दृष्टिगोचर होती है। यह दिवस रहते ही भ्रमरोंसे अभिसार करती है क्योंकि इसके चतुर्दिक् भ्रमरोंका गुञ्जन होता रहता है। अपने चतुर्दिक् असंख्य भ्रमरोको उड़ता देखकर यह भ्रमित होजाती है तथा इसे यह भाव होने लगता है कि मेरे प्राणप्रियतम मेरे प्रेमवश करोडों रूपोंमें अभिव्यक्त हुए मेरे चतुर्दिक् सर्वत्र मँडरा रहे हैं।

अपने प्रियतमको प्रेमवश असंख्य रूपमें अभिव्यक्त पाकर यह अपने नेत्र मूँद लेती है। नेत्र मुँदनेसे इसे निशाभ्रम (अन्धकारका अनुभव) होने लगता है। यह सोचने लगती है कि मेरे प्रियतम तो मुझे त्यागकर अन्यत्र चले गये। क्योंकि नियमतः वे इसके पास दिनमें ही आते हैं। इस भाव–विपर्ययसे यह व्याकुल हो उठती है।

शतपत्रवनम् ॥१३२॥

**यहाँ सौ दलवाले कमलोंका वन है॥ १३२॥**

तुलसीकाननम् ॥१३३॥

**यहाँ तुलसी वन है॥ १३३॥**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

चित्राकुंजमे शतदल (सौ पत्रोंवाले) कमल खिले रहते हैं। यह ध्यान रहे कि कमल सदैव दिनमें रविके प्रकाशमें ही विकसित होते हैं। जैसे ही रवि अस्ताचलगामी हुआ कमल अपने दल संपुटित कर लेते हैं। एवं पुनः रविके उदय होनेपर ही कमल खिलते हैं। इसी प्रकार चित्रारानीका मुखकमल भी दिन होनेपर ही अपने प्रियतमके आगमनकी आशामें प्रसन्नतासे सुविकसित हो उठता है। यही इस कुंजस्थलमें शतपत्रवन होनेका भाव है।

यही भाव 'तुलसीवन' होनेका भी है। तुलसी भी रविके प्रकाशमें ही खिली रहती है। रात्रि होते ही इसके पत्र मुरझा जाते हैं। पुनः दिन होते ही विकसित हो उठते हैं।

दूर्वाक्षेत्रम् ॥१३४॥

**जहाँ दूबके मैदान हैं॥ १३४॥**

पूगपङ्क्तिः ॥१३५॥

**सुपारीके वृक्षोंकी पङ्क्ति हैं॥ १३५॥**

तालावलिः ॥१३६॥

**यहाँ तालके वृक्ष हैं॥१३६॥**

खर्जूरश्रेणी ॥१३७॥

**जहाँ खजूरके पेड़ोंकी पङ्क्ति है॥१३७॥**

कर्णिकारवनम् ॥१३८॥

**जहाँ कनेरके वन हैं॥ १३८॥**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

दूर्वा, सुपारीके वृक्ष, तालके वृक्ष, खजूरके वृक्ष एवं कर्णिकार पुष्प – ये सभी दिनमें ही प्रसन्न रहते हैं। सुपारीके वृक्ष, खजूरके वृक्ष, तालके वृक्ष – सभी उष्ण कटिबन्ध प्रदेशोंमें ही उगने वाली प्रजातियाँ हैं। ताल वृक्षमे तो दिन उगते ही ताड़ी नामक पौष्टिक रसकी उत्पत्ति होती है। यह ज्यों-ज्यों दिन एवं सूर्यका ताप प्रखर होता है, अधिकाधिक मादक होता जाता है। सूर्यतापके प्रखर होनेके पूर्व निरे प्रभातमें निकले रसको 'नीरा' कहते हैं जो सबसे न्यून मात्रामे मादकता लिये होता है।

### *इन्दुलेखा-भावका प्रकाश*

श्रीमती राधारानीके स्वरूपभूत राधाकुण्डके आग्नेय कोणमेसे जो प्रोषितभर्तृकाभाववाली उत्तुंग तरंगें विशदरूपसे उद्वेलित होती है, उसीकी साकार स्वरूपा हैं - श्रीमती इन्दुलेखाजी। **जिसका प्रियतम कान्त दूर देशमें हो, उस वियुक्ता कान्ताको प्रोषितभर्तृका कहते हैं।** प्रियतमप्राणा श्रीराधारानीके पयोधरोंपर शोभायमान प्रियतम श्रीकृष्णके नखोके क्षतचिह्न ही लीलाराज्यमें श्रीमती इन्दुलेखाका स्वरूप हैं।

यहाँ पुनः पाठकोंकी सावधानीके लिये उल्लेख कर देता हूँ – 'पयोधरोंमें नखक्षत' इस शब्दावलीके अर्थरूपमें तो पाठकोंकी यही अवधारणा होगी कि यह नखक्षत नरनारीके परस्पर काम-विलासरमणसे उत्पन्न कुत्सित रतिचिह्न मात्र है। किन्तु यथार्थमें यह सब सर्वथा ही अलौकिक है।

पाठकोंको यहाँ सदैव ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधव पञ्चभूतोंसे निर्मित प्राकृत देह सर्वथा नहीं हैं। प्राकृत मानव-मानवीका शरीर त्रिगुणोंका विकार, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिजन्य अनेक क्लेशों एव द्वन्द्वोंसे भरा, रक्त-मांस, मल-मूत्र, कफ-पित्त, अस्थि-मज्जा एवं वीर्यकी उत्पत्तिका हेतु होता है। वीर्य-विकारके कारण ही रमण-रमणीजन्य कामेच्छाकी उत्पत्ति होती है। किन्तु प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधवके विग्रह तो पूर्ण सच्चिदानन्दमय चिन्मय विभु हैं। वे गुणातीत, लोकातीत, नियमातीत अप्राकृत होते हैं। उनकी लीला भी परम चिन्मय विशुद्ध रसमयी होती है। यह रस सच्चिदानन्दतत्त्वका परिपाक कन्द होता है। रसिकेन्द्रशेखर रसराज होनेसे ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको सच्चिदानन्दकन्द कहते हैं।

सभी शास्त्र एकमतसे उद्घोष करते हैं कि जो भी भगवान् श्रीराधा-माधवकी रसलीलामे प्राकृत भाव करते हैं एवं उनकी रस-चेष्टाओंको नर-नारीका मिथुन-विलास समझते हैं, एवं तदनुसार चिन्तन करते हैं वे घोर नारकीय यंत्रणाओंके भागीदार होते हैं।

वस्तुत. सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र-गत-प्राणा श्रीराधारानीके पयोधर स्वयं ही उनके हृदयगत पावनतम प्रगाढ कृष्णानुरागके छलकते कुम्भद्वय हैं। इन कुंभोमें भरा अपार श्रीकृष्ण-प्रेम-सिन्धु ही छलककर नखक्षतोंके रूपमें बाहर उभर आया है। वस्तुत इसे यथार्थरूपमें समझनेके लिये तो दिव्य भावचक्षु ही अपेक्षित हैं, जो मात्र प्रियतम श्रीकृष्णकी कृपासे ही प्राप्त होने संभव हैं।

श्रीइन्दुलेखाके कुजकी आभा हरताल-जैसी है और ये दाड़िम पुष्पोकी कान्तिवाली सुन्दर साडीसे सुभूषित हैं। ये सदा इतनी प्रसन्नमुखी रहती हैं कि ये अपनी मुखकान्तिसे चन्द्रकलाको भी पराजित कर देती है। ये प्रिया-प्रियतमको अपने नृत्यके द्वारा रिझाती हैं। इनकी आयु कुंजमें चौदह वर्ष, दो माह, बारह दिवस ही सदैव रहती है।

इन सभी सखियोंका यह शाश्वत स्वभाव है कि इनमें जन्मभाव होता है एवं तब क्रमश. शिशुत्व, बालापन, कौमार एवं पौगण्डवय-भाव होता है। पौगण्ड एवं कैशोरके उपरान्त इनके सभीके वयकी इति हो जाती है। फिर इनमें नित्य यही आवेश रहता है कि हम नित्यकिशोरीरूपमें इदमित्थं निश्चित वयशीला ही हैं। इसके उपरान्त इनकी वयोवृद्धि एवं क्षति दोनों स्थगित ही हो जाती हैं। श्रीमती इन्दुलेखाका कुज भी दाडिमप्रभ ही है।

पुनः यह स्मरण रहे कि श्रीमती इन्दुलेखामें श्रीमती राधारानीके भावोंका प्रवाह ही प्रवाहित रहता है, वे स्वयं तो मात्र श्रीराधाभावकी प्रोषितपतिकास्वरूपकी मूर्तिमान् प्रतिनिधि भर हैं। कायव्यूहरूपा होनेका अर्थ भी यही है कि इनमें श्रीमती राधारानीके ही प्राण सञ्चालित रहते हैं। ये मात्र दो देह, एक आत्मा एवं एकप्राणा है।

### *इन्दुलेखाकुञ्जका वर्णन*

#### *प्रोषितपतिका भावका प्रतीक*

*उन कुन्द बहिन के गालों पर थे कण न ओस के वे, प्रियतम!*
*मैं अङ्ग सजाकर यह अपना ठगती हूँ अपने को, प्रियतम!*
*वे आयेंगे, है सपना ही; यह टूटेगा क्षणमें, प्रियतम।*
*'है प्रेम दम्भ मेरा,' वह थी इस चिन्ता से रोती, प्रियतम॥१२६॥*

शरद् ऋतुमें कुन्दके सफेद पुष्पोंपर दिखाई देने वाले ओसकण वस्तुतः इन्दुलेखाके अश्रुकण हैं जो यह मानती हैं कि अपना शृंगार करके अपने आपको ठग रही हूँ। मेरी यह धारणा कि प्रियतम आयेंगे केवल सपना मात्र है , जो क्षणभरमें टूट जायगा। मेरा प्रेमका दिखावा एक दम्भ मात्र है। इस चिन्तासे ही वह रोती रहती है।।१३९।।

आम्रातकावलिः।।१४०।।

जहाँ आमड़ेके अनेकों वृक्ष हैं।।१४०।।

तिन्तड़ीवनम्।।१४१।।

जहाँ इमलीका वन है।।१४१।।

करौंदाइत्याख्य द्रुमाः।।१४२।।

जहाँ करौंदे इत्यादिके वन ह।।१४२।।

दमनकवनम्।।१४३।।

जहाँ सुगन्धित पत्तोंवाले दौनेका वन है।।१४३।।

वैजयन्तीकाननम्।।१४४।।

जहाँ देखनेमें सुन्दर परन्तु गन्धहीन वैजयंती पुष्पका वन है।।१४४।।

शिंशपाश्रेणीः।।१४५।।

जहाँ पलाश वृक्षोंकी श्रेणी है।।१४५।।

उत्पलवनम्।।१४६।।

जहाँ रात्रिको खिलनेवाले कमलों (उत्पल)का वन है।।१४६।।

### चम्पकलताकुञ्जका वर्णन

चम्पकलताजीका कुंज दक्षिण दिशामें होनेसे यह राधाकृष्ण-युगलकुण्डको संस्पर्शित करता है। श्रीमती चम्पकलताजीका भाव वासकसज्जाका है। **इनके कान्त श्रीकृष्ण ब्रजप्रदेशमें ही हैं, सुदूर विदेशगामी नहीं हैं। ऐसे कान्तकी प्रतीक्षा करती हुई, निजको एवं अपने निकुंजको जो सदैव सुसज्जित रखती हैं, अतः इनको रसिकगण वासकसज्जाकी मूल स्रोतस्विनी भावमूर्ति ही मानते हैं।** ये श्रीमती राधारानीके कण्ठकी सरसतामें से उत्पन्न हुई हैं, और यह सरसता ही इनका नित्य स्वरूप है।

इनके अंगोंकी आभा चम्पाके पुष्प-जैसी है। इनके वस्त्र नीलकण्ठ पक्षीके रंगके समान हैं। इनके हाथमें रत्नजटित चँवर रहता है और उसे प्रिया-प्रियतमपर डुलानेकी ही सेवा ये करती रहती हैं। सभी अन्य गुणोंमें ये विशाखाके समान ही हैं।

चम्पा पीले फूलों की थी साड़ी पहने गाती, प्रियतम !
वह राग, सुना था नहीं वहाँ जो कभी किसी ने भी, प्रियतम !
मोहिनी शक्ति उसमें अवश्य कुछ भरी अनोखी थी, प्रियतम !
प्रणयी मिलिन्द था रुक हुआ मिटकर विधान विधि का, प्रियतम।।१४७।।

चम्पकलता सखी जहाँ चम्पाके पीले फूलोंकी साड़ी पहने हुए आजतक कभी किसीको सुनाई न देनेवाला राग अलापती रहती है। इसमें अवश्य ही अनुपम मोहिनी शक्ति है जिसके कारण प्रकृतिके नियमका उल्लङ्घन करके भी एक भँवरा उससे प्रेम करने लगा था ; वही चम्पकलताका कुञ्ज है।।१४७।।

मधुकपङ्क्ति: ।।१४८।।

जहाँ महुएके वृक्षोंकी पङ्क्ति है।।१४८।।

गन्धराजवनम् ।।१४९।।

जहाँ गन्धराजका वन है।।१४९।।

किंशुकश्रेणी: ।।१५०।।

जहाँ किंसुक (गुलमोहर)की पङ्क्तियाँ हैं।।१५०।।

इङ्गुदनिकुञ्जावलि: ।।१५१।।

जहाँ सुगंधित पत्तोंवाले इङ्गुदी वृक्षके बनेहुए कई निकुञ्ज हैं।।१५१।।

पाटलजम्बुद्रुमा: ।।१५२।।

जहाँ गुलाब तथा जामुन अथवा गुलाबजामुनके वृक्ष हैं।।१५२।।

मन्दारावलि: ।।१५३।।

जहाँ मदारके अनेकों वृक्ष हैं।।१५३।।

बर्बरीवनम् ।।१५४।।

जहाँ बर्बरीका वन है।।१५४।।

### *रंगदेवीकुञ्जका वर्णन*

राधाकृष्ण-युगलकुण्डके नैऋत्य कोणसे जो उत्कण्ठिता भावकी उत्तुङ्ग लहर आती है और समूचे कुण्डको परिव्याप्त कर लेती है, उसकी मूर्तिमान् स्वरूपा श्रीरंगदेवीजी हैं। श्रीरंगदेवीजी श्रीमती राधारानीकी नीवीकी डोरमें एवं ग्रन्थिमें नित्य निवास करती हैं। इनके अंगोंकी छवि पद्मरागके समान है। ये विकसित जवाकुसुम-जैसी साडी पहनती हैं। ये अत्यधिक शील-सम्पन्न हैं। गुणीजनोंमें इनका वैशिष्ट्य है और चम्पकलताजीको भी गुणदृष्टिसे पराजित कर देती हैं। किसी विवशतावश कान्तके सङ्केतस्थलपर न आनेपर जो अत्यधिक उत्कण्ठित हो जावे उस भावको उत्कण्ठिता कहते हैं। इनके पिता शास्त्रोंमें धुरीण हैं और ये भी सर्वशास्त्रोंकी निष्णात पण्डिता हैं। बडे बडे वेदान्तियों एव महासिद्ध वेदान्त-परिनिष्ठोंकी बुद्धि भी इनके सम्मुख चकरा जाती है। इनकी वय निकुंजमे चौदह वर्ष, दो मास, आठ दिनकी ही रहती है। श्रीराधारानीकी [illegible] ये सदैव अनुस्यूत रहती हैं। इनका अपना स्वयका भाव कुछ नहीं है, श्रीराधाके निमित्तसे ही इनमें असीम उत्कण्ठा होती है।

थी रंग बिरंगे वर्णों में मल्लिका खिली ऐसी, प्रियतम !<br>
जो लुप्त बुद्धि कर देती थी नभमें उड़ते मुनि की, प्रियतम।<br>
उनकी तो बात दूर, मोहित पालक वह था उनका, प्रियतम।<br>
ऐसा कि आज तक हाल नहीं कोई बतला पाया, प्रियतम ।।

जहाँ *रङ्ग बिरङ्गे* चमेली पुष्पोंकी शोभा ऐसी अनुपम है कि आकाशमें विचरण करनेवाले मुनियों (वेदान्तियों) की बुद्धिको भी कुण्ठित कर देती है। उनकी तो कौन कहे, जहाँ महासिद्ध वेदान्त-परिनिष्ठोंकी बुद्धि भी इतनी मोहित हो जाती है कि वे आजतक उसका हाल नहीं बतला पाये।।१५५।।

शमीसमूहः।।१५६।।

जहाँ शमी वृक्षोंका झुण्ड है।।१५६।।

आमलकद्रुमाः।।१५७।।

जहाँ आँवलेके वृक्ष हैं।।१५७।।

अर्कवनम्।।१५८।।

जहाँ आकके पेड़ोंका वन है।।१५८।।

नीपपङ्क्तिः।।१५९।।

जहाँ नीप वृक्षोंकी पङ्क्ति है।।१५९।।

शिरीषश्रेणीः।।१६०।।

जहाँ अत्यन्त कोमल शिरीष पुष्पोंके वृक्षोंकी पङ्क्ति है।।१६०।।

कपित्थकुञ्जावलिः।।१६१।।

जहाँ कैथेके कई कुञ्ज हैं।।१६१।।

जम्बीरवनम्।।१६२।।

जहाँ जम्बीरका वन है।।१६२।।

## *तुंगविद्याकुञ्जका वर्णन*

श्रीराधाकृष्ण-युगलकुण्डके पश्चिमी भागसे जो उत्तुङ्ग एवं विशद लहर विप्रलब्धाभावकी उठती है उसकी मूर्तिमान्स्वरूपा श्रीतुङ्गविद्याजी हैं। **सङ्केत प्रदान किये जानेके पश्चात् भी कान्तके दैवात् नहीं आनेपर जो आन्तरिक अत्यधिक व्यथा एवं सन्ताप होता है, उस सन्तापभावको विप्रलंभ कहा जाता है।** श्रीमती राधारानीके करके कङ्कणोंमें इनका नित्य निवास है।

कर्पूर-चन्दननिर्मित कुङ्कुमके समान इनका वर्ण है। इनके कुंजका वर्ण कान्तिमान् पीत है। इनके पिता एवं ये दोनों ब्रजमें पाण्डित्यको लेकर सर्व प्रसिद्ध हैं। इनकी बुद्धिमत्ताका लोहा सभी सखियाँ एवं स्वयं प्रिया-प्रियतम भी मानते हैं। ब्रजमें इनका सर्वत्र सुयश है। प्रिया-प्रियतमको वीणावादन करके प्रसन्न करना इनकी कुञ्जमें प्रमुख सेवा रहती है। इनकी निकुंजमें नित्य वय चौदह वर्ष, दो मास, एवं बीस दिन रहती है। सत्य यही है कि जो भी महाभाग्यवान् महत्कृपावश श्रीराधाभावसिन्धुका कोई-सा एक कण पा लेता है, वही इन सभी सखियोंके दिव्य भुवन-पावन चरित्रके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् ज्ञान कर पाता है। उसे भी उसके पात्रानुसार ही यह ज्ञान उपलब्ध होता है।

मालती-लता सखों पर थी फूली इठलाती-सी, प्रियतम।
सुनकर समीर की साँय-साँय उत्कंठित थी होती, प्रियतम!
वे ही होंगे, प्यारा जब पर था नहीं दीखता, हे प्रियतम!
यह बात झूमकर यूथी से करती रट-रटकर थी, प्रियतम।।१६३।।

जिस कुञ्जमें मालती लता फूलोंसे लदी हुई गर्वसे इठलाती रहती है और पवनकी सॉय-साँय ध्वनि सुनकर उसे प्रियतमके आगमनका भ्रम हो जाता है। परन्तु जब उसे वे दृष्टिगोचर नहीं होते तो वह झूर-झूरकर जूहीसे बातें करने लगती है।।१६३।।

अश्वत्थश्रेणी:।।१६४।।

जहाँ पीपलके वृक्ष हैं।।१६४।।

प्लक्षवनम् ।।१६५।।

जहाँ प्लक्षके वन हैं।।१६५।।

तगर इत्याख्यद्रुमा:।।१६६।।

जहाँ तगर आदिके वृक्ष हैं।।१६६।।

सालावलि:।।१६७।।

जहाँ सालके वृक्षोंके झुण्ड हैं।।१६७।।

देवदारुवनम् ।।१६८।।

जहाँ देवदारका वन है।।१६८।।

भूर्जवनम् ।।१६९।।

जहाँ भोजपत्रके वृक्षोंका वन है।।१६९।।

जालकावलि:।।१७०।।

जहाँ जालके वृक्षोंका समूह है।।१७०।।

### *सुदेवीकुञ्जका वर्णन*

श्रीराधाकृष्ण-युगलकुण्डके वायव्य कोणमें जो उत्तुङ्ग एवं विशद कलहान्तरिताभावकी लहर उठती है एवं जिससे दोनों युगलकुण्ड परिव्याप्त हो उठते हैं - उस भावकी मूर्तिमान् प्रतीक श्रीसुदेवी सखी हैं। **जो अनुनय-विनयरत कान्तका रोषवशात् सम्मान नहीं करती और फिर कान्तवियुक्ता होनेपर अत्यन्त अनुतापसे संतप्त होती है, कान्तविहीन जिसका पल-पल अत्यन्त व्यथासे भरा व्यतीत होता है - उसे कलहान्तरिता नायिका कहते हैं।** श्रीसुदेवीजी श्रीराधारानीकी अरुण कंचुकीस्वरूपा हैं। विशुद्ध स्वर्ण-जैसी इनकी सुन्दर देह है। इनके कुंजका वर्ण चमकते हुए मूँगेके समान है। ये अपने निकुंजमे इसी रंगका वस्त्र धारण करती हैं। ये प्रिया-प्रियतमकी जल पिलानेकी सेवा करती हैं। निकुंजमें इनकी नित्य वय चौदह वर्ष, दो माह, आठ दिनकी रहती है।

थी जपा खड़ी अवनत-मुख हो, आँखों में थी लाली, प्रियतम!<br>
था पास खड़ा नीला तमाल दीनता-व्यथा कहता, प्रियतम!<br>
पुरवैया से परिचालित हो, वह पुनः-पुनः झुकता, प्रियतम!<br>
जाती थी पश्चिम में पर, वह संध्या होते रोती, प्रियतम।।१७१।।

जहाँ जपा नीचा मुख किये हुए थी और उसकी आँखोंमें लालिमा थी। पास ही खड़ा हुआ नील तमाल अपनी दीनता और व्यथा व्यक्त कर रहा था और पुरवैया हवाके झोंकोंसे पुनः-पुनः वह झुक जाता था। परन्तु जपा रोती हुई पश्चिमकी ओर झुक-झुक जाती है; वही सुदेवी-कुञ्ज है।।१७१।।

उदुम्बर पङ्क्तिः॥१७२॥

**जहाँ गूलरके वृक्षोंकी पङ्क्ति है।।१७२।।**

बदरीवनम् ॥१७३॥

**जहाँ बेरके वन हैं।।१७३।।**

वानीरनिकुञ्जावलिः॥१७४॥

**जहाँ बेंतके वृक्षोंसे बने कुञ्ज हैं।।१७४।।**

वेणुवनम् ॥१७५॥

**जहाँ बाँसका वन है।।१७५।।**

अर्जुनसमूहः॥१७६॥

**जहाँ अर्जुन वृक्षोंका झुण्ड है।।१७६।।**

यत्र अशेषोद्भिज्जजातीय प्राणिनां सन्निवेशः॥१७७॥

**जहाँ उद्भिज जातिके अनेक प्राणियोंका निवास है।।१७७।।**

यथावसरं यथास्थानं आविर्भावः तिरोभावश्च ॥१७८॥

**जहाँ लीलाके अनुसार अवसर तथा स्थानके अनुरूप वस्तुओंका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है।।१७८।।**

### *राधाकुण्डका वर्णन*

वस्तुतः श्रीराधाकुण्ड श्रीराधामहाभावस्वरूप है। इसमें सभी दिशाओंसे अनन्त भावोंकी उत्ताल लहरें उठती रहती हैं, और इन लहरोंसे यह सतत आलोड़ित रहता है।

लहरें सरमें धारा सी थीं क्रमशः उठती-गिरती, प्रियतम!
चञ्चल मराल तेकर उनसे भामिनी मराली से, प्रियतम!
कहता 'प्यारी! देखो, ये हैं दे रही पाद्य तुमको', प्रियतम!
फिर अर्घ्य-आचमन भी, पूजा स्वीकार करो इनकी' प्रियतम॥१७९॥

**राधाकुण्डमें क्रमशः उड़ने वाली ऊँची-नीची बड़ी-बड़ी धाराके समान लहरोंको देखकर उसमें कल्लोल करनेवाली हंसिनीसे चंचल हंस कह रहा है कि प्यारी, देखो यह लहरें तुम्हारे चरणोंका प्रक्षालन करके तुम्हें पाद्य दे रही हैं तथा साथ ही इनका अर्घ्य तथा आचमन भी स्वीकार करो।।१७९।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

वस्तुतः यह राधाकुण्ड प्राकृत जलका सरोवर नहीं है। यह तो सच्चिन्मय आनन्द-रस प्रेमका जो परम सार – महाभाव है, उसका सिन्धु है। इसीलिये इसका नामकरण ही श्रीराधा(महाभाव) कुण्ड रखा है। इस कुण्डमें एक चञ्चल मराल (रसिकेन्द्रशेखर रसराज श्रीकृष्ण) एव एक भावमुग्धा मराली (महाभाव-स्वरूपिणी प्रिया श्रीराधा) सङ्ग-सङ्ग विहर रहे हैं। अपने प्रियतम मरालकी सर्वेच्छापूर्ति करना ही मरालीके जीवनका मात्र प्रयोजन है। वैसे ये मराल एवं मराली कोई दो पृथक् सत्ता नहीं हैं, दोनों ही सच्चिदानन्दघन-स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण मरालकी अर्धाङ्गसम्भूता होनेसे मराली उसकी मात्र ह्लादिनीशक्ति है एवं दोनों ही चिन्मय आनन्दरसरूप हैं, फिर भी वह मराली स्वेच्छाविलासिनी है। अपने प्रियतमकी

प्रेमार्चनामें यह अपना तन-मन-धन-प्राण, कुल-शील-मान एव अहं सभीकुछ अपने प्राणाराध्यको समर्पितकर सर्वथा निष्किञ्चना है। इस मराली( राधा) के पास मात्र प्रेमाश्रु-जल-रूपी ही एक धन शेष है, जिसे भी यह अपने प्रियतम मराल (श्रीकृष्ण) को समर्पित करती रहती है। इसीके मोलमें इसका प्रियतम मराल (श्रीकृष्ण) इसका पूर्णतया विक्रीत दास है।

इस मराली (राधा) का कामलेशशून्य अगाध सर्वोत्कृष्ट प्रेम ही इस कुण्डका थाहहीन जल है। वस्तुत. तो इस कुण्डका कोई तट, सीमा अथवा देशकी ऐसी अन्य सत्ता ही नहीं है, किन्तु इसकी लहरे ही इसमे आठ दिशाओंका भ्रम कराती हैं। इन आठ दिशाओंमें इसकी लहरें उद्दामरूपसे प्रवाहित होती है और पुन. इन दिशाओमे उत्थित लहरोसे टकराकर धारावत् उठती-गिरती हैं। यह परस्पर टकराहट एवं प्रवाह ही खण्डितादि अष्ट महाभावोकी उत्पत्ति करता है। इन अष्ट दिशाओंसे धारावत् उठती-गिरती लहरोमें विहार करता चचल मराल (श्रीकृष्ण) अपनी प्रेयसी मराली (श्रीमती राधारानी) से कहता है - 'प्रिये ! देखो, जो सरमें विभिन्न तटोंसे ये धाराओके समान खण्डिता, स्वाधीनभर्तृका आदि भावोंकी लहरें तुम्हें पाद्य, अर्घ्य, आचमनादि समर्पितकर तुम्हारी अर्चना कर रही हैं इन्हींकी प्रतिमूर्तियाँ तुम्हारी ललिता–विशाखादि सखियाँ हैं, इनकी अर्चना स्वीकार करो।'

'प्रिये ! ये सर्वप्रथम तुम्हें कारुण्यामृतरूपी भावजलका तीन बार पाद्य निवेदन करती हैं। फिर तारुण्यामृत भावजलसे ये अर्घ्यदान करती है। इसके पश्चात् ये लावण्यामृतमें सौन्दर्य एव माधुर्यकी ककोल एवं लवङ्ग मिलाकर उससे तुम्हें तीन बार आचमन करा रही हैं। इनकी यह पूजार्चना प्रिये ! स्वीकार करो।'

*'अपने प्राणों के रससे ये तुमको नहलाती हैं,' प्रियतम !*
*'अपने प्राणों की सत्ता का परिधान धराती हैं,' प्रियतम !*
*'चारों कूलों के द्रुम से जो हैं गुच्छ सुमन आते,' प्रियतम !*
*'इनमें उनका ही आभूषण तुमको पहनाती हैं,' प्रियतम ॥१८०॥*

**'यह लहरें अपने प्राणोंके रससे तुम्हें स्नान करा रही हैं और यह लहरियाँ ही अपने प्राणोंकी सत्ताके वस्त्र भी पहना रही हैं। कुण्डके चारों किनारोंपर अवस्थित वृक्षोंसे झरनेवाले पुष्पोंके गुच्छोंके आभूषण तुम्हें पहना रही हैं।' ॥१८०॥**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

'देखो प्रिये ! अब ये अष्ट भाव-लहरों रूपी अष्ट दिशाओसे उठी लहरें तुम्हे अपने रति,स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव , रूढ एवं अधिरूढ महाभाव तथा उसके परमोच्च मादनाख्य भाव – इस प्रकार दस प्राणोंके रससे स्नान कराती हैं।'

'स्नानके उपरान्त तुम्हारी लज्जा-निवारणके लिये अपने प्राणोकी सत्ता – मुझ रसराज रसिकेन्द्रशेखर ब्रजेन्द्रनन्दनको ही तुम्हारा श्याम परिधान बनाकर तुम्हें नील वस्त्रके रूपमें पहना दे रही हैं। इसके पश्चात् मेरे प्रति इनका जो प्रगाढ राग है, उस प्रियतम-रागकी ये कसूँभी ओढनी तुम्हे पहना-उढा दे रही हैं। मेरे प्रति प्रणयको ही ये कञ्चुकीके रूपमें तुम्हें धारण कराती हैं।'

'प्रिये ! इस महाभावसिन्धुकी लहरें ही जो चार कूलोका निर्माण करती हैं, उनमें 'सखी-प्रणय' नामक पूर्व दिशाका कूल है, प्रेम-कौटिल्य एव तज्जन्य माधुर्य दक्षिणी कूल है, अधिरूढ महाभावगत पुलक, रोमाञ्च, हर्ष आदि सात्विक भावोंकी विशिष्ट दशा पश्चिमी कूल है एव इन चारों कूलोसे जो सुन्दर सुमनगुच्छ आकर इस सरोवरको समाच्छादित कर रहे हैं, उनसे ही तुम्हारे अंगोंको शृंगारित एवं उन्हें आभूषित कर रही हैं।'

'प्रिये ! ये सखी-प्रणयरूप पूर्वतटसे झरे पुष्पगुच्छोंसे तो तेरे अंगोमें मृगमद, चन्दन एवं कुङ्कुमके मिश्रणको लेपन करती हैं, फिर प्रेम–कौटिल्य एवं तज्जन्य माधुर्यरूप दक्षिणतटके पुष्पोंसे तेरे नेत्रोंमें अञ्जन लगाती हैं। इस माधुर्यसे उत्पन्न हुआ मेरा जो राग है, उससे ये तेरे अधरोंमें लालिमा करती हैं। फिर अधिरूढ महाभावगत हर्ष, पुलक आदि विशिष्ट दशारूप पश्चिमी तटसे झरे पुष्पोंसे ये तुझे अनमोल आभूषण सज्जा-सज्जित कर दे रही हैं। साथ ही हावभाव-लीलादि उत्तरी तटसे झरे रमणी गुणरूप पुष्पोंसे तुझे विविध पुष्पमालाये पहनाती हैं।'

*'उर पर बिखरे पराग की हैं अर्पित सुगन्ध करती,' प्रियतम !*
*'उर पर विकसित सरोज लेकर ये फूल चढ़ाती हैं,' प्रियतम !*
*'अतिशय उमङ्ग की किरणों से आकर्षित हो, इनका,' प्रियतम !*
*'उर भाफ-सदृश उड़कर जो है बनता है धूप वही;' प्रियतम ।।१८१।।*

**'इन पुष्पोंसे झरनेवाले लहरोंके हृदयपर बिखरे हुए परागसे निःसृत सुगन्ध भी तुम्हें समर्पित करती हैं और इनके उरपर खिलनेवाले कमलपुष्प तुमपर चढा रही हैं। तुमसे मिलनेकी उमंगकी किरणोंसे भाफके समान उडता हुआ, जो इनका हृदय है उसका ही हे प्रिये ! तुम धूप स्वीकार करो।'।।१८१।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अनन्य निष्ठा, प्राणोकी नित्य नव-नवायमान उमंगसे सेवा, पूर्ण सङ्कोचराहित्य, अपार ममत्व एव पूर्ण आत्मसमर्पण - ये पॉच प्रकारकी पराग इन महाभावमयी लहरोंपर नित्य बिखरती रहती है, एवं इस परागकी सुगन्ध ये लहरें प्रिया श्रीराधाको अर्पित करती रहती हैं। स्नेहकी विशेष मधुरताके रसास्वादनके लिये दक्षिणभाव त्यागकर जो वामभावका सरोज खिलता है, वह रसका ही उत्कर्ष है, किसी पङ्कसे उत्पन्न सरोज नहीं - फूल चढानेका यही भाव यहॉ दर्शाया गया है। इसीलिये यह आश्चर्यकारी सुन्दर सरोज है।

'प्रणयकी ललकमें जो अतिशय मिलनकी उमंग होती है, मिलनके लिये जो श्रम होता है, एव प्रियतम-रतिजन्य भी जो श्रम होता है उस श्रमके कारण प्रिया-प्रियतमके अगोंसे मिलन-सौरभका प्रादुर्भाव होता है, उस अंग–प्रत्यगसे झरती मिलनजन्य सौरभकी हे प्रिये ! ये लहरें तुम्हें धूपार्पण कर रही हैं।'

*'इनके भीतर दिन में जो है दिनकर की परछाँही;' प्रियतम !*
*'रजनी में तारक-शशधर की, वे ही हैं दीप भला;' प्रियतम !*
*'हृत्पद्मकर्णिका के भीतर उज्ज्वल रस-वर्ण लिये,' प्रियतम !*
*'जो वस्तु सुसञ्चित है, उससे नैवेद्य निवेदन है।' प्रियतम ।।१८२।।*

**दिनके समय इस कुण्डके ऊपर पड़ने वाली सूर्यकी परछाईं तथा रात्रिके समय चन्द्रमा एवं तारागणोंका प्रतिबिंब ही दीप है और इस कुण्डके हृद्देशपर खिलनेवाले कमलकी कलियोंके भीतर जो उजले रंगका उजला रस है (अथवा मेरे वक्षस्थलमें सञ्चित जो उजले वर्णका उज्ज्वल रस है) उसका नैवेद्य स्वीकार करो।।१८२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

दिवाभिसारके समय दिनकरकी पडनेवाली परछाईं अर्थात् दिनकरकी साक्षी एवं निशाभिसारके समय रजनीमें तारकावलि एवं शशधरकी उपस्थिति ही प्रज्वलित दीप हैं जिनसे ये सखियॉ तुम्हारी दीपार्चना किये जा रही हैं।

**'मादनोऽयं परात्परः'** इस श्रुतिके अनुसार श्रीराधाप्रेमके सदृश श्रेष्ठ सुस्वादु वस्तु कोई नहीं। इतना गौरवमय होनेपर भी यह श्रीराधाप्रेम मदीयतामय स्नेहसे युक्त होनेके कारण ऐश्वर्य-तम-लेश-शून्य है। यह न तो गौरव चाहता है, न मानता है, अतः पूर्ण अभिमान-तम-रहित परमोज्ज्वल है। यह राधा अथवा श्रीकृष्ण-सरोजके हृदयका परमोज्ज्वल रसवर्ण लिये मकरन्द है। इसका ये सखियाँ तुम्हें भोग अर्पित कर रही हैं।

*'उज्ज्वल जल लेकर पुनः अहो! आचमन कराती हैं,' प्रियतम!*
*'उन अरुण उत्पलोंके दल से रचती तमोल ये हैं,' प्रियतम!*
*'उज्ज्वल रस नित्य उरस्थल का है तर्पणीय उनका,' प्रियतम!*
*'जो राग भरा स्वर है उरका, मधुर स्तव है इनका,' प्रियतम॥१८३॥*

**यह लहरें अपने निर्मल जलसे तुम्हें आचमन करा रही हैं और लाल रंगके कमलोंका ताम्बूल तुम्हें समर्पित कर रही हैं। इनके हृदयमें स्थित उज्ज्वल रस ही इनकी तर्पणकी सामग्री है और इन लहरोंका मधुर-मधुर स्वर ही तुम्हारा स्तवन है।।१८३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

ये लहरे (सखियाँ) तुम्हें अपने सच्चिदानन्दमय तत्त्ववस्तु ज्ञान-योग-कर्म-विरहित उज्ज्वल चिन्मय रसरूप प्रेमजलसे आचमन कराती हैं तथा अपना रागरूप अरुण उत्पलो (कमलों)का ताम्बूल अर्पित कर रही है। इनका काम-लेश-गन्ध-शून्य परमोज्ज्वल प्रेम ही इनकी तर्पण-सामग्री है और हम दोनो प्रिया-प्रियतमके नाम-गुण-यश-श्रवण-कीर्तन ही इन लहरो(सखियों)का मधुर-मधुर वाणी-प्रवाह स्वर है, इससे ये तुम्हारा पावन स्तवन कर रही हैं।

*'अपने स्वरूप में नित्य अहो! ये सभी दिशाओं में,' प्रियतम!*
*'जो घूम रही हैं, इनका शत शत है प्रणाम ही तो,' प्रियतम!*
*'इनके रहस्यमय अर्चन के उपचार मनोहर हैं,' प्रियतम!*
*यों था प्रतिदिन वरटानायक मनुहार-गीत गाता, प्रियतम॥१८४*

**यह लहरें नित्य ही अपने स्वरूपमें स्थित होकर सभी दिशाओंमें घूम रही हैं; यही इनका शत-शत प्रणाम है। तुम्हारी रहस्यमयी पूजाके लिये प्रयुक्त इनके सभी उपचार अत्यन्त मनोहर हैं - इस प्रकार प्रतिदिन हंस (श्रीकृष्ण) अपनी प्रियतमाकी मनुहारके गीत गाता रहता था।।१८४।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

श्रीकृष्ण मराल अपनी प्रिया मरालीसे कह रहा है – 'हे प्रिये ! अपने तन-मन-धन-रूप-यौवन-लोक-परलोक - सबको मुझ श्रीकृष्णकी सुख-सामग्री समझकर मेरे सुखके लिये जो शुद्ध अनुराग किया जाता है, वही इनका भाव है। मैं स्वयं सुख-सन्दोह हूँ। मुझ सुख-सन्दोह, ज्ञान-विज्ञाना-नन्दघनको भी ये गोपियाँ सुख देती हैं। ये मेरी ह्लादिनी शक्तियाँ हैं। जैसे समुद्रमें अनन्त लहरें स्वाभाविक ही सर्व दिशाओंमें उमडती हैं और समुद्रमें सब ओर लहराती हैं, उसी प्रकार ये ह्लादिनी गोपियाँ भी अपनी अनन्त दिव्य प्रेमभावोरूपी अनुगामिनी अङ्गशक्तियो सहित सर्व दिशाओंसे मुझ अपने प्रियतमकी ओर धावित होती हैं और इनके अनन्त भावाह्लादसे आह्लादित हुआ मैं उस आह्लादको इनमें ही अनन्त गुना करके लौटा देता हूँ। यही इन गोपीरूपा लहरोका सर्व दिशाओंसे आना और पुनः लहराकर सर्व दिशाओंकी ओर प्रवाहित होना है।'

'हे प्रिये। यही तुम्हें इनका शत-शत प्रणामार्पण है। वस्तुतः ये तुझ राधाकी जो भावरहस्यमयी पूजा कर रही हैं, इनके उपचार भी परम मनोहर हैं। क्योंकि इनमें किसी भी लौकिक कामनाकी लेशात्मक गन्ध भी नहीं है। वस्तुतः दर्पणमें अपनी शोभा भरकर दर्पणको शोभायुक्त बनानेवाला पुरुष उस शोभाको स्वय ही पा जाता है। इसी प्रकार विविध भावोंसे अर्चना करनेवाली ये गोपियाँ तुझसे अपनी भावावलियाँ अपरिचित रूपमे बढी हुई पुनः पा जाती हैं।'

सुनकर यह गीत भामिनी थी उसकी विमुग्ध होती, प्रियतम।
देकर अपनी नीरव सम्मति नायक पर झुक पड़ती, प्रियतम!
दोनों ही कण्ठ मिलाकर थे लहरोंमें धँस पड़ते, प्रियतम!
आनन्दमत्त होकर लहरें कूलोंसे टकरातीं, प्रियतम॥१८५॥

**हंस (श्रीकृष्ण)के यह गीत सुनकर हंसिनी(राधा) मोहित हो जाती थी और अपनी मूक सम्मति देकर हंसपर झुक पड़ती थी। दोनों हंस-हंसिनी(राधा-कृष्ण) कण्ठसे कण्ठ मिलाकर सरोवरकी लहरोंमें अवगाहन करने लगते थे और लहरें आनन्दमें मतवाली होकर तटोंसे टकराने लगतीं।।१८५।।**

भीतर-ही-भीतर उनके थे दोनों चलते रहते, प्रियतम।
ले टोह, नीर-विहगी-दल था ऊपर-ऊपर चलता, प्रियतम।
वह दाँव-पेँच दोनों दलमें सुन्दर जो चल पड़ता, प्रियतम!
उसके चित्रण की तूली बह जा पड़ी नीलसरमें, प्रियतम।।१८६

**जलके भीतर ही दोनों चलते रहते और पक्षी-समूह उनकी टोह लेता हुआ ऊपर-ऊपर उनकी गतिका अनुसरण करता रहता था। हंस-हंसिनी तथा पक्षी-समूहमें जो मनोहर दाँव-पेंच चलते उसके वर्णनकी सामर्थ्य किसमें है। अतः कवि विथकित होकर कृष्णकुण्डका वर्णन करने लगता है।।१८६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

इन मराल-मरालीका दर्शन एवं इनका गुण-यश-गान इनके पूर्ण कृपापात्र रसिकजन खग जो इस निर्मल एवं विशुद्ध प्रेमरसभरे कुण्डके प्रेमाकाशमे उड़ते रहते हैं, कलरवरूपमे करते रहते हैं। ये रसिकजन अपने प्राकृतावेशके कारण सर्वथा अप्राकृत महाभाव-सरोवरमें अवगाहन तो नहीं ही कर पाते किन्तु ऊपर-ऊपरसे इनकी गतिका अनुसरण अवश्य करते हैं। इन हंस-हंसिनियों और उनके ऊपर उड़नेवाले इन प्रेमाकाशचारी विहङ्गमोंमें परस्पर जो प्रेमलीलाओंके दाव-पेंच चलते हैं, वे स्वसंवेद्य, अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य हैं, उनका वर्णन करनेकी सामर्थ्य भला किसमें है ? अतः कवि पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा आगे श्रीकृष्णकुण्डका वर्णन करने लगते हैं। वे कहते हैं कि मेरी तूलिका इनके दाव-पेंचका अनुभव करते-करते लेखनमें असमर्थ होकर लीलमणि-रससे भरे कृष्णकुण्डमें मेरे हाथसे छूटकर गिर जाती है।

### *श्रीकृष्णकुण्डका विवेचन*

जैसे राधाकुण्ड महाभावसिन्धु-स्वरूप है, वैसे ही श्रीकृष्णकुण्ड भी भगवान् पूर्ण-परात्पर श्रीकृष्ण रसराजका निज स्वरूप है। वस्तुतः यह समग्र विश्व-संरचना इस कुण्डके अथाह जलमें मृगमरीचिकावत् प्रतिभासित होती है, सत्यांशमें इसके अतिरिक्त कहीं भी अन्य कोई भी वस्तु परमार्थसत्ताके रूपमें है ही नहीं। यह चिन्मय कुण्ड सब भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है, और सबकी गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, सबका आधार, निधान तथा अविनाशी कारण है। यह अप्राकृत कुण्ड अविनाशी ब्रह्मकी, अमृतकी, नित्य धर्मकी एवं एकान्तिक सुखकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। सबकुछ

इससे ही, इसमें ही प्रवर्त्तित है। यह परमधाम, परब्रह्म, परम पवित्र, सनातन, दिव्य, अनादि, अजन्मा एवं विभु है। यह सर्वभवनसमर्थ होनेसे ही जलके कुण्डकी तरह सीमित दृष्टिगोचर होता है, वैसे यह असीम, अनन्त है। योगमायाशक्तिसे आवृत होनेके कारण ही यह समस्त भूतोंमें प्रकाशित नहीं होता एव प्राकृत कुण्डवत् प्रतीत होता है, वस्तुतः यह दिव्य सच्चिदानन्दघन प्रेमानन्द-रस-विग्रह है। इसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तो मात्र इसीको है। दूसरा कोई कह ही नहीं सकता कि इसका यथार्थ रूप ऐसा ही है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने भी जो वर्णन इस कुण्डका किया है, वह भी शाब्दिक होनेसे सीमित ही है। यह कुण्ड और राधाकुण्ड दोनों ही सदा पूर्ण हैं, सब ओरसे पूर्ण हैं, सर्वलीलाओमें पूर्ण है। लेखक तो इसका विवेचन पू.गुरुदेवके मुखसे जो भी सुन चुका है उसका सार इतना ही है कि यह कुण्ड विज्ञानानन्दघन, निराकार, निर्विकार, सगुण, साकार, मायातीत, ब्रह्म, अक्षर, आत्मा, परमात्मा, पुरुषोत्तम, देवता, जीवात्मा, प्रकृति, पुरुष, जगत् - सबकुछ है। जो कुछ नहीं है, वह भी यही है। इतना ही नही, है एव नहीसे जिसका वर्णन नहीं होता, वह भी यह कुण्ड है। यदि किसीने कुछ भी इसका वर्णन किया है तो मात्र अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये ही किया है। ये दोनो राधा एव कृष्णकुण्ड परस्पर भीतर आनन्दरससे आप्लावित हैं। कृष्णकुण्ड रसिकेन्द्रशेखर रसराज रसनिकेतन है तो श्रीराधाकुण्ड महाभावसिन्धु है। दोनों ही आनन्दरसके महासिन्धु हैं, मात्र लीलार्थ दो नाम-रूप धारण किये हैं। इन दोनोंका परस्पर मिलन ही महारास है।

***ष्णकुण्डका वर्णन***

था श्यामनीर से भरा एक गम्भीर सरोवर, हे प्रियतम !
पा सका न कोई थाह, थके करके प्रयास योगी, प्रियतम !
जो श्वास रोक सकते थे युग-युग तक बूड़े उसमें, प्रियतम
वे भी हारे, निकले उदास, इतना अगाध जल था, प्रियतम ।।१८८

**वहींपर उसीसे सटकर एक दूसरा कुण्ड था जिसका जल नीले रंगका था। योगीजन अनेक प्रयत्न करनेपर भी उसकी गहराईका पता न लगा पाये थे। जो सिद्ध युग-युगान्तरतक अपना प्रश्वास रोक सकनेमें समर्थ थे, वे भी उसमें डूबे, पर थाह न पा सके। इतना अगाध जल उस सरोवरमें था, अतः वे भी उदास होकर बाहर निकल आये।।१८७।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यहाँ गम्भीरका अर्थ है, जिसमें सभी शक्तियाँ अन्तर्निहित हों। यह कुण्ड अचिन्त्य एवं अतर्क्य शक्तियाँ लिये है। इसमें पूर्ण सच्चिन्मयी नीलिमा भरी है। इसका अर्थ है कि यह निर्गुण-निराकार ब्रह्मरूपसे तो सर्वत्र, सर्वदा है, और सबमें है, किन्तु अपने सगुण-साकार-सौन्दर्य-माधुर्यरूपमें प्रेमधाम इस गोवर्धनगिरि-परिसरमें ही प्रकट है, विहित है। यह राधाभावका आसक्त, उससे सदैव संलग्न रहता है, उसे छोड़कर एक पद भी अन्यत्र नहीं रह सकता। जहाँ तदेकप्राण राधाकुण्ड नहीं है, तन-मन-प्राण समर्पित करनेवाली राधाकुण्डकी प्रेमोन्मत्त लहरें नहीं हैं, वहाँ प्रेमपरवश प्रेम नीलनीरसे भरा यह कुण्ड नहीं रह सकता।

*चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः।।*

जिनके पास मात्र विशुद्ध श्रीराधाकी, गोपियोंकी आँख है, वे ही इसकी झाँकी (दर्शन) पा सकते हैं, कोई अनन्तकालतक श्वास रोककर दीर्घ जीवन भले ही प्राप्त करले, मनकी समाधिसे अनन्त दिव्य योगशक्तियोंका स्वामी भले ही हो ले, योगकी ऊँची-से ऊँची सिद्धियोंका अधिपति भले ही हो जाय, इस प्रेम-सरोवरकी थाह युग-युगतक (बूडने) खोजनेसे भी उसे नहीं मिल सकती।

इसी आधारपर रसिककवि रसखानिजीने कहा हैः —

*ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन वेदरिचा सुनी चौगुने चायन।*
*देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितै वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।।*
*हेरत-हेरत हारि पर्यौ रसखानि बतायौ न लोग-लुगायन।*
*देख्यौ दुरयौ वह कुंजकुटीरमें बैठ्यौ पलोटत राधिका-पायन।।*

इतना अगाध, साथ ही सहज-युगपत् विरुद्ध-गुण-धर्मरूप इसका स्वभाव है।

*वट पुञ्ज समग्र ईशता का जो, धर्म और यश का, प्रियतम!*
*श्री- ज्ञान-विराग-सत्य का है उसके कण-कण में था, प्रियतम!*
*उसके जल से वल्लरियाँ थीं जनकी सींची जाती, प्रियतम!*
*लगते थे फूल और उनमें निरुपम सौरभ वाले, प्रियतम।। १८८।।*

**उसके कण-कणमें भगवत्ताके सूचक छहों भाग - ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान, विराग तथा सत्य परिपूरित थे। उसके जलसे जिन लताओंको सींचा जाता था उनमें दिव्य सुगन्धसे युक्त अनोखे पुष्प लगते थे।।१८८।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

पूर्ण-परिपूर्ण सच्चिन्मय भगवत्स्वरूप होनेसे इसके जलके कण-कणमें समग्र ईश्वरता (ऐश्वर्य), समग्र ज्ञान एवं वैराग्य निहित है। जो भी महज्जन कृपापात्र इस वृन्दाकानन (श्रीराधा-गोपीजन-चरणाङ्कित प्रदेश) में लता-पत्र-पुष्प-वीरुधादिभावमें इस कृष्ण-प्रेमरस-जलके कण मात्रसे भी सिञ्चित (पालित-पोषित अथवा सवीजित) हो जाता है, उसमें अशेष मङ्गलकारी दिव्य सच्चिन्मयी प्रीति-गन्धसे भरे अलौकिक भावपुष्प लगने और विकसित होने लगते हैं।

*उसका जल छूते ही तन का सब रंग बदल जाता, प्रियतम!*
*पीनेवाली कण एक इतर सब राग भूल जाती, प्रियतम!*
*उसको निहारते ही आँखें होती थीं श्याममयी, प्रियतम!*
*जो भी फिर कहीं कभी दीखे, नीला-नीला लगता, प्रियतम।। १८९।।*

**उस श्याम कुण्डके जलका स्पर्श होते ही तनका रंग तो बदल ही जाता था परन्तु इसका एक कण सेवन कर लेने वालेकी अन्य सब आसक्तियाँ समाप्त हो जाती थीं। उसके दर्शन करते ही सर्वत्र श्याम-ही-श्याम दिखाई देने लगते थे और संसारकी प्रत्येक वस्तुमें श्रीकृष्णका ही भान होने लगता था।।।१८९।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

इस नवीन श्याममेघके सदृश वर्णवाले जलके स्पर्शमात्रका प्रभाव ऐसा है कि इसको छूते ही उसका वर्ण बदल जाता है, अर्थात् प्राकृत देहाध्यास सर्वांशमें सदैवके लिये छूट जाता है और वह पुरुष–भाव त्यागकर श्रीमती राधारानीकी कायव्यूहरूपा गोपीभावापन्न हो उठता है। और फिर कहीं इसका एक कण भी पान करले तब तो उसके इतर अन्य सब राग ही विस्मृत हो जाते हैं। वह उसी क्षण प्रेमोन्मत्त हो उठता है। यह सत्य है कि जैसे गङ्गाजीके निर्मल प्रवाहमें पड़कर गन्दे पानीके नालेका जल भी गङ्गाजल हो जाता है, वैसे ही इसका कणमात्र जल पीते ही प्राणी स्वयं भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। वह फिर प्रेममें इतना तल्लीन हो जाता है कि आधे क्षणके लिये भी अन्य किसी पदार्थमें उसका मन नहीं रमता। उसका मन उसके स्वयंके पास रहता ही नहीं। तब वह अन्य रागमें रमे भी तो कैसे ? यह

विलक्षण सुन्दर कुण्ड है। इसको निहारते ही आँखें अन्य दर्शनमें सर्वथा अन्धी हो जाती हैं। फिर तो सर्वत्र नवीन मेघ-सदृश श्यामकान्तिवाले श्रीकृष्ण ही उसके मात्र दृश्य बन जाते हैं। वे श्रीकृष्ण फिर अपनी मन्द मुसकानसे उसे मोहित करके उसका अपना आपा ही मिटा देते हैं। फिर उसका संसार नाम-रूपात्मक नही रहकर मात्र श्यामरूपात्मक हो जाता है। सौन्दर्यसुधामयी मुसकान मात्र फिर अकेली वह श्याममयी सत्ता ही शेष रहती है, अन्य सब सत्ताएँ उसमें घुलमिलकर उसका ही रूप हो जाती हैं।

जिसके कानों में भी उसकी चर्चा थी पड़ जाती, प्रियतम।
उसको उसके अतिरिक्त बात कोई न सुहाती थी, प्रियतम!
लेकर समीर सौरभ उसका जाता था जहाँ-जहाँ, प्रियतम!
सब जीव वहाँ के उसपर थे न्योछावर होजाते, प्रियतम।।१९०।।

**जो भी उसकी चर्चा सुन लेता उसे उसके अतिरिक्त दूसरी कोई भी बात सुहाती न थी और उसके यशकी सुगन्ध कानों-कान जहाँ-जहाँ और जिस-जिसके पास पहुँचती थी वह उसपर न्योछावर होने लगता था।।१९०।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

कानोंमें कहीं उसकी वार्त्तारूप रसायन गिर जाय तो वह वार्त्तारूप रसायन कानोंके द्वारा श्रोताके हृदयमे प्रवेश कर जाता है। फिर तो उसे पृथ्वीके साम्राज्य, इन्द्रके राज्य अथवा इन दोनोंके निष्कण्टक निरापद भाग, यहाँतक कि अणिमा-महिमादि सिद्धियोंका ऐश्वर्य, ब्रह्माका पद, मोक्ष या वैकुण्ठकी भी चाह नहीं होती। ये सभी वैभवपद उसे तीखे नमक-से कटु लगते हैं, सारी लोक-वेदकी मर्यादा छोड़कर वह एकमात्र उसपर ही आसक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, उसके सौरभको लेकर भी वायु जहाँ-जहाँ जिसे स्पर्श करता है, उस सौरभको पानेवाले जीव भी उसपर न्यौछावर हो जाते हैं।

वैसे तो यह कृष्णकुण्ड अनन्त एव असीम है, इसको कूल देनेकी, सीमा देनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है, फिर भी इसे यदि किसीने कूल दिया है तो श्रीराधारानीके मात्र श्रीकृष्णसुखाकांक्षामय प्रेमने। पीत मणियोंका विशुद्ध वाछाहीन उज्ज्वल प्रेमप्रकाशपूर्ण तट ही इसे घेरे है। इसके चार कूल हैं । पूर्वका कूल है - श्रीमती राधाका अधिरूढ महाभाव, दक्षिणका कूल है उनका अपूर्व प्रेमवैचित्य, पश्चिमका तट है श्रीराधाका उन्मादी प्रिय-विरह तथा उत्तरका कूल है पूर्ण मदीयतात्मक स्नेहके होते हुए भी श्रीराधाकी परकीयाभावमे प्रतिष्ठा। ये इसके चार तट है जो इस कुण्डकी सीमायें निहित कर देते हैं।

निर्माण पीतमणि से उसके चारों कूलों का था, प्रियतम!
प्रतिदिन जल बढ़ धारा बनकर था चारबार बहता, प्रियतम!
पहले उत्तर की ओर वेग उसका ऐसा होता, प्रियतम!
मानो श्रीफल की कुञ्जों को खण्डित कर छोड़ेगा, प्रियतम।।१९१।।

**उसके चारों तटोंका निर्माण पीले रंगकी मणियोंसे हुआ था। प्रतिदिन उस कुण्डका जल चार बार बढ़ जाया करता था। पहले तो उसका वेग उत्तरकी ओर बढ़ जाता, मानो बेलके वृक्षोंसे निर्मित कुञ्जोंको वह खण्डित करके रख देगा (ललिता जी)।।१९१।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

पहले यह उत्तरकी ओर प्रवाहित होता है। वहाँ इसे तटके ऊपर स्थित कुंजमें खण्डिताभावकी प्रतिमूर्त्ति बेलवृक्षोंकी छायामे खडी श्रीराधारानीकी कायव्यूहरूपा उनकी बिम्बाधर-निवासिनी ललितारानी आलिङ्गन करनेकी मुद्रामे बाहु उठाये दृष्टिगोचर होती हैं। इसका वेग उस समय इतना उद्दाम होता है कि ऐसा अनुमान होता है कि यह उनकी बाहु-सीमाओंमे नहीं बँध पावेगा, किन्तु आश्चर्य है कि उस कुंजको स्पर्श करते-करते ही इसकी लहरें वेगसे पीछे लौट आती हैं और इस महाभावतटको ध्वंस नहीं कर पातीं। इसका अनन्त उद्दाम वेग प्रीतिजन्य महाभावसे स्पर्धामें शिथिल हो जाता है।

पूरब में, अग्निकोण में फिर चलता प्रवाह जब था, प्रियतम।
होती उसकी गति यों, जैसे जाता हो सुख देने, प्रियतम!
कोई आयी हो दिन में ही करके अभिसार, उसे, प्रियतम!
या उधर बिलखती हो कोई प्रोषितपतिका, उसको, प्रियतम॥१९२

**पूरब और अग्निकोणमें जब उसका धाराप्रवाह बढ़ने लगता तो उस(श्रीकृष्ण)की गति देखकर यही प्रतीत होता था कि वह किसीको सुखदान करने जा रहा है और दिनमें जो कोई भी तरुणी (चित्रा) अभिसार करके आयी हो अथवा ऐसी कोई तरुणी (इन्दुलेखा) जिसका पति परदेश चला गया हो उसे सुखी करना ही इसका प्रयोजन है।।१९२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

तब यह ईशानकोणमें धाराप्रवाह गतिसे बढने लगता है। उसकी गति देखकर यही लगता है कि स्वाधीनभर्तृका भावमयी विशाखाको यह सुखदान करने उमड रहा है, परन्तु इसकी गति पूर्व दिशा एवं अग्निकोणकी ओर मुड जाती हैं। दिनमें ही अभिसारोन्मुखी चित्रासखीके इसे दर्शन होते हैं, उसे मिलन-दान करता हुआ यह अग्निकोणकी ओर बह जाता है। अग्निकोणमें इसे अथाह प्रियविरहिणी इन्दुलेखाके निर्झरकी भाँति झरते अश्रुप्रवाहकी धारा ही मिलती है। उसके प्रियतम कान्त तो उसे छोड दूर-सुदूर विदेश चले गये हैं और उसे उनसे इस जीवनमें मिलनकी कोई आशा नहीं है। इस विरहिणीकी अश्रुधाराको अपनेमे मिलाये यह दक्षिण दिशाकी ओर लौट पडता है।

दक्षिण में जब चलता, लगता, कोई मधूक-मधु पी, प्रियतम।
अपने तन का सब भान भुला, चल रहा भटकता हो, प्रियतम।
टकराकर उन-उन तरुओं से किञ्चित् रुक-सा जाता, प्रियतम।
अन्तश्चेतनावृत्ति फिर भी पथ थी दिखला देती, प्रियतम॥१९३

**जब वह(श्रीकृष्ण) दक्षिणकी ओर जाने लगता तो यही दिखायी देता कि कोई मद्यसे निर्मित मदिरा पीकर और अपने शरीरकी सुधि भूलकर डगमगाते कदमोंसे चल रहा है और वह उसके तीरपर खड़े वृक्षोंसे टकराकर किञ्चित् रुकता-सा प्रतीत होता परन्तु उसकी अन्तश्चेतनवृत्ति उसके गन्तव्यका निर्देश दे देती थी।।१९३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

दक्षिण दिशामें इसे वासकसज्जाभावमयी श्रीचम्पकलताजी रसविलास-भावसज्जासे पूरी सजी-धजी, साथ ही अपने निकुंजको भी तदनुरूप पूर्ण रससाज-सज्जित किये दृष्टिगोचर होती हैं। यह उनके प्रेममें जैसे मधूक मधु पिये हो, इस

प्रकार मतवाला हुआ अपने तनका सब भान ही भूल जाता है। यह नैऋत्यकोणके वृक्षोंसे टकराता है। वहाँ इन वृक्षोमे इसे उत्कण्ठिता नारी -रगदेवीकी सिसकियाँ सुननेको मिलती हैं। इन सिसकियोमे असीम व्यथाका अनुभव करता यह इन वृक्षोंकी छाँहमे कुछ रुकता-सा प्रतीत होता है. परन्तु इसकी अन्तश्चेतनावृत्ति इसे आगेका पथ दिखा देती है।

*पश्चिम में बढ़ते ही होता अतिशय बेहाल, भला, प्रियतम !*
*पीले मणियों की किरणें थीं उसको समझाती-सी, प्रियतम !*
*'मैं तो-उरमें ही हूँ' धीरज आता न किंतु तब भी, प्रियतम !*
*यों घूम-घूम वन में भरता पल-पल नव-नव सुषमा, प्रियतम।।१९४*

**जब वह (श्रीकृष्ण) पश्चिमकी ओर बढ़ने लगता तो अत्यन्त बेहाल हो जाता। पीत मणियोंकी किरणें (राधाजी) उसे समझाने लगती कि मैं तो तुम्हारे हृदयमें ही हूँ फिर भी उसे धीरज नहीं होता था और यह (श्रीकृष्ण) वनमें घूम-घूमकर प्रतिक्षण नयी-नयी शोभाका विस्तार करता रहता।।१९४।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यह पश्चिम दिशाकी ओर चल पडता है। पश्चिम दिशामे भी इसे विप्रलब्धाभावमयी आन्तरिक विरह-व्यथा ही देखनेको मिलती है। यद्यपि पीले मणियोसे झरती किरणरूपी राधारानीका प्रेम इसे आश्वस्त करता है कि 'प्राण प्राण' मैं तो तेरे उरमे ही नित्य विराजित हूँ किन्तु फिर भी इसे इन सभी दिशाओसे निर्गत विरह-व्यथामयी आहे और विरह तप्त अश्रुओंका प्रवाह धैर्य धरने ही नहीं देता। यों सब ओर सब दिशाओंमे घूम-घूमकर इसका प्रवाह वनकी नव-नव सुषमाको अभिवर्धित करता जाता है। प्रेमरससे लबालब भरा वृन्दाकानन तो इसकी जलधाराओसे ही सिञ्चित होता है। इसके जलका कण-कण इस वनप्रदेशमे अपूर्व मङ्गलमयी सच्चिन्मयी प्रीति शोभाके विस्तारमे हेतु होता रहता है।

*थे मूर्त हुए अन्यत्र वहाँ वे पुनः किरणमाली, प्रियतम !*
*हीरकमय विग्रह बनकर थे पूजित अरण्यजन से, प्रियतम !*
*मन्दिर के आगे कुण्ड एक था भरा हुआ जल से, प्रियतम !*
*विकसित-सरोज से बना रम्य रहता सब ऋतुओं में, प्रियतम।।१९५।*

**यहीं निकट ही हीरक प्रतिमा बनकर सूर्यदेव मानों मूर्त हो गये थे जिनकी पूजा उस वनके वासी(तरुणी युवतियाँ) किया करती थीं। मन्दिरके सामने जलसे भरा एक कुण्ड था जो सभी ऋतुओंमें खिले हुए कमलोंसे सुशोभित रहता था।।१९५।।**

*ऐसे कुछ कौशल से रचना मन्दिर की थी, जिससे, प्रियतम !*
*होतीं उपलब्ध सदा ऋतुएँ सब उसके कक्षों में, प्रियतम !*
*एवं कोई भी क्यों न, भला, कितना ही सजग रहे, प्रियतम !*
*आते ही कोई मोड़, उसे दिग्भ्रम हो ही जाता, प्रियतम।।१९६।।*

**उस मन्दिरकी कलात्मक रचना ऐसी कुशलतासे हुई थी कि उसके कक्षोंमें सभी समय सब ऋतुएँ बनी रहती थीं और उसकी सीमामें प्रविष्ट होनेवाला कोई व्यक्ति कितना ही सजग क्यों न हो, परिसरमें बने मार्गोका मोड़ आते ही उसे दिग्भ्रम हो जाता था।।१९६।।**

रवि-विग्रह की विशेषता यह सबको लक्षित होती, प्रियतम !
प्रतिदिन जबतक दिनकर नभ में ऊपर उठते रहते, प्रियतम !
तबतक पुखराज राशि उसके नख से झरती रहती, प्रियतम !
ज्यों ढले उधर रवि, रत्न इधर पानी बनने लगते, प्रियतम॥१९७॥

**उस सूर्यविग्रहकी यह विशेषता सभीके ध्यानमें आ जाती थी कि प्रतिदिन जबतक सूर्य आकाशमें ऊपर उठते रहते तबतक उस प्रतिमाके नखोंसे पुखराजकी राशि झरती रहती थी और ज्यों ही सूर्य अस्ताचलमें जाने लगते थे, ये रत्न पानी बनकर गलने लगते थे।।१९७।।**

आराधन के भी समय तथा यह चमत्कार होता, प्रियतम !
अर्चक के प्राण-देह-मन थे तेजोमय बन जाते, प्रियतम !
सत्ता उतने क्षण बन्द रहती उस तुर्य नित्य रस की, प्रियतम !
पूजा जिसने-जिसने की थी, सबका अनुभव यह था, प्रियतम॥१९८॥

**आराधनाके समय भी एक चमत्कार यह हुआ करता था कि अर्चना करने वालेके प्राण, देह और मन सभी तेजोमय बन जाते थे। उतने क्षणके लिये पूजा करने वालोंको प्रकृतिसे अतीत सच्चिन्मय तुर्यरसकी अनुभूति होने लगती थी और विग्रहकी पूजा करने वाले(वाली) प्रत्येकका यही अनुभव था।।१९८।।**

## सूर्यकुण्डका स्वरूप

वैष्णवाचार्योंने इस चिन्मय भावराज्य राधा-निकुंजकाननका वर्णन करते हुए उल्लेख किया है –

**प्राकृतेभ्यो ग्रहेभ्योऽन्ये चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।।**(श्रीभागवतामृतम्)

अर्थात् इस लीला-भावराज्यमें ये सूर्य, चन्द्रादि ग्रहगण प्राकृत नहीं, सच्चिन्मय हैं। ये वस्तुतः भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी स्वयकी स्वरूपशक्तिकी चिन्मय प्रीति-परिणतियाँ ही हैं। किसीको भी इनके रूप, रग आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा, भाव आदिको जड वस्तुकी भाँति नहीं समझना चाहिये।

प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधवकी प्रीतिकी अनन्तता ही यहाँ इस प्रीतिराज्यका सीमारहित आकाश है। प्रेमकी प्रखरता ही यहाँ सूर्यवत् चमक रही है। प्रिया-प्रियतमकी चिन्मय लीला-सम्पादन हेतु यहां सूर्योदय होता है, सूर्यास्त होता है, निशा आती है, चन्द्रोदय होता है, तारकावलि छिटकती है। ये ग्रह-नक्षत्र सब प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिका निरन्तर अनुसरण करते रहते हैं। प्रिया श्रीराधाको जब, जैसे, जहाँ, जितने रसोत्कर्षके लिये जो-जो भी उपकरण चाहिये, उसीके अनुसार यहाँकी प्रकृति सदैव जागरूक हुई तदनुरूप सज्जासे सजती रहती है। लीला-परिकरोकी सुख-सुविधाके लिये ही उन्हे भाँति-भाँतिके उपकरण दे-देकर उनका प्रीतिविधान करनेके लिये, प्रिया-प्रियतमकी लीलाको मधुरातिमधुर बनानेके लिये एव उसका रसपान करके क्षण-क्षणमे स्वय भी आनन्दसिन्धुमें डूबनेके लिये ही यहाँ श्रीराधामाधवका प्रेम सभी प्राकृत-अप्राकृत सृष्टिमे परिणत हुआ है।

प्रीति-महासमुद्रके अतिरिक्त न यहाँ कोई सूर्य है, न सूर्यमन्दिर है, न चन्द्र है, न चन्द्रिका है, न निशा है, न तारकावलि है। यहाँका तो समग्र ब्रह्माण्ड ही प्रीति-घन-विग्रह-पिण्ड है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि क्या यह श्रीकृष्णकी ऐश्वर्यशक्ति है ? तो इसका भी उत्तर निषेधात्मक ही होगा। यदि इस प्रेमराज्यमें ऐश्वर्यका प्रवेश हो जाय, तब तो अनाविल मधुरिमामय लीला-रसपानका उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। अतः ऐश्वर्य तो यहाँ पास ही नहीं फटक सकता। अत यहाँकी प्रीतिलीलामे तनिक भी अस्वाभाविकताका

प्रकाश नहीं करते हुए अचिन्त्य लीलामहाशक्ति ही यहाँ अपने वात्सल्यरससे एक घडीमें ही जैसा, जो प्रकृतिवत् विधान करना होता है, सूर्य-चन्द्र, दिवस-रात, वन-गिरि, ग्राम-गृह, देवी-देवता, तम-प्रकाश, देश-काल, देशगत दूरी एव निकटता उत्पन्न कर देती है।

यही चिन्मय श्रीराधा-प्रीति-भावरूपा लीला-महाशक्ति अपनी सन्धिनी-स्वरूपा परिणतिसे यह सूर्यकुण्ड भी बन गयी है।

सच्चिदानन्दकन्द रसराज श्रीकृष्णका प्रीतिरस ही सिन्धुरूप हुआ जैसे कृष्णकुण्डके रूपमे व्यक्त हुआ है, वैसे ही महाभाव-स्वरूपमें राधासिन्धु (कुण्ड) हो गया है, वैसे ही पूर्ण प्रीति-परतत्त्व खण्डिता, स्वधीनभर्तृका भावादिमें इनको चतुर्दिक् घेरे परम शोभासम्पन्न ललिता, विशाखा, चित्रादिके कुंज बन गया है, उसी प्रकार वही प्रखर पूर्ण रसमय प्रीतितेज ही यह सच्चिन्मय सूर्य-देवता-आवास सूर्यकुण्डके रूपमे परिलक्षित हो रहा है। परमार्थतः सत्ता मात्र तो सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी ही है।

परात्पर सच्चिदानन्दमयी प्रीति ही जब सूर्यदेवकी प्रतिमा बन गयी है तो उसका तेज तो विलक्षण होना ही है। वज्रमणिकी प्रतिमाके रूपमें तेजोमय भगवान् सूर्यदेवका यह विग्रह इतना महिमामण्डित है कि उसके सामने समकालीन धर्मशील तपस्वी वयोवृद्ध गोपराज, ऋषि-महर्षि, वीर-पराक्रमी गोप-सेनापति सभी श्रद्धाभिभूत हो उठते हैं एव उनके लोकातीत चमत्कारोसे चकित एवं नतमस्तक हो जाते हैं। ब्रजमण्डलके विभिन्न भावों तथा विचित्र स्वभावोसे युक्त सभी युवा, वृद्ध, नर-नारी एव बालक-बालिकाएँ सूर्यकुण्डमें आकर इसमें विराजित सूर्यप्रतिमाके ईश्वरबुद्धिसे दर्शनकर अपनेको कृतार्थ ही मानते है।

वस्तुतः सत्य तो यह है कि ये धर्मशील वयोवृद्ध तपस्वी गोप, ऋषि-महर्षि, गोप-सेनापति, सभी युवा-वृद्ध नर-नारी भी वस्तुतः वही प्रेम-परतत्व हैं, जो प्रीति-परतत्त्व ये सूर्यभगवान् हैं। इनमें-उनमें कहीं कोई भेद नहीं है। लीलारसास्वादनके लिये ही ये साधारण नारी-पुरुष बने हैं एव सूर्यभगवान् महाकल्याणकारी ईश्वर बने हैं। यह तथ्य समझते हुए ही सूर्यमन्दिरका वृत्तान्त पढ़ना चाहिये।

### जावट ग्रामका वर्णनः

छोटा-सा ग्राम एक अद्भुत कासार-तीर पर था, प्रियतम!
थे रत्न जटित सब गृह उसमें बसने वालों के है, प्रियतम!
देवी के कृपापात्र वे थे, निर्भय थे सभी सदा, प्रियतम!
राजा-सा जीवन था उनका, पर शीलवान वे थे, प्रियतम ॥१९९॥

**एक सरोवरके तीरपर एक छोटा-सा अद्भुत ग्राम था जहाँ रहनेवालोंके सभी घर रत्नोंसे जडे हुए थे। सब ग्रामवासी देवीके कृपापात्र थे तथा सभी सदैव निर्भय थे, उनका जीवन राजा-जैसा था पर सभी अत्यन्त शीलवान् थे।।।१९९।।**

जो सिद्धि पवित्र तन्त्र एवं मन्त्रों से मिलती है, प्रियतम!
भूषित उससे प्रायः तरुणी थीं सभी गाँववाली, प्रियतम!
जीवन भर का यह किन्तु अहो! उनके व्रत निश्चल था, प्रियतम!
मैं कभी स्वसुख के लिये नहीं उपयोग करूँ इसका, प्रियतम ॥२००॥

**उस ग्राममें रहनेवाली सभी तरुणियोंकी स्थिति यह थी कि जो सिद्धि पवित्र तंत्र एवं मंत्रोंके द्वारा बड़ी कठिनाईसे मिलती है, वह उन्हें सहज ही प्राप्त थी। परन्तु उनके जीवनभरका यह व्रत था कि वे अपने सुखके लिये कभी उस सिद्धिका उपयोग नहीं करेंगी।।२००।।**

ऐसी थी प्रीति परस्पर जो, वे एक दूसरी के, प्रियतम!
सुख के निमित्त मर मिटने को प्रस्तुत हरदम रहतीं, प्रियतम!
सब के ही प्राण सभी में, सच, रहते थे स्यूत हुए, प्रियतम!
अन्यत्र न था वह सखीपना, है नहीं, न होगा ही! प्रियतम ।।२०१।।

**उनका परस्पर एक दूसरेसे इतना अधिक प्रेम था कि वे एक दूसरेके सुखके लिये मर मिटनेको प्रस्तुत रहती थीं। उन सभीके प्राण एक दूसरेके साथ गुथेहुए (मिले हुए) से लगते थे। और कहीं भी न तो इस प्रकारका घनिष्ठ सखीपना था, न है और न होगा ही।।२०१।।**

### *जावटग्रामका वर्णन*

वस्तुतः जावटग्रामका किसी लीलास्थलीके रूपमे कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। श्रीजावटग्राम मात्र श्रीराधाके मनका एक भाव-विलास या दिवास्वप्न है। यह उनके अपूर्व उद्दीप्त महाभावकी मात्र एक लहर है। पू.गुरुदेव जैसा कि कहा करते थे कि श्रीमती यशोदा मैयाके आमंत्रणपर कुन्दवल्ली सखी श्रीराधारानीको रसोई बनानेको बृषभानु-महलमें बुलाने आती है। यों तो कुन्दवल्ली श्रीराधारानीकी मौसी कीर्त्तिमतीकी पुत्री है, परन्तु उसका विवाह श्रीकृष्णके ताऊके पुत्र सखा सुबलके साथ होनेके कारण, नन्दरानीकी बहू होनेके नाते वह उनकी ओरसे भेजी जाकर श्रीराधाको लेने आती है। जैसाकि महादेवी पौर्णमासीजीका विधान एवं आदेश होता है, कीर्तिदा मैया उन्हे सस्नेह कुन्दवल्ली एवं धन्यादि सखियोंके सहित नन्दमहल रसोई बनाने भेज देती हैं। श्रीराधाके साथ उनकी प्राणसखी ललिता एवं उनकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा भी नन्दमहलमें पाकरचना करने प्रस्थान करती हैं। वृषभानुपुरसे विदा होते ही श्रीराधारानीमें एक विलक्षण भावलहर आती है। दिवास्वप्नकी तरह इस भावलहरमें ही उन्हे अनुभव होता है कि उनका विवाह उनके प्रियतम श्रीकृष्णके साथ हो गया है। साथमें ही सभी अष्ट सखियाँ एवं उनकी सभी मञ्जरियाँ उनके साथ दहेजमें दासीरूपमें आती हैं। छोटी बहिन मञ्जुश्यामाका भी परिणय श्रीकृष्णके साथ हो जाता है। उन्हें विवाहोपरान्त ससुराल विदा कराने उनका देवर दुर्मद गोप वृषभानुपुर आ जाता है। सभी सखियाँ चकित होती हैं कि उनका पाणिग्रहण तो श्रीकृष्णसे हुआ था, किन्तु यह माया कैसे होती है कि वे जटिला सासके पास चली आई हैं। अब यह विलक्षण भावलीला श्रीमती राधारानीके मानसमें तबतक घूमती है जबतक कि वे नन्दमहल पहुँच नहीं जातीं। नन्दमहलमे भी उन्हे भावकी प्रगाढतावश यही अनुभव होता रहता है कि पाकरचना करके उन्हे पुनः लौटकर जावट ग्राम ही जाना है, जहाँ उनका श्वसुरालय है। नन्दमहलसे लौटते समय भी वृषभानुपुर तो विस्मृत हो जाता है एव जावट ग्रामकी ही स्फूर्ति होती रहती है। इस प्रकार यह भावलीला इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि उनके प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनमें एक अवरोधोंका पहाड खडा हो जाता है। यहाँ रसिकजन ध्यान रखें कि यह भावात्मक अवरोध भी उद्दाम रसोद्दीपन मात्रके लिये है। यह भावगत है। परन्तु क्योकि श्रीराधाका भाव भी पूर्ण सत्य, सत्यका भी सत्य है - अतः यह सत्यवत् ही मूर्त्त हो उठता है। वैसे विश्वमें न राधाका कोई पति रायण है, न ही उनकी बहिन मञ्जुश्यामाका दुर्मद गोपसे परिणय हुआ है। वे तो अनादिकालसे श्रीकृष्णकी ही पूर्ण स्वकीया हैं। और होता भी यही है कि इन्हे न दुर्मद दिखता है एव न ही रायण। इन्हें तो उनमें भी श्रीकृष्ण ही पूर्णतया भरे दृष्टिपथमें आते हैं परन्तु मात्र भावको असीम रूपमे अभिवर्द्धित करनेके लिये तथा उसमें संयोगका असंख्यगुना सुख परिवृद्ध कर देनेके लिये यह अपूर्व रसात्मक परकीया-भावनागत

विरह-तापमयी जावटग्रामलीला एवं उसके लीलापात्र निर्मित हो जाते हैं। जावटग्रामकी लीलाका रसास्वादन करते समय यह तथ्य सदैव पाठकोके ध्यानमें रहे।

*कानन की उन कुञ्जों में वे दिन में घूमा करतीं, प्रियतम!*
*नीली-सरिता-तट पर उनका रजनी-बिहार होता, प्रियतम!*
*ऐसी माया थी देवी की, कोई न जान पाता, प्रियतम!*
*है गाँव-सरोवर किधर कहाँ, वे नाम धरे क्या हैं, प्रियतम।।२०२।।*

**वे तरुणी युवतियाँ दिनमें उस वनकी कुञ्जोंमें घूमा करतीं और यमुनाके किनारे उनका रात्रि-विहार होता। यह वर्णन श्रीराधा एवं उनकी सखियों, साथ ही चन्द्रावली एवं उनकी सखियोंके निम्रित्तसे भी है। देवीकी ऐसी विलक्षण माया थी कि कोई भी इसे जान ही नहीं पाता था कि वह गाँव कहाँ है, सरोवर किधर है और उनके क्या नाम हैं।।।२०२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

देवीकी ऐसी मायावाली पूरी पंक्तिका अर्थ यही है कि न तो नन्दरानीको इस ग्रामका कुछ, कहीं, कोई अनुसन्धान है, न ही वृषभानुपुरमें माता कीर्त्तिदादिको भी इसके अस्तित्वका कोई पता है। इनके ग्रामनिवासियोंका भी पता तब हो जब कहीं किसी ग्रामकी सत्ता और उसका अनुसन्धान हो। यह तो मात्र श्रीराधारानीकी भावलहर है और उस भावलहरकी संग्राहक – उनकी सखियाँ, उनके प्रियतम श्रीकृष्ण और उनकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा अवश्य हैं। हाँ, लीला–सूत्रधारिणी भगवती योगमायास्वरूपा पौर्णमासीजी इस सारी भावलहरको महाप्रलय-विन्दुतक पहुँचनेसे बचानेको अवश्य क्रियाशील होती हैं। अतः उन्हे इस लीलाका पूर्ण ज्ञान है। इस रहस्यको अवगत रखकर ही इस लीलाका आनन्द पाठकगण ले सकते हैं।

*नयनन ध्यान नंदकुमार।*
*सीस मुकुट सिखंड राजत नहिन उपमा पार।।*
*कुटिल केश सुदेश भ्राजत मनो मधुकर जाल।*
*रुचिर केशर तिलक दीनों परम शोभा माल।।*
*भृकुटि बंक सुचारु लोचन रही युवती देख।*
*मनो खंजन चाप डरतें उड़त नाहिं निमेष।।*
*मकर कुंडल गंड झलकत निरख लज्जित काम।*
*नासिका छबि कीर लज्जित कविन वरणित नाम।।*
*अधर विद्रुम दसन दाडिम चिबुक हैं चित चोर।*
*सूर प्रभु मुख चंद पूरण नारि नयन चकोर।।*

।।श्रीराधा।।

# अथ श्रीप्रियतम काव्यम्

## तृतीय शतक

## सार-संक्षेप

*(१) पूर्वरागका विवेचन*
*(२) श्रीराधाकिशोरीका सखियों सहित श्रीसुन्दरीवनमें पदार्पण।*
*(३) वन-विहङ्गमोंका स्वागत*
*(४) नित्य निकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीके पालित विचक्षण शुकसे वार्त्तालाप।*
*(५) शुक विचक्षण द्वारा वनके मानचित्रका वर्णन।*
*(६) शुक द्वारा वन-पथ-प्रदर्शन।*
*(७) रसमय श्रीयंत्रका वर्णन।*
*(८) यंत्रका रहस्योद्घाटन।*
*(क) शिवयुवती त्रिकोण एवं बिन्दुका रहस्योद्घाटन।*
*(ख) अरुण पद्मोंके अष्टकोणका रहस्योद्घाटन।*
*(ग) अन्तर्दशारचक्रका रहस्योद्घाटन।*
*(घ) वृहद् अन्तर्दशारचक्रका रहस्योद्घाटन।*
*(ङ) चतुर्वर्गारचक्रका रहस्योद्घाटन।*
*(च) श्वेतवर्णके अष्टदल अम्भोजका रहस्योद्घाटन।*
*(छ) चन्द्रज्योत्स्नाप्रभ षोडशदल अम्भोजका रहस्योद्घाटन।*
*(ज) चतुरस्रका रहस्योद्घाटन।*
*(झ) मध्याह्नमें भ्रमरोंके आगमनका रहस्य।*
*(९) वृन्दादेवी द्वारा स्वागत।*
*(१०)हंस-हंसिनीकी गूढ़ वार्त्ता।*
*(क) प्रिया-प्रियतमकी परस्पर शृङ्गार-सज्जाका रहस्योद्घाटन।*
*(ख) प्रियाके नेत्रोंके कज्जलका भाव।*
*(ग) रसाद्वैत-रूप मदका भाव।*
*(घ) दैन्यस्वरूपा कस्तूरीकी बिन्दीका भाव।*
*(ङ) प्रणय-रोष-रूप लाल महावरका भाव।*
*(च) नुकीली कँगही, आरसी, पानकी बीड़ी, नीले-पीले वस्त्र, अरुणिम चोलीके सात बन्द, पुष्पसार एवं नीलकमलका भाव।*
*(११) प्रिया-प्रियतमकी शिव-शिवाभावमें सज्जा।*
*(१२) रस-सम्प्लायन ही रस-सम्प्लावन।*
*(१३) उत्तर निकुञ्जकी बात।*
*(१४) पश्चिम वनस्थलका भाव।*
*(१५) पूर्व निकुञ्जका भाव।*
*(१६) चिन्मय दम्पतिके पास पहुँचनेकी जिज्ञासा।*
*(१७) दो शाश्वत पथ — ज्ञान एवं प्रेम ।*
*(१८) किशोरी असमञ्जसकी स्थितिमें।*

।। विजयेतां श्रीप्रियाप्रियतमौ ।।

# तृतीय शतक

## *पूर्वरागका विवेचन*

काम प्राकृत चित्तकी एक वृत्ति है। यह मात्र विषयासक्त लोगोंके मनमें प्रकट होती है। यह सदैव निजसुख-वांछा-रूप ही होती है। इसमे त्यागरूप पवित्रताका लेश भी नहीं होता। इसके ठीक विपरीत प्रेम अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध, सरल, प्रियतम-सुखैक-तात्पर्यमय, प्रियतम-सुखरूप होता है। प्रेममें प्रेमास्पदको मन, प्राण - सबकुछ देकर सर्वतोभावेन उसके सुखविधानकी ही सहज चेष्टा होती है। जिस प्रकार विश्वमें जहाँ भी प्रकाश है, उसका उद्गमस्थल मात्र एक सूर्य है, इसी प्रकार विशुद्ध प्रेमकी उद्गमस्थली श्रीराधा हैं। *'राधायामेव यः सदा'* – यह प्रेम श्रीराधासे ही सबको मिलता है। उन्हींमे इसका पूर्ण प्रकाश है। श्रीराधारानीकी सबसे बडी विशेषता, उपलब्धि यही है कि वे श्रीकृष्णमयी हैं, श्रीकृष्णमना हैं, श्रीकृष्णजीवना हैं, श्रीकृष्णके अतिरिक्त उनमे कुछ है ही नहीं। यदि उनमें पूर्ण रसात्मक कुछ भी पृथक्ता दृष्टिगोचर होती है तो इतनी ही होती है कि वे सदैव अपने प्रेमका आश्रय बनी रहती हैं और अपने प्रियतमको अपने प्रेमका विषय बनाये रखती हैं। श्रीराधाके श्रीकृष्ण सर्वथा अपने-के-अपने है, वे मन-के-मन हैं, प्राणोंके-प्राण हैं, उनकी आत्मा है, उनका सबकुछ हैं, परन्तु श्रीराधा अपने प्रियतमसे इतनी बँधी होकर भी उनमें कहीं कुछ भी ऐश्वर्यकी गन्ध नहीं पाती। श्रीकृष्ण मात्र उनके 'मदीय', 'मेरे-के-मेरे', 'अपने-के-अपने' हैं। उनमें न तो अपने प्रियतमके प्रति कहीं भी गौरव-बुद्धि है, न स्वयंमें भी इस अपने प्रेमके कारण कुछ भी अहङ्कार, अभिमानका लेशमात्र भी है।

श्रीराधाका प्रेम चिच्छक्तिकी वृत्ति है। अतः वह स्वरूपतः ही असीम है, सर्वव्यापक है, विभु है। जो कम होता है, वही बढकर पूर्ण होता है। अल्पमें ही प्रारंभ, वृद्धि एवं तरतमताकी प्रतीति होती है, परन्तु जो पूर्ण है, उसमें कभी वृद्धि एवं प्रारंभ होता ही नहीं। फिर भी यह राधा-प्रेमकी विलक्षणता ही समझनी चाहिये कि वह उदय होता है और प्रतिक्षण बढता है। श्रीराधाकी विलक्षणता यही है कि अधिरूढ मादनाख्यभावमें जिसे शास्त्र *'मादनोऽयं परात्परः'* कहते हैं, नित्य प्रतिष्ठित रहनेपर भी श्रीराधा प्रतिक्षण ही रागके प्रारंभ होनेके पूर्वकी दशाका अनुभव करने लगती हैं। अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे नित्य पूर्ण मिलित रहनेके उपरान्त भी उनमें 'पूर्वराग' भावका ऐसा प्रकाश होता है कि आजतक मैं उनसे कभी मिली नहीं, सर्वप्रथम आज ही, अभी ही उन्हे प्रथम बार देख रही हूँ।

पूर्वरागका अर्थ ही है कि प्रथमबार ही अपने 'विषय' – प्रियतमको देखना और देखते ही प्रथम दर्शनमें ही चित्तका द्रवित होकर उनकी ओर उद्दाम वेगसे प्रवाहित हो उठना। दीपकमें तो जब घृत पूर्ण होता है तब उसमें ज्योति एव उष्णता बढती है, परन्तु श्रीराधामें तो प्रथम दर्शनमें ही श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा इतनी बढ जाती है कि वे अपने आपको ही भूल जाती हैं। उन्हें अपने प्राण, मन, बुद्धि, शरीरकी तो विस्मृति हो ही उठती है, उनका खान-पान, वस्त्राभूषण-धारण – सबकुछ छूट जाता है। अमिलनमें सभी सुख दुःखमय दिखाई देने लगते हैं, पल-पल मात्र उन्हें ही देखनेकी लालसा रहती है और उनसे अब कैसे मिला जाय और उनके बिना जीवन निस्सार है - ऐसा अनुभव होने लगता है।

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाने अपनी आत्मस्वरूपा श्रीराधारानीके इसी अचिन्त्यानन्त भावका इस अध्यायमें पूर्ण प्रकाश किया है। श्रीनारदजी अपने भक्तिसूत्रोंमें पूर्वरागका वर्णन करते हुए कहते हैं -- ***'तदर्पिताखिलाचारता, तद्विस्मरणे***

*परमव्याकुलता'* अर्थात् प्रेमोदयके समय ही प्रेमास्पदके चरणोमें अपना सर्वस्व सहज ही समर्पित हो जाता है, अपने पास कुछ भी नहीं रहता, सभी प्रकारसे परम अकिञ्चनताका उदय हो जाता है। बस, परम प्रियतम श्रीकृष्णकी मधुर मनोहर दिव्य सुधामयी स्मृति ही जीवनकी आधार रहती है। इस भुक्ति-मुक्तिकी सहज विस्मृतिसे समन्वित प्रियतम-स्मृतिकी प्रगाढतामें पल-पल मिलनकी व्याकुलताका उत्पन्न होना, साथ ही मिलन असभव प्रतीत होना – ये सब पूर्वरागके लक्षण हैं।

जब अपना उत्तम-मन्द कुछ भी नहीं बचे; शरीर, मन, प्राण, इन्द्रियॉ, अहता, ममता, लोक-वेदधर्म, कुटुम्बकी मान-मर्यादा सब सहज ही प्रियतम-चरणोंमें प्रथम दर्शनमें ही समर्पित हो जाय, यहॉ तक कि जागृत् , स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय; भूत-भविष्य-वर्तमान – ये तीनों काल बिना किसी अहङ्कारके समर्पित हो जावे और तब सबको पवित्र करनेवाला विलक्षण दैन्य प्रकट हो, एवं प्रियतमका अनन्य स्मरण होने लगे – उनके बिना पल-पल कोटि युगोंसे भी अधिक सुदीर्घ हो उठे – इसे प्रेमकी 'पूर्वराग' अवस्था कहा जाता है। श्रीराधारानीके इसी पूर्वरागमे अब सुधीजन अवगाहन करे।

## श्रीराधाकिशोरीका सुन्दरीवनमें प्रवेश

मन्थर गति से चलती, हँसती आयी नृपकी पुत्री, प्रियतम !
सोने की पुतली- सी सब थीं घेरे सहचरियाँ, हे प्रियतम !
किरणें बिखेर सुन्दरता की, सब ओर खड़ी वह थी, प्रियतम !
वन के समक्ष उत्तर मुख हो, भोली चितवन वाली, प्रियतम॥ २०३॥

**मन्द-मन्थर गतिसे चलकर महाराज वृषभानुकी पुत्री राधाकिशोरी उत्तराभिमुख होकर सुन्दरी-वनस्थलके सामने आकर खड़ी हो गयी और वह मनोहर हँसी हँस रही थी। स्वर्णप्रतिमाके सदृश उसकी सहचरियाँ उसे चारों ओरसे घेरकर खड़ी थीं। सब ओर सौन्दर्यकी किरणें बिखेरती हुई किशोरीकी ऑखोंसे सरलताका स्रोत प्रसरित हो रहा था। एक और विशेषता थी किशोरीमें - जो सहचरी उसे देखती, उसे अनुभव होता कि किशोरी मेरी ही ओर मुख किये खड़ी है।।।२०३।।**

थे गाल-भाल पर रहे व्यक्त हो श्रमकण मोती-से, प्रियतम !
शीतल बयार झुर-झुर करती थी व्यस्त पोंछने में, प्रियतम !
मखमल- सी कोमल दूब हरी लहराती थी हिलती, प्रियतम !
मनुहार धरा मानो करती ' री! नेक बैठ जा तू, प्रियतम॥ २०४॥

**उसके कपोलपर, भालपर मोतीके समान श्रमकण व्यक्त हो रहे थे। झुर-झुर करती शीतल बयारका झौंका उसके श्रीअङ्गोंको छू जाता, मानो बयार उसके श्रीमुखका स्वेद पोंछनेमें व्यस्त थी। मखमल-सी कोमल हरी दूर्वा सामने लहरा रही थी। उसका स्पन्दन देखकर ऐसा लगता था, मानो वनस्थलकी धरा किशोरीका मनुहार करके कह रही हो- 'अरी ! तनिक बैठ जा सही'।।२०४।।**

थी त्वरा नृपतिकन्या में पर, कैसे विश्राम करे, प्रियतम !
आकर्षित था करता वह वन कमनीय दूर से ही, प्रियतम !
तितली- सी उड़ती जा पहुँची भीतर वह सीमा के, प्रियतम !
मिँहदी की झाड़ी के पथ से उन सबको साथ लिये, प्रियतम॥ २०५॥

किन्तु राजतनूजामें अत्यन्त शीघ्रता भरी थी; वह किस भाँति विश्राम करे; क्योंकि समक्षका कमनीय वनस्थल - वनस्थलकी धरा उसे आकर्षित जो कर रही थी - अरी ! तू नेक बैठ जा' - मानो इस प्रकार किशोरीकी अभ्यर्थना कर रही थी वह। अतएव तितली-सी उड़ती हुई वह शीघ्र-से-शीघ्र वनस्थलकी सीमामें प्रविष्ट हो गयी। मेंहदीकी झाड़ीका पथ आगे फैला हुआ था। सबको साथ लिये वह उसी पथसे ही आगे चल पड़ी।।२०५।।

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

संक्षेपमें इन उपरोक्त छन्दोंमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा बालिका वृषभानु नृपनन्दिनी श्रीराधाके सात वर्ष वयकी हो जानेपर श्रीसुन्दरीसरोवरके चतुर्दिक् स्थित काम्यवनका दर्शन करने एव वहाँसे पुष्पचयन करके लानेकी लीलाका उल्लेख कर रहे हैं। सात वर्षकी बालिका राधा अपने माता-पिताकी आज्ञा लेकर अपनी ललिता आदि सखियों एवं सहोदरा छोटी बहिन मञ्जुश्यामा (अनगमञ्जरी) के साथ तितलीकी तरह उडती-फुदकती मेंहदीकी झाडीके पथसे उस परम दिव्य वनमें प्रवेश कर जाती है।

### *वन-पक्षियों द्वारा स्वागत*

*शुभ शकुन बताते खञ्ज को पहले उसने देखा, प्रियतम !*
*जो सब से अधिक सयानी थी सखियों में, वह बोली, प्रियतम।*
*'अप्रतिम यहाँ कोई मङ्गल निश्चय होगा, सखि री,' प्रियतम !*
*मनमें नृपकन्या के इससे उत्कण्ठा और बढ़ी, प्रियतम।।२०६।।*

इतनेमें शुभ शकुनका संकेत करते हुए कुछ खञ्जनोंपर ही अब सर्वप्रथम उसकी दृष्टि जा पड़ी। उस ओर सबसे अधिक चतुरा सहचरी बोल उठी-'अरी सखि ! यहाँ निश्चय ही कोई अप्रतिम मङ्गलका अनुभव हम सबोंको होगा। इस शकुनका निश्चय ही यही संकेत है'। सहचरीकी यह उक्ति सुनते ही किशोरीकी उत्कण्ठा अतिशय परिवर्धित हो गयी।।२०६।।

*इतने में उड़ आया कपोत अभिनन्दन करने, हे प्रियतम !*
*वह कण्ठ फुलाकर लगा नृत्य अपना दिखलाने, हे प्रियतम !*
*'पीहू' करके आया मयूर, उसने तानी छतरी, प्रियतम !*
*सुन्दर अत्यन्त एक शुक था, प्रणिपात किया उसने, प्रियतम।।२०७।।*

तत्क्षण उस ओरसे, मानो किशोरीका अभिनन्दन करने आया हो इस भाँति शीघ्रतासे उड़कर एक कपोत सामने आया। कपोत अपना पङ्ख फैलाकर, कण्ठ फुलाकर नृत्यकी मुद्रामें अवस्थित हो गया - नृत्यकी भङ्गिमाका प्रदर्शन करने लगा। अब क्या था, 'पीहू' बोलता हुआ मयूर भी वहाँ आ पहुँचा और उसने छतरी तान दी। एक मनोहर तरुवरकी डालीपर - किशोरीके दक्षिणकी ओर - एक शुक पक्षी बैठा दीख गया। उसकी दृष्टि पड़ते ही शुकने प्रणिपात किया, अपना सिर डालीसे सटा दिया।।२०७।।

*आया वह नीलकण्ठ, अपनी ग्रीवा नीची करके, प्रियतम !*
*मुख नृपदुहिता की ओर किये चल पड़ा गुड़क करके, प्रियतम !*
*आयी बट-तीतर की टोली, रचनाकर मण्डल की, प्रियतम !*
*आगत उन सभी अतिथियों की करती प्रदक्षिणा थी, प्रियतम।।२०८।।*

अब उड़कर नीलकण्ठ आया; अपनी ग्रीवा झुकाकर, मुख किशोरीकी ओर किये गुड़क-गुड़ककर चलने

लगा। नीलकण्ठके साथ ही बटेर, तीतरकी पंक्तियाँ भी उडकर आयीं और किशोरीके समक्ष मण्डलकी रचना करके, फिर तत्क्षण मण्डलका विघटन करके उन आगन्तुक अतिथियोंकी वह विहंगम-समूह प्रदक्षिणा करने लगा।।२०८।।

वे रंग-बिरंगे कितने थे क्रमशः विहङ्ग आये, प्रियतम।
उनकी गणना करके कैसे, क्या बतलाऊँ तुमको, प्रियतम।
नानापन अहो! प्रकृति में जो है नित्य सृष्ट होता, प्रियतम।
मानो वह सभी विहग बनकर आया स्वागत करने, प्रियतम॥२०९॥

इस प्रकार रंग-बिरंगे कितने विहंगम क्रमशः आये,उनकी गणना करके मैं कैसे बताऊँ ? 'नीलसुन्दर देवता! देखो, प्रकृति नित्य नूतन रूप धारण करती ही रहती है और उससे प्रतिक्षण नानापन सृष्ट होता रहता है। मानो यही विविधता विहंगम बनकर किशोरीका स्वागत करने आयी हो-इतना ही कह सकूँगी मैं।'।।२०९।।

हँस-हँसकर नृपतिनन्दिनी थी उनको निहार लेती, प्रियतम।
कहती सहेलियों से फिर थी, 'री! क्या दूँ मैं इनको? प्रियतम।
'जो प्यार लिये ये आये हैं, वह इनकी ही निधि है, प्रियतम!
'मेरा भी रोम-रोम इन पर है न्योछावर अब तो, प्रियतम॥२१०॥

नृपतिनन्दिनी हँस-हँसकर उनको निहार लेती और सहचरियोंसे कहने लगती- 'अरी ! इन्हें मैं क्या दूँ ? जो अनुराग अपने उरस्थलमें लिये ये आये हैं, यह तो इनकी ही निधि है। बस, मेरा भी रोम-रोम इनपर न्योछावर है, इतनी ही उक्तिसे अनुभूतिका संकेत कर सकती हूँ।'।।२१०।।

'भाषा मैं नहीं जानती हूँ इनकी, क्या बात करूँ, प्रियतम!
'कोई तुममें से भले मुझे बतलाओ तनिक भला? प्रियतम!
इतना कहते ही कीर वही उड़कर सन्मुख आया, प्रियतम!
सुस्पष्ट मानवी-सी सुमधुर बोली में बोल उठा, प्रियतम॥२११॥

'देखो बहनों ! मैं इनकी भाषा नहीं जानती। मैं क्या बात करूँ इनसे, कोई तुममेंसे मुझे बतला सके तो तनिक बतला दो भला !' किशोरीकी उक्ति पूरी होते-न-होते वही कीर - जिसने पहले प्रणाम किया था - उड़कर किशोरीके समक्ष आ गया; और मानवकी भाँति सुमधुर बोलीमें सुस्पष्ट वह बोल उठा- ।।२११।।

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

वहाँ वनमे श्रीराधाकिशोरीको सर्वप्रथम खञ्जन पक्षीका दर्शन होता है। इस पक्षीका दर्शन शुभ शकुनका संकेत माना जाता है, अतः बालिका श्रीराधा अपनी सखियोसे कहती हैं कि निश्चय ही आज कोई परम शुभ - मंगल घटित होगा। इस खञ्जन पक्षीके प्रथम दर्शनसे नृपनन्दिनीके मनमें वन दर्शनकी उत्कण्ठा और तीव्र हो उठती है।

इतनेमें ही उसे कपोत, मयूर और तब एक शुकके दर्शन होते हैं। ये बालिका राधाका अभिनन्दन करते हैं, उन्हें अपना नृत्य दिखाते हैं एवं शुक (तोता) पक्षी आकर उसे प्रणाम करता है। इसके पश्चात् नीलकण्ठ, बक-तीतरोंकी टोली और रंग-बिरगे क्रमशः कितने ही अगणित विहंग उसका स्वागत करने आ जाते हैं। यह नृपदुहिता उन्हें हँस-हँसकर निहारती है एवं अपनी सहेलियोंसे कहती है कि -'री सखियों ! ये सभी पक्षी जो इतना प्यार लेकर मेरे सम्मुख आये हैं, यह

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

षष्ठम खण्ड (प्रथम भाग)

## प्रियतम काव्य

पृष्ठ संख्या 201-300 तक

टीकाकार : साधु कृष्णप्रेम

तो इनकी ही निधि है। मेरा भी रोम-रोम स्वभावतः ही इनपर न्यौछावर हो रहा है। मैं इनकी भाषा जानती नहीं, क्या तुममेंसे कोई इनकी भाषा समझनेकी कला जानती हो ? यदि जानती हो तो मुझे भी वह सिखादो।' इतनेमें ही वह कीर, जिसने किशोरीको प्रणाम किया था, उडकर उसके सम्मुख आ जाता है, और मानवकी-सी सुमधुर बोलीमें बोल उठता है।

'तुम कहो, राजनन्दिनि ! जो भी चाहो कहना हमसे,' प्रियतम !
'हम तो निहाल सब होंगे ही, भर सुधा श्रवणपुट में,' प्रियतम !
'अविच्छिन्न काल से सुखमय यह वनवास हमारा है,' प्रियतम !
'कानों में भरा अमिय-रस यह सागर बन उमड़ेगा,' प्रियतम॥२१२॥

**'राजनन्दिनि ! तुम जो भी कहना चाहती हो, हमसे कह दो। तुम्हारी वाणी सुनकर हमारे श्रवणपुटोंमें सुधाकी धारा प्रवाहित होने लगेगी; हम सभी निहाल हो जायँगे। और सुनो, हमारा इस वनस्थलका निवास सब ओरसे सुखसे परिपूर्ण है; कालसे अविच्छिन्न है, और सच तो यह है कि तुम्हारे स्वरसे निस्सृत अमृतरस जो मेरे कर्णपुटोंमें समाया हुआ है, रसका समुद्र बनकर अविलम्ब उमड़ चलेगा, सही !॥२१२॥**

### *अद्भुत तोता - विचक्षण शक*

विस्मय से कुछ पल नृपपुत्री अपलक चुपचाप रही, प्रियतम !
देखा फिर बड़ी सहेली को, अद्भुत उस तोतेको, प्रियतम !
कुछ सोच सखी बोली, 'शुक है प्रतिपालित कहीं हुआ,' प्रियतम !
'अनुकरणशील यह जाति सदा खग की होती ही है,' प्रियतम॥२१३॥

**राजपुत्री कुछ पल अपलक रहकर, विस्मयमें डूबी हुई चुपचाप खड़ी रही। एक बार उसने फिरसे उस अद्भुत तोतेपर अपनी दृष्टि डाली और अपनी ज्येष्ठा सहेलीको देखने लगी। ज्येष्ठा सहचरीने कुछ सोचकर कहा-'बहन री! यह शुक कहीं प्रतिपालित हो चुका है। यह विहंगम स्वभावसे ही अनुकरणशील होता है, इसकी जातिमें ही यह गुण अनादिसिद्ध है।'॥२१३॥**

उत्तर से नृपति-तनूजा को सन्तोष न किंतु हुआ, प्रियतम !
बोली, 'री! फिर इसने कैसे मेरा परिचय जाना?' प्रियतम !
'तू पता लगा किसके घर यह है पला और इसकी,' प्रियतम !
'प्रतिभा स्वभावगत है या यह है रटी हुई विद्या,' प्रियतम॥२१४॥

**किन्तु इस उत्तरसे नृपतितनूजाको संतोष नहीं हुआ। वह तत्क्षण बोल उठी-'अच्छा बहन ! तू यह बतला - इसने मेरा परिचय कैसे प्राप्त कर लिया ? देख, तू पता लगानेकी चेष्टा कर, यह किसके घर प्रतिपालित हुआ है। इसकी यह प्रतिभा स्वाभाविक है, अथवा यह मात्र इसकी रटी हुई विद्या है।'॥२१४॥**

सहचरी सोचती रही, कीर फिर से वह बोल उठा, प्रियतम !
अवनी को अरुण चञ्चु से छू, दृग घुमा-घुमा रस से, प्रियतम !
'हे राजकुमारी ! नित्य दास-दासी हैं हम उनके,' प्रियतम !
'कालिमा-गौरपन निरुपम है निरवधि तन में जिनके,' प्रियतम॥२१५॥

लाडिलीकी बात सुनकर सहचरी सोचने लग गयी। इतनेमें कीर बोल उठा। बोलनेसे पहले उसने अपने अरुण चञ्चुसे धराका स्पर्श किया। आनन्दसे उसके दृग घूमने लग गये तथा वह बोलता जा रहा था-'राजकुमारी हे ! हम सभी उनके नित्य दास-दासी हैं, जिनके तनकी-कालिमा एवं गौरपन-निरुपम ही मात्र नहीं, अपितु उनके तनसे यह निरवधि संलग्न भी है भला !'।।२१५।।

'जब जितना हमें पढ़ाते हैं वे, तब उतना-सा ही; प्रियतम!
'होता है ज्ञान उदय, हम तो हैं यन्त्र सभी उनके; प्रियतम!
'यह देवि! पाँवड़ा बिछा हुआ दृगका है स्वागत में; प्रियतम!
'हैं भाग बड़े हम सबके, जो तुम यहाँ पधारी हो। प्रियतम।।२१६।।

'और सुनो, वे ही जब जितनी शिक्षा देते हैं- हमें पढ़ाते हैं भला,- उतना-सा ही ज्ञान हममें उदित हो जाता है। हम तो उनके ही यन्त्रमात्र हैं। देवि ! जय हो, जय-जय-जय हो तुम्हारी ! देखो, हमारे दृगका पाँवड़ा तुम्हारे स्वागतके लिये तुम्हारे सामने आस्तृत है...... हमारा बड़ा सौभाग्य है, जो तुम यहाँ आज पधार ही गयीं।'।।२१६।।

## तात्विक विवेचन-विस्तार

राजपुत्री उस शुककी बाते सुनकर अपनी सखी ललितासे कहती है - 'बहिन ! तनिक पता कर कि यह किसका पालतू शुक है एव इसने मेरा परिचय कैसे जाना ? वह शुक पुन बोल उठता है- 'राजकुमारी ! हम तो श्याम-गौर शरीर नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीके नित्य दास हैं और वे जितना हमें पढाते हैं, उतना-सा ही ज्ञान हममें स्वतः उदित हो जाता है। हम तुम्हारा स्वागत करते हैं, हमारा धन्य भाग्य है जो आज आप इस वनमें पधारीं।'

अब रही न विस्मय की सीमा राजा की बेटी के, प्रियतम!
शुक को निहार कर पुनः-पुनः उत्तर की ओर बढ़ी, प्रियतम!
प्राकृतिक एक-से-एक बड़ा रमणीय दृश्य आता, प्रियतम!
आँखें उसकी टिक जाती थीं, रह-रहकर वह रुकती, प्रियतम।।२१७।।

अब तो राजनन्दिनीके विस्मयकी सीमा न रही......शुककी ओर बार-बार निहारती हुई वह उत्तरकी ओर अग्रसर हुई। एक-से-एक रमणीय सुन्दर प्राकृत दृश्य उसके सम्मुख आ जाते, उन दृश्योंपर उसकी दृष्टि टिक जाती और किशोरी चलते-चलते रुककर इस अनुपम सौन्दर्यको निहारने लग जाती।।।२१७।।

बाहर-बाहर से इस वन की जिनने दी थी फेरी, प्रियतम!
उनका वर्णन सुन्दरता का इसकी शतगुणित हुआ, प्रियतम!
उस राजकुमारी के मन में अब था पछतावा-सा, प्रियतम!
खेली मैं और, और वन में क्यों यहाँ नहीं आयी, प्रियतम।।२१८।।

जिन-जिनने इस वनकी प्रदक्षिणा बाहर-बाहरसे की थी और जिन्होंने भी इस वनके सौन्दर्यका वर्णन किया था, उनका वह वर्णन - वर्णनका सौन्दर्य - किशोरीको ऐसा लगा मानो इस क्षण शतगुणित होकर उसके समक्ष आ गया है। पश्चात्तापकी एक लहरी-सी किशोरीके मनको आत्मसात् करने लगी। मन-ही-मन वह सोच रही थी - 'हाय रे ! मैं दूसरे-दूसरे वनस्थलोंमें खेलती रही, यहाँ अबसे पहले ही क्यों नहीं आयी.........'।।।२१८।।

सुकुमारी अब वह थकी हुई दीखी सहचरियों को, प्रियतम !
चलती-चलती अविराम फँसी बातों में, शोभा में, प्रियतम !
कर सकीं उसे यद्यपि सखियाँ सम्मत कठिनाई से, प्रियतम !
आकर पर वह फिर बैठ गयी वट-तरु की छाया में, प्रियतम ॥२१९॥

किन्तु सुकुमारी राजपुत्री अब सहचरियोंको अत्यधिक थकी-सी दीखने लगी-अविराम वह चलती जो रही है। सहचरियोंकी बातमें, उस वनस्थलके सौन्दर्यमें, उसकी आँखें, मन फँस जो चुका था। यद्यपि अत्यन्त कठिनाईसे सहचरियाँ उसे विश्रामके लिये सम्मत कर सकीं, राजनन्दिनी कुछ पग आगे चलकर एक वटतरुकी छायामें बैठ गयी।।।२१९।।

### *तोतेके द्वारा वनके मानचित्रका वर्णन*

था शुक भी साथ-साथ आया, डाली पर जा बैठा, प्रियतम !
बतलाने लगा रहस्यभरा वह मानचित्र वनका, प्रियतम !
क्या-क्या वस्तुएँ अवश्य यहाँ हैं दर्शनीय-इसका, प्रियतम !
नृपपुत्री के समक्ष वर्णन आकर्षक कर बैठा, प्रियतम ॥२२०॥

उस ओर वह तोता भी साथ-साथ उड़ता आया था। वह भी उस वटतरुकी एक डालीपर जा बैठा। पर वह क्षणभर भी चुपचाप न रह सका। वनस्थलके मानचित्रका चित्रण करनेमें संलग्न हो गया वह। वनका मानचित्र अत्यन्त रहस्यभरा था भला ! शुक उसकी ओर संकेत करता हुआ बोल रहा था। यहाँ क्या-क्या वस्तुएँ अवश्य-अवश्य दर्शनीय हैं-इसका आकर्षक वर्णन वह किशोरीके समक्ष कर ही बैठा।।।२२०।।

सुन रही ध्यान देकर वह थी प्रत्येक बात शुक की, प्रियतम !
सुनते-सुनते तोते के प्रति बढ़ गयी प्रीति उसकी, प्रियतम !
बोली, 'रे कीर ! बैठ जा तू आकर समीप मेरे', प्रियतम !
दोनों हाथों से छू-छूकर मैं प्यार करूँ तुझको, प्रियतम ॥२२१॥

राजनन्दिनी शुककी कही हुई बातोंको पूरे मनोयोगसे सुन रही थी। जैसे-जैसे सुनती जाती थी, तोतेके प्रति उसका अनुराग बढ़ता जाता था। और अब तो अत्यधिक बढ़ चुका था। वह बरबस बोल उठी-'कीर रे ! तू आकर मेरे समीप बैठ जा । मैं अपने दोनों हाथोंसे छू-छूकर तुझे प्यार करूँ, यह मेरी अभिलाषा है, तू सुन ले।'।।२२१।।

पड़ते न पलक पड़ते तोता बड़भागी उड़ आया, प्रियतम !
कर-पल्लव पर आसीन हुआ उस नृपतिनन्दिनी के, प्रियतम !
प्राणों के रस से वह उसको अभिषिक्त लगी करने, प्रियतम !
आँखें पल-पल शुककी मुँदतीं, मानो समाधि लगती, प्रियतम ॥२२२॥

पलक पड़ते-न-पड़ते वह सौभाग्यशाली तोता किशोरीके सम्मुख आ गया। सम्मुख ही नहीं, किशोरीके कर-पल्लवपर आकर बैठ गया। किशोरीने अपने प्राणोंके रससे उसका अभिषेक किया, वह करती ही जा रही थी एवं उस ओर शुककी ऐसी दशा हुई, वह आनन्दमें ऐसे विभोर होता जा रहा था मानो उसकी समाधि लगने जा रही हो।।।२२२।।

अनुजा सहोदरा दौड़ी, तरु था एक पास में ही, प्रियतम!
'टप-टप' कर चूते थे मीठे फल पके हुए उससे, प्रियतम!
अञ्जलि में भरकर ले आयी फल चार-पाँच पल में, प्रियतम!
दे दिया बहिन को, बहिन लगी रखने शुक के मुख में, प्रियतम॥२२३॥

**उस ओर किशोरीकी सहोदरा बहन मञ्जुश्यामा दौड़ पड़ी। समीप ही एक वृक्ष था। उस वृक्षसे पके हुए फल टप-टपकर गिर रहे थे। क्षण बीतते-न-बीतते उसकी अञ्जलि सुपक्व-सुमिष्ट फलोंसे भर गयी और वह आकर किशोरीके हाथोंपर फल रखकर उसकी ओर देखने लगी, तथा बहन किशोरी एक-एक फल उठाकर शुकके मुँहमें डालने भी लग गयी।।।२२३।।**

### *तोतेके द्वारा वन-पथका निर्देश*

इतना आदर पाकर बोला वह कीर नम्रता से, प्रियतम।
'हे देवि! चलो पथ दिखलाऊँ मैं इस वन का तुमको', प्रियतम!
'कोने-कोने से परिचित हूँ, इसमें ही रमा हुआ', प्रियतम!
'स्वीकार करो अतिशय नगण्य सेवा तुम यह मेरी', प्रियतम॥२२४॥

**किशोरीसे इतना आदर-सम्मान पाकर अतिशय नम्रता-परिपूरित वाणीसे शुक बोलने लगा-'हे देवि! मैं इस वनका पथ तुम्हें दिखलाऊँ। मैं इसके कोने-कोनेसे परिचित हूँ। इसी वनमें मैं रमा हुआ हूँ। देवि ! अतिशय नगण्य सेवा है यह मेरे द्वारा तुम्हारी। तुम मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लो और मेरे पीछे चली चलो।।।२२४।।**

'पहले, महीपनन्दिनि! चलकर इस वायुकोण-पथ से', प्रियतम!
'देखो उस दिव्य-सरोवर को, अनुपम सुमिष्ट जल है', प्रियतम!
'प्रत्यक्ष महामाया की है कुछ शक्ति भरी जल में', प्रियतम!
'पीते ही आँख बदल कर हैं दर्शन विचित्र होते', प्रियतम॥२२५॥

**'देखो किशोरी ! सर्वप्रथम इस वायुकोणके पथसे चलकर उस दिव्य सरोवरको देख लो। इस सरोवरका जल अनुपम सुमिष्ट है। इस जलमें महामायाकी कुछ शक्ति प्रत्यक्ष भरी हुई प्रतीत होती है, क्योंकि जल पीते ही आँखें तत्क्षण बदल जाती हैं, जल पीनेवालेको विचित्र दर्शन होने लगते हैं।।।२२५।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

श्रीराधाकिशोरीको पछतावा होता है कि पहले वह इतने सुन्दर इस वनमे क्यो नहीं आयी ? सखियोंको अब वह राजकुमारी कुछ चलते-चलते थकी-सी दिखाई पडने लगी थी। वे उससे विश्राम करनेका आग्रह कर रही थीं, परन्तु राजकुमारी वनदर्शनसे मुग्ध बढती ही जा रही थी। अन्ततः बहुत चेष्टा करनेपर ही वे उसे मना पायी और एक वटवृक्षके नीचे अन्ततः वह सखियोंके कहनेसे बैठ गयी।

वह शुक तो राजकुमारीके साथ ही आया था, वह भी उस सुन्दर वटवृक्षकी डालीपर बैठ गया। राजकुमारीका उस शुकपर इतना स्नेह उमडता है कि वह उसे स्नेह करने अपने पास बुलाती है। शुक राजकुमारीके आदेशका पालन करता हुआ उसके वाम कर-पल्लवपर बैठ जाता है। राजकुमारी दक्षिण हाथसे सुकुमार संस्पर्शकर उस शुकपक्षीपर अपने प्राणोंका प्रीतिरस उँडेलने लगती है और शुक भी अपने प्राणोको आप्यायित करनेवाले उस संस्पर्शको पाकर
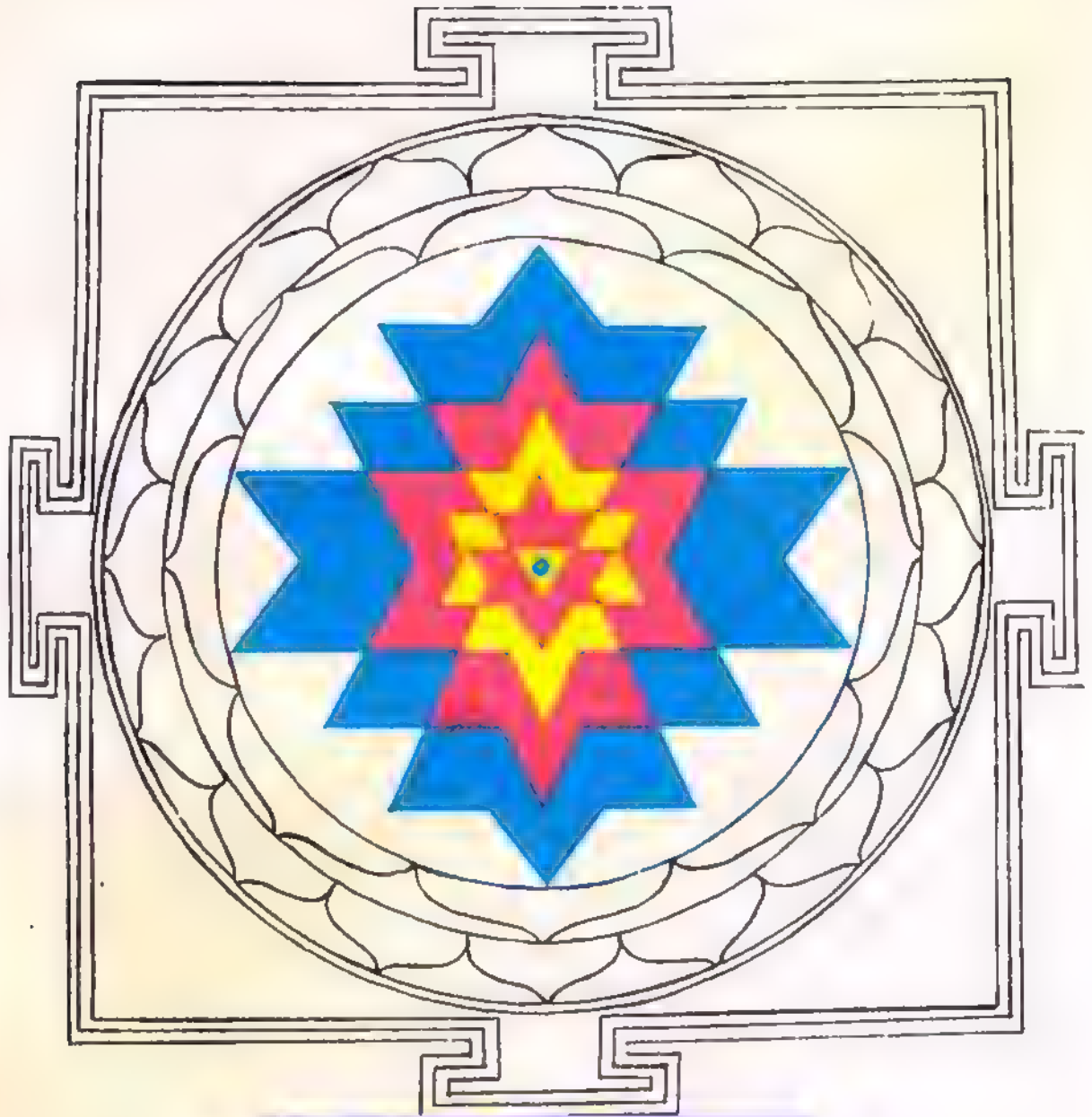
रसमय श्रीयन्त्र (पृष्ठ २०५)

समाधिस्थ-सा हो जाता है। राजकुमारीकी सहोदरा अनुजा पासहीके एक वृक्षसे पके मीठे फल चयन कर लाती है और अपनी बहिनको दे देती है। राजकुमारी राधा अतिशय प्यारसे वे फल शुककी चञ्चुमें देने लगती है।

राजकुमारी राधासे इतना आदर पाकर शुक कृतज्ञतामें भरकर कह उठता है -'हे नृपनन्दिनी । मैं इस वनके कोने-कोनेसे परिचित हूँ। मैं तुम्हें पथ-निर्देश करता हूँ - मेरी इस तुच्छ सेवाको तुम स्वीकार कर लो। हे राजकुमारी! यहाँसे वायव्यकोणके पथसे चलकर पहले इस सरोवरके दर्शन करो। इस सरोवरके जलमें महादेवीकी ऐसी विलक्षण शक्तिभरी है कि जो भी इस जलको पीता है, तत्क्षण ही उसकी ऑख ही बदल जाती है और उसे अलौकिक विचित्र दर्शन होने लगते हैं।

## रसमय श्रीयंत्रका वर्णन

'फूले सरोज का चित्र नित्य है एक लिखा उसमें,' प्रियतम ।
'है मध्यदेश में बिन्दु एक नीले अरविन्दों का,' प्रियतम ।
'उसको पिङ्गल नीरज-निर्मित घेरे त्रिकोण फिर है,' प्रियतम ।
'है अरुण कञ्जका अष्टकोण डाले उस पर घेरा,' प्रियतम ।।२२६।।

**'राजनन्दिनि ! इस सरोवरके वक्षःस्थल - जलपर फूले हुए सरोजकी सहायतासे एक नित्य चित्र अङ्कित है और इसी सरोजके चित्रमें नीले अरविन्द पुष्पोंसे ठीक बीचमें एक विन्दु निर्मित हुआ है। उस विन्दु बने हुए पुष्पको घेरकर पीतवर्णके नीरज सुमनोंसे निर्मित एक त्रिकोणका अङ्कन हुआ है। और उस त्रिकोणपर घेरा डाले अरुण सरोरुहोंसे एक अष्टकोण बना हुआ है।।।२२६।।**

'पीतारुण अरविन्दों के हैं दो फिर दशकोण बने,' प्रियतम!
'क्रमशः आकृति में बड़े, सतत नव-नव शोभा वाले,' प्रियतम!
'उनको घेरे है एक बड़ा श्यामल सरोरुहों का,' प्रियतम!
'नव नित्य चतुर्दश कोण अहो! सौरभ से भरा हुआ,' प्रियतम ।।२२७।।

**'उसको घेरे हुए पीतारुण कमलोंसे फिर दो दशकोण निर्मित हुए है। क्रमशः दोनों ही आकृतिमें बड़े होते गये हैं और देखो भला ! सतत नव-नव शोभा ये दोनों दशकोण धारण करते रहते हैं। उन दोनोंको आवृत करते हुए एक विशाल-श्यामल नव सरोरुहोंसे निर्मित नित्य नवीन-नवीन शोभा धारण करनेवाला- चतुर्दशकोण निर्मित हुआ है। अहो ! यह चतुर्दशकोण नित्य अद्भुत सौरभसे परिपूरित रहता है और क्षण-क्षण एक नवीन शोभा इसमें दीखती है।।।२२७।।**

'रविदलों की अनुकृति धरते अब सित नवल अम्बुरुह के,' प्रियतम!
'हैं बने अष्टदल दिनकर की किरणें बिखेरते-से,' प्रियतम!
'उनको भी लिये हुए उरमें उज्ज्वल कमलों के वे,' प्रियतम!
'सोलह दल हैं अद्भुत शशि की शोभा हरने वाले,' प्रियतम ।।२२८।।

**'इनको घेरे हुए अब समुज्ज्वल नवल अम्भोरुहके अष्टदल परिशोभित हैं और आश्चर्य यह है कि वे सचमुच मानो सूर्यकी किरणों-जैसी आभा बिखेर रहे हैं। इनको भी अपने उरस्थलमें लिये हुए श्वेत कमलोंके षोडश दल हैं। वे अद्भुत चन्द्रज्योत्स्नाकी शोभाका अपहरण कर रहे हैं।।।२२८।।**

'चतुरस्र मनोहर पद्मोंका विरचित है अब ऐसा,' प्रियतम!
'जो सात रंग पल-पलमें है क्रमशः धारण करता,' प्रियतम!
'आँखें उससे जुड़ते ही यह विभ्रम-सा होता है,' प्रियतम!
'पावस, बसन्त ऋतु, शरद, शिशिर, आतप, हिममें क्या है,' प्रियतम।।२२९।।

'उनके चारों ओर मनोहर पद्मोंका चतुरस्त्र निर्मित है, जो पल-पलमें क्रमशः सात रंगोंका प्रकाश करता है। इतना ही नहीं, उनपर दृष्टि पड़ते ही ऐसा विभ्रम-सा होने लगता है- न जाने कौन-सी ऋतु है? पावस, बसन्त, शरद, शिशिर, ग्रीष्म, हेमन्त- क्या है ?।।२२९।।

'उस नील सरोज-बिन्दु पर जब पड़ती रवि-किरणें हैं,' प्रियतम!
'ऊपर से मध्यगगन से, तब घटती यह घटना है,' प्रियतम!
'भौंरे सब इस बनके तत्क्षण उड़कर आ जाते हैं,' प्रियतम!
'मिलकर असंख्य वे रचते हैं सुन्दर वितान काला,' प्रियतम।।२३०।।

'और सुनो किशोरी ! जिस समय उपर्युक्त उस नील सरोजविन्दुपर आकाशसे-मध्यगगनसे- अंशुमालीकी किरणें पड़ने लगती हैं, तब अहो ! एक अतिशय आश्चर्यजनक घटना घटती है- इस वनस्थलमें जितने भ्रमर हैं, वे सब-के-सब उड़कर यहाँ आ ही जाते हैं। सबकी अद्भुत एकता-सी होकर असंख्य भौंरे मिलकर एक सुन्दर कृष्णवर्णके वितानकी रचना कर देते हैं।'।।२३०।।

'अचरज है, सब मँडराते हैं ऊपर वे नभमें ही,' प्रियतम!
'नीचे क्षणभर भी उतर नहीं आते फूलोंपर हैं,' प्रियतम!
'यह तीस पलों का दृश्य अहो! प्रतिदिन ही होता है,' प्रियतम!
'मध्याह्न बीतते ही फिर हैं सब-के-सब उड़ जाते,' प्रियतम।।२३१।।

'यह आश्चर्यकी ही बात है कि वे ऊपर आकाशमें ही मँडराते रहते हैं। क्षणभरके लिये भी उतरकर फूलोंपर नहीं बैठते। प्रतिदिन ही तीस पलतक यह दृश्य दिखाई देता है और मध्याह्न बीतते ही सब-के-सब फिरसे उड़ जाते हैं।'।।२३१।।

'ज्यों तथा उतरने लगता है यह तरणि अस्तगिरि में,' प्रियतम!
'गूँ-गूँ करता दक्षिण पथसे है एक मधुप आता,' प्रियतम!
'कुछ पल उन नलिनोंकी फेरी देकर ढल पड़ता है,' प्रियतम!
'पीले जलरुहके उरपर फिर रहता प्रभात तक है।' प्रियतम।।२३२।।

तथा जिस समय तरणिकी किरणें अस्तगिरिमें प्रविष्ट होने लगती हैं, ठीक इसी समय गूँ-गूँका स्वर भरता हुआ एक भ्रमर दक्षिणके पथसे यहाँ आ जाता है। कुछ पल उन ऊपर-वर्णित नलिनोंकी फेरी देकर वह नीचेकी ओर ढल पड़ता है, पीत जलरुहके उरस्थलपर। और प्रभाततक वह वहीं रहता है भला !।।२३२।।

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

### *अप्राकृत लीला-राज्यके श्रीयंत्रका वर्णन एवं रहस्योद्घाटन*

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने उपरोक्त छन्दोंमे जो कुछ वर्णन किया है, वह आदिलीलामहाशक्ति भगवती महात्रिपुरसुन्दरीके श्रीयंत्रका वर्णन है। यह 'श्रीचक्रराज' महायंत्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका प्रतीक है। आदिलीलामहाशक्ति

श्रीविद्या त्रिपुरसुन्दरीका यह यंत्र ही निवास एवं रथ है। प्राकृत विश्वमें ये भगवती ही ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र, त्रिदेवोसहित सभी देवजगत्की एकमात्र उपास्या एवं शरण्य हैं। इनकी ही अंशकला लक्ष्मी, सरस्वती एवं रुद्राणी हैं। इन्हें ही शास्त्रोंमें 'श्री' नामसे अभिहित किया गया है। ये भगवती प्राकृत विश्वमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष - चारों पुरुषार्थोंकी प्रदाता हैं। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने इनकी वर्षों उपासना की है और इन्होंने प्रकट होकर साक्षात् उन्हें दर्शन दिये हैं।

**(जिज्ञासु पाठक विस्तृत विवरण पढ़ना चाहें तो 'महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा' नामक ग्रन्थके तृतीय खण्डमें यह प्रसंग पढ़ें।)**

इस चक्रराज श्रीयंत्रका विचित्र विन्यास है। श्रीयंत्रके मध्यमें जो मूलविन्दु है, वही यहाँ नीले अरविन्दोंका विन्दु कहा गया है। इस चक्रराजके मध्यविन्दुके रूपमें निरुपाधिक सविन्मात्र भगवान् कामेश्वरके अकमे भगवती महात्रिपुरसुन्दरी सोपाधिक परमानन्दस्वरूपमें नित्य विराजित रहती हैं। अप्राकृत चिन्मय राज्यमें ये भगवान् कामेश्वर-कामेश्वरी ही नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाके रूपमें परिणत होते हैं। यह विन्दु शिवयुवती नामक अधोमुखी त्रिकोणके मध्यमें स्थित है। प्राकृत जगत्में इस त्रिकोणके (१) अव्यक्ताधिष्ठात्री कामेश्वरी, (२) महत्तत्वाधिष्ठात्री वज्रेश्वरी एवं (३) अहङ्काराधिष्ठात्री भगमालिनीदेवी - ये तीन देवता हैं। किन्तु जैसा कि पू.गुरुदेवने कृपाकर मुझ जडमतिके सम्मुख इस त्रिकोणका निकुञ्जभावात्मक रहस्योद्घाटन किया है -' यह त्रिकोण जो पीले नीरजोंसे निर्मित होता है, इसके ऊपरकी सीधी रेखा बनाते दो बिन्दुओंकी तो सच्चिदानन्दमयी महासन्धिनीशक्ति वृन्दा, एवं चिति-शक्तिस्वरूपा पौर्णमासीदेवी मुख्य देवता हैं और जो इनका निम्न आधारविन्दु है उसमें विशुद्ध आह्लादिनी महाशक्ति श्रीराधारानीकी नित्य प्रतिष्ठा है। ये त्रिकोणस्वरूपा वृन्दावनधामात्मक बनी वृन्दादेवी, चिच्छक्तिस्वरूपिणी योगमाया-महाशक्ति लीलाविधात्री पौर्णमासीदेवी एवं ह्लादिनीशक्ति श्रीराधा अपने ठीक मध्यमे नित्यनिकुञ्जेश्वरी ह्लादिनी-परिरंभित ह्लादात्मा युगनद्ध युगल प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधवको आप्यायित कर रही हैं। यही इस विन्दु एवं त्रिकोणका रहस्य है।

अब आगे वर्णन आता है कि इस श्रीयंत्रराजान्तर्गत शिवयोगिनीरूप मध्यत्रिकोणको एक अरुण पद्मोंका अष्टकोण घेरे है। जहाँ प्राकृत श्रीयंत्रमें इस अष्टकोणमें शीत, उष्ण, सुख, दुःख, इच्छा, सत्व, रज एवं तम - इन आठों गुणोंकी अधिष्ठात्री देवियाँ - वशिनी, कामेश्वरी, मादिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी, कौलिनी आदि आठ वाग्देवता निवास करती हैं, वहीं इसी चक्रराजके निकुञ्जभावमूलक अष्टदलके रहस्योद्घाटनमे इस अष्टकोणके विन्दुओंमें खण्डिता, स्वाधीनभर्तृका, दिवाभिसारिका, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा एवं कलहान्तरिता - ये अष्ट महाभावोंकी क्रमशः अधिष्ठात्री - ललिता, विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा, चम्पकलता, रंगदेवी, तुंगविद्या एवं सुदेवी - अधिष्ठात्री सखियाँ निवास कर रही हैं।

अब इस अष्टकोणात्मक चक्रराजकी एक अन्तर्दशारचक्रकी प्रकृतिमें तो सर्वज्ञा, सर्वशक्तिप्रदा, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधिविनाशिनी, सर्वाधारस्वरूपा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षास्वरूपिणी, सर्वेप्सितफलप्रदा - ये दस अधिष्ठात्री देवियाँ हैं, किन्तु नित्यनिकुञ्जमे इन दस त्रिकोणोंमें दस मुख्य भाव नित्य उच्छलित रहते हैं। ये दस भाव हैं - १. पूर्वराग २. रति ३. स्नेह ४. मान ५. प्रणय ६. राग ७. अनुराग ८. भाव ९ रूढमहाभाव एवं १०. अधिरूढमहाभाव। प्रेमके ये दस अनुभाव अष्ट सखियों एवं ह्लादात्मा-ह्लादिनीस्वरूप प्रिया-प्रियतम - सभीमें उदित होते हैं। इसीलिये ये इन सबको आवृत किये हैं, घेरे हैं। यह अन्तर्दशारचक्र पीतारुण अरविन्दोंसे निर्मित है।

इस अन्तर्दशारचक्रको पुनः इससे आकृतिमें बृहद् बहिर्दशारचक्र घेरे है। इस बहिर्दशारचक्रमें दस त्रिकोण, गुणश्रवण, रूपाकृतिदर्शन (प्रत्यक्ष दर्शन एवं चित्रदर्शन ), वंशीनादश्रवण, तीव्र मिलनोत्कण्ठा, दूती-पत्र-संवाद, संकेत-मिलन, पूर्ण आत्मनिवेदन, निकुञ्जमिलन, महारास एवं शयनान्तर्गत परस्पर रसराजका महाभावमें एवं महाभावका

रसराजमें स्वरूप-परिवर्तन - इन दस भावोके पूर्ण आवास हैं। पूर्वरागादि भावोका भी अभ्युदय इन दस भावस्थितियोके पश्चात् ही क्रमशः होता है अत.. ये बहिर्दशारचक्रान्तर्गत हैं। इस चक्रका निर्माण भी पीतारुण नीरजोंसे हुआ है। इस मायाप्रकृतिमें इस बहिर्दशारचक्रकी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं : १. सर्वसिद्धिप्रदादेवी २. सर्वसपत्प्रदादेवी ३.सर्वप्रियङ्करीदेवी ४.सर्वमंगलकारिणीदेवी ५. सर्वकामप्रदादेवी ६.सर्वदु:खविमोचिनीदेवी ७ सर्वमृत्युप्रशमिनीदेवी ८. सर्वविघ्नविनाशिनीदेवी ९.सर्वाङ्गसुन्दरीदेवी १०. सर्वसौभाग्यदायिनीदेवी हैं।

इस बहिर्दशारचक्रको एक चतुर्दशारचक्र घेरे है। यह निकुञ्जलीलाभावमें श्यामवर्णके अरविन्दोंसे निर्मित है। मायाप्रकृतिमे इसकी अधिष्ठात्री देवियॉ - १. सर्वसंक्षोभिणीशक्ति २. सर्वविद्राविणीशक्ति ३ सर्वाकर्षिणीशक्ति ४. सर्वाह्लादिनीशक्ति ५. सर्वसम्मोहिनीशक्ति ६. सर्वस्तंभिनीशक्ति ७. सर्वजृंभिणीशक्ति ८. सर्ववशङ्करीशक्ति ९. सर्वरजनीशक्ति १० सर्वोन्मादिनीशक्ति ११. सर्वार्थसाधिनीशक्ति १२. सर्वसंपत्तिपूरिणीशक्ति १३ सर्वमंत्रमयीशक्ति १४ सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करीशक्ति- ये चौदह शक्तियाँ हैं।

निकुञ्जलीलामें इन चौदह बिन्दुओंमें चौदह निम्न भाव हैं - १. प्रियमिलनमें अवरोधात्मक सर्वक्लेशका नाश २. ब्रह्मानन्द-तिरस्कारी प्रियतमस्मृति एवं प्रेमसुखकी प्राप्ति ३. मोक्षलघुताकृत् अर्थात् सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि, और सायुज्य - इन पाँचों प्रकारकी मुक्तिजन्यसुखके प्रति तुच्छ हेयबुद्धि एवं प्रिया-प्रियतमकी सेवामें प्रगाढ अनुराग ४. सुदुर्लभ प्रीतिकी प्राप्ति ५. सान्द्रानन्दविशेषात्मा (अनन्तकोटिगुना ब्रह्मानन्दका भी प्रेमसुखके सम्मुख फीका लगना ६. श्रीकृष्णाकर्षिणी, प्रियतम श्रीकृष्णको आकर्षित कर लेनेकी योग्यताकी प्राप्ति ७. क्षान्ति ( स्वमानके नाश होनेपर एवं घोर लोकनिन्दाकी प्राप्ति होनेपर साथ ही विरहजन्य मूर्च्छादि व्याधियोंकी प्राप्ति होनेपर एवं तत्पश्चात् प्रियतमके द्वारा मिलन एवं प्रेममें अरुचि प्रकट करनेपर भी चित्तका तनिक भी प्रियसे विमुख नहीं होना, एव अचञ्चल सतत प्रेमोत्कर्ष ८. अव्यर्थकालत्व अर्थात् क्षणमात्र भी मन, वाणी एवं शरीरसे सेवामें श्रमानुभव न कर निरन्तर सेवारत रहना। ९ विरक्ति - प्रेमास्पदके सिवा अन्याश्रयका चित्तमें लेश-संस्पर्श भी नहीं होना १०. अभिमानशून्यता - सर्वोत्तम प्रेम, सर्वोच्च शील एवं उत्तमोत्तम आचरणसे सम्पन्न होनेपर भी अपनेमें महाभावगत दैन्यवश निजको प्रेमाचरणशून्य, दु:शील, अधम, पापाचारिणी, दुर्गुणोंकी खान मानना ११. आशाबन्ध अर्थात् प्रियतम श्रीकृष्णके मथुरा-द्वारकागमन, अनेकानेक विवाहादिके समाचार प्राप्त होनेपर सुदीर्घकालतक प्रेमपत्रादिके द्वारा कोई सवाद स्थापित नहीं होनेपर भी उत्तरोत्तर प्रेमका नित्य अभिवर्धित होना एवं मिलनकी सुदृढ़ एवं बद्धमूल आशा १२. समुत्कण्ठा अर्थात् अनन्य एवं प्रतिक्षण बढनेवाली प्रियमिलनकी लालसा १३. अखण्ड स्मृति १४. जहॉ प्रियसे क्षणभर भी मिलन हुआ उसी स्थलमें प्राणविसर्जित करनेकी अनन्य इच्छा। इन उपर्युक्तचौदह विलक्षण प्रेमभावोंको यह श्यामवर्णका चतुर्दशारचक्र इन दोनों बहिर्दशार एवं अन्तर्दशारचक्रोंको समावृत किये है।

इस चतुर्दशारचक्रको घेरे श्वेतवर्णका अष्टदलका नवल विस्तृत अम्भोज है। प्राकृत जगत्में तो श्रीयंत्रमें इस अष्टदलमें उत्तर दिशासे क्रमशः अनंगकुसुमा, अनंगमेखला, अनंगमदना, अनगमदनातुरा, अनगरेखा, अनंगवेगा, अनंगांकुशा, अनंगमालिनी - ये अष्ट देवी-शक्तियाँ सुविराजित हैं किन्तु इस नित्यनिकुञ्जमें इस अष्टदलकमलमे उत्तर दिशामें गोरोचनवर्णा, मयूरपिच्छाभायुक्त वस्त्रधारिणी तेरह वर्ष एवं छः मासकी वय प्राप्ता श्रीरूपमञ्जरी, जो ताम्बूल- -सेवापरायणा हैं, सुविराजित है। ईशान कोणके दलमें श्रीमञ्जुलीलामञ्जरी तप्तस्वर्णवर्णा किंशुकपुष्पसे वस्त्र धारण किये तेरह वर्ष, छः मास एवं सात दिवसकी वय प्राप्ता प्रिया-प्रियतमकी वस्त्रसेवामें समुत्सुका हुई सुविराजित हैं। पूर्व दिशावाले दलमें श्रीरसमञ्जरी, जो चम्पापुष्पवर्णाभा हैं एवं हंसवर्णका वस्त्र धारण करती हैं एवं जिनकी वय मात्र तेरह वर्षकी है, चित्र रचनाकर प्रिया-प्रियतमकी सेवा करती हैं, विराजित है। अग्निकोणवाले दलमें श्रीरतिमञ्जरी विराजित हैं। ये

विद्युद्वर्णी हैं, तारावर्णका वस्त्र पहनती हैं। इनकी नित्य वय तेरह वर्ष, दो माहकी है। ये प्रिया-प्रियतमकी निकुञ्जमें चरणसेवा करती हैं। दक्षिण दिशावाले दलमें श्रीगुणमञ्जरी निवास करती हैं। इनका विद्युद्वर्ण है, जपापुष्पके वर्णकी साडी पहनती हैं। इनकी नित्य वय तेरह वर्ष, एक माह, सत्ताईस दिन है। ये प्रिया-प्रियतमकी जलसेवा करती हैं। नैऋत्यकोणके कमलदलमें श्रीविलासमञ्जरी निवास करती हैं। ये स्वर्ण केतकी वर्णकी हैं। भ्रमरके समान वर्णका श्यामवस्त्र पहनती हैं। इनकी नित्यवय तेरह वर्ष, छब्बीस दिनोकी ही रहती है। ये प्रिया-प्रियतमकी अञ्जन एवं सिन्दूरकी सेवा करती हैं। पश्चिम दिशावाले दलमें श्रीलवङ्गमञ्जरीका निवास है। ये तेरह वर्ष, छःमाह, एक दिनकी नित्यवय सम्प्राप्त किये रहती हैं। ये विद्युद्वर्णकी अङ्गशोभावाली हैं एवं ताम्रवर्णके वस्त्र पहनती हैं। ये प्रिया-प्रियतमकी पुष्पमालासमर्पणकी सेवा करती है। वायव्यकोणके कमलदलमें श्रीकस्तूरीमञ्जरीका नित्य निवास है। ये स्वर्ण वर्णाभावाली हैं एवं काचप्रभ वर्णके वस्त्र पहनती हैं। इनकी भी वय तेरह वर्षकी नित्य रहती है तथा ये चन्दनसेवाकर प्रिया-प्रियतमको प्रसन्न रखती हैं इस प्रकार इस अष्टदल कमलकी निकुञ्जभावना है।

दिनकरकी किरणें बिखेरनेसे अष्टदलोवाले श्वेतवर्णके कमलको एक और सोलहदलवाला चन्द्रमाकी शोभाको हतप्रभ कर देनेवाला अद्भुत कमल घेरे है। प्राकृत श्रीयत्रके सोलह दलोंमे तो भगवतीकी षोडश कला -शक्तियाँ निवास करती हैं। ये षोडश कलाएँ हैं - १. कामाकर्षिणी नित्याकला २. बुद्ध्याकर्षिणी नित्याकला ३. अहङ्काराकर्षिणी नित्याकला ४. शब्दाकर्षिणी नित्याकला ५. स्पर्शाकर्षिणी नित्याकला ६ रूपाकर्षिणी नित्याकला ७. रसाकर्षिणी नित्याकला ८.गन्धाकर्षिणी नित्याकला ९ चित्ताकर्षिणी नित्याकला १०. धैर्याकर्षिणी नित्याकला ११ स्मृत्याकर्षिणी नित्याकला १२. नामाकर्षिणी नित्याकला १३. बीजाकर्षिणी नित्याकला १४.आत्माकर्षिणी नित्याकला १५. अमृताकर्षिणी नित्याकला १६. शरीराकर्षिणी नित्याकला। किन्तु निकुञ्जराज्यान्तर्गत इन षोडश कमलदलोमे उपरोक्त अष्टमञ्जरियाँ निवास करती हैं। इन मञ्जरियोंके नाम हैं - १ अनंगमञ्जरी २. मधुमतीमञ्जरी ३. विमलामञ्जरी ४. श्यामलामञ्जरी ५. पालिकामञ्जरी ६. मजुलामञ्जरी ७. धन्यामञ्जरी ८. तारकामञ्जरी ९. भद्रमञ्जरी १०. श्रीलीलामञ्जरी ११. केलिमञ्जरी १२ कुन्दमञ्जरी १३. मदनमञ्जरी १४. अशोकमञ्जरी १५. सुधामुखीमञ्जरी १६ पद्ममञ्जरी। ये सभी मञ्जरियाँ उत्तर दिशासे प्रत्येक दिशामे स्थित दो-दो कमलोंमें क्रमशः निवास करती हैं। जैसे उत्तर दिशामें स्थित दो कमलोंमें अनंग एवं मधुमतीका वास है; ईशानकोणके दो कमलोंमें क्रमशः विमला एवं श्यामला मञ्जरियोका वास है, पूर्वदिशावाले दो कमलोंमें क्रमशः पालिका एवं मगला मञ्जरियोंका वास है; अग्निकोणके दो कमलोमें क्रमशः धन्या एवं तारका मञ्जरियोंका वास है; दक्षिणदिशावाले दो कमलोंमे क्रमशः भद्र एव श्रीलीला मञ्जरियोका वास है, नैऋत्यकोणके दो कमलोंमें क्रमशः केलि एवं कुन्द मञ्जरियोंका वास है, पश्चिम दिशावाले दो कमलोंमें क्रमशः मदन एवं अशोक मञ्जरियोंका वास है, वायव्यकोणवाले दो कमलोंमें क्रमशः सुधामुखी एवं पद्ममञ्जरीका वास है। इन सभी मञ्जरियोकी नित्य वय तेरह वर्ष एव छःमासके मध्यकी ही रहती है।

इन अपूर्व सुन्दर षोडशदलोंको एक मनोहर पद्मोंका चतुरस्र घेरे है। प्राकृत जगत्के श्रीयत्रमे तो इस चतुरस्रकी आदिरेखामें प्रकृतिमे शृंगारादि जो नवरस हैं इनकी अधिष्ठात्री सिद्धियाँ अवस्थित हैं। शान्तरसकी अणिमा, अद्भुतरसकी लघिमा, करुणरसकी महिमा, वीररसकी ईशित्व, हास्यरसकी वशित्व, वीभत्सरसकी प्राकाम्य, रौद्ररसकी भुक्ति भयानकरसकी इच्छा, शृंगाररसकी प्राप्ति एवं प्रकृत्यात्मक नियतिकी सर्वकामसिद्धि नामक नौ सिद्धियाँ निवास करती हैं। मध्यरेखामें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य एवं पापात्मक ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा एवं महालक्ष्मी आदि क्रमशः निवास करती हैं। अन्त्यरेखामें सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशकरी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहांकुशा, सर्वखेचरी, सर्वबीज, सर्वयोनि, सर्वविखण्डा क्रमशः मुद्राशक्तियोका वास है, किन्तु यही चतुरस्रकी तीन रेखायें ही चिन्मयसत्व, चिन्मयरज एवं चिन्मयतम रूप होकर नित्यनिकुञ्जमें वृन्दावनधाम हैं।

ये सभी प्राकृत सिद्धियाँ जो प्राकृत श्रीयंत्रमें यहाँ वर्णित हैं, चिन्मय रसरूप होकर इस धाममें नित्य निवास करती हैं और ऐश्वर्यभावको त्यागकर रसरूप होकर प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधवके सेवार्थ सदैव हाथ जोडे खडी रहती हैं। लीलाशक्तिको जब जहाँ इनकी रस-अभिवर्धनके लिये आवश्यकता होती है, वे इनका प्रयोग कर लेती हैं। यह पू. गुरुदेव द्वारा वर्णित नित्यनिकुञ्जके भावमय श्रीयत्रका सम्पूर्ण रहस्य है, जो यहाँ दिया गया है। यह मात्र अनुभूतिगम्य है। इसका शास्त्रोल्लेख तो मेरी दृष्टिमें नहीं आया है, किन्तु पू. गुरुदेव द्वारा वर्णित होनेसे यह परम सत्य है, सत्यका भी सत्य है।

इस मनोहर पद्मोंसे निर्मित वृन्दावनरूप चतुरस्रसे नेत्र जुडते ही ऐसा विभ्रम होता है मानो यहाँ छहों ऋतुएँ - पावस, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त एव आतप सभी नित्य हाथ जोडे सेवामें उपस्थित रहती हैं। अतः यह पता ही नहीं चलता कि इस समय कौन ऋतु है।

इस विस्तृत क्षेत्रमें मध्यस्थित नीलकमलोंसे निर्मित विन्दुपर जब तत्त्वज्ञानके अधिष्ठात्री देवता सूर्यकी किरणें ठीक मध्यगगनसे प्रखररूपमें पडने लगती हैं, उस समय इस नील विन्दुरूप प्रिया-प्रियतमके युगनद्ध स्वरूपको पूर्ण रसमय बनाये रखनेके लिये इस वनक्षेत्रमें सर्वत्र निवास करनेवाले असंख्य भ्रमर (अनन्त रूप बनाकर रसराज श्रीकृष्ण) नभमें उमड़ आते हैं। ये इस क्षेत्रके नभमें ऊपर-ही-ऊपर उड़कर ज्ञानरविकी किरणोंके आतपसे इस भावलीलाजगत्को सुरक्षित रखनेके लिये एक श्याम वितान तान देते हैं। ये भ्रमर आकाशसे नीचे नहीं उतरते, हाँ, तीस पल पश्चात् जैसे ही रवि मध्य गगनसे हटता है और इस क्षेत्रके ठीक मध्यसे पश्चिमोन्मुखी हो जाता है, ये भ्रमर पुन: वनमें यत्र-तत्र-सर्वत्र चले जाते हैं। प्रति दिवस ही निर्बाध यह घटना ठीक मध्याह्नमें तीस पलके लिये घटित होती है। ठीक इसी तरह जब रवि अस्ताचलगामी होता है और संध्याका पदार्पण होने लगता है, एक भ्रमर (श्रीकृष्ण) गूँ-गूँ करता दक्षिणपथसे आता है। वह कुछ पलोंतक इन सभी नलिनोंकी फेरी देता है। एक-एक त्रिकोणमें स्थित भावमयी गोपीको अपने वंशीनादसे अतिशय रस प्रदान करता यह पीले पद्मोंके त्रिकोणरूप श्रीराधा महाभावपर ढल पडता है। वह इन पीले कमलोंसे बने इस त्रिकोणके ऊपर पूर्ण निशापर्यन्त संपुटित कमलकोषोंमें बँधा रहता है और जब पुनः प्रभात होता है, तो वनमें उड जाता है।

'हे राजतनूजे ! कह-कहकर कैसे समझाऊँ मैं'; प्रियतम !
'कितना है चमत्कारकारी, प्रत्यक्ष इसे कर लो।' प्रियतम !
'देखो द्रुम-अवली कूलोंकी हिलती यह दीख रही;' प्रियतम !
'दो-ढाई सौ पद चलतेही तटपर पद रख दोगी!' प्रियतम ॥२३३॥

**'राजनन्दिनि ! कह-कहकर मैं कैसे समझाऊँ तुम्हें ? वह कमलोंका बना हुआ चित्र कितना चमत्कारपूर्ण है, इसे प्रत्यक्ष देख लो। देख रही हो, वह जो द्रुमोंकी पंक्तियाँ उस ओर हिलती दीख रही हैं, वे सरोवरके कूलोंपर ही .ो हैं। बस, दो-अढाईसौ पद चलने भरकी देर है, तुम उसके तटपर अपने श्रीचरण रख दोगी।'॥२३३॥**

तोता इतना कहकर, उड़कर उस ओर लगा चलने, प्रियतम !
सखियोंको लिये तुरंत चली अवनीशनन्दिनी भी, प्रियतम !
मिल गया पाँच पलमें सरका तट अग्निकोण वाला, प्रियतम !
बातें सर्वथा सत्य निकली, जो कही कीरने थीं, प्रियतम ॥२३४॥

**इतना ही कहकर तोता उसी ओर उड़कर चलने लगा। राजनन्दिनी किशोरी भी सखियोंको साथ लिये उसी ओर चल पड़ीं। पाँच पल पूरा होते-न-होते सरोवरका अग्निकोणवाला तट आ गया। अत्यन्त आश्चर्यमें डूबी किशोरी अनुभव करने लग गयी कि कीरने जो बातें कही थीं वे सर्वथा सर्वांशमें सत्य हैं।॥२३४॥**

कम हो या अधिक, किंतु सबको लग गयी प्यास अबकी, प्रियतम!
था भरा स्वच्छ जल से पूरा कासार सामने ही, प्रियतम!
छू रहा नीर था पहली ही सीढ़ी के आधे को, प्रियतम!
अञ्जलि में जल भर कर सब वे पीने लग गयीं भला, प्रियतम।।२३५।।

उधर कम या अधिक मात्रामें किशोरी एवं सहचरियोंको प्यास लग चुकी थी तथा सामने ही स्वच्छ जलसे भरा कासार भी मानो उनका ही स्वागत कर रहा था। और तो क्या, पहली ही सीढ़ीके आधे अंशको कासारका जल समीरके वेगसे हिल-हिलकर बार-बार छू रहा था। बस, सब-की-सब अञ्जलिमें जल भर-भरकर उस अमृतकी भाँति सुमिष्ट नीरका पान करने लगीं।।२३५।।

दो घूँट कण्ठ के भीतर, बस, जाते ही उन सबके, प्रियतम!
हो गये प्राण शीतल, सुख में तन का कण-कण डूबा, प्रियतम!
आँखों में भरी और अभिनव रसमयी खुमारी-सी, प्रियतम!
निस्पन्दगात्र होकर सब वे ढल पड़ीं वहीं क्षण में, प्रियतम।।२३६।।

और देखो, अहो ! आश्चर्य, महा आश्चर्य ! केवल मात्र दो घूँट जल कण्ठके भीतर जाते ही सबके प्राण शीतल हो गये। एक अद्भुत सुखानुभवमें सबका कलेवर-कलेवरका कण-कण निमग्न हो गया। साथ ही सबकी आँखोंमें एक अभिनव रसमयी खुमारी-सी भर आयी। सबके गात्र निस्पन्द हो गये। सब-की-सब क्षणभरमें वहीं धरापर ढल पड़ीं।।२३६।।

अनुभव अब राजनन्दिनी को होने लग गया वहाँ, प्रियतम।
मानो हूँ खड़ी अकेली मैं अनुजा को साथ लिये, प्रियतम!
बातें आगे-पीछे की थीं विस्मृत हो गयी सभी, प्रियतम।
आनन्दहिलोरों में बहकर सर को निहारती थी, प्रियतम।।२३७।।

उस ओर राजनन्दिनी बृषभानुकिशोरीको वहाँ अनुभव होने लग गया कि मैं अनुजाको साथ लिये यहाँ अकेली खड़ी हूँ और कोई नहीं है मेरे साथ। आगे-पीछेकी सभी बातें उसे विस्मृत हो गयीं। वह आनन्दकी हिलोरोंमें इधर-से-उधर बहकर सरोवरको निहारने लगी।।।२३७।।

बोली, री! बहिन! घूमकर अब पूरे सर को देखें, प्रियतम!
पश्चिम की ओर चली तट को पकड़े धीरे-धीरे, प्रियतम!
पद बीस-तीस ही चलने पर मिल गयी एक रमणी, प्रियतम!
गोरी, सुन्दरी अनोखी थी, यौवन से वह माती, प्रियतम।।२३८।।

अचानक किशोरी अपनी अनुजासे बोल उठी-'अरी बहन ! चल, अब हम पूरे सरोवरको घूमकर देखें।' वाक्य पूरा होते-न-होते अनुजाका दाहिना हाथ पकड़कर किशोरी तटके मार्गका अनुसरण करती हुई प्रतीचीकी ओर धीरे-धीरे चल पड़ी। बीस-तीस पग आगे गयी होगी कि एक गौरवर्णा अत्यन्त सुन्दरी अनोखी रमणी सामने आती हुई मिली। यौवनके पदसे वह मत्त-सी दीख रही थी।।२३८।।

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यह सब वर्णन करता शुक कहता है कि हे राजकुमारी ! मैं इस सब मनोहर रहस्यको वाणी द्वारा समझा ही नहीं सकता, क्योंकि यह सब अचिन्त्य, अनिर्वचनीय है। तुम इसे वहाँ चलकर प्रत्यक्ष करलो। राजकुमारी शुकके कथनानुसार उसके पीछे-पीछे अनुगमन करती है एव सखियोके साथ पाँच पल बीतते-न-बीतते सरोवरके अग्निकोणवाले तटपर पहुँच जाती है। सभीको वहाँ प्यासका अनुभव होता है और अञ्जलिमे जल भरकर सभी सखियाँ जल पीने लग जाती हैं। उस जलके दो घूँट कण्ठके नीचे जाते ही सभीके प्राणोमें शीतलता भर आती है और आँखोंमें अभिनव खुमारी पैदा हो जाती है। सभी सखियोंके तनका कण-कण सुखसिन्धुमे डूब जाता है और सभी वहाँ निस्पन्द होकर भाव-समाधिमें डूब जाती हैं। मात्र राजकुमारीको यह अनुभव रहता है कि मैं अपनी छोटी बहिनको लिये उसके साथ अकेली खडी हूँ। वह भी आगे-पीछेकी सभी बातें विस्मृत कर जाती है और आनन्द-हिलोरोमे बहती सरोवरको निहारने लगती है। वह पश्चिमकी ओर चलती है और वहाँ उसे एक रमणी वृन्दादेवी मिलती हैं।

यह कहा तथा उस रमणी ने उन नृपदुहिताओं से, प्रियतम !
तुम चलो, पधारो मेरे घर, शशिमुखि ! न विलम्ब करो, प्रियतम !
अतिकाल हो चुका है, पहले किञ्चित् भोजन कर लो, प्रियतम।
मैं ही हूँ नित्यसेविका इस वन की अधिदेवी की, प्रियतम॥२३९॥

**वह रमणी कुछ भी प्रतीक्षा किये विना दोनों नृपदुहिताओंसे बोल उठी-'शशिमुखी दोनों भगिनियों। चलो, तुम मेरे घर पधारो। तनिक भी विलम्ब मत करो, अतिकाल हो चुका है; पहले चलकर किंचित् भोजन कर लो। मैं ही इस वनकी अधिदेवी-तुम्हारी नित्यसेविका हूँ।।२३९।।**

फँसकर मीठे आकर्षण में दासी की वाणी के, प्रियतम !
पहुँची वे उसके घर पर जो पश्चिम सरतट पर था, प्रियतम !
सुन्दर विशाल था, पद उसमें रखते ही दोनों को, प्रियतम !
ऐसा प्रतिभात हुआ, मानो अपना ही वह घर हो, प्रियतम।२४०॥

**उस रमणीकी वाणीमें सुमधुर आकर्षण परिपूरित था। राजनन्दिनी अपनी अनुजाको साथ लिये, सरोवरके पश्चिम तटपर अवस्थित उसके आवासमें अपना पैर रख ही बैठी। वह भवन बड़ा ही विशाल था। उसमें पैर रखते ही दोनों बहनोंको ऐसा प्रतिभात होने लगा, मानो वह सचमुच अपना ही घर हो।।२४०।।**

छोटी चञ्चला पहुँचते ही लग गयी खेल करने, प्रियतम !
गृह के जो प्रतिपालित सुन्दर पक्षी थे, उन सबसे, प्रियतम !
वह बड़ी राजनन्दिनी किंतु चुपचाप सोचती थी, प्रियतम !
'आयी तो मैं अवश्य ही हूँ पहले भी कभी यहाँ।' प्रियतम ॥२४१॥

**छोटी बहन अत्यन्त चञ्चला थी ही। वहाँ पहुँचते ही खेलमें तन्मय हो गयी। गृहमें प्रतिपालित जो सुन्दर-सुन्दर पक्षी थे, वे ही किशोरीकी छोटी बहनके क्रीड़ोपकरण बन गये। किन्तु बड़ी राजनन्दिनी चुपचाप सोच रही थी-'मैं पहले इस गृहमें आ तो कभी अवश्य चुकी हूँ।'।।२४१।।**

कोई मानो कानोंमें यह कह उठा, 'सदा जय हो !' प्रियतम !
'कानन की अहो ! स्वामिनी की रसमयी मुग्धताकी;' प्रियतम !
'अपना वासस्थल यह उनका सच्चिदानन्दमय है,' प्रियतम !
'वे भूल रही हैं पर इसको, अपने को, मुझको भी !' प्रियतम ।।२४२।।

**उसी क्षण किशोरीके कानोंमें मानो कोई कह रहा हो-'अहो, जय हो ! सदा जय हो ! काननकी स्वामिनीकी इस रसमयी मुग्धताकी जय हो ! सदा ही जय हो ! यह उन्हींका अपना ही सच्चिदानन्दमय आवासस्थल है, किन्तु वह उसे भी भूल रही हैं भला, अपनेको भी भूल रही हैं, मुझको भी भूल रही हैं।'।।२४२।।**

## जिज्ञासा

**चिन्मय समाधिभाषामें वर्णित इन छन्दोंमें ऐसा उल्लेख है कि श्रीराधा अपने सच्चिदानन्दमय वासस्थलको ही भूल गयी हैं। एक ओर ऐसा भी उल्लेख है कि श्रीराधारानी साक्षात् परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा, श्रीकृष्णार्द्धाङ्गसम्भूता, उनकी ह्लादिनीशक्ति हैं। फिर क्या भगवान्‌की शक्तियोंमें भी विस्मरण होना संभव है ? कृपया इसपर प्रकाश डालें।**

## समाधान

यह सत्य है कि श्रुतियॉ 'सर्वज्ञ, सर्ववित्' आदि शब्दों द्वारा भगवान्‌के अनन्तैश्वर्यका बखान करती हैं। किन्तु लीलाक्षेत्रमे यदि ये ही सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वसौहार्द, सार्वत्रिकता आदि श्रुति-प्रतिपादित ऐश्वर्य-गुण भगवान् एवं उनके विभिन्न लीलापात्रोंमे व्यक्त होने लगें, फिर तो लीलाक्रम एक कदम भी आगे नहीं बढ पावे।

यशोदा तो भगवान्‌की जन्मदात्री माता हैं। वे यदि जानलें कि उनकी क्रोडसे सलग्न शिशु उनका पुत्र नहीं,, सच्चिदानन्दकन्द भगवान् है, तो श्रीबाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णकी शिशुलीला ही नहीं हो। भगवान् श्रीकृष्णको स्वयंको ही यह ज्ञान हो जाय कि यह मायाविनी पूतना ही सुन्दरी स्त्री बनकर मेरी माताको छलकर मुझे दूध पिलाने आयी है, तो भी लीलाकी मुग्धता न बने। मायाको निरस्त करदेनेकी भगवान्‌की शक्तिसे यदि पूतना उसी क्षण अपनी भयंकर आकृतिमें प्रकट हो जाती, उसकी आसुरी माया विनष्ट हो जाती तो अत्यन्त बलिष्ठ गोप जो ब्रजपुरके नगर-प्रहरीका कार्य कर रहे थे, एवं जो अतिशय सजग थे, वे ही पूतनासे युद्ध करने लग जाते और वात्सल्य-रस-भावित लीलाक्षेत्र युद्धभूमि होजाता। फिर तो गोपियोंका वात्सल्य-रस-भावित चित्तसे पूतनाके पीछे दौड़कर श्रीकृष्णको उसके मृत शरीरपरसे उठाकर लाना आदि पीतिलीला होती ही नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णमें यदि सर्वज्ञताशक्तिका उदय हो जाय तो चन्द्र-खिलौना वाली लीला होगी ? गगरीमें गगनस्थ चन्द्रके प्रतिबिम्बको देखकर क्या वे उसे शीघ्र निकालकर अपने हाथोमे लेलेनेके लिये मचलेंगे ? क्या फिर वे दूध पीनेसे चोटी लम्बी हो जायगी, - माताके इस भुलावेमें आवेंगे ? भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता यदि लीलामें प्रकट हो जाय तो फिर क्या वे यशोदाजी द्वारा ऊखलमे बँधेंगे ? फिर तो लीलाका प्रतिपाद्य-तत्त्व माधुर्य एवं सरसता ही नहीं रह पावेगी । लीलाक्षेत्रमें आकर तो स्वयं जगत्स्रष्टा ब्रह्मापर भी अज्ञानका आवरण पड जाता है। उन्हें ही यदि यह ज्ञान नित्य रहे कि ब्रजेन्द्रनन्दन साक्षात् परात्पर परब्रह्म हैं तो वे उनके सखाओं और ग्वालबालोंको मोहित करनेका दुस्साहस ही नहीं करें। एक क्षण तो अघासुर-मोक्षसे वे आनन्दमत्त होकर ब्रह्मलोकसे दर्शनेच्छुक होकर ब्रजभूमिमें आते हैं, एवं दूसरे ही क्षण भगवान्‌की अपने सखाओंके साथ वन-भोजनकी लीला देख मोहित हो उठते हैं - यह लीलामहाशक्तिका खेल है।

भगवान्की लीलामहाशक्ति भगवान्की लीलाके असमोर्ध्व माधुर्यकी संघटना करनेके लिये सब बातोंका यथार्थ ज्ञान स्वयं भगवान्को भी सब समय नहीं होने देती। फिर उनके लीलापात्रोंमें सर्वज्ञताशक्तिका अभ्युदय होनेका तो प्रश्न ही नहीं है।

लीलामहाशक्तिद्वारा उत्पन्न की गयी इसी रसमुग्धताके आवेशमें राजनन्दिनी श्रीराधा यहाँ अपनी ही निकुञ्जभूमिमें सन्धिनीशक्तिस्वरूपा अपनी ही सखी वृन्दा, अपनी ही दिव्य निकुञ्जनिवासभूमि और इस सभी निकुञ्जक्षेत्रको अपने किशोरावेशकी मधुरतामें विस्मृत कर गयी हैं। उन्हें ऐसी संस्कारगत स्फुरणा तो होती है कि मानो यह अपना ही घर हो, किन्तु 'यह उनकी नित्य रमणस्थली है' ऐसा स्पष्ट ज्ञान उस समय उन्हें इस किशोर-लीलावेशमे नहीं हो पाता। यह ज्ञान विस्मृत हो जाता है। यदि यह ज्ञान विस्मृत नहीं हो, और उन्हें स्मरण रहे कि वे नित्य निकुञ्जेश्वरी हैं फिर तो उनकी यह किशोरलीला एवं पूर्वरागजनित प्रीतिकी नव-नवायमान मधुरताका प्रकाश ही नहीं हो।

## जिज्ञासा

**श्रीराधारानीके कानोंमें जो ये शब्द आते हैं कि *'वे भूल रही हैं, पर इसको, अपनेको, मुझको भी प्रियतम!'* ये शब्द किसके हैं ? यहाँ ऐसा भ्रम होता है कि हंसके द्वारा मानवी भाषामें ये शब्द हंसिनीको सम्बोधितकर बोले गये हैं।**

## समाधान

ये शब्द तो श्रीराधारानीके अन्तःकरणमें उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ही अपनी चिन्मय प्रीतिभरी वाणीमें बोलते हैं। इसीलिये उनको वह ध्वनि चिर-परिचित प्रतीत होती है। हाँ ! यह अवश्य ध्यानमें रहे कि यह सम्पूर्ण रसलीला-क्षेत्र सच्चिदानन्दमय होनेसे सन्धिनी, चिन्मयी, ह्लादात्मा एवं ह्लादिनी शक्तियोका ही रस-विलास है। इसके सभी पात्र - पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, भ्रमर-भ्रमरी, कीट-पतंग, जितने भी पुल्लिङ्ग पात्र हैं, सब प्रियतम श्रीकृष्णके ही कायव्यूहरूप हैं और जितने भी नारी पात्र हैं, सभी प्रिया श्रीराधाके कायव्यूहरूप हैं। यहाँ हंसको हंसिनीके रोम-रोममें सच्चिन्मयी श्रीराधा ही भरी दृष्टिगोचर होती है और हंसिनीको हंसके रोम-रोममें उसके प्रियतम सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्ण ही भरे दिखाई पडते हैं। हंसिनी हंससे जो भी प्रणयरूप भाव व्यक्त करती है उसमें उसका देहजन्य कामभाव सर्वथा सर्वांशमें नहीं है, अपितु विशुद्ध चिन्मय श्रीकृष्ण-भाव-भावित उच्छलित प्रीतिभाव है। इसी प्रकार हंसमें भी हंसिनीके प्रति दैहिक आकर्षण लेशमात्र भी नहीं है। इस अप्राकृत चिन्मय भूमिमें प्राकृत देहजन्य कामको तो प्रवेश ही नहीं है। यहाँ तो ह्लादिनी चिन्मय महाशक्ति एवं ह्लादात्मा सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका ही रसविलास अणु-अणु एवं कण-कणसे स्फुटित हो रहा है।

### *हंस-हंसिनीकी गूढ़ वार्त्ता*

यह भान उसे होते ही वह अकचक-सी हुई उठी, प्रियतम!
स्वर था परिचित, पर किसका है, इस समय न जान सकी, प्रियतम!
सन्मुख वह हंस हंसिनी से कह रहा झूमकर था, प्रियतम!
'प्रियतमे! कथा मैं कहता हूँ, तुम सुनो एकमन से' प्रियतम॥२४३॥

**ऐसा भान होते ही भानुकिशोरी अकचक-सी हुई सावधान हो उठी। बोलनेवालेका-कानमें संकेत करनेवालेका-स्वर तो सर्वथा परिचित-सा लगा। यह स्वर किसका है, इसे वे इस समय जान न पायीं। सामने हंस-हंसिनी-युगलदम्पति बैठे हुए झूम-झूमकर तन्मय हो रहे थे। सहसा हंस बोल उठा मानवी भाषामें-''प्रियतमे! मैं एक कथा कह रहा हूँ, एकाग्र चित्तसे सुनो भला ! ।।२४३।।**

*'है वन अनादि, इसमें पुष्पित जो वे अशोकतरु हैं,' प्रियतम !*
*'उत्तर में उन से ही निर्मित जो वह निकुञ्जस्थल है,' प्रियतम !*
*'उसमें ही नित्य सनातन अज वे दम्पति रहते हैं,' प्रियतम !*
*'अतिशय ऊँचे हों भाग, तभी कोई ले देख भले।' प्रियतम ।।२४४।।*

**"उस ओर देखो ! देख रही हो न वनस्थलको ! उसमें जो वह पुष्पित अशोकश्रेणी है, वह अनादि है भला ! और देखो, उसके उत्तरकी ओर जो वह निकुञ्ज-स्थल है, जिसका निर्माण अशोकतरुओंने ही किया है-हाँ ! उसी निकुञ्जमें नित्य, सनातन, अज वे सच्चिदानन्दमय दम्पति निवास करते हैं भला ! जिसका भाग्य अत्यन्त ऊँचा है, वही उनको देख सकता है।।२४४।।**

## जिज्ञासा

**यहाँ हंस हंसिनीको सम्बोधितकर जो कथा सुनाता है उसमें अशोकके कुंजोंमें जो सनातन, अज, दम्पतिका नित्य निवास वर्णित है - वे अज दम्पति कौन हैं ? यदि वे अज युगलदम्पति राधाकृष्ण ही हैं तो हंसके सम्मुख वार्त्ता सुन रही यह राजकुमारी राधा उनसे पृथक् कैसे है ?**

## समाधान

यहाँ यह सदा ध्यान रखें कि प्राकृत बुद्धिसे विशुद्ध अप्राकृत चिन्मय लीलाराज्यको समझना कठिन होता है। प्राकृत बुद्धि जहाँ जड, प्रतिपल मृत्युग्रस्त, क्षणभंगुर जगत्को देखती है जिसमें जो आज है, वह कल नहीं, जो एक है वह अनेक नहीं , वह इसी क्षणभंगुरता एव परिच्छिन्नताके नियमोंको अप्राकृत चिन्मय जगत्मे भी आरोपित करना चाहती है। यहाँ एव उनकी लीलाके सभी विग्रह चाहे वे पशु, पक्षी, कीट-पतग ही क्यो न हों, सभी मायातीत, गुणातीत, नित्य शाश्वत और चिन्मय हैं। प्राकृत जगत्मे यदि कोई बाल्यावस्थामे है तो वह किशोर नहीं हो सकता। किन्तु अप्राकृत लीला ऐसी विलक्षण है कि श्रीराधारानीकी यदि कहीं रावलग्राममें जन्मलीला हो रही है तो वह भी नित्य ही होती है। वहाँ कालक्रमानुसार अनित्यता संभव ही नहीं है। प्राकृत जगत्में तो जो जन्मोत्सव हो गया वह उसी क्षण कालके ग्रासमें समा जाता है। किन्तु अप्राकृत जगत्में कालकी सत्ता नहीं होनेसे वह जन्मोत्सव प्रतिपल प्रतिक्षण नवनवायमान उत्साह एवं आनन्दसे शाश्वतकालतक मनाया जाता है। नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण नित्यनिकुञ्जेश्वरी अपनी प्रिया श्रीराधाको कभी भी यह जन्मलीला दर्शन करा सकते हैं। वे कह सकते हैं - 'प्रिये ! रावलग्राममे चलें एव देखें, तेरे जन्मके समय वहाँ कितने उत्साह एव आनन्दपूर्वक तेरा जन्मोत्सव मनाया जारहा है। अब प्राकृत बुद्धि यह समझ ही नहीं सकती कि एक ओर जहाँ श्रीराधाकिशोरी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ इस उत्सवकी द्रष्टा हैं तो फिर कीर्तिदा मैया प्रसूतिगृहमें किस श्रीराधारानीका प्रसव कर रही हैं ?

प्राकृत बुद्धिकी इस शकाका समाधान करना इसलिये कठिन होता है क्योकि प्राकृत जगत्मे जो काल भूतके गर्भमें समा जाता है, वह कभी वर्तमान नहीं हो सकता। जो एक है, वह अनेक नहीं हो सकता। किन्तु अप्राकृत राज्यमें सबकुछ सदैव नित्य होनेके फलस्वरूप जहाँ जन्मलीला नित्य है, वहीं बाललीला, पौगण्डलीला, एव कैशोरजनित सारी लीलाएँ सब समय सत्य होती हैं और किसी भी अधिकारीके सम्मुख वे नित्य सत्य होनेसे कभी भी प्रत्यक्ष हो सकती हैं। यहाँ हंस नामक पक्षी लीलापात्र अपनी प्रेयसी हंसिनीके सम्मुख यही सत्य प्रकट कर रहा है। वह हंसिनीके मिससे श्रीराधाकिशोरीको ही संकेत कर रहा है कि जिस वनमें तू पुष्पचयन करने आयी है, वह अनादि चिन्मय प्रीतिवन है। इस प्रीतिनिकुञ्जवनमें सम्मुख जो अशोकके पुष्पित तरु हैं, उस निकुञ्जमे प्रेमके दो देवता निवास करते हैं। जिनके बहुत ऊँचे भाग्य होते हैं अर्थात् जो रसमार्गके अधिकारी साधक होते हैं , उन्हें ही वे दर्शन देते हैं।

'वल्लभे! कहूँ कैसे घटना कबकी वह थी या है,' प्रियतम!
'जब काल नहीं इस वनमें है शासन करने वाला,' प्रियतम!
'है अहो! त्रिकाल सत्य, फिर है सब परे काल से भी,' प्रियतम!
'इतना-सा ही सङ्केत गिरा उसका कर सकती है।' प्रियतम।।२४५।।

''प्राणप्यारी ! कैसे बताऊँ, वह कबकी घटना थी या है। जब इस वनस्थलपर शासन करनेवाला 'काल' ही वहाँ नहीं है, तब कब बना था, कैसे बना है-कैसे निर्णय हो ? बस, अहो ! इतना-सा ही कह सकता हूँ कि यह निकुञ्जस्थल त्रिकालसत्य है, कालसे परे रहकर नित्य सत्य है यह ! वाणी मात्र इतना-सा ही इस निकुञ्जस्थलके सम्बन्धमें संकेत कर सकती है।।२४५।।

'वैसे ही तुम 'निकुञ्ज है वह,' ये शब्द भले सुन लो,' प्रियतम!
'पर 'देश' नाम से कथित नहीं कोई है वस्तु वहाँ,' प्रियतम!
'है कहाँ, अहो!' 'फिर इसका है उत्तर इतना बनता,' प्रियतम!
'वह अपनी ही महिमा में है परिनिष्ठित नित्य, भला!' प्रियतम।।२४६।।

''इसी भाँति ही 'वह निकुञ्जस्थल है'- इन शब्दोंको तुम सुन भले लो, किन्तु 'देश' नामसे कथित वहाँ कोई वस्तु ही नहीं है भला ! अहो ! 'तब वह कहाँ है ?'-इसका उत्तर देने जाकर इतना ही कहना बनता है-'वह अपनी ही महिमामें नित्य परिनिष्ठित है भला !।।२४६।।

'अच्छा तो, प्राणाधिके! सुनो, दम्पति के जीवन में,' प्रियतम!
'कैसी थी प्रीति परस्पर की लहरें लेती रहती,' प्रियतम!
'दोनों ही एक दूसरे को रहते निहारते ही,' प्रियतम।
'फिर भी अतृप्ति रहती, मानो दर्शन का सुख न मिला,' प्रियतम।।२४७।।

''अच्छा, तो...............प्राणाधिके ! सुनो,अहो ! उन निकुञ्जदम्पतिके जीवनमें परस्परकी प्रीति अहा! कैसी लहराती रहती है, दोनों ही परस्पर एक-दूसरेको निरन्तर कैसे निहारते ही रहते हैं, तथापि निरन्तर अतृप्ति भी बढ़ती ही जाती है; ऐसा भान हो होता रहता है-'हाय रे, दर्शनका सुख तो मिला ही नहीं'-बस, इतना-सा ही कह सकता हूँ - ।।२४७।।

'दोनों के प्राण एक होकर ऐसी गति धर लेते,' प्रियतम!
'होने लगती प्रतीति उनको, मानो मैं हूँ न अहो!' प्रियतम!
'स्वीकार काल का वे करते कहने के लिये तभी,' प्रियतम!
'वह था उनका स्वरूप ही, फिर आरम्भ खेल होता,' प्रियतम।।२४८।।

''..................अच्छा, आगे सुनो ! दोनोंके प्राण सर्वथा एकरूप हो जाते, एक अभिनव विचित्र गति उनकी हो जाती। उन्हें ऐसी प्रतीति होने लगती-'अहो ! 'मैं', 'मेरा' इन दो शब्दोंका उच्चारण भले ही कर लूँ, पर 'मैं', 'मेरा'-इनका अस्तित्व ही कहाँ है ? अस्तु, कहनेके लिये वे इसी विन्दुपर कालको स्वीकार करते हैं। काल उन दोनोंका स्वरूप ही है। अस्तु, .....फिर खेल आरम्भ होता है।।२४८।।

'उनकी पलकें खुलती', सुस्मित अधरों पर भर आता,' प्रियतम !
'सुस्थिर वे नयन-पुतरियाँ भी चञ्चल कुछ हो जातीं,' प्रियतम !
'गलबाँही दिये हुए ही वे धीरे-धीरे उठते,' प्रियतम !
'चलते धीरे, सुखसे धरणी जड़िमा धारण करती,' प्रियतम ॥२४९॥

"उनकी पलकें खुल जातीं। दोनोंके अधरोंपर सुस्मित भर आता। वे नयन-पुतरियाँ भी जो सुस्थिर थीं, अब कुछ चञ्चल हो जातीं। वे गलबाहीं दिये धीरे-धीरे उठ पड़ते, धीरे-धीरे चलने लग जाते। अहा ! उनका स्पर्श पाकर धरा जड़िमासे विभूषित हो जाती ......॥२४९॥

'आगे प्रवाह बढ़ता क्रमशः उन दोनोंके रसका,' प्रियतम !
'वे अहो ! कहाँ-से-कहाँ जुड़े उसमें बहते रहते,' प्रियतम !
'पीछे आने का प्रश्न नहीं उस धारामें बनता,' प्रियतम !
'वे सृजन और संहारजनित परिणाम न उसमें है,' प्रियतम ॥२५०॥

"................. क्रमशः उनके आनन्दका प्रवाह आगेकी ओर चलता। और अहा हा! वे परस्पर जुड़े हुए उसीमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बहते रहते। उस धारामें पीछे लौटनेका प्रश्न तो कभी बनता ही नहीं, सृजन और संहारजनित परिणाम तो उस प्रवाहमें किसीने क्षणभरके लिये कभी देखा जो नहीं।।२५०॥

## जिज्ञासा

इन छन्दोंमें वनके एक साधारण पक्षी हंसको तो समग्र रस-रहस्योंका ज्ञाता बताया गया है, वह सनातन, अजन्मा दम्पतिके सर्वरूपों एवं लीलाओंका द्रष्टा, मर्मज्ञ है एवं स्वयं श्रीराधाकिशोरी मूढ, भोली, अज्ञ बतायी गयी है, इसका क्या कारण है ?

## समाधान

यहाँ यह ध्यान रहे कि इस अध्यायमें पूर्वरागकी परम मधुर रसमयी लीलाका वर्णन है। पूर्वरागके अभ्युदयमे दूती अथवा दूतका विशेष स्थान होता है। दूत एवं दूती ही नायकके प्रति नायिकाकी रुचिको अभिप्रेरित करते है। वह नायकका नायिकाके सम्मुख गुण-वर्णन करती है, चित्र-दर्शन कराती है, किसी-न-किसी साधनसे वह नायिकामें नायकके प्रति लगाव (रति) उत्पन्न करनेकी चेष्टा करती है। यहाँ हस एव हंसिनी साधारण वनान्तर्गत सरोवरमें विहाररत जलपक्षी मात्र नहीं हैं, वे नित्यनिकुञ्जेश्वर एव नित्यनिकुञ्जेश्वरी सनातन प्रिया-प्रियतमके प्राणस्वरूप श्वासोंसे प्रकट हैं, अर्थात् वे इन दोनों सनातन अजन्मा प्रिया-प्रियतमके प्राण-सार-स्वरूप हैं। इन दोनोंके प्राण ही अपनी नित्यस्वरूपा श्रीराधाकुमारीको अपनी ओर उन्मुख करनेके लिये हस एव हसिनीके रूपमें दूत बनकर क्रियाशील हो रहे हैं।

## जिज्ञासा

कृपया *'वैसे ही तुम 'निकुञ्ज है वह' - ये शब्द भले सुनलो प्रियतम !'* इस पूरे छन्दका रहस्य खुलासा करें। जब यह देश ही नहीं है , तो श्रीराधारानीने अपने माता-पितासे आज्ञा लेकर सखियोंके साथ यहाँ कैसे पदार्पण किया ? यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि वे मेंहदीकी झाड़ीके पथसे चलकर आयी हैं। देशके बिना उन्हें दिशाबोध कैसे हो सकता है ? वे पहले अग्निकोणवाले सरोवरके किनारेपर पहुँचती हैं, तब पश्चिमकी ओर चलती हैं। इस प्रकार दिशाओंका उल्लेख तो स्पष्ट देशका ही निर्देश करता है। दूसरे बृषभानुपुरकी जनता भी इस वनकी फेरी करती है, तो बिना देश हुए यह स्थल सभी जनताके सम्मुख कैसे दृष्टि-पथमें आता है ?

## समाधान

सचमुच यह प्रीतिका पथ अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, प्राकृत मन-बुद्धिसे अगोचर तर्कातीत है। यह पूर्वतः ही उल्लेख किया जा चुका है कि यह प्राकृत देश-कालको देखनेवाली बुद्धिके द्वारा समझा जानेवाला जड राज्य नहीं है। जैसे सच्चिदानन्दकन्द प्रिया-प्रियतमका निकुञ्ज विलक्षण अलौकिक रसरूप है, ठीक उसी तरह उनका वृषभानुपुर, उनका नन्दग्राम, वहाँकी प्रजा, वहाँ रहनेवाले गोप-गोपी, पशुपक्षी, कीट-पतंग, दास-दासी सभी महाभाव रससिन्धुकी लहरें हैं। वहाँ महाभाव रससिन्धुकी लहरें ही पृथ्वी एवं गिरिराजके उत्पलके रूपमें परिणत हैं, वे ही तरुओ, लतिकाओं, सरोवरों, वन, गिरि, नद-नदी, महल-मकान, दास-दासीके रूपमें परिणत हैं। ये सच्चिन्मयी महाभाव-रससिन्धुकी लहरें ही यहाँ काल, देश, जल, स्थल, नभ, वायु, तेज, सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, वायु, प्राणके रूपमे भासित हो रही है।

इसको समझनेकी परिपाटी यही है कि सर्वप्रथम साधकको भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनके रसराजस्वरूपमें दर्शन हो। इस दर्शनके पश्चात् ही साधककी बुद्धि चिन्मयाविष्ट होकर वृन्दावन, वशी, कदम्ब, यमुनादि चिन्मय लीला-भूमिको अनुभव कर पाती है। तभी उसका पांचभौतिक देह एवं जगत्का अध्यास निवृत्त होता है। जबतक पाचभौतिक देह एवं पंचभूतात्मक जगत्के अध्याससे मन-बुद्धि लेशात्मक रूपमें भी आक्रान्त है, उसे भगवान्का स्वरूप भी उनके हाथ-पैर, मुख एवं इन्द्रियाँ भी जड-प्राकृत जैसी ही अनुभव होती हैं। पांचभौतिक जड देहाध्यासकी आत्यन्तिक निवृत्ति होनेपर ही साधकको भावदेहकी प्राप्ति होती है और उसे चिन्मय मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ मिलती हैं, जिनसे वह चिन्मय भगवद्धाम - रसभूमिमे पैर रखता है। तभी उसे सच्ची यमुना, दिव्य वृन्दावन,निकुञ्जों, परम दिव्य गिरिराज आदिका दर्शन होकर उनकी सच्चिन्मयताकी प्रतीति होती है। तभी साधक जान पाता है कि रससिन्धु-स्वरूपमे काल एवं देश कैसा होता है। तभी उसे पता लगता है - यहाँकी जड़ निशा और वहाँकी चिन्मय रससिन्धुस्वरूपिणी निशामें कितना धरा-आसमानका अन्तर होता है। वहाँका दिन-रातरूप काल यहाँके कालसे सर्वथा ही अलौकिक है।

यह अवश्य है कि वहाँ भी निशा आती है और दिवसका अवसान होता है। फिर महारसमयी यह निशा भी अपने सम्पूर्ण राज्यका भार अपनी प्राणसखी ऊषाको सौंपकर सीकरोंके रूपमें अपने प्रेममय विदाईके अश्रुकण बिखेरती चली जाती है। यहाँ भी ब्राह्ममुहूर्त्त होता है, यमुनाके किनारे पूर्वमें सूर्योदय होता है और पश्चिममें गिरि- पर्वतश्रेणीमें उसका अस्त हो जाता है। यहाँ भी निशाका अन्त होनेपर शुक, सारिका, मयूर, कोकिल, आदि असंख्य पक्षी कलरव करते हैं। इस कलरवके मध्य ही वृषभानुपुर एवं ब्रजप्रदेशके लोग जागते हैं। परन्तु यहाँके सचिन्मय पक्षियोंकी काकलीमें सच्चिदानन्दसिन्धु समाहित होता है, जड़ता नहीं। यहाँकी यमुना एवं यहाँके सरोवरोंमें महाभाव-रस-सागर प्रियतम नीलमणि ही भरे होते हैं। यहाँके पद्मोंमें, अरविन्दोंके प्रस्फुटनमें प्रिया प्रियतमकी चिन्मय रसभरी मुसकान प्रतिबिम्बित होती है। यहाँके हंस-हंसिनियाँ उन अनादि सनातन दम्पतिके श्वास-प्रश्वाससे उत्पन्न होते हैं। वे मल-मूत्रमय, जन्म-मरणशील जीव नहीं होते। तभी यह बात भी अवगत हो पाती है कि कहनेको ही प्राकृत वाणी 'निकुञ्ज है वह' पढती है, कहती है, सुनती है, परन्तु वह निकुञ्ज जड भूतात्मक देश नहीं, वह किसी देशमें व्यक्त नहीं, वह तो सच्चिदानन्दकन्द राधामाधवकी तरह अपनी महिमामें ही व्यक्त है। वह निकुञ्ज ही नहीं समग्र ब्रजप्रदेश ही - नन्दग्राम, गोकुल, वृहद्वन, महावन, गिरिराज, यमुना, वृषभानुपुर - सब भूखण्ड अपनी महिमामें ही स्थित हैं और मात्र सच्चिन्मय रसरूप हैं -कहीं किसी प्राकृत देशके भूखण्डमें उनकी स्थिति परिलक्षित नहीं की जा सकती।

'जो हो, वह घटना है तब की, दोनों जब उत्सुक थे; प्रियतम !
'शृङ्गार धराने की इच्छा ले गौर- नील तनमें; प्रियतम !
'दोनों में होड लगी थी यह, है कला किसे कहते; प्रियतम !
'दिखलायें आज परस्पर की पटुता इस रचना में; प्रियतम।।२५१।।

"जो हो, वह घटना तबकी है, जब दम्पति परस्पर अपने गौर-नील तनमें शृङ्गार धरानेकी इच्छा लेकर बड़े ही उत्सुक हो रहे थे। दोनोंमें इस बातकी होड़ लगी थी कि हम दोनोंकी परस्पर शृङ्गार-रचनाकी इस पहली घटनामें - मैं जीतती हूँ कि तुम, मैं जीतता हूँ कि तुम - इसकी आज परीक्षा हो जाय। अस्तु,"।।।२५१।।

'प्यारी को देख-देखकर ही प्यारे रचना करते; प्रियतम!
'प्यारे को देख-देखकर ही प्यारी रचना करती; प्रियतम!
'अपने ही आप अँगुलियों में उनकी वे आ जाते; प्रियतम!
'उपकरण सभी, आवश्यक, जो जितने जब थे होते; प्रियतम।।२५२।।

शृङ्गार आरम्भ हुआ ! प्यारीको देख-देखकर ही प्यारे रचना करते थे और प्यारेको देख-देखकर ही प्यारी रचना करती थी। अचरज यह था कि अपने-आप ही उनकी अँगुलियोंमें शृङ्गारके वे उपकरण आ जाते - सभी उपकरण आ जाते - जब, जितने, जो आवश्यक होते।।२५२।।

'प्राणों-की अभिलाषा ही वह माला बन कर आती; प्रियतम!
'प्राणों-का ही उल्लास सुमन सुरभित होकर आता; प्रियतम!
'प्राणों-का स्नेह विमल नीला-पीला फुलेल बनता; प्रियतम!
'प्राणों-का ही अनुराग तरल शीतल विलेप होता; प्रियतम।।२५३।।

ग्रीवामें धारण करानेकी माला अपने आप आ जाती, वास्तवमें तो प्राणोंकी अभिलाषा ही माला बनती थी। प्राणोंका ही उल्लास सुरभित सुमन बनकर आता था। प्राणोंका स्नेह ही निर्मल नीला-पीला फुलेल बनता था। प्राणोंका अनुराग ही तरल-शीतल विलेपनका रूप धारण करता।।२५३।।

## जिज्ञासा

कृपया यहाँ जो सनातन दम्पति नित्यनिकुंजेश्वर एवं नित्यनिकुंजेश्वरी परस्पर एक दूसरेका शृङ्गार करते हैं, उस परम रसमय शृङ्गारका खुलासा करें।

## समाधान

वस्तुतः श्रीराधारानी न तो जड़ देहधारी रमणी हैं, न ही उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ही कोई प्राकृत नर-देहधारी रमण हैं। महाभावरूप सच्चिदानन्दमय प्रेम परतत्त्व ही आश्रयभावनिष्ठ होकर नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाकी परम सच्चिन्मयी आकृति ग्रहण कर लेता है एवं विषयभावनिष्ठ होकर नित्यनिकुञ्जेश्वर-स्वरूप हो जाता है। आश्रय-विषय भावनिष्ठ यह प्रेम-परतत्व कैसे प्रिया-प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीका स्वरूप ग्रहण करता है - इसका पू.गुरुदेवके मुखसे कथित विवरणका अवगाहन करें।

सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका निरुपाधिक आह्लादरूप प्रेम ही नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानीकी आत्मा है, और श्रीराधाकी सोपाधिक सदानन्दरूपा प्रीति ही नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्णका आत्मा है। निरुपाधिक आह्लादरूपा होनेसे ही नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रियामे आश्रयनिष्ठा प्रधान है एवं सोपाधिक सदानन्दरूप होनेसे ही नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण विषयालंबन-प्रधान हैं। वैसे श्रीराधारानीके प्रेमी होनेके कारण वे यदा-कदा आश्रयालबनको भी स्वीकार कर लेते हैं। उस समय वे निरुपाधिक प्रेमके संग्राहक बन जाते हैं एवं श्रीराधा विषयालंबनयुक्त हो जाती हैं। अधिकांशतः आश्रयालंबनकी प्रधानता नित्यनिकुंजेश्वरी श्रीराधारानीमें ही रहती है, एवं विषयालबनकी प्रधानता प्रियतम श्रीकृष्णमें। यह निरुपाधिकता एवं सोपाधिकता ही दोनोंकी भिन्नता है, अन्यथा तो दोनों ही पूर्ण परात्पर परतत्त्व प्रीतिभावरूप ही हैं।

यह निरुपाधिक प्रेम ही श्रीराधारानीका सत्तात्मक अहङ्कार 'मैं' हो जाता है और सोपाधिक प्रेम ही श्रीकृष्णचन्द्रके सच्चिदानन्दात्मक अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर उनका सत्तात्मक अहङ्कार 'मैं' होगया है।

श्रीप्रिया-प्रियतमका अहङ्कार 'मैं' ही आश्रय एवं विषयालम्बन ग्रहणकर ह्लादिनी एवं ह्लादात्मा द्विधा परस्पर समालिङ्गित शक्तिस्वरूप है। इन दोनोंकी सधिनीशक्ति भगवती वृन्दा हैं और महादेवी योगमाया ही इनकी चिच्छक्ति हैं।

ये सधिनीशक्तिस्वरूपा भगवती वृन्दा ही प्रिया-प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वरी एवं नित्यनिकुञ्जेश्वर दोनोंकी अव्यक्त प्रकृति, देहस्वरूपा हैं और महादेवी योगमाया ही इन दोनोका महत्तत्व हैं।

अपने प्रियतम श्रीकृष्णको सदा-सर्वदा निरतिशय सुखी करनेकी सकल्प-विकल्पात्मक स्फुरणा ही श्रीराधारानीका मन है और अपनी प्रियाको सदैव सुखी करनेका संकल्प ही प्रियतम श्रीकृष्णका मन है। लीलामहाशक्ति ही दोनोंकी बुद्धि हैं और प्रिया श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी चित्तस्वरूपा जीवन्त चेतना हैं और प्रियतम श्रीकृष्ण ही श्रीराधाके चित्त, उनकी सचेतनता हैं।

सन्धिनीशक्तिकी परिणति वृन्दानिकुञ्जकानन ही प्रिया-प्रियतमकी केशराशि है। जहाँ प्रिया श्रीराधारानीकी केशराशिमे सम्पूर्ण स्त्रीजातिके वनचर, जलचर, पक्षियो एव भ्रमरोका नित्य आवास है, समग्र पुरुष जातिके पशु-पक्षियों एवं भ्रमरोंका आवास श्रीकृष्णकी केशराशिमें है।

इन नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीके मस्तकपर धारण किया हुआ जो मयूरमुकुट एवं चन्द्रिका है, वही गिरिराज गोवर्धन है। एवं प्रियतम श्रीकृष्ण एवं प्रिया श्रीराधारानीकी धम्मिल्ल (चोटी) ही रसरूप होकर यमुनाके रूपमें लहरा रही है।

ईशान कोणसे उठी स्वाधीनभर्तृकाभावकी प्रथम लहर ही, जिसकी प्रतिनिधि विशाखा सखी हैं एवं प्रियतम श्रीकृष्णका धीरोदात्त नायक-स्वभाव ही उनके केशोंका सान्निध्य स्वरूप है। यह स्वाधीनभर्तृकाभाव ही अति सुगन्धित तैलरूप उपकरण है जो प्रियतमके करोमें स्वतः ही आ जाता है और इससे वे प्रिया राधाके केशोंको स्निग्ध करते जाते हैं। इसी प्रकार धीरोदात्त नायकका स्वभाव ही वह तैल है जिससे प्रिया प्रियतमके केशोंको स्निग्ध कर देती हैं। ये प्रिया-प्रियतम परस्पर सर्वप्रथम एक दूसरेको प्राणोंकी अभिलाषासे भरकर निहारते हैं और इस स्नेहभरे निहारनेसे उनके उद्दाम स्नेहभरे मनमे जो अभिलाषारूपमें भाव उठते हैं, वे भाव ही इनका शृगार बनते जाते हैं।

इसी प्रकार प्रियतमके प्राणोंकी अभिलाषारूप इसी ईशानकोणसे उठी स्वाधीनभर्तृकाभावकी तीसरी उत्तुंग लहर ही इन केशोमें सुवासार्थ प्रियतमके हाथोंमें पुष्पसार इत्र बनकर आजाती है जिससे प्रियतम प्रियाके केशोंको अनुपम सुवाससे सुवासित कर देते हैं। इसी प्रकार प्रियाके प्राणोकी अभिलाषा ही इत्र बनकर प्रियतमके केशोंको सुवासित करती है। यह केशोंकी सुवासकी प्रतिनिधि सखी चन्दनमञ्जरी हैं। इसी प्रकार श्रीराधारानीके केशोंका कुञ्चितपना भी उनके दिवाभिसारिकाभावकी पाँचवीं उद्दाम लहर है जिसका प्रतिनिधित्व सखी सुकेशी करती हैं।

प्रिया-प्रियतम एक दूसरेको परस्पर अपने प्राणोंके स्नेहरूप कारुण्यामृतसे प्रथम स्नान कराते हैं, तत्पश्चात् दूसरा स्नान इनका प्राणोंके उल्लासरूप तारुण्यामृतसे होता है जिसकी प्रतिनिधि श्रीरूपमञ्जरी सखी है। इसी प्रकार प्रियतम श्रीकृष्ण प्रिया श्रीराधारानीकी लज्जाके निवारणार्थ स्वयं ही उनका नीलवसन बनकर उनके अङ्गों में धृत हो जाते हैं और श्रीराधारानी ही उनका पीताम्बर बनकर उनके अङ्गोंको आच्छादित कर लेती हैं। इसी प्रकार प्रियतमका अनुराग ही उनकी रक्तकंचुकी बन जाता है एवं प्रियतमका प्रणयी मन ही उनकी हरे रंगकी ओढनी हो जाता है। इसी प्रकार प्रियाका प्रणयी मन ही प्रियतमका उपरैना वस्त्र हो जाता है।

प्रियतम श्रीकृष्णके प्राणोंका प्रेमाभिलाषारूप परम निर्मल उज्ज्वल भाव ही मृगमद है जिसका विलेपन प्रियतम श्रीकृष्ण अपनी प्रियाके अङ्गोंमें करते हैं और अपने अधिरूढ महाभावरूप उत्तमोत्तम मादक गन्धयुक्त मृगमदको प्रिया अपने प्रियतमके अङ्गोंमें विलिप्त करती हैं।

उन दोनों प्रिया प्रियतमके प्राणोंकी अभिलाषारूप स्वाधीनभर्तृकाभावकी उन्मत्त छठी सर्वोपरि लहर ही हारहीरा सखीके रूपमें उनके कण्ठकी पाँच प्रकारकी हारावली बन उनकी ग्रीवाको सुशोभित कर रही है। श्रीराधारानी कनकहार, मुक्ताहार, हीरकहार, रत्नहार एव पुष्पहार - इस प्रकार पाँच हार पहनती हैं। पुष्पहारोंमें श्रीराधारानीके कण्ठमें नीलकमलोंका हार एव उनके प्रियतम श्रीकण्ठके कण्ठमें रक्तपद्मोंका हार शोभा पाता है। इसी प्रकार श्रीराधारानीके कण्ठदेशमें रत्नहारके रूपमे नीलमकी मणियोंका हार रहता है एवं श्रीकृष्ण पीताभ मणियोंका हार धारण करते हैं।

प्रियतम श्यामसुन्दरके प्राणोका उल्लास ही उन्हें अपनी प्रियाके हाथोमे नीलकमल बनाकर सौंप देता है, जिसे वे नित्य धारण किये रहती हैं। और इसी प्रकार प्रियतम श्रीकृष्ण भी प्रिया राधारूप पीत वर्णका कमल अपने हाथोंमें नित्य ही धारण किये रहते हैं। श्रीराधारानी सदैव ही अपने अङ्गोंमें अपने प्रियतमके प्राणोके स्नेहका प्रतीक नील फुलेल लगाती हैं एवं प्रियतम श्रीकृष्ण पीतवर्णके फुलेलका प्रयोग करते हैं।

स्वाधीनभर्तृकाभावकी चौथी उद्दाम एवं विशद लहर जिसकी मूर्तिमती स्वरूपा कर्पूरमञ्जरी हैं प्रियतमका तरल अनुरागरूप होकर प्रिया श्रीराधारानीके अङ्गविलेपनका शीतल सुवास बन जाती है। इसमें इसी स्वाधीनभर्तृकाभावकी पाँचवीं उद्दाम लहर मन्दस्मिति और उनकी काञ्चनाभा कान्ति जो दिवाभिसारिका भावकी दूसरी लहर है कर्पूर बनकर मिल जाती है। ये दोनों लहरें क्रमशः सखी शशिरेखा एवं विमलाका मूर्तिमान् स्वरूप हैं। इसमे प्रियतम श्रीकृष्णका अपने सखाओंके प्रति प्रेमभाव एवं प्रिया श्रीराधारानीका अपनी सखियोके प्रति प्रणयरूप चन्दन ही मिश्रित कर दिया जाता है।

'प्राणों-की वृत्ति सदा नव सुख देने-ही-देने की'; प्रियतम !
'प्राणों-की आशा नित्य नये रसमें सन जाने की'; प्रियतम !
'प्राणों-की वह अभिसंधि मिले रहने की आपस में'; प्रियतम !
'प्राणों-से झर ये सब बनतीं तूली छवि लिखनेकी'; प्रियतम ॥२५४॥

**प्राणोंको सदा नवीन सुख देने-ही-देनेकी जो परस्पर वृत्ति थी उनमें, प्राणोंकी नित्य नये रसमें सन जानेकी आशा, परस्पर मिले रहनेकी नित्य अभिसन्धि - ये ही प्राणोंसे झर-झरकर चित्राङ्कनकी तूलि बन जाते।।।२५४।।**

'प्राणों-की ममता ही काली कबरी-डोरी बनती'; प्रियतम !
'प्राणों-का मोह परस्पर वह काजल बन जाता था'; प्रियतम !
'प्राणों-का अद्वयपन-मद चू भ्रूमध्य-बिन्दु बनता'; प्रियतम !
'प्राणोंका प्रणय-रोष होता वह लाल महावर था'; प्रियतम ॥२५५॥

***प्राणोंकी ममता ही काली-कबरी डोरी बनती, परस्परका प्राणोन्मादी मोह ही काजल बन जाता। प्राणोंमें जो*** **अद्वयपनका मद था, वही चू-चूकर भ्रू-मध्यका विन्दु बनता। प्राणोंका प्रणय-रोष ही लाल महावर बनता।।।२५५।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

परस्पर एक दूसरेको नव-नवायमान् सुख देने-ही-देनेकी वृत्ति, नित्य नव-नवायमान रस-सिन्धुकी एक-से-एक बढकर उमड़ती लहरोंमें घुलमिलकर चूर्ण-चूर्ण होकर सन जानेकी आशा एव परस्पर नित्य मिले ही रहनेकी अभिसन्धि - ये सभी प्राणोंसे झरकर एक-दूसरेका शृंगार करनेका उपकरण तूलिका बन जाती हैं। इस तूलिकासे ही दोनों प्रिया-प्रियतम परस्पर अपना शृंगार करते हैं।

इन प्रेमी युगलके प्राणोंकी ममता ही काली डोरी बनकर प्रियाके उन्मुक्त घने काले कुञ्चित केशोंका बन्धन बन जाती है। वस्तुतः श्रीराधारानीके केश तो सच्चिन्मय वृन्दाकुंजकानन प्रियतम श्रीकृष्णका धाम हैं। यह धाम यमुनाजी द्वारा पूर्णतया परिरभित एवं ग्रथित है अतः जब वेणी रूपमें निबद्ध होता है तो यमुनाका रसमय रूप ग्रहण कर लेता है। इसको ग्रंथन करनेकी रज्जु तो प्रियतम श्रीकृष्णकी प्रीति ही है। यह रज्जु स्वर्ण एवं रजतके तारोंसे निर्मित होनेके कारण परम निर्मल श्रीराधारानीके वर्णकी है। प्रीतिरज्जुका वर्ण तो श्रीराधारानीके समान ही होगा। इसमें असंख्य अनमोल ज्योतिर्मान् भावरत्न जगमग करते खचित हैं। यह रज्जु निश्चय ही प्रियतम श्रीकृष्णके प्राणोंकी अनन्त ममतासे सनी है। यही इस छन्दका भाव है।

'प्राणों-में बढ़ी प्रीति टेढ़ी चलकर कँगही बनती; प्रियतम !
'प्राणों-की रति परिणत होती उज्ज्वलतम दर्पणमें; प्रियतम!
'प्राणों-में बढ़ी हुई पल-पल आसक्ति पान होती; प्रियतम !
'प्राणोंकी ही रुचि बन जाती अम्बर नीला-पीला; प्रियतम॥ २५६॥

**प्राणोंमें बढ़ी हुई प्रीति बङ्किम गतिसे चलकर कंघीका रूप धारण कर लेती। परस्परकी प्राणोंकी रति ही उज्ज्वलतम दर्पणके रूपमें परिणत हो जाती। प्राणोंमें बढ़ी हुई पल-पलकी उनकी पारस्परिक आसक्ति ताम्बूलका रूप धारण कर लेती। प्राणोंकी रुचि ही उनका नीला-पीला अम्बर-परिधान बन जाती।।।२५६।।**

'प्राणों-का सञ्चालन बनता आवरण पयोधर का; प्रियतम !
'प्राणों-के स्वर वे सात बंद-चोली के हो जाते; प्रियतम !
'प्राणों-का ही विश्वास अचल वह पुष्पसार बनता; प्रियतम !
'प्राणों-की सुन्दरता होती लीला-नीरज कर का; प्रियतम॥ २५७॥

**प्राणोंका स्पन्दन-सञ्चालन ही पयोधरका आवरण बनता था; प्राणोंके स्वर ही किशोरीकी सात बंदवाली चोली बनते। प्राणोंका विश्वास ही उनके लिये अचल-कभी नष्ट न होनेवाला- पुष्पसार बनता। प्राणोंका सौन्दर्य ही हाथको विभूषित करनेवाला लीलाकमल बनता।।२५७।।**

'यों स्वतः हुई प्रस्तुत चिन्मय सामग्री लेकर वे; प्रियतम !
'तल्लीन हुए निरुपम रचना करने लग गये वहाँ; प्रियतम !
'भावों से कर हिल-हिलकर था कुछ-का-कुछ बन जाता; प्रियतम!
'दो-तीन बार में ही पूरा श्रृङ्गार एक होता; प्रियतम ॥ २५८॥

**इस प्रकार अपने आप प्रस्तुत हुई चिन्मय सामग्रियोंको लेकर, उसमें तल्लीन हुए वे निरुपम वेश-रचना करने लगे। भावोंके आवर्तसे दोनोंके कर-सरोज रह-रहकर हिल जाते और कुछ-के-कुछ चित्र बन जाते; दो-तीन बारमें ही एक शृंगार पूरा होता।।२५८।।**

'हो गयी वेश-रचना, तब वे कहने इस भाँति लगे; प्रियतम !
'किसने बाजी जीती, बोलो, पहले तुम, तुम पहले; प्रियतम !
'कोई सम्मत न हुआ, निर्णय जो पहले बतलाये; प्रियतम !
'बस, झूल-झूलकर हँसते वे, गलबाँही दिये हुए; प्रियतम ॥२५९॥

**इस प्रकार जब वेश-रचना पूरी हो गयी, तब वे कहने लगे - 'बोलो, किसने बाजी जीती ? पहले किसका शृंगार पूरा हुआ ?' नीलसुन्दर कहते-'बाजी तुमने जीती, प्राणेश्वरी राधे ! पहले तुम्हारा शृंगार पूरा हुआ है, अतः तुमने बाजी जीती'। कोई भी 'पहले'का निर्णय देनेके लिये प्रस्तुत न हुआ। बस, वे परस्पर गलबाहीं दिये हुए झूल-झूलकर हँसने लगे।।२५९।।**

*'आखिर बोली प्यारी, 'प्यारे ! तुम अहो ! विजेता हो' प्रियतम !*
*'बोला प्यारा,' सच है प्यारी ! श्री-कर में ही जय है।' प्रियतम !*
*'दोनों ही दुहराते जाते अपनी ही उक्ति, भला!' प्रियतम !*
*'मुखरित निकुञ्जवनका कण-कण होता उस मधुरव से' प्रियतम।।२६०।।*

**आखिर बड़ी गम्भीर-सी मुद्रा बनाकर किशोरी बोल उठी - 'प्रियतम ! विजेता तुम्हीं सचमुच हो भला !' और क्षणभरका विलम्ब न करके नीलसुन्दर भी उसी स्वरमें बोल उठे-'प्रियतमे ! सच मान लो, जय तो तुम्हारे ही कर-सरोजमें है। और फिर दोनों अपनी-अपनी उक्ति दुहराते जाते तथा उनके रवसे सचमुच मधु-सा झरता रहता। निकुञ्ज-वनका कण-कण मुखरित होता रहता उनके मधुमय स्वरसे।।२६०।।**

## *नेत्रोंमें रंजित काजलका भाव*

श्रीचैतन्यचरितामृतमें वर्णन है -***'प्रेमकौटिल्ये नेत्र युगले काजल''*** अर्थात् प्रियतम श्रीकृष्णमे जो प्रेमजन्य कुटिलता है, अपनी उस अतिशय रसमयी कुटिलतासे ही वे अपनी प्रियाके नेत्र ऑजते है। पू.गुरुदेव इसी काजलकी उत्पत्तिका हेतु प्रिया-प्रियतमके प्राणोंमे जो परस्पर एक दूसरेके प्रति मोह है, उसे बतला रहे हैं। यह ध्यान रहे कि कुटिलता, कपट आदि पूरी कालिमाएँ तो मोहमे ही सभव हैं। प्रीति तो सदैव परमोज्वल, निर्मल, स्वच्छ प्रकाशमय ही होती है। यहॉ यह आश्चर्य ही है कि प्रिया-प्रियतमका यह मोह मात्र कृष्णाभा तो अवश्य लिये है, परन्तु है प्रियाके नेत्रोको आभूषित करनेवाला, परम रसमयी। इसका कारण यही हो सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णसे जो भी भाव संलग्न हो जाते हैं वे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि प्राकृत जगत्के गर्हित भाव भी भगवान्के सम्बन्धसे विशुद्ध रसमय हो उठते हैं। भगवान्से संलग्न होने मात्रसे 'काम' प्रेमके निर्मलरूपमें परिणत होकर सर्व भक्तजन-वन्दनीय हो उठता है, क्रोध भी भगवत्संस्पर्शको पाकर दिव्य 'मान'में परिणत हो उठता है, लोभ भी भगवत्सस्पर्शसे उत्तरोत्तर बढनेवाली भगवत्प्रीतिजन्य मिलनकी लालसा अथवा प्रतिपल तीव्र-तीव्रतर होनेवाली उत्कण्ठामें परिणत हो जाता है, और यह मोह प्रियाके नयनोंमें अंजित होने योग्य कज्जलकी पात्रता पाकर सुविभूषित हो उठता है। प्रियतमकी अखण्ड दर्शनकी वृत्तिरूप यह मोह ऐसा विलक्षण कार्य करता है कि प्रियाको ***'जित देखूँ तित श्याममयी'*** के स्वरूपमें प्रतिष्ठित कर देता है। ज्योंही इस मोहरूपी कज्जलसे प्रियतम प्रियाके नेत्र ऑजते हैं, त्योही प्रियाकी नेत्रपुतरी ही बदल जाती है। वे बोल उठती हैं -

**अति आश्चर्य बदल दी तुमने मेरी दृग-पुतली, प्राणेश!**
**दीख रहे अब मुझको तुम सर्वत्र सभीमें हे हृदयेश!!**
**मानवकी क्या बात, सुरासुर, पशु-पक्षी, सब कीट-पतंग।**
**जल - थल - अनल - अनिल नभ सब ही एक तुम्हारे ही श्रीअंग।।**
**वृक्ष - लता - गिरि - कूट - नद - नदी, दिशा - सूर्य - शशधर - नक्षत्र।**
**मुझे दीखते तुम प्रियतम, जीवनके जीवन, नित सर्वत्र।।**

'अहो, प्राणवल्लभ ! तुमने यह मेरे नेत्रोंमें अञ्जन अञ्जितकर कैसा जादू कर दिया ? हाय, हाय ! मेरी तो नेत्रोंकी दोनों दृगपुतलियॉ ही इस अञ्जनके ऑजते ही सर्वथा परिवर्त्तित हो गयीं। अब तो मुझे हे हृदयेश्वर ! तुम्हीं सर्वत्र सभीमें

पूरे छकाछक, लबालब भरे दृष्टिगोचर हो रहे हो। अरे, अरे, मानवकी तो बात ही क्या कहूँ, सभी देवी-देवता, पापी आसुरीवृत्तियुक्त जीव भी मुझे तुम्हारे ही अग (भाग) प्रतीत हो रहे हैं। पशु पक्षी, कीट-पतंग, तो फिर भी चेतन तो हैं, मुझे तो जड़ पदार्थ - जल-स्थल, अग्नि-वायु एवं आकाश भी तुम्हीमे ओतप्रोत समझमे आ रहे हैं। अरे, अरे, ये वृक्ष, वृन्दावनकी सुरम्य लताएँ - ये रत्नजटित उन्नत मस्तक किये पर्वत-शिखर, ये नदियाँ, बृहद् सरोवर, दसों दिशायें, सूर्य-चन्द्र एवं नक्षत्रमण्डल -सर्वत्र सभीमें हे मेरे जीवनके जीवन ! तुम्हीं तो पूरे भरे हो।'

देखा, इस मोहरूप काजलका चमत्कार ! कैसा विलक्षण है यह प्रियाका कृष्ण-मोह-जाल ! प्रियाको यह उनका प्रियतम-मोह तो उन्मत्त ही बना देता है। वे अपनी सखि ललिताको सम्बोधितकर कह रही हैं - 'सखि ललिते ! मुझे यह क्या होगया है, मेरे लिये तो समग्र देश-काल, रात-दिवस, जन्म-मरण, पालन एव संहार, दु ख-सुख, तम एवं प्रकाश, हानि-लाभ, विलय एवं विकास सभी मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके रूपमें ही परिवर्तित होगये हैं।'

**देश कृष्ण, काल कृष्ण, दिवस कृष्ण, रात कृष्ण।**
**जन्म कृष्ण, मरण कृष्ण, संरक्षण-घात कृष्ण।।**

**दुःख कृष्ण, सुख कृष्ण, तम औ प्रकाश कृष्ण।**
**हानि कृष्ण, लाभ कृष्ण, विलय औ विकास कृष्ण।।**

**काम कृष्ण, क्रोध कृष्ण, लोभ कृष्ण, मोह कृष्ण।**
**हर्ष कृष्ण, शोक कृष्ण, दम्भ-दर्प-द्रोह कृष्ण।।**

**लेन कृष्ण, देन कृष्ण, ग्रहण कृष्ण, दान कृष्ण।**
**स्तुति कृष्ण, निन्दा कृष्ण, मान - अपमान कृष्ण।।**

ऐसे मोहमय-काजलसे प्रिया अपने नेत्र आँजती हैं। यही दशा प्रियतम नीलसुन्दरकी भी होती है। ज्यों ही प्रिया श्रीराधारानी अपनी सुकोमल मध्यमा अँगुलीमें काजलकी रेखा लगा अपने प्रियतमके नेत्रोंमें यह कज्जल संलग्न करनेको उत्सुक होती हैं, उस कज्जलके स्पर्शमात्रसे प्रियतमको भी सर्वत्र अपनी प्रियाके ही दर्शन होने लगते हैं। वे भी अपने सखा सुबलसे अपनी ऐसी ही अनुभूतिका प्रकाश कर बैठते हैं -

**राधा घर, काननमें राधा, राधा नित यमुनाके तीर।**
**राधा मोद, प्रमोद राधिका, राधा बहे नयन बन नीर।।**

**राधा प्राण, बुद्धि-मन राधा, राधा नयनोंकी तारा।**
**राधा तन-इन्द्रियमें, राधा प्रेमानन्द-सुधा-धारा।।**

**राधा मन है, राधा धन है, नाम-धाम. सब है राधा।**
**राधा भजन, ध्यान राधा ही, जप-तप-यजन सभी राधा।।**

**राधा जगते, सोते राधा, खान-पानमें है राधा।**
**राधा उठने और बैठनेमें भी, हँसनेमें राधा।।**

**राधा नव बसन्त, मलयानिल, राधा हरे सभी बाधा।**
**राधा सदा स्वामिनी मेरी, परमाराध्या है राधा।।**

प्रियाके प्रति प्रियतमके प्राणोंका मोह एवं प्रियतमके प्रति प्रियाके प्राणोंका मोह बना यह कज्जल सम्पूर्ण दृश्यको ही प्रिया-प्रियतममय बना देता है।

## रसाद्वैतरूप मदका भाव

इसी प्रकार प्रिया-प्रियतमके प्राणोंमें, जो परस्पर विलक्षण रसाद्वैत है जिसमें गुम्फित उनके प्राण एक होकर भी दो प्रतीत होते हैं, यह रसाद्वैत-मद ही चूकर उनके ललाटपर भ्रूमध्यमें लगाया जानेवाला लाल गोल विन्दु बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखसे कहते हैं -

**यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।**
**यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।**
**यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्।।** (ब्रह्मवैवर्त्तकृष्णखण्ड१४।५८-५१)

'हे प्रिये ! जो तुम हो, वही मैं हूँ, हम दोनोमें किंचित् भी भेद नहीं है। जैसे दूधमे सफेदी, अग्निमे दाहिकाशक्ति और पृथ्वीमे गन्ध रहती है, उसी प्रकार मैं सदैव तुममे रहता हूँ।' इससे सिद्ध होता है कि श्रीराधा एव श्रीकृष्ण एक आत्मा एवं एक ही प्राण हैं। इस रहस्यको जाननेवाले धर्मज्ञ सन्त इन श्रीराधाके साथ 'रमण' करनेके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णको आत्माराम कहते हैं।

नारद पांचरात्रमें भी श्रीराधाके सम्बन्धमें कहा गया है :

**यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः।**
**प्राणाधिष्ठातृ देवी या राधारूपा च सा मुने।।**

जैसे श्रीकृष्ण ब्रह्मस्वरूप हैं तथा प्रकृतिसे सर्वथा परे हैं, वैसे ही श्रीराधारानी भी ब्रह्मस्वरूपा, मायालेपसे रहित विशुद्ध एव प्रकृतिसे परे हैं। श्रीकृष्णके प्राणोकी जो अधिष्ठात्री हैं, वे ही श्रीराधा हैं।

श्रीब्रह्माजी श्रीराधारानीकी स्तुति करते हुए कहते हैं -

**त्वं श्रीकृष्णार्द्धांगसम्भूता तुल्या कृष्णेन सर्वतः।**
**श्रीकृष्णस्त्वमयं राधा त्वं राधा च हरिः स्वयम्।।**

'हे श्रीराधे ! तुम श्रीकृष्णके आधे अगसे उत्पन्न हुई हो, अत सब प्रकारसे उनके ही समान हो। श्रीकृष्ण तुम्हारे ही स्वरूप हैं, वे राधा ही हैं और तुम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हो।'

सामरहस्योपनिषद्में कहा गया है :**अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति। तदेव रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति।**'वह अनादि पुरुष एक ही है, परन्तु अनादिकालसे ही वह अपनेको दो रूपोंमें बनाकर अपनी ही आराधनाके लिये तत्पर है। इसलिये वेदज्ञ पुरुष श्रीराधाको रसिकानन्दरूपा बतलाते हैं।

श्रीराधातापनीय उपनिषद्मे कहा है -'**येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत।**
'जो ये राधा और जो ये श्रीकृष्ण रसके सागर हैं, वे एक ही है परन्तु खेलके लिये दो रूप बने हैं।

ब्रह्माण्डपुराणमें कहा गया है –

**राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णः राधात्मको ध्रुवम्।**
**वृन्दावनेश्वरी राधा राधैवाराध्यते मया।।**

'राधाकी आत्मा सदा श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्णकी आत्मा निश्चय ही राधा हैं।श्रीराधा वृन्दावनकी ईश्वरी हैं, इस कारण मैं राधाकी ही आराधना करता हूँ ।'

वस्तुतः इन शास्त्रोक्तवाणियोंसे यही तथ्य प्रकट होता है कि प्रिया श्रीराधा एवं प्रियतम श्रीकृष्ण- इन दोनोंमें कभी 'तू' और 'मैं' का किसी भी प्रकार कोई भेद सूचित हो, यह उचित नहीं है।

इन दोनो प्रिया-प्रियतममे कभी कोई भेद सम्भव ही नहीं है। फिर भी आश्चर्य है कि प्रिया श्रीराधाको यह अद्वैतका 'मद' स्पर्श ही नहीं कर पाता। अद्वैत जो सत्य है, वह असत्य तो हो नहीं सकता किन्तु प्रिया श्रीमती राधाकी भावभूमिको वह संस्पर्श ही नही कर पाता। उनके पास फटककर उनके श्रीअगसे तत्क्षण ही लयकर च्युत हो जाता है। वहाँ वह कोई महत्वपूर्ण स्थान, कोई महिमामयी स्थिति बना ही नही सकता। जैसे किसी अतिशय चिकनी ढलानसे जल स्पर्शकर तत्क्षण ही चू जाता है, उसी प्रकार यह अद्वैत 'मद' श्रीराधाभावको स्पर्श करते ही चू पडता है।

ध्यान रहे कि पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा इस प्रिया-प्रियतमके परस्परके अद्वैत भावको 'मद' संज्ञा दे रहे हैं। प्राकृत भावमे जितना मोह निकृष्ट उतना ही 'मद' भी गर्हित भाव है। 'मोह' तो प्रिया-प्रियतमके नेत्रोंमे कज्जल रूप होकर किस प्रकार कृतकृत्य हो चुका है इसका उल्लेख पूर्व पृष्ठोमें किया जा चुका ही है। अब यह 'मद' जैसे ही प्रिया-प्रियतमके अगसे संलग्न होता है, यह उनके अगोंमें टिक नहीं पाता, तत्क्षण ही चू पडता है। उन अच्युत अंगोंसे वह च्युत हो जाता है। करुणामय प्रिया-प्रियतम इसे ललाटमें लगी चन्दनखौरके मध्य बडी सी लाल बेदी बनाकर सुभूषित कर देते है। ओह ! प्रिया इस अद्वैतमदको भी कैसा सौभाग्य देती हैं ! वे अपने अंगसे च्युत सत्यको भी तत्क्षण उठाकर उसे अपने अत्युत्कृष्ट प्रेमरागसे सानकर करतूरीकी परम सुगन्धित बेंदी बनाकर अपने ललाटपर लगा लेती हैं। यद्यपि इस 'मदमें करतूरीनिहित कालापन दर्शाता है कि यह प्रकृतिमे महागर्हित भाव है, किन्तु प्रियाप्रियतमके अंगोसे लगकर यह विलक्षण गंधयुक्त होकर उनके ललाटमें समलंकृत हो उठता है।

## *दैन्यरूपा कस्तूरीकी बिन्दीका भाव*

राधा-माधवके ललाटमें लगी करतूरीकी बेंदीकी भावशोभा निहारे। मैं 'साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूपा हूँ' इस अभिमानरूप मदके च्युत होते ही प्रियामें कैसा विलक्षण दैन्य उदय हो उठता है ! यह महाभावगत दैन्य ही उनके ललाटका प्रीति-आभूषण है। प्रिया विनम्र हृदयसे अपने प्रियतमसे प्रार्थना करते हुए कहती हैं -

**त्वत्पादाब्जे मन्मनोऽलिः सततं भ्रमतु प्रभो !**
**पातु प्रीतिरसे पद्मे मधुपश्च यथा मधुः।।**
**मदीय प्राणनाथस्त्वं भव जन्मनि जन्मनि।**
**त्वदीय चरणाम्भोजे देहि भक्तिं सुदुर्लभाम्।।**
**तव स्मृतौ गुणे चित्तं स्वप्ने ज्ञाने दिवानिशम्।**
**भवेन्निमग्नं सततमेतन्मम मनीषितम्।।** (ब्रह्मवै कृष्णखण्ड २७।२३०।३२)

'प्रभो ! तुम्हारे द्वय चरण-सरोजोमें मेरा मनरूपी भ्रमर निरन्तर भ्रमण करता रहे और मधुप जैसे कमलका मधुपान करता है, वैसे ही प्रेमरसका पान करता रहे। जन्म जन्ममें तुम्हीं मेरे प्राणनाथ होओ और मुझे अपनी सुदुर्लभ प्रेमभक्ति प्रदान करो। प्रभो ! मेरे मनकी एक मात्र यही चाह है कि मेरा चित्त स्वप्न एवं जागरण - सभी अवस्थाओमें दिन-रात केवल आपकी ही स्मृति करता रहे एवं गुणगानमें डूबा रहे।'

इसी प्रकार जो सर्वलोकोके उत्पत्तिस्थान हैं, जो **'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्'** हैं, जो स्वयं अपने मुखसे अर्जुनको अपनी महिमाके अनेकानेक वचन कहते हैं -' **मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय।' ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।**'वे ही श्रीकृष्ण प्रियाके सम्मुख उनकी प्रेमडोरसे बँधे हुए दीपकपर जैसे पतग चक्कर लगाता है, वैसे ही सदा इनके चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं।

**मुकुन्दस्त्वया प्रेमदोरेण बद्धः।**
**पतंगो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।।**

श्रीकृष्ण स्वयं अपने श्रीमुखसे श्रीमहादेवजीसे कहते हैं -

**यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।**
**न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्।।**

**तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।**
**आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि।।**

'हे महादेव! जो मेरे शरण होते हैं, पर मेरी प्रिया श्रीराधाकी शरण नहीं होते, वे वस्तुत मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतएव सब प्रकारसे मेरी प्रिया श्रीराधाके शरणापन्न होकर उनकी आराधना करनी चाहिये।'

श्रीकृष्ण कहते हैं :

**भजामि राधामरविन्दनेत्रां स्मरामि राधां मधुरस्मितास्याम्।**
**वदामि राधां करुणाभरार्द्रां ततो ममान्यास्ति गतिर्न कापि।।**

'मैं कमल जैसे नेत्रोवाली मेरी प्रियाका ही भजन करता हूँ, मैं उसके मधुर मुसकानयुक्त मुखारविन्दका स्मरण करता हूँ। मैं भरे हुए द्रवित कण्ठसे प्रिया राधाका नामोच्चारण करता हूँ। श्रीराधाके सिवा मेरी अन्य कहीं कोई गति नहीं।'

इन दोनो प्रिया-प्रियतमको अपने महिमा-मदको सर्वथा विस्मृतकर जो परस्पर एक दूसरेकी आराधनामें ही अपने जीवनकी सफलता दृष्टिगोचर होती है - यही इनका ललाटकी बिन्दी नामक विलक्षण शृगार है।

## *प्रणय-रोषरूप लाल महावरका भाव*

इस छन्दके अन्तिम पदमें पू गुरुदेव कहते हैं कि प्राणोका प्रणय-रोष ही प्रिया-प्रियतमके चरणोको सज्जित करनेवाला लाल महावर हो जाता है। यहाँ यह समझनेकी बात है कि श्रीराधारानीमें प्रणय-रोष तो 'मान'के रूपमे ही प्रकट होता है। प्रियतम तो सदैव प्रियाके उरस्थलमें ही अनुराग-रज्जुसे बँधे रहते हैं। वे ही तो प्रियाके अतुलनीय निस्सीम प्रेमकोष हैं। इस प्रियतमरूप प्रेमकोषको प्रिया नित्य निरन्तर सहज अपनी सखियोंमें लुटाती-बाँटती रहती हैं। किन्तु जब श्रीकृष्ण ऐसी गोपियोंके पास चले जाते हैं, जिनमे स्वसुख-वासनारूप मिलनेच्छाका भाव रहता है, तो प्रिया अपने प्रियतमको उनके यहाँ जानेसे निवृत्त करनेके लिये मानवती होती हैं ।

शास्त्रोंमें रतिके तीन भेद माने गये हैं – साधारणी, समञ्जसा एव समर्था रति। द्वारकालीलामें रुक्मिणी आदि महाभागा महिषियोंमें जो श्रीकृष्णके प्रति प्रेम है वह साधारणी रति है क्योकि उनमें स्वाभाविक ही गृहस्थधर्मके अनुसार आत्मसुख तथा सतान आदिके पालनकी लालसा रहती है। जहाँ समरस विलास है, वहाँ समञ्जसा रति है। इसमे स्वसुखसे किंचित् सामञ्जस्य रहता ही है। श्रीचन्द्रावली-यूथकी सखियाँ समञ्जसा रतिप्रधान गोपियाँ हैं।

प्रिया श्रीराधामे अपने प्रियतमके प्रति समर्था रति है। समर्था रति एकमात्र प्रियतम-सुखेच्छामयी होती है। उसमें स्वसुख-वासनाका कभी गन्ध-लेश भी नहीं रहता। जैसे अत्यन्त कठोर लोहखण्डमें सुईकी नोक भी प्रवेश नहीं कर सकती, वैसे ही समर्था रतिमे एकमात्र श्रीकृष्ण-सुख-वासनाके अतिरिक्तअन्य किसी भी वासनाका तनिक-सा उदय भी नहीं हो सकता। इसीलिये यह प्रगाढ़तम रति कही जाती है।

अचिन्त्यानन्त सौभाग्यशालिनी, परमोज्ज्वल त्यागकी सजीव मूर्तियाँ – श्रीव्रजसुन्दरियोमे जो श्रीराधाव्यूहकी हैं एवं जो श्रीराधारानीकी ही कायव्यूहरूपा हैं, उन सभीमें समर्था रतिका पूर्ण प्रकाश है।

श्रीराधारानी अपने प्राण-प्रियतमका सुख देखकर ही उन्हें उन गोपियोंके पास जानेसे रोकना चाहती हैं, जिनमें प्रियतमसे सुख लेनेकी आकांक्षा प्रधान रहती है, एवं सुख देनेकी भावना न्यून होती है। यहाँ उदाहरणस्वरूप एक लीलाका उल्लेख किया जा रहा है -

'एक बार सुदूर वनमें स्थित श्रीचन्द्रावली सखिके कुञ्जमें प्रियतम ब्रजेन्दनन्दन निशामे पहुँच जाते हैं। उनका कुञ्जमें आगमन देखकर सखियॉ चन्द्रावलीसखीका शृंगार करने लगती हैं। बिना शृगार किये भला प्रियतमके सम्मुख सखियाँ उन्हें भेजें भी तो कैसे ?

प्रियतम स्वभावत ही थके होते हैं, फिर चन्द्रावलीके शृंगारमे भी किंचित् समय लग जाता है, अत शय्यामे लेटते ही उन्हें निद्रा घेर लेती है।

प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनके समीप ज्योंही शृंगार करके चन्द्रावलीसखी पहुँचती है, तबतक तो प्रियतमकी निद्रा अतिशय प्रगाढ हो उठती है। अवश्य उनके नेत्र अधखुले होते हैं, किन्तु चन्द्रावली एवं सखियोके आगमन एव मधुर वार्त्तालापका उन्हें किंचित् भी आभास नहीं होता। विवश चन्द्रावली उनपर धीरे-धीरे बयार करने लगती है। सखियॉं शनैः-शनैः वहॉसे खिसक जाती हैं एवं कुञ्जकक्षमें प्रिया चन्द्रावली एवं प्रियतम श्रीकृष्णके अलावा कोई नहीं रहता।

सखी चन्द्रावली अतीव सुन्दरी तो थी ही, उसके मनमें रह-रहकर यह भाव भी उमड रहा होता है कि आज अपनी शृंगार-सज्जा एवं रूपसे वह प्रियतमको मुग्ध कर देगी एवं इतना सुख देगी कि वे फिर कभी राधा आदि अन्य सखियोंके पास फटकें ही नहीं। किन्तु उसके प्रियतम नीलचन्द्र तो इतनी गहरी नींदमें सो गये होते हैं कि वे पलक ही नहीं खोल पाते। चन्द्रावलीकी सारी शृंगारसज्जा व्यर्थ ही हो जा रही है। प्रियतम इतनी गहरी सुख-निद्रामें सो रहे हैं कि ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो अब वे रात्रिपर्यन्त सोये ही रहेगे। पंखा करते-करते चन्द्रावली भग्न-मनोरथ उन्मनी होने लगती हैं। रह-रहकर वह यही सोच रही होती है कि कोई पल-भर भी इन्हें जगा देता तो बस, ये एक दृष्टि मेरे रूपपर डाल देते।

शनैः शनैः उसकी यह अधीरता बेचैनीका रूप लेने लगती है। अपने चरणोंकी पायल, कटि-करधनी खनकाकर ध्वनि करना प्रारंभ करती है, परन्तु उसकी समग्र चेष्टाएँ प्रियतमकी प्रगाढ निद्राको शिथिल करनेमे असफल ही रहती हैं। वह अपने हाथमें नीलपद्म धारण किये हुए है। यद्यपि वह पद्म सपुटित है, फिर भी वह उस पद्मकी किंचित् किञ्जल्क अपनी हथेलीमें ले लेती है एवं उस किञ्जल्कको अपनी हथेलीमे रखकर इस प्रकार फूँक लगाती है कि वह उसके प्रियतम नीलमणिके अधखुले नेत्रोंमें सन्निविष्ठ हो जाय। यद्यपि प्रियतमके नेत्रोंमें इससे जलन होना स्वाभाविक ही है, फिर भी वह प्रियतमको जगानेका अन्य कोई उपाय न पाकर बेचैनीवश यह कर उपाय कर लेती है। उस किञ्जल्कके नेत्रोंमें पडते ही प्रियतम नीलमणि जलनवश नेत्र मलते उठ खड़े होते हैं।

प्रियतम नीलमणिके निद्रासुखमे व्याघात तो अवश्य होता है एवं उन्हें क्षणाशके लिये नेत्रोमे जलन-कष्ट भी होता है परन्तु चन्द्रावलीका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। प्रियतम चन्द्रावलीको शृंगार किये सम्मुख पाकर प्रेम-विवश हो उठते हैं और उसका समादर करने लगते हैं।

सखी चन्द्रावलीकी इस सम्पूर्ण क्रियाको कुञ्जछिद्रोसे एक भृगी कीट देख रही होती है। उसे चन्द्रावलीका यह कृत्य अति नृशंस, प्रेमधर्मके सर्वथा विपरीत एवं अनुचित लगता है। वह प्रियतम प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरके प्रति हुए इस अत्याचारसे प्रपीडित हो उठती है। वह लघु कीट अपनी प्रतिक्रिया प्रकट तो नहीं ही कर पाती है किन्तु वह यह सब घटना प्रिया श्रीराधाके समक्ष निवेदन कर देती है। साथ ही प्रणय-रोषभरी मुद्रामे श्रीराधारानीके सम्मुख चन्द्रावलीके प्रति यह दण्ड-विधान भी कर देती है कि प्रियतम श्रीकृष्ण रमणसुन्दरको साम, दाम, दण्ड, भेद किसी भी नीतिसे चन्द्रावलीके कुञ्जमें जानेसे वर्जित करना ही चाहिये। सखी-प्रणयवश प्रिया राधारानीको उस भृंगीकी बात माननी ही पड़ती है।

प्रिया राधा भी चन्द्रावलीके इस व्यवहारको जानकर मर्माहत हो उठती हैं। जो युवती अपने रूप-शृंगारके प्रदर्शनके लिये अपने प्रियतम प्राणवल्लभके सुख-शयनमें व्याघात डालकर अपनी शृंगारसज्जित शोभाको दर्शित करानेके अभिप्रायसे उनके नेत्रोंमें पद्म-किंजल्क डालकर उन्हें नींदसे जगा दे, ऐसी सखीके यहॉ प्रियतम जायें ही क्यों ?

प्रियतमके इस मोहका तो प्रिया श्रीराधाको नाश करना ही चाहिये – ऐसा अपना कर्तव्य मानकर श्रीराधा अपनी भृंगी सखीकी प्रणय-शिक्षा मानकर कठोर मानवती हो उठती हैं। प्रिया श्रीराधामें स्वयंमें तो कोई भोग-वासना है ही नहीं स्वसुख-स्पृहा तो उन्हें लेश मात्र भी स्पर्श ही नहीं कर सकती है। उनमे तो एक ही भाव-लहर सब समय नये-नये रूपोमें नित्य-नूतन वेग लिये उत्थित होती रहती है जिससे सहज समर्पण द्वारा वे अनवरत प्रिय-सुख-साधनामें डूबी रहती हैं – यही उनका जीवन-क्रम है। अस्तु,

प्रिया श्रीराधारानी दूषणरहित मान कर बैठती हैं। वे अपनी सखी ललिताको निर्देश दे देती हैं -

**सखि, नँदलाल न आवन पावैं।**<br>
**भीतर चरन धरन जिन दीजो, चाहे जिते ललचावैं।।**<br>
**ऐसनको विश्वास कहा री, कपट- बैन बतरावैं।**<br>
**'नारायण' इक मेरे भवन तजि भले अनत चलि जावैं।।**

'सखि ललिते! भविष्यमे ब्रजतनूज चन्द्रावलीके ही कुञ्जमे रहे, मेरे भवनमें प्रवेश नही पा सकें।' तू उन्हें कदापि यहाँ चरण मत रखने देना, भले ही वे चाहे जितनी ललचाकर विनती करे। जिसकी वाणीमे ही कपट भरा हो, उसपर भला क्या विश्वास किया जाय ? नारायणस्वामी कहते हैं कि श्रीराधाका अनुशासन होता है कि वे अन्य सखियोके भवनमें भले ही जावें मेरे यहाँ प्रवेश नहीं कर पावें।'

प्रिया श्रीराधाके इस अत्यन्त नवीन प्रेमाचरणमें निहित लबालब भरे उत्कृष्ट माधुर्यको देखकर प्रियतम श्यामसुन्दर तो मुग्ध हो उठते है। 'ओह! अपने अतिशय प्रगाढ अनुरागको छिपाकर प्रिया ऐसी वक्र भी हो सकती हैं - प्रियतम श्रीकृष्ण कल्पना ही नहीं कर पाते।

श्रीकृष्ण सखियोके चरणोंमे गिरकर उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे प्रियाको मनावें। किन्तु प्रियाका हृदय तो पाषाणवत् बन जाता है। यह पाषाणवत् कठोरता भी घन-प्रिय-स्मृतिमयी है। वे सखियोंसे कहती है –

**'मिलौं न तिनसौं भूल, अब जौलौं जीवन जियौं।**<br>
**सहौं विरहकौ सूल, बरु ताकी ज्वाला जरौं।।**<br>
**मैं अपने मन अब यह ठानी। उनके पंथ पिऊँ नहिं पानी।।**<br>
**कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ। मृगमद भूलि न अंग चढाऊँ।।**<br>
**सुनौं न श्रवनन अलि पिकवानी। नीलजलज परसौं नहिं पानी।।**

तनिक ध्यान दे, इस खीझमें कितनी रीझ भरी है। अब सखियाँ भला, उन्हे कैसे मनावैं। प्रिया श्रीराधारानीके इस कठोर 'मान'में भी सखियोंको वे इतनी सुन्दरी लगती हैं कि उस सौन्दर्यका आस्वादन-पान अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरको करानेके लिये वे सभी व्याकुल हो उठती हैं। वे निवेदन करती हैं –

**'चुन पहले तो निहारो लाल, मानिनीकी मान-शोभा,**<br>
**पाछैं तो मनाय लीजे प्यारे हो गोविन्दा।**<br>
**कर पर धरि कपोल बैठी री, नयन मूँद,**<br>
**कमल बिछाय मानो सोयो सुख चन्दा।।**<br>
**रिस भरी भौंह मानो भ्रमर बैठे अरबराय,**<br>
**इन्दुतर आयो अरविन्द मकरन्दा।**<br>
**नन्ददास प्रभु प्यारी काहे कौं रिसैये बलि,**<br>
**जाके मुख देखेंते मिटत दुख-द्वंदा।।**

हे प्राणप्यारे ! पहले चलकर अपनी प्राणप्रियाकी मानयुक्त मुखशोभापर तो दृष्टि डाल दीजिये, उसे मनानेकी बात

तो पश्चात् विचारी जायगी। वह अपने कपोलोंको अपनी हथेलीपर टिकाये नयन-मूँदे विराजित है। उसके मुखकी शोभा ऐसी विलक्षण रीतिसे निखर उठी है मानो कमलोंकी शय्या बिछाकर चन्द्रमा सुखपूर्वक शयन कर रहा हो। उसके करतल कमलोंकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं एवं मुख चन्द्रमाकी छविको पराजित कर रहा है। उसके सुन्दरतम आननपर क्रोधसे भरी टेढी भौहें खिंची हैं। हे प्रियतम ! ठीक ऐसा अनुभव हो रहा है मानो चन्द्रमा नभका त्यागकर धरतीपर अवतरण कर चुका है एवं अरविन्दसे चू रही मकरन्दकी बूँदोंसे तर होकर भीग गया हो।

राधाका हृदय अपने प्रियतम श्यामसुन्दरका क्षणभरके लिये भी वियोग सहनेको तय्यार नहीं है। यदि उनकी क्षणांशके लिये भी विस्मृति हो जाय, तो उनके प्राण ही अलग हो जावें, ऐसी वे श्रीराधा आज अपने प्रियके दर्शन न होने पावें इसलिये नयन मूँदकर बैठी हैं। परन्तु बाह्य अदर्शनकी कठोरतापूर्वक सब व्यवस्था कर दिये जानेपर भी क्या राधाका हृदय अपने प्रियतमकी विस्मृति कर पाया है ? प्रियतम श्रीकृष्ण प्रिया राधाके बाह्य कुञ्जभवनमे तो प्रवेश नहीं ही कर पाते किन्तु क्या राधाके हृदय-मन्दिरसे भी वे बाहर निकाल दिये गये है? नहीं, वहाँसे तो वे निकाले जा ही नहीं सकते। तब इस बाह्य निष्कासनका अर्थ केवल रसमय केलि-कलह ही तो है, वस्तुतः विरक्तिएव निषेध यहाँ कहाँ संभव है ?

इसीलिये प्रियतम श्रीकृष्ण कह बैठते हैं -

**इतौ श्रम नाहिन तबहिं भयौ।**<br>
**सुनि राधिके ! जितौ श्रम मोकौं तैं इहि मान दयौ।।**<br>
**धरनी धरि विधि वेद उधास्यौ मधु सौ शत्रु हयौ।**<br>
**द्विज नृप कियौ दुसह दुख मेट्यौ बलिकौ राज लयौ।।**<br>
**तोस्यौ धनुष स्वयंबर कीन्हौ रावन अजित जयौ।**<br>
**अघ बक बच्छ अरिष्ट केशि मथि, दावानल अँचयौ।।**<br>
**गुरुसुत मृतक ज्यायवे कारन सागर सोध लयौ।**<br>
**तिय बपु धस्यौ, असुर सुर मोहे, को जग जो न द्रयौ।।**<br>
**जानौं नहीं कहा या रसमें, सहजहिं होत नयौ।**<br>
**सूर सो बल अब तोहि मनावत मोहि सब विसर गयौ।।**

सचमुच ही धन्य है यह प्रिया श्रीराधाका मान ! प्रियतम श्रीकृष्णने बडे-बडे काम किये - सम्पूर्ण पृथ्वीको पातालमें हिरण्याक्ष ले गया था, उसे सूकर रूप धारणकर अपनी दाढके अग्रभागपर उठा लाये, मत्स्यावतार लेकर चारो वेदोंका उद्धार किया, मधु-कैटभ जैसे शत्रुओंको पराजित कर दिया, रामावतारमें सीता-स्वयंवर किया, भगवान् शिवका पिनाक धनुष तोड डाला, किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले रावणके दस सिर एव बीस भुजाएँ काटकर उसपर विजय प्राप्त करली, अघासुर, बकासुर, वत्सासुर, अरिष्टासुर, केशी आदि राक्षसोंका दर्प चूर कर दिया, दावानल पान कर गये; मृतक गुरुपुत्रकी खोजमें सम्पूर्ण सागरकी ही शोध कर डाली, मोहिनी अवतारके समय स्त्री-शरीर धारण किया एवं देव-असुर -सबको अपने रूपके जादूसे मुग्ध कर दिया, ऐसे अद्भुतकर्मा श्रीकृष्ण श्रीराधारानीसे कहते हैं - 'संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मेरे तेजके सम्मुख द्रवीभूत होकर पिघल नहीं गयी हो, किन्तु मेरा वह सब पराक्रम आज तुझे मनानेमें व्यर्थ सिद्ध हुआ। दुरूह-से-दुरूह कार्योंमें भी मैंने कभी हार नहीं मानी, कहीं भी मुझे श्रम, थकावटका अनुभव नहीं हुआ। किन्तु सचमुच ही आज मैं तेरे इस कठोर मानके सम्मुख हार मान गया। इस तेरी मानलीलामें न जाने कैसा नव-नवायमान प्रेमरस है कि यह सहज ही नित्य नवीन-नवीन आकर्षक रूप रखकर सम्मुख होता है।'

इसी प्रणय-रोषको पू.गुरुदेव श्रीराधारानीके चरणोंमें लगी 'लाल अलक्तक' महावरका नाम देते हैं क्योंकि

मानलीलामे ही प्रियाकी दृष्टि प्रियतमके मुखकी ओर नहीं उठती। निम्न दृष्टि किये प्रिया चरणोमे ही अपने नेत्र संलग्न रखती हैं एवं प्रियतम भी क्षमायाचनाकी ग्लानिमें अपने पैरोके अँगूठोसे धरणी कुरेदते हुए सदैव प्रियाके चरणोंपर ही दृष्टि सलग्न किये खडे रहते हैं। यह विलक्षण प्रणय-रोष-लीला है। प्रियतमसे हृदयके भीतर पूर्ण प्रगाढ मिलन होते रहनेपर भी उन्हें बाह्य दृश्यसे अदर्शित रखनेका रोष ही इस लीलामे हेतु है। यह पवित्रतम प्रेमका एक वक्र रसास्वादन भर ही तो है। यहाँका प्रियतम-त्याग भी मिलनकी पराकाष्ठा है। यह अविधि ही यहाँ प्रेमकी सर्वोपरि विधि है।

## नुकीली कँगही एवं आरसीका भाव

यह प्राणोंमें अतिशय बढी प्रीति सीधी ही रहे यह आवश्यक नहीं है, अतः यह पूर्ण परिपूर्णतम प्रीति ही आडी -टेढी होकर कलहान्तरिताभाव ग्रहणकर प्रियतमसे कलहकर उन्हे केशरूपमे अपनेसे उलझाकर तोड देती है। अतः काली तीखी नुकीली कँगहीका रूप ग्रहण कर लेती है। कभी यह उज्ज्वल स्वच्छ दर्पण बनकर अपने ही हृदयमें उनकी पूर्ण प्रेममयी छवि प्रतिबिम्बित कर देती है। कभी यह इतनी आसक्तियुक्त हो उठती है कि मुखमे पानकी बीडी तुल्य रसमयी सुगन्ध भर देती है, कभी यही प्रीति प्राणोकी रुचि बनकर परस्पर एक दूसरेका नीला-पीला वस्त्र बनकर प्रिया-प्रियतमके अंगोंसे लिपट जाती है।

कभी प्रिया-प्रियतमके प्रेममय प्राणोंकी ऊर्मियोका यह सचालन ही उनके हृदयका आच्छादन - अरुणिम चोली (कचुकी) बन जाता है, कभी प्रिया-प्रियतमके प्राणोमें प्रवाहित होते मधुरतम प्रेम–सगीतके सात स्वर चोलीके सात बन्द बन जाते है, कभी यह प्राणोंका प्रेम-निश्वास पुष्पसार इत्र बन जाता है और कभी यही प्राणोकी प्रेम-सुन्दरता उनके करका नील-कमल बन जाता है।

कहनेका इतना ही अर्थ है कि इस प्रेमराज्यमें न तो प्रिया-प्रियतम स्वय ही कोई प्राकृत नर-नारी-विग्रह हैं, न ही यहॉका उनका श्रृंगार ही प्राकृतवत् जड परिच्छिन्न इदमित्थ पदार्थोसे है। यहॉ तो सबकुछ प्राणोंमें तरंगायित होनेवाली प्रीतिके नित-नूतन भाव ही हैं, जो उपकरणों और श्रृंगार-सामग्रीका रूप ग्रहण कर लेते हैं एवं जिनसे प्रिया-प्रियतम परस्पर अपनी श्रृंगार-सज्जा करते रहते हैं।

इस प्रकार चिन्मय प्रेम-भावोंकी स्वतः प्रस्तुत चिन्मय सज्जा-सामग्रीसे, वे दोनों प्रिया-प्रियतम वहॉ अतुलनीय प्रेम-सज्जा करनेमें संलग्न हो जाते हैं। भावोंके उद्दीपनसे उनके हाथ हिल जाते थे और वे जो भाव रचना करना चाहते वह कुछ-का-कुछ हो जाता, वे पुनः उसे मिटाकर यथारुचि निर्माण करनेका प्रयास करते है, किन्तु भाव-तरलतावश एव स्नेहरसकी स्निग्धतावश दो-तीन बार चेष्टा करनेपर ही यह श्रृंगार-सज्जा उनके मनोनुरूप हो पाती है।

वे इसके पश्चात् परस्पर एक दूसरेको श्रेष्ठ श्रृंगार करनेके कारण विजेता घोषित करने लगते हैं। प्रिया कहती है कि प्रियतमने बाजी जीतली एवं प्रियतम यह श्रेय प्रियाको देत हैं, इस प्रकार उनकी परस्पर परम रसीली बतकही होने लगती है । दोनों ही अपनी उक्तियोके पीछे प्रबल तर्क रखते हैं, इस प्रकार दोनोके रसमय वार्तालापके सुमधुर रवसे कुंज मुखरित हो उठता है

यहॉ यह ध्यान रहे कि इस प्रकार एक दूसरेको श्रेष्ठ सिद्ध करनेमें वस्तुत उनका हेतु न तो परस्पर किसी अपनी अहङ्कारगत कामनावश एक दूसरेकी चाटुकारिता करना है, न ही उन्हें ऐसा परस्पर एक दूसरेकी श्रेष्ठताका मिथ्या भ्रम ही होता है, वस्तुतः यह भाव-श्रृंगारका चिन्मय सौन्दर्य ही है जो प्रतिक्षण वर्धमान होनेके कारण प्रतिपल उत्कृष्ट, उत्कृष्टतर स्वभावतः ही होता जाता है। इसकी शोभाकी प्रतिक्षण वर्धनशीलता ही इन प्रिया-प्रियतमको परस्पर एक दूसरेके द्वारा किये श्रृगारकी उत्कृष्टता प्रतीत होती है। और सचमुचका यह उत्कृष्टतम अनुभव ही उन्हें परस्पर एक दूसरेको प्रमाणपत्र देनेमें हेतु होता है कि 'प्रिये ! तू विजेता है' अथवा ' प्रियतम ! तुम विजेता हो।'

## *प्रिया-प्रियतमका शिव-शिवाभावमें शृंगार*

'क्या सत्य कभी है दो होता? है नित्य एक वह तो;'प्रियतम !
'प्यारी विचार कर तुम देखो, है उक्ति सही मेरी;'प्रियतम !
'हे प्यारे! है स्वीकार मुझे यह, सत्य एक ही है।'प्रियतम !
'सोचो तुम बार-बार अब भी, मेरा कहना सच है।'प्रियतम।।२६१।।

'अच्छा, प्राणेश्वरि ! विचारकर देखो, सच कभी दो होता है क्या ? तुम सोचो और निर्णय दो, मेरी बात सत्य gSfd ugha* v k$ fd 'kghmÙkjearR(k.kck; mBrh 'प्रियतम ! मुझे सर्वथा स्वीकार है कि सत्य एक ही होता है; अतः तुम भी बार-बार विचार कर देखो कि मेरा कहना सत्य है कि नहीं।'।।२६१।।

'ऐसी बतकही रसीली शुचि उनमें पल साठ चली;'प्रियतम !
'यह कहा अन्तमें प्यारी ने, 'प्यारे! देखो अब तो;'प्रियतम !
'अपने-ही-आप सजाऊँगी मैं अपने इस तनको;'प्रियतम !
'तुम किंतु घड़ी आधी अपने लोचन मूँदे रहना।'प्रियतम।।२६२।।

इस प्रकारकी मनोरम बतकही-पवित्र-से-पवित्र रससे भरी हठमूलक यह चर्चा-परस्पर लगभग साठ पल (चौबीस मिनट) चलती रही अन्तमें राधाकिशोरीने कहा-'अच्छा, छोड़ो इसे, एक बात कहती हूँ, बडे ध्यानसे सुनो भला ! अब मैं चाहती हूँ कि अपने आप अपने तनका शृंगार करूँ; किन्तु तुम्हें आधी घड़ीके लिये अपनी आँखें बन्द रखनी ही होंगी।'।।२६२।।

'प्यारे ने हँस-हँस कर ऐसा करना स्वीकार किया;'प्रियतम!
'शर्तें दो रखी, किंतु उसने कुछ बात सोच करके;'प्रियतम !
'छूता मैं रहूँ निरन्तर ये दस नख पीले पदके;'प्रियतम !
'फिर मैं भी अङ्ग सँवारूँ, तब मीलित-दृग तुम रहना।'प्रियतम।।२६३।।

प्रियतमने हँसकर ऐसा करना स्वीकार कर लिया...........। और कुछ सोचकर उन्होंने दो शर्तें रखीं-'प्राणवल्लभे ! सुनो ! नयनोंको निमीलित मैं रख लूँगा, किन्तु तुम्हारे चरणोंके दस नखचन्द्रोंको मैं निरन्तर स्पर्श करता रहूँ। फिर जब मैं भी अपने अंगोंको सँवारने लगूँगा, तब तुम भी आँखें बन्द किये रखना।।२६३।।

'प्यारी ने मुसका-मुसका कर हामी भर ली इसकी;'प्रियतम !
'कौतुक नवीन आरम्भ हुआ अब वह निमेष में ही;'प्रियतम !
'मुट्ठी में पद-नख-मणि धारण करके प्यारे बैठे;'प्रियतम !
'प्यारी विचित्र अपने तन की रचना करने बैठी;'प्रियतम।।२६४।।

मन्द-मधुर स्मितके साथ प्यारीने शर्त स्वीकार कर ली और निमेष बीतते-न-बीतते नवीन कौतुक प्रारम्भ हो गया। प्रियतमाके पद-नखचन्द्रको अपने मुट्ठीमें धारण करके नील देवता शान्त बैठे रहे और प्रियतमा राधा अपने तनका शृङ्गार करने बैठी- उनका अभिनव अद्भुत शृंगार आरम्भ हुआ।।२६४।।

देवी के बदले प्यारेको
वह महादेव
दीखें प्रियतम!

(श्रीराधाकिशोरी का अपना स्वयंका महादेवरूपमें शृंगार) (पृष्ठ २३३)

'बोली मन में, 'प्यारे को मैं अबतक सुख दे न सकी; प्रियतम
'ये सदा पूछते रहते हैं बातें अनेक मुझसे; प्रियतम !
'लज्जा में भरी किंतु मैं तो कुछ बोल नहीं पाती; प्रियतम !
'अतएव रूप अपना निरवधि मैं एक और कर लूँ' प्रियतम।।२६५।

मन-ही-मन किशोरी राधा बोल उठी-'हाय रे! मैं अबतक प्रियतमको सुख न दे सकी। ये सदा मुझसे अनेक बातें पूछते रहते हैं और मैं लज्जामें डूबकर कुछ भी बोल नहीं पाती। अतएव अपना एक रूप मैं और निर्मित कर लूँ निरवधि, अनन्त कालतकके लिये।।।२६५।।

'कर्पूर-गौर वह रूप बने करुणा से नित्य भरा; प्रियतम !
'अलकें उसकी कमनीय अहो! बन जायँ जटा नीली; प्रियतम !
'आभरण-हीन वह नित्य रहे, भूषित फिर नित्य रहे; प्रियतम !
'प्यारे के पद-सरोरुहों की रज की परछाँही सा' प्रियतम।।२६६।।

मन-ही-मन किशोरी राधा बोल उठी-'हाय रे ! मैं अबतक प्रियतमको सुख न दे सकी। ये सदा मुझसे अनेक बातें पूछते रहते हैं और मैं लज्जामें डूबकर कुछ भी बोल नहीं पाती। अतएव अपना एक रूप मैं और निर्मित कर लूँ, निरवधि, अनन्तकालके लिये।।२६६।।

'देवी के बदले प्यारे को वह महादेव दीखे,' प्रियतम।
'प्यारे की प्रियता भी उसमें पल-पल परिवर्धित हो; प्रियतम !
'मैं युगपत् अपने इस तन को, उस महादेव-तन को; प्रियतम !
'देखूँ, मेरी मुग्धता किंतु यह भी अक्षुण्ण रहे।' प्रियतम।।२६७।।

'मेरा वह रूप देवीके बदले प्यारेको नित्य महादेव ही दीखे। प्यारेकी प्रियता भी उसमें पल-पल परिवर्द्धित होती रहे। और मैं युगपत् अपने इस तनको और महादेव-तनको देखती रहूँ, किन्तु मेरी यह मुग्धता भी अक्षुण्ण रहे भला !।।२६७।।

'इसके पश्चात् अहो! जब भी जो भी ये प्रश्न करें; प्रियतम !
'तत्क्षण ही समाधान उसका सुन्दर कर पाऊँ मैं; प्रियतम !
'प्यारे को सुख ही दूँ, मेरा जीवन है इसीलिये; प्रियतम !
'है सच यह, तो प्यारे देखें वह रूप आँख खुलते,' प्रियतम।।२६८।।

'और इसके अनन्तर अहो ! जब भी, जो भी प्रश्न ये करें, उस समय तत्क्षण ही उसका सुन्दर समाधान मैं कर पाऊँ, ऐसी योग्यता मुझमें निरन्तर विद्यमान रहे। 'मैं प्रियतमको सुख-ही-सुख दूँ, इसीलिये मेरा जीवन है'-यदि यह बात सत्य है तो मैं अपना जो रूप बनाना चाह रही हूँ, वह रूप प्रियतमकी आँख खुलते ही उनको दीख जाय।'।।२६८।।

प्यारे के लोचन उन्मीलित हो गये निपल में ही; प्रियतम !
प्यारी का अद्भुत रूप निरख करके वह मुसकाया; प्रियतम !
'जय-जय हे! महादेव! जय!' फिर कहकर नतमस्तक हो; प्रियतम !
वह भी अब चलावेश-रचना करने नूतन अपनी; प्रियतम।।२६९।।

विपल बीतते-न-बीतते प्रियतमके नयन-सरोरुह उन्मीलित हो गये। प्रियतमाका यह अद्भुत रूप निरखकर उनके होठोंपर मुसकान भर आयी और फिर वे तत्क्षण बोल उठे-'जय जय हे महादेव! जय जय जय !' इतना कहकर वे नतमस्तक हो गये..........। तथा तुरन्त अपने नये वेषकी रचना करनेमें संलग्न हो गये।।।२६९।।

'प्यारी के चिन्तन में ही थी प्यारे की वृत्ति लगी, प्रियतम !
'ऐसी अखण्ड तन्मयता थी पल तीस बनी उसकी, प्रियतम!
'जो प्रायः उसको परिणत थी प्यारी में कर बैठी, प्रियतम!
'अत एव ढक गया साँवर पन पहले गोरेपन से, प्रियतम।।२७०।।

अस्तु, नीलसुन्दरकी वृत्ति प्रियतमाके चिन्तनमें ही लगी थी- अबसे लगभग तीस पल पहलेतक। और ऐसी अखण्ड तन्मयता थी, जो प्रियतमको प्रियतमामें ही प्रायः परिणत कर बैठी। इसलिये पहले तो उनका साँवरपना गौरवर्णसे आवृत हो गया।।।२७०।।

'हो गये व्यक्त फिर उसमें वे तरुणी के चिह्न सभी; प्रियतम !
'वह बना रमण से अब रमणी सुन्दरी अतुल गोरी; प्रियतम !
'सम्मिश्रित भावों का बोझा इतना गुरु-गुरुतर था; प्रियतम !
'जिससे दबकर दृग ने धर ली अचपल गंभीर मुद्रा, प्रियतम।।२७१।।

क्षण बीतते-न-बीतते तरुणीके सभी चिह्न उस नये रूपमें अभिव्यक्त हो गये। वे अप्रतिम सुन्दरी गौरवर्णा रमणीके रूपमें परिणत हो गये-नीलसुन्दर रमणसे रमणी हो गये। सम्मिश्रित भावोंका बोझा इतना गुरु, गुरुतर था, जिसके भारसे दबकर आँखोंने गम्भीर- चाञ्चल्यहीन मुद्रा धारण कर ली।।२७१।।

'प्यारे में प्यारे पन की कुछ अब भी थी गन्ध बची; प्रियतम !
'इसलिये सोचता था यों वह रमणी-तन में बैठा; प्रियतम !
'प्यारी के सभी मनोरथ हों पूरे अनुराग भरे; प्रियतम !
'इन महादेव की मैं भी अब हूँ नित्य महादेवी; प्रियतम ।। २७२।

प्रियतममें अब भी प्यारेपनकी किञ्चित्-सी गन्ध बची अवश्य थी। इसलिये रमणी-तनमें बैठे-बैठे वे इस भाँति सोचने लग गये-'प्रियतमाके अनुरागभरे सभी मनोरथ पूर्ण हो जायँ,-पूर्ण होते रहें अनन्त कालतक।....... और मैं तो अब इन महादेवकी नित्य महादेवी हूँ ही।।२७२।।

'चारों में ही स्वरूपतः है यद्यपि न भेद कोई; प्रियतम !
'चारों ये रूप सर्वथा हैं सच्चिदानन्दमय ही; प्रियतम !
'लीलाप्रिय अहो! किंतु निरवधि हम चार हुए खेलें; प्रियतम !
'युगपत मुग्धता, नित्य संविद मुझमें भी व्यक्त रहे।' प्रियतम।।२७३

'यद्यपि हम चारोंमें ही स्वरूपतः कोई भेद नहीं है- ये चारों-के-चारों सर्वथा सच्चिदानन्दमय हैं ही; किन्तु हम चारों-चार पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हुए ही अनन्त कालतक लीलाप्रिय बने रहकर खेलते रहें भला ! साथ ही मुझमें युगपत् एक कालमें नित्य मुग्धता एवं नित्य संविद् भी अभिव्यक्त रहे।'।।२७३।।

इन महादेवकी मैं भी अब हूँ नित्य महादेवी, प्रियतम!
(श्रीश्यामसुन्दरका अपना स्वयंका महादेवीरूपमें शृंगार)(पृष्ठ २३४)

## जिज्ञासा

**उपरोक्त छन्दोंमें प्रिया-प्रियतम अपना शृंगार महादेव एवं महादेवी (शिव-शिवा) के रूपमें ही क्यों करते हैं? ईश्वरकोटिके देव तो लक्ष्मी-नारायण भी हैं।**

## समाधान

यह सदैव ध्यान रहे कि प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधव पूर्ण परात्पर परतत्त्व विशुद्ध प्रेममूर्त्ति हैं। ये किसी भी ईश्वरकोटिके प्राकृत ईश्वर अथवा देवजगत्के अवतार होना संभव ही नहीं हैं। इन पंक्तियोंमें जिन महादेव एवं महादेवीके रूपमें प्रिया-प्रियतमके सज्जित होनेका वर्णन है, ये महादेव निरुपाधिक प्रत्यगात्मा भगवान् कामेश्वर हैं एवं सोपाधिक सच्चिदानन्दमयी लीलामहाशक्ति योगमाया भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही महादेवी हैं। कीर्तिदामैयाको ये महादेवी ही प्रत्यक्ष दर्शन देकर यह रहस्य उद्घाटित करती हैं कि उनके उन्मुक्त कुन्तलोंकी लटको हाथमें लेकर सुधास्यन्दी स्वरमें 'री, मैया !' कहकर बोलनेवाली पीत प्रभामयी जो बालिका उन्हें उनके हृदय-मन्दिरमें एक नीलसुन्दर किशोरके सहित कदम्ब वृक्षके नीचे दृष्टिगोचर हो रही है, यह बालिका वर्तमानमें उनका गर्भस्थ शिशु ही है। यह मधुरिमाकी मूल-सार पीताभविग्रह बालिका एवं नीलज्योतिपुञ्ज किशोर दोनों असमोर्ध्व भगवत्ता एवं सच्चिदानन्दतत्वका मूल सार हैं। इन युगलके महादेवीके हृदय-गुहामें विराजित दृष्टिगोचर होनेका अर्थ ही है कि ये दोनों किशोर-किशोरी पीत-नीलद्युति निरुपाधिक एवं सोपाधिक सच्चिदानन्द प्रत्यक् आत्मतत्त्वका भी मूलहृदय हैं। **(विस्तारके लिये देखें प्रथम शतक छन्द संख्या ६६से ७०तक)**

इस उपरोक्त तत्त्वको पुनः प्रकट करनेके लिये प्रिया महादेवके रूपमें सज्जित होती हैं, क्योकि प्रिया प्रेमकी आश्रय-आलंबन होनेके कारण निरुपाधिक प्रत्यक् आत्मस्वरूपा हैं एवं प्रियतम महादेवीके रूपमे अपनी सज्जा करते हैं। प्रियतम इस शृगारसे यही प्रकट करते हैं कि सोपाधिक होनेसे ही वे भगवत्ता उपाधिसे भूषित हैं और इसीलिये प्रियतमके साथ-साथ भगवान् भी हैं। प्रियामें निरुपाधिकता होनेसे वे मात्र निरीह अधिरूढ महाभावमयी हैं। वे भगवत्ता-ऐश्वर्य-गन्ध-शून्य मात्र महाभावैश्वर्यमयी हैं।

वस्तुतः अनन्त एवं अगाध सच्चिदानन्द-मूल-सार परात्पर परतत्त्व विशुद्ध प्रेमसिन्धुके पूर्ण आस्वादनमय होनेसे आस्वाद्य एवं आस्वादक दो तट बन जाते हैं। यह आस्वादक प्रेमका विषय हो जाता है, और आस्वाद्य प्रेमका आश्रय कहलाता है। इस आस्वाद्य नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रिया श्रीराधाके प्रेमका आस्वादन करते हुए आस्वादक नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण सदैव नित्य नव-नवायमान आनन्दको प्राप्तकर उसमें डूबे रहते हैं। जहाँ प्रिया श्रीराधा देती-रहनेकी प्रतीक हैं वहीं प्रियतम श्रीकृष्ण लेते-रहेंकी भूमिका निभाते रहते हैं। वस्तुतः न कोई लेता है, न ही कोई देता है, मात्र प्रेमसिन्धु स्वयं ही अपने आनन्दका आस्वादक-आस्वाद्य हो, प्रिया-प्रियतम - दो नाम-रूप धारणकर विलक्षण नव-नवायमान ऊर्ध्व तरंगोंमें लहराता रहता है। यह प्रेम परतत्त्व ही जैसे प्रिया-प्रियतम बना प्रेम-क्रीडारत रहता है, ठीक इसी तरह यह प्रेम-परतत्त्व ही प्रेमधाम वृन्दाकानन बन जाता है, जिसकी उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम दिशाओंका वर्णन महादेवीके जिज्ञासा करनेपर महादेव करते हैं।

वस्तुतः नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण, नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रिया श्रीराधा एवं उनके सच्चित् स्वरूप इन महादेव एवं महादेवी - चारोंमें ही स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। ये चारों रूप सच्चिदानन्दमय पूर्ण परात्पर परतत्त्व ही हैं। किन्तु ये चारों लीलाके लिये भिन्न-भिन्न चार नाम एवं रूप रखकर लीला-प्रिय हुए खेल कर रहे हैं। इन चारोंमें ही लीला-प्रयोजनके लिये नित्य मुग्धता एवं नित्य ज्ञान युगपत् एक साथ प्रकाशित होता रहता है। नित्य मुग्धताके बिना तो रसमयी लीला संभव नहीं और नित्यज्ञान पूर्ण सत्य होनेसे स्वाभाविक ही इनमे रहना परमावश्यक है ही।

***रस-सम्प्लावन ही रस-सम्प्लावन***

'उन महादेव के इतने में लोचन खुल गये, तथा;'प्रियतम !
'शोभा निहार कर मुग्ध हुए वे उन नवदेवी की;'प्रियतम !
'वे पार्श्ववर्तिनी क्षणमें ही चिर-परिचित हो बैठीं;'प्रियतम !
'उमड़ा रस-सिन्धु, देव डूबे देवी को साथ लिये;'प्रियतम।।२७४

**उपर्युक्त वाक्य पूरा होते-न-होते उन महादेवकी आँखें खुल गयीं...। उन नव देवीकी शोभा निहारकर वे मुग्ध हो गये। साथ ही वे पार्श्ववर्तिनी नवदेवी क्षणमें ही उन महादेवसे चिरपरिचित हो बैठीं। फिर तो रस-सिन्धु उमड़ पड़ा और देवीको साथ लिये हुए वे महादेव उस महासमुद्रमें निमग्न हो गये।।।२७४।।**

'पहली तरङ्ग से ही प्लावित उत्तर की कुञ्ज हुई;'प्रियतम !
'फिर लहर दूसरी में कानन पश्चिम का डूब गया;'प्रियतम !
'ऊँची अत्यन्त तीसरी में दक्षिण का वन डूबा;'प्रियतम !
'चौथे प्रवाह में मग्न हुआ प्राची-अरण्य पूरा;'प्रियतम।।२७५।।

**उस महासमुद्रमें तरङ्गें उठने लगीं। पहली लहरमें ही उत्तरकी कुञ्ज परिपूर्णतया प्लावित हो गयी। दूसरी लहरमें काननका प्रतीची अंश सर्वथा डूब गया। अत्यन्त ऊँची तीसरी लहरमें दक्षिणका वन विलीन हो गया। प्राचीका पूरा-का-पूरा अरण्य चौथे प्रवाहमें-उस प्लावनमें- रसमग्न हो गया।।।२७५।।**

'प्लावन जाकर तब कहीं थमा, जब युग असंख्य बीते;'प्रियतम!
'देवी वे, महादेव उससे बाहर अब निकल सके;'प्रियतम !
'डूबे रहने का सुख अनुपम उन चारों लहरों में;'प्रियतम!
'जो था उनको अनुभूत हुआ, उसकी ही बात छिड़ी;'प्रियतम।। २७६।।

**इतना होनेपर- अबतक असंख्य युग-युगान्त बीत चुके थे भला-तब कहीं जाकर इस प्लावनका विराम हुआ। वे महादेव, वे महादेवी इतने कालके अनन्तर उससे वाहर निकल पड़े। उन चारों प्लावनमें निमग्न रहनेका निरुपम आनन्द, जो उन्हें अनुभूत हुआ था, उसकी ही चर्चा छिड़ गयी।।।२७६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

क्योंकि ये चारों स्वरूप एक मात्र घन रसरूप हैं, इनका धाम भी सच्चिदानन्दकन्द पूर्ण रसमय है, अत. महादेव एवं महादेवीके रूपमे शृङ्गारित होकर नवीन रूपमें अपनेको देखते ही प्रिया-प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीमें अनन्त रसोदधिका आप्लावन हो उठता है। इस रसाप्लावनमे महादेवीके साथ महादेव भी रसनिमग्न हो उठते है। यहाँ ध्यान रहे - सिन्धुका कोई आकार नहीं होता। उसमें मात्र जल-ही-जल जब लहरोके रूपमें उमडता है तो उन लहरोके कुछ भी नाम रखलें, उन्हें प्रिया-प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर-नित्यनिकुञ्जेश्वरी कहलें अथवा महादेव-महादेवी कहदें स्वरूपत. तो वे जलरूप सिन्धु ही हैं। इसी प्रकार जहाँ अतल अगाध सिन्धु है, उसमें लहरोंकी लीलास्थली विहारस्थली भी जलसे भिन्न पृथ्वी नहीं होती, समुद्रका अथाह शान्त जल ही उसके उच्छलनकी आधार विहारभूमि भी होती है। संविद्की प्रधानता होनेसे ही इन नित्यनिकुञ्जेश्वरकी स्वरूपगत महादेवीमें परिणति हो जाती है

और नित्यनिकुञ्जेश्वरी महादेवके रूपमे सज्जित हो जाती हैं। वही रसमुग्धताकी प्रधानतासे ये महादेव-महादेवी ही प्रिया-प्रियतमरूप हो उठते हैं। हैं वस्तुतः चारों एक ही सच्चिदानन्द महारससिन्धु। इसीलिये वे शृंगार धारणकर ज्योंही एक दूसरेके रूपको दृष्टिगत करते हैं , इनका स्वरूपगत रससिन्धु उमड़ उठता है और युगपत् दोनोंको तो परिस्नात कराता ही है, धामगत सभी दिशाओंको भी अपने आनन्दमे आप्लावित कर बैठता है। वहाँ कालकी सत्ता ही नहीं है। अतः इस आप्लावनके विराम लेनेकी कोई अवधि बतायी ही नही जा सकती। केवल संकेत भर करनेको पू.गुरुदेव असख्य युगोकी बात भर कहते हैं, किन्तु सत्यांशमें असंख्य युग कोई अवधिकारक सीमा निर्धारित नहीं करते, जिसे काल-गणनाका नाम दिया जा सके।

## जिज्ञासा

**आगेकी पंक्तियोंमें चारों दिशाओंसे रससिन्धुके आप्लावनका वर्णन है। प्रथम लहरने उत्तरदिशाके कुञ्जको डुबोया, फिर क्रमशः द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ लहरने पश्चिम, दक्षिण एवं पूर्वके कुञ्जोंको डुबोया है इसका भाव तनिक और विस्तारसे समझावें ।**

## समाधान

पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके पूर्ववर्त्ती रसानुभवज्ञ वैष्णव महानुभावोंने शास्त्र-निर्णय तथा अपने अनुभवके आधारपर पॉच प्रकारके रस बतलाये हैं। रसिकोंके भाव-भेदसे ही ये रस-भेद भी हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इनका विकास रसिक साधकके मनमे क्रमशः हो। किन्तु यह निश्चय है कि अगले-अगले रसमें पिछले रसोंकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोमे वर्त्तमान रहते हैं, वैसे ही रस-साधन-प्रणालीमे भी रसोंका समावेश मान लेना चाहिये। जैसे पृथ्वीतत्वमें पॉच भूतोंके गुणोंका समावेश है वैसे ही शान्त दास्यादि रसोंका माधुर्यमें पर्यवसान है। जरा समझ लीजिये - आकाश या व्योम शब्द तन्मात्रक है। वायु या मरुत्में अपनी स्पर्शतन्मात्राके साथ ही साथ आकाशकी शब्दतन्मात्रा भी निहित रहती है। आगे जाकर अग्नि या तेजमे अपनी रूपतन्मात्राके साथ वायुकी स्पर्श एव आकाशकी शब्दतन्मात्रा भी रहती है। अतः तेजतत्त्व रूप, स्पर्श एवं शब्द तीनो तन्मात्रायुक्त है। इसी प्रकार जलमें अपनी रसतन्मात्राके साथ ही रूप, स्पर्श एवं शब्द तीनों तन्मात्राओंका भी समावेश होनेसे यह रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द चारों तन्मात्राओ सहित है। क्षिति या पृथ्वीमें अपनी गन्धके साथ अन्य चारों रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द भी रहनेसे वह पॉचों तन्मात्राओंसे युक्त मानी जाती है।

इसी प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यको समझना चाहिये। शान्तरस जहॉ अडिग निष्ठामय है, वहॉ दास्यभावमे अडिग निष्ठाके साथ ही सेवा भी जुड जाती है। सख्यमे निष्ठाके साथ सेवा और तब सङ्कोचराहित्य (विश्रम्भ) भी मिला रहता है। वात्सल्यमें निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ एवं ममताका योग रहता है। अग्रिम पङ्क्तियोमे विशुद्ध वात्सल्य, सख्यमिश्रित वात्सल्य, स्वकीयामाधुर्य एवं परकीयामाधुर्य - इन चार तटोंका वर्णन है। यहॉ एक पश्चिम दिशाकी कुञ्ज तो विशुद्ध वात्सल्यरसकी प्रतिनिधि है। रसराज नित्यनिकुञ्जेश्वर नित्य नीला शिशु बना यशोदोत्सगलालित रूपमें खेल रहा है, तथा दक्षिणकी कुञ्जमे नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीमती राधा भी अवनीशनन्दिनी भानुराजदुहिता बनी वात्सल्यरसपानोत्सुका हैं। यहॉ यह ध्यान रहे कि पश्चिम निकुञ्जकी लीलामें रसराज श्रीकृष्णके शिशु होनेसे जहॉ विशुद्ध वात्सल्यरसमयी लीला है, वहीं दक्षिण निकुञ्जकी लीलामें अवनीशनन्दिनी बनी श्रीमती राधाकुमारी किंचित् वयस्का होनेसे सखी-प्रणय-रस-सेविता भी हैं । दक्षिण निकुञ्जमें वात्सल्य एवं सख्य दोनोंका युगपत् आस्वादन है। वहाँ अवनीशनन्दिनी राधा शिशु नहीं होकर बाललीलारत हैं एवं उनके संग उनकी सखियॉ भी लीलारत हैं।

### उत्तर निकुञ्जकी बात

'देवी बोली, स्वर था उनका मानो रस का सोता, प्रियतम !
'हे नाथ ! बात कुछ बतलाओ उत्तरनिकुञ्जवाली', प्रियतम !
'सुनते ही महादेव गद-गद होकर यों बोल पड़े', प्रियतम !
'हे सती ! सुनो द्रुमडालों पर हिमकर के न्याय कहूँ', प्रियतम ।।२७७।।

मानो रसका स्रोत उमड़ पड़ा हो, ऐसे मधुरिम स्वरमें देवी बोली-'नाथ हे! उत्तर निकुञ्जवाली कुछ बातें बताओ सही !' यह सुनना था कि महादेव गद्गद् हो गये और तत्क्षण बोल पड़े-'हे सती ! सुनो, शाखाचन्द्र-न्यायसे किञ्चित् बात कहता हूँ'-।।२७७।।

'युगपत् निस्पन्द नित्य एवं उच्छलित नित्य रस है', प्रियतम !
'वह देश-काल से परे जहाँ अपने स्वरूप में है', प्रियतम !
'है किंतु कूल पर जो, उसकी आँखों के अनुभव में,' प्रियतम !
'उसके स्वभाव ये नित्य अहो ! आते हैं क्रमशः ही', प्रियतम ।।२७८।।

'युगपत् नित्य निस्पन्द एवं नित्य उच्छलित रहना ही नित्य रसका स्वरूप ही है। शब्दोंमें तो मात्र इतना ही कहना बनता है कि जहाँ वे अपने स्वरूपमें देश-कालसे परे हैं, वहाँकी ही यह चर्चा है। किन्तु जो तटपर अवस्थित है, उसकी आँखोंके अनुभवमें नित्य रसका यह स्वभाव, अहो ! क्रमशः ही व्यक्त होता है भला !।।२७८।।

'आस्वादन, आस्वादक एवं आस्वाद्य नाम वाला, प्रियतम !
'सच तो यह है, दयिते ! किंचित् कोई है भेद नहीं', प्रियतम !
'फिर भी है वह रसराज, वहाँ वह महाभाव भी है', प्रियतम !
'इन दो की ही क्रीड़ा चलती उत्तरनिकुञ्ज में है, प्रियतम ।।२७९।।

'प्रियतमे ! देखो, वस्तुतः आस्वादन, आस्वादक एवं आस्वाद्य नामवाली वस्तु- इन तीनोंमें कोई भेद नहीं है। फिर भी जहाँ वह रसराज है, वहाँ वह महाभाव भी है ही ! इन दोकी ही क्रीडा उत्तर निकुञ्जमें चलती रहती है।"।।२७९।।

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

उत्तर निकुञ्जमे श्रीराधाजीका स्वरूप-विलास अवनीशनन्दिनी नही होकर श्रीकृष्णार्द्धांगसम्भूता होनेसे वे श्रीकृष्णस्वरूपा ही हैं। यहाँ श्रीराधाकृष्ण युगल दम्पति दोनों ही आस्वादक-आस्वाद्य एवं आस्वादन; ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीसे सर्वथा सर्वांशमें विमुक्त सच्चिदानन्दमय एकमात्र प्रेमतत्त्ववस्तु हैं। इनमें लीला रसास्वादनके लिये ही एक प्रेमतत्ववस्तुका द्विविध प्रकाश है। उनमें न स्त्री है, न पुरुष है, केवल लीला-विलास है। दोनों ही सच्चिदानन्दघन भगवद्विग्रह हैं। इनका सबकुछ सच्चिद्घन है। एक प्रकाश-ही-प्रकाश, विशुद्ध चिन्मय रस प्रीति परतत्त्व विषयालम्बन एवं आश्रयालम्बनरूप हुआ रसराज एवं महाभाव दो रूपोमें लीलारत है, तटमें स्थित साधकका क्रमशः यही अनुभव होता है। उत्तर निकुञ्जमें इन नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीकी निर्बाध मिलन लीला चलती रहती है। इनमें उत्तरोत्तर निरन्तर रसवृद्धिकी होड लगी रहती है। रूपमें, सौन्दर्यमें, लीलामें, प्रेममे, आनन्दमें, परस्पर एक दूसरेको दिये जानेवाले सुखदानमें, इनमे सर्वत्र, सर्वथा होड लगी है। इन युगल-प्रेम-रस-दम्पतिमें प्रेमकी पूर्णता नित्य विद्यमान होते हुए भी नित्य अतृप्ति ही रहती है। यह अतृप्ति इस रूपमे कि हम परस्पर एक दूसरेको आजतक सुखी, पूर्ण सुखी नहीं कर

पाये। यद्यपि हेमकान्तमणि श्रीराधामें नीलकान्तमणि श्रीकृष्णको अनवरत सुखदान करनेकी अभिलाषा हिलोरें लेती रहती है, इसी प्रकार नीलकान्तमणि प्रियतममें अपनी प्रियाको सुख देनेकी लालसा निरन्तर उछाल लेती रहती है, एवं इस लालसाके रहनेपर उसके अनुरूप ही उनका दैनिक जीवन और लीला भी ढलती है, फिर भी प्रियाके मनमें निरन्तर यही अनुभव होता रहता है कि 'हाय रे, मैं अबतक अपने प्रियतमको सुख नहीं दे सकी' एवं प्रियतमके मनमें यह विचार निरन्तर ही तरंगायित रहता है कि 'ओह ! प्रिया मुझे इतना प्रेम करती है, किन्तु मैं अबतक उसे कभी सुखी नहीं कर पाया।' यह अतृप्त एवं अपूर्ण सुखदानकी वृत्ति ही उन दोनोमें नित्य नये-नये वेगसे नवीन लीलोत्साह, मिलनोत्साह जगाती रहती है। इस प्रकार प्रतिदिवस ही नव-नवायमान प्रेमोत्साहसे ये युगल दम्पति इस उत्तर निकुञ्जमें नित्य निर्बाध मिलनरत रहते हैं।

## जिज्ञासा

**सभी जानते हैं कि क्षुधा निवृत्त हो जानेपर भोजनमें अरुचि या प्रीति नहीं रहती। फिर प्रिया-प्रियतम जब अनादि अनन्तकालतक नित्य मिलित रहते हैं, तो उनकी प्रीति उत्तरोत्तर कैसे बढ़ सकती है। प्रीतिकी उत्कण्ठा तो तभी वृद्धिको प्राप्त होती है जब अबाध मिलन न हो, उसमें बाधा आती रहे। भूख पूरी मिटनेके पहले ही भोज्य वस्तु समाप्त हो जाय। यहाँ तो भोज्य वस्तु - मिलन निर्बाध है, अनन्तकालीन है तब उत्कण्ठा कैसे बनी रहेगी ?**

## समाधान

यह विलक्षण प्रेमराज्य है। यहॉ प्राकृत नियम सभी निरस्त हो जाते हैं। यहॉ न तो प्रिया श्रीराधारानी नित्यनिकुञ्जेश्वरीकी मादनाख्य महाभावमयी माधुर्यास्वादनमयी स्पृहा ही कभी निवृत्त होती है एव न ही श्रीकृष्णका माधुर्य कभी सम्पूर्णरूपसे आस्वादित होता है। प्रिया श्रीराधारानीकी प्रेमोत्कण्ठा यहॉ विभु है, वह स्वभावतः **'प्रतिक्षण वर्द्धमानम्'** होनेसे बढता ही रहता है। प्रतिक्षण ही उसमें माधुर्यास्वादनकी नित्य नूतन स्पृहा उत्तरोत्तर अधिक ही होती जाती है। इधर ज्यो-ज्यों प्रिया नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधामें आस्वादनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढती है, उनका प्रेमसिन्धु नित्य-नूतन वेगशील तरङ्गोंमें उच्छलित होता है, त्यों ही प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्णका माधुर्य भी उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता जाता है। जैसे श्रीराधारानीकी उत्कण्ठा विभु है, उस उत्कण्ठाको तृप्त करनेवाला प्रियतमका माधुर्य भी विभु होनेसे उसमें भी पल-पल नित्य नये-नये माधुर्यका, माधुर्यगत नयी-नयी विचित्रताओंका विकास होता रहता है। यो श्रीकृष्णके माधुर्यकी अभिवृद्धिसे श्रीराधाका प्रेम बढता है और श्रीराधाके प्रेमसे श्रीकृष्णका माधुर्य बढता है। दोनो ही मानों होड लगाकर एक दूसरेको परास्त करनेके लिये उत्तरोत्तर प्रबल शक्तिहोते रहते हैं।

इसी प्रकार आनन्दको लेकर भी दोनोंमे परस्पर होड लगी रहती है। अपनी सेवासे जब श्रीराधाजी प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी देखती हैं, तब उनका आनन्द श्रीकृष्णको मिलनेवाले आनन्दसे करोडो गुना अधिक बढ जाता है और श्रीकृष्ण जब प्रियतम श्रीराधाको इतने महान् आनन्दसे परिपूर्ण देखते हैं, तब उनके अनन्त अगाध आनन्द-समुद्रमे बाढ आ जाती है। किन्तु श्रीराधारानीके इस सुखानुभवमें उनकी अपनी सुख-कामना-कल्पनाका लेश भी नहीं है। श्रीराधारानीका यह आनन्दानुभव केवल और केवल अपने प्रियतमको आनन्दित-आह्लादित देखकर ही है। उत्तर निकुञ्जमें इस एकमात्र परम त्यागमय, परम समर्पणमय, परम रसमय, परम प्रियतम-सुख-तात्पर्यमय, विशुद्ध प्रेमका उच्छलित सिन्धु अनादि अनन्तकालसे बह रहा है।

यहाँ यह नित्य ध्यान रखें कि जैसे स्वयं नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण भगवान् हैं, उसी प्रकार श्रीराधारानी नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रिया भी स्वयं भगवत्स्वरूपाशक्ति हैं अत. इस निकुञ्जमें इन दोनों ह्लादात्मा प्रियतम एवं उनकी ह्लादिनीशक्ति प्रियाका ही अचिन्त्यानन्त पूर्ण प्रकाश है।

इस उत्तर निकुञ्जमे प्रिया-प्रियतम परस्पर एक-दूसरेको अपने प्राणोंसे भी बढकर प्यार करते हैं। परस्पर अगाध अनन्त प्रेम ही उनका मन बहलानेका साधन है। वे दोनों परस्पर एक दूसरेके अगोंके सौन्दर्यको ही देख-देखकर मुग्ध होते रहते हैं। परस्पर एक-दूसरेका ध्यान ही उनकी सर्वश्रेष्ठ गति है। सर्वाधिक स्वरूप वे दोनों ही दोनोको भली भाँति मोहित किये रहते है। वे अविनाशी हैं एवं परस्पर एक दूसरेके आनन्दको अपना आनन्द मानते है, एवं दोनों केलिसुखके आधारभूत हुए परस्पर प्रेमरूपी विहारके पारावारमे उन्मत्त एवं परस्पर एक दूसरेसे बढकर तरंगायमान होते रहते हैं।

दोनोके वदन-सरोज सदैव हास्यसे मुकुलित एवं प्रफुल्लित रहते हैं, दोनो नित्यकिशोर-किशोरी एक दूसरेके वल्लभ-वल्लभा है। परस्पर एक-दूसरेके अनुरागसे परिपूर्ण होनेके कारण दोनो धन्यातिधन्य हैं। दोनो एक दूसरेके प्रेमके जीते-जागते पुतले हैं, अनन्त कल्याण-निकेतन हैं तथा माधुर्यके मूर्त्तस्वरूप है। दोनो ही लीलारसके मुकुट-मणि हैं, परस्पर एक दूसरेका हृदय ही इनका निकुञ्ज है। दोनो एक दूसरेके प्रेम-नशेमें मतवाले हुए झूमते रहते हैं एवं रस-विलासके पूर्ण कलाविद् हैं। प्रेमके आश्रयभूत विधाता दोनों भगवान् एव भगवती कामेश्वर -कामेश्वरीके हृदय-धन हैं। दोनों ही एक दूसरेके द्वारा एक दूसरेमे सज्जित होते हैं और मूर्त्तिमान् केलिरस हैं।

## *पश्चिम निकुञ्जकी बात*

'प्राणाधिक! कहो वनस्थल की पश्चिम के क्या गति है?' प्रियतम!
'देवी की आँख लगी बहने झर-झर कहकर इतना' प्रियतम!
'विह्वल वे देव जटावाले उस ओर हुए ऐसे' प्रियतम!
'मानो प्रवाहिणी भावों की ले डूबेगी उनको' प्रियतम।।२८०।।

**'प्राणाधिक ! अच्छा, पश्चिमके वनस्थलकी क्या गति है ?'- यह कहते-कहते देवीकी आँखें झर-झरकर बहने लग गयीं। तथा उन जटावाले महादेवकी भी ऐसी दशा हुई, मानो भावोंकी प्रवाहिणी उनको ले डूबेगी।'।।२८०।।**

'जैसे-तैसे अपने को वे किंचित् सँभाल पाये' प्रियतम!
'हो जाता कण्ठ रुद्ध फिर भी, ज्यों कुछ कहने चलते' प्रियतम!
'आखिर वे बोल सके इतना, 'प्रियतमे! वहाँ देखो' प्रियतम!
'रसराज नित्य लीला निरुपम शिशु बन है खेल रहा' प्रियतम।।२८१।।

**जैसे-तैसे महादेवने अपनेको संयत किया। तथापि ज्योंही वे कुछ कहने चलते कि कण्ठ रुद्ध हो ही जाता। आखिर वे इतना ही बोल सके-'प्रियतमे ! देखो, वहाँ देखो ! नित्य रसराज निरुपम शिशु बनकर वहाँ खेल रहा है भला !।।२८१।।**

## *दक्षिण वनकी बात*

'स्वामिन्! दक्षिण वनमें क्या है?' देवी ने जब पूछा' प्रियतम!
'करते-करते ही प्रश्न किंतु ढल पड़ी देव पर वे' प्रियतम।
'उत्तर का उनको पहले ही मानो आभास मिला' प्रियतम!
'उस सुख में ही जब चेतनता सवा पल डूब गयी' प्रियतम।।२८२।।

**'स्वामिन् ! दक्षिणके वनमें क्या है ?'- देवीने यह प्रश्न किया; किन्तु प्रश्नकी शब्दावलि पूरी होते-न-होते वे महादेवके अङ्गपर ढल पड़ीं। उनके श्रीमुखकी मुद्रा ऐसी थी, मानो बिना कहे ही महादेवके उत्तरका आभास उन्हें प्राप्त हो गया हो। साथ ही उस आनन्दानुभूतिमें ही उनकी चेतना सवा घटिकाके लिये विलीन जो हो गयी !।।२८२।।**

'अनुरागभरे शीतल करसे दयिता के अङ्गों को,' प्रियतम !
'सहला-सहला कर देव लगे करने प्रबुद्ध उनको,' प्रियतम !
'आकुल बूँदें टप-टप दृग से गिर रही अनर्गल थीं,' प्रियतम !
'अभिषेक हो रहा था उनसे देवी के श्री मुख का,' प्रियतम ॥ २८३॥

अनुरागभरे अपने शीतल करसे अपनी प्राण-प्रियतमाके अङ्गोंको सहला-सहलाकर महादेव उनको प्रबुद्ध करने लगे। महादेवके श्रीअङ्गोंका उन अश्रुकी विन्दुओंसे अभिषेक हो रहा था।।।२८३।।

'वे जगीं देव ने बात कही दक्षिण अरण्यथल की,' प्रियतम !
'वह महाभाव ही नित्य बना अवनीशनन्दिनी है,' प्रियतम !
'रसराज बना ताना उसमें, है महाभाव बाना,' प्रियतम !
'निर्मित वितान उस पट से है नभ में उन दो वन का,' प्रियतम ॥ २८४॥

इस अश्रु-वारिसे स्नान करके ही महादेवी प्रकृतिस्थ हो सकी। और तब कहीं महादेवने पुनः चर्चा आरम्भ की-'प्रियतमे ! देखो, उस दक्षिणके अरण्यस्थलमें ही तो महाभाव नित्य अवनीशनन्दिनी बना हुआ है। देखो, रसराज तो ताना बना है और महाभाव बना है बाना। इनसे ही एक विशाल वितानका आकाशमें निर्माण हुआ है। -इसीसे ये दोनों वन-प्रान्तर आच्छादित हैं।'।।२८४।।

## पूरबके वनकी बात

'देवी के मृदुल कलेवर में चल पड़ी गुदगुदी-सी,' प्रियतम !
'मानो ऊपर तक रस भरकर हिल गया बाँध उरका,' प्रियतम !
'ऊँचे स्वर से रह-रहकर वे हँसने अब लगीं, तथा,' प्रियतम !
'पूरब-पूरब' केवल इतना मुख से था निकल रहा,' प्रियतम ॥ २८५॥

महादेवीके मृदुल कलेवरमें गुदगुदी-सी चल पड़ी। मानो महारस भरते-भरते ऊपरतक भर गया, और तो क्या, उरका -हृदयस्थलका बाँधतक स्पन्दित हो उठा। महादेवी रह-रहकर हँसने लगीं और उनके मुखारविन्दसे मात्र'पूरब, पूरब'-केवल यह शब्द ही निसृत हो रहा था।।२८५।।

'अच्छा तो, पूरब वन की भी अब बात रहस्यमयी,' प्रियतम !
'जीवन सङ्गिनि ! सुन लो,' बोले वे महादेवता भी,' प्रियतम !
'अभिनव सुन्दर शुचि रङ्गस्थल वह मधुरभाव का है,' प्रियतम !
'है जहाँ प्रीति का आश्रय भी फिर विषय परस्पर वे,' प्रियतम ॥ २८६॥

'अच्छा, तो अब जीवनसङ्गिनि ! सुन लो,-प्राचीके वनकी रहस्यमयी चर्चा भी कर ही दूँ।' वे महादेव बोलते जा रहे थे-'अभिनव सुन्दर मधुरभावका पवित्र रंगस्थल यही वनस्थल है भला ! यहीं प्रीतिका आश्रय और विषय परस्पर वे दोनों ही तो बने हुए हैं।।२८६।।

'है प्रीति ढली वह किंतु वहाँ अद्भुत उस साँचे में,' प्रियतम !
'आवरण दोष का लिये अहो ! जो नित्य निराविल है,' प्रियतम !
'पावनतम है, पल-पल में है नव-नव होने वाला,' प्रियतम !
'हो सकी, न है तुलना जिसकी, होगी भी नहीं कभी,' प्रियतम ॥ २८७॥

**'किन्तु वहाँ प्रीति अद्भुत साँचेमें जो ढली हुई है। सुनो, उस साँचेपर दोषका आवरण तो निर्मित है, किन्तु वास्तवमें वह नित्य निराविल है, पावनतम है, पल-पलमें नवीन-नवीन रूप धारण करनेवाला है। इसकी कहीं भी तुलना न है, न हो सकी है और न आगे कभी होगी ही।'।।२८७।।**

## पूर्वनिकुञ्जकी बात

पूर्वनिकुञ्जकी लीलाका वर्णन करते हुए पू.गुरुदेव कहते हैं कि यहाँ प्रीति किंचित् दोषका आवरण लिये है। यह दोषका आवरण अन्य कुछ नहीं, मात्र युगल दम्पतिमे प्रकाशित परकीयाभाव है। वस्तुत प्रिया श्रीराधा अपने प्रियतम माधवकी स्वकीया हैं, या परकीया हैं, यह प्रश्न वस्तुतः वहीं उठता है जहाँ उन्हें भगवान् ह्लादात्माकी ह्लादिनीशक्ति नहीं मानकर मात्र एक विलासरत रमणी माना जाता है। यह ध्यान रहे कि श्रीकृष्ण पूर्ण परात्पर भगवान् हैं। इन अनन्तकोटि विश्वब्रह्माण्डोंमें जो कुछ भी कभी अनादि भूतकालमें था, वर्त्तमानमें है एवं आगे कालके अनन्त प्रवाहमें कभी कुछ भी होगा, उस सबके एकमात्र पति - स्वामी श्रीकृष्ण ही थे, हैं, एवं रहेंगे। जगत्‌में जितने प्राणी हैं, थे एवं रहेंगे, समस्त प्राणियोंके हृदयमें आह्लाद, सत्ता, एवं चेतनताके रूपमें जो प्रभु स्थित हैं, वे ही सबके स्वामी, सबके प्रियतम श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमवश भले ही उन्हें किसी अन्यका, पराया, समझले - वे तो सभीके नित्य स्वकीय, अपने-के-अपने स्वामी, पति थे, हैं एवं रहेंगे। वस्तुत. जितने भी दोष हैं, वे सभी हमारी भ्रम-दृष्टि मात्रके परिणाम हैं। प्रियतम श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जोकि सत्यकी सत्य है, वास्तविक है, जिसमे सभी भ्रम (माया) निरस्त है, कोई परकीया है ही नहीं। श्रीकृष्णकी जितनी भी नारीशक्तियाँ हैं, सब स्वकीया हैं क्योंकि विश्वमें अनादि कालसे अनन्तकालतक जितना भी लीलाविलास हैं, सभी उनका एवं उनकी स्वरूपभूता आत्मस्वरूपा शक्तियोंके संग ही है। ऐसी स्थितिमे जारभाव एवं औपपत्यका कोई लौकिक अर्थ ही नहीं रह जाता।

जहाँ काम नहीं, अंग–संग नहीं, वहाँ जारभाव अथवा औपपत्यकी कल्पना ही कैसे संभव हो सकती है। ह्लादात्मा श्रीकृष्णकी अपनी ह्लादिनीशक्ति श्रीराधा कभी परकीया हो ही नहीं सकती। श्रीराधारानी उनकी नित्य स्वकीया थीं, हैं एवं रहेंगी।

यह अवश्य है कि इस पूर्व निकुञ्जमे नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा परकीयाभाव-भावित हो उठती हैं। परकीया होनेमें, एवं परकीया भाव-भावित होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। परकीयाभावमे तीन बाते बडे महत्वकी होती हैं - प्रथम - अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, द्वितीय - मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा, एवं तृतीय - दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। पूर्व–निकुञ्जमें श्रीराधारानीमें परकीया भावकी प्रधानता है, इसका इतना ही अर्थ है कि उन्हे अपने प्रियतमका अनवरत प्रगाढ़ चिन्तन होता रहता है, मिलनकी असीम उत्कण्ठा रहती है और वे अपने प्रियतमके प्रत्येक व्यवहारको अपार प्रेमकी दृष्टिसे देखती रहती हैं। वे अपने प्रियतमसे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहतीं, कुछ भी आशा नहीं रखतीं, वे अनवरत अपना सर्वस्व देकर उन्हें सुखी करना चाहती हैं। इसी विशेष प्रेमके भावका प्राबल्य इस पूर्वकुञ्जमे है।

यह सदैव ध्यानमें रखनेकी बात है कि जिसके जीवनमे साधारण धर्मकी हलकी-सी प्रकाश-रेखा आ जाती है, उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्शस्वरूप बन जाता है। फिर श्रीराधाजी जो भगवान्‌की नित्यसिद्धा स्वरूपभूता शक्ति हैं एवं समस्त धर्ममर्यादाओंकी प्रतिष्ठा (संस्थापक) स्वयं भगवान् श्रीकृष्णपर धर्मोल्लङ्घनका लांछन कैसे लगाया जा सकता है ? अतः यदि कोई भगवान् ह्लादात्मा स्वयं श्रीकृष्ण एवं उनकी ह्लादिनीशक्तिपर दोष लगाता है, अथवा उन्हें दोषी समझता है तो वह निश्चय ही उनके दिव्य भगवत्स्वरूप एवं लीलाकी चिन्मयताके प्रति अनभिज्ञता ही प्रकट करता है।

पू.गुरुदेव यहाँ जब कहते हैं कि पूर्व निकुञ्जकी लीला दोषका आवरण लिये है, उसका अर्थ यही है कि इस निकुञ्जमें सर्वथा अनाविल, पावनतम लीलारस प्रवाहित होता है, किन्तु उसकी आकृति मात्र अत्यन्त कडुवे इन्द्रायण

(तूँबे) सरीखी है। आकृति यदि कड़ुए तूँबे सरीखी हो, किन्तु वह मीठी मिश्रीसे निर्मित हो तो आकृति की कड़ुए तूँबेसे साम्यता मात्र होनेसे मिश्रीका तूँबा कड़ुआ थोडे ही हो जाता है। उसमें स्वाद तो सर्वत्र, सर्वदा एवं सर्वथा मिश्रीका ही आवेगा। हाँ, उसमें लीलाके विलक्षण चमत्कारकी बात ही अधिक दृष्टिगोचर होगी। अज्ञानी लोग भले ही उसे कड़ुआ तूँबा समझ लें, परन्तु खानेवाले ज्ञानी उसमें मिश्री ही पावेगे। इसी प्रकार अखिल रसामृत-सिन्धु सच्चिदानन्दघनविग्रह प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं उनकी अन्तरंग अभिन्नस्वरूपा नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रिया श्रीराधाकी लीला कैसी ही क्यों न दिखे, वस्तुतः वह है पूर्ण सच्चिदानन्दमयी ही।

'इतना कहते- सुनते ही वे दोनों ध्यानस्थ हुए,' प्रियतम !
'पुष्पित अशोक डाली वह ऊपर से एक झुकी।' प्रियतम !
'उन दोनों पर ही झूल,लगी सुरभित बयार करने।' प्रियतम !
'हम दो भी तत्क्षण उनकी ही झर पड़े साँस से हैं।' प्रियतम॥ २८८॥

-इतना कहते-कहते ही महादेवी-महादेव - दोनों ही ध्यानरथ हो गये। ऊपरसे पुष्पित अशोककी एक डाली झुक पड़ी उन दोनोंपर ही। उन महादेव-महादेवीपर ही डाली सुरभित बयार करने लगी भला ! इसके दूसरे क्षण ही हंस-हंसिनीसे यह भी बोल गया-'प्रियतमे हंसिनि ! हम दोनों भी उसी क्षण उन दम्पतिके साँससे ही तो झर पड़े हैं - अभिव्यक्त हो गये हैं !'॥२८८॥

यह उपर्युक्त इतिहास हंस कह गया हंसिनी से, प्रियतम !
तन्मय होकर सुन गयी इसे वह राजनन्दिनी भी, प्रियतम !
अब लिये मराल- मराली को धीरे- धीरे आया, प्रियतम !
छूने स्वचञ्चु से जगाधारा नृप-दुहिता के आगे, प्रियतम॥ २८९॥

अस्तु, यह उपर्युक्त इतिहास हंस हसिनीसे कह गया। राजनन्दिनी राधाकिशोरी भी तन्मय होकर इस इतिहास को सुन रही थी। इतनेमें ही मराल मरालीको साथ लिये धीरे-धीरे राधाकिशोरीकी ओर चला आया। आकर वे वृषभानुराजनन्दिनीके आगेकी धराको बार-बार स्पर्श करने लगे।॥२८९॥

कर रही याद-सी अपनी ही भूली कुछ बातों को, प्रियतम !
थी खड़ी नृपति-दुहिता नीरव गुत्थी सुलझाती-सी, प्रियतम।
'है जुड़ा अवश्य अहो! मुझसे इतिवृत्त हंसवाला।' प्रियतम !
कुछ पल के लिये चित्त उसका भावित इस भाँति हुआ, प्रियतम॥ २९०॥

नीरव निरपन्द भानुकिशोरी खड़ी रह गयीं। वे कुछ अपनी भूली बातोंको स्मरण-सी कर रही थीं- नीरव रहकर उस पहेलीकी गुत्थी सुलझाता-सी थीं। कुछ पलोंके लिये उनका चित्त इस भावनासे भावित हो उठा-'यह हंसके द्वारा कथित इतिवृत्त तो मुझसे अवश्य जुड़ा हुआ है अहो !॥२९०॥

### *चिन्मय दम्पतिके पास पहुँचनेकी जिज्ञासा*

मनमें आया, मराल से ही क्यों मैं न पूछ यह लूँ, प्रियतम।
संकोच हो गया किंतु, पुरुष आखिर विहङ्ग यह है, प्रियतम !
अतएव तनिक चतुराई का पथ अपनाया उसने, प्रियतम !
बोली, 'हे हंस ! जहाँ वे हैं, मैं जा सकती हूँ क्या ?' प्रियतम॥ २९१॥

राजनन्दिनी यह भी सोचने लगी-'क्यों नहीं मैं मरालसे ही जाकर निर्णय करा लूँ इसका ?' किन्तु सङ्कोचसे किशोरीका कण-कण सहसा परिपूर्ण हो गया। मनमें आने लगा-'आखिर यह हंस विहङ्ग-पुरुष है।' इसीलिये किशोरीने तनिक चतुराईका पथ अपनाया। वे बोल उठीं-'हंस हे ! जहाँ वे दम्पति हैं, मैं जा सकती हूँ क्या ?'।।२९१।।

'निर्बाध, अवश्य-अवश्य अहो! नृप-नन्दिनि, जब चाहो,' प्रियतम।
'श्रीपद का ही तो नित्य, भला, कर रहे ध्यान वे हैं;' प्रियतम !
'जा-जाकर ही रस-वारिधि में सब पथिक नहाते हैं;' प्रियतम।
'आ जाय उमड़कर पास वही, यह भाग सुदुर्लभ है।' प्रियतम।।२९२।।

राजनन्दिनीको उत्तर देता हुआ हंस अविलम्ब बोल उठा-'निर्बाध, अवश्य ! अवश्य ! .........अहो ! राजनन्दिनि ! जब चाहो, तभी जा सकती हो। तुम्हारे श्रीचरणोंका ही तो वे नित्य-निरन्तर ध्यान कर रहे हैं। सभी पथिक इसी रस-समुद्रमें ही तो जा-जाकर स्नान करते हैं। किन्तु कहीं अपने आप रस-वारिधि स्वयं उमड़कर समीप आ जाये !............तो यह सौभाग्य कितना दुर्लभ है राजनन्दिनि ?'।।२९२।।

ऐसे कह उठा हंस, फेरी देकर नृपपुत्री की, प्रियतम !
गुत्थी खुलती-सी दीखी, पर उसका मन उलझ गया, प्रियतम !
उस नेह जाल में, विधि गति से जो अकस्मात् फैला, प्रियतम !
लेकर मरालकी ओट सरस चालित अलक्ष्य करसे, प्रियतम।।२९३।।

इतना कहकर हंस राजपुत्रीकी फेरी देकर उनकी ओर देखने लगा। राजपुत्रीको गुत्थी सुलझती-सी दीखी। किन्तु उसका मन तो क्रमशः उलझता जा रहा था उस नेहके जालमें, जो दैवयोगसे हठात् मरालकी ओट लेकर सामने किसी अलक्षित करने विस्तारित किया था। ।।२९३।।

लज्जा का भान हुआ, फिर भी बोली वह धीरे से, प्रियतम !
'जाऊँ, मराल! मैं किस पथ से इतना-सा और कहो,' प्रियतम !
'विस्मृत-सी हुई मुझे बातें लगती निकुञ्ज की हैं;' प्रियतम !
'तुम सहृदय हो, इससे साहस हो गया पूछने का,' प्रियतम।।२९४।।

लज्जाका भान हो रहा था राजकिशोरीको; कुछ क्षण रुककर वह धीरेसे बोल उठी-'मराल ! इतना-सा और बता दो, मैं वहाँ किस पथसे जाऊँ ? मुझे निकुञ्जकी बातें भूली-सी लग रही हैं। तुम सहृदय हो, इसीलिये तुमसे पूछनेका साहस हो रहा है।'।।२९४।।

### दो शाश्वत पथ - ज्ञान एवं प्रीति

'दो पथ, महीपनन्दिनि! हैं, तुम चाहो जिससे, जाओ,' प्रियतम !
'पहले में दोनों ओर लगे उज्ज्वल फूले तरु हैं,' प्रियतम।
'पथरीला है, वह ठंढापन-सूनापन लिये हुए,' प्रियतम !
'अव्यक्त और हो जाते हैं पदचिह्न सभी उसमें।' प्रियतम।।२९५।।

उत्तरमें तत्क्षण मराल बोल उठा-'महीपनन्दिनि ! दो पथ हैं। तुम जिस पथसे जाना चाहो, जाओ। पहले पथमें दोनों ओर खिले हुए उज्ज्वल सुमनोंसे परिशोभित वृक्षावलि लगी है। हाँ, वह पथ पथरीला अवश्य है,

ठंडापन, सूनापन भी लिये हुए है। इतना ही नहीं, आगे चलकर इस पथमें सभी पदचिह भी व्यक्त हो जाते हैं।।।२९५।।

'है लता दूसरे में पीली लिपटी नीले द्रुम से, प्रियतम !
'वह नवल बारहों मास बनी नौ भाँति फूलती है; प्रियतम !
'आगे वह लाल कुसुम पथ को करता परागमय है; प्रियतम
'अङ्कित सुस्पष्ट चिह्न उसपर होते पद-पदपर हैं।' प्रियतम॥२९६

'दूसरे पथमें पीली लता नीले द्रुमसे लिपटी हुई है। वह पथ बारहों मास नवीन बना रहता है। उसके वृक्ष नौ प्रकारसे फूलते रहते हैं। पुष्प भर-भरकर उस पथको परागमय बना देता है। यह पथ लालिमासे परिपूर्ण रहता है। यह पथ अरुणिम वर्णका है। इसपर चलनेवालेके सुस्पष्ट पदचिह पद-पदपर उपलब्ध होते हैं।।२९६।।

'पहला पथ है उनका, जिनका धीरज न छूटता है; प्रियतम !
'बाहर न आँख जाती जिनकी, मति सहस्रार में है; प्रियतम !
'करते न विराम कभी जो हैं, रखते न पास कुछ हैं; प्रियतम !
'है अहम् निकल जाता जिनका चलने से पहले ही।' प्रियतम॥२९७

'वृषभानुनृपनन्दिनि ! सुनो, पहला पथ तो उनका है, जिनका धीरज कभी नहीं छूटता, जिनकी आँखें कभी बाहर नहीं जाती और जिनकी मति सहस्रारमें लगी रहती है। उस पथके पथिक कभी विश्राम नहीं लेते, अपने पास वे कुछ भी नहीं रखते और यात्रा आरम्भ करनेके पहले ही उनका अहं सर्वथा निकल जाता है।।२९७।।

'फूली लतिका पथ है उनका आकुल जो पल-पल हैं; प्रियतम !
'आँखें फँसती हैं जिनकी, रति उर के भावों में है; प्रियतम !
'हैं भ्रमित चरण जिनके, जो हैं अञ्चल में फूल लिये; प्रियतम !
'छाया रसमयी अहंता की जिनको न छोड़ती है।' प्रियतम॥२९८

'फूली लताओंका पथ उनका है, जो पल-पलमें व्याकुल होते रहते हैं, जिनकी आँखें सौन्दर्यको देखकर फँस जाती हैं, वे अपने अञ्चलमें फूल लिये रहते हैं; उनकी रसमयी अहंताकी छाया क्षणभरके लिये भी उनका परित्याग नहीं करती।।।२९८।।

## जिज्ञासा

आगे छन्द संख्या २९५ में हंस पक्षी अवनीशनन्दिनी प्रिया श्रीराधाकुमारीको उसके जिज्ञासा करनेपर कि मैं किस पथसे इन सनातन अज दम्पतिसे मिलने जाऊँ - उत्तरस्वरूप दो पथोंका निर्देश देता है। कृपया इन दो पथोंके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक समझाइये।

## समाधान

वस्तुतः ये सनातन अज-दम्पति नित्यनिकुञ्जेश्वर-निकुञ्जेश्वरी हैं तो अनादि, सबसे परे, सबमें अनुस्यूत, सब कारणोंके परम कारण, सर्वगत, सर्वस्वरूप, सर्वातीत, सच्चिदानन्द-विग्रह परतत्त्व परब्रह्म परमात्मा ही।

**ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।**
**अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।** ।ब्रह्मसंहिता।।

इस दृश्यमान् अनन्त विश्व तथा इससे सर्वथा अतीत जो कुछ है, या हो सकता है, उस सबका मूल, उस सबको जिसने अपनेमें ले रखा है, वह सच्चिदानन्दतत्त्व ही तो ये अज दम्पति हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वह सच्चिदानन्दतत्त्व 'अद्वितीय' होकर दो कैसे हो सकता है - इसका उत्तर यही है कि उस **'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति'** ब्रह्ममें **'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'**(श्वेताश्वतर) इस उपनिषद् वाक्यानुसार विविध अनन्त शक्तियाँ हैं।

श्रुतियाँ जब ब्रह्मको **'अनन्तं ब्रह्म'** कहती हैं तो ब्रह्मकी वह अनन्तता निश्चय ही उसे शक्ति-प्रकाशनकी अनेक विचित्रताओंसे युक्त तो सिद्ध करती ही हैं। अतः **'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति।'** वस्तुका स्वरूपगत्त धर्म उसके अणु-परमाणुमें उसी प्रकार विद्यमान रहता है, जैसे अग्निका प्रत्येक स्फुलिङ्ग दाहिका-शक्ति-समन्वित होता है। अतः यह सिद्ध हो ही जाता है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म , सत्, चित् आनन्द शक्तियोंसे ओतप्रोत एवं समन्वित है। आनन्दस्वरूप होनेसे ही वह **'रसो वै सः'** रसस्वरूप है, एवं रस शब्दके दो प्रकारके अर्थ होनेसे वह आस्वाद्य मधुरूप भी है और आस्वादक भ्रमररूप भी है ही। यहाँ परात्पर परब्रह्मके इन एक होते हुए भी दो रूपोंको आस्वाद्य रसकी प्रतीक नित्यनिकुंजेश्वरी प्रिया श्रीराधा एवं आस्वादक रसके प्रतीक नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण - इन दो नामोंसे उल्लिखित किया गया है। अतः इन नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीके परमधामस्वरूप परम सत्यकी उपलब्धिके लिये निश्चय ही साधनाके दो मार्ग बन जाते हैं - एक निजकी मङ्गलसाधना, ज्ञानका मार्ग और दूसरा निजके आत्मसमर्पणरूप प्रीतिका मार्ग। ये साधनाकी दो धाराएँ अनादि कालसे हैं। प्रथम धारा जिसमें 'अहं' के परिणामकी चिन्ता, उसके मङ्गलकी भावना है। संक्षेपमें इसमें कर्मकी एवं ज्ञानकी प्रधानता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तिम उपदेशमें कहा गया है:

**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।।**

यह भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अत्यन्त महत्वपूर्ण उपदेश है। परन्तु इस उपदेशमें भी 'पापनाशका प्रलोभन ' है। भगवान् कहते हैं तुम्हारे पापनाशका प्रबंध मैं कर दूँगा और जीव अपने अहंकी चिन्तासे आश्वस्त होता है। इसमें भी अहंके परिणामकी चिन्ता है।

जो-जो भी साधक इस संसारमें **'क्षणभंगुरमशाश्वतम्' 'दुःखदोषानुदर्शनम्'** दुःख एवं मृत्यु, पीडा एवं अभावसे भरा देखकर इनसे छुटकारा पानेके लिये चिन्तित होते हैं, उन्हें ही दुःखोंसे, मृत्युसे, गर्भादिजन्य कष्टोंसे , रोग-शोककी पीडासे, दरिद्रता-अभावकी मारसे मुक्त होनेकी इच्छा होती है। 'देहबन्धनमें ही तो सब कष्ट है, अतः मैं बन्धनमें हूँ, मुझे मुक्ति मिले' - यह मोक्षकी इच्छा जिसे मुमुक्षा कहते हैं - स्वाभाविक ही सबमे है इससे भी ऊपरकी स्थितिके - जो साधनाके शिखरतक पहुँचते हैं ऐसे ऊँचे साधकोंकी स्थिति होती है कि वे ब्रह्मभूत हो जाते हैं।

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।**
**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।**

इस स्थितिको प्राप्त पुरुष पापनाशकी परिधिसे परे चले जाते हैं, वे ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा साधक आत्म-सतुष्ट हैं। उनके पास अपने-आप स्वयं भगवान् आते हैं, जैसे प्रह्लादजी, सुतीक्ष्णजी आदि भक्तोंके पास आये। ये भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त करते हैं। किन्तु इन्हें भी 'भक्तिलाभ' की आकांक्षा रहती है। इन्हें लौकिक कोई चिन्ता नहीं होती, किन्तु भगवान्‌से भक्तिलाभकी, उसके उत्तरोत्तर अभिवृद्धिकी इन्हें भी आकांक्षा, कामना रहती ही है। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा इस 'अहंके

मङ्गल'की आकांक्षावाली साधनाको प्रथम मार्ग बतलाते हैं। वे कहते हैं इस प्रथम साधनामें पथके दोनो ओर उज्ज्वल पुष्पों, सुमनोंसे परिशोभित वृक्षावलि लगी हैं। पू.गुरुदेवके इस कथनका यही तात्पर्य है कि ज्ञानकी साधना आलोक एवं प्रकाशका पथ है। इसमें न तो रजोगुणजनित झंझावात एवं नेत्रोंको धूलसे भर देनेवाली धुन्ध है, न ही तमोगुणजन्य घोर अज्ञानान्धकार है। अपितु सत्वका निर्मल प्रकाश चित्तभूमिको आलोकित किये रहता है। यह पथ साधनाजन्य कठोरता लिये अवश्य है, इसलिये पथरीला है। इसमें जो आराध्य ब्रह्म है वह भी निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निष्क्रिय, निष्कल, निर्लेप है, अतः उसमें शीतलता तो है किन्तु आराध्यके सगुण-साकार नहीं होनेसे उसका आत्मीयतापूर्ण संग नहीं है। निर्गुण, निराकार आराध्यके होनेसे स्वाभाविक चित्तको निष्फल शून्य घन चेतनमें ही केन्द्रित करना पडता है। इस साधनामें अपना अहङ्कार एवं सभी साधन-प्रयास अव्यक्तमें विलीन हो जाते हैं। अर्थात् इसमे अव्यक्त अपरिच्छिन्न चेतनमें ही लीन होना होता है।

हाँ, दूसरा पथ विलक्षण है। इसमें कोई आकांक्षा नहीं, इसमें कोई वासना नही, यहाँ अहंका सर्वथा विस्मरण है। अहं पूरे का पूरा अपने प्रियतम प्राणवल्लभको समर्पित हैं इसमें केवल अपने प्रेमास्पदके सुखकी स्मृति है, और कुछ भी नहीं। यह एक विचित्र धारा है जिसमें अपने स्वयंके 'कर्मसे कोई प्रयोजन ही नही है। सब कर्म प्रियतमके लिये हैं। यहाँ तत्त्वज्ञानका कोई आदेश नहीं। इस पथमें विधिसंगत भक्तिसाधना भी नहीं, कोई अष्टाग योग-विशेष नहीं। मुक्तिकी यहाँ स्पृहा ही नहीं, बन्धनके भयका लेश नही। यहाँ सबकुछ प्रेमसागरमें लव-लीन है, अपना कुछ शेष बचा ही नहीं।

इसमें अहङ्कार श्रीराधारानीकी पीत अंगाभामें एकमेक होकर राधारूप हो जाता है। क्योकि यहाँ राधाके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, वह सभी राधाका कायव्यूहरूप भर होकर ही है। श्रीमती नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रिया श्रीराधा ही इस द्वितीय पथकी मूल आदर्श हैं। राधाका जीवन यहाँ ब्रह्मविद्याके लिये भी आकांक्षित, स्पृहणीय है। पद्मपुराणके पाताल खण्डमें यह कथा आती है - 'ब्रह्मविद्या स्वयं तप कर रही हैं। उनको तप करते देखकर ऋषि पूछते है कि 'आप कौन हैं ? आप क्यों तप कर रही हैं ?' ब्रह्मविद्याने कहा -'मैं ब्रह्मविद्या हूँ।' ऋषियोंने पूछा -'आपका कर्म क्या है ?' ब्रह्मविद्याने कहा कि सम्पूर्ण जगत्को अज्ञानसे मुक्त करके ब्रह्ममे प्रतिष्ठित कर देना ही मेरा कर्म है। सारे जगत्के माया-तिमिरको सदा-सर्वदाके लिये हर लेना और ज्ञानको प्रकाशित करना - यही मात्र मेरे अस्तित्वका प्रयोजन है। ऋषियोंने पूछा -'फिर आप तपस्या क्यों कर रही हैं ?' ब्रह्मविद्या यह तो नहीं कह सकी कि राधाभावकी प्राप्तिके लिये। यह कहनेका तो उसका साहस ही नहीं हुआ। वह इतना ही उत्तर दे सकीं -'गोपीभावकी प्राप्तिके लिये।'

कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि यह दूसरा पथ (प्रीतिमार्ग) गोपीभावका है। इस पथमे जगत्की स्मृति नहीं, ब्रह्मकी परवाह नहीं, ज्ञानका प्रलोभन नहीं, मुक्तितक इस पथमें नमकके समान खारी अनुभव होती है। बन्धन मात्र श्यामसुन्दरसे आसक्तिका है, अज्ञान-तिमिर होनेका तो प्रश्न ही नहीं। यहाँ इस पथमें तो जीवनका एक ही प्रयोजन है कि राधारूपा पीली विद्युल्लता आह्लादमें उन्मत्त हुई नीलकान्तद्युति रसकदम्ब श्रीकृष्णसे नित्य लिपटी रहे। जो नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्णका स्वरूपानन्द है, इस स्वरूपानन्दको ही वैष्णव शास्त्र आह्लादिनीशक्ति कहते हैं। इस आह्लादका जो सार है वह प्रेम है। इस प्रेमके परम फलको भाव कहते है एव इस भावकी जहाँ चरम सीमा है, जहाँ उसके परिपूर्णतम विकासकी इति होती है, उसे कहते हैं - महाभाव। यहाँ महाभाव ही श्रीराधा हैं। वे ही इस पथकी मंजिल हैं। अतः पू.गुरुदेव कहते हैं कि इस पथमें विद्युल्लता प्रिया, अपने प्रियतम नीलद्युति कदम्बसे बारहो मास लिपटी नयी-नयी कोंपलोंसे युक्त हुईं सदैव पुष्पित ही रहती हैं। इस पथमें रति, मान, प्रणय, राग, अनुराग आदि भावोंके लाल पुष्पोंकी सुगन्धित पराग सर्वत्र बिखरी रहती है। और इस पथमें कदम-कदमपर प्रिया-प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरीके पदचिह्न चिह्नित मिलते हैं, जो पथिकको अपनी गन्तव्य मंजिल दिखाते रहते हैं।

हस अवनीशनन्दिनी श्रीराधाकुमारीसे कहता है - ' वृषभानुनृपनन्दिनी सुनो ! प्रथम पथमें वे ही चल पाते हैं जिनका भव-प्रवाहके थपेडोमे धैर्य नहीं छूटे, वे दृश्यजन्य समग्र आकर्षणोंमें लिप्त नही हो एव सदैव यही उनका एवं अडिग दृढ निश्चय रहे कि सब मृगमरीचिकावत् माया है।'

यहाँ एक पौराणिक कथाका उल्लेख कर दे रहा हूँ। ऋषि विश्वामित्रने ब्रह्मविद् वरिष्ठ ब्रह्मर्षि वशिष्ठजीके सौ पुत्रोंपर अभिचारका प्रयोग किया एव उनमेंसे निन्यानवे पुत्र मारे गये। किन्तु ब्रह्मज्ञानी वशिष्ठजीने विश्वामित्रके लिये अपने चित्तमे कभी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होने दिया। एक बार वे निर्जन वनमे एकान्तमे एक वृक्षके नीचे विश्राम कर रहे थे। चॉदनी रात थी और चन्द्रमा सर्वत्र अपनी शीतल ज्योत्स्नासे वनको उद्भासित कर रहा था। ऋषि वशिष्ठके चरण उनकी पत्नी अरुन्धती दबा रही थी। विश्वामित्रजी जो सदैव उनपर घात लगाये रहते थे, मौका देखकर ऋषि वशिष्ठकी हत्या करनेके उद्देश्यसे उसी वृक्षकी डालपर छिपकर बैठे थे, एव उचित अवसरकी प्रतीक्षा कर रहे थे। सहसा अरुन्धती निरभ्र आकाशपर फैले चन्द्रमाके प्रकाशकी शोभा वर्णन करने लगी। वशिष्ठजीने कहा -'चन्द्रमाका प्रकाश इतना निर्मल है जैसा विश्वामित्रका तप।' अरुन्धती अपने पतिके मुखसे अपने निन्यानवे पुत्रोके हत्यारे व्यक्तिकी प्रशंसा सुनकर ग्लानिसे भर गयी। उसने कहा - 'आर्य ! आप उस निर्मम बधिककी प्रशस्ति कर रहे हैं ?' वशिष्ठजीने अतिशय धैर्यपूर्वक कहा - 'प्रिये ! अपने पुत्रोंकी मृत्यु तो उनके प्रारब्धवश ही हुई है। अवश्य ही उनके दुष्प्रारब्धने ही विश्वामित्र जैसे निर्मल तपस्वीको उनकी हत्यामे निमित्त, हेतु बना दिया, अतः विश्वामित्र तो निश्चय ही दयाके पात्र, क्षम्य हैं। फिर पुत्र-कलत्रादि, शत्रु-मित्र, राग-द्वेषके रूपमे तो मृग-मरीचिकावत् यह माया ही अनुभवमे आ रही है। यदि मिथ्या स्वप्नमें कोई किसीके हजार पुत्रोकी हत्या करदे तो वह हत्यारा थोडे ही होता है। इसी प्रकार वस्तुत सत्य तो एक मात्र परब्रह्म, परमात्मतत्त्व ही है, जो सर्वत्र ठसाठस घन विराजित है। शेष मै, तू, तेरा-मेरा, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, जन्म-मृत्यु तो मात्र प्रातीतिक मिथ्या स्वप्न हैं, मायिक दृश्य हैं।'

इस प्रकार जिनका चित्त दृश्यजनित जन्म-मृत्यु, हानि-लाभ, यश-अपयशके घोर थपेडोमे धैर्य नहीं खोता, जिनकी चित्तवृत्ति (ऑख) कभी बहिर्मुखी नहीं होती , मन अन्तर्मुखी आत्मानन्दमे डूबा रहता है, और जो बुद्धि-विचारसे सहस्रारमे रमते रहते हैं, जो संसारकी दृष्टिसे सर्वथा अकिंचन होते हैं, और अनवरत ब्रह्मविचारमे सलग्न रहते हैं, विचार-विवेकमें कभी विराम नहीं लेते, जिनका साधनाके प्रारंभमे ही ऐसा निर्णय होता है कि अहङ्कार मात्र मायासे भासित होता है और वस्तुतः वह परात्पर परब्रह्म (परमात्मा) ही है। उन साधकोके लिये यह प्रथम पथ है।

इसी प्रकार दूसरे पथका उल्लेख करता हुआ हंस कहता है -'हे वृषभानुनन्दिनी ! दूसरे पथके साधक वे हैं जो पल-पल प्रिय-मिलनके लिये आकुल होते रहते हैं, जिनके प्रिय-विरहमें अश्रु अविरल बहते ही रहते हैं, कभी नहीं थमते। जिनकी ऑखें प्रियतमकी रूपमाधुरीमें सदैव आठोयाम फॅसी रहती हैं, जिनके भावोमे रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव आदि क्रमशः प्रेमके सर्वोच्च भाव व्यक्त होते रहते हैं। जिनके चरण अपने प्रियतमके संग वन-विहार करते-करते सदैव श्रमित रहते हैं और जिनके अचलमें प्रेमभावोंके कुसुम भरे रहते हैं, जिनको यह रसमयी अहंता कि मैं मेरे प्रियतमकी अनन्य प्रेयसी हूँ - कभी नहीं छोड़ती।

'हट नृपति-तनूजे! विनती इस किङ्कर मराल की है; प्रियतम!
'तुम तो दोनों पथ को हँसकर केवल छूभर लेना; प्रियतम!
अग्रिम इस उपवन से ही वे चलते हैं सटे-सटे; प्रियतम!
इतने में हट हंसिनी उड़ी, उड़ गया हंस पीछे, प्रियतम॥ २६९॥

**'नृपतितनूजे ! अपने इस किङ्कर मरालकी इस विनतीको तुम सुन लो ! तुम तो तनिक हँसकर केवल अपने चरण-सरोरुहसे दोनों पथको छू भर लेना भला ! इस अग्रिम उपवनसे वे दोनों पथ आरम्भ होते हैं और सटे-सटे**

ही वे अग्रसर होते हैं।' - हंसके इतना कहते-न-कहते हंसिनी उड़ पडी और उसके पीछे हंस भी उड गया।।।२९९।।

### *किशोरी असमंजसकी स्थितिमें*

*नृपपुत्री बारह-चौदह पल खोयी-सी खड़ी रही, प्रियतम !*
*उस ओर देखती, उड़कर थे वे जिधर विहङ्ग गये, प्रियतम !*
*सहसा उसकी फिर चित्तवृत्ति अनुजा की ओर गयी, प्रियतम !*
*देखा वह तो सोयी सुखसे गहरी निद्रामें है, प्रियतम॥ ३००॥*

राजनन्दिनी राधाकिशोरी बारह-चौदह पलतक खोई हुई-सी वहीं खडी रही। जिधर वे हंस-दम्पति उड़े थे, उसी ओर देख रही थीं वे। सहसा किशोरीकी चित्तवृत्ति अपनी अनुजाकी ओर चली गयी। किशोरीने देखा- वह तो गहरी निद्रामें सुखसे सोयी हुई है।।३००।।

*'क्या करूँ? जगाऊँ इसको या मैं ही किंचित् ठहरूँ?' प्रियतम !*
*यों रही सोचती, किंतु ठीक निर्णय कुछ कर न सकी, प्रियतम !*
*थी भरी अनोखी निर्भयता सर्वत्र वहाँ गृहमें, प्रियतम !*
*आयी न अतः उसके मनमें कोई अनिष्ट-शङ्का, प्रियतम॥३०१॥*

'क्या करूँ'-राजनन्दिनी सोचने लगी-'क्या मैं इसे जगा दूँ ? या मं ही किञ्चित् ठहर जाऊँ?' किन्तु वे कर्त्तव्यका निर्णय न कर सकीं। उस स्थलपर अनोखी निर्भयता परिपूर्ण थी। गृहका कण-कण भयशून्य था। अतः राधाकिशोरीके मनमें अपनी अनुजाके लिये किसी भी अंनिष्टाशङ्काकी बात आयी ही नहीं।।३०१।।

*घूमूँ मैं इस उपवनमें यह तब तक जग सकती है, प्रियतम !*
*जगकर यह मुझे ढूँढ़ लेगी, मैं दूर न जाऊँगी, प्रियतम !*
*'ऐसा विचार कर चली तथा उपवनमें जा पैठी, प्रियतम !*
*लगभग सौ पद पर ही दीखी ऊँची-सी एक शिला, प्रियतम॥३०२॥*

किशोरी सोचने लगी-'मैं इसी उपवनमें किञ्चित् घूम लूँ, तबतक अनुजा अपने आप जग सकती है। जगनेपर यह मुझे खोज ही लेगी। मैं दूर जाऊँगी ही नहीं।' इस प्रकार निश्चयकर राजनन्दिनी उपवनमें प्रविष्ट हो गयी। लगभग सौ पग चलनेपर ही एक ऊँची-सी शिला उन्हें दिखाई दी।।३०२।।

*उस पर चढ़कर उसने डाली सब ओर दृष्टि अपनी, प्रियतम !*
*जीवन का पहला अवसर था, सर्वथा अकेली थी, प्रियतम !*
*यह हुई प्रतीति उसे, मानो कोई पुकारता हो, प्रियतम !*
*'आओ, प्रियतमे! इधर आओ, पथ देख रहा हूँ मैं', प्रियतम॥ ३०३॥*

राजनन्दिनी अविलम्ब उस शिलापर चढ़ गयी और चारों ओर उन्होंने अपनी दृष्टि डाली। किशोरीके जीवनका यह पहला अवसर था कि वे सर्वथा अकेली खड़ी थीं। सहसा उन्हें अनुभव होने लगा कि कोई उन्हें पुकार रहा हो-'प्रियतमे ! इधर आओ ! मैं तुम्हारा ही पथ देख रहा हूँ।' ।।३०३।।

## अथ श्रीप्रियतम काव्यम्
### चतुर्थ शतक
सार–संक्षेप

।। विजयेतां श्रीप्रियाप्रियतमौ ।।

# चतुर्थ शतक

## *प्रारंभिकी*

यह ध्यान रहे - 'सुन्दरीवनके कामोद्यान'की जिस लीलाका वर्णन चतुर्थ शतकमें किया गया है, उसमे श्रीकृष्ण परात्पर परब्रह्म परमात्मा, भगवान् नहीं हैं, पूर्णतया मानव नर है। वे पूर्णैश्वर्यमय भगवान् नही, नृपनन्दिनी राधाकिशोरीके 'निज जन' प्रियतम है। यद्यपि यह भी सत्य है कि नृपनन्दिनी किशोरी एवं उनके प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनके मध्य यह प्रेमलीला प्राकृत - पाञ्चभौतिक जड-देह-सम्पन्न जीव नर नारीके मध्यकी 'कामलीला' सर्वथा सर्वांशमे नहीं है, फिर भी ये दोनों प्रेमी-युगल नित्य सत्य सच्चिदानन्द परब्रह्मके ही नित्य किशोर-किशोरी-स्वरूप हैं। यहाँ जिस धाममे यह लीला हो रही है, यह धाम भी जड मायाका राज्य नहीं है, इसका उल्लेख पूर्व प्रसङ्गोंमें किया जा चुका है। भगवत्स्वरूप चिच्छक्ति योगमायाका साम्राज्य होते हुए भी सामान्यतया वर्णन करते समय इस बिम्बको भी शब्द साधारण प्राकृत प्रतिबिम्बकी तरह ही दरसा जाते हैं। शब्द तो प्राकृत ही हैं, उनमे जब अप्राकृत वस्तुका वर्णन करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है तो यह उनकी विवशता ही माननी चाहिये। फिर भी प्राकृत शब्दोंके द्वारा इतना ही कहा जा सकता है कि इस धाममें सर्वत्र विशुद्ध प्रेम, अनन्य प्रीति, एकमात्र शुद्ध माधुर्यका ही प्रवाह सर्वत्र प्रवहमान है। यहाँ प्रिया-प्रियतम नित्यकिशोर ब्रजेन्द्रनन्दन एवं उनकी प्रिया नित्यकिशोरी वृषभानुनृपनन्दिनी राधाके मध्य किशोर-किशोरीभावकी मधुरतम लीलाका प्रकाश हो रहा है। सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका यह किशोर-किशोरी भाव-स्वभाव 'स्व'रूप प्रेम-वितरणके उद्देश्यको लेकर ही है। परमात्मामें परमात्मीयता - प्रेम तो कूट-कूटकर घन भरा हुआ है ही। यहाँ प्रेमी-प्रेमास्पदमे निर्बाध, निरसङ्कोच मिलन है। दोनो ही प्रिया-प्रियतम परस्पर रसास्वादन करते-कराते दिव्य रसका प्रवाह बहाते हैं।

यह विलक्षण बात है कि इस धाममें स्त्री-पुरुष हैं, पशु-पक्षी हैं, उद्भिज-अण्डज-जरायुज प्राणी हैं, उनकी सन्तति भी होती हैं, फिर भी यह सृष्टि, यहाँका प्राणिवर्ग सच्चिदानन्दघन परब्रह्मसे अभिन्न - उसका ही स्वरूपभूत है। यहाँ सब जीव समुदाय अप्राकृत, देह-देही-भेदसे शून्य हैं। ये न तो अस्थि-मांस-रक्तमय स्थूल हैं, न सांख्यप्रोक्त कारणदेह हैं, न ही दिव्य देवलोकके तेजप्रधान विग्रह हैं, न ही मंत्राधीन नादसृष्टि ही है। यहाँकी चर-अचर समग्र सृष्टि ही आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभावित नित्य, विशुद्ध, सुचारु, समुज्ज्वल, परम सुन्दरतम भाव-विग्रह है। यह सृष्टि भानु-नृपनन्दिनी किशोरी एव उनके प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा-सृष्टि है। इस सृष्टिपर देश-कालका कोई प्रभाव नहीं पडता। यहाँके तृण-गुल्म, कीट-पतङ्गतक सभी ब्रजेन्द्रनन्दन एव उनकी प्रिया राधाके प्रति प्रेम-प्रतिभावित, स्वयस्फूर्तिसे नित्य सेवा-संलग्न रहते हैं।

माधुर्यका स्वरूप ही है कि प्रिया-प्रियतममें निरसङ्कोच प्रेमलीला हो। चतुर्थ शतककी सम्पूर्ण लीलामे ही अभी प्रियाके सम्मुख प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनका स्वयं प्रकाश नहीं हुआ है। यहाँ प्रियाका समग्र आकर्षण, उनकी रतिका हेतु ही प्रियतमकी नीलमणि-विरचित प्रतिमा भर है। फिर भी प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दन इन्द्रनीलमणि-विरचित अपनी प्रतिमाके माध्यमसे अपना ऐसा अचिन्त्य, अतुल, सौन्दर्य-लालित्य-सौशील्ययुक्त प्रेम अपनी भोली, चपल, अबोध, पौगण्डसे कैशोरका स्पर्श करतीहुई प्रियापर प्रकट करते हैं कि नृपनन्दिनी राधा उनके परमोत्कर्षयुक्त प्रेम-गुण-समूहपर न्यौछावर हो जाती है। इस प्रतिमाके प्रथम दर्शन मात्रसे ही नृपनन्दिनी बाला राधाके चित्तमें इस प्रतिमाको अपना सर्वस्व समर्पण कर देनेका भाव इतना प्रबल हो उठता है कि वह आगे-पीछेका कुछ भी विचार नहीं करती, अथाह प्रेमसिन्धुकी उत्ताल ऊर्मियोमें कूद पडती है। इस प्रथम दर्शनमात्रसे ही किशोरीका जीवन कितना प्रेममय हो उठता है, इसका आस्वादन
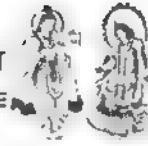
तो पाठक इस अध्यायके पठनपर ही कर पावेंगे। प्रेमकी कैसी विलक्षण तरङ्गें किशोरीके जीवनमें आती हैं, इसका उल्लेख भूमिकाके इन दो-चार शब्दोंमें कैसे किया जा सकता है। पाठक स्वयं अवगाहनकरके इसका रसास्वादन करें।

उद्यान एक उस वनमें था सुषमा की खानि बना, प्रियतम !
आकर्षण कण-कणमें उसके ऐसा था भरा हुआ, प्रियतम !
कोई प्राणी सपने में भी क्षणभर यदि देख सके, प्रियतम !
खोकर सब कुछ भी वह अपना चाहेगा जाना ही, प्रियतम ॥३०४॥

**वृषभानुराजनन्दिनी जिस शिलापर खड़ी थी, उसके ठीक सामने प्रतीचीकी ओर सुषमाका आकर एक उद्यान परिशोभित था। उद्यानके कण-कणमें एक ऐसा अप्रतिम पवित्र आकर्षण भरा था कि उसे चित्रित कर देना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा ही है। और तो क्या, कोई प्राणी क्षणभरके लिये - स्वप्नमें भी - उद्यानके उस सौन्दर्यको यदि देख लेता तो उसकी प्रवृत्ति केवल मात्र इतनी बच रहती - 'चाहे मेरा सर्वस्व स्वाहा हो जाय, पर मुझे इस उद्यानमें प्रवेश करनेका अधिकार मिले' ।।३०४।।**

प्राची की ओर लता मण्डित शोभित तमाल तरु थे, प्रियतम !
दक्षिण-पश्चिम-उत्तर में थी श्रेणी कदम्ब की, हे प्रियतम !
थी भूमि वाटिका की अनुपम सर्वत्र लालमणि की, प्रियतम !
विरचित वेदी थी एक वहाँ कुसुमों की क्यारी में, प्रियतम ॥३०५॥

**उस उद्यानमें पूर्वकी ओर लताओंसे मण्डित राशि-राशि तमालके वृक्ष सुशोभित थे। दक्षिणमें, प्रतीचीमें, उत्तर दिशामें कदम्बोंकी मनोहर श्रेणी समीरसे स्पन्दित हो रही थी। वाटिकाकी भूमि सर्वत्र अनुपम पद्मरागमणिसे विरचित थी; और भानुनन्दिनी जिस शिलापर अवस्थित थी, उसके ठीक सामने पुष्पोंसे आच्छादित एक क्यारीमें एक वेदी थी। वह वेदी भी पद्मरागसे ही बनी हुई थी।।३०५।।**

उस पद्मराग की वेदी पर फूलों के बीच खड़ी, प्रियतम !
नीलम-निर्मित थी मूर्ति एक, मानो, बस बोल चली, प्रियतम !
अभिनव बालक की, जो अपने करमें था वेणु लिये, प्रियतम !
स्वर भरने की तैयारी में, कुछ बात सोचता-सा, प्रियतम ॥३०६॥

**उसी लालमणिकी वेदीपर पुष्पित लताओंके बीच नीलम-निर्मित एक मूर्ति थी। मानो, बस ! वह बोल ही उठी, ऐसा लगता था। मूर्ति एक अभिनव सुन्दर बालककी थी, जो अपने हाथोंमें वेणु लिये थी, और वेणुके छिद्रोंमें जैसे वह स्वर भरने ही जा रही हो; किन्तु मुद्रासे ऐसी भी प्रतीति हो रही थी कि अब वह कुछ विचारमें पड़ गयी हो।।३०६।।**

इस नीली-प्रतिमा से हट कर, बस, ठीक सामने ही, प्रियतम !
थी प्रस्तर-शिला, खड़ी जिस पर वह राजकुमारी थी, प्रियतम !
दोनों में थी दूरी केवल पद तीन-चार सौ की, प्रियतम !
जो विटप तमाल वाटिका के छू रहे शिला को थे, प्रियतम ॥३०७॥

नीलम निर्मित थी मूर्त्ति एक मानो बस, बोल चली, प्रियतम ! (पृष्ठ २५२)

**राजनन्दिनी राधाकिशोरी इस प्रतिमाके ठीक सामने ही प्राचीमें उस शिलाखण्डपर अवस्थित थी। प्रतिमामें और किशोरीमें केवल तीन-चार-सौ पदका ही अन्तर था। वह तमालकी वृक्षावलि उस शिलाका स्पर्श कर रही थी।।३०७।।**

## जिज्ञासा

**चतुर्थ शतकके प्रारंभमें ही जिस उद्यानका वर्णन है, ऐसा लगता है, वह उद्यान स्वयं ही प्रीति-प्रकाशक तत्वोंसे परिपूर्ण है। यह साधारण उद्यान नहीं लगता। कृपया इस उद्यानमें निहित प्रेमतत्वोंका खुलासा करें।**

## समाधान

जिस उद्यानका वर्णन पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने चतुर्थ शतकके प्रारंभमें किया है, वह उद्यान निश्चय ही प्रेम-सुषमाकी खान है। जिस महासौभाग्यशाली धाममें प्रिया राधाकिशोरीमें पूर्वरागका प्रकाश होता है, वह अवश्यमेव विलक्षण प्रेमतीर्थ है। यह काम्यवनके अन्तर्गत उस वनका हृदयरूप उद्यान है जहाँ सप्तवर्षीया राधाकिशोरी जीवनमें प्रथमबार एकाकिनी प्रविष्ट होती हैं। अबतक तो वे अपनी सखियोंके साथ ही क्रीडा करती रही थीं। उनकी अनुजा भगिनी मञ्जुश्यामा तो सदैव छायाकी तरह उनके साथ ही रहती थी। किन्तु आज ही दैववश ऐसा संयोग घटित हुआ है कि उनकी अनुजा भी सुखसे गहरी निद्रामें सो गयी हैं और सखियाँ भी उस सरोवरका दो घूँट जल पीते ही अद्भुत सुखानुभवमें भरकर एक अभिनव रसमयी निद्रामें निस्पन्द गात्र हो धरापर ढल गयी है।

प्रीति-उद्यानमे प्रवेशकी यही विधि है कि उसमे कोई भी क्यो न हो, सर्वथा एकाकी ही प्रवेश कर पाता है। भीडमें रासनृत्य तो सभव है, परन्तु सुगुप्त प्रीतिका प्रथम अनुभव तो सदैव एकाकी ही किया जाता है।

यह श्रीराधा-कामोद्यान है। गौतमीयतंत्रमें आया है-

**प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।**
**इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः।।**

गोपियोंके प्रेमको अन्य शास्त्रोंमें काम कहकर वर्णन किये जानेपर भी वह वस्तुतः काम नहीं है, अपितु विशुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव सरीखे महात्मा भी इसी 'काम' नामक प्रेमकी अभिलाषा करते है।

ऐसे ही कामोद्यानमें श्रीराधाकिशोरी सप्तवर्षीय वय प्राप्तकर गौरीरूपमे प्रतिष्ठित हुई, प्रवेश करती हैं। **'अष्टवर्षे भवेद् गौरी'** – प्रत्येक कन्या अष्टवर्षीया होते ही गौरीभावमे प्रतिष्ठित हो जाती है – उसमें प्रीति-कली विकासोन्मुख हो उठती है।

काम एवं प्रेममे बड़ा अन्तर है। यदि यह कामोद्यान ही होता तो इसकी 'सुषमा' आकर्षक नहीं होती। काम मात्र दूरसे ही इन्द्रियगत सुहावना लगता है, उसमें वस्तुतः सुषमा, शोभा होती ही नहीं। कामकी सुन्दरता थोडे ही कालमें अतिशय कुरूपतामें परिणत हो जाती है। प्रेमोद्यान होनेसे ही यहाँ नित्य-नूतन सुषमा क्षण-क्षणमे प्रकट होती है, और पुनः और अधिक शोभामे उसका पर्यवसान होता जाता है। इसीलिये यह सुषमाकी खान है। प्रेमका आस्वाद यदि किसीको स्वप्नमें भी मिल जाता है तो वह उसे सर्वस्व लुटाकर भी पाना चाहता है। काममें तो इन्द्रियतृप्ति होते ही वह थोडी ही देरमें दुःखदायी हो उठता है। इसीलिये इस प्रेमोद्यानमे जैसे ही कोई प्रवेश पाता है, सुखसुधाका स्वाद पाकर तन्मय हो जाता है। काम खण्डरूप है, इस प्रेमोद्यानकी शोभा अखण्ड है। कामगत सौन्दर्य क्षयशील है, इस प्रेमोद्यानकी शोभा नित्यवर्धनशील है। काममें विषय-तृष्णा है, इस प्रेमोद्यानमें प्रवेश करते ही आत्मविस्मरण एवं प्रियतम-स्मरण होता है। कामोद्यानकी शोभामे तृषाभर होती है, वहाँ प्रेमोद्यानमें प्रिया राधा पूर्ण आत्मत्यागकर आत्म-विस्मृतिमें डूब जाती है।

इस प्रेमोद्यानमे मात्र प्राची दिशामें ही तमाल-तरुओंकी पंक्तियाँ है, जो लता-मण्डित हैं, शेष तीनो– दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाओंमें कदम्बके वृक्ष हैं। अर्थात् इसमें मात्र एक दिशामें ही प्रियतम-सयोग है, शेष तीनों दिशाओंमें विरह ही-विरह है। लताओंसे लिपटे तमाल-वृक्ष संयोगके प्रतीक हैं, जहाँ कदम्ब विरहके द्योतक हैं। किन्तु ध्यान रहे यहाँ विरह है, किन्तु बिछोह नहीं है, अनन्त क्रन्दन है, परन्तु दु ख नहीं है। कदम्ब वृक्ष विरहके प्रतीक हैं, किन्तु वेदना, दुःखके नहीं। मात्र एक दिशामे तमाल एव शेष तीनो दिशाओमे कदम्ब-वृक्षावलियाँ यही प्रकट कर रही हैं कि इस प्रेमोद्यानमे प्रवेश करनेवालेको अपने प्रेमास्पदके द्वारा शृङ्गार तो मिलेगा, परन्तु राग नहीं मिलेगा। यहाँ प्रियतम प्राणवल्लभका भोग तो उपलब्ध होगा, किन्तु अङ्ग-संयोग नही मिलेगा। यहाँ प्रेमास्पदके प्रति घोर अनुरक्ति तो मिलेगी, परन्तु अज्ञानजन्य आसक्ति नहीं। यहाँ विरह है, परन्तु वेदना नही, यहाँ सेवा तो उपलब्ध होगी, किन्तु अभिमान नहीं होगा, यहाँ प्रलाप होगा, परन्तु बेहोशी नहीं होगी। यहाँ मूर्च्छा भी चैतन्य प्रगाढ स्मृतिमयी ही होगी। यहाँ 'मान' होगा किन्तु धैर्य नहीं होगा। यहाँ प्रगाढ ममता होगी, परन्तु मोह नहीं होगा। यहाँ अनुराग होगा, किन्तु कामना नहीं होगी, तृप्ति होगी, किन्तु अनिच्छा नहीं। यहाँ सुख होगा, किन्तु स्पृहा नहीं होगी, देह होगा किन्तु अह नहीं होगा। यहाँ लीलार्थ जगत् होगा, किन्तु माया नही होगी। यहाँ ज्ञान है, ज्ञानी नहीं है, ब्रह्म है किन्तु निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निष्कल, निरीह नहीं है। यहाँ मुक्ति है, परन्तु 'लय' 'प्रलय' 'महालय' 'महाप्रलय' सर्वथा नहीं है।

यहाँ तीनो दिशाओमें जो कदम्ब-वृक्षावलियाँ है वे सभी कदम्ब लीलामहाशक्ति भगवती कामेश्वरीके प्रतीक हैं। भगवती त्रिपुरसुन्दरी कल्पनातीत अलौकिक एव अप्राकृत हैं। ये योगमाया ब्रजमें श्रीराधाकिशोरी एवं नित्यनिकुञ्जेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलामे योग देनेके लिये प्रकट हुई हैं। इसीलिये इस सच्चिन्मय प्रेमोद्यानमें तिर्यक् योनि धारणकर जन्म लेनेके लिये ब्रह्माजी भी तरसते है। इस प्रेमोद्यानमे प्रवेश पानेको ब्रह्मविद्या 'तप' करती हैं। इस वनमें निरन्तर प्रवाहित रहनेवाले अचिन्त्य अनिर्वचनीय प्रेमार्णवकी एक बिन्दु प्राप्त करनेके लिये साक्षात् भगवान् शिव,जगद्विधाता ब्रह्मा, देवराज इन्द्र, भगवान् नारायणके हृदयमे सदैव निवास करनेवाली महालक्ष्मी, श्वेतपद्मकी-सी कान्तिवाली हसवाहिनी एव कैलाशवासिनी भगवती पार्वती भी ललचाती हैं।

इस प्रेमोद्यानकी भूमि पूर्ण रागमयी है, इसीलिये यह भूमि लाल मणियोसे निर्मित है। पुष्पोंसे आच्छादित एक क्यारीमें जो वेदी है, वह भी पद्मरागमणियोंसे ही निर्मित है। इसी लाल मणिकी वेदीपर पुष्पित लताओके मध्य एक नीलम-निर्मित अभिनव सुन्दर बालककी मूर्त्ति है, जो अपने हाथोमें वेणु लिये है और स्वर भरनेकी मानो तय्यारीमें ही खड़ी है। वह मूर्त्ति इतनी जीवन्त है, मानो बस, बोल ही पड़ने वाली हो।

उपरोक्त वृत्तान्त प्रकट कर रहा है कि इस प्रेमोद्यानमे राग-ही-रागका पूर्ण उत्कर्ष है। यह राग प्रगाढ, प्रगाढ़तर एवं प्रगाढतम होता हुआ भुक्ति-मुक्तिके सम्पूर्ण दुर्लंघ्य प्रलोभनों -- लता-जालोंको चीरता हुआ ब्रजेन्द्रनन्दन मुरलीमनोहर श्रीकृष्णमे अर्पण हो गया है। इस प्रेमोद्यानमें सर्वप्रथम श्रीराधाकिशोरी ही प्रवेश पा सकती है। वे भी इस प्रेमोद्यानमें स्थित नीलमणिमयी मूर्त्तिके दर्शन करते ही अपने मन-प्राण-सर्वस्व इस प्रेम-प्रतिमाको समर्पित कर देती हैं। वे इसे देखते ही अपना लोक-परलोक सभी भुला बैठती हैं। बस, इस प्रतिमाके प्रथम दर्शन मात्रसे उनका जगना-सोना, खाना-पीना, चलना-फिरना, शृंगार-सज्जा करना, बातचीत करना, सब मात्र श्रीकृष्णमय हो जाता है। वे सम्पूर्ण कामनाओंसे सर्वथा शून्य हुई मात्र श्रीकृष्णमयी, निजप्रियतममयी हो उठती हैं। यह इस प्रेमोद्यानका प्रत्यक्ष प्रभाव है।

इस प्रेमोद्यानका यही माहात्म्य है कि यहाँ सुख-सन्दोह-सुख-सिन्धु विज्ञानानन्दघन भगवान् भी सुखकामी होकर अपनी प्रिया श्रीराधाकिशोरीका आह्वान करने लगते हैं। वे अपनी आह्वान-ध्वनि द्वारा अपनी ह्लादिनीशक्ति प्रियाको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। प्रिया श्रीराधा अपने प्रियतम नीलमणिका आह्वान सुनकर सर्वबाधा-विनिर्मुक्त हुई प्रेम-प्रमत्त होकर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। यह प्रेमोद्यान काम-कालिमा-शून्य है, निर्मल भास्करवत् प्रकाशवान् है। यहाँ

इस प्रेमोद्यानमें प्रवेश पानेवालेकी समस्त इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि स्वभावतः ही प्रेममुखी हो उठती हैं। विशुद्ध श्रीकृष्णानुरागसे ही यहाँकी भूमि लाल है। इस प्रेमोद्यानमें मधुर रस ही सर्व प्रधान है। यहॉं श्रीकृष्ण भगवान् नहीं, ऐश्वर्यशाली नहीं, अधिकाधिक निजजन हैं, अपने प्यारे प्रियतम हैं। उनका सबकुछ उनकी प्रियाका है। यहॉं इन्द्रियतृप्तिकी आकांक्षाका लेश भी नहीं, किन्तु उनसे मिलनेकी अतृप्त उत्कण्ठा, उनका निरन्तर चिन्तन एवं उनमें अतिशय प्रेमदृष्टि है। प्रियतमके अदर्शनमें एक-एक पल युगोंके समान दीर्घकालिक हो उठता है। यहाँकी प्राणवायुमें श्वासलेने भरसे सर्वतोभावसे दोषदर्शनविमुक्त हुआ प्राणी अपने प्रेमास्पदको आत्मसमर्पण कर बैठता है। लोक, वेद – सबकी मर्यादाओंको तृणवत् तुच्छ मानकर, एवं उनका त्यागकर कृष्णानुरागी बना देना ही इस प्रेमोद्यानकी सुषमा है। इससे अधिक इस प्रेमोद्यानके माहात्म्यका क्या बखान किया जाये ?

सुस्पष्ट शिला पर से ही थी सहसा वह दीख गयी, प्रियतम !
प्रतिमा, अवनीशनन्दिनी को सुन पड़ा और वह था, प्रियतम !
मीठा स्वर उसे बुलाने का उस दिशा प्रतीची से, प्रियतम !
दोनों ही एक काल में ही बातें ये हुईं वहाँ, प्रियतम ॥३०८॥

**किशोरीने शिलापरसे ही प्रतिमाको सुस्पष्ट देखा था। अवनीशनन्दिनीको वहींसे – उस प्रतीची दिशासे ही – उन्हें बुलानेका स्वर सुन पड़ा। नीलम-निर्मित प्रतिमाका दर्शन एवं उस आह्वानके स्वरका श्रवण, – दोनों एक साथ, एक ही कालमें किशोरीको हुए थे भला ! ।।३०८।।**

## जिज्ञासा

**छन्द सं. ३०८में उल्लेख है कि राधाकिशोरीने शिलापरसे ही प्रतिमाको सुस्पष्ट देखा और वहींसे उन्हें बुलानेका आह्वान-स्वर भी सुनाई पडा। उस आह्वानके स्वरका श्रवण और प्रतिमाका दर्शन दोनों एक साथ एक ही कालमें किशोरीको हुए थे। कृपया यह सुस्पष्ट करें कि क्या प्रतिमाएँ बोलती भी हैं ?**

## समाधान

यहाँ ध्यान रहे कि जैसे सत्यसङ्कल्प भगवान्के नाम एवं स्वयं भगवान्में कोई भी अन्तर नहीं होता, उसी तरह सत्मूर्त्ति भगवान्के रूप, लीला, एवं धाम भी पूर्ण सत्य एवं भगवत्स्वरूप चिन्मय ही होते हैं। इस अप्रतिम प्रतिमाका निर्माण किसी प्रस्तर एवं रत्नखण्डकी कलाकृतिके रूपमें किसी कलाकारने नहीं किया है। यह प्रतिमा महर्षि भागुरिको कृष्णकुण्ड (नीलसरोवर) में भगवान् सूर्यदेवके सङ्केतसे प्राप्त हुई है। भगवान सूर्यदेवने महर्षि भागुरिको आदेश दिया था कि वे कृष्णकुण्ड (नीलसरोवर)की ओर जावें, रास्तेमें विकसित सुरभित सुमन-समूहोंसे अपनी अञ्जलि परिपूरित करलें, सरोवरके पूर्वोत्तरके कोणसे जलमें पुष्प-अञ्जलि लिये ही प्रविष्ट करें एवं शनैः-शनैः आगे बढें। जहाँ स्वतः ही अञ्जलि-बन्धन शिथिल होकर पुष्प च्युत हो जावें, वहीं रुक जावें। यों तो कृष्णकुण्डका जल अगाध है किन्तु कुछ दूर चलनेपर उन्हे जलका तल अनुभव होगा। वहाँ टटोलनेपर उन्हे दो वस्तुओंकी प्राप्ति होगी। इन दो वस्तुओंमें एक तो वह प्रतिमा होगी एवं दूसरी स्वर्णनिर्मित पद्मपुरैनकी आकृतिका एक पत्ता होगा, जिसमें दहेजवाला दानपत्र पहलेसे ही अङ्कित होगा।

इस सब वर्णनसे यही प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा कोई साधारण रत्नखण्ड-निर्मित कलाकृति मात्र नहीं थी। यहाँ वस्तुतः जलके साधारण सरोवर मात्र नहीं हैं, वरं स्वयं नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्ण एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानीके ही प्रेमरसमय छलकते रस-विग्रहोंकी परिणति हैं। अतः इस कृष्णकुण्डमें स्वयंभू प्रकट हुई रत्नमयी

प्रतिमा भी पूर्णतया चिन्मयरसस्वरूपा मूर्त्ति ही थी। अस्तु इस प्रतिमाके द्वारा निस्सृत प्रिया श्रीराधाकिशोरीको जो प्रेममयी आह्वानध्वनि श्रवणगोचर होती है, उसमे आश्चर्य माननेका कोई कारण नहीं है। यह आह्वानध्वनि अन्य किसीकी नहीं, स्वयं नित्यनिकुञ्जेश्वर प्रियतम श्रीकृष्णकी ही थी, जो अपनी प्रियामे पूर्व-रागोदयकी हेतु बन रही थी।

सुन्दर नव वह अनुभूति सुखद नरपालनन्दिनी की, प्रियतम !
कैसे बतलाऊँ, वाणी के वश की है बात नहीं, प्रियतम !
ऐसे सब अवसर पर रहता है रिक्त कोश उसका, प्रियतम !
मिलनेकी युक्ति मिली न उसे श्रवणों से, लोचन से, प्रियतम ॥३०९॥

**किशोरीकी उस सुखद-सुन्दर नवीन अनुभूतिका चित्रण कैसे हो ? वाणीके वशकी बात ही यह जो नहीं है। ऐसे सभी अवसरोंपर वाणीका कोष सबको रिक्त ही मिलता है। किसीकी गिराको भी उसे व्यक्त करनेकी समुचित शक्ति आजतक श्रवणोंके द्वारा, लोचनोंके माध्यमसे भी नहीं मिली।।३०९।।**

## जिज्ञासा

**छन्द सं.३०९में प्रिया श्रीराधाकिशोरीको जिस सुखद अनुभूतिके होनेका वर्णन किया गया है एवं साथ ही यह भी लिखा गया है कि उसे बतलानेकी सामर्थ्य वाणीके वशकी बात नहीं है, इस रहस्यपर किञ्चित् प्रकाश डालें।**

## समाधान

भावकी परिपक्व अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्ण रूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट प्रियतममें अतिशय ममता होनेपर प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके द्वारा रञ्चमात्र भी न घटना या नहीं बदलना यही प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका होता है। विधिमार्गसे भक्तका भगवानके प्रति प्रेम महिमा-ज्ञानयुक्त होता है। किन्तु यहाँ श्रीराधारानी भक्त नहीं, प्रिया हैं। वे विशुद्ध माधुर्यमय पथकी पथिक हैं अत. उनमें उस प्रतिमाको देखकर वंशीविमोहन प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति ममताकी विलक्षण वृद्धि हो उठती है। यह ममत्व-वृद्धि इतनी वेगसे होती है कि उनका चित्त पूर्णतया विगलित हो जाता है, और अपने प्रियतममें एकमेक हो जानेके लिये द्रवित होकर उनके प्रेम-सिन्धुमे मिल जानेको अतिशय वेगसे प्रवाहित हो उठता है। उसे कोई ऐसा पथ नहीं मिलता जो उसे सीधे अपने प्रियतमके चरणोंमें विसर्जित होजानेके लिये, उनके पास पहुँचा दे। गलियाँ वहाँ रहती ही नहीं। उनके प्रियतमकी प्रतिमा उन्हें स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है, किन्तु सघन उपवनकी लताएँ जुड़कर जाल बनाकर उसके पथको रोके हैं।

वस्तुतः प्रेम एवं परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वाणीसे परमात्माका वर्णन होना असंभव है, उसी प्रकार प्रेम-वर्णनमें भी वाणीका कोष सदैव रिक्त ही रहता है। प्रेमका अनुभव होता है मनमें और प्रेमीका मन सदैव रहता है अपने प्रेमास्पदके निकट। अब वाणीको कुछ भी वर्णन करनेका विषय कहाँसे मिले ? प्रेमका अनुभव न तो लोचनोंको होता है, न ही श्रवणेन्द्रियको। अतः उनके द्वारा वाणीको प्रेमवर्णन करनेकी सामग्री भला कैसे मिलती। अवश्य नेत्रोंने उस नीलमणिकी प्रतिमाका रूप देखा था, श्रवणोंने उसकी आह्वान-ध्वनि सुनी थी। वाणी नीलमणिकी प्रतिमाका रूप-वर्णन नेत्रोंके द्वारा दिये गये सङ्केतानुसार कर सकती थी। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रियों द्वारा सुने गये वचनोंको वाणी बोल सकती थी। परन्तु प्रतिमाका रूप एवं श्रवणेन्द्रियों द्वारा सुने उसके आह्वान-शब्द ही तो प्रेम नहीं थे। प्रेम तो वह अनिर्वचनीय अनुभव था जो प्रिया श्रीराधाकिशोरीके मनमें स्पन्दित हुआ था। उस प्रेमानुभवने प्रिया श्रीराधाकिशोरीके मनको प्रेम-समुद्रके अतल तलमें डुबो दिया था। अब प्रेम-समुद्रमें डूबा, लीन हुआ मन क्या कहे ?

जैसे गूँगा गुड खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परन्तु गुडका स्वाद बतला नहीं सकता, इसी प्रकार राधा अपने प्रियतमका प्रेमानुभव करके प्रेमनिमग्न हो जाती हैं। श्रीराधाकिशोरी प्रेममे इतनी तन्मय हो उठती हैं कि वे कुछ बोल ही नहीं सकतीं। यही इस छन्दमें कथित पंक्तियोंका तात्पर्य है।

## जिज्ञासा

**छन्द सं.३१०से ३२८तक पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने इस काव्यमें जो भी वर्णन किया है, उसमें प्रिया श्रीराधाकिशोरीके प्रेमके निगूढ़ अन्तर्भावोंका ही वर्णन किया गया है। कृपया यहाँतकके सभी छन्दोंपर एक विस्तृत समीक्षा करें।**

जो हो, तत्काल उतर आयी नृपपुत्री; किंतु उसे, प्रियतम !
कोई न मिली पगडंडी, जो सीधे उस ओर चले, प्रियतम !
वे सघन लताएँ उपवन की जुड़कर थीं जाल बनी, प्रियतम।
उत्तर का तो पथ मिलता था, पर नहीं प्रतीची का, प्रियतम॥ ३१०॥

**जो हो, यन्त्रवत् नृपनन्दिनी तत्क्षण उस शिलाखण्डसे नीचे उतर आयी। आस-पास किशोरीको कोई भी पगड़ंडी न मिली, जो नीलम-मूर्तिके पास उसे सीधी पहुँचा दे। वे सघन लताएँ परस्पर जुड़कर ज़ाल-सी बन गयी थीं। उत्तरकी ओरका पथ तो मिलता था, पर प्रतीचीकी ओर अग्रसर होनेवाली कोई क्षीणतम पगडंडी भी उसे दीख नहीं रही थी।।३१०।।**

# तात्विक विवेचन-विस्तार

प्रेमके पथिकोंको कभी भी सीधे सपाट राजमार्गकी उपलब्धि नहीं होती, किन्तु प्रेमके पथिक कण्टकाकीर्ण पथहीन देशमें भी मार्ग बना लेते हैं।

**प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर उठे हाहाकार।**
**गिना नहीं उसने पथकी दूरीको भयको किसी प्रकार।।**

प्रेमके पथिक सब कठिनाइयोंका समाधान, अनायास बिना किसी कष्टके निकाल लेते हैं। कोई भी पार्थिव पदार्थ, कोई भी विपरीत विचार, कोई भी अनुभव उनके मार्गमें बाधक नहीं हो सकते।

धीरज न बचा उसमें अब था, जो सोच-विचार करे, प्रियतम!
अपना सिर डाल दिया उसने वल्ली के छिद्रों में, प्रियतम !
जैसे-तैसे निर्माण लगी करने पथ उनमें ही, प्रियतम !
वे टूट न जायँ, किंतु इतना था ध्यान बना उसमें, प्रियतम॥ ३११॥

**उस ओर किशोरीको इन बातोंपर विचार करनेका अवकाश भी कहाँ था ! उसका धैर्य छूट जो चुका था। देखते-देखते उसने उस लता-वल्लरियोंके छिद्रमें अपना सिर डाल दिया। जैसे-तैसे वह स्वयं ही पथका निर्माण करने लगी। हाँ, वह पूर्ण सजग थी कि कोई वल्लरी उसके इस प्रयासमें तनिक-सी भी खण्डित न हो जाय।।३११।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

प्रिया श्रीराधाकिशोरीको भी शरीरका मोह तो रहा ही नहीं था। उनका समग्र अनुराग, ममत्व, आसक्तियाँ, एवं क्रियाएँ एक ही केन्द्रमें मिल गयी थीं और वह केन्द्र था उनके प्रियतम प्राणवल्लभकी वह नीलम प्रतिमा। अतः पथमें जो सघन लताएँ जाल बनाकर बाधा प्रस्तुत कर रही थीं, किशोरी उन लता-वल्लरियोंके छिद्रमें ही अपना मुख डाल देती हैं। गोविन्द-पदारविन्द-मकरन्द-मधुकरी राधामें धैर्य कहाँ था कि लता-जालके निवारणका कोई उपाय सोचती। फिर अनन्त प्रेम-रस-सुधा-समुद्र श्यामसुन्दर तो सभी जीवोंके अन्तेवासी हैं ही। चाहे उद्भिज योनिमें ही कोई क्यों न उत्पन्न हो, भगवान्ने जीवको प्रेम देकर ही जगत्में भेजा है। अतः वे सघन लता-वल्लरियाँ भी जो किशोरीका पथ जाल बनाकर घेरे थीं स्वयं सचेत होकर पथ देनेको उन्मुख हो उठती हैं।

परम प्रेमके दिव्य रसमें डूबी किशोरीको तो सर्वत्र अपने परम रसमय प्रियतम ही दिख रहे थे। उन्हें तो कानोंसे जो कुछ सुनाई पड रहा था, वह सब मात्र उस प्रतिमाकी परम प्रेमभरी आह्वानध्वनि ही थी। उनके चित्तमें दूसरेके लिये स्थान ही कहाँ बचा था। वे तो उस प्रेमाह्वानकी मिठासमें ही मस्त थीं। उनके चित्तमें अन्य दूसरेका स्थान ही नहीं शेष था। वहाँ तो उस नीलम प्रियतमका अखण्ड साम्राज्य था, पूर्ण अधिकार था। ऐसा थोडासा भी स्थान नहीं, जहाँ किसी दूसरेकी कल्पनाकी स्मृति छायारूपमें भी आ सके। प्रिया राधाकिशोरीका चित्त साक्षात् प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन गया था। अतः स्वाभाविक ही था कि किशोरी उन वल्लरियोंके जालको भी प्रेममय, रसमय, प्रियतममय आनन्द और सौन्दर्यसे भरा देखने लगी।

सत्य ही तो है – उस परमानन्द-रस-सुधामय मधुराधिपतिका सभीकुछ पूर्ण मधुर है। उसके पथमें बिछा बाधा-ज़ाल भी मधुर है। **'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्। –** (महाप्रभु आचार्यवल्लभ) । **'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्तोषधीः ..... मधुमत् पार्थिवं रजः '** प्रिया श्रीराधाकिशोरीका पथ सर्वत्र मधु-ही-मधु हो गया था। अतः उन्हे पथ बनानेकी अपेक्षा कहीं वे लताएँ टूट न जावें इसकी अधिक चिन्ता थी।

*जैसी भावना निकलती है, वैसी ही आती है, प्रियतम !*
*वल्लरियों के मन में आया, तोड़ें न हृदय इसका, प्रियतम !*
*अपने ही आप लगीं होने अपसारित वे पल में, प्रियतम !*
*छोटा-सा द्वार बना, नृप की पुत्री उस पार हुई, प्रियतम॥ ३१२॥*

**निसर्गका नियम है कि मानव बाहर जैसी भावनाका दान करता है, उसके अन्तर्हृदयमें तदनुरूप भावना हो आती है; और इसीलिये मानो वल्लरियोंके हृत्तलमें यह भाव जाग ही उठा कि हम इस किशोरी बालिकाका हृदय न तोड़ें। इसीलिये वे लता-वल्लरियाँ अपने आप बायें-दाहिने, ऊपर-नीचे अपसरित होने लगीं। सचमुच एक छोटा-सा द्वार बन ही गया। देखते-न-देखते राजनन्दिनी उस पार जा ही पहुँची।।३१२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

निसर्गका तो नियम ही है – किसीके भी हृदयसे जैसी भावना निकलती है, वैसी ही उसे दूसरेसे भी लौटकर मिलती है। उन वल्लरियोंके रूपमें सत्यांशमें थे तो उसके परम प्रियतम प्राणधन ही। उनके सिवा अन्यकी सत्ता तो कहीं थी ही नहीं, चाहे वह मायावी प्राकृत जगत् हो, चाहे अप्राकृत लीलाजगत् हो। सत्य सदैव सर्वत्र एकमेव ही है। वह तो लीलारसास्वादनार्थ ही अनेक रूपमें प्रतिभात होता है। अतः किशोरीके विच्छेदरहित सत्य प्रेमको देखते ही लता-वल्लरियोंका रूप धारण किये उसके प्राणधनको उसे राह देनेके लिये विवश हो जाना पडा।

किशोरीके प्रेममें स्वसुख-कामनाका तो लेश भी नहीं था। उसका तो स्वार्थ-परमार्थ सब प्रेमास्पद ही था, अतः स्वभावतः ही लता-वल्लरियोके मनमें भी किशोरीको सुख देनेकी, राह दे देनेकी स्पृहाका स्फोट हो उठा।

**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** की प्रतिज्ञानुसार किशोरीके अन्तर्हृदयके अनुरूप ही वल्लरियोके हृत्तलमें भी यह भाव जाग ही गया कि हम इस किशोरी बालिकाका हृदय न तोडें। उन लता-वल्लरियोंका रूप धारण किये, परमात्माको किशोरीके उन्मत्त प्रेमने बाध्य कर दिया कि वह परमात्मा स्वय ही अपने आप बिना किसी दूसरेके द्वारा हटाये, बायें-दाहिने, ऊपर-नीचे अपसरित होने लगे। सचमुच किशोरीको एक छोटा-सा पथ मिल ही गया औरं किशोरी उस पार जा ही पहुँची।

*भावों से थी विभोर, दिग् भ्रम हो गया अतः उसको, प्रियतम !*
*सीधे पश्चिम चलना था, पर उत्तर की ओर चली, प्रियतम !*
*गूँजी कानों में इतने में वैसी ही मधुर गिरा, प्रियतम !*
*बायें, प्राणों की रानी हे! तुम तो मुड़ चलो अभी ! प्रियतम ॥ ३१३॥*

**किशोरी भावोंसे विभोर हो चुकी थी, इसलिये वास्तवमें उसे दिग्भ्रम हो गया। उसे सीधे प्रतीचीकी ओर चलना था, किन्तु वह उत्तरकी ओर चल पडी। बस, इतनेमें ही उसके कानोंमें वैसी ही मधुस्यन्दी गिरा झंकृत हो उठी – 'प्राणोंकी रानी हे ! तुम तो अपनी बायीं ओर अभी तुरन्त मुड़ ही चलो भला !'।।३१३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यह तो निश्चित है कि वाणीके द्वारा प्रेमका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता; किन्तु प्रेम-मदसे छकी किशोरी जब तन-मनकी सुधि भुलाकर दिव्य उन्मत्तवत् लता-जालो द्वारा दिये पथपर बढ चली तो प्रेम-प्रकाशसे समग्र वन मुखरित हो उठा। जिसे दिव्य प्रेम रसामृतका अनुपम स्वाद मिलता है, वही ऐसे भाग्यवान् प्रेमीकी महिमाको जान पाता है। उस समय किशोरी भूल ही गयी कि उसका गन्तव्यस्थल कौन सा है ? उसे तो सब दिशाओंमें वह प्रतिमा ही खडी वेणुमें स्वर भरनेकी तत्परतामें उत्सुक दिखाई पड रही थी। उसे तो सब दिशाओसे प्रेममयके आह्वानका प्रेम-सङ्गीत ही सुनाई पड रहा था। किशोरीके चित्तमे प्रेमका प्राकट्य साक्षात् उसके प्रियतमका प्रकाश ही तो था। अतः उसे दिग्भ्रम हो जाना स्वाभाविक ही था। उसे सीधे प्रतीचीकी ओर चलना था, किन्तु वह कुछ उत्तरकी ओर बढ चली। किशोरी तो अपनी तन्मयतामें भूल ही गयी थी कि वह स्वयं कौन है और उसे कहाँ जाना है। किशोरीके लिये तो आकाशमें उसके प्रियतम, प्राणोंमें उसके प्रियतम, रविकी किरणोंमें उसके प्रियतम, जलमें वे ही प्रियतम और सभी दिशाओंमें वे-ही-वे भरे थे। अतः वह प्रेमान्ध थी। उसकी इस दशाका रसास्वादन सतत जागरूक हुए उसके प्राणपति तो कर ही रहे थे। अतः उन्होने ही उसे आदेश दिया कि 'प्राणोंकी रानी हे ! तत्क्षण ही अपनी बायीं ओर मुड़ चलो।'

*उसके दृग खुल गे, भान हुआ, प्रतिमा बायें ही है, प्रियतम !*
*झङ्कृत उर-तार हुए छूकर उस लहर वैखरी को, प्रियतम !*
*क्या मूर्ति वही है बोल रही, भ्रम होने लगा उसे, प्रियतम !*
*कैसे सुन पायी स्वर धीमा इतना इस दूरी से, प्रियतम ॥३१४॥*

**किशोरीके नेत्रोंका आवरण हट गया; उसे अनुभव हआ कि सचमुच प्रतिमा तो बायीं ओर ही है ! उसके हृत्तन्त्रीके तार उस वैखरी ऊर्मिको स्पर्शकर झंकृत हो उठे। उसे भ्रम होने लगा – 'क्या वास्तवमें वही मूर्ति बोल रही है? अन्यथा मैं इतनी दूरीसे इतना धीमा स्वर कैसे सुन पायी।'।।३१४।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अमृत चाहे विषका कार्य कर दे, शीतल जल चाहे जगत्‌को भस्म कर दे, परन्तु श्रीकृष्ण-प्रेमी कभी पथसे विचलित नहीं हो सकता। जिसके हृदयमें केवल कृष्ण-ही-कृष्ण भर गये हो, उसके दृष्टिपथमें यदि प्रेमावरण आ जानेसे कोई कर्त्तव्यच्युति भी हो जाती है, तो सर्वज्ञ, सर्वविद् उसके प्रियतम उसे सावधान कर ही देते हैं। अपने प्रियतमकी वाणीके स्वकर्ण-विवरोंमें जाते ही किशोरी सचेत हो उठती है। तत्क्षण ही उसे अनुभव हो जाता है कि उसके प्रियतमकी प्रतिमा तो बायीं ओर रह गयी है और वह उत्तरके पथकी ओर बढ़ चली है।

वस्तुतः उत्तरका पथ जाता है उस ओर जहाँ भगवत्ताकी परिपूर्णतम परिणति है, जहाँ श्रीकृष्ण तत्वज्ञानविग्रह हैं, सहज वैराग्यरूप हैं, जहाँ वे अनन्त साधुहृदय पुरुषोंके परमाराध्य हैं, जहाँ वे भक्त-भक्तिमान् हैं, जहाँ वे **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** हैं। किन्तु राधा तो उस पथकी पथिक नहीं है। उसे तो पश्चिमके मार्गपर चलना है। उसे तो अपने प्रियतमके प्रेमकी चाह है, उसे मोक्ष, ज्ञान, ऐश्वर्य, ऋद्धि, सिद्धि या महान् कीर्त्ति कुछ भी नही चाहिये। श्रीराधाके लिये तो भोग किंवा मोक्षका मार्ग दोनों ही पिशाची मार्ग हैं। राधाकिशोरीको ध्यानके अभ्याससे वशमें किये चित्त द्वारा किसी निर्गुण, निष्क्रिय परम ज्योतिका साक्षात्कार नहीं करना है, उसे तो अपने प्राण-सार-सर्वस्व अनिर्वचनीय साँवरे सलोने वंशी-विमोहनसे प्रेमकी पेंगें बढ़ानी हैं। जिनके दोनों हाथ बाँसुरीसे शोभा पा रहे हैं, जिनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति नूतन मेघके समान है, जिनके साँवले अङ्गोंपर पीताम्बर सुशोभित हो रहा है, लाल-लाल होंठ पके हुए बिम्बफलकी सुषमा छीन लेते हैं, जिसका सुन्दर मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको भी लज्जित कर रहा है, जिसके प्रफुल्ल नेत्र कमलके समान मनोहर प्रतीत होते हैं, श्रीराधाको तो ऐसे प्रियतमके अतिरिक्त किसी भी अन्य परमतत्वकी खोज ही नहीं है।

यह प्रेमराज्य कोई कल्पनालोक नहीं है परात्पर सत्यका दिव्य लोक है। जिनका इस भावराज्यमे प्रवेश है, वे ही इसका आनन्द जानते हैं; इस आनन्दको मायिक वाणी किसी भी अंशमे व्यक्त नहीं कर सकती। राधाकिशोरी तो उस परम-आनन्दमें मग्न है, वह दूसरे मार्गपर जो उत्तरकी पगडण्डीसे प्राप्त हो सकता है, कदम बढा ही नहीं सकती। श्रीराधाकिशोरीके लिये अनन्त साधु-हृदय पुरुषोंका परमाराध्य वह मार्ग भी हेय है, त्याज्य है, तुच्छ है, अपथ है।

अतः किशोरीके नेत्रोंमें जो उत्तरके पथकी ओर बढ जानेका आवरण आ गया था, वह तत्क्षण ही अपने प्रियतमके सङ्केतपर हट जाता है। समग्र आवरण तो योगमायाके द्वारा उत्पन्न होते हैं। लीला-सन्दोहमें प्रवेश करनेके लिये योगमायाके सभी अवरोधात्मक आवरण हट जाने आवश्यक हैं। समग्र अवरोध वहीं तक है, जहाँतक वासनाका अन्धकार है। वासना चाहे वह मोक्षकी भी क्यों न हो, रस-रासके अधिकारपर आवरण डाल देती है। जिसकी मोक्षसे भी परम उपरति हो जाती है वही रासमें प्रियतमका आह्वान सुननेकी यत्किञ्चित् योग्यता प्राप्त कर पाता है। राधाकिशोरी तो सर्व-वासना-लेशसे भी शून्य है। अतः वह व्यवधानरहित हो अपने प्रियतमका सङ्केत सुन पाती है। उसे अनुभव हो जाता है कि उसके प्रियतमका पथ बायीं ओर है। उसके हृत्तन्त्रीके तार उस वैखरी ऊर्मिको संस्पर्शितकर झंकृत हो उठते हैं।

किशोरी देखती है – क्या वास्तवमें मूर्त्ति बोलती है ? वह इतनी दूरसे क्षीण स्वर कैसे सुन पायी?

जड मूर्त्ति और चैतन्य जीवका भेद हम प्राकृत मानवोंके समझने भरके लिये है। जड़ताकी कल्पना मायाके राज्यमें है। जहाँ सर्वावरणयुक्त अप्राकृत चिन्मय जगत् है, वहाँ तो दिव्य चिन्मय प्रेमलीलाके ही सभी पात्र हैं। वहाँ जडताकी कैदमें कुछ भी नहीं है। वहाँ सबकुछ चिन्मय प्रेम-लीला है। हम मायामें बैठकर अमायिककी गुत्थियाँ सुलझाना चाहते हैं। मानवलोकमें उस लोककी कल्पना भी नहीं हो सकती। जिसकी मुसकानसे अनन्तानन्त सृष्टिका प्रसार हो जाता है, और उस मुसकानके रुकते ही सृष्टि विलय हो जाती है, उस पूर्ण परात्पर प्रियतम श्रीकृष्णकी कैसी मूर्त्ति और कैसा स्वयंका स्वरूपगत देह ? इस प्रेमराज्यका सबकुछ - मूर्त्त-अमूर्त्त सभी बस एकमेव प्रेमसृष्टि है। इस प्रेमसृष्टिके

हस-हंसिनी, शुक-सारिका सब प्रेमकी बात करते हैं, मानवी भाषामे बोलते हैं। यहाँ सभी मूर्त्त पूरा अमूर्त्त है और अमूर्त्त पूर्णतया मूर्त्त है। यहाँ सब जड़ चेतन हैं और चेतन जड़ हैं। इस प्रेम-लीला-राज्यमें परिच्छिन्न मानवी कर्म-चेष्टाका लेश भी नहीं है। यहाँ सब मानवोत्तर हैं, सभी प्रेमसृष्ट हैं। यहाँ सब-के-सब भावदेह हैं। चिन्मय अलौकिक भावदेहमें मूर्त्तिका बोलना, मुसकाना, चलना, सब संभव है। यहाँ न जड मायाकी मूर्त्ति है, न जड़ मायाके मनुष्य, न ही यहाँ जड मायामें रमण ही है। यहाँ मायासे पूर्णतया विरहित, योगमायाके भी पर्देको हटाकर **'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'** आत्माराम प्रियतमका अपनी प्रियाके साथ स्वरूपरमण है। यहाँ पृथ्वीरूपसे स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जलरूपसे भी यहाँ स्वयं श्रीकृष्ण हैं, तेज, वायु एव आकाशरूपमें भी वे ही वे हैं। श्रीराधाकिशोरी भी वे स्वय हैं, मूर्त्ति भी स्वयं वे ही हैं। अतः यहाँ सबकुछके द्वारा सभीकुछ होना संभव है। यहाँ न प्राकृत तर्कोंका समावेश है, न ही प्राकृत नियमोंकी सीमा।

प्रतिमाको कोई यदि जडतायुक्त अनुभव भी करेगा, तो मात्र पृथ्वीतत्वका परिणाम ही तो मानेगा? जिस लोकमें पृथ्वी भी श्रीकृष्ण है, वहाँ प्रतिमा साक्षात् चिन्मय स्वरूपा ही तो होगी। लीलाके प्रतिपादनार्थ ही जिस लोकमें स्वयं श्रीकृष्णने पृथ्वीका रूप धारण किया है, अन्यथा है सर्वथा सच्चिन्मय परमात्मतत्व ही। यहाँ पृथ्वीका परिणाम प्रतिमा प्रेम-वार्त्ता कर उठे, इसमें आश्चर्य कहाँ है ? यहाँ तो आवश्यकता होनेपर स्वयं पृथ्वी भी मूर्त्त होकर श्रीराधाकिशोरीको नमन करने प्रकट हो सकती है।

*दौड़ी वह भान भुलाकर अब, नीचे क्या है इसका, प्रियतम !*
*कैसे न अहो! टकरायी, वह तरु से अचरज यह था, प्रियतम !*
*दो-तीन पलोंमें पद्मराग-वेदी पर जा पहुँची, प्रियतम !*
*थे खड़े सभी द्रुम हरे-हरे, वे पत्र-छत्र ताने, प्रियतम ।। ३१५ ।।*

..............वह सब सुध-बुध खोकर, नीचे पथ कैसा है – इसकी भी विस्मृति करके, उस ओर ही दौड़ चली। आश्चर्यका विषय यह था – अरे! वह वृक्षोंसे टकरायी कैसे नहीं ?..............दो-तीन पलोंमें ही वह पद्मराग-निर्मित वेदीपर जा पहुँची। वहाँकी हरीतिमासे पूर्ण द्रुमावलि, अपने पत्रोंसे निर्मित छत्र ताने, खड़ी-खड़ी मानो उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।।३१५।।

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सच्ची चाहका स्वरूप ही यह है कि फिर चाही हुई वस्तुके बिना जीना कठिन हो जाय। प्रेष्ठके अदर्शनकी वेदना-ज्वालाका जिसे अनुभव हो जाता है, और प्रेमास्पद भी उस वेदनासे अभिभूत होकर जब किसीके सामने मूर्त्त हो उठते हैं, उस समय गहन रसानुभूतिकी अप्रतिम निधि सँजोये प्रेमी अपनी पूरी शक्ति एवं वेगसे अपने प्रियतमकी ओर दौड़ पड़ता है। अन्य कामना एव इच्छाका तो उसके जीवनमें लेशात्मक अश भी नहीं रह पाता। उस समय न तो उसे मार्गकी दूरीका ध्यान रहता है, न ही बीहड़ वन-पथका। अवरोधोंका कोई भी जाल उसका मार्ग रुद्ध नहीं कर पाता। उसका सम्पूर्ण अपनापन तो एकत्रित हो उठता है, उस नीलसुन्दरकी प्रतिमाकी पद-नख-मणियोंमें। अतः वह समग्र सुध-बुध भुलाकर, उसके चरणोंकी आधार-धरा कितने अवरोधों, गड्ढों, एवं कंटकोंसे भरी है – इस सबको विस्मृतकर अपनी दृष्टिको एकमात्र प्रेमास्पदपर ही केन्द्रितकर, अन्य कहीं भी दृष्टि नहीं डालती, वह एकमात्र उनको ही लक्षितकर दौड़ पड़ती है। भयशून्य होकर बीहड वृक्षोंके अवरोधोंसे भरे वनपथपर वह एकाकिनी चल पडती है। उसके रोम-रोममें मिलन-त्वराकी आकुलताका वह विन्दु सृजन हो जाता है जिससे प्रकृति उसके अनुकूल हो उठती है। प्राकृत प्राणी आश्चर्य करेगा कि वह वृक्षोंसे टकरायी कैसे नहीं ? कण्टकोंसे उसके सुकोमल चरण क्षत क्यों नहीं हुए ? सर्वत्र प्रसरित

लता-जालोंसे वह उलझकर निपतित क्यों नहीं हुई ? यहाँ सदैव ध्यान रहे कि यह अप्राकृत राज्य है। यहाँका प्रत्येक पादप चाहे शाल, तमाल, अश्वत्थ, देवदारु, चन्दन, कदम्ब दृष्टिगोचर भले ही होता हो, है सब स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन ही। यहाँकी भूमि चाहे कितनी ही कठोर, कँकरीली ऊबड़-खाबड हो, है वह चिन्मय नन्दनन्दनके स्वरूपभूत धामके चिन्मय तत्वकी परिणति ही। यहाँकी लताएँ, चाहे वे कितनी ही कण्टकाकीर्ण प्रतीत होती हों, अपने चतुर्दिक् प्रसारसे वे भले ही सम्पूर्ण भूमिको ही अपने जञ्जालमें आवृत किये हों, हैं वे स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनकी स्वरूपाशक्तिकी परिणति ही। अतः जड़ वस्तुकी तरह इनकी स्थिति सर्वथा नहीं माननी चाहिये।

जड़ वस्तुमें जिस प्रकारसे रूपे, रङ्ग, आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा, भाव आदिकी इयत्ता होती है, इस अप्राकृत चिन्मय धामके वृक्ष, लता, कङ्कर, पत्थरोंमें इस प्रकारकी इयत्ता सर्वथा नहीं है। ये सब तो प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिका निरन्तर अनुसरण करते हैं। प्रिया-प्रियतमकी जब-जैसी लीलाका प्रकाश होता है, उसके लिये जो-जैसी बाधा किंवा सुविधा चाहिये, उसी रूपमे उसका प्रकाश इनमें हो जाता है। प्रिया-प्रियतमके परस्पर रस-विस्तार एवं प्रेमके विस्तारके लिये ये अनेकों बार कभी अपना विस्तार कर लेते हैं, कभी सङ्कोच कर लेते हैं, कभी पूरा ही रूप-परिवर्त्तन कर लेते हैं, कभी अपने अस्तित्वको अदर्शित कर बैठते हैं। इस प्रकार इनसे स्वभावतः अपने आप ही अतिशय चमत्कृत कर देनेवाली घटनाएँ घटित होती रहती हैं।

उदाहरणस्वरूप जैसा कि पू.गुरुदेवने इन छन्दोमें उल्लेख किया है – राजनन्दिनी राधाकिशोरीको पूर्वके शिलाखण्डपर चढ़नेसे जब उस प्रतिमाके प्रथम दर्शन होते हैं, उस क्षण वह प्रतिमा उनसे केवल तीन-चार सौ पदोंकी ही दूरीपर थी। इस दूरीको भी कविने मात्र लीलाप्रकाशके लिये आवश्यक मानकर ही अपने काव्यमें दर्शाया है। किन्तु लीलामें जैसे ही आवश्यकता होती है कि दो-तीन क्षणोंमें ही किशोरीका मिलन उसकी प्राणहारी प्रियतम-प्रतिमासे हो जाय, तो उसी क्षण यह तीन-चार सौ कदमकी दूरी, ठीक उसी समयके अनुरूप अपनेको दो-तीन क्षणोंकी यात्राके योग्य ही सृजन कर लेती है। वह तत्क्षण सङ्कुचित हो जाती है। इसी प्रकार प्रतिमाके प्रथम दर्शनके समय इस तीन-चार सौ पदके स्थानमें भी असंख्य लताओं और वृक्षोंने अवरोध खडे कर रखे थे – ऐसा वर्णन आता है। किन्तु जैसे ही किशोरी बीहड़ लता-जाल-समावृत वृक्षोंके अवरोधभरे पथपर मिलनाकुलताके चरम विन्दुपर समारूढ हुई, नेत्रोंमें अपने प्रेमास्पदको पूरा भरे, अन्य सब भान भुलाकर दौड पडती है, उसी क्षण उस तीन-चार सौ पदकी दूरीकी भूमिको अवरुद्ध कर देनेवाले सभी वृक्ष और लता-जञ्जाल अपने अस्तित्वको ही उसके लिये लुप्त कर लेते हैं। यहाँ इन सघन वृक्षोंके अस्तित्वका ही अदर्शन अथवा इनकी सत्ताका ही न रहना प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रकी किसी ऐश्वर्यमयी चमत्कारशक्तिका परिणाम नहीं मानना चाहिये। लीलाजगत्में गोपियोंके प्रियतम श्रीकृष्ण यदि भगवान् होकर ऐसे ऐश्वर्य-चमत्कार करने लगेंगे तब तो वे गोपियोंके अनाविल प्रियतम नहीं रहकर भगवान् एवं देवता हो जावेंगे। फिर तो लीलाका माधुर्य ही जाता रहेगा। फिर तो अनाविल लीला-रस-पानका एवं रसदानका उनका उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। इसीलिये चमत्कारकी तनिक भी गन्ध नहीं देकर ही, किसी अस्वाभाविकताका किञ्चित् भी प्रकाश न करके अचिन्त्य लीलाशक्तिकी प्रेरणा पाकर भूमिगत वृक्षों एवं लताओंके अवरोध एक क्षणमें ही – ज्योंही श्रीराधाकिशोरी सबकुछ भूलकर प्रियतम-स्मृतिमें अतिशय तल्लीन हुई दौड पडती हैं, यात्राके योग्य ही रूप धारण कर लेते हैं। उनका स्वतः स्वाभाविक ही बिना किसी प्रयास एवं सङ्कल्पके राधाकिशोरीके अनुकूल वैसा ही रूप बन जाता है। न तो इस बातका भान स्वयं किशोरीरानीको ही हो पाता है कि सारे अवरोध चमत्कारवत् विलीन होगये, न स्वयं उस भूमिको ही यह भान होता है कि उसने अपना रूप सङ्कुचित कर लिया एवं उसमें अवरोध बने वृक्ष एवं लता-जाल विलीन होकर सपाट रास्ता बन गये। यहाँ तो यह वन-भूमि स्वयं सच्चिन्मयी है, वह किशोरीकी प्रीतिलीलाके इस पूर्वानुराग-प्रकरणकी लीलाका रसपान करनेमें दत्तचित्त है। यहाँ उसको यही आवेश है कि मैं सङ्कुचित ही हूँ और सब पथ-अवरोधोंसे शून्य

हूँ। लीलाका अङ्ग बनी भूमि प्रिया श्रीराधाकिशोरीके अपने प्रियतमसे मिलनसुखकी परिपुष्टिके लिये जहाँ सीधी-सपाट राहवाली बन जाती है, वहीं वह वियोग-रसको परम आस्वाद्य बनानेके लिये लता-जालमयी , वृक्षोंके अवरोधोंसे युक्त भी हो जाती है। उसमें ऐसे होनेकी प्रेरणा एव सङ्कल्पकी स्फुरणा या तो लीला-महाशक्ति द्वारा स्वत. हो जाती है, अन्यथा वह जहाँ जिस रस-पानमें निमग्न है, डूबी है, उस रसकी तरङ्गें ही उसे वैसा करनेके लिये बाध्य कर देती हैं। रसोर्मियाँ उसे वैसे ही प्रवाहमें बहा ले जाती हैं, जहाँ उसका स्वतः स्वरूप ही वैसा हो उठता है।

अवश्य ही इन बातोंकी ठीक-ठीक समझ उसे ही होती है, जिसे प्रियतम श्रीकृष्णकी कृपा भीतर-बाहरसे अत्यन्त परिशुद्ध बना देती है; जो भगवत्कृपाकी अथाह मन्दाकिनीमें अवगाहनकर अपने नेत्रोंका पूरा मैल धो डालता है; जो श्रीकृष्णचन्द्रके नख-चन्द्रकी ज्योतिमें समग्र वस्तुतत्वको देखता है, एवं जितना देखता है, अनुभव करता है, उसे भी वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर पाता। प्राकृत धरातलपर अप्राकृतको ठीक-ठीक क्या, किसी अशमें भी उतार पाना प्राकृत शक्तिके लिये तो असंभव ही है। प्राकृत मन-वाणीके द्वारा तो यह संभव है ही नहीं। अनन्तैश्वर्यनिकेतन, अनन्तशक्ति, सर्वभवनसमर्थ श्रीकृष्णचन्द्र चाहें तो सबकुछ भले ही सभव कर सकते हैं।

छू गये मृदुल पद जाते ही उसके अजान में ही, प्रियतम !
फूलों के सुरभित गजरे से, जो पड़ा सामने था, प्रियतम !
यों जान-बूझकर ही जैसे रख दिया किसीने हो, प्रियतम !
सुन्दर सरोज के पत्तेपर, बस, अभी सजा करके, प्रियतम ॥ ३१६॥

**उस वेदीपर - सर्वथा सामने ही – सुरभित पुष्पोंसे निर्मित एक गजरा पड़ा था। किशोरीके मृदुल पग उससे अनजानमें ही छू गये। ऐसा लगता था, जैसे किसीने जान-बूझकर एक अत्यन्त सुन्दर सरोजके पत्तेपर सजाकर उसे पथके बीचमें रख दिया हो।।३१६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अरे, देखो, देखो तो सही, क्या स्थिति हो गयी है, बाला राधाकिशोरीकी। सर्वथा विस्मृत कर गयी वह अपनी देहको, मनकी मनन वृत्तिको। सखी, स्वजन-परिजन सभीसे पूर्णतया निर्मुक्त हुई, इनसे सम्पूर्णतया एकाकी हुई वह बाला किशोरी अपने प्रियतमके सान्निध्यमें आ पहुँची है। उस वेदीपर – सर्वथा सम्मुख ही लीला-महाशक्ति योगमाया ब्रह्मविद्या स्वयं ही एक गजरा बनकर उसके मृदुलतम चरणोंका सर्वप्रथम संस्पर्श करती है। किशोरीके चरणोंका संस्पर्श जैसे ही उस गजरेसे होता है, उसका पूर्णतया प्रिय-स्मृतिमें तल्लीन मन जो अबतक प्रेम-जडिमासे ग्रस्त एवं स्पन्दनशून्य-सा हो रहा था, स्पन्दित हो उठता है। अन्य वहाँ था ही कौन जो सुन्दर सरोजके पत्तेपर तत्क्षण ही सजाकर उस पथके मध्य जहाँसे किशोरी बालाको अपने प्रियतमके पार्श्वमें पहुँचना है, सुरभित पुष्पोंका गजरा रखदे। बाला किशोरीके ये चरण ही तो परमाराध्य हैं, साक्षात् भगवती योगमाया ब्रह्मविद्या जिन्हें संपूजित करनेके लिये कल्पोंसे तपस्यारत थीं। आज उन्हें यथायोग्य सेवा करनेका सुअवसर मिल जाता है और वे ही यह वनमाला (गजरा) बनकर बाला किशोरीके चरणनखोंका प्रथम संस्पर्श पाकर कृतकृत्य होती हैं।

प्रियतम-प्रेमोन्मादिनी, पूर्वरागके प्रेमपथपर प्रथम सीढीमें चढ़नेका उपक्रम करती, अपने प्रियतमकी प्रेम-प्रतिमाको अपना सर्वस्व समर्पणकर उठनेको समुत्सुका बाला किशोरीकी चरण-नख-ज्योतिसे कोई अपनेको संस्पर्शित कराले, भले ही फूलोंके गजरेके रूपमें ही सही, किसीके लिये यह सौभाग्य निर्धारित मात्र हो जाय, इससे समुत्तर उसके लिये कृतकृत्यताका अवसर ही क्या हो सकता है ? ब्रजेन्द्रनन्दन प्रियतम प्राणवल्लभकी कृपाशक्ति शत-सहस्र युग-समूहोंके

अनन्तर ही सही, ऐसे सुदुर्लभ संयोगका विधान मात्र करदे तो इससे अधिक किसीके भी अस्तित्वकी सार्थकता ही क्या हो सकती है ? ऐसी है श्रीप्रिया नृपदुहिता राधाकिशोरीके चरणोंकी महिमा।

इतने समीप से प्रतिमा की शोभा निहारती ही, प्रियतम !
भावों की एक उठी आँधी, उड़ गया चित्त उसका, प्रियतम।
उसके प्रवाह में पीछे अब सम्भव न लौटना था, प्रियतम !
जीवन का मानचित्र बदला दस-बारह पल में ही, प्रियतम ॥३१७॥

**किशोरी इतने निकटसे प्रतिमाकी शोभाको आज प्रथम वार निहार सकी। दर्शन होते ही भावोंकी एक आँधी-सी चल पड़ी, और समीरके उस उद्वेलनमें मानो उसका चित्त उड़ गया। अब वातके उस चञ्चल प्रवाहमें किशोरीके लिये पीछे लौटना सम्भव नहीं रह गया। और तो क्या, जीवनका सम्पूर्ण मानचित्र ही दस-बारह पलोंमें परिवर्तित जो हो चुका था।।३१७।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अन्ततः किशोरी बालाके प्रेम-वैकल्यका अन्त आ ही जाता है। यद्यपि प्रियतमकी मधुरयन्दिनी गिरा उसके कर्णपुटोंको पूर्वतः ही रससिक्त करने लगी थी, किन्तु उसने अपने प्रियतमको इतनी एकान्तावस्थामें अतिशय निकटतासे प्रथम बार आज ही देखा था। अपरिसीम, गम्भीर, उच्छलित आनन्दोदधिकी अमित, अमाप, उत्ताल तरङ्गोमे डूबने-उतराने लगती है वह। उसकी अमिलनकी सम्पूर्ण वेदना-ज्वाला एक बार समाप्त हो जाती है।

अपने प्रियतमके प्रेम-भावोकी एक आँधी किशोरी बालाके चित्तमे उठ आती है और वह उसमें इतने वेगसे बह चलती है कि कुल-मर्यादाजनित सङ्कोच एवं लज्जा, कुछ भी उसका साथ नहीं दे पातीं। उसका चित्त उड़कर दूर-सुदूर चला जाता है । लोक-नीतिका, कुल-परम्पराके सम्पूर्ण बन्धनोंका एवं अपनी गतिविधिका भी उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। किशोरीका अन्तर्देश इस श्याम-प्रेम-प्रवाहिणी आँधीमे ऐसा बह उठता है कि उसे पुनः अपने कुल-परिजनोंका मर्यादा-बन्धनमें बाँधे रखना उसके लिये संभव ही नहीं रहता। वह विस्मृत कर जाती है अपने आपको, सम्पूर्ण विश्वको ही, तब मर्यादा, कुल-परम्परा, धर्माचरण एवं धर्मकी कौन सँभाल करे। उस प्रेम-प्रवाहिनी तीव्र वेगवती आँधीमें वे टिक ही कैसे सकते हैं, अपने स्वरूपकी रक्षा ही कैसे कर सकते हैं। अब तो वह अपने प्रियतमसे सर्वथा, सर्वांशमें पूरा तादात्म्य लाभ कर चुकी है। कहाँ रहा किञ्चित्-सा भी अलगाव उसके एवं उसके प्रियतमके मध्य ? दस-बारह पलमें ही उसके सम्पूर्ण जीवनका मानचित्र ही बदल जाता है। उसमें अपनी स्वयंकी अहंताका स्पन्दन ही जैसे सदैव-सदैवके लिये विलुप्त हो जाता है, अपने प्रियतमके हाथोंकी कठपुतलीवत् उसका जीवन हो जाता है। अपना सर्वस्वत्याग उसके जीवनका स्वाभाविक रूप हो उठता है। ज्ञान-मञ्जूषाके कपाट जैसे उसकी बुद्धिके लिये सदैव-सदैवके लिये बन्द कर दिये जाते हैं। उसका चित्त अपने प्रियतमके प्रति ममताकी ऐसी घन ठोस चट्टान बन जाता है कि उसमें परत्वका संश्लेष भी प्रवेश नहीं पा सकता। वह क्या करे, क्या नहीं करे – उसकी बुद्धि भला क्या निर्णय करे ? उसके देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धिका तो तथाकथित अस्तित्व ही उस झंझावातमें बह ज़ाता है। उसमे यदि कहीं कोई सत्ता, संविद् उसे दृष्टिगोचर होता है, तो वह भी मात्र उस प्रतिमाका जो मधुरिमाका आकर बनी, उसके सम्पूर्ण कलेवरको झंकृत कर रही होती है। वह नीलकलेवरा प्रतिमा उसके नेत्रोंके सम्मुख सौन्दर्य-समुद्र बनी लहरा रही है।

ओह ! इन्द्र-नीलद्युति अङ्ग-संस्थानोंपर धृत पीत-परिधान, ललित त्रिभङ्ग गात्र, किशोरी अब उस अपने प्राणसार-सर्वस्वको छोडकर, पीछे मुड़ जाय, अथवा पराङ्मुख हो सके, यह भला कैसे संभव हो पावे।

भोलापन-पूरित शिशुता के अन्तर्हित भाव हुए, प्रियतम!
आये प्राणों के विनिमय के उद्दीपन वाले वे, प्रियतम!
बदली चितवन की रीति, रंग बदला वारिज-मुख का, प्रियतम!
अङ्गों की संचालन-शैली पूरी बदल गयी, प्रियतम ॥३१८॥

**भोलेपनसे परिपूर्ण शिशुताका भाव जो राजनन्दिनीमें था, वह क्षण बीतते-न-बीतते अन्तर्हित हो गया। उसके स्थानपर, प्राणोंके विनिमयको उद्दीप्त करने वाले भाव जाग्रत हो उठे। किशोरीके चितवनकी रीति बदल गयी; उसके वारिज-मुखका रंग भी बदल गया; वह अङ्गोंकी संचालन-शैली भी पूरी-की-पूरी परिवर्तित हो गयी।।३१८।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अबतक तो राजनन्दिनी राधाकिशोरीमें भोलेपनसे परिपूर्ण शिशुताके भाव भरे थे। ऐसा तो अनेक बार हो चुका था कि यशोदा मैयाके साथ उनका पुत्र यह नीलमणि वृषभानुपुर आया है। मैयाकी अनुमति पाकर घण्टो राजनन्दिनी राधा इसके साथ बाल-चपल क्रीडा कर चुकी है, खेल चुकी है। अनेको बार राजनन्दिनी स्वय भी सखियोके साथ नन्दगेहिनीके घर खेलने गयी है। किन्तु उन दिनो वह मिलन, वे खेल, वे चपल क्रीडाएँ सब सङ्कोच-शून्य मनसे घटित हो जाती थीं। राधा नन्दनन्दनके साथ निस्सङ्कोच खेलने लगती थी, और नन्दनन्दन भी इन सब सखियोके साथ बिना हिचक खेलते थे।

उन दिनो भी व्रजेन्द्रनन्दनकी शोभा भानुनन्दिनी राधाको सुन्दर लगती थी। उस समय भी बालकृष्णके कपोलोपर, ललाटके कुछ अंशोंपर घुँघराली अलके झूलती रहती थीं, बिखरे धूलिकण उड-उडकर उन अलकोपर पडे होते थे। उन दिनों भी नन्दतनयके कुन्तलमण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छका मुकुट सुशोभित होता और उसके केशोमे वन्यप्रसून ग्रथित होते। उन दिनो भी यशोदातनयके नेत्रोंकी मनोहर चितवन एव अधरोपर व्यक्त हुए मृदुस्मितकी शोभा देखते ही बनती थी। किन्तु तब नृपनन्दिनीको नन्दतनयको देखनेमे, उससे मिलनेमे, उसके सग-सग खेलनेमे, उसके हाथसे हाथ मिलाकर नृत्य करनेमें कहीं कोई हिचक-सङ्कोच कदापि नहीं होता था।

किन्तु आज सहसा यह क्या हुआ ? यह प्रतिमा भी तो उसी नन्दतनूजकी ही थी, फिर आज उसके सम्मुख आते ही, उसे नखसे शिखातक निहारते ही न जाने क्यो एव कैसे किशोरीका वह बाल्यावेशजन्य भोलापन विदा हो जाता है, और उसके स्थानपर आ जाती है कैशोर्यकी सघन लज्जा, एक विलक्षण माधुर्यभरा सङ्कोच एव अपूर्व सघन ममता। आज किशोरीको ऐसा न जाने क्यों अनुभव हो रहा है। उसके प्राणोमे एक अपूर्व वेदना हो रही है, किशोरीके प्राण उसके वशमें ही जैसे नहीं हैं। राशि-राशि प्रीतिभावोकी मधु-धारामे वे प्रवाहित हो रहे हैं एव किशोरीके रोकनेपर भी नहीं रुक रहे हैं। वह उन्हे ज्यों-ज्यों रोकती है, वे और उमड उठते हैं, अपना सर्वस्व उस नील प्रतिमाके चरणोंमें समर्पित कर देनेको। इस क्षण यदि कोई व्यवधान पैदा कर रही है, तो वह है नारीसुलभ लज्जा। इसीलिये किशोरी मात्र समर्पित कर रही है – अपने प्रियतमको हास्य एवं विनयसे पूरित अपनी वंकिम चितवनकी स्निग्ध भेट। व्रजेन्दनन्दनकी इस नीलमणि-निर्मित प्रतिमाको देखते ही कितनी भाव-विह्वल हो उठी है श्रीराधाकिशोरी, इसे अचिन्त्य सौभाग्यवश कोई भाग्यवान् राधा-कृपापात्र अनुभव भले ही कर ले, वाग्वादिनी तो इसका स्वल्प-सा भी चित्रण करनेमें समर्थ नहीं है। किशोरीके मुखपर जो भाव-विह्वलताकी तरङ्गें उठ रही हैं, यद्यपि नारीसुलभ लज्जा उन्हे नियंत्रित करनेकी भरसक चेष्टा कर रही है, फिर भी वह लज्जा मात्र दो-तीन निमेष ही उसे रोक पाती है। दो-तीन निमेषका काल व्यतीत होते-न-होते किशोरीके मुखको मिलनकी नवीन उमङ्गकी लहरे आत्मसात् कर लेती हैं और किशोरीका कुन्दनवर्णी मुख रक्तपद्मके समान लाल हो उठता है। किशोरीके हृदयमें उठते भाव उसके बिम्ब-विडम्बी अधरोंकी अरुणिम शोभाको

अनन्त गुनी अभिवर्धित कर देते हैं। वे अधर अपने हृदयस्थ भावोंके उफानके कारण कुछ अस्फुट शब्दोच्चारण करना चाह रहे हैं, परन्तु लज्जा उन्हें मौन रहनेको विवश जो कर दे रही है, अस्तु इस सघर्षके फलस्वरूप वे मात्र बुदबुदा रहे हैं। आओ, अब किशोरीके नेत्रोंकी दशा देखे। अपलक निरवधि अपने प्रियतमको निहारनेकी उद्दाम लालसा किशोरीके नेत्रोंको विस्फारित अवश्य करती है, परन्तु अपने प्रियतमको अतिशय निकट देख लज्जा इन नेत्रोंको मुँद जानेके लिये विवश कर देती है। इस संघर्षमें किशोरीके नेत्र अधमुँदे ही रह जाते हैं। इसी प्रकार किशोरीके समस्त अङ्गोंकी ही सञ्चालन-शैली बदल जाती है। देखो, किशोरीका कुन्दनद्युति पीत कलेवर रोमाञ्चित हो उठा है। रह-रहकर रोमाञ्चकी लहरें उठ रही हैं, जिससे उसके अङ्गोंमें कम्पोदय हो रहा है। इससे सुस्पष्ट अनुभव हो रहा है कि उसके हृदयकी रसधारा गंभीर, गंभीरतर, गंभीरतम हो रही है।

नृपपुत्री के निहारने पर आधे मीलित दृग से, प्रियतम !<br>
प्रतिमा सजीव-सी ऐसी भी रह-रहकर बन जाती, प्रियतम !<br>
मानो हो अतुल नील सुन्दर कोई किशोर वय का, प्रियतम !<br>
प्राणों को रोके सत्य अहो! ठग रहा उसी को हो, प्रियतम ।।३१९।।

**राजनन्दिनीकी दृष्टि ज्योंही प्रतिमाकी ओर जाती – प्रतीत होता, मानो प्रतिमा अर्द्धनिमीलित नेत्रोंसे उसकी ओर निहारती हुई सजीव-सी हो उठी हो ! रह-रहकर उसे बार-बार ऐसा ही अनुभव होने लगा, मानो सचमुच अनुपम नीलसुन्दर एक किशोर वयका बालक अपनी साँसोंको रोककर किशोरीको ही ठग रहा हो ! ।।३१९।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यह किशोरी राधाके अप्रतिम प्रेमका ही एक विलक्षण प्रभाव है कि उसके सामने भगवान् अपनेको किसी भी प्रकार अप्रकट नहीं रख सकते। यहाँ भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन है नहीं, मात्र उनकी नीलमणि-निर्मित स्थापित मूर्त्ति है। भले ही इसकी ऋषि भागुरि जैसे महात्माजन द्वारा अन्तर्जगत्‌के निर्देशसे स्थापना की गयी है, किन्तु है तो यह मूर्त्ति ही। किन्तु किशोरी राधाका भाव इतना प्रबल एवं सर्वातिशायी है कि जैसे सूर्यके उदय होनेपर तारकावलियोका पता ही नहीं लगता, वैसे ही किशोरी राधाकी प्रेममयी चैतन्यभावनाकी प्रखरताके कारण जडमूर्त्तिका जडत्व अस्तमान हो रहा है।

नृपदुहिता किशोरी पूर्ण विकसित नेत्रोंसे तो कौमार्य-सुलभ लज्जावश उस मूर्त्तिको निहार ही नहीं पा रही है। मात्र अर्धनिमीलित नेत्रोंसे ही उस मूर्त्तिके अर्धाङ्गपर दृष्टि डालती है। मूर्त्तिकी ऐसी दशा हो रही है कि वह रह-रहकर सजीव सी बन जा रही है। सत्य ही तो है, प्रेम-सुधा-रसकी उत्ताल तरङ्गोमें डूबने-उतरानेवाला प्राणी जब सम्पूर्ण जड मायावी विश्वको ही सच्चिन्मय स्वप्रकट श्रीकृष्ण देखने लगता है, तो मूर्त्तिका जडत्व उसके सम्मुख भला टिक ही कैसे सकता है। चिन्मय प्रेम जड़ताके अवलम्बनको ही विलुप्त कर देता है। अतः वह प्रतिमा रह-रहकर किशोरीके सम्मुख चेतनताका प्रकाश कर दे इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

किशोरीको उस प्रतिमामें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है – 'अहा ! यह तो नवीन मेघके सदृश नीलाभवर्णका श्यामल-कलेवर किशोर वयका बालक है जो पीत परिधान पहने उसके सम्मुख अपनी मनमोहक छटा बिखेर रहा है। कैशोर विभूषित तनकी कमनीय कान्ति जड राज्यकी वस्तु संभव ही नहीं। यह सच्चिन्मय वपु सर्वथा, सर्वांशमे वर्णनातीत सुन्दर है। क्या कहूँ , कैसे कहूँ, मधुरिमाका निर्झर झर रहा है इससे। इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे मादक सौरभ चतुर्दिक् प्रसरित हो रहा है। हाँ, यह सत्य है कि इसके नासारंध्रोंसे प्राणोंके सञ्चालन-स्वरूप, श्वास-प्रश्वास नहीं हो रहा है, किन्तु यह इसके जड़ होनेका हेतु कदापि नहीं है। अवश्य ही इसने अपने प्राणोंका सञ्चार मुझे ठगनेके लिये, वञ्चना देनेके लिये ही रोक रखा है।'

*क्यों हो विलम्ब, फिर काल कहीं कुछ हेर-फेर कर दे, प्रियतम !*
*स्वर्णिम वेला चल देती है पल-आधे पल में ही, प्रियतम !*
*ले माल चली नृपसुता वहाँ निरवधि निमग्न होने, प्रियतम !*
*प्राणों की दो सरिता मिलकर होती है एक जहाँ, प्रियतम ।। ३२०।।*

**किशोरी भावोंकी आँधीमें बहने लगी – उड़ चली। वह सोचने लगी – फिर अब विलम्ब क्यों हो ? क्षणोंमें ही कहीं काल कुछ हेरफेर कर दे तो.....? यह नियम है, स्वर्णिम वेला पल-आधे पलमें ही चल देती है ! इस चिन्तनका प्रवाह थमते-न-थमते राजपुत्री पुष्पमालाको अपने कर-सरोजमें उठाकर उस ओर चल पड़ी, जहाँ प्राणोंकी दो सरिताएँ मिलकर एक हो जाती हैं........ एक होकर, महाभाव-समुद्रमें अनन्तकालके लिये निमग्न हो जाती हैं ! अस्तु,।।३२०।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

किशोरी सोच रही है – 'जब इस शोभा-समुच्चयकी मात्र एक कणिकासे निसर्गके असंख्य कामदेव श्रीसम्पन्न हो रहे हैं, तो मेरे सम्मुख विराजित ये त्रिभङ्गदेव जड़ मूर्त्ति कैसे संभव है ?'

'अहा, हा ! जब मेरे प्राणनाथके अरुण सरसिज-लोचन दृश्य-प्रपञ्चकी सम्पूर्ण मायिक सत्ताको ही विलुप्त कर देते हैं; एवं इनके सम्मुख माया-नटीका सम्पूर्ण नाट्य-कौशल ही अस्तित्वविहीन बन जाता है, तो ये मात्र जड प्रतिमा भर होने कैसे संभव हैं ?'

'सुन्दर मयूरपिच्छसे मस्तककी कुञ्चित अलकावली विभूषित है। उन्नत चमकते ललाटपर मृगमदमिश्रित चन्दनकी खौर अत्यन्त शोभा पा रही है। शङ्खके समान कमनीय कठदेशमे मणिमुक्ताका हार सुशोभित है, साथ ही वन्य प्रसून-गुम्फित तुलसीकी माला भी झूल रही है। ओह ! सम्पूर्ण सुषमाका आकर यह मेरा प्रियतम जड़ कैसे है ?'

नृपदुहिता विचारने लगती है – 'फिर मैं विलम्ब क्यों करूँ ? क्षणभङ्गुर कालका क्या भरोसा ? स्वर्णिम सुख-संयोगके अवसर दो-चार क्षणोंमें ही चल देते हैं। मुझे जब यह क्षणार्धके लिये ही सही, अवसर मिला है तो इस सयोग-क्षणका सर्वोत्तम उपयोग क्यों नहीं कर लूँ ? 'प्रियतम' – अहा ! कितना प्रिय शब्द है ! प्रियतम तो कभी चित्तसे बिसारा ही नहीं जा सकता ! ये तो मेरे प्रियतम हैं। फिर मैं इन्हें इसी क्षण अपना सर्वस्व समर्पित कर देती हूँ। दूसरे क्षणकी प्रतीक्षा ही कौन करे ? अब मेरे लिये सम्पूर्ण जगत्का और अपना भी मूल्य ही क्या है ? राज-पाट, धन-दौलत, जीवन-मरण, लोक-परलोक, स्वर्ग-मोक्ष, जन-परिजन, कुल-शील, यश-अपयश – सभीकुछ इसी क्षण इसके प्रेम–प्रवाहमें प्रवाहित हो जावें।'

बस, नृपनन्दिनी बालाने अपने चरणोसे संस्पर्शित, लीलामहाशक्तिकी परिणतिस्वरूपा वह वनमाला अपने करोंमें उठा ली और प्रगाढ एवं गहन समर्पण भावोंमें डूबते-उतराते हुए उस प्रेमदेशकी राहमें चरण बढा दिये, जहाँ दो प्राणोंकी सरिताएँ एक होकर मिलित हो जाती हैं, और फिर उनका प्रवाह उद्दाम वेगसे सब तटोंको पूर्णतया आप्लावित करता उफन चलता है – उस महाभावसिन्धुमें विलीन होने जिसमें सदैव केवल उत्तुङ्ग, उत्तुङ्गतर नीली-पीली दो ऊर्मियाँ ही उमड़ती रहती हैं, जिसमें गहन, गंभीर, अथाह और अमाप अनुराग-ज़ल ही लहराता रहता है, जिसका ओर-छोर अनादिकालसे आजतक तो किसीको मिल नहीं पाया है, जो रस-पीयूषका पावनतम अगाध सिन्धु है ।

*चञ्चल हरिणी-सी आँख बड़ी क्षण एक हुई उसकी, प्रियतम !*
*देखा जब उसने, दर्शक था कोई भी नहीं वहाँ, प्रियतम !*
*वह सुमनहार मानो प्रतीक जीवन-यौवन, सबका, प्रियतम !*
*ग्रीवा में प्रतिमा के पहना, चरणों में लुढ़क पड़ी, प्रियतम ।।३२१।।*

**अचानक राधाकिशोरीकी बड़ी-बड़ी आँखें क्षणभरके लिये चञ्चल हो उठीं। जब उसने देखा कि यहाँ कोई अन्य दर्शक नहीं है, तब तत्क्षण उसने सुमन-हारको अपनी अञ्जलिमें ले लिया। मानो वह हार उसके जीवनका-यौवनका, सब-कुछका प्रतीक हो – ऐसी भावनासे भावित हुई किशोरीने अविलम्ब उसको प्रतिमाकी ग्रीवामें डाल दिया और दूसरे ही क्षण वह उसके चरणोंमें लुढक पड़ी।।३२१।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अलङ्कारिक एवं भावमयी भाषामें तो ऊपर वर्णन कर दिया गया कि नृपनन्दिनीने लीलामहाशक्तिकी परिणतिस्वरूपा वनमाला अपने करोंमें उठा ली और प्रेमदेशकी ओर अपने चरण अग्रसर कर दिये, किन्तु पाठक चाहेंगे कि उस प्रेमदेशका कुछ विस्तृत चित्र तो उनके सम्मुख आवे। श्रीराधाने जिस प्रेम-प्रदेशकी ओर अपने चरण बढ़ाये, हम सब भी क्या उस प्रेमदेशके पथिक हो सकते हैं ? उस देशमें उसीको प्रवेश मिल सकता है, जो अपनेमें कहीं भी, कभी भी, किसी भी प्रकारकी निजकी कामना नहीं रखे। इस देशमें कामना-गन्धका लेश भी रह नहीं सकता। श्रीराधाने उस पथपर अग्रसर होनेका निश्चय किया है जहाँ स्वतंत्र अहंका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। इसीसे उन्हें अपनी पूरी विस्मृति हो चुकी है। उनमे अपने अहंके परिणामकी या अपनी मङ्गलचिन्ताकी लेशात्मक कल्पना भी नहीं है। श्रीराधाने उस प्रेम-पथकी ओर अपने चरण अग्रसर कर दिये हैं, जहाँ उन्हे अपने प्रियतम प्राणनाथसे सर्वथा अविच्छिन्न, सर्वथा संलग्न हो जाना है। चित्तमें प्रियतम प्राणवल्लभके सिवा अन्य किसी विषयकी जब जरा-सी भी चाह नहीं रहे, तभी अपने प्रियतममें पूर्णतया निरत हुआ जा सकता है। जब कोई अपने प्रियतममें अतिशय प्रगाढ़रूपसे निरत हो जाता है तभी वह प्रेममें प्रवेश करता है। उसने अपनी चञ्चल हरिणीके समान कर्णविलम्बी दृष्टिसे अपने चतुर्दिक् निहारा तो पाया कि चतुर्दिक् केवल उसके प्रियतमकी नीली प्रतिमा ही अवस्थित है। उस प्रतिमाकी तीनों दिशाओंमे कदम्बके वृक्ष थे और आश्चर्य था कि श्रीराधाको प्रत्येक कदम्बके मूलमें निर्निमेष दृष्टिसे अपनी ओर निहारती वह नीली प्रतिमा ही दृष्टिगोचर हो रही थी। कैसी विलक्षण प्रेम-माधुरीका प्रकाश वह नीली प्रतिमा कर रही थी, इसका साक्षी तो राधाका हृदय ही था। नृपनन्दिनीको तो आकाश, पृथ्वी, वायु, एव अन्तरिक्षमें सर्वत्र वही नीली प्रतिमा ही भरी दृष्टिगोचर हो रही थी, जिसके नेत्र उसके मुखको कमल समझकर भ्रमरवत् उसका मकरन्दपान करनेको आतुरताका प्रकाश कर रहे थे। राधाके प्रियतम अपनी प्रिया के प्रति विलक्षण प्रेमका प्रकाश कर रहे थे। जब नृपनन्दिनीने सर्वत्र दृष्टि डालकर यह निश्चय कर लिया कि यहाँ मात्र उसके प्रियतम और केवल उसीकी सत्ता है, अन्य कोई नहीं है, बस, तत्क्षण ही उसने लीलामहाशक्तिकी परिणति उस सुमनहारको अपनी अञ्जलिमें उठा लिया और अविलम्ब ही उसे उस प्रतिमाकी ग्रीवामें डाल दिया। अगले ही क्षण नृपनन्दिनी उस प्रतिमाके चरणोंमें लुढक गयी।

*बह चली अनर्गल अब धारा नयनों से, छू नखको, प्रियतम !*
*उस इन्द्रनील-विरचित शिशु के, आकुल थी हृत्पुटिका, प्रियतम !*
*'कैसे मेरे ये प्राण अभी इनमें प्रविष्ट होवें,' प्रियतम !*
*'फिर काल अनन्त-विराहित तक मैं केवल देखूँ मुखको।' प्रियतम ।।३२२।।*

**...........किशोरीके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुधारा बह चली। उन बूँदोंसे इन्द्रनीलमणिसे विरचित प्रतिमाके पद-नखोंका अभिषेक होने लगा। अब नृपदुहिता व्याकुल थी केवल इस बातके लिये – अरे हाय ! किस उपायसे मेरे प्राण अभी, इनमें ही प्रविष्ट हो जायँ ! और फिर अनन्तकालतक मैं इनको, केवल इनको ही देखती रह जाऊँ ! ।।३२२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

राधाके पास अब बचा ही क्या था। लीलामहाशक्ति योगमाया ही तो विश्व-सृष्टिमें तन, मन, प्राण, धन, जन, कुल, गृह, शील, लोक, परलोक, मान, धर्म, गति, मति, जाति, वैभव, सिद्धि, असिद्धिके रूपमें सबको जकड़े हैं। वे ही बन्धनरूप द्वेष हैं और मुक्तिरूप राग हैं। नृपनन्दिनीने जब उस योगमाया महाशक्तिको ही अपने प्रियतमके कण्ठमें वरमालाके रूपमें अर्पित कर दिया, तब उसे अकिञ्चन तो होना ही था। नृपनन्दिनीकी समग्र चिति अपने प्रियतमके गलेमें हार बन ही गयी थी, शेष रही उसकी सत्ता– सो उस सत्तामें भी उसे केवल अपने प्राण-प्रियतम भरे दृष्टिगोचर हो रहे थे।

नृपनन्दिनी विचार करने लगी – 'यह प्रतिमा मेरी प्रियतम है, और मैं प्रियतमा हूँ – यह कहना भी नहीं बनता। क्योंकि मेरी इस देहके अणु-अणुमें तो मुझे यह प्रतिमा-ही-प्रतिमा झलमलाती दृष्टिगोचर हो रही है। मेरा तो रोम-रोम माँग कर रहा है – 'यह प्रतिमा 'तू ' नहीं रहे और इससे पृथक् मैं राधा 'मै' नहीं रहूँ।' जो कुछ मैं एवं मेरा है, वह सभी तो राधाने वरमालाके रूपमें अपने प्रियतमको समर्पित कर दिया था। जीवन, यौवन – सभीकी प्रतीक ही तो वह वरमाला थी। जब अपना सर्वस्व ही नृपनन्दिनी अपने प्रियतमको समर्पित कर चुकी तो अब उसके पास मात्र प्रेमाश्रुधारा ही बहानेको बची थी, सो अनवरत वह प्रेमाश्रुधारा उसके नेत्रोंसे बहने लगी। बाला किशोरीमें अपने प्रियतमको अपना सर्वस्व देनेकी अदम्य लालसा उफन रही थी, और उस अकिञ्चनाके पास अब देनेको कुछ बचा ही नहीं था, यही उसके आँसू बहानेका हेतु था।

यहाँ ध्यान रहे – हम जब किसीके लिये रोते हैं, किसीके चरणोंमें हमारे एकाध अश्रु बहते हैं, तो अश्रुओंके उस प्रवाहमें हमारा अपना दैन्य-प्रदर्शन, हमारा अपना अभाव-प्रदर्शन ही कारण होता है। वस्तुतः हमारे पास अभाव होता नहीं, किन्तु हम जिसके सम्मुख रोते हैं, उसके सम्मुख अपना अभाव प्रदर्शन करना चाहते हैं। हम उसे अपना एक बाल भर भी समर्पण करनेको तत्पर नहीं होते। हम मात्र लेनेके लिये रोते हैं। इसी प्रकार हम जिसके सम्मुख रोते हैं, उसे अपना सर्वस्व मानना तो दूर, अपना निज भी नहीं मानते। हम जिसके सम्मुख रोते हैं वह सदैव हमसे पराया ही होता है। किन्तु यहाँ भगवती राधाका रुदन अपने किसी अभावकी पूर्तिके लिये है ही नहीं। राधा लेनेके लिये नहीं, देनेके लिये अश्रु बहा रही है। वह अपना सबकुछ अपने प्रियतमको देकर, और भी अधिक देनेके लिये अपनेको रिक्त, असमर्थ, अभावग्रस्त मानकर अश्रु बहा रही है। इसीलिये ये कामनाके, अभावके, दैन्यके, दारिद्र्यके आँसू नहीं हैं; ये प्रेमके अश्रु हैं, जो अपने प्रियतमको अपना सबकुछ समझते हुए, उन्हींके प्रेममें उन्हींके लिये नृपनन्दिनीके नेत्रोंसे निर्झरकी तरह निर्गत हो रहे हैं। वस्तुतः सत्य तो यह है कि ये आँसू नृपनन्दिनी किशोरी राधाके हैं ही नहीं। ये तो व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके प्रेमाश्रु हैं, जिन्हें वे राधाके सर्वस्व-समर्पणकी गरिमाको देखकर उसके अन्तःकरणमें विराजित हुए, साक्षीकी अतिशय कृतज्ञताका प्रकाश करनेको स्वयं बहा रहे हैं। अवश्य ही श्रीकृष्ण अलक्षित रूपसे श्रीराधाके नेत्रोंके माध्यमसे ही अपने प्रेमका अश्रुरूपमें स्फोट कर रहे हैं, परन्तु सत्य, सत्य ये अश्रु उन्हीं श्रीकृष्णके ही बह रहे हैं। ये अश्रु निकले हैं अवश्य राधाके नेत्रोंसे किन्तु ये भिगो रहे हैं प्रतिमाके चरणनखोंको। और आश्चर्य यह है कि उन नखमणियोंको परिस्नात कराते हुए इन आँसुओंका एक कण भी बाहर नहीं प्रवाहित हो रहा; ये आँसू इन्द्रनीलमणिसे विरचित किशोरकी नखमणियोंकी ज्योत्स्नामें शुष्क भी होते जा रहे हैं।

वस्तुतः नृपनन्दिनी राधाके नेत्रोसे प्रवाहित ये आँसू उनकी नित्यवर्धनशील उत्कण्ठाके प्रतीक हैं। नृपनन्दिनीके हृदयमें इस समय अपने प्रियतमसे मिलनजनित सुख और फिर अनन्तकालीन विरहकी संभावनारूप दुःख – दोनोंका एक साथ अतुलनीय रूपमें उदय हो रहा है। श्रीराधारानीकी यह उत्कण्ठा समर्पित हो रही है इन्द्रनीलमणि-प्रतिमाकी पद-नख-मणियोमें ही। लज्जा उन्हें इस प्रतिमाके मुख-सौरभका पान करनेके लिये तो नयन उन्नत ही नहीं करने दे रही। अतः प्रतिमाकी ये नख-मणियाँ ही इस समय प्रियतमकी माधुर्यराशिकी सर्वतोभावसे प्रतिनिधि बनीं उसे श्रीराधाके सम्मुख प्रकाशित कर रही हैं। नृपनन्दिनी किशोरीकी दुर्लभ प्रेमजन्य उत्कण्ठा जो अजस्र अश्रुकणोंके रूपमें उनके नेत्रोंसे प्रवाहित हो रही है, भिगो रही है प्रतिमाकी नखमणियोको, किन्तु वे प्रेमजन्य अश्रु इन नखमणियोंके माधुर्यको अनवरत उज्ज्वलतर करते हुए उनमे ही पर्यवसित हो जा रहे हैं। नखमणियोंका माधुर्य नृपनन्दिनी किशोरीके प्रेमजन्य अश्रुओंको पूरा-का-पूरा आत्मलीन कर ले रहा है, छलककर उसका एक कण भी बाहर नहीं आने दे रहा।

इन्द्रनीलमणिकी प्रतिमाको स्थापित हुए तो अनेक दिवस हो गये हैं। महर्षि भागुरि आदि अनेकों लोगोंने इसके दर्शन भी किये हैं। उन्होंने मंत्रोपचार द्वारा इसे यहाँ सुस्थापित भी किया है। किन्तु इस प्रतिमामेंसे ऐसा विलक्षण माधुर्यका प्रवाह अबतक किसी ऋषि-महर्षिके सम्मुख नहीं प्रवाहित हुआ कि उस प्रवाहमें उनका तन, मन, जीवन, यौवन, कुल, शील, धर्म, लोक-परलोक – सबकुछ बह जावे। यह अप्रतिम माधुर्य तो इस प्रतिमामेंसे मात्र नृपनन्दिनी श्रीराधाके सम्मुख ही व्यक्त हुआ है। यह प्रतिमा स्वयंमें अलौकिक नहीं है, ऐसा तो कहना नहीं बनता, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसके नित्य नव-नवायमान चमत्कारी माधुर्यके प्रादुर्भावकी हेतु है नृपदुहिता श्रीराधाकी असमोर्ध्व प्रीति ही। वस्तुतः यही सत्य है कि नृपनन्दिनी श्रीराधाके दुर्लभ प्रेमने इस इन्द्रनीलमणिकी प्रतिमाकी अप्रतिम माधुर्यराशिको सर्वतोभावसे केवल ग्रहण ही नहीं किया है, अपितु उसपर अपना सर्वस्व समर्पणकर उसे जीवन्त कर दिया है, उसमें प्राण प्रतिष्ठित कर दिये हैं। इस इन्द्रनीलमणि प्रतिमाका जीवन्त सान्निध्य श्रीराधाप्रेमको अथाह वर्धनशील कर रहा है और इस असीम प्रेमवर्धनशीलताके कारण ही श्रीराधाके प्रेमाश्रु अजस्र रूपमें बहते हुए इस प्रतिमाकी चरण-नखमणियोंको भिगो रहे हैं। श्रीराधाके प्रेम-सान्निध्यसे इन नखमणियोंमें मधुरिमाकी ऐसी बाढ़ आ रही है कि वह मधुरिमा इन प्रेमाश्रुओंका पूरे-का-पूरा भोग कर ले रही है और इस प्रेमभोगसे और भी अधिक नव-नवायमान मधुर एव चिन्मय होकर श्रीराधाकी उत्कण्ठाका अभिवर्धन कर दे रही है। इसीलिये श्रीराधाकी प्रेमोत्कण्ठाजन्य अश्रुओंका प्रवाह इन नखमणियोंको भिगोता ही है, किन्तु इन नखमणियोंकी अञ्जलिमे समाकर ही रह जाता है, उच्छलित होकर उससे बाहर छलक नहीं पाता। यह शाश्वत रहस्य है कि राधाकी अनन्त उत्कण्ठा प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनके माधुर्यकी थाह नहीं पा सकती, अतः निरन्तर बढती ही जाती है और ब्रजेन्द्रनन्दनका माधुर्य राधाकी उत्कण्ठाको तृप्त नहीं कर पाता, अतः वह भी बढ़ता ही जाता है।

ओह ! कैसी असीम उत्कण्ठा है नृपनन्दिनी राधाकिशोरीकी कि वे अपने प्राणोंको इसी क्षण इन नखमणियोंकी ज्योतिमें एकात्म कर देना चाहती हैं, इसी क्षण अपनेको इन नखमणियोंमें पूर्णतया मिला देना चाहती हैं, जिससे क्षणके कोटिशः हिस्सेके कालके लिये भी फिर कोई उन्हें अपने प्रियतमसे दूर– विलग नहीं कर पावे; किन्तु साथ-ही-साथ कैसा अपूर्व माधुर्य है उनके प्रियतमका जो निज प्रियाकी इस उत्कण्ठासे भी असीम गुना अभिवृद्ध है एव जिसके कारण उनकी प्रिया राधा अपनेको चरणनखोंमें विलीन– एकात्म करनेकी इच्छा रखते हुए भी अपने प्रियतमसे किञ्चित् पृथक् भी रहनेकी इच्छा एक ही साथ कर रही है। मिलित होकर भी किञ्चित् पृथक् रहनेकी यह इच्छा प्रियामें इसी कारणसे है कि वे अपने प्रियतमके असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्यभरे मुखको अन्तविरहित कालतक देखती रहना चाहती हैं।।३२२।।

भूली वह, कौन कहाँ मैं हूँ, कितने क्षण, कौन कहे, प्रियतम।
युग-युग बीते अथवा पराद्ध नखमणिमें लीन हुए, प्रियतम!
सहसा आँखें जब खुलीं, लगा, मूर्च्छित थी हुई अभी प्रियतम!
'सर्वस्व-समर्पण कर अपना, होकर दासी इनकी,' प्रियतम ॥ ३२३ ॥

**किशोरीको विस्मृत हो गया – मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? यह विस्मृति कितने क्षणोंकी थी, इसे कौन बताये ? युग-युगान्त बीत गये अथवा क्षण-दो-क्षणोंका ही प्रश्न था यह ? श्रीप्रतिमाके नख-मणियोंमें वह कितनी देर लीन रही – कौन निर्णय दे ? जो हो, सहसा उसकी आँखें खुल गयीं। उसे भान हुआ कि वह मूर्छित हो गयी थी। अपना सर्वस्व उनको ही समर्पणकर, वह उनकी दासी होकर अपनी सारी सुध-बुध खो चुकी थी।।३२३।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

प्रिया राधाका अह ही जब प्रियतमसे एकाकार होकर **'मिले ही रहत मानो कबहुँ मिले ना'** हो गया और उसका समग्र अपनापन और अनुराग नीलसुन्दरकी नखमणियोमे ही एकत्रित हो गया, फिर उसे अपने आपको, अपने अप्राकृत पञ्चतत्वोंको विस्मृत तो करना ही था। अपने माता-पिता एव कुल-शीलको तो वह कभीकी बिसार चुकी थी। उसके मनमे उसके प्रियतम पूरे ठसाठस भर गये थे, फिर अन्य मनन तो उससे अब होता ही किसका ? प्रेमसुधा-स्निग्ध अश्रुजलधाराका मधुमय प्रवाह तो उसके नेत्र कबसे बहा ही रहे थे और उनसे उसके प्रियतमकी पाद्य, अर्घ्य, स्नानादि सब पूजा सम्पन्न हो ही चुकी थी। अब बारी थी जडिमाके आगमनकी और इस जडिमासे अचेतन हुई, स्पन्दनशून्य-सी वह, विवश अपने प्रियतमके चारु चिन्मय चरणोमे लोट गयी। वह सर्वथा सर्वांशमे विस्मृत कर गयी कि वह कौन है, और कहाँ है। इस जडिमा भावमे उसे कितना काल व्यतीत हो गया, इसकी गणना ही कौन करता। जड कालकी तो वहाँ अवधारणा ही नहीं थी। साथ ही चिन्मय काल-के-काल – महाकाल प्रियतम तो उसके पास ही थे।

वस्तुतः चिन्मय अप्राकृत जगत्‌के कालकी प्राकृत जगत्‌के कालसे गणना सभव ही नहीं है। इस प्राकृत लोक पृथ्वीके जीवोका जहाँ एक वर्ष पूरा होता है, वहाँ देवजगत्‌का मात्र एक दिवस व्यतीत होता है। देवजगत्‌का एक दिवस ब्रह्मलोककी एक त्रुटिके समान है। त्रुटि एक दिनका अठारह करोड बाईस लाख पचास हजारवाँ अंश होती है। ब्रह्मलोकमे ही कालकी जब इतनी दीर्घता है तो अप्राकृत जगत्‌के कालकी गणना मनुष्यलोकके कालसे भला कैसे की जा सकती है। अस्तु, किशोरीको अपने प्रियतमकी नखमणिमे लीन हुए कितना काल व्यतीत हो गया, इसकी गणना सभव ही नहीं है। हाँ, किशोरीकी जब आँख खुली, उसमे जब बाह्य जगत्‌का अभिनिवेश होना प्रारम्भ हुआ, तक उसे यही अनुभव हुआ मानो मैं इन्हे अपना सर्वस्व समर्पणकर, इनकी दासी होकर अभी ही मूर्च्छित हुई थी।।३२३।।

'है सत्य किसीकी आकृति ही यह, पर वह है मेरा,' प्रियतम!
'हूँ एकमात्र उसकी मैं अब, अधिकार परस्पर है।' प्रियतम!
'वह मिले मुझे या मिले नहीं, इसकी क्या चिन्ता है' प्रियतम!
'प्राणोंका सौदा होता है क्षणमें कुछ ऐसे ही।' प्रियतम ॥ ३२४ ॥

**वास्तवमें तो यह किसी व्यक्तिकी प्रतिकृति मात्र है।......... किन्तु कुछ भी हो, यह त्रिकालसत्य है कि मैं ,dekkvc bldhghoLrqg# ge nksaksa k ijLij ,d-दूसरेपर एक-सा ही अधिकार है। यह व्यक्ति मुझे मिले अथवा न मिले, इसकी क्या चिन्ता ? निसर्गका अनादि नियम है – परस्पर प्राणोंका सौदा कुछ ऐसे ही क्षणोंमें हुआ जो करता है ! ।।३२४।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यहाँ इन छन्दोंमे श्रीराधाके विशुद्ध प्रियतम-प्रेममय जीवनका प्रारम्भ हो रहा है। प्रेमका पूर्वारम्भ जहाँसे होता है, उसीका नाम पूर्वराग है। पूर्वरागकी अपनी लीलाजन्य शोभा है। वस्तुत: श्रीराधा प्रियतम श्रीकृष्णका ही दूसरा स्वरूप हैं, प्रेमकी परमोच्च सीमास्वरूपा ही हैं वे। फिर भी पूर्वरागका यही क्रम है कि वे अपने नित्य प्रियतमको भी विस्मृत कर जाती हैं। श्रीराधा अपनी बाल्य एवं पौगण्ड अवस्थामें अनेक बार श्रीकृष्णको देख चुकी हैं, उनसे उनका मिलन भी हो चुका है। जन्मसे ही राधा सदैव अपने नेत्र निमीलित ही रखती थी। उसने प्रथम दिन नेत्र तभी विकसित किये जब कीर्त्तिदा मैयासे मिलने यशोदारानी अपने पुत्रको लेकर आयीं और उन्होने अपने पुत्रको उसी पालनेमें, पर्यंकमें श्रीराधारानीके साथ-साथ लेटा दिया। बस, जैसे ही श्रीकृष्णसे राधाका संस्पर्श हुआ राधाने अपने नेत्र विकसित कर दिये। किन्तु जैसे ही यशोदा अपने पुत्रको लेकर नन्दग्राम लौटीं, पुनः श्रीराधाने अपने नेत्र पूर्ववतया निमीलित कर लिये। सम्पूर्ण बृषभानुपुरमें यह चिन्ताका विषय हो गया कि सद्यजात बृषभानु-नृपनन्दिनीके नेत्र सदैव निमीलित ही रहते हैं। अनेक उपाय किये गये, महर्षियोंसे परामर्श किया गया, किन्तु सब उपाय व्यर्थ गये। श्रीराधा सदैव नेत्र निमीलित ही रखती थीं। इसके पश्चात् वीणाकी झङ्कारपर हरि-गुण-गान करते हुए एक दिवस देवर्षि नारद घूमते हुए वृषभानु-प्रासादके सम्मुख आकर खडे हो गये। नृपवर वृषभानु गोपकी दृष्टि जब उनपर पडी तो वे श्रीनारदजीके चरणोंमें लोट गये। विधिवत् पाद्य-अर्घ्यसे पूजा करके देवर्षिको प्रसन्न अनुभवकर वृषभानु बाबा निवेदन करने लगे – 'भगवन्! मेरी एक पुत्री है। सुन्दर तो वह इतनी है मानो समग्र त्रिलोकीकी सुन्दरता एक स्थानपर उसीके अङ्गोमे सिमट आयी हो, परन्तु आश्चर्य यह है कि वह आँखें सदैव निमीलित ही रखती है। हम लोगोंकी बोली भी मानो उसके कानोंमें नहीं जाती – वह इतनी आत्मकेन्द्रित है। कभी-कभी उसके नेत्र इस प्रकार स्थिर हो जाते हैं, मानो वह उन्मादिनी हो। इसलिये हे देवर्षि! श्रीचरणोंमें मुझ दीन गोपकी प्रार्थना है कृपया क्षणभर उस बालिकापर अपनी दृष्टि डाल दे।'

आश्चर्यमें भरे नारदजी वृषभानुजीके पीछे-पीछे उनके अन्तःपुर चले जाते हैं। जैसे ही श्रीनारदजीकी दृष्टि राधाकुमारीपर पडती है वे चमत्कृत हो उठते हैं। देवर्षिको जैसे ही राधाकुमारीका दर्शन होता है उनके प्राणोंमें अननुभूत प्रेमका सञ्चार हो उठता है। वे श्रीवृषभानुजीको कक्षके बाहर जानेका आदेश देते हैं। एकान्त होते ही परमानन्द-सिन्धुकी ऊर्मियाँ देवर्षिको लपेट लेती हैं। वे बालिकाको क्रोडमे लेकर मूर्च्छित हो जाते हैं। उस समय नारदजीके अन्तर्हृदयमें एक ध्वनि उठती है – देवर्षे! श्रीकृष्णकी वन्दना करो, तभी श्रीकृष्ण-प्रियतमाके नेत्र तुम्हारी ओर उन्मुख होंगे।' देवर्षि जय-जयकार कर उठते हैं –

**जय जय कृष्ण मनोहारिन् जय वृन्दावनप्रिय!**<br>**जय भ्रूभङ्गललित जय वेणुरवाकुल!**<br>**जय बर्हकृतोत्तंस! जय गोपीविमोहन!**<br>**जय कुंकुमलिप्ताङ्ग जय रत्नविभूषण!**

इसी समय दृश्य बदल जाता है। मणि-पालनेपर विराजित वृषभानु-नृपनन्दिनी अन्तर्हित हो जाती हैं तथा नारदके सामने किशोरी राधाका आविर्भाव हो उठता है। देवर्षि कृतकृत्य हो जाते हैं।

द्वारपर वृषभानु प्रतीक्षामें खडे हैं। अश्रुपूरित नेत्रोंसे गद्गदकण्ठ नारदजी कक्षके बाहर आते हैं। स्खलित गतिसे डगमग पैर रखते नारद बिदा लेते हैं। वृषभानुजी बाहर खडे-खडे नारदजीका गायन सुनरहे होते हैं। नारदजीकी स्तुतिका मात्र इतना-सा अंश ही वृषभानुजीको याद रहता है। एक दिवस वे अपनी निमीलित-नेत्रा पुत्रीको गोदमें लेकर लाड़ लडाते हुए नारदजीकी स्तुतिका यह अंश सस्वर गाने लगते हैं – **'जय जय कृष्ण मनोहारिन्'**। सुनते ही

भानुकुमारी राधा अपने निमीलित नेत्र खोलकर बाबाके मुखको जोहने लगती है। वृषभानुके हर्षका पार नहीं रहता, कीर्तिदा आनन्दमे निमग्न हो जाती है। उन्हे तो अपनी पुत्रीको प्रकृतिस्थ करनेका मंत्र प्राप्त हो जात है।

कहनेका तात्पर्य यही है कि भानुनृपनन्दिनी श्रीराधाकिशोरी श्रीकृष्णसे पूर्वतया परिचित नहीं हों, सो बात नहीं है। परमानन्ददासजीको निम्नलिखित लीलाका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है जिसे उन्होने पद रचनाकर गाया है –

**मैं हरिकी मुरली बन पाई।**
**सुन यशुमति सँग छॉड आपनो कुँवर जगाय देन हौं आई।।**
**सुन तिय बचन बिहँसि उठ बैठे अन्तरयामी कुँवर कन्हाई।**
**मुरलीके सॅग हुती मेरी पहुँची दै राधे वृषभानु दुहाई।।**
**मैं निहार नीची नहिं देखी चलौ सङ्ग देउँ ठौर बताई।**
**बाढ़ी प्रीति नंदनंदन सौं घर बैठे यशुमति बौराई।।**
**पायो परम भाँवतो जियकौ दोऊ पढे एक चतुराई।**
**परमानन्ददास तिन पूछौ जिन यह केलि जनमभर गाई।।**

श्रीसूरदासजीने भी गाया है –

**खेलनके मिस कुँवर राधिका नन्द महर घर आईं हो।**
**सकुच सहित मधुरे स्वर बोलीं, घर हैं कुँवर कन्हाई हो।।**
**सुनत स्याम कोकिल सुर बानी निकसे अति अतुराई हो।**
**माता सौं कछु कलह करत रहे, रिस डास्यौ बिसराई हो।।**
**मैया री, तू इन कौं चीन्हति, दै कर सैन बताई हो।**
**जमुना तीर काल्हि मैं भूल्यौ, बॉह पकरि मेरी ल्याई हो।।**
**आवत यहाँ तोहि सकुचति हैं, मैं दै सौंह बुलाई हो।**
**सूर स्याम ऐसे गुन आगर, नागरि बहुत रिझाई हो।।**

**जसुमति राधा कुँवरि सँवारति।**
**बड़े बार सीमंत सीसके प्रेमसहित निरवारति।।**
**माँग पारि बेनी जु सँवारति गूँथी सुन्दर भाँति।**
**गोरे भाल बिन्दु बन्दन मनु इन्दु प्रात रवि कान्ति।।**
**सारी चीर नई फरिया लै अपने हाथ बनाई।**
**अञ्चल सौं मुख पौंछि अंग सब आपुहि लै पहिराई।।**
**तिल चाँवरी बतासे मेवा दियो कुँवरिकी गोद।**
**सूरस्याम राधा तनु चितवत जसुमति तन-मन मोद।।**

ब्रजभक्तों द्वारा अनुभूत इन सभी लीलाओंसे यही ज्ञात होता है कि शिशु अवस्थामे तो श्रीराधाका परिचय श्रीकृष्णसे था ही, पौगण्ड अवस्थामें भी श्रीराधाका सम्मिलन श्रीकृष्णसे बार-बार होता ही रहा।

पू गुरुदेवने भी पञ्चम शतककी लीलामें लिखा है – 'उस दिवस रसमयी बसंत-पञ्चमीपर यमुनातटपर होलीकी क्रीडा चल रही थी। नन्दग्राम एवं बृषभानुपुर दोनोंके लोग सम्मिलित होकर यह उत्सव मना रहे थे। प्रथमतया पञ्चदेवताओका आराधन धूमधामसे होना था, अतः महारानी पूजामे सहयोग कर रही थीं। अपनी प्राणोंसे प्यारी अलबेली बेटी राधाको उन्होंने अपनी अनुजा कीर्तिमतीको सम्हला दिया था। उसकी देखभालमे वह निमीलित नेत्र किये चुपचाप

स्थित थी। उस दिवस राधाकी उम्र मात्र एक वर्ष, चार माह एवं सत्ताईस दिनकी ही थी। हाँ ! यशोदारानी यदि अपने तनय श्रीकृष्णके सहित कहीं आसपास होतीं और बालकृष्णके अङ्गोंका सौरभ राधाके नासारध्रोंमें पहुँचता होता तो उसके नेत्र अवश्य उन्मीलित एवं विकसित हो जाते थे।

जब पञ्चदेवताओंकी पूजाके उपरान्त होलीका खेल प्रारभ हुआ, तो ढप-वादनके बीच ऐसी अबीर-गुलाल उडी कि सारा आकाश ही अरुणाभ हो उठा, रवि-किरण-जाल धुँधला हो गया । दोनों ग्रामोंके विशाल जनसमूहोंमें गुलालका खेल और ढपवादनकी तालपर नृत्य-स्पर्धा हो ही रही थी कि क्षणभरके लिये लाली राधा अपनी मौसीकी गोदसे उतर पडी। उस अत्यन्त छोटी बालिकाके ओठोपर मुसकान थी एव वह अपने शिशु करोंसे ढपोंकी तालपर ताली बजा रही थी। अपनी तोतली शब्दावलीमे वह मन्द-मन्द गाने लगी। उसका स्वर इतना मधुर था कि अनजानेमें ही उसके गायनसे सभीके प्राणोमे प्रमत्तता भर उठी। किसीको होश नहीं रहा कि 'मैं कहाँ हूँ, कौन हूँ, तथा मुझको क्या करना चाहिये।' सब-का-सब जन-समुदाय आत्म-विस्मृत हुआ उस ओर दौड चला जिधर शिशु राधा ताली बजाकर गाती हुई रसका प्रवाह बहा रही थी। सबके हाथोंमें गुलालके झोले थे।

सहसा नन्दतनय श्रीकृष्ण जोरसे बोल उठे – 'ठहरो, ठहरो ! क्या करते हो ? राजाकी बेटी यहाँ खडी है, यह पिस जाती, यदि मैं यहाँ नहीं होता !'

उस आभीरराजसुत श्रीकृष्णका स्वर जैसे ही सुखमत्त जनसमूहके कानोंमे ध्वनित हुआ, सब ज्यों-के-त्यों रुक गये। सबके दृग छलक उठे। सभीने भली प्रकार जान लिया कि यदि यह ब्रजेन्द्रनन्दन इस समय सभीको सावधान नहीं करता तो दुर्घटना तो हो ही गयी थी, भीडमे बालिका पिस ही जाती। किन्तु बालिका राधा उस बालकका रूप अपने दृगोंमें भरकर पी रही थी, और वह बालक यशोदानन्दन अपनी मस्त हँसी हँसता जा रहा था।

इन उदाहरणोंसे यही प्रकट है कि किशोरी राधा अपने प्रियतमके स्वरूपसे पूर्णतया परिचित थी। नन्दनन्दन वेणुमें स्वर भरकर सबको मुग्ध करते हैं, वे श्याम नीलमणिवर्णके है। उनकी आकृति-प्रकृति– सभीसे नृपनन्दिनी किशोरी पूर्णतया परिचित थीं। किन्तु यहाँ जो उन्हें यह किसकी प्रतिमा है – इसका स्पष्ट अनुभव नहीं हो रहा है एवं यह किसी भी व्यक्तिकी आकृति हो, वह मेरा है – वे ऐसा अनुभव कर रही है – यह उनका भोलापन एवं विस्मृति – सभी मात्र पूर्वरागजन्य भाव है। अगर यह विस्मृति उनमें उदय न होती तो प्रेमका प्रथम स्वाद – पूर्वरागकी शोभा ही नष्ट हो जाती। पूर्वतया अज्ञात प्रियतमके प्रथम दर्शनमें आत्यन्तिक प्रेमोदय और पूर्ण समर्पण ही पूर्वरागकी शोभा है। अत. इसी प्रेम-प्रक्रियामें वे अपने पूर्वतया परिचित जन्म-जन्मान्तरके सङ्गी प्रियतम नीलसुन्दरको सर्वथा विस्मरण करके मानो अभी ही प्रारभ हुआ हो, ऐसे नवीन प्रेमोदयका अनुभव कर रही है*। श्रीराधाकिशोरीका प्रेम अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय भावोका समुच्चय है। उसका अनुभव मात्र श्रीराधाको ही होता है। दूसरा कोई उसका वर्णन करे, यह असभव है। जैसे स्वर्णको जितनी बार अग्निमें तपाया जाता है, उसका रूप अधिक-से-अधिक निखरता जाता है, इसी प्रकार राधा भी प्रतिक्षण नव-नवायमान प्रेमका अनुभव करती हैं। श्रीभगवतरसिकजी प्रिया-प्रियतमके प्रेमका स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं –**'मिले ही रहत मानो कबहुँ मिले ना'** ये दोनो प्रिया-प्रियतम इस प्रकार मिले रहते है, मानो पूर्वतया पहले कभी नहीं मिले हों, और इस प्रकार नित्य नूतन मिलन-रसका अनुभव करते हैं।

*श्रीराधारानीको अपने प्रथम मिलनमें यह भी विश्वास नहीं है कि यह अज्ञात व्यक्ति जिसे मै मात्र उसकी प्रतिमा देखकर अपना बना रही हूँ , मुझे भविष्य जीवनमे मिलेगा भी या नहीं ? यह प्रेमकी अत्युच्च पराकाष्ठाका भाव है। वे अपनेको उस अज्ञात-कुल-शील व्यक्तिको सौंप दे रही हैं, जिसके नाम-रूप-गोत्र-स्वभावसे उनका किञ्चित् परिचय भी नहीं है। वे आशा भी नहीं कर रही हैं कि वह जीवनमें उसे कभी मिलेगा भी ! जिससे अपनी सम्पूर्ण ममताका सम्बन्ध

जोडा जा रहा है, उससे मिलनेकी भी पूरी संभावना नहीं है । प्रेममें इस प्रकारके क्षणोमे ही बिना सोचे-विचारे ज़ाने-पहचाने प्राणोका विनिमय होता है। यह कैसी प्रवहमान आनन्दधारा है, कैसे प्रेम-वैचित्र्यका विकास है ?

श्रीराधाके निरपेक्ष, निरीह, निर्मल एवं निष्काम प्रेमकी कैसी झॉकी छन्दकी इन चार पक्तियोमे है –

'अपने जीवन की साध अभी पूरी कर लेती हूँ, 'प्रियतम !
'क्षण भर इस कण्ठ मनोहर सेजस एकबार भेंटूँ;प्रियतम !
'एकान्त मुझे अवसर ऐसा फिर मिले, न कभी मिले;प्रियतम !
'आ पाऊँगी भी इस वन में है बात भाग्यलिपि की;प्रियतम ।।३२५।।

**अपने जीवनकी एकमात्र साध मैं अभी-अभी ही पूरी कर लेती हूँ – एक बार इस मनोहर कण्ठसे भेंट लूँ; मुझे एकान्तमें ऐसा अवसर मिले अथवा कभी न मिले ! और तो क्या, मैं इस वनमें फिर आ पाऊँगी, यह भी भाग्यलिपिकी ही बात है.......।।३२५।।**

दृग लगे पुनः छल-छल करने, वह उठी; भुजा फैली, प्रियतम !
आगे तुम देख भले ही लो झूलना सरस उसका, प्रियतम !
कहकर पवित्रता मैं अधमा उसकी क्यों नष्ट करूँ, प्रियतम !
केवल वह है सम्बल मेरा, मैं क्यों खोऊँ उसको ! प्रियतम ।।३२६।।

**............किशोरीकी आँखें पुनः छल-छल करने लगीं; वह उठ पड़ी; बिना परिश्रम उसकी भुजाएँ फैल गयीं । अब.......आगे क्या हुआ ? अहो ! नीलसुन्दर प्राणेश्वर देवता ! तुम उसे स्वयं ही देख लो भले ही.. ....... अहा ! किशोरीका कण्ठसे झूलने लग जाना कितना सरस था.........जय जय जय !....... अरे ! मैं अधमा इसकी पवित्रताका चित्रण करके, वाणीसे उसका निरूपणकर, उसकी अनिर्वचनीय पावनताको नष्ट करनेका पाप क्यों बटोरूँ ? मेरे सम्पूर्ण जीवनका एकमात्र सम्बल इतना ही तो है, इसे मैं क्यों खोऊँ ?.....'।।३२६।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

भानुनृपनन्दिनी श्रीराधाकिशोरीकी प्राणोंकी साध विशुद्ध प्रेमामृत मात्र है। सप्तवर्षीया बाला राधाकी प्रेमास्पद तो मात्र प्रतिमा है। यह प्रतिमा किसकी है ? यह भी उससे अज्ञात है। उसके प्रेमका आदर होगा, यह बात तो बहुत दूरकी है, राधाका प्रेमास्पद उसके प्रेमको जान भी पायेगा – इसकी भी उसे कल्पनातक नहीं है।

कहीं जान भी लेगा तो मानेगा, इसकी क्या संभावना ? इसके विपरीत वह उसका अपमान करे, घोर तिरस्कार करे, राधाके प्रेमके बदले भीषण कष्ट, भयानक यातना दे – तब भी राधा क्या अपने प्रेमास्पदके दोष देखेगी ? कदापि नहीं। राधाको तो अपने प्रियतमके दोषोंमें भी पवित्र प्रेम, अत्यन्त निकटकी आत्मीयता ही दृष्टिगोचर होगी, यही राधाके प्रेमका सुदृढ निश्चय है। राधाने अपने प्रेमके प्रतिदानके रूपमें अपने लिये कुछ भी नहीं चाहा है। उसकी केवल एक ही निरपेक्ष मान्यता है कि जिस किसीकी भी यह प्रतिमा है, राधा उसीकी है, राधाके देह-प्राण, मन-बुद्धि, अहङ्कार-आत्मा, सभी उसीके हैं, और प्रत्येक स्थितिमें, लोकदृष्टिमे प्रतिकूल-से-प्रतिकूल मानी जानेवाली अवस्थामें भी वह अपने प्रेमास्पदके मधुरातिमधुर प्रेममें ही डूबी रहेगी, उसके महान् दिव्य गुण ही उसके दृष्टिपथमे आवेगे।

इस निश्चयको लेकर ही सात वर्षीया नृपनन्दिनी बाला लोक-वेद-कुलकी कुछ भी परवाह न करके सर्वसमर्पणपूर्वक अपने प्रियतमकी उस प्रतिमाको अपना शरीर-दान देनेको उत्सुक हो उठती है। वे मात्र क्षणभरके लिये उस प्रतिमाके

मनोहर कण्ठसे एक बार आलिङ्गित होनेकी लालसा कर लेती है। ध्यान रहे उनकी इस कण्ठसे आलिङ्गित होनेकी लालसाको क्षुद्र जागतिक काम-वासना कभी मत समझ बैठना। क्योंकि काम-वासना किसी किशोर जीवन्त व्यक्तिसे होती है, मात्र एक मणि-प्रस्तर-खण्डकी प्रतिमासे वैसा होनेकी कल्पना एक घोर दोषारोपण मात्र है। फिर सात वर्षकी अल्पवयस्का बालिकामें ऐसे कुत्सित विचारोंका तो उदय ही नहीं होता।

राधामे तो विशुद्ध अतिशय निर्मल प्रेमभाव ही उसकी प्रत्येक चेष्टासे प्रवाहित हो रहा है। राधा बडी उदारताके साथ भावका असीम प्रवाह बहा रही है। राधाका धर्म-कर्म मात्र प्रेम है। प्रेम ही उसका एकमेव कर्तव्य है। राधाके इस सर्व समर्पणमय प्रतिमाके कण्ठ लगनेकी क्रियामें आत्मसुखकी वासनाकी गंध भी नहीं है। यहाँ तो समर्पणका भी पूर्ण समर्पण है। राधाकिशोरीमें भोग-त्याग, बन्ध-मोक्ष, अनुरक्ति-विरक्ति– सभीकी पूर्णतया विस्मृति है। केवल प्रियतम-प्रेम ही उसका जीवन है।

शास्त्रोमें पूर्वरागके दस लक्षण बताये हैं– १. लालसा २ उद्वेग ३ जडता ४. कृशता ५ जागरण ६. व्यग्रता ७. व्याधि ८. उन्माद ९. मोह १०. मरणोद्यम।

शास्त्रोक्त इन्हीं दस लक्षणोमें से पूर्वरागजन्य 'लालसा'का छन्दकी इन चार पक्तियोमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इन सभी दसों लक्षणोंको चतुर्थ शतकके आगेके छन्दोमें पू.गुरुदेवने व्यक्त किया है। ध्यान रहे – पूर्वरागजन्य मिलन-लालसामें देहगत विषयवासनाजन्य कामनाका सर्वथा, सर्वांशमें ही अभाव रहता है। तनिक विचार करें – प्रिया राधाकी अपार गुणदर्शनमयी दृष्टिमे वह प्रतिमा क्या है ? हमारी दृष्टिमें वह मात्र जड नीलमणि-प्रस्तरखण्डकी प्रतिमा हैं, किन्तु श्रीराधाकी प्रेममयी दृष्टिमें वह प्रीति-सौन्दर्य-सुधा-समुद्रकी विलक्षण तरङ्ग हैं, जो उस किशोरी बालाके चित्तरूप पर्वतको पूर्णरूपेण प्लावित कर दे रही है। राधाको तो उसके वचन भी सुनाई पड रहे हैं। वह प्रतिमा उसका प्रेमाह्वान भी तो कर रही है। राधाके चित्तको अपने प्रियतमकी प्रतिमाके मनोहर प्रेम-वचन ऐसे लगते हैं मानो उसके कानोंमें किसीने प्रेमसुधाका राशि-राशि मधुरतम रसायन डाल दिया हो। श्रीराधाकी गुणदर्शनमयी दृष्टिमें उसके प्रियतमरूप इस प्रतिमाके अङ्ग कोटि शरदिन्दुकी ज्योत्स्नाके सदृश शीतल हैं। श्रीराधाके लिये यह प्रतिमा मात्र जड प्रस्तरखण्ड है ही नहीं, यह है उसके चिन्मय प्रियतमका स्वरूप। अस्तु, उसके अधरोसे राधाको ऐसी सौरभरूप सुधाका सप्लावन होता दृष्टिगोचर हो रहा है, जिससे मात्र वह अकेली नहीं, सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड सप्लावित है। अब बताओ, भोली नृपनन्दिनी बाला अपने ऐसे प्रियतमसे जो उसकी समस्त इन्द्रियोमें प्रेमका असीम आकर्षण उत्पन्न कर रहा है, क्या उसके मात्र अङ्गसे लग जानेका, एक बार उससे आलिङ्गित होकर अपने जीवनको कृतकृत्य करनेका, अपने जीवन-यौवनका पूर्ण समर्पणकर इस प्रेमनिधिसे एकात्म मिलनका सङ्कल्प भी न करे ? यदि किसी भय, अथवा सङ्कोचसे वह ऐसा नहीं करती है तो क्या उसका एकाङ्गी निरपेक्ष प्रेम सार्थक होगा ? क्या वह किसी धर्म-मर्यादासे बँधी है, जो अपने प्रियतमके अङ्गसे लगनेसे डरे, भयभीत हो ?

पूर्वरागजन्य 'लालसा' जागतिक कामजन्य लालसा, तृष्णा नहीं है। वह इतनी विलक्षण है कि उस लालसाके अञ्जनसे अञ्जित बाला राधाकी दृष्टि ऐसी सुषमामयी हो उठती है, कि उसे अपने प्रियतमकी प्रतिमामें ही अपार, अनन्त मनोहरता दिखने लगती है। और तब उसकी मिलनोत्कण्ठा रस-सरिताके समान उन्मादिनी हो उठती है, और उसे एक-एक पलका अमिलन असह्य लगने लगता है। प्रेम-विह्वल, प्रेमविकल हुई वह अपने प्रेमसमुद्रसे मिलनेके लिये उमड पड़ती है। यहाँ ध्यान रहे पूर्वरागके समय श्रीराधाको अपना प्राणवल्लभ अपने-से-अपना अनुभव होता है। राधा अपने प्रियतमकी नित्य एकमात्र अपनी-से-अपनी है – यही उसकी दृढ निष्ठा रहती है। काम सदैव परायेके प्रति, अप्राप्तके प्रति, अपनेपनके न होनेपर ही उदय होता है, वहाँ विशुद्ध प्रेमका लक्षण ही है कि उसे निजमें एवं अपने प्रियतममें परायेपनका सर्वथा अभाव दिखता है एवं दोनोमे पूर्णतया एक ही 'मैं' पना प्रवाहित दिखता है।

राधाकी अतिशय सुषमामयी ऑखोंमें उसके प्रियतमकी प्रतिमा प्रेमसे उमडते जलधरके सदृश अनुभव होती है। बँगलाभाषी कवि माइकेल मधुसूदन राधाके इसी भावका प्रकाश करते हुए लिखते हैं–

**चातकी आमि सजनि, सुनि जलधर-ध्वनि,**
**केमने धैरज धरि थाकिबो एखन।**
**जाक् मान, जाक् कुल, मन-तरी पावे कूल,**
**चल भासि प्रेम-नीरे भेबे ओ चरन।।**

" अरी सखि ! मैं श्याम-नीरकी तृषित चातकी हूँ। अब जलधरकी गर्जना सुनकर किस प्रकार धैर्य धारण कर यहॉ रुक सकती हूँ ? मेरा मान-सम्मान नष्ट होगा, हो जाये ; मेरा कुल-शील-धर्म भाडमे जावे, मेरे मनकी नैया तो प्रेमकिनारे लग ही जायगी। सखि ! चल री ! प्रेमनीरमे अपनेको डुबोकर प्रियतमके चरणोंका संवाहन करें।"

तब भानुनृपनन्दिनी बाला जो प्रेमके पूर्वरागरूपी सिन्धुमें मिलनेको उमड रही है, भला कैसे अपनेको संवरित कर पाती। उसके प्रियतम भी तो नव-जलधरके समान सुन्दर कान्तियुक्त हैं, उसके प्रियतम भी तो विद्युन्मालासे भी अधिक मनोज्ञ पीताम्बर धारण किये हैं, उसके प्रियतमका भी वदन शारदीय पूर्ण चन्द्रमाकी अपेक्षा उसे अधिक समुज्ज्वल दिख रहा है ! अहा ! कैसी चित्र-विचित्र ध्वनि करती मुरली उसके प्रियतमके अधरोपर विराजित है, मस्तक मयूरपिच्छसे सुशोभित है। अहा ! क्या ही सुन्दर निर्मल कान्तियुक्त श्रेष्ठ मोतियोंकी माला उसके प्रियतमके कण्ठमे सुविराजित है। वे नृपनन्दिनीके प्रियतम उसकी प्रेम-मिलनकी स्पृहा यदि उद्दीप्त कर दें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सरोवरकी कृतार्थता तभी है, जब उसमें सरसिज खिले हों, और सरसिज तभी विकसित होता है जब सूर्य उदय हो। सूर्यके बिना सरसिज एवं सरोवर दोनो ही व्यर्थ हैं। तब प्रिया राधाके बिना उसके प्रियतमकी प्रतिमा भी भला कैसे शोभायमान रहती ? क्या सुधांशु रात्रिके बिना शोभायुक्त हो सकता है ?

**बिना राधा कृष्णः न खलु सुखदः सा न सुखदा।**

श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण अपूर्ण हैं। फिर दोनोकी प्रेम-मिलनोत्कण्ठा प्रेमधर्म ही तो है।

बस, नृपनन्दिनी बालाने अपने जीवनकी एकमात्र अनन्य साध पूर्ण कर ली। वह अपने प्रियतमकी प्रतिमाके कण्ठसे आबद्ध हो गयी। नारीसुलभ लज्जाने उसे पुनः संप्रेरित किया कि वहॉ चारों ओर एकान्त है, या नहीं – इसे देख ले। वह जानती है कि प्रेम-मिलनके अवसर अतिशय दुर्लभ होते हैं। यह उसका शुभ प्रारब्ध था कि वह माता-पिताकी आज्ञा पाकर इस वनमें चली आयी थी। क्या पता ! उसके माता-पिता, कुल-परिवार पुनः इस प्रेमवनमें प्रवेशकी आज्ञा दें, न दे। आज तो उसे ऐसा अवसर भी मिल गया कि सखियॉ और उसकी अनुजा छोटी बहिन भी सरोवरका जल पीकर आनन्द-निद्रामें शयित हैं और वह निर्मल एकान्तमें अपने प्रियतमका अतिशय शुचितम दर्शन प्राप्त कर पारही है। ये सभी बातें बालिका नृपनन्दिनाकी भाग्यलिपिके अनुकूलतम लेखनसे ही सभव हुई हैं। परन्तु कल उसकी भाग्यलिपि उसे ऐसा मनोनुकूल वरदान दे, या न दे – इसका क्या विश्वास ? भविष्यके गर्भमे क्या है, इसका क्या भरोसा ? उसे तो यह भी भरोसा नहीं है कि उसके प्रियतम उसके प्रति द्वेष रखेंगे, उसे छिटका देंगे अथवा कृपाकर उसका हाथ थामेगे, उसे स्वीकार करेंगे ? जैसा भी वे आचरण करें, उसकी गति तो एकमात्र वे ही रहेगे। नृपनन्दिनीका दृढ निश्चय है –

**आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मां**
**अदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।**
**यथा तथा वा विदधातु लम्पटो**
**मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः।।**

"वे उसे हृदयसे लगावें अथवा चरणोंमें लिपटी उसे पैरों तले रौंद डालें, दर्शनोंसे वञ्चित रखकर मर्माहत कर दें। वे लम्पटतावश जैसे चाहे वैसे करें, मेरे प्राणनाथ तो वे ही हैं, दूसरा कोई नहीं।"

इन्हीं विचारोंमे खोई नृपनन्दिनी बालाके नेत्र पुनः भावविह्ल हुए छलछला आये। प्रेम तो देना ही जानता है, लेना नहीं। निरन्तर देते रहनेकी इच्छावाली नृपनन्दिनीकी शोभा यही है कि उसमे देनेका अभिमान नहीं, उलटे लेते रहनेवालीका भाव उच्छलित हो उठता है। त्यागकी पराकाष्ठामें अपनेको लेनेवाली दीना समझ बैठती है। उसका हृदय चीत्कार कर उठता है –

**ना ठेलियो मोरे अबला बोलिये, जे हय न उचित तोर।**
**भाविया देखिनु प्राणनाथ बिने गति जे नाहिक मोर।।**

"हे प्राणवल्लभ ! तुम मुझे ठुकरा मत देना। तुम्हारे लिये यह कदापि उचित नहीं होगा। क्योकि मैं सोचविचार करके यही देख रही हूँ कि प्राणनाथ ! तुम्हारे अतिरिक्त मेरी कही भी अन्यत्र गति नहीं है।"

रसिक सिद्ध सन्त श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाप्रभुने अपने महाभाव-काव्यसग्रह षोडशगीत (राधामाधव-रस-सुधा) में गाया है –

**तुमसे सदा लिया ही मैंने लेती लेती थकी नहीं।**
**अमित प्रेम सौभाग्य मिला पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं।।**

यहाँ पुनः ध्यान रहे कि श्रीराधाके ये आँसू किसी अभावगत, भयगत शङ्कासे उत्पन्न नही हैं। राधामें कामना है ही नहीं, उसमे मात्र प्रेम है। काममें ही आत्म-परिणामकी चिन्ता होती है। प्रेम आत्मविस्मृति एव प्रियतम-स्मृतिसे लबालब भरा होता है। किशोरी राधाके मनमेसे प्रियतमकी मधुर-मनोहर स्मृति हटे, तो स्वयंकी स्मृतिका उदय हो। राधा तो अपने अहंको ही नहीं, पूरे-के-पूरे स्वयंको कबसे ही प्रियतमके नख-चन्द्रोंमें विलीन कर चुकी, अब वह रही ही नहीं है। उसके अस्तित्वके अणु-अणुमे समायी है, उसके प्रियतमकी परम ललाम प्रतिमा। राधाकी अपने प्रियतमसे यही माँग है कि उसके अणु-अणुमें समायी स्मृतिरूपा यह उनकी प्रतिमा उसके हृदयसे नहीं हटे। **'ना ठेलियो मोरे'**का अर्थ राधाके शरीरके निर्वाहका त्याग नहीं है, अपितु राधाके हृदयसे स्मृतिरूपमें हट जाना ही है। बस ! उसके प्रियतम उसके हृदयमें अविराम अखण्ड विराजित रहे और उसका प्रेमदान सर्वस्व-भोग करते रहे – यही राधाका अपने प्रियतमसे लेना है। शरीर-निर्वाहकी चिन्ता तो भोगदानकी स्पृहा है – वह राधामे सम्भव ही नहीं। उसे तो दिव्य लोक किंवा कैवल्यमुक्ति भी नहीं चाहिये। वह भोग, मोक्ष, वैराग्यकी रागी नहीं, मात्र अपने प्रियतमकी रागी है। उसके हृदयमें पूर्ण – परिपूर्ण उसके प्रियतमका अनुराग छलक रहा है, भरा है।

इस अनुरागके ही कारण किशोरी बालिकाके नेत्र छलछला आये थे और तत्क्षण ही वह अपने प्रियतमके कण्ठमें झूल जाती है।

वस्तुतः प्रिया राधा एवं उनके प्रियतमके मिलनके पावित्र्यकी तुलना अन्य कोई वस्तु करे, यह संभव ही नहीं है। श्रीयादवेन्द्र पुरी महाराज कहते हैं –

**नन्दनन्दन कैशोर लीलामृत महाम्बुधौ।**
**निमग्नानां किमस्माकं निर्वाणलवणाम्भसा।।**

प्रियतम नन्दनन्दनकी किशोरावस्थामें की हुई सुन्दर प्रेम-मिलन-लीलारूप पवित्रतम अमृतसमुद्रमे निमग्न हम लोगोंको निर्वाण-मुक्तिरूप खारे बेस्वाद समुद्रकी क्या आवश्यकता है ?

**तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।**
**भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।**श्रीमद्भा० ।।

" स्वर्गकी तो बात ही क्या, कैवल्य मोक्षकी अपेक्षा भी भगवान् श्रीकृष्णकी सङ्गिनी (प्रेमिका ) राधाके सङ्ग उसकी प्रियतम-सेवामें बिताया गया एक क्षण भी अतुलनीय है।

**ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।**
**नैति प्रेमसुखाम्भोधेः परमाणुतुलनामपि।।**भक्तिरसामृतसिन्धु।।

ब्रह्मानन्दको परार्द्धकी संख्यासे गुणा करनेपर भी जिस पवित्र आनन्दकी उपलब्धि होती है, उसको प्रेम-मिलन-सुख-सागरकी तुलनामें एक परमाणुके समान भी नहीं मानना चाहिये।

बात यह है कि ब्रह्मानन्द नित्य एकरस है, फिर वह अनुभवमे भी नही आता। प्रियतम-मिलन-विलासमें नित्य नूतनता है। उसका पावित्र्य एवं तत्सुखसुखी अनुभव मिलनरत प्रिया-प्रियतमको तो होता ही है, समग्र ब्रजधाम ही उसकी पवित्रतम भाव-तरङ्गोंको ग्रहणकर मिलनानन्दमें डूब जाता है। वह पवित्रतम प्रेम-मिलनका रस जड-चेतन सबको विशुद्ध निर्मल प्रेमरसमें आप्यायित कर देता है।

फिर प्रियां राधाको तो इस मिलनमे अपने आनन्दभोगकी भी इच्छा नही रहती। प्रिया किशोरी तो अपने प्रियतमसे विशुद्ध हेतुरहित मिलनोत्सुका हैं। मिलनके लिये ही उनकी मिलन-लालसा है, स्वसुख हेतु मिलन-लालसा नहीं है। इस प्रेम-मिलनमें यदि कहीं अपने आनन्दका किञ्चित् भी अनुसन्धान या आनन्दप्राप्तिकी वासना उदय हो जाय, तब तो यह मिलन अपवित्र भोगरूप हो उठेगा। यह तो प्रेमराज्यका कलङ्क हो जायगा। यह राधाका भूषण नहीं, कूबरी, त्रिवक्रा, कंस-चेरीका-भोग बन जायगा। अतः स्वभोगकी तो यहाँ कल्पना ही नहीं। न स्वभोगका भाव प्रियतम श्रीकृष्णमें है, न ही प्रिया श्रीराधामें ही यह कुत्सित भाव है। यहाँ तो दोनों युगल प्रिया-प्रियतम मत्सुखसे सर्वथा विरहित होकर तत्सुखमें निमग्न, आप्यायित हैं। प्रिया राधाका यह प्रियतम-मिलन कोटि-कोटि गुनी आत्मानन्दानुभूतियोंसे भी अधिक प्रिय और पवित्र है। यह मिलन प्रियतम श्रीकृष्णको अपने स्वरूपानन्दसे भी बढकर प्रेमरसानन्द देनेवाला है। अत. इसकी पवित्रता तो अकथनीय एवं अचिन्त्य है।

पू.गुरुदेव इसीलिये कहते हैं कि मैं अधमा इसकी पवित्रताका चित्रण करके, वाणीसे उसका निरूपणकर, उसे सीमित, इदमित्थं, शब्दार्थ-परिच्छिन्न बनाकर उसकी अचिन्त्य, अनिर्वचनीय पावनताको नष्ट करनेका पाप क्यो बटोरूँ ? वस्तुतः ही यह मिलन सर्वोच्च पावित्र्यकी असीम उच्चातिउच्च शिखापर विराजित है।।३२५।।३२६।।

*इतना-सा ही कह सकती हूँ, वह मिलन अर्धपलका, प्रियतम !*
*आधार-शिला बनकर उसपर बनने प्रासाद लगा, प्रियतम !*
*जिसमें विभाग थे-स्नेह, मान, वे प्रणय, राग, आगे, प्रियतम !*
*अनुराग, भाव, फिर महाभाव, सातों अप्रतिम बने, प्रियतम।।३२७।।*

**..........इतना-सा ही कहना सम्भव है, वह आधे पलका-आधे क्षण किशोरीका मिलन मानो आधारशिला बन गयी और उसपर प्रेम-प्रासादका निर्माण भी होने लग गया। साथ ही अहो ! स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव – ये सात अप्रतिम विभाग भी अभिव्यक्त हो ही उठे भला !।।३२७।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

पू.गुरुदेव आगेके छन्दमें कहते हैं कि प्रिया राधाका अपने प्रियतमसे जो मिलन हुआ, वह आधारकी नींव बन गया और उसपर प्रेमका विशाल महल खडा हो गया।

वस्तुतः सत्य यही है कि विशुद्ध पूर्वराग वह नींव है जिसपर प्रेमका अष्टमञ्जिला 'महल' खड़ा होता है। हम पूर्वतया कह चुके हैं कि ब्रह्मानन्दमें विलास नहीं है। वहाँ आनन्द-स्वरूपता है, परन्तु आनन्दका आस्वादन नहीं है। श्रीराधामें स्वसुख-वाञ्छाका लेश भी नहीं है, अतः वे ही अपने प्रियतमको आह्लादित करती हैं, और उन्हे आह्लादित देखकर उनके आह्लादसे आह्लादित होती हैं। अतः श्रीराधाभावका सार प्रेम है। किशोरी मूर्त्तिमती प्रेमदेवी हैं। प्रेमका सारस्वरूप ही राधा बन गया है। ये अपने प्रियतमकी परमोत्कृष्ट प्रेयसी हैं। अपने प्रियतमकी सर्ववाञ्छाओंको पूर्ण करना ही श्रीराधाके जीवनधारण, अस्तित्वका प्रयोजन है। प्रियतमेच्छा पूर्ण करनेके अतिरिक्त इनमें सर्वेच्छा-राहित्य है। इसीलिये ये प्रियतमकी परमोत्कृष्ट प्रेयसी हैं, प्रियतम इनपर न्यौछावर हैं, इनके प्रेमके मतवाले हैं।

### *प्रेम-मञ्जिल*

इस महलमें जहाँ पूर्ण रतिरूप पूर्वरागकी नींव है, वहाँ प्रेम ही प्रथम मञ्जिल है। **जब प्रियतमके अतिरिक्त अन्य किसी विषयकी तनिक भी चाह नहीं रहती, सर्वेन्द्रियरूप अपना सर्वस्व समर्पणकर जहाँ प्रियतम-रुचिमें निरत हुआ जाता है, उसे ही पूर्वराग कहा जाता है।** यह भाव जब अत्यन्त प्रगाढ हो उठता है तो प्रेम-महलकी पहली मञ्जिल बनती है। प्रेम-महलका यह जादू है कि सर्वथा पूर्ण इच्छारहित प्रियतम भी अपनी प्रियाकी कामनामें आतुर हो उठते हैं, जिन्हे किसी भी वस्तुका अभाव नहीं, वे अभावग्रस्त बन जाते हैं। प्रेमरसके मतवाले निज प्रियतमको अपना पूर्णकामी पाकर उनकी सर्वकामना पूर्ण करना ही इस प्रेम-महलमें प्रिया राधाकी सेवा होती है। इस प्रेम-महलमें श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा ललितादि सखियाँ उनके प्रियतमकी प्रेमपूजामें सहयोगिनी होती हैं।

प्रेम-महलके प्रथम प्रासादमें सखियाँ प्रियाको तारुण्यामृत, कारुण्यामृत एवं लावण्यामृतकी प्रेमधारासे स्नान कराती हैं, लज्जाका श्याम परिधान पहनाती हैं, फिर स्नेहकी कञ्चुकीसे इनके वक्षोजोंको आच्छादित करती हैं। इस प्रकार वस्त्रावृत हुई प्रिया प्रेममहलकी दूसरी मञ्जिल – स्नेहमहलमें प्रवेश करती हैं। यह स्नेहमहल अनन्य ममतारूपी रत्नोंकी अभेद्य शिलाओंसे निर्मित है।

**सर्वत्र सब स्थानोंमें ममताराहित्य हो जाय और ऐसा अनुभव हो कि श्रीकृष्णके सिवा कहीं, कोई भी मेरा नहीं है – यह भाव अतिशय प्रगाढ हो जानेपर स्नेह कहलाता है।** प्रियाके प्रति प्रियतमका एवं प्रियतमके प्रति प्रियाका चित्त अतिशय प्रगाढ ममत्वभावसे भावान्वित हुआ जब पिघलकर द्रवीभूत हुआ उमड उठता है, तब पिघले, उमडे, भावभरे चित्तसे जहाँ प्रिया-प्रियतमका प्रगाढ मिलन होता है, उस मिलन-मञ्जिलका यह स्नेह-प्रासाद है।

### *मान-मञ्जिल*

इससे ऊपरकी मञ्जिल मान-मञ्जिल है। **'मान' भावमें प्रियाका चित्त प्रियतममें स्नेहकी प्रगाढ़तासे भरकर उनपर अतिशय ममत्वके कारण अपना पूर्ण अधिकार समझने लगता है।** इस अधिकारका प्रिया जब भी प्रियतम द्वारा उल्लंघन किया जाना देखती हैं, उस समय वे दक्षिणभावका पूर्णतया परित्याग कर बैठती हैं। उस समय प्रियामें वाम भावकी सृष्टि होती है। प्रियाके इस नकारात्मक भावमें प्रियतमको उनका अधिकतम माधुर्यरस प्राप्त होता है।

इस मानमहलमें विराजिता प्रियाकी शोभा देखकर प्रियतम श्रीकृष्ण चकित हो उठते हैं। उन्हें अपनी प्रियाको मनानेके लिये दूतियोंका सहारा लेना पडता है। विप्रलम्भका स्वभाव ही है, बाहर खोना, भीतर पाना। इसी तरह 'मान'में बाहर कठोरतम रूठना रहता है और भीतर पूर्णतया अनुकूल मिलन-भाव होता है।

श्रीराधाके अन्तर-बाहर दोनों ही क्षेत्रोंमें निज प्रियतमका नित्य निवास रहता है। प्रियाके हृदयमें प्रियतम नित्य ही लीला-विहार करते रहते हैं, साथ ही उनके नेत्रोंके सामने उनकी बाह्य लीला भी चलती रहती है। तथापि प्रेमकी अति विचित्र भाव-स्थितियोंका भी रसास्वादन उन्हें होता रहे, इसीलिये प्रियामें कठोरतम मानकी स्फूर्ति होती है।

श्रीराधा-माधवकी यह पवित्रतम, मधुरतम, उज्ज्वलतम प्रेमानन्द-सुधामयी लीला विविध विचित्र स्वरूपोमे नित्य निरन्तर चलती रहती है। मानके बारह भेद तो पू.गुरुदेव ही बताया करते थे। वैसे, मानके अनन्त स्वरूप एवं अनन्त स्तर हैं।

प्रिया इस मान-महलमें अपने युगल नेत्रोमें प्रेमजन्य अतिशय कठोरताका ही अञ्जन लगाती हैं, वैमुख्य भावके पर्यंकपर वे विराजित रहती हैं, कठोरता, तिरस्कार, अपमान, रूक्षवचन, तामसिक भाव इनके अङ्गोके आभूषण होते हैं, दूती द्वारा अपना गुणगान एवं प्रियतमकी निन्दाको सुनना ही इनके कर्णभूषण होते है। कटुरसका ये उस समय निज प्रियतमको पान कराती हैं। अपने प्रियतमकी कलह-कामनाकी पूर्त्ति ही इनका उद्देश्य रहता है।

प्रियाकी कठोरताका चित्रण करते हुए अष्टछापके रसिक भक्त कवि श्रीगोविन्दप्रभु मानलीलाका प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए कहते हैं –

**मानगढ क्यों हू न टूटत अबलाके बलको प्रताप।**
**आपन ढोवा चढि गिरिधर पिय अबलौं तू**
**किला चाँप मुक्त कटाक्ष घूँघट दरवाजो नहिं खूटत।।**
**विविध प्रणत हाथनाल गोला बोलें जू**
**उछट परत काम-कोट नहीं फूटत।**
**गोविन्द प्रभु साम-दाम-भेद-दण्डकर घेरा पर्यौ**
**चहुँदिस संचित रुखाई जल क्यों हू नहिं खूटत।।**

'हे श्रीकृष्ण ! यह अबला नारीका प्रताप है कि उसका मानरूपी किला (गढ) किसी प्रकार भी ध्वस्त नहीं हो पा रहा है। अब तो तुम स्वयं ही इस पार्श्वके ढोवा (टीले) पर चढकर किलेको लाँघ सको तो लाँघो। तुम्हारे दूरसे फैंकेगये मुक्तकटाक्षोंसे तो प्रियाके मुखपर लगा घूँघट द्वार खुल ही नहीं पा रहा है। तुम जो विविध प्रकार विनयकी मुद्राओंसे प्रणाम कर रहे हो, एव हाथ जोडे खडे हो – ये सभी तरह-तरहके तोप-गोलोंके प्रहार इस मजबूत कठोर किलेकी दीवारोसे छिटककर उछट पडते हैं। प्रियाका काम-कोट भङ्ग नहीं हो पा रहा है। श्रीगोविन्द प्रभु कहते हैं कि साम-दाम-दण्ड-भेद आदि अनेक प्रकारकी सेनाओंके घेरा डालनेपर भी प्रियाने अपने किलेके चारों ओर जो खाईके रूपमें रूक्षता, रूखेपनका जल सञ्चित कर रखा है, वह समाप्त ही नहीं हो रहा है। इससे सेनाएँ किलेतक पहुँच ही नहीं पा रही हैं।'

इसी प्रकार रसिकप्रीतम (गो. श्रीहरिरायजी) दूतीके रूपमें हारकर श्रीकृष्णसे कहते हैं –

**हरि हौं तो हारी बिहारी लाल तिहारी प्यारीके पॉयन पर - पर।**
**रही सिर धर चरणन बडी बार भई, लीजिये मनाय रूठी मानै नाहिं क्यों हू कर।।**
**जैसें जैसें रात जात तैसें तैसें सतरात मोसों नाहिं बतरात,मानी है मैं यासों हार।**
**सुनत ही बचन रसिक प्रीतम दूतीके आप उठ चले देखत वदन जात इत हीं ढर।।**

'हे हरि ! मैं तो तेरी प्यारीके चरणोंमें गिर-गिरकर हार गयी। मैं उसके चरणोपर अपने सिरको रखकर उसे बहुत देरतक मनाती रही, अब तो आप ही उसे मनाइये। वह किसी भी प्रकार मान नहीं रही है। जैसे-जैसे रात्रि व्यतीत होती जाती है, वह और अधिक इतराती है, मुझसे तो बात ही नहीं करती, मैने तो उससे पूरी तरह हार मान ली है। श्रीरसिकप्रीतम कहते हैं – दूतीके इन वचनोंको सुनते ही श्रीकृष्ण स्वयं ही उठकर प्रियाकी ओर चल पडे। संभव है, श्रीकृष्णका मुख देखकर प्रिया उनकी ओर उन्मुख हो जाय।''

मानका सम्मान करनेके लिये स्वयं प्रियतम नीलसुन्दरको अपनी प्रेमाश्रु-सुधा-धारासे अपनी प्रियाके पाद-पद्मोंको पखारना पडता है। वे प्रेम-गद्गद कण्ठसे कहते हैं –

**'राधे ! मुञ्चमयिमानमनिदानम्।**
**स्मर गरल खण्डनं, मम शिरसि मण्डनं, धेहि पद-पल्लवमुदारम्।।'**

अदम्य वेगवती भागीरथीका तीव्र प्रवाह कहीं तनिक-सी बाधा पाकर जैसे उद्दीप्त गर्वसे उच्छलित हो उठता है और अन्तमें दोनों तटोको बहाकर सुनील सागरमें सम्मिलित हो जाता है, श्रीराधाका प्रेम भी मानसे उद्वेल्लित होकर कलहान्तरके पश्चात् अन्तमें मधुरतम श्यामसिन्धुमें मिलकर आत्मसमर्पण कर देता है। कितना मधुर एवं सुन्दर है यह मान-मञ्जिल !

## *प्रणय-मञ्जिल*

मानमें प्रियतमके प्रति अनन्य ममताजनित अधिकार-भावना उत्पन्न होती है। वह जब प्रगाढ एवं सुदृढ़ हो जाती है तो प्रिया 'प्रणय' नामक चौथी प्रेम-मञ्जिलमे पहुँचती हैं। यह चौथी प्रेम-मञ्जिल प्रणय-मञ्जिल है। इस प्रणय-मञ्जिलमें प्रियाके अङ्गोंमें सुदीप्त सात्विक भाव – हर्षादि सञ्चारी भावोंकी सजावट होती है। प्रिया अपने विशाल ललित ललाटमें **'नित्य अचलसुहाग'**का टीका लगाती है, प्रेम-वैचित्त्यके रत्नोंसे जडे आभूषण धारण करती हैं, गर्वके पर्यंकपर वे विराजित रहती हैं।

ध्यान रहे वृन्दावनधामका यह प्रेमभवन चिन्मय रस-महल है। इस प्रणय-मञ्जिलमे हेमकान्तमणि श्रीराधा और नीलकान्तमणि प्रियतम श्रीकृष्णमे मानो प्रेमदानकी होड लगी रहती है। रूपमे, सौन्दर्यमे, लीलामें, प्रेममें और आनन्दमें वे सर्वत्र, सर्वदा एवं सर्वथा एक-दूसरेपर न्यौछावर होते रहते हैं।

प्रणयभावमे उन्मत्त राधिका इस प्रेम-मञ्जिलमे परमानन्द-प्रेम-सिन्धुमे लहराती रहती है।

**राधिका आज आनन्दमें डोलै।**
**साँवरे चन्द गोविन्दके रँग भरी,**
**दूसरी कोकिला मधुर स्वर बोलै।।**
**पहरि तन नील पट**
**कनक-हारावली[1]**
**हीर-हारावली[2]**
**पुष्प-हारावली[3]**
**मुक्त हारावली[4]**
**रत्न-हारावली[5]**
**हाथ लै आरसी रूप कौं तोलै।**
**कहत श्रीभट्ट ब्रजनारि नागरि बनी**
**कृष्णके सीलकी ग्रन्थिका खोलै।।**

इस प्रणय–मञ्जिलमे श्रीराधारानी श्रीकृष्ण-विषयक अनुरागसे पूर्ण छलकती होनेके कारण श्रीकृष्णवल्लभा हैं। वे श्रीकृष्णप्रेमकी जीती-जागती पुतली, कृष्ण-माधुर्यमयी, श्रीकृष्णके प्राणोंकी सञ्जीवनी बूटी है। वे श्रीकृष्णप्रेमके नशेमें मतवाली हुई घूमती हैं और विलासमे उनको उन्मत्त बना देने वाली हैं।

इस प्रणय-मञ्जिलमें श्रीराधाकी कैसी विलक्षण शोभा है ! उनकी माँग मोतियोंसे दमकती रहती है, अलकावली ढुरढुरकर मुखमण्डलको रह-रहकर संस्पर्श करती है। वे रूप एवं प्रेम-गुणोंकी निधान हैं। उनकी लहरदार वेणी नागिनको भी लज्जित करती है। उनके अंगोंमें मेघमालाके सदृश श्याम वस्त्र सुशोभित हैं। नेत्रोंमे बाणकी नोकके समान काजलकी पतली रेखा है। मस्तकपर लगा तिलक मानो सौभाग्यकी अचल रेखा-सा है। बिम्बके सदृश लाल अधरोंमें

दन्तपक्ति अनारके दानोंकी भाँति शोभा दे रही है। उनके चिबुकपर एक मसिबिन्दु है। सुन्दर हाथोमें वलय, कङ्कण, चूडियॉ, अंगुलियोमें अँगूठियाँ विजडित हैं। नाकमे रतिकलाओंकी निधिस्वरूपा बेसर लटक रही है। कानोंमे कर्णफूल और कमरमे रुनझुन करती करधनी है। वे वक्षस्थलपर श्रीकृष्णानुरागमयी लाल कञ्चुकी धारण किये हैं। उसमें श्रीकृष्ण-प्रीतिमयी मुक्तालडियाँ जडित है। नूपुरकी ध्वनि अतिमन्द है। चरणनख चन्द्रमाकी भाँति चमक रहे हैं। उनके अगोंसे अत्यधिक सौरभ निस्सृत हो रही है। उनके रूपदर्शनसे उनके प्रियतमका हृदय स्नेह तरगोंसे अभिभूत हो रहा है। वे मन्द-मन्दस्वरमे गुनगुनाती हैं। उनके इस रागमय गायनपर श्रीकृष्ण पूर्णतया वशीकृत हो रहे हैं। उनके प्रियतम इस प्रणय-प्रासादमें सदैव उनको गलबाँही दिये रहते हैं। जहाँ-जहाँ किशोरीकी दृष्टि पडती है, सर्वथा आधीन हुए-से श्रीकृष्ण उधर ही देखते हैं। वे उनके साथ-साथ लगे हुए ही घूमते है। रसिक कवि वल्लभ (गो श्रीहरिरायजी) इस प्रणय-मञ्जिलमे विराजित प्रिया-प्रियतमकी छवि निहारते हुए गाते हैं –

**बैठे हरि राधा-संग कुञ्ज भवन अपने रंग,**
**कर मुरली अधर धरें सारँग मुख गाई।**
**मोहन अति ही सुजान, परम चतुर गुन-निधान,**
**जान बूझि एक तान चूकि कैं बजाई।।**
**प्यारी तब गह्यौ बीन सकल कला गुन प्रवीन,**
**अति नवीन रूप सहित वही तान सुनाई।**
**वल्लभ गिरिधरन लाल रीझि देत अंकमाल,**
**कहत भलैं-भलैं जु लाल सुन्दर सुखदाई।।**

श्रीराधामाधवकी मधुर लीला अनन्त है। जिन भाग्यवानोके मानस नेत्रोंमें इसका उदय होता है, वे ही इसके आनन्दका अनुभव करते हैं। वैसे अनिर्वचनीयका निर्वचन तो असभव ही है। **'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'।** यह निर्मल प्रेम-सम्बन्ध विशुद्ध आनन्दरूप है। यह कबसे है, कुछ पता नहीं, परन्तु यह नित्य निरन्तर जा रहा है अनन्तकी ओर। यह रस न कभी बासी होता है, न इसका स्वाद ही बिगडता है। यह नये-नये रस-सुखकी सृष्टि करता रहता है।

श्रीराधाका जीवन केवल श्रीकृष्ण-सुखमय है। वियोगव्यथामें उनका आर्त्त क्रन्दन भी प्रियतम-सुखके लिये है। **वस्तुतः प्रणयका अर्थ है – प्रियतमपर अपना ममत्वजन्य प्रगाढ़ अधिकार एवं साथ-ही-साथ प्रियतमका भी अपनेपर सम्पूर्ण अधिकार।** प्रणयभावमें जो प्रियतम पूर्ण निरावरण सभोग प्रदान करनेका अधिकार रखता है, वह दूर, विलग होनेका भी अधिकार रखता है। अत श्रीराधाको सयोगमे परमानन्दरसकी जितनी अनुभूति होती है, वियोगमे भी वे उससे भी अधिक रसमत्ततामें डूबी रहती हैं।

प्रणय-मञ्जिलमें सयोग एव वियोग दोनोका ही विलक्षण सङ्गम होता है। सयोगमे तो समय-स्थान आदिकी निर्बाध स्थिति नहीं रहती, बहुतसे प्रतिबन्धक रहते हैं, केवल एक ही स्थानपर परस्पर मिलन-सुख मिलता है, किन्तु वियोगमे समय-स्थानकी कोई बाधा नहीं, सर्वत्र निर्बाध स्थिति है। प्रियाको अपने प्रियतम-वियोगके दिव्योन्मादमें उनसे सर्वत्र मिलनका अनुभव तथा उनके सर्वत्र दर्शन होते हैं। श्रीराधा अपनी सखी ललितासे कहती हैं –

**सङ्गम-विरह विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य।**
**एकः स एव संगे त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।।**

"अरी सखि ! यदि प्रियतमसे मिलन एव विरहके बीच मुझे कोई विकल्प चुनना हो तो मैं प्रियतमका विरह ही चाहूँगी, क्योंकि मिलनमें तो वे केवल एक ही स्थानमें मुझे दिखते है, किन्तु विरहमें तो वे तीनों लोकोंको आत्मसात् कर लेते हैं। "

अब प्रणय-मञ्जिलकी विरह-लीलाका आस्वादन करें – श्रीराधा रसिकेन्द्रशिरोमणि प्रियतम श्रीकृष्णके साथ निकुञ्जमें प्रणयलीलारत हैं। नाना प्रकारका दिव्य रसालाप वे परस्पर कर रहे हैं। प्रिया अपने प्रियके बाहुपाशमें बँधी प्रियतमको विशेष सुखानुभव होता जानकर अतिशय आह्लाद सुधा-सरितामे बही जा रही है। उनमे परम अनिर्वचनीय रसमत्तताका आविर्भाव हो रहा है। सहसा प्रियतममे सङ्कल्प जागता है कि सयोगजन्य रसमत्ततामे तो प्रिया इस समय हैं ही, क्या विरहजन्य संतापमें भी उन्हें यह रसमत्तता बनी रहेगी ?

सत्यसङ्कल्प प्रियतममें ऐसी इच्छा जगते ही प्रियाके प्रणयसिन्धुमें अकस्मात् आत्यन्तिक बाढ आ जाती है। प्रगाढ़ प्रणय ही इस प्रेमोत्कर्षका कारण होता है। इस अवस्थामें प्रियामें एक ऐसी विलक्षण तृष्णाका उदय होता है, जिससे सम्मुख आलिङ्गनबद्ध प्रियतम जैसे हैं ही नहीं – इस प्रकार उन्हें अनुभव होने लगता है। नेत्रोके बाहर जो प्रियतमकी छवि है वह इस प्रकार प्रतीत होने लगती है, मानो यह तो हृदयका स्मृतिजन्य ध्यानमात्र है।

**प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।**
**या विश्लेषधियाऽऽर्तिस्तत् . प्रेमवैचित्त्यमुच्यते।।**(उज्ज्वलनीलमणि)

प्रियतमके पास रहनेपर भी प्रेमके तीव्र उत्कर्षके कारण जहाँ उनके विरहकी स्फूर्ति होती है और उससे भाँति-भाँतिके विरह-विकारोंका विकास होता है, उसे प्रेमवैचित्त्य कहते हैं।

बस, परमानुरागमयी श्रीराधा विषम विरहतापसे विकल हो जाती हैं और अत्यन्त उद्घूर्णित होकर दाँतोमें तृण दबाकर कहने लगती हैं – 'सखि ! मेरे प्रियतम प्राणवल्लभ कहाँ हैं ?-उनके तत्क्षण दर्शन कराओ।' श्रीराधाकी इस प्रेम-वैचित्यजन्य विह्वलताको देखकर प्रियतम विस्मित हो जाते हैं।

प्रियाके शरीरमें प्रेम-वैचित्त्यके कारण विविध प्रकारके विरह विकार उत्पन्न हो जाते हैं। स्वजनप्रेमरसास्वादनपरायण प्रियतम प्रियाकी विचित्र विरह-भंगिमाएँ, प्रेमविकार – वैचित्यको देख-देखकर मुग्ध होने लगते हैं। प्रेम-वैचित्त्योन्मादिनी प्रबल विरह-संतप्ता प्रिया – 'हे नाथ ! हे रमण !! हे मेरे जीवनके आधार !!! तुम कहाँ चले गये , तुम कहाँ जा छिपे ?' – इस प्रकार अतिशय करुण स्वरमे चीत्कार करने लगती हैं। कभी प्रिया अपने प्रियतम नीलमणिकी गोदमें ढुलक पडती है, कभी उन्मादभरी उनसे वार्त्तालाप करने लगती हैं। राधा-प्राणप्रियतम नीलसुन्दर अपनी प्रियाकी विचित्र प्रेमावेश-भंगिमाको देख-देखकर पुलकित हो उठते हैं। अब उनसे नहीं रहा जाता। वे उसे प्रबुद्ध करनेको उद्यत हो उठते हैं। वे चेष्टापूर्वक किसी प्रकार अपनी प्रियतमाका प्रेमवैचित्त्य भङ्ग करते हैं। इस प्रकार प्रणय-भवनमें प्रिया-प्रियतम अनेक प्रकारकी भावमयी मिलन-विरहलीलायें करते रहते हैं।

### *राग-मञ्जिल*

प्रणय भावके परमोत्कर्षपर राग-मंझिल खडी होती है। राग भावमें आरूढ प्रियाको प्रियतम नीलसुन्दरके लिये प्राप्त होनेवाले महान् दुःख भी सुखरूप भासते हैं।

श्रीकृष्ण गिरिराज गोवर्धनपर एक निकुञ्जमें विराज रहे हैं। प्रिया श्रीराधाके पास घनी दुपहरीमें उनसे मिलनका सङ्केत आता है। उन दिनों ज्येष्ठ मास होता है एवं निदाघ अपने पूरे जोरसे पृथ्वीको तप्त कर रहा होता है। प्रिया श्रीराधा नंगे पैरों मध्याह्नमें रविपूजनका बहाना लेकर चल पडती हैं। सभी सरोवर सूख चुके हैं, हरियालीका नामोनिशान नहीं है, भूमि सूखे तृणोसे पैरोंको विद्ध कर रही है, किन्तु किसी भी विघ्न-बाधाकी परवाह न करते हुए प्रियाको प्रियतम-मिलन आकाक्षित है – इसलिये कि मिलनेसे प्रियतमको सुख होता है। वे अपने सुखके लिये उनसे नहीं मिलतीं। प्रियाका तन न तो अपना तन है, न ही उनका मन ही अपना मन है।

सिद्ध रसिक सन्त श्रीपोद्दार महाराज कहते हैं –

**निज तन-मन जिनके नहीं, प्रिय-तन-मनकौं धार।**
**प्रियतममय राधा-सरिख सती नाहिं संसार।।**

इसीलिये अनुसूयादि पतिव्रता-शिरोमणियाँ भी राधा-भाव चाहती है। श्रीकृष्ण सबका पार पा जाते हैं, उनका पार कोई नहीं पाता। किन्तु अपनी प्रियाके रागका वे भी पार नहीं पा सकते।

प्रेम-महलकी इस रागरूपी मञ्जिलमें राधा प्रियतमके लिये ही जीवित रहती हैं । वे नखसे शिखातक श्रीकृष्णके लिये ही हैं। श्रीकृष्ण जिस रूपमे उनको देखना चाहे, वे वैसी ही सज जाती हैं। रागमञ्जिलमें उनका खाना-पीना, ओढना-पहनना सब प्रियतमके लिये ही होता है। वे श्वास भी अपने प्रियतमके लिये लेती है। प्रियतम यदि चाहें कि राधा मुझे गाली दें, मेरा अपमान करें, तो वे उनकी तुष्टिके लिये वैसा करनेसे भी नहीं हिचकतीं। क्षोभवश किसीको गाली देना तो कामजनित क्रोधका कार्य है। किन्तु प्रियतमको अधिक प्रेमरसका आस्वादन इससे होता हो तो राधाको उन्हे गाली देनेमें भी सर्वथा निषेध नहीं है। प्रियतमकी चाह पूरी करनेके लिये यदि उनकी अवज्ञा करनी पडे तो यह भी उन्हें स्वीकार है। यह भाव – राग कहलाता है।

**'रञ्जयतीति रागः'** श्रीकृष्णको सुखदानके लिये, उनके रञ्जनके लिये, अपने सर्वस्वको तुच्छातितुच्छ मानकर न्यौछावर कर देना ही 'राग' है। राग-मञ्जिलमें राधाका मधुर प्रेम एक-से-एक विघ्नों – अन्तरायोके आनेपर भी अभेद्य, अखण्ड, अक्षुण्ण और अविचलित रहता है। इस रागमञ्जिलमें राधाका अपूर्व शृङ्गार होता है। स्व-सुख-इच्छासे रहित अपने प्रियतमकी अनन्य ममताके ही वे अलङ्कार धारण करती है। प्रियतम-मिलनकी आशामे अनन्त दुःखोंको सुख-स्वरूप मानना ही इनके नेत्रोमे अञ्जन लगा रहता है। प्रियतम-अमिलनमे सकल सुखोका महाघोर दुःखमय प्रतीत होना ही इनके अङ्गोमे कस्तूरी-चन्दन-पङ्कका लेप है। प्रेमसिन्धुमे उठते इस रागभावके कारण ही श्रीराधा प्रियतम श्रीकृष्णको सदैव अपने वशमें रखती हैं।

## *अनुराग-मञ्जिल*

रागमहलके ऊपर अनुराग भावकी मञ्जिल है। अनुराग-भावमे प्रिया राधा नित्य-निरन्तर नये-नये रूपमें परिणत होते अपने प्रियतमके सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन करती हैं।

'एक दिनकी बात है, अखिल विश्वको मोहित करनेवाले मोहन प्रियतम प्रियाके पार्श्वमे ही विराजित होते हैं। वृन्दासखीके कुञ्जमें वृन्दा इन युगल दम्पतिकी सेवा कर रही होती है। अचानक श्रीराधाका प्रेम भावकी उन्मत्त लहरोंमें उमडने लगता है। वे भावाविष्ट हुई वृन्दासे पूछती हैं – 'वृन्दे ! बहिन, यह तो बता ! मेरे पास कौन पुरुष बैठा है ?' वृन्दा कहती है – 'सखि ! इन्हें पहचानती नहीं ? ये हम सभीके प्रियतम श्रीकृष्ण हैं।' श्रीराधारानी आश्चर्यचकित होकर बोल उठती हैं – 'श्रीकृष्ण' ? इनको तो अनेकों बार अपने उरका हार बना चुकी हूँ। वे तो निश्चय ही मेरे नेत्रोंमें अञ्जनवत् नित्य समाये रहते हैं। परन्तु ये, जैसा मैं आज देख रही हूँ, इतने सुन्दर तो कभी नहीं थे ? जैसा अपूर्व माधुर्य इस समय इनमें व्यक्त हो रहा है, वैसा माधुर्य तो अबतक उनमे मुझे कभी देखनेमे नहीं आया ! ओह ! इस समय तो मेरे प्रियतमके एक-एक अङ्गके एक-एक रोमसे शोभाकी ऐसी श्री बह रही है, कि उस सुधाकी एक बूँदके भी आस्वादन करनेकी शक्ति मेरे नेत्रोंमें नहीं है।'

**प्रतीकेऽप्येकस्य स्फुरति मुहुरङ्गस्य सखि या।**
**श्रियस्तस्याः पातुं लवमपि समर्था न दृगियम्।।**

अनुराग भावकी एक और झाँकी करें – एक बार ललिताकुञ्जमें प्रिया श्रीराधा ललिताके साथ बैठी होती हैं। सहसा एक पक्षी श्रीकृष्णकी प्रेम-पाती ललिताको देता है। ललिता उसे प्रियाको सुनाने लगती है। इसी मध्य प्रियाको भावावेश हो उठता है। वे अनुराग-मञ्जिलमे पहुँच जाती हैं। वे ललितासे पूछने लगती हैं – 'बहिन, बोल तो, यह श्रीकृष्ण किसका नाम है ? इस 'कृष्ण' नामने तो मेरे कानोंमें प्रवेश करते ही मेरे चित्तके सम्पूर्ण धैर्यका ही अपहरण कर लिया है। सखि, मुझे भ्रममें मत रख। बोल, यह किसका नाम है ?'

कृष्ण नाम जब तैं श्रवणन सुन्यौ री आली!
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।
भरि-भरि आवैं नैन, चित हू न परै चैन,
मुख हू न निकसै बैन,
तनकी दसा कछू औरै भई री।।
जेतेक नेम-धरम कीने री मैं बहु विधि,
अंग-अंग भई हौं तौ श्रवण मई री।
नन्ददास जाके श्रवण सुनत यह गति भई
माधुरी मूरत कैधौं कैसी दई री।।

ललिता श्रीराधाका भावावेश देखकर चकित हो उठती हैं। वे कहती हैं – 'अरी रागान्धे ! तुम कैसी अज्ञताकी बात कर रही हो ? तुम तो नित्य-निरन्तर ही इन श्रीकृष्णके हृदयपर विहार करती रही हो।' प्रिया श्रीराधा कहती हैं – 'सखि ! परिहास मत करो । ठीक बताओ, यह किसका नाम है – जिसने मेरे सम्पूर्ण नियम-धर्मका ह्रास कर दिया और मुझे रोम-रोमसे इस नामका श्रवणासक्त बना दिया । अरी, मेरे नयन बार-बार छलछला उठते हैं और चित्तमे चैन नहीं है। यह किस पुरुषका नाम है जिसके नाम-श्रवणमात्रसे मेरी यह दशा हुई ? जो कहीं वह मेरी दृष्टिमें पड गया तो मेरी न जाने क्या गति करेगा?'

तब ललिता कहती है – 'अरी पगली ! अभी-अभी तो मैंने तुम्हे उनके हाथोमें समर्पित किया था?'

श्रीराधा इसपर बहुत देरतक विचार करती रहती हैं। बहुत सोचनेके पश्चात् वे कहने लगतीं हैं – 'हाँ ! सखि! सत्य है। इन कृष्णको बस, अभी मैंने आज ही देखा है, सो भी जन्मभरमें एक बार बिजली कौंधनेकी भाँति ! – **'सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः'।**

एक दिवस निकुञ्जमें श्रीराधारानीकी अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ प्रेमचर्चा हो रही थी तब उन्होने कुछ ऐसी बातें कहीं, जिन्हें सुनते-सुनते श्यामसुन्दर गद्गद हो गये।

श्रीराधा अपने प्रियतमसे कहती हैं –

'प्रियतम श्यामसुन्दर ! तुम मेरे हो, मैं नित्य तुम्हारी हूँ। कभी-कभी तो प्रियतम ! तुम्हारे प्रति मेरा यह ममत्वभाव इतना प्रगाढ हो उठता है कि उस समय मुझे यही अनुभव होने लगता है कि 'तुम' 'मैं' ही हो, और मैं पूरी तुम ही हो गयी हूँ। हम दोनों सदैव साथ रहते हैं, फिर भी विधाताने न जाने क्यों हमारी दो देहोमे रचना की है ? मुझमें एवं तुममें यह खेल न जाने कबसे हो रहा है – इसका भी कुछ अनुसंधान नहीं होता। तुमसे जब वियोग होता है तब तीव्रतम मिलनाकाक्षाका उदय हो जाता है, फिर एक-एक पलका अमिलन असह्य हो उठता है, हृदयमें ज्वाला धधक उठती है। उस समय प्रियतम ! मैं रसकी बाढग्रस्त सरितावत् उन्मादिनी बनी विह्वल-विकल तुम्हारी ओर उमड उठती हूँ। उधर तुम भी सब सीमाओंको तोडकर मेरी ओर उमड चलते हो। यद्यपि यह हमारा संयोग-वियोग कुछ भी यथार्थ नहीं है, मात्र लीलारस भर है, फिर भी मैं एव तुम – दोनो स्वयं ही संयोग-वियोग बनकर नये-नये खेल रचते हैं। यह हमारा कैसा चिन्मय रसस्वरूप है कि हमारा विशुद्ध प्रेम ही आश्रयालंबन एवं विषयालम्बन बनकर रमणी-रमणवत् व्यवहार करने लगता है। मुझमें रमणीके सभी लक्षण-अवयव प्रकट हो जाते हैं और तुममें रमणके, एवं हमारा लीला-विलास होता रहता है।'

एक दिवस प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दनको देखकर प्रिया चमत्कृत हो जाती हैं और विशाखासे कहती हैं – 'अरी सखि! मेरे प्रियतम कितने सुन्दर हैं, तुम्हें पता है ? देख री, जो मेरी सदृश अनन्त ललनाओंके चित्तरूप पर्वतको पूर्णरूपसे प्लावित कर.दे, ऐसी सौन्दर्य-सुधा-सिन्धुकी तरङ्गोंसे तो उनके अङ्ग-अवयव बने हैं, जो आनन्दकी उत्तरोत्तर अभिवृद्ध लहरोंसे कर्ण-कुहरोको संप्लावित करते रहे, ऐसी उनकी परिहासपूर्ण वचन-माधुरी है; कोटि शरदिन्दुके समान समुज्ज्वल उनका आनन है। उनके अङ्गोंसे असख्य पद्मवनोंकी गन्ध उद्भव होती रहती है, अनन्त पद्मदलोंकी सुकोमलता उनके अङ्गोके सम्मुख तुच्छ है, असंख्य चन्दनवृक्षोकी सुशीतलता उनसे झरती रहती है। उनका अधरामृत दिव्य पीयूष है। अरी ! उनके अधरोके सौरभसे मेरा रोम-रोम संप्लावित है। सखि ! वे नव-नवायमान सौन्दर्यके उद्भव मेरे प्रियतम ब्रजेन्द्रनन्दन मेरी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके एकमात्र परमाकर्षक आश्रयस्थल हैं।'

**सौन्दर्यामृतसिन्धुभङ्गललनाचित्ताद्रिसंप्लावकः**
**कर्णानन्दिसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गकः।**
**सौरभ्यामृतसम्प्लवावृतजगत्पीयूष रम्याधरः**
**श्रीगोपेन्द्रसुतः स,कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे।।।।** गोविन्दलीलामृत।।

जैसे प्रिया श्रीराधारानीको इस प्रियतम-प्रेमकी अनुराग-मञ्जिलमें प्रियतम नित नव-नव सुन्दर दिखते हैं, वैसे ही प्रियतमको भी प्रिया इस अनुराग-मञ्जिलमें नित्य नूतन सुन्दरी अनुभव होती है। रसिक सिद्ध सन्त श्रीपोद्दार महाराज (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) की वाणीमें इसका रसपान करें –

**कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्पहर हैं माधव सौन्दर्यनिधान।**
**तुम्हें देखते ही बढ़ आयी इनमें सुन्दरता सुमहान।।**
**माधव हैं सौन्दर्य अतुल, माधुर्य-रस-सुधा-पारावार।**
**शशि-ज्योत्स्नासे सागरकी ज्यों उठतीं आनन्दोर्मि अपार।।**
**देखो कैसे विह्वल हो, तव नित नव नूतन रूप पवित्र।**
**आनन कमल निरीक्षण-सुखमें खड़े विभोर लिखे-से चित्र।।**

एक बार एक रूपगर्विता गोपी श्रीराधाके पास आकर उसे समझाने लगी – 'तुम सभी ब्रजकी वनिताएँ अपने कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, शील एवं ज्ञानको भी जिसके मोहमें तिलाञ्जलि दे चुकी हो, जानती हो वह मात्र लम्पट है, तुमसे रञ्चक मात्र भी प्रेम नहीं करता ? वह अनेक-रमणी-चरित्र-हन्ता क्या किसीसे भी.प्रेम कर सकता है ? तुमने ब्रजेशके उस काले-कलूटे पुत्रको न जाने कैसे सुन्दर मान लिया है ? यह तुम्हारी मात्र कामान्धता है। लोक-कुल-वेदकी सब मर्यादाएँ त्यागकर इस प्रकार उन्मादिनी हो जाना तुम्हारे जैसी कुल-शील-पवित्र रमणियोंको कदापि शोभा नहीं देता!' श्रीराधाने उस रूप-शील-गर्विताको इतना ही कहा –

**असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा, गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।**
**द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा, श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्।।**

" अरी मेरी हितू ! विशुद्ध प्रेम रूप-गुणकी तथा बदलेमें सुख प्राप्त करनेकी अपेक्षा नहीं करता। वह बिना किसी हेतुके ही होता है, और प्रतिक्षण सहज ही बढ़ता रहता है।"

" हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर होंगे, गुणहीन होंगे, मेरे प्रति द्वेष रखते होगे -- यह सब तेरी दृष्टि है; मेरी दृष्टिमें तो वे सुन्दर-शिरोमणि, गुणियोंमें सर्वश्रेष्ठ, करुणावरुणालय, मेरी एकमात्र गति हैं।"
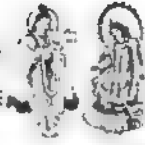
रसिक सिद्ध सन्त श्रीपोद्दार महाप्रभु इसी भावको अपने सुन्दर पदमें व्यक्त करते हैं –

**सखि री ! यह अनुभवकी बात।**
**प्रतिपल दीखत नित नव सुन्दर नित नव मधुर लखात।।**
**छिन-छिन बढ़त रूप-गुन-माधुरि, छिन-छिन नूतन रंग।**
**छिन-छिन नित नव आनँद-धारा, छिन-छिन नई उमंग।।**
**नित नव अलकनिकी छवि निरखत अलिकुल नित नव लाजै।**
**नित नव सुकुमारता मनोहर अङ्ग-अङ्ग प्रति राजै।।**
**नित नव अङ्ग सुगन्ध मधुर अति मनहिं मत्त करि डारत।**
**नित नव दृष्टि सुधामयि जगके ताप अशेष निवारत।।**
**नित नव अरुनाई अधरनकी, नित नूतन मुसक्यान।**
**नित नूतन रस-सुधा-प्रवाहिनि मधु मुरलीकी तान।।**
**नित नूतन तारुन्य ललित लावण्य नित्य नव विकसै।**
**नित नव आभा बरन-बरनकी पियके तनु तैं निकसै।।**
**कछु वै होत न बासी कबहूँ, नित नूतन रस बरसत।**
**देखत-देखत जनम सिरान्यौ तऊ नैन नित तरसत।।**
**वे ही आत्माके प्रिय आत्मा मम प्राननिके प्रान।**
**मेरे परम प्रानवल्लभ वे, प्रानाराम सुजान।।**
**तेरे अनुभवकी तू जानै तेरी बुद्धि विसाल।**
**मैं तो अपने मन नित निरखौं नित नूतन नँदलाल ।।**
**एक बेर तू नैकु निरख लै वा जादूकी झाँकी ।**
**फिरि तो तू नहिं मानैगी बिन देखे वा छबि बाँकी।।**

## भाव-मञ्जिल

श्रीराधा परमानुरागमयी हैं। प्रियतमानुरागमें वे अपनेको सदैव भूली रहती हैं। वे अपने तन, मन, वचन, प्राण, आत्मा – सभीसे मुरलीमनोहर ब्रजेन्द्रनन्दन एकमात्र परम प्रियतम नव-नीरद-नील-द्विभुज श्यामसुन्दरका ही नित्य सेवन करती हैं। उन्हींमें उनका पूर्णानुराग जब और प्रगाढ होकर अति उद्दाम उत्कृष्ट तरङ्गें लेता है तो वह भाव-समुद्रमें पर्यवसित हो उठता है। श्रीराधाकी प्रियतम-निष्ठ भाव-प्रक्रियाको– इस भावकी पद्धतिको समझना ही दुरूह है। फिर, उसका प्रतिपादन करना तो अति दुरूह कार्य है।

इतना ही कहा जा सकता है कि प्राकृत हो, चाहे अप्राकृत, जब लोक-परलोककी कामना-वासनारूप रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित, विशुद्ध सत्वरूप चित्तकी प्रेमसूर्यके प्रकाशके समान जो परमोज्ज्वल वृत्ति है, जिसका प्रकाश स्निग्ध कर देता है, उसीका नाम भाव है।

श्रीकृष्ण-रति ही स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुरागरूप मञ्जिलोको पार करती हुई भाव-मञ्जिलपर पहुँचती है। भाव प्रियतमका स्मरण करानेवाली किसी भी वस्तुको देखकर उद्दीपित हो उठता है। भावोद्दीपनके समय नाचना, गाना, भूमिपर लोटना, अङ्ग मोडना, हुङ्कार करना, अट्टहास करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोडना आदि अनुभाव प्रकट होते हैं।

यहाँ ध्यान रहे कि 'भाव' जिसका वैष्णव शास्त्रोमें उच्चातिउच्च प्रेमके रूपमें वर्णन है, शरीरगत आवेग कदापि नहीं है। नाचना, गाना आदि जैसा पूर्व वर्णित है शरीरगत आवेगवश भी होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने नित्य वर्तमान रहनेवालेके रूपमें 'भाव'का अर्थ 'सत्' किया है। **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'**। किन्तु वैष्णवोंके भावका यह भी अर्थ नहीं है। इस वैष्णवोक्त भावका अर्थ है – 'भगवान् सच्चिदानन्दघन आनन्दस्वरूपकी अन्तरङ्गा आह्लादशक्तिका सारभाव जो 'प्रेम' है , उसका अतिशय विशुद्ध उच्छलित स्वरूप।

यह भावोदय प्राकृत जगत्‌के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण – तीनों देहोंमें संभव ही नहीं है। चिन्मय देह एवं भावदेह अप्राकृत जगत्‌में ही संभव हैं। भगवान् एवं उनकी ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाके नित्य विग्रह चिन्मय हैं। ये वस्तुतः देह हैं ही नहीं, ये भगवत्स्वरूप ही हैं। इन नित्य चिन्मय देहोंमें योगमायाका भी परदा नहीं है। योगमायाको भगवान्‌की जड प्रकृति कदापि नहीं मानना चाहिये। मलिना जडमाया जिससे जगत् आच्छादित है भगवद्देशमें प्रवेश ही नहीं कर सकती। योगमाया भगवान्‌की अन्तरङ्गा शक्ति है। यह भगवान्‌की आह्लादिनीशक्तिका रूपान्तर है।

भगवान्‌के भी दो स्वरूप हैं – एक तो चिन्मय स्वरूप, और दूसरा योगमाया समाच्छादित स्वरूप। जहाँ भगवान् सर्वजनदर्शनीय होते हैं, वहाँ योगमाया समाच्छादित रूपमें ही हो पाते हैं। महाभारतके समय कुरुक्षेत्रमें, मथुरालीलामें, द्वारिकाधीश रहकर एवं गोकुलमें भी जब भगवान् सर्वजनके सम्मुख अभिव्यक्त थे, तो योगमाया समन्वित रूपमें ही थे। जहाँ भगवान्‌की सर्वथा अन्तरङ्ग लीला होती है, जो गोकुल, वृषभानुपुरके सर्व गोपोंसे भी अदृश्य होती है, जहाँ शिव-सनकादिका भी प्रवेश असंभव है, वहाँ योगमायाका भी परदा हटा रहता है। परम अन्तरङ्ग निकुञ्जलीलामें जो प्रेमी जन भगवान्‌के साथ होते हैं – उनके प्रेममें पूर्ण ज्ञान अन्तर्हित होता है। उन प्रेमी जनोंको जो सच्चिन्मयी दिव्य देह प्राप्त होती है, उसमें ही यह वैष्णवोक्त 'भाव' अभिव्यक्त होता है। इसीलिये श्रीराधा एवं उनकी कायव्यूहस्वरूपा गोपियोंकी देहकी संज्ञा भावदेहके रूपमें की जाती है।

भगवान्‌के दिव्य धाममें भगवान्‌के दिव्य परिकरोंको जो प्रेमशक्ति दी गयी है, उस प्रेमशक्तिके परमोच्च उच्छलित विशुद्ध स्वरूपको 'भाव'कहा जाता है। भावदेहकी प्राप्तिके बिना किसीका भी भगवान्‌की अन्तरङ्ग प्रेमलीलामें प्रवेश असंभव है।

प्राकृत जड जगत्‌में और दिव्य अप्राकृत प्रेमलीला-जगत्‌में जमीन-आसमानका अन्तर है। प्रेमलीलाजगत्‌में प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधवकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है। यहाँ एकमेवाद्वितीय परात्पर नित्य तत्व ही अनन्त नाम-रूपोंमें अपना अचिन्त्य प्रकाश करता हुआ नटनागर श्यामसुन्दर एवं गोपियोंके रूपमें प्रेमलीलाविहार करता है। लीलाविहारका यह महान् मधुर अगाध सागर अत्यन्त प्रशान्त होते हुए भी नित्य उछलता रहता है। इसमें ही रति, प्रेम, भाव, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभावकी विविध मनोहारिणी अलौकिक भावतरङ्गें एक-से-एक बढ़कर वेग लिये उठती रहती हैं। यह सब कल्पना नहीं, सत्य है। ये प्राकृत देहजन्य आवेग नहीं होकर वास्तविकता हैं, वस्तुस्थिति हैं।

व्यवहारकी भाषामें 'भाव'का अर्थ भावना ही माना जाता है। भावसे भावित पुरुष-स्त्रीमें होनेवाली मनोवृत्तिको भावुकता, भाव-प्रवणता कहा जाता है। जो विचारशील नहीं है, विवेकहीन, मूढ़ है, कल्पनाराज्यमें विचरण करता है, लोक-व्यवहारमें उसे भावुक संज्ञा दी गयी है। सांसारिक कामजनित मोहको ही जगत्‌में प्रेम, अनुराग माना जाता है, अतः ऐसे काममिश्रित मोहजन्य भाव जिनके अन्तस्तलमें अधिक उठते हैं, उनको भी भावुक संज्ञा दी जाती है। ऐसे मोही व्यक्तियोंका हृदय भावना करते-करते द्रवीभूत हो जाता है। जिन लोगोंमें थोडा श्रद्धा-आदर होता है, उन्हें भी भावुक कहा जाता है। भावुक व्यक्ति भावनाके अनुसार अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करके उस कल्पना-राज्यमें विचरते रहते हैं।

वैष्णवोंकी यह 'भाव-मञ्जिल' कल्पनाशील मनकी मात्र ऊहापोहरूप तरङ्ग नहीं है। यह तो विशुद्ध आनन्दस्वरूप रसराज प्रियतम श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाके आह्लाद-सार प्रेमकी परमोच्च लहर है। यह प्राकृत देहकी कल्पनाप्रसूत भावना नहीं है। यह सर्वथा यथार्थ घनसत्य है, जो अनन्त सृजन एव अनन्त प्रलयोमें भी एकरस सम सत्य है।

यह सत्य है कि प्राकृत देहसे प्रेमसाधना जहाँ साधनाकर्मके रूपमें की जाती है, वहाँ भगवान्‌के रूपका ध्यान किया जाता है। जैसे भगवान्‌के रूपका ध्यान होता है, ठीक उसी प्रकार उनके प्रेमका, उनकी मुरलीध्वनिका, उनके आलिङ्गन-स्पर्शका, उनके रसका, गन्धका भी ध्यान होता है। उच्च साधन-निष्ठा मे भगवान्‌की मधुर वंशीध्वनि साधकको सुनाई भी पडती है। उनके रूपको जैसे साधक स्पष्ट देखता है, वैसे ही साधक भगवान्‌के अधरामृतका भी पान करता है, उनके स्पर्शकी पुलकमे पुलकित होता है। उनके अङ्गोकी गन्ध भी उसे मतवाला कर सकती है। ध्यानमें मनुष्य यह भी देख सकता है कि उसने भगवान्‌के चरण पकड लिये, उन्होने मेरे मस्तकपर हाथ रख दिया। उच्च साधना-सम्पन्न भक्तमें यह राय प्रकट होता है। यह ध्यानकी अत्यन्त कल्याणप्रद ऊँची स्थिति है। परन्तु यह लौकिक प्राकृत भक्तिराज्य भर है। इससे उच्च स्तरपर ज्ञान-राज्य है, जिसका गीतामें भगवान्‌ने **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति'** कहकर वर्णन किया है। उससे भी उच्चतम स्थिति किसी बिरले कृपापात्र भक्तमें जब व्यक्त होती है तो उसे एक – किन्तु नित्य दो बने हुए श्रीराधा-माधवके अतिशय उज्ज्वल धाममें प्रवेश मिलता है। तब उसे सत्यके परम सत्य – रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी एवं रसराज सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। ये राधाकृष्ण योगमायासे अनावृत साक्षात् परात्पर पूर्ण परब्रह्म हैं। उनकी कृपासे कृपापात्र भक्तका जिस परम मङ्गलमय क्षणमें उनकी परम अन्तरङ्ग, निगूढ़ प्रेमलीलामें प्रवेश होता है, तब उसे महासिद्ध 'भावदेह' प्राप्त होती है।

यहाँ पुन. ध्यान रखें कि न तो प्रिया-प्रियतम नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा ही भावदेहमें हैं, न ही उनकी कायव्यूहरूपा गोपियाँ ही भावदेहमें हैं। यह भावदेह तो प्रथमतया साधककी मात्र इस राज्यमें प्रवेशदेह है। इस भावदेहको प्राप्त करके ही शिवजी महाराज नरसी भक्तके साथ रासमे प्रविष्ट हुए थे। यह भावदेह सेवामें प्रवेश कराके स्वत. ही झड जाता है। तब भावदेहमें स्थित लीला-परिकरको श्रीराधारानीका कायव्यूहत्व प्राप्त होता है। फिर लीलापरिकर अपने प्रिया-प्रियतमके समान ही चिन्मय दिव्य भगवद्विग्रह ही हो जाता है और जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, उसी प्रकार परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके साथ उसकी अनादि अनन्त 'रमण' क्रिया होती रहती है।

यह प्रेमलीलाजगत् परम विलक्षण है। यहाँ एक पूर्णतम परात्पर परब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही लोक है, जगत् है, प्राणी-समुदाय है, सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी-जल-वायु-प्राण-आकाश है। अतः इस लोककी बात हम माया-मुग्ध मानवोंके लिये तर्कातीत है।

हमारा हृदय वासनासे इतना ग्रस्त है कि चिन्मय परमात्मलोककी सच्चिदानन्दमयी लीलाओंमें भी हम अपने मनके पापोंकी छाया देखते हैं। जहाँ मायिक जगत्‌की तो बात ही क्या, योगमायाका भी आवरण नहीं, उन प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-कृष्णकी व्यवधानरहित मिलनलीलामें जो प्रेमोच्छलन रूप 'भाव' है, उसे हम प्राकृत प्राणी भला कैसे समझे?

यहाँ इतना विस्तार पूर्वक विश्लेषण करनेकी आवश्यकता इसीलिये हुई है कि साधक इस भाव-मञ्जिलमें जो उद्दीपनजन्य विशुद्ध सात्विक अष्ट विकार होते हैं, उन विकारोंको लौकिक नृत्य, गायन, भूमिपर लोटना, अङ्ग मोडना आदि शारीरिक क्रियायें नहीं समझ लें। ऐसी क्रियायें अनेक बार हिस्टीरिया नामक रोगमे भी घटित होती हैं। इस रोगमें भी हुङ्कार करना, अट्टहास करना, जँभाई लेना, लम्बे-लम्बे श्वास छोडना, मूर्च्छित हो जाना आदि अनुभाव होते हैं। परन्तु ये रोगजन्य विकार हैं। इसी प्रकार अनेक बार दंभी लोग भी प्रेमाभिनयकर लोगोंको प्रभावित करनेके लिये ऐसे आचरण

करते हैं। परन्तु हिस्टीरिया आदि रोगोंमें जो नाचना, गाना, अङ्ग मोडना, हुङ्कार करना आदि क्रियायें होती हैं, वे मनकी ज्वाला एवं अशान्तिसे प्रकट होती हैं। इसी प्रकार जो दंभसे दिखाने, प्रदर्शनके लिये ऐसी क्रियाएँ करते हैं वे भी किसी प्रतिष्ठा, बड़ाई आदिकी कामनावश ही ऐसा करते हैं। कामना तो एक प्रकारकी अग्नि है जो मनमे विषयगत अशान्ति तथा चित्तमें ज्वाला उत्पन्न करती है। आघात पानेपर यह क्रोधका कराल रूप धारण कर लेती है। अतः इन नाचने आदि प्रदर्शनकी क्रियाओंकी उस परमानन्दघन प्रेमोद्दीपनजन्य भावसे कोई संतुलना हो ही नहीं सकती।

इस भाव-मञ्जिल'में श्रीराधारानीका भावोद्दीपनजन्य गायन, नर्त्तन क्या है, यह कौन कहे, कैसे कहे? पू.गुरुदेव एवं रसिक सिद्ध सन्त पोद्दार महाराज जैसे प्राणी जिनका इस भाव-राज्यमें प्रवेश है, वे ही इस आनन्दको, इस उमड़ते विशुद्ध आनन्दजन्य गायनको, नर्त्तनको जानते हैं, परन्तु वे भी इस मादक आनन्दको लेशमात्र पाकर ही भावसमाधिमें गूँगे, अन्धे एवं बहरे हो जाते हैं। वे इस आनन्दपूर्ण नर्त्तनको मायिक वाणी दे नहीं पाते। जो इस अप्राकृत, अलौकिक भाव-मञ्जिलमें पहुँचते हैं, वे इस प्राकृत लोकको सर्वथा सर्वांशमें विस्मृत कर देते हैं, क्योकि मानव-मस्तिष्ककी संवेदनाशक्तिकी भी एक सीमा है। मानव मस्तिष्क मात्र वैषयिक आनन्दाभासको ही ग्रहण कर सके – ऐसा ही क्षीणशक्ति यन्त्र है। इसका प्रयोजन ही सीमित है। अत: जो भी महान् रसिक सिद्ध सन्त हैं, वे इसमे निमग्न होकर आत्ममूढ, रसमूढ हो जाते हैं।

अतः इतना ही कहना बनता है कि यह कल्पना-लोक नहीं, परात्पर सत्यका दिव्य लोक है, जिसका इस काव्यमें पू.गुरुदेवके द्वारा पूर्ण समाधिभाषामें वर्णन हुआ है।

शास्त्रोमे श्रीराधाके जिन विशुद्ध सात्विक भावोंका वर्णन आता है, ये सात्विक भाव आठ हैं – स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय। ये विशुद्ध सात्विक अष्ट प्रेम-विकार भी स्निग्ध, दिग्ध एवं रूक्ष – इस भाँति तीन प्रकारके हैं।

स्निग्ध सात्विक भावोंका उदय सिद्ध रसिक भक्तों अथवा राधामुख्या गोपाङ्गनाओंमें ही होता है। जिनके अन्दर श्रीकृष्णप्रेम उदय हो गया है, उन असंख्य गोपाङ्गनाओं एवं ब्रजभक्तोंको 'जातरति' की श्रेणीमे रखा जाता है। अजातरति उन्हें कहा जाता है जिन भाग्यशाली जनोंका ब्रजलीलामें प्रवेश अथवा ब्रजमे जन्म तो हो गया है, परन्तु अभी उनमें प्रेमोदयका प्रसङ्ग आया नहीं है, कालान्तरमें प्रेमोदय होने वाला है, वर्तमानमें भी उनमें श्रीकृष्ण-विषयक विस्मय एवं उनकी चर्चादि, गुणगान सुनकर जो आनन्दका अभ्युदय होता है, इस आनन्दसे जो भाव उदय होते हैं, उन्हें रूक्ष भाव कहा जाता है। श्रीराधारानी एवं उनकी कायव्यूहस्वरूपा गोपाङ्गनाओके अतिरिक्त असंख्य मञ्जरियाँ एवं दासियाँ हैं, जिनमे प्रिया-प्रियतमके प्रति प्रेमोदय हो चुका है, उनमें जिन सात्विक भावोंका प्रकाश होता है, उन्हें दिग्ध सात्विक भाव कहते हैं।

श्रीराधारानीके स्निग्ध सात्विक भावोंकी झाँकी श्रीरूपगोस्वामी महोदय इस प्रकार कराते हैं –

**अश्रण्णा निवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरम्**
**ज्योत्स्नीस्यन्दिविधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्विभ्रती।**
**कण्ठान्तस्त्रुटदक्षराद्य पुलकैर्लब्ध्वा कदम्बाकृतिम्**
**राधा वेणुधर प्रवातकदलीतुल्या क्वचिद् वर्त्तते।।**

श्रीललिता श्रीश्यामसुन्दरसे श्रीराधारानीकी विरह-दशाका वर्णन करती हुई कहती हैं –

'हे वेणुधर ! तुम्हारे अदर्शनसे श्रीराधाकी दशा आज कैसी हो रही है। उनके नेत्रोंसे जलकी इतनी अधिक वर्षा हो रही है कि उससे यमुनाजीका जल दूना हो गया है। उनके शरीरसे इस प्रकार पसीना झर रहा है, जैसे चाँदनी रातमें चन्द्रकान्तमणि पसीजकर अमृतवर्षा बहाने लगती है। उनका शरीर मणिवत् स्तब्ध (निश्चेष्ट) जड़ हो गया है। उनका वर्ण उसी मणिवत् पीला पड़ गया है। उनके कण्ठकी वाणी रुक-रुककर निकलती है तथा उसका स्वरभङ्ग हो

गया है। उनका सर्वांग कदम्बकी केसरके समान पुलकित हो रहा है। भयङ्कर आँधी-पानीमें जैसे केलेका वृक्ष काँपकर भूमिपर गिर जाता है , वैसे ही उनकी अङ्गलता भूमिपर गिर पड़ी है।

**{ प्राकृत जगत्का प्राणी इस वर्णनको अतिशयोक्ति मात्र ही कहेगा, किन्तु वस्तुतः भावोदयके समय ऐसी दशा तत्कालीन सिद्ध रसिक सन्तों - 'श्रीचैतन्य महाप्रभु आदिकी तत्कालीन वैष्णवोंने प्रत्यक्ष देखी है। पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाके शरीरमें काष्ठ मौनके समय श्रद्धालु भक्तोंने इन सात्विक भावोंमेंसे अनेक भाव इसी वेगसे प्रकट होते प्रत्यक्ष देखे हैं। महासिद्ध रसिक सन्त श्रीपोद्दार महाराजमें भी अनेक भाव उनके भाव-समाधिकालमें प्रकट होते देखे गये हैं। }**

ये सब प्रेममहलकी 'भाव-मञ्ज़िल'में उठनेवाली महान् भावतरङ्गें हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपाङ्गनासमूह एवं उनकी मधुरतम लीलाओमें कहीं कोई भेद नहीं है। रस-स्वरूप श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ही अनन्त रसोंके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही अनन्त रसोंका समास्वादन करते हैं। वे ही आस्वादक, आस्वाद्य एवं आस्वादन बने हैं, तथापि श्रीप्रिया-प्रियतमका मधुरातिमधुर लीला-रस-प्रवाह अनादि अनन्तरूपसे चलता रहता है।

प्रिया श्रीराधामें पाँच प्रकारके भाव उदय होते हैं। जो प्रायः प्रकट होते हैं, किन्तु जिन्हें प्रिया राधा गुप्त रखनेकी योग्यतावश प्रकट नहीं होने देती, वे भाव **धूमायित** कहे जाते हैं।

कभी-कभी जब प्रियामें एक ही समय दो-तीन भाव, अश्रु, स्वेद, कम्पादि प्रकट हो जावें और प्रिया उन्हें संवरित नहीं रख सकें तब उस भाव-प्रवाहको शास्त्र **ज्वलित** भाव-प्रवाह कहते हैं। ज्वलित भाव-प्रवाहको रोकना अतिशय कठिन होता है।

कभी-कभी ऐसी भाव-धारा उमड़ती है कि ये सात्विक भाव तीन-चार-पॉच एक साथ प्रकाशित हो उठते हैं, तब इस भाव-प्रवाहको शास्त्र **दीप्त** भावकी संज्ञा देते हैं।

अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात, एवं आठ भावोका जब एक ही समय प्रकाश होता है तो उसे शास्त्र **उद्दीप्त** भावकी संज्ञा देते हैं। यह उद्दीप्त भाव ही महाभावमें परिणत हो **सुदीप्त** हो उठता है।

उपरोक्त उदाहरणमें राधारानीमें एक साथ ही अश्रु, स्वेद, स्तंभ, वैवर्ण्य, स्वरभंग, कम्प, एवं प्रलय– इन सात भावोंका उदय हो रहा है। इसीलिये यह सुदीप्त भावका ही लक्षण है।

## *महाभाव-मञ्ज़िल*

स्नेह, प्रेम, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भाव-मञ्ज़िलोंको पार करता हुआ श्रीराधारानीका परम त्यागमय प्रेम अन्तमें जिस परमोच्च मञ्ज़िलमें पहुँचता है, उसे 'महाभाव' कहा गया है।

यह महाभाव-मञ्ज़िल सूर्यके सदृश है। सूर्यके दो स्वभाव हैं – जिसके साथ सूर्यका सम्पर्क होता है, उसके अन्धकारका नाश कर देना और अपनी किरणमालासे उसे स्नान करा देना। इसी प्रकार 'महाभाव' भी भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे जिसके हृदयमें उदय हो जाता है, उसके हृदयमेंसे अनादि कालसे स्थित स्वसुखतात्पर्यरूप अन्धकारको सदाके लिये हर लेता है और निज सम्बन्धी जन मात्रके भीतर-बाहरको नित्य परमानुरागमय बना देता है।

**{ यह हमारे परम सौभाग्यका विषय है कि हमें महारसिक सिद्ध संत श्रीपोद्दार महाराज एवं पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा – दोनों ही ऐसे सिद्ध संत मिले, जो महाभाव-सिन्धुमें पूर्णतया निमग्न महापुरुष थे }**

महाभावकी रूढ एवं अधिरूढ – ये दो अवस्थाएँ होती हैं। महाभावकी जिस अवस्थामें सात्विक भाव उद्दीप्त हो उठते हैं, उसे रूढ महाभाव कहते हैं। इस रूढ महाभावकी व्रजगोपियोंमें ही अभिव्यक्ति होती है। व्रजदेवियों द्वारा संवेद्य होनेसे यह परमोच्च प्रेमभाव उनकी ही मानो निजकी संपत्ति है।

जिसमे सात्विक भाव रूढ भावोक्त समस्त अनुभावोंसे किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त हो जाते हैं, उसे अधिरूढ महाभाव कहते हैं।

श्रीराधा अधिरूढ महाभावकी घनीभूत प्रत्यक्ष मूर्त्ति हैं। श्रीराधाके प्रेमका नाम ही अधिरूढ महाभाव है। इस अवस्थामें प्राणप्रिया श्रीराधामे मिलन एव विरहजनित सुख-दुखोंका साथ-ही-साथ युगपत् उदय होता है।

अधिरूढ महाभावके भी मोदन एवं मादन – ये दो तट हैं। मोदन-महाभाव प्रियतम श्रीकृष्णमें भी उदय होता है। इसे वैष्णव शास्त्रोंमें 'मोहन' भी कहा गया है। मोहन-अवस्था दिव्योन्मादसे भरी होती है।

मोदन महाभाव श्रीराधाकी ही एकमात्र सम्पत्ति है। ह्लादिनीशक्तिकी परिपूर्ण परिणति ही मादन है। इसमें श्रीराधारानी अनवच्छिन्न मिलनानन्द अनुभव करती हैं।

इस अनवच्छिन्न मिलनानन्दका रसिक सिद्ध सन्त श्रीपोद्दार महाराजने अपने काव्यमें बडा ही सुन्दर वर्णन किया है–

'प्रसंग श्रीउद्धवके ब्रज आगमनका है। उद्धव श्रीकृष्णका सन्देश लेकर ब्रजमें आये हैं। वे श्रीराधासे एकान्तमें मिलते हैं। वे श्रीराधाको बडी ही विचित्र स्थितिमे पाते हैं। जब उद्धवजी श्रीराधाको प्रियतम श्रीकृष्णका मथुरासे भेजा हुआ सन्देश सुनाते हैं, तो उसे सुनकर श्रीराधा पहले तो चकित होती हैं, फिर कहने लगती हैं –

**उद्धव! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा सन्देश?**
**भुला रहे क्यों मिथ्या कहकर, प्रियतम कहाँ गये परदेश?**

• • • • •

**देखो - वह देखो, कैसे मृदु-मृदु मुसकाते नन्दकिशोर!**
**खड़े कदम्ब-मूल अपलक वे झाँक रहे हैं मेरी ओर।।**
**देखो, कैसे मत्त हो रहे, मेरे मुखको पङ्कज मान।**
**प्राण प्रियतमके दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रस पान।।**
**भृकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे हैं संकेत।**
**अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राणनिकेत।।**
**कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर?**
**क्या तुम देख नहीं पाते, या देख हो रहे प्रेमविभोर?**

• • • • •

**अरे - अरे उद्धव! देखो वे पुनः प्रकट हो गये सुजान!**
**प्रेमभरी चितवन सुन्दर, छायी अधरोंपर मृदु मुसकान!**
**ललित त्रिभङ्ग कुटिल कुन्तल, सिर मोर-मुकुट, कल कुण्डल कान।**
**धर मुरली मुरलीधर अधरोंपर हैं छेड़ रहे मधु तान!**

• • • • •

कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि यह महाभावकी लीला अनन्तकालतक चलती ही रहती है। यहाँ श्रीराधाके प्रेम–प्रासादके सात अप्रतिम विभाग जो पू.गुरुदेवने उल्लेख किये हैं, उनका सक्षिप्त परिचय दे दिया गया है। ।।३२७।।

अधिदेवी उन सातों की थी वह राजतनूजा ही, प्रियतम!
जो स्नेहकक्ष था, किंतु अभी उसमें थी वह उतरी, प्रियतम!
इतने में ही स्वामिनी उसे अनुजा झट आ पहुँची, प्रियतम!
उसके पदचिह्नोंपर चलकर जो उगे धरापर थे, प्रियतम।। ३२८।।

राजनन्दिनी राधाकिशोरी ही यद्यपि उस निर्मित प्रासादकी, सातो कक्षोंकी अधिदेवी थीं, किन्तु इस समय, जो 'स्नेह' नामसे अभिहित कक्ष था, है और रहेगा, उसमें ही वे अपना पैर रखे हुए थीं। और देखो ! इतनेमें ही उनकी अनुजा भी उन्हें ढूँढती हुई झट वहीं आ पहुँची। वह किशोरीके पद-चिह्नोपर ही चलकर आयी थी – धरापर वे पदचिह्न अंकित जो हो गये थे। अस्तु,।।३२८।।

दो हाथ हटी प्रतिमा से थी बैठी नृप की पुत्री, प्रियतम !
पीछे से उसके कंधों पर कर रखकर वह बोली, प्रियतम !
'री बहिन! कहाँ मन तेरा है, क्यों छोड़ मुझे आयी? प्रियतम !
'अच्छा, अब तो बतला दे, क्या-क्या है करना कैसे?' प्रियतम।।३२९।।

**किशोरी इस समय प्रतिमासे दो हाथ हटकर बैठी थी। पीछेसे अनुजाने आकर उसके कंधोंका स्पर्श किया। उसपर हाथ रखकर ही वह बोली – अरी बहन ! तेरा मन कहाँ है री ? तुम मुझे छोडकर क्यों चली आयी ? अच्छा, जाने दे, अब यह बतला, यहाँ क्या-क्या, कैसे करना है ?।।३२९।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

पू.गुरुदेव कहते है कि राजनन्दिनी राधाकिशोरी ही यद्यपि उस निर्मित प्रेम-प्रासादकी सातों कक्षोकी अधिदेवी थीं, किन्तु इस समय वे स्नेह नामसे अभिहित कक्षमें ही पदार्पित हैं। इस समय राधा अतिशय मुग्धा भावमे आरूढ हैं। उनमें पौगण्डकी समाप्ति और कैशोरका पदार्पण मात्र हो रहा है। इसीलिये कैशोरकी मधुरिमा उनके आननपर बालरविके समान स्निग्धरूपमे पदार्पण करनेको उत्सुक-सी दिख रही है। उनके नेत्रोमें बाल-चपलता ज्यों-की-त्यो है। निर्मल उज्ज्वल हास्य उनके अधरोंको अनुरंजित कर रहा है। उनके अङ्गोंसे प्रियतम मानसोन्मादकारी अङ्ग-सौरभ स्फुटित हो रहा है। उनकी मनोज्ञ वाणीमें सहज विनयशीलता भरी है। पूर्ण करुणासे उनका चित्त छलकता रहता है। लज्जाशीलता उन्हें नखसे शिखातक आवृत किये है। वे परम सुमर्यादित हैं। परन्तु अपने प्रियतम-समर्पणके प्रति अतिशय गौरवमयी हैं। उनमें धैर्यकी पराकाष्ठा है, आदर्श गम्भीरता है। सम्पूर्ण वृषभानुपुर ही नहीं, समग्र आभीरमण्डलकी वे प्रेमपात्री हैं। उनमें बीजरूपसे महाभावमयता तत्सुखभाव स्फुटित हो रहा है। सखियोंके प्रति वे अतिशय प्रेम-परवश हैं। गुरुजनोंकी स्नेह-पात्रता उनका निरव है। अपने प्रियतमको सदा-सर्वदा अपने आधीन रखनेकी उनमे माधुर्यशक्ति लबालब भरी है। ऐसी राधा उस अप्रतिम नीलमणिकी प्रतिमासे सटकर बैठी थी, तभी पीछेसे आकर उनकी अनुजा बहन मञ्जुश्यामाने उसके कंधेपर हाथ रख दिया और उसे विचारोंमें खोयी देखकर कहने लगी – " बहिन ! तेरा मन कहाँ घूम रहा है ? तू मुझे अकेलीको क्यों छोड़ आयी ? अच्छा, कोई बात नहीं, अब भी बतला, आगे क्या करना है ?।।३२९।।

जागी समाधि से वह, लज्जा किंचित्-सी हुई उसे, प्रियतम !
क्रमशः उसको सब बतलाया, जिस भाँति यहाँ पहुँची, प्रियतम!
सुनकर वह बड़ी बहिन से यह पूरा ब्योरा, बोली, प्रियतम !
'मैं पहले से ही प्रतिमा की कुछ बात जानती हूँ।' प्रियतम।।३३०।।

**किशोरी अब मानो समाधिसे जग उठी हो – इस प्रकार सचेत हो उठी। उसे किंचित लज्जाका भी अनुभव होने लगा। वह कैसे यहाँ पहुँची थी, विस्तारसे एक-एक बात उसने अनुजाको बतला दी। बड़ी बहनसे पूर्ण विवरण सुन लेनेके अनन्तर अनुजा बोल उठी – देख बहन ! मैं पहलेसे ही इस प्रतिमाकी कुछ बातें जानती हूँ भला ! ।।३३०।।**

नृप-पुत्री चौंक उठी, मानो मिल गयी उसे ताली, प्रियतम !
पेटी की अहो ! महानिधि वह थी बन्द पड़ी जिसमें, प्रियतम !
'तू सब बतलादे, पता तुझे जो कुछ है, अभी मुझे ; प्रियतम !
भुजमाल कनिष्ठाको पहना, इतना ही कह पायी, प्रियतम ॥३३१॥

राजनन्दिनी चौंक उठी – मानों जिस पेटीको वह खोलना चाहती थी, उसकी ताली उसे मिल गयी भला ! किशोरीकी महानिधि उसी पेटीमें ही तो बंद थी। वह बहनके कंधेको कम्पित करते हुए कह उठी – 'अरी ! तुझे जो कुछ भी पता है, सब-का-सब मुझे अविलम्ब, अभी बता दे।' इतना ही कह पायी वह और कनिष्ठाको अपने कण्ठसे लगा लिया.......।।३३१।।

"अच्छा, सुनले !' आँखें, वाणी अनुजा की झूम उठीं, प्रियतम !
"मौसी ने बात कही मुझसे, रूठी बैठी तू थी," प्रियतम !
"आश्विन की एक वर्ष पहले थी साँझ अमावस की," प्रियतम !
"साँझीके फूल बीन लौटीं हम सभी देरसे थीं," प्रियतम ॥३३२॥

अच्छा, सुन ले – अनुजाकी आँखें, वाणी, दोनों ही चञ्चल हो उठीं – अरी ! जिस दिन मुझे मौसीने ये बातें बतलायी थीं, उस दिन तू रूठी हुई थी भला ! अबसे एक वर्ष पहलेकी बात है; आश्विन मासकी घटना है ; अमावसकी तिथि थी; संध्याका समय था; उस दिन हम सभी साँझीके फूल चयनकर देरसे घर लौट पायी थीं। ।।३३२।।

"मौसी बोली, 'लाड़िली बड़ी बावली, सत्य यह है।' प्रियतम !
'छोटी होकर भी तू तो पर सब बात समझती है।' प्रियतम !
'मैं बतलाऊँ, क्यों तुम सब पर तुम सबकी ही मैया,' प्रियतम !
'है आज तनिक-सी खीझ गयी ज्यों ही तुम सब आयीं।' प्रियतम ॥३३३॥

मौसीने मुझे कहा था – अरी सुन, यह लाड़िली जो है, बड़ी बावली है भला ! तू छोटी तो उससे है, किन्तु सच तो यह है कि तू छोटी होकर भी सब बात अच्छी तरह समझती है। मैं बतलाऊँ ? आज तुम सबकी मैया तुमपर रुष्ट क्यों हुई ? और आज तुम सब ज्यों ही आयीं, तनिक-सी खीझभरी वाणीमें क्यों बोली ?।।३३३।।

'घटना है ग्यारह मास, दिवस दो अब से पहले की,' प्रियतम !
'तेरा श्रीभैया वनमें था गायों को लिये गया ;' प्रियतम !
'शिशुओं में दैवयोग से यह-चर्चा छिड़ गयी वहाँ ;' प्रियतम !
'इन सभी अरण्योंका राजा है कौन, कहे कोई।' प्रियतम ॥३३४॥

सुन, अबसे ग्यारह महीने, दो दिन पहलेकी घटना है। एक स्थलपर तेरा श्रीभैया गायोंको चरानेके लिये वनमें ले गया था। सभी बैठे थे और दैवयोगसे शिशुओंमें यह चर्चा छिड़ गयी – इन समस्त अरण्योंका राजा कौन है, कोई बतलाओ तो भला !।।३३४।।

'जो वे गोपों के अधिपति हैं, उनका बेटा बोला; प्रियतम !
'मैं ही हूँ नित्य ईश सबका, थे, हैं, होंगे वन जो।' प्रियतम !
हँस पड़ा हँसोड़ा शिशु सुनकर, भूसुरकुल का जो था, प्रियतम!
बारह ही वर्ष-वय सका जो रहता था बना सदा, प्रियतम ॥३३५॥

गोपराज नन्द महाराजाका पुत्र बोल उठा – अरे भैया, सुन लो तुम सब; यहाँ जितने वन हैं, पहले थे और आगे होंगे, उन सबका नित्य स्वामी मैं ही हूँ भला ! नन्दनन्दनकी बात पूरी होते-न होते वह हँसोड़ा शिशु – ब्राह्मण बालक मधुमंगल हँस पड़ा। मधुमंगल सदा ही बारह वर्षकी आयुका ही बना रहता था !॥३३५॥

'क्यों हँसा, बोल सच तू,' उसके पीछे पड़ गये सभी, प्रियतम !
वह भी पक्का था, चंगुल में फँसता न किसी के था, प्रियतम !
थी, किंतु एक दुर्बलता, जो उसको थी च्युत करती, प्रियतम !
कोई मीठी कुछ वस्तु खिला ले लेता मोल उसे।' प्रियतम ॥३३६॥'

अरे मधुमंगल ! तू सच बता । क्यों हँसा ? – सभी शिशु मधुमंगलके पीछे पड गये। किन्तु मधुमंगल भी पक्के गुरुका शिष्य था। किसीके चंगुलमें फँसना उसने सीखा जो न था। हॉ, एक दुर्बलता उसमें अवश्य थी, जो उसे पद-पदपर अपने निश्चयसे च्युत कर देती। कोई मीठी वस्तु उसे किञ्चित् खिला दे, फिर तो मानो उसने मधुमंगलको सदाके लिये मोल ही ले लिया॥३३६॥

शिशुओं ने वही उपाय किया, मोदक की भेंट धरी, प्रियतम !
खाकर वह बोला, 'राजा हैं श्रीभैया के बाबा।' प्रियतम !
'वे सभी वनों के, ब्रज के हैं पालक पालक के भी; प्रियतम ।
'ये गोपराज भी पहले थे देते कर उस कुल को।' प्रियतम ॥३३७॥

........ सभी शिशुओंने इसी उपायका आश्रय लिया। मधुमंगलके आगे उन सबोंने मोदककी भेंट रखी। वह हँसता जा रहा था और उसे खाता जा रहा था। खाते-खाते बोल उठा – अब बतलाता हूँ। देखो, तुम सभी याद कर लो। श्रीभैयाके जो बाबा हैं बृषभानुजी महाराज, वे ही राजा हैं। केवल इस वनके ही नहीं, सभी वनोंके। और तो क्या, जितने भी वन हैं और उनके जो राजा हैं, उनके भी शासक बृषभानुजी महाराज हैं। और सुन लो, पहले इस नीलसुन्दरके पिता नन्दबाबा भी श्रीभैयाके पिताको कर दिया करते थे॥३३७॥

'जो वृद्धपितामह हैं, उनने कर लेना बंद किया; प्रियतम ।
'हो गयी मित्रता अद्भुत-सी दोनों ही नृपकुल में,' प्रियतम !
'बँध गये स्नेह के बन्धन में दो राजवंश ऐसे,' प्रियतम !
'मानो हों अहो! एक माँ से जाये जो गद्दी लें;' प्रियतम॥ ३३८॥

वे जो हम सबोंके दादाजी हैं महीभानु महाराज, सर्वप्रथम उन्होंने ही कर लेना बन्द किया था। इतना ही नहीं, उसके पश्चात् दोनों कुलोंमें – नन्दकुलमें और बृषभानुकुलमें ऐसी अद्भुत मित्रता हो गयी, जिसकी तुलना अन्यत्र नहीं हो सकती – दो राजवंश स्नेहके बन्धनमें ऐसे बँध गये, मानो वे दोनों एक ही माताके पुत्र हैं और दोनों ही अपने पिताकी गद्दी लेनेके अधिकारी हैं॥३३८॥

'अतएव छूट इसको है, यह चाहे जिस कानन में, प्रियतम !
'जाकर गो-चारण करे, कहीं है रोक नहीं कोई।' प्रियतम !
'श्रीभैया के बाबा चाहें तो आज बंद कर दें; प्रियतम !
'छोटा-सा जो वन है इसका, उसमें ही फिर घूमे।' प्रियतम ॥ ३३९ ॥

इसीलिये इस नन्दपुत्रको छूट मिली हुई है कि वह जिस काननमें चाहे, गो-चारण कर सकता है। इसे कोई भी, कहीं भी रोक नहीं सकता। केवल श्रीभैयाके बाबा अवश्य ऐसे हैं कि वे यदि चाहें तो इसकी गतिविधिको नियन्त्रित कर दें.......। फिर इसके बाबाका जो छोटा-सा वन है, उसमें ही यह घूमता रहे।।३३९।।

'यह वन विशेषतः, जिसमें हैं बैठे हम सभी अभी; प्रियतम !
'केवल जगदम्बा का है, वे रहती इसमें ही हैं।' प्रियतम !
'है पता नहीं कुछ, तब भी यह बोला- 'मालिक मैं हूँ'; प्रियतम !
'इसके इस भोलेपनपर ही आ गयी हँसी मुझको;' प्रियतम ॥ ३४० ॥

विशेषतया यह वन, जिसमें हमलोग बैठे बातें कर रहे हैं, वह वन तो केवल-केवल जगज्जननीकी ही सम्पत्ति है। इसीमें तो जगदम्बा प्रत्यक्ष निवास करती हैं ! इस नन्दपुत्रको कुछ ज्ञात तो है नहीं, तब भी बिना सोचे-समझे यह बोल उठा था – मैं ही स्वामी हूँ – इसके इस भोलेपनपर ही मुझे हँसी आ गयी थी।।३४०।।

गोपेश-तनय मुसकाया, दृग-कनखी से देख उसे, प्रियतम !
प्राणों का प्यार उधर उमड़ा तेरे श्रीभैया का, प्रियतम !
जीवन के नित्य-सखा की क्यों खण्डित वह उक्ति हुई, प्रियतम !
तत्क्षण उसने पूछा हँसकर उस बन्धु हँसोड़े से, प्रियतम ॥ ३४१ ॥

मधुमङ्गलकी बात सुनकर नन्दनन्दन अपने दृगोंके कोनेसे उसे देखकर मन्द-मन्द मुसकरा उठे। उधर श्रीदामभैयाका प्यार उमड़ चला। उसे वेदना-सी होने लगी – मेरे नित्य सखा नीलसुन्दरकी वह उक्ति क्यों मिथ्या हुई ? और वह हँसकर मधुमङ्गलसे पूछ ही बैठा –।।३४१।।

'तू तो पण्डित है ही, बतला, कोई उपाय है क्या ?' प्रियतम !
'कल रवि उगने से पहले यह हो जाय बात सच्ची,' प्रियतम !
'अधिकार आज जिस जिस वनपर मेरे बाबा का है; प्रियतम !
'स्वामी उन सबका निरवधि हो यह प्राण-सखा मेरा।' प्रियतम ॥ ३४२ ॥

अरे भैया मधुमङ्गल ! तू तो पण्डित है, सभी बातें जानता है; तू इतना-सा और बता, क्या कोई उपाय है कि कलका सूर्योदय होनेसे पहले ही मेरे भैया नीलसुन्दरकी यह बात सच्ची हो जाय ? आज जिस-जिस वनपर मेरे बाबाका अधिकार है, उन सभी वनोंका स्वामी अनन्तकालतकके लिये मेरा प्राणसखा नीलसुन्दर ही हो जाय ! ।।३४२।।

उत्तर तुरंत सुन्दर इसका दे दिया हँसोड़े ने, प्रियतम !
'तू ही तो है युवराज, कहीं तू त्याग सत्य कर दे।' प्रियतम !
'उस ओर अरे ! तेरी बहिनें जो दो सहोदरा हैं; प्रियतम !
'उनकी इस गोपराजसुत से हो चुकी सगाई है।' प्रियतम ॥ ३४३ ॥

विदूषक मधुमङ्गलने इसका उत्तर हाथ-का-हाथ दे दिया – यह कौन-सी बड़ी बात है ? बापका इकलौता बेटा तू ही तो युवराज है। कहीं तू सच्चे हृदयसे इस पदका त्याग कर दे कि मैं इसे स्वीकार ही नहीं करूँगा, तब तो क्षणोंमें ही सब काम बन जाय। देख ! तेरी दो बहनें, जो सहोदरा हैं, उनके सम्बन्धमें तुम्हें कुछ पता है कि नहीं, इसे तो तू ही जाने। और यदि नहीं जानता है तो मैं बतला दे रहा हूँ, सुन ले ! इस गोपराज नन्दके बेटे नीलसुन्दरसे ही तो तेरी इन दोनों बहनोंकी सगाई हो चुकी है ?..........।।३४३।।

'जब भी विवाह हो, इससे क्या, बस, आज रात में ही; प्रियतम<br>
'भावी दहेज का दान-पत्र तेरे बाबा लिख दें; प्रियतम !<br>
'फिर तो वैसा ही होगा, तू जैसा है चाह रहा;' प्रियतम !<br>
'पूरे अरण्यों का कल होगा यह एकच्छत्र राजा।' प्रियतम ।। ३४४।।

अच्छा अब आगेकी बात ध्यानसे सुन – विवाह कभी हो, इससे क्या ? यदि आज रातको तेरे बाबा दानपत्र लिख दें – अरे दहेजका दानपत्र रे......! बस, फिर तो जैसा तू चाह रहा है, वैसा-का-वैसा होगा ही – सम्पूर्ण अरण्योंका एकच्छत्र राजा यह नन्दका पुत्र कलसे ही हो जायगा। कोई भी इस बातको जाने-न-जाने, इससे क्या ? अस्तु,।।३४४।।

"चर्चा यह आयी-गयी- सदृश औरों के लिये हुई," प्रियतम !<br>
"तेरे श्रीभैया के मन से वह किंतु नहीं निकली;" प्रियतम !<br>
"सन्ध्या के समय लौट कर जब वन से घर पर आया; प्रियतम<br>
"चुपचाप महादेवी के वह मन्दिर में जा बैठा।" प्रियतम।।३४५।।

इस प्रकारकी यह चर्चा सभी सखाओंके लिये तो आयी-गयीके सदृश हो गयी। किन्तु मेरी छोटी लाडली री, सुन ! तेरे श्रीभैयाके मनसे यह बात नहीं निकली। ..........और जब वह संध्याके समय वनसे लौटा, तब चुपचाप श्रीदेवीके ही मन्दिरमें आकर बैठ गया; तेरी मैयाके पास आज वह नहीं आया।।३४५।।

"जाकर तुरंत हम सब चिन्तित उसको पूछने लगे;" प्रियतम !<br>
"कारण न किंतु बतलाता कुछ, मुख था उदास उसका," प्रियतम !<br>
"तेरी मैया, मौसी मैं, फिर तेरे बाबा, मौसा;" प्रियतम !<br>
"ये चार जने थे वहाँ, लगा रोने वह आकुल हो।" प्रियतम ।। ३४६।।

हम सभी चिन्तित हो उठे-वह सदाकी भाँति घर – अपनी मैयाके पास क्यों नहीं आया ? अतएव हम सभी उसके पास मन्दिरमें ही जा पहुँचे – मेरे लाल ! आज कोई नयी बात हुई है क्या ? किन्तु उसने उसका कोई कारण नहीं बताया। उसका मुख आज किंचित् उदास था। तेरी मैया, तेरी मौसी – मैं, फिर स्वयं तेरे बाबा और तेरे मौसा – हम चार जने वहाँ थे। बस, इतनेमें तो वह व्याकुल होकर रोने लग गया।।३४६।।

"मैंने समझाया, मैया ने, बाबा ने, मौसा ने," प्रियतम !<br>
"घिग्घी उसकी बँध गयी, और इतना-सा बोल सका," प्रियतम !<br>
'बाबा! प्रण तुम पहले कर लो, जो भी मैं अभी कहूँ; प्रियतम !<br>
'उसको ज्यों-का-त्यों सत्य-सत्य पूरा करना जो है।' प्रियतम ।।३४७।।

मैंने समझाया, तेरी मैयाने, बाबाने, मौसाजीने बड़ी अच्छी-अच्छी बातें कहीं; पर तेरे श्रीदाम भैयाकी तो रोते-रोते घिग्घी बँध गयी। वह तो केवल इतना-सा बोल सका – बाबा, पहले तुम प्रण कर लो कि मैं अभी जो तुमको कहूँ, उसको तुम ज्यों-का-त्यों सत्य कर ही दोगे।।३४७।।

"तेरे बाबा ने भी पलभर सोचा तक नहीं तनिक," प्रियतम।
"अर्चन का जल था पास, उसे करमें लेकर बोले," प्रियतम!
' रे लाल! देन जगजननी की तू तो मेरे घर है;' प्रियतम।
'तू जो भी कह देगा, उसको वैसे ही कर दूँगा!' प्रियतम। ।।३४८।

आश्चर्यकी बात यह हुई कि तेरे बाबाने भी पलभरके लिये भी सोचा तक नहीं। समीपकी झाड़ीमें अर्चनाके लिये जो जल था, उसे उन्होंने अपने दक्षिण करकी अञ्जलिमें किंचित् ले लिया और गद्‌गद् कण्ठसे बोल उठे – अरे मेरे लाल ! मेरे घर तो तू जगदम्बाका दिया हुआ, भेजा हुआ आया है – उनकी देन है ! तू जो भी कह देगा, मैं वैसे-के-वैसे कर दूँगा भला ! ।।३४८।।

'बोला श्रीभैया, आँखों में फिर से जल भर करके;' प्रियतम।
'बाबा! है प्रिय साँवरा अहो! प्राणों से अधिक मुझे;' प्रियतम।
'बातें इस भाँति हुईं वनमें, भारी है व्यथा मुझे;' प्रियतम।
'उस सखा विदूषक के अन्तिम निर्णय को सत्य करो!' प्रियतम ।।३४९।।

श्रीभैयाकी आँखोंमें पुनः जल भर आया। वह बोल उठा – बाबा ! मुझे साँवरा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है। आज वनस्थलमें....... इस प्रकार बातें हुई हैं; मेरे हृदयमें इतनी अधिक व्यथा है कि मैं तुम्हें कैसे बताऊँ। बस, उस समय मधुमङ्गल भैयाने जो अन्तिम निर्णय दिया था, उसे ही तुम सत्य कर दो।।३४९।।

'जीवन में चाह नहीं है यह, राजा मैं कभी बनूँ,' प्रियतम।
'मेरी प्राणोपम दो बहिनें असमोर्ध्व भागवालीं,' प्रियतम।
'हो चुकीं साँवरे की हैं, अब मैं भी निहाल होऊँ;' प्रियतम।
'राजा हो वही, रखूँ मैं तो निरवधि सँभाल उसकी' प्रियतम ।। ३५०।।

श्रीदामने रोते-रोते अपने बाबाके कटिदेशमें अपना हाथ डालकर उसे वेष्टित कर दिया, पकड़ लिया उसे। बाबा ! बाबा ! ........गद्‌गद् कण्ठसे वह कहता जा रहा था। मेरे जीवनमें छाया-की-छाया मात्र भी यह अभिलाषा नहीं है कि मैं कभी राजा बनूँ। यह मेरा सौभाग्य है कि मेरी प्राणोपम दो बहनें इस प्रकार असमोर्ध्व भाग्यवाली मुझे मिली हैं। वे दोनों तो साँवरेकी हो ही चुकी हैं, अब मैं भी उसका होकर धन्य हो जाऊँ – मेरा भैया नीलसुन्दर राजा हो, और मैं उसके पास रहकर उसकी निरवधि सँभाल करता रहूँ।।३५०।।

"चारों ही स्नेह-विभावित थे हम लगे विकल रोने;" प्रियतम।
"तेरे श्रीभैया के उर की लखकर विशालता को;" प्रियतम!
"चलती अविराम रही पावन धारा आठों दृग से;" प्रियतम!
"सारी भीगी रह गई ही यों तेरे बाबा बोले," प्रियतम।। ३५१।।

मेरी छोटी लाडिली री ! हम चारों भी इतने स्नेह-विभावित हो गये थे कि हम सभी विकल होकर फूट-फूटकर रोने लगे – अहा ! श्रीदामका कितना विशाल हृदय है ।.............अहा ! बारम्बार इसकी स्मृतिसे हम चारों ऐसे निमग्न हो रहे थे कि हमारे आठों दृगोंसे अविराम अश्रुधाराका प्रवाह बहता ही जा रहा था। तुम्हारे बाबा हम

सबोंकी अश्रुधारामें स्नान करके सर्वथा उस प्रवाहमें मानो डूबते जा रहे थे। बड़ी कठिनाईसे किञ्चित् धीरज धारणकर वे बोल सके.........।।३५१।।

'सुन्दर ऐसा क्षण पहला है, जिसमें मैं आज कहूँ,' प्रियतम !
'है धन्य पितापन मेरा अब, जो पुत्र मिला तुमसा।' प्रियतम !
'मेरी भी यही लालसा थी, रे लाल ! धन्य तू है;' प्रियतम !
'दे दिया अहो ! तुमने सब कुछ माँगे ही बिना मुझे।' प्रियतम ।।३५२।।

– मेरे जीवनमें आज प्रथम बार ऐसे सुन्दर क्षणकी उपलब्धि मुझे हुई है, जिस क्षणमें मैं उच्च स्वरसे सबको सुनाकर कह सका – अहा ! मेरा पितृत्व आज धन्यातिधन्य हो गया, जो मुझे तेरे-जैसा पुत्र मिला। अरे लाल ! मेरी भी यही आन्तरिक अभिलाषा थी। तू धन्य-धन्य-धन्य है, जो बिना माँगे ही आज सब कुछ दे दिया। अहो !. .......।।३५२।।

"तत्काल बुलाने दूत चला गुरुदेव महोदय को," प्रियतम !
"वे भी आये रजनी सौ पल चढ़ने से पहले ही।" प्रियतम !
"उनको प्रत्यक्ष मिला था यह आदेश दिवाकर का," प्रियतम !
"सायं-संध्या के समय उठे औ चले नहाने वे," प्रियतम ।।३५३।।

अरी मञ्जू ! इससे अधिक तेरे बाबा बोल नहीं सके।......... मौसीकी आँखें पुनः बरबस भरने लग गयीं। बोल वे भी नहीं सकती थीं। बार-बार अपने अञ्चलसे आँखें पोंछतीं, पर तुरंत पुनः नवीन अश्रुधारा प्रसृत होने लगती और उनका कण्ठ रुद्ध हो जाता। अस्तु, उसी समय महाराज बृषभानुने दूतको बुलाया। उनकी आज्ञा हुई – दूत ! गुरुदेव महोदय महर्षि भागुरीको तुम शीघ्रातिशीघ्र मेरे समीप बुला लाओ। दूत आज्ञापालनमें तत्क्षण लग गया.........। और गुरुदेव महोदय भी सौ पल (४० मिनट) रजनी चढनेके पूर्व ही, वृषभानुपुरमें आ पहुँचे। आज उनके साथ भी एक विचित्र घटना घटी थी। वे सायं सन्ध्याके लिये स्नान करने चले कि मानो आकाशसे दिवाकरदेव उन्हें प्रत्यक्ष आदेश दे रहे थे – ।।३५३।।

'जाओ तुम नील-सरोवर पर, उसको प्रणाम करना,' प्रियतम !
'उत्तर-पूरब के कोने पर अञ्जलि में फूल लिये,' प्रियतम !
'जल में प्रविष्ट होकर धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ना,' प्रियतम !
'अपने ही आप सुमन करसे च्युत होते ही रुकना,' प्रियतम ।।३५४।।

..........जाओ, तुम अभी नील सरोवरपर चले जाओ। पहले उस सरोवरको दण्डवत् प्रणाम कर लेना। जाते समय प्रथके उपवनसे ही कुछ पुष्पचयन कर लेना। उसे अञ्जलिमें लिये हुए उत्तर-पूर्वके कोणपरसे सरोवरमें प्रविष्ट होना। क्रमशः धीरे-धीरे अग्रसर होते जाना और जहाँ अपने आप तुम्हारी अञ्जलि ढीली हो जाय तथा पुष्प जलमें गिर पड़ें, वहीं रुक जाना।।३५४।।

'उस जल के तल में ही निमग्न तत्क्षण तुम हो जाना,' प्रियतम !
'उपलब्ध वहाँ तुमको निरुपम दो स्वतः वस्तु होंगी,' प्रियतम !
'उनको लेकर उपवन में सीधे तुम चल देना,' प्रियतम !
'वह दूत मिलेगा पथमें ही प्रेषित उस राजा का,' प्रियतम ।।३५५।।

# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

षष्ठम खण्ड (प्रथम भाग)

## प्रियतम काव्य

पृष्ठ संख्या 301-414 तक

टीकाकार : साधु कृष्णप्रेम

आज प्रथम बार केवल, केवल तुम्हें उस अगाध जलके तलका अनुभव होगा। तुम उसे पावनतम जलमें निमग्न होकर, जलके तलपर बैठकर हाथोंसे टटोलने लगना। वहाँ अपने आप तुम्हें निरुपम दो वस्तुएँ प्राप्त होंगी। उन्हें हाथोंमें ले लेना। अपने उत्तरीयसे उसे आवृत कर लेना और फिर जलसे बाहर आकर आर्द्र वस्त्रको पहने ही बृषभानुपुरकी ओर चल देना। तुम्हें बुलानेके लिये आया हुआ दूत पथमें ही मिल जायेगा। उसे महाराज बृषभानुने तुम्हें बुलानेके लिये भेजा है।।३५५।।

"ऐसा ही हुआ और गुरुवर थे महासिद्ध पहुँचे" प्रियतम !
"वे लिये हुए थे साथ वही, जो वस्तु मिली उनको;" प्रियतम !
"नीली-प्रतिमा थी एक और था, एक पुरट-पत्ता;" प्रियतम !
"पुरइनकी आकृतिका, जिसपर अक्षर थे लिखे हुए;" प्रियतम।।३५६।।

अंशुमालीकी उक्तिके अनुसार ही सब बातें महर्षि भागुरीको ज्यों-की-त्यों मिलीं। वे महासिद्ध पुरुष थे। जो वस्तु मिली थीं उसे अपने उत्तरीयसे ढके हुए वे बृषभानुपुर जा पहुँचे। प्राप्त हुई वस्तुओंमें एक तो नीली प्रतिमा थी और एक स्वर्णनिर्मित पुरइनकी आकृतिका पत्ता था, जिसपर कुछ अक्षर लिखे हुए थे।।३५६।।

"वह दान-पत्र ही था सचमुच भावी दहेज-वाला," प्रियतम !
"तेरे बाबा की सही, भला, उस पर पहले से थी।" प्रियतम !
"अङ्कित थी उस पर तिथि, जो थी उस दिन धनतेरस की;" प्रियतम।
"साखी थे गुरुवर और तरणि उनके थे चिह्न बने।" प्रियतम।।३५७।।

वह स्वर्णपत्र भविष्यमें दिये जानेवाले दहेजका दानपत्र ही था। और तो क्या, मेरी लडैती श्यामे ! देख, भला, तेरे बाबाके हस्ताक्षर उसपर पहलेसे ही अङ्कित थे। उस दिन धनत्रयोदशीकी तिथि थी, वह भी पहलेसे ही अङ्कित थी। दो साक्षी थे – एक गुरुवर महोदय और दूसरे भगवान् तरणि। उनके भी चिह्न उस पत्रपर बने हुए थे। अस्तु,।।३५७।।

" की सभी व्यवस्था अग्रिम अब गुरुदेव महोदय ने;" प्रियतम !
"उस ओर गोप राजा को था होने यह भान लगा;" प्रियतम !
"श्रीनारायण का नीराजन सन्ध्या में करते ही;" प्रियतम !
"मानो श्रीविग्रह मणिमय वह मुसका कर कहता हो," प्रियतम।।३५८।।

अग्रिम सभी व्यवस्था गुरुदेव महोदय ने की। उस ओर गोपराज नन्द महाराजको – ज्योंही उन्होंने श्रीनारायणका नीराजन संध्यामें सम्पन्न किया – ऐसा अनुभव होने लगा, मानो भगवान् नारायणका मणिमय श्रीविग्रह मन्द-मन्द मुसकराकर कह रहा हो – ।।३५८।।

'हे वत्स! बुलाता है तुमको वह नृपति धर्मभाई;" प्रियतम !
'कुलगुरु को साथ लिये तुम तो प्रस्थान तुरंत करो।" प्रियतम !
"प्रेषित गोपेश यहाँ आये दो घड़ी रात जाते," प्रियतम !
"उन शकट-बलीवर्दों में था मानो बल उड़ने का;" प्रियतम।।३५९।।

वत्स ! तुम्हारा वह धर्मभाई बृषभानु महाराज तुम्हें बुला रहा है भला ! अतएव कुलगुरु शाण्डिल्यजीको साथ लेकर तुम तो वहाँके लिये अविलम्ब प्रस्थान करो। – इस प्रकार भगवत्-प्रेषित हुए नन्द महाराज दो घड़ी रात बीतते ही बृषभानुपुर जा पहुँचे – मानो शकटके बलीवर्दोंमें उडनेकी शक्ति थी और वे उड़कर आये हों।।३५९।।

"मिलकर बातें कर, भाव विकल वे धर्मबन्धु रोये," प्रियतम !
"दोनों कुलगुरुवर का निर्णय अपने-ही-आप हुआ;" प्रियतम !
"बस, अभी प्रतिष्ठित हो प्रतिमा सुन्दरीवाटिका में," प्रियतम !
"हो दानपत्र यह नित्य जड़ा प्रतिमा-पद के नीचे।" प्रियतम॥ ३६०॥

दोनों धर्मबन्धुओंने मिलनेपर सभी बातोंकी चर्चा की और दोनों ही भावविह्वल हो उठे। दोनों कुलगुरुओंका एक साथ अपने आप निर्णय यह हुआ – बस, अभी सुन्दरी वाटिकामें हम लोग चले चलें। प्रतिमाको वहीं प्रतिष्ठित कर दें और प्रतिमाके चरण-प्रान्तमें ही नीचे यह दानपत्र अखण्ड रूपसे जड़ दिया जाय।।३६०।।

"तुम दोनों बहिनों की सँभाल करती मैं यहाँ रही," प्रियतम !
"तेरी मैया, तेरे बाबा, ब्रजराज, महामुनि दो;" प्रियतम !
"पाँचों, तेरे श्रीभैया को आगे कर, वहाँ गये," प्रियतम !
"हो अर्धनिशा, उससे पहले पूरा सब कृत्य हुआ।" प्रियतम॥ ३६१॥

री मञ्जुश्यामे ! मैं तो तुम दोनों बहनोंकी सँभाल करनेके उद्देश्यसे यहाँ बृषभानुपुरमें रुकी रही। उधर तेरी मैया, तेरे बाबा, महाराज नन्द और वे दोनों महामुनीन्द्र – ये पाँचों तेरे श्रीभैयाको आगे करके चल पड़े; सुन्दरी वाटिकामें जा पहुँचे तथा अर्द्धनिशा हो पायी, उससे पूर्व ही वहाँके सारे कृत्य विधिवत् सम्पन्न कर दिये गये।।३६१।।

"चौदस के प्रातः तुम दोनों बाहर खेलने गयीं;" प्रियतम !
"करके साँवरा कलेवा जब कानन में चला गया," प्रियतम !
"लेकर सङ्गिनी एक आयीं वे गोपराज-रानी;" प्रियतम !
"हो तथा इधर से हम पहुँची उद्यान-सुन्दरी में।" प्रियतम॥ ३६२॥

चतुर्दशीके प्रातःकाल जब तुम दोनों खेलनेके लिये बाहर चली गयीं तथा उस ओर जब नीलसुन्दर कलेवा करके वनमें गोचारणके लिये चला गया, तब उधरसे तो नन्दरानी अपने साथ एक सङ्गिनी लेकर आ पहुँची और इधरसे हम दोनों बहनें भी सुन्दरी उद्यानमें पहुँच गयीं। प्रेमपूर्ण मिलन हुआ हम चारोंका।।३६२।।

"चारों न निहार-निहार थकीं प्रतिमा की सुन्दरता," प्रियतम !
"गोपेश-गेहिनी के सुत की आकृति वह विधिकृत थी;" प्रियतम !
"दिन में तो तरणि-किरण को वह नीलाभ बना देती;" प्रियतम !
"साढ़े-चौबीस रात में शशि उससे निस्सृत होते।" प्रियतम॥ ३६३॥

हम सभी चारों प्रतिमाका सौन्दर्य निहार-निहारकर विथकित हो रही थीं। नन्दरानीके पुत्र नीलसुन्दरकी आकृति ज्यों-की-त्यों उस प्रतिमासे मिलती थी। आश्चर्यकी बात थी कि प्रतिमाका एक अद्भुत वैचित्र्य सबको प्रत्यक्ष यह दीखता था – वह दिनके समय अंशुमालीकी किरणोंको तो नीलाभ बना देती थी और रात्रिमें साढ़े चौबीस चन्द्र उसमेंसे निसृत होते रहते थे।।३६३।।

"उस दिन से ही उद्यान अहो! प्रायः अदृश्य रहता," प्रियतम !
"वनफेरी देते, देतीं थीं जो उन दो तिथियों में;" प्रियतम !
"उनमें जिसको भी देवी का दर्शन हो जाता था;" प्रियतम !
"उसको ही ज्योति में यह पल-दो पल दीखता भला," प्रियतम॥ ३६४॥

**उसी दिनसे वह उद्यान प्रायः सबोंकी दृष्टिसे अदृश्य बना रहता। अमावस्या एवं पूर्णिमाके दिन जो-जो भी उस वनकी फेरी दिया करती थीं और उनमेंसे जिसे वहाँ जगदम्बाका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता था, उसको ही वह ज्योतिर्मय श्रीविग्रह पल-दो-पलके लिये दीख जाता था।।३६४।।**

## जिज्ञासा

**छन्द संख्या ३५४से ३६४तकके वर्णनमें वृषभानुपुरके कुलगुरु भागुरिको आदेश होना, कृष्णकुण्डमें नीलमणि-रचित स्वयंभू प्रतिमाके साथ स्वतः पूर्वलिखित दानपत्रका मिलना, उसपर वृषभानु बाबाके पूर्वतया हस्ताक्षर अंकित होना, साथ ही उस नीलमणिकी प्रतिमाके द्वारा सूर्यकी किरणोंको नीलाभ बना देना, एवं उससे साढ़े चौबीस शशि रात्रिमें निसृत होना आदि बातें कहीं गई हैं। ये समझमें नहीं आतीं। कृपया इन सबको भली प्रकार खुलासा करें।**

## समाधान

यह ध्यान रहे कि यह समग्र लीला जो पू.गुरुदेव द्वारा इस काव्यमें गुम्फित हुई है, अप्राकृत लीलाराज्यमे सघटित हुई है। इस लीलाराज्यकी सूत्रधार स्वयं साक्षात् भगवती योगमाया हैं। वे योगमाया ही शिशुओंमें यह चर्चा छिड़वाती हैं कि इस वनका, जिसमें ब्रजेन्द्रनन्दन गाय चराने आये हैं, स्वामी कौन है ? बच्चोंको गाय चरानेसे प्रयोजन था, वन किस स्वामीका है, इन सब व्यर्थकी चर्चामें बच्चे क्यों पडते ? योगमाया लीलाशक्ति ही ब्रजेन्द्रनन्दनके मुखसे यह गर्वोक्ति करवाती हैं कि – 'अरे भैया, तुम सब सुन लो ! यहाँ इस भूमिमें जितने वन हैं, पहले थे, और आगे होंगे, उन सबका स्वामी मैं ही हूँ भला !'

वस्तुतः श्रीकृष्णके मुखसे निकली यह वाणी इस अंशमें सत्य भी थी क्योकि ब्रजेन्द्रनन्दन ही, जो इस समय गोपबालक बने हैं, परात्पर पूर्ण पुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् हैं, एवं इस लीलाक्षेत्रके जितने भी वन हैं, थे, एवं होंगे, ये सभी वन श्रीकृष्णके ही स्वरूपभूत हैं, उनसे नित्य अभिन्न उनकी ही सन्धिनीशक्तिकी परिणति हैं। अतः स्वाभाविक ही इनके एकमात्र अधिपति स्वामी वे ही हैं।

परन्तु मधुमङ्गल जो श्रीकृष्णका विदूषक सखा है, वह तो प्रेमलीला रङ्गमञ्चका एक प्रमुख पात्र है। उसमें श्रीकृष्णके प्रति 'वह मात्र उसका अपने-से-अपना सखा है' – यही बुद्धि है, उसमे उनका ऐश्वर्यमय परात्पर भगवान्का भाव उन्मिषित हो ही नहीं सकता। यदि यह ऐश्वर्यभाव उसमें लेशभर भी झाँक जाय तो समग्र लीलाका माधुर्य ही जाता रहे। अतः वह श्रीकृष्णकी इस सत्य ऐश्वर्योक्तिको भी मात्र विनोदकी वस्तु, भोलापन, अज्ञानताजन्य उक्ति मानकर हँस पडता है। यहाँ मधुमङ्गल सखाका भी किञ्चित् परिचय दे देना उचित रहेगा।

मधुमङ्गल देवी पौर्णमासीके साथ ही ब्रजमें पदार्पित हुआ था। ये देवी पौर्णमासी सर्वप्रथम उसी अवसरपर ब्रजमे पधारी थीं, जब नन्दनन्दनका जन्म गोकुलमें हुआ था। यह ब्राह्मणकुमार परम हँसमुख है। यह पौर्णमासी देवीके पास स्नातकके रूपमें रहता है। इसकी प्रकृति देवर्षि नारदके तुल्य है। किसी विशेष विद्याके प्रभावसे यह बालक सदैव मात्र बारह वर्ष, कुमारवयका ही रहता है। अनेकों सिद्ध सन्तोंको ऐसी अनुभूति हुई है कि अनन्त शक्तिमान् भगवान्की अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ही देवी पौर्णमासीके रूपमें मूर्त होकर ब्रजमें निवास करती हैं। वैसे पौर्णमासीजी ब्रजमें ज्योतिष-विद्याकी प्रकाण्ड पण्डिता मानी जाकर पूजी जाती हैं। भविष्यकी ज्ञाता होनेसे ब्रजके सब लोग इनकी राय मानकर ही कार्य करते हैं । इनकी भविष्यवाणी प्रायः अमोघ मानी जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मके समय ब्रजमें देवी पौर्णमासीके साथ मधुमङ्गलने नन्दभवनमे जब सर्वप्रथम पदार्पण किया था तो उसमें दिव्यदृष्टिका उन्मेष हो उठा था और वह हठात् बोल उठा था – 'जननि यशोदे ! ऊपर देखो! ऊपर अन्तरिक्षमें हंस, वृषभ, मयूर, हाथी, रथ, हरिण आदि विविध वाहनोपर चित्र-विचित्र आकृतिवाले कितने लोग तुम्हारे

पुत्रका मुख देखने खडे हैं। ब्रजमे आकाशमें उडते हुए मैं इन्हे अनेक बार देख चुका हूँ। ये कल भी यहीं थे।' ब्राह्मणकुमारकी बातसे आश्चर्य और भयसे युक्त होकर ब्रजरानी तथा अन्य गोपिकाएँ ऊपरकी ओर देखने लग जाती हैं। परन्तु उन्हें कुछ भी नहीं दिखता। भगवती पौर्णमासी इसपर मुसकाने लगती हैं एव कहती हैं – 'नन्दरानी ! डरो मत ! भयकी कोई बात नहीं है। अन्तरिक्षमें देवताओंका निवास रहता ही है। ये हसवाहन पितामह ब्रह्माजी, बृषभवाहन भगवान् शङ्कर, मयूरवाहन देवसेनापति कार्त्तिकेय, ऐरावत हाथीपर देवराज इन्द्र, रथपर भगवान् सूर्यदेव, हरिणपर निशानाथ चन्द्रदेव आदि देवगण ही हैं, जो तेरे पुत्रकी चिरायुकी कामनार्थ आशीर्वाद देने यहाँ आये हैं। यह बालक अतिशय शुद्धचित्त ब्राह्मण है, अत. इसे ऐसे दर्शन प्राय. होते रहते हैं।' यह कहकर आशीर्वाद देती देवी पौर्णमासी ब्रजवासियों द्वारा बनायी अपनी पर्णकुटीमें चली जाती हैं। तबसे तपस्विनी पौर्णमासीजीके साथ मधुमङ्गल ब्रजमें ही निवास करता है। नन्दनन्दनकी कुमार एव पौगण्डलीलामें यह उनका प्रमुख हँसोड सखा माना जाता है। यह अतिशय मिष्ठान्नप्रिय, बहुभोजी, अपने ब्राह्मणत्वपर अभिमान रखनेवाला, श्रीकृष्णसे वयमे बडा होनेके कारण यशोदाजी द्वारा सौंपेगये गोचारणके समय वनमें उनके संरक्षकका दायित्व निभानेवाला है। यह प्रायः प्रात.से लेकर सायंतक छायावत् श्रीकृष्णके साथ रहता है। श्रीकृष्ण सदैव इसे अपने हाथसे भरपेट मोदकादि मिष्ट भोजन कराते हैं। श्रीकृष्णकी थालीसे उच्छिष्ट होनेपर भी समग्र मिष्ठान्न, नवनीत, खीरादि, भोज्य यह ब्राह्मण होकर भी खा जाता है। श्रीकृष्ण भी इसके मुखका ग्रासतक निकलाकर खा जाते हैं। इस प्रकार दोनोंमें अतिशय प्रेममयी सख्यरससे परिपूर्ण लीलाएँ होती रहती हैं।

यह मधुमङ्गलकी हँसी भी योगमाया-प्रेरित मात्र विशेष लीलाकी सूत्रधारके रूपमें ही थी। स्वाभाविक ही था कि नन्दनन्दनकी गर्वोक्तिके प्रतिवादके रूपमें मधुमङ्गलकी इस व्यग्य करती हँसीपर अन्य श्रीकृष्णके सखा उससे स्पष्टीकरण माँगते। परन्तु मधुमङ्गल अपने पेटकी रहस्यभरी बातें तभी उगलता था, जब उसे कोई मीठी वस्तु खिलाता है। यह उसकी दुर्बलता है।

सखा उसकी इसी दुर्बलताका लाभ उठाते हैं और उसे मिष्ठान्न खिलाकर उसके पेटकी बात उगलवा लेते हैं। वह जो रहस्य प्रकट करता है वह नन्दनन्दनकी गर्वोक्तिको खण्डन करनेवाला होता है। यह रहस्य सखाओंसे अज्ञात भी होता है। यह रहस्य है – सम्पूर्ण आभीरमण्डलमें जितने भी वन हैं – अम्बिकावन, कुमुदवन, तालवन, मधुवन, बहुलावन, बृहद्वन (महावन), लोहवन, कामवन, गोदृष्टिवन, मोहिनीवन, कोकिलावन, छत्रवन, खिदिरवन, विस्मरणवन, कोटवन, चमेलीवन, खेलनवन, भूषणवन, गुञ्जावन, विहारवन, भाण्डीरवन, अघवन, तमालवन, भद्रवन, बिल्वबन, एवं वृन्दावनादि सबके एकछत्र राजा तो वस्तुत वृषभानु महाराज हैं। श्रीनन्दराय तो मात्र वृहद्वनके एक करद राजा है। पहले वे अपने आधीन वनका कर प्रतिवर्ष महाराज महीभानुको चुकाते थे। महाराजा महीभानुने ही सर्वप्रथम नन्दरायसे कर लेना बन्द किया था, एव पश्चात् तो दोनो कुलोंमे इतना सौहार्द हो उठा था, जिसकी तुलना त्रिभुवनमे कहीं हो ही नहीं सकती । दोनों राजवश सगे भ्राताओंसे भी बढकर प्रेमबन्धनमे बँधकर एक हो उठे थे।

मधुमङ्गलने इस समय यही रहस्योद्घाटन किया कि इस सौहार्दके कारण ही इस नन्दपुत्रको यह छूट मिली हुई है कि यह अपनी गौएँ सभी वनोंमें निरङ्कुश चरा लेता है। यदि श्रीभैयाके पिता चाहें तो आज ही इसकी गतिविधि नियन्त्रित कर दें। फिर इसके बाबाका जो एक छोटा-सा वन है, उसमे ही भले यह अपनी गायें चरा ले।

जब यह वार्त्ता सखाओंके मध्य हो रही होती है, वे श्रीसुन्दरीवनमें ही गौएँ चरा रहे होते हैं। इसलिये मधुमङ्गल यह रहस्य भी खोल देता है कि यह विशेष वन जहाँ हम सब वर्त्तमानमें बैठे हैं, केवल जगज्जननी भगवती त्रिपुरसुन्दरीका है। इसमे वे साक्षात् निवास करती हैं एवं भाग्यवान्, परम पवित्र-हृदयके भक्तोंको यहाँ उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी होता है; इस नन्दतनयको कुछ भी ज्ञान तो है नहीं, फिर भी यह हेकडी लगा देता है कि 'मैं सबका मालिक हूँ' – इसीलिये मुझे इसकी बातपर हँसी आ गयी थी।

मधुमङ्गलकी सच्ची उक्ति सुनकर उसपर श्रीकृष्णका प्यार उमड पडता है, किन्तु उसी समय जगदम्बाकी ही प्रेरणासे राजा वृषभानुके पुत्र श्रीदामके मनमें यह सङ्कल्प उठता है कि कैसे मेरे प्राणसखा श्रीकृष्णके वचनकी रक्षा हो जाय और कल सूर्योदयके पूर्व ही यह सब वन-सम्पत्ति, यह राज्य नन्दतनयकी सम्पत्ति बन जाय।

यहाँ ध्यान रहे कि यह सब लीला अघटन-घटना-पटीयसी योगमायाके द्वारा ही सम्प्रेरित होकर रङ्गमञ्चपर सघटित हो रही है। योगमाया-प्रेरित मधुमङ्गल श्रीदामको उपाय भी यही बताता है कि 'वह घर जाकर अपने पिता-पितामहके सम्मुख मचल उठे। उसके पिता अपनी दोनों पुत्रियोंका वाग्दान श्रीकृष्णको कर दें तथा अपना समग्र राज्य अपनी दोनों पुत्रियोंको दहेजमे दे दें। वे योगमाया-मन्दिरमें सङ्कल्प करके आज ही दानका सङ्कल्पपत्र लिख दें तभी यह वन श्रीकृष्णकी संपत्ति हो सकेगा।' श्रीदाम ठीक मधुमङ्गलका सिखाया सभी नाट्य करता है। और तब उसके पिता इस सङ्कल्पका साक्षी बनानेके लिये वृषभानुकुलके कुलगुरु भागुरिको बुलाते हैं।

पुनः यहाँ इस बातको दुहरा देता हूँ कि यह सब घटना भगवती योगमायाकी इच्छासे ही उनके द्वारा पूर्वनिर्धारित विधानसे घटित हो रही है। वृषभानुकुलके कुलदेव सूर्य जिनके अशसे महाराज वृषभानुकी उत्पत्ति हुई है, वे भी इस विधानका पहलेसे ही सङ्कल्प कर चुके हैं। वे भागुरि ऋषिको सन्ध्यार्चनके समय ही निर्देश देते हैं कि तुम पुष्पाञ्जलि लेकर पूर्वोत्तरके कोनेमे कृष्णकुण्डमें शनैः-शनैः प्रवेश करो और जहाँ तुम्हारी अञ्जलिमें निहित पुष्पराशि स्वतः निपतित हो जाये, वहाँ डुबकी लगाकर उसके तलमें खोजो। वहाँ तुम्हें दो वस्तुएँ मिलेंगीं जिन्हे लेकर राजभवनमें तुरन्त चले आओ। वे दो वस्तुएँ होगी – एक तो नीलमणिरचित नन्दतनयकी प्रतिमा एवं दूसरी, भगवती योगमाया द्वारा पूर्वतया रचित स्वर्णपत्रमें अङ्कित सम्पूर्ण राज्यका दानपत्र, जिसमें उस दिवसकी तिथि धन्या-त्रयोदशी तथा राजा वृषभानुके हस्ताक्षरके साथ गुरुदेव भागुरि एवं सूर्यदेवकी साक्षी भी पूर्वतया अङ्कित होगी।

इधर नन्दरायजीको भी जब वे सन्ध्याकालमें भगवान् नारायणका सान्ध्यकालीन नीराजन कर रहे होते हैं, यही आदेश होता है कि तुम अपने कुलगुरु ऋषिप्रवर शाण्डिल्यको लेकर तुरन्त वृषभानुपुरी प्रस्थान करो, तुम्हे तुम्हारा धर्मभ्राता स्मरण कर रहा है। वे भगवदाज्ञासे प्रेरित हुए दो प्रहर रात व्यतीत होते-न-होते वृषभानुपुर पहुँच जाते हैं और दोनों धर्मभाई मिलकर भावविह्वल हुए दोनों कुलगुरुओंको साथ लेकर सुन्दरीवाटिकामें वह प्रतिमा और उस प्रतिमाके नीचे वह दानपत्र सुस्थापित कर देते हैं। यह सब कृत्य धन्यात्रयोदशीकी अर्धनिशाके पूर्व ही सम्पादित हो जाता है।।।३६१।।

चतुर्दशीके प्रातःकाल जब नन्दतनय कलेवा करके गोचारणके लिये एवं वृषभानुनन्दिनी एवं उनकी अनुजा भगिनी मञ्जुश्यामा सूर्यपूजनके लिये वनमें प्रस्थान कर जाती हैं, तब गोकुल नन्दग्रामसे नन्दपत्नी यशोदा एवं इधर वृषभानुपुरसे कीर्तिदा एवं श्रीराधाकी मौसी कीर्तिमती भी इस सुन्दरी-उद्यानमे उस नीलमणि-प्रतिमाको देखनेको चली आती हैं। वे चारों उस प्रतिमाकी शोभा, सुन्दरता देख-देखकर विस्फारित-नेत्र चकित हो जाती हैं। वे देखती है कि उस नीलमणिकी प्रतिमासे यशोदाके पुत्रकी आकृति हूबहू मिलती है। उस प्रतिमासे ऐसा विचित्र तेज निकलता है जो दिनके समय उसके चतुर्दिक् दिनकरकी किरणोतकको नीलाभ बना देता है। उस नन्दतनूजकी प्रतिमाके चतुर्दिक् सम्पूर्ण वातावरण ही नीलज्योति एवं नीली छटासे उद्भासित हो उठता है। निशामे उस प्रतिमाके कलेवरसे साढे चौबीस चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं। इनमें दस तो चरणोके नखोंसे, दस हाथोंके नखोंसे, दो नेत्रोंसे, तथा दो कुण्डलोकी दमकसे – इस प्रकार चौबीस स्थानोंसे तो पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाश निःसृत होता ही रहता है एवं उसकी नाकमें पडी बेसरके लघु आकारकी होनेके कारण जो ज्योत्स्ना प्रसारित होती है वह अर्धचन्द्रकी उपमा धारण कर लेती है। इस प्रकार साढ़े चौबीस चन्द्रमा उसमे से निःसृत होते हैं जिस दिन इस उद्यानमें यह प्रतिमा स्थापित हुई है, तभीसे यह उद्यान प्रायः सर्वजन-अगोचर ही रहता है, अमावस्या एवं पूर्णिमा – मात्र दो दिन, वृषभानुपुरकी प्रजा जब नियमानुसार उस वनकी

फेरी देती है, तो उनमे जो भी सौभाग्यशाली होते हैं, उन्हे उस वनमें भगवती जगज्जननीके दर्शन होते हैं, एवं उन्हें ही यदा-कदा पल-दो पलके लिये इस प्रतिमाके भी दर्शन हो जाते हैं।।।३६४।।

"गुरुवर ने चलते समय कहा तेरी मैया से था," प्रियतम !
"मैं पास खड़ी थी, मुद्रा थी गम्भीर बड़ी उनकी," प्रियतम !
"अपनी इन दो दुहिताओं की, रानी! सँभाल रखना," प्रियतम !
"निश्चित उस एक अवधितक ये उस वनमें आयें नहीं" प्रियतम !।।३६५।।

पू.गुरुदेवने भी चलते समय तेरी मैयासे कहा था – उस समय मैं उसके पास ही खड़ी थी; पू. गुरुदेवकी मुद्रा आदेश देते समय बहुत ही गम्भीर थी। वे कह रहे थे - "रानी ! अपनी इन दोनों पुत्रियोंको सँभालकर रखना; उस एक निश्चेष्ट अवधितक ये उस वनमें प्रवेश नहीं करें"।।३६५।।

"तेरी बुढ़िया नानी, जो है जननी हम बहिनों की," प्रियतम !
"उसने ही आज दुपहरी में आकर है यहाँ कहा," प्रियतम !
"ये चपल छोरियाँ घुसती हैं उस वनकी सीमा में," प्रियतम !
"तेरी मैया अत्यधिक इसे सुनते ही घबरायी" प्रियतम।।३६६।।

मेरे प्राणोंकी प्राण छोटी लाड़ली री मेरी ! तेरी जो बुढ़िया नानी है, और हम दोनोंकी जो जननी है, उसीने आज मध्यान्हमें आकर यहॉ हम लोगोंसे यह कहा – अरी छोरियों ! सुनती हो, यह जो तेरी छोटी-बड़ी दोनों छोरियाँ हैं , दोनों ही उस वनकी सीमामें घुसती हैं भला ! – बस, इतना सुनते ही तेरी मैया अत्यधिक घबरा उठी।।३६६।।

"उसने मुझको भेजा, दौड़ी मैं उस वनमें पहुँची," प्रियतम !
"कोई न मिली तुम, किंतु वहाँ थक गयी खोजकर मैं" प्रियतम!
"आखिर लौटी, रवि-मन्दिर में तुम सब थी खेल रही," प्रियतम!
"मैंने न कहा कुछ तुम सबको चुपचाप चली आयी।" प्रियतम ।।३६७।।

उसने तुरन्त मुझे भेजा। मैं दौड़ी हुई उस यनमें पहुँची, किन्तु तुम दोनोंमें से कोई भी यहाँ नहीं मिली। खोज-खोजकर मैं थक गयी। आखिर क्या करती, लौट आयी। लौटनेके पथमें मैंने देखा – तुम दोनों सूर्य-मन्दिरमें खेल रही थीं । मैं चुपचाप घर लौट आयी।।३६७।।

"तुम भी तुरंत पहुँची, तेरी मैया भी खीझ उठी," प्रियतम !
"है हेतु यही, है पता नहीं यह किन्तु लाड़ली को," प्रियतम !
"गुरुवर की रुचि का ही पालन मङ्गलकारी होगा," प्रियतम !
"जाकर उसको सब बतला दे, तू बड़ी सयानी है।" प्रियतम।। ३६८।।

तुम दोनों भी मेरे पीछे-पीछे ही आ पहुँची। बस, अव क्या था, मैया बडे जोरसे तुम दोनोंपर खीझ उठी। यही हेतु है, तुम्हारी मैयाके रुष्ट होनेका। किन्तु बड़ी लाडली इस बातसे अनभिज्ञ है। तू बड़ी सयानी है री; अपनी बहनको सभी बातें ठीकसे समझा दे कि गुरुवरकी रुचिका पालन करना ही हम सबके लिये बड़ा मङ्गलकारी होगा. ........।।३६८।।

"मौसी इन बातोंको मुझसे जिस समय कह रही थी," प्रियतम।
"केवल दस बीस हाथ हटकर तू भी तो थी बैठी।" प्रियतम!
"उसका स्वर था पर धीमा, मुँह तू तथा फुलाये थी;" प्रियतम!
"घटना रहस्यपूरित यह तू इसलिये न सुन पायी।" प्रियतम।। ३६९।।

राधाकिशोरीकी अनुजा इतना कहकर कुछ क्षणोंके लिये रुक गयी, और फिर अपनी बड़ी बहनका कंधा हिलाकर बोली-अरी बहन ! मौसी जब मुझे यह बातें कह रही थी, तब तू भी तो पास ही बैठी थी ! केवल दस-बीस हाथका ही तो अन्तर था ! हाँ, मौसीका स्वर बहुत ही धीमा था और तू मुँह फुलाये हुए थी। इसी लिये यह रहस्यपूरित घटना तू सुन नहीं पायी।।३६९।।

"मैं चली तुझे कहने यह सब, इतनेमें ही बाबा," प्रियतम!
"आ गये वहाँ, उनसे लालित होकर तू मान गयी;" प्रियतम!
"ब्यारूके लिये तुरंत तथा फिर हम सब जा बैठीं" प्रियतम!
"बातोंमें मैं फँस गयी और कहना यह भूल गयी;" प्रियतम।।३७०।।

मैं जब तुझसे कहने तेरे पास आयी कि बस, इतनेमें ही बाबा आ गये, उनके द्वारा परिलालित होकर तू रूठना भूल गयी, और सर्वथा प्रसन्न हो उठी। उसके उपरान्त ब्यारूका समय हो गया; हम सभी उसीमें संलग्न हो गये; मैं भी बातोंमें फँस गयी और तुझसे यह कहना भूल ही गयी।।३७०।।

"अतः देख यही प्रतिमा है, जो तब हुई प्रतिष्ठित थी;" प्रियतम!
"तू देख, यहाँ दिनकरकी हैं कि रणें नीली-नीली।" प्रियतम!
"है स्वर्णपत्र भी जटित अहो! चरणोंके वह नीचे;" प्रियतम!
"संयोग देखनेका इसको अपने ही आप लगा।" प्रियतम।। ३७१।।

अतएव देख ले, खूब अच्छी तरह देख ले – उस दिन रातके समय यही प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई थी। तू देख सही, प्रत्यक्ष देख ले, यहाँ दिनकरकी किरणें नीली-नीली दीख रही हैं। सब ओर नीला प्रकाश फैला हुआ है तथा वही तो वह स्वर्णपत्र है, जो प्रतिमाके चरणोंमें जटित हो रहा है। अहा हा ! अपने आप प्रतिमाके दर्शनका संयोग हम लोगोंके लिये लग गया।।३७१।।

"अब तू कह, किधर चलें? कहकर अनुजा पल तीन रुकी, प्रियतम
चिन्तित-सी बड़ी बहिन उसको उत्तर कुछ दे न सकी, प्रियतम!
सहसा उसके मुखसे निकला, 'वे गयी कहाँ सखियाँ,' प्रियतम!
आये ये शब्द कि टूट गयी पूरी समाधि उसकी, प्रियतम।। ३७२।।

अब तू बता बहन, किधर चलें ? ......दो-तीन पलतक अनुजा कुछ भी न बोली; केवल देखती रही अपनी बड़ी बहनको। राधाकिशोरी अपनी अनुजाको कुछ भी उत्तर न दे सकी। वे किसी गम्भीर चिन्तामें पड़ी हुई दीखती थीं। सहसा किशोरीके मुखसे निकला – अरी ! सखियाँ सब कहाँ चली गयीं ? तथा यह शब्दावलि निसृत होते-न-होते किशोरीकी समाधि टूट गयी।।३७२।।

दीखा जगते ही, सन्मुख है सर वही मिष्टजलका, प्रियतम!
घबरायी-सी होकर सखियाँ हैं उसे निहार रही, प्रियतम!

तोता भी द्रुम-डाली पर है वैसे ही निरख रहा, प्रियतम !
शीतल-समीरका झोंका वह वैसा ही है अब भी, प्रियतम ।।३७३।।

बाह्य ज्ञान होते ही किशोरीने देखा – सामने बड़ा सुमिष्ट जलका सरोवर लहरा रहा है, और घबरायी-सी होकर सखियाँ उसको ही निहार रही हैं। तोता भी एक द्रुमकी डालीपर बैठा वैसे ही देख रहा है। शीतल समीरका झोंका भी वैसा ही बार-बार सबको स्पर्श कर रहा था।।३७३।।

पूछा सहचरियों ने, कैसा अनुभव री ! हुआ तुझे ? प्रियतम !
क्या कहती वह, बरबस पानी आँखों में भर आया, प्रियतम
इच्छा न तनिक भी अब उसकी आगे बढ़ने की थी, प्रियतम !
आयी थी जिस पथ से वनमें, उस से ही लौट पड़ी, प्रियतम ।।३७४।।

सहचरियोंने किशोरीसे पूछा – अरी ! तुझे क्या, कैसा अनुभव हुआ, किंचित् बता तो सही ! किन्तु किशोरी क्या कहती, उसकी आँखोंमें बरबस पानी भर आया। अब उसके मनमें तनिक भी उत्साह नहीं रहा था, तनिक-सी भी इच्छा नहीं बची थी कि वह आगे बढ़कर वनकी शोभा निहारे। वह चुपचाप उसी पथसे लौट पड़ी, जिससे आयी थी।।३७४।।

आयी झाड़ी मेंहदी की वह दक्षिण सीमा-वाली, प्रियतम !
नृपपुत्री ने उदास मन से उसको ज्यों पार किया, प्रियतम !
आया, बस, कीर वही उड़कर, करके प्रणाम बोला, प्रियतम !
'संदेश एक है श्रीपद में उन नीलदेवता का।' प्रियतम।। ३७५।।

घडीका चतुर्थांश बीतते-न-बीतते वह मेंहदीकी झाड़ी वनकी दक्षिण सीमाके समीप आ पहुँची। राजनन्दिनीने उदास मनसे ज्योंही उस झाड़ीको पार किया कि उड़ता हुआ वही कीर वहाँ आ पहुँचा। राधाकिशोरीके चरणोंमें प्रणाम करके वह बोल उठा – श्रीचरणोंमें निवेदन कर देनेके लिये नीलदेवताने एक संदेश भेजा है।।३७५।।

'सेवा न बनी कुछ भी सचमुच अरसिक मुझ किंकर से,' प्रियतम !
'अपनी ही ओर देख, उरमें अविचल निवास देना।' प्रियतम !
'है नहीं मनोभ्रम, सच्ची है घटना सब इस वनकी,' प्रियतम !
'माला है झूल रही उर पर, झूलेगी नित्य तथा।' प्रियतम ।। ३७६।।

कीर बोलता ही चला गया- नीलसुन्दरदेवने यह कहा है – मुझ किङ्करके द्वारा कुछ भी सेवा न हो सकी; सचमुच तुम्हारा यह किङ्कर अत्यधिक अरसिक है ! देवि ! तुम अपनी ओर देखकर अपने इस किङ्करको अपने हृदयमें अविचल निवास देनेकी कृपा करना भला ! और देखो, तुम इन अनुभूत घटनाओंको अपना मनोभ्रम बिलकुल मत मानना । इस वनकी सभी घटनाएँ सच्ची-से-सच्ची हैं। तुम्हारी पहनायी हुई पुष्पोंकी माला मेरे उरपर वैसे ही झूल रही है और नित्य झूलेगी ही।।३७६।।

वह वायुकोण में कीर उड़ा, कहकर इतना-सा ही, प्रियतम !
घर चली नृपति-पुत्री, अपना मन रखकर वनमें ही, प्रियतम !
सब बोल रही थीं सखियाँ, वह बोली न किंतु कुछ भी, प्रियतम !
काँचा वह भाव-तड़िच्चालिततनका था लौट रहा, प्रियतम।। ३७७।।

इतना-सा ही कहकर वह तोता वायुकोणमें उड़कर चला गया। राजनन्दिनी भी अपने घरकी ओर अग्रसर हुई। किन्तु उनका मन उस वनस्थलमें ही फँसा रह गया। चारों ओर सहचरियाँ बोल रही थीं; पर राधाकिशोरी एक शब्द भी न बोली – भाव-विद्युत्से परिचालित उनके तनका ढ़ाँचामात्र ही घरकी ओर लौट रहा था।।३७७।।

*आते ही घर मैया उर में भर कर, दृगधारा से, प्रियतम!*
*नहलाकर, 'कैसे क्या देखा वनमें?' पूछने लगी, प्रियतम!*
*औरों ने बात कही, किंचित छोटी छोरी ने भी, प्रियतम!*
*केवल नीरव वह एक रही, कह सकी न, बड़ी लली, प्रियतम।।३७८।।*

घर आते ही मैयाने राधाकिशोरीको हृदयसे लगा लिया। अपने नयनोंकी धारासे किशोरीको नहलाकर वे पूछने लगीं-मेरी लाडिली री ! तूने वनमें क्या-क्या, कैसे देखा ?............किशोरीकी सहचरियोंने तो अपनी-अपनी बातें बतायीं; किंचित्-सी बात लाडिलीकी छोटी बहनने भी कही, नीरव तो एकमात्र राधाकिशोरी ही रहीं। वे चेष्टा करनेपर भी कुछ बोल न सकीं।।३७८।।

*उद्यान महल से सटा हुआ जो था विशाल उसका, प्रियतम!*
*उसमें ही जा बैठी उस दिन हो जाने पर सन्ध्या, प्रियतम!*
*था प्रिय एकाकीपन उसको सर्वथा आज अब तो, प्रियतम!*
*उस वन की वह नीली प्रतिमा मानो सन्मुख ही थी, प्रियतम।।३७९।।*

राजप्रासादसे सटा हुआ जो विशाल उद्यान था, जिसमें किशोरी प्रायः संध्याके समय अवश्य जाती थीं, उसमें वह आज भी जा बैठीं। उस दिनकी संध्या हो चुकी थी, तभी किशोरी उद्यानमें आयी थी। किन्तु आज किशोरीको सर्वथा एकाकीपन प्रिय था। उसे अनुभव हो रहा था, मानो उस वनकी वह नीली प्रतिमा सम्मुख खड़ी है।।३७९।।

*तोते के द्वारा प्रेषित वह सन्देश देवता का, प्रियतम!*
*उसके कानों में गूँज रहा मधुभरा निरन्तर था, प्रियतम!*
*त्वक् और नासिका, रसना में अनुभूति भरी वह थी, प्रियतम!*
*जो भुजा-समर्पण के क्षण में उसको थी वहाँ हुई, प्रियतम।।३८०।।*

किशोरीके कर्णपुटोंमें तोलेके द्वारा प्रेषित नीलसुन्दरके संदेशकी ध्वनि गूँज रही थी; उसमें कहीं भी तनिक विराम नहीं हुआ था। और तो न्या, उस संदेशमें भरी हुई मधुकी धारा उत्तरोत्तर वेगवती होती जा रही थी। उसकी स्पर्शेन्द्रिय एवं नासिकामें तथा रसनामें भी – नीली प्रतिमाकी ग्रीवामें भुजा-समर्पणके समय जो अनुभूति हुई थी – वही परिपूर्ण हो रही थी।।३८०।।

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

इन छन्दोंमें पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबाने किशोरी राधाके 'स्नेह-प्रासाद'में प्रवेशकी समग्र दशाका वर्णन किया है। छन्दसं ३२८में वे पूर्वतः कह ही चुके है कि राजतनूजा राधा स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव – प्रेम-महलकी इन सप्त मञ्जिलोंकी एक मात्र अधिष्ठात्री देवी हैं। किन्तु अभी वे मात्र स्नेहकक्षमें ही उतरी हैं। इस समग्र शतकमे स्नेहभावसे अभिभूत विशुद्ध प्रेमीके चित्तकी जो दशा होती है, उसीका साररूपमे वर्णन किया गया है।

यह सदैव ध्यान रहे कि श्रीराधा स्वरूपतः श्रीकृष्णप्रेमकी घनीभूत नित्य चेतन स्थिति हैं। वस्तुतः भगवान्‌में जो आनन्दशक्ति है, उसका सार है प्रेम और प्रेमका सार है मादनाख्य महाभाव। अतः प्रेमकी एकमात्र आत्मस्वरूपा होनेसे श्रीराधाके चित्तमें मात्र सात वर्षकी वयमें ही लीला-रसास्वादनार्थ विलक्षण विशुद्ध प्रेमवृक्ष पल्लवित हुआ है। यह नहीं भूलना चाहिये कि वे चिन्मय परतत्व हैं, साधारण मानवी बालिका नहीं, परन्तु अभी तो उनसे ऐसी ही लीलाका प्रकाश हो रहा है जिसमें उनका चित्त पूरा चुरा लिया गया है। वे जबसे वनसे उस प्रतिमाको अपना आत्मसमर्पण करके अपने प्रासादमें लौटी हैं, अतिशय निर्मल स्वर्णकी भाँति दोषरहित, दुर्लभ एवं पवित्रतम प्रेमकी मधुर-मधुर विविध लहरियोंमें नित्य प्रमुदित मनसे नाच रही हैं। वे अपने प्रियतमके प्रेममे सबकुछ पूर्णतया विस्मृतकर उन्मत्त हो रही हैं। उन्हें अपने प्रियतमका सन्देश उनके दूत शुकके द्वारा मिल चुका है। दूत शुक द्वारा मिले सन्देशने किशोरीके प्रेमको और उद्दीपित कर दिया है। उनके कानोंमें निरन्तर शुककी वाणी ही गूँज रही है -- 'प्रिये ! मैं तो अतिशय अरसिक हूँ। प्रेमधनसे सर्वथा दरिद्र हूँ। मैं तुम्हें तनिक भी सुख देनेमें असमर्थ ही रहा। मुझ तुम्हारे चरण-किङ्करसे तुम्हारी कुछ भी सेवा नहीं बन पायी। परन्तु तुम्हारे द्वारा मुझे जो प्रेम-सौभाग्य मिला, वह असीम है। उसकी कहीं कोई परिमिति ही नहीं है। तुम मेरी त्रुटियोंकी ओर कभी मत देखना। अपना सम्पूर्ण प्रेमामृत उँडेलनेको सदैव मुझे अपने पावनतम हृदयमें अविचल निवास देना। हे प्राणेश्वरी ! तुम सरीखी प्रेममयी केवल तुम्हीं हो। मैं तुमपर बलिहारी हूँ। तुमने जो अपना तन-मन-धन-जीवन अर्पण करते हुए अपने समर्पण-भावोकी प्रतीक यह वनमाला मुझे पहनायी है, विश्वास करना, यह माला मेरे कण्ठमें आज भी झूल रही है और निरवधि अनन्तकालतक सदैव ही झूलती रहेगी। तुमने धर्म, लोक, परलोक, स्वजन, कुल सबका आत्यन्तिक विस्मरणकर जो मेरी यह प्रेमाराधना की है, इस ऋणसे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। हमारी इस पवित्रतम प्रेमाराधनाको तुम निरा मनोभ्रम मत मान लेना। अघटन-घटना-पटीयसी श्रीसुन्दरीके इस वनकी यह अपूर्व घटना है, जो परम सत्य-की-सत्य है। निश्चय मानना, इस मालाके रूपमें मुझे तो सदैव तुम्हीं मेरे हृदयसे लगी दृष्टिगोचर होती रहोगी। प्राणेश्वरी ! मेरे कानोंमें तुम्हारे नूपुरोंकी मधुरतम झङ्कार, मेरे नेत्रोंमें अनन्त मदनका मद हरण करनेवाला तुम्हारा रूप, मेरी घ्राणेन्द्रियोंमें प्रेम-मतवाला बना देनेवाली तुम्हारी मधुर सुन्दर अङ्ग-गंध और मेरे मनमें तुम्हारा मदमत्त करदेनेवाला अङ्ग-संस्पर्श सदैव-सदैव बसा रहेगा। प्रेम-विवश मेरा मन सदैव तुम्हारे लिये नित्य नव-नव रूपमें लालायित होता रहेगा। हृदयेश्वरी ! इसे सत्य, सत्य मानना।'

प्राणप्रियतमके दूत शुकपक्षी द्वारा अतिशय विनम्र भाषामें निवेदित यह प्रिय-प्रेम-सन्देश उसके कानोमें रह-रहकर गूँज उठता था। भुजा-समर्पणके समय उसे जो विचित्र प्रेमानुभूति हुई थी, वह उसकी त्वचा, नासिका एवं रसनामें समा गयी थी और उस विचित्र प्रेम-समर्पणकी भावानुभूतिमें वह डूब गयी थी।

उसकी प्रेम-समर्पणकी वह अनुभूति क्या थी ? क्या उसका भुजा-समर्पण उस प्रतिमासे प्रेमालिङ्गन मात्र था ? क्या उसकी रसनाको अधरामृतरस, नासिकाको अङ्ग-गन्ध अथवा त्वचाको कोई विलक्षण अलौकिक संस्पर्शभोग भर प्राप्त हुआ था, और उस भोग-संस्पर्शकी स्मृति उसे रह-रहकर पुनः प्राप्तिकी कामनामें मतवाला बना रही थी ?

नहीं, नहीं, इन सभी मलिन कामभावोंका तो उसके चित्तमे लेशमात्र भी समावेश नहीं है। उसका प्रेम अचिन्त्य, अनिर्वचनीय है। कहनेके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि काम-दोषके गन्धलेशसे भी वह हीन, शून्य, परम विशुद्ध सहज स्वरूपतः ही है। उसका मन, तन, उसके अङ्ग-अवयव सभी सच्चिदानन्दमय हैं। वहाँ कामना -- अभावरूप विजातीय धातु आये ही कहाँसे ? वहाँ स्वसुख-लालसा तो है ही नहीं। स्वसुख-लालसा तो अपूर्णमें ही होती है। उसमें तो मात्र उसके प्रियतम-ही-प्रियतम ठसाठस भरे हैं। तब ? उस समालिङ्गनमे जो सुखास्वादन उसकी रसना, नासिका एवं त्वचाके माध्यमसे उसके मन-बुद्धितक पहुँचा था , वह तो मात्र आत्मदानका था। उस आत्मदानको भी करनेकी उसमें अहता ही कहाँ रही थी, सब अहंता ही प्रियतमकी अहंतामें लवलीन हो गयी थी। आत्मदान भी उसने किया

नहीं, उससे स्वतः हो गया था। आत्मदान करनेमें यदि कुछ हेतु था तो मात्र प्रियतमको सुखदान देनेकी स्पृहा भर थी। उसके प्रियतमको उसके अधरामृतरस-घूँटने अनन्त प्रेम-सुखमें सराबोर कर दिया, उसके अङ्ग-गंधके आस्वादसे प्रियतमकी नासिका अनन्त अनादि गंध-सुखसे तृप्त हो उठी और उसके मादक सुकोमलतम अङ्ग-स्पर्शसे प्रियतम प्रेमसुखकी लहरोंसे लहरा उठे, यही उसकी इन्द्रियोंका आस्वाद था। उसकी इन्द्रियॉ प्रिय-सुखसे निहाल होकर सुखी होगयी थीं।

जगत्में न जाने कबसे उसमें जो 'मेरे'पनकी दुर्गन्ध अपने निजत्वको लेकर समायी थी, उस पावन क्षणसे उसकी यह मेरेपनकी दुर्गन्ध प्रियतमके पावन अङ्गोंकी सुगन्धसे एकात्म हो गयी थी और अब उसके'मेरे' केवल और केवल नीलसुन्दर प्रियतम ही हो गये। उसकी नासिकाको यही मधुरतम अनुभूति हुई थी कि उसमें जो प्राणी-पदार्थ और परिस्थितियोंसे ममत्वकी दुर्गन्ध भरी थी, वह कपूय प्रियतमकी मादक प्रेमभरी अङ्गगंधसे मिलकर दूर होगयी और अब उसके ममताके एकमात्र केन्द्र नीलमणि श्रीकृष्ण ही हो गये। उसकी रसनाने प्रियतम-प्रेमका जो भी रस चखा उससे उसका जगत्में जो जहॉ भी प्रेम, विश्वास एवं आत्मीयताका भाव था, वह सब मिट गया। अपने प्रियतमको अधरामृतरस-पान करानेका उसे यही प्रतिदान मिला कि उन्हींमें उसका सारा प्रेम केन्द्रित हो गया। अब तो एकमात्र वे-ही-वे और उनका ही भाव रह गया। और उसकी त्वगिन्द्रियने जो प्रियतमको समालिङ्गित किया उससे तो यह समग्र संसार ही अब उनमे ही विलीन हो गया। अब तो किशोरी राधाके लिये उसके प्रियतमके सिवाय किसीकी सत्ता ही शेष नहीं रही।।३८०।।

दो घड़ी बीतते ही सखियाँ उसके समीप आयीं, प्रियतम !
उसको न किंतु दीखी सब वे क्षणभर भी खड़ी वहाँ, प्रियतम !
उन पाँच-सात की संख्या में नीली-प्रतिमा ही है, प्रियतम !
उसको यह अनुभव हुआ और विस्मय में थी डूबी, प्रियतम।।३८१।।

**रजनी दो घड़ी बीतते-न-बीतते सहचरियाँ उसके समीप आ बैठीं। किन्तु किशोरीको वे क्षणभरके लिये भी यहाँ खड़ी हुई दीखी नहीं। किशोरीने तो यह अनुभव किया कि पॉच-सातकी संख्यामें नीली प्रतिमा ही उसके सम्मुख मूर्त हो रही है।- आत्यन्तिक विस्मयमें भरी हुई उसकी ऑंखें सहचरियोंको निहार रही थीं।।३८१।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अहा ! कैसे विशुद्ध प्रियतम-सङ्गमकी उपलब्धि पौगण्डवयसे कैशोरमें पैर रखती हुई सप्तवर्षीया राधाको हुई है कि जैसे पक्षियोके बिना पाँख उगे बच्चे अपनी माँ चिडियाकी क्षुधातुर हुए बाट देखते हैं, जैसे भूखा बछडा अपनी मॉ गायका दूध पीनेके लिये आतुर बना उसकी प्रतीक्षा करता है, वैसे ही वह अपने प्रियतमके प्रेममे छटपटा रही है।

इसीलिये दो घडी बीतते-न-बीतते जैसे सखियॉ उसके पास आती हैं, उसे वे दिखलायी ही नहीं पडतीं। किशोरीको तो यही अनुभव हो रहा है कि पाँच-सातकी सख्यामें वह नीलमणिनिर्मित प्रतिमा ही उसके सम्मुख मूर्त हो रही है और वह विस्मयमें भरी उस प्रेम-खेलको निहारने लग जाती है।

यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि एक नीलमणिरत्नमयी प्रतिमाके दर्शन-स्पर्शालिङ्गन मात्रसे ऐसा विलक्षण प्रेम श्रीराधामें कैसे उदय होगया ? इसका उत्तर यही है कि श्रीराधा तो स्वरूपतः ही महाभावमयी हैं, एवं उसके प्रियतम श्रीकृष्ण भी चिदानन्दमय रसराज हैं। श्रीराधाके प्राणप्रियतम श्रीकृष्णमे देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी एवं लीला-लीला-पुरुषोत्तमका भेद है ही नहीं। जब श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग, उनका नाम, उनका रूप-ध्यान भी पूर्ण श्रीकृष्ण है तो उनके चिदानन्द-रस-सरोवर कृष्णकुण्डसे स्वयभूत यह प्रस्तर प्रतिमा भी पूर्णरूपेण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णमें

अलौकिक प्रेम-सामर्थ्य है। वे अपनी नाकसे चुम्बन ले सकते हैं, अपनी नाकसे समालिङ्गन-सुख दे सकते हैं, अपनी नख-ज्योत्स्नासे रासनृत्य कर सकते हैं, वे अपने रोमसे माखन-चोरी कर सकते है, तब उनके चिदानन्द-रस-सरोवरसे उद्भूत स्वयंभू प्रतिमा यदि अपनी नित्यवर्धनशील रूपमाधुरीसे, नित्यनवीन प्रेमरसदान-चातुरीसे राधा-भावोदधिमे चमत्कारिक उच्छलन उत्पन्न कर दे रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

परम प्रेमके दिव्यरसमें डूबी प्रेमानन्दमयी राधा सर्वत्र अपने प्रेममय रसमय प्रियतमको ही देखती है। उसके चित्तमें जब अन्य दूसरेकी सत्ता ही नहीं रही, एकमात्र उसके प्रियतमका ही अखण्ड साम्राज्य और पूर्ण अधिकार होगया, तब थोडा-सा भी स्थान कहॉं रहा जहॉं उसकी अपनी सखियोंकी कल्पनाकी स्मृति छायारूपमे भी प्रवेश पा सके। जब उसका चित्त साक्षात् अपने प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन गया, तब यह तो स्वाभाविक ही था कि उसके समस्त अङ्ग-अवयव, इन्द्रियॉं अपने प्रियतमका ही अनुभव करतीं। अत श्रीराधाकी समस्त इन्द्रियॉं मात्र अपने प्रियतमको ही विषय कर रही हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?।।३८१।।

बातें कितनी ही बार-बार कह गयीं न जाने वे, प्रियतम !
कानों में कोई भी उनकी बात उतरि न किंतु गयी, प्रियतम !
हैं ओठ हिल रहे, बोल रही नीली-प्रतिमा ही है, प्रियतम !
'प्रियतमे! वल्लभे! प्राणेश्वरि!' यों, थी प्रतीति उसको, प्रियतम ॥३८२॥

**सखियॉं न जाने कितनी ही बार कितनी ही बातें कह गयीं, किन्तु किशोरीके कर्णपुटोंमें उनकी कही हुई उक्तियॉं–एक भी–स्थान न पा सकीं। उसे अनुभव हो रहा था कि नीली प्रतिमा सामने खडी है। उसके होठ हिल रहे हैं, और होठोंके अन्तरालसे यह शब्द निसृत हो रहे हैं – प्रियतमे ! वल्लभे! प्राणेश्वरि .........।।३८२।।**

## तात्त्विक विवेचन–विस्तार

सखियॉं न जाने कितनी ही बार कितनी ही बातें कह गयीं , किन्तु राधाके कर्णपुटोमे जगत्-वार्त्ता प्रवेश कर पावे तब न ! क्या सूर्यको प्रयास करके रात्रिका नाश करना पडता है ? सूर्योदयके प्रकाशका आभास ही रात्रिके अन्धकारको मार डालता है। ठीक इसी प्रकार जब राधाके हृदयमें प्रेम-सूर्योदय हो उठा तो उसमे जगत् श्रवणेन्द्रियके द्वारा कैसे प्रवेश कर पाता ? महान् रसिक सिद्ध सन्त पोद्दार महाराज कहते हैं –

**नित्य प्रकासित स्याम सूर्य, तहँ जग-तम जात डराय !**
**दुस्साहस करि जाय कबहुँ तो बिनु मारे मर जाय।।**

श्रीराधाके तो हृदयमें पवित्र प्रेमका बीज वपन होते ही उसके कानोंने अन्य श्रवणकी वृत्ति ही समेट ली।

**जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।**
**तुलसी कबहुँक रहि सकैं, रबि-रजनी इकठाम।।**

जहाँ प्रियतम-प्रेम है, वहॉं जगच्चर्चा-श्रवणरूप इन्द्रिय-काम कैसे रह सकता है ?

**कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रङ्ग रँग्यौ यह डोरौ।**
**धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढि हलाहल बोरौ।।**
**ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै अब कौन उपाय करै नहिं भोरौ।**
**बायरि वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँडि निहारत गोरौ।।**

फिर राधाके कान अन्य वार्त्ता कैसे सुनें ? उसे तो यही अनुभव हो रहा था कि नीली प्रतिमाके ही होठ हिल रहे हैं, वही मुझसे कुछ कह रही है। और उसे तो एकरस मात्र अपने प्रियतमकी प्रीति-शब्दावली ही श्रवणगोचर हो रही थी – 'प्रियतमे ! वल्लभे !! प्राणेश्वरी !!!' ।।३८२।।

अविलम्ब महल में ले जाना उसको आवश्यक था, प्रियतम !
जैसे उस सखी सयानी ने उसका कर अब पकड़ा, प्रियतम
मेरा है किया हस्तधारण नीली-प्रतिमा ने ही, प्रियतम !
वह लगा और अनुभूति हुई प्राण स्पर्शी सुख की, प्रियतम॥ ३८३॥

**चिन्तामें निमग्न हुई सखियाँ अपने कर्तव्यका निश्चय करने लगी – किशोरीको शीघातिशीघ्र महलमें ही ले चलना चाहिये – सबका यही निश्चय हुआ। जैसे ही उस सयानी सहचरीने उसका हाथ पकड़ा कि राधाकिशोरीको यह अनुभव हुआ – नीली प्रतिमाने ही मेरा हस्त-धारण किया है – एक प्राणस्पर्शी अनिर्वचनीय सुखका अनुभव करके किशोरी भूल गयी अपने आपको।।३८३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सखियाँ उसकी दशा देखकर चिन्तित हो उठीं। उन्होने एकमतसे यही निर्णय लिया कि उसे अविलम्ब महलमें ले जाना चाहिये। उन सखियोंमें सबसे सयानी और राधाकी परम प्रेष्ठ सखी ललिता ही थीं। उसने उसका हाथ पकडा। किन्तु प्रिया राधाकी तो यही अनुभूति थी कि वह अपने प्रियतमको प्राणोसे बढकर प्यारी है। प्रियतमके मन-बहलावकी वह मात्र साधन है। बस ! इसीलिये प्रियतमने अपने केलिसुख या उसे कुञ्जोमें ले चलनेके लिये ही उसका हस्त-ग्रहण किया है। अपने प्राण-प्रियतमकी कमनीया वे उनकी सुखेच्छाका निषेध कैसे करे ? वे तो अपने प्रियतमके पारावारमें विहार करनेवाली मीन हैं। अपने प्रियतमकी वे ही प्रेम-तरङ्गिणी हैं। बस, उनके वदनपर हास्य एवं आनन्दकी अनन्त तरङ्गें नाच उठीं। वे अपने प्रियतमके प्रेममे मतवाली हो उठीं और प्राणस्पर्शी सुखने उन्हें अभिभूत कर दिया।।३८३।।

विश्राम-कक्ष में उसको वे ज्यों- त्यों कर ले आयीं, प्रियतम !
थी बहिन कनिष्ठा लगा रही सुरभित विलेप तनमें, प्रियतम !
यह भान हुआ उसको, सौरभ नीली-प्रतिमा में है, प्रियतम !
उससे झर-झर भर रहा और मेरे अङ्गों में है, प्रियतम॥ ३८४॥

**.........जैसे-तैसे सखियाँ उसे विश्रामकक्षमें ले आयीं। अनुजाने सुरभित विलेपन किशोरीके तनमें लगाना आरम्भ किया, किन्तु किशोरीको अनुभव हुआ कि यह सौरभ तो नीली प्रतिमासे झर-झरकर मेरे अङ्गोंमें भरकर उनको सुरभित कर दे रहा है।।३८४।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

उसको सखियाँ तो दिख ही नहीं रही थीं। उसे तो सखियोके रूपमे वह नीली प्रतिमा ही अनेक बनी दृष्टिगोचर हो रही थी। वह आश्चर्यसे उन अनेक बने अपने प्रियतमकी छविको निहारती विश्राम-कक्षतक चली आयी। वहाँ सखियोंने उसे पलङ्गपर लेटा दिया। उसकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामाने अतिशय सुरभित विलेप लेकर उसके अङ्गोंमें लगानेका मन किया, जिससे उसे किञ्चित् शीतलता मिले। सखियाँ यही अनुमान कर रही थीं कि वन-भ्रमणमे अतिशय श्रान्त हो जानेके कारण ही उसके मस्तिष्कमें विकार उत्पन्न हो गया है। किन्तु किशोरीको तो अपने प्रियतमके प्रेम-नशेमें मतवाली होनेके कारण यही अनुभव हो रहा था कि विश्वमें जहाँ जितना भी सौरभ है, वह समग्र भी यदि कहीं पुञ्जीभूत हो जाय और उसको कोई अनन्त गुना कर दे, तब भी जो सौरभ उसकी प्रियतमस्वरूपा नीली प्रतिमामें है, उसकी तुलनामें वह सौरभ हेय, तुच्छ ही सिद्ध होगा। अस्तु, उसके अङ्गो-प्रत्यङ्गोंमे नीली प्रतिमाका ही सौरभ, उसके अङ्गोंसे ही झरकर भर

रहा है। क्यो न झरे, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग रोम-रोमको वह नीली प्रतिमा ही तो असीम प्रेम करती है। अतः वह प्रतिमा यदि अपनी प्रीति-सुवासका आस्वादन उसे न करायेगी तो किसे करायेगी? अपने प्रियतमके प्राणोंकी स्वामिनी तो वही है। नीली प्रतिमाके प्राणोंकी स्वामिनी , उनकी अधिष्ठात्री, उनके मनमें एकमात्र वही तो बसी है।।३८४।।

ब्यारू न करा पायीं सखियाँ, तब अनुजा ने अपनी, प्रियतम !
अधजूठ मिठाई वह उसके ओठों पर तनिक रखी, प्रियतम !
है अधर-सुधा यह तो सचमुच नीली-प्रतिमाकी ही, प्रियतम !
होने यह भान लगा उसको, खाती वह चली गयी, प्रियतम।।३८५।।

**कोई भी सहचरी उसे आज ब्यारू न करा सकी। कोई उपाय न देखकर अनुजाने एक मिठाईको अधजूठ करके बडी बहनके होठोंपर रख दिया। बड़ी बहनको अनुभव हुआ – अहा ! यह तो नीली प्रतिमाका ही प्रीतिदान है। उसकी यह अनुभूति गाढ़ी-से-गाढ़ी होती चली जा रही थी और वह खाती ही चली गयी।।।३८५।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सन्ध्याका समय हो गया है। किशोरीके चित्तमें प्रेमोन्मादके चिह्न स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं। उसके अणु-अणुसे प्रेमानन्द झर-सा रहा है। किशोरीकी प्रेमोन्मत्तता उत्तरोत्तर बढती जा रही है। सखियोंके चित्तमे आकुलता है। प्रातःकाल कलेऊ करके वह उनके सङ्ग वनमे गयी थी। तबसे अबतक उसने कुछ भी नहीं खाया है। सबने पाकशालासे विविध पक्वान्नोंके थाल प्रस्तुत किये और मनुहार कर-करके किशोरीको खिलानेकी चेष्टा करने लगीं। किन्तु किशोरी इतनी प्रेमोन्मत्त थी कि सखियोंकी सम्पूर्ण चेष्टा विफल ही रही। अखिल विश्वको मोहित करनेवाले उसके प्रियतम उसके हृदयके भीतर उसे भरे दिख रहे थे। किशोरी अपने हृदयमें अपने प्रेमास्पदको प्रतिपल नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यसे भरपूर देख रही थी।

उसके प्रियतम किशोरीको इस समय पूर्वापेक्षा अधिक सुन्दर एवं मधुर दिख रहे थे। इस समय उन प्रेममयके एक-एक अङ्गसे, एक-एक रोमसे शोभाश्रीकी ऐसी सुधा-धारा बह रही थी कि किशोरीको यही अनुभव हो रहा था मानो उसकी एक बूँदके आस्वादन करनेकी भी शक्ति उसके नेत्रोंमें अवशिष्ट नहीं रही है। फिर निज शरीरकी भला उसे स्मृति ही कैसे होती ? शरीरकी आत्यन्तिक विस्मृतिमें भोजन फिर कौन करे ?

जब सभी ललितादि सखियाँ विफल-मनोरथ हो गयीं तो राधानुजा मञ्जुश्यामा किशोरीके सम्मुख ऐसी मुद्रा धारण करके खड़ी हो गयी मानो वह नीली प्रतिमा ही हो। मञ्जुश्यामाका श्यामल वर्ण और उसकी वैसी ही प्रेम-मुद्रा देखकर किशोरी भावमें भर उठी। उसके होठ बुदबुदाकर अस्फुट भाषामे कुछ उच्चारण करने लगे –'प्रियतम ! तुम तो सदैव ही मेरे नेत्रोंको सुख देते हो, परन्तु जैसा अतिशय माधुर्य इस समय मैं तुम्हारी इस भगिमामे देख रही हूँ – वैसा तो मैंने पहले कभी नहीं देखा था।''

बस, अनुजा मञ्जुश्यामाको अवसर मिल गया। उसने थालीमें से एक मिष्टान्न-खण्ड उठाया, उसे अपने अधरोंसे लगाया और किशोरीके मुखमें दे दिया। किशोरी इसी अनुभवमें डूब गयी मानो नीली प्रतिमा ही जीवन्त उसके सामने खडी उसे अपना अधरामृत-प्रसाद दे रही है। किशोरीके शरीरके अणु-अणुमें एक बार तो अभिनव तडिल्लहरी ही दौड गयी। उसके नेत्र छल-छल करने लगे। नीली प्रतिमा अपने बंकिम नेत्रोंसे प्रेम-वर्षा करती उसे अपना अधरामृत प्रसाद खिलाना चाहती है। अब निषेध कैसा ? ओह ! शत-सहस्रगुणित माधुर्य, अरुणाभ नयनाम्बुज, मणि-किङ्कणी-विभूषित कटिदेश, नूपुर-सुशोभित चरणारविन्द, कौस्तुभमणिभूषित वक्षस्थल, वही सुवर्णरेखा, प्रफुल्ल नीलोत्पल-विनिन्दित अङ्गकान्तिसे कक्षको उद्भासित करती नीली प्रतिमा जब किशोरीके मुखपर अपने हाथसे अपना अधर-रसना-प्रसाद दे तो वह उसे कैसे ग्रहण नहीं करे। किशोरी मञ्जुश्यामाके हाथसे भोजन करती ही चली गयी।।३८५।।

वैसे ही उसे पिलाया फिर जल भी अनुजाने ही, प्रियतम !
वैसे ही भुला-भुलाकर ही वह पान खिला पायी, प्रियतम !
'है प्रीति-दान यह तो मुझको नीली-प्रतिमा का ही', प्रियतम !
उसकी प्रतीति थी क्रमशः यह गाढ़ी होती जाती, प्रियतम ॥३८६॥

**जिस प्रकार अनुजाने किशोरीको भोजन कराया, ठीक उसी विधिसे उसने उसे पानी भी पिलाया, और जब उसने पानी पी लिया तो इसी विधिका अवलम्बन करके अनुजाने उसे बीड़ी भी मुखमें दे दी। यह सब मेरे प्रियतम नीली प्रतिमाका ही योगदान है, उसकी यह अनुभूति क्रमशः गाढ़ी-से-गाढ़ी होती चली जा रही थी। ।।३८६।।**

थी एक पहर रजनी बीती, सहसा वह उठ बैठी, प्रियतम !
अपनी ही अहो! हथेली पर जा टिकी आँख उसकी, प्रियतम !
दीखी वह पूरी-की-पूरी नीली-प्रतिमा-जैसी, प्रियतम !
ऊपर वह बाहुमूल तक था पूरा कर ही नीला, प्रियतम ॥३८७॥

**रजनी एक प्रहर व्यतीत हो चुकी थी कि सहसा किशोरी उठ बैठी। अपनी ही दोनों हथेलियोंपर उसकी आँखें जा टिकी। उसे अनुभव हुआँ – अरे ! यह तो पूरी-की-पूरी नीली प्रतिमा जैसी है। और तो क्या, बाहुमूलतक उसके दोनों हाथ नीलवर्णके हो गये थे ।।३८७।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अब तो मञ्जुश्यामाको किशोरीको खिलानेकी कुञ्जी मिल गयी। उसने उसी मुद्रामें अपने अधरोंसे सटाकर पानी पिलाया और जब किशोरीने पानी पी लिया तो इसी विधिसे उसे पानकी अमल सुगन्धित बीडी खिलाई।

## जिज्ञासा

**कोई रससे अपरिचित प्राकृतावेशी व्यक्ति यहाँ शङ्का कर सकता है कि सच्चिदानन्दमयी ह्लादिनीशक्ति होकर श्रीराधाजी प्रियतमके विभु प्रेमभावमें विभोर हुई भी अधरगत लारसे सना प्रसाद भोजन करनेमें, उच्छिष्ट जल पीनेमें, जूठी पानकी बीड़ी खानेमें इतनी आसक्त क्यों हो गयीं, जब कि पूर्वतया उन्हें ललितादि सखियाँ भगवती त्रिपुरसुन्दरीका भोग वृषभानु-प्रासादसे लाकर खिला रही थीं, और जिसे प्रयास करनेपर भी ये नहीं खा रही थीं। वह भागवत दिव्य प्रसाद जो ऋषि भागुरि जैसे ब्रह्मनिष्ठ संत-परम्पराके ब्राह्मणोंके द्वारा वेद-मंत्रोंकी पूत ध्वनिसे अभिमंत्रित किया गया था, जिसे देवाह्वान मंत्रोंसे परमदेवताको साक्षात् प्रकट करके भोग लगाया गया था, वह अपने गृहदेवता द्वारा भुक्त परम पवित्र प्रसाद जब उन्हें अग्राह्य था तो अपनी भगिनीके द्वारा मात्र नाटकीय त्रिभङ्गी मुद्रा बनाकर उच्छिष्ट किया मिष्ठान्न उन्हें क्योंकर ग्राह्य हो गया ?**

## समाधान

इस प्रश्नका यही उत्तर है कि यहाँ सच्चिदानन्दघन दिव्यप्रेमरसविग्रह ब्रजेद्रनन्दनकी अभिन्नस्वरूपा नीलमणि-प्रतिमासे प्रिया किशोरी राधाका पूर्वरागरूप प्रेमविहार हो रहा है। श्रीराधा-माधवके इस सर्वथा अलौकिक अतिशय उज्ज्वल भावराज्यमें नित्य 'एक' पर 'अनेक' बने परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला अनन्त भाव-लहरियोंमें लहरा रही है। यहाँ वृषभानुपुरके भवनमे स्थित वृषभानु गोप-परिवारकी आराध्या परमदेवता

पराभट्टारिका त्रिपुरसुन्दरी ललिताम्बा श्रीराधा-माधवकी जितनी मात्रामें आराध्या एवं पूजनीया हैं, ठीक उसी मात्रामें भगवती ललिताम्बाके लिये भी ये नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण और नित्यनिकुञ्जेश्वरी प्रिया राधा उतनी ही प्रेमास्पद हैं। हाँ, यदि कोई भेद है तो इतना ही है कि पराम्बा इन अज अनादि युगल दम्पतिकी श्रद्धास्पद हैं और ये युगल दम्पति पराम्बा भगवतीका हृदय हैं। इस सत्यका प्रकाश भगवती जगदम्बा स्वयं वृषभानुपुर-महिषी कीर्तिदा मैयाके सम्मुख करती हैं। पू.गुरुदेव इसी काव्यके प्रथम शतक छन्द संख्या ६४ से ७१ में इसी रहस्यका प्रकाश कर चुके हैं। वे कहते हैं –

**प्रातःकी वेला थी, रानी देवी मन्दिरमें थीं, प्रियतम !।।६४।।**

* * * * *

**थे नहीं अभी राजा आये अर्चनके लिये यहाँ, प्रियतम !**
**कर रही अकेली रानी थीं पूजाकी तैयारी, प्रियतम !।।६५।।**

* * * * *

**दीखा यह अकस्मात् उनको, हँस पड़ीं महादेवी, प्रियतम !**
**फिर अहो ! उरस्थल उनका था क्रमशः खुलता जाता, प्रियतम !**
**अञ्चल वह परदा-सा होकर बायें-दायें सरका, प्रियतम !**
**बन गया द्वार उससे निकली मनको हरनेवाली, प्रियतम !।।६६।।**

* * * * *

**रानीमें चेतनता न रही बाहरकी किञ्चित् भी, प्रियतम।।६७।।**

* * * * *

**भीतरकी आँख किन्तु उनकी थी देख रही घटना, प्रियतम !**
**देखी उनने जो थी उसका संकेत भले कर दूँ, प्रियतम !**
**द्रुम एक परम रमणीय खड़ा पुष्पित कदम्बका था, प्रियतम !**
**थी नित्य किशोरी एक, और था एक किशोर वहाँ, प्रियतम !।।६८।।**

**उन दोनोंकी ही ओर दृष्टि करके जगदम्बा थीं, प्रियतम !**
**कहती – 'हे सती ! आज कर ले दर्शन मेरे उरका,' प्रियतम !**
**'सच्चिदानन्द, असमोर्ध्व और जो भगवत्ताका भी,' प्रियतम !**
**'है सार-मूल मधुरिमा, यही नीली-पीली द्युति है,' प्रियतम !।।६९।।**

**'रसमय, संविद्,केवल, अद्वय, जो नील-पीतमय है,' प्रियतम !**
**'यह नित्य हृदय मेरा, जिसमें हूँ लीन हुई रहती,' प्रियतम !**
**'लीलारस पीता हुआ नित्य जो युग्म रूपमें है,' प्रियतम !**
**'रहकर दो, नित्य एक जो है,दृग-विषय हुआ वह है, प्रियतम !।।७०।।**

यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि भगवती पराम्बाका हृदय परात्पर परतत्व-सार है। अस्तु, जब श्रीराधा स्वयं भगवतीका सार-स्वरूप ही हैं तो उनका प्रसाद-ग्रहण करना, न करना उनके लिये कोई अपराधका सृजन नहीं करता। दूसरे, वर्त्तमानमें वे जिस प्रेमकी गरिमामयी भाव-अवस्थामें स्थित हैं, उसमें समग्र अग-जगका डेरा ही उन्होंने अपने प्रियतमके चरणोंमें समर्पित कर दिया है। समर्पणका अर्थ ही है कि वे सम्पूर्ण अग-जगको विस्मृतकर मात्र प्रियतम-स्मृतिमयी हो चुकी हैं। हम शरण शब्दका, समर्पण शब्दका वस्तुतः सही अर्थ जानते ही नहीं हैं। जब हम

पिताकी, पुत्रकी, परिवारकी, धनकी स्मृति अपने भीतर सघन सँजोये हैं तो वस्तुत हमने इन वस्तुओका समर्पण प्रभुको किया ही नहीं। समर्पित वस्तुको प्रभुको देकर हम अपने भीतर मात्र प्रभु-स्मृति ही रखें और समर्पित वस्तुका हमें विस्मरण हो जाय, तभी सच्चे अंशमें समर्पण घटित होता है। किशोरीको तो देह-देही, बन्धु-परिवार, अपनी अनुजा मञ्जुश्यामा एवं प्राणप्रेष्ठ सखी ललिता-विशाखाकी भी आत्यन्तिक विस्मृति है। उनके चित्तसे सबकी सत्ताएँ ही सिमट-मिटकर उनके प्रियतमके अखण्ड अस्तित्वमें समा गयी हैं। यही उनके आत्यन्तिक प्रेमके समर्पणका स्वरूप है। इसीलिये उनका भोजन-पान विस्मृत हो गया है। श्याम-कलेवरा उनकी छोटी बहिन वस्तुतः ही कोटि-कोटि कन्दर्प-कमनीय, माधुर्य-सौन्दर्य-सुधा-रस-समुद्र परमानन्दोदधि प्रियतम श्रीकृष्णकी ही छाया है। आगेके प्रसङ्गमे पॉचवे शतकमे छन्द सं.४३२ एवं ४३३में श्रीकृष्ण अपनी मैया यशोदाको कीर्त्तिदा रानीके सम्मुख स्पष्ट निर्देश देते हुए कहते हैं —

**'मैया री ! अच्छा,सुन ले यह,तू समझ नहीं पायी, प्रियतम !**<br>
**मैं एक साथ दोनों गृहमें रह लूँगा देख सही', प्रियतम !**<br>
**आरसी एक चम-चम करती थी पड़ी पासमें ही, प्रियतम !**<br>
**मरकत-सॉवर छोरा बोला होकर समक्ष उसके, प्रियतम !।।४३२।।**

**'तेरे घर तो मैं स्वयं नित्य हूँ और रहूँगा ही, प्रियतम !**<br>
**अब अहो ! प्रतिच्छाया मेरी रानीको यह दूँगा, प्रियतम !**<br>
**इनकी दृगपुतरी बेटीजी श्रीजीके साथ सदा, प्रियतम !**<br>
**मेरी यह छाया भी खेले, मैं तो खेलूँगा ही', प्रियतम !।।४३३।।**

**वह थी विनोदकी बात,किन्तु रानीमें समा गयी, प्रियतम !**<br>
**बनकर लालसा बुद्धि-मनको मन्थन करनेवाली, प्रियतम !**<br>
**यह बने कदाचित् संभव सच जगजननीकी रुचिरे, प्रियतम !**<br>
**परछाँही,यदि वह आ सकती शिशु बनकर घर मेरे, प्रियतम !।।४३८।।**

**यह अहो ! चित्तधारा विरमित हो, उससे पहले ही, प्रियतम !**<br>
**रानीकी आँखोंमें शत दस दिनकरकी ज्योति भरी, प्रियतम !**<br>
**श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी खड़ी नभमें थीं पूछ रही, प्रियतम !**<br>
**'है एक चाह, जो भी अबतक पूरी न तुरन्त हुई ? प्रियतम !।।४४०।।**

**इस नीलदेवताकी छाया चिन्मयी अनूप हुई, प्रियतम !**<br>
**कन्या बनकर उदरस्थलमें तेरे प्रविष्ट होगी, प्रियतम !**

कहनेका यही तात्पर्य है कि किशोरीके प्रियतम श्रीकृष्णकी छाया ही जब उनकी अनुजा बहिन मञ्जुश्यामा थी, तो उसमें उस नीलमणि प्रतिमाकी प्रत्यक्ष अनुभूति प्रिया किशोरीको हो उठे और वह उसका चिन्मय प्रसाद खाती चली जावे, इसमें अस्वाभाविकता है ही कहाँ ?

श्रीराधामे प्रेम-समर्पणकी परिपूर्णता है, इसीलिये वे परम अनुरागके मधुर सागरमें डूबी हैं। उन्हें अपनी बहिन मञ्जुश्यामा दिखती ही नहीं। उन्हें तो उनकी नीली प्रतिमा ही भोग लगाती दिख रही है और उस प्रेम-प्रतिमाके एक-एक अङ्गके एक-एक रोमसे प्रेमकी ऐसी सुधाधारा बह रही है कि किशोरी उस प्रेमधाराका ही आस्वादन कर रही है, किसी भोज्य-खाद्यका आस्वादनानुभव उसे है ही नहीं।

यहाँ ध्यान रहे, श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग-अवयव पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णका मुखमण्डल तो किसीको स्पृहणीय लगे, प्रेम-पवित्र, मङ्गल-निकेतन अनुभव हो और श्रीकृष्णके अधररसको कोई प्राकृत लारके समान घृण्य, निकृष्ट काम-कमनीय समझे, यह उसकी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अज्ञानजन्य भ्रान्ति ही है। जिन श्रीकृष्णके अधररससे सनी मुरलीमें जडको चेतन और चेतनको जड कर देनेकी सामर्थ्य है, जो अधररस वेणु-निंनादके माध्यमसे ब्रजके पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गममें, पत्र-पत्रमें, वृन्दावनकी भूमिके कण-कणमें, यमुनाजलके अणु-अणुमें, वृन्दावनाकाशके परमाणु-परमाणुमें, प्रेमानन्द भर दे, जो श्रीकृष्णकी अधर-सुधा निर्बीज समाधिनिष्ठ परमहसोंको समाधिसे विचलित करनेमें समर्थ है, जो अधर-सुधा अमृतके माधुर्यको फीका बना देनेवाली हो, जो गोपाङ्गनाओंके धर्म-धैर्यको विस्मृत कराके उन्हे अधीरताकी चरम सीमामे प्रतिष्ठित कर देनेवाली हो, वह कामदेवपर विजय-दुंदुभि बजाकर उसको अपने शासनमें रखनेवाली श्रीकृष्णकी अधर-सुधा प्राकृत निकृष्ट लार सर्वथा नहीं है। फिर इन राधानुजाका अधरामृत-रस तो परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयके द्वारा भी सदैव लालायित होकर स्पृहणीय है। अतः जो ऐसी निकृष्ट प्राकृत बुद्धि रखते हैं वस्तुतः वे अपने भयङ्कर प्राकृतावेश, श्रीकृष्णतत्वके प्रति पूर्ण अज्ञान एव अनास्थाका ही प्रकाश करते हैं। वे अबतक निकृष्ट नरक-भूमिसे ही पार नहीं गये हैं।

जैसे निर्विशेष अमूर्त्त सुगन्ध सविशेष मूर्त्त पुष्पके प्रति प्रीतिकी अभिवृद्धि कर देती है, वैसे ही इस अधरामृतरससे सने अन्न-जल एवं ताम्बूलसे किशोरीके चित्तमें अपने प्रियतमकी प्रतीति प्रगाढ, प्रगाढतर एवं प्रगाढतम होती चली गयी। इस अधरामृतरसमें **'रसो वै सः'** इस श्रुतिके अनुसार 'सः' वह लीला पुरुषोत्तम, रसिक-परब्रह्मरूपा नीली प्रतिमा तो थी ही। अतः वह रसिक-प्रतिमा मुझे अनन्त आनन्दराशि अपना रसदान करने यहॉ भी मेरे सम्मुख प्रकट हो गयी है, इस भावने किशोरीके प्रेमको और प्रगाढ कर दिया। बस, किशोरीके प्रेममें इतनी प्रगाढता अभिवृद्ध हुई कि उनके शरीरके अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोमका भी उस प्रतिमासे विशुद्ध प्रेममय निरुपाधिक संयोग हो गया। यहॉ 'निरुपाधिक' शब्दको समझनेकी चेष्टा करें। प्रिया किशोरीका यह प्रियतम-संयोग किसी काम-हेतुसे नहीं है। यह कर्म, लोक, धर्म, शास्त्र, मोक्ष, किसी भी भाव, वस्तु या मनोरथसे शून्य विशुद्ध प्रेममय है, इसीलिये यह अन्य किसी भी उपाधिसे हीन होनेसे निरुपाधिक है। यहॉ किशोरी तो अङ्गी हैं और राधानुजा मञ्जुश्यामा उस अद्भुत अनिर्वचनीय काम-गन्ध-लेश-शून्य दिव्य विलासरसके आस्वादन-वैचित्र्यका सम्पादन करानेवाली उनके रसास्वादनकी उपकरणरूपा हो गयी हैं। बस, इस प्रगाढतामें डूबी किशोरीकी जब वृत्ति बहिर्मुखी हुई तबतक एक पहर रजनी व्यतीत हो चुकी थी। सहसा वह उठ बैठी। उसकी दृष्टि अपनी ही हथेलीपर जा टिकी। उसने देखा कि वह हथेली पूरी-की-पूरी नीली प्रतिमा-जैसी ही है। उसकी दृष्टि हथेलीसे बाहुमूलतक ऊपर उठ गयी, किशोरीको ठीक प्रतीत हुआ कि उसका बाहुमूलतक पूरा हाथ ही नीले वर्णका हो गया है। ।।३८६-८७।

दो-तीन पलोंके अन्तर से उसने लहँगा अपना, प्रियतम !
सरका कर हेतु भरे दृग से देखा अपने पद को, प्रियतम !
ये गुल्फ और घुटने सब थे नीली-प्रतिमा-जैसे, प्रियतम !
वैसा ही नीलापन पूरित पूरे चरणों में था, प्रियतम॥ ३८८॥

**दो-तीन पलोंके अन्तरसे किशोरीने अपने लहँगेको किंचित् ऊपरकी ओर सरकाया और ध्यानसे अपने चरणोंको देखने लग गयी। अहो ! यह कैसे ! यह गुल्फ, ये घुटने सर्वथा नीली प्रतिमा-जैसे हैं। ज्यों-का-त्यों वही नीलापन सम्पूर्ण चरणोंमें परिपूरित जो है ! ।।३८८।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

दो-तीन पलतक तो किशोरी विस्मित-सी स्तब्ध बैठी रही, फिर उन्होने अपना लहँगा सरकाकर अत्यन्त हेतुभरी दृष्टिसे अपने चरणोंको, अपनी पिण्डलियोंको देखा। वे चकित थीं कि उनकी जघा, घुटने आदि सभी निम्नाङ्ग नीली प्रतिमाके समान ही थे। जैसा नीलापन उनके बाहुमूलतक पूरे हाथमे था, वही नीलापन उनके चरणोमें भी ऊपर कटितक था।।३८८।।

*जाते न एक पल जाते ही उसको यह भान हुआ, प्रियतम।*
*नव चिह्न किशोरीपन का वह कोई न अङ्गमें है, प्रियतम!*
*'मेरा तन भी यह पूरा है नीली-प्रतिमा-जैसा;' प्रियतम!*
*'आभूषण के बदले यह है वैसे ही वेणु धरे!' प्रियतम।।३८९।।*

**एक पल जाते-न-जाते किशोरीको भान हुआ-अरे ! किशोरीपनका तो कोई भी चिह मेरे अङ्गोंमें नहीं है। मेरा सम्पूर्ण शरीर नीली प्रतिमा-जैसा ही है। और देखो, अरे ! आभूषणके बदले यह तो वेणुधारण किये हुए है।।३८९।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

त्यागका अर्थ क्या है ? त्याग केवल वस्तुका ही नही होता, हम तो अपनी वस्तुओको भी त्यागते हुए सङ्कोच करते हैं। श्रीराधाका परमोज्ज्वल त्याग इतना स्वाभाविक है कि वे नीली प्रतिमाके प्रेममें अपने शरीरके स्वरूपको ही त्याग देती है। श्रीराधा प्रेमरसमे डूबी अपने आपमे विचित्र व्यवहार अनुभव कर रही है।

महारसिक सिद्ध सन्त श्रीपोद्दार महाराज अपनी एक रसमयी रचनामे कहते हैं –

**मेरे तुम, मैं नित्य तुम्हारी, 'तुम' 'मैं' 'मैं' 'तुम' सङ्ग-असङ्ग।**
**पता नहीं कबसे 'मैं' 'तुम'बन 'तुम' 'मैं ' बने कर रहे रङ्ग।।**

प्रीतिमे 'मैं' एव 'तू' इतनी पृथक्ता कहाँ रह पाती है। प्रियतम श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण रहें और राधा राधा रहे, तब प्रेम कहाँ हुआ ? किशोरीके सुध-बुध भूलनेका अर्थ मात्र शारीरिक बाह्य ज्ञानशून्यता भर नहीं है। यह वह स्थिति है, जहाँ प्रियतमको छोडकर बाह्य एवं अन्तर् कहीं और कुछ रहता ही नहीं। प्रेम जब प्रियतमके लिये होता है तो वह अपने और प्रियतमके भेदको मिटाता ही है।

**राधा भई कान्ह अरु कान्ह भए राधारानी,**
**है है कैं फेरि दोऊ एक ही लखात हैं।**

इसीलिये यहाँ किशोरीकी ऐसी अवस्था हो रही है कि वे प्रियतम-मन-प्राणवाली ही नहीं, उनके तनवाली भी हो गयी हैं।

एक पल बीतते-न-बीतते किशोरीको भान हुआ कि उसमें तो जो कैशोरके नवचिह्न वक्षोजोंके रूपमे मुकुलित हो रहे थे वे भी अब उसके अङ्गमे नही है। उसका पूरा तन ही ठीक नीली प्रतिमा जैसा ही हो गया है। और विलक्षण बात यह थी कि उसके आभूषण भी 'मुरली' के रूपमे परिवर्त्तित हो गये हैं – ऐसा अनुभव हो रहा था।

सचमुच ही किशोरी राधाके प्रेमने राधाके पास अपना कुछ भी शेष नहीं रखा। उसका अपना अस्तित्व ही प्रियतम हो गया है। श्रीकिशोरी उस अवस्थामे अपने चरण रख चुकी है जहाँ तन,मन, प्राण, सबकुछ उसके प्रियतमके होकर वे एकमात्र प्रियतम-सुखरूप हो उठी हैं।

श्रीराधाके आभूषण भी हैं क्या ? श्रीराधाके आभूषण मात्र उनका प्रेम और उनके प्रियतम रूप ही तो हैं। किशोरीके आभूषण जड़ पत्थर, स्वर्ण एव रत्न तो होनेसे रहे ! नित्यकिशोरी प्रिया श्रीराधा और नित्यकिशोर प्रियतम श्रीकृष्णमें जो कुछ भी अङ्ग-अवयव, वस्त्र-आभूषण, रूप-गुणमे भिन्नता है, यह मात्र भिन्नतामयी रसलीला-धाराके प्रवाहहेतु प्रातीतिक मात्र ही तो है। वस्तुत श्रीकृष्णका सर्वस्व श्रीराधा हैं और श्रीराधाके सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं। अतः श्रीराधाके आभूषणरूपमें या तो उनके प्रियतम-सुखमे हेतुरूप प्रेम-भाव-गुण हैं या स्वयं प्रियतम ही उन्हें सजाने उनसे सलग्न हैं। जो प्रियतम अबतक उनसे संलग्न थे, वे मुरलीरूपमें परिवर्तित हो गये। मुरली भी तो उनके प्रियतमके हाथमे यत्ररूप श्रीराधाका प्रेमाह्वान करनेके निमित्तसे उनकी दूती ही तो है। मुरलीका प्रयोजन भी तो श्रीराधाके प्रेमको उद्दीपित करना है और उनके आभूषणोंका प्रयोजन उनके प्रियतमको सौन्दर्याभिभूत कर रिझाना एवं सुख देना ही है। वस्तुतः तो प्रिया-प्रियतम दोनों ही एक सनातन अज-अनादिरूप हैं जो दो बने हुए अचिन्त्य प्रेमलीला कर रहे हैं।।।३८९।।

थी दशा एक-दो पल तक तो उसकी विचित्र-सी थी, प्रियतम!<br>
इस ऊहापोह-भँवर में था उसका मन उलझ गया, प्रियतम!<br>
रमणी हूँ या सर्वथा पुरुष, नीली-प्रतिमा ही हूँ, प्रियतम!<br>
परिवर्तन है सच यह अथवा हो रही भ्रमित मैं हूँ, प्रियतम।।३९०।।

**एक दो पलतक तो राधाकिशोरीकी दशा अत्यन्त विचित्र-सी हो रही थी। इस भाँतिके ऊहापोहमें उनका मन पूरी तरह उलझ गया था। यहाँतक कि वे यह भी निर्णय नहीं कर पा रही थी कि वे सर्वथा पुरुषें – यह नीली प्रतिमा ही हैं अथवा रमणी हैं। यह परिवर्तन जो उन्हें दीख रहा है, यह वास्तविक है अथवा भ्रमित हो रही हैं वे। क्या उन्हें अपने स्वरूपतककी भी विस्मृति हो रही है ?।३९०।।**

आँखें आधा पल मुँदी रहीं पलकें आधी उसकी, प्रियतम!<br>
निर्णय उसको मिल गया और मन लीन हुआ उसमें, प्रियतम!<br>
वह पर्यवसित मैं पना हुआ नीली-प्रतिमा में ही, प्रियतम!<br>
सब ओर वहाँ अब फैल गयीं नीली-नीली लहरें, प्रियतम।।३९१।।

**आधे पलके लिये किशोरीकी आँखें मुँद गयीं और उन्हें निर्णय मिल गया। उनका मन उसीमें लीन हो गया – किशोरीका सम्पूर्ण मैं-पना उस नील प्रतिमामें ही सर्वथा पर्यवसित हो गया भला! ........अब वहाँ सब ओर नीली-नीली लहरें फैल रही थीं...........।।३९१।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

प्रिया किशोरी इस प्रियतम-भाव-मिलनके प्रवाहमें एक-दो पल पुन स्तब्ध हो गयीं। उसकी विचित्र दशा थी। वह सोचने लगी – 'वस्तुत मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ ? जैसे दूधमे धवलता, अग्निमें दाहकता और पृथ्वीमें गन्ध होती है, उसी प्रकार क्या यह प्रतिमा मुझमें नित्य व्याप्त है ? यह मुझमें जो परिवर्त्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है, क्या यह सच है, या मात्र मैं किसी भावावेशवश भ्रमित हो रही हूँ ?' श्रीराधाकी पलकें आधे पलतक तो इस अनिर्णयकी अवस्थाका समाधान करनेको मुँदी रहीं, परन्तु तत्क्षण ही उसे इस सबका निर्णय मिल गया। उसने ठीक-ठीक निश्चय कर लिया कि वस्तुतः नीली प्रतिमा और उसमें अलगाव है ही नहीं। वस्तुतः न वह रमणी है और न ही नीली प्रतिमा ही 'रमण' है। यह दोनोंका ही नारी-पुरुष भाव मात्र एक चिन्मय प्रेमतत्व है जो मात्र आश्रयालम्बन और विषयालम्बन बनकर लीला-विलास कर रहा है।

प्रिया श्रीराधाने ठीक-ठीक अवगत कर लिया कि वर्त्तमानमें हम दोनों – नीली प्रतिमा और मेरे, समरुचि और समवासनावाले मन एकाकार हो गये हैं। इस प्रेम-विलासमें सम्पूर्ण तन्मयता होनेके कारण ही स्वरूप-शक्तिमान् शृङ्गार रसघनमूर्त्ति नीली प्रतिमा और वह उस प्रतिमाकी स्वरूपाशक्ति महाभावघनमूर्त्ति राधा इस क्षण एकात्म हो उठे हैं। यह जीव एवं ब्रह्ममें अभेद-ज्ञानके समान नहीं है। वस्तुत. मैं राधा और मेरे प्रियतम यह नीली प्रतिमा एक आत्मा होनेपर भी वस्तुतः दो बने रहते हैं और रसराज-महाभावकी यह शाश्वत नित्य पृथक्ता सत्य होते हुए भी दोनोंमें विलक्षण एकात्मता है। इसमे विलास एवं रसास्वादन ही हेतु है। हम दोनोमें तात्विक एकता अक्षुण्ण होते हुए भी हम दोनोंका सर्वातिशायी प्रेम हमें आश्रयालंबन एव विषयालंबनके रूपमें एक दूसरेके सुखमें सुखी करनेकी वासनासे पृथक् कर देता है और समचित्त सत्ताके कारण पुनः एक कर देता है। इस प्रेममें विवर्त्तके कारण ही नीली प्रतिमा आश्रयालंबन होना चाह रही है, अत उसने मेरा रूप ग्रहणकर मुझे विषय बना लिया है। इसी प्रेम-विवर्त्तके कारण ही मैं अपनेको 'कान्त' रूपमें देख रही हूँ। पर यह रज्जु-सर्पवाला विवर्त्त नहीं है। यह प्रेमराज्यकी एक विलक्षण प्रेम-वैचित्य स्थिति है।

बस, यह विचार करते-करते ही किशोरीका 'मैं'पना उस नीली प्रतिमामें ही तल्लीन हो गया। निश्चय ही प्रियतम नीलसुन्दरका प्रेम जिसके अन्तरमें प्रकट हो जाय, वही उस प्रेमके असमोर्ध्व प्रभावको जान सकता है। किसी भी भाग्यवान्के हृदयमें जब इस प्रेमकी आनन्दधारा बहने लगती है, तब वह अमृतके माधुर्यजनित अहङ्कारको सङ्कुचित कर देती है।

अब तो किशोरीके चतुर्दिक् मात्र प्रेममयी नीली-नीली लहरें ही फैल गयीं। परम रसिक सिद्ध संत श्रीपोद्दार महाराज अपनी काव्यमयी रसानुभूतिमें इस तत्वका कैसा विलक्षण प्रकाश कर रहे हैं –

**स्रवननि भरि निज गिरा मनोहर मधु मुरलीकी तान।**
**सुनन न दै कछु और शब्द नित बहिरे कीने कान।।**
**लिपट्यौ रहै सदा तन सौं मम, रह्यौ न कछु बिवधान।**
**अन्य परसकी स्मृति न रही कछु, भयौ चित्त इकतान।।**
**अँखियनकी पुतरिनमें मेरे निसदिन रह्यौ समाय।**
**देखन दै न और कछु कबहूँ, एकै रूप समाय।।**
**रसना बनी नित्य नवरसिका चाखत चारु प्रसाद।**
**मिटे सकल परलोक-लोकके खारे-मीठे स्वाद।।**
**अंगसुगन्ध नासिका राची, मिटी सकल मधुवास।**
**भई प्रमत्त गई अग-जगकी सकल सुवास-कुवास।।**
**मनमें भरि दीनी मोहन निज मुनि-मोहनि मुसकान।**
**चित्त कर्‌यौ चिन्तन रत चिन्मय चारु चरन छविमान।।**
**दई डुबाय बुद्धि रस-सागर उछरनकी नहिं बात।**
**आय मिल्यौ चेतनमें मोहन, भयौ एक संघात।।**

किशोरीके श्रवणपुटोंमें इस नीली प्रतिमाने अपनी मनोहारिणी गिरा भर दी और निरन्तर परिपूरित कर दिया उसे अपनी मधुरस्यन्दी 'प्रियतमे ! प्राणवल्लभे !! प्राणेश्वरी !!!' शब्दोंसे । अब उनके अधरोंसे निःसृत स्वरकी झकृतिके अतिरिक्त वह अन्य कुछ भी सुन नहीं पाती। अन्य सम्पूर्ण घोषोंके लिये कान बहरे हो गये हैं। इस प्रतिमाके परिहासपूर्ण मनोहर सुवचनोंसे उसके कर्णकुहर आनन्दसे परिपूर्ण हो उठे हैं।

इस नीली प्रतिमाके श्रीअङ्गोका संस्पर्श ही सतत समा गया है, किशोरीके रोम-रोममें। उसका परम सुखद मादक संस्पर्श सर्वथा व्यवधानरहित होकर मूर्त्त हो उठा है, सातवर्षीया बाला किशोरीकी त्वगिन्द्रियमे। अन्य किसी संस्पर्शकी तो क्षीणतम स्मृति अब उसके चित्तमे संस्काररूपमें भी नहीं बची है। एकमात्र इस नीली प्रतिमाका ही संस्पर्श किशोरीके गात्रमें अवशिष्ट रह गया है।

किशोरीकी काली पुतलियोमे बस, एकमात्र वह नीली प्रतिमा ही नीली प्रतिमा अहर्निश भर गयी है, उसके अनिन्द्य सौन्दर्यसिन्धुमे पूरी डूब गयी है बाला। अन्य किसी वस्तुको वह कभी देख सके, ऐसी उसकी स्थिति ही वर्त्तमानमें नहीं रही। केवल नीली प्रतिमाका त्रिभुवनमोहन रूप ही उसके मनमे एकछत्र प्रतिबिम्बित रहता है।

किशोरीकी रसनाकी दशा तो और भी विचित्र है। उसे ठीक अनुभव होता है कि इस नीली प्रतिमाके अधरोंके सौरभरूप सुधा-समुद्रसे विश्व-ब्रह्माण्ड पूरा सम्प्लावित है। वह साक्षात् दिव्य पीयूष है। अत वह उसके अधरामृतसिक्त नित्य नवीन मञ्जुल प्रसाद-रसका ही मात्र आस्वादन करती है। इसी रसकी रसिका वह बन चुकी है। सम्पूर्ण अन्य षड्रस भोग उसके लिये स्वाद-विरहित हो उठे हैं।

किशोरीके नासारन्ध्रोमें इस नीली प्रतिमाने अपने श्रीअङ्गोका समग्र सौरभ ही सम्पुटित कर दिया है, अब उसका चित्तरूप पर्वत इस सौरभसे समाच्छादित हो उठा है। अन्य सब सौरभ तो उसके लिये अब दुर्गन्ध ही बन गये हैं। कुवासमे अब कैसा समाकर्षण, अत उसका सब गन्धजन्य भेद ही विलुप्त हो चुका है।

जब सभी ज्ञानेन्द्रियोंकी यह दशा हो गयी है तो अबला किशोरी बाला भला अपने मानसतलकी सरक्षा भी कैसे करे ? अहा ! मुनि-मन-मोहिनी ही नहीं, राधा-मन-मोहिनी इस प्रतिमाके अधरोमे कैसी मुसकान तैरती रहती है ! इस स्मितकी छटा तो त्रिभुवनमें निराली ही है।

अहा ! इस नीली प्रतिमाके चारु चरण-नख-चन्द्रोकी आभा भी तो विलक्षण है। ये नख कोई प्राकृत अस्थिरूप थोडे ही हैं, ये तो सवित् ज्योतिकी छटासे परिपूर्ण उद्भासित झलमल करते है। राधाके चित्तका प्रकाश उनसे एकात्म हो गया, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? राधाके चित्तको इस ज्योतिने एकमेक कर लिया है।

फिर बिचारी बुद्धि कहॉ बचती ? बुद्धिका अध्यवसाय भी तो निमज्जित होना ही था, उस प्रतिमाके अभिनव नित-नूतन रस-महासिन्धुमें। अब तो डूब ही गयी बुद्धि। बाहर कैसे छलक सके ?

और अहता ? हॉ, अहतामे भी एक अपूर्व सघात हुआ। उस सघातजन्य स्फोटसे अहता चूर-चूर हो गयी होता ही है ऐसा। जब सर्वेन्द्रियोमे कोई भर जाता है, तभी अहतामे तीव्रतम मिलनाकाक्षाका उदय होता है। जबतक इन्द्रियॉ ही अन्य रसमें व्यभिचारिणी हो रही हैं तो मिलन किसका, किससे ? एक-एक पलका अमिलन तभी असह्य होता है, जब सभी इन्द्रियॉ, सारे अवयव पहले बिक जाते हैं, तभी हृदयमे मिलनकी ज्वाला धधकती है। उसी समय अहताकी सरिता उन्मादिनी हुई विह्वल एव विकल होकर किसीसे मिलने चल पडती है। और तभी दूसरे छोरसे भी रससमुद्र उमडता है। वह भी अपना कूल-किनारा रहने नही देता। अहता जब तीव्र वेगसे रससिन्धुमे प्रविष्ट होती है, उसी क्षण एक सघात होता है और अहताके अनादिकालीन सारे सञ्चित सस्कार सीमितताको तोड देते हैं। परिच्छिन्नतासे तभी पूर्णतया मुक्ति पाती है अहंता।

अब तो किशोरी रही ही नही। अब तो बस एक अनन्त असीम नीला आनन्द-सिन्धु ही आनन्द-सिन्धु शेष रह गया।

पू गुरुदेवकी वाणी तो इतना ही कहकर मूक हो गयी कि **'सब ओर वहाँ अब फैल गयीं नीली-नीली लहरें प्रियतम!'** किन्तु इन नीली लहरोको पाठक मात्र लहरे ही नहीं समझ ले। आओ ! थोडा हम इन लहरोके स्वरूपका भी विचार कर लें।

ये लहरें बड़े-बड़े संन्यासी-सम्राटोंकी भी समझके परे हैं। सन्यांसिप्रवर आदिशङ्कराचार्यने एक बार अपनी माताकी मुक्तिके लिये इन्हीं लहरोंसे प्रकट होकर दर्शन देनेकी प्रार्थना की थी। उस समय ये लहरे उनके सम्मुख उनकी **'मम भवतु कृष्णोऽक्षि विषयः'** प्रार्थनापर प्रकट अवश्य हुई थी, किन्तु, क्योकि वह प्रार्थना मात्र मुक्तिकी मॉगको लेकर थी, इसलिये उनके सम्मुख ये लहरे अपनेको आवरणमें रखकर ही व्यक्त हुई थीं। उस समय इन लहरोंपर अपने श्रीसम्पन्न गुणोका, अपने शङ्ख, चक्र, गदा एव कमल नामक आयुधोका आवरण था। उस समय ये लहरे सर्वगत थी, सर्वात्मा थीं, समस्त अवतारोंकी प्रवर्त्तक थीं और साक्षात परमात्मा थीं। वे लहरें ब्रह्मा, विष्णु, महेशसे भी अतीत थीं और सच्चिन्मयी नीलिमाके रूपमे उन्होंने आदिशङ्कराचार्यको कृतार्थ किया था। आदिशङ्कर भावाभिभूत होकर करबद्ध प्रार्थना कर बैठे थे–

**'कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयी नीलिमा।'**

'हे कृष्ण ! निश्चय ही तुम ब्रह्मादि त्रिदेवोसे परे हो, तुम विकाररहित सर्वश्रेष्ठ एक सच्चिन्मयी नीलिमा हो।'

इन नीली लहरोने ज्ञानियोके आदिगुरु शङ्कर भगवत्पादको अपनी कृपा-वारिधारामे पूर्णतया भिगो दिया था। जब भी ये ध्यानमें बैठते, इनके हृदय-कमलके आसनपर ये सजल जलधरके समान नीली लहरे लहराने लगतीं। ये लहरे निश्चय ही एक किशोराकृति कमलनयन पुरुषके रूपमे होतीं। उसके गलेमे वनमाला, मस्तकपर मुकुट, हाथोमें कङ्कण होते। शारदीय चन्द्रमाके समान उसका मुख होता, हाथोंमे सुन्दर मुरली विधृत होती। केसर-समन्वित चन्दनसे उसके अङ्ग-अङ्ग विलेपित होते और गोपरमणियाँ उसे घेरे होतीं। यह किशोर इतना चञ्चल होता कि महात्यागी बालसंन्यासी विरक्त-शिरोमणि ज्ञाननिधि शङ्कराचार्यकी भी मर्यादा नहीं रखता और कभी-कभी अपनी प्रेयसी गोपाङ्गनाओंके कुच-कलशोंपर पत्ररचना भी करने लगता था।

**'कदाचित् कान्तानां कुचकलश पत्रालिरचना समासक्तः'**

तो इन्हीं लहरोंने किशोरीकी समग्र अहंताको ही अपने भीतर समावृत कर लिया था। उसके चतुर्दिक् सब ओर ये ही नीली-नीली लहरें उत्ताल तरङ्गोंमें लहरा रही थीं।।३९१।।

उसके पश्चात् नीलिमाकी अव्यक्त परिस्थितिका, प्रियतम !<br>
आगे फिर संविन्मयी उसी नीली रस-सत्ताका, प्रियतम !<br>
जिसमें अप्रतिम पीतिमा भी वह नित्य विराजित है, प्रियतम !<br>
अज्ञेय भला वह है, उसका कैसे निर्देश करूँ, प्रियतम ।। ३९२।।

**इसके पश्चात् नीलिमाकी अभिव्यक्त परिस्थितिका और इसके भी आगे – आगेसे भी आगे संविन्मयी उसी नीली रस-सत्ताका, जिसमें एक अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अप्रतिम पीतिमा नित्य विराजित है – अहो, वह तो अज्ञेय है भला ! उसका निर्देश मैं कैसे करूँ ?।।३९२।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

ये अलौकिक नीलवर्णकी लहरे प्रिया किशोरीकी चित्तभूमिरूपी कालिन्दीके पुलिनोमे कितने कालतक दौडती रहीं और उन लहरोंसे आप्यायित-मानस किशोरीकी परिस्थितिका कौन चितेरा शब्द-चित्र प्रस्तुत कर पायेगा ? वे परिस्थितियाँ जो पूर्णतया किशोरीकी स्वसंवेद्य थीं, संसारमें अव्यक्त ही रहेगी। हॉ, इतना ही कहा जा सकता है कि उस नीलवपु – जिसके हाथमें वंशी सुशोभित है, जो पीत वस्त्र धारण किये है, जिसका मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान मनोहर है और जिसके नेत्र कमलके समान हैं, उसे नील लहर – नील ज्योति कुछ भी कहो, उसके परे कोई तत्त्व है, किशोरीको इसका कभी कुछ भी अनुसन्धान नहीं हुआ और आगे भविष्यमे भी कभी नही होगा।

हाँ ! किशोरीको यह अवश्य अनुभव हुआ कि ये नीली लहरें बिना पीतिमाके सुखद नहीं हैं। वह पीतिमा भी अप्रतिम है। यह पीतिमा नीलिमाके बिना, और नीलिमा पीतिमाके बिना रह ही नहीं सकती। एकके बिना दूसरेकी सत्ता ही सन्देहमें पड जाती है। पीतिमा नहीं है तो नीलिमा कोई वस्तु ही नहीं है, और नीलिमा नहीं हो तो पीतिमाका निवास ही कहाँ हो ? पीतिमा प्रेमशक्ति है और नीलिमा प्रियतम-प्रेमस्वरूप है। प्रेमशक्तिके दो स्वरूप नित्यसिद्ध हैं – मूर्त्त और अमूर्त्त। अमूर्त्त स्वरूपमें प्रेम परात्पर परब्रह्ममें तिरोहित है। वहाँ नीलिमा भी निर्विशेष है और लीलारहित अवस्थामें मात्र सत्तारूपा है। वहाँ नीलिमामें आनन्दोल्लास भी शान्त है, वहाँ उच्छलन है ही नहीं। वहाँ लहरें नहीं हैं, मात्र घन शान्ति है। किन्तु जैसे ही नीलिमा अपनी सत्ता लहरोंके रूपमें व्यक्त करती है, पीतिमा सर्वप्रधान हो उठती है। बिना पीतिमाके उत्तरोत्तर दिव्य परमानन्दकी नित्य आनन्दवर्धक सत्ता सिद्ध ही नहीं होती।।३९२।।

जब शरद-निशा वह बीत चुकी पहली सित परिवाको, प्रियतम !
अपने उस राज-तनूजा के तनको वह पकड़ सकी, प्रियतम !
मैया, मौसी, सब सहचरियाँ भारी चिन्ता में थीं, प्रियतम !
जो हुआ अचानक परिवर्तन उसमें, लेकर उसको, प्रियतम ।।३९३।।

**जब उस शुक्लपक्षकी – शरद्-निशाकी – प्रथम प्रतिपदा बीत चुकी थी, तब कहीं जाकर राजतनूजाको अपने गौरवर्ण तनका भान हुआ। मैया, मौसी, सभी सहचरियाँ भारी चिन्तामें पड़ी हुई थीं – किशोरीके मनका जो अचानक अद्भुत परिवर्तन हुआ था, उसको लेकर ।।३९३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अब शरद ऋतु आयी और शुक्लपक्षकी प्रथम प्रतिपदा व्यतीत हो गयी, तब उस राजकिशोरी बालाको अपने गौरवर्णका, अपने नारी-शरीरका तनिक अध्यास हुआ।

वस्तुतः प्रेमकी स्थितिमें तथा 'ब्राह्मी' स्थितिमें कोई अन्तर नहीं। मात्र साधनकालमें ही अन्तर होनेसे भिन्न-भिन्न अधिकार-भेदसे ये अलग-अलग साधनाएँ मानी जाती हैं। अन्तिम परम सत्य तो सबका एक ही है। प्रेमीको भी बाह्यज्ञान नहीं रहता और ज्ञानीको भी। परन्तु यह मात्र शारीरिक बाह्यज्ञान-शून्यता ही नहीं है। ज्ञानीके लिये यह स्थिति तब उदय होती है जब मात्र 'परब्रह्म'के अतिरिक्त उसे बाह्य एव अन्तर् दोनों ओर कुछ नहीं दीखता। प्रेमी भी ज्ञानीकी भाँति ही अपने प्रियतमके अतिरिक्त कुछ भी कहीं नहीं पाकर पूर्ण विमुग्ध हो जाता है। प्रेमीमें भी अन्तमे अपनेमें और अपने प्रियतममें कहीं कोई भेद नहीं रहता।

कहनेका तात्पर्य यही है कि निरतिशय प्रेमस्वरूप प्रियतमकी प्रगाढ स्मृतिमे खोयी राधाको न तो कालका ज्ञान रहा था, न ही देशका। राधाकी इस आन्तरिक प्रेममयी स्थितिको ऊपरसे उसकी मैया, मौसी, कुछ भी नहीं समझ पायीं। वे तो इसे एक शारीरिक व्याधि मात्र मानकर चिन्ता ही कर रही थीं, साथ ही बाह्य व्याधिका जो भी उपचार संभव था, उसमें वे संलग्न थीं।।३९३।।

मैया कहती तू बतला दे, क्या हुआ, लड़ैती री ! प्रियतम !
जो भी चाहेगी तू, तुझको दूँगी अवश्य वह मैं, प्रियतम !
क्या कहे लड़ैती उसकी, अब कोई भी रुचि न रही, प्रियतम !
जा मिली चाह उसकी सारी उन नील-देवता में, प्रियतम ।।३९४।।

**मैया कहती – मेरी लड़ेती री ! सचमुच बतला दे, तुझे क्या हो गया है ? तू जो भी वस्तु चाहेगी, तुझे अवश्य-अवश्य दे दूँगी। किन्तु लड़ैती क्या उत्तर दे ? अब उसमें कोई भी रुचि अवशिष्ट जो न रही थी। उसकी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ उन नील देवतामें जाकर मिल चुकी थीं; अपना अस्तित्व खो बैठी थीं वे। अस्तु,।।३९४।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

जब राधाको किञ्चित् बाह्य संसारकी स्मृति हुई तो सर्वप्रथम उसकी मैयाने उससे जिज्ञासा की – 'बेटी ! तुझे क्या चाहिये ? तुझे हो क्या गया था ? तू अपने मनकी, तेरी कामनाकी एक गन्ध भर मुझे लगने दे, मैं तू जो चाहेगी वही वस्तु तुझे दे दूँगी।'

परन्तु राधा अपनी मॉको कैसे बतावे कि उसका प्रेम चिच्छक्तिकी वृत्ति होनेसे विभु है। वह पूर्ण, असीम एवं सर्वव्यापक है। जहॉं असम्पूर्णता होती है, वहीं कोई कामना एवं चाह रहनेकी संभावना होती है। राधाको कोई कामना नहीं, कोई चाह नहीं है। हॉं, यह अवश्य है कि किशोरीके विभु परमानुरागकी विषयालम्बन अवश्य है – नन्दनन्दनकी वह नीली प्रतिमा। प्राकृत मन-इन्द्रियोंको चरितार्थ करनेवाले नीच कामकी तो राधामें कल्पना ही नहीं है। उसका प्रेम तो मात्र प्रियतम सुखैक-तात्पर्यमय है। अतः उसमें अचिन्त्यानन्त रससुधामयी विविध विचित्र लहरे उठती रहती हैं और उनकी बेटी इन्हीं लहरोमें लहरा रही है। राधाकी कामनाओका मूल जो देह और जगत् है, वही जब इन नीली लहरोंमें पर्यवसित हो गया, आपाततः निमज्जित ही नहीं, नीले रससिन्धुमें ही उसके अतल तलमें समाकर विलीन हो गया, अब बिचारी चाह और कामनाओंका तो आधार ही नहीं रहा।।३९४।।

व्यवहार संतुलित कोई-सा उसका न आज भी था, प्रियतम !
जब सखी पान कर पर रखकर बोली, 'बतला, क्या है?' प्रियतम।
उसने उत्तर झट दिया, 'तड़ित वारिद में रहती है;' प्रियतम !
'पहले वह किंतु चमकती है, जलधर तब झरता है।' प्रियतम।।३९५।।

**आज भी किशोरीका कोई-सा व्यवहार संतुलित रूपसे नहीं हो सका। सखी जब उसके हाथपर पान रखकर बोली – अरी ! बतला, क्या है ? उसके उत्तरमें किशोरी बोल उठी – विद्युत् वारिदमें रहती है; किन्तु पहले विद्युत् चमकती है, तब जलधर झरने लगता है।।३९५।।**

## तात्विक विवेचन-विस्तार

इसके उपरान्त अपने तनका किञ्चित् अध्यास होनेपर भी किशोरीका कोई भी व्यवहार सामान्य सांसारिक लोगोंकी तरह सन्तुलित नहीं था। वह अपने भावोंमे ही बहती रहती थी।

ललिता सखीकी प्रधान सेवा उसे ताम्बूल अर्पण करनेकी रहा करती थी, स्वाभाविक ही वह उसे ताम्बूल खिलाने आयी। ललिताने अपनी हथेलीमें ताम्बूल संपुटित करके उससे पूछा –'बता ! मैं तेरे लिये क्या लायी हूँ ?' किन्तु किशोरी अपनी परमप्रेष्ठ सखीको कैसे समझाये कि आज वह पहलेकी तरह निपट एकाकी नहीं है। उसकी प्राण-प्रियतमा वह नीलमणिकी प्रतिमा अहर्निश उससे संलग्न ही उससे लिपटी एकात्म हुई रहती है। ललिता अकेले ही उसे पान खिलाने आयी है अब वह उसकी यह ताम्बूल सेवा कैसे स्वीकार करे ? ललिता एवं अन्य सखियॉं किशोरीके प्रत्युत्तरको भले ही उसके विकृत मस्तिष्ककी उपज समझें – परन्तु किशोरीने ललिताके सम्मुख सर्वथा सत्यका प्रकाश किया। उसने ललितासे सङ्केतमें मात्र एक विशुद्ध तत्वको ही प्रकाश किया – 'अरी मूढा ! अकेले पराशक्तिकी उपासना नहीं होती। भगवती कामेश्वरी सदैव कामेश्वराङ्क-निलया ही रहती हैं।' इस परम तत्वको किशोरीने परम रसमय शब्दावली दे दी। उसके मुखसे जो शब्द फूटे , वे शब्द थे –

**'तड़ित् वारिदमें रहती है, प्रियतम !**
**पहले वह किन्तु चमकती है, वारिद तब झरता है, प्रियतम !**

पहले प्रेम ही प्रकट होता है। प्रेम जब चमकता है, तब प्रियतमका रस-सभोग होता है। बिना प्रेमके रस-संभोग हो ही नहीं सकता। प्रेम शक्ति है। प्रियतम शक्तिमान् हैं। वस्तुतः प्रिया जो प्रेममयी है, वह प्रियतमके बिना कैसे एकाकिनी रहेगी ? प्रिया ही तो प्रेममूर्त्ति हैं, वही प्रेमघनविग्रह हैं। इसीलिये प्रिया तडिल्लता-द्युति है। वह चमकती है, मात्र नीरदसे रस-घन-वर्षा करानेकी भूमिका बनाने। अत. चिन्ता मत कर। मैं तेरा अपने प्राण-प्रियतमसे सयोग कराऊँगी। अभी तो तू मुझे ही यह ताम्बूल देने आयी है, मैं तुझे ऐसा सौभाग्य प्रदान करूँगी कि ताम्बूलवत् तू प्रियतमके अधरामृतरसमें उनकी पूरी भोग्या हो जायगी।।३९५।।

सहचरी अलक-रचना करने आयी, प्रस्ताव किया, प्रियतम !
पहले तो बोली कुछ न, तथा बोली तब कह बैठी, प्रियतम !
'प्रियता में सुख है, सुख में है प्रियता स्वभाव से ही,' प्रियतम !
'क्यों भेद अहो! फिर, नित्य बढ़ें, ये इसीलिये तो हैं'; प्रियतम।।३९६।।

**एक सहचरी अलककी रचना करने आयी । उसने किशोरीसे प्रस्ताव किया। पहले तो उसने कोई उत्तर ही नहीं दिया और जब बोली, तब कह उठी – प्रियतामें सुख है और सुखमें स्वभावसे ही प्रियता है। अहो ! यह भेद क्यों ? दोका अस्तित्व इसीलिये तो है कि प्रियता और सुख दोनों ही नित्य बढें और इनकी अभिवृद्धिका अन्त कभी न हो। !।।३९६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अब विशाखाकी पारी आई। उसके करोंमें कस्तूरी, चन्दनादिका विलक्षण लेप था और प्रियाके अङ्गोंमें विलेपन एवं उनके केशोंकी रचना उसकी सेवा थी। किशोरीको तो अपने केशोमें अपने प्रियतम ही भरे दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह अपनी सर्वाधिक प्राणप्यारी सखीको कैसे समझाती कि समग्र श्यामलतामें उसके प्रियतम-ही-प्रियतम भरे हैं। अतः जबतक विशाखा उसके प्राणप्रियतम नीलसुन्दरकी केशरचना नहीं करेगी उस अकेलीकी केशसेवा कैसे संभव है ? वह अकेली है भी तो नहीं। उसके केशोंके रूपमें, नेत्रोंमें काजलके रूपमें, नेत्रोंकी काली पुतलियोके रूपमें, श्यामल साड़ीके रूपमें उसके प्रियतम उससे नित्य संलग्न जो हैं। अब इतनी बात खोलकर किशोरी अपनी सखीसे कैसे कहे ? लज्जा उसे इतनी मुखर होनेकी अनुमति दे, तब न किशोरीके मुखसे यह वाणी फूटे !

अत. अत्यन्त तात्विकताका आश्रय लेकर किशोरी विशाखाको समझाती है – 'तू केशोंका, मेरे कलेवरका शृङ्गार करने आयी है। शृङ्गार क्या है ? शृङ्गार रस है। सौन्दर्य रस है। माधुर्य रस है। रस ही प्रियता है। रस और प्रियता एकात्म है। रसको, आनन्दको प्रियतासे भिन्न कोई कर ही नहीं सकता। आनन्द वे हैं, आनन्द नीली प्रतिमा है , **'रसो वै सः'**। समग्र रस-निकेतन, आनन्द-घन-मूर्त्ति नीली प्रतिमा है। और प्रियता मैं हूँ। सुख (रस) और प्रियता नित्य एक होकर नित्य दो भी हैं, और नित्य दो होकर भी एक हैं । वे एकमें ही सदा दो हैं एव दोमे ही सदा एक हैं। ये स्वभावत. ऐसे ही हैं। फिर यह भेद क्यों ? यह भेद इसीलिये है कि दोनोकी ही अभिवृद्धि एक दूसरेसे प्रतिस्पर्द्धा करती नित्य बढती रहे। अतः तू हमदोनों युगलका शृङ्गार कर, अकेली मेरा नहीं।।३९६।।

'क्यों अरी! सुमन लेकर अर्चन करने न जायगी तू?' प्रियतम !
बोली लघु सखी, सुना उसने या नहीं, कौन जाने, प्रियतम !
धीमा स्वर निकला, 'दी किसने यह बुद्धि पपीहे को,' प्रियतम !
'मैंने या उनने या पाली उसने अपने से ही?' प्रियतम।।३९७।।

**अरी क्यों आज सुमन लेकर तू अर्चना करने नहीं जायेगी ? – उच्च स्वरसे चित्रा बोल उठी। किन्तु किशोरीने सुना या नही – कौन बतलाये ? उसके कण्ठसे तो एक धीमा स्वर मात्र निकला– पपीहेको किसने बुद्धि दी ? मैंने या उनने ? अथवा इसने अपने ही से उसे पा लिया ? ।।३९७।।**

अनमनी हुई वह बैठी थी, सन्मुख थे फूल खिले, प्रियतम !
कुछ कहा सहेली ने, पर वह कुछ और समझ बैठी, प्रियतम !
बोली, 'यौवन ऐसा ही है, जैसे ये खिलते हैं; प्रियतम !
'है नियम नहीं, अलि रस पी ले प्रत्येक पुष्पका ही।' प्रियतम ।।३९८।।

**अनमनी-सी हुई किशोरी बैटी थी। सामने कुछ फूल खिले हुए थे। सहेलीने आकर कुछ कहा; किन्तु वह कुछ और ही समझ बैठी। वह अन्यमनस्क-सी बोल गयी – यौवन ऐसा ही है, जैसे ये पुष्प खिलते हैं। यह नियम तो है नहीं कि भ्रमर प्रत्येक पुष्पका रस तो पी ही ले !।।३९८।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

दिवसका द्वितीय प्रहर होनेको आया था। यह प्रति दिवसका नियम था कि किशोरी अपनी सखियोंके साथ अर्चन-सामग्री, पुष्पादि लेकर रविपूजन करने सूर्यमन्दिर जाया करती थी। भगवान् सूर्यके अंशसे ही किशोरीका जन्म हुआ था। आज भी इस नियमकी रक्षार्थ उनकी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा किशोरीसे अनुनय करती है कि 'अरी ! तू पुष्पादि पूजन-सामग्री लेकर रविपूजनार्थ नहीं जायेगी क्या ?' मञ्जुश्यामाके साथ चित्रा सखी भी है। चित्रा दिवाभिसारिका भावप्रधान है। सूर्यपूजनके लिये जब प्रिया सूर्यमन्दिर जाती हैं, वहीं आगे षष्ठ शतककी लीलामें उनका ब्रजेन्द्रनन्दनसे दिवाभिसार – वन-मिलन होता है। ब्रजेन्द्रनन्दन अपने सखाओंके साथ गोचारणके लिये उसी वनमे आते हैं। अभी तो वर्त्तमानमें आगामी लीलाके सूत्र पिरोये जा रहे हैं।

किशोरी इस समय अपने भावोंमें इतनी गंभीररूपमें डूबी थीं कि मञ्जुश्यामाका रविपूजनार्थ चलनेका आग्रह उसने सुना या नहीं – कहा नही जा सकता। हॉ ! एक पलभरके लिये किशोरीके नीचे झुके हुए नेत्र ऊपर उठे और उन्होंने अपनी अनुजा मञ्जुश्यामा एवं चित्राको देखा अवश्य और तब अति मन्द स्वरमे उनकी वाणी निम्न शब्द ही कह पायी – 'अरी बहिन ! प्रेमार्चन तो मात्र पपीहा ही करता है। मेघ अपने अनन्य प्रेमी चातकको स्वातिका जल तो कभी दे ही नहीं , वरन् कठोर ओलोकी वर्षा करके उसके पङ्खोंके टुकडे-टुकडे कर डाले, इतनेपर भी प्रेमके तत्वको जाननेवाले चतुर चातकके प्रेममें चूक नहीं पडती। चातकका प्रेम इससे जरा भी न तो शिथिल होता है, और न ही उसका प्रवाह ही रुकता है। मेघ गरज-गरजकर बडी रूखी और कठोर ध्वनि करता हुआ, कठोर पत्थर तो बरसाता ही है, साथ ही बडी डॉट-डपटके साथ तरजकर-तडककर वज्र भी गिराता है। फिर भी क्या चातक अपने प्रियतम मेघके सिवा किसी दूसरेकी ओर ताकता है ? कभी नहीं ! इतना ही नहीं, मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, गरजकर, वर्षाकी झडी लगाकर, और ऑधीके प्रबल झौंके देकर अपनी सच्ची खीझ प्रकट करता है, वह चातकको दर्शाता है कि मैं तुम्हारा प्रियतम नहीं, पूरा शत्रु हूँ। इतने प्रत्यक्ष दोषोंको देखकर भी चातकको अपने प्रियतमके दोष दिखते ही नहीं। चातकको तो मेघके इन कृत्योंमें अपने प्रति उसका अनुराग ही दिखाई देता है। उसकी मेघके प्रति चाहत, रीझ, और बढती ही जाती है। उसे यही लगता है कि मेरा प्रियतम मुझे अपना समझकर स्वच्छन्दतासे मेरे साथ अपने मनकी करके आत्मीयताका परिचय देता हुआ सुख प्राप्त कर रहा है।

अरी सखि ! तू भी प्रेमकी शिक्षा ले सके तो चातकसे ही लेना। सखि ! एक पपीहा उड रहा था। एक व्याधने उसे लक्ष्य बनाकर घायल कर दिया। वह प्यासा भी बहुत था। घायल चातक यद्यपि एक नदीमें गिर पडा। परन्तु उसने नदीका जल नहीं पिया। वह स्वातिके जलपानकी आशामें चौंच ऊपर उठाये ही मर गया।

अरी बहिन ! एक पपीहा उडता हुआ लम्बी यात्रापर जा रहा था। उडते-उडते उसे थकावटका अनुभव होने लगा था। गरमीके कारण उसकी देह जल रही थी। उसे एक सघन छायादार वृक्ष भी दिखाई पड़ा। परन्तु वह वृक्ष नदीके जलसे सिञ्चित था। चातकने उस वृक्षकी छाया भी स्वीकार नहीं की। क्योंकि उसे तो आश्रय भी उसी वृक्षका लेना था, जो स्वातिमेघके बरसाये जलसे सिञ्चित हो। किसी अन्य जलसे सींचे वृक्षकी छाया लेनेकी अपेक्षा तो उसे तीव्र ताप देनेवाली घाम वरणीय थी।

अरी सखि ! चातक प्रेमका समुद्र है। प्रेमार्चना तो उसकी ही सफल है। चातकमे माप-तौल, लेन-देन है ही नहीं। चातकको यह प्रेमकी शिक्षा किसने दी ? उसने यह प्रेमबुद्धि मुझसे पायी, या उस नीली प्रतिमासे अथवा उसके प्रेममय हृदयसे यह बुद्धि स्वतः ही उसे मिली ?

अब इन्दुलेखाने चेष्टा की कि वह अपनी सखिका चित्त किसी प्रकार आकर्षितकर बहला सके। किशोरी महलके उद्यानमें ही एक बारादरीमें विराजित थी। सम्मुख विलक्षण शोभावाले रङ्ग-विरङ्गे सौरभ बिखेरते पुष्प अवश्य खिले थे। किन्तु इन खिले पुष्पोका प्रियतम भ्रमर तो दूर विदेशमें था। इन्दुलेखा कुछ बोले और वन-शोभा दर्शन करानेकी चेष्टा करे, इसके पहले ही किशोरी बोल उठी – 'अरी सखि ! प्रत्येक तरुणीका यौवन ऐसा ही है जैसे ये पुष्प खिले हैं। अवश्य ही यौवनकी कृतकृत्यता इसीमें है कि इसके अतिशय मनभावन पावन रूप-सौन्दर्यको वे देखे, भोगे और सुखी हों। परन्तु यह नियम नहीं है कि प्रत्येक पुष्प भ्रमरसे मिलनसुखको पावे ही। प्रेमका तो स्वभाव ही है, प्रियतमको अपरिमित दान। अपने प्रियतम भ्रमरकी अवज्ञा, अपमान, वियोगका दारुण दुःख सहकर भी उसे निरन्तर अपरिमित सुखदान देते रहना ही तो इन कलिकाओका स्वभाव है। देखो सखि ! ये पुष्पावलियाँ भ्रमरके विदेशवासी होनेपर भी सदैव हँसती रहती हैं। भ्रमर उन्हे कुछ भी सुखकी सामग्री नहीं दे पाता। वह तो अपनी मन-इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये देश-विदेश भ्रमण करता रहता है। भ्रमणशील स्वभाव होनेसे ही उसका नाम भ्रमर है। परन्तु ये पुष्पावलियाँ कभी बुरा नहीं मानतीं। अपने प्रियतम भ्रमरका दोष देखना वे जानती ही नहीं। ये उसके स्वार्थपूर्ण कार्योंको भी प्रेममय ही मानती हैं। देख सखि ! ये कलियाँ क्या बोलती हैं? इनकी भाषा तुम सुन पाती हो ? नहीं सुन पाती। परन्तु मैं इनकी भाषा समझ रही हूँ। ये कहती हैं – रे भ्रमर ! सदैव स्वच्छन्द विचरण करना। हमारा सङ्कोच मानकर कदापि हमारे पास मत आना। तुम चाहे कहीं भी रहो , दूर-सुदूर चले जाना भले ही । हमारा प्रेम तुम्हे सदैव निरन्तर बढता ही मिलेगा। तुम हमे मुसकाते ही पाओगे। हो सकता है, हमारा अस्तित्व तुम्हारी प्रतीक्षा करता-करता काल-कवलित हो जाय। हमारी पँखुडियाँ तुम्हारी प्रतीक्षामे मुरझाकर धरामें निपतित हो जावें, परन्तु हम सदैव अपना सौभाग्य ही मानेंगी कि तुमने हमे अपनी प्रियाका पद दिया है।

बहिन इन्दु, देख ! इन कुन्दके श्वेत पुष्पोंपर तुझे जो जल दिखाई देता है, इन्हे भ्रमवश कभी ओसकण मत मानना। ये इसके अश्रुकण हैं। यह कुन्द कह रही है कि व्यर्थ ही मैं अपना शृङ्गार करके अपनेको ठगती रही कि वे आवेंगे। वह मात्र मेरा प्रेमका स्वप्न ही था। वह क्षणमें ही टूट गया। मेरा प्रेम मात्र दम्भ था। वह अपने प्रेमको ही धिक्कारती हुई रो रही है। प्रियतममें तो उसे गुण-ही-गुण दिख रहे हैं।। ३९७-३९८।।

यों तीस घड़ी जाकर आयी दूजी तिथिकी रजनी, प्रियतम !
उसके प्रत्येक पहर में वह भावित हो भाग चली, प्रियतम !
पहले में देखा, वे आये लेकर चम्पकमाला, प्रियतम !
झट डाल कण्ठ में चले, चली वह भी पीछे उनके, प्रियतम।।३९९।।

**........इस प्रकार तीस घड़ी बीतनेके अनन्तर द्वितीया तिथिकी रजनी आयी। रजनीके प्रत्येक प्रहरमें ही वह भावित होकर भाग चलती। पहले प्रहरमें किशोरीको दीखा- वे एक चम्पकमाला लेकर आये हैं और झटसे मेरे कण्ठमें डालकर चल पड़े हैं........वह भी उनके साथ ही चल पड़ी।।३९९।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

किशोरी इसी प्रकार भाव-निमग्न डूबी रहती। उसकी इस भाव-निमग्नावस्थामें ही दूसरी तिथिकी रजनी आ गयी। रजनीमें तो उसका भावावेश और भी बढ चला। रजनीका प्रत्येक पहर उसके असीम उद्दीपनमें हेतु हो रहा था। प्रथम प्रहरमे उसे अनुभव हुआ कि उसके प्रियतम चम्पकमाला लेकर आये, उन्होने तुरन्त ही उसके कण्ठमें वह माला डाल दी और चले गये। अब वह क्या करती ? जहाँ वे जा रहे थे, उनका अनुगमन करना ही तो उसके पास विकल्प था। सखियोंको तो वह नीली प्रतिमा दृष्टिगोचर हो नहीं रही थी अत उन्मादिनी एकाकी अज्ञात देश एव दिशाकी ओर उसे कदम बढाते देखकर उन्हें तो उसे विवर्जित करना ही था। किसी प्रकार सखियॉं उसे रोक पायी।।३९९।।

*ले हार चमेली का दीखे वे खड़े दूसरे में, प्रियतम !*
*लेकर गजरा तीसरे पहर यूथी का वे आये, प्रियतम !*
*चौथे में जपाकुसुम की थी माला शोभित कर में, प्रियतम !*
*उनका रसदान उषा का वह अत्यन्त निराला था, प्रियतम।।४००।।*

**दूसरे प्रहरमें उसे अनुभव हुआ – मल्लिका-पुष्पोंका हार लिये सम्मुख खडे हैं..........तीसरे प्रहरकी विचित्र अनुभूति यह थी – यूथीका गजरा लिये खड़े हैं वे........चौथे प्रहरमें किशोरी देखने लगी जपा कुसुमोंकी माला उनके हाथोंमें सुशोभित है और वे मेरी ओर देख रहे हैं। आगे, नीलसुन्दरका वह उषाकालीन रसदान अत्यन्त निराले-से-निराला था भला !।।४००।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

इस उद्दीपित भावावस्थामें रजनीका द्वितीय पहर आया। भाव-विह्वला किशोरीको अनुभव हुआ उसके प्रियतम चमेलीका हार लिये खडे हैं। उन्हें देखते ही उसकी बुद्धि जैसे लुप्त ही हो जायगी, ऐसा उसे अनुभव हुआ। उन्होंने उसे सङ्केतस्थलपर मिलने आनेका निमंत्रण दिया। किशोरीके प्राण प्रियतमसे मिलनेको विकल हो उठे। सखियॉं अवरोध करें, इसके पहले तो वह मूर्च्छित हुई प्रियतमके पास भावावस्थामे पहुँच ही गयी थी।

जबतक किशोरीको बाह्यज्ञान हुआ, रात्रिका तीसरा प्रहर हो चुका था। किशोरीको दिखाई पडा कि उसके प्रियतम यूथीका गजरा लिये उसके स्वागतमें खडे हैं। समीर उस समय सॉय-सॉय कर रहा था। किन्तु जब वह प्रियतमके पास दौड़ी-दौडी गयी तो उसे अनुभव हुआ कि वह उसका भाव-विभ्रम मात्र था। वहॉं मात्र यूथीकी लता ही खडी थी। वह अति विकलतासे उस जुहीकी लतासे ही लिपट गयी और उसीसे अपने प्रेमका निवेदन करने लगी । इस भावावस्थामें ही सखियाँ उसे उठाकर महलमें लायीं।

किसी प्रकार निशावसान हुआ। जब चौथा प्रहर चल रहा था तो उसे लगा उसके प्रियतम ऊषाका अत्यन्त निराला रसदान देने उसके पास चम्पाकुसुमकी माला लेकर आये हैं। किन्तु जब उनके पास गयी तो वहॉं वे नहीं थे, मात्र नीचा मुख किये जपाकी लता ही थी। उसकी ऑखोंमें लालिमा थी। अवश्य ही पास खडा नीला तमाल अपनी दीनता और व्यथाका प्रकाश कर रहा था। वह तमाल वृक्ष पुरवैया हवाके झौंकेसे झुक-झुक जाता था। किन्तु जपाकी लता पश्चिमकी ओर अपना झुकाव कर लेती थी। किशोरीने देखा जबतक संध्या नहीं होगी तबतक यह जपाकी लता रोती ही रहेगी।।४००।।

उसके पश्चात् लोचनों से उसके जो स्रोत-चला, प्रियतम!
चालीस प्रहर, दो घड़ी, भला, झरता ही सतत रहा, प्रियतम!
मानो वह राजसदन अब तो उसमें ही बूड़ चला, प्रियतम!
आया अलक्ष्य रक्षाकर तब उन नील देवता का, प्रियतम॥४०१॥

**........इसके पश्चात् राधाकिशोरीके नयनोंसे जो अश्रुका स्रोत चल पड़ा, वह अविराम चालीस प्रहर और दो घड़ीतक निरन्तर चलता ही रहा। मानो वह राजसदन तो उसमें ही निमग्न होने चला। इसी समय उन नील देवताका अलक्षित कर – रक्षाके लिये प्रस्तुत हस्तकमल – व्यक्त हो उठा। अस्तु.॥४०१॥**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

इसके पश्चात् चालीस प्रहर अर्थात् पाँच दिवस-रात्रि और अडतालीस मिनटतक किशोरीके लोचनोंसे जो आँसुओंका स्रोत बह चला वह अविराम बहता ही रहा। सभी सखियोको उस कालमे यही अनुभव हुआ मानो उनकी सखी अश्रुजलकी मात्र निर्झर है। किशोरीने अपना सबकुछ अपने प्रियतमको सौपकर अपना सबकुछ उन्हींको समझती हुई, उन्हींके प्रेमसे, उन्हीके लिये जो निरन्तर प्रेमाश्रुओंकी धारा बहायी, सखियोको यही अनुभव हो रहा था मानो अब इस राजसदनकी सत्ता ही प्रेम-ही-प्रेम हो जायगी। किशोरीके पास अपने प्रियतमको प्राप्त करनेका इस अश्रुजलके अतिरिक्त अन्य कोई साधन भी तो नहीं था। यह पवित्र अश्रुजल ही उनके प्रेमको प्राप्त करनेका एकमात्र अवलम्ब, उनके साधनका स्वरूप था। सत्य ही है, यह अनादि अनन्त अचिन्त्य अतुलनीय सनातन क्रन्दन ही किशोरीका प्रेम है। इस क्रन्दनमे ही प्रिया-प्रियतमकी भिन्नतामयी रसलीलाधाराका प्रवाह है, जो नित्य अविच्छिन्न रूपसे बहता रहता है। इस क्रन्दनमें ही प्रिया-प्रियतमका सुखमय मिलन भी है और दारुण विरह-वियोग भी है।

यह क्रन्दन प्रिया-प्रियतमके हृदयका दाह भी है, और मधुर मनोहर प्रेमोल्लास भी है। यह अनादि अनन्त क्रन्दन परम सुखमय है, क्योकि इसमे प्रगाढ प्रियतम-स्मृति है। यह अश्रु-प्रवाह प्रियतमके चरणकमलोंको ही भिगोता, उनकी ही स्मृति-सयोगमें पर्यवसित होता है। यह परम अतर्क्य है। यह क्रन्दन ऐसा है, जहाँ देश एवं काल सभी सूने हो जाते हैं। पल-पलमें प्रिय-मिलनकी आकाक्षाका दाह भीषणरूपसे बढा चला जाता है। उस तापसे कण्ठ और तालू सूख जाते हैं, मुखसे आह भी नहीं निकल पाती। मनकी भीषण वेदना मनमें ही अप्रकट रह जाती है। न उस क्रन्दनके हेतुको भाषा दी जा सकती है, न ही शब्द उस अनुभूतिको संस्पर्श कर पाते हैं। इस क्रन्दनको किञ्चित् विराम तभी होता है जब स्वय प्रियतम ही प्रियाके जलते-भुनते अङ्गोंको शीतल करे। दूसरा तो कोई यदि उस प्रेमिकाके पास चला भी जावे तो उसकी वियोग-ज्वाला उसे भी उसी आगमें जलनेको विवश कर देती है। प्रियाके आग उगलनेवाले श्वास उसे भी झुलसाकर उसी प्रकार आग उगलनेको विवश कर देते हैं।

हुआ भी यही, किशोरीके मनमें इस रुदनने आकुलताका वह विन्दु सृजन कर दिया, जहाँ प्राणधनको मूर्त्त होना ही पडता है। यद्यपि उस क्रन्दनके कालमें क्षण-क्षण, प्रतिपल वेदनाका स्रोत फूट रहा था, किशोरीके नेत्रोंसे, हा-हाके स्फुट स्वसे उसके होठ यत्किञ्चित् व्याकुलताका प्रदर्शन भी कर उठते थे, किन्तु उसमे प्रगाढ प्रियतम-स्मृतिका अभाव कदापि किसी कालमें नहीं हुआ था। ममताके अखण्ड केन्द्रविन्दु थे, किशोरीके प्राणधनके चरण-सरोरुह ही। किशोरीके नयनोंकी मधुमयी जलधाराने सागर-समन्वित सम्पूर्ण धराको डुबो अवश्य दिया था, विघ्न-बाधा-शून्य पातालकी वैभवसुखमयी स्पृहा भी तृणवत् बह गयी थी। ब्रह्मपद, योगसिद्धियोंकी तो बात कहे ही कौन, जन्म-मृत्यु-विहीन मोक्षपदतककी कामनाको लवणवत् खारा मान किशोरीका सारा अनुराग इस अश्रुधारामे एकत्रित हो गया था उन नीलसुन्दरकी नख-मणियोंमें ही।

भूलकर भी मत मान लेना कि किशोरीके इस अश्रु-प्रवाहमें कहीं कोई उसकी स्वगकी, व्यक्तिगत कामना किंवा अभाव-दुःख है. किशोरी सर्वथा सर्वांशमें विस्मृत कर गयी है, अपनेको, अपनी देहको, मनकी मनन-वृत्तिको, बुद्धिके किसी भी व्यक्तित्व सम्बन्धी निर्णयको, अहङ्कृत अस्मिताको, इन सभीसे निर्मुक्त हुई वह इस अश्रुधाराके प्रवाहमें पहुँच गयी है अपने प्रियतमके प्रगाढ स्मृति-सान्निध्यमें, अपने रसनिधिके दरबारमें उसे अपना अश्रु-अर्घ्य, अश्रु-पाद्य, अश्रु-आचमनीय एवं अश्रु-स्नानीय समर्पण करने। अपनी अनादिकालीन सञ्चित परिच्छिन्न अस्मिताकी भेंट दे रही है, वह प्रियतमके पाद-पद्मोंमें।'

अब भला प्रियतम भी चलायमान क्यों न हो उठे ? अस्तु, उन नीलदेवताका अलक्ष्य रक्षा-कर किशोरीकी रक्षा करने बढ आया।।४०१।।

प्रातः था वही बहुश्रुत शुक आया उस कोने से, प्रियतम !
बोला, 'श्री-पद में प्रणति सरस उनकी पल-पल शत है, प्रियतम !
है और विनम्र निवेदन यह उनके अन्तस्तल का' प्रियतम !
'प्रियतमे! रखो धीरज, मुझसे अब नित्य मिलन होगा।' प्रियतम।।४०२।।

**प्रातः समीर स्पन्दित हो उठा था कि इतनेमें ही वह बहुश्रुत शुक उसी कोनेसे आ पहुँचा। क्षणभर भी विराम न लेकर वह बोल उठा – श्रीचरणोंमें उनकी शत-शत प्रणति स्वीकार करो किशोरी ! उनके अन्तस्तलका विनम्र निवेदन यह भी है – प्रियतमे ! धैर्य धारण करो, मुझसे अब तुम्हारा नित्य मिलन होगा।।४०२।।**

'पूरे हो रहे इसी क्षण हैं बारह शुभ मास, भला,' प्रियतम !
'उन्मत्त हुए मुनि थे तुमसे ले रहे विदा, जब से,' प्रियतम !
'उनका प्रदत्त वरदान वही उसमें निमित्त होगा,' प्रियतम !
'जय हो! जय हो! निरवधि जय हो! श्रीचरण-सरोरुहकी' प्रियतम।।४०३।।

**किशोरी ! सुनो, बारह शुभ मास इसी क्षण पूरे हो रहे हैं, जब उन्मत्त हुए मुनिराज तुमसे विदा ले रहे थे। उनका दिया हुआ वही वरदान इसमें निमित्त बनेगा भला ! श्रीचरणसरोरुहकी जय हो, जय हो, निरवधि जय हो!।।४०३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

ज्योंही प्रातःकाल हुआ, नीलदेवताका दूत बहुश्रुत शुकपक्षी उसी वनकी दिशासे जिस ओर वह श्रीसुन्दरीवन था, उडता हुआ किशोरीके पार्श्वमें चला आया। शुककी उपस्थिति मात्रने किशोरीके प्रेम-वैकल्यको विराम दे दिया। वह प्रकृतिस्थ हो उठी। शुकको देखते ही किशोरीको यही अनुभूति हुई कि दूतके रूपमें स्वयं प्रियतम ही उसे अपनी पीयूषवर्षिणी दृष्टिसे निहारते हुए उसके पार्श्वमें विराजित हैं। दूत शुकपक्षीने एक क्षण भी विराम नहीं लिया एवं आते ही किशोरीको प्रियतमका संदेश सुनाना प्रारंभ कर दिया।

'हे प्राणेश्वरी ! प्रियतम श्यामसुन्दरने अत्यन्त सरसतापूर्वक श्रीचरणोंमें अपने शत-शत प्रणाम निवेदन किये हैं। वे तुम्हारी स्मृतिमें पल-पल निमग्न हैं। उनके अन्तस्तलका यह सन्देश है कि 'प्रियतमे ! तनिक धैर्य रखो । मुझसे तुम्हारा अब नित्य मिलन होगा। किशोरी ! सुनो जब उन्मत्त-से हुए मुनिराज दुर्वासा तुमसे विदा ले रहे थे, इसी क्षण उस विदाईके शुभ बारह मासकी अवधि समाप्त हो रही है। उन्होंने जो तुम्हें वरदान दिया था, वही उनका प्रदत्त वरदान मेरे एवं तुम्हारे नित्य मिलनका हेतु होगा।'

पू. गुरुदेवके काव्यका भाषानुवाद तो इतना ही है। किन्तु शुकके सन्देश-शब्दो – **सरस एवं पल-पल शत प्रणति'** का अर्थ-विस्तार यदि किया जाय तो यही होगा कि प्रियतमे ! तुम मेरे अन्तस्तलको नित्य नवीन रससे पल-पल भरती रहो और मैं तुम्हारे प्रेमरसके सिन्धुमें डूबा रहूँ। यह मेरा रसपान अनन्तकालतक कभी पलभरके लिये भी विराम नहीं ले। नित्य नयी-नयी मधुर मनोहर प्रीतिकी ऊर्मियाँ उमडती रहे, इस दिव्य रसानन्दसे कभी तनिक भी तृप्ति नहीं हो, वरं इसकी मेरी प्यास अधिक-से-अधिक बढती रहे। प्रियतमकी सरस पल-पल प्रणति यही है।

इसी प्रकार अब नित्य मिलन होगा – इसका भी विस्तृत विवेचन यही किया जा सकता है कि 'प्रिये ! हम दोनों अनन्त नित्य एक सनातनरूप हैं। किन्तु सदैव ही दो बने हुए सहज अचिन्त्य अतुलनीय प्रेमलीला करते रहते हैं। हम नित्य नूतन और नित्य पुरातन सदा एक, एकरस, तथा अभिन्न हैं । परन्तु हमारी भिन्नतामयी रसलीलाधाराका प्रवाह नित्य अविच्छिन्नरूपसे बहता रहता है। उस रसलीलाधाराका ही एक भाग सहज सुखमय मिलन है और दूसरा भाग सहज दारुण विरह-वियोगजनित हृदय-दाह है। उसमे ही नित्य मधुर मृदु मनोहर हास्य है और नित्य आह-कराहभरा करुण रुदन भी है। हमारा अमिलन भी सुखसारस्वरूप है और मिलन भी दु खभार रूप दुखमय है। हमारे अमिलनमें मिलन और मिलनमें अमिलन, वियोगमे संयोग और सयोगमे वियोग नित्य है।

श्रीराधाके मिलनको, प्रियतमकी राधाके प्रति सरस पल-पल शत-शत प्रणतिके निर्मल भावको समझानेकी यहाँ मात्र चेष्टा ही की गयी है। यद्यपि यह संक्षिप्त नितान्त आंशिक वर्णन है। किन्तु इसे भक्ति-श्रद्धापूत हृदयसे समझनेपर श्रीराधा-माधवके स्वरूपके सम्बन्धमे उठनेवाली शङ्काओका समाधान हो जाना चाहिये। फिर भी कुतर्क उठें तो श्रीराधामाधवसे विश्वासपूर्वक कातर प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे ही वस्तुत. उनके स्वरूपका किसी अंशमें परिचय प्राप्त हो सकता है। ।४०२-४०३।।

शीतल अवनीश-नन्दिनी के वे अश्रु हुए पल में, प्रियतम!
आनन-सरोज मुरझाया वह खिल उठा अहो! फिर से, प्रियतम।
क्रन्दन-विराम का हेतु नहीं मिल सका किसी को भी, प्रियतम।
प्लावित पर अब सुख से सब थे, हँस रहे तरणि भी थे, प्रियतम।।४०४।।

**अवनीशनन्दिनीके वे तप्त अश्रु पल बीतते-न-बीतते अत्यन्त शीतल हो गये। मुरझाया हुआ आनन-सरोज अहो ! क्षण बीतते-न-बीतते फिरसे खिल उठा। किन्तु किसीको भी, इस क्रन्दनका विराम अचानक कैसे हो गया, यह पता न लग सका। हाँ, अब तो सभी सुखकी लहरोंमें डूब-उतरा रहे थे; ऊपर आकाशमें भगवान् अंशुमाली भी हँस रहे थे।।।४०४।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

अपने प्रियतमके दूत शुक पक्षी द्वारा मिले सन्देशके पश्चात् पलमात्रमें राजतनूजा बाला किशोरीके अश्रु शीतल हो उठे। उनका मुरझाया आनन-सरोज पुन खिल उठा। किशोरीका क्रन्दन क्यों प्रारंभ हुआ था 'और उसका यह अनवरत पॉच दिवस एव दो प्रहर चला क्रन्दन क्यो विराम पा गया, इसका हेतु किसी भी वृषभानुपुर- परिवारके प्राणीको नहीं मिल सका। किन्तु किशोरीको सामान्य-स्वस्थ देखकर सभी अब सुखसे थे एवं किशोरीके पिता सूर्यदेव भी हँस रहे थे।

वस्तुतः यही सार-की-सार बात है कि श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण सुखद हो ही नहीं सकते और श्रीकृष्णके बिना श्रीराधाके मुखपर सुखकी लहर आ ही नहीं सकती। और इन दोनोंके सुखके बिना सम्पूर्ण ब्रजक्षेत्र भी रसमय नहीं

है। ब्रजके सूर्य, चन्द्र, तारकावलि, पृथ्वी, नभ, पर्वत, वायु, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग भी इन दोनोंके बिना सुखी कदापि नहीं हो सकते। सुधांशुके बिना रजनी शोभामयी हो ही नहीं सकती। और सुधाशु एवं शोभामयी रजनीके बिना कुमुदिनी प्रमुदित हो ही नहीं सकती।

सम्पूर्ण ब्रजमण्डल भगवदानन्दस्वरूपा श्रीराधाका ही स्वरूप-विस्तार है। श्रीराधाका प्रेमविलास क्या है ? वस्तुतः विशुद्ध प्रेमके ही लीलायमान होनेपर भोगवासनाविहीन अप्राकृत प्रेमी-प्रेमास्पदके मनोंमें जिन परम पवित्र प्रिय-सुख-हेतुक मानसिक अवस्थाओंका उदय होता है, उसीको तो प्रेम-विलास कहा जाता है। यहाँ प्राकृत शरीर और इन्द्रियोंका व्यापार है ही नहीं। एकसे बढकर एक विघ्नों - अन्तरायोंके आनेपर भी जब मधुर रति अभेद्य, अखण्ड, अक्षुण्ण अविचलित ही नहीं, वरं स्नेह, मान, प्रणयादिरूपोमें उत्तरोत्तर विकसित होती है, उच्चसे उच्चस्तरपर चढती जाती है, तभी यथार्थ प्रेम-विलास होता है।

श्रीराधारानीकी कृपासे शरीरभावरहित होकर इसमें अवगाहन करनेकी चेष्टा करें -- यही प्रार्थना है।

❑

कुँवरी राधिका तुव सकल सौभाग्य की सीमा
वदन पर कोटि शत चंद वारों।
खंजन कुरंग मीन शत कोटि नयनन ऊपर
वारने करत जियमें विचारों।।
कदली शत कोटि जंघन ऊपर वारने
सिंह शत कोटि कटि पर उतारों।
मत्त गज कोटि शत चाल पर, कुंभ शत
कोटि इन कुचन पर वार डारों।।
कीर शत कोटि नासा ऊपर कुंद शत कोटि
दशनन ऊपर कही न पारों।
पक्व कंदूर बंधूक शत कोटि अधरन
ऊपर वार शचि गर्व टारों।।
नाग शत कोटि बेनी ऊपर कपोत
शत कोटि ग्रीवा पर दूर सारों।
कमल शत कोटि कर युगल पर वारनें
नाहिन कोऊ लोक उपमाजु धारों।।
दास कुंभन स्वामिनी सुनख शिख अंग
अद्‌भुत सुठान कहा लग सँभारों।
लाल गिरिवर धरन कहत मोहि तोहि लों
सुख जौलों वह रूप छिन-छिन निहारों।।

।। विजयेतां श्रीप्रियाप्रियतमौ ।।

# पञ्चम शतक

## महर्षि दुर्वासाका वरदान

थे अतिथि दुर्वा कोपन अतिशय आये एक नृपति-गृह में प्रियतम!
दाढ़ी थी लंबी पिङ्गलाभ, सिर पर थी बंधी जटा, प्रियतम।
तपका था तेज भरा उनके लोचन में, अङ्गों में, प्रियतम!
हुतभुक् था मानो मूर्तिमान, इतने तेजस्वी थे, प्रियतम ।।४०५।।

**महाराज बृषभानुके गृहमें एक दिन महर्षि दुर्वासा अतिथि हुए। वे अत्यन्त कोपन स्वभावके थे। उनके पिङ्गल वर्णकी दाढ़ी और सिरपर जटा सुशोभित हो रही थी। नेत्रोंमें – अङ्गोंमें तपका तेज परिपूर्ण हो रहा था। ऐसा लगता था, मानो अग्निदेव उनके अङ्गोंके अन्तरालसे मूर्तिमान् हो रहे हैं – इतने तेजस्वी थे वे।।४०५।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

एक विशाल कदम्बकी छायामें महर्षि दुर्वासा शान्त खडे हैं। वे बदरिकाश्रमसे लौटकर आये हैं। इसके पूर्व भी एक बार वे गोकुलमें आये थे। उन्हे उस समय अन्तर्जगत्का निर्देश हुआ था कि ब्रजमे परात्पर परब्रह्मतत्व अवतरित हुआ है। वे उसे ही ढूँढने गोकुलकी गलियोंका चक्कर लगा रहे थे। किन्तु उन्होने ब्रजमें परात्पर परब्रह्मको जिस वेषमे देखा, उसे देखकर तो वे विस्मित ही हो गये। "ओह ! ये तो धूलिमें लोट रहे हैं। उनके केश टेढे-मेढे हो रहे हैं। भला, परात्पर परब्रह्म हरि इस रूपमें ? " मुनिवर आश्चर्य-चकित हो उठे थे। उन्हें किञ्चित् सन्देह भी हुआ था। किन्तु महर्षि संशयके झूलेमे झूलते हुए भ्रमित हों, इसके पूर्व ही श्रीकृष्णचन्द्रकी योगमाया सर्वज्ञताशक्तिने उन्हें सङ्केत दे दिया था कि महर्षिका भ्रम निवारण होना चाहिये – अनुसूया-जैसी परम सतीके पुत्र भ्रमित कदापि नहीं रहें। बस, श्रीकृष्णने ऐसी ऑखसे महर्षिकी ओर निहारा कि मुनिका सबकुछ उस दृष्टिमात्रसे लुट गया, उनका शरीर कॉंपने लगा, मुद्रा चञ्चल हो गयी। उनके अङ्गोंकी समस्त दीप्ति ही श्रीकृष्णके अङ्गोकी महामरकत द्युतिमें जैसे मिल गयी । महर्षिकी एक अनिर्वचनीय स्थिति हो गयी थी।

मुनिवरने अञ्जलि बॉध ली, सिर झुका लिया। उनकी बुद्धि आवरणशून्य होकर अब परात्पर परतत्वकी अभिनव रसमाधुरीमे परिप्लुत हो उठी। वे ब्रजसे वन्दना करते-करते ही बदरिकाश्रमकी ओर लौट गये।

इस बार उन्हें पुनः आदेश हुआ है कि बृषभानुपुरमे परात्पर पराशक्ति भी अवतीर्ण हुई है। अत: आज वे उनके दर्शन करने पुनः बृषभानुपुर चले आये हैं। स्वभाव तो उनका, जैसा जगज्जननीने बनाया है, अति कोपन करके विख्यात है ही। उनका दिया श्राप अमोघ होता ही है। अतः सभी लोग उनसे भयभीत होकर कॉपते रहते हैं।।।४०५।।

अवनीश गिरे चरणों में आ, रानी ने पद चूमे, प्रियतम।
विधिवत् अर्चा करके उनकी, कर जोड़, खड़े वे थे, प्रियतम!
गम्भीर दृग से मुनि बोले, 'राजन्, रानि! सुनो', प्रियतम!
रहना है सोलह पहर मुझे इस गृह में जहाँ कहो, प्रियतम।।४०६।।

**महाराजने उनके चरणोंमें प्रणिपात किया; महारानीने उनके चरणोंका प्रक्षालन किया। विधिवत् अर्चाके अन्य उपचार उनके समक्ष प्रस्तुत किये गये और तब महारानी और महाराज - दोनों हाथ जोड़े उनके समक्ष खड़े होकर अग्रिम आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगे। गम्भीर स्वरमें मुनिराज बोले – धर्मज्ञ राजन् ! सुनो, मुझे तुम्हारे इस गृहमें सोलह प्रहर रहना है, तुम जो भी स्थान बतलाओ, वहीं रह लूँगा।'।।४०६।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

क्रोध-भट्टारक दुर्वासा जैसे ही राजा बृषभानुके महलमें पहुँचे, धर्मात्मा दम्पतिने उनकी विधिवत् चरणवन्दना की। भारतीय संस्कृतिकी यह मर्यादा है कि कोई भी अतिथि किसी गृहस्थके घर आये तो वह उसकी पञ्चोपचारोंसे विधिवत् पूजा करे। पञ्चोपचारमें पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क-समर्पण एवं आरती – ये पाँच प्राथमिक पूजोपचार होते हैं। महाराज बृषभानु एव महारानी कीर्तिदाने भी यथाविधि तपस्वी अतिथिकी पूजा सम्पन्न की एवं उनके सम्मुख विनीत भावसे खड़े रहकर उनकी अग्रिम आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगे।

ऋषि दुर्वासाने राजाको यही आज्ञा दी कि वे दो दिवस-रात्रि अर्थात् सोलह प्रहर उनके महलमें रुकेंगे। यह शास्त्रोक्त विधान ही है कि अतिथिको किसी गृहस्थके घर चौबीस प्रहरसे अधिक कदापि नहीं ठहरना चाहिये। परिव्राजक संन्यासीको तो किसी भी ग्राममें मात्र रात्रिभर ही विश्राम करना चाहिये। कही शिवक्षेत्र हो तो वहाँ वह चौबीस प्रहर (तीन दिवस) विश्राम कर सकता है। किसी विष्णुक्षेत्र (तीर्थ)में सन्यासी छप्पन प्रहरतक रुक सकता है। शेष स्थानोंमें तो परिव्रजन ही उसका धर्म है।

महर्षि दुर्वासाने भी इसी परम्पराका पालन करते हुए राजासे उसके महलमे मात्र सोलह प्रहर ही निवासकी इच्छा व्यक्त की तथा किसी ऐसे स्थानमें अपने ठहरनेकी इच्छा जताई जहाँ वे निर्विक्षेप एकान्त रह सकें। ।।४०६।।

सोती थी जहाँ राजपुत्री, प्रासाद-कक्ष वह था, प्रियतम !
सबसे सुन्दर, नृपने उनको ठहराया उसमें ही, प्रियतम !
'अब एक घड़ी ध्यानस्थ यहाँ एकाकी मैं रह लूँ,' प्रियतम !
आकर फिर तुम सेवा करना।' कहकर मुनि बैठ गये, प्रियतम।'४०७।।

**जिस प्रासाद-कक्षमें राजपुत्री राधाकिशोरी प्रतिदिन शयन करती थी, वही स्थान सबसे सुन्दर था; बृषभानु नरेशने उसमें ही उन्हें ठहराया। मुनिराज दुर्वासा फिर बोले – 'यहाँ मैं एक घडी एकाकी ध्यानस्थ होकर रह लूँ, उसके पश्चात् तुम आकर आवश्यक सेवा कर सकते हो।' उपर्युक्त वाक्य पूरा होते-न-होते मुनिराज ध्यानस्थ होकर बैठ गये।।४०७।।**

करके प्रणाम राजा उनको, चल पड़े वहाँ से हैं प्रियतम !
सीधे आये कुलदेवी के मन्दिर में दौड़े-से, प्रियतम !
परिचित मुनि के स्वभाव से थे, अतएव भीत मन से, प्रियतम !
कह 'पाहि, जननि !' सिर टेक दिया विग्रह के चरणों में, प्रियतम।। ४०८।।

**महाराजने उनको नमस्कार किया और चल पड़े। वे सीधे अपनी कुलदेवीके मन्दिरमें दौड़ते हुए-से चले आये। महर्षि दुर्वासाके स्वभावसे वे परिचित थे। अतएव भयपूर्ण चित्तसे – 'जननी पाहि-पाहि !' – कहकर विग्रहके श्रीचरणोंमें उन्होंने अपना मस्तक टेक दिया।।४०८।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सृष्टिमें भगवती महायोगमाया आदिशक्ति त्रिपुरसुन्दरीके बारह आचार्य प्रसिद्ध हैं, उनमेंसे महर्षि दुर्वासा एक हैं। ये सृष्टितंत्रके नियामक ऋषि हैं। उच्छृंखलताके नियमनके लिये इनके स्वभावमें भगवतीकी इच्छासे ही क्रोधका उद्भव होता है। इन-जैसा महाज्ञानी एवं कठोर तपस्वी दूसरा कोई हो नहीं सकता। घोर तपके फलस्वरूप ही ये मूर्त्तिमान् अग्निके तुल्य तेजस्वी बने रहते हैं।

महाराज बृषभानुके महलमें आठ प्रखण्ड हैं। इस महलका विस्तृत वर्णन **'महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा – पाँचवाँ खण्ड के 'भगवती श्रीराधाका लीलाधाम – बृषभानुपुर पृष्ठ सं. ९९ में देखें।** भानुमहलका आठवाँ प्रखण्ड, जो सर्वाधिक सुन्दर है, उसमें श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामा अपनी सखियों सहित निवास करती हैं। इस प्रखण्डमें एक बहुत ही सुन्दर उद्यान अवस्थित है, जिसमें एक परम रम्य कासार भी है। इस कासारमें सभी ऋतुओंमें अतिशय मनोहर पद्म प्रस्फुटित होते रहते हैं। इसका जल परम सुमिष्ट एवं अत्यन्त निर्मल है। महलकी पूर्व दिशामें उन्नत गिरिशिखिर हैं और वहाँसे एक अतिशय सुन्दर निर्झर कलकल निनाद करता हुआ सतत प्रवाहित होता रहता है। यह निर्झर राजमहलके बायीं ओर किनारे-किनारे प्रवाहित होता हुआ, आगे जाकर बृषभानुपुरसे होकर भानुसरोवरको परिपूरित करता, समग्र वनक्षेत्रको सिञ्चित करता सुदूर यमुनामे मिल जाता है। इस निर्झरका नाम ब्रह्मनिर्झर है, क्योकि इसकी उत्पत्ति ही ब्रह्मगिरिसे हुई है।

महाराज बृषभानुने महलके इसी सर्वोत्कृष्ट स्थलपर महर्षिको ठहरानेका विचार किया और जिस कक्षमें किशोरी राधाका निवास था, उसीमें महर्षिके निवासकी व्यवस्था कर दी।

दुर्वासाजीको उस स्थानमें एक विलक्षण अलौकिकता दृष्टिगोचर हुई। उन्हे अनुभव हुआ कि इस कक्षमें प्रवेश करने मात्रसे तुच्छ पार्थिव विलासरसका भाव सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट होकर एक अपूर्व प्रेमरस– तत्सुखभावका तीव्र प्रवाह उनके चित्तमें लहराने लगा है। उनकी चित्तवृत्तियोंकी विभिन्न गतियाँ रुक गयी हैं – वे सभी वृत्तियाँ अपना सम्पूर्ण अस्तित्व विसर्जनकर महर्षिको किसी अलौकिक सौन्दर्य-माधुर्यमें डूब जानेको विकल बना दे रही हैं। महर्षिकी तो सर्वत्र अव्याहत गति है। वे कैलास, ब्रह्मलोक, – यहाँ तक कि वैकुण्ठमें भी गये हैं, सर्वत्र उन्हें आत्मकल्याण, आत्मसुख, आत्मज्ञान, आत्मशान्तिकी झाँकी ही मिली है, यह तदर्थ समर्पण-भाव (तत्सुखभाव) तो उन्हे अबतक कहीं बीजरूपमे भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ । यहाँ तो उनकी समग्र तपस्या, उनका साधनबल, उनके समस्त सञ्चित पुण्य, उपासना आदि विसर्जित हुए जा रहे हैं। उन्हें सतत ऐसा अनुभव हो रहा है मानो जैसे पापीमें पाप-बोझ होता है, वैसे ही वे तप-बोझ, उपासना-बोझ, उत्तम कर्मबोझ आदिसे भाराक्रान्त हैं। इस सारे बोझको किसीके चरणोंमें समर्पितकर वे मानो पूर्ण रिक्त हो गये हो, एक सच्चिन्मयी अपूर्व नीलिमा उनके हृदयमें भरती जा रही हो, इस कक्षमें उस नीलिमाका वेगपूर्ण प्रवाह उन्हें तीव्ररूपसे आकर्षितकर अपनेमें मिल जानेकी संप्रेरणा प्रदान कर रहा है।

दुर्वासा महलके कक्षमें प्रवेश करते ही किञ्चित् अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। वे बृषभानुजीसे इतना ही कहते हैं कि वे यहाँ एक घडी ध्यानस्थ रहेंगे, उन्हें एकाकी छोड दिया जाय, एक घडी पश्चात् राजा उनसे मिलें और तब आगेकी सेवा करें। उपर्युक्त बात कहते कहते महर्षिके नेत्र मुँद जाते हैं और वे किसी अलौकिक जगत्में प्रवेश कर जाते हैं। महाराजा देखते हैं कि महर्षिके मन एवं शरीरपर सच्चिदानन्द प्रेम-मदका एक विलक्षण अपूर्व नशा छा रहा है।

महाराजा महर्षिको प्रणामकर बाहर आ जाते हैं। वहाँसे महाराजा सीधे अपनी कुलदेवी पराभट्टारिका भगवती महात्रिपुरसुन्दरीके मन्दिरमें दौडे चले जाते हैं। राजा मुनिके स्वभावसे परिचित हैं। मुनिको क्रुद्ध होनेमें एक क्षणकी भी देर नहीं लगती, और उनका कोप भीषण विनाशका कारण बन जाता है। क्रोधके प्रखर आवेगमें महर्षि भले ही स्वयं महाराजाको भस्म कर डालें, इसकी उन्हें किञ्चित् भी चिन्ता नहीं है, किन्तु उनकी लाडिली कन्याओं और भगवती-प्रदत्त

उनके इकलौते पुत्रका कोई अनिष्ट सघटित न हो जाय, इसी चिन्तामें राजा अपनी आराध्या भगवतीके मन्दिरमें – उस कृपामयीकी देहलीमें आकर दण्डवत् गिर जाते हैं। वे अञ्जलि-बद्ध हुए, घुटने टिकाकर, सिरसे माताकी स्वर्णप्रतिमाके चरणोका स्पर्श करते हुए मातासे इस अप्रत्याशित सङ्कटसे त्राण दिलानेकी प्रार्थना करने लग जाते हैं। महाराजको पता ही नहीं कि जिस महात्रिपुरसुन्दरीको प्रसन्नकर उनके रक्षा-कवचके लिये वे प्रार्थना कर रहे हैं, उन्हीं जगज्जननीके आदेशसे ही अपनेको कृतकृत्य बनाने महर्षि दुर्वासा बृषभानुपुर आये हैं। जिन राजदुहिताओंके कुशल क्षेमकी चिन्ता महाराजको सता रही है, उन युगल राजदुहिताओंकी चरणधूलि तो दुर्वासाको भी विशुद्ध प्रेम-पथका पथिक बना देनेकी क्षमता रखती है। प्रीतिरस-सुधाकी मन्दाकिनी-धाराओमें दुर्वासाको आप्लावितकर उन्हे सच्चिदानन्दसिन्धुमें निमग्न कर देनेका जगज्जननीका विधान ही तो उन्हें यहाँ बदरिकाश्रमसे आकर्षित करके लाया है। ।।४०७-४०८।।

मुसकान कनकमय विग्रह के अधरों पर भर आयी, प्रियतम!
वीणा से भी मीठी वाणी होने फिर व्यक्त लगी, प्रियतम।
"चिन्ता न करो तुम, वत्स! सुखद मिलना होगा इनका," प्रियतम।
"अपनी दोनों दुहिताओं को आगे कर यह कहना," प्रियतम।।४०९।।

**जगदम्बाके कनकमय विग्रहके अधरोंपर मुस्कान भर आयी। वीणासे भी अधिक सुमिष्ट वाणीमें, जगदम्बाके अधरोंके अन्तरालसे ये शब्द व्यक्त होने लगे – 'वत्स ! तुम चिन्ता मत करो; मुनिराजका मिलना तुम्हारे लिये अत्यन्त सुखद होगा। किन्तु उनके समक्ष अपनी दोनों दुहिताओंको आगे करके जाना भला !'।।४०९।।**

'मुनिपुंगव! जो है पुत्र एक, अत्यन्त चपल वह है,' प्रियतम!
'सेवा के योग्य चार हम हैं, चारों को या दो को,' प्रियतम!
'स्वीकार करें, होऊँ कृतार्थ पाकर पद की सेवा,' प्रियतम!
'जगज्जननी की रुचि है, पर यह पुत्री पर दया करें।' प्रियतम।।४१०।।

**'और तब इस प्रकार कहना – "मुनिपुङ्गव ! मेरा निवेदन कृपया सुन लें। जो मेरा एक पुत्र है, वह तो अत्यन्त चञ्चल है। उसके द्वारा आपकी यथोचित सेवा सम्पन्न न हो सकेगी। सेवाके योग्य तो मैं, महारानी और मेरी दो पुत्रियाँ – हम चार ही हैं। हम चारोंको, अथवा दोको – जैसा उचित समझें – सेवाके लिये स्वीकार करें। आपके चरण-सरोरुहकी सेवा पाकर हम कृतार्थ हो जायें। हाँ! जगज्जननीकी रुचि भी मैं निवेदन कर दे रहा हूँ – वे चाह रही हैं कि आप मेरी इन दो पुत्रियोंपर ही कृपा करें।"।।४१०।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

महाराजा बृषभानु ज्योंही भगवती योगमायाके श्रीविग्रहके चरणोंमें प्रणाम करते है उन्हें अनुभव होता है मानो भगवतीके कनकमय विग्रहके अधरोंपर मुसकान खिल उठी है। महाराजा बृषभानु चकित हो उठते हैं। उन्हें अनुभव होता है कि यह मुसकान तो अनादि मोहान्धकारको सर्वथा- सर्वदाके लिये नष्ट करदेनेवाली ब्रह्मस्वरूप रत्नप्रदीपकी झलमलाहट है। महाराजा अनुभव करते हैं, मानो ईश्वर-प्रतिपादक समस्त उपनिषदोंका प्रामाण्य ही पराम्बाका शरीर ग्रहणकर उनके सम्मुख मुसका रहा है। राजा कृतकृत्य हो उठते हैं। उनके सौभाग्यरूप कल्पतरु-काननका मूलभूत पुष्प ही प्रस्फुटित होकर माता पराम्बाके आननका रूप ग्रहणकर उनके सामने खिल रहा है। " ओह ! जिस वाणीका प्रभाव देश कालसे परिच्छिन्न नहीं है, वही देश कालकी सीमासे अतीत मधुरातिमधुर वाणी महाराजाके कर्ण-विवरोंमें

अमृत घोलने लगती है। जिसे कुछ लोग परात्पर परब्रह्मकी नादशक्ति – **'ॐकार'** कहते हैं, जिसे कुछ लोग परमात्मशक्ति तुरीय वाणी कहकर **'परावाणी'** संज्ञा देते हैं, जिसे श्रेष्ठ पुरुष भगवद्वाणी, वेदध्वनि कहकर अपौरुषेय बतलाते हैं, वही वीणाविनिन्दक स्वरलहरी महाराजा बृषभानुको परम सन्तोषमें डुबो देती है – "चिन्ता मत करो, वत्स! इन महर्षिका आगमन तुम्हारे लिये परम कल्याणकारी, सुखद ही होगा। तुम जब भी महर्षिके पास जाओ, अपनी दोनों कन्याओंको अपने आगे करके जाना और यह निवेदन कर देना– " मुनिपुङ्गव ! मेरा जो एकमात्र पुत्र है, वह तो अतिशय चपल है अतः आपकी सेवाके अयोग्य है। मैं, मेरी पत्नी एवं ये दोनों पुत्रियाँ – हम मात्र चार ही हैं जो आपकी सेवाके किञ्चित् योग्य हो सकते हैं। आप हमें कृतार्थ करें। मेरी इन दोनों पुत्रियोंपर भगवती जगदम्बाकी अतिशय कृपा है। मेरी रुचि तो इन्हें ही आपकी सेवामें नियोजित कर देनेकी है। आपकी अनुमति हो तो इन्हें मैं आपकी सेवामें नियुक्त कर दूँ।" ।।४१०।।

*निश्चिन्त नृपति रानी को ले, पुत्री युग को, आये, प्रियतम !*
*लोचन मुनि के जब खुले तभी वैसी ही की विनती, प्रियतम !*
*कन्या थी बड़ी गौर वर्णा, साँवरी कनिष्ठा थी, प्रियतम !*
*ज्यों दृष्टि पड़ी, मुनि के तनमें विद्युत-सी व्याप गयी, प्रियतम ।।४११।।*

**जगदम्बाके अधरपुटोंसे उपर्युक्त इतना-सा आदेश व्यक्त हुआ। किन्तु इतना सुनते ही महाराज बृषभानुका मन निश्चिन्ततासे पूर्ण हो गया। रानी तथा दोनों पुत्रियोंको साथ लिये हुए, जहाँ मुनिराज ध्यानस्थ बैठे थे, वहीं अवनीश लौट आये। जब मुनिराजके नेत्र उन्मीलित हुए, तब जगदम्बाकी रुचिके अनुसार ही महाराजने मुनिके चरणोंमें निवेदन कर दिया। बड़ी कन्या गौरवर्णा थी और कनिष्ठा श्यामवर्णा। उन दोनों राजपुत्रियोंपर ज्योंही मुनिराजकी दृष्टि पड़ी कि उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उनके सम्पूर्ण तनमें विद्युत्-सी व्याप्त हो गयी है।।४११।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

जगन्माताकी मङ्गलमयी वाणी सुनकर निश्चिन्त हुए राजा रानीको साथ ले, युगल पुत्रियोंको आगेकर मुनिपुङ्गव दुर्वासाजीके सम्मुख खड़े हो जाते हैं। एक घड़ी पश्चात् जैसे ही मुनि अपने ध्यान-निमीलित नेत्रोंको खोलते हैं, दोनों कन्याओंको देखकर चकित हो जाते हैं। राजा तो जगन्माता द्वारा दी गई आज्ञाका अनुपालन करते हुए, उन्हें जो-जैसा माताने कहा था, मुनिके समक्ष निवेदन कर देते हैं। किन्तु मुनि तो जैसे सर्वथा बहरे ही हो गये हों – उन्होंने क्या सुना, क्या नहीं सुना, कुछ भी कहा नहीं जा सकता। मुनिकी दृष्टि जैसे ही गौरवर्णा बड़ी एवं श्यामवर्णा छोटी बालिकापर पड़ती है उनके मनमें तो विद्युत्की-सी लहर दौड़ जाती है।

*आसन को छोड़, उठे, कम्पित था रोम-रोम उनका, प्रियतम !*
*थीं पलकहीन आँखें, अञ्जलि बँध गयी अचानक थी, प्रियतम !*
*क्या हुआ, पता क्या, अचरज में पड़कर रानी-राजा, प्रियतम !*
*करबद्ध खड़े थे, हँसती थी पर कन्या वह छोटी, प्रियतम ।।४१२।।*

**.................... मुनिराज आसन छोड़कर उठ पड़े। उनका रोम-रोम कम्पित हो रहा था। नेत्रोंके पलक पड़न बंद हो गये। अचानक अपने आप उनकी अञ्जलि बँध गयी। क्या हुआ, कैसे हुआ - महारानी एवं महाराज अचरजमें पड़ गये। हाथ जोड़े वे दोनों खड़े थे किन्तु वह छोटी राजकन्या हँस रही थी।।४१२।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

" ओह ! तो यही वह सत्ता है, जिसकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये जगन्माताने मुझे बदरिकाश्रमसे ब्रजप्रदेश आनेकी आज्ञा दी थी। हे अखिल जगदीश्वरी ! रासेश्वरी ! नित्यनिकुञ्जेश्वरी ! नित्य परात्पर परब्रह्म नराकृति पुरुषोत्तमकी प्राणवल्लभा ! श्रीकृष्णात्मा ! श्रीकृष्ण-प्राणस्वरूपा ! श्रीकृष्णाराध्या ! श्रीकृष्णाराधन-तत्परा ! अखिल सौन्दर्य-माधुर्य-सार-प्रतिमा ! तुम्हारी जय हो ! जय हो !! " मुनिपुङ्गव दुर्वासा एकमात्र रसायनरूप परमानन्दसिन्धुमें अवगाहन करने लगते हैं। मुनिकी समग्र प्रार्थना उनके मनमें ही उच्चरित हो रही है अतः वह बृषभानु-नृपति एवं रानी कीर्त्तिदाको न तो श्रवणगम्य ही होती है, न ही उन्हें मुनिकी कोई चेष्टा समझमें ही आती है। उन्हे तो यही दृष्टिगोचर होता है कि मुनिराज आसन छोडकर उठ पड़े हैं, उनका रोम-रोम कम्पित हो रहा है, उनके ओंठ अस्पष्ट रीतिसे बुदबुदा रहे हैं। दम्पति देख रहे हैं कि मुनिकी अञ्जलि दोनों कन्याओके सम्मुख बँध गयी है, मुनिके नेत्रोंके पलक गिरने बन्द हो गये हैं। मुनिकी प्रार्थनाके शब्द, सबके हृदयान्तरालमें साक्षीरूपमें विराजित, उसमें नित्य-निरन्तर निवास करनेवाले, मञ्जुश्यामाका रूप धारण किये श्रीकृष्ण तो अवश्य ही सुनकर मन्द-मन्द मुसका रहे हैं। जिनके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ब्रह्मा, शङ्कर, शुक, नारद और भीष्मादि 'महतो महीयान्' पुरुषोंको भी नहीं है, वे सर्वनियमातीत, सर्वबन्धनविमुक्त, नित्य स्ववश, परात्पर परम पुरुषोत्तम बृषभानुकी श्यामवर्णी छोटी कन्या बने, महर्षि दुर्वासाके शब्द-शब्दको, उनके हृदयके अन्तरतम भीतरी भावोंको भी सुन एवं जान भी रहे हैं, साथ ही उसका पूर्णास्वादन करके मुसका भी रहे हैं। ।।४१२।।

डरकर रानीने कर रखकर ढक दिये अधर उसके, प्रियतम।
आकुल मुनिने संकेत किया, हाथों को नचा-नचा प्रियतम।
छेड़ो मत, इसको करने दो करती जैसे यह है, प्रियतम।
चल पड़ा आँसुओं का प्रवाह आज था दृगसे उनके, प्रियतम।। ४१३।।

**भयभीत होकर रानीने अपनी छोटी पुत्रीके अधरपुटोंको अपने हाथोंसे ढक दिया। किन्तु व्याकुल हुए मुनिने हाथोंको नचा-नचाकर सङ्केत किया – 'इसे तुम छेड़ो मत; यह जैसे कर रही है, करने दो।' मुनिके दोनों दृगोंसे अश्रु-प्रवाह झर रहा था।।४१३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

कन्याको हँसती हुई पाकर भयभीत हुई रानी अपनी छोटी पुत्रीके अधरपुटोको अपने हाथोंकी हथेलीसे ढँकनेकी चेष्टा करने लगती है। किन्तु महर्षि दुर्वासाकी दूरदृष्टि तो इस श्यामवर्णी बालिकाके तत्व-रहस्यकी विज्ञाता है, अतः वे उसी क्षण अपने हाथोंके सङ्केतसे रानीको बालिकाकी किसी चेष्टाको रोकनेके लिये मना कर देते हैं। रानीकी दृष्टिमे तो यह कन्या उनकी छोटी सन्तान ही है, किन्तु दुर्वासाकी दृष्टिमें तो वह योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्गमगति साक्षात् मधुसूदन ही हैं जो गोष्ठमें अपनी प्रियाकी सेवाके लिये, उनकी छोटी बहन बनकर उनके पूर्ण अनुगत हुए, वहाँ खड़े हँस रहे हैं। इस बालिकाको देखनेभरसे महर्षिके नेत्र अश्रुवर्षा करने लगते हैं ।

महर्षिको यह रहस्य पूर्णतया ज्ञात हो जाता है कि अपने प्रियतमको अनन्त वैदग्ध्य, अनुराग, लावण्य, सौन्दर्य, माधुर्य, वात्सल्य एवं कृपादि महाभावोंसे नित्य आप्यायित रखने वाली ह्लादिनी शक्ति प्रिया बृषभानुनन्दिनीको निज स्वरूपसे सुखदान नहीं कर पानेकी विवशताके कारण ही प्रेमघन-रस-सुधा-सागर आनन्दकन्द परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण मञ्जुश्यामाका रूप रखकर श्रीराधाकी अनुजा बने खडे-खडे मुसका रहे हैं। ।।४१३।।

वह आम्रमञ्जरी प्राशनकी था नगर वासियों को, प्रियतम,
नीली लहरों वाली तटनी तट पर की होली की, प्रियतम,
रसमयी पञ्चमी की लीला छप्पन शुभ मास तथा, प्रियतम,
दिन एक आज से पहले की जो देख तपोधन ने प्रियतम ।।४१४।।

**मुनि भाव-समाधिमें निमग्न होने लगे। उनके सामनेका दृश्य बदल गया। बृषभानु-राजप्रासादके स्थानपर अब वे वनस्थलकी एक लीला देखने लग गये - आज तो आम्रमञ्जरी-प्राशनकी वसन्त पञ्चमी है। बृषभानुपुर तथा नन्दग्रामके सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष एकत्र हो गये हैं, नीली लहरोंवाली कलिन्दनन्दिनीके तटपर। होलीकी प्रथम दिनवाली लीला मुनिकी दिव्य आँखोंने देखनी प्रारम्भ की – यद्यपि यह लीला संघटित हुई थी आजसे छप्पन महीने और एक दिन पूर्व।।४१४।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

मुनिके नयनोंमे उनकी परमाराध्या सर्वज्ञाशक्ति जगन्माता इस क्षण आजके छप्पन महीने एवं एक दिवस पूर्वकी घटना ज्यों-की-त्यों प्रत्यक्ष कर देती है। उस घटनाके सच्चिन्मय दर्शनसे मुनि भाव-समाधिस्थ हो जाते हैं। वे प्रत्यक्षवत् देख रहे हैं – 'समग्र ब्रजक्षेत्रमे होलीकी धूम है। ब्रजप्रदेशके सभी वनोंमें आम्र मुकुलित हो चुके हैं। नवधान्यसे ब्रजवासियोंके अन्नभण्डार भर चुके हैं। नवधान्यके साथ आम्रमञ्जरियोंके प्राशनका त्यौहार सम्पूर्ण ब्रजप्रदेशमें धूमधामसे मनाया जा रहा है।।।४१४।।

आराधन पञ्चदेवता का नाना उपचारों से प्रियतम ।
हो रहा जहाँ पर था, रानी सहयोग दे रही थीं, प्रियतम ।
प्यारी प्राणोंसे बढ़कर उस अलबेली बेटी की प्रियतम ।
रक्षाका भार सभी रखकर अपनी अनुजा पर हो प्रियतम ।।४१५

**उस दिन विविध उपचारोंसे पञ्चदेवताका आराधन वहाँ हो रहा था। महारानी सहयोग दे रही थीं। अपनी अलबेली पुत्रीकी प्राणोंसे बढ़कर प्यारी बेटीकी रक्षाका – सँभालका भार अपनी छोटी बहनपर रखकर ही उन्होंने ऐसा किया था।।४१५।।**

उस समय लाली की वयस मास सत्रह में थे घटते प्रियतम
दिन तीन, किंतु अब भी वह थी आँखें मूँदे रहती, प्रियतम
वह एक नाम सुनकर अवश्य कुछ देर खोलती थी प्रियतम,
वह भी तबसे आये जब थे मुनि वीणाधारी प्रियतम ।४१६।।

**उस समय बड़ी लाड़िलीकी आयु सत्रह मास पूर्ण होनेमें तीन दिन घट रहे थे। किन्तु अभी भी वह अपनी आँखें मूँदे ही रहती। हाँ, वह एक नाम सुनकर अपनी आँखें कुछ देरके लिये खोलती अवश्य थी; किन्तु वह भी तभीसे, जब वे वीणाधारी देवर्षि नारद बृषभानुपुर पधारे थे।।४१६।।**

अथवा आती जब थीं अपने अप्रतिम लाल को ले, प्रियतम ।
गोपेश मोहिनी-शिशु-तनका सौरभ मिलता रहता प्रियतम ।
उसके दृग-नलिन खुले रहते तब तक, वह किंतु जहाँ प्रियतम ।
ओझल होता, पलकें तुरंत मुद्रित हो जाती थीं, प्रियतम ।।४१७।।

अथवा एक अवसर और था, जब उसकी आँखें अपने-आप खुल जातीं। जब कभी नन्दरानी अपने नीलसुन्दर पुत्रको साथ लेकर बृषभानुपुर आती और उस नीले शिशुका अप्रतिम अङ्ग-सौरभ बृषभानुपुत्रीको प्राप्त होता – जबतक उस सौरभकी अनुभूति उसे होती रहती, तबतक उसके दृग-नलिन खुले ही रहते। किन्तु जैसे ही वह नीला शिशु उसके नेत्रोंसे ओझल होता कि बस, राजपुत्रीकी आँखें अपने-आप निमीलित हो जातीं।।४१७।।

थे उसी प्रकार सलोने दृग खुलते, मीलित होते, प्रियतम।
गोदी में उसको लेकर थी मौसी यह सोच रही प्रियतम।
कम्पित होकर, पुलकित होकर, भरकर जल लोचन में प्रियतम
रह-रहकर तन-सुधि भी खोकर, बहकर रस-वारिधि में प्रियतम॥४१८।

आज भी उसी प्रकार राजपुत्रीकी सलोनी आँखें निमीलित एवं उन्मीलित हो रही थीं। उसी समय उसको अङ्कमें लेकर मौसी सोच रही थी।............मौसीका कलेवर रह-रहकर कम्पित हो जाता; पुलकावलि उदित हो जाती; नेत्रोंमें जल भर आता; रह-रहकर उन्हें अपने शरीरकी सुधि भी भूल जाती; और वे रस-समुद्रकी लहरोंमें न-जाने कहाँ-से-कहाँ बहने लगती। ....।।४१८।।

'होती जो एक अतुल ऐसी सुषमाशालिनी अहो, प्रियतम।
इसकी ही छोटी बहिन, भला, सुखदा सहोदरा ही, प्रियतम।
मैं उसे अङ्कमें लिये सदा रहती या इसको ही, प्रियतम।
भगिनी के वक्षःस्थल पर यह शोभित या वह रहती प्रियतम॥४१९॥

मौसी विचारके प्रवाहमें सोचने लगी – अहो ! यदि ऐसी ही सुषमाशालिनी अप्रतिम सुन्दरी इसीकी एक सहोदरा, सुखकी पुञ्जभूता बहन और होती तो ? अहो ! तब या तो मैं इसे अथवा उस कनिष्ठाको सदा अङ्क में धारण किये रहती और मेरी बहनके वक्षःस्थलपर या तो यह अथवा वह सुशोभित रहती।' अस्तु,।।४१९।।

मनमें यह अभिलाषा जगकर होगयी विकल मौसी प्रियतम।
तत्काल अनुग्रहमयी गिरा नभवाली गूँज उठी, प्रियतम।
यह है त्रिकाल सच, जननि, इसे छूकर चाहो कुछ भी प्रियतम।
मिलती ही है वह वस्तु, परम मङ्गल एवं होगा प्रियतम॥४२०।

..........मनमें ऐसी अभिलाषा उदित होते ही मौसी विकल हो उठी। तत्क्षण अनुग्रहमयी आकाशवाणी उनके कानोंमें गूँजी – 'अरी मैया ! तुझे त्रिकाल सत्यका सङ्केत हो रहा है। देखो, तुम इस लाड़िली पुत्रीको छूकर किसी वस्तुकी भी चाह करोगी तो वह वस्तु तुम्हें मिलेगी ही और तुम्हारा परम मङ्गल होगा।'।।४२०।।

मौसी के तन-मन फूल उठे, उस ओर हुई पूरी, प्रियतम!
देवों की सविधि अर्चना वह, डफ लगे तथा बजने, प्रियतम!
आकाश बना अरुणाभ, हुआ रवि-किरण-जाल धुँधला प्रियतम
आटोप अबीर-गुलाल रचित हो चला घना क्रम से, प्रियतम॥४२१॥

मौसीके तन-मन आनन्द-परिप्लुत हो उठे। उस ओर देवोंकी विधिपूर्वक अर्चना सम्पन्न हो गयी। अब डफ बजने लगे, आकाश अरुणाभ बन गया। अंशुमालीका किरणजाल गुलालसे धुँधला हो गया। अबीर और गुलालसे रचित आटोप क्रमशः घना-से-घना होता चला गया।।४२१।।

उस दिनके उस अतिशय विशाल जन समारोह में, हे प्रियतम !
क्षणभर के लिये लली उतरी मौसी की गोदी से, प्रियतम !
इतने में सभी रमणियों ने, जो थीं अहीरपुर की, प्रियतम !
रस भेंट लिये, रानी को, फिर मौसी को घेर लिया, प्रियतम ॥४२२॥

उस दिनके उस अतिशय विशाल जन-समारोहमें मौसीकी गोदीसे लाड़िली – राधाकिशोरी क्षणभरके लिये उतर पड़ी। इतनेमें ही नन्दग्रामकी सभी रमणियोंने हाथोंमें रसकी भेंट लिये कीर्तिदा महारानीको और फिर मौसीको – दोनोंको ही घेर लिया।।४२२।।

हो गयी लली कुछ दूर अहो! वैसे ही दृग मूँदे, प्रियतम !
ओठों पर थी मुसकान, भला, देती करताली थी, प्रियतम !
गा रही तथा कुछ थी धीरे, स्वर था इतना मीठा, प्रियतम !
भर चली मत्तता प्राणों में सबके अज्ञान में ही, प्रियतम ॥४२३॥

इसी बीचमें लाड़िली वैसे ही आँखें मूँदे कुछ दूर चली गयी। उसके होठोंपर मुस्कान थी और बड़े तालके साथ वह ताली दे रही थी। मन्द मधुर स्वरमें धीरे-धीरे कुछ गा भी रही थी। लाडिलीका स्वर इतना मीठा था कि अनजानमें ही सबके प्राणोंमें उन्मत्तता भर उठी।।४२३।।

'मैं कौन, कहाँ पर हूँ, क्या है करना मुझको,' भूले, प्रियतम !
अञ्जलि में लिये गुलाल तरल सब के सब दौड़ चले, प्रियतम!
उस ओर जहाँ थी लली सृजन करती रस की सरिता, प्रियतम!
नव-नव कुछ लहरों का सुन्दर आवर्त चित्र लिखती, प्रियतम ॥४२४॥

उस होली-क्रीड़ामें प्रायः सभीको, 'मैं कौन हूँ, कहाँपर हूँ, मुझे क्या करना है,' इस बातकी विस्मृति हो गयी। सबकी अञ्जलि तरल गुलालसे परिपूर्ण थी। सभी अनजानमें ही उस ओर दौड़ चले, जहाँ लाड़िली नेत्र बंद किये खड़ी-की-खड़ी रसकी प्रवाहिणीका सृजन कर रही थी। उस प्रवाहिणीमें नवीन-नवीन ऊर्मियोंका सुन्दर आवर्त्त-चित्र स्वतः अङ्कित होता जा रहा था।।।४२४।।

'ठहरो, ठहरो! क्या करते हो ? राजा की यह बेटी', प्रियतम !
'है खड़ी यहाँ, पिस जाती यह, होता जो मैं न यहाँ,' प्रियतम !
स्वर उसी अनोखे बालक का, आभीर राज सुत का, प्रियतम !
सहसा सुखमत्त हुए सबके कानों में ध्वनित हुआ, प्रियतम ॥४२५॥

अचानक नन्दनन्दनका मधुरातिमधुर स्वर गूँज उठा – 'अरे ! ठहरो ठहरो, तुम सब क्या कर रहे हो ? वृषभानु महाराजकी बेटी यहीं खडी है; और यदि मैं यहाँ नहीं रहता तो तुम सबके द्वारा आज यहाँ पिस ही गयी होती ! ..... आभीरनरेश महाराज नन्दके पुत्र उस नीलसुन्दर बालकका स्वर सबके कानोंमें – सुखमत्त हुए एक-एकके कर्णपुटोंमें – सहसा ध्वनित हो गया।। ४२५।।

ज्यों के त्यों सब रुक गये तथा दीखा यह सम्भव-सा, प्रियतम !
समवेत तरुण-तरुणी-बालक, सबके दृग चमक उठे, प्रियतम !
हँसता था केवल एक वही छोरा अहीर-नृप का, प्रियतम !
रानी की सुता रूप उसका पी रही दृगों से थी, प्रियतम ॥४२६॥

फिर तो ज्यों-का-त्यों – जो जहाँ था, वहीं-का-वहीं रुक गया और सबको उस अनिष्टकी सम्भावना भी ज्यों-की-त्यों दीख गयी । एकत्रित हुए सम्पूर्ण तरुण-तरुणियोंको, वयस्कोंको एक साथ वैसा ही अनुभव होने लगा। सबकी आँखें छलक उठीं – 'अहो, आज तो भारी अनर्थ हो जाता।' प्रायः सभी स्तब्ध-से होकर बृषभानुपुत्रीको निहारने लग गये। एक केवल आभीर राजपुत्र नन्दनन्दन मात्र हँस रहे थे और उनकी सौन्दर्यसुधाका बृषभानुनन्दिनी अपने नेत्रोंके द्वारा पान कर रही थी।।४२६।।

पन्द्रह-सोलह पल जब बीते, प्रकृतिस्थ हुई रानी, प्रियतम!
बोलीं सब हँसकर, 'मेरे रे लाल, नैनतारा,' प्रियतम।
'तू ही था, तू ही है, आगे निरवधि तू ही होगा,' प्रियतम!
'हरदम सँभाल रखने वाला मेरी इस बेटी की।' प्रियतम।।४२७।।

इस अवस्थामें ही पंद्रह-सोलह पल बीत गये। इतने कालके अनन्तर ही बृषभानुपुरीकी महारानी प्रकृतिस्थ हो सकी तथा हँसकर वे बोल उठीं – 'अरे मेरे लाल ! मेरे नैनोंका तारा रे ! मैं सत्य कह रही हूँ, तुम ही मेरी इस पुत्रीकी सँभाल करनेवाले सदासे थे, आज भी सँभाल करनेवाले तुम ही हो, और अनन्तकालतक निरवधि – एकमात्र तुम ही रहोगे भी। मेरी बेटी तुम्हारे ही हस्तकमलकी छायामें नित्य सुरक्षित रहेगी', अस्तु,।।४२७।।

लोचन खिल उठे सभी के, ज्यों यह उक्ति सुनी सबने, प्रियतम!
इतने में वही नीलसुन्दर बालक फिर बोल उठा, प्रियतम!
आँखें मटकाकर रानी से, 'दो पुरस्कार अबतो,' प्रियतम!
'दोगी तुरंत, या ले जाकर मुझको अपने गृह में?' प्रियतम।।४२८।।

..........सभीके नेत्र प्रफुल्लित हो उठे। कीर्तिदा महारानीकी यह उक्ति सबके कानोंमें झंकृत होने लगी। इतनेमें ही वह नीलसुन्दर बालक पुनः बोल उठा, शैशवकी सरलता उसकी वाणीमें परिपूरित थी, वह अपनी चञ्चल आँखोंको मटका रहा था और कहता भी जा रहा था - 'रानी ! अब मुझे पुरस्कार तो दो भला ! ...........बतलाओ, अभी तुरंत दे दोगी या अपने घर ले जाकर दोगी ?'।।४२८।।

'सस्ते छूटोगी, दे दोगी जो अभी यहीं कुछ भी,' प्रियतम!
'ले गयी कदाचित् घर पर तो दूना देना होगा,' प्रियतम!
'है एक लाभ इसमें अवश्य, इन, अहो! लाड़िली के,' प्रियतम!
'लोचन फिर तो मुद्रित होंगे क्षणभर भी नहीं कभी।' प्रियतम।।४२९।।

'देखो ! यदि तुम मुझे यहीं कुछ दे दोगी तो बहुत सस्ते ही छूट जाओगी। किन्तु कदाचित् मुझे अपने घर लिवा ले गयी तो दूना पुरस्कार देना होगा भला ! हाँ, मुझे घर ले जानेमें एक लाभ तुम्हें अवश्य होगा। उसके पश्चात् तो तुम्हारी पुत्रीकी आँखें कभी निमीलित नहीं होंगी।'।।४२९।।

'रे लाल! भला, घर चलकर तो तू देख सही क्या-क्या,' प्रियतम!
'देती हूँ मैं तुझको; पर फिर कुछ दिन रहना होगा।' प्रियतम!
'अपना पूरा घर सौंप, अहो! सचमुच दूँगी तुझको,' प्रियतम!
'मनमानी तू करते रहना, रोकूँगी नहीं कभी।' प्रियतम।।४३०।।

कीर्तिदा मैया क्षणभरका भी विलम्ब किये बिना बोल उठी 'अरे मेरे लाल ! तू मेरे घर चलकर तो देख सही कि मैं तुझे क्या-क्या देती हूँ। किन्तु हाँ, फिर कुछ दिनोंके लिये तो तुम्हें मेरे घर ही रहना पड़ेगा। देख! मैं तुझे अपना पूरा घर ही सौंप दूँगी और तू मनमानी करते रहना। मैं कभी भी तुम्हें रोकूँगी नहीं।'।।४३०।।

हँसपड़ी ठठाकर, कहकर, कर धरकर शिशुका, रानी, प्रियतम!
चलने के लिये तुरंत हुआ सम्मत वह बालक भी, प्रियतम!
गोपेश-गेहिनी मुसकाकर बोलीं, 'साँवला अरे!' प्रियतम!
'आवास करेगा उजियारा फिर कौन नित्य मेरा?' प्रियतम।।४३१।।

महारानी इतना कहते-कहते ठठाकर हँस पड़ी तथा नीलसुन्दरका कर-सरोज उन्होंने अपने हाथमें धारण कर लिया। नीलसुन्दर भी बृषभानुपुर जानेके लिये तुरंत प्रस्तुत हो गये। उस ओर गोपेशगेहिनी - नन्दरानी – मुस्कुराकर बोल उठी – 'अरे सॉवरा ! फिर मेरे घरको निरन्तर उद्भासित कौन करेगा रे ?' ।।४३१।।

'मैया री! अच्छा, सुन ले यह, तूँ समझ नहीं पायी,' प्रियतम!
'मैं एक साथ दोनों गृह में रह लूंगा, देख सही!' प्रियतम।
आरसी एक चम-चम करती थी पड़ी पास में ही, प्रियतम!
मरकत-साँवर छोरा बोला होकर समक्ष उसके, प्रियतम।।४३२।।

'अरी मैया ! अच्छा तो सुन ले ! तू बात समझ नहीं पायी, री । तू देख तो सही, मैं एक साथ ही दोनों घरोंमें रह लूँगा।' नीलसुन्दरका मधुरस्यन्दी स्वर पुनः झंकृत हो उठा।...............एक चमचम करता हुआ दर्पण पासमें ही पड़ा था। उसके समक्ष होकर वह साँवर-बालक बोल उठा – ।।४३२।।

तेरे घर तो मैं स्वयं नित्य हूँ और रहूंगा ही, प्रियतम!
अब अहो! प्रतिच्छाया मेरी, रानी को यह दूंगा, प्रियतम!
'इनकी दृगपुतरी बेटी जो श्रीजी के साथ सदा,' प्रियतम।
'मेरी यह छाया भी खेले, मैं तो खेलूँगा ही।' प्रियतम।।४३३।।

'अच्छा, फिरसे सुन लो ! तेरे घर तो मैं स्वयं नित्य रहता ही हूँ और रहूँगा ही तथा देख ! एक नया खेल मैं कर दे रहा हूँ। लाड़िलीकी मैयाको, जो तू इस दर्पणमें मेरी प्रतिच्छाया देख रही है, उसे ही दे दूँगा। महारानीकी दृगपुत्री इन बेटी – श्रीजीके साथ ही मेरी यह छाया खेलती रहेगी, और मैं तो खेलूँगा ही।'।।४३३।।

कुञ्चित केशों से घिरा हुआ वह मुख नीला-नीला, प्रियतम!
हो गया मनोहर कितना था उस समय, कहूँ कैसे, प्रियतम!
जब आँख डूबती है उसमें, वाणी रुक जाती है, प्रियतम!
चलती है जब वह, मोहनता उसको ठग लेती है, प्रियतम।।४३४।।

अहा ! कुञ्चित अलकोंसे मण्डित वह नीला-नीला मुख-सरोज उस समय कितना मनोहर हो गया था – कैसे बताऊँ ? जब आँखें उस रूप-सुधा-सिन्धुमें डूबने लगती हैं, तब उस समय वह रूपमाधुरी वाणीको ठग लेती है।।४३४।।

जो हो, रसमयी विनोद, अहो ! उस लघु-वय के शिशु की, प्रियतम
सुनकर विचित्र सबके मनकी क्षणभर हो गयी दशा, प्रियतम !
अचरज था एक और भारी, सबको प्रतीति यह थी, प्रियतम !
'मैं हूँ सन्निकट अवस्थित, वह इस भाँति कह रहा है।' प्रियतम ॥४३५

जो हो, अहो ! उस लघुवयके नील शिशुका यह रसपूर्ण विनोद सुनकर क्षणभरके लिये सबके मनकी विचित्र दशा हो गयी। उस समय एक और भारी अचरजकी बात यह थी – सबको यही प्रतीति हो रही थी कि मैं ही इस नीले बालकके सर्वथा सन्निकट अवस्थित हूँ और वह श्यामसुन्दर इस प्रकार कह रहा है।।४३५।।

ढल पड़े देव दिनकर अब थे, फिर भी उल्लास नया, प्रियतम।
प्रतिपल अदम्य था जाग रहा सबके प्राणों में ही, प्रियतम।
गोरी छोरी, साँवर छोरा दृगमें थे भरे हुए, प्रियतम।
हो भान कहाँ किसको कैसे इस दृश्य कालगति का, प्रियतम॥४३६॥

देव दिनकर अव ढल पड़े थे, तथापि प्रतिपल सबके प्राणोंमें नवीन उल्लास अदम्य बनकर उन्हें परिपूर्ण कर रहा था। सबकी ऑखोंमें बृषभानु महाराजकी वह गोरी छोरी एवं नन्दका सॉवरा छोरा – केवल यही दो भरे हुए थे। फिर कहाँ, किसको, कैसे इस परिदृष्यमान कालका अनुभव हो भला!।।४३६।।

केवल थीं एक महारानी हो गयीं श्रमित मानो, प्रियतम !
हटकर उस जन-समूह से वे बाहर थीं आ बैठीं, प्रियतम।
गम्भीर सोचती-सी कुछ थीं, लोचन थे अर्ध खुले, प्रियतम !
लाड़िली अङ्कमें थी राजित, मुट्ठी अपनी बाँधे, प्रियतम।।४३७।

हाँ, केवल बृषभानुगेहिनी अब अत्यन्त श्रमित हो गयी थी – अतएव जन-समूहसे हटकर वे बाहरकी ओर आ बैठीं। उनके अन्तरस्तलमें एक गम्भीर विचारधारा चल पडी थी। उनके नेत्र आधे खुले हुए थे। तथा उनकी वह बड़ी पुत्री लाड़िली उनके अङ्क में विराजित थी। लाड़िलीकी मुट्ठी बँधी हुई थी। अस्तु,।।४३७।।

वह थी विनोद की बात, किंतु रानी में समा गयी, प्रियतम।
बनकर लालसा बुद्धि-मनको मन्थन करने लगी, प्रियतम।
'यह बने कदाचित सम्भव सच जगजननी की रुचि से,' प्रियतम!
'परछाँहीं यदि यह आ सकती शिशु बनकर घर मेरे,' प्रियतम॥४३८॥

वह बात तो सर्वथा विनोदकी थी, किन्तु बृषभानु महाराजके, रानीके अन्तरस्तलमें गहरी-से-गहरी बनकर स्थान पा चुकी थी। उनके मनमें तीव्रतम लालसाका रूप धारण करके उनकी बुद्धिको, मनको मन्थन कर रही थी। वे सोच रहीं थी – 'कदाचित् जगज्जननीकी रुचि मेरी इस लालसाको समर्थित कर दे और यह प्रतिबिम्ब नीला शिशु बनकर मेरे घर आ सकता !'.......।।४३८।।

'हो जाती मैं निश्चिन्त उसे रखकर समीप इसके,' प्रियतम।
'यह खेल सलोनी, आँखों को हँसकर खेला करती,' प्रियतम!
'आता क्षण वह जब कर अम्बुज इसके पीले होते,' प्रियतम।
'वह छाँह साँवरा बनती या सोने नीलम इसकी।' प्रियतम॥४३९॥

'उस समय मैं अपनी बड़ी पुत्रीको उसी प्रतिविम्बस्वरूप शिशुके पास रखकर निश्चिन्त हो जाती तथा यह अपनी सलोनी आँखोंको खोलकर हँस-हँसकर खेला करती। और जब वह शुभमङ्गल-वेला आती, इसके हाथ पीले होनेका क्षण आता, तब यह श्यामवर्णवाली छाया या तो इस नीले शिशुमें मिल जाती अथवा मेरी बडी पुत्रीकी नित्य सङ्गिनी बन जाती।'।।४३९।।

यह अहो ! चित्तधारा विरमित हो, उससे पहले ही, प्रियतम !
रानी की आँखों में शत दस दिनकर की ज्योति भरी, प्रियतम !
श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी खड़ी नभमें पूछ रही, प्रियतम !
'है एक चाह भी अबतक जो ऐसे न पूरन हुई?' प्रियतम।।४४०।।

रानीकी चित्तधारा विरमित हो, इससे पूर्व ही ऑखोंमें सहस्रों दिनकरकी ज्योति भर उठी। उन्हें प्रत्यक्ष दीख पड़ा कि महामहिमामयी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी आकाशमें खडी मुझसे पूछ रही हैं – "रानी ! सोचकर तुम बताओ सही, तुम्हारी क्या एक भी अभिलाषा अबतक ऐसी है, जो तुरंत पूरी न हो गयी हो ?"।।४४०।।

'इन नील-बालक की छाया चिन्मयी अनूप हुई, प्रियतम !
'कन्या बनकर उदर स्थल में तेरे प्रवेश होगी' प्रियतम !
'रजनी है मङ्गलमयी परम पञ्चमी आज को जो? प्रियतम !
'आनेवाली अबसे होगी अप्रतिम सुहागनिशा।' प्रियतम।।४४१।।

"सुनो ! सामने विराजित इस नील बालककी प्रतिच्छाया अनुपम, सुन्दर एवं चिन्मयी कन्याका रूप धारणकर तुम्हारे उदरस्थलमें प्रविष्ट होगी। कुछ घटिकाओंके अनन्तर ही आज परम मङ्गलमयी पञ्चमीकी रजनी जो आ रही है, वह भविष्यमें, सदाके लिये, अनन्तकालतकके लिये अप्रतिम सुहागनिशा बन जायगी।"।।४४१।।

अन्तर्हित हुईं महादेवी, यह कहकर रानी से, प्रियतम !
फिर उस दिन के उत्सव का जब आया विराम शुभ था, प्रियतम !
नारीदल एक ओर, नरदल उससे कुछ हट करके, प्रियतम !
नीली सरिता में अवगाहन करने लग गया वहाँ, प्रियतम।।४४२।।

महादेवी इतना कहकर अन्तर्हित हो गयी। और जब उस दिनके उत्सवका शुभ विराम होने चला - विराम हुआ, तब उस समय नारी-दल तो एक ओर, उससे कुछ हटकर पुरुष-दल कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें अवगाहन करने लग गया।।४४२।।

उस ओर महामाया ने दी रच एक नयी लीला, प्रियतम !
हो गये महाराजा भावित रसमय कुछ भावों से, प्रियतम !
अप्रतिम जितेन्द्रिय थे, पर वे चञ्चल-से क्षणिक हुए, प्रियतम !
फिर चाह तीसरी संतति की हो गयी प्रबल सहसा, प्रियतम।।४४३।।

महामायाने उस समय एक नयी लीला भी रच दी। अचानक महाराज वृषभानु कुछ रसमय भावोंसे भावित हो उठे। महाराज अप्रतिम जितेन्द्रिय थे; किन्तु क्षणमात्रके लिये आज उनका मन चञ्चल हो गया। इतना ही नहीं, सहसा उनके मनमें एक तीसरी संततिकी प्रबल अभिलाषा जग उठी। अस्तु,।।४४३।।

राधानुजा श्रीमंजुश्यामा (पृष्ठ ३४७)

*पहुँचे जब घर पर, संध्या थी हो चुकी, खिन्न वे थे, प्रियतम!*
*जगदम्बा के पदपद्मों पर सिर रखकर वे रोये, प्रियतम!*
*संधिनी रूपिणी रानी में संवित् श्यामा नीली, प्रियतम!*
*व्यक्त हुई उस रजनी में, नृप तब सब समझ सके, प्रियतम ॥४४४॥*

स्नान आदिसे निवृत्त होकर वे अपने घर पहुँचे। उस समय संध्या हो चुकी थी। आज महाराज खिन्न-से दीख रहे थे। जगदम्बाके मन्दिरमें जाकर उनके पादपद्मोंमें सिर रखकर वे रोने लग गये। .........जब संधिनी-स्वरूपिणी महारानीमें एक संविन्मयी नीली छाया उस रजनीमें व्यक्त हो गयी तभी महाराज बृषभानु सम्पूर्ण रहस्योंको समझ सके।।४४४।।

*ज्योतिर्मय यही अतीत दृश्य सब वर्तमान-जैसा, प्रियतम!*
*बनकर उन मुनि-पुंगव के था लोचन में समा गया, प्रियतम!*
*गोरी-साँवरी नृपति की दो छोरियाँ न दीखी थीं, प्रियतम!*
*वे परदेवता युगल उनको प्रत्यक्ष दीखते थे, प्रियतम ॥४४५॥*

आज अचानक अतीतका यह उपर्युक्त ज्योतिर्मय दृश्य ही सर्वथा वर्तमान-जैसा बनकर महर्षि दुर्वासाके लोचनोंमें समा गया। अब गोरी या साँवरी – महाराज बृषभानकी दो पुत्रियाँ उन्हें नहीं दीख रही थीं। उन्हें तो युगलरूप धारण किये हुए प्रत्यक्ष पर-देवता अनुभूत हो रहे थे।।४४५।।

*पाकर मुनिका संकेत, नृपति रानी को लिये हुए, प्रियतम!*
*बाहर उस सदन-कक्ष से थे आ गये, हाथ जोड़े, प्रियतम!*
*भीतर रह गयीं पुत्रियाँ दो, मुनि ने आरम्भ किया, प्रियतम!*
*अर्चन उनका विह्वल होकर, वाणी के पुष्पों से, प्रियतम ॥४४६॥*

महाराज बृषभानु और महारानी महर्षि दुर्वासाका सङ्केत पाकर अविलम्ब शयनकक्षसे बाहर आ गये। वे दोनों ही उसी भाँति हाथ जोड़े हुए थे। कक्षके भीतर तो वे दोनों पुत्रियाँ रह गयी थीं। भाव-विह्वल मुनिने वाणीके पुष्पोंसे उनका अर्चन-स्तवन आरम्भ कर दिया।।४४६।।

*गम्भीर हुई गोरी छोरी सुनती थी श्लोकों को, प्रियतम।*
*उसकी भगिनी साँवरी किंतु रह-रहकर हँस देती, प्रियतम!*
*दो दण्ड बीतने पर सहसा मुनिकी जब गिरा रुकी, प्रियतम!*
*श्यामा छोरी चपला उनसे बोली मीठे स्वर में, प्रियतम ॥४४७॥*

महर्षि दुर्वासाके मुखसे निसृत श्लोकोंको गम्भीर मुद्रामें खड़ी गौरवर्णा एवं श्यामवर्णा – दोनों छोरियाँ सुन रही थीं; किन्तु बीच-बीचमें वह श्यामवर्णा लाडिलीकी अनुजा रह-रहकर हँस दिया करती थी। दो दण्ड बीत जानेपर जब अचानक मुनिकी वाणी रुक गयी, तब चञ्चला श्यामा छोरी अत्यन्त मीठे स्वरमें मुनिराजसे बोल उठी - ।।४४७।।

*'मुनिराज! थक गये होंगे सच अब तक तुम खड़े-खड़े, प्रियतम!*
*'आसन पर बैठो, अहो! श्रमित हो गयी खड़ी मैं तो।' प्रियतम।*

इतना-सा ही कहकर उनसे, कर-अलक कँपा करके, प्रियतम!
अपनी फिर बड़ी बहिन से थी कहने लग गयी, भला, प्रियतम।।४४८।।

मुनिराज ! तुम सचमुच अब थक  गये होओगे। अबतक तुम खड़े जो रहे हो। सुनो, आसनपर विराज जाओ। मैं तो खड़ी-खडी सचमुच थक गयी हूँ।' – इतना-सा ही बोलकर श्यामा अपनी अलकोंको कम्पित करके बड़ी बहनसे कहने लग गयी – ।।४४८।।

'री! तूँ चुपचाप देखती है, मुनिवर भूखे होंगे,' प्रियतम!
'ये कोस न जाने कितने हैं चलकर घर पर आये।' प्रियतम।
'तूँ पूछ सही, लायें क्या हम, किसपर इनकी रुचि है?' प्रियतम!
'मेरे घर हैं तैयार नित्य वस्तुएँ सभी रसकी।' प्रियतम।।४४९।।

'अरी बहिन ! तू चुपचाप कौतुक देख रही है; सुन सही ! मुनिवर अत्यन्त क्षुधित होंगे। ये न-जाने कितने कोस चलकर हमारे घर आये हैं। तू पूछ तो सही, हम कौनसी वस्तु ले आयें? किसपर इनकी रुचि है ? हमारे  घर रसकी सभी वस्तुएँ नित्य प्रस्तुत रहती हैं भला!' ।।४४९।।

गोरी ने मन्द-मधुर हँसकर समझाया भगिनी को, प्रियतम!
रहने के लिये अचञ्चल, फिर कर-बद्ध हुई बोली, प्रियतम!
'ऋषिवर्य! देव! हम दोनों को पुत्रीवत् ही समझें, प्रियतम!
'है पली लाड़में श्यामा यह, बातूनी अतः बनी।' प्रियतम।।४५०।।

किशोरीने मन्द-मन्द हँसकर अपनी छोटी बहनको समझाया; उसे किञ्चित् अचञ्चल रहनेका सङ्केत किया। इसके पश्चात् करबद्ध होकर मुनिपुङ्गवसे बोली – 'ऋषिप्रवर ! देव ! हम दोनोंको आप अपनी पुत्रीवत् ही समझें। यह श्यामा अत्यन्त लाडमें पली है, इसीलिये अतिशय वाचाल बन गयी है।'।।४५०।।

'अब आप विराजें, कृपा करें, सेवा सब बतला दें;' प्रियतम!
'मैं स्वयं करूँगी, पल-पलमें उत्साह नवीन लिये;' प्रियतम!
'यह भी कुछ कर देगी, फिर जो भूलें होंगी हमसे;' प्रियतम!
'उनको तो क्षमा करेंगे ही, विश्वास सत्य यह है।' प्रियतम।।४५१।।

'अब आप आसनपर विराजें। हम सबपर कृपा करें। अपनी सभी सेवाएँ हमें बतला दें। मैं पल-पलमें नवीन उत्साह लिये सभी सेवाएँ स्वयं सम्पन्न करूँगी। यह मेरी छोटी बहन भी कुछ कर देगी। फिर हम दोनोंसे जो भूलें होंगी, उन्हें तो आप क्षमा कर ही देंगे, यह सच्चा विश्वास है मुझे।'।।४५१।।

वाणी क्या थी उसकी, मानो धारा थी सुधामयी, प्रियतम!
मुनिवर को, अहो! और भी वह सुधिहीन लगी करने, प्रियतम!
इतने में पुनः साँवरी ने ऐसी चर्चा छेड़ी, प्रियतम!
सुनकर जिसको हँस पड़ी बड़ी बरबस ऊँचे स्वर से, प्रियतम।।४५२।।

राजपुत्रीकी वाणी क्या थी, मानों सुधामयी एक धारा प्रसरित हो रही हो। वह मुनिवरको उत्तरोत्तर और भी सुध-बुधहीन बनाती चली गयी। इतनेमें ही साँवरीने ऐसी चर्चा छेड़ दी, जिसे सुनकर किशोरी बरबस ऊँचे स्वरसे हँस पड़ी।।४५२।।

*हो गयी समाधि शिथिल मुनिकी, दैवी प्रेरणा हुई, प्रियतम!*
*भावोंका संधिस्थल आया, माया सी फिर फैली, प्रियतम।*
*आकर्षण अहो! दोनों में यद्यपि था वैसा ही, प्रियतम!*
*असमोर्ध्व ईशतापर झीना आवरण एक आया, प्रियतम॥४५३॥*

........उस हास्यसे महर्षिकी भाव-समाधि शिथिल हो गयी। उसी क्षण उन्हें कुछ दैवी प्रेरणा भी हुई, साथ ही भावोंका संधिस्थल भी आ गया; एक माया-सी फैल गयी। यद्यपि दोनों राजपुत्रियोंमें मुनिराजका आकर्षण तो ज्यों-का-त्यों बना ही रहा, तथापि उनके असमोर्ध्व ऐश्वर्यपर एक झीना आवरण-सा आ गया।।४५३।।

*उन महातपोधन के उरमें, ऊसर जो अबतक था, प्रियतम।*
*अङ्कुर अभिनव वत्सलता का जग उठा, अहो! क्षणमें, प्रियतम!*
*नृप-दुहिताओं के प्रति, निर्मल अत्यन्त ममत्व लिये, प्रियतम!*
*बढ़ते पल्लवित और पुष्पित होते न विलम्ब हुआ, प्रियतम॥४५४॥*

उन महातपस्वी ऋषिवरका हृदय, जो अबतक अत्यधिक ऊसर था ही, अचानक क्षणभरमें मसृण हो उठा। उसमें अभिनव वत्सलताके अङ्कुर प्रस्फुटित होने लगे – उन दोनों राजपुत्रियोंके प्रति निर्मल ममत्वसे अभिषिक्त होते हुए भाव-वल्लरी बढ़ने लग गयी और ऐसी शीघ्रतासे बढी कि उसे पल्लवित एवं पुष्पित होते किञ्चित् भी विलम्ब नहीं हुआ।।४५४।।

*मध्याह्न हो चला था, श्यामा कर धारणकर ऋषिके, प्रियतम!*
*बोली, 'तुम हुए नये बाबा हम दोनों बहिनों के।' प्रियतम!*
*'अब आज इसी क्षणसे, जो सब सहचरी हमारी हैं,' प्रियतम!*
*'वे भी इस भाँति मानकर ही सर्वदा पुकारेंगी।' प्रियतम॥४५५॥*

अब मध्याह हो चला था। मुनिपुङ्गवके दोनों हाथ छोटी बहन श्यामाने पकड़ लिये। साथ ही वह बोल उठी – 'देखो ! तुम आजसे हम दोनों बहनोंके नये बाबा हो गये भला; आज इसी क्षणसे हमारी जितनी सहचरियॉं हैं, वे सब  भी सच्चे हृदयसे ऐसा ही मानती हुई तुम्हें इसी भॉंति पुकारा करेंगी।'।।४५५।।

*'हमसे है बड़ा सहोदर जो प्यारा अतिशय भाई,' प्रियतम!*
*'कानन में चरा रहा है वह इस समय धेनुओं को,' प्रियतम!*
*'संध्या होने पर आयेगा, उससे भी कह दूँगी;' प्रियतम!*
*'वह और समस्त सखा उसके ऐसा ही मानेंगे।' प्रियतम॥४५६॥*

'हम दोनोंसे बडा हमारा अत्यन्त प्रिय जो सहोदर भाई है – वह तो इस समय वनमें गोचारण करने गया हुआ है। संध्या होनेपर वह आयेगा। उसे भी मैं कह दूँगी । केवल वही नहीं, उसके सभी सखावर्ग भी तुम्हारे प्रति ऐसा ही भाव निरन्तर रखने लगेंगे।'।।४५६।।

*"वे सब हैं पर अतिशय चञ्चल, जो छेड़ कंडी वे लें,' प्रियतम!*
*"तुम रुष्ट नहीं होना उनसे, उनका स्वभाव यह है।" प्रियतम!*
*"प्यारी अत्यन्त बहिन मैं हूँ उन सबकी ही, फिर भी;' प्रियतम!*
*"मुझको भी कभी-कभी सब वे देते हैं रुला, भला।" प्रियतम॥४५७॥*

'हाँ, वे सब-के-सब अत्यन्त ही चञ्चल हैं। और कहीं तुम्हें भी छेड़ बैठें, तब तुम उनपर रुष्ट मत होना भला ! उनका स्वभाव ही ऐसा है। मैं उन सबकी अत्यन्त प्यारी बहन हूँ, फिर भी वे कभी-कभी तो मुझे भी रुला देते हैं।'॥४५७॥

'अब चलो, सरोवर में तुमको हम दोनों नहलायें,' प्रियतम !
'जिसमें प्रतिदिन हमको मैया, मौसी नहलाती हैं।' प्रियतम !
'कमलों से भरा हुआ वह है, निर्मल जल है उसका,' प्रियतम !
'सुन्दर विहंग हैं नित्य वहाँ कलरव करते रहते।' प्रियतम॥४५८॥

'अब चलो, 'अब चलो, सरोवरपर हम दोनों तुमको ले चलती हैं। उसीमें स्नान करावेंगी। उसमें ही हम दोनोंको मैया एवं मौसी प्रतिदिन नहलाती हैं। अहा ! वह कमल-पुष्पोंसे भरा है। उसका जल अत्यन्त निर्मल है। वहाँ सुन्दर-सुन्दर विहङ्गम नित्य कलरव करते रहते हैं।'॥४५८॥

छोरी की सरस, सरल वाणी मुनिवर के प्राणों में, प्रियतम !
अनुपम मादकता थी क्रमशः भर रही, मौन वे थे, प्रियतम !
'क्या करें, कहें क्या उनसे?' नहीं निर्णय कर पाते थे, प्रियतम !
भावों की विमल नीरधारा आँखों से थी बहती, प्रियतम॥४५९॥

श्यामा छोरीकी सरस एवं सरल वाणी महर्षिके प्राणोंमें क्रमशः अनुपम मादकता भरती जा रही थी। वे मौन थे – क्या करें, उनसे क्या कहें – इस सम्बन्धमें वे कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे थे। भावोंकी निर्मल जलधारा उनकी आँखोंसे अनर्गल प्रवाहित हो रही थी॥४५९॥

दोनों के हाथों में ऋषिने अपने को सौंप दिया, प्रियतम !
'जो रुचे, करो!' पल-पल उनकी अनुभूति बदलती थी, प्रियतम !
'हैं नृपति-तनूजा, नहीं, अहा! मेरी बेटी ये हैं,' प्रियतम !
फिर इष्टदेवता की झाँकी उनमें होने लगती, प्रियतम॥४६०॥

कुछ भी निर्णय न कर पानेकी स्थितिमें.......... उन्होंने अपने आपको उन दोनों पुत्रियोंके हाथमें सौंप दिया। उनकी मुद्रा सुस्पष्ट सङ्केत कर रही थी - 'तुमको जो अच्छा लगे, कर लो।' उन दोनोंके प्रति पल-पलमें उनकी अनुभूति बदलती जा रही थी। कभी वे सोचते – 'ये दोनों राजपुत्रियाँ हैं।' किन्तु कुछ ही क्षणोंमें यह भाव बदल जाता – 'अरे नहीं ! ये तो मेरी पुत्रियाँ हैं।' पाँच-छः पलोंके अनन्तर उन्हें सुस्पष्ट दीखने लग जाता – 'नहीं-नहीं, यह तो हमारे इष्ट देवता हैं भला।' तथा उन्हें अपने इष्टदेवकी ही झाँकी उन दोनोंमें प्रत्यक्ष होने भी लग जाती॥४६०॥

वह बड़ी राजपुत्री हँसकर जैसे-तैसे मुनि को, प्रियतम !
ले गयी सरोवर पर सचेत कर-करके नहलाया, प्रियतम !
श्यामा ने अङ्ग पोंछकर फिर परिधान दिया उनको, प्रियतम !
जैसे कठपुतली हों, उनने धारण कर लिया उसे, प्रियतम॥४६१॥

हँसकर वह बड़ी राजपुत्री जैसे-तैसे मुनिराजको सरोवरपर ले गयी। फिर उन्हें बार-बार सावधान करके ही स्नानकी क्रियाको सम्पन्न करवाया। श्यामाने महर्षिके अङ्गोंको पोंछकर हाथोंमें परिधानका वस्त्र दे दिया। वे मानो कठपुतली हों – इस भाँति उन्होंने वस्त्र भी धारण कर लिये।।४६१।।

मध्याह्न- कृत्य भी कहने पर कर गये यन्त्रवत् ही, प्रियतम!
ले आयीं उसी कक्षमें वे उनका कर-युग पकड़े, प्रियतम!
आसीन हुए जब वे, उनसे बोली नृपलली बड़ी, प्रियतम!
'लाऊँ क्या, हे मुनीश! अब मैं भोजन की सामग्री?' प्रियतम।।४६२।।

उन दोनों राजपुत्रियोंके कहनेपर यन्त्रवत् ही वे अपने मध्याह्न कृत्यको भी सम्पन्न कर गये। दोनों दो ओरसे उनका हाथ पकड़े पुनः उन्हें उसी कक्षमें ले आयीं, जहाँ वे ध्यानस्थ हो गये थे। जब वे आसनपर विराज गये तो बड़ी राजनन्दिनीने उनसे कहा – मुनीन्द्र ! अब मैं भोजनकी कौनसी सामग्री ले आऊँ ?।।४६२।।

कह उठी कनिष्ठा बहिन, 'अरी! भोली सचमुच तू है,' प्रियतम!
'हैं ध्यानमग्न मुनि, तो उनको तू व्यर्थ छेड़ती है!' प्रियतम!
'जैसे मैं कहती हूँ कर ले; चल, खीर बना लायें,' प्रियतम!
'खा लेंगे जो वे स्वयं, ठीक है, नहीं खिला देना!' प्रियतम।।४६३।।

बीचमें ही कनिष्ठा बोल उठी – 'अरी बहन ! तू बड़ी भोली है। मुनि तो ध्यानमग्न हैं और तू बार-बार उन्हें छेड़ रही है । जैसे मैं कहती हूँ कर ले । चल, खीर बना लायें हम दोनों । ये स्वयं खा लेंगे, तब तो ठीक है ही; अन्यथा तू खिला देना।'।।४६३।।

फिर भी जब रुकी रही, लोचन उनकी ही ओर किये, प्रियतम!
ढलकी मुनि- दृग से बूँद, मिली सम्मति, हिलकर पलकें, प्रियतम!
हँसकर, आकर्षित लाली को करके, अनुजा बोली, प्रियतम!
'तू कर विश्वास, मान मेरी रुचि मान सभी लेंगे।' प्रियतम।।४६४।।

श्यामाके यह कह देनेपर भी जब मुनिवरकी ओर आँखें किये बडी राजपुत्री खड़ी देखती ही रही, तब महर्षिकी आँखोंसे अश्रुकी दो-चार बूँदें ढलक पड़ीं और उनका मस्तक किञ्चित् स्पन्दित होनेपर खीर लानेकी सम्मति भी प्राप्त हो गयी। बड़ी बहनको हँसकर अपनी ओर आकर्षित करते हुए चञ्चला श्यामा बोल उठी – 'तू विश्वास कर ले, मेरी प्रत्येक रुचि मुनिवर मान ही लेंगे।'।।४६४।।

वे चलीं, वहाँ पहुँचीं, जननी थी जहाँ प्रतीक्षा में, प्रियतम!
उसकी ग्रीवामें झूल, लली साँवरी लगी कहने, प्रियतम!
अबतक उसकी अनुपस्थिति में बातें जो हुईं वहाँ, प्रियतम!
सुनकर अवाक् दस पल मैया रह गयी अचम्भे से, प्रियतम।।४६५।।

वे दोनों ही चल पड़ीं। वहाँ मैया प्रतीक्षा कर रही थी; वहीं वे आ पहुँची । मैयाकी ग्रीवामें झूलती हुई साँवरी एक-एक बात बताने लग गयी, जो मैयाकी अनुपस्थितिमें घटी थी। सब सुननेके अनन्तर मैया आश्चर्यमें डूबकर दस पल तो अवाक्-सी देखती रह गयीं। अस्तु,।।४६५।।

पायस-रन्धन की तैयारी उसने तुरंत करदी, प्रियतम।
लाड़िली सलोने हाथों से प्रस्तुत कर ले आयी, प्रियतम!
समयोचित आसन आदि पूत विधिवत् सब रच करके, प्रियतम!
फिर हाथ जोड़ करके ऋषिसे विनती कर खड़ी रही, प्रियतम॥४६६॥

..........मैयाने पायस-रन्धनकी तैयारी तुरंत कर दी। लाडिलीने अपने सलोने हाथोंसे रन्धनका कार्य सम्पन्न भी कर दिया। तथा वह उसे लेकर मुनिवरके समीप आ पहुँची। विधिवत् समयोचित पवित्र आसन लगाकर एवं हाथ जोड़कर ऋषिसे विनती करके वह चुपचाप खड़ी रही।।।४६६।।

वे उठे विराज गये आकर, आचमन किया उनने, प्रियतम!
अग्रिम कर्तव्य तुरत किंतु वे पुनः भूल बैठे, प्रियतम!
रच करके ग्रास लाड़िली ने अपने कर-सरसिज से, प्रियतम!
उनके मुखमें रखदिया, अहो! जय घोष हुआ नभमें, प्रियतम॥४६७।

मुनिवर उठ पड़े तथा आकर आसनपर विराज गये। आचमन भी उन्होंने कर लिया, किन्तु अब आगे क्या करना है, इसे वे तुरन्त भूल गये। लाड़िलीने अपने कर-सरोजसे स्वयं ग्रासका निर्माण करके उनके मुखमें रख दिया। अहो ! उसी क्षण आकाशमें जय ! जय !! जय !!! यह घोष हो उठा।।४६७।।

तन था गतिहीन, खा रहे थे वे खीर तथापि, भला, प्रियतम!
लाड़िली खिलाने वाली थी, इसलिये हुआ ऐसा, प्रियतम।
अन्यथा दशा उनकी ऐसी हो गयी उस समय थी, प्रियतम!
पायस तो दूर, नीरकण तक भीतर न उतर पाता, प्रियतम॥४६८॥

महर्षिका शरीर तो स्पन्दनहीन था, किन्तु फिर भी वे खीर खाते चले जा रहे थे। खिलानेवाली लाडिली जो थी ! इसीलिये तो ऐसा हुआ। अन्यथा इस समय उनकी दशा ऐसी हो गयी थी कि खीर खा लेना तो दूरकी बात, उनके कण्ठमें एक नीरकणतक नहीं उतर पाता।।४६८।।

आचमन करा कर लाली ने मुखवास दिया उनको, प्रियतम!
फिर नील सुकोमल मखमल की शय्या पर बैठाया, प्रियतम!
आरती लगी करने गाकर महिमा उनके तपकी, प्रियतम!
अनुसरण साँवरी भी उसका कर रही सरसतम थी, प्रियतम॥४६९॥

..............पुनः लाडिलीने मुनिवरको आचमन कराया; उन्हें मुखवास समर्पित किया; तथा एक नीलवर्ण सुकोमल मखमलकी शय्यापर उन्हें विराजित कर दिया। उसके अनन्तर महर्षिकी महिमा गाकर उनके तपका वर्णन करके उनका नीराजन करने लगी। तथा बड़े ही सरसतम ढंगसे साँवरी भी किशोरीका अनुसरण कर रही थी।।४६९।।

जो भूत-भविष्यत्-वर्तमान माधुरी स्वरोंकी है, प्रियतम!
उसका उद्गम जो है, जिसको छू सकी न बुद्धि-गिरा, प्रियतम!
जो नित्य सनातन अद्भुत है मीठा अनुपम, उसको, प्रियतम!
पालिया छोरियों के स्वरमें उन महातपस्वी ने, प्रियतम॥४७०॥

भूत, वर्तमान, भविष्यमें किसीको स्वरोंका जो कुछ भी माधुर्य उपलब्ध हुआ है, उसका जो उद्गमस्थल है, जिसे वाणी, मन, बुद्धि छू तक नहीं सकी है, जो नित्य है, सनातन है, अद्भुत है, अनुपम माधुर्यमय है - उसको ही उन महातपस्वीने आज उन दोनों राजदुहिताओंके स्वरमें अनुभव कर लिया।।४७०।।

*क्षणमें वे अन्तर्मुख होते, बाहर आते क्षणमें, प्रियतम!*
*आखिर लग गये झूमने वे उठकर धीरे-धीरे, प्रियतम!*
*नीराजनपात्र लाड़िली के कर-नलिन-दलों से वे, प्रियतम!*
*लेकर विक्षिप्त चित्त होकर लग गये नृत्य करने, प्रियतम।।४७१।।*

क्षणमें तो मुनिवर अन्तर्मुख होते और दूसरे क्षण बाह्य ज्ञान भी हो जाता। अन्ततः वे उठकर धीरे-धीरे उन राजपुत्रियोंके स्वरका अनुगमन करते हुए झूमने लग गये। अचानक नीराजन-पात्रको उन्होंने लाडिलीके कर-सरोजसे अपने हाथमें ले लिया तथा ओह ! ........विक्षिप्त-से ऋषिवर्य नृत्य करने लग गये भला !।।४७१।।

*हँसकर साँवरी, तान भरकर, नूपुर रुनझुन करके, प्रियतम!*
*उस तालबन्ध पर ही उनको सहयोग लगी देने, प्रियतम!*
*जाने ही बिना मुनीश मत्त अब अहो! लाड़िली की, प्रियतम!*
*करने प्रदक्षिणा लगे, लली लज्जित रह गयी खड़ी, प्रियतम।।४७२।।*

साँवरी छोरी हँसकर, अपने नूपुरको रुन-झुन करके तथा तान भरकर उसी तालबन्धपर ही मुनिराजको सहयोग देने लग गयी। भावसे मत्त हुए मुनिराज अब बिना जाने ही नीराजन-पात्र हाथमें लिये लाड़िलीकी प्रदक्षिणा करने लग गये........... राजनन्दिनी लज्जित-सी चुपचाप खड़ी देखती रह गयी।।।४७२।।

*लगभग जब सवा घड़ी बीती मुनिवर की आँख खुली, प्रियतम!*
*भौंचक होकर उन दोनों को लग गये देखने वे, प्रियतम!*
*आदर से बड़ी लली उनको बैठा करके, बोली, प्रियतम!*
*थे अभी, मुनीश! आप भावित लोकोत्तर भावों से, प्रियतम।।४७३।।*

जब लगभग सवा घड़ी काल व्यतीत हो गया, तब मुनिराजकी आँखें खुली। वे भौंचक्के-से होकर उन दोनों राजपुत्रियोंको देखने लगे। बड़ी राजपुत्रीने आदरसे उन्हें आसनपर विराजित करके यह कहा-'मुनीन्द्र ! अभी आप लोकोत्तर भावोंसे भावित हो गये थे।'।।४७३।।

*बस, अतुल आपके निर्हेतुक, निस्सीम अनुग्रह से, प्रियतम!*
*उसका दर्शन कर हम दोनों हो गयीं निहाल, भला, प्रियतम!*
*अब समय आपके संध्योचित कृत्यों का आया है, प्रियतम!*
*कासार-कूल पर चलें, यहीं रहकर अथवा कर लें, प्रियतम।।४७४।।*

'बस, आपके निर्हेतुक निस्सीम अनुग्रहसे ही हम दोनों बहनें उसका दर्शन करके कृतार्थ हो गयीं। अब आपके संध्योचित कृत्योंका समय हो गया है। आप सरोवर-तटपर चलें, अथवा यहीं सन्ध्योपासन कृत्य सम्पन्न कर लें।'।।४७४।।

मुनि अन्यमनस्क हुए आये सुन्दर उस सर पर ही, प्रियतम!
मज्जन करके दिनकर को जब वे अर्घ्य दे रहे थे, प्रियतम!
रवि ढले अस्तगिरि में, उनके दृगपथमें आ न सके, प्रियतम!
वे नृपति-छोरियाँ ही नभमें हो रही अवस्थित थीं, प्रियतम।।४७५।।

अन्यमनस्क-से हुए मुनिराज उस सुन्दर सरोवर-तटपर ही चले आये। स्नान करके अंशुमालीको जब वे अर्घ्य समर्पित कर रहे थे, उस समय अंशुमाली अस्तगिरिकी ओर ढल चुके थे। देव-निकर आज उनके दृष्टिपथमें न आ सके। दोनों राजपुत्रियाँ ही आकाशमें अवस्थित हो रही हैं, उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था।।४७५।।

हो करके चकित दृष्टि उनने सर-तट पर जब डाली, प्रियतम!
वे ठीक वहाँ पर भी दोनों वैसी ही खड़ी मिलीं, प्रियतम!
दोनों ही ओर योगबल से अब एक समय में ही, प्रियतम!
देखा युगपत् वे वहाँ और थीं यहाँ तीर पर भी, प्रियतम।।४७६।।

अत्यन्त चकित होकर मुनिवरने सरोवरके तटपर अपनी दृष्टि डाली। वहाँ भी दोनों ज्यों-की-त्यों खड़ी मिलीं। अब दोनों ही ओर एक समयमें अपने योगबलसे मुनिराजने देखना आरम्भ किया। उनको अनुभव हुआ-'अहो ! यह क्या ? दोनों एक समयमें ही तटपर भी अवस्थित हैं और आकाशमें भी !' ।।४७६।।

विस्मित अत्यन्त हुए, फिर तो उत्तर की ओर तथा, प्रियतम!
पूरब-दक्षिण, ऊपर-नीचे, चारों कोनों में ही, प्रियतम!
वे देख गये पलनें, उनकी पर दृष्टि जहाँ पड़ती, प्रियतम!
वे दो नरपाललली उनको मिलती थीं खड़ी वहीं, प्रियतम।।४७७।।

फिर तो मुनिराज, उत्तरकी ओर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, ऊपर, नीचे, चारों कोनोंमें भी देखने लग गये। उनकी दृष्टि जहाँ पड़ती, उन्हें वे दोनों नरपालनन्दिनी ही अवस्थित दीखतीं।............।।४७७।।

मुनि के दृग से संसार हटा, बच गयीं ज्योतियाँ दो, प्रियतम!
थी एक नील घन-सी, सुतप्त कनकाभ दूसरी थी, प्रियतम!
हो गयी सभी वृत्तियाँ लीन मनकी उनके उनमें, प्रियतम!
अप्रतिम समाधि लगी उनकी घट सभी दृष्टियों से, प्रियतम।।४७८।।

मुनिकी आँखोंसे संसार हट गया और नेत्रोंमें बच गयी केवल मात्र दो ज्योतियाँ – एक थी नीलघन-सी और दूसरी सुतप्त कनकाभ थी। अब तो मुनिराजके मनकी सभी वृत्तियाँ उन दोनोंमें समा गयीं। मुनिवरकी अप्रतिम समाधि लग गयी।।४७८।।

निस्पन्द देह मुनिवर की थी, नृपललियों ने उसको, प्रियतम!
जल से बाहर लाकर, गीला परिधान बदल करके, प्रियतम!
फिर उसी जलाशय के तट के संनिकट वेशगृह में, प्रियतम!
ले जाकर बैठा दिया और दोनों हो गयीं खड़ी, प्रियतम।।४७९।।

मुनिवरका गात्र निस्पन्द हो गया था। दोनों राजपुत्रियोंने उनके शरीरको जैसे-तैसे जलसे बाहर निकाला। उनके गीले परिधानको बदल दिया। फिर उसी जलाशयके तटके पास जो एक वेषगृह था, वहीं मुनिराजको लाकर बैठा दिया तथा दोनों उनके समक्ष खड़ी रहीं।।४७९।।

शारीरिक निस्पन्दता, अहो! ज्यों-की-त्यों बनी रही, प्रियतम!
रजनी जाकर आयी शुक्ला सप्तमी शरद पहली, प्रियतम!
दिन बीत गया, संध्या होकर वह रात पुनः बीती, प्रियतम!
हँसता प्रभात फिर था लौटा वह महाअष्टमी का, प्रियतम।।४८०।।

महर्षि दुर्वासाकी शारीरिक निस्पन्दता ज्यों-की-त्यों बनी रही। सम्पूर्ण रजनी बीत गयी। शरद ऋतुकी पहली शुक्ला सप्तमी आ गयी। आजका दिन भी बीत गया। संध्या होकर उस दिनकी रात्रि भी पुनः बीत गयी। और अब हँसता हुआ प्रभात फिरसे लौटा था। यह प्रभात महाष्टमीका था।।४८०।।

अब तक दो दण्ड जहाँ बीते, रानी-नृप आते थे, प्रियतम।
कुछ दूर अवस्थित रह कर ही सब ढंग देख लेते, प्रियतम!
श्यामा समीप जाकर भी सब बातें बतला देती, प्रियतम!
निश्चिन्त लौटते नृप, रानी चिन्ता करती जाती, प्रियतम।।४८१।।

अबतक - दो दण्ड जैसे बीतते; महाराज एवं महारानी वहीं आ पहुँचते; और कुछ दूरपर ही अवस्थित रहकर अन्तर्पक्षका दृश्य देख लेते। श्यामा उनके समीप जाकर सब बातें बतला देती। महाराज तो निश्चिन्त होकर लौटते, किन्तु महारानीका मन चिन्तातुर बना रहता। अस्तु,।।४८१।।

जगदम्बा की अनुमति लेकर रानी चुपचाप वहाँ, प्रियतम!
षष्ठी-प्रदोष में, आगे के प्रातः, फिर संध्या में, प्रियतम!
बस, तीन बार जाकर अपनी दो, अहो! बेटियों को, प्रियतम!
नहलाकर फिर शृङ्गार धरा किंचित् थीं खिला सकी, प्रियतम।।४८२।।

जगदम्बाकी अनुमति लेकर रानी चुपचाप वहाँ जाती – षष्ठी तिथिके प्रदोषमें, और आगेके प्रातःकाल और फिर संध्यामें – बस, तीन बार अहो ! अपनी दोनों बेटियोंको नहलाकर शृङ्गार धारण कराकर वे किञ्चित् खिला पायी थीं।।४८२।।

दो रात न सोयी बड़ी लली, प्रायः बैठी रहती, प्रियतम!
साँवरी बहिन की गोदी में सिर रखकर कुछ सोयी, प्रियतम!
छोटी के हठ कर लेने पर लाड़िली लेट जाती, प्रियतम!
पल बीस-तीस, फिर उठ जाती, करके प्रसन्न उसको, प्रियतम।।४८३।।

बड़ी राजपुत्री तो दो रात बिलकुल ही न सो पायी; प्रायः वह बैठी ही रहती। श्यामा अपनी बड़ी बहनकी गोदमें सिर रखकर कुछ देरके लिये सो जाती। छोटीके अत्यन्त हठ कर लेनेपर लाड़िली लेट भी लेती मात्र बीस पल, तीस पलके लिये ही तथा फिर उठ बैठती। इतनेमें ही श्यामाका मन प्रसन्न हो जाता।।४८३।।

जो हो, जब महाअष्टमी की दो घड़ी प्रथम बीती, प्रियतम!
मुनिवरकी खुली समाधि, उठे धीरे-धीरे फिर वे, प्रियतम!
आकर के उस सर पर, उनने कालोचित कृत्य किये, प्रियतम!
आये फिर राजभवनमें वे दोनों को साथ लिये, प्रियतम।।४८४।।

जो हो, महाष्टमीके प्रातःकाल, दो घडी दिन बीतनेपर महर्षि दुर्वासाकी समाधि खुली। वे धीरे-धीरे उठ बैठे और उसी सरोवरपर आकर उन्होंने अपने कालोचित कृत्य सम्पन्न किये। इसके अनन्तर दोनों राजपुत्रियोंको साथ लिये राजभवनमें आये।।४८४।।

वे अपने-आप वहाँ पहुँचे, रानी-अवनीश जहाँ, प्रियतम!
थे जोह रहे पथ पल-पलमें बढ़ती उत्कण्ठा से, प्रियतम!
आठों अङ्गों से राजाने प्रणिपात किया मुनिको, प्रियतम!
धरतीपर बार-बार मस्तक रानी थी झुका रही, प्रियतम।।४८५।।

मुनिराज वहाँ अपने आप आ गये, जहाँ महाराज एवं महारानी विराजित थे। दोनों ही पल-पल बढ़ती हुई उत्कण्ठासे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। आठों अङ्गोंसे राजाने उन्हें प्रणिपात किया। भूमिपर रानी बार-बार अपना मस्तक झुका रही थी।।४८५।।

भर आया कण्ठ तपोधन का, जैसे बोलने चले, प्रियतम!
कर उठे अभय मुद्रामें, पर लग गये काँपने वे, प्रियतम!
भर गया स्वेद भी अङ्गोंमें, भावित इस भाँति हुए, प्रियतम!
वे खड़े रहे बारह-चौदह पल तक आँखें मूँदे, प्रियतम।।४८६।।

..........सहसा तपोधनका कण्ठ भर आया। जैसे ही वे बोलने चले कि उनके कर-सरोज अभय मुद्रामें ऊपरकी ओर उठ गये। किन्तु अब उनका सारा शरीर काँपने लग गया; सम्पूर्ण अङ्गोंमें स्वेद भी भर उठा था। इस प्रकार दिव्य भावोंसे भावित होकर वे बारह-चौदह पलतक आँखें मूँदे चुपचाप खड़े थे।।४८६।।

जैसे-तैसे धीरज लाकर ललचाये लोचन से, प्रियतम!
श्रीमुख निहारकर बार-बार वे नृपति-छोरियों का, प्रियतम!
बोले, "हे रानी! राजन्! सच हो धन्य नित्य तुम हीं," प्रियतम!
"जो इन अप्रतिम पुत्रियों की माता हो और पिता।" प्रियतम।।४८७।।

बहुत साहस बटोरकर जैसे-तैसे उन्होंने अपने मनको धैर्य बँधाया। अपनी सतृष्ण आँखोंसे बार-बार दोनों राजपुत्रियोंके श्रीमुखको निहारकर बडी कठिनाईसे वे बोल सके – 'हे महारानी ! हे राजन् ! तुम सचमुच नित्य धन्य, धन्य, धन्य हो, जो इन अप्रतिम दो पुत्रियोंके माता-पिता होनेका तुम्हें सौभाग्य मिला।'।।४८७।।

'होने के लिये कृतार्थ परम मैं भी हूँ अतिथि हुआ,' प्रियतम!
'इस गृहमें, जिसकी धरणी का कण-कण पावन तम है।' प्रियतम!
'छूकर इन दोनों के अभिनव पद अरुण सरोजों को,' प्रियतम!
'जिनका किञ्जल्क सुदुर्लभ है योगीश-मुनीशों को, प्रियतम।।४८८।।

'मैं भी परम कृतार्थ होनेके लिये ही तुम्हारे यहाँ इस गृहमें अतिथि हुआ हूँ। इस धरणीका कण-कण पावनतम है भला; क्योंकि यह धरा तुम्हारी इन दोनों पुत्रियोंके अरुण-सरोजके सदृश चरणोंको छू-छूकर पावनतम बन चुकी है। इन चरण-सरोरुहोंका किञ्जल्क योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये भी दुर्लभ है।'।।४८८।।

क्षणभर वे रुके, और निकली रसमयी पुनः वाणी, प्रियतम!
जैसे प्रसङ्ग की धारा को दे फेर शक्ति कोई, प्रियतम!
'हे नृप दम्पति! इनने मेरी सुन्दर जो की सेवा,' प्रियतम!
'कोई भी कर न सका अबतक, कर सकी नहीं कोई,' प्रियतम।।४८९।।

महर्षि क्षणभरके लिये रुक गये और उनकी रसमयी वाणी पुनः प्रस्फुटित हुई – इस भाँति जैसे प्रस्तुत प्रसङ्गकी धाराको अचिन्त्य शक्ति मोड़ दे। वे बोले – 'नृप-दम्पति ! तुम्हारी इन दोनों पुत्रियोंने जैसी सेवा की है, वैसी अबतक कोई भी न कर सकी, न कर सका ।'।।४८९।।

'मैं क्या इनको दूँ, किंतु सफल हो जाय वचन मेरा;' प्रियतम!
'इसलिये अवश्य कहूँगा कुछ दैवी इच्छा से ही;' प्रियतम!
'इस बड़ी लाड़िली के कर से अब बने रसोई जो,' प्रियतम!
'तत्क्षण रुजापहर हो, अक्षय, सुस्वादु अनूप तथा।' प्रियतम।।४९०।।

'मैं इनको क्या दूँ ? ............. किन्तु मेरी वाणी सफल हो जाय, इसलिये दैव-इच्छासे कुछ कहूँगा अवश्य। देखो, तुम्हारी इस बड़ी लाडिलीके कर-सरोजसे जो रसोई निर्मित होगी, वह तत्क्षण सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट करनेवाली होगी; इसके द्वारा प्रस्तुत सभी पदार्थ अक्षय गुणशाली होंगे तथा अनुपम सुस्वादु भी होंगे।'।।४९०।।

'मुझको यह लगा, अभी मानो साँवरी कह रही हो,' प्रियतम!
'दिखलाकर अहो! लाड़िली को, 'वरदान मुझे देना।' प्रियतम!
'इसके प्रति पल-पल भाव, सदा अनुराग बढ़े मेरा,' प्रियतम!
'बस, मैं भी 'एवमस्तु' कहकर देता हूँ यही इसे।' प्रियतम।।४९१।।

'महाराज ! महारानी ! सुनो, अभी मुझे ऐसी प्रतीति हुई कि अपनी बड़ी बहन लाड़िलीको दिखाकर साँवरी कह रही है – 'मुनिराज ! मुझे तो यह वरदान देना..........इसके प्रति मेरा भाव, अनुराग सदा बढ़ता ही रहे।' उसी स्वरमें महर्षि दुर्वासा गद्गद कण्ठसे इतना-सा और बोल गये – 'अतएव मैं भी तुम्हारी इस छोटी पुत्रीको 'एवमस्तु' कहकर वही दे रहा हूँ। इसकी इच्छित वस्तु ही इसे प्राप्त हो ।'।।४९१।।

"जा रहा किंतु हूँ अब मैं तो, हे राजा! हे रानी!" प्रियतम!
"वे करुणामयी ललित अम्बा मुझको ले जायँ वहीं," प्रियतम!
"होगा जो भाग पुनः मेरा, आऊँगा इस गृह में," प्रियतम!
"देखूँगा आँखें भर-भरकर इन दोनों शिशुओं को।" प्रियतम।।४९२।।

...........'राजन् हे ! रानी हे ! मैं तो अब जा रहा हूँ। वे करुणामयी ललिताम्बा जहाँ मुझको ले जायँ, वहीं. ...........। यदि मेरा पुनः सौभाग्य उदय होगा तो मैं इस गृहमें आ सकूँगा, और .........तुम्हारे इन दोनों शिशुओंको आँखें भरकर निहार सकूँगा।'।।४९२।।

रुक गयी गिरा ऋषिकी, रोने लग गये सिसक कर वे, प्रियतम!
रोने रानी लग गयीं, अहो! रो उठे विकल राजा, प्रियतम!
वह भाव-उदधि उनके दृगसे उमड़ा जो, अबतक है, प्रियतम!
दे रहा प्राण वत्सलता से सम्पुटित ईशता को, प्रियतम।।४९३।।

ऋषिराजकी गिरा अवरुद्ध हो गयी; वे सिसक-सिसककर रोने लग गये; रानी भी रोने लग गयीं; अहो ! विकल होकर महाराज भी रोने लगे। जो भाव-समुद्र उनकी आँखोंसे उमड़ चला, वह अबतक वर्तमान है, और वत्सलतासे सम्पुटित ईशताको प्राणान्वित कर रहा है भला !।।४९३।।

साँवरी और लाड़िली अहा! मुनिवर से लिपट गयीं, प्रियतम!
'बाबा! बाबा! तुम फिर आना;' रटकर, भरकर आँखें, प्रियतम!
मुक्ताएँ फिर झर-झर साँवर-गोरे गालों पर जो, प्रियतम!
फैलीं, उनको रो-रोकर मुनि लग गये चयन करने, प्रियतम।।४९४।।

इस ओर साँवरी और लाड़िली-दोनों बहनें मुनिवरके श्रीअङ्गोंसे लिपट गयीं-'बाबा ! बाबा ! तुम फिर आना, फिरसे आना।' ........दोनों पुत्रियाँ बार-बार मुनिवरके कटिदेशको वेष्टित कर रही थीं। उनकी आँखोंसे जो मुक्तायें झर-झरकर श्यामवर्ण और गौरवर्ण कपोलोंपर विखर रही थीं, उन्हें रो-रोकर मुनिराज चयन करने लग गये।।४९४।।

जो क्रियाशील होती न कहीं रानी-नृप-मुनिवर में, प्रियतम!
उस समय अचिन्त्य शक्ति कोई शासित करने वाली, प्रियतम!
आसन्न-अनागत-गत समस्त इस दृश्य तमाशे को, प्रियतम!
हो जाती अहो! दशा दसवीं उनकी व्याकुलतासे, प्रियतम।।४९५।।

.............. कदाचित् रानी, राजा एवं मुनिराजपर शासन करने वाली कोई अचिन्त्य महाशक्ति यदि वहाँ क्रियाशील न हो जाती तो आसन्न, अनागत एवं भूतके इस सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चकी विकलतावश दशमी-दशा हो जाती भला ! ......।।४९५।।

## जिज्ञासा

छन्द सं.४९५में उल्लेख है कि यदि अचिन्त्य महाशक्ति क्रियाशील नहीं होती तो श्रीवृषभानुजी, श्रीकीर्त्तिदा महारानी एवं मुनिवरके रोनेसे आसन्न, अनागत एवं गत - समस्त दृश्य तमाशेकी दशा दसमी हो जाती। यह दसवीं दशा क्या होती है एवं इनके रुदन मात्रसे सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्चकी दसवीं दशा हो जाना कैसे संभव होता – इसपर कृपया प्रकाश डालें ।

## समाधान

यहाँ जो दसवीं दशाका उल्लेख है, यह प्राणोंकी ही दसवीं भूमिका है। योगशास्त्रमें प्राणोंकी दस भूमिकाओंका वर्णन आता है। दसवीं भूमिकामें मनुष्य सर्वमायाबन्धनोंसे विनिर्मुक्त असमोर्ध्व त्रिगुणातीत मुक्त अवस्थामें पहुँच जाता है। प्राणोंकी नौ दशाएँ प्राकृत हैं और दसवीं भूमि अप्राकृत है। नौवीं दशातक जीव चाहे सिद्ध भूमिमें भले ही रहे, किन्तु वह पुनर्भव दशामें ही रहता है। एकमात्र दसवीं दशा ही ऐसी है, जहाँ जीव सर्वलोकोंका अतिक्रमण करता हुआ प्रकृतिसे पूर्ण अतीतावस्थाको उपलब्ध हो जाता है।

प्राणोंकी प्रथम दशामें तो सारे जीव सामान्यतः रहते ही हैं। इस अवस्थामें श्वास प्रश्वासका विषम आयाममें आवागमन होता रहता है, और इससे मनकी अशान्त, क्षुब्ध, पूर्ण चञ्चल अवस्था ही बनी रहती है। इस अवस्थामें मन यदि किञ्चित् कालके लिये कभी स्थिर होता भी है तो वह घोर अज्ञानमयी तमोगुणी मूढ अवस्थामें ही स्थिर होता है। सर्व प्रकारसे पूर्ण व्यामूढ हुआ जीव इसी दशामे निद्रित हो जाता है। इस अवस्थामे विशुद्ध सत्वके प्रकाशका तो उसे अनुभव ही नहीं होता। रजोगुणप्रधान सत्व एवं तमोगुणप्रधान रज ही इस कालमें जीवकी नियति होती है। इसीलिये इस दशाको प्राप्त जीवको कभी विशुद्ध स्वरूपानन्दके दर्शन नही होते। वह विषयानन्दको ही श्रेय एवं प्रेय समझता है, और क्षणभङ्गुर भोगोंकी लालसामें धुधकारीकी तरह दिनरात बवंडर बना भटकता रहता है।

प्रभुकृपा किंवा सत्सङ्गके फलस्वरूप जब जीव साधनोन्मुखी होता है तो वह अपने श्वास-प्रश्वासरूप प्राणोंकी क्रियाको प्रभुके ध्यानमें समर्पित करता है। परमात्माके सगुण साकार अथवा निर्गुण निराकार– किसी भी स्वरूपके जप, ध्यान, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासनके फलस्वरूप उसके प्राणोकी भूमिका ऊर्ध्वमुखी होती है और अधोमुखी तमस् प्रधान धरातलसे ऊपर उठकर जीव विशुद्धचक्रमे अपने प्राणोको निविष्ट कर देता है।

विशुद्ध शब्दका अर्थ ही है कि तमस्प्रधान रजोगुणसे उसके प्राण सतोमुखी हो उठते हैं। जैसे ही विशुद्धचक्रमे उसके प्राण प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसका चित्त मलिन देहेन्द्रिय-भोगोसे उपरत हो जाता है, उसकी प्रवृत्ति एवं गति तमस्से सज्ज्योतिकी ओर, मृत्युमय देहाध्याससे अमृतमय स्वरूपाध्यासकी ओर, असत् संसारसे सत्स्वरूप परमात्माकी ओर हो जाती है। देहेन्द्रियोंके भोगोसे वह उपरत हो जाता है, और उसमे जन्म-मरण, रोग-शोक, जरा-व्याधिरूप संसारसे मुक्त होनेकी इच्छा – मुमुक्षा जाग उठती है। उसके समग्र प्रयास एवं कर्म इसके पश्चात् संसारके बन्धनसे मुक्तिकी ओर ही होते हैं।

भगवत्कृपा एवं साधनासे जब जीवके प्राण इससे भी और ऊर्ध्व जाते है तो वह अनाहत चक्रमें अपने प्राणोंको प्रविष्ट कर देता है। इस चक्रमे जिसके भी प्राण प्रवेश कर जाते हैं, उसे फिर माया – अविद्याशक्ति आहत नहीं कर सकती। अविद्याके बन्धन इस साधकके लिये सदा-सदाके लिये टूट जाते हैं। जहाँ प्राणोंको अविद्या, माया आहत नहीं कर सके, उस चक्रका नाम ही अनाहतचक्र है।

इसके पश्चात् गुरु एवं भगवान्की कृपा जब जीवकी प्राणशक्तिको और ऊर्ध्व करती है तो जीव अपने प्राणोको मणिपूरचक्रमें प्रविष्ट कर पाता है। यहाँ जीव विगत-तमस् हो जाता है। वह ज्योतिर्मान् हो उठता है। यह सत्व प्रकाश की भूमि है। तेजस्-प्रधान होनेसे इस चक्रमें प्रविष्ट प्राणोंको उच्च भूमिमे स्थित देवजगत्से तथा अनेक महातेजस्वी सिद्ध मुनियोंसे सत्सङ्गलाभ होता है।

इसके पश्चात् जीवके प्राणोंकी जब और ऊर्ध्व अवस्था होती है तो उसमें निर्विकल्प अवस्थाको प्राप्त करनेकी स्पृहा उत्पन्न होती है, और साधनामें प्रवृत्त होकर वह अपनी निर्लेप, निर्मल, नित्य, निर्विकल्प स्वरूपावस्थाको प्राप्त कर लेता है। यह अपने अधिष्ठानमे रमणकी स्थिति है, इसे स्वाधिष्ठानचक्रमें पहुँचना कहा जाता है। विषयासक्ति और भोगवासनामे फँसे हुए, मायामोहके पदाघातसे जर्जरित, स्पन्दनहीन जगत्के प्राणी इस अधिष्ठानचक्रमें कैसा विलक्षण जीवन्मुक्त आनन्दवैभव है – इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

जब प्राणोंकी गति इससे भी ऊर्ध्व होती है, तब जीवकी प्राणशक्ति मूलाधारचक्रमें प्रवेश करती है। मूलाधारचक्रमें ब्रह्मशक्ति भगवती योगमायासे जीवकी एकात्मता हो जाती है। ये भगवती महादेवी सबके हृदयोंमें व्याप्त अन्तर्यामी हैं, ये सर्वातीता हैं, साथ ही सर्वगुणमयी, लीलामयी, अखिल रसमयी हैं। ये ही महादेवी चिति, ह्लादिनी एव सन्धिनी तीनोकी युगपत् एकीभूत मूर्त्ति हैं। इनके ही सङ्केतसे सब भगवदवतार होते हैं। ये ही वाराही एवं नारसिंही शक्तिस्वरूपा हैं। ये ही वैष्णवी, रौद्री एव ब्राह्मीशक्ति हैं। ये सबकी प्रतिष्ठा हैं, इसीलिये ये मूलाधारनिवासिनी हैं। ये जगन्माता जिन्हें

कुण्डलिनी महाशक्ति भी कहा जाता है, सर्व सौन्दर्य, माधुर्य एवं आह्लादकी मूल स्रोतस्विनी हैं । ये मुनिमनमोहिनी हैं, आत्मारामगणाकर्षिणी हैं। ये कामेश्वरी हैं, ये प्रेमपरवश, जन वत्सल, सबकी सुहृद्, निराविल स्नेहदायिनी जगन्माता हैं।

मूलाधारचक्रमें जीव इनसे एकात्मताका लाभकर ईश्वरीय शक्तियोंका स्वामी शिवस्वरूप हो जाता है। यहाँ जीव जीवसंज्ञक रहता ही नहीं, शिवरूप होकर महाशक्तिके हाथका यंत्र हो जाता है। फिर वह और ऊर्ध्व होकर सातवें चक्र सुषुम्नामें पहुँचता है। सुषुम्नाचक्रतककी यात्रामें इस शक्तिको जीवकी अवरोहात्मक इक्कीस ग्रन्थियोंका भेदन करना होता है। तब शिवस्वरूपताको प्राप्त जीवमें सम्पूर्ण ईश्वरीय वैभवका प्रकाश होना संभव होता है। इस सभी क्रियामें जीवका अपना कुछ भी पुरुषार्थ आवश्यक नहीं है। मूलाधारचक्रमें स्थित शक्तिसे एकात्मतातक ही जीवका अपना पुरुषार्थ क्रियाशील रहता है। यह शक्ति वस्तुतः गुरुरूपा ही है। गुरु-शरणागतिके पश्चात् सब क्रियाएँ गुरु द्वारा ही होती हैं। गुरुतक पहुँचना एवं गुरु-वरण कर लेना ही जीवका अन्तिम पुरुषार्थ है।

इसके पश्चात् जीवकी गति इस ब्राह्मीशक्तिकी कृपासे हानोपादानरहित, अप्राकृत हो जाती है। आज्ञाचक्रमें प्रवेश करते ही जीव जन्म-मृत्यु आदि सब दोषोंसे रहित, सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है। आज्ञाचक्रमे प्रविष्ट होनेतककी अवस्थामें भी जीवका नियंत्रण महाशक्तिके हाथोंमें ही रहता है। उसमे पूर्ण स्वातंत्र्यका प्रकाश नही होता है। महाशक्ति अब जीवके प्राणोंको सहस्रारचक्रमे प्रविष्ट कराती है। इस चक्रमे ज्ञान एव आनन्दकी असख्य, अनगिनत धाराओंमें जीव चक्राकार घूमता रहता है। यहाँ भी उसकी सविकल्प समाधि होती है। क्योकि अभीतक विकल्प भगवती महाशक्तिके हाथोंमें ही रहता है। शास्त्रोंमें यहाँतक जीवकी नवमी दशा कही गयी है। दसवीं दशामे ही जीव पूर्ण स्वातंत्र्यलाभ कर पाता है। यहाँ वह शक्तिके नियंत्रणमें नहीं रहता, सर्वशक्तिनियन्ता हो जाता है।

छन्द सं. ४९५ में आसन्न, अनागत एवं गत अर्थात् वर्त्तमान, भविष्य एव भूतके समस्त दृश्य तमाशेकी श्रीबृषभानुजी, श्रीकीर्त्तिदा महारानी एवं मुनिवर दुर्वासाके रोनेसे दसवी दशा हो जाती, यह तथ्य उजागर किया गया है।

अवश्य यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि जीवोके द्वारा बिना किसी प्रकारकी साधना किये ही सम्पूर्ण दृश्य-तमाशेकी इन तीनोंके रोदन मात्रसे ऐसी दुर्लभ दसवीं दशा कैसे सभव हो जाती ?

इसका उत्तर यही है कि श्रीबृषभानुजी, महारानी कीर्त्तिदा एव मुनिवर दुर्वासाका रोदन किन्हीं दो साधारण राजा-रानियोंका अथवा किसी वृद्ध ऋषिका बिछोहके कारण होनेवाला सांसारिक रुदनभर नहीं है। कीर्त्तिदा रानी एवं श्रीबृषभानुजी जननी-जनक हैं श्रीराधाके, जो मूर्त्तिमान् अधिरूढ महाभावरूपा, मधुररतिकी सजीव प्रतिमा, परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं, तथा राधानुजा श्रीमञ्जुश्यामाके, जो स्वयं कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुंसमर्थ भगवान् श्रीकृष्णकी ही छाया-स्वरूपा हैं। यहाँ छाया एवं छायावान् दो नहीं है, मात्र लीलाके लिये ही दो बने हैं। दुर्वासा ऋषि भी साधारण ऋषि नहीं हैं, ये भी भगवती शक्तिकी प्रेरणासे आये हुए भगवतीके महासिद्ध बारह आचार्योंमेंसे एक हैं। अतः इन तीनोंके इस उन्मादी विरह-रस-प्रवाहसे सबकुछ होना संभव है।

यह तो शास्त्रोंमें उल्लेख है ही कि द्रौपदीकी हँडियामें चिपके हुए शाकके अंशमात्रको खाकर तृप्तिका सङ्कल्प करके डकार लेने मात्रसे भगवान् श्रीकृष्णने दस हजार शिष्यों सहित महर्षि दुर्वासाकी क्षुधा निवृत्त कर दी थी। शास्त्रोंमें ऐसा भी उल्लेख है कि ब्रह्मनिष्ठ रैक्वको भोजन कराने मात्रसे सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्डके जीव-समुदाय भोजन करके तृप्त हो गये थे। सर्वात्मभावमें प्रतिष्ठित मुनि शुकदेवसे पूछे गये प्रश्नोका उत्तर वेदव्यासजीको वृक्षो द्वारा दिया गया था। अतः सर्वात्मनिष्ठ इन तीनोंके द्वारा अधिरूढ महाभावमें स्थित होकर रसका जो रोदन-प्रवाह उसकालमें प्रवाहित हुआ था, उसकी भावोर्मियोंसे यदि ब्रजक्षेत्रका सम्पूर्ण प्रपञ्च डूब जाता – इसमे कुछ भी असभव नहीं मानना चाहिये।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि फिर अचिन्त्य महाशक्ति विश्वप्रपञ्चकी इस महामङ्गलमयी परिणतिमें अवरोधक क्यों बनी ? उसे तो सहायक ही होना चाहिये था।

इसका उत्तर भी यही है कि अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको राधा-महाभावकी समग्र लीलाको विश्व-प्रपञ्चके सम्मुख रखकर उसे महामङ्गलसिन्धुमे रसावगाहनका परम सौभाग्य देना है। अभीसे ही वह यदि ब्रजजगत्को तुरीय भूमिमें प्रविष्ट करादे तो रसका आस्वादन ही नहीं हो पावेगा। जबतक फल परिपक्व नहीं हो, उसे तोड़ना एवं खाना क्या उचित कहा जायगा ? फलके परिपक्व होनेपर ही उसके आस्वादनसे स्वादकी प्राप्ति होती है। इसी अभिसन्धिसे कि पूरी लीला रङ्गमञ्चमें अभिनीत हो जाय, लीलामहाशक्ति उस समय लीलामञ्चको तुरीय भूमिमें प्रवेश करानेमें अवरोधक हो गयी थी।

जो हो, प्रवाह यह भावों का हो गया नियन्त्रित-सा, प्रियतम !
ऋषिपदमें गिर कर पुनः-पुनः ललियों को साथ लिये, प्रियतम !
उत्तर के निर्झर तक उनको पहुँचा कर अनुमति पा, प्रियतम !
रानी-नृप लौटे, पागल-से मुनि समा गये वनमें, प्रियतम।। ४९६।।

**जो हो, अचानक भावोंका यह प्रवाह नियन्त्रित-सा हो गया। बार-बार महर्षिके पादपद्मोंमें गिरकर राजा एवं रानी उन्हें वृषभानुपुरके उत्तरके निर्झरतक पहुँचाने आये। उनकी अनुमति पाकर महाराज एवं महारानी तो लौट आये, किन्तु महर्षि दुर्वासाकी दशा तो निराली हो गयी थी। वे सर्वथा विक्षिप्त-से हुए आगेके वनस्थलमें प्रविष्ट हो गये। कहाँ गये, कौन बताये ?।।४९६।।**

इसके पश्चात् वर्ष पूरा होकर फिर हो आयी, प्रियतम।
तिथि यही शरद् की संध्या थी नवरात्र अष्टमी की, प्रियतम !
महिषी-अवनीश चले गृह से ज्यों, बटु इतने में ही, प्रियतम !
आया आदेश लिये कुल के गुरुदेव महाऋषि का, प्रियतम ।।४९७।।

**इसके पश्चात् एक वर्ष पूरा हो गया। पुनः शारदीय महाष्टमीकी संध्या आ गयी। महारानी एवं महाराज घरसे ज्यों ही निकले कि वह चिर-परिचित वटु उनके समक्ष आ गया। कुलगुरुदेव महर्षि भागुरीका एक आदेश लेकर वह आया था।। ४९७।।**

आने की आवश्यकता अब तुम दोनों के न रही, प्रियतम।
सहचरी-वर्ग के सहित युगल दुहिता के द्वारा ही, प्रियतम !
नवनीत-दुग्ध-दधि-घृत जितना वे बिना परिश्रम के, प्रियतम !
ढो सकें, भेज देना कल तुम दो घड़ी दिवस चढ़ते, प्रियतम।।४९८।।

**'गुरुवर्यने कहा है', वह बोल उठा – 'अब तुम दोनोंको आनेकी आवश्यकता नहीं रही। सहचरियोंके सहित अपनी दोनों दुहिताओंके द्वारा ही नवनीत, दुग्ध, दधि, घृत- वे बिना परिश्रम जितना उठा सकें, उन सामग्रियोंको ही भेज देना। हाँ, दो घड़ी दिवस चढनेके पूर्व ही यह सामग्री आश्रमपर पहुँच जाय।'।।४९८।।**

अतएव सदाकी भाँति वहाँ दोनों वे नहीं गये, प्रियतम।
होते ही सुप्रभात, भरकर उन सभी वस्तुओं को, प्रियतम!
सोने के लघु-लघु कलशों में रानी ने भेज दिया, प्रियतम!
रखकर सिर पर कन्याओं के शत-शत सहचरियों के, प्रियतम।। ४९९ ।।

अतएव सदाकी भाँति इसबार नृप-दम्पति गुरुवरके पास नहीं गये। सुप्रभात होते ही उनकी आज्ञाके अनुसार सभी वस्तुओंको एकत्रित करके, स्वर्णनिर्मित छोटे-छोटे कलसोंमें भरकर, रानीने अपनी कन्याओंके एवं उनकी शत-शत सहचरियोंके सिरपर रख दिया। ......... अश्रुपूरित नेत्रोंसे ही सबको जानेकी अनुमति वे दे सकीं।।।४९९।।

वे चलीं राजपथ से पहले, फिर तो अरण्यपथ ही, प्रियतम !
सुन्दर उनको प्रतिभात हुआ टेढ़ी पगडंडी का, प्रियतम !
दोनों ही ओर लताएँ थीं फूलों से लदी हुई, प्रियतम !
अत्यधिक फलों का भार लिये हो रहे नमित तरु थे, प्रियतम ।। ५००।।

सब-की-सब पहले तो राजपथसे चलीं, किन्तु फिर उन्हें अरण्यपथ ही सुन्दर एवं आकर्षक प्रतीत हुआ। वह पथ टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडीसे विभूषित था। दोनों ओर फूलोंसे लदी लताएँ लहरा रही थीं। तरुश्रेणी अत्यधिक फलोंका भार लिये नमित हो रही थीं।।५००।।

गा रहे विहंगम थे अगणित रागिणी सरस ऐसी, प्रियतम !
गन्धर्व- रमणियाँ भी जिसकी छू सकीं न छाँह कभी, प्रियतम !
सौ- दो सौ पद के अन्तर से निर्मित पावस- जल से, प्रियतम !
छोटे हृद शतश थे, जिनमें प्रस्फुटित कंज अरु थे, प्रियतम ।। ५०१।।

अगणित विहङ्गम ऐसी सरस रागिणीका सृजन कर रहे थे, जिनकी छायातक गन्धर्व-रमणियाँ भी छू नहीं सकती। सौ-दो सौ पगके अन्तरसे पावस-जलके द्वारा शतशः छोटे-छोटे हृद निर्मित हो गये थे। उनमें राशि-राशि कञ्ज प्रस्फुटित हो रहे थे। ।५०१।।

उड़कर गुन-गुन करता समूह भौंरों का आता था, प्रियतम ।
थी सत्य रसीली मति उसकी अपहृत हो रही जहाँ, प्रियतम ।
लाड़िली आदि सबके तन से निःसृत उस सौरभ को, प्रियतम !
पाकर उनके मुखको अभिनव अरविन्द समझ करके, प्रियतम ।। ५०२।।

गुन-गुन करता हुआ भ्रमरोंका समूह उड़-उड़कर आता था। उनकी सचमुच रसीली मति वहाँ अपहृत हो रही थी। लाडिली एवं सहचरियोंके तनसे अद्भुत सौरभ निस्सरित जो हो रहा था। उन सबके मुखकी शोभा अभिनव प्रस्फुटित अरविन्दके सदृश हो रही थी, मानों भ्रमर ऐसा ही अनुभव कर रहे थे। अस्तु,।।५०२।।

वे इसी मधुर पथ से पहुँचीं आश्रमपर गुरुवर के, प्रियतम !
अर्चा उन सब कुमारियों की ऋषि परम सिद्ध ने की, प्रियतम !
भावों की भेंट समर्पित कर फिर पट रङ्गस्थल का, प्रियतम !
परिवर्तन कर, तन्मय होकर, उनको कर दिया विदा, प्रियतम ।। ५०३।।

वे इसी सुन्दर पथसे गुरुवरके आश्रमपर जा पहुँचीं। गुरुवर-उन परम सिद्ध महर्षिने उन सब कुमारियोंकी अर्चना की; भावोंकी भेंट समर्पित कर तथा फिर रङ्गस्थलका पट-परिवर्तन करके, उसीमें तन्मय होकर उन्होने सबको विदा कर दिया।।५०३।।

उत्तर की पगडंडी से वे लौटीं, रवि कुण्ड मिला, प्रियतम !
श्यामा हठ कर बैठी, इसमें मैं आज नहाऊँगी, प्रियतम !

थी सदा साँवरी की रुचि जो, थी बड़ी लाड़िली की, प्रियतम!
प्यारी सहचरी सयानी ने दी राय किंतु ऐसी, प्रियतम ॥५०४॥

वे सभी उत्तरकी ओर जानेवाली पगडंडीसे लौटीं। पथमें ही अंशुमालीका वह कुण्ड मिला। उसको देखकर श्यामा हठ कर बैठी कि मैं तो आज इसीमें नहाऊँगी। सदाका नियम था, साँवरीकी जो रुचि होती, बड़ी लाडिलीकी रुचि भी उसीमें मिल जाती। किन्तु बड़ी सहचरी ललिताने यह राय दी – ॥५०४॥

'री! क्यों न चलें फिर तो, अब तट अत्यन्त सन्निकट है, प्रियतम!
'सुन्दरीसरोवर पर ही, जो रमणीय अप्रतिम है, प्रियतम!
पीने भर पानी के बदले निर्झर पीयूष मिले, प्रियतम!
दक्षिण कर गहिन लाड़िली का धरकर साँवरी चली, प्रियतम ॥५०५॥

'अरी ! फिर तो हम लोग क्यों नहीं अब सुन्दरी सरोवरपर ही चलें। वह अब अत्यन्त सन्निकट है भला ! अप्रतिम रमणीय भी है वह ।' अहा ! कोई पीने भरको पानी माँगे और उसके बदले उसे पीयूषका निर्झर मिल जाय ! इसी भाँति अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी बड़ी बहन लाडिलीका दक्षिण कर पकड़कर साँवरी तो अविलम्ब चल ही पड़ी उत्तरकी ओर ॥ ५०५॥

❑

पञ्चम शतक समाप्त

*जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है, परन्तु विषयोंके प्रति वृत्तियोंके अनवरत प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है, इसीसे विशुद्ध प्रेम दुःख उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो गया है।*

* * * * *

*अहा! कब हमारा ऐसा सौभाग्य होगा कि हमें भगवान् प्राणों-के-प्राणकी तरह प्यारे लगने लगेंगे। वे हमारे जीव-के-जीव, सुख-के-सुख होंगे। भगवान्के बिना हम भोजन खा रहे हैं, उसका स्वाद-सुख ले रहे हैं, हम जल पी रहे हैं, हमें श्वास लेना सुखदायी लग रहा है, हम घर-द्वार, सुख-सम्पति, मान-सम्मान, स्त्री-पुत्रके सभी भोग भोग रहे हैं, निश्चय ही हमारे ऊपर विधाता अनुग्रहशील नहीं है। अन्यथा हमें भगवान्के विरहमें कुछ भी प्रिय लगना नहीं चाहिये था। जबतक हमारे हृदयमें भगवानके चरण-कमल विराजित नहीं हों, हमें इतर धरम-करम, सुख-आनंद अग्निके समान जलानेवाला लगना चाहिए था। श्रीवसिष्ठजी महाराज कहते हैं कि यदि ऊँची-से-ऊँची योग-समाधि भी भगवान्के प्रेमसे छलकती रसमयी नहीं है, तो वह समाधि योग नहीं, कुयोग ही है। योगको योग तभी कहना चाहिये जब वह भगवान्के परम शंतम चरणोंसे हमें संयुक्त कर दे। यदि भगवान्के दर्शन-मिलनसे हीन कोई ज्ञानोपलब्धि है, तो निश्चय ही वह घोर अज्ञान ही है।*

*– पूज्य राधाबाबाके अमृतमय वचन*

।। विजयेतां श्रीप्रियाप्रियतमौ ।।

# षष्ठम शतक

## श्रीकृष्णका पूर्वराग

ऋतु शरद् विराजित थी वनमें, शुक्ला नौमी तिथि थी, प्रियतम!
प्रातः-वेला थी बीत चुकी, संगव था हुआ अभी, प्रियतम!
सुन्दर अनेक शिशुओं को ले, जो समवयस्क सब थे, प्रियतम।
जा मस्त रहा था एक वहाँ बालक धीरे-धीरे, प्रियतम।५०६।

**उस समयकी यह घटना है, जब व्रजमें शरद् ऋतु विराजित थी। आज शुक्ला नवमी तिथिका दिन था। प्रातःकी वेला समाप्त हो गयी थी और अभी-अभी सङ्गवकाल आरम्भ हुआ था। उसी समय अनेक सुन्दर शिशुओंको लेकर – जो प्रायः सब-के-सब समवयस्क थे – एक बालक मन्द-मन्थरगतिसे चलता हुआ, अपनी मस्तीमें डूबा धीरे-धीरे जा रहा था।।५०६।।**

साँवर था आगे-पीछे थीं उसके चलती गायें, प्रियतम!
रुकता रह-रहकर था किंचित्, फिर फूँक वेणु देता, प्रियतम!
ऐसी लहरी निःसृत होती, जो पूरित हो जाती, प्रियतम!
नभमें, समीर, रविमें, जलमें, थलमें, मनमें सबके, प्रियतम ।।५०७।।

**यह व्रजेन्द्रनन्दन नीलसुन्दर ही थे, जो गो-चारणके लिये वनस्थलकी ओर अग्रसर हो रहे थे। उनके आगे-पीछे शत-सहस्र गायें चल रही थीं। वे रह-रहकर अत्यन्त अल्प-कालके लिये रुक जाते और फिर अपनी वेणुमें स्वर भरने लगते। उस समय वेणुसे ऐसी स्वर-लहरी निःसृत होती, जो देखते-देखते त्रिभुवनमें पूरित हो जाती। सम्पूर्ण आकाशमें, समीरके कण-कणमें, दिवाकरकी किरणोंमें, सम्पूर्ण जलमें, स्थलमें, और सबके मनमें एकमात्र वेणुका स्वर ही बच रहता।।५०७।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

शरद् ऋतुके प्रभातने अरुणोदयके रागसे व्रजक्षेत्रको रञ्जित कर दिया है। शारदीय पद्मोसे लघु एवं छिछले सरोवर – सभी परिपूर्ण हो गये हैं। एक अद्भुत आलोकमाला वनमे सर्वत्र फैली है। रविकिरणोंका संस्पर्श पाकर सौन्दर्य, सौरभ एवं आनन्दसे सम्पूर्ण व्रजभूमि मानो विह्वल हो रही है। जब रवि पश्चिममे अस्ताचलके समीप होता है तो वहाँ स्वर्णपुत्तलिकाकी तरह खड़ा-खड़ा गो-गोवत्सोंके मध्य श्रीकृष्णचन्द्रको निहारता ही रह जाता है। सन्ध्या बारबार उसे उस दर्शन-समाधिसे विरत करती है, तब कहीं जाकर वह अस्ताचलमें स्थित अपने अन्तर्गृहमें प्रवेश कर पाता है। उसे रात्रिमें स्वप्न भी श्रीकृष्णचन्द्रकी वन-चारणलीलाओंके ही आते हैं। प्रभात होनेपर जैसे ही रवि व्रजप्रदेशकी ओर झाँकता है, उसे नन्दगृह, कालिन्दीतट, पनघट, गोष्ठ, वन, उपवन, वीथी, अलिन्द, मन्दिर – सर्वत्र गोप-गोपियोंकी चर्चाका एक ही विषय श्रवणगोचर होता है – 'श्रीकृष्णचन्द्रका रुचिर कौमार-चापल्य!

रवि देखता है – दधि-मन्थनके घर्घर शब्दसे समस्त व्रजक्षेत्र मुखरित है। इस घर्घरध्वनिसे ही श्रीकृष्णचन्द्रकी निद्रा भङ्ग होती है। निद्रा टूटते ही नेत्र मलते हुए वे सीधे व्रजरानीके पार्श्वमें पहुँचते हैं। अहा! उनका मन्द-मन्द

पादनिक्षेप, अलसाये सारे अङ्ग, मुखपर प्रसरित काजलकी काली-काली रेखाएँ– रवि नन्दनन्दनकी यह अनुपम शोभा देखकर आनन्दमें जडवत् हो जाता है। उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। अहा! नन्दनन्दनके श्रीअङ्गोंकी श्यामज्योतिके सम्मुख फीका हुआ रवि लज्जासे अपना मुख छिपानेको आतुर हो उठता है। रविके दुर्धर्ष प्रकाशके सम्मुख सभी अन्य ज्योतियाँ मन्द ही नहीं, लुप्त हो जाती हैं, किन्तु यह चिन्मयी रसमय श्यामज्योति रविकी ज्योतिको भी तुच्छ कर देती है। नीलमणिके मुखमण्डलकी ज्योति रविको निर्वापित – निस्तेज कर देती है। रविके नेत्रोंमे भी श्याम रङ्ग समा जाता है। रवि देखता है – 'नन्दभवनका पद्मरागमणिसे निर्मित द्वार भी श्याम हो गया है, देहली श्याम है, प्राङ्गण श्याम बन गया है, गवाक्ष श्याम हो गये हैं, स्तम्भ भी श्याम हो गये हैं। रविके देखते-देखते उसके स्वयंके अङ्ग श्याम हो जाते हैं। अहा! रवि श्याम-प्रेम – श्याम-प्रीतिसे भर जाता है। ऐसे श्यामवर्णवाले रविके हृदयमें श्यामसुन्दर निलीन हो जाते हैं।

रविका बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता है। कुछ काल पश्चात् उसे होश आनेपर रुनझुन-रुनझुनकी अत्यन्त मन्दध्वनि सुनाई पडती है। रवि अपने मुखको लताजालकी ओटमें छिपा लेता है। वहींसे वह छिपकर देखता है – 'ओह! नीलमयङ्ककी किसलय-कोमल हथेलीपर उज्ज्वल नवनीत शोभित है।' रविके अङ्गोंमें एक विलक्षण प्रकारका कम्पोदय हो उठता है। उसके रोम-रोम ऊर्ध्व हो उठते हैं।

ओह! हाथमे माखन धारण किये नीलमणिके अरुण अधरोंपर कैसी मधुर मुसकान छायी है! और देखो, अब तो वह नीलमयङ्क हँसकर पुकार रहा है। उसकी मधुमय वाणीमें तो मानो कोई मोहनमंत्र ही भरा हो। वह आवाज दे रहा है – 'अरे भैया विशाल, वृषभ, देवप्रस्थ, वरूथप, मिलिन्द! आओ, आओ, शीघ्र आओ! मैया मक्खन खिला रही है!' और फिर रवि देखता है – नन्दभवनके प्राङ्गणमे छोटे-छोटे गोपशिशुओका समुदाय विलक्षण मधुर अट्टहास करता हुआ प्रवेश कर रहा है। यह बाल-समुदाय नीलदेवता नन्दनन्दनको घेर लेता है। रविके देखते-ही-देखते मन्द-मन्द चालसे अपने चरणोंके नूपुर ठुमकारते, रुनझुनकी मधुर किङ्कणी-ध्वनि करते नन्दनन्दनके सभी छोटे-छोटे बालसखा नन्दभवनके अन्तर्भागकी ओर चल पडते है। इन सखाओंके भीतर प्रवेश करते-करते ही दूसरा दल भी आ जाता है। दूसरे दलका नायक श्रीकृष्णका चचेरा भाई स्तोककृष्ण होता है। स्तोक वयमें श्रीकृष्णसे दो-अढाई वर्ष छोटा है किन्तु इसके सभी अङ्ग-अवयव श्रीकृष्णके समान ही हैं, कहीं भी भिन्नताका लेशतक नहीं। स्तोकके समुदायमें हैं – दाम, सुदाम, किङ्कणी, अंश आदि सखागण। यह दल अधिक कोलाहल नहीं करता। इनके पीछे-पीछे कुछ ही काल पश्चात् प्रवेश करता है – नन्दनन्दनके वयस्क सखाओंका दल। इस दलका नायक होता है – सुबल। सुबलके दलमे होते हैं – अर्जुन, गन्धर्व, बसन्त, उज्ज्वल एवं कोकिल आदि । इनके पीछे ही सर्वाधिक कोलाहल करता हुआ मधुमङ्गल प्रवेश करता है। उसके दलमे होते है – पुष्पाङ्क एव हस आदि। ये सभी सखागण निस्संकोच नन्दभवनपर अपना पूर्ण अधिकार कर लेते है। नन्दरानी यशोदा एवं रोहिणी सद्योमथित नवनीतसे पूर्ण स्वर्णभाण्ड, सुमिष्टतम दधिसे भरे रजतपात्र इन सबके सम्मुख रख देती हैं। मेवा और मिष्ठान्न तो अनगिनत पात्रोमें भरे हैं ही।

इस शोभा-दृश्यको देखते-देखते कुछ क्षण तो रविको ऐसा प्रतीत होने लगता है – मानो उसके हृदयमें एक अनन्त पारावार-रहित रससिन्धु है, उसमें नीलवर्णकी तरङ्गें उठ रही हैं, प्रत्येक तरङ्ग एक-दूसरेसे अधिक उत्तुङ्ग, एक दूसरेसे अधिक आनन्दवर्षी है। रविके नेत्र आनन्दभारसे बारबार निमीलित होते हैं, किन्तु दर्शनोत्कण्ठा उन्हें पुनः-पुनः उन्मीलित कर देती है। रवि मानो स्वप्न देख रहा हो। उसे अपने दर्शन-सुखकी सत्यतापर ही सन्देह होने लगता है।

नीलमणि नन्दतनय एवं अग्रज बलराम इन्हीं भाण्डोसे अपने हाथोंमे दधि एव नवनीत भर-भरकर समस्त सखागणको खिला रहे हैं। नवनीत-वितरणकी इस प्रक्रियामें नीलमयङ्कका वक्षस्थल, उसके कण्ठ एवं हृदयमें धारण किये अनमोल मणिमय आभूषण – सभी दधि एवं नवनीतसे सन गये हैं। सभी सखाओंके मुख, कपोल, चिबुक, कण्ठ एवं उदर आदि

अङ्ग भी दधि एवं नवनीतसे लिप्त हैं। ओह ! नन्दरानी और रोहिणी अपने सखाओंके प्रेमसे परवश हो-होकर उन्हें नवनीत खिलानेकी अपने पुत्रोकी भङ्गिमाओके लालित्यको देख-देखकर निहाल हो रही हैं, न्यौछावर हो रही हैं।

रविकी दशा तो यह है कि यदि विश्व-नियन्त्री-शक्ति उसे सँभाले नहीं होती तो निश्चय ही वह मूर्च्छित होकर नन्दभवनके आँगनमें ही गिर पड़ता।

शनैः-शनैः काल गतिशील होता है। प्रातः-बेला बीत जाती है। दिवसके प्रथम प्रहरका अवसान होने लगता है। इसीको सङ्गवकाल कहते हैं। रवि देखता है – रोहिणीजी बलरामको सजाने जा रही हैं, और यशोदा मैया नीलमणिको। सखागण तो पहले से ही सजे खडे हैं। बलरामने देखते- ही-देखते निज जननी द्वारा प्रस्तुत शृङ्गारको धारण कर लिया है। परन्तु नीलमयङ्क इतने सहजमे वस्त्राभूषण धारण कर लें, यह कैसे संभव हो सकता है ? चञ्चलता तो नन्दतनयमें सदैव मूर्त्त ही रहती है। किन्तु वे जानते हैं कि शृङ्गार धराये बिना मैया वन जाने नहीं देगी, और उन्हें वन जानेकी अत्यधिक त्वरा है, अतः वे सजनेको मैयाके सम्मुख खड़े हो जाते हैं।

अपने असीम वात्सल्यपूरित करोंसे ब्रजरानी पुत्रके महामरकत श्यामल अङ्गोमें उबटन लगाती हैं, उन्हें उष्ण वारिसे स्नान कराती हैं, फिर वस्त्र और आभूषण धारण कराती हैं। ओह ! अपने नीलमणिका भुवनमोहन सौन्दर्य निहारती-निहारती मैया भ्रान्त होने लग जाती हैं। कदाचित् मेरे नीलमणिको किसीकी दृष्टि लग गयी तो ? जननी अविलम्ब सुकोमल तूलिकाको काजलसे भर लेती हैं और नीलतनयके भालपर काजलकी टेढी रेखा खींच देती है। फिर भी उनकी स्नेहजनित अनिष्टाशङ्का निवृत्त नहीं हो पाती। जननी अत्यन्त आकुल होकर श्रीनारायणदेवसे प्रार्थना करने लगती हैं। भगवान् नारायणदेव तो सर्वभयहारी हैं ही।

लो, एक साथ ही सभी गोपशिशु शृङ्गध्वनि करने लगे है, असंख्य गौएँ कूदती हुई आगे बढ रही हैं। वे अपने तीक्ष्ण खुरोंके आघातसे पृथ्वीको खोदती हुई वनपथकी रज-कणिकाओको पीसती हुई मृण्मयी रेणुकाको पुष्प-पराग-जैसी सुकोमल बनाती हुई, कङ्कड-पत्थर एव कण्टकोंको चूर्ण-विचूर्ण करती हुई अपने प्राणधन नीलमणिके वन-पथको ऐसा सुकोमल बनाती जा रही हैं, जिससे उस भूमिपर नन्दतनय नीलमणि अतिशय सुखपूर्वक अपने चरण-निक्षेप कर सकें।

और अब पौगण्डवयस्क बलराम एवं नीलसुन्दर गोपालोका वेष धरे अपने असख्य सखाओंके साथ गोचारण करने काननके उस भूभागकी ओर जा रहे हैं जहाँ इस अनोखे नीलमणिका ही एकछत्र साम्राज्य है। वनभूमिका भी अतुल सौभाग्य है कि वह अपने प्राणपति श्रीकृष्णचन्द्रके ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्नोसे समन्वित पदाङ्कोंसे पूर्वापेक्षा अत्यधिक समलंकृत हो रही है। धराके भाग्यकी सराहना करता हुआ रवि अपने किरणरूपी हाथोंसे उसके श्रीकृष्णचन्द्र-चरण-चिह्न-समन्वित अङ्गोंको सस्पर्श करता कृतकृत्यता लाभ कर रहा है।

वनके राजा पधारे हैं। कानन अपने कोशकी अपरिसीम सम्पदा उसके चरण सरोजोंमें समर्पित कर देता है। अपने समस्त चर-अचर सहित वह स्वय ही न्यौछावर हो जाता है। रसमत्त भ्रमरोकी मधुर गुञ्जार, मृग एव विहङ्गमोंका अव्यक्त सुमधुर रव, स्वच्छ, शीतल, सुमिष्ट जलसे पूर्ण सरोवरोंका शीतल सान्निध्य, पद्मगन्ध-वासित मन्द समीरका सुखद स्पर्श -- कानन अपना समग्र निजस्व ही अपने प्राणधनके चरणोमे समर्पित कर देता है।

'हे प्रियतम प्राणवल्लभ ! आप सुखी होवें। मेरा सौन्दर्य तो आपके ही विश्वविमोहक लावण्यका एक अल्पतम अशमात्र है, आपके मनको यदि सुखकर लगे तो क्षणमात्रके लिये ही सही, अपनी वस्तुसे अपना रञ्जन कर लीजिये। नाथ ! इन पक्षीगणोंकी सुमधुर काकलीसे अपनी कर्णेन्द्रियोंको तृप्त कर लीजिये। यह सुखद अनिल आपके श्रीअङ्गोंको किञ्चित्-सा सुखदान देकर धन्य हो सके, इन सरोवरोके स्वच्छ सलिलकी मधुरिमा आपकी रसनाकी तृषा बुझा दे, विकसित पद्मोंकी शोभा आपके नेत्र–कोणोको अनुरञ्जित कर दे, एवं नानाविध कुसुमोंका सुवास आपकी घ्राणेन्द्रियको

किञ्चित् तृप्ति दे सके, तो निश्चय ही मैं कृतकृत्य हो उठूँ ।' – वनके देवताकी यह पुकार ब्रजेन्द्रनन्दन द्वारा मानो स्वीकार कर ली जाती है एव बृन्दावनेश्वर सोचने लगते हैं – बस, आज यहीं विहार हो ।

नन्दनन्दनके विहारकी असंख्य प्रक्रियाएँ हैं। इन सभीमें जो सर्वप्रमुख प्रक्रिया है – वह है वंशीवादन । किसीने आजतक नहीं जाना – ब्रजेशतनयने वंशीवादनकी शिक्षा कब एवं किससे ली। सभव है, यह कला उनकी स्वरूपमाधुरीसे ही जुडी कोई अविभाज्य माधुरी है। किन्तु इतना सत्य है कि वे जब इस अमृतपूरका प्रवाह बहाने लगते हैं तो च॰ अचर उसमें निमग्न हुए बिना नही रह सकते। आज यही हो रहा है –

**'आगें गाय पाछैं गाय, इत गाय, उत गाय,**
**गोविन्द कौं गायनमें बसिबौ ही भावै।।''**

ब्रजेन्द्रनन्दनके आगे शत-सहस्र गायें हैं, उनके पीछे भी इतनी ही सख्यामें गाये हैं और आर्श्व-पार्श्वमें भी वे गायोंसे ही घिरे हैं । पथके दोनों ओर पीत झिण्टीके पुष्प विकसित हैं। असंख्य गोपशिशु गायोको हियो-हियो बोलकर नियत्रित कर रहे हैं। वन आनन्द-कोलाहलसे मुखरित है। इन सबके मध्य मस्त चाल भरते हुए ब्रजेन्द्रनन्दनने अपने बिम्बारुण अधरोंपर हरित बॉसकी बॉसुरी धारण कर ली है। किसी कविने इसका वर्णन किया है – '' **हाँकैं हटकि-हटकि गायें ठठकि-ठठकि रहीं** ''ब्रजेन्द्रनन्दन चलते-चलते, रह-रहकर अल्पकालके लिये रुक जाते हैं और तब अपनी बॉसुरीमें स्वर भरने लगते हैं। वेणुसे उस समय ऐसा मधुर स्वर निकलता है कि सुननेवाले चर-अचर सभी प्राणी उत्कण्ठाके प्रबल आवेगमें भर उठते हैं। सभी गोपाल एवं गायें अपने नीलमणिको अपलक नेत्रोंसे निहारते हुए जड़ पुत्तलिकाकी भॉति खडे-के-खडे रह जाते हैं। गायोंके प्राणोंकी अनुभूतिका संस्पर्श पाकर मानो पवन द्विगुणित वेगसे चलायमान हुआ वन-प्रान्तरके कोने-कोनेमें यह सूचना भर देता है कि यह तो नीलमयङ्क नन्दनन्दनकी बजायी गयी मोहन वंशीध्वनि है।

यह ध्वनि बृन्दाकाननको झंकृत करके ही नहीं रह जाती, अन्तरिक्षको भी आत्मसात् करने ऊपर उठ जाती है; केवल ऊपर ही नहीं, निम्न लोकों – अतल, वितल, सुतल, तलातल और पातालतकको प्रकम्पित कर देती है।

यह ऐसा विलक्षण नाद है कि समस्त लोक-लोकान्तरोको मात्र नादमय बना देता है। तुम्बुरु एवं हाहा-हूहू गन्धर्व अपनी स्वर–साधनाका अतिशय गर्व करते हैं, परन्तु जो नाद किसीकी सत्ताको ही अपनेमें विलीन कर ले, ऐसे नादसे तो वे भी अबतक परिचित नहीं हुए हैं। यह नाद तो सनक-सनन्दन प्रभृति ऋषिवर्ग, स्वय स्रष्टा, चतुरानन, वेदगर्भ ब्रह्मा, चिर-शान्त-स्वभाव बलि, योगीन्द्र अनन्तदेवतकके अस्तित्वको अपनेमें आत्मसात् कर लेता है। आकाशका अणु-अणु नादमय हो उठता है। समीरका स्पन्दन, दिवाकरकी किरणे, जलकी सरसता और स्थलका कण-कण केवल नादमें ही रूपान्तरित हो उठता है और सब शेष-शेषी नाद-ही-नाद रह जाता है।।५०७।।

हो जाता धर्म-विपर्यय था चर-अचर-समूहों में, प्रियतम !
वह नाद मात्र बच जाता था, मिटकर सबकुछ मन से, प्रियतम !
बहती इतने में अन्य लहर, जो चेत करा देती, प्रियतम !
कौतुक होता था बालक का, हँसता वह देख इसे, प्रियतम।।५०८।।

**वेणु-ध्वनिका स्वाभाविक परिणाम यह होता कि सम्पूर्ण अचर-चरमें धर्मका विपर्यय हो जाता। सबके मनसे सब कुछ मिटकर एकमात्र वह वेणु-स्वर ही बच रहता, जिसकी झंकृतिमें सबका मन तन्मय हो जाता। इतनेमें ही वेणुनादका दूसरा स्वर गूँज उठता। इस बार सबकी विलुप्त हुई चेतना फिरसे लौट आती। सब अकचकसे मानो देखने लग जाते कि अभी-अभी कैसे, क्या उनको हो गया था ! सबकी दशा देखकर नीलसुन्दर हँसने लगते।**

**उनके लिये तो यह एक कौतुक मात्र होता। आश्चर्यपूरित आँखोंसे गोप-शिशु नीलसुन्दरकी ओर देखने लगते। सबकी आँखें मानो पूछने लगतीं– 'भैया रे नीलसुन्दर ! यह तो तुम एक अद्भुत कौतुक जानते हो रे ! क्या तुम बतला सकोगे कि ऐसी विचित्र घटना कैसे संघटित कर बैठते हो ?'।।५०८।।**

## जिज्ञासा

**पञ्चम शतकके छन्द सं.५३० तक ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको अपने वंशीनादका चमत्कारिक प्रभाव दिखाते हैं। कृपया इस सभी प्रसङ्गका आध्यात्मिक रहस्य खोलकर समझावें, अन्यथा यह वर्णन एक जादूगरकी कलाकी तरह आश्चर्यजनक भर प्रतीत होता है।**

## समाधान

ऐसी सभी शङ्काओंके मूलमें एक ही भ्रान्ति रहती है कि हम सगुण-साकार ब्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् मानना विस्मरण कर जाते हैं। यह सदैव ध्यानमें रहे कि सारस्वतकल्पमें भगवान्का यशोदानन्दनके रूपमें जो अवतार हुआ है वह समस्त कला-वैभवोंके सहित परिपूर्ण भगवान्का अवतार है और इन परात्पर पूर्ण परब्रह्म सर्वभवनसमर्थ भगवान्की अपने निज-जन सखाओंके साथकी यह लीला है।

भगवान् श्रीकृष्णका यशोदानन्दन द्विभुज रूप इतना सुन्दर तथा मधुर है कि उनके इस गुणातीत-मायातीत नित्य रूपका वर्णन करनेकी सामर्थ्य चौदह भुवनोंमें किसीमें भी नहीं है। शास्त्रोंमें भगवान्के रूपका जो वर्णन आता है, वह तो मात्र ध्यानकी सुकरताके लिये उनके रूपका आभास मात्र है।

भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोंके कटाक्षसे ही मीनावतार, उनकी पगथलियोंसे कच्छपावतार, उनकी पिण्डलियोंसे वाराहावतार, उनकी मोहनतासे वामनावतार, उनकी श्यामलतासे रामावतार, उनके ध्यानसे बुद्धावतार, उनके आभूषण – बघनखासे नृसिंहावतार हुआ है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें वर्णन है कि उनमें विभुत्व एवं ऐश्वर्यके तीनों तत्व, विष्णु, महाविष्णु और महेश्वर – सभी का समावेश है।

जब भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका आयोजन होने लगता है तब अकस्मात् एक मणिरत्नखचित अपूर्व सुन्दर रथ दिखाई पडता है। उस रथपर शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये महाविष्णु विराजित होते हैं। वे नारायण रथसे उतरकर महेश्वर श्रीकृष्णमें विलीन हो जाते हैं – **गत्वा नारायणो देवो विलीनः कृष्णविग्रहे।'** इसके पश्चात् दूसरे स्वर्णरथपर आरूढ़ पृथ्वीपति विष्णु आते हैं और वे भी श्रीराधिकेश्वर श्रीकृष्णके शरीरमें विलीन हो जाते हैं। इसके पश्चात् स्वयं नारायण उनमें विलीन हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं – समस्त भूत 'क्षर' हैं और कूटस्थ 'अक्षर' है। इन दोनोंसे पृथक् अविनाशी परमात्मा पुरुषोत्तम त्रिलोकीमें व्याप्त रहकर सबका धारण-पोषण करते हैं। मैं ही वह वेदोक्त 'पुरुषोत्तम तत्व' हूँ।

सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णमे सबकुछ पूर्ण चमत्कारी ही है। इनके दिव्य विग्रहका सौन्दर्य असमोर्ध्व, चमत्कारी एवं पूर्ण है; इनका माधुर्य पूर्ण चमत्कारी है, इनका बल एवं ऐश्वर्य पूर्ण चमत्कारी है और इनका मुरली-निनाद भी पूर्णतम चमत्कारी ही है। श्रीकृष्णकी वाणीमें असीम माधुर्य है, उसको सुनते-सुनते चित्त कभी अघाता ही नहीं और यह सोच प्रारंभ हो जाता है कि 'हाय ! विधाताने लाखों-करोडों कान क्यों नहीं दिये ताकि यह मधुर ध्वनि सुनकर किञ्चित् तृप्ति तो होती ! मुरली-निनादके रूपमें सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रमें नादका भी पूर्णावतार हुआ है। श्रीकृष्णका मुरली-निनाद अप्राकृत है; उसका प्राकृत नादसे कोई संबंध नहीं। फिर भी जो प्राकृत नाद है, वह भी परम ज्योति है, वह भी स्वयं परमेश्वर हरि है। नाद अनादि है। जबसे सृष्टि है, तभीसे नाद है। महाप्रलयके बाद सृष्टिके आदिमें जब परमात्माका यह सङ्कल्प होता है – **'एकोऽहं बहुस्याम'** – "मैं एक बहुत हो जाऊँ" तभी इस शब्दात्मक सङ्कल्परूप

अनादिनादकी आदि-जाग्रति होती है। यह नादब्रह्म ही शब्दब्रह्मका बीज है। वेदोंका प्रादुर्भाव भी इसी नादसे ही होता है। नादसे ही विन्दु उत्पन्न होता है। यह विन्दु ही प्रणव है। इसीको बीज कहते हैं।

शास्त्रोंमें कहा गया है —

**सच्चिदानन्द-विभवात् सकलात् परमेश्वरात्।**
**आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्मात् विन्दुसमुद्भवः।।**
**नादो विन्दुश्च बीजश्च स एव त्रिविधो मतः।**
**भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत् ।।**
**स रवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दो ब्रह्माभवत् परम्।**

सच्चिदानन्दरूप वैभवयुक्त पूर्ण परमेश्वरसे उनकी स्वरूपाशक्ति भगवती आविर्भूत हुई। उन पराम्बा महाशक्तिसे नाद प्रकट हुआ। नादसे विन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। वही विन्दु — नाद, विन्दु तथा बीजरूपसे तीन प्रकारका माना गया है। बीजरूप विन्दु जब भेदको प्राप्त हुआ, तब उससे अव्यक्त और व्यक्त प्रकारके शब्द प्रकट होते हैं। व्यक्त शब्द ही श्रुति, वेदरूप, श्रेष्ठ शब्दब्रह्म है।

जब यह नाद पराम्बा भगवती आदिशक्तिका ही स्वरुप है, जो भगवान् श्रीकृष्णके अधरोकी लालिमामें नित्य विराजित रहती हैं, तब अधरोसे सलग्न वेणु द्वारा सम्पूर्ण चर-अचरका धर्म-विपर्यय हो जाय और चर-अचरका सबकुछ मिटकर मात्र नाद-ही-नाद रह जाय और फिर दूसरी बार वशी-निनाद होनेपर सबकी विलुप्त चेतना फिरसे लौट आवे — इसमें असंभव ही क्या है ? भगवती आदिशक्ति महामाया ही तो संसाररूपमें चर-अचरकी प्रवृत्तिमें हेतु हैं, और वे ही यदि सङ्कल्प करलें तो सबकी निवृत्तिमें फिर संशय ही कहॉं रहता है।।५०८।।

*'भैयाओ! एक जानता हूँ मैं मन्त्र रहस्यभरा,' प्रियतम!*
*'उसको पढ़कर वंशी में स्वर भर देता हूँ ऐसा,' प्रियतम!*
*'जो सुने, वही पागल-पगली हो जाय, और तो क्या,' प्रियतम!*
*'देखो इन पॉंचतत्वपर भी इसका परिणाम भला!' प्रियतम।।५०९।।*

**नीलसुन्दर मन्द स्मितके साथ उन शिशुओंको उत्तर देने लगते — 'भैयाओं ! देखो, मैं एक अत्यन्त रहस्यपूरित मंत्र जानता हूँ। मैं पहले उसे मन-ही-मन पढ़ लेता हूँ, फिर वेणुमें स्वर भरता हूँ। स्वरका प्रभाव ऐसा होता है कि जो भी उसे सुने, वही अपनी स्वाभाविक चेतनता भूल जाता है। स्त्री हो, पुरुष हो, कोई भी हो, वह पागल एवम् पागल-सी हो जाता है। और तो क्या, तुम लोग प्रकृतिके इन पॉंच तत्वोंपर भी वेणुका प्रभाव तुरंत अभी-अभी प्रत्यक्ष देख लो।'।।५०९।।**

## जिज्ञासा

**कृपया उस रहस्यभरे मंत्रका परिचय दें, जिसका उल्लेख भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन छन्द सं. ५०९ में कर रहे हैं। इस मंत्रको पढकर वे वंशीमें स्वर भरते हैं और तब उसका प्रभाव ऐसा होता है कि जो सुने वही पागल अथवा पगली हो जाती है।।५०९।।**

## समाधान

यह मंत्र भगवती आद्या महाशक्तिका कामबीज 'क्लीं' है। भगवान् श्रीकृष्णका भी यही **'क्लीं कृष्णाय नमः'** षडक्षर मत्र है। गोपालमंत्र जिसका शास्त्रोंमे असीम प्रभाव बताया गया है, वह मत्र भी 'क्लीं' कामबीजसे ही प्रारंभ होता है। पूर्वतः यह उल्लेख किया जा चुका है कि सच्चिदानन्द विभु पूर्ण परमेश्वरसे जो उनकी आद्या स्वरूपाशक्ति आविर्भूत होती हैं एवं उनसे जो नाद प्रकट होता है, वह भी 'क्लीं' कामबीज मंत्र ही है।

यह 'क्लीं' नाद ही क्रमशः स्थूल रूपको प्राप्त होता हुआ समस्त जगत् रूपमे परिणत होता है। पॉच भूतोमे सबसे पहले यह आकाशकी तन्मात्रा – 'शब्द' बनता है। शब्द 'क्लीं'का ही एक रूप है। आदिनादरूप 'क्लीं' बीजसे ही पञ्चतत्वकी उत्पत्ति मानी गयी है। 'क' ब्रह्मा 'ल' लयरूप रुद्र एव 'ईं' मायाबीज – इन तीनोंसे ही सृष्टि एवं प्रलय सभव होते हैं। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण जो महायोगेश्वर हैं, अपने सखाओको समझाते हुए कहते हैं कि मै 'क्लीं' मन्त्रका सिद्ध महायोगी हूँ। पहले इसको जपता हूँ, फिर इसके प्रभावका सङ्कल्पकर तब मुरलीमें स्वर भरता हूँ और तब पञ्चभूतोंको भी प्रभावित कर देता हूँ। तुम सब इस मुरलीके चमत्कारको अपनी ऑखोंके आगे प्रत्यक्ष देख लो ।।५०९।।

कहकर साँवर ने दिखलाया रत्नों के पर्वत को, प्रियतम!
फिर गूँजा क्षणभर वेणु, अहो! हीरे-पुखराज गले, प्रियतम!
पीली उज्ज्वल धारा बनकर बह चले सामने ही, प्रियतम!
गायें पीछेकी ओर कूद लग गयीं रँभाने-सी, प्रियतम ।।५१०।।

नीलसुन्दरकी उपर्युक्त उक्तिके अनन्तर उन्होंने सबोंका ध्यान रत्नोंसे निर्मित उस गोवर्धन पर्वतकी ओर आकर्षित किया। इसके पश्चात् क्षणभरके लिये वेणुका स्वर गूँज उठा। अहा ! देखो, गोवर्धनके वे राशि-राशि हीरक, पुखराज आदि रत्न गलने लग गये भला ! पीली उज्ज्वल धारा बनकर सामनेकी ओर बह चले। राशि-राशि गायें पीछेकी ओर कूद-कूदकर रँभाने-सी लग गयीं।।५१०।।

साँवर अब बायीं ओर मुड़ा, नीलम-सी लहरें थीं, प्रियतम!
सरिता में उठती, उस पर भी उसने जादू डाला, प्रियतम!
पूरी प्रवाहिणी का ही जल पलमें आवर्त बना प्रियतम!
जम गया दूसरे क्षण फिर वह होकर हिम धरती-सा, प्रियतम ।।५११।।

अब नीलसुन्दर किञ्चित् बायीं ओर मुड़ गये। कलिन्दनन्दिनीकी धारामें नीलमकी लहरें-सी उठ रही थीं। उन्होंने अब इन लहरोंपर ही वेणुनादका प्रभाव दिखलाना आरम्भ किया। देखते-देखते पूरी प्रवाहिणीका जल आवर्तके रूपमें परिणत हो गया। दूसरे ही क्षण वह मानो हिमखण्ड-सा जम गया। अब कलिन्दनन्दिनीकी धाराके स्थानपर हिमखण्डसे जमी हुई धरती परिलक्षित होने लगी!।।५११।।

उन अगणित नीर-विहंगों के तन अक्षत रहकर भी, प्रियतम!
पद यन्त्रित थे हिम के भीतर, पाँखें, बस, हिलती थीं, प्रियतम!
आवर्तस्थल था दीख रहा वापी विशाल जैसा, प्रियतम!
जलचारी मत्स्य आदि सब थे निस्पन्द पड़े जिसमें, प्रियतम।।५१२।।

आश्चर्यकी बात यह थी कि उन अगणित जल-विहङ्गमोंके गात्र तो सर्वथा अक्षत थे, किन्तु उनके पद उस हिम-पिण्डमें जन्त्रितसे हो गये। उनकी पाँखें मात्र हिलती दीखती थीं। वह आवर्तस्थल विशाल वापी जैसा दीख रहा था। जलचारी मत्स्य आदि सब-के-सब उसमें निस्पन्द पडे थे।।५१२।।

ऊपर थे पद्मबन्धु हँसते, हँस पडा साँवरा भी, प्रियतम!
ध्वनि हुई वंशिका से निस्सृत दिनमणिको लक्ष्य किये, प्रियतम!
वह शारदीय रवि-किरण राशि बन गयी सुधा शशि की, प्रियतम!
नवमीका दिवस-काल बस पल राकासे भासित था, प्रियतम ।।५१३।।

ऊपर दिनकर हँस रहे थे और इधर नीलसुन्दर भी स्थलपर चलते हुए हँस पड़े। इस बार वंशीका छिद्र दिनमणिको लक्ष्य करके नीलसुन्दरके होठोंकी बयारसे पूर्ण होने लगा। शारदीय दिनकरकी वह किरणराशि सुधाकरकी ज्योत्स्नामयी किरणें बन गयी। नवमी तिथिका वह दिवसकाल दस पलोंके लिये राकामयी रजनीकी भाँति प्रतिभात होने लगा।।५१३।।

गातें हुई धेनुकुल, खगकुलकी, अलिकुलकी, तरुकुलकी, प्रियतम!
उतने क्षण रजनीकालोचित, दर्शक केवल शिशु थे, प्रियतम!
'अब करो पूर्ववत् इनको,' यों बोले वे, बस, निकला, प्रियतम!
स्वर ललित, बह चला नीर सरित, उग उठे अंशुमाली, प्रियतम।।५१४।।

धेनु-समूहोंकी, विहङ्गमकुलकी, भ्रमरों और राशि-राशि तरुश्रेणीकी उतने क्षणतक रात्रिकालोचित दशा हो गयी। अवश्य ही इसके दर्शक नीलसुन्दरके शिशु सखामात्र ही हैं! और ये सब-के-सब बड़ी शीघ्रतासे बोल उठे – 'अरे भैया! अब इनको फिर पहलेकी भाँति बना दो। यह सुनना था कि नीलसुन्दर क्षणार्ध पर्यन्त वंशीके स्वरमें एक ललित स्वर भरने लगे तथा दूसरे ही क्षण नीली सरिता प्रवाहित हो उठी! और अंशुमाली भी अपनी प्रखर किरणोंको पुनः विस्तारित करने लग गये।।५१४।।

साँवर बोला, 'शीतल-सुरभित-जीवनदाता सबको;' प्रियतम!
'है पवन, किंतु देखो मेरा जादू तुम इसपर भी;' प्रियतम!
'जैसे ही मैं फूँकूँगा स्वर सम्मोहित कर इसको;' प्रियतम!
'होगा यह लीन सब मेरी नासा-मुख-वंशी में;' प्रियतम।।५१५।।

नीलसुन्दर अपनी स्वाभाविक मन्द मुस्कानसे सबको उल्लसित करके बोल उठे – 'देखो, तुम सबने सुना होगा – यह शीतल मन्द समीर सबका जीवनदाता है, किन्तु अब देखो, इस पवनपर मेरे वंशीरवका क्या प्रभाव होता है । जैसे ही मैं इस वंशीमें स्वर भरूँगा और पवनको सम्मोहित करना चाहूँगा, वैसे ही यह सम्पूर्ण समीर मेरे नासापुटोंमें, मुखमें और वंशीमें – सब जगहसे सिमटकर – विलीन हो जायेगा।'।।५१५।।

ऐसा ही हुआ, सभी बालक अचरज में भरे हुए, प्रियतम!
लग गये देखने खेल, अहो! क्या बात दूर पर की, प्रियतम!
प्रत्येक सखा को अनुभव था होरहा, न चलती है, प्रियतम!
उनकी ही साँस, किंतु तब भी जीवित सब थे सुख से, प्रियतम।।५१६।।

सचमुच ऐसा ही हुआ भी। सभी बालक आश्चर्यमें भरे हुए, यह नूतन कौतुक देखने लग गये। सबकी जिज्ञासा है – 'अहो! यह क्या बात है ? दूरपरकी बात तो छोड़ दो, हम सबने अभी-अभी यह अनुभव किया है कि हमारी साँस तक नहीं चल रही है, तब भी हम सब-के-सब सुखपूर्वक जीवित कैसे थे ? बोलो भैयाओ! तुममेंसे कोई भी समीरका अनुभव कर रहा था क्या?' और प्रायः सबकी ग्रीवा हिल गयी अस्वीकृति मुद्रामें। अस्तु,।।५१६।।

पल बीस-पचीस बीतने पर गतिशील समीर हुआ, प्रियतम!
सुनकर रसमयी तान फिर से, शिशुओं ने प्रश्न किया, प्रियतम!
'हम, अरे कन्हैया भैया! थे कैसे सब बचे हुए' प्रियतम!
'है सुना, श्वास रुक जाने पर मर जाता है प्राणी!' प्रियतम।। ५१७।।

बीस, पच्चीस पल बीतनेपर समीर जब पुनः गतिशील हुआ और वंशीके छिद्रोंसे रसमयी तान निःसृत होने लगी, तब शिशुओंने प्रश्न किया – 'अरे कन्हैया ! भैया ! हम सब-के-सब जीवित कैसे बचे हुए हैं ? हमने सुना है कि श्वास रुक जानेपर प्राणी मर जाता है और अचरज तो देखो श्वास भी नहीं चल रही थी, और हम सब-के-सब जीवित भी हैं !'।।५१७।।

हँस-हँसकर समाधान उनका कर रहा साँवरा था, प्रियतम।
देखो, वंशी के छिद्रों से जो सुधा बरसती है, प्रियतम!
कोई भी क्षणभर एकबार सपने में भी पी ले, प्रियतम!
हो जाता है वह सदा अमर, तुम नित्य पी रहे हो। प्रियतम ।।५१८।।

नीलसुन्दर हँस-हँसकर सबका समाधान करने लग गये – 'देखो भैयाओ ! वंशीके छिद्रोंसे जो सुधा बरसती है, कोई क्षणभर सपनेमें एकबार भी उसे पी ले, तो वह सदाके लिये अमर हो जाता है ! और तुम नित्य-निरन्तर यह सुधा पी रहे हो। तुम सब क्यों नहीं जीवित रहते ?' शिशुओंके मनका नीलसुन्दरकी उक्ति सुनकर पूरा-पूरा समाधान हो गया। अस्तु,।।५१८।।

निर्मल था व्योम, दृष्टि उस पर अब गयी साँवरे की, प्रियतम!
बोला, 'है ऐसा कौन, गगन जो ले समेट नखमें ?' प्रियतम!
'मैं अभी बजाकर वंशी यह करके दिखलाता हूँ', प्रियतम!
'नभ बायें पद अनामन खमें मेरे आ सिमटेगा।' प्रियतम ।।५१९।।

अब नीलसुन्दरकी दृष्टि निर्मल व्योमकी ओर गयी। वे बोले – 'अच्छा भैया ! तुम सभी बताओ, कोई भी बता दे कि ऐसा भी कोई है, जो सम्पूर्ण आकाशको अपनी एक अँगुलीके नखमें समेट ले ? किन्तु मैं तुम सबको अभी वंशी बजाकर ऐसा ही करके दिखा देता हूँ। तुम सब प्रत्यक्ष देख लोगे कि मेरे बायें पैरकी अनामिकाके नखमें यह सम्पूर्ण आकाश अभी आकर सिमट जायेगा।'।।५१९।।

धारा-सी मधुकी क्षणभर फिर बह चली वंशिका से, प्रियतम!
इतने में जो अनुभूति हुई प्रत्येक सखा शिशु को, प्रियतम!
है सत्य अनिर्वचनीय शाख-शशधर के न्याय कहूँ, प्रियतम!
अवकाशदान दाता केवल तुम एक बच रहे थे, प्रियतम ।।५२०।।

इसके अनन्तर मधुकी धारा-सी वंशीके छिद्रोंसे बह चली। उस समय प्रत्येक शिशु सखाको जो अनुभव हुआ, उसे मैं शाखाचन्द्रन्यायसे ही कह दे रही हूँ – 'यद्यपि शिशुओंकी वह अनुभूति नित्य सत्य है, किन्तु अनिर्वचनीय भी है। जो हो, कुछ कालके लिये अवकाश देनेवाली वस्तु केवल तुम्हीं बच रहे थे नाथ ! उस अनुभूतिके सम्बन्धमें इतना मात्र ही कहा जा सकता है....।'अस्तु,।।५२०।।

अब पुनः बहा पीयूष सरित, तब भावसमाधि खुली, प्रियतम!
शिशुओं की, लगे नहाने वे सब झूम-झूम उसमें, प्रियतम!
शत-शत हंसिनी-हंस दौड़े, जल-खगगण उड़ आये, प्रियतम!
उस ओर सहस्र मयूरों के दलने आ घेर लिया प्रियतम ।।५२१।।

जब पुनः वह पीयूषकी सरिता वंशीके छिद्रोंसे प्रसरित हुई, तब सब शिशु सखाओंकी भाव समाधि टूटी। ये सब शिशु झूम-झूमकर उस अमृत प्रवाहिणीमें अवगाहन करने लगे। देखते-देखते हंसिनी, हंस उड़कर आ गये और उनके साथ ही जल-विहङ्गमोंका समूह भी उड़कर आ गया। इनके साथ सहस्त्र-सहस्त्र मयूरोंके दलने आकर नीलसुन्दरके सहित उस शिशु मण्डलीको घेर लिया।। ५२१।।

रव भरते समय जिधर झुकती ग्रीवा थी साँवर की, प्रियतम!
दल मत्त विहंगों का तत्क्षण गतिशील उधर होता, प्रियतम!
पल-पलमें सरस बदलती थी उनकी भङ्गी धारा, प्रियतम!
हाथों से पेट थामकर थे हँस रहे सभी शिशु वे, प्रियतम।।५२२।।

देखने ही योग्य दृश्य था नीलसुन्दरकी ग्रीवा वंशीमें स्वर भरते समय जिस ओर झुकती, उन्मत्त हुआ विहङ्गमोंका दल तत्क्षण उसी दिशामें ही गतिशील हो उठता। पल-पलमें नीलसुन्दरकी सरस भङ्गिमा बदलती और अपना पेट हाथोंसे थामकर हँसते-हँसते सभी शिशु आनन्दमग्न हो जाते।।५२२।।

ज्यों होता क्षणिक विराम, अहो! मधुभरे वेणुरव का, प्रियतम!
रह-रहकर, जान-बूझकर ही साँवर यह करता था, प्रियतम!
उस समय विहंगों में आती प्रेमोत्थित जड़िमा जो, प्रियतम!
पा सकीं न एक निदर्शन भी उसका ब्रह्माणी भी, प्रियतम।।५२३।।

जैसे ही क्षण-आधे क्षणके लिये मधुर वेणु-रवका विराम होता – यद्यपि जान-बूझकर, रह-रहकर श्यामसुन्दर ही ऐसा करते थे – उस समय विहङ्गमोंके समुदायमें जो प्रेमोत्थित जड़िमाका आविर्भाव होता – उसका एक भी निदर्शन ब्रह्माणी भी न पा सकी भला !।।५२३।।

टप-टप सुमिष्ट बूँदें तरुकी शाखा से, पल्लव से, प्रियतम!
फूलों से, बेलि समूहों से, झर रही निरन्तर थीं, प्रियतम!
स्वरलहरी के चालन से ही विहगों की चोंच-चोंच को, प्रियतम!
साँवर ऊपर कर देता था, बूँदें गिरतीं उनमें, प्रियतम।।५२४।।

जलकी सुमिष्ट बूँदें टप-टप करती हुई तरु शाखाओंसे, पल्लवोंसे, फूलोंसे, वल्लरी-समूहोंसे निरन्तर झर रही थीं और नीलसुन्दर अपनी वंशीकी स्वर-लहरीके चालनसे विहङ्गमोंकी चोंचको बड़ी चतुराईसे उसके ठीक नीचे, ऊपरकी ओर कर देते। वे बूँदें उन चञ्चुओंमें ही गिरतीं। अप्रतिम सुन्दर दृश्य था वह !।।५२४।।

बारी अब वन्य चतुष्पद की आयी रस लेने की प्रियतम।
टेरी वंशिका साँवरे ने उस गहन वनस्थल में, प्रियतम!
हों हुए निमन्त्रित ऐसे वे द्वीपी करेणु-करिणी, प्रियतम!
भल्लूक-मृगी-मृग आदि दौड़ आ जुड़े वहाँ क्षण में, प्रियतम।।५२५।।

अब वन्य चतुष्पदोंकी बारी आयी नीलसुन्दरकी वंशी रवसे निःसृत मधुधाराका पान करनेकी। जैसे ही साँवरेने उस गहन वनस्थलमें अपनी वंशीके छिद्रोंको अपने मुख-सरोजके श्वाससे पूरित किया, वैसे ही मानो सब-के-सब निमन्त्रित हुए हों, इस भावसे वे व्याघ्र, हाथी, हथिनियोंका दल, भल्लूक, मृग-मृगी आदि सब क्षणभरमें नीलसुन्दरके समीप दौड़कर आ पहुँचे।।५२५।।

हैं वैरहीन ये नित्य यहाँ, शिशु सभी जानते थे, प्रियतम !
भय हुआ न किंचित् भी उनको चिहुँकी न गाय तक भी, प्रियतम !
एवं पयस्विनी अमृतमयी ज्यों प्रस्रवित पुनः हुई, प्रियतम !
वे हुए भाव-भावित चौपद, जैसे न कह सकूँगी, प्रियतम ।। ५२६ ।।

*सभी शिशु जानते थे कि यहाँके हिंसक पशु भी नित्य सर्वथा परस्पर वैरसे शून्य रहते हैं। इसीलिये किसीको किञ्चित् भी भय नहीं हुआ। गायें भी तनिक चिहुँकी तक नहीं एवं उस समय वहाँ जो अमृतमयी पयस्विनी पुनः प्रसृत हुई तथा वे चतुष्पद जिस भावमें निमग्न हो गये, उसका वर्णन करनेमें मेरे देवता ! मैं सर्वथा असमर्थ हूँ भला ! संभव नहीं है उसका चित्रण मेरे द्वारा।।।५२६।।*

पल बीस-पच्चीस खेल कर-कर, रसमत्त बना उनको, प्रियतम !
साँवर ने स्वरसञ्चालन से वनमें फिर भेज दिया, प्रियतम !
शिशुओं ने पूछा, 'कान्हारे ! कैसे ये चले गये', प्रियतम !
'दृग बन्द किये, वंशी जब थी बज रही यहीं, फिर भी', प्रियतम ।। ५२७ ।।

*इस प्रकार बीस-पच्चीस पलतक क्रीड़ा करके, उन वन्य पशुओंको रसमत्त बनाकर, श्यामसुन्दरने अपने स्वर-संचालनके द्वारा ही उन्हें यथास्थान वनमें ज्यों-का-त्यों लौटा दिया। शिशुओंने आश्चर्यसे पूछा – 'अरे कन्हैया ! यह सब वन्य पशु कैसे चले गये ? सबकी आँखें भी बन्द थीं और जब ज्यों-की-त्यों वंशी भी बज रही थी यहाँ तब भी कैसे चले गये ? ।।५२७।।*

साँवर के अरुणिम अधरोंका सुस्मित नट हास बना, प्रियतम !
फिर तान एक मधुभरी छिड़ी, निर्णय शिशु कर न सके, प्रियतम !
पूरब से या दक्षिण से है, आरही प्रतीची से, प्रियतम !
या उत्तर से कि धरातल से ध्वनि यह या ऊपर से, प्रियतम ।। ५२८ ।।

*अब साँवरके अरुणिम अधरोंका वह सुस्मित मनोहर हास्यमें परिणत हो गया। आधे क्षणके अनन्तर ही वंशीके छिद्रोंसे एक मधुभरी तान छिड़ गयी। इस बार शिशु सखा आश्चर्यमें डूब गये। वे निर्णय नहीं कर सके कि वंशी-रव किस ओरसे प्रसृत हो रहा है। प्राचीसे अथवा प्रतीचीसे, दक्षिणकी ओरसे या उत्तरसे, ऊपरसे अथवा धरातलसे-किस ओरसे आ रहा है यह रव?।।५२८।।*

बोला साँवर, 'सर्वत्र समा जाती है स्वरलहरी', प्रियतम !
'मैं जिसको जहाँ जभी इसकी अनुभूति कराता हूँ', प्रियतम !
'उसको ही वहीं प्रतीति तभी होने लग जाती है', प्रियतम !
'तत्क्षण उसके तन-मन की गति होती है लीन वहीं', प्रियतम ।। ५२९ ।।

आँखोंमें आश्चर्य लिये हुए शिशु इसका निर्णय नीलसुन्दरसे जानना चाह रहे थे। नीलसुन्दरने भी अविलम्ब उनको उत्तर दे देना चाहा। वे बोले – 'भैयाओं ! देखो, जब मैं वंशी बजाता हूँ, तो यह स्वर-लहरी सर्वत्र परिपूरित हो जाती है। किन्तु मैं जिसको, जहाँ, जिस समय इस लहरीको अनुभूति कराना चाहता हूँ, उसको ही, उसी समय इसकी अनुभूति होने लगती है। तथा तत्क्षण ही उसके तन-मनकी गति इस लहरीमें विलीन हो जाती है।'।।५२९।।

## जिज्ञासा

**छन्द सं. ५१०में भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दनने वंशीध्वनि द्वारा मणिपर्वतको गलाकर तरल प्रवाह बना दिया; छन्द सं ५११ एवं ५१२में पूरी जल-प्रवाहिणीके जलको ही उन्होंने हिममें परिवर्त्तित कर दिया; छन्द सं. ५१३ में दिनमणिको सुधाकर बना दिया। छन्द सं.५१४में अपने सखाओंके कहनेसे सबको पूर्ववत् कर दिया। इस प्रकार छन्द सं. ५२९तक मुरलीके चमत्कारोंका ही वर्णन है। कृपया यह समझावें कि इन चमत्कारोंके पीछे भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन द्वारा चर-अचरको क्या दान दिया गया है ? ऐसी कौनसी रस-वस्तु भगवान् इस मुरली-निनादके द्वारा ब्रजके चर-अचरको वितरण कर रहे हैं ? कृपया इसे सुस्पष्ट करें ।।। ५२९।।**

## समाधान

मुरली-निनाद द्वारा भगवान् सर्वत्र चर-अचरमें ह्लादिनी-सुधाका अनिर्वचनीय आनन्द ही मुक्तहस्तसे वितरण कर रहे हैं। 'क्लीं' बीजका प्राकृत अर्थ तो छन्द स. ५०९ की व्याख्यामें दे दिया गया है, किन्तु इसी 'क्लीं' बीजका रसजगत्का अप्राकृत अर्थ यहाँ दिया जा रहा है। 'कल वामदृशा मनोहरम्' इस कल पदामृत वेणुगीतसे 'क्लीं' पदकी सिद्धि होती है। कल अर्थात् क्ल। इसमें वामदृक् अर्थात् चतुर्थस्वर 'ई' कार संयुक्त करनेपर 'क्ली' शब्द बनता है। यह 'क्ली' पद मनोहर है, अर्थात् मनको मथनेवाले मन्मथके भी मनको मथनेवाले मन्मथ-मन्मथ श्रीकृष्णचन्द्रको, जो चन्द्रविन्दु स्वरूप हैं, यह हरण कर लेता है। इसीलिये यह 'क्लीं' श्रीकृष्ण-कामिनी श्रीराधा एवं माधव – दोनोंका युगपत्, साथ ही उनके प्रेममिलनका भी स्वरूप है।

**ककारो नायकः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।**
**ईकारो प्रकृती राधा महाभावस्वरूपिणी।।**
**लश्चानन्दात्मकः प्रेमसुखं च परिकीर्त्तितम्।**
**चुम्बनाश्लेष माधुर्यं बिन्दुनादं समीरितम्।।**

ककार सच्चिदानन्दविग्रह नायक श्रीकृष्ण हैं। ईकार महाभावस्वरूपा प्रकृति श्रीराधा है। 'ल' कार इन नायक-नायिकाके मिलनात्मक प्रेमसुखका आनन्दात्मक निर्देश है। नादविन्दु चुम्बन-आलिङ्गनादि माधुर्यामृतसिन्धुको परिस्फुट करने वाला है।

श्रीराधाकृष्णका मिलन दिव्य है। यह आत्मरमण है। **'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'** यह अपने ही स्वरूपमें सच्चिदानन्द भगवान्की लीला है। इस लीलाका विकास 'क्लीं' रूप मुरली-निनादके वितरणसे ही होता है। मुरली-निनाद स्वयं सच्चिदानन्दमय है। यह ब्रह्मरूप है। यही नादब्रह्म है।

प्राकृत धरातलपर 'क्लीं' जहाँ सृष्टि-सङ्कल्प है, अप्राकृत लीलाजगत्में चिन्मय ब्रह्मस्वरूप नादका सञ्चार भगवान् पवित्र मधुररसका आस्वादन करानेके लिये करते हैं। श्रीकृष्णावतारकालमें भी 'क्लीं' भगवत्कामबीज बन जाता है। मन्मथ-मन्मथ मदनमोहन अपने तप-वैराग्ययुक्त अधिकारसम्पन्न भक्त साधकोमें इस भगवत् कामबीजको वितरणकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। **'कर्षति इति कृष्णः'।**

भगवान् श्रीकृष्ण मुरली-निनादके द्वारा आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं धरा – इनमें निवास करनेवाले सभी जीव-समुदायको अपना मधुर स्वरूपालिङ्गनका सुखदान करनेके लिये ही मुरलीवादन करते हैं। मुरलीके चिन्मय स्वरके रूपमें वे स्वयं ही स्वरूपतः उनसे एकात्म होते हैं और उन सभीको अपनेमें एकात्म कर लेते हैं। किसी कविकी उक्तिका रसास्वादन करें।

ए सजनी वह नन्दकुमार सु या वन धेनु चराइ रह्यौ है।
मोहिनी तानन गोधन-गायन बेनु बजाइ रिझाइ रह्यौ है।।
ताही समै कछु टोना करै रसखानि हिये सु समाइ रह्यौ है।
कोउ न काहु की कानि करै, सिगरौ ब्रज बीर! बिकाइ रह्यौ है।।।५२९।।

ऐसे वंशी ध्वनि का प्रभाव शिशुओं को दिखलाता, प्रियतम!
हँस-हँसकर तथा स्वयं वह रस पीता मृगछौना-सा, प्रियतम!
चञ्चल साँवर बालक आया अतिशय सुरम्य वनमें, प्रियतम!
था एक जहाँ कासार बृहत् तट स्फटिक-विनिर्मित थे, प्रियतम ॥५३०॥

इस प्रकार अपनी वंशी-ध्वनिका प्रभाव शिशुओंको प्रत्यक्ष दिखलाते हुए और हँस-हँसकर स्वयं इस रसका पान करते हुए, मृगछौना सदृश नीलसुन्दर आगे-से-आगे चलते जा रहे थे। अब वे एक अतिशय सुरम्य वनमें जा पहुँचे, जहाँ एक सुन्दर कासार सुशोभित हो रहा था जिसके विशाल तट स्फटिकसे निर्मित थे ।।५३०।।

उद्भासित दिनकर-किरणों से सरसिज-संकुल जल था, प्रियतम!
थी तथा तड़िल्लहरी-जैसी आभा भी फैल रही, प्रियतम!
बाला एवं सहचरियों के अवगाहन की क्रीड़ा, प्रियतम!
निर्बाध-चल रही थी, तरु थे झंकृत कङ्कण-रव से, प्रियतम ॥५३१॥

कमलोंसे भरा हुआ जल दिनकरकी किरणोंसे उद्भासित हो रहा था। साथ ही तड़िल्लहरी जैसी आभा भी वहाँ फैली हुई थी। यहीं राधाकिशोरी एवं उनकी सहचरियोंकी स्वच्छन्द क्रीडा निर्बाध रूपसे चल रही थी। तटकी वृक्षावली उनके रत्न-कङ्कणोंसे झंकृत हो रही थी।।५३१।।

कटि से ऊपर थे अङ्ग सभी आवरणहीन सबके, प्रियतम!
भीगी अलकों का जाल मात्र रह-रहकर ढक लेता, प्रियतम!
अप्रतिम रूपकी उन्मादी धाराको, भावोंको, प्रियतम!
पौगण्ड-किशोर-सन्धिपर जो जगकर थे झाँक रहे, प्रियतम ॥५३२॥

राधाकिशोरी एवं उनकी सहचरियोंके श्रीअङ्ग कटिसे ऊपर तो आवरणहीन थे। उनके अप्रतिम रूपकी उन्मादी धाराको एवं पौगण्ड तथा कैशोरकी सन्धिपर जगकर झाँकनेवाले भावोंको, उनकी भीगी अलकोंका जाल मात्र रह-रहकर ढक दे रहा था।।५३२।।

उस जलबिहार से अरुण हुए नयनों की सुषमा से, प्रियतम!
टोना-सी शक्ति बिखरती थी मोहित करने वाली, प्रियतम!
त्रिभुवन थिर जङ्गम को; यह भी छोड़ो, अचरज देखो, प्रियतम!
हो गयी रुद्ध गति वहाँ, भला, त्रिभुवन मन-मोहन की, प्रियतम ॥५३३॥

जो हो, उस जल-विहारसे राधाकिशोरी एवं सहचरियोंके अरुणिम नयनोंकी सुषमासे एक अद्भुत सम्मोहिनी शक्ति बिखर रही थी। त्रिभुवनके स्थावर-जङ्गमकी बात तो दूर, आश्चर्यकी बात तो यह है कि वहाँ त्रिभुवन-मन-मोहिनीकी गति भी अचानक उसके प्रभावसे रुद्ध हो गयी भला!।।५३३।।

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

लीला महाशक्तिके चित्तपटलमे विलक्षण सङ्कल्प उद्भासित हो उठता है। अब रङ्गस्थलका पट-परिवर्तन ऐसा होना चाहिये जिससे व्रजेन्द्रनन्दन एव भानुकिशोरीका अनादि अन्तविहीन लीलाविहार 'पूर्वराग' नामक महाभावसे प्रारंभ हो। व्रजक्षेत्रमें तदनुसार ही रङ्गमञ्च समुपस्थित हो जाता है।

महर्षि दुर्वासाके भानुनगर आगमनको पूरा एक वर्ष हो गया है। इसी मध्य भानुनन्दिनीकी मौसेरी बडी बहन कुन्दवल्लीका पाणिग्रहण उपनन्दजीके पुत्र सुबलके साथ सम्पन्न हो जाता है। वह अपने ससुराल – नन्दभवन प्रस्थान कर जाती है। भानुकिशोरी राधा सातवें वर्षकी वयमें प्रवेश कर जाती है।

पञ्चम शतकमे उल्लेख हो ही चुका है कि श्रीराधाकिशोरी अपनी सभी सखियो एव अनुजा मञ्जुश्यामा सहित महर्षि भागुरिके आश्रमसे लौटते समय 'सुन्दरीसरोवर' मे स्नान करने पहुँच जाती है। वे सरोवरमे स्नान कर ही रही होती हैं कि व्रजेन्द्रनन्दन भी अपने सखाओं सहित हँस हँसकर अपनी वंशीध्वनिका प्रभाव दिखाते हुए एवं स्वयं भी इस वंशीध्वनिके रसका पान करते हुए इसी सरोवरके तटपर पहुँच जाते हैं।

यह सुन्दरीसरोवर नामक वही दिव्य सरोवर है, जिसके जलमे महामायाकी शक्ति प्रत्यक्ष भरी है एवं जिसका विस्तृत वर्णन इसी काव्यके तृतीय शतकमें किया जा चुका है।

सदैव ध्यान रहे कि इस अप्राकृत लीलाराज्य व्रजमें प्राकृत ज्वलनशील पिण्ड सूर्यका तो अस्तित्व ही नहीं है। यहॉ तो सदैव चिन्मय सूर्यकी ही चिज्ज्योति दिवसकी उद्भावना कराती है। अत सुन्दरीसरोवरके जलको चिदानन्दमय प्रकाशकी किरणें ही उद्भासित कर रही हैं। 'जल सरसिज सङ्कुल था' – इसका तात्पर्य यही मानना चाहिये कि यद्यपि चिज्ज्योतिका प्रकाश इस सरोवरमें पर्याप्त था, फिर भी इसमे सरस प्रीति-भावोके पद्म विकसित थे। श्रीराधाकिशोरी इस सरोवरमे अपनी सखियोंके सहित स्नान कर रही हैं, अत उनके अङ्गोकी विद्युत्लता-सी भावप्रभा भी इस सरोवरके जलमे सर्वत्र प्रसारित हो रही है। इस सरोवरके चतुर्दिक् छाये कदम्बके वृक्ष भी इन किशोरियोंके कङ्कणोकी झङ्कारसे उत्पन्न 'क्ली' रवसे मन्द-मन्द निनादित हो रहे हैं। यह 'क्ली' नाद ही प्रेमबीज है। जहॉ व्रजेन्द्रनन्दन द्वारा प्रेमबीज मंत्र – 'क्लीं' मुरलीरवसे प्रसारित होकर व्रजाङ्गनाओको अपनी ओर समाकर्षित करता है, वहीं श्रीराधामुख्या गोपाङ्गनाओंके नूपुरो, उनकी कटि किङ्कणियोंकी झङ्कार एवं उनके कङ्कणोंकी ठुमकारसे यही 'क्लीं' बीज स्वय व्रजेन्द्रनन्दनको प्रेमविभोर कर देता है।

यह सदैव ध्यान रखे कि श्रीराधाका तन एवं उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग किसी नारीका मासल कर्मशरीर नहीं है, न ही श्रीराधाके तनमें पौगण्ड एवं कैशोर वयके सधिस्थलमें उठे उभार ही कामोत्पादक मासल पिण्डोंके विकार हैं। श्रीराधारानी मूर्त भगवदानन्दस्वरूपा हैं। इनकी अनुजा मञ्जुश्यामा एव सभी सखियॉ भी श्रीराधाका ही स्वरूप-विस्तार हैं। ये सभी गोपाङ्गनाएँ नित्यसिद्धा, सच्चिदानन्दस्वरूपा, भगवान्‌की स्वरूपाशक्तियॉ है। यहॉ भगवान् श्रीकृष्णके जिस पूर्वरागका वर्णन किया जा रहा है, वह भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका दिव्य प्रेमरमण है। इसमें प्राकृत मानवभावको लाना तो महापाप है। अतः पद-पदपर अप्राकृत चिन्मयताको जागरूक रखकर ही इन लीलाओका आस्वादन परमावश्यक है। इस पूर्वरागरूप महाभावमें स्वरूपानन्दी व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं अपने ही स्वरूपभूत विलक्षण स्वरूपानन्दका विशेष आस्वादन अपनी ही स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्तिके द्वारा करते हैं। वृन्दाकानन चिन्मय प्रेमक्षेत्र है। सुन्दरीसरोवरमे भी प्रेमनीर ही छलछला रहा है। प्रेम-साम्राज्यके इस नित्य पवित्र क्षेत्रमें वेणुवादन द्वारा पहले ही प्रेममयङ्क श्रीकृष्णने प्रत्येक पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गम, पत्र-पत्र, कण-कण और अणु-अणुको प्रेमानन्दसे सिक्त कर दिया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, एवं आकाशतकको व्रजेन्द्रनन्दन मुरलीध्वनि द्वारा अपने प्रेमस्वरूपमे बरबस ही निमग्न कर चुके हैं। श्रीकृष्णके उस

वेणुनिर्गत प्रेमनादामृतसे गौएँ घास चरना भूल गयी हैं। सुरम्य वृन्दावनके विहङ्गोंने वशीध्वनिसे झरनेवाले अनिर्वचनीय प्रेमामृतका पान करनेके लिये अपने श्रवणपात्रोंको उस सुधाधारासे सलग्न कर दिया है। महिषी कालिन्दी भी अपनी ऊर्मि-भुजाओंको फैलाकर अपने परम प्रियतम प्रेमार्णव व्रजेन्द्रनन्दनकी ओर दौड पडी है। इस प्रकार पूर्वरागके अभिनयको प्रारंभ करनेके पूर्व ही व्रजेन्द्रनन्दन समग्र रङ्गमञ्चको इस पवित्रतम मधुररसके वितरण योग्य बना चुके हैं।

अस्तु, इस लीलाके पाठकोंको भी इस लीलाके अवगाहनके पूर्व नरकोकी ओर आकर्षित करनेवाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्धकर आत्माका घोर पतन करानेवाले विषय-विषसे तो स्वयंको दूर कर ही लेना चाहिये। साथ ही साथ अपनी घृणित काम-कालिमासे मधुररसकी पवित्रतम प्रतिमा श्रीराधा एव गोपाङ्गनाओंकी दिव्य आकृतियोंको तो मलिन कदापि नहीं करना चाहिये, अपने कामकलुषित पशुभावसे भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी भी छवि दूषित कदापि नही करनी चाहिये।

श्रीराधारानी एव उनकी कायव्यूहरूपा सभी सखियोके स्नान करते समय कटिसे ऊपरके भाग निरावरित हैं। इस निरावरणका भी तनिक रहस्य समझ लें। श्रीराधारानी कोई प्राकृत नारीशरीर नहीं है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण सगुण साकार नराकृतिमें रहते हुए भी परात्पर परब्रह्मकी प्रतिष्ठा, पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दकन्द विग्रह है, ठीक वैसे ही श्रीराधारानी भी नारी-आकृतिमें मधुरा प्रीतिकी सजीव प्रतिमा है। वे आनन्दाशघनीभूता सच्चिदानन्दविग्रहा हैं, आनन्द-चिन्मयरस प्रतिभाविता ह्लादिनीशक्ति हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जो परात्पर परब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा हैं, भला क्या किसी मलिन प्राकृत मासल नारीदेहके प्रति **'धेहि पदपल्लवमुदारम्'** कह सकते है ? शक्ति एव शक्तिमान्के नित्य मधुर लीलाविलासके बीजवपनके समय शक्तिके निरावरित रूपकी ही आवश्यकता है। आनन्द-चिन्मय -रसामृत-तरङ्गिणी श्रीराधारूपा राकाशशि यदि किसी अन्य आवरणसे युक्त हो तो ह्लादात्माके आह्लाद-सिन्धुमे ज्वारका उदय कैसे संभव होगा ? पट ही तो कपट है। कपटके रहते प्रीतिका उद्भव ही कहॉ सभव है ?

श्रीराधा एव गोपियॉ स्वयं श्रीकृष्णसे पृथक् हैं ही नही, श्रीकृष्णका ही सौन्दर्य-माधुर्य-रस उन्हें उनका ही रसास्वादन करानेके लिये श्रीराधारूपमे अभिव्यक्त है, तो फिर आस्वाद्यको आस्वादकके सम्मुख किसी आवरण, सज्जा एवं वस्त्रावगुंठनकी आवश्यकता ही कहॉं है ?

## जिज्ञासा

**श्रीराधा जब नारी आकृतिमें हैं तो उन्हें नारीधर्मके अनुरूप अवगुंठन या वस्त्र पहनकर ही स्नान करना चाहिये -- क्या इस नारी-मर्यादाकी यहाँ आवश्यकता नहीं है ?**

## समाधान

ध्यान रहे कि यह सुन्दरीसरोवर-स्थल गोपाङ्गनाओंका प्रेमराज्य है। यह न तो वृषभानुपुरकी भानुतलैया है, न ही महर्षि भागुरिका आश्रम अथवा नन्दभवनके पश्चिमी छोरपर बहनेवाली यमुनाका घाट। यह श्रीराधामाधवका निकुञ्ज क्षेत्र है। यहॉं लोककी कल्पना ही नहीं है। यहॉं पूर्वत ही मुरलीवादनने श्रीकृष्णेतर किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं रहने दी है। यहॉं कोई वेद-मर्यादा, पाप-पुण्यका बंधन ही नहीं है। यहॉं बन्धन है तो श्रीकृष्णको राधाका एव राधाको श्रीकृष्णका, इसके अतिरिक्त सब ओर पूर्ण स्वातंत्र्यका साम्राज्य है।

सुन्दरीसरोवरक्षेत्रमे केवल श्रीराधा हैं, और हैं श्रीकृष्ण । वे दोनो एक है और एक होकर ही दो बने हुए परस्पर रसास्वादन करनेके लिये नित्य प्रेमलीला कर रहे है, विहार कर रहे है। श्रीकृष्ण प्रेमबीज-वितरणार्थ वेणुवादन करते हैं, और उसके आकर्षणसे खिंची राधा उन्हें अपने नूपुरोंकी झङ्कारसे प्रमत्त, मुग्ध कर देती हैं, उन्हें अपनी अङ्गछटासे अपनेमें लीन कर लेती हैं। यह उनका अलग साम्राज्य है। यहॉं साधना नहीं है, कोई साध्य नही है, यह सर्वतत्रस्वतंत्र,

मुक्तिको भी मुक्त करनेवाला पूर्ण स्वविलास है। अत. यहाँ नारीत्व एव नारी–पुरुषके धर्मकी शृंखला है ही नहीं। यहाँ तो एकमेव प्रेम ही धर्म, कर्म, मर्म – सबकुछ है।

## जिज्ञासा

**छन्द सं.५३२ की अन्तिम तीन पंक्तियोंका भाव स्पष्ट करें। 'भीगी अलकोंका जाल मात्र रह-रहकर ढक लेता, प्रियतम !' – इस पंक्तिका क्या गूढ़ अर्थ है?**

## समाधान

ध्यान रखें, श्रीराधा व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति हैं, ईसीसे उनका नाम ह्लादिनी राधा है। उनके श्रीकृष्ण भी व्रजके प्रेमराज्यमें परमात्मा नहीं, भगवान् नहीं, ब्रह्म नहीं, ह्लादात्मा श्रीकृष्ण हैं। **'कृष्णके आह्लादे ताते नाम आह्लादिनी'** वे निरन्तर श्रीकृष्णको ही आह्लादित करती रहती हैं अत: वे प्रियतममयी हैं।

उनके केश श्रीकृष्ण हैं, और अपने प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये अपने प्रियतमकी सज्जा ही उनकी केश-सज्जा है। उनकी वेणी श्रीकृष्ण है, और वेणीमे फूल खौंसकर भी वे अपने प्रियतम श्रीकृष्णको ही भावसुमन समर्पण करती हैं। उनका उर श्रीकृष्ण है, एवं श्रीकृष्णप्रेम ही उनके पौगण्ड एवं कैशोरकी संधिपर उभरते बाल उरोज-द्वय हैं। उनके रूपकी उन्मादी धारा श्रीकृष्ण-सुखार्थ हैं, वह उनको सुख देनेको ही प्रवाहित हो रही है। उनकी अलकें भी श्रीकृष्ण हैं, जो राधा-प्रेम-रसमे भीगी हैं एव उनके रूपकी उन्मत्त प्रवाहिणीको ढँकनेका असफल प्रयास कर रही हैं। श्रीराधा स्वयंमें कुछ नहीं है, उनका सबकुछ मात्र प्रियतम और अपने प्रियतमका सुख है। श्रीसुन्दरीसरोवर, जहाँ श्रीराधा एवं सखियाँ स्नान करने आयी हैं, मात्र प्रेमजलसे भरा प्रेम-सरोवर ही है। इसका एक घूँट जल पीने मात्रसे प्रेमोन्माद चढ जाता है और प्रेम-विस्मृतिकी अवस्था हो जाती है। श्रीराधा साधारण प्राकृत प्राणी हैं ही नहीं, जो प्राकृत जलमें अपने प्राकृत देहाङ्गोंको स्वच्छ करे। वह तो प्रियतम प्रेमकी सघन प्रतिमा है और प्रियतम-प्रेम-सरोवरमें ही स्नान करती है। सदैव ध्यान रहे कि यह पूरा काव्य पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा समाधि-अवस्थामें अनुभूत अप्राकृत प्रेमजगत्की तत्सुखीभावमयी लीलाका ग्रन्थ है। अतः यहाँ श्रीराधारानीके मुखचन्द्रपर स्वयं उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ही पूर्ण प्रेमरसमें भीगी अलकें बने बार-बार मँडरा रहे हैं। इस पंक्तिका वस्तुतः यही निहितार्थ मानना चाहिये।

## जिज्ञासा

**छन्द सं.५३३ में अन्तिम पंक्ति – 'होगयी रुद्ध गति वहाँ भला त्रिभुवन-मन-मोहनकी प्रियतम!' का भाव सुस्पष्ट करें।**

## समाधान

यहाँ यही बात भली प्रकार समझनी है कि स्वरूपत. श्रीराधारानी क्या हैं। श्रीराधारानी सच्चिदानन्दघन ब्रजरसनिधि ह्लादात्मा श्रीकृष्णचन्द्रकी ह्लादिनीशक्ति हैं। यद्यपि श्रीराधाका अपने प्रियतम श्यामसुन्दरसे अविनाभाव नित्य अविच्छेद्य ऐक्य सम्बन्ध है, फिर भी श्यामसुन्दरकी रसशक्ति तो श्रीराधा ही हैं। शक्ति यद्यपि शक्तिमान्में ही रहती है, किन्तु शक्तिसे विहीन तो शक्तिमान्की गति निश्चय ही रुद्ध है। श्रीकृष्ण जहॉ साक्षात् अग्नि हैं, वहॉ उनकी तेज एवं दाहिकाशक्ति तो राधा ही हैं। अग्निकी सारी गति तो दाहिकाशक्तिको लेकर ही है। दाहिकाशक्तिका यद्यपि अग्निसे प्रतिस्पर्द्धी स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है, फिर भी अग्निमें जो कुछ भी विशेष है, वह तो उसकी दाहिकाशक्ति ही है। जहाँ श्रीकृष्ण स्वमन-मोहन हैं, वहॉ श्रीराधा स्वमन-मोहन-मनोमोहिनी हैं। श्रीकृष्ण त्रिभुवनमोहन हैं, वहॉ श्रीराधा त्रिभुवन-मोहनाकर्षिणी हैं। श्रीकृष्ण निश्चय ही सर्वाकर्षक हैं, किन्तु श्रीराधा सर्वाकर्षक कृष्णाकर्षिणी हैं। श्रीकृष्ण मन्मथ-मन्मथ हैं, किन्तु श्रीराधा मन्मथ-मन्मथ-मानस-मन्थिनी हैं। वे मदनमोहन-मनविमोहिनी हैं। श्रीकृष्णचन्द पूर्णचन्द्र

हैं तो श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रके पूर्णतम विकासकी आधारमूर्ति हैं। वे अपने विचित्र विभिन्न भावतरङ्ग-रूप अनन्त सुख-समुद्रमें श्रीकृष्णको नित्य निमग्न रखनेवाली महाशक्ति हैं। श्रीकृष्ण निश्चय ही अनन्त सौन्दर्यनिधि, गुणनिधि हैं, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि वे राधा-रूप, राधा-नयनकटाक्ष, राधा-गुण-स्मृतिमात्रसे ही विह्वल, मुग्ध एवं गद्गदकण्ठ हो जाते हैं।

यहाँ पुनः यह बात सुस्पष्ट कर दूँ कि श्रीसुन्दरी-सरोवरका जल प्राकृत जल नहीं है, यह तो मूर्तिमान् प्रेमरस है। इस विशुद्ध प्रेमरसमें विहार करती श्रीराधाके लोचनोंमे भगवती कामेश्वरीकी सर्वमोहन-मोहिनी सुषमा-सामर्थ्य भर गयी है। इसीलिये उनके लोचनोंकी सुषमासे जादू-जैसी शक्ति सर्वत्र विकीर्ण हो रही है। यह शोभा त्रिभुवनके चर-अचर को ही नहीं, त्रिभुवन-मन-मोहनको भी आश्चर्यजनक रूपसे मोहित कर रही है। ।।५३३।।

*सचमुच था विश्वविमोहन वह सुन्दर साँवर छोरा, प्रियतम !*
*गायों को लिये अहो ! जैसे पहुँचा, ज्यों दृष्टि पड़ी, प्रियतम !*
*उन आर्द्र कुन्तलों से मण्डित आनन पर बाला के, प्रियतम !*
*वंशी चुप हुई, हुईं अपलक वे नित्य चपल आँखें, प्रियतम ॥५३४॥*

**नीलसुन्दर सचमुच विश्वविमोहन थे। किन्तु संयोगकी बात, गायोंको लिये हुए जब वे आज उस सरोवरपर पहुँचे और उनकी दृष्टि राधाकिशोरी एवं उनकी सहचरियोंके आर्द्र कुन्तलोंसे मण्डित मुखपर पड़ी, बस, उसी क्षण वंशीमें स्वर भरनेकी क्रिया विरमित हो गयी। उनकी वे चञ्चल ऑखें अचानक अपलक हो गयीं। अस्तु,।।५३४।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यह सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण अनिर्वचनीय अचिन्त्य अनन्त-रसैश्वर्य-सौन्दर्य-माधुर्य-परिपूर्ण हैं, वे अनन्त दिव्य रससुधासार समुद्र हैं, किन्तु विलक्षण संयोग तब घटित होता है जब वे महाभावस्वरूपा श्रीराधाके अप्रतिम माधुर्यके प्रभाव-क्षेत्रमें आ जाते हैं, और उनकी दृष्टि श्रीराधाकिशोरी एव उनकी सहचरियोके आर्द्र कुन्तलोसे मण्डित मुखपर टिक जाती है। जैसे पुष्पमें मधुका सञ्चार मधुप्रेमी मधुकरके लिये ही होता है, ठीक वैसे ही श्रीराधा एवं गोपाङ्गनाओंके आनन-सरोजमें जो प्रेम-मधु है, उसपर तो उनके प्रियतम श्रीकृष्ण-मधुकरका ही पूर्ण अधिकार है।

ओह ! श्रीराधाका आनन-सौन्दर्य कितना विलक्षण है। परम मधुर, परम विशद, समुज्ज्वल प्रेम-सुधा-धारा जिस मूल-स्रोतसे प्रवाहित होती है, और जिस प्रेम-सुधा-धाराका प्रत्येक सुधाकण नित्य प्रवाही प्रेमसुधाका रसार्णव होता है, उस प्रेमका अनन्त अगाध उदधि है – श्रीराधाका आनन-चन्द्र। उस आनन-चन्द्रपर दृष्टि पडते ही श्रीकृष्णका तो सबकुछ ही समर्पित हो जाता है। आत्मसमर्पणकी पूर्णता होते ही ब्रजेन्द्रनन्दन परम अनुरागके मधुर सागरमें गोते लगाने लगते हैं। ओह ! राधा-आननके एक-एक अणुसे, एक-एक रोमसे ऐसी प्रेम-सुधा-धारा प्रवाहित होती है, कि उसकी एक बूँदके आस्वादनकी भी शक्ति प्रियतम श्रीकृष्णके नेत्रोमें नहीं बच रहती। कितनी मधुर, कितनी सुन्दर है उनकी यह उत्कण्ठा !

विप्रलंभका स्वभाव ही होता है – भीतर पाना और बाहर खो देना। इसीलिये प्रियतम श्रीकृष्णकी परम चञ्चल ऑखें श्रीराधामुखका दर्शन करते ही अपलक – अचञ्चल हो उठती हैं। प्रिया श्रीराधाका प्रेम जिसके अन्तरमें प्रकट होता है, वही जानता है कि उसका मधुर, किन्तु साथ ही वक्र विक्रम क्या रङ्ग लाता है। अभी तक तो ब्रजेन्द्रनन्दन अपने सखाओंको अपना वंशी-समाकर्षण-वैभव दिखा-दिखाकर अहङ्कारके गर्वमें फूल रहे थे। उनका गर्व राधा-नयन-कटाक्षमाला चूर-चूर कर देती है। वंशी मौन हो जाती है। हृदयमे जब प्रेमकी आनन्दधारा बहने लगती है तो वंशीके 'क्लीं' – कामबीजका सरस पक्व फल तो प्राप्त हो ही जाता है, अब वशीका प्रयोजन ही नहीं रहता। नदीके

कूलको प्राप्त करनेके लिये ही नौका आवश्यक होती है। जब कूल ही मिल गया तो फिर नौका निरर्थक हो जाती है। वंशी माधुर्यजनित अमृतवर्षा ही तो करती थी, जब वशीवादक ही स्वयं राधा-मुखरूपी माधुर्यसिन्धुमे समाहित हो गये तो वशीका अहङ्कार भी चूर-चूर हो जाता है। प्रियाननका सौन्दर्य-माधुर्य सर्वजयी है। हरे बॉसकी बॉसुरी तो श्रीकृष्णके अधरामृतसे सनकर मधुर रसके बीज वपन करती है किन्तु श्रीराधा तो समग्र मधुर रसकी मूल आश्रय-मूर्ति है। जहॉ प्रेमकी पराकाष्ठारूप आदित्यका उदय हो जाय, वहॉ जुगनूके समान मुरली भला कैसे चमकेगी ? जहॉ जलनिधि हो वहॉ ओसकणकी बिसात ही क्या ? साधनसिद्धा गोपियोमे प्रेमबीज-वितरणार्थ ही मुरलीका जादू चलता है। श्रीराधा कोई साधनसिद्धा गोपी थोडे ही है, वे तो नित्यधाम गोलोककी अधीश्वरी, प्रियतम-समाकर्षिणी, श्रीकृष्ण-प्राणेश्वरी हैं। स्वयं श्रीकृष्ण ही जिसके नेत्रोंका अञ्जन बननेको, अपना सर्वात्म-समर्पण करके जिस सत्ताके आराधक होनेम अपना सौभाग्य-साफल्य समझ रहे हों, वहॉं बिचारी हरित बॉसकी बॉसुरीकी बिसात ही कहॉ है जो बोले ! बस! मुरली अपने स्वस्थान - नन्दनन्दनकी कटिफेंटमें बॉध दी जाती है।।५३४।।

*दो रसमय हृदयों के जब है आता क्षण जुड़ने का प्रियतम।*
*उसका संयोग कहॉं कैसे लगता है, क्या जाने, प्रियतम।*
*वे सरल दुधमुँहे-से शिशु, जो सहचर थे साँवर के, प्रियतम!*
*अतस्वसखाकी चादरको कर्षित कर वे बोले, प्रियतम।।५३५।।*

**जब दो रसमय हृदयोंके परस्पर जुडनेका समय आता है, तब उसका संयोग कहाँ, कैसे लगता है – यह बात वे सॉवरके सहचर-दुधमुँहे सरल शिशु क्या जानें ? इसीलिये वे अपने प्राणसखा नीलसुन्दरकी चादरको कर्षित करके तत्क्षण बोल उठे –।।५३५।।**

*भैया! क्या है तूँ देख रहा, तेरे श्रीभैया की; प्रियतम*
*बहिनें एवं उनकी सखियाँ हैं नहा रही सुखसे; प्रियतम!*
*चल, चल, विलम्ब मतकर, आगे क्रीड़ा करनी हो तो, प्रियतम।*
*या यहीं नहानेकी रुचि हो तेरी भी तो कह दे; प्रियतम।।५३६।।*

**अरे भैया ! तू क्या देख रहा है ? मुझसे सुन ले। तेरे श्रीभैयाकी बहिनें और उनकी सहचरियाँ सुखसे स्नान कर रही हैं, इतनी-सी तो बात है। देख, अब जल्दी चल; बिल्कुल विलम्ब मत कर यदि तुझे आगे क्रीड़ा करनी हो तो। अन्यथा यदि तेरी भी यहीं नहानेकी रुचि हो, तो हम सबको स्पष्ट बतला दे।'।।५३६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यही दशा नन्दनन्दनके अनुगामी सरल सखाओकी भी होती है। यहॉं दुधमुँहेका अर्थ यह नहीं मानना चाहिये कि वे वयमें अत्यन्त लघु – मात्र दूध पीनेवाले शिशु ही है। दुधमुँहा उसे कहा जाता है जिस शिशुका अन्नप्राशन-संस्कार नहीं हुआ है, और जो मात्र माताके स्तन्य दूधपर ही अवलम्बित हो। ये सभी सखा इस अर्थमे दुधमुँहे नहीं हैं।

यहॉं पू.गुरुदेवने सखाओके लिये 'दुधमुँहा' शब्द इस अर्थमें प्रयोग किया है कि वे सभी सखा स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रेमाकर्षणके क्षेत्रमें सर्वथा अबोध हैं। जिस कालकी यह लीला है, उस समय नन्दनन्दनकी वय मात्र सात वर्ष, एक माह, सोलह दिवसकी थी। श्रीकृष्णके सखाओका मात्र एक वर्ग जिसमें सुबल-श्रीदाम एव मधुमङ्गल आदि मुख्य थे, नन्दनन्दनसे वयमें दो वर्षसे अधिकके सखाओंका था। सखाओका यह एक वर्ग ही नौ वर्षकी वयको पार कर चुका था। श्रीकृष्णके साथ आये अधिकाश बालकोंका मन इतना अबोध था कि उन्हे प्रेमजन्य आकर्षणका ज्ञान ही नहीं था।

इन सखाओंकी तो मात्र माखन, दही, दूध, मिष्ठान्न खाने, नाचने–गाने, उछल-कूदकी चपल क्रीडाओंमें ही रुचि थी। ये अपने प्राणसखाको सर्वाधिक प्यार अवश्य करते थे। इनका स्वप्नमें-जागरणमें क्षणभरके लिये भी अपने सखासे वियोग नहीं होता था। इनकी निद्रा भी श्रीकृष्णकी प्रगाढ स्मृतिजन्य तल्लीनतारूप ही होती थी। ये अपने सखा श्रीकृष्णके वियोगमें पलभर भी जीवित नहीं रह सकते थे। इन्हे गोपाङ्गनाओं – गोपबालाओंमें इतनी ही रुचि थी कि उन्हें मुख बनाकर चिढ़ाया जाय, उनकी हास्यास्पद अनुकृति की जाय, उनकी जलभरी गगरी ढुलका दी जाय, उनके गृहोंमें माखन चुराकर उनके दधिभाण्ड, नवनीतभाण्ड फोड दिये जावे ओर वानरोकी-सी चञ्चल क्रीड़ाएँ की जावे। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाओंमें अन्य प्रकारका कोई प्रेमजन्य समर्पणात्मक आकर्षण भी होता है, इससे ये – दुधमुँहा बालक जैसे अन्य स्वादसे अपरिचित ही रहता है – पूरे अबोध थे।

अतः जब इन सखाओंने देखा कि उनका प्राणप्रिय सखा कन्नू अपलक स्नान करती समवयस्का कन्याओंकी ओर एकटक निहार रहा है, उसने बॉसुरीवादन भी स्थगित कर दिया है, बालसुलभ चञ्चलताके स्थानपर एक विलक्षण गंभीरता उसके वदन एवं आननमें परिलक्षित हो रही है, तो इनमेंसे एक स्तोककृष्ण नामक सखा तुरन्त ही अपने अग्रज एवं उसे सर्वाधिक प्रेम करनेवाले श्रीकृष्णका पीताम्बर खींचता हुआ बोल उठता है – " अरे भैया ! तू क्या देख रहा है ? ये तो हमारे श्रीभैयाकी दोनों बहनें एवं उनकी सखियाँ है, जो सहज सुखपूर्वक स्नान कर रही हैं। चल, चल, विलम्ब मत कर, अपनेको तो अभी अनेक खेल खेलने हैं। हाँ, यदि तेरी भी इस सरोवरमें इनकी ही भाँति स्नान करनेकी रुचि हो तो स्पष्ट कह दे, ताकि यहाँ जल-स्नानका कौतुक ही हो।"

अपने परम प्रिय सखाकी बातका आज प्रथम बार श्रीकृष्ण कुछ भी उत्तर नहीं देते हैं। वह अबोध सखा, बिचारा क्या जाने कि उसके सखा लीलासिन्धु कन्नूकी अनादि अनन्त लीलाएँ है। वह रसराज है। केवल सख्यरस-अवगाहन ही उसकी सीमा नहीं है। क्षणमें ही जहाँ वह वात्सल्य -रस-सिन्धुका विषय बन जाता है, तो दूसरे ही क्षण उसमें अनन्त माधुर्यका स्फोट भी हो उठता है। जहाँ पहले क्षण वह शिशुकी मुग्धताको वरण किये है, तो दूसरे ही क्षण उसे शिशुसे पौगण्ड एवं पौगण्डसे कैशोरजन्य भावोंको ग्रहण करते किसी विशेष कालमानकी अपेक्षा नहीं होती। उसके वय-परिवर्तनकी, रस-परिवर्त्तनकी 'अथ-इति' निर्देश कर देना कि यहाँ तो वात्सल्यरसका प्रारम्भ है, और यहाँ वात्सल्यकी परिसमाप्ति होकर पौगण्डजन्य सख्यरसका प्रादुर्भाव हुआ, और यहाँ पौगण्डका अन्त होकर कैशोरजन्य मधुरभावका प्रकाश हुआ – इस प्रकार इत्थंभूत निर्धारणा कर देना आजतक किसीके लिये संभव नहीं हुआ है।

लीला-निर्वाहके लिये एक अभिनव प्रतीयमान काल-नियंत्रण है अवश्य, पर वह सब-का-सब सर्वथा सच्चिदानन्दमय है, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य है। ब्रजेन्द्रनन्दनकी लीलामहाशक्ति कहाँसे, किस लीलास्रोतको मोड देती है, अन्तर्हित कर देती है, एवं पुनः उसे उद्‌बुद्धकर प्रसरित कर देती है – इसे तो कोई उनकी कृपाशक्तिसे अनुप्राणित हुआ प्राणी ही किसी अंशमें भले ही जान सके, किन्तु उसका आरंभ कब होगा, कब हुआ एवं इसके अवसानकी सीमा कहाँ होगी, इसे निर्धारित कर लेना तो उसके लिये भी असंभव ही है।

अतः इन शिशुमनके सखाओके लिये यह संभव ही नहीं है कि दो रसमय हृदयोंके परस्पर जुड़कर एक होनेका क्षण, सचमुच अभी ही आ गया है, और यह संयोजन उनके सम्मुख मात्र एक दृष्टि-मिलनमें ही संघटित हो चुका है, इसे जान पावें। ।।५३५–५३६।।

सॉंवर ने उत्तर नहीं दिया, ली दृष्टि हटा उसने, प्रियतम !
अविलम्ब उस तरफ से फिर नट चुपचाप चल पडा भी, प्रियतम !

*प्रतिदिन के निर्धारित पथसे पूरब की ओर नका प्रियतम।*
*उल्लास नित्य रहता, उसकी छाया तक पर न रही, प्रियतम।५३७।।*

**नीलसुन्दरने शिशुओंको कुछ भी उत्तर नहीं दिया; उन्होंने तुरंत अपनी दृष्टि उधरसे हटा ली। इतना ही नहीं, वे आगे भी चुपचाप चल पड़े। प्रतिदिनके निर्धारित पथसे वे पूर्वकी ओर अग्रसर हुए। किन्तु जो उल्लास उनके मुख-सरोजपर प्रतिदिन रहता था, उसकी छाया तक भी आज न थी।।५३७।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

स्तोककृष्णके प्रश्नका उत्तर उसका सखा कन्नू नहीं ही देता है। हॉ, यह अवश्य होता है कि कन्नू राधाकिशोरीसे चार होती हुई अपनी नजरें संवरण कर लेता है। सरोवरके तटसे वह चुपचाप प्रति दिवसकी तरह ही अपने निर्धारित पथसे पूरबकी ओर गौओंके लिये चल भी पडता है। अब अन्तर यही है कि उसके चरण तो वनमें पथ-सञ्चरण कर रहे होते हैं, किन्तु उसका मन सुन्दरीसरोवरमें स्नान करती बाला भानुनन्दिनीके पास ही अपहृत हुआ, बन्धक हो जाता है। उस रूपोदधिमें डूबा कन्नूका मन विचारने लगता है –

'ओह ! ऐसे विश्वविमोहन सौन्दर्यके दर्शन तो मुझे आज ही हुए हैं। यद्यपि मैं सरोवरसे अतिशय दूर चला आया हूँ, वे बालाएँ भी मेरे दृष्टिपथसे हट गयी हैं, किन्तु मेरे प्राण तो अभी भी उस त्रैलोक्य–मनोरम आनन–सरोरुहपर भ्रमरकी तरह मॅडरा रहे हैं। अब भी मेरे चित्तमे राधाकी एक-एक भङ्गिमासे सौन्दर्यके, माधुर्यके, लावण्यके, सरलताके निर्झर स्फुटित हो रहे हैं। उसकी आकृति कैसी नयन-सुखद है। विद्युल्लता कहूँ, अथवा ज्योतिर्मान् कुन्दनकी द्युति भरी है उसकी अङ्गकान्तिमें ? सम्पूर्ण ह्रद ही उस विद्युत्-द्युतिसे उद्भासित हो रहा था। अहा ! उसके दर्शनसे मेरे रोम-रोममे अबतक सुधाका प्रसरण है। मेरे नयन-पथसे प्रवेशकर क्या वह मेरे प्राणोमे समा गयी है ? उसके पीताभ अङ्गोंसे प्रवाहित आनन्दसे मेरा रोम-रोम अबतक क्यों पूरित हो रहा है ? उसके कटिदेशमे नीला लहँगा परिशोभित था। ओह ! वक्षोजोके रूपमे दो अविकसित पद्मकोरक अबतक नयनोंको किस प्रकार आकर्षित कर रहे हैं ? स्वर्णाभ रोमराजिसे भरा कटिसे ऊपरका निर्वस्त्र अङ्गभाग, मृदु हास्य-समन्वित आनन-सरोज अभी भी मेरी स्मृतिमें छाये हैं। वे सुन्दरताकी समस्त सीमाएँ छिन्न-भिन्न कर रहे हैं।'

लीलाशक्तिकी अचिन्त्य प्रेरणासे ब्रजेन्द्रनन्दनके हृत्तलमें पूर्वराग-महाभावकी एक विद्युच्छटा-सी जग उठती है, और वह परमाह्लादमयी ज्योति राधा-मुख-सरोजकी आकृतिमें मिलकर उनके हृदयको चिर प्रीति-प्रकाशसे सराबोर कर देती है। राधा-आनन उनके हृदयमें अपना अखण्ड चिरस्थायी आवास बना लेता है।

अपने सखा कन्नूमें उसके सखा प्रतिदिवस ही जो सख्यरसकी चञ्चलता, चपल बाल्योचित क्रीडा-कौतुकका उल्लास नित नवीन वेगसे उमडता पाते थे, वे भला आज कहॉसे पावें ?

सीमित रसावगाहनमें लहराते इन बिचारे सख्य रस–रसिक सखाओको क्या पता कि उनके सखा कन्नूके रोम-रोममें श्रीदाम भैयाकी बहिनके श्रीअङ्गोका सौन्दर्य, उसका नित्य नव-नवायमान लावण्य, उसके प्रेमकी मधुरिमा लबालब आपूरित हो गयी है। वह आपूरित ही नहीं हुई है, अपितु क्षण-क्षणमें बढकर कोटिगुणित होती जा रही है। कन्नू वस्तुतः उदास नहीं है। वह भानुकन्याके अपरिसीम प्रेमानन्द-तरङ्गोमें लहरा रहा है, अत: अन्य छीलर रस उसे सुहा नहीं रहे हैं। यह तो नियम ही है कि जब किसीका भी मन अनन्त पारावाररहित प्रेमसिन्धुकी ऊर्मियोंमें प्रवाहित हो उठेगा, उसमें बहिःरससे उपरति तो होगी ही। बहिःरसके उल्लासकी छायातक ब्रजेन्द्रनन्दनमें नहीं होना इसी हेतुसे है।।।५३७।।

*शिशुओंने किया प्रयास अथक, जिससे हँस पड़े सखा, प्रियतम!*
*कृत्रिम मुसकान कभी क्षण भर होठोंपर, पर आती, प्रियतम!*
*कोई कौतुक न हुआ अतुलित, लग सकी न होड़ तथा, प्रियतम!*
*उनमें वह वेणु बजाने की या श्रृङ्ग फूंकने की, प्रियतम ॥५३८॥*

**शिशुओंने अथक प्रयास किया, जिससे नीलसुन्दर हँस पड़ें। पर उनके सभी परिश्रमका मात्र इतना ही फल हुआ कि कृत्रिम मुस्कान साँवरके होठोंपर कभी क्षणभरके लिये नाच उठती। बस, इसके अतिरिक्त उल्लासका कोई भी चिह्न उनमें न दीखता। आज कोई भी अतुलित कौतुक नहीं हुआ। न परस्परमें कोई होड़ लग सकी उनके। वेणु बजानेकी अथवा शृङ्ग फूँकनेकी प्रतिस्पर्द्धा करनेका खेल भी आज सर्वथा न हो सका.........।।५३८।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

शिशु सखा अथक प्रयास कर रहे हैं कि उनका कन्नू भैया मुसका उठे। उनकी चञ्चल बन्दर-कुदान-क्रीड़ा में वह भी सम्मिलित हो, चञ्चल बन्दरोंकी अनुकृति करता हुआ उनसे स्पर्द्धा करे, मेंढ़कोंकी तरह उछले, मयूरोंके समान नृत्य करे, राजहंसोके समान उड़नेके लिये अपने हाथोंको पंखोंकी आकृतिका स्वरूप दे। वह बंशी बजावे और वे सींगा फूँकें; परन्तु उसका मन कहीं अन्यत्र है। अपने सखाओकी उदासी दूर करनेके लिये वह क्षणार्धके लिये अपने मनको हँसनेमें, चञ्चल होनेमें लगानेकी चेष्टा अवश्य करता है, किन्तु तत्क्षण ही उसका मन उसके हाथसे निकलकर सुन्दरी सरोवरके मध्य स्नान करती मुसकाती राधाके पास चला जाता है। वह मन-ही-मन मनुहार कर बैठता है – " नहीं, नहीं किशोरी, तेरे इतने मृदुल चरण इस कठोर धरापर रखने योग्य नहीं हैं। इनको रखनेका उपयुक्त स्थान तो मेरा हृदय है। प्रिये ! कब वह अनिर्वचनीय सौभाग्य प्राप्त होगा, जब तेरे सुकोमल चरणोंको मैं अपनी सुकोमलतम हथेलियोंमें रखकर अपने नयनोंसे सहलाऊँगा, अपने भालसे संस्पर्श कराऊँगा ? "

ओह ! बिचारे भोले गोपशिशु क्या जानें कि उनके कन्नूके हृदयमें कैसी मुग्ध एवं कितनी तीव्र उत्कण्ठा जग उठी है। कन्नूका हृदय प्रेम-दीपककी लौ बना जल रहा है। यह लौ ऐसी उज्ज्वल मञ्जुल ज्योति बिखेर रही है, जिसके निर्मल आलोकमें वह अपनी प्राणप्रियाको अपने हृदय-सिंहासनमें विराजित किये ललाटसे चरणपर्यन्त भ्रमरकी तरह मँडरा-मँडराकर निहार रहा है। निहारते-निहारते ही उसे भय होने लगता है कि कहीं उसकी नजर उसकी प्रियाको नहीं लग जावे। और तब वह अपने ही अङ्गोंकी श्यामलताको लेकर अपनी प्रियाके कपोलोपर श्याम मसिबिन्दु बनाने लगता है। ओह ! कृष्णप्रियाके कपोलोंपर राजित मसिबिन्दुकी शोभा निहारनेपर तो ब्रजेन्द्रनन्दनका रोम-रोम ही न्यौछावर हो उठता है, मानो सचमुच ही वात्सल्य एवं सख्यरसकी पकडसे छूटकर मत्त मिलिन्द हुआ ब्रजेन्द्रनन्दनका मन अर्ध-विकसित सहस्रदल स्वर्णकमलपर जा बैठा हो और पूर्वकी अपेक्षा अधिक मधुरतम परागका आस्वाद पाकर तत्क्षण वहीं अचेत हुआ उसीसे चिपक गया हो ।।५३८।।

*आने पर छाक उसे लेकर साँवर अवश्य बैठा, प्रियतम!*
*भोजन-रस लेने वालों का मण्डल भी वही बना, प्रियतम!*
*केवल दो ग्रास लिये पर जब उस दिन साँवरने ही, प्रियतम!*
*खाते कैसे शिशु वे, सब कुछ सामग्री पड़ी रही, प्रियतम ॥५३९॥*

**मध्याह्न होनेपर यशोदा मैयाकी भेजी हुई छाक आ गयी; उसे लेकर साँवर बैठ अवश्य गये, भोजन रसका आस्वादन करनेवाले शिशु सखाओंका मण्डल भी प्रतिदिनकी भाँति ही बना; किन्तु उस दिन साँवरने केवल दो**

**ग्रास अपने मुखमें रख लिये, इसीलिये शिशु सखा भी कुछ भी न खा सके। साँवरने नहीं खाया तो वे कैसे खा लें ? सम्पूर्ण सामग्री ज्यों-की-त्यों पड़ी रही..........।।५३९।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

यह सत्य है कि क्षीरसिन्धुके मन्थनसे सुधा निकली थी। अमरवृन्द सुधाका पानकर तृप्त भी हुए थे, किन्तु उस सुधामें वह अनुपम स्वाद सर्वथा ही नहीं था, जो जननी यशोदा द्वारा अपने पुत्र ब्रजेन्द्रनन्दनको भेजी छाक (वनभोजन)में है। इसीलिये जबसे यशोदानन्दन पहले वत्सपालक और फिर गोपालक बने हैं, उन्हें इस छाकसे 'अलम्'का भान कभी नहीं हुआ है, प्रत्युत उनकी यह छाक-भोजनकी अभिलाषा प्रतिदिन नव-नव वेगसे बढती ही गयी है। जब उन्हें स्वयको ही यह छाक अतिशय सुस्वादु लगती है, तो वे अपने सखाओंको भी इसे खूब मनुहार कर-करके खिलावें – यह तो प्रतिदिनकी स्वाभाविक प्रक्रिया हो ही गयी है।

प्रतिदिनकी तरह ही आज भी श्रीकृष्णचन्द्रको वेष्टितकर गोपशिशुओंने आसन ग्रहण किया है। पहले सुबल, मधुमङ्गल, श्रीदाम आदि वयस्क सखाओंकी पंक्ति है, इसके पश्चात् अपेक्षाकृत बृहत् पंक्तियॉ बनी हैं। पहलीको आवृत किये दूसरी, फिर दूसरी पंक्तिको आवृत किये, उससे भी बृहत् तीसरी पंक्ति बनी है। इसी प्रकार चौथी, पॉचवीं तथा अगली असंख्य पंक्तियॉ बनी हैं। गोपबालकोने असंख्य पंक्तियोमे छाक-भोजनका आयोजन किया है। प्रत्येक सखाकी यह अभ्रान्त अनुभूति है कि मेरा कन्हैया सर्वथा मेरे पार्श्वमें ही मेरी ओर दृष्टि किये आसीन है। उसके नेत्रोंसे स्नेहकी अजस्र धारा बह रही है। उत्फुल्ल नेत्र किये असंख्य गोपशिशु अपने कोटि-प्राण-प्रतिम सखाको निहार रहे हैं। वह पहले मुख-ग्रास उठा ले तो पश्चात् वे सभी सखागण भी कुछ भोजन करें। सबने छाककी अपनी-अपनी सर्वोत्तम वस्तुएँ कनूके सम्मुख रख दी हैं। किन्तु न जाने क्यो आज नियममे व्यतिक्रम घटित हो रहा है। प्रत्येक दिवस तो कन्हैया हॅसते हुए सभीके मुखोंमे स्वय कौर देता है। आज तो वह गुमसुम बना मन-ही-मन कुछ बुदबुदाता चुपचाप बैठा है; न खाता है, न खिलाता है। उसकी मुख-भङ्गिमा अतिशय शान्त है। प्रतिदिनकी तरह वह नेत्रोंसे, होठोंकी सञ्चालन-क्रियासे कौनसा मिष्ठान्न बहुत सुस्वादु लगा और कौनसा अच्छा नहीं लगा – कुछ भी सङ्केत नहीं कर रहा है। जो उसे रुचिकर लगती है, उन वस्तुओंको सखाओंके मुखमें रख देनेकी जोर-जबर्दस्तीकी क्रिया भी आज वह नहीं कर रहा है। प्रतिदिवस तो वह एक-से-एक सुन्दर कौशलपूर्ण विनोद करता है – कभी मोदकमें निम्बचूर्ण मिलाकर मधुमङ्गलके मुखमे ठूँस देता है, कभी उसकी खीरमे कन्दके स्थानपर नमक मिला देता है, किन्तु आज तो वह मात्र दो कौर खाकर ही पत्तलसे खडा हो गया है। केवल एक मुसकानकी रेखा उसके मुखपर अवश्य आयी है, जब उसने सभी सखाओको भरपेट खानेका आग्रहकर, अपना आसन त्यागकर एकान्तमे पीत झिण्टीके पुष्पोंके कुञ्जमें शयन करनेकी रुचि जतलायी है। सभी सखा हतप्रभ हैं। जब उनका प्राणसखा ही भरी पत्तल छोडकर बुभुक्षित ही उठ गया, तो भला, वे रुचिसे कैसे भोजन करें।

आज तो उनके कनूके महामरकत-श्यामल अङ्गोकी भङ्गिमा ही सभी सखाओंके प्रति, प्रतिदिन होनेवाले असाधारण परिहास-वाक्योके प्रति, भोजन-द्रव्योके प्रति, सुन्दरातिसुन्दर बालकेलिके प्रति, अरुचिमूलक हो रही है। अतः सभी सामग्री ज्यों-की-त्यों पडी रहती है – कोई भी उसे उदरस्थ नहीं कर पाता है। ।।५३९।।

*कोमल तृणराशि हरित पर थीं गायें सब चून रहीं, प्रियतम!*
*अपने चालक-दल से चालित, उन भिन्न दिशाओं में, प्रियतम!*
*अपराह्नकाल तक कानन में गिरिवर के परिसर के, प्रियतम!*
*वे भी पर सत्य पेट भरकर चर सकीं न आज भला, प्रियतम।।५४०।।*

**हरी-हरी कोमल तृण राशिपर गायें सब ओर घूम रही थीं। अपने चालक दलसे चालित होकर गायोंकी भिन्न-भिन्न दिशाओंमें गति भी होती रहती। अपराह कालतक गिरिवरके परिसरमें, परिसरके काननमें वे गायें घूमती रहीं, पर अचरजकी बात है कि वे चतुष्पद भी आज पेट भरकर चर न सके। ।।५४०।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

वनमें नवीन तृणाङ्कुरोंका भला कहीं अभाव थोडे ही है। अदूरवर्त्ती तृण-श्यामल भूभागपर राशि-राशि गौएँ एवं गोवत्स स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। सदैवकी भॉति आज भी अपने कृष्ण-कन्हैयापर उन सबकी दृष्टि केन्द्रित है। उनका प्राणधन कृष्ण पुलिन-भोजनका रस ले रहा हो, एव उसका उद्दाम कौतुक चल रहा हो तो उसे देख-देखकर गौएँ भी हरित तृणोंका स्वाद ले-लेकर अपना उदर भर लेती है। वे वनमें, तृणसङ्कुल भूमिमे कहीं भी विचरें, परन्तु उनकी दृष्टि सदैव अपने गोपालको निहारती रहती है। उन्हे तृणाङ्कुरोकी लालसा रहती है अवश्य, परन्तु वह लालसा तभीतक अभिवृद्ध होती है, और सन्तुष्टि भी उन्हे तभी होती है, जब उनकी अनुभूतिमे उनका गोपाल उन्हे उनकी गर्दनमे झूलता दिखता है, एवं कोमल-कोमल तृणराशि अपने हाथो उन्हे खिलाता है।

प्राणोंसे सयुक्त रहनेपर ही इन्द्रियोंमे विषयग्रहणकी सामर्थ्य रहती है। प्राणशून्य इन्द्रियोमें कभी किसी रसकी अनुभूति होती है क्या ? गौओंके, गोवत्सोंके प्राण तो जुडे हैं अपने पालक – गोपालसे । फिर आज गोपाल उदास है, वह अपनी पत्तल मात्र स्पर्श करके ही बिना खाये-पिये पीत झिण्टीकुञ्जमे एकान्तमे अनमना, उदासीन होकर चला गया है, और गौएँ-गोवत्स तृणचारी बने रहें, यह तो असंभव ही है। अत. गाये, गोवत्स चालकदलसे चालित होकर भी अपराह कालतक काननमें गिरिके परिसरमे भ्रमण करती हुई कन्हैयाको निहारती रही है। उनके नेत्र अश्रुवर्षा करते रहते हैं, तथा पेटभरकर आज तृणचारण नहीं ही करते हैं।।५४०।।

*साँवर की अकस्मात् ऐसी अत्यन्त उदासी के, प्रियतम !*
*कारण का मित्रमण्डली वह अनुमान लगाती थी, प्रियतम !*
*कोई सोचता कहीं क्या तो मुझसे ही भूल हुई, प्रियतम !*
*या और किसी शिशुसे चिढ़कर हो रहा खिन्न यह है, प्रियतम ।।५४१।।*

**अकस्मात् साँवरकी ऐसी अत्यन्त गम्भीर उदासीके कारणका मित्रमण्डली अनुमान लगाने लगी। कोई सोचने लगता, क्या कोई मुझसे ही तो भूल नहीं हो गयी ? अथवा किसी शिशुसे चिढ़कर नीलसुन्दर इतना खिन्न हो गया है ?।।५४१।।**

*आती यह बात किसी के थी मनमें भोरे पनको, प्रियतम !*
*'क्षणभर में, अहो। अलक्ष्य नजर लग सकती है इसको,' प्रियतम !*
*'इसलिये सदा मैया जैसे करती है, मैं कर दूँ,' प्रियतम !*
*गोपुच्छ फिरा साँवर पर वह परिणाम देखता था, प्रियतम ।।५४२।।*

**किसीके भोले मनमें भोलेपनकी यह बात भी आने लग गयी- 'अरे ! क्षणभरमें किसीकी नजर भी तो इसे लग ही सकती है। अतएव सदा यशोदा मैया जैसे करती हैं, वैसे मैं भी कर देता हूँ।' तथा यह सोचकर गायोंकी पूँछ नीलसुन्दरके चारों ओर फिरा-फिराकर अपनी इस क्रियाका परिणाम वह देखने लगता।। ५४२।।**

# तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सभी सखा मिलकर मधुमङ्गलका छोर पकड लेते हैं। वह ब्राह्मण ऋषिपुत्र है, वह सर्वज्ञा तपस्विनी पौर्णमासीका प्रपौत्र स्नातक है। आखिर सखाओंको श्रीकृष्णके उदासीन होनेका कोई कारण तो ढूँढना ही है। अतः सभी उसके सम्मुख लड्डुओंका थाल रखकर निदान-निर्देश करनेका हठ कर बैठते हैं।

स्तोककृष्णको तो सरासर अपनी भूल ही समझमें आ रही है। उसे उसके कन्नू भैयाको टोकना कदापि नहीं चाहिये था। अरे, यदि कन्नू श्रीदाम भैयाकी बहिनोंकी ओर एकटक देख रहा था, तो इसमें उसे हस्तक्षेप करनेकी आवश्यकता ही कहाँ थी। उसीने तो उसे वहाँसे निवृत्तकर आगे बढनेकी प्रेरणा दी, और फलस्वरूप निश्चय ही कन्नू उसीसे रुष्ट होकर आज भोजन नहीं कर पाया है। तोक रुआँसा होकर सुबल एवं श्रीदामके सम्मुख कन्नूसे क्षमा करा देनेकी प्रार्थना कर रहा है।

मधुमङ्गलने तो अपना निदान प्रारंभ भी कर दिया। सखागण पार्श्वमें ही तृण चरती कपिला गौको ले आते हैं। मधुमङ्गलने ठीक मैया यशोदाकी अनुकृति करते हुए उसकी पूँछ पकड़कर तीन बार अपने सखा कन्नूका संस्पर्श करा दिया है। सभी सखा अत्यन्त उत्सुकतासे मधुमङ्गलके उपचारका फल देखनेको आतुर हैं। किन्तु उनका कन्नू तो नेत्र बन्द किये चुपचाप एक पीत पुष्पलताके सहारे ध्यानस्थ बैठा है। उसके आननपर तो बाल-चापल्य, अथवा मुसकानकी रेखा भी उदय नहीं हो रही है।

मधुमङ्गल शीघ्र हार माननेवाला तो है नहीं। वह अपने उपचारमें कहीं कोई कसर भी नहीं छोडता है। काले सरसोंके दाने श्याम कलेवरपर औंछकर अग्निमें डाले जाते हैं। एक सखा किसी वनवासीके गृहसे सूप उठाकर ले आता है, उसके कोनेसे कन्नूका सिर एवं उदरस्थल बहुत ही शनैः-शनैः स्पर्श कराया जाता है। गोमूत्रके छींटे भी दे दिये जाते हैं। चिकनी गोरजका भी सस्पर्श कराया जाता है। अन्ततः मधुमङ्गल ॐ केशवाय नमः, माधवाय नमः, नारायणाय नमः, गोविन्दाय नमः, विष्णवे नमः, मधुसूदनाय नमः, त्रिविक्रमाय नमः, वामनाय नमः, श्रीधराय नमः, हृषीकेशाय नमः, पद्मनाभाय नमः, दामोदराय नमः – भगवान् नारायणके इन द्वादश नामोंका उच्चारण भी करता है। एवं स्तोककृष्ण श्रीकृष्णके अङ्गोंमें गोबर संस्पर्श भी कराता जाता है। फिर भी श्रीकृष्णकी उदासीनतामें कहीं कोई परिवर्त्तन नहीं आता है। ।।५४१-५४२।।

श्रीभैया, तथा उसीने जब संकेत किया अपने, प्रियतम !
उस मित्र सुबल सद्गुणशाली शिशुको, तब, बस, ये दो, प्रियतम !
ये बात जान पाये सर पर आँखों के मिलने की, प्रियतम।
साँवर की और बहिन भोरी गोरी सहोदरा की, प्रियतम।। ५४३ ।।

**श्रीभैया तथा उसके द्वारा ही संकेत मिलनेपर अत्यन्त सद्गुणशाली सुबल – बस, केवल ये दो – सरोवरपर नीलसुन्दरकी राधाकिशोरीसे आँख मिलनेकी बातकी कल्पना कर सके। मन-ही-मन श्रीदाम सोच रहा था – 'भैया नीलसुन्दरकी आज मेरी सहोदरा गोरी किन्तु अत्यन्त भोली बहन राधासे आँख मिली तो अवश्य है.......... ।'।।५४३।।**

जब लगा प्रतीची-क्षितिज देव रवि का स्वागत करने, प्रियतम।
साँवर गो शिशुओं को लेकर वासस्थल पर आया, प्रियतम!
प्रतिदिन वंशीरव सुन पड़ता उपवन की सीमा से, प्रियतम।
नीरव आगमन किंतु उसका था आज यही पहला, प्रियतम।। ५४४।।

देखते-ही-देखते प्रतीची दिशामें देव दिनकर ढल पड़े तथा जब क्षितिज उनका स्वागत करने लग गया, तब नीलसुन्दर गोप शिशुओंको साथ लिये अपने घरपर आ पहुँचे। प्रतिदिन तो उपवनकी सीमासे ही वंशी-रव सुन पड़ता था, किन्तु आज प्रथम वार उनका गोष्ठमें आगमन नीरव भावसे हुआ। न वंशीकी काकली सुन पड़ी और न उनके मुख सरोजपर कोई उल्लासका ही चिह था..........।'।।५४४।।

उद्विग्न हुए सब-के-सब ही आ गये ग्रामवासी, प्रियतम!
मैया छाती से लगा उसे बेहाल हो रही थी, प्रियतम!
अपने अनमोल नीलमणि का आनन उदास इतना, प्रियतम!
उसने देखा था कभी नहीं अबतक सपने में भी, प्रियतम।।५४५।।

सभी ग्रामवासी उद्विग्न हुए-से नन्द-द्वारपर एकत्रित हो गये। मैया नीलसुन्दरको छातीसे लगाकर बेहाल-सी होने लग गयी। अपने अनमोल नीलमणिका मुख-सरोज इतना उदास उसने कभी भी नहीं देखा था। आजके पहले कभी भी, स्वप्नमें भी उसे ऐसी अनुभूति नहीं हुई थी। इसीलिये नन्दरानीकी ऑखोंसे अजस्र अश्रुधारा बह चली।।५४५।।

रोती जननी को देख हँसी सूखी साँवर हँसता, प्रियतम!
देता प्रबोध भी कह कर यह, "री! स्वस्थ सत्य मैं हूँ" प्रियतम!
ब्यारू के लिये किंतु जब वह बैठा, तब जननी को, प्रियतम!
विश्वास करा न सका खाकर आधे का आधा ही, प्रियतम।।५४६।।

जननीकी यह दशा देखकर साँवर सूखी हँसी हँस देते, किञ्चित् प्रबोध भी देने लगते – 'अरी ! मैं सचमुच स्वस्थ हूँ।' किन्तु जब वे ब्यारू करनेके लिये आसनपर विराजे तब वे जननीको विश्वास न दिला सके; क्योंकि प्रत्यक्ष था कि वे थालमें परोसे हुए द्रव्योंका चतुर्थ अंश ही खा सके थे...........।।५४६।।

दशमी के प्रातः भी उसका वैसा ही हाल रहा, प्रियतम।
मैया के हाथों से प्रस्तुत नवनीत, दही मीठा, प्रियतम!
औंटाया हुआ दूध गाढ़ा, ओदन, मिष्टान्न, सभी, प्रियतम।
वस्तुएँ कलेवा की जो थीं साँवर ने चख भर लीं, प्रियतम।।५४७।।

नवमी बीतकर आज दशमीका प्रातःकाल लग चुका था। किन्तु नीलसुन्दरकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मैयाके हाथोंसे प्रस्तुत नवनीत, मीठा दही, औंटाया हुआ दूध, अत्यन्त गाढा दूध-भात, विभिन्न भाँतिके मिष्टान्न, कलेवेकी सभी वस्तुएँ – मैयाने परोसी थी, किन्तु नीलसुन्दरने केवल नाममात्रके लिये उन्हें चख भर लिया........। कलेवेकी वस्तुएं ज्यों-की-त्यों धरी रह गयीं।।५४७।।

गोचारण के मिस से तुरंत अटवी की ओर चला, प्रियतम!
टोली गायों की, मित्रों की वैसी ही संग चली, प्रियतम!
पर अन्यमनस्कपना जो था साँवर का कल-सा ही, प्रियतम!
शिशुओं से छिप न सका उसके किंचित् हँसने पर भी, प्रियतम।।५४८।।

अविलम्ब नीलसुन्दर गोचारणका बहाना करके अटवीकी ओर चल पड़े। गायोंकी टोली, मित्रोंका समुदाय वैसे ही साथ चला। किन्तु आज भी नीलसुन्दरका अन्यमनस्कपना जैसा कल था, वैसा-का-वैसा बना रहा। यह बात कभी-कभी उनके किञ्चित् हँस देनेपर भी शिशुओंसे छिप न सकी।।५४८।।

दैनन्दिन वह अरण्यका क्रम गो संरक्षण वाला, प्रियतम!
पूरा कर साँझ-समय साँवर वैसे ही घर लौटा, प्रियतम!
था हुआ छाक-भोजन उनमें, बस, नाम मात्र का ही, प्रियतम!
कहने के लिये पुनः उसने कर दी ब्यारू लीला, प्रियतम!!५४९।।

गो संरक्षणका क्रम, दैनन्दिनीचर्या, अरण्यमें जैसे-तैसे कलकी भाँति ही पूरी हुई । संध्याके समय नीलसुन्दर वैसे ही घर भी लौटे। मैयाके पूछनेपर शिशुओंके द्वारा यह ज्ञात भी हो गया कि आज भी छाक-भोजनकी लीला भी नाममात्रकी ही हुई। ब्यारूकी लीला भी, उसी भाँति नीलसुन्दरने कहनेके लिये पूरी कर दी...........।।५४९।।

मैया कैसे धीरज धरती, थे प्राण विकल उसके, प्रियतम!
उन निपुण वैद्यवर को उसने बुलवाया छिप करके, प्रियतम!
भोरी थी वह, है नहीं, न था, होगा न कभी कोई, प्रियतम!
जो उसके नित्य निरामय उस शिशु की नाड़ी पर रखे, प्रियतम।।५५०।।

मैया धीरज न रख सकी। उसके प्राण विकल हो रहे थे। उसने वृषभानुपुरसे सुनिपुण वैद्यको बुलवाया। किन्तु यह बात मैयाने किसीको ज्ञात होने न दी। वस्तुतः मैया भोली थी। अरे ! मैयाके नित्य निरामय शिशुकी नाड़ी परख सके, ऐसा वैद्य न तो कहीं कभी था, न है और न आगे कभी होगा...........।।५५०।।

## जिज्ञासा

श्रीराधाको प्रथम दृष्टिमें देखने मात्रसे श्रीकृष्णका भोजन करना, हँसना-खेलना क्यों छूट गया, कृपया इसे सुस्पष्ट करें।

## समाधान

रसिक सिद्ध सन्त श्रीपोद्दार महाराजने पवित्र प्रेमकी साङ्केतिक परिभाषा यों वर्णित की है –

**इन्द्रिय-सुख-इच्छासे विरहित अतिशय मधुर शुद्ध अनुराग।**
**प्रियतम-सुखमय सहज उदित 'सर्वस्वत्याग' मन भोग-विराग।।**
**दिव्य ज्योति योगी-वांछित शुचि सिद्धि अनेक अलौकिक भुक्ति।**
**तीव्र ज्ञान-साधन-संयुत ज्ञानीजन-वांछित दुर्लभ मुक्ति।।**
**नहीं कामना-लेश किसीमें, नहीं कहीं ममता-मद-मान।**
**केवल हृदय प्रेम-रस-पूरित, निर्मल निरुपम दिव्य महान्।।**
**देना ही देना है जिसमें, लेनेका न कहीं कुछ काम।**
**नित देनेको, नित लेना ही सहज मानती वृत्ति ललाम।।**

विशुद्ध प्रेमका सर्वप्रथम प्रारंभ ही त्यागसे होता है। जहाँ ऋषि-मुनि-वाछित मोक्षसुखपर्यत स्वसुख-वाञ्छाका सहजरूपमें त्याग हो जाय, वहीं प्रेमका पूर्वराग-महाभाव प्रारभ होता है। मुक्तिका अर्थ ही है – अहंतागत सत्ताका परमात्मसत्तामें पूर्ण विलय एव प्रीति तथा पूर्वरागका अर्थ ही है – आत्मसत्ताका प्रियतम प्रेमास्पदमें पूर्ण एकत्व।

सभी शास्त्र एकमतसे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे पूर्ण है । उनमें अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त बल, अनन्त यश, अनन्त श्री, अनन्त ज्ञान, अनन्त वैराग्य जन्मसे ही हैं। जन्मसे लेकर लीलावसान पर्यन्त उनके सम्पूर्ण कार्य अलौकिक रहे हैं। गर्भसे भूमिस्थ होते ही जिस चमत्कारी ऐश्वर्यका प्रकाश वे करते हैं, उसके दो-एक उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

श्रीकृष्ण गर्भस्थावस्थासे भूमिस्थ हुए ही हैं। ज्यों ही माता यशोदा अपने भूमिस्थ पुत्रको आँखे खोलकर देखती हैं, उनके मुखपर आश्चर्य एवं भय छा जाता है। शिशुके श्याम कलेवरमें उनका स्वयका मुख प्रतिबिम्बित होने लगता है। भयसे काँपती अपनी माताको नृसिंह, नृसिंह उच्चारण करती देखकर श्रीकृष्ण अपनी माया तिरोहित कर लेते हैं। माता उस चमत्कारको वात्सल्यरसके उमड़ते आवेगके सम्मुख अपना दृष्टिभ्रम मानकर अनदेखी कर जाती है। भावाभिभूत हुई कभी अपने पुत्रके सिरको अत्यन्त नीचे झुकाकर, कभी टेढा करके, कभी बाये, कभी दाहिनी ओर घुमाकर और कभी ऊँचा उठाकर देखने लगती हैं। अश्रुबिन्दुओंके रूपमे उनका स्नेहरस झरने लगता है।

यशोदानन्दन अभी मात्र पाँच दिवसके निरे शिशु हैं, इसी समय नन्दभवनकी ओर पूतनाका प्रस्थान होता है। कृशोदरी रमणीका उसका वेश देखकर सभी गोप-गोपियाँ उसे सम्पदधिष्ठात्री महालक्ष्मी समझ रहे हैं। कमलपुष्प घुमाती वह ब्रजेन्द्रगेहिनीसे अपना परिचय मथुरावासिनी ब्राह्मणीके रूपमें देती है, साथ ही कहती है कि मेरे इन सर्वमङ्गलदायी स्तनोंसे अमृत झरता है। इसके स्तन्यका पानकर तुम्हारा शिशु अमर हो जायगा, जबकि उसके स्तनोंमें सर्व प्राणहर कालकूट विष सलग्न है। वह यशोदानन्दको विष पिलाकर मार डालनेकी अभिसन्धि रचकर आयी है।

बाल्य लीलाविहारी कृष्ण नेत्र बन्दकर उसका कालकूट–मिश्रित स्तन्य चसक-चसककर पी जाते है। सर्वज्ञ स्वामी समझ रहे हैं कि मेरे उदरमें अनन्तानन्त ब्रह्माण्डोके अनन्तानन्त जीव समुदाय निवास कर रहे हैं। आश्चर्य। वे सर्वलोकमहेश्वर अन्तर्देशमे जाकर उन्हें अभयदान करते है और हलाहलको पीकर भी उसकी ज्वालाको सुधाकी जीवनदायिनी मिठासमें परिवर्तित कर देते हैं। पूतना उनका प्राण हरण तो क्या करती, स्वयं हाहाकार करती प्राणत्याग कर बैठती है। श्रीकृष्ण उसे अपनी माताके समान गति देकर सीधे अपने गोलोकधाम भेज देते हैं। विस्तारभयसे उनके अनन्त ऐश्वर्यके ये मात्र कतिपय चमत्कार ही उल्लिखित किये गये हैं। ये सभी उदाहरण उनके सद्य.जात शिशु-अवस्थाके ही हैं।

इसी प्रकार उनके अनन्त बलके दो-चार उदाहरण देखें। नन्दनन्दनने पालनेपर स्वत. करवट बदल ली है और इस मङ्गलकृत्यके फलस्वरूप नन्दभवनमें अतिशय घूमधामसे उनका औत्थानिक उत्सव मनाया जा रहा है।

नन्दभवनके प्राङ्गणके एक भागमे अत्यन्त बृहदाकार शकट रखा है। शकटके नीचे स्तम्भोसे सम्बद्ध एक अतिशय सुन्दर पलना टँगा है। जननी यशोदाने अपने पुत्रको आज इसी पलनेपर सुला दिया है। यशोदानन्दन अपने अङ्गुष्ठक्षरित रसको पी-पीकर प्रसन्न हो रहे हैं।

इसी समय सबसे अलक्षित वायुकी लहरके समान दैत्य उत्कच नन्दप्राङ्गणमें आ पहुँचता है। वह मन ही मन विचार करता है – " पूतनाके प्राण हरण करनेवाला , श्रीधरको गूँगा बनानेवाला, कागासुरको सञ्ज्ञाशून्य करके कसके सभामण्डपमे उसके ही सामने फेंकने वाला, अपरिमित बलशाली यही बालक है। इससे सम्मुख युद्ध करना तो मृत्युको निमंत्रण देना ही है। अत. चुपचाप इस शकटमें आविष्ट हो जाऊँ। फिर अपने महान् भारी एव विशाल शरीरभारसे शनैः-शनैः इस शकटको पृथ्वीमें दबा दूँगा। शकट चक्र भूमिमें धँसते जायेगे। शकट (गाडी) का नीचेका हिस्सा बालकको पीसता हुआ धरातलसे जा लगेगा। इस प्रकार प्रच्छन्न रहकर ही इससे युद्ध करना चाहिये। उत्कचका निर्णय उसकी अपनी बुद्धिके अनुसार तो पूरी तरह निर्भूल ही था, किन्तु ज्यों ही वह दैत्य उस शकटमे आविष्ट हुआ, सहसा ही नन्दनन्दन रो-रोकर अपने हाथ-पैर उछालने लगते हैं। ऐसा लगता है – उन्हे क्षुधा लग गयी है। उनकी इसी रुदन-क्रियाके मध्य उनके सुकोमलतम चरणोंकी पगथली शकटसे जा लगती है। उत्कच तो शकटाविष्ट था ही। शकट आकाशमें उछलता है और टुकडे- टुकडे होकर भूमिमे बिखर जाता है। उत्कच भी शकटके साथ ही चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है। वायुदेह त्यागकर सर्वथा निर्मल, चिदानन्दमय देह धारणकर उत्कच नन्दनन्दनको प्रणामकर गोलोकधामकी ओर प्रस्थान करता है।

ऐसे ऐश्वर्यशाली तथा अनन्त बलशाली श्रीकृष्ण प्रिया राधाको देखते ही अपनी ऐश्वर्यपूर्ण भगवत्ताको, अपने अनन्त बलवान् सृष्टिनियन्ताके स्वरूपको, वंशीनिनादसे चराचरको मोहित करनेवाले अपने अनन्त यशनिकेतन रूपको, अपनी अनन्त श्रीको, शोभाको, अपने पूर्ण ज्ञानको, वैराग्यको – सबको आत्यन्तिक विस्मृतकर, मात्र उस गोपकन्याके अलकावलि-आवृत निरावरण स्नान करते रूपपर अतिशय मोहित – मुग्ध हो उठे – यही तो प्रेमका सर्वविजयी स्वरूप है। प्रेमकी पाठशालामे प्रवेश करते ही प्रेमतत्व श्रीकृष्णको यही प्रथम अक्षरज्ञान कराता है कि तुम अपनी भगवत्ताको, ऐश्वर्यको, बलको, ज्ञानको, वैराग्यको, धर्मको, पूर्णतया विस्मृतकर मात्र प्रेमी बनो। यहाँ यही हुआ है। वे अपने–आपको भी अपनी प्रियाकी स्मृतिमें विस्मृत कर गये हैं। अपनी अनन्त वात्सल्यमयी माताको, अपने नित्यके सङ्गी सखाओंको, अपनी गौओंको – बछडोंको, अपने क्रीडा–चापल्यको, इतना ही नहीं अपनी भोजन-पानकी रुचिको, निद्रातकको विस्मृत कर गये हैं। वे रुग्ण नहीं हैं इसीलिये बडे से बडे वैद्य भी उनका निदान नहीं कर पाते। उन्हे स्वयकी स्मृति ही नहीं है। वे चाहनेपर भी मात्र क्षणके करोड़वें हिस्सेमे ही सखाओंकी स्मृति अपने मन- पटलपर उतार पाते हैं। उसके पश्चात् उनके स्थानपर भी उन्हे अपनी प्रिया राधा ही दिखने लगती है। वही सुन्दरी-सरोवर और वही आर्द्र कुन्तलोंसे मण्डित कुन्दनानना वृषभानुजा। श्रीकृष्ण नहीं चाहते कि उनके सखागण उदास हो किन्तु सरसताके सिन्धुमें डूबे वे अब छीलरकी तरह नीरस बालक्रीडाकेलि, चञ्चल मनोरञ्जक खेल कैसे करें ? वे जिस पावन प्रेमराज्यमें प्रवेश कर चुके हैं, वहाँ तो सारी ममता सिमटकर एक ही चरणतलमें न्यौछावर हो चुकी है। महाभावसिन्धु श्रीराधा-चरण ही जब उनके काम्य हो गये हैं तो अब वे अपने बाल-चापल्यमें सलग्न हो – यह असभव है। उन्हें तो अपने प्राणोसे भी अधिक प्रिय अब चञ्चल चितवन एवं कर्णविलम्बी, कजरारे दीर्घ नेत्रोंवाली राधा ही अनुभवमे आ रही है। उनके पास जब अपना मन है ही नहीं तो वे कैसे गौओंके प्रति अपने प्रेमका प्रदर्शन करें, कैसे सखाओंके सङ्ग क्रीडा-कौतुक करें, कैसे मैया यशोदाकी रुचिकी रक्षा करें, कैसे भरपेट पक्वान्न भोजन करे ? उनका मन तो वृषभानुजाके ध्यानमे डूब गया है। अब ये श्रीकृष्ण पहले वाले चपल श्रीकृष्ण रहे ही नहीं हैं। अब उनके क्रीडा-सुखकी आधारभूता वे वात्सल्यरस-प्रधान गोपियाँ नहीं हैं, जिनके घर वे माखनचोरी करने जाते थे, उनके नवनीत भाण्ड वानरसखाओंके सङ्ग फोड देते थे। अब तो उनकी कमनीया वृषभानुकिशोरी हैं, जिनके प्रेमरूपी पारावारमें वे मत्स्य बने स्वच्छन्द विहर रहे हैं। भानुकिशोरीका ज्ञान-ध्यान ही उनकी सर्वश्रेष्ठ गति है। श्रीराधा ही उनकी उत्कण्ठाकी एकमात्र विषय हैं। श्रीराधा ही उनके प्राणोकी एकछत्र स्वामिनी हैं। श्रीराधाने ही इनका पूरे-का-पूरा मन चुरा लिया है।

*आयी अब एकादशी वही अंकुश रूपा अघ की, प्रियतम!*
*केवल मैया ही नहीं, अखिल पुरवासी व्रती हुए, प्रियतम!*
*संकल्प किया यह सबने, श्रीनारायण सदय बनें, प्रियतम!*
*नीरोग नीलसुन्दर हो, बस, निर्जल रह गये सभी, प्रियतम॥५५१॥*

**दशमी निशाकी परिसमाप्ति हुई। पापांकुशा एकादशीका प्रभात विहँसने लगा। आज केवल मैया ही नहीं, अखिल पुरवासी निरम्बु व्रतके व्रती हो गये। सबने संकल्प किया – 'भगवान् श्रीमन्नारायण हम सबपर दया करें, हमारा नीलसुन्दर नीरोग हो जाय।' सब-के-सब निर्जल ही रह गये।।५५१।।**

*उस ओर दशा क्या थी मनकी साँवर के, कौन कहे, प्रियतम!*
*देखो वे सखा सयाने, बस, गति-विधि ये देख रहे, प्रियतम!*
*हृत्तल में उठी हुई लहरें प्रतिचित्रित हो जातीं, प्रियतम!*
*आननपर, वह उनको रोके कितना भी क्यों न भले, प्रियतम॥५५२॥*

**उस ओर नीलसुन्दरके मनकी क्या दशा थी – कौन बतलावे ? साँवरकी सम्पूर्ण गतिविधिको वे दोनों सयाने सखा बड़े ध्यानसे देखते जा रहे थे। नन्दनन्दनके हृत्तलमें भावकी जो लहरें उठतीं, वे उनके मुख-सरोजपर प्रतिबिम्बित हो ही जातीं, नीलसुन्दरका मुख-सरोज तद्भाव-भावित हो ही जाता, वे भले उन्हें रोकनेका कितना ही प्रयास करें।। ५५२।।**

## जिज्ञासा

**कृपया छन्द सं. ५५२ की प्रथम दो पंक्तियोंका अर्थ सुस्पष्ट करें। साँवरके मनकी उस काल क्या दशा थी इसका विश्लेषण करें।**

## समाधान

वस्तुतः जब किसी भी भाग्यवान्‌के चित्तमे विशुद्ध प्रेमोदय हो जाता है तो उसके चित्तपटलपर मात्र प्रेमास्पद ही रहता है, अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंके प्रति पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। यों तो भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपतः ही पूर्ण प्रेमस्वरूप हैं, किन्तु लीलाके लिये वे यहाँ प्रेमीका समादर्श रख रहे हैं। यहाँ ध्यान रहे कि लीला नाटक नहीं होती। लीलामें भगवान् श्रीकृष्ण ठीक प्राकृत प्रेमीकी तरह ही प्राकृतानुकरण अवश्य कर रहे हैं किन्तु स्वरूपतः हैं वे असीम प्रेमैश्वर्यके एकमेव आधार ही। वे इस समय न ही कोई दम्भ कर रहे हैं, न ही नाट्य। यहाँ भगवान् सर्वज्ञ होकर अनजानकी भाँति प्रेम कर रहे हों सो भी बात नहीं। उनकी प्रत्येक लीला सच्ची है। लीलाशक्तिकी इच्छासे यहाँ उनकी पूर्णता छिप गयी है। यह उनकी लीलाधीनता ही समझनी चाहिये। भगवान्‌का ऐश्वर्य तो सर्वत्र स्पष्ट है, परन्तु उनका माधुर्य बडा गोपनीय है। उनका माधुर्य उनकी मुग्धतामें ही है। श्रीराधा भी कोई साधारण ग्राम्य बालिका नहीं, स्वयं भगवान्‌की ही सर्वोच्च ह्लादिनी महाशक्ति हैं। फिर भी मिलन और विरहकी इस प्रेमलीलामे दोनों प्रिया-प्रियतम श्रीराधा एवं श्रीकृष्णमें ऐसा मुग्ध माधुर्य-सिन्धु उमड रहा है, इसमें ऐसी एक-से-एक विलक्षण विविध-प्रेमतरङ्गें लहरा रही हैं, जिससे सारा जगत् परमानन्दसुधासे आप्यायित ही हो उठता है। श्रीराधा मधुर प्रेमकी कल्पवृक्ष हैं। श्रीकृष्ण स्वरूपतः नित्य विजयी हैं, किन्तु यहाँ वे अपनी ही स्वरूपाशक्ति राधासे प्रेममें पूर्णतया हार गये हैं। श्रीकृष्ण सर्वचित्ताकर्षक हैं, किन्तु उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधा यहाँ उनका ही चित्त पूर्णतया हरणकर उन्हे घायल कर चुकी हैं। श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये परमातुर हैं। स्वरूपतः जो सर्व हैं, सर्वरूप हैं, वे परिच्छिन्न होकर ही राधाकामी हो रहे हैं।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी ऐसी ही लीला है कि उनका प्रेम भानुकिशोरीसे हो गया है और समस्त इतर वस्तुओंसे हट गया है। वे माता यशोदा, पिता नन्द, अग्रज बलराम, वरूथप, सुबल, अनुज स्तोककृष्ण, सखा श्रीदाम, मधुमङ्गल, यहाँ तक कि अपनी प्यारी गौओं, बछड़ों – सबकी सुधि भूल गये हैं। वे राधाको ही सर्वत्र देख रहे हैं, उसे ही सुन रहे हैं, उसका ही प्रेम सर्वत्र अनुभव कर रहे हैं। उन्हें अपने प्रेममें रह-रहकर कमी दिख रही है और उनका प्रेम प्रतिक्षण सीमारहित रूपसे बढता ही जा रहा है। प्रेममें श्रीकृष्णका सबकुछ तो अर्पित हो ही गया है, यहाँ तक कि वे स्वयंको भी अपनी प्रेमास्पदा राधाको अर्पित कर चुके हैं। सम्पूर्ण त्याग और सम्पूर्ण आत्मसमर्पण ही प्रेमका स्वभाव है।

यदि उनका प्रेम मैया यशोदाके वात्सल्यमें, भोजन-पानमें, सखाओंके सङ्ग बालक्रीडाओमे, गौओं और बछडोंमें बँटा होता तो वस्तुतः वह प्रेम होता ही नहीं।

प्रेम वाणीका विषय नहीं है, इसलिये वे स्तोककृष्णके टोकनेका कुछ भी उत्तर नहीं देते, किन्तु उनका मन तबसे ही उनके वशमें रहा नहीं है। वह तो चला गया है वृषभानुजा श्रीराधाके वशमें। अब उनके मन, प्राण, बुद्धि, आत्मा सबपर मात्र अधिकार होगया है, एकमात्र श्रीराधाका ही। यह समर्पण उन्हें करना पडा हो, सो बात नहीं, स्वतः ही हो गया है।

श्रीकृष्णके कुछ सखा तो अतिशय भोले हैं, सुबल-श्रीदामा वर्गके जो वयस्क सखा हैं, वे श्रीकृष्णकी गतिविधि एवं व्यवहारको अन्वेषककी सूक्ष्म दृष्टिसे अवश्य देख रहे हैं। मधुमङ्गल यद्यपि विदूषक श्रेणीका सखा है, किन्तु उसने स्तोककृष्णकी बात सुनकर यह जान अवश्य लिया है कि उसका सखा श्रीकृष्ण श्रीदामकी छोटी बहिन राधाको स्नान करते समय एकटक निरख रहा था। उसने हॅसते-हॅसते श्रीदामको भी यह बात कह दी कि इसे तो तेरी दोनों बहनोंकी नजर लगी है। यह दृष्टिदोष मात्र गोपुच्छ फिरानेसे उतरनेवाला नही है। इसका यह दृष्टिदोष तो तभी निवारण होगा जब इसे तुम्हारी बहनों एवं उसकी सखियोंकी चरणधूलि दी जायगी।

यह सर्वथा निर्विवाद सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्ताको कोई भी इतर भाव आवृत नही कर सकता। किन्तु स्वय भगवान्को भी उनके स्वरूपानन्दसे भी बहुत अधिक आनन्दातिशयका अनुभव करानेके लिये उन्हींकी स्वरूपभूत इच्छासे, उन्हींकी अपनी चिच्छक्तिकी सारवृत्ति प्रीति उनकी भगवत्स्वरूपताको ढॅक लेती है। यह प्रेम अन्य कुछ नहीं भगवान् श्रीकृष्णका अपना ही स्वरूप है या उनकी अपनी ही लीलामयी स्वरूपाशक्ति है। अतएव उसके द्वारा होनेवाली श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण क्रियाएँ न तो दोषरूप ही होती हैं, और न ही इससे उनकी भगवत्तामें ही कोई बाधा आ सकती है। यह उनकी लीला है जो उन लीलापुरुषोत्तमसे सर्वथा अभिन्न है।

यहॉ जो भगवान्की लीला हो रही है, उसमें केवल विशुद्ध माधुर्य ही माधुर्य है। महामहिम श्रीकृष्णका माधुर्य ही इस सुन्दरीसरोवरके प्रेमराज्यमें न तो वात्सल्यको ही प्रवेश करने देता है, न ही सख्यरसको, शान्तरति, दास्यरतिका तो प्रश्न ही नहीं है। किन्तु यह सदैव ध्यानमें रखनेकी बात है कि यह मोहमयी मुग्धता सांसारिक विषयासक्त लोगों-जैसी नहीं है। इस माधुर्यमें भी भगवान्की सर्वज्ञता, विभुता, अनन्त सर्वशक्तिमत्ता, ज्ञानस्वरूपता, आनन्दमयता प्रच्छन्न है। इसीसे इसे भगवत्स्वरूप माधुर्य ही मानना चाहिये।

अवश्य ही इस रागराज्यमे माधुर्यका ही साम्राज्य है, और माधुर्यमयी गाढ तृष्णा, परम प्रेमाविष्टताकी लहरें सयाने श्रीदामादि सखागण अपने कन्नूके हृत्तलमें प्रतिचित्रित हुई परिलक्षित कर ही लेते हैं। श्रीकृष्ण यद्यपि उन भावलहरोंको रोकनेकी कितनी ही चेष्टा क्यो न करे, अन्ततः वे लहरे उनके आननको आक्रान्त कर ही लेती हैं।

आया जब कर्णिकार-वन दृग उसके थे भर आये, प्रियतम!
पिङ्गल थी जहाँ शिला गिरिकी, बैठा वह आज वहीं, प्रियतम!
अपने पीले दुकूल पर ही थी दृष्टि गयी उसकी, प्रियतम!
कम्पन था हुआ क्षणिक उसके दो बार कलेवर में, प्रियतम॥ ५५३॥

**उन दोनों सखाओंने देखा था जब कर्णिकार वन आया था, तब नीलसुन्दरकी आँखें भर आयी थीं। फिर देखा, जहॉ गिरि गोवर्द्धनकी शिला पिङ्गल वर्णकी थी, आज भी नीलसुन्दर वहीं जाकर बैठे थे। अपने ही पीले दुकूलपर उनकी दृष्टि गयी थी तथा दृष्टि पड़ते ही उनके सारे शरीरमें क्षणिक कम्पन हो गया था। यह कम्पन दो बार हुआ था।।।५५३।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

संसारमें कोई भी, कुछ भी न तो नित्य प्रिय होता है, न किसीमें सदा-सर्वदा प्रियता उत्तरोत्तर बढती ही रहती है। इस जड संसारमें कुछ दिनोंके व्यवहारके पश्चात् किसीसे भी पहले जितनी अनुरक्ति नहीं रहती, अपितु कभी-कभी तो विरक्ति ही हो जाती है। किन्तु विशुद्ध निर्मल प्रेम पल-पल बढता ही रहता है। इस विशुद्ध प्रेमामृतमें एक ऐसा सुदुर्लभ दिव्य महान् माधुर्य रहता है; जिसके रसास्वादनके लिये परम रसामृतस्वरूप स्वयं रसराज श्रीकृष्ण भी नित्य प्रलुब्ध, प्रेमाविष्ट एवं लालायित रहते हैं। छन्दसं. ५५३मे भगवान् श्रीकृष्णमें बढती उत्तरोत्तर प्रेमप्रलुब्धताका ही क्रमशः विकास दर्शाया गया है।

एकादशीका दिवस है। साँवर श्रीकृष्ण अपने सखाओं सहित प्रतिदिवसकी तरह ही गोचारणके लिये अवश्य अरण्यकी ओर चले हैं, किन्तु उनका चित्त तो राधा-मुखचन्द्रसे झरती हुई सौन्दर्य-सुधाके ध्यानमें ही सराबोर है। उनके हृदयमें उमडते रस-सिन्धुमें एक-से-एक गहन आवर्त्त उठ रहे हैं। गोचारणपथमें प्रतिदिवस ही कर्णिकार वन आया करता है। किन्तु आज तो कर्णिकार वनमें प्रवेश करते ही सखागण देखते है कि उनके कन्नूकी विचित्र ही दशा हो गयी है। उनके कन्नूके नेत्र प्रीति-मधुरिमासे सन गये हैं, वे अश्रुकणोंसे छलकने लगे है। अब सखागण भला अपने अप्रतिम सुन्दर सखासे सख्यक्रीड़ाके लिये कैसे एकरस हों – उन सभीका यथेच्छ क्रीडा करनेका उत्साह ही जाता रहता है। श्रीकृष्ण तो कर्णिकारके पीत कुसुमोंकी शोभा निहारते-निहारते वहीं एक गिरिकी पिङ्गल वर्णकी शिलापर ही बैठ जाते हैं। उनकी दृष्टि भी चारों ओरके दृश्योंसे विरत हुई अर्धनिमीलित हुई, अपने अङ्गोंमें धृत पीताम्बरपर ही स्थिर हो उठती है।

चकोरके नेत्र जैसे चन्द्रमाकी ओर एकटक संलग्न रहते हैं और चातक जैसे अनन्य निष्ठासे मेघसे ही जलबिन्दु ग्रहण करता है, इसी प्रकार श्रीकृष्णका चित्त माधुर्यकी असीम सिन्धु एवं अनुपम परमानन्दकी धाम श्रीराधाकी छविको प्रत्येक पीत वस्त्रमें निरख रहा है। उनका मन अनन्य भावसे श्रीराधाके ही ध्यानमे सलग्न है। अपने अङ्गोंमे लिपटे पीताम्बरसे श्रीराधाके अङ्गोंकी साम्यताकर वे अनुभव करने लगते हैं, मानो प्रिया ही उनके कटिभागसे लिपट गयी है। बस, इस भावके उदय होते ही उनमें कम्पन विकारका उदय हो उठता है। अपने भावको रोकते-रोकते ही दो बार उनके अङ्गोंमें समृद्ध कम्प-विकार परिलक्षित हो ही जाता है।।५५३।।

गहरी आँखों से अरुण नलिन-दलको उसने देखा, प्रियतम।
प्रस्वेद कपोलों पर उसके तत्क्षण भर आया था, प्रियतम।
थी उड़ी हंसिनी, जब, जल-कण उच्छलित हुए कुछ थे, प्रियतम।
साँवर ने ठीक उसी क्षण था अपना लिलार छूआ, प्रियतम।।५५४।।

**बड़ी गम्भीर दृष्टिसे नीलसुन्दरने अरुण वर्णके सरोज-दलोंको देखा था। उन्हें देखते ही उनके कपोलोंपर तत्क्षण प्रस्वेद भर आया था। और फिर जब वह हंसिनी उड़ी थी, तब कुछ जलकण उच्छलित हुए थे। नीलसुन्दरने ठीक उसी क्षण अपने ललाटका स्पर्श किया था..........।। ५५४।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

रसकी उपलब्धि भावके बिना तो संभव ही नहीं। भावुक हुए बिना कोई रसिक कैसे हो सकता है। अतः प्रियतम श्रीकृष्णके हृदय-स्रोतसे रसानन्दकी अजस्र धारा प्रवाहित हो उठती है। अबतक सखाओके साथ, मातृवर्गकी यशोदामुख्या गोपियोंके साथ आनन्दकन्द ब्रह्मकी लीला हो रही थी। अचानक ही सुन्दरीसरोवरमें महाभावने उस आनन्दकन्द ब्रह्मको परिरंभित कर लिया। चाहे यह परिरंभण मात्र दृष्टिमिलनसे ही सम्भव हुआ था, फिर भी आनन्दब्रह्मका भावसे संस्पर्श तो हुआ ही। बस, भावके दृष्टि-संयोगसे ही आनन्दकन्द ब्रह्म रसानन्दकी नित्यधारामें परिणत हो गया। यही परमानन्द ब्रह्मका स्वयंका स्वयंमें ही रसास्वादन है।

माधुर्यका अर्थ ही है – अशेष, अचिन्त्य, अतुल सौन्दर्य, लालित्य, सौशील्य, औदार्य, वैदग्ध्य आदि आकर्षक गुण-समूह। श्रीकृष्णको भानुनन्दिनी श्रीराधामें ये सभी गुणसमूह परिपूर्ण दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हे ऐसा ठीक अनुभव होता है कि श्रीराधाकी रूपमाधुरीसे ही नलिनदल सुकुमार एवं अरुण हैं। श्रीराधाकी स्वरमाधुरीके मात्र एक कणसे ही कोकिल, चातक, मयूर, कपोत, कलहंस आदि सभी विहङ्गम मधुर काकली कर पाते हैं। श्रीराधाकी प्रेममाधुरीको लेकर

ही कमल विकसित हो रहे हैं, भ्रमर उनपर आकर्षित हुए मत्त हो रहे हैं। क्योंकि इस समय श्रीकृष्ण श्रीराधा-दर्शनार्थ उत्कण्ठातुर हैं, अतः उन्हें सम्पूर्ण कानन ही श्रीराधामय दृष्टिगोचर होता है। उन्हें सरोवरमे स्फुटित सरोज (नलिनदल) श्रीराधाके मुखारविन्दके रूपमें ही दिखते हैं। तत्क्षण ही उनमें स्वेदविकारका उदय हो जाता है। श्रीकृष्णके कपोलोंपर स्वेदकण उभर आते हैं।

उनकी दृष्टि नलिनदलोंसे थोडी हटती है और सरोवरमें तिरती हंसिनीमें स्थिर हो जाती है। उन्हें हंसिनीके स्थानमें श्रीराधा ही सरोवरमें स्नानरत दिखती है। वे हंसिनीको देखते-देखते – **अहं सा** – मैं ही राधा हूँ – इस भावमें डूबने लगते हैं। किन्तु ओह ! क्षणोंमें ही हंसिनी भी उडकर उनके दृष्टिपथसे दूर चली जाती है, और वे अपने ललाटको छूने लगते हैं, क्योंकि उडती – विदा होती हंसिनी अपने पंखोंसे कुछ जलके छींटे उनके मस्तकपर बिखेर गयी होती है। उन जलके छीटोंसे उन्हें यही सन्देश मिलता है कि उनके भालमे विधाताने मात्र अश्रुकण एवं विरह-विलाप ही लिख रखा है।।५५४।।

पीने पिरोइनी आयी थी निर्मलजल सरिता का, प्रियतम।
लहरों के कुछ छींटे उसके मस्तक पर बिखर गये, प्रियतम।
किंचित्- सा कृष्ण-अंश उसके रोओं का भीग गया, प्रियतम।
साँवर था देख रहा, उसने अपनी अलकें छू लीं, प्रियतम।।५५५।।

**आज सरिताका निर्मल जल पीने पिरोइनी आयी थी। जल पीते समय सरिताकी लहरोंके कुछ छींटे उसके मस्तकपर बिखर गये थे। उसकी रोमावलीके किञ्चित् काले अंश भीग गये थे। बड़े ध्यानसे नीलसुन्दर उसे देख रहे थे और ठीक उसी समय उन्होंने अपनी अलकोंका स्पर्श किया था..........।।५५५।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

वस्तुतः मिलन एवं वियोग – सम्भोग एवं विप्रलंभ दोनो ही रति हैं एवं दोनोंमे परमानन्दरसका असीम ऊर्ध्व उच्छलन ही होता रहता है। संसारके प्राणी-पदार्थोके वियोगमे जहाँ केवल दुःख-ही-दुःख, रोना-ही-रोना है, वहाँ अपनी प्रियाके वियोगमें प्रियतम श्रीकृष्णको परमाह्लादिनी भानुनन्दिनी राधाकी अपार सुख रसमयी सन्निधिका ही क्षण-क्षण अनुभव होता है। संयोगमें जहाँ वे मात्र बाहर ही दृष्टिपथमें रहती हैं, वियोगमें वे उनके रोम-रोम अणु-अणुमें मिल जाती हैं। संयोगमें समय-स्थान आदिकी निर्बाध स्थिति नहीं है, वहाँ स्तोककृष्ण, मधुमङ्गल आदिके द्वारा उपहास उड़ाये जानेके रूपमें प्रतिबन्धक हैं, मैया यशोदाके सम्मुख सूचित किये जानेकी लज्जा है, वहाँ मात्र क्षणभरके लिये ही परस्पर मिलन एवं दर्शन संभव हैं; किन्तु वियोगमें समय-स्थानकी कोई बाधा नहीं, सर्वत्र निर्बाध मिलन-स्वातंत्र्य है, और एक स्थानमें ही नहीं, इस प्रिया-वियोगसे प्रियतम नीलमणिमे ऐसा दिव्योन्माद है कि कर्णिकारवन ही उन्हें श्रीराधासे भरा दृष्टिगोचर होता है। उनकी प्रिया उनके कटिवस्त्र एव उत्तरीय पीताम्बरतकमें उन्हें अपनेसे आलिङ्गित अनुभूत होती है। उन्हें सरोवरमें स्फुटित पद्मोंमें राधा, जलमें विहरती वराटीमें राधा, नाचती मयूरीमें राधा, सरिताका निर्मल जल पीने आयी पिरोइनी (पीले रङ्गकी कपोती) में भी राधा ही दर्शन-सुखदान करती दिखती हैं। किसी कविने कहा है–

**सङ्गम-विरह विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य।**
**एकः स एव सङ्गे त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।।**

मिलन एवं विरहमें यदि श्रीकृष्ण कहीं विकल्प करे तो इनमें उन्हें अपनी प्रियाका विरह ही श्रेष्ट लगेगा; क्योंकि विरहमें उन्हें तीनों लोक ही तन्मय (राधामय) दीख रहे हैं।

पिरोइनी जल पीने आयी है, वह बस पीले वर्णकी है, उसका पीतवर्ण ही श्रीकृष्णको राधास्मृतिमें प्रमत्त कर देता है। उन्हे पिरोइनी दिखनी ही स्थगित हो जाती है। उन्हें तो भानुनन्दिनी ही यमुनाजलमे विहरती दिखने लगती है। उस पक्षीका जल पीनेके लिये झुकना और जलकी लघु लहरियोंके स्पन्दनसे पिरोइनीकी काली रोमराजिका कुछ अंश भीग जाना, प्रियतम श्रीकृष्णको सद्यस्नाता भानुकिशोरीकी जल चुवाती चिकुरराशिकी स्मृतिमे इतना अधिक तन्मय कर देता है एवं इस तन्मयतामें इतनी प्रगाढता होती है कि वे स्वयंको ही श्रीराधा मानकर अपनी चिकुरराशिको ही संस्पर्शित करने लगते हैं।।५५५।।

*दस पाँच सखा उसके जलमें सहसा थे कूद पड़े, प्रियतम।*
*करने के लिये प्रसन्न उसे, तटपर थावह बैठा प्रियतम!*
*भहरा उठती उनके मुखपर चिकुरावलि जब भीगी, प्रियतम!*
*जड़िमा साँवर के तनमें थी सुस्पष्ट दीख जाती, प्रियतम।।५५६।।*

**नीलसुन्दरके शिशु सखा दस-पाँचकी संख्यामें अचानक जलमें कूद पड़े थे। उनका उद्देश्य था – नीलसुन्दरको जैसे-तैसे प्रसन्न करना। नीलसुन्दर तटपर ही बैठे थे। सखाओंके मुखपर जब भीगी चिकुरावली भहरा उठी थी, तब साँवरके गात्रमें सुस्पष्ट रूपसे जड़िमा अभिव्यक्त हो गयी थी।......।।५५६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सखागण अपनी चेष्टाओसे अपने सखा कन्नूका मनोरञ्जन करना तो चाह ही रहे हैं। वे परस्पर वार्त्ता करते हैं – " कन्नू भैयाकी वंशी-स्वरलहरीसे जिस मधुकी वर्षा होती थी, वह तो अप्रतिम थी ही, किन्तु वह तो आजकल वंशीवादनसे सर्वथा विरक्त ही हो गया है। चलो, आज हम ही वंशीमे उसके समान ही फूँक लगावे। वे अपने कन्नूको प्रसन्न करनेको वंशीको उसीकी ठीक अनुकृति करते हुए अधरोसे लगाते हैं, फिर उसीकी तरह फूँक भी मारते हैं, परन्तु वशी भी निगोडी ऐसी है कि प्रस्तरकणकी रगडकी तरह खर-खर स्वर उत्पन्नकर रह जाती है। सखा हताश हो जाते हैं।

एक दलको अपने कन्नूको प्रसन्न करनेकी अन्य क्रीडा सूझती है। मधुमत्त भ्रमरोका तो स्वभाव ही है, वे यूथ के यूथ उसी दिशाकी ओर उड़ते चले जाते हैं जिधर कन्नू हो। कोकिलाएँ भी उसी कदम्बका आश्रय लेकर कुहू-कुहू ध्वनिमें परस्पर प्रतिस्पर्धा करती हैं, जिस कदम्बके नीचे कन्नू बैठा हो। बस, सखागण अपने कन्नू भैयाके मनोरञ्जनार्थ कभी भ्रमरोंके गुन-गुन स्वरमें अपना कण्ठस्वर मिलाना आरभ कर देते हैं, एवं कभी कोकिलोंके कण्ठका अनुकरण। वे झुण्ड-के-झुण्ड अपने कन्नूके चतुर्दिक् भ्रमरदल बने गुन-गुन कर रहे हैं। आगे सरोवर उनका मार्ग अवरुद्ध कर लेता है तो दस–पाँच तैराक सखाओंका दल सरोवरमें हंसोकी अनुकृति करने कूद पडता है। उनका सखा सरोवरके तटपर ही तो कदम्ब वृक्षके नीचे आसीन जो था। सखाओंकी भीगी चिकुरावली उनके सुन्दर सरोज-से मुखपर भहरा उठती है। बस! श्रीकृष्णको सखा तो दिखने ही बन्द हो जाते हैं एवं उन्हें उनके स्थानपर स्नानार्थ सरोवरमें डुबकी लगाती भानुकिशोरी ही वहाँ प्रकट हो जाती है। श्रीकृष्णके अनुराग-सागरमें अकस्मात् अत्यन्त बाढ़ आ जाती है। संवर्द्धित प्रगाढ अनुराग ही तो प्रेमोत्कर्ष है। इस अवस्थामें उनमें एक ऐसी विलक्षण तृष्णाका उदय होता है कि उनके सारे अङ्ग जड़ हो उठते हैं। उनके रोम-रोमसे प्रियाका व्यवधानशून्य मिलन तो होता ही है। यह मिलनानन्द इतना सघन होता है कि यह सारे शरीर एवं अङ्ग-अवयवोंको भी सघन– जड बना देता है।।५५६।।

*जो उसी जलाशय के समीप उतुङ्ग एक तरु था, प्रियतम!*
*दो दिनसों से उसके नीचे आकर रुक जाता था, प्रियतम!*
*बन जाते और लौटते भी आँखें उसकी उठतीं, प्रियतम!*
*सर-तट की ओर देख लेता आहट-सी वह लेता, प्रियतम।।५५७।।*

**उसी जलाशयके समीप एक उत्तुङ्ग तरुवर था। दो दिवसोंसे नीलसुन्दर उसके नीचे आकर किञ्चित् रुक अवश्य जाते थे। वन जाते समय और लौटनेके समय उनकी आँखें ऊपरकी ओर उठतीं और वे तटकी ओर देखने लगते, मानों किसीकी आहट ले रहे हों।.........।।५५७।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

श्रीकृष्णकी इस जडिमा दशाको देखकर सखा विस्मित हो उठते हैं किन्तु कुछ ही क्षणोंमें श्रीकृष्ण अपनी इस भावदशाको संवरित कर लेते हैं। श्रीदाम, सुबलादि सखागण निरन्तर परख रहे हैं कि दो दिवसोंसे सुन्दरीसरोवरके जलाशयके समीप जो उत्तुङ्ग कदम्बका वृक्ष है , जिसकी निराली हरीतिमा निरन्तर कालके नियमोंका अतिक्रमणकर सदा एकरस, मनोज्ञ, सुखशीतल एव पुण्यसौरभका सञ्चार करती रहती है उसी वृक्षके नीचे कन्नू दो दिवसोंसे वन जाते एवं लौटते हुए प्रतिदिन ही आकर रुक जाता है, उसके नयन सरतटकी ओर उठते हैं और वह वहाँ प्रतिदिन ही भानुनन्दिनीकी आहट लेता है; किन्तु उसे वह वहाँ न पाकर निराश-सा एक वेदनाभरी उच्छ्वास लेकर आगे बढ जाता है। ।।५५७.।।

*यों चतुर निरन्तर सहचर वे दोनों थे परख रहे, प्रियतम!*
*साँवर के मनोभाव को, पर रखकर गुप्त उसको, प्रियतम।*
*करते थे परामर्श छिपकर दोनों किस भाँति करें, प्रियतम!*
*प्राणों के प्राण सुहृद्वर की किंचित् सहायता भी, प्रियतम।।५५८।।*

**इस प्रकार वे दोनों चतुर सहचर निरन्तर नीलसुन्दरकी गतिविधिको परख रहे थे – साँवरके मनोभावका मन-ही-मन विश्लेषण कर रहे थे। किन्तु नीलसुन्दर इसको जान न लें,इस विषयमें वे अत्यन्त सावधान थे। वे दोनों छिपकर परामर्श अवश्य करते कि क्या, कैसे किया जाय। अपने प्राणोंके प्राण सुहृद्वर नीलसुन्दरकी वे किञ्चित् भी सहायता कर सकें, इसके लिये वे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे।।५५८।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

सुबल श्रीदामादि सखा अपने कन्नूके मनोभावोंकी गतिविधि खूब सावधानीपूर्वक परख रहे हैं, वे उसे परस्पर भी किसीके सम्मुख प्रकट नहीं करते, क्योंकि वे भली प्रकारसे जानते हैं कि यदि किसीको गंध भी लगी तो मधुमङ्गल-सरीखे चञ्चल विदूषक उसका अतिशय उपहासास्पद स्वरूप बना देंगे जिससे उनके सखाकी लज्जास्पद स्थिति हो सकती है। अतः वे परस्पर यदि परामर्श भी करते हैं तब भी अतिशय गोपनीयता ही बरतते हैं। वे अपने प्राणों-के-प्राण सुहृद सखाकी किञ्चित् सहायता भी करना चाहते हैं, किन्तु वे यह सहायता कैसे करें – यही उनकी मंत्रणाका उद्देश्य रहता है।।५५८।।

*थीं कल्याणमयी अम्बा आदरणीया सबकी, प्रियतम!*
*गैरिकवसना कुटीरदेवी महिमा अपारवाली, प्रियतम!*
*अणिमादि सिद्धियाँ छाया में जिनकी लोटा करतीं, प्रियतम!*
*उनसे ये परिचित थे, इनपर थी कृपा बड़ी उनकी, प्रियतम।।५५९।*

**सहसा दोनोंके मनमें आया – क्यों नहीं, कल्याणमयी, परम आदरणीया, सबकी जगदम्बा, उन गैरिकवसना कुटीरवासिनी देवीका आश्रय ग्रहण किया जाय ? उनकी अपार महिमासे वे दोनों ही परिचित थे। अणिमा आदि सिद्धियाँ उन माताकी छायामें लोटा करती थीं। उनसे ये दोनों पूर्णरूपसे परिचित थे और उनकी इन दोनोंपर बड़ी कृपा भी थी।।५५९।।**

## जिज्ञासा

**कृपया छन्द सं. ५५९ में वर्णित सबकी आदरणीया गैरिकवसना कल्याणमयी अम्बाका संक्षेपमें परिचय दें।।५५९।।**

## समाधान

गैरिकवसना कल्याणमयी अम्बा पौर्णमासीदेवी देवर्षि नारदजीकी शिष्या एवं सान्दीपनि ऋषिकी माता थीं। वे नारदजीसे श्रीकृष्णावतारकी सूचना पाकर उज्जयिनी नगरीसे सीधे ब्रजमें पधारी थीं। वे महान् शक्तिमती थीं। उनके साथ उनका पौत्र बटुक मधुमङ्गल भी उज्जयिनीसे ही आया था। यह महर्षि सान्दीपनिका पुत्र था।

भगवती पौर्णमासीके आनेपर ब्रजवासियोंने इनके निवासके लिये नदी कृष्णा (यमुना) के किनारे पर्णकुटी बनवा दी थी। इनकी ही प्रेरणासे नन्दरायने अपने प्राणोपम मित्र वृषभानुजीका विवाह रावलनरेश बिन्दुगोपकी यज्ञाग्निसे प्रकट पुत्री कीर्त्तिदासे कराया था।

पौणमासीजी ब्रजमें उस समय पधारी थीं जब महाराज नन्दरायजीके कोई सन्तान नहीं थी। सभी ब्रजवासी नन्दरायजीके पुत्र होनेकी कामना रखते थे। इनकी ही प्रेरणासे नन्दरायने पुत्रेष्टि यज्ञ भी किया था और इन्हीं दैवज्ञाने समग्र ब्रजवासियोंके सम्मुख नन्दरायके पुत्र होनेकी भविष्यवाणी भी की थी।

जब श्रीनन्दरायके सम्पूर्ण ब्रजमण्डलको आनन्दसिन्धुमें निमग्न कर देनेवाला पुत्र उत्पन्न हो गया तो पौर्णमासीदेवीकी वरदान-क्षमता देखकर समग्र ब्रजमण्डल ही इनके प्रति श्रद्धाभिभूत हो उठता है। ये ही नन्दरायके पुत्रका नाम कृष्ण रखती हैं। ये सब ब्रजवासियोंके सम्मुख उद्घोष करती हैं – क्योंकि तुम सभीने मुझे कृष्णा (यमुना)के किनारे रहनेका आश्रय दिया है, इसलिये नन्दरायके भावी पुत्रका नाम भी कृष्ण ही होगा और वह यमुनाके समान ही कृष्ण वर्णका, परम रसमय स्वभाववाला होगा। भगवती पौर्णमासीजीके प्रति सम्पूर्ण ब्रजमण्डल ही श्रद्धाभिभूत है।।।५५९।।

**{इनका विशद वर्णन पूर्वमें श्रीकृष्ण-जन्म-प्रसङ्गमें कुन्दवल्ली-चरित्रमें भी किया जा चुका है। यही चरित्र महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा -पञ्चम खण्ड पृष्ठ सं. ३८१ में भी उल्लिखित है}**

*दोनों की राय हुई, चलकर कह दें सब कुछ उनसे, प्रियतम!*
*वे परम अनुग्रहमयी हमें पथ उचित बता देंगी, प्रियतम!*
*है छिपा न कुछ उनसे, पर यह कर्तव्य हमारा है, प्रियतम!*
*स्वाहा हो जाय भले सब कुछ, साँवरको सुखी करें, प्रियतम।।५६०॥*

**दोनोंकी राय हुई, हम लोग चलकर उन्हींसे सब कुछ निवेदन कर दें। वे परम अनुग्रहमयी अम्बा हम दोनोंको उचित पथ अवश्य बतला देंगी। यद्यपि उनसे कुछ भी छिपा नहीं है, तथापि यह हम लोगोंका कर्तव्य है कि हमारा सब-कुछ स्वाहा भले ही हो जाय, हम साँवरको सुखी करके ही रहेंगे।।५६०।।**

*इसलिये द्वादशी तिथि का जब अरुणोदय हुआ वहाँ, प्रियतम!*
*सर्वथा अलक्षित सबसे वे आश्रम पर जा बैठे, प्रियतम!*
*अम्बा के पद पर सिर रखकर बातें सब बतलायीं, प्रियतम!*
*वे हँसीं कुटीरवासिनी दे आलिङ्गन दोनों को, प्रियतम।।५६१।।*

इसीलिये द्वादशी तिथिका जैसे ही अरुणोदय हुआ कि वे दोनों प्रौढ़ शिशु सर्वथा अलक्षितरूपसे उन कल्याणमयी अम्बाके आश्रमपर जा पहुँचे। अम्बाके चरण-सरोरुहमें सिर रखकर उन्होंने सभी बातें बतला दीं। वे कुटीरवासिनी अम्बा दोनोंको अपनी छातीसे लगाकर हँस पड़ीं।।५६१।।

'मैं अभी साथ चलती हूँ, तुम निश्चिन्त रहो, यह तो, प्रियतम!
'आमुख है परम सुखद भावी सुन्दर उस अभिनयका।' प्रियतम!
वे तेजोमयी उठीं झटपट पहुँची निमिष में ही, प्रियतम!
बालक दोनों का कर पकड़े आभीर-राजगृह में, प्रियतम।।५६२।।

'मैं अभी तुम दोनोंके साथ ही चलती हूँ। तुम निश्चिन्त रहो। यह तो भविष्यके उस परम सुखद अभिनयका आमुख मात्र है।' – यह कहती-कहती ही तेजोमयी अम्बा उठ पड़ी और मानो, निमेष बीतनेसे पहले ही उन दोनों बालकोंका हस्त धारण किये हुए नन्दप्रासादके द्वारपर पहुँच गयी।।५६२।।

साँवर की वह उदास मैया दौड़ी, पद पकड़ लिये, प्रियतम!
लोचन थे बरस रहे उसके, इस ओर भगवती के, प्रियतम!
फिर बँधे एक डोरी में हों एवं आकर्षित हों, प्रियतम!
यों हुए इकट्ठे सभी वहाँ पुरनरनारी पलमें, प्रियतम।।५६३।।

नीलसुन्दरकी उदास मैया दौड़ पड़ी। गैरिकवसना अम्बाके चरण उसने पकड़ लिये। नन्दरानी मैयाकी आँखें बरस रही थीं। भगवतीकी आँखोंसे भी अश्रुका निर्झर झर रहा था। फिर पुरवासी सभी नरनारी मानो एक डोरीसे बँधे हों, इस भाँति आकर्षित होकर पलभरमें ही नन्दरानीके प्रांगणमें एकत्रित हो गये।।५६३।।

नीरव थे सभी, चित्त पर अब हो रहा प्रफुल्लित था, प्रियतम!
उन पर्णकुटीरवासिनी की इस समय उपस्थिति से, प्रियतम!
सबका अनुभव यह था, सबकी रुचि ये रख देती हैं, प्रियतम!
सर्वथा असम्भवको भी ये सम्भव कर देती हैं, प्रियतम।।५६४।।

सभी नीरव थे। किन्तु अब सभीका चित्त प्रफुल्लित हो रहा था, वे पर्णकुटीरवासिनी इस समय उपस्थित जो हो गयी थीं। सबको यह अनुभव था कि वे गैरिकवसना माता सबकी रुचि रख देती हैं। इतना ही नहीं, वे सर्वथा असम्भवको भी सम्भव कर देती हैं।।।५६४।।

प्राणों का प्राण साँवरा यह अब रोगहीन होगा, प्रियतम!
आयी हैं ये सच हम सबको देने ही भीख यही, प्रियतम!
ये बात जानने वाली हैं सबके अन्तस्तल की, प्रियतम!
प्रत्यक्ष हमारे व्रतका फल मिल रहा अभी यह है, प्रियतम।।५६५।।

अब निश्चित रूपसे हमारे प्राणोंका प्राण साँवरा रोगहीन हो ही जायेगा। हम सभीको यह भीख देने ही तो वे आयी हैं। वे सबके अन्तस्तलकी बात जानती हैं। यह देख लो, हम सबके व्रतका प्रत्यक्ष फल, बस अब मिलने ही जा रहा है। अस्तु,।।५६५।।

जो हो पल सात आठ पूरित सुखसिक्त मनोरथ से, प्रियतम!
बीते जब, पर्णकुटीवाली देवी मुसका करके, प्रियतम!

*साँवर की मैया के सिर पर कर वरद फेर करके, प्रियतम!*
*बोलीं रुक-रुककर कण्ठ अहो! उनका भी भर आता, प्रियतम॥ ५६६॥*

**जो हो, जब सुखमय मनोरथसे परिपूरित सात-आठ पल बीत गये, तब पर्णकुटीरवासिनी देवी मुस्कराते हुए साँवरेकी मैयाके सिरपर हाथ रखकर रुक-रुककर बोल उठी; उनका भी कण्ठ रह-रहकर भर जो आता था।।५६६।।**

*'री गोपराजरानी! अपनी जेठानी से कह दे, प्रियतम!*
*'जो नगर महादेवी से है प्रतिपालित, वह उसमें,' प्रियतम!*
*'जाकर नरपाल-गेहिनी की वृद्धा उस जननी से, प्रियतम!*
*'मिल लेगी, रहती है अब वह जामाता के घर ही,' प्रियतम॥ ५६७॥*

**'अरी गोपराज रानी! अपनी जेठानी प्रभावतीसे कह दो – महादेवीके द्वारा प्रतिपालित जो वह सामने बृहत्सानुपर्वतकी द्रोणीमें नगर बसा हुआ है – वहाँ जाकर नरपालगेहिनी कीर्तिदा महारानीकी उस वृद्धा जनन्नीसे वह मिल ले। अब वह वृद्धा मैया जामाताके घर ही निरन्तर रहने लगी है।'।।५६७।।**

## जिज्ञासा

**छन्द सं५६७ में उल्लिखित महादेवीसे प्रतिपालित नगर कौनसा है और वहाँ कौनसी नरपाल-गेहिनी वृद्धा अपने जामाताके घरमें रहती हैं ? कृपया उनका परिचय दें ।**

## समाधान

ब्रह्मगिरि पर्वतकी तलहटीमें बसा बृषभानुओंकी राजधानी बृषभानुपुर ही वह नगर है, जो आद्याशक्ति पराभट्टारिका भगवती महादेवी त्रिपुरा द्वारा प्रतिपालित है। इस परम पूत नगरीका निर्माण आद्याशक्ति पराभट्टारिका महादेवीके आदेशसे स्वयं देवशिल्पी विश्वकर्माने किया था। यहाँ इस नगरीमे सबकुछ संविन्मय और संधिनीशक्तिकी स्वत. स्वप्रकाश परिणति ही है।

बृषभानुपुरके नरेश बृषभानुजी हैं और यहाँ उन्हींकी महारानी कीर्त्तिदाकी माता रावलनरेश महाराज बिन्दुकी पत्नी महारानी मोक्षदाका ही सङ्केत भगवती पौर्णमासीजी करती हैं। ये भानुनन्दिनी राधाकी नानी हैं और जबसे मञ्जुश्यामाका जन्म हुआ है, ये रावलग्रामसे बृषभानुपुर आकर ही रहने लगी हैं। ये अतिशय धर्मनिष्ठ सती-शिरोमणि सन्नारी हैं, और इनके धर्मपालन एवं तपश्चर्याका ही परिणाम है कि यज्ञाग्निसे महारानी कीर्त्तिदाका इनकी पुत्रीके रूपमें जन्म हुआ है। श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामाको नारीधर्म, सन्नारी-उचित शीलकी शिक्षा ये सदैव देती रहती हैं। ये बहुत ही अनुशासन-प्रिय वृद्धा रमणी हैं एवं सारे ब्रजमें घूमती हुईं सभी ब्रजवासियोंको धर्माचरणमें प्रवृत्त रहनेका निर्देश देती रहती हैं। वृद्धावस्थाके कारण इनकी कमर (कटिभाग) किञ्चित् झुकी हुई रहती है और ये हाथमें लकुटी लिये रहती हैं। इन्हें ब्रजके लोग प्रायः मुखराके नामसे पुकारते हैं।

तपस्विनी पौर्णमासीजी नन्दरानी यशोदाको यही आदेश देती हैं कि वे अपनी जेठानी उपनन्दपत्नी प्रभावतीको मुखरा नानीके पास मिलनेको भेज दें। ।।५६७।।

*'सुन्दर अत्यन्त उपाय एक निर्दोष अनोखा-सा, प्रियतम!*
*'वृद्धा बतला देगी अतिशय तुम सबको सुखकारी, प्रियतम!*
*'तू कर लेना, तेरा, मेरा, इस अखिल विश्व का ही, प्रियतम!*
*'उरहार अमोल नीलमणि यह रोगी न कभी होगा,' प्रियतम॥ ५६८॥*

'वृद्धा मैया एक अत्यन्त सुन्दर उपाय – सर्वथा निर्दोष और अनोखा-सा उपाय बतला देगी। यह उपाय तुम सबके लिये ही बड़ा सुखकारी होगा। तुम लोग उसे कर लेना। फिर तेरा, मेरा और इस अखिल विश्वके हृदयका अनमोल हार यह नीलसुन्दर कभी क्षण भरके लिये भी रोगग्रस्त नहीं होगा।'........।।५६८।।

'हे भगवति! सही स्वस्थ मैं हूँ, मैया तो भोली है; प्रियतम!
'मुझमें अत्यंत मोहवश है चिन्ता करती रहती;' प्रियतम!
यह कहता, हँसता इतने में साँवर आगया वहाँ, प्रियतम!
देवी के पदवन्दन कर कुछ लज्जित-सा खड़ा हुआ, प्रियतम ॥ ५६९॥

देखते-न-देखते नीलसुन्दर वहीं आ पहुँचे और हँसते हुए उन गैरिकवसना जगदम्बाके चरणोंकी वन्दना करके बड़ी तीव्र गतिसे बोल उठे – 'भगवती ! माता ! मैं सचमुच स्वस्थ हूँ। मैया तो भोली है। मुझमें अत्यन्त मोहवश यह मेरे लिये चिन्ता करती ही रहती है।'........नीलसुन्दरके मुख-सरोजपर एक पवित्र लज्जाकी छाया अभिव्यक्त हो गयी और वे दृष्टि नीची करके खड़े हो गये।।५६९।।

गैरिकवसना अम्बा ऊँचे स्वरसे हँस पड़ीं भला, प्रियतम!
साँवर को अपने उरमें ले, छूकर ठोड़ी उसकी, प्रियतम!
आँखें छलकीं पर नेह-लोर बाहर वह आ न सका, प्रियतम!
होकर संयत-सी फिर बोलीं वे लक्षित कर सबको, प्रियतम॥५७०॥

गैरिकवसना अम्बा ऊँचे स्वरसे हँस पड़ी। साँवरको हृदयसे लगाकर, उनकी ठोढ़ी छूकर, उनका सिर सहलाने लगी। अम्बाकी आँखें बार-बार छलक उठतीं; किन्तु स्नेहजनित अश्रु बाहर न आ सके। अम्बा कुछ ही क्षणमें संयत-सी होकर सबको लक्षित करके बोल उठीं।।५७०।।

'जननी यह नित साँवरे की अप्रतिम भागशाली;' प्रियतम!
'भोरी ही नहीं, बावरी भी हरदम सचमुच है ही;' प्रियतम!
'इसका पर लाल सलोना अब होगया सयाना है;' प्रियतम!
'मानेगी क्या यह इतना भी कोई कहकर देखो।' प्रियतम॥५७१॥

'साँवरेकी नित्य जननी यह यशोदा अप्रतिम भाग्यशालिनी हैं तथा भोली ही नहीं यह सचमुच बावरी भी बनी रहती हैं। किन्तु अब इसका सलोना लाल सयाना हो गया है भला ! कोई इसको कहकर देख लो, यह इतना भी मानेगी क्या ?'।।५७१।।

## जिज्ञासा

छन्द सं.५७१में पिछली दो पंक्तियोंका भाव सुस्पष्ट करें । यशोदाका सलोना लाल सयाना हो गया है, इसे यशोदा क्यों नहीं समझ पातीं ?

## समाधान

वृद्धा तपस्विनी पौर्णमासीजीने इन दो पंक्तियोमें नन्दरानी यशोदाके प्रगाढ वात्सल्यभावका ही दिग्दर्शन कराया है। यशोदा, रोहिणीमुख्या मातृवर्गीया गोपियॉं घनीभूत वात्सल्यसिन्धुकी ऊर्मियोंमे लहराती इस भावनाको सस्पर्शित ही नहीं कर पा रही है कि उनके नीलमणिमे आयुसम्बन्धी कोई विशेष परिवर्त्तन हुआ है, और इसीसे उसकी चेष्टाओंमें उदासीनताका प्रादुर्भाव हो रहा है। जननीकी आँखें तो अभी भी उसे दुधमुँहे बच्चे के समान ही देख रही हैं। यह सत्य

है कि माता यशोदाके लिये उसका नीलसुन्दर उसकी वात्सल्यधाराके आवर्त्तमें भविष्यकी सुखमयी कल्पनाके रूपमे कितनी ही बार कौमार्यसे पौगण्ड एवं तब किशोर अवस्थामें प्रवेश करता है। वे मण्डप सजाकर उसके विवाहकी कल्पनामें भी तन्मय होती हैं, किन्तु वात्सल्यजनित परमानन्दकी लहरें एक क्षणमें ही माताको अपने भावमे डुबो देती हैं। वे प्राणोंमें उल्लास भरकर अपने नीलसुन्दरको स्तनपान करादेनेकी भावधारामे बह जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोके अन्तरालसे वस्तुत. व्यक्त हुआ कैशोर्य ब्रजेन्द्रगेहिनी यशोदाके लिये कोई महत्व ही नहीं रखता। प्रगाढ वात्सल्यके प्रवाहमें बहती यशोदाको तो उनका कन्हैया स्तनपानके लिये क्रन्दन करता शिशु ही दिखने लगता है और वे उसे सचमुच ही स्तनपान करानेको आतुर हो जाती हैं। यहाँ एक महान् आश्चर्य घटित हो जाता है कि माताकी भावधाराका प्राबल्य शीघ्रतापूर्वक श्रीकृष्णके कैशोरको विलुप्त कर देता है तथा उन्हे अवश होकर सत्यांशमे शिशुरूप ग्रहण करना पड़ता है।

वात्सल्य-रसघनमूर्त्ति यशोदाका यह अप्रतिम भाव है कि उसके सामने कालशक्तिको भी उनके भावानुसार ही नियत्रित होना पडता है। यदि वे अपने नीलमणिको चन्ददर्शन करानेकी भावधारामें बह रही हों तो कालशक्तिको ठीक उनके भावके अनुरूप ही श्रीकृष्णचन्द्रकी वय सुनिश्चित करनी होती है। यशोदामैयाका वात्सल्यभाव इतना सर्वातिशायी है कि जैसे सूर्यके उदय होनेपर जुगनूका कहीं पता ही नहीं लगता, वैसे ही उसके प्रभावके सामने बिचारी वय–नियंत्रक शक्ति हतप्रभ हो जाती है। उसे यशोदामैयाके भाव-सङ्केतके अनुसार, उनकी भाव-अनुगामिनी होकर ही चलना पड़ता है। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोके अन्तरालसे व्यक्त हुआ कैशोर्य यशोदाके लिये विशेष महत्त्व नहीं रखता। उन्हें तो अपने भावानुसार दिनमें असंख्य बार श्रीकृष्ण किशोर दीखते हैं और फिर छोटे शिशु होकर उनके स्तनपायी हो जाते हैं। यशोदाके इस विलक्षण भावको प्रकट करनेवाली ही ये दो पक्तियाँ हैं।।५७१।।

फिर तो देवी के अञ्चल में चञ्चल होकर अपना, प्रियतम !
श्रीमुख निलीन कर सांवर ने विनती-सी कुछ करदी, प्रियतम !
केवल सुन सकीं उसे देवी, स्वीकार कर लिया भी, प्रियतम !
'ऐसा ही हो', कहकर सहला-सहला कर कच उसके, प्रियतम ।।५७२।।

**देवीकी यह उक्ति पूरी होते-न-होते नीलसुन्दर चञ्चल होकर अपना मुख देवीके अञ्चलमें ही छिपा लेते हैं। इतना ही नहीं, अञ्चलमें छिपे हुए श्रीमुखसे उन्होंने देवीसे कुछ विनती भी कर दी। किन्तु उस विनतीको केवल जगदम्बा ही सुन सकीं और उन्होंने उसे स्वीकार भी कर लिया। गैरिकवसना अम्बाने 'एवमस्तु' इतना सा ही कहा और वे नीलसुन्दरकी अलकोंको सहलाने लगीं।।५७२।।**

## जिज्ञासा

**छन्द संख्या ५७२में नीलसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र पौर्णमासीजीके अञ्चलमें मुख छिपाकर क्या प्रार्थना करते हैं, जिसका प्रत्युत्तर पौर्णमासीजी 'तथाऽस्तु' कहकर देती हैं ? कृपया इस रहस्यको उजागर करें।**

## समाधान

विशुद्ध दिव्यरससे अनभिज्ञ लोग ही ऐसा समझते हैं कि भगवान् कामी नहीं हैं। प्रेमका सर्वोच्च विकसित रूप – माधर्यरस इतना सुस्वादु है कि भगवान्को भी अपनी ह्लादिनीशक्ति राधाका कामी बना देता है। इस रसमें पगे भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सम्पूर्ण भगवत्तारूप ऐश्वर्यको भूलकर भानुनन्दिनी राधाके प्रेममें मतवाले हो जाते हैं।

शान्तरसमें शुद्धान्तःकरणकी भगवदभिमुखी वृत्ति अत्यन्त विकसित होकर सर्वत्र भगवान् ही भगवान्को देखती है, जानती है, मानती है। वहाँ 'अहं' 'स्व' भगवान्में समर्पित ही नहीं, विलीन हो जाता है। दास्यमें भगवान् महान् ऐश्वर्यशालीरूपमें सेव्य रहते हैं। दास्यमें अलगाव है, सङ्कोच है। सख्यमें ऐश्वर्य अप्रकट रहकर छिप जाता है और प्रेम प्रकट हो जाता है। वात्सल्यमें भी ऐश्वर्यकी छाया रहती है, किन्तु माधुर्यमें तो भगवान् अपने सारे ऐश्वर्यको भुलाकर – अपनी सब विभूतियोंको पूर्णतया मिटाकर प्रियतमा कान्ताके कामी हो जाते हैं। प्रिया मेरी है, मैं प्रियाका हूँ, मेरा सबकुछ प्रियाका है, और प्रियाको छोड़कर मेरा तो कुछ है ही नहीं। इस रसके द्वारा प्रिया सेव्या हो जाती है। प्रिया राधाका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी अत्यन्त उत्कट अतृप्त उत्कण्ठा, प्रियामें किसी भी दोषका नहीं दीखना, अपितु स्वयंको पूर्ण दोषी मानना, इस प्रकार प्रेमका उत्कट उत्कर्ष होनेके कारण इस अवस्थामें नन्दनन्दनको श्रीराधाका क्षणभरका अदर्शन ही असह्य हो उठता है। इस पूर्वरागके बढते प्रेमके कारण श्रीकृष्ण प्रतिक्षण चाहे गोष्ठमें हों, चाहे वनमें गायें चरा रहे हों, चलते-उठते, खाते-पीते निरन्तर श्रीराधाका ही चिन्तन करते हैं। प्रियादर्शनके बिना उनका एक-एक पल युगोंके समान ही व्यतीत होता है।

यहाँ यशोदानन्दन 'आप्तकाम' भगवान् नहीं हैं। अतः वे पौर्णमासीजीसे भानुकुमारीका कम-से- कम दिनमें एक बार तो निश्चय ही दर्शन हो जाय – इसीकी कामना करते हैं। उनके चित्तमें अपनी प्रियाके दर्शनकी तीव्रतम उत्कट अभिलाषा है। उनके मनकी यह प्रियादर्शनकी निष्कपट एवं स्वाभाविक व्याकुलता ही वृद्धा तपस्विनी पौर्णमासीजीके सम्मुख अभिलाषाके रूपमें व्यक्त होती है, और इसीकी पूर्तिका ही तपस्विनी पौर्णमासी द्वारा उन्हें 'तथाऽस्तु' कहकर वरदान दिया जाता है। इस वरदानको पाकर संतुष्ट हुए श्रीकृष्ण पौर्णमासीजीकी गोदसे उठकर अपनी मैयाकी गोदमें चले आते हैं। ।।५७२।।

*जा बैठा साँवर अब अपनी मैया की गोदी में, प्रियतम !*
*मैया खिल उठी प्रसन्नवदन लखकर अपने सुतका, प्रियतम !*
*सबका मन डूब गया नीले आनन्द-हिलोरों में, प्रियतम !*
*कल्याणी वे देवी फिर जब बोलीं तब चेत हुआ, प्रियतम।।५७३।।*

**नीलसुन्दर अपनी जननीकी गोदमें जाकर बैठ गये। मैयाका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। अपने पुत्रका मुख प्रसन्नतासे परिपूरित देखकर मैयाके लिये अब कुछ प्राप्तव्य ही नहीं था। सबका मन एक नीले आनन्दकी हिलोरोंमें डूब गया। जब कुटीरवासिनी अम्बा फिर बोली, तभी सबको बाह्य ज्ञान हुआ भला !।।५७३।।**

*'री गोकुलेश्वरानी ! वनमें इसको अब जाने दो, प्रियतम !*
*'जो रुचे कलेवा जितना-सा, उतना ही आज करे।' प्रियतम !*
*वृद्धा की बतलायी विधि वह आचरित हुई जैसे, प्रियतम !*
*उसके पश्चात् निरन्तर रुचि परिवर्द्धित होगी ही, प्रियतम ।।५७४।।*

**देवी कह उठी – 'नन्दरानी ! अब नीलसुन्दरको वनमें चले जाने दो। अभी जितना-सा वह कलेवा करना चाहे, इसे कर लेने दो। फिर तो उस वृद्धा माताकी बतलायी हुई विधिका तुम लोगोंने जैसे ही आदर किया कि बस, उसके पश्चात् तो नीलसुन्दरकी रुचि निरन्तर परिवर्धित होती ही चली जायेगी।'।।५७४।।**

*वे महाप्रभावमयी समता-करुणा-वत्सलता की, प्रियतम !*
*विग्रहरूपा अम्बा इतना कहतीं-कहतीं लौटीं, प्रियतम !*
*तोरण तक साथ सभी उनके आये, इतने में ही, प्रियतम !*
*गिरते न पलक गिरते वे तो हो गयीं अदृश्य, भला, प्रियतम।।५७५।।*

**वे महाप्रभावमयी कुटीरवासिनी देवी समता, करुणा एवं वत्सलताकी विग्रहरूपा थीं। सबकी जननी भी थीं। बस, वे उपर्युक्त बात कहती-कहती ही बाहरकी ओर चल पड़ीं। तोरण द्वारतक तो सभी उनके साथ आये। इतनेमें ही अचानक पलक गिरते-न-गिरते वे तो अदृश्य हो गयीं भला ! ।।५७५।।**

साँजर भी मैया से जल्दी-जल्दी लेकर छुट्टी, प्रियतम !
चल पड़ा धेनु आगे कर, फिर पथमें हँसकर बोला, प्रियतम।
'भैयाओ! स्वप्न एक सुन्दर मैंने गत रजनी के,' प्रियतम!
'उस ठीक अन्तवाले क्षणमें देखा है, चलो, सुनो।' प्रियतम।।५७६।।

**नीलसुन्दरने मैयासे जल्दी-जल्दी छुट्टी लेकर, धेनु-समूहको आगे करके वनस्थलकी ओर चलनेके लिये तैयारी कर ली और मन्द मन्थर गतिसे चल भी पडे। पथमें अपने शिशु सखाओंसे हँसकर बोले – 'देखो भैयाओं ! गत रजनीके ठीक अन्तिम क्षणमें मैंने एक बड़ा ही सुन्दर स्वप्न देखा है। चलो ! मैं तुम लोगोंको सुनाता हूँ।'.......।।५७६।।**

प्राचीतट विशद सुरम्य उसी सुन्दरी सरोवर का, प्रियतम!
आ गया और साँवला लाल गोपाल वहीं बैठा, प्रियतम।
सहचर मण्डल की उत्सुक थीं आँखें द्रुमसुमनों से, प्रियतम!
झरता था मधु, आरम्भ हुई सपने की वह गाथा, प्रियतम।। ५७७।।

**उसी सुन्दरी सरोवरका वह सुरम्य प्राची तट शीघ्र-से-शीघ्र आ गया। साँवरे गोपाललाल वहीं आ बैठे। सखा सहचरोंकी आँखें उत्सुकतासे भरी थीं, उस स्वप्नको सुन लेनेके उद्देश्यसे। वृक्षावलिसे, वृक्षोंके सुमनोंसे टप-टप मधु झर रहा था, ऐसे ही सुरम्य समयमें नीलसुन्दरकी स्वप्नवाली गाथा आरम्भ हुई ........।।५७७।।**

## जिज्ञासा

**छन्द सं. ५७६-५७७ में श्रीकृष्ण सखाओंसे अपने गत रजनीके अन्तिम भागमें देखे गये स्वप्नका उल्लेख करते हैं। यह स्वप्न क्या था ? इसका वर्णन आगे इस शतकमें तो कहीं नहीं किया गया है । इस स्वप्नका जो भी स्वरूप रहा हो, उसे पूरी तरह सुस्पष्ट करें।**

## समाधान

नीलसुन्दरके स्वप्नवाली गाथा वही गाथा है जिसे मोक्षदा – मुखरा नानी श्रीकृष्णकी ताई प्रभावतीके सामने प्रकट करती है। एक संवत्सर पहले अति तेजस्वी ऋषि दुर्वासा बृषभानुपुर आये थे। भानुनन्दिनी राधाको उन्होने विदा होते समय यह वरदान दिया था कि इसके हाथसे स्पर्शित एवं रंधन किया हुआ भोजन अनुपम स्वादयुक्त होगा तथा जो भी उसे ग्रहण करेगा, वह सभी रोगोसे तत्क्षण मुक्त हो जायगा। श्रीकृष्ण अपने सखाओ – सुबल, श्रीदामादिके सम्मुख इसी स्वप्नकी गाथा बतलाते हैं कि स्वप्नमें बृषभानुनन्दिनीके द्वारा रंधनकी हुई खीर बृषभानुपुरसे आयी है, और उसे जैसे ही उन्होंने खायी है, वे उदासीनता एवं भूख नहीं लगने आदि सभी रोगोंसे पूर्णतया मुक्त हो गये हैं। सखा यह स्वप्न सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं और सचमुच जैसे ही वे वनसे नन्दभवन पहुँचते हैं, मैया यशोदा उन्हें बृषभानुपुरसे आयी अनुपम सुस्वादु खीर खिला देती है। श्रीकृष्णके खीर खाते ही स्वस्थ हो जानेसे नन्दग्रामके लोगोंके लिये वह रात समस्त चिन्ताओंको हरनेवाली, एक नये उत्सवके रूपमे परिणत होकर व्यतीत होती है।।५७७।।

वह उधर नीलसुन्दर की जो ताई थी जा पहुँची, प्रियतम !
देवी रक्षित महीपपुर के उत्तर की सीमा में, प्रियतम !
गिरिवर के सोते को उसने, बस, पार किया ही था, प्रियतम !
वृद्धा मिल गयी वहीं, जिससे मिलने आयी वह थी, प्रियतम ।।५७८।।

उस ओर नीलसुन्दरकी ताई प्रभावतीदेवी यशोदा मैयाके द्वारा प्रेरित होकर वृषभानुपुरके उत्तरकी सीमामें जा पहुँची। तथा इस ओर वृद्धा नानीजीने गिरिवरके सोतेको पार करके घने अरण्यस्थलमें अपने पैर रखे। यहीं प्रभावती देवी भी आ पहुँची। संयोगकी बात, जिससे मिलने प्रभावती ताईजी आयी थी वे वृद्धा नानीजी पथमें ही मिल गयीं।।५७८।।

किंचित् थी झुकी कमर उसकी, अब सितकेशी वह थी, प्रियतम !
थी ज्योति बनी दृगमें अबभी कुछ घट जाने पर भी, प्रियतम !
लाठी करमें लेकर चलती सब ओर घूम आती, प्रियतम !
सब खेर-नगरकी जनता थी परिचित उस नानी से, प्रियतम ।।५७९।।

वृद्धा नानीजीकी कमर किञ्चित् झुक गयी थी; मस्तकके सम्पूर्ण केश उज्ज्वल हो चुके थे। किन्तु नेत्रोंकी ज्योति कुछ घट जानेपर भी, अभी पर्याप्त थी। अपने दाहिने हाथमें वे लाठी लिये चलतीं और सम्पूर्ण व्रजमें घूम आतीं। सम्पूर्ण खेर एवं नगरके लोग उन वृद्धा नानीजीसे पूर्ण परिचित थे।।५७९।।

वह बड़े स्नेह से मिली, भला, साँवर की ताई से, प्रियतम !
स्वाभाविक बहुत बोलती थी, उसने ही पूछ लिया, प्रियतम !
'कैसे तुम आज अकेली हो आयी, प्रसन्न सब हैं ?' प्रियतम !
'वे लोग अहीर राजपुरके, है स्वस्थ नीलमणि तो ?' प्रियतम ।।५८०।।

नानीजी नीलसुन्दरकी ताईसे अत्यन्त स्नेहपूर्वक मिलीं। नानी स्वभाविक बोलती भी बहुत थीं और इसलिये ही उन्होंने प्रभावतीसे पूछ लिया – 'क्यों, कैसे तुम आज अकेली ही यहाँ खड़ी हो ? अभी आयी दीखती हो ? सब प्रसन्न तो हैं नन्दरायजीके ग्रामके नर नारी ? नीलमणि तो पूर्ण स्वस्थ है न ?.....।।५८०।।

अपने ही आप दैवगति से सुन्दर भूमिका बनी, प्रियतम !
बातें गत तीस पहर की सब ताई ने बतलायीं, प्रियतम !
सुन रही ध्यान देकर वह थी प्रत्येक बात को ही, प्रियतम !
थी जहाँ समझ न सकी, उसको दुहराकर पूछ लिया, प्रियतम ।।५८१।।

दैवगतिसे अपने-ही-आप सुन्दर भूमिका बन गयी। गत तीस प्रहरकी सभी बातोंको प्रभावती ताईजीने नानीजीको बतला दिया। बुढ़िया नानी प्रत्येक बात बड़े ध्यानसे सुनती जा रही थी; जहाँ ठीकसे नहीं सुन पातीं, उसको दोहराकर तुरन्त पूछ लेतीं।।५८१।।

सुनकर पर उन गैरिकवसना ऐश्वर्यशालिनी की, प्रियतम !
वह उक्ति रहस्यमयी शुचि, जो सम्बद्ध उसीसे थी, प्रियतम !
अत्यन्त पड़ी असमंजस में, उत्तर वह दे न सकी, प्रियतम !
आ गयी याद थी बात एक संवत्सर पहले की, प्रियतम ।।५८२।।

जब नानीजीने उन ऐश्वर्यशालिनी गैरिकवसना अम्बाकी वह पवित्र रहस्यमयी उक्ति सुनी, जो उनसे ही सम्बद्ध थी, तब वे बड़े असमञ्जसमें पड़ गयीं। तथा कुछ भी उत्तर न दे सकी। नानीजीको एक वर्ष पूर्वकी घटना याद आ गयी।। ५८२।।

'आये थे पुत्री के घर ऋषि तेजस्वी एक महा;' प्रियतम।
'साँवरी दौहिती से मैंने उनकी बातें पूछी;' प्रियतम।
'मेरी मनुहारों से दबकर उसने भी बतला दी;' प्रियतम!
'वह बात सुगुप्त लाड़िली को उनके वर देने की;' प्रियतम।। ५८३।

वे सोचने लगीं – मेरी कीर्तिदा बेटीके घर एक अत्यन्त तेजस्वी ऋषि एक वर्ष पूर्व आये थे। अपनी साँवरी दौहित्रीसे फुसलाकर मैंने सब बातें पूछ ली थीं। साँवरीने भी मेरी मनुहारोंसे दबकर सब बातें ज्यों-की-त्यों बतला भी दी थीं। मेरी बड़ी लाड़िली राधाको ऋषिवरने एक सुगुप्त वरदान भी दिया था।।५८३।।

'देवी ने जिसकी ओर किया संकेत यही वह है;' प्रियतम!
'आमयहारी, उपाय निश्चित; पर जो मैं कह दूँ तो,' प्रियतम!
'मेरी साँवरी अहो! मुझसे अत्यधिक रुष्ट होगी;' प्रियतम!
''विश्वासघातिनी' कह-कहकर नाकों दम कर देगी;' प्रियतम।।५८४।।

गैरिकवसनाने जिस बातकी ओर सङ्केत किया है, वह तो यही है। सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट करनेवाला उपाय निश्चितरूपसे यही है। किन्तु यदि मैं उसे प्रकट कर देती हूँ, तो साँवरी मुझसे अत्यधिक रुष्ट हो जायेगी ; मुझे विश्वासघातिनी कह-कहकर नाकों दम कर देगी।।५८४।।

"छोरा साँवरा उधर वह है रोगी हो रहा तथा;' प्रियतम!
"देवी-रुचिकी हेला सम्भव है नहीं किसी से भी;" प्रियतम!
"जैसे-तैसे श्यामा को फिर आगे फुसला लूँगी;" प्रियतम!
"इसके अतिरिक्त और तो क्या कर सकती हूँ अब मैं?" प्रियतम।। ५८५।।

उस ओर नीलसुन्दर रुग्ण हो रहा है। साथ ही गैरिकवसना देवीकी रुचिकी अवहेलना किसीके द्वारा संभव भी नहीं है। मैं जैसे-तैसे साँवरीको फिर आगे भी फुसलाकर प्रसन्न कर लूँगी। इसके अतिरिक्त अब मैं और कर ही क्या सकती हूँ ?'.......।।५८५।।

इस भाँति घड़ी आधी तक वह चिन्ता में पड़ी रही, प्रियतम!
आखिर साँवर की ताई से उसने सब बात कही, प्रियतम!
दी राय और यह, 'साँवर को कुछ वस्तु खिला देना;' प्रियतम!
'जो मेरी बड़ी दौहिती ने राँधी हो, उसमें से;' प्रियतम।। ५८६।।

इस प्रकार आधी घड़ी तक नानी चिन्तामें पड़ी रहीं। आखिर प्रभावती ताईजीसे वह बात उन्होंने बतला ही दी और यह राय दी कि नीलसुन्दरको मेरी बड़ी दौहित्री राधाके द्वारा रन्धन की हुई वस्तुमेंसे किञ्चित् खिला दो, सीधा-से-सीधा उपाय यही है।।५८६।।

ताई तुरंत लौटी, मैया साँवर की बैठी थी, प्रियतम!
आकर आधे से कुछ आगे बनके उस पथके ही, प्रियतम!
दोनों वे मिलीं, बात करके ताई फिर से आयी, प्रियतम!
अत्यन्त वेगसे चलकर उस देवीपालितपुर में, प्रियतम।। ५८७।।

यह सुनकर प्रभावती ताई तुरंत नन्दरानी मैयाके पास लौट आयीं। बीच पथमें ही नन्दरानी मैया बैठी थीं। प्रभावती ताई और उनका वहीं मिलन हुआ। मैयासे बात करनेके अनन्तर प्रभावती ताईजी अत्यन्त वेगसे चलकर पुनः महादेवीसे रक्षित वृषभानुपुरीमें जा पहुँची।।५८७।।

*था डेढ़ पहर बाकी दिन अब, रानी अंतःपुर के, प्रियतम!*
*आँगन में थीं बैठी करती खिलवाड़ छोरियों से, प्रियतम!*
*दोनों बहनें खेलने आज बाहर थीं नहीं गयीं, प्रियतम!*
*अच्छा संयोग लगा, पहुँची वह ठीक समयसे ही, प्रियतम।। ५८८।।*

इस समय केवल डेढ़ पहर दिन बाकी बचा था। कीर्तिदा मैया अपने प्राङ्गणमें बैठी दोनों पुत्रियोंसे खिलवाड़ कर रही थीं। दोनों बहनें खेलनेके लिये आज बाहर वनस्थलमें नहीं गयी थीं। इसीलिये भाग्यसे बड़ा अच्छा संयोग लग गया। प्रभावती ठीक समयसे ही पहुँची।। ५८८।।

*प्राणों का प्यार भरा सुखमय आलिङ्गन दे उसको, प्रियतम!*
*रानी ने आने का कारण पूछा, फिर सुनते ही, प्रियतम!*
*ले गयीं तुरंत लाड़िली की दादी के पास उसे, प्रियतम!*
*वह पितामही रहती अब थी केवल पति सेवामें, प्रियतम ।।५८९।।*

अपने प्राणोंका प्यारभरा सुखमय आलिङ्गन देकर कीर्तिदा मैयाने प्रभावतीका स्वागत किया और उनके आनेका कारण पूछा। कारण जान लेनेपर वे अविलम्ब राधाकिशोरीकी दादीजीके पास उन्हें ले गयीं। दादीजी अब निरन्तर केवल पतिसेवामें ही रहती थीं।।५८९।।

*थे वृद्ध महाराजा प्रायः रहते समाधि में ही, प्रियतम!*
*दो-दो थे पहर बीत जाते, खुलती न आँख उनकी, प्रियतम!*
*प्रातः फिर अर्धनिशामें वे कुछ देर बोलते थे, प्रियतम!*
*दादी उस समय पूछ लेती, जो कुछ करना होता, प्रियतम।। ५९०।।*

महाराज महिभानु दादाजी-प्रायः अब समाधिमें ही रहते थे। दो-दो पहर बीत जाते थे, पर उनकी आँखें नहीं खुलती थी। प्रातःकाल एवं अर्द्धनिशामें कुछ देरके लिये वे दो-चार वाक्य बोलते थे। दादीजी उसी समय उनसे जो कुछ करना आवश्यक होता, पूछ लिया करतीं।।५९०।।

*अतएव परम सुन्दर निर्णय दादी ने यही दिया, प्रियतम!*
*'लाली तुरंत अब आज यहीं रन्धन कुछ कर देगी,' प्रियतम!*
*'ब्यारू के समय नीलमणि को दे दो, प्रातः कल तो,' प्रियतम!*
*'मैं वहीं भेज दूँगी इसको, लेकर अनुमति इनकी' प्रियतम।। ५९१।।*

इसीलिये दादीने भी सब सुनकर परम सुन्दर निर्णय यही दिया – 'अब आज तो बड़ी लाली तुरंत यहीं कुछ रन्धन कर देगी। ब्यारूके समय नीलमणिको आज वह खिला देना। आज अर्द्धनिशामें वृद्ध महाराजकी अनुमति लेकर कल प्रातःकाल मैं इन सबको वहीं नन्दग्राम भेज दूँगी और वे रन्धन कर आयेंगी।'।।५९१।।

*'मेरी शतशुभाषीश कहना गोपेश-गेहिनी से,' प्रियतम!*
*'चिन्ता न करें, नीरोग नीलमणि नित्य रहेगा ही,' प्रियतम!*

'लाली तो साँवर की ही निधि, साँवर जननी की है,' प्रियतम!
'चाहेंगी जब-जब वे, तब यह रन्धन कर आयेगी,' प्रियतम।।५९२।।

दादीजी उस भाँति ही स्नेहभरे स्वरमें इतना-सा और बोल गयीं – 'नन्दरानीसे मेरी शत-शत शुभ आशीष कहना। और कह देना कि वे सर्वथा किसी प्रकारकी चिन्ता न करें। नीलमणि नित्य निरोग रहेगा ही। मेरी लाली तो साँवरेकी ही निधि है, साँवर-जननीकी ही वस्तु है। नन्दरानी जब-जब चाहेंगी, यह जाकर वहाँ रन्धन कर आयेगी।'।।५९२।।

वैसा ही हुआ, द्वादशी के रवि गये अस्तगिरि में, प्रियतम!
आकर वन से अलिन्द में जब साँवर खाने बैठा, प्रियतम!
वह एक कटोरा खीर जिसे ताई ले आयी थी, प्रियतम!
उसकी कैसी महिमा थी, यह जो देख सके, देखे, प्रियतम।।५९३।।

सब कुछ वैसे ही हुआ। जब द्वादशी संध्यामें दिवाकर अस्तगिरिमें चले गये और नीलसुन्दर वनसे लौटकर अलिन्दमें व्यारू करने बैठे, तब वह एक कटोरा खीर – जिसे प्रभावती ताईजी वृषभानुपुरसे ले आयी थीं – उसकी कैसी महिमा प्रकट हुई, इसे जो व्यक्ति देख सके, वह देख ले.........।।५९३।।

गोपेशपुरी के लोगों की चिन्ता हरने वाली, प्रियतम!
वह रात एक नूतन उत्सव-जैसी होकर बीती, प्रियतम!
आने तक उषा गूँजता था पत्तन के कण-कण में, प्रियतम!
श्रीमन्नारायण-नारायण-रव सतत भरा स्वर में, प्रियतम।।५९४।।

नन्दग्रामके लोगोंके लिये समस्त चिन्ताओंको हरनेवाली वह रजनी नूतन उत्सव जैसी होकर बीत चली। उषाकी लालिमा आनेतक नन्दपुरीमें, पत्तनके कण-कणमें 'श्रीमन्नारायण नारायण' यह रव निरन्तर बँधे स्वरमें गूँज रहा था।.........।। ५९४।।

वे महीपाल-गेहिनी उधर कुक्कुट-रव सुनते ही, प्रियतम!
वन्दन कुलदेवी का करके उठ पड़ी शीघ्रता से, प्रियतम!
निर्मञ्छन लालियों का कर, फिर उनको प्रबुद्ध करके, प्रियतम!
नहलाकर, अतुल वेषभूषा सुन्दर उनकी रच दी, प्रियतम।।५९५।।

उधर वृषभानुगेहिनी कुक्कुटका रव सुनते ही उठ पड़ी। सर्वप्रथम उन्होंने अपनी कुलदेवीका वन्दन किया। फिर बड़ी शीघ्रतासे अपनी दोनों पुत्रियोंका निर्मञ्छन करके उन्हें प्रबुद्ध किया। स्नान कराया और अतुल सुन्दर वेष रचना कर दी उनकी।।५९५।।

आ पहुँची सब सहेलियाँ भी वैसी ही सजी-धजी, प्रियतम!
प्राची में दीखा-सा ही था ज्योतिर्मय रथ रवि का, प्रियतम!
मन्दिर में वृद्ध पितामह के एकत्र हुईं सब वे, प्रियतम!
आशीष लाड़िली को उनकी लेनी आवश्यक थी, प्रियतम।।५९६।।

इतनेमें ही सज-धजकर सब सहेलियाँ, सखियाँ आ पहुँचीं। इस समय प्राचीमें दिनकरका ज्योतिर्मय रथ उद्भासित-सा ही हुआ था। वृद्ध पितामह जिस मन्दिरमें निवास करते थे, वे सब-की-सब वहीं एकत्र हुईं। आज लाडिली राधाकिशोरीको उनका आशीर्वाद लेना अत्यन्त आवश्यक जो था।।५९६।।

दोनों उन अहो! पोतियों पर, जो खड़ी सामने थी, प्रियतम!
दादा की दृष्टि गयी, वे तो उठ पड़े अधीर हुए, प्रियतम!
था यही प्रथम अवसर उनके जीवन का, जो उनमें, प्रियतम!
हो गया देखते ही उनको आवेश मोह का-सा, प्रियतम ॥५९७॥

अपनी दोनों पोतियोंपर, जो ठीक दादाजीके सामने खड़ी थीं, जैसे ही महिभानु दादाजीकी दृष्टि पड़ी, कि बस, वे आज अधीर हुए अपने आसनसे सहसा उठकर खड़े हो गये। दादाजीके जीवनका यह प्रथम अवसर था, जो उनमें पोतियोंको देखकर मोहका-सा आवेश हो गया भला !।।५९७।।

कर्तव्यपरायण होकर भी निर्लिप्त सदा वे थे, प्रियतम!
था जन्म शाक्तकुलमें उनका पर वैष्णवाग्र वे थे, प्रियतम!
क्षणभर भी पद्मनाभ-पदकी विस्मृति न कभी होती, प्रियतम!
अब तो व्यवहार-जगत् से वे सर्वथा अलग-से थे, प्रियतम ॥५९८॥

महिभानु महाराज अत्यन्त कर्तव्यपरायण थे। ऐसा होनेपर भी वे सदा अत्यन्तिक रूपसे निर्लिप्त रहते थे। उनका जन्म तो शाक्तकुलमें हुआ था, पर वे साथ ही में वैष्णवाग्र भी थे। क्षण भरके लिये भी उन्हें भगवच्चरण-सरोरुहकी विस्मृति कभी न होती थी और अब तो व्यवहार जगत्से सर्वथा अलग-से हो गये थे। ... ..अस्तु, ।।५९८।।

दादीने हाथ पकड़ उनको आसन पर बैठाया, प्रियतम!
लाड़िली साँवरी एवं सब जो खड़ी छोरियाँ थीं, प्रियतम!
वन्दना अङ्कमें दादा के सिर रखकर सबने की, प्रियतम!
दादाजी के दृग से झर-झर बूँदें थीं बरस रही, प्रियतम ॥५९९॥

दादीने तुरन्त हाथ पकड़कर उन्हें आसनपर विराजित कर दिया। लाडिली, साँवरी एवं उन दोनोंकी सम्पूर्ण सहचरियोंने, जो वहाँ खड़ी थीं, सबने ही दादाजीके अङ्कमें सिर रखकर उनकी वंदना की। आज दादाजीके दृगोंसे झर-झरकर अश्रुबूँदें निरन्तर बरस रही थीं।।५९९।।

कोई न समझ पाया, उनकी यह हुई अवस्था क्यों, प्रियतम!
संकेत अतः कर देती हूँ, दादा ने यह देखा, प्रियतम!
सच्चिदानन्द परतत्व, अहो! अविषय मन वाणी का, प्रियतम!
गोरी-साँवरी-नीलसुन्दर, इनसे अभिन्न ही है, प्रियतम ॥६००॥

कोई भी समझ नहीं पाया कि दादाजीकी ऐसी अवस्था आज अचानक क्यों हो गयी। अतः मैं सङ्केतमात्र कर दे रही हूँ। दादाजीने देखा – 'सच्चिदानन्दघन परतत्व – जो मन-वाणीसे सर्वथा परे है, अहो ! वही तत्व इन गोरी-साँवरी एवं नीलसुन्दर – इनसे तो सर्वथा अभिन्न है भला ।'.......।।६००।।

है खेल अनिर्वचनीय और निरुपम अचिन्त्य इनका, प्रियतम!
साँवर जिसको जितना-सा जब, दिखला दे वह देखे, प्रियतम!
उतना-सा तभी मर्म फिर भी अज्ञात रहेगा ही, प्रियतम!
अतएव नहीं पहचान सका अपनी पोती-युग को, प्रियतम ॥६०१॥

'इनका खेल अनिर्वचनीय, अचिन्त्य एवं निरुपम है। साँवरा जिसको जितना-सा जब दिखला दे, बस, वह उतना-सा ही देख ले। फिर भी उसका मर्म उसके लिये अज्ञात ही रहेगा। इसीलिये तो मैं अपनी दोनों पोतियोंको अबतक पहचान ही नहीं सका..........।।६०१।।

ऐसी अनुभूति पितामह को हो गयी, और फिर वे, प्रियतम!
बह चले लहर में संविद् के ऊपर वत्सलता की, प्रियतम!
इच्छा थी सर्वनियन्ता की, दादाजी अब आगे, प्रियतम!
हों मग्न रसोदधि में, जो है बह परे ज्ञान से भी, प्रियतम।।६०२।।

पितामहको ऐसी अनुभूति आज सहसा हो गयी और फिर वे तुरन्त पूर्ण संविद्के ऊपर वत्सलताकी जो लहर होती है, उसमें बहने लगे। सर्वनियन्ताकी इच्छा थी – अब दादाजी आगे इस रसोदधिमें निमग्न हो जायँ, जो ज्ञानसे भी परे है।..............अस्तु,।।६०२।।

हो जाय न कहीं विलम्ब, डेढ़ योजन जाना जो था, प्रियतम!
दादी ने उरसे लगा-लगा उन सबको विदा किया, प्रियतम!
हो अहो! जम्बुनद धारा के अन्दर से चमक रही, प्रियतम!
मानो सुवर्ण की राशि भला, इसभाँति चलीं वे सब, प्रियतम।।६०३।।

कहीं विलम्ब न हो जाय – लाडिली आदि सबको डेढ़ योजनका पथ अभी तय जो करना है। सहसा दादीके ध्यानमें यह बात आयी। दादीने सबको हृदयसे लगाया और तत्क्षण विदा कर दिया। अहो ! मानो जाम्बूनद स्वर्णकी विगलित धाराके अन्तरालसे स्वर्णकी राशि चमक रही हो – चम-चम कर रही हो – इस भाँति वे सब-की-सब नन्दग्रामकी ओर अग्रसर हुईं।।६०३।।

दूरी संकुचित अहो! पथ की हो गयी सत्य सहसा, प्रियतम!
लाड़िली आदि सब जा पहुँची आधी घटिका में ही, प्रियतम!
साँवर की मैया ने सबका कैसा सत्कार किया, प्रियतम!
वाणी कहने का साहस कर कर देगी विकृत उसे, प्रियतम।।६०४।।

पथकी दूरी सहसा, सचमुच संकुचित हो गयी। आधी घड़ीका समय ही लगा और लाड़िली आदि सब-की-सब नन्दग्राममें जा पहुँची। साँवरकी जननीने राधाकिशोरी एवं उसकी सहचरियोंका कैसा स्वागत किया, वाणी इसे कहनेका साहस करके उसे विकृत कर देगी.......।।६०४।।

हो प्रबल चाह सुनने की यदि फिर भी तो यहाँ नहीं, प्रियतम!
आगे इस बनकी सीमासे दोनों हम जब पहुँचें, प्रियतम!
तुम याद दिला देना, लज्जा सर्वथा त्याग दूँगी, प्रियतम!
प्राणों में अङ्कित चित्रों का विवरण कर जाऊँगी, प्रियतम।।६०५।।

फिर भी यदि प्रबल चाह इन्हें सुननेकी ही हो, तो अब यहाँ नहीं, इस वनकी सीमासे हम दोनों जब आगे जा पहुँचें, तब हे मेरे प्रियतम ! तुम मुझे याद दिला देना। मैं लज्जाका सर्वथा त्यागकरके प्राणोंमें अंकित चित्रोंका विवरण कर जाऊँगी.........।।६०५।।

प्राणेश! अभी तो इतना ही सुनकर सन्तोष करो, प्रियतम!
लाली ने सरस रसोई की कर एक घड़ी में ही, प्रियतम!
भोजन कर वेणु बजाता वन साँवरा जा रहा था, प्रियतम!
मैया का प्यार अतुल लेकर लाली थी लौट रही, प्रियतम ।।६०६।।

**प्राणरमण नीलसुन्दर ! अभी तो इतना ही सुनकर सन्तोष कर लो – एक घड़ीमें ही लाड़िलीने अत्यन्त सरस रसोईका निर्माण कर दिया।.........भोजन करके वेणु बजाते हुए नीलसुन्दर वनकी ओर जा रहे थे और नन्दरानी मैयाका अतुल प्यार लेकर राधाकिशोरी अपनी सहचरियोंके साथ घरकी ओर लौट रही थी। अस्तु,।।६०६।।**

## तात्त्विक विवेचन-विस्तार

भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधा और भगवच्छायारूपा श्रीमञ्जुश्यामाजी, साथ ही भगवती श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा ललिता-विशाखादि सभी सखियोंके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान तभी संभव है, जब भगवान्‌की कृपाशक्ति इनका परिचय दे। भगवान् क्या हैं, इसे तो भगवान् ही जानते हैं, अन्य कोई उनका ज्ञान भला कैसे कर सकता है ? भगवान्‌का ज्ञान साधन–साध्य तो है ही नहीं। "भगवान्‌की ह्लादिनीशक्ति श्रीराधा ही निराकार, निर्विकार, मायातीत, सच्चिदानन्दघन, परतत्व, परब्रह्म हैं; वे भगवान् श्रीकृष्ण की भी आत्मा हैं। वे ही परदेवता हैं; वे ही जीवात्मा, जगत् एवं प्रकृति हैं; इतना ही नहीं, है और नहींसे जिसका वर्णन नहीं होता, वह भी वे ही हैं; ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा – सब इन्हींके विभिन्न लीलास्वरूप हैं" – अबतक दादाजी श्रीमहीभानुजी महाराजको यह ज्ञान नहीं हुआ था। दादाजी श्रीमहीभानुजी उच्च कोटिके साधक थे। शाक्तकुलमें जन्म होनेसे शक्तिपरतत्वके विषयमें उनका पर्याप्त प्रवेश था और वैष्णवी साधनाकी भी उच्च स्थिति होनेसे उनमें शाक्त और वैष्णवकुलका भेद भी नहीं रहा था। वे अन्तःकरणसे जगत्‌के व्यवहारक्षेत्रसे सर्वथा उपराम भी हो चुके थे, फिर भी वे अपनी छोरियों– श्रीराधा, मञ्जुश्यामा आदिको अपने वंशकी बालिकाएँ ही मानते थे। वे नन्दतनय श्रीकृष्णको भी नन्दपुत्र ही समझ रहे थे। उन्हें यह अनुभव अबतक नहीं हुआ था कि श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं मञ्जुश्यामा – ये तीनों ही सच्चिदानन्द परतत्वसे सर्वथा अभिन्न हैं। यह अनुभव अचानक आज ही प्रथम बार उन्हें श्रीराधा द्वारा उनके अङ्कमें सिर रखकर वन्दना करते समय हुआ। यही कारण है कि आज उनके नेत्र इस तत्वका अनुभवकर झर-झर बरसने लगे हैं।

श्रीमहीभानुदादाजीके सम्मुख राधातापिनी उपनिषद्‌का तत्व प्रत्यक्ष हो रहा है। वे प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं कि राधा और कृष्ण आनन्दके सागर हैं। वे एक ही हैं, किन्तु लीला करनेके लिये तीन रूप धारणकर श्रीकृष्ण, राधा एवं मञ्जुश्यामा बने हैं। जैसे देह छायासे संयुक्त होती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णकी ही छायारूपा मञ्जुश्यामा है। लीलाविहारी भगवान् श्रीकृष्ण रसेश्वर हैं ओर नित्य विहारिणी, नित्यविहारकी बीजभूता, रस-सागरा, महारासकी अधिष्ठात्रीदेवी भगवती श्रीराधाजी रसेश्वरी हैं। रसेश्वर एवं रसेश्वरीका महामिलन नित्य अखण्ड और अनन्त है।

देवी राधिका कृष्णमयी होनेसे परदेवता हैं। ये सर्वलक्ष्मीस्वरूपा श्रीकृष्णाह्लादमयी हैं । त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ इन्हींकी कोटि-कोटि कलाएँ एवं अंश हैं।

देवी राधिका कृष्णमयी होनेसे परदेवता हैं। ये सर्वलक्ष्मीस्वरूपा श्रीकृष्णाह्लादमयी हैं। त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ इन्हींकी कोटि-कोटि कलाएँ एवं अंश हैं ।

अबतक दादाजी विधिमार्गके ही उपासक थे। उनका मार्ग ऐश्वर्यमार्ग था। वे शाक्तरूपमें भगवती त्रिपुरा महादेवीके अनन्तानन्त ऐश्वर्यमें डूबे रहते थे। वैष्णवी साधनामें भी उनके इष्टदेव नारायण अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन शेषशायी हैं। अबतक उनकी उपलब्धिका लक्ष्य सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य एवं सायुज्य मोक्ष ही रहा है।

किन्तु आज तो उन्हें अपना प्राप्तव्य ही तुच्छ प्रतीत हो रहा है। दादा महीभानुजी वैराग्यकी चरम सीमाको तो अतिक्रमकर समाधिकी अपरोक्ष अनुभूति मोक्षसुखतकका लाभ कभीका कर चुके थे।किन्तु आज तो उन्हें मोक्षसुख एवं समाधिसुख – सब अपनी दोनों पोतियोंके दर्शनसुख-मोहके सम्मुख फीका लग रहा है। इन दोनों पोतियों और इनके सङ्गकी छोरियोंने न जाने क्या किया है, कि उन्हें अपने अहंकी सर्वतोभावेन विस्मृति एवं निवृत्ति हो गयी है। उनकी न जाने क्यों ऐसी बुद्धि हो रही है कि इन छोरियोंके प्रेमधनके सम्मुख, इन्हें सुखी देखनेकी विशुद्ध अभिलाषाके सम्मुख मोक्षसुख, समाधिसुखकी किसी भी अंशमें तुलना नहीं हो सकती है।

आज उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है कि उनकी इष्ट भगवती त्रिपुराका ऐश्वर्य तो सर्वत्र व्याप्त है ही, वे उसका अनुभव तो अनायास करते ही रहे हैं, किन्तु उन्हीं अनन्तैश्वर्य-निकेतना जगन्माता महादेवीका यह राधारूप माधुर्य आजतक न जाने क्यों उनसे गोपनीय ही रहा। आज भगवती महादेवीकी कृपासे ही वे इस माधुर्यभरी मुग्धताको प्रत्यक्ष निहार रहे हैं –

" ओह ! अनन्तानन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको अपने उन्मेषसे उत्पन्न करनेवाली एवं निमेषमें विलय कर देनेवाली महादेवी जगन्माता महान् होकर भी कितनी छोटी बनकर इन छोरियोंके रूपमें अपनी माधुर्यरूपा मुग्धता प्रकट कर रही हैं। अनन्त अखण्ड ज्ञानमयी होकर भी इन बालाओंके रूपोंमें ये अपनी अज्ञताका कैसा प्रकाश कर रही हैं। इस मुग्धतामें एक-से-एक विलक्षण विविध तरङ्गें उठ रही हैं। और ये तरङ्गें मुझ परम वयोवृद्ध महीभानुको परमानन्दसुधासे आप्लावित एवं आप्यायित कर दे रही हैं।"

" ओह ! ये बालिकाएँ नहीं हैं, ये तो मुझे वात्सल्यरसमें डुबो देनेका वरदान देनेवाली कल्पलताएँ हैं। ये श्रीकृष्णरूपी दिव्य कल्पवृक्षसे लिपटने जा रही हैं। इन्हें मैं रोकनेवाला कौन हूँ ?"

" ओह ! यह नन्दतनय भी ठीक बालकोंकी तरह कैसी लीलाएँ करता है। यह रोगी हो गया है। अप्राकृतका यह विचित्र प्राकृतानुकरण कैसा मनोहर है। जिसके सङ्कल्पसे मायानटी अनन्त ब्रह्माण्डोंको कठपुतलीकी तरह नचा रही है, उसकी जन्म लेनेकी , शिशुवत् आचरण करनेकी और अब रोगी होनेकी प्राकृत लीलाको देख-देखकर यदि मुझे भ्रम हो गया कि यह नन्दतनय सर्वेश्वर भगवान् नहीं है, तो मेरा यह भ्रम स्वाभाविक ही तो था। किन्तु आज मेरा दृष्टिभ्रम निवृत्त हो रहा है और मुझे ठीक अनुभव हो रहा है कि सच्ची भक्तवत्सलता एवं प्रेमाधीनताका यही विशुद्ध स्वरूप है। अपने असीम ऐश्वर्यका तनिक भी प्रकाश नहीं करके साधारण बालक बनकर यशोदा एवं नन्दको निहाल कर देना और बालिकाएँ बनकर मेरे बृषभानुपुरको कृतकृत्य कर देना – यह उनका अनन्तानन्त अनुग्रह ही तो है। जिनमें अनन्त ऐश्वर्य है, उन्हींमें अनन्त अनुग्रह तो होना ही चाहिये, भला !"

इस प्रकार सोचते-सोचते श्रीमहीभानुजीके हृदयमें इन युगल पोतियोंके अतिरिक्त कुछ रहा ही नहीं। वे अतिशय भावमय हो गये और उनका हृत्पट संविद्के धरातलसे ऊपर उठकर वात्सल्य- रसोदधिमें लहराने लगा, जो ज्ञानराज्यसे बहुत ही ऊपरकी वस्तु है। "

वस्तुतः ज्ञानयोगसे भगवान्को ब्रह्म समझकर संसारसे मुक्त हुए महीभानुजी अबतक आत्महितकी ही, स्वार्थकी ही साधना कर रहे थे। अष्टाङ्गयोगसे वे समाधिमें स्थित हुए परमात्मज्योतिमें डूबकर स्वयंको ही आनन्दित कर रहे थे। उन्हें भागवती ऐश्वर्यज्ञानयुक्त भगवान्की सामीप्यादि मुक्तियाँ मिल भी चुकी थीं, किन्तु आज उनकी भक्तिधारा ऐसे मोड़पर आ गयी जहाँ उन्हें आत्मविस्मृति हो गयी और अपनी पोतियों – राधा-मञ्जुश्यामाकी ममतामें वे जकड़ गये। उनका अपना कुछ भी नहीं रहा, वे श्रीराधा-सुख-रूप तत्सुखिया हो गये। उनका अपना ज्ञान-सुख, मोक्ष-सुख सबकुछ इन पोतियोंकी विशुद्ध वात्सल्यरसधारामें प्रवाहित होगया। उनकी इष्ट भगवती महादेवी त्रिपुरा भी अब ममतासम्पन्न महीभानुजीको उनकी ममताके अनुरूप ही लीला करके उन्हें दिव्य प्रेमरसका आस्वादन कराने लगीं।।६०२।।

प्रथम भाग समाप्त